श्रीकृष्णः शरणं मम

महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

(अनेकव्याख्यासमलङ्कृतम्)

दशमस्कन्धः पूर्वार्द्धः

जन्मप्रकरणं रासपञ्चाध्यायीप्रकरणञ्च

प्रथमाध्यायतः एकोनपञ्चाशाध्यायपर्यन्तम्

दशमं फलम्

संकलनकर्ता—कदंबऋषि

सम्पादकः परिष्कर्ता च—कृष्णशङ्कर शास्त्री

प्रकाशकः—श्रीभागवतविद्यापीठः

वि० सं० २०४२

L

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

श्रीकृष्णः शरणं मम

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणा विजयन्तेतमाम्

श्रीकृष्णद्वैपायन-वेदव्यास-महर्षिप्रणीतमनेकव्याख्यासमलङ्कृतम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

सात्वतसंहिता

दशमस्कन्धः–पूर्वार्द्धः

जन्मप्रकरणं-तामसप्रकरणञ्च एकादशाध्यायाः

एकादशं फलम्

आचार्यवर्याणां-प्राचेतसाञ्च विविधाष्टीकाः

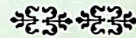

कर्दमक्षमा (अन्वयः), श्रीधरस्वामिविरचिता—भावार्थदीपिका, श्रीवंशीधरकृतः—भावार्थदीपिकाप्रकाशः, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता -- वैष्णवतोषिणी, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता—बृहद्वैष्णवतोषिणी, श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम् , श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता– भागवतचन्द्रचन्द्रिका, श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता—पदरत्नावली, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः–क्रमसंदर्भः, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः- बृहत्क्रमसन्दर्भः, श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता—चैतन्यमतमञ्जूषा, श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता - सारार्थदर्शिनी, श्रीमच्छुकदेवकृतः—सिद्धान्तप्रदीपः, श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता—वैष्णवानन्दिनी, श्रीसत्याभिनवयतिकृता—दुर्घटभावदीपिका, श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतः—विरोधोद्धारः, श्रीछलारिनारायणाचार्यविरचिता—श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी, श्रीसत्यधर्मकृता—श्रीभागवतटिप्पणी, श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिता श्रीसुबोधिनी, (१) श्रीप्रभुचरणविरचिता—श्रीटिप्पणी, (२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः—श्रीसुबोधिनींटिप्पण्योः प्रकाशः, (३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः—श्रीसुबोधिनीलेखः, (४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता—श्रीसुबोधिनीयोजना, (५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता,—श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या, बुभुत्सुबोधिका, श्रीमातृपितृतोषिणी -- श्रीसुबोधिनीजी, गोस्वामिश्रीगीरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी, श्रीगङ्गासहायप्रणीता–अन्वितार्थप्रकाशिका, श्रीगोपालानन्दमुनिविरचित - निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्, श्रीभगवत्प्रसादाचार्यविरचिता–भक्तमनोरञ्जनी, श्रीहरिसूरिविरचितम्–श्रीभक्तिरसायनम् इत्येताभिर्व्याख्याभिः, कृष्णशङ्करशास्त्रिनिवर्तित–कृष्णप्रियाभाषानुवादेन—च समलङ्कृतम् ।

संकलनकर्त्ता—	प्रकाशकः	सम्पादकः परिवेषकश्च
कर्दमऋषिः	श्रीभागवतविद्यापीठः	कृष्णशङ्कर शास्त्री

विक्रम संवत्सरः २०४२

शालिवाहनः

प्रकाशकः
श्रीभागवतविद्यापीठ : कृष्णधाम : सोला : अहमदाबाद ५४

प्राप्तिस्थानानि

श्री भागवतविद्यापीठ — कृष्णधाम : सोला : अहमदाबाद ५४ टे. नं. ४४३८३९
श्रीमती वीणाबेन मनहरलाल — ५ आनंद, ५ वाँ रोड नवयुग सोसायटी वीले पारले मुम्बई ५६ टे. नं. ५७१५५३
श्री वल्लभनिधि कार्यालय : — ३०२ रीलीफ सोपींगसेन्टर जी. पी. ओ. के समीप टे. नं. २२१४५ अहमदावाद

मुद्रकः—प्राणलाल भाईशंकर आचार्य, आचार्य मुद्रणालय, ए १/१२ गायघाट, वाराणसी।

ब्रह्मलीन सेठ जयदयालजी गोयन्दका

प्रादुर्भाव:	तिरोभाव:
ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठी सं. १९४२	वैशाख कृष्ण द्वितीया सं. २०२२

सत्संगसंसदि सदा विहितोपदेश ! स्वाध्यात्मभावभरभावितसत्प्रदेश !
गीताविचारजलधे ! जय 'जैदयाल' ! वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम् ॥

कृतं पुण्यं पूर्वैर्जनकजननीवंशसुजनैः तपोयात्रातीर्थाटनयजनपूर्तार्चनचयः ।
गुरोः सेवा दानं हरिपदसरोजेष्ववतिरतिर्यतो वंशे सन्तः सुतजयदयालाः सुकृतिनः ॥

समर्पणम्

श्रीमतां ब्रह्मण्यानां ब्रह्मलीनानामुदारचरितानां पवित्रात्मनां परमवैष्णवानां
न्यायनिष्ठावतां नित्यकर्तव्यरतानां श्रीगीतामुद्रणालयसंस्थापकानां
श्रीमतां श्रीजयदयालगोयन्दकाश्रेष्ठिमहानुभावानां
जन्मशताब्दीपर्वणि वैक्रमके २०४२ तमे संवत्सरे
तेषां करकमलेषु सुमङ्गलेषु
विविधव्याख्यासमलङ्कृतस्य श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धस्य
सुमङ्गलं जन्मप्रकरण-तामसप्रमाणप्रकरणसंवलितं
"स्नेहात्सात्कृतमेतदाद्यकमलं श्रीकृष्णलीलाम्बुधेः" ।

ब्रह्मलीनश्रीजयदयालगोयन्दकामहोदयानां जन्मपत्रिका

स्वस्ति श्री १९४२ तमे वैक्रमाब्दे १८०७ तमे शाके प्रथमज्येष्ठमासे कृष्णपक्षे षष्ठ्यां तिथौ गुरुवासरे तिथिमानम् १६।५५, घनिष्ठाभं ३१।५५, दिनप्रमितिः ३३।१९, तत्रार्कः १।२२।५।००, तद्दिने सूर्योदयादिष्टम् ००।३९।३०, लग्नमानम् १।२६।१०।५४, तस्मिन् समये राजस्थानस्थितचूरूग्रामे श्रीखूबचन्दगुप्तस्य धर्मपत्न्याः दक्षिणकुक्षितः शुभं जननम् ।

ता. ४-६-१००७

अथ जन्माङ्गम्

श ३ शु.
१
४
बु २ सू
मं
१२ के
५ वृ.
११
६ रा
८
१०चं
७
९

परमभागवत सेठ जयदयाल जी गोयन्दका

भारतवासियोंको गीताप्रेसके संस्थापक एवं संचालक ब्रह्मलीन सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका परिचय देना सूर्यको दीपक दिखानेके समान ही है। भारतके सभी प्रान्तोंके शिक्षित-अर्धशिक्षित सभी लोग, चाहे वे हिन्दी-भाषी हों या नहीं, गीताप्रेससे परिचित हैं और जिन्होने भी गीताप्रेससे प्रकाशित साहित्य पढ़ा-सुना है, वे सेठजीके नामसे अपरिचित हों, यह सम्भव नहीं। भारतके सभी संत-महात्मा और विद्वान् तो गीताप्रेस और सेठजीसे भलाभाँति परिचित हैं ही।

ये साधारण पुरुष नहीं, कोई विशेष विभूति थे। भगवत्-प्रेरणासे विशेष कार्यहेतु संसारमें आये और उसे करके चले गये।

इनका जन्मस्थान कहलानेका गौरव राजस्थानके 'चूरू' नामक छोटे-से नगरको प्राप्त हुआ। जिस वंशको इन्हें उत्पन्न करनेका गौरव मिला, वह भी धन्य है। वह परिवार है श्रीखूबचन्दजी गोयन्दकाका, जिन्हें इनका पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

वि० सं० १९४२ के प्रथम ज्येष्ठ मासकी कृष्णा षष्ठीको इनका जन्म-दिवस होनेका गौरव मिला।

पाठशालामें शिक्षा नाममात्रकी मिली। तत्कालीन सामाजिक प्रथाके अनुसार इनका विवाह भी १२-१३ वर्षकी आयुमें ही कर दिया गया।

जब ये लगभग १४ वर्षकी आयुके थे, तभी एक संत श्रीमंगलनाथजी महाराजका चूरू पधारना हुआ। ये संत त्याग-वैराग्य-ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति थे। इनके सत्संगका अवसर जयदयालजी गोयन्दकाको भी मिला। इतनी छोटी आयुमें भी इन सन्तके सत्संगका श्रीजयदयालजी गोयन्दकापर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उसको देखकर यही लगता था कि ये या तो कोई योगभ्रष्ट जीवात्मा थे या भगवान् द्वारा प्रेरित कोई विशेष विभूति।

इन्होंने संत मंगलनाथजी महाराज द्वारा बतायी गयी साधना आरम्भ कर दी। विशेष पढ़े-लिखे न होनेपर भी धार्मिक ग्रन्थोंको पढ़कर हृदयंगम कर लेना इनके लिए कोई कठिन कार्य नहीं था। साधनाका अभ्यास थोड़े समयमें ही इतना गहरा हो गया कि चलते-फिरते इनको भगवान्की स्मृति और ध्यान रहने लगा।

गीता पढ़ते समय जब ये अठारहवें अध्यायके ६८-६९ वें श्लोकपर पहुँचे, तभी इनके मनमें यह बात बैठ गयी कि गीताका प्रचार-प्रसार भगवान्को सर्वाधिक प्रिय है। तभीसे ये गीता-प्रचारमें लग गये और इनके जीवनका यही एकमात्र लक्ष्य हो गया।

इन्होंने गीताकी अनेक टीकाओंका अध्ययन किया और उसके बाद सबका सार लेकर गीतापर एक स्वतंत्र टीकाकी रचना की, जिसका नाम रखा गया 'तत्त्वविवेचिनी'। बादमें इसका अंग्रेजी-अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

व्यापारहेतु ये राजस्थानसे बंगालके बांकुड़ा जिलेमें आकर अपने मामा बाजोरिया-परिवारके साथ रहने लगे। व्यापारमें ये सर्वदा सत्य और ईमानदारीका हीं व्यवहार करते। इस कारण इनका व्यापार भी खूब फला-फूला।

बांकुड़ासे कलकत्ता निकट ही है। कलकत्ता आना-जाना होने लगा। वहाँके लोग इनसे सत्संग सम्बन्धी वार्तालाप करते थे। धीरे-धीरे बहुत-से लोग इनके सत्संगसे प्रभावित होते गये। कलकत्ता-प्रवासमें कभी किसीके घर और कभी किसीके घर, कभी व्यापारकी गद्दीमें सत्संग-गोष्ठियाँ होने लगीं। किलेके मैदानमें भी एक निश्चित स्थान तथा समयपर लोग एकत्र होते थे। बादमें सत्संग हेतु किसी निश्चित स्थानकी व्यवस्थाके प्रस्तावपर कलकत्तामें बांसतल्ला गलीमें एक अच्छा-सा स्थान, जिसमें पर्याप्त लोग बैठ सकें, किरायेपर लिया गया, जिसका नामकरण हुआ 'गोविन्द भवन'। वहाँ प्रातः-सायं दोनों समय नियमित रूपसे सत्संग होने लगा। प्रातः काल नित्य गीता-पाठ एवं प्रवचन और सायंकाल प्रवचन, भजन, गायन, संकीर्तन आदि चलता था। जिन दिनों श्रीगोयन्दकाजी कलकत्तामें रहते, उन दिनों उनका प्रवचन भी गोविन्द-भवनमें होने लगा। धीरे-धीरे हजारों श्रद्धालुओंकी भीड़ एकत्र होने लगी और स्थान छोटा पड़ने लगा। इसलिए आगे चलकर महात्मा गांधी मार्ग (तत्कालीन हरिसन रोड) में, जहाँ वर्तमानमें गोविन्द भवन कार्यालय है, पहले तल्लेपर बड़े हालमें सत्संग-प्रवचन चलने लगा। वहाँ अधिक भीड़ होनेपर लोग बाहर भी बैठकर प्रवचन सुनते तथा कीर्तनमें भाग लेते थे।

गोविन्द भवनकी स्थापनाके पूर्व सत्संगप्रेमी बांकुड़ा जाकर भी गोयन्दकाजीके घर पर सत्संगके लिए रहा करते थे। ऐसे लोग कभी-कभी तो सैकड़ों की संख्यामें हो जाते थे। सभी उनके घर उनके साथ ही भोजन-प्रसाद पाते थे। परिवारके सदस्य मिलकर अतिथियोंकी सेवा करते थे। इतने व्यक्तियोंके लिए भी परिवारकी महिलाए अपने हाथसे ही भोजन बनाकर बड़े भाव और प्रेमसे भोजन करातीं थी।

उन दिनों शुद्ध पाठकी गीता उपलब्ध न होनेसे गीताप्रकाशनका काय हाथमें लेने पर विचार हुआ। एक बार तो बाजारकी प्रेससे गीताका मुद्रण करवाया गया, किन्तु अभावकी पूर्तिके लिए अपना प्रेस लगानेका निश्चय किया गया। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके परिणाम स्वरूप वि० सं० १९८० में गोरखपुरमें 'गीताप्रेस' नामसे मुद्रण-शाला स्थापित करके गीताका प्रकाशन आरम्भ किया गया। ज्यों-ज्यों मांग बढ़ती गयी, मुद्रण-यन्त्र भी बढ़ने लगे।

सत्संगियोंमें एक विशेष व्यक्ति थे श्रीहनुमानप्रसाद जी पोद्दार जो 'भाईजी' के नामसे विशेष विख्यात हैं। गोयन्दकाजीके सत्संगसे वे बहुत प्रभावित थे। अपने बम्बई निवास-कालमें 'भाईजी' श्रीगोयन्दकाजीको आग्रहपूर्वक बम्बई बुलाया करते थे, जहाँ श्रीगोयन्दकाजीका प्रवचन सुनने बहुत-से लोग एकत्र होते थे।

सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्रीघनश्यामदासजी बिरला भी गोयन्दकाजीसे प्रभावित थे। उन्हींके संकेत पर गोयन्दकाजीके विचारोंके प्रचार-प्रसारके लिए एक मासिक पत्र प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। उसका श्रीगणेश बम्बईमें हुआ और सम्पादकीय कार्यका उत्तरदायित्व भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने सम्हाला। मासिक-पत्रका नाम रखा गया 'कल्याण', और वि० सं० १९८३ के श्रावण मासमें इसका प्रवेशांक प्रकाशित हुआ। १३ महीनों तक बम्बईसे प्रकाशित होनेके बाद सुविधाकी दृष्टिसे 'कल्याण' का प्रकाशन गीता प्रेस, गोरखपुरसे आरम्भ किया गया।

गीता प्रेससे शुद्ध मुद्रित गीता, 'कल्याण', भागवत, महाभारत तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ इतने सस्ते मूल्य पर जनता के पास पहुँचानेका श्रेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका को ही है।

श्रीगोयन्दकाजीका रहन सहन इतना सादा था कि उनको देखकर कोई विश्वास नहीं करता था कि वे ही गीता प्रेसके संस्थापक और संचालक हैं। उस जमानेमें वे रेलमें तीसरे दर्जे (थर्ड क्लास) में यात्रा किया करते थे, जब कि निजी सामर्थ्यकी दृष्टिसे नियमित रूपसे प्रथम श्रेणी (फर्स्ट क्लास) में यात्रा कर सकते थे। उनकी प्रबल धारणा थी कि आचरणके द्वारा ही लोगोंको सादगी सिखायी जा सकती है।

एक बार सत्संग प्रवचनमें किसीके द्वारा इनको पता लगा कि हमारे द्वारा पहिना जाने वाला जूता पशु-हिंसा प्राप्त चमड़ेसे बनता है। यह ज्ञात होते ही गोयन्दकाजीने अपने जूते वहीं छोड़ दिये और नंगे पांव ही चल पड़े। इसके बाद उन्होंने मोटर गाड़ियोंके पुराने टायरोंकी सोल बनवाकर तथा केनवसका कपड़ा लगवाकर जूतेका निर्माण करवानेकी व्यवस्था की, जिससे लोगोंको हिंसाहीन जूते मिल सकें। उन दिनों क्रैपसोल नहीं होती थी। यह तो बहुत बादमें बाजारमें आयी।

मारवाड़ी समाजमें महिलाओंके सौभाग्यवती होनेका सूचक होती थीं उनके हाथोंमें पहिनी हुई लाखकी चूड़ियाँ। किन्तु 'लाख' द्रव्य हिंसासे प्राप्त होता था, इसलिए गोयन्दकाजीने अपने प्रवचनमें लोगोंको समझाकर लाखके बदले कांचकी चूड़ियोंका प्रचलन करवाया।

उन दिनों समाजमें विलायती वस्त्रोंका बहुत प्रचलन हो गया था, जिसके बुननेमें माड़ीमें चर्बी लगती थी। इसके लिए श्रीगोयन्दकाजीने अपने प्रवचनोंमें हस्तनिर्मित वस्त्र पहिननेकी सलाह दी। लोगोंने जब शिकायत की कि शुद्ध वस्त्र कहाँसे मिलें, तब गोविन्द भवन कार्यालयके अन्तर्गत एक हस्तनिर्मित वस्त्रविभाग भी आरम्भ कर दिया गया।

श्रीगोयन्दकाजी चलते व फिरते समय बराबर भगवान्की झांकीका ध्यान किया करते थे, जो खुली आंखों हो सकना कठिन था। इसीलिए वे चलते फिरते समय सदैव किसी एक व्यक्तिका कंधा पकड़कर चलते थे।

भारतीय शिक्षण प्रशिक्षणकी परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखते हुए बालकोंकी शिक्षा-दीक्षाके लिए गोयन्दकाजीने चूरू (राजस्थान) में एक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की। इस संस्थानकी देख-रेख हेतु तथा जन्मस्थान होनेके कारण उनका चूरू आना-जाना होता रहता था। एक बारकी घटना है कि चूरूकी हरिजन बस्तीमें आग लग गयी और अनेक परिवार बाल-बच्चों सहित निराश्रित हो गये। इससे द्रवित होकर गोयन्दकाजीने उनकी झोपड़ियाँ बनवा दीं। लेकिन कुछ दिनों बाद पुनः वह बस्ती आगसे जलकर राख हो गयी। गोयन्दकाजीने पुनः झोपड़ियाँ बनवा दीं। इसी प्रकार जब तीन बार हो चुका, तब एक सज्जनने उनसे कहा कि भगवान जब इन हरिजनोंको निराश्रित ही रखना चाहते हैं तो इनके लिए झोपड़ियाँ बनवाकर क्यों दी जाँय। उत्तरमें श्री सेठजीने विनम्रतापूर्वक कहा कि भगवान क्या चाहते हैं, यह देखना हमारा काम नहीं है, हमारा कर्त्तव्य तो संकटग्रस्तोंकी सहायता करना है। भगवान यह अवसर दे रहे हैं तो सोत्साह उसका सदुपयोग करना चाहिये।

स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में सत्संगियोंके निवासहेतु निर्मित 'गीता–भवन' गोयन्दकाजीकी ही सूझ एवं प्रयास का परिणाम है। वहाँ प्रति वर्ष हजारों व्यक्ति तीन–चार महीने सुखपूर्वक निवास करते हुए गंगा–स्नान एवं सत्संगका लाभ उठाते हैं।

लोग उन्हें निर्गुण–निराकार ब्रह्मका उपासक मानते थे, किन्तु वे सगुण–साकारकी उपासनाके भी उतने ही समर्थक थे, जितने निर्गुण–निराकारके।

निराकार निर्गुणके उपासक होते हुए भी एकादशीके दिन विशेष करके एवं अन्य अवसरोंपर भी अपने ढंगका नृत्य करते तथा दोनों हाथों में छोटी झांझ बजाते उनके भगवन्नाम संकीर्तनको देखकर लोग मुग्ध हो जाते थे।

गीताजयंतीके अवसरपर गीता अध्याय ११ के श्लोक ३६ से आरम्भ प्रार्थनाका पाठ करते समय उनके अश्रु-प्रवाहको देखकर और गद्गद् वाणीको सुनकर दर्शकगण स्वयं भी द्रवित हो जाते थे।

अन्तिम दिनोंमें उन्हें पित्ताशयकी पथरीका रोग हो गया, जिससे बहुत वेदना होती थी। डाक्टरकी दवाका तो प्रश्न ही नहीं, आयुर्वेदिक दवाओंमें भी केवल उसीका सेवन करते थे जो अपने घरमें वैद्यके द्वारा बनायी गयी हो और उसमें किसी प्रकार का अशुद्ध अथवा हिंसासे प्राप्त वस्तुका उपयोग न किया गया हो। समय-समयपर उनको बहुत वेदना होती थी, जिसको वे चुपचाप सहन कर लेते थे। भीषण वेदनाके दिनोंमें भी वे अपनी त्रिकाल संध्या और गायत्री-जप का नियम निभाते रहे। जब शय्यापरसे उठनेकी भी शक्ति न रही तो लेटे–लेटे ही मानसिक संध्या कर लेते थे और अंगुलियों के पोरों पर गिनकर गायत्रीमन्त्रका जप किया करते थे।

गंगा तटपर स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) स्थित गीता-भवनमें शनिवार, वैशाख कृष्णा द्वितीया, वि० सं० २०२२ के दिनके चार बजे अपनी पंचतत्त्वनिर्मित कायाका परित्याग करके श्रीगोयन्दकाजी ब्रह्मलीन हुए। उनका अनुकरणीय जीवन सच्चे साधकोंके लिए एक लक्ष्य है।

———

श्रीहरिः

——कानिचित् कुसुमानि कवि-कोविद्वरवरदकरकमलेषु —

तत्र किलायं :——श्रीवृन्दावनविहारि-कुञ्जपुण्ययशःपुञ्जविस्तारि-निकुञ्जनायिकाहृदयहारि-निकुञ्जनायिकावृन्दप्रेम-पुञ्जवितारि-श्रीस्वामिनीवदनाम्बुजस्यन्दितामन्दमकरन्दरसामृतास्वादनामोदमदमत्तचित्त-रसलोलुप-रसनिधि—श्रीनन्दयशोदा-नन्दपरिलसितरुचिरोत्सङ्गवात्सल्यरसपोषित-पालित-लालितविलसद्वपुषः श्रीव्रजयुवतीमतिविलसितरतिनिवासैकवरविग्रहस्य गिरिवरधरस्य निजजनोन्नतिकरमनसः सुमनसः भक्तजनचक्षुश्चकोराभिलषितामृतपानैकमुखाम्बुजपात्रस्य रसगात्रस्य श्रीव्रजललनाललित-सुपेशललसत्श्रीमत्करकमलसंलालितसरोजश्रीचरणस्य गोपजनप्रियाचरणस्य भगवतः श्रीकृष्णचन्द्रस्य श्रीगोकुलचन्द्रस्य :—"चरितामृतोच्छ्वलितः सुललितः निरोधाभिधः विरोधिधर्माश्रितः श्रियाश्रितः तामसादित्रितयभक्तजन-मानसकषायशोषकभावपोषकश्रियान्वितः हृदयाभिधः सहृदयानन्दसन्दोहः सदोदयः सदयः श्रीदशमस्कन्धः" :—

तस्य किल दशमस्कन्धकल्पतरोरवान्तरः एक एकादशाध्यायसंवलितः सुमधुरः स्कन्धो नित्यं प्रकटोऽपि ग्रन्थविग्रह रूपेण साम्प्रतं प्रकटीभवति भवति भाववति विद्वद्वरवृन्दवृन्दावनभूतले भूतले। भागेऽस्मिन प्रकरणद्वयी :—

तत्राद्या दयितस्याजन्मनो जन्मकथायाः कथयित्री त्वध्यायचतुष्टयी। अथाऽपरा तामसप्रमाणप्रकरणसंज्ञका सप्ताध्यायी। सा किल भगवता पुरुषोत्तमेन श्रीकृष्णेन निःसाधनानां स्नेहस्नेहैकसाधनानां निजानां पुष्टिजीवानां स्वस्मिन्नि-रोधाया चरितायाः श्रीशुकाचार्यचरणैश्च दशमस्कंधे पञ्चमाध्यायादारभ्य पञ्चत्रिंशदध्यायपर्यन्तं निरूपितायास्तामसलीलायाः प्रकरणेष्वन्तर्भूता। अस्याः खलु तामसलीलायाः प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलेति संज्ञकानि चत्वारि प्रकरणानि। प्रत्येकस्मिन् प्रकरणे सप्ताध्यायी वर्तत इत्थं चतस्त्रः पञ्चाध्यायाः सन्ति तामसप्रकरणे। निरोधाभिधस्य दशमस्कन्धस्य नवतिसंख्यका ध्यायानां प्रकरणविनिगमकमस्ति श्रीमतां श्रीकृष्णास्यानामास्याम्बुजान्निःसृतं वचनामृतम्।

"चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा। षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम॥"

नैतद् वचनामृतं साम्प्रतं चर्च्यते चिन्त्यते विविच्यते, किन्तु नातिचिरेण समागच्छति समस्तस्य दशमस्कन्धस्या-मुखनिरूपणोन्मुखोऽवसरस्तदावश्यं पुरस्करिष्यते पुरस्तात् श्रीनाथपादारविन्दचेतसां प्राचेतसामथ किल प्राञ्जलो भविष्यतीति विकीर्यन्ते प्राञ्जलि कानिचित् कुसुमानि कविकोविद्वरदवरकरकमलेषु।

अयि श्रीमन्तः श्रीरसराजलीलारसामृतार्णवावगाहनाचमनातुरमानसाः मनस्विनः सूरिवराः बहुश्रुताः श्रुतिश्रुतमानस-सरोराजहंसाः! जानेऽहं यच्छ्रीमतामतिमतिप्रियश्चिरकांक्षितश्चायं दशमः स्कन्धः किन्तु विलम्बेनोपगच्छति भवतां करसंपुटे तदर्थं क्षन्तव्योऽयञ्जनः। तत्राऽस्ति कारणप्राचुर्यम्। प्रथमं तु आसीदेका मनीषा साम्प्रतमपि वर्त्तते यद् यावच्छक्यं दशमस्कन्धस्य मुद्रिता अमुद्रिता यत्र कुत्रापि संरक्षितास्टीकाः संकलय्य प्रकाशनीयाः। प्रयतितं तदर्थं प्रयत्यते च साम्प्रतं भगवत्कृपया च यावत्यष्टीकाः करगताः तास्तु सन्निवेशिताः। श्रूयन्ते चापराः सन्ति, मृग्यन्तेऽधुना, यद्युपलब्धास्तर्हि तासामग्रिमेषु भागेषु सन्निवेशो भविष्यति। यदि वा भवतां दृष्टिपथं सन्ति ताः अपि यदि वा समीयुस्तर्हि सूचनीयं येन तदुपलब्धये प्रयत्येत। सन्त्यन्यानि मुद्रणालयासौकर्य—महर्घतां-प्राचुर्यार्थराश्यपेक्षादीनि बहूनि कारणानि किमर्थं तानि व्यर्थं वर्णयितव्यानीत्यलं वाग्व्ययेन।

भगवान् किल कृपालुस्तस्यैवायं प्रकाशनमनोरथस्तेनैव कृपासिन्धुना सर्वथा पूर्यते पार्यते वै। शृण्वन्तु सन्तः :—तत्र खलु दशमस्कन्धप्रकटनकार्यं कथं स्थगितमित्यभिज्ञातायाभिज्ञानां श्रीराधावर—जिज्ञासादलमुत्साहसंवलितमासादिवान श्रीकृष्णचन्द्रचरणसरोजप्रत्यभिज्ञानां तदीयजनानां सदयानां श्रीजयदयालडालमियासुहृदयानां यत्केनान्तरायेनान्तरितमिदं भगवत्कार्यम्? विदितवृत्तान्तानां भक्तिरसचेतसां सचेतसां तेषामनुनयेनानुरागेण पुण्यसंचयेन पुण्यार्थराशिना पुनरुदेति दशमस्कन्धप्रकटनप्रकाशतरणिः। न केवलमेतदेव किन्तु मदुत्साहमतिशेते ह्येतेषां प्रकटनविषयकोत्साहप्रयासदुर्लभग्रन्थप्रति-लिपिविधानादिसेवासन्दोहसमूहः।

तत्रेदं श्रीकृष्णलीलामृतरससरसः श्रीदशमस्कन्धस्यैकादशाऽध्यायदलललितमाद्यं कमलं कमलावरवरदचरणकमलसेवा-रतानवरतगीतामृतदानव्रतवदान्यार्याचाराचरणसंशितव्रतनिरयसरसङ्गव्रतिभ्यो यतिभ्यः परमभागवतेभ्यः श्रीगोविन्दपदपद्म-निष्ठमिलिन्देभ्यः "श्रीजयदयालजी" गोयन्दका श्रेष्ठिभ्यः सादरं सस्नेहं सानुनयं सप्रश्रयं समुपायनीकृतं सत् श्रीगोवर्धननाथ-

श्रीकृष्णचन्द्रचरणकमलयुगलं निश्चितमेष्यति नितरामप्रसादयिष्यति सैव भगवत्सेवा स एव भगवत्तोषः स एव भगवत्प्रसादः। यतो हि "तदीयाश्चेत्" स्वतस्तुष्टास्तुष्टः कृष्णो न संशयः" इत्याचार्यचरणानामाज्ञा प्रमाणम्।

येभ्यो भगवदीयेभ्यः सात्क्रियते कमलकुसुमं तेषां सर्वतोगामि यशः इत्थं श्रूयते :—

कृतं पुण्यं पूर्वैर्जनकजननीवंशसुजनैः तपो यात्रा तीर्थाटनयजनपूर्तार्चनचयः।
गुरोः सेवा दानं हरिपदसरोजेष्वतिरतिः यतो वंशे सन्तः सुतजयदयालाः सुकृतिनः॥

जयन्तु ते सुकृतिनः—येषां किल—

व्यापारे शुचिता नये निपुणता ह्यर्थे तु सेवार्थता धर्मे तत्परता व्रते सुदृढता चार्तेषु नित्यात्मता।
भक्तौ तन्मयता कृतौ सरलता भक्तेषु सद्बन्धुता आतिथ्ये प्रियता हरौ सरसता पुण्ये सदा रागिता॥
शास्त्रार्थे जयिता गुरौ विनयिता संकीर्तने स्निग्धता व्याख्याने वशिता वचोमधुरता चारित्र्यसंवादिता।
आचारे स्थिरता क्रियाचतुरता लक्ष्ये सदैकाग्रता वक्तव्ये मृदुता कथारसिकता शीले परा साधुता॥
सत्संगे ममता जनेषु समता सत्सेवने दीनता दर्पेषु क्षमता धने विमलता भोगेष्वनुत्सेकिता।
त्यागे ह्यास्तिकता सतां कवयिता गीतामृतस्यन्दिता रोगे पूर्णसहिष्णुता परतराऽशुच्यौषधत्यागिता॥
वैराग्ये स्थिरता परं हरिजनोत्कर्षे परोदारता भाईजी हनुमत्प्रसादसुजनस्यात्यन्तिकी संगिता।
एभिर्दिव्यगुणैः सदा विजयिनो **गोयन्दका श्रेष्टिनः तेभ्यः सात्कृतमेतदाद्यकमलं श्रीकृष्णलीलाम्बुधेः**॥

श्रीनिरोधलीलामृतसरसोऽन्यानि कमलानि क्रमशः कृपार्णवस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यानुकम्पया नातिचिरमुद्भयिष्यन्तीति विश्वसिमि।

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धस्य मुद्रण-टीकासम्पादन-प्रकाशनादिभगवत्कार्ये सेवासहयोगिनः कान् कान् भगवदीयजनान् स्मरामि! तथापि स्नेहवशैः स्वनामधन्यैर्मान्यैर्वदान्यैर्विद्वद्भिः सद्भिः सुहृद्भिः सहयोगिभिः स्वजनैरन्यैरनन्यैर्वा तनुवाङ्मनोर्थनिचयैः शतशः प्रकारैः समुपकृतं तान् कांश्चन स्मृतिपथमुपगतान् निवेदयामि।

स्मरणपटलमुपायातेषु सुकृतिषु तेषु कोमल-विमल-सरलचेतसां भक्तिचेतसां भगवदनुग्रहभाजनानां श्रीजयदयालडालमियाश्रेष्ठिनां श्रेष्ठान् सुगृहीतनामधेयान् सुमङ्गलान् कुलजान् अङ्गजान् अङ्गनाश्च सानुनयं स्मरामि—

भक्तो विष्णु-हरिर्गुणी नरहरिर्लोकेशचन्द्रः सुधीः। सत्सेव्यो मृदुलः सदामृदुहरिर्भाग्यं पितुः सत्सुतैः।
एवं श्रीललिताऽरुणा हरिरता चोमावदान्या पुनः। श्रीन्दुः कृष्णपरा हरौ रसमयी पुण्या ह्युषा यत्कुले॥
अहो भाग्यमहोभाग्यं श्रीमद्डालमियान्वये। पुत्र्यः पुत्राः प्रपौत्राः श्री-पुत्रपुत्रभार्याश्च सद्व्रताः॥

वन्दे वन्द्यानाचार्यानृषिकल्पान् विद्वन्मतल्लजान्—यतो हि संपूर्ण-श्रीमद्भागवतं येषां विविधाभिष्टीकाभिर्विशदीकृतं सुविवेचितं समुपलभ्यते यद्रसिका भागवतरसपिपासवः सुखेन भागवतार्थरसं पातुं प्रभवन्ति मोदमाप्नुवन्ति। साम्प्रतं तेषां विषये न किञ्चिद् विलिख्यते किन्तु समस्तभागवतस्य प्रस्तावनालेखनाऽवसरे किञ्चिन्निवेदयिष्यामि।

भगवदिच्छया दशमस्कन्धे "दुर्घटभावदीपिका" विरोधोद्धारः" "श्रीभागवततात्पर्यटीप्पणी" "श्रीभागवतटीप्पणी" इत्याद्यानामधिकानां टीकानां सन्निवेशे श्रीभक्तिवृन्दावनमहाराजानां पुस्तकालयस्य पुनः सर्वशास्त्रविदां श्रीमतां श्रीवासुदेवचतुर्वेदिशास्त्रिवर्याणामौदार्यं सौजन्यं यशोभाग् भवतीति तान्महामनसो नमामि। ग्रन्थमुद्रणे यथावसरेऽत्यावश्यकोत्तमकक्षीयमुद्रणपत्राणां योग्यमूल्येन प्रदानव्यवस्था श्रीमद्भिश्श्रेष्ठिप्रवरैः श्रीमेसर्स स्ट्रा प्रोडक्टलिमिटेड संस्थासंचालकैः श्रीहरिशंकर सिंहानिया महाभागैः कृतेति तेषां सार्वत्रिकं कल्याणं विदधातु भगवान् श्रीकृष्णः। अत्राऽवसरे कृतभूरिपरिश्रमान् श्रीनित्यानन्दब्रह्मचारिमहाभागानेवं आधिदैविकार्थनिधिवतां श्रेष्ठिनामर्थौदार्येण प्राक् प्रकाशितं श्रीमद्भागवतं तान् पुण्यश्लोकान् कथं विस्मरेयं यतो हि तेषामेव सुभक्त्या वयं श्रीमद्भागवतस्य विविधटीकावगाहनभाग्यभाजः समभवामेति निश्चप्रचम्। पुनः श्रीमद्भगवद्विग्रहस्य श्रीमद्भागवतस्य प्रकाशनमुद्रणादिमहती सेवा श्रीभागवतविद्यापीठन्यासस्य न्यासिभिः सहर्षं सानुनयं सदैन्यमनुमता तानपि बहुमानयामि।

जननीनिर्विशेषया श्रीभाईदासश्रेष्ठिधर्मपत्न्या निरतिशयवात्सल्येन मां परिपोषयन्त्या "श्रीचन्दा" जनन्या न केवलं प्रकाशनकर्मणि किन्तु भगवन्निर्दिष्टेषु मदीयेषु सर्वेषु कार्येषु सततमुपकृतमुपक्रियते तां मातरं मनसा नमामि। एवमेव श्रीमनोहरलालश्रेष्ठिभिस्तेषाञ्चार्धाङ्गनया श्रीवीणादेव्या तत्तनुजया श्रीउषाकुमार्या, श्रीलल्लूभाई नागरदास तनयया श्रीसरलाकुमार्या निरंतरं मामकीनेषु "श्रीभागवतविद्यापीठ-श्रीवल्लभनिधि-श्रीकृष्णनिधि-श्रीवल्लभनिधिरुरलडेवलपमेन्ड-

फाउन्डेशन-श्रीसमर्पणादि" न्यासकार्येषु दिवानिशमहर्निशं कार्यजातं परिपार्यतेऽतस्तासां सततं भगवच्चरण-कमलसेवायाम-हैतुकीमजस्रोरतिं कामये।

मत्पितृचरणैः श्रीदलसुखरामपाठकैर्मन्मातृचरणश्रीडाहीबादेव्याऽहं लालितः पालितः पोषितस्ततोऽधिकं भगवन्मार्गे श्रीभागवतमार्गे सद्विद्याध्ययने सन्नीतस्ततस्तदीयचरणसरोजरेणून् शिरसा सततं बिभर्मि। नित्यं गृहस्थस्यापि श्रीमद्भागवतकथाप्रवचनार्थं भगवदिच्छया परिव्रजनव्रतस्य सततं ग्रन्थलेखनप्रकाशनादिकार्यरतस्य मम विरहं सानुरागं सहन्तीं शीलवतीं सानुनयां तपस्विनीं मद्धर्माङ्गिनीं श्रीतारादेवीं बहुमानयामि या मां तारयति संसारसागरात्। मज्जीवन-सर्वस्वस्य मत्पुत्रस्य "श्रीकर्दम" ऋषेरिदमाजीवनव्रतमासीद्यत् श्रीभागवतविद्यापीठस्य सर्वक्षेत्रीया सेवा विधेया तेनाजीवनं निर्वाहितं तदवशिष्टं व्रतं तदीयतनयः श्रीभागवत ऋषिः परिपूरयतु परिपालयतु श्रीपुष्टिपुरुषोत्तमस्य पूर्णयाऽनुकम्पया।

भ्रातृनिर्विशेषं स्नेहं निरंतरं संरक्षन्तं श्रीप्राणलालाचार्यं कथं विस्मरामि येन श्रीकाशीविश्वनाथकृपया काश्यां प्रकाशं गच्छतः श्रीमद्भागवतस्य मुद्रणादिः सर्वः कार्यभारः स्वशिरसि नीतः पारितः पारयिष्यति भगवदनुग्रहेणाहं तु तदीयं दीर्घमायुरारोग्यं सार्वविधं मङ्गलञ्च कामये। कृतेऽपि भूरिश्रमे यंत्रालयदोषादक्षरविन्यासकप्रमादाद्बहवो हि दोषा भविष्यन्ति संशोधनकर्मणि किन्तु विदुषामनादीनवया रत्या मत्या दृष्ट्या निर्दुष्टं भगवद्विग्रहस्वरूपं श्रीमद्भागवतं सङ्गप्रसङ्गाच्च रसत्त्व-मेवैष्यति नात्र संदेहः।

क्षमां कुर्वन्तु क्षमिणो विद्वज्जनाः! भवतां चिरंतनकालाच्छ्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धस्य रसपानपिपासाऽऽसीत्। भवतामेवाशिषा च परयाऽऽर्त्या निरोधलीलायाः प्रथमोंऽशः प्रकाशते दयया दत्त्वाशिषं येनाऽविलम्बमवशिष्टा अंशाः प्रकाशं गच्छन्तु।

मार्गशीष कृष्ण नवमो श्रीविठ्ठलेश प्रभु प्रादुर्भावपर्व वि. सं. २०४२ **तदीयजनकिङ्करः**

श्रीरसराजगोवर्द्धननाथचरणकमलयोः सादरमुपायनीक्रियते—श्रीरसराजपाटोत्सवपर्वणि **कृष्णशङ्करः**

फाल्गुनशुक्लद्वितीया : २०४२ ता. १३।३।८६ : सौम्यः

दशमस्कन्धः पूर्वार्द्धः

अध्यायसूची

———

श्री हरिः

❀ श्री गणेशाय नमः ❀

—अनेकव्याख्यासमलङ्कृतम्—

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः पूर्वार्धः—जन्मप्रकरणम्

—०-:❀:-०—

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्लोक	अनु०	मि० उ०	उपे०	वसंत	वंशस्थ	उवाच	अध्याय-अक्षर	उवाच अक्षर	श्लोक अक्षर	संक० अक्षर	संक० अ० श्लोक
६९	५८	७	१	१	२	९	८९	५४	२३७७	२५२०	७८।।

राजोवाच—कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः । राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।

श्री कर्दमक्षमा

अन्वयः—राजा उवाच, मुनिसत्तम भवता सोमसूर्ययोः वंशविस्तारः कथितः च, उभयवंश्यानां राज्ञां परमाद्भुतं चरितं (कथितं) च (मुनिसत्तम) नितरां धर्मशीलस्य यदोः (चरितं कथितम्) ॥ १½ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

श्रीगणेशाय नमः

विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितम् । श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमाम तत् ॥ १ ॥
दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम् । क्रीडद्यदुकुलाम्भोधौ परानन्दमुदीर्यते ॥ २ ॥
दशमे कृष्णसत्कीर्तिवितानायानुवर्ण्यते । धर्मग्लानिनिमित्तस्तु निरोधो दुष्टभूभुजाम् ॥ ३ ॥
प्राकृतादिश्चतुर्धा यो निरोधः स तु वर्णितः । तत्तत्प्रसंगतः सृष्टिसंहारादिनिरूपणैः ॥ ४ ॥
कृता नवतिरध्याया दशमे कृष्णकीर्तये ।
आदौ चतुर्भिरध्यायैर्ब्रह्मप्रार्थनयाऽवनेः । भारं हर्तुं हरेर्जन्म सप्रसङ्गं निरूप्यते ॥ ५ ॥
गोकुले मथुरायां च द्वारवत्यां ततः क्रमात् । कृष्णलीला त्रिधा प्रोक्ता तत्तद्भेदैस्त्वनेकधा ॥ ६ ॥
सपञ्चत्रिंशदध्यायैर्व्रजवृन्दावनादिषु । गोकुले वसतो लीला वर्ण्यते सुरदुष्करा ॥ ७ ॥
एकेन यमुनावारिण्यक्रूरेण कृता स्तुतिः । एकादशभिराख्याता लीला मधुवने कृता ॥ ८ ॥
शेषैर्द्वारवतीलीला तन्निर्माणादि वर्ण्यते । एवं नवतिरध्याया दशमे विशदार्थकाः ॥ ९ ॥
तत्र तु प्रथमे कंसः स्वमृत्युं देवकीसुतात् । श्रुत्वा भीतोऽवधीत्तस्याः षड्गर्भानिति वर्ण्यते ॥ १० ॥
कृष्णावतारचरितश्रवणामृतनिर्वृतः । उक्तानुवादेनौत्सुक्याद्राजा पृच्छति तत्पुनः ॥ ११ ॥

कथितो वंशविस्तार इति ॥ १½ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ॐ स्वस्ति श्रीगणेशाय नमः

वन्दे देवं पार्वतीजं महेशं वाचं सूर्यं मां गुहं राधिकेशम् । विद्यातीर्थान् सर्वतश्च प्रणम्य व्याख्यां कुर्वे श्रीधरस्वामिवृत्तेः ॥ १ ॥
हरिविधिवशिष्ठशक्तिपराशरव्यासशुकदेवान् । वैशम्पायनमुग्रश्रवसं च नुमः पुराणगुरुमुख्यान् ॥ २ ॥
त्रय्यारुणिं कश्यपं च सावर्णिमकृतव्रणम् । रोमहर्षणहारीतौ मैत्रेयं च मृकण्डजम् ॥ ३ ॥

शेषं सांख्यायनं चाथ चतुरः सनकादिकान् । सर्वांष्टीकाकृतश्चार्यान् कणादं जैमिनिं मुनिम् ॥ ४ ॥
पतञ्जलिमक्षपादं व्यासञ्च कपिलं हरिम् । छन्दःकृतः कोशकृतः साहित्यकृतिनोऽखिलान् ॥ ५ ॥
श्रीनृसिंहं प्रणम्यैव श्रीधरस्वामिनः कृतेः । विवृतिं श्रीधरस्यैव प्रसादादधुना ब्रुवे ॥ ६ ॥
श्रीधरस्वाम्यभिप्रायं श्रीधरो वेत्ति सर्वथा । भविष्यति तत्कृपया तदभिव्यक्तिराशु मे ॥ ७ ॥
क्वचिच्च श्रीधरत्यक्तपदानामपि वर्णनम् । यथामति माथुराणां प्रेरणाऽतो मुहुर्मुहुः ॥ ८ ॥
करिष्यामि विदां प्रीत्यै क्षमन्तां ते मम त्वराम् । पूर्वाचार्यानुग्रहान्मे सर्वेऽर्थाः प्रतिभान्तु वै ॥ ९ ॥
वृन्दारण्यांतर्गते नंदजेन सेवाकुञ्जे संयुतां कीर्तिजाताम् । नत्वा तस्याः प्राप्य चाज्ञां स्वबुद्धया कुर्वे व्याख्यां श्रीधरस्वामिवृत्तेः ॥ १० ॥
प्रथमं दशमस्कंधव्याख्यां कुर्वे कुतूहलात् । श्रीकृष्णलीलामाधुर्यसेवनासक्तचेतसः ॥ ११ ॥
वंशीधरः कौशिकगोत्रगौडवंश्यः कृती श्रीधरवृत्तिवृत्तिम् । करोम्यहं कृष्णपदप्रसादात्तथा गुरूणामनुकम्पयैव ॥ १२ ॥

अथ स्कंधादौ प्रतिस्कंधव्याख्यावसरनमस्कृतश्रीरामप्रणतिं चेतस्यागतातिरम्यश्रीकृष्णलीलास्मृतिविभ्रमेण विहायैव श्रीदशमस्कंधमुख्यवर्णनीयश्रीकृष्णं श्रीधरस्वामी प्रणौति—**विश्वसर्गेति** । वयं तदनिर्वचनीयमियत्तया गुणरूपादिना वेयदीदृगिति वक्तुमशक्यं धाम तेजो रूपं ब्रह्म नमाम बहुत्वं शिष्याभिप्रायम् । नमतेः "विधिनिमंत्रणामंत्रणाधीष्टप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् लोट् च" इति प्रार्थनायां लोट्, नमनेन प्रार्थयाम इत्यर्थः । न तु यत्तदोर्नित्यसंबंधादत्र यच्छब्दोपादानं कथं न कृतमिति चेत्तत्राह "तत्त्वमसि" इति श्रुतौ तच्छब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वदर्शनात्तच्छब्दोऽत्र ब्रह्मवाचको प्रसिद्धः 'सोहं हंसः' इत्यत्र च । ततश्चात्र यच्छब्दोपादानं नापेक्षते प्रक्रांतप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते" इति काव्यप्रकाशोक्तेः । यथा कुमारसंभवे "कला च सा कांतिमति कलावतः" इत्यत्रेति 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । किंभूतं श्रीयते सेव्यते ब्रह्मादिभिः श्रीकृष्णेन वेति श्रीराधा । "सर्वरापूज्यते देवी राधा वृंदावने वने" इति ब्रह्माण्डे ब्रह्मोक्तेः, "यच्चिन्त्यमखिलेश्वरैः" इति तत्रैव नारदोक्तेश्च, 'राधैवाराध्यते' इति श्रीकृष्णोक्तेश्च "राध्यते सा भगवता राधा इत्यभिधा स्फुटम्" इत्यादिपुराणोक्तेश्च श्रीशब्दो राधार्थकः । यद्वा—श्रयति राध्नोति सर्वदा वृंदावननिकुंजगं श्रीनंदनंदनमिति श्रीराधा । "वृंदावने निकुंजस्थो राध्यते सर्वदा यया । नंदसूनुरतो राधा सोच्यते मुनिसत्तम ॥" इति पुराणांतरात् । कृषति निजसमीपमाकर्षति वेणुरवेण वल्लवीगणमिति कृष्णो यशोदानन्दनः । ननु मधुरगीतादिना त्वन्येऽपि प्रमदागणमाकर्षन्ति तत्र को विशेष इत्यरुच्याह—कृषति विलिखति निजानां संसारमिति कृष्णः । सदानंदस्वरूपो भक्तजनपापौघनाशकश्च । "कृषिर्भूवाचकः शब्दोऽणश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" । इति श्रुतेः सदानंदरूपः । "कोटिजन्मकृतं पापं कृषिरित्युच्यते बुधैः । तन्नाशनकरो देवः कृष्ण इत्यभिधीयते" इति ब्रह्मवैवर्तात्पापनाशकरूपश्च कृष्णपदार्थः । श्रिया सहितः कृष्णः श्रीकृष्णः यद्वा—"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ" इति श्रुतौ श्रीशब्देन राधा लक्ष्मीशब्देन रमा चात्सरस्वती ग्राह्या, 'केशवस्य प्रियां देवीम्' इति बृहस्पत्युक्तेः । तथा च श्रीश्च श्रीश्च श्रीश्चेत्येकशेषसमासेन श्रिय इति स्यात्, ततः श्रीभिः राधारमागीर्भिः सहितः कृष्ण श्रीकृष्णः । स आख्याऽभिधा यस्य तच्छ्रीकृष्णाख्यम् । पुनः विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितम् । सर्गश्च विसर्गश्च सर्गविसर्गौ विश्वस्य सर्गविसर्गौ विश्वसर्गविसर्गौ । तौ आदी एषां स्थानादीनां तानि विश्वसर्गविसर्गादीनि तानि च नव लक्षणानि विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणानि तैर्नवभिर्लक्षितं लक्ष्यत्वेन ज्ञापितम् । यद्यपि "अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः" । इति लक्षणानि दशोक्तानि, तथापीहाश्रयरूपस्य दशमस्य लक्ष्याभिप्रायेण नवेत्युक्तिर्बोध्या । नामरूपत्वेऽपि माया तत्कार्यास्पृष्टत्वमाह—**परमिति** । परं सर्वस्मात् परतमं "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" । इति श्रुतेः । यद्वा—परं निर्भयम् अन्येषां देवानां गृहीतशस्त्रत्वेन सभयत्वप्रतीतेः श्रीकृष्णस्य वंशीविभूपितकरत्वान्निर्भयत्वं स्फुटमिति । पुनः जगतो धामेति सत्पुरुषस्तु जगदधिष्ठानत्वेन लक्ष्यरूपतामाह—जगन्ति स्थावरजंगमात्मकानि सर्वाणि धामानि यस्येति तत्तथेति समासस्तु सर्वांतर्यामितामाह । अत एव वक्ष्यति "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इति । यद्वा—परं धामेति मुक्तप्राप्यत्वमाह "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" इति श्रीमुखोक्तेः । यद्यपि "तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्" इत्युक्तेः सर्गादीनि दशमहापुराणलक्षणानि श्रीमद्भागवतस्यैव सन्ति कथं तानि श्रीकृष्णस्य संजाघटति, तथापि "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम्" इत्युक्तेः "तेनेयं वाङ्मयी मूर्त्तिः श्रीकृष्णस्य न संशयः" इति पाद्मोक्तेश्च श्रीकृष्णश्रीभागवतयोर्भेदाभावेनैकरूपत्वात्तत्रापि तानि न विरुद्धानीति । किञ्चैतानि च सर्गादीनि सर्वमहापुराणसाधारणलक्षणानि श्रीभागवतस्य संति यत्साधारणलक्षणं तत्तु प्रथमस्कंधे "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कंधसंमितः" इत्यनेन स्वामिचरणैः प्रथमस्कंधे प्रथमश्लोकव्याख्याने प्रपञ्चितमेव । लक्षणत्वं च लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वं लक्ष्यं च यदुद्दिश्य लक्षणं प्रवर्त्तत इति । इह च महापुराणं लक्ष्यं तत्र लक्ष्यतावच्छेदकं महापुराणत्वं तत्समनियतत्वं सर्गादिदशकस्येति समन्वयः । श्रीभागवतस्य महापुराणत्वं तु द्वादशे वक्ष्यति—"श्रीमद्भागवतं नाम सर्गादिदशलक्षणम् । महापुराणमल्पञ्च पञ्चलक्षणमिष्यते" इति यत्त्वमरसिंहेन 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' इत्युक्त्वा पञ्चलक्षणस्यैव पुराणत्वं प्रतिपादितं तदल्पपुराणविषयमेवान्यथा "दशलक्षणसंयुक्तं पुराणं कवयो विदुः । केचित्पंचविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया" । इति व्यासोक्तिर्व्याकुप्येतेति ॥ १ ॥

अथ दशमस्कन्धवर्णनीयमाह-दशम इति। दशमे दशमस्कंधे।दशमं लक्ष्यमुदीर्यते किंभूतम् आश्रितानां जगतामाश्रयः "आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म" इत्युक्तलक्षणो विग्रहः स्वरूपं यस्य तत्तथा। एतादृग् लक्ष्यं श्रीकृष्ण एव इत्येतदग्यतो लभ्यते। तथाहि-अं वासुदेवमाश्रिताऽऽश्रिता रमा राधा गीर्वा तस्या आश्रयो विग्रहो देहो यस्य लक्ष्यस्य तत्तथा। यद्वा-वीनां पक्षिणामाश्रय आश्रयविर्गरुडः। राजदंतादिवत्समासः। आश्रित आश्रयविर्येन स आश्रिताश्रयविर्वैकुण्ठनायको विष्णुरुपलक्षणमेतन्नृसिंहयज्ञनरनारायणरामचन्द्राणाम्। तं गृह्णाति स्वस्मिन्प्रविलापयतीत्याश्रिताश्रयविग्रहम्। प्रथितमेतद्वृत्तं गर्गसंहितागोलोकखंडे। अनेन नंदनंदनस्यैव लक्ष्यत्वमायातम्। अत एव परान्ब्रह्मरुद्रादीनानंदयति निजलीलया तद्विपदाहरणेन वेति परानंदम्। सुष्ठ्याद्याख्यानवृकासुराद्याख्यानैरेतत्प्रसिद्धमत्रान्यत्र वेति। यद्वा-"को ह्येवान्यात्कः पराण्याद्यदेष ह्यानन्दो न स्यात्" इत्यादिश्रुतेः परानंदस्वरूपम् यद्वा-पिपर्ति पालयतीति परः पिता स चात्र नंदराजस्तमानंदयति निजलीलयेति परानंदम् "नंदः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम्" इत्यादि बहुशो वक्ष्यमाणत्वात्। पुनः यदुकुलमेवांभोधिरिवेत्युपमानोत्तरपदसमासस्तत्र क्रीडतीति क्रीडत् 'क्रीडृ-विहारे' शतृप्रत्ययः। प्रसिद्धांभोधौ शशिवदिति व्यज्यते। नंदगोपकुलमपि यदुकुलमेव। तथाहि-अथ सर्वश्रुतिपुराणादिकृतप्रशंसस्य यदुकुलस्यावतंसः श्रीदेवमीढनामा परमगुणधामा। मथुरामध्यासामास तस्य भार्याद्वयमासीत् प्रथमा द्वितीयवर्णा द्वितीया तृतीयवर्णेति। तयोश्च पुत्रद्वयं प्रथमं बभूव शूरः पर्जन्य इति च तत्र शूरस्य श्रीवसुदेवादयः। अत एवोक्तं श्रीमुनिना "वासुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नंदमागतम्" इति श्रीपर्जन्यस्तु 'मातृवद्वर्णसंकरः' इति न्यायेन "प्रायेण हि जनाः सर्वे यांति मातामहीं तनूम्" इति न्यायेन च वैश्यतामेवाविश्य गोवृत्तिपूर्वकं बृहद्वनं एवासांचकार। स च बाल्यादेव ब्राह्मणदर्शं पूजयति। मनोरथपूरो देयानि वर्षति। वैष्णववेदं स्निह्यति। यावज्जीवं हरिमर्चयति स्म। तस्य मातुर्वंशश्च व्याप्तसर्वदिशां विशामवतंसतया परमशंसनीय एवमेव च गोपवंशोऽपीति पाद्मे सृष्टिखंडे स्पष्टीकृतः। स च श्रीमान्पर्जन्यो वैश्यांतरसाधारण्यं निजैश्वर्येणातीयाय। यस्य भार्या नाम्ना वरीयसीत्यासीत् यस्य च श्रीमदुपनंदादयः पञ्चात्मजा जगदेवानंदयामासुः। तथा च वंदिन उपमांति स्म "उपनंदादयश्चैते पितुः पंचैव मूर्त्तयः। यथानंदमयस्यामी वेदांतेषु प्रियादयः" इति। तस्य पुत्रसंपत्तिस्तु परमरमणीयतामवाप मध्यमसुतसंपत्तिस्तु सुतराम्। तदेवं सुमुखनाम्ना केनचिद्गोपमुख्येन श्रीपर्जन्यमध्यमसुताय श्रीनंदाय परमधन्या कन्या दत्ता। या खलु स्वगुणवशीकृतस्वजना यशांसि ददाति शृण्वद्भ्यः पश्यद्भ्यः किमुततरां भक्तिमद्भ्यः। ततश्च तयोर्दांपत्येन सर्वेषामपि सुखसंपत्तिरजायत किमुत पित्रादीनाम्। तदेवमानंदितसर्वजनः पर्जन्यः स्वयमपि सुखमनुभूय श्रीगोविंदपदारविन्दभजनमात्रान्वितां देहयात्राममभीष्टां मन्यमानः सर्वज्यायसे सुताय स्वकुलतिलकतां दातुं श्रीवसुदेवादिनरदेवगर्गादिभूदेवकृतप्रभायां सभायां स्वजनानाहूतवान्। स च ज्यायांस्तत्र सदसि मध्यमं निजानुजं नंदनामानं पितुराज्ञया कृतकृत्यः सन् गोकुलराजतया सभाजयामास। अथ संकुचिते तत्रानुजे सविस्मये सर्वजने पितरि रोचमानलोचने च स प्रोवाच मयेदं स्नेहसद्गुणपराधीनेनाचरितमिति राजाऽयमस्माकम्। ततो देवैस्तदुपरि पुष्पवृष्टिरकारि सदस्यैश्च। ततोऽसौ पर्जन्यः श्रीगोविंदमाराधयितुं सभार्यो वृन्दावनं प्रविवेश। तत्काले शास्त्रसारं पृच्छतः पुत्रानुपदिदेश। तथाहि-किं भयमूलमदृष्टं किं शरणं श्रीहरेर्भक्तः। किं प्रार्थ्यं तद्भक्तिः किं सौख्यं तत्परप्रेम"॥ इति। श्रीमानुपनंदः श्रीनंदव्रजमहेंद्रसदसि मंत्रितया तस्थिवान् तस्य च श्रीनंदराजस्य श्रीगोलोकेशश्रीकृष्णो द्वादशीव्रतचर्यातुष्टः पुत्रतामवापेति। इत्थं नंदगोपकुलं यदुकुलमिति। अथ प्रकृतमनुसरामः-एतद्विशेषणसार्थक्यायाश्रितेत्यादेरर्थान्तरमाह—आश्रितभक्ष्यत्वेन आश्रयो येन स आश्रिताशयोऽग्निः आश्रयाशो बृहद्भानुः' इति कोषादग्नेराश्रयाशत्वप्रसिद्धेः। यद्वा—आश्रितः आश्रयो येन निरधिष्ठानाग्नेरदृष्टत्वात्। आश्रिताश्रयोऽशनं यस्य आश्रिताश्रयाशनः। स चासौ विः आश्रिताश्रयविश्चकोरः मध्यमपदलोपी समासः। तेन गृह्यते प्रियत्वेन सेव्यत इत्याश्रिताश्रयविग्रहं चन्द्ररूपमित्यर्थः। 'आश्रिताश्रयलक्षणम्' इति पाठस्तूक्तानार्थः। किञ्चाश्रयस्य दशमस्य लक्षणे सूक्तत्वेऽपि पुनर्लक्ष्यत्वेऽपि कथनं तु क्वचिल्लक्ष्यलक्षणयोरभेदेऽपि छंदोग्रन्थेषु वृत्तरत्नाकरादिषु 'मो नारी रो भृङ्गी' इत्याद्युदाहृत्य लक्ष्यलक्षणभेदव्यवहारवद्बोध्यम्। किञ्च—अवसरसंगतिप्राप्तमष्टमं निरोधरूपलक्षणवर्णनं विहायेहाश्रयरूपस्य दशमस्य वर्णनं तु यदुवंशवर्णनप्रसंगसंगत्या कृतमिति बोध्यम्। संगतिश्च अनंतराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयो ह्यर्थः संगतिरित्युक्तलक्षणा। सा च "सप्रसंग उपोद्घातो हेतुतावसरस्तथा। निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा संगतिरिष्यते। इत्युदयनोक्तेः षोढा। स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसंगत्वम्॥ १॥ वर्णनीयमर्थं मनसि निधाय तदर्थमर्थांतरकल्पनमुपोद्घातत्वम्॥ २॥ वर्णितार्थे कारणजिज्ञासोत्पादकत्वं हेतुत्वम्॥ ३॥ शुश्रूषांतरराहित्यपूर्वकप्रकृतग्रंथे शुश्रूषोत्पादकत्वमवसरत्वम्॥ ४॥ उक्तार्थसाधकत्वं निर्वाहकत्वम्॥ ५॥ द्वयोरेककार्यकरत्वेनैकत्र वर्णनमेककार्यत्वम्॥ ६॥ एषामुदाहरणानि ग्रंथे यथायथमवधेयानि (२)। अथ लक्ष्यवर्णनावांतर्गतं सर्गादिवर्णनावसरप्राप्तं भाक्तमवांतरमदर्शनसाम्याद्दुष्टसंहाररूपनिरोधमाह—दशम इति। दुष्टभूभुजां कंसादीनाम्। निरोधः संहाररूपोऽनुवर्ण्यते 'निरोधो नाशरोधयोः' इति मेदिनी। किंभूतः धर्मस्य त्रयीविहितस्य ग्लानिः क्षयो निमित्तं यस्य स तथा तेषां धर्मनाशकत्वेन श्रीकृष्णेन ते हता इति तात्पर्यम्। कृष्णस्य रागिमुक्तमुमुक्ष्वादिसकलानंदकरी सती या कीर्त्तिस्तस्या वितानाय विस्ताराय। दुष्टनाशेन सर्वधर्मप्रवृत्तेः सत्कीर्तेर्विस्तारः स्फुट एव। तुरत्रार्थान्तरे। तच्च लक्ष्यस्य वर्ण्यत्वं प्रतिज्ञाय पुनर्लक्षणवर्णनरूपं चतुर्विधनिरोधवैलक्षण्यरूपं वेति (३)। ननु मुख्यं निरोधं विहाय भाक्तनिरोधः कथमत्र वर्णितस्तत्राह—प्राकृतादिति। आदिना नित्यनैमित्तिकात्यंतिकानां ग्रहः। प्रकृतौ तत्कार्यब्रह्माण्डस्य लयः प्राकृतिकः। ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य जायमानो लोक-

त्रयप्रलयो नैमित्तिकः। देहस्य प्रतिक्षणमवस्थाभेदेन वर्त्तमानो यः स नित्यः ज्ञानेनाविद्यां सकार्यां छित्त्वा स्वरूपेणावस्थानमात्यंतिक इति विवेकः। स च स चानयोः समाहारस्तत्तत्। तत्तच्चासौ प्रसंगश्चेति तत्तत्प्रसंगस्तस्मिंस्तथा। सप्तम्यर्थे तसिः। तस्मिंस्तसिन् प्रसङ्गे सृष्टिसंहारवादी येषां युद्धविचारादीनां तेषां निरूपणैः। वर्णितः 'वर्ण—वर्णने' अतो भविष्यत्यपि क्त प्रत्ययो बोध्यः, "उणादयो बहुलम्" इति बाहुलकात्। तथा चैकादशे द्वादशे च वर्णितो वर्णयिष्यते इत्यर्थः। सृष्टिसंहारप्रसंगे "सहस्र-युगपर्यन्तम्" इत्यादिना नैमित्तिकः प्रथमे सूचितः। आत्यंतिकोऽपि प्राकृतमिश्रो युधिष्ठिरमहानुगमने तत्रैवोक्तः। तृतीयेऽ-कादशेऽष्टमे चाध्याये नैमित्तिक एवोक्तः। 'चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु' इत्यादिना, 'तमेवान्वपि धीयंते लोकाः' इत्यादिना च सप्तमेऽप्यवधूताख्याने आत्यंतिक एवोक्तस्तत्रैवानावृत्तिप्रकारोऽपि। स एव चतुर्थे पृथूपाख्याने पृथोरपि प्राकृतमिश्र आत्यंतिक एव। अष्टमे मत्स्यावतारप्रसंगे 'यावद्ब्राह्मी निशा' इत्याद्युक्ते नैमित्तिक एव। एवं नवमे सौभर्युपाख्याने हरिश्चन्द्रोपाख्याने चात्यन्तिक एव प्रतीयते। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् (४)।

ननु कियदध्यायो दशमस्कंधस्तत्राह—कृता इति सार्द्धेन। नवानां दशकं नवतिरिति "पंक्तिविंशति इत्यादिना साधुः"। "विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वा संख्येयसंख्ययोः" इत्यमरः, तासु च नवतेः स्त्रियः' इति च। विंशत्यादीनां नवतिपर्यन्तानां नित्यं स्त्रीत्वम् 'मुखं पुंसः परस्य ये' इतिवत्। यद्वा—वेदाः प्रमाणमितिवन्नवतिरध्याया इति सम्बन्धः। 'समानलिंगविभक्तिसंख्याकाना-मेवान्वयः' इति शिष्टोक्तिस्तूद्देश्यविधेयभावं विनैव चरितार्था भवति। "यत्रोद्देश्यविधेयत्वं तत्रायं नियमो नहि। रामदाराश्च सीतेयं करुणाभाजनं हरिः।" इत्याद्युदाहृतेः। चतुर्भिराद्यैः प्रथमाच्चतुर्थपर्यंतैः। सप्रसंगं प्रसंगश्च मथुरावर्णनपुरस्सरदेवक्यु-द्वाहादिरूपः अवनेर्भूमेः 'क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः। हर्तुमपाकर्तुम्। कीर्त्यंते वर्ण्यंते व्यासाद्यैरिति कीर्त्तिलीला कृष्णस्य कीर्त्तिः कृष्णकीर्त्तिः। तस्यै कृष्णलीलायै। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी। कृष्णकीर्तिं वर्णयितुमित्यर्थः। (५) सा च त्रिधेत्याह—**गोकुल इति**—गोकुललीलामथुरालीलाद्वारकालीलाभेदात् त्रिधा त्रिप्रकारा। ततो हरिजन्मानंतरम्। क्रमाद्गोकुललीला-क्रमात्। गोकुललीला च जन्मोत्सवपूतनावधशकटपातनादिभेदैरनेकधा। मथुरालीलापि धनुर्भंगमल्लवधकुवलयापीडकंसवधपित्रादि-मोचनादिभेदैरनेकधा। एवं द्वारकालीलापि द्वारकानिर्माणकालयवनादिवधरुक्मिणीहरणस्यमंतकोपादानादिभेदैरनेकधैव (६)। अथ पुनरध्यायसंख्यया लीलापार्थक्यमाह—**सपंचेति त्रिभिः**। पञ्चभिः सहिता त्रिंशत्सपंचत्रिंशत्तया। बृहच्च वृंदा च बृहद्वृन्दे ते च ते वने बृहद्वृन्दावने ते आदिनी येषां मधुतालादीनां तानि बृहद्वृन्दावनादीनि तेषु। इह वृन्दाशब्दो वृन्दाख्यदेव्यधिष्ठित वनपरो लक्षणया बोध्यः। वनानि च मधुतालकुमुदबहुलाकाम्यखदिरवृन्दाभद्रभांडीरविल्वलोहमहावनभेदाद् द्वादश संति व्रजमंडले। उपवनसहितानि चतुर्विंशतिश्च तानि निधुवनकोकिलादीनि ज्ञेयानि। स पञ्चत्रिंशताध्यायैः पञ्चमत एकोनचत्वारिंशदन्तैः। संबंधस्तु पूर्ववत्। गवां कुलानि यूथानि यत्र यद्गोकुलं मथुरां विहाय सर्वं व्रजमंडलं तेन नंदग्रामबृहत्सानुपुरप्रभृतीनामखिलानां ग्रहः। तत्र वसतः कृतनिवासस्य श्रीकृष्णस्येत्यर्थः। सुरदुष्करा देवैरपि कर्तुमशक्या गोवर्द्धनोद्धारणाल्पप्रदेशगोगोपीयूथविवेशनादिरूपा (७) पुनरेकेन चत्वारिंशदाख्येन एकादशभिरेकचत्वारिंशत्त एकपञ्चाशदन्तैः मधुपुरे मथुरायाम्। वने स्थापितं वनस्थापितम्। मधोर्दैत्यस्य लवणपितुर्वनं स्थापितं मधुवनस्थापितं तच्च तत्पुरं मधुपुरम्। मध्यमपदलोपी समासः। वनस्थापितपदस्य समास-कृतैकपदत्वात्तत्र पदद्वयत्वं माऽऽशक्यं तस्मिंस्तथा। "शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम्। हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्॥ इति नवमोक्तेः मधूनां यदूनां पुरं मधुपुरमिति वा "राजधानी ततः साभूत्सर्वयादवभूभुजाम्" इति वक्ष्यमाणत्वात्। यद्वा 'वीरहा माधवो मधुः' इति भारतोक्तेर्मधोर्विष्णोः पुरं मधुपुरम् "मथुरा भगवान्यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः' इति वक्ष्यमाण-त्वात् (८) शेषैरेकोनचत्वारिंशदध्यायैर्द्विपंचाशत्तो नवतिपर्यन्तैरित्यर्थः। द्वारवतीलीलामाह—तस्या द्वारवत्या निर्माणं रचना आदि यस्य रुक्मिणीहरणादिरूपलीलावृन्दस्य तत्तन्निर्माणादि "निर्माणं रचनायां च प्रमाणरहिते तथा" इति धरणिदेवः। विश-दार्थका स्फुटार्थका। (९) तत्र तेषु तेषु अध्यायेषु मध्ये। स्वमृत्युं निजमृतिम्। तस्या देवक्याः। षट् च ते गर्भा अर्भका षड्गर्भास्तान् "गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ संधौ पनसकंटके" इति मेदिनी। अवधीत् अहिंसीत् (१०)। कृष्णावतारः कृष्णाविर्भावः "अवतारोऽवतरणे पुष्करिण्यादितीर्थयोः। आविर्भावे तरिण्यां स्त्री क्लीबं ज्ञाने प्लवेऽध्वनिः" इति धरणिदेवः। तस्य चरितं बाललीलारूपं तदेव श्रवणयोः कर्णयोरानंदजनकत्वादमृतं तद्वत्स्वादु तेन निर्वृतो जातानन्दः। राजा परीक्षित्। संक्षेपेण कथितस्य व्यासेन कथन-मनुवादः। उक्तस्य 'जातो गतः पितृगृहाद्व्रजम्' इत्यादिना नवमस्कंधान्ते संक्षेपेणोक्तस्य कृष्णचरितस्यानुवादेन हेतुना। हेतौ तृतीया। औत्सुक्यात् तत्परायणत्वात् 'इष्टार्थोद्यत उत्सुकः' इत्यमरः। अधिकाभिलाषत इति यावत् (११)

तत्कृष्णचरितं पुनर्द्वितीयवारं पृच्छति—**कथित इत्यादिना**। वंशविस्तारो वंशव्यासः "विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः" इत्यमरः। यद्यपि "एकत्वं न प्रयुंजीत गुर्वात्मनि कदाचन" इति स्मृतेः पुराणोपदेष्टरि सर्वगुरुमुख्ये श्रीशुकदेवे भवत्येक-वचनप्रयोगोऽनुचितस्तथापि तस्याप्यानन्दकन्दश्रीकृष्णचरितश्रवणव्यग्रत्वेन तदितरानुसंधानवशान्न दोषः **सोमसूर्ययोरिति**। ननु "सूर्याचन्द्रमसौ धाता" इति श्रुतौ, "तस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ इति श्रुतौ च, 'सूर्याचन्द्रमसोर्योगे' इति गर्गस्मृतौ च सूर्यशब्दस्य पूर्वनिपातदर्शनात्, "सैषा त्रय्येव विद्या तपति" इति श्रुतेः सूर्यस्य सर्वधर्ममूलत्रयीरूपत्वात् "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति श्रुतेः सर्वात्मकत्वेन सर्वधर्मप्रवर्तकत्वात्, "यस्योदयेनेह जगत्प्रबुद्ध्यते प्रवर्तते चाखिलकर्मसिद्धये"

इत्यादिस्मृतेश्च अभ्यर्हितत्वात्, वंशनिरूपणावसरेऽपि प्रथमं सूर्यवंशस्यैव निरूपितत्वाच्च सूर्यशब्दस्य पूर्वनिपात उचितस्तथापि "पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः" इति रसवद्धर्मकत्वात्सोमस्य रसशोषकरवेः प्रधानत्वात्। ब्रह्मणो मरीचिरततः कश्यपस्ततो रविरिति ब्रह्मप्रपौत्राद्रवेर्ब्रह्मणोऽत्रिस्ततश्चन्द्र इति ब्रह्मपौत्रत्वेन 'सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन इत्युक्तेः सर्वस्रष्टृब्रह्मांशत्वेन सूर्यवंशस्यापि श्रीभगवद्रामेण स्वीकृतत्वेऽपि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीश" इति "अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल" इति च "अर्जुने तु नरावेशः कृष्णो नारायणः स्वयम्" इत्यादि बहुश उक्तत्वात्स्वयं भगवता श्रीकृष्णेन स्वीकृतवंश्यताकत्वेन "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इति श्रुतेः, सर्ववेदाधिकरणविप्रकुलराजत्वेन सर्वदेवगुरुणा श्रीशिवेन उमया सह वर्तत इति सोमः शिवः। सोऽस्त्याधारत्वेन यस्य स सोमः। तस्य स्वमूर्द्धिन्न धृतत्वाच्च सोमस्यैवाभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः 'आत्मानं श्लाघते सर्वः' इति न्यायेन "सर्वेषामेव लोकेषु स्वेष्टदेवः परो मतः" इति न्यायेन च राज्ञस्तदिष्टदेवस्य श्रीकृष्णस्य च सोमवंश्यत्वाद्वा पूर्वनिपातः। (उभयोः सोमसूर्ययोर्वंशौ उभयवंशौ तत्र भवाः, उभशब्दस्य द्विवचनपरत्वाभावे वृत्तिविषये स्वार्थे नित्यमयच् 'उभयोऽन्यत्र' इत्युक्तेः) यद्वा—उभाववयवौ यस्य स उभयः, स चासौ वंशश्च जातित्वादेकत्वम् उभयवंशः तत्र भवाः उभयवंश्याः। तेषाम्। परमाद्भुतं श्रोतृणां सुद्युम्नैलादिचरिताकर्णनेनात्याश्चर्यकरम्॥ १॥ च पुनर्यदोश्चरितं कथितमिति लिंगव्यत्यासेनान्वयः। यद्यपि "उत्तमश्चिंतितं कुर्यात्प्रोक्तकारी च मध्यमः। अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्त्तोच्चरितं पितुः॥" इत्युक्तेः पित्राज्ञोल्लंघिनो यदोर्धर्मशीलत्वं न प्रतीयते, तथापि "स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनिर्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः। संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्" इत्युक्तेस्तस्य श्रीदत्तात्रेयाच्चाप्तात्मतत्त्वत्वाद्धर्मशीलत्वमेव। किञ्च—अन्यथाकारिपित्राज्ञोल्लंघनस्य दोषत्वे प्रह्लादस्याप्यधर्मितापत्तेः। यद्वा—मद्वयसा मन्मातरं भोक्ष्यतीत्यतो मम मातृगामितापत्तिर्भविष्यत्यतो न दास्यामि वयस्तेन धर्मशीलत्वमेव। यद्वा—'धर्मो धर्मविदुत्तमः' इत्युक्तेर्धर्मो विष्णुरतत्र शीलं समाधिर्यस्य स तथा तस्य। 'शील—समाधौ' पचाद्यच्। हरिभक्तस्येत्यर्थः। नितरामतिशयेन धर्मशीलस्येति संबन्धः। सन्तारो वेदार्थावगंतारो मुनयो भृग्वादयस्तेषु संतः श्रेष्ठा वेदोक्तकारिणः कर्दमादयो मुनिसन्तस्तत्रापि तदुपदेष्टारः पराशरादयो मुनिसत्तमास्तत्रापि भगवन्निष्ठा भवदादयो मुनिसत्तमाः संति 'वैयासकिश्च भगवान्वासुदेवपरायणः' इत्युक्तेर्भवान्मुनिसत्तमोऽस्तीति राज्ञः संबुद्ध्यभिप्राय इति॥ १½॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रिका

श्रीरुक्मिणीसत्यभामासमेतश्रीकृष्णपरब्रह्मणे नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः॥

अतिक्रान्तस्कंधान्ते—जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिरसमीज आत्मानमात्मनिगमं प्रथमं जनेषु॥

इत्यादिश्लोकद्वयेन संगृह्य प्रदर्शितं श्रीकृष्णावतारचरित्रं विस्तरेण शुश्रूषुः अतिक्रान्तस्कन्धार्थानुवादपूर्वकं पृच्छति राजा—कथित इत्यादिना श्लोकदशकेन। तत्र पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति—**कथित इति सार्द्धेन**। सोमसूर्ययोस्तदुभयवंशजातानाञ्च राज्ञां वंशविस्तारस्तेषां परमाद्भुतं चरित्रञ्च कथितम्॥१॥ हे मुनिसत्तम। नितरां धर्म एव शीलं वृत्तं यस्य तस्य यदोर्वंशविस्तारः कथितः॥१½॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रीमदानन्दतीर्थपादेभ्यो नमः॥ नवमस्कन्धान्ते संक्षिप्तं श्रीविष्णुचरितं विस्तरतः श्रोतुं राजा वृत्तमनूद्य वक्तुं प्रार्थयते—**कथितो वंशविस्तार इत्यादिना**। विद्यया जन्मना चैकलक्षणः सन्तानो वंशस्तत्र भवो वंश्यः, "व्यासः प्रपञ्चो विस्तारः" इत्यभिधानम्। राज्ञां चरितञ्च कथितम्। कथने निमित्तमाह—**परमेति**॥ १॥ अत्र विशेषमाह—**यदोरिति**। यदोर्ययातिपुत्रस्य वंशो नितरां कथितः। धर्मो भगवांस्तत्समाधियुक्तस्य "शील समाधौ" इति धातुः, अस्तु नाम ततः किमपेक्षितमिति॥ १½॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषणी

ॐ नमः श्रीकृष्णाय

श्रीमन्मदनगोपालं वृन्दारण्यपुरन्दरम्। श्रीगोविन्दं प्रपद्येऽहं दीनाऽनुग्रहकातरम्॥ १॥
वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यं भगवन्तं कृपार्णवम्। प्रेमभक्तिवितानार्थं गौडेष्ववततार यः॥ २॥
श्रीमाधवपुरीं वन्दे यतीन्द्रं शिष्यसंयुतम्। लोकेष्वङ्कुरितो येन कृष्णभक्तिसुराङ्घ्रिपः॥ ३॥
श्रीभागवतसिद्धयर्था टीका दृष्टिरदायि यैः। श्रीधरस्वामिपादांस्तान् वन्दे भक्त्येकरक्षकान्॥ ४॥
भट्टाचार्यं सार्वभौमं विद्यावाचस्पतीन् गुरून्। वन्दे विद्याभूषणञ्च गौडदेशविभूषणम्॥ ५॥

वन्दे श्रीपरमानन्दं भट्टाचार्यं रसालयम् । रामभद्रं तथा वाणीविलासञ्चोपदेशकम् ॥ ६ ॥
नमामि श्रीमदद्वैताचार्यं श्रीवासपण्डितम् । नित्यानन्दावधूतञ्च श्रीगदाधरपण्डितम् ॥ ७ ॥
दामोदरस्वरूपादीन् वन्दे चैतन्यपार्षदान् । येषां पादरजःस्पर्शादधमोऽप्युत्तमो भवेत् ॥ ८ ॥
श्रीवासुदेवदत्तञ्च श्रीगोविन्दं मुकुन्दकम् । मुरारिगुप्तमन्यांश्च वन्दे चैतन्यसेवकान् ॥ ९ ॥
वृन्दावनप्रियान् वन्दे श्रीगोविन्दपदाश्रितान् । श्रीमत्काशीश्वरं लोकनाथं श्रीकृष्णदासकम् ॥ १० ॥
स्वामिपादैर्न यद्व्यक्तं यद्व्यक्तञ्चाऽस्फुटं क्वचित् । टिप्पणी दशमे तत्र सेयं वैष्णवतोषणी ॥ ११ ॥
वैष्णवाऽपरितोषः स्याद् यत्र यत्र ततस्ततः । लेख्यं वैष्णवसिद्धान्तदाक्षिण्येनैव किञ्चन ॥ १२ ॥
श्रीमद्भागवतव्यक्तभक्त्येकपुरुषार्थिनाम् । नाभेदवाद इत्येष नालेखि क्षम्यतामिदम् ॥ १३ ॥
पूर्वपूर्वात्र च व्याख्या पूर्वपक्षतया मता । सर्वान्तिमा तु विज्ञेया स्वसिद्धान्ततया मता ॥ १४ ॥
येषां प्रोत्साहनेनाऽस्मि प्रवृत्तोऽत्यन्तसाहसे । ते दीनाऽनुग्रहव्यग्राः शरणं मम वैष्णवाः ॥ १५ ॥
राधाप्रियप्रेमविशेषपुष्टो गोपालभट्टो रघुनाथदासः । स्यातामुभौ यत्र सुहृत्सहायौ को नाम सोऽर्थो न भवेत् सुसिद्धः ॥ १६ ॥
श्रीमच्चैतन्यरूपस्य प्रीत्यै गुणवतोऽखिलम् । भूयादिदं यदादेशवलेनैव विलिख्यते ॥ १७ ॥
स्वयं विलिखितं किञ्चित् किञ्चिद्योग्यैर्विलेखितम् । छिद्रं यदस्ति तच्चात्र शोध्यं वैष्णवपण्डितैः ॥ १८ ॥
श्रीचैतन्यकृपाव्यक्तश्रीकृष्णप्रेमलिप्सुभिः । सम्यग्रसयितुं शक्या सेयं वैष्णवतोषणी ॥ १९ ॥
श्रीमद्भागवतं यद्धि स्वादु स्वादु पदे पदे । तस्य प्रतिपदव्याख्या कार्य्या तत्प्रतिपत्तये ॥ २० ॥
आद्यः पाठोऽत्र गौडीयो द्वितीयोऽलेखि काशिकः । नानादेशीयमूलश्रीटीकानामनुवादतः ॥ २१ ॥
पुरा महापुराणस्य दश प्रोक्तानि यानि हि । लक्षणान्यखिले स्कन्धे तानि सन्ति तरोरिव ॥ २२ ॥
तत्र प्राधान्यतः स्कन्धे दशमेऽत्र निरूप्यते । आश्रयो भगवान् कृष्णः स्वपूर्णत्वप्रकाशकः ॥ २३ ॥
तत्र यद्यपि सामान्याकारेणाश्रयलक्षणम् । तथापि कृष्ण एव स्यात् तस्य पर्य्यवसायिता ॥ २४ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमिति तद्गीः सतां मता । आत्मारामाश्च मुनय इत्यादिसचिवा च सा ॥ २५ ॥
परिभाषा च तत्र स्यादेते चांशेति सूतगीः । तदेतद्विवृतं भावि ब्रह्मस्तवमनु स्वयम् ॥ २६ ॥
अथात्र परिभाषेयं ज्ञातव्या यद्यपेक्ष्यते । मूलं सटीकमङ्काद्यैः परिच्छेद्यं सहानया ॥ २७ ॥
अङ्का वाक्यान्त एवात्र ज्ञेयाः पद्यान्ततो न तु । वहुपद्यैकवाक्यत्वे गर्भाङ्का विन्दुमस्तकाः ॥ २८ ॥
यस्मिन् वाक्ये नास्ति टीका तदप्यङ्केन योजयेत् । टीका तदङ्कशून्या वा तदङ्कान्तयुतापि वा ॥ २९ ॥
तद्युतत्वन्तु पूर्वाङ्कसन्निधौ पृथगाचरेत् । विधिरेवं गौडकाश्योर्गुर्ज्जरादौ यथामति ॥ ३० ॥
एकपद्यान्यवाक्यत्वे सङ्ख्याशब्दास्तु कान्तकाः । यथार्द्धकं युग्मकञ्च त्रिकमित्याद्युदाहृतिः ॥ ३१ ॥ इति ।

श्रीयुक्तो राजा श्रीराजेति श्रीशब्दप्रयोगोऽत्र श्रीकृष्णलीलारम्भे अतिशयेन प्रेम्णा विराजमानत्वात् टजभावः समासान्तविधेरनित्यत्वात् राजोवाचेति पाठस्तु साधारणः ॥०॥ सर्वथैकमूलं श्रीकृष्णचरितं विस्तरेण श्रोतुं वक्तुः श्रीवादरायणेः प्रहर्षणार्थं तदुक्तमभिनन्दति वा **कथित इति सार्द्धकेन।** कथितः प्रायस्तज्जन्मकथाप्रवन्धेनाप्युक्तः न तूद्देशमात्रेणेत्यर्थः। तत्रापि वंशानां विस्तारः प्रत्येकं पुत्रपौत्रादिप्रपञ्चः भवतेति परमादरात् सोमस्य पूर्वनिपातस्तद्वंशे साक्षात् श्रीभगवदवतरणेनाऽभ्यर्हितत्वात्, उभयवंश्यानां चन्द्रसूर्य्यवंशोद्भवानां दिग्विजयादिचरितञ्च कथितम्। परममद्भुतं विस्मयावहम्, श्रीपुरूरवःककुत्स्थादीनाम् ऊर्व्वशीपरिग्रहेन्द्राऽऽरोहणादिनात्यन्तालौकिकत्वात् यद्यपि स्वायम्भुवमन्वादिवंशतद्वंश्यचरितान्यपि तृतीयस्कन्धादौ कथितानि सन्ति, तथापि सोमसूर्य्ययोरिति उभयवंश्यानामिति सर्व्वावतारश्रेष्ठयोः श्रीयदुनाथरघुनाथयोस्तत्र तत्र सम्वन्धात् ॥ १ ॥ यदोश्च वंशविस्तारस्तद्वंश्यानां चरितं परमाद्भुतं नितरां सम्यक्तया कथितम्, तत्र हेतुः—**धर्मशीलस्येति।** धर्म्मोऽत्र श्रीभगवद्भक्तिलक्षणः, "धर्म्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तः" इति श्रीभगवदुक्तेः। श्रीयदोर्भक्तिनिष्ठत्वमेकादशस्कन्धप्रवन्धेन वक्ष्यते। अत एवोक्तं श्रीकुन्तीदेव्या "यदोः प्रियस्याऽन्ववाये" इति। पृथक्त्वेन तस्योक्तिस्तद्वंशे श्रीयदुदेवावतरणेन सर्वतः श्रैष्ठ्यात्। क्रमेणाभीष्टप्रश्नेच्छातश्च; मुनिषु सन् उत्तमः श्रीभगवद्भक्तः सत्तरः श्रीकृष्णे रतः सत्तमस्तत्पदाब्जयोः प्रेमविशेषवानित्येवं सम्बोधनेन कथिते कथ्ये व समर्थतोक्ता ॥ १½ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ॐ नमः श्रीकृष्णाय ॥ दशमे क्रमसन्दर्भे सन्दर्भाणां समाहृतिः । क्रियते यन्निदेशेन स मेऽनन्यगतेर्गतिः ॥

नवमे द्वादशस्कन्धसम्वन्धिदशलक्षणानुसारेण वंशवंश्यानुचरितद्वारा द्वितीयस्कन्धसम्वन्धितदनुसारेण तत्तद्रूपमन्वन्तरकथा भेदद्वारा दशमपदार्थमधिगत्य तस्य च तदन्ते निजाऽभीष्टश्रीकृष्णरूपत्वपर्यालोचनेन सुखविशेषमुपलभ्य तथाऽनुवदंस्तल्लक्षणविशिष्टेऽत्र कथाद्वारा साक्षात्तमेवाधिगन्तुमौत्कण्ठ्येन पृच्छति – **कथित इत्यादिभिः** ॥ १½ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नित्यानन्दः कृष्णचैतन्यचन्द्रोऽद्वैतः पृथ्व्यामेवयन् प्रेमसिन्धुम् । सन्तप्तं वै स्तेमयंश्चेतयन्मां धिन्वन् भूयात् स्वैःकृपारश्मिलेशैः ॥ १ ॥
श्रीमद्गदाधर ! नमो नृहरे ! नमस्ते श्रीरामराय ! नम एव नमः स्वरूप ! ।
श्रीरूप ! सानुग ! नमोऽस्तु नमोऽस्तु तुभ्यं श्रीमत्सनातन ! नमोऽस्तु नमो नमोऽस्तु ॥ २ ॥
श्रीमद्भागवतीयदिव्यदशमस्कन्धाऽमृताम्भोनिधौ खेलन् यः स्वकरोद्धृतै रसकणैरार्द्रीस्तटस्थानपि ।
चक्रे यस्य महत्त्वमीलितमहः श्रीरूपविख्यापितैः सर्वैर्दृश्यत एव नाटकवरे साश्चर्यमेतद्यथा ॥ ३ ॥
वक्तुं पारमहंस्यपद्धतिमिह व्यक्तिं गतानां हि यः सिद्धानां भुवने बभूव सनकादीनां तृतीयः पुरा ।
साङ्गं भक्तिरसं रहस्यमधुना भक्तेषु सञ्चारयन् एकः सोऽवततार विश्वगुरवे शुद्धाय तस्मै नमः ॥ ४ ॥
व्याख्या वैष्णवतोषणी प्रकटिता येनैव यस्या रसः प्रापय्याऽतिचमत्कृतीः सुहृदयानाह्लादयन् भ्राजते ।
तस्माद्द्वित्रिकणांस्तदीयमुखतो ये निःसृताः स्वादितास्तानाचित्य कृतार्थयानि जनुरित्याशा वरीवर्त्ति मे ॥ ५ ॥
गोपालभट्टरघुनाथपदाब्जरेणून् श्रीलोकनाथचरणानथ जीवपादान् ।
वन्दे यदीयकरुणासुरदीर्घिकायां स्नातो धृताऽधृततिरोहितुमाप्तुमीशे ॥ ६ ॥
तमश्छन्नदृशां यैर्नः कृते भावार्थदीपिका । कृता कृपालवस्तेऽत्र श्रीधरस्वामिनो गतिः ॥ ७ ॥
व्याख्या लेख्या तदीया या भक्तचित्तप्रमोदनी । काचित् प्रभूणां काचित्तु श्रीमद्गुरुकृपोदिता ॥ ८ ॥
प्रणम्य श्रीगुरुं भूयः श्रीकृष्णं करुणार्णवम् । लोकनाथं जगच्चक्षुः श्रीशुकं तमुपाश्रये ॥ ९ ॥
गोपरामाजनप्राणप्रेयसेऽतिप्रभूष्णवे । तदीयप्रियदास्याय मां मदीयमहं ददे ॥ १० ॥
दशमेऽनुक्रमप्राप्तं निरोधं परिहाय यत् । आश्रयं वक्ति मुनिराट् तेनेदं प्रतिपद्यते ॥ ११ ॥
प्रथमः पीठतां स्कन्धद्वयं चरणयुग्मताम् । चतुर्थादिकटीनाभिवक्षोदोर्युगकण्ठताम् ॥ १२ ॥
द्वादशैकादशं शीर्षमालादित्वमगात् क्रमात् । श्रीभागवतकृष्णस्य दशमो मञ्जुहास्यताम् ॥ १३ ॥
ध्येयसर्वाङ्गमुख्यं यद्धास्यं नान्तेऽस्य संस्थितिः । यथा तथाश्रयः स्कन्धो नैवान्ते स्यातुमर्हति ॥ १४ ॥
अतः श्रीदशमे ब्रह्मपरमात्मादिनामभाक् । आश्रयो वर्ण्यते कृष्णो नवलक्षणलक्षितः ॥ १५ ॥
ईशानुवर्त्तिनामम्बरीषादीनां कथोदिता । नवमे दशमे साक्षादीशस्यैव कथोच्यते ॥ १६ ॥
स चेश्वरो गोप एव कृष्णः पूर्णतमो व्रजे । पुरद्वये पूर्णतरः पूर्णः क्षत्रिय उच्यते ॥ १७ ॥
एवं स्थलस्य त्रैविध्याल्लीलाऽस्य त्रिविधोदिता । बाल्यादितत्तदालम्बिभक्तभेदात् सहस्रधा ॥ १८ ॥
आद्यैः पञ्चभिरध्यायैर्जन्मप्रासङ्गिकी कथा । जन्म चाऽस्य ततो बाल्यलीला नवभिरीरिता ॥ १९ ॥
षड्भिः पौगण्डलीलान्तःकैशोररसचर्चिता । ततः कैशोरलीलोनविंशत्या व्रजमण्डले ॥ २० ॥
एकेन स्तुतिरक्रूरकृतैकादशभिस्ततः । लीला स्यान्माथुरी शेषैर्द्वारिकायां निरूपिता ॥ २१ ॥
तदेवं दशमेऽध्यायैर्नवत्या वर्णिता हरेः । लीला नित्यकिशोरस्य निखिलाकर्षिणी क्षितौ ॥ २२ ॥
तत्र तु प्रथमे श्रोतृवक्त्रोर्वागतिमाधुरी । देवाज्ञाकाशवाक् कंसाद्देवक्याः षट्सुताऽत्ययः ॥ २३ ॥

वाचयितव्येष्वर्थेषु वक्तुरुत्साहं वर्द्धयितुं तदुक्तमभिनन्दति; **कथित इति ।** ब्रह्मप्रपौत्रात् सूर्यात् ब्रह्मपौत्रत्वेन ब्रह्मांशत्वेन मनोऽधिष्ठातृत्वेन स्वयं भगवदङ्गीकृतवंश्यताकत्वेन च सोमस्याऽभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । स्वायम्भुवमनोस्तद्वंश्यानां च परमाद्भुतचरित्राणां चतुर्थादिषु कथितत्वेऽपि, तस्य वंशो न पर्यवसानमधुरः । सोमसूर्ययोर्वंशस्तु श्रीकृष्णरामचरित्राऽन्तिमत्वात् पर्यवसानमधुर इति तयोरुत्कर्षेणोल्लेखः ॥ १ ॥ यदोश्चरितं कथितम् । तस्य पित्राज्ञालङ्घित्वेऽपि शुद्धभक्तिमत्त्वात् नितरां धर्मशीलत्वं नवमे व्याख्यातम्, एकादशे व्याख्यास्यते च मुनिसत्तमेति । मुनित्वात् सर्वज्ञत्वं, भक्तमुख्यत्वात् भक्त्युत्कर्षस्थापकत्वमित्युभयं त्वय्येव दृष्टमिति भावः ॥ १३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपः

श्रीमते मङ्गलमूर्त्तये निम्बार्काय नमः

श्रीनिम्बार्कं नमस्कृत्य दशमे दशमप्रदे । नवत्यध्यायसंयुक्ते प्रदीपोऽयं विरच्यते ॥

आश्रयकथाऽमृतपाने प्रीत्यतिशयेन क्रमप्राप्तान्निरोधात्प्रागृराजर्षिराश्रयस्वरूपगुणादिवर्णने ब्रह्मर्षिं प्रवर्तयितुमिदमाह— **कथित इति ।** सोमसूर्ययोरिति श्रीकृष्णाऽख्याश्रयप्रादुर्भाववंशप्रवर्तकतया सूर्यपितृव्यत्वेन चाऽभ्यर्हिततया सोमस्य पूर्वनिपातः । राज्ञामुभयवंश्यानां सोमसूर्यवंशभवानां दिगादित्वाद्यत् अम्बरीषादीनां सूर्यवंश्यानां ययातिप्रभृतीनां सोमवंश्यानां परमं मुक्त्युपायतया श्रेष्ठमद्भुतमाश्चर्यभूतं चरितं च कथितमिति लिङ्गविपरिणामेनाऽन्वयः । उभयवंश्यानां भागवतानां चरितं मुमुक्षुभिः शिक्षणी-

यमतः पृथगुक्तिर्युक्तैव। उभयत्र भगवच्चरितं चोक्तमपि मुनिना तदनुवादाऽकरणे राज्ञोऽयमाशयः, अहो भवता यस्य श्रवणे पुनरहंममाभिमानः स्यात् स वंशविस्तारः कथितः यस्य श्रवणेन परमानन्दप्राप्तिः स्यात्तद्धरिचेष्टितं मम वितृष्णाऽनुरूपं नोक्तमिति ॥ १ ॥ यदोश्च वंशविस्तारः कथित इत्यन्वयः। कथम्भूतस्य ? नितरां धर्म्मशीलस्य; अयमर्थः, पूरुः पित्राज्ञानुवर्तित्वा द्धर्मशीलः न च पुत्रतारुण्येन तन्मातृसंयोगस्यात्यन्तमयुक्तत्वात् स अधार्मिक इति वाच्यम्। ऋषिवाक्यप्रचोदितेन अतिसङ्गलब्ध दोषदर्शनपूर्वकपुत्रकलत्रादित्यागकामेन ययातिना स्ववार्द्धक्येन विशेषतः विक्रीते पुत्रतारुण्ये पुत्रसंसर्गाभावात्। अन्यथा राजर्षे स्तादृशवरग्रहणे मुनेश्च तद्दाने प्रवृत्त्यसम्भवाच्च यदोश्च भगवद्भजनौपयिकस्वतारुण्याविक्रयित्वराज्यसुखानपेक्षत्वादिना नितरां धर्म शीलत्वसिद्धिः। न च वाच्यं पित्राज्ञालङ्घनादधर्मशीलत्वं तस्येति "मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः" इत्यादिपु पित्राज्ञाऽव लङ्घनस्य तु का कथा भागवतानां सर्वोपेक्षत्वं भूषणत्वेन निरूप्यते। हे मुनिसत्तम ! कर्मतपोव्रतादिमननशीलाः मुनयः ज्ञानभक्त्या दिपराः मुनिसत्तराः तेष्वपि सर्वपरित्यागपूर्वकभगवद्विषयकज्ञानध्यानादिपरतया हे सर्वमुनिश्रेष्ठ ॥ १½ ॥

श्रीसुबोधिनीकारिकाः (जन्मप्रकरणम्)

नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्। लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥ १ ॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा। षड्भिर्विराजते योसौ पञ्चधा हृदये मम ॥ २ ॥
दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते। नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ॥ ३ ॥
आश्रयः क्रमभावित्वान्निरोधो वेति संशयः। लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्बलम् ॥ ४ ॥
यथाकथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते। निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ॥ ५ ॥
प्रतीतो द्वादशेन्यत्र महत्वाच्छुद्धलीलया। सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इहेति चेत् ॥ ६ ॥
न हि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम्। नवलक्षणसापेक्षो ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ? ॥ ७ ॥
अग्रे लीलाद्वयकथा फलसिद्धौ वृथा भवेत्। पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ॥ ८ ॥
कृष्णस्त्वेकादशेप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत्। निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ॥ ९ ॥
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्। नैमित्तिको निरोधोन्यो धर्मग्लानिनिमित्ततः ॥ १० ॥
स चात्र नैव सद्ग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम्। आद्यन्तयोरिहाभावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः ॥ ११ ॥
लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत्। तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ॥ १२ ॥
कार्यकारणहानिश्च प्रक्रान्तत्याग एव च। भक्तत्वाद्भुव उद्धारो भारहारान्निरूपितः ॥ १३ ॥
प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि। मर्दनक्लेशहानिः स्यादिति तस्याः समुद्यमः ॥ १४ ॥
ब्रह्मरुद्रादिदेवानामत एवान्यसंश्रयः। भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः ॥ १५ ॥
अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चयः। यावद्बहिः स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेन्न हि ॥ १६ ॥
तावदन्तःस्थितोप्येष न दारुदहनक्षमः। एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत् ॥ १७ ॥
तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः। रूपान्तरं तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ॥ १८ ॥
प्रपञ्चाभावकरणादुज्जाहारेति निश्चयः। पञ्च प्रकरणान्यत्र चतुर्भिर्जन्म सत्पतेः ॥ १९ ॥
अष्टाविंशतिभिः पूर्वं तामसत्वाद्व्रजोद्धृतिः। तथैव राजसानां च यादवानां विशेषतः ॥ २० ॥
सात्त्विकानेकविंशत्या निःप्रपञ्चांश्चकार ह। भगवानेव नान्योत्र तदर्थं षड्भगाभिधाः ॥ २१ ॥
चतुर्मूर्तेर्जन्मतोत्र तथाध्याया निरूपिताः। तत्तत्प्रकरणे तेषामुपयोगस्तु वक्ष्यते ॥ २२ ॥
हेतूद्यमस्वीकरणकापट्यैः प्रथमो महान्। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः ॥ २३ ॥
हेतुश्च त्रिविधो ह्यत्र गुणा भक्ताहितप्रदाः। कंसादेः कालतोऽज्ञानात्त्रिधा दुःखं तु तद्गतम् ॥ २४ ॥
भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः। यथायोग्यं दुःखमेषामत्रैवेति निरूप्यते ॥ २५ ॥
त्रयं भगवता शक्यं दूरीकर्तुमितीर्यते। प्रश्नोप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तनः ॥ २६ ॥
अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तस्वज्ञापकावुभौ। अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थं श्रीशुको वर्णयेत्कथम् ॥ २७ ॥
अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते। प्राणनत्वं कथायाश्च दयासिद्ध्यै शुकस्य हि ॥ २८ ॥
एवं प्रश्नो द्वादशभिः समतो गुणदोषगः ॥ २८½ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

नमः श्रीकृष्णपादाब्जतलकुङ्कुमपङ्कयोः । रुचे यदरुणं शश्वन्मामकं हृदयाम्बुजम् ॥ १ ॥

पितृपदसरसिजनतिततिविनिहतविश्वाशुभैर्निरोधस्य । विवृतौ संशयवंशच्छेदः श्रीविट्ठलैः क्रियते ॥ २ ॥

दशमस्कन्धविवरणं चिकीर्षवोऽत्र स्कन्धार्थरूपोऽपि भगवानेवेति ज्ञापनाय तद्रूपं तं नमस्यन्ति—**नमामीति**। "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः' इति वाक्यात्। तद्रूपं तं विवृण्वन्तो यथा नारायणो दास्योपयोगिशय्यादिसर्वार्थरूपत्वेन प्रभोः शेषभावं प्राप्तत्वेन तत्त्वेनैव प्रसिद्धे वेदात्मकत्वेन प्रमाणरूपे शेषे लक्ष्म्या सेव्यमानः क्षीराब्धौ शेते, तथा सर्वात्मभावेन दासत्वं प्राप्तत्वेन शेषरूपेऽस्मद्हृदये पुष्टिरसप्रेप्सुपेयोऽत्यन्तागाधो यो लीलाक्षीराब्धिस्तत्र शयानत्वेनान्यत्र गतिरहितो यस्तं नमामीत्यर्थः। लक्ष्मीसहस्रैस्तल्लीलाभिश्च सेव्यमानं चतुःषष्टिकलानिधिं तद्रसपोषणेऽतिचतुरम्। अथवा स्वांशकलानिधानत्वेन पूर्णं पुरुषोत्तममित्यर्थः। एतेन नारायणाद्वैलक्षण्यमुक्तं भवति। तत्रैका लक्ष्मीरत्रापरिमितास्ताः। तत्र क्षीराब्ध्यधिकरणके शेषे शेते, अत्र तु हृदयात्मकशेषाधिकरणकलीलाक्षीराब्धौ शेते। अत्रेदमाकूतम्—सर्वात्मभाववति हृदये सततभावनया प्रकटो यो रसात्मकः पुष्टिमार्गीयो लीलाब्धिः स्वयमेव कृतो यथा वृन्दारण्यप्रवेशवेणुकूजनादिः, तत्र पुष्टिमार्गीयैर्भक्तैः स्वस्वरूपेण स्वलीलाभिः कटाक्षादिरूपाभिश्च सेव्यमानस्तादृशम्। तेन नायिकानामपि प्रभुलीलामध्यपातित्वात् पृथक्तदुक्तिरनुपपन्नेति शङ्का निरस्ता। यथा पुरि शयनं पुरुषस्योच्यते, तथात्र तत्तल्लीलानुरूपा स्थितिः शयनपदेनोच्यते, न तु निद्रा। तथा सति विविधनायिकालीलानामनुपयोगात्तत्सेवनोक्तिर्विरुध्येत। नारायणे कमलवत् स्थायिभावात्मके स्वस्मिन् विचित्रान् भावानुत्पाद्य ब्रह्मवत्तादृशं कञ्चन प्रचुरं भावमुत्पादितवान् येन 'तल्लीलाविवरणात्मकमखिलरसात्मकं जगदाविरभूदिति। तेन मूले शयनपदोक्त्या नारायणे तत्प्रसिद्धमिति तद्धर्मसाम्यमाचार्यैर्निरूपितम्। मूलेऽनुशयनशब्दस्य भावार्थकत्वपक्षे त्वनुशय्यतेऽनेनेत्यनुशयनमिति करणव्युत्पत्त्या ताभिः सहात्मनो निगूढभावकरणं येन स निरोधः। स्वकीयेषु स्वविषयकभावोत्पादनं यया लीलया क्रियते सा निरोधशब्दवाच्येत्यर्थः ॥१॥ अथ प्रकरणार्थरूपं नमस्यन्ति—**चतुर्भिरिति**। दशमस्कन्धे पञ्चप्रकरणानि सन्तीति पञ्चधा प्रकरणार्थरूपो मम हृदये यो विराजते तं नमामीति सम्बन्धः। पञ्चरूपत्वं प्रकटयन्ति। आद्यं चतुर्भिरध्यायैः। द्वितीयं प्रमाणप्रमेयसाधनफलात्मकैश्चतुर्भिः प्रकरणैः तथैव तृतीयम्। चतुर्थं त्रिभिः प्रकरणैः। पञ्चमं षड्भिरध्यायैः। एवं पञ्चधा यो विराजत इति सम्बन्धः ॥ २ ॥ **पूर्वोत्तरेति**। अशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः सर्गः। पुरुषात् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः। उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया स्थापनं स्थानम्। स्थितानामभिवृद्धिः पोषणमितिप्रकारकः कार्यकारणभावः। प्रकृते च पूर्वस्कन्धे भक्तानां निरूपणात् तेषां चित्तवृत्तिनिरोधे कथ्यमाने स तिष्ठति। अन्यथा मुक्तानामाश्रयत्वेनाश्रयनिरूपणान्मुक्तिमनिरूप्य तन्निरूपणमशक्यमिति तदसंगतं स्यात्। निरोधः प्रलयत्वेन तेऽभिमत इति मुक्त्यनन्तरं तन्निरूपणे मुक्तानां प्रलय इति संगतिर्भवेत्। सा चायुक्ता। अनेवंकथने कार्यकारणभावक्षतिरित्यर्थः ॥ ८ ॥ **आद्यन्तयोरिति** प्रकरणयोरिति शेषः। तत्र दुष्टमारणाभावाल्लक्षणस्याप्रवेश इत्यव्यापकं लक्षणमिति भावः। **मुक्तावपीति**। स्कन्धान्तरे तन्निरूपणादतिव्यापकं तदिति भावः। एवं सति तस्या लीलाया दशविधलीलामध्यपातित्वाभावेन भागवतेऽप्रवेशः ॥११॥ अथ ग्रहिलतया प्रवेशो वाच्यस्तदा दशविधलीलाभ्यो भिन्नत्वेन भागवतमध्यपातित्वेन चैकादशी सा भवेदित्याहुः **लीलाधीक्यमिति** ॥ १२ ॥ नवलक्षणज्ञानं ह्याश्रयज्ञाने कारणम्, तथा सति तयोस्तथात्वहानिश्चेत्याहुः—**कार्येत्यादि**। 'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षण'मित्युपक्रान्तत्वात्तेभ्यः पूर्वभाश्रयोक्तौ तत्त्यागश्च भवेदित्याहुः—**प्रक्रान्तेति** ॥ १३ ॥ **ब्रह्मे**ति। तेषां भक्तत्वेऽप्यधिकारित्वात् केवलभक्ताया भूमेराधिक्यं तदपेक्षयेति भावः। **अन्यसंश्रय इति**। भक्तेष्वेवाविश्य सेवितवन्तो, न स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। यद्वा, प्रभोराविर्भावस्य स्वस्यापीष्टत्वेऽपि न स्वयं विज्ञापयितुं शक्तास्तादृगार्त्यभावात्, किन्तु तादृशीं भुवमग्रे कृत्वेत्यर्थः ॥ १५ ॥ **प्रद्युम्न** इति। अत्र निबन्धानुरोधादयं क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ हेतोस्त्रैविध्ये तात्पर्यमाहुः—**गुणा** इति। सत्त्वादय इत्यर्थः। **तद्गतम्**। भक्तगतमित्यर्थः ॥ २४ ॥ द्वादशभिः प्रश्ने हेतुमाहुः—**गुणदोषग** इति। षड्गुणा, लोके दोषत्वेन प्रसिद्धा धर्माश्च षड्देशान्तरगता गर्भमातुलमारणादयः उभयविषयकत्वात्तस्य तथात्वमित्यर्थः। गुणवाक्यसाम्यं दोषवाक्यानामयुक्तमित्याशङ्क्याहुः—**समत** इति। यथा गुणा उत्तमास्तथा लोके दोषा अप्युत्कटा इत्युभयोः साम्येन राज्ञा प्रश्नः कृत इति तथेत्यर्थः। **समत** इति भावप्रधानः ॥ २८½ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

श्रीनिःसाधनजनोद्धारकाय नमः

नमामि श्रीमदाचार्यचरणाब्जरजांस्यहम्। लाभाभिलाषमात्रेण येषां कृष्णः प्रियो भवेत् ॥ १ ॥

अग्नेस्तनूजं ननु जन्तुहेतोराविष्कृतस्वं सततं प्रणम्य। दृष्ट्वा तदाज्ञां च विचारयेऽहं सुबोधिनीस्थानगमान्पदार्थान् ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं टिप्पण्याम्। तत्र प्रथमश्लोके **नम** इत्यादि। श्रीश्च कृष्णश्च श्रीकृष्णौ तयोः पादाब्जतलकुङ्कुमसंबन्धिनौ यौ पङ्कौ तयो **रुचे नमः**। अत्रोभयोः परस्परसंबन्धेन सात्त्विकभावात् कुङ्कुमस्यार्द्रतां गतत्वेन पङ्कभावः। वैलक्षण्यबोधनार्थं

१. विचारणात्मकमिति **क**।

द्विवचनम्। हृदयारुण्यजनकतायां विशेषाभावाद् रुच इत्येकवचनञ्च बोध्यम् ॥ १ ॥ **पितृपदेत्यग्रिमश्लोके** कान्तिच्छन्दः। यस्यामार्यायामक्षरेषु षोडश गुरूणि पञ्चविंशतिर्लघूनि एवमेकचत्वारिंशदक्षरा कान्तिरिति पिङ्गलप्रदीपे तल्लक्षणात्। **विनिहत-विश्वाशुभैरिति**। विशेषेण निहतं विश्वेषां स्वीयानामशुभं यैरित्यर्थः। नमामीत्यस्याभासे स्कन्धार्थरूपोऽपि भगवानेवेति। अपिशब्दात्तत्कर्तृत्वमपि संगृह्यते। **तद्रूपं तमिति**। स्कन्धार्थकर्तृत्वे सति स्कन्धार्थरूपम्। अत्रेदं विचार्यते—मूलस्थनिरोधलक्षणगत-मनुशयनपदं भावव्युत्पत्त्या द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यचरणैर्व्याख्यातम्। अस्य भगवतोऽनु पश्चाच्छयनं शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं स्वस्य शयनमिति। इदमेव च "निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः। शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्" इति कारिकया स्फुटीकरिष्यते। "यथा पुरि शयनम्" इत्यादिना विवरिष्यते[1]। चास्मिन् पद्यविवरणे। एवं सति विलक्षणस्थितिक्रियाया एव स्कन्धार्थत्वं वक्तुमुचितम्, न तु तस्य भगवत्त्वम्। अथ श्रीभागवतस्य लीलाविशिष्ट-भगवद्वाचकत्वाददोष इति चेद्विभाव्यते, बाढं तदापि महावाक्यस्यैव वाचकत्वमायाति न त्ववान्तरवाक्यानाम्। यदि च क्रियायां प्रविष्टो यज्ञ इव लीलायां प्रविष्टोऽनुशयनात्मार्थत्वेनाभ्युपेयते, तदापि शायिनमिति प्रयोगः कथं संगच्छत इति चेत्, उच्यते—अत्र हि शयनं लीलाधिकरणकमुच्यते। तेन लीलायां प्रविष्टो भगवान् स्कन्धार्थत्वेन प्रत्याय्यत इति प्रयोगः सूपपन्नः। न च मूलविरोध इति वाच्यम्, स्कन्धार्थस्य नान्तरीयकारणरूपत्वेन लक्ष्यसहभावेनैव स्फुरणात्। न चेदसप्रयोजकम्, लोकेऽपि यत्र चेष्टादिभिर्नान्तरीयकैर्लक्ष्यबुद्धिस्तत्र लक्षणानां लक्ष्यव्याप्तानामेव निश्चायकत्वदर्शनात्। अत एव तादृशं लक्षणमाहात्म्यं ज्ञापयितुं भगवतः स्वभावं 'लीलायां तिष्ठन् लीलामन्तरो यमयति' इति रूपं ज्ञापयितुमेवमाचार्यैर्नि-रूपितमिति न कोऽपि चोद्यावसरः। अयमेवार्थोऽस्येति पुरोवर्त्तीत्यनेन द्वितीयसुबोधिन्यामुक्तः। स एव चार्थः प्रभुचरणैः 'यथा पुरि शयनम्' इत्यादिना ध्वनितः। पुरुषसूक्ते तादृशस्थितेः पुरुषे सिद्धत्वादिति दिक्। अतः सुष्ठूक्तं स्कन्धार्थरूपोऽपि **भगवानिति**। अत एव स्कन्धान्तरारम्भे नमनानुक्तिरत एव च मूलेऽत्र प्रथमतो जन्मप्रकरणमुक्तमन्यथा यत्र क्वचनैव वदेत्। नवमस्कन्ध एव भगवत्प्राकट्यस्य राजानं प्रत्युक्तत्वेन प्रयोजनाभावात्। राजप्रश्नानुसारेणापि प्रथमतो वीर्याणामेव वक्तव्यत्वादिति। नमामीत्यस्य विवरणे। **तद्रूपं तं विवृण्वन्त इति**। अनुशयनरूपं भगवन्तं व्यक्तीकरिष्यन्तः। नमन्तीति शेषः।

तदेतत् व्यक्तीकुर्वन्ति—**यथेत्यादि**। तत्त्वेनेति शेषत्वेन। एवं व्याख्यायैतत्प्रयोजनमाहुः—**एतेनेत्यादि**। एतेनेति। व्यतिरेकालङ्कार-**गर्भेणानेन** वाक्येन। तदेव व्युत्पादयन्ति—**तत्रैकेत्यादि**। व्यतिरेकं स्फुटीकृत्य विशेषणानां तात्पर्यं वदन्तः प्रथमं द्वितीयस्याहुः—**अत्रेत्यादि**। तेनेति पुनर्लीलापदकथनेन तथा च प्रथमविशेषणस्थलीलापदेन नायिकाप्राप्तावपि विवक्षितरूपतया प्राप्तिर्न स्यादतस्तथे-त्यर्थः। प्रथमस्य तदाहुः—**यथा पुरीत्यादि**। तथा सतीति निद्रार्थकत्वे सति। तथा च द्वितीयविशेषणस्य शङ्कानिरासः शयनशब्दार्थ-निश्चयश्चेति प्रयोजनद्वयमित्यर्थः। एवञ्चात्र जाग्रच्छयनमेव विशेषतो निरूप्यत इति ज्ञापितम्। तत्तल्लीलानुरूपपदेनेतरे स्वप्न-सुषुप्तिरूपे अपि सूचिते ज्ञेये। अतो न द्वितीयस्कन्धसुबोधिनीविरोधः। ननु स्कन्धार्थरूपत्वेन भगवति निरूपणीये व्यतिरेकमुखेन निरूपणस्य को वाऽऽशय इत्याकाङ्क्षायामाहुः—**नारायण** इत्यादि। **स्थायिभावात्मके स्वस्मिन्निति**। यद्यज्जनकं तत्तद्गुणकम्, यद्यद्गुणकं तत्तदविनाभूतम्, यद्यदविनाभूतं तत्तदात्मकमिति व्याप्तेः समन्वयाधिकरणे सूचितत्वात्तादृशभावोत्पादकत्वेन रत्यात्मक-स्थायिभावात्मके पुरुषोत्तमे। तथा च लीलाविवरणात्मककार्येण तादृशभगवत्स्थितिः श्रीमदाचार्यहृदयेऽनुमेयेति स्वीयानां बोधनार्थं तथा भावनीयमिति स्वीयशिक्षणार्थं च व्यतिरेकमुखेन कथनं चमत्काराधानार्थमित्यर्थः। नन्वेवं सति कृष्णावतारस्य सर्वावतार-श्रेष्ठत्वेन तापनीये श्रावणात् कृष्णावतारसाम्यमेव स्कन्धार्थात्मके रूपे निरूपणीयं किं नारायणसाम्यनिरूपणेनेत्यत आहुः—**तेनेत्यादि**। तथा च मूलानुरोधेन तथा निरूपणमित्यर्थः। ननु यद्यपि मूले लक्षणवाक्ये भावव्युत्पत्त्यानुशयनपदेन स्थितिक्रिया-विशेषो वक्तुं शक्यस्तथापि स्कन्धे तु नानाविधा लीला एव स्फुटं प्रतीयन्ते इति सा व्युत्पत्तिः कथं संगच्छत इत्यत आहुः—**मूलेऽनुशयनेत्यादि**। तुरप्यर्थे। स निरोध इति। ग्राह्य इति शेषः। 'मूलेऽनुशयनशब्दस्य भावार्थकत्वपक्षेऽपि' इत्यस्य 'स निरोध' इत्यनेनान्वयः। 'अनुशय्यत' इत्यादिनोक्तकरणव्युत्पत्त्या **ताभिः शक्तिभिः सह निगूढभावकरणं येन** क्रियाविशेषेण स निरोधः। तथा चात्र लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवत् करणोपहितैव क्रियोच्यते, क्रियोपहितं वा करणमिति व्युत्पत्तिद्वयेऽप्यदोषः। तदेतन्निगमयन्ति—**स्वकीयेष्वित्यादि**। सेति करणरूपा फलरूपा च। अतो न कोऽपि दोषः। इदमेव करणोपधानं द्वितीयसुबोधिन्यां "शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं स्वस्य शयनम्" इति भोजनक्रियायाः संग्रहेण अत्रत्यटिप्पण्यां **तत्तल्लीलानुरूपा स्थितिरिति** विशेषणेन च सूच्यत इति न कोऽपि दोषलेशः ॥ १ ॥ **सुबोधिन्यां—स्वोक्तो** दशमार्थः सर्ववादिसम्मतो नेति वादिनिरासाय विचारं प्रतिजानते—**दशमार्थ** इत्यादि। इदं निबन्धे स्पष्टम्। ननु कथमत्र संशय इत्यत आहुः—**नवेत्यादि**। यः कृष्णो नवलक्षणलक्ष्य उक्तः 'आभासश्च निरोधश्चे'त्यादिना तस्यात्र निरूपणात् ॥ ३ ॥ **क्रमभावित्वादिति**। 'अत्र सर्गो विसर्गश्चे'त्यत्रोक्तः क्रमः। यद्यपि स्वबुद्ध्या निर्णीतापेक्षया महापुरुषोक्तक्रमस्य प्रबलत्वान्निरोध एव दशमार्थत्वेनायाति तथापि प्रलयात्मकस्य तस्य परिदृश्यमानत्वाभावात्सन्देह इति भावः। पूर्वपक्षी अत्र चोदयति—**लीलेत्यादि** ॥ ४ ॥ अत्र दौर्बल्यं साधयति—**यथेत्यादि**। अथवा महापुरुषोक्तत्वात्क्रम एवादरणीय इत्यत आहुः—**यथेत्यादि**। अर्थानिर्धारे किं विश्वासमात्रेण फलं भवत्यपि तु नेति काकुः परिहासार्थः। दूषणान्तरमाहुः—

१. विचारयिष्यते इति **ग**।

निरोध इत्यादि ॥ ५ ॥ फलितमाहुः—**महत्वादित्यादिना** ॥६॥ समादधते—**न हीत्यादि** ॥७॥ ननु अयं न नियमः इत्यत आहुः—**अग्र** इत्यादि । तस्याः फलार्थं श्रवणमस्त्विति चेत्तत्राहुः—**पूर्वेत्यादि** ॥ ८ ॥ ननु स्वोक्तकार्यकारणभावो नादर्तव्य इति ग्रहिलवादेऽतिप्रसङ्गं दूषणान्तरमाहुः—**कृष्ण** इत्यादि । स्वोक्तसमर्थनायाहुः—**क्रम** इत्यादि । ननु भवत्वेवं तथापि लक्षणसमन्वयः कथं कार्य इत्याकाङ्क्षायां लक्षणं विवृण्वन्ति—**निरोध** इत्यादि । तथा च लक्ष्यनिरूपके स्कन्धे क्रीडनस्य दर्शनार्थमेव लक्षणार्थो नान्य इति न दोष इत्यर्थः । एवञ्च द्वितीयसुबोधिन्यां यदुक्त'मनुशयनं नाम शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं पश्चात्स्वस्य शयनं तच्च, जाग्रदादिभेदेन त्रिविधं शक्तयश्च द्वासप्ततिनाडीरूपा देहस्य तावत्यः, आत्मनश्च श्रीप्रभृतयो द्वादश तेन सप्ताशीत्यध्याया इति' तदप्येतेन स्मारितं ज्ञेयम् । प्रपञ्चस्य देहत्वात्तेन दैहिकीनां दुर्विभाव्यपदाच्छ्वयादीनां च संग्रहात् । तेनाभेदः फलिष्यति ॥ ९ ॥ ननु किमित्येवं व्याख्यायते, भगवता दुष्टराजानोपि मारिता इति तमादाय प्रलय एवार्थः कुतो नोच्यत इत्यत आहुः—**नैमित्तिक** इत्या'दि । **अन्य** इति प्रासङ्गिक इत्यर्थः ॥ १० ॥ कुतो न ग्राह्य इत्याकाङ्क्षायां दूषणानि आहुः **आद्यन्तयोरित्यादि** । एषामर्थष्टिप्पणीतो ज्ञेयः । **टिप्पण्यामेवं सतीति** । मारणलक्षणस्यार्थस्य स्कन्धद्वयव्यापकत्वेनातिरिक्तत्वे सतीत्यर्थः । **तस्या** इति । नैमित्तिकत्वेनागन्तुक्या इत्यर्थः ॥११॥ **सुबोधिन्याम्**—'भूमिभारावताराय यदर्थं जन्म माप्तवे'रिति बोपदेवमतं दूषयन्ति **तदर्थमित्यादि'** **पृथास्तोत्रेति** । तथा हि—'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रिय' इत्युक्तं, तद्विरोधीत्यर्थः ॥ १२ ॥ दूषणान्तरमाहुः—**कार्येत्यादि** । अर्थोऽस्य टिप्पण्यां स्फुटः । **टिप्पण्यां तथा सतीति** नवभ्य आधिक्ये सतीत्यर्थः । **त्यागश्चेति** । चकारः प्रस्तुतपक्षेपि तद्दूषणज्ञापनार्थः । "दशमस्ये"ति वाक्ये हि नवानामेव लक्षणत्वमभिप्रेतं न तु दशानामिति हृदयम् । **सुबोधिन्याम्**—ननु मारणलक्षणनिरोधश्चेन्न दशमार्थस्तदा 'भूमिर्दृप्तनृपे'त्याद्युक्तकथायाः कथं सङ्गतिरित्यत आहुः—**भक्तत्वादिति**। **उद्धार** इति दुःखोद्धारः । तथा च तत्रापि भक्ताया एव निरोध इति सुकरैव सङ्गतिरित्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु भूभारभूता हि राजानस्ते च न जन्मप्रकरणे मारिता इति कथं दुःखोद्धारो जन्मप्रकरण इत्यत आहुः—**प्रकट** इत्यादि । **भूमेर्हि** पापबाहुल्येन भारो, न तु नरबाहुल्येन । अन्यदापि तेषां पर्वतादीनां च सत्त्वात् । प्रकटे च प्रभौ सूर्ये तम इव पापं नष्टमतस्तथेत्यर्थः । "दिष्ट्या हरेस्या" इति द्वितीयाध्यायपद्ये स्पष्टमिदम् । प्रथमाध्यायेऽव्याप्तिमाशङ्क्य तत्परिहारायाहुः—**इतीत्यादि** । **समुद्यम** इति सफल उद्यम इत्यर्थः । तथा चोद्यमसाफल्यकथनात्तत्रापि क्लेशहानिरुक्तैवेति न दोष इति भावः ॥ १४ ॥ ननु भक्तनिरोध एव चेद्भगवतः कर्तव्यस्तदा ब्रह्मादयोपि भक्ताः सात्त्विकाश्चेति त एव कुतो न निरुद्धास्तत्राहुः **ब्रह्मे**त्यादि । एतदर्थष्टिप्पणीतो ज्ञेयः । ननु "तदात्मानं सृजाम्यहम्" इति वाक्यस्वारस्यान्नैमित्तिकोपि निरोधः प्रलयात्मा भगवत्कर्तृक एवेति, लक्षणवाक्यार्थविमर्शे निरोधस्य प्रलयलीलात्वेन व्यवस्थापनाच्च नैमित्तिकस्य कुतो न स्कन्धार्थरूपतेत्याशङ्कायां पूर्वस्कन्धार्थस्वारस्यमादाय स्वोक्तार्थं दृढीकुर्वन्त आहुः—**भक्तानामित्यादि** । नवमे हीशानुकथायां भक्तनिष्ठस्यैव संसारस्य लय उक्तः, तेनापि तेषामेव प्रपञ्चस्य लयो वाच्योऽतो न **नैमित्तिकस्य** स्कन्धार्थतेत्यर्थः ॥ १५ ॥ ननु भक्तप्रपञ्चलयो नात्र स्फुट इत्याकाङ्क्षायां तल्लयस्वरूपमाहुः—**यावदित्यादित्रिभिः** । किञ्च, नन्वप्रकट[२] एव भगवान् स्वभक्तान् कुतो न निरुद्धवानित्याशङ्कायामपीदमुच्यते । तत्र हेतुर्वस्तुस्वभाव एवेति । किञ्च, द्वितीयाध्याये समुद्यमरूपाङ्गनिरूपणादव्याप्तिरपि निवारिता ज्ञेया । तृतीयाध्यायेऽव्याप्तिं निवारयन्ति **रूपान्तरमित्यादि** । एतेनैव कापट्यस्याप्यङ्गता व्याख्यातप्राया समानन्यायादेव बोध्या । एवञ्चात्रेदं सिद्ध्यति । प्रपञ्चे क्रीडनं दशमार्थस्तत्फलं च भक्तप्रपञ्चलयः । स च 'यावदि'त्यादिकारिकोक्तलक्षणको, न तु लोकप्रसिद्धप्रलयात्मकस्तेनैवास्य प्रलयलीलात्वं ब्रह्मलक्षणत्वं च । सोयं सम्पूर्णे स्कन्धेनुस्यूतः । "प्रपञ्चविस्मृतिः कृष्णात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते" इत्यनेनोक्ता तु क्रीडनव्यापारभूता । सापि भरतसूत्रे निरोधपदेनोच्यते । 'या तु व्यसनसंप्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते'' इति । एवं सति करणव्यापारफलानां निरोधता । पदार्थान्तरनिरूपणविशेषस्तु प्रसङ्गादिसङ्गतिविशेषप्राप्त इति न कोपि चोद्यावसर इति ॥१६–१८॥ तदेतद्धृदि कृत्याहुः—**इति निश्चय** इति । स्कन्धार्थं निश्चित्य प्रकरणानि विभजन्ते—**पञ्चे**त्यादि ॥ १९ ॥ **नान्य** इति । अन्तर्याम्यधिदैवरूपो शो नेत्यर्थो निबन्धानुसारेण ज्ञेयः ॥ २०–२१ ॥ चतुर्मूर्तिप्राकट्यस्य किं प्रयोजनमत आहुः—**तत्तदित्यादि** ॥ २२ ॥ **प्रथम** इति । आद्यप्रकरणार्थ इत्यर्थः । **टिप्पण्यां निबन्धानुरोधादिति** । निबन्धे हि प्रथमे वासुदेवस्ततः संकर्षणस्ततः प्रद्युम्नस्ततोऽनिरुद्ध इत्येवं सोपपत्तिकमुक्तमतस्तथेत्यर्थः ॥ २३ ॥ न केवलं **गुणा एव** तथा किन्त्वन्येऽपि तदनुरोधिन इत्याशयेन दृष्टान् पीडकानाहुः—**कंसादेरित्यादि** । **अज्ञानादिति** कंसमौर्ख्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥ **त्रयमिति** दुःखत्रयमित्यर्थः । **ईर्यत** इति प्रथमाध्याय उच्यत इत्यर्थः । एतेन त्रयाणां भगवन्नाश्यत्वरूपं हेतुतावच्छेदकमेकमिति हेत्वननुगमोपि परिहृतः ॥२६॥ **द्वादशभिरिति** । प्राणनवाक्यस्य प्रश्नरूपत्वाभावात्तथेत्यर्थः । **गुणदोषग** इत्यत्र **टिप्पण्यां दोषत्वेनेति** । ऐश्वर्यादिगुणविरुद्धदोषत्वेन । **आदय** इति आदिपदेन असंज्ञातिसहभावबहुकालद्वारकावासबहुपरिग्रहाणां प्रश्नस्थानां सङ्ग्रह इति । अत्राद्यस्य वीर्येण, द्वितीयस्यैश्वर्येण, तृतीयस्य यशसा, तुरीयस्य श्रिया, पञ्चमस्य ज्ञानेन, षष्ठस्य वैराग्येण विरोधः स्फुट एव । तथा **चातो द्वादशभिः प्रश्नो** न तु पुरःस्फूर्तिकैर्वीर्यादिभिः । प्रश्नस्य स्कन्धद्वितयविषयकत्वादितिभावो बोध्यः ॥ २८½ ॥

---

१. इदं बोपदेवमतं ज्ञेयमिति- **च० ज० ।**　　२. जन्मप्रकरणे **क** ।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

श्रीगोवर्धनधारिणे नमः

यत्कृपादृष्टिपातेन भावार्थो हृदि भासते । तानहं श्रीमदाचार्यान्नमामि करुणाकरान् ॥ १ ॥
नुमः शयितगोपीशलीलाब्धिहृदयान्प्रभून् । ततः श्रीकृष्णपादाब्जतलरुग्रक्तमानसान् ॥ २ ॥

दशमस्कन्धे **नमामी**त्यत्र । लीलायामस्मद्धृदये प्रकटायां शायिनं तदनुरूपतया तत्परतया स्थितम् । यैव लीलाऽस्माभि भाव्यते तामेव कुर्वन्नस्मद्धृदये प्रकटो भवति । "यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" इ वाक्यादिति भावः । अत्र शयनपदार्थः स्थितिरिति टिप्पण्यामुक्तम् । एवं कारिकाद्वयेन स्कन्धार्थप्रकरणार्थरूपस्तत्कर्ता वा भगवान स्मद्धृदये विवरणहेतुभूतं प्रचुरं भावमुत्पादितवानतो ग्रन्थोऽयं क्रियत इति स्वस्य ग्रन्थकरणे हेतुरुक्तः । अस्मद्धृदयानुरूपलीलाय स्थितः सन्नस्मद्धृदये विवरणहेतुभूतं प्रचुरं भावमुत्पादितवान् इत्यर्थष्टिप्पण्यां स्फुटीकृतः । का० ॥१-२॥ **दशमार्थ** इति । **विचार्यते** एतासु कारिकास्विति शेषः । दशमार्थविचारेण संशयनिवृत्तिस्ततोऽर्थद्वयविचारेण दार्ढ्यं भवतीति विशेषबोधनाय **प्रकरणाध्याये**ति समासश्चकारश्च । अर्थत्रयस्यैव विचारे हेतुमाहु**र्नवे**ति । "अर्थत्रयं तु वक्ष्यामी"तिप्रतिज्ञानाद्यद्यपि वाक्यपदाक्षराणामर्था अग्रे वाच्यास्तथापि **हि** यत **इति संशयो**ऽतः कारिकास्वर्थत्रयमेव विचार्यते, निबन्धे उक्तमपि परिशील्यत इत्यर्थः । का० ॥ ३-४ । **प्रतीत** इति । दशमाद**न्यत्र** द्वादश इत्यर्थः । फलितमाहु**र्महत्वादि**ति । दशमस्कन्धस्यांशिलीलानिरूपकत्वेन महत्त्वात् । सत्त्वाद्य व्यवधानेन प्रकटस्य **शुद्धस्य** कृष्णस्य **लीलया** प्राकट्यादिरूपया **सहित आश्रयः** परब्रह्मपरमात्मेतिशब्दवाच्य इह प्रतिपाद्य इत्यर्थः एतादृशलीलासहितस्याश्रयत्वं युक्तं न तु द्वादशस्कन्धीयलीलासहितस्येति **हि** शब्दः । का० ॥ ५-६ ॥ **फलसिद्धावि**ति । "अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात्तेऽपि तादृशा" इति सिद्धान्तात्तत्तल्लीलाश्रवणेन तत्तल्लीलामध्यपातित्वं भवति । तथा चाश्रयसिद्धौ तदेव भागवत श्रवणफलमभयरूपमिति राज्ञो भागवतश्रवणफलसिद्धाव**ग्रे लीलाद्वयकथा** व्यर्था स्यादित्यर्थः । **पूर्वोत्तरे**ति । पूर्वपूर्वस्य कारणत्व मुत्तरोत्तरस्य कार्यत्वम् । अधिकारिणां साधनानि (१) साधनयुक्तानां श्रवणम् (२) तत्रादौ सर्गलीला (३) सृष्टानां धर्मादि पुरुषार्थसाधनं (४) सिद्धपुरुषार्थानां तत्तन्मर्यादया स्थापनं (५) ततस्तन्मध्ये केषांचिदनुग्रहः (६) पुष्टौ प्राप्तस्य वैपम्यदोपस्य निवृत्त्यर्थं वासनाः (७) ततो वासनानिवृत्त्यर्थं सद्धर्माः (८) ततो निवृत्तदोषाणां भक्तिः (९) ततो भक्तानामासक्तिः (१०) आसक्तानां स्वरूपेण व्यवस्थितिः (११) तथाव्यवस्थितानां भगवदाश्रयः (१२) एवं कारणकार्यतेत्यर्थः । इदं निबन्धे तत्तत्स्कन्धे स्फुटम् । का० ॥ ८ ॥ **क्रीडनमि**ति । स्थितिर्लीला चेति द्वयमपि क्रीडनपदेनोच्यते । "प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिस्तु निरोधो यौगिक" इति निबन्धे विवृतम् ॥ का० ॥ ९ ॥ **नैमित्तिक** इति । निमित्तमाहुः—**धर्मे**ति । धर्मग्लानिनिमित्ताद्धरिणा कृतो दुष्टभूभुज **नैमित्तिको निरोधः** प्रलयरूपो दशलीलाभ्योन्यः सङ्कर्षणकार्यरूप इत्यर्थः । का०॥१०॥ **स** निरोधश्चकाराद् व्यूहान्तरकार्यधर्मरक्षादि रूपश्च निरोधोऽत्र स्कन्धार्थत्वेन न सद्भिर्ग्राह्यः । भगवत्सम्पादितयौगिकनिरोधाङ्गभूतः स इति भावः । अग्राह्यत्वे हेतुमाहु**राद्यन्तयो**रिति का० ॥ ११ ॥ **कार्यकारणे**ति । भावप्रधानमिदम् । आश्रयज्ञानस्य कार्यत्वं नवलक्षणज्ञानस्य कारणत्वं तयोर्हानिरित्यर्थः । अत्र निबन्धे "भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तय" इत्यनेन कार्यकारणभावसङ्गतिर्निरूपिता । सङ्गतिं सूचयन्तोऽत्र भूम्युद्धरणमपि भक्तत्वादेवेत्याहुः—**भक्तत्वादि**ति । **उद्धारो** दुःखादिति शेषः । भारहरणाद्धेतोर्दुःखाद्**भूमे**रुद्धारो भक्तत्वान्निरूपित इत्यर्थः का० ॥ १३ ॥ **अत एवे**ति । भूमिर्भगवन्मात्रनिवर्त्यदुःखा, अतस्तस्या अधिकभक्तत्वादेवेत्यर्थः । प्रलयरूपनिरोधोऽप्यङ्गत्वेनोच्यत इत्याहुः—**भक्तानामेवे**ति । एतेषामेव निस्तारकरणादेतेषामेव प्रपञ्चस्य निरोध आत्यन्तिकप्रलयरूप इति भावः । का० ॥ **१५** । ननु "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति श्रुतेः सर्वत्रानुप्रविष्ट एव भगवान् प्रपञ्चाभावं साधयतु किं विशेषावतारेणेत्याशङ्क्य दृष्टान्तपूर्वकं साधयन्ति **यावदि**ति । का० ॥ १६ ॥ तर्हि "तमद्भुत"मितिरूपेणैव तावत्कार्यसिद्धौ रूपान्तरस्वीकरणं किंप्रयोजनक मित्यत आहुः—**रूपान्तरं त्वि**ति । यथा वेषान्तरधारणेऽपि नटः स्वरूपतः स एव तथा रूपान्तरधारणेऽपि भगवान् स्वरूपतः स एवेति, त्रिविधा भक्तास्तत्तद्भावानुकृत्यैव साध्या भवन्तीति रूपान्तरस्वीकरणम् । वक्ष्यन्ति च पञ्चमाध्याये, "स्वभावस्यान्यथाभावे न वै शक्यः कथंचन । अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिधा भगवतः कृतिरि"ति । प्रपञ्चाभावकरणाद्धेतोः संसारादुज्जहारेत्यर्थः । एवं दशमार्थ विचार्य प्रकरणार्थं विचारयन्ति **पञ्चे**ति । का० ॥ १८-१९ ॥ **भगवानेव नान्योऽत्रे**ति । बहिर्मुखाशङ्काप्राप्तमायाप्राकृतगुणसंबन्धवान् न इत्यर्थः । इदं षड्विंशाध्याये "इति विक्लवितं तासा"मित्यत्र टिप्पण्यां स्फुटम् । एवं प्रकरणविभागादपि निरोधस्य स्कन्धार्थत्वे संशयो न कार्य इति भावः । का० ॥ २१ ॥ अध्यायार्थं विचारयन्ति—**चतुर्नवते**रिति ॥२२॥ एवमर्थत्रयनिरूपणेन स्कन्धार्थसंशयो निराकृतः । प्रथमाध्यायार्थमाहुः—**हेतुश्चे**ति । भक्तदुःखं हेतुः । तस्य त्रैविध्यं विवृण्वन्ति—**कंसादे**रिति । **अज्ञानादि**ति । "नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषित" इतिवाक्यश्रवणानन्तरं कंसेन कृतं भगवदवताराज्ञानाज्जातम् । अनेन दुःखेन भगवानव तरिष्यतीति ज्ञाने तु दुःखं न भवेदिति भावः । का० ॥ २४ ॥ दुःखत्रयाधिकरणान्याहु**र्भू**मिरिति । कंसादिकृतं दुःखं भूमेः । कालरूपाकाशवाणीकृतं दुःखं मातुः । भगवदवताराज्ञानकृतं दुःखमन्येषां सर्वेषामिति विभागः । अज्ञानकृतं पूर्वयोरपि परं कंसादि कृतत्वं कालकृतत्वं च विशेष इति **तथा** चेत्युक्तम् । तद्दुःखनिवृत्तिप्रकारोऽपि निबन्धे निरूपितः "कालजं प्रभुसम्बन्धात् कंसज

हेतुवारणात्। वाक्यैरज्ञानसंभूतं शक्यं तत् त्रितयं हरे''रिति। तृतीयाध्याये स्वस्यावतारेण प्रश्निसम्बन्धज्ञापनेन चाकाशवाणीजनितं मातुर्दुःखं निवारितवान्। ततः कंसादिकृतं दुःखं कंसवधान्तेष्वध्यायेपु कंसादिमारणेन निवारितवान्। ततः ''सभाजितान्समाश्वास्ये''तिश्लोकोक्तसभाजनसमाश्वासनवाक्यैः स्वावतारज्ञापनेन तदज्ञानजं दुःखं निवारितवान्। ''त्वमेव पूर्वसर्गेऽभू''रितिश्लोके देवक्यां स्नेहातिशयो विवृतः। अतः क्रममपहाय पूर्वं मातुर्दुःखं निवारितवानिति ज्ञेयम्। व्रजस्याधिदैविकदुःखनिवृत्तेस्त्ववतारकार्यत्वाभावादत्र तदकथनम्॥ २५॥ **अनुवाद** इति। सार्धेनानुवादो, 'निवृत्ततर्षै'रि'त्यनेन चरित्रस्तुतिश्चेत्यर्थः। **अन्यथेति।** भक्तत्वाभावे इत्यर्थः। **अज्ञानमिति विनिवार्यते** 'पितामहा मे' इत्यादिना भगवन्माहात्म्यकथनेनेति शेषः॥ २८३॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

श्रीयशोदोत्सङ्गलालिताय नमः

श्रीगोवर्धनधारिणं शुभकरं शृङ्गारमूर्ति भजे, वन्दे नन्दपुराणपुण्यफलितं श्रीबालकृष्णं प्रभुम्।
श्रीमद्वल्लभविट्ठलेश्वरविभुं ध्यायामि सद्वन्दितौ, कुर्वे तत्कृपया निरोधविवृतौ सन्देहविध्वंसनम्॥ १॥

अथ नि[१]रोधस्य स्कन्धार्थत्वात्प्रथमं तत्स्वरूपं विचार्यते। तत्र ''निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभि''रितिवाक्यादात्मनः पुरुषोत्तमस्य शक्तिभिरनुशयनं निरोधः। आत्मपदान्निर्गुणं परं ब्रह्म ग्राह्यम्। ''गौणश्चेन्नात्मशब्दादि''त्यत्रात्मशब्दस्य परवाचकताया निर्द्धारितत्वात्। तत्र ''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'' इति श्रुतेः, ''कृष्णस्तु भगवान्स्वय''मित्यादिवाक्याच्च परमात्मत्वं कृष्णस्य सिद्धम्। अतः कृष्णस्यानुशयनं निरोधः। अनुशयनं नाम लीलानुरूपा स्थितिः। ''विष्णुः सर्वगुहाशय'' इत्यादौ शीङ्धातोः स्थित्यर्थकत्वात्। न हि गुहायां शेत इति व्युत्पत्त्येन गुहाशयशब्देन निद्रातीत्यर्थः सिध्यति, निद्राया अविद्यावृत्तित्वात्। अतः शीङ्धातोस्तादृशस्थितिरत्रार्थः। एवं सति शक्तिभिः सह भगवतः स्थितिः शयनम्। अनुरूपतोपसर्गार्थः। कस्यानुरूपेत्याकाङ्क्षायां स्थितेर्लीलाप्रयोजनकत्वाल्लीलानुरूपेति बोध्यम्। एवञ्च कृष्णस्य लीलानुरूपा स्थितिरनुशयनमिति सिद्धम्। स्थितिरपि लीलाविशेषोनेकविधलीलासाधकः। अतः सर्वलीलासाधिका स्थितिरूपा लीला निरोधपदार्थो भगवद्धर्मः। स च प्रपञ्चमध्य एव स्फुटः। कृष्णावतारस्य प्रपञ्च एव जातत्वात्। तदुक्तं निबन्धे ''स एव कदाचिज्जगदुद्धारार्थमखण्डः पूर्ण एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यत'' इति। अतोनेकशक्तिभिः सह कृष्णस्य प्रपञ्चे क्रीडा निरोध इति फलितम्। एतदुक्तं सुबोधिन्याम् ''**निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः। शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणमि**''ति। इह कारिकायां **कृष्णस्ये**तिपदं मूलस्थात्मपदव्याख्यानरूपम्। भागवतमते कृष्णस्यैवात्मत्वेन निरूपणात्। अत एवावतारान्तरलीलायां स्कन्धान्तरप्रतिपाद्यायां नाव्याप्तिरितिभावः। एवं निरोधशब्दोनुशयने रूढ इत्युक्तम्। किञ्च, प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोधः, नितरां रोधो निरोध इति व्युत्पत्तेः। रोधः कस्येत्यपेक्षायां भक्तानामिति पूर्वस्कन्धार्थसङ्गत्या लभ्यते। कस्माद्रोध इत्यपादानापेक्षायां प्रपञ्चो ग्राह्यः। तथा सति प्रपञ्चाद्रोध इति सिद्ध्यति स्म। प्रपञ्चाद्रोधेपि ''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते'' इतिवत्प्रपञ्चस्मरणं चेत्तदा भगवल्लीलानुभवे मुख्योऽधिकारो न स्यादतः प्रपञ्चविस्मरणमपेक्षितं, तदुपसर्गेण लभ्यते। नितरां रोधः प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकः स निरोध इति। कस्मिन्निरोध इत्यपेक्षायां भगवति निरोध इति ज्ञेयम्। स हि परमरुच्युत्पादकलीलाजन्यत्वेन परमसुखरूपत्वादासक्तिरूपो भवितुमर्हति। एवं यौगिकव्युत्पत्त्या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोध इति फलितम्। ''या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते'' इति भरताचार्यवाक्ये व्यसनपदवाच्याया आसक्तेरेव निरोधत्वकथनाच्च। सा च ''इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा। कुर्वन्तो रमभाणाश्च नाविन्दन्भववेदनामि''त्यत्र, ''शय्यासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु। न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णदेवता'' इत्यत्र च स्फुटमभिहिता। एवमुभयं निरोधपदवाच्यम्। ''समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः। प्रपञ्चविस्मृतिः सक्तिर्भक्तानां चापि योगत'' इति निबन्धान्निरोधशब्दस्य यौगिकत्वपक्षे भक्तकर्मकनिरोधवत्कृष्णकर्मको निरोधोपि गोप्यतया विवक्षितः। यथा भगवता लीलाभिर्निरुद्धा भक्ता भगवद्वशे भवन्त्येवं पुष्टिभक्तैर्लीलाभिर्निरुद्धो भगवान्भक्तवश्यो भवति। अत एव भगवता भक्तेतरविषयकज्ञानाभावः स्वस्मिन्प्रदर्शितो ''नाहं तेभ्यो मनागपी''त्यनेन। इममर्थं सूचयितुं स्वहृदयशेषे भगवतः शयनमाचार्यैरुक्तम् 'नमामि हृदये शेष' इत्यनेन। ''अन्यत्र गतिरहितो य'' इति टिप्पण्यां व्याख्यातं च। अन्यच्च, ''आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यत'' इत्यादौ प्रलयो निरोधपदवाच्यः, स च प्रपञ्चप्रतियोगिकः। एवं च सुबोधिन्युक्तया टिप्पणीव्युत्पादितया पूर्वोत्तरस्कन्धार्थसङ्गत्या नवमदशमार्थसङ्गतिविचारे भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इत्यायाति। अत एव द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां 'भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोध' इत्युक्तम्। इहापि सुबोधिन्याम् ''अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चय'' इत्यभाणि। तथा च भक्तानां प्रपञ्चस्य प्रलयस्तिरोधानं नित्यलीलौपयिकदेहत्वफलको जाड्यात्मकप्रपञ्चभावलय इति यावत्। सूतोक्तलक्षणेषु निरोधस्थाने संस्था पठिता। संस्था च ''नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः। संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावत'' इत्यनेन प्रलयरूपा व्याख्याता। अतो निरोधशब्देन प्रलय उच्यते। 'निरोधोस्यानुशयनमि'त्यस्य सुबोधिन्यामपि 'शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं भगवतः शयनमि'ति व्याख्यातम्। तत्रापि शक्तिशयनानन्तरं शयनकथनेन प्रलय

१. योजनाग्रन्थो नवमकारिकात एव प्रारभ्यते श्रीलालुभट्टैरिति विदांकुर्वन्तु भगवदीयविद्वांसः।

उक्तः। अतो भक्तप्रपञ्चसंपादिकाः शक्तीः स्वस्वरूपे तिरोहिताः कृत्वा तिष्ठति ततो भक्तान्प्रति प्रपञ्चस्तिरोभवत्यतो भक्तानां प्रपञ्चनिवृत्तिरिति सिद्ध्यति। एतदभिसंधायोक्तमत्र **यावद्बहिः स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेन्न हि। तावदन्तस्स्थितोप्येष न दारुदहनक्षमः। एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत्। तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यम** इति। इदमत्र ज्ञेयम्। स्वच्छन्दलीलाभिर्भगवान्निरोध्यभक्तानां देहादिसकलप्रपञ्चे स्वानन्दं प्रवेशयंस्तिरोहितानन्दमप्याविर्भावयति, ततो भगवदानन्दानुभवयोग्यालौकिकदेहत्वप्राप्तौ जाड्यादिरूपपूर्वप्रपञ्चभावो लीयते। अयमेव प्रलयपदार्थः। अतो भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इति फलति स्म। तथा च प्रपञ्चे शक्तिभिर्भगवत्क्रीडनं, भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः, भक्तानां प्रपञ्चाभावश्चेति त्रयं निरोधपदवाच्यम्। तत्र भगवत्क्रीडनं करणं, भगवदासक्तिर्व्यापारः, भक्तानां प्रपञ्चाभावः फलमिति त्रितयरूपो निरोधः स्कन्धार्थः। एवमत्रेदं सिद्धम्। भगवाननेकशक्तिभिः करणरूपनिरोधात्मिकां क्रीडां कुर्वन् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपनिरोधात्मकव्यापारेण प्रपञ्चाभावरूपफलात्मकनिरोधं सेवकानां संपादयतीति त्रिष्वपि निरोधपदव्यवहारः सुबोधिनीनिबन्धादिषूपलभ्यत इति सर्वमदुष्टम्। किञ्च, "लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनम्। निवर्तते तदेवात्र वह्नेर्दारुमयं यथे"तिकारिकायां फलात्मको निरोध उक्तः। तथा हि लौकिकेषु भावेषु पदार्थेषु यत्र यत्र भगवान् प्रविशति तत्र तत्र चिदानन्दयोस्तिरोभूतयोराविर्भावात्तदेव पूर्वस्थितस्वरूपं तिरोहितानन्दकं निवर्तते, ब्रह्मात्मकं भवति। प्रकटसच्चिदानन्दकं भवतीति यावत्। तत्र दृष्टान्तः वह्नेरित्यादि। यथा वह्निप्रवेशे दारूणां वह्निरूपत्वं तद्वदित्यर्थः। एवं भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो बोध्यः। अन्यच्च, शक्तिशयनानन्तरशयनवाचकेनानुशयनशब्देन गोप्योर्थोऽपि विवक्षितः। तदनुसारेण स्कन्धारम्भे स्कन्धार्थरूपं नमस्यद्भिः श्रीमदाचार्यचरणैः "नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्। लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिमि" त्युक्त्या रहस्यलीलानां निरोधपदवाच्यत्वं सूचितम्। तदनुसारेण प्रभुचरणैष्टिप्पण्याम "नुशय्यते अनेने"तिकरणव्युत्पत्तिं प्रदर्श्य 'निगूढभावकरणं येन स निरोध' इत्युक्त्वा स्वकीयेषु स्वविषयकभावोत्पादनं यया लीलया क्रियते सा निरोधपदवाच्ये'त्युक्तवद्भिर्गुप्तलीलायाः स्कन्धार्थता प्रतिपादितेति विद्वद्भिर्विभावनीयम्। एवं च शुकोक्तिसुबोधिनीटिप्पणीषु सर्वत्राविरोध इत्येक एवाशयस्तिसृणामिति प्रादुर्भवति स्म। तथा सतीदं सिद्धम्, देहादौ चिदानन्दयोः प्राकट्येन जाड्यादिप्रपञ्चभावप्रलयः फलरूपो निरोधः सिद्धः। तस्मिन्सति जाड्याभावेन प्रपञ्चे विद्यमानानामपि भक्तानां कृष्णानन्दानुभवयोग्यदेहत्वं सिद्ध्यति। इदमेव यमुनाष्टके "ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता" इत्यनेन प्रार्थितम्। ततो नित्यलीलाप्रवेशः स मुक्तिपदवाच्यः। निरोधलीलायां भक्तानां साधारणमायागुणरहितत्वेपि लीलास्थभक्तनियामकान्तरङ्गमायागुणव्याप्तत्वेन लौकिकसादृश्यव्यवहारः पुराणादौ तेषाम्। अन्तरङ्गयोगमायागुणनिवृत्तौ नित्यलीलाप्रवेशरूपा मुक्तिरतो मुक्तिलीलायां शुद्धनिर्गुणत्वमिति विवेकः। "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपमि"तिवाक्यात्। सगुणत्वस्यान्यथारूपत्वात्। का० ॥ १६–१७ ॥

हेतूद्यमस्वीकरणकापटच्यै रिति। हेत्वादयश्चत्वारः क्रमेण चतुर्णामध्यायानामर्थाः हेतूद्यमस्वीकरणकाप ट्यैरध्यायार्थैरवयवैः कृत्वा प्रथमो जन्मप्रकरणार्थरूपो जन्मलीलात्मको भगवान्महानवयवीत्यर्थः। इह स्कन्धे पञ्च प्रकरणानि तेषां जन्मादयोर्थाः। तेषु जन्मरूपोर्थः **प्रथमः**, स च हेत्वादिभिरवयवैर्महत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः सम्पद्यते। तत्र पूर्वाध्याये जन्मनो हेतुर्निरूप्यते स चाङ्गतया जन्मप्रकरणे सङ्गतिं प्राप्नोति। द्वितीये जन्मोद्यमः, सोपि जन्मसम्बन्धितया जन्मन्यन्वेति। तृतीये रूपान्तरस्वीकारः, स च भगवतो जन्मबोधकः। अन्यथा "तमद्भुतं बालकमि"त्यादिविशेषणोक्तभगवद्रूपतत्त्वावगतिसम्पन्नयोर्देवकीवसुदेवयो "रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यम्" "विदितोसि भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः पर" इत्यादिभिः स्तुवतोर्जन्मज्ञानं न स्यात्। तथा सति सर्वापि स्नेहलीला बाध्येत। रूपान्तरस्वीकारे तु ममायं बाल इतिबुद्ध्या "तदा तु स्वत एवासीद्भगवद्भावसङ्गतिरि"त्यादिवाक्योक्ता भावना सिद्धाभूत्। अतो रूपान्तरस्वीकारस्य जन्मबोधकत्वाज्जन्मप्रकरणे निरूपणं सङ्गतमेव। चतुर्थे कापट्यमुक्तं, तन्मायाकार्यं, तदप्यावश्यकं, माययैव भगवतो जन्म। वस्तुतो ब्रह्मणि जन्माभावात्। 'राजन्परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा मायाविडम्बनमवेहि तथा नटस्य' देवकीजन्मवाद" इत्यादिवाक्येभ्यः। अतो जन्मप्रकरणे मायाकार्यस्य नाट्यस्य निरूपणमुचितम्। नाट्यस्य जन्मसाधकत्वात्। एवं हेत्वादीनां जन्मप्रकरणे निरूपणं संगच्छत एव। वस्तुतस्तु परब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावो न तु जन्म। प्रादुर्भावप्रयुक्ता जन्मोत्सवादिलीला। अत एव "सिंचन्त्योऽजनमुज्जगु"रित्यत्राजनपदं श्रीशुकेनोक्तम्। देवकीनन्दनयशोदानन्दनादिनामान्यपि प्राकट्यप्रयुक्तान्येव। स च प्रकरणार्थरूपो भगवांश्चतुर्रूप इत्याहुः—**प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापर** इति। तथा च प्रद्युम्नादिचतूरूपो भगवानेव जन्मलीलात्मक इह प्रकरणे प्रतिपाद्य इत्यर्थः सम्पन्नः। 'चतुर्मूर्तेर्जन्मतोत्र तथाध्याया निरूपिता' इति वाक्यात्। अत एकैकस्मिध्याये प्रद्युम्नादेर्निरूपणम्, न तु प्रद्युम्नादयोऽध्यायार्थाः। किन्तु प्रद्युम्नादिचतुर्व्यूहो भगवाञ्जन्मप्रकरणप्रतिपाद्य इति भावः॥२३-२८३॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

श्रीरासरसिकाय नमः

श्रीकृष्णास्यवचो वन्दे दुर्बोधं विदुषामपि। तद्व्याख्यातृवचो वन्दे तत्सुबोधत्वसाधनम् ॥ १ ॥

सुबोधिन्याः समुद्धृत्य प्रायः सकलकारिकाः। तत्र पूर्वं विरोधस्था विवृणोमि समासतः ॥ २ ॥

टिप्पणीलेखमाश्रित्य प्रकाशं पौरुषोत्तमम्। गोस्वामिवल्लभीयं च किञ्चिद्वक्तुं समुत्सहे ॥ ३ ॥

श्रीमदाचार्यवर्या दशमस्कन्धविवरणं चिकीर्षवोऽत्र स्कन्धार्थरूपोऽपि भगवानेवेति ज्ञापनाय स्कन्धार्थरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति—नमामीति। सर्वोत्तमभावेन दासत्वं प्राप्तत्वेन शेषरूपेऽस्मद्धृदये यो लीलाक्षीराब्धिस्तत्र शायिनं लक्ष्मीसहस्रै-

स्तत्तल्लीलाभिश्च सेव्यमानं कलानिधिं पूर्णं पुरुषोत्तमं नमामि। अत्र लक्ष्मीसहस्राणि च लीलाश्च ताभिर्लक्ष्मीसहस्रलीलाभिरिति द्वन्द्वसमासः लक्ष्मीसहस्राणां लीला इति तत्पुरुषाश्रयणे तु लीलाक्षीराब्धिशायिनामित्यत्रोक्तलीलापदेन प्रमुलीलामध्यपातिनायिकानामपि प्राप्तत्वात्पुनस्तदुक्तिरनुपपन्ना स्यादिति व्याख्यातं टिप्पण्याम्। तथा च लीलाक्षीराब्धिशायिनमित्यत्र लीलापदेन सामान्यतो लीला विवक्षिता। लक्ष्मीसहस्रलीलाभिरित्यत्र तु लक्ष्मीसहस्रपदेन स्वरूपेण सेवा, लीलापदेन कटाक्षादिरूपाभिर्लीलाभिः सेवेति विशेषलीला विवक्षितेति न पुनरुक्तिः। मूले "निरोधोऽस्यानुशयनम्" इति शयनपदोक्त्या नारायणे शयनं प्रसिद्धमिति नारायणधर्मसाम्यमाचार्यैर्निरूपितम्। अत्र टिप्पण्यामनुशयनशब्दार्थो द्विधा स्वीकृतः—भावव्युत्पत्तिपक्षे तत्तल्लीलानुरूपा स्थितिः, करणव्युत्पत्तिपक्षे तु स्वकीयेष्वेव स्वविषयकभावोत्पादनसाधनीभूता लीला चेति। यदुक्तं टिप्पण्याम्—'मूले अनुशयनशब्दस्य भावार्थकत्वपक्षे तु अनुशय्यतेऽनेनेत्यनुशयनमिति करणव्युत्पत्त्या' इत्यादि। तत्र भावार्थकत्वपक्षे इत्यस्य भावव्युत्पत्तिपक्षे इति नार्थः, किन्तु निगूढभावार्थकत्वपक्षे इत्येवार्थः। तथा च अनुशयनशब्दघटकीभूतशीङ्धातोर्निगूढभावोऽर्थः। ल्युट्प्रत्ययः करणार्थकः। अत एवोक्तम्—"ताभिः सहात्मनो निगूढभावकरणं येन स निरोध" इति। निरोधशब्दस्य यौगिकार्थस्तु प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः। भरताचार्योऽप्याह—"या तु व्यसनसंपत्तिर्निरोधः स तु कथ्यते" इति॥ १॥ अथ प्रकरणार्थरूपं नमस्यन्ति—**चतुर्भिरिति**। आद्यं जन्मप्रकरणं चतुर्भिरध्यायैः। द्वितीयं तामसप्रकरणं प्रमाणप्रमेयसाधनफलनिरूपकैश्चतुर्भिरवान्तरप्रकरणैः। तृतीयं राजसप्रकरणमपि प्रमाणादिनिरूपकैश्चतुर्भिः प्रकरणैः। चतुर्थं सात्त्विकप्रकरणं प्रमेयसाधनफलनिरूपकैस्त्रिभिः प्रकरणैः। पञ्चमं गुणप्रकरणमैश्वर्यादिगुणप्रतिपादकैः षड्भिरध्यायैः। अत्र सात्त्विकानां प्रमाणबलापेक्षाभावात्त्रीण्येवावान्तरप्रकरणानि। तथा चोक्तं दशमस्कन्धनिबन्धे "प्रमाणानां बलं त्वत्र सात्त्विकानां न मृग्यते॥ प्रक्रियात्रितयं त्वत्र प्रमेयादि निरूप्यते"। अत्रावान्तरप्रकरणानि प्रायः क्रमेण ऐश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यनिरूपकैः सप्तभिः सप्तभिरध्यायैः। तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे तु क्रमभेदः। तत्र पञ्चमाध्याये धर्मी। षष्ठाध्याये वैराग्यम्। सप्तमे युगलगीताध्याये ज्ञानमिति। एवं सात्त्विकप्रकरणेऽपि सुबोधिन्यां क्रमभेदः स्वीकृतः। तत्र षड्भिः षड्भिः षड्भिरध्यायैः प्रमेयसाधनफलप्रकरणीयान्धर्मान्निरूप्य संलग्नैरेव त्रयस्त्रिंशदादिभिस्त्रिभिरध्यायैस्त्रयोऽपि धर्मिणो निरूपिताः। निबन्धे तु नैवं क्रमभेदो विवक्षितः। सुबोधिन्यां तु प्रमेयसाधनफलनिरूपकैः षड्भिः षड्भिः षड्भिरध्यायैः क्रमेण धर्मार्थकामान्निरूपयन्ति। धर्मिनिरूपकैस्त्रिभिरध्यायैर्मोक्षो निरूप्यत इति धर्मार्थकाममोक्षप्रकरणान्यपि विवक्षितानीति विवक्षाभेदेन व्यवस्था ॥२॥ एवं प्रकरणार्थरूपं भगवन्तं नमस्कृत्य स्कन्धार्थप्रकरणार्थाध्यायार्थविचारं प्रतिजानते—**दशमार्थ** इति। निबन्धे विचारितोऽपि स्कन्धार्थः संक्षेपेणात्रापि **विचार्यत** इत्यर्थः। एवं विचारं प्रतिज्ञाय दशमार्थ आश्रयो निरोधो वेति संशयम्, आश्रय इति पूर्वपक्षम्, निरोध एवेति सिद्धान्तं च वक्तुं प्रथमं सोपपत्तिकं संशयमाहुः—**नवलक्षणलक्ष्य** इति। सर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्ष्यस्य कृष्णस्य दशमस्कन्धे निरूपणादाश्रयो दशमार्थो, वा क्रमभावित्वान्निरोधो दशमार्थ इति संशयः॥ ३॥

एवं संशयं प्रदर्श्य पूर्वपक्षमाहुः—**लीलानिर्धारक** इत्यादिसार्धद्वयेन। पूर्वमीमांसापञ्चमाध्याये क्रमबोधकानि श्रुत्यर्थपठनस्थानमुख्यप्रवृत्त्याख्यानि षट्प्रमाणानि उक्तानि। तेषामुत्तरोत्तरं दौर्बल्यं चोक्तम्। यथा वा अर्थक्रमात् पाठक्रमो दुर्बलः। एवं सति यथा "अग्निहोत्रं जुहोति" "यवागूं पचति" इत्यत्र अर्थक्रममाश्रित्य पूर्वं यवागूपाकानुष्ठानमङ्गीकृतम्। पाठक्रमेण पश्चाद्यवागूपाके तु प्रयोजनबाधः स्यात्। तथात्रापि पाठक्रमत्यागेन अर्थक्रममाश्रित्य आश्रय एव दशमस्कन्धार्थः। ननु व्युत्क्रमेण श्रवणे फलं न भविष्यति इत्याशङ्क्योक्तं **यथाकथंचिदिति**। किञ्च, लोके निरोधः प्रलय इति प्रसिद्धः, स **प्रकृते** दशमस्कन्धे न प्रतीयते किन्तु दशमाद**न्यत्र** द्वादशस्कन्धे प्रतीतः। तथा च दशमस्कन्धस्य अंशिलीलानिरूपकत्वेन महत्त्वात् शुद्धस्य कृष्णस्य लीलया प्राकट्यादिरूपया सहित आश्रय इह स्कन्धे प्रतिपाद्य इति पूर्वपक्षः॥४–६॥ तं दूषयन्ति—**न हीति**। सर्गविसर्गादिनवलक्षणसापेक्षस्य आश्रयस्य प्रथमं निरूपणं सुकरं न भवति। एवं सति नवलक्षणानि अनिरूप्य नवलक्षणसापेक्ष आश्रयः कथं निरूप्यते॥ ७॥ किञ्च, **अग्रे लीलाद्वयेति**। आश्रयश्रवणात् फलसिद्धौ सत्यामग्रे एकादशद्वादशप्रतिपाद्यमुक्तिनिरोधरूपलीलाद्वयकथा **वृथा भवेत्**। अन्यच्च, पूर्वपूर्वस्कन्धार्थस्य कारणता उत्तरोत्तरस्य कार्यतारूपा सङ्गतिरस्ति। तथा सति मुक्तिनिरोधौ अनिरूप्य पूर्वमेवाश्रयनिरूपणे पूर्वोत्तरस्कन्धयोः कारणकार्यतारूपा सङ्गतिर्नश्येत्॥ ८॥ ननु दशमस्कन्धस्य नवलक्षणलक्ष्यकृष्णनिरूपकत्वादाश्रयार्थकत्वमेव युक्तमिति पूर्वोक्तां शङ्कां परिहरन्ति—**कृष्णस्त्वेकादशेप्यस्तीति**। तथा च एकादशस्कन्धेऽतिव्याप्तिः स्यादिति भावः। सिद्धान्ते उपपत्तिमाहुः—**क्रमश्च स्वीकृतो भवेदिति**। निरोधार्थकत्वपक्ष इत्यर्थः। एवं निरोधस्य दशमार्थत्वं निर्णीय निरोधलक्षणमाहुः—**निरोधोस्येत्यादि**। अत्र 'निरोधोस्यानुशयन'मिति वाक्यं द्वितीयस्कन्धदशमाध्यायस्थम्। तस्यैव विवरणं **प्रपञ्चे क्रीडनं हरेरिति**। तथा च अस्यानुशयनमित्यत्र इदंशब्देन हरिरेव न तु जीवः। एतेन 'अस्यात्मनो जीवस्य हरेर्योगनिद्रामनु पश्चात् शक्तिभिः सह शयनं लयः निरोध' इति श्रीधरव्याख्या व्यावर्त्तिता॥ ९॥ एवं स्वसिद्धान्तानुसारेण निरोधं लक्षयित्वा दुष्टभूभुजां प्रलयो निरोधशब्दार्थ इति मतं निराकुर्वन्ति—**नैमित्तिक इति**। धर्मग्लानिनिमित्ताद्धरिणा कृतो **दुष्टभूभुजां निरोधः** प्रलयरूपो दशविधलीलाभ्योन्य इत्यर्थः॥ १०॥ स निरोधोत्र स्कन्धार्थत्वेन सद्भिर्न ग्राह्यः, किन्तु भगवदासक्तिरूपनिरोधस्याङ्गभूतः स इति भावः। पूतनाकंसादिमारणेन नन्दवसुदेवादीनां भगवता स्वस्मिन्नासक्तिरेव दृढीकृता। तादृशनिरोधस्याग्राह्यत्वे हेतुमाहुः—**आद्यन्तयोरिति**। स्कन्धार्थस्तादृशो वक्तव्यो यः संपूर्णस्कन्धेऽनुस्यूतो भवति। एवं सति **आद्यन्तयो**र्जन्मप्रकरणगुणप्रकरणयोर्दुष्टमारणाभावाल्लक्षणस्या-

प्रवेश इत्यव्यापकं लक्षणमिति भावः। **मुक्तावपि** एकादशस्कन्धेपि दुष्टमारणनिरूपणादतिव्यापकं लक्षणमिति भावः। एवं सति दुष्टमारणात्मकलीलाया दशविधलीलामध्यपातित्वाभावेन **लीलाधिक्यं भवेत्**, एकादशी सा लीला भवेदित्यर्थः ॥११॥ दूषणान्तरमाहुः—**तदर्थं जन्मकथनमिति**। **तदर्थं** दुष्टमारणार्थं प्रथमस्कन्धेऽष्टमाध्याये "तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः" इति पृथावाक्ये भक्तियोगविधानार्थमेव भगवदाविर्भावस्योक्तत्वाद्दुष्टमारणस्य भगवदवतारप्रयोजनाङ्गीकारे कुन्तीस्तोत्रविरोध इति दुष्टमारणलक्षणो निरोधो न स्कन्धार्थ इत्यर्थः। यद्यपि कुन्तीस्तुतौ "केचिदाहुरजं जातम्" इत्यादिश्लोकेषु दैत्यवधादिकमपि अवतारप्रयोजनमुक्तं, तथापि पूर्वपक्षत्वेन, न तु सिद्धान्तत्वेनेति व्याख्यातं सुबोधिन्याम् ॥ १२ ॥ आश्रयस्य दशमार्थत्वे दूषणान्तरमाहुः—**कार्यकारणेति**। कार्यकारणेति भावप्रधानो निर्देशः। आश्रयज्ञानस्य कार्यत्वं, नवलक्षणज्ञानस्य कारणत्वं, तयोर्हानिरित्यर्थः दूषणान्तरमाहुः—**प्रक्रान्तेति**। "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणमि"त्युपक्रान्तत्वात्तेभ्यः पूर्वमाश्रयोक्तौ उपक्रान्तत्यागश्च भवेदित्यर्थः। अत्र निबन्धे "भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये" इत्यनेन भक्तिनिरोधयोः कार्यकारणभावसङ्गतिर्निरूपिता। सङ्गतिं सूचयन्तोत्र भूम्युद्धरणमपि भक्तत्वादेवेत्याहुः—**भक्तत्वादिति**। भारहरणाद्धेतोर्दुःखाद्भूमेरुद्धारो भक्तत्वान्निरूपित इत्यर्थः। तथा च कार्यकारणभावसङ्गत्या भक्तानामेव निरोधः स्कन्धार्थो, न तु दुष्टभूभुजां प्रलय इति भावः ॥ १३ ॥ **प्रकट इति**। **यदा परमानन्दः** पुरुषोत्तम एव **प्रकटो** भवति **तदैव भूमेर्दै**त्यकृतमर्दनक्लेशहानिः **स्यादिति** हेतोस्तस्याः पृथिव्याः **समुद्यमः**, ब्रह्मशरणगमनद्वारा भगवत्समीपगमनम्। तथा चोक्तं सुबोधिन्यां द्वितीयस्कन्धसप्तमाध्याये "भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दिताया" इति श्लोकविवरणे 'मर्दनक्लेशाभावार्थं साक्षादानन्दमयः, पुत्रत्वेन जननार्थं प्रद्युम्नः, धर्मरक्षार्थमनिरुद्धो नारायणांशः, भूमिभारनिराकरणार्थं सितकृष्णकेशांश इति ॥ १४ ॥ **ब्रह्मेति**। **अत एव** भूमेः केवलभक्तत्वादेव। ब्रह्मरुद्रादिदेवानाम**न्यसंश्रयः** भूमिसंश्रयः। ब्रह्मादयो भक्ता अपि अधिकारित्वात् स्वयं विज्ञापयितुमशक्ताः केवलभक्तां भुवमग्रे कृत्वा विज्ञापितवन्त इत्यर्थः। **भक्तानामेवेति**। अतो **भक्तानामेव** निस्तारकरणादेतेषामेव प्रपञ्चस्य निरोधो विस्मृत्यात्मक आत्यन्तिकप्रलयरूपो ग्राह्यः। द्वादशस्कन्धे आत्यन्तिकप्रलयस्य मोक्षात्मकत्वेन स्वीकारात्। तथा च निरोधशब्दस्य प्रलयवाचकत्वेपि भक्तानां प्रपञ्चस्य विस्मृत्यात्मक एव लयः आसक्त्यङ्गत्वेन स्कन्धार्थः स्वीकर्त्तव्यो, न तु दुष्टभूभुजां प्रलयः स्कन्धार्थ इति भावः ॥ १५ ॥ ननु अप्रकट एव भगवान् भक्तनिरोधं कुतो न कृतवानित्याशङ्क्याहुः—**यावदिति**। काष्ठाद्बहिःस्थितो वह्निर्वा मथनादिना प्रकटो वा वह्निर्यावत्काष्ठं न प्रविशेत् तावत्पर्यन्तं एव वह्निः काष्ठमध्यस्थितोऽपि दारुदहनसमर्थो न भवति, एवं सर्वव्यापकोपि विष्णुः प्रकटो भूत्वा भक्तहृदयादिकं **न प्रविशेत्तावत्पर्यन्तं** सर्वं भक्तदेहेन्द्रियादिकं विलयं न प्राप्नोति। लौकिकत्वपरित्यागेन अलौकिकत्वं न प्राप्नोतीत्यर्थः। **इति** हेतोः **कृष्णसमुद्यमः** 'आविवेशांशभागेने'त्यादिप्रकारेण अवतारार्थं भगवदुद्यम इत्यर्थः। एतेन कृष्णोद्यमरूपस्य द्वितीयाध्यायार्थस्य स्कन्धार्थप्रकरणार्थाभ्यां सङ्गतिरपि सूचिता। उद्यमस्यावताराङ्गत्वम्। अवतारस्य निरोधाङ्गत्वमिति ॥ १७ ॥ अथ रूपान्तरस्वीकरणस्य तृतीयाध्यायार्थस्य स्कन्धार्थेन सह हेतुत्वरूपां सङ्गतिं दर्शयन्तः प्रयोजनमाहुः—**रूपान्तरं** त्विति। "बभूव प्राकृतः शिशुरि"त्यत्रोक्तं रूपान्तरं नटवत् स्वीकृत्य **त्रिविधान्** तामसराजससात्त्विकभावापन्नान् **निजान्** भक्तान् **उज्जहार** उद्धृतवान्। एवं स्कन्धार्थं विचार्य प्रकरणानि विभजन्ते—**पञ्च प्रकरणानीति**। स्पष्टम्। एवं प्रकरणचतुष्टयाध्यायसंख्यामभिधाय गुणप्रकरणसंख्यां तत्रोपपत्तिं चाहुः **भगवानेव नान्योत्रेति**। अत्र स्कन्धे **भगवानेव** ऐश्वर्यादिगुणवानेव निरोधकर्ता निरूप्यते, न तु **अन्यो** निर्धर्मकादिस्तदर्थं षण्णां भगानामैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्याणा**मभिधा** निरूपणम्। तथा च षड्भिरध्यायैर्गुणप्रकरणमित्युक्तं भवति ॥ १८–२१ ॥ एवं प्रकरणानि विभज्य चतुर्भिर्जन्मप्रकरणनिरूपणे हेतुमाहुः—**चतुर्मूर्तेरिति**। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां क्रमेण तत्तत्कार्यार्थं चतुर्ष्वध्यायेष्वाविर्भावो ज्ञेयः। तदुक्तं निबन्धे "प्रथमे वासुदेवोभूद्वसुदेवहृदि स्थितः। मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचिदि"त्यादि ॥ २२ ॥ अथ जन्मप्रकरणीयाध्यायार्थानाहुः—**हेतूद्यमेति**। भगवदवतारहेतुः भक्तदुःखं प्रथमाध्यायार्थः। अवतारार्थं भगवदुद्यमो द्वितीयार्थः। रूपान्तरस्वीकरणं तृतीयार्थः। मायाकार्यं कापट्यं चतुर्थार्थः। एवं हेत्वादिभिरध्यायार्थैः **प्रथमो** जन्मप्रकरणार्थरूपो भगवान् महानित्यर्थः।

प्रथमप्रकरणार्थरूपो भगवांश्चतूरूप इत्याहुः—**प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथा पर** इति। परः संकर्षणः। 'अत्र निबन्धानुरोधादयं क्रमो न विवक्षित' इत्युक्तं टिप्पण्याम्। निबन्धे हि "प्रथमे वासुदेवोभूद्वसुदेवहृदि स्थित" इत्यादिना वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्ध एव क्रमेणोपपादिता इति स एव क्रमो ग्राह्यः ॥ २३ ॥ **हेतुश्चेति**। भगवदवतारे भक्तदुःखं हेतुस्तस्य त्रैविध्ये तात्पर्यमाहुः—**गुणा** इति। सत्त्वादयो गुणा एव **भक्ताहितप्रदाः** भक्तदुःखदायका इत्यर्थः। भक्तदुःखहेतोस्त्रैविध्यं विवृण्वन्ति **कंसादेरिति**। भक्तगतं दुःखं त्रिविधमित्यर्थः। अत्र श्रीवल्लभगोस्वामिनः "कंसादिकृतं दुःखं भूमेः। कालरूपाकाशवाणीकृतं दुःखं मातुः। भगवदवताराज्ञानकृतं दुःखमन्येषां सर्वेषामिति विभागः। "नन्दाद्या ये व्रजे गोपा" इतिवाक्यश्रवणानन्तरं कंसेन कृतं दुःखं भगवदवताराज्ञानाज्जातं ज्ञेयं, अनेन दुःखेन भगवानवतरिष्यतीति ज्ञाने तु दुःखं न भवेदिति भाव" इति व्याख्यातवन्तः। श्रीपुरुषोत्तमस्तु आवरणभङ्गे "कालो द्वापरकलिसंधिरूपस्ततो भूमेर्दुःखम्। कंसादेर्मातृदुःखमज्ञानजनितम्। कंसमूर्खत्वजनितमन्येषा"मिति व्याचख्युः ॥ २४ ॥ **यथायोग्यमिति**। भगवदवतारहेतुभूतदुःखनिरूपकेत्राध्याये **एषां** भूम्यादीनां यथायोग्यं दुःखं निरूप्यते ॥२५॥ **प्रश्न** इति। अत्र प्रथमेध्याये प्रकरणत्रयात् **प्रश्नोधिकः प्रोक्त** इत्यर्थः। **स्कन्धद्वितयवर्तन** इति। "देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि

वृष्णिभिरि''तिप्रश्न एकादशस्कन्धीयप्रमेयविषयकः। अन्ये प्रश्ना दशमार्थविषयकाः। तथा च प्रथमाध्याये चत्वारि प्रकरणानि। प्रश्नप्रकरणं भूमिप्रकरणं मातृप्रकरणम् अन्यप्रकरणं चेति। तदुक्तं निबन्धे, ''प्रश्नेन सहिताः पूर्वं चतस्रः प्रक्रिया मता'' इति। सुबोधिन्यां च ''तत्र दशभिः श्लोकैर्भूमिसान्त्वनं वाचा। उपायेन देवक्याः पञ्चत्रिंशद्भिः। ततोऽष्टभिः सर्वेषा''मिति॥ २६॥ **अनुवाद** इति ''कथितो वंशविस्तार'' इत्यादिसार्द्धश्लोकेन नवमस्कन्धोक्तचरित्रानुवादः, ''निवृत्ततर्षैरि''त्यनेन चरित्रस्तुतिश्चेत्युभौ स्तुत्यनुवादौ श्रोतुर्भक्तत्वज्ञापकौ। पूर्वोक्तानुसंधानेन अनुवादसामर्थ्यं भक्तस्यैवेति भावः। **अन्यथेति** भक्तत्वाभावे इत्यर्थः॥ २७॥ **अज्ञानमिति**। 'पितामहा मे' इत्यादिना भगवन्माहात्म्यकथनेन परीक्षिता स्वस्य कृष्णविषयकमज्ञानमन्यथाज्ञानं च विनिवार्यते। तथा च त्वदुक्ते भगवन्माहात्म्ये मम विश्वासो भविष्यतीति परीक्षिता शुकं प्रति स्वाधिकारो बोधितः। **प्राणनत्वमिति**। ''नैषातिदुःसहा क्षुन्मामि''त्यनेन हरिकथामृतस्य जीवनसंपादकत्वं यदुक्तं तच्छुकस्य दयासिद्ध्यर्थम्। **एवं प्रश्न** इति। ''नैषातिदुःसहे''ति श्लोकस्य प्रश्नरूपत्वाभावात्तं विहाय द्वादशभिरिति भावः। द्वादशभिः प्रश्ने हेतुमाहुः—**गुणदोषग** इति। षड्गुणा ऐश्वर्यादयः। लोके दोषत्वेन प्रसिद्धा धर्माश्च षट् मातुलमारणादयः। उभयविषयकत्वात्प्रश्नस्य गुणदोषविषयकत्वमित्यर्थः। गुणवाक्यसाम्यं दोषवाक्यानामयुक्तमित्याशङ्क्याहुः—**समत** इति। यथा गुणा उत्तमास्तथा लोके दोषा अप्युत्कटा इति गुणदोषयोः साम्येन राज्ञा प्रश्नः कृत इति गुणवाक्यसाम्यं दोषवाक्यानां युक्तमित्यर्थः। **समत** इति भावप्रधानो निर्देशः, समत्वादित्यर्थः॥ २८३॥

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिका

सा च श्रीकृष्णास्य—वाक्पति—वैश्वानरावतार—श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितश्रीमद्भागवतदशमस्कन्धश्रीसुबोधिन्याः सर्वज्ञ—कृत्यकृत्य—हृदीश्वरज्ञ—श्रीयोगिगोपेश्वरजित्कृता व्याख्या।

प्रथमोऽध्यायः

श्रीकृष्णाय नमः। १०–१–का. १. 'नवमाध्याये चिद्व्यामोहिका शक्तिरुक्ता। तस्यास्तमोरूपमायायाः सर्वथा तरणं वाक्पते'र्धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक'त्वात् तदुक्तनिरोधेन भवतीति वस्तुनिर्देशनमस्कारात्मकं द्वन्द्वं 'वेदवेदान्तसारं श्रीभागवत'मिति श्रीभागवतमाहात्म्यान्मङ्गलमाचेरुः **नमामीति**। नमनसिद्धान्तः पञ्चमस्कन्धात्। तापिनीयप्रसिद्धनमनमिति वेदान्तसारम्। वस्तुसारं वैदिकम्। **हृदयं** हृदि अयं हृदयमिति छान्दोग्ये। ङेः सुरिति छान्दोग्यीयव्युत्पत्त्या व्याकरणव्युत्पत्तिबाधे हृदयमिति साधयति। अत्र हृदयमित्यत्र प्रकारे लुक्, ङेर्लुक् वा इकारेण गुणः। **हृदयं** शेषः तस्मिन्नित्यर्थः। **हृदय** इति सप्तम्यन्ते तु वेदान्तव्याकरणे ङेर्लुग्वा, **हृदि** हृदये **अयं** शेषः तस्मिन्। हृदादिव्युत्पत्तिस्तु हरति ह्रियते वा वृह्रोः षुकदुकौ चेति क्यनः बाहुलकात् केवलोपि दुक् हृत्, तदाहुः **हृदय** इति। कृष्णनिविष्टे मनस्ययं शेषः, तस्मिन् शब्दार्थसाधारणे ब्रह्मणि शेषे शब्दात्मके तदध्यस्तेऽनन्तरूपेर्थे। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' इति श्रुतेः। भेदान्वये तु 'यस्यान्तकरणं गिरित्र'मिति वाक्यात् हृदयाधिकरणके शेष इति भवति, स न टिप्पण्याम्, अयं भक्तिजनकव्याख्याने, अभेदान्वयस्तु तदाज्ञया शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिकायामपीति ज्ञेयम्। तादृशे श्रीशुकरूपे यो **लीलाक्षिराब्धिः** निर्धर्मकत्ववारकः, तत्र **लीला** निर्धर्मकत्ववारिका। **क्षीरं** सर्वप्रतिष्ठास्थानम्। 'पयसि सर्वं प्रतिष्ठित'मिति श्रुतेः। **अब्धिः** सत्यं व्युत्पत्तेः, आपो धीयन्तेऽस्मिन्नित्यब्धिः। निरुक्ताच्च, निरुक्ते सत्यं जलनामसु पठितम्। 'अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये' इति महानारायणात्। तत्र **शायिनम्**। ज्ञानं श्रीभागवतरूपम्। 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्मे'तिवाक्यात् इति वेदान्तस्वरूपलक्षणलक्षितम्। अथ 'नित्यो निष्कलङ्को निराख्यातो निर्विकल्पो निरञ्जनः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोस्ती'ति श्रुतेः। एवं धर्मिण एवं धर्मरूपेण आविर्भाव उक्तः भक्तवश्यत्वात्। न वृक्षादिरूपधर्मैः नवमाध्यायसुबोधिनीटीकोक्तैः। तत एव। स च विष्णोरेवंविधत्वाभावे नोपपद्यते, अतो विष्णो रूपत्रये इदं महतः स्रष्टृ। तदुक्तं संहितायां 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'ति। तथा चैवं तपोरूपं कर्म विष्णोरिति भगवतोपीति भक्तमनोरथपूर्तिः। अत एव टिप्पण्यां शेषाधिकरणकलीलाक्षीराब्धिः पुष्टिरित्युक्तम्। मङ्गलाचरणे भक्तविशिष्टफलस्य पुष्टिमार्गीयस्य मुख्यत्वात्। किञ्च पुष्टिर्मर्यादातो विपरीता। 'त इमे सत्याः कामा अनृतापिधाना' इति छान्दोग्यदहरविद्यायां मर्यादा। अखण्डब्रह्मभाने क्षीराब्ध्यधिकरणकशेषस्यानृतापिधानश्रुतिप्रतिपाद्यत्वम्। न ह्यनन्तः शेषः परिच्छिन्नक्षीराब्धौ सम्भवति। पुष्टौ त्वनन्ते शेषे परिच्छिन्नः क्षीराब्धिः सम्भवतीति 'त इमे सत्याः कामा' इतिश्रुतिप्रतिपाद्यत्वमस्तीति विवेकस्तेन वेदवेदान्तसारे श्रीभागवते महानारायणज्ञाने 'स्वरूपलक्षणे सत्यं ज्ञान'मित्यत्र लीलाक्षीराब्धिरित्याकारकं ज्ञानं 'सत्यं ज्ञान'मित्यस्यार्थः। निर्विषयकज्ञानाभावात् न चायं घट इति ज्ञाने विषयतासम्बन्धोऽत्र त्वभेदसम्बन्ध इत्यपि सत्यमिति वाच्यम्। स्वयम्प्रकाशत्वार्थमभेदसम्बन्धादेकरसत्वाच्च। ज्ञानात्मकं जगदितिपक्षे घटस्य ज्ञानत्वाच्च। अनन्तं तु 'हृदये शेषे' इत्यत्रोक्तमेव। सन्निवेशस्तु पाठक्रमेण ज्ञानमार्गे 'देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः' इति श्रुतेः।

१. अत्र शोधपत्रमस्तीतिग्रन्थकर्तृभिर्लिखितम्, परन्तु तच्छोधपत्रमस्माभिर्ग्रन्थपत्रेषु न प्राप्तम्।

भक्तिमार्गे 'सर्वं सर्वमयं सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इति श्रुत्यनुसरणात्' त्वनन्तस्य शेषरूपत्वेन शय्यादिरूपत्वाद् यथाभक्ति मुख्यार्थादिक्रममाश्रित्य सन्निवेशः। पुष्टिमर्यादाभ्यां विरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मधर्म उक्तः शिवे पाशुपतशास्त्रं समाप्तम्। नारायणे वेदशास्त्रम्। द्वन्द्वप्रयोगो ज्ञापयत्यनुष्ठाने द्वन्द्वं प्रयोक्तव्यमिति। 'कर्मणि द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ती'ति गृह्यसूत्रवत्। अतः परं सर्वोपनिषदादौ ह्यानन्दमपि स्वरूपलक्षणे निविष्टमिति तद्रूपमाहुः लक्ष्मीति। तेन 'तमेत'मिति श्रुत्युक्तं रूपं पूर्वमुक्तम्। 'यदेव विद्यये'ति श्रुत्युक्तमुत्तरार्धे। लक्ष्मी राधारूपा। 'तावुभौ ब्रह्मसावित्र्यावंशेन जगतीं गतौ। तयोर्गेहे महालक्ष्मी'रिति पाद्मात्। राधालक्ष्मीनिरूपणे उत्सवप्रताने ऽस्ति। इयं ब्रह्मानन्दरूपा। क्षीराब्धेश्चरणाभ्यां मथने बालत्वादाधिदैविकाभ्याम् आचार्यानन्दाविष्टाभ्यां चरणाभ्यां क्रीडार्थमारोपिताधिभौतिकत्वैर्द्रव्यैः सम्बन्धादाध्यात्मिकाक्षरानन्दरूपा क्षीराब्धेर्जाता। भक्तिभ्यां जाता भक्तापि। अत एव नाक्षरे लयः, भक्तत्वात् सहस्रलीलास्ताभिः सेव्यमानमित्यात्मनेपदं ज्ञापयति स्वार्थे स्वलयाभावार्थे सेवत इति अतः परं धर्मीदमित्थतया ज्ञातुमशक्य इति महाचम[1]स्यमतेन चन्द्ररूपतामाहुः कलानिधिमिति ध्रुवा षोडशी तस्यामन्याः कला निधीयन्ते इति। पुरुषोत्तमोऽवतारी अधोक्षजत्वेप्युक्तो दृश्यत्वेपि चन्द्रस्य त्रिरूपत्वात्। 'यस्यामतं तस्य मत'मिति श्रुतेश्च। अवतारश्चतुःषष्टिकलानिधिः कला अब्मये निस्तेजसि चन्द्रे निधीयन्ते येनादित्येन सोपि कलानिधिः। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष'श्चेति श्रुतेः। तेन द्वितीयपादस्थे 'अन्तर उपपत्ते'रित्यधिकरणे योऽक्षिपुरुषस्तत्र स्थितिः। छान्दोग्यीयोपकोसलविद्या सङ्गृहीता। एतेन प्रथमतो गुरुरहस्यभजनं भावितं 'लक्ष्मी राधा सत्ता यमुनाजित् श्रीस्वामिन्यो गुरवोत्र न' इत्याचार्याः। पूर्णमपीदं वक्तव्यम्। 'अपश्यत् पुरुषं पूर्ण'मितिवाक्यात्। 'व्यासोऽस्माकं गुरु'रित्याचार्याः लीलाक्षिराब्धिशायी स्वयम्। लक्ष्मीः स्त्री धनं च। कलानिधिः पुत्रः शेषो वा। 'नारायणाद्रुद्रो जायते' इति नारायणोपनिषदः। कर्माणि भक्तमनोरथपूरकाणि। तथा च बृहदारण्यके साकारं ब्रह्म, 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुतेः। 'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मे'तिश्रुतेश्च ते च महत्प्रतीत्या निश्चीयन्ते। तथा साधनैः सजातीयविजातीयद्वैतरहितम्। स्वगतद्वैतस्य राजसताम[2]सज्ञानविषयस्य सात्त्विकज्ञानेनापाकरणात् सात्त्विकज्ञानमात्रविषयस्याद्वैतस्य सिद्धिः। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति बृहदारण्यकात्। ननु कृष्णमूर्तिर्गोपालतापिनीये कृष्णोपनिषदि च, किञ्च द्वितीयस्कन्धे सिद्धान्तनवमेध्याये चतुर्भुजं रूपमुक्तमिति ब्रह्मप्रकरणे च सर्वतः पाणिपादान्तत्वादिरूपमिति तद्विहाय कुत इदं नारायणरूपमुच्यते ? उच्यते। 'कृष्णमूर्ति'रित्यादिनोक्तमस्त्येव। यदुक्तं 'ब्रह्मप्रकरण' इत्यादि तत्तु पुरुषविद्यायामित्यक्षरतुल्यमिति नाचार्यस्थितिः। किन्तु 'सोश्नुत' इति श्रुत्युक्तविपश्चित्त्वेनोपस्थितपरब्रह्मणि। परत्वं न विपश्चित्त्वं, सूर्येतिव्याप्तेः, सत्यज्ञानानन्तविपश्चित्त्वस्य परब्रह्मलक्षणस्य। किन्तु अव्यक्तात् कालकृतं देशकृतं च परत्वम्। तेन पुरुषविद्योक्तेषु पुरा आसेतिव्युत्पन्ने स्थितिः। न तु सहस्रशीर्ष्णि। तस्य 'नवाम्बुदानीलमनोहराये'तिग्रन्थोक्तस्य च तथा सप्तस्वरूपाणां च तदुपासकपुराविदनुस्रुतश्रयाचार्यमार्गीयविशेषपरत्वेन सकलसाधारणरूपत्वाभावात्। 'नमामि हृदये शेषे' इत्युक्तस्य सकलसाधारण्यम्। नन्वेतेष्वेव किञ्चिद्रूपं वक्तव्यम्, मूलस्य 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति निषेधादिति चेन्न, 'भक्त्या ग्राह्य'त्वेना 'चार्यवान् पुरुषो वेदेति' श्रुत्या चात्र विश्रान्तेः। अन्यथाऽक्षरविश्रान्तेः तत्तद्भक्तभावितविशेषरूपविश्रान्तेश्च शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तेन 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुताविदं मूलरूपमन्येषु रूपेषु। अत एव 'नारायणसमो गुणै'रिति गर्गवाक्यम्। योगमायाच्छन्नं तु कृष्णत्वेन प्रतीयते। अतः साकारः। तेनाचार्याणां षट्शास्त्रीये रूपे तात्पर्यं ज्ञायते। शेषे पाशुपतं शास्त्रम्। लीलाक्षीराब्धिशायिनि वेदवेदान्तशास्त्रे समाप्ते। 'लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमान'मित्यत्र साङ्ख्ययोगौ शास्त्रे पञ्चरात्रं च शास्त्रं समाप्तम्। तथा 'प्रणवो धनुः शरो ह्या[3]त्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवे'दितिश्रुत्या हृदयाभिन्नशेषो धनुः प्रणवत्वात्। स च नवीनभावजनक इति भक्तमनोरथेनान्याचार्यविलक्षणा नूतनाश्च भावास्तदनुभावा इति लीला तद्रूपः क्षीराब्धिः। क्षीरम्। यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं भवतीति सर्वाश्रययोग्यः अधिशब्दो रूढः। [4]ततः शायी नारायणः तत्समः कृष्णश्च, स च शक्तीः शाययित्वा स्वप्नयुक्ताः कृत्वा तत्तल्लीलानुकूलस्थितिरूपा वा कृत्वा। अयमर्थः। शर आत्मा[5]। लक्ष्यं ब्रह्म। नारम् अयनं यस्य तत्। अप्रमत्तः प्रमादरहितः तेन अप्रमादेनेति वा। एतद् बलतपसोरुपलक्षणम्। 'नायमात्मा बलहीनेने'तिश्रुतेः। एवं भक्तिमार्गानुसारेण। वेद्धव्यम्। व्यध ताडने तड आघाते। आघात इति हन हिंसागत्योरित्यस्य रूपम्। अतः प्राप्तव्यमित्यर्थः। शरो लक्ष्ये लक्ष्यप्रचुर इव [6]ब्रह्मप्रचुरो भवेत्। ततस्त्वत्यन्तानुग्रहे सम्पद्याविर्भावे [7]पुष्टिलीला आहुः लक्ष्मीसहस्रे'ति। तेन पुष्ट्यनुभवः। उत्तरार्धे मर्यादायाः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वे'ति श्रुत्युक्तं सेवनमुक्तम्। पूर्वार्धे तु 'तमेतं वेदानुवचनेने'त्युक्तं ज्ञानमित्युक्तम्। ज्ञानस्य भक्तित्वे तु सेवापि। 'ज्ञानं क्रिये'ति पञ्चरात्रे भक्तिज्ञानयोः सामानाधिकरण्यात्। भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वात्। पूर्वार्धे मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवरूपब्रह्मज्ञानमुक्तम्। तेन 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इति ज्ञानी पूर्वार्धे, उत्तरार्धे तु 'ज्ञानी चेद् भजते कृष्ण'मिति भजनमुक्तम्। 'सहस्रलीलाभि'रित्युक्त्या स्वमार्गोपि तदन्तर्गतः। 'भूर्लक्ष्मीः भुवर्लक्ष्मीः सुवः कालकर्णी तप्ता महालक्ष्मी'रिति सर्वस्य लक्ष्मीरूपत्वात्। तदिदं स्वमार्गभजनं भक्तिहंसे उक्तम्। स्वरूपान्तर्गतो भेदः 'अविभक्तं' च

१. 'महाचमस्यः श्रुतय' इति तैत्तिरीयभाष्ये। २. 'अभ्यर्हितं पूर्व'मिति राजसपदस्य पूर्वनिपातः। ३. =मनः। ४. शक्तिसङ्कोचलक्षणा रूढिः। ५. =मनः। ६. ब्रह्म=आत्मा, मन एव आत्मा। ७. नारोपयोगः, अलौकिकत्वे देहानां नाराणाम्।

भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इत्यक्षरात् परेपि ज्ञेयः। अतः **सेव्यमानम्**। सेव्यसेवकभावस्य क्रीडान्तर्गतत्वात्। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुतेः, सर्वतः पाणिपादान्तत्वेनैकक्रीडासामग्रीरहितं यावत् तावदेकमिति व्यवह्रियते। शाखीयरूपवत्। अतो 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्ये'दित्यादि केन भिन्नेन करणेन कं भिन्नं कर्म आत्मानम्। ननु घटपटकुड्यकुसूलान्युत्पद्यन्त इतिज्ञाने बहुत्वप्रतीतिः। बहुत्वविशिष्टकुड्यादिनिष्ठा वर्तमानोत्पत्त्यनुकूला वह्नयो व्यापाराः। अकर्मकत्वेन कुड्यादिनिष्ठमेव फलमिति चेन्न। राजसादिज्ञानविषयत्वेन बहुत्वस्य भ्रमसंशयज्ञानविषयत्वात्। सात्त्विकज्ञानविषयत्वे तु एकमेव ज्ञानम्। गीतावाक्यात्। 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इत्यवस्थितमतवाक्ये सिश्रसत्त्वनिषेधेन शुद्धसत्त्वसत्त्वात्। अधुना 'नारायणपरा वेदा' इत्यादिबहुश्रुतिप्रतिपाद्यत्वेपि 'नारायणपरायणः सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन'इतिवाक्यात् भक्तदौर्लभ्यद्योतितनारायणपरायणदौर्लभ्येन नारायणोत्कर्षेपि 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतेरधोक्षज इतिनाम्नः अन्योन्यश्च वाक्येभ्यः स्वज्ञातनारायणसमं महाचमस्यमतेन चन्द्ररूपं तैत्तिरीयश्रुतेराहुः। किंचारणप्रत्यक्षाभ्यां सूर्यं स्मृतिप्रत्यक्षानुरोधेनाहुः। ब्राह्मणानुरोधेन सूर्योग्निरित्यग्निमाहुः। विराजमाहुः **कलानिधि**मिति। श्रुत्यनुसारेण कृष्णमाहुः। तद्विदः। 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय' इतिवाक्यात्। तथा च श्रुतिः 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता'मिति केनोपनिषदि।

१०–१–का० २. नन्वाचार्यकृपाभावे आचार्यसन्दर्शितागमत्वम[1]पेयात् तदर्थं कृपाज्ञापकः स्वानुभावो वक्तव्य इति चेत् तत्राहुः **चतुर्भिश्चेति**। **चतुर्भिरध्यायैश्चतुर्भिः प्रकरणैः पुनश्चतुर्भिः प्रकरणैः पुनस्त्रिभिः** सात्त्विकानामन्तःकरणप्रामाण्यान्न प्रमाणापेक्षा 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति श्रुतौ सावधारणोक्तेः। तर्हि सर्वेषां मनसा दर्शनं स्यादिति चेत्, महतामन्तःकरणं प्रमाणं प्रमाकरणं न त्वन्तःकरणमात्रमिति। यथोद्धवबालक्रीडने एकादशाध्यायसंवादः। **षड्भिरध्यायैर्गुणप्रकरण**मिति। अत्रेदं ज्ञेयम्। 'लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमान'मित्युक्तम्। स चा'त्मानन्दसमुद्रस्थ' इति तं कृष्णं कृपया चिन्तनविषयमुपनिबध्नन्तुः। ननु दशमे लक्ष्मीः सर्वत्र कथं, वृषभानुगृहे राधारूपास्तु, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र ही'ति वाक्यमपि तत्परमस्त्विति चेन्न। नृसिंहतापिनीये 'भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः सुवः कालकर्णी तन्ना महालक्ष्मी'रिति श्रुतेः। **पञ्चधेत** व्यष्टिभावनार्थम्। तेन गणनेन पञ्चत्वलाभेपि न क्षतिः। **हृदय** इति 'स मानसीन' इति श्रुतेः। **ममे**तिपदात् परत्वे पादादौ स्थितत्वेपि न 'मे' आदेशः। अग्रेतनपादादिस्थितत्वं गौणमादाय सूत्राप्रवर्तनात्। कृपया लोकं ग्राहयितुं लक्ष्मीलीलान्तर्गतस्वयोग्यभावविषयस्य कृष्णस्य प्रमाणप्रकरणोक्तप्रातराशवनक्रीडासायमाशसम्बन्धिनो निरोधलक्षणग्रन्थोक्ताधिदैविकसेवया भगवतः स्वद्वारा भुवि प्राकट्यकर्त्र्या सह चिन्तनम्। तदुक्तम् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति। पाठक्रमेणार्थः। निरोधविद्यया सर्वतो निवृत्तव्यापारे मनसि स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभव इदमेव ब्रह्मज्ञानम्। तदुक्तं 'हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिन'मित्यनेन तदन्वपि श्रवणादिः। 'आत्मारामाश्च मुनय' इति वाक्यात्। अवैधभक्तिश्च। गुणगानेन तदध्याससिद्धिः। 'तत्त्वमसी'त्युक्तस्य तदध्यासस्य सिद्धिः। 'कथामात्रावशेषिता' इतिवाक्यात्। किञ्च पञ्चधोपनिषदि मुण्डके कर्मज्ञानभक्तिमुण्डकोक्तसाधनैः भगवदाविर्भावे प्रश्नोपनिषदा [2]संवत्सरकालतज्जन्यसूर्यचन्द्रादित्वरूपेण भगवज्ज्ञाने जन्मप्रकरणाध्यायचतुष्कम्। तत आत्मविद्योपनिषदा रुद्रब्रह्मविष्णुरूपैरुक्तस्याभिनवज्ञातस्य श्रीमन्नन्दराजकुमारस्य क्रीडास्तामसराजससात्त्विकप्रकरणैः। तदनु गुणप्रकरणे 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्युक्तः कृष्णः। स च पुराणे भगवानिति गुणप्रकरणे सः। तत एकादशस्कन्धे 'देवस्तुर्यो विभुः स्मृत' इति माण्डूक्योपनिषदुक्तः।

१०–१–का० ३–४, ननु ह्यग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीतिवद् आत्मा श्रोतव्यो द्रष्टव्यः इत्यार्थक्रमः, तथा च श्रुतिः 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति, इति चेत् तत्राहुः **दशमे**ति। सत्यं, वेदान्तविज्ञानेन परम्परयात्मदर्शनं परन्तु भूयसामुपनिषद्भागानां वैयर्थ्यापत्त्या वेदान्तविज्ञानं शाब्दं, तच्च स्वव्यापारं कर्मज्ञानभक्तिरूपं मुण्डके निरूपितमपेक्षते इति **दशमार्थः** प्रकरणाद्यर्थाश्च स्वाध्यायवत् स्वाध्यायत्वार्थमपेक्षन्ते, आर्थक्रमे तु पाठक्रमत्यागहेतोरभावः शाब्दापरोक्षं चेति दोषद्वयम्। **विचार्यत** इति 'अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्ति'। तथा सति 'योन्यथासन्तमात्मान'मिति दोषापत्तिः। ननु दशमार्थे सन्देहाभावाद् विचारः कुत इत्यत आहुः **नवेति**। यथा नवलक्षणलक्ष्य आश्रयस्तथा **कृष्णोपि नवलक्षणलक्ष्य** इति नवलक्षणलक्ष्यत्वात् कृष्णस्य तन्निरूपणं दशमार्थे सन्देहबीजम्, हीति निश्चयेन। 'कृष्णो हि परमं दैव'मिति गोपालतापिनीये, 'अहं सर्वस्य प्रभव' इति गीता। 'समान एवं चाभेदा'दिति व्याससूत्रम्, अतो निश्चय इत्यर्थः। द्वितीयकोटौ पाठक्रमभाविरहान् **निरोधः**। अत्र पाठक्रमः सन्देहबीजम्। पूर्वपक्षमाहुः **लीलानिधि**रिति। लीला दशविधाः तत्र दशविधत्वनिर्धारकोर्थः सर्गादिरूपो न तु पाठक्रमः। अतोत्र **क्रममात्र** क्रम एव दुर्बलः। तुना अर्थसहितक्रमस्तु न दुर्बलः।

१०–१–का० ५. ननु क्रमो ह्यृषिप्रणीतस्तेनैव क्रमेण श्रवणं दर्शनफलसाधकं न यथाकथञ्चिदिति चेत् तत्राहुः **यथेति**। **फलं दर्शनम्** 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति श्रुतेः। **लोक** इति द्वादशस्कन्धे सप्तमाध्याये लौकिकभाषायाम्। **प्रकृत** इति समाधिभाषोक्तभक्तियोगे निरोधे। **नेति** प्रथमस्कन्धे वाक्यात्। गौणमुख्यन्यायेन महानन्यायश्च स्यात्। न च लौकिकीभाषात्रापि, ततः पोषको निरोधः कुतो नेति चेन्न। पोष्यनिरोधसापेक्षत्वात् पोषकस्य निरोधस्य शुद्धलीलाबोधकस्कन्धार्थत्वात्।

---

१. 'इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृत'मितिवाक्यात् वक्ष्यमाणागमत्वकृतव्याख्यानरूपयोः कार्यकारणभावः।

२. सङ्ख्यातात्पर्यमिदम्, यद्वा प्रश्ने परब्रह्मान्वेषणोक्तेस्तद्रूपाणि।

१०–१–का० ६. अतिव्याप्त्या नेत्याहुः **प्रतीत** इति। **अन्यत्रे**कादशे। शरीरेण महत्त्वात् स्कन्धस्य। अन्यल्लेखे स्पष्टम्। नन्वाश्रये निरूपयिष्यमाणे लीलाभिधातो मुख्या तात्पर्यवृत्तिः कृष्णमाश्रयं प्रतिपाद्यत्वेन दशमे द्योतयिष्यतीति चेत् तत्राहुः कृष्ण इति। तथा चात्र कृष्णप्राधान्याभावाद् भक्तप्राधान्येन तत्सम्बन्धिनीनां लीलानां वाचकानि बहूनि पदानि सन्ति तानि मुख्यानि। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुतौ स इति भक्तस्वातन्त्र्येण तत्प्राधान्यात्। ब्रह्मत्वप्रधानं ब्रह्मणेत्यप्रधान-तृतीयायाः। 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इतिवाक्यात्। नातोऽन्योऽर्थः कल्पनीयः।

१०–१–का० ९. अथ निरोधलक्षणं विवृण्वन्ति स्म निरोध इति। 'निरोधो भगवद्रूप' इति द्वितीयसुबोधिन्याम्। अन्यथा लोकन्यायेन 'सच्चिदानन्दता ततो' न स्यात्। विजातीयत्वात्। अस्य हरेः। अनुशयनं निरोधः। टीकान्तरे त्वनुरूपं शयनं लीलानुरूपं शयनम्। ननु गौणमुख्यन्यायः प्रवर्ततां ततो निरोधो भगवद्धर्म इत्यपि सङ्गतं भविष्यतीति चेत् सत्यम्। कारणधर्मस्य कार्ये हरौ निरूपणात्। 'भगवान् भक्तभक्ति'मा'नितिवाक्यात् कारणधर्मः। अत उक्तम् अनुशयनमिति। अनुपश्चाच्छक्तिः शाययित्वा स्वप्नयुक्ताः कृत्वा। शीङ् स्वप्ने। शयनं स्वस्य स्वप्नकरणम्। तथा च कल्पः। इषेत्वोर्जेत्वेति शाखां छिनत्तीति। शाखा खशाया। खमाकाशम्। 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'ति श्रुतिः। तत्र शेते स्वप्नं कुरुते। शाखृ व्याप्तावतो यथादृष्टं सर्वत्र स्वप्नकरणम्। इति संहितामते। वेदान्ते तु 'भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव चे'ति छिद्राणि जीवाः बहिरन्तरं देहस्थानीयम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयोऽवस्थाः। ज्ञानत्वाज् जीवानाम्। हरिः कश्चिद् भक्तसम्बन्धी धर्मिधर्मः 'ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः' इति सिद्धान्तमुक्तावल्याः। महानारायणे च वह्निशिखाया धर्मः। हरति दुःखमिति हरिः। यथा प्रपञ्चनिर्माणानन्तरं स्वप्राप्त्यर्थं भक्तिमार्गं निरमासीत्, तथा तद्विषयं हरिरूपमपि वह्निशिखाधर्मं परमात्मानं कृतवानिति। निरोधो लक्ष्यम् अस्यानुशयनं लक्षणम्। तच्चातिव्याप्तं सर्वत्र शक्तेः शाययित्वा शयनात्। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दितिश्रुतेः। तत् स्वप्नयुक्तं जगत्। तत्परिहाराय विवृण्वन्ति स्म प्रपञ्च इति। प्रपञ्चस्य शब्दात्मकस्य वैदिकस्य ग्रहणम्। तेन सर्वप्रपञ्चनिरासान् नातिव्याप्तिः। किञ्च प्रपञ्च इति वक्तव्यम्। अन्यथा दुर्विभाव्यशक्त्यन्तर्गतविस्मारकशक्तेः स्मरणांशे निर्विषयत्वापत्तेः। तथा च स्मरणस्वरूपालाभे तत्प्रतियोगिकाभावावोधापत्तेः। न च प्रपञ्चविस्मारकशक्तिर्दुर्विभाव्यशक्तिर्न तु विस्मारकमात्रमितिवाच्यम्। 'जगद्व्यापारवर्जं'मितिसूत्रविरोधात्। 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'तिवाक्यात्। क्रीडनमनुशयनसहितमित्यनुशयनविवरणं क्रीडनम्। अन्यत्र स्कन्धार्थेष्वतिव्याप्तिरतो हरेरिति। क्रोडादिरवतारो न तु हरिः। हरिपदं तत्रान्यथा योज्यम्।

१०–१–का० १०. 'निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि। तदा निरोधो व्यर्थः स्या'दित्यत्रोक्तभिन्नकर्तृकनिरोधापत्त्या व्यर्थत्वं स्यात्, तन्निवारणायाग्रे लक्षणम्। शक्तिभिरिति। तदापि पूतनामारणक्रीडायामव्याप्तिश्चरित्रमात्रे लक्षणगमनं न वीर्ये, अतः दुर्विभाव्याभि'रिति वीर्यरूपाभिः। ननु तथापि ऐश्वर्यादिचरित्रनिरूपकेषूत्सवाध्यायादिष्वव्याप्तिरिति चेन्न। 'दुर्विभाव्याभि'रित्यत्र मुख्ये सम्प्रत्ययात् तेन चरित्ररूपशक्तीनामपि ग्रहणात्। भिन्नकर्तृकनिरोधाभावायात्मपदव्याख्यानम्। कृष्णस्येति हरिणा निर्धर्मकत्वभङ्गः शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः सह हरिधर्मकस्य कृष्णस्य प्रपञ्चे क्रीडनमर्थः, शक्तिसाहित्यवदभिन्नप्रत्यक्षाभिन्नात्मकर्तृकमनुशयनमिति मूले बोध्यः। दुर्विभाव्यत्वनिवेशेन 'कथितो वंशविस्तार' इत्यादिग्रन्थेनुवादस्तुतिप्रश्ननिरूपकेनाव्याप्तिः प्रतीयेतेति चेन्न। दुर्विभाव्यत्वादेव शक्तीनाम्। ननु प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः सुबोधिन्यां निरोधत्वेनोदाहृतेति लक्ष्यलक्षणविरोध इति लक्ष्येऽव्याप्तिरिति चेन्न। शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः क्रीडनाङ्गीकारात्। प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिजनशक्तिमत्त्वेनास्याः उदाहरणत्वात्। स्पष्टोदाहरणं चैकोनाशीतितमेऽध्याये। अत एव निबन्धे 'समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः प्रपञ्चविस्मृतिः सक्तिर्भक्तानां चापि योगत' इति। 'समुदायो' हि धर्मिणोचिन्त्यत्वात् तद्रूपगोविन्दरूपाणाम् इन्द्रियाणां शरीरस्य चात्मतया स्वीकरणात् सः। स च गोविन्दरूप इति सिद्धम्। अतो 'जन्म त्वात्मतया पुंसः शरीरस्वीकृतिं प्राहु'रिति 'जन्मवाची' जन्मवाचकः समुदायशब्दः। तदाहुः 'क्रीडायुक्तस्ये'ति। धर्मग्लानादिभिर्भक्तक्लेशे भक्तानुग्रहाय प्रणीतः क्रीडायुक्तो हरिर्भवति। भक्तिमार्गप्रणयनार्थम्। क्रीडामाहुः निरोधरूपां 'प्रपञ्चे'ति। इयं 'योगतो' अवयवशक्त्या निरोधक्रीडेत्यर्थः। तथा च प्रश्नोपनिषदि 'अथोत्तरेण[५] तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्या[६]दित्यमभिजयन्[७]त एते[८] एतस्माद् वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोध' इति। 'प्राणा' इन्द्रियाणि। तेषाम्। तथा च भगवत आसक्तिर्भगवदासक्तिरित्यपि समासः। लक्षणव्यापार इति सुबोधिनीप्रकाशे। योजनायां च। योजनायां तु प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्लक्षणव्यापारभूता साधिता। हरित्वगुणविशिष्टकृष्णक्रीडनम्। शक्तयश्च परमानन्दमुक्तिदयादयः कलिकामक्रोधादयश्च। तैः क्रीडनं लक्षणं तेन योज्यं लक्ष्यं प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपं[९] सुखेन प्रतीयत इति न साधनापेक्षेतियुक्तम्। तेन भरताचार्योक्तं 'या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत' इति भगवदासक्त्यपेक्षया व्यसननिरोधः कुतो नोक्त इति शङ्कापास्ता। अजामिलोक्तोपचरितनारायण-

१. भक्तिः क्रीडापातो निरोधः। २. विषयस्याभावरूपत्वाद् तथा। ३. जगद् प्रपञ्चः। ४. उक्तकल्पोक्तस्वप्नसहितं वेदवेदान्तसारत्वाद्। ५. उत्तरायणे न। ६. देहमन्विष्य देहेन्वेषणं कृत्वा। ७. 'बहुवचनस्थले एकवचनम्। ८. एते कर्तारः। ९. लक्षणमितिशेषः।

नामवत् कृतार्थतासम्पादकत्वेन लीलाप्रतिबन्धकप्रसङ्गापत्तेः। 'यत्तु व्यसनमासक्ति'रिति योजनायां तल्लक्षणाग्रस्तम्। क्रीडा च द्विविधा। सप्रतियोगिनी निःप्रतियोगिनी च। निःप्रतियोगिनी 'तदेजति तन्नैजती'ति। सप्रतियोगिन्यां प्रतियोगिनः परमानन्दमुक्तिदयादयः कल्पादयश्च तत्सम्बन्धिन्यो दशविधलीलाः 'मल्लानामशनि'रित्याद्युक्ताः रसरूपाः। 'गोप्यः कामादित्या'दिवाक्यात्। द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां यदुक्तमनुशयनं नाम शक्तोः शाययित्वा तद्भोगार्थं पश्चात्स्वस्य शयनं तच्च जाग्रदादिभेदेन त्रिविधम्। शक्तयश्च द्वासप्ततिनाडीरूपा देहस्य तावत्यः। आत्मानः श्यादयो द्वादशशक्तयः। तेन सप्ताशीत्यध्याया इति। तदप्येतेन वेदसाररूपं स्मारितम्। एकसम्बन्धि ज्ञानमपरसम्बन्धि स्मारकमितिन्यायात्। प्रपञ्चस्य देहत्वात् तेन दैहिकीनां दुर्विभाव्यपदाच्छक्त्यादीनां च सङ्ग्रहात्। तदिदं नवाध्यां वेदटीकायामुक्तम्। विराडुत्पत्तौ च तृतीयस्कन्धे स्पष्टम्। तथा सूतोक्तलक्षणेषु निरोधस्थाने संस्थापाठः। संस्था च 'नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्धास्य स्वभावत' इति प्रलयरूपा व्याख्याता। एवं प्रकृतलक्षणेऽपि प्रलय इति चेन्न मैवम्। 'संस्थां च पाण्डुपुत्राणा'मित्यत्र संस्थायास्तथात्वेपि नात्र संस्था प्रलयः। 'ब्रह्मसंस्थो अमृतत्वमेती'ति श्रुत्या अमृतत्वफलविरोधात् संस्थामात्रभक्तिरेव, शाण्डिल्योपि भक्तिमीमांसायां संस्थां भक्तित्वेन सूत्रितवान्। 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशा'दिति। एवं च निरोधशब्दोत्र यौगिको द्वितीयस्कन्धे योगरूढ इति ज्ञेयम्। नितरां रोध इति। केषामित्याकाङ्क्षायां पूर्वस्कन्धानुरोधाद् भक्तानामिति लभ्यते। कस्मादित्याकाङ्क्षायां प्रपञ्चादित्यवधित्वेन सम्बध्यते। 'यत्र नान्यत् पश्यती'ति श्रुतौ ह्यन्यपदोक्तभेदस्य प्रपञ्चप्रतियोगिकत्वात्। अवयवशक्तिरूपयोगाद् यौगिकः। नितरां रोधः प्रपञ्चदेह एव इति समुदायशक्तिसत्त्वाद् योगरूढः शब्दः अयं भगवन्निष्ठोपि। "प्रपञ्चविस्मृतिः सक्तिर्योगारूढस्य वै हरे"रिति निबन्धात्। उक्तपक्षस्तु 'भक्तानां चापि योगतः' इति द्वितीयचरणपाठान्तरात्। 'तेनैतत् सिद्धम्। भगवन्निष्ठनिरोधो दशमोक्तः। भक्तनिष्ठनिरोधस्तु प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिः। पूर्वोक्तनिरोधासम्भवात्। भगवतः आसक्तिरिति समासेयं भगवन्निष्ठोपि निरोधः। ननु तर्हि घटेपि भक्तनिरोधः स्यात्, तथा योगमायाशक्तिः, देवकीगर्भस्य रोहिण्युदरे सन्निवेशोपि भक्तनिरोधः[२] स्यादिति चेन्न। दशमनिरोधपदस्मारितनिरोधपदार्थान्तरस्य भक्तनिरोधत्वेन विवक्षणात्। [३]तत्र निरोधः प्रलयः सोपि प्रपञ्चस्य न सर्वात्मना लयः किन्तु भावनया, प्रपञ्चस्य नित्यत्वात्। [४]एवञ्च 'मृत्युरत्यन्तविस्मृति'रितिवाक्यात् [५]प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विकेत्यंशलाभः [६]दशमनिरोधपदेन[७]। तथा निरोधः संस्था, सा न प्रलयोत्र[८] [९]पुनरुक्त्यापातात्, किन्तु प्रलयविलक्षणा भक्तिः संस्थापदार्थः। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'ति श्रुतेः। सा च भक्तिर्भगवदासक्तिः। 'ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवे'दित्यत्र भूमावाधिभौतिकी भक्तिर्वक्तव्या। व्यसनस्यात्र[१०] दुर्लभत्वात्। सा च प्रेमरूपा। प्रेम्णि यदा व्यसनं भवेत् तदासक्तिपदवाच्यं प्रेम भवति। आध्यात्मिकं प्रेम।

१०-१-का० १०, एवं च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोधः। समासेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिनिरोध इति बोपदेवमतं दूषयन्ति स्म **नैमित्तक** इति। निमित्तेन निर्वृतः। तेन निर्वृतमिति ठक्। **अन्य** इति भरतोक्तत्वात् का[११]मशास्त्रीयः, वेदान्तोक्तादन्यः। व्युत्पत्तिमाहुः **धर्मग्लानी**ति। तथा च तृतीयार्थे तसिल्।

१०-१-का० ११. स एवात्रास्तु प्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्य प्रसिद्धे दोषत्रयापत्त्यानादरणीयत्वार्थं दोषत्रयमाहुः **स चात्रे**ति। वेदवेदान्तशास्त्रे **(नैव) सद्ग्राह्य** इति सद्भिर'स्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदु'रिति श्रुत्युक्तैर्न ग्राह्यः, कामशास्त्रीयत्वेन 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इति श्रुतिविषयत्वेन प्रच्छन्नबौद्धादिभिः ग्राह्यत्वात्। अयमपि 'शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः **प्रपञ्चे क्रीडनं**' कृष्णस्य भवत्येवेत्यत आहुः **हरिणे**ति। हरिणा दुष्टभूभुजां कृतोयं निरोधः। कृद्योगे कर्मणि षष्ठी **दुष्टभूभुजा**मिति। अयमर्थः। हरिर्हि परमात्मा महानारा[१२]यणात्। यथा ब्रह्मणि कामचारे हरिर्भवति। तथा दुष्टभूभुजां प्रलयः बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन हरिणा कृतः। 'यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीय'मिति श्रीभागवतवाक्यात्। तथा च तादृशक्रीडने तत्र कृष्णस्येति लक्षणघटकपदाभावादसम्भवग्रस्तं लक्षणं स्यादिति भावः। उक्तदोषत्रयेऽव्याप्तिरूपं दोषमाहुः **आद्यन्तयो**रिति। प्रकरणयोरित्यर्थः। आदिप्रकरणम्, आदिः, प्रकरणमिति प्रयोगत्रयात्। एवमन्तशब्दस्य प्रयोगत्रयम्। आद्यन्तयोः [१३]प्रलयाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्तिरूपं दोषमाहुः **मुक्तावपी**ति। ग्रहिलवादतयोपोद्घातेनादिप्रकरणे, गुणप्रकरणे तु विवर्तावशेषभगवान्मात्ररूपेणावशेष इति दुष्टभूभुजां प्रलय इति नाव्याप्तिश्चेन् मुख्यपरिहाराभावेपि तुष्यतु दुर्जनन्यायेनातिव्याप्तिरित्यर्थः।

१०-१-का० १२. तृतीयमसम्भवरूपं दोषमाहुः **लक्षणस्ये**ति। स्यान् मुख्यपरिहाराभावेपि लक्षणप्रवेशो यदि मुख्यपक्षो न भवेत्, यो हरिणा दुष्टभूभुजां कृतः स तु वाक्यप्रमाणाद् भवत्यतो भवल्लक्षणस्याप्रवेशः। गौणमुख्यन्यायात्। ततश्चासम्भव इत्यर्थः। तथा लक्षणस्य द्वित्वे प्रकारे **लीलाया आधिक्यं द्वित्वं भवे**दित्यर्थः। लक्षणत्वं खण्डयित्वा विरोधेन निरोध इतरेभ्यो भिद्यते

१. अनुशयनेन पूर्वोक्तप्रमेयेन द्वितीयसुबोधिनीसंस्थाप्रसिद्धार्थवासनादिरूपेण। २. यस्याः कस्याश्चिद् भगवतः आसक्तेः सम्बन्धरूपायाः सत्याः। ३. दशमस्कन्धसर्वत्रसिद्धवासनावासितार्थे। ४. (परमतीयेन) पोषकेण प्रलयरूपार्थेन (समाधिभाषा) सिद्धपोष्यस्यासक्तिरूपस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्। ५. प्रपञ्चस्मरणस्याभावः प्रलयः। ६. शेषमत्र। ७. लभ्यत इति शेषः। ८. विशेष्ये। ९. विशेषणेन। १०. भूमौ। ११. व्यसनं दुःखं तदात्मा नैमित्तिको निरोधः। १२. 'वह्निशिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट्' इति। १३. व्यसना०।

प्रलयत्वात् प्रलयवदित्यस्य विरुद्धत्वमित्याहुः **तदर्थमि**ति। दुष्टभूभुजां निग्रहार्थम्। **पृथास्तोत्रं** 'तथा परमहंसानामृषीणाममलात्मनाम्। भक्तियोगवितानार्थ'मिति तस्य **विरोध्यतो** हेतुः साध्याभावसाधक इति हेतोर्विरुद्धत्वमित्यर्थः। साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं विरुद्धत्वम्। साध्यं विमत इतरभेदस्तद्व्यापकीभूताभावः प्रलयत्वात्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वं प्रलयत्व इति लक्षणसमन्वयः। ननु स्त्रिया 'त्रयी न श्रुतिगोचरे'ति तत्स्तुतिरन्यमूलेति तया विरोधे किं स्यादिति तदाहितहेतोर्विरुद्धत्वमप्रयोजकमिति चेन्न। वेद[1]वेदान्तसारे श्रीभागवते कृष्णवैराटीपदयोः सत्त्वात्। कृष्णपदमहिम्ना सर्वज्ञानम्। यतः पृथा पृथ्वीरूपा 'तोयेन जीवान् व्यवसर्ज भूम्या'मिति श्रुतेः भूमिर्भार्या। सा चार्धाङ्गी। 'आत्मनो यदर्धं पत्नी'ति श्रुतेः। हिकारस्तु व्याहृतिरूपत्वात्। अत एव 'भूमिर्दृप्ते'त्यारम्भः। आकाशशरीरं ब्रह्म कृष्णः, सुवस्तु गुणप्रकरणे, 'यदतः परो दिवो 'ज्योतिर्दीप्यते' इति ज्योतिश्चरणाधिकरणे। 'कृष्णद्युमणिनिम्लोच' इति वाक्यात्। यद्यपि कुन्तीस्तुतौ 'केचिदाहुरजं जात'मित्यादिश्लोकेषु दैत्यवधादिकमप्यवतारकार्यमुक्तं तथापि पूर्वपक्षत्वेन न तु सिद्धान्तत्वेनेति व्याख्यातं सुबोधिन्याम्।

१०–१–का० १३. प्रलयस्य निरोधत्वे दोषान्तरमाहुः **कार्ये**ति। ईशानुकथात्वेन निरोधत्वेन कार्यकारणभावः, निरोधत्वेन मुक्तित्वेन कार्यकारणभावः, मुक्तित्वेन प्रलयत्वेन कार्यकारणभावः, तेषां हानिः। भावप्रधानो निर्देशः। यद्वा नवलक्षणज्ञानभाश्रयज्ञाने कारणं, तथा सति तयोस्तथात्वहानिरित्यर्थः। चकारस्तु प्रलयानन्तरं वस्त्वभावान् मुक्तिः कारणं प्रलयः कार्यं तयोर्हानिरवक्तव्यत्वम् अर्थद्वारा हानिर्निरर्थकत्वं चेत्यर्थसङ्ग्राहकः। पाठक्रमत्यागश्चेत्याहुः **प्रक्रान्ते**ति। 'अत्र सर्गो विसर्गश्चे'तिवाक्ये। एवकारेणार्थक्रमादि व्यवच्छिद्यते। अप्रसिद्धेः। चकारेण पुराणविरोधः सङ्गृह्यते। प्रतीयमानः क्वाचित्कोपि प्रलयो भक्तदुःखाभावो न तु प्रसिद्धोतो ह्युपक्रमोपि 'भूमिर्दृप्तनृपे'त्येवंविधोप्यर्थनिर्णायकोपि न तत्पर इत्याहुः भक्तत्वादिति। तथा च भारहारत्वेन भक्तत्वेन कार्यकारणभावः न तु भूमित्वेन भारहारत्वेन। तेन भूमिः कृष्णावतारबीजमित्यंशतो भूमित्वेनावतारत्वेन कार्यकारणभावः। 'एतन् नानावताराणां निधानं बीजमव्यय'मितिवाक्यात्।

१०–१–का० १४. नन्वन्तर्यामिब्राह्मणे 'यः पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यादिषु भुवो दुःखहरणं प्रसिद्धं कुतोयं समुद्यम इत्यत आहुः **प्रकट** इति। सत्यमस्ति दुःखहर्ता, परन्त्वन्तरो, न प्रकटः, अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तश्चातो रुद्रोपि सम्भाव्येत 'सोन्तरादन्तरं प्राविश'दितिश्रुतेः। अतः प्रकटो विवक्षितः। सोपि **परमानन्दः** परमश्चासौ आनन्दः, परो मीयते ज्ञायतेऽनेन वीर्येण स परमः अर्शआद्यच् वीर्यवान् पृथिव्या भार्यात्वात्। एतादृश आनन्दोऽलौकिकः भक्तभार्यामनोरथः। गोचारणसम्बन्ध्यपि। **तदा भूमेर्मर्दनक्लेशहानिः स्यात्**। अन्तर्यामी न प्रसिद्ध इति भाष्यादेवकारोन्तर्यामिव्यवच्छेदकः। अनुभवाद्धीति जन्मत्वेन भारापनयनत्वेन कार्यकारणभावः। 'दिष्ट्या हरेस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतस्तव जन्मनेशितु'रित्यत्र द्वितीयेध्याये वक्ष्यते। प्रकटपरमानन्दत्वेन मर्दनक्लेशहानित्वेन कार्यकारणभावात् इतिशब्दः, इति हेतोः **तस्याः समुद्यमः** 'गौर्भूत्वो'द्यमः। तदुक्तं महानारायणे 'भूमिर्धेनुर्धरिणी लोकधारिणी'ति। किञ्च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति वाक्याद् धर्मरूपवृषभोपि वेदवेदान्तसारत्वान् मूलत्य। 'ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहु'रितिफलप्रकरणे श्रुतिवाक्यम्। ववर्णलोपः। तथा चोक्तं सुबोधिन्यां द्वितीयस्य सप्तमाध्याये 'भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दिताया' इतिश्लोकविवरणे मर्दनक्लेशाभावार्थं साक्षादानन्दमय इति।

१०–१–का० १५. **अत एवे**ति तादृशात्र्यभावेन तादृशभक्तत्वाभावादेव। तेन 'ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्मे'त्यत्र गायत्र्याद्यावाहनं समर्थितम्। **अन्यसक्षय** इति भक्तेष्वेवाविश्य सेवितवन्त इत्यर्थः। 'निरोधोस्यानुशयन'मित्यत्रानुशब्दार्थनिरूपकानुक्ते लक्षणे न्यूनतारूपनिग्रहस्थानं वारयन्ति स्म **भक्ताना**मिति। पूर्वस्कन्धार्थसङ्गत्या निरूपकलाभात् तदुक्त्यभावेपि न न्यूनतेत्यर्थः। अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात्। 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इतिवाक्यादेवकारः।

१०–१–का० १६–१७. **अत** इति भक्त्येकग्राह्यत्वात्। पूर्वस्कन्धार्थप्रसङ्गेनावधिं सम्बन्धसामान्येनाहुः **प्रपञ्चस्ये**ति। सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठी। शाब्दबोधविशेषो विवक्षया प्रयोजनम्। अम्बरीषस्यापि भक्तान्तःपातित्वेन सर्वात्मभावे प्रतियोगित्वेन प्रवेशात् प्रपञ्चस्य। तथा च श्रुतिः 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमे'ति। 'अन्यद्' भेदप्रतियोगिप्रपञ्चः। सामान्ये नपुंसकम्। प्रत्येकं प्रपञ्चगतपदार्थानां त्रिलिङ्गत्वात्। इति निश्चयेन विचार्यत इत्युक्तविचारत्वेन कार्यकारणभावः। युक्त्यन्तरोपस्थितावप्यत्र युक्तिसत्त्वात्। 'युक्तयः सन्ति सर्वत्रे'ति वाक्यात्। युक्तिपूर्वकपरमार्थपराणां विश्वस्तानां भक्तानां वा निश्चयः। एवं हेतुं न्यस्योद्यमन्यासाय दृष्टान्तमाहुः **यावद् बहिरि**ति। अस्तु चान्तर्यामिब्राह्मणानुरोधस्तथापि प्रकटश्चेन्न भवेत् तदा दृष्टान्तविरोध इति प्रकट आवश्यक इति भावः।

१०–१–का० १८. **सर्वमि**ति अविद्याकार्यम्। अयमर्थः। ईशानुकथाया विद्याजननद्वाराऽविद्यानाशकत्वे विद्ययाऽविद्योपमर्दः। विद्याविद्ययोरुपमर्द्योपमर्दकभावबोधकनिबन्धात्। अष्टमोदितसद्भर्मैर्वास[2]नादाहे भगवति शुद्धायां वासनायां स्वतो जातायां भक्तिः कर्तव्येति नवमे स्कन्धे ईशानुकथारूपा भक्तिर्निरूपिता। भक्तिः सेवा सा चाधिदैविकी निरोधः। जन्मानन्तरं निरोधः

१. श्रीभागवते द्वादशस्कन्धे सर्ववेदान्तसारं श्रीभागवतमुक्तं तथापि श्रीभागवतमाहात्म्ये इदम्। २. कालकृतः। ३. सप्तमस्कन्धार्थः।

कर्तव्य इति दशमे निरोधः। स चाविद्यानुपमर्द्यः। भजनेनैव तादृश इति निबन्धात्। तत एकादशे मुक्तिरिति। न लोयत इति संसारस्याविद्याकार्यत्वादाधिदैविकसेवारूपविद्यानाश्यत्वम्। तदुक्तं निरोधलक्षणग्रन्थे 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति, 'तदध्यासोपि सिद्ध्यती'ति च, 'नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः। नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात् परम्' इति। कृष्णसमुद्यम इति अन्याकार्यभक्तियोगवितानार्थं मूलरूपस्य सर्वथा संसारलयफलकनिरोधार्थं 'जन्मप्रकरणोक्तजन्मकृतिः समुद्यमः। तथा च 'स मे सर्वथे'त्याद्युक्तो य उद्यमः जन्मेत्याद्युक्तः इति ज्ञेयम्। वसुदेववरदानमानुषङ्गिकम्। नन्दादिभक्तिर्निरोधः। शक्तीः शाययित्वा तदनुकूलतया स्थितिर्जन्मप्रकरणेऽस्त्येव। भगवदासक्तिकरौ हेतूद्यमौ निरूप्य प्रपञ्चाभावकरौ कापट्यस्वीकारौ ह्युद्धारकारणे इत्याहुः रूपान्तरं त्विति। तुशब्द उद्धारं प्रति हेतूद्यमौ अन्यथासिद्धौ भगवदासक्तिमात्रसाधकादित्याह। रूपान्तरस्वीकरणत्वेनोद्धारत्वेन कार्यकारणभावः। एतेनैव कापट्यस्याप्यङ्गता व्याख्याता सामान्यन्यायादेव बोध्या। यतो मुख्यमायाप्राकट्यं तृतीयाध्याये, चतुर्थे तु तत्कार्यमिति सुबोधिन्याम्, कापट्यानुक्तिरध्यायार्थमात्रत्वात्। चतुर्थाध्याये देवक्या उपगूहनरोदनमोचनैरन्यकन्यात्वगोपनं कापट्यम्। त्रिविधानिति त्रिभिः प्रकरणैस्तामसादीन् भक्तान्।

१०–१–का० १९. रूपान्तरस्वीकरणं कारणं प्रपञ्चाभावकरणं व्यापारः उज्जहारेत्युद्धारः कार्यम्। रूपान्तरं न तादृशोद्धारे कारणमैश्वर्येणान्यथाप्युद्धारसम्भवेन व्यभिचारसम्भवात्। स्वीकृते तु रूपान्तरं कारणमानन्दमयत्वात्। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेती'तिश्रुतेः तद्विषयकज्ञानस्य भक्तेर्वा कारणत्वात्। ऐश्वर्येणान्यथाप्युद्धारसम्भवो नास्ति। टीकान्तरेऽनङ्गीकारात्। भक्तमनोरथाविषयत्वात्। 'शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनःकान्त गच्छती'ति वाक्यात्। प्रपञ्चाभावकरणं प्रपञ्चत्वाभावेन प्रपञ्चाभावः विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः, ब्रह्मत्वेन तु ज्ञानं तु प्रपञ्चस्यास्त्येव, 'तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात'मित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने पृष्टे तदुत्तरात्। विद्वन्मण्डने 'अपि वा तमादेशमप्राक्ष'मित्यादिना। तथा च रूपान्तरज्ञानेन प्रपञ्चभिदापमार्जनम्। भिदायाः मायामात्रत्वात्। गीतायामप्युक्तम्। निश्चय इति 'श्रद्धत्स्व सौम्येति' श्रुतेर्निश्चयोन्यैरप्यनुसन्धेय इत्यर्थः, 'अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः' इति वाक्यात्। अत्र प्रपञ्चत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावोत्यन्ताभावः। दशमार्थं विचार्य प्रकरणार्थं विचारयन्ति स्मोद्देशपूर्वकं पञ्च प्रकरणानीति। चतुर्भिरध्यायैः। सत्पतेरिति [1]असतां तु 'देवक्यां विष्णुरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः' इतिवाक्येन 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मितिवाक्यं विरुध्येत, 'विष्णुर्व्यापकः पुरुषोत्तमो यो वेदान्ते ब्रह्मशब्देनोच्यत' इतिसुबोधिनी च विरुध्येत। स[2]त्पतित्वे तु ह्यधोक्ष[3]जे सत्ताश्रये 'विष्णुराविरासी'दित्युक्ते पुरुषोत्तमोप्याविरासीदिति शक्यते, अधोक्षजविष्णुसमानयोगक्षेमत्वेन पुराणप्रसिद्धेः। अत एव 'विष्णुः सर्वगुहाशय' इत्यस्य सुबोधिन्यां 'अनेन सर्वेषां भजनार्थ'मित्यादिचत्वारोर्थाः सर्वत्र प्रतिपाद्यन्ते।

१०–१–का० २०. ते च प्रत्येकं सप्तविधा इत्याहुः अष्टाविंशतिभिरिति। एवं क्रमेण तृतीयमुण्डकोक्तं 'पुरुषान् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति'रित्युक्तपुरुषोत्तमप्राकट्यमुक्तम्। ततः प्रश्नोक्तं षोडशकलं परब्रह्म वसुदेवसम्बन्धि द्वितीयेध्याये, एवमुपनिषद्द्वयोक्तं जन्मप्रकरणे समाप्तम्। तृतीयं ब्रह्मविद्योपनिषदुक्तमाहुः पूर्वं तामसत्वादिति। ननु 'यत्रोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा'दिति ब्रह्मविद्योपनिषच्छ्रुत्या पूर्वं राजसत्वादिति वक्तव्यमिति चेन्न। ब्रह्मणो राजसत्वेप्यथर्वशिरसि 'अक्षरात् सञ्जायते कालः कालाद् व्यापक उच्यते व्यापको हि भगवान् रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजा' इति श्रुतेः रोदनाच्च महेश्वरत्वमेव प्रथमम्। 'सोरोदीद् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्व'मिति श्रुतेः। युक्तं चैतत्। जन्मानन्तरं यो रुद्रप्रवेशः। तथा च हेयत्वापत्तिः। अत्रोच्यते। 'हेयत्वावचनाच्चे'ति व्याससूत्रात्। 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभो'रित्यत्र निर्गुणसम्बन्धिगुणाः। माययेति पुराणमतं निबन्धात्। इच्छयेति श्रौतं, 'स ईक्षांचक्रे' इतिश्रुतेः। तेन योगमाया। पुराणे 'न यत्र माये'ति निषेधात्, 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इत्यपि व्याख्यातम्। कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्त इति निर्गुणे प्राकृतगुणभिन्नप्राकृतगुणसदृशगुणानामङ्गीकारात्। तथा श्रीभगवानुवाच 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः। सर्गेपि नोपजायन्ते प्रलये नो व्यथन्ति च। मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत। सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता। सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्' इति। देहिनं निबध्नन्ति न माम्। 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहे'तिवाक्याज् ज्ञानानन्दमयत्वाच्च। अग्रे उपयोगाय तमःकार्याण्युच्यन्ते। 'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारते'ति। 'ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युते'ति तथा। 'अप्रकाशोप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दने'ति। 'तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते' इति। 'अज्ञानं तमसः फल'मिति। तथा 'जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः', 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोधिगच्छती'ति। 'परं' गुणकर्तृत्वांशिनं कारणं सगुणम्। उद्धृतिरूपा क्रीडा साधारणीत्याहुः

१. गर्भसम्बन्धकृतिः। २. =प्रपञ्चत्व०। ३. असत्त्वमजकृष्णजन्मानङ्गीकर्तृत्वेनाग्रहवादित्वम्। ४. समत्वान्न विरुध्येतेत्यन्वयः, विष्णुकृष्णपदयोः सामानाधिकरण्यात्। ५. सत्त्वं तु उपबृंहणेनाजकृष्णजन्मवादित्वम्। ६. विष्णुकृष्णपदयोरसामानाधिकरण्येनाह **अधोक्षज** इत्यादि।

व्रजोद्धृतिरिति। 'व्रजे स बालको भूत्वा क्रीडते पुरुषोत्तम' इति श्रुतेः। ननु 'ह्यधो गच्छन्ति तामसा' इति कुत उद्धृतिरिति चेन्न। ताम्यतीति तमः। तमु ग्लानौ। सर्वधातुभ्योऽसुन्, तम आकाङ्क्षायां वा। 'स्तनार्थी चरणावुदक्षिप'दितिवाक्यात्। स्वार्थेण। प्रपञ्चे ग्लानादेर्हेतोः व्रजस्य स्वनिष्ठस्य स्वासक्तिसम्पादनायोर्ध्वगमनसाधनकर्माणि कृतवान् कारितवांश्च। 'एष उ एव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषती'ति श्रुतेः। तथा च स्यात् सगुणत्वं यदि निरोधो न स्यात्, स तु वर्तते इति निर्गुणत्वम्। 'मन्निष्ठो निर्गुणः स्मृत' इति वाक्यात्। तथा चोद्धृतिप्रतिबन्धकतामसत्वेपि निर्गुणत्वस्योत्तेजकस्य सत्त्वात् नाधोगतिरपि तूर्ध्वगतिरेव। 'लोके विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्व'मितिवाक्यात्। तामसत्वमुक्तधर्मैरुन्नेयम्। यथा मातुर्भगिन्याः पूतनाया मारणम्। प्रमादः। नन्वज्ञानासम्भवात् प्रमादादिकं कुत इति चेन्न। 'विद्याविद्ये मम तनू' इति वाक्यात् तनुरूपधर्मारोपात्। ननु जन्मप्रकरणे चतुर्व्यूहजन्मकथनात् त्रयाणामुपयोगस्य स्पष्टत्वेपि प्रद्युम्नव्यूहजन्मप्रयोजनमस्फुटमिति चेत् तत्राहुः **तथैवेति।** 'तत्रांशेनावतीर्णस्ये'त्यत्र 'अंशेन' प्रद्युम्नांशेनेति केचिदित्युक्त्या निरोधकर्तृत्वेन प्रकारेण। एवकारोन्यप्रकारो निरोधं निरुणद्धीति अन्यप्रकारं व्यवच्छिनत्ति। **राजसानां भक्तानाम्।** सम्बद्धानां यदूनां वसुदेवादीनां पूर्वचकारेण प्रासङ्गिकीनाम्। **विशेषत** इति सम्बन्धात्। निजैश्वर्यबलादेवान्तरानन्ददायकसर्ववेदार्थज्ञानदानादिरूपो विशेषः तस्मात्। द्व्यशीतितमेध्याये स्पष्टम्। तदुक्तं 'गुणातीतं स्वरूपेणे'त्यादिना राजसप्रकरणारम्भे।

१०-१ का० २१. **सात्त्विकानीति** वसुदेवनृगादीन्। सात्त्विकानां न प्रमाणापेक्षेत्येकविंशत्या सप्ताध्यायाभावात्। निःप्रपञ्चान् मुक्तान्। निष्क्रान्ताः प्रपञ्चत्वात्। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः' इति सूत्रेण समासः। ननु प्रपञ्चत्वाद् येन केनापि प्रकारेण प्रपञ्चान् निष्क्रान्ताः न तु वसुदेवनृगादिवच्चेति चेन्न। वसुदेवनृगादीनामपि प्रपञ्चत्वेन निष्क्रमणात्। तथा च प्रपञ्चत्वप्रविलापनेन ब्रह्मत्वात् प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वेन ज्ञानात् सात्त्विकज्ञानयुक्तानित्यर्थः। 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मितिवाक्यात् तदुक्तं 'सात्त्विकी त्वधुनोच्यते' 'वसुदेवमखावधि' इति च। उत्तरार्धे पञ्चदशे नृगमोक्षो निरूप्यत इति। हेति प्रसिद्धम्। 'तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद्यद् वृद्धाः प्रचक्षते। निन्दन्ति तामसं यद्यत् (तत्तत्) राजसं तदुपेक्षित'मिति। ननु गुणप्रकरणेभ्यः सगुणः कुतो न स्याच् चतुर्थचरणरूपत्वाच्चेति चेत् तत्राहुः **भगवानेवेति।** उपपादितत्वादेवकारः 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत' इति वाक्यात्।

१०-१-का० २२. प्रकरणार्थस्य निरूपितत्वादध्यायार्थानाहुः **चतुर्मूर्तेरिति।** मूर्तिशब्दात् कात्यायन्यपि 'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे'ति द्वितीयनवमाध्यायवाक्यात्। 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध' इत्यत्र 'स पतिश्च पत्नी चाभवताम्' इत्यात्मनो द्विरूपत्वोक्तेः। स्त्रीप्रत्ययात्। धर्मार्थकाममोक्षाः। धर्मो यज्ञः क्रिया। जगदर्थः 'स्त्रीप्रायमितरत् सर्व'मिति वाक्यात् स्त्रीप्रायम्। कामो लक्ष्मीः। मोक्षः सन्त इति ब्रह्मास्तित्वज्ञानवन्त इति स्त्रीप्रायाः। **तथेति** चतुष्ट्वेन। 'चतुष्पाद् ब्रह्म विभाती'ति श्रुतेः। तत्र धर्मः सत्तारूपो देवकीस्तुतौ 'सत्तामात्रं निर्विशेष'मित्यत्र। 'सत्तामात्र' वेदटीकायां श्रीयमुनाजित्। धर्मः क्रिया, राधिका 'क्रिया सा राधिकादेवी'ति काचित्कवाक्यात्। ब्रह्मवैवर्ते तस्या उपयोगः। किञ्च युधिष्ठिरयागान्तर्गताग्न्याहरणीयत्वेन धर्मरूपप्राकट्ये उपयोगः। जगत् जृम्भालीलायाम्। 'सा तत्र ददृशे विश्व'मिति वाक्यात्। लक्ष्म्याः कामरूपायाः फलप्रकरणे 'ता लक्ष्मीरूपाः कृत्वे'त्यत्र। सतां तु स्वरूपनिवेशोपयोगः, 'तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय एवं चेदर्चितोस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभि'रितिवाक्ये ब्रह्मर्षिषु साक्षात्त्व 'मद्धा' शब्दार्थः तस्य बाधात्। किञ्च मच्छ्रद्धया मम श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा तयेति। एवं चेदर्चितोस्मीति च। अन्यथर्षीणामर्चने कृते 'एवं चेन्नार्चितोस्मी'त्येव ब्रूयात्। चतुर्मूर्तिप्राकट्यस्य किं प्रयोजनमत आहुः **तत्तदिति।** यथा भक्तदुःखरूपहेतुर्हेतुत्वेन वासुदेवाविर्भावे उपयुक्तः, तथा कृष्णोद्यमः सङ्कर्षणाविर्भावे उपयुक्तः। प्रद्युम्नाविर्भावे स्वीकरणमुपयुक्तम्। कापट्यं तु ह्यनिरुद्धाविर्भावे। वसुदेवहृदि वासुदेवश्चतुर्धा हेतुनिवारणसामर्थ्यरूपो वासुदेवः। तेन 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात' इत्यस्या न विरोधः। चतुर्धोद्यमनिरूपणम्। यद्यपि 'प्रलम्बबकचाणूरे'त्यारभ्य कंसोद्यमः तथापि सहेतुकोद्यमः। हेतावपि कंसीये नित्यलीलास्थकलौ ह्युद्यमः भगवदीयः, 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा'दित्यनेन जीवेषु कर्तृत्वमुक्त्वा 'परात्तु तच्छ्रुते'रितिभगवदीयकर्तृत्वोक्तेरुद्यमो भगवदीयो वा। एवमग्रेपि। गर्भसङ्कर्षणाद् देवक्यां रोहिण्यां गर्भस्थापनेन वसुदेवेपि सङ्कर्षणः स्थापितः 'आत्मनो यदर्धं पत्नी'ति श्रुतेः। वसुदेवगृहे व्यूहत्रयप्राकट्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्। एवं तृतीयेध्याये जायमाने 'विष्णुराविरासी'दितिवचनव्यक्तस्तत्र सतिसप्तम्याः सामानाधिकरण्यार्थकत्वेन जायमानप्रद्युम्नसमानाधिकरणो विष्णुरिति भवति प्रत्ययः। स च 'देवक्यां विष्णुरूपिण्या'मतो हि प्रद्युम्नोपि देवक्यां ततो वसुदेवे आत्मनोऽर्धत्वात्। अतश्चतुर्भुजत्वादिस्वीकारे प्रद्युम्नत्वम्। हृद्येव, ततो बहिराविर्भावः। चतुर्थे सर्वविमोचकेऽनिरुद्धत्वं तु कापट्ये सति। 'यदा यदा हि धर्मस्ये'ति वाक्यात्। एकादशस्कन्धेऽमाययेत्यस्याकापट्येनेत्यर्थात्। 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोत्रे'ति च। पूर्ववत् सतिसप्तम्या देवक्या उपगूहनरोदनमोचनरूपकापट्यं देवक्यां सुभद्रारूपम्। तत्रानिरुद्ध उचितः धर्मरूपत्वात्। पूर्ववद् वसुदेवेपि। ननु कापट्यं न देवक्यां किन्तूपगूहनार्हमन्यत्र धर्मरूपानिरुद्धस्तु हृदये इति वैयधिकरण्यमिति चेदत एव सुबोधिन्यां नोक्तमस्तीत्यनवेहि।

१०–१–का० २३. **हेतूद्यमेति** हेतूद्यमादयस्तु वासुदेवाद्यध्यायार्थ उपयुक्ताः सन्तः समुदिताः प्रकरणार्थाः। 'समुदायो जन्मवाची'ति निबन्धात्। **प्रथम** इति प्रथमो जन्मप्रकरणार्थः। **महान्** भगवत्सम्बन्धात्। दशमस्कन्धभरणप्रयोजकत्वं वा महत्त्वम्। 'यस्मिन्न मे पावनमङ्ग जन्मे'ति वाक्यात्। उक्तचतुर्मूर्तीराहुः **प्रद्युम्नश्चेति**। अत्र निबन्धानुसारात् 'क्रमो बहुष्वनियम' इति सूत्रेण विग्रहवाक्येपि न विवक्षितः। **प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवश्च** सङ्कर्षणश्चे ति विग्रहवाक्यम्। तथा चकारान्वितत्वेनापरः सङ्कर्षणश्चे त्यर्थात्। अत्र निबन्धः 'समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरे'रिति। तेन प्रद्युम्नादयोध्यायार्थाः हेत्वादीनां 'समुदायो जन्मवाची'सङ्ख्यातात्पर्येपि तात्पर्यवान्।

१०–१–का० २४. ननु भक्तदुःखं हेतुत्वेन अध्यायार्थ उक्तः स नोपपद्यते नवमस्कन्धोक्तभक्तानां विद्यावत्त्वेनाज्ञानासम्भवादिति चेत् तत्राहुः **हेतुश्चेति**। सत्यमज्ञानासम्भवस्तथापि यदि भक्ता एकविधा भवेयुः, भक्तास्तु यावन्तो जले भेदास्तावन्तः जलभेदग्रन्थे प्रसिद्धाः। एवं च स स्यात् पूर्णभगवदीयानां शेषव्यासाग्निमारुतानां, अन्येषां तु स्यादविद्यया विद्योपमर्दः, कृष्णावतारे सुतरां, तदुक्तं 'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते' इति वाक्यात्। तत्रान्यस्मान् निवर्त्य स्वस्मिन्निरोधे तु नाविद्योपमर्दः। 'भजनेनैव तादृश' इति वाक्यात्। एवं चाविद्यया विद्योपमर्दान् निरोधसेवाकारणं युक्तमविद्योपमर्दाय इति। अत्राध्याये **हेतुर्भक्तदुःखं त्रिविधः** आधिदैविकादिभेदात्। चकारोनुक्तानुद्यमादीन् समुच्चिनोति। तेपि त्रिविधाः। हीति 'अथाध्यात्ममथाधिभौतमथाधिदैव'मितिश्रुतेः। ननु 'भाष्ये साङ्ख्यगुणा नोपबृंहका वेदार्थ इत्युपपादनाद् भक्तत्वभञ्जका गुणाः क उपमर्द्या इति चेत् तत्राहुः **गुणा इति**। सत्त्वादयो न तु विशुद्धसत्त्वमपि। 'प्रवर्तते यत्र रज' इति श्लोके द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायस्य तस्याभ्यनुज्ञानात्। ते च भक्तौ सगुणत्वापादकत्वेन प्रपञ्चवत्स्मरणविषयाः, तदभावोपि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तौ विशेषणविधयोपयुज्यते तदाहुः **भक्ताहितप्रदा** इति। **अहितं** भक्तिसगुणत्वसम्पादकम्। अधुना पूर्वाध्याय एवाहुः **कंसादेरिति**। कंसादेराधिदैविकत्वेनाधिदैविकदुःखदातृत्वं कंसकलित्वस्य कृष्णोपनिषत्स्थत्वेन नित्यक्रीडास्थत्वात्। **कालतो** दुःखमाध्यात्मिकम्। जन्यमात्रस्य कालोपाधित्वेन कालाध्यात्मिकजन्यत्वात् **अज्ञानादाधिभौतिकं** स्पष्टम्। अज्ञानं गीतायां स्फुटम्। ज्ञानसम्पदतिरिक्ता सम्पत्। तुरध्यायत्रयार्थव्यवच्छेदकः। **तद्गतं** भक्तगतम्।

१०–१–का० २५. सुखव्यवच्छेदकस्य **तोः** प्रयोगस्य प्रयोजनमाहुः **भूमिरिति**। भूमेः कालतः। मातुः कंसादेः। **तथा चैवं च**। **अन्य** इत्यादिः 'सप्तीडाव्यग्रलोके'ष्विति वाक्यात्। **यथायोग्यं** सात्त्विकत्वादिरूपं योग्यमनतिक्रम्य। भूमौ सात्त्विकत्वं, मातरि राजसत्त्वं, 'तामात्तयष्टि'रितिवाक्यात्, अन्येषु तामसत्वं 'दुर्भगो बत लोकोय'मितिवाक्यात्। अज्ञानाद् भगवत्त्वेन यज्ज्ञानं तस्यावरणमत्र **निरूपितमिति**। **अत्रैवेति** प्रथमाध्याय एव। अन्यत्र न। यद्वा। अत्र लोके। तेनाधिभौतिकं दुःखम्। एवकारेण विकुण्ठो व्यवच्छिद्यते। 'अह्नयाप्तृ'मितिवाक्यात्। **निरूप्यत** इति परपक्षनिराकरणपूर्वकस्वपक्षस्थापनं क्रियते। प्रलयनिराकरणाद्यग्रेपि द्रष्टव्यम्।

१०–१–का० २६. **त्रयमिति** दुःखत्रयम्। **ईर्यत** इति प्रथमाध्याय **ईर्यते** उच्यते। प्रेर्यते प्रेरकवचनं क्रियते। एतेन त्रयाणां भगवन्नाश्यत्वेन तन्नाशकत्वरूपहेतुतावच्छेदकमेकमिति हेत्वननुगमोपि परिहृतः। नवमस्कन्धोक्तभक्तित्वेन मुक्तित्वेन कार्यकारणभावे विशेषोनेन स्कन्धेन ज्ञाप्यत इत्याहुः **प्रश्नोप्यत्रेति**। **अत्र** प्रथमेध्याये प्रकरणत्रयादधिकः **प्रश्नः स्कन्धद्वितयवर्तनः प्रोक्तः**। तथा च यथा पञ्च प्रकरणान्यत्रेत्युक्त्वा प्रकरणत्रयमधिकं प्रोक्तं तथा प्रश्नोप्यत्राधिकः प्रोक्तः इत्यर्थः। आधिक्यं स्कन्धद्वितयवर्तनत्वं, तथा चोक्तं 'देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभि'रिति प्रश्न एकादशस्कन्धीयप्रमेयविषयकः। अन्ये प्रश्ना दशमार्थविषयकाः। तथा च प्रथमाध्याये चत्वारि प्रकरणानि। प्रश्नप्रकरणम्। भूमिप्रकरणम्। मातृप्रकरणम्। अन्यप्रकरणं चेति। तदुक्तं निबन्धे 'प्रश्नेन सहिताः पूर्वं चतस्रः प्रक्रिया मताः' इति। सुबोधिन्यां च 'तत्र दशभिः श्लोकैर्भूमिसान्त्वनं वाचा, उपायेन देवक्याः पञ्चत्रिंशद्भिः, ततोष्टभिः सर्वेषा'मिति। तथा च भक्तित्वेन मुक्तित्वेनाधिदैविकनिरोधरूपभक्तित्वेनालौकिकसामर्थ्यभगवत्सेवोपयोगिदेहत्वेन विशेषकार्यकारणभाव इति।

१०–१–का० २७. इमं गुप्तार्थमूलमाहेत्याहुः **अनुवाद** इति। **प्रश्ने प्रश्नप्रकरणेनुवादः सार्धेन**, 'कथितो वंशविस्तार' इति श्लोकेन, नवमस्कन्धोक्तचरित्रानुवादः, **स्तुतिः** 'निवृत्ततर्षैरिति'श्लोकेन चरित्रस्तुतिः। एतौ स्तुत्यनुवादावुभौ **भक्तत्वज्ञापकौ** श्रोतुः। पूर्वोक्तानुसन्धानेनानुवादसामर्थ्यं भक्तस्यैवेतिभावः। 'इदं ते नातपस्काये'तिवाक्यादाहुः **अन्यथेति**। भक्तत्वाभावे। भक्तिर्गुप्तार्थो निरोधोतिगुप्तार्थोनधिकारात्। हिकारस्तु कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः। **श्रीशुकः** सभगवान्।

१०–१–का० २८. 'पितामहा मे' इत्यादितात्पर्यमाहुः **अज्ञानमिति**। 'पितामहा म' इति द्वाभ्यां दृष्टश्रुतमाहात्म्यप्रतिपादनेन देवत्वविशिष्टाज्ञानं **निवार्यते**। 'वीर्याणि तस्ये'त्यनेनान्यथाज्ञानं मनुष्यत्वन ज्ञानं तत् पुरुषोत्तमस्य मायावरणेन 'मायामनुष्यत्वमिति ज्ञानेन **वार्यते** इति। **विशेषेण निवारणं** तु दृष्टत्वात्। **कृष्णगमिति** कृष्णविषयकमन्यथाज्ञानं कृष्णविशेष्यकमज्ञानम्।

१. 'स्मृत्यनवकाश' सूत्रे।

विषयतासम्बन्धेन ज्ञानं तदभाववान् कृष्ण इति यथा घटवद्भूतलं संयोगेन घटाभाववद्भूतलं विशेषणविशेष्यताख्यसम्बन्धेनेति। पञ्चश्लोकी त्वग्रे सन्दिग्धयुक्तिविरुद्धप्रश्ननिरूपिका 'रोहिण्यास्तनय' इत्यादिका।

१०-१-का० २८½ **एवं द्वादशभिः** प्रश्नाः। **'नैषे'**ति श्लोकोऽकथने बाधकनिरूपकस्तत्कथनाभिप्रायमाहुः **प्राणनत्वमिति**। ननु कथा शब्दरूपा प्राणनत्वमपां धर्म इति कथायाः प्राणनत्वं कथमिति चेदित्थम्। कृष्णस्य चन्द्रसूर्यात्मकत्वोक्तेरपां पुष्पत्वाद् द्रूपत्वेन चन्द्रसूर्ययोश्चान्तर्यामिब्राह्मणोक्तरीत्या शरीरत्वेन शरीरस्यारूपत्वेन च तत्प्रतिपादककथाया अपि प्राणनत्वं परम्परया। न चैवं घट इत्युक्ते मुखपाटनपूरणाद्यापत्तिरिति वाच्यम्। प्रस्थानरत्नाकरेस्य विचारात्। **दोष** इति न चाकाशशरीरं ब्रह्म न चन्द्र-सूर्यशरीरं तयोर्नेत्रत्वादिति वाच्यम्। चन्द्रवंशीयत्वात् प्रकृते। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुतेः। 'ध्येयः सदा सवितृमण्डल-मध्यवर्ती नारायणः सरसि पङ्कजसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः' इति श्रुतेः। चकारोऽनुक्तस्यार्थस्य समुच्चायकः। अतो न प्राणनत्वधर्मविरोधः। नन्वस्त्वेवं परं त्वत्र कस्मै प्रयोजनायेत्याकाङ्क्षायामाहुः **दयेति। दया** कृपा ज्ञानकारणम्। कृपात्वेन ज्ञानत्वेन कार्यकारणभावः 'इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृत'मित्यत्र सिद्धः। कृपायां जातायां श्रीमद्भागवतज्ञानं दृष्टं सिध्यति। 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्मे'ति। ततश्च 'वैयासकिः सभगवा'नित्यत्र सः भगवानिति नार्थः किन्तु भगवता सह वर्तमान इत्यर्थो वक्ष्यते। **हीति** व्याख्यानात् निश्चयार्थकः कृपापात्रत्वं दैवीसृष्ट्युत्पन्नत्वे सति स्निग्धशिष्यत्वम्। 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्ये'तिवाक्यात्। अन्यस्माच्च प्राणनत्वं स्निग्धो वक्ति यतः। कृपापात्रत्वेन दयासिद्धित्वेन कार्यकारणभावः। एवमिति दयासिद्ध्यर्थत्वेन प्रश्नाप्रतिपादकत्वप्रकारेण। **नैषे**'त्यस्य प्रश्नरूपत्वाभावात् तं विहाय **द्वादशभिः**। ब्रह्मणो गुणदोषसमत्वेन समः प्रश्न. **गुणदोषगः**। सप्तमस्कन्धात्। सङ्ख्यातात्पर्यमिदम्। गुणाः षट् दोषाः षट्। मातुलमारणादयः। समत्वं तु यथा गुणा उत्कटास्तथा दोषा अपीति। गुणविरुद्धा धर्मा दोषाः। देशान्तरगतो गर्भः असञ्ज्ञाति सहभावः, मातुलमारणं, बहुकालद्वारिकावासः, बहुपरिग्रहः, प्रश्नस्था इमे। अन्येपि प्रश्नस्थाः। व्रजगमनप्रश्नः कालप्रश्नश्च साधारणौ नोत्कटौ। एवं षट् वीर्यैश्वर्ययशःश्रीज्ञानविरुद्धाः। ननु 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्र' इत्यादिवाक्यैर्निर्दोषत्वे ब्रह्मणः कुतः षड् दोषा इति चेन् न। 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्मे'त्यादिभिर्ज्ञानात्मकस्य स्वरूपनिर्वाहका दोषा इव दोषाः। अस्थूलत्वादिवत्। तथा च श्रुतिः 'नो एवासाधुना कनीया'निति। अत्रासाधुकर्मप्रसक्तौ 'नो एवे'ति निषेधानुपपत्तिरिति। अतो भगवान् स्वधामनि क्रीडन् न दोषभाग् भवतीति। 'न मां कर्माणि लिम्पन्ती'ति गीतायाम्। सर्वत्र साम्यं भगवद्धर्मः, 'समः सुहृ'दिति सप्तमस्कन्धात्॥ २८½॥

श्रीसुबोधिनी

पूर्वस्कन्धे भक्तेः प्रतिपादितत्वादुत्कण्ठापूर्वकमुक्तानुवादमाह सार्धेन—**कथितो वंशविस्तार** इति।

भक्तत्वादेव तत्रत्यानां वंशयोर्विस्तार उक्तः अभ्यर्हितत्वात्सोमस्य पूर्वनिपातः वंशविस्तारप्रश्नभ्रमं वारयति-**विस्तार** इति। अन्यतमकथननिवारणायोभयग्रहणम्। रात्रिन्दिवं **सर्वेषां** सर्वान्धकारनिवारकत्वाद्**वंशविस्तारकथनं** युक्तमिति पूर्वोक्ताभिप्रायं च वदन् स्वस्य श्रोतृत्वं च समर्थयति–**उभयवंश्यानां राज्ञां चरित्रमपि कथितमिति**। उत्पत्त्यैव भक्ताः। चरित्रमपि तेषामन्येषां भक्तिजनकमित्यम्बरीषादेश्चरित्रस्य तथात्वात्पृथगनुवादः। अत्र षष्ठी जननसम्बन्धप्रतिपादिका। चकारात्तत्र भगवतोऽपि चरित्रं प्रतिपादितमित्युक्तम् विशेषतोभिप्रायेण कथने श्रवणे च हेतुः **परमाद्भुतमिति**। परमेण भगवता, परमया भक्त्या वा॥ १॥ यदोः पितुरादेशोल्लङ्घनादधर्मपरत्वेन कथनायुक्तत्वमाशङ्क्य जराया भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वान्मुख्यपितुः सेवार्थं गौणपितुराज्ञोल्लङ्घनं युक्तमित्याह—**यदोश्चेति। धर्मशीलस्येति** पृथगनुवादे हेतुः। जरया च धर्मनाशः। **शील**पदेन पितुर्धर्माज्ञानमुक्तम्। पुत्रवयसा तन्मातृसम्बन्धस्यात्यन्तमयुक्तत्वात्। अतो भगवदवतारात्पूर्वमेव पूरोर्वंशो निवर्त्तितः। अन्यथा तैः सह भगवत्सम्बन्धोऽपि न युक्तः स्यात्। भीष्मस्य वस्ववतारत्वात् सम्बन्धोऽपि। दोषस्तु तत्कृत एव। अग्रे च तेषां तिमिङ्गिलत्वं वक्ष्यति। अतो यदुःस्वभावत एव धर्मरूपः। अत एव तद्वंशस्य च **नितरां** कथनमुक्तम्। मननशीला मुनयः। तत्रापि प्राप्तज्ञानाः सन्तः। तादृशा अपि भक्ता अतिशयिताः। अनुवादप्रश्नयोर्मध्ये **मुनिसत्तमे**तिसम्बोधनमुभयहेतुत्वार्थम्॥ १½॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

राज्ञामित्यत्र षष्ठी जननसम्बन्धप्रतिपादिकेति। राज्ञामिति या षष्ठी सा चरित्रेषु जननसम्बन्धप्रतिपादिका। तथा च तत्कृतं चरित्रं, न तु तत्सम्बन्ध्यन्यकृतमित्यर्थः॥ १॥ **यदोश्चेत्यत्र तत्कृत** इति वंशकृत इत्यर्थः॥ २॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कथित इत्यत्र **पूर्वोक्ताभिप्रायं** चेति। विव्रियमाणादुत्तरवाक्यात्पूर्वमुक्तस्य 'सोमसूर्ययोरि'तिपदस्य 'रात्रिन्दिवमि'त्यनेन निरूपितमभिप्रायं वंशे उभयसम्बन्धकथनेनानुवदन्नित्यर्थः। **श्रोतृत्वं चेति**। यथार्थानुवादेन स्वस्य शक्तितात्पर्यनिर्धाररूपश्रवण-कर्तृत्वं समर्थितमित्यर्थः। **उत्पत्त्यैवेति**। भक्तवंश्यत्वकथनादिति भावः। **पृथगनुवाद** इति। वंशात्पृथक् चरित्रानुवाद इत्यर्थः।

अत्र षष्ठीति। **राज्ञामिति** कर्तरि षष्ठी। तथा च राजकृतं चरित्रं न तु राजसम्बन्ध्यन्यकृतमित्यर्थः। **परमयेति**। परो मीयतेऽनया कर्त्र्येति परमा भक्तिरित्यर्थः॥ १॥ **यदोश्चेत्यस्याभासे इत्याहेति**। इति धर्मशीलपदेन सूचयन्निति शेषः। व्याख्याने **अत इति**। अधर्मजनकवयोदानकर्तृत्वादित्यर्थः। पाण्डुप्रभृतीनां तु क्षेत्रजत्वमिति भावः। **अन्यथेति**। तद्बीजजवंशनिवृत्त्यभावे तादृशवयोदातृवंश्यैः पाण्डुप्रभृतिभिः सह कुन्तीसुभद्रादिदानेन भगवत्सम्बन्धो न युक्तः। तेषु जीवत्सु पाण्डुद्वारा तेऽपि भगवत्सम्बन्धित्वेन व्यपदिश्येरन्निति भावः। ननु भीष्मस्तु जीवतीति कथं सम्बन्ध इत्यत आहुर्**भीष्मस्येति**। वस्ववतारत्वात्तस्य सम्बन्धित्वेन व्यपदेशोऽपि न दोषः। **अपिशब्दाद्भक्तिः**। **दोषस्त्विति**। असुरावेश इत्यर्थः। **उभयहेतुत्वार्थमिति**। तादृशवक्तुः सकाशाच्छ्रवणे यथार्थज्ञानात्तथाऽनुवादो भवति, भगवद्वीर्यप्रश्नश्च तादृशवक्तर्येव संभवतीति उभयत्रापि हेतुत्वं मुनिसत्तमत्वस्येत्यर्थः। **विष्णोरित्यस्यार्थमाहुः—व्यापकस्येति**। **अंशेनावतीर्णस्येत्यर्थमाहुः** 'सर्वत्रे'त्यारभ्य 'प्रकटितपरमानन्दस्ये'त्यन्तेन। **एतत्समर्थितमिति**। दशलीलाविशिष्टत्वपूर्णत्वकथनेनांशत्वमेतादृशमेव सिद्धमिति भावः॥ १३॥

बुभुत्सुबोधिका

१०–१–१. **कथित** इत्यत्र **भक्तत्वादिति** भक्तिरत्रानन्दधर्मः, तेन शास्त्रार्थस्यानन्दस्य हरेर्लीलारूपस्य स्कन्धार्थस्याधिदैविकसेवारूपनिरोधस्य भक्तिशब्दार्थस्य शुके बोधनात् तयोरव्याप्तिर्वारिता। **रात्रिन्दिवमिति** 'आत्मा वै पुत्रनामासी'तिश्रुतेस्तद्वंश्यानामपि। साधनं तु 'सच्चिदानन्दता तत' इति निरोधलक्षणग्रन्थोक्तदिशा। मुक्तत्वाच्च 'कथामात्रावशेषिता' इति चिद्रूपत्वं वा। **सर्वेषामित्यादि** पुराणगतत्वेन स्त्रीशूद्रयोरपि। **सर्वान्धकाराः** सत्त्वेन निवर्त्याः ज्ञानेन शब्दानन्तेनानन्देन च। **इति पूर्वोक्तेति** कृत्येवं यत् पूर्वोक्तं तस्य स्वस्य निरोधे**भिप्रायं च वदन्** निरुद्धत्वादेव श्रोतृत्वस्य समर्थनम्। श्लोकोत्तरार्धे राज्ञो निरोधः। चरितानुवादस्य निरोधकार्यत्वात्। अन्यथा राज्ञां चरित्रे स्पर्धादि स्यात्। प्रकरणार्थमव्याप्तिं परिहर्तुं सङ्गमयन्ति स्म **त** इति। **वंश्या** वंशे साधवः जन्मपरम्परायां कृष्णजन्मघटितायां साधवः भक्ता एव, प्रकरणार्थो व्याप्तिर्वारिता। उत्पत्तेः कारणत्वं शरीराणामात्मतया स्वीकरणोत्तरमेव भक्तत्वात्। तच्चानुमेयम्। अयमर्थः। प्रथमसुबोधिन्यां नवमाध्याये "स्वस्य समानाकृतिं शरीरं पुरुषविधं सम्पाद्य स्वसेवां त्याजयित्वा तत्सेवायां नियुक्ताः। तत्र चान्यभजनं मा भवत्विति स्वयमेव हृदि हृदि प्रत्येकपर्यवसायित्वेन धिष्ठितम् अधिष्ठाय स्थितमधिष्ठातृदेवतात्वेन न तु जीववत्। ननु के ते जीवा इति चेन्न। आत्मनैव कल्पिताः। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्न' इति भगवतोवस्थाविशेषो जीवः प्राकृतभोगार्थं तामवस्थां सम्पादितवा"निति। 'तमिममहमज'मितिश्लोकेस्ति। **तथात्वादिति** अनुभवेन तथात्वात्। **पृथगिति** विस्तारात् पृथक्। राज्ञामित्यत्र कारकषष्ठी न शेष इत्याहुः **अत्र षष्ठीति**। अत्र बोधेपि न शेषसम्बन्धप्रतीतिः किन्तु राजकर्तृकं चरितमित्यत्र बोधे जननसम्बन्धप्रतिपादिका। न च तृतीयापत्तिः दण्डेन घट इत्यादौ तथा दर्शनादिति वाच्यम्। कर्तृत्वसम्बन्धसामान्यविवक्षायां जननसम्बन्धोक्तेः न तु तृतीयार्थद्योतनाय। **इत्युक्तमिति** राज्ञां महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव यत **अद्भुतम्** आश्चर्यवद् द्रष्टव्यम्। अध्यायार्थो हेतुस्तस्याव्याप्तिस्तु स्वोपोद्घातसम्बन्धेन हेतुसत्त्वात्। हेतुतासम्बन्धेन वा। एवमग्रेपि। एवमुपक्रमः मृत्युवारणसामर्थ्यं वसुदेवे वासुदेवाविर्भावज्ञापकमिति वासुदेवाविर्भावसामग्रीबोधकः। भक्तदुःखमर्थः।

१०–१–२. **यदोश्चेत्यत्र कथनेति** भगवदवतारार्थं शुद्धपरम्परायां **कथनायुक्तत्वम्**। **मुख्येति** 'अहं बीजप्रदः पिते'तिगीतायाः। **पुरोरिति** यदुकनिष्ठभ्राता पुरुः। वस्ववेति 'वसुपुङ्गव'मिति वाक्यात् 'कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः आत्मन्यात्मानमावेश्य सोन्तःश्वास उपारम'दितिसर्वात्मभावोक्तेः। नन्दादिवसूनां सर्वात्मभावदर्शनात्। ब्रह्मणि निष्कले सम्पत्त्या दोषोपि। **तत्कृत** इति वंशकृतः। दोषमाहुः **अग्र इति**। **प्राप्तज्ञाना** इति 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदु'रितिश्रुतेः। **भक्ता** इति 'रुद्रे तु ज्ञानेन भक्ता' इत्यथर्वश्रुतिः। **केचिदिति** विरलाः॥ १३॥

श्रीसुबोधिनीकारिकासु जन्मप्रकरणे

चाचाश्रीगोपेशानां स्यादिति प्रतिभाति

: १ :

श्रीहरिः। **नम इति**। श्रीकृष्णस्य यत्पादाब्जे तयोस्तले तत्र यद्रञ्जिते कुङ्कुमपङ्के तयोः रुचे नमः। श्रीकृष्णपदेन भक्तसहितलीलारसाविष्टत्वं सूचितम्। तादृशस्य चरणयोरब्धत्वोक्त्या लीलायां परस्परसम्बन्धेन उभयोस्तापहारकत्वं सुखदत्वञ्च ज्ञापितम्। किञ्च अब्जं विकसितं भवति अत्रापि तत्तद्बन्धादिषु तत्तथैव भवति। अब्जे अरुणत्वं भवति। सहजमपि विशेषतः कुङ्कुमपङ्केन तादृशम्। पद्मिनीनां तलमप्यारक्तं भवति। शृङ्गारादिषु कुङ्कुमपङ्केन रञ्जितमपि क्रियते। अत एव रुचे नम इत्युक्तम्, न तु पङ्काय **तदभावादिति**। तत्कान्तेः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय। नमनमेवोक्तम्। तदेवाहुः **यदरुणमिति**। मदीयं हृदयाम्बुजं यतः सम्बन्धेन शश्वदारक्तं जातम्। निरन्तरं तत्कान्तेः स्थित्या तदात्मकतया तादृशमेव जातमिति भावः। यद्वा। अत्र प्रभुचरणसरोजतलसम्बन्धि कुङ्कुमपङ्कमुक्तम्। तन्नायिकानामेव सम्भवति, न तु नायकस्येति कथमुपपद्यत इति चेत्। तत्रोच्यते। श्रीकृष्णपदेन गूढभावात्मकत्वम्। तेन तद्भावात्मकस्य विरचितप्रियावेषोचितसकलशृङ्गारस्य प्रभोश्चरणतलमपि तेन रञ्जितं क्रियत इति तत्स्मृत्वा तथोक्तम्

प्रियायास्तु पूर्वं तादृशमेवेत्युभयोश्चरणतलस्यारुणत्वमुक्तम्। अत एव पङ्कयोरिति द्विवचनं चोक्तम्। अन्यथा पङ्कस्यैकरूपत्वात् कथमेवं वदेयुः। तयो रुचे नम इति। तत्तलशोभां दृष्ट्वा प्रणयभरेणात्यातुरतया रसेन नमनम्। अन्यथा चरणं विहाय रुचे नम इति कथमुक्तं स्यात्। किञ्च। यत्सम्बन्धेन मामकं हृदयाम्बुजं सततमरुणं जातम्। रसात्मकतत्सम्बन्धेन हृदयमपि तल्लीलारसात्मकं जातम्। तादृशलीलासमये प्रियासहितप्रभुचरणतलं स्वकरतलेन यदा लालितं क्रियते, तदा तच्छोभादर्शनेन परमरसावेशेन तदात्मकतया तच्चरणतलं हृदये स्थाप्यते। तदा तदा तद्धृदयं पूर्वमप्यम्बुजत्वेन सरसं तथापि तदानीन्तनप्रचुरभावेनान्तल्लीलारसभरेण पुष्टं विशेषतो जातमिति तथोक्तम्। अत एव तादृग्लीलाविवरणमभूत्। सर्वदा तल्लीलात्मकमेव तिष्ठतीति शश्वदित्युक्तम्। किञ्च। यथा रविसम्बन्धेन कमलं विकसितं भवति, तथा तदरुणकान्तिसम्बन्धेनैतद्धृदयाम्बुजमपि विकसितम्। पुनस्तस्य तद्रसात्मकतया तद्रूपत्वमेव जातमिति तथोक्तम्। किञ्च। यथा प्रियमिलने तदात्मकतया प्रियरूपत्वं भवति, तथा तलस्यारुणत्वे तत्सम्बन्धेन हृदयस्याप्यरुणत्वं युक्तमित्यारक्तादिपदानि विहायारुणपदोपादानादवगम्यते ॥ १ ॥

श्रीहरिरायाणामिति प्रतिभाति

: २ :

नमामि हृदये शेष इत्यस्य **टिप्पण्याम्। मूलेनुशयनशब्दस्येत्यत्र**। मूले 'निरोधोऽस्यानुशयन'मिति वाक्येऽनुशयनशब्दो भावार्थक एव प्रतिभाति। यतोऽनुशयनं नाम भगवतो भावात्मकस्य सर्वात्मभाववति भक्तहृदये तथाविधाखिललीलाविशिष्टस्य प्रभोर्निगूढभावरूपेण स्थायितया स्थितिः। तथा चात्र स्कन्धे क्रियमाणाखिललीलायाः कथं निरोधशब्दवाच्यता। अन्यथा 'प्रपञ्चे क्रीडनं हरे'रित्याचार्यविवृत्तिविरोध इत्याशङ्क्य तस्योभयार्थकत्वनिरूपणायाहुः **करणव्युत्पत्त्येति**। पक्षे त्वित्यत्र तुरप्यर्थे। तथा मूले भावार्थकत्वपक्षेऽपि अनुशय्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या तथाविधस्वरूपस्थितिसम्पादकलीलायामपि तद्रूपत्वमुच्यत इत्युभयार्थकोऽयमनुशयनशब्द इत्यर्थः। अत **एवाचार्यवर्यैरग्रे** तथैव निरूप्यते। 'प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च वर्ण्यते' 'प्रपञ्चे क्रीडनं हरे'-रित्यादि। प्रपञ्चविस्मृतियुतासक्तिर्व्यसनमिति निरोध एव, भरतेन 'या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत' इति तथैव तल्लक्षणाभिधानात्। तथा च भगवतो निरोधो भक्तेषु तत्परतया लीला, भक्तानां प्रपञ्चस्मृत्या भावरूपस्य प्रभोः स्थायित्वं हृदये निरोध इति बोधितम्। यद्यप्येवं तथास्थितिर्निरोध इति सिध्यति। अत एवोद्धवेऽपि व्रजसीमन्तिनीचरणरेणुसम्बन्धिगुल्मलतादिषु स्वजननाभिलाषसञ्चितातुलभाग्यसन्ततावेषैव स्थितिरुक्ता। स्वामिनीसम्बन्धितया तद्द्वारकतद्विषयकप्रसादवता प्रभुणा स्वामिनी, यतो विदुरसविधे तेनाऽऽत्मनः परमां स्थिति'मित्यनेन सामान्यतः सा तथैवानूदिता। तथापि स्थितेर्धर्मान्तरवन्न स्वरूपतो भिन्नत्वं लेशतोऽपीति तादृगवस्थापन्नं स्वरूपमेव स्थितिशब्देनोच्यते। अत एव **प्रभुभिराभासो निरोधरूपं भगवन्तं विवृण्वन्ती**-त्येवमेव निरूपित इति नानुपपत्तिः काचित्। 'रसो वै स' इति श्रुतेः 'स्थायिभावो रसः स्मृत' इत्यादिवाक्यैर्भगवतो रसरूपस्य स्थायिभावात्मकत्वं तच्छास्त्रप्रसिद्धमिति न तथाभासनिरूपणेऽपि रसस्वरूपविद्धिः संशयितव्यमिति दिक्॥

अयमर्थो निजाचार्यचरणाम्बुजभावनात्।
भासते भाग्यराशीनां सततं हृदि तिष्ठति॥ १॥

जन्मप्रकरणोपरि अमुद्रितस्वतन्त्रलेखाः

श्रीहरिः। **नम इति** श्रीकृष्णस्य यत्पादाब्जे तयोस्तले तत्र यद्रंजिते कुंकुमपङ्के तयो रुचे नमः। **श्रीकृष्णपदेन** भक्तसहितलीलारसाविष्टत्वं सूचितम्। तादृशस्य चरणयोरब्जत्वोक्त्या लीलायां परस्परसंबंधेन उभयोस्तापहारकत्वं सुखदत्वं च ज्ञापितम्। किञ्च। अब्जं विकसितं भवति। अत्रापि तत्तद्बंधादिषु तथैव भवति। अब्जे अरुणत्वं भवति, तदत्र सहजमपि विशेषतः कुंकुमपंकेन तादृशम्। पद्मिनीनां तलमप्यारक्तं भवति। शृङ्गारादिषु कुंकुमपङ्केन रंजितमपि क्रियते। **अत एव रुचे नम** इत्युक्तम्, न तु पंकाय तदभावादिति। तत्कान्तेः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय **नमनमेवोक्तम्। तदेवाहुः यदरुणमिति**। मदीयं हृदयाम्बुजं यतः संबंधेन शश्वदारक्तं जातम्, निरंतरं तत्कान्तेः स्थित्या तदात्मकतया तादृशमेव जातमिति भावः। यद्वा; अत्र प्रभुचरणसरोजतलसंबंधि कुंकुमपङ्कमुक्तम्। तन्नायिकानामेव संभवति, न तु नायकस्येति कथमुपपद्यत इति चेत्, तत्रोच्यते श्रीकृष्णपदेन गूढभावात्मकत्वम्, तेन तद्भावात्मकस्य विरचितप्रियावेषोन्वितसकलशृङ्गारस्य प्रभोश्चरणतलमपि तेन रंजितं क्रियत इति तत् स्मृत्वा तथोक्तम्। प्रियायास्तु पूर्वं तादृशमेवेत्युभयोश्चरणतलस्यारुणत्वमुक्तम्। अत एव पङ्कयोरिति द्विवचनं चोक्तम्। अन्यथा पङ्कस्यैकरूपत्वात् कथमेवं वदेयुः। **तया रुचे नम इति**। तत्तलशोभां दृष्ट्वा प्रणयभरेणात्यातुरतया रसेन **नमनम्** अन्यथा चरणं विहाय **रुचे नम** इति कथमुक्तं स्यात्। किञ्च। **यत्संबधेन मामकं हृदयांबुजं सततमरुणं जातम्**। रसात्मकतत्संबंधेन हृदयमपि तल्लीलारसात्मकं जातम्। तादृशलीलासमये प्रियासहितप्रभुचरणतलं स्वकरतलेन यदा लालितं क्रियते, तदा तच्छोभादर्शनेन परमरसावेशेन तदात्मकतया तच्चरणतलं हृदये स्थाप्यते। तदा तदा तद्धृदयं पूर्वमपि अंबुजत्वेन सरसं तथापि तदानींतनप्रचुरभावेनांतल्लीलारसभरेण पुष्टं विशेषतो जातमिति तथोक्तम्। अत एव तादृग्लीलाविवरणमभूत्। सर्वदा तल्लीलात्मकमेव तिष्ठतीति

शश्वदित्युक्तम्। किञ्च। यथा रविसम्बन्धेन कमलं विकसितं भवति, तदा तदरुणकान्तिसम्बन्धेनैतद्धृदयांबुजमपि विकसितं पुनस्तस्य तद्रसात्मकतया तद्रूपत्वमेव जातमिति तथोक्तम् । किञ्च, यथा प्रियमिलने तदात्मकतया प्रियरूपत्वं भवति, तथा तलस्यारुणत्वे तत्सम्बन्धेन हृदयस्याप्यरुणत्वं युक्तमित्यारक्तादिपदानि विहायारुणपदोपादानादवगम्यते ।। इति टिप्पण्याः प्रथम-श्लोकस्य केषांचिद्व्याख्यानम् ।।

सुबोधिन्या भाषानुवादः

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी श्रीसुबोधिनीजी व्याख्या द्वारा श्रीमद्भागवतजी के दशम स्कंध के विवरण के प्रारंभ में प्रथम एक कारिका में कलानिधि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को नमस्कार करते हैं ।

—मङ्गलाचरण—

नमामि—　　　　　　　　　　　　**का. १**

भगवान में सर्वात्मसिद्ध होने से दासभाव को प्राप्त मेरे हृदय-रूप-शेष पर विराजमान जो प्रभु लीलारूप क्षीर-सागर में (दशम स्कंध के अर्थरूप निरोधस्वरूप) शयन करते हैं, याने सो रहे हैं, और जिन प्रभु की अनन्त लक्ष्मी हूँ स्वरूप तथा अनेक प्रकार के माधुर्यवचनादि लीलाभावों से सेवा कर रही हैं, वैसे कलानिधि रसात्म भगवान् श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ ।

श्रीमदाचार्यचरण निजभक्तों को शिक्षा देने के लिये शिष्टाचार के अनुसार श्रीसुबोधिनी जी व्याख्याविवरण का प्रारंभ करते हुए स्वयं मङ्गलाचरण करते हैं । "नमामि" क्रियापद से कारिका का प्रारंभ किया। व्याख्या प्रारंभ में प्रथम प्रभु का दर्शन पाया और भावविभोर श्रीवल्लभजी ने श्रीठाकुरजी के श्रीचरणों में "नमस्कार" स्वरूप भेट समर्पित की इसलिये "नमामि" क्रिया से कारिका आरम्भ हो गया ।

अब इस कारिका का अर्थ करने के पूर्व कुछ प्रस्ताव के रूप में यह जानना उचित होगा। जो दशम स्कंध है उसका नाम है निरोधलीला। और दशमस्कंध भगवान श्रीकृष्णजी का हृदय है। तात्पर्य यह हुआ कि दशम स्कंध का प्रतिपाद्य विषय निरोध है। अब यह समझना आवश्यक होगा कि दशमस्कंध में "निरोध स्वरूप श्रीकृष्ण" प्रभु निरोधात्मक दशमस्कन्ध की लीलाओं द्वारा, निःसाधजीवों को प्रभु के स्वरूप में और प्रभु की सेवा में निरोध का दान करते हैं और स्वयं भक्तों के हृदय में निरुद्ध होते हैं ।

इस कारिका में चार उपमान और चार उपमेय हैं शेष-क्षीराब्धि-लक्ष्मी और शेषशायी नारायण ये चार उपमान हैं । और हृदय-लीला-लक्ष्मीसहस्रलीला एवं (निरोधस्वरूप श्रीकृष्ण) कलानिधि ये चार उपमेय हैं । श्रीनारायणप्रभुजी क्षीरसागर में शेषजी पर सोते हैं और श्रीलक्ष्मीदेवी चरणारविन्दों की सेवा करती हैं । यहाँ पर श्रीनारायण प्रभु धर्मनिधि हैं यहाँ श्रीठाकुरजी धर्म्मी रसात्मस्वरूप एवं सर्वकलाओं के निधि हैं । वहाँ शेषजी हैं, यहाँ पर भगवद्भाव से सभर सुकोमल सेवारत श्रीमदाचार्य-चरण का हृदय हैं । वहाँ पर क्षीरसागर हैं यहाँ भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी की अनन्त एवं रससभर लीलाएँ ही अनन्तसागर स्वरूप हैं । वहाँ हृदय प्रदेश को छोड़कर श्रीलक्ष्मीदेवी भगवान् नारायण के श्रीचरणों की दैन्य भाव से सेवा करती हैं यहाँ पर अन्यपूर्वा-अनन्यपूर्वा-नित्यसिद्धा-पुष्टपुष्टि भक्त गोपिकाएँ अनन्तसंख्या में अनन्त प्रकार की लीलाओं से श्रीश्यामसुन्दरजी की सेवा करते हैं ।

इस कारिका में प्रमाण मार्ग और प्रमेय मार्ग दोनों मार्गों में सेवा का प्राधान्य और लक्ष्य बतलाया गया है । भगवान वेद ने धर्मनिधि भगवान श्रीनारायणजी की सेवा के लिये शेषरूप बनकर शय्या का स्वरूप बना दिया और भगवान को शयन कराये । श्रीलक्ष्मीजी प्रभु के वक्षःस्थल से उतर कर श्रीचरणों में आ बसी और भगवद्भक्ति में दास्यधर्म ही श्रेष्ठ है वह बतलाया । वैसे प्रमेयमार्ग में-पुष्टिमार्ग में सर्वात्मभाव प्राप्त होने के अनन्तर दास्यभाव स्वतःसिद्ध हो जायेगा और भगवत् सेवा ही फलात्मक बन जाती है यह जताया है । अब अधिक विस्तार न करते हुए क्षीराब्धि और लीलाब्धि का कुछ सामञ्जस्य समझने की चेष्टा करें । क्षीर-दूध में (१) शुद्ध याने निर्दोष (२) स्निग्ध (३) मधुर एवं (४) पुष्टिकर चार गुण होते हैं वैसे श्रीठाकुरजी की लीला प्रत्येक लीला निर्दोष-स्नेहसभर-मधुर एवं भावपोषक होती हैं । जैसे दूधपान से देह की और वीर्यबल की पुष्टि होती है वैसे हरिलीलामृत पान से आत्मा पुष्ट होती है भक्ति एवं भाव का पोषण होता है ।

इस कारिका में लीलाशब्द दो बार आया है । "लीलाक्षीराब्धि" पद में जो लीला शब्द है वह तो भगवल्लीलाओं का द्योतकलीला शब्द है । भक्त के हृदय में सर्वात्मभाव होने के बाद भगवान की अगाध लीलाओं का आविर्भाव होता है । और भक्त के हृदय में प्रादुर्भूत इस लीला महोदधि में निरोध स्वरूप प्रभु स्वयं विराजते हैं । "लक्ष्मी-सहस्र-लीलाभिः" इस पद में

जो लीला शब्द है वह तो व्रजभक्तन की सेवा मार्गीय जो लीलाओं का निर्देश किया है वे वाणी माधुर्य-हाव-भाव कटाक्ष दैन्य सेवोपयोगी सामग्री सम्पादन आदि लीला शब्द से लिये जायेंगे।

यहाँ पर जो शयन लिया गया है वह "स्थिति" अर्थक है शयनार्थक नहीं है। शेष नारायण पर विराजते हुए भगवान् नाभि से कमल उत्पन्न कर और कमल से विधाता का प्राकट्य कर उसी ब्रह्माजी के द्वारा जगत् की रचना करते हैं। उसी प्रकार निरोधात्मक प्रभु भक्त के हृदय में विराजमान होकर नवीन, मधुर और अजीब भावों द्वारा भक्तिरस स्वरूप जगत् की रचना करते हैं॥ १॥

प्रथम कारिका में मङ्गलाचरण को करते हुये स्कन्धार्थरूप कलानिधि प्रभु को नमस्कार कर अब श्री आचार्यचरण द्वितीय कारिका में बताते हैं कि प्रकरणार्थ रूप प्रभु मेरे हृदय में विराजते हैं।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा। षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम॥ २॥

जो यह प्रकरणार्थरूप प्रभु, चार अध्यायों के जन्मप्रकरण २८ अध्यायों के चार प्रकरणों के तामसप्रकरण २८ अध्यायों के चार प्रकरणों के राजस प्रकरण २१ अध्यायों के तीन प्रकरणों के सात्विक प्रकरण एवं छ अध्यायों के गुण प्रकरण इसी प्रकार पांच प्रकार से मेरे हृदय में विराजते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २॥

(१) चतुर्भिः—उपर की कारिका में जो प्रथम चतुर्भिः पद है उसका अर्थ आरम्भ के चार अध्याय हैं। इन चार अध्यायों में प्रथम अध्याय में प्रभु प्राकट्य का हेतु, द्वितीय अध्याय में अविलम्ब से प्रकट होने का उद्यम, तृतीय में चतुर्भुज स्वरूप को बालरूप में तिरोहित करके द्विभुज बालस्वरूप से प्रकट होना और चतुर्थ अध्याय में कापट्य याने माया का कार्य करना इन चार प्रसङ्गो का चार अध्यायों में वर्णन है।

(२) चतुर्भिः—कारिका में जो दूसरा चतुर्भिः शब्द है उसका अर्थ है तामस प्रकरण के प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल इस प्रकरण में हैं। भगवान के ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य छ धर्म और स्वयं धर्मी इस प्रकार सात अध्याय का प्रमाण प्रकरण सात अध्याय का प्रमेय प्रकरण सात अध्याय का साधन प्रकरण एवं सात अध्याय का फल प्रकरण इस प्रकार से चार प्रकरण बताये हैं। उन चार प्रकरणों को चतुर्भिः पद से बताते हैं।

(३) चतुर्भिः—तृतीय पद जो चतुर्भिः है वह तामस प्रकरण के भांति राजस प्रकरण के लिये समझ लेने का हैं। राजस प्रकरण में भी प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल सात सात अध्यायों के चार प्रकरण हैं और २८ अध्याय हैं।

(४) त्रिभिः—जो त्रिभिः यह चतुर्थ पद है इसका अर्थ प्रमेय-साधन-और फल नाम के तीन प्रकरण सात्विक प्रकरण के हैं। इस सात्विक प्रमाण नाम का अवान्तर प्रकरण नहीं हैं क्योंकि सात्विक जीव शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं। उनके हृदय में श्रद्धा होती है इसलिये उनके हृदय में शङ्काएँ नही होती है इससे उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती हैं।

(५) षड्भिः—छह अध्यायों का गुण प्रकरण का षड्भिः पद से उल्लेख किया है। इस प्रकरण में क्रम अनुसार ६ अध्यायों में ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य भगवान के ऐश्वर्यों का वर्णन है।

इन पांच प्रकरणों में जन्मप्रकरण के ४, तामस प्रकरण के २८, राजस प्रकरण के २८, सात्विक प्रकरण के २१ और गुण प्रकरण के ६ अध्यायों को जोड़कर ८७ अध्याय होते हैं और कल्पान्तर कथा के तीन अध्यायों को जोड़ देने से ९० अध्याय होते हैं।

कारिका—दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते॥ २½॥

अब श्रीमद्भागवतजी का दशम स्कंध का अर्थ, दशमस्कन्ध के प्रकरणों का अर्थ एवं दशम स्कंध के अध्यायों का अर्थ प्रस्तुत किया जायगा।

प्रथम और द्वितीय कारिका में मङ्गलाचरण एवं प्रकरण विभाग करने के बाद श्री आचार्यचरण स्कन्धार्थ पर विचार करते हैं। स्कन्ध का अर्थ स्पष्टरूप से समझ में आ जाय इसी लक्ष्य को लेकर प्रकरणों के अर्थ का एवं अध्यायों के अर्थ का विचार करना अनिवार्य जानकर इस पर भी विचार करते हैं। आचार्यचरणों ने शास्त्र-स्कन्ध-प्रकरण-अध्याय-वाक्य-पद और अक्षर इन सातों प्रकारों से जो समन्वित एक ही अर्थ अविरोध से मिलाना वही भागवतार्थ है ऐसी प्रतिज्ञा की है और इन सातों में से श्रीसुबोधिनीजी में वाक्य-पद-अक्षर इन तीन विषयों का विचार करना था लेकिन कितने टीकाकारों ने स्कन्धार्थ में कुछ संदिग्धता पेदा की इस संशय की निवृत्ति के कारण आचार्यचरण स्कन्ध-प्रकरण-एवं अध्यायों के अर्थ की भी समालोचना करेंगे।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीकृष्णचरणद्वन्द्वपद्मसङ्गिरजःस्रजः । कृपया मुकुरस्वान्तं स्वच्छं कुर्वन्तु मे सदा ॥ १ ॥

ब्रह्मादिनर्तको यस्तु गोपिकाभिर्ननर्त ह । भक्तानां तामसादीनां परमानन्दफलप्रदः ॥ २ ॥

श्रीमुकुन्द इति ख्यातः सर्वसाधनसत्फलम् । दशमस्कन्धटीकायां स करोतु सहायताम् ॥ ३ ॥

चतुर्विंशतिभिः शुद्धा कथा हीशस्य वर्णिता । अत्र स्कन्धे नवतिभिर्निरोधो विनिरूप्यते ॥ ४ ॥

यद्यपि सर्वेष्वेव स्कन्धेषु सर्वासां सर्गविसर्गादिलीलानां निरूपणं स्पष्टतरमेवास्ति, तथापि तत्र तत्र तत्तल्लीलानां बाहूल्येन वर्णनात् प्राधान्याभिप्रायेण तत्तत्स्कन्धानां तत्तल्लीलार्थत्वं बोध्यम् । तत्र निरोधो नाम जीवस्य देहेन्द्रियान्तःकरणादिस्वशक्तिभिः सह भगवति स्थितिः । यथोक्तं द्वितीयस्कन्धे—"निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः" इति । सा च द्विधा । प्रलये भगवति लयात्मिका, प्रपञ्चदशायां तु भगवल्लीलागुणस्वरूपमाधुर्याद्यनुभवेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिरूपा च । यथोक्तं द्वादशस्कन्धे–'नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः । संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः' इति । तत्र प्राकृतादि-चतुर्द्धा प्रलयात्मको निरोधस्तु तृतीयादिस्कन्धेष्वेवोक्तः । स्वभावतो भगवत्यासक्तिरूपः पञ्चमो निरोधस्त्वत्र निरूप्यते ॥ 'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' इति स्पष्टतया वक्ष्यमाणत्वात् 'श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन । कलौ जनिष्य-माणानां दुःखशोकतमोनुदम् ॥ अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः' इत्युक्तत्वाच्च स निरोधो भगवल्लीलाश्रवणादिभिरेव सम्पद्यते । अतो लीला अत्र नवतिभिरध्यायैर्निरूप्यन्ते ॥ तत्र वासुदेवादिचतुर्मूर्तेर्भगवतः प्राकट्यसूचनायादौ चतुर्भिरध्यायैर्जन्म-प्रकरणनिरूपणम् । ततः शास्त्रीयाचारशून्यानामपि तामसानां व्रजभक्तानां निरोधार्थमष्टाविंशतिभिरध्यायैस्तामसप्रकरणम् । तत्रापि प्रमाणप्रमेयसाधनफलानां निरूप्याणां चतुर्विधत्वात्तन्निरूपकाणि चत्वार्यवान्तरप्रकरणानि । तत्राप्यैश्वर्यादिषड्गुणविशिष्टस्य लीलेति सूचयितुं सप्तभिरध्यायैस्तेषां निरूपणम् । तत्राप्यघासुरवधादिनिरूपकमध्यायत्रयं तु प्रक्षिप्तमेवेत्याहुराचार्याः ततश्च राजसभक्तानां निरोधार्थमष्टाविंशतिभिरध्यायै राजसप्रकरणम् । तत्राप्यवान्तरप्रकरणान्यध्यायतात्पर्यं च पूर्ववज्ज्ञेयम् । ततश्च सात्विकभक्तानां निरोधार्थमेकविंशतिभिरध्यायैः सात्त्विकप्रकरणम् । तत्र 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' इति वाक्यात्तेषां प्रमाणापेक्षाभावात् प्रमेयादि-त्रितयनिरूपकाणि त्रीण्येवावान्तरप्रकरणानि । अध्यायतात्पर्यं तु पूर्ववदेव ज्ञेयम् । ततश्च "ऐश्वर्यादयः षड्गुणाः परमेश्वरे श्रीकृष्ण एव पूर्णाः, नान्यत्र । ब्रह्मादौ तु भगवच्छब्द औपचारिकः" इति सूचयितुं षड्भिरध्यायैर्गुणनिरूपणप्रकरणम् । इत्येवं नवतिरध्याया ज्ञेयाः । तत्र तु प्रथमेऽध्याये भूमेर्मातुर्विशेषतः ॥ दुःखं भगवतः प्रादुर्भावहेतुर्निरूप्यते ॥ १ ॥ अथ परमभागवतस्य भगवच्चरिता-मृतपानैकमानस्य राज्ञः सकलकलांशावेशावतारावतारि श्रीकृष्णचरितं सङ्क्षेपतो नवमस्कन्धे श्रुतवत एवं शङ्का जाता—"मुनिसत्तमेन 'अयं मदुक्तं सम्यगवधारयति नवास्य भगवद्भक्तिरस्ति नवेति' ममाधिकारसन्देहादनधिकारिणं प्रत्यप्रकाश्यं भगवच्चरितं विस्तरेण नोक्तम्" इति । तत्र श्रुतावधारणस्याधिकारित्वाङ्गत्वादवधारणज्ञापनार्थं नवमे श्रुतमनुवदति-**कथित इति** सार्द्धेन । **सोमसूर्ययोर्वंश-विस्तारो** भवता कथितो नवमस्कन्धे समयावधारित इति शेषः । एवमग्रेऽपि । उभयवंश्यानां सोमसूर्यवंशोद्भूतानां राज्ञां परमाद्भुतं विस्मयावहं चरितं च कथितम् । तत्र सन्तानप्रबन्धो वंशस्तस्य विस्तारः परम्परारूपः । तत्र प्रथमं सूर्यवंशस्य कथितत्वेऽपि सोमवंशे श्रीकृष्णावतारेणाभ्यर्हितत्वात्सोमस्य पूर्वनिपातः । चरितस्याद्भुतत्वं च दुर्वासश्चक्रतापेन्द्रवृषककुदारोहणादिना बोध्यम् ॥ १ ॥ वक्तुः स्तुतिरपि कथने हेतुरतस्तं स्तुवन् सम्बोधयति—**मुनिसत्तमेति** । तत्र मननशीला मुनयः, तत्रापि प्राप्तज्ञाना मुनिसन्तः, ब्रह्मानुभवप्राप्ता मुनिसत्तराः, ततोऽपि श्रेष्ठो भगवद्भक्तो मुनिसत्तमः । नितरां धर्मशीलस्य यदोश्च वंशविस्तारश्चरितं च कथितम् । सोमवंशानुवादेनैव तदवान्तरभूतयदुवंशानुवादस्यापि जातत्वात् पुनस्तदनुवादस्तत्र भगवदवतारेणादरसूचनार्थः । नच यदोः पितु-राज्ञोल्लङ्घनात्कथं धर्मशीलत्वमिति शङ्कनीयम् । धर्मो मुख्यो भगवद्भक्तिलक्षणः, 'धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त' इति भगवदुक्तेः । पितु-राज्ञया जराङ्गीकारे तया ग्रस्तस्य भगवद्भजनलोपमाशङ्क्य मुख्यजनकस्य भगवतो भजनसिद्ध्यर्थं स्वयौवनदाने तेन पित्रा स्वमातृ-सम्बन्धस्य करिष्यमाणस्यात्यन्तानुचितत्वमाशङ्क्य तन्निरासार्थं च गौणपितुर्ययातेराज्ञोल्लङ्घनेनाधर्मः । धर्मस्य हि फलं भक्तिरतो धर्मान्तरापेक्षया तस्याः प्रबलत्वात् । यद्वा कश्चिद्ब्राह्मणं प्रति त्वद्याचितमहं सम्पादयिष्यामीत्यनिर्दिष्टा नामविशेषनिर्देशरहिता प्रतिज्ञा कृता जराङ्गीकारे च तत्सम्पादनसामर्थ्याभावे दोषः स्यादतः पितृवचनं नाङ्गीकृतम् । यथोक्तं हरिवंशे—'अनिर्दिष्टा मया भिक्षा ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुता ॥ अनपाकृत्य तां राजन्न ग्रहीष्यामि ते जराम्' इति तस्य धर्मशीलत्वम् । 'नोत्सहे' इति नवमस्कन्ध-वाक्यमपि यथार्थत्वेन तद्धर्मशीलत्वद्योतकमेव । नच तर्हि कथं श्रीशुकेन 'प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा' इत्युक्तमिति शङ्कनीयम् । यदुव्यति-रिक्तानां तुर्वस्वादित्रयाणामेवैतद्विशेषणं ज्ञेयम् । अन्यथा 'यदुः पप्रच्छ धर्मवित्' इत्येकादशस्कन्धे वक्ष्यमाणभगवद्वाक्येन विरोधापत्तेः ॥ एवं पूर्वस्कन्धोक्तमनूद्य प्रश्नस्य श्रवणाङ्गत्वाद्भगवच्चरितं पृच्छति ॥ १½ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

श्रीराधामाधवाभ्यां नमः

आनन्दधामनि चिदेकरसेऽद्वितीये तस्मिन्पदेऽस्तु मम चित्तमगोचरेऽपि ।
यत्सद्व्रजस्थितिजुषां सुहृदां कुमारादीनामधीनमिव गोचरतामुपैति ।। १ ।।
यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं संचिन्तयामि निखिले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद्‍बलात्स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ।। २ ।।
प्रेम्णा मुकुन्दपदकञ्जयुगं प्रणम्य मातुः पितुश्च चरणौ प्रणिपत्य भक्त्या ।
गङ्गासहायजरठो हरितोषहेतोः स्कन्धेऽन्वयाय कुरुते दशमे प्रयत्नम् ।। ३ ।।

प्रथमे देवकीसूनोः कंसः स्वमरणं विदन् ।। तस्याः षड्बालान् जघान श्लोकास्तत्र तु नंदषट् (६९) ।। उवाचेत्यष्टौ (८) सपादाश्चतुःशैला (७४।) अनुष्टुभः ।। १ ।। श्रीराजोवाचेति ।। श्रीशब्दः मङ्गलार्थो राज्ञः स्तुत्यर्थश्च । आर्षत्वान्न टच् । कापि पाठे श्रीशब्दो न दृश्यते । कथित इति सार्द्धम् ।। हे मुनिसत्तम ! भवता सोमसूर्ययोः वंशानां पौत्रादीनां विस्तारः कथितः स्वकुलरक्षकश्रीकृष्णावतारेण सूर्यपितृव्यत्वेन चाभ्यर्हितत्वात् सोमस्य पूर्वनिपातः । तथा उभयोः सोमसूर्ययोः वंश्यानां वंशभवानां राज्ञां पुरूरवःककुत्स्थादीनामुर्वशीपतित्वेन्द्रारोहादिना परमाद्भुतं चरितं च कथितम् । धर्मे शीलं यस्य तस्य यदोर्वंशविस्तारस्तच्चरितं च नितरां सम्यक्कथितम् । यदोः पित्राज्ञोल्लङ्घितत्वेऽपि स्ववयसा मातृभोगानौचितीपर्यालोचनादेकादशेऽवधूतसंवादे यदोः सन्निष्ठावर्णनाच्च धर्मशीलत्वम् ।। १ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

श्रीहरिकृष्णभगवते नमो नमः

श्रीभक्तिधर्मतनयस्य पदाब्जयुग्मं चित्ते ममास्तु मुनिमण्डलहृद्विचिन्त्यम् ।
यत्रस्थषोडशसुलक्षणचिन्तनस्था मुक्तिं प्रयान्ति जनसंसृतिनाशशक्ताः ।। १ ।।
अन्यं सतामवनहेतव एव देहं धास्ये प्रतिश्रुतमितीह बलाग्रतो यत् ।
सत्यं विधातुमुदभूद्दयया स कृष्णो धर्मस्य सद्मनि पुनस्तममुं नमामि ।। २ ।।
यः पूर्वरूपमदधान्नृपभावयुक्तमन्यत्तु साधुजनभावयुतं सदीशः ।
तं च द्विरूपधरमेकगुणस्वभावं कृष्णं पितामहमहं शरणं गतोऽस्मि ।। ३ ।।
नवभिर्विश्वसर्गादिलक्षणैरुपलक्षितम् । श्रीकृष्णाख्यं जगद्धाम परं तत्त्वं नमाम्यहम् ।। ४ ।।
आश्रयत्वेन निर्दिष्टो दशमे दशलक्ष्मसु । यदुवंशाम्बुधौ क्रीडन् यः कृष्णः स उदीर्यते ।। ५ ।।
वितत्यै दशमे कृष्णसत्कीर्त्तेरनुवर्ण्यते । निरोधो धर्मविग्लानिनिमित्तो दुष्टभूभृताम् ।। ६ ।।
निरोधो यश्चतुर्धाऽस्ति प्राकृतादिः स वर्णितः । प्रसङ्गात् सृष्टिसंहारद्वारा तत्तन्निरूपणैः ।। ७ ।।
अध्यायाः कृष्णसत्कीर्त्त्यै दशमे नवतिः कृताः । एतद्व्याख्यातृभिः कैश्चित्त्वधिका अपि कीर्त्तिताः ।। ८ ।।
चतुर्भिरादावध्यायैर्ब्रह्मप्रार्थनया भुवः । हरेर्जन्म भरं हर्त्तुं प्रसङ्गेन निरूप्यते ।। ९ ।।
कार्ष्णी लीलोदिता त्रेधा गोकुले मथुरापुरे । द्वारवत्यां क्रमात्तत्तद्विशेषैर्बहुधा तथा ।। १० ।।
वृन्दावनादावध्यायैः सपञ्चत्रिंशता शुभा । वसतो गोकुले लीला दुष्करा वर्ण्यते सुरैः ।। ११ ।।
स्तुतिः कलिन्दजावारिण्येकेनाक्रूरभाषिता । आख्यातैकादशाध्यायैर्या लीला मथुराकृता ।। १२ ।।
लीला शेषैः कृता प्रोक्ता द्वारकायां च तत्कृतिः । अध्याया दशमस्कन्ध एवं तेऽत्र स्फुटार्थकाः ।। १३ ।।
कंसस्तु प्रथमे तत्र देवकीतनयान्मृतिम् । भीतः श्रुत्वाऽवधीद्गर्भान् षट् तस्या इति वर्ण्यते ।। १४ ।।
कृष्णचारित्रपीयूषश्रवणस्वादनिर्वृतः । पृच्छत्यौत्सुक्यतो राजोक्तानुवादेन तत्पुनः ।। १५ ।।

नवमस्कन्धान्ते 'जातो गतः पितृगृहाद्व्रजम्' इत्यादिश्लोकद्वयेन समासतः संप्रदर्शितं श्रीकृष्णभगवच्चरितं विस्तरतः शुश्रूषुरतीतस्कन्धार्थानुकथनपूर्वकं राजा पृच्छति **कथित** इत्यादित्रयोदशभिः श्लोकैः । तत्र पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति ।। **कथित इति** ।। हे मुने, इति शेषः । भवता, सोमश्च सूर्यश्च तयोः, वंशविस्तारः कथितः । उभौ च तौ वंशौ च तयोर्भवा उभयवंश्यास्तेषामुभयवंशजानां, राज्ञां, परमाद्भुतमत्याश्चर्यरूपं, चरितं चरित्रं च, कथितम् । चरित्रस्य क्लीबत्वात् कथितमित्यत्र लिङ्गभेदोक्तिः । ननु नवमस्कन्धे सूर्यवंशः प्रागभिहितस्ततः सोमवंशोऽतः सूर्यसोमयोरिति वक्तुं युक्तं, कथमत्र वैपरीत्येनोक्तिरिति चेत्तत्र सोमवंशप्रवृत्तेर्मूलभूताया इलायाः जन्मनः सूर्यवंशप्रवृत्तेः प्रागभिधानादस्य पूर्वोक्तिः । यद्वा, सोमवंशे श्रीकृष्णप्रादुर्भावः स श्रीकृष्णः परीक्षितः स्वेष्टदेवत्वेनाभ्यर्हितस्तत् प्रादुर्भावकथोपेतत्वेन सोमवंशस्य परीक्षितोऽभ्यर्हितता तत्पूर्वताभिधायकं 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति शास्त्रं,

तदीक्षया सोमशब्दस्य पूर्वनिपातः। यद्वा। सोमस्य हिमांशुत्वेन शान्तिकरत्वं धर्मः। सूर्यस्य तपनपर्यापेक्षया संतापकरत्वं धर्मः। सर्वेषां संतापकरत्वतः शान्तिकरत्वस्याभ्यर्हितत्वेन शान्त्यर्थद्योतकसोमस्य पूर्वोक्तिः ॥ १ ॥ यदोरिति। हे मुनिसत्तम, नितरामत्यन्तं, धर्म एव शीलं सद्वृत्तं यस्य तस्य, यदोश्च यदोरपीत्यर्थः। वंशविस्तारः, कथितः, परमाद्भुतं चरित्रं च कथितम्। 'उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः। अधमोऽश्रद्धया कुर्वन्नकर्त्तोच्चरितं पितुः' इति नवमस्कन्धोक्तवाक्यदृशा तदप्रत्याख्यानप्रतीतेस्तथापि स्वयौवनोपादानेन स्वपितृकृतस्वमातृसङ्गस्यानुचितत्वात् स्वपितुरुक्तेरनुपादानं यदोर्धर्मशीलत्वमिति ॥ १½ ॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

॥ मङ्गलाचरणम्, उपक्रमश्च ॥

श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः। श्रीगुरुभ्यो नमः।

श्रीशं वन्दे भक्तकल्याणदीक्षं लक्ष्यं वेदैर्दक्षमात्मीयकृत्ये। वक्षःपद्मं शिक्षकं दुष्टजातेर्मोक्षस्थानं रक्षकं स्वाङ्घ्रिभाजाम् ॥ १ ॥

साधूनामवनाय दुष्टदितिजध्वंसाय योऽनादिरप्यद्धा मीनमुखावतार-चरितान्यङ्गीचकाराऽऽदरात्।
सर्वागःसहनाय यश्च समभूत् सर्वंसहेशः क्षमाशाली पूर्णकृपार्णवो दिशतु वः श्रीश्रेयसी श्रीपतिः ॥ २ ॥

भक्त्युद्रेक - नमत्सुरेन्द्रमुकुटाऽनर्घ्येन्द्रनीलप्रभम्, भूषानूपुर - पद्मरागरुचिरच्छायं लसच्छ्रीपदम्।
ज्योत्स्नाकन्दनखेन्दुकान्तिललितं यस्याङ्घ्रिदेशं सदा स्वोत्कृष्टं मनुते प्रयाग इह तं वन्दे रमावल्लभम् ॥ ३ ॥

श्रीमद्रमाऽवनिसमाश्रितपार्श्वभागस्तार्क्ष्यध्वजो विधिमुखामरवन्दिताङ्घ्रिः।
कौमोदकी - दर - सुदर्शन - पद्मराजद्धस्ताम्बुजो विजयते भुजगाद्रिराजः ॥ ४ ॥

राजत्स्कन्धमनेकशाखममिता मोदामृतोद्यत्फलं श्रीमद्भागवताभिधं सुरतरुं निर्माय निर्यत्नतः।
तद्भाजः सुखिनः करोति विबुधानाहृत्य तापत्रयं यस्तं नित्यमहं नमाम्यमृतदं श्रीव्यासविद्योदधिम् ॥ ५ ॥

यश्चक्रे पितरं सुतैर्बहुविधैर्वृक्षादिभिः पुत्रिणं यद्वृत्तिर्ललिताङ्गनासु न मनाङ् नग्नासु मग्नाऽभवत्।
यद्वाणीश्रुतिराशु कं वितरति प्रोच्छिन्नदुःखं नृणां तं वन्दे मुनिनायकं शुकमहं सर्वान्तरस्थं सदा ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा यस्य निरत्ययामहरहर्गोदोहमात्रस्थितिं गोसन्दोहनिवासमेव विदधे नारायणोऽपि स्वयम्।
कर्णे लग्नमिहैकवारमपि चेन्मोक्षार्पणे लग्नकं पुंसां यद्वदनामृताक्तवचनं तं व्याससूनुं नुमः ॥ ७ ॥

अंशानां जगदीशितुस्त्रिभुवने संख्यावतां शेखरा ये स्युः सन्तु भवन्तु वा सुकृतिनस्ते वन्द्यमाना जनैः।
यः ख्यातोऽत्र पवित्रकीर्तिरवनौ प्रस्तावनासूत्रधृक् वन्देऽहं तु तमादिदेशिकवरं श्रीरामकृष्णाभिधम् ॥ ८ ॥

कर्ता शेषवचः प्रवृत्तिविवृतेः संन्यायमान्यश्च यो मीमांसाऽप्युभयी यदाश्रयवशान्मीमांसतेऽर्थं सदा।
योगोद्भासितसत्पदः श्रुतिमुखः संख्यावदेकेडितस्तं लक्ष्मीपतिमानतोऽस्मि सदयं श्रीबालकृष्णं गुरुम् ॥ ९ ॥

श्रीमत्सरस्वती–प्रेमरसनिक्षेप-भाजनम्। सभाजननुतं वन्दे धुण्डिराजगुरुं परम् ॥ १० ॥

श्रीमद्भागवतप्रधानदशमस्कन्धस्थितानि क्रमात्, प्रत्यध्यायनिरूपितेशचरितान्यादाय सारांशतः।
श्रीगोविन्दकृपासुधारसलसत्स्वादं सदानंदकृत् कुर्वे भक्तिरसायनं निखिलहृद्रोगापनोदक्षमम् ॥ ११ ॥

यन्नामश्रुतिरेव सङ्कलयति श्रुत्यर्थमत्यूर्जितं कृत्स्नस्मृत्युजितार्थबोधजननोल्लासा तथा यत्स्मृतिः।
यत्पूजाविधिरप्यलं किल फलं वैधं प्रसुतेऽखिलं यत्संकल्पनियन्त्रितोऽखिलजनाचारस्त्रिकालेऽपि च ॥ १२ ॥

तस्येशस्य चरित्रजातमनभिप्रायं कथं वा भवेन्नाबीजं कुरुतेऽल्पधीरपि जनः क्षुद्रोपि किञ्चित् क्वचित्।
आलोच्येत्यखिलार्तिहारिहरिणा श्रीशप्रसादोल्लसच्चित्तेन क्रियते रसायनमिदं प्रव्यक्तबीजोदयम् ॥ १३ ॥

स्वभावात् क्वापि तर्केण कुत्रचिद्रूपकादिभिः। ज्ञेयं विज्ञैरिह श्रीशक्रीडाबीजविवेचनम् ॥ १४ ॥

कृत्स्नं यद्यपि नालमीशचरितं प्रादातुमन्तोज्झितं स्यात् सौख्यं तु तथापि पूर्णमतुलं तल्लेशलेशादपि।
आब्रह्माचल-मासमुद्रमुदिता-ऽखण्डप्रवाहस्थितेर्गोदाया जलमल्पमप्यघभिदानन्दाय सञ्जायते ॥ १५ ॥

सौभाग्यास्पदमेकमस्ति महिलाभालेषु चेत् कुङ्कुमं सौभाग्यप्रतिपादनाय तदलं किं तत्र भूषान्तरैः।
एवं मत्कविता- प्रगल्भवनिता- सौभाग्यसन्धायकं मुख्यं श्रीपतिभूषणं विजयतेऽन्याऽऽस्तां न वालंकृतिः ॥ १६ ॥

देव त्वद्गुणवर्णने किल सहस्रास्योऽपि नेशो भृशं त्वत्सौन्दर्यविवेचनेऽपि च सहस्राक्षः क्षणं न क्षमः।
सेवायां न सहस्रबाहुभिरलं युक्तोऽपि शक्तोऽर्जुनस्तत्राहं जगदीश्वरैकवदनो द्व्यक्षो द्विबाहुः कियान् ॥ १७ ॥

इत्थं भूरि समर्थितः स भगवान् प्रोत्साहने मे ह्यदाद् यद्यद्बीजमहं निधाय हृदये क्रीडामकार्षं तदा।
तत्सर्वं तव बुद्धिगोचरमनायासं करिष्येलिख त्वं निःशङ्कमिहार्भकेति समभूदत्र प्रवृत्त्युद्गमः ॥ १८ ॥

वेदाज्ञेय-प्रमेयाद्भुतचरिततरो-र्बीज-निर्णेतुकामं दृष्ट्वाल्पं मामनल्पं परिहसतु जनो बाढमाश्चर्यचित्तः ।
सर्वान्तर्यामितां स्वां स्वयमथ विहितामस्य तत्र प्रवृत्तिं स्मृत्वा नित्यं प्रसन्नो भव भुवि भवितास्मीश तेनैव धन्यः ॥१९॥
किञ्चिद्वक्रमवक्रमुद्धतमथ स्निग्धं सहासं क्वचित्, सक्रोधस्फुटमस्फुटं क्वचिदुपालम्भि क्व चार्थान्वयि ।
एवं स्वीयशिशोर्वचोऽपि परमाह्लादाय पित्रोरिति ज्ञात्वा सम्प्रति विश्वतातसरणिस्तादृङ्मयाऽऽलम्ब्यते ॥ २० ॥
अन्याभिः किमु तत्पुराणतरणि - श्रेणीभिरारोहणं यातो यासु न धीवरोऽपि लभते पारं भ्रमन्मानसः ।
शक्ता यच्छ्रुतिरेव दुस्तरभवाकूपारपारङ्गतौ तां श्रीभागवताभिधां न तरणिं कः संतितीर्षुः श्रयेत् ॥ २१ ॥
युक्ताहारविहारशालिभिरपि प्रोच्छिन्नदुर्वासनैः पुम्भिर्योगविशारदैरपि सदा वेदान्तदान्तात्मभिः ।
दुर्दर्शं भगवत्सुदर्शनमिहाप्तं येन गर्भेऽपि तन्मातुस्तन्मुनिवामदेववदसौ राजाऽपि वन्द्यः सदा ॥ २२ ॥

कथित इति : १०–१–१

प्रोक्तं सर्वसुधांशुवंशमखिलं तद्वंशतेजोजुषां राज्ञां चारुचरित्रजातमवशाद्व्रयात् पुनश्चेदसौ ।
तन्मे स्यात् तदनादरोऽच्युतयशःश्रुत्युल्लसच्चेतसश्चक्रे स्पष्टमतः स ताद्गुचितप्रश्नोक्तितः स्वाशयम् ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

राजर्षि परीक्षित जी कहने लगे मुनिवरों में परमश्रेष्ठ शुकाचार्य जी ! आपने सोम एवं सूर्यवंश का विस्तार से वर्णन किया, और उन दोनों वंशों में उत्पन्न हुए नृपों के परम अद्भुत चरित्र भी कहे । विशेष में स्वभाव सहज धर्मशील श्रीयदुराजा का सम्पूर्ण चरित्र कहा ॥ १½ ॥

तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥ २ ॥
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः । कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्[1] ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः – तत्र अंशेन अवतीर्णस्य विष्णोः वीर्याणि नः शंस । भूतभावनः विश्वात्मा भगवान् यदोः वंशे अवतीर्य यानि (वीर्याणि) कृतवान् तानि नः विस्तराद् वद ॥ निवृत्ततर्षैः उपगीयमानात् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात् उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पशुघ्नात् विना कः पुमान् विरज्येत ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अंशेनेति प्रतीत्यभिप्रायेणोक्तम् ॥२॥ ननूक्तानि "जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थः" इत्यादिना । सत्यम् । पुनर्विस्तरेण वदेत्याह । अवतीर्येति ॥ ३ ॥ अत्र लोके त्रिविधा जनाः मुक्ता मुमुक्षवो विषयैषिणश्चेति । तेषां मध्ये न कस्याप्यलं प्रत्यय इत्याह । निवृत्ततर्षैः गततृष्णैर्मुक्तैरित्यर्थः । मुमुक्षूणामयमेवोपाय इत्याह । भवौषधादिति । विषयैषिणां परमो विषयोऽयमेवेत्याह । श्रोत्रमनोभिरामादिति । अपगता शुक् शोको यस्मात्तमात्मानं हंतीत्यपशुघ्नस्तस्मात् पशुघातिन इति वा ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र यदुवंशे । अंशेनेति प्रतीत्यभिप्रायेण सुज्ञेतरप्रतीत्यभिप्रायेण । सा च प्रतीतिरहो यतोऽनेन सर्वथा नरैः कर्तुमशक्यं पूतनावधाघकारि ततोऽयं नारायणांश इत्येवंरूपोन्नेया यद्वा—योंऽशेन विष्णुस्तस्य परिपूर्णतमस्येत्यर्थः । "रमा राधांशतो ज्ञेया विष्णुः कृष्णांशतः स्फुटम्" इति ब्रह्मवैवर्त्ते । तथाहि "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः । प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वंडसंस्थितम् ॥ तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥" इति । "पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् । 'ततोभवन्महत्तत्वम्' इत्याद्युक्तेः । "एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः" इत्युक्तेः । "पुरुषोंऽडं विनिर्भिद्य यदादौ स विनिर्गतः" इत्युक्तेश्च त्रिष्वेवांशता प्रतीयते । वक्ष्यति च "नारायणोंगं नरभूजलायनात्" इत्यादिना । यद्वांशानां मत्स्यादीनामिनः स्वामी अंशेन स चासाववतीर्णोंशेनावतीर्णस्तस्य वीर्याणि प्रभावप्राकट्यकराणि कंसहननादीनि । यद्वा—अंशेष्विनः सूर्य इव प्रकाशकोंशेनः पुनः कर्मधारयः । यद्वा—अंशेनैकदेशरूपेण वीर्याणि साकल्येन तु न कोपि श्रोतुं वक्तुं वा प्रभुरिति भावः "अंशः स्यादेकदेशेऽपि वस्तुनो वंटके त्वणौ" इति धरणिदेवः । यद्वा—अंशेन बलदेवादिना 'वासुदेवकलानंतः' इत्याद्युक्तेः 'आदिष्टा प्रभुणांशेन' इत्याद्युक्तेश्च । 'अंशः शक्तिसमावेशः'

---

१. विनातिमुग्धात् विज० ।

इत्यादिपुराणात्। विष्णोः सर्वव्यापकतया परिपूर्णतापर्यवसानस्य स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्येति यावत्। वीर्याणि महाप्रभावमयचरितानि। न इति बहुत्वं तच्छुश्रूषयात्मनो बहुमननात्। यद्वातोस्माकं पांडवानां विष्णोर्वीर्याणीति अनेन तत्र स्वस्य भक्तिश्च सूचि ॥ २ ॥ अवतीर्योविभूय ॥ ३ ॥ अत्र मानुपे। अलंप्रत्ययोत्र श्रवणारुचिरूपो ज्ञेयः। निवृत्तस्तर्पोऽभिलाषो येषां ते तथा तैः 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः। भवौषधात्संसाररव्याधेरौषधरूपात्। निवृत्ततर्षैर्यदेव निषेव्याविगततृष्णाव्याधिभिस्तृष्णैव संसारस्तस्मान्मुक्तैरुपाधिक्येन गीयमानाद्वोभो वयमिवैतन्निषेव्यनिरामया भवतेत्युच्चैरुपदिश्यमानात्। निवृत्ततर्षशब्देन शुद्धभक्ता एव ज्ञेया न तु ज्ञानिनस्तेषां निदिध्यासननिष्ठत्वेन गानासंभवात्। मुमुक्षूणां मोक्षमिच्छतामयमेव श्रीकृष्णगुणानुवाद एव भवः संसारस्तस्यौषधान्निवर्तकात्। "संसारसिंधुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यं प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य। लीलाकथारसनिषेवणमंतरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥" इत्युक्तेः। विषयस्तुच्छपरमभेदाद्द्विधा क्षयिष्णुफलकस्तुच्छो विनाशिफलकः सर्वकर्मफलरूपो वा परमः "इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः। अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥" इत्याद्युक्तेः। अथ वा स्वसंबद्धेंद्रियानुरागजनको विषयः परमविषय इत्यभिप्रेत्याह–**श्रोत्रेति**। श्रोत्रमनसोरभिरामोतीव प्रियस्तस्मात्। "अविनाश्यरे अयमात्मा" इति श्रुतेः "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" इत्यादिस्मृतेश्चात्मनो नाशासंभवेऽपि देहोत्पत्तिनाशादिनात्मन्यपि तथात्वोक्तिः। "निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्। अंतः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणात्परः ॥" इति "म्रियते चामरो भ्रांत्या यथाग्निर्दारुसंयुतः" इति च वक्ष्यति स्वयं भगवान् किञ्च "तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंति ये के चात्महनो जनाः" इह श्रुतावप्यात्महन इति पदमात्मनाशं वक्ति यत् तदात्माज्ञानमेवात्मघात इति वक्ति। "न चेदवेदीर्महती विनष्टिः" इति श्रुतेर्न हि निरवयवस्य साक्षान्नाशः संबोभवीतीति। एतदभिप्रेत्याह अपगता शुगित्यादि। ननु त्रिविधजनानुक्त्वा पुनरात्मघातिपशुघातिनौ द्वावुक्तौ ततश्च पञ्चविधा जाता अपि नैतेन त्रिविधप्रतिज्ञाहानिः शंक्या तयोर्विषयिष्वंतर्भावात्कथमिति तत्राह—विषयिणोऽपि विषयभेदाद्द्विधैव परमविषयिणस्तुच्छविषयिणश्च। भगवत्यनुरागिणः परमविषयिणोऽत्र ज्ञेयाः। देहाद्यात्मदर्शिनः कर्मिणश्च तुच्छविषयिण इति। परमरागिणस्तु न विरज्यंते "को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्पुरा कथानां भगवत्कथासुधाम्। आपीय कर्णांजलिभिर्भवापहामहोविरज्येत विना नरेतरम्" इत्युक्तेः। तुच्छविषयिणस्तु विरज्यंत एवेत्यभिप्रायेणाहापशुघ्नात्पशुघ्नाद्वेति। पशुघ्नः स्वर्गकामी कर्मी ततो विना स तु विरज्यत एव तदुक्तम् "त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः" इति। पुमानित्यनेन स्त्री च स्वातंत्र्यात्क्लीबश्चांगवैकल्याद्विरज्येतां नामेत्यर्थः। यद्वा—पुमान् जीवस्तेनाधिकार्यपेक्षा निरस्ता। यद्वा—पशुघ्नः द्व्याधात्। तस्य हि विषयत्वसंभवेऽपि हिंसादिक्लेशविद्धबुद्धिः तेन लोकद्वयसुखविवेकासिद्ध्या विषयितायाः अप्यभावः। अत एवोक्तं "राजपुत्र चिरंजीव मा जीव ऋषिपुत्रक। जीव वा मर वा साधो व्याध मा जीव मा मर" इति। तस्माद्यो विरज्यते स लोकद्वयेष्वात्मक्लेशित्वेन तद्विरागात्परेष्वपि शल्यवदर्पणेन व्याध एवेति गालिप्रदान एव तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषणी

अभीष्टमाह—तत्रेत्यर्द्धकेन। धर्म्मशीलत्वादेव तत्र यदोर्वंशेऽवतीर्णस्य श्रीगोलोकाख्यनिजपरमलोकात् स्वयं प्रपञ्चेऽभिव्यक्तिमागतस्य, अंशेनेति श्रीधरस्वामिचरणैरेव व्याख्यातम्। तत्र प्रतीतिः साधारणजनानामेव ज्ञेया—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति श्रीभगवद्गीतातः। ततश्चांशेनावतीर्णस्येति, असर्वसुबोधस्वभावस्येत्यर्थः। यद्वा, अंशेन श्रीबलदेवेन सहेति तस्यापि वीर्य्याणि शंस्यानीति भावः। अर्थान्तरे,—

दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्। कृष्णञ्च तत्रच्छन्दोभिस्स्तूयमानं सुविस्मिताः॥

इत्यनेन सुष्ठु निरूपयिष्यमाणव्याख्याविशेषमयवचनेन "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यनेन च विरोधापत्तेः, उक्तञ्च ब्रह्मणा स्वसंहितायाम् "गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु। ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" इति। "रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु। कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" इत्यादि। तत्र तत्र सन्देहास्तु निरसिष्यन्ते। एवमन्यत्रापि विष्णोः सर्वव्यापकतया परिपूर्णतापर्यवसानस्य स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्येत्यर्थः। नः अस्मान् प्रति वीर्य्याणि महाप्रभावमयचरितानि शंस स्तुतिवत् सोत्कर्षं वर्णय इति श्रीकृष्णस्य चरितानां तु परमपरमाद्भुतत्वं सूचितम्, न इति बहुत्वं तच्छुश्रूषयाऽऽत्मनो बहुमानात्। स्वसङ्गिनामपेक्षया वा सा च कृपया विनयेनैव वा। यद्वा, नोऽस्माकं पाण्डवानां यो विष्णुस्तस्य इत्यात्मनस्तस्मिन् भक्तिस्तद्वीर्य्यश्रवणे लालसा च सूचिता ॥ २ ॥ ननु, सर्वाण्यपि तस्य कर्म्माणि परमाद्भुतानि, इति चेत्तर्हि तानि सर्वाण्येव कथयेत्याह—अवतीर्य्येति। अवतारप्रयोजनमुद्दिशति, भगवान् सर्वैश्वर्य्यपूर्णोऽपि कृपया भूतानि सर्वाण्येव भावयति पालयति तथा सः, यतो विश्वात्मा चेतनादिशक्तिप्रेरकत्वेन स्वभावत एव हितकारी परमस्वरूपत्वेन प्रेमविशेषपर्यवसानरूपश्चेत्यर्थः। अतो यानि यावन्ति कर्माणि तानि सर्वाण्येव वद संकीर्त्तय तत्र च विस्तराद् विस्तरेण, प्रयोजनादिनिर्देशेन, न तु पूर्ववत् संक्षेपेणेत्यर्थः। इत्यसंभवेऽपि लालसयैवोक्तम् ॥ ३ ॥ न च विस्तरेण तत्र श्रुते मम तृप्तिराशङ्क्येत्याशयेनाह–निवृत्ततर्षैर्भक्तैरप्युप अधिकं सर्वोपरितनत्वेन वा गीयमा-

नादिति परमफलत्वेन सदोपगानात् परमानंदमयत्वं तत्र मुक्ताः ज्ञानिनः शुद्धभक्ताश्चेति द्वैविध्ये पुनर्जीवन्मुक्ताः प्राप्तसालोक्यादयश्चेति चतुर्विधा ज्ञेयाः। भवौषधादिति। अर्थान्मुमुक्षूणां सर्वदुःखनिवर्त्तकत्वम्. श्रोत्रमनोऽभिरामादिति, शब्दमात्रेण श्रोत्राणि अर्थेन मनांसि चाभितो रमयतीति तथा तस्मादिति, पारिशेष्याद्विषयेच्छूनामपि सुखप्रदत्वम्. तथा भक्तिच्छूनान्तु उत्तरद्वयमधिकं प्रथमञ्च यथोचितं ज्ञेयमिति चतुर्थोऽप्यधिकारी कल्प्यः। एवं साध्यत्वं साधनत्वञ्च अतः सदा सर्वसेव्यत्वमुक्तम्। अत एव उत्तमः श्लोको यशो यस्य तस्य श्रीभगवतो गुणानां निरतिशयनित्यसत्स्वाभाविकानन्तानामौदार्य्यवात्सल्यादीनामनुवादः, निरन्तरा पुनः पुनः प्रवर्त्तिता वा कथा तस्मात् को विरज्येत विरतस्तृप्तो वा स्यात् तत्राऽऽद्यानां निरन्तरं मनसि तल्लीलानन्दो ब्रह्मानन्दादप्यधिकतया स्फुरति। अत्यन्तोच्छलिततया तादृशगानत्वेन परिणमते च अतः स्वतस्सिद्धत्वात्तेषु गानस्यैव प्राधान्यं दर्शितम्। स्वतस्सिद्धतादृशभावत्वेन त एव च प्रथमं निर्दिष्टाः मुक्तिमुक्तीच्छुषु तादृशस्फूर्त्यभावात् न स्वतः सिद्धत्वम्। अत औषधरूपत्वं श्रोत्रद्वारैव मनःप्रवेशित्वञ्चोक्तम्, तस्मात् श्रवणस्यैव प्राधान्यं दर्शितं पूर्वतो न्यूनत्वञ्च; तत्र द्वितीयेषु परमार्थसाधनरूपत्वेन स्फुरति, वस्तुस्वभावत्वेन श्रोत्रमनोऽभिरामत्वञ्चास्त्येव, तृतीयानान्तु केवलं श्रोत्रमनोऽभिरामतयेति तारतम्यम्, चतुर्थानान्तु प्रथमेभ्य एव न्यूनत्वमन्येभ्यस्त्वाधिक्यम्, शास्त्रेऽस्मिन् पदवाक्यानां क्रमस्त्रिविधो ज्ञेयः। पूर्वपूर्वन्यूनः, उत्तरोत्तरन्यूनः, याद्दच्छिकन्यूनश्च। तत्र प्रथमद्वयं कैमुत्यविवक्षया। उत्तरस्त्वभिधेयार्थस्य नात्यादरेण प्रेमावेशेन चेति। अत्र तु त्रयाणां यथोत्तरं न्यूनता। चतुर्थानान्तु यादृच्छिक्येव। तथोक्तिस्तु मुक्तत्वमुमुक्षुत्वाभावेऽपि मम विषयितया श्रोत्रमनोऽभिरामत्वेनापि तत्र विरक्तिर्न युक्तेति विनयात्। पुमानिति स्त्रीवदस्वतन्त्रः क्लीववत् विकलेन्द्रियश्चेत्तदात्मयोग्यत्वासम्भावनया विरज्यतां नामेत्यर्थः। यद्वा, पुंस एव सर्वत्र प्राधान्यात् पुमानित्युक्तम्। यद्वा; पुमान् जीवः तेन चाधिकार्यपेक्षापि निरस्ता। पशुघ्नात् व्याधात्। तस्य हि विषयित्वसम्भवेपि सततं हिंसादिक्लेशविद्धबुद्धित्वेन लोकद्वयसुखविवेकासिद्ध्या विषयिताया अप्यभावः। अत उक्तम्–"राजपुत्र! चिरञ्जीव माजीव ऋषिपुत्रक! जीव वा मर वा साधो! व्याध! मा जीव मा मर" इति। तस्मात् यो विरज्येत, स लोकद्वयेऽप्यात्मक्लेशित्वेन तद्विरागात् परेष्वपि शल्यवदर्पणेन व्याध एवेति गालिप्रदाने तात्पर्य्यम्। अन्यद्भगवद्भक्तिविलासटीकायां कथामाहात्म्ये विस्तरितमेवारित तदेवं सामान्यतः श्रीभगवद्गुणानुवादस्यैतादृशत्वे सति किमुत श्रीकृष्णरूपतद्गुणानुवादस्येति भावः॥ ४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अधुना तत्र यदोर्वंशे अंशेन बलरामेण सहावतीर्णस्य, यद्वा, सङ्कल्परूपज्ञानेन वा दिव्यविग्रहांशेन वा, अन्यथा "एते चांशकला विष्णोः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति पूर्वोक्तव्याघातापत्तेः, विष्णोः श्रीकृष्णस्य वीर्याणि वीर्यगुणप्रकारकाणि चरित्राणि नः शुश्रूषुभ्योऽस्मभ्यं शंस विस्तरतः कथय॥ २॥ कानि वीर्याणि? इत्यत्राह—अवतार्येति। यद्वा, न परव्यूहादिरूपेणावस्थितस्य वीर्याणि; किन्तु यदोर्वंशेऽवतीर्य्य भगवान् यानि वीर्याणि कृतवान्, तानि वीर्याणि विस्तरतो नोऽस्मभ्यं वद शंस, अवतरणप्रभृतीनि स्वर्लोकगमनपर्य्यन्तानि वीर्याणि विस्तरेण कथयेति भावः। अत एव पुनरवतार्येत्युक्तम्, अवतारप्रयोजनं तन्निमित्तञ्च विस्तरेण वदेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि, भूतभावनः भूतानि साधुभूतानि भावयति विभावयति त्रायते इति तथा विश्वात्मा विश्वस्य अन्तरात्मा विश्वमात्मा शरीरं यस्येति वा विश्वात्मा॥ ३॥ ननु, विष्णोर्वीर्याणि अभीक्ष्णशः श्रुतान्येव, किं पृच्छसि? इत्यत्राह–निवृत्ततर्षैरिति। क उत्तमश्लोकगुणानुवादादित्यस्याऽमृतादिति शेषः उत्तमश्लोकस्य भगवतो गुणानुवादरूपादमृतात् पशुघ्नं विना कः पुमान् विरज्येत? न कोऽपीत्यर्थः। प्रसिद्धामृतवैलक्षण्यं सूचयितुं विशिनष्टि, निवृत्तस्तर्षो विषयेष्वनलम्बुद्धिर्येषां तैः विगतविषयस्पृहैर्योगिभिरुपगीयमानात् प्रसिद्धं त्वमृतमनिवृत्ततर्षोपगीयमानमित्यर्थः। भवौषधात् भवस्य संसारस्य रोगरूपस्यौषधम् औषधमिव प्रतीकाररूपात् प्रसिद्धन्तु भववर्द्धनमिति भावः। श्रोत्रयोर्मनसश्चाभिरामात् प्रसिद्धन्तु रसनेन्द्रियमात्राभिराममिति भावः। गुणानुवादो गुणकथा पशुं हन्तीति पशुघ्नो गोघ्नस्तं विनेत्यर्थः। यद्वा, पशुवद्धन्ति गच्छति व्याप्रियत इति पशुघ्नः तं विनेत्यर्थः। पशुतुल्यवृत्तिः केवलमूर्ख इति यावत्, यद्वा, अपशुघ्नादिच्छेदः पश्विति सम्यगर्थकमव्ययम्, न पशु असम्यक् हन्ति गच्छति बुद्ध्यतीति तथा "हन हिंसागत्योः"गत्यर्थास्सर्वे ज्ञानार्थकाः। सम्यगुपकारमविद्वान् कृतघ्न इति यावत्। उत्तमश्लोककृतोपकाराभिज्ञस्तद्गुणानुवादात् कः पुमान् विरज्येतेत्यर्थः॥ ४॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तत्राह—तत्रेति। यदोर्वंशे वीर्याणि पराक्रमान्॥ २॥ तात्पर्यात् पुनरुक्तमेवाह–अवतार्येति। यानि भूकण्टकदितिसुतहननादीनि कर्माणि, विश्वात्मा विश्वव्यापीत्यनेन ब्रह्मत्वं ध्वनयति। विस्तरतः न केवलमर्थतः प्रपञ्चनम् अपि तु शब्दतः अल्पबुद्धीनामवगन्तुशक्यत्वात्। "स च शब्दस्य विस्तरः" इत्यभिधानम्॥ ३॥ अतीतस्कन्धे हरिकथाश्रवणेनालम्बुद्धिर्नाभूत् इति तत्राह, निवृत्तेति। निवृत्ततर्षैर्विषयालम्बुद्धिसहितैः। भवौषधात् संसाराख्यरोगपरिहारहेतुभूतौषधात् अतिमुग्धात् अन्यथाज्ञानिनः पशुघ्नादिति वा पाठः॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तत्र साद्धर्नें तदनुवादः। तत्रेत्यर्द्धे नाभीष्टविज्ञप्तिः। अंशेन श्रीवलदेवेन सह ॥ १–३ ॥ निवृत्तेति सामान्यतस्तत्प्रशंसा। पितेत्यादिभिर्विशेषत इति ज्ञेयम् निवृत्ततर्षैः ॥ ४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्राऽवतीर्णस्य वीर्याणि कथय। कस्य, अंशेन विष्णोः यः खल्वंशेन वैकुण्ठे विष्णुर्भवति, यस्यैकांशो विष्णुः तस्य पूर्णस्येत्यर्थः। यद्वा अंशेन शंस, सामस्त्येन वक्तुं न कस्याऽपि शक्तिरिति भावः ॥ २ ॥ ननु, "जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थः" इत्यादिना अंशेनोक्तान्येव सत्यं, सामस्त्येन तद्वीर्य्याणि संक्षिप्तीकृत्यापि वक्तुमशक्यान्येव। त्वया त्वंशेन यान्युक्तानि तान्यपि संक्षिप्तीकृत्य श्लोकाभ्यामुक्तान्यतो बहुभिः श्लोकैस्तान्येव विस्तृतीकृत्य ब्रूहीत्याह—अवतीर्येति। भूतानि भाववन्ति प्रेमवन्ति करोतीति प्रयोजनमुक्तम् "नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया" इति "अवितृप्तदृशां नृणाम्" इति "स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या" इत्यादिभ्यस्तथैवावगमात्। यतो विश्वात्मा देहजीवाभ्यां सकाशादपि परमात्मा प्रेमास्पदीभवितुमर्हत्येवेति ब्रह्मस्तवान्ते व्यक्तीभविष्यति विस्तरात् अस्मदादिमन्दबुद्धिसुगम्यार्थं विस्तारं शब्दबाहुल्यं प्रापय्येत्यर्थः। "विस्तरो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः" इत्यमरः ॥ ३ ॥

श्रीधरस्वामिभिः श्रीमत्प्रभुभिश्च सनातनैः। ऋजुत्वात्त्यक्तमुच्छिष्टं भुजिष्योऽहमुपाददे ॥

अस्मदादयस्तु संसाररोगग्रस्ताः परमभाग्यलब्धभिषक्शिरोमणिभिस्तत्र भवद्भिर्गीयमानात् कृष्णलीलाऽमृतमहौषधात् कथं विरता भवितुमर्हन्तीत्याह—निवृत्तेति। भवौषधात् संसारव्याधेरौषधरूपात् निवृत्ततर्षैर्यदेव निषेव्य विगततृष्णाव्याधिभिस्तृष्णैव संसारस्तस्मान्मुक्तैर्ज्ञानादिभ्योऽपि उप आधिक्येन गीयमानात् भो भो वयमिव एतन्निषेव्यैव निरामया भवतेत्युच्चैरुपदिश्यमानात्, अन्यौषधवन्नास्य कटुत्वादिरसत्वमित्याह—श्रोत्रमनःसुखप्रदात्। श्रोत्रमनोभ्यामेवैतदौषधं पीयत इति भावः। पशुघ्नः स्वर्गसुखाभिलाषी कर्म्मी तस्माद्विना; स एव विरज्येत नान्यः। यदुक्तम् "त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः। कथायाम्" इत्यादि, यद्वा, अत्र वक्तृश्रोत्रोरुभयोरेवानन्द इत्याह—निवृत्तेति। उत्तमश्लोकस्य गुणानामनुवादात् गुरोर्मुखादाकर्ण्य पश्चादनुकीर्त्तनात् कः पुमान् वक्ता विरज्येत ? न कोऽपि यतो निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्, कृष्णस्य गुणानामनुकीर्त्तनमपि उप सर्वाधिक्येन गीयते। किं पुनस्तेषामास्वादनमिति भवादृशो वक्ता तेषामास्वादकोऽपीति भावः। अत्र वर्त्तमानप्रयोगादाधिक्यवाचकोपशब्दोपन्यासाच्च निवृत्ततर्षशब्देन शुद्धभक्ता एव व्याख्येयाः, न तु ज्ञानिनः। तेषां निदिध्यासनस्यैव शाश्वतिकत्वतिदृष्टेर्न त्वनुकीर्त्तनस्य, तथैव गुणाऽनुवादं प्राप्य कः खलु मादृशः सांसारिकः श्रोता विरज्येत, यतो भवौषधात्। द्वयोरेव विरागाभावे हेतुः, श्रोत्रमनोऽभिरामात् कथञ्चिद्धनादिककामनया यदि कर्मी वक्ता श्रोता वा स्यात्तदा स विरज्येदेवेत्याह—पशुघ्नाद्विना पशुघ्नो व्याधस्तस्मात् तस्य हि विषयित्वसम्भवेऽपि सततं हिंसादिक्लेशविद्धबुद्धित्वेन लोकद्वयसुखवति स्वात्मनि संसारमोचनेच्छत्वमारोप्य विवेकाऽसिद्ध्या विषयिताया अप्यभावः। अत उक्तम् "राजपुत्र ! चिरञ्जीव मा जीव ऋषिपुत्रक !। जीव वा मर वा साधो ! व्याध ! मा जीव मा मर" इति तस्माद्यो विरज्येत स लोकद्वयेऽप्यात्मक्लेशित्वेन तद्विरागात्परेष्वपि शल्यवदर्पणेन व्याध एवेति गालिप्रदाने तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्र यदोर्वंशेऽवतीर्णस्य विष्णोर्व्यापकस्य वीर्याणि चरित्राणि नोऽस्मभ्यं शंस कथय ननु, व्यापकस्यावतारः कथं सङ्गच्छते ? इति चेच्छृणु, व्यापकस्यावतारोऽनावृतस्य कुक्ष्याद्यावृतत्वमचलस्य चलनमदृश्यस्य दृश्यत्वादि च परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वशक्तौ सर्वाश्चर्यमये ब्रह्मशिवादिदुरूहप्रभावे भगवति सर्वं सम्भवति। एतच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति तत्र तत्र ननु, विष्णोर्वीर्यकथने मम का शक्तिः "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रावोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि" इत्यादि श्रुतेः। तेषामानन्त्यादत आह—अंशेनेति लेशामात्रेण कथय ॥ २ ॥ ननु, "जातो गतः पितृगृहात्" इत्यादिना विष्णोरेव वीर्य्याण्यंशेनोक्तानीत्यत्र सत्यमंशेन तान्युक्तानि तदपेक्षया विस्तरतो वद इत्याह—अवतीर्येति। यदोर्वंशेऽवतीर्य भगवान् स्वाभाविकपूर्णषडैश्वर्यसम्पन्नः भूतभावनः सर्वभूतहेतुर्विश्वात्मा सर्वात्मा "एतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिश्रुतिगणवेद्यः स यानि कृतवान् तानि विस्तराद्वद; यद्वा, तत्रांशेनावतीर्णस्येति बलदेववीर्यप्रश्नः। अवतीर्यति श्रीकृष्णचरित्रप्रश्नः ॥ ३ ॥ सर्वेषामतिप्रियाणि सर्वार्थदानि स्वदासानां समर्थानामसमर्थानाञ्च बहिश्च गर्भादौ च दृष्टादृष्टाच्च भयाद्रक्षकस्य करुणाक्षीरनिधेर्वीर्य्याणि वदस्वेति प्रीत्यतिशयात्पुनराह—निवृत्ततर्षैरिति चतुर्भिः। निवृत्तः स्वभावत एव तर्षः तृट् येषां भगवदवताराणां सङ्कर्षणसनत्कुमारादीनां तैः साधनसम्पत्त्या गततृष्णैश्चोपसमीपे समीपवर्तिजनकल्याणार्थमात्मकल्याणार्थञ्च गीयमानात्। स्वतः शुद्धानां साधनसम्पत्त्या शुद्धानां च परिकराणां कल्याणावहाद्भवौषधाद्भवस्य जन्ममरणप्रवाहस्यौषधं निर्मूलकरं तस्मात् संसारतापतप्तानां सर्वेषामौषधवत् सर्वतापहरादित्यर्थः। औषधं सेवनसमये नियमेन नेत्रमनोऽभिरामं न

भवति अयन्तु तद्विपरीत इत्याह-श्रोत्रमनोऽभिरामादिति। श्रोत्राणि मनांसि च अभितः परितो रमयतीति स तथा तस्मात् उत्तमाः श्लोकाः यशांसि यस्य तस्य विष्णोर्गुणानां वेदप्रसिद्धानामनुवादादपशुघ्नादपगता शुक् यस्मात्तमात्मानं हन्तीति स तथा तस्मादात्मघ्नात् "असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" इति श्रुतिप्रसिद्धान्नित्यवद्धादृते कः पुमान् विरज्येत ? पुमानित्युपलक्षणं स्त्र्यादीनाम् ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमनूद्य, भगवतो वीर्याणि चरित्राणि च पृच्छति सार्द्धेन—**तत्रांशेनेति**। **तत्र** वंशे। **विष्णो**र्व्यापकस्य। सर्वत्रोद्गमने प्रयोजनाभावात्, प्रपञ्चविलयप्रसङ्गाच्च तत्रैव वंशे देवकीगृहदेशे मायोद्गमेन प्रकटितपरमानन्दस्य तावति देशे तेन प्रकारेण मायां दूरीकृतवानिति अंश एव स भवति। द्वितीयस्कन्धविवरणे चैतत् समर्थितम्, 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लस'दित्यत्र। शास्त्रार्थापरिज्ञानादंशभगवत्पदाभ्यां लोको भ्राम्यति। अंशावतारप्रसिद्ध्या वा प्रश्ने तथोक्तम्। प्रद्युम्नांशेनेति केचित्, वंशसम्बन्धस्तस्यैवेति। अवतरणं वैकुण्ठादत्रागमनम्। तच्च तत्त्वद्वारापि भवतीति तन्निवारणार्थं साक्षात्त्वकथनाय **विष्णोरि**त्युक्तम्। माहात्म्यज्ञानार्थं वीर्याणां प्रश्नः। अचिन्त्यैश्वर्यबोधकानि चरित्राणि **वीर्याणि**। **शंस** कथय। सूक्तसाधारण्येनानुशासनरूपेण कथयेत्यर्थः। न इति विशेषतः स्वस्य तदाकाङ्क्षित्वं निरूपितम् ॥ २ ॥ स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाच्चरित्रमात्रमेव पृच्छन् मत्स्याद्यवतारेष्वप्ययमेव भगवानवतीर्ण इति, तस्य च वीर्याणि चरित्रं चोक्तमिति व्यर्थः प्रश्न इति शङ्कां निवारयति—**अवतीर्येति**। **यदोर्वंशे भगवानवतीर्य यानि कृतवांस्तानि सर्वाण्येव** कथयेतिसम्बन्धः। वीर्याधिक्यास्तित्वकथनाय बहुकालावस्थानं सूचयति **वंश** इति। तच्चरित्रं सर्वमेव धर्मात्मकमपीति वक्तुं यदुसम्बन्धः। असमासस्तु ततोऽप्याधिक्यसूचकः। व्यसनावेशतया अप्रयोजककरणं वारयति—**भगवा**निति। अवतारप्रयोजनं सामान्यतः स्वज्ञातमाह—**भूतभावन** इति। भूतानि भावयत्यनुभावयतीति। भगवानेव संसारे स्थितो न बद्ध्यते। अन्ये तु बद्ध्यन्त इति निर्धारितत्वाद्भगवद्भावेनान्येऽपि चेद्भावितास्ते कृतार्था भवन्तीति भगवदवतारः। एवमवतीर्य यानि कृतवान्, इच्छयापि तत्रत्यानां मुक्तिदानसामर्थ्ये विद्यमानेऽपि यत्कार्याणि कृतवाँस्तदग्रिमप्रयोजनार्थमेवेत्यवसीयते। अत एव व्यासावतारः। ज्ञातानि तान्युपयुज्यन्त इति। एतज्ज्ञापयति **विश्वात्मेति**। भगवानेव स्वतन्त्रतया यदि हितं न कुर्यात्तदान्योन्याश्रयः प्रसज्ज्येत। स्वतःकरणे विश्वात्मत्वं हेतुः। **तानि सर्वाण्येव पूर्ववन्नो वद**। यद्यपि 'जातो गतः पितृगृहा'दित्यत्र, द्वितीयस्कन्धादिषु च चरित्रमुक्तं, तथापि विस्तरेण कथयेत्याह—**विस्तरादिति** ॥ ३ ॥ एवं भगवद्वीर्याणां चरित्रस्य च प्रश्नमुक्त्वा चरित्रस्य भगवतश्च माहात्म्यमाह त्रिभिः। भगवतो माहात्म्यं द्विविधम्। अदृष्टदृष्टभेदेन। तत्र प्रथमं चरित्रमाहात्म्यमाह—**निवृत्तेति**।

> स्वरूपात् फलतश्चापि महापुरुषयोगतः। विषयोत्तमतश्चापि चरित्रं परमं मतम् ॥ १ ॥
> मुक्तस्य कार्यमेतद्धि मुमुक्षोर्भवनाशकम्। अनिन्द्यविषयश्चायं विरक्तोऽस्मिन् यतेद्ध्रुवम् ॥ २ ॥
> आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा। पशुघ्नीव्यतिरिक्तश्चेद्विरक्तो न ततः पृथक् ॥ ३ ॥

प्रथमतः फलरूपं चरित्रमेतदित्याह—निवृत्ता तर्षा तृड् येषाम्। तृष्णा अन्तःकरणदोषोपलक्षिका। निवृत्ताः सर्व एव दोषा येषामिति। नह्यल्पदोषवतापि भगवद्गुणा गातुं शक्याः। उप समीपे **गीयमाना**द्गमनप्रयासो निवारितः। श्रवणानन्दत्वेन च विषयानुभवेपि प्रयासो निवारितः। बहुवचनेनावृत्त्या निवार्यदोषनिवृत्तिरपि सूचिता। अनिवार्यास्त्वग्रे फलिष्यन्ति। स्वतन्त्रफलत्वादेव सर्वत्रागत्य गानम्। अनेन रसाभिनिवेशो ज्ञापितः। एवं वक्तुः फलरूपत्वं, श्रोतुर्दोषनिवारकत्वं चोक्तम्। चरित्रस्य फलसाधकत्वमाह—**भवौषधादिति**। भवस्य संसारस्यौषधं निवर्त्तकम्। अत उपकारस्मरणाद्गानम्। श्रोतुस्तु कर्मज्ञानभक्तिभ्य इदं परमं साधनं मोक्षस्य। औषधं हि रोगनिवृत्तौ न पुरुषव्यापारमपेक्षतेऽन्तःप्रवेशनातिरिक्तम्। अत्र चान्तःप्रवेशः श्रवणद्वारा। अतः फलत्वसाधनत्वे एव यद्यपि वक्तव्ये, तथापि श्रवणस्य प्रविष्टग्राहकमनसश्च यदि सुखकरं न भवेत्तदा पूर्वोक्तं न सम्भवतीति जघन्यत्वेपि विषयत्वेन पश्चान्निरूपयति—**श्रोत्रमनोभिरामा**दिति। श्रोत्रं मनश्चाभितो रमयतीति। प्रविष्टमेव तथा करोतीति ज्ञातव्यम्। अनिवर्त्यदोषेण चाप्रवेशः। उपेत्यप्राप्तिदोषो निवारितः। तृष्णाभावेन धनार्पणदोषः। गानेन शब्दमाधुर्यम्। जन्ममरणदुःखस्य बहुधानुभूतत्वात्तन्निवारकमौषधमत्यादरेण सेव्यम्। कर्णाकटुत्वं परिणाममनोहरत्वं चोक्तम्। परलोकमभिव्याप्य रमयतीत्यभिशब्दार्थः। एवं स्वरूपगुणकार्यैश्चरित्रस्योत्कृष्टत्वमुक्त्वा सम्बन्धतोऽपि तस्योत्कर्षमाह—**उत्तमश्लोकेति**। उत्तमैः श्लोक्यन्ते ये गुणाः, उत्तमश्लोकस्य वा माहात्म्यख्यापकास्तेषामनुवादः कथनं यत्रेति वा भागवतादिरूपात्। गतदोषाणामप्युत्कर्षो भगवता। भगवतोऽप्युत्कर्षज्ञापका गुणाः। अनुवादस्तेषामप्युत्कर्षहेतुरिति समभिव्याहारादवगम्यते। **पुमा**निति। ये पश्ववतारास्त्र्यवतारास्तेऽत्र नाधिकारिणः। या अपि स्त्रियः श्रवणाद्यासक्तास्ता अपि निमित्तवशादेव स्त्रियः, स्वभावतः पुरुषा एव। अतः पुमान् कोपि न विरज्येत। इत उत्कृष्टरसस्य वैराग्यजनकस्याभावात्। निवर्तमानानां दैत्यत्वमिति वक्तुं दैत्यलक्षणपुरःसरमाह—**विना पशुघ्नादिति**। ये हि पशुघातिनस्ते दैत्याः। दितयुपाख्याने दैत्यानां दयाभावः स्वभावतः प्रतिपादितः। ते च नित्यं भगवत्प्रत्यनीका एवेति न तद्दोषः परिहार्यः। दैत्यानां च मुक्तिर्दोषस्यात्यन्तनिवृत्तिख्यापनाय। आविष्टानामपि मुक्त्यभावे पुनरन्यत्राविश्य तथा कुर्युरित्याधारभूतास्तु मुच्यन्त एव। अपुनरावृत्ति तम एव तेषां मुक्तिः। विरक्तं दृष्ट्वाऽन्यो विरक्तो मा भवत्वित्येतदर्थमुक्तम् ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अग्रिमप्रयोजनार्थमिति। अनवतारसामयिकजीवोद्धारार्थमित्यर्थः ॥ ३ ॥ **श्रवणानन्दत्वेनेति** गानतात्पर्यम्। **अनिवार्या** इति। भगवद्विषयकत्वेन निवारयितुमयोग्याः कामादय इत्यर्थः। **तथापि श्रवणस्येति**। आद्या प्रवृत्तिर्विषयत्वेनैवेति तथाप्रवृत्तस्याखिलपुरुषार्थसाधकेऽर्थे प्रवृत्तिप्रयोजकं विषयान्तरसमानधर्मवत्त्वं जघन्यमेवेति तथोक्तम्। **अनिवर्त्यदोषेण चेति** सहजासुरत्वेनेत्यर्थः। **वैराग्यजनकस्येति**। गुणानुवादे वैराग्यजनकस्येत्यर्थः। दैत्यानां मुक्तिस्वरूपमाहुः—**अपुनरावृत्तीति** ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

निवृत्ततर्षैरित्यत्र कारिकासु। गुणानुवादविशेषणानां तात्पर्यं वक्तुं पूर्वं गुणरूपस्य चरित्रस्योत्कर्षमाहुः—**स्वरूपादि**त्यादि। **महापुरुषयोगत** इति। महापुरुषो भगवान्, तत्सम्बन्धात्। **विषयोत्तमत** इति। विशेषेण सिनोतीति विषयः। विषयश्च तत् उत्तमं च विषयोत्तमं, विषयेभ्यो वा उत्तमम्। इदं यथा तथा "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य" इत्यत्र द्वितीयस्कन्धे सिद्धम्। विषयोत्तमत इति भावप्रधानः। **परममिति**। परः पुरुषोत्तमो मीयते ज्ञायते येनेति तादृशम्। "अत्र मां मार्गयन्त्यद्धे"त्येकादशस्कन्धे सप्तमाध्याये भगवद्वाक्यात्। एवं चरित्रोत्कर्षमुक्त्वा तदनुवादोत्कर्षमाहुर्मुक्तस्येत्यादि। एतच्चरित्रकथनं जीवन्मुक्तस्य कार्यम्, 'तदहं तेभिधास्यामी'ति द्वितीयस्कन्धे शुकवाक्यात्। स्वभावतस्तस्येयमेव कृतिरित्यर्थः। तथा च ब्रह्मानन्दादप्यधिकतररसरूपत्वात्स्वरूपोत्कर्षः। भवनाशकत्वात्फलतः। ननु चरित्रगानाधिकारो मुक्तानामेवेति चेदन्येषां श्रवणादिकं न स्यात्। तेषां दुर्मिलत्वादित्यत आहुर्मुमुक्षोरित्यादि। नन्वस्यैवमुत्कर्षे को हेतुरत आहुरनिन्द्यविषयश्चेति। च पुनः अनिन्द्यश्चासौ विषयश्च। अन्ये हि रूपादयः संसारे बध्नन्ति, इदं तु भगवति बध्नातीति तथेत्यर्थः। तत्र प्रकारमाहुः **विरक्त** इत्यादि। संसाराद्विरक्तः **अस्मिन्** गुणगाने ध्रुवं यत्नं कुर्यात्। तथा चात्र राजशुकयोः श्रवणे कथने च प्रवृत्तिं बोधयता शास्त्रकारेणास्मिन्पद्ये प्रकारो बोध्यत इति भावः। पतेदितिपाठे तु **अस्मिन्** गुणानुवादे रतिरहितोयं जीवः स्थानाद्भ्रष्टोऽधः पतेदित्यर्थः। अस्मिन् पक्ष उत्तरार्द्धस्य इदं तात्पर्यम्। ननु गुणानुवादे विरक्तिरेव कथमित्याकाङ्क्षायां पशुघ्नपदतात्पर्यमाहुरात्मघातीत्यादि। अत्र केचिदकारप्रश्लेषं कृत्वा 'अपगता शुक् यस्मादित्यपशुक् आत्मा, तं हन्तीत्यपशुघ्न आत्मघाती'त्याहुः। तन्न, अपशुक्त्वस्य सुषुप्तौ मुक्तौ वा भवनात्तादृशस्य 'नायं हन्ति न हन्यत' इतिश्रुत्यादिभिर्घात्यत्वायोगात्। अतः सङ्घाताभिमानिन एव तथात्वं युक्तम्। तच्चाकारप्रश्लेषं विनापि पशुं हन्तीति पशुघ्न इति मूलविभुजादित्वात्कप्रत्यये कृतेऽपि प्राप्यते। एवञ्च 'पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदाम्', 'शिवस्य पशवः सर्वे जीवाः संसारवर्तिन' इतिश्रुतिस्मृतिभ्यां संसारिणां द्विपदां चतुष्पदां च पशुत्वे सिद्धे अवैधप्रकारेण तद्घातिन आत्मघातित्वं स्वारसिकम्। तथा एकादशस्कन्धीयेषूक्तं चमसवाक्येषु 'कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिन'इत्यादिना, 'ये कैवल्यमनुप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्। त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते', 'एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिन' इत्यन्तेन कर्मजाड्यान्निन्दितार्थरत्या च तेषामध्यात्मघातित्वं सिद्धम्। बर्हिषदुपाख्यानश्रवणेन राज्ञापि तेषां तथात्वं ज्ञातं, तदभिसन्धाय त्रिविधसङ्ग्रहार्थं पशुघ्नपदमेव राज्ञोक्तं ज्ञेयम्। यदि तु 'श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र! नृणां सन्ति सहस्रश' इत्यादिद्वितीयस्कन्धारम्भवाक्यानुरोधान्निर्बुद्धिरपि गुणानुवादरतिशून्यत्वेनाद्रियते तदा तु हन्तीति घ्न इति घञर्थे कं विधाय तेन त्रिविधानात्मघातिनः सङ्गृह्य पशुसहितो घ्नः पशुघ्न इत्येवं व्युत्पत्त्या पशुपदेन पशुं, हन्तेः सकर्मकत्वात्समभिव्याहारतोर्थतस्त्रिविधान् पशुघ्नानादाय पशुघ्नपदेन चत्वारः सङ्ग्राह्याः। किञ्चात्र पुमानितिपदेन पशुघ्नव्यतिरिक्तानां पुंसां श्रवणाधिकारबोधनात् स्त्रीजीवोपि श्रवणाधिकारशून्यत्वेन बोध्यते। स च मायापरिगृहीतः सूक्ष्मदेहविशिष्टो ज्ञेयः। यो गीतायामासुरीसम्पत्तियुक्त उक्तः। एवमेते पञ्चापि कारिकया सङ्गृहीताः। तथा चायमन्वयः—आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा विरक्तः ततः पृथक् चेत् पशुस्त्रीव्यतिरिक्तो नेति बोध्यः। अत्र यत्पशुस्त्रियौ त्रिभ्यो भिन्नतयोक्तौ तत्पशुघ्नपदस्य व्युत्पत्तिद्वयबोधनार्थम् ॥ का० ३ ॥ एवं कारिकाभिस्तात्पर्यं सङ्गृह्य श्लोकं व्याकुर्वन्ति—**प्रथमत** इत्यादि। **निवार्यदोषेति**। ते चक्षुरादयो ज्ञेयाः। आवृत्तेस्त्रिवारकत्वं च 'परस्परं त्वद्गुणवादे'ति कर्दमस्तुतौ तृतीये स्फुटम्। अत्राग्रे स्फुटम्। ननु कारिकायां पशूनामनधिकारकथनमसङ्गतं, तेषां श्रवणयोग्यताया एवाभावादित्यत आहुः—**ये पश्ववतारा** इति। तथा च स्तनपानजनकसंस्कारवद्येषां पशुत्वसंस्कारस्तत्र गृह्यन्त इत्यदोषः। ननु स्त्रीणामनधिकारः प्रत्यक्षबाधित इत्यत आहुः—**या अपीत्यादि**। ननु घञर्थे कविधानं संज्ञायां भवति, अत्र च घ्न इति कस्यापि संज्ञाभावात् पशुघ्नशब्दस्य द्वितीयाव्युत्पत्तिरसङ्गतेत्यत आहुः—**ये हीत्यादि**। तथा च दित्युपाख्यानसिद्धत्वात् घ्नत्वं दैत्यानां संज्ञात्वेन सिद्धमित्यदोषः। **न तद्दोष. परिहार्य** इति। गुणश्रवणविरागरूपस्तद्दोषो गुणानुवादपरिहार्यो नेत्यर्थः। ननु दैत्यानां तथामुक्तिप्रतिपादनस्य किं तात्पर्यमत्राहुः—**आविष्टानामित्यादि**। **मुच्यन्त** इति, आविशतां निवृत्तत्वे मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अंशभगवत्पदाभ्यामिति। अत्रांशपदं 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्यत्र च भगवत्पदमतो भ्राम्यति। अंशः पूर्णो वेत्युत्कटकोटिकसंशययुक्तो भवतीत्यर्थः। 'भ्रमु अनवस्थाने' इतिपाठात्संशयोपि भ्रम एवेति भावः। अत्र वीर्यप्रश्नोऽग्रिमश्लोके चरित्रप्रश्नस्तत्र

वीर्यचरित्रयोर्भेदमाहुः—**अचिन्त्यैश्वर्येति** ॥ २ ॥ **अवतीर्येत्यत्र व्यसनावेशतयेति** । व्यसनानां क्षुत्पिपासारोगकर्मद्यूतपानस्त्रीसङ्गाना-मावेशो यस्य तत्तयेत्यर्थः । षड्भिर्गुणैर्धर्मिणा च सप्तव्यसनाभावः सिद्ध इति भावः । **भगवद्भावेनेति** । अवतारे सति चरित्रश्रवणा-दिना तद्द्वारा भगवत्सम्बन्धे सति भगवतो भावेन संसाराबद्धत्वलक्षणधर्मेण भक्ता भाविता भवन्ति, पुष्पसम्बन्धे तिला इव **कृतार्था** मुक्ता भवन्ति । अबद्धत्वधर्मो जीवेष्वागतो मोक्षपदेनोच्यते । भगवतस्तु बन्धाभावात्तत्र स्थितस्य न मोक्षपदवाच्यत्वमत एव 'न मे मोक्षो न बन्धन'मितिभगवद्वाक्यम् । **इच्छयापीति तत्रत्यानां** अवतारसामयिकानां सर्वे मां पश्यन्त्वितीच्छया साक्षात्कारे मुक्तिः संभवतीत्यर्थः । **पूर्ववन्नो वदेति** । सूक्तसाधारण्येनेत्यर्थः ॥ ३ ॥ **निवृत्ततर्षैरित्यत्र** मूले उत्तमश्लोकगुणानुवादमाहात्म्यमुक्तमिति श्रवणकीर्तनमाहात्म्यमेव वाक्यार्थो न तु चरित्रमाहात्म्यमित्याशङ्क्य तत्साधयन्तो विशेषणत्रयतात्पर्यमाहुः—**स्वरूपादिति** । आद्येन स्वतन्त्रफलत्वसूचकेन स्वरूपतो महापुरुषयोग उक्तः । द्वितीयेन फलसाधनत्वसूचकेन फलतो महापुरुषयोग उक्तः । तृतीयेन श्रोत्र-मनोरमणकथनाच्छ्रोत्रविषयस्य चरित्रस्य विषयोत्तमत्वं निरूपितम् । **विषयोत्तमेतिभावप्रधानं**, कथनविषयेपूत्तमत्वात् । चरित्रस्येति शेषः । गुणानुवादस्य तथात्वं गुणसम्बन्धदेवेति चरित्रमाहात्म्यमेवोक्तं भवतीति भावः । इदं त्रयं विशदयन्ति **मुक्तस्येति** । **एतद्गुणकीर्तनमित्यर्थः** । तृतीयविशेषणस्यार्थमाहुः **अनिन्द्येति** । अयं चरित्ररूपोऽनिन्द्यो विषयः । 'को विरज्येते'तिकथनादस्मि-न्विरक्तस्य पातः सूचित इत्याशयेनाहुरस्मिन्विरक्तो **ध्रुवं पतेदिति** । एतेनापि चरित्रमाहात्म्यमेवोक्तं भवतीत्याभासोक्तो वाक्यार्थः । **आत्मेति** । 'पुमानि'तिपदेन पशुजीवानां स्त्रीजीवानां च चरित्रे विराग उक्तः । तद्व्यतिरिक्तश्चेद्विरक्तस्तदा आत्मघात्यादिभ्यः पृथक् न, किन्तु तदन्तर्गत एव । तथा च यो गुणानुवादे विरक्तः स आत्मघात्यादीनां पञ्चानामन्यतम एव ज्ञेय इति भावः । **आत्मघातीत्यादि** पदत्रयं विशेषणत्रयस्यार्थः । निर्दुष्टान्तःकरणैर्गीयमानान्निवृत्तो दुष्टान्तःकरण एव भवतीत्यन्तःकरणदोषेणात्मानं हन्तीत्यर्थः । **पशुस्त्रीव्यतिरिक्त** इति पुमानितिपदस्यार्थः । **स्वतन्त्रेति** । चरित्रस्य फलरूपत्वमाभासे पदस्यार्थ उक्तः सोनेन समर्थित इत्येवकारः । **दोषनिवारकत्वमिति** । निवृत्ततर्षगीतचरित्रश्रवणेन स्वस्यापि तर्षनिवृत्तिर्भवतीति भावः । **अतःफलत्वेति** । अन्तः-प्रवेशस्यापेक्षितत्वादेवेत्यर्थः । **पूर्वोक्तमिति** । चरित्रस्यान्तःप्रवेशनमित्यर्थः । **उपेत्यप्राप्तीति** । मूले उपेत्युपसर्गेणाप्राप्तिरूपो दोषो निवारितः, किन्तु अनिवर्त्यं सहजासुरत्वमेव दोष इति भावः । **धनार्पणदोष** इति । 'निवारित' इति पूर्वेणान्वयः । **उत्तमः श्लोकयन्त** इति । उत्तमश्लोकगुणानामनुवादः शुकादिकर्तृकं सर्गादिक्रमेणोपनिबन्धनं निवृत्ततर्षैरन्यैर्गीयत इत्यर्थः । अत एव शौनकेन शुक-संवादः पृष्टः, राज्ञापि तृतीयस्कन्धारम्भे मैत्रेयोक्तं पृष्टम् । 'तस्माद्भारते'त्यत्र श्रोतव्यविषयतावच्छेदकधर्मनियमकथनात्तत्पुरःसरं शुकादिकृतो गुणानुवादः श्रोतव्यः । अत एव निवृत्ततर्षैरपि स एव गीयत इति भावः । **आद्यपक्षेऽनुवादः** सर्गादिक्रमेणोपनिबन्धनम् । बहुव्रीहिपक्षे नायं विशेषः किन्तु कथनमात्रमनुवाद इत्यर्थः । **गतदोषाणामपीति** । भगवानुत्तमश्लोक, उत्तमानां गतदोषाणां स्वश्लोकनेनोत्कर्षसम्पादकः । तथा च तेषामुत्कर्षज्ञापको भगवान्, भगवत उत्कर्षज्ञापका गुणाः, गुणानामुत्कर्षज्ञापकोनुवाद इत्यर्थः । **नाधिकारिण** इति । एते स्वरूपत एवानधिकारिणः । आत्मघात्यादयस्त्रयस्तु दोषनिवृत्तावधिकारिणो भवन्त्यपीति भावः । **निमित्त-वशादिति**, तादृग्देहसम्पादककर्मवशादित्यर्थः । **स्वभावत** इति । जीवनिष्ठपुंस्त्ववत इत्यर्थः । जीवनिष्ठस्त्रीयत्वपुंस्त्वे एकोनविंशेऽध्याये टिप्पण्यां विवृते । तदुपलक्षणेन पशुत्वादिकमपि ज्ञेयम् । **निवर्तमानानामिति** । आत्मघात्यादिपञ्चानां दैत्यत्वं साधारणधर्म इति भावः । ननु 'मन्येऽसुरा'नित्यत्र दैत्यानामपि मुक्तिरुक्तेत्यत आहुर्दैत्यानां **चेति** । तथा च कार्यार्थं मुक्तिं ददात्यपि गुणानुवादे तु नाधिकार इति भावः । अत एव 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मित्युक्तम् । **आविष्टानामिति** सहजासुराणां कालनेमि-प्रभृतीनामपीत्यर्थः । **आधारभूता** इति । आवेशिनः कंसादय इत्यर्थः । **अपुनरावृत्तीति** । न पुनरावृत्तिर्यस्मात्तादृशतमःप्राप्तिरेव । **तेषां** देहादिविशिष्टानां सहजासुराणां **मुक्तिः** । सहजासुराणां केवलजीवानां भगवत्प्राप्तिः । 'मन्येऽसुरा'नित्यत्र तथानिर्णयात् । देहेन्द्रियादिविशिष्टानां तु तमःपर्यन्तमेव गमनमित्येवकारः । ततस्तमसा सङ्घातं विहाय भगवन्तं प्राप्नुवन्ति । अत एव 'कालं प्राप्य भगवन्तं प्राप्नुवन्ती'ति तत्रोक्तम् । अत्रायमभिसन्धिः । सहजासुराणां देहेन्द्रियादिसामग्र्या दैव्या अभावात्कालेनासुरसङ्घातं विहाय स्वरूपमात्रेण भगवत्प्राप्तिः । अन्येषां तु 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्रोक्तोभयविधसामग्रीसत्त्वात्कालेनासुरीं सामग्रीं विहाय दैव्या सामग्र्या विशिष्टमलौकिकदेहं प्राप्य भगवता सह सर्वकामाशनम् । यथा कंसादीनामाधारभूतानां स्वयोग्यदेहप्राप्त्या स्वयोग्यलीलानु-भवः । आविष्टानां कालनेमिप्रभृतीनां तु स्वरूपमात्रेण भगवत्प्राप्तिः । देहेन्द्रियादिविशिष्टानां तु तमःपर्यन्तगतिरेवेति 'तम आसीत्त-मसा गूढमग्रे प्रकेत'मितिश्रुतेः कालरूपतमसः परो भगवानिति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानादित्यादि । इह भगवद्गुणस्य मुक्तमुमुक्षुसेव्यत्वादिना श्रवणस्य परमोत्कर्षः प्रतिपादितस्तथा सति सर्वोत्तमत्वात्कथं न सर्वेषां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य अत्राप्रवृत्तौ दोषाणां हेतुत्वं वक्तुं श्रीमदाचार्यचरणाः श्लोकाशयं विशदयन्ति **आत्मघाती कर्मजड** इत्यादिना । पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेद्विरक्तस्तदा ततः पृथक् नेत्यन्वयः । पशुजीवाः स्त्रीजीवा भगवद्गुणानुवादा-द्विरक्ता भवन्ति । तेषां तत्स्वभावप्राधान्यात् । जीवद्वयाद्भिन्नेषु जीवेषु तु आत्मघातिकर्मजडनिन्दितार्थरतेष्वन्यतम एव गुणानुवाद-विरक्तो भवेन्नान्य इत्यर्थः । तथा च पशुजीवाः, स्त्रीजीवा, आत्मघातिनः, कर्मजडा निन्दितार्थरताश्चेति पञ्च विरक्ता भवन्ति ।

अस्मिन्मूलश्लोके 'कः पुमान्विरज्येते'ति पुंपदेन पुमान्न विरज्येत स्त्री तु विरज्येतेत्यर्थः स्फुटितः। स्त्रीत्वपशुत्वे च न देहगते भगवद्गुणानुवादवैराग्यकारणे, "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिं" मित्यादिवाक्यात्। कुन्तीप्रभृतिस्त्रीणां भवतत्त्वस्मरणाच्च। मनुष्याधिकारकं शास्त्रमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्ताद्देहपशूनामसम्भावितत्वात्। अतो जीवधर्मावेव स्त्रीत्वपशुत्वे विवक्षिते। अत एव 'पुमान्विरज्ये'त्यस्य व्याख्याने 'ये पश्ववतारा: स्त्र्यवतारा' इत्यादि व्याख्यातमाचार्यैः। अतः स्त्रीजीवानां पशुजीवानां च भगवद्गुणविरागः। तत्र जीवे स्त्रीत्वं तु विषयासक्तिहेतुप्रकृतिपरवशत्वम्, 'स्त्रीजीवाः प्रकृतिपरवशा' इति तत्त्वदीपप्रकाशात्। अत एवोक्तं गीतासु 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता' इति। एवं च तेषां प्रकृत्यधीनतया प्रकृतेः संसारैकसाधकतया गुणानुवादे युक्तो विरागः। पशुत्वं सर्वत्र विवेकराहित्यम्, 'श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेता जातु नाम गदाग्रज' इत्यत्र तथा निर्णयात्। एवं स्त्रीजीवपशुजीवयोर्गुणानुवादवैराग्यम्। तत्र लौकिकचातुर्यवत्त्वे सति पारमार्थिकसाधनशून्यत्वं स्त्रीजीवत्वम्। लौकिकालौकिकचातुर्यशून्यत्वं पशुजीवत्वमिति विशेषः। मूले विना पशुघ्नादित्यनेन आत्मघातिकर्मजडनिन्दितार्थरतानां ग्रहणम्। तथा हि, अपगता शुक् यस्मादित्यपशुक् आत्मा, तं हन्तीति तथा, आत्मघाती। तल्लक्षणं तु पारमार्थिकसाधनविवेकादिवत्त्वे सति भगवदानन्दाप्तिसाधनशून्यत्वम्। 'मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महे'ति भगवद्वाक्यात्सोपि विरज्येत। पशून्हन्तीति पशुघ्नः, केवलसकामत्वेन श्रुतितात्पर्यभ्रमात्परप्राणघाती कर्मजडः, 'नानाकामो यथा भवानि'तिनारदवाक्यात्। एवंभूतोपि चरित्राद्विरक्तो भवति। किञ्च, पशून्हन्ति अविहितप्रकारेण जिह्वालौल्येन पशून्हन्ति स पशुघ्नः, 'देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम्। भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यत' इतिवाक्यात्, 'स्वप्राणान्यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खल' इति निन्दितत्वाच्च। स पशुघ्नो ह्यत्यन्तनिन्दित इति निन्दितार्थरतोपलक्षको भवति। तथा सति निन्दितार्थरतोपि विरक्तः स्यादित्यर्थः। एभ्यः पञ्चभ्यो भिन्नः सर्वथा न विरज्यत इति सर्वसदुपादेयतया समस्तसाधनोत्कर्षः प्रतिपादितो मूले, तथैवाचार्यवर्यैरनया कारिकया विशदीकृतः ॥ का० ३ ॥ **श्रोत्रमनोभिरामादित्यस्याभासे जघन्यत्वेपीति।** चरित्रीयाभ्यां गतसर्वदोषगेयत्वभवौषधत्वगुणाभ्यां श्रवणसुखकरत्वरूपगुणस्य हीनकक्षत्वेपि तस्य गुणस्य **श्रोत्रमनोभिरामादिति** पदेन यन्निरूपणं तच्चरित्रस्य गतसर्वदोषगेयत्वभवौषधत्वसिद्ध्यर्थमित्यर्थः। यदि भगवच्चरित्रं श्रवणमनआल्हादकं न स्यात्तर्हि तज्ज्ञानं श्रवणं च न स्यादिति भावः ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

निवृत्ततर्षैरित्यत्र गुणानुवादविशेषणत्रयतात्पर्यमाहुः—स्वरूपादित्यादि। **निवृत्ततर्षैरुपगीयमानादि**तिविशेषणेन फलरूपत्वसूचकेन स्वरूपत उत्तमत्वम्। **भवौषधादि**तिविशेषणेन दोषनिवृत्तिरूपफलसाधनत्वसूचकेन **फलत** उत्तमत्वम्। **श्रोत्रमनोभिरामादि**तिविशेषणेन विषयोत्तमत्वादुत्तमत्वम्। **महापुरुषयोगत** इति 'उत्तश्लोकगुणानुवादादि'त्यस्य तात्पर्यार्थः। अत एवैतदाभासे 'एवं स्वरूपगुणकार्यैश्चरित्रस्य उत्कृष्टत्वमुक्त्वा सम्बन्धतोपि तस्योत्कर्षमाहे'त्युक्तं सुबोधिन्याम्। अत्र महापुरुषो भगवान् तद्योगतस्तत्सम्बन्धत इत्यर्थः। एतदेव विशदयन्ति अत्र **सूक्तस्येति**। आद्यविशेषणार्थोयम्। द्वितीयस्यार्थमाहुः—**मुमुक्षोरिति**। तृतीयस्यार्थमाहुः **अनिन्द्येति**। अयं चरित्ररूपोऽनिन्द्यो विषयः। मूले **को विरज्येतेति**कथनादस्मिन्गुणानुवादे विरक्तस्य पातः सूचित इत्याशयेनाहु**रस्मिन् विरक्तो ध्रुवं पतेदिति**। **आत्मघातीति**। अत्र श्रीवल्लभगोस्वामिनः "पुमानितिपदेन पशुजीवानां स्त्रीजीवानां च चरित्रे विराग उक्तः तद्व्यतिरिक्तश्चेद्विरक्तस्तदा आत्माघात्यादिभ्यः पृथक् न, किंतु तदन्तर्गत एव। तथा च यो गुणानुवादे विरक्तः स आत्माघात्यादीनां पञ्चानामन्यतम एव ज्ञेय इति भावः। आत्मघातीत्यादिपदत्रयं विशेषणत्रयस्यार्थः। निर्दुष्टान्तःकरणैर्गीयमानान्निवृत्तो दुष्टान्तःकरण एव भवतीत्यन्तःकरणदोषेणात्मानं हन्तीत्यर्थः। **पशुस्त्रीव्यतिरिक्त** इति पुमानितिपदस्यार्थ" इति व्याचख्युः। एवं भवौषधान्मोक्षसाधनाद्गुणानुवादाद्विरक्तः कर्मजड एव। श्रोत्रमनोभिरामादनिन्द्यविषयाद्विरक्तो निन्दितार्थरत एवेति स्फुटम्। तथा च मूले 'गुणानुवादाद्विरक्तः पशुघ्न' इत्युक्तं, तस्य पशुघ्नस्य 'निवृत्ततर्षैरि'त्यादिगुणानुवादविशेषणैरात्मघात्यादिभेदेन त्रैविध्यं सूचितं, तदेव कारिकायां स्फुटीकृतम्। पुमानितिपदेन पशुजीवानां स्त्रीजीवानां च स्वभावत एव गुणानुवादाद्विरागो बोधितः ॥४॥

बुभुत्सुबोधिका

तत्त्वेति 'विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दितं' तत्त्वम्। **विष्णोरिति** इदमित्थतया वाग्व्यापारविषयापेक्षयोक्तं **विष्णोरिति**। तत्समानगुणादिमान् विष्णुः। तत्प्रिये तदवतारे परेपि तत्प्रियत्वज्ञानार्थम्। **साक्षात्त्वं** तु 'कृष्णो हि परमं दैवं', 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति श्रुतिपुराणाभ्यां वक्तव्यमेव। कथ वाक्यप्रबन्धे, वाक्यप्रबन्धमाहुः **सूक्तेति**। प्रबन्धस्तु सूक्तं तत्साधारणेनुपयोगापत्तिः 'काव्यादीनामसत्यत्वान् नोपयोगः कथञ्चने'तिनिबन्धात्। किञ्च प्रबन्धकल्पनाकथेत्यापत्त्या विशेषणमाहुः **अनुशासनेति**। 'वेदमनुच्याचार्योन्तेवासिनमनुशास्ति धर्मं चरे'त्यद्यानुशासनस्वरूपं यत्र। तत्प्रचुरतद्रूपमेव वा सूक्तसाधारण्यम् ॥२॥ **अवतीर्येत्यत्र स्वतन्त्रेति** 'कथा इमास्त' इतिश्लोकानुसरणं चरित्रमात्रप्रश्ने हेतुः। स्वतन्त्रत्वमवतारानपेक्षत्वम्। **चरित्रमात्रमिति** मात्रं कार्त्स्न्ये। एवकारेण स्वरूपव्यवच्छेदः। 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'तिश्रुत्या कर्मणां श्रोतव्यत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इतिश्रुतेः।

६

आत्मेदमित्थतयाऽप्रतिपाद्यः। ननुवंशेवतीर्येति नान्वयः वंशे वसुदेवेवतीर्येति, तथा च वंशपदं वसुदेवे लाक्षणिकमत आहुः वीर्याधिक्येति। वीर्यमुत्तरार्धीयं, तदत्र मैथिलप्रसंगादधिकं, तत्र द्वयरूप्यमत्र तु यावन्तो धर्मा धर्मिण्युपयुक्तास्तावन्तो वक्तव्याः स्वस्वामिभावसम्बद्धाश्च, ते तु यद्वादिषु त्याजितस्वसेवेषु देहे कारितस्वसेवेषु सेव्यात्मसेवासंस्कारकृताः। तत्राप्या'त्मा वै पुत्रनामासी'तिश्रुतेर्यदुप्रभृत्यात्मसु 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्यत्र स्वयंत्व उपयुक्ताः। ते तु वंशपदस्य लाक्षणिकत्वेन सम्भवन्ति, अतो वंशपदार्थो वंश एव। तथा च यद्वादिसेवितात्मा कालेन भक्तिविषयः सन् 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति। एवेति न तु चरित्री धर्मात्मकः। 'प्रकाशाश्रयसूत्रे चरित्राणामेव चरित्रभेदोक्तेः। अपिशब्देन भक्तिजनकं, उक्तरीत्या। यदुसम्बन्ध इति ननु यदुसम्बन्धेप्यपाक्षिकधर्मिरूपत्वं कथमिति चेन्न। श्रद्धारतिभक्त्यनुक्रमे यद्वादिनां धर्मित्वात्। 'योयच्छ्रद्धः स एव स' इति वाक्यात्। वंशपदेनैवार्थाद्यदुलाभादसमस्तयदुपदकृत्यमाहुः असमास इति। व्याससूचक इति यदोराधिक्यं वंशे सूचयति। अतः स्वयंत्वेधिकोपयोगः। धातूनामनेकार्थत्वादाहुः अनुभावयतीति। भूतान्यनुभवन्ति विषयसुखादीनि, तानि भूतान्यनुभावयती भगवान्। 'एष एव साधुकर्म कारयति यम् उन्निनीषती'ति श्रुतेः 'यमेवैष'इतिश्रुतेश्च। अनुकृत्यधिकरणात्। 'श्रवणे परीक्षिदभव' दित्युक्तेः एतस्यापि श्रवणात्। न बध्यत इति 'न मे मोक्षो न बन्धन'मितिवाक्यात्। अविद्या तन्वाः 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक'त्वात्। बध्यन्त इति साधनाभावात्। निर्धारितत्वादिति राजर्षिसत्तमत्वेन बहुपण्डितकत्वात् भगवद्भावेनेति भगवतो भावो धर्मो अबन्धरूपो ज्ञानकृत इति तेन भाविताः तदा भवन्ति यदा ध्रुवा स्मृतिः, ज्ञानिभावुकनिष्ठाः सदा तद्धर्माः श्रवणादिनिर्वाह्यविशिष्टा विषयाः स्युः। यथाक्षरांशो जीवः आधिदैविक्या सेवतातिरोहिताविर्भूतानन्दः तदध्यासवांश्च भवति, तदा कृतार्थत्वं सर्वग्रन्थिप्रविमोक्षरूपम्। तथा च श्रुतिः 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्ष' इति। स्मृतिश्च 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् तं। तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित' इति। एवमन्यभावेष्वपि। निरोधलक्षणग्रन्थे स्पष्टम्। अत्र नारायणोपनिषत् 'अथ नित्यो निष्कलङ्को निराख्यातो निर्विकल्पो निरञ्जनः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोस्ति कश्चित् य एवं वेद स विष्णुरेव भवती'ति तद्भावो बोध्यः। अग्निनेति संहितया तमस्तरणं प्रयोजनम्। अत एवेति अग्रिमप्रयोजनार्थत्वादेव, भागवतद्वारा वीर्योपबन्धनार्थम्। उपनिबन्धनं यत्नः, तदर्थं ज्ञानमाहुः ज्ञातानीति अन्येन भगवता व्यासेन। जानातीच्छति यतत इति। अन्योन्याश्रय इति भगवद्धितकरणे जीवहितकरणं जीवहितकरणे भगवद्धितकरणमित्यन्योन्याश्रयः। विश्वात्मत्वमिति विश्वेषां आत्मा समवायी 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते' रित्यधिकरणोक्ताक्षराभेदपक्षे घटादीनां मृदिव। स्वतन्त्रतयेति कर्ता तूक्तः। 'स्वतन्त्रः कर्ते' तिसूत्रात्। अभिन्ननिमित्तोपादानम्॥ ३॥ निवृत्ततर्षैरित्यत्र चरित्रस्येति धर्मिसम्बन्धात् धर्मिणोधोक्षजत्वाच्च। ननु तर्हि 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चे'दित्यसता भाव्यमिति चेत् तत्राहुः भगवतश्चेति। तथा चा'स्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदु'रितिश्रुत्या सतापि भाव्यमित्यर्थः। नास्तिकवादस्य पातित्यं 'ज्ञानिनामपी'तिवाक्यात् पातित्यस्य सम्पादकत्वेनानादृतत्वात्। 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'तिश्रुतेः। अदृष्टेति अदृष्टं श्रुतम्। तत्रेत्यादि। तत्र तयोः प्रातिस्विककरूपेण ज्ञेयत्वाच्च चरित्रमाहात्म्यमित्यर्थः। ईश्वरस्तु 'यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'ति लीलाप्रतियोगिसापेक्ष इतिभावः। एवं सर्वत्र। पुनरप्याह घटपटादीनामपि विष्णुकर्मत्वाच्च चरित्रे को विशेष इति तत्राहुः स्वरूपादिति। 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरि'रितिवाक्यात्। कीर्तनभक्तिरिव न घटपटादयः कृतिविषया इति। फलतश्च इति 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इतिफलवत् न घटपटादिभिः फलम्। पञ्चम्यन्तपदद्वयाभिप्रायः। चतुर्थपञ्चम्यन्ताभिप्रायः। महापुरुषेति तृतीयपञ्चम्यन्ताभिप्रायः। विषयोत्तमत इति 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान् मापसर्प'त्विति। परो मीयते ज्ञायते येन परमम्। चरित्रं किञ्चिदाश्रितं धर्मत्वात्, स्पर्शवत्। चरित्राश्रयत्वेन परो ज्ञायते। मतमिति सर्वेषाम्। इदं लेखादविरुद्धम्। अत्र तृतीयविशेषणतात्पर्यं पश्चादुक्तं तस्याभिप्रायो 'महापुरुषयोगत' इत्यस्य देहलीदीपन्यायेनोभयान्वयित्वद्योतन इत्याशयेन स्वोक्तं प्रपञ्चयन्तश्चरित्रोत्कर्षोक्त्यनन्तरं तदनुवादोत्कर्षमाहुः मुक्तस्येति। मुक्तो द्विविधो जीवन्मुक्तः परममुक्तश्च। पूर्वत्र वाक्यमुक्तं, परममुक्तस्य गुणगानादि फलप्रकरणे वक्ष्यते। 'ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इति। 'सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दा'दित्यस्य भाष्यमनवतारदशायाम्। हीति निश्चयेन। स्वरूपतश्चरित्रानुवादोत्कर्षमुक्त्वा फलतस्तमाहुः मुमुक्षोरिति। फलं भवनाशः। एकं फलं पूर्वमुक्तं तेन 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मितिवाक्यात्। एतेन ननु चरित्रगानाधिकारो मुक्तानामिवेति चेदन्येषां श्रवणादिकं न स्यात् तेषां दुर्मिलत्वादित्याशङ्कापास्ता। 'महापुरुषयोगतो विषयोत्तमत' इत्युक्तं तदाहुः अनिन्द्येति। यद्यपि सगुणभक्तिस्तृतीयस्कन्धे निन्द्या, धर्मिणोऽविषयत्वाच्च निन्द्या, तथापि 'पूर्णा भगवदीयास्ते' इत्यत्र जलभेदे उक्तास्तेषां विषयाः धर्मित्वाभावेपि 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुतिविषयाः उत्तमाः, अतोऽनिन्द्याः। एतादृशानिन्द्यविषयः। अन्ये हि रूपादयः संसारे बध्नन्ति, इदं तु भगवति बध्नातीति तथा। चकार इममर्थमाह। विरक्त एतद्विषये यत्नं कुर्यात्। पतेदिति पाठेस्मिन् विरक्तो भगवत्परत्वाभावेनानैर्गुण्यात् पतेत् संसारी भवेत्। 'भस्मन्येव जुहोति स' इतितृतीयस्कन्धात्। ध्रुवमिति तादृशवाक्योपलम्भ उभयत्रेति। जलभेदे स्पष्टम्। तेन 'श्रोत्रमनोभिराम'त्वं भगवदीयानां ज्ञेयम्। तेन 'साङ्केत्यं पारिहास्यं च स्तोभं हेलनमेव वा मुकुन्दनामग्रहणमशेषाघहरं विदु'रितिवाक्यं तारतम्यादशेषाघहरमिति बोधितम्। तथा चात्र राजशुकयोः श्रवणे कथने च प्रवृत्तिं बोधयता शास्त्रकारेणास्मिन् पद्ये प्रकारो

बोध्यत इतिभावोनया कारिकया बोध्यते। अत्र श्रवणाङ्गत्वेन ज्ञेयमन्यत्। 'श्रवणानन्दत्वेने'त्यत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इतिश्रुतेः। उक्तं विरक्तं निश्चिन्वन्तः 'पुमान् विरज्येत विना पशुघ्ना'दित्यस्य चतुर्थचरणस्य तात्पर्यमाहुः आत्मेति। अपगता शुक्। अपेत्यस्य शुक्फलेन्वयः, तस्य कर्तरि। अपशुगाश्रयः आत्मानं हन्तीत्यपशुघ्नः आत्मघाती। पशुघ्न इति पदच्छेदे कर्मजडः, कर्मठः पशुं हन्तीति। निन्दितार्थरतः हन हिंसागत्योरत्र हिंसा तामसधर्मः। आत्मघाती न मुकुन्दनामग्रह-प्रायश्चित्तवान्। पशुघ्नो न चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानवान् भक्तिमान् वा, स सदा निन्दितार्थरतः। उभाभ्यां विलक्षणः। नञर्थोत्यन्ताभावे भेदे वा। पशुघ्नादित्यत्र पशुः पुरुषः पशुस्तं हन्ति प्राप्नोतीति घ्ना स्त्री स्वार्थे कः। एवं पशुस्त्रीव्यतिरिक्तो हन्तेर्गत्यर्थकत्वे। एवंविधश्चेद् विरक्तोत्र न ततः न 'विरक्तोस्मिन् पतेद् ध्रुव'मित्यत्रोक्ताद्विरक्तात् पृथक्। यद्वा कारिकायां न पृथक्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावः किन्तु विरक्तो नेति विरक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिको भेदः। तथा च 'कः पुमान् विरज्येते'त्यनेन स्त्री विरज्येतेति व्यञ्जितम्। तदुपलक्षणं पशूनाम्। 'श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशु'रिति ते पश्ववताराः। अत्र यथा आत्मघाती विरक्तो न, कर्मजडो विरक्तो न, सदा निन्दितार्थरतो विरक्तो नेत्यन्वयः, तथानुपदोक्तरीत्या पशुस्त्रीव्यतिरिक्तः विरक्तो नेत्यनन्वयात्। चेदिति न पदच्छेदः। चेदिति यद्यर्थकम्। तथा च पशुस्त्रीव्यतिरिक्तो यदि यस्मिन् काले विरक्तो न तत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववान् तदा ततः प्रथमकारिकोक्तविरक्तात् पृथगित्यर्थः। तथा च विरक्तो ह्यात्मघात्यादिविरक्ताद् गौणात् पृथङ् नेत्यर्थः। 'स सर्वपूतो भवती'ति नृसिंहतापिनीयात्। प्रकाशे तु पशुस्त्रीव्यतिरिक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो व्याख्यातः, पशुस्त्रीव्यतिरिक्तो नेति। तदपि व्याख्यानम्। पुष्टौ तु 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति। पशुस्त्रीव्यतिरिक्तो नो विरक्त इति भावः। तथा च पशुस्त्रीव्यतिरिक्तोपि न विरक्तः वरणाभावात् तस्याप्रयोजकत्वात्। वरणमधिकारः। वृङ् सम्भक्ताविति धातुपाठात् तु भक्तिसत्तातिरूपा। वाक्यानि तु 'कर्मणैव तु संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महे'ति। तेन कर्मान्तरङ्गतमं मर्यादाभक्तिरूपं ग्राह्यम्। गुणानुवादेष्वधा भक्तिश्च प्रेमसाधनत्वेन। तथा एकादशस्कन्धीयेप्युक्तं चमसवाक्येषु 'कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा' इत्यादिना 'ये कैवल्यमनुप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति त' इति। ब्रह्मत्वं ब्रह्मेतिसम्बन्धरहितं ज्ञानं 'कैवल्यं', ब्रह्मत्वं ब्रह्मेतिज्ञानं, तयोः सम्बन्धस्यावगाहे आत्मा भगवांस्तत्सेवादिरहिता आत्मघातिनः कैवल्यादिप्राप्ता ज्ञानिनोपीति। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ' इतिमुण्डकात्। 'कर्मण्य-कोविदाः' पशुघ्नाः। मुण्डकोक्ता एतद्विपरीताः। कर्मजडः पशुघ्नः कर्मण्यकोविदान्तर्गतः। 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं पण्डितं-मन्या जघन्यमाना' इतिश्रुतेः। एतद्विपरीतास्तु चित्तशुद्ध्यर्थं कर्माणि ये कुर्वन्ति। एते 'स्तब्धा' अपि। निन्दितार्थरत आपशुघ्नः 'वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि ते हि पाखण्डिन' इतिवाक्यात्। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वे'तिश्रुतेः। तथा च ये कैवल्यमनुप्राप्ताः कर्मठाश्च। एतद्विपरीता निन्दितार्थरताः। 'त्रैवर्गिकाः' धर्मार्थकामपराः। स्त्रीपशुव्यतिरिक्ताः स्त्रियः पशवश्च। तथा च श्रुतिस्मृती। 'पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदां', 'शिवस्य पशवः सर्वे जीवाः संसारवर्तिन' इति। पशुपतिपदस्य शिवपरत्वे 'भोगः शिवेने'तिवाक्यात् भोगिनः। एत एव 'ह्यक्षणिका' अन्यथा कर्तृभेदान्न धर्मादिपरत्वं स्यात्। फलरूपमिति इतरत्र वैराग्यजनकत्वं फलत्वम्। इत उत्कृष्टस्यात्र वैराग्यजनकस्यान्यस्याभावात्। 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति। 'अत इतरञ्जाय' इतिव्याससूत्रं फलाध्याये। 'इतरत्' तदीयत्वम्। तृष्णेति। यद्यपि तृडपि व्याख्यातुं शक्यते, अग्नेर्घोरतनुत्वेन भगवदीये तदप्राप्तेः द्विषि तत्प्राप्तेरिति परन्तु सर्वदा न प्राप्नोतीच्छाधीना चेति तृष्णैव 'तृष्णा लिप्सापिपासयो'रिति विश्वः। 'न खादन्ति न पिबन्ती'ति छान्दोग्ये भगवदीयानामपि ईषत्स्वादनादिश्रावणाच्च यथाश्रुतं वार्थः। सर्वदोषवदोषा इतिपाठे दोषवन्नित्यलीलास्था दोषाः। दकारलोपः। एतादृशक्रीडाङ्गीकृता निवृत्ततर्षाः। श्रवणानन्दत्वेनेत्यस्यार्थष्टिप्पण्यामुक्तः। आवृत्त्येति भक्तानां वैराग्य-वत्त्वेप्यावृत्त्या वैराग्यदार्ढ्ये आवृत्तिभक्त्या भगवद्रूपवैराग्यप्राप्तेश्च क्षुदादिरूपा निवार्येत्यादिः। आवृत्तेः क्षुदादिनिवर्तकत्वं तु 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इतिकर्दमस्तुतौ। भगवद्विषयत्वेन निरोधलक्षणोक्ताः। येषामिन्द्रियाणां स्पष्टं कार्यं न दृश्यते तानि निग्रहणीयानीति निरोधलक्षणे। अनिबार्या इति भगवद्विषयत्वेन निवारयितुमयोग्याः कामादयः। अग्र इति 'ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इत्यनेन साधनप्रकरणे उक्ताः फलप्रकरणे फलिष्यन्ति। ब्रह्महृदस्याक्षरात्मकत्वे-नास्थूलादिवाक्यप्रतिपाद्यत्वात्। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् केन कं मन्वीते'त्यादि। स्वतन्त्रेति स्वातन्त्र्यं मादकत्वमत्र। रसाभीति रसोत्र भक्तिरूपः। वक्तुरित्यादि वक्तुः शुकस्य 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य' इति वाक्यात्। श्रोतु राज्ञः 'नैतातिदुःसहे'ति वाक्यात्। उक्तमिति चरित्रस्योक्तम्। निवर्तकमिति 'पुमान् भवाब्धिं न तरे'दिति वाक्यं द्रष्टव्यम्। उपकारेति 'तस्यारविन्दनयनस्ये'तिवाक्योक्तसंक्षोभशामकत्वमुपकारः। 'आत्मारामाश्च मुनय' इति स्मरणात्। गानमिति वक्तुः। श्रोतुस्त्विति श्रोतृत्वेन श्रोतात्र। कर्मणो व्यापारभूतस्य वक्ष्यमाणस्य प्रायोपविष्टे परीक्षित्यभावात्। कर्मज्ञानभक्तिभ्य इति व्यापारेभ्यः। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति च न पुरुषेति संयोगमात्रेण तदुत्तरक्षण एव रोगोपशमदर्शनात्। फलत्वसाधनत्वे इति निवृत्ततर्षाणां गुणानुवादस्य फलत्वं प्रथमविशेषणेन, द्वितीयविशेषणेन भवनिवृत्ति-साधनत्वं, ते। एवेति अनुभवात्। प्रविष्टमिति चरित्रम्। तथेति श्रोत्रमनोभिरामत्वेन। ज्ञातव्यमिति मर्यादायां शमलाभावस्य

श्रोत्रमनोभिरामकारणत्वात्। **अनिवर्त्येति** सहजासुरत्वेन। तथा चानिवर्त्यदोषः प्रवेशप्रतिबन्धकः उपगीयमानत्वात् न तु स श्रोत्रमनोभिरामत्वप्रतिबन्धकः। एवं च स्मृत्योपसर्गार्थं तृष्णार्थात् पूर्वमाहुः उपेतीति। उपेति अप्राप्तिदोष इति च्छेदः। **धनार्षणेति निवारित** इति पूर्वेणान्वयः। एवं निवृत्ततर्षपदतात्पर्यमुक्त्वा भवौषधपदतात्पर्यमाहुः **जन्मभरणेति**। जन्ममरणसम्बन्धिदुःखस्य। तदुत्तरं तु दुःखं गरुडपुराणे स्वगतम्। अन्येषां तु क्षीयते। 'श्रोत्रमन' इति विशेषणतात्पर्यमाहुः **कर्णेति**। श्रोत्रं च मनश्च श्रोत्रमनसी तयोरभिरामादिति समासे द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति श्रोत्रमनःसम्बद्धाभिरामं स्वीकृत्यार्थ उक्तः। **स्वरूपेति** स्वरूपं फलत्वं गुणः भवौषधत्वं कार्यं श्रोत्रमनोभिरामः तैः। **सम्बन्धत** इति वक्ष्यमाणषष्ठ्यर्थात्। **माहात्म्येति** गुणा इत्यनेनान्वेति। **तेषामनुवाद** इत्यादि तु **उत्तमश्लोकस्य** वेत्यनेनान्वेति। **तेषामिति** गुणानाम्। **समभीति** एतद्विशेषणगतानां पदानां तस्मात्। ननु वैराग्यं भगवानिति तद्विशिष्टत्वरूपं विरक्तत्वं पशुस्त्रीणामसम्भवन् न निषेधार्हमिति चेत् तत्राहुः **य इ त**। अवताराणां सम्भवतीतिभावः। **वैकुण्ठादत्रागमनमवतार** इति। यथा वत्सधेनुकादयः पशवः नित्यक्रीडास्थाः पूतनादयः स्त्रियश्चाविद्यादिरूपास्तत्तदुपाख्याने प्रसिद्धाः। **नाधिकारिण** इति तेषां वैराग्यप्राप्त्या विरक्तत्वरूपाधिकारात् तन्निषेध उपपन्न इत्यर्थः। **या अपीति** पृथाप्रभृतयः। **स्वभावत** इति परिणामो भगवत्सेवानुकूल्यरूपस्तेन तद्धेतोः स्वभावात् पुरुषा एव जीवगतपुंस्त्वस्य भगवत्सेवानुकूल्यरूपत्वात्। **अत** इति जीवदेहोभयगतपुंस्त्वविवक्षणात्। ननु पुमान् विरज्येत गुणानुवादात् गुणानुवादोत्कृष्टस्य रसस्य तेजबिन्दूपनिषदि 'न ध्यानं न च वा ध्याता न ध्येयोऽध्येय एव च। सर्वं तत् परमं शून्यं न परं परमात् पर'मितिश्रावणादिति चेत् तत्राहुः इत इति। **गुणानुवादात्।** **वैराग्यजनकस्यति** गुणानुवादे वैराग्यजनकस्य। स्वोत्कृष्टज्ञानजन्यं स्वस्मिन् वैराग्यं तदभाववत्त्वं गुणानुवाद इति। अयमर्थः तेजबिन्दूपनिषदि साधारणसृष्टिकर्तृब्रह्मव्यवस्था तत्रापि, 'शमूनं कुरुते विष्णुरदृश्यः सन् परः स्वयम् तस्माच्छून्यमिति प्रोक्त' इति व्युत्पत्तिर्महाकौर्म्ये शून्यपदस्यात्र 'त्वानन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त' इत्युक्ता नित्यलीलासृष्टिकर्तृव्यवस्थात्र तु नादबिन्दूपनिषदुपतिष्ठते। 'तद्भक्तस्तन्मनाः सक्तः शनैर्मुञ्चेत् कलेवरम्। सुस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः॥ ततो विलीनपाशोसौ विमलं केवलं प्रभुः। तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते परमानन्दमश्नुत' इति। तेन गुणानुवादस्यानन्दप्रतिष्ठत्वेनेत उत्कृष्टाभावो बोध्यः। 'गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते' 'तदध्यासोपि सिध्यती'ति च। 'तदध्यासः' सुखाध्यासः। **दैत्यत्वमिति** दयाभाववत्त्वम्। तेनैवात्मघातित्वकर्मजडत्वानिन्दितार्थरतत्वं स्त्रीत्वानि भवन्ति। **दित्युपाख्यानं** द्रष्टव्यम्। तेन ननु घञर्थकविधानं संज्ञायां भवति, अत्र घ्न इति कस्यापि सञ्ज्ञा नास्तीति पशुघ्नशब्दस्य द्वितीयाव्युत्पत्तिरसङ्गतेति प्रयुक्तम्। **न तद्दोष** इति गुणश्रवणविरागरूपस्तद्दोषो गुणानुवादपरिहार्यो नेत्यर्थः। **मुक्तिरिति** 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत' इति श्रुतेः सम्भूतिं मायाम्। **दोषस्येति** निर्दयत्वादेः। तन्निवृत्त्यनन्तरमन्धं तमोवशिष्यते। तन्निवृत्त्युपाये तु न प्रवर्तन्त इति भावः। 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'ति वाक्यात्। ननु दैत्यानां तथामुक्तिप्रतिपादनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **आविष्टानामिति**। कंसाद्याविष्टानां कालनेम्यादीनां तथेति भगवत्प्रत्यनीकत्वप्रकारात्। ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'द्वया ह प्राजापत्या' इति कुतो मुख्यमुक्ति निषेधथेति चेत् तत्राहुः **आधारभूता** इति। आविष्टानामाधारभूता दैवीसम्पद्युक्ताः प्रह्लादादयः। आविष्टाधारभूता आसुरीसम्पत्तियुक्ता मुच्यन्त इत्यर्थे तेषां मुक्तिमाहुः **अपुनरिति**। तथा च नोक्तविरोध इति भावः। बहुश्रुतिविरोधादेवकारः **मुक्तिरिति** श्रुतिरुक्ता। **विरक्तमिति** गुणानुवादे विरक्तम्। अन्यट्टिप्पण्यादौ॥ ४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र बलभद्रचरितस्य सङ्क्षेपतोप्यनुक्तत्वात्प्रथमं तदेव पृच्छति—तत्रेति। तत्र भगवद्धर्मयुक्ते यदुवंशे विष्णोर्व्यापकस्य भगवतोंशेनावतीर्णस्य बलभद्रस्य वीर्याणि पराक्रमपूर्विका लीला नोऽस्मान् शंस कथय। यथाश्रुतांशावतारत्वाङ्गीकारे तु 'अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल' इति 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यादिवाक्यविरोधापत्तेः। अंशेन बलभद्रेण सहावतीर्णस्य वीर्याणीत्यर्थाङ्गीकारे तु अवतीर्येत्युत्तरश्लोकेन पुनरुक्तत्वापत्तेः॥ २॥ एवं बलभद्रचरितं पृष्ट्वा श्रीकृष्णचरितं पृच्छति—अवतीर्येति। यदोर्वंशे अवतीर्य भगवान् निरतिशयैश्वर्यादिगुणवान् श्रीकृष्णो यानि लीलाप्रधानानि कर्माणि कृतवांस्तानि नोऽस्मान् वदेत्यन्वयः। न इति बहुवचनं स्वस्य मुख्यत्वेन सभ्येष्वात्माभिमानात्। अवतारप्रयोजनं तु 'कलौ जनिष्यमाणानाम्' इत्यादिना त्वयोक्तं तत् सामान्यतोऽस्माभिर्ज्ञातमेवेति सूचयन् विशिनष्टि—भूतभावन इति। भूतानि भावयति स्वैकभावनानिष्ठानि करोतीति तथा सः। यो हि विश्वमेव सर्वमात्मनि निर्मितवांस्तस्य तु न किमप्यशक्यकरणमित्याशयेनाह—विश्वात्मेति। ननु 'जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थं' इत्यादिना तच्चरितान्युक्तान्येव, किं पुनस्तत्प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह—विस्तरादिति। सत्यम्। परन्तु सङ्क्षेपत उक्तानि, तेषां श्रवणेऽपि तावता शुश्रूषा न निवर्तते। अतो विस्तराद्वदेत्यर्थः। मत्स्यादिचरितान्यपि भगवच्चरितान्येव, तानि तु विस्तरतो वर्णितान्येवेत्याशङ्का तु 'अवतीर्य यदोर्वंशे' इत्यनेनैव निरस्ता ज्ञेया॥ ३॥ ननु भगवच्चरितान्यभीक्ष्णशः शृण्वतोऽपि तव कुतो न ततो विरक्तिरित्याशङ्क्याह—निवृत्ततर्षैरिति। अत्र लोके चतुर्विधा जनाः—'मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणो दुर्भगाश्च'। तेषां मध्ये दुर्भगान् विहाय भगवच्चरितश्रवणे न कस्याप्यलंप्रत्ययः। तत्र मुक्ता द्विविधाः—'जीवन्मुक्ताः प्राप्तसालोक्यादयश्च'। तत्र निवृत्ता तर्षा भगवत्यतिरिक्तविषया तृष्णा येषां तैः। तर्षेत्युपलक्षणं क्रोधलोभादिदोषाणाम्, सर्वदोषविनिर्मुक्तैरप्युपसमीप एव

सर्वत्र गीयमानात्। यद्वा उपशब्दोऽधिकार्थे, 'उपोधिके च' इति सूत्रात्। अधिकं गीयमानात्। नच तेषां मुक्तानां प्रयोजनाभावात्तद्विना कथं तद्गानं सम्भवतीति शङ्कनीयम्। 'यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः' इति रुद्रगीतवचनात्। तेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनादिनैव निवृत्ततर्षा जाताः। अतः 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' 'एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ते वै भगवत्प्रपन्नाः' 'अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः' 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः' 'उत्तमश्लोकलीलया' 'गृहीतचेता' इत्यादिवचनेभ्यस्तेषां भगवल्लीलाकृष्टचेतसां लौकिकप्रयोजनाभावेऽपि पूर्वसंस्कारवशाद्भगवद्गुणमाधुर्यवशाच्च भगवद्गुणगानसम्भवात्। एवं मुक्तानां विषयत्वमुक्तम्। मुमुक्षूणां सुलभः सुकरश्च मोक्षोपायोऽप्ययमेवेत्याह—भवौषधादिति। भवस्य जन्ममरणादिलक्षणसंसारमहारोगस्यौषधवन्निवर्तकादित्यर्थः। औषधं यथा भक्षणद्वारान्तःस्थापनातिरिक्तं प्रयत्नं रोगनिवृत्तौ नापेक्षते, तथायमपि श्रवणादिद्वारान्तःस्थापनातिरिक्तं प्रयत्नं संसारनिवृत्तौ नापेक्षत इत्यस्यौषधत्वं बोध्यम्। विषयिणामपि लौकिकविषयसुखात् परमानन्दजनकः सुलभश्चायमेव विषय इत्याह—श्रोत्रमनोऽभिरामादिति। शब्दमात्रेण श्रोत्रे अर्थेन मनश्चाभिरतो रमयतीति श्रोत्रमनोऽभिरामस्तस्मादित्यर्थः। उत्तमश्लोकगुणानुवादादिति। उद्गच्छति तमः अविद्या यस्मात्स उत्तमः, उत्तमः श्लोको यशो यस्य तस्य भगवतो गुणानुवादात् कः पुमान् विरज्येत विरक्तो भवेत्? न कोपीऽत्यर्थः। अर्थानुसन्धानपूर्वकोच्चारणं वादः। तदननुसन्धानेनाप्युच्चारणमनुवाद इति प्रसिद्धेरनुवादपदेनार्थाज्ञानेऽप्यानुपूर्व्या भगवद्गुणनामाद्युच्चारणमात्रेणापि वक्तृश्रोतृणामुक्तं फलं भवतीति सूचितम्। पुमानिति। जीवमित्यर्थः, 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' इत्यादौ जीवमात्र एव पुरुषपदप्रयोगदर्शनात्। विना पशुघ्नादिति। पशून् गवादीन् हन्तीति पशुघ्नश्चाण्डालादिर्महापापी तस्माद्विना को विरज्येतेत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—लौकिकमौषधं हि निवृत्तरोगैर्नाद्रियते। इदं भगवद्गुणानुवादरूपमौषधं तु निवृत्तसंसाररोगैरप्याद्रियते॥ तत्तु तुच्छरोगनिवर्तकम्। इदं त्वनन्तकालागतमहादुःखदायिसंसाररूपमहारोगनिवर्तकम्॥ तत्तु न सर्वरोगनिवर्तकम्, एकरोगनिवृत्तौ सत्यामपि रोगान्तरदर्शनात्। इदं त्वशेषसंसारनिवर्तकम्, 'अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः' इति वचनात्॥ तत्तु व्यभिचारि, कृतेऽप्यौषधे रोगनिवृत्त्यदर्शनात्। इदं तु न तथा, श्रोत्रमनोऽभिरामत्वात्॥ तत्तु धनादिसाध्यम्, अभिलाषवद्दातृकत्वात्। इदं तु धनादिकं विनैव लभ्यते, निवृत्ततृष्णैरुपगीयमानत्वात्॥ तत्तु प्रयत्नसाध्यम्। इदं तु सुलभं, सर्वत्र सर्वदैव स्वत एव महद्भिरुपगीयमानत्वात्॥ अतोऽस्माद्विरक्तो महापातकपुञ्जयुक्त आत्मघात्येव ज्ञेयः। "नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथां पुरीषमिव विड्भुजः"॥ "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा" इत्यादिवचनैरप्येवं निश्चयात्। अत्र यद्यप्यनेकशो वचनान्युदाहरणयोग्यानि सन्ति युक्तयश्चानेकशः स्फुरन्तीत्येतावता मनसि सन्तोषो नायाति, तथापि विस्तरभयाद्विरम्यते॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत्रेत्यर्द्धम्। तत्र यदुवंशे अंशेन बलदेवेन सहावतीर्णस्य विष्णोः अवतीर्णत्वेऽपि व्यापकत्वच्युतिरहितस्य दामबन्धनादौ तथा व्यक्तेः वीर्याणि नोऽस्मभ्यं शंस स्वसङ्ख्यपेक्षया बहुत्वम्। सा च कृपया विनयेन वा सर्ववर्णनस्याशक्यत्वादंशेन शंसेत्यन्वयो वा। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति वाक्यविरोधादंशेनैकदेशेनावतीर्णस्येति तु नार्थः॥ २॥ अवतीर्येति। भूतानां भावनः पालकः विश्वस्य आत्मा भगवान् यदोर्वंशे अवतीर्य यानि कर्माणि कृतवान् तानि नवमेऽतिसंक्षेपेण सूचितान्यपि नोऽस्मभ्यं विस्तराद्वद वर्णय। अस्मदादिमन्दबुद्धिसुगमत्वार्थं शब्दविस्तरं कृत्वा वर्णय। यद्वा सर्ववर्णनाशक्यत्वेऽपि लालसयोक्तिः॥ ३॥ लोके त्रिविधा जनाः मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणश्च। तेषां मध्ये कस्यापि अलं प्रत्ययोऽत्र नास्तीत्याह—निवृत्तेति। पशुघ्नात् हिंसाव्यापृतात् सर्वनिन्द्याद्व्याधात् स्वर्गप्राप्त्यै यज्ञेषु पशुघातकात् कर्मासक्तात् वा। "अनचि च" इति द्वित्वे गकाराधिकः पाठः अपगता शुक् यस्मात् सोपशुक् तमात्मानं हन्ति तस्माद्वा विना निवृत्तास्तर्षा वासना येषां तैर्मुक्तैरपि उप आधिक्येन गीयमानात् मुमुक्षूणां च भवस्य संसारव्याधेरौषधात् निवर्तकात् विषयिणामपि श्रोत्रमनसोरभिरामात् सुखप्रदात् उत्तमश्लोकस्य गुणानामनुवादात् पुनः पुनः कथनात् कः पुमान् जीवमात्रं विरज्येत विरक्तो भवेत् न कोऽपीत्यर्थः॥ ४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तत्र यदोर्वंशे, अंशेन बलभद्ररूपेण सह, यद्वा। अंशेन पूर्णषाड्गुण्येन, अवतीर्णस्य प्रादुर्भूतस्य, विष्णोर्वीर्याणि गुणादिप्रकाशकानि चरित्राणि, नः शुश्रूषुभ्योऽस्मभ्यं, शंस विस्तरतः कथय। श्रीधरस्वामिचरणैरत्यंशशब्देन पूर्णावतारत्वस्य सर्वशक्तिमत्त्वस्य चोपपादितत्वात् 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति प्रथमस्कन्धे उक्तत्वाच्चांशशब्दस्य पूर्णषाड्गुण्यरूपोऽर्थः युक्त एव कृतः॥ २॥ ननु कानि कानि वीर्याणि भवतां श्रोतव्यानि सन्तीत्यत्राह॥ अवतीर्येति॥ यदोः वंशे, अवतीर्य प्रादुर्भूय, भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः, भगवान् अवतारधारणे कृतेऽपि षाड्गुण्यपूर्णत्वात्परिपूर्णैश्वर्य एव, विश्वात्मा सर्वान्तर्यामी श्रीहरिः, यानि वीर्याणि, कृतवान् यावन्ति चरित्राणि चकारेत्यर्थः। तानि वीर्याणि, नोऽस्मभ्यं, विस्तरात्, वद। अवतरणप्रभृतीनि स्वलोक-

गमनपर्यन्तानि वीर्याणि विस्तरेण कथयेति भावः। पूर्वश्लोकेऽवतीर्णस्येत्यनेनावतरणोक्तौ सत्यामपि पुनरत्रावतीर्येत्युक्त्या तदवतारद्वयसत्त्वेन पूर्वावतारकृष्णचरितानि मह्यं साकल्येन त्वं श्रावय। भविष्यतो द्वितीयस्य तदवतारस्य चरित्राणि तु त्वत्समानगुणः सुव्रतर्षिः प्रतापसिंहाय मादृशविरक्तिमते सर्वाणि श्रावयिष्यतीत्यपि सूचितम्।। ३।। ननु विष्णोर्वीर्याण्यभीक्ष्णशस्त्वया श्रुतान्येव किमिति पुनः पुनः पृच्छसीति न शङ्कनीयमत्र लोके चतुर्विधा जनाः सन्ति, तत्र चतुर्थस्य पशुसमानधर्मत्वात् सदसद्विवेकहीनत्वाच्च तमृते विवेकभाक्त्वेन सत्याः त्रिविधा जनाः सन्ति, मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणश्च, तेषां मध्येऽत्र न कस्याप्यलंप्रत्यय इत्याह।। निवृत्ततर्षैरिति।। निवृत्तस्तर्षो विषयेष्वनलंबुद्धिर्येषां तैः विगतविषयस्पृहैर्मुक्तात्मयोगिभिरित्यर्थः। उपगीयमानात्, भगवद्गुणानुगानश्रवणादावात्मारामाणामेवोत्तरोत्तराधिकरसास्वादोक्तेरिति भावः। तथा च प्रथमे 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः' इति। मुमुक्षूणामपि संसृतेर्मोक्षस्यायमेवोपाय इत्याह। भवस्य संसाररूपरोगस्यौषधं औषधमिव वर्त्तमानः तस्मात्, औषधं यथा रोगान्निवर्त्तयति, तथा मुमुक्षूणां संसृतिरूपरोगनिवर्त्तकादित्यर्थः। श्रोत्रयोर्मनसश्च अभिरामस्तस्मात्, विषयिणामपि श्रोत्रमनोऽभिरामतासंपादकतया परमविषयरूपताभाज इत्यर्थः। गुणानुवादो गुणकथा उत्तमश्लोकस्य गुणानुवादस्तस्मात्, पशुवद्धन्ति गच्छति व्याप्रियते इति वा पशुघ्नः पशुतुल्यवृत्तिः केवलमूर्ख इति यावत् तस्मात्। अपशुघ्नादिति पाठे पश्विति सम्यगर्थकमव्ययम्। अपशु न सम्यक् हन्ति गच्छति बुद्ध्यतीत्यपशुघ्नस्तस्मात्, 'हन हिंसागत्योः' गत्यर्थाः सर्वे बुद्ध्यर्था अपि। सम्यगुपकारमविद्वान् कृतघ्न इति यावत्। तस्मात् विना, एतादृशं पशुधर्मभाजं पुमांसं विनेत्यर्थः। केचित्तु अपगता शुक् यस्मात्तमात्मानं हन्तीत्यपशुघ्नात्तस्मात्, आत्मघातिनं विनेत्यर्थः। इति वदन्ति। तन्मते घ्नेत्यक्षरं गकारविशिष्टं बोध्यम्। तन्मते पशुघातिन इति वेति चिन्त्यं, गकारलोपविधायकशास्त्रादर्शनात्। कः पुमान्, विरज्येत। न कोऽपीत्यर्थः।। ४।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विष्णवंशाभ्युदितस्य वीर्यमखिलं रामस्य विष्ण्वात्मनः कृष्णस्यापि तथातिविस्तरमिहाचक्ष्वेति योज्योऽन्वयः।
यदोर्वंशज—नन्दवंशगतया यच्च यदन्वयोद्भूतित्वेन चकार तद्द्वयमपि ब्रूह्यच्युत-क्रीडितम्।। २।।
यातादृशस्य न यत् प्रियं भवति तत्स्यात्कामिलोकप्रियं यद्वस्त्वस्य न सौख्यशालि भवति प्रेष्ठं च तद्योगिनः।
सत्येवं यदिहावतारचरिते प्रीतिर्द्वयोरुत्कटा हेतुस्तत्र तथा चरित्रसरणिर्नारायणीति स्फुटम्।। ३।।

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

उसी यदुवंश में अंशदेश में प्रकट हुवे भगवान् विष्णु के पराक्रमों को हमें सुनाओ। भूतमात्र (सकलविश्व) का पालन करने वाले एवं विश्व की आत्मा भगवान ने यदुवंश में अवत्तीर्ण होकर जो चरित्र किये वे सब विस्तार से कहने की कृपा करें।। २–३।। वह भगवान का गुणानुवाद (कथामृत) कामनारहित पुरुषों से गाया जाता है तथा संसार रोग का औषध रूप है एवं श्रोताओं के श्रोत्र और मन को आनन्ददायक है वैसा उत्तमश्लोक (श्रेष्ठजनों से स्तुति कराते) भगवान श्रीकृष्ण जी के कथामृत से निज जीव की हत्या करने वाले व्यक्तियों को छोड़ कर और कौन पुरुष है जो विरक्त होगा! अन्य कोई नहीं।। ४।।

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः।। ५।।
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः।। ६।।
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्।। ७।।[1]
रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया। देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना।। ८।।

श्री कर्दमक्षमा

अन्वयः – समरे अमरञ्जयैः देवव्रताद्यातिरथैः तिमिङ्गिलैः दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं यत्प्लवाः मे पितामहाः वत्सपदं कृत्वा अतरन् स्म।। ५।। कुरुपाण्डवानां सन्तानबीजम् इदं मदङ्गं (यदा) द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टं (तदा) शरणं गतायाः मातुः च (मम) मेयः (ज्ञेयः) आत्तचक्रः कुक्षिं गतः जुगोप।।६।। विद्वन् अखिलदेहभाजां अन्तःबहिः पूरुषकालरूपैः मृत्युम् उत च अमृतं प्रयच्छतः

१. मृत्युमनामयं च विज।

मायामनुष्यस्य तस्य वीर्याणि वदस्व त्वया रोहिण्याः तनयः सङ्कर्षणः रामः देवक्याः (तनयः) प्रोक्तः देहान्तरं विना कुतः गर्भसम्बन्धः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं चास्मत्कुलदैवतं श्रीकृष्णोऽतोपि तत्कथैव नित्यं श्रोतव्येत्याशयेनाह। पितामहा इति अमराञ्जयंति ये तैः। देवव्रतो भीष्मस्तदाद्यैरतिरथैस्तिमिंगिलैस्तिमिंगिलमत्स्यतुल्यैर्दुरत्ययं दुस्तरं वत्सपदमिव अत्यल्पं कृत्वा तुच्छीकृत्येत्यर्थः। अतरन् स्म। यः श्रीकृष्ण एव प्लवो नौका येषां ते। तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयश्लोकगतेनान्वयः॥ ५॥ न केवलं पांडवानेवारक्षदिदं मम शरीरमपि यो रक्षितवानित्याह। द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिति॥ द्रोणेरश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्रेण दग्धमिदं मच्छरीरं च कुरूणां पांडवानां च संतानस्य निदानं मम मातुः कुक्षौ प्रविष्टो धृतचक्रो यो जुगोपेति॥ ६॥ अखिलदेहभाजां सर्वप्राणिनाम् अंतश्च बहिश्च पुरुषरूपेण कालरूपैश्च। अंशाभिप्रायेण बहुवचनम्। मृत्युं संसारम् उत अपि अमृतमपि प्रयच्छतो वीर्याणि वदस्व ब्रूहि। अयं भावः। अंतर्यामिरूपेण अंतर्दृष्टीनां मुक्तिं बहिर्दृष्टीनां च कालरूपेण मृत्युं ददाति यतोऽतो विषयदृष्टिं विहायांतर्दृष्ट्या तद्वीर्याण्येव श्रोतव्यानीति॥ ७॥ ननु 'बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम्। वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्'' इति रोहिण्यास्तनयो रामः प्रोक्तः "वसुदेवस्तु देवक्यामष्टपुत्रानजीजनत्। कीर्तिमंतं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः। मृदुं संतर्दनं भद्रं संकर्षणमधीश्वरम्। अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल॥" इति पुनर्देवक्यां गर्भसंबंधस्तस्यैवोक्तः स कुतो घटत इत्याक्षेपः॥ ८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अन्ये विरज्यं तु नास्माकं तत्र विराग उचित इत्याह—किञ्चेति। यतः कुलदैवतमतस्तत्कथा कृष्णकथा प्लवस्तरणसाधनम् "प्लवः प्लवे प्लुतौ कपौ" शब्दे कारण्डवे म्लेच्छजातौ भेलकभेकयोः। क्रमनिम्नमहीभागे कुलके जलवायसे। जलांतरे प्लवंगे च तृणमुस्तकभिद्यपि'' इति हैमः। 'अस्त्रियां समरानकिरणाः' इत्यमरः। तिमिर्दशयोजनो मत्स्यस्तं गिलति निगरतीति तिमिंगिलः। देवानां विश्वदेवानामिव व्रतं नियमः संततयनुत्पादनरूपं यस्य स देवव्रतो भीष्मः। महारथोऽयुतयोद्धातिरथः। वदस्वेति "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमंत्रणेषु वदः" इत्यनेनोपसंभाषायामात्मनेपदम्। उपसंभाषा सांत्वनम्। तृतीयश्लोकगतेन वीर्याणीत्यादिश्लोकगतेनेत्यर्थः॥ ५॥ आत्तं स्वीकृतं भ्रामणेन चक्रवद्वर्तुलं गदारूपमस्त्रं येन स आत्तचक्रः। यथाश्रुतार्थे तु 'परिभ्रमंतमुल्काभां भ्रामयंतं गदां मुहुः' इत्युक्तिव्याकोपः स्यादिति "चक्रं रथांगे कोके च सैन्येऽस्त्रे जलसंभ्रमे" इति मेदिन्यादयः। प्रायश्चक्रादानस्य सार्वदिक्त्वाद्वात्तचक्र इत्युक्तम्। कुरुचेदिपांडवानां पृथगुक्तिर्ब्राह्मणपरिव्राजकवत् मेयः। इत्येकपदं वा मेयः मद्दृग्गोचरः इत्यर्थः॥६॥ कालरूपैरिति। बहुत्वोक्तिः। अंशाभिप्रायेणेति कालस्यांशा युगकल्पवर्षमासादिभेदाद्बहवः संति तदभिप्रायेण मृत्युं मरणं दुःखं वा तत्तत्समये तत्तददृष्टवशाज्जीवानां भवतीति भावः। प्रयच्छतो ददतुः 'दाण—दाने' प्रपूर्वाच्छतरि यच्छादेशः वीर्याणि लोककंटकायमानासुरहननादीनि। एतेन किमायातं तत्रायं भाव इति। अंतर्दृष्ट्या तत्परचेतसेति। मायामनुष्यस्य लीलार्थं धृतमनुष्यशरीरस्य। "माया लीलकृपाशक्तिदंभेष्वथ" इति कोशात्। विद्वन्निति श्रीशुकस्य कथनसामर्थ्यं द्योतयति विश्वनाथस्तु—अखिलदेहभाजां मध्ये येंतरंगा भक्ता ये च बहिरंगा भक्तद्रोहिणस्तेभ्योऽमृतं मृत्युं च प्रयच्छतो वीर्याणीति योज्यं तत्रांतरंगेभ्यो वसुदेवादिभ्यः पुरुषरूपैश्चतुर्भुजद्विभुजपुरुषाकारैरमृतं परमानंदं बहिरंगेभ्यः कंसादिभ्यः कालरूपैः। 'कालोऽयमिति विह्वलः' इति 'मृत्युर्भोजपतेर्विराट्' इत्याद्युक्तरीत्या मत्स्यंडिकाखंडैः पित्तदूषितरसनया तिक्तरसैरिव साक्षान्मारकत्वेन भातैर्मृत्युमुतानंतरममृतं मोक्षं च प्रयच्छत इति वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानत्वं किं वा लीलाया नित्यत्वज्ञापनार्थं वर्त्तमानप्रयोगः। मायया स्वरूपेणैव मनुष्यस्य स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः "अतो मायामयं विष्णुं प्रवदंति मनीषिणः" इति माध्वभाष्यप्रमाणितश्रुतेः॥७॥ एकस्य देहांतरमंतरेण गर्भद्वयसंबंधो न घटत इत्याह—नन्विति। तस्यैव बलस्यैव। स संबंधः। कुतो हेतोः। घटते चरितार्थो भवेत्। इत्याक्षेप इत्याशंका। संदिग्धपदार्थनिर्णयजिज्ञासादिनानुयोग आक्षेपः "आक्षेपो भर्त्सनाकृष्ट्याशंकालंकृतिषु स्मृतः" इति मेदिनी॥ ८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषणी

अथ त्रिकम्। तत्र मया तु विशेषतो निजकुलैकगतेः श्रीकृष्णस्य कथा सदा अवश्यं श्रोतव्येत्याशयेनाह—पितेति। अमरञ्जयैरिति, महाशौर्यमुक्तम्। देवव्रतेति, इच्छामृत्युत्वादिहेतुमहानियमनिष्ठया परमदुर्जयत्वम्, स आद्यः श्रेष्ठो येषामतिरथानां तैरिति तत्पाल्यत्वेन तेषामपि दुर्जयत्वम्। अत एव दुरत्ययं दुस्तरमपि, अतिरथलक्षणं महाभारते—

"एकादश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥ अमितान् योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः''॥ इति

कौरवाणां दुर्योधनादीनां सैन्यमेव सागरः अतिविस्तीर्णत्वादिना तं स्मेति प्रसिद्धौ। यत्प्लवा इति। प्लवस्तरणसाधनं तत्साधनत्वञ्च तस्य न वहित्रतुल्यत्वेन वोढृलक्षणत्वं किन्तु प्रभावविशेषेण विलक्षणमेवेत्याह—वत्सपदमिव कृत्वेति।

अनायासेनैव तरणात् ॥ ५ ॥ विशेषतो मम जीवनप्रदश्च श्रीकृष्ण एवेत्याह—द्रौणीति । विशेषेण प्लुष्टं दग्धमपि, ब्रह्मास्त्रस्यानन्यनिवार्यत्वादाहकतमत्वाच्च इदमिति जन्मान्तरीणत्वं व्यावर्तितम् । यद्वा, प्रत्यक्षमित्यर्थः । इति तत्र संशयो निरस्तः । कुर्वादीनां सन्तानबीजमिति' तत्करुणायां हेतुः सैव स्वदेहे प्रीतिहेतुश्च अतस्तेषां सर्वेषामपि कुलक्षयदोषनिरसनेन यशो धर्मश्च रक्षित इति भावः । पाण्डवानां कुरुत्वेऽपि पृथगुक्तिस्तेषां तत्र विशेषापेक्षया अत एव कुरवस्तदन्य एव ब्राह्मणपरिव्राजकादिवत् । इति तेषां स्वसन्तानाभाव उक्तः । तेन श्रीभगवतः परमकारुण्यमेवाभिप्रेतम् । दुष्टानां समूलनाशात्, प्रकारान्तरेण तेषामपि बीजरक्षया परलोकहिताचरणाच्च प्रायश्चक्रादानस्य सार्वदिकत्वादात्तचक्र इत्युक्तं गोपनन्तु गदयैव "अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव भास्करः" इति प्रथमे प्रोक्तत्वात्, यद्वा, भक्तवात्सल्येन व्यग्रतया रक्षणार्थं चक्रञ्च गृहीतम् । चकारान्मातुरङ्गञ्च जुगोपेत्यर्थः । गर्भरक्षया तद्देहस्यापि रक्षणात् अन्यथा पत्यनुमरणमेव तस्या अभीष्टमिति अतस्तत्कथायां विरक्त्या नितरामकृतज्ञतापि प्रसज्येतेति श्लोकद्वयतात्पर्यम् ॥ ६ ॥ ननु, सत्यं निवृत्ततर्षादीनामुपादेय एव तद्गुणानुवादः—तथा भवद्विधानां निजरहस्योऽसौ, किन्तु तद्विमुखजनाशङ्कया गोपयितुमिष्यत इत्याशङ्क्य परमौत्सुक्येन तानपि प्रवर्त्तयन् प्रार्थयते—वीर्याणीति । देहभाजां जीवानाममृतं मरणाद्यशेषदुःखरहितं परममधुरं वा वैकुण्ठलोकं स्वपादाब्जप्रेम वा प्रयच्छतो ददतः चकरादन्यदप्यपेक्षितं वदस्व गुह्यान्यपि प्रकाशयेत्यर्थः । "भासनोपसम्भाषा' (१।३।४७) इत्यादिना लोट्, यद्वा, हे स्व ! हे मदेकबन्धो ! मदेकधनेति वा, अतो मद्धितार्थमवश्यं वक्तुमर्हसीति भावः । हे विद्वन्निति तानि सर्वाणि त्वया ज्ञायन्त एवेति भावः । अन्यत् श्रीस्वामिपादैर्व्याख्यातमेव । भावस्त्वयम् कथाश्रवणादिना अन्तर्दृष्टीनां सतामन्तर्यामिरूपेणामृतं तदभावे च बहिर्दृष्टीनां कालरूपेण मृत्युं ददाति यतः अत अन्तर्दृष्ट्यर्थं तद्वीर्याणि ब्रूहीति, अथवा अन्तर्बहिश्च यानि पुरुषकालयो रूपाणि तैः । अत्र श्रवणादिना अन्तःस्थितैः सद्भिः पुरुषस्य श्रीभगवतो रूपैः श्रीविष्णवादिमूर्त्तिभिः परमानन्दं, तदभावेन च कालस्य रूपैर्बहिःस्थितैर्यमादिभिर्विविधदुःखं, किम्वा अन्तर्बहिश्चामृतं बहिरन्तश्च मृत्युमपि प्रयच्छत इत्यर्थः । माययैव मनुष्यस्य प्रसिद्धप्राकृतमनुष्यतया प्रतीतस्य स्वतो मनुष्याचारलीलत्वेऽपि प्रकृतिधर्मातीतत्वात्, यद्वा, तादृशमनुष्यप्रकाशिकया माययाप्यमनुष्यस्य मनुष्यलोकातीतस्य कदापि साक्षात् श्रीगरुडारोहणरुद्रजयब्रह्ममोहनादिनैश्वर्यप्रकटनात् 'यद्वा' माया दया "माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वप्रकाशात् तया मनुष्यस्य मनुष्याकारं प्रकटयतः । यद्वा माया ज्ञानं "माया स्याच्छाम्बरीबुद्ध्योः" इति त्रिकाण्डशेषात् "माया तु वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टोश्च, तस्यां ज्ञानावस्थायामपि मनुष्यस्य नराकृतिपरब्रह्मत्वात्तद्रूपत्वेनैव स्फुरतः । अथवा, अखिलदेहभाजाम् अनियतानां जीवानां नियमं विनैव तेषां केषाञ्चिदंच्छिकादिमृत्युत्वेन दुर्घटदेहपातानां श्रीभीष्मद्रोणादीनां मृत्युं देहपातं कुर्वतः, केषाञ्चिद्भगवद्विरोधित्वेन दुर्घटमोक्षाणां कंसादीनाम् अमृतं मोक्षमपि, चकारात् पूतनादीनां परमभक्तगतिमपि कुर्वतो यानि तस्य तादृशानि वीर्याणि स्वच्छन्दचरितानि वदस्व । तत्र हेतुः 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानि" इत्याद्युक्तदिशा पुरुषरूपैः परमाण्वादिभेदेन कालरूपैश्चान्तर्बहिश्च स्थितस्येत्यर्थः । ततश्च तेषामन्तर्बहिश्च स्वेच्छानुरूपमेव सम्पादितं यत्तद्युक्तमेवेति भावः । अन्यत् समानम् । एवं मृत्य्वमृतप्रदानेनैश्वर्यविशेषात्, तथा तादृशमनुष्यतया माधुर्यविशेषात् तथा स्वधाम्नि स्वस्वरूपस्यैव सतः प्रपञ्चे पुरुषादिरूपेण स्वयमपि चाभिव्यक्तेः एकस्यैवावतारित्वावतारत्वाभ्यां वैचित्र्यात्तदापूर्वमाहात्म्यश्रवणे स्वकौतुकविशेषोऽपि दर्शितः ॥ ७ ॥ तत्र विशेषं पृच्छति—रोहिण्या इति चतुर्भिः । सङ्कर्षण इति । श्रीदेवकीपुत्रेषु सङ्कर्षणमहीश्वरमिति "सङ्कर्षणाख्यया यः प्रोक्तः स एव रामो बलाख्यो रामः स एव रोहिणीपुत्रत्वेन त्वया प्रोक्त इत्यर्थः । इति भेदोपि निरस्तः ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कोऽसौ तत्कृत उपकारः ? यदभिज्ञानात्तद्गुणानुवादान्न विरज्यसे बहुषु भगवदवतारतच्चरित्रेषु सत्स्वपि किं विशेषेण कृष्णावतारतच्चरित्रादिकमेव पृच्छसीत्यत्राह—पितामहा इति द्वाभ्याम् । अमरञ्जयैः देवानपि जेतुं समर्थैर्भीष्माद्यतिरथरूपैस्तिमिङ्गिलैर्हेतुभिः दुःखेनाप्यत्येतुं पारं गन्तुमशक्यं कौरवाणां सैन्यमेव सागरस्तं यो भगवान् कृष्ण एव प्लवो नौर्येषां ते मम पितामहाः युधिष्ठिरादयः वत्सपदङ्कृत्वा गोष्पदतुल्यङ्कृत्वा अतरन् स्म पारं जग्मुः किल श्लोकद्वयस्थयच्छब्दयोर्वीर्याणि तस्येत्यनेनान्वयः ॥ ५ ॥ द्रौणीति । किञ्च द्रौणेरश्वत्थाम्नोऽस्त्रेण तत्प्रयुक्तब्रह्मशीर्षनामकेनास्त्रेण विप्लुष्टं दग्धमिदं मदङ्गं मच्छरीरं कुरूणां पाण्डवानाञ्च सन्तानस्य बीजं प्रवर्त्तकं वंशद्वयेऽपि स्वस्यैवावशेषितत्वात्तदुभयसन्तानबीजमित्यर्थः । यो जुगोप, कथम्भूतः ? शरणं गतायाः मम मातुरुत्तरायाः कुक्षिं प्रविष्टः आत्तं धृतं चक्रं सुदर्शनं येन तथाभूतः मत्पितामहप्रभृतीनां मत्पर्य्यन्तानामनिष्टपरिहारेष्टप्रापणदीक्षितस्य महोपकर्तुर्गुणानुवादात् कृतज्ञः कथमहं विरज्येयमिति भावः ॥ ६ ॥ वीर्य्याणीति । यत एवमतो हे विद्वन् ! अखिलानां देहभाजाम् अन्तर्बहिः पुरुषकालरूपैः अमृतं मृत्युञ्च प्रयच्छतः क्षेत्रज्ञानां कालावयवानाञ्च बाहुल्याद् बहुवचनम्, क्षेत्रज्ञकालात्मकैः रूपैः शरीरैः तत्रान्तः पुरुषरूपेणाऽमृतममरणं स्थितिं प्रयच्छतः स्थितिहेतोरित्यर्थः । उतापि च बहिः कालरूपेण मृत्युं प्रयच्छतः विनाशहेतोरित्यर्थः । कृत्स्नजगत्कारणस्येत्यर्थः । "कारणं तु ध्येयः" इति कारणस्यैव वस्तुनो ध्येयत्वश्रवणात् । ध्यानस्य च श्रवणमननादिपूर्वकत्वात् तद्विषयकशुश्रूषा ममास्तीति ज्ञापनायाखिलदेहभाजामित्याद्यमृतञ्चेत्यन्तमुक्तम् । तर्ह्येवम्भूतस्य कथं मनुष्यत्वापत्तिः ? इत्यतो विशिनष्टि, मायामनुष्यस्य सङ्कल्पज्ञानेन मनुष्यस्य प्रच्छन्नमनुष्यस्य वा

तस्य श्रीकृष्णस्य वीर्याणि वदस्व प्रकाशय "भासनोपसम्भाषा" (१।३।४७) इत्यादि सूत्रेण वदेस्तङ्॥ ७॥ अंशेनावतीर्णस्य विष्णोरित्यंशचरित्रमपि कथनीयमिति सूचितम्। तदेव व्यञ्जयन् पृच्छति—रोहिण्या इति। सङ्कर्षणः भगवदंशसंभूतसङ्कर्षणावताररूपो रामो बलरामः रोहिण्याः तनयः प्रोक्तः। तथा तस्य देवक्या गर्भसन्दर्भश्च स्मृतः। त्वया नवम इति शेषः। तदेतदुभयं देहान्तरं विनैवैकेन देहेनैव तस्य कुतः कस्माद्धेतोरभवत्?॥ ८॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

माहात्म्यं हरेरनुभवसिद्धं यस्मादतो वक्तव्यमित्याशयेनाह—पितामहा इति। पितामहा अर्जुनादयः अमरान् देवान् जयन्तीत्यमरञ्जयास्तैः देवानामिव व्रतमप्रजाजननलक्षणं यस्य स भीष्मः स आद्यो येषां द्रोणादीनां ते तथा त एवातिरथा रथ्युत्तमारतः तिमिर्नाम महामत्स्यः कायेन दशयोजनप्रमाणमावृत्य स्थितः तमपि गिलति ग्रसत इति तिमिङ्गिलः। स्वप्रत्ययनिमित्तं मुमागमः। वत्सपदं गोवत्सपदमिव वत्सपदं लुप्तोपमं यः कृष्णः प्लव उडुपं येषां ते यत्प्लवाः नदीतरणाय निर्मितं वंशचर्मादिना यत्साधनं स प्लव इति॥ ५॥ इतोऽपि तद्वीर्याणि श्रोतव्यानीत्याह—द्रौण्यस्त्रेति। मातुरुत्तरायाः कुक्षिं गतः प्रविष्टः। इदं प्रत्यक्षं चेति भावेनोक्तम् मेय इति। मया मेयः ज्ञेयः मम दृग्विषयः॥ ६॥ "भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः" (१।३।४७) इत्यतो वदस्वेत्यात्मनेपदप्रयोगो मद्धितार्थं वक्तव्यमिति सूचनार्थः। शुकस्य वक्तव्यांशज्ञानपाटवप्रदर्शनार्थं च एतदेव प्रकटितमभूद्विद्वन्नित्यनेन अन्तः पुरुषरूपैः बहिः कालरूपैः अनामयं संसारदुःखनिरासेन सुखं मृत्युं दुःखानुभवलक्षणम् अन्धन्तमः प्रयच्छतो ददतः बहुरूपत्वाद्बहुवचनम्। प्रलयान्त इति शेषः॥ ७॥ एकस्य द्वयोर्योनिसम्बन्धानुपपत्तिः प्रश्नबीजम्॥ ८–९॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

पितेति। तस्यासाधारणप्लवत्वमाह—वत्सपदमिव कृत्वेति। ततस्तरणसाधनत्वादेव तस्य प्लवत्वं न तु वहनसाम्यादपीति भावः। येन सहायेन प्लव उत्प्लुतिर्येषां तादृशा वा॥ ५॥ द्रौणीति "अस्त्रतेजः स्वगदया" इति प्रथमोक्तत्वादात्तगदत्वमपि ज्ञेयम्॥ ६॥ पूर्वपूर्वोक्तबहिर्मुखानपि प्रवर्त्तयन् सकौतुकमाह—वीर्याणीति। अखिलदेहभाजाम् अनियतानां जीवानां नियमं विनैव तेषां केषाञ्चिद्दैच्छिकादित्वेन दुर्घटदेहत्यागानां भीष्मादीनां मृत्युं देहत्यागं कुर्वतः केषाञ्चिद्भगवद्विरोधित्वेन दुर्घटमोक्षाणां कंसादीनाममृतं मोक्षमपि चकारात् पूतनादीनां भक्तिमपि कुर्वतो यानि तस्य तादृशानि वीर्याणि स्वच्छन्दाचरितानि वदेत्यर्थः। तत्र हेतुः "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानि" इत्युक्तदिशा पुरुषरूपैः परमाण्वादिभेदेन कालरूपैश्चान्तर्बहिश्च स्थितस्येति ततस्तेषामन्तर्बहिश्च स्वेच्छानुरूपमेव सम्पादितमित्यर्थः। तदेवं तस्य नराकृतिपरब्रह्मणः प्राकृतमनुष्यतया प्रतीतिस्तु माययैवेत्याह—मायामनुष्यस्येति। तत एवम्भूतैश्वर्यादिदृष्ट्यापि निजहितैषिभिस्तदेकशरणापत्तिसम्पादकानि तद्वीर्याणि श्रोतव्यान्येवेति॥ ७–८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मत्कुलदैवतत्वेनापि कृष्णस्य कथा मम श्रोतव्येत्याशयेनाह–पितामहा इति। अमरान् जयन्तीति तः देवव्रतो भीष्मः तिमिङ्गिलतुल्यैः दुरत्ययं दुष्पारमपि वत्सपदमिव कृत्वा अतरन् यतो यः श्रीकृष्ण एव प्लवो येषां ते यं समाश्रिता इत्यर्थः। तथाहि "समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवम्" इत्यत्र "भवाम्बुधिर्वत्सपदम्" इति तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयेनान्वयः॥ ५॥ मदेकरक्षकत्वेनापि तत्कथा अवश्यश्रोतव्येत्याह—द्रौण्यस्त्रेण विप्लुष्टं दग्धमिदमिति, तर्ज्जन्या स्वपक्षः स्पृशति, आत्तचक्रश्चक्रधारी "अस्त्रतेजः स्वगदयानीहारमिव गोपतिः" इति प्रथमोक्तेर्गदयेव जुगोप चकारान्मातुरङ्गं च जुगोप॥ ६॥ सर्वगतिप्रदत्वेनापि श्रोतव्यानीत्याह—वीर्याणीति। अखिलदेहभाजां मध्ये ये अन्तरङ्गा भक्ताः ये च बहिर्बहिरङ्गाः भक्तद्रोहिणः तेभ्योऽमृतं मृत्युञ्च प्रयच्छतस्तस्य वीर्याणि वदस्वेत्यन्वयः। तत्रान्तरङ्गेभ्यो वासुदेवादिभ्यः पुरुषरूपश्चतुर्भुजद्विभुजपुरुषाकारैरमृतं परमानन्दं बहिरङ्गेभ्यः कंसादिभ्यः कालरूपैः "कालोऽयमिति विह्वलः" इति "मृत्युर्भोजपतेः" इत्याद्युक्तरीत्या मत्स्यण्डिकाखण्डैः पित्तदूषितरसनया तिक्तरसैरिव साक्षान्मारकत्वेन भातैः मृत्युमुत अनन्तरममृतं मोक्षं च प्रयच्छत इति वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवत्वं किम्वा लीलाया नित्यत्वज्ञापनार्थं वर्तमानप्रयोगः मायया स्वरूपेणेव मनुष्यस्य स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः "अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः" इति माध्वभाष्यप्रमाणितश्रुतेः॥ ७॥ अत्र विशेषं पृच्छति—रोहिण्या इति चतुर्भिः प्रोक्तो नवमस्कन्धे सङ्कर्षमहीश्वरमिति। देवकीपुत्रेष्वपि तस्यैव सङ्कर्षणस्य देवक्या गर्भसम्बधश्च उक्तः स कुतो घटते? इत्याक्षेपः॥ ८॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

मे पितामहाः पाण्डवा अमरान् जयन्ति ये तैः देवव्रतो भीष्मस्तदाद्यैस्तिलिङ्गिलतुल्यैः समरे सङ्ग्रामे दुरत्ययं दुस्तरं वत्सपदमिव कृत्वाऽनायासेनैवाऽतरन् स्म। यः श्रीकृष्णः प्लवो येषां ते तस्य वीर्याणि वदस्वेति सम्बन्धः॥ ५॥ किञ्च, मे मातुः शरणङ्गतायाः कुक्षिङ्गतः बहिःस्थितेन तत्रस्थेनाऽन्तर्यामिरूपेण च निरायुधेन च रक्षा यद्यपि सम्भवति तथापि आत्तचक्रस्य कुक्षौ प्रवेशोऽयं श्रीकृष्णः सायुधः कुक्षिन्गतो भवतु मम गर्भरक्षक इति शरणङ्गतायाः सङ्कल्पसिद्धये कुक्षिस्थस्वभक्तध्यानसिद्धये चेति

ज्ञेयम्। कुरूणां पाण्डवानाञ्च सन्तानबीजं द्रौणेरश्वत्थाम्नोऽस्त्रेण ब्रह्माऽस्त्रेण विप्लुष्टं दग्धमिदं मम शरीरं जुगोप तस्येत्यग्रिमेन सम्बन्धः॥ ६॥ तस्योक्तप्रकारेण भक्तवत्सलस्य, कथम्भूतस्य ? अखिलदेहभाजां सर्वेषां देहाभिमानिनामज्ञानां तेषामानन्त्याद्बहुवचनम्। मृत्युं द्व्यक्षरं मायामनुष्यस्य "माया च वयुनं ज्ञानम्" इति कोशात् ज्ञानयुक्तस्य ज्ञानिनो मनुष्यस्य "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" इति भगवद्वचनादुर्लभत्वादेकवचनम् "मनुष्यत्वे च मां धीराः साङ्ख्ययोगविचक्षणाः। आविस्तरां प्रपश्यन्ति" इति वचनात् मुख्याधिकारित्वान्मनुष्यस्येत्युक्तम्। मृतमक्षरं पुरुषकालरूपैः पुरुषरूपैरुपदेशादिकर्तृभिः कालरूपः घटीमुहूर्तादिभिः-निमित्तभूतैः प्रयच्छतो भगवतः वीर्याणि वदस्व "द्व्यक्षरन्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति तु भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्" इति लक्षणवचनमत्रानुसन्धेयम्। कथम्भूतं मृत्युम् बहिर्हेयत्वात्। कथम्भूतममृतमन्तरुपादेयत्वात्॥ ७॥ एवं भगवद्वीर्याणि पृष्ट्वेदानीं सन्दिग्धानर्थान् पृच्छति–रोहिण्या इति पञ्चभिः—

"बलं गदं सारणं च दुर्मर्षं विपुलं ध्रुवम्। वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्"॥

इति त्वया रामः रोहिण्यास्तनयाः प्रोक्ताः पुनस्तस्य देवक्या गर्भेष्वपत्येषु—

"वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत्। कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः॥
मृदुं सन्तर्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम्। अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल"॥

इति त्वदुक्तः सप्तमत्वेन सम्बन्धो देहान्तरं विना कुतो हेतोः घटेत ? स देहव्यूहहेतुकः एकेनैव देहेन पौर्वापर्यक्रम-हेतुको वा तत्रापि सङ्कर्षणेच्छया श्रीकृष्णेच्छया वा ? इति प्रश्नः॥ ८॥

श्रीसुबोधिनी

एवं चरित्रं स्तुत्वा पुण्यद्वारमात्रतां वारयितुं भगवन्तं स्तौति—**पितामहा** इति द्वाभ्यां, श्रुतदृष्टभेदेन मे **पितामहाः पाण्डवाः समरे दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं वत्सपदं कृत्वा यत्प्लवा अतरन्निति** संबन्धः। एक एव पौत्र उर्वरितः। पञ्चापि पितामहाः, त्रयो वा। क्षेत्रजेषु क्षेत्रस्य स्वकीयत्वाभावान्न बीजिनः। यत्र पुनः क्षेत्रं यथाकथञ्चित् स्वकीयं तत्फलं बीजिन एव। **समर** इति। मरो मरणं, तत्सहिते। अवश्यं युद्धे मरणमिति। तथा सति कोपि न मृत इति भगवत्सन्निधिमाहात्म्यमुक्तम्। **अमरञ्जया** भीष्मादयः। तेषाममरञ्जयः संज्ञाहेतुरिव जात इति 'संज्ञायां भृतवृजी'त्यादिना खश्। देवानपि जयन्तीतीन्द्रपुत्रत्वादिनापि न निरस्तारसम्भावना, देवदत्तशस्त्रैश्च न प्रतीकारः। न च तेषां कदाचिदपि अमरञ्जयत्वं गच्छतीत्याह—देवव्रतेति। देववत् सत्यसङ्कल्परूपं व्रतं यस्य। अनेन भीष्मस्य स्वधर्मत्याजनसामर्थ्यमपि तेषां जातमित्युक्तम्। देवव्रतो भीष्मस्तथात्वेन प्रसिद्धः। अन्येपि द्रोणादयस्तथा देवव्रताद्या ये अतिरथाः। स चेदाद्यः, तद्रूपा एवान्ये। तथाभूता अप्यतिरथा अलौकिकसर्व-सामर्थ्यातिशययुक्ताः। 'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृत' इतिवाक्यात्तद्भक्षकस्ततोऽप्यधिकः सहस्रांशेन अनेन तत्समुद्रे पतितस्तत्रत्योपि न जीवति, विजातीयस्य का वार्तेत्युक्तम्। तेषां दैत्यावेशेनातिक्रूरत्वाज्ज्ञातिघाताय तथोक्तम्। ततः सम्बन्धित्वेन पितामहत्वेन वा त्यक्ष्यतीति निवृत्तम्। अविचारश्चोक्तः। गिलनेनास्थ्यादीनामिव सर्ववंशनाशकत्वं च बहिःस्थितमपि ते मारयन्ति, किं पुनः स्वसेनापतितमिति समुद्रत्वम्। अत एव दुरत्ययं, साधनघातकत्वान्मकरादेः। कुरुवंशोद्भवाश्च नार्वाङ्गिनो वर्तन्ते। **सैन्यसागरमिति**। चेतनसागरत्वेन स्वरूपतो नाशकत्वमुक्तम्। महानौकादिसाधनानामपि दुःखेनातिक्रमोतिक्रमणं यस्य। यो भगवान् प्लवो येषामिति। भगवतोल्परूपेण सन्निधिमात्रेण रक्षकत्वम्, अयुद्ध्यमानत्वात्। मनःशङ्कानिवृत्त्यर्थं वत्सपदं कृत्वेति। तुच्छ-करणतरणयोर्भगवदाश्रयत्वमेव हेतुः। गीतायां भीष्मादिमरणज्ञानात्तुच्छकरणम्। तथापि सम्यगाश्रयणाभावात्पाण्डवानां पिपीलिकात्वमेव, स्वदृष्ट्या भगवान् गृह्यत इति। भगवद्भावे कथमेवं स्यात्। तेषामवस्थापनात्तुच्छकरणम्। उभयमलौकिकं सकृदेव जातमिति। अन्ततस्त्रयाणाममारणाद्वत्सपदम्। द्विधा विदीर्णो मुखस्थानीयोऽश्वत्थामा, वारद्वयमकारकरणात्। प्लवमारुह्य तीर्णं तीर्णं समुद्रांशं शोषयन्तोऽन्ते किञ्चित्स्थापयित्वोत्तीर्णा इत्यर्थः। कीर्तेरपि प्राप्तत्वात्कर्तृत्वम्। इदमत्यन्तमलौकिकम्। एवमेव पूर्वपूर्व-संसारमपि शोषयित्वा भगवत्सेवामात्रं संसारपदार्थपरिग्रहं स्थापयित्वा पारेस्थितं भगवन्तं भगवदाश्रयाः प्राप्नुवन्तीत्युक्तम्॥ ५॥ एवं श्रुतमाहात्म्यमुक्त्वा दृष्टमाहात्म्यमाह—**द्रौण्यस्त्रेति**। सर्वथा पाण्डवाशक्तौ स्वयमपि कृतवानिति वदन् स्वस्मिन् कृपातिशयमप्याह। माहात्म्यमारणेपि पितृनाम्ना द्योतिते। द्रोणो ह्यस्त्रविद्यायां मूलभूतः। पितृमारणं चाप्रतीकार्यं वैरम्। तस्य चानिवर्त्य-**ब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं** विशेषेण **दग्धमिदं मम शरीरम्**। अर्जुनस्य वैष्णवत्वाद्वंशात्मकं बीजभावावशिष्टमत एव सन्तानबीजम्। कुरूणामपि मुक्तिदानाद्वंशाभावे न मुक्तिरिति **कुरुपाण्डवानां** ग्रहणम्। कुरुभिः सहिताः पाण्डवाः कुरुपाण्डवाः। कौरवाः पाण्डवा-श्चेतिपक्षे 'जनपदे लुबि'तियोगविभागाल्लुप्। अन्तर्बीजमात्ररूपेण स्थितं देहं दग्धैरप्यंशैरदग्धभावनयाऽन्यथाप्रतीतः स तु जुगो-पेत्यर्थः। दाहानन्तरं रक्षणमशक्यम्। दाहो धर्मरक्षार्थः। मोक्षे प्रतिबन्धाभावार्थश्च। इदमित्यविकलत्वायाङ्गुलया निर्देशः। **मदङ्गमिति** स्वानुभवो दर्शितः। **सन्तानस्य** वंशस्य **बीजमिति** तदानीं रक्षायामिदानीं चारक्षायां हेतुः। कुरुवंशोद्भवा ये पाण्डवा इति मूलतो भक्तत्वम्। **कुक्षिगत** इति प्रकारान्तरेणान्यतो रक्षाभावो दर्शितः। **आत्तचक्र** इति तत्त्वसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवान्।

उत्तरत्र ध्यानार्थ इत्युपकार उक्तः। न तु चक्रेण रक्षा, अस्त्रतेजोदूरीकरणं वा। अत एव 'वास्त्रतेजः स्वगदये'त्यनेनाविरोधः। कालनिग्रहार्थं वा चक्रग्रहणम्। अत एवं भगवति सानुभावे निवृत्ते तच्चक्रं परिभ्रान्तमितीदानीमियमवस्था। **मातुर्मेयो** ज्ञेयः। चकारान्ममापि शरणं गतत्वादर्शनं, कुक्षिप्रवेशोऽपि। माहात्म्यस्यानुभूतत्वाद्भवदुक्ते विश्वासो भविष्यतीति भावः॥ ६॥ एवं स्वस्य भगवच्छ्रवणाधिकारं बोधयित्वा पूर्वप्रष्टं भगवच्चरित्रं पुनः प्रकारान्तरेण फलसाधकमिति वदन्ननुवदति—**वीर्याणीति**। केचिदिमं प्रश्नं पूर्वस्माद्भिन्नमाहुः—यच्चरित्रं मानुषभावेन कृतं सर्वजनीनं, तत्पूर्वं पृष्टम्। यत् पुनरवतारसम्बन्धरहितं वरुणलोके गत्वा नन्दादिविमोचनरूपं वैकुण्ठप्रदर्शनादिरूपं वा तत्पुनःप्रश्नविषयमिति। तथासत्यस्य चरित्रस्यामृतत्वसम्पादकत्वं वक्ष्यमाणं फलं भवेन्नान्यस्येति चिन्त्यम्। तस्य **कृष्णस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिर्भेदेन पुरुषरूपैः कालरूपैश्चामृतं मृत्युं च प्रयच्छतः** पुरुषोत्तमस्यैव **मायामनुष्यस्य वदस्वेति** सम्बन्धः। अनेन भगवतात्रावतारे रूपद्वयं प्रदर्शितं मूलरूपमवताररूपं च। इदमेव मूलरूपमिति तन्माहात्म्यं वा तस्यैति रूपान्तरव्युदासाय माहात्म्यज्ञानाय **वीर्याणीति**। **अखिलेति** प्रकारान्तरव्युदासाय। न हि केषामपि भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्मान्मृत्युरमृतं वा भवति। **देहभाजामिति** आत्मत्वेऽपि निमित्तवशात्तेषां तथाकरणमिति सूचितम्। पुरुषरूपाणि मत्स्यादीनि, कालरूपाणि विषया इति केचित्। भगवद्ध्यानरूपाणि पुरुषरूपाणीत्यन्ये। कालरूपाण्याब्रह्मरूपतृणस्तम्बरूपाणि। यद्यपि सर्वाण्येव रूपाणि भगवतस्तथाप्यन्तर्बहिर्भेदकृतो विशेषोऽयमित्याह—**अन्तर्बहिरिति**। अतः कथमपि साधनैर्बहिर्मुखा मृत्युमेव प्राप्नुवन्ति। अन्तर्मुखास्त्वमृतमेव। तथात्वे तस्य किं सामर्थ्यं, किमन्तर्बहिष्ट्वकृतमेव, मर्यादार्थं तथेच्छा वाऽतस्तादृशस्य पराक्रमे ज्ञातेऽयं सन्देहो निवर्त्तत इति तदवश्यं श्रोतव्यम्। एतत्, गोकुलवासिनां वैकुण्ठगमने निर्णीतं भविष्यति। मानुषभावे नैतत्सम्भावितमितिशङ्काव्युदासायाह—**मायामनुष्यस्येति**। बुद्ध्यावरिका सेति पुरुषोत्तमत्वबुद्धिमावृत्य मनुष्यत्वबुद्धिं करोतीति तया कृत्वा तथाज्ञानविषयस्येत्यर्थः। न केवलं भगवद्वीर्यकीर्तनमदुपकारायैव, किन्तु कीर्तनफल तवापि भविष्यतीत्यात्मनेपदम्। **विद्वन्निति** ज्ञानं सर्वत्र हेतुः॥ ७॥ एवं भगवच्चरित्राणि पृष्ट्वा सन्दिग्धान् युक्तिविरुद्धानर्थान् पृच्छति—**रोहिण्या** इति पञ्चभिः। 'बलं गदं सारणं चे'त्यत्र रोहिण्यास्तनयः प्रथमत उक्तः। 'वसुदेवस्तु देवक्यामि'त्यत्र 'कीर्तिमन्तमि'तिगणनायां सप्तमोऽहीश्वरो गणितः, 'सङ्कर्षणमहीश्वर'मिति। यद्यपि तत्र भगवत्प्रभाव एव कारणं, तथापि लौकिकप्रकारविषयः प्रश्नः। **देहान्तरं विनेति**। तस्मिन्नेव जन्मनि कथमुभयत्रोत्पत्तिः?॥ ८॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पितामहा इत्यस्याभासे **पुण्यद्वारमात्रतामिति**। अग्रे हि भगवान् साक्षादेव भक्तदुःखं निवारितवान्न तु केनचिद्द्वारेणेत्युच्यते। तेन तच्चरित्रेऽपि साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वं; न तु पुण्यद्वारेति ज्ञापित भविष्यतीति तथेत्यर्थः। क्षेत्रं पाण्डोः, **बीजिनो** धर्मेन्द्रादयः। एकस्वामिकक्षेत्रजत्वेन **पञ्चापि**। एकक्षेत्रजत्वेन तु **त्रय** एव पितामहा भवन्ति। **स्वधर्मत्याजनसामर्थ्यमपीति**। भगवदिङ्गितकरणं देवव्रतं, तद्विरुद्धं तद्दैत्यव्रतम्। तथा च देवव्रते भीष्मे तिमिङ्गिलत्वं दैत्यव्रतं कौरवैः संपादितमिति तेषां कौरवाणां तथासामर्थ्यं जातमित्यर्थः। इदमतिसामर्थ्यमिति भावः। **सैन्यसागरपदतात्पर्यमाहुर्बहिःस्थितमपीति**। सैन्यस्था हीतस्ततः स्वसेनाबहिःस्थितं मारयन्ति, न तु स्वसेनाम्। समुद्रस्थास्तु स्ववृन्दमध्यस्थमपि। इह चोभयरूपत्वमुक्तम्। तेनोक्तकैमुतिकन्यायसूचनाय सैन्यत्वं समुद्रत्वं चोक्तमित्यर्थः। पोतमपि गिलन्तीति साधनघातकत्वम्। **चेतनेति**। जलात्मकः समुद्रः, स स्वयं न मारकोऽचेतनत्वात्, किन्तु तत्स्थाश्चेतनाः। इह समुद्रस्यैव चेतनत्वात् स्वस्वरूपेणैवान्यनाशकत्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः। प्लवत्वोक्तितात्पर्यमाहुर्**भगवत** इत्यादिना। प्लवो हि समुद्रात् स्वल्पतरस्तत्स्वरूपानन्तःपाती च। स्वाश्रयणमात्रेण तारको, न तु मकरादिनिवारणे स्वक्रियावान्, एवं भगवानपि पाण्डवसैन्यमशेषं रक्षितुं नोद्यत, तदा बृहद्रूपः स्यात्, किन्तु पाण्डवानेव रक्षितुम्। अतोऽल्परूपत्वमयुद्ध्यमानत्वं तदनन्तःपातित्वम्। **तथापि सम्यगित्यादि**। उक्तसागरं वत्सपदमकुर्वन्नित्येतावतैव चारितार्थ्ये प्रभोः प्लवत्वनिरूपण तत्तरणोक्तिश्च निरर्था। वत्सपदे मज्जनासम्भवेन प्लवानपेक्षणादित एव तरणस्याप्यसम्भवादुल्लङ्घनस्यैव सम्भवादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः—**तथापीति**। वत्सपदे तासामेव मज्जनसम्भवात् प्लवतरणोक्त्या तेषां तथात्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः। तत्र हेतुः **सम्यगित्यादि**। तत्रापि हेतुः **स्वदृष्ट्येति** स्वसाम्येनेत्यर्थः। लौकिकदृष्ट्येति वा। भगवत्त्वेन भगवति ज्ञाने वत्सपदे मज्जनसम्भावना न स्यादित्याहुः—**भगवद्भाव** इति। ब्रह्मास्त्रदर्शन उत्तरावच्छरणगमनमेव स्यान्न शस्त्रग्रहणम्। तदा चक्रेण प्रभुणा चेन्न रक्षिताः स्युस्तदा स्वसामर्थ्यस्याप्रयोजकत्वान्नाश एव स्यात्। इदमेव मज्जनरूपम्। स्वसामर्थ्येनास्माकं जय इत्यभिमानेन हि तदा शस्त्रग्रहणम्। एवं सति पूर्वमपि प्रभुणैव रक्षितत्वेन तदुपकाराज्ञानान्माहात्म्याज्ञानाच्च क्षुद्रत्वमेव तेषु **पिपीलिकात्वम्**॥ ५॥ **द्रौण्यस्त्रेत्यस्य** विवरणे अर्जुनस्येत्यादि। सर्वात्मना गर्भदाहे गोप्यस्याभावाद्गोपनासम्भव इति गोप्यमंशमाहुः—**अर्जुनस्येत्यादिना**। स्थूलांशे दग्धेऽप्युक्तबीजत्वांशात्मको धर्मस्तु वैष्णवांशत्वात् स्थित एवेति दग्धानप्यंशान् स्वसामर्थ्येनादग्धान् भावितवानिति तैः सहभूतं बीजभावं जुगोपेत्यर्थः। **योगविभागादिति**। 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञि'तिसूत्रप्राप्ताञ्प्रत्ययस्य लोपस्तु 'जनपदे लुबि'तिसूत्रेण भवति। इह कुरुशब्दस्य जनपदावाचित्वेऽञो लोपासम्भवादेवं प्रयोगासम्भव इत्याशङ्क्य तत्सम्भवप्रकारमाहुः—**योगविभागादिति**। जनपदशब्दे विभक्ते कृते, लुबित्येतावन्मात्रं सूत्रमिति जनपदावाचित्वेति तत्प्रत्ययलोपात्तथाशब्दसिद्धिरित्यर्थः। अत एवात्रेति ... त्वेन प्रतीता-

नामदग्धत्वेन प्रतीतिरन्यथाप्रतीतिः। **धर्मरक्षार्थं** इति। वेदमन्त्रेणाधिष्ठापितब्रह्मरूपदेवताकं हि ब्रह्मास्त्रम्। तत्कार्यस्य भगवता प्रतिबन्धे भगवतो वेदमार्गरक्षकत्वलक्षणो धर्मो गच्छेदिति तथा। एतेनादाहेऽपि प्रभौ सामर्थ्यं सूचितम्। **मोक्ष** इति। वेदमन्त्राधिष्ठिता देवता हि स्वकार्यं कृत्वा निवर्तते। तदकरणे तदनिवृत्त्या मोक्षप्रतिबन्धः स्यान्मर्यादामार्ग इति तदभावार्थं तथेत्यर्थः। **तत्त्वसहितमिति**। 'तेजस्तत्त्वं सुदर्शन'मितिवाक्यादिति भावः। इह चक्रपदं भगवति स्थितानां सर्वेषां तत्त्वानामुपलक्षकम्। तानि तु द्वादशे स्कन्धे, 'अथेममर्थं पृच्छाम' इत्युपक्रम्य, 'तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः। अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यै'रिति शौनकेन पृष्टः सूतो 'नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपी'त्युपक्रम्य अङ्गादीनि पूजायां येन रूपेण ध्यायन्त्याचार्यास्तानि रूपाण्यवदत्। तथा चात्र ध्यानार्थमेव तथाप्रदर्शनमिति साधूक्तम्—**उपकार** इति। रक्षार्थं चक्रोक्तावग्रिमोक्त्या विरोधः स्यान्न तूक्तरीत्यामित्याहुः **रत एवेति**। **कालनिग्रहार्थं** वेति। चक्रं मारकत्वेन कालरूपम्, तद्धृत्वा तिष्ठतीति तन्न स्वकार्यकरणक्षमं भवतीति तथा। चक्रपदोपादानतात्पर्यान्तरमाहुः **रत एवेति**। दग्धस्यापि पूर्वभावसम्पादनेन जीवितसम्पादनमनुभावः। तादृशो भगवान् पूर्णे गर्भे प्रयोजनाभावात्ततो निवृत्त इति सोऽनुभावोऽपि निवृत्तः। अन्यथा भगवता रक्षित इति कालादेरपि भयाभावादयं देहो नित्य एव स्यात्। तथा च चक्रं भ्रमणशीलमिति व्यायुत्य मत्परितो भ्रमणं कृतवदिति कालाधीनत्वं सम्पन्नमितीदानीं न जीवनसम्पत्तिरित्यर्थः ॥६॥ **वीर्याणी**त्यत्र अनेनेत्यादि। वारद्वयं वीर्यप्रश्नकथनेनेत्यर्थः। यदुवंशे वंशसंबन्धिकार्यकरणार्थं प्रद्युम्नांशेनावतीर्य वीर्याणि कृतवानिभमल्लकंसमागधादिवधरूपाणि प्रवयसामपि यौवनं यदूनां द्वारकानयनवैदर्भीहरणादिरूपाणि चेति। 'तत्रांशेनावतीर्णये'त्यनेनावताररूपं निरूपितम्। 'वीर्याणि तस्ये'त्यनेनोक्तरूपद्वयमुक्तफलदाने वाशीवत् करणभूतं यस्य तन्मूलभूतं रूपं निरूपितम्। **अखिलदेहभाजामि**तिपदादेतदवतारात्पूर्वमपि तेषामुक्तफलदानोक्तेस्तथात्वं ज्ञायते। एवं सत्यवतारकार्यस्य मूलरूपकार्यस्यापि करणादुभयरूपत्वमस्मिन्नवतारे ज्ञाप्यत इत्यर्थः। तेन वीर्यबहुत्वसम्भावनास्तीति तत्प्रश्न इति भावः। अत्रैतदवतारवीर्यं पृच्छंस्तत्कर्तुर्यन्मूलरूपत्वमुक्तवांस्तेनास्यैवावतारस्य मूलरूपत्वोक्त्या माहात्म्यमेवोक्तवानित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः—**इदमेवे**त्यादिना। आत्मत्वेन मृत्युदानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य समादधते—**निमित्तवशा**दिति। देहभाक्त्वोक्तितात्पर्योक्तिरियम्। 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'वितितत्त्वसूत्रात्, 'स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छ'दित्यादिश्रुतिभ्यश्च जीवानां देहसम्बन्धः स्वक्रीडार्थमेव भगवता कृत इति क्रीडैव निमित्तं, तद्वशात्तथेत्यर्थः। **भगवद्ध्यानरूपाणी**ति। आन्तरत्वादिति भावः। अतः **कथमपी**ति। उतेतिपदादन्तर्मुखेभ्यो रूपद्वयेनाप्यमृतदानम्। विषयपक्षे भजनोपयोगित्वेन तथात्वम्। ब्रह्मादिपक्षे भगवत्क्रीडोपयोगित्वेन विभूतिरूपत्वेन च ज्ञानात्तथात्वम्। बहिर्मुखेभ्यस्तथात्वं स्पष्टम्॥ ७-८॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पितामहा इत्यस्य **टिप्पण्याम्**। राजपितामहेषु पञ्चत्वत्रित्वे उपपादयितुमाहुः—**क्षेत्रमि**त्यादि। **सुबोधिन्यां** टिप्पण्युक्तदिशोक्तसंख्याकेषु पितामहत्वं कथमित्यत उपपादयन्ति—**क्षेत्रजेष्वि**त्यादि। बुधे व्यभिचारमाशङ्क्य समादधते—**यत्रे**त्यादि। तत्र तारायाश्चन्द्रनिगृहीतत्वेन चान्द्रीत्वान्न व्यभिचार इत्यर्थः ॥५॥ **द्रौण्यस्त्रे**त्यत्र **अर्जुनस्य वैष्णवत्वादि**ति। नरांशत्वेन वैष्णवत्वात्। ननु दृष्टमाहात्म्ये वक्तव्य एतस्य देहविशेषणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः—**कुरूणामपी**ति। भीष्मादिसदृशानां भक्तानामसंन्यस्तानां, **ग्रहणमि**ति वंशसद्भावार्थं ग्रहणम्। तथा चेदं देहरक्षाप्रयोजनमपि स्वयं ज्ञातमितिबोधनायेदं विशेषणमित्यर्थः। अत्र कुरुशब्दात्केवलमपत्यप्रत्ययं कृत्वा द्वन्द्वे कृते तेषां मुक्तिप्राप्तिरूपोऽर्थो न सिद्ध्यति, वंशस्य लोकप्राप्तिमात्रसाधनतायाः शास्त्रेषु स्मरणात्। प्रकृते तु मुक्तिरप्यभिप्रेता पूर्वस्कन्धानुसारात्, 'यास्यन्त्यदर्शनमलं बलभीमपार्थव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीय'मिति वाक्याच्च। अतः कुरुशब्दात्पूर्वमपत्यप्रत्ययं विधाय ततो बहुत्वविवक्षायां 'तद्राजस्य बहुष्वि'त्यनेन तल्लुकं विधाय तत 'ओरञि'त्यनेनादूरभवार्थेऽञ्प्रत्ययं विधाय तस्य च लुपं विधाय तादृशः कुरुशब्दो द्वन्द्वविग्रहे निक्षेप्तव्यः। तथा सति केषाञ्चित्कुरूणां लोकप्राप्त्या केषाञ्चिच्च मुक्तिप्राप्त्या, लोकबोधकानि 'धृतराष्ट्रात्मजाः सर्वे यातुधाना बलोत्कटाः। ऋद्धिमन्तो महात्मानः शस्त्रपूता दिवं गता, इत्यादिजातीयकानि स्वर्गारोहणपर्ववाक्यानि, तथा मुक्तिबोधकानि 'सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले' इति प्रथमस्कन्धीयवाक्यं, 'ये लोका मम विमलाः सकृद्विभात्तु' ब्रह्माद्यैः सुरऋषभैरपीष्यमाणाः। तान् क्षिप्रं व्रज सततऽग्निहोत्रयाजिन् मत्तुल्यो भव गरुडोत्तमाङ्गयान' इतिद्रोणपर्वीयं भूरिश्रवसं प्रति भगवद्वाक्यं, तादृशान्यन्यानि च वचनानि सङ्गच्छेरन्। अन्यथा तु कुप्येरन्निति सर्वसामञ्जस्यार्थमाहुः-**कुरुभिरि**त्यादि लुबित्यन्तम्। तदेतन्न विग्रहवाक्यं, किन्त्वर्थकथनमात्रमित्यभिसन्धाय प्रभुचरणा व्याकुर्वन्ति—**जनपदशब्दादि**त्यादि। अत्रेतिशब्दः प्रकारवाची। **अञ्प्रत्ययस्ये**ति। अञ्प्रभृतिप्रत्ययस्य, **लोप** इति। 'तद्राजस्य बहुष्वि'त्यनेन सूत्रेण भवतीति शेषः। तुशब्दः पुनरर्थकः। तथा च 'जनपदशब्दात् क्षत्रियाद'ञित्येवप्रकारकसूत्रप्राप्तस्याञ्प्रभृतिप्रत्ययस्य लोपः 'तद्राजस्य बहुष्वि'त्यनेन सूत्रेण भवति। तु पुनः अदूरभवार्थस्याणपवादस्य 'ओरञि'सूत्रेण जातस्याञो लोपो 'जनपदे लुबि'तिसूत्रेण भवतीति योजना। यदि तु भाष्ये लक्ष्यैकचक्षुष्कतापक्षस्यैवादरणाद्द्रोणपर्वणि भूरिश्रवसो बाहुच्छेदावसरे 'एवं तु मनसा पार्थ पूजयामास कौरव'मिति, अग्रे च 'स मोघं कृतमात्मानं दृष्ट्वा पार्थेन कौरव' इति पूजागर्हयोः सापिण्ड्यप्रयुक्ततया तत्रापत्यप्रत्ययदर्शनादेवमन्यत्रापि दर्शनाच्च लक्ष्योपलब्धौ उत्सर्गस्याञोऽप्यङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमित्यङ्गीक्रियते, तदा

तु 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञि'तिसूत्रप्राप्ताऽञ्प्रत्ययस्य लोप' इत्यन्तं यथाश्रुतमेव व्याख्येयम्। शेषं तु पूर्ववदेव योजनीयम्। अदूरभवस्याञो लोपः कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः—इह कुरुशब्दस्येत्यादि। अर्थस्तु स्पष्टः। अत्रादूरभवत्वं भक्त्यतिशयेन बोध्यं, न तु वंशनैकट्यात्। तस्यान्येष्वपि तौल्यात्। न च देशानुवृत्त्या चेतनवाचकात्कुरुशब्दादञाऽभावः शङ्क्यः, 'अदूरभवेश्चे'त्यतः पूर्वसूत्रत्रय एव काशिकायां तदनुवृत्तेरङ्गीकारात्। 'अदूरभवं नगर'मित्युदाहरणाच्च। एवञ्च निवृत्तायां तदनुवृत्तौ तददूरभवेषु चेतनेष्वप्यञः प्राप्तिर्निराबाधा। किञ्च 'नद्यां मतु'बित्यनेन विहितस्य मतुप इक्षुमतीवेत्रवतीत्यादौ नद्यभिमानिन्यपि यमुनागङ्गादिवत्प्रसिद्धेश्च कुरुशब्देऽपि तथाङ्गीकारे बाधकाभावादिति दिक्॥ ६॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पितामहा इत्यत्र। यत्प्लवा अतरन् यश्च जुगोप तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयश्लोकेनान्वयः। म इत्येकवचनस्यार्थमाहुरेक एवेति। यथाकथञ्चिदिति द्रव्यादिदानेऽपीत्यर्थः। तेषामवस्थापनादिति, अश्वत्थामकृपकृतवर्मणामित्यर्थः। उभयमिति त्रयाणामवस्थित्या तुच्छकरणम्, अश्वत्थामनिर्मुक्तपञ्चसायकेभ्यः सुदर्शनेन रक्षया तत्तरणं चेत्यर्थः। सकृदेवेति एकप्रकार एवेत्यर्थः। वत्सपदसादृश्यं विवृण्वन्ति—अन्तत इति॥ ५॥ द्रौण्यस्त्रेत्यत्र बीजं देहं जुगोपेत्यस्य देहनिष्ठं बीजत्वं जुगोपेत्यर्थः, 'सविशेषणे हो'तिन्यायेनेत्याशयेन 'बीजभावं जुगोपे'तिटिप्पण्यामुक्तम्॥ ६॥ वीर्याणीत्यस्याभासे चरित्रमिति। वीर्यमपि चरित्रविशेष एवेति भावः। प्रकारान्तरेणेति। अनवतारसामयिकजीवोद्धारप्रकारेण। फलसाधकत्वं पूर्वमुक्तं, चरित्रस्य तथात्वोक्तावपि वीर्याणामपि तद्विशेषत्वात्तेषामपि तत्फलसाधकत्वमुक्तं भवति। अत्रामृतसाधकत्वप्रकारेण फलसाधकत्वं वदन्नित्यर्थः। व्याख्याने अनेनेति। केचिदितिपक्ष इदं ज्ञेयम्। द्वितीयपक्ष आहुः—इदमेवेति। 'वीर्याणि तस्ये'ति पूर्वपरामर्शितच्छब्दकथनान्न तावद्विभेदसूचनपर्यन्ताशयो राज्ञ इति भावः। आब्रह्मरूपेति। ब्रह्मरूपं तृणस्तम्बरूपाणि च मर्यादीकृत्येत्यर्थः। ब्रह्मपर्यन्तमिति महन्मर्यादा। तृणपर्यन्तमित्यल्पमर्यादा। तत आब्रह्मरूपतृणस्तम्बरूपं वर्तते यत्र तादृशानि कालरूपाणीत्यर्थः। अव्ययीभावानन्तरमर्श आद्यच्। प्रत्यक्षा क्रियेतिवत्। विशेषोऽयमिति। पुरुषत्वकालत्वरूपो विशेष इत्यर्थः। अत इति द्वैविध्यस्यान्तर्बहिर्भेदमात्रकृतत्वादित्यर्थः। बहिर्मुखानां मत्स्यादिरूपाण्यपि मृत्युदातृत्वात्कालरूपाण्येव। अन्तर्मुखानां विषया अप्यमृतदातृत्वात्पुरुषरूपा एवेत्यर्थः। निर्णीतं भविष्यतीति। तत्र बहिर्मुखेभ्योऽप्यमृतदानाद्द्वितीयपक्ष एव निर्द्धारितो भविष्यतीति भावः॥ ७॥

श्रीविभुत्सुबोधिका

पितामहा म इत्यत्र श्लोकान्वयः सुबोधिन्यामुक्तः। महावाक्यार्थे तु 'यत्प्लवा अतरन् यश्च जुगोप तस्य वीर्याणि वदस्वे'तितृतीयश्लोकेनान्वयः। पुण्यद्वारेति श्रवणादिभक्तीनां पुण्यं शुभं तद्द्वारा मुक्तिसाधनत्वं भाष्यतृतीयाध्याये सिद्धम्। 'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज' इति पुण्यद्वारता। तन्मात्रतां वारयितुं किन्तु टिप्पण्युक्तदिशा'ग्रे भगवानग्रे साक्षादेव भक्तदुःखं निवारितवान् न तु केनचिद् द्वारेणे'त्युच्यते, तेन तच्चरित्रेपि साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वं न तु पुण्यद्वारेति ज्ञापितं भविष्यती'ति चरित्रस्य पुण्यद्वारमात्रतां वारयितुम्। किञ्च माहात्म्यज्ञानद्वारा भक्तिमपि साधयितुम्। 'भक्तिजनिकां संहितामारभमाण' इति सुबोधिन्याः। दृष्टान्तार्थं माहात्म्येन भगवन्तं स्तौति। स्तुतिः पुण्यद्वारमात्रतावारणकीर्तनरूपेति माहात्म्यं कार्यम्। त्रयो वेति धर्मेन्द्रवायुरूपा वा। पुत्राः युधिष्ठिरभीमार्जुनाः। पाण्डुकुन्तीमाद्रीक्षेत्रजेषु पञ्चसु त्रयो वेत्यन्वयः। स्पष्टयन्ति स्म क्षेत्रस्येति। क्षेत्रं द्रौपदी पञ्चानाम्। तथापि बीजित्वं त्रयाणामेव। 'अहं बीजप्रदः पिते'तिगीतावाक्यात् क्षेत्रस्य स्वकीयत्वं त्रयाणामेव। अन्ययोस्तु मात्रञ्चोपाधिकम्। कनिष्ठत्वात्। अतान्ययोः क्षेत्रस्य स्वकीयत्वाभावात् पितामहत्त्वरूपं फलं कार्यं बीजिनो भगवतः न तयोरिति त्रयः पितामहाः। अन्येषां भगवदाश्रयाणां लोकदृष्ट्या फलसम्भवान् नैवकारः। 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुक'मितिवाक्यात्। एतदेवाहुः यत्र पुनरिति। अत एव तारायां बृहस्पतिस्त्रियां चन्द्राद्युत्पन्नो बुधः फलं चन्द्रस्य न तु बृहस्पतेः। चन्द्रपुत्र इतिप्रसिद्धेः। चन्द्रः तुरीय इति 'अहं बीजप्रद' इत्यत्र निविशते। शास्त्रदृष्ट्याहुरेवेति। एतदभिप्रेत्य टिप्पण्या'मेकस्वामिकक्षेत्रजत्वेन पञ्चापि। एकक्षेत्रजत्वेन तु त्रय एव पितामहा भवन्ती'त्युक्तम्। राज्ञां वीरप्रकृतिकत्वेन 'मल्लानामशनि'रिति श्लोकोक्तदशरसेषु तादृशमाहात्म्यं स्पष्टमित्याशयेनाभासं त्यक्त्वा प्रतीकमेवोक्तं समर इतीति। माहात्म्यमिति अनुभावरूपं माहात्म्यम्। स्वधर्मेति भगवदिङ्गितकरणं देवव्रतं तद्विरुद्धं तद् दैत्यव्रतं तथा च देवव्रते भीष्मे तिमिङ्गिलत्वं दैत्यव्रत कौरवैः सम्पादितमिति तेषां कौरवाणां तथा सामर्थ्यं जातम्। इदमतिसामर्थ्यमितिभावः। अतिरथलक्षणमग्रे वक्तव्यम्। तद्रूपा इति देवव्रता एव तिमिङ्गिलाः। तथोक्तमिति तिमिङ्गिलत्वमुक्तम्। पितामहत्वेनेति भीष्मस्य। अरुण्यादीनामिवेति तेषां गिलनमिव। समुद्रत्वमिति चन्द्रेण समुद्रवृद्धौ बहिःस्थितं मारयति समुद्रः दृष्टान्ते। दार्ष्टान्तिके तु परैर्युद्धे बहिःस्थितं तथा। साधनं पोतादिकमपि गिलन्तीति साधनघातकत्वम्। कौरवशब्दाभिप्रायमाहुः कुरुवंशेति। यावद् भगवान् प्लवः ततोर्वाङ् न निवर्तन्ते। यदि निवृत्ता भवेयुः प्लवो विरुध्येत सागराभावात्। चेतनेति 'योऽप्सु तिष्ठ'न्नित्यन्तर्यामिब्राह्मणात्। कौरवसैन्ये सागरदृष्टिः कर्तव्या। समवायित्वेन जलस्य, 'आपो वा इदमासन् सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेय'मित्यत्रापां

जगज्जन्मादिकर्तृत्वोक्तेः। तेन लौकिकभाषायामवान्तरप्रलयकारणत्वमिति सुबोधिन्याः। तेनारणाधिकारो राज्ञः प्रायोपवेशे इति तथा। स्वरूपत इति उक्तरीत्या। महानौकेति करणत्वसम्बन्धाविवक्षायां सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। अल्परूपेणेति प्लवशब्दात्। तथा च श्रुतिः 'पुष्पमग्नि'रित्यारणे। अपां पुष्पमग्निरित्यर्थः। अग्निः सूर्यो वा, ब्राह्मणे तथोक्तेः। प्लवत्वं तु 'योऽप्सु नावं प्रतिष्ठितां वेदे'तिपूर्वश्रुतेः पृथ्वीवत्। सन्निधीति यतो हि तद्भक्तिरनर्थोपशामिका किमु वक्तव्यं भगवत्सन्निधिस्तथा भवतीति। इदमपि मनसैव द्रष्टव्यम्। 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति बृहदारण्यकात्। मनःशङ्केति अत्र चेतनत्वं सागरत्वम्। 'एवमेवे'त्यादिना संसारत्वं च। स्थलत्रयेपि मनःशङ्का। 'इदं सृजेय'मित्युक्त्वा तस्या अग्रे 'तस्मात् पुरुषो मनसाधिगच्छति तद्वाचा वदती'तिश्रुतिभ्यामत्र मनउपस्थितिः। मनस्तु यागसम्बन्धि बोध्यम्। 'यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभ'वितिवाक्यात्। वत्सपदं कृत्वेत्यन्वयार्थम्। 'कृत्वातरन् वत्सपद'मितिक्रियाविशेषणं प्रतीकं मूल उक्तम्। नन्वस्तु मनःशब्दष्टीकायां मूले वत्सपदशब्दः कथमिति चेत् सत्यम्। वत्सपदं चतुर्थस्कन्धे मुख्ये प्रयुक्तं मनुप्रसङ्गेऽष्टादशाध्याये। मनुं प्रति पृथ्वीवाक्यानि। 'नूनं ता वीरुधः क्षीणाः मयि कालेन भूयसा तत्र दृष्टेन योगेन भवानादातुमर्हती'त्युक्त्वा 'इति प्रियहितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः वत्सं कृत्वा मनु'मितिदर्शनात् मनू राजमुख्यः। अग्रे च 'वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत् सकलौषधीः। तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधा' इति सर्वानुज्ञा। तथा च वत्सो युधिष्ठिरः तस्य पदं पदनीयं चेतनं सागरं संसारं च कृत्वेत्यर्थः। ननु पाण्डवानां कनिष्ठत्वेन कौरवसैन्यसागरस्य तुच्छकरणं तरणं वा न सम्भवतीत्यत आहुः तुच्छकरणेति। भगवतः प्लवरूपमाश्रयत्वम्। अत्राश्रयत्वं सामीप्यम्। वटे गावः सुशेरत इतिवत्। तत् पूर्वमुक्तम्। तत्तुच्छकरणतरणमनःशङ्कारूपत्रयेपि हेतुः। गीतायामित्येकादशे 'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा' इत्यादिभिः। तुच्छेति दुरासदातिदुर्धर्षत्वाभावो भगवत्सम्बन्धाभावात् तुच्छत्वरूपो जातस्तस्य करणम्। तथापीति भगवदाश्रयत्वेपि प्रकारान्तरेण तरणान्वयानुकूले। सम्यगिति 'अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि' 'यच्चावहासार्थमसत्कृतोसी'तिवाक्यात् सम्यगाश्रयणे नैवं कुर्युः। अतो महतां बहुमानाद्यकरणात् 'स कर्ता सर्वपापानां योऽभक्तस्तव केशव' इतिवाक्यात् पापेन मुक्तदेहाभावात् पूर्वं पापभोगार्थं नृगकृकलासवत् पिपीलिकात्वम्। मुक्तौ ब्रह्मदेहत्वं, पापसम्भावनायां तु पिपीलिकात्वम्। सर्वोपनिषदि ब्रह्मादिपिपीलिकान्तमुक्तम्। इदं च 'नित्यदाह्यङ्गभूताना'मितिद्वादशस्कन्धोक्तनित्यप्रलयपक्षे। पापभोगार्थं पिपीलिकात्वेन पाण्डवानां स्वदेहदर्शनमित्याचार्याणां भक्त्या दर्शनम्। एवकारस्तु ब्रह्मभवनपक्षस्य संन्यासाभावात् पुष्टिमर्यादाङ्गीकृतपाण्डवानां मर्यादांशत्वाच्च व्यवच्छेदकः। 'वेदान्तविज्ञाने'तिश्रुतौ संन्यास उक्तः। पिपीलिका अमुक्तदेहः। अत्रापि भगवत्प्रतिपक्षाणां महतां हननं न पापजनकं गीतातात्पर्यात्, तथा भगवतोऽवज्ञानमपि, 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्य' इतिवाक्यात्। तत्र हेत्वन्तरमाहुः स्वदृष्ट्येति। न तु दिव्यदृष्ट्या। स्वीयवाची स्वशब्दः स्वीयदृष्ट्या भगवान् गृह्यत इति हेतोर्भगवदिच्छातो यो मर्यादांशस्तदर्थं पापं वर्तते क्रीडार्थमित्यर्थः। पिपीलिकात्वे युक्तिमाहुः भगवद्भाव इति। भगवति विषयताभङ्गेन यदुत्वाज्ञाने भगवत्त्वे भगवद्भावरूपे कथं केन प्रकारेण पिपीलिकात्वं स्यात् तेषां प्रसिद्धानां भगवदीयानाम्। आवृत्त्या तेषामवस्थापनात्। समत्वाद् भगवतः कौरवपाण्डवानामवस्थापनात् व्यथितकरणम्। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह' इतिवाक्यात्। यद्यपि क्षत्रियाणामयं धर्म एव तथापि भगवदीयत्वाच्छ्रवणादय एव धर्माः। सर्वथापि त एवेत्यादि, तार्तीयव्याससूत्रात्। तथा च परधर्माद् भयेन तुच्छकरणम्। दुरासदातिदुर्धर्षातिरिक्ततुच्छब्रह्मप्रवेशात्। 'एष एव तुच्छ' इति विद्वन्मण्डनान्ते धृतश्रुतेः। 'तोदनात् तुच्छमुच्यत' इति महाकौर्म्यात्। नित्यप्रलये तुच्छसृष्टिकर्तृत्वमपि। अतः तुच्छाज् जातत्वात् तुच्छस्य तत्करणम्। उभयमिति तुच्छकरणं तरणं च। सकृदेवेति एकप्रक्रम एव। यद्वा तुच्छभगवत्प्रवेशस्य दुराधर्षातिदुर्धर्षत्वनाशक्षणे प्रागभाव इह तुच्छभगवत्प्रादुर्भावो भविष्यतीतिप्रत्ययात्, तदुत्तरक्षणे तुच्छाविर्भावः ततस्तरणम्। अत्र तु दुराधर्षादिनाशक्षणे तुच्छप्रवेशः। सोऽलौकिकः क्रीडास्थत्वात्। 'सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी'त्यत्रानुभवस्मरणयोर्मध्ये न संस्कारः तद्वत्। तदुक्तं सकृदेव जातमिति। तथा चोभयं दुराधर्षत्वादिनाशतुच्छभगवत्प्रवेशं सकृदेव जातमिति दुर्धर्षादिनाशस्तुच्छकरणं चेत्युभयं सकृदेव जातमित्यर्थः। उभयोर्मध्ये न प्रागभाव इति भावः। अनन्तशक्तित्वेनात्र संशययोगव्यवच्छेदक एवकारः। अन्तत इति यादवरूपास्वकुलसंहारेऽन्ततः त्रयाणां 'अश्वत्थामकृपकृतवर्मणां त्रयाणा'मिति श्रीवल्लभाः। वत्सपदमिति वत्सस्य युधिष्ठिरस्य पदं पदनीयमित्युक्तम्। फलवत् साधनस्यापि पदनीयत्वात् साधनफलैकीकरणम्। तत्र चेतनसागरपक्षे स्पष्टम्। वत्सपदत्वम्। पदेंशत्रयम्। व्यष्टिसमष्टिभेदेन। व्यष्टिरूपौ अश्वत्थामकृतवर्माणा धनुर्वेदसंरक्ष्यधर्मादिरूपत्वात्। समष्टिर्द्रोणः कृपो वा धनुर्वेदश्रद्धत्वात्। 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति वाक्यात् धनुर्वेदात्मक इति। तस्य पुत्रोऽश्वत्थामा नित्यलीलायामपकाररूपः कार्यात्। स आत्मा पुत्रनामा द्विधा निदीर्णः पुत्ररूपत्वेन वृद्धरात्मन इति। वारद्वयमिति 'अवधीन्निशि बालका'निति ब्रह्मास्त्रसन्धानेन च। पूर्वं जातवत्सपदं न तथा विदीर्णमुखं भवतीति। प्लवमारुह्येति पूर्वं भगवदाश्रयत्वमित्यत्र सामीप्यसप्तमी व्याकृता। वटं गाव इव आरुह्य। तीर्णमित्यादरे वीप्सा। ननु वत्सपदं कृत्वातरन्नित्यत्र पाण्डवानां न कर्तृत्वं किन्तु तरणमात्रेतः क्त्वो दुर्लभत्वमित्याशङ्क्याहुः कीर्तेरिति। 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसी'तिवाक्यात्। तथा च फलप्राप्तिः पाण्डवेष्विति कर्तृत्वमपि पाण्डवेषु फलसाधनयोरैकाधिकरण्यात्। अन्यथा सैन्यस्येष्वपि कर्तृत्वं परस्येति न वत्सपदकरणे सैन्यानां कर्तृत्वम्। 'परात् तु तच्छ्रुते'रिति व्याससूत्रात्। गौणं तु कर्तृत्वं सैन्यपाण्डवयोः समानमित्यर्थः। अथवा पाण्डवानां धर्मेन्द्रवाय्वादिरूपत्वेन कर्तृत्वं सूपपादम्। अपिशब्देन

जयः। दृष्टिविरोधमाशङ्क्याहुः इदमिति। अन्यत्र दृष्टं कर्तृत्वमन्यत्रेति। अत्यन्तत्वं शास्त्रमात्रगम्यत्वम्। एवं सैन्यसागरतरणमुक्तम्। जलसागरं समवायिदृष्ट्योक्तम्। तत्तरणमप्यत्र। युधिष्ठिरयागरूपकृतया मनोपि यागे इति। स चारणे 'केतवोरुणासश्च'-त्युपक्रमकेस्ति, तथा 'दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं' जलधिरूपं वत्सस्य युधिष्ठिरस्य पदं पदनीयं कृत्वातरन्। तदुक्तम् आरणे, 'जानुदघ्नोमुत्तरवेदीं खात्वा अपां पूरयित्वा गुल्युदघ्नम् पुष्करपर्णैः पुष्करदण्डैः पुष्करैश्च संतीर्य तस्मिन् विहायसे अग्निं प्रणीयोपसमाधाये'तिश्रुतिभागेन। व्याख्यातश्च तत्रैव, 'जानुदघ्नोयुत्तरवेदीं खात्वा अपां पूरयति। अपांसर्वत्वाय पुष्करपर्णं रुक्मं पुरुषमुपदधाति। तपो वै पुष्करपर्णं, सत्यं रुक्मः अमृतं पुरुष' इत्यादिना। 'खात्वे'ति यस्य कस्यचित् पदनीयं कृत्वा। समवायिजलभावनया पूरयति। 'सर्वत्वाय' कार्यकारणरूपत्वाय। अत्र तपोधर्मरूपः कृतवर्मा सत्यं द्रौणिः अश्वत्थामा व्युत्पत्त्याश्वशब्दस्य। यद्यप्यश्वत्थामापकारस्तथा'प्येकं भगवतः कार्य'मिदमपि। अमृतं द्रोणः कृपो वा। त्रयाणाममारणात्। कार्यकारणसागरावुक्त्वा विषयतासागरमाहुः एवमेवेति। संसारप्रपञ्चयोर्भेदः। नित्यत्वानित्यत्वाभ्याम्। मायाजन्या विषयता हि कार्यकारणसैन्ययोर्विषययोर्वर्तते, यया दृष्टिः सविषया भवति। अन्यथा ब्रह्मात्मकं जगत् न घटत्वादिप्रकारेण भासेतेति। स्फुटमेतत्, 'ऋतेर्थं यत् प्रतीयेते'-त्यस्य सुबोधिन्यां द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये। भगवत्सेवेति भगवत्सेवारूपम्। भगवत्सेवैव भगवत्सेवामात्रम्। संसारपदार्थो न सेवमात्रं क्रियात्वाभावात्। तस्य परिग्रहस्तु भगवत्सेवामात्रं भवत्येव कात्स्न्यार्थकमत्रप्रत्यये कृत इत्येतावत्पर्यन्तानुधावनम्। पदार्थशब्दस्तु सेवान्तर्गतः संसारः पदार्थो न तु मायिकः। 'ततोहंनामाभव'दितिश्रुतेः। ततः संसारपदस्यार्थः स न तु मायिकसंसार इत्यर्थः। हीति सिद्धान्ते अनुपदोक्तश्रुतिविरोधाद्धीति। पारस्थितमिति चैतन्यसागरे उत्तरार्धोक्तयुधिष्ठिरयागरूपं पारस्थितम्। जलसागरे नारायणरूपं पारस्थितम्। आरणे 'अपां रसमुदयं सन् सूर्यशुक्रं समाभृतं अपां रसस्य यो रसः तं वो गृह्णाम्युत्तम'मिति। समुदयन् सन् यतः पदार्थो भवति। सूर्यश्च शुक्रश्च तयोः समाहारः सम्यक् आभृतम्। यच्छब्दार्थे रूपम्। उत्तमं नारायणमित्यर्थात्। संसारसागरे आत्मकार्यमहंनामरूपं पारस्थितमिति ज्ञेयम्। भगवदाश्रया इतिपाण्डववदन्येपि। पाण्डवपदसूचितार्थः। अन्यट्टिप्पण्यादौ स्फुटम्।

१०-१-६ द्रौण्यस्त्रेति श्रुतमिति परीक्षिज्जन्मन्यृषय उक्तास्तेभ्यः श्रुतं प्रायोपवेशे। आहेति परीक्षित् श्रीशुकं प्रत्याह। सर्वथेति 'आत्मा वै पुत्रनामासो'ति श्रुतेर्धर्मेन्द्रवायुवत् कुक्षिप्रवेशसम्भवेपि विशेषेण दग्धं यदङ्गं तद्रोपनेऽशक्तिरुक्ता सर्वथापदेन। तदुक्तं उपनिषदि यक्षःप्रसङ्गे। कृपातिशयमिति कृपात्वेन कुक्षिगतत्वेन न कार्यकारणभावः। कुक्षौ कृमिकीटादिगोपनायाप्रवेशात्। अतोतिशयशब्दः। तत्रापि शरणगमनं हेतुः। सोत्रेवाग्रे वाच्यः कुक्षिगतशब्देनाक्षिप्यतेयमर्थः। आक्षेपोर्थाप त्तिः। तदुक्तं 'आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामी'ति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्याम्। आर्थिकम् अर्थात् आक्षेपात् प्राप्तम्। आगतम्। 'तत आगत' इति ठक्। अश्वत्थामपदं विहाय द्रौणिपददानस्य प्रयोजनमाहुः माहात्म्येति। माहात्म्यस्वरूपमाहुः द्रोणा हीति। अस्त्रविद्यायामिति 'सरहस्यो धनुर्वेद' इति प्रथमस्कन्धात्। तथा चोपवेदसहितयजुर्वेदाध्येतृत्वं माहात्म्यं महात्मनः सप्तचिरञ्जीव्यन्तर्गतस्य भावः। तस्य चेति तादृशस्याश्वात्थाम्नः, चकारेण भगवदिच्छया। सर्वात्मना दाहे गोप्यमंशमाहुः अर्जुनस्येति। नारायणस्य कृष्णस्य विष्णुत्वम्। 'विष्णुः सर्वगुहाशयः आविरासी'दिति वाक्यात्। तत्सम्बन्धी वैष्णवः नरांशोर्जुनः। अर्जुन इति वृक्षनाम्ना 'वैष्णवा वै वनस्पतय' इति श्रुतिस्मारणाद् वैष्णवत्वम्। अर्जुनः कौ इति ख्यातवृक्षस्य नाम। अर्ज अर्जने। अर्ज्यते इत्यर्जुनः। अर्जेर्णि लुक् चेति उनन्। 'सितातपत्रं जग्राहे'त्यत्र सुबोधिन्यां 'अर्जुनस्तेन बुद्धिमा'नित्युक्तम्। अन्यथा कृष्णस्य भगवत्त्वेन शुकत्वेपि सितातपत्रग्रहणे न प्रवर्तेत राजत्वात्। अतः सात्त्विकत्वाद् वैष्णवत्वम्। अभिमन्युसुतस्य बीजमिति वक्तव्ये 'सन्तानबीज'मित्यस्य प्रयोजनमाहुः वंशात्मकमिति। तेन वंशः सन्तानः आत्मनि स्वरूपे यस्य बीजस्येति 'सन्तान' शब्दार्थ उक्तः। सम्यक् तन्यते यत् तत् सन्तानं कर्मणि घञ्। तादृशं बीजम्। बीजमपि न कर्मणावशिष्टमपि तु बीजत्वेनेत्याहुः बीजभावेति। बीजत्वेनावशिष्टमित्यर्थः। बीजम् 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती'ति दृढांशः। अत एवेति पूर्वोक्तार्थत्वादेव सन्तानबीजं न तु अभिमन्युसुतस्य बीजमित्युक्तमित्यर्थः। अर्जुनाभिमन्व्योः परीक्षिता मुक्तेः कुरुग्रहणप्रयोजनमाहुः कुरूणामपीति। न मुक्तिरिति 'नापुत्रो जायते लोका'निति वाक्यात्। 'भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत् पुत्रवान् भवेत् सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवी'दिति मनुस्मृतेश्च लोकजये मुक्तिस्तत्तद्देवसायुज्यम्। वंशाभावे आत्मान्तराभावात् कस्य मुक्तिः, आत्ममते तु त्रिविधात्मनामात्मोपनिषद्युक्तमुक्तिः स्यादेव। वंशः कर्मात्मकोपि 'कर्मणा जायते जन्तु'रित्यादिना कर्मवादात्। 'आत्मा वै पुत्रनामासी'तिश्रुतेः अग्रे मुक्त्यभावः। कुरूणां तु 'परीक्षिता त्वेतदर्थं विष्णुरातेन वैष्णवी मुक्तिर्विलक्षणा सा' न मुक्तिरितिपदेन निषिध्यते। तदुक्तं बृहदारण्यके वंशब्राह्मणे 'अथ वंशः, तदिदं वय'मिति। 'वय'मित्यस्मत्पदार्थो आत्मानः। तथा च कुरवश्च पाण्डवाश्च कुरुपाण्डवाः तेषामितिविग्रहः। तत्र दोषं ज्ञात्वा विग्रहान्तरमाहुः कुरुभिः सहिता इति। सहार्थतृतीया न तु हेत्वादावितिबोधनाय सहिता इति। एतस्य पदस्य 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो'रिति वा सूत्रेण भिस्लोपकाले लोपः। सुप्त्वाभावेपि सन्नियोगशिष्टन्यायेन। तथा च कुरूणां मुख्यमोक्षापत्तिर्दोष इति न द्वन्द्वविग्रह इति भावः। गौणी मुक्तिस्तु मुख्यवंशत्वाभावात् परीक्षितः। कुरुपाण्डवेत्यत्र विभक्त्यभावो न लेखकदोषात् किन्तु परमभागवतमतेनालौकिकः। तदुक्तं 'हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिका' इति 'इत्यलौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शित'मिति सिद्धान्तकौमुदीसमाप्तौ। सुबोधिन्यामलौकिकविग्रहो वा। एतादृशस्य लौकिकविलक्षणस्य प्रसिद्धत्वाद् यथा चतुर्थे पृथूपाख्याने रञ्जयतीति

राजेतिव्युत्पत्तेः सूचनात् तथा । पक्षान्तरमाहुः कुरव इति शब्दो नन्वन्तः पाण्डवा इत्यपत्यप्रत्ययान्त इति कौरवाः पाण्डवा इति । अत्र चकार एकः । तेन पूर्वोक्तविग्रहे एकः समुच्चयार्थकः एको द्वन्द्व इति न द्वौ द्वन्द्वौ । चकारद्वये तु द्वन्द्वद्वयापत्तिः । जनपदे लुबिति कुरुशब्दस्य जनपदावाचकत्वेपि 'जनपदे लु'बितिसूत्रं लुबितियोगविभागाल्लुबिति सूत्रेण लुप् । टिप्पण्यादौ विस्तरस्तु द्रष्टव्यः । बीजमात्रेति अविनाशि दृढवस्तुरूपेण । सत्तारूपं गोपनकर्म न सम्भवतीत्यत आच्छेद्यमाहुः दग्धेरपीति । अदग्धेति शास्त्रदृष्ट्या ति बोध्यम् । 'अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृपे'ति भारते । अन्यथा प्रतीतेरित्यस्यार्थ-ष्टिप्पण्याम् । धर्मरक्षेति टिप्पण्यां स्पष्टोर्थः । मोक्षे प्रतीति प्रतिबन्धोऽशुभकृतः । तदुक्तं टिप्पण्यां वेदमन्त्राधिष्ठिता देवता हि स्वकार्यं कृत्वा निवर्तत' इति । स्वकार्यमशुभभोजनेन मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिः । बीजमिति दृढं दृढमविनाशि वस्तु बीजमित्युक्तम् । अरक्षायामिति सन्तानस्य जातत्वेन प्रयोजनाभावादितिभावः । कुरुवंशेति कुरुपुत्राः 'परीक्षित् सुधनुर्जह्नुर्निषधश्च कुरोः सुता' इत्युक्ताः तदन्वये विचित्रवीर्यक्षेत्रे बादरायणपुत्रौ धृतराष्ट्रपाण्डू । मूलत इति कुरुर्भक्तः मूलं धातारमवधीकृत्य सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् 'जातस्यासीत् सुता धातुरत्रिः पितृसमो गुणे'रिति नवमस्कन्धचतुर्दशाध्यायवाक्यात् धाता मूलं भक्त इति प्रसिद्धम् । ध्यानार्थ इति ध्यानार्थं ध्यानविषयं 'एष ध्यानार्थ' इत्यस्य सप्तम्यन्तत्वेप्युपपन्नम् । अविरोध इति न च कृतहानिरकृताभ्यागमो दोषः 'अस्त्रतेजः स्वगदये'त्यस्याकृतस्याभ्यागमादिति वाच्यम् । कृतेनात्तचक्र' इत्यनेन तेजस्तत्वसुदर्शनेनास्त्रतेजोदूरीकरणे उभे 'वधूधाते' न शान्ते भवतः । अकृताभ्यागमे तु वातेन दीपशान्त्यादिवदस्त्रतेजःशान्त्यादेः सुवचत्वात् । 'वायोरग्नि'रितिश्रुतेः स्वकारणे वायौ लीनश्चक्र आत्त इत्यर्थे गौरवमिति भावः । कालनिग्रहेति कालः परीक्षिन्मारकः तस्य निग्रहः स्ववशे स्थापनं तदर्थम् । कालसत्त्वे गृहीते निःसत्त्वः कालो न परीक्षिदपकर्तेति । अत एवेति प्रयोजनाभावादेव । एवमिति पाठे ध्यानार्थं रूपं दर्शयित्वा । सानुभाव इति अनुभावः प्रथमस्कन्धे सप्तदशाध्याये 'इत्थम्भूतानुभाव' इत्यस्य सुबोधिन्याम् । 'मतोपि जीवन् तिष्ठतीत्थम्भूतानुभाव' इति टिप्पण्या-मपि विवृतः । दग्धादग्धभावनम् । तच्चक्रं कालचक्रम् । परिभ्रान्तमिति कालकर्मस्वभावरूपभगवच्चक्रत्यन्तर्गतं सत् । इयमिति परि-दृश्यमाना । 'पराभिधानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'वितिसूत्रोक्तजीवावस्थेव । अनुभावतिरोभावात् कालपरिभ्रमणम् । भगवति निवृत्ते श्रीभागवताश्रयणं नामात्मकभगवदाश्रयणम् । तापदुःखाप्रतीकारश्च । मे मातुर्यः कुक्षिं गतः स जुगोपेत्यन्वयो न भवति । कुक्षिंगतस्य ध्यानार्थत्वादित्याशयेनाहुः मातुर्मेयो ज्ञेय इति । भवदुक्त इति श्रीशुकोक्तेः । मम परीक्षितः विश्वासो भविष्यतीति भावेन वक्तुः शुकस्य प्रोत्साहनम् ॥ ७ ॥ वीर्याणि तस्येत्यत्र पूर्वपृष्टमिति वीर्यत्वेन रूपेण चरित्रत्वावच्छेदेन च भगवच्चरित्रं पूर्वयो'र्यदोश्चावतीर्येति श्लोकयोः पृष्टम् । तत्र पूर्वं पृष्टं वा । प्रकारान्तरेणेति अमृतसाधकत्वरूपेण प्रकारान्तरेण । अनुवदतीति वीर्यमपि चरित्रविशेष एवेतिभावः । तेन वीर्याणुवादेपि चरित्रमनुवदतीत्युक्तम् । प्रश्नमिति 'वदस्वे'ति सम्प्रश्ने लोट् इति भावः । अन्तर्बहिरिति पुरि शेत इति पुरा आसेति पुरमुषतीति व्युत्पत्तिभ्यः पुरुषोन्तः अमृतं प्रयच्छति । यथात्तचक्रो ध्यानम् । गदाधरः सन् मृताभावम् । किं पुनः स्वांशैर्देहानाममृतं प्रयच्छतीति । एतत् पुरुषरूपैरमृतं प्रयच्छतीत्येवमुक्तम् । बहिः कालरूपः यथा मम तक्षकरूपेण, अन्येषां कालकर्मस्वभावान्तर्गतकालरूपेण, केषाञ्चिद्भयाम्ना कालेन । भयेन मृत इति प्रयोगात् । यद्यपि विस्मरणं मनोधर्मं आन्तरः तथापि साधनानां बहिष्ठत्वाद् बहिर्मृत्युम् । अत्यन्तविस्मरणरूपं प्रयच्छतीत्युक्तम्, 'मृत्युरत्यन्तविस्मृति'रितिवाक्यात् । यद्वा बहिर्देहेभ्यो मृत्युं प्रयच्छति आन्तराणां जीवानां नित्यत्वात् । मायामनुष्यस्येति राज्ञो ज्ञानम् । यद्वा मायया मनुष्यः मानुषी तनुर्मनोरपत्यमितिबुद्धिविषयः । अग्रे स्पष्टम् अनेनेत्यादिटिप्पण्याम् । स्पष्टम् । तन्माहात्म्यं वेति तस्य भगवतो महात्मनो भावः देवत्वम् । रूपान्तरेति प्रत्यभिज्ञेत्यर्थः । 'ॐ तत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत' इति गीतायाः । पुरुषरूपाणीति अत्रायं भावः, वेदवेदान्तसारे श्रीभागवते वेदान्तरीत्या पुरुषरूपाणि व्याख्यातानि । कालरूपाणि वक्ष्यन्ति । वेदरीत्यावात्म-नारायणस्य पुरुषरूपाणि मत्स्यादीनि मत्स्यपुराणादिप्रसिद्धानि । एवं भोक्तृकोटिरुक्ता । तयाः कालानधीनत्वज्ञापनाय कालरूप-भोग्यकोटिमाहुः कालरूपाणीति । कालः संवत्सरः तस्य रूपाणि, आरण्यके प्रसिद्धानि । विषयाः प्रत्यक्षविषयाः । केचिदिति विरलाः । एतेन वेदार्थस्य उत्कर्ष उक्तः । भगवद्ध्यानेति भगवतो ध्याने रूपाणि ध्यानविषयाणि रूपाणि । अन्य इति अस्वरसस्तु 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो शृणु प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं तृतीयं सर्वभूतस्थं यज् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः' इति वाक्यविरोधः । अत्रोक्तस्या 'खिलदेहभाजामन्तः पुरुषरूपं'रित्यस्य विरोधश्च । स्वमते कालरूपाण्याहुः कालरूपाण्यावह्नति । ब्रह्मरूपं तृणस्तम्भरूपाणि च मर्यादीकृत्याभिव्याप्य च । यद्यपि 'कालात्मा भगवान् जात' इति ब्रह्मरूपं कालात्मकं तथापि 'यतो वा वो निवर्तन्त' इति श्रुत्या सन्दिग्धम् । तृणस्तम्भ औपधिविद्येति सोपि । तथेति सर्वोपनिषदि पिपीलिकान्तमुक्तं तत्र न विद्या । विशेषोय-मिति पुरुषत्वकालरूपो विशेषः । अत इति द्वैविध्यस्यान्तर्बहिर्भेदमात्रकृतत्वात् । कथमपीत्यादि कथमपीति मूलीयोतशब्दस्य प्रश्नार्थ-कत्वं स्वीकृत्यार्थः । 'उत प्रश्ने वितर्के स्या'दिति विश्वः । कथमिति मृत्युमित्यनेनान्वेति । कथमिति पुरुषरूपप्रकारेण कालरूपप्रकारेण वा । मृत्युमेव प्राप्नुवन्ति न तु पुरुषरूपेणामृतम् । साधनैरिति पुरुषकालरूपैरित्यत्र हेतुतृतीययोक्तेः पुरुषकालरूपसाधनैः । बहिर्मुखाः बहिरूपाया बहिः कालरूपोपायाः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुक'मिति 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत' इति शारीरब्राह्मणश्रुतेः । 'सम्भूतिं' विषयम् । 'तमो' विस्मरणसाधकत्वाद् विस्मरणं 'मृत्युरत्यन्त-

विस्मृतिः' । 'भूयस्तमो मृत्युः । 'ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः' इति श्रुतेः अन्तर्मुखा इति अन्तरूपायाः अन्तः पुरुषरूपोपायाः । कथमपि साधनैरमृतमेव प्राप्नुवन्ति न तु कालरूपेण मृत्युम् । पुरुषकालरूपयोर्मृत्यवमृतसाधनत्वे श्रुतिः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ'न्निति । पराग्विषयदर्शनेन तमः, जिघृक्षाग्लानी । अग्रे प्रत्यगात्मदर्शनेनामृतत्वकथनात् । एतदुक्तं भवति । बहिर्मुखानां मत्स्यादिरूपाण्यपि सविशेषत्वेन मृत्युदातृत्वात् कालरूपाण्येव, अन्तर्मुखानां विषया अपि भगवद्विषयकत्वेनामृतदातृत्वात् पुरुषरूपाण्येवेति । तथात्व इत्यादिसर्वरूपाणां भगवदीयत्वे । तस्येति भगवतः । सामर्थ्यं माया तत् किम् अन्तर्बहिर्दृष्टेन कार्येण कृतम् अनुमितम् । पराक्रम इति मायारूपे इच्छारूपे वा । अयमिति तस्य किं सामर्थ्यं तथेच्छा वेत्ययम् । तत् वीर्यम् । निर्णीतमिति तत्र बहिर्मुखेभ्योऽप्यमृतदानात् सन्देहे तथेच्छा वेति द्वितीयकोटिरेव निर्धारिता भविष्यतीति भावः । एतदिति अखिलदेहभाजां मृत्यवमृतदानम् । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इति श्रुत्युक्तपुरुरूपेष्वेकतमं रूपं 'माययान्यदिवे'ति श्रुतेर्वाहुः बुद्ध्यावरिकेति । 'माया च तमोरूपे'तिनृसिंहतापिनीयात् तमः, सा द्रष्टृबुद्ध्यावरिका करणदोष इति भावः । तथा ज्ञानेति मनुष्यत्वप्रकारकमनुष्यविशेष्यकज्ञानविषयस्य स्वयं तु स्वयंप्रकाश इतिभावः । अस्मदुपेति परीक्षिदाद्युपकाराय । तत्रापीति शुकस्यापि । आत्मने पदमिति 'स्वरितञितः' इति सूत्रेणेत्यर्थः । सर्वत्रेति वदनादौ । यथाहुः 'यन् मनसा ध्यायति तद् वदति यद् वदति तत् करोती'ति श्रुतेः । जानातीच्छति यतत इति नैयायिकप्रवादः ॥ ७ ॥ रोहिण्या इत्यत्र चरित्राणीति शते पञ्चाशदितिन्यायेन वीर्यचरित्रयोः सामान्यचरित्रग्रहणम् । भगवत्प्रभाव इति ऐश्वर्यस्य विद्यमानत्वात् स प्रभावः कार्यविशेषः तत्रेति कार्यान्तरे रोहिण्यास्तनयस्य देवक्यां सप्तमत्वे । कारणम् उभयत्रेति रोहिण्यां देवक्यां च ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

न केवलं संसारतारकत्वेन भगवच्चरितं श्रोतव्यम्, किंत्वस्मत्कुलरक्षकचरितत्वेनापि तदवश्यं श्रोतव्यमित्याशयेनाह—पितामहा मे इति । मे मम पितामहा युधिष्ठिरादयो यत्प्लवा यो भगवानेव प्लवस्तरणसाधनं नौर्येषां तथाभूताः सन्तो देवव्रताद्यतिरथैस्तिमिङ्गिलैर्दुरत्ययं दुस्तरमयं कौरवाणां सैन्यरूपं सागरं वत्सपदमिवातितुच्छं कृत्वाऽतरन् अनायासेनैव विनिर्जितवन्तस्तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयेनान्वयः । देवव्रतो भीष्मः, स आद्यो मुख्यो येषां द्रोणादीनां तैः अतिरथैः 'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्योधयेद्यस्तु स प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः' ॥ इति लक्षणलक्षितैः तिमिङ्गिलैर्महामत्स्यतुल्यैः । तत्र शतयोजनविस्तृतो मत्स्यस्तिमिः, 'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृतः' इति वचनात् । तमपि गिलन्ति ते तथा तैः । सैन्यस्य महत्त्वात् सागरोक्तिः । भीष्मादीनां तिमिङ्गिलत्वमेव स्पष्टयति समरेऽमरसहिते सङ्ग्रामे अमरान् देवानपि जयन्तीति तथा तैः । भीष्मस्यार्यादिकभक्तत्वाद्देवव्रतत्वम्, भगवद्भक्तप्रतिपक्षपक्षपातित्वात् ज्ञातिघातकत्वाच्च तिमिङ्गिलत्वं चोक्तम् । यथा प्लवाश्रिता जनाः सागरे न निमज्जन्ति, तथा भगवदाश्रिताः पाण्डवा अपि उर्वरिता इति भगवतः प्लवत्वं ज्ञेयम् । स्मेति इव शब्दार्थे ॥ ५ ॥ न केवलं पाण्डवरक्षत्वेनैव तच्चरितं श्रोतव्यम्, किंतु मम शरीररक्षकत्वेनापीत्याशयेनाह—द्रौण्यस्त्रेति । द्रोणस्यापत्यं पुमान् द्रौणिरश्वत्थामा, तस्य ब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं दग्धमिदं प्रत्यक्षं ममाङ्गं चकारान्मम मातुश्चाङ्गं मे मम मातुः कुक्षिंगतः आत्तं गृहीतं चक्रं येन तथाभूतश्च यो जुगोप रक्षितवांस्तस्य वीर्याणि वदस्वेत्युत्तरेणान्वयः । आत्तचक्र इति तु स्वरूपनिर्देशमात्रम्, रक्षा तु गदयैवेति ज्ञेयम् । 'अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः । विधमन्तम्०' इति । प्रथमस्कन्धोक्तेः ॥ एतद्रक्षायां हेतुद्वयम्—मे मातुः शरणागतिः स्वभक्तपाण्डववंशबीजत्वं चेति विशेषणद्वयम् । शरणं गताया इति । कुरूणां पाण्डवानां च सन्तानस्य वंशस्य बीजं कारणमिति ॥ ६ ॥ यथाधिकारं सर्वफलप्रदत्वेनापि तच्चरितमवश्यं श्रोतव्यम्, अन्यथा संसारनिवृत्तिर्न स्यादित्याशयेनाह—वीर्याणीति । अखिलदेहभाजां सर्वप्राणिनामन्तः अन्तःकरणे पुरुषरूपेण बहिश्च कालरूपैः स्थितस्य । कालरूपैरिति कालावयवानां बहुत्वाद्बहुवचनम् । तत्रापि ये बहिर्मुखा विषयासक्तास्तेभ्यः कालरूपैर्मृत्युं जन्ममरणादिरूपं संसारं प्रयच्छतः ये चान्तर्मुखतया तत्कथाश्रवणादिपरास्तेभ्योऽन्तर्यामिरूपेणामृतं मोक्षमपि प्रयच्छतस्तस्य मायया मनुष्यस्य 'माया दम्भे कृपायां च' इति विश्वकोशात् जनोद्धारार्थं कृपया स्वीकृतमनुष्याकारस्य श्रीकृष्णस्य वीर्याणि वीर्यप्रयुक्तकर्माणि वदस्व । भाषनोपसम्भाषा०' इत्यात्मनेपदम् । तेन भगवच्चरितकथनं न केवलमस्मदुपकाराय, किंतु तेन तवाप्युपकारो भविष्यतीति सूचितम् । यद्वा स्वेति सम्बोधनम्, हे स्व गुरो इत्यर्थः । तेन कथनं तवावश्यकमिति सूचितम् । अज्ञातं च तव किंचिन्नास्त्येवेति सूचयन् पुनः सम्बोधयति—विद्वन्निति । उतेति अप्यर्थे ॥ ७ ॥ एवं सामान्यतो भगवच्चरित्राणि पृष्ट्वाऽथ सन्दिग्धान् युक्तिविरुद्धांश्चार्थान् पृच्छति—रोहिण्या इति पञ्चभिः । 'बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् । वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्' इति रोहिण्यास्तनयो रामस्त्वया प्रोक्तः, 'वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् । कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः ॥ ऋजुं संमर्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् । अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल' इति पुनस्तस्यैव सङ्कर्षणशब्देन देवक्या गर्भसम्बन्धः प्रोक्तः । स देहान्तरं विनैकस्मिन् जन्मनि कुतो घटत इत्याक्षेपः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पितामहा इति ॥ यः श्रीकृष्ण एव प्लवस्तरणसाधनं येषां ते मे मम पितामहाः युधिष्ठिरादयः समरे युद्धे अमरान् जयन्ति तैरमरंजयैः । संज्ञाभावेऽपि खच् आर्षः । देवव्रतः भीष्म आद्यो येषां ते च तेऽतिरथा अमितैः सह योद्धारस्तैरेव तिमिङ्गिलैः महामत्स्यैः दुरत्ययं दुस्तरं कौरवाणां सैन्यमेव सागरं दुष्पारमपि वत्सपदमिवातितुच्छं कृत्वा अतरन् । तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयेनान्वयः । स्मेति पादपूर्तौ । तद्योगस्याविवक्षणान्न लट् । एतेन मत्कुलदैवतं कृष्णस्ततोऽपि तद्वीर्याणि श्रव्यानीत्युक्तम् ॥ ५ ॥ मदेकरक्षकत्वेनापीत्याह द्रौण्यस्त्रेति ॥ आत्तं गृहीतं चक्रं येन सः चक्रायुधो यः श्रीकृष्णः शरणंगतायाः मे मम मातुः कुक्षिं गतः सन् द्रौणेः द्रोणापत्यस्याश्वत्थाम्नोऽस्त्रेण ब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं दग्धं कुरूणां पाण्डवानां च सन्तानस्य वंशस्य बीजमिव रक्षणीयम् इदं मदङ्गं "भ्रामयन्तं गदां मुहुः" इत्युक्तया गदया जुगोप । चकारान्मातुरङ्गं च जुगोप । पाण्डवानां कुरुत्वेऽपि पृथगुक्तिः प्राधान्याय ॥६॥ सर्वगतित्वेनापि श्रव्याणीत्याह—वीर्याणीति ॥ हे विद्वन् ! अखिलानां देहभाजां मध्ये अन्तर्बहिर्दृष्टीनां पुरुषकाररूपैरंशाभिप्रायेण बहुत्वम् । यथायोग्यम् अमृतम् उत तथा मृत्युं प्रयच्छतः तत्रान्तर्दृष्टीनां पुरुषाख्यान्तर्यामिरूपेणामृतं मोक्षं प्रयच्छतः बहिर्दृष्टीनां च कालरूपेण मृत्युं संसरणं प्रयच्छतः अन्तः अन्तरङ्गा भक्ताः बहिर्बहिरङ्गा अभक्तास्तेभ्यः पुरुषाकाररूपैः कालरूपेण च अमृतं मृत्युं च प्रयच्छत इति वा । पुरुषकालरूपैरन्तर्बहिः स्थितस्येति वा । मायया स्वशक्त्या भक्तेषु कृपया वा । "माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वः । मनुष्यरूपस्य तस्य हरेर्वीर्याणि वदस्व प्रकाशय । "भासनोपसंभाषा०" इति तङ् । अतोऽन्तर्दृष्ट्या तद्वीर्याण्येव श्रोतव्यानि ॥ ७ ॥ रोहिण्या इति ॥ यः संकर्षणाख्यो रामः स त्वया पूर्वं नवमस्कन्धे "बलं गदं सारणं च" इत्यादिना रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तः । तस्यैव च संकर्षणमहीश्वरमिति देवकीपुत्रेष्वपि गणनात् । देवक्या गर्भस्य संबन्धः प्रोक्तः स गर्भसंबन्धः देहान्तरमन्यदेहं विना कथं घटते । यद्वा । यो रामः संकर्षणस्त्वया रोहिण्यास्तनयः । प्रोक्तः स एव देवक्या अपि तनयः । अतो देहान्तरं विना द्वयोर्गर्भसंबन्धः कथं घटते ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कोऽसौ तत्कृत उपकारो यस्याभिज्ञानात्तद्गुणानुवादान्न विरज्यसे बहुभगवदवताराणां चरित्रेषु च सत्स्वपि कस्माद्विशेषेण कृष्णावतारचरित्रादिकं पृच्छसीत्यत्राह पितामहा इति द्वाभ्याम् । पितामहा इति । समरे संग्रामे, अमरान् जयन्तीत्यमरंजयास्तैः, देवानपि जेतुं समर्थैरित्यर्थः । देवव्रतो भीष्म आद्यो येषां ते येऽतिरथारतैः, भीष्माद्यतिरथरूपैरित्यर्थः । तिमिंगिलैः तिमिः शतयोजनविस्तीर्णो मत्स्यस्तं गिलन्ति ये तैस्तम्मत्स्यसमानैस्तैर्दुर्भिः, दुरत्ययं दुःखेनाप्यत्येतुं पारं गन्तुमशक्यमित्यर्थः । कौरवाणां सैन्यमेव सागरं तं, यो भगवान् श्रीकृष्णः स एव प्लवः तत्तरणसाधनं येषां ते, मे मम, पितामहा युधिष्ठिरादयः, वत्सपदं गोवत्सपदतुल्यं, कृत्वा, गोवत्सपदोल्लङ्घनवत्तद्गणनां कृत्वेत्यर्थः । अतरन् स्म । तत्पारं जग्मुः किल । तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयश्लोकगतेनान्वयः ॥ ५ ॥ इतोऽपि तद्वीर्याण्येव श्रोतव्यानीत्याह । द्रौण्यस्त्रेति । कुरवश्च पाण्डवाश्च तेषां संतानोऽन्वयस्तस्य बीजं प्रवर्त्तकं, यत् इदं मदङ्गं, यद्यपि द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टम् अश्वत्थामप्रयुक्तब्रह्मशिरोनामकास्त्रेण दग्धम्, अभवदिति शेषः । तथापि, यः श्रीकृष्णः, शरणं गतायाः, मे मम, मातुरुत्तरायाः कुक्षिं, गतः प्रविष्टः । मन्मातृकुक्षिं प्रविश्येत्यर्थः । आत्तं गदामादाय गृहीतं, चक्रं चक्रवत्परिभ्रमणं येन तथाभूतः सन्, तन्मदङ्गं, जुगोप । चकार एवार्थे । अयं भावः । मत्पितामहप्रभृतीनां मत्पर्यन्तानां सर्वानिष्टपरिहारेणेष्टप्रापणदीक्षितस्य महोपकर्त्तुः कृष्णस्य गुणानुवादात्कृतज्ञः कथमहं विरज्येयमिति । यद्यपि पाण्डवा अपि कुरव एव, तथापि राज्यहेतुकसंजातपरस्परप्रतिभटभावेन प्रतीयमानस्य कुलद्वयस्य नाशे जाते कुलद्वयबीजतया योग्यत्वमेतदङ्गस्यैव प्राप्तं, तत उक्तं कुरुपाण्डवानां संतानबीजमिति । यद्वा । पाण्डवानां संतानबीजं, कुरु । इति प्रार्थयमानाया इति शेषः । मे मातुरिति योजना निर्बाधा । केचित्तु आत्तं चक्रं सुदर्शनं येनेति व्याख्यां चक्रुस्तैः 'क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् । परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः । अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः । विधमन्तं संनिकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ' इति प्रथमस्कन्धोक्तिस्मृतिपथमनीत्वोक्तमिति प्रतिभाति ॥ ६ ॥ वीर्याणीति । यत एवमत इति शेषः । हे विद्वन्, अखिलदेहभाजां सकलशरीरिणाम्, अन्तः, उत बहिश्च, पुरुषकालरूपैः अमृतमरणं, स्थितिमिति यावत् । मृत्युं मरणं च प्रयच्छतः । क्षेत्रज्ञानां कालावयवानां च बाहुल्याद्बहुवचनम् । शरीरिणामन्तः पुरुषरूपेण स्थितिहेतोस्तेषां बहिरपि कालरूपेण विनाशहेतोश्चेत्यर्थः । स्थितिविनाशविधानतया कृत्स्नजगत्कारणस्येति भावः । नन्वेवंभूतस्य कथं मनुष्यत्वापत्तिरित्यतो विशिनष्टि । मायामनुष्यस्य स्वसंकल्पमात्रेण मनुष्यभावं नाटयत इत्यर्थः । तस्य कृष्णस्य, वीर्याणि, वदस्व प्रकाशय । 'भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' इति वदेः अत्र उपमन्त्रणार्थत्वात् आत्मनेपदम् । उपमन्त्रणं प्रार्थनम् । केचित्तु अन्तर्यामिरूपेणान्तर्दृष्टीनां मुक्तिं, बहिर्दृष्टीनां कालरूपेण मृत्युं च यच्छत इत्याहुः । श्रीगोपालानन्दस्वामिचरणास्तु, पूरुषरूपैः रामकृष्णाद्यवतारैः, दर्शनश्रवणादिद्वाराऽखिलदेहिनामन्तरन्तःकरणे प्रविश्य मोक्षपर्यायममृतं प्रयच्छतस्तेषां बहिश्च कालरूपसंवत्सरादिपरिवर्त्तैर्मृत्युमपि प्रयच्छत इति व्याचख्युः ॥ ७ ॥ ननु 'बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् । वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्' इति रोहिण्यास्तनयो रामः प्रोक्तः । 'वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् । कीर्त्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः । मृदुं संतर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम् । अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल' इति पुनर्देवक्या

गर्भसंबन्धस्तस्यैवोक्तः, स न घटते। एवमेकस्य द्वयोर्मात्रोर्योनिसंबन्धानुपपत्तिं प्रदर्शयन्नाह। रोहिण्या इति। संकर्षणः रामः, भगवदंशावतारसंकर्षणापरसंज्ञो बलराम इत्यर्थः। त्वया, रोहिण्याः तनयः, प्रोक्तः। तथा सति, तस्य देहान्तरमन्यदेहधारणं विना, देवक्याः गर्भसंबन्धः कुतः। कथं घटेतेत्यर्थः॥ ८॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सन्तु नाम भुवनेषु देवता यास्तपोभिरपि दूरदर्शनाः। भाति गर्भशिशुरक्षणेऽप्यलं यत्कृपात्वनलसा स मे गतिः॥ ४॥
स्वच्छिद्रूपतनोः सतामतनुदस्याप्यच्युतस्यात्मनः। सर्वस्यातनुरूपदर्पद-तनुस्वीकार एषोद्भुतः।
श्रोतुर्मे प्रतिभाति तन्मुनिवराकम्पानुकम्पाम्बुधे। सर्वं ख्यापय सौख्यशेवधिमहो यच्छ्रौतमेव श्रुतम्॥ ५॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

रणसंग्राम में अमरलोगों को भी जीतने वाले, भीष्म (देवव्रत सत्य एवं ब्रह्मचर्य जैसे दिव्यव्रतवाले) पितामह आदि अतिरथि रूप तिमिङ्गिलो (अपनी जाति वाले बड़े बड़े मत्स्यों को निगलने वाले) के होने के कारण दुस्तर कौरवों के सैन्य महासागर को मेरे पितामह (युधिष्ठिरादि) श्रीकृष्ण स्वरूप नाव के आश्रय से बछड़े के खुर के समान खड्डा मानकर तर गये॥ ५॥ कौरव और पाण्डवों की संतति के बीजरूप यह मेरा अङ्ग, जब द्रोणतनय अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से सम्पूर्ण दग्ध हो गया था तब शरण गई हुई मेरी माता उत्तराजी के उदर में प्रविष्ट होकर, जिस सुदर्शन चक्रधारी श्रीकृष्ण भगवान ने मेरी रक्षा की उनके चरित्र कहो॥ ६॥ हे विद्वन् शुकाचार्यजी! समग्र शरीरधारियों के भीतर और बाहर पूरुष रूप से तथा कालरूप से अमृत एवं मृत्यु देव हैं और जिन भगवान को अज्ञान से मनुष्य समझा जाता है, उन मनुष्याकृतिधारी पूर्णपुरुषोत्तम के वीर्यों का वर्णन करने की कृपा कीजिए॥ ७॥ भगवन् शुकजी! आपने रोहिणी के पुत्र संकर्षण बलभद्रजी को देवकी जी का पुत्र कहा, परन्तु उनका देवकी के गर्भ से सम्बन्ध दूसरी देह के बिना कैसे हो सकता है॥ ८॥

कस्मान्मुकुन्दो भगवान् [1]पितुर्गेहाद्व्रजं गतः। क्व वासं ज्ञातिभिः साकं [2]कृतवान् सात्वतां पतिः॥ ९॥
व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः। भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धातदर्हणम्॥ १०॥
देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः। [3]यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् [4]प्रभोः॥ ११॥
एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम्। वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम्॥ १२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मुकुन्दः भगवान् पितुः गेहात् कुतः व्रजं गतः सात्वतां पतिः ज्ञातिभिः साकं क वासं कृतवान्॥ ९॥ केशवः व्रजे च मधुपुर्यां वसन् किम् अकरोत् च मातुः भ्रातरं कंसम् अतदर्हणम् अद्धा (स्वहस्तेनेत्यर्थः) अवधीत्॥ १०॥ मानुषं देहम् आश्रित्य वृष्णिभिः सह कति वर्षाणि यदुपुर्याम् अवात्सीत् प्रभोः कति पत्न्यः अभवन्॥ ११॥ मुने! सर्वज्ञ एतद् च अन्यत् सर्वं कृष्णविचेष्टितं श्रद्दधानाय मे विस्तृतं वक्तुम् अर्हसि॥ १२॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कस्मादिति। भगवतः कंसभयशंकाया असंभवात् इत्यर्थः॥ ९॥ मातुर्भ्रातरं कंसं तस्मादतदर्हणं वधानर्हम् अद्धा साक्षात्कस्मादवधीत्॥ १०-१२॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अन्यदप्याक्षिपति—कस्मादिति। कस्माद्धेतोरिति हेतौ पंचमी। पितुर्गेहान्मथुरांतर्गतात्। मुकुंद इति। सर्वमोचनकर्तुर्भगवतः पितृमोचनमकृत्वा गमनानौचित्यमाह। यद्वा—मुकुंदः कंसस्य मुक्तिं दातुं पुर्य्यामेव स्थानं योग्यो न व्रजं गंतुमिति भावः। पितुर्वसुदेवस्येति जन्मानुकरणदृष्ट्या भगवत्तत्त्वदृष्ट्या तु नंदः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत इति मुनीन्द्रेण वक्ष्यते ज्ञातयो गोपा यादवाश्च ततो बृहद्वनं परित्यज्य गोपैः समं यत्र वासं कृतवांस्तथा मथुरां परित्यज्य यादवैः समं यत्र तस्य वृंदावनाख्यस्य द्वारकाख्यस्य च वैशिष्ट्यमुच्यताम्। व्रजं गोकुलम्। "व्रजो गोष्ठाध्ववृंदेषु" इति मेदिनी। क कुत्र ज्ञातिभिर्नन्दसजातीयैर्वसुदेवसजातीयैर्वा वासं निवासम्॥ ९॥ केशव इति ब्रह्मेशसेव्यतामाह-को ब्रह्मा को विष्णुरीशः शंभुः कश्चाश्च शश्च केशा ब्रह्मविष्णुशिवास्तेषां वो बिंबः

१. पितृगेहा-वीर.　　२. सार्धं-श्री-वंशी साकं-विश्व.　　३. मधुपुर्याम्-इति कस्यचिद्　　४. त्विभोः-विज. विभो-वीर.

केशवः 'वो बिम्बे' इति सौभरिकोशात्। अर्थाद्ब्रह्मविष्णुशिवानां प्रतिबिंबानां बिंबः कारणं साक्षाद्ब्रह्मसर्वव्यापिनस्तस्य व्रजे मधुपुर्यां च कैमर्थिकी स्थितिरपरिच्छिन्नस्य प्रदेशविशेषस्थितिः संशयहेतुस्स एव प्रश्नबीजम्। यदूनां पुर्य्यां मथुरायां द्वारकायां च ॥ १० ॥ मानुषं देहमाश्रित्य मनुष्यमानेन कति वर्षाणीत्यर्थः। "परमात्मा नराकृतिः, परं ब्रह्म नराकृतिः, गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगम्" इत्यादिषु मनुष्यस्यैव स्वरूपलक्षणात्। कति कियत्संख्याकानि। त्रिलिंगत्वात्पत्नीपदेनापि संबंधो नानुचित इति ॥ ११ ॥ एतद्यत्पृष्टमन्यद्यदपृष्टम्। सर्वज्ञेति संबुद्धिः पृष्टापृष्टकथने हेतुः। "अश्रद्धाय तु नो वाच्यं वाच्यं चेन्मितमेव हि" इत्युक्तेर्मह्यं श्रद्धालवे विस्तारेणैव वाच्यमित्याह विस्तृतमिति ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

मुकुन्दो मुक्तिदातेति कंसस्य मुक्तिं दातुं पुर्यामेव स्थातुं योग्यो न तु व्रजे गन्तुमिति भावः। अस्योत्तरमष्टमनवमाध्यायौ ज्ञेयौ यद्वा, भक्तेभ्यः स्वैकदानाय सर्वतो मुक्तिं ददातीति मुकुन्दः स कस्मात् पितुर्गेहादिति पितुर्गेहं परित्यज्य व्रजं गतः इत्यर्थः। तस्मात्तत्र किमपि वैशिष्ट्यमासीदिति भावः। अस्योत्तरत्वेन तत्र प्रेमाधिक्यं मुहुर्वर्णयिष्यत एव यद्वा, पृषोदरादित्वादेव मुक्तिसुखं कुत्सितं यस्मात् स मुकुन्दः तं प्रेमानन्दं ददातीति श्लेषेण मुकुन्दो व्रजमेव गन्तुमर्हति किन्तु कं हेतुं व्याजार्थमुद्भावयदित्यर्थः। अस्य चोत्तरत्वेन हेतुः पितरौ प्रति भगवता कंसभयोद्भावनमेवोन्नेयः। पितुरिति स्वसम्बन्धस्फुरितया जन्मानुकरणदृष्ट्या भावतत्त्वदृष्ट्या तु "नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः" इति मुनीन्द्रेण वक्ष्यते। क किं विशिष्टे स्थाने ज्ञातयोऽत्र तन्मते यादवा एव ततो मथुरां परित्यज्य यादवैः समं यत्र वासं कृतवान् तस्य द्वारकाख्यस्य वैशिष्ट्यमुच्यतामित्यर्थः। "ज्ञातीन वो द्रष्टुमेष्यामः "इति श्रीभगवन्मते तु गोपा एव ज्ञातयो मुख्या ज्ञेयाः। ततो बृहद्वनपरित्यागपूर्वकं भगवत्कृतावासस्य वृन्दावनस्यैव वैशिष्ट्यं श्रीशुकेन स्वयमेव वर्णयिष्यमाणत्वेनावगतं सात्वतां भक्तानां पतिः पालक इति स्वभक्तपालनार्थं तैः सह वासस्तदुचितलीलायोग्य एवासीदिति भावः। अत्रोत्तरं तत्र तत्र श्रीमदुपनन्दवाक्यं श्रीभगद्वाक्यञ्च दृश्यम्। एवमुत्तरत्रापि ॥ ९ ॥ किञ्च, तत्र तत्र कृतं सर्वं कथयेत्याह—व्रज इति द्वाभ्याम्। बृहद्वने वृन्दावने व्रजे मथुराख्यायां द्वारकाख्यायां च मधूनां पुर्यामिति तत्तद्वाससमयेऽन्यत्र कृतमपि त्रत तत्रैव पर्यवसायितं कः ब्रह्मा ईशो रुद्रः तौ वयते स्वमहिम्ना व्याप्नोतीति किम्वा अस्त्यर्थे वः तौ सेवकोत्तमतया विद्येते अस्येति परमेश्वरतोक्ता अतस्तत्र तत्राद्भुतान्येव कर्माणि सम्भवन्तीति भावः। किं किमित्यवधीदिति विशेषणभेदेनार्थभेदात् पूर्वेणैवान्वयः। कस्मादिति टीका च तद्व्याख्यैव। कस्मादिति पाठे टीका स्पष्टैव अद्धा स्वयमेवेत्यर्थः। देहं मानुषमिति। मानुषप्रचुरत्वान्मानुषं विराडंशत्वात्तद्वद्देहमिव देहं मर्त्यलोकमित्यर्थः। तदीयसाक्षाद्देहस्य "विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्" इति विराडंशात् प्राकृतमानुपत्वं निषिध्य परमतत्त्वतया स्थापनात्। अथ व्याख्यान्तरं, मानुषशब्दोऽत्र यादवशब्दवन्मनुवंशप्रादुर्भूततापरः। आश्रित्येति। चक्षुराश्रित्य रूपे स्थित इत्यादिवत् प्रकाशयेत्यर्थः। "स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः" इत्यत्र च स्वाश्रयशब्दश्च तथा "योगमायामुपाश्रितः" इत्यत्र च तद्वदिति मानुषं मनुष्याकारं परमसुन्दरं देहमाश्रित्य प्रकटीकृत्य सच्चिदानन्दघनत्वेन तस्य नित्यत्वाद्वृष्णिभिः सहेति वृष्णीनामपि तादृशत्वं व्यञ्जितम्। यदुपुर्यां श्रीद्वारिकायां कतीति प्राकट्यसम्बन्धीनि कियन्ति वर्षाणि मर्यादीकृत्येत्यर्थः। मधुपुर्यामिति पाठे पूर्ववत्। याः पत्न्यः अभवन् ताः कति ? कियतीनां तादृशं भाग्यं जातमित्यर्थः। अहो तत्तद्विशेषा मयाऽनभिज्ञेन कति प्रष्टव्याः त्वया स्वयमेव सर्वे कथ्यन्तामित्याह—एतदिति। पृष्टमन्यच्चापृष्टमपि कृष्णस्य नराकृतिस्वयम्भगवत अत एव विचित्रं चेष्टितं तत्तद्वचनसामर्थ्ये हेतुः, हे मुने तत्तल्लीलामननशील ! नन्वनन्तत्वात् कथमेकस्य सर्वभननं स्यात् ? तत्राह, सर्वज्ञेति। तदतिरिक्तमपि जानासीत्यर्थः ॥ १०–१२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद" इति सामान्यतः पृष्टानि वीर्याणि विशेषतः पृच्छति-कस्मादिति चतुर्भिः। भगवान् मुकुन्दः कस्माद्धेतोः पितुर्वसुदेवस्य गेहाद्व्रजं नन्दव्रजं गतः ? सात्वतां भक्तानां पतिर्भगवान् ज्ञातिभिर्यदुभिः सह क निवासं कृतवान् ? ॥ ९ ॥ व्रजे मधुपुर्यां च वसन् किं किमकरोत् ? मातुर्देवक्याः अद्धा साक्षाद्भ्रातरम् अत एवातदर्हणं वधानर्हं कंसं कुतोऽवधीत् ॥ १० ॥ मानुषं मानुषवदवभासमानं देहं दिव्यमङ्गलविग्रहमाश्रित्य परिगृह्य वृष्णिभिर्यदुभिः सह यदुपुर्यां द्वारकायां कति वर्षाणि अवात्सीत् ऊषितवान् ? तस्य पत्न्यः कति बभूवुः हे विभो ! ॥ ११ ॥ एतत्पृष्टमन्यदपृष्टं च यद्यत्सर्वं कृष्णस्य विचेष्टितं हे मुने ! श्रद्धानाय श्रवणोपयुक्तत्वरान्विताय मे शुश्रूषवे मह्यं हे सर्वज्ञ साकल्येन कृष्णचेष्टिताभिज्ञ ! विस्तृतं यथा तथा वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मधुपुर्यां च वसन् किं कर्म कृतवान् ? मातुर्भ्रातरं मातुलमित्यर्थः। अतदर्हणं तस्य वधस्यायोग्यमित्यर्थः ॥ १०–११ ॥ मे मह्यम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कस्मादिति। अत्र राज्ञा जन्मानुकरणदृष्ट्या पितुरित्युक्तं न तु भावतत्त्वदृष्ट्या तया तु "नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागतः" इत्यादिकं मुनिना वक्ष्यते। तत्र भावस्यैव मुख्यत्वेन व्रजेश एव मुख्यपितेति कृष्णसन्दर्भे विवृतं, क्व कथम्भूते वृन्दावने द्वारकानगरे च ज्ञातिभिः श्रीगोपैर्यादवैश्च पूर्ववदत्रापि "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" इति श्रीकंसमथनोक्तेः॥९–१०॥ देहमिति। मानुषं मानुषीयं देहं लोकम्॥ ११–१२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पितुर्वसुदेवस्य गेहाद्व्रजं महावनं गतः, व्रजं गतोऽपि पितुर्नन्दस्य गेहात् ज्ञातिभिर्गोपैः साकं क्व वासं कृतवान्॥ ९॥ मधूनां पुर्यां मथुरायां द्वारकायाञ्च, मातुर्भ्रातरं कंसं कस्मादवधीत्? अतदर्हणं मातुलत्वाद्वधाऽनर्हं वृष्णिभिः सह कति वर्षाणि अवात्सीत्? वर्षाणि कथम्भूतानि? मानुषं देहमाश्रित्य वर्त्तमानानीत्यर्थः। ततश्च मनुषमानेन कति वर्षाणीत्यर्थः फलितः "परमात्मा नराकृतिः" इति "नराकृति परं ब्रह्म" इति "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्यादिभिर्मनुष्यत्वस्यैव स्वरूपलक्षणत्वाद्व्याख्यान्तरं न घटते॥ १०–१२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कंसभयात्पितुर्गेहाद्व्रजे गमनं न सम्भवति, यतः, भगवान् कस्मैचिन्मुक्तिं दातुं तत्र गमनमपि न सङ्गच्छते, यतो मुकुन्दः सर्वत्र मुक्तिप्रदत्वेन स्थितः, अतः पृच्छति—कस्मादिति। कस्माद्दुर्लक्ष्याद्धेतोः पितुर्गेहादपि सर्वैश्वर्याश्रयादहो व्रजं गवामालयं गतः, क्व कस्मिन् व्रजविशेषे ज्ञातिभिः सह वासं कृतवान्? "भ्रातरं नन्दमागतम्" इति वक्ष्यमाणाज्ज्ञापकाद्वसुदेवादिवत् नन्दाद्याः भगवज्ज्ञातयः। किञ्च, श्रीवसुदेवेन कन्यां गृहीत्वा श्रीनन्दगृहे स्थापितस्य भगवतो न्यायतः श्रीनन्दोऽपि पिता तद्द्वारेण गोपास्तस्य ज्ञातयः भगवानपि श्रीनन्दभक्तियन्त्रितो व्रह्मवरं च सत्यं कर्तुमनेन न्यायेन तत्पुत्रोऽभवदिति बोध्यम्॥ ९॥ कस्मादवधीदिति पूर्वेणान्वयः॥ १०॥ देहं मानुषमाश्रित्य यानि वर्षाणि तानि यदुपुर्यां द्वारवत्यां कत्यवात्सीत्॥ ११॥ अन्यदः पृष्टमपि सर्वम्॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

भगवतो मथुरापरित्यागे को हेतुरिति पृच्छति—कस्मादिति। कालादिभयनिवारकस्य शुद्धब्रह्मणो भयाभावे व्रजगमने को हेतुरिति मुकुन्दपदेन सूचितम्, सर्वेभ्यो मोक्षदाता मुकुन्दः। बृहद्वनवृन्दावनादिषु मध्ये नन्दादीन् ज्ञातित्वेन परिकल्प्य **ज्ञातिभिः सह क्व वासं कृतवान्?** अथवा असज्ज्ञातिभिः सम्यग्ज्ञातिभावरहितैः **क्व वा साकं** सहभावं कृतवान्। भगवतस्त्ववतारः सतामेव संरक्षार्थः। यतः स सात्वतां शुद्धसत्त्वे प्रतिष्ठितानामेव **पतिः**॥ ९॥ प्रश्नान्तरम्—**व्रजे वसन् किमिति**। तज्जात्यनुकरणतद्भावानुकरणलीलाप्रश्नः। पूर्वोक्तानुवाद एव वा। व्रजे च वसन् किमकरोत्? कंसवधादिकं स्पष्टमपि लोके विगर्हितमिति पृच्छति **भ्रातरमिति**। **मातुर्भ्रातरमद्धा** स्वहस्तेन। मातुलस्य मान्यत्वादतदर्हनं वधानर्हम्। कस्मादिति पूर्वस्यानुषङ्गोऽत्र ज्ञेयः। व्रजे मथुरायां च के के उद्धृताः? कंसस्यापि का व्यवस्थेति प्रश्नः॥ १०॥ द्वारकायां कियत्कालं स्थितवानित्याह—**देहमिति**। अत्यन्तनटोपि प्रहरमात्रं वेषं करोति, कपटमानुषवेषं कियत्कालमास्थाय स्थित इति कालप्रश्नः। तत्र स्थितस्य विशेषप्रयोजनाभावाद्देहं **मानुषमाश्रित्येति** तत्रैवोक्तम्। **वृष्णिभिर्यादवैः सहेति** असमानसमानतापि बहुकालमयुक्तेति सूचितम्। **यदुपुर्यामिति** परस्थाने वासः। अवात्सीदिति वासे न सन्देहः। लक्ष्मीसमानभाग्यं कियतीनां जातमिति **पत्न्यः** कत्यभवन्निति प्रश्नः। **प्रभोरि**त्यनेन सर्वसामर्थ्यं तस्य वर्त्तते इति सङ्ख्योप्य नान्यथा कथनीयमिति सूचितम्॥ ११॥ अन्यदपि युक्तिविरुद्धं सोपपत्तिकं वक्तव्यमित्याह—**एतदन्यच्चेति**। अन्यदपृष्टं सर्वं भगवत्कृतम्। **म** इति तदीयत्वान्ममैतदेव कृत्यमिति। **मुन** इति ज्ञानार्थं सम्बोधनम्। **कृष्णविचेष्टितमिति** स्वतन्त्रफलत्वम्। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति सदानन्दः कृष्ण उक्तः। तच्चरित्रमपि सदानन्दरूपमेवेति फलत्वात् सर्वमेव वक्तव्यम्। एतन्मर्माभिज्ञस्त्वमेवेति **वक्तुमर्हसि**। वीर्याद्यरूपेति केवलचरित्रेऽप्यहं श्रद्दधानः। **विस्तृतमिति** तादृशोपि विस्तारो वक्तव्यः। सर्वत्रैव चरित्रे चतुर्विधेपि विस्तारः। वीर्याणि, सर्वगेयचरित्राणि, अलौकिकवीर्याण्यगेयचरित्राणीति चातुर्विध्यम्॥ १२॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

क्व वासमित्यत्र अथवेत्यादि। अधुनापि 'वयं गोवृत्तयोऽनिशं' श्रूयतां मे पित'रित्यादिवचनानामश्रवणाद्वसुदेवपुत्रत्वेन यादवत्वेन ज्ञानादेवमपि कथनं सम्भाव्यत इत्याशयेनेदमुक्तम्॥ ९॥ **देहं मानुषमित्यत्र तत्रैवोक्तमिति**। **तत्रैव** वृष्णिमानुषदेह एवाश्रयणमत्रोक्तमित्यर्थः। तेषु सर्वेषु भूभारराजपृतनानिरसनसामर्थ्याय भगवानाविष्टस्तिष्ठतीति तथा। **वृष्णिभिः** सह संव्यवहारे

क्रियमाणे वृष्णिदेहेष्वाश्रयणसंभवादपि तथा। एतज्ज्ञापनायैवाद्यश्ररण उक्तः। अन्यथा तं विनापि प्रश्नसम्पत्तेस्तं न वदेत्। एवं सति 'वृष्णिभिः सह देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि यदुपुर्यामवात्सी'दिति सम्बन्धो ज्ञेयः। अत एवाग्रे प्रभुर्वक्ष्यति 'नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चि'दित्यत्र हेतुभूतं विशेषणं 'मत्संश्रयस्ये'ति॥ ११॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कस्मादित्यत्र भगवतस्त्विति। सद्रक्षार्थमवतारः। एते तु भगवज्ज्ञातिभावरहितास्तामसा न तु सन्त इत्यर्थः॥ ९॥ **एतदन्यच्चेत्यत्र वीर्याद्यरूपेऽपीति।** चतुर्विधस्यापि चरित्रस्यान्यस्य च कृष्णविचेष्टितमिति चेष्टामात्रकथनेनानुवादादिति भावः। **वीर्याणीति।** 'तत्रांशेने'त्यनेन वीर्याणि। 'अवतीर्ये'त्यनेन सर्वगेयचरित्राणि। 'वीर्याणि तस्ये'त्यनेनालौकिकवीर्याणि। 'रोहिण्या' इत्यादिनाऽगेयचरित्राणि पृष्टानीति विभेदः॥ १२॥

श्रीबुभुत्सुबोधिका

कस्मान् मुकुन्द इत्यत्र व्रजगमन इति कारागृहं त्यजतु नाम भक्तदुःखस्मारकत्वान् नित्यसन्निहितहरिकामथुरापुरीं त्यक्त्वा व्रजगमने। मोक्षदातेति मुकुं मोक्षं ददातीति मुकुन्द इति व्युत्पत्तिः। मोक्षः कालादिभ्यो भयनिवारणम्, 'अभयं ह वै जनक प्राप्तोसी'ति बृहदारण्यकात्। 'घोः किस्तु कर्मण्यधिकरणे चे'तिसूत्रैकवाक्यतया कर्माधिकरणयोर्भवति। अतः कर्मणि घञ्। परिकल्प्येति सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितमिति परिकल्प्येत्युक्तम्। नन्दादीनामाभीरत्वेन यदुज्ञातित्वेन परिकल्पनं नास्तीति पक्षान्तरमाहुः अथ वेति। सम्यक्ज्ञातीति सम्यक्त्वं वर्तमानत्वम्। सम्यक्ज्ञातिभावो यदुषु। तद्रहितैः आभीरैः साकमितिभाव-प्रधानमित्याशयेनाहुः सहभावमिति। 'इति तु न साम्प्रत'मित्यादौ केवलाव्ययप्रयोगदर्शनात् सार्धमित्यपि मूले पाठः। ऋध्यति ऋध वृद्धौ। बाहुलकात् कम्। सह ऋधं वर्तते। सह अकम्। अम् प्रत्ययः सहस्य सः। 'सहस्ये'ति सूत्रेण। 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् वा'। अन्यट्टिप्पण्यां स्पष्टम्। ननु सहभावस्तु यत्र क्वचन गमने भविष्यत्येव किं प्रश्नेन। न च वासाधिष्ठानज्ञानेन मोक्ष इति प्रश्न इति। वाच्यम्। तदपि भविष्यत्येवेति चेद् असङ्गश्रुतिविरोधप्रश्न इति चेत् तत्राहुः भगवतस्त्विति। एते नन्दादयः परीक्षिद्बुद्ध्या सगुणाः न तु निर्गुणाः तैः सहासङ्गपुरुषवासप्रश्न इति न श्रुतिविरोधप्रश्नः। न च द्वितीयनवमाध्यायश्रवणेन विशुद्धसत्त्वप्रतिष्ठिता नन्दादय इति राज्ञो ज्ञानं वर्तत इति वाच्यम्। राजत्वान् नापाति वक्तुं शक्यत्वात्। यद्वा असङ्गः पुरुषः क सहभावं कृतवानिति प्रश्नो न सम्भवति विरुद्धत्वात्। अत उक्तं 'सात्वतां पति'रित्याशयेनाहुः भगवतस्त्विति। सात्वतां सङ्गो वर्तत इति न सर्वथाऽसङ्ग इति प्रश्नसम्भव इति भावः। सतामेति न तु भक्तानाम्। वासुदेवकार्यत्वाद् भक्तैः सह निगूढभावकरणस्य। संरक्षणेति सङ्कर्षणांशः। स इति पूर्वः। सात् सत्त्वगुणः सोस्त्येषामिति सात्वन्तः शुद्धसत्त्वे प्रतिष्ठितः प्रतिनिधितया स्थिताः तेषाम्। एवेति द्वितीय-नवमाध्याये 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति वाक्यात्॥ ९॥ व्रजे वसन्नित्यत्र तज्जातीति आभीरजात्यनुकरणम्, 'वयं गोवृत्तयोनिश'मिति वाक्योक्तं तद्भावानुकरणं, 'श्रूयतां मे पित'रिति आभीरभावः पितृत्वभावः तस्यानु-करणं ते एव लीले तयोः प्रश्नः। पूर्वश्लोके अथवेत्यत्रोक्तवाक्यद्वयाश्रवणमुक्तं परीक्षित इत्यस्वरसेन पक्षान्तरमाहुः पूर्वोक्तानुवाद इति। पूर्वोक्तपक्षयोगव्यवच्छेदक एवकारः। स्पष्टमिति राजचरित्रं राज्ञा परीक्षितोऽन्यतः श्रुतमेवेति स्पष्टमित्यर्थः। पृच्छतीति स्वेन वध्यबालकहिंसा गर्हितेति न कृतेति गर्हितप्रश्नः आत्मौपम्येन सर्वदर्शनस्य श्रीभागवते स्मरणात्। का व्यवस्यतीति मुक्ता वा संसृता वा। मुक्तेति फलिष्यति। 'कामाद् गोप्यो भयात् कंस' इति वाक्यात्॥ १०॥

देहं मानुषमित्यत्र द्वारकायामिति स्मार्तप्रयोगः। आचार्यवाचां वेदतुल्यत्वाच्छन्दसि सर्वविधिविकल्पान् न द्वारिकाया-मित्युक्तम्। तत्र स्थितस्येति वृष्णिषु स्थितस्य विशेषस्य भक्तियोगविधानादधिकस्य सङ्कर्षणांशकृतभूभारहरणादधिकस्य च प्रयोजनस्य फलस्याभावात्। अग्रेपि हेतुः। तत्रैवोक्तमिति टिप्पण्यां स्पष्टम्। न सन्देह इति लुङो भूते विधानात् नवमोक्तकृष्णजन्मनो यदुषु स्मारणात् स्वदृष्ट्या न सन्देहः॥ ११॥ एतदन्यच्चेत्यत्र युक्तिविरुद्धमिति उत्तरार्धीयं जरासन्धयुद्धादिकं, गोपालस्य राजयुद्धादिकं युक्तिविरुद्धम्। तदीयत्वादिति म इत्यस्य ममेत्यर्थादस्मत्पदार्थगोपनेन तदीयत्वम्। ज्ञानार्थमिति मन ज्ञाने दि० आत्म० अ० मन्यते। 'मनेरुच्चे'तीन्। सदानन्द इति चिद्वाचकः कृष्णशब्द इति न न्यूनता। 'सत्यं परं धीमही'त्यत्र चिदानन्दयोरुपलक्षणात्। 'अर्ह-सी'त्यत्रार्ह पूजायाम्। अत्र पूज्यो मर्माभिज्ञः इत्याशयेनाहुः एतन्मर्माभिज्ञ इति अत एव 'सर्वज्ञे'ति सम्बोधनम्। सर्वेष्वन्तर्गतानि मर्माणीति। 'सर्वज्ञः शिवः शुकोभूद् वृषध्वज' इति द्वादशस्कन्धात्। श्रद्धधान इति तस्मै। तादृशोपीति कृष्णविचेष्टितं तद् दृश्यते यत्र विस्तारे। 'त्यदादिषु दृशेरनालोचने कञ्चे'ति कञ्। अत्रानालोचनं नास्तीति कञ् दुर्लभ इति चेत् भाष्योक्ता व्युत्पत्तिरत्र महाभाष्ये कर्मकर्तरि व्युत्पत्तिर्दर्शिता। तमिवेमं पश्यन्ति जनाः। स इवायं पश्यति ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थात्। तत्र विषयत्वापत्ति-मात्रवृत्तित्वेपि विषयीकरणावृत्तित्वादज्ञानादिति सङ्गच्छते इति मनोरमा। भाष्यं च सोऽयं स इव दृश्यमानस्तमिवात्मानं पश्यतीति। यद्वा छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति। दृशेरालोचनेति कञ्चेति। बाहुलकात्। मनोरमायां अनालोचने किम्। तत्पश्यतीति तद्दर्शः। तादृशादयस्तु रूढिशब्दत्वादसताप्यवयवार्थेन व्युत्पाद्यन्ते। अत एवाज्ञानार्थाद् दृशेरिति सङ्गच्छते इति रूढिमात्रमुक्तम्। भगव-

च्छास्त्रे तु रूढिमात्रं नास्ति। पूर्वमीमांसाकारिकासूक्तम्। अतः स्वव्युत्पत्तौ रूढिर्द्रष्टव्या। अतस्तादृशशब्दो योगरूढो मन्तव्यः। वीर्याणीति 'तत्रांशेने'त्यनेन वीर्याणि, अवतीर्येत्यनेन सर्वगेयचरित्राणि, 'वीर्याणि तस्येत्यनेनालौकिकवीर्याणि, 'रोहिण्या' इत्यादिना अगेयचरित्राणि पृष्टानीतिविभेदः। न च 'वीर्याणि तस्ये'त्यत्र वीर्याणामनुवाद उक्तः, स चालौकिकेतिविशेषणं न सोढुमलमिति वाच्यम्। 'विशिष्टं शुद्धान् नातिरिच्यत' इति नैयायिकोद्घोषात्॥ १२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

मथुरापरित्यागकारणं पृच्छति—कस्मादिति। भगवान् वीर्यादिमान् अत एव मुकुन्दो मोक्षदाता कालादिभयनिवारकोऽतस्तस्य कंसादिभयासम्भवात् कस्माद्धेतोः पितुर्गेहाद्व्रजं गतः? सात्वतां यादवविशेषाणां भक्तानां पतिः ज्ञातिभिः 'अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः' इति वक्ष्यमाणत्वात् गोपैः सार्द्धं सह क वासं कृतवानित्यन्वयः॥ ९॥ को ब्रह्मा, ईशो रुद्रस्तयोरपि कं सुखं यस्मात्स केशवो भगवान् व्रजे मधुपुर्याम्, चकारात् द्वारकायां च वसन् किमकरोत्? अद्धा साक्षात्स्वयमेव कंसं कस्मादवधीत्? तद्वधेऽपि को दोष इत्यत आह—अतदर्हणमिति। न वधार्हणमिति। तत्र हेतुमाह—मातुर्देवक्या भ्रातरमिति। चकारः कस्मादित्यनुषङ्गसूचकः॥ १०॥ मानुषं देहमाश्रित्य वस्तुतः परब्रह्मत्वेऽपि नराकारमङ्गीकृत्य वृष्णिभिर्यादवैः सह यदुपुर्यां द्वारकायां कति वर्षाणि अवात्सीत्? प्रभोः सर्वकरणे समर्थस्य तस्य पत्न्यः कति अभवन्?॥ ११॥ अज्ञेन मया कति प्रष्टव्यम् स्वयमेव कृपया मच्छ्रवणयोग्यं वक्तव्यमित्याह—एतदिति। एतत् यन्मया पृष्टम्, अन्यच्च अपृष्टमपि श्रीकृष्णस्य विचेष्टितं विविधां लीलां विस्तृतं यथा स्यात्तथा सर्वं त्वं मे मह्यं वक्तुमर्हसीत्यन्वयः। कृष्णचरितस्यापारत्वादुदुर्ज्ञेयत्वाच्च कथमहं वक्तुमर्ह इत्याशङ्कां निरस्यन् सम्बोधयति—हे सर्वज्ञेति। तत्र मननशीलत्वं हेतुं सूचयन् पुनः सम्बोधयति—मुने इति। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' इति वचनेन श्रद्धाया अधिकाराङ्गत्वादात्मनोऽधिकारित्वं सूचयन्नात्मानं विशिनष्टि—श्रद्दधानायेति॥ १२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कस्मादिति॥ मुकुन्दः मुक्तिदः सात्वतां पतिर्भगवान् पितुर्गेहात् व्रजं महावनं कस्माद्धेतोर्गतः। भगवतः कंसभयशङ्काया असंभवादिति भावः। तथा ज्ञातिभिर्यादवैः सार्द्धं सह क वासं कृतवान्। यद्वा। व्रजं गतोऽपि ज्ञातिभिर्मित्रादिभिः गोपैः क वासं कृतवान्॥ ९॥ व्रज इति॥ केशवः व्रजे वसन् किम् अकरोत्। मधूनां पुर्यां मथुरायां द्वारकायां च वसन् किमकरोत्। तं वधमर्हतीति तदर्हणः न तदर्हणः अतदर्हणः वधानर्हस्तं मातुर्भ्रातरं कंसम्। अद्धा साक्षात् स्वयमेव कस्मादवधीत्॥१०॥ देहमिति॥ मानुषं मनुष्याकारं देहमाश्रित्य प्रकाश्य यदूनां पुर्यां मथुरायां द्वारकायां च वृष्णिभिः सह कति वर्षाणि अवात्सीत्। मधुपुर्यामिति पाठेऽप्ययमेवार्थः। तथा प्रभोः श्रीकृष्णस्य पत्न्यः कति अभवन्॥ ११॥ एतदिति॥ हे मुने? हे सर्वज्ञ? श्रद्दधानाय मे मह्यम् एतत्पृष्टम् अन्यत् अपृष्टं च कृष्णस्य विविधं चेष्टितं सर्वं विस्तृतं च वक्तुमर्हसि॥ १२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं प्रसक्तानुप्रसक्तं प्रश्नं कृत्वा 'कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद' इति सामान्यतः पृष्टानि वीर्याणि विशेषतः पृच्छति चतुर्भिः॥ कस्मादिति॥ मुकुन्दः अकिंचिद्रूपाल्लौकिकबन्धनतोऽत्यन्तदुरन्तात् संसृतिबन्धनतः स्वाश्रितानां मुक्तिप्रदः, भगवान् सकलैश्वर्यसंपन्नः श्रीकृष्णः, कस्माद्धेतोः, कस्मादिति भगवतः कंसभयशङ्काया असंभवादित्यर्थः। पितुर्वसुदेवस्य, गेहात्, व्रजं नन्दव्रजं, गतः। सात्वतां स्वभक्तजनानां पतिः, स्वयं स एव भगवान्, ज्ञातिभिर्यदुभिः, सार्द्धं सह, क कस्मिन् स्थाने, वासं निवासं, कृतवान्॥ ९॥ व्रज इति॥ को ब्रह्मा च ईशो रुद्रश्च केशौ पुत्रपौत्रौ स्तोऽस्येति केशवः स्वयं विष्णुः, 'शंभोः पितामहो ब्रह्मपिता शक्राद्यधीश्वरः' इति पाद्मोक्तेः। व्रजे नन्दगोष्ठे मधुपुर्यां मथुरायां च, वसन् सन्, किम् अकरोत्। मातुर्देवक्याः, अद्धा साक्षात्, भ्रातरम् अत एव, अतदर्हणं वधानर्हं कंसं कुत इति शेषः। अवधीच्च मारितवानेव। अद्धेत्यस्य साक्षात् कस्मादवधीदिति वा योजना॥ १०॥ देहमिति॥ कृष्णः, मानुषं मनुष्यवदवभासमानं, देहं दिव्यमङ्गलविग्रहम् आश्रित्य परिगृह्य, वृष्णिभिर्यदुभिः सह, यदुपुर्यां द्वारकायां, कति कियन्ति, वर्षाणि वत्सरान्, अवात्सीत् ऊषितवान्। प्रभोः कृष्णस्य, पत्न्योऽङ्गना इति कियन्त्यः, अभवन् बभूवुः॥ ११॥ एतदिति॥ हे मुने, हे सर्वज्ञ साकल्येन श्रीकृष्णचरित्राभिज्ञ, एतत् पृष्टं, अन्यत् अपृष्टं च, यद्यदिति शेषः। कृष्णविचेष्टितं श्रीकृष्णचरित्रं भवेत्, तत्तत्, सर्वं श्रद्दधानाय श्रवणोपयुक्तत्वरान्विताय, मे मह्यं, विस्तृतं यथा भवति तथा, वक्तुम् अर्हसि॥ १२॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

भगवान् मुकुन्द अपने पिताजी श्रीवसुदेव जी के घर से व्रज में किस लिए पधारे! शुद्ध सत्त्व गुण वालों के पति उन भगवान ने वहाँ ज्ञातिजनों के साथ कहाँ निवास किया?॥९॥ भगवान केशव ने व्रज में और मथुरा में रहते हुए क्या क्या किया? और निज अम्मा के भैया मामा कंस को मारने जैसा निन्दित कार्य कैसे किया॥ १०॥ मनुष्य आकार स्वीकार कर यादवों के

साथ यदुपुरी द्वारका में कितने वर्षपर्यन्त रहे ! और भगवान की पत्नियाँ कितनी थी ! ॥ ११ ॥ हे शुक मुने ! भगवान की सर्व-लीलाओं के ज्ञाता सर्वज्ञ ! मुझे श्रद्धालुओं को जो लीलाएँ मैंने पूछी हैं। तथा अन्य जो कोई भी हो वे सर्व भगवान कृष्ण की लीलाएँ विस्तार से कहने के लिए आप समर्थ हों ॥ १२ ॥

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं[1] हरिकथामृतम् ॥ १३ ॥

सूत उवाच

[2]एतं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम । वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी [3]रतिः ॥ १५ ॥
वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि । वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—त्यक्तोदम् अपि एषा दुःसहा क्षुत् त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतं पिबन्तं मां न बाधते ॥ १३ ॥ भृगुनन्दन एतं साधुवादं निशम्य अथ स भगवान् (स भगवान् इत्यप्यर्थः) वैयासकिः विष्णुरातं प्रत्यर्च्य भागवतप्रधानः कलिकल्मषघ्नं कृष्णचरितं व्याहर्तुम् आरभत ॥१४॥ राजर्षिसत्तमः वासुदेवकथायां यत् ते नैष्ठिकी रतिः जाता तव बुद्धिः सम्यग् व्यवसिता ॥१५॥ वासुदेवकथाप्रश्नः यथा तत्पादसलिलं त्रीन् (ब्रह्ममहादेवभगीरथान्) पुरुषान् हि पुनाति (तथा) वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄन् (त्रीन्) पुनाति हि ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु क्षुत्तृड्भ्यां पीडितस्य तव कुतः श्रवणावकाशस्तत्राह । नैषेति । त्यक्तोदकस्यापि मम जीवनं हरिकथामृतपान-निमित्तम् । तदुपरमे सद्य एव जीवितं न स्यादिति भावः ॥ ११ ॥ एवं साधुवादं समीचीनं प्रश्नम् । भागवतप्रधानो भागवतेषु श्रेष्ठः ॥ १४ ॥ व्यवसिता कृतनिश्चया । यद्यतो बुद्धेः ॥ १५-१६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एषेति या क्षुद्ब्रह्मण्यमपि मां मुनिकंठेऽहिं न्यधापयदिति द्योतयति त्यक्तोदमाचमनं विनेति बोध्यमन्यथा संध्योपासनादि-विहिताचमनाकरणादशुचेः श्रवणाधिकार एव न स्यादिति । पिबंतमिति वर्त्तमाननिर्देशेन क्षणमपि पानविगमे सैव विवेकहारिणी क्षुत्प्रादुर्भविष्यतीति ज्ञापयति । इहांभोजपदेन कथामृतस्य मधुरत्वमारोपितं तेन च तस्य मादकत्वं व्यज्य स्वस्य मत्तत्वादेव विप्र-शापादिसर्वदुःखविस्मारकत्वं ध्वनितम् । यद्वा—अमृतपदेन मुखांभोजस्य चंद्रत्वमारोपितं तेन मुखस्याम्भोजत्वात्सौरभ्यं चंद्रत्वा-दाह्लादकत्वं सर्वश्रोतृनमोहारित्वं स्वस्य चकोरत्वं च व्यंजितं सर्वथैव श्रीकृष्णकथासक्तिर्द्योतितेत्यन्ये ॥ १३ ॥ प्रत्यर्च्य संश्लाघ्य । व्याहर्त्तुं वक्तुम् । भागवता भगवद्भक्ता एव प्रधानानि यस्य स तथा । 'प्रधानं प्रकृतौ मुख्ये' इति कोशात् । 'नित्यं विष्णुजनप्रियः' इत्युक्तेः ॥ १४ ॥ निश्चलतया स्थितिर्निष्ठा तद्वती नैष्ठिकी उत्कर्षवती वा सर्वोत्कृष्टश्रीकृष्णचरितानुयोगात् । 'निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायाम्' इति यादवः ॥ १५ ॥ तत्पादसलिलं श्रीगंगा शालग्रामतीर्थं वा । गंगा तु त्रीन् स्वर्गमर्त्यपाताललोकान्पुनातीति । यद्वा—"गंगेति श्रवणात्प्रश्नात्कथनाच्च शुचिर्भवेत् । किं पुनर्दर्शनात्स्नानान्महिमानं ब्रुवे ततः ॥" इत्यादिपुराणाच्च । एवं "शालग्रामशिलातोयं सर्वेषां सर्वपापहम्" इत्यपि ज्ञेयम । "शालग्राममणौ यंत्रे स्थंडिले प्रतीमायां वा विष्णुमर्चयेत् । शालग्रामशिलातोयं यः पिबेत्तस्य पापं न विद्यते कोटिजन्माघनाशनं विष्णुपादोदकमवश्यं पेयम् । भूमौ बिंदुपातनादष्टगुणपापवृद्धिः" इति तैत्तिरीयगौतमगृह्यसूत्र-चतुर्दशाध्याये पूजाप्रकरणोक्तेः । शालग्रामः साक्षाद्विष्णुमूर्तिरेवेति तज्जलं गंगावत्पादजलमेव "शालिग्रामशिलातोयं यो ददाति करोति यः । यो वा पिबति विप्रेंद्र न स गर्भगृहे वसेत्" इति त्रिपावनत्वं श्रूयते विष्णुधर्मे गंगावत् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो भगवन् ! मया पूर्वं महानुभावविप्रापराधजन्मानुतापदुःखमचिरतः प्राणानां त्याजकतया लब्धं येनैवोदकमपि त्यक्तम् किन्त्वनेन कथामृतेनैव ते रक्षिताः अतस्तद्विनाऽधुनैव मत्प्राणा निर्यास्यन्तीत्याह—नेति । अतिदुस्सहा अतिकृच्छ्रेणैव न तु

---

१. भोजाच्च्युतं—वीर. भोजसृतं—विज. २. एवं—श्री. वंशी. जीव. वीर. विश्व. शुक. ३. मति—वीर.

स्वेच्छया सह्यो ति मुनिगले मृतसर्पनिक्षेपहेतुमदीयतृष्णावत् सर्वानर्थमूलमपि सेत्स्यत्यर्थः। तत्राप्येषा अनशनोत्था तत्रापि हेतुविशेष-स्त्यक्तोदमपि उदकमपि त्यक्तवन्तमित्यर्थः। तादृशतृष्णयापि सहितेति विवक्षितम्। सापि मां न बाधते तथा पीडां नानुभवामीत्यर्थः। यद्वा, अन्यैरतिदुःसहापि मामपि सदा विविधभोगेन मृदुतराङ्गमपि तत्र त्यक्तोदकमपि न बाधते। किम्वा कथाश्रवणादौ किञ्चित् विघ्नमपि कर्त्तुं न शक्नोतीत्यर्थः। नन्वः सर्वादौ निर्देशः निषेधस्यात्यन्तापेक्षया, तत्र हेतुः, हरेः सर्वदुःखहरस्य भगवतः कथैवामृतं संसारविस्मरणादिना परममादकत्वान्मधुरतरत्वाच्च तत्पिबन्तं परमासक्त्या सेवमानमित्यर्थः। अतः क्षुधामात्रनिरसनं तस्या किमाश्चर्यमिति भावः। एवं प्रसिद्धामृताद्वैशिष्ट्यमुक्तम्, वर्तमानप्रयोगेण पानाविच्छेद उक्तः। अतस्तद्विच्छेदोऽनुचित इति भावः। यद्वा, पाने प्रवर्त्तमानमात्रं तदारम्भेवारभ्येत्यर्थः। किं पुनरधुना श्रीकृष्णकथां पिबन्तमिति भावः। किञ्च, तव मुखमेवाम्भोजं सुन्दराकारत्वादिना तस्मात् परमामोदयुक्तात् पात्रात् क्षरितमिति गुणप्रकर्षो दर्शितः, श्रीभागवतोत्तममुखेन भागवतकथाया माधुरी-विशेषोदयात्, यद्वा, अमृतक्षरणेनाऽऽस्याम्भोजस्यालौकिकत्वं दर्शितम्। तादृगम्भोजं यद्वदमृतमेव स्रवति तद्वत्त्वन्मुखमपि श्रीहरि-कथामृतमेव स्रवतीति, एवं श्रीपरीक्षितो गाढरागव्यक्तिर्जाता ॥ १३ ॥ तादृशतदुक्त्या परमप्रीतस्सन् श्रीबादरायणिः प्रवक्तुं प्रवृत्त इत्याह—एवमिति। ईदृशं भृगुनन्दनेति शौनकस्य सम्बोधनं प्रहर्षोदयात् अथ तत्प्रश्नानन्तरमेव सः परमानिर्वचनीयमाहात्म्यः यतो वैयासकिः वेदव्यसनात् व्यासः तस्य सर्ववेदतत्त्वज्ञस्य परमसङ्कल्पलब्धः पुत्रः भगवान् "उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति" इति श्रीविष्णुपुराणात् किम्वा भगवद्भागवतयोः समानादरणीयत्वेन "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्" इति रीत्या चाभेदाभिप्रायात्। विष्णुना गर्भे प्रविष्टेन भगवता रातं ब्रह्मास्त्रतो रक्षित्वा श्रीयुधिष्ठि-रादिभ्यो दत्तम्, किम्वा रातं स्वीकृतमिति तस्यापि परमभागवतत्वमुक्तम् प्रत्यर्च्य वक्ष्यमाणप्रकारेण विविधश्लाघया सम्मान्य कृष्णस्य सर्वचित्ताकर्षकस्य भगवतश्चरितम्। किञ्च कलौ यत् कल्मषं सुदुस्तरं पापं तदपि, यद्वा सर्वपापहेतोः कलेरपि किं पुनस्त-त्कालीनजनस्य कल्मषं दोषम्, यद्वा "किं तत्त्वं किं फलं किम्वा साधनम्" इत्यादिविषयकः कलिः कलह एव कल्मषं श्रीभगव-न्माहात्म्यानिर्धारात् तद्धन्तीति तथा तत् श्रीभगवच्चरितश्रवणादिनैव तन्माहात्म्यविज्ञानादशेषकलहदोषनिवृत्तेः, यद्वा, कलिश्च अत एव कल्मषञ्च सर्वदुःखमूलं च पापं संसारदुःखमेव हन्तीति सर्वदुःखहन्तृत्वमुक्तम्, यद्वा, कथम्भूतं विष्णुरातम्। कलिकल्मषघ्नं कलिरूपकल्मषजयिनम् ननु, राजसभायां विविधव्यासनमुनिगणाग्रे परमगोप्यं तत्कुतः प्रकाशितं तत्राह भागवतेति। भागवता एव श्रीभागवतशास्त्रमेव वा प्रधानं श्रेष्ठं परमादरणीयं यस्य सः तदुक्तम् "हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः" इति। सर्वत्राप्यनन्यापेक्षत्वादिति भावः। अथवा, भागवतश्रेष्ठत्वात्तेषामपि मनः सजातीयं कृतवानिति भावः। यथोक्तं श्रीप्रह्लादमुद्दिश्य "स उत्तमश्लोकपदारविन्दयोर्निषेवया किञ्चन सङ्गलब्धया। तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहुर्दुःसङ्गदीनस्य मनः समं व्यधात्" इति अत्र प्रधानशब्दस्य पुंस्त्वमार्षम् ॥ १४ ॥ व्याहर्त्तुमारभतेत्युक्त्वाऽपि श्रीशुक उवाचेति पुनः पृथक्कृत्य वचनम्। श्रोतॄणामुक्तार्थाविष्टानामवधापनार्थम्। तेषां वक्ष्यमाणश्रवणौत्सुक्ये तु क्वचित्तदपि नास्तीति। एव-मन्यत्रापि ज्ञेयम्। तत्र श्रीशुक इति प्रेमभरोदयेन शुकवन्मधुरभाषणात्। तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते व्यासं प्रति श्रीकृष्णवाक्यम् "व्यास! त्वदीयतनयः शुकवन्मनोज्ञं ब्रूते वचो भवतु तच्छुक एव नाम्ना" इति। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। वक्तृश्रोत्रोरन्योऽन्यं प्रीणनेनैव कथायां रसो जायेतेति राज्ञः प्रश्नं प्रागभिनन्दति सम्यगिति द्वाभ्याम्। सम्यग्व्यवसिता सम्यक् निश्चया वासुदेवस्य सर्वैश्वर्यप्राकट्यार्थं वसुदेवाज्जातस्य कथायां तच्छ्रवणे इत्यर्थः। नैष्ठिकी परमकाष्ठां प्राप्ता रतिः प्रीत्युत्कर्षस्तच्च युक्तमेवेत्याशयेन सम्बोधयति। राजर्षयो भरताद्यास्तेषु सत्तमेति मुनिसत्तमेति वत्। यद्यपि सामान्यतो भगवत्कथाश्रवणेन मुहुः प्रेम्णा विवशीभवन्तं राजानमवधापयितुं स्थाने स्थाने तत्सम्बोधनं तथापि तत्तत्प्रसङ्गवशात् कुत्रापि कश्चिद्विशेषो व्याख्यायते ॥ १५ ॥ अतस्त्वयाऽऽत्माऽहं मुनयोऽपि तदकथनतदश्रवण दिहेतुमलतः शोधिता इत्याशयेन सामान्यत आह—वासुदेवेति। तन्नाम्नः पुनरुक्तिस्तस्यैवोत्कर्षव्यापनेन तन्निष्ठार्थकथायाः प्रश्नोऽपि त्रीन् त्रिविधान् हि निश्चितं पुरुषानिति तेषामेव प्राधान्यात्। वक्तारं प्रश्नस्यैव पवित्रीकुर्वाणत्वात् वक्तृत्वेन स्थापितं सन्तमेव किमुत वक्तुं प्रवृत्तं किमुततरां स्वजन्मभूमिं प्रच्छकम्। अस्तु तावत्तद्द्वयमपि यत आनुषङ्गिकतया तत्प्रश्नश्रोतॄनपि तत्र वक्तुः प्रष्टुश्चैकत्वं तस्य तस्यानेकत्वायोग्यत्वात्। अधिकारानपेक्षया सर्वेषामेव भगवत्सम्बन्धमात्रेण पावने दृष्टान्तः। तस्य पादसलिलं गङ्गाजलं श्रीशालग्रामादिचरणामृत वा तद्यथा प्रष्टृस्थानीयं तेन सेक्तारं प्रथमतः पुनाति ततो वक्तृ-स्थानीयं सिच्यमानञ्च ततः श्रोतृस्थानीयानानुषङ्गिकतया सिच्यमानसङ्गिनाऽपि तथेत्यर्थः। तथा चैकादशे

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वाऽनुमोदितः। सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥ इति ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

प्रायोपविष्टस्याशनायापिपासाभ्यामर्दितस्य तत्र कथं श्रवणोपयुक्तचित्तसमाधानसम्भवः ? इत्यत्राह—नैषेति। त्यक्तमुदक-पानं येन तथाभूतमपि मां दुस्सहा सोढुमशक्या एषा क्षुत् न बाधते, तत्र हेतुं वदन्नात्मानं विशिनष्टि, त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं गलितं हरिकथैवाऽमृतं तत् पिबन्तं मामित्यन्वयः ॥ १३ ॥ इत्थमापृष्टो भगवान् शुकः श्रीकृष्णचरित्रं विस्तरतः कथयितुमारेभ इत्याह सूतः—एवमिति। हे भृगुनन्दन शौनक! एवमित्थं साधुवादं साधो परीक्षितो वादमुक्तिं प्रश्नरूपं निशम्य स भगवान्

वैयासकिः शुकः ततो विष्णुरातं परीक्षितं प्रत्यर्च्य प्रत्यभिनन्द्य कलिकल्मषघ्नं शृण्वतां वदताञ्च कलिकालकृतपापघ्नं कृष्णस्य भगवतश्चरित्रं व्याहर्तुं विस्तरतो वक्तुं दशमैकादशस्कन्धद्वयेन वक्तुमिति यावत्, आरभत प्रारेभे युक्तं चैतदित्यभिप्रायेण विशिनष्टि, भागवतप्रधानः भागवतं भगवत्स्वरूपगुणाद्यनुसन्धानमेव प्रधानं मुख्यं प्रयोजनं यस्य तथाभूतः ॥ १४ ॥ तावत्प्रत्यर्च्याह–सम्यगिति द्वाभ्याम्। हे राजर्षिसत्तम! तव बुद्धिः सम्यग्व्यवसिता निश्चिता हेयोपादेयविवेकयुक्तेत्यर्थः। कुत एतज्ज्ञातव्यमित्यत्राह—यद्यस्माद्वासुदेवकथायामेव तव मतिः नैष्ठिकी निष्ठायुक्ता वासुदेवकथाश्रवण एव परिनिष्ठितेत्यर्थः ॥ १५ ॥ किं तच्छ्रवणनिष्ठामात्रेणेत्यत्राह–वासुदेवेति। वासुदेवकथाप्रश्न एव किं पुनस्तच्छ्रवणादिकमित्यभिप्रायेण प्रश्न इत्युक्तम्। यद्वा, प्रश्नप्रतिवचनतच्छ्रवणानां त्रयाणामुपलक्षणार्थः प्रश्नशब्दः। त्रीन् पुरुषान् पुनाति, कान्? वक्तारं प्रतिवक्तारं पृच्छकं पृच्छन्त श्रोतॄंश्चेति त्रीन्। वक्त्रा प्रतिवक्त्राचैकेनैव भाव्यमभिप्रायेण वक्तारं पृच्छकञ्चेत्येकवचननिर्देशः। श्रोतृभिस्तु बहुभिरपीति बहुवचननिर्देशः। यथा तस्य वासुदेवस्य पादसलिलं गाङ्गमम्भः पुनाति तद्वदिति पवित्रीकरणमात्रे दृष्टान्तः। न तु पुरुषत्रयपवित्रीकरणे त्रयाणां तत्राऽसम्भवात्। यद्वा, यथा गाङ्गं सलिलमुपस्पृशन्तं तत्पितरं पितामहं च पुनाति तद्वदिति दृष्टान्ताभिप्रायः। यथा तत्पादसलिलमुपस्पृशन्तमेकमेव पुरुषं पुनाति न तथा तत्कथाप्रश्नः पुनाति अपि तु त्रीनिति व्यतिरेकदृष्टान्तो वाऽभिप्रेतः ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

क्षुधितस्य तव दौर्बल्यान्मनो नेच्छति श्रोतुमिति तत्राह—नैषेति। त्यक्तोदम् आचमनजलमन्तरेणेति शेषः। ननु, दिव्यमन्त्रौषधादिकमन्तरेण क्षुधादिकं मानुषदेहं बाधत एव अतः कथं न बाधते? इति तत्राह—पिबन्तमिति। सुतङ्गलितम् ॥ १३ ॥ सूतः शौनकं प्रत्याह—सूत इति। हे भृगुनन्दन शौनक! प्रत्यर्च्य प्रतिसम्भाव्य राजानमिति शेषः ॥ १४ ॥ कीदृशी प्रत्यर्चा? इति तामाह—सम्यग्व्यवसितेति। नैष्ठिकी श्रीनारायणोत्कर्षसम्बन्धिनी "निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायाम्" इति यादवः। निश्चलतया स्थितिर्निष्ठा तद्वतीति वा ॥ १५ ॥ न केवलं हरिकथाप्रश्नः प्रष्टारं पुनाति किन्तु वक्तारमपीत्याह—वासुदेवेति। तत्पादसलिलं भागीरथी शालग्रामतीर्थं वा "गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात्" इत्यादेः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नैषेति श्रीपरीक्षितो गाढरागव्यक्तिः त्यक्तोदमपीति उदकमपि त्यक्तवन्तमित्यर्थः सम्यक् ॥ १३–१८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

क्षुधातृषाव्याकुलस्त्वं क्षणं विश्राम्येति भावादीरित्याहनैषेति। या क्षुत् ब्रह्मण्यमपि मां मुनिगले सर्पं न्यधापयदिति भावः। त्यक्तोदं सम्प्रति तु त्यक्तजलमपि तस्या अपि बाधाभावे हेतुः। पिबन्तमिति। वर्त्तमाननिर्देशेन क्षणमपि पानविरामे सैव विवेकहारिणी क्षुधा प्रादुर्भविष्यतीति ज्ञापयति। अत्राम्भोजपदेन कथाऽमृतस्य मधुत्वमारोपितम्। तेन च तस्य मादकत्वमभिव्यज्य स्वस्य मत्तत्वादेव विप्रशापादिसर्वदुःसहदुःखविस्मारकत्वं ध्वनितम्। यद्वा, अमृतपदेन मुखाम्भोजस्य चन्द्रत्वमारोपितम्। तेन मुखस्याम्भोजत्वात् सौरभ्यं चन्द्रत्वादाह्लादकत्वं सर्वश्रोतृजनतमोहारित्वं स्वस्य च चकोरत्वं व्यञ्जितम्। सर्वथैव कथायां गाढासक्तिर्द्योतिता ॥ १३ ॥ हे भृगुनन्दन शौनक! कलौ जनिष्यमाणानामपि कल्मषं संसारदुःखं हन्तीति तत्, यद्वा कलिरूपं कल्मषं हन्तीति विष्णुरातविशेषणमपि भागवतेषु प्रधान इति पुंस्त्वमार्षम्। यद्वा, भागवता एव मान्यत्वेन प्रधानानि यस्य सः ॥ १४ ॥ सम्यग्व्यवसिता सम्यङ्निश्चया यद्यतो बुद्धेः राजर्षिसत्तमेति भा महामानद! मुनिसत्तमेति त्वया सम्बोधितात्मनोऽपि त्वयि राजत्वमधिकमस्तीति ज्ञापयति श्लेषेण तु राजदन्तादित्वात् त्वमृषीणां सत्तमानां च राजा श्रीकृष्णप्रियतमत्वादेव यतो जन्ममरणकालयोर्ब्रह्मतेजोऽपि व्यर्थीकरोषीत्यर्थमप्यन्तरुपचिक्षेप ॥ १५ ॥ तत्पादसलिलं श्रीशालग्रामादिचरणामृतं त्रीन् पुरुषान् सेक्तारं सिच्यमानं तदुभयसङ्गिनश्च पुरुषान्, यद्वा, गङ्गा यथा त्रीन् ऊर्ध्वमध्याधोलोकान् पुनाति तथैव वक्त्रादीन् त्रीन् पुरुषान् यथापूर्वं श्रैष्ठ्यन् ॥१६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीकृष्णवीर्यश्रवणे त्यक्तोदस्यात्मनोऽव्यग्रताहेतुं हरिं हरिकथां गुरुकृपाविशेषं चाह—नैषेति ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णलीलाश्रवणे राज्ञः प्रीत्यतिशयमवधार्य दुष्टनिरोधं दूरीकृत्य क्रमप्राप्तान्मुख्यनिरोधात्प्रागाश्रयं वक्तुमारम्भं कृतवान् शुक इत्याशयेनाह शौनकं प्रति सूत–एवमिति। साधुवादं सत्प्रश्नम् ॥ १४ ॥ हे राजर्षिसत्तम! ते तव नैष्ठिकी रतिः क्षुत्पिपासादिभिरदुष्टा या प्रीतिरस्ति। यत् यथा तव वासुदेवकथायां सम्यग्व्यवसिता सम्यक्कृतनिश्चया बुद्धिर्जाता ॥ १५ ॥ तत्पादसलिलं श्रीगङ्गोदकादिरूपं ब्रह्मशिवभगीरथादीनिव ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं द्वादशभिः प्रश्नं निरूप्य सर्वथा कथनार्थमकथने वा बाधकमाह—नैषेति। आर्तिकथनायैषेति। अप्रयोजकत्वं वारयति–अतिदुःसहेति। क्षुन्मामिति प्रमाणकथनम्। उदकत्यागः प्रकारान्तरेण देहरक्षाभावार्थः। एषा परमोत्तमाधिकारस्थितिः।

उदकस्योभयनाशकत्वात् तथोक्तम्। क्षुधो भ्रातृव्यत्वश्रवणाद्वयस्य बाधकत्वात्तदेवोक्तम्। शीघ्रकथनाय वर्तमानप्रयोगः। अम्भोजत्वममृतस्रावात्। कथाकथने वक्तुः परवशत्वापादकं चरित्रमिति ज्ञापयितुं च्युतमिति। पानमन्तःप्रवेशनमविस्मरणाय। इदानीमपि पूर्वोक्तकथनानुसन्धानाद्वर्त्तमानप्रयोगः। संभावनयेत्यन्ये। आनन्दत्वचेतनत्वद्योतनायाह-हरीति। विशेषतो दुःखनाशकत्वं तत्र प्रसिद्धमिति। विशेषतो हरिकथा अमृतमिवेत्यमृतपदे यौगिकोर्थो गृहीतः। असङ्कोचान्मुक्तिरेव फलति। अतस्त्वमेव मोक्षदातेति वक्ता स्तुतः॥ १३॥ शौनकादीन् सावधानतयाभिमुखान् करोति सूतः—एतमिति। परस्पराभिनन्दनेनायमर्थः स्फुरतीति तथा प्रतिपाद्यते। एतस्य प्रश्नस्य मूलत्वात् प्राधान्येन निर्देश एतमिति। पुनः पुनः प्रश्ने वक्तुरुद्वेगः सम्भवति। आक्षेपे क्रोधः। तदुभयं निरस्यति—निशम्येति। नितरां श्रुत्वा, अर्थतोभिप्रायतश्च समीचीनमिति, न तु दाक्षिण्येनेत्यर्थः। विश्वासार्थं भृगुनन्दनेति सम्बोधनम्। हेतुभूतं विशेषणं साधुवादमिति। शब्दतो वदनं वादः साधूनां वादः साधुवादः, साधवः पदार्था भगवत्सम्बन्धिनोस्मिन्नुच्यन्त इति। साधूनां वादा यस्मादिति वा। वीतरागा भगवत्कथामेव कुर्वन्तीति निरूपितप्रमेयस्य साधुवादत्वज्ञापनाय विशेषणम्। भगवद्भक्ताश्चेन्मिलन्ति तदैवं वाक्यं प्रष्टव्यमिति महता कष्टेन व्यासो भगवद्गुणप्रतिपादकमिदं शास्त्रं चकार। तस्य प्रवर्तनार्थं च शुकः प्रवृत्तः। तादृशं प्रश्नरूपं साधुवादमेवापेक्षते। महता प्रयासेन भगवन्मतप्रवर्तकत्वात्। तदाह-वैयासकिरिति। तथापि भगवच्चरित्रस्य दुर्ज्ञेयत्वात्कथमुत्तरमत आह—स भगवानिति। भगवता सहितः। तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीत्यर्थः। नन्वेवं भगवान् स्वयमुत्तरं प्रयच्छति कथमित्याशङ्क्याह—विष्णुरातमिति। अथेति भिन्नोपक्रमे। एतावत्कालं शुकः स्वयमेवाह। इदं चरित्रं तु तत्र स्थितो भगवानेवाऽऽहेति भिन्नः प्रक्रमः। विष्णुना एतदर्थमेव रक्षितः। अन्यथा पुरुषार्थो न सिद्ध्यतीति किं रक्षणेन। श्रवणे निमग्नचित्तत्वात् प्रत्यर्चनम्। पूर्वं शुकः स्तुतः। तेन शुकोपि तमग्रे स्तौतीति प्रत्यर्चनम्। पूज्यो हि भगवान्, तद्गुणाश्च। ते चोभयत्र पूर्णा इति परस्परं पूजा। एवमेव भगवत्कथायां परस्परार्चनं शास्त्रसिद्धम्, 'येऽन्योन्यतो भागवता' इति वाक्यात्। एतावदुद्योगस्य फलमाह कृष्णेति। अवतारचरित्रत्वेनालौकिकत्वमुक्तम्। पापस्य प्रतिबन्धकत्वान्नात्र श्रद्धा भविष्यतीत्याह-कलीति। षण्णां शोधकानां देशादीनां धर्महेतूनां चाभावाच्चरित्रमेव शोधकम्। अन्यथा युगे धर्मप्रवृत्तिर्मोक्षो वा न स्यात्। महता प्रक्रमेण समारम्भे हेतुः-भागवतप्रधान इति। भागवता एव प्रधानं यस्येति। विशेषेणाहर्तुं वक्तुमारम्भं कृतवान्। अत एव मननपरित्यागेन कथामेव कथयति, सभाजयति च तामेव, न ज्ञानादिकमिति भावः॥ १४॥ समानशीलव्यसनं दृष्ट्वा राजानं प्रश्नं चाभिनन्दति द्वाभ्याम् सम्यगिति। भगवति लयात्पूर्वं स्थिरप्रज्ञतैव सर्वोत्तमा। सम्यग् व्यवसायं भगवत्कथैव श्रोतव्या, नान्यत्किञ्चिदित्यध्यवसायं प्राप्ता। ब्रह्मर्षीणामप्येतद्दुर्लभं, तव तु जातमित्याश्चर्येण सम्बोधनं-राजर्षिसत्तमेति। राजा स्वधर्मनिष्ठः, स च लौकिकः। ऋषिर्वैदिकधर्मनिष्ठः। स चासौ सन् भगवद्धर्मनिष्ठः। तत्राप्युत्कर्षो भगवदङ्गीकारात्। अत एव तवैतादृशो व्यवसाय उचित इति भावः। द्विधा च निश्चयः सम्भवति, शास्त्रार्थनिश्चयात् स्वरुच्या वा। तत्राद्यो मध्यमः। त्वं तूत्तम इत्याह—वासुदेव इति। यत् यस्मात् कथायां रतिर्जाता। सापि न चञ्चला, न केनाप्यन्यथाकर्तुं शक्या। निश्चयस्य सम्यक्त्वपोषिका रतिः। यस्मान्निश्चयाद्वासुदेवकथायां रतिर्जातेति वा। अथवा हेतुद्वयं राजाभिनन्दन एव। दुर्लभत्वं कथारतेर्वदन् कारणभूतं निश्चयमाह। साध्यसाधनयोर्निष्पन्नत्वात्सभाजनम्। प्रश्नेन चैवम्भावस्तस्याभिज्ञातोऽतोर्थात्प्रश्न एव स्तुतः॥ १५॥ प्रकारान्तरेणापि साक्षात् प्रश्नं स्तौति—वासुदेवेति। वासुदेवस्य मोक्षार्थत्वात् तत्सम्बन्धि यत्किञ्चिद्वस्तु तत् पवित्रयत्येव। तत्रापि कथा तत्सम्बन्धिगुणदोषाभिनिवेशजनिका। तत्रापि प्रश्नस्तज्जिज्ञासाया दार्ढ्ये हेतुः। त्रीन् पुरुषान्। प्रश्नानन्तरं कश्चिद्वक्ता, कश्चिच्छ्रोता मध्यस्थः, प्रश्नकर्ता च त्रयो भवन्ति। स्तब्धचित्ततया पूर्वं वक्ता भगवद्गुणाभिज्ञोपि तूष्णीं स्थितः। तत्र भगवद्गुणेषु तूष्णीम्भावः पापादेवेत्यध्यवसीयते। प्रश्ने च यदुद्गता भवन्ति गुणास्तत्पापनाशादेव। श्रोतॄणामपि विद्यमाने पापे भगवत्प्रवणं चित्तं न भवतीति, प्रश्ने च जायत इति तत्पापनाशकत्वमपि। प्रश्नं करिष्यामीति यदा मनसि प्रश्न उद्गतस्तदा पापे विद्यमाने मुखान्न निःसरति। यदा पुनर्निःसरति तदा तस्यापि पापं नाशयतीति ज्ञायते। अतस्त्रीन् पुरुषान् पुनातीति युक्तं, तदाह—हीति। प्रश्नकर्तुः पितृपितामहादयो भविष्यन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति—वक्तारमिति। वक्तारमुत्तरस्य। पृच्छकः प्रश्नकर्ता। श्रोता मध्यस्थः। यद्यपि श्रोतृत्वं पूर्वयोरप्यस्ति, तथापि निमित्तं भिन्नमिति तदेव प्रयोजकत्वेनोक्तम्। पुरुषपदं पूर्ववत्। तत्र कार्यान्तरार्थान् वारयति—त्रीनिति। पावित्र्यमनेकविधं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पावनत्वं विशिनष्टि दृष्टान्तेन—तत्पादसलिल यथेति। प्रश्नः क्वचिदुद्गतः। कश्चित् प्रेरितवान्। कश्चिदभिमुखीचकार। नैतावता परमः पुरुषार्थः सिद्धः, यदा पुनस्त्रयाणां चित्तं भगवदेकनिष्ठं करोति तदा हि सफलता। गङ्गा च पुनः साक्षाद्भगवत्सेवौपयिकं शरीरमुत्पादयति पूर्वसम्बन्धि पापं तत्कार्यं नाशयित्वा, तथा भगवत्कार्योपयोगि चित्तं यावदा भवति तावतीं शुद्धिं करोतीत्यर्थः। त्रीन् त्रिलोकस्थान् सात्त्विकादिभिन्नान् वा। कूलद्वयस्थितान्मध्यस्थान् वा। ब्रह्माणं महादेवं भगीरथं च वा॥ १६॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नैवेत्यत्र सम्भावनयेति। कथयिष्यतीतिसम्भावनया। वर्त्तमानसामीप्याद्वर्त्तमानप्रयोग इत्यर्थः॥ १३॥ **सम्यगित्यत्र पूर्वार्द्धे** व्यवसायशब्देनोक्तं निश्चयं स्तोतुमुत्तरार्द्धं वदतीत्याशयेन तदवतारयन्ति **द्विधेत्यादि**। द्विधा व्याकुर्वन्ति। तत्र **यस्मादि-**

त्यादि रतीत्यन्ता एका व्याकृतिः। तथा च नैष्ठिकरतिपोषितनिश्चयवत्त्वात्त्वद्बुद्धिरुत्तमेत्यर्थः। **यज्जातेतिपदं** समस्तमङ्गीकृत्य द्वितीया व्याकृतिः **यस्मान्निश्चया**दित्यादि। तथा च निश्चयोत्पन्ननैष्ठिकरतिमत्त्वात्त्वद्बुद्धिस्तथेत्यर्थः। पूर्वार्द्धे 'तवे'तिपदे सत्य-प्युत्तरार्द्धे 'त' इति पदं यदुक्तं ततः प्रकारद्वयेनापि राजैव स्तूयत इत्याशयेन तृतीयं पक्षमाहुः–**अथवे**त्यादि। पूर्वार्द्धोक्तं हेतुद्वयं राज्ञो नैष्ठिकरत्याधारतायोग्यत्व एव सम्भवतीति तद्द्वारा राजस्वरूपमेव स्तूयत इति तथेत्यर्थः। तत्फलमाहुरित्यादि दुर्लभत्वमित्यादि **कारण-भूत**मिति। कथारतिकारणभूतम्। तथा च सभायां यद्यपि देवब्रह्मराजर्षयः सर्वेऽपि तिष्ठन्ति तथापि तवैव जातमिति त्वमेव सभाजनीय इत्यर्थः। एतेन सिद्धमर्थान्तरमाहुः–**प्रश्नेने**त्यादि ॥ १५ ॥ **वासुदेवकथे**त्यत्र **पूर्ववदि**ति। 'निवृत्ततर्षै'रितिश्लोके व्याख्यातपुंपदवत्। तथा च प्रश्नोपि आसुरव्यतिरिक्तानेव त्रीन् पुनातीत्यर्थः ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नैषेत्यस्याभासे बाधकमिति भावप्रधानम्। अकथने सति क्षुधः प्राणबाधकत्वमाहेत्यर्थः। **व्याख्याने उदकत्याग** इति। पाञ्चभौतिके शरीरेऽन्नजलाभ्यां पृथिव्यंशजलांशयोः पोषणं क्रियते, अन्यथा तेजोंऽशस्तावंशौ दहेत्तथाऽन्नाभावे केवलजलेनापि जलांशाभिवृद्ध्या तेजोंऽशसंशमनेन देहरक्षा भवति तेन प्रकारेण रक्षाभावार्थ इत्यर्थः। **एषे**ति देहरक्षार्थं सर्वथा यत्नाभाव इत्यर्थः। **उभयनाशकत्वादि**ति। जलं क्षुत्तृषोरुभयोरपि नाशकमतो जलग्रहणे क्षुदपि न बाधेतेत्यर्थः। तर्हि विशेषात्तृण्न बाधत इत्येव कुतो नोक्तमित्यत आहुः—**क्षुध** इति। **त्वन्मुखाम्भोजच्युत**मितिपदस्य तात्पर्यमाहुः—**आनन्दत्वे**ति। कथामृतस्यानन्दत्वद्योतनायाम्भोज-सम्बन्धश्चेतनत्वद्योतनाय स्वत एव 'च्युत'मिति चोक्तमित्यर्थः। सत्त्वं तु स्वत एव कथाया इति भावः। तेन कथायाः सच्चिदानन्दा-त्मकत्वमुक्तमिति भावः ॥ १३ ॥ **एत**मित्यत्र **नितरां श्रुत्वे**ति। यद्यप्युपसर्गसहितस्यैव श्रवणार्थत्वं तथापि श्रुत्वेत्यादिपदानि विहाया-लोचनार्थकशमधातुनिष्पन्नपदोक्त्याऽऽलोचनपूर्वकं श्रवणं सूच्यत इति भावः। तथा च तात्पर्यार्थोऽयमुक्तो न तु वाच्यार्थ इति ज्ञेयम्। **शब्दतो वदन**मिति। अस्मिन्पक्षे **साधूनां** पदार्थानां वादः कथनं यत्रेतिविग्रहः। **उच्यन्त** इति त्वर्थकथनम्। **निरूपिते**ति। उत्तरे शुकेन निरूपितस्य **प्रमेयस्ये**त्यर्थः। पञ्चमीबहुव्रीहिणैतत्प्रश्नहेतुकस्योत्तरस्य वीतरागकथारूपसाधुवादत्वं ज्ञापितमिति भावः। **श्रवण** इति। 'निशम्ये'त्यनेन प्रश्नश्रवणे निमग्नचित्तत्वं शुकस्योक्तमतः प्रश्नं सम्यग्विभाव्य **प्रत्यर्चनं** कृतवानित्यर्थः। **अवतारचरित्रे-त्वेने**ति। न तु प्रियव्रतादिवदावेशचरित्रमिदमित्यर्थः। **इत्याहे**ति। एवमाशङ्का **जायत इति** हेतोस्तदाशङ्कानिवर्तकं कलीतिपद-माहेत्यर्थः। **अत एवे**ति भागवतप्रधानत्वादेवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ **सम्यगि**त्यत्र **भगवति लयादि**ति। 'यो बुद्धेः परतस्तु स' इतिवाक्या-द्बुद्धेः परो भगवान्, तत्प्राप्तेः पूर्वं ततोऽवराया बुद्धेः स्थिरतैवोचिता न तु चाञ्चल्यं, तथा सति भगवत्प्राप्तिर्न स्यादिति भावः। लयानन्तरं तु परप्राप्त्यर्थमलौकिक एव सङ्घातः प्राप्स्यत इति लयात्पूर्वमित्युक्तम्। **अध्यवसाय**मिति। संशयाद्यवस्थासु मध्ये निश्चयावस्थां प्राप्तेत्यर्थः। **स्वरुच्ये**ति उत्तरार्द्धोक्तकथारत्येत्यर्थः। **यस्मात्कथाया**मिति। **यस्मा**दुत्तमत्वाद्धेतास्तव रतिर्जाताऽतो रतिज्ञापितस्वरूपसिद्धव्यवसायवत्त्वात्त्वमुक्तम् इत्यर्थः। विध्रियमाणमेवोत्तमत्वं 'यस्मा'दित्यनेन सामान्यत उक्तं, यस्माद्धूमवांस्त-स्माद्वह्निमानितिवत्। अस्मिन्पक्षे व्यवसायस्य न रतिहेतुत्वं किन्तु 'स्वरुच्ये'तिकथनाद्विपरीतमिति ज्ञेयम्। **सम्यक्त्वे**ति रतिसिद्ध एव निश्चयः समीचीन इत्यर्थः। **अथवे**ति आद्यपक्षे राज्ञ उत्तमत्वे रतिसिद्धव्यवसायो हेतुरुक्तः। अस्मिन्पक्षे व्यवसायो रतिश्चेति द्वयं हेतुरिति भेदः। कार्यकारणभावस्तु 'यस्मान्निश्चया'दित्यनेनोक्त एवात्रापीत्याशयेनाहुः—**दुर्लभत्व**मिति ॥ १५ ॥ **वासुदेवे**त्यत्र **गुणदोषे**ति। प्रतीतिमनुसृत्योक्तम्। लोकेपि गुणत्वेन प्रतीयमानाः पूतनामारणादयो दोषत्वेन प्रतीयमाना मातुलमारणादय उभयोरपि यथार्थज्ञानेन भगवत्यभिनिवेशः कथया जन्यत इत्यर्थः। **मध्यस्थ** इति। साक्षिवत्प्रश्नमुत्तरं च शृणोति न तु स्वयं किञ्चिद्वदतीत्यर्थः। **पूर्ववदि**ति। 'निवृत्ततर्षै'रित्यत्र 'पुमा'नितिपदे इव। पश्ववतारस्त्र्यवतारव्यतिरिक्तानित्यर्थः। **कार्यान्तरार्थानि**ति। कार्यान्तरमर्थः प्रयोजनं येषां, श्रोतृभिर्वक्त्रा वा सह वाणिज्याद्यर्थं कथास्थले समागतानित्यर्थः ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

वैयासकिः सभगवानित्यस्य विवरणे एतावत्कालं शुकः स्वयमेवाह इदं चरित्रं तु तत्र स्थितो भगवानेवाहेति भिन्नः प्रक्रम इति। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षय' इति वाक्याच्छ्रीकृष्णमहिमा न ज्ञातुं शक्यो महर्षिणा शुकेनापि। दशमस्कन्धे तु तस्यैव कृष्णस्य चरित्रं वाच्यं तत्कथं भवतीत्याशङ्क्य सूतः समाधत्ते—**सभगवानि**ति। भगवता सहितः सभगवान्। भगवदाविष्ट इति यावत्। तथा च भगवानेव शुके आविश्य दशमचरित्रं कथयतीत्यर्थः 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'तिवाक्यात्स्व-चरित्रज्ञानस्य कृष्ण एव सत्त्वात्। वैष्णवानां यथा शम्भु'रिति वाक्याच्छिवस्य परमभगवदीयत्वं, 'द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्कर' इति वाक्याच्छुकस्य शिवरूपताऽतो भगवदावेशस्तत्र युक्त एव। एतावतोऽर्थस्य सूचनार्थं मूले सकारः पठितः। अन्यथा सकारं विनापि चारितार्थ्यमिति सकारं न पठेत् ॥ १४ ॥ **वासुदेवकथाप्रश्न** इत्यत्र। ननु 'वक्तारं पृच्छकं श्रोतृ' नित्यनेन त्रयाणां स्फुटमभिधानात् 'त्रीन्पुनाती'युक्तिर्व्यर्थेत्याशङ्क्य तदभिप्रायं विशदयन्ति—**कार्यान्तरार्थान् वारयति त्रीनित्यनेने**ति। त्रिशब्दो मूले त्रीनेव पुनातीति नियमार्थः। तथा च 'व्यर्थं सत्किञ्चिदिष्टं ज्ञापयती'तिन्यायेनेष्टबोधनस्य शास्त्रार्थत्वाच्छास्त्रश्लाघ्यलक्षणयुक्तानेव

त्रीन्पुनाति न तु तदितरान्पुनातीति फलितम्। सति नियमे व्यावर्त्यापेक्षायां ये पुनर्वक्तृपृच्छकश्रोतारः कथनप्रश्नश्रवणादिकार्यं चित्तशुद्धिमुक्तिभक्त्यादिभिन्नधनार्जनादिरूपलौकिककार्यार्थं कुर्वन्ति ते व्यावर्त्यन्ते, तेषां धनार्जनादिप्रयोजनोद्देश्यकश्रवणादिकरणेन दोषविशेषोत्पत्त्या पावित्र्यासम्भवादतः **कार्यान्तरार्थान् व्यावर्तयन्ति** त्रीनिति सुष्ठूक्तमाचार्यवर्यैः ॥ १६ ॥

बभुत्सुबोधिका

नैषत्यत्र बाधकमिति बाधत इति बाधकं क्षुद्रूपम्। आर्तीति आर्तिः पीडा। तेन गीतोक्ताधिकारिषु प्रथमाधिकार उक्तः। एषा समीपतरवर्तिनी। अप्रयोजकत्वं क्षुधः। प्रमाणकथनमिति प्रमा परीक्षिदनुभवः तस्याः करणं 'नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधत' इतिशब्दः तस्य कथनम्। इति न प्रमाणतावच्छेदकगौरवात्। किन्तु 'क्षुन्मा'मित्येव प्रमा। विभक्त्युत्पादकक्रियापदस्यापि वाक्यादेव ज्ञानात्, विशेषणवत्। प्रमाणतावच्छेदकं 'क्षुन्मा'मिति शब्दत्वम्। देहरक्षाभावार्थं इत्यत्र देहरक्षाभाव इति पाठे। देहो रक्ष्यतेऽनेनोदकेनेति देहरक्षमुदकम्। तस्याभावस्त्यागः। परमोत्तमेति विदुरोद्धववत्। 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववि'दित्यादिवाक्येभ्यः। यद्यपि शुकपरीक्षितोरुत्तमाधिकारस्तथाप्युत्तपरमोत्तमयोर्नाधिकतारतम्यमिति परमोत्तमशब्दः। उभयेति क्षुत्तृड्भयनाशकत्वात् तथोक्तं त्यागविषयत्वमुक्तम्। ननूभयनाशकत्वे नास्तूदकस्य बाधकप्राथम्यं क्षुधस्तु कथं बाधकप्राथम्यमत आहुः क्षुधो भ्रातृव्यत्वेति। तदेवोक्तमिति क्षुद्बाधकमेवोक्तम्। वर्तमानेति 'बाधत' इति वर्तमानप्रयोगः। अस्य शीघ्रकथनार्थत्वं त्वेवम्, क्षुन्निष्ठो मन्निष्ठबाधानुकूलः वर्तमानकालिक एको व्यापार इतिबोधे नञर्थो भावः धात्वर्थे बाधेन्वेति। तथा च मन्निष्ठबाधाभावानुकूल इत्यर्थो भवति। एवं च शीघ्रकथनरूपप्रतीकाराभावे वर्तमानकालिकव्यापारो मन्निष्ठबाधानुकूलो भवेत् न तु मन्निष्ठबाधाभावानुकूल इति उत्तरार्धे। अम्भोजत्वमिति शुकमुखं लालामृतं स्रवति, अमृतपदस्य जलवाचकत्वात्। अम्भोजं कालेमृतं कालेमृतं जलं स्रवतीति। पानमन्तरिति तथा च श्रोत्रद्वारान्तःप्रवेशनानुकूलो व्यापारः पिबतेरर्थः। फलमात्रमुक्तम्। शृण्वन्तमित्युक्त्वा 'पिबन्त'मिति यदुक्तं तदाशयमाहुः अविस्मरणायेति। तथा च श्रोत्रेण ग्रहणानुकूलव्यापाररूपे शृणोतेरर्थे श्रुतस्य विस्मरणमपि स्यादतः 'पिबन्त'मित्युक्तम्। कथं शब्दपानमिति चेत् कथाया अमृतत्वं वक्ष्यते। अमृतं जलम्। कथा वायुरपि। वायुः शब्दतामापद्यत इति तेन परीक्षिदब्भक्षो वायुभक्षो वा निरूपितः। इदानीमिति प्रश्नकालेपि पूर्वोक्तकथनस्य 'कथितो वंशविस्तार' इत्यत्रत्यस्यानुसन्धानात्। 'पिबन्त'मिति वर्तमानप्रयोगः। वर्तमानार्थकलटः शतेति। सम्भावनयेति कथयिष्यतीति सम्भावनया 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'तिसूत्रेण पास्यन्तमित्यत्र 'पिबन्त'मिति वर्तमानप्रयोगः। अन्य इत्यस्वरसस्तु। स्वारसिकप्रयोगनिर्वाहेत्यकल्पनम्। त्वन्मुखाम्भोजच्युतमितिपदस्य तात्पर्यमाहुः आनन्दत्वेति। कथामृतस्य सत्यस्यानन्दत्वद्योतनायाम्भोजसम्बन्धः। चेतनत्वज्ञापनाय स्वत एव च्युतमिति चोक्तम्। सच्चिदानन्दात्मकत्वं कथाया उक्तम्। अमृतं जलं सत्त्वं निरुक्ते। अम्भोजं अमृतजलस्रावात्। आनन्दोऽश्रु स्रावयतीति साम्यात् अम्भोजमानन्दः। 'सर्वं सर्वमयं सर्वे सर्वार्थवाचका' इति श्रुतिवचनात्। यद्यज्जनकं तत्तद्गुणकं, यद्यद्गुणकं तत्तदात्मकमितिव्याप्तेर्मुखाम्भोजमानन्दः। आनन्दोपलक्षणं वाच्युतामृतपदाभ्याम्। इयदवधि कृष्णसम्बन्धः चरित्रेम्रे चेति तद्वाक्यप्रबन्धे हरिसम्बन्धमाहेत्याशयेनाहुः हरिरिति। कथास्थितानामक्षरभेदभूतकालकर्मस्वभावानां नियामको हरिरिति हरिकथामृतम्। किंच 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयत' इति वाग्विषयत्वं हरेरेवेदमित्थतया। ननु तर्हि षड्धर्माः धर्मी च प्रमाणाद्यप्रकरणसप्तकेषु प्रतिपाद्यमानाः कृष्णस्य कथं सङ्गच्छेरन्निति चेत् सत्यम्। इदमित्थतया वाग्विषयेपि ब्रह्मपरमात्मभगवच्छब्दानां प्रवृत्तेः सर्वैरादृतत्वात्। भक्तिवशात् तद्विदां प्रवृत्तेश्च। हरिस्तु अग्निशिखाया मध्येस्ति। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्माव्यवस्थितः स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वरा'डिति महानारायणादग्निब्रह्मशिखामध्ये हरिः। स भगवदभिन्नोपि। 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दितिव्याससूत्रात्। विशेषत इति इदमित्थतया। विशेषत इति परमतभाषया लौकिकभाषया च। ननु कथा चामृतमितिकर्मधारये अमृतं किमित्यत आहुः अमृतपद इति। न मृतं मृतिर्यस्मादिति यौगिकोर्थः। क्षुदादिबाधामृतिनिवर्तकत्वात्। कथामृतवाञ्जीवनं वक्तव्यं, तदभावात् किं फलं वक्तव्यमिति चेत् तत्राहुः असङ्कोचादिति। 'अपपुनर्मृत्युं जयती'ति श्रुतेरपमृत्युजयबोधकश्रुत्यसङ्कोचात्, श्रोतृस्वनिकटस्थापनेच्छाऽसङ्कोचाच्च। द्वादशस्कन्धश्रवणानन्तरं मुक्तिरेव न तु तक्षककृतापमृत्युजयोपि फलतीत्यर्थः। अत इत्यादि। कथामृतस्रावात्। त्वं शुकः न तु फलदो भगवान्। अत्र 'फलमत उपपत्ते'रितिसूत्रविरोधमाशङ्क्याहुः स्तुत इति। असदुक्तर्षाधायकगुणवर्णनरूपस्तुतिविषय इत्यर्थः ॥ १३ ॥ एतन्निशम्येत्यत्र सावधानतयेति अवधानमनन्यचित्तता। शौनको भार्गवः ज्ञानपूर्णो भक्त्या युक्तश्चेत्युत्तरार्धे गुणप्रकरणेस्ति। ज्ञानिनोन्यासक्तिः सम्भवतीत्यतः सावधानतयाभिमुखकरणमुक्तम्। निशम्यप्रत्यर्च्यपदयोस्तात्पर्यमाहुः परस्परेति। तेनैतावत्कालोपि नान्यार्थ इति ज्ञापितम्। तथेति परस्पराभिनन्दनप्रकारेण मूले प्रतिपाद्यते। एतन्निशम्येतिपदसमभिव्याहाराल्लब्धमर्थमाहुः एतस्येति। एतदन्यच्चेत्यत्र नितरां श्रवणे एतच्छब्दोक्तकृष्णचरितप्रश्नस्य मूलत्वान्निकुञ्जत्वात्। 'मूलमोघे शिफायां स्यात् भे निकुञ्जेन्तिकेपि चे'ति विश्वः। निकुञ्जमूलेन प्रश्नेन निकुञ्जनिरूपणम्। प्राधान्येन निर्देशः निशम्यक्रियाफलाश्रयत्वेन निर्देशः। वक्तुरिति शुकस्य। नितरामिति तथा च शम आलोचने चु० आ० से०। तस्य रूपम्। दाक्षिण्येनेति कौशल्येन। लोककौशल्येन सरलभावेनेतियावत्। विश्वासेन भृगोः परब्रह्माविष्टत्वम्। तथा च सुबोधिनी 'तस्य जिज्ञासये'त्यत्र। 'सर्वेषां ब्रह्मशक्तिः ज्ञानात्मिका महत्त्वाद् भृगौ समारोपिता। तदा

भृगुः साक्षात्परब्रह्माविष्टो जातस्ततो विस्मितदेहः अक्षोभ्यपरीक्षार्थं सर्वैर्ब्राह्मणैः प्रेषित' इति । अत्र भृगोर्विश्वासो ब्राह्मणवाक्येषु निरूपितः । हेतुभूतमिति कुतो निशम्येत्याकाङ्क्षायां यतः साधुवादं तत एतं निशम्येत्यर्थाद्धेतुभूतम् । विशेषणविभक्तेः हेतुरर्थः भावप्रधानः । साधुवादत्वादित्येवं पञ्चम्या हेतुकथनाद्वा । हेतुभूतं षष्ठीतत्पुरुषे प्रश्नेन्वयासौष्ठव्यात् पञ्चम्यन्तान्यपदार्थघटित-विग्रहमाहुः साधूनां वाद इति । यस्मादिति प्रश्नात् । प्रमेयस्येति प्रमातुं योग्यं प्रमेयं न तु प्रमाविषयं, तस्य प्रमाणत्वात् तस्येत्यर्थः । शाब्दज्ञानयोग्यस्य । यद्वा प्रमाविषयं प्रमेयं, अनधिगतार्थगन्तृत्वम् । प्रमाकरणत्वं वा प्रमाणम् । वैयासकिपदव्याख्यानार्थम् । 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि स' इति गीतावाक्यात् साधवो भक्ताः । मां भजन्ते ते भक्ताः । कर्तरिक्तश्छान्दसः, ते च साधवो मन्तव्या इति । तदाहुः भगवद्भक्ता इति मिलन्तीति वदनार्थं मिलन्ति । एवं वाक्यमिति साधुवादस्वप्रकारकवाक्यम् । प्रष्टव्यमिति वाक्यं प्रष्टव्यम् , साधुवादस्य प्रश्नविशेषणत्वात् । अर्थोपि प्रष्टव्य इति पदजन्यपदार्थोपस्थित्यर्थमुक्तम् । कष्टेनेति दैह्यात्मतोपात् पूर्वम् । प्रथमस्कन्धे स्पष्टम् । चकारेति नारदोपदेशेन चकार । प्रवृत्त इति अपेक्षत इत्यनेनान्वेति । महता प्रयासेनेति 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकवार्तया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवा'निति वाक्यात् परिनिष्ठितस्य गृहीतचेतस्त्वेपि महानेव प्रयासः तेन । तदुक्तं 'स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनि'रिति । वैयासकिरिति व्यासस्य महता कष्टेन भगवद्गुणप्रतिपादकशास्त्रकर्तुः अपत्यं महता प्रयासेन भगवन्मतप्रवर्तको वैयासकिः । दुर्ज्ञेयेति 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतेर्दुर्ज्ञेयत्वात् । भिन्नप्रक्रमस्य विष्णुरातमित्यत्रान्वयाभावं द्योतयितुमथशब्दात् पूर्वं विष्णुरातपदं व्याकर्तुमाहुः नन्वेव-मिति । तथा च विष्णुरातत्वं न भिन्नप्रक्रमकृतं भिन्नं किन्तु प्रत्यर्चनेपि तदेवेत्युक्तम् । कथमिति केन प्रकारेण विष्णुरातत्वरूपेण हेतुना किं वा परीक्षित्त्वेन हेतुनेतिप्रश्नः । विष्णुरातमितीति विष्णुरक्षितम् । रा आदाने यमादत्ते तं रक्षतीति । एतदर्थमिति भागवतप्रकटनार्थं, एवकार इतरयोगव्यवच्छेदकः । अन्यथेति परीक्षिद्रक्षणाभावे । श्रवणे दृष्टान्ताभावादप्रवृत्त्या न सिध्यतीत्यादिः । शुकस्येश्वरत्वाद् भगवता किमित्याशङ्का तु न कार्या । 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षय' इति, 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'तिवाक्याभ्याम् । 'निशम्ये'तिपदादाहुः श्रवणे निमग्नेति । शुकस्येश्वरत्वेपि क्षत्रियार्चनं मनसोन्यत्र श्रवणे सक्तत्वात् । क्षत्रियस्याशीश्वरत्वाद् वा । प्रतेः प्रतिदानमर्थमाहुः पूर्वं शुक इति । 'एतदन्यच्चे'त्यत्र मुने इति सर्वज्ञ इति पदाभ्यां स्तुतः । तेनेति स्तवनहेतुना । शास्त्रेति । वेदवेदान्तशास्त्राभ्यां सिद्धम् । शास्त्रे एवाहुः येन्योन्यत इति वेदवेदान्तसारत्वाच्छ्रीभागवतस्य । एतावदिति अधिकारित्वपूर्वकप्रत्यर्चनपर्यन्तस्योद्योगस्य । फलं सच्चिदानन्दस्य व्याहरणे कीर्तनभक्तौ विषयत्वम् । आहेति चरित्रस्य शोधकत्वमाह । देशादीनामिति देशकालकर्तृमन्त्रद्रव्यादीनाम् । एवेति 'अकामः सर्वकामो वे'तिवाक्यादेवकारः । कीर्तनभक्तेर्नवसु मुख्यत्वात् प्रेमसाम्यम् । अन्यथेति भक्तेः शोधकत्वाभावे । न स्यादिति यथाकथञ्चित् कल्मषहन्तुः कीर्तनादिभक्तीतरस्य कलियुगा-दावभावात् । भागवतप्रधानः व्याहर्तुमारभतेतियोजनयार्थं वक्तुमाहुः महतेति । द्वादशभिः प्रश्नैः, द्वाभ्यां प्रत्यभिनन्दनमिति महता भिन्नप्रक्रमेण । यस्येति प्रलयेधिकृतस्य भक्तुरीश्वरस्य तेन भागवतेषु प्रधान इति विग्रहोपास्तः । अधिकारित्वेन शुद्धभागवत-प्रधानत्वाभावात् । भागवतलक्षणं निबन्धे 'कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिन' इति । ते प्रधाना यस्य स एकादश उक्तः । 'देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः संसारधर्मैर-विमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधान' इति आहर्तुमिति शुकस्याप्ययमेवाहारः । 'नैषातिदुःसहा क्षुन्मा'मितिवाक्यात् । वायुभक्षोऽभक्षो वा यतिः स्मर्यते इत्यत आहारं विवृण्वन्ति स्म वक्तुमिति । वायुः शब्दतामापद्यन्त इति प्राचां वंदिकानां प्रवादाद् वायुभक्षणमुक्तम् । अत एवेति भक्ष्यत्वादेव । कथयतीति शुकः कथयति । कथ वाक्यप्रबन्धे । चुरा० सभाजयतीति सभाज प्रीति-सेवनयोः चुरा०, न च भागवतप्रधानत्वापलापः अब्वायुभक्षणार्थप्रवृत्तेरिति वाच्यम् । भागवतप्रधानत्वार्थमेवाब्वायु-भक्षणात् ॥ १४ ॥

सम्यग्व्यवसितेत्यत्र श्रीशुकोत्र सभगवान् वृषध्वजः शुकनामा निर्गुणः जन्मप्रकरणेधिकारी, कथायाः प्रकटसच्चिदानन्द-रूपत्वात् । भगवदाकाङ्क्षाप्रपञ्चग्लानिभ्यां तामससत्ता तद्वान् । श्रीभागवतमाहात्म्ये स्कांदीये 'श्रीमद्भागवतं तस्मा अपि नारायणो ददौ स तु संसेवनात् तस्य जिग्ये शीघ्रं तमोगुणम् कथा भागवती येन सेविता वर्षमात्रतः लये त्वात्यन्तिके तेनावाप शक्तिं सदाशिव' इति । समानशीलेति 'राजर्षिसत्तमे'तिसम्बोधनरूपाप्तवाक्यात् । दृष्ट्वेति रूपं दृष्ट्वा शीलव्यसनयोः दर्शनं त्यक्तोदकस्य परीक्षितः क्षुद्बाधाभावकार्यात् । शीलं स्वभावः परिणामहेतुः व्यसनं यद्विना स्थातुमशक्तिः तत् । द्वाभ्यामित्यभिनन्दनकर्मद्वयेन । भगवतीति 'यो बुद्धेः परतस्तु स' इति वाक्याद्गीताद्वितीयाध्यायाच्च । लयो भगवत्प्राप्तिः, शान्तिश्च, तस्मादित्यर्थः । स्थिरप्रज्ञतैवेति । 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यत' इति गीता । एवकारेण स्थितधीत्वप्रतिष्ठित-प्रज्ञत्वयोगो व्यच्छिद्यते । सर्वोत्तमेति सर्वा चासावुत्तमेति कर्मधारयः पुरुषोत्तम इतिवत् , 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इति गीतावाक्ये कर्मधारय उक्तः । सर्वा पूर्णा । आत्मन्येवात्मनैकादशवृत्तिकमनसा तुष्टः । 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार' इत्यधिकरणोक्तरीत्या, यदात्मन्येवात्मना मनसात्मैकावलम्बनेन तुष्ट इत्यर्थस्तदा मानसी सेवा ज्ञेया । सर्वासामुत्तमा सर्वासूत्तमेति न विग्रहौ 'न निर्धारण' इतिसूत्रेण समासनिषेधात् । स्थितधीलक्षणे 'सुखेषु विगतस्पृह' इति 'पृथक्सूत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवा'नित्यस्य विरोधः ।

प्रतिष्ठितप्रज्ञलक्षणे 'यः सर्वत्रानभिस्नेह' इति भगवत्यपि व्यसननिषेधाद् भक्तिमार्गविरोधः। एवमग्रेपि प्रतिष्ठितलक्षणेषु दोषाः। एकादशोक्तस्य ब्रह्मसम्पत्तेः पूर्वं सिद्ध्यष्टकस्य कालनिर्यापकस्यापि स्थिरप्रज्ञतापेक्षया नोत्तमत्वमन्यसङ्गप्रसङ्गात्। अध्यवसायं प्राप्तेति। विषयत्वेन प्राप्ता अध्यवसायविषया बुद्धिः। अध्यवसाये इत्यन्तं विषयः। निर्विषयकज्ञानाभावात्। बुद्धिमानयं पदार्थान् जानातीत्यत्राध्यवसायविषया बुद्धिः। अध्यवसायं ज्ञानम् अधिकं विशेषं अवसिनोतीत्यध्यवसायः तम्। कर्मण्यण्। ब्रह्मर्षीणामिति। मम तु ब्रह्मर्षिसत्तमत्वाज्जातम्। सन्निति अस्ति ब्रह्मेति वेद भगवद्धर्मनिष्ठ इति राजर्षिसत्तर इत्यर्थः। तत्राप्युत्कर्षं इति श्रवण-भक्तावङ्गीकारात्। तथा च स राजर्षिसत्तमः। पूर्वार्धे व्यवसायशब्देनोक्तं निश्चयं स्तोतुमुत्तरार्धं वदतीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति स्म द्विधेत्यादि। स्वरुच्येति यथोद्धवपरीक्षिदम्बरीषाः। सात्त्विकश्रद्धारूपस्वरुच्या। रुचिर्भक्तिः प्रेम चेति प्रथमस्कन्धे नारदस्य। 'श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति तृतीये। उत्तम इति स्वरुच्या निश्चयवानुत्तम उक्तः। तत्र 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्ये'त्यादिगीता। अत्र सात्त्विकश्रद्धावन्तोऽम्बरीषोद्धवपरीक्षितः। राजसश्रद्धावन्तो दक्षादयः। तामसश्रद्धावन्तो वृकहिरण्यकशिप्वादयः। तत्र सात्त्विका-नामास्तिकत्वं फलम्। तस्य पूर्वमीमांसोक्तविश्वजिन्न्यायेन मोक्षः फलम्। 'अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विक' इति। 'अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्। विधिहीनम-सृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षत' इति। विधिदृष्ट इति पदेन 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्ये'त्यादिगतम्। शास्त्रविधिसङ्ग्रहेण भगवानुवाचेति रामानुजभाष्ये। यदा तु विधिदृष्ट इति पदेन विधिसंवादिरूपार्थो विवक्ष्यते तदा 'ये शास्त्र-विधिमुत्सृज्ये'त्यनुसन्धेयम्। दम्भार्थमिति दम्भः परस्य स्वोत्कर्षख्यापकचेष्टादिः। निमित्ताभावे तु नैमित्तिकाभावश्चेत् तदा दम्भः, तदर्थमित्यर्थः। उत्तमत्वार्थं पुष्टिमार्गः कल्पनीयः। यद्वा 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्ये'त्यत्रोक्तसात्त्विकानां यज्ञः शास्त्रीयः, 'यावानर्थ उदपान' इतिवाक्यात्, 'उत ये शास्त्रविधिमुत्सृज्ये'त्युपक्रमानुरोधादशास्त्रीयत्वेपि महतामन्तःकरणं प्रमाणमित्याचार्योक्तेः 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति बृहदारण्यके महतां मनसेति विशिष्य महान्तः सात्त्विका ग्राह्याः। अन्यथा दम्भकृतयज्ञस्य मोक्षास्तिकत्वे फले स्याताम्। अत्रापि पुष्टिप्रवेशः। पूर्वोक्तश्रुतिसंवादात्। पुष्टिर्भगवदनुग्रहः। अत उक्तं त्वं तूत्तम इति तेजबिन्दू-पनिषदि 'न ध्यानं न च वा ध्याता न ध्येयोऽध्येय एव च। सर्वं तत्परमं शून्यं न परं परमात् पर'मित्याद्युक्त्वा 'न भयं सुखदुखं च तथा मानापमानयोः एतद्भावविनिर्मुक्तं तद् ग्राह्यं ब्रह्म तत्परं तद् ग्राह्यं ब्रह्म तत्पर'मित्युक्तं, 'शून्यं' परं ने'त्यर्थः। 'परमात्' शून्यात् 'परं', 'तत् ग्राह्यं ब्रह्म' येन केनापि साधनेन। 'यतो वाचो निवर्तन्त' इतिश्रुतौ वेदलक्षणापि वाग्व्याख्यातेति, अत उक्तं त्वं तूत्तम इति। द्विधा व्याकुर्वन्ति स्म (यत्) यस्मात् कथायामिति, 'य'दित्यव्ययम्। 'यत्' यस्मात्। तत्र यस्मात् कथाया-मित्यपि पाठः। तत्रेति निश्चयद्वये। रतिरिति रतिपदात् 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'तिकपिलदेवोक्तसिद्धान्तान्तरे, रुचिः भक्तिः प्रेम चेति प्रथमस्कन्धसिद्धान्ते पोषके वातः रतिर्भक्तिरित्येकवाक्यतासिद्धान्तसिद्धान्तान्तरयोः। सिद्धान्ते प्रेम सिद्धान्तान्तरे भक्तिरित्येकोर्थः। अत्र रतिपदं स्वरुचिः भक्तिः प्रेमेत्यत्र भक्ती रतीरितिबोधनार्थम्। परीक्षितो रुचिमतो भक्ती रतिरिति। रुचौ प्रेम मेलनाद् रतिवत् भक्तिराध्यात्मिकी। 'नैष्ठिकी'त्यत्र निष्ठाऽचञ्चला, नितरां तिष्ठतीति निष्ठेति कर्तरि क्विप्। निष्ठा निर्धार्यत इति शैषिकष्ठक् कृष्णविषयकनिर्धारानुकूलव्यापारवती निष्ठेत्यर्थः। निर्धारविषयानुकूलव्यापारः शुकनिष्ठोर्थः। 'सम्यग्व्यवसायः' तद्विषयिणी निष्ठा भिन्ना रतिर्जातेत्यर्थः केनेति विषयावेशेन। अन्यथेति भगवदतिरिक्तविषया। निश्चयेति सम्यग्व्यवसायस्य सम्यक्कालापेक्षया सम्यक्पोषिका। तथा च नैष्ठिकरतिपोषिननिश्चयवत्त्वाद् बुद्धिरुत्तमेत्यर्थः। 'व्यवसायः' रतिसाधनं फलं च। 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतिस्मृतिभ्याम्! यज्जातेतिपदं समस्तमङ्गीकृत्य द्वितीयां व्याकृतिमाहुः यस्मान्निश्चयादित्यादि। तथा च वासुदेवकथायां यस्मान् निश्चयाज्जाता यज्जाता रतिरिति वेतियोजना। तथा च निश्चयोत्पन्न-नैष्ठिकरतिमत्त्वात् तथेत्यर्थः। तेन ज्ञानस्य भक्त्यङ्गत्वमुक्तम्। पूर्वार्ध 'तवे'ति पदं उत्तरार्धे 'त' इति पदं यदुक्तं तत्पुनरुक्तिभिया प्रकारद्वयेन राजा स्तूयते न तु बुद्धिरित्याशयेन तृतीयं पक्षमाहुः अथवेत्यादि। पूर्वार्धे सम्यग्व्यवसितबुद्धेः सुबोधिन्यामार्थिकं हेतुद्वयं राज्ञो नैष्ठिकरत्याधारयोग्यताधारत्वेनोपस्थितावेव सम्भवतीति तद्द्वारा राजेव स्तूयत इति राजाभिनन्दन एव। तद् व्युत्पादयन्ति स्म दुर्लभत्वमिति। दुर्लभत्वं कुतः कारणादितिशङ्कायां कारणं वदन्त आहुः कारणभूतमिति। तथा च ज्ञानं यस्याः साधनं सा रतिर्दुर्लभा भवत्येव। आहेति पूर्वार्धेनाह। जातेति भूतार्थक्तान्तप्रयोगान् निष्पन्नत्वं साध्यसाधनयोः रतिबुद्ध्योः। तस्मात् सम्बोधनेन राज्ञः सभाजनं, प्रीणनं, तेन निश्चयाद् रतिरिति भरः सूचितः। किञ्च सभायां देवर्षिराजर्षयः सर्वेपि तिष्ठन्ति तथापि तवैव जातमिति तत्र सभाजनमितिभावः। एतेन सिद्धमर्थान्तरं 'अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तत्वज्ञापकावुभा'विति कारिकायां प्रश्नेनुवाद उक्तः 'कथितो वंशविस्तार' इत्यनेन, स्तुतिस्तु 'पितामहा म' इत्यनेन, तत्रास्याः स्तुतेः सन्निवेशरूपमाहुः प्रश्नेन चेति। द्वादशभिः प्रश्नेन। एवम्भाव इति पूर्वोक्तप्रकारेण भावो रतिः। अत इति साधनभूतप्रश्नस्य एवम्भावरूपफलेनैक्यात्। अर्थात् अभिधेयात् प्रश्न इति सप्तम्यन्तं प्रश्ने एव न तु व्यवधायके सर्वथा कथनादौ त्रयोदशादिश्लोकाभासोक्ते राजा स्तुतः स्तुतत्वविशिष्टः। विशिष्टे शक्तेः। स्तुत्वं स्तुतिः। 'पितामहा म' इत्यत्र भगवान् स्तुतोत्र तु राजेतिविशेषः। स च विष्णुरात इति स्तावकत्वेन स्तुतौ निविष्टः भगवांस्तुत्यत्वेन 'पितामहा म' इत्यत्र। यद्वा द्वितीयपक्षे किञ्चिदाहुः प्रश्नेनेति। एवम्भावः नैष्ठिकी रतिः। तस्य परीक्षितः

निश्चयेनैवाभिज्ञातः। अत इत्यादि पूर्ववत्। प्रश्न इति प्रथमान्तम्। नैष्ठिकरत्येकीभूतः प्रश्न इत्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत्। अग्रे प्रश्नस्य साक्षात्त्वार्थं तृतीयपक्षान्ते प्रश्नस्तुतिरुक्ता ॥ १५ ॥

वासुदेवकथेत्यत्र साक्षादिति गतश्लोके तु नैष्ठिकरत्येकीभूतः प्रश्नः स्तुत इति भावः। पवित्रयत्येवेति कथा पवित्रयति न तु प्रश्न इति शङ्कायामत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारः। नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्रेव। तत्रापीति वासुदेवसम्बन्धिवस्तुष्वपि। तत्सम्बन्धीति वासुदेवसम्बन्धिगुणदोषाः 'समतो गुणदोषग' इत्यनयोक्ताः तत्राभिनिवेशस्त्रयाणां तस्य जनिका। तत्रापीति कथायामपि तज्जिज्ञासयेति कथाज्ञानेच्छया कृतः। दार्ढ्येति तत्सम्बन्धिगुणदोषाभिनिवेशे कथाकार्ये दार्ढ्यं हेतुः। गणनादेव त्रित्वे लब्धे 'त्री'नित्यस्य पदस्य तात्पर्यमाहुः कश्चिदिति। तथा च मध्यस्थं न पुनाति, समीचीनासमीचीनत्वमात्रदृष्टिमत्त्वात्, इत्येतदर्थं 'त्री'नित्युक्तमिति भावः। त्रय इति पावनाधिकारिणस्त्रयः। पावनफलाश्रयाः कर्मत्वात् स्तब्धचित्तेति तत्तत्कार्यप्रतिबन्धकवस्तुविशेषः। स्तब्धं प्रतिबद्धं चित्तं यस्य। पापादेवेति, 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्याद् भगवद्गुणेषु वक्तव्येषु सत्सु समानाधिकरणपापादेव। अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः। पितृपितामहेति आदिना मध्यस्थः। तेन प्रेमलक्षणा भक्तिरेव पितृपितामहादीन् पुनातीत्युक्तम्। श्रोतामध्यस्थ इति श्रोता अमध्यस्थः, भगवद्वाचकपदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणम्, तत्कर्ता अमध्यस्था भवति। निमित्तमिति वक्तृत्वपृच्छकत्वश्रोतृत्वरूपपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तदेवेति वक्तृत्वादिकम्। पदप्रवृत्तिनिमित्तभेदप्रयोजकत्वेनोक्तम्। वक्तृपुरुषत्वं न शक्यतावच्छेदकम्, गौरवात्, भिन्नपदत्वाच्च। वक्तृत्वादिकं भेदप्रयोजकं पुरुषत्वं शक्यतावच्छेदकम्। पूर्ववदिति 'निवृत्ततर्षै'रिति श्लोके व्याख्यातपुंपदवत्। तथा च प्रश्नोप्यासुरव्यतिरिक्तानेव त्रीन् पुनातीतिभावः। कार्यान्तरेति कार्यान्तरमर्थः प्रयोजनं येषां तान् श्रोतृभिर्वक्त्रा वा सह वाणिज्याद्यर्थं कथास्थले समागतानित्यर्थः। अनेकविधमिति आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिरूपम्। तद्व्यावृत्त्यर्थमिति आधिभौतिकाध्यात्मिकव्यावृत्त्यर्थम्। क्वचिदिति प्रश्नकर्तरि। कश्चिदिति वक्तारम्। कश्चिदिति श्रोतारम्। न तु मध्यस्थम्। तस्य छिद्रान्वेषणार्थं श्रवणाच्छ्रोतृत्वेपि। करोतीति प्रश्नः करोति। सफलेति। प्रश्नेऽपि कीर्तनभक्तिः तस्य सफलता। कथारूपफले संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनं चेति गुणद्वयरूपफलसम्पादनात् तादृशफलेन सह वर्तमानता। उत्पादयतीति। प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां 'या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकम्बुनेत्री'त्यत्रेकोनविंशेस्ति। पूर्वेति पूर्वकर्मसम्बन्धिनं देहम्। तत्कार्यं पापकार्यं स्तब्धत्वम्। चकारोत्र ज्ञेयः। यावत्येति शुद्ध्या। करोतीति प्रश्नः करोति। उत्तरार्धाभासे दृष्टान्ताभासे चास्वरसं सूचयन्तः पक्षान्तरमाहुः त्रीन् त्रिलोकस्थानिति। स्पष्टम्। ब्रह्माणमष्टमस्कन्धे वामनप्रसङ्गे, महादेवं भगीरथं च नवमस्कन्धे गङ्गा पुनाति। दार्ष्टान्तिके च त्रिलोकस्थान् प्रश्नकर्तुः पितृपितामहादीन् सात्त्विकादिभेदभिन्नान् तान् प्रश्नः पुनाति। 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोत्रे'ति वाक्यात् हृदयरुद्धेश्वरेणेति। एतद्वाक्यविराधक एवास्वरसः ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु क्षुत्तृड्भ्यां पीडितस्य तव कथं कथाश्रवणश्रद्धा ? क्षणं विश्रामं कुर्वित्याशङ्क्य 'तत्परः संयतेन्द्रियः' इत्युक्तमधिकाराङ्गमपि द्योतयन्नाह—नैषेति। यैषा पूर्वं ममातिदुःसहाऽऽसीत्, ययाभिभूतविवेकोऽहं मुनिगले सर्पं निहितवान् सेदानीं त्यक्तमुदं जलपानं येन तथाभूतमपि मां न बाधते। तत्र हेतुमाह—पिबन्तमिति। त्वन्मुखाम्भोजात् च्युतं निःसृतं हरेः शरणागतदुःखहरणशीलस्य कथारूपममृतं पिबन्तमिति। अतः क्षणमपि कथाविरामे क्षुत्तृड्भ्यां सद्य एव मरणं स्यात् अमृतस्य मादकत्वेन सर्वदुःखविस्मारकत्वात् स्वादुविशेषत्वेन परमानन्दजनकत्वाच्चामृतपदोपादानेन स्वस्य विप्रशापादिदुःसहदुःखविस्मरणं परमानन्दश्च सूचितः। अमृतस्रावित्वेन शुकमुखस्य चन्द्रत्वं तेन श्रोतृजनाह्लादकत्वं तन्मनोगताविद्यान्धकारनिरासकत्वं च सूचितम् ॥ १३ ॥ एवं श्रुतावधारणश्रवणासक्तिवक्त्रादेरजितेन्द्रियत्वप्रश्नादिकमधिकारित्वाङ्गं राज्ञा स्वस्मिन् प्रदर्शितम्। तदा श्रीशुकोऽपि भगवच्चरितवर्णने प्रवृत्त इत्याह सूतः—एवमिति। भृगुणा भगवतो भक्तवात्सल्यादिगुणनिर्णयस्य कृतत्वात्तत्कुलोत्पन्नस्य तवापि भगवत्परता युक्तैवेति सूचयन् शौनकं सम्बोधयति—भृगुनन्दनेति। एवमुक्तप्रकारकं साधुवादं परीक्षित्प्रश्नं निशम्य वैयासकिः शुकः अथ अनन्तरमेव विष्णुरातं परीक्षितं प्रत्यचर्य सत्कृत्य कृष्णचरितं व्याहर्तुं वर्णयितुमारभत प्रारम्भं कृतवानित्यन्वयः। पुनः पुनः प्रश्ने वक्तुरुद्वेगः क्रोधश्च सम्भवति, तेन प्रश्नावधारणं सम्यङ् न भवति, तत्त्वत्र नाभूदिति निशम्येत्यनेन सूचितम्। तत्र हेतुमाह—साधुवादमिति। वदनं वादः, साधूनां वादः साधुवादस्तम्। साधवो वीतरागा भगवद्भक्ता यत्र मिलिता भवन्ति, तत्र भगवत्कथामेव कुर्वन्ति। परीक्षितोऽपि साधुत्वात्तत्कृतप्रश्नोऽपि तादृश एवेत्याशयः। वैयासकिरित्यनेन व्यासपुत्रत्वात्तस्य स्वपितृकृतग्रन्थप्रचारार्थं कथनमप्यावश्यकमिति सूचितम्। विष्णुरातमित्यनेन कथनावश्यकत्वं सूचितम्। भगवतैतदर्थमेवायं संरक्षितस्तं यदि रहस्योपदेशेन कृतार्थं न कुर्यात्तदा तद्रक्षा व्यर्थैव स्यादित्याशयः। अग्रे जनिष्यमाणानामपि परम्परया श्रवणकीर्तनादिना कृतार्थतार्थमेतत्कथनमावश्यकमिति सूचयन्नाह—कलिकल्मषघ्नमिति। कलियुगे देशकालमन्त्रकर्मदेवतादीनां धर्महेतूनां दुर्लभत्वादिदमेव कल्मषनाशकम्। तत्र हेतुः—कृष्णचरितमिति। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति श्रुतेः ॥ सदानन्दस्वरूपस्य कृष्णस्य चरितमप्येतादृकप्रभावमिति भावः। ननु तथापि सर्वतो विरक्तस्य शुकस्य

स्वकीयं किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह—भागवतप्रधान इति। 'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः' इत्युक्तत्वात्। भागवतं शास्त्रं, भागवता भगवद्भक्ताश्च प्रधाना यस्य सः। तथा च स्वप्रयोजनोद्देशाभावेऽपि भगवल्लीलाकृष्टचित्तत्वाच्छ्रीभागवतप्रचारेण भक्तानामुपकारायेदं कथितवानित्याशयः॥ ननु तथापि भगवच्चरित्रस्य दुर्ज्ञेयतया कथमन्येन कथनं सम्भवति? अन्यकथनेऽपि कथं सफलत्वं सम्भवति तत्राह—सभगवानिति। भगवता सह वर्तमानः, तदन्तः स्थितो भगवानेव चरितं कथितवानित्यर्थः: 'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा। तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा। योगीन्द्राय तदात्मनाथभगवद्राताय कारुण्यतः। तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि' इति द्वादशस्कन्धे सूतेन वक्ष्यमाणत्वात्। भगवदुपदिष्टत्वादेव राज्ञस्तत्कालमेव फलं जातम्। अत एवेतरोपदेशे विप्रलिप्सादिदोषेण यथार्थत्वासम्भवादिदानीन्तनानां बहुशः श्रवणेऽपि सद्यो ज्ञानभक्तिवैराग्यादि फलं न दृश्यते। प्रतिपूजनमपि भक्तिमाहात्म्यादेव। लोके सर्वत्र वक्तैव पृच्छकैः पूज्यते, ननु प्रष्टा। भगवत्कथाप्रसङ्गे तु भक्तिं विना तत्प्रश्नासम्भवात्प्रष्टाऽपि वक्त्रा सत्क्रियते, सूतनारदविदुरादिष्वपि सत्कारोपलम्भात्। 'एतं निशम्य इति तु पाठान्तरम्॥ १४॥ तत्कृतं सत्कारमाह—सम्यगिति द्वयेन। व्याहर्तुमारभतेत्युक्त्वाऽपि पुनः शुक उवाचेति वचनं श्रोतृणां सावधानतार्थम्। कचित्तदभावस्तु तेषां सावधानत्वादिति ज्ञेयम्॥ शुक इति नाम तु प्रेमभरेण कीरवन्मधुरभाषणाज्ज्ञेयम्। तथा च ब्रह्मवैवर्ते व्यासं प्रति भगवद्वाक्यम्। 'व्यास त्वदीयतनयः शुकवन्मनोज्ञं ब्रूते वचो भवतु तच्छुक एव नाम्ना' इति प्रजानुरञ्जको राजा, सोऽपि वैदिककर्मनिष्ठो राजर्षिः, तत्रापि। निवृत्तिनिष्ठो राजा सन्, तत्रापि सत्, तत्रापि ज्ञाननिष्ठो राजर्षिसत्तरः, परानुरक्तिरूपभक्तिमांस्तु राजर्षिसत्तम इति त्वया तु महतामपि दुर्लभावस्था प्राप्तेत्याश्चर्येण सम्बोधयति राजर्षिसत्तमेति। सम्यक् समीचीनं व्यवसितं निश्चयो यस्यास्तथाभूता तव बुद्धिः। कुत एवं ज्ञायत इत्यपेक्षायामाह—वासुदेवेति। यत् यस्मात् वासुदेवस्य मोक्षदातुः श्रीकृष्णस्य कथायां ते तव नैष्ठिकी 'तत्कथैव श्रोतव्या, नान्यत्' इति निष्ठां प्राप्ता रतिः प्रीतिर्जातेत्यर्थः॥ १५॥ अनेन प्रश्नेन त्वमहमिमे सदस्याश्च सर्वे एव पाविता इत्याशयेनाह—वासुदेवेति। वासुदेवकथायाः प्रश्नः कथाप्रवृत्तिहेतुत्वात् कथाद्वारा त्रीन् त्रिविधान् पुरुषान् पुनाति परमपुरुषार्थप्राप्तिप्रतिबन्धकपापनिरासेन तत्प्राप्तियोग्यतां सम्पादयति। अत्र सन्देहो न कार्य इत्याशयेनाह—हीति। के ते त्रय इत्यपेक्षायां तानाह प्रश्नोत्तरस्य वक्तारं पृच्छकं प्रश्नकर्तारं तत्सहचरानन्यान् श्रोतॄंश्च। तत्र दृष्टान्तमाह—तत्पादसलिलं यथेति। तस्य भगवतः पादसलिलं गङ्गा यथा त्रीन् पुरुषान् सात्त्विकराजसतामसभेदभिन्नान् त्रिलोकस्थान् वा, कुलद्वयमध्यस्थान् वा, ब्रह्माणं महादेवं भगीरथं वा, श्रोतॄन् द्रष्टॄन् ध्यातॄन् वा, पानकर्तॄन् दर्शनकर्तॄन् स्नानकर्तॄन् वा, पुनाति तथेत्यर्थः। कश्चित्तु तत्पादसलिलमिति शालग्रामादिचरणोदकं त्रीन् पुरुषान् दातारं पातारं द्रष्टारं च यथा पुनातीत्याह। वस्तुतस्तु तत्पादसलिलमिति तत्प्रसादवस्तुमात्रस्योपलक्षणम्, सर्वस्यैव महिमश्रवणात्। दृष्टान्तस्तु पवित्रीकरणमात्र एव, न पुरुषत्रयपवित्रीकरणे सम्बन्धिमात्रम्। बहुपुरुषपवित्रहेतुतया पुरुषत्रयपवित्रीकरणवचनस्यानुचितत्वात्। सम्बन्धिमात्रपुरुषपवित्रीकरणं चोक्तम्—'श्रुताभिलषिता ध्याता पीता दृष्टाऽवगाहिता। गङ्गा तारयते पुंसामुभौ वंशौ भवार्णवात्' इति॥ १६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नैषेति॥ या ब्रह्मण्येनापि मया मुनिगले सर्पं न्यधापयत् एषा अतिशयेन दुःसहाऽपि क्षुत् त्यक्तमुदकं येन तं त्यक्तोदमपि त्वन्मुखमेवाम्भोजं ततश्च्युतं हरिकथामेवामृतं पिबन्तं मां न बाधते। संज्ञां विनाऽपि उदकस्योद आर्षः। उदशब्द उदकार्थो वा। कथाश्रवणोपरमे तु जीवितं न स्यादिति भावः॥ १३॥ एवमिति॥ हे भृगुनन्दन! शौनक सः भागवतेषु प्रधानः श्रेष्ठः। पुंस्त्वमार्षम्। अर्द्धर्चादित्वेन वा। भागवता भागवतशास्त्रं वा प्रधानं यस्य स इति वा। भगवान् वैयासकिर्व्यासपुत्रः शुकः एवं साधुवादं समीचीनं प्रश्नं निशम्य अथ विष्णुरातं परीक्षितं प्रत्यर्च्य प्रशस्य कलौ जनिष्यमाणानामपि जनानां कल्मषाणां नाशकं कलिरूपकल्मषनाशकं वा कृष्णस्य चरितं व्याहर्तुं वक्तुम् आरभत॥१४॥ अत्र कचिच्छुक उवाचेत्यस्ति। कचिन्नास्ति। सम्यगिति। हे राजर्षिषु सत्तम! तव बुद्धिः सम्यग् व्यवसितं निश्चयो यस्याः तादृशी अस्ति। यत् यतो बुद्धेः ते तव वासुदेवकथायां नैष्ठिकी निश्चला रतिः प्रीतिर्जाता॥ १५॥ त्वया वयमपि पाविता इत्याह—वासुदेवेति॥ यथा तस्य भगवतः पादयोः सलिलं गङ्गा पृथिव्यादि त्रीन् लोकान् पुनाति तथा वासुदेवस्य कथायाः अपि प्रश्नः किं पुनः स्वरूपप्रश्नः वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंश्च इति त्रीनपि पुरुषान् पुनाति॥ १६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्रायोपविष्टस्याशनायापिपासाभ्यामर्दितस्य तव कथं श्रवणोपयुक्तचित्तसमवधानसंभव इत्यत्राह॥ नैषेति॥ त्यक्तमुदमुदकपानं येन तथाभूतमपि, तव मुखमेवाम्भोजश्चन्द्रस्तस्माच्च्युतं गलितं, 'अब्जो जैवातृकः सोमः' इति कोशोक्ताब्जाम्भोजयोः समानार्थत्वादम्भोजशब्देनात्र चन्द्र उपादेयः। पद्मेऽमृतसंनिधानाभावाच्चन्द्रे तद्वर्णनस्य सर्वसंमतत्वादुक्तार्थ एव युक्तः। हरिकथैव अमृतं, पिबन्तं मां, अपिदुःसहा सुतरां सोढुमशक्या अपि, एषा क्षुत्, न बाधते। क्षुधो वीक्षणानर्हत्वेऽप्येषेति सर्वनाम्ना प्रत्यक्षवन्निर्देशः, शरीरग्लानिसंदर्शनात्मना बोध्यः॥ १३॥ एवमापृष्टो भगवान् शुकः श्रीकृष्णचरित्रं विस्तरतः कथयितुमारेभ

इत्याह सूतः ॥ एवमिति ॥ हे भृगुनन्दन शौनक, एवमुक्तप्रकारमित्यर्थः। एतमिति पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः। साधुवादं साधोः परीक्षितो वादं प्रश्नरूपामुक्तिमित्यर्थः। निशम्य, भगवानैश्वर्ययुक्तः, वैयासकिर्व्यासपुत्रः, भागवतं भगवत्स्वरूपगुणाद्यनुसंधानमेव प्रधानं मुख्यं प्रयोजनं यस्य तथाभूतः, स शुकः, अथ तद्वचनश्रवणानन्तरं, विष्णुरातं परीक्षितं, प्रत्यर्च्य प्रत्यभिनन्द्य, कलिकल्मषघ्नं शृण्वतां वदतां च कलिकालकृतपापघ्नं, कृष्णचरितं श्रीकृष्णस्य भगवतश्चरित्रं, व्याहर्तुं वक्तुं, दशमैकादशस्कन्धाभ्यां कथयितुमित्यर्थः। आरभत आरेभे ॥ १४ ॥ प्रत्यर्च्येति यदुक्तं तां प्रत्यर्चां तावदाह सम्यगिति द्वाभ्याम् ॥ सम्यगिति ॥ हे राजर्षिसत्तम, तव बुद्धिः, सम्यक् व्यवसिता कृतनिश्चया। हेयोपादेयविवेकयुक्तेत्यर्थः। कुत एतत् ज्ञातमित्यत्राह। यद्यस्मात्, वासुदेवकथायामेव, ते तव, मतिः, नैष्ठिकी निष्ठायुक्ता, जाता। वासुदेवकथाश्रवणे एव परिनिष्ठितेत्यर्थः ॥ १५ ॥ किं तच्छ्रवणनिष्ठमत्या तत्राह ॥ वासुदेवेति ॥ यथा, तत्पादसलिलं विष्णुपादोदकं, गङ्गाजलमिति यावत्। त्रीन् पुरुषान्, हि निश्चितमेव, पुनाति, गङ्गोदकं यथा उपस्पृशन्तं तत्पितरं पितामहं च पवित्रीकरोतीत्यर्थः। तथा, वासुदेवकथाप्रश्नः वक्तारं, पृच्छकं श्रोतॄन्, इत्येतान् त्रीन् पुरुषान्, पुनाति प्रष्टृप्रतिवक्त्रोरेकैकत्वादेकैकवचनेन निर्देशः। श्रोतॄणां बहुत्वाद्बहुवचनेन तन्निर्देशः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

या कृत्स्नव्यसनप्रधानचरिता या कार्यमात्रप्रवृत्त्यारम्भप्रविभञ्जिका च सततं सर्वेऽपि यत्किङ्कराः।
सापि क्षुत् क्षतिमेत्यलक्षितगतिस्तृट् चापि सद्यःश्रुतेर्यस्यास्तां शृणुयान्न कः शुकमुखास्वाद्या मुमुक्षुः कथाम् ॥ ६ ॥
चिद्रूपोऽप्यखिलाखलावनकृते नानावतारान् दधात्यस्मिन्नद्भुतपूर्णचारुचरितान् पापापहारव्रतान्।
इत्थं ज्ञातपरेशवास्तवगतिं ज्ञात्वा स भूपं मुदा तत्साध्वारभतावतारचरितं व्याहर्तुमैशं पुनः ॥ ७ ॥
तत्त्वरूपादपि श्रीशः स्वावतारचरित्रतः। कृतार्थयत्यलं साधूनिति धीस्तव सत्पदा ॥ ८ ॥
इच्छामात्रत एव खिन्नवसुधा खेदापनोदक्षमोप्यङ्गीकृत्य समुद्भवं स चकमे यल्लोकरम्यां कृतिम्।
तद्बीजं निजरूपमेव सुलभीकर्तुं स्वमात्राश्रितानज्ञातोपनिषत्पदान् कलिमलग्रस्तान् समस्तानपि ॥ ९ ॥
ततस्तच्चरितं श्रोतुं समुत्साहस्तवोचितः। प्रवक्तुं च ममाप्यस्मिन् भक्तिसौख्याभिलाषिणः ॥ १० ॥
ब्रूते पृच्छति यः शृणोति च हरेर्लीलाचरित्रं त्रयः पूताः स्युः सहपूर्वजैः सपदि तत्तादृग्यसंदर्शिनी।
त्वत्पादाम्बुजभूतिका विजयते मन्दाकिनीति प्रभो। वागेषा न मृषा भविष्यति मुनेस्त्वादृग्विधेयं मयि ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दम क्षमा)

भगवन्! यद्यपि क्षुधा और तृषा सही नहीं जाति है, फिर भी जल का भी त्याग करने वाले मुझे वह क्षुधा कुछ कष्ट नहीं देती है कारण कि मैं आपके मुख रूप-कमल से निकलते हुए कथामृत को पान कर रहा हूँ ॥ १३ ॥ महर्षि सूतजीने कहा, कि हे महर्षि भृगुजी को आनन्द देने वाले शौनकजी! इस मनोहर भगवान् श्रीकृष्णजी के सम्बन्ध वाले चरित्रों के प्रश्नों को सुनकर, भगवद् भक्तों में श्रेष्ठ व्यासकुमार श्रीशुकाचार्य जी ने, गर्भ में श्रीकृष्णजी से सुरक्षित (विष्णुरात) परीक्षित् जी का आदर कर, कलि के मल को नष्ट करने वाले श्रीकृष्ण जी के चरित्र कहने प्रारम्भ किये ॥ १४ ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि, हे राजर्षियों में सर्वश्रेष्ठ परीक्षित जी? वासुदेव की कथासुधा में आपकी अतिशय स्थिर प्रीति हुई है, यह आपकी मति ने अच्छा निर्णय किया है ॥ १५ ॥ राजर्षि परीक्षित्! श्री वासुदेवजी की कथा का प्रश्न करने वाले तथा उत्तर देने वाले एवं श्रवण करने वाले इन तीन प्रकार के पुरुषों को वैसे ही पवित्र करता है जैसे श्री गङ्गाजी, ब्रह्माजी, रुद्रजी और भगीरथ इन तीनों को पवित्र कर रही है ॥ १६ ॥

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः। आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७ ॥
गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना [1]रुदन्ती करुणं [2]विभोः। उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं [3]समवोचत ॥ १८ ॥
ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह। जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥ १९ ॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं [4]देवदेवं वृषाकपिम्। [5]पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥ २० ॥

श्री कर्दमक्षमा

अन्वयः—दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः भूरिभारेण आक्रान्ता भूमिः ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७ ॥ खिन्ना अश्रुमुखी करुणं रुदन्ती भूः गौः भूत्वा विभोः अन्तिकम् उपस्थिता तस्मै व्यसनं समवोचत ॥ १८ ॥ अथ ब्रह्मा तद् उपधार्य देवैः सह सत्रिनयनः तया सह क्षीरपयोनिधेः तीरं जगाम ॥१९॥ तत्र गत्वा समाहितः देवदेवं जगन्नाथं वृषाकपिं पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे ॥२०॥

---

१. क्रन्दन्ती—श्री. वंशी. रुदन्ती—वीर. विज. ज्जीव. २. यथा—विज. ३. स्वमवोचत—श्रीधरादयः, समवोचत—वीर.
४. वासुदेवं—इति कस्यचित् ५. पूर्णं—इति कस्यचित्।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तत्र तावत्प्रथमं भगवदवतारकारणमाह । भूमिरित्यादिभिर्नवभिः श्लोकैः । दृप्तनृपव्याजा ये दैत्यास्तेषामनीकशतानामयुतैर्यो भूरिभारस्तेनाक्रांता ॥ १७ ॥ विभोः अंतिके उपस्थिता सती ॥ १८–२० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र तेपु तत्रांशेनावतीर्णस्येत्यादिप्रश्नेषु तावत्सकलप्रश्नेषु "यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे" इत्यमरः । अयुतैरनंतैर्न तु तावन्मात्रसंख्याकैः । "संख्या स्वार्थमनंतत्वं चाह सर्वा शतादिका" इति धरणिदेवः । ब्रह्माणं मेरुमूर्द्धस्थं न तु सत्यलोकस्थं "जगाम धरणी मेरोः समाजे त्रिदिवौकसाम्" इति पराशरोक्तेः । दृप्ता गर्विता ये नृपव्याजा नृपापदेशाः 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यम्' इत्यमरः । शरणं रक्षितारम् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः ॥ १७ ॥ खिन्ना दीना । तस्मै विभवे ब्रह्मणे व्यसनं निजापत्तिम् "व्यसनं विपदि ध्वंसे पानस्त्रीमृगयादिषु" इति मेदिन्यादयः । तद्व्यसनम् ॥ १८ ॥ उपधार्य्य मत्कर्म तु सृष्टिरेव पालनं तु विष्णोः स च क्षीराब्धौ तदपि किंचित्संहारं विना न सेत्स्यतीति सत्रिनयनस्यैव तत्र गमनमुचितमित्यालोच्येत्यर्थः । तया भूम्या ॥ १९ ॥ तत्र क्षीरसागरे । पुरुषं पुरुषसूक्तेन "सहस्रशीर्षा" इत्यादिषोडशर्चमंत्रेणोपतस्थे "उपान्मंत्रकरण" इत्यादिनात्मनेपदम् । जगन्नाथत्वं राजादेरप्यस्ति तद्वारणाय—देवदेवमिति । इन्द्रादिवारणाय वृषाकपिम् । वर्षत्यभीष्टमिति वृषः अकाद्दुःखात्पाति तत्पिनष्टीति वाऽकपिः स चासावकपिश्चेति वृषाकपिस्तम् । यद्वा—काज्जलाद्भूमिमपादिति कपिः "कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते । तस्माद्वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिम् ॥" इति व्यासोक्तेः । यद्वा—वर्षतीति वृषा 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्युक्तेरिंद्रस्तमकाद्ब्रह्महत्यादुःखात्पातीति वृषाकपिस्तम् 'इन्द्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम्' इत्याद्युक्तेः । समाहितः समाधिनिष्ठः । गिरं समाधाविति प्रतिपदं वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्र तावद्भगवदवतारे प्रसिद्धं कारणमाह—भूमिरिति । दृप्तेति दर्पस्वभावनिर्देशात् स्थानास्थानविवेकाभावेन सदवमानादिज्ञापकत्वं दैत्यत्वलक्षणम्, शतायुतैरिति अपरिच्छेद्यत्वम् ' शरणं ययौ आश्रितवती ॥ १७ ॥ कथं तदाह—गौरिति । गोरूपेति कृपाविशेषजननार्थम् । तत्रापि खिन्ना दुःखिता अत एव करुणं काकुकम्पादिसंयुक्तं यथा स्यात्तथा रुदन्ती रुदती, क्रन्दतीति क्वचित् पाठः । अत एवाश्रुमुखो अश्रुव्याप्तानना तथा च श्रीविष्णुपुराणहरिवंशयोः "खेदात् करुणभाषिणी" इति । विभोरिति । भगवदावेशेन जगद्वैभवयोगात् । अतस्तस्मै तं प्रति व्यसनं निजदुःखं सम्यगुक्तवती । स्वमिति पाठे स्वीयम् । तद्विशेषः श्रीविष्णुपुराणे "तत् साम्प्रतमिमे दैत्याः कालनेमिपुरोगमाः । मर्त्यलोकं समागम्य बाधन्तेऽहर्निशं प्रजाः ॥ कालनेमिर्हतो योऽसौ विष्णुना प्रभविष्णुना । उग्रसेनसुतः कंसः सम्भूतः स महासुरः ॥ अरिष्टो धेनुकः केशी प्रलम्बो नरकस्तथा । सुन्दोऽसुरस्तथात्युग्रो बाणश्चापि वलेः सुतः ॥ तथान्ये च महावीर्या नृपाणां भवनेषु ये । समुत्पन्ना दुरात्मानस्तान्न सङ्ख्यातुमुत्सहे ॥ अक्षौहिण्या हि बहुला दिव्यमूर्त्तिधरासुराः । महाबलानां दृप्तानां दैत्येन्द्राणां ममोपरि ॥ तद्भूरिभारपीडार्त्ता न शक्नोम्यमरेश्वराः ! । विभर्तुमात्मानमहमिति विज्ञापयामि वः ॥ क्रियतां तन्महाभागाः ! मम भारावतारणम् । यथा रसातलं नाहं गच्छेयमतिविह्वला" ॥ इति ॥ १८ ॥ अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः । तच्चावतारहेतूपन्यासे माङ्गल्यसूचकम् । त्रिनयनेन सहित इति । तस्य पृथगुक्तिर्भगवत्प्रियतमत्वेन तस्य विशेषतः साहाय्यापेक्षया । क्षीराब्धितीरे गमनं तत्रस्थभगवद्रूपस्यैव विष्णुत्वेन पालकत्वात् । पाद्मोत्तरखण्डे तथा व्याख्यानात् "विष्णुः क्षीराब्धिमन्दिरः" इति बृहत्सहस्रनामस्तोत्रे विष्णुनामगणपाठाच्च । तत्र तीर एव गत्वा न तु तत्रत्यश्वेतद्वीपाख्यः श्रीभगवत्पुर्यामिति (१) तस्यापि दौर्लभ्यमभिप्रेतम् । तच्च मोक्षधर्मे नारायणीये व्यक्तमेव, अत्र स्थाने स्थाने दर्शयिष्यमाणवचनानुसारेण प्रक्रियेयं ज्ञेया, प्रथमतः परमगोलोकाधिष्ठाता स्वयं भगवान् वासुदेवाख्यः प्रथमव्यूहः श्रीकृष्णः तदीयद्वितीयव्यूहस्य सङ्कर्षणस्यांशांशः कारणार्णवशायी महत्स्रष्टृपुरुषः सोऽपि सङ्कर्षणाख्यः । तदीयचतुर्थव्यूहस्यानिरुद्धस्यांशो गर्भोदशायी अनन्तकोटिब्रह्माण्डपरमाणुगवाक्षायमाणेषु कारणार्णवशायिरोमविवरतुल्येष्ववकाशेष्वेकैकब्रह्माण्डस्थितः पुरुषः सोऽप्यनिरुद्धाख्यः, तस्यांशः क्षीरोदधामा विष्णुः तथैकैकव्यष्टयन्तर्यामी सर्वभूतस्थः पुरुषश्च तृतीयव्यूहस्य प्रद्युम्नस्यांशांशः, प्रद्युम्नस्तु हिरण्यगर्भान्तर्यामीति क्वचित्तु परमगोलोकमध्यवर्ती श्रीकृष्णापरपर्यायः श्रीगोविन्दः वसुदेवादयस्तु तदावरणदेवता इति भेद इति ॥ १९ ॥ पुरुषमिति । महत्स्रष्टृमहापुरुषभेदाभिप्रायेण अतः पुरुषसूक्तेनैवोपतस्थे भक्त्या तुष्टाव तेन च स्तुतिस्तस्य महिमविशेषसूचनार्थं वेदप्रमाणकताज्ञापनार्थञ्च समाहितस्तदेकचित्तः सन्, कुतः ? जगतां नाथं विशेषतश्च देवानां देवं पूज्यं जगत्-पालनार्थं देवैः स्तुत्यत्वादिति भावः । किञ्च वर्षति कामान् आकम्पयति क्लेशानिति वृषाकपिस्तम् इति प्रयोजनञ्चोद्दिष्टम् ॥ २० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तमित्थं प्रत्यच्चर्यावतारप्रभृतीनि वीर्याणि विस्तरतो विवक्षुस्तावदवतारनिमित्तभूतां भूप्रार्थनामुपपादयति—भूमिरित्यादिभिश्चतुर्भिः । दृप्ताः गर्विताः नृपव्याजाः नृपवदवभासमानाः ये दैत्यास्तेषामनीकानां सैन्यानां शतानामयुतैर्भूरिभारेण तद्रूपनिरव-

धिकभारेणाऽऽक्रान्ता पीडिता भूमिः ब्रह्माणं चतुर्मुखं शरणं ययौ ॥ १७ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—गौर्भूत्वा गोरूपं बिभ्राणा खिन्ना दीना अश्रूणि मुखे यस्यास्तथाभूता करुणं यथा तथा रुदन्ती विभोर्ब्रह्मणोऽन्तिके समीपे उपस्थिता स्तुवन्ती व्यसनं स्वदुःखं तस्मै ब्रह्मणे सम्यगवोचत् विज्ञापयामास ॥ १८ ॥ ब्रह्मा तद्व्यसनमुपधार्य ज्ञात्वा अथ देवगणैस्तया भूम्या च सह सत्रिनयनः सरुद्रः क्षीरसागरस्य तीरं जगाम ॥ १९ ॥ तत्र तीरे गत्वा समाहितचित्तो जगन्नाथं परमपुरुषं वृषाकपिं श्रीमहाविष्णुं पुरुषसूक्तेनोपतस्थे तुष्टाव स्तुतिपूर्वकं निदध्यावित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एतदन्यच्चेत्येतत्, यदन्यदिति, तदिदमिति, ध्वनयन् कथामादित उपक्रमते—भूमिरित्यादिना। शतायुतैरित्यनेना-सङ्ख्यातत्वं सूचयति। भूरिभारेण पीडितेति शेषः ॥ १७ ॥ यथा करुणं भवति तथा रुदन्ती व्यसनं विविधनिरसनम् ॥ १८–१९ ॥ जगन्नाथत्वं राजादेरप्यस्तीति देवदेवमिति, इन्द्रादिव्यावृत्त्यर्थं वृषाकपिम्, अभीष्टदानादानन्दपानाच्च वृतषड्गुणत्वादकपेर्दुःख-पेषणाच्च वृषाकपिः, तं निरूपस्य हरेरिन्द्रियविषयत्वं कथमित्यतः पुरुषमिति "तस्येदमेव शिरः" इत्यादेः उपतस्थे मन्त्रवचन-पूर्वकमुपासनां कृतवानिति "उपान्मन्त्रकरणे" (१।३।२५) इत्यात्मनेपदम्। कोऽयं मन्त्रः येन धात्वर्थः समर्थितः स्यादित्यतः पुरुषसूक्तेनेति ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ब्रह्मेति। क्षीराब्धेस्तीरगमनं तस्यैव विष्णुत्वेन पालकत्वात् तथैव पाद्मोत्तरखण्डे प्रतिपादितम् "विष्णुः क्षीराब्धि-मन्दिरः" इति, बृहत्सहस्रनाम्नि गुणाऽवतारविष्णुनामवर्गे च दृष्टम्" ॥ १९–२० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्र तावद्भगवदवतारे प्रसिद्धं कारणमाह—भूमिरिति। दृप्तनृपव्याजाः दितिवंशत्वाभावेऽपि कर्मणैव ये दैत्यास्तेषा-मनीकशतानामयुतैर्यो भूरिभारस्तेनाक्रान्ता ब्रह्माणं सुमेरुमूर्द्धस्थितमेव न तु सत्यलोकस्थम्। कृष्णावतारादतिपूर्वमेव ककुद्मिना रेवत्याः कन्यायाः सम्प्रदानप्रश्नार्थं तत्र गतवता तेन सहित एव क्षणानन्तरं ब्रह्मा तं प्रत्याह—सम्प्रत्यवतीर्णाय बलदेवाय कन्या दीयतामित्यतस्तस्य तन्मध्ये क्षीरोदतीरागमनं न वृत्तम् "जगाम धरणी मेरोः समाजे त्रिदिवौकसाम्" इति पराशरेणा-प्युक्तम् ॥ १७–१८ ॥ तदुपधार्याथ जगामेत्यथशब्दाधिक्यादिदं लभ्यते। विश्वसृष्टिरेव मत्कर्म, पालनं तु विष्णोरेव कर्म, स च विष्णुः क्षीराब्धिस्थ इति तत्रैव गत्वेदं निवेदनीयमिति परामसर्श ततो जगामेति। तत्र कार्यद्वयमुपस्थितं पृथ्वीपालनं दैत्य-संहरणञ्च; तत्र प्रथमार्थं देवेन्द्रं वा आज्ञापयेत् द्वितीयार्थं रुद्रं वेति देवसाहित्यं त्रिनयनसाहित्यञ्च कृतम्। जगन्नाथमिति तत्र गमने न्यायः। देवदेवमिति, स्वेषां विज्ञापने चाधिकारः। वृषाकपिमिति, पर्षति कामान् आकम्पयति क्लेशानिति प्रयोजन-ञ्चोक्तम् ॥ १९–२० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्र प्रथमं भगवदवतारप्रयोजनविशेषमाह—भूमिरित्यादि नवभिः। "ताः आपः अब्रुवन्" इत्यादिवद्भूमेरचेतनायाः चेतनत्वं देवताप्रवेशाद्बोध्यम्। कृत्स्नायाः गमने भूर्लोकोच्छेदप्रसङ्गादंशमात्रेणैव गोरूपेण शरणं ययौ। गमने हेतुमाह—दृप्तनृपव्याजानां दैत्यानां यान्यनीकानि तेषामयुतैर्यो भूरिभारस्तेन आसमन्तात्क्रान्तेति ॥ १७ ॥ ब्रह्मणोऽन्तिके पुण्यशरीरेणैव स्थातुं योग्यत्त्वात् गौर्भुत्वोपस्थिता सती व्यसनं दुःखमवोचत ॥ १८ ॥

"ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम्। शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद्विदुः ॥"—

इति महाभारते मुद्गलोपाख्याने विष्णुलोकस्य व्यापकस्य ब्रह्मलोकादुपरिस्थत्वेन प्रोच्यमानस्य "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्" इति वक्ष्यमाणात् प्राकृतमण्डलाद्बहिः प्रकाशमानस्य सर्वैरगम्यत्वात् क्षीरनिधेस्तीरं विष्णोः स्थानम् ब्रह्मा प्रजाकार्ये सर्वदाऽवहितः कार्यगौरवात् जगाम, बलस्य तदानवतीर्णत्वाद्रेवतीवरमनुक्त्वैव गान्धर्वसुखासक्तं ककुद्मिनं विसृज्यैवेति बोध्यम् ॥१९॥ तत्रापि तमदृष्ट्वोपतस्थे स्तुतिं कृतवान् यत्र तत्रापि स्थितेनैकेनापि प्रार्थितः प्रादुर्भवति अयं महाप्रयत्नस्तु साक्षात्परम-पुरुषप्रादुर्भावाभिप्रायः। कथम्भूतं पुरुषं स्तुतवानत्राह—जगन्नाथमिति। जगतः चेतनाचेतनसमूहस्यानन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकस्य नाथं न तु श्वेतद्वीपस्थमात्रमेकब्रह्माण्डनाथमित्यर्थः। ननु, तर्हि दैत्यवधं न करिष्यतीत्यत आह—देवदेवमिति। देवानां सात्त्विकानां विशेषतो देवो मोदप्रदस्तम्। ननु, दैत्यानां निग्रहरूपं देवानां भूभारहरणादिनाऽनुग्रहरूपं कार्यं तु पुरुषावतारेण केनचिदेव कर्तुं शक्यं, किं पुनः परमपुरुषावतारस्य प्रयोजनं यदर्थोऽयं महान् प्रयत्न इत्यत आह–वृषाकपिमिति। वर्षति भक्तं प्रति भजनीयरसमिति वृषो भक्तियोगलक्षणो धर्मस्तस्य आ सर्वतः कं सुखं पिबतीति तथा तम् स्वदासकर्तृकवात्सल्यादिभक्तिसुखास्वादलुब्धमित्यर्थः ॥२०॥

श्रीसुबोधिनी

एवं भगवत्सम्बन्धित्वेन प्रश्नमभिनन्द्य भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थं कथामारभते—**भूमिरिति**।

भक्तानां दुःखनाशाय कृष्णावतरणं मतम्। भूमिर्माता तथा चान्ये भक्ता वै त्रिविधा मताः॥ १॥
सर्वेषां च महद्दुःखं नान्येन विनिवार्यते। यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थितिः॥ २॥
ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः। तेषामुद्धारकः कृष्णः स्त्रीणामत्र विशेषतः॥ ३॥
येषां निरोधकं शास्त्रं योगादि विनिरूपितम्। शेषभावस्तत्र हरेर्न कदाचिद्भविष्यति॥ ४॥
संसारदुःखव्यावृत्त्यै निरोधोऽत्र निरूप्यते। अतो निरोधो ज्ञानात्मा दुःखरूपा च संसृतिः॥ ५॥
एवमेकं फलं प्रोक्तं द्वयं वा न निरुद्ध्यते। साङ्ख्य प्रक्रिया युक्ता ततः स्कन्धोऽपि युज्यते॥ ६॥
अवतारो निरोधाङ्गं तदङ्गं दुःखमेव च। धैर्यार्थं सान्त्वनं प्रोक्तं भूमिमात्रोर्न चान्यथा॥ ७॥
अन्ते दुःखं भक्तकृतं प्रादुर्भावाय वै हरेः। आकाशवाणीवाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थमुद्गतः॥ ८॥
अशक्तः सँस्तथा चक्रे तथा नारद एव हि। दशभिः सान्त्वनं भूमेः पञ्चत्रिंशत्तमैस्तथा॥ ९॥
अष्टभिर्नारदोक्त्यैव सर्वेषां दुःखमञ्जसा॥ ९½॥

तत्र दशभिर्भूमिसान्त्वनं वाचा। उपायेन देवक्याः पञ्चत्रिंशद्भिः। ततोऽष्टभिः सर्वेषां दुःखं भगवदवतारार्थं हेतुभूतमुच्यते। उद्यमः स्वदुःखनिवेदनेन दैन्यम्। ततो भक्तानां भगवत्समीपगमनम्। निवेदनार्थं स्तोत्रम्। ततो भगवद्वाक्यनिवेदनम्। शब्दतस्तदर्थश्चतुर्भिर्विवृतः क्रियाजन्मसङ्कर्षणमायाभिः। तत उपसंहार इति। तत्र प्रथमं भूमेरुद्योग उच्यते। व्यापिवैकुण्ठ एव हरिः प्रकटः। अन्यत्र सर्वत्र गुप्त इति। भगवत्स्थाने न गता भूः ब्रह्मणा च जनिता। अत उपायकरणार्थमेव भूम्युद्धरणवद्धुनापि करिष्यतीति तत्र गमनम्। भूमिर्वस्तुतो दैत्यानाम्। 'यावदासीनः परापश्यति तावद्देवाना'मतस्तावद्रूपेण देवोपयोगिना गमनम्। शीघ्रं बाधाभावाय। कार्यावश्यकत्वाय च शरणगमनम्। दैत्याः सर्वे मायादेवताः कापट्येनैव भूमिं रसातलं नेतुं राजरूपेणावतीर्णाः। राज्ञां दैत्यत्वज्ञापकं लक्षणं दृप्तत्वमुच्छास्त्रवर्त्तित्वम्। एतदेव सर्वत्र लक्षणम्। हता अमुक्तास्ते देवेष्वपि प्रविष्टा इति देवा अपि तथा। अतस्तेऽप्यन्ते निराकृताः। अवतारे तद्धर्मा भविष्यन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**व्याजेति**। ते च दैत्या नोपभोगार्थमागताः, किन्तु घातार्थमिति ज्ञापयितुमाह—**अनीकेति**। दैत्यानामनीकानि तेषां शतान्दसंख्यातानि तानि चायुतान्यमिलितानि तत्र तत्र पुञ्जीभूय स्थितानि। अत एवासमन्तात् क्रान्ता, यथा सर्वतश्च शीघ्रं निमग्ना भवति। भूरिभारेणाक्रान्ता। दैत्यत्वं भारजनकत्वम्। यथा उन्मत्त एकोऽपि नौकारूढो नौकां मज्जयति। बलाक्रमणे च भारः। पूर्वं ब्रह्मणा उद्धारे उपायः कृत इति **ब्रह्माणं शरणं ययौ**॥१७॥ रूपान्तरेण गमनं देवानां हितकारि न भवतीति हविर्द्धानीरूपेण गतेत्याह **गौर्भूत्वेति**। **गौर्भूत्वा अन्तिके उपस्थिता तस्मै व्यसन समवोचतेति** सम्बन्धः। अश्रूणि अप्रोञ्छितानि निरन्तरं प्रवृत्तानि मुखे समायान्ति। अन्तःखेदात्मके तापे स्वेद एवाश्रूणि भवन्ति। खेदोपि ज्ञानजनितश्चेत्तदा ज्ञानद्वारा नेत्रयोर्निर्गतः स्वेदोऽश्रुशब्देनोच्यते। दैत्यानामभिप्रायज्ञानेन शोकः। अन्तःस्थितधर्मविसंवादि वाक्यमप्रमाणमिति धर्मप्राकट्यपूर्वकं धर्मकथनम्। बहूनां तादृशानां सम्भवान्निर्द्धारार्थं कथनम्। अधिकारित्वादविचारदशायां न सर्वज्ञतेति युक्तं कथनम्। **खिन्नेति** दुःखसन्ततिरत्यन्तं निरूपिता। दौर्बल्यं कान्त्यभावश्च तस्य ज्ञापकौ। तस्यास्ततोऽन्योपायबोधननिवृत्त्यर्थं तथोक्तम्। रोदनं शब्दात्मकं करुणं यथा भवतीति पितृवियोगजनितखेदाभावाय। अधिकारित्वात् कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं रोदनम्। विभोरिति ब्रह्मणः सामर्थ्यं प्रतीकारे द्योतितम्। उप समीपे भगवत्येवाऽन्तर्यामिणि **स्थिता** बहिरन्तिके स्थिता ब्रह्मणः। व्यसनमप्रतीकारदुःखम्। स्वं **सम्यगवोचत**ेत्यर्थः॥ १८॥ ततो ब्रह्मा दैत्यसम्बन्धित्वाद्भूमेः सहायार्थमाकारणशङ्काव्यावृत्त्यर्थमालोचनज्ञानेन तदुक्तार्थं निश्चित्य प्रतीकारं कृतवानित्याह—**ब्रह्मेति**। ब्रह्मत्वात्तथासामर्थ्यं ज्ञानात्मकत्वात्। **अथेति** स्वनिश्चयानन्तरं, न तु भूमिवाक्यमात्रेण। देवानां नयनमाज्ञापनार्थं, आलोचने प्रतीकारं ससाधनं ज्ञातवानिति। महादेवस्य नयनं दैत्यानामुपायान्तरोपदेशाभावाय। भूमेर्नयनं निमित्तज्ञापनाय। अत एव त्रिनयनपदम्। त्रिष्वपि देवदैत्यमनुष्येषु नयनं यस्येति। श्वेतद्वीपं भगवतः प्रियं धामेति व्यापिवैकुण्ठद्वारस्य तत्र नैकट्याद्वा **क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगाम**, भूमावासक्त एव भूम्युपकारं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं च॥ १९॥ तत्रापि भगवतस्तिरोभावात् स्तोत्रं कृतवानित्याह—**तत्र गत्वेति**। गमनमात्रेणैव स्तोत्रं कृतवानिति ज्ञापनार्थं गत्वेत्यनुवादः **तत्र गत्वा समाहितो योगारूढः पुरुषसूक्तेन उपतस्थ** इति सम्बन्धः। स्वयं कथं न प्रतीकारं कृतवानिति शङ्काभावायाह—**जगन्नाथमिति** जगतां स एव नाथस्ततः स्वस्याकरणम्। ननु जगन्नाथत्वे दैत्यानामपि नाथ इति प्रतीकारं न कुर्यादित्याशङ्क्याह—**देवदेवमिति**। देवानामपि स एव देवः। देवैर्दीव्यतीति वा। प्रजापतेः 'प्रजापतिरग्नेरग्निः सूर्यस्य सूर्य' इति। अतो देवानां भगवानाधिदैविकरूप इति न दैत्यहितं करिष्यतीति भावः। जगन्नाथो मर्यादया। सांप्रतं दैत्यानामतिक्रमान्न पक्षपातः। ननु भूमे रसातलगमनेपि स्वर्गे देवैः सह क्रीडा देवहिताचरणं च सम्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**वृषाकपिमिति**। वृषो धर्मो यज्ञादिरूपः, तस्यासमन्तात् कं सुखं फलं स्वर्गादि तत् पिबतीति। सर्वयज्ञफलभोक्ता। भूम्यभावे ततो यज्ञभावः। देवानां च देवत्वं यज्ञफलभोगादेव। नन्वदृष्टोऽसंनिहितश्च कथं स्तूयत इत्याशङ्क्याह—**पुरुषमिति**। स हि स्वहृदय एव वर्त्तते। 'पुरुषो वा नारायणः

स्वपिते'ति। ततः कार्यावश्यम्भाव इति ज्ञापनार्थम्। **पुरुषसूक्तेनेति** वैदिकेन भगवत्प्रेरणया प्राप्तेन भगवतोऽतिप्रियेण। पुरुषसूक्तं च तेजोमयम्। उपस्थानविद्यया तेजोमयः परितुष्यतीत्यन्तर्यामिपुरःसरं स्तोत्रकरणात् तत्सूक्तेनैव स्तोत्रमुचितम्॥ २०॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

भूमिर्दृ'प्तेत्यत्र उद्धारविषयनिर्द्धारमाहुः—**ये भक्ता** इति। शास्त्रीयसाधनरहितानामित्यर्थः॥ का० ३॥ ननु ससाधनानामपि कथं न विषयत्वमित्याशङ्क्य तत्र बाधकमाहुः—**येषामिति**॥ का० ४॥ किञ्च, एतेषां निरोधपदार्थोऽपि पूर्वस्माद्विलक्षणोऽतोपि न विषयत्वमित्याहुः—**संसारेति**। अत्र ससाधनेष्वित्यर्थः। **निरूप्यते**। त्वयेति शेषः। तथा च संसारस्याविद्याकार्यत्वेन तन्निवृत्तेश्च ज्ञानैकसाध्यत्वेन तद्रूप एव निरोधस्तेषां वाच्य इत्याह—**अत** इति। तथा च बह्वेव वैलक्षण्यमिति भावः। किञ्च, भक्तानां संसारो लीलोपयोगित्वेन सुखरूपस्तेषां तु दुःखरूप इतीतोपि तद्वैलक्षण्यमित्याहुः—**दुःखेति**॥ का० ५॥ प्रासङ्गिकमुक्त्वा पूर्वोक्तमुपसंहरन्ति—**एवमिति**। **एक** निःसाधनानां भगवत्प्राप्तिलक्षणमित्यर्थः। ननु भगवत्कृतनिरोधो न शास्त्रैर्जनयितुं शक्य इति पूर्वोक्तशेषभावासम्भवात् ससाधनानामपि विषयत्वं वक्तुं युक्तम्। अत एव 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रिय' इति पृथावचनमपि गीयत इत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः—**द्वयं वेति**। उभयोर्निरोधस्यैकरूपत्वेनोक्तवैलक्षण्याभावात्तथेत्यर्थः। एवम्प्रकारेण लीलाकरणे कथने च हेतुमाहुः—**साङ्गस्येति**। निरोधस्येति शेषः। अत्रोपपत्तिमाहुः—**तत** इति। यतश्चिकीर्षितनिरोधमवतीर्य स्वयं कृतवानतो हेतोरयं **स्कन्धो** दशमत्वेन **युज्यत** इत्यर्थः। अन्यथाऽनवतीर्यैवाम्बरीषादेरिवात्रापि भक्तदुःखनिवारणोक्तौ भक्तकथैवोक्ता भवतीतीशानुकथैवेयमपि भवेदित्यस्य स्कन्धस्य दशमत्वं न स्यादिति भावः॥ का० ६॥ अङ्गमाहुः—**अवतार** इति। येन विना यन्न सम्भवति तत्तदङ्गमत्रोच्यते। तथा चानाविर्भावे निरोधपदार्थ एव न स्यादिति भावः। यद्वा, यतः संसारभवदुःखव्यावृत्तिरेव निरोधप्रयोजनमतो निरन्तरं भगवत्स्मरणात्मको निरोधो दैवासुरसाधारणो निरूप्यत इत्याहुः—**संसारेति**। स्मृतिश्च कचित् स्नेहात् कचिद्द्वेषादिनेति परं विशेषः। **एकं** पूर्वोक्तमित्यर्थः। अथवा यतो (लीलानुपयोगिसंसारवतां) संसृतिरपि दुःखरूपातोधिकारिभेदेन विरोधाभावाद्दुःखनिवृत्तिः संसारनिवृत्तिश्चे'ति द्वयमपि फलमित्युक्तमित्याहुः—**दुःखरूपा च संसृतिः, द्वयं वा न विरुध्यत** इति। एवमनुक्तौ 'दुःखरूपे'त्याद्यनर्थकं स्यात्। केषाञ्चिद्भक्तानां दुःखमेव निवारितम्। अहम्ममात्मकः संसारस्तु लीलोपयोगित्वेन स्थापित एव। केषाञ्चिद्भक्तानामन्येषां च संसारोऽपि नाशितः। तेन द्वयमपि फलमित्यर्थः॥का० ७॥ नन्वाधिदैविकप्रवर्तनं विना वाण्युद्गमासम्भवे भक्तदुःखहेतुवाणीं स कथं प्रवर्तितवानित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः—**सर्वमुक्त्यर्थमिति**। हर्याविर्भावं विना सा न भवतीति स्वयं तं कर्तुमशक्तस्तद्धेतुहेतुं चक्र इत्यर्थः। 'तदनुगुणदेवतायास्तदुत्कर्षमसहमानाया' इतिरूपेऽग्रिमग्रन्थे तत्पदाभ्यां कंस एवोक्त इति ज्ञेयम्। मुक्तिहेतुत्वेन तदनुगुणत्वम्। भगवन्मातृदास्यं दैवपक्षे परमोत्कर्षः। अयं चासुर इत्यसहमानत्वम्। एवमविरोधः पूर्वापरयोः। 'कालो ह्यत्र प्रतिबन्धको जात' इत्यत्रापि 'अत्र'पदस्य दैवानुगुणत्वे कंसस्येत्यर्थो ज्ञेयः। तथा सति मातुर्दुःखासम्भवेन मातृत्वमेव न स्यादिति भावः॥ का० ८-९½॥ **अतस्तेऽप्यन्त** इति भीष्मादय इत्यर्थः। **तद्धर्मा** इति नृपधर्मा इत्यर्थः॥ १७॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

भूमिरित्यत्राभासे भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थं कथामारभत इति यदुक्तं तद्व्युत्पादयन्ति कारिकासु। ननु तृतीयस्कन्धे उद्धवैः 'स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मे'त्यत्रोक्तमवतारप्रयोजनं राज्ञा ज्ञातमेवेति कथायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तदनुवदन्तस्तत्र विशेषमाहुः—**भक्ताना**मिति द्वाभ्याम्। **मतमिति** उद्धवैर्विचारितम्। शान्तरूपाण्येव **भूमिरि**त्यादिनोक्तानि **अन्येनेति** साधनान्तरेण स्वरूपान्तरेण वा। **स्थितिरिति** निर्णयः। तथा च भक्तदुःखनिवारणे साधनान्तराद्यशक्तिरेव स्वावतारप्रयोजनमित्यर्थः। नन्विदमवतारप्रयोजनं तृतीयस्कन्धे सिद्धमेवेति किमत्र तदनुवादेनेत्याकाङ्क्षायां **टिप्पण्यां** तत्प्रयोजनमाहुः—**उद्धारेत्यादि**। तथा चेदमनुवादप्रयोजनमित्यर्थः॥ का० १-२॥ 'अन्य' इत्यनेनोक्ता ये त्रिविधा भक्तास्तान्निष्कर्षन्ति—**ये भक्ता** इत्यादि। तथा चात्रारम्भे भुवो गोरूपताकथनाद्ये **शास्त्ररहितास्तेषां** भुवश्च स्त्रीत्वात्। अन्ते च 'माधव्यो लेभिरे परमां गति'मितिकथनान्मध्ये साधनशून्यानामन्येषां च कथनात्तादृशां च तथेत्यर्थः। अग्रिममवतार्य व्याकुर्वन्ति—**टिप्पण्यां नन्वित्यादि**॥ का० ३॥ कारिकायां **शेषभाव** इति। समाध्यादिविषयत्वेन तन्निर्वाहकत्वाच्छेषभावः। एतदग्रिममवतार्य व्याकुर्वन्ति—**टिप्पण्यां किञ्चे**त्यादि। **एतेषामिति**। ससाधनानामित्यर्थः। उपसंहारं व्याकुर्वन्ति—**एवमित्यादि**। तथा च फलस्य वाक्यतात्पर्यनिश्चायकत्वादुक्तदोषाभावाच्च निःसाधना एवोद्धारविषया इत्यर्थः॥ का० ४-५॥ 'द्वयं वे'त्यादिग्रन्थमवतारयन्ति—**ननु भगवदित्यादि**। द्वयं वेत्यत्र वाशब्दः पक्षान्तरे। **द्वयं** भिन्नविधं भक्तसङ्घद्वयम्। **न विरुद्ध्यते** कर्मकर्त्तरि प्रयोगः। फलैक्याद्विरोधं न प्राप्नोतीत्याशयेन व्याकुर्वन्ति—**उभयोरित्यादि**। तथा चात्र स्कन्धे ससाधनानामप्युद्धारदर्शनात्पूर्वोक्तदोषाभावाच्च ससाधना अपि सङ्ग्राह्या इत्यर्थः। तर्हि पूर्वमेव तथा कुतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायामग्रिममवतार्य व्याकुर्वन्ति—**एवम्प्रकारेणेत्यादि**। निःसाधनोद्धारजनकप्रकारेण लीलाकरणे तस्य शुकव्यासाभ्यां च कथने हेतुमाहुरित्यर्थः। **साङ्गस्येत्यादि**। अङ्गं भूमौ प्रादुर्भावस्तत्सहितोऽत्र निरोधो भगवदेकतानत्वं, तस्य।

प्रक्रिया प्रकर्षेण कृतिः। उभयाकाङ्क्षायुतं वाक्यकदम्बकं च सा युक्ता, अनुकम्पाप्रयुक्तत्वादुचिता। यदि हि ससाधनानेव मुख्यतयोद्धरेच्छुकव्यासौ च तदुद्धारं मुख्यतया कथयेताम्, तदा साधनरूपस्योपायेविद्यमानत्वान्निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छारूपयङ्ग्योऽनुग्रहोऽनुकम्पात्मा भगवति न सिद्ध्येदतो निःसाधनानामेव मुख्यता युक्तेत्यर्थः। **टिप्पण्यां अत्रेति** औचित्ये ॥ का० ६ ॥ ननूद्धारविषयनिर्द्धारस्तु 'गमिष्यती'त्यन्तकारिकाभ्यामेव जात इति 'संसारे'त्यादिकमनतिप्रयोजनमित्यरुच्या संसारेत्यस्य व्याख्यानान्तरमाहुः—**यद्वेत्यादि**। पूर्वोक्तमिति। भगवत्प्राप्तिलक्षणम्। तथा च 'ददर्श चक्रायुधमग्रतो यतस्तदेव रूपं दुरवापमापे'त्यादिवाक्यादसुराभ्युद्धारविषयत्वेन सङ्गृह्णन्त इतीदं प्रयोजनमित्यर्थः। एवं चात्र सन्दर्भे 'स्वशान्तरूपे'ष्वित्यत्र भगवद्भक्तेषु याऽनुकम्पा उक्ता सा तद्दुःखदासुरमुक्तिपर्यन्ता न तु भक्तमात्रपर्यवसन्नेति तत्सर्वकार्यार्थं भगवदवतार इति पूर्वं राज्ञा न ज्ञातमतस्तत्सर्वज्ञानार्थं कथारम्भ इति सिद्ध्यति ॥ का० ६ ॥ ननु तथापि दुःखान्त एव ग्रन्थो वक्तव्यः सान्त्वनस्य किं प्रयोजनमत आहुः—**सुबोधिन्यां धैर्यार्थमित्यादि**। दुःखसहनार्थं **भूमिमात्रोः** सान्त्वनमाश्वासनं **प्रोक्तमन्यथा** सान्त्वनाभावे दुःखस्य महत्त्वात्स्थितिरेव न स्यात्तथा सत्यवतारोऽपि न स्यादेवातस्तथेत्यर्थः ॥ का० ७ ॥ ननु यद्येवं तर्हि पश्चान्नारदोक्त्या दुःखं किमित्युक्तमत आहुः—**अन्त** इत्यादि। ननु तर्ह्याकाशवाण्याः किं प्रयोजनमत आहुः—**वं** इत्यादि। हरेः सकाशाद्या **आकाशवाणी** सा **वं** प्रादुर्भावनिश्चयाय। यद्याकाशवाणी न स्यात्प्रादुर्भावनिश्चयो न स्यादतस्तथेत्यर्थः। ननु तस्याः किं प्रयोजनं यदेव निश्चायितवतीत्यत आहुः—**वाग्देव** इत्यादि। वाग्देवः **सर्वमुक्त्यर्थमशक्त उद्गतः सन् तथा चक्रे**, कलहोद्यमेन प्रादुर्भावनिश्चायनं कृतवान्। ननु कथमेतदवगम्यते इत्यत आहुस्तथेत्यादि। हि यतो हेतोः **नारदस्तथैव**। द्वितीयस्कन्धे 'पायुर्यमस्ये'त्यत्र सुबोधिन्यां नारदस्यानुद्भूतकलहानां कलहमुत्पाद्य तद्द्वारा तन्निवर्त्तकत्वं व्याख्यातम्। स नारदस्तथैवात्रापि कलहोत्पादकत्वेनान्ते उक्तः। अत उपसंहारादवगम्यत इत्यर्थः। श्लोकान् विभजन्ते—**दशभिरित्यादि तथेति**। श्रीदेवकीसान्त्वनमाकाशवाण्या मातृदुःखमेव, न सर्वेषामतस्तदर्थं नारदोक्तिः। तथा च शीघ्रमवताराय नारदोक्तिरित्यर्थः। अग्रे स्फुटम् ॥ का० ८–९½ ॥ **क्रियेति**। 'यदुपूपजन्यता'मित्यनेनोक्ता सेवार्थी जननक्रियेत्यर्थः। **भूमिरित्यत्र यावदासीन** इत्यादि। 'असुराणां वा अयमग्र आसीद्यावदासीनः परापश्यति तावद्देवाना'मिति श्रुतौ देवानां भूयाचनोत्तरं कियद्दो दास्यामीति प्रश्ने, ततः सालावृकी त्रिः परिक्रान्तिमितां याचित्वा धृतसालावृकीरूपेणेन्द्रेण सर्वस्याः परिक्रमणे भूमेः प्राप्त्या वेदित्वमुक्तमिति तदिदानीं नष्टमितिज्ञापनाय तावद्रूपेण हविर्धान्यात्मकेन गमनमित्यर्थः ॥ १७–२१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

भूमिरित्यत्राभासोक्तं प्रयोजनं विशदयन्ति—**भक्तानामिति**। भक्तदुःखनाशार्थं भगवदवतरणं सम्मतमतो भक्तदुःखमवतारप्रयोजनमिति भावः। 'तद्दुःखं त्रिविधं त्रयाणा'मिति पूर्वोक्तमवसरे स्मारयन्ति—**भूमिरिति**। का० ॥ १ ॥ **इति स्थितिरिति**। इयं प्रादुर्भावमर्यादा, क्वचिदन्यथापि, यथा नारदस्य 'आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि' प्रह्लादस्य च सर्वदा दर्शनं तृतीयस्कन्धे निरूपितं, सा पुष्टिरिति भावः ॥ का० २ ॥ **स्त्रीणामत्रेति**। अवतारान्तरेष्वपि यत्र शबरकिरातादीनामुद्धारस्तत्र कृष्ण एवोद्धारकः, प्रमेयबलस्य पुरुषोत्तम एव प्राकट्यात्। **अत्रावतारे** शूद्रद्विजबन्धवपेक्षया **स्त्रीणां विशेषत उद्धारोऽग्रे** तथैव वक्ष्यमाणत्वात्। अवतारान्तरे तु त्रयाणामपि समतेत्यर्थः ॥का० ३॥ **येषामिति** चित्तवृत्तिनिरोधार्थं भगवद्ध्यानं निरूपितम्। तथा च परार्थत्वाच्छेषतेत्यर्थः। **निरोधकं** चित्तवृत्तिनिरोधकमित्यर्थः ॥ का० ४ ॥ **निरोधो ज्ञानात्मेति**। **टिप्पण्यां** द्वितीयव्याख्याने ज्ञानपदेन स्मृतिः। तथा च स्मरणात्मेत्यर्थः। भक्तानां संसृतिर्लौकिकाभिनिवेशशङ्कया दुःखजनिका न तु स्वयं दुःखरूपा, लीलापदार्थत्वेनानन्दरूपत्वात्। अतस्तेषां भक्तानां दुःखमेव निवारितवान्न तु संसृतिम्। येषां तु संसृतिर्दुःखरूपा तेषां संसृतिमपि निवारितवान्। तथा च संसृतिः केषाञ्चिद्दुःखरूपापि वर्तते। अतः फलद्वयमपीत्यर्थः ॥ का० ५ ॥ दुःखमेवाध्यायार्थोऽतः सान्त्वनं कुत्रोपयुज्यते इत्यत आहुः—**धैर्यार्थमिति**। धैर्याभावे तादृशदुःखेनान्यथाऽवस्थैव स्यात्तदावतार एव न सम्पद्येतेति तस्य दुःखस्यावतारहेतुत्वमेव न स्यादिति भावः ॥ का० ७ ॥ **शीघ्रमिति** सर्वरूपेण गमने दैत्या जानीयुस्तदा शीघ्रमेव रसातलं नयेयुस्तदभावाय स्वल्परूपेण गमनमित्यर्थः। **मायेति**। माया देवता येषां, मायोपासका इत्यर्थः। **दृप्तत्वमिति**। एतस्यैव विवरणमुच्छास्त्रवर्तित्वमिति ॥ १७ ॥ **गौर्भूत्वेत्य**स्याभासे। गोरूपभवनस्यावान्तरवाक्यार्थस्य तात्पर्यमुक्तं, मुख्यावाक्यार्थस्तु 'स्वदुःखनिवेदनेन दैन्य'मिति पूर्वोक्ति एवानुसन्धेय इति भावः। **गौर्भूत्वेत्यत्र ज्ञानजनित** इति, क्रियाजनितः स्वेदोऽङ्गान्तरेभ्यो निर्गच्छतीत्यर्थः। **धर्मप्राकट्य**ेति। **अश्रुमुखीखिन्नेति** पदाभ्यामन्तःस्थितखेदप्राकट्यपूर्वकं बहिःखेदकथनमित्यर्थः। **बहूनामिति**। अश्रुहेतुभूतानां बहूनां दुःखानां सम्भवादित्यर्थः। **तस्या** इति। **ततः** प्रतीकारादन्य उपायो ज्ञानादिरूपस्तद्बोधननिवृत्त्यर्थं तस्या भूमेः भिन्नत्वमुक्तमित्यर्थः। अन्तःखेदे ज्ञानानधिकार इति भावः। कथनान्यथाऽनुपपत्त्यैवान्तिकोपस्थितेर्लब्धावपि तत्कथनात्प्रकारान्तरेणार्थमाहुः—**उप समीप** इति। तथा च पूर्वमुपस्थिता ततोऽन्तिके स्थितेति शेषः। ततो व्यसनं समवोचतेत्यन्वयः। **इत्यर्थ** इति। अयमत्र वाक्यार्थः। आभासोक्तस्त्ववान्तरवाक्यार्थ इति भावः ॥ १८ ॥ **ब्रह्मे**त्यत्र **श्वेतद्वीपमिति**। श्वेतद्वीपे व्यापिवैकुण्ठावेशात्तस्मान्नैकट्यं व्यापिवैकुण्ठद्वारस्येति भावः ॥ १९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

उपस्थिताऽन्तिके तस्मै इत्यत्र **उप समीपे भगवत्येवे**त्यादि। ब्रह्माणं प्रति स्वदुःखं भूर्निवेदयन्ती स्वस्या भक्तत्वाद्ब्रह्मणो हृदयेऽन्तर्यामितया वर्तमानं भगवन्तं प्रति स्ववार्तां निवेदनीयेति विचार्य, नैकट्यं विना तु स्वदुःखनिवेदनमसम्भावितमिति

भक्तिमार्गीयध्यानेन भगवन्नैकट्यं सम्पाद्य स्वक्लेशं निवेदयतीति सूचनार्थं मूल उपस्थितेत्युपोपसर्गः। अन्तिक इति पदेन ब्रह्मसमीपे स्थितिरुक्ता। एवमन्तर्यामिनैकट्यं ब्रह्मनैकट्यं च वक्तुमुपशब्दान्तिकशब्दौ। अन्यथैकेनव चारितार्थ्ये पदद्वयं न वदेत्, इत्थमाशयं स्फुटीकर्तुमुप समीपे भगवेत्येवेत्यादि विवृतं **सुबोधिन्याम्**॥ १८॥ **ब्रह्मा तदुपधार्येत्यस्याभासे दैत्यसम्बन्धित्वादभूमेरित्यादि सहायार्थमाकारणशङ्काव्यावृत्त्यर्थमिति। भूमेः सहायार्थं** ब्रह्मकर्तृकभूमिसहायार्थमित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम्। **व्यसनं समवाचतेति**वाक्याद्भूमिः सर्ववृत्तान्तं स्वहार्दं च ख्यापितवती। तत्र भूमिर्हि भक्ताऽतो नेयं स्वभारभूतदुःखनिवृत्त्येकप्रयोजनार्थं यत्नवती किन्तु भारनिवारणार्थमपि भगवदाविर्भावोऽस्तु सोप्यभीष्ट इति तदर्थं यतते। दैत्यसम्बन्धित्वात् केवलं दुःखनिवृत्तिर्मेऽस्तु हर्याविर्भावेण किं प्रयोजनमित्यपि भूमिहार्दं सम्भवतीत्युभयोः शङ्का। युक्तं चैतद्द्वयं, भक्तानां हि स्वतः प्रभ्वाविर्भावोऽभिलषितो दुःखनिवृत्तिरपि कृष्णादेवेष्टा न तु यस्मात्कस्माच्चित्। दैत्यसम्बन्धित्वेन तु येन केनापि साधनेन स्वेष्टं सिध्यत्विति बुद्धिः। एवमुभयसम्भवे ब्रह्मणो मनसि मामेव स्वसहायार्थमाकारयति न त्वस्या भगवदभिलाषः एतस्या दैत्यसम्बन्धित्वादित्याशङ्कोत्पन्ना; तन्निवृत्त्यर्थमालोचनं कृतवान्। तेन परमभक्ता भूर्भगवदभिव्यक्त्येकप्रयोजनेति ज्ञात्वा ब्रह्मा भगवत्सन्निधौ भूमिसाहित्येन गमनं भूमिमनोरथानुकूलं कृतवानित्युक्तं मूले **ब्रह्मा तदुपधार्येत्यादिना**। विवृतं च 'दैत्यसम्बन्धित्वाद्भूमे'रित्यादिना **सुबोधिन्याम्**॥ १९॥ पुरुषं **पुरुषसूक्तेनेत्यत्र अन्तर्यामिपुरस्सरं स्तोत्रकरणादित्यादि**। अन्तर्यामित्वरूपधर्मपुरस्सरं स्तोत्रकरणादित्यर्थः। इदमत्राकूतम्। भूदुःखनिवेदनार्थं समागतं वेधसा तत्र 'चेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषे'तिवाक्याद्भगवान् सर्वं स्वत एव जानातीत्यभिप्रायेणान्तर्यामित्वं भगवतो विवक्षुरन्तर्यामित्वरूपधर्मपुरस्सरं पुरुषसूक्तस्य प्रवर्तमानत्वात्पुरुषसूक्तेनैव भगवन्तं धाता तुष्टाव॥ २०॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

भूमिर्दृप्तनृपव्याजेत्यत्र **भक्तानां दुःखनाशायेत्यादि**। स्पष्टोऽर्थः॥ का० १–३॥ ननु ससाधनानामपि कथं नोद्धारविषयत्वं तत्र बाधकमाहुः—**येषामिति**। येषां योगादिशास्त्रं चित्तवृत्तिनिरोधजनकं निरूपितं तत्र हरेः शेषभावः। अन्यशेषत्वं कदाचिदपि न गमिष्यति किन्तु स्थास्यत्येवेत्यर्थः। योगशास्त्रे हि चित्तवृत्तिनिरोधार्थमेव भगवद्ध्यानं न तु स्वातन्त्र्येणेति तेषां नोद्धारविषयत्वमिति भावः॥ का० ४॥ किञ्च, तेषां निरोधपदार्थोपि पूर्वस्माद्विलक्षणोऽतोपि नोद्धारविषयत्वमित्याहुः—**संसारेति**। अत्रेति ससाधनेष्वपीत्यर्थः। इयमुक्तिः प्रतिवादिनं प्रति ज्ञातव्या, अत एव 'निरूप्यत' इत्यस्यानन्तरं 'त्वये'त्युक्तं **टिप्पण्याम्**। तथा च संसारस्याविद्याकार्यत्वेन तन्निवृत्तेश्च ज्ञानैकसाध्यत्वेन ज्ञानरूप एव निरोधस्तेषां ससाधनानां वाच्य इत्याहुः—**अतो निरोधो ज्ञानात्मेति**। किञ्च भक्तानां संसारोपि लीलोपयोगित्वेन सुखरूपस्तेषां तु दुःखरूप इतीतोपि तद्वैलक्षण्यमित्याहुः—**दुःखरूपेति**॥ ५॥ प्रासङ्गिकमुक्त्वा पूर्वोक्तमुपसंहरन्ति—**एवमिति**। एकं निःसाधनानां भगवत्प्राप्तिलक्षणं फलमित्यर्थः। ननु भगवत्कृतनिरोधो न शास्त्रैर्जनयितुं शक्य इत्यनुग्रहे सति ससाधनानामप्युद्धारविषयत्वं वक्तुं युक्तमित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः—**द्वय वेति**। निःसाधनानां फलं ससाधनानां फलं चेति द्वयमप्येकविधमेवेति न विरुद्ध्यत इत्यर्थः। अथ **टिप्पण्युक्ते** 'यद्वे'त्यादिद्वितीयव्याख्याने 'द्वयं वा न विरुद्ध्यत' इत्यस्य संसारदुःखनिवृत्तिः संसारनिवृत्तिश्चेति फलद्वयमप्यधिकारिभेदेन विरोधाभावान्न विरुध्यत इत्यर्थः। केषाञ्चिद्भक्तानां दुःखमेव निवारितमहन्ताममतात्मकः संसारस्तु लीलोपयोगित्वेन स्थापित एव। केषाञ्चिद् भक्तानामन्येषां च संसारोपि नाशितस्तेन द्वयमपि फलमित्यर्थः। **साङ्गस्येति**। अवतारात्मकाङ्गसहितस्यैव निरोधस्य **प्रक्रिया युक्ता** योग्या, ततोऽयं **स्कन्धोपि** दशमत्वेन **युज्यते** योग्यो भवतीत्यर्थः। अन्यथाऽनवतीर्याम्बरीषादेरिवात्रापि भक्तदुःखनिवारणोक्तौ भक्तकथैवोक्ता भवतीतीशानुकथैवोक्ता भवतीतीशानुकथैवेयमपि भवेदित्यस्य स्कन्धस्य दशमत्वं न स्यादिति भावः॥ का० ६॥ अङ्गमाहुः—**अवतार इति**। ननु दुःखमेवाध्यायार्थोऽतः सान्त्वनं कुत्रोपयुज्यत इत्यत आहुः—**धैर्यार्थमिति**। धैर्याभावे तादृशदुःखेनान्यथाऽवस्थैव स्यात्तदवतार एव सम्पद्येतेति तस्य दुःखस्यावतारहेतुत्वमेव न स्यादिति भावः॥ का० ७॥ **अन्ते इति**। अन्ते अध्यायान्ते 'नन्दाद्या ये व्रजे गोपा' इत्यादिवाक्यैर्भक्तेन नारदेन कृतं दुःखं हरेः प्रादुर्भावायेत्यर्थः। **आकाशवाणीति**। आकाशवाणीरूपो वाग्देवः सर्वमुक्तिहेतुभूतं हर्याविर्भावं कर्तुमशक्तः सन्नाविर्भावहेतुभूतं भक्तदुःखोपायं चक्र इत्यर्थः। तथैव नारदोपि चक्रे॥ का० ८॥ श्लोकान्विभजन्ते—**दशभिरित्यादि**। दशभिर्भूमिसान्त्वनं वाचा। उपायेन देवक्याः पञ्चत्रिंशद्भिः॥ का० ९॥ श्लो.॥ १७॥

बुभुत्सुबोधिका

भूमिर्दृप्तेत्यत्र। भगवदवतारेति भगवदवतारप्रयोजनं भक्तानां दुःखनाशः। आरभते इति नभस्ये मासे नवम्यामारभते। भूमेरितीति भूमिपदं पुरस्कृत्य कथारम्भस्तु, वेदवेदान्तसारत्वात्। वेदस्य 'मुह्यन्ति यत्सूरय' इति वाक्यान् मोहकत्वेन वेदान्तस्यापि वेदत्वं 'स्मृतेश्चे'ति सूत्रभाष्य उक्तम्। ततस्तस्यापि मोहकत्वं, अतः 'पञ्चरात्रमुपतिष्ठते' श्लोकबद्धत्वेनामोहकत्वात् तत्र च 'अधीताः सकला वेदा साङ्गोपाङ्गाः सविस्तरा' इत्युपक्रम्य 'निश्चयं नाधिगच्छामि मनसा विमृशन्नपि' इत्युक्त्वाग्रे 'एतच्छास्त्रं च दातव्यं शिष्यायानभ्यसूयवेमोक्षमाणाय नान्यस्मै कस्मैचन यदृच्छया त्रैवर्णिकाय दातव्यमध्येतव्यं च वेदव'दित्युक्तत्वात्। तदनुक्रिया-

पादारम्भे 'सुभद्रा भद्रका पूर्णा धूम्रा चेति चतुर्विधा भूमयो लक्षणं तासां क्रमेणोपदिशामित' इति भूमिलक्षणपुरस्कारात्। स्वपदभारदूरीकरणं चावश्यकमिति भूमिपदपुरस्कारः। भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थं कथामारभत इति यदुक्तं तद् व्युत्पादयन्ति स्म भक्तानामित्यादि। भक्तिमताम्। आधिदैविकविरहदुःखनाशाय कृष्णावतरणम्। आधिभौतिकदुःखनाशाय शब्दरूपसङ्कर्षण-व्यूहावतरणम्। भूमिदुःखभाजे। मातृदुःखभाजे प्रद्युम्नः। गर्भसम्बन्धस्तस्यैवेति। आदिशब्दार्थोत्तरापरीक्षित्प्रभृतिदुःखभाजेऽ-निरुद्धः, धर्मपुरुषार्थत्वात्। परीक्षिन्मोक्षदानार्थं वासुदेवः। तेनावतारप्रयोजनपञ्चानां न विरोधः। तानि तु 'भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रिय' इति। 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति। 'भारावताराय च भुव' इति। 'प्रादुरासं वरदरा'डिति। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारते'ति। पूर्ववाक्ये भक्तियोगोत्र विरहः। द्वितीयवाक्ये मुक्तिदानं वासुदेवकार्यम्। तृतीय-वाक्ये भुवो भारावतारः सङ्कर्षणकार्यम्। चतुर्थवाक्ये वरदराट्प्रादुर्भावः देवकीगर्भसम्बन्धः प्रद्युम्नकार्यम्। पञ्चमवाक्ये धर्मरक्षाऽनिरुद्धकार्यम्। भूमिर्मातेति भूमेः प्राथम्यमुक्तम्। भूमिः सात्त्विकी भगवत्पत्नीत्वात्। माता राजसी राजपुत्रीत्वात्। अन्ये उत्तरा च तामसी तम आकाङ्क्षायां गर्भाकाङ्क्षावतीत्वात्। परीक्षित् राजसः। तदुक्तं त्रिविधा इति। सर्वेषामिति स्वशान्त-रूपाणाम्। 'स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मे'ति तृतीयस्कन्धात्। दुःखे महत्त्वं किमित्यत आहुः नान्येनेत्यादि। तथा चान्याविनिवार्यत्वं महत्त्वमितिभावः। अन्येनावतारान्तरेण साधनेन च। निवारणं ज्ञानादिनापि सम्भवति यदा तदा न कृष्णाविर्भावः, यथा चित्रकेतुप्रसङ्गे। चित्रकेतुं प्रति न भगवदवतारः। भूमेर्ब्रह्मवाक्यमात्रेण दुःखे निवृत्ते परन्तु विशेषेण मर्दन-क्लेशादिकं न निवृत्तं तदा कृष्णः प्रादुरासीदिति। हरिरिति हरित्वेन रूपेण। दुःखानि हरतीति हरित्वधर्मपुरस्कारेण न तु भक्तिनिगूढभावकरणत्वधर्मपुरस्कारेण। स्थितिनिर्णयः। अस्मिन् वाक्ये साधारणे व्यष्टिसमष्टिभेदेन कृष्णावतारः। 'आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसी'तिनारदवाक्ये। भक्तियोगविधानार्थं कृष्णाविर्भावः नारदस्य। प्रह्लादस्य सर्वदा दर्शनं, तत्रापि भक्ति-योगविधानार्थं कृष्णाविर्भावः। एतयोः पूर्वोक्तावतारप्रयोजनपञ्चस्वन्तर्भावः। तथा च भक्तमहद्दुःखविनिवारणे साधनान्तराव-तारान्तरेच्छाशक्तिरेव प्रयोजिकेतिभावः। उद्धारविषयनिर्धारमाहुः ये भक्ता इति। शास्त्रसहितोद्धरणे प्रमेयबलं न स्यादितिभावः। स्त्रीणामिति जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिः सदानन्दस्येति शक्तिस्त्रीमहिम्ना तथा। 'भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः सुवः कालकर्णतप्ता महालक्ष्मी'-रितिश्रुतेः। अत्रेति दशमे। तथा च तृतीयस्कन्धादेप विशेषः।

ननु ससाधनानामपि कुतो न विषयत्वमित्याशङ्क्य तत्र बाधकमाहुः येषामिति। निरोधकमिति चित्तवृत्तिनिरोधकम्। शेषभाव इति समाध्यादिविषयत्वेन तन्निर्वाहकत्वाच्छेषभावः। 'शेषः परार्थत्वा'दितिजमिनिसूत्रम्। ननु भक्तिमार्गेपि भक्तिशेषत्वं वर्तते तद्वत् योगादौ शेषत्वं भवत्विति चेन्न 'सोश्नुते सर्वान् सह ब्रह्मणे'ति श्रुतावप्रधानतृतीयया भक्तिमार्गे शेषत्वेप्यदोषात्। हरेरिति उपस्थितिप्रयोजकधर्मार्थं हरिपदम्। हरिः कृष्ण इति घटः पृथिवीतिवत्। किञ्च ससाधनानां निरोधपदार्थोपि पुष्टिस्था-द्विलक्षणोतोपि न विषयत्वमित्याहुः संसारेति। 'दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मत'मित्याशयेनोक्तम्। तथा च सूत्रं 'यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः तदुच्छित्तिः पुरुषार्थ' इति। निरोध इति 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति योगसूत्रम्। अत्रेति ससाधनेषु। निरूप्यत इति अत्र त्वया योगादिशास्त्रनिरुद्धेन। तथा च संसारस्याविद्याकार्यत्वेन तन्निवृत्तेश्च ज्ञानैकसाध्यत्वेन ज्ञानरूप एव निरोधो योगादिशास्त्रनिरुद्धानां वाचया इत्याहुः अत इति। संसारस्याविद्याजन्यत्वेनाविद्यात्वात्। साङ्ख्ययोगावेकं शास्त्रम्। तत्र 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'। 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि'रिति योगसूत्र-त्रयम्। कापिलसाङ्ख्यप्रवचनसूत्रवृत्तौ 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपत' इति सूत्रम्। अतो ब्रह्मणो ज्ञानत्वाज् ज्ञानात्मेति। दुःखरूपेति 'यद्वा तद्वे'त्युक्तसूत्रात्। भक्तानां तु संसारो लीलोपयोगित्वेन सुखरूप इति बह्वेव वैलक्षण्यमितिभावः। एवं प्रासङ्गिक-मुक्तम्। वेदवेदान्तसारे उपनिषदां संशयवारकत्वं, किञ्च कपिलस्मृतीनां तृतीयस्कन्धोक्तानामुपबृंहकत्वम्, न साङ्ख्ययोग-शास्त्रयोरिति 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग' इति द्वितीयाध्यायवैयाससूत्रन्याय उक्तः। प्रासङ्गिक-मुक्त्वा पूर्वोक्त 'भक्तानां दुःखे'त्यादिनोक्तमुपसंहरन्ति स्म एवमिति। एकं निःसाधनानां भगवत्प्राप्तिलक्षणम्। द्वयं वेति भक्तियोग-वितानरूपं, पृथोक्तम्। पुष्टिस्थामलात्ममुन्योर्निरोधस्यैकरूपत्वेन पूर्वोक्तशेषभावाभावान्न विरुध्यत इत्यर्थः। विरुध्यत इति कर्मकर्तरि प्रयोगः। पच्यते फलं स्वयमेवेत्यत्रेव। एवं प्रकारेण निःसाधनोद्धारजनकत्वोक्तावपि शेषभावाभावात् साधारणोद्धारजनक-त्वोक्तेरुपलक्षणविधया ग्रहणप्रकारेण लीलाकरणे तस्य शुकव्यासाभ्यां च कथने हेतुमाहुः साङ्गस्येति। निरोधस्येति शेषः। प्रक्रिया एकत्वमविवक्षितम्। प्रक्रियाः प्रकरणानि पञ्च। अत्रोपपत्तिमाहुः तत इति। यतश्चिकीर्षितनिरोधमवतीर्य स्वयं कृतवानतो हेतोरयं स्कन्धो हि पञ्चप्रकरणसहितो दशमत्वेन युज्यत इत्यर्थः। अन्यथाऽनवतीर्यैवाम्बरीषादेरिवात्रापि भक्तदुःखनिवारणोक्तौ भक्तकथैवोक्ता भवतीतीशानुकथैवेयमपि भवेदित्यस्य स्कन्धस्य दशमत्वं न स्यादिति भावः। अङ्गमाहुः अवतार इति। येन विना यन्न सम्भवति तत्तदङ्गमत्रौचित्ये निरोधे उच्यते। तथा चाविर्भावप्रतिपादकजन्मप्रकरणाभावे निरोधपदार्थ एव न धार्यः स्यादिति भावः। तदङ्गमित्यवताराङ्गम्। 'भक्ताना'मित्यादिना भक्तानां दुःखनिवारकः। ये शास्त्ररहितास्ते भक्तास्तेषामुद्धारक इति 'गोप्यः कामा'दित्यत्रोक्ताः, भयद्वेषवन्तोऽभक्ता दुःखनाशादौ न सङ्गृहीताः, तत्सङ्ग्रहार्थं टिप्पण्यां व्याख्यानानन्तरं संसारेति। अत्रेति

भयादिससाधनेषु। निरोधः मनोनिवेशः। 'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये'दितिवाक्यम्। तेन भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्रफलभोगनैराश्येनैवामुष्मिन्मनः कल्पनमेतदेव च 'नैष्कर्म्य'मितिश्रुतौ मानसी सेवोक्तोभयसाधारणी। अत इति भयादीनां मानस्यामप्रवेशात्। ज्ञानात्मा स्मरणात्मा। एकं भगवत्प्राप्तिलक्षणम्। तथा च 'ददर्श चक्रायुधमग्रतो यतस्तदेव रूपं दुरवापमापे'त्यादिवाक्यादसुरा अप्युद्धारविषयत्वेन सङ्गृह्यन्ते। द्वयं वेति दुःखनिवृत्तिः संसारनिवृत्तिश्चे'ति। केषाञ्चिद् भक्तानां अम्बरीषादीनां संसारदुःखमेव निवारितम्, न तु संसारम्। लीलोपयोगित्वेन संसारस्य स्थापितत्वात्। केषाञ्चिद् भक्तानां वृत्रासुरप्रभृतीनाम् अन्येषाममलात्ममुनीनां च संसारोपि नाशितः तेन द्वयमपि फलमित्यर्थः। अध्यायार्थं भक्तदुःखमध्याये सङ्गमयितुं व्याप्तिवारणार्थं वाक्यकदम्बं पृथक्कृत्य वाक्यकदम्बार्थमाहुः अवतार इति। ननु दुःखत्वेनावतारत्वेन कार्यकारणभावाद् दुःखान्त एव ग्रन्थो वक्तव्यः। सान्त्वनग्रन्थस्य किं प्रयोजनमत आहुः धैर्यार्थमिति। दुःखसहनार्थं भूमिमात्रोः सान्त्वनमाश्वासनं प्रोक्तम्। अन्यथा सान्त्वनाभावे दुःखस्य महत्त्वाद् दुःखाश्रयस्थितिरेव न स्यात्। तथा सति कारणाभावादवतारोपि न स्यादतः सान्त्वनम्। तथा च भक्तिमार्गीयावान्तरसाधनार्थं सान्त्वनं, 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष'दितिश्रुतेः। ननु यद्येवं तर्हि पश्चान्नारदोक्त्या दुःखं किमित्युक्तमत आहुः अन्त इति। भक्तकृतं नारदकृतम्। ननु तर्ह्याकाशवाण्याः किं प्रयोजनमत आहुः वै हरेरित्यादि। हरेः सकाशाद् या आकाशवाणी सा वै चतुर्थ्या लुक्, निश्चयार्थकात्। प्रादुर्भावनिश्चयायेति 'वै' इत्यव्ययस्यार्थः। यद्याकाशवाणी व्यापिका परिच्छिन्ना न स्यात् तदा मायोद्घाटनाभावाद् व्यापककृष्णः परिच्छिन्नः प्रादुर्भूत इति निश्चयो न स्यात्। मायाशक्तिरहितानां व्यापकदिगादीनामप्याविर्भावस्य सम्भवात्। अतो वै हरेराकाशवाणी भवतीति वाक्यभेदेनान्वयः। 'आकाशवाणी' 'वाग्देव' इति पदद्वयात्। 'सद्यो देव्यम्बरं गते'त्याकाशवाणी आकाशतन्मात्रा तत्र मुक्तेः। वाग्देवः 'अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजे'त्युक्तः। इत्यतो वाग्देवः। ननु तस्याः किं प्रयोजनं यदेवं निश्चायितवतीत्यत आहुः वाग्देव इत्यादि। वाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थं 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेती'ति श्रुतेः। पितुर्गेहाद् व्रजगमनेनान्यत्र स्थितस्यान्यत्र स्थापनरूपेण। उद्गत हर्याविर्भावं कर्तुम् अशक्तः सन् तथा चक्रं नाम कलहोद्यमेन प्रादुर्भावनिश्चायनं कृतवान्। भक्तत्वमस्या भगवत्कार्यसाधकत्वात्। ननु कथमेतदवगम्यते इत्यत आहुः तथेति।

हि यतो हेतोः नारदस्तथैव, वाग्देववदेव अन्ते स्फुटं कलहोत्पादकत्वेनोक्तः। द्वितीयस्कन्धे 'पायुर्यमस्ये'त्यत्र सुबोधिन्यां नारदस्यानुद्भूतकलहानां कलहमुत्पाद्य तद्द्वारा तन्निवर्तकत्वं व्याख्यातम्। तन्निवर्तकत्वं विरोधिनिवर्तकत्वम्। अत उपसंहारात् प्रादुर्भावनिश्चायनार्थत्वं वाग्देव्याः कलहोद्यमकरणमित्यवगम्यत इत्यर्थः। सुबोधिन्यां श्लोकान् विभजन्ते स्म दशभिरिति। तथेति श्रीदेवकीसान्त्वनम्। नारदोक्त्यैवेति एवकारेण मातृदुःखदाकाशवाणीयोगो व्यवच्छिद्यते। अञ्जसा सामस्त्येन। तथा च शीघ्रमवताराय नारदोक्तिरित्यर्थः। तत्रेति अध्यायस्थेषु श्लोकेषु। हेतुभूतमिति अध्यायार्थम्। श्लोकाष्टकार्थमाहुः उद्यम इति। 'शरणं ययावि'ति वक्ष्यते। स्वगृहादन्यत्र स्वाभिप्रायप्रकाशनं शरणमार्गः। षड्विधशरणागतौ कार्पण्यं शरणागतिः, सापि अष्टकेन स्तुवीतेत्यष्टकेन स्वाभिप्रायप्रकाशने स्तवनात्मके सति भवतीति श्लोकाष्टकम्। दैन्यमिति कार्पण्यम्। 'कृपणः स तु विज्ञेयो योनालोचितयाचकः'। भक्त्यन्तर्गतत्वाद् भगवदवतारे साधुकारणम्। 'भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधन'मिति। भक्त्यन्तर्गतत्वम् आर्तिरूपाधिकाररूपत्वात्। साङ्गभक्तेर्भगवदवतारकारणत्वात्। शब्दत इति पूर्वान्वयि। श्लोकचतुष्टयार्थः उक्तः। तदर्थ इति भगवद्वाक्यार्थः उक्तः। विवृत इति तत्समानार्थकशब्दैस्तदर्थकथनं विवरणं तत्कर्म न पृथक्। क्रियेति 'यदुपूपजन्यता'मित्यनेनोक्ता सेवार्था जननक्रिया। जन्म द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां, मिलित्वा तु नव श्लोकाः। उपसंहार इति 'इत्यादिश्यामरगणा'नित्यनेनोपसंहारः। तत्र प्रथममिति अर्थाष्टके निरूपणीये। उद्योग इति पूर्वोक्तोद्यमलक्षणालक्षितोस्य श्लोकस्यार्थः। शरणगमनरूपः। अयमुद्यमो वा। हरिरिति व्यापिवैकुण्ठेपि हरित्वधर्मेण प्राकट्यमित्युक्तम्। 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयत' इति वाक्यात्॥ भगवत्स्थान इति प्रकटभगवत्के स्थाने मोक्षदशायां गमनान्न गता। जनितेति तृतीयस्कन्धे वाराहप्रसङ्गे स्पष्टम्। तत्रेति ब्रह्मस्थाने। यावदासीन इति 'असुराणां वा इयमग्र आसीद्यावदासीनः परापश्यति तावद्देवाना'मिति श्रुतौ भुवो याचनोत्तरं कियद्वो दास्यामीतिप्रश्ने ततः सलावृकी त्रिःपरिक्रान्तिमितां याचित्वा धृतसलावृकीरूपेणेन्द्रेण सर्वस्याः परिक्रमणे भूमेः प्राप्त्या वेदित्वमुक्तम्, तदिदानीं नष्टं, राज्ञामुच्छास्त्रवृत्तित्वादितिज्ञापनाय तावद्रूपेण हविर्धान्यात्मकेन खिन्नेन गमनम्। परापश्यति 'परादिमोक्षप्राधान्यप्रातिलोम्येषु धर्षणे, आभिमुख्ये भृशार्थे च विक्रमे च गतौ वध' इति विश्वः, परिक्रमे पश्यतीत्यर्थः। 'वः' सलावृकीभ्यो 'ह' मसुरो दास्यामीत्यर्थः। 'सलावृकी' शचीन्द्राणी। तदुक्तमारणे 'एतयैवेन्द्रः सलावृक्या सह असुरान् परिवृश्चती'ति 'एतया' शच्या सलावृक्या। 'शालावृकः शृगालेपि सारमेये वलीमुख' इति विश्वः। सलावृकस्य स्त्री सलावृकी, तया। वृश्चति ओ वृश्च छेदने। छिनत्ति। आरम्भे भूमिब्रह्मयोगकथनेन वेदसारत्वम्। ब्रह्मणि मन्त्राः हविर्धान्यां हविर्दुग्धम्। द्रव्यदेवतात्मको याग इति याग उक्तः। संहितारम्भे 'उपायवस्थे'त्यत्र मनुष्याः स्थेत्यर्थे ब्राह्मणानां मन्त्रदेवताधाराणां सत्त्वात्, 'आप्यायध्वमघ्निया' इत्यत्र हविराश्रयाणां गवां सत्त्वादिति। वेदान्ते विराड्रूपम्। 'भूमिः गौः पशुरन्तरिक्षदेवता, अन्तरिक्षदेवा वै पशव' इति। 'पुरुष पुंसे'ति श्लोके पुमानुक्त इति व्याहृतिरूपो विराट्। तथा च श्रुतिः, 'सर्वं

खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते'ति छान्दोग्ये । अत उक्तं देवोपयोगिनेति । यागो देवोपयोगी । 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथे'ति गीतायाः । विराट् दैवीसम्पद्युक्तदेवोपयोगीति । द्वितीये ज्ञानस्कन्धे धारणाश्रयो विराडिति । वेदान्तसारत्वम् । 'वेदवेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यत' इति । शीघ्रमिति शीघ्रं निमज्जनाभावाय । कार्येति अष्टकोक्तकार्यावश्यकत्वाय । शरणेति शरणे रक्षकस्य ब्रह्मणः स्थाने गमनम् । शरणपदेन स्वाभिप्रायप्रकाशनम् । तत्र गत्वा सूच्यते । दैवसम्पदा शरणमार्गेण सेवनानाया भूमेः पापवेधः सभारात्मात्रोक्तः दैत्यकृत इति 'दैत्यानीकशतायुतै'रित्येतावता निर्वाहे तदितरवैयर्थ्यमाशङ्क्या दृप्तादिशब्दार्थं वक्तुमाहुः दैत्याः सर्वे इति । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेः माया देवताः । माया देवता येषां ते । अकारटच्ये न सा सेवितवतीति भगवत्स्पृष्टा तां स्वदेवतयैव नयनमाहुः कापटच्ये नैवेति ।

कापटच्यं माया, भूभाराप्रयोजिका, विश्वम्भरात्वात् । 'दासवद्यदमायये'त्येकादशे मायाकपटः । देवतया देवताभिभवकरणस्य युक्तत्वादेवकारोन्ययोगव्यवच्छेदकः । रसातले दैत्यमुक्तिस्थाने । अवतीर्णा इति 'मनो यत्र निषक्तमस्ये'तिश्रुतेः । राज्ञामिति अत्र राजानीककृतभूभारो भूमेर्न सम्भवति दैत्यानां देवाभिभावकत्वात् स्पष्टं सह वैयन्नायां बृहदारण्यके छान्दोग्ये च । अत उक्तं राज्ञां दैत्यत्वज्ञाकं लक्षणमिति । दैत्यत्वस्य ज्ञापकमनुज्ञापकम् । दैत्यलक्षणं वक्ष्यते दृप्तत्वमिति । दृप्तशब्दः दृप हर्षमोहनयोः दि० प० से० तस्य कर्मणि क्तप्रत्यये रूपम्, इडभावः । तत्त्वम् उच्छास्त्रवृत्तित्वम् । किं शास्त्रं कोत्रोदर्थः । 'उत् प्रकाशे वियोगे च प्राबल्यास्वाश्व्यशक्तिषु । प्राधान्ये बन्धने भावे मोक्षे लाभोर्ध्वकर्मणी'ति विश्वोक्तेष्वर्थेषु । शास्त्रं गीता त्रयोदशाध्यायीयं 'अमानित्वमदम्भित्व'मित्यारभ्य 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त'मित्यन्तं, षट् शास्त्राणि वा । उदर्थो वियोगः । शास्त्राणां व्यृद्धिरुच्छास्त्रम् । अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थेति समासो व्ययीभावः । धात्वर्थो मोहनमत्र । क्तप्रत्ययार्थः कर्म, वर्तित्वाख्यम् । एवं च शास्त्ररहितःकर्मत्वमुच्छास्त्रवर्तित्वम् अतिदिशन्ति स्म एतदेवेति । यथा 'दृप्ता केशवमब्रवी'दित्यत्र भगवानस्मदर्थे खेदं न प्राप्नोति, अस्माभिः कथं तदर्थे खेदः प्राप्तव्य इति दृप्तत्वमिति । 'मदर्थेर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य चे'ति शास्त्रवियोगः, 'अमानित्व'मितिशास्त्रवियोगः, उच्छास्त्रे वर्तित्वम् । सहसुपेति समासः । हता अयुक्ता इति सम्भूत्युपासकत्वेन अन्धंतमःप्रवेशरूपमुक्तित्वेन कार्यकारणभावः । अन्धंतमो माया सम्भूतिरतत्वेन भूयस्तमस्त्वेन । उच्छास्त्रवर्तित्वेन अन्धन्तम आवृतलोकगतित्वेन कार्यकारणभावः । शारीरब्राह्मणश्लोकाभ्याम् । एवं च हताः उच्छास्त्रवर्तित्वेनान्धम आवृतलोकं गताः । प्रविष्टा इति अन्धन्तमःप्रवेशरूपमुक्त्यभावात् तावज्ज्ञानसत्त्वात् प्रविष्ट इत्यर्थः । तथेति दैत्या इत्यर्थः । तेष्यन्त इति भीष्मादय इति टिप्पण्याम् । अवतार इति बुद्धे तद्धर्मास्ते राजधर्मा उच्छास्त्रवर्तित्वादयः । व्याजेतीति बुद्धो दृप्तनृपः न तु दृप्तव्याज इति दृप्तनृपव्याजा अन्ये राजानः । ते च दैत्या इति विशेषणेन बलिप्रह्लादादयो व्यावर्तिताः । वातार्थमिति दृप्तविशेषणेन ज्ञातम् । शतानीति शङ्क्ये ये शतपदं नैकवचनान्तमितिज्ञापितम् । तेन न स्मार्तप्रयोगः । भूरिभारेणाक्रान्तत्वं विश्वंभराया न सम्भवतीत्युक्तम् । दैत्यानां लक्षणमाहुः दैत्यत्वमिति । विश्वम्भरायाः विश्वस्मिन् भारः तज्जनकत्वम् । भारो नाम सन्नह्य सहसैवाचारित्वम् । आरणे 'तेऽसुराः सन्नह्य सहसैवाचरन्, ब्रह्मचर्येण तपसैव देवास्तेऽसुरा अमुह्य'न्निति श्रुतेः । श्रुतौ 'देवा' इति आचरन् । लङ् बहुवचनम् । अविद्वत्त्वमबुधत्वं च भारः । शारीरब्राह्मणे 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जना' इति श्रुतेः, छान्दोग्ये पाप्मवेद्धृत्वं भारः । 'तं हासुराः पाप्मना विविधु'रितिश्रुतेः 'तं' प्राणरूपोद्गीथोपासकम् । ननु 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसे'ति गीतोक्तौजः सर्वतश्च शीघ्रं निमग्ना भवतीत्यत्र बाधकमिति लोकदृष्टिमथने तु मारणोक्तं पृथिव्या नौकात्वं दृष्टान्तेनाहुः यथेति । मज्जयतीति अकर्मको धातुः । नौका मज्जति, तां मज्जयति । णिच् । ननु नौकानिमज्जने नौजः प्रतिबन्धकं तथा चिर्कीडिषाभावात् किन्तु रसस्तदभावात् विषमो दृष्टान्त इति चेत् नौकामज्जनमात्रं दृष्टान्तोस्तु नैयायिकमतेन पृथिवीत्वान् नाव्यप्योजः प्रतिबन्धकं मास्तु । नन्वियदवधि दैत्याः स्थिता एवाधनैव भारे किं कारणमत आहुः बलेति । अनीकः सैन्यैराक्रमणे इतस्तत पादविक्षेपे । तथा च बलं भारत्वकारणम् । पूर्वमिति तृतीयस्कन्धे । उद्धार इति वाराद्वारा उद्धारे । उपाय इति चिन्तादिः ब्रह्माणमिति या प्रापणे द्विकर्मकः । ब्रह्मणः शरणं गृहं शरणमार्गं वा ययौ ॥ १७ ॥

गौर्भूत्वेत्यत्र देवानामिति स्वस्या अपि देवत्वादिति भावः । हविरिति दुग्धं यज्ञैकदेशं धोयतेस्यामिति हविर्धानी तद्रूपेणेत्यर्थः । 'करणाधिकरणयोश्चे'ति ल्युट् । गौर्भूत्वेति भक्त्या सामर्थ्यम् । 'भूमिर्धेनुर्धरिणी लोकधारिणी'तिश्रुतेर्भूमेराधिदैविकं रूपं गौः । व्यसनं दुःखम् अश्रूणि मुखे यस्याः सा इत्यत्राश्रवाधारत्वं मुखे न सम्भवतीति तद् व्युत्पादयामासुः अश्रूणीति । न च मुखशब्दो मूर्धनि लाक्षणिक इति वाच्यं 'लक्षणां नैव वक्ष्यामी'ति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां स्वयं प्रतिज्ञानात् । समायान्तीति अधोमुखीत्वदशायाम् । अन्यदा तु कपोले । अन्तरिति 'सोरोदी'दितिश्रुतेरन्तःप्रसिद्धेः । स्वेद इति 'अग्नेराप' इति श्रुतेः । अश्रूणां ज्ञानद्वारत्वे युक्तिमाहुः खेदोपीति । भारज्ञानजनितः क्रियाजनितः खेदोऽज्ञान्तरेभ्यो निर्गच्छतीतिभावः । अभिप्राय इति भगवत्पत्नीत्वेन यशसा ज्ञानं पृथावत् । विसंवादीति विरुद्धः संवादः संवदनमस्यास्तीति विरुद्धसंवादि । इन् । यथा शुक्तौ रजतमिति वाक्यमप्रमाणं अन्तःस्थितो धर्मः शुक्तित्वं तद्विरुद्धः संवादः रजतत्ववदनं रजतमिति, रजतत्वेन शुक्त्युपस्थितिः । सोस्य शुक्तौ रजतमिति वाक्यस्यास्तीतोद वाक्यमप्रमाणम् । धर्मप्राकट्येति 'अश्रुमुखी खिन्ने'तिपदाभ्यामन्तःस्थितखेदप्राकट्यपूर्वकं रुदनरूप-

बहिःखेदरूपधर्मकथनम् । बहूनामिति 'अश्रुहेतुभूतानां बहूनां दुःखानां सम्भवात् । कथनमिति खिन्नेति खेदरूपधर्मकथनम् । ननु ब्रह्मापि सर्वज्ञ ईश्वरत्वात् अतः कथनमयुक्तमित्याशङ्क्याहुः अधिकारित्वादिति । ब्रह्मणोधिकारित्वात् । न सर्वज्ञतेति अत एव द्वितीयस्य नवमाध्याये 'स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत, तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवे'दित्यनेनाविचारदशायामसर्वज्ञतोक्ता । कथनमिति व्यसनकथनं 'व्यसनं समवोचते'ति । खेदेनाश्रुमुखी खिन्ने'तिपाठक्रमाद् दुःखसन्ततिः । अत्यन्तं परिभाषणपर्यन्तम् । अग्रेपि । ज्ञापकाविति कार्यभूतौ ज्ञातव्यौ । कारणेन कार्यावश्यम्भावात् । न्यूनपूरणमिदं ज्ञेयम् । 'न न्यूनादन्यपूरण'मिति प्रथमसुबोधिन्याः । तस्या इति ततः प्रतिकारादन्य उपायो ज्ञानादिरूपः तद्बोधननिवृत्त्यर्थं तस्याः भूमेः तथा खिन्नत्वमुक्तमित्यर्थः । करुणमिति करुणपदज्ञापितशोकः स्थायिभाव आर्थिक उक्तः । 'आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामी'ति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्याः । पितृवियोगेति पितृवियोगजखेदस्य भक्तित्वेन सुखसम्भेदात् तदभाव उक्तः । रोदनमिति स्वस्मिन् मनोनिवेशकम् अन्यत्र मनोवारकम् । सामर्थ्यमिति विभुः समर्थः शक्त इति पर्यायाः । उप समीपार्थकं अन्तिक इति समीपार्थकमिति पुनरुक्तिदोषं वारयन्ति स्म उप समीप इति । अन्तर्यामिणीति व्यापकाधारत्वं बोधितम् । सतिसप्तमी वा । अन्तर्यामिणि सति । अन्तिकशब्दस्योपाव्ययस्य समीपार्थे तात्पर्यग्राहकत्वं यदा तदा न्यूनता । वेदान्तसारत्वेनान्तर्यामिब्राह्मणोक्तान्तर्यामिसामीप्यावश्यकत्वात् पत्नीत्वाच्च । अन्तर्यामिसामीप्याबोधात् । यद्यपि उपस्थिता दोषाख्याने स्थितेत्यर्थे न पुनरुक्तिः तथाप्यप्रसिद्धार्थत्वं दोषः एवमारम्भार्थकत्वेपि बोध्यम् । तथा च विश्वः 'उप सामर्थ्यदाक्षिण्यदोषाख्यानात्ययेषु च । आश्चर्यकरणे दाने नाभावारम्भपूजयोः । तद्योगेपि च लिप्सायां रमणार्थोपमार्थयोः उपादानेधिके प्रोक्तमासन्नेषु प्रकीर्तित'मिति । अत आसन्नमात्रार्थकमुपेत्यव्ययम् । श्रीभागवतीयवेदवेदान्तसारत्वार्थं सामीप्यार्थकाव्यद्वयस्यावश्यकत्वात् । अप्रतीकारेति ज्ञानादिभिरप्रतीकारो यस्येत्यप्रतीकारम् । तच्च दुःखमप्रतीकारदुःखम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मा तदुपेत्यत्र दैत्यसम्बन्धित्वादिति । भगवत्पत्नीत्वेपि भगवदिच्छया दैत्यसम्बन्धित्वादित्यर्थः । ज्येष्ठत्वाद् दैत्यानाम् । 'यावदासीन' इत्युक्तश्रुतेः । अकारणशङ्केति कारणं देवसम्बन्धित्वमशोके । गीतायां 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोसि पाण्डवे'तिवाक्यात् । अकारणं दैत्यसम्बन्धित्वं तस्य शङ्का तर्कः तद्व्यावृत्त्यर्थम् । ब्रह्मज्ञानमत आलोचनेन तत् भूम्युक्ताष्टकार्थं उपधार्य निश्चित्येतिपदत्रयार्थमाहुः आलोचनेति । प्रतीकारं क्षीरपयोनिधितीरगमनोपस्थानदेवाज्ञापनादिकम् । तथेति अष्टकोक्तपङ्गुणैश्वर्ययुक्तष्टार्थाविर्भावनेन प्रतीकारे सामर्थ्यम् । ब्रह्मत्वात् भक्तिमत्त्वात् । ज्ञानात्मकत्वादिति न बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद् ब्रह्मेति हेतुरथशब्दस्य, अथ ब्रह्मा तदुपधार्येत्यन्वयमतिक्रम्य यथाश्रुतान्वयेन अथशब्द आनन्तर्ये इत्याहुः स्वेति । भूमीति सतिसप्तमी । ससाधनमिति आज्ञापने साधनं हेतवो देवास्तैः सह ससाधनम् । अनेनाकारणशङ्काव्यावृत्त्यर्थमित्यपि सुबोधिनीपाठः । देवाकारणशङ्काव्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः । उपायेति यथा वृकासुराय वरः । निमित्तेत्ति जगन्नाथस्य ! नयनमिति ज्ञानम् भगवत इति तेन तत्र भगवत्प्राकट्यं, मथुरावत् । 'क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वर'मिति राजेन्द्रमोक्षेष्टमस्कन्धे । इतीति इति हेतोः क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगामेति सम्बन्धः । अतो यत्र भगवांस्तत्र जगाम । पक्षान्तरमाहुः व्यापिवैकुण्ठेति । तत्रेति क्षीरपयोनिधेस्तीरे । नैकट्यादिति अयमर्थः । क्षीरपयोनिधिः क्रौञ्चपर्वतः क्रौञ्चद्वीपः । क्रौञ्चद्वीपाद् द्विगुणः क्षीरपयोनिधिः, तत्र क्रौञ्चपर्वतः । तस्य पर्वतराजस्य सपूर्वर्षगिरयः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपवर्हणो नन्दो नन्दनः सर्वतो भद्र इति । तत्र शुक्लः श्वेतपर्वतः । 'शुक्लो योगान्तरे श्वेत' इतिविश्वात्, 'श्वेतो द्वीपाद्रिभेदयो'रिति विश्वाच्च । श्वेतद्वीपनामनिवर्तकः । क्रौञ्चपर्वतवत् । तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे, 'ततो बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः स्वसमानेन क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तः वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन, यस्मिन् क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनामनिवर्तक आस्ते' इति । एवं सति श्वेतपर्वते स्वप्रियधाम, श्वेतद्वीपनामनिवर्तके भगवतः प्रियत्वं तेन तत्र व्यापिवैकुण्ठाविर्भावस्य जातत्वेन तदधिष्ठानद्वीपावरणक्षीरपयोनिधिस्तदीयतीरस्य नैकट्यादित्यर्थः । क्षीरपयोधिमात्रान्तरितत्वं नैकट्यम् । ननु ब्रह्मणो न दुर्वासापेक्षया न्यूनसामर्थ्यं, अतो वैकुण्ठे कुतो न गतं ब्रह्मणेत्याशङ्क्याहुः भूमाविति । स्वपत्न्याम् । आसक्तो भगवान् । चेति क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगामेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तत्र गत्वेत्यत्र तिरोभावादिति स्तोत्रकरणाज् ज्ञायते । एतेन ब्रह्मकृतमानससेवायाः कीर्तनभक्तेर्ज्ञापकत्वं द्योतितम् । सायुज्यं फलम् । मध्यकालनिर्वाहकोधिकारः । गमनमात्रेणैवेति एवकारेण मार्गश्रमाहननयोगो व्यवच्छिद्यते । अनुवाद इति 'जगामे' त्यस्यानुवादः । 'समाहित' इतिपदस्यार्थमाहुः समाहितेति । समाधीयते समाधिविषयीक्रियते यो योगः कर्मकौशलरूपः स आरूढो येन, समारूढ इति वा । सहसुपेति समासः । समाहितः इति प्रथमान्तं भिन्नं पदम् । तस्य विवरणं योगारूढ इति । योगः आरूढो येन । न तु योगारुरुक्षुर्ब्रह्मा । स्वयमिति ब्रह्मा एवेति ब्रह्मयोगव्यवच्छेदक एवकारः । स्वस्याकरणमिति । कृद्योगे, कर्तरि षष्ठी । स्वकर्तृककरणाभावः । इत्याहेति इति हेतोराह स एवेति अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः । देव इति पचाद्यच् । प्रजापतेरिति त्रयाणां ग्रहणेन वेदवेदान्तस्मार्तसिद्धान्ताः । 'प्रजापतिरकामयते' ति संहिता, काठकोपनिषद्यग्निः, आरण्यके 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम्, एतैः सर्वैः आदित्यमण्डलमेव विधास्यत' इति । प्रजापतिः शरीरं, अग्निः आत्मा, सूर्योन्तरात्मेति वा । ऋग्वेदे शरीरम्, आत्मातः प्रजापतिः शरीरम्, 'ब्रह्म तर्हि अग्नि' रित्युत्तरारार्धादग्निः परमात्मा, सूर्यश्चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठातृत्वादन्तरात्मेति । चतुर्थस्कन्धे

त्रयोविंशाध्याये प्रजापतिर्ब्रह्मेति श्लोकः । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' इतिवाक्यम् । 'चक्षुषश्चक्षुः' इति सूर्यस्य सूर्य' इत्यत्र श्रुतिः, सूर्यस्य चक्षुष्ट्वात् । दैत्यानामिति 'कृद्योगे कर्तरि षष्ठी' । न पक्षेति दैत्येषु न पक्षपातः । 'स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा अजोपि जात' इति वाक्यात् । तत इति दैत्येभ्यः । स्वशान्तरूपदेवत्वनाशोपीति न पक्षपात इत्याहुः देवानां चेति । अदृष्ट इति भगवान् । पुरि शेत इति पुरुषपदव्युत्पत्त्याहुः सहीति । स्वपितेति ञिष्वप् शये, नित्यस्वप्नकर्ता । तेन नारं नरसमूहः अयनं यस्येति नारायणपदव्युत्पत्तिः । परन्तु महतः स्रष्टेव मणिगणवज् जगद्धारकत्वेन रूपेण वर्ततेन्तर्यामी । महतः स्रष्टुरिदमित्थतया पुरुषसूक्तभागविषयत्वात् । ननु सङ्कर्षणस्य वाग्विषयत्वाद् भूमिनिमित्तदर्शनत्वेन भूमिभारभञ्जकत्वाच्च पुरुषसूक्तेनान्तर्यामिधर्मपुरःसरोपस्थानं कथमिति चेन्न । भूमिपत्न्याः पादत्वात् तद्भारहरणार्थं कृष्णस्यावश्यकत्वात् तस्य च पुरुषसूक्तभागविषयत्वेनान्तर्यामिपुरःसरोपस्थानस्य युक्तत्वात् । उपस्थानं सूर्यस्येति 'य आदित्येतिष्ठन्' इत्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणोक्तसूर्यान्तर्याम्यत्र मुख्यः । युक्तं चैतत् । नारायणः स्वपितेत्युक्ते मायिकस्वप्नसृष्टौ दृष्टनित्यपदार्थस्य भगवदाज्ञादिरूपस्यान्तर्यामिकार्यत्वात् । महतः स्रष्टा तु भक्तैः सह निगूढभावं करोतीति । मायासाहित्यस्य श्रुतावदर्शनात् । तेन 'कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण' इति श्रुतौ पुरुषान्तर्यामी, सोत्र पुरुषपदार्थः । तेन स्वहृदये वर्तनमप्यन्तर्यामिधर्मः । तत इत्यादि तत इति भक्तैः सह निगूढभावकर्तृत्वेपि ततः कृष्णात् कार्यं स्वपादभारदूरीकरणं सङ्कर्षणसहायात् तस्यावश्यंभाव इति ज्ञापनार्थम् । अन्तर्यामिधर्मपुरःसरप्रतिपादकपुरुषसूक्तेनेत्युक्तमित्यर्थः । पूर्वान्वयित्वे तु ततः कार्यावश्यंभाव इति ज्ञापनार्थं स्वहृदये पुरुषपदेन नारायणोन्तर्यामित्वेन व्याकृत इत्यर्थः । वैदिकेनेति पुरुषस्य सूक्तं पुरुषसूक्तं तेनेत्यत्र षष्ठी प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धे । पुरुषोक्तत्वाद् वेदमर्हतीति वैदिकं, तदर्हतीति ठक् , तेन पुरुषसूक्तेनेत्युक्तं, तत्र संशयः, पुरुषस्य सूक्तं तत्पुरुषप्रतिपादकं सूक्तं तद् भगवत्प्रेरणया प्राप्तं 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवय' इति वाक्यात् आहोस्वित् ब्रह्मणादिकविं प्रति वाक्येनोक्तम् । तत्र प्रथमपक्षोत्र 'गिरं समाधा'वित्यग्रेतनवाक्यादित्याहुः भगवदिति । 'गिरं समाधौ गगने समेरिता'मितिवाक्ये क्षेपार्थकेरतिधातुनिष्पन्नस्य सम्पूर्वस्य 'समेरिता'मितिपदस्य कथनात् भगवत्प्रेरणयेति । क्षिप प्रेरण इति धातुपाठात् । अतो भगवत्प्रेरणया प्राप्तेनेत्युक्तम् । पुरुषसूक्तेनेत्यत्र सूपसर्गार्थमाहुः भगवत इति । अतिप्रियमेव सूक्तं भवतीतिभावः । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमेति न्यायेनाहुः पुरुषसूक्तमिति । पुरुषपदेन सूर्यतदन्तर्यामिणोर्ग्रहणात् तेजोमयाविर्भावकं पुरुषसूक्तं तेजोमयमित्युक्तम् । उपस्थानेति मध्याह्नसन्ध्यायां प्रसिद्धम् । पुरुषसूक्तं भाष्ये तृतीयाध्याये तृतीयपादे पुरुषविद्याधिकरणे उत्तमाधिकारिस्मितदेवोपासनीयं न विभूतिरूपमित्यनयाऽशेषगुणपूर्णब्रह्मणि विनियुक्तम् । तत् कथमत्र चिन्मात्रे विनियुक्तमनुचितमत आहुः अन्तर्यामीति । एवेति 'कृष्णद्युमणी'तिवाक्यादशेषगुणपूर्णस्य सूर्यतदन्तर्यामित्वादेवकारः । अत एव श्रीभागवते 'पौरुषेणापि सूक्तेने'त्यत्र सत्यज्ञानानन्तानन्दं विषय उक्तम् ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अथ प्रसिद्धं भक्तानां दुःखमेव भगवदवतारकारणम् । तत्र प्रथमं भूमेर्दुःखमाह—भूमिरिति । दृप्ता गर्विता उच्छास्त्रवर्तिनो ये नृपव्याजा नृपवेषेण वर्तमाना दैत्यास्तेषामनीकानां सैन्यानां शतानामयुतैरसङ्ख्यातैर्यो भूरि महान् भारस्तेनाक्रान्ता पीडिता सती भूमिः सर्वदेवाधिदेवं ब्रह्माणं शरणं ययावित्यन्वयः ॥ १७ ॥ तद्गमनप्रकारमेवाह—गौर्भूत्वेति । गौर्भूत्वा दयोत्पादनाय सर्वदेवोपकारि गोरूपं बिभ्राणा खिन्ना खेदव्याप्ता अत एव रुदन्त्यत एवाश्रूणि मुखे यस्यास्तथाभूता विभोः ब्रह्मणोऽन्तिके समीप उपस्थिता स्तुवती सती स्वं व्यसनं दुःखं तस्मै ब्रह्मणे अवोचत विज्ञापितवती । तत्प्रकारस्तु विष्णुपुराणे स्पष्टः । तथाहि—तत्साम्प्रतमिमे दैत्याः कालनेमिपुरोगमाः । मर्त्यलोकं समागम्य बाधन्तेऽहर्निशं प्रजाः । कालनेमिर्हतो योऽसौ विष्णुना प्रभविष्णुना । उग्रसेनसुतः कंसः सम्भूतः स महासुरः ॥ अरिष्टो धेनुकः केशी प्रलम्बो नरकस्तथा । सुन्दोऽसुरस्तथाऽत्युग्रो बाणश्चापि बलेः सुतः ॥ तथान्ये च महावीर्या नृपाणां भवनेषु ये । समुत्पन्ना दुरात्मानस्तान्न सङ्ख्यातुमुत्सहे । अक्षौहिण्यो हि बहुला दिव्यमूर्तिधराः सुराः । महाबला महाभागा दैत्येन्द्राणां ममोपरि ॥ तद्भूरिभारपीडार्ता न शक्नोम्यमरेश्वराः । बिभर्तुमात्मानमहमिति विज्ञापयामि वः ॥ क्रियतां तन्महाभागा मम भारावतारणम् । यथा रसातलं नाहं गच्छेयमतिविह्वला' इति ॥ १८ ॥ ब्रह्मा तद्भूमिदुःखमुपधार्य श्रुत्वा तन्निराकरणं स्वस्य देवानां वाऽशक्यं मत्वा भगवदधीनं तन्मत्वा । अथानन्तरमेव भगवतः कृपोत्पादनार्थं देवैस्तया भूम्या च सह तथा त्रिनयनो महादेवस्तेन सहितश्च पयोनिधेस्तीरं तीरस्थश्वेतद्वीपाख्यं भगवतो धाम जगामेत्यन्वयः ॥ १९ ॥ तत्र गत्वाऽपि भगवन्तमदृष्ट्वा समाहितस्तदेकाग्रचित्तः सन् पुरुषं भगवन्तं पुरुषसूक्ताख्येन वैदिकस्तोत्रेण उपतस्थे तुष्टावेत्यन्वयः । ननु ब्रह्मणो जगत्स्वामित्वात्तदभिमानं विहाय कथं भगवन्तं तुष्टाव तत्राह—जगन्नाथमिति । मुख्यो जगत्स्वामी भगवानेव, ब्रह्मा तु तत्स्थापित इति भावः । ननु तस्य जगन्नाथत्वे दैत्यानामपि स एव नाथः, अतः कथं देवपक्षपातेन दैत्यान् हनिष्यतीत्याशङ्क्याह—देवदेवमिति । देवैः सह दीव्यति क्रीडतीति तथा तम् । तत्रापि हेतुमाह—वृषाकपिमिति । भक्तानां कामान् वर्षतीतिः वृषः, क्लेशानाकम्पयतीत्याकपिः, वृषश्चासावाकपिश्चेति वृषाकपिस्तम् । तथा च भूम्यादिदेवानां स्वभक्तदैत्यानां विमुखत्वाच्च देवपक्षपातेन दैत्याहननं सम्भवत्येवेत्याशयः ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

भूमिरिति। दृप्ताः गर्विता ये नृपास्तेषां व्याजो मिषं येषां ते च ते दैत्याश्च दितिवंशजत्वाभावोपि कर्मणैव दैत्याः नृपरूपा दैत्यास्तेषामनीकशतानामयुतैः यो भूरिभारस्तेनाक्रान्ता भूमिः ब्रह्माणं प्रति शरणं ययौ। भूमिर्हरेः पत्नी ब्रह्मा च तत्पुत्रः। अतः पुत्रद्वारा स्वपतिं प्रति दुःखसूचनं योग्यं ननु धाष्ट्र्येन स्वयमेव। अत्र ब्रह्मा सुमेरौ स्थित एव ग्राह्यो ननु सत्यलोकस्थः। कृष्णावतारादतिपूर्वमेव ककुद्मीरेवतीवरप्रश्नार्थं तत्र गतः तेन सहित एव ब्रह्मा क्षणानन्तरं तं प्रत्याह। संप्रति अवतीर्णाय बलाय कन्या देयेति। अतः सत्यलोकेशस्य तन्मध्ये क्षीरोदतीरगमनं न वृत्तम् "जगाम धरणो मेरोः समाजे त्रिदिवौकसाम्" इति पराशरेणाप्युक्तमित्याहुः॥ १७॥ गौरिति। कृपाजननार्थं गौर्भूत्वा खिन्ना दुःखिता करुणं शोकसहितं यथा स्यात्तथा क्रन्दन्ती रुदती अश्रुमुखी सा भूमिः विभोः ब्रह्मणः अन्तिके समीपे उपस्थिता सती स्वं स्वीयं व्यसनं कष्टम् अवोचत। समवोचतेति वा पाठः॥१८॥ ब्रह्मेति। ब्रह्मा तत् भूमेः कष्टम् उपधार्य ज्ञात्वा अथानन्तरमेव सत्रिनयनः शिवसहितः सन् देवैः सह तया भूम्या च सह क्षीरपयोनिधेः क्षारसमुद्रस्य तीरं जगाम। अत्र हि कार्यद्वयमुपस्थितं पृथ्वीपालनं दैत्यसंहरणं च। तत्राद्यार्थमिन्द्रं वा आज्ञापयेत् द्वितीयार्थं रुद्रं वेति देवै रुद्रेण च सहितो जगामेति॥ १९॥ तत्रेति। तत्र गत्वा समाहितः एकाग्रचित्तः सन् जगतां नाथं देवानां देवं पूज्यं वर्षति कामानिति वृषः आकम्पयति क्लेशानित्याकपिः वृषश्चासावाकपिश्चेति तं पुरुषं भगवन्तं पुरुषसूक्तेन सहस्रशीर्षेत्यादिकेन उपतस्थे तुष्टाव॥ २०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमित्थं प्रत्यचर्य भगवदवतारवीर्याणि विस्तरतो विवक्षुस्तावदवतारनिमित्तभूतां स्वयंभूप्रार्थनामुपपादयति चतुर्भिः। भूमिरिति। भूमिः, दृप्ता गर्विताः नृपव्याजा नृपवदवभासमाना ये दैत्या असुरास्तेषामनीकानां सैन्यानां शतानामयुतानि तैः, जातेनेति शेषः। भूरिभारेण तद्रूपनिरवधिकभारेण, आक्रान्ता पीडिता सती, ब्रह्माणं चतुर्मुखं, शरणं, ययौ॥१७॥ एतदेव प्रपञ्चयति। गौरिति। सा च, गौः भूत्वा, पृथिव्यभिमानिनी देवतैव गोरूपधारिणी भूत्वेत्यर्थः। खिन्ना खेदयुक्ता, अश्रूणि मुखे यस्याः सा, करुणं यथा तथा, क्रन्दन्ती रुदती सती च, विभोर्ब्रह्मणः, अन्तिके समीपे, उपस्थिता स्तुवन्ता सती च, स्वमात्मीयं, व्यसनं दुःखं, तस्मै ब्रह्मणे, अवोचत कथयामास। समवोचतेति पाठान्तरे सम्यक् विज्ञापयामासेत्यर्थः॥ १८॥ ब्रह्मेति। ब्रह्मा चतुर्वदनः, तद्भूमिव्यसनम्, उपधार्य ज्ञात्वा आकर्ण्य वा। अथ पृथ्व्युक्तदुःखश्रवणानन्तरं, देवैर्देवगणैः सह, तया भूम्या च सह, सत्रिनयनः त्र्यम्बकेन सह च, [illegible]रपयोनिधेः क्षीरसागरस्य, तीरं प्रति, जगाम॥ १९॥ तत्रेति। ब्रह्मा तत्र क्षीरनिधितीरे, गत्वा, समाहितः समाधिनिष्ठचित्तः, अन्तर्वृत्त्या भगवत्स्वरूपध्यानप्रसक्तचित्तः सन्नित्यर्थः, जगन्नाथं देवदेवं, वृषाकपिं स्वभक्तकामवर्षुकपापप्रकम्पकं, पुरुषं परमपुरुषं श्रीविष्णुं पुरुषसूक्तेन 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिषोडशर्चात्मकसूक्तेन, उपतस्थे तुष्टाव। स्तुतिपूर्वकं निदध्यावित्यर्थः॥२०॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

भूमिरिति : १०-१-१७

सर्वंसहापि समदासदसह्यभारखिन्नाऽजनीति शरणं विधिरेव युक्तः।
युक्तस्तदर्थमवतार इहाच्युतस्याप्यङ्गीकृतानलसतात्मजनावनस्य॥ १२॥

प्रेयानप्यनिशं वशोऽपि नितरां शान्तोऽपि कान्तः सुतं द्वारीकृत्य तदन्तरङ्गमिह संप्रार्थ्यो न जातु स्वतः।
सत्स्त्रीलक्षणमेतदित्यविकलं प्रख्यापयित्री तदा धात्री सात्मभुवं ययौ प्रथमतस्तत् साधु मन्यामहे॥ १३॥
तेनान्वर्थजडाभिधेन मम किं तातेन येनानिशं श्रीशः सन्निधिभागपि स्वनिलये नाभ्यर्थ्यते मत्कृते।
आक्रोश्यवमनादृताब्धिगमना मन्येऽतिखेदाकुला सेला साधु पितामहं स्वजनकस्रष्टारमागादिति॥ १४॥

सपदि यदधिकारिणः प्रवृत्तिर्भवति विना द्रविणार्पणं न लोके।
ध्रुवमिदमवगत्य भूरुपागाद्विधिसविधं परिगृह्य भूरिभारम्॥ १५॥

गौरिति : १०-१-१८.

गोजातभूतिमथ गोभिमुखं सदैव गोपेडितं च शतगूह्लसिताधिवासम्।
दृष्ट्वा विधिं तदनुरक्त्यभिलाषिणी सा गोरूपिणी स्वयमभूद्वसुवेति युक्तम्॥ १६॥

गवामबाधस्थितिदानदक्षं चातुर्यमस्यैव मुखे विभाति। तद्युक्तमित्यादृतगोस्वरूपा प्रोवाच तादृग्व्यसनं स्वमस्मै॥ १५॥

ब्रह्मेति : १०-१-१९.

लोके व्यापक एव यद्यपि विभुः सत्यं तथापीष्टदो ध्येयो ध्यानजुषा समेत्य भगवान् प्रासादमेवोज्ज्वलम्।
सद्वर्त्मेदमिति व्यबोधि विधिना दुग्धाब्धिमाजग्मुषा नो चेत्स्वस्थल एव सर्वविदसौ चक्रे न योगं कुतः॥ १८॥

यथाकथञ्चिद्यदि सत्कृतामिमां विधाय देवाँश्च निवर्तयाम्यहम् ।
अलीकयोगस्तदनुस्पृशेन्न किं सिन्धुं सनालीकविभूतिरित्यगात् ॥ १९ ॥
सापत्नमातृपदभागहमस्मि यस्मान्मद्दुःखदुःखितमनास्तदयं कुतः स्यात् ।
मैवं विकल्पकलिता किल भूदसावित्यागात्स्वयं किमु तदा स हि सत्यधामा ॥ २० ॥
न चेदुदधिरोधसि प्रभुरसौ मयाऽऽश्रीयते मनागपि तदीप्सितं ननु भुवो न सिद्ध्येदिति ।
विचिन्त्य जगतीपतेः सदवतारकार्योत्सुकः किमम्बुधिमगाद्रजोगुणतनुर्विधाता स्वयम् ॥ २१ ॥
अनुकूलविधावभीष्टसिद्धिर्भवति स्पष्टमविघ्नमित्यभिज्ञः ।
विधिरच्युतभव्यदिव्यकार्येऽप्यनुकूलस्थितिभागभूत् किमब्धौ ॥ २२ ॥
रत्नगर्भोदितं वाक्यं सादरं शृणुयान्न कः । तदार्जवार्जने को वा न यतेतेति तत्स्फुटम् ॥ २३ ॥

सत्रिनयन इति :
भक्ताभक्तजनावनार्दनकृते सत्त्वं तमोऽपेक्ष्यते, तत्राऽऽद्यं तु हरौ सदावनपरे नैसर्गिकं वर्तते ।
अन्यद्योजयितुं ध्रुवं विधिरगात्त्र्यक्षेण सार्धं यतः प्रोक्तं तेन पुरो हरेर्विहरणं शक्त्या स्वकालस्थया ॥ २४ ॥
यदा स्यातां सत्त्वानुसरणचणौ द्वावपि गुणौ तदा योगः सिद्धो भवति भगवत्प्रापक इति ।
स्फुटं यत्क्षीराब्धौ सहर-परमेष्ठि-प्रसरणात् समाधिः सिद्धोऽभूदुदित-हरिसाक्षात्कृतिसुखः ॥ २५ ॥

तत्रेति : १०-१-२०.
वराभयदयोदयां गिरमुदारमूर्धस्थितां निजाधिपमुखाम्बुजादधिगतां समीप्सुः पुमान् ।
स्वयं स्वरुचितत्पदे सदसि सूक्तमेवावदेदिति स्फुटमधादजः पुरुषसूक्ततस्तत्स्तवात् ॥ २६ ॥

कृष्णप्रिया

कपट से अभिमानी राजाओं के रूप में उत्पन्न असंख्य दैत्यों की सेना के दशसहस्र सेनाओं के अतिशय बोझ से पीडित भूमिदेवता ब्रह्माजी के शरण में गई ॥ १७ ॥ खेदपूर्ण, दया उत्पन्न हो इस प्रकार अश्रु पूर्णमुखवाली, रुदन करती हुई गोरूपधारिणी पृथिवी देवी ब्रह्माजी के समीप उपस्थित होकर उन अपने दुःखों का निरूपण करने लगी ॥ १८ ॥ गो स्वरूप-धारिणी पृथ्वी देवीजी के दुःख निवेदन के भावार्थ को निश्चय कर ब्रह्माजी, अपने साथ त्रिनयन शिवजी, एवं अन्य देवगण तथा भूमि देवीजी को साथ लेकर क्षीर सागर के तीर पर पधारे ॥ १९ ॥ वहाँ जाकर समाधि में स्थित ब्रह्माजी ने, देवाधिदेव, जगत् के स्वामी, सर्व यज्ञ के स्वर्गादि फल के भोक्ता (वृषाकपि) श्रीपुरुषोत्तम की पुरुष सूक्त से स्तुति की ॥ २० ॥

गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानु[१]वाच ह ।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥ २१ ॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि ॥ २२ ॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते[२] [३]तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥ २३ ॥
[४]वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् । [५]अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गगने समीरितां गिरं समाधौ निशम्य वेधाः त्रिदशान् उवाच हे अमराः पौरुषीं गां मे शृणुत पुनः आशु मा चिरम् तथा एव विधीयताम् ॥ २१ ॥ धराज्वरः पुंसा पुरा एव अवधृतः भवद्भिः अंशैः यदुषु उपजन्यतां यावद् उर्व्याः भरं ईश्वरेश्वरः सः स्वकालशक्त्या क्षपयन् भुवि चरेत् ॥ २२ ॥ वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः जनिष्यते तत् प्रियार्थं सुर-स्त्रियः संभवन्तु ॥ २३ ॥ हरेः प्रियचिकीर्षया वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् देवः अग्रतः भविता ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पौरुषीं पुरुषेण भगवता प्रोक्तां गां वाचं मे मत्तः आशु शृणुत मा चिरमविलंबितं तथैव विधीयतां चेति ॥ २१ ॥ विज्ञप्तः पुरैव पुंसांतर्यामिणा ईश्वरेण धराया ज्वरस्तापोऽवधृतो ज्ञातः ॥ २२-२४ ॥

१. नुवाच-वीर. । २. ष्यति-इति कस्यचित् । ३. तत्पूजार्थं संभवन्त्वमरस्त्रियः-वीर. । ४. ऋषयोपि तदादेशात्कल्प्यन्तां पशुरूपिणः । पयोदानमुखेनापि विष्णुं तर्पयितुं सुराः ॥ अयमेकः श्लोकः अधिकः वीर. भक्त । ५. अग्रजो-वीर. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

समाधाविति तादर्थ्ये सप्तमी। देवकार्यसमर्थनार्थम् "समाधिर्ध्यानसंधानप्रतिज्ञासु समर्थने" इत्यभिधानचिंतामणिः। पौरुषीं पुरुषेण भगवता प्रोक्ताम्। गच्छति श्रोत्रमिति गौर्वाक् तां तथैव यथाहं ब्रवीमीति विधीयतां क्रियताम्॥ २१॥ अवधृतो निश्चितः॥२२॥ वसुना धनेनार्थाद्गोधनेन दीव्यति व्यवहरति द्योतने मोदते इति वा वसुदेवो नंदः यशोदा च "जातं परमबुद्ध्यत" इत्युक्तेः। "देवभेदे नले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु" इत्यमरः। "धनं वित्ते गोधने च" इति मेदिनी। "नृपयादवगोपेशधनिकश्रीनंदगोकुले। समुद्रशशिसूर्येषु वसुदेव उदीरितः॥" इति निरुक्तात्। आनकदुंदुभिर्वा तस्य गृहे भार्यायाम् "गृहं गृहाश्च पुंभूम्नि कलत्रेपि च सद्मनि" इति मेदिनी। वसुदेवो गृह्यते निरुद्ध्यतेऽत्रेति वसुदेवगृहं कंसकारागृहं तत्र वा॥ २३॥ वासुदेवाय कं सुखं शय्यारूपत्वेन लाति ददातीति वासुदेवकला तच्छय्याभूतोऽनंतः शेषः 'शेषोनंतः' इत्यमरः। अत एव वक्ष्यति 'शेषाख्यं धाम मामकम्' इति स्वेन हरिणा स्वान् वा राजते राजयति वा स्वराट्। प्रियचिकीर्षया प्रलंबादिवधद्वारा श्रीभगवत्प्रतिज्ञताभूभारहरणरूपप्रियकर्माकरणेच्छयेत्यर्थः॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

समाधौ तत्रापि गगने समीरितामदृष्टवक्तृकामित्यर्थः। इत्यदृश्यमानेन श्रीभगवतोक्तां समाधौ श्रुत्वेति, परमादृश्यत्वमुक्तम्। अग्रे श्रीवृन्दावनादौ तस्यापि परमांशिनः स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य तस्य तादृशक्रीडया तदानीन्तनानां भाग्यविशेषबोधनार्थम्, ह स्फुटं हर्षे वा पौरुषीं स्वयं तद्रूपेण पुरुषेणोक्तामिति तेषां तस्यां विश्वासार्थम् आशु स्तवकोलाहलं परित्यज्य शृणुत, हे अमराः! इति तदेवामरत्वं नाम सिध्येदिति भावः॥ २१॥ तस्य पुरुषस्यैव वाचमनुवदति—पुरेति चतुर्भिः। पुंसा यस्याहंमंसांशस्तेनादिपुरुषेण स्वयं भगवता श्रीकृष्णेन पुरैवावधृत इति तद्विज्ञापनार्थं युष्मत्प्रयासेनालं तथाऽहमपि तद्वेत्ता तच्छ्रवणार्थं स्वयं नाविर्भूत इति भावः। अंशैर्निजाशेषांशैः सह उपजन्यताम् "एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि! सर्वदा मत्प्रिया देवि मत्तुल्यगुणशालिनः" इति पाद्मकार्त्तिकमाहात्म्यरीत्या नित्यतत्पार्षदानां यदूनां पुत्रपौत्रादिरूपेण जनित्वा निकटे स्थीयतामित्यर्थः। यदुष्विति तत्सम्बन्धिनामपि पाण्डवादीनां तदन्तर्भावात् एषामेव स्वर्गगमनमधिकारान्ते च तत्प्राप्तिर्ज्ञेया ईश्वराणां विराडाद्यन्तर्यामिणामस्मदादीनामपीश्वरः सर्वांशी तथा च ब्रह्मसंहितायाम् "ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥ यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः॥ विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" इति व्याख्यास्यते च तैः "अथाह–मंशभागेन" इत्यादौ "नारायणोऽङ्गम्" इत्यादौ "यस्यांशांशभागेन" इत्यादौ च ततः सद्यः सर्वं कर्त्तुं शक्तोऽपि स्वकालशक्त्या यदा यत् कर्त्तुं युज्येत तदैव तत् करोतीति यथाकालमित्यर्थः। स्वशब्देन कालस्यापि तदधीनतोक्ता यावत् भुवि चरेत् प्रकटो वर्त्तेतेत्यर्थः। अन्यदा तत्तन्नित्यप्रियजनैः सह नित्यं श्रीवृन्दावनादौ तदप्रकटप्रकाशविशेषत्वेन निरूपयिष्यमाणविचित्रक्रीडां कुर्वतोऽपि तस्यान्यैरदृश्यत्वात्; तथा च स्कान्दे—

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्वृतः। वृन्दावनान्तरगतः सदा क्रीडति माधवः"॥ इति।

वक्ष्यते च 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः' इति। एकादशान्तं च द्वारकामधिकृत्य नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः" इति॥ २२॥ ईश्वरेश्वरत्वमेव वदंस्तस्य स्वयमवतारे ईदृशलीलाकैवल्यमेवान्तरङ्गं प्रयोजनमित्याह—वसुदेवेति। गृह इति जीववत् पितुः सकाशादुत्पत्तिर्निरस्ता यः परः पुरुषः यस्मादन्य उत्कृष्टो नास्ति स एव भगवान् प्रकटसर्वैश्वर्ययुक्तस्सन् साक्षात् स्वयमेव जनिष्यते प्रादुर्भविष्यति अतस्तस्य प्रियार्थं परिचर्यया प्रीत्युत्पादनाय, यद्वा, तस्य प्रियाः श्रीरुक्मिण्याद्याः श्रीराधाद्याश्च तासां दास्यार्थमत एव सम्यग् भवन्तु उत्तमप्रकारेण जायन्तामित्यर्थः। यद्वा, सम्भवन्तु योग्याः भवन्त्विति वरप्रदानम्, तथापि जनन एव तात्पर्यम्॥ २३॥ अग्रतो भविता, ज्येष्ठभ्राता भविष्यतीत्यर्थः। अत्र भ्रातृत्वे योग्यतामाह—वासुदेवस्य द्वारकादिप्रसिद्धचतुर्व्यूहप्रधानस्य श्रीकृष्णस्य कला अंशः सङ्कर्षणत्वात् अत एवानन्तः अपरिच्छिन्नः अतः स एव शेषाख्येनांशेन सहस्रवदनः श्रीकृष्णगुणगानेच्छयेति भावः। तथा च वक्ष्यते "यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पतेः" इति व्याख्यातञ्च तैः एकांशेन शेषाख्येनेति, अतः स्वेन स्वस्वरूपेण श्रीभगवतैव राजत इति स्वराट् अतस्तं विनाऽन्यत्र स्थातुमशक्त इति भावः। देवः तदग्रजत्वात् सुतरां सर्वेषां पूज्य इत्यर्थः। ननु, श्रीलक्ष्मणवदसौ कनिष्ठतामेवार्हति न तु ज्येष्ठत्वम्; तत्राह—हरेः प्रियचिकीर्षयेति, तस्य यन्त्रिततताहानाय तेनात्मन इव तस्यात्मनानुगतये च श्रीकृष्णदेवस्य तु भक्तसौहृदविशेष एवायमिति भावः। अतो बृहत्सहस्रनामस्तोत्रे श्रीबलदेवनामसु "पूर्वभक्तिखेदाच्युताग्रजः" इत्यत्रापि खेदः श्रीकृष्णस्यैव ज्ञेयः तेन खेदेन हेतुना अच्युतस्य श्रीकृष्णस्याग्रजो जात इत्यर्थः। पूर्वं पुराऽवतीर्णो लक्ष्मणस्तस्मिंस्तदंशे खेदं परामृश्य स्वांशे तु तथा न क्वचिदपि कल्पे प्रकटयतीति तात्पर्यम्। अथवा मयि ज्येष्ठे सति लक्ष्मणापराधीनत्वे श्रीरघुनाथ इव स्वैरं दुःखमुररीकर्तुं नायं शक्नुयादिति स्वातन्त्र्येण हरेः सुखं कर्तुमिच्छयेत्यर्थः। अतः श्रीलक्ष्मणस्यापि तद्दुःखनिवारणाशक्तत्वेनैव भक्तौ खेदो ज्ञेयः। हरेरिति तादृशस्नेहेन तस्य मनोहरणात्॥ २४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तथा गगने समीरितां गिरमशरीरां वाणीं समाधौ निशम्य वेधाः ब्रह्मा त्रिदशान् सुरान् प्रत्यवोचत; तदेवाह—गामित्यादिभिस्सार्द्धैः पञ्चभिः। हे अमराः! समाधौ मया श्रुतां पौरुषीं परमपुरुषसम्बन्धिनीं गां गिरं मे मत्तः कथयतः शृणुत, यथेश्वरेणाऽऽदिष्टं तथैव भवद्भिर्विधीयतां क्रियतां चिरं बिलम्बं माऽकार्ष्ट ॥ २१ ॥ का नाम गौरित्यत्राह—पुरैवेति। पुरा भगद्विज्ञप्तेः पूर्वमेव, यद्वा, पुरैव स्वावतारात्पूर्वमेवेत्यर्थः। पुंसा ईश्वरेण धराज्वरो भूक्लेशोऽवधृतः विज्ञातः भवद्भिर्यदुवंशेषूपजन्यताभुत्पद्यतां जीवानामंशेनोत्पत्तिर्नाम धर्मभूतज्ञानेन जीवान्तराधिष्ठातृत्वं स्वरूपस्यागुणत्वेनानेकदेहवृत्त्यसम्भवात्; कदाऽस्माभिरुत्पत्तव्यम्? इत्यत्राह। स ईश्वराणामस्माकमपि ईश्वरो भगवान् स्वसम्बन्धिन्या कालाख्यया शक्त्या कार्योपयुक्तापृथक्सिद्धविशेषणभूतया तन्वा उर्व्याः भूमेर्भरं क्षपयन् निरसितुमिति भावः। भुवि यावच्चरेदवतरेत्ततः पूर्वमेव जन्यतामित्यर्थः ॥ २२ ॥ तथा वसुदेवस्य गृहे भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः परमपुरुषः साक्षाज्जनिष्यते अवतरिष्यति न कपिलादिवज्जीवान्तराधिष्ठातृत्वेनावतरिष्यति, किन्त्वद्वारकमेवेत्यभिप्रायेण साक्षादित्युक्तम्। तस्य जनिष्यमाणस्य परमपुरुषस्य प्रियार्थं परिचर्यार्थं क्रीडार्थमिति यावत्। अमराणां स्त्रियोऽपि सम्भवन्तु स्वांशैरुत्पद्यन्ताम् ॥ २३ ॥ तथा ऋषयोऽपि तस्य भगवत आदेशादनुशासनात्पशुरूपिणः कल्प्यन्तां गोरूपिणः सम्भवन्तु, किमर्थम्? तत्राह, हे सुराः! पयोदानमुखेन क्षीरप्रदोहनद्वारापि विष्णुं तर्पयितुं तप आदिभिस्तर्पन्त्येवाधुना पयोदानमुखेनापि तर्पयितुं गोरूपिणः कल्प्यन्तामित्यपिशब्दाभिप्रायः ॥ तथा यो वासुदेवस्य कला अंशः, कोऽसौ? योऽनन्तः सहस्रमुख स्वराडकर्मवश्यः सोऽपि हरेः प्रियं कर्त्तुमिच्छया अग्रजो भविता तस्याग्रजो भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

समाधाविति तादर्थ्ये सप्तमी समाध्यर्थं देवकार्यसमर्थनार्थं समीरितां गिरम् "अत्यर्थमिति गीर्वाणी वाचि हि सम्प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतेः। तां स्तुतिगिरम् संसृत्य गुणध्यानसमवस्थायां वा कथिताम् "समाधिर्ध्यानसन्धानप्रतिज्ञासु समर्थने" इत्यभिधानादित्यर्थः। पौरुषीं पुरुषेणोक्तां गमयत्यवगमयति ज्ञापयत्यर्थमिति गौर्वाक् "अथ कस्माद्गौरिति गच्छति" इति निरुक्तकारनिर्वचनमपि वक्तुः श्रोतुः कर्णान्तरगमनाद्युक्तम् ॥ २१ ॥ धराज्वरः भूमेः सन्तापः "ज्वर सन्तापे" इति धातुः, न केवलं जननमेव पूर्यते, तावन्तं कालमवस्थानं चापेक्षितमित्याह, स यावदिति स्वकालशक्त्या स्वरूपभूतोपसंहारकालाऽऽख्यशक्त्या ॥ २२ ॥ न केवलं देवानामुर्व्यामवतारस्तदङ्गनानामपीत्याह—वसुदेवेति ॥ २३ ॥ हरेरवताराविनाभूतस्य शेषावतारस्य प्रकारमाह—वासुदेवेति। वासुदेवकलानन्त इत्येकं पदं वासुदेवस्य कलया सितकेशांशेन युक्तः शेषः स्वेन हरिणा राजत इति स्वराट् स्वस्य स्वतन्त्रस्य हरेरधस्ताच्छयनीयत्वेन राजत इति वा स्वमात्मानं सनकादिभ्यो राजयति प्रकाशयतीति वा हरेरग्रतः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

गिरमित्यादित्रयम् ॥ २१-२३ ॥ हरेः प्रियचिकीर्षयेति। नात्र श्रीरामलक्ष्मणवद्यथाक्रमं किन्तु तस्य यन्त्रिततताहानाय तेनात्मन इवात्मनाऽनुगतये च भक्तसौहृदविशेष एवायमितिभावः। अतो "भक्तिखेदाच्युताग्रजः" इत्यत्रापि खेदः श्रीकृष्णस्यैव ज्ञेयः। तदंशे खेदं परामृश्य निजांशे तु न कदाचिदपि कल्पते घटयतीत्यर्थः। अथवा ज्येष्ठे सति श्रीरघुनाथ इव लक्ष्मणापराधीनत्वेन स्वैरं दुःखमुरीकर्त्तुं नायं शक्नुयादिति स्वातन्त्र्येण हरेः कर्तुमिच्छयेत्यर्थः। अथ लक्ष्मणस्यापि दुःखनिवारणाशक्तत्वेनैव भक्तौ खेदो ज्ञेयः ॥ २४-४६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

समाधौ तत्रापि गगने समीरितामिति क्षीरोदनाथस्यापि ब्रह्मणापि दुर्लभदर्शनत्वमभिव्यज्य तदादिपरमांशिनः साक्षात् पुरुषोत्तमस्य कृष्णस्याग्रे प्रापञ्चिकलोकमात्रदृश्यत्वे तदीयकृपातिशयः एव हेतुर्व्यञ्जितः। पौरुषीं पुरुषस्य क्षीरोदनाथस्य गां वाचम् ॥ २१ ॥ पुरुषस्य वाचमेवानुवदति—पुरैवेति चतुर्भिः। विज्ञापनात् पूर्वमेव पुंसा "कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यः" इत्यनुसारात् स्वयं भगवता श्रीकृष्णेनेत्यर्थः। अवधृतः ज्ञातः अंशस्तदंशभूतपार्षदैरुद्धवसात्यक्यादिभिः सह मिलितीभूय यदुष्वित्युपलक्षणं कुरुष्वपि क्षीरोदनाथादयो वयमीश्वराः अस्माकमपीश्वरः ॥ २२ ॥ सुरस्त्रियस्तत्प्रियांशभूता या उपेन्द्रादिमन्वन्तरावतारस्त्रियस्ताम् एव तत्प्रियाणां सख्यार्थं कृतचरतद्भजनप्रभाववशात् पृथग्भूतास्तत्प्रियसख्यो भवन्तु। यदुक्तमुज्ज्वलनीलमणौ—

"नित्यप्रियाणामंशास्तु या जाता देवयोनयः। ता अंशिनीनामेवासां प्रियसख्योऽभवन् व्रजे" ॥ इति ॥ २३ ॥

स्वेन भ्रात्रा कृष्णेन सह राजत इति स्वराट् देवो बलदेवः अग्रतः प्रथममाविर्भविष्यति य एवांशेन सहस्रवदनोऽनन्तः "यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पतेः" इति वक्ष्यमाणात् योऽनन्तो वासुदेवस्य कला ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं पुरुषस्थाने पुरुषसूक्तेन स्तुतः परमपुरुषः स्वच्छयैवावतरिष्यमाणो ब्रह्माणं यदाह, तद्ब्रह्मा देवान् प्रत्युक्तवानित्याह; गिरमिति। समाधौ ध्याने गगने हृदयाकाशे तेन परमपुरुषेण प्रधानत्वाद्वेधसं प्रत्येव समीरितां निशम्य वेधाः त्रिदशानुवाच,

हे अमराः ! पौरुषीं पारमेश्वरीं गां वाचं मे मत्तः आशु शृणुत पुनः श्रवणानन्तरं तथैव विधीयतां चिरं मा विलम्बो न कार्य्यः ।।२१।। पुंसा भगवता धरापीडानिवेदनात्पूर्वेव धराज्वरः अवधृतः निश्चितः, तदाज्ञामाह—भवद्भिरिति। ईश्वराणां पुण्यबलेनेश्वरत्वेन आरोपितानां ब्रह्मादीनां स्वावताराणां च सर्वेषामीश्वरः। स्वकालशक्त्योर्वीभारं क्षपयन् यावत् यदुषु चरेत् तावत्पर्यन्तं भुवि भगवतः उप समीपे सामीप्यं यथा स्यात्तथा भवद्भिरंशैर्जन्यताम्। जीवस्याणुस्वरूपस्य स्वरूपतः स्वर्गे भुवि च युगपत्स्थित्यसम्भवात् तत्र केश्चित् अंशैर्भगवदंशभूतैः स्वरूपैरेव भुवि भगवल्लीलासु सन्निहिततया स्थातव्यं देवलोके योगबलेन देहादिप्रकाशनेनांशेन पुत्रादिरूपेणांशेन वा स्थातव्यमिति कैश्चिद्देवलोके स्वरूपेण स्थातव्यम्, पुत्रादिरूपैरंशैर्भुवि स्थातव्यमिति भक्तितारतम्यतो यथाधिकारं यथासम्भवं कर्तव्यमित्यर्थः।। २२ ।। परः पुरुषः सर्वकारणकारणः समानातिशयशून्यः साक्षादेव वसुदेवगृहे जनिष्यते। तत्प्रियार्थं तद्भक्त्यर्थं सुरस्त्रियः सम्भवन्तु ।। २३ ।। वासुदेवकलेति। वासुदेवस्य चतुर्मूर्तेर्द्वितीयः कलाभूतः अनन्तो देवः सहस्रवदनः स्वांशरूपशेषसहितः अग्रतो भविता भविष्यति "शेषाख्यं धाम मामकम्" इति "यस्यैकांशेन विधृता जगती" इति च वक्ष्यमाणात्, तत्प्रादुर्भावप्रयोजनमाह, हरेः व्यूहाङ्गिनः प्रियचिकीर्षयेति ।। २४ ।।

श्रीसुबोधिनी

नुनु, पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणपूर्वकं भगवत उत्तरं जातं स्वान्तःकरणे उपलभ्यातिसूक्ष्मत्वाद्देवानामगम्यं तान् ज्ञापितवानित्याह—**गिरमिति**। समाधौ यो भावितो भगवान् सलोकः तत्राकाशे भगवद्वाक्यं भगवतोक्तं श्रुतवान्, तत्र प्रमाणमाह-**वेधा** इति। अन्यथा कथं विदधाति भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण। ननु, देवा अपि ब्रह्मतुल्याः कथं न श्रुतवन्तस्तत्राह—**त्रिदशानिति** तिस्रो दशा येषां, बाल्यं कौमारं यौवनमिति। अनेन तेषामुत्पत्त्याज्ञापि युक्ता भवतीति ज्ञापितम्। अकस्मात् क्षणं स्थित्वा किञ्चिद् विचार्य उक्तवानिति सर्वेषामाश्चर्यं हेत्याह। स्वतः कथनं वारयति-**पौरुषीमिति**। गामित्यखण्डनाय तस्या वाचो दोग्धृत्वाय च। **म** इति प्रमाणार्थम्। न हि ब्रह्मवाक्यमन्यथा भवति। पुरुषसम्बन्धिन्येव मत्तो वा श्रोतव्येति। आदौ भगवत आज्ञापनमाह-**अमरा** इति। प्रथमतः श्रुत्वा पुनः पश्चाद्विधीयताम्। **चिरं मा** विलम्बो न कर्तव्यः। सामग्रीमेव सम्पादयितुमादौ बोधयति पश्चाद्वक्ष्यत्याज्ञाम्। अग्रे च वक्तव्यमंशावतरणम् तद् देवानां मरणानन्तरं भवतीतिशङ्काव्युदासाय **अमरा** इति सम्बोधयति। शृणुतेति सावधानार्थं वचनम्। पुनःपदं च पूर्वं रामावतारे रावणभीतेन ब्रह्मणा पूर्वमपि देवा आज्ञप्ता अंशावतरणार्थमिदानीमपि तथैवाज्ञेतिज्ञापनार्थम्। पूर्वं विलम्बेन कृतं तद्व्युदासायाश्विति। पुनस्तथैवांशावतरणं **विधीयता**मित्यर्थः। तथैवेति। यो देवो यावतांशेन जातः पौर्वापर्येण वा। पूर्वं दशरथो नावतीर्ण इत्याज्ञया तमवताय षष्टिसहस्रवर्षानन्तरं स्वयमवतीर्णोतो विलम्बः। तां शङ्कां प्रकृते वारयति **चिरं मे**ति ।। २१ ।। ननु त्वया किमुक्तं किं वा भगवतोक्तमितिशङ्कां दूरीकुर्वन् पूर्वं वानरेष्ववतारं प्राप्य खेदो भूयान् प्राप्त इति देवाशङ्कां च परिहरन् भगवदुक्तमाज्ञापनमाह **पुरैवे**ति। भूमेः पीडाकथनात् **पूर्वमेव** भगवता **धराधरज्वरोवधृतो** निश्चितः तत्र हेतुः, पुंसेति। पुरुषो हि भार्यां स्पृशति। ज्वरस्तु स्पर्शमात्रेणैव ज्ञायते। अतोऽस्मत्कृतं ज्ञापनं नापेक्षितम्। अतो भगवान् मद्वाक्यात् पूर्वमेव स्वयमेवोक्तवान्। आज्ञामाह **भवद्भिरि**ति। भगवानप्यवतरिष्यति ततः पूर्वमेव **भवद्भिरुपजन्यतां** भगवज्जननसमीपे जन्यताम् आवश्यकत्वायांशैरिति। भवन्तो हि भगवदंशा हस्तपादादय इव सेवकाः। प्रभुः ससेवक एव सर्वत्र गच्छति। पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं **यदुष्विति**। भगवानपि **यदुष्व**वतरिष्यति। अतो लोके प्राकट्याभावाय समीपे **जन्यता**मित्याज्ञा। इदं जननं सवार्थत्वात् स्थितिपूर्वकम्। तत्र कियत्कालं स्थातव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **यावदिति**। **यावत् स** भगवान् **यदुषु चरेत्** तावदुप**जन्यताम्**। समीपे स्थातव्यम्। जननं पुत्रपौत्रादिरूपेणाऽऽनन्तमुत्पत्त्यर्थमुक्तम्। स्थितिस्त्वर्थादेव भविष्यतीति तन्नोक्तम्। भगवानपि कियत्कालं स्थास्यतीत्याशङ्कायामाह **उर्व्या भरं स्वकालशक्त्या यावत् क्षपयंश्चरेदिति** तदपि कियत्कालमित्याशङ्कायामाह **ईश्वरेश्वर** इति। **ईश्वर** एव स्वच्छन्दचारी। तेषां सर्वेषां कालादीनामपि य ईश्वरः, स कथं नियन्तुं ज्ञातुं वा शक्यत एतावत्कालं स्थास्यतीति ? अनेनैव नियतभोगयुक्तानां देवानामकरणशङ्कापि व्यावर्तिता। दैत्या अस्मान् मारयिष्यन्तीति न शङ्कनीयं यत **स्वकालशक्त्यैव** भारं दूरीकरिष्यतीति। **चरेदिति** भारभूता दैत्या नैकत्र तिष्ठन्तीति तदर्थं चरणम्। कालनियमस्य चाज्ञानम्। अज्ञातस्तु न भविष्यतीत्याह **भुवीति**। न हि भूमौ जातोऽलौकिकं करोतीति ।। २२ ।। तथापि क्वावतरिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह **वसुदेवगृह** इति। तस्याप्यंशावतरणव्युदासायाह **साक्षाद्भगवानिति**। न तु चक्रादिरूपेण सत्त्वस्य च व्यवधानेन वाऽवतारः **भगवच्छब्दो** गौणेष्वपि वर्तत इति तद्व्युदासार्थं **पुरुष पर** इति। पुरुषोत्तम इत्यर्थः। ब्रह्माण्डात् परस्य कथनादर्थादेव प्रकृतिप्रवर्तक समागतः। ततः परस्तु पुरुषोत्तम एव। स च **जनिष्यते**। **अतस्तत्प्रियार्थं** तत्सेवार्थं **सुरस्त्रियः** सम्यक् सर्वसौन्दर्यपुरःसरं तस्य योग्यस्थानेषु **सम्भवन्तु सुरस्त्रियो**प्सरसो लक्ष्म्या सहिताः समुद्रादुत्पन्नास्तासां भोगो भगवता न कृत इति स्वजन्मसाफल्यार्थमेव तासामवतरणम्। **तत्प्रियार्थ**मितिवचनाद्देवानां स्त्रीत्वेनावतरणं निवारितम् ।। २३ ।। भगवदवतरणात् पूर्वमेव सेवासावधानार्थं भगवच्छय्यारूपस्य शेषस्य सङ्कर्षणसहितस्यावतारमाह **वासुदेवेति**

सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः। वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांशोनन्त उच्यते ।। १ ।।
कालात्मा च स विज्ञेयो भूभारहरणे प्रभुः। तत्र सुप्तो हरिश्चापि तदाविष्टो भविष्यति ।। २ ।।

अतोनुशयनं विष्णोर्बलभद्रेण नात्मनः। एकवत् प्रोच्यते कृष्णो द्विवल्लोकैः प्रतीयते ॥ ३ ॥
देवक्यां शयनस्यैव सम्भवो न हरेः स्मृतः। रोहिण्यामपरस्येति कर्षणान्नैव हीनता ॥ ४ ॥

तं सङ्कर्षणमन्यस्माद्भिन्नतया ज्ञातुं विशिनष्टि **वासुदेव** इति। वासुदेवस्य प्रथमतः **कला** धर्मरूपः। सोपि शयनरूप इत्यनन्तः कालात्मा। स हि स्वाश्रय एव शेते। तत्राधिदैविकरूपमपि स्थितमिति ज्ञापयितुमाह **सहस्रवदन** इति। सङ्कर्षणो हि **सहस्रवदनो** वेदात्मा। शेषोऽपि केवलस्तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **स्वराडिति**। यः स्वर्गेऽपि राजते। सङ्कर्षणरूपो यः "सितकृष्णकेशः" **सोग्रतो भविता**। ननु तेनैव चरितार्थत्वे किं भगवदवतारेणेत्याशङ्क्याह **देव** इति। स हि देवरूपेणावतीर्णो नाधिकं कार्यं करिष्यति। तर्हि किं तदवतारेणेत्याशङ्क्याह **हरेः प्रियचिकीर्षयेति**। स हि भगवान् सर्वेषां दुःखहर्ता। दैत्यानां सुखार्थे भूभारहरणार्थे च साहाय्यकरणाद्भगवतः प्रियं करिष्यतीति ॥ २४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

वासुदेवकलानन्त इत्यस्य विवरणे–**तदाविष्टस्तस्मिन्** सङ्कर्षण आविष्ट इत्यर्थः ॥का०२॥ अत्र पूर्वं शय्यारूपे सङ्कर्षणे शायानस्यावतारदशापन्ने तस्मिन्नावेशरूपा स्थितिरनु**शयनं** भवति तथा चानुशयनस्यैव स्कन्धार्थत्वाद्बलदेवाविष्ट**वासुदेवकलाया** एव लीला स्कन्धार्थः स्यादित्यत आहुरत इति। यतः शायानस्यावेशोतो हेतोर्**विष्णोः** सात्त्विककल्पाधिष्ठातुरेव **बलभद्रेण** कृत्वानु**शयनमुच्यते**। **नात्मनः पुरुषोत्तमस्य** नेत्यर्थः। 'निरोधस्यानुशयनमात्मन' इति मूलवाक्यादिति भावः। तेन नोक्तदूषणमिति भावः। तर्हि बलदेव एवं निरूपणे किं तात्पर्यं तदाह **एकवदिति**। पूर्वोक्तवासुदेवस्यांशत्वादंशांशिनोश्च तादात्म्येनाभेदादेकवदेव **प्रोच्यते** तेन तत्रापि तथानिरूपणमित्यर्थः। अतस्तच्चरित्रमपि मूलचरित्रमेवेतिभावः। नन्वेवं लोके न प्रतीयत इत्यत आह **कृष्ण** इति। यथांशत्वेनैक्येपि स्वरूपे द्वैविध्यप्रतीतिस्तथा चरित्रेपीत्यर्थः ॥ का० ३ ॥ अत एव यथा चतुर्व्यूहरूपेण प्राकट्यं मथुरायां पुरुषोत्तमस्य व्रजे तथात्रापीत्याह **देवक्यामिति** ॥ का० ४ ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

स यावदित्यत्र–आन्तमिति। 'अत्यन्तसंयोगे' द्वितीया। तथा चावतारसमाप्तिमभिव्याप्येत्यर्थः ॥ २२ ॥ **वसुदेवगृह** इत्यत्र—ननु 'पुरुषः पर' इत्यत्राक्षरपुरुष एव व्याख्यायतां न तु पुरुषोत्तमो मूलेक्षरव्यावर्तकपदाभावाद्ब्रह्माण्डात्परत्वेन पुरुषत्वेनाक्षरस्य गीतायां निरूपणाच्चेत्यत आहुः **ब्रह्माण्डादित्यादि**। अयमर्थः। गीतायां यद्यपि "परस्तस्मात्तु भावोन्यो व्यक्तो व्यक्तात् सनातन" इत्यत्र **व्यक्तात् परत्वमक्षरस्योक्तं परं भावत्वेन रूपेण न तु पुरुषत्वेन रूपेण** वाक्यान्तरे च "द्वाविमौ पुरुषौ लोक" इत्यनेन लोकस्थत्वं पुरुषत्वेन रूपेणोक्तं न तु परत्वं, प्रकृते चांशावतारव्युदासार्थं **भगवत्पदेन** विशेषिते **ब्रह्माण्डात् परस्य** 'नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दित' इति श्लोकोक्तस्य **कथनात्** तस्य तुरीयत्वेनाक्षरात्मकः **प्रकृतिप्रवर्तको पुरुषोर्थादेव समागतो** न तु व्यक्तात्परोव्यक्त इति 'पुरुषः पर' इत्यनेनाक्षरात् परः **पुरुषोत्तम एव** प्राप्यतेतः स एवात्राभिप्रेत इत्यर्थः। ननु लक्ष्मीपतेः सुरस्त्रीभिः किं वा प्रियं सेत्स्यतीत्यत आहुः **सुरस्त्रिय** इत्यादि। नन्वयमर्थो मूले कस्माच्छब्दाल्लभ्यत इत्यत आहुः **तत्प्रियेत्यादि**। तथा च **सेवार्थो** य आसामवतारः स **तत्प्रियार्थं** तस्य पूर्वाभीप्सितस्य **प्रियस्य** निमित्तमित्यर्थादनेनैव शब्देन लभ्यते। न च भगवत्प्रियार्थमिति शङ्कनीयम्। श्रीलक्ष्म्यपेक्षया तासु सौन्दर्याधिक्याभावात्। देवानां स्त्रीत्वेनावतरणेपि तत्सम्भवादिति॥२३॥ **वासुदेवकलेत्यत्र-पूर्वश्लोके** पुरुषोत्तमनिरूपणादत्र तत्कलेत्येतावतैव चारितार्थ्येपि यद्वासुदेवपदोपादानं तत्तात्पर्यमाहुः **सात्त्विके**-त्यादि। **य** इति व्यूहमुख्योवताराधिकारी। **अनन्त** इति सप्तमी। तथा **चानन्ते वासुदेवांश** उच्यते। तेनानन्तस्य योंशी स पुरुषोत्तमस्य रूपान्तरं न तु पुरुषोत्तम इति बोधनार्थं **वासुदेवपदमित्यर्थः** ॥ का० १ ॥ ननु तर्हि **वासुदेवकलानन्तपदयोः** सामानाधिकरण्येन कथमुक्तिरित्यत आहुः **कालात्मेत्यादि**। **चोप्यर्थे**। तथा चैकरूप्यादेककार्यकारित्वाच्च तथोक्तिरित्यर्थः। नन्वनन्तस्य तथासामर्थ्ये विद्यमाने तत्र **वासुदेवकलासत्ताकथनस्य** किं प्रयोजनम्? आहुस्तत्रेत्यादि। तथा **कलाद्वारा** तत्र **वासुदेवावेशबोधनार्थं** तदुक्तिरित्यर्थः ॥का० २॥ नन्वत्र **वासुदेवांशस्य** किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां विवेचयन्त्यत्र पूर्वेत्यादि। **आवेशरूपा स्थिति**-रिति। वह्न्ययोगोलकन्यायेन स्थितिः। **लीला स्कन्धार्थः स्यादिति**। तल्लीलात्वेन रूपेण स्कन्धार्थः स्यान्न तु पुरुषोत्तमलीलात्वेन रूपेण। तथा सति स्कन्धार्थाननुगम इत्यर्थः। **नोक्तदूषणमिति**। तेन रूपेण स्कन्धार्थत्वाभावान्न प्रतिपाद्याननुगमरूपं दूषणमित्यर्थः। **तर्हीत्यादि**। यदि बलदेवेन पुरुषोत्तमस्य नानुशयन तर्हि बलदेवेनुशयननिरूपणे किं तात्पर्यमित्यर्थः। **एकवदिति**। यथानन्दमय-विद्यासद्विद्याशाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु तत्तत्प्रकारभेदेन भिन्नतया प्रतीयमानमपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वादेकमेव ब्रह्मोच्यते तद्वदित्यर्थः। तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **पूर्वोक्तेत्यादि**। **अंशत्वादिति**। पुरुषोत्तमांशत्वात्। **तत्रापि तथानिरूपणमिति**। बलदेवेपि तदावेशनिरूपणम्। अत इति यतोंशस्यांशितादात्म्येनाभेदस्तस्मात्। **मूलचरित्रमिति**। परम्परया तथा। तथा च न प्रतिपाद्याननुगमेनापि स्कन्धार्थाद्बहिर्भाव इत्यर्थः। तेन तद्द्वारा यो भक्तनिरोधः सोपि मूलचरित्रत्वेनैव फलिष्यतीतितात्पर्यमितिभावः। **एवमिति**। बलदेव-चरित्रमूलचरित्रयोरैक्यम्। **यथेत्यादि**। तथा च लोको बाह्यमेव गृह्णाति नान्तरमस्तत्प्रतीत्या न चरित्रैक्यमितिभावः ॥ का० ३ ॥ **एकस्यैवानेकत्वे दृष्टान्तं वक्तुमाहुः अत एवेत्यादि**। यत एकस्यैव द्विधात्वं न तु द्वित्वमत एव। **यथा चतुर्व्यूहरूपेण प्राकट्यं**

मथुरायां व्यूहान् बहिरवस्थाप्यन्तः स्वस्य प्राकट्यं **व्रजे** चैतद्वैपरीत्येन **पुरुषोत्तमस्य तथात्रापि** द्विरूपेण **प्राकट्ये**पि वस्तुतः स्वरूपैक्यमित्यर्थः। **देवक्यामिति**कारिकार्थस्तु—**देवक्यां शयनस्य शेषस्यैव** सम्भवो **न हरेः** शयानस्य। तत्र प्रमाणमाहुः **स्मृत** इति। 'देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामक'मित्याज्ञास्मरणात्। **रोहिण्यामपरस्य हर्यंशस्य**। **इति अस्माद्धेतोः**। **कर्षणात्** मायाकृताच्छेषांशस्य कर्षणात्। रोहिणीगर्भस्थस्य **हीनता** मायाधीनता नेत्येवं – बोध्यः। एवं चात्र द्वयोः पृथग्गर्भबोधनाच्छ्री-रोहिणीगर्भस्याकस्मिकत्वशङ्काप्रयुक्ता **हीनता**पि वारिता। अतो **गर्भसम्भवोत्तरमेव रोहिण्याः** श्रीगोकुले स्थापनमन्यासामन्यत्रेति बोध्यम्॥ का० ४॥ **व्याख्याने—स्थित**मिति। अविनाभावेन स्थितम्। **स्वर्गे**पीति। सङ्कर्षणस्य यत् स्वं स्थानं तस्मिन्नपीत्यर्थः। **दैत्यानां सुखार्थ** इति। तेषां कालं प्राप्यैव भगवत्प्राप्तेस्तथा। तदिदं 'सन्न्येसुरान् भागवता'मित्यत्र तृतीयस्कन्ध उपपादितम्॥ २४॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गिरमित्यत्र तत्र **प्रमाणमि**ति। ब्रह्मणा भावितस्य यथार्थत्वेनान्यथानुपपत्तिः प्रमाणमित्यर्थः। अन्यभावितं तु मनसोऽसद्भावकत्वान्न यथार्थमिति भावः। **पुरुषसम्बन्धिन्येवे**ति। वस्तुतः पुरुषोक्ता, मत्तस्तु श्रवणमात्रमितिहेतोर्म इतिपदादादौ भगवत्कर्तृकमाज्ञापनं **पौरुषीमि**तिपदेनाहेत्यर्थः॥२१॥ **पुरै**वेत्यत्र—**त्वया किमुक्तमि**त्यस्य परिहार आद्यचरणेन। भगवान् पूर्वमेव ज्ञातवानतो मया स्तोत्रमेव कृतं न त्वन्यत् किञ्चिदुक्तमिति। किं वा **भगवतोक्त**मित्यस्य परिहारार्थं द्वितीयचरणे भगवदुक्ताज्ञापनमुक्तम्। **पूर्व**मित्यादिनोक्ताया द्वितीयशङ्कायाः परिहार उत्तरार्धेन। **पूर्वं** रामावतारे भगवत्प्राकट्यात् पूर्वमवतारसमाप्त्यनन्तरं च बहुकालं स्थितत्वात् **खेदः**। अत्र तु यावद्भगवांस्तावदेव स्थातव्यमतो न खेद इत्यर्थः॥ २२॥ वसुदेवगृह इत्यत्र—**ब्रह्माण्डादि**ति। ब्रह्मणाप्यदर्शनादत्र पुरुषपदेन **ब्रह्माण्डात् परः** कथित एव तथापि परपदकथनात् पुरुषोत्तम एव जनिष्यत इत्यर्थः॥ २३॥ **वसुदेवे**त्यस्याभासे—**सावधानार्थ**मिति भावप्रधानं, सेवायां **सावधान**त्वार्थमित्यर्थः। प्रथममवतीर्णो हि तावत्पर्यन्तं महान् सन् सेवायां यथायोग्यलीलासम्पादने सावधानो भवेदितिभावः। व्याख्याने **सात्त्विके**ष्विति। 'आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्य'मित्यादिना तृतीयस्कन्धे विवृतमिदम्। **अनन्त** इति शेष इत्यर्थः॥ का. १॥ **कालात्मे**ति। **स** शेषः सङ्कर्षणाविष्टत्वात् सङ्कर्षणात्मा चेत्यर्थः। **तत्रे**ति सलिलाधारकशेषाधारकसङ्कर्षणे। **सुप्तो हरिर्वा**सुदेवस्तस्मिन्नवतारदशापन्ने शेषाविष्टसङ्कर्षणे आविष्टो **भविष्यति**। कलयेतिशेषः। तथा च शेषे सङ्कर्षणावेशः **सङ्कर्षणे वासुदेव**कलावेश इति **बलदेवस्वरूपं** सर्वदा। पुरुषोत्तमावेशस्तु कदाचिदतस्तल्लीलांशांशिनोरभेदान्मूलचरित्रत्वेन स्कन्धार्थो न तु स्वातन्त्र्येण स्कन्धार्थ इत्यर्थः॥ का. २॥ एकवदिति। **कृष्णो यथे**ति। शेषष्टिप्पणीव्याख्यानादवगन्तव्यः। यथा कृष्णस्वरूपं **बलकृष्णभेदेन लोकैर्द्विवत् प्रतीयते** वस्तुतस्त्वंशांशिनोरभेदादेकवदेव **प्रोच्यते** तथा तयोश्चरित्रमपि **लोकर्द्धिवत् प्रतीयते** वस्तुतस्त्वेकमेवेत्यर्थः। अंशांशिनोर्भेदाभेदमभिप्रेत्योभयत्रापि वतिप्रत्यय उक्तः॥ का. ३॥ **शयनस्यैवे**ति। शेषाविष्टसङ्कर्षणस्य न तु **वासुदेवांशस्येत्येवकारः**। **स्मृतः** 'सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षत' इति वाक्येन 'देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामक'मितिभगवद्वाक्येन चेतिशेषः। वाक्यद्वये देवक्यां निविष्टस्य धामत्वमात्रोक्तेरितिभावः। यद्यपि केवलशेषस्यापि धामत्वं तथापि '**गर्भसङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षण**'मितिवाक्यात् सङ्कर्षणस्यापि देवक्यां सम्भवो ज्ञेयः। **अपरस्ये**ति **वासुदेवांशस्ये**त्यर्थः। **इति कर्षणसमये वासुदेवांशस्याभावाद्धेतोर्वासुदेवस्य** मोक्षदातुर्मायानिवारकस्य मायाकृतकर्षणा**द्धीनता** मायातो दौर्बल्यं स्यादित्याशङ्क्य **नेत्यर्थः**। व्यूहत्रयस्य सत्त्वरजस्तमोभेदभिन्नस्य न मायाविरोधित्वं **वासुदेवस्य** तु निर्गुणस्य मोक्षार्थं मायाविरोधित्वात्तत्र तद्दौर्बल्यं परिहरणीयमेवेतिभावः। व्रजलीलायां बलदेवोपयोगस्यापि वक्ष्यमाणत्वाद्व्रजस्योद्धारस्य च '**गुणातीतस्वरूपेण तामसत्वाद्व्रजस्थिता निरुद्धा**' इत्यादिना **वासुदेव**कार्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वाद्**बलदेवे वासुदेवांशस्या**प्याविर्भावो वाच्यः **स रोहिण्यां जात** इति ज्ञेयम्। अत्र टिप्पण्यां **चतुर्व्यूहरूपेणे**ति यद्यपि वासुदेवप्राकट्यं व्रज एवेति वक्ष्यते तथापि व्यापिवैकुण्ठाद्वसुदेवहृद्यवतीर्यादौ **स्वकार्यं** देवकीमृत्युनिवारणं **कृतवानि**ति निबन्धे निरूपणात् कार्यतोऽन्तःप्राकट्यं **वसुदेवहृदि स्वरूपतो** बहिःप्राकट्यमादौ व्रज एवेति **ज्ञेयम्**। **पुरुषोत्तमस्ये**ति केवलस्येत्यर्थः। नन्वत्र वासुदेवप्राकट्यमप्यस्तीति चेदत्रैवं ज्ञेयम्। प्राकट्यं द्वेधा कार्यतः स्वरूपतश्च। तत्र कार्यतः प्राकट्ये व्यूहचतुष्टयप्राकट्यं मथुरायाम्। पुरुषोत्तमस्य व्रजे। प्राथमिकतत्तत्कार्यस्य तत्र तत्रैव जातत्वात्। स्वरूपतः प्राकट्यं तु व्यूहत्रयविशिष्टपुरुषोत्तमस्य **मथुरायाम्**। वासुदेवविशिष्टपुरुषोत्तमस्य **व्रजे**। तत्र कार्यतः प्राकट्यमत्रोच्यते। तथा च **वासुदेवस्यादौ व्रज एव** बहिःप्राकट्येपि तत्कार्यमादौ **मथुरायामेव** जातमिति **निबन्धे** स्फुटम्। पुरुषोत्तमकार्यं तु **निःसाधनजनोद्धरणमादौ व्रज एव** जातमिति।

सुबोधिन्यां सोपीति। अंशरूपोपि स शय्यारूपो भवतीतिहेतोरनन्त इति विशेषणमुक्तमित्यर्थः। आद्यविशेषणकथने हेतुमाहुः **स ही**ति। **हि** यतः **स भगवान् स्वाश्रयः शेते**तस्तच्छय्यायास्तत्कलात्वं वक्तव्यमित्यर्थः। अन्यविशेषणेभ्यः **प्रथमत** इत्यर्थः। **वेदात्मे**ति। 'सहस्रशीर्षे'त्यादिवेदस्यात्मा तत्प्रतिपाद्य इत्यर्थः। **यः स्वर्गे**पीति। स्वेन राजत इति विग्रहः। शेषो हि स्वफणस्थितमणिना राजते। तदुक्तं **पञ्चमस्कन्धे**। अस्य स्वत एव राजनकथनात् स्वर्गादिलोकेष्वपि राजते न तु शेषवत् पातालमात्र इत्याशयेन **स्वर्गे**पीत्युक्तम्। तथा च **स्वेन राजनकथनान्नायं** केवलशेष इतिभावः। **देवरूपेणे**ति। साक्षिरूपेणेत्यर्थः। अत एव लीलासु साक्षिवत् तत्स्थितिं वक्ष्यति। लीलां तु भगवदावेशेन। **सर्वेषामि**ति दैत्यानां **भूमेश्चे**त्यर्थः। **सुखार्थ** इति मोक्षार्थ इत्यर्थः। प्रलम्बादीनां मोक्षदाने तद्वधेन **साहाय्यं भूमेर्भाररूपदुःखहरणे** जरासन्धादिभिः सह युद्धेन **साहाय्यं** ज्ञेयम्॥ २४॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गिरं समाधौ गगन इत्यस्याभासे **पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्यादि**। पुरुषत्वेन भगवत्स्तोत्रस्य कृतत्वात्पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या पुरुषस्यान्तर्यामित्वादन्तर्यामिपुरुषस्यैवावतारो भविष्यतीत्याशङ्काभिप्रायः। अन्तर्यामित्वधर्मपुरःसरं पुरुषोत्तमस्य स्तुतत्वात् पुरुषोत्तम एवाविर्भविष्यतीति भगवद्दत्तोत्तराशय इति भावः। **वासुदेवकलानन्त** इत्यस्याभासे—**शय्यारूपस्य शेषस्येति**। 'अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतावनीह' इत्यादिवाक्याच्छेषस्य शय्यारूपत्वम्। **सङ्कर्षणसहितस्येति**। स्वाधिदैविक-सहितस्येत्यर्थः। शेषस्याधिदैविकः सङ्कर्षणः। स च व्यूहरूपः। 'भगवतश्चतुर्मूर्तेस्तुरीयां तामसीं मूर्ति'मिति पञ्चमस्कन्धे शुक-वाक्यात्। तत्सहित एव शेषोवततार। अत एव बलदेवस्य शेषत्वेन क्वचिदुक्ति'र्देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामक'मिति। क्वचिद्बलदेवस्यांशत्वेन शेष उक्तो यथा बलदेवस्तुतौ दशमोत्तरार्धे **यमुनावाक्यं** 'यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते'रिति। **एकांशेन शेषेणे**त्यर्थः। शेषस्तु सङ्कर्षणव्यूहस्यांशः। अतः शेषस्य सङ्कर्षणसहितस्यावतारो बलदेव इति यदुक्तं तद्युक्तमेव ॥ २४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

वासुदेवकलानन्त इत्यत्र—तस्मिन् शेषे सुप्तो हरिर्वासुदेवोवतारदशायां तस्मिन् सङ्कर्षण आविष्ट इत्यर्थः ॥ का. २ ॥ **अत्र पूर्वं शय्यारूपे सङ्कर्षणे शयानस्यावतारदशापन्ने तस्मिन्नावेशरूपा स्थितिरनु पश्चात् शयनं भवति। तथा चानुशयनस्यैव स्कन्धार्थत्वाद्बलदेवाविष्टवासुदेवकलाया एव लीला स्कन्धार्थः स्यादित्यत आहुरत इति। यतः शयानस्यावेशोतो हेतोर्विष्णोः सात्त्विककल्पस्याधिष्ठातुरेव बलभद्रेण कृत्वानुशयनमुच्यते। नात्मनः पुरुषोत्तमस्य नेत्यर्थः। तर्हि बलदेव एवमनुशयन-निरूपणे किं तात्पर्यं तदाहुरेकवदिति। यथा कृष्णस्वरूपं बलकृष्णभेदेन लोके द्विवत् प्रतीयते** वस्तुतस्त्वंशांशिनोरभेदादेकवदेव **शास्त्रे चोच्यते** तथा तयोश्चरित्रमप्यंशांशिनोरभेद**र्लोके द्विवत् प्रतीयते** वस्तुतस्त्वेकवदेवेत्यर्थः। तथा च बलदेवचरित्रमप्यंशांशि-नोरभेदान्मूलचरित्रत्वेन स्कन्धार्थो न तु स्वातन्त्र्येण स्कन्धार्थ इत्यर्थः ॥ का. ३ ॥

देवक्यामिति। शयनस्यैवेति। शय्यारूपस्य सङ्कर्षणस्य न तु **वासुदेवस्येत्येवकारः**। एवकारार्थं विशदयन्ति **न हरेरिति। वासुदेवस्य** नेत्यर्थः। **अपरस्येति। वासुदेवांशस्य रोहिण्यां** सम्भव इत्यर्थः। **इतिहेतोः कर्षणसमये वासुदेवांशस्याभावाद्वासुदेवस्य** मोक्षदातुर्मायानिवारकस्य मायाकृत**कर्षणाद्धीनता** मायातो दौर्बल्यं स्यादित्याशङ्का नेत्यर्थः ॥ २४ ॥

बुभुत्सुबोधिका

गिरं समाधावित्यत्र पुरुष एवेति अन्तर्यामित्वेन नारायणः न तु कृष्णत्वेन। स्वान्तःकरण इति 'स मानसीन आत्मा जनाना'मितिश्रुतेः। अतिसूक्ष्मत्वादिति 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्त'मितिवाक्यात् सूक्ष्मं केषाञ्चिद् देवानां गम्यं भवतीति 'त्रिदशानुवाच ह'ेति ज्ञापनमनुपपन्नमतः अतिशब्दः। ब्रह्मणो मानसीसेवामाहुः समाधौ य इति। सलोक इति एतेन भक्तियुक्तो वेधा उक्तः, अन्तराभूतग्रामवत्, 'स्वात्मनः' इतिसूत्रात्। अन्यथा तु समाधावभेदः। 'ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदं यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इतिवाक्यात्। तत्राकाश इति समाधौ यो गगनम् आकाशस्तस्मिन्। 'गिर'मिति गगनतन्मात्रा तद्व्यावृत्त्यर्थमाहुः भगवद्वाक्यमिति। गगनशब्दस्याप्रयोजकत्वात्। तथा सति गगनेन समीरितामिति प्रयुक्तं स्यात्। एवं च 'यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत' इतिकेनोपनिषच्छ्रुतेः। 'समीरिता'मित्यस्यार्थः पूर्वश्लोके भगवत्प्रेरणया प्राप्तेनेत्यनया सम्यक्प्राप्तामित्युक्तः। 'निशम्ये'त्यत्र 'नि'शब्दार्थमाहुः भगवतोक्तमिति। तच्छ्रुत्वेति निशम्येत्यस्यार्थः। उक्तस्यैव नितरां श्रवणसम्भवात्। श्रुतवानिति कर्तृप्रत्ययान्तेन भावप्रत्ययान्तनिशम्येत्यस्य विवरणम्। धात्वर्थश्रवणकर्ता उवाचेत्येककर्तृकत्व-बोधाय। किञ्च अव्ययकृतो भाव इतिवचनं 'कर्तरि कृदि'ति सूत्राद् दुर्बलम्। विशेषवचनत्वेपीत्यभिप्रायः। पूर्वकालो न वाच्यः। 'तद्विशेष्यकबोधापत्ते'रित्यादि बहूक्तं मनोरमायाम्। यद्वा भगवतोक्तमिति 'समीरिता'मित्यस्य विवरणम्। श्रुतवानिति "निश-म्ये'त्यस्य। निशम्येति न निपूर्वकशम आलोचे चु० आ० से० इत्यस्य रूपं किन्तु शम उपशमे दि० प० से० इत्यस्य निपूर्वस्य ज्ञानार्थकस्येति न न्युपसर्गस्य पृथगर्थः। एवं च भगवता उक्तमित्यत्र ऐश्वर्यवता उक्तमिति वच परिभाषणे अ० प० अनि० इत्यस्य कर्मणि क्ते रूपम्। परिभाषणाश्रयो भगवद्वाक्यम्। परितः भगवत्प्रेरणया प्राप्तं भाषणं परिभाषणम्, उभयवाक्योक्तम्। वाक्ये तु' तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवय' इति, 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचि'दिति च। 'समीरिता'मित्यत्र सम् ईरितामिति ईर क्षेपे चु० प० से० इत्यस्य कर्मणि क्ते रूपम्। क्षिप प्रेरणे तु० प० अ०। एवं च सम्यक्प्रेरितां प्रेरणाश्रयाम्। 'तेने ब्रह्म हृदे'तिवाक्य-मात्रविषयाम्। द्वितीयवाक्यविषयत्वमुपलक्षणेन। वच भाषण इतिपक्षे पूर्ववाक्यविषयामित्येव। तत्र प्रमाणमिति श्रवणे प्रमाण-मनुमानरूपमाह। विदधातीति वेधाः, विधाञो वेध चेति वेधादेशो सिप्रत्ययश्च। ब्रह्मा श्रुतवान् वेधस्त्वात्। यत्र यत्र यत्नः तत्र तत्र तज्जनकं ज्ञानम्। कुलालपुत्रवत्। जानातीच्छति यतत इति प्रवादात्। 'यन् मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति यद् वाचा वदति तत् करोतीतिश्रुतेश्च। तत्रेत्यादि [illegible] तत्रेत्यस्यार्थः, अन्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति

प्रमाणमित्यस्यार्थ इति श्रीवल्लभानां लेखे। तुल्या इति देवत्वेन तुल्याः। कथं नेति उत्तरस्यातिसूक्ष्मत्वेपि कथं न श्रुतवन्तः। ज्ञापितमिति तेन मानससेवाभावादधिकाराभावादीश्वरत्वाभावाच्च न श्रुतवन्त इत्यर्थः। 'हे'त्यस्यार्थमाहुः अकस्मादिति। कारणं विना। क्षणमिति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अकस्मात् क्षणं स्थितिज्ञानं अन्येषां त्रिनयनस्यापि। ईश्वरत्वेपि तत्क्षणे दैत्यनयनमनस्त्वात्। तस्या वाच इति पौरुष्या वाचः, 'वाचं धेनुमुपासीते'ति श्रुतेः। अत्र न वाचि धेनुत्वं गुणवादः यः पूर्वतन्त्रेर्थवादत्वेनोक्तः, 'विरोधे गुणवादः स्या'दिति, किन्तु भूमिर्धेनुर्धरिणीतिवद् वाक् आधिभौतिकी, धेनुराधिदैविकी, त्रिनयनो वत्सः मुख्यत्वात्, गौरपादानं, भूमिः पात्रं, भूमौ भगवदवतारात्, वेधाः दोग्धा, भगवान् पय इति। तथा हि 'भूमिर्दृप्ते'त्यत्र 'गौर्भूत्वा ब्रह्माणं शरणं यया'विल्यर्थात् प्राप्ते सति द्रव्यदेवतात्मको याग उक्तप्रायः। गवि हविः, ब्रह्मणि मन्त्रा इति, आरम्भे मङ्गलार्थमुक्तं, वेदसारत्वात्, वेदान्तसारत्वात् तु गौर्भूत्वोपस्थितान्तिके तस्मा' इत्यत्र ब्रह्मान्तर्यामिणि स्थिता ध्यानेनेति गोनिष्ठान्तर्यामिणो गोर्दोहात् पयो भगवानित्युक्तम्। तथा सत्यन्तर्योम्यवतरिष्यतीति शङ्का पूर्वश्लोक एवापास्ता। दोग्धृत्वायेति वेधसो बोध्यम्। गामिति पूर्वेणान्वयः। पुरुषसम्बन्धिन्येवेति वस्तुतः पुरुषसम्बन्धिनी पुरुषोक्ता, मत्तस्तु श्रवणमात्रं इति हेतोः 'म' इतिपदादादौ भगवत्कर्तृकमाज्ञापनं 'पौरुषो'मितिपदेनाह। 'मे' मत्त इत्यर्थमाहुः मत्त इति। तसिलन्तम्। आज्ञापनमिति जातम् उत्तरम्। अन्तर्यामित्वधर्मपुरःसरं पुरुषोत्तमस्य स्तुतत्वात् पुरुषोत्तम एवाविर्भविष्यति नान्तर्यामिपुरुष इति। 'पुनः' पदार्थमाहुः प्रथमत इति। सामग्रीमेवेति देवानां प्राप्तयज्ञफलानां दैवीं सम्पदं विबुधत्वम्। एवकार आसुरसम्पद्योगव्यवच्छेदकः। दानवारीणां दिवौकसां अमर्त्यानां वा। आदौ अस्मिंछ्श्लोके। बोधयति वेधाः। 'श्रृणुते'त्यन्तेन। आज्ञामिति 'विधीयता'मित्यादिराज्ञा, ताम्। अग्रे इति श्लोके। बोधयति वेधाः। श्रृणुतेत्यन्तेन। आज्ञामिति विधीयतामित्यादिराज्ञा ताम्। अग्रे इति श्लोके। तदिति अंशावतरणम्। सम्बोधयतीति देवधर्ममनादृत्य देवधर्मेण सम्बोधयति, मरणं तु देहस्येति भावः। साहित्येनैव श्रवणं सिद्धमिति 'श्रृणुते'त्यधिकमित्याशङ्क्याहुः सावधानार्थमिति। स्वयमिति रासः। प्रकृत इति कृष्णावतरणे॥ २१॥ पुरैव पुंसेत्यत्र। त्वया किमुक्तमित्यादि त्वया किमुक्तमित्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाद्यपादेन। भगवान् पूर्वमेव ज्ञातवानतो मया स्तोत्रमेव कृतं न त्वन्यत् किञ्चिदुक्तमिति। किं वा भगवतोक्तमित्यस्य प्रश्नस्योत्तरार्थं द्वितीयपादेन भगवदुक्ताज्ञापनमुक्तम्। तदुक्तं कृष्णोपनिषदि, 'अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाचं करोम्यह'मिति देवान् प्रति भगवद्वाक्यम्। पूर्वमित्यादिनोक्तायाः शङ्काया उत्तरम् उत्तरार्द्धेन। पूर्वं रामावतारे भगवत्प्राकट्यात् पूर्वम् अवतारसमाप्त्यनन्तरं च बहुकालं स्थितत्वात् खेदः। अत्र तु यावद् भगवांस्तावदेव स्थातव्यमिति न खेद इति। पीडेति मत्कर्तृकपीडाकथनात्। भार्यामिति नारदपञ्चरात्रे प्रसिद्धम्। स्पर्शो भक्तैः सह निगूढभावकरणान्तर्गतः आश्चर्यरसत्वात्, विरुद्धधर्माधारत्वाच्च। एवेति कथनादियोगव्यवच्छेदक एवकारः। अस्मत्कृतमिति पञ्चमीबहुवचनान्तम् अस्मात् कृतम् उत्पन्नम्। पूर्वमेवेति पश्चाद्योगव्यवच्छेदक एवकारः, न तु पश्चादिति। स्वयमेवेति एवकारेण गगनयोगव्यवच्छेदः क्रियते, गगनस्याश्रयत्वात्। द्वितीयपादार्थमाहुः आज्ञामाहेति। वेधा आह। न्यूनं पूरयन्ति स्म ततः पूर्वमेवेति। सामीप्यस्य निरूपकसापेक्षत्वान्निरूपकमाहुः भगवज्जननेति। आवश्यकत्वायेति 'यो यदंशः स तं भजे'दिति भजनार्थं जननावश्यकत्वाय। हस्तपादादय इति तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः। हस्तपादौ भये देहरक्षकौ पक्ष्मणी चक्षूरक्षके। तद्वदिन्द्रविष्णू सेवकौ सूर्यश्चेति। ससेवक एवेति हस्तपादादिवत्तदितरेपि सेवका इतीतरैरपि सेवकैः सह ससेवकः। पूर्वस्मादिति रामावतारे वानरेष्ववतारात्। लोक इति भगवदवताररहिते। उत्तरार्धं व्याकर्तुमाहुः इदं जननमिति। स्थितिपूर्वकमिति कियत्कालस्थितेः पूर्वं जननमज्ञातमित्यज्ञाते कप्रत्ययः। आन्तमिति आ अन्तम्। 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तथा चावतारसमाप्तिमभिव्याप्येत्यर्थः'। अभिविधावाङ्। तन्नोक्तमिति तदित्यव्ययम्। सा स्थितिः। तदपीति चरणमपि। कियान् कालो यस्येति कियत्कालम्। अनेनेति स्थितिकालनियमाज्ञानेन। यद्वा 'ईश्वरेश्वर'पदेन। एवं नियतेति पूर्वोक्तजननेन नियताः अनेनैतदेतत् कर्म कारयित्वास्मै जीवायैतदेतत् फलं दास्यामीति प्रतिजीवं विचारितवानिति विचारविषया ये भोगाः तैर्युक्तानाम्। देवानाम्। अत्र अकरणशङ्का एव करणशङ्का इव करणशङ्केति पाठत्रयम्, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरो यतः। अस्मानिति देवान्। न शङ्कनीयमिति देवैस्तथा। एवेति एवकारो देवयोगव्यच्छेदकः, न तु देवैरिति। तदर्थमिति दैत्यरूपभारहरणार्थम्। चरणमिति अनेकत्र चरणम्। कालनियमेति चरणे तथा। लिङो वर्तमानादिकालानामर्थत्वाभावात्। ननु भगवज्ज्ञानं कालाधीनचरणेन कालाभावे चरणाज्ञानं 'अनागतमतीतं चे'तिवाक्यात् तत्राहुः अज्ञातस्त्विति। 'भुवि चरे'दिति सर्वे मां पश्यन्त्विति इच्छया चरेदिति तथा। अनागतमितिवाक्येऽतीन्द्रियभगवद्दर्शनमुक्तभगवांदिच्छया भवति। अत एव भगशब्दवाच्यषड्धर्मानवतार्य षड्बालकवधे तु षड्धर्माकर्षणं सिध्यत्यध्यायार्थः। सुबोधिन्याम् 'सर्वतः सर्वानंशानाचकर्षे'त्युक्तेः। पूर्णावतारार्थम्। तेन भगवान् मायावरणसहितः। अग्रे मायापसारणम्॥ २२॥

वसुदेवगृह इत्यत्र लौकिकमिति अलौकिककरणेनावतारज्ञानेपि क गोपगृहे व्यवहारयोग्ये वावतरिष्यतीति देवतस्त्रीसाधारणाकाङ्क्षायाम्। तत्यापीति 'तत्वमसी'त्यत्र तच्छब्दार्थस्यापिना कृष्णस्य। पदार्थसम्भावनायामपिः। न तु चक्रादीति चक्रस्यादिः चक्रादिः शङ्खः। चक्रमादिर्ययोः गदाब्जकाण्डयोः ते चक्रादी। चक्रादिश्च चक्रादी च चक्रादयः तेषां रूपेणेत्यर्थः। विष्णुरूपोंशस्तस्य शङ्खरूपेणावतारणम्। गोप्तात्मजोंशः तस्य चक्ररूपेणावतारणम्। कालिकारूपोंशः तस्य गदारूपेणावतारणम्। जगद्बीजमंशस्तस्य अब्जजाण्डरूपेणावतारणम्। यः शङ्खः स स्वयं विष्णु'रिति 'कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजं यत्

सृष्टमीश्वरेणासीत् तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृ'गिति 'गदा च कालिका साक्षा'दिति 'अब्जकाण्डं जगद्बीज'मितिश्रुतयः। शङ्खादीनां 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश' इत्यादिश्रुत्युक्तसृष्टिक्रमे। आकाशादुत्पन्नानां वायुतत्त्वाग्नितत्त्वाप्तत्त्वपृथिवीतत्त्वरूपाणां श्रीभागवतोक्तानां विष्णोश्च सत्त्वव्यवधानेनावतारः। 'विष्णुराविरासी'दिति तु कृष्णाविर्भावो भवतीति सम्भावनार्थम्। वर्तत इति न च घटेपि पटत्वं स्यादिति शङ्क्यम्। भगवत्त्वस्य पटत्ववज्जातित्वेपि भगवाञ्छुकः भगवान् व्यास इत्यादौ गौणप्रयोगे षड्गुणैश्वर्यस्य सत्त्वात् तेनैश्वर्येण गौणेष्वपि वर्तते, नैतावता घटे पटत्वापत्तिः, षड्गुणैश्वर्याभावात्। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्य' इतिगीताया अर्थमाहुः पुरुषोत्तम इत्यर्थ इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र निर्णीतं भाष्ये। नन्दे भक्तिः वसुदेवे तप इति तपसो भगवदाविर्भावकत्वं दशमस्कन्धनवमाध्याये श्रीगोपालतापिन्यां नारदपञ्चरात्रे लक्ष्मीतन्त्रेपि। 'अतप्ततनुर्न तदामोश्नुत' इतिश्रुतेः। अशनं भगवदाविर्भावे भक्तावपि। परत्वनिरूपकं वक्तुमाहुः ब्रह्माण्डादिति। 'गिरं समाधा'वित्यनेनोक्तसमाधौ भावितस्येत्यर्थः। प्रकृतिप्रवर्तक इति प्रकृतेर्लयस्थानं प्रकृतेः कारणं स एव प्रवर्तकः। तृतीयसुबोधिन्यां पुरा आसेति पुरुषपद-व्युत्पत्तिरलौकिकी। तत इति प्रकृतेः ब्रह्माण्डादिति वा। 'प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् तृतीयं सर्वभूतस्थमितिवाक्यात्। 'अव्यक्तात् पुरुषः पर' इतिश्रुतेश्चकारः। जनिष्यत इति 'अजायमानो बहुधा विजायत' इतिश्रुतेः, भक्तवश्यत्वाच्च। तत्सेवार्थमिति तेन प्रिया सेवेत्युक्तम्। सम्यगिति तेन सुराणां सौन्दर्यमित्युक्तम्। योग्यस्थानेष्विति गोपस्थानेषु कुब्जास्थाने रुक्मिण्यादिस्थाने। सम्भवन्तु तत्तत्स्थाने स्त्रीभवनेऽन्ते मनःस्थापनेन सम्भवन्तु लक्ष्म्या सहिता इति अष्टमस्कन्धे समुद्रमथनेति। वारितमिति 'गोपान् नः स्त्रीश्च नो कु'र्विति कृष्णोपनिषदि 'न' इत्यनेन सुरान् गोपान्, 'नः स्त्रीः' गोपीः कुर्वित्यर्थात्॥ २३॥

वासुदेवकलेत्यत्र भगवदेवेति इयं पूर्वश्लोकीया। सम्भवन्त्विति समुपसर्गार्थत्वात् क्वचित् तु अस्य श्लोकस्याभास इत्युक्तम्। भगवच्छय्येति 'अहीन्द्रतल्पेधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतावनीह' इत्यादिवाक्याच्छेषस्य शय्यारूपत्वम्। सङ्कर्षणेति साधि-दैविकस्य कृष्णस्य शब्दार्थरूपत्वार्थम्। तदुक्तं द्वादशनिबन्धे 'शब्दार्थरसरूपधृ'गिति। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इति जैमिनिसूत्रम्। औत्पत्तिकमिति नित्यं ब्रूम' इति शाबरभाष्यम्। पूर्वश्लोके पुरुषोत्तमनिरूपणादत्र तत्कलेत्येव चारितार्थ्येपि यद् वासुदेवपदोपादानं तत्तात्पर्यं वेदवेदान्तार्थसामानाधिकरण्यप्रतीतीच्छायोच्चरितत्वरूपमाहुः। यद्वा द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये तप तपेति-शब्दानन्तरं वासुदेवो ब्रह्मप्रार्थनयावतीर्णः। अतो वासुदेवस्य विशुद्धं सत्त्वं धर्मः। अत्र तु वासुदेवस्य शब्दात्मकोनन्त इति संशये नारायणोपनिषदनुसारेणाहुः सात्त्विकेष्वित्यादि सात्त्विका कल्पा ब्रह्मवासराः तेषु। ते च मात्स्ये कल्पानुकीर्तने उपान्त्याध्याये 'प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः। वामदेवस्तृतीयस्तु तथा रथन्तरोऽपरः रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः सप्तमोथ बृहत्कल्प कन्दर्पोष्टम उच्यते सद्योथ नवमः कल्प ईशानो दशमः स्मृतः व्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोपरः त्रयोदश उदानस्तु गारुडोथ चतुर्दशः कौर्मः पञ्चदशः प्रोक्तः पौर्णमासी अजायत षोडशो नारसिंहस्तु समानस्तु ततः परः आग्नेयोऽष्टादशः प्रोक्तः सोमकल्प-स्तथा परः मानवो विंशमः प्रोक्त उदान इति चापरः वैकुण्ठश्चापरस्तद्वल्लक्ष्मीकल्पस्तथा परः चतुर्विंशतिमः प्रोक्तः सावित्रीकल्पसंज्ञितः पञ्चविंशतिमो घोरो वाराहस्तु ततः परः सप्तविंशोथ वैराजो गौरीकल्पस्तथा परः माहेश्वरस्ततः प्रोक्तस्त्रिपुरं तत्र घातितम्। पितृकल्प-स्तथैवान्यो या कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता इत्येवं ब्रह्मणो मासः सर्वपातकनाशनः सङ्कीर्णास्तमसाश्चैव राजसाः सात्त्विकास्तथा रजस्तमोमया-स्तद्वत् त्रयस्त्रय उदाहृताः सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां व्युष्टिरुच्यते अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेपूपवर्ण्यते राजसेषु माहात्म्य-मधिकं ब्रह्मणो विदुः सात्त्विकेष्वधिकं तद्वद् विष्णोर्माहात्म्यमुच्यत' इति। पुना राजसतामसयोगव्यवच्छेदः क्रियते। य इति व्यूहमुख्योवताराधिकारी। द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये तप तपेति शब्दानन्तरं वासुदेवोवतीर्ण इति। अयमर्थः। क्षीरसमुद्रतीरे स्थितः 'समुद्रं मनसाध्याये'दिति श्रुतेः ध्यातस्य समुद्रस्य समाधौ गिरं गगने समीरितां श्रुत्वा वेधा इदमुवाच। तद् यदि राजसतामसकल्पेषु यो भवेत् तदा देवान् प्रत्युपदिष्टं सन्दिग्धं विपर्यस्तं वा भवेत्। रजस्तमसोः संशयविपर्यासजनकत्वात्। तदा ज्ञानाभावाद् 'विधीय-तामा'श्वित्यादि विरुध्येत। जानातीच्छति यतत इति अनन्तपदसमभिव्याहारात् प्राप्तं वासुदेवस्य नारायणत्वमाहुः शेते सलिल इति। 'देवानन्त नमस्तुभ्यं नमस्ते जलशायिन' इति भविष्योत्तरात्। नारायणे शास्त्रभरः सूचितः। हरिरिति कृष्णो विष्णुरिति नोक्तम्। एकस्याकारकत्वात् द्वितीयस्य सात्त्विकस्य सात्त्विकपुराणादिमात्रविषयत्वाद्धरेः सर्वत्र गानाद्धरिपदम्। अत्र वासुदेवः हरिः कोशात्। महानारायणे तु 'स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वरा'डिति स्वराट् हरिरुक्तः। तत्र स्वेनात्मना राजस इति स्वराट्पद-व्युत्पत्तिः। वासुदेवकलायां तु स्वेनात्मीयेनात्मना राजत इति व्युत्पत्तिः। एवं नारायणे वेदान्तप्रतिपाद्ये वेदप्रतिपाद्यवासुदेवत्वमाहुः इति ज्योतिषे सौरसिद्धान्ते 'वासुदेवः परं ब्रह्म एष छन्दसि पठ्यते' इति वाक्याद्वेदप्रतिपाद्यः। विज्ञेय इति निश्चयविषयत्वेन विशेषेण ज्ञेयः।

न तु कोशोक्तविष्ण्वादिर्वासुदेवो विज्ञेयः। अनन्त इति सप्तम्यन्तम्। तथा चानन्तोंशावतारः। 'अन्ये चांशकलाः पुंस' इति वाक्यात् अनन्त इति प्रथमान्तं वा, प्रथमाप्रायपाठात्। उच्यत इति तस्यांश इति ज्ञानस्य निश्चयत्वायोच्यते। अन्यथाशुक्ताविमे रङ्गरजते इति वत् शुक्ताविदं रजतमितिवच्च तत्त्वांश इति ज्ञाने संशयत्वं भ्रमत्वं वा स्यान्न तु शुक्ताविदं शुक्तित्वमितिवन्निश्चयत्वं भवेत्। कालात्मेति भविष्योत्तरपुराणेऽनन्तव्रतकथा। युधिष्ठिर उवाच 'कोयं कृष्ण त्वयाख्यातो योनन्त इति विश्रुतः। किं शेषनाग आहो-

स्विदनन्तस्तक्षकः स्मृतः । परमात्माथ वानन्त उताहो ब्रह्म उच्यते । क एषोनन्तसंज्ञो वै सत्यं मे ब्रूहि केशव' । कृष्ण उवाच 'अनन्त इत्यहं पार्थ मम रूपं निबोधय । आदित्यग्रहचारेण यः कालः उपपद्यते । कलाकाष्ठामुहूर्तादिदिनरात्रिशरीरवान् । पक्षमासा ऋतुवर्षायुगकल्पव्यवस्थया । योयं कालो मयाख्यातः सोनन्त इति कीर्तितः । सोहं कालोवतीर्णोत्र भुवो भारवतारणादिति । 'ख्यातो सोनन्त' इति पाठे अकारो विष्णुः सोर्लोपः । 'वतारणा'दित्यत्र भागुरिमतेनावे अकारलोपः । आश्चर्यवद्दर्शनात् साधु । तथापि शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिकायां किञ्चिदुच्यते । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणे । अनन्तोऽनन्तानन्द उक्तः 'सोनन्त इत्यहं पार्थे'त्यनेनोक्तः । अर्थः । आदित्यग्रहचारेण यः कालः सदेहः । तथा च कृष्णोनन्तः कलाकाष्ठादिदेहवान् । यथा देवदत्तदेहो मारयति म्रियते च तथा कालः । 'कालात्मा भगवान् जात' इति वक्ष्यन्ति । पक्षदेहः । सत्यं सत्ता । सत्तामात्र'मितिवाक्यात् । तस्याप्यभेदसम्बन्ध इति कालात्मेत्यत्र कर्मधारयः विज्ञेय इति सात्त्विककल्पीयत्वात् । पूर्ववदर्थः । भूभारेति कालशरीरत्वात्तथा, तेन कालात्मेत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः । एवं स्वरूपलक्षणेऽभेदसम्बन्धः, श्रीभागवतमते धारणायां भेदान्वयं वदन्तः परस्परं व्यूहे निरोधलक्षणाव्याप्तिपरिहारमाहुः तत्र सुप्त इति । तत्र साधिदैविकशेषे शय्यारूपेऽनन्ते । हरिरिति पूर्ववत् । वाग्विषयत्वात् । ज्ञानम् । एवं अनन्ते ज्ञानं निरूपितम् । तज्ज्ञानं लीलाधिकरणमिति 'नमामि हृदये शेषे' इत्यत्र निरूपितम् । सत्यं लीलाब्धिरिति लीलां निरूपयन्ति स्म तदावष्ट इति । 'तस्मिन् सङ्कर्षणे आविष्ट' इत्यादि टिप्पण्यां स्पष्टम् । अतः कालात्मेति भावः । टिप्पण्यामावेशरूपेति सङ्कर्षणस्यावेशित्वादितिभावः । लीलेति भिन्नं पदम् । अत इत्यत्र टिप्पण्यां यत इत्यादि । यतः शयानस्य हरेः कृष्णस्यावेशोतो हेतोः कृष्णस्य तमोऽवैशिष्ट्ये सत्यक्लिष्टकर्मत्वे सति भक्तनिगूढभावकर्तृत्वेन प्रकृतानुशयनेऽसम्भवादित्यर्थः । विष्णोरिति विष्णोः सात्त्विकत्वेन तमोवैशिष्ट्याद्यसम्भवात् कृष्णवत् प्रकृतानुशयनेऽसम्भवमाशङ्क्याहुः सात्त्विककल्पाधिष्ठातुरेवेति । सात्त्विककल्पाः ब्रह्मणो वासराः भविष्योत्तरपुराणोक्तं कृष्णाभिन्नानन्तस्य शरीरं कालरूपं तद्रूपाः इति हेतोः सात्त्विककल्पः कालः तमोवैशिष्ट्यादिविशिष्टः तस्याप्यधिष्ठीता तस्य । एवकारः कृष्णयोगं व्यवच्छिन्नत्ति । बलभद्रेणेति अनन्तमात्रेण कालशरीरेण सहानुशयनं भूभारावतारणरूपम् । एवकारार्थोयमित्याशयेन नात्मन इत्यस्यार्थमाहुः नात्मन इत्यादि । कुत इति चेत् । न । बलदेवाविष्टवासुदेवकलाया या लीला तस्या निरोधजनकत्वाभावात् । 'निरोधोस्यानुशयनमात्मन' इति मूलवाक्यात् । नोक्तदूषणमिति बलदेवाविष्टवासुदेवकलाया एव लीला स्कन्धार्थ इति दूषणं नेत्यर्थः । तल्लीलात्वेन रूपेण स्कन्धार्थः स्यात्, न तु पुरुषोत्तमलीलात्वेन रूपेण । भूभारहरणे ग्रन्थबाहुल्यात् । तथा सति स्कन्धार्थाननुगमः तदपि दूषणं न । भूभारहरणस्य बलाद्वयेन हरिणा परम्परयानन्ताभिन्नकृष्णेन वेत्युक्तदूषणाभावात् । तथा च पुरुषोत्तमलीलात्वेन स्कन्धार्थोऽभेदान् मुख्यत्वाच्चेति भावः । तर्हीत्यादि यदि बलदेवेन पुरुषोत्तमस्य नानुशयनं तमोवैशिष्ट्यादिधर्मभेदात् तर्हि । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बलदेवेनुशयनिरूपण इत्यर्थः । पूर्वोक्तेति नारायणवासुदेवस्य बलभद्रस्यांशत्वादंशांशिनोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरपि । तादात्म्येनाभेदादिति तादात्म्येनाभेदो यथा घटानां तादात्म्येन घटात्मधर्मेण घटत्वेनाभेदः, घटो घटो नेत्यप्रयोगात् न तु भेदाभावरूपादभेदात् । भेदाभावरूपमद्वैतं तु सत्त्वेन रजोजये सत्त्वेन ज्ञान ऐक्ये भाते भवति । तत्रापीति बलभद्रेपि । तच्चरित्रमिति बलभद्रचरित्रम् । कृष्णेति कृष्ण इति प्रेमवशान् निकटस्य कृष्णस्य सम्बोधनम् । भ्रमरगीतटिप्पण्यां 'वर्णयाम्यवशः कचित्' इति प्रेमविवशतोक्ता । अस्य श्लोकस्य टिप्पण्यामाहेत्येकवचनं तत एव । चरित्रेपीति रासलीलाभूभारहरणचरित्रयोश्चरित्रत्वेनैक्येपि स्वरूपे द्वैविध्यप्रतीतिः । एकस्यैवानेकत्वे दृष्टान्तं वदन्तो देवक्यामित्यस्याभासमाहुः अत एवेत्यादि । यत एकस्यैव द्विविधत्वं न तु द्वित्वम् अत एव यथा चतुर्व्यूहरूपेण प्राकट्यं मथुरायां व्यूहान् बहिरवस्थाप्यान्तः स्वस्य प्राकट्यं व्रजे नन्दगृहे पुरुषोत्तमस्य । यद्यपि वासुदेवप्राकट्यं व्रज एव तथापि व्यापिवैकुण्ठाद् वसुदेवहृदयवतीर्यादौ स्वकार्यं देवकीमृत्युनिवारणं कृतवानिति निबन्धे निरूपणात् कार्यतोन्तः प्राकट्यं वसुदेवहृदि, स्वरूपतो बहिःप्राकट्यमादौ व्रज एवेति ज्ञेयम् । किञ्च व्रजे वासुदेवप्राकट्यमप्यस्तीति चेत्, अत्रैवं ज्ञेयम् । प्राकट्यं द्वेधा, कार्यतः स्वरूपतश्च तत्र कार्यतः प्राकट्ये व्यूहचतुष्टयप्राकट्यं मथुरायाम् । पुरुषोत्तमस्य व्रजे । प्राथमिकतत्तत्कार्यस्य तत्र तत्रैव जातत्वात्, स्वरूपतः प्राकट्यं तु व्यूहत्रयविशिष्टपुरुषोत्तमस्य व्रजे । तत्र कार्यतः प्राकट्यमत्रोच्यते । तथा च वासुदेवस्यादौ व्रज एव बहिःप्राकट्येपि तत्कार्यमादौ मथुरामेव जातम् । व्यूहचतुष्टयकार्यमादौ मथुरायामेव जातमिति निबन्धे स्फुटम् । पुरुषोत्तमकार्यं तु निःसाधनजनोद्धरणमादौ व्रज एव जातमिति । अत्रापीति सङ्कर्षणेपि । द्विरूपेण प्राकट्ये पि वस्तुतः स्वरूपैक्यमित्यर्थः । सुबोधिन्याम् एकवत् प्रोच्यत इत्युक्तं तत्र हीनोत्तमयोर्नैकवद्भाव इति, हीनतामेकस्य वारयन्ति स्म देवक्यामिति । देवक्यां शयनस्य शेषस्यैव सम्भवो न हरेः शयानस्य तत्र प्रमाणमाहुः स्मृत इति । 'देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामक'मित्यनेन शेषस्य सम्भवः स्मृतः हरेः सम्भवो न स्मृतः । रोहिण्यामपरस्य हर्यंशस्य । यद्वा रोहिण्यां गर्भस्थित्यनन्तरमपरस्य वासुदेवस्यावेश इत्यर्थः, इति अस्माद्धेतोः कर्षणान् मायाकृताद् शेषांशस्य कर्षणात् रोहिणीगर्भस्थस्य वासुदेवांशस्य हीनता मायाधीनता नेत्यर्थः । एकवदित्यत्र कारिकायाम् औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति शब्दार्थावेकवत् । एक इव । द्वाविव द्विवत् । प्रतीयत इति भगवदिच्छया घटादौ तथा व्यवहारात् । एवं चात्र द्वयोः पृथग्गर्भबोधनात् श्रीरोहिणीगर्भस्याकस्मिकत्वशङ्काप्रयुक्ता हीनता मायाधीनतापि वारिता । अतो गर्भसम्भवोत्तरमेव श्रीरोहिण्याः श्रीगोकुले स्थापनम् अन्यासां सप्तदशस्त्रीणामन्यत्रेति बोध्यम् तमिति श्रीबलदेवम् । अन्यस्मादिति अर्थात् आधिभौतिकात् शेषात्

तमसः रजसो देवदेहात् चारितार्थ्यकर्तृरूपाच्च। ज्ञातुमिति देवानां ज्ञानाय। भावे तुमुन्। सोपीति अंशरूपोपि सः शय्यारूपो भवतीति हेतोरनन्त इति सङ्कर्षणविशेषणमित्यर्थः। कालात्मेति कालस्य देहस्य आत्मा सोनन्तः, उक्तभविष्योत्तरात्। हीति निश्चये उक्त एव हेतुः। स्वाश्रयोऽधिः तस्मिन्। शेते स्वप्नं कुरुते। पाताले तु कालात्मा व्यापकरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। एवकारेण धराभराक्रान्ते शेषे न स्वप्नः किन्तु स्वदेहभूते काले शेषे स्वप्नः। स्थितमिति अविनाभावेन स्थितम्। अनन्तसहस्रवदनयोः सामानाधिकरण्यात् तत्र स्थितमित्याधाराधेयभावस्तु लोकैः प्रतीयते तथा भवतीति सहस्रवदनो भवति। 'सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्यत्र पुरि शेत इति व्युत्पत्तिः व्युत्पत्तित्रये। श्रुतौ सहस्रपात् सहस्रपात् सत्तः। पुरुषेणापि सूक्तेनेत्यर्थे पुरुषविद्यामाशङ्क्याहुः वेदात्मेति। प्रतिपाद्यार्थवत् प्रतिपादकवेदेपीयं विधेत्यर्थः। तथेति सहस्रशीर्षा भवति। स्वर्गेपीति सङ्कर्षणस्य यत् स्वं स्थानं तस्मिन्नपि स्वेन स्वीयेन राजत इति लौकिकव्युत्पत्तिः। कर्तरि क्विप्। स्वरूपलक्षणानन्तस्य ज्ञानेनाभेदान्वयात् स्वर्गेपीत्युक्तं 'वेदा यथा मूर्तिधराख्रिपृष्ठ' इति वाक्यात्। भवितेति लुट्। अनद्यतनकाले। अष्टप्रहराः अद्यतनकालस्तत्र न भविष्यतीत्यर्थः। भगवदवतारेणेति अनवतारेणादृश्येन निःसाधनजनोद्धरणं भविष्यतीति किमिति प्रश्नः।

स हीति सङ्कर्षणसहितः शेषो हि। देवरूपेणेति साक्षिरूपेण। अत एव लीलासु साक्षिवत् तत्स्थितिं वक्ष्यति। लीलां तु भगवदावेशेनेति बहुस्थले प्रसिद्धम्। एवकारः चरितार्थकर्तृरूपयोगं व्यवच्छिनत्ति। दैत्यानां सुखार्थ इति तेषां कालं प्राप्यैव भगवत्प्राप्तेस्तथा। तदिदं 'मन्येऽसुरान् भागवता'नित्यत्र तृतीयस्कन्ध उपपादितम्। साहाय्येति प्रलम्बादीनां मोक्षदानेन तद्वधेन साहाय्यम्। भूमेर्भाररूपदुःखहरणे जरासन्धादिभिः सह युद्धेन साहाय्यं ज्ञेयम्। प्रियमिति न तु चारितार्थ्यम्। एवमत्र सहस्रवदनदेवदेहे कृष्णाभिन्नानन्तो बलदेवस्वरूपम्। कार्यकाले कृष्णावेशादावेशी। 'वासुदेवकले'तिविशेषणेन तमसः भिन्नतया ज्ञातुं, वासुदेवस्य सात्त्विकत्वेनानन्तस्य तामसत्वेन सात्त्विकतामसत्वात्, 'विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दित'मितिवाक्यात्, भगवतश्चतुर्मूर्तेस्तुरीयां तामसीं मूर्तिमिति पञ्चमस्कन्धात्। 'अनन्त' इति रजसो भिन्नतया ज्ञातुम्। 'मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते' इति गीताष्टादशाध्यायात्। 'सहस्रवदन' इति अर्थात् भिन्नतया ज्ञातुम्। वेदात्मेति सुबोधिन्याः। 'स्वरा'डिति आधिभौतिकात् शेषात् भिन्नतया ज्ञातुम्। देव इति चारितार्थ्यकर्तृरूपात् भिन्नतया ज्ञातुम्। 'सहस्रवदनो देव' इति देवदेहाद् भिन्नतया ज्ञातुम्। अत्र प्रथमान्तप्रायपाठे देहदेहिनोर्वासुदेवपदार्थहरिकलयोरभेदः स्फुरति। स चैवं परिहरणीयः। वेदत्वेनैकरसत्वात्। 'यस्य यजुरेव शिरः ऋगुत्तरः पक्ष' इत्यादि तैत्तिरीयात्। आनन्दमयवत्॥ २४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा च वेधाः ब्रह्मा समाधौ स्थित एव गगने समीरिताम् अदृष्टवक्तृकां गिरं वाणीं निशम्य श्रुत्वा त्रिदशान् देवान् प्रति ह स्फुटमुवाच। समाधावेव श्रुतत्वाद्देवैः सा न श्रुतेति ज्ञेयम्। ब्रह्मवचनमेवाह—गामित्यादिभिः सार्द्धैः पञ्चभिः। सावधानतार्थं सम्बोधयति—अमरा इति। समाधौ मया श्रुतां पौरुषीं परमपुरुषस्याज्ञारूपामनुल्लङ्घ्यां गां वाचं मे मत्तः कथयतो यूयं शृणुत। श्रुत्वा च पुनस्तथैव आज्ञानुसारेणाशु शीघ्रमेव विधीयतां युष्माभिः क्रियताम्। चिरं विलम्बं मा कार्ष्ट॥ २१॥ पुंसा पुरुषेण सर्वान्तर्यामित्वात् पुरा अस्मद्विज्ञापनात् पूर्वमेव धराया ज्वरः सन्तापोऽवधृतो निश्चितोऽतो यदुष्ववतरिष्यति। अतो भवद्भिर्देवैरपि स्वस्वांशैर्यदुषु उप तत्प्रादुर्भावसमोपकाले जन्यताम्। तत्र कियत्कालपर्यन्तमस्माभिः स्थेयमित्यपेक्षायामाह—स इति। स भगवान् कालाख्यया स्वशक्त्या उर्व्याः पृथिव्याः भरं क्षपयन् दूरीकुर्वन् यावद्भुवि चरेदिति। भगवानपि कियत्कालं स्थास्यतीत्यपेक्षायामाह—ईश्वरेश्वर इति। ईश्वराणां स्वच्छन्दचारिणामस्माकमपीश्वरो नियन्ता, अतस्तस्याभिप्रायं ज्ञातुं तं नियन्तुं वा नाहं शक्त इत्याशयः। स्वकालशक्त्येत्यनेन तस्य भूभारहरणसहायेऽस्माकं महान् क्लेशः स्याद्दैत्यभयं चेत्याशङ्का निरस्ता। केवलं सेवार्थं वैभवविहाराद्यर्थं चावताराज्ञेति सूचितम्॥ २२॥ ननु भगवान् यदुषु क्वावतरिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह—वसुदेवगृह इति। वसुदेवस्य गृहे साक्षाद्भगवानेव जनिष्यते प्रादुर्भूतो भविष्यति। साक्षादित्यनेनांशकलाद्यवतारं वारयति। कोऽसौ भगवानित्यपेक्षायां भगवच्छब्दस्यौपचारिकार्थत्वं वारयन्नाह—पुरुषः पर इति। पुरुषोत्तम इत्यर्थः। एवं देवानुक्त्वा तदङ्गनाः प्रत्याह—तदिति। तस्य भगवतः प्रियार्थं सेवाविहारादिना प्रीत्यर्थं सुराणां स्त्रियः सम्भवन्तु अवतरन्तु॥ २३॥ युष्माकमवतारे कः सन्देहः? यतो वासुदेवस्य चतुर्व्यूहप्रधानस्य कला अंशः अनन्तः शेषोऽपि तस्य हरेः प्रियचिकीर्षया प्रिय लीलायामुपकारेण सुखं कर्तुमिच्छया तदवतारादग्रतो ज्येष्ठो भ्राता भविता अवतरिष्यतीत्यन्वयः। 'अग्रजो भविता' इति पाठान्तरम्। तदवतारोऽपि दुर्लभ इत्याशयेन तं विशिनष्टि—सहस्रवदन इति। स चास्माभिरपि पूज्य इत्याह—देव इति। तत्र हेतुमाह—स्वराडिति। स्वेनैव राजत इति स्वराट्, न तु कालकर्मादिपरतन्त्र इत्यर्थः॥ २४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गिरमिति॥ वेधाः ब्रह्मा गगने समीरिताम् अदृष्टवक्तृकां गिरं वाचं समाधौ निशम्य श्रुत्वा समाधिरूपे गगने समीरितामिति वा। त्रिदशान् देवान् उवाच हे अमराः! ह स्फुटं पौरुषीं पुरुषस्य भगवत इयं पौरुषी तां गां वाचं मे मत्तः आशु शृणुत पुनः

मा चिरमविलंबितं तथैव युष्माभिर्विधीयतां चेति ॥ २१ ॥ पुरैवेति ॥ पुंसा भगवता पुरैव विज्ञापनात्पूर्वमेव धरायाः ज्वरस्तापः अवधृतः निश्चितः अतः ईश्वराणामपीश्वरः स यावत् स्वस्य कालशक्त्या यथाकालमित्यर्थः । उर्व्याः भरं क्षपयन् हरन् भुवि चरेत् प्रकटो वर्तेत तावत् भवद्भिः कर्तृभिः अंशैः सह यदुषु उपलक्षणतया कुरुष्वपि उपजन्यताम् । पुरैवेत्यादिचतुःश्लोकी क्षीरोदशायिनो हरेर्वचसोऽनुवादः इति भक्ताः तत्र पुंसा परमव्योमाधिनाथेन वासुदेवेनेत्यर्थः ॥ २२ ॥ वसुदेवेति ॥ वसुदेवस्य गृहे परः पुरुषः भगवान् साक्षात् स्वयमेव जनिष्यते प्रादुर्भविष्यति । अतस्तत्प्रियार्थं सेवया प्रीतिजननार्थं सुरस्त्रियोऽपि संभवन्तु ॥ २३ ॥ वासुदेवेति ॥ वासुदेवस्य भगवतः कला अनन्त बलदेवः देवः स्वेन स्वरूपेण स्वेन भ्रात्रा श्रीकृष्णेन वा राजते स्वराट् सहस्रवदनः संकर्षणः हरेः प्रियचिकीर्षया अग्रतः ज्येष्ठभ्रातृत्वेन भविता प्रादुर्भविष्यति ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गिरमिति ॥ गगने दहराकाशे, समीरितामाकाशशरीरेण भगवतोच्चारितां, गिरं वाचं, समाधौ निशम्य, वेधाः समाधेर्बहिर्यातो ब्रह्मा, त्रिदशान् सुरान् प्रति, ह स्फुटं यथा तथा, उवाच । तदेवाह गामित्यादिभिः सार्द्धैः पञ्चभिः । हे अमराः, समाधौ मया श्रुतामिति शेषः । पौरुषीं परमपुरुषसंबन्धिनीं, मे मम, गां वाचं, मे मत्त इति वा । शृणुत । कथयतो मत्त आकर्णयतेत्यर्थः । तथैव, यथेश्वरेणादिष्टस्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । पुनः रामावतारे यथा तथा भूयोऽपीत्यर्थः । विधीयतां यदुकुलादौ जन्मधारणं भवद्भिः क्रियतामित्यर्थः । तदपि, आशु शीघ्रमेव, चिरं मा, विलम्बमत्र मा कार्ष्ट इत्यर्थः ॥ २१ ॥ पूर्वं स्फुटमनुक्तत्वात्का सा गीरित्यत्राह ॥ पुरैवेति ॥ पुंसेश्वरेण, पुरैव भूम्यादिवत् कृतविज्ञापनाकर्णनात्पूर्वमेव, धराज्वरः पृथिव्यास्तापः, अवधृतः अवधारितः बुद्ध एवास्तीत्यर्थः । अतः भवद्भिर्देवैः, अंशैः यदुषु उपजन्यतां युष्माभिः स्वस्वांशैर्यदुकुले जननं क्रियतामित्यर्थः । न केवलं जननमेव, तावन्तं कालमवस्थानं चापेक्षितमित्याह । ईश्वराणामस्माकमपीश्वरः, स भगवान्, स्वकालशक्त्या स्वसंबन्धिन्या कालाख्यया शौर्योपयुक्तया अपृथक्सिद्धविशेषणभूतया तन्वेत्यर्थः । उर्व्या भूमेः, भरं भारं, क्षपयन् निरसितुमिति भावः । भुवि यावत् चरेत् यावद्भुवि चरणं विदध्यात्तावत् कालपर्यन्तं स्थेयमित्यर्थः । केचित्तु भुवि यावदवतरेत्ततः पूर्वमेव उपजन्यतामित्यर्थः इत्याहुः ॥२२॥ न केवलं भवद्भिः पुंप्रकृतिभिर्देवैरेव संभवो विधेयः, किं तु भवदङ्गनाभिरपि भुव्यवतरितव्यमित्याह ॥ वसुदेवगृहे इति ॥ तथा, वसुदेवगृहे वसुदेवपत्न्यां देवक्यामित्यर्थः । भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः, परः पुरुषः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः परमपुरुष इत्यर्थः । साक्षात्, जनिष्यतेऽवतरिष्यते । न तु कपिलादिवज्जीवान्तराधिष्ठानतयेत्यर्थः । तस्य जनिष्यमाणस्य परमपुरुषस्य प्रियार्थं प्रियविधानार्थं, सुरस्त्रियो देवानां पत्न्योऽपि, संभवन्तु । तत्पूजार्थमिति पाठे पूजार्थं परिचर्यार्थं क्रीडार्थमिति यावत् । सुरस्त्रियोऽपि स्वांशैरुत्पद्यन्तामित्यर्थः ॥ २३ ॥ न केवलं देवैस्तत् स्त्रीभिश्च प्रादुर्भाव्यमपि तु ऋषिभिरपि प्रादुर्भाव्यमित्याह ॥ ऋषयोऽपीति ॥ हे सुराः, तथा, ऋषयः अपि, तदादेशात्तस्य भगवतोऽनुशासनात्, पयोदानमुखेन क्षीरप्रदानद्वारापि, कृष्णं तर्पयितुं, पशुरूपिणः कल्पन्ताम् । गोरूपिणः संभवन्त्वित्यर्थः । तपआदिभिः सर्वदा भगवन्तं तर्पयन्तः सन्तोऽप्यधुना तु पयोदानमुखेनापि तर्पयितुं गोरूपिणः कल्पन्तामित्यपिशब्दाभिप्रायः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गिरमिति : १०.१.२१.

मयोच्यमानं शृणुतेत्यनुक्त्वा गां पौरुषीं मे शृणुतेत्यवोचत् ।
ततोऽजनि व्यक्तमिदं मृषोक्त्या लब्धा प्रतिष्ठापि न भव्यकृत्स्यात् ॥ २७ ॥

निर्दिष्टं प्रभुणा स्वकार्यमचिराचारेण कालान्तरे यद्यत्राचरितं तदा भृशमुदासीनः प्रभुर्जायते ।
तादृक् सम्प्रति मामवत्विति धियाऽसौ दीर्घदर्शी विधिर्युक्तं मा चिरमाश्विति द्विपदतः प्रोवाच तत्केलिदृक् ॥ २८ ॥

पुरैवेति : १०.१.२२.

सामान्योऽपि नृपो धराज्वरपरीहाराय निस्तन्द्रधीस्त्यक्त्वा कार्यशतान्यपीह भवतीत्यारादयं त्वच्युतः ।
श्रीभूपः श्रितराजहंससमयः श्रीराजराजान्वितस्तद्युक्तं द्विजराजशेखरनुतः प्राग्वेद यद्भूज्वरम् ॥ २९ ॥
धराद्वयज्वरध्वंसो विधेयोऽस्ति ममेति सः । पौर्वापर्यविधावीशो युक्तं पूर्वमचिन्तयत् ॥ ३० ॥

सर्वांशतो यदि गता भुवि सर्व एते स्वस्थोपभोगसुखराशिरनन्तदत्तः ।
ग्राह्यस्तदा तु बत कैरिति चिन्तयानो युक्तं जगाद विधिरंशत एव यात ॥ ३१ ॥

वसुदेवेति : १०.१.२३.

सर्वैश्वर्ययुतोऽष्टसिद्धिसहितः पूर्णेष्टकामोऽप्यलं स्वामी स्वोपकृतावनालसमनाः स्याच्चेत्तदा सेवकैः ।
शक्त्याऽऽकल्प्य तदोपदां प्रियतमां सत्कार्य एवादरादेतद्योजयता व्यबोधि विधिना तत्प्रीतये योषितः ॥ ३२ ॥

वासुदेवेति : १०.१.२४.

पुरस्कृत्यैव संग्रामे बलं राजकुलेडिताः । जयन्त्यरनितो युक्तं बलमाधान्निजाग्रगम् ॥ ३३ ॥

कृष्णप्रिया

गगन-आकाश में कही हुई भगवान की वाणी को समाधि में सुनकर ब्रह्माजी कहने लगे कि हे अमरवृन्द ! भगवान् के कहे हुए वाक्यों को सुनो और उसके अनुसार तुरन्त वर्ताव करो। भगवदाज्ञा के पालन में विलम्ब न होना चाहिये ॥ २१ ॥ भूमि देवता का कष्ट भगवान ने हमारे कहने से पहिले जान लिया है और उसने स्वयं आज्ञा की है कि आप देवगण यादवों में अंश द्वारा प्रकट होकर पृथ्वी पर तब तक विराजें, जब तक ईश्वरों के ईश्वर अपनी कालशक्ति से पृथ्वी का भार नाश करते हुए विराजमान रहें ॥ २२ ॥ वसुदेवजी के घर पर परब्रह्म परमात्मा श्रीआनंदकंद श्रीकृष्ण स्वयं ही प्रगट होंगे अतः सेवा द्वारा उनको प्रसन्न करने के लिए देवाङ्गनाएँ अवतरित हों ॥ २३ ॥ श्रीहरि भगवान कृष्णचन्द्र का प्रिय करने की इच्छा से वासुदेव भगवान की कलास्वरूप सहस्रवदन अनन्त स्वरूप बलराम भगवान के बड़े भाई के रूप में अवतरित होंगे ॥ २४ ॥

[1]विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्। [2]आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे [3]सा भविष्यति ॥ २५ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः। आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥ २६ ॥
शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन्[4] पुरीम्। माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा[5] ॥ २७ ॥
राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्। मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विष्णोः माया यया जगत् संमोहितं (वर्तते) भगवती प्रभुणा आदिष्टा सा कार्यार्थे अंशेन भविष्यति ॥२५॥ प्रजापतिपतिः विभुः अमरगणान् इति आदिश्य च महीं गीर्भिः आश्वास्य परमं स्वधाम ययौ ॥ २६ ॥ पुरा यदुपतिः शूरसेनः मथुरां पुरीम् आवसन् माथुरान् च शूरसेनान् विषयान् बुभुजे ॥ २७ ॥ ततः यत्र नित्यं भगवान् हरिः सन्निहितः सा मथुरा सर्वयादवभूभुजां राजधानी अभूत् ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

देवकीगर्भसंकर्षणयशोदामोहनादिकार्यार्थे यशोदायां संभविष्यति ॥ २५–२६ ॥ भोजेंद्रबंधनागारेऽवताराय प्रस्तावकथामाह। शूरसेन इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। मथुरामावसन् मथुरायां वसन्। विषयान्देशान् ॥ २७–२८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यशोदामोहनादीत्यत्रादिशब्देन द्वारपनगरस्थकंसादयो ग्राह्याः। मायाशब्देन योगमाया ग्राह्या ह'योगमायां समादिशत्' इति वक्ष्यमाणत्वात्। प्रभुणा कृष्णेन। अंशेन स्वांशभूतबहिरंगमायासहितैव प्रादुर्भविष्यति यया स्वांशभूतया मायया। जगदपि स्वस्वांशभेदाद्द्विधा तद्विज्ञेयं स्वरूपं जगत्तु ब्रह्मणे दर्शयिष्यति चतुर्दशेऽध्याये स्वांशभूतं सर्वमेव प्रसिद्धं कार्यार्थ इति। कार्यमपि द्विविधं तत्र प्रथमं देवकीगर्भाकर्षणयशोदा स्वापादितयोगमायाया एव न तु मायायाः काल्याः स्वनियंतुर्बलदेवस्याकर्षणे प्रभुत्वायोगात्। यशोदा स्वापस्य राजसत्वाभावात्। तदुक्तम् "व्यतीत्य तुर्यामपि संश्रितानां तां पञ्चमीं प्रेममयीमवस्थाम्। न संभवत्येव हरिप्रियाणां स्वप्नो रजोवृत्तिविजृंभितो यः" इति द्वितीयं तु देवकीकन्यारूपेण कंससंभाषणादिरूपं तन्मायाया एव। तादृशदुष्टेषु तदनुपयोगादेव सैव कंसहस्तादुत्प्लुत्य विंध्यवासिन्यादिरूपेण "बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह" तदुक्तं स्वयमेव मायया। "वैवस्वतेंतरे प्राप्ते अष्टाविंशतिमे युगे। नंदगोपगृहे जाता यशोदागर्भसंभवा ॥ ततस्तौ नाशयिष्यामि विंध्याचलनिवासिनी" इति। तथा रासलीलासिद्ध्यर्थं भगवत्प्रेयसीनां पतिपश्वादिमोहनं योगमायाया एव कार्यं न तु मायायास्तेषां भगवद्वैमुख्यादर्शनात्। मायामोहितत्वे तद्वैमुख्यस्यावश्यंभावात्। 'योगमायामुपाश्रितः' इति तत्रोक्तेश्च। दुर्योधनादिशाल्वाद्यसुरेषु विश्वरूपगरुडवाहनादित्वदर्शिष्वपि नायमीश्वरः किं तु धृष्टो यादव इति मोहनं माययैव न तु योगमाययेति तेषां भगवद्वैमुख्यदर्शनात्। एवं तत्तत्स्थले भगवदभिमुखविमुखमोहनं योगमायातदंशीभूतमायाकृतमूह्यम्। यत्तु वात्सल्यादिमहाप्रेमवतां यशोदानंदादीनाम्। विश्वरूपवरुणलोकादिदर्शनांते वात्सल्याधिक्यैश्वर्यज्ञानेष्यसंभ्रमादेवैश्वर्याननुसंधानलक्षणं मोहनं तन्न योगमायाया नापि मायायाः किंतु प्रेम्ण एव स स्वभाव इति 'वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः' इति तु मोहसाधर्म्यात्तत्र मायाशब्दप्रयोग इति ॥ २५ ॥ प्रजापतीनां मरीच्यादीनां पतिर्ब्रह्मा गीर्भिः गीयन्त इति ग्यः गायतेः क्विपीत्वम् "गीर्वाणी च सुरा पत्नी

१. योगमाया-विज. । २. आधिष्टा–इति कस्यचित्। ३. सम्भविष्यति–श्रीधर. वंशी. वीर. विश्व. शुक. । ४. भावसत्पुरी–वीर. । ५. स्वराट्–विज. ।

गी रम्या गीः सुधाभिधा'' इति सौभरिः। ईर्य्यन्त उच्चार्य्यन्त इतीरः। ''ईर्वाक् प्रोक्ता तथेरा च भूमौ मद्ये शुभे स्त्रियाम्'' इति द्विरूपकोशः। तथा च ग्यो रम्याश्च ता ईरो वाचो गीरस्ताभिः रम्यवाग्भिः। आश्वास्य सांत्वयित्वा। परमं ब्रह्मांडांतर्वर्तिसर्वलोकेभ्यो भूरादिभ्य उत्कृष्टं परतमं परं मा यस्मात्तदिति व्युत्पत्तेः॥ २६॥ शूरसेनः कार्तवीर्यसुतः ''तस्य पुत्रसहस्रेषु पंचैवोर्वरिता मृधे। जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः'' इति नवमस्कंधोक्तेः। मथुरां मथुरायाम् ''उपान्वध्याङ्वसः'' इत्याधारस्य कर्मत्वाद् द्वितीया। मथुरायाः प्रांते माथुरास्तान्। शूरसेनेनाधिष्ठिताः शूरसेनास्तान्। श्रीवाल्मीकीये तु शत्रुघ्नकृतलवणवधोत्तरं वरदानार्थमागतदेवेभ्यः शत्रुघ्न इमं वरं वव्रे। ''इयं मधुपुरी रम्या मथुरा देवनिर्मिता। निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रमेष मेऽस्तु वरः परः॥ तं देवाः प्रीतमनसो बाढमित्येव राघव। भविष्यति पुरी रम्या शूरसेना न संशयः॥'' किञ्च—''स पुरा दिव्यसकाशो वर्षे द्वादशमे शुभे। निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चाकुतोभयः'' इति तथा च। शूरा सेना यस्यां शूरस्य शत्रुघ्नस्य वा सेना यस्यां सा शूरसेना मथुरैवेति ज्ञायते। तत्प्रान्तदेशश्च तेनैव निवेसितः शूरसेनसंज्ञोऽभूदिति। विषयान्देशान् ''नीवृज्जनपदो देशो विषयस्तूपवर्तनम्'' इत्यमरः॥ २७॥ ततः शूरसेनमारभ्येत्यर्थः। राजधानी ''राज्ञो नित्यं यत्र वासो राजधानी तु सा पुरी'' इत्यभिधानात्। यद्वा ''राज्ञां प्रधाननगरं राजधानीति कथ्यते'' इति शब्दार्णवः। ''मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा। तत्सारभूतं यद्यस्यां मथुरा सा निगद्यते॥'' इति तापनीयश्रुतेः। ''मथुरायां स्थितिर्ब्रह्मन्सर्वदा मे भविष्यति। मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन्मोक्षमश्नुते'' इति स्मृतेश्च। यत्र मथुरायां संनिहितः स्थितः। 'नित्यं संनिहितः' इत्यनेन स्वयं भगवान्परिपूर्णः कृष्णस्तत्र स्वधाम्नि सदा वर्त्तमान एवाविर्भूय प्रपंचगोचरीभवति न तु कुतश्चिद्वैकुंठादिभ्य आगत्यावतरतीति व्यंजितम्। किं च तदाविर्भावसमये वैकुंठश्वेतद्वीपादिभ्यस्तदंशा आगत्य तत्र मिलिता भवंति लीलांते पुनस्तत्रतत्र यान्तीति तेषामेव वैकुंठादिभ्योऽवतरणं चेति प्रसिद्धिर्ज्ञेया ''परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोपि जातो भगवान्यथाग्निः'' इत्यादिषु तृतीये तथा व्याख्यानात्। इति विश्वनाथः। श्रीसनातनगोस्वामी तु नित्यं कालादिदोषेणान्यत्रेवांतर्द्धानं निरस्तम्। अस्याश्च नित्यत्वं पाद्मनिर्वाणखंडे। ''अहो न जानंति नरा दुराशयाः पुरीं मदीयां परमां सनातनीम्। सुरेंद्रनागेंद्रमुनींद्रसंस्तुतां मनोरमां तां मथुरां पराकृतिम्'' इति तापिन्यामपि तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हीति॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

विष्णोः विश्वव्यापकस्य भगवतो मायाख्या शक्तिः अत एव भगवती सर्वशक्तियुक्ता भगवतीत्वमेव दर्शयन् तामेव कार्यविशेषद्वारा लक्षयति—ययेति। इति चिच्छक्तिर्व्यावर्त्तिता, भगवदिच्छया सम्यग्भविष्यति अन्यथा श्रीयशोदादिमोहनाशक्तेः कार्यार्थे इति श्रीयशोदामोहनादिकार्यस्य सुगोप्यत्वात् सङ्केतेनेवोक्तम्, ननु, वयं त्वदाज्ञाकारिण एव अनन्तश्च हरेः प्रियचिकीर्षयैव भविता सा परमस्वतन्त्रा कुतस्तथा कर्त्रीत्यत्राह—प्रभुणा साक्षात् कृष्णेनैवादिष्टेति। ननु ''यया सम्मोहितं जगत्'' इत्युक्तं तर्हि तस्यास्तत्र जन्मना अस्मादृशानामपि सम्मोहः सम्भवेदित्यत्राह, अंशेनेति। अंशेन भगवदंशेन तदिच्छारूपेण सम्वलिता अतस्तदिच्छाऽनुसारेणैव मोहयिष्यतीति भावः॥ २५॥ इति श्रीविष्ण्वादेशाऽनुवादप्रकारेण आदेशे योग्यतामाह—प्रजापतीनां मरीच्यादीनामपि पतिः यतो विभुः, उक्तार्थमेवेदं श्लेषेण भगवदवतारसाधनादिदानीमेव प्रजानां तत्पतीनाञ्च पालकत्वं विभुत्वञ्च सिद्धमिति, गीर्भिः त्वमेव धन्यासि अचिरात्तन्मधुरपदैर्भूषिता भविष्यसीत्यादिभिः। परमं सत्यलोकवर्त्तीति विदूरस्थं तत्रत्यमूर्त्तिमहदादिनिजपरिवाराणां साक्षात् श्रीभगवदवतारवार्त्तया सन्तोषणार्थम्॥ २६॥ श्रीमथुरायां भगवदवतरणं वक्ष्यन्नादौ तत्कारणमाह—शूरसेन इति द्वाभ्याम्। मथुराम् ''मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा तत्सारभूतं यद्यस्यां मथुरा सा निगद्यते'' इति आथर्वणिकगोपालतापनीश्रुतौ येन ब्रह्मज्ञानेन वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाद्भक्तियोगेन वा सर्वं जगन्मथ्यते तज्ज्ञानिनां तद्भक्तियोगिनाञ्च विलाप्यते तद्यत्प्रसिद्धं ज्ञानादिद्वयं स्वयं भगवच्छ्रीकृष्णनिष्ठत्वात् सारभूतं यस्यां वर्त्तते सा मथुरा निगद्यत इत्यर्थत्वात् मथ्नाति सर्वं तदितरं खण्डयतीति तन्मण्डलं तत्रापि पुरीं तन्मध्यस्थकमलकर्णिकाश्रितां माथुरान् मथुरामण्डलसम्बन्धिनः तद्दक्षिणभागाऽनुगतान् शूरसेनांश्च तत्तन्नाम्नैव प्रसिद्धान् देशान् बुभुजे उपबुभुजे पुरेति तस्य पूर्वपूर्वतरत्वात्। तच्चोक्तमेव नवमस्कन्धे॥ २७॥ ततः तदारभ्य सा सुप्रसिद्धा अनिर्वचनीयमाहात्म्या वा राजधानीति ययातिशापेऽपि शूरसेनादीनां महाप्रभावत्वेन राजदुर्लभव्यवहारत्वात् अतो भूभुजामित्यप्युक्तम्। सर्वेषामेव तेषां राजधानीत्यत्र कैमुत्यमाह—यत्र यस्यां भगवान् स्वयं भगवत्तया विलक्षणसर्वैश्वर्ययुक्तः तथा हरिः विलक्षणरूपगुणलीलामाधुर्येण सर्वमनोहरो यः स श्रीकृष्णोऽपि सन्निहितः। तत्रत्यानां निकटे तिष्ठतीत्यर्थः। तत्र च मथुरेत्येव हेतुर्ज्ञेयः, तया तस्यापि मनोविलोडनात् नित्यमिति कालादिदोषेणान्यत्रेवान्तर्धानं निरस्तम् अस्याश्च नित्यत्वमानीतम्, तथा च पाद्मे निर्माणखण्डे श्रीभगवद्वाक्यम्—

अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः पुरीं मदीयां परमां सनातनीम्।
सुरेन्द्रनागेन्द्रमुनीन्द्रसंस्तुतां मनोरमां तां मथुरां पराकृतिम्''॥ इति।

तथा च गोपालोत्तरतापनी श्रुतिः ''मध्ये साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हि इति। किञ्च तदध्येते श्लोकाः—

प्राप्य मथुरां पुरीं रम्यां सदा ब्रह्मादिसेविताम्। शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुसलादिभिः॥
यत्राऽसौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः। रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः''॥ इति।

त्रिभी रामादिभिः शक्त्या रुक्मिण्येत्यन्वयः। एवं वैकुण्ठलोकादप्युत्कर्षः सूचितः, अत एवोक्तं पाद्मे पातालखण्डे "अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी" इति तदेवमेकस्य स्वयं भगवत आस्पदत्वाद्गोलोकादीनामेकात्मकतैव ज्ञेया ॥ २८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तथा विष्णोर्या माया, सा का ? यया मायया इदं जगच्चेतनवर्गः सम्मोहितं साऽपि भगवती श्रीभगवत्परतन्त्रा अन्यैः पूज्या मायाधिष्ठात्री देवता प्रभुणा नियन्त्रा श्रीभगवताऽऽदिष्टा आज्ञापिता सती तस्य कार्यार्थे प्रयोजनार्थम् अंशेन सम्भविष्यति जनिष्यते ॥ २५ ॥ इत्येवं श्रीभगवतोक्तमेवामरगणान् प्रति आदिश्यानुज्ञाप्य प्रजापतीनां दक्षादीनामपि पतिर्विभुर्ब्रह्मा गीर्भिर्महीम् आश्वास्य सान्त्वयित्वा परमं श्रेष्ठं स्वधाम स्वलोकं ययौ ॥ २६ ॥ तदेवमवतारनिमित्तमुपपादितम्, अथावतारप्रकारं पितुर्गेहात् व्रजगमननिमित्तञ्च वर्णयितुं तदुपोद्घातरूपमितिहासमाह—शूरसेन इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। पुरा पूर्वकाले यदूनां पतिः शूरसेनो राजा मथुरां पुरीमधिवसन् मथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान् देशान् बुभुजे इहोपभोगो भुजेरर्थः न तु पालनम्। तत्र "भुजोऽवने (१।३।६६)" इति आत्मनेपदप्रतिषेधादिति ॥ २७ ॥ यतः शूरसेनो राजा अध्यवसत् ततः सा मथुरा पुरी सर्वेषां यादवभूभुजां यादवभूपालानां राजधानी बभूव तत्र पुर्यां हरिर्भगवान् नित्यं सन्निहितः आविर्भावस्थानत्वादिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवकार्यार्थं सहायान्तरं वक्ति—योगमायेति। योगमाया दुर्गा ॥ २५ ॥ महर्लोकादिभ्यः परमम् ॥ २६ ॥ चतुर्मुखे भुवं सान्त्वयित्वा सत्यलोकं गते उत्तरकथां प्रसञ्जयति—शूरसेन इति। कार्तवीर्यसुतः पुरीमावसन्निति सप्तम्यर्थे द्वितीया "उपान्वध्याङ्वसः (१।४।४८) इतिसूत्रात् ॥ २७–२८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च स्वलीलापरिकराणां भक्तानां भक्तद्विषां कंसादीनाञ्च मोहनार्थं योगमायां मायाञ्चादिशदित्याह—विष्णोर्माया "योगमायां समादिशत्" इत्यग्रिमोक्तेः प्रभुणा कृष्णेन आदिष्टा सती अंशेन सह स्वांशभूतबहिरङ्गमायासहितैव कार्यार्थे प्रादुर्भविष्यति यया जगत् संमोहितं स्वांशभूतमाययेत्यर्थः। यद्वा, जगत् अप्राकृतं प्राकृतञ्च स्वेन स्वांशेन च सम्मोहितं मायया योगमायांशत्वं दृष्टं नारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासम्वादे—

जानात्येका परा कान्ते सैव दुर्गा तदात्मिका। या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी ॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः। मुहूर्तादेव देवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा ॥
एकेयं प्रेमसर्वस्वस्वभावा गोकुलेश्वरी। अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः ॥
अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः ॥ इति।

एका एकविधैव एकानंशापरपर्यायेत्यर्थः। कार्यार्थे इति कार्यमत्र द्विविधं प्रथमं देवकीसप्तमगर्भाकर्षणयशोदास्वापनादि, तद्धि योगमायाया एव कार्यं न तु मायया स्वनियन्तुर्बलभद्रस्याकर्षणे प्रभुत्वाभावात् यशोदास्वापनस्य राजसत्वाभावाच्च यदुक्तम्—

व्यतीत्य तुर्यामपि संश्रितानां तां पञ्चमीं प्रेममयीमवस्थाम्। न सम्भवत्येव हरिप्रियाणां स्वप्नो रजोवृत्तिविजृम्भितो ये ॥ इति,

तादृशसिद्धभक्तेषु मायायाः प्रभवितुमशक्यत्वाच्च द्वितीयं तु देवकीकन्यारूपेण यत् कंसवञ्चनं तन्मायया एव कार्यं न तु योगमायायास्तादृशदुश्श्लोकेषु तस्या अनुपयोगादेव सैव कंसहस्तादाकाशमुत्प्लुत्य विन्ध्यवासिन्यादिरूपेण बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह यदुक्तं स्वयमेव मायया—

वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतिमे युगे। नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा ॥
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी ॥ इति।

तथा रासलीलादिसिद्ध्यर्थं भगवत्प्रेयसीनां पतिपश्वादिमोहनं योगमायाया एव कार्यं न तु मायायाः तेषां भगवद्वैमुख्यदर्शनात् मायामोहितत्वे तद्वैमुख्यस्यावश्यम्भावात् "योगमायामुपाश्रितः" इति तत्रोक्तेश्च, दुर्योधनादिसाल्वायसुरेषु विश्वरूपगरुडवाहनादित्वदर्शिष्वपि नायमीश्वरः किन्तु धूर्तो यादव इति मोहनं माययैव न तु योगमायया तेषां भगवद्वैमुख्यः दर्शनादित्येवं विमुखमोहनं मायया उन्मुखमोहनं योगमाययेति व्यवस्थितिः यत्तु वात्सल्यादिमहाप्रेमवतां श्रीयशोदानन्दादीनां विश्वरूपवरुणलोकादिदर्शनान्ते वात्सल्यादिभावाधिक्यत्वेनैश्वर्यज्ञानेऽप्यसंभ्रमादेवैश्वर्यानुसन्धानलक्षणं मोहनं तत् न योगमायया नापि मायया किन्तु प्रेम्ण एव स स्वभावः यः खलु भगवदैश्वर्यज्ञानमावृण्वन् चिन्मयममतारशनया श्रीकृष्णं निबध्य प्रतिक्षणं तस्मिन् स्नेहाधिक्यमुत्पादयन् तन्माधुर्यास्वादमहोदधौ भक्तजनं निमज्जयतीत्यसाधारणलक्षणज्ञाप्यो भवत्यत एव तत्रोक्तं "वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः" इति पुत्रस्नेहमयत्वं वात्सल्यप्रेम्णोऽसाधारणं लक्षणं मोहनत्वेन मायासाधर्म्यान्मायामिति ॥२५॥

इति श्रीविष्ण्वादेशानुवादप्रकारेण ॥ २६ ॥ वसुदेवगृहे जन्म वक्ष्यंस्तदुपयोगिनीं कथामाह—शूर इति। विषयान् देशान् ॥ २७ ॥ नित्यं सन्निहित इत्यनेन स्वयं भगवान् परिपूर्णः श्रीकृष्णस्तत्र स्वधामनि सदा वर्त्तमान एवाविर्भूय प्रपञ्चगोचरी भवति न तु कुतश्चिद्वैकुण्ठादिभ्य आगत्यावतरतीति व्यञ्जितम्। किञ्च तदाविर्भावसमये वैकुण्ठश्वेतद्वीपादिभ्यस्तदंशा आगत्य तत्र मिलितीभवन्ति लीलान्त त एव पुनस्तत्र तत्र यान्तीति तेषामेव वैकुण्ठादिभ्योऽवतरणं वैकुण्ठाद्यारोहण चेति प्रसिद्धिर्ज्ञेया "परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोपि जातो भगवान् यथाऽग्निः" इत्यादिषु तृतीये तथा व्याख्यानात् ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

विष्णोरनन्तशक्तेः शक्तिरूपा माया देवकीगर्भसङ्कर्षणादिकार्यार्थे यशोदायां सम्भविष्यति अत्रापि मायाशब्देन योगमाया ज्ञेया अग्रे क्वचिच्च "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" इति श्रुतेः प्रकृतिः क्वचित् "माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वकोशाद्दम्भवञ्चनाद्य-परपर्याया क्वचिच्च "माया च वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टुपाठात् ज्ञानसङ्कल्पादिरूपा ॥ २५-२६ ॥ श्रीदेवक्यां भगवदव-ताररहस्यं निरूपयितुं तावत्तद्विवाहोत्सवमाह शूरसेन इति। विषयान् देशान् ॥२७॥ यत्र यस्यामुपासकजनानुग्रहार्थं नित्यं संनिहितः अत एव ध्रुवं प्रति श्रीनारदेनोक्तम्—

तत्तात! गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि। पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः ॥ इति ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं ससामग्रीकस्य गमने सर्वमुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **विष्णो**रिति। यो हि विष्णुर्मायोद्घाटनेनावतरिष्यति सा तदंशभूता **माया** कार्यार्थे भविष्यति। सापि **भगवती** षड्गुणैश्वर्ययुक्ता भगवत्प्रसादात्। अतस्तस्याः स्वस्थानत्यागेन गमनेपि न दोषः। अत्रापि स्थास्यति कार्यमपि करिष्यतीति। सर्वमुक्त्यभावश्च तत एव भविष्यतीत्याह **यया सम्मोहितं जगदि**ति। कदाचित् तस्या अनागमनशङ्कां व्यावर्तयति **आदिष्टा प्रभुणे**ति। अनेन यत्र सर्वव्यामोहिका भगवदाज्ञयावतीर्णा तत्र के भवन्त इति गर्वा-भावोपि ज्ञापितः। **कार्य** यशोदायाः स्तन्यं सङ्कर्षणं कंसादिव्यामोहो वसुदेवादिमोचनमिति ॥ २५ ॥ एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा **ब्रह्मा ततो निर्गत** इत्याह **इत्यादिश्ये**ति। अनेकविधा देवाः ते च स्वस्वमुख्याज्ञाकारिणः अत एव सर्वानेव गणपतीनाज्ञापितवानित्याह **अमरगणा**निति। तर्हि ब्रह्मणः कथं नावतार इत्याशङ्क्याह **प्रजापतिपति**रिति। प्रजापतीनां स नियन्ता। अन्यथा सृष्टिर्न स्यादित्यर्थः। ननु साक्षाद्भगवता नोक्तमिति देवा न करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह **विभु**रिति। ब्रह्मा स्वत एव समर्थो देवानाज्ञापयितुम्। अनेनैव वृत्तान्तेन भूमिः कृतार्था जाता तथापि **गोर्भिरपि महीमाश्वास्य स्वधाम** सत्यलोकाख्यं **ययौ** गोर्भिरिति भूमेः प्रशंसा-वाक्यानि बहून्युक्तानीति ज्ञायते। भूमौ भगवदागमनं **पूर्वं न** सम्भावितमधुना जातमिति तद्भाग्याभिनन्दनं युक्तमिति ॥ २६ ॥ **एवं भूमेः** सान्त्वनमुक्त्वा देवक्याः सान्त्वनं वक्तुं तस्याः प्रथमं दुःखप्रापणोपायमाह **शूरसेन** इति दशभिः। सहस्रार्जुनस्य पुत्राणां मध्ये ये पञ्चोर्वरितास्तेषां द्वितीयः शूरसेनः। यादवानां राज्यं ययातिना निवारितम्। ततः पुष्ट्यैव राज्यम्। यो महान् भगवदंशो भवति स राजेति। तत्र सहस्रार्जुनो भगवदंशः पुष्ट्या राजा बभूव। स जीवन्नेव **शूरसेनाय** मण्डलद्वयं दत्तवान् मथुराशूर-सेनात्मकम्। ज्येष्ठस्तु माहिष्मत्यामेव।

सर्वोत्कर्षे तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्वल्पके स्मृतम्। देशतः कालतश्चैव अवस्थातः स्वतोन्यतः ॥ १ ॥
द्रव्यतो मानतश्चेति सप्तैव सुखदाः स्मृताः। तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः ॥ २ ॥
प्रतिक्रियां समारेभे नवभिश्च प्रतिक्रिया ॥ २३ ॥

तत्र प्रथमं देशस्योत्कर्ष उच्यते। पूर्वं शूरसेनः शत्रुघ्ननिर्मितायां मथुरायां तत्रत्यमानन्दमनुभूय निवासं कृतवान्। स च **यदुपतिः**। यादवानां प्रभुः। तन्नाम्ना जातानपि **शूरसेनान् विसृज्य मथुरामेवावसन्** उभयान् देशान् बुभुजे। अनेन यादवानां मथुरा स्वदेश इत्युक्तम् ॥२७॥ **कालभेदेनापि** सा महती जातेत्याह **राजधानी**ति। ततः प्रभृति यावन्तो राजानः कंसपर्यन्तं स्वबलाज्जाताः खण्डमण्डलाधिपतयस्तेषां तत्रात्यन्तं सुखानुभवान्मथुरैव **राजधान्यभूत्। सर्वे च ते यादवभूभुजश्च**। ततः शूरसेनप्रभृति। राजा धीयते प्रीयते यस्यामिति **सा राजधानी**। निधीयते पट्टाभिषिक्तः क्रियत इति वा। अनेन तत्र राज्यलक्ष्म्या नित्यं स्थानमित्युक्तम्। तत्र स्थितानामानन्दे हेतुर्**भगवान् यत्र। नित्यं सन्निहित** इति।

सर्वतत्त्वेषु यो विष्टः स भूमावपि सङ्गतः। स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता ॥ १ ॥
तत्र स्थित्वा द्वयं चक्रे सर्वेषां सकलं हितम्। सर्वदुःखनिवृत्तिं च तत्र चेद्दुःखसम्भवाः ॥ २ ॥
प्रतीकाराः सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः। व्यर्था जाताः सर्वथेति ज्ञापनार्थं निरूपितम् ॥ ३ ॥

श्रीरङ्गादिष्वपि नारायणस्य ब्रह्माण्डविग्रहस्य सान्निध्यम्।

देशकालादिमध्यस्थः षडङ्गत्वं य आगतः। सोन्यत्र सर्वदेशेषु शालग्रामादिषु स्थितः ॥ ४ ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

शूरसेनो यदुपतिरित्यत्र—ननु मातृचरणानां दुःखप्रापणोपायमात्रं ह्यत्र वाच्यं तत्तु विवाहं कृत्वा गृहगमनसमये तथाकाशवाण्यभूदित्येतावतैवोक्तं भवतीति **देशकालावस्थादिभिः सर्वोत्कर्षवर्णनं** व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **सर्वोत्कर्षे त्वित्यनेन**। भगवदाविर्भावस्थानमिति यथा वसुदेवजन्मसमय आनका दुन्दुभयश्च नेदुरिति सर्वत्रोत्कर्षो लोके ज्ञातस्तथा क्रिया भर्तृगृह एव पुत्रजन्म भवति तत्र विवाहो निमित्तमिति तं कृत्वा तद्गृहगमनसमये मातुः सर्वोत्कर्षे भगवता सम्पादिते सति यद्दुःखमुपस्थितं **तत्** स्वल्पके निमित्ते शीघ्रमनायासेन भगवता निरसितुं योग्ये सति भवतीति भगवन्मार्गे शास्त्रे निरूपितमित्यत्रापि न काचिच्चिन्तेतिज्ञापनाय तद्वर्णनमित्यर्थः। सुष्ठु अल्पकमतिसूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमितियावत्। तादृशे **निमित्ते** सतीत्यर्थः। **भक्तदुःखं** विना भगवदाविर्भावो न भवतीति तदर्थं तत्कथनमित्यपि तात्पर्यं ज्ञेयम्। **देशतः कालत इत्यादि**। **सप्तैव सुखदा** इत्युक्त एकस्य द्वयोर्वापि सुखदत्वं सम्भवतीति नायं नियम इत्याशङ्क्य निमित्तानां तावद्रूपत्वात्तथेति बोधयितुं तान्येवोक्तानि **देशत** इत्यादिना। अथवा 'सार्वविभक्तिकस्तसिलिति केचि'दितिवाक्यादत्र प्रथमातस्तसिलिति ज्ञेयम्॥ २७॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

विष्णोर्माययेत्यत्र—तदंशभूतेति। तदंशेति। उद्घाटनेन राशिभूतो योंशस्तदात्मिका। इदं च अंशेनेतिपदस्य विवरणम्॥ २५॥ **राजधानीत्यत्र**—तत इति पूर्वावधिबोधकं पदं कालत उत्कर्षसमर्पकं बहुकालमारभ्य **राजधानीत्वाद्**बोध्यम्। ननु श्रीरङ्गादिषु देशान्तरेष्वपि भगवत्सान्निध्यस्योक्तत्वादत्र को विशेष इत्यत आहु**र्देशकालादी**त्यादि। तथा चाङ्गभूतात् प्रधानभूतोधिक इति तेनैव चेन्न सुखं तदाङ्गभूतात् कुतः सुखं भवतीविज्ञापनायेदमुक्तम्। तेन तापनीयोक्ताभ्यो द्वादशमूर्तिभ्योपि न सुखमिति ज्ञापितम्॥ २८॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

विष्णोर्माययेत्यत्र—सा तदंशभूतेति। उद्घाटितो योंशस्तद्भूतेत्यर्थः। तथा च मानुषाकारकस्वरूपप्राकट्यार्थं तदाकारकतावदंशस्योद्घाटनमतः सा तदाकारकतावत्परिमाणकरूपेत्यर्थः। **न दोष इति**। यथा पुरुषोत्तमो भगवत्त्वेन सर्वसामर्थ्यवांस्तथा सापि भगवतीत्वेन सर्वसामर्थ्यवत्यतोत्रापि व्यापिवैकुण्ठेपि स्थास्यति भूमौ कार्यं यशोदास्तन्यादिकं च करिष्यतीतिहेतोरवतरणार्थं भूमौ गमनेपि स्वस्य प्रकटस्वरूपस्य स्थानस्य व्यापिवैकुण्ठस्य त्यागेन प्राप्तः परिच्छिन्नत्वलक्षणो दोषो नेत्यन्वयः॥ २५॥ **इत्यादिश्येत्यत्रापि पूर्वं न जातमिति**। अंशकलावतार एवान्यदा जात इति भावः॥ २६॥ **शूरसेन इत्यस्याभासे**—दुःखेति। ननु दुःखस्याध्यायार्थत्वात् सान्त्वनस्य दुःखाङ्गत्वं युक्तं न तु दुःखस्य सान्त्वनाङ्गत्वं तत् कथमत्र तथोक्तमिति चेदत्रैवं ज्ञेयम्। अध्यायार्थभूतं मातृदुःखमुपसंहारे वक्तव्यं 'देवकीं वसुदेवं चे'त्यनेन। तत्प्रापण उपायोत्रोच्यते। तथा च दुःखस्य न सान्त्वनाङ्गत्वं किन्तूपायस्य। उपायकथनं सान्त्वनकथनार्थमित्यर्थः। तथा चैतत्सान्त्वनपूर्वकमुपसंहारोक्तं महद्दुःखमवतारहेतुत्वादध्यायार्थस्तादृशदुःखाङ्गत्यवताराङ्गिनिरोधरूपा 'नन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थ' इति सप्तार्थसङ्गतिरिति दुःखप्रापणोपाय आकाशवाणी तस्याः स्वल्पकत्वज्ञापनाय पूर्वं सप्त श्लोकास्तत्कार्यं नवमे दशमे सान्त्वनारम्भः। एवं सान्त्वनविशिष्टो भगवन्निरस्यः सकार्य आकाशवाणीरूप उपायो दशश्लोकानां महावाक्यार्थः।

अवान्तरवाक्यार्थानाहु**र्देशत इति**। **सर्वोत्कर्ष इत्यस्य टिप्पण्यां भक्तदुःखमिति**। सर्वोत्कृष्टस्य स्वल्पायमानेपि महद्दुःखकथनार्थमपि सर्वोत्कर्षवर्णनमित्यर्थः। **अवस्थातः स्वतश्चेत्येकेन द्रव्यकृतो द्वाभ्यामितिविभागः**॥२७॥ **राजधानीत्यत्र**—व्यापकत्वात् सर्वत्रास्ति तस्य मथुरायां विशेषं विवृण्वन्ति **सर्वतत्त्वेष्विति**। 'त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशदि'तिवाक्याद्भूमावपि भगवानाविष्टः। स तु क्वचिदेव देशे तिष्ठति देहाविष्टजीववत्। तथा च कारणरूपेण सर्वत्र स्थितावप्यनुप्रविष्टरूपेण मथुरायामेव तिष्ठतीत्यर्थः। अस्या भूमेः पञ्चीकृतत्वेपि तस्या भूमेरुपादानत्वात् तद्द्वारात्राप्यावेशः। यद्यपि जलादिकमप्युपादानं तथापि भूम्यंशस्याधिकत्वात्तदाविष्टस्यैव स्थितिरुक्तेतिभावः। **भगवान् हरिरितिपदद्वयस्यार्थमाहुर्द्वयं चक्र इति**। **दुःखसम्भव इति**। **दुःखस्य** सम्भवो यस्मात्तादृशो भगवत्तिरोभावो नित्यसन्निधिदेशेपि चेज्जात इत्यर्थः। **निरूपितमिति**। सान्निध्यमितिशेषः। **प्रसङ्गात्तीर्थान्तर**सान्निध्यमपि विवृण्वन्ति **श्रीरङ्गादिष्विति**। **ब्रह्माण्डं विग्रहो यस्य**। पूर्वमचेतने ब्रह्माण्ड आविष्टस्येत्यर्थः। तर्हि देशान्तरे भगवत्पूजादिकं न स्यादित्याशङ्क्य तदपि व्यवस्थापयति **देशेति**। तीर्थादन्यदेशेषु 'देशः कालः पृथग्द्रव्यमि'तिवाक्याद्दे**शादिषडङ्गरूपो यो भगवान् स शालग्रामादिषु स्थितः**। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' तिरोभावरहितो नित्यसन्निहित इत्यर्थः। मूर्तौ विसर्जनविकल्पादाविर्भावतिरोभाववानिति **शालग्रामेत्युक्तम्**। आदिपदेनैकादश्यादिकाले तुलस्यादिद्रव्ये शमादिगुणवति **कर्तरि गोपालादिमन्त्रे पूजादिकर्मणि तत्तद्रूपो भगवान् स्थित** इत्युक्तम्॥ २८॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

प्रजापतिपतिरित्यस्य व्याख्याने—**प्रजापतीनां स नियन्तेत्यादि**। सर्वे देवा भगवत्सेवका भगवदाज्ञयावतीर्णा इति ब्रह्मणोपि भगवत्सेवकत्वात् तस्य कथं नावतार इत्याशङ्क्य प्रजापतिरित्युक्तं मूले। तथा च प्रजापतीनां सर्वेषां नियमनेन तद्द्वारा सृष्टिकारणार्थं ब्रह्मणोऽवताराभावो युक्त इति भगवता नावतारित इति ज्ञेयम्। अन्यथा भगवदाज्ञाया अनुल्लङ्घ्यत्वाद्ब्रह्माप्यवतरेत्। तथा सति प्रजानां स्वच्छन्दतापत्त्या सृष्टिकार्यं न चलेदितिभावः॥ २६॥ **सर्वतत्त्वेषु यो विष्ट** इति। अत्रेदं विचार्यते मथुरायां 'नित्यं सन्निहितो हरि'रितिवाक्याद्भगवत्सन्निधानमस्ति तत् केन रूपेणेत्याकाङ्क्षायां सान्निध्यकृत्स्वरूपं विवृण्वन्ति **सर्वतत्त्वेष्वि**-त्यादिना। तत् सृष्ट्यारम्भे 'तदेवानुप्राविशत्' 'त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशदि'त्यादिश्रुतिपुराणवाक्येभ्यः सर्वतत्त्वेषु भगवानाविष्ट इति तन्मध्यपातिन्यां भुव्यपि प्रविष्टः। स चान्तर्यामी। अतोन्तर्यामी यथा देहे प्रविष्टोपि 'गुहां प्रविष्टा'वितिश्रुतेर्देहैक-देशेन्तःकरणेऽभिव्यक्तो भवति तथा सर्वत्र भुवि तिष्ठन्नपि भूम्येकदेशे मथुरायामेवाभिव्यक्तो 'नित्यं सन्निहितो हरि'रितिवाक्या-दितिभावः॥ २८॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

शूरसेनो यदुपतिरित्यत्र—सर्वोत्कर्षे त्वित्यादि। **सर्वोत्कर्षे तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्वल्पके स्मृतम्। देशकालावस्था-दिभिर्भगवता मातुः सर्वोत्कर्षे सम्पादिते दुःखमुपस्थितं तत स्वल्पके** निमित्ते शीघ्रमनायासेन भगवता निरसितुं योग्ये सति भवतीति भगवन्मार्गे शास्त्रे निरूपितमित्यत्रापि न काचिच्चिन्तेतिभावः। एतदेव ज्ञापयितुं **देशकालावस्था**दिभिर्मातुरुत्कर्षः सम्पादित इत्यर्थः। अथवा **सर्वोत्कृष्टस्य स्वल्पकेप्यपमाने** महद्दुःखं भवतीति महादुःखकथनार्थमपि सर्वोत्कर्षवर्णनमित्यर्थः। एतदेवोक्तं **टिप्पण्यां भक्तदुःखं विनेत्यादिना। तददेशत** इत्यादि। **देशतः कालतश्चैवे**त्यादि। 'शूरसेनो यदुपति'रित्यनेन देशोत्कर्षः। 'राजधानी'तिश्लोकेन कालोत्कर्षः। 'तस्यां तु कर्हिचि'दित्यर्धेनावस्थोत्कर्षः। 'देवक्या सूर्यये'तिद्वितीयार्धेन स्वत उत्कर्ष उक्तः। 'उग्रसेनसुतः कंस' इत्यनेनान्यत उत्कर्षः। 'चतुःशतं पारिबर्ह'मित्यादिश्लोकद्वयेन द्रव्योत्कर्षः। 'शङ्खतूर्यै'तिश्लोकेन ज्ञानोत्कर्षः। **तथाभूतेति। तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः। प्रतिक्रियां समारेभे नवभिश्च प्रतिक्रिया।** तथाभूता भगवता **देशकालाद्युत्कर्षं** प्रापिता देवकी **शब्दवशादा**काशवाणीवशाद् **दुःखं प्राप्ता तदा पति**र्वसुदेवः **प्रतिक्रियां समारेभे**। सा च प्रति-**क्रिया** 'श्लाघनीयगुणः शूरै'रित्यादिभिर्नवभिः श्लोकैः॥ २७॥ **राजधानी ततः** साभूदित्यत्र—**सर्वतत्त्वेष्विति। सर्वतत्त्वेषु यो विष्ट** इत्यादि। 'त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशदि'तिवाक्यात् **स भूमावपि सङ्गतः। स नित्य क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृतेति**। हृदयदेशे देहाविष्टजीववत्। तथा च कारणरूपेण सर्वत्र तथाप्यनुप्रवेशरूपेण मथुरायामेव तिष्ठतीत्यर्थः। **तत्र स्थित्वा द्वयं चक्र इति। प्रतीकाराः सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः। व्यर्था जाताः सर्वथेतिज्ञापनार्थं निरूपितम्। मथुरा भगवान् यत्रे**त्यत्रोक्तस्य भगवानितिहरिरितिपदद्वयस्यार्थमाह**द्वयं चक्र** इति। तत्र नित्यं भगवत्सान्निध्यवत्यां मथुरायामपि दुःख-**सम्भवश्चेत् तदा सर्व एव प्रतीकारा व्यर्था इतिज्ञापनार्थं निरूपितम्**। सान्निध्यमितिशेषः। वक्ष्यन्ति च 'तस्यां तु कर्हिचिच्छौरि'-रित्यत्र 'सर्वांनंशान् सर्वतो भगवान् स्वावतारार्थमाचकर्षे'ति। एतट्टिप्पण्यां च 'पूर्वसान्निध्ये सति भक्तदुःखाभावे स्वावतारो न सम्भवतीति तदर्थं तत्सान्निध्यं दूरीकृतवानग्रे च तत्प्रयोजनाभावात् स्वस्मिन्नेव लीनं कृतवानित्यर्थ' इति। पुनरत्रैव चाग्रे **देशकाले**-त्यादि। **देशकालादिमध्यस्थः षडङ्गत्वं य आगतः सोन्यत्र सर्वदेशेषु शालग्रामादिषु स्थितः**। एतेन प्रसङ्गाद्देशकालद्रव्यकर्तृ-मन्त्रकर्मरूपेषु **षट्सु** धर्माङ्गेषु भगवत्सान्निध्यं विवृतम्। **यो देशकालादिमध्यस्थः षडङ्गत्वं** प्राप्तः **स भगवानन्यत्र** तीर्थादन्यत्रापि **शालग्रामादिषु स्थितः**। नित्यं सन्निहित इत्यर्थः॥ २८॥

श्रीबुभुत्सुबोधिका

विष्णोर्मायेत्यत्र सर्वमुक्तिरिति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'तिश्रुतेः। सार्वभौमत्वादितिभावः। सा तदंशेति उद्घाटनमस्या **अतो मायातदाकारकतावत्परिमाणकरूपेत्यर्थः**। इदं च अंशेनेत्यस्य विवरणम्। यो हि विष्णुरिति सर्वत्र कृष्णस्याकारकत्वात् **कृष्णस्थले विष्णुशब्दः हरिशब्दश्च**। विष्णौ कृष्णसमानयोगक्षेमत्वाद्धरौ सर्वत्र गीयमानत्वात् योगमात्राद् वा। मायोद्घाटनेनेति **वाक्यमप्यत्र 'निशीथे तम उद्भूत'** इति। विष्णोः सत्त्वरूपा माया तस्या उद्घाटनम्। कृष्णे तु त्रिगुणमायाया इच्छारूपलक्ष्मी-**रूपमायाया वोद्घाटनम्**। षडगुणैश्वर्येति उक्तार्थः षड्गुणैश्वर्यशब्दः। अयं विशेषः। नारदपञ्चरात्रे मायाया इच्छारूपलक्ष्मीरूपत्व-**मुक्तम्**। 'न यत्र माये'तिवाक्यात्, 'नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ते'ति निबन्धाच्च। तस्यै षड्गुणैश्वर्यं कालिन्दीवत् भगवता दत्तम्। अतः षड्गुणा **लक्ष्म्यंशस्त्रीषु** सन्तु यथा कात्यायन्याम्। 'स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यत' इति वाक्यात् भगवल्लक्षणायां सरस्वत्याम्। तत्र भगवतीत्वं **षडगुणैश्वर्यं** विना न गच्छति। घटे पटत्ववत् ऐश्वर्यं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यं यतः। तद् भगवदीयं सम्भवति। यत्र त्वात्म-**सृष्टिः** 'कदाचिन् मायया ऽभव'दित्युक्ता मायिकसृष्टिः, तत्र मायिकसृष्टौ मायायाः षड् गुणाः सन्ति, अस्मादेव वाक्यात्। अत एव **माया भगवतीतिप्रयोगः**। तत्रैश्वर्याभावे तिरोहितषड्गुणे जीवे अहं भगवानितिप्रयोगे भगवत्त्वाध्यासो न सम्भवति। मायिक-

षड्गुणैश्वर्याभावात्। अत उक्तं षड्गुणैश्वर्ययुक्तेति। समवेतसमवायेन। द्रव्यत्वपक्षे युक्ता संयुक्ता। परम्परया। इयं कात्यायनी। 'गच्छ देवि व्रजं भद्रे' इति वाक्यात्। तदाहुः भगवत्प्रसादादिति प्रसादरूपा सा शक्तिर्भवतीति साधनप्रकरणसुबोधिन्याम् अतो नाखण्डाद्वैतविरोधः। अत इति प्रसादरूपशक्तित्वात्। स्वस्थानेति स्वस्थानं वैकुण्ठाख्यम्। न दोष इति अवतार्यवतारविनियोगाभावो दोषः परिच्छिन्नत्वेन प्राप्तः स नेत्यर्थः। स्वस्याः व्यापकत्वेप्युत्क्रान्तिगत्यागतीनां सम्भवान्न व्यापकत्वजदोषः। अत्रापीति भूमावपि बोध्यम्। अपिना वैकुण्ठे। कार्यं वक्ष्यमाणम्। इदमत्र ज्ञेयम्। 'विष्णुर्नाम महायोगी महामायो महातपा' इति योगतत्त्वोपनिषच्छ्रुतौ विष्णुमायोक्ता। सा यद्यपि वैकुण्ठे नास्ति 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति वाक्यात् तथापि विष्णुसम्बन्धिनी माया वागगोचरे कृष्णेपि मायां बोधयति, सा गुणरूपमायाबाधात् प्रसादरूपा शक्तिरूपा मायेति मायेन्द्रियाणीतिसम्प्रदाये निबन्धमते। नृसिंहतापिनीये द्वैते भेदभानर्निर्वाहाय माया निरूपिता। भवन्त इति देवाः। वसुदेवादीति वसुदेवसत्त्वांशे मायाव्यामोहं विना कंस एवमपराधिनौ न मोचयेत्। 'यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमं तत् सुखं सात्त्विक'मिति वाक्यात्॥ २५॥

इत्यादिश्येत्यत्र तत इति क्षीरपयोनिधिरिति। गणबहुवचनशब्दार्थमाहुः अनेकेति। प्रजापतीनामिति दक्षादीनाम्। अन्यथेति तथा च सृष्टौ नियुक्तस्तदतिरिक्तं जन्म न प्राप्नोतीत्यर्थः। पूर्वमिति अस्मात् पुष्ट्यवतारात् पूर्वं न सम्भावितम्। मर्यादांशकलावतारा एवान्यदा जाता इति। आतमिति सन्तापात्मकस्य शरणमार्गात्मकस्यान्तर्यामिणो ध्याने पुंसश्च साधनत्वं पृथिव्याम्। द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'तपो मे हृदय'मिति वाक्यात्, 'ब्रह्माणं शरणं यया'विति वाक्यात्, 'उपस्थितान्तिके तस्मा' इति वाक्यात्, 'पुरैव पुंसावधृतो धराज्वर' इति वाक्याच्च। तद्भाग्येति भूमिभाग्याभिनन्दनम्॥ २६॥

शूरसेन इत्यत्र दुःखज्ञापकेति। 'भूमिर्माता तथा चान्य' इत्युक्तेषु भूमेः शामनमुक्तं, मातुः सान्त्वने मातृदुःखमङ्गं, तथा सति सान्त्वनमध्यायार्थो भवेत्, न तु भक्तदुःखं हेतुरध्यायार्थः। अध्यायार्थसङ्गत्यर्थं तस्याः दुःखप्रापण उपाय उत्कर्षे सत्युपायस्तमाह। उत्कर्ष उच्यत इति सुबोधिन्या अवान्तरवाक्यार्थत्वेनोत्कर्षे सत्युपाय आकाशवाणीव्यक्तवचनरूपोत्र व्यापृतकंसव्यापारकः तस्याः स्वल्पकत्वज्ञापनाय पूर्वं सप्त श्लोकाः, अष्टमे आकाशवाण्या व्यक्तवचनं, तत्कार्यं नवमे भगिनीहननारम्भः, दशमे सान्त्वनारम्भः, एवं सान्त्वनविशिष्टो भगवान्निरस्यः सकार्य आकाशवाण्याऽव्यक्तवचनरूप उपायो दशश्लोकानां महावाक्यार्थ उक्तः। अत्र शूरसेनपदपुरःसरं कथने बीजं भक्तस्य धैर्यमुक्तम्। शूरस्य शूराः सेनायां भवन्ति। शूरो धैर्येधिकारी, विवेकधैर्याश्रये ग्रन्थे धैर्ये शूरस्याधिकारोक्तेः। 'अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावना'दित्यनेन। सहस्रार्जुनस्येत्यादि नवमस्कन्धे प्रसिद्धम्। त्रयोविंशे ध्याये। 'अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः। न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः। यज्ञदानतपोहोमश्रुतवीर्यजपादिभिः। पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः। अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यं षड्वसु। तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवोर्वरिता मृधे। जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जित' इति। यादवानामिति 'ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासन' इति दशमे वाक्यात्। यदुर्हि ज्येष्ठ एवासीत् स चेत् पित्रा निवारितः। ततः प्रभृति न मर्यादाराज्यम्। अर्जुनादयस्तु पुष्ट्या सार्वभौमा जाताः। अत एव हताः, कंसोपि। अत उक्तं ततः पुष्ट्यैवेति। यो महानिति यथार्जुनः। पुष्ट्येति भद्रसेनकस्य द्वौ पुत्रौ दुर्मदधनकौ, तत्र धनकस्य कनिष्ठस्य चत्वारः पुत्राः, कृतवीर्यः कृताग्निः कृतवर्मा कृतौजाः। तत्र वीर्यज्यार्जुन इति पुष्ट्या धनकस्य कनिष्ठत्वात्। ज्येष्ठ इति जयध्वजः। माहिष्मत्यामेवेति नवमस्कन्धे पञ्चदशेध्याये 'विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतः सरिज्जलैः। नामृष्यत् तस्य तद् वीर्यं वीरमानी दशाननः गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः माहिष्मत्यां सन्निरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथे'ति रावणो दिग्विजये माहिष्मत्याः समीपे नर्मदायां देवपूजां कुर्वन् तेन प्रवाहस्यावरोधात् प्रतिस्रोतसः तस्याः तस्याः सरितो जलैः विप्लावितं स्वशिबिरमालक्ष्यार्जुनवीर्यं न सेहे। ततश्च कृतकिल्बिषः क्रीडन्तमर्जुनमभिभवितुं प्रवृत्तः दशाननोर्जुनेन गृहीतः माहिष्मत्यां स्वपुर्यां कपिरिव सन्निरुद्धश्च, पुनश्चावज्ञया येन मुक्त इत्यर्थः। तस्यार्जुनस्य ज्येष्ठपुत्रो जयध्वजः सोपि माहिष्मत्यामेव ज्येष्ठत्वादेवकारः। लोके चोलीमहेश्वर इति पुरीनामेति चोलीग्रामः पृथक् महेश्वरः पृथक् इति द्रष्टव्यम्। माहिष्मती पुरी तस्याम्। सर्वोत्कर्षे त्वित्यादि कारिकार्थस्तु टिप्पण्यां द्रष्टव्यः। टिप्पण्यां तथाकाशवाणीति सर्वोत्कर्षे सति आकाशवाणी व्यक्तवचनयुक्ता बोध्या। भगवदाविर्भावेति श्रीदेवकीति बोध्यम्। यद्दुःखमिति यत् प्रसिद्धम्। स्वल्पक इति सर्वोत्कर्षे सति आकाशवाणीव्यक्तवचनरूपे निमित्ते कारणे सति विरुद्धधर्माश्रयत्वात्। शीघ्रमिति विशुद्धसत्त्वे प्रवेशमन्तरापि। भगवन्मार्ग इति श्रीभागवते। स्कन्दपुराणे श्रीभागवतमाहात्म्ये चतुर्थेध्याये 'यथा कथञ्चित् कर्तव्यं सेवनं भगवन्मत'मिति वाक्यात्। सेव्यतेनेनेति सेवनम्, करणे ल्युट्। शास्त्र इति द्वादशस्कन्धे 'पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान् उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात्' इति शास्त्रे। 'भयं' दुःखम्। भक्तदुःखमित्यादितात्पर्यार्थे भक्तदुःखं तपः। भगवन्मार्गः भगवदाज्ञया यत्राऽऽस्थीयते सः द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्तः। तत्र तपसा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भदर्शनम्। शास्त्रं नारदपञ्चरात्रम्। तत्रेन्द्रस्य तपसा लक्ष्मीदर्शनम्। तयोर्निरूपितमिति टिप्पण्यामर्थः। स्मृतमिति 'स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा। 'अजोपि जात' इति स्मृतम्। तदुक्तं 'भूमिर्दृप्तनृपे'त्यत्र 'सर्वेषां च महद्दुःखं यान्येन विनिवार्यते। यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थिति'रिति।

अतोऽल्पकं दुःखं वसुदेवेन निवार्यं न दुःखं महदिति नैतावता भगवदाविर्भाव इति भावः। अन्यथा विशुद्धसत्त्वात्मको वसुदेवः कथं भगवत्प्रादुर्भावप्रतिबन्धिकां प्रतिक्रियां समारभेत। देवकी ब्रह्मविद्या, तस्याः सुखदाः सप्तैव। 'रुद्रो रुद्रश्च दन्तिश्च नन्दिः षण्मुख एव च। गरुडो ब्रह्म विष्णुश्च नारसिंहस्तथैव च। आदित्योऽग्निश्च दुर्गाश्च क्रमेण द्वादशाम्भसी'त्युक्ता द्वादश। अम्भसि जले प्रतिपाद्या अर्थाः, अभिशब्दे इति धातोरम्भःशब्दः तदा ते गौणाः अर्थाः सप्तैव मुख्याः तानवान्तरवाक्यार्थानाहुः देशत इत्यादि। सुबोधिन्याम्। सप्तैव सुखदा इति पुरुषोत्तमजन्मप्रकरणात् पुरुषोत्तमयोगाध्यायोक्ताः सप्तैव सुखदाः अत्रैव भागवते गीताविस्तारे स्मृता ग्राह्याः। सङ्क्षेपे। प्रपञ्चे तु 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे'ति स्मृत्योच्यन्त इति स्मृताः शेषिकोण्। एवकारः द्वादशयोगं व्यवच्छिनत्ति। तत्र त्रिवृत्करणं जीवेषु। पुरुषोत्तमे तु भूम्यादिदेवताः। भूमिः शरीरम्, आपो लीलाः सर्गरूपाः अनलः आत्मा, वायुः प्राणः, खं शब्दः षोडशरूपः, मनः मनसो मनः, बुद्धिर्ब्रह्म आनन्दः। अहङ्कारः सप्तसमष्टिः। अहङ्कारेण सप्तानां व्यतिहारात्। यथाहं स्थूल इति भूमिधर्मव्यतिहार आत्मनि अहङ्कारेण। अहं प्राण इति प्राणधर्मदेहधारणाध्यास आत्मनि अहङ्कारकृतः। अहंशब्द इति शब्दाध्यासः शब्दसृष्ट्यभावकालेऽहङ्कारकृतः। अहं पश्यामि शृणोमि जिघ्रामि रसामीत्यादयोऽध्यासा अहङ्कारेण। अहं अप्रमेयं पश्यामीत्यप्रमेयज्ञानाश्रयत्वाध्यासो मनोधर्माध्यास आत्मनि अहङ्कारकृतः। 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति बृहदारण्यकात्। अहं पदार्थान् जानामीति बुद्ध्यध्यासः। बुद्धिमानयं पदार्थान् जानातीति प्रत्ययात् पदार्थज्ञानं बुद्धिधर्म इति। अत्रावस्थातः स्वतश्चेत्येकेन श्लोकेनोत्कर्षः। द्रव्यकृतो द्वाभ्यामिति विभागः। तथाभूतादिति तकारागमः। तथाभूता सुखदैः सुखिनीभूता ब्रह्मविद्या देवकी। तथाभूता इति पाठे सुखदत्वेन भूता जाताः सप्तैवेत्यन्वयः। ननु दुःखप्रतिक्रिया सङ्कर्षणकार्यं कुतः पतिः प्रतिक्रियां समारेभ इति। तत्राहुः तदा पतिरिति। भगवदवतारहेतौ स्वल्पकभक्तदुःखकाले पतिर्वसुदेवो देवात्मा स्वप्रतिपाद्यज्ञानजनकः कंसबोधनप्रकारेण ब्रह्मविद्यायां देवक्यां श्रवणद्वारा ज्ञानप्रवेशार्थं प्रतिक्रियां समारेभ इत्यर्थः। नवभिरिति दशमे तु सान्त्वनारम्भ इति प्रतिक्रियातः पदार्थान्तरारम्भः। आरम्भः प्रतिक्रियायां प्रथमप्रवृत्तिः। चकारात् 'श्लाघनीयगुण' इत्यादिनवभिः प्रतिक्रिया कृता भवति। चकारोऽनुक्तसमुच्चये। तस्येति सर्वस्य सम्बन्धिनः। सम्बन्धो अंशांशिभावः। पूर्वमिति शूरसेनदेशनिवासात् पूर्वम्। शत्रुघ्नेति तदुक्तं नवमे 'शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसं हत्वा मधुवने चक्रे मथुरा नाम वै पुरी'मिति। आर्थिकमाहुः तत्रत्यमिति स चेति शूरसेनाश्च। स्वनाम्ना जातदेशावासे हेतुमाहुः अनेनेति। मथुरावासकथनेन हेतुना। अत्र महावाक्यार्थेऽध्यायार्थसङ्गमने आकाशवाणीव्यक्तवचनं न भगवदवतारे हेतुरतोऽव्याप्तिः, तन्निवारणाय 'तत्प्रयोजको हेतुश्चे'ति सूत्रेण भगवदवतारे भक्तदुःखरूपहेतुप्रयोजकस्याकाशवाणीव्यक्तवचनस्य हेतुसञ्ज्ञत्वान्नाव्याप्तिरतोऽहेतुरुपाध्यार्थ इति बोध्यम्॥ २७॥

राजधानीत्यत्र कालभेदेनापीति अयं तत इति पूर्वावधिबोधकं पदं कालत उत्कर्षसमर्पकम्। क्रमस्तच्छब्दार्थः। देशभोगानन्तरम्। देशभोगः कालसाध्य इति कालभेदः। आर्थिकः। 'आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामी'ति प्रथमस्कन्धकारिकायाः। अपिना विषयभोगः। विषयभोगो महानिति महती जाता। भेदो विशेषः कालविशेषेण। 'भेदो द्वैधे विशेषे स्या'दिति विश्वः। ततः प्रभृतीति शूरसेनादारभ्य। पूर्वोक्त एव वा तच्छब्दार्थः। यावन्त इति अर्जुनस्य पञ्च पुत्रा उर्वरिताः जयध्वजशूरसेनवृषभमधूर्जिताः, तत्र 'जयध्वजात् तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्। क्षत्रं यत् तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोपसंहृतं तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्र' इति प्रथमपुत्रवंश उपसंहृतः। तदनु शूरसेनो मथुरायां कनिष्ठः। तद्भ्राता वृषभः तद्भ्राता मधुः तद्वंशः। 'वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः, तस्य पुत्रशतं त्वासीद् वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलं माधवा वृष्णयो राजन् यादवाश्चेति सञ्ज्ञिताः'। तत्र माधवा वृष्णयश्च स्पष्टाः। यादवानाह यदुपुत्रेषु 'यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुता' इति पद्यार्धोक्तेषु 'यदुपुत्रस्य च क्रोष्टुः पुत्रो वृजिनवांस्ततः स्वातिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः शतबिन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभू'दित्याद्युक्त्वा 'कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहुस्तथा राष्ट्रपालोथ सृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनय' इत्येतावन्तो राजानः कंसपर्यन्तम्। स्वबलादिति कनिष्ठभ्रातृपुत्रत्वात् तथा। खण्डमण्डलेति माथुरशूरसेनयोः खण्डमण्डलं मथुरा। मथुरैवेति एवकारः शूरसेनदेशयोगं व्यवच्छिनत्ति। यादवेति तेन माधवा वृष्णयश्च मथुरायां निवृत्ता इत्युक्तम्। तर्हि मथुरायां शूरसेनाभावप्रसक्त्या 'शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावस'न्नित्यस्य विरोध इत्याशङ्क्याहुः शूरसेनेति। तथा च यदुपतित्वाच्छूरसेनोपि यादवभूभुजामित्यत्रास्तीति। तथा च यादवानां भूभुजः यादवभूभुजस्तेषामिति षष्ठीतत्पुरुषः। न तु सर्वे च ते यादवाश्च ते भूभुजः यादवभूभुज इति कर्मधारयं कृत्वा पुनः सर्वपदेन कर्मधारय इति भावः। प्रीयत इति डुधाञ् धारणपोषणयोः ह्वादिः उ० अ० अत्र पोषणं तर्पणमित्याशयेन लाघवादुक्तम्। प्रीङ् तर्पणे चु० उ० अ० कर्मणि यक्। राजधानीति कारणाधिकरणयोश्चे'तिसूत्रेण अधिकरणे ल्युट्। दधातेर्धारणमर्थमाहुः निधीयत इति। अनेनेति राजधानीपदेन। उक्तमिति व्यञ्जनयोक्तम्। नित्यपदस्वारस्यं कारिकयाहुः सर्वतत्त्वेष्विति। अष्टाविंशतितत्त्वेषु यो विष्ठोन्तर्यामिब्राह्मणेन। भूमावपीति तत्त्वान्तर्गतत्वादिति भावः। क्वचिदेवेति यथा पुंसां हृदि। तद्वन्मथुराहृत्पद्मम्। 'मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुत' इति। अष्टपत्रं विकसितं हृत्पद्मं तत्र संस्थितमिति गोपालतापिनीयात्। 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स' इति श्रुतेरेवकारः। स्मृतेति अत्र स्मृता द्वादशस्कन्धे च। वेदवेदान्तसारत्वाच्छ्रुतेति नोक्तम्। असारत्वापत्तेः। तथा च कारणरूपेणास्तिभातिप्रियत्वेन सर्वत्र स्थितावप्यनुप्रविष्टरूपेण मथुरायामेव तिष्ठति। 'त्रयोविंशति-

तत्त्वानां गणं युगपदाविश'दितिवाक्यात्। अस्याः पृथिव्यास्त्रिवृत्कृतत्वेन तस्या भूमेरुपादानतद्द्वारात्राप्यावेशः। यद्यपि जलादिकस्याप्युपादानं 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः 'तदात्मानं स्वयमकुरुते'तिश्रुतेश्च, तथापि भूम्यंशस्याधिक्यात् तदाविष्टस्यैव स्थितिरुक्तेति भावः। भगवान् हरिरिति पदद्वयस्यार्थमाहुः द्वयं चक्र इति। भगवान् वासुदेवः प्रथमाध्यायेऽर्थे इति मोक्षं चक्रे इति वक्तव्ये भगवतो हरित्वेनोपस्थिते यत् कर्तव्यं तदाहुः सर्वेषामिति। सप्तमस्कन्धे 'समः सुहृद् ब्रह्मे'त्युक्तेः तथा। 'हरिर्हरति पापानी'ति पापहरणैकदेशः सकलं हितं चक्रे। हरिस्तु सर्वदुःखनिवृत्तिं चक्रे, व्युत्पत्तेः। सर्वे एवेति अन्येपि देवकेयाः प्रतिकर्तार इति भावः। सन्मानबाहुल्यादेवकारः। मर्यादेति वसुदेवो मर्यादास्थापकः। वेदत्वात्। 'निगमो वसुदेवोऽभूदिति'श्रुतेः। 'वेदस्य विद्यमानत्वान् मर्यादापि व्यवस्थितेति पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थवाक्यात्। सर्वथेति सर्वे प्रकारा अन्येषामपि वसुदेववत् प्रतीकारकाणां सत्त्वात्। राजत्वादतो न्यूनपूरणम्। निरूपितमिति सान्निध्यं निरूपितम्। क्लान्तं क्लीब-मितिपक्षे दुःखसम्भवो निरूपितम्। प्रथमपक्षे दुःखस्य सम्भवो यस्मात् तादृशो भगवत्तिरोभावो नित्यसन्निधिदेशेपि चेज्जात इत्यर्थः। द्वितीये तु भगवदवतारो भवत्विति ज्ञापनार्थं दुःखसम्भवो निरूपितमित्यर्थः। प्रसङ्गाद् भक्तिदशायां अर्थान्तरसान्निध्यमपि विवृण्वन्ति स्म श्रीरङ्गादिष्वति। आदिना जगन्नाथविट्ठलेशवेङ्कटेशाः। 'जगन्नाथे विट्ठलेशे श्रीरङ्गे वेंकटे तथे'ति निबन्धे बहुष्व-नियम इति द्योतितम्। नारायणस्येति श्रीरङ्गे शालग्रामलेप्या मूर्तिः। शालिग्रामास्तु जलेशाया इति नारायणत्वम्। जगन्नाथे दारुविग्रहः। औषधिविद्या। 'अदो यद्दारु प्लवत' इति श्रुतेर्नारायणत्वम्। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मितिवाक्याच्च अवतारः। विट्ठलेशे महाविष्णुः, महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेवेत्याश्रयनारायणत्वम्। वैंकटे वैकुण्ठनाथनारायणसमत्वान्नारायणत्वम्। 'नारायणसमो गुणै'रितिवाक्यात्; सर्वेषु न महतः स्रष्टुः सान्निध्यं किन्त्वण्डसंस्थितस्य महत्स्रष्टृद्वितीयरूपस्येत्याहुः ब्रह्माण्डेति। ननु भक्तिमतां सत्त्वात् कुतो न महतः स्रष्टुः सान्निध्यमत आहुः देशकालेति। देशकालद्रव्यमध्यस्थो नित्यः सन् षडङ्गत्वं यज्ञत्वं य आगतः। किञ्च षडङ्गत्वं षड्भावविकारत्वं यो ब्रह्माण्डरूप्यागतः देशकालादिः तन्मध्यस्थ इत्येकदेशान्वयः। अन्यत्रेति मथुराया हृत्पद्मस्थानभूतायाः अन्यत्र पृथ्वीदेहेवान्तरदेशेषु ये शालग्रामादयस्तेषु स्थितः सान्निध्यं करोतीत्यर्थः। तेन देशकालमध्यस्थत्वान् न महतः स्रष्टेतिभावः। तथा चाङ्गभूतात् प्रधानभूतोऽधिक इति तेनैव चेन्न सुखं तदा अङ्गभूतात् कुतः सुखं भवतीत्यपि ज्ञापनायेद-मुक्तम्। तेन तापिनीयोक्ताभ्यो द्वादशमूर्तिभ्यो न सुखमिति ज्ञापितम्। मथुराकर्णिकास्थानापन्नद्वादशवनस्थत्वात्। किञ्च तर्हि देशान्तरे भगवत्पूजादिकं न स्यादित्याशङ्क्य तदपि व्यवस्थापयन्ति स्म देशेति। तीर्थेभ्योन्यदेशेषु 'देशः कालः पृथग् द्रव्य'मिति-वाक्यात् देशादिषडङ्गरूपो यो भगवान् 'यज्ञो वै विष्णु'रितिश्रुतेर्विष्णुः स शालग्रामादिषु स्थितः। ष्ठा गतिनिवृत्तौ। तिरोभावरहिते नित्यसन्निहित इत्यर्थः। अस्थिरायां मूर्तौ विसर्जनविकल्पादाविर्भावतिरोभाववान् इति शालग्रामेत्युक्तम्। शालिग्रामशब्दोपि। आदिपदेनोक्तश्लोकोक्तदेशादिषु देश उक्तः। एकादश्यादिकाले, तुलस्यादिद्रव्ये, शामादिगुणवति कर्तरि, गोपालादिमन्त्रे, पूजादिकर्मणि, तत्तद्रूपो भगवान् विष्णुः स्थित इत्युक्तम्॥ २८॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

किं बहुना ? यया सर्वमपि जगन्मोहितं सापि प्रभुणा भगवता आदिष्टा सती स्वांशेन मोहनोच्चाटनादिना कार्यार्थे भगवल्लीलासम्पादनार्थं सम्भविष्यति यशोदायामवतरिष्यतीत्यन्वयः। कार्यं तु देवकीगर्भसङ्कर्षणयशोदामोहनवसुदेवविमोचन-भगवत्प्रेयसीपत्यादिमोहनादिरूपं तत्तल्लीलायां व्यक्तं भविष्यति। तत्संपादने तस्याः कथं सामर्थ्यं तत्राह - भगवतीति। भगवता दत्तैश्वर्यादिषड्गुणयुक्तेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—विष्णोर्मायेति। भगवतो माया लीलासम्पादिकाऽन्तरङ्गा शक्तिरित्यर्थः॥ २५॥ विभुस्तदाज्ञापने समर्थो ब्रह्मा इत्येवममरगणानादिश्य महीं च गीर्भिर्वचोभिराश्वास्य परमं सर्वलोकोत्कृष्टं स्वधाम सत्यलोकं ययौ॥ देवाद्याज्ञापनसामर्थ्ये हेतुमाह—प्रजापतीनां मरीच्यादीनां पतिरिति। भूम्याश्वासनं तु "अहो तव भाग्यम्, भगवत्पादैः सम्भूषिता भविष्यसि शोकं च मा कार्षीः" इति बहुधा बोध्यम्। अतएव बहुवचनम्॥ २६॥ एवं भूमिदुःखं तदाश्वासनं चोक्तम्। देवक्या अपि तद्वक्तुं तत्प्रसङ्गकथामाह—शूरसेन इति। यादवानां पतिः, सहस्रार्जुनपुत्रा ये पञ्चोर्वरितास्तेषां द्वितीयः शूरसेनो मथुरां पुरीमावसन्। माथुरान् तत्सम्बन्धिनः शूरसेनान् स्वेन वासितांश्च विषयान् देशान् बुभुजे। तद्देशैश्वर्यभोगं कृतवानित्यर्थः॥ २७॥ ततो यादवस्य शूरसेनस्य निवासात् शूरसेनप्रभृतिकंसपर्यंता ये यादवेषु भुभुजः खण्डमण्डराजानस्तेषां सा मथुरा राजधानी राजा धीयते पदाभिषिक्तः क्रियते यस्यां सा मुख्यस्थानमभूदित्यन्वयः। अनेन मथुराया राजलक्ष्म्या नित्यं स्थानत्वं सूचितम्। तत्र हेतुमाह—यत्रेति। यत्र मथुरायां हरिर्नित्यं सन्निहितो वर्तते। अनेनैव मथनं मथूभावे क्विप् उद्भवार्थकं उसिध्मादिभ्यश्चेति मत्वर्थीयो लच्प्रत्ययः। मथा उद्भूतं सारमस्यामस्तीति नामनिरुक्तिरपि ज्ञेया। 'मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा॥ तत्सारभूतं यद्यस्यां मथुरा सा निगद्यते' इति गोपालतापिनीश्रुतिवचनात्। एतदर्थस्तु येन ब्रह्मज्ञानेन वाशब्दाद्भक्तियोगेन वा सर्वं जगन्मथ्यते बाध्यते तयोर्ज्ञानभक्त्योः सारभूतं फलं यत्प्रसिद्धं श्रीकृष्णाख्यं, यस्यां नित्यं सन्निहितं भवति सा मथुरा निगद्यत इति। अन्यान्यपि बहूनि मथुरामाहात्म्यप्रतिपादकानि पुराणवचनानि सन्ति, तानि विस्तरभयान्न लिखितानि इति ज्ञेयम्॥ २८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विष्णोरिति । यया जगत् संमोहितं सा भगवती विष्णोर्माया प्रभुणा तेन भगवता आदिष्टा सती अंशेन कलया भगवदिच्छारूपेण वा युक्ता । कार्य्यार्थे देवकीगर्भसंकर्षणयशोदामोहनादिकार्य्यार्थे यशोदायां संभविष्यति ॥ २५ ॥ इतीति । प्रजापतीनां पतिर्विभुः ब्रह्मा इति प्रागुक्तवचनेन अमराणां गणान् आदिश्य महीं गीर्भिः आश्वास्य च परमं स्वस्य धाम मेरुस्थं स्थानं ययौ ॥ २६ ॥ शूरसेन इति ॥ पुरा यदूनां पतिः शूरसेनो नाम राजा मथुरां पुरीम् आवसन् मथुरायां वसन् माथुरान् मथुरामण्डलसम्बन्धिनः शूरसेनाख्यांश्च विषयान् देशान् बुभुजे ॥ २७ ॥ राजधानीति ॥ यस्यां मथुरायां भगवान् हरिः नित्यं सन्निहित एव वर्त्तते । सा मथुरा ततः शूरसेननिवासकालादारभ्य सर्वे यादवाः यदुवंशजाः भूभुजः राजानस्तेषां राजधानी अभूत् । ययातिशापेऽपि शूरसेनादीनां महाप्रभावत्वेन राजत्वम् ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु दाशरथित्वेन भगवतः प्रादुर्भावे लक्ष्मणरूपशेषसाहचर्यमभूदत्र जन्मनि तु वसुदेवगृहे साक्षादित्यनेन केवलस्य तस्य कथं प्रादुर्भावोक्तिरित्याशङ्कापनोदायाह ॥ वासुदेवेति ॥ वासुदेवकला वासुदेवस्यांशभूतः, सहस्राणि वदनानि यस्य सः स्वेन भगवता सहैव राजते इति स्वराट् । अनन्तोऽपारबलादिः, देवः स्वयं शेषः, हरेः प्रियचिकीर्षया भगवतः सहायताविधानेन प्रियं कर्त्तुमिच्छयेत्यर्थः । अग्रतः प्रथमत एव, भविता प्रादुर्भविष्यति ॥ २५ ॥ इदानीं देवक्युदरतस्तद्गर्भं संकृष्य तस्य रोहिण्युदरावस्थापनेन देवकार्यसंपादनार्थं सहायान्तरं वक्ति ॥ विष्णोर्मायेति ॥ भगवानुपास्यत्वेन विद्यतेऽस्या इति भगवती, विष्णोः शक्तिरिति शेषः । यया, जगत् संमोहितं, तथाभूता, माया दुर्गा, प्रभुणा विष्णुना, आदिष्टा कृताज्ञा सती, कार्यार्थे देवकीगर्भसंकर्षणयशोदामोहनादिकार्यार्थे, यशोदायामिति शेषः । अंशेन भगवद्दत्तैश्वर्ययुक्ता सतीत्यर्थः । संभविष्यति । एवं सति रोहिणीतोऽनन्तः प्रागवतीर्य विष्णोः साहाय्यं करिष्यत्येवेति भावः ॥ २६ ॥ इतीति । इत्येवं विभुः, प्रजापतिपतिः प्रजापतीनां दक्षादीनामपि पतिर्ब्रह्मा, अमरगणान् प्रति, आदिश्य, स्वं प्रति भगवता समाधौ यदुक्तं तदमरान् कथयित्वेत्यर्थः । महीं पृथिवीं च, गीर्भिः आश्वास्य सान्त्वयित्वा, परमं श्रेष्ठं, स्वधाम स्वलोकं ययौ ॥ २७ ॥ तदेवमवतारनिमित्तमुपपादितमथावतारप्रकारं पितुर्गेहाद्व्रजगमननिमित्तं च वर्णयितुं तदुपोद्घातरूपमितिहासमाह शूरसेन इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति । शूरसेन इति । पुरा पूर्वकाले, यदूनां पतिः, शूरसेनः देवमीढसुतो राजा, मथुरां पुरीं, आवसन् मथुरायां पुरि निवसन् सन्नित्यर्थः । माथुरान् मथुरासंबन्धिनः, शूरसेनान् शूरसेनसंबन्धिनश्च विषयान् देशान्, बुभुजे । तत्रस्थभोगान् बुभुजे इत्यर्थः । न तु केवलं पालनं चक्रे इति भावः । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदप्रतिषेधात् ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विष्णोरितिः १०.१.२५.

दुर्मायिनोऽरिनिवहस्य पराजयः स्यान्निर्मायिकेन हरिणा कथमित्युदीर्यताम् ।
शङ्कां प्रमार्ष्टुमवदत् स हरिः स्वसारमादिष्टवानुचितकार्यकृते स्वमायाम् ॥ ३४ ॥

शूरसेनेतिः १०.१.२७.

श्रीमन्महाविवाहाभिव्यक्ताविर्भावहेतुकः । प्रक्रान्तो मुनिना युक्तं तद्विवाहकथाक्रमः ॥ ३५ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! प्रजापतियों के स्वामी भगवान् ब्रह्माजी ने देवताओं को इस प्रकार आज्ञा दी और पृथ्वी को समझा-बुझाकर ढाढ़स बँधाया । इसके बाद वे अपने परम धाम को चले गये ॥ २६ ॥ प्राचीन काल में यदुवंशी राजा थे शूरसेन । वे मथुरापुरी में रहकर माथुरमण्डल और शूरसेनमण्डल के राज्य का शासन करते थे ॥ २७ ॥ उसी समय से मथुरा ही समस्त यदुवंशी नरपतियों की राजधानी हो गयी थी । भगवान् श्रीहरि सर्वदा वहाँ विराजमान रहते हैं ॥ २८ ॥

तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः । देवक्या [1]सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥ २९ ॥
उग्रसेनसुतः [2]कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया । रश्मीन् हयानां [3]जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥ ३० ॥
चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम् । अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ॥ ३१ ॥
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलंकृते । दुहित्रे देवकः [4]प्रादाद्याने दुहितृवत्सलः ॥ ३२ ॥

---

१. भार्यया–विज. २. कंसो भगिन्याः–वीर. ३. जगृहे–वीर. विज. ४. याने दुहितृ–श्री. वंशी. जीव. विश्व. यानैर्दुहितृ–वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तस्यां तु कर्हिचित् कृतोद्वहः शौरिः वसुदेवः सूर्यया देवक्या सार्धं प्रयाणे रथम् आरुहत् ॥ २९ ॥ स्वसुः प्रियचिकीर्षया उग्रसेनसुतः कंसः रौक्मैः रथशतैः वृतः हयानां रश्मीन् जग्राह ॥ ३० ॥ दुहितृवत्सलः देवकः दुहित्रे हेममालिनां गजानां चतुःशतम् अश्वानाम् अयुतं सार्धं रथानां त्रिपट्शतं च सुकुमारीणां दासीनां समलंकृते द्वे शते यानैः (सार्धं) पारिबर्हं प्रादात् ॥ ३१-३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सूर्यया नवोढया । प्रयाणे प्रयाणार्थम् ॥ २९ ॥ रश्मीन्प्रग्रहान् ॥ ३० ॥ पारिबर्हमुपस्करम् ॥ ३१-३३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सूर्य्यया "सूर्या स्याद्दौषधीभेदे सूर्यभार्यानवोढयोः" इति धरणिदेवः । तस्यां मथुरायाम् । कृतोद्वहः कृतविवाहः ॥ २९ ॥ रश्मीन्प्रग्रहान् "रश्मिः पुमान् दीधितौ च पक्ष्मप्रग्रहयोरपि" इति मेदिनी । विवाहकाले रथरश्मिग्रहणमत्यंतबंधूनां कार्यमिति दर्शनार्थं रश्मिग्रहणं कृतवानिति व्यज्यते । रौक्मैः सौवर्णैः । 'रुक्मं तु कांचने लोहे' इति मेदिनी ॥ ३० ॥ विवाहकाले दुहित्रे यद्दीयमानं राजयोग्यं धनं तत्पारिबर्हम् । "पारिबर्हो राजयोग्यदेयद्रव्यपरिच्छदे" इति मेदिनी । अयुतं दशसहस्राणि । "अयुतं दशसाहस्रे विविक्ते त्रिपु वैष्णवे" इति धरणिः । त्रयश्च षट् च त्रिषट् तानि शतानि यत्र पारिबर्हं स तथा तम् । यद्वा—त्रिगुणितानि षट् त्रिषट् तानि शतानि यत्रेति वा नवशतान्यष्टादशशतानि वेति ज्ञायते ॥ ३१ ॥ सुकुमारीणां मृद्वीनाम् 'सुकुमारे मृदौ त्रिपु' इति मेदिनी । देवकः कंसपितृव्यः । याने स्वगृहात्कन्यागमने ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्रैव कंसकारागारे श्रीभगवतो जन्म वक्तुं तत्प्रसङ्गमारभते तस्यान्त्वित्यादिना । तु भिन्नोपक्रमे तस्यां मथुरापुर्य्यां कर्हिचित् चिरकाले प्रयाणे विवाहानन्तरं निजगृहे गन्तुम् ॥ २९ ॥ तत्रापि । उग्रसेनस्य सुत इति निकटस्वसृत्वज्ञापनार्थं तच्च पुनरुक्तं निन्दासूचनार्थं जगद्धिंसया कंसनाम्ना प्रसिद्धोऽपि कसि धातोः शातनार्थत्वात्, हयानां रश्मीन् जग्राह स्वयमेव सारथ्यमकरोदित्यर्थः । जगृहे इति कचित्पाठः स्वसुर्देवक्याः भग्न्या इति पाठे स एवार्थः तथा च द्विरूपकोशे "भग्नी च भगिनी चैव" इति तस्याममुष्य महास्नेहः सूचितः । एतदादिकं सर्वं कंसस्य वक्ष्यमाणदुश्चेष्टया ऽत्यन्तखलत्वज्ञापनार्थम् ॥ ३० ॥ किञ्च तादृशमहोत्सवे तादृशं क्रौर्य्यं न किल सम्भवेदिति विवाहोत्सवं त्रिभिर्वर्णयन् आदावुपस्करप्रदानमाह—चतुरिति युग्मकेन । हेम्ना माला माल्यं पङ्क्तिर्वा तद्वताम् एतदग्रेप्यनुवर्त्यं त्रिपट्शतं तत्तत्प्रकारभेदेन समवर्गत्रयात्मकमष्टादशशतमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ सुकुमारीणां नवयौवनानामित्यर्थः । सम्यक् विचित्रोत्तमवस्त्रभूषणादिना यथाविध्यलङ्कृते प्रकर्षेण परमश्रद्धादिना अदात्, याने प्रयाणसमये यानैरिति पाठे शिविकादिभिर्विशिष्टे तान्यारूढे इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कदाचित्तस्यां पुर्यां शौरिः शूरस्य सुतो वसुदेवः कृतविवाहः देवक्या सूर्यया नवोढयो भार्यया सह प्रयाणे स्वगृहं प्रति प्रयाणे निमित्ते रथमारुरोह ॥२९॥ तत उग्रसेनस्य सुतः कंसः भगिन्याः देवक्याः प्रियं कर्तुमिच्छया स्वयं रौक्मैर्हेममयैः रथानां शतैः परिवृतो भगिनीरथवाहानामश्वानां प्रग्रहान् जगृहे ॥ ३० ॥ तदा देवक उग्रसेनस्य भ्राता दुहितृवत्सलः हेतुगर्भमिदं दुहितृवत्सलत्वाद्दुहित्रे देवक्यै पारिबर्हमुपायनं ददौ, पारिबर्हं दर्शयति, हेममालालङ्कृतानां गजानामयुतं तथाविधानामश्वानां सार्द्धमर्द्धेन पञ्चसहस्र्या सहितमयुतं रथानां तु त्रिपट्शतम् अष्टादशशतञ्च यानैर्गमनसाधनैः सह दासीनां सुकुमारीणां समलङ्कृते द्वे शते ॥ ३१-३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ततः किमत्राह—तस्यामिति ॥ २९ ॥ विवाहकाले रथहयानां कर्णिकाग्रहणे अत्यन्तं बन्धुना भाव्यमिति दर्शयितुं तद्ग्राहिणमाह—उग्रसेनसुत इति ॥ ३० ॥ विवाहकाले दुहित्रे यद्दीयमानं धनं तत्पारिबर्हं नाम ॥ ३१-३२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सूर्यया नवोढया प्रयाणे विवाहोत्तरदिवसे निजगृहं प्रयातुम् ॥२९॥ भग्न्य इत्यपि पाठः भग्नीं भगिनीञ्चेति द्विरूपकोशः रश्मीन् प्रग्रहान् ॥ ३० ॥ पारिबर्हम् उपस्करम् ॥ ३१ ॥ याने प्रयाणसमये ॥ ३२-३३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कृत उद्वाहो येन सः सूर्यया नवोढया सार्द्धं रथमारुहत् ।। २९ ।। रश्मीन् प्रग्रहान् जग्राह अग्रहीत् सौत्यं कृतवानित्यर्थः। पारिबर्हमुपस्करं दुहित्रे देवकः प्रादादिति द्वयोरन्वयः ।। ३०-३२ ।।

श्रीसुबोधिनी

तस्या अवस्थोत्कर्षमाह तस्यामिति । तुशब्दो दुःखपर्यवसानेन भगवत्कृतसुखव्यावृत्त्यर्थः। सर्वानंशान् सर्वतो भगवान् स्वावतारार्थमाचकर्षेतिज्ञापनार्थं वा तुशब्दः । कर्हिचित् कस्मिंश्चित्काले पूर्वोक्ते वा । सुमुहूर्तादिकं न भवतीति **कर्हिचिदित्युक्तम्**। **शौरिर्वसुदेवः** शूरस्य पुत्रः । अन्येपि वसुदेवाः सन्तीति पितृनाम्ना तन्निवृत्तिः । वसुदेवभ्रातरोपि बहव इति वसुदेवपदम्। **कृत उद्वह उद्वाहो येन देवक्या सूर्यया** नवोढया साधं स्वगृहप्रयाणार्थं श्वशुरदत्तं **रथमारुहत्** । विवाहोत्सवसमयो भर्तृसान्निध्यं चोत्तमावस्था स्त्रियाः। **देवक्या सूर्ययेति** स्वत उत्कर्ष उक्तः । भर्तृप्राधान्यमपि पतिव्रतायामुत्कर्षहेतुः । यद्यपि देवको ज्येष्ठस्तथापि मर्यादाराज्यं न भवतीति उग्रसेन एव राजा कंसो वा ।.२९।। मुख्य एव व्यवहारे सम्बन्धहेतुर्लोकप्रसिद्धः अत उग्रसेनपुत्रोपि कंसो देवकपुत्र्या देवक्या भ्रातृकार्यं कृतवानित्याह **उग्रसेनसुत** इति । स्वसुर्भगिन्या देवक्याः सम्माननरूपप्रियचिकीर्षया स्वयं **हयानां रश्मीन्** प्रग्रहान् जगृहे सूतो जात इत्यर्थः । केवलेन प्रतिष्ठा न भवतीति विशेषणम् । **रौक्मैः** सुवर्णपरिकरैः **रथशतैः**रनेकशतरथैर्**वृतो** वेष्टितः । अनेन वसुदेव एव मुख्यो राजा कृतः । स्वयमपि दासभावं प्राप्त इति महत् सम्माननम् । अन्यत उत्कर्ष उक्तः ।। ३० ।। पितृकृतं द्रव्यकृतमुत्कर्षमाह **चतुःशतमिति द्वाभ्याम्** ।३१।। क्षत्रिया हि चतुरङ्गिणीं सेनां विवाहे पारिबर्हं प्रयच्छन्ति वधूवरयोः सन्तोषार्थम् । तत्र पदातीनां स्थाने कन्याप्रीत्यर्थं **दास्यो** दत्ताः । हेम्नो **माला** येषां **गजानाम्** । अश्वानां पञ्चदश सहस्राणि **रथानां त्रिषट्शतमष्टादशशतम्** ।। ३२ ।। दासीनां सखित्वज्ञापनाय **सुकुमारत्वमलङ्करणं** चोक्तम् । दास्यः कन्यायै केवलं दत्ता न तद्भर्त्रे। अतो न यथेष्टं तेन विनियोगः कर्तुं शक्यः । ननु देवक्या एव विवाहे कथमेतावद्दत्तवानित्याशङ्क्याह देवक इति । अत्यन्तमयं **देवो** भगवानत्रावतरिष्यतीतिज्ञानयुक्तः। ता अपि दास्यो **यानैर्दोलाभिः** सहिताः। तासां तथाकरणे हेतुर्**दुहितृवत्सल** इति। स हि दुहितृषु वात्सल्ययुक्तः। तासामपि कन्यात्वाद्देवकीवाक्याद्वा तथा कृतवानित्यर्थः ।। ३३ ।।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

तस्यां तु कर्हिचिदित्यस्य विवरणे—**सर्वानित्याद्याचकर्षेत्यन्तम्** । पूर्वसान्निध्ये सति भक्तदुःखाभावे स्वावतारो न सम्भवतीति तदर्थं तत्सान्निध्यं दूरीकृतवान् । अग्रे च तत्प्रयोजनाभावात् स्वस्मिन्नेव लीनं कृतवानित्यर्थः ।। २९ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तस्यां त्वित्यत्र—पूर्वोक्ते वेति । यस्मिन् भगवान् स्वावतारार्थं सर्वानंशानाचकर्ष तस्मिन् वेत्यर्थः ।। २९ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्यां त्वित्यत्र—तु शब्दस्य द्वितीयपक्षे 'कर्हिचिदि'त्यनेनान्वयो ज्ञेय इत्याशयेनाहुः **पूर्वोक्ते** वेति सर्वांशाकर्षणकाल इत्यर्थः ।। २९ ।। **उग्रसेनसुत** इत्यत्र—**रथशतै**रितिबहुवचनस्यार्थमाहुर**नेकशतेति** ।। ३० ।।

बभुत्सुबोधिका

तस्यां त्वित्यत्र भगवत्कृतेति नित्यसन्निहितभगवत्कृतेत्यर्थः । दुःखपर्यवसानं भगवत्प्राकट्यार्थमैच्छिकम् । तस्यां नित्यसन्निहितायां तु दुःखपर्यवसानेनेत्यर्थात् । एवं वेदान्तीयो भगवान् मानसीनोग्रे वक्तव्यः । वेदीयोत्र 'कृष्णद्युमणिनिम्लोच' इति तृतीयस्कन्धोक्तद्युमणिधर्मेण मानसीनमाहुः सर्वानिति । हरित्वेनाविर्भावात् पूर्वं कृष्ण उक्तः। हरिः शास्त्रप्रतिपाद्यः कृष्णोकारक इति शास्त्रप्रतिपाद्यत्वार्थं कृष्णस्य । योगेन हरिर्द्युमणिरपि अस्तं गच्छन् सर्वानंशानाकृष्यास्तं गच्छति । आरण्यके प्रसिद्धम्। भगवत्कृतसुखव्यावृत्तेस्त्वर्थत्वान् नित्यसन्निहितभगवतो हरेः सर्वानित्यर्थः। अंशान्। षड्गुणान्। भगवतः निरोधकर्तृत्वं हरेः। षड्उत्कटदोषाकर्षार्थमाहुः सर्वत इति। गुणदोषेषु समत्वमुक्तम्। समत्वात् सुहृत्त्वाच्च ब्रह्मणः। स्वावतारार्थमिति। अयमर्थः। समाधिभाषापोषिकेन्यमतभाषा लौकिकी भाषा वा। अत्र 'निष्कलं निष्क्रियं शान्त'मित्यादिश्रुत्युक्तम्। सिद्धान्ते विरुद्धसर्वधर्माश्रयम्। तत्र ब्रह्मणि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति वाक्यात् 'कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वत'मिति श्रुतेश्च परिदृश्यमानयावद्धर्मवैशिष्ट्येन स्वावतारार्थम्। तथा चान्यमतभाषा लौकिकी भाषा ताभ्यां भगवत्कृतसुखव्यावृत्त्यर्थकस्तुशब्द इति भावः। तदेतदाहुष्टिप्पण्यां सर्वानित्यादीत्यादीनाम्। लीनं कृतवानिति सान्निध्यं लीनं कृतवान्। अत एवा'वजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रित'मिति गीता। सर्वाकर्षवत्यां स्वावतारार्थं भक्तदुःखाभावसत्तावत्यां 'तस्या'मित्येवम्। एवं त्वर्थमुखेन पूर्वश्लोकसङ्गतिबोधके 'तस्या'मितिपदे विशेषणे उक्ते। सुबोधिन्याम्। कर्हिचिदिति तस्यामित्यस्य त्वर्थे आधाराधेयभावः सम्बन्धः। भगवत्कृतसुखव्यावृत्तिमत्यां तस्यां

मथुरायां स्वसर्वांशाकर्षवत्यां च कर्हिचित् किमः प्रश्नवाचकात् कालेर्हिल्। कुत्सा द्योत्या। तथा च विश्वः 'किं प्रश्नेऽपि च कुत्सायाम्'इति। चित् असाकल्येऽव्ययम्। तथा चासकले कस्मिंश्चित्काले विशेषणविशेष्यभावे कामचारो वा। कर्हि च चिच्च तयोः समाहारः कर्हिचित्। पूर्वोक्ते वेति सर्वांशाकर्षणकाले। असाकल्यं किमो द्योत्यायां कुत्सायां चिदव्ययवाच्यायां सुमुहूर्तादिराहित्यमित्याहुः सुमुहूर्तादिकमिति। साकल्यं सुमुहूर्ततदभावाभ्यां काले भवति। सुमुहूर्ताभावमात्रादसाकल्यम्। एतदेवाहुः इति कर्हिचिदित्युक्तमिति। अन्येऽपीति अष्टवसुसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्य इति। पितृनाम्नेति शूरो वसुदेवपिता, शूरस्यापत्यं शौरिः। 'अत इञ्'। प्रकृतिमात्रेण पितृनाम्ना। तन्निवृत्तिरिरिति विशेषणानां व्यावर्तकत्वादिदितिभावः। एवं विशेषणकृत्यमुक्त्वा विशेष्यवसुदेवपदकृतमाहुः वसुदेवभ्रातर इति। देवभागादयः। 'देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्, स तस्यां जनयामास दशपुत्रानकल्मषान्। वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्। सृञ्जयं श्यामकं कंकं शमीकं वत्सकं वृक'मिति नवमस्कन्धे। उद्वह इति। षोडशसंस्कारेषु प्रथमः। तेन नान्यसंस्कारोपादानम्। नवोढयेति न वाचा सा ऊढा नवोढा विवाहिता तया। स्वगृहेति पठोनीति लोके तद्दिने। श्वशूरेति देवकदत्तम्। स्वत इति 'पितृनाम्ना तु मुख्यत्व'मितिवाक्यात्। अन्यथा देवकीपदमनतिप्रयोजनकं स्यात्। अवस्थोत्कर्षस्य वाक्यार्थत्वे इदमेव हेतुः। देवक्येति सहार्थेऽप्रधान इति तृतीयार्थप्राप्तमर्थमाहुः भर्तृप्राधान्यमिति। अनेन स्वत उत्कर्ष उक्तः देवक्येतिपदेन देवको ज्येष्ठ इत्युत्कर्षः। देवानां स्थानं ब्रह्मविद्या चेत्यप्युत्कर्षः॥ २९॥

उग्रसेनसुत इत्यत्र। व्यावर्तकं हि विशेषणम्। उग्रसेनसुतविशेषणव्यावर्त्याभावात् कंसकृतसुखव्यावर्तकोत्कर्षबोधनाय कंसविशेषणमित्याहुः उग्रसेनसुत इत्यादि। कंसो वेति अस्यां कोटौ बीजं रङ्गादावुत्कर्षप्रतीतिः कंसस्य। एतदेवाहुः मुख्य एवेति। राज्ञ्येव व्यवहारो रंगादौ उपवेशनादिस्तस्मिन्। सम्बन्धश्चासौ हेतुरिति कर्मधारयः। लोकप्रसिद्ध इति पुत्रत्वव्यवहारलक्षणः लोकप्रसिद्धो ग्राह्यः, न त्वेकत्वलक्षणः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि संजीव शरदः शत'मितिश्रुत्युक्तः। अन्यजे व्यभिचारात्। अत इति संदिग्धराजत्वात्। राजा चेत् कंसो न गृह्णीयाद्रश्मीन्। अतो अभिमानेन जगृहे, न तु सेवकवत्। 'स्वसुः प्रियचिकीर्षये'तिपाठो व्याकृतः, 'भगिन्याः प्रियकाम्यये'ति पाठे कमनैव कामा स्वार्थे ष्यञ् काम्या। तयेच्छया। जगृह इति आत्मनेपदेन विवरणं ग्रहणस्य फलम्, सन्मानसुखं, तस्य कंसगामित्वात्। देवक्याः स्त्रिया ब्रह्मविद्यात्वेन सुखदुःखसाम्यात्। अतो जग्राहेत्यत्र छान्दसं परस्मैपदमितिभावः। केवलेनेति रथोपविष्टेन। विशेषणमिति अनेकशतेति 'विंशत्याद्याः सदैकत्व' इत्यस्यावयवापेक्षया प्राप्तबहुत्वनिषेधपरत्वादवयविनि शते बहुत्वमन्वेति। अनेकत्वावच्छिन्नं यत् शतं तत् समवेतकानेकरथैरित्यर्थः। एवं च 'रथशतै'रित्यत्र रथानां शतैरिति षष्ठीतत्पुरुषे 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः सङ्ख्येयसङ्ख्ययो'रित्यमरात्। शतशब्दस्य सङ्ख्येयवाचकत्वे लक्षणापत्त्या 'लक्षणां नैव वक्ष्यामी'ति प्रतिज्ञाविरोधः। सङ्ख्यावाचकत्वे एकवचनान्ततापत्तिरतो रथशतशब्दस्य समासशक्त्यार्थे वक्तव्ये 'रौक्मै'रिति विशेषणस्यासङ्गतत्वापत्तिरतोनेकं शतं तद्युक्तेरथैरिति मध्यमपदलोपी समासः। 'उपसर्जनं पूर्वं' समासशास्त्रे उपसर्जनं प्राक् प्रयोक्तव्यमिति शतशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते 'छन्दसि विभाषे'तिसूत्रे विभाषेतियोगविभागाद्'उपसर्जनं पूर्व'मिति सूत्रस्य वैकल्पिकत्वाद् रथशतैरित्युपपन्नमितिभावः। दासभावं प्राप्त इति अभिमानेनेति बोध्यम्। अपेक्षितसमर्पणं वा दासभावः। अन्यत इति कंसतो देवक्या उत्कर्षः उक्तः॥ ३०॥

चतुःशतमित्यत्र द्रव्यत उत्कर्षे श्लोकद्वयम्। तस्याभासमाहुः पितृकृतमिति। द्रव्यकृतमित्यस्य व्याख्यानम्। आहेति द्वाभ्यामाह। चतुरङ्गिणीमिति चत्वार्यङ्गानि गजाश्वरथपदातयो यस्याः सन्ति सा चतुरङ्गिणी ताम्। पारिबर्हमिति परिबर्हं तु दाने राजार्हं वस्तु। स्वार्थेण्। प्रयच्छन्तीति दाण दाने। तस्य यच्छादेशः। चत्वार्यङ्गान्याहुः तत्र पदातीनामिति। 'अयुतं सार्ध'मित्यस्यार्थः। पञ्चदशसहस्राणीति अयुतं दशसहस्रं तत् अर्धेन पञ्चसहस्रेण सह वर्तमानं सार्धम्। त्रिषट्शतमित्यत्र त्रिकृत्वः षट् त्रिषट्। कृत्वसुचो लोपः। त्रिषट् च तत् शतं च त्रिषट्शतमित्याशयेनाहुः अष्टादशशतमिति॥ ३१॥

दासीनामित्यत्र सखित्वेति देवकीसखित्वज्ञापनाय। तेनेति भर्त्रा वसुदेवेन। स्वार्थिककप्रत्ययार्थमाहुः अत्यन्तमिति। देव एव देवकः। असुरयोगव्यवच्छेदकैवकारः। दिवु क्रीडेत्यत्र धातुपाठे, द्युत्यर्थो दिव् तस्य प्रयोगोऽत्र चन्द्रवंश्यत्वादित्याहुः भगवानत्रेति। आहुकात्मजौ 'देवकश्चोग्रसेनश्चे'ति न पितृकृतदेवकत्वं किन्तु चन्द्रकृतमेव। 'चत्वारो देवकात्मजाः। देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धन' इति देवकीसन्माननं भगवानत्रावतरिष्यतीति ज्ञानादेव। तासामिति दासीनाम्। वात्सल्येति स्नेहो वात्सल्यं तेन युक्तः॥ ३२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तस्यां तु मथुरायां कृत उद्वहो विवाहो येन स वसुदेवः सूर्यया नवोढया भूषणादिशोभातिशयेन प्रकाशबहुलया देवक्या सार्द्धं सह कर्हिचित् एकदा प्रयाणे प्रयाणार्थं रथमारुहत्। अन्यवसुदेवव्यावृत्त्यर्थमाह—शौरिरिति। शूरपुत्रः। वसुदेवभ्रातृव्यावृत्त्यर्थमाह—वसुदेव इति॥ २९॥ उग्रसेनस्य सुतः कंसः स्वसुः भगिन्याः देवक्याः प्रियचिकीर्षया सन्मानाधिक्यप्राकट्येन तां प्रसादयितुं स्वयं हयानां रश्मीन् प्रग्रहान् जगृहे। वसुदेवं देवकीं च मुख्यस्थाने उपवेश्य स्वयं सूतो जात इत्यर्थः। केवलेन तेनैवं स्थितेनापि शोभातिशयो न भवति राजपुत्र्यादिति रौक्मैः सुवर्णपरिकरैः रथशतैरनेकशतरथैर्वृतः वेष्टितः॥ ३०॥ तदा च याने

प्रयाणे निमित्ते देवकः दुहित्रे देवक्यै पारिबर्हमुपायनं प्रादादिति द्वयोरन्वयः। दाने हेतुमाह–दुहितृवत्सल इति पारिबर्हं दर्शयति–हेममालालङ्कृतानां गजानां चतुःशतम्। तथाविधानामश्वानां सार्धयुतं पञ्चदश सहस्राणि। तथाविधरथानां त्रिषट्शतमष्टादशशतम् ॥ ३१ ॥ सुकुमारीणां नवयौवनानां दासीनां समलङ्कृते द्वे शते ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्यामिति ॥ तस्यां मथुरायां कर्हिचित् काले कृतोद्वहः कृतविवाहः शौरिः शूरसुतो वसुदेवः प्रयाणे विवाहोत्तरदिने स्वगृहं प्रति प्रयाणार्थं सूर्यया नवोढया देवक्या सार्द्धं रथम् आरुहत् "कमृदृरुहिभ्यः०" इति चछान्दसश्च्लेरङ् ॥ २९ ॥ औग्रसेनेति ॥ रौक्मैः स्वर्णभूषितैः रथानां शतैर्वृतः उग्रसेनस्य सुतः कंसः स्वसुर्देवक्या भग्न्या इत्यपि पाठः। "भग्नी भगिनी च" इति द्विरूपकोशः। प्रियचिकीर्षया हयानां रश्मीन् प्रग्रहान् जग्राह स्वयं सारथिरभूत्। इत्यादि सर्वं तस्य सद्यः स्नेहत्यागेन खलत्वसूचनाय ॥ ३० ॥ चतुःशतमिति द्वयम्। दुहितृवत्सलः देवकः देवक्याः पिता याने देवकीयानसमये दुहित्रे देवक्यै हेममालिनां स्वर्णमालाभूषितानाम् एतच्च गजादित्रयेऽन्वेति। गजानां चतुर्गुणं शतं चत्वारि शतानीत्यर्थः। अश्वानां सार्द्धम् अयुतं रथानां च त्रिगुणाः षट् त्रिषट् त्रिषड्गुणं त्रिषट्शतम् अष्टादशशतानीत्यर्थः। सम्यगलंकृते सुकुमारीणां दासीनां द्वे शते पारिबर्हं विवाहे देयं यौतुकाख्यं प्रादात् ॥ ३१–३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

राजधानीति ॥ ततः यतः शूरसेनो राजाऽध्यवसत्तत इत्यर्थः। सा मथुरा, सर्वयादवभूभुजां सर्वेषां यादवभूपालानामित्यर्थः। राजधानी, अभूत्। यत्र पुर्यां, भगवान् सकलैश्वर्ययुक्तः, हरिः स्वयं परमपुरुषः, नित्यं संनिहितः, आविर्भावस्थानत्वादिति भावः ॥ २९ ॥ तस्यामिति ॥ कर्हिचित् कदाचित्, तस्यां पुर्यां तु, तुरवधारणार्थः। शौरिः शूरस्य सुतः, वसुदेवः कृतोद्वहः कृतविवाहः सन्, सूर्यया नवोढया, देवक्या भार्यया, सार्द्धं सह, प्रयाणे स्वगृह प्रति प्रयाणे निमित्ते, रथम् आरुरोह। केचित्तु सूर्ययेत्यभिधया इत्याहुः। तन्मते देवक्या देवकपुत्र्या इत्यर्थः कार्यः ॥ ३० ॥ विवाहकाले रथहयानां कविकाग्रहणेऽऽत्यन्तं बन्धुना भाव्यमिति दर्शयितुं तद्ग्राहिणमाह ॥ उग्रसेनसुत इति ॥ ततः उग्रसेनसुतः कंसः, स्वसुर्देवक्या भगिन्याः, प्रियचिकीर्षया प्रियं कर्त्तुमिच्छया, स्वयं रौक्मैर्हेममयैः, रथशतैः रथानां शतैः वृतः परिवृतः सन्, हयानां भगिन्यधिरूढरथाश्वानां, रश्मीन् प्रग्रहान्, जग्राह ॥ ३१ ॥ चतुःशतमिति ॥ दासीनामिति ॥ तदा, देवक उग्रसेनभ्राता, दुहितृवत्सलः, हेतुगर्भमिदं दुहितृवत्सलत्वादित्यर्थः। दुहित्रे देवक्यै, हेममालिनां हेममालालंकृतानां, गजानां, चतुःशतं चतुशतमितान् गजानित्यर्थः। अश्वानां स्वर्णालंकृतानां तुरंगमानां, सार्द्धमर्द्धेन पञ्चसहस्रेण सहितं सार्द्धं, अयुतं पञ्चदशसहस्रपरिमितानश्वानित्यर्थः। रथानां च तु त्रिषट्शतं, अष्टादशशतपरिमितान् रथानित्यर्थः। सुकुमारीणां दासीनां, समलंकृते द्वे शते, याने तद्गृहगमनवेलायां प्राप्तायां सत्यामित्यर्थः। पारिबर्हं, प्रादात्। विवाहकाले दुहित्रे दीयमानं यद्धनं तत्पारिबर्हंनाम, इति द्वयोरेकान्वयः ॥ ३२–३३ ॥

कृष्णप्रिया

एक बार मथुरामें शूरके पुत्र वसुदेवजी विवाह करके अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकीके साथ घर जानेके लिये रथपर सवार हुए।।२९।। उग्रसेनका लड़का था कंस। उसने अपनी चचेरी बहिन देवकीको प्रसन्न करनेके लिये उसके रथके घोड़ोंकी रास पकड़ ली। वह स्वयं ही रथ हाँकने लगा, यद्यपि उसके साथ सैकड़ों सोनेके बने हुए रथ चल रहे थे ॥ ३० ॥ देवकीके पिता थे देवकी। अपनी पुत्रीपर उनका बड़ा प्रेम था। कन्याको विदा करते समय उन्होंने उसे सोनेके हारोंसे अलङ्कृत चार सौ हाथी, पंद्रह हजार घोड़े अठारह सौ रथ तथा सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित दो सौ सुकुमारी दासियाँ दहेजमें दीं ॥ ३१–३२ ॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानि[1] नेदुर्दुन्दुभयः समम्। प्रयाणप्रक्रमे[2] तावद्[3]वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥ ३३ ॥
पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्। अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां [4]नयसेबुध ॥ ३४ ॥
इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः। भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ॥ ३५ ॥
तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्। वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः – तावत् प्रयाणप्रक्रमे वरवध्वोः तावत सुमङ्गलं शंखतूर्यमृदङ्गानि दुन्दुभयः समं नेदुः ॥ ३३ ॥ प्रग्रहिणं कंसं पथि अशरीरवाक् आभाष्य आह अबुध अस्याः अष्टमः गर्भः त्वा हन्ता यां नयसे ॥ ३४ ॥ इत्युक्तः भोजानां कुलपांसनः सः खलः

---

१. मृदङ्गाश्च–श्री. वंशी. वीर. शुक. मृदङ्गानि–वं.र. विज.। २. प्रयाणोपक्रमे–वीर.। ३. तात–वीर. विज.। ४. वहसे–श्री. वंशी. नयसे–वीर. विज. ज्जीव.।

खड्गपाणिः भगिनीं हन्तुम् आरब्धः कचे अग्रहीत् ॥ ३५ ॥ जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपं तं परिसान्त्वयन् महाभागः वसुदेवः उवाच ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

आभाष्य रेरे कंसेति संबोध्य हंता हनिष्यति ॥ ३४ ॥ कुलपांसनः कुलदूषणः आरब्धः उद्युक्तः कचे केशबंधे ॥ ३५ ॥ नृशंसं क्रूरम् । महाभाग इति । अयं भावः । स्वजन्मनि हर्षेण देवतैरानकदुंदुभिध्वनिकरणाद्भाविभगवदवतारेण शक्यप्रतीकारता संभवतीति । सांत्वयन् स्तुत्या कृपाविषयत्वेनोपपत्तिभिश्च साममार्गेण संबोधयन् ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

प्रयाणप्रक्रमे गमनारंभे । तावदादौ । वरवध्वोः सुमंगलं यथा भवति तथा शंखाद्याः सममेकदैव नेदुः ॥ ३३ ॥ प्रग्रहो हयरश्मिः सोऽस्यास्तीति प्रग्रही तम् "प्रग्रहस्तु तुलासूत्रे बद्धा नियमने भुजे । हयादिरश्मौ रश्मौ च सुवर्णालुमहीरुहे" इति मेदिनी । अस्या देवक्याः । अशरीरं वा वसंतम्" इति श्रुतेरशरीरः परमात्मा तद्रूपा वाक् । यद्वाऽस्य वासुदेवस्य शरीरमशरीरं तत्संबंधिनी वाक् यद्वा । न लक्षितं शरीरं योगतपोभ्यां विना येषां तेऽशरीरा देवास्तेषां वागशरीरवाक् । पुत्र इति वक्तव्ये गर्भ इत्युक्तिस्तु कृष्णस्य सप्तमपुत्रत्वार्थोष्टमगर्भत्वार्थी ज्ञेयेति ॥ ३४ ॥ कुलं पंसति नाशयतीति कुलपांसनः 'पंसि–नाशने' कर्त्तरि ल्युट् दीर्घो निपातनात् । पंसतीति पंसनः पंसन एव पांसनः कुलस्य पांसनः कुलपांसन इति वा । कुलं पांतीति कुलपा उग्रसेनादयस्तानंसति विभजत इतस्ततः करोतीति कुलपांसनस्तमिति वा । 'अंसं–विभागे' अत एव । कुलदूषण इत्येवार्थः स्वामिचरणैः प्रकाशितः । 'कचः केशे गुरोः सुते' इति मेदिनी ॥ ३५ ॥ महाभागास्त्वन्येऽपि महान् भागो भाग्यं शुभाशुभं यस्येति व्युत्पत्तः 'भागो भाग्यैकदेशयोः' इति रुद्रः । अत आह–इत्ययं भाव इति । यद्वा स्वपत्नीवधे प्रवृत्तमपि दृष्ट्वा क्रोधानुदयान्महाभाग इति । ननु तादृशः क्रूरः कथं सांत्वयितव्यस्तत्राह—महाभाग इति । भाग्यवतः प्रातिकूल्यं तु व्याघ्रादिरपि न करोतीति वा । स्वजन्मनि वसुदेवजन्मनि हेत्वादिभिः संभवदर्थप्रतिपादनमुपपत्तिः । सांत्वयन् साममार्गेण संबोधयन्प्रबोधयन् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

समं युगपत् यद्वा अन्यूनाधिकं यथा स्यात् सुमङ्गलं च शोभनशुभध्वनि यथा स्यात्तथा नेदुः स्वयमवाद्यन्त एतच्च भावि शुभलक्षणं हे तातेति श्रीभगवदवताराऽऽसन्नतादिजातहर्षदर्शनेन वात्सल्योद्दीपनात् सम्बोधनं "तातोऽनुकम्प्ये पितरि" इति नानार्थात् । तावदिति पाठः क्वचित् स च वाक्यालङ्कारे ॥३३॥ प्रग्रहिणं गृहीताश्वपाशं न लक्षितं शरीरं यस्याम् इति मध्यमपदलोपः सा चासौ वाक् चेत्यशरीरवाक् सैवाहेत्युपचारात् शिलापुत्रस्य शरीरमितिवत्, यद्वा, वक्ष्यमाणमर्थमाहेति ज्ञेयं गर्भोऽर्भकः तथा च विश्वः "गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ" इत्यादि । पुत्रशब्दमनुक्त्वा गर्भशब्दप्रयोगश्चाग्रे कन्यायां दृष्टायां कंसस्य सन्देहाभावाय नयसे यां भर्तृगृहं प्रापयसि वहस इति पाठे स एवार्थः किन्तु वाहनवद्वहसीति श्लेषार्थः, अबुध हे मूर्खेति शत्रुजनयित्रीवहनात् स्वमरणाद्य-ज्ञानाच्च कंसोऽयं श्रीदेवक्यां स्निग्धतांशे सद्वृत्त इति श्रीभगवदवतारे शैथिल्यशङ्कया तत्कारणोत्थापनार्थं व्यग्राणां देवानामाकाश-वाणीयं ज्ञेया श्रीभगवत्सम्बन्धिनं देवक्यादिकं तु नासौ विहन्तुं शक्ष्यतीति निश्चयश्चात्र ज्ञेयः ॥ ३४ ॥ इति उक्त इति तद्वाङ्मात्रेणैव न तु तदर्थविचारणादिनेत्यर्थः । यतः खलः न तु सद्भावयुक्तः पापः तन्मूर्त्तित्वान्न कुतश्चित्पापाच्छङ्कमानश्च यतो जन्मत एव भोजानां कुलस्यापि दूषकः किमुत स्वस्य अत एव हन्तुमारब्धः आदिकर्मणि कर्तरि क्तः सद्यः प्रवृत्त अहो तत्रापि न गुप्तविषादिना किन्तु खड्गपाणिः तत्रापि न च वस्त्रादिसावरणां न विगर्हितस्पृष्टां किन्तु कचेऽग्रहीत् ॥ ३५ ॥ जुगुप्सितेति भगिनीवधे प्रवृत्तेः नृशंसं सद्यस्तादृशस्नेहत्यागात् निरपत्रपं तादृशोत्सवे सर्वलोकाग्रेऽत्यन्तविकर्मोद्यमात् एवं तस्य महादुश्चेष्टया पुनः पुनर्निन्दा । महाभाग इति तैर्व्याख्यातमेव, तत्र स्वस्य वसुदेवस्य जन्मनि हर्षेण दैवतैः आनकदुन्दुभिघोषस्तेन सूचितो य स्वस्माद्वसुदेवात् भावी भगवदवतारस्तेन हेतुना स्वस्माच्छक्यप्रतीकारता सम्भवतीति । तत्र चेति शब्दस्य एतत्प्रकार इत्यर्थः । तेन च एतत् स्वमहाभागत्वं श्रीवसुदेवो जानातीति क्रोडीक्रियते । यद्वा, महाभाग इत्ययं भाव इति श्रीशुकदेवेन श्रीवसुदेवस्यायमभिप्रायोऽभिप्रेयत इत्यर्थः । अयमुक्तौ हेतुः, अत एव परिसान्त्वयन् तच्च तैर्व्याख्यातं, यद्वा, सान्त्वनपूर्वकं साम्ना युक्तिभिर्भेदेन स्नेहोत्पादनेन च क्रमेण प्रबोधयन् तत्र पञ्चविधं साम, भेदश्च द्विविधः, तथा चोक्तम्—

"सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो गुणकीर्तनम् । साम पञ्चविधो भेदो दृष्टाऽदृष्टमयं वचः" ॥ इति ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे तात ! वरवद्ध्वोः प्रयाणोपक्रमे मङ्गलार्थं शङ्खादीनि दुन्दुभयश्च समं युगपन्नेदुः दध्वनुः सुमङ्गलमिति क्रियाविशेषणं वा ॥ ३३ ॥ ततो मार्गे प्रग्रहिणं हयरश्मिधरं कंसमुद्दिश्य अशरीरिणी वागाह उत्सृष्टा बभूव, तामेवाह—अस्या इति । यां भगिनीं प्रियचिकीर्षया नयसे भर्तृगृहं प्रापयसि अस्या अष्टमो गर्भः अपत्यपरो गर्भशब्दः, हे अबुध अज्ञ ! त्वां हन्ता हनिष्यति ॥ ३४ ॥

इतीत्थमुक्तः स भोजानां कुलपांसनः कुलमलरूपः कुलाधम इति यावत् खलो मूर्खः पापात्मा कंसः तथाभूतत्वात् खड्गः पाणौ यस्य तथाभूतः भगिनीं स्वप्राणापहारनिदानभूतां भगिनीं हन्तुमुद्युक्तः कचेऽग्रहीत केशपाशं जग्राहेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ जुगुप्सितं निन्दितं भगिनीवधोद्योगरूपं कर्म यस्य तत एव नृशंसं क्रूरमत एव निरपत्रपं निर्लज्जं तं कंसं परिसांत्वयन्नुपच्छन्दयन् महाभागो महाभाग्ययुक्तो महाबुद्धिमान् वसुदेव उवाच ॥ ३६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रयाणप्रक्रमे गमनारम्भे ॥ ३३ ॥ प्रग्रहः कविका तद्वन्तं अस्याः देवक्याः ॥ ३४ ॥ कुलपांसनः कुलधूलीकरणशीलः कचे केशपाशे ॥ ३५ ॥ नृशंसं क्रूरकर्माणं परिसान्त्वयन् साम्ना भेदेन च सम्बोधयन् ॥ ३६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रग्रहिणं गृहीताश्वपाशम् आभाष्य अरे कंस ! इति सम्बोध्य पुत्र इत्यनुक्त्वा गर्भपदोपन्यासोऽष्टम्यां कन्यायां दृष्टायामपि कंसस्य सन्देहाभावाय, देवक्यां स्वजनन्यामतिस्नेहवन्तं कंसं कथं भगवान् हन्यात् ? इति चिन्ताव्यग्राणां देवानां तस्यां कंसस्यापराधोत्पादनार्थमियमाकाशे दृष्टशरीराणां तेषां वाणी ज्ञेया स्वजन्मनि आनकदुन्दुभिघोषं स्वस्माद्भावि भगवदवतारसूचकं मात्रादिमुखात् श्रुतवतो वसुदेवस्य तदर्थं निश्चयार्थं वसुदेवमुखात् श्रोष्यन्त्या देवक्याश्च हन्त मत्कुक्षौ भगवान् जनिष्यत इत्यानन्दार्थं मरीचिसुतानां षण्णां कंसहस्तवधेन शापोद्धारणार्थञ्च ॥ ३४ ॥ कुलं पांसुं करोतीति कुलपांसनः कुलदूषण इत्यर्थः । आरब्ध इत्यादि कर्त्तरि कर्मणि चेति क्तः कचेऽग्रहीदिति येनैव वामहस्तेन भगिन्याः प्रीत्यतिशयार्थं रथवाहकाश्वपाशं जग्राह तेनैव हस्तेन सहसा तदैव भगिन्या वधार्थं तस्याः केशपाशं जग्राह एवं प्रतोदं त्यक्त्वा दक्षिणपाणिना खड्गं जग्राहेत्यहो खलजनस्नेहस्य लोकलज्जा धर्मभयनिरपेक्षमेव धातुकत्वमिति भावः ॥ ३५ ॥ नृशंसं क्रूरं महाभाग इति स्वसाक्षादेव स्वभार्यां हन्तुं प्रवृत्तमपि तं प्रति क्रोधाऽनुदयात् धैर्यगाम्भार्यक्षमाचातुर्यादिगुणसमुद्रत्वाच्च यद्वा ननु, तादृशो महाक्रूरः कथं तस्य सान्त्वनं शृणुयात् ? तत्राह—महाभाग इति । भाग्यवतो जनस्य प्रातिकूल्यं व्याघ्रसर्पादिरपि नैव करोतीति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वरवध्वोः सुमङ्गलं यथा भवति तथा प्रयाणस्य प्रक्रमे प्रारम्भे शङ्खादीनि समं युगपत् नेदुः ॥ ३३ ॥ प्रग्रहिणं हयरश्मिप्रग्रहिणम् आभाष्य रे रे कंस ! इत्युक्त्वा अशरीरवाक् अस्या इत्याद्याह—गर्भ इति । सामान्योक्तिः न तु पुत्रादिविशेष उक्तः ॥ ३४ ॥ कुलपांसनः कुलकलङ्करूपः कचे केशबन्धे भगिनीमग्रहीत् पलायनशङ्कया जगृहे पुनः तां हन्तुमारेभे ॥ ३५ ॥ महाभागः महान् भागः भाग्यं यस्य पुण्यार्जितविपुलबुद्धिरित्यर्थः । वसुदेवः यद्यप्यशरीरवागन्यथा न भविष्यति तथापि तूष्णींभावे निष्ठुरत्वादिदोषः बलान्निवारणे बहुजननाशकारित्वादिदोषः अनुज्ञाकरणे स्वजनघातकत्वादिदोषः अतः तं साममार्गेण सान्त्वयन् संबोधयन्नेवोवाच, कथम्भूतम् ? जुगुप्सितमतिनिन्द्यं भगिनीवधलक्षणं कर्म करोतीति तम् अत एव नृशंसं क्रूरं निरपत्रपं निर्गता शूरैः अपत्रपा लोकलज्जा यस्मात्तं लोकलज्जातश्च्युतम् ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

सम्माननामाह शङ्खेति । शङ्खो हि मुखवाद्यम् । तूरी हस्तवाद्यं मृदङ्गानि च दुन्दुभयो दण्डवाद्यम् । समभेकदा । नैमित्तिकं तदित्याह प्रयाणप्रक्रम इति । वरवध्वोः सुमङ्गल यथा भवति तथा नेदुः अनेन शकुनमप्युक्तं पर्यवसानस्योत्तमत्वात् ॥ ३३ ॥ कालो ह्यत्र प्रतिबन्धको जात इति वक्तुं तस्याधिभौतिकः कालनेमिः कंसे निविष्टः शेत इति तत्प्रादुर्भावार्थं तदनुगुणदेवतायास्तदुत्कर्षमसहमानाया अकस्माद् वाक्यं जातमित्याह पथीति । शोभातिशयो मध्येमार्गं प्रादुर्भूत इति पथ्येवोक्तवती न तु गृहे नापि गमनानन्तरम् । अनेनाधिभौतिकः कालोऽस्मिन्मार्गे बाधकः स प्रतिविधेय इति ज्ञापितम् । सर्वप्रकारेण प्रग्रहिणं रश्मिग्राहिणमाभाष्य रे रे कंसेति सावधानपर्यन्तमुक्त्वा अशरीरवागाकाशवाणी । शरीरात् ताल्वोष्ठपुटाघातेन न निर्गता । तस्या वाक्यमाह अस्या इति । अष्टमो गर्भ इति सङ्ख्या निस्सन्दिग्धा । कन्या पुत्रो वेति न विशेष उक्तः । मध्ये भगवता तथा प्रेरिता । स बालक एव त्वां हन्ता हनिष्यति । दासीषु प्रेक्षिकासु वेतिसन्देहव्युदासायाह यां नयस इति । न चेयं मम भगिनी न तथा कर्तुं दास्यतीति वक्तव्यं यतस्त्वमबुधः । कस्यापि तत्त्वं न जानासीत्यर्थः । हे अबुधेतिसम्बोधनं वक्तुर्हितत्वज्ञापनाय ॥ ३४ ॥ ततो यज्जातं तदाह इत्युक्त इति आकाशवाण्यास्त्वभिप्रायः सा स्वगृह एव स्थापनीयान्यदा वा किञ्चित् कर्तव्यमिति कंसस्तु इत्युक्त एव सखलः कालनेमिसहितः । स प्रसिद्धो दिग्विजयी खलः प्रकृत्या । भगिनीं हन्तुं खडगपाणिर्भूत्वा कचे केशपाशे तामग्रहीत् । ननु महत् पापं कथं करिष्यतीत्याशङ्क्याह पाप इति । निरन्तरपापकरणेन स पापात्मैव जातः । तस्मात् तस्य शास्त्रं न बाधकम् । खलत्वाल्लोकोपि न बाधकः । वंशजा अपि न तस्य बाधका जाता इत्याह भोजानां कुलपांसन इति । भोजवंशोद्भवा ये तेषां कुले पांसनो मलरूपः कलङ्करूप इति यावत् । कुले कलङ्कजननं तस्य स्वरूपम् । अतः कुलविचारेणापि न निवर्तत

इति भावः। कचेषु किञ्चित् कर्तव्यं नास्तीति सप्तमी। स तु भगिनीमेव हन्तुं कालेन समारब्धः। आरब्धवान् वा। अपलायनार्थं तस्या ग्रहणम् ॥ ३५ ॥ वसुदेवस्तु शूरोऽप्यसहायः कंसबलं च जानातीति स्वतो दोषस्तस्य च न भवतीति निश्चित्य सान्त्वनार्थं प्रवृत्त इत्याह तमिति। नायं स्त्रीलोभेन तथा करोति किन्त्वनुचितमिति दयाविष्टस्तं परिसान्त्वयन्नुवाचेतिसम्बन्धः। लोकलज्जया स्वयमेव न करिष्यतीति ज्ञात्वा कथं न तूष्णीं स्थितस्तत्राह जुगुप्सितमेव सर्वदा करोतीति तथा। स्वस्य दयया त्यक्ष्यतीत्यपि न यतो नृशंसः क्रूरात्मा। दैत्येष्वपि हीनत्वादपत्रपयापि न करिष्यतीत्यपि न। यतो निर्गता अपत्रपा यस्य। 'लज्जा सापत्रपान्यत'। वसुदेव इति उपेक्षायामयुक्तः सर्वप्रकारेण मोचयितुं शक्तः। किञ्च महाभागः। तस्य जन्मन्यानकदुन्दुभयश्च नेदुरतो महाभाग्यवान् ॥ ३६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पथि प्रग्रहिणमित्यत्र—अनेनाधिभौतिकः काल इति। भगवत्प्रादुर्भावहेतुर्भक्तिमार्गीयविवाहश्चेत्युभयोः साम्यादेतत्सम्बन्धिमार्गे कालकृतप्रतिबन्धकथनेन भक्तिमार्गेपि तथात्वं ज्ञाप्यत इत्याशयेनेदमुक्तम्। एवं सत्यस्मिन्मार्गे भगवत्प्रापकमार्गे इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ खड्गपाणिः कचेग्रहीदित्यत्र—कचेषु किञ्चिदित्यादि। ग्रहणक्रियाकर्मत्वेपि कचानां कर्तुर्ग्रहणक्रिययेप्सिततमत्वाभावात्तथात्वज्ञापनाय सप्तम्युक्ता न द्वितीयेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पथीत्यत्राभासे—वाक्यं जातमिति। अशरीरवाक्यात् स्वत एव जातमित्यर्थः। न तु गृह इति। कंसगृहे रहसीत्यर्थः। गमनानन्तरमिति। वसुदेवगृह इत्यर्थः। पथीत्यनेन गृहद्वयनिषेध उक्त इतिभावः। आधिभौतिक इति। कालाधिभौतिका दैत्याः साम्प्रतं यवनाः। तत्कृतः प्रतिबन्धः स्वमार्गे भवति। स उपायेन प्रतिविधातव्यो न तु तदर्थं भगवान् प्रार्थनीयो वसुदेवेनोपायेनैव प्रतिविधानकरणादितिभावः। स्वयमपि दासभावं प्राप्त इति पूर्वमुक्तत्वात्। प्रग्रहिणमित्यत्र 'नित्ययोगे मत्वर्थीय इनि'रित्याशयेनाहुः सर्वेति। सूतत्वमेव स्वस्याङ्गीकृतवानित्यर्थः शरीरादिति। यद्यपि तदनुगुणदेवताया वाक् तथापि ताल्वाद्याघातेन शरीरान्न निर्गता किन्तु तदाघातव्यतिरेकेण मुखविवरादेवोद्गतेत्यर्थः। तथा च शरीराद् या वाक् तद्व्यतिरिक्तेतिविग्रहः। तद्व्यतिरिक्ता तद्भिन्नप्रकारिकेत्यर्थः। गर्भस्थेन हननमसम्भावितमित्याशयेनाहुर्बालक एवेति ॥ ३४ ॥ इत्युक्त इत्यत्र-तत इत्येतावतैव चारितार्थ्येपीत्युक्त इतिपूर्वानुवादस्य तात्पर्यमाहुराकाशेति। तथा च तदैव कृतवानितिबोधनार्थमनुवाद इतिभावः। स खल इति पदस्यावृत्तिरभिप्रेतेति ज्ञेयम्। न बाधकमिति। निरन्तरपापेन दुष्टान्तःकरणत्वाच्छास्त्रं तं निवर्तयितुमसमर्थमित्यर्थः। कचेष्वित्यत्र टिप्पण्यां कर्मत्वेपीति फलाश्रयत्वेपीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ तमित्यत्र—नन्वेवमतिक्रमकर्तुर्हितत्वाज्ज्ञानं नोपदेष्टव्यमित्यत आहुर्नायमिति। वसुदेवस्य स्त्रीकंसयोस्तुल्या दृष्टिरतो न कंसस्याहिते तात्पर्यं किन्त्वनुचितत्वान्मारणं निवारणीयमत उभयसाधकत्वाज्ज्ञानेन प्रतीकारमुवाचेत्यर्थः। अपत्रपेति। लोका मां द्रक्ष्यन्तीति लज्जा, दृष्ट्वा मां दुष्टं वदिष्यन्तीत्यपत्रपेतिविभेदः। सर्वेति। शुद्धसत्त्वरूपत्वाज्ज्ञानप्रकारेणापीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पथि प्रग्रहिणं कंसमित्यस्याभासे—तस्याधिभौतिकः कालनेमिरित्यादि। तस्येति कालस्येत्यर्थः। कालो हि सर्वसम्बन्धितया गुणदोषाभ्यां संयुज्यते तदा गुणी दुष्टश्च भवति। तत्र दुष्टकालस्याधिभौतिकः कालनेमिः। कृष्णावतारे निहतानां दैत्यानामाध्यात्मिकपक्षमर्यादया दोषरूपत्वात्। अस्मिन्नवतारे तृणावर्तादयो यावन्तो हतास्ते सर्वे निरोध्यभक्तानां दोषरूपा 'लोभक्रोधादयो दैत्या' इति कृष्णोपनिषद्भ्यः। अत एवाचार्यवर्यैर्धेनुको देहाध्यासत्वेनोक्तः। लोभक्रोधादयो दैत्या' इतिश्रुतौ 'आदि' शब्देन सर्वेषां सङ्ग्रहात्। तत्र कस्य दैत्यस्य का दोषरूपतेत्याकाङ्क्षायां तस्य तस्य दैत्यस्य कार्यधर्मनामानि विचार्य तत्तद्दोषसाधर्म्यं विचार्य तत्तद्दोषरूपता वाच्या। यत्कार्यं दम्भः करोति तादृशं कार्यं यो दैत्यः करोति तस्य दम्भरूपता वाच्या। यथा सुबोधिन्यां बकासुरस्य दम्भरूपता निरूपिता। एतावानेवांशष्टिप्पण्यामुपपाद्यते। सर्वत्र दैत्यानां दोषरूपत्वे प्रमाणं तु 'लोभक्रोधादयो दैत्या' इति श्रुतिर्बोध्या। प्रकृते तु कालनेमिरितिनाम्नैवाधिभौतिकरूपत्वं कालनेमेः प्रकाशयति। पथि प्रग्रहिणमित्यत्र—आहेत्येतावत्त्वे वक्तव्य आभाष्येतिपदस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्य तत्सार्थकत्वायाहू रे रे कंसेति सावधानपर्यन्तमुक्त्वेत्यनेन। अस्यास्त्वामष्टमो गर्भ इत्यत्र-गर्भेण मरणासम्भवमाशङ्क्य स बाल एव त्वां हन्तेति-गर्भपदतात्पर्यमुक्तम् ॥ ३४ ॥ वसुदेवो महाभाग इत्यत्र-वसुदेवपदव्याख्यानमुपेक्षायामयुक्त इति। अयुक्तशब्दे युक्त इति भावे क्तः। न युक्तं योगो यस्य सोयुक्तः। उपेक्षायां तस्य सम्बन्धो नास्ति। विवेकित्वेन न दीनस्योपेक्षाकृतिस्तस्योचिता। अतो देवकीं येनकेनाप्युपायेन रक्षितुं यतत इतिभावः ॥ ३६ ॥

बभ्रुसुबोधिका

शङ्खतूर्येति सम्माननामिति मानत इत्यस्यार्थः टिप्पण्यां प्रथमार्थे तसिलङ्गीकारात् तूरीति 'स्वार्थे प्रज्ञाद्यण्'। तूर्यम्। अम् अव्ययं प्रसिद्धार्थकं वा। मृदङ्गानीति बहुवचनं वाद्यस्य भगवत्प्रियत्वात्, कोशेपि बहुवचनम्। देवकत्वाद् राजकस्य। अनेनेति

मङ्गलद्रव्यप्रापणेन । पर्यवसानस्येति 'कंसः प्रीतमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवी'दिति वाक्याद् वरवध्वोः पर्यवसानस्योत्सवसमाप्ते-रुत्तमत्वात् । कंसप्रसाद एव जातत्वात् समाप्तेः ॥ ३३ ॥

पथि प्रग्रहिणमित्यत्र एवं सप्तभिर्महावाक्यार्थहेतूत्कर्षनिरूपणेन महावाक्यार्थरूपाकाशवाणीवचनानुकूलव्यापाररूपाऽ-वान्तरवाक्यार्थं वक्तुमाहुः कालो हीति । गुणक्षोभकः कालः प्रतिबन्धको दृष्ट इत्यत्रापि गुणक्षोभद्वारा जातः । तस्याधिभौतिक इति तस्य कालशक्तिपदवाच्यस्य अधिभूतभवः आधिभौतिकः तत्र भव इतिठक् । उभयपदवृद्धिः । कालनेमिः । नाम्नोधिभूते भवत्वाच्चा-धिभौतिकः कंस इति । कंसोप्याधिभौतिकः कालस्तथापि नित्यलीलास्थकलिरूपत्वात् कालशक्तेर्नाधिभौतिकः । अतो निविष्टः । आसुरसम्पदा ज्ञायते । शेत इति स्वप्नकरणं न कंसकार्यं हरिप्रियाणां कल्यतिरिक्तकार्याभावात् कंसस्य । 'पुरुषो ह वै नारायणः स्वपिते'त्यत्र नारायणस्य सुरासुरसाधारण्यात् । तत्प्रादुरिति कंसस्यावेशित्वात् कंसधर्मैस्तिरोभूतस्य तस्य कालनेमेः प्रादुर्भावार्थम् । तद् वक्ष्यते 'आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग्विष्णुना हतं महासुरं कालनेमि'मिति । कंसे देवत्वमपि तत्रैव वक्ष्यते । तस्याधि-भौतिकस्यानुगुणाया आसुरसम्पज्जनकत्वेनानुगुणत्वम् । देवतायाः आध्यात्मिक्याः आकाशवाण्याः देवासुरसाधारण्यात् देववाग्वारणार्थं विशेषणम् । तदुत्कर्षमसहमानाया इति आसुरवाग्रूपायाः । अकस्मादित्यहैतुकम् । न चोत्कर्षासहनं हेतुरिति वाच्यम् । कालनेमिप्रादुर्भावमात्रकार्ये हेतुत्वात् । अशरीरवाक्त्वात् स्वत एव जातमित्यहैतुकं वा । न तु गृहे इति कंसगृहे रहसि न तु । गमनानन्तरमिति वसुदेवगृहगमनानन्तरं वसुदेवगृहे कंसं प्रत्येव । अनेनेत्यादि अर्थष्टिप्पण्याम् । तत्र प्रसंगसंगत्याहुः भक्तिमार्गेपीत्यादि । भगवत्प्रापकमार्ग इति प्रासंगिको मार्गो ब्रह्मस्तुतौ 'शृण्वन् गृण'न्निति श्लोके व्याकरिष्यते । सुबोधिन्याम् । प्रोपसर्गार्थमाहुः सर्वेति । अत्र सर्वे प्रकारा उपसर्गद्योत्या न तु वाच्याः । सूतत्वमेव स्वस्यांगीकृतवानित्यर्थः । नित्ययोगे मत्वर्थीय इति प्रत्ययार्थो वा सर्वप्रकारेणेति । आहेत्येतावत्येव वक्तव्ये आभाष्यपदवैयर्थ्यमाशङ्क्य तत्सार्थकत्वायाहुः रे रे कंसेति । रे रे इति संबोधने वीप्सा । संबोधनमारभ्य सावधानपर्यन्तमाङर्थः । अभिविधावाङिति । तथा च स्वहेतिश्रवणव्यग्रे आहेत्यस्य सार्थक्यायाभाष्येति । पदमितिभावः । न निर्गतेति तथा च शरीरस्य वाक् शरीरवाक्, न शरीरवागशरीरवाक् । वाक्यानीति एकांतङ्वाक्यमिति वाक्यलक्षणमत्र । संख्येति अष्टसंख्या एकत्वसंख्या च । मध्य इति वाक्यमध्ये । प्रेरणस्य भगवद्धर्मत्वात् । 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वे'ति श्रुतेः । गर्भस्य हननानुकूलव्यापारवत्त्वाभावात् । 'हन्ते'ति क्रियापदाच्च दृष्टानुसार्यर्थमाहुः स बालक एवेति । अवस्थानां बाल्यादित्वाद्गर्भावस्था बाल्यावस्था । भविष्यदद्यतनकालासंभवात् सामान्यस्यापि क्वचिद्विशेषबाधकत्वाल्लुडं-तस्यापि लृडंतार्थमाहुः हनिष्यतीति । प्रेक्षिकास्विति राजोत्सवप्रेक्षिकासु । न जानासीति ज्ञानप्रतिबंधकं राजतमः 'अंधंतमः प्रविशंति ये संभूतिमुपासत' इति शारीरकब्राह्मणात् । इदं तृतीयं वाक्यम् । हितत्वेति लोके स्पष्टम् । स्वरेणेति बोध्यम् । अत्राकाशवाणीमाया कृपेति यावत् । कृपाया हितत्वम् । तस्य ज्ञापनायेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इत्युक्त इत्यत्र तत इति आकाशवाणोव्यक्तवागनन्तरम् । क्रमवाची तत इति शब्दः आकाशवाणी स्वरूपं द्वितीयस्कन्ध-नवमाध्याये । 'स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाशृणो'दिति वाक्योक्तम्, न तु सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्थारूपप्रकृतिरित्या-शयेनाभिप्रायमाहुः आकाशवाण्या इति । मायात्वे तु प्रकृतिरूपमायायाः कृपा दंभरूपत्वाभावात् । 'माया दंभे कृपायां च माया पीताम्बरेम्बर' इति विश्वात । अथवा । तत इत्येतावतैव चारितार्थ्येपि इत्युक्त इति पूर्वानुवादस्य तात्पर्यमाहुः आकाशवाण्या इति । तथा च व्यक्तवचनसमय एव कृतवानिति बोधनार्थमनुवाद इति भावः । स्वगृह एवेति । स्वस्यात्मनः कंसस्य गृहे, एवकारः प्रति-गृहयोगव्यवच्छेदकः तथा च स्त्रीपुंयोगाभावान्न तव मारकपुत्रोत्पत्तिरिति भावः । अन्यदा वेति हठकाले । किञ्चिदिति दुःखादिकम् । 'आत्मानमिह संजात'मिति वाक्यादाहुः कालनेमिसहित इति । देवत्वपक्षेणार्थान्तरमाहुः स प्रसिद्ध इति । सखलपदस्यावृत्तिरभिप्रेतेति ज्ञेयम् । तेन न युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः । प्रकृत्येति तमोरूपया । तामिति भगिनीम् । आवृत्त्या योजनीयम् । जात इति तेन द्विग्विजये पापान्येवेति ज्ञापितम् । पापात्मत्वं त्वप्रादुर्भूतम् । अत एव पापान्यस्मिन् संतीति विगृह्य, अर्शाद्यच् न कृतः न बाधकमिति खलसंचये भ्वा० प० से० संचयकत्वात् प्रातिकूल्याभावेन न बाधकम् । अथवा निरन्तरपापेन दुष्टान्तःकरणत्वाच्छास्त्रं तं निवर्तयितुमसमर्थ-मित्यर्थः । वंशजा इति भोजवंशजाः । भोजवंशोद्भवा इति भोजानामिति पुराणं प्रमाणम् । 'लक्षणां नैव वक्ष्यामी'ति लक्षणा च नास्ति । तथा च भोजश्च भोजश्च भोजश्च भोजश्च भोजास्तेषामित्यर्थो भवति । तथा च नवमस्कन्धे 'महाभोजोपि धर्मात्मा । भोजा आसंस्तदन्वय' इति पुराणप्रामाण्यान्न लक्षणा । तद्राजस्य लुका वा न लक्षणा । अग्रे 'कंसः सुनामा न्यग्रोध' इति श्लोकः । अत उक्तं 'भोजवंशोद्भवा' इति । य इति 'वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोभूत् युधाजिच्च परंतप । शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोभूदनमित्रतः । सत्राजितः प्रसेनश्च निम्नस्याप्यासतुः सुता'वित्यादिश्लोकोक्ताः वृष्ण्यादयः । स्वरूपमिति 'कलेर्दोषनिधे राज'न्निति वाक्यात् । कचेषु किंचि-दित्यादि अत्र टिप्पण्याम् । ग्रहणक्रियेति ग्रहणानुकूलो व्यापारो ग्रहेरर्थः। ग्रहणक्रिया उपादान तदाश्रयत्वेन। कर्मत्वेपि धातूपात्तफला-श्रयत्वेपि। इप्सिततमत्वेति इप्सितत्वेपि तथा तथात्वेति। कालिकसम्बन्धेन। पाण्यौपश्लेषिकाधारेषु कचेषु औपश्लेषिकाधारत्वात् तथात्व-ज्ञापनाय इप्सिततमत्वाभावज्ञापनाय तथेत्यर्थः । इप्सिततमत्वं उत्पाद्यत्वसंस्कार्यत्वार्थत्वविकार्यत्वसमानाधिकरणं तच्चतुष्टये एकतमा-भावान्नेप्सिततमत्वं कचानामिति भावः । तथा च कचे पाण्याधारत्वं तस्यामुपादानं क्रियाफलं, कंसे तदनुकूलो व्यापारो ज्ञेयः । यदा

फलमात्रं धात्वर्थः तदा व्यापारो लकारार्थः। अनुकूलतासम्बन्ध इति मिश्रमतम्। स्वमतेनुकूलं घटं जानातीत्यादिस्थलेपि ज्ञानानुकूलो व्यापारो न त्वाश्रये लक्षणा। 'सर्वस्यापि कारणे पुरुषव्याप्रति'रिति भाष्यात्। सुबोधिन्याम्। भूतेक्तविधानात् पक्षान्तरमाहुः आरब्धवान् वेति। अत्र कर्मणि क्तवतुप्रत्ययप्रयोगः। तत्रोच्यते। कालः कंसमारब्धवानिति विभक्तिभेदेनान्वय इति। कर्तरि प्रयोग इति न चारब्ध इति मूलविरोध इति वाच्यम्, छान्दसस्य क्त वतु स्थाने क्तस्यांगीकारात्। न च रम्भेर्भावे क्तं विधायार्शआद्यचि न छांदसत्वमिति वाच्यम्, तत्रापि भूतकालनिवेशादत्र च तदभावात् यद्यपि क्तवतुरपि निष्ठा तथापि 'बहुलं छंदसी'त्यत्र छंदसीति योगविभागादत्र वाहुलकान्न निष्ठा संज्ञा। ततो न भूते निष्ठा किंतु वर्तमान इति। यद्वा भूतकालः शुकोक्त्यभिप्रायेण। तस्य ग्रहणमिति ग्रहणस्य तन्निष्ठत्वेन कचे अभावात्। न च दृष्टविरोध इति वाच्यम्। करादिग्रहणे करादावग्रहीदिति न प्रयोगः, किन्तु करादिमग्रहीदित्येवेति। विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति त्वगतिकगतिः। फलाश्रये कर्मत्वे सम्भवति कर्मद्वारा क्रियाश्रयत्वस्य कचे सत्त्वेनाधारत्वात्। अत उक्तं तस्या ग्रहणमिति॥ ३५॥

तं जुगुप्सितेत्यत्र शूरोपीति 'विचिन्त्यानकदुंदुभि'रिति वाक्यात्। एतत्समये शूरत्वं विना विशेषेण चिन्तनासम्भवात्। अपिना ज्ञानी। वसुदेवः सत्त्वं सत्त्वं ज्ञानमिति वसुदेवविषयमाहुः कंसबलं चेति। तथा च ज्ञानस्य विषयाविनाभावात् कंसबलं स्वतो दोषाभावविषयकं वसुदेवरूपं ज्ञानम्। स्वत इति किंत्वाकाशवाणीतो दोषस्तस्य भवति कालनेमिप्रवेशकृतो वा। निश्चित्येति तेन चतुर्षु ज्ञानेषु निश्चयात्मकं ज्ञानं वसुदेवरूपमित्युक्तम्। प्रवृत्त इति भूते क्तविधानाद्भूतकालः शुकोक्त्यभिप्रायेण। नन्वेवमतिक्रमकर्तुस्तद्धितत्वाज्ज्ञानं नोपदेष्टव्यमित्यत आहुः नायमिति। वसुदेवस्य स्त्रीकंसयोस्तुल्यदृष्टिरतो न कंसस्याहिते तात्पर्यम्। किन्त्वनुचितत्वान्मारणं निवारणीयमतः कंसाहिताभावस्त्रीमारणाभावोभयसाधकत्वाज्ज्ञानेन प्रतीकारमुवाचेत्यर्थः। दयाविष्ट इति दया कृपा मायेति यावत्। आकाशवाणीवाक्ये मनोद्वाराविष्टः तेन दयायां विष्टः दयाविष्ट इति। 'सप्तमी शौंडै'रित्यत्र सप्तमीति योगविभागात् सहसुपे'ति वा समासः। स्वयमिति कंसः। लज्जा सेति अन्यतो या लज्जा सापत्रपेत्यर्थः। अयुक्त इति ज्ञानरूपत्वादिति भावः। 'जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपो'तिवाक्यात्। उपेक्षायामिति सतिसप्तमी। तस्यां सत्यां उपेक्षासमानाधिकरणमयुक्तत्वं यत् तद्विशिष्ट इत्यर्थः। सर्वप्रकारेण शुद्धसत्त्वरूपत्वाज्ज्ञानप्रकारेणापि मोचयितुं शक्तेऽयुक्तत्वापत्त्या विशेषणाभावप्रयुक्तोऽयुक्तत्वाभावो युक्त इति भावः। 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु योक्त्रे वके स्याद् वसुहट्टके च वृद्धद्यौषधीस्थानधनेषु रत्ने वसु स्मृतं स्यान् मधुरेऽन्यवच्चे'ति विश्वः। दिवु क्रीडाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिष्विति धातुपाठः। तस्य जन्मनीति नवमस्कन्धे प्रसिद्धम्। समाधानार्थमिति कंसकृतस्त्रीमारणाभावार्थम्। अनेनाकाशवाणी वाण्यपि निमित्तसापेक्षेत्युक्तम्। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचि'न्निति वाक्यात् कालेऽर्जुनसापेक्षत्ववत्। तथा च वसुदेवसान्त्वने निमित्ते स्त्रीमारणाभावाद 'स्यास्त्वा'मिति स्ववाक्ये आकाशवाण्याः समाधानं कंसशान्तिस्तदर्थम् वसुदेवोपि मायाभक्तः। 'अचिष्यन्ति मनुष्यास्त्वा'मिति वाक्यात्। अनेन कृपारूपाया अपि क्रोधो निमित्ताभाव इति ज्ञापितम्, वसुदेवस्य मायाज्ञानात्॥ ३६॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्रयाणोपक्रमे तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलं यथा भवति तथा शङ्खादयो वाद्यविशेषा नेदुः॥ ३३॥ असुराणां सम्बन्धस्यानर्थहेतुत्वं तत्स्नेहस्य क्षणिकत्वं च दर्शयंस्ततो यज्जातं तदाह—पथीति द्वयेन। पथि मार्गे प्रग्रहिणं हयरश्मिग्राहकं कंसमाभाष्य रेरे कंसेति सम्बोध्य अशरीरा अदृश्यरूपा वाक् भगवत्प्रेरिता वागभिमानिदेवता सरस्वती आह। तदुक्तमेवाह—यद्यप्युपस्थितं स्वानर्थमज्ञस्त्वं न जानासि, तथाप्यहं त्वां विज्ञापयामीत्याशयेन पुनः सम्बोधयति—अबुधेति। यां स्वभगिनीं वहसे अतिसन्मानपूर्वकं भर्तृगृहं प्रापयसि, तस्या अस्या अष्टमो गर्भस्त्वां हन्ता हनिष्यतीति। पुत्रपदं विहाय गर्भपदोक्तिर्देवकीकन्यायामपि सन्देहार्था। अतएव कन्याहनने कंसः प्रवृत्तो भविष्यति॥३४॥ इत्येवमुक्तः स कंसो भगिनीं हन्तुमारब्धः प्रवृत्तः, अतः खड्गपाणिः संस्तां कचे केशबन्धेऽग्रहीत्। ननु तस्य महति भोजकुले उत्पन्नस्य महाजनसमाजे कथमेवं निन्दिते कर्मणि प्रवृत्तिर्जातेत्याशङ्क्याह—भोजानां कुले पांसनः कलङ्करूप इति। तत्र हेतुमाह—खल इति। दुष्ट इत्यर्थः। तत्रापि हेतुमाह-पाप इति। निरन्तरं पापाचरणेन पापात्मैव जातोऽतो लोको वेदो वा तस्य न कोऽपि बाधक इत्यर्थः॥ ३५॥ एवमासुरसम्बन्धस्यानर्थहेतुत्वं प्रदर्श्य साधुसम्बन्धस्यानर्थनिवर्तकत्वं सूचयन् वसुदेवस्य देवकीरक्षार्थं कंससान्त्वने प्रवृत्तिमाह—तमिति। तं कंसं परिसान्त्वयन् स्तुत्या कृपाविषयत्वेनोपपत्तिभिश्च साममार्गेण सम्बोधयन् वसुदेव उवाचेति सम्बन्धः। तत्र साम पञ्चविधम्, भेदो द्विविधः। तदुक्तम्—'सम्बन्ध—लाभोपकृतिद्व्य-भेदो गुणकीर्तनम्। साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः' इति। तत्र कंसान्न्यूनसम्पत्तिमत्त्वेन दानस्यासम्भवात् अल्पबलत्वेन दण्डस्यासम्भवाच्च सामभेदोपायद्वयमेव कृतवानिति ज्ञेयम्। तद्वधात्तस्य निवृत्तिर्दुष्करेति सूचयन् कंसं विशिनष्टि—जुगुप्सितकर्माणमिति। न केवलमिदं भगिनीहननमेव तस्य गुजुप्सितं कर्म, किन्त्वन्यान्यपि बहूनि जुगुप्सितानि निन्दितानि कर्माणि यस्य तमिति स्वभावतस्तस्य निन्दितकर्मनिष्ठा प्रदर्शिता। तर्हि कदाचिद्दयावशात्तस्य ततो निवृत्तिः स्यात्तदपि न सम्भवति, अतिक्रूरत्वादित्याह—नृशंसमिति। लज्जयापि निवृत्तिर्न सम्भवतीत्याह—निरपत्रपमिति। निर्लज्जमित्यर्थः। तर्हि कथं तं निवर्त्तयितुं वसुदेवः प्रवृत्तस्तत्राह—महाभाग इति। अतिधर्मिष्ठ इत्यर्थः। स्वधर्मसंरक्षणाय तस्य प्रवृत्तिः। अन्यथा दीनोपेक्षया धर्महानिः स्यादित्याशयः। तदुक्तं चतुर्थे—'ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः। स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा' इति॥ ३६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

शङ्खेति । तावद्वाक्यालंकारे । वरवध्वोः प्रयाणस्य प्रक्रमे आरम्भे शङ्खतूर्यमृदङ्गाः दुन्दुभयश्च समं युगपत् सुमंगलं यथा स्यात्तथा नेदुः । भाविमंगलसूचनार्थं स्वयमवाद्यन्त ॥ ३३ ॥ पथीति । पथि प्रग्रहिणं गृहीताश्वरश्मिं कंसमाभाष्य रे कंसेति संबोध्य अशरीरा अलक्षितशरीरा वाक् वक्ष्यमाणं वच आह स्म । हे अबुध ! यां त्वं वहसे भर्तृगृहं प्रापयसि अस्याः अष्टमो गर्भः अपत्यं त्वां हन्ता हनिष्यति । पुत्र इत्यनुक्तिस्तु अग्रे कन्यादर्शने कंसस्य संदेहाभावाय देवक्यां स्वजनन्यामतिस्निग्धं मातुलं कंस कथं हन्यादिति शङ्कया कंसस्यापराधोत्पादनार्थं देवानामियमाकाशवाक् देवकीं हन्तुं स्वयं न शक्त इति तेषां निश्चय एव ॥ ३४ ॥ ल्युट् कर्त्तरि । सः कंसः भगिनीं हन्तुम् आरब्धः प्रवृत्तः । आदिकर्मणि कर्त्तरि क्तः । खड्गपाणिः सन् कचे केशबन्धेऽग्रहीत् ॥३५॥ तमिति । महाभागः भाविश्रीकृष्णजन्मना गाम्भीर्यादिगुणैश्च महाभाग्यः वसुदेवः जुगुप्सितं निन्द्यं कर्म यस्य तं नृशंसं क्रूरं निरपत्रपं निर्लज्जं तं कंसं परिसान्त्वयन् स्तुत्यादिना साममार्गेण बोधयन् उवाच ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

शङ्खेति । हे तात, वरवध्वोः, प्रयाणप्रक्रमे प्रयाणोपक्रमे, सुमङ्गलं, शोभनं मङ्गलं यथा स्यात्तदर्थमित्यर्थः । शङ्खाश्च तूर्याणि च मृदङ्गाश्च ते, दुन्दुभयश्च, समं युगपत्, नेदुर्दध्वनुः । सुमङ्गलमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ३४ ॥ पथीति । ततः पथि मार्गे, प्रग्रहिणं हयरश्मिधरं कंसम्, आभाष्य रे रे कंसेति संबोध्य, अशरीरवाक् अशरीरिणी वाक्, आह । तामेव दर्शयति । हे अबुध, यां भगिनीं, वहसे प्रियचिकीर्षया भर्त्तृगृहं प्रापयसि, अस्यास्त्वद्भगिन्याः, अष्टमः गर्भः, अपत्यपरोऽत्र गर्भशब्दः । त्वां हन्ता हनिष्यति ॥ ३५ ॥ इतीति । इतीत्थम्, उक्त आकाशगिराऽभिहितः, भोजानां कुलपांसनः कुलमलरूपः कुलाधम इति यावत् । खलो मूर्खः, पापः पापात्मा, स कंसः, खड्गः पाणौ यस्य तथाभूतः सन्, भगिनीं स्वप्राणापहारनिदानभूतां, हन्तुम्, आरब्ध उद्यक्तः संश्च, कचे अग्रहीत् केशपाशं जग्राहेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पथि प्रग्रहिणमितिः १०–१–३४

कृत्वोत्तेजितमेव शत्रुमभितः स्वोक्त्या लसत्संधया हन्तव्यः सहसा न जातुचिदपीत्यालोच्य धर्मस्थितिम् ।
शूराणां स्वयमाजिघृक्षुरचिराज्जन्मापि शूरान्वये श्रीशो युक्तमधान्नृशंसमनिशं कंसं गिरोत्तेजितम् ॥ ३६ ॥
यद्भीतिर्मनसि स्थिता विधिबलात्तच्छिक्षकेनाभयं दत्तं चेत्सहि कीदृशोऽपि गतभीस्तस्याग्रतो गर्जति ।
युक्तं ब्रह्ममुखेन दैवतगणो लब्ध्वाम्बुधावाश्रयं दैत्यारेर्गतसाध्वसं नभसि यत्कंसाग्र एवं जगौ ॥ ३७ ॥

पुरोऽरेः स्वसारं समाधाय कुर्यामहं दुष्टनाशं सतां रक्षणं च ।
अभिप्रायमेनं प्रभोर्व्यञ्जयन्ती तदुद्वाह एवोदिता वाक् तदासीत् ॥ ३८ ॥
जगद्गुरुर्मन्दरसानुकूलः सन्मङ्गलः सूर्यविशेषशोभी ।
योऽसावनिष्टोऽष्टम एव सिद्धो भुवीति युक्तं सुरवागवादीत् ॥ ३९ ॥

कृष्णप्रिया

विदाई के समय वर-वधू के मङ्गल के लिये एक ही साथ शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग और दुन्दुभियाँ बजने लगीं ॥ ३३ ॥ मार्ग में जिस समय घोड़ों की रास पकड़कर कंस रथ हाँक रहा था, उस समय आकाशवाणी ने उसे सम्बोधित करके कहा—'अरे मूर्ख ! जिसको तू रथ में बैठाकर लिये जा रहा है, उसकी आठवें गर्भ की सन्तान तुझे मार डालेगी' ॥ ३४ ॥ कंस बड़ा पापी था । उसकी दुष्टता की सीमा नहीं थी । वह भोजवंश का कलङ्क ही था । आकाशवाणी सुनते ही उसने तलवार खींच ली और अपनी बहिन की चोटी पकड़कर उसे मारने के लिये तैयार हो गया ॥ ३५ ॥ वह अत्यन्त क्रूर तो था ही, पाप-कर्म करते करते निर्लज्ज भी हो गया था । उसका यह काम देखकर महात्मा वसुदेव जी उसको शान्त करते हुए बोले ॥ ३६ ॥

वसुदेव उवाच

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः । स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि[1] ॥ ३७ ॥
[2]मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते । अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ३८ ॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही [3]कर्मानुगोऽवशः । देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ ३९ ॥
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति । यथा [4]तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥ ४० ॥

१. कर्मणि–वीर. । २. मृत्युर्धर्मवतां–इति कस्यचित् । ३. कर्मवशानुगः–वीर. । ४. जलूकैवं–श्रीधर वंशी. ज्जीव. वीर. विज. शुक. ; जलौकैव–विश्व. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—शूरः श्लाघनीयगुणः भोजयशस्करः सः भवान् उद्वाहपर्वणि स्त्रियं भगिनीं कथं हन्यात् ॥ ३७ ॥ वीर जन्मवतां मृत्युः देहेन सह जायते अद्य वा अब्दशतान्ते वा प्राणिनां मृत्युः वै ध्रुवः ॥ ३८ ॥ अवशः कर्मानुगः देही देहे पञ्चत्वम् आपन्ने देहान्तरं अनुप्राप्य प्राक्तनं वपुः त्यजते ॥३९॥ व्रजन् एकेन पदा तिष्ठन् यथा एकेन एव गच्छति यथा तृणजलौका (गच्छति) एवं देही कर्मगतिं गतः गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

श्लाघनीयाः स्तुत्या गुणा यस्य सः । भोजकुलस्य यशःसंपादकः । स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्राप्युद्वाहपर्वणि ॥ ३७ ॥ ननु मरणभयान्निहन्मीति चेत् तथापि मरणस्यापरिहरणीयत्वाद्देहांतरस्यावश्यं भावित्वात्तत्रापि च भोगप्रेमास्पदत्वादीनामविशेषान्मरण-भयेन पापाचरणमयुक्तमित्यभिप्रेत्याह । मृत्युर्जन्मवतामित्यादिना । देहेन सहेति विधात्रा ललाटे लिखितत्वादिति । तत्रापि काल-विलंबार्थं हन्मीति चेत्तत्राह । अद्य वेति । अवश्यंभाविनि मरणे विलंबमात्राय पापाचरणमयुक्तमिति भावः ॥ ३८ ॥ किं च । अस्मिन् देहे गते यदि देहांतरं न स्यात्तदा युज्येत पापेनापि तत्पालनम् । न तु तदस्तीत्याह । देहे पंचत्वमिति । आपन्ने आपन्नप्राये कर्मवशादयत्नत एव प्रथमं देहांतरं प्राप्य पश्चात् प्राक्तनं वपुः पूर्वदेहं त्यजतीत्यर्थः ॥३९॥ अत्र दृष्टांतः । व्रजन्निति यथा व्रजन्पुरुषः एकेन अग्रतो निहितेन पदा तिष्ठन्भुवमवष्टभ्य देहं चिभ्रत्पश्चादन्येन पूर्वप्रदेशादुत्थाप्य पुरोनिहितेन पदा गच्छति तद्वत् । अत्र च स्वीकारपरित्यागौ नात्यंतभिन्नविषयाविति स्पष्टम् । दृष्टांतांतरमाह । यथा तृणजलूकेति । सा हि यथा देहार्धेन तृणांतरमवष्टभ्य पूर्वं तृणं त्यजति एवं कर्मपथे वर्तमानो जीवोपि ॥ ४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सामप्रकारमाह–"संबंधलाभाभेदाश्च गुणकीर्तनमेव च । उपकारश्च पंचैव सामभेदा इहोदिताः ॥" इति । श्लाघनीयेति । गुणकीर्त्तनं, भोजेति संबंधः भगिनीमित्यभेदः, स्वहंतृजनन्या अपि स्त्रिया अवधेन धार्मिकत्वयशोरूपलाभः, मम भार्यादानेनोप-कारश्च । स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्राप्युद्वाहपर्वणि तत्रापि भवान्महायशस्वीति हनने ऐहिकं दुर्यशोऽमुत्र नरकपातश्चेति दृष्टादृष्टलक्षण-भेदोपि दर्शितः । वास्तवार्थस्तु—विपरीतलक्षणया श्लाघनीयेषु गुणः कोर्थः शून्यः 'गुणः शून्ये च शब्दादौ' इति कोशात् । भोजाः कलहप्रियाः प्रसिद्धास्तेषां यशः कलहाधिक्यम् । स कथं भगिनीं हन्यादपि तु सर्वं कुलमिति ॥ ३७ ॥ तत्रापि देहांतरेपि । अविशेषा-त्तुल्यत्वात् । तद्भयेन मरणभयेन । अयुक्तमनुचितम् । 'विधात्रा ललाटे' इति "लिखिता चित्रगुप्तेन ललाटेऽक्षरमालिका । आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ॥" इत्युक्तेः । यद्यपि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इत्याद्युक्तेर्मृत्युरप्रतीकार्यस्तथापीति तत्र कालविलंबे अवश्यंभाविनीति । "अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो यदा भवेत् । तदा दुःखैर्न युज्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥" इत्याद्युक्तः । इति भाव इत्याशयः । हे वीरेति । त्वं मृत्योर्भेतुं नार्हसि । यद्वा–नहि वीराः स्त्रीषु प्रहरंतीति भावः ॥ ३८ ॥ अत्र विषयेऽन्यदप्याह–किञ्चेति । तत्पालनं देहपालनम् । तदस्तीति देहांतराभवोस्तीति । अवश इति कर्मानुगत्वात् । यद्वाऽवशो भगवद्वशः । त्यजत इत्यार्प-मात्मनेपदम् ॥ ३९ ॥ अत्र पूर्वदेहपरित्यागदेहांतरस्वीकारे । व्रजन् गच्छन्नित्यर्थः । अवष्टभ्य गृहीत्वा । अत्र च भूमिदृष्टांते च । नात्यंतभिन्नविषयौ एकस्या एव पृथिव्या विषयत्वात् । जलूकेति षष्ठस्वरमध्य पाठोपीति । आहितसंस्कारेण स्थापितसंस्कारेण तदेव श्रुतदृष्टं ततश्चाहमिति मननाच्च । तद्वदत्रापीति । स्वप्नमनोरथवन्मरणावस्थायामपीति । प्राक्तनं पूर्वम् ॥ ४०-४१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्रादौ साम्ना प्रबोधयति—श्लाघनीयेति । भवानित्यादरात् स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्रापि तद्विवाहोत्सवे कथं हन्यात् ? अपि तु हन्तुं नैवार्हतीत्यर्थः । अन्यथा शौर्ययशसोर्हानिः तत्र श्लाघनीयेति गुणकीर्त्तनं भोजेति सम्बन्धः भगिनीमित्यभेदः कथं हन्यादिति स्त्रीवधनिवृत्त्या यशोलाभः उद्वाहेति सन्ततिवृध्योपकारः श्लेषेण शूरेय श्लाघनीया तेभ्यो गुणो गौणः निकृष्ट इत्यर्थः । यदुषु भोजा अपि भद्राः किन्तु तेष्वयमेवैकाकी पापिष्ठ इति किंवदन्त्या तेषां यशस्करः स कथं भगिनीं तन्मात्रं हन्यात् ? अपि तु सर्वमपि स्वकुलं हन्यादेवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ युक्तिभिः पट्श्लोक्या प्रबोधयन् आदौ मृत्योरपरिहार्य्यत्वमाह–मृत्युरिति । तथाचोक्तं "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" इत्यादि हे वीर ! इति प्रोत्साहनसम्बोधनं श्लेषेण अत्र तु वीरत्वं नास्तीत्यर्थः । यद्वा, युद्धमात्रे समर्थः न तु विचारादाविति । कथं देहेन सह जायते इति ज्ञायेत ? तत्राह—अद्यवेति, अवश्यं यत्कार्योत्पादकं यत्तत् तदन्तर्भूतमेवेत्यर्थः । वा शब्दाभ्यां पक्षयोर्द्वयोरपि प्राधान्यं बोध्यते वै एतत्प्रसिद्धमेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ननु, सत्यं मृत्युर्भवितैव किन्तु देहाभावेन भोगाऽसिद्ध्या कञ्चित्कालं भोगार्थं देहरक्षा युक्तैव, तत्राह—देह इति । पञ्चत्वमिति पञ्चभूतैरारब्धत्वेन कदाचि-द्विच्छेदापत्तिश्च घटेतेवेति भावः देहीति देहाद्भिन्नत्वेन तस्य नाशो निरस्तः, देहान्तरप्राप्तौ हेतुः कर्माऽनुग इति कर्म्मणामवश्य-भोग्यत्वात् न च तत्र प्रयासोऽस्तीत्याह–अवशः कर्मवशात् स्वत एव तत्सिद्धेरित्यर्थः । अनुत्यजत इत्यन्वयः । आत्मनेपद-मार्षम् ॥ ३९ ॥ देहीति नित्ययोगे मत्वर्थीयः जलूकेति षष्ठस्वरमध्यः पाठो बहुत्र ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

उक्तिमेवाह—श्लाघनीयेत्यादिभिर्नवभिः । शूरैः श्लाघनीयाः स्तुत्याः गुणा यस्य भोजानां भोजवंश्यानां यशः कीर्तिं करोत्यावहतीति तथा स भवानेवम्भूतत्वात् कथं स्त्रियं तत्रापि उद्वाहकर्मणि उद्वाहाङ्गगृहप्रवेशकर्मणि, पर्वणीति पाठे गृहप्रवेशोत्सवकर्मणीत्यर्थः । तत्रापि भगिनीं हन्याः हन्तुमुद्युक्तोऽसि ॥ ३७ ॥ मन्मरणनिदानभूतत्वाद्भगिनीमपि हन्यामीत्यत्राह—मृत्युरिति । हे वीर ! जन्मवतामुत्पत्तिमतां देहेनैव सह मृत्युर्जायते मृत्युः छायेव देहमुत्पत्तेरारभ्यानुवर्तत एव किन्तु कालमात्रमपेक्षत इति भावः । अतोऽधुना वर्षशतान्ते वा प्राणिनां मृत्युः ध्रुवः निश्चितः अपरिहार्य इति यावत् ॥ ३८ ॥ नन्वब्दशतान्ते जरया जीर्णशरीरमस्तु मृत्युग्रस्तमधुनाविदं कल्याणतरं नवयौवनसंपन्नशरीरमुपेति चेत्पुनरेवंविधं दुर्लभमित्यत आह—देहेति । देहे पञ्चत्वं मरणमापन्ने आप्तुमुद्युक्ते सति देही तद्देहस्थो जीवः कर्मवशानुगः प्राचीनकर्मवश्यतामनुप्राप्तः कर्मानुगुणं शरीरान्तरं प्राप्यैव प्राक्तनं वपुस्त्यजते कर्मानुगुणशरीरान्तरस्यायत्नलभ्यत्वात् एवंविधजुगुप्सितं कर्म संपाद्यस्य शरीरस्य निहीनस्यैवापत्तेस्तादात्मिकं मरणभयमपहाय भगिनीप्राणपरित्राणरूपाच्छुभकर्मणः पुनरितोऽपि कल्याणतरदेहप्राप्तेश्चैषा न हन्तव्या इति भावः ॥ ३९ ॥ "देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः" इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति—व्रजन्निति । इयं प्रसिद्धा तृणजलूका तृणगतकीटविशेषः स यथा व्रजन् गन्तुमुद्युक्तः एकेन पदा पादेन तिष्ठन् तृणमवलम्बयन्नेव एकेन पदेन गच्छति, एवं देही जीवोऽपि पञ्चत्वमापन्नं देहं त्यजन् कर्मगतिं कर्मानुरूपं शरीरं गतोऽधिष्ठितः प्राक्तनं वपुस्त्यजतीत्यर्थः । अणोर्जीवस्य कथं पञ्चतामापत्स्यमानं देहमधितिष्ठत एव पुनर्देहान्तराधिष्ठातृत्वम् ? इति न शङ्कनीयं गेहाद्गेहान्तरं प्रविशत इव स्वोपकरणेन्द्रियप्राणादिप्रापणपूर्वकत्वाद्देहान्तरप्राप्तेर्धर्मभूतज्ञानद्वारा वा देहान्तराधिष्ठातृत्वमिति न विरोधः, यद्वा, देहान्तरपरिग्रहपूर्वकमेव पूर्वदेहपरित्यागे दृष्टान्तस्तृणजलूका छाययेव मृत्युनाऽनुगतत्वाज्जीवदशायामपि मृतप्रायत्वे दृष्टान्तान्तरमुच्यते—व्रजन्निति, यथैकेन पादेन व्रजन् गच्छन् पुरुषः पुनरेकेन पादेन तिष्ठन्नेव गच्छति तद्वज्जीवन्नपि पुरुषः पुनर्मृतप्राय एव सन् जीवतीत्यत एव व्रजंस्तिष्ठन्निति पुंस्त्वनिर्देशः यथाशब्दद्वयञ्च ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो गुणकीर्तनम् । साम्नः पञ्चविधो भेदो दृष्टादृष्टभयम्वचः ॥

इति पञ्चविधं साम ज्ञायते—श्लाघनीयगुणेत्यादिना । श्लाघनीयगुणेति गुणकीर्तनं भोजयशस्करेति कीर्तिलाभकथनं हन्याः स्त्रियमिति स्त्रीवधादकीर्तिलाभसूचनं भगिनीमिति सम्बन्धवचनम् उद्वाहपर्वणीति अपकृतिसूचनम् उद्वाहपर्वणीतिसूचनाद्विवाहोऽयमेव ॥ ३७ ॥ मृत्युर्जन्मवतामित्यादिना अदृष्टभयम् ॥ ३८ ॥ देहे पञ्चत्वमित्यादिना दृष्टभयं कर्म पुण्यपापविषयम् अवशो विष्णुवशः त्यजते त्यजति ॥ ३९ ॥ पूर्वदेहपरित्यागेन देहान्तरप्राप्तौ दृष्टान्तमाह—व्रजन्निति । यथा व्रजन् पुरुषः एकेन पादेन तिष्ठति एकेन गच्छति पूर्वदेशवियोगेन देशान्तरसंयोगमाप्नोति यथा तृणजलूका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति एवं देही कर्मगतिं गतो भवतीत्यन्वयः । कर्मणो गतिराप्तिर्यस्मिन् देहे त्यजति तथा तत्तद्देहान्तरमित्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सम्बन्धलाभावुपकृत्यभेदौ गुणकीर्त्तनमिति प्रथमं पञ्चविधं सामाऽऽह—श्लाघनीयेति गुणकीर्त्तनं भोजेति सम्बन्धः भगिनीमित्यभेदः स्वहन्तृजनन्या अपि स्त्रिया अवधेन धार्मिकत्वयशोलाभः मम स्वभार्याप्राप्त्या परोपकारश्च स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्राप्युद्वाहपर्वणि तत्रापि भवान् महायशस्वीति हनने ऐहिकं दुर्यशः पारत्रिकं नरकश्चेति दृष्टाऽदृष्टभयलक्षणो द्विविधो भेदश्च दर्शितः वास्तवार्थस्तु विपरीतलक्षणया यद्वा श्लाघनीयेषु मध्ये गुणः न्यूनः भोजाः कलहवत्त्वेन प्रसिद्धास्तेषां यशः कलहाधिक्यं स कथमेकां भगिनीं हन्यात् अपि तु सर्वमेव कुलम् ॥ ३७ ॥ तदप्यनिवृत्तं तं युक्त्या प्रबोधयन् भो राजन् ! मृत्युभयेन इमां हंसि चेत् स मृत्युरपरिहार्य एवेत्याह—मृत्युरिति । वस्तुतः तावज्जीवानां जन्ममृत्यू नैव स्तः तदपि देहेन स्थूलदेहसम्बन्धेनैव हेतुना जन्मवतां स प्रसिद्धो ह स्पष्टमेव, मृत्युर्जायते, कदा ? अद्य वा अब्दशतान्ते वा वाशब्दाभ्यां सर्वथैव कालनिश्चयाभावः अब्दशतमध्ये वेत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—मृत्युर्वै इति । "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसीति शास्त्रं स्मारयति हे वीरेति त्वं तु तस्माद्बिभेतुं नैवार्हसीति भावः ॥ ३८ ॥ देहप्राप्तित्यागावेव जीवस्य जन्ममृत्यू तौ त्वावश्यकावेवेत्याह—देहे पञ्चत्वं मृत्युम् आपन्ने आपन्नप्राये देहान्तरं प्राप्य अनु पश्चात् प्राक्तनं वपुस्त्यजति न च विषयभोगसाधनमेव देवो मे नङ्क्ष्यतीति विषीदितुमर्हसीत्याह—कर्मानुग इति । यदि तव सुखभोगादृष्टमस्ति तर्हि तत्रैव प्राप्तव्ये देह एव भोगो भविष्यतीति भावः । तस्मादिदं स्त्रीवधलक्षणं पापं दुःखभोगसाधनं माऽकार्षीरिति द्योतितम् ॥ ३९ ॥ उत्तरदेहप्राप्त्यनन्तरमेव पूर्वदेहत्यागे दृष्टान्तः—व्रजन् गन्ता पुरुषः यथा एकेनाग्रतो निहितेन पदा उत्तरप्रदेशे तिष्ठन्नेव पूर्वप्रदेशादुत्पाट्य पुरो निहितेनैकेन गच्छति न तु युगपद् द्वाभ्यामेव पद्भ्यां पूर्वप्रदेशं परित्यज्यैव उत्तरं प्रदेशं गच्छतीत्यर्थः । अत्र प्राप्तित्यागौ वस्तुतः पृथिव्या एकस्या एवेत्यपरितुष्यन् दृष्टान्तरमाह—यथा तृणजलौकेति । सा हि तृणान्तरमवष्टभ्यैव पूर्वं तृणं त्यजति जलूकेति षष्ठस्वरमध्योऽपि पाठो ज्ञेयः ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यदि जायमानशत्रुभयाद्भवान् स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्राप्युद्वाहपर्वणि हन्यात्तदा शूरैः श्लाघनीयगुणः भोजयशस्करश्च स त्वं कथम् ? अत एवं न कर्तव्यमिति फलितोऽर्थः ॥ ३७ ॥ ननु, मृत्युप्रतीकारार्थमेवं करोमीत्यत्र मृत्युरपरिहार्य इत्याह—मृत्युरिति । मृत्युर्नाम देहस्यान्तः स च जन्मवतां देहे जातेऽहमेव जातोऽस्मीत्यभिमानवतां देहेन सह जायते अन्तवानेव देहः उत्पद्यते इत्यर्थः । नन्वेवं लक्षणं मृत्युमहं न जानामि किंतु दण्डादिनिमित्तेन घटनाशवद्देहविनाशं मृत्युं जानामि तदस्या गर्भो मन्मृत्युनिमित्तो यथा न भवेत्तदर्थमेनां हन्मीत्यत आह—अद्यवेति । निमित्तेनाप्यद्यवाब्दशतान्ते वा मृत्युर्ध्रुव एव ॥ ३८ ॥ किञ्च देहनाशेऽपि देहान्तरप्राप्तिर्भविष्यत्येव देहरक्षणार्थं पापाचरणमयुक्तमेवेत्याशयेनाह—देह इति । पञ्चत्वं पञ्चमहाभूततामापन्ने आपन्नप्राये सति कर्माऽनुगः स्वकृतकर्माऽनुयायी अवशः अस्वाधीनो देही देहाभिमानी जीवः देहान्तरं प्राप्य तन्निष्पादककर्मनिष्ठतया लब्धप्रायं कृत्वा अनु पश्चात् प्राक्तनं वपुस्त्यजते ॥ ३९ ॥ उत्तरतनुग्रहणपूर्वकप्राक्तनतनुत्यागे दृष्टान्तमाह—व्रजन्निति । यथा जनो व्रजन् गच्छन् एकेन पदा तिष्ठन्नुत्तरे स्थले स्थितिं कुर्वन् एकेन गच्छति पूर्वप्रदेशं त्यजति गम्यमानभूप्रदेशस्यैक्यप्रतीतिरतः स्फुटं दृष्टान्तान्तरमाह—यथेति । तृणजलूकाऽग्रिमं तृणं गृहीत्वा पूर्वं तृणं त्यजति एवं देही कर्मगतिं कर्मनिबन्धनीं देहाद्देहान्तरगतिं गतः प्राप्तः ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

आकाशवाणीं च श्रुत्वेयं च न मरिष्यतीति निश्चित्य कथञ्चित् प्रतीकारः कर्तव्य इति प्रतियुद्धादिकमकृत्वा कंसं परितः सान्त्वयन् तिष्ठ तिष्ठ मद्विज्ञापनां शृण्विति वदन्नाकाशवाण्याः समाधानार्थं वक्ष्यमाणमुवाच । आकाशवाण्युक्तं न मिथ्या । अयं च प्रतीकाराथ यतते । तत्र क्रियया प्रतीकारो न भवति ज्ञानेनैव प्रतीकारो भवतीति नवभिः प्राणश्लोकैस्तस्य सर्वं तत्त्वमुपदिशति श्लाघनीयेति । यद्ययं मृत्यौ निरभिमानस्तिष्ठेदक्लिष्टकर्मा भगवान् तं न हन्यात् । अत इदमुपदिश्यमानं देवगुह्यत्वात् प्रतिबन्धकत्वेन फलितम् । वसुदेवोपि भगवता प्रेरित इत्यनधिकारिणमनवसरे बोधयति । आकाशवाणीप्रामाण्येन हि स मारयितुमुद्यतः । सा चेन्मारिता स्यादाकाशवाण्यप्रमाणैव स्यादतोन्य एवोपायश्चिन्तनीयस्तेनापि । अतोनवसरेपि दयया तद्धितमेवोक्तवान् । नवधा एतदकर्तव्यम् । महतो निन्दितकरणमनुचितम् । नायं च प्रतीकारः । नापि प्रतीकारः कर्तव्यः पूर्वदेहस्य मलत्वात् । नापि देहान्तरं दुर्लभम् । नापि पूर्वदेहस्य त्यागे कश्चन प्रयासः । नापि वस्तुतो देहाध्यासव्यतिरेकेण देहिनः स्वतो जन्मास्ति । देहाध्यासश्चाज्ञानादिति ज्ञानेन निवर्तते । किञ्च यावदन्यस्मै न द्रुह्यति तावन्न तस्य भयं भवति । द्रोहे मया वा मन्निष्ठेन वा भगवता तव हननं निश्चितमाकाशवाण्या अमिथ्यात्वात् । लोकस्वभावविरुद्धश्चायमिति । तत्राद्यमन्त्यौ च लौकिकौ । मध्ये षट् पारमार्थिकाः । तत्र प्रथमं तव विगर्हितमनुचितमित्याह । **शूरै**र्जरासन्धादिभिः **श्लाघनी**या **गुणा** यस्य । **शूरः** हि युद्धमभिमन्यन्ते कातरा एव मृत्युं विचारयन्ति । अतोस्याः पुत्रो मारयिष्यतीतिश्रवणे शूराणामुत्साह एव युक्तो न तु स्वशौर्यनाशकं तन्मारणमुचितं 'द्वौ सम्मतामिह मृत्यू दुरापा' विति वाक्यात् । भवांश्च क्षत्रियधर्मे निष्णात इति सर्वैः श्लाघ्यते । किञ्च **भोजयशस्करो भवान्** भोजवंशे नैतादृशः शूर इति । अतः स्वधर्मकीर्तिजनकत्वाकाशवाणीवाक्यश्रवणेन वधो नोचितः । किञ्चैतादृशयशोधर्मयुक्तो दयापात्रं **भगिनीं कथं हन्याद्** यदर्थं लोकाः स्वयं म्रियन्ते ? किञ्च **स्त्रियम्** । स्त्रीवधोनुचितः शूराणाम् भगिन्यपि कदाचित् क्षत्रियवंशोद्भवत्वाच्छौर्यमवलम्बते तादृश्यपीयं न भवति । सा तु पुम्प्रकृतिका भवति । इयं तु स्त्र्येवेति न पुनरुक्तिः । किञ्च वधे कर्तव्येपि कालान्तरे कर्तव्यो न तु विवाहोत्सवे । लौकिका राजानो मारणीयं विषादिनापि मारयन्ति । तस्माच्छौर्यादिधर्मवतस्ते नेदमुचितम् ॥ ३७ ॥ किञ्च यदियं हन्यते तन् मृत्युप्रतीकारार्थं न तु वैरभावेन न च मृत्युरस्यां हतायां प्रतिकृतो भवति सहजत्वादित्याह **मृत्यु**रिति ।

नापि विलम्बार्थम् । वाणीवचनादेव नेयं हन्ति नापि हनिष्यति । अस्या अप्यष्टमो गर्भः शीघ्रमेव हनिष्यतीतिवाक्यमस्ति । अथ कदाचिद्धनिष्यतीतिशङ्का तन्नित्यमृत्योरनेनान्येन वा हननं सिद्धमिति नायं प्रतीकारः । तदाह **जन्मवतामुत्पन्नानां मृत्युर्देहेन सहैव जायते** । 'मृत्युनैवेदमावृतमासी' दित्युपाख्याने भगवान् मृत्योः सकाशात् प्राणिनो बहिः कृत्वा तेषामन्तर्मृत्युं पातितवान् । 'अशनाया मृत्युरेवे'तिश्रुतेः । अशनायारूपो **मृत्युर्देहेन सहैव जायते** । तस्मात् प्रत्यहमनुभूयमानो मृत्युर्नित्य इति । अद्य वाब्दशतान्ते वा प्राणिनां **मृत्युः** सिद्ध एव । वीरेतिसम्बोधनमेवङ्कथनेपि भयाभावाय । अब्दशतान्ते **मृत्युः** सर्वेषामभिमत इति तदेव वाकाशवाणी सत्या भविष्यतीति न मारणमुचितमिति भावः ॥ ३८ ॥ न च देहत्यागे क्लेशो भविष्यतीति क्लेशनिवृत्त्यर्थमौषधपानवदस्या मारणमुचितमित्याह **देह** इति । **देहे पञ्चत्वमापन्ने** पञ्चमहाभूतेष्वंशतो लीने सत्ययं देहाभिमानी जीवो **देहान्तरं** नवीनं कल्याणतरं **प्राप्य प्राक्तनं** मलप्रायं **वपुस्त्यजते** ग्रहणे त्यागे वा नास्य प्रयासोस्ति यतः **कर्मानुगः** कर्मणैव तथोपस्थाप्यते । नाप्यस्य प्रयत्नापेक्षा यतोवशः । **अनुप्राप्य**पि कालविलम्बो निराकृतः । अतः प्रयासाभावादौषधवदप्यस्या मारणमयुक्तम् ॥ ३९ ॥ किञ्च देहान्तरप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीत्यपि न शङ्कनीयमित्याह **व्रजन्नि**ति । यथा गच्छन् पुरुष **एकेन पदा तिष्ठन्नेकेन गच्छति** । प्रथमतः स्थितिः पश्चाद्गतिस्तथा प्रथमतो देहान्तरग्रहणं पश्चादस्य परित्यागः । गमने देशभेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद् दृष्टान्तरमाह यथा **तृणजलौके**ति । तृणान्तरे स्थित्वा पूर्वतृणं त्यजतीति प्रत्यक्षसिद्धम् । यथात्र बुद्धिप्रयत्नो तथा देहान्तरे कर्मगतयः । तदाह **कर्मगति** गत इति **कर्मगति** देवतिर्यगादिदेहम् ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

व्रजन्नित्यत्र—कर्मगतय इति । 'तदेव तत्सहकर्मणैतल्लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्ये'तिश्रुतेः **कर्मगतय** एव बुद्धिप्रयत्न-स्थानीया इत्यर्थः ॥ ४० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अग्रिमश्लोकाभासमाहुराकाशेति । **प्रतीकारार्थ**मिति । आकाशवाण्युक्तस्य हननस्य प्रतीकारार्थमित्यर्थः । **कंसेन क्रियमाणो न प्रतीकारः किन्तु वसुदेवोक्तः** । यदि कंस इदमङ्गीकुर्यात्तदा प्रतीकारः स्यादेवेतिभावः । सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **प्राण-श्लोकै**रिति । 'नव वै पुरुषे प्राणा इति श्रुतेः प्राणरूपैः श्लोकैः 'प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानमि'ति श्रुतेर्ज्ञानजनकैरित्यर्थः । 'अर्वा-ग्बिलश्चमस' इति श्रुत्युक्ताः सप्त द्वाववाञ्चाविति नव प्राणा ज्ञेयाः । **सर्वं तत्त्व**मिति । पारमार्थिकं लौकिकं च सिद्धान्तमित्यर्थः । **श्लाघनीयेत्यत्र—प्राणश्लोकै**रपि तत्त्वोपदेशे मरणानिवृत्तौ हेतुमाहुर्**य्ययमिति** । **अक्लिष्टकर्मे**ति । क्लिष्टमिति भावे क्तः क्लेश इत्यर्थः । ततो 'र्श आद्यच्' क्लेशयुक्तमित्यर्थः । न तादृशं कर्म यस्येत्यर्थः **देवगुह्यत्वा**दिति । **देवो** भगवांस्तत्कृतं **गुह्यम्** । **श्लाघनीये**त्यादि । प्रशंसया तस्याभिमान एवोत्पन्नो येन ज्ञानरूपप्रतीकारानङ्गीकारोतोभिमानजनकत्वादिदं मरणनिवृत्त्यर्थमुपदि-श्यमानं प्रत्युत तन्निवृत्तौ प्रतिबन्धकं जातम् । तथा च श्लोकानां प्राणरूपत्वेप्यस्यानधिकारित्वेन भगवताभिमानजननान्मरणमिति सूचितम् । तर्हि वसुदेवः कथं बोधितवानित्यत आहुर्वसुदेवोपीति । **देवगुह्यत्वा**भिमानजननार्थं भगवता प्रेरित इत्यर्थः । **किञ्चे**ति । अन्त्ययोर्लौकिकत्वेन मध्यस्थितषड्भ्यो विभेदसूचनाय **किञ्चे**त्युक्तम् । **मन्निष्ठेन वा भगवते**ति । मद्धृदयस्थेन वासुदेवेनेत्यर्थः । इदं निबन्धे स्फुटम् । नन्वस्याः पुत्रो मारयिष्यतीत्याकाशवाण्योक्तमतोन्यस्मान्मम कथं मरणमित्यत आहुराकाशेति । मिथ्यात्वं तु देवकीद्रोहे सति तत्पुत्रासम्भवाज्जातमेवेत्यर्थः । स **कथं हन्या**दित्यनेन स्वहस्तेन साक्षाद्धननस्य निषिद्धत्वाच्छेषाभ्यनुज्ञान्यायेन प्रकारान्तरमारणमभ्यनुज्ञातमिव जातमित्याशयेनाहुर्**लौकिका** इति । एवं वा कर्तव्यमित्यर्थः । **नेदमि**ति । साक्षाद्धननं नोचित-मित्यर्थः ॥ ३७ ॥ **मृत्यु**रित्यत्र—वाणीवाक्ये गर्भपदेन बाल्य एव हनिष्यतीति सूचितमित्याशयेनाहुः **शीघ्रमेवे**ति । तथा च गर्भ-पदमुक्त्वा तदर्थोनेन विवृत इति ज्ञेयम् । पञ्चाग्निविद्यायां 'गर्भः सम्भवती'ति छान्दोग्यश्रुतौ 'पुरुषवचसो भवन्ती'तिप्रश्नैकवाक्यतायै 'पुरुषः सम्भवती'तिबृहदारण्यकैकवाक्यतायै च गर्भपदेन बालः पुरुषः उक्तः । 'योनेः शरीर'मितिसूत्रे व्युत्पादितं च । प्राणिन इति । अप्राणिनामशनायारूपोन्त्यमृत्युर्न किन्तु बहिर्धर्मैरेव तेषां नाश इति भावः । **तदैवे**ति । अब्दशतसन्निहितकाल एवाष्टमो गर्भः सम्भविष्यतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ **व्रजन्नित्यत्र—कर्मगति**मिति । **कर्मणा गतिः** प्राप्तिर्यस्य तादृशं देहमित्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीबुभुत्सुबोधिका

श्लाघनीयगुण इत्यत्र आकाशवाण्याः समाधानार्थं यततेऽयं अतो ज्ञानेच्छे पूर्वं वाच्ये । तत्राकाशवाण्युक्तस्त्रीमरण-प्रतीकारश्च विषये ज्ञाने तादृशं ज्ञानमिच्छाविषयः । तादृशीच्छा यत्नविषयः । तदाहुः आकाशवाणीत्यादिना । अयमिति कंसः । क्रियेति वेदरूपवसुदेवस्य क्रिया ज्ञानं वा शक्तिः प्रतिपाद्येति द्वयोरुक्तिः । ज्ञानेनैवेति अत्र ज्ञानयत्नावुक्तौ । तत्र श्रुतिः 'यत् मनसा ध्यायति तत् करोती'ति श्रुतिः । अत्रापीच्छा ज्ञेया । कंसेन क्रियमाणो न प्रतीकारः । देवकीमरणेऽप्यन्यथा मारयेद् भगवानाकाशवाणी वा । किन्तु वसुदेवोक्तः प्रतीकारः । यदि कंस इदमङ्गीकुर्यात् तदा प्रतीकारः स्यादेवेति भावः । प्राणश्लोकैरिति एकस्य वसुदेवप्राणस्य नव श्लोकाः परिणाम इति स्फुटम् । वायुः शब्दतामापद्यत इति प्राञ्चः । तथा च प्राणात् श्लोकैः । प्राणश्लोकैः । सम्बन्धः जन्यजनकभावः । प्राणात् ते श्लोका इति विग्रहे कर्मधारयः । कुतोत्र प्राणान् नव प्राणश्लोकाः । उच्यते प्रश्नोपनिषदि । 'अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ भगवन् कत्येव देवाः प्रजा विधारयन्ते कतर एतत् प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति, तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथ्वी वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामस्तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारया-मीती'ति । 'एनं' पिप्पलादम् । 'भार्गवो' गोत्रेण विदर्भस्यापत्यम् । 'एतत्' प्रजारूपं कार्यम् । 'स' इति पिप्पलादः । 'त' इति बहुष्वनियमात् वाय्वन्तो द्वन्द्वः । बाणं 'प्रकाश्य' । 'बाण'मिति शरीरम् । 'अहं' वरिष्ठ आसन्यः प्राणः । अत्राकाशादीनि नवैव । यद्यपि दश प्राणाः तथाप्युपदेशाश्छान्दोग्ये नवेति तद्बीजरूपाः प्रश्नोक्ता नवोपात्ताः । 'नव वै पुरुषे प्राणा' इति श्रुतेः । सर्वं तत्त्वमिति स्वस्य वेदत्वेन मोक्षरूपवासुदेवाविर्भावस्थानत्वेन च पारमार्थिकं लौकिकं च सिद्धान्तम् । नवसु त्रयोविंशतितत्त्वाना-मन्तर्भावात् सर्वमिति पदम् । जन्मप्रकरणत्वात् सङ्ख्यातात्पर्यम् । जातेष्टौ सङ्ख्यातात्पर्यस्योक्तत्वात् । उपदिशतीति प्राणरूपैः श्लोकैरुपदिशति 'प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञान'मितिश्रुतेर्विज्ञानजनकत्वात् । प्राणश्लोकैरपि तत्त्वोपदेशेऽप्यपमरणानिवृत्तौ हेतुमाहुः यय्ययमिति । मृत्याविव्यपमृत्यौ सतिसप्तमी । 'अप पुनर्मृत्युं जयता'त्यारण्यकात् । अपमृत्युमिति योजना । श्रुत्यां निष्क्रान्तोभि-मानादिति निरभिमानः । अक्लिष्टेति क्लिश तापे दि० आ० से० भावे क्तः । न क्लिष्टं तापरूपं कर्म यस्य । निरभिमानं कंसं वृथा न तापयेत् । तं नेति अतस्तं कंसं न हन्यात् । कंसवधः क्लिष्टकर्म स्यादितिभावः । अत इति साभिमानत्वात् । उपदिश्य-

मानमिति युक्तत्वकारकम्। 'नैव किञ्चित् करोमी'ति गीतातः, 'नायं हन्ति न हन्यते' इति वा गीता। देवगुह्यत्वादिति देवस्य भगवतो गुह्यत्वात्। यथा राजगुह्ययोगाध्याये राजगुह्यं तथेदं देवगुह्यम्। गुह संवरणे भ्वा० उ० वेट् देवसंवरणीयत्वात् असुरावेशिनः कंसस्याज्ञातं सज् ज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन फलितम्। मृत्युरूपस्वभावप्रतिबन्धकत्वार्थं न फलितं च। 'श्लाघनीये'त्यादिप्रशंसया तस्याभिमान एवोत्पन्नो येन ज्ञानरूपप्रतीकारानङ्गीकारोऽतोभिमानजनकत्वादिदं मरणनिवृत्त्यर्थमुपदिश्यमानं प्रत्युतापमरणनिवृत्तौ प्रतिबन्धकं जातम्। तथा च श्लोकानां प्राणरूपत्वेप्यस्यानधिकारित्वेन भगवताभिमानजननादपमरणमिति सूचितम्। तर्हि वसुदेवो विपरीतं फलिष्यतीति ज्ञानात्मा कुत उक्तवानित्यत आहुः वसुदेव इति। भगवतेति तन्निष्ठत्वात्सुदेवेन प्रेरित इत्युपदिश्यमानतत्त्वेनानुमीयते। वसुदेवस्य वेदत्वाद् वासुदेवस्य प्रतिपाद्यत्वेन वसुदेवस्य ज्ञानत्वे विषयत्वेनेति ध्येयम्। तेनापीति कंसेनापि। 'दैवमप्यनृतं वक्ती'ति कंसवाक्यात् कंसस्यर्तवचनत्वज्ञानं दैवे आकाशवाण्यां यतः। अत इति हिताया आकाशवाण्या मिथ्यात्वापत्तेः। एतदिति स्त्रीहननम्। नवश्लोकार्थानाहुः महत इति। अन्त्ययोश्च श्लोकयोर्लौकिकत्वेन मध्यस्थितषड्भ्यो भेदसूचनायाहुः किञ्चेति। अष्टमस्यार्थः। यावदन्यस्मा इति मन्निष्ठेनेति मद्धृदयस्थेन वासुदेवेन। इदं निबन्धे स्फुटम्। नन्वस्याः पुत्रो मारयिष्यतीत्याकाशवाण्योक्तमतो नान्यस्मान् मरणमित्यत आहुः आकाशेति। मिथ्यात्वं तु देवकीद्रोहे सति तद्गर्भासम्भवाज् जातमेवेति। 'अमिथ्यात्वा'दिति पाठे स्पष्टम्। मन्निष्ठेत्युक्तस्य देवकीगर्भत्वं भावि। नवमश्लोकार्थमाहुः लोकस्वभावेति। लोकव्यवहारविरुद्धः। आद्यमिति पद्यम्। अन्त्याविति श्लोकौ। 'लौकिका' इति पाठे आद्यमन्त्यौ च लौकिका इत्यर्थः। द्वन्द्वे परवल्लिङ्गात् पुंस्त्वम्। षडिति श्लोकाः। तन्मारणमिति स्त्रीमारणम्। 'भवान् भोजयशस्कर' इति व्याकुर्वन्ति स्म किञ्च भोजेति। यशआकारमाहुः भोजवंश इति। विसर्गिगुणो यशः शूरकर्मणः। अतः स्वकर्मकार्तीति अतः यशोवत्त्वात्, स्वधर्मस्य कर्मणो वा कीर्तियशस्तज्जनकत्वाद् भोजयशस्करत्वादित्यस्यार्थः। वध इति अयशस्करः। 'स कथ'मित्यर्थमाहुः किञ्च एतादृश इति। 'स्त्रिय'मित्यस्यार्थं पुनरुक्त्यभावायाहुः किञ्च स्त्रीति। न पुनरिति भगिनीपदेन तथा। 'उद्वाहपर्वणी'त्यस्यार्थमाहुः किञ्च वध इति। विवाहोत्सव इति पर्वशब्दार्थोयम्। तेन 'पूषा ते ग्रन्थिं ग्रथ्ना'त्वित्यत्र नवार्थ्यां 'ग्रन्थिः पर्वणि कौटिल्ये' इति, 'पर्व सन्धौ उत्सवे चे'ति च विश्वः। लौकिका इति एवं वा कर्तव्यमित्यर्थः। भेदमिति साक्षाद्धननम्॥ ३७॥

मृत्युरित्यत्र नायं च प्रतीकार इति पूर्वभेदेनारभ्यत इत्याहुः किञ्चेति। 'किञ्चारम्भे च साकल्य' इति विश्वः। सहजेति मृत्योः सहजत्वात्। नापीति सहजत्वेपि मृत्योर्विलम्बार्थम्। अयं प्रतीकार इत्यर्थः। वाणीति वाणीवचनादेव नेयं हन्ति। अस्यापीति भागुरिमतेनाकारलोपः। 'वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो'रितिवाक्यात्। अस्याः पि। इति न पुनर्विसर्गः। क्लिष्टत्वात्। वाणीशब्दे गर्भपदेन बाल्यावस्थोक्तेः तस्यामेवावस्थायां हनिष्यतीति सूचितमित्याशयेनाहुः शीघ्रमेवेति। अथेत्याकाशवाण्या भिन्नप्रक्रमे। कदाचित् कस्मिंश्चित् कंसलालनादिकाले बालः सार्धद्विवर्षः कुमारः पञ्चवर्षः अज्ञत्वात्। युवा ज्ञः। स्थविरः प्राज्ञः। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। कंसं कदाचिद्धनिष्यति आकाशवाणीप्रामाण्यात्। तन्नित्येति अपमृत्युजनकं हननम्, नित्यमृत्युरग्निः, बृहदारण्यकात्, तत्सम्बन्धि अत्यन्तविस्मृतिरूपमृत्योरनित्यत्वं औषधादिनाश्यत्वम्। अनेनेत्यादि गर्भावस्था बाल्यावस्थाऽतो बालेन अन्येनापमृत्युकारणेन। नायं प्रतीकार इति किन्तु प्राणश्लोकैर्मृत्युव्यतिवहनं प्रतीकारः। 'सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरँह्यस्याः मृत्युः दूरँह वा अस्मान् मृत्युर्भवति य एवं वेदेति श्रुतेः। तदाहेति तत् तस्मात् प्राणश्लोकमाहेत्यर्थः। जन्म उत्पत्तिरित्याशयेनाहुः उत्पन्नानामिति। इत्युपाख्यान इति बृहदारण्यकेस्ति। अत्र 'मृत्यु'र्नित्यमृत्युः। 'इदं' जगत्। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति मुण्डश्रुतेराहुः भगवान् मृत्योरिति। मृत्युरत्र 'यथाग्ने'रितिश्रुत्युक्तोऽग्निः। लोकदृष्ट्याहुः तेषामन्तरिति। अशनयेति 'अशनाया हि मृत्यु'रित्यपि पाठस्तदर्थो वा। अशनाशब्दात्सोर्याट्। अशनयेति पक्षे प्रथमार्थे तृतीया। 'हि'निश्चये। मृत्युरिति अशनारूपो न नित्यः, तस्य सर्वतः सत्त्वात्। अशनारूपो मृत्युर्नित्यमृत्योर्देहः। 'यास्ते अग्ने घोरास्तनवः क्षुच्च पिपासा चे'त्यादिश्रुतेरारण्यके। नित्य इति नित्यधर्मस्य नित्यत्वनियमात्। भगवदैश्वर्यादिवत्। अब्देति अब्दं वर्षम्। सर्वेषामिति। 'शतायुर्वै पुरुष' इति श्रुतेः। तदैवेति अब्दशतांतकाले। आकाशवाणीत्यादिनान्वयः॥ ३८॥

देहे पञ्चत्वमित्यत्र इत्याहेति इति हेतोः समाधानमाह। कल्याणतरमिति बृहदारण्यके शारीरकब्राह्मणेस्ति। नित्यक्रीडास्थकलित्वात् कल्याणान्तरं राजत्वेपि। तथेति देहित्वेन। स्वप्नवत्। एवकारेण विद्यापूर्वप्रज्ञयोर्योगं व्यवच्छिनत्ति। तेनात्र वेदसारत्वं श्रीभागवतस्य। कर्मकाण्डार्थत्वात् कर्मणः। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति बृहदारण्यके वेदान्ते। कालविलम्ब इति न च गरुडपुराणे 'त्र्यहं वसति तोयेषु त्र्यहं वसति चाग्निषु, एकाहं वायुतो भूत्वे'त्येवं दशाहमृत.स्थितिरुक्तेति तस्य विरोध इति शङ्क्यम्। तोयादीनामपि देहत्वात्, दिह उपचय इति धातुपाठात्॥ ३९॥

व्रजन्नित्यत्र किञ्चेति पूर्ववत्। बुद्धीति तृणान्तरे बुद्धिप्रयत्नौ। तृणान्तरविषयिणी बुद्धिः प्रयत्नश्च। कर्मगतय इति 'तदेव सक्तस्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्ये'तिश्रुतेः कर्मगतय एव बुद्धिप्रयत्नस्थानीया लिङ्गस्य ज्ञानकर्मेन्द्रियरूपत्वादित्यर्थः। कर्मणा गतिः प्राप्तिर्यस्य लिङ्गदेहस्य सविशेषकर्मगतिः। गतिर्ज्ञानेच्छे अनुमापयति। कर्मणा गतिः प्राप्तिर्येषां प्रयत्नज्ञानशब्दादीनामिति कर्मगतय इति सिद्धम्। 'तदेव' जीवस्वरूपं 'सक्तं' वस्तु कर्तृ 'तं'लिङ्गं 'कर्मणा सहैति'। 'अथा खल्वाहु'रिति सकामप्रकरणस्य

भिन्नप्रक्रमान्नात्र लिङ्गैक्यं निश्चितं सदुपयुज्यते, किन्तु सन्दिग्धम्। किञ्च विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञारब्धं लिङ्गान्तरं वक्तुं शक्यते काममयपुरुषप्रकरणात् पूर्वप्रज्ञा विषयानुभवः। अतो लिङ्गस्य सत्त्वात् उत्पन्नत्वाद्वा लिङ्गं मनो मनःप्रधानत्वाल्लिङ्गस्येति व्याख्यानं टीकोक्तं न सङ्गतम्। अतस्तल्लिङ्गमेतीति सिद्धम्। कर्मगतिमिति गतिः फलम्। कर्मणा गतिः प्राप्तिर्यस्य लिङ्गदेहस्य सविशेषकर्मगतिः ताम्। तिर्यगादीति देहो लिङ्गादिः। यथासम्भवम्॥ ४०॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्रादौ गुणकीर्तनं करोति—श्लाघनीयगुण इति। शूरैर्जरासन्धादिभिः श्लाघनीया गुणाः शौर्यादयो यस्य सः। अतः स्वसम्बन्धिनां भोजकुलोत्पन्नानां यशः करोतीति तथा सः। एतादृशो भवान् उद्वाहपर्वणि विवाहोत्सवे जनसमाजे कथं भगिनीं हन्यात्? अत्र वधोऽत्यन्तमनुचितो निन्दातिशयहेतुत्वात्। भगिनीमित्यनेनाभेदो दर्शितः। तेन सह स्वसम्बन्धोऽपि सूचितः। स्त्रियमित्यनेन स्वशत्रुजननीवधान्निवृत्त्या तव महद्यशोलाभो भविष्यति, अन्यथा भयसूचकेनैतद्वधेन प्रसिद्धमपि शूरत्वं दूषितं स्यादित्याशयेन सूचितम्। उद्वाह—पर्वणीत्यनेन सन्तानवृद्ध्या मयि महानुपकारस्त्वया कृतः स्यादिति सूचितम्॥ ३७॥ स्वमृत्युप्रतीकारायैवेयं हन्यते इति चेत्, "अस्या हननेऽपिमृत्युर्न प्रतिकृतो भविष्यति, तस्य सहजत्वात्" इत्याह—मृत्युरिति। 'मृत्युतोऽपि भयं तव नोचितं, वीरत्वात्' इति सूचयन् सम्बोधयति—वीरेति। जन्मवतां प्राणिनां देहेन सहैव मृत्युर्जायते, जननसमय एव प्रारब्धकर्मानुसारेण विधात्रा ललाटे लिखितत्वात्। 'अद्य वाऽब्दशतान्ते वा' इति वाकारद्वयमनास्थाद्योतकम्। तथा च वर्षशतमध्ये मृत्युः कदा भविष्यतीति सन्देहेऽपि तदन्ते तु ध्रुवो निश्चित एव। वै शब्देन "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" इति शास्त्रसम्मतिं सूचयति॥ ३८॥ ननु सत्यमब्दशतान्ते मृत्युर्भविता, तथापि देहाभावे भोगासम्भवात्तदर्थं तावद्येनकेन प्रकारेणापि देहरक्षा युक्तैवेत्याशङ्क्य प्रारब्धवशाद्देहान्तरप्राप्तेरावश्यकत्वमाह—देह इति। देहे पञ्चत्वं पञ्चमहाभूतात्मत्वमापन्ने प्राप्तुमुद्युक्ते सति देही तत्रस्थो जीवः कर्मोपस्थापितं देहान्तरमनुप्राप्यैव प्राक्तनं पूर्वसिद्धं वपुस्त्यजते त्यजति। एवं देहत्यागे ग्रहणे वा तस्य स्वतन्त्रता नास्तीत्याह—अवश इति। तत्र हेतुमाह—कर्मानुग इति स्वकृतं कर्मानुगच्छतीति तथा॥ ३९॥ एतदेव दृष्टान्तैरुपपादयति—व्रजन्निति द्वयेन। यथा व्रजन् गच्छन् पुरुष एकेनाग्रतो निहितेन पदा तिष्ठन् भुवमवष्टभ्य देहं बिभ्रन् पश्चादन्येनैकेन पूर्वप्रदेशादुत्पाट्य पुरो निहितेन गच्छति, तथा देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं वपुस्त्यजति। अत्र दृष्टान्ते चरणौ द्वौ भूमिस्त्वेका। दार्ष्टान्तिके तु जीव एको देहौ च द्वाविति वैषम्यमाशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह—यथेति। तृणजलौका कीटविशेषः। सा यथा तृणान्तरमवष्टभ्य पूर्वं तृणं त्यजति, एवं कर्मगतिं गतः कर्ममार्गे वर्तमानो जीवोऽपि देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं वपुस्त्यजतीत्यर्थः॥ ४०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत्र पञ्चविधं सामाह—श्लाघनीय इति। यो भवान् शूरैः श्लाघनीया गुणा यस्य सः भोजानां यशस्करश्च स स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्रापि उद्वाहरूपे पर्वणि कथं हन्यात्। अत्र श्लाघनीयेति गुणकीर्त्तनं भोजेति संबन्धः। भगिनीमित्यभेदः स्त्रिया अवधेन धार्मिकत्वयशोलाभः मम भार्याप्राप्त्या परोपकारश्चेति पञ्चविधमपि साम दर्शितम्। यशस्वीति स्त्रीहनने इह दुर्यशोऽपरत्र नरक इति द्विविधो भेदो दर्शितः। यदुक्तम्। "सम्बन्धलाभावुपकृत्य भेदौ गुणकीर्त्तनम्। साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः" इति। वाग्देवी तु कंसं निन्दत्येव तथाहि शूरैः श्लाघनीयेषु मध्ये गुणः न्यूनः भोजाः कलहवत्त्वेन प्रसिद्धास्तेषां यशः कलहाधिक्यं तस्य कारकः। यद्वा भोजा महान्तस्तेष्वयमेकः पाप इति तेषां यशस्करः स कथमेकां भगिनीं हन्यात् अपि तु सर्वमेव कुलम्॥३७॥ मरणभयेन हन्मीत्याशङ्क्याह—मृत्युरिति॥ हे वीर भयानर्ह! जन्ममृत्युरहितानामपि जीवानां देहेनैव हेतुना जन्मवतां देहसंबन्धनिमित्तो मृत्युर्देहेन सहैव जायते भाल एव लिखितत्वात्। वै प्रसिद्धो। अवश्यं मर्तव्ये विलम्बमात्राय पापं न कार्यमित्याह। अद्यैव वा अब्दशतान्ते वा प्राणिनां मृत्युः ध्रुव एव॥ ३८॥ यद्वा देहप्राप्तित्यागावेव जन्ममृत्यू तौ त्वावश्यकावेवेत्याह—देह इति॥ कर्मानुगः कर्मानुसारः अवशः देही देहे पञ्चत्वं मृत्युम् आपन्न आपन्नप्राये सति देहान्तरं प्राप्य अनु पश्चात्प्राक्तनं वपुस्त्यजते त्यजति। तङार्षः॥ ३९॥ अस्मिन् देहे मृते पुनरपि देहान्तरमपि लभ्यतेवेति देहपालनार्थमपि पापं न कार्यमित्याह—व्रजन्निति॥ यथा व्रजन् गन्ता पुरुषः एकेनाग्रतो निहितेन पदा तिष्ठन्भुवमवष्टभ्य देहं बिभ्रत् पश्चादन्येन पूर्वप्रदेशादुत्थाप्य पुरो निहितेन गच्छति ननु द्वाभ्यामेव युगपत् एवं कर्मगतिं कर्ममार्गं गतः देही जीवोऽपि देहान्तरं प्राप्य प्राक्तनं वपुस्त्यजति। अत्र स्वीकारपरित्यागौ नात्यन्तभिन्नावित्याशङ्क्य स्पष्ट दृष्टान्तमाह। यथा वा तृणजलौका सा हि यथा तृणान्तरमवष्टभ्य पूर्वं तृणं त्यजति। जलूकेति पञ्चस्वरमध्योऽपि पाठः। एवं कर्मगतिं गतः अन्यो देही अपि॥ ४०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति। जुगुप्सितं निन्दितं कर्म भगिनीवधोद्योगरूपं यस्य तम् अत एव, नृशंसमतिक्रूरं, अत एव, निरपत्रपं निर्लज्जं, तं कंसं, परिसान्त्वयन्नुपच्छन्दयन्, महाभागो महाभाग्ययुक्तः, महाबुद्धिमानिति यावत्। वसुदेवः उवाच। महाभाग इत्यस्यायं भावः। स्वजन्मनि हर्षेण देवैरानकदुन्दुभिघोषणाद्भाविभगवतारेण शक्याऽऽवत् प्रतीकारता संभवतीति स्तुत्या कृपाविषयत्वे-

नोपपत्तिभिश्च सामवेदमार्गेण संबोधयन्नुवाचेति । ॥ ३७ ॥ तत्र साम पञ्चविधं, भेदो द्विविधः, तदुक्तम् संबन्धलाभोपप्रकृतिरभेदो गुणकीर्त्तनम् । साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभय वचः' इति । तदादौ गुणकीर्त्तनादिकमाह । श्लाघनीयेति । हे राजन् , भवान् , शूरैः श्लाघनीयाः स्तुत्या गुणा यस्य सः, भोजानां भोजनृपवंश्यानां राज्ञां यशः कीर्तिं करोत्यावहतीति तथाभूतः, भवति । स भवान् , स्त्रियं तत्रापि, भगीनीं उद्वाहपर्वणि, कर्मणीति पाठे, उद्वाहाङ्गभूतगृहप्रवेशकर्मणि कथं हन्यात् । कथमुद्युक्तोऽस्त श्लाघनीय-गुण इति गुणकीर्त्तनं, भगिनीमिति संबन्धकथनं, हन्यादिति स्त्रीवधनिवृत्या यशःप्राप्तिरूपो लाभः, केचित्तु भोजयशस्कर इति कीर्त्तिलाभकथनमित्याहुः । उद्वाहपर्वणीति संतानवृद्ध्योपकारः,, पुत्रिकोपमेति अभेदो वक्ष्यते । एवं पञ्चापि सामभेदाः ॥ ३८ ॥ दृष्टभयभेदं दर्शयन् मन्मरणनिदानभूतत्वाद्भगिनीमपि हन्यामिति चेन्मरणस्यापरिहरणीयत्वाद्देहान्तरस्यावश्यंभावित्वात्तत्रापि भोग-प्रेमास्पदत्वादीनामपि विशेषात्तद्भयेन पापाचरणमयुक्तमित्यभिप्रेत्याह । मृत्युरिति । हे वीर, जन्मवतामुत्पत्तिमतां, देहेन सहैव, मृत्युः जायते । उत्पत्तेरारभ्य मृत्युश्छायेव देहमनुवर्त्तत एवेत्यर्थः । तथापि कालविलम्बार्थं हन्मीति चेत्तत्राह । अद्य अधुना, अब्दशतान्ते वर्षशतान्ते वा, प्राणिनां मृत्युः, ध्रुवः, वै निश्चितः । अपरिहार्य इति यावत् । वा शब्दात्कर्मवशाच्छतवर्षनियमोऽपि न तिष्ठति । एतद्दृष्टभयभेददर्शनं अदृष्टभयभेददर्शनं तु 'तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहम्' इत्यनेन प्रदर्शयिष्यति । अवश्यं भाविनि मरणे विलम्बमात्राय न पापाचरणं युक्तमिति भावः ॥ ३९ ॥ नन्वब्दशतान्ते जरया जीर्णं शरीरं मृत्युग्रस्तमस्तु, अधुना त्विदं कल्याणतरं शरीरमुपेति तद्रक्षणार्थं हन्मीति चेदेतस्या रक्षणेन न पुनरेवंविधं दुर्लभमित्याह । देह इति । देहेऽस्मिन् शरीरे, पञ्चत्वं मरणं, आपन्ने आपत्तुमुद्युक्ते सति, देही तद्देहस्थो जीवः, कर्मानुगः प्राचीनकर्मवश्यतामनुप्राप्तः, अतः अवशोऽस्वतन्त्रः सन् देहान्तरं कर्मानुगुण-शरीरान्तः, अनुप्राप्यैव, प्राक्तनं वपुः, त्यजते । शुभाशुभकर्मानुगुणशरीरान्तरस्यायत्नलभ्यत्वात् , भगिनीहननरूपजुगुप्सितकर्माऽप्राप्य हीनशरीरलब्धिं परित्यज्य भगिनीप्राणपरित्राणरूपाच्छुभकर्मणः फलरूपपुनर्जातकल्याणतरदेहार्थं ह्येषा न हन्तव्येति भावः ॥४०॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

वसुदेवजीने कहा–राजकुमार ! आप भोजवंशके होनहार वंशधर तथा अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं । बड़े-बड़े शूरवीर आपके गुणोंकी सराहना करते हैं । इधर यह एक तो स्त्री, दूसरे आपकी बहिन और तीसरे यह विवाहका शुभ अवसर ! ऐसी स्थितिमें आप इसे कैसे मार सकते हैं ॥३७॥ वीरवर ! जो जन्म लेते हैं, उनके शरीरके साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है । आज हो या सौ वर्षके बाद—जो प्राणी है, उसकी मृत्यु होगी ही ॥ ३८ ॥ जब शरीरका अन्त हो जाता है, जब जीव अपने कर्मके अनुसार दूसरे शरीरको ग्रहण करके अपने पहले शरीरको छोड़ देता है । उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है ॥३९॥ जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर जमाकर ही दूसरा पैर उठाता है और जैसे जोंक किसी अगले तिनकेको पकड़ लेती है, तब पहलेके पकड़े हुए तिनकेको छोड़ती है—वैसे जीव भी अपने कर्मके अनुसार किसी शरीरको प्राप्त करनेके बाद ही इस शरीरको छोड़ता है ॥ ४० ॥

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ॥ ४१ ॥
यतो यतो धावति दैवनोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥ ४२ ॥
ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥ ४३ ॥
तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः । आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥ ४४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—दृष्टश्रुताभ्यां मनसा अनुचिन्तयन् मनोरथेन अभिनिविष्टचेतनः स्वप्ने यथा ईदृशं देहम् अपस्मृतिः पश्यति (तथा देही) तत् किम् अपि प्रपद्यते ॥४१॥ दैवनोदितं विकारात्मकं मनः आप मायारचितेषु पञ्चसु गुणेषु यतः यतः असौ देही धावति तेन सह प्रपद्यमानः जायते ॥ ४२ ॥ यथा उदकपार्थिवेषु अदः ज्योतिः समीरवेगानुगतं विभाव्यते एवं स्वमायारचितेषु गुणेषु असौ पुमान् रागानुगतः विमुह्यति ॥ ४३ ॥ तस्मात् आत्मनः क्षेमम् अन्विच्छन् स तथाविधः कस्यचिद् द्रोहम् आचरेत् द्रोग्धुः वै परतः भयम् ॥ ४४ ॥

१. चोदितं–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. शुक । २. मात्म–विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

देहविषयावेव स्वीकारपरित्यागौ दर्शयितुं दृष्टांतांतरमाह। स्वप्न इति। दृष्टं राजादिदर्शनं श्रुतमिंद्रादिश्रवणं ताभ्यामाहितसंस्कारेण मनसा तदेवानुचिंतयन् ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं देहं राजादिरूपं किमप्यनिरुक्तं पश्यति क्षणांतरे च तदेवाहमिति प्रपद्यतेऽभिमन्यते ततश्च जाग्रद्देहादपगतस्मृतिर्भवति पुरुषो यथा तथेति। जाग्रत्येव तद्दर्शयितुं दृष्टांतांतरमाह। मनोरथेनेति। अत्रापि दृष्टश्रुताभ्यामित्यादि सर्वं योज्यम्। तथा च वक्ष्यति "जंतोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यंतविस्मृतिः। जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ॥ विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः। स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।।" इत्यादि। तद्वदत्रापि कर्मवशाद् देहांतरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजतीति ॥ ४१ ॥ ननु विचित्रदेहहेतूनां कर्मणां कृतत्वाद्देहविशेषप्राप्तौ किं कारणमत आह। यतो यत इति। देहस्य पंचत्वसमये पंचसु गुणेषु भूतेषु मायया नानादेहरूपेण रचितेषु दैवेन फलाभिमुखेन कर्मणा चोदितं प्रेरितं नानाविकारात्मकं मनो यतायतो यं यं देहं देवतिर्यगादिरूपं प्रतिधावति धावच्च सत् यं यम् आप अभिनिवेशेन प्राप्तं तत्रतत्र असौ देही जायते। ननु मनसः कर्तृत्वात्तदेव जायतां न त्वकर्ताऽऽत्मेत्यत आह। प्रपद्यमान इति। तदेवाहमिति मन्यमानस्ते मनसा सह जायते ॥ ४२ ॥ ननु सत्यं भविष्यत्येव किमपि देहमात्रं तथाप्यस्यातिप्रियस्य राजदेहस्य रक्षणायाकृत्यमपि क्रियत इति चेत्तत्राह। ज्योतिरिति। अदश्चंद्रादिज्योतिः उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु घटादिषु यद्वा उदकेषु पार्थिवेषु तैलघृतादिषु प्रतिबिंबत्वेन स्थितं समीरस्य वायोर्वेगमनुगतं कंपादियुक्तं प्रतीयते यथा एवं स्वाविद्यारचितेषु गुणेषु देहेषु रागेणानुगतः प्रविष्टो मुह्यति अभिनिवेशं प्राप्नोति। आत्मनस्तावद्देहाद्यध्यासाज्जन्मोक्तं सह तेन जायत इति। ततश्चान्योन्यधर्माध्यासाद्यथा देहादिधर्माः कार्श्यादय आत्मनि प्रतीयते एवमात्मधर्माः प्रेमास्पदत्वादयोपि देहादिष्विति राजसूकरदेहयोर्विशेषाभावाद्व्यर्थो मृत्युप्रतीकार इति भावः ॥ ४३ ॥ एवमुक्तं सामोपायमुपसंहरन्भेदमाह – तस्मादिति। परतोऽभिद्रुह्यमाणात्। तत्संबंधिनश्च यमादपि इहामुत्र च भयमिति भेदो दर्शितः ॥ ४४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कर्मणा देहमात्रप्राप्तिरवश्यं भाविन्यपि देहविशेषाप्तिः कथमित्याशंकते—नन्वित्यादिना। तत्र कारणमाह—यत इत्यादिना। पंचत्वसमये मृत्युकाले। चोदितं प्रेरितम्। यं यं देहं तत्रतत्र तस्मिंस्तस्मिन्देहे। देही जीवः 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्। तंतमेवेति कौन्तेय' इत्यादिस्मृतेः। जीवस्य जननमयुक्तमित्याह—नन्वित्यादिना। तदेव मन एव। मनोध्यासेनात्मनो जन्मेति भावः ॥ ४२ ॥ उदकेन युक्ताः पार्थिवा उदकपार्थिवा घटादयस्तेषु तथा घटादीनामस्वच्छद्रव्यत्वात्प्रतिबिंबग्राहित्वं न संगच्छत इत्यरुच्याह—यद्वेति। एवं तद्वत्। अशोभने शोभनाध्यासो रागस्तेन उक्तार्थतात्पर्यमाह—अयं भाव इति। तावत् साकल्येन। ततश्चाध्यासाच्च। विशेषाभावाद्भेदाभावात्। प्रतीकारो निवृत्त्युपायः ॥ ४३ ॥ एवं पूर्वोक्तरीत्या। यस्मादात्मा कर्मफलभोक्ता तस्मादिति। स आत्मा तथाविधः कर्मानुरूपदेहादिगृहीता। परतः परलोके वा भयं दुःखलक्षणम्। भेदस्तु ऐहिकपारलौकिकभयप्रदर्शने स्वीकृतहठान्निवर्त्तनम्। प्रत्युग्रे संस्तुतिसामैवोचितमिति पुनस्तदेवाह—एषेति। नवोढा कृपणा भयेन रोदनादिपरा पुत्रिकोपमा पुत्रीसमेति दयां जनयति। यद्वा—पुत्तलिकासदृशी अचेतना भद्राभद्रानभिज्ञा। इमामेनां कल्याणीं निरपराधां दीनवत्सल इति श्लेषेण दीनं मृतप्रायं वत्समेव लाति विप्रेभ्यो ददाति। यद्वा—दीनादपि वत्समपि लाति गृह्णातीति इमां त्वं हंतुं नार्हसि काकार्हस्येवेति निंदैव ॥ ४४–४५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

स्वप्न इति तैरवधारितं तत्र दर्शयितुं स्वाऽनुभावेन साधयितुमित्यर्थः। हि एव तदेव टीकायां जाग्रद्दृष्टेत्यादौ जागरे प्रयुक्तो जाग्रच्छब्दः एवं देहादात्मनो भिन्नत्वं योजितमपि स्वप्ने मनोरथे च देहाभिमानपरित्यागेन देहान्तराभिनिवेशेनात्मनो देहात् पृथक्त्वाऽनुभवात् एवं कर्मवशाद्देहान्तरं प्राप्यैव प्राक्तनं देहं त्यजतीति देहप्राप्तेरावश्यकता दृढीकृता ॥ ४१ ॥ ननु, सत्यं भविता देहमात्रं किन्तु पुनः राजदेहोऽतिदुर्घटः तत्राह—यतो यत इति। दैवेन चोदितमिति तदर्थं प्रयासान्तरं निरस्तम् असौ अविवेकी देहादेर्भिन्नोऽपीति वा प्रपद्यमानः मन्यमानः अतः कर्मण एव प्रबलत्वात् श्रीदेवक्या जन्मान्तरपुत्रादप्याकाशवाण्युद्दिष्टो मृत्युस्तवानिवार्य एवेति महादुर्गतिप्रापकमीदृशं पापकर्म त्यक्त्वा तादृशनिजप्राचीनकर्मसन्देहे सति सम्प्रत्यपि पुनरितोपि विभूतिमद्वपुःप्राप्तये मार्कण्डेयवदस्य मृत्युरपि कियत्कालनिवारणाय वा सत्कर्मैव क्रियतामिति भावः। जन्मान्तरेत्यत्र श्रीहरिवंशोक्तषड्गर्भसादृश्यं ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥ किञ्च देहाभिनिवेशोऽयमविद्यामय एवेत्याह—ज्योतिरिति, अदः निष्कम्पत्वेन स्वस्थितमपि माया भगवन्माया तयैव रचितेषु ॥ ४३ ॥ ननु, यतो यत इत्यत्राभिप्रेतं तादृशं कर्म दुष्करं तथा तादृशं ज्ञानं चेद्भवतोऽस्ति तर्हि कथं भवानस्या देहरक्षार्थं प्रयतते ? तादृशात्मानुभवज्ञानाभावादिति चेत् ममापि तदभावात् स्वदेहरक्षार्थोऽयं प्रयत्नो युक्त एवेत्याशङ्क्याह—तस्मादिति। यस्मात् सत्कर्मैव श्रेयःसाधनं तस्माद्देहविशेषोप्यविद्यक एव तस्मात् स तथाविधः पूर्वोक्तप्रकारात् तयोः कृतित्यागौ कर्तुमशक्नुवन्नपि तद्विपरीतं परद्रोहं न कुर्यात्, किमर्थम् आत्मनः क्षेममन्विच्छन् इहाऽमुत्र चात्मनः क्षेमार्थ

मित्यर्थः। यतः द्रोग्धुरिति एवं दृष्टादृष्टभयप्रदर्शनेन द्विविधो भेदः अत्र श्रीकृष्णकथारम्भे आत्मज्ञानाऽन्यवैराग्याकार्यनिवृत्तिकथनानि बहिर्मुखामन्यावेशननिवारणायोपदिष्टानीति शास्त्रप्रयोजनं च ज्ञेयम् एवं सर्वत्र ॥ ४४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, तृणजलूका विद्यमानशरीरेणैव गन्तव्यदेशमवष्टभ्यैव पूर्वदेशं त्यजतीति युक्तं तस्या भयशोकाद्यभाव इति दार्ष्टान्तिके तु न तथा न हि प्राक्तनवपुर्विशिष्टो वपुरन्तरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुरन्तरवैशिष्ट्याकारेण वपुरन्तरप्राप्त्यसंभवात् अपि तु विशेष्याकारेणैव वपुरन्तरप्राप्तिः प्राक्तनवपुस्त्यागश्चातः प्राक्तनकल्याणतरवपुस्त्यागप्रयुक्तभयशोकोपनिपातसम्भावनया तत्परिहारोऽवश्यकर्तव्य इत्यत्र तदनुभवसिद्धस्वप्नदृष्टान्तेन देहान्तरप्राप्तिपूर्वकपूर्वदेहत्यागं तत्प्रयुक्तभयाद्यभावञ्च दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति स्वप्न इति। स्वप्ने यथा दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतमनीषितलाभार्थं मनसाऽनुचिन्तयन् सङ्कल्पविकल्पौ कुर्वन् मनोरथेन देशान्तरगमनराज्याभिषेकादिरूपमनोरथेनाभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य तथाभूतो जीवः ईदृशं शयानदेहसदृशं तत्किमपि ततो विलक्षणं वा किमपि शरीरं स्वप्नमात्रात्रस्थायित्वेन स्वप्नद्रष्ट्रैकानुभाव्यत्वेन च स्वाप्नदेहस्य शयानतुल्यदेहतया चिन्तितुमशक्यत्वात्किमपीत्युक्तं तावत्पश्यति ततस्तत्प्रतिपद्यते अपस्मृतिः शयानदेहविषयकस्मृतिरहितश्च भवति अत एव तत्त्यागप्रयुक्तभयशोकादिरहितश्च भवति हीति स्वपरानुभवप्रसिद्धिं द्योतयति पश्यति प्रपद्यते इत्यनेन प्रथमं ज्ञानेनाऽनुप्रवेशस्ततः स्वरूपेणेति सूचितम्, एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यवगन्तव्यमिति भावः। न हीदानीमस्मदादीनां प्राक्तनदेहत्यागप्रयुक्तभयशोकादिकमुपलभ्यत इति च भावः। न च स्वप्नेऽपि शयानदेहेनैव देशान्तरगमनादिकमनुभूयत इति युक्तिमत् अपवरकादौ शयानस्य देशान्तरगमनाद्यसम्भवात्, ततस्तदवस्थामात्रावस्थायितद्द्रष्टृमात्रानुभाव्यदेहान्तरेणैव तदनुभवः, यद्वा, पूर्वार्द्धं दृष्टान्तरपरम्, उत्तरार्द्धन्तु दार्ष्टान्तिकपरम, तदयमर्थः स्वप्ने देशान्तरगमनादिमनोरथाभिनिविष्टचित्तो जीवो यथेदृशं शयानदेहवदात्माऽभिमानविषयं स्वप्नद्रष्टृमात्रानुभाव्यफलपुण्यापुण्यकर्मानुगुणपरमपुरुषसृष्टं तावत्कालमात्रावस्थायिस्वप्नद्रष्ट्रैकावगम्यं देहं पश्यति ज्ञानद्वाराऽधितिष्ठति ज्ञानद्वाराऽधिष्ठाय देशान्तरगमनराज्याभिषेकशिरश्छेदादीननुभवतीति भावः। अपस्मृतिरपगता शयानदेहविषया स्मृतिर्यस्य तथाभूतश्च भवति तद्वधादिसंभावनाप्रयुक्तभयादिरहितश्च भवति, उत्तरार्द्धस्य तथेत्यादिः एवं दृष्टश्रुताभ्यामिति तादर्थ्ये चतुर्थी दृष्टमैहिकं सुखं श्रुतमामुष्मिकं ताभ्यां तदर्थं मनसाऽनुचिन्तयन् किमपि कर्मानुगुणम् ईश्वरसृष्टं किमपि शरीरं प्रतिपद्यते अपस्मृतिश्च भवति प्रथमं ज्ञानद्वाराऽभिष्ठाय प्राक्तनवपुर्विषयस्मृतिरहितः ततः स्वरूपेण प्रविशति इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ किमपि प्रपद्यते इत्येतदेव विवृण्वन् तदेव जीवस्योत्पत्तिर्नामेत्याह—यत इति। दैवमत्र दिष्टं कर्म वासनात्मकं तच्चोदितं तदनुगुणप्रवृत्तं विकारात्मकं सङ्कल्पविकल्परूपविकारप्रकारं सत् मनो मायारचितेषु सत्त्वादिगुणत्रयात्मकप्रकृतिपरिणामरूपेषु पञ्चसु गुणेषु शब्दादिविषयेषु मध्ये यतो यतो धावति यं यं विषयं स्मरति तं तमेव प्रपद्यमानोऽनुप्रविशन् सह जायते इयमेव जीवस्योत्पत्तिर्नामेति भावः—

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" ॥

इति श्रीभगवदुक्तेरिति भावः ॥ ४२ ॥ तेन सह जन्मरूपोपाधिप्रयुक्तमेव जीवस्य देवमनुष्यत्वादिनानात्वं वस्तुतस्तु सर्वत्र शरीरेषु ज्ञानैकाकारत्वेनावतिष्ठत इति सदृष्टान्तमाह—ज्योतिरिति। यथा अदः अन्तरिक्षस्थमेकरूपमेव सूर्यादि ज्योतिरुदकेषु पार्थिवेषु पृथिवीपरिणामरूपेषु दर्पणादिषु च प्रतिबिम्बितं तत् समीरस्य वायोर्वेगेनानुगतमनुवृत्तं सद्विभाव्यते समीरवे शब्दोऽल्पत्वमहत्त्वाद्युपाधिगतधर्मोपलक्षकः विविधं भाव्यते वृद्धिह्रासादिधर्मभाक्त्वेन भाव्यते दृश्यते अस्मदादिभिरिति शेषः। एवमसौ पुमान् जीवः स्वतो देवमनुष्यत्वादिनानात्वरहितोऽपि स्वमायारचितेषु स्वदेहारम्भकप्रकृतिपरिणामरूपभूतसूक्ष्मारब्धेषु गुणेषु गुणपरिणामात्मकेषु शरीरेषु रागानुगतो रागेण शब्दादिविषयस्पृहया वासनात्मिकया हेतुभूतयाऽनुगतोऽनुप्रविष्टः विमुह्यति, देवोऽहं मनुष्योऽहमित्येवं नानाविधं मोहं प्राप्नोति, यद्यपि दृष्टान्ते सूर्यादिज्योतिरुदकाद्युपाधिष्वनवस्थितमेव स्वच्छद्रव्यप्रतिहतिनिवृत्तस्वरश्मिभिर्हेतुभिः समीपस्थजनैर्विभाव्यते दार्ष्टान्तिके तु देहेष्ववस्थित एव सन् पुमान् मुह्यतीति तयोर्वैषम्यं तथापि वस्तुतो नानात्वाभावौपाधिकनानात्वमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽवगन्तव्यः ॥ ४३ ॥ तस्मादिति। तस्माद्वस्तुस्थितेरेवंविधत्वात्तथाविधः वस्तुतत्त्वाभिज्ञः स पुमानात्मनः स्वस्य क्षेममन्विच्छन्निच्छुः कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेत् न कुर्यात् एवं चेत्तस्य न कुतश्चिदपि भयम् अन्यथा तु भयमित्याह–द्रोग्धुर्वै परतोऽन्यस्माद्भयमित्यर्थः। यद्वा, परतः परमेश्वराद्भयं भूतद्रोग्धुर्भयं वै भयमस्त्येव इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ननु, देहात्मनोरभेदेन देही पूर्वदेहं परित्यज्य अभिनवदेहान्तरं यातीति कथं सञ्जाघटीतीति तत्राह—स्वप्न इति। जाग्रद्दृष्टश्रुतपदार्थसंस्कारसमुद्बुद्धमनोरथेन अभिनिविष्टचेतनः गाढप्रप्रस्तबुद्धिरात्मा स्वप्ने ईदृशं जाग्रद्देहसदृशदेहं यथा पश्यति स्वकीयत्वेनाऽनुभवति परकीयत्वेन वा आत्मन एकत्वेन देहयोर्द्वित्वेन दर्शनाद्देहात्मनोर्भेद आनुमानिकः तथा मनसाऽनुचिन्तयन् आत्मा दृष्टश्रुतस्मृतानुसृतं तत्र किमपि देवाद्यन्यतमशरीरं प्रपद्यते कदेत्यत उक्तम् अपस्मृतिरिति उत्तरदेहे अभिमानितया पूर्वदेहस्मरणाभावेन मृत इत्यर्थः। हिशब्दो [illegible] यथा दृष्टश्रुतस्मृत्यनुसारिदेहं प्राप्नोत्यप-

स्मृतिर्मृतः। पूर्वदेहस्मरणाभावात् अनभिमानतः" इति ॥ ४१ ॥ एतदेव विवृणोति—यतो यत इति। सार्वविभक्तिकस्तसिरितिवचनाद्यतो यतो यत्र यत्र मायारचितेष्वित्यादिषु सप्तमी षष्ठ्यर्थे भगवदिच्छोद्बोधितप्रकृतिनिमित्तानां प्रकृतेरेकत्वेन सृष्टेर्नानाविध्यं कथमत्राह—गुणेष्विति। कार्यकारणाभेदात् सत्त्वादिगुणविहितानाम् आत्मपञ्चसु देवगन्धर्वपितृमनुष्यासुरभेदेन पञ्चानाम् आत्मनाम्मध्येदैवेन अदृष्टोद्बोधकेन हरिणा चोदितम्प्रेरितम्मनो धावति विषयीकरोति, मनो विशिनष्टि—विकारात्मकमिति। सङ्कल्पविकल्पनिबद्धमिति यस्य मनः मरणसमये योग्यतानुसारेण यं यं धावति असौ देही तत्र तत्र प्रपद्यमानः प्रवृत्तिं लभमानः तेन दैवेन सह जायते "प्राज्ञेनाऽन्वारूढ उत्सृज्य याति" इति श्रुतेः। उत्पद्यमानोऽपि तेन सह उत्पद्यत इति ज्ञातव्यम् अत्रापि योग्यतामपेक्ष्य तत्तच्छरीरग्रहणं, तदुक्तम्—

"देवादित्वं योग्यतया तत्सकाशस्त्वनुस्मृतेः। श्वेतद्वीपादि तत्रापि योग्यतामप्यपेक्ष्य तु ॥
विष्णोः स्थानं विनाऽन्यत्र वायुराक्रादिनामपि। त्रैलोक्यदेशभेदेषु योग्यता नत्वपेक्ष्यते" ॥ इति।

अनेन व्याप्तस्यात्मनो गमनं कथमिति चोद्यं परिहृतं परमात्मानमन्तरेण निरुपचरिता व्याप्तिर्नास्ति "अणुर्ह्येष आत्मा" इति श्रुतेः। आलोकवद्गुणेन यथायोग्यव्याप्तिरस्तु नाम तथापि स्वरूपतो नास्त्येव "व्याप्ताद्व्याप्तात्मानश्चेतनानिर्गुणाश्च" इति स्मृतिः श्रीनारायणविषयेति निरणायि नोचेदुक्ता गतिरेवेति ॥ ४२ ॥ ननु गुणानां नानात्वात्सृष्टेर्वैचित्र्यमस्तु, एकस्यामो नानाविधप्रतीतिः कथम् ? इति शङ्कां सदृष्टान्तं परिहरति—ज्योतिरिति। यथा अदो ज्योतिरादित्यलक्षणं समीरवेगायुतं वायुवेगनिमित्तचलनेन अनुचलितमौदकपार्थिवेषु जलपूर्णशरावाद्युपाधिषु प्रतिबिम्बितं विभाव्यते विविधत्वेन भाव्यते छिन्नभिन्नादिरूपेण प्रतीयते एवमसौ पुमान् स्वमायारचितेषु परस्वोहरिरिति वचनात्स्वस्य विष्णोरिच्छया रचितेषु देहेषु प्रतिबिम्बितः अशोभने शोभनाध्यासो रागः तेनाऽनुगतः तन्मयान्तःकरणो विमुह्यति विविधं छिन्नो भिन्नो मृतोऽस्मीति मोहमज्ञानं प्रतिपद्यते यथा तदेव ज्योतिः पार्थिववद्वनोभूतपूर्णजले प्रतिबिम्बितं वायुवेगानुगतं विशिष्टं निश्चलं भाव्यते छेदभेदादिरहितं प्रतीयते, एवं योग्यो जावो गुणेषु प्रतिबिम्बितो रागमनुरागं स्नेहविशेषमनुगतो निर्मुक्तद्वेषो विगतमोहा भवति अज्ञाननिमित्तच्छिन्नोऽहमिति दुःखं न प्राप्नोतीति परिहारपरतया वा योजनीयम्। उभयोरपि समाख्यानसिद्धप्रमाणत्वात्। तदुक्तं "परस्वोहरिरुहामः" इति पद्येन गुणयोगयुक्तरूढ्या सिद्धत्वात् मुख्यं च तदुक्तं "स्वतन्त्रत्वात्सुखत्वाच्च स्वनामाविष्णुरुच्यते" इति "रागोऽनुरागे लाक्षायाम्" इति यादवः ॥४३॥ नन्वस्तु नामाऽऽत्मन जन्मादिकं कर्मनिमित्तं प्रकृते ततः किं ? तत्राह—तस्मादिति। यत आत्मा तथाविधः कर्मफलभोक्ता तस्मात्स तादृशः कस्यचिद्द्रोहं हिंसां नाऽऽचरेत् ततः किं ? तत्राह—आत्मन इति। अनर्थं चाह-द्रोग्धुरिति। परतः परलोके दुःखलक्षणं भयं भवतीति शेषः ॥४४॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

जीवत्यपि देहे प्रतिदिनं देहप्राप्तित्यागावनुभवेन दर्शयति, स्वप्ने यथा ईदृशं जाग्रद्देहतुल्यं पश्यति, स्वप्नं विनाऽपि दर्शयति, मनोरथेन मनोरथे चेत्यर्थः। कः पश्यतीत्यत आह—अभिनिविष्टा अभिनिवेशवती चेतना यस्य सः यद्वा मनोरथेन विषयवाञ्छया चित्ताभिनिवेशाधिक्यवान् पुरुषः स्वप्ने ईदृशं देहं पश्यति अभिनिवेशप्रकारमाह—दृष्टं राजादि श्रुतम् इन्द्रादि ताभ्यामभ्यस्ताभ्यां जनितसंस्कारवता मनसा अनुचिन्तयन् तत् किमपि राजादिरूपमेव प्रपद्यते राजाद्युचितविषयभोगावद्देहमात्मानं पश्यतीत्यर्थः। अपस्मृतिः वास्तवदेहस्मरणशून्यः ॥ ४१ ॥ ननु, दृष्टः श्रुतश्च विषयो दैवप्रेरितेन मनसा स्मर्यमाणत्वात् मनस एवास्तु ततो भिन्नेनात्मना स्वभोगार्थं स कथं लभ्यताम् ? तत्राह - यत इति। पञ्चसु विषयेषु भोग्येषु मध्ये यतो यतो यत्र यत्र विकारात्मकं मनो धावति धावच्च सत् आपतन्तं विषयमेव प्राप्तं भवति, असौ देही जीवः तेन विषयाभिनिविष्टेन मनसा सह साहित्याद्धेतोस्तं तं विषयं प्रपद्यमानो जायते भुञ्जानो भवतीत्यर्थः॥४२॥ततश्च मनःसहितस्य जीवस्य मनोधर्मप्राप्तिं सदृष्टान्तमाह—ज्योतिश्चन्द्रसूर्यादिकिरणः उदकेषु पार्थिवेषु तैलघृतादिषु च प्रतिबिम्बरूपेण स्थितं समीरवेगानुगतं सत् विभाव्यते विविधं कम्पवशाद्दीर्घह्रस्वादिरूपं भाव्यते भावितं भवति एवमेव स्वे स्वीयाश्च ते मायारचिताश्चेति स्वमायारचितास्तेषु गुणेषु देहेषु पुमान् जीवः रागाऽनुगतः रागो विषयभोगेच्छालक्षणो मनोधर्मस्तमनुगतो विमुह्यति तदीयविषयभोगेच्छाव्याप्तो भवति, तेन त्वमपि तथाभूत एव जीवः स्वीयविषयसुखभोगसिद्ध्यर्थं यदेतां हंसि तदृव्यर्थमेव देहनाशेऽपि त्वदीयशुभादृष्टस्यानश्वरत्वाद्देहान्तरस्य सुलभत्वाच्च तत्रैव ते भोगः सेत्स्यति स्त्रीवधे तु प्रत्युत देहान्तरे दुःखमेव भोक्तव्यं स्यात् किञ्च कर्मणः प्रबलत्वादाकाशवाण्युद्दिष्टो मृत्युर्दैवकीजन्मान्तरपुत्रादप्यवश्यंभावीत्यतो वरं मृत्युप्रतीकारार्थं मार्कण्डेयेनेव सत्कर्मैव क्रियतामिति द्योतितम् ॥ ४३ ॥ स तथाविधः अविद्यावृतः दोग्धुर्द्रोहकर्तुः पुंसः परतो यमादिभ्यो यस्माद्भयं तस्मादिति भेदो दर्शितः ॥ ४४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

उत्तरदेहग्रहणपूर्वकं प्राग्देहपरित्यागं देहग्रहणपरित्यागविषयकाभ्यामेव स्वप्नजागरणाभ्यां दृष्टान्ताभ्यां दृढयति—स्वप्न इति, दृष्टश्रुताभ्यां नृप्वरादिदर्शनश्रवणाभ्याम् तत्तदेव दृष्टं श्रुतं वा मनसा चिन्तयन् ईदृशमेव दृष्टश्रुततुल्यं स्वप्ने किमपि परमेश्वरोपस्थापितं नृस्वरादिरूपं पश्यति। न तु स्वेच्छया किञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति ईश्वरस्तु कर्मविशेषफलसिद्धये हितमहितं वा स्वप्नेपि

प्रयच्छत्येव, जीवस्य तु जागरेऽपि किंचित्स्वेच्छया निर्मातुमसामर्थ्यात्स्वानुकूलस्वप्नपदार्थकर्तृत्वासम्भवाच्च न स स्वप्नसृष्टिकर्तेति वेदान्तकौस्तुभे स्थितम्। तदनन्तरं तत्तदेव प्रपद्यते नृस्वरादिदेहं प्राप्नोति तदनन्तरं प्राग्देहादपस्मृतिः पुरुषो भवति यथा तद्वत् यथा च जागरे दृष्टश्रुताभ्यां मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः दृष्टे श्रुते वा अभिनिविष्टा चेतनाऽन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स किमपि पश्यति ततस्तदेव प्रपद्यते तद्वच्च ॥ ३१ ॥ किञ्च मनोनुरूपदेहादिक दैवयोगात्सर्वत्र सुलभमेवात एकशरीररक्षार्थं दारुणं कर्म न कर्त्तव्यमित्याशयेनाह—यत इति। पञ्चमहाभूतप्रधानेषु गुणेषु देहगेहादिषु मायारचितेषु भगवता स्वशक्तिभूतया मायया महदादिद्वारा विरचितेषु मनःकरणं दैवचोदितं दैवेन कर्मसापेक्षेण भगवता प्रेरितं विकारात्मकं देवाऽनुरूपविकारात्मकम् यतो यतो यंयं देहगेहादिकं धावति धावत्-सत् यं यमभिनिवेशेन प्राप्तं भवति तत्र तत्र असौ करणवान् जीवः प्रपद्यमानः अहं ममेतिमान्यमानस्तेन करणेन सह जायते ॥ ४२ ॥ ननु, देहविलक्षणस्य परमेश्वरमायाकार्ये देहे अहन्ता गेहे ममता कुतो भवत्यत आह—ज्योतिरिति। अदः सूर्य्यादिज्योतिः उदकेषु जलेषु पार्थिवेषु आदर्शादिषु च समीरवेगे धूसरत्वाद्यापादकेनाऽनुगतं सत् विभाव्यते विपरीतं प्रतीयते। एवं देहाभिमानी पुमान् स्वकीयेन कर्मफलदात्रा परमेश्वरेण मायया प्रकृत्या रचितेषु गुणेषु देहगेहादौ रागेण अनादिकर्ममूलकेन संस्कारेण मोहसम्पादकेन मुह्यति, देहे अहमिति गेहादौ ममेति च मोहं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ तस्मात्पापाचरणेऽपि मृत्योरवश्यं भावित्वात्पुनर्देहादिलाभसम्भवाच्च च तथाविधः उक्तप्रकारः पुरुषः कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेत्। किं कुर्वन्? द्रोग्धुर्जनस्य परतः प्रतिद्रोग्धुः सकाशात् साक्षाद्राजद्वारा यमद्वारा वा भयं भवति वै इति हेतौ अतो हेतोः आत्मनः क्षेममन्विच्छन् ॥ ४४-४५ ॥

श्रीसुबोधिनी

नन्वधिकप्रयासाभावेपि दृष्टान्तानुरावेनाल्पप्रयासो भविष्यति सोपि शीघ्रं मा भवत्विति मारणमिति चेत्तत्राह स्वप्ने यथेति। न हि स्वप्नदेहग्रहणे परित्यागे वाणुमात्रमपि प्रयास उपलभ्यते। वैलक्षण्यमपि कदाचिदेव प्रतीयते न सर्वदेत्याहेदृशमिति। ननु स्वप्नदेहः कर्मसाध्यो न भवतीति न प्रयास इति चेत्तत्राह **मनोरथेनाभिनिविष्टचेतन** इति। **मनोरथेन** तत्तद्वस्तुभावनया मनोगत्या कर्मणा तादृशे देहे तदुपभोग्ये विषये **वाभिनिविष्टा चेतना** बुद्धिर्यस्य। मनोरथेनापि स्वप्नो दृश्यते। ज्ञानकर्मणी च तत्र भवतः। यथा लोकान्तरगतौ 'तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति। ततः स्वप्नदेहलोकान्तरदेहयोस्तुल्यत्वान्न ग्रहणपरित्यागयोः प्रयासः। न च वक्तव्यं मनोरथस्य तत्र कारणता नास्तीति यतो **दृष्टश्रुताभ्यां** प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां प्रमाणाभ्यां **मनसा** राज दिदेहमिन्द्रादिदेहं **वानुचिन्तयंस्तत्र प्रतिपद्यते स्वप्ने** राजाहमस्मीन्द्रोहमस्मीति। पूर्वदेहस्य तु स्मरणमपि नास्ति कुत्र ग्रहणपरित्यागप्रयाससम्भावना? तदाहापगता **स्मृतिः** पूर्वदेहस्मरणं यस्य। तत् पूर्वानुभूतमेव **किमप्यनिर्वचनीयम्**। स्वाप्निकस्य मायिकत्वात्। 'तदुदितः स हि यो यदनन्तर' इतिन्यायेन स्वप्नो मनोरथहेतुक इति ॥ ४१ ॥ किञ्च देहस्योत्पत्तिमरणे न त्वात्मनः। आत्मा तु तदध्यासाज्जायते म्रियते वा। तदाह **यतो यत** इति। अस्मिन्सिद्धान्ते मन एव देहग्रहणपरित्यागयोर्हेतुस्तच्च **मनो विकारात्मकं** नानाविकाराः सङ्कल्पविकल्पात्मका **आत्मा** यस्य। तस्य प्रेरकं कालकर्मभगवदिच्छानामन्यतरदैवशब्दवाच्यम्। तेन दैवेन प्रेरितं **मनो मायारचितेषु** विषयेषु मोहेनोत्तमत्वं प्रापितेषु मध्ये यस्माद्यस्माद्यं यमर्थं विहाय यत्र यत्र लग्नं **भवति** तत्र तत्रै**वासौ देही** तदेव **प्रपद्यमानो**ऽहमिति मन्यमानस्तेन **सह जायते** न तु स्वतः। मनश्च यदा यद्भावयिष्यति तादृशो देहो भविष्यति यच्च त्यक्ष्यति तद्गमिष्यति। विषयास्तु समा एव। एवमपि सति यमेवार्थं मन उत्कृष्टत्वेन मन्यते तदस्मादुत्कृष्टं भवतीति नोत्कृष्टदेहरक्षार्थ इयं मारणीयेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ एवं मनोनुसरणेन देहानुसरणमपि मोहादेव प्रतिबिम्बन्यायेन न त्वात्मनस्तथात्वमस्तीत्याह ज्योतिरिति। उदकयुक्तेषु **पार्थिवेषु** शरावादिषु तथोदकस्थानीयमन्तःकरणं पार्थिवस्थानीयो देहः। उदकेषु उदकयुक्तेषु **पार्थिवेषु** काचादर्शादिषु वा **समीरवेगा**श्चाञ्चल्यमालिन्यादयस्तै**रनुगतं** सूर्या**दिज्योतिर्विभाव्यते**। प्रतिबिम्बितस्यैव सूर्यादेस्तत्सम्बन्धो नाकाशादिस्थितस्य। अद इति। सम्बन्धाभावायाकाशादिस्थितः प्रदर्शितः। **एवमेव** स्वमोहेन **रचितेषु** सम्यक्तयाभिमतेषु देहेन्द्रियादिष्वसौ जीवः **पुमान्** भगवानेव रागेणानुगतस्तेन सहैकत्वं प्राप्तः प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविष्टो विशेषेण **मुह्यति**। यस्माद्देहसम्बन्धो भ्रमादतो न तद्वशादात्मनोपकारः कर्तव्यः ॥ ४३ ॥ एवं तत्त्वं निरूप्य देहरागान्नात्मनोपकारः कर्तव्य इति यदुक्तं तल्लोकेपि तुल्यमिति वदन् मारणे भेदात्मकं भयं प्रदर्शयति तस्मादिति। यस्माद्देहो नात्मा **तस्माद्**देहार्थं **कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेत्**। यतः **स तथाविधः**। यादृशो हन्यते तादृशः। अनेन स्वसाम्येन दया निरूपिता। यथा स्वरक्षा विचार्यते तथा पररक्षापि विचारणीयेत्युपदेशफलम्। अविचारे बाधकमाहा**त्मनः क्षेममन्विच्छन्नि**ति। यदि विचारयति तदात्मनोपि क्षेमो भवति सोपि विचारयतीति। यदि न विचारयति तदा द्रोग्धुर्घातकस्य **परतो** मार्यात् मत्त एव तव भयं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रतीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

स्वप्ने यथेत्यत्र—श्रुतिसूत्रविरोधपरिहारायाहुस्तदुदित इत्यादि। तथा च लोकबुद्धिमनुसृत्येदमुच्यतेतो न विरोध इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ **यतो** यत इत्यत्र- **कालकर्मभगवदिच्छानामन्यतरदिति**। अत्र बहूनां मध्य एकस्वातिशये विवक्षिते तमप्प्रत्ययो-

पेक्षितस्तथापि महाभाष्य 'एतेषु कतरो देवदत्तः कतरो यज्ञदत्त' इति तमबुपाधिमनादृत्यैव तरप्प्रयोगादत्र तदनुसारेणैवमुक्तम्। **यत्र लग्नं भवतीति**। इदं मूलस्थाया **आपेति**क्रियाया व्याख्यानं बोध्यम् ॥ ४२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

स्वप्ने यथेत्यत्र—यथेदं तथा **देही प्राक्तनं वपुस्त्यजत** इति पूर्वेणान्वयः। **मनोगत्ये**ति। कर्मणा जनिता या **मनोगतिस्त**-येत्यन्वयः। स्वप्नो मनोरथहेतुको मनोरथस्तु कर्मणेत्यर्थः। **मनोरथेनापी**ति। अपिशब्दस्य **स्वप्न** इत्यनेनान्वयः। **लोकान्तरे**त्यादि यथा तथा **स्वप्नोपि** दृश्यत इत्यर्थः। **मनोरथः पूर्वप्रज्ञास्थानीयो** ज्ञेयः ॥ ४१ ॥ **यतो यत** इत्यत्र—अपादाननिरूपितं विश्लेषं विवृण्वन्ति **यं यमर्थं विहाये**ति। **गुणेषु** मध्ये **यतो यतो** यं यमर्थं विहाय **धावति** यं यं **चाप यत्र यत्र लग्नं भवति तत्र तत्रैव तदेवे**ति यं **यमाप** तदेव **प्रपद्यमानस्ते**नैव **सह जायत** इत्यन्वयः। अत्र **गुण**पदेन गुणकार्यमुच्यते। श्रोतुरसुरत्वादासुरसिद्धान्त उच्यत इति ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥ **तस्मादि**त्याभासे—**तत्त्वं निरूप्ये**ति। पारमार्थिकमितिशेषः। अग्रे लौकिकं तत्त्वं वक्तव्यमितिभावः। **देहे**ति। मारणे देहरागसिद्धावप्यात्मनोपकारो भवतीत्यर्थः। व्याख्याने **मत्त** इति। देवक्याः सकाशाद्भयासम्भवात् **स्वस्य च** पतित्वेन तदर्धत्वादहमपि **मार्यस्तत** इत्यर्थः। अत्र परशब्देन शत्रुर्यो मार्यते स इति ॥ ४४ ॥

श्रीबुभुत्सुबोधिका

स्वप्ने यथेत्यत्र सोपीति तृणजलौकादृष्टान्तेन स्वल्पप्रयासोपि। 'मम माता वन्ध्ये'ति वाक्यवद् बाधितार्थत्वं स्यात् तद्वारणाय शीघ्रमितिशब्दः। कदाचिदेवेति शुभसूचनकाले शुभाशुभयोः। असाकल्ये एव न तु साकल्ये। 'असाकल्ये तु चिच्चने'-त्यमरात्। स्वशिरोऽदर्शने शुभफलः स्वप्नः, स्वदर्शनेऽशुभफलः स्वप्न इति। अशुभं मरणम्। ईदृशमितीति 'त्यदादिषु दृशेरना-लोचने कञ्चेति कञ्'। इममिवेमं पश्यन्ति जनाः सः अयं अयमिव दृश्यमानः इममिवात्मानं पश्यतीति विग्रहः। दृश्यत इति दृश्यमानः कर्म यगन्ताच्छानच्, अत्र दर्शनविषयो दृष्टान्तीयेदमोर्थः द्वितीये दृशेरनालोचनार्थत्वम्। दृष्टान्ते क्षीणशक्तेर्दृशेरा-वृत्त्यनङ्गीकारात्। 'मनसः रथ' इत्यत्र मन इन्द्रियम्। तस्य सजातीयमिन्द्रियं न रथः। रथस्य रथ इति प्रयोगाभावात्, किन्तु ज्ञानं, तदाहुः तत्तद्वस्तु भावनयेति। भावना स्मृतिः अनुभवस्य तिरोभावात्। तथा च श्वेताश्वतरश्रुतिः 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इति। 'आत्मा इन्द्रियमनोयुक्तं' आत्मा मनोयुक्तः, मन इन्द्रिययुक्तं, तदा 'भोक्ता'। नैयायिकानां आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षमितिप्रक्रिया। न च मनोरथशब्दो हीच्छायां योगरूढ इति वाच्यम्, वेदान्तसारत्वात् प्राणश्लोके योगमात्रात्। न च ज्ञानानन्तरमिच्छापि मनोरथ इत्यत्र मनोरथपदेनेच्छाबोधोपि स्यादिति वाच्यम्। इच्छाशक्त्यधीनत्वाद् बोधस्येत्यदोषात्। मनोगतिस्तया। आभ्यां पूर्वप्रज्ञा विद्या चोक्ते। कर्माहुः कर्मणेति। 'तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति शारीरब्राह्मणात्। 'तं' देहम्। तथा च कर्मणा जनिता या मनोगतिस्तयेत्यन्वयः, स्वप्नो मनोरथहेतुको मनोरथस्तु कर्मणेति दृष्टान्तेपि त'दृश इति। तादृशशब्दस्य व्युत्पत्तिरीदृशशब्दवत्। मनोरथेनापीति अपिशब्दस्य स्वप्न इत्यनेनान्वयः। अन्यदपीत्यपिशब्दार्थः। यद्वा यथास्थितमन्वयः। अपिशब्देन चिन्तादिना। तत्रेति स्वप्ने। मनोरथः पूर्वप्रज्ञास्थानीयः। यथा लोकेति यथा स्वप्नोपि दृश्यत इत्यर्थः। स्वप्नो वेदे, देहो वेदान्त इति विवेकः। इषेत्वेति शाखां छिनत्ति। शाखा खशया। खे हृदयाकाशे शेते स्वपितीत्यर्थः। स्वपिति स्वप्नं करोति। 'त विद्ये'तिश्रुतिः शारीरकब्राह्मणे, पूर्वप्रज्ञा दृष्टश्रुताभ्यां मनसा तयोश्चिन्तनम्। तत्रेति स्वप्ने। स्वप्न इति प्रतिपद्यत इत्यनेनाप्यन्वेति। श्रुतिसूत्रविरोधपरिहारायाहुः तदुदित इति। यः स्वप्नः यदनन्तरः मनोरथानन्तरः स हि स्वप्नः तत् तस्मात् उदितः इति न्यायनिवेशो लक्ष्ये। अत्र न्याये मृत्तन्त्वादिकारणानन्तरं घटपटादिरुदित इति प्रत्यक्षं मानम्। तथा श्च लोकान्तरगतिरूपदेहप्रकरणीयायाः 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इति श्रुत्या न विरोधः, एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोपरत्रापि तथेतिन्यायात्। सूत्रं तु 'विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वा'दिति तृतीयाध्याये। तस्यापि न विरोधः। यद्वा श्रुतिरपि सूत्रविषयवाक्यरूपा। 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती'ति कौषीतकिश्रुतिः। अत्र व्यवस्था 'तं विद्याकर्मणी' इत्येनया। 'विद्यया देवयानं कर्मणा सोमभाव' इति भाष्येण। न तावता तृतीयममार्गबाधः। एवं विद्याकर्मभ्यां जन्यः स्वप्नस्तद्धेतुको मनोरथेन जन्यः स्वप्नो मनोरथहेतुक इत्यर्थः। तथा च यथेदं तथा देही प्राक्तनं वपुस्त्यजत इति पूर्वेणान्वयः ॥ ४१ ॥

यतो यत इत्यत किञ्चेति किञ्चेत्यस्यारम्भार्थासम्भवात् प्राणश्लोकसाकल्यमर्थः। अन्यदपि प्राणश्लोकसाकल्यमुच्यत इत्यर्थः। तदध्यासादिति अहं जात इति देहाध्यासाज् जायते। अतस्मिन् तत्त्वारोपोध्यासः। आत्मनि जातत्वरूपदेहधर्मारोपः। एवमहं मृत इत्यत्र मृतत्वाध्यासः। अस्मिन्निति कंसनिविष्टकालनेम्युपदेशरूपे। मन एवेति एवकार आत्मयोगं व्यवच्छिनत्ति। तस्य दैवी सम्पत् तद्विषयत्वात्। अधुना कंसस्यासुरसम्पद्विषयत्वात्। नन्वासुरसिद्धान्ते मन एवेत्यत्र किं मानमिति चेन्न। 'मायेत्यसुरा' इति सिद्धान्ते। सर्वं मायेति तर्केणेति, 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वे'त्यत्र मायामये मनो जायत इत्युच्यते। 'माया मनः सृजती'ति सप्तमस्कन्धात्। 'न च तन्मनोकुरुते'ति बृहदारण्यकाद् वाक्यबाधः शङ्क्यः, तस्य दैवसिद्धान्तविषयत्वात्। तच्छब्दे-नाग्नेः घोरा तनुरूपाशनाया अपि वक्तुं शक्यत्वात्। निमित्तमात्रत्वमाश्रयस्य। 'नैवेह किञ्चनाग्र आसी'दिति बृहदारण्यक

'इहे'तिपदेनाश्रयोक्तेः। मतभेदेनाश्रयतन्वोः कारणतोपपत्तेः। तत्सिद्धान्ते 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुक'मितिवाक्यादाहुः तच्चेति। सङ्कल्पविकल्पेति 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्से'तिश्रुतिर्देवसिद्धान्ते। अन्यतरदिति अत्र बहूनां मध्य एकस्यातिशये विवक्षिते डतमप् प्राप्तः तथापि महाभाष्ये एतेषु कतरो देवदत्तः कतरो यज्ञदत्त इति तमबुपाधिम् बहुत्वमनादृत्यैव तरब्योगादत्रापि भगवदिच्छाकारणकयोः कालकर्मणोः अन्यतरदित्येवं बहुत्वमनादृत्यैवमुक्तम्। मायाकार्यमनित्यं मनस्तूत्कृष्टमेव गृह्णाति सदेत्याशङ्क्य मायाधर्मं मोहमाहुः मोहेनेति। 'पञ्च'स्वित्येव पाञ्चभौतिको देह इति। 'यतो यत' इत्यपादान-निरूपितं विश्लेषं वित्रृण्वन्ति स्म यं यमर्थं विहायेति। गुणेषु मध्ये यतो यतः यं यमर्थं विहाय धावति यं यं च आप, नाम यत्र यत्र लग्नं भवति, तत्र तत्रैव। असौ इति विप्रकृष्टो यः कोप्यात्मा देहो। अत्र गुणपदेन गुणकार्यमुच्यते। मायारचितेष्विति विशेषणात् 'लक्षणां नैव वक्ष्यामी'ति कारिकायाः। तदेवेति यं यमाप तदेव प्रपद्यमानः तेनैव सह जायत इत्यन्वयः। अत्र तत्र तत्र तदेव प्रतिपद्यमानः तत्र तत्र लोकान्तरे तदेवेति। यत्र लोकान्तरे, यत्र लग्नं भवति तदेव। यच्छब्दद्वयं यत्र यत्रेति तच्छब्दत्रयं तत्र तत्र तदेवेति। अस्यैवार्थोहमिति मन्यमान इत्यध्यासः। अध्यासमाहुः तेन सहेति। तेन देहेन। तथा च देहधर्मो जातत्वं न स्वस्य जीवस्य धर्मः। 'मनो यत्र निपक्तमस्ये'तिश्रुत्याहुः मनश्चेति। समा इति मनोभावनाविषयाः समाः विषयत्वेन। एवमपीति समत्वेपि। अस्मादिति परिदृश्यमानात् तव देहात्। उत्कृष्टमेवेति भोजानां कुलपांसवत्वज्ञानं तस्य वसुदेवेन ज्ञातम्॥ ४२॥

ज्योतिर्यथैवेत्यत्र एवमित्यादि पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनो मनोनुसरणे ग्रहणपरित्यागहेतुत्वेन मनोहेतुद्वारा तत्कार्यदेहानु-सरणात्तथा। अनुगतपदलभ्योर्थः। मोहादेवेति मोहो मायाधर्मः। एवकारोत्र 'ऋतेऽऽत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे'ति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् इदं मायाधर्मेणार्थसम्बन्धं देहसम्बन्धमाह प्रतिबिम्बेति। अयं न्यायोग्रे वाच्यः। तथात्वं देहानुसरणमस्ति। उदकेति मध्यमपदलोपीसमासः। अन्तःकरणमिति तत्र कर्मवेगानुगत आत्मा प्रतिबिम्बमिव विभाव्यत इत्यर्थः। अन्तःकरणस्य मालिन्यात् प्रतिबिम्बासम्भवमालोच्याहुः उदकेष्विति। चांचल्येति दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकसाधारणम्। मालिन्यम् आसुरबोधनायोपात्तम्, मलिने प्रतिबिम्बासम्भवात्। अत एव सिद्धान्ते जीवो न प्रतिबिम्बः। प्रतिबिम्बः कार्येश्वरः। स्वासाधारस्वभावानुविधायित्वे सति सम्मुखस्थितार्थानुविधायित्वं प्रतिबिम्बत्वम्। 'वेगो जवे प्रवाहे च महाकालफलेपि चे'ति विश्वात् समीरवेगा इत्यत्र वेगश्च वेगश्च वेगश्च वेगा इत्यत्र एको वेगो जवः चांचल्यम्। महाकालफलं मालिन्यम्। आदिपदेन प्रवाहः। अनुगतम् अनु पश्चाद् गतम्। तत्सम्बन्धोनुगमनसम्बन्धः। अद इति 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति कोशः। प्रदर्शित इति सूर्यादिः प्रदर्शितः, आदिशब्दस्य नपुंसकत्वाभावात्। स्वमोहेनेति आत्ममोहेन। स्वीयमायाधर्मेण। मायारचितत्वे तु तज्जन्यभोगोन्यस्यापि स्यात्। आत्ममोहस्य तु तदीयकर्मसाहित्यान्नान्यस्य तद्देहजन्यभोगः। अभिमतेष्विति स्वप्न इवाभिमतेष्वहंकारविषयेषु। भगवानित्यात्मा। रागेणेत्यनुरक्त्या। अनुगतः पश्चात् प्राप्तः, किं प्राप्त इत्यपेक्षायामाहुः तेन सहेति। देहेन सहैकत्वं प्राप्तः व्यतिरेकेणानुभवाभावात्। तथापि। प्रतिबिम्बेत्यादि प्रतिबिम्बन्यायेनान्तःकरणे प्रविष्टः, 'स मानसीन आत्मा जनाना'मितिश्रुतेः। विशेषेणेति मुहु वैचित्र्ये। दि० प० से० परोपि विशेषेण तदैक्येन मनोनिष्ठमोहानुकूलव्यापारवान् भवति। अनुभूतमिदम्। भ्रमादित्यध्यासात्। तद्वशाद्देहवशात्। अपकार इति दयापात्रभगिनीहननेनात्मनोपकारोऽधर्मसम्बन्धः। अधर्मसम्बन्धादात्मनो नरकपातः॥ ४३॥

तस्मान्न कस्येत्यत्र तत्त्वमिति सप्तभिः पारमार्थिकं तत्त्वम्। अग्रे द्वाभ्यां लौकिकं तत्त्वं वक्तव्यमिति भावः। यदुक्तमिति गतश्लोके। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यतीतिश्रुत्युक्तं भयमाहुः भेदात्मकमिति। भेदेन परनिष्ठेनात्मा स्वरूपं यस्य भयस्य तत्तथोक्तम्। न त्वेकाकिकृतं भयं भवति। 'सो बिभेत्तस्मादेकाकी बिभेतो'ति पुरुषविधब्राह्मणश्रुत्युक्तम्। कस्यचिदिति कस्यासकलमपि द्रोहम्। स इति देहः। तादृशः हननधर्मवान्। प्रकृतेस्यार्थस्योपयोगमाहुः अनेनेति। उक्तेन। आत्मनोपीति अपिना देहस्य। ननु अर्थी दोषं न पश्यतीति द्रोग्धाहं कथं क्षेमं विचारयिष्यामीत्यत आहुः सोपीति। द्रोग्धापि। मार्योन्मत्त इति देवक्याः सकाशाद्भयासम्भवात् स्वस्य च पतित्वेन देवक्यर्धत्वादहमपि मार्यस्तस्मादित्यर्थः। श्लोके परशब्देन शत्रुः यो मार्यते सः॥ ४४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

देहविषययोरेव स्वीकारपरित्यागयोर्दृष्टान्तान्तरमाह—स्वप्न इति। दृष्टं राजादि, श्रुतमिन्द्रादिशरीरं ताभ्याम्। तादर्थ्ये चतुर्थी। तल्लाभाय मनसा तदनुचिन्तयन् पुरुषो यथा स्वप्ने ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं शरीरं राजादिरूपं किमप्यनिरुक्तं पश्यति तदेवाहमिति प्रतिपद्यते मन्यते, ततश्च जाग्रद्देहादपगतस्मृतिर्भवति तथेत्यर्थः। जाग्रत्येव देहस्वीकारपूर्वकदेहत्यागे दृष्टान्तान्तरमाह—मनोरथेनेति। दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् मनोरथेनाभिनिविष्टा व्याप्ता चेतना बुद्धिर्यस्य स यथेदृशं किमपि देहं पश्यति तत्प्रपद्यते च पूर्वदेहादपगतस्मृतिश्च भवति तथेत्यर्थः। दृष्टान्तानां प्रसिद्धिं सूचयति—हीति॥ ४१॥ ननु 'सत्यं किमपि देहमात्रं प्राप्तं भविष्यति, तथाप्यस्य राजदेहस्यातिप्रियत्वादेतद्रक्षणाद्याकृत्यमपि क्रियते" इति चेत् "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" इत्यादिवाक्यानुसारेण चिन्तनमात्रेणैवेष्टदेहप्राप्तिसम्भवान्न तद्रक्षार्थमपि पापाचरणं युक्त-मित्याशयेनाह—यतो यत इति। अस्य देहस्य पञ्चत्वसमये मनः पञ्चसु गुणेषु गुणकार्यपृथ्व्यादिमहाभूतेषु मायया भगवदिच्छया

देवमनुष्यादिनानादेहरूपेण रचितेषु मध्ये यतो धावति यं यं देहं चिन्तयति धावच्च सत् यं यमाप अभिनिवेशेन प्राप्तं भवति तत्र तत्रासौ देही जायते। मनसस्तु धावनं सहजमेवेत्याह—विकारात्मकमिति। नानाविधसङ्कल्पविकल्पात्मकमित्यर्थः। तथापि तदा विशेषतो देवादिस्वरूपचिन्तने को हेतुरित्यपेक्षायामाह—दैवचोदितमिति। देवादिशरीरेषु नानाविधसुखदुःखभोगप्रदानाभिमुखेन दैवशब्दवाच्येन कर्मणा चोदितमित्यर्थः। तथा च नानायोनिगतभोगप्रदेषु कर्मसु सत्स्वपि यद्योनिगतभोगप्रदं कर्म फलाभिमुखं भवति, तेनैव प्रेरितं मनस्तदेव शरीरं चिन्तयतीति ज्ञेयम्। तर्हि मनसश्चिन्तकत्वात्तदेव जायताम्, जीवः किमिति जायते तत्राह—प्रपद्यमान इति। यतो मनसा सहात्मनः अभेदं मन्यमानः अतस्तेन सहैव जायते नानायोनिषु संसरतीत्यर्थः॥ ४२॥ नन्वन्ते स्मरणस्यापि कर्माधीनत्वात् कदाचिद्दुष्टेन कर्मणा तदानिष्टदेहस्मरणं स्यात्तर्हि तस्यैव प्राप्तिः स्यात्, न इष्टस्येत्याशङ्क्याह-ज्योतिरिति। यथा अदः सूर्यचन्द्रादिज्योतिः उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु वापीकूपतडागादिषु प्रतिबिम्बितसमीरस्य वायोर्वेगमनुगतं चाञ्चल्यमालिन्यादियुक्तमेव विभाव्यते प्रतीयते, एवं स्वमायया स्वाविद्यया रचितेषु गुणेषु देहेषु असौ पुमान् जीवो रागेणानुगतः प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविष्टो मुह्यति आत्माभिनिवेशं प्राप्नोति। तथा च राजदेहवत् सूकरादिदेहस्थस्यापि जीवस्य तत्रात्माध्यासेन प्रेमास्पदत्वादेः सत्त्वात् न ततो राजदेहादेः कश्चिद्विशेष इति भावः॥ ४३॥ एवं सामोपायं निरूपितम्। अथ दृष्टादृष्टभयात्मकभेदमाह—तस्मादिति। वै यस्माद्द्रोग्धुः पुरुषस्य परतो द्रुह्यमानात्तत्सम्बन्धिभ्यो यमाच्च भयं भवति तस्मात् स तथाविधो यादृशो द्रुह्यते तादृशः अज्ञः कर्माधीनः आत्मनः क्षेममभयमन्विच्छन् कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेदित्यन्वयः॥ ४४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

देहविषयावेव स्वीकारपरित्यागौ दर्शयितुं पुनर्द्वौ दृष्टान्तावाह—स्वप्न इति। यथा स्वप्ने स्वापावस्थायां वर्त्तमानः यथा वा मनोरथेन अभिनिविष्टा अभिनिवेशवती चेतना बुद्धिर्यस्य सः स्वप्नावस्थागतो मनोरथाविष्टो वेत्यर्थः। देही दृष्टं राजादिदर्शनं श्रुतमिन्द्रादिश्रवणं ताभ्यामाहितसंस्कारेण मनसा तदेवानुचिन्तयन् ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं देहं राजादिरूपं किमपि अनिरुक्तं पश्यति। यः क्षणान्तरे च तदेवाहमिति प्रपद्यते। ततश्च जाग्रद्देहादपगतस्मृतिर्भवति। पुरुषो यथेति। इममेवार्थमेकादशे द्वाविंशेऽध्याये वक्ष्यति "जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोः" इत्यारभ्य "स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।" इत्यादिकेन केचित्त्वत्र मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः पुरुषः स्वप्ने ईदृशं देहं पश्यति। इत्येकदृष्टान्तत्वेन व्याचक्षते इति। तद्वदत्रापि कर्मवशाद्देहान्तरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजतीति॥ ४१॥ यतो यत इति। देहस्य पञ्चत्वसमये दैवेन फलाभिमुखेन कर्मणा चोदितं नानाविकारात्मकं मनो मायारचि[illegible]षु मायया नानादेहरूपेण रचितेषु पञ्चसु गुणेषु भूतेषु मध्ये यं यं देहं देवतिर्यगादिरूपं प्रतिधावति धावच्च सद्यो यमाप अभिनिवेशेन प्राप्तं भवति तमेव प्रपद्यमानः तदेवाहमिति मन्यमानः असौ देही तेन मनसा सहैव तत्र जायते। यद्वा तेन विषयाभिनिविष्टेन मनसा सह साहित्याद्धेतोः तं तं विषयं प्रपद्यमानो जायते भुञ्जानो भवति इत्यर्थः॥ ४२॥ ततश्च मनःसहितस्य जीवस्य मनोधर्मप्राप्तिं सदृष्टान्तमाह—ज्योतिरिति। यथा उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु घटादिषु यद्वा उदकेषु पार्थिवेषु तैलघृतादिषु च प्रतिबिम्बतया स्थितम् अदः प्रसिद्धं ज्योतिश्चन्द्रादि समीरस्य वायोर्वेगमनुगतं कम्पादियुक्तं विभाव्यते प्रतीयते। एवं स्वस्य मायया अविद्यया रचितेषु गुणेषु देहेषु असौ पुमान् रागेणानुगतः प्रविष्टो मुह्यति अभिनिवेशं प्राप्नोति। अयं भावः। आत्मनो देहाद्यध्यासोऽजन्मोच्यते। अन्योन्याध्यासाच्च देहादिधर्माः कार्श्यादयः आत्मनि प्रतीयन्ते। एवं प्रेयस्त्वादय आत्मधर्मा देहादौ इति व्यर्थो मृत्युप्रतीकारः॥ ४३॥ उक्तं सामोपसंहरन् दृष्टादृष्टभयलक्षणं भेदं दर्शयति—तस्मादिति। तस्मात् मृत्योरपरिहार्यत्वादिहेतोः तथाविधः मृत्युपरिहाराशक्तः स जनः आत्मनः क्षेममन्विच्छन् हेतौ शता। हेतुरत्र फलम् इहामुत्र क्षेमार्थमित्यर्थः। कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेत् वै यस्माद्धेतोः द्रोग्धुः जनस्य परतः अभिद्रुह्यमाणात्तत्संबन्धिनश्च यमादपि इहामुत्र च भयमिति॥ ४४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

देहान्तरमनुप्राप्येत्येतत् दृष्टान्तद्वयेनोपपादयति। व्रजन्निति। यथा, व्रजन् गच्छन्, पुमानिति शेषः। एकेन पदा, तिष्ठन्, अग्रतो निहितेन चरणेन भुवमवष्टभ्य देहं बिभ्रदित्यर्थः। पश्चात्, एकेनान्येन पूर्वप्रदेशादुत्थाप्य पुरोनिहितेन पदा, गच्छति, एव। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इति कोशादेकशब्दस्यान्यशब्दार्थत्वम्। अत्र चैकस्य स्वीकारोऽपरस्य परित्याग इत्येतौ नात्यन्तभिन्नविषयाविति बोधयितुं दृष्टान्तान्तरमाह। यथा तृणजलौका तृणान्तरमवष्टभ्य पूर्वं तृणं त्यजति, एवं कर्मगतिं गतः, देह्यपि, कर्मपथे वर्त्तमानोऽन्यो जीवोऽपि, यातनादेहेऽग्रिमपादावष्टम्भसमं स्थूलातिभावनोपेतामहंममतां निबद्ध्य पूर्वदेहगतां तां परित्यजति। तथा चोक्तं मनुस्मृतौ द्वादशेऽध्याये षोडशादिश्लोकेषु। 'पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्। शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्। तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः। तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः' इति। एतदर्थो मन्वर्थमुक्तावलेर्बोध्यः। अत्र पापफलभोगार्थकं यथा यातनार्थीयं शरीरं जायते, तथा पुण्यफलभोगार्थकं सुखानुभवार्थीयं शरीरमप्युपपद्यते इति बोध्यमेतद्वचनस्य तदुपलक्षणत्वात्॥ ४१॥ ननु जलौका तु विद्यमानशरीरेणैव गन्तव्यप्रदेशमवष्टभ्यैव पूर्वदेशं परित्यजतीति तस्याः भयशोकाद्यभावो युक्तः दार्ष्टान्तिके तु न तथा प्रतीयते पूर्वदेहत्यागोत्तरदेहलब्ध्योः श्रवणात्। तथाभावे प्राक्तनकलत्रपुत्रवपुस्त्यागप्रयुक्तभयशोकोपनिपातसंभावनया तत्परिहारोऽवश्यं कर्त्तव्य इत्याक्षेपपरिहाराय स्वप्नमनोरथदृष्टान्ताभ्यां देहान्तरप्राप्तिपूर्वकं पूर्वदेहत्यागं

तत्प्रयुक्तभयाद्यभावं च दार्ष्टान्तिके संगमयति। स्वप्न इति। पुरुषः जाग्रति दृष्टं राजादिदर्शनं च श्रुतमिन्द्रादिश्रवणं च ताभ्याम्, आहितसंस्कारेणेति शेषः। मनसा अनुचिन्तयन् दृष्टश्रुतमेव ध्यायन्, अतः अत्र अभिनिविष्टचेतनः संजाताभिनिवेशयुक्तबुद्धिः सन्, स्वप्ने यथा ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं, देहं राजेन्द्रादिशरीरं, किमपि विभ्रान्तिमत्तया अनिरुक्तं यथा भवति तथा, पश्यति, क्षणान्तरे इति शेषः। तत् तदेवाहमिति, प्रपद्यते मन्यते, ततश्च अपस्मृतिः। जाग्रद्देहविषयकस्मृतिरहितः भवति। एवं स्वाप्नदृष्टान्तेन पूर्वदेहत्यागजातभयशोकादिराहित्यं प्रदर्शितम्। जाग्रत्यप्येवं मनोरथोद्देशेन दृष्टान्तान्तरमाह। पुरुषः, जाग्रति, यथा दृष्टश्रुताभ्यां राजदर्शनेन्द्रश्रवणाभ्यामित्यर्थः। आहितसंस्कारेण मनसा, कृतेन मनोरथेन, अहमेवंविधो राजा भवेयमिन्द्रो भवेयमिति बहुविहितमनोरथेनेत्यर्थः। तद्दृष्टश्रुतमेवेत्यर्थः। अनुचिन्तयन् भवति। अतः अत्र अभिनिविष्टचेतनः सन्, जाग्रत्येव, ईदृशं दृष्टश्रुतसदृशं, देहं राजेन्द्रादिशरीरं, किमपि विभ्रान्तिमत्तोपेततयाऽनिरुक्तं यथा भवति तथा, पश्यति। क्षणान्तरे च, तत्तदेवाहमिति प्रपद्यते। ततश्च अपस्मृतिः स्वीयब्राह्मणत्वादिस्मृतिरहित इत्यर्थः। जायते। एवं जाग्रद्दृष्टान्तेनापि पूर्वदेहत्यागजन्यभयादिराहित्यं प्रदर्शितम्। केचित्तु केवलस्वप्नदृष्टान्तेन देहान्तरप्राप्तिपूर्वकं पूर्वदेहत्यागं तत्प्रयुक्तभयाद्यभावं च दार्ष्टान्तिके संगमयन्ति। तद्यथा। स्वप्ने यथा दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतमनीषितलाभार्थं, मनसा अनुचिन्तयंस्तत्संकल्पविकल्पौ कुर्वन्, मनोरथेन देशान्तरगमनराज्याभिषेकादिरूपेण, अभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य तथाभूतो जीवः, ईदृशं शयानसदृशं, तत् किमपि तद्विलक्षणं वा किमपि शरीरं तावत्, पश्यति। ततः, प्रपद्यते तदेवाहमिति मनुते, ततः, अपस्मृतिः जाग्रत्कालीनदेहविषयकस्मृतिरहितः भवति। अत एव तत्त्यागप्रयुक्तभयशोकादिरहितश्च भवति। हीत्यनेन स्वपरानुभवसिद्धिं द्योतयतीति ॥ ४२ ॥ ननु नानाविधदेहहेतूनां कर्मणां कृतत्वात्पूर्वदेहत्यागानन्तरं देहविशेषप्राप्तौ किं कारणं तत्राह। यतो यत इति देहस्य पञ्चत्वप्राप्तिसमये इति शेषः। दैवेनोदितमदृष्टोद्बोधकान्तर्यामिणा कर्मात्मकतद्वासनानुगुणं प्रेरितं, विकारात्मकं संकल्पविकल्परूपनानाविकारयुक्तं, मनः, मायारचितेषु मायया नानादेहरूपेण विरचितेषु, पञ्चसु पञ्चसंख्याकेषु, गुणेषु भूतेषु मध्ये, यतो यतः, धावति। यं यं देहं स्मरतीत्यर्थः। धावच्च सत् यं यम्, आप। अभिनिवेशेन यं यं प्राप्नोतीत्यर्थः। प्रपद्यमानः तदेवाहमिति मन्यमानः, असौ देही, तेनोक्तविधेन मनसा सह, तत्र तत्र, जायते। अत्र मनसः कर्तृत्वात्तस्यैव तत्र भवनं युक्तं, न त्वकर्त्तुरात्मनस्तथापि तदेवाहमित्यभिमत्या स तत्र जायते इत्युक्तम्। इयमेवास्योत्पत्तिर्नामेति भावः। 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' इति भगवदुक्तेः ॥ ४३ ॥ 'सह तेन जायते' इति यदुक्तं तत्र जीवस्य तेन सह जन्मरूपोपाधिप्रयुक्तमेव देवमनुष्यत्वादि नानात्वं, वस्तुतस्तु सर्वत्र शरीरेषु जीवा ज्ञानैककारत्वेनावतिष्ठन्ते इति सदृष्टान्तमाह। ज्योतिरिति। यथा अदः ज्योतिः अन्तरिक्षस्थमेकरूपमेव सूर्यादितेजः, उदकानि च पार्थिवानि च तेषु, तत्रोदकानि प्रसिद्धानि, पार्थिवानि पृथिवीपरिणामरूपदर्पणादीनि च, केचित्तु पार्थिवानि तैलघृतादीनि इति वदन्ति। प्रतिबिम्बितं सदिति शेषः। समीरस्य वायोर्यो वेगस्तेनानुगतमनुवृत्तं, विभाव्यते। जनैरिति शेषः। समीरवेगोत्थमहदल्पतरङ्गाणां चलनादिना सकम्पत्वानेकतापन्नत्ववद्विबुद्ध्यते। एवमेव, असौ पुमान् जीवः, स्वतो देवमनुष्यत्वादिनानात्वरहितोऽपीति शेषः। स्वमायारचितेषु स्वदेहारम्भकप्रकृतिपरिणामरूपभूतसूक्ष्मारब्धेषु, गुणेषु गुणपरिणामात्मकेषु शरीरेषु, रागानुगतः वासनयाऽनुप्रविष्टः सन्, विमुह्यति देवोऽहं मनुष्योऽहमित्येवं नानाविधं मोहं प्राप्नोति। यद्यप्यत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं प्रतिभाति तथापि वस्तुतो नानात्वाभावौपाधिकनानात्वमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽवगन्तव्यः। यद्यपि 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति श्रुतीक्षया 'ज्योतिर्यथैवास्ति महीरुहेष्वदस्तद्वक्रकुब्जत्वयुतं विभाव्यते' इत्थंभूतमेतत्पूर्वार्द्धं प्रागासीत्तच्च प्रतिबिम्बवादिभिर्जीवब्रह्मणोरभेदद्योतनाय तत् स्फुटताद्योतनायान्यथा कृत्वा पठितमस्ति, न च वाच्यं श्रुतिरपि तदेव दर्शयतीति। अनादिकालतो बद्धस्य स्वरूपताऽबद्धस्य जीवस्य तथाविधोऽग्निरेव दृष्टान्ताय युज्यते। उक्तपूर्वार्द्धं व्याख्यायते। महीरुहेषु वृक्षेषु, ज्योतिर्वाह्नं तेजः, अस्ति एव अनादिकालत एव वर्त्तते। अद एतज्ज्योतिः, यथा तद्वक्रकुब्जत्वयुतं वृक्षगतवक्रत्वकुब्जत्वादिमत्, विभाव्यते, एवमित्याद्युत्तरार्द्धं पूर्ववदेव। यदि हठात् कैश्चिज्ज्योतिर्यथैवोदक इत्यादिपाठ एव सत्य इत्युच्यते, तर्हि सोऽप्यनयैव दिशा व्याख्याय प्रदर्श्यते। अदः याज्ञिकादिभिररण्यादिरुष्वनुभूयमानं, ज्योतिर्वाह्नं तेजः, उदमुदकं कायन्ते स्ववृत्त्यर्थं शब्दायन्ते प्रार्थयन्त इति उदकाः पृथिव्यां भवाः पार्थिवाः उदकाश्च ते पार्थिवाश्चोदकपार्थिवास्तेषु उदकजीवनेषु पृथिवीजाततरुष्वित्यर्थः। सम्यगीर्यन्ते शाखादिचालनेनेतस्ततः प्रेर्यन्ते इति समीरास्तरवस्तेषां वेगः शाखाप्रशाखानामूर्द्धतिर्यक्प्रसरणप्रवाहस्तेनानुगतं, 'वेगो जवे प्रवाहे च' इति मेदिनी। यथा विभाव्यते। एवमादि पूर्ववदेव। विगीतत्वाद्गोपालानन्दस्वामिभिरुपेक्षितोऽपि दुराग्रहवतः प्रत्युत्तरदानायायं व्याख्यातः ॥ ४४ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

जैसे कोई पुरुष जाग्रत् अवस्थामें राजाके ऐश्वर्यको देखकर और इन्द्रादिके ऐश्वर्यको सुनकर उसकी अभिलाषा करने लगता है और उसका चिन्तन करते-करते उन्हीं बातोंमें घुल-मिलकर एक हो जाता है तथा स्वप्न में अपने को राजा या इन्द्रके रूपमें अनुभव करने लगता है, साथ ही अपने दरिद्रावस्थाके शरीरको भूल जाता है। कभी-कभी तो जाग्रत् अवस्थामें ही मन-ही-मन उन बातोंका चिन्तन करते-करते तन्मय हो जाता है और उसे स्थूल शरीरकी सुधि नहीं रहती। वैसे ही जीव कर्मकृत कामना और कामनाकृत कर्मके वश होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है और अपने पहले शरीरको भूल जाता है ॥ ४१ ॥ जीवका

मन अनेक विकारोंका पुञ्ज है। देहान्तके समय वह अनेक जन्मोंके सञ्चित और प्रारब्ध कर्मोंकी वासनाओंके अधीन होकर मायाके द्वारा रचे हुए अनेक पाञ्चभौतिक शरीरोंमेंसे जिस किसी शरीरके चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है और मान बैठता है कि यह मैं हूँ उसे वही शरीर ग्रहण करके जन्म लेना पड़ता है ॥ ४२ ॥ जैसे सूर्यचन्द्रमा आदि चमकीली वस्तुएँ जलसे भरे हुए घड़ोंमें या तेल आदि तरल पदार्थों में प्रतिबिम्बित होती हैं और हवाके झोंकेसे उनके जल आदिके हिलने-डोलनेपर उनमें प्रतिबिम्बित वस्तुएँ भी चञ्चल जान पड़ती हैं—वैसे ही जीव अपने स्वरूपके अज्ञानद्वारा रचे हुए शरीरमें राग करके उन्हें अपना आप मान बैठता है और मोहवश उनके आने-जानेको अपना आना-जाना मानने लगता है ॥ ४३ ॥ इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिये; क्योंकि जीव कर्मके अधीन हो गया है और जो किसीसे भी द्रोह करेगा, उसको इस जीवनमें शत्रु से और जीवनके बाद परलोक से भयभीत होना ही पड़ेगा ॥ ४४ ॥

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा । हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः[1] ॥ ४५ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्य[2]मानोऽपि दारुणः । न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥ ४६ ॥

निर्बन्धं[3] तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः । प्राप्तं[4] कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥ ४७ ॥

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् । यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—एषा तव अनुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा त्वं दीनवत्सलः इमां कल्याणीं हन्तुं न अर्हसि ॥ ४५ ॥ श्रीशुक उवाच—कौरव्य ! एवं सः सामभिः बोध्यमानः अपि पुरुषादान् अनुव्रतः दारुणः न न्यवर्तत ॥ ४६ ॥ आनकदुन्दुभिः तस्य तं निर्बन्धं ज्ञात्वा प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुं इदं तत्र अन्वपद्यत ॥ ४७ ॥ बुद्धिमता यावद् बुद्धिबलोदयं मृत्युः अपोह्यः यदि असौ न निवर्तेत देहिनः अपराधः न अस्ति ॥ ४८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पुनः सामाऽऽह—एषेति । पुत्रिकोपमा दारुमयीव अचेतनप्रायेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ बोध्यमानः उपदिश्यमानः । स्वयं दारुणः पुनः पुरुषादान्दैत्याननुसृत इति ॥ ४६ ॥ आनकदुंदुभिरिति पदं महाभाग इत्यत्रोक्ताभिप्रायम् । प्रतिव्योढुं प्रतिकर्तुं वंचयितुमित्यर्थः । इदं वक्ष्यमाणमपत्यार्पणमन्वपद्यत ज्ञातवान् ॥ ४७ ॥ ननु खलोयमेतदपि न मन्येतेत्याशंक्य स्वस्मिन्नेवाह—मृत्युरिति ॥ ४८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यज्ञादिकर्मकर्तृशुद्धकुरुवंशोद्भूतस्य तव तुल्यता तस्य नास्तीत्याह—हे कौरव्येति । पुरुषादाननुव्रतः तत्स्वभावमापन्नः ॥ ४६ ॥ तस्य कंसस्य निर्बंधं हठम् । "निर्बंधो हठमुक्तयोः" इति धरणिः । विचिंत्य इत्थमयं पापो बोधनीय इति विचार्य ॥ ४७ ॥ आर्यविमृष्टाप्यनार्यैर्नांगाक्रियत इत्याशंकते—नन्वित्यादिना । अयं कंसः । एतत् मद्विचारितम् । वक्ष्यमाणसुतार्पणादिना भार्यामोक्षणम् । स्वयमेव वसुदेव इत्यर्थः । प्राह मृत्युरित्यादिना । अपोह्यो निराकर्त्तव्यः । बुद्धिश्च बलं चोदयश्च ते बुद्धिबलोदयाः ज्ञानसामर्थ्यवैभवाः यावंतो बुद्धिबलोदयास्तावंतो मृत्युप्रतीकारा इति यावद्बुद्धिबलोदयम् । "यावदवधारणे" इत्यव्ययीभावः असौ मृत्युः बुद्धिवैभवादिसत्त्वेऽकार्येणापि मृत्युप्रतीकारः कार्योऽन्यथाऽपराधो दोषः स्यादिति । यद्वा—अकार्येणापि मृत्यावनिवृत्तेऽकार्यकरणलक्षणापराधो न भवति प्रतिकर्तुरिति भावः ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अत्युग्रे संस्तुतिसामैवोचितमिति पुनस्तदेवाह—एषेति । नवोढा कृपणा भयेन रोदनादिपरेत्यर्थः । दीनस्वभावा वा पुत्रिकोपमा तव पुत्रीतुल्येति स्नेहं जनयति, यद्वा, पुत्तलिकासदृशी अचेतना भद्राभद्राऽनभिज्ञेत्यर्थः । अत एव कल्याणीं निरपराधामित्यर्थः । इमामेनां विशेषणानामेषामुत्तरोत्तरं कल्याणत्वे श्रैष्ठ्यमूह्यम्, दीनवत्सल इति श्लेषेण दीनं मृतप्रायं वत्समेव लाति विप्रेभ्यो ददाति यद्वा दीनादपि वत्समपि लाति गृह्णातीति इमां त्वं हन्तुं नार्हसि काका किन्त्वर्हस्येवेत्यर्थः इति निन्दैव ॥४५॥ पुरुषादा राक्षसा अघादयः तान् अनुव्रतः तेषां परितः स्थितानां मतमनुसृत इत्यर्थः । भक्षकेषु सामादीनां वैयर्थ्यं युक्तमेवेति भावः । सामादि-

---

१. वत्सल—वीर. विज. । २. श्रोध्यमानोपि—वीर. । ३. तु—वीर. । ४. प्राप्तकालं—वीर. विज. ।

भिरण्यनिवृत्तेर्विस्मयेन सम्बोधयति हे कौरव्येति ॥ ४६ ॥ इदं विचिन्त्येदमन्वपद्यतेत्यन्वयः । भूय. तं हननार्थं निर्बन्धम् आग्रहं ज्ञात्वा बुद्ध्वा विचिन्त्य विचार्य कालं समयं मृत्युं वा प्रतिव्योढुं वञ्चयितुमित्यर्थः । तत्र तदानीं सद्य एवेत्यर्थः । अन्वपद्यत उपायत्वेन मनसा निश्चितवानित्यर्थः ॥ ४७ ॥ ननु, तत्र खलोऽयमित्याद्याशङ्कागर्भं विचारमेव दर्शयति-मृत्युरिति अपोह्यः प्रतिकार्यः बुद्धिबलयोरुदयः उत्कर्षः तदवधिः पूर्वा बुद्धिस्तत्सामान्यम् उत्तरात्तद्विशेषः असौ मृत्युः अपराधः उपेक्षादोषः देहिन इति देहतन्त्रस्य जीवस्य ततोऽन्यत्राशक्तेः ॥ ४८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सामान्यतो हिताहितं विविच्याथ विशेषेण विवेचयति एषेति अनुजातत्वस्त्रीत्वबाल्यदैन्यपुत्रिकातुल्यत्वकल्याणीत्वादिधर्मयुक्तेयमवध्याऽत इमां त्वं हन्तुं नार्हसि हन्तृत्वानर्हतां सूचयितुं सम्बोधयति, हे दीनवत्सलेति ॥ ४५ ॥ इत्थमिति । इत्थं सामभिः श्लाघनीयगुण इत्यादिगुणकीर्त्तनपूर्वकम् उपलालनैर्भेदैर्दृष्टादृष्टभयसूचकवचोभिः चोद्यमानोऽपि वधोद्योगनिवृत्त्यर्थं प्रेर्यमाणोऽपि स कंसो दारुणः क्रूरः हेतुगर्भमिदं दारुणत्वात्तत्र हेतुः पुरुषादान् राक्षसाननुव्रतः असुरसंपत्त्यभिजातः हे कौरव्य ! न न्यवर्त्तत वधोद्योगादिति शेषः ॥ ४६ ॥ तस्य कंसस्य सम्बन्धिनं निर्बन्धमनिवृत्तवधोद्योगरूपं ज्ञात्वा आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः प्राप्तं समुपस्थितं कालं पत्न्याः मृत्युं प्रतिव्योढुं परिहर्तुं विचिन्त्य, उपायमिति शेषः तत्र कालपरिहारे इदं वक्ष्यमाणम् अन्वपद्य उपायत्वेनाध्यवस्यत् ॥ ४७ ॥ विचारपूर्वकं प्रतिपत्तिमेव दर्शयति-मृत्युरित्यादिभिः चतुर्भिः । उपस्थितो मृत्युर्बुद्धिमता पुंसा यावद्बुद्धिबलोदयं यथामति यथाशक्ति चापोह्यः परिहार्यः एवमपि यद्यसौ मृत्युः न निवर्त्तेत तर्हि न देहिनोऽपराधोऽस्ति ॥ ४८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

परतोऽन्यस्माद्द्रोह्यात्पुरुषात् द्रोहलक्षणं भयं स्यादिति मत्वा निरन्तरद्रोहलक्षणं दुःखं भवतीति भयसाम प्रदर्श्य भेदसाम प्रदर्शयति एषेति ॥ ४५ ॥ पुरुषादान् राक्षसाननुव्रतः स्वस्वभावमापन्न इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ यः शास्त्रनिषिद्धस्तं प्राप्तकालं प्रस्तावसरं व्यसन प्रतिव्योढुं प्रतिहर्त्तुम् इदं वक्ष्यमाणम् अन्वपद्यत अपश्यत् ॥ ४७ ॥ यावद्बुद्धिबलोदयमित्यव्ययीभावः 'यावदवधारणे" (२।१।८) इति सूत्रात् अपराधः शास्त्रविरोधाचरणलक्षणः ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

निर्बन्धमिति अन्वपद्यत उपायत्वेन मनसा विचारितवानित्यर्थः ॥ ४७-४८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तदप्यनिवृत्तं तमत्युग्रं स्तुतिभिरिति न्यायेन पुनः सामाऽऽह एषेति । पुत्रिकोपमा अनुकम्पनीयपुत्रीतुल्या पुत्तलिकावद्भयेन अचेतना वा वास्तवार्थे तु शिरश्चालने नव् दीनादतिदरिद्रादपि वत्समपि राजकरत्वेन लासि गृह्णासीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ चोद्यमान उपदिश्यमानः पुरुषादान् दैत्यान् ॥ ४६ ॥ आनकदुन्दुभिरिति मज्जन्मनि देवैर्दुन्दुभिवादनादिदममङ्गलं न मे भविष्यतीति निश्चिन्वन् प्रतिव्योढुम् यापयितुम् इदम् अन्वपद्यत परामममर्श ॥ ४७ ॥ अपोह्यः प्रतिकार्यः यावान् बुद्धिबलयोरुदयो यत्र तद्यथा स्यात्तथा अस्मात् कंसहस्तान्मृत्युप्रतीकारे मम तु बलस्योदयो विफल एव बुद्धेरुदयस्तु सफलो भवितुमर्हतीति भावः असौ मृत्युः ॥ ४८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सामभिः श्लाघनीयगुण इत्यारभ्य दीनवत्सल इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रोक्तैः भेदैः आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतोभयमित्यनेन मध्ये प्रोक्तैर्बोध्यमानः उपदिश्यमानोऽपि स्वयं दारुणः पुनः पुरुषादान् पुरुषभक्षणपरानसुराननुव्रतः न न्यवर्तत भगिनीवधादिति शेषः ॥ ४६ ॥ आनकदुन्दुभिः श्रीवसुदेवः तस्य कंसस्य निर्बन्धं भगिनीवधे हठं तच्चेष्टया ज्ञात्वाऽतः परं किं कर्तव्यमिति विचिन्त्य प्राप्तकालं प्रतिव्योढुं प्रतिवारयितुम् इदं वक्ष्यमाणमपत्यार्पणमन्वपद्यत अन्वालोचयत् ॥ ४७ ॥ बुद्धिमता मया मृत्युर्मारकः कंसः अपवाह्यः दूरीकर्तव्य इत्यर्थः । यदि असौ कंसः न निवर्तेत तदा देहिनो मम अपराधो न भवेत् उपेक्षणकर्तुस्तु अपराधो भवेदेवेति भावः ॥ ४८ ॥

श्रीसुबोधिनी

लौकिकव्यवहारेणापि मारणं नोचितमित्याहैषा तवानुजेति । लोके कनिष्ठभगिनी स्नेहपात्रं भवति तत्रापि बालाष्टवार्षिकी लालनयोग्या तत्रापीयं दीना भयविह्वला चातुर्यानभिज्ञा च । पुत्रिकोपमा प्रतिमोपमा । तस्मादेषैव परं नेया न तु मारणमुचितमित्याह हन्तुं नार्हसीति । कल्याणीं विवाहालङ्कारयुक्ताम् । इमामिति । प्रदर्शनेन दयामुत्पादयति । त्वं च दीनवत्सलः । अनादिष्ट-

स्वरूपस्य तथात्वात् । स हि तमनाविष्टमेव मन्यते ॥ ४५ ॥ एवं शास्त्रार्थनिरूपणेन दयाभयादिजननेपि न मारणान्निवृत्त इत्याहैव-मिति । भेदा आत्मानात्मविवेकपरमार्थलौकिकभयरूपाः । **साम** ज्ञानं साम्यं दया च । **एवमनेकप्रकारेणापि बोध्यमानो दारुणो दैत्यात्मा न न्यवर्तत** । तस्माद्वधान्निवृतो न जातः । तत्र हेतुः **पुरुषादान्** राक्षसाननुव्रतोनुसृतः । **पुरुषादाननु**मारणलक्षणं व्रतं यस्येति वा । आविष्टो हि तथैव ॥ ४६ ॥ एवं पूर्वप्रयास उपदेशात्मके विफले जाते पुनर्भगवदिच्छया प्रकारान्तरेण समाधानार्थं यत्नं कृतवानित्याह **निर्बन्धमित्यष्टभिः** । अयं लौकिको नालौकिकेन परमार्थेन निवर्ततेतोस्य लौकिक्येव युक्तिर्वक्तव्या । तस्माद्युक्ते स्फूर्तिः प्रथममुच्यते । सा च पुत्रदानात्मिका । तस्याश्चायुक्तत्वमाशङ्क्य युक्त्या युक्तत्वसमर्थनम् । ततः स्फुरितस्योपायस्यानुवादः सोपपत्तिकः । तस्यैव प्रतिकूलतर्कपराहत्या समर्थनम् । अशक्तावदृष्टशरणागतिः । तस्याप्युपायस्य ग्रहणार्थं साधनानुष्ठानम् । तत उद्योगः कथञ्चेति । अलौकिकस्फुरणात् तस्याङ्गीकारः । तेनायमुपाय आपाततः सफलः । पूर्वोपायवैयर्थ्यमनुवदति **निर्बन्धं तस्येति** । तस्य कंसस्य वधरूपं **तं** निर्बन्धमवश्यक्रियासाधनयत्नं तच्चेष्टया **ज्ञातवान्** परं किं कर्तव्यमिति विचिन्त्येदमग्रे वक्ष्यमाणमन्वपद्यतेतिसम्बन्धः । विरोधस्त्वनेनाशक्यो दृष्टप्रकारेणालौकिकप्रकारेण च । अन्ये उपाया निवर्तिताः । अतःपरं द्वयमवशिष्यते । इयं वा देया । अस्याः पुत्रा वा । एतस्या दान एतां मारयिष्यत्येव । मत्सम्बन्धिपुत्राणामाकाशवाण्यामश्रुतत्वाद् देवद्वारापि तथात्वशङ्कया मारणमावश्यकम् । इदानीं स्वतो मारयति पश्चान्मारणे तु ममापि दोषः स्यादिति । पुत्रदानं चायुक्तं यतः स पुत्रो भगवद्रूपो भविष्यतीत्यानकदुन्दुभिपदेन ज्ञापितम् । तस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरिति तत्र भगवदुत्पत्तिरावश्यकी । सापि न भार्यान्तरे। आकाशवाणीप्रामाण्यात् । एवं सङ्कटे पतित **आनकदुन्दुभिः** स्वस्मिन् भगवदुत्पत्तिं निश्चित्यास्यामेवेत्यपि पुत्रदानमेव कर्तव्यत्वेन ज्ञातवान् । तदपि न सर्वथा । भगवद्वैमुख्यप्रसङ्गे सति भगवदवतार एव न स्यादिति । तदाह **प्राप्तं कालं प्रतिव्योढु**मिति कर्तव्यत्वेन मृत्युः प्राप्तस्तस्याः स दूरीकर्तव्योयुक्तमप्युक्त्वेतीदं पुत्रदानलक्षणं **तत्र** तस्मिन् **समयेन्वपद्यत** । अकस्माद्हृदय समागत-मित्यर्थः ॥ ४७ ॥ ननु 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'त्यादिन्यायेनेदानीमेव कथं न तूष्णीम्भावस्त्राह **मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य** इति । अन्यथा भगवान् पश्वादिभ्यो विशिष्टानस्मान् किमित्युत्पादितवान् ? अतो **बुद्धिमता** मृत्युरपोह्यः स्वस्य परस्य वा । ननु कृत एवैकवारमुद्यम इति चेत्तत्राह **यावद्बुद्धिबलोदय**मिति । **बुद्धेर्बलस्य च यावदभ्युदय** उत्तरोद्गतिः । न तु समता ह्रासो वा । तावद्विवेकवता यत्नः कर्तव्यो बुद्धया क्रियया वा । ननु यथा पूर्वमुद्यमो विफलो जात एवमग्रेपि चेद्भविष्यति तदा किमुद्यमेनेतिचेत्तत्राह **यद्यसौ मृत्युर्न निवर्तत** तदोपेक्षालक्षणोपराधो देहाभिमानिनो नास्ति । देहाभिमानी कालादिदण्डमर्हति । अतो नापराधः कर्तव्यः । शास्त्रञ्च यच्छक्नुयात् तत् कुर्यादिति । फलं तु दैवाधीनमतोयमुपायः कर्तव्य इति निर्धारः ॥ ४८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

निर्बन्धमित्यत्र—अन्वपद्यतेत्यस्य प्राप्तवानित्यर्थः । 'ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था' इति । **दृष्टप्रकारेणेति** । शस्त्रैरस्त्रैश्चे त्यर्थः ॥४६॥

बुभुत्सुबोधिका

एषा तवेत्यत्र अष्टवार्षिकीति अनागतार्तवा, रजोदर्शनात् पूर्वं उद्वाहात् । अष्टवार्षिहीत्वम् । 'गौरी तु नग्निकानागतार्तवे'-त्यमरः । बाला तस्याः पर्यायः । अनेन वसुदेवश्चोष्टवर्षः । 'त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । अष्टवर्षोष्टवर्षां वे'ति मनुस्मरणात् । प्रदर्शनेनेति 'इदमस्तु प्रत्यक्षगे रूप'मितिवाक्यात् । अनाविष्टेति कालनेम्यनाविष्टरूपस्य । स हीति वसुदेवो हि तं कंसम् अनाविष्टं कालनेमिनेति बोध्यम् । तेन शुद्धसत्त्वरूपज्ञानेन मायाकालनेम्युपमर्दो निरूपितः ॥ ४५ ॥

एवं स सामभिरित्यत्र एवमिति वैदिकलौकिकतत्त्वप्रकारेण । दयाभयादीति अव्यवहितोक्ताभ्यां श्लोकाभ्यां दयाभये । आदिना वैदिकतत्त्वज्ञानम् । भेदा इति साम नाम प्रियवचनादिभिः क्रोधोपशमनम् । तेन सहितैर्भेदैः पंचविधैः, तदुक्तं 'परस्परोपकाराणां दर्शनं गुणकीर्तनं, सम्बन्धस्य समाख्यानमापत्त्याः संप्रकाशनम् । वाचा पेशलया साधु तवाहमिति चार्पणम् । इति सामविधानज्ञैः साम पञ्चविधं स्मृत'मिति । प्रथमश्लोके सम्बन्धस्य समाख्यानं 'भोजयशस्कारः' 'भगिनीं हन्या'दिति च । द्वितीयस्मिन् आपत्त्या मृत्योः समयस्य, आगामिकालस्य वा संप्रकाशनम् , 'अद्य वाब्दशतांते वे'ति । अग्रे वाचा पेशलयेत्यादिः षड्भिः श्लोकैः । नवमे परस्परोपकाराणां दर्शनम् । 'आत्मनः क्षेममन्विच्छन् न कस्यचिद् द्रोहमाचरे'दिति । दशमे श्लोके गुणकीर्तनम् । 'तवानुजा बाले'ति बालत्वं गुणः. ईश्वरत्वज्ञापनात् । प्रथमश्लोके वा, यशस्कर इति पदेन । तं चापि सङ्कलीकृत्याहुः आत्मानात्मेति । आत्मानात्मविवेकश्च परमार्थश्च लौकिकभयं च तैः रूप्यन्ते व्यवह्रियन्ते इति तथा । प्रथमे लौकिकम् , द्वितीयस्मिन् परमार्थः, तृतीयचतुर्थाभ्यां श्लोकाभ्यामात्मानात्मविवेकः, अनात्मा देहः, अग्रेष्यात्मानात्मविवेकः, अन्त्याभ्यां लौकिकं भयमिति । साम ज्ञानमिति साम सान्त्वप्रयोगे, बाहुलकात् , कनीन् ज्ञानं सामलक्षणमपि भगवत्प्रेरणया अनधिकारिबोधनात् प्राप्तम् । साम्यं दया चेति साम्यं ज्ञानत्वात् दया कृपा मायारूपा आसुरसिद्धान्तवक्तृत्वात् । 'माया दम्भे कृपायां चे'ति विश्वात् । भी तु 'न गतभीः प्रभावत्रि'दितिवाक्यात् । आविष्ट इति कालनेम्याविष्टः कंसः तथा नाम अनुव्रतत्वधर्मेणैव वर्तते । न तु दीनवत्सलत्वेन रूपेण ॥४६॥

निर्बन्धं तस्येत्यत्र विफल इति प्राणैः श्लोकैर्मृत्युव्यतिवहनाभावात् तथा । देवक्या अपमृत्युव्यतिक्रमः प्राणैः कृतः प्रतिबन्धकाभावात् । कंसस्यापमृत्युव्यतिक्रमो नास्ति, मृत्यौ साभिमानत्वस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अनधिकार्युपदेशे भगवदिच्छारूपं

कारणमाहुः भगवदिच्छयेति। प्रकारान्तरेणेति प्राणत्वप्रकारादन्येन प्रकारेण बाह्यप्रयत्नेन प्रकारेण वायुनिष्ठेन। यत्नमिति मृत्यपोहनार्थं वैखरीयत्नम्। अष्टभिरिति वैखरीरूपैर्न तु प्राणरूपैः। कंसावमृत्यपोहने तैः कृते पुत्रमृत्युसम्भवात्। कृपणामृत्यपोहनं त्वापाततः। भयादिना मृत्युसम्भवात्। अयमिति परिदृश्यमानोऽसुरो राजा वा। हरिप्रियाणां कलिरूपत्वेपि लौकिकत्वम्। 'जिघांसन्तं जिघांसीयान्न दोषो मनुरब्रवी'दिति मृत्या स्मार्तत्वम्। 'लोकवत् तु लीलाकैवल्य'मितिसूत्रात्। परमार्थेनेति भक्त्यभावेन कर्णरन्ध्रद्वारा प्रविष्टेन। उच्यत इति स्फूर्तेर्ज्ञानात्मिकाया विषयीभूतवक्ष्यमाणयुक्त्यविनाभावादिदंपदेन प्रत्यक्षत्वान् मुख्यतयोच्यते। सा चेति युक्तिः। तथा च पुत्रदानात्मिकयुक्तिविषया स्फूर्तिः प्रथमश्लोकार्थः। द्वितीयश्लोकार्थमाहुः तस्याश्चेति। युक्तिस्फूर्तेश्च। अयुक्तत्वमाशङ्क्येति स्वस्यानकदुन्दुभेर्लौकिकत्वापत्त्या स्वयमयुक्तत्वं आ समन्तात् तर्क्यम्। तर्कस्यान्यथाज्ञानत्वाद् युक्त्या वैदिकया युक्तत्वसमर्थनं वेदाविरोधादन्यथाज्ञानं नेत्येवं समर्थनम्। 'जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपी'तिवाक्यमूलं वेदः। तस्याविरोधात् 'मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य' इत्यन्यथाज्ञानम्, 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'रितिवाक्यात् तदपि नान्यथाज्ञानम्। ब्रह्मविदि वसुदेवेपराधाभावादपराधज्ञानमन्यथाज्ञानम्। 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति श्रुतेः। तृतीयश्लोकार्थमाहुः तत इति। 'मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य' इत्यादिसु ज्ञेषु सिद्धमेव, तस्य कथनादनुवाद इत्याहुः अनुवाद इति। उत्तरार्धेनोपपत्तिः। उपपत्तिरेवोपपत्तिकः, उपपत्तिकेन सह वर्तमानः सोपपत्तिकः। चतुर्थस्यार्थमाहुः तस्य वेति। अनुवादस्यैव। न तु विचिंतनानंतरम्। प्रतिकूलतर्कः पुत्रदानमयुक्तं आत्मत्वा'दात्मार्थे सकलं त्यजे'दिति वाक्यादित्येवम्। तस्य पराहतिः वाणीवाक्ये विपर्ययविचिन्तनेन। पंचमस्यार्थमाहुः अशक्तावदृष्टेति। षष्ठस्यार्थमाहुः तस्याप्युपायस्येति। तस्येत्यदृष्टस्य, कंसस्येति वा। साधनेति 'पूजयामासे'ति पूजनम्। सप्तमस्यार्थमाहुः तत उद्योग इति। वैखरीरूपः। 'अब्रवी'दितिपदात्। अष्टमस्यार्थमाहुः कथनं चेति। हितमिवानुवादकथनम्। पूर्ववदनङ्गीकारमाशङ्क्याहुः अलौकिकेति अलौकिकस्य वक्ष्यमाणस्य स्फुरणात् तस्यालौकिकस्योपायस्य कंसेनाङ्गीकारः। यद्यप्ययं लौकिकः नालौकिकेन परमार्थेन निवर्तते, तथापि युक्त्या युक्तत्वसमर्थितकस्य (?) लौकिकस्यालौकिकत्वाङ्गीकारात्। यद्वा कंसे वसुदेवेन स्वदेवता समारोपितेति भगवत्यलौकिकस्फूर्तस्तादृशस्य भक्तिविरुद्धस्य कंसस्याप्युपायस्याङ्गीकार इत्यर्थः। आपातत इति अविचारतः देवक्या अपि भयादिना मृत्युसम्भवात्। सफल इति मृत्युनिवारणफलेन सह वर्तमानः सफलः। अवश्यक्रियेति क्रिया हननम्। तदनुकूलं व्यापारम्। यत्नस्य व्यापाररूपत्वात्। तच्चेष्टयेति कंसस्य खड्गपाणेश्चेष्टा उद्यमननिपतनादिरूपा करणम्। अतस्तृतीया। नन्वश्यक्रियासाधकयत्नो नैयायिकमते, वैयाकरणमते व्यापारो यत्नः, अतश्चेष्टयेत्यधिकमिति चेन्न। भगवदधिष्ठानत्वेन सर्वाधारत्वाज्जन्यजनकभावसम्बन्धश्चेष्टाव्यापारयोः। तच्चेष्टयावश्यक्रियासाधकयत्नं ज्ञात्वेत्यर्थः। अन्वपद्यतेति प्राप्तवानित्यर्थः। ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था इति। अनेनेति बलवता कंसेन। दृष्टप्रकारेणेति एकत्वमविवक्षितम्। शस्त्रैरस्त्रैश्च। अलौकिकप्रकारः प्राणश्लोकोक्तस्तेन। अन्य इति लौकिका अलौकिकाः च भगवत्प्रेरणया निवर्तिताः। अतः परमिति लौकिकालौकिकोपायेभ्यः परमन्यत्। समानन्तरं दानरूपं द्वयम्। एवेति स्वगृहे स्थापनयोगव्यवच्छेदक एवकारः। न तु स्वगृहे स्थापयिष्यति। देवद्वारेति यथा सूर्योदिद्वारा कुन्त्याः पुत्रवतीत्वं, तथा। दोष इति क्षात्रधर्मत्यागरूपः। स पुत्र इति अष्टमपुत्रः। आनकदुन्दुभयश्चेति चकारेण शब्दात्मकास्ते। सङ्कट इति सामानन्तरं दानसङ्कटे। उभयोर्दानयोरयुक्तत्वरूपे। आनकदुन्दुभिरिति शब्दसृष्टितः स नाम। 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवा'दिति व्याससूत्रात्। अयुक्तमिति पुत्रदानम्। अन्वपद्यतेति राजत्वात् सामानु अपद्य तयस्यार्थः। अकस्मादिति। कारणं विना। समागतमिति गत्यर्थात् कर्तरि क्तः भूतकाले अतोपद्यतेत्यस्य विवरणमिदम् ॥ ४७ ॥

मृत्युर्बुद्धिमतेत्यत्र इत्यादीति 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वर'मितिन्यायेन। इदानीमित्युपायानङ्गीकारकाले। कथमिति केन प्रकारेण। वसुदेवस्य तूष्णीम्भावो नेति प्रश्नः। पश्चादिभ्यो विशिष्टत्वेनोत्पादितत्वप्रकारेण न तूष्णीम्भाव इत्युत्तरमग्रे। मृत्युः पङ्कस्थानीयः तस्य प्रक्षालनं दूरीकरणं तदपेक्षया दूरान्मृत्योरस्पर्शनं स्पर्शः देवकीविस्मरणप्रतीकारः तस्यास्तापप्रतीकारो वा तस्याभावः वरमितिन्यायसमन्वयः। कालान्तरे देवक्यादिमृत्युरनुसन्धेया। तदेति स्वरार्थं तदापीत्यर्थः। नास्तीति अन्यथा तु तदा उपेक्षालक्षणोपराधः स्यादेव। कालादिदण्डमिति सामदानाभ्यां दण्डानुसन्धानान् नाकस्मिकत्वम्। नापराधः कर्तव्य इति किन्तु मृत्युप्रतीकारः कर्तव्यः ॥ ४८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इमां देवकीं तु त्वं हन्तुं नार्हसीत्यन्वयः। तत्र हेतुं सूचयन् सम्बोधयति—दीनवत्सलेति। एषा तु कृपणा दीना, 'दयाया भगिनीमूर्तिः' इति वचनात् दयापात्रमित्याह—तवानुजेति। तत्रापि बाला लालनयोग्या, तत्रापि चातुर्यहीना इत्याह—पुत्रिकोपमेति। मृन्मयीव कल्याणीं निर्दोषाम् ॥ ४५ ॥ एवमुक्तप्रकारेण स कंसः सामभिर्भेदैश्च वसुदेवेन बोध्यमानो देवकीवधान्निवार्यमाणोऽपि न न्यवर्ततेत्यन्वयः। तत्र हेतुद्वयमाह—दारुण इति। यतः स्वयं क्रूरस्वभावः पुरुषादान् हिंसाप्रधानान् राक्षसाननुव्रतः अनुसृतश्चेति। "नाश्चर्यमेतत्, कौरवाणामपि तथात्वात्" । इत्याशयेन सम्बोधयति कौरव्येति ॥ ४६ ॥ तस्य कंसस्य तं देवकीवधविषयकं निर्बन्धमाग्रहं ज्ञात्वा प्राप्तं कालं मृत्युं प्रतिव्योढुं वञ्चयितुं विचिन्त्य विचार्य आनकदुन्दुभिर्वसुदेव इदं वक्ष्यमाणं तत्र

मृत्युवञ्चने अन्वपद्यत उपायं तथा निश्चितवान् ॥ ४७ ॥ विचारपूर्वकं तं निश्चयमेव दर्शयति—मृत्युरिति चतुर्भिः। स्वस्य परस्य वा उपस्थितो मृत्युर्बुद्धिमता पुंसा यावद्बुद्धिलोदयं बुद्धिबलयोरुत्कर्षपर्यन्तमपोह्य परिहार्यः। एवं प्रयत्ने कृतेऽपि यद्यसौ मृत्युर्न निवर्तेत तर्हि देहिनो देहाद्यभिमानिनोऽपराधउपेक्षाजनितो दोषः नास्त्येव, अन्यथादोषप्रसङ्गः स्यादेव। देहिन इत्यनेन देहाद्यभिमानरहितस्य न दोष इति सूचितम् ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अत्युग्रं स्तुतिभिरिति न्यायेन पुनः सामैवाह—एषेति। एषा तव अनुजा भगिनी बाला कृपणा दीना पुत्रिकोपमा कन्यातुल्या दारुमयपुत्तलिका इवाचेतनप्राया वा अतः दीनवत्सलः त्वं कल्याणीं निरपराधामिमां हन्तुं नार्हसि। इमामित्यनुवादरूपत्वान्नान्वादेशता। वस्तुतः शिरश्चालनेन दीनादपि वत्सममपि करत्वेन लातीति दीनवत्सलो निर्दयस्त्वं हन्तुं नार्हसि काकाऽर्हस्येवेति॥४५॥ एवमिति। हे कौरव्य! एवम् इत्यादिभिः सामभिः सान्त्वैर्भेदैश्च बोध्यमानः उपदिश्यमानः स्वयं दारुणः पुनः पुरुषादान् रक्षोदैत्यादीननुव्रतोऽनुसृतः स कंसः स्वसुर्वधान्न न्यवर्त्तत ॥ ४६ ॥ निर्बन्धमिति। आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः तस्य कंसस्य तं निर्बन्धं देवकीवधे हठं ज्ञात्वा प्राप्तं कालं समयं मृत्युं वा प्रतिव्योढुं वञ्चयितुम्। प्रतिविपूर्वाद्वहेस्तुमुन् वस्य ओत्वमार्षम्। यद्वा प्रतिविपूर्वात् ऊहेस्तुमुन् इडभावगुणौ आर्षौ। विचिन्त्य विचार्य तत्र इदं वक्ष्यमाणमपत्यार्पणमुपायत्वेन अन्वपद्यत निश्चितवान् ॥४७॥ स्वमनोविचारमाह—मृत्युरिति। बुद्धिमता यावान् बुद्धिबलयोरुदयो यत्र तत् यथा स्यात्तथा मृत्युः अपोह्यः प्रतीकार्यः। तत्र कंसविषये बलोदयो निष्फल एव बुद्धेरुदयस्तु सफलतामर्हति। तत्र यथा बुद्धियत्ने कृतेऽपि यदि असौ मृत्युर्न निवर्त्तेत तदा देहिनः मनुष्यस्य अपराधः उपेक्षादोषो नास्ति ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं साम प्रसक्तमुपसंहरन् द्वितीयं भेदमाह। तस्मादिति। तस्माद्वस्तुस्थितेरेवंविधत्वात्, तथाविधः वस्तुतत्त्वाभिज्ञः सः पुमान्, आत्मनः स्वस्य, क्षेमं अन्विच्छन् सन्, कस्यचित् कस्यापि, द्रोहं, न आचरेत्। न कुर्यादित्यर्थः। यतः, दोग्धुः, वै निश्चितमेव, परतः अन्यस्मात्, भयम् अस्ति। इहाभिद्रुह्यमाणात्तत्संबन्धिनश्च अमुत्र यमादपि भयं भवत्येवेत्यर्थः ॥४५॥ पञ्चविधसामगतमभेदं दर्शयन्वदति। एषेति। हे दीनवत्सल राजन्, एषा, तव अनुजा, तत्रापि बाला, तत्रापि कृपणा दीना, पुत्रिकोपमा दारुमयपुत्तलिकासमाना, अति। अतः त्वं कल्याणीं इमां, हन्तुं न अर्हसि। एवमनुजात्वस्त्रीत्वबाल्यदैन्यपुत्रिकातुल्यत्वकल्याणीत्वादिधर्मयुक्तेयं तव हन्तुं नार्हेति भावः ॥ ४६ ॥ एवमिति। एवमित्थं, सामभिः श्लाघनीयेत्यादिगुणकीर्त्तनपूर्वकमुपलालनैः, भेदैर्दृष्टादृष्टभयसूचकवचोभिः, बोध्यमानः, चोद्यमान इति पाठे, तथाविधतदुद्योगनिवृत्त्यर्थं प्रेर्यमाणोऽपि, दारुणः क्रूरः, स कंसः, हे कौरव्य, यतः पुरुषादान् राक्षसान्, अनुव्रतोऽनुस्यूतः, आसीत्। अतः, न न्यवर्त्तत। तन्मारणोद्योगादिति शेषः ॥ ४७ ॥ निर्बन्धमिति। तस्य कंसस्य संबन्धिनं, निर्बन्धं स्वनिर्धारितार्थतोऽनिवृत्तिरूपमाग्रहं ज्ञात्वा, आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः, इदं पदं महाभागेत्यत्रोक्ताभिप्रायकम्। प्राप्तं समुपस्थितं, तं कालं पत्न्या मृत्युप्राप्तिरूपावसरं, प्रतिव्योढुं प्रतिकर्त्तुं वञ्चयितुमिति यावत्। विचिन्त्य, उपायमिति शेषः। तत्र कालपरिहारे, इदं वक्ष्यमाणं, अन्वपद्यत प्रत्यपद्यत। उपायत्वेनाध्यवस्यदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

निर्बन्धमिति : १०–१–४७

श्रोता शृणोतु वा मा वा पथ्यं पथ्यपथेक्षणः। ब्रूयात् स्वदोषं संमार्ष्टुं शौरिरत्र निदर्शनम् ॥ ४० ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

कंस! यह आपकी छोटी वहिन अभी बच्ची और बहुत दीन है। यह तो आपकी कन्याके समान है। इसपर, अभी अभी इसका विवाह हुआ है, विवाहके मङ्गलचिह्न भी इसके शरीरपरसे नहीं उतारे हैं। ऐसी दशामें आप-जैसे दीनवत्सल पुरुषको इस बेचारिका वध करना उचित नहीं है ॥ ४५ ॥ श्रीशुकदेव जो कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार वसुदेवजी ने प्रशंसा आदि सामनीति और भय आदि भेदनीतिसे कंसको बहुत समझाया। परन्तु वह क्रूर तो राक्षसोंका अनुयायी हो रहा था, इसलिये उसने अपने घोर सङ्कल्पको नहीं छोड़ा ॥ ४६ ॥ वसुदेवजीने कंसका विकट हठ देखकर यह विचार किया कि किसी प्रकार यह समय तो टाल ही देना चाहिये। तब वे इस निश्चयपर पहुँचे ॥ ४७ ॥ 'बुद्धिमान् पुरुषको, जहाँतक उसकी बुद्धि और बल साथ दें, मृत्युको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर भी वह न टल सके, तो फिर प्रयत्न करनेवालेका कोई दोष नहीं रहता ॥ ४८ ॥

'प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोच²ये कृपणामिमाम् । सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ॥ ४९ ॥
विपर्ययो वा किं न स्याद् गतिर्धातुर्दुरत्यया । उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥ ५० ॥
अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१ ॥

³श्रीशुक उवाच

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् । पूजया⁴मास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम् ॥ ५२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मृत्यवे पुत्रान् प्रत्यर्प्य इमां कृपणां मोचये यदि मे सुताः जायेरन् मृत्युः वा न वा मृत्युः म्रियेत चेत् ॥ ४९ ॥ विपर्ययः वा किं न स्यात् धातुः गतिः दुरत्यया उपस्थितः निवर्तेत निवृत्तः पुनः आपतेत् ॥ ५० ॥ अग्नेः यथा दारुवियोगयोगयोः अदृष्टतः अन्यत् निमित्तं न अस्ति एवं हि जन्तोः अपि शरीरसंयोगवियोगहेतुः दुर्विभाव्यः ॥ ५१ ॥ शौरिः एवं विमृश्य यावद् आत्मनिर्दशनं बहुमानपुरःसरं तं पापं वै पूजयामास ॥ ५२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तस्मादुपेक्षादोषपरिहारायैवं करिष्यामीत्याह । प्रदायेति । मृत्यवेऽस्मै कंसाय । नन्विदमपि नैव न्याय्यमित्याशंक्याह—सुता इति । अस्यां यदि सुता मे जायेरंस्तदा यद्भावि तद्भवतु जीवनं तु तावदस्या भवेदेव । तदंतरा यद्ययमेव म्रियेत तदा न किंचिदन्याय्यम् ॥ ४९ ॥ यदि च सुता भविष्यंति न चायं म्रियेत तदा मत्पुत्रादेवास्य मरणमिति विपर्ययो वा किं न स्यात् । ननु प्रौढस्य कंसस्य तव बालकात्कथं मृत्युः स्यात्तत्राह । गतिरिति । "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हंता" इत्युक्तवतो धातुः । अत इदानीमपत्यार्पणप्रतिज्ञैव मंत्रः । तथा सति उपस्थितो मृत्युरयं तावन्निवर्तेत । निवृत्तः पुनः कालांतरे आपतेच्चेत्तदा नापराधो ममेत्यर्थः । अथ वाऽस्य मत्पुत्रादुपस्थितो यो मृत्युरस्या बधान्निवर्तेत अन्यथा स्यात्तदा स पुनरनेन मम मंत्रेण निवृत्तोप्यापतेत् । भवेदेव तदिष्टमित्यर्थः । यद्वा गतिर्धातुर्दुरत्ययेत्येतस्यैव प्रपंच उपस्थित इति ॥ ५० ॥ प्राणिनामदृष्टं च पुनर्दुर्वितर्क्यमिति सदृष्टांतमाह । अग्नेरिति । वने वृक्षान्प्रदहन्वह्निः सन्निहितानपि वृक्षान्परित्यज्य कदाचिद्दूरस्थानपि दहति ग्रामे गृहान्वा न ह्यस्य प्राण्यदृष्टव्यतिरेकेण किंचिन्नियामकमस्ति यथा । एवं जंतोर्जन्ममरणयोरपि हेतुर्दुर्विभाव्योऽचिंत्यः अत एतदुपर्यस्या अदृष्टमेव हेतुरिति भावः ॥ ५१ ॥ यावदात्मनिदर्शनं स्वप्रज्ञावधि विचार्य ॥ ५२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यतो मृत्यूपेक्षणे दोषस्तस्माद्धेतोः । उपेक्षा औदासीन्यम् । एवं वक्ष्यमाणप्रकारम् । अहो पुत्रप्रदानं मारकाया न्याय्यमेवेति चेत्तत्राह—नन्विति । अन्याय्यम् अयुक्तम् ॥ ४९ ॥ विपर्ययो वैपरीत्यम् । विपर्ययोऽसंभव इत्याह—नन्विति । 'प्रौढो युवातिबलयोः' इति मेदिन्यादयः । तत्र बालकादपि प्रौढमरणे धातुर्गतेर्वैचित्र्यमाह—धातुरीश्वरस्य दूरत्ययाऽतिक्रांतुमशक्या यतोऽतः कारणात् । तथा सति अपत्यार्पणप्रतिज्ञामंत्रे सति । उपस्थित इदानीमागतः । 'भक्षितेऽपि लशुने व्याधिर्नो नष्टः' इति न्यायेनापत्यार्पणेपि जीवति दुर्मतिकंसे कालांतरे मृत्युभयं तदवस्थमित्यस्वरसादाह—अथ वेति । अस्य कंसस्य । अस्या देवक्याः । न हि मंत्रौषधाद्यैः कालोऽतिक्रम्यतेऽतः किं मंत्रेणेत्यरुच्याह—यद्वेति । प्रपंचः विस्तारेण कथनम् ॥ ५० ॥ नन्वदृष्टमेव जनिमृतिहेतुस्तच्च ज्ञातुं न शक्यमित्याह—प्राणिनामिति । अदृष्टं शुभाशुभं कर्म दुर्वितर्क्यं ज्ञातुमशक्यं दृष्टांतप्रपंचोग्नेरिति । सन्निहितान्निकटवर्त्तिनः । अस्य दहनस्य । नियामकं विनिगामकम् । एवं वृक्षादिवत् । जंतोः प्राणिमात्रस्य । दुर्विभाव्यः दुर्वितर्क्यः ॥ ५१ ॥ नृशंसं क्रूरम् "नृशंसो धातुकः क्रूरः" इत्यमरः । पूयमानेन तप्यमानेन । विहसन्निति बाह्यानंदमाह । महतां सत्यपि क्लेशे नो विकृतिः (क्रोधादिरूपा) इति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

निश्चयमेव दर्शयति-प्रदायेत्यर्द्धेन । अष्टमे तु जाते लब्धबल एव भविष्यामीति पुत्रान् अष्टमेतरानेति तात्पर्यं तान् सर्वानपि प्रदाय आत्यन्तिकदेयत्वेन प्रतिश्रुत्य मृत्यवे इति तं प्रतिप्रदानेन सद्यो मृत्युप्राप्तेस्तदभेदविवक्षया कृपणामिति तात्कालिकतत्कार्पण्यदर्शनासहिष्णुतायाः प्राबल्यं व्यञ्जयति-तत्र च स्थूणानिखननन्यायेन नन्विदमपीत्याशङ्कागर्भविचारान्तरं दर्शयति—

१. प्रदाय-श्रीधर. वंशी ज्जीव. वीर. शुक. ; प्रत्यर्प्य-विज. । २. न्मोक्षये-वीर. । ३ अन्यत्र "श्रीशुक उवाच" पाठो न दृश्यते । ४. स स्तवयामास-विज. ।

सुता इति सार्द्धेन । तत्रैव आकाशवाण्यां कुटिलकल्पितत्वमाशङ्क्याह–सुता इति । तस्याः सत्यत्वमाशङ्क्याह–विपर्यय इति । विपर्ययोऽपि सम्भवेदित्यर्थः । यतः उपस्थितोऽपि मृत्युः श्रीमार्कण्डेयाजामिलसत्यव्रतादीनां निवर्त्तते निवृत्तोऽपि कुशनमुचिहिरण्यकशिपुप्रभृतीनां पुनरापतेत् यतो धातुरीश्वरस्य गतिरिच्छा दुरत्यया अनतिक्रम्या दुर्ज्ञेया चेत्यर्थः । अन्यत्तैः तत्र श्लोकद्वयमेकीकृत्यैव व्याख्या, सुता इत्यादिकं मृत्युर्वेत्यादिकं चोभयत्रैव सम्बध्यते किन्तूत्तरं नवा सह तं विना च योज्यते वा शब्दस्योभयपक्षग्राहित्वात् तत्र नवा विना सुता इत्यादिना योजितं तेन सह तु विपर्यय इत्यादिना अत्र वाशब्दः कटाक्ष इति ज्ञेयम् । यद्वा सुता मे यदि जायेरन् मृत्युश्च न म्रियेत तदा यद्भावि तद्भवतु यदिशब्देन लब्धपक्षान्तरेऽपि सुता यदि न जायेरन् मृत्युश्च न म्रियेत तदा न किञ्चिदन्याय्यं सुता यदि जायेरन् मृत्युश्च तत्पूर्वं कथञ्चिन्म्रियेत तदापि न किञ्चिदिति सुता इत्यादि यथा स्थितपक्षेपि विपर्ययो वा किं न स्यादिति सरलावियं योजना प्रदाय दत्वा कदा तत्राह—सुता इति । ततश्च विपर्ययो वा किं न स्यादिति ॥ ४९-५० ॥ हि एवमेव जन्तोः प्राणिमात्रस्यापि हेतुः अदृष्टं दुर्विभाव्यः केनादृष्टेन कस्य कदा किं स्यात्? तत्तर्कयितुमशक्यमित्यर्थः । इति कर्मशक्तेरपि दुर्वितर्क्यतया मद्बालकादप्यस्य मृत्युः संभवेदेवेति भावः ॥५१॥ यावदित्यपि सम्भ्रमे एतावती प्रतिभेति भावः । पापमपि बहुलाऽऽदरपूर्वकं पूजयामास स्तुत्यादिना सम्मानितवान् ॥ ५२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अतः पुत्रान् जनिष्यमाणान् मृत्युरूपेणोपस्थिताय कंसाय मृत्यवे प्रदाय प्रदास्यामीति प्रतिज्ञाय दीनामिमां स्त्रियं मोचये त्याजयामि, प्रतिज्ञाया दोषरूपत्वमाशंक्याध्यवस्यति–सुता इति । यदि सुता मम जायेरन् संभावनायां लिङ् यदि मृत्युर्मृत्युभूतः कंसो वा मत्पुत्रोत्पत्तेः पूर्वमेव न म्रियेत न मरिष्यति तर्हि पुत्रान् दास्यामि मम पुत्रोत्पत्तेः कंसावस्थानस्य च पाक्षिकत्वात्पुत्रार्पणप्रतिज्ञा न दोष इति भावः ॥ ४९ ॥ पाक्षिकत्वमेव संभावयति–विपर्ययो वेति । विपर्ययः मम पुत्राः कंसस्य मृत्युर्वा तस्यावस्थितौ मम पुत्राभावो वा किन्न स्यात् अतोऽपि न दोष इति भावः । नन्वशरीरवाण्या ईश्वरवचस्त्वात् नाऽसत्यताऽतोन्वय एव निश्चितो न विपर्ययः इत्याशंक्याध्यवस्यति, धातुरीश्वरस्य गतिर्दुरत्ययाऽर्वाचीनैर्दुर्ज्ञेया धात्रा तथोक्तत्वेपि कदाचित्तद्विपर्ययोऽपि स्यादिति भावः । तत्रोदाहरणमालोच्याध्यवस्यति, उपस्थित इति-उपस्थितोपि मृत्युः क्वचिन्निवर्त्तेत यथा मार्कण्डेयादेर्निवृत्तो वरदानान्निवृत्तोपि मृत्युः पुनरापतेद्यथा हिरण्यकशिपुरावणादेरतः प्रतिज्ञा न दोष इत्यर्थः । यद्यपि कदाचित् विपर्यय एव स्यात्तथापीयं मत्प्रतिज्ञा न दुष्यति न हि मत्पुत्रमृत्युर्मत्प्रतिज्ञापरतन्त्रः तस्य कर्माधीनत्वेन पुरुषाधीनत्वाभावादिति सदृष्टान्तमध्यवस्यति, अग्नेरिति, योगवियोगशब्दाभ्यां शीघ्रविलम्बोत्पत्ती विवक्षिते दारुशब्देनारणिर्यथाऽग्नेर्दारुवियोगयोगयोर्दारुणः सकाशाद्विलम्बशीघ्रोत्पत्त्योर्निमित्तकारणमदृष्टतो यजमानादृष्टाद्न्यन्नास्ति एवं जन्तोर्जीवस्य शरीरसंयोगवियोगयोगयोर्हेतुरदृष्टतः कर्मणोऽन्यो दुर्विभाव्यः दुरुह्यत्वस्यः मत्प्रतिज्ञामात्रं न हेतुः किन्तु तेषां कर्मैवेति भावः ॥ ५०-५१ ॥ एवं यावदात्मनिदर्शनमात्माऽत्र बुद्धिः निदर्शनं तस्याः प्रसरः यावद्बुद्धिप्रसरं विमृश्य निश्चित्य शौरिर्वसुदेवस्तं पापं पापोद्युक्तं कंसं बहुमानपुरस्सरं बहुमानपूर्वकं पूजयामास स्वेन विमृष्टमर्थं तत्सम्मताचकार ॥ ५२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किमपश्यत्तदाह—प्रत्यर्प्य मृत्युमेव मारकाय कंसाय उपायाभासोऽयं यदपत्यार्पणं तत्राह; वा मम सुतोत्पत्तेः प्राक् न म्रियेत चेत् यदि न मरिष्यति ॥४९॥ विपर्ययो वा मम पुत्राः कंसं वा हनिष्यन्तीति किं न स्यात्? कथमेतदिति तत्राह—धातुरिति । धातुरीश्वरस्य गतिश्चेष्टालक्षणा दुरत्यया अतिक्रान्तुमशक्या अतः किं? तत्राह—उपस्थित इति, सर्वथा तावदुपस्थितो मृत्युरस्या निवर्तेत निवृत्तो यदि रावणादेरिव पुनरापतेत्तर्हि तदानीमस्तु किं तावदिदानीम् ॥ ५० ॥ इतोऽपि धातुर्गतिर्दुरत्ययेत्येतत्सदृष्टान्तमुपपादयति—अग्नेरिति, यथाऽग्नेर्दार्वादिदहनस्य दारुवियोगयोगयोः काष्ठानभिव्यक्तिव्यक्त्योः दाह्यवृक्षाभिमानिजीवादृष्टप्रेरकेश्वरात् अन्यन्निमित्तं नास्ति अदृष्ट इत्यादौ हरिनिवेशः, कस्मात्? उच्यते कुण्डस्थाग्नेर्दारुवियोगादौ स्वतः प्रवृत्त्यभावादिति वचनात् (१)—

"यथा कुण्डस्थितस्याग्नेर्दैवाद्दारूपसन्नमेत् । देहयोगवियोगश्च तथा दैवान्न चान्यथा"—

इति वचनाच्च, एवं जन्तोरपि शरीरवियोगसंयोगहेतोर्हरेरन्यो दुर्विभाव्यः केवलादृष्टलक्षणस्य कर्मणः स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः कार्यस्य च दर्शनान्यथाऽनुपपत्त्या श्रीनारायण एव भाव्य इत्यतस्त्वया शास्त्रज्ञेनाऽस्याः हननं नोचितमिति भावः ॥ ५१ ॥ आत्मनि यावद्दर्शनं परबोधलक्षणं ज्ञानं विमृश्याऽऽलोच्य ज्ञात्वा तावता सान्त्वयामास स्वावगतलोकप्रसिद्धदृष्टान्तो यावांस्तावता वा ॥ ५२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आकाशवाण्याः कुटिलकल्पितत्वमाशङ्क्याह—सुता इति ॥ ४९ ॥ सत्यत्वमाशङ्क्याह—विपर्यय इति ॥ ५०-५१ ॥ पूजयामास स्तुत्यञ्जल्यादिना ॥ ५२-५३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्रैवं करिष्यामीति स्वगतमाह—मृत्यवे कंसाय नन्विदमप्यनुचितमित्याशङ्क्याह— सुता इति। यदि न जायेरंस्तदा न काचिदपि चिन्ता यदि जायेरन्नथ च मृत्युः कंसस्तावता कालेनाऽपि न म्रियेत तदा अनुचितं स्यादेव देवकी तु सम्प्रति जीवेत, यदि च तावता कालेन कंसो म्रियते तदा न काचिदपि चिन्ता विपर्ययो वेति मया तदानीमस्मै पुत्रे समर्प्यमाणे सति स पुत्र एव सद्यः प्रबलीभूय कंसमिमं वधिष्यति वेत्यर्थः। ननु, प्रौढस्य कंसस्य तव बालकात् कथं वधः सम्भवेत्? तत्राह—गतिरिति। "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः" इत्युक्तत्रतो धातुः एवञ्च सति उपस्थितः कंसस्य हस्ताद्देवकीमृत्युर्निवर्त्तेत तथा मत्कर्तृकपुत्रार्पणप्रतिज्ञया निवृत्तोऽपि कंसस्य मृत्युः पुनरापतेत् प्राप्तो भवेत् ॥ ४९-५० ॥ मच्चिन्तितमेतन्नासम्भवं यतः प्राणिनामदृष्टं दुर्वितर्क्यमिति सदृष्टान्तमाह—अग्नेर्वने वृक्षान् प्रदहतो दारुणो यौ वियोगयोगौ कदाचित् सन्निहितस्यापि वियोगः कदाचिद्विप्रकृष्टस्यापि योगः तथैतद्दृष्टतोऽन्यन्नेति वृक्षाणां दुःखाद्दृष्टमेव कारणमित्यर्थः। एवमेव शरीराणां संयोगवियोगयोर्जन्ममरणयोर्हेतुर्विभाव्योऽविचिन्त्यः ॥ ५१ ॥ यावत् यत् प्रमाणकम् आत्मना बुद्ध्या निदर्शनं ज्ञानं यत्र यद्यथा स्यात्तथा विमृश्य त पापं कंसं पूजयामास बहिस्तुष्टाव ॥ ५२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पुत्रान् मृत्यवे कंसाय प्रदाय कृपणामिमां मोचये भाविपुत्रार्पणप्रतिज्ञया कृपणायाः अस्या वधप्रतीकारो न्याय्य इति भावः। भाविपुत्रार्पणेऽपि पाक्षिको दोष इत्याह—यदि कन्या जनिष्यति तदा तु प्रायो नायं कंसस्तां वधिष्यति अस्यां मे यदि सुताः जायेरन् मृत्युः कंसो वा सुतोत्पत्तेरर्वाक् न म्रियेत चेत्तदा पुत्राऽर्पणापराधप्रसङ्गोऽतोऽस्या रक्षणं न्याय्यमिति भावः ॥ ४९ ॥ भगिनीं हन्तुं प्रवृत्तस्यास्यैव तद्गर्भाद्वधरूपो विपर्ययो वा किं न स्यात् सर्वथा धातुः परमेश्वरस्य गतिर्दुरत्यया दुर्लङ्घ्या तयैवोपस्थितो निवृत्तेत निवृत्तः पुनरापतेत्सर्वोऽपि व्यवहार इति यावत् ॥ ५० ॥ वने यथाऽग्नेः संनिहितेन दारुणा वियोगो दूरस्थेन योगस्तयोरदृष्टतोऽन्यन्निमित्तं नास्ति अदृष्टोऽदृश्यो धातैव एवमदृष्टतोऽन्यः शरीरसंयोगवियोगयोर्जन्ममरणयोर्हेतुर्दुर्विभाव्यो दुर्निरूप्यः कालकर्मादीनां केचित्स्वातन्त्र्ये तद्धेतुमाहुस्ते बालबुद्धयः जडानां तेषामीश्वरमन्तरेणाकिञ्चित्करत्वादतो धातैव सर्वत्र हेतुस्तस्य गतिर्दुरत्ययैवेति योजना ॥ ५१ ॥ यावदात्मनो निदर्शनमालोचनं तत्पर्यन्तमेवं विमृश्य विचार्य तं पापं पापात्मानमपि पूजयामास शौरिः शूरपुत्रः ॥ ५२ ॥

श्रीसुबोधिनी

तमुपायमाह प्रदायेति। मृत्युरयं कंसे निविष्टः प्रतीयते। तस्य हि सर्वे भक्ष्याः। अप्रतीकार्यश्च। स तु **पुत्रान्** कदाचिद्भक्षयिष्यत्येव। स चेदिदानीं मह्यं दास्यत्येतां तदा पुत्रानपि स एव दत्तवानतो दत्तस्य प्रतिदाने न कोपि दोषः। तयाकरणे विशेषमाह **मोचये कृपणामिमामिति**। इयमिदानीं मोचिता स्यात्। अधिकोस्मिन् पक्षे लाभः। अरक्षायां तु नापि पुत्रा नापीयम्। नन्वेतदप्यनुचितम्। इयमेका पुत्राश्च बहवस्ते च बालका स्वस्यान्तरङ्गा दोषाधिक्यञ्च। अर्पणञ्च न सम्भवति। इदानीं पुत्राणामभावात्। विद्यमानाविद्यमानयोः सिद्धवत्कारेण विषयविभागोप्यसङ्गतः। अतो धर्महानिप्रसङ्गाल्लोकापकीर्तेश्च नायमुपाय इति चेत्तत्राह **सुता मे यदि जायेरन्निति**। तेषां नरकत्राणाभावान्नपुत्रत्वम्। प्रसवाज्जायन्त इति **सुतत्वमस्त्येव**। पुत्रोत्पादनं तु स्वाधीनम्। तस्मादियं भिन्नतयैव स्थापनीया। तथा सति न कोपि दोषो भवेत्। प्राणरक्षाया ऋतुकालगमनापेक्षयाधिकफलत्वात्। नन्वेतदप्यशक्यं 'कामाचोदयापि वे'ति चेत्तर्ह्येकः पुत्रो भवतु। नैकः पुत्र पुत्र इतिचेत्तर्हि द्वौ भविष्यतः। पुत्रयोर्जातयोर्नगमनेपि न दोषः। एतावती लौकिक्युपपत्तिः। अथालौकिकी भगवदिच्छयाकाशवाणीप्रामाण्याच्च यदि मे बहव एव **सुता जायेरं**स्तेपि बहुकालेनोत्पादनीयाः। कालेपि भगवदिच्छा चेत्तदा पुत्ररक्षार्थं मृत्युरेव **म्रियेत**। प्राणिमात्रे शतं मृत्यवस्तत्रतत्रस्थाने निरन्तरमुत्पद्यन्ते 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इति श्रुतेः। तत्रतत्रैव प्रतीकारः कर्तव्यः। 'यत्रयत्रैव मृत्युर्जायते तत एवैनमवयजत' इतिश्रुतेः। तस्माद्य उत्पद्यते स म्रियत एव। अत इदानीमुत्पन्नो मृत्युः प्रतीकारे कृते **म्रियेत**। अन्यस्यान्य उपायः कर्तव्यः। एको मृत्युरित्यपि पक्षः। तस्मिन्नपि पक्षे स नियतकालः। स चेदिदानीं निवृत्तः पुनस्तस्य कालाभावात् तं प्रति म्रियेतैव। अतःशब्दनित्यत्ववदस्या मृत्युरेव गच्छेत्। नन्वपमृत्युमरणपक्षे मृत्योर्मरणं न श्रूयते'लोकाल्लोकादेव मृत्युमवयजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दतीति श्रुतेः। तत्राह **मृत्युर्वा न म्रियेत** चेदिति। तदा नियतत्वात् पुत्रान् समर्पयिष्ये। कंसो **मृत्यु**रित्यपव्याख्यानम्। 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुतिविरोधात्। मृत्योरधिकरणमेव सः। लक्षणया तत्परः शब्द इतिचेन्मृत्युत्वादेवामरणे सिद्धे व्यर्थोनुवादः प्रसज्ज्येत। अस्तु वा तथा। सोप्याकाशवाणीप्रामाण्यान्न मरिष्यत्येव तथापि दास्यामीतिसम्बन्धः ॥ ४९ ॥

ननु कथमेवमयुक्तं कर्तुं शक्यते तत्राह **विपर्ययो वा किं न स्यादिति**। वाणीप्रामाण्याच्चेत्तस्यामरणं तदा तत एव **विपर्यय** एव किं न भवेत् मत्पुत्रादेवास्य मरणमिति? नन्वेतद्युक्तिबाधितं बालस्तव पुत्र इति चेत्तत्राह **गतिर्धातुर्दुरत्यया। धातुर्भ**गवतो **गति**रुत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपा **दुरत्यया** दुःखेनाप्यतिक्रमितु ज्ञातुमशक्यत्वात्। न हि लौकिकयुक्त्या भगवतो वध्यघातकभावो

निर्णेतुं शक्यः । 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदिति' वाक्यात् । तस्मात् पुत्रदानकथनेन साम्प्रतमियं रक्ष्या पश्चाद्देतत्पुत्रैरयञ्च वध्यस्तस्मादेतत्कर्तुमुचितम् । तदाहोपस्थितोऽस्या मृत्युरेवं कृते **निवर्तते**ति । एतन्मरणेन **निवृत्तो**प्याकाशवाण्योक्तो मृत्युरेतत्संरक्षायां **पुनरापतेत्** । तस्मात् कंसवधार्थमेवम्मन्त्रणेन संरक्ष्येत्यर्थः । **धातुर्गतिरेव** विवृतेति केचित् । एतस्याप्यनङ्गीकारे क्षणविलम्बेनेदानीं निवृत्तः पश्चादापतेच्चेत् तदा 'नापराधोऽस्ति देहिन' इतिपूर्वेणैव सम्बध्यत इति वा ॥ ५० ॥ ननु यद्यपि परमार्थोयं तथापि लोकविरुद्धं न कर्तव्यं पुत्रदानमनुचितमिति चेत्तत्राहाग्नेरिति । न हि मया समर्पित इत्येव म्रियते किन्तु यदि तथादृष्टं भविष्यति तदैव मरणम् । तत्रोपपत्तिररण्ये दावानलेन दह्यमाने निकटस्थितः कश्चिन्न दह्यते दूरस्थितश्च दह्यते । तस्मादत्र निमित्तमदृष्टमिति । पुत्रादीनां देह**वियोगयोगयो**रप्यदृष्टमेव **निमित्तम्** । हि युक्तश्चायमर्थो भरतादिषु दृष्टः । स हि हरिक्षेत्रे हरिणदर्शने मृतः कालञ्जरे हरिणो जात इति । किमत्र हरिणशरीरग्रहणे तत्रापि कालञ्जरे निमित्तं दृष्टं सम्भवति ? जन्तुश्च जीवः सर्वत्र जायमानस्तत्र दृष्टस्य बाधितत्वाच्छरीरसंयोगवियोगहेतुर्दुर्विभाव्यः । तस्माददृष्टवशात् पश्चात् किमप्यस्तु । इयं तु साम्प्रतं मोचनीयेति ॥ ५१ ॥ निर्धारितमित्याह**ैवं विमृश्येति** । स्वकर्तव्येयं **विमर्शः** । कंसश्चेत्तदङ्गीकुर्यात्तदा सिध्येत् । तस्य सिद्धिर्दुर्घटा । तस्य दूषणानि वदन् प्रयत्नाधिक्यं कृतवानित्याह । **तं** प्रसिद्धं दिग्विजयिनं **पापमे**तादृशकर्मकर्तारं **पूजयामास** । **पूजायां** हि स्वस्मिन् स्थितो भावादिः पूज्ये समारोप्यते । ततः कार्यं सेत्स्यतीति । अयमलौकिक उपायः । ननु किमर्थमेतावत् कृतवानित्याह **यावदात्मनिदर्शन**मिति । **आत्मनो निदर्शनं** ज्ञानं **याव**द्भवति दृष्टादृष्टभेदेन तावदुपायकरणं युक्तमिति । प्रथममदृष्टोपायं कृतवानित्याह **पूजयामासे**ति । **वै** निश्चयेनेति । **पूजने** कार्यसिद्धिं निश्चितां मत्वा । तत्र स्वदेवता समारोपितेति **बहुमानपुरस्सरं** पूजा । इयं पूजा स्तोत्रनमस्कारप्रह्वीभावात्मिका । एतत्करणे ज्ञानप्राप्तिहेतुमाह **शौरिरि**ति । **शूरो** वसुदेवस्य पिता ॥ ५२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

प्रत्यर्प्येत्यत्र—**इदानीं पुत्राणामभावा**दित्ययं हेतुरर्पणासम्भवेपि ज्ञेयः । **तदा पुत्रसंरक्षार्थं मृत्युरेव म्रिये**तेति । अत्र **तवा**ऽदं **म्रियेते**त्यनेन सम्बध्यते । तदुपपादयन्ति **प्राणिमात्र** इत्यादि । एकमृत्युपक्षे मृत्युमृत्युमुपपादयन्त्**यंक** इत्यादि । इदानीमिति स्वसहकारिणि कालोपाधौ । अस्मिन् पक्षे भाक्त मृत्योर्मरणमित्याशयेनाहुरतः**शब्दनित्यत्ववदि**ति । शास्त्रतः सिद्धमपि शब्दनित्यत्वं यथा नियताभिव्यञ्जकस्य वायोर्नाशाच्छब्दाश्रवणे गतमिव भवत्येवं मृत्युरपि नियताभिव्यञ्जकस्य सहकारिणः कालोपाधेरभावाद्गच्छेदेवेत्यर्थः । **श्रीधरे**ति । मृत्योरमरणपक्षे तस्मै प्रत्यर्पणमाहेत्यर्थः । **श्रीधर**व्याख्यानं दूषयन्ति **कंस** इत्यादि । दूषणे विशेषप्रयोजनाभावादनुमन्यन्ते **अस्तु वा तथे**ति । ननु तर्हि कंसस्यामरणे तस्मै बालकार्पणं नोचितमित्यत आहुः **सोपी**त्यादि । अपिशब्दाद्बालकः । **तथापी**ति कंसस्यामरणेपि ॥४९॥ **विपर्ययो** वेत्यत्र–**अतिक्रमितु**मिति । शक्येतिशेषः । **एतन्मारणेन निवृत्त** इति । एतत्प्रत्यर्पणोक्तिरूपप्रतीकारात्मकेन मृत्योर्**मारणेन कंवान्निवृत्तः** स्थानान्तरे गत इत्यर्थः । **केचि**दिति । श्रीधरस्वामिनः । एतस्य विचारस्य कंसमारणतात्पर्यकत्वे श्रीवसुदेवस्यापि दुराशयत्वं शङ्क्य तेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहु**रेतस्यापी**त्यादि ॥ ५० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

प्रत्यर्प्येत्यत्र–प्रत्यर्पणं विवृण्वन्ति **मृत्युरयमि**त्यारभ्य **न दोष** इत्यन्तेन । **सुता मे यदि जायेरन्नि**त्यत्र **यदी**त्यस्यार्थमाहुः–**पुत्रोत्पादनं** त्वित्यारभ्य **लौकिक्युपपत्तिरि**त्यन्तेन । **मृत्युरेवे**ति । अस्या इतिशेषः । अस्या मृत्यावचिरकालेन जाता बहवः पुत्रा न **संरक्षिताः** स्युरितिभावः । **तस्मा**दिति । मृत्योर्जन्मश्रवणादुत्पत्तिमतश्च मरणनियमोतोहेतोर्मृत्युरपि **म्रियत** इत्यर्थः । **अन्यस्ये**ति । सुतमृत्योरित्यर्थः । **एको मृत्युरि**ति । एक एव सर्वमारक इत्यर्थः । **नियतकाल** इति । एकवारं तस्य **कालः** । **स** मृत्युस्तदैवायाति तदा **चेन्निवृत्तः पुनः कालाभावान्ना**यातीत्यर्थः । **अत** इति । यथा तर्कमत 'आकाशः सम्भूत' इत्यादिवाक्यैः 'सविशेषणे ही'तिन्यायेन **शब्दनित्यत्वमे**व निवर्तते न त्वाकाशनित्यत्वं निवर्तते तथात्रापि आकाशवाणीप्रामाण्येन धर्मिभूताया निवृत्तेर्बाधितत्वादेतद्धर्मरूपो **मृत्युरेव** गच्छेन्निवर्ततेत्यर्थः । यथा प्रत्यक्षविरोधादेतन्न्यायेन **शब्दनित्यत्वमेव** निवर्त्तते नाकाशनित्यत्वं तथाकाशवाणीविरोधान्मृत्युरेव म्रियेत न त्वियमिति **मृत्युर्वा न म्रियेत** चेदितिशङ्काया द्वितीया कोटिरिति ज्ञेयम् । **नन्वि**ति । तथा चैतन्मृत्युरेनां प्रति न मृतः किन्तु कालान्तर एनामेव प्रत्यागच्छेन्न तु सुतानित्यर्थः । **नियतत्वा**दिति । एतन्मृत्युः सुतान्न मारयिष्यत्यतो न समर्पणे बाधकमित्यर्थः । **सोपी**ति । **कंसो**ऽष्टमगर्भजन्मपर्यन्तं मरिष्यति वा**प्रामाण्या**दित्यर्थः । अत्र **वाणीप्रामाण्येन** मरणाभावनिश्चयाद्यथाकथञ्चित्प्रतीकारार्थं नानापक्षा उक्ताः । अतो न तथात्राधिका युक्तयो विशेषतोपेक्ष्यन्त इति बोध्यम् ॥ ४९ ॥ **विपर्ययो** वेत्यत्र **तस्यामरणमि**ति । **कंसस्यामरण**मित्यर्थः । **तत एवे**ति । वाणीप्रामाण्यादेवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

बुभुत्सुबोधिका

प्रत्यर्प्येत्यत्र शास्त्रमिति पूर्वमीमांसाशास्त्रम् । अयमिति बुद्धिस्थो वक्ष्यमाणः । 'प्रतिरत्र प्रतिनिधिप्रतिदानयो'रिति **पाणिनिसूत्रात् प्र**तिदान इत्याशयेन प्रत्यर्पणं विवृण्वन्ति स्म मृत्युरयमित्यारभ्य न कोपि दोष इत्यन्तेन । कंसे निविष्ट इति **अत्यन्तविस्मरणरूपः** देवकीमारणरूपनिषिद्धकर्मणा स जन्यते । **कंसो** मृत्युरित्यपव्याख्यानमित्यादिनात्रैव स्वयं वक्ष्यते । भक्त्या

इति गीतैकादशाध्याये 'केचिद् विलग्ना दशनान्तरे'ष्वित्याद्युक्त्वा 'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्ध' इत्युक्तेः। अप्रतीकार्यश्चेति औषधादिनापमृत्योरेव प्रतीकारात्। स त्विति मृत्युस्तु। संमृत्युः दोष इति भगवदधिष्ठाने वसुदेवे कथं पुत्रदानदोष इति दोषप्रश्नसम्भवात्। इयमिति देवकी। एतदपीति पुत्रदानेनास्या मोचनम्। बह्व इति एकापेक्षया बहूनामनुग्रहो न्याय इति एतदनुचितम्। बालका इति बालकत्वस्यानुचितत्वप्रयोजकत्वं, 'सुता' नित्येतावतैव कर्माकाङ्क्षानिवृत्तेर्बालकानित्यस्य वैयर्थ्यापातात्। 'सुतानवधीन् निशि बालका'नित्यत्र प्रथमस्कन्धे। न च विशेष्यं 'बालका'निति। 'माता सुतानां निधनं शिशूना'मित्यत्रैव सुतानां विशेष्यत्वात्। स्वस्यान्तरङ्गा इति आत्मनोंशाः। पत्नी तु अर्धाङ्गी बहिरङ्गा। दोषाधिक्यमिति बहुत्वात् मित्रत्वाच्च। इदानीं पुत्राणामभावादित्ययं हेतुर्देहलीप्रदीपन्यायेनोभयान्वयी। विद्यमानाविद्यमानयोरिति स्त्रीपुत्रयोः। सिद्धवदिति विद्यमानवत्कारेण। कारणं कारः तेन। विषयेति देयादेयरूपप्रत्यर्पणविषयविभागः। धर्महानीति क्षात्रधर्महानिप्रसङ्गात्। अयमिति पुत्रदानलक्षणः। नरकेति बालवधान् न श्राद्धादिकर्तृत्वमिति वसुदेवस्य ज्ञानत्वाज् ज्ञानम्। 'यदी'त्यस्यार्थमाहुः पुत्रोत्पादनं त्वित्यारभ्य लौकिक्युपपत्तिरित्यन्तेन। भिन्नतयेति तत्पितृगृहे। एवकारेणैकयोगव्यवच्छेदः क्रियते। अनेन सामदानदण्डानन्तरं भेद उक्तः। भेदनम्। भिदिर् विदारणे। घञ्, शत्रोरमात्यादीनामुपायेन परतो विश्लिष्यात्मसात्करणं भेदः। अयं भिन्नतया स्थापने भवति तस्याः। न कोपीति पुत्रोत्पादनं स्वाधीनमिति न बह्वः पुत्रा उत्पादनीया मयेति न प्रथमदोषः। 'बालका' इत्युक्तदोषोपि न स्यात् तत एव। स्वस्यान्तरङ्गा इत्यपि दोषो न। तथा दोषाधिक्यं दोषो न तत एव। 'अर्पणं च न सम्भवती'त्युक्तदोषोपि न पुत्राणामाहार्यज्ञानविषयत्वाबाधकालीनमिच्छाजन्यज्ञानमाहार्यज्ञानम्। अत एव न 'विद्यमानाविद्यमानयो'रित्याद्युक्तदोषः। धर्महानिदोषोपि न, भेदस्य क्षात्रधर्मत्वात्। तत एव लोकापकीर्तिरूपदोषाभाव इत्यर्थः। वसुदेवस्याधिष्ठानत्वादन्यमपि दोषाभावमाहुः प्राणरक्षाया इति। ऋतुकालेति 'ऋतौ भार्यामुपेया' दितिश्रुत्या विहितं ऋतुकालगमनं, तदपेक्षया। अधिकेति 'जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपी'ति वाक्यात्। 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानी'मितिश्रुतेश्च। एतदपीति भिन्नतया स्थापनम्। चोदनयेति उक्तश्रुत्युक्ता चोदनया। नैक इति एकः पुत्रः पुत्रो नेत्यत्र। पुत्रे पुत्रत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावो नेति समासेन एकपुत्रे पुत्रत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो ज्ञेयः। एकपुत्रे समासशक्त्यैकपुत्रत्वे सति पुत्रत्वाभावात्। न दोष इति 'एकं द्वौ वा पुत्रमुत्पादये'दितिशास्त्रे मानवे नवमाध्याये 'एकामुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते तेपु तद्विद' इत्यस्ति। भगवन्मते तु 'पुत्रे कृष्णप्रियेरति'रित्युक्तम्। तथेति तथा अलौकिकीति छेदः। आकाशवाणीति 'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भ' इत्याकाशवाणीप्रामाण्यात्। बह्व एवेति न त्वेको द्वौ वा जायेते। अलौकिकीमुपपत्तिमाहुः तेपीति। उपपत्तिर्न्यायः, सा च लौकिकी एकं द्वौ वोत्पाद्य न कोपि दोष इत्युक्तदोषाभावसम्वादिकोक्ता। अलौकिक्या तु नैको नापि द्वौ पुत्रौ प्राप्तौ किन्तु बह्व एव सुताः प्राप्ताः। अतः इयमेका पुत्राश्च बह्व इत्याद्युक्तदोषास्तदवस्थाः तदभावाय। तेपि एकः द्वौ वा भवतः। मृत्युं सन्निवेश्य तावता बहुकालेनोत्पादनीयाः आकाशवाण्यां कालस्याश्रुतत्वात्। अनयोपपत्त्याऽलौकिक्यापि न कोपि दोषो भवेदित्यर्थः। कामान् नोदनयापि वा बहुकालेनोत्पादने भगवदिच्छा न चेत् तदाप्युपपत्तिमाहुः कालेपीति। बहुकालविरुद्धे स्वल्पादिकाले पुत्रोत्पादने भगवदिच्छा चेत् तदा पुनर्दोषापत्तिरित्यर्थः। अस्मिन् पक्षेपि दोषाभावमाहुः तदा पुत्रेति। अन्यद्वारा पुत्ररक्षा देवक्या तु पुत्रसंरक्षा। सा चाकाशवाण्यां 'अस्यास्त्वामष्टम' इत्युक्त्याष्टमत्वस्यापेक्षाबुद्धिजन्यत्वादपेक्षिता। न चापेक्षाबुद्धिराहार्यज्ञानविषयिणीति शङ्क्यम्। आकाशवाण्यां कंसः पुत्रान् मारयिष्यतीत्यश्रुतत्वात्। तस्याः संरक्षयित्र्या देवक्याः मृत्युमारणं कर्तव्यम्। न पुत्राणां बहूनामिति 'इयमेका पुत्राश्च बह्व' इत्याद्युक्तदोषाभावः भगवदिच्छया पुत्राणां किमप्यस्त्विति हृदयात्, अत्रोपपत्तिः शास्त्रयोजनम्। 'युक्तिर्न्याये च योजन' इति विश्वात्। मृत्युरेवेति देवक्या मृत्युरेवेत्यर्थः। देवक्या 'मृत्युर्वा म्रियेत चे'दित्यस्य 'प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमा'मिति सम्बन्धो यद्यपि भासते तथापि पूर्वार्धोत्तरार्धयोर्वैपरीत्यापत्त्या वक्ष्यमाण एव सम्बन्धः। तदा पुत्रसंरक्षार्थं 'मृत्युरेव म्रियेते'त्यत्र 'तदे'ति 'म्रियेते'त्यनेन सम्बध्यते, तदुपपादयन्ति स्म। किञ्च देवक्या मृत्युमारणेऽलौकिकीमुपपत्तिमाहुः प्राणिमात्र इति।

तत एवैनमिति तत्र एव एनं मृत्युम्। एनादेशः। अवयजो प्रतिकुरुते। धातूनामनेकार्थत्वाद् बाहुलकाच्च। इमे कल्पने वसुदेवस्याधिष्ठानस्य प्रतीकारे प्रवृत्तत्वात्। तस्मादिति मृत्योर्जन्मश्रवणात्। अन्यस्येति सुतमृत्योः। यद्वा द्वितीयदेवकीमृत्योः। एको मृत्युरिति एक एव सर्वमारक इत्यर्थः। बृहदारण्यके 'मृत्युनैवेदमावृतमासी'दित्यत्रैकत्वविवक्षणात्। नियतकाल इति एकवारं तस्याः कालः। शतायुर्वै पुरुष' इति 'सञ्जीव शरदः शत'मिति चोक्तः। सा मृत्युस्तदैव शतवर्षानन्तरमायाति, अपमृत्यवोन्याः। तदा चेन् निवृत्ता पुनरपमृत्य्वादिकारणकालाभावान्नायातीत्यर्थः। इदानीमित्यस्य स्वसहकारिणि कालोपाधौ। तं प्रतीति म्रियमाणं प्रतीत्यर्थः। म्रियेतैवेति निवर्तेतैव। अतः शब्दनित्यत्वेति अत इति सार्वविभक्तिकस्तसिल्। 'आकाशः सम्भूत' इत्यादिवाक्यैः 'सविशेषणे ही'तिन्यायेन शब्दनित्यत्वमेव निवर्तते, न त्वाकाशनित्यत्वं निवर्तते। इदं 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य' इति गीतायां आकाशवत् सर्वगतत्वमात्रं न तु नित्यत्वमप्याकाशवदिति व्याख्यानं न तथा बोध्यम्। तद्वदस्या मृत्युरेव गच्छेत्। कंसहननक्रियया विशेषणीभूतो मृत्युरेव गच्छेत् न त्वियं देवकी विशेष्यभूता गच्छेन् मृत्युलोके यद्वा व्याकरणशास्त्रतः सिद्धमपि शब्दनित्यत्वं यथाभिव्यञ्जकस्य वायोर्नाशाच्छब्दाश्रवणे गतमिव भवति, एवं मृत्युरपि नियताभिव्यञ्जकस्य सहकारिणः कालोपाधेरभावाद् गच्छेदेवेत्यर्थः। म्रियेतेत्यस्य बाहुलकादर्थो निवर्तेतेति कृतः अतो मृत्युर्थं वक्तुमाहुः नत्वेकमृत्युमिति। लोकाल्लोकादिति लोकात् मृत्युलोकात्

लोकाज्जनात् । मृत्युलोकं प्राप्य यो जनस्तस्मादेव मृत्युं अवयजते प्रतिकुरुते । नैनं मृत्युं स्वलोके मृत्युः एकदेशीभूतः विन्दति लभते इत्यर्थः । विद्लृ लाभे । तुदा० आ० अनि० । नियतत्वादिति अस्या मृत्युः कालकारणादस्या एवेति नियतः तस्य भावो नियतत्वं तस्मात् । सुतान् न मारयिष्यत्यतः सुतमसमर्पणे न बाधकमित्यर्थः । श्रीधरस्य व्याख्यानमपवदन्ति स्म कंसो मृत्युरिति । स इति कंसः । ननु तर्हि कंसमृत्युप्रसङ्गः । मैवम् । कंसोऽष्टमगर्भजन्मपर्यन्तं न मरिष्यत्याकाशवाणीप्रामाण्यादिति । अत्र वाणीप्रामाण्येन मरणाभावनिश्चयाद् यथाकथञ्चित् प्रतीकारार्थं नाना पक्षा उक्ताः । अतो न तथासाधिका युक्तयो विशेषतोऽपेक्ष्यन्त इति बोध्यम् । श्रौतेर्थे कंसमरणापत्त्या लक्षणेति चेत् तत्राहुः लक्षणयेति । शक्यसम्बन्धो लक्षणाधाराधेयभावस्तया । तत्परः मृत्युशब्दः कंसपरः । सिद्ध इति मृत्युमरणे पुनरुन्मज्जनापत्तिः । अतोऽमरणे सिद्धे । अनुवाद इति न म्रियेतेत्यनुवादः । ननु 'भयात् कंस' इति वाक्यान् मृत्युभ्रातृमति कंसे भगिन्या मृत्योः स्थितिरुचिता, सा च 'इत्युक्तः स खलः पाप' इत्यत्र शब्दवन् मृत्युशब्दोपि लक्षणया श्रुत्यविरोधेन कंसपरो भवत्वित्याशङ्क्याभ्युपगममाहुः अस्तु वा तथेति । श्रुत्यविरुद्धा लक्षणा, 'लक्षणां नैव वक्ष्यामी'त्यस्य न विषय इति ज्ञापितम् । आश्चर्यरसत्वाद् वा न लक्षणेत्यपि बोध्यम् । कंसमरणापत्तिं वारयन्ति स्म सोप्याकाशेति । कंसोपि । अपिना मातृचरणाः । बालको वा न मरिष्यत्येव । अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारः । नीलं सरोजं भवत्येवेति । तथापीति मरणाभावेपि सुतान् पुत्रान् वा नरकपालकानपि । दास्यामीति प्रत्यर्प्येत्यस्य विपरिणामं कृत्वा दास्यामि प्रत्यर्पयिष्यामि मृत्यव इति सम्बन्ध इत्यर्थः । यावत्कालं त्वं कंसभयात् प्राप्तः सुतान् न मारयिष्यस्यत उत्तमर्णाय तुभ्यं सुतप्रतिदानम् । अग्रे सुतान् मारयिष्यतीति यावत्कालं मारणाभावः प्रतिदाने हेतुः ॥ ४९ ॥

विपर्यय इत्यत्र ननु कथमिति ननु कियत्कालं मृत्युः सुतान् न मारयिष्यतीति मृत्यवे प्रत्यर्पणं प्रोक्तं तथा कियत्कालं प्रोक्तं तथा मह्यं सुता दत्ता इति तथापि षड्भगवद्धर्मा इति केन प्रकारेणायुक्तं मारणार्थं दानं कर्तुं शक्यत इत्यर्थः । तस्येति कंसस्य । तदा तत एवेति वाणीप्रामाण्यादेव विपर्ययः मत्पुत्रादेवास्य मारणमिति । नन्वाकाशवाण्याष्टमगर्भान् मरणे प्रमाणं न तु षड्धर्मैर्मारणे प्रमाणमित्याशङ्क्याहुः एवेति । न तु धर्मेणामारणं वीर्यकार्यत्वात् । मत्पुत्रादेवेति वीर्यरूपात् । धर्मिणः कारकत्वात् धर्मियोगव्यवच्छेदकैवकारः । तथा च यतो गणने वीर्यस्याष्टमत्वं सोवधिः अस्य कंसस्य । युक्तिबाधितमिति मारणे कर्तृत्वेन बालयोजनेन बाधितम् । पञ्चविधं कर्म गतावन्तर्भूतमित्याशयेनाहुः उत्पत्तिस्थितीत्यादि । एतेषु दशगण्युक्तक्रियारूपसर्थसमावेशः । दुःखेनेति दुर् दुःखेनाति अतिक्रमितुं मनसाप्याकलयितुमशक्यरचनस्य प्रपञ्चस्य ज्ञानमतिक्रमः इत्याशयेन ज्ञातुमिति विवरणं ज्ञातुं अशक्यत्वात्, दुरत्यया । दुरत्ययशक्या । मूलवलाद्व्याख्यानं सामान्यक्रियापरं विशेषक्रियया नीञ् प्रापणे नश् अदर्शने वा तद्रूपया शक्लृ शक्तौ तद्रूपया च बाध्यत इतीण् गतावित्यस्या य इत्यस्याशक्यक्रियार्थत्वम् । यद्वा । भावाभावरूपक्रिया व्याख्यानं व्याख्येयमपि सैवेति न सामान्यविशेषभावः पश्चादिति रंगभूमिगमने । एते च ते पुत्रा एतत्पुत्राः तैः एतस्याः पुत्रैरिति वा अयं कंसः बध्यः । कंसवधे यथायोग्यं ऐश्वर्यादिषड्धर्माणां करणत्वं बोध्यम् । एतदेवेति पुत्रदानमेव । वसुदेवस्य ज्ञानत्वादेवकारः । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेर्जुने'ति वाक्यादिदं ज्ञानमक्लिष्टकर्मा भगवान् तद्विषयकम् । वसुदेवरूपम् । एवं कृते इत्यादि कंसवधार्थं निमन्त्रणे कृतेत्यन्तविस्मृतिरूपो मृत्युर्निवर्तेत देवक्या आगतस्मृतिरूपप्रतियोगित्वात् घट आगते घटाद्भावनिवृत्तिवत् । निवृत्तोपीति 'क्रोधस्यान्तं फलोदया'दिति सप्तमसम्बन्धात् . क्रोधे गते वधान निवृत्तोपि कंस इत्यर्थः । निवृत्त इति मृत्युविशेषणम् । मृत्युरिति कंसमृत्युः । एतत्संरक्षायामिति देवकीसंरक्षायां कृतायां तत्पुत्रद्वारा पुनरित्यर्थः । 'न न्यूनादन्यपूरण'मिति कारिकया न्यूनपूरणमाहुः तस्मादिति । उक्तव्याख्यानस्य निर्दुष्टत्वात् । एवेति इतरव्याख्यानयोगव्यवच्छेदकः । एवमिति पूर्वोक्तसुतदानेनेत्यर्थः । मन्त्रणेनेति मन्त्रि गुप्तभाषणे । वसुदेवस्य राजकत्वान् मन्त्रणं कंसाहितम् । आज्ञया कृतत्वात् । केचिदिति श्रीधर्याः श्रीधरस्वामिनः । एतस्य विचारस्य कंसमारणतात्पर्यकत्वे श्रीवसुदेवस्यापि दुराशयत्वं शङ्क्येतेत्यरुच्या । तस्मात् कंसवधार्थमेव एवं संरक्ष्येति शेषपूरण विनार्थमाहुः एतस्याप्यनङ्गीकार इति । एतस्य यत्नस्येत्यर्थः । निवृत्त इति उपस्थितो मृत्युर्निवृत्तः । पूर्वेणैवेति मण्डूकप्लुत्याऽऽवृत्य पूर्वपूर्वेण पादेन एवकारः शेषपूरणयोगव्यवच्छेदकः । तेन शेषपूरणापेक्षयाऽऽवृत्तिर्जायसीत्युक्तम् ॥ ५० ॥

अग्नेर्यथेत्यत्र अनुचितमिति लोकविरुद्धमनुचितमिति सम्बन्धः । हेतुगर्भ विशेषणम् । उचितमिति पाठे उक्तमुचितम् । पुत्रदाने लोकविरोधस्तु नवमस्कन्धे हरिश्चन्द्रो वरुणमाराध्य तत एव रोहितं पुत्रं प्राप्य स्वपुत्रेण वरुणं नेजे । जातोदरो जातस्ततो 'मुक्तोदरो यजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथ' इति पुत्रदानात् । अत्र दुःखं विनादानात् बोध्यः । अदृष्टं धर्माधर्मौ । हरिणदर्शने इति सतिसप्तमी । तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्ष्यमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिममिति वाक्याद्धरिणदर्शनसमानाधिकरणं मरणं तद्विषयः । लोकं देहम् । हरिणशरीरेति निमित्तमिति योजना । कालञ्जर इति पर्वते, शालग्रामपुलस्त्यपुलहाश्रमं 'कालञ्जरात् प्रत्याजगामे'तिवाक्यात् । शालवृक्षोपलक्षितं ग्रामम् । दृष्टं सम्भवतीति मनोनिषेकरूप दृष्टम् । 'मनो यत्र निषक्तमस्ये'तिश्रुतेः । शरीरसंयोगवियोगयोस्त्वदृष्टमेव । जन्तुश्चेत्यादि जायत इति जन्तुः कर्तृप्रयोगः । प्रत्ययः । जनी प्रादुर्भावे धातुः जीवतीति जीव प्राणधारण धातुः पचाद्यच् । सर्वत्रेति कर्मभूमिषु । जायमान इति जनी प्रादुर्भावे । दि० आ० से० कर्तरि शानच् । ज्ञाजनोर्जाशिति । तत्रेति कर्मभूमिषु । दृष्टस्य मनसः शरीराकृतिविशेषयोर्योगे निमित्तस्य । बाधितत्वात् । कल्पनाया इत्यादि योगे हेतुर्मनः वियोगेपीति कल्पनाया अशक्यत्वात् । प्रारब्धकर्मनिर्वाणवियोगे प्रारब्धकर्म-

नाशस्य हेतुत्वेन तथा। दुर्विभाव्य इति शरीरे विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाः हेतवः। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतेः। शरीरसंयोगे मनो हेतुः 'मनो यत्र निषक्तमस्ये'ति श्रुतेः। शरीरसंयोगवियोगयोर्हेतुर्दुर्विभाव्य इत्यर्थः। ननु प्रत्येकं हेतवः समुदायेपीति चेन्न न, समासे भिन्नशक्तेरेकार्थीभावात्। न च हेतूनामेकार्थीभावं कृत्वा हेतुः सुविभाव्य इति वाच्यम्। व्यपेक्षा-लक्षणसामर्थ्याभावात् प्रत्येकं हेतुज्ञानस्य दुर्विभाव्यत्वात्। पश्चादिति सुतदानात् पश्चात्। सुतानां मरणममरणं वा किमप्य-स्त्वित्यर्थः॥ ५१॥

एवं विमृश्येत्यत्र पूर्वश्लोके परमार्थे लोकविरोधः परिहृतः। एवं परमार्थे ह्यागते देवकी ब्रह्मविद्येव रक्षणीयेति वेदरूप-वसुदेवनिर्धाराज् ज्ञापयन्ति स्म इयं त्विति। तस्य सिद्धिरित्यादिदेवकीमोचनस्य सिद्धिः प्राकाश्यरूपा दुर्घटेति हेतोस्तस्य कंसस्य सिद्धिदुर्घटत्वसाधकानि दिग्विजयित्वपापत्वदृष्टादृष्टभेदेन तावदुपायकरणविषयत्वानि दूषणानि वदन्, प्रयत्ने कृते आधिक्यं भगवत्पूजनरूपं कृतवान्। बलवत्तरविघ्ननिवारणे प्रचुरतरमङ्गलस्य कारणत्वात्। विद्याऽऽसुराविद्योपमर्दात्। कंसोऽङ्गीकरिष्यति। 'सुहृद्वधान् निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवि'दितिवाक्यात्। भावादिरिति स्वपूज्ये कंसे भेदबुद्धिवारणाय। वासुदेवाधिष्ठानत्वे-नैक्यम् बृहदारण्यके पूज्ये भेदबुद्धिवारणात्। अनेन 'विद्यात्मनि भिदाबाध' इति वाक्यात् भेदाभावरूपमद्वैतं विद्या रक्षिता। देवकी ब्रह्मविद्यात्रेव निविष्टा। आदिनान्तर्यामिज्ञानवाङ्मनांसि। न प्राणः देहरक्षाभावप्रसंगात्। ततः कार्यमिति बृहदारण्यके ततो भावादेः कार्यसिद्धिरुक्ता। सप्तान्नब्राह्मणे 'विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेतद् एव यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेवेनं तद्भूत्वावति। यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वावति। यत्किञ्चाविज्ञातम्। प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वावती'ति श्रुतेः। विज्ञातं विजिज्ञास्यं अविज्ञातं च विजिज्ञास्यम्। एत एवेति वाङ्मनः-प्राणा एव। वाग्विज्ञाता तावत् विज्ञात वाचस्तद्रूपम्। एवं वाग्विभूतिविदः फलमाह वागेनमिति। वाक् अा एवं वाग्विदं वाक् तद्भूत्वा विज्ञातस्वरूपं भूत्वावति पालयति विज्ञातस्वरूपेणेवान्नत्वमापद्यत इति यावत्। अग्रेप्येवम्। दृष्टादृष्टेति पूर्वश्रुत्युक्तज्ञाताज्ञात-भेदेन। युक्तमिति देवक्या भगवदीयत्वादुपेक्षा नोचिता। मत्वेति उक्तबृहदारण्यकान्मत्वा। दृष्टोपायमाहुः 'न चास्यास्त' इत्यनेन वा वक्ष्यन्तीत्यदृष्टोपायमेवायम्। एवं करणे इति ज्ञानप्राप्तौ प्राकाश्यरूपसिद्धिप्राप्तौ। पितेति पितृनाम्ना तु मुख्यत्वमिति मुख्यत्वात् शूरत्वाच्च। अत इव्॥ ५२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अत उपेक्षादोषपरिहाराय मृत्यवे मृत्युरूपेणोपस्थिताय कंसाय जनिष्यमाणान् पुत्रान् प्रदाय प्रदास्यामीति प्रतिज्ञाय कृपणां दीनामिमां देवकीमस्मान्मोचये त्याजयामि। नन्विदमपि न युक्तम्। इयं चैका कंसेन बलाद्धन्यते, पुत्रास्तु बहवस्तेषां स्वहस्ताद्धन-नार्थदाने स्वस्यापि दोषाधिक्यं स्यादित्याशङ्क्याह—सुता इति। यदि त्वस्यां मम सुता एव न जायेरन्, सुतोत्पत्तेः पूर्वं कंस एव वा म्रियेत तदा तु नैव काचिच्चिन्ता। यदि मे मम सुता जायेरन् ततोऽर्वाक् मृत्युः कंस चेन्न म्रियेत्॥ ४९॥ तदा विपर्ययो वा किं न स्यात् मत्पुत्रादेवास्य मरणं किं न स्यात्? ननु प्रौढस्य कंसस्य तव बालकात् कथं मृत्युः स्यात्तत्राह—गतिरिति। धातुः 'अस्या-स्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता' इत्युक्तवतो गतिः शक्तिर्दुरत्यया अनुल्लङ्घ्या। एतदेव प्रपञ्चयति—उपस्थित इति। उपस्थितोऽपि मृत्युर्निवर्तेत, यथा मार्कण्डेयादेः। निवृत्तोऽपि मृत्युः पुनरापतेत्, यथा रावणहिरण्यकशिप्वादेः। यद्वा अनेनोपस्थितोऽपि देवक्या मत्युर्निवर्तेत। देवकीहननान्निवृत्तो निवृत्तप्रायोऽप्यस्य कंसस्य मृत्युः पुनरापतेदित्यर्थः। अतो न पुत्रप्रदाने प्रतिज्ञायां मम कश्चिद्दोषशङ्कावकाश इत्याशयः॥ ५०॥ किञ्च "नहि मत्कर्तृकप्रदानमात्रेणेव पुत्राणां मरणं सम्भवति, जन्ममरणादेरदृष्टाधीनत्वात्" इति सदृष्टान्त-माह—अग्नेर्यथेति। वने वृक्षान् ग्रामे गृहान् वा प्रदहन् वह्निः सन्निहितानपि परित्यज्य कदाचिद्दूरस्थानपि दहति तत्र तस्य दारुवियोग-योगयोः प्राण्यदृष्टतः पुण्यपापरूपादन्यन्निमित्तं नियामकं यथा नास्ति, एवं जन्तोर्जीवस्यापि शरीरसंयोगवियोगयोर्जन्ममरणयोर्हेतु-र्दुर्विभाव्यः अचिन्त्यः अदृष्टरूप एव। हीत्यवधारणे। अदृष्टवशात् पश्चाद्यद्भावि तद्भवतु, इदानीमियं तु तावद्रक्षिता स्यादिति भावः॥ ५१॥ शौरिर्वसुदेवो यावदात्मनो निदर्शनं ज्ञानं तावदेव विमृश्य विचार्य पुत्रप्रदानप्रतिज्ञात निश्चित्य पाप पापार्थमुद्युक्तं न कंसं बहुमानपुरःसर अत्यादरपूर्वकं यथा स्यात्तथा पूजयामास। प्रथमं स्तोत्रनमस्कारादि कृतवानित्यर्थः॥ ५२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

प्रदायेति अर्द्धम्॥ मृत्यवे कंसाय पुत्रान् प्रदाय देयत्वेन प्रतिज्ञाय कृपणां दीनामिमां देवकीं मोचये। तत्राकाशवाण्यां कल्पितत्वशङ्कायां विचारयति सुता इत्यर्द्धम्। यदि मे सुता जायेरन् यदि च तावत्पर्यन्तं मृत्युः कंसो न म्रियेत तदा कंसाय पुत्रान् दत्त्वा इमां मोचयिष्यामि इति पूर्वार्द्धमनुवर्त्य व्याख्येयम्। अर्थसामञ्जस्यान्न वाक्यभेददोषः। तदा सुतमरणदोषे सत्यपि देवकी तु सम्प्रति जीवेत् यदि सुता न जायेरन् जाता वा कंसमेव हन्युः जननात्प्राक्कंसो वा म्रियेत इति पक्षत्रये तु न कोऽपि दोषः॥ ४९॥ आकाशवाण्याः सत्यत्वनिश्चये विचारयति विपर्यय इति॥ बालेन मत्पुत्रेण प्रौढस्याप्यस्य मृत्युरिति विपर्ययोऽपि किं न स्यात् चरमाद्यपेक्षया प्रथमादेरप्यष्टमत्वात् अष्टानामपि सहैव मरुद्गणवदुत्पत्तिसंभवाच्च। अतोऽपि इदानीमपत्यार्पणप्रतिज्ञैव मन्त्रः। यतो

धातुः अष्टमो गर्भो हन्ता इत्युक्तवतः गतिरिच्छा दुरत्यया दुर्बोधा तया च उपस्थितो देवक्या मृत्युस्तावन्निवर्त्तेत मत्पुत्रार्पणप्रतिज्ञया निवृत्तोऽपि कंसस्य मृत्युः पुनरापतेत् प्राप्तो भवेत्। यद्वा। गतिर्धातुर्दुरत्यया इत्यस्य प्रपञ्च उपस्थित इत्यादि ॥ ५० ॥ अग्नेरिति ॥ यथा अग्नेर्वृक्षान् गृहान्वा प्रदहतो दारुणः काष्ठस्य यौ वियोगयोगौ कदाचित् सन्निहितस्यापि वियोगः कदाचित् विप्रकृष्टस्यापि योगः तयोः अदृष्टतः वृक्षाणां गृहस्वामिनां वा भाग्यात् अन्यत् निमित्तं कारणं नास्ति। एवं हि एवमेव जन्तोरपि शरीराणां संयोगवियोगयोर्जन्ममरणयोर्हेतुर्दुर्विभाव्यः अचिन्त्यः ॥ ५१ ॥ एवमिति ॥ शौरिर्वसुदेवः यावत् यत्प्रमाणकम् आत्मना बुद्ध्या निदर्शनं ज्ञानं यत्र तद्यथा स्यात्तथा आत्मप्रज्ञावधीत्यर्थः। एतेन सम्भ्रमे प्रतिभातिशयः सूचितः। विमृश्य तं पापं कंसं बहुमानपुरःसरं बह्वादरपूर्वकं पूजयामास बहिस्तुष्टाव ॥ ५२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विचारपूर्वकमेव प्रतिपत्तिं दर्शयति चतुर्भिः। मृत्युरिति। उपस्थितः संप्राप्तः मृत्युः, बुद्धिमता पुंसा, यावद्बुद्धिबलोदयं यथामति यथाशक्ति चेत्यर्थः। अपोह्यः परिहार्यः, एवं प्रतिहारे कृते सत्यपि, यदि असौ मृत्युः, न निवर्त्तेत निवृत्तिं न यायात्, तर्हि, देहिनः अपराधः, न अस्ति ॥ ४९ ॥ प्रादायेति। अतः, पुत्रानस्यां जनिष्यमाणान् सुतान्, मृत्यवे मृत्युरूपेणोपस्थिताय कंसाय, प्रादाय दास्यामीति प्रतिज्ञाय, कृपणां दीनां, इमां स्त्रियं, मोचये त्याजयामि। प्रतिज्ञायां दोषरूपत्वमाशङ्क्याध्यवस्यति सुता इति। यदि, मे मम, सुताः अस्यामिति शेषः। जायेरन् संभावनायां लिङ्। तावता कालेनापीति शेषः। चेद्यदि, मृत्युर्मत्पुत्रादेर्मृत्युभूतः कंसः, न म्रियेत मत्पुत्रोत्पत्तेः पूर्वं न मरिष्यते वा। तर्हि तु पुत्रान् प्रदास्यामि। मम पुत्रोत्पत्तेः कंसावस्थानस्य च पाक्षिकत्वात् पुत्रार्पणप्रतिज्ञा न दोषावहेति भावः ॥ ५० ॥ पाक्षिकत्वमेव संभावयति। विपर्यय इति। विपर्ययो वा मम पुत्रात् कंसस्य मृत्युर्वा कंसस्याऽवस्थानं ममास्यां पुत्रोत्पत्त्यभावरूपो विपर्यासो वा, किं न स्यात्। एवं विपर्ययसत्त्वेऽपि न दोष इति भावः। ननु अशरीरवाण्या ईश्वरवचस्त्वात्तस्या नासत्यता स्यादतोऽन्वय एव निश्चितो न विपर्यय इत्याशङ्क्याध्यवस्यति। धातुरीश्वरस्य, गतिः रीतिः दुरत्यया दुराकलनीया भवति। धात्राऽऽकाशगिरा तथोक्तत्वेऽपि कदाचिद्विपर्ययोऽपि स्यादिति भावः। तत्रोदाहरणमालोच्याध्यवस्यति उपस्थित इति। उपस्थितः समीपं प्राप्य स्थितोऽपि मृत्युः, क्वचित् निवर्त्तेत। यथा 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेर्मर्त्त्यत्वतो मार्कण्डेयस्य प्राप्तोऽपि मृत्युर्निवृत्तः। निवृत्तः वरप्राप्त्यादिना निवृत्तोऽपि मृत्युः, पुनः आपतेत् आपद्यते। यथा हिरण्यकशिपुरावणादेः, अतः पुत्रार्पणे प्रतिज्ञातेऽपि न दोष इति भावः। यद्वा 'सुता मे यदि जायेरन्' इत्यारभ्य 'निवृत्तः पुनरापतेत्' इत्यन्तसार्द्धश्लोकस्यायं भावः। अस्यां यदि मत्तः सुता जायेरन् तदा तु यद्भावि तद्भवतु, तावत् कालपर्यन्तमस्या जीवितं तु भवेदेव, तदनन्तरा यदि कंस एव म्रियेत, यदि वैषा वन्ध्या स्यान्न, तदा पुत्रार्पणप्रतिज्ञायां किंचिदन्याय्यं, यदि चास्यां मत्तः सुता भविष्यन्ति, न चायं म्रियेत, तदा मत्पुत्रमारणार्थं प्रवृत्तस्य कंसस्य मत्पुत्रान्मरणरूपो विपर्ययः किं न स्यात्, स्यादेव, यदि कंसस्तप आदिना तावता कालेन निवारितमरणभयः स्यात्तथापि बालादपि मत्पुत्रात्प्रौढस्य कंसस्य मृत्युः स्यादेव, बालादपि सिंहाद्गम्भीरवेदिनः करिण इव, आकाशगिरः सत्यत्वादिति ॥ ५१ ॥ मृत्यवे मारणाय पुत्रार्पणप्रतिज्ञा दुष्यतीति चेन्न दुष्यति, न हि मत्पुत्रमृत्युर्मत्प्रतिज्ञापरतन्त्रस्तस्य कर्माधीनत्वेन पुरुषाधीनत्वाभावादित्येतत् सदृष्टान्तमध्यवस्यति। अग्नेरिति। यथा अग्नेः, दारुवियोगयोगयोः काष्ठात् सकाशाद्विलम्बशीघ्रोत्पत्त्योः, निमित्तं कारणं, अदृष्टतः यजमानादृष्टात्, अन्यत् न अस्ति। अत्र योगवियोगशब्दाभ्यां शीघ्रविलम्बोत्पत्ती विवक्षिते, दारुशब्देनारणिश्च। एवं, जन्तोर्जीवस्य अपि, शरीरसंयोगवियोगयोः हेतुः, अदृष्टतः, कर्मणः, अन्यः दुर्विभाव्यः दुराकलनीयः हि। अतः, मत्प्रतिज्ञामात्रं तन्मरणे न हेतुः, किं तु तेषां कर्मैवेति भावः यद्वाऽस्येत्थं भावः। वने वृक्षान् प्रदहन्नग्निः संनिहितान् परित्यज्य कदाचित् दूरस्थानपि दहति, ग्रामे गृहान् वा प्रदहन्, सः समीपस्थगृहान् परित्यज्य, ततो दूरस्थानपि दहति, न ह्यस्यैवंविधत्वे प्राण्यदृष्टव्यतिरेकेण किंचिन्नियामकमस्ति एवं जन्तोर्जन्ममरणयोरपि हेतुर्दुःखेनापि चिन्तितुं न शक्य इति ॥ ५२ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दम क्षमा)

इसलिये इस मृत्युरूप कंसको अपने पुत्र दे देनेकी प्रतिज्ञा करके मैं इस दीन देवकीको बचा लूँ। यदि मेरे लड़के होंगे और तबतक यह कंस स्वयं नहीं मर जायगा, तब क्या होगा? ॥ ४९ ॥ सम्भव है, उलटा ही हो। मेरा लड़का ही इसे मार डाले। क्योंकि विधाताके विधानका पार पाना बहुत कठिन है। मृत्यु सामने आकर भी टल जाती है और टली हुई भी लौट आती है ॥ ५० ॥ जिस समय वनमें आग लगती है, उस समय कौन-सी लकड़ी जले और कौन-सी न जले, दूसरी जल जाय और पासकी बची रहे—इन सब बातोंमें अदृष्टके सिवा और कोई कारण नहीं होता। वैसे ही किस प्राणीका कौन-सा शरीर बना रहेगा और किस हेतुसे कौन-सा शरीर नष्ट हो जायगा—इस बातका पता लगा लेना बहुत ही कठिन है' ॥ ५१ ॥ अपनी बुद्धिके अनुसार ऐसा निश्चय करके वसुदेवजीने बहुत सम्मानके साथ पापी कंसकी बड़ी प्रशंसा की ॥ ५२ ॥

[1]प्रसार्य वदनाम्भोजं नृशंसं निरपत्रपम्। मनसा दूयमानेन [2]प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

श्रीवसुदेव [3]उवाच

न [4]चास्यास्ते भयं सौम्य [5]यद्वि त्वाऽऽहाशरीरवाक्। पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥ ५४ ॥[6]

श्रीशुक उवाच

[7]सुहृद्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित्। वसुदेवोपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम् ॥ ५५ ॥

अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता। पुत्रान् [8]प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥ ५६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—वदनाम्भोजं प्रसार्य दूयमानेन मनसा प्रहसन् निरपत्रपं नृशंसं इदं अब्रवीत् ॥ ५३ ॥ सौम्य यद् हि अशरीरवाक् तु आह अस्याः भयं च ते न अस्याः पुत्रान् समर्पयिष्ये ते यतः भयं उत्थितम् ॥ ५४ ॥ तद् वाक्यसारवित् कंसः सुहृद्वधात् निववृते वसुदेवः अपि प्रीतः तं प्रशस्य गृहं प्रविशत् ॥ ५५ ॥ अथ च काले उपावृत्ते सर्वदेवता देवकी अनुवत्सरं अष्टौ पुत्रान् प्रसुषुवे एव च कन्यां प्रसुषुवे ॥ ५६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तस्य विश्वासाय विकसितमुखांभोजः प्रहसन्नब्रवीत् ॥ ५३ ॥ यत् यथा अशरीरिणी वागाह तथा हि निश्चितम्। अस्याः सकाशात्ते भयं नास्ति। यतो येभ्यः पुत्रेभ्यस्ते भयमुत्थितम्। अष्टमो हंतेत्युक्तेरन्योन्यापेक्षया सर्वेऽप्यष्टमा भवेयुरिति सर्वानपि तानस्याः पुत्रान्समर्पयिष्ये ॥ ५४ ॥ तद्वाक्ये सारः उपपत्तिः तद्वित् निववृते निवृत्तः ॥ ५५ ॥ प्रसूतिकाले उपावृत्ते प्राप्ते सर्वः सर्वात्मा भगवानेव देवता यस्याः सा तथा। सर्वदेवतामयीति वा भगवदाश्रयत्वात् ॥ ५६–५७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यतो येषां पुत्राणां ते तव सकाशाद्भयं मृत्युरूपमागतं तानस्याः पुत्रान्समर्पयिष्ये श्रीकृष्णस्य तद्भयाभावात्तदसमर्पणेऽपि न वसुदेवस्य मिथ्यावादित्वं स्यादिति वास्तवोर्थः प्रतीयते। यद्वा—श्रीकृष्णस्य न कस्यापि पुत्रत्वमस्ति "न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। यथाश्रुतेऽपि न दोषः। 'भगवान्देवकीसुतः' इत्युक्तिस्तु देवक्यां सुतवदाविर्भूतत्वादाविर्भावपरा। आविर्भावमेवाग्रे वक्ष्यति—"आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशींदुरिव पुष्कलः" इति ॥५४॥ तद्वाक्ये वसुदेववाक्ये ॥५५॥ न हि तस्या एव भगवान्देवता तस्य सर्वेषां दैवतत्वादित्यरुच्याह—सर्वदेवमयीति। 'सर्वदेवमयो हरिः' इत्युक्तेः सर्वदेवस्वरूपहरेस्तदंतर्निविष्टत्वात्। कन्यां सुभद्राम्। अनुवत्सरं वत्सरेवत्सरे एकैकम्। अष्टसु वर्षेष्वित्यर्थः। प्रतिवर्षमिनि वीप्सा तु न व्याख्येया एकैकस्मिन्वर्षेऽष्टपुत्रोत्पत्तिप्रसक्तेः। पुत्रसमसंख्यकन्योत्पत्तिप्रसक्तेश्च। ननु वसुदेवेनैतादृशपुत्रनाशदुःखेन गार्हस्थ्यं किन्नत्यक्तमिति चेत्तत्रेदं बोध्यम्। हरिर्मदात्मजो भावी तन्मुखदर्शनं मम भविष्यतीत्याशया न तत्याज किञ्चाष्टमपुत्रोत्पत्तिसमयो झटिति भवत्वित्यौत्कंठ्येनैव प्रतिवर्षमेकैको गर्भ आधीयते स्मेति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततश्च क्रूरं निर्दयमपि तं पुनरब्रवीत् इदमब्रवीदिति पाठः क्वचित् प्रत्यग्रवदनाम्भोजः सद्यो विकसितपद्मवत् प्रसादितमुखः सन् प्रहसन् प्रसार्य वदनाम्भोजमिति पाठः स्पष्टः एवं विश्वासाय तं प्रत्यात्मनोऽन्तःप्रसादो बोधितः वस्तुतस्तु दूयमानेन मनसा विशिष्टः ॥ ५३ ॥ हे सौम्य! हे शान्तप्रकृते! अन्तः प्रसादबोधनार्थमेव पूर्ववदत्र श्लेषार्थोऽपि न स्पष्टः। यद्वा अत्रापि भयजन्मना सौम्यत्वेन च वीरस्वभावात्यय एव दर्शितः पुत्रानिति छलेनाकारप्रश्लेषात् येभ्यः तवाभयमुत्थितं येभ्यो भयं नास्तीति विचारसिद्धान्तानेव समर्पयिष्ये न तु यस्माद्भयमुत्थितमिति यद्वा यतो यानतिक्रम्य कस्माच्चित्तव भयमुत्थितं भविष्यति तानेव समर्पयिष्यामि ननु भयदानेन प्रवृत्तं तमित्यर्थः "नह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद्वि साऽऽहाशरीरवाक्। पुत्रान्समर्पयिष्ये ऽस्या यतस्ते भयमागतम्" इति

---

१. प्रसन्नवदनाम्भोजो-श्रीधर. वंशी. शुक. ; प्रहृष्टवदनाम्भोजो–वीर. ; प्रत्यग्रवदनाम्भोजो–विज. विश्व. । २. विहस–श्रीधर. वंशी. ; प्रहसन्पुन–वीर. प्रहसन्निद–विज. जीव. । ३. अन्यत्र 'वसुदेव उवाच' पाठो दृश्यते । ४. ह्यस्यास्ते–श्रीधरादयः । ५. यद् वागाहाशरीरिणी–श्रीधर ; यद्वैन्त्वाहाशरीरवाक्–वीर. विज. ; यद्धि साहाशरीरिणी–इति पाठः ; यद्धिसाऽऽहाशरीरवाक्–जीव. । ६. प्रथमोऽध्यायः-विज । ७ स्वसुर्व–श्रीधरादयः ; सुहृद्वधा–जीव. वीर. विज. । ८. पुत्रान्सा सुषुवे–वीर. ।

पाठः क्वचित्, उत्थितमित्यत्रागतमिति क्वचित् ॥ ५४ ॥ सुहृदस्तद्विशेषस्य भगिन्या वधात् सुहृच्छब्दप्रयोगश्च मय्यस्याः सौहृद्यमप्यस्तीति वधनिवृत्तिहेतुं तद्भावनाविशेषमपि सूचयति—किञ्च तद्वधान्निवृत्त्या सुहृदामन्येषामपि वधान्निवृत्त इति सूचयति—देवकादिभिः सह युद्धापत्त्या तेषां वधसम्भवात् स्वसुरिति क्वचित्पाठः तद्वाक्येति तैर्व्याख्यातं तत्रोपपत्तियुक्ततेत्यर्थः । सारशब्दो हि बलवाची बलं च वचनस्य युक्ततेति यद्वा सारं सारत्वम् अव्यभिचारित्वमित्यर्थः । श्रीदेवक्याः वधान्निवृत्त इतीयन्मात्रेणापि प्रीत इति श्रीवसुदेवस्य महामहत्त्वव्यञ्जकं प्रशस्य परमो बुद्धिमान् सारग्राही कृपाशीलोऽसीत्येवं स्तुत्वा प्रकर्षेण गीतवाद्यादिना विशत् इदमपि तद्विश्वासजननार्थमेव ॥ ५५ ॥ अथेति माङ्गल्ये काले उपावृत्ते कतिपयकाले गते सतीत्यर्थः । "पुरैव वसुदेवो भूद्विहायाभ्यागतां जराम्" इत्यादि श्रीविष्णुपुराणोक्तेः । "वृद्धौ तवाद्यपितरौ" इत्यादि श्रीहरिवंशेष्यक्ररोक्तेरनुसारेण प्रायो वार्द्धक्याग्तिके श्रीभगवदाविर्भावात् सर्वेषां देवतानामपि देवतेति महाभगवच्छक्तित्वात् तथा च श्रीविष्णुपुराणे "त्वं परा प्रकृतिः सूक्ष्मा" इत्यादिबहुतरं सर्वदेवकृतस्तोत्रम् अयं भावः वसुदेवशब्देन तावद्भगवत्प्रकाशहेतुः शुद्धसत्त्वमुच्यते यथोक्तं चतुर्थे श्रीशिवेन—

> सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम् यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
> सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते' ॥

इति तद्रूप एवाऽयं श्रीमानानकदुन्दुभिः यथोक्तं नवमे "वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्" इति अतः श्रीदेवक्यपि तत्सम्पत्तिरूपैवेति कन्यां सुभद्राम् अनुवत्सरमेव प्रत्यब्दमेकैकश इत्यर्थः । तच्च सत्वरं श्रीभगवदवतारार्थम् ॥ ५६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं दर्शयितुं पूजोपयुक्तं वाक्यमाहेत्याह—हृष्टेति । अन्तर्भावितण्यर्थः प्रहृष्टः प्रहृष्टं विकसितं बलाद्वदनाम्बुजं येन तथाभूतः वसुदेवः दूयमानेन उपतप्तेन मनसा प्रहसन् बहिर्हसन् निर्लज्जं कंसं प्रतीदं वक्ष्यमाणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५३ ॥ तदेवाह—नेति । हे सौम्य ! तवास्याः स्त्रियाः सकाशाद्भयं मृत्युभयं नास्ति हि किन्त्वस्याः पुत्रादिति भावः । यत् येभ्योऽन्याः पुत्रेभ्यः ते तव भयमशरीरिणी वागाह यतो येभ्यश्च ते भयमुत्थितं समुपस्थितं तान् पुत्रानहं तुभ्यं समर्पयिष्ये दास्यामीति त्वं तु तान् जहि मा वा न तु तत्र मेऽपराध इति भावः ॥ ५४ ॥ ततस्तस्य वसुदेवस्य वाक्यसारविद्वाक्याभिप्रायं जानन् कंसः सुहृदो भगिन्या वधान्निववृते न्यवर्तत ततो वसुदेवोऽपि प्रीतस्तं कंसं प्रशस्य स्वगृहं प्राविशत् ॥ ५५ ॥ अथ काले गर्भधारणयोग्यकाले उपावृत्ते समुपस्थिते सति सर्वदेवताप्राया देवतांशत्वात्तत्तुल्या देवकी प्रतिवत्सरम् अष्टौ पुत्रान् एकां कन्यां च सुषुवे ॥ ५६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रत्यग्रं सद्यस्कं नूतनं वदनाम्बुजं यस्य स तथा "प्रत्यग्रमुक्तं सद्यस्कम्" इति हलायुधः । दूयमानेन मनसेति अन्तस्तापं च सूचयति-प्रहसन्निति बहिः प्रसादम् इदं महतां लक्षणम् ॥ ५३ ॥ यावद्बोधेनाप्युक्तसंवादं विज्ञाय यथा संवादीस्यात्तथा प्रत्येतुं वक्ति-न ह्यस्या इति । यतो देवक्याः ॥ ५४ ॥ अत्र कंसचरितकथनव्याजेन संसारस्यानर्थरूपत्वं वर्णयति शुकः-सुहृत्सहोदरीभार्यावधोपरमात् प्रीतः कंसं प्रशस्य ॥ ५५ ॥ सर्वा देवता यस्यां सन्निहिताः सा तथा अनुवत्सरं प्रतिवत्सरम् ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यतो येभ्यस्त्वभयमुत्थितं तान् न तु यस्याद्भयमुत्थितं तम् इति गूढोऽभिप्रायः ॥ ५४ ॥ वाक्यस्य सारः स्थिरता तद्वित् ॥ ५५–६२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वान्तः प्रसादज्ञापनार्थं प्रत्यग्रं स्निग्धीकृतं वदनाम्भोजं येन सः दूयमानेन सन्तापपीड्यमानेन मनसा युक्तः ॥ ५३ ॥ अस्याः सकाशात्ते भयं नास्ति किन्त्वस्या अष्टमात् पुत्रात् यद्यथा अहन्तु पुत्रानष्टावेव समर्पयिष्ये यतः पुत्रात्ते भयमुत्थितं स वा वध्यतामष्टावेव पा वध्यन्तामिति भावः ॥ ५४ ॥ वाक्यस्य सारः सत्यत्वं वसुदेवो मिथ्या न ब्रूते इति सर्वथा जानातीत्यर्थः । तवेदं धर्मशीलत्वं भुवि प्र टीभूतमिति प्रशस्य ॥५५॥ सर्वेषां देवादीनामपि देवता भगवन्मातृत्वात् पूज्यां कन्यां सुभद्राम् अनुवत्सरमष्टसु वत्सरेष्वित्यर्थ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । कन्याञ्च काले प्रतिवर्षमिति वीप्सा तु न व्याख्येया एकैकस्मिन् वर्ष एवाष्टपुत्रोत्पत्तिप्रसक्तेः । अत्र कारणमग्रे व्याख्यास्यते ॥ ५६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

स्वभावात् ज्ञानातिशयाच्च प्रसन्नवदनाम्भोजः दौरात्म्यं ज्ञात्वा प्रहसन् अहो खलानां दौरात्म्यमित्येवमुपहसन् किं भविष्यतीति मनसा दूयमानेन नृशंसं निष्ठुरं निरपत्रपं निर्लज्जं पूज्यात् पूजाग्रहकमिदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥ यद्यप्यष्टमादेकस्मात्तव मृत्युविहितो नान्येभ्यस्तथापीतरेतरसङ्कलनया सर्वेभ्यष्टमाश्चेत्तर्हि पुत्रान् समर्पयिष्ये यतो येभ्यः ॥ ५४ ॥ निववृते निवृत्तः

तस्य श्रीवसुदेवस्य वाक्ये यो सारः सत्यता तद्वित् ॥ ५५ ॥ सर्वस्य विष्णोर्मातृरूपा सर्वो विष्णुर्यो वास्यरूपा देवता यस्याः सा काले प्रसवकाले उपावृत्ते तत्तज्जन्मनिमित्ततया प्राप्ते अनुवत्सरं प्रतिसंवत्सरमेकैकक्रमेण अष्टौ पुत्रान् प्रसुषुवे कन्यां च ॥ ६ ॥

श्रीसुबोधिनी

पूजयित्वा विज्ञापनां कृतवानित्याह **प्रसार्येति**। स्वस्य **वदनाम्भोजं प्रसार्य** विकसितं कृत्वात्मानमप्रतारकं हितं च ज्ञापयित्वाधिष्ठानस्य दुष्टत्वादारोपिता **देवता** तत्र स्थास्यति न वेति सन्देहाद् **दूयमानेन मनसा** दुःखाविष्टेनान्तःकरणेनोपलक्षितोपि तदाकारसङ्गोपनार्थं **प्रहसन्नेतावत्यर्थे** किमेतावत् क्रियत इति वदन्नेवेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। अधिष्ठाने दूषणद्वयं येन देवता न सन्निहिता भवति। क्रौर्यलज्जाभावौ क्रोधकामनिदानभूतौ। तावाह **नृशंसं** निरपत्रमिति। कामसेवका एव निरपत्रपा भवन्ति। 'पृष्ठस्वीकृतहृह्भया' इतिवाक्यात्। **नृशंसः** क्रूरात्मा तामसक्रोधयुक्तः ॥ ५३ ॥ आत्मीयतया तं गृहीत्वा हितमिवाह **न चास्यास्य** इति। **अस्याःसकाशात् ते भयं** न चास्ति चकारान्मत्तो भविष्यति वा। वाणीप्रामाण्यादेव। अतो निरपराधवधो न कर्तव्यः। **सौम्येतिसम्बोधनं** सौम्यो भव विज्ञापितं कुर्विति बोधनार्थम्। अत्रार्थे प्रमाणमाह **यद्धि त्वाहेति**। एतदुभयत्रापि प्रमाणम्। अतोस्याः **पुत्रान् तुभ्यं समर्पयिष्ये**। यतः पुत्राद्वाक्यतस्ते **भयं** सम्यगुपस्थितम्। निवेदिते त्वदीयस्त्वां न मारयिष्यति। कापट्य-शङ्काभावाय बहुवचनम् ॥ ५४ ॥ एवं दृष्टादृष्टोपायस्य कृतत्वादङ्गीकृतवानित्याह **सुहृद्वधादिति**। विवेक उत्पन्ने विचारप्रवणं चित्तं जातमतः सुहृदियं भगिनी किमिति हन्तव्येति **सुहृद्वधान्निववृते**। वसुदेवः प्रतारयतीति तु शङ्का नास्ति यतस्तद्वाक्यस्य **सारं** सत्यमयं जानाति **वसुदेवो** न कदाचिदप्यनृतवादीति। अत एव भगवदवतारः। निवृत्तः रथं प्रेरयित्वा गृहे नीतावित्यध्यवसीयते। अत एव वसुदेवोपि तन्मनोगतकालुष्यस्य गतत्वात् **प्रीतः सन् प्रशस्य** पुनः स्तुत्वा मागंस्यातीतत्वाद् **गृहं प्राविशत्**। एवमनर्थ-समाधानं कथञ्चित् कृतम् ॥ ५५ ॥ एतद्भगवतैव कृतमिति **वक्तुमग्रिमं** कार्यं समीचीनमेव जातमित्याह **षड्भिरथेति**। **अथ** तदनन्तरमेव शीघ्रमेव। **काल** ऋतुसमये। **उपावृत्ते** जातेष्टवर्षमध्ये सर्वानेव **पुत्रान् सुषुवे**। कन्यायामासक्तिर्जातेति **कन्याञ्च**। **अनुवत्सरमिति**। प्रतिवत्सरमेकैकः पुत्रो जातः। पूर्णगर्भाश्च ते। एवं निरुपद्रवतया प्रसवे हेतुः **सर्वदेवतेति**। **सर्वदेवता रक्षणार्थं** यत्र। **कन्या** नवमी। चकारस्तज्ज्ञापकः। प्रसवे न कोपि संवत्सरो व्यवहित इत्युपसर्गः ॥ ५६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

न चास्यास्ता इत्यत्र—**सम्यगुत्थितमिति**। अत्र **सम्यगिति** कंसाशयकथनमात्रं न तु **मूलस्थपदस्यार्थः** ॥५४॥ **अथेत्यत्र**—**आसक्तिर्जातेति** प्रथमचकारार्थः। **नवमीति** द्वितीयचकारार्थः। **तज्ज्ञापकः** सुभद्राज्ञापक इति प्रतिभाति ॥ ५६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

प्रसार्येत्यत्र—उपलक्षितोपीति। 'लक्ष दर्शनाङ्कनयो' स्तादृशान्तःकरणेनाङ्कितस्तत्सहित इत्यर्थः सहार्थे तृतीया ॥ **५३** ॥ **न चास्या** इत्यत्र —अत्र वसुदेववाचकपदाभावात्तत्समुच्चयो न सम्भवतीति चकारस्यार्थान्तरमाहुर्**भविष्यति** वेति। अधुना नास्त्यग्रेपि न भविष्यतीत्यर्थः। यस्मात्पुत्राद्भयं तस्याष्टमस्य समर्पणाभावाद्यत इत्यस्यार्थान्तरमाहुर्**वाक्यत** इति ॥ ५४ ॥ अथेत्यस्याभासे – षट्-सङ्ख्यायास्तात्पर्यमाहुर्**भगवतैवेति**। वसुदेवेवतीर्णेन **वासुदेवेनेत्यर्थः** ॥ ५६ ॥

श्रीबुभुत्सुबोधिका

प्रसार्येत्यत्र दुष्टत्वादिति नृशंसत्वनिरपत्रपत्वाभ्यां दुष्टत्वात्। संदेहात् दूयमानेनेति न तु भयात् दूयमानेन, **'गतभीः प्रभावधि'**दिति वाक्यात्। वदन्निवेति 'हासो जनोन्मादकरी च माये'ति वाक्यादुन्मादशब्दं कुर्वन्निव। हासान्तर्गतः शब्दः। क्रोध-कामेति क्रोधकामाभ्यां निधानं ययोस्तौ क्रोधकामनिधानौ। तथाभूतौ। कामसेवका इति कामसेवानन्तरं निरपत्रपत्वम्। 'लज्जा सापत्रपान्यत' इत्यमरः। क्रूरात्मेति तामसक्रोधयुक्तत्वनंतरं क्रूरात्मत्वम्। आर्थक्रमः। नृशंसपदसूचितं क्रोधविशेषणं तामसेति।॥५३॥ न चास्यास्ते इत्यत्र भविष्यति वेति द्वितीया कोटिः। मत्तोस्ति भविष्यति वेति द्वितीया कोटिः। सौम्यो भवेति **'सौम्ये'** त्वस्य दिग्विजयिनि पापे चानन्वयाद्भवेत्यध्याहृत्य वाक्यान्तरं न बाधकम्। सम्बोधनार्थमिति सम्बोधनं च सम्यक्बोधः तत्प्रकृत्यर्थं प्रति विशेष्यं, क्रियां प्रति विशेषणमिति मनोरमायां सिद्धान्तः। राम मां पाहीति वाक्यस्य रामसम्बन्धिसम्बोधनविषयो मत्कर्मकं रक्षणमर्थः। एवं प्रकृते सौम्यसम्बन्धिविज्ञापनाविषयः करणमर्थः। एवं च रामसम्बन्धीत्यादौ स्वविषयरक्षणादिकर्तृत्वं सम्बन्धः। स्वं सम्बोधनम्। यद्वैत्वाहेतीति साहेत्यपि पाठः, त्वाहेति पाठः। एतदिति वाक्यम्। उभयत्रेति पुत्रवाक्याभ्यां भययोः। सम्य-गुत्थितमिति सम्यगिति कंसस्याशयकथनमात्रम्, न तु मूलस्थपदस्यार्थः। तथा च न्यूनपूरणं ज्ञेयम्। **'न न्यूनादन्यपूरणमिति** प्रथमस्कन्धसुबोधिनीकारिकायाः, 'लक्षणां नैव वक्ष्यामी'ति च कारिका। निवेदित इति निवेदिते पुत्रे पुत्रस्त्वदीयः। कापट्येति यस्मात् पुत्राद् भयं तस्याष्टमस्य समर्पणाभावात् कापट्यं व्याजः शाठ्यं अनृजत्वमिति यावत्। बहुवचनमिति 'पुत्रानिति बहुवचनम्।॥५४॥सुहृद्वधादित्यत्र दृष्टादृष्टेति सामदानदंडभेदशास्त्रे दृष्टं दानात्मकम्। प्रतारयतीति प्रतारको धूर्तः। न्यूनादन्यपूरयन्ति

स्म निवृत्तो रथमिति। नन्विदमार्थिकं कुतो नेति चेन्न। प्रपञ्चार्थत्वमुभयोरेकतरस्य न्यूनादन्यपूरणस्यार्थिकस्य वेति। प्रपञ्चो दृष्टः। उत्क्षेपणापक्षेपण.कुंचनप्रसारणगमनानीति गमनस्य न्यायशास्त्रे यथा। यद्वा 'जगुः किन्नरगंधर्वो' इत्यत्र नार्थापत्तिप्राप्तिरतो न्यून-पूरणं पृथग्वक्तव्यम्। न हि 'जगुः किन्नरे'त्यत्र पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्त इत्यत्र पीनत्वानुपपत्तिवदनुपपत्तिरस्ति। अतो न्यूनपूरणं किन्नरगंधर्वविशेषणं स्वत एवोल्लसितहृदया इति। अध्यवसीयत इति अन्यथा मार्गेगच्छदित्युक्तं स्यादिति भावः। मार्ग उत्तरदेशं प्राविशदिति गृहस्य कर्मतानुपपत्त्या च। पुनः स्तुत्वेति 'पूजयामास तं शौरि'रिति पूजनस्य स्तवनरूपस्य कृतत्वात्। गृहप्रवेश-कर्त्रैककर्तृकप्रशंसनं दृष्टोपायानंतरं प्रशंसनं पुनःस्तवनम्॥ ५५॥

अथ काल इत्यत्र एवमनर्थेति पूर्वोक्तप्रकारेणानर्थस्य वधार्थं प्रवृत्तेः समाधानं कथञ्चिन् परमार्थोपदेशप्रकारेणासकलं कृतम्। असाकल्यं च क्रोधस्यावशिष्टत्वात्। 'क्रोधस्यान्तं फलोदयात्'। शान्तिरूपं फलं युद्धाकरणान्न जातम्। भगवतैवेति वसुदेवे-वतीर्णेन वासुदेवेनैवेत्यर्थः। मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभव इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधि-करणभाष्ये ब्रह्मज्ञानं ज्ञानिनामिवात्र वसुदेवे विशुद्धसत्त्वं स्वस्वरूपं, तृतीयोत्पन्ने जीवाभाववन्नात्र विशुद्धसत्त्वान्तर्गत आत्मा। परमार्थः तु भगवत्प्रेरणया प्राप्तो न स्वरूपं किन्तु भगवान्, स च वसुदेवे वासुदेव इत्युच्यते, अत एवैवकारः। विशुद्धसत्त्वशरीरं तु ब्रह्माण्ड आगमनेन शरीरत्वेन कार्यकारणभावात्। एवं च विशुद्धसत्त्वानुभवो न तु परमार्थस्य स्वत्वेन। समीचीनमेवेति ननु षड्बालकवधः अग्रे कंसवध इति कथं कार्यं समीचीनमिति चेन्न। षड्बालकवधः स्वस्य भगवत्त्वायान्यथा ब्रह्मत्वं परमात्मत्वं वा स्यात्। वेदे ब्रह्मेति पठ्यते स्मृतौ परमात्मेति पुराणे भगवानित्युपपादितत्वं समीचीनस्येति। किञ्च ब्रह्माण्डे आगमनेन शरीरित्वेन कार्यकारणभावात् षण्णां बालकानां शरीरित्वे सिद्धे शरीरस्यांशाकर्षणे प्रतिबन्धकत्वात् षड्बालकवधः। अध्यायार्थत्वाच्च। कंस-वधस्तु वासुदेवे नित्यक्रीडास्थकलेः प्रतिबन्धकशरीरनाशेनाग्रिमलीलार्थं मुक्तिः, 'भयात् कंस' इति वाक्यात्। 'वासुदेवः परं ब्रह्म एष छन्दसि पठ्यत' इति ज्योतिषोक्तेः। एवं वेदे वासुदेवः वेदान्ते चतुर्व्यूह' इति सङ्कर्षणमुक्तिः। भूभारहरणस्य सङ्कर्षणकार्यत्वात्। वेदवेदान्तसारे श्रीभागवते रूपद्वये मुक्तिरुक्ता। एवकारस्तु नित्यक्रीडानिविष्टानां धर्मकल्पादेरप्यभोष्टत्वात्। षड्भिरिति जाते-ष्वित्युक्तस्य सङ्ख्यातात्पर्यस्य जन्मप्रकरण आवश्यकत्वात् षट्श्लोकतात्पर्यार्थः। वसुदेवप्राणश्लोकैर्यः परमार्थः शुकेनोक्तः स षड्गुण इति। शुकस्य 'सभगवा'नित्यत्र भगवत्साहित्योक्तेरिदानीं शुकोक्तौ वसुदेवोक्त्यैक्यं भवति प्राणश्लोकैकपरमार्थो भगवान् 'अत एव प्राण' इति व्याससूत्रादिति शुभम्। आसक्तिर्जातेति। बृहदारण्यकसमाप्तौ 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरि-यादिति तिलोदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयात् तामीश्वरौ जनयितवा' इति श्रुतेः। 'तां' दुहितरं 'जनयितवै' जनयितुं 'ईश्वरौ'। प्रथमचकारार्थः। अनुक्तसमुच्चये चकारः। प्रोपसर्गार्थमाहुः पूर्णेति। सर्वेति सर्वा देवता यत्रेति विग्रहः सप्ताऽन्नब्राह्मणोक्ताः वाङ्मनः-प्राणाः, 'एवं विमृश्ये' तिश्लोकव्याख्याने उक्ताः, ब्रह्मविद्यात्वाद् वा देवक्या ब्रह्मविष्णुशिवरूपा देवता प्रतिपाद्यत्वेन यत्र। चकार इति द्वितीयचकारः। तज्ज्ञापक इति 'पुत्रान् कन्यां चाष्टौ प्रसुषुवे' इत्यन्वयाभावद्योतकः। अष्टपुत्रप्रतिपादकवाक्यविरोधात्। सुभद्रा-ज्ञापक इति वा प्रतिभाति। इत्युपसर्ग इति इत्यनूपसर्ग इत्यर्थः॥ ५६॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दूयमानेन भयेन कम्पमानेन मनसा युक्तोऽपि तस्य विश्वासाय प्रसन्नवदनाम्भोजः सन् प्रहसन् वसुदेव इदं वक्ष्यमाणं नृशंसं क्रूरं निरपत्रपं निर्लज्जं कंसं प्रत्यवोचदित्यन्वयः। अत्र 'प्रसार्य वदनाम्भोजम्' इति, प्रत्यग्रवदनाम्भोज' इति, 'प्रहृष्टवद-नाम्भोज' इति पाठत्रयमन्यदप्यस्ति॥५३॥ "आकाशवाणीं श्रुत्वा भयेन त्वमिमां हंसि, तत्र यत् यथा अशरीरवाक् त्वाम् आह तथा वै निश्चितम् अस्याः सकाशात् हि शब्दात् मत्तोऽपि ते तव भयं नास्ति। अतः सौम्यो भूत्वा अस्या हननं मा कार्षीः" इत्याशयेन सम्बोधयति—सौम्येति। नन्वेतद्धननेऽग्रे पुत्रोत्पत्तिर्न स्यात्ततो भयनिवृत्तिः स्यादेव, अन्यथा सा कथं स्यात्तत्राह—पुत्रानिति। वागनुसारेण यतो येभ्यः पुत्रेभ्यस्ते भयमुत्थितं तानस्याः पुत्रान् सर्वानेव तुभ्यं समर्पयिष्ये प्रदास्यामि, त्वं तु तान् जहि मा वा। न तु तत्र ममाग्रहः अष्टमो हन्तेत्युक्ते अन्योन्यापेक्षया सर्वेऽप्यष्टमा भवेयुरिति बहुवचनम्। यतस्ते अभयं भयाभाव उत्थितं निश्चितं तानेव समर्पयिष्ये। न तु यस्मादष्टमाद्भयं तमित्यकारप्रश्लेषादष्टमं भगवन्तमददतोऽपि नानृतत्वमिति ज्ञेयम्॥ ५४॥ तस्य वसुदेवस्य वाक्ये यः सारः उपपत्तिः सत्यत्वं च तं वेत्तीति तथाभूतः कंसः स्वसुः भगिन्याः वधान्निववृते निवृत्तो जातः। 'सुहृद्वधात्' इति पाठान्तरम्। ततो मनोरथस्य जातत्वात् प्रीतः सन् वसुदेवोऽपि तं कंसं 'महाविवेकी सारग्राही भवान्' इति प्रशस्य गृहं प्राविशत् स्वगृहमागतः॥ ५५॥ अथानन्तरं काले गर्भधारणप्रसवयोग्यकाले उपावृत्ते समुपस्थिते सति देवकी अनुवत्सरमष्टौ पुत्रान् नवमीं कन्यां च सुभद्राख्यां सुषुवे। भगवन्मातृत्वेन सर्वेषां ब्रह्मादीनामपि देवतावत्पूज्या साऽतस्तस्या भाग्यं किं वक्तव्यमित्याशयेन देवकीं विशिनष्टि—सर्वदेवतेति॥ ५६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

प्रसन्नेति। दूयमानेन संतप्यमानेन मनसा युक्तोऽपि कंसविश्वासाय प्रसन्नं वदनाम्भोजं यस्य विहसन्निव च सः नृशंसं क्रूरं निरपत्रपं निर्लज्जं कंसम् इदमब्रवीत्। पुनरब्रवीदित्यपि पाठः॥ ५३॥ न हीति। हे सौम्य! यद्यथा अशरीरिणी वागाह

तथा हि निश्चितम् अस्याः सकाशात्ते भयं नास्ति अष्टमगर्भादेव मरणोक्तेः । तत्र यद्यपि अष्टमादेव मरणमुक्तं तथापि अष्टमो हन्ता इत्युक्तेऽन्योन्यापेक्षया सर्वेऽप्यष्टमा भवेयुरिति तव शङ्का चेदतः येभ्यः पुत्रेभ्यः ते तव भयमुत्थितं तानन्यानपि अस्या उद्भूतान् पुत्रान्सर्पयिष्ये । वस्तुतोऽकारप्रश्लेषात् येभ्यस्तवाभयं तानेवार्पयिष्ये इति नानृतोक्तिदोषः । प्राणसंकटेऽनृतोक्तेरपि निषेधाभावाच्च ॥ ५४ ॥ स्वसुरिति । तस्य वसुदेवस्य वाक्ये सारः सत्यत्वं तद्विद्वसुदेवो मिथ्या न वदतीति जानन् कंसः स्वसुर्वधात् निववृते निवृत्तोऽभूत् । वधनिवृत्त्या प्रीतो वसुदेवोऽपि तं कंसं प्रशस्य गृहं प्राविशत् ॥ ५५ ॥ अथेति । अथ कतिपये काले उपावृत्ते गते सति विष्णुपुराणे वसुदेवस्य वार्द्धक्ये भगवदवतारोक्तेः सर्वेषां देवादीनामपि देवता पूज्या देवकी वसुदेवस्य विशुद्धसत्त्वरूपत्वेन देवक्यास्तत्सम्पत्तिरूपत्वात् । अनुवत्सरम् अष्टसु वत्सरेषु विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अष्टौ पुत्रान् कन्यां सुभद्रां च प्रसुषुवे ॥५६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति । एवं, यावदात्मनिदर्शनं यावद्बुद्धिप्रसरं, स्वप्रज्ञाप्रसरावधीत्यर्थः । विमृश्य निश्चित्य, विचार्येति यावत् । शौरिर्वसुदेवः, पापं पापयुक्तं, तं कंसं, बहुमानपुरःसरं बहुमानप्रदानपूर्वकम्, पूजयामास स्वेन विमृष्टमर्थं तन्संमतीचकार वै।।५३।। प्रहृष्टेति । प्रहृष्टं वलात् विकासितं वदनाम्भोजं येन सः, अन्तर्भाविण्यर्थोऽत्र हृषिः । एवंभूतः वसुदेवः, दूयमानेन परितप्तेन, मनसा सहितः सन्नपीति शेषः । विहसन् बहिर्हासमाचरन्, निरपत्रपं निर्लज्जं, नृशंसं क्रूरं, कंसं प्रतीति शेषः । इदं वक्ष्यमाणं वाक्यम्, अब्रवीत् ॥ ५४ ॥ तदेवाह । नेति । हे सौम्य, ते तव, अस्याः स्त्रियः सकाशात्, भयं मरणभयं न च, नैवास्तीत्यर्थः । किं त्वस्याः पुत्रात्तत्त्वास्तीति भावः । यद्येभ्योऽस्याः पुत्रेभ्यः, ते तव, भयम् अशरीरिणी वाक्, आह । तत्सत्यतासमीक्षयेति शेषः । यतो येभ्यः, ते भयं समुत्थितं, तान् अस्याः पुत्रान्, समर्पयिष्ये तुभ्यं दास्यामि । 'यद्धि साहाऽशरीरवाक' इति पाठे, हे सौम्य, यत् हि सा, अशरीरवाक् आह, तत् भयम्, अस्याः सकाशात्, ते तव, न च अस्ति । यतो येभ्यः, अस्याः पुत्रेभ्यः, इति शेषः । ते तव, भयं समुत्थितम् अष्टमो हन्तेत्युक्तेऽन्योऽन्यापेक्षया सर्वेऽप्यष्टमा भवेयुरित्युद्भूतमुद्भूतं पुत्रं, ते समर्पयिष्ये । क्वचित्तु यद्वै त्वाहाशरीरवागित्यपि पाठः ॥ ५५ ॥ सुहृदिति । ततः, तद्वाक्यसारवित् वसुदेववाक्याभिप्रायं जानन् कंसः, सुहृद्भगिनीहननात्, निववृते संन्यवर्त्तत । ततः, वसुदेवः अपि, प्रीतः सन्, तं कंसं, प्रशस्य, गृहं स्वभवनं, प्राविशत् ॥ ५६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

स्वसुर्वधादिति : १०–१–५५

नैतत्कदाचिदपि संभवतीति मत्वा कार्ये न जातु विदुषैवमुदासितव्यम् ।
यत्ने कृते सति हरेः कृपया सुसिद्ध्यत्येतत्स्फुटं सुफलके वसुदेवकृत्ये ॥ ४१ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

परीक्षित् ! कंस बड़ा क्रूर और निर्लज्ज था; अतः ऐसा करते समय वसुदेवजीके मनमें बड़ी पीड़ा भी हो रही थी। फिर भी उन्होंने ऊपरसे अपने मुख कमलको प्रफुल्लित करके हँसते हुए कहा—॥ ५३ ॥ **वसुदेवजीने कहा**—सौम्य ! आपको देवकीसे तो कोई भय है नहीं, जैसा कि आकाशवाणीने कहा है। भय है पुत्रोंसे, सो इसके पुत्र में आपको लाकर सौंप दूँगा ॥ ५४ ॥ **श्रीशुकदेवजी कहते हैं**—परीक्षित् ! कंस जानता था कि वसुदेवजीके वचन झूठे नहीं होते और इन्होंने जो कुछ कहा है, वह युक्ति-संगत भी है। इसलिये उसने अपनी बहिन देवकीको मारनेका विचार छोड़ दिया। इससे वसुदेवजी बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करके अपने घर चले आये ॥ ५५ ॥ देवकी बड़ी सती साध्वी थी। सारे देवता उसके शरीरमें निवास करते थे। समय आनेपर देवकीके गर्भसे प्रतिवर्ष एक-एक करके आठ पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई ॥ ५६ ॥

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसा[1]यानकदुन्दुभिः । अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥ ५७ ॥
किं दुःसहं तु[2] साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् । किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं [3]धृतात्मनाम् ॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम् । कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥
[4]प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् । अष्टमाद् [5]युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ॥ ६० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अनृतात् अतिविह्वलः सः आनकदुन्दुभिः प्रथमजं कीर्तिमन्तं कंसाय अर्पयामास ॥ ५७ ॥ साधूनां तु किं दुःसहं विदुषां किं अपेक्षितं कदर्याणां किं अकार्यं धृतात्मनां किं दुरस्त्यजम् ॥ ५८ ॥ राजन् शौरेः तत् समत्वं दृष्ट्वा च सत्ये एव व्यवस्थितिं दृष्ट्वा तुष्टमनाः कंसः प्रहसन् इदं अब्रवीत् ॥ ५९ ॥ अयं कुमारः प्रतियातु अस्मात् मे न हि भयं अस्ति युवयोः अष्टमाद् गर्भात् मे मृत्युः किल विहितः ॥ ६० ॥

---

१. पुत्रमा–विज, । २. तु–श्रीधर, तंशी. । ३. किमतात्मनां–विज. । ४. यातीयुमस्तु–इति कस्यचित् । ५. योः पुत्रान्मृ–वीर. विज ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

मृत्यवे पुत्रं कथमर्पितवानित्यपेक्षायामाह–किं दुःसहमिति। साधूनां सत्यसंधानाम्। पुत्रलालनसुखापेक्षा कथं त्यक्तेत्यत आह—विदुषामिति। भगवानेव तत्त्वं नान्यदिति जानतामित्यर्थः। ननु स्वयं सति कंसो बालं न हन्यादिति मत्वा नीतवानिति किं न स्यादिति नेत्याह—किमकार्यमिति। ननु देवकी कथं पुत्रं तत्याजेत्यत आह—दुस्त्यजमिति। चित्त धृत आत्मा हरियैस्तेषाम्॥ ५८-६१॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

"द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्" इति श्रुतेरजातेऽपि नामकरणे कीर्त्तिमदित्यादीनि तेषां भावीनि कल्पांतरीयाणि वा श्रीयोगिराजशुकदेवेनोक्तानीत्यदोषः। यद्वा—नामकर्मोत्तरं कंसाय ददावित्यर्थः। अतिविह्वलः अतिविक्लवः 'विक्लवो विह्वलः स्यात्तु' इत्यमरः। "वाचा विचलितं येन सुकृतं तेन हारितम्" इति स्मरणात्। "यदुक्ता विनिवर्तेत न तदास्यं गुदं हि तत्। क्लेशै स्त्यनुगः स्त्री स्याच्चटकेरोन भाषितम्" इत्यभियुक्तोक्तेश्च॥ ५७॥ मारणाय पुत्रार्पणम्। "प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते" इति वक्ष्यमाणत्वादत्यसह्यमित्याशयेनाह - मृत्यवे कंसाय। "साधू रम्ये सज्जने च पुंसि सत्यपरे हरौ" इति धरणिदेवः। सत्यसंधानां सत्यप्रतिज्ञानाम् 'संधा संधिप्रतिज्ञयोः' इति धरणिः। तत्त्वं सत्यम्। अकार्यम् अकर्त्तव्यम्। कदर्याणां कुसंगिनां दरिद्राणां वा॥५८॥ शौरेर्वसुदेवस्य तत्पुत्रार्पणरूपं समत्वं द्वन्द्वसहिष्णुत्वं पुत्रे ममत्वाभावात्। इदं वक्ष्यमाणम्॥५९॥ प्रतियातु स्वगृहमिति शेषः॥६०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कीर्तिमन्तमिति। मरीचित उत्पन्नत्वेन प्राक्तनतृतीयजन्मनि तेषामेतदादीनि नामानि स्मरादीनि चेति षड्गर्भानयने स्वामिभिर्व्याख्यास्यते। यद्वा यदा ते सुतलत आनीतास्तदा श्रीकृष्णेनैव कीर्तिमदादिनामानि कृत्वा वैकुण्ठं प्रस्थापिता इति ज्ञेयम्। नवमे चात्र च श्रीवसुदेवपुत्रत्वावस्थायामेव तथाऽनुवादात् सः कृतप्रतिज्ञः अतिविह्वलः परमभीतः॥ ५७॥ ननु वितर्के किन्दुःसहम्? अपि तु सर्वमेवानायासेन सह्यमित्यर्थः। एवमग्रेपि अन्यत्तैः तत्र सत्यसन्धानामिति प्रस्तुतोपयोगित्वात्तदीयधर्मविशेष एव निर्दिश्यते न तु तन्मात्रत्वेन साधुत्वमिति लालनेच्छा तु सुतरामेव नास्तीत्यभिप्रायेणावतारयति पुत्रलालनेति, विदुषां किमपेक्षितमित्यनेन दुस्त्यजमित्यादेः पौनरुक्त्यमाशङ्क्यावतारयति–ननु, देवकीति। यद्वा, साधूनां सर्वसहत्वदार्ढ्यार्थं विदुषामित्यादिकं दृष्टान्ततया ज्ञेयम् (१) अत्रापेक्षादुस्त्यजत्वयोरप्राप्तप्राप्तविषयत्वेन भेदः कल्प्यः॥ ५८॥ समत्वं पुत्रार्पणेन शत्रौ मित्रे च तुल्यतां सत्ये प्रतिश्रुत एव व्यवस्थितिं निष्ठां च दृष्ट्वा अस्मान् मम न किञ्चिद्दुःख (२) पमानं भविष्यतीति विभाव्येति भावः। समत्वमिति विद्वत्ताया-धृतात्मतायाश्चानुवादः यो हि विद्वान् धृतात्मा भवति स समो भवतीति अममत्वमिति पाठेऽपि स एवार्थः सत्ये व्यवस्थितिमिति साधुतायाः चतुर्थन्तु कंसगतमेवेति नानुदितं प्रहासः सन्तोषात् हे राजन्! इत्याश्चर्येण सम्बोधनम्॥ ५९॥ युवयोरिति अन्यस्यां जातोऽपि व्यावर्तितः विहितो विधात्रा किलेति आकाशवाण्याः प्रसिद्धिं द्योतयति तयैवाज्ञप्त इति वा॥ ६॥

श्रीमदवीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदा तावत्स्वप्रतिज्ञां पालयन् वसुदेवः प्रथमजम् अग्रजं कीर्तिमन्तं कीर्तिमान् इति नामकं पुत्रं कृच्छ्रेण दुःखेन कंसायार्पयामास तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि अनृतादनृतभाषणादतीव विह्वलः अनृतभाषणरूपपापभयादत्यन्तं विह्वल इत्यर्थः॥ ५७॥ पुत्राऽनुरागं विहाय कथं समर्पयामास? इत्यत्राह किमिति। साधूनां दुस्सहं दुःखेनाऽपि सोढुमशक्यं किमस्ति न किमपि सर्वमपि सुसहमेवेत्यर्थः। पुत्रविपत्तिरपि सुसहैवेति भावः। तथा विदुषां स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानिनां पुंसां किन्तु अपेक्षितं न किमपि शरीरतदनुबन्ध्यादिकमपेक्षितम् नास्तीति भावः। किमुपेक्षितमिति पाठान्तरं तदा विदुषामिति साधूनां विशेषणं कदर्याणाम् उपेक्षितमकार्यं च किमस्तीत्यन्वयः। कदर्यशब्दः क्षुद्रपर्यायः इदं कंसाभिप्रायकं धृतः स्ववशीकृत आत्मा मनो येषां दुस्त्यजं किं देहतदनुबन्ध्यादिकं सर्वं सुत्यजमेवेति भावः॥ ५८॥ दृष्ट्वेति। व्यवस्थितमिति भावे क्तः शौरेर्वसुदेवस्य तत्समत्वं सुखदुःखयोस्साम्यं सत्ये व्यवस्थितं निश्चलत्वं च दृष्ट्वा कंसः तुष्टं मनो यस्य तथाभूतस्सन् हे राजन्! प्रहसन् इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥ ५९॥ तदेवाह–प्रतियात्वित्यादि। अयं तव कुमारः प्रतियातु गृहं प्रतिगच्छतु ममास्मात्कुमारात् भयं मृत्युभय नास्ति हि युवयोरष्टमात्पुत्रादेव हि मम मृत्युर्विहितः किल अशरीरवाचेति शेषः॥ ६०॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नाम्ना कीर्तिमन्तम्॥ ५७॥ स्वात्मनः प्राणनाशेनापि सत्यमेव रक्षन्ति महान्त इत्याशयेनाह—किं दुःसहमिति। कंसोऽसाधुष्वेक इत्याशयेनाह—किमकार्यमिति। कदर्याणाङ्कुत्सितस्वामिनां दरिद्राणां वा वसुदेवः साधुष्वेक इत्याशयेनाह—दुस्त्यजमिति। ऋतात्मनां सत्यस्वभावानाम्॥ ५८-६०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कीर्तिमन्तमिति जन्मदिन एव कृतनामकरणमित्यर्थः ॥ ५७ ॥ नन्वनृताद्बिभेतुतमां नाम स्वसाक्षादेव पुत्रवधः कथं सोढव्यः ? तत्राह—किं दुस्सहमिति । नन्वष्टममेकं पुत्रं स्वभार्याप्राणरक्षार्थं समर्पयतुतमां नाम पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या इति निखिलपुत्रार्पणप्रतिज्ञां तदा कंसस्याज्ञां विनैव कथमकरोत् ? गृहस्थस्य तस्य पुत्रमात्रोपेक्षा न युज्यते तत्राह–विदुषामिति । वसुदेवः खलु कर्मिलोक इव नाविद्वानतो भक्तिज्ञानवैराग्यमहोदधेस्तस्य किं पुत्रैरिति भावः । नन्वेतादृशस्य स्वयमेव वधार्थमानीतपुत्रस्य तस्य कंसः कथं पुत्रं हन्तुमर्हतु ? किमत्राप्यार्द्रचित्तो न भवेत् तत्राह – किमकार्यमिति । ननु, तर्हि सर्वदोषपरिहाराय वसुदेवो गार्हस्थ्यमेव किं न तत्याज तत्राह—दुस्त्यजमिति । तेन तद्गार्हस्थ्यमपि त्यक्तुं शक्यमेव केवलं मत्पुत्रत्वं प्राप्स्यतो हरेर्मुखं कदा द्रक्ष्यामीति मनोरथेन गृहे स्थीयते अत एव धृत आत्मा हरिः पुत्ररूपी यस्तेषां तेनैव हेतुना पुत्रान्तरेष्वपि न स्निह्यते स्म अष्टमपुत्रस्य समयः शीघ्रं भवत्वित्युत्कण्ठयैव प्रतिवर्षमेकैको गर्भ आधीयते स्म बालवधे स्वस्यानुमन्तृत्वलक्षणपापस्वीकारश्चेत्यादि तत्त्वमवधेयम् ॥ ५८ ॥ समत्वं पुत्रेऽपि ममत्वाभावात् सर्वत्र साम्यम् ॥ ५९-६१ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पुत्रमरणादपि श्रीवसुदेवस्यानृतभाषणं दुःसहमिति सूचयति—सोऽनृतादतिविह्वल इति ॥ ५७ ॥ ननु, पुत्रमरणमपि दुःसहमेवेत्यत आह—किं दुःसहमिति ॥ ५८ ॥ भार्यां पुत्रार्पणप्रतिज्ञया रक्षितवान् पुत्रार्पणेन मम रक्षामपि करोतीति शौरेः समत्वम् ॥ ५९-६१ ॥

श्रीसुबोधिनी

यथैतया पुत्रः प्रसूतस्तथा वसुदेवोपि स्वोक्तं कृतवानित्याह **कीर्तिमन्तमिति** । ज्येष्ठो हि पुत्रः सर्वेषामदेयस्तत्रापि महान् । तादृशमपि दत्तवानिति स्वस्य धर्मनिष्ठतां ज्ञापयितु **कीर्तिमन्तं प्रथमजमि**त्युक्तम् । **कंस** इतिनाम्ना क्रौर्यं ज्ञापितम् । **आनकदुन्दुभि**रिति सत्यवाक्यत्वे हेतुः । स्वयं गृहीत्वा**र्पयामास** । **कृच्छ्रेण** कष्टेन शोकं संस्तभ्य । नन्वनृतकथनमप्यधर्मः पुत्रसमर्पणमपि तत्र प्राणसङ्कटेऽनृतं न जुगुप्सितमिति पुत्रमेव कथं न स्थापितवानित्याशङ्क्याह **सोऽनृतादतिविह्वलः । यतोऽयमानकदुन्दुभिः** । अस्य पुत्रापेक्षयापि सत्यमेव संरक्ष्यं भगवत्प्रापकम् । पुत्रास्तु देहसम्बन्धिनःसत्यं तु भगवत्सम्बन्धिनः । तथा सत्यनृते कृते न भगवत्सान्निध्यं भविष्यतीत्यतिविह्वलः ॥५७॥ ननु पुत्रसमर्पणं दृष्टं सत्यमदृष्टं कथं किं दृष्टादृष्टयोर्बाध्यबाधकभाव इति चेत्तत्राह **किं दुस्सहमिति** । पुत्रस्यादाने किं मोहो हेतुर्लौकिकः शास्त्रं वा ? आद्यं दूषयति **साधूनां** शत्रुमित्रोदासीनेषु तुल्यस्वभावानां **किं दुस्सहम्** ? मोहवशादेव पुत्रादिवियोगो दुस्सहस्तदभावे यथा पुत्रस्तथा कंसः । ततश्च कंसघातकः पुत्रो न रक्ष्य इति युक्तं दानम् । अथ 'पुत्रेण जयते लोकान् पुत्रेण वसुतामेति पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत' इति 'त्वं यज्ञ' इत्यादिवाक्यैः पुत्रकृतोपकारोपेक्षित इति चेत्तत्राह **विदुषां** ज्ञानयुक्तानां किं बहिःस्थितापेक्षितमिति ? न साधनं नापि फलम् । ननु तथापि वधार्थं स्वतो बालकमज्ञं समर्पयतीत्ययुक्तमिति चेत्तत्राह **किमकार्यं कदर्याणा**मिति । असमर्पिते वसुदेवमनृतवादिनं ज्ञात्वा कृतसमयबन्धस्य निवृत्तत्वात् सर्वानेव पुत्रान् सर्वा भार्या मां च मारयेदत 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' इतिन्यायेनार्पणमेवोचितम् । न चैतन्न करिष्यतीत्याशङ्कनीयम् । यतः **कदर्याणां** कंसादीनां **किमकार्यम्** ? सर्वोल्लङ्घनेन लब्धाः **कदर्याः** । कुत्सितायां दर्यां हृदयरूपायां सम्भवो येषां स्थितिर्वा । ननु तथापि पलायनमेवोचित्तं न तु निरपराधबालकस्याज्ञस्य मारणमिति चेत्तत्राह **दुस्त्यजं किं धृतात्मनामिति** । **धृत आत्मा** वासुदेवो यैः सर्वं गच्छतु हरिस्तिष्ठत्विति येषां बुद्धिस्तेषामन्यत्सर्वं त्यक्तव्यं भगवद्बाधकम् । असमर्पणं च सर्वनाशकत्वाद्भगवद्बाधकमिति भगवदीयानां त्याज्यवस्तुषु कोपि गुणदोषविचारो नास्तीति पूर्वं प्रतिज्ञातस्य समर्पणं युक्तमेव ॥५८॥ भगवत्कृतत्वान्नानिष्टं जातमित्याह **दृष्ट्वेति** । **शौरे**र्वसुदेवस्य पुत्रे स्वस्मिंश्च तुल्यां **दृष्ट्वा**न्योन्यघातकत्वमुभयोर्ज्ञात्वा स्वस्यौदासीन्येन स्थितिरेव **समता सत्ये** वाक्ये **चैव व्यवस्थितिम**चाञ्चल्यमेवमुभयेनापि **सन्तुष्टः । राजन्नि**तिसम्बोधनं राजधर्मस्तथैवेतिज्ञापनार्थम् । **प्रकर्षेण** हास्यं मुग्धोयमितिज्ञापनार्थम् । इदं वक्ष्यमाण**मब्रवीत्**॥५९॥ अनेन पञ्चवार्षिको नीत इति ज्ञायते । षष्ठश्चोदरस्थः । **प्रतियात्वि**तिवाक्यादन्यथा 'नये' त्येव वदेत् । पुत्रानितिबहुवचनानुरोधेन तावत्कालं स्थापनम् । **प्रतियातु** व्याघुट्य गृहे यातु । अयं ते **कुमारो** न तु मन्मारकः । अमारणे हेतुर्न ह्यस्मादस्ति मे भयमिति । तर्हि **समयबन्धो** गत इति नाशङ्कनीयं यस्माद्युवयोरष्टमगर्भान्मे **मृत्युर्विहित** इति । स समानीय देय इत्यभिप्रायः । अत एव नारदादीनामेतदसम्मतम् । न हि भगवद्भक्तानामन्यनिष्ठाप्युचिता । अतोन्यथाकरणमप्युचितम् । किलेत्याकाशवाणीप्रतिसन्धानम् ॥ ६० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

दृष्ट्वा समत्वमित्यत्र—अनेन पाञ्चवार्षिक इत्यादि । अत्रायं भावः । अग्रे निगडनिग्रहानन्तरमेव 'जातं जातमहन्नि'-तिवक्ष्यमाणत्वात् समर्पणानन्तरं मरणे तन्नोचितिमिति मत्वा नारदेन तथाकथनादेतदनुपदमेव तत्कथनमिति ज्ञायते । तथा च निग्रहे गर्भासम्भव इति । अत एव 'जातञ्जात' मिति 'कालभेदज्ञापक' मित्यग्रे वक्ष्यते । भगवतस्त्वलौकिकी रीतिरिति नानुपपत्तिः ॥५९॥

॥ इति श्रीप्रथमाध्यायटिप्पणी ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

प्रतियात्वित्यत्र—अन्यनिष्ठेति । भगवद्व्यतिरिक्ते सत्ये **निष्ठा** ॥ ६० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कीर्तिमन्तमित्यस्याभासे—यथैतयेति । रक्षार्थं भगवत्कृतासर्वदेवतासान्निध्येनेत्यर्थः। वसुदेवोपि तथैवार्पणं कृतवानत एव दृष्ट्वेत्यस्याभासे 'भगवत्कृतत्वा'दिति वक्ष्यन्ति। व्याख्याने **महानिति**। कीर्तियुक्तत्वान्महत्त्वम्। **प्रतियात्वित्यत्र**—अत एवेति अष्टमगर्भानयनकथनादेवेत्यर्थः। **अन्यनिष्ठेति**। भगवद्रूपाष्टमगर्भदानमङ्गीकृत्य पुत्रान्तरनिष्ठेत्यर्थः। **अन्यथाकरणमिति**। नारदादीनामिति। **कर्तृषष्ठ्यन्तं** शेषः ॥ ६० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

किमकार्यं कदर्याणामित्यस्य व्याख्याने—**कुत्सितायां दर्यामित्यादि**। **कुत्सिता दरी** दुष्टं हृदयं तत्र सम्भवो येषां ते 'हृदयादभिजायत' इति श्रुतेः प्राणिनां पितृहृदयादुत्पत्तिस्तत्र पितृहृदयस्य दुष्टत्वे तदुत्पन्नस्यापि दुष्टत्वम्. कंसो हि नोग्रसेनवीर्यजः किन्तु दैत्यवीर्योत्पन्न इति प्रसिद्धं हरिवंशे। एवं सति दुर्वीर्योत्पन्नस्य **किमकार्यम्** ? अपि तु सर्वमेव। निषिद्धमपि तैः क्रियत एवेत्यर्थः। कचिद् वीर्योत्पन्नस्यापि सद्धर्माचरणदर्शनात् सङ्गकृतावेव गुणदोषाविति सङ्गस्याध्यात्मिकपक्षे मुख्यत्वसूचनार्थं पक्षान्तरमाहुः **स्थितिर्वेति**। कुत्सिता दरी दुष्टं हृदयं तत्र स्थितिर्मित्रतया स्वामित्वादिना वा येषां ते **कदर्याः**। कंसो हि दुष्टानां जरासन्धादीनां मित्रं प्रलम्बादीनां स्वामी। अतो मित्रत्वेन स्वामित्वेन वा **दुष्टानां हृदये** तिष्ठति। दुष्टमित्रमितियावत्। तथा च दुष्टमित्रप्रेरितः किं किं न कुर्यात् ? तथा च दुःसङ्ग एव सर्वेभ्यो निषिद्धेभ्यः प्रबलोनिष्टकर्तेत्याध्यात्मिकपक्षे लाभः। एवंविग्रहे **कदर्यशब्दसिद्धिस्तु** निरुक्तमर्यादया ज्ञेया। 'अप्यक्षरसामान्येन निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेत'तिवाक्यात् प्रायः सुबोधिन्यां **नैरुक्ती** व्युत्पत्तिर्भागवतशब्दानां यथा पूतनाशब्दे 'पुरुषानप्युत नयती'ति। एवमेव छान्दोग्योपनिषद्भाष्य 'इत्योमिति सदोपास्यः सोक्षरः पुरुषोत्तम उच्चत्वाद्गीयमानत्वात्स्थानादुद्गीथ उच्यत' **इत्यानन्दतीर्थैर्नैरुक्ती व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता**। **आकाशशब्देपि** 'आसमन्तात्कामानश्नाती'ति च। एवं 'देवदेवं वृषाकपि'मित्यत्रापि 'वृषो धर्मस्तस्यासमन्तात् किं फलं स्वर्गादि तत् पिबती'तिव्युत्पत्तिः प्रदर्शिता **सुबोधिन्याम्**। पञ्चमस्कन्धे निबन्धे जम्बूद्वीपपदान्तर्गतजम्बूपदेन 'जननात् बुध्यते यत्रे'त्युक्त्या **नैरुक्ती** व्युत्पत्तिः स्फुटीकृता। एवमन्यत्रापि सुबोधिन्यां नैरुक्तीं व्युत्पत्तिं विचार्य व्याकरणविरोधदोषो दूरीकर्तव्यः। **दुस्त्यजं** किं धृतात्मनामित्यत्र—**धृत आत्मा वासुदेवो यैरिति**। अत्रेदं ज्ञेयम्। ज्ञानिभक्ता एव भगवद्धारणं कुर्वन्ति 'ज्ञानी प्रियतमोतो मे' 'ज्ञानेनासौ बिभर्ति मा'मित्येकादशे भगवद्वाक्यात्। तथा च **धृतात्मना**मित्यस्य ज्ञानिभक्तानामित्यर्थो ज्ञेयः। 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मितिसन्दर्भे भगवदुक्तस्य चतुर्थज्ञानिभक्तस्य 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रिय' इतिवाक्याद्भगवत्प्रियत्वेन भगवदितरवैराग्यस्य तस्मिन्नुद्भूतत्वात्तस्य **किं दुस्त्यजम्** ? सर्वमेव सुत्यजमित्यर्थः। तत्र किम्रूपस्य भगवतो धारणमित्याकाङ्क्षायां **वासुदेवरूपस्य** धारणमिति बोध्यम्। 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' 'वासुदेवः सर्वमिती'तिभगवद्वाक्यात्। युक्तमेतत्। ज्ञानिभक्तस्य त्रिवर्गापेक्षया राहित्यात् केवलमुमुक्षया वासुदेवस्य मोक्षप्रदत्वात्। एतदभिप्रायेणैव गीतासु **वासुदेवपदमुक्तमिति** श्रीमदाचार्यैरपि **धृत** आत्मा **वासुदेवो** यैरपि **वासुदेवपदमुक्तमतो निर्दुष्टमिदम्** ॥ ५८ ॥

बुभुत्सुबोधिका

कीर्तिमन्तमित्यत्र यथैतयेति यथा नाम देवक्याः सर्वदेवतेति विशेषणात् **रक्षार्थं** भगवत्कृतसर्वदेवतासांनिध्येन येन **प्रकारेणेत्यर्थः**। तथैवेति तेनैव प्रकारेणार्पणं कृतवानत एव 'दृष्ट्वे'त्यस्याभासे 'भगवत्कृतत्वा'दिति वक्ष्यन्ति। देवतासु ब्रह्मविष्णुशिवेषु परमार्थरूपभगवत्सन्निधाने वसुदेवस्यार्पणकर्तृत्वाभावात्, उपदेशवत्। ज्येष्ठो हीति सर्वेषामिति सर्वैः **कृयोगे** कर्तरि षष्ठी। न तु दत्तकविधाने दातुः पितुरदेयः। वसुदेवस्तु पुत्रप्रत्यर्पणकर्ता पिताऽपविद्धेन पुत्रेणापुत्रकंसपुत्रित्वकामी। 'मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यत' इति मनुस्मरणात्। अत्रोत्सर्जनं स्वयं गृहीत्वार्पणम्। अत्र कलियुगाभावादपविद्धोपि कर्मलोपाभावाय भवति। भगवत्प्रयाणानंतरं कलेः प्रवृत्तेः। ननु एतस्मिन् समये धर्मविचारो नोचितः स्वास्थ्याभावात्, पथि शूद्रवदाचरेदितिवदिति चेन्न। 'श्लाघनीयगुणः शूरै'रित्यत्र वसुदेवोपि भगवता प्रेरित इत्यनधिकारिणमप्यनवसरे बोधयतीति सुबोधिन्याः। परमार्थमोक्षद्वितीया कोटिः धर्मरूपा उक्ता भगवत्प्रेरितत्वात्, धर्ममोक्षावेका कोटिः अर्थकामावपरेति। **महानिति** कीर्तियुक्तत्वान्महत्त्वम्। **दत्तवानिति** त्वदीयस्त्वां न मारयिष्यतीत्यपविद्धं पुत्रं कंसाय कर्मलोपाभावाय दत्तवान्, अत **एव ज्येष्ठपुत्रो न देय इति** दत्तकविधानवाक्यस्यात्रोक्तिः। **धर्मनिष्ठतामिति** परमार्थमोक्षानंतरं द्वितीयकोटिनिष्ठताम्। **क्रौर्यमिति** कसि गतिशासनयोः अदा० आ० से० इदित्वान्नुम्। पचाद्यच्। अतो ज्ञापितम्। **हेतुरिति** मङ्गलवाद्यनामानृताद्विह्वलस्य भवतीति **हेतुः**। **अर्पणं** दानविशेषस्त्रिविधं तत्रेदं कायिकमित्याहुः स्वयं गृहीत्वेति। **अनृतकथनमिति** 'पुत्रान् समर्पयिष्येस्या' इत्यनृतकथनम**समर्पणे**। **भगवत्प्रापकमिति** 'सत्येन लभ्य' इति श्रुतेः ॥ ५७ ॥

किं दुःसहमित्यत्र विपरीत इति संभवति दृष्टफलेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वं विश्वजिता यजेतेत्यत्र सिद्धम्। स्वर्गे फले दृष्टे संभवत्यदृष्टं फलं न कल्पनीयमिति। अत्र विपरीतः। मोह इति तमो मायाधर्मः। शास्त्रमिति 'पुत्रेण जयते' इति शास्त्रम्। 'साधवः समदर्शना' इति वाक्यादाहुः शत्रुमित्रेति। तदभाव इति भक्तिधर्मतुल्यत्वज्ञानेन मायाधर्ममोहाभावे। अथेति लौकिकहेतुभिन्नशास्त्रहेतुप्रक्रमेथशब्दः। पुत्रोपयोगित्वादाश्रमद्वयस्थाः श्रुतीराहुः पुत्रेणेति। पित्र्णापाकरणेन तथा। वसुतां धनसत्ताम्। पुम्नाम्न इति पुत्रशब्दव्युत्पत्तिः। 'त्वं यज्ञ' इत्यादि महानारायणश्रुतिः। पिता संन्यसन् पुत्रं प्रत्याह 'त्वं यज्ञ' इत्यादि। ज्ञानयुक्तानामिति 'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठित'मिति ज्ञानवताम्। अज्ञमिति असंतमिवात्मानं मन्यमानम्। भगवानेवैवमवस्थो जात इति सुबोधिन्याम्। सर्वाः षट्। पुत्राः भगवद्धर्माः तान् भार्याः ब्रह्मविद्याः ब्रह्मविद्यका मां निगमम्। कुलस्येति ब्रह्मात्मककुलस्यापि। एतदिति मारणम्। अलौकिकविग्रहमाहुः कुत्सितायामिति। हृदयाकाशे जीवस्य संभव उत्पत्तिर्न सम्भवतीति पक्षान्तरमाहुः स्थितिर्वेति। अत्र कोः कदादेशः दकारलोपः समासांतः। लौकिकविग्रहस्तु कुत्स गतौ, अचो यत्। कद्र्यः। स प्रकृते न सम्भवति। अलौकिकविग्रहः निरुक्तादपि। 'अप्यक्षरसामान्येन निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेते'ति वाक्यात्। एवमन्यत्रापि। अतोर्थे निरुक्तव्याकरणयोरर्थनियामकत्वान्न व्याकरणविरोधः। पलायनादिकमिति आदिना कंसगृहे सा स्थापनीया कामेन्याः संग्राह्याः पत्न्यः, किं चापविद्धपुत्रेण कंसपुत्रित्वकरणानंतरं निग्रहे स्थापनीयः पुत्र इति। अज्ञस्येति असंतमिवात्मानं मन्यमानस्येत्यर्थः। हरिरिति सर्वत्र गीतहरेः सामानाधिकरण्याय वासुदेवो वेदे आत्मा हरिरक्षरो वेदान्ते इति। सर्वनाशकमिति पुत्रभार्यावसुदेवनाशकम्। भगवद्बाधकमिति देवकीबाधाद्वसुदेववरत्वेन प्रापयिष्यमाणभगवद्बाधकम्॥ ५८॥

दृष्ट्वा समत्वमित्यत्र भगवदीयानामिति एकादशेऽस्ति गुणः पुत्रत्वं दोषः मारकत्वं कंसे। कर्मठानां तु गुणदोषदृष्टिरस्ति। पुत्रः संरक्ष्यः। द्वेषो मार्य इति। पूर्वप्रतीति पूर्वप्रतिज्ञापुत्रसमर्पणस्य तद्विषयस्य पुत्रस्य। 'पूर्वप्रतिज्ञातस्ये'त्यत्र विषयः क्तस्यार्थः। विचारस्य कृतत्वादेवकारः। न त्युक्तमित्यर्थः। भगवत्कृतत्वादिति परमार्थरूपभगवत्कृततत्वादित्यर्थः। भगवत्संनिधाने वसुदेवकृतत्वस्यायुक्तत्वात्। अनिष्टमिति कंसक्रोधरूपम्। औदासीन्येनेति ताटस्थ्येन। उभयेनेति उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः। समतासत्यव्यस्थितिभ्याम्। तथैवेति गुणवत् संतोषप्रकारेण। प्रकर्षेणेति पुत्रपूरणेन हास्यं जनोन्मादकमायावत्त्वम्। माया कृपा। मुग्ध इति अष्टमे गर्भेपर्णीये प्रथमसमर्पणे मोहः कारणमिति॥ ५९॥

प्रतियात्वित्यत्र अनेन पञ्चवार्षिक इत्यादि, टिप्पण्याम्, पञ्चवार्षिको नीतः 'प्रतिया'त्विति वक्ष्यमाणत्वात्, जातमात्रो वा नीतः 'जातं जात'मितिवाक्यादेवं सन्देहे 'कीर्तिमन्त'मित्यत्र जातमात्रनयनेऽप्यर्पणं सम्भवति 'प्रतिया'त्वित्यस्य वसुदेवद्वारा प्रतियात्वित्यर्थस्यापि सम्भवात् 'पञ्चवार्षिक' इत्यस्यानुपपत्तिरित्याशयेनाहुः अत्रायं भाव इति। अग्रे 'नन्दाद्या' इत्यादिवाक्येषु तन्नोचितमिति 'जातं जात'मितिवाक्योक्तं हननं ततोऽहननं नोचितम्। तथा कथनादिति सर्वेषां नन्दादीनां कालनेमिविरोध्यदेवतात्वेन कथनात्। एतदनुपदम् आनकदुन्दुभियानानन्तरमेव तस्य कालनेमिविरोध्यदेवतात्वस्य कथनम्। अनुपपत्त्यन्तरं नेत्याहुः तथा चेति। बीजजत्वे च इतिः समाप्तौ। अत एवेति निग्रहे गर्भासम्भवादेव। 'न कालभेदे'ति भूतकाले क्तप्रत्यय इति न भूतकालप्रकारज्ञापकम्। तथा च भूतकालाविवक्षणेन भूतकालस्य अनुपपत्त्यन्तरं नेत्यर्थः। 'किन्तु मारणे देवक्या'मित्यादि। तथा च सुबोधिनी। 'मारणे देवक्यां जननमेव निमित्तमिति ज्ञापयितु'मिति। अग्र इति तत्रैव श्लोके। अत्रः पञ्चवार्षिक इति भावः। 'षड्वार्षिको नीतः', 'प्रतियातु किशोरोयमिति कंसप्रत्ययः', पुत्रानिति बहुवचना'दिति तु नापादनीयम्। 'सोऽनृतादतिविह्वल' इति वाक्यात्, षष्ठस्य वैराग्यरूपस्य भगवदात्मकत्वाननुसन्धानापत्तेः, अतो मातापितरौ रामकृष्णौ प्रति मेधाविनौ न पितरौ, तद्वद्वैराग्यरूपषष्ठपुत्रं प्रत्यपि मेधाविनौ मातापितरौ न पितराविति, किञ्च 'पुत्रान् समर्पयिष्येस्या' इति बहुवचनादपि पञ्चवार्षिक इति वक्ष्यन्ति 'पुत्रानिति बहुवचनानुरोधेने'त्यादिना। ननु विग्रहानन्तरं गर्भासंभवेऽ'स्यास्त्वामष्टमो गर्भ' इत्यत्र कथं गर्भपदप्रयोग इति चेत्तत्राहुः भगवतस्त्विति। अलौकिकीरीतिः प्रद्युम्नांशस्य गर्भसम्बन्धात्। नानुपपत्तिरिति पञ्चवार्षिकत्वभूतकालगर्भपदप्रयोगानुपपत्तिर्नेत्यर्थः। सुबोधिन्याम्। षष्ठश्चे'ति 'पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सर'मितिवाक्यात्। पञ्चसु वर्षेषु पञ्च पुत्राः, षष्ठे वर्षे षष्ठः, चकारात्तदाधारः प्रद्युम्नः। 'अष्टमो गर्भ' इति वाक्यात्। तावत्कालमिति पञ्चवर्षाणि। सुबोधिन्यनुसरणे तु प्रतियात्वित्यत्र अनेनेति पूर्वोक्तसत्यसमत्वेन कुमारोयमिति कंसप्रत्ययेन कुमारप्रतियातुपदसमभिव्याहारेण चेत्यर्थः। पञ्चवार्षिक इति जातः कुतो नेति चेन्न, कुमारपदात्, अत एव न द्विवार्षिकस्त्रिवार्षिकश्चतुर्वार्षिकश्च, 'प्रतिया'त्वित्यत्र तादृशज्ञानाभावात्, षष्ठे वर्षे कौमारत्वाभावात् 'पुत्रा'निति वाक्ये पुत्रपदादाहुः षष्ठश्चे'ति। सप्तमाष्टमौ न पुत्रौ, तस्य माता न माता पिता न पिते'तिश्रुतौ मात्राद्यभावात्। तर्हि मातापितरौ सप्तमाष्टमयोर्मेधाविनौ। मातापितृपदस्य मेधाविनि शक्त्यङ्गीकारात्। निरुक्ते निघंटौ वा न वेदा इत्यस्य मेधाविनामसु पाठात्। नशब्दे घटितपदस्य मेधाविनि शक्त्युक्तेः। 'सोनृतादतिविह्वल' इति वाक्यात् पञ्चवर्षपर्यन्तं स्थापनमनुचितमित्यत आहुः पुत्रानितीति। टिप्पण्यनुसारेण। प्रतियात्वित्यत्र। समयबंध इति समयः पुत्रदानकालः। तस्मिन् बंधः 'पुत्रान् समर्पयिष्येस्ता' इति कृतो निर्बन्धः अवश्यक्रियासाधकयत्नः। अत एवेति समयबंधस्य गतत्वात् सत्यत्वादेव। नारदादीनामिति आदिना हरिश्चन्द्रप्रभृतयः। असम्मतम् प्राणसङ्कटे सत्यस्याप्रामाणिकत्वादसम्मतम्। अन्यनिष्ठेति भगवद्व्यतिरिक्ते प्राणसङ्कटेऽप्रामाणिकेसत्ये निष्ठा। अत इति 'स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज् जुगुप्सित'

मिति शुक्राचार्यवाक्यात्। यद्वा अत एवेति मारकाष्टमगर्भदानाज्ञापनादेव। नारदादीनामित्यत्रादिना वसुदेवदेवक्यादयः। तर्हि तनयहननमभिप्रेतं स्यान्नारदादीनामत आहुः नहीति। अन्यनिष्ठेति राजन्येषु राज्ञा मारकत्वेन शङ्कि पु धर्मेषु निष्ठा भक्तिः। ज्ञानित्वान्न राजमारकविरोधो दोषः। अत इत्यादि 'राज्ञः पट्टाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरु'रितिवाक्येन राजहितत्वात्, अन्यथाकरणम्। जातजातसमर्पणं मारकगर्भस्यासमर्पणमन्यत्र नयनम्। इदं समर्पणं सर्वपुत्रदानमर्पणम्। किलेति निश्चयेऽव्ययम्। आकाशवाणीति आकाशवाण्याः प्रतिसन्धानम् राजनीतिप्रतिनिधितया संधानं योजनम् ॥ ६० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र चानकदुन्दुभिः कीर्तिमन्नामानं प्रथमं जातं पुत्रं कृच्छ्रेण दुःखेन कंसाय क्रूरस्वभावायार्पयामास। तत्र हेतुमाह— स इति। स सत्यसङ्कल्पतया प्रसिद्धः। अतः प्रतिज्ञानृतादतिविह्वलः भृशं व्याकुलः ॥ ५७ ॥ ननु "सत्यसंरक्षणमदृष्टफलकम्, पुत्रार्पणं तु तन्मरणजन्यदुःसहदृष्टदुःखफलकम्। दृष्टादृष्टयोर्मध्ये दृष्टस्य बलवत्वात् कथं दुःखसहनमङ्गीकृत्य पुत्रमर्पयामास" इत्याशङ्क्याह— किं दुःसहमिति। साधूनां सत्यसन्धानां किं दुःखं दुःसहमित्यर्थः। ननु 'पुत्रेण जयते लोकान्' 'पुत्रेण वसुतामेति' 'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा' इत्यादिवचनैर्दृष्टव्यवहाराच्च पुत्रस्य लोकसुखसाधनत्वात्सुखस्य सर्वापेक्षितत्वाच्च कथं पुत्रसमर्पण सम्भवतीत्याशङ्क्याह—विदुषामिति। विदुषां विवेकिनां प्रपञ्चदुःखहेतुत्वेन पश्यतां किमपेक्षितम्? न किमपीत्यर्थः। ननु 'हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्' इति वचनेन हिंसापरिहारार्थस्यानृतस्यादुष्टत्वात् किमर्थं पुत्रमर्पितवांस्ततस्तु पलायनेनापि पुत्रसंरक्षणं वरमित्याशङ्क्याह—किमकार्यं कदर्याणामिति। 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रान् दारांश्च पीडयेत्। पीडयेद्भृत्यवर्गांश्च स कदर्य इति स्मृतः' इति वचनात् कंसस्य चापि कदर्यत्वात् राजत्वेन प्रबलत्वाच्च ततः पलायनेनापि देशान्तरेऽपि उर्वरितत्वासम्भवात् त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' इति न्यायेन सर्वकुटुम्बमरणपरिहारार्थं पुत्रार्पणमेव कृतवान्। अन्यथैनमनृतवादिनं ज्ञात्वा सकुटुम्बमेव हन्यादित्यर्थः। तथापि पुत्रत्यागो दुष्कर इत्याह—दुस्त्यजमिति। धृतः हृदा गृहीत आत्मा परमात्मा भगवान् यैस्तेषां किं दुस्त्यजमित्यर्थः। सत्यप्रतिज्ञस्य भगवतः सत्यप्रलभ्यत्वात्स्वस्यानकदुन्दुभित्वेन स्वगृहे तदवतारस्य निश्चितत्वात् अनृतवचनत्वे तदभावमाशङ्क्यापि पुत्रार्पणं कृतवानिति भावः ॥५८॥ शौरेर्वसुदेवस्य तत् पुत्रानयनं समत्वं सुखदुःखयोस्तुल्यत्वं च सत्ये वचन एव व्यवस्थितिं च दृष्ट्वा तुष्टं मनो यस्य तथाभूतः कंसः स्वप्रसन्नतां द्योतयन् प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। राजधर्मस्तु तथैवेति सूचयन् सम्बोधयति—राजन्निति ॥ ५९ ॥ तदेवाह-प्रतीति। अयं कुमारः प्रतियातु गृहं प्राप्नोतु। अत्र हेतुमाह—नहीति। हि यस्मादस्मान्मे मम भयं नास्ति। तत्रापि हेतुमाह—यतो युवयोरष्टमादेव गर्भान्मे मृत्युर्विहितः आकाशवाण्या निरूपितः। किलावधारणे ॥ ६० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कीर्त्तिमन्तमिति ॥ अनृतात् अतिविह्वलो भीतः सः कृतप्रतिज्ञः आनकदुन्दुभिः प्रथमजं कीर्त्तिमन्तं जन्मसमय एव कृतनामकरणं पुत्रं कंसायातिकृच्छ्रेण अर्पयामास ॥ ५७ ॥ किं दुःसहमिति ॥ साधूनां सत्यसन्धानां पुत्रत्यागादिकमपि किं दुःसहं शेषे षष्ठी। विदुषां भगवानेव तत्त्वमिति जानतां पुत्रलालनादिकं किमपेक्षितम् इति वसुदेवमुद्दिश्योक्तिः। कदर्याणां दुष्टानां भागिनेयवधादिकमपि किमकार्यम् इति कंसमुद्दिश्य। धृतात्मनां चित्ते धृत आत्मा हरिर्यैस्तेषां पुत्रादिकमपि किं दुस्त्यजम् इति देवकीमुद्दिश्य ॥ ५८ ॥ दृष्ट्वेति ॥ हे राजन्! शौरेस्तत्समत्वं पुत्रार्पणेन हर्षशोकयोः साम्यं सत्ये च व्यवस्थितिं निष्ठां दृष्ट्वा तुष्टमनाः कंसः प्रहसन् इदम् अब्रवीत् ॥ ५९ ॥ प्रतियात्विति। अयं कुमारः प्रतियातु हि यतः अस्मात् प्रथमपुत्रात् मे मम भयं नास्ति किल। यतः युवयोः अष्टमाद्गर्भात् मे मम मृत्युर्विहितः ॥ ६० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथेति ॥ अथानन्तरं, काले गर्भधारणयोग्ये समये, उपावृत्ते च, समुपस्थिते सत्येव, सर्वः सर्वात्मा भगवानेव देवता यस्याः सा:, भगवदाश्रयत्वात्सर्वदेवतामयीति वा। देवकी अनुवत्सरं प्रतिसंवत्सरं, पुत्रोत्पत्तिकालमनतिक्रम्येत्यर्थः। अष्टौ पुत्रान्, कन्यां च, प्रसुषुवे एव ॥ ५७ ॥ एवं सामान्येनोक्त्वा तदेव किंचित् प्रपञ्चेनाह ॥ कीर्त्तिमन्तमिति ॥ तदा अनृतात् अनृतभाषणात्, अतिविह्वलः स्वप्रतिज्ञां प्रतिपालयितुमत्याकुलः, स आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः प्रथमजं प्रथममुत्पत्तिं प्राप्तं, कीर्त्तिमन्तं कीर्त्तिमत्संज्ञं पुत्रं, कृच्छ्रेण दुःखेन, कंसाय अर्पयामास ॥ ५८ ॥ ननु पुत्रानुरागं विहाय मृत्यवे पुत्रं कथमर्पितवानित्यपेक्षायामाह ॥ किं दुःसहमिति ॥ साधूनां सत्यसंधानां, दुःसहं दुःखेनापि सोढुमशक्यं किं नु किं वा। अस्तीति शेषः। न किमपि, सर्वमपि सुसहमेवेत्यर्थः। पुत्रलालनापेक्षा कथं त्यक्तेत्यत आह। विदुषां स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानवतां विबुधजनानां, अपेक्षितमपेक्षावत्, किं न्वस्ति। शरीरतदनुबन्ध्यादिषु किमपि अपेक्षितं नास्तीत्यर्थः। ननु स्वयं नीते सति कंसो बालं न हन्यादिति मत्वा नीतवान् इति किं न स्यादिति चेत्तत्राह। कदर्याणां कुत्सितस्वामिनां, स्वामित्वं प्राप्यापि क्षुद्रत्वोपेतानामित्यर्थः। अकार्यमविधेयं, किं नु। सकलमपि पापकर्माचरन्तीत्यर्थः। ननु देवकी कथं पुत्रं तत्याजेत्यत आह। धृतः स्ववशीकृत आत्मा मनो यैस्तेषां, यद्वा। धृतश्चित्ते विधृत

आत्मा हरियैंस्तेषां, दुस्त्यजं किं नु। देहतदनुबन्ध्यादिकं सर्वं सुत्यजमेवेति भावः ॥ ५९ ॥ दृष्ट्वेति तदुक्तविधं एव, शौरेर्वसुदेवस्य, समत्वं शत्रुमित्रयोः सुखदुःखयोर्वा साम्यं, सत्ये व्यस्थितिं च, दृष्ट्वा, हे राजन्, कंसः तुष्टमनाः प्रहसन् संश्च, इदं वक्ष्यमाणम, अब्रवीत् ॥ ६० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

किं दुःसहमिति : १०–१–५८

साधुः स एव सहतेऽखिलदुःसहं यो निर्वासनं भवति यद्धृदयं स विद्वान्।
यत्सर्वकृत्यमतिनिन्द्यमसौ कदर्यो यो दुस्त्यजं त्यजति स प्रगृहीतचेताः ॥ ४२ ॥

प्रतियात्विति : १०–१–६०

तुल्यदृक् सत्यवाक् कीर्तिमन्तं यो भजते नरम्। तस्यावश्यं द्विषन्तोऽपि वश्याः स्युरिह तत्स्फुटम् ॥ ४३ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

पहले पुत्रका नाम था कीर्तिमान्। वसुदेवजीने उसे लाकर कंसको दे दिया। ऐसा करते समय उन्हें कष्ट तो अवश्य हुआ, परन्तु उससे भी बड़ा कष्ट उन्हें इस बातका था कि कहीं मेरे वचन झूटे न हो जायँ ॥ ५७ ॥ परीक्षित्! सत्यसन्ध पुरुष बड़े-से बड़ा कष्ट भी सह लेते हैं, ज्ञानियोंको किसी बातकी अपेक्षा नहीं होती, नीच पुरुष बुरे-से बुरा काम भी कर सकते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं – जिन्होंने भगवान्को हृदयमें धारण कर रक्खा है, वे सब कुछ त्याग सकते हैं ॥ ५८ ॥ जब कंसने देखा कि वसुदेवजीका अपने पुत्रके जीवन और मृत्युमें समान भाव है एवं वे सत्यमें पूर्ण निष्ठावान् भी हैं, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और उनसे हँसकर बोला ॥ ५९ ॥ वसुदेवजी! आप इस नन्हे-से सुकुमार बालकको ले जाइये। इससे मुझे कोई भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणीने तो ऐसा कहा था कि देवकीके आठवें गर्भसे उत्पन्न सन्तानके द्वारा मेरी मृत्यु होगी ॥ ६० ॥

तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः। नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः ॥ ६१ ॥[१]
नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः। वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥ ६२ ॥
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत। ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥ ६३ ॥[२]
एतत् कंसाय भगवाञ्छशंसाभ्येत्य नारदः। भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥ ६४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आनकदुन्दुभिः तथा इति सुतं आदाय ययौ असतः अविजितात्मनः तद्वाक्यं न अभ्यनन्दत ॥ ६१ ॥ भारत ? भगवान् नारदः अभ्येत्य कंसाय व्रजे ये नन्दाद्याः गोपाः, च अमीषां योषितः च वसुदेवाद्याः वृष्णयः देवक्याद्याः यदुस्त्रियः उभयोः अपि ज्ञातयः बन्धुसुहृदः च ये कंसं अनुव्रताः सर्वे वै देवताप्रायाः च भूमेः भारायमाणानां दैत्यानां वधोद्यमं एतत् शशंस ॥ ६२–६४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कंसस्य शांतिर्देवकार्यानुगुणा न भवतीति नारदस्य प्रत्यवस्थानमासीत्। तदाह—नंदाद्या इत्यादित्रयेण ॥ ६२ ॥ उभयोर्वसुदेवनंदकुलयोः ॥ ६३ ॥ वधोद्यमं दैवतकृतमिति शेषः ॥ ६४–६५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

असतः खलस्याविजितात्मनोऽव्यवस्थितचित्तस्य। तत् वाक्यम्। 'प्रतियातु कुमारोयम्' इत्यादिरूपम्। नाभ्यनंदत् सत्यं न मेने। "अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः" इत्यभियुक्तोक्तेः ॥ ६१ ॥ कंसे सुवृत्ते सति देवकार्यं न सेत्स्यतीत्याह—कंसस्येति। शांतिर्दयालुतादिरूपा चित्तवृत्तिः। अनुगुणाऽनुरूपा योग्येति यावत्। इति हेतोः। प्रत्यवस्थानं कंसपार्श्वे गमनम्। तदेवाह—त्रयेण नंदाद्या इत्यारभ्य वधोद्यममित्यंतश्लोकत्रयेणेत्यर्थः। अमीषां नंदादीनाम्। योषितो यशोदाद्याः ॥ ६२ ॥ केषांचित्कंसकंकादीनां दैत्यरूपत्वात्प्रायशब्दप्रयोगः। ते गोपा यदवश्च। उभयोर्यदुकुलगोपकुलयोः। ये चाक्रूराद्याः अनुव्रतास्तदनुसाराः

---

१. यावदानक–इति कस्यचित्। २. अथ कंसमुपागम्य नारदो ब्रह्मनन्दनः। एकान्तमुपसंगम्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ अयं श्लोकः अधिकः विज.। ३. असुराः सर्व एवैते लोकोपद्रवकारिणः। इदमर्धमधिकं. वीर. विज.। गतेथ वसुदेवे तु देवकार्यार्थमुद्यतः–इदमर्धमधिकं. विज.। ४. वाक्छादयामास नार–इति कस्यचित् संशयामास नार–विज.।

कंसामंत्रणपक्षे मा ज्ञानं तत्रारत । भारतत्वादेवैतज्ज्ञानं तव नास्तीति भावः ।। ६३ ।। एतत् नंदाद्या इत्यादि यदुक्तम् । गोपकुलयदुकुलयोः । द्वेषोत्पत्त्या झटिति भगवदवतारेण कंसस्य मृत्युर्भविष्यतीति ज्ञानवत्त्वाद्भगवानिति । "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति" इति लक्षणस्य तत्र सत्त्वादिति । 'चातकानां वामतो गतिः' इतिवद्देवानामपि गतिर्वामैवातः प्रथमस्यैवाष्टमत्वमायाति । यद्वा—द्वितीयतो गणने प्रथमस्य तृतीयतो गणने द्वितीयस्यैवमग्रेऽपि गणनात्सर्वेषामष्टमत्वमायातीत्थं च शशंसेति संबंधः ।। ६४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तथात तथेत्युक्त्वेत्यर्थः । तथा शब्दस्य च भवान् यथादिशति तथैवास्त्वित्यर्थः । नाभ्यनन्दत न प्रतीयाय कुतः असतः खलस्य मृषैव सौहृद्यं प्रकटयतः अविजितात्मनः अस्थिरचित्तस्य चेत्यर्थः ।। ६१ ।। नन्दाद्या इति त्रिकम् । ये च बृहद्वनस्ये व्रजे याश्च तत्र योषितः श्रीयशोदाद्याः उक्तसमुच्चयार्थोऽयं चशब्दः सर्वत्र सम्बन्धयः द्वितीयश्चशब्दः कैमुत्यद्योतनार्थमप्यर्थे किं वक्तव्यं ते ताश्चेति अमीषां गोपानां तद्योषितामपि सम्बन्धिनो ये भृत्याद्यास्ते चेत्यर्थः । वृष्णयस्तदुपलक्षिता यादवाः देवताशब्देन श्रीभगवत्पार्षदा अप्युक्ताः ।। ६२ ।। प्रायशब्दस्तत्र यदुषु केषांचिद्दैत्यत्वात् हे भारत ! इति यथा भरतवंशे । भवत्पितामहादयो देवता इति भावः । भोजादयस्तदीया अपि सर्वे देवताप्राया इत्याह—ये चेति । कंसं प्रति अनुव्रता भक्तायमानाः ज्ञातयः सपिण्डाः बन्धवः सम्बन्धिनः सुहृदो मित्राणि ।। ६३ ।। भगवान् सर्वज्ञः कंसस्य शान्त्या शीघ्रं भगवदवतारो न स्यादित्यादिकं चिन्तयन्नित्यर्थः । यद्वा, परमदयालुतास्मरणे नारदोक्तिरियं शीघ्रं श्रीभगवदवतारकारणोत्थापनेन जगतामेव हिताचरणात् अतस्तं प्रत्यसूया न कार्येति भावः । शंसयामास स्वार्थे णिच् शशंस तद्विशेषः श्रीहरिवंशे—

त्रिविष्टपादापतितो मथुरोपवने स्थितः । प्रेषयामास कंसाय स दूतं मुनिपुङ्गवः ।।
स दूतः कथयामास नारदागमनं नृपे । स नारदस्यागमनं श्रुत्वा त्वरितविक्रमः ।।
निर्जगामासुरः कंसः स्वपुर्याः पद्मलोचनः । स ददर्शातिथिं श्लाघ्यं देवर्षिं वीतकल्मषम् ।।
तेजसा ज्वलनाकारं वपुषा सूर्यवर्चसम् । सोऽभिवाद्यर्षये तस्मै पूजां चक्रे यथाविधि ।।
आसनं चाग्निवर्णाभं विसृज्योपजहार सः ।।
निषसादासने तस्मिन् स वै शक्रसखो मुनिः । उवाच चोग्रसेनस्य सुतं परमकोपनम् ।।
पूजितोऽहं त्वया वीर ! विधिदृष्टेन कर्मणा । गते त्वेवं मम वचः श्रूयतां गृह्यतां च वै ।।
अनुसृत्य दिवो लोकान् अहं ब्रह्मपुरोगमान् । गतः सूर्यसखं तात ! विपुलं मेरुपर्वतम् ।।
सोऽहं कदाचिद्देवानां समाजे मेरुमूर्द्धनि । सङ्गृह्य वीणां संसक्तामागच्छं ब्रह्मणः सभाम् ।।
तत्र मन्त्रयतामेवं देवतानां मया श्रुतः । भवतः सानुगस्येह वधोपायः सुदारुणः ।।

इति पद्मलोचन इति विस्मयेनोत्फुल्ललोचन इत्यर्थः ।। ६४ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः तथेत्यङ्गीकृत्यानकदुन्दुभिर्वसुदेवः सुतमादाय ययौ किन्त्वसतः पापिनोऽनवस्थितचित्तस्याविदितात्मनोऽज्ञस्य कंसस्य तदुक्तं वाक्यं नाभ्यनन्दत् "अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः" इति न्यायादिति भावः ।। ६१ ।। नन्दाद्या इत्यादि सार्द्ध-श्लोकत्रयमेकान्वयम् । हे भारत ! उभयोर्नन्दवसुदेवयोर्ज्ञातयो बन्धवः सुहृदोऽपि देवताप्रायाः देवांशैः जातत्वाद्देवताप्रायास्तत्तुल्या इत्यर्थः । ये तु कंसमनुव्रताः ते सर्वे असुरा असुरसम्पत्त्या जाताः अत एव लोकोपद्रवकारिणः ।। ६२–६३ ।। इत्येतद्भूमेर्भारायमाणानां नृपव्याजानां दैत्यानां श्रीभगवत् कर्तृकवधोद्योगञ्च ततो भगवान्नारदोऽभ्येत्यागत्य कंसाय शशंस कथयामास ।। ७४ ।।

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अविजितात्मनोऽसतः कंसस्य तद्वचनं न विश्वसनीयमिति नाभ्यनन्दत ।। ६१ ।। नन्दाद्या इत्यारभ्य वधोद्यममित्यन्तं नारदवाक्यम् ।। ६२ ।। उभयोः यदुकुलयोः ।। ६३ ।। वधाद्यमं देवैः क्रियमाणमिति शेषः ।। ६४–६५ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

देवताप्राया इति पार्षदमिश्रत्वात् पञ्चधा सुरमध्यत्वाच्च ।। ६३–६९ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नन्दाद्या इति श्रीशुकोक्तिः । यद्वा श्रीनारदोक्तिस्तथा हि अवतरिष्यतः स्वाभीष्टदेवस्य शीघ्रदर्शनेन स्वमानन्दयितुं शीघ्रं तत्प्रादुर्भावकारणं कंसकर्तृकवैष्णवद्रोहं प्रवर्तयन् देवानानन्दयितुं तेन भक्तद्रोहेणैव कंसञ्च घातयितुं कंसदास्यमानखेदानामपि

तेषामभिज्ञभक्तानां भगवदाविर्भावनिश्चयज्ञापकाय स्वस्मै प्रीत्यतिशयमाशीस्सहस्रञ्च दास्यमानानां भगवद्दिदृक्षानन्दञ्च प्रवर्द्धयन् हरिर्नौ पुत्रो भविता न वा ? इति सन्दिहानौ देवकीवसुदेवौ सन्देहोच्छेदनेनानन्दसिन्धुषु निमज्जयन् तेनैव बन्धनक्लेशोत्कर्षमपि हर्षविशेषं मानयन् सूचकेऽपि स्वस्मिन् सन्तोषयन् मिथ्यासौहार्दाविष्कारेण सानुगं कंसमपि स्वाऽनुकूलीकुर्वन्नारदो मुनिरागत्य कंसं प्रति रहस्यमाह—नन्दाद्या इति द्वाभ्याम् ॥ ६२ ॥ केषाञ्चिद्दैत्यत्वात् प्रायशब्दप्रयोगः भा तामसी कान्तिस्तस्यां रतेति कंससम्बोधनम् उभयोर्वसुदेवनन्दकुलयोः संशयामास शशंस ॥ ६३-६४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीवसुदेवसंसर्गोद्सुरे सुरवच्छान्तिं प्राप्ते भूभारहरणादिभगवल्लीलायां किञ्चिद्विलम्बो माभूदित्येतदर्थं श्रीनारदेन कंसप्रबोधनं कृतं तदाह—नन्दाद्या इति त्रिभिः ॥ ६२ ॥ उभयोर्नन्दवसुदेवकुलयोः हे भारत ! एतत् सर्वं देवताप्रायत्वं वधोद्यमं च शशंस दैत्यानां भूमेर्भारभूतानां भवतां वधोद्यमः विष्णुप्रादुर्भावप्रयत्नरूपो देवैः कृतः विष्ण्वाज्ञया च देवाः सभार्या इहाऽऽगता इति कंसं प्रत्युक्तवानित्यर्थः ॥ ६३-६५ ॥

श्रीसुबोधिनी

तत्प्रियार्थमेव नयनमिति प्रकारान्तरेणापि तस्मिन् प्रीते पुत्रत्यागो न युक्त इति तद्वाक्यमङ्गीकृत्य पुनरानीतवानित्याह **तथेति**। स्वयमेव गृहीत्वा **ययौ**। अविश्वासे हेतुरानकदुन्दुभिरिति। अतिक्लेश एव भगवदागमनं न स्वास्थ्ये। आनके दुन्दुभयश्च नेदुर्भगवदागमनार्थम्। तदुभयं विरुध्यते। अतो देवकृतस्य सत्यत्वात् कंसकृतमेवाऽसत्यमिति मत्वा **नाभ्यनन्दत तस्य** कंसस्य वाक्यमेनं न मारयिष्यामीत्यभिप्रायपूर्वकम्। तत्र हेतुद्वयमाह**असतोऽविजितात्मन** इति। **असन्** सर्वदा नैकविधः। अस्थिरवाक्च घातकश्च स्वतोयुक्तिदार्ढ्यरहितश्च। अतः केनचित् प्रथम एवाष्टम इति ज्ञापिते मारयिष्यत्येव। तस्मादसतो न विश्वासः कर्तव्यः। किञ्च नान्यवाक्यमपि तस्यापेक्ष्यते। यदत्र राक्षसैर्भक्ष्यार्थं पुरुषाः प्रार्थयिष्यन्ते तदैवैतान् घातयिष्यति। क्रोधोद्गमहेतूनां बहूनां सम्भवादजितान्तःकरणत्वादुत्पन्ने क्रोधे न विलम्बः ॥६१॥ 'महतामन्तःकरणमेव प्रमाण'मिति तथैव जातमित्याह **नन्दाद्या** इत्यष्टभिः। वसुदेवे कंसकृतं देवानां हितकारि न भवतीति देवगुह्यकर्ता नारदः पर्यवसानानिष्टकर्तारं वसुदेवं पीडयितुं दैत्यरूपं कंसं चोद्वेजयितुं शीघ्रं भगवदागमनार्थं साधारणान् पीडयितुं वाक्यत्रयमुक्तवांस्तदाह। **ये यमुनापारे व्रजे गोपा नन्दादयः अमीषां** च **स्त्रियः** यशोदाप्रभृतयश्चकारादन्या अपि कुमारिका अस्मिन्नपि कूले **वृष्णिवंशोद्भवा वसुदेवादयो देवक्याद्याश्च** यदुवंशोद्भवानां **स्त्रियः** ॥ ६२ ॥ एवमेकेन सर्वाननूद्य देवत्वं विधत्ते **सर्व** इति। स्त्रियः पुरुषाः **सर्व एव देवताप्राया** ईषदसमाप्तदेवाः। मानुषभावस्यापि विद्यमानत्वात्। अतो देवेषु यत् कर्तव्यं तदेतेष्वेव कर्तव्यमिति ज्ञापितम्। **उभयो**रिति। रोधसोर्ये केचित् तिष्ठन्ति पश्वादयोपि तेपि देवांशाः। **भारते**तिसम्बोधनमेतदाहेत्यनेन सम्बध्यते। नारदस्य तथाकथनममन्वानस्य विश्वासजनकं देवगुह्यमेतादृशमेवेति। किञ्च न केवलमुदासीना एव देवाः किन्तु कंसनिकटवर्तिनोप्यक्रूरादयो ये **ज्ञातयो** गोत्रिणः कंसस्य ये **बन्धवः** सम्बन्धिनो ये वा **सुहृदो** मित्राणि ये **च कंसस्य** सेवकाश्चकारात् पित्रादयोपि ॥ ६३ ॥ सर्वे देवताप्राया इति कंसाय **नारदः प्राहे**त्याहै**त**दिति। नारदस्य दुष्टत्वं व्यावर्तयति **भगवा**निति। **शंसन**मेकान्ते कथनं उक्तिपूर्वकमुपाख्यानपूर्वकम्। तत्रैवोपाख्याने फलितानि वाक्यान्यत्रोपनिबध्यन्ते। अत आनुपूर्व्यभावो न दोषाय। एतावतैव कार्यसिद्धेः। ननु देवानामागमने किं स्यादित्याशङ्क्याह **भूमेरि**ति। नाकपृष्ठे देवानां मन्त्रणं जातं **भूमेर्भारायमाणाः** कंसादयो **दैत्या** जातास्ते हन्तव्या इति। तद्धननार्थमेव देवागमनं **वधोद्यमरूपं** जातम्। वधोद्यमं यथा भवति तथैते देवताप्राया इति वाक्यम् ॥ ६४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नन्दाद्या इत्यत्र—**वाक्यत्रय**मिति। श्लोकत्रयमित्यर्थः। अत एवोपसंहारेनुवदिष्यन्ति **श्लोकत्रयमुक्त्वे**ति ॥ ६२ ॥ **ईषदसमाप्ते**ति। प्रायःशब्दस्तुल्यपर्यायः। **तथा** चेषदसमाप्तावित्यत्रासमाप्तिन्यूनतेत्यभिप्रेत्येषदूनो विद्वानित्युदाहृतत्वादीषन्न्यूनदेवा इत्यर्थः। यथा चन्द्रतुल्यं मुखं चन्द्रादीषन्न्यूनमित्यर्थः। न्यूनतांशं विशदयन्ति **मानुषे**ति। **एतदाहेत्यनेने**ति। **शशंसे**त्यस्यैवार्थतः कथनमिदम् ॥ ६३ ॥ **वधोद्यमरूप**मिति। **वधोद्यमं** रूपयति तादृशं **देवागमनं** दैत्यहननार्थं जातम्। अत्र देवागमनमितिपदाभावेपि नारदेनोपाख्याने तथोक्तमित्यार्थिकं देवगमनपदमादाय **वधोद्यम**पदस्य विशेषणत्वम्। तथा च मूले **वधस्योद्यमो** येन तादृशं **देवागमन**मिति च **शशंसे**त्यन्वयः। **वधोद्यम**मिति। तादृशं **देवागमनं यथा भवति** सम्भवति **तथा** सात्त्विकत्वप्रकारे**णैते देवताप्रायाः**। एतेषां सात्त्विकत्वेन देवतातुल्यत्व एतेषु देवानामागमनमंशतोवतरणं सम्भवतीत्यर्थः। **वाक्य**मिति। एकमेवेतिशेषः। देवागमनसिद्ध्यर्थं पूर्वं तत्तुल्यत्वबोधनमिति सर्वमेकवाक्यमेव। 'अर्थैकत्वादेकं वाक्य'मितिलक्षणादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

असतोऽविजितात्मन इत्यत्र—**असन् सर्वदा नैकविध** इत्यादि। नास्तीत्यसन्निति व्युत्पत्तौ स्वरूपतः सतोपि **कंसस्याभावः** प्राप्तः स च बाधितः कंसस्य प्रमातमकत्वेनैव ... **सर्वदा नैकविध** इति। अव्यवस्थित-

चित्त इतियावत्। एवं स्थिरचित्तत्वेन रूपेण कंसस्याभाव इत्यर्थः। असच्छब्दस्य दुष्टवाचकत्वपक्षे नाभावो व्याख्येयो दोषा एव दुष्टस्य निरूपणीयास्तानाहुरस्थिरवाक्च घातकश्च स्वतो युक्तिदार्ढ्यरहितश्चेत्यादिना ॥ ६१ ॥

इति श्रीप्रथमाध्याययोजना।

बुभुत्सुबोधिका

तथेति सुतमित्यत्र आदायेत्यस्यार्थमाहुः स्वयमेव गृहीत्वेति। अविश्वास इति तेन मङ्गलरूपभगवदवतारविरुद्धयोऽविश्वासस्तस्मिन् हेतुरित्युक्तम्। अतिक्लेश एवेति ननु भक्तित्वेन भगवदागमनत्वेन कार्यकारणभावात् कुत एवमिति चेन्न, समाधिभाषापोषकलौकिकभाषात्वात्। लोके महाराजागमनस्य तथात्वात्। किञ्च, भक्तवसुदेवे नन्दादौ च शाब्दसंयोगवति अतिक्लेशाभावे संयोगेऽध्रूवूगल इति भगवदागमनहेतुर्न, किंत्वतिक्लेशरूपविप्रयोगसमेलनेन पूर्णभक्तौ। 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'ति व्रजभक्तपूर्णभक्तिवत्। अत एवैवकारः। संतापः सिद्धान्तोक्तो द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये यः स तु निःकिञ्चनधनम्। प्रायश्चित्तरूपम्। 'अतप्ततनुर्न तदामोश्नुत' इति श्रुतेः। न स्वास्थ्ये इति स्वास्थ्यं हि बहिर्मुखतासम्पादकम्। अत एव 'दोषा हरौ न सन्त्येव तथा भक्ताहिताः क्रियाः। स्फुरन्ति बुद्धिदोषेण मूलं तस्य बहिर्दृशि'रितिवाक्यम्, तपो मे हृदय'मिति वाक्यं च। तदुभयमिति अतिक्लेशानकदुंदुभिवादनं उभयम्। देवकृतस्येति नारदकृतस्यासत्यस्य। कंसकृतमिति राजकीयं सत्यम्। हेतुद्वयमिति हेतुगर्भितविशेषणद्वयम्। 'असन्मृत्युरि'तिश्रुतेः 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'दिति श्रुतेश्चाहुः असदित्यादि। द्वितीयश्रुत्यनुसारिणमविजितात्मन' इत्यस्यार्थमाहुः स्वतो युक्तीति। प्रथम एवाष्टम इति द्वितीयाद्गणने एवं भवति। एवेरत्यंतायोगव्यवच्छेदे ॥ ६१ ॥

नन्दाद्या इत्यत्र तस्येति कंसस्य। 'पुरुषादाननुव्रत' इति वाक्यादाहुः यद्वेति। एतानिति सुतान्। क्रोधोद्गमेति यथा रहूगणस्य विषमशिबिकावहनं ब्राह्मणकृतम्। 'अविजितात्मन' इत्युक्तविशेषणादाहुः अजितांतरिति। एकदेशविकृतत्वादविजितान्तःकरणत्वादित्यर्थः। महतामित्यादि वसुदेवादीनाम्। ननु मनसः प्रामाण्यमिन्द्रियद्वारकमिति चाक्षुषं श्रावणं प्रत्यक्षमित्युच्यते, मानसं तु कथमिति चेन्न, बृहदारण्यके 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मित्यप्रमेयदर्शने मन एव कारणमित्युक्तत्वात्। अप्रमेयदर्शनं सर्वस्य स्यात्, अत उक्तं महतामिति। एवकारेण प्रमेयाप्रमेयसाधारणमन्तःकरणं प्रमाणम्, प्रमास्थले तथैवेति। कंसवाक्यं सत्यमप्यसत्यत्वेन जातम्। कंसकृतमिति सत्यं 'प्रतिया'विवितिवाक्योक्तम्। देवानां हितेति छांदोग्ये 'देवासुरा वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्याः तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम' इत्यादिनोद्गीथाहरणेनासुराभिभवकर्तृत्वं देवानामुक्तम्। 'सत्यं हि सत्य'मिति श्रुतेः सत्यं देवानामुक्तम्। 'उद्गीथं' सोमयागं 'आजह्रुः' कृतवंत इति व्याख्याने 'उद्गीथ' मक्षरं सत्यप्रधानं सोमयागस्य सत्यत्वादंशद्वयाप्राधान्यात्। अतो देवानां हितकारि न भवतीति देवानां गुह्यं संवरणीयम्। गुह संवरण इति धातुपाठात् तत्कर्ता नारद इत्यर्थः, 'शशंसाभ्येत्य नारद' इति वाक्यात्। पर्यवसानेति अष्टगर्भस्य नयनेन कस्यापि पुत्रस्यामारणादनिष्टदेवभक्तानिष्टकंसक्रोधकरणात्। पीडने कृते तु कृतपीडनकेन वसुदेवेन कृष्णस्यान्यत्र नयनं न कंसक्रोधे हेतुः। यद्वा देवानां हितेति अष्टमगर्भे नीते तेनाकाशवाणी प्रामाण्यात् कंसवधेऽसुरैः सह संग्रामापक्षनातिभगवदाविर्भावाभावाद् देवानां हितकारि न भवतीत्यर्थः। देवभक्तानिष्टे वाक्यत्रयमिति श्लोकत्रयम्। वृष्णिवंशेति नवमस्कन्धे 'वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोभू'दित्यारभ्य 'देवदुंदुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि। वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुंदुभि'मिति वाक्यात्। यदुवंशेति 'यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते, यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृति'रिति वाक्यात्। यादवत्वं वसुदेवादौ सामान्यम् ॥ ६२ ॥

सर्वे वा इत्यत्र सर्वानिति नंदाद्यान्। विधत्त इति यथा दध्ना जुहोतीत्यनेनाग्निहोत्रे दधिगुणः। ईषदसमाप्तेति प्रायशब्दस्तुल्यपर्यायः। तथा चेषदसमाप्ताविव्यत्रासमाप्तिर्न्यूनतेत्यभिप्रेत्येषदूनो विद्वानित्युदाहृतत्वादीषन्न्यूनदेवा इत्यर्थः। यथा चन्द्रतुल्यं मुखं चन्द्रादीषन्न्यूनमित्यर्थः। न्यूनतांशं विशदयन्ति स्म मानुषेति। उभयोरिति। यमुनापारयोः। एतदाहेति 'एतत् कंसाय भगवान् शशंसे'त्यस्यार्थः। अमन्वानस्य परीक्षितः। भक्तत्वान्नारदस्येति भावः। अष्टश्लोककथायां विश्वासजनकं देवानां गुह्यं वरणीयम्। सम्बन्धिन इति सुनामन्यग्रोधकंकादयः कंसभ्रातरः ॥ ६३ ॥

एतत् कंसायेत्यत्र दुष्टत्वमिति बालकघातकत्वम्। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुने'तिस्मृतेः। 'कलौ कर्तैव लिप्यत' इति पराशरस्मृतेः। 'कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेस्मिन् वैष्णवे वयं आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरे'रितिवाक्यात् कलिकालः। शंस कथन इत्यत्र कथनं कथनविशेष इत्याहुः एकान्ते कथमिति। शंश कथने, कथ वाक्यप्रबन्धे इत्याशयेनाहुः युक्तिपूर्वकमिति। एष एकान्तशब्दार्थः। उपाख्यानेत्यादि प्रबंधार्थः। कथनं भावल्युडर्थः किमुपाख्यानमित्याकाङ्क्षायामाहुः तत्रैवोपेति। अत्रेत्यष्टश्लोक्याम्। आनुपूर्वी त 'आत्मानमिह संजात'मिति विरोधः पूर्वं, 'मातरं पितरं'मिति हननज्ञानं विरोधानन्तरं, पश्चा'द्देवकीं वसुदेवं चे'ति निगडनिग्रह इत्यानुपूर्वी तस्या जानातीच्छति यतत इति न्यायसिद्धाया अभाव इत्यर्थः। एतावतैवेति इच्छाभावसहितेनोपनिबन्धेनैव। छांदोग्योक्तोद्गीथाहरणमाहुः नाकपृष्ठ इति। 'देवासुराः' सात्त्विककरणवृत्तयो देवाः 'असुराः' असुरेष्वेव रमणाद् राजसयस्तामसयश्च करणवृत्तयः 'यत्र' यागे सत्यरूपेण्योन्यविषयापहारलक्षणे निमित्ते। 'संयेतिरे' प्रतिदेहमन्योन्यस्य

वृत्युभयाभिभवलक्षणं संग्रामं कृतवन्तः। 'उभये' एते 'प्राजापत्याः' यजमानावस्थस्य कर्मिणः प्रजापतेरन्वयवस्थिताः, 'तत' तत्र 'ह' प्रसिद्धे स्वर्गपृष्ठे 'देवा उद्गीथमाजह्रुः' सोमयागं कृतवन्तः। 'अनेना'सुरा'नभिभविष्याम' इति श्रुत्यर्थः। अत्र यागाधिकारो देवानां नाकपृष्ठे इति नाकपृष्ठ इत्युक्तम्। 'अंभस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे' इति महानारायणे उपक्रम्य 'यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु'रिति श्रूयते। तत्र 'यस्मिन्' प्रजापतौ 'विश्वे'स्मिन् नाकपृष्ठरूपे देवा निषेदु'र्देवत्वात्, एतदग्रे 'तदेवभूतं तदुभव्यमानमिदं तदक्षरे परमे व्योमन्, येनावृतं खं च दिवं महीं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च। यदन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा' इत्युक्तम्। अत्र 'प्रजा' इति प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजाशब्दव्युत्पत्तिः। तत्र प्रकर्षश्चानेकधा। प्रकृते प्रकर्षः स उक्तः। नाकपृष्ठे देवानां मन्त्रणमित्यादि कृष्णोपनिषदि चाहुः 'ते होचुस्तं सुराः सर्वे भगवंतं सनातनं, नोवद्यमवतारान् वै गृह्यन्ते नैव भूतले। आज्ञयावतारांस्ते हि गोपांश्च नो कुरु स्त्रीश्च नो कुरु' इति। अत्र संग्रामोक्तेस्तत्रत्यदेवगुह्यकर्तो नारदादिरार्थिकः। एवं च 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वदति तत् करोती'तिश्रुतेर्नारदेन देवगुह्यकर्त्रा देवानां मन्त्रणम् ऋषयो मन्त्रद्रष्टार इति मनसा ध्यातं तदुत्तरार्धेन वाचोक्तमित्याशयेनोत्तरार्धं विवृण्वन्ति स्म भूमेर्भारायमाणा इत्यादिना। देवानां मन्त्रणं जातमित्यस्यार्थोयम्। देवागमनमिति कृष्णोपनिषदि 'तं होचुः सुराः सर्वे भगवन्तं सनातनम्। नोवद्यमवतारान् वै गृह्यन्ते नैव भूतले' इति श्रुतेः देवप्राया अक्रूराद्योपि। वधोद्यमरूपमिति वधोद्यमं रूपयति तादृशं देवागमनं दैत्यहननार्थं जातम्। अत्र देवागमनपदाभावेपि नारदेनोपाख्याने तथोक्तमित्यार्थिकं देवागमनपदमादाय वधोद्यमपदस्य विशेषणत्वम्। तथा च मूले वधस्योद्यमो येन देवागमनेन तादृशं देवागमनं च शशंसेत्यन्वयः। वधोद्यममिति तादृशं देवागमनं यथा भवति सम्भवति तथा सात्त्विकत्वप्रकारेणैते देवताप्रायाः, एतेषां सात्त्विकत्वेन देवतातुल्यत्वे एतेषु देवानामागमनमंशतोवतरणम्। 'भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यता'मित्युक्तं सम्भवतीत्यर्थः। उत् अधिकं यमः शरीरसाधनापेक्ष उद्यमस्तम्। 'यमो दंडधरे ध्वांक्षे संयमे यमजेपि च, शरीरसाधनापेक्षे नित्यकर्मणि चोच्यते' इति विश्वः। वाक्यमिति एकमेवेतिशेषः देवागमनसिद्धयर्थं पूर्ववाक्ये तत्तुल्यत्वबोधनमिति सर्वमेकवाक्यमेव। अत्र पूर्वतन्त्रेऽर्थैकत्वादेकं वाक्यं 'साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्या'दित्येकवाक्यलक्षणादित्यर्थः। एतत्पदात् पूर्वोत्तरयोः श्लोकयोर्विभागे साकाङ्क्षत्वम्॥६४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

आनकदुन्दुभिस्तथेत्यङ्गीकृत्य सुतमादाय स्वगृहं ययौ, परन्तु तस्य कंसस्य वाक्यं नाभ्यनन्दत यथार्थं नामन्यत। तत्र हेतुमाह—असत इति। असत्त्वमेव स्पष्टयति—अविजितात्मन इति। अनवस्थितचित्तस्येत्यर्थः॥ ६१॥ हे भारत! एवं कंसस्य शान्तिर्देवकार्यानुगुणा न भवति, भगवतोऽवतारे हि भक्तानां दुःखस्य हेतुत्वात्। अतो देवकार्यार्थमुद्यत प्रयत्नवान् भगवान् सर्वोपायाभिज्ञो नारदः वसुदेवे गते सति। अथानन्तरमेवाभ्यैत्यागत्य कंसायेतच्छशंस एकान्ते कथयामासेति सार्धत्रयस्यान्वयः। एतच्छब्दार्थमेव स्पष्टयति ये व्रजे नन्दाद्यो गोपाः, याश्च यशोदाद्या अमीषां नन्दादीनां योषितः स्त्रियः, तथा ये वसुदेवाद्या वृष्णयो यादवाः, याश्च देवक्याद्या यादवानां स्त्रियः, तथोभयोर्नन्दवसुदेवयोर्ज्ञातयः गोत्रिणः, बन्धवः सम्बन्धिनः, सुहृदो मित्राणि, तथा ये चाक्रूरादयः कंसमनुव्रताः सेवमानास्ते सर्वे एव देवताप्रायाः। तत्र मनुष्याणामपि सत्त्वात् प्रायग्रहणम्॥ ६२–६३॥ भूमेर्भारायमाणानां भारवद्वर्तमानानां दैत्यानां वधोद्यमं च पूर्वोक्तप्रकारेण भगवत्प्रार्थनादिरूपं ब्रह्मादिभिः कृतं शशंस॥६४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तथेति॥ आनकदुन्दुभिः तथा इति उक्त्वा सुतम् आदाय स्वगृहं ययौ। असतः मृषा सौहार्दं दर्शयतः अविजितात्मनः अस्थिरचित्तस्य कंसस्य तद्वाक्यं नाभ्यनन्दत विश्वासाभावात्। तद्भार्षः॥६१॥ कंसस्य शान्तिर्देवकार्यानुगुणा न भवतीति नारदस्य प्रत्यवस्थानं तदाह—नन्दाद्या इति। आदिद्वयं नारदवाक्यं तृतीयं शुकवाक्यम्। हे भारत! कंसव्रजे ये नन्दाद्याः गोपाः याश्च अमीषां गोपानां योषितः यशोदाद्याः ये च वसुदेवाद्याः वृष्णयः याश्च देवक्याद्याः यदुस्त्रियः सन्ति॥ ६२॥ सर्व इति॥ ये च उभयोर्नन्दवसुदेवकुलयोः ज्ञातयः सकुल्याः बन्धवः सुहृदश्च ये च कंसमनुव्रताः ते सर्वे वै निश्चितं देवताप्रायाः प्रायेण देवतांशाः। प्रायग्रहणात्कंसादीनां दैत्यांशत्वम्॥ ६३॥ एतदिति॥ भगवान्नारदः अभ्येत्य कंसाय एतत्पूर्वोक्तं वचः शशंस तथा भूमेर्भारायमाणानां भारभूतानां दैत्यानां वधोद्यमं पृथ्वीप्रार्थनया ब्रह्माद्यैः कृतमपि शशंस नारदेन कंसकर्तृकवैष्णवद्रोहप्रवर्तनं शीघ्रं भगवत्प्रादुर्भावाय॥ ६४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदेवाह। प्रतियात्विति। अयं तव कुमारः, प्रतियातु गृहं प्रति गच्छतु। मे मम, अस्मात्कुमारात्, भयं मृत्योर्भीतिः, न अस्ति हि। युवयोः, अष्टमात् पुत्रात्, मे मम, मृत्युः विहितः, किल। अशरीरवाचा कथितोऽस्ति हीत्यर्थः॥ ६१॥ तथेति॥ आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः, तथेति ओमित्यङ्गीकृत्य सुतम् आदाय ययौ। स्वगृहं प्रतीति शेषः। किं तु। असतः पापिनः, अविदितात्मनः अज्ञस्य, अविजितात्मन इति पाठेऽनवस्थितचित्तस्य, कंसस्येति शेषः। तत् वाक्यं, न अभ्यनन्दत। 'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयावहः' इति न्यायं संचिन्त्येदमेतस्य वाक्यं विश्वसनीयमिति नामन्यतेत्यर्थः॥ ६२॥ कंसस्य शान्तिर्देवकार्यानुगुणा

न भवतीति नारदस्य यत्प्रत्ययवस्थानं तदाह नन्दाद्या इति त्रयेण ॥ नन्दाद्या इति व्रजे, ये नन्दाद्या नन्दप्रभृतयः गोपाः, याश्च अमीषां नन्दादीनां, योषितः, ये वसुदेवाद्याः, वृष्णयो यदवः, याः देवक्याद्याः यदुस्त्रियश्च ॥ ६३ ॥ सर्व इति हे भारत हे नार्पत्य-दीप्तिप्रसक्त, उभयोर्नन्दवसुदेवयोः, ज्ञातयः, बन्धुसुहृदः, बन्धवः सुहृदश्चेत्यर्थः। सर्वेऽपि देवताप्रायाः, ये च कंसं त्वां, अनुव्रताः तेऽपि, देवताप्रायाः वै ॥ ६४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नन्दाद्या इतिः १०-१-६२

यद्दर्शनं जगति तत्त्वदृशोऽप्यलभ्यमागात् स कंसमसदभ्यमृषिस्तदेतत्।
चित्रं न चित्रमथवा भुवि सिद्धमेव यत्पुण्यपाक-सुमनः-फलमीदृगर्थम् ॥ ४४ ॥

यत्साहाय्येन शत्रुर्भवति सुबलवाँस्तद्विनाशे प्रयत्नः कार्यो विज्ञरितीमं नयमनुगुणमालोचयन् कार्यसिद्धौ।
आगत्यागण्यपुण्यप्रचयविघटनायैव कंसं नु देवा एवेमे यादवाः खल्विति समकथयद्देवमानी मुनीशः ॥ ४५ ॥
देवांशो वसुदेव एष इति चेत्तेनात्मसख्यं कथं नन्दस्य व्रजवासिनो मम प्रजारूपस्य नैसर्गिकम्।
स्य द्वैतस्य कथं सवृष्णिनिवहः स्वज्ञातिबन्ध्वात्मकस्तस्मादुक्तमिदं न सङ्गतमिति श्रद्धालुरस्मद्गिरि ॥ ४६ ॥

न स्यात्ततो न भविता सुरवर्यकार्यसिद्ध्यर्थयत्नमनसः सकला गतिर्मे।
आलोचयन्निति स तेष्वखिलेषु देवभावं शशंस लिखनं कथमन्यथेदम्॥ ४७ ॥ (युग्मम)

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

वसुदेवजीने कहा—'ठीक है' और उस बालकको लेकर वे लौट आये। परन्तु उन्हें मालूम था कि कंस बड़ा दुष्ट है और उनका मन उसके हाथमें नहीं। वह किसी क्षण बदल सकता है। इसलिये उन्होंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया ॥ ६१ ॥ परीक्षित्! इधर भगवान् नारद कंसके पास आये और उससे बोले कि 'कंस! व्रजमें रहनेवाले नन्द आदि गोप, उनकी स्त्रियाँ, वसुदेव आदि वृष्णिवंशी यादव, देवकी आदि यदुवंशकी स्त्रियाँ और नन्द, वसुदेव दोनोंके सजातीय बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी—सब-के सब देवता हैं; जो इस समय तुम्हारी सेवा कर रहे हैं, वे भी देवता ही हैं। इन्होंने यह भी बतलाया कि 'दैत्योंके कारणके पृथ्वीका भार बढ़ गया है, इसलिये देवताओंकी ओरसे अब उनके वधकी तैयारी की जा रही है ॥६२-६४॥

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति। देवक्या गर्भसम्भूतिं विष्णुं च स्ववधं प्रति ॥ ६५ ॥
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे। जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया ॥ ६६ ॥
मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च[2] [3]सुहृदः सखीन्। [4]घ्नन्ति ह्यसु[5]तृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥ ६७ ॥
आत्मानमिह संजातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्। महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥ ६८ ॥
उग्रसेनं च पितरं [6]यदुभोजान्धकाधिपम्। स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशम[7]स्कन्धे प्रथमे जन्मप्रकरणे
भक्तदुःखनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥[8]

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ऋषेः विनिर्गमे कंसः यदून् सुरान् इति मत्वा च स्ववधं प्रति देवक्याः गर्भसम्भूतिं विष्णुं मत्वा देवकीं च वसुदेवं निगडैः गृहे निगृह्य तयोः जातं जातं पुत्रम् अजनशंकया अहन् ॥ ६५-६६ ॥ भुवि प्रायशः लुब्धाः असुतृपः राजानः हि मातरं पितरं भ्रातॄन् सुहृदः सखीन् च सर्वान् घ्नन्ति ॥ ६७ ॥ प्राग् विष्णुना आत्मानं कालनेमिं महासुरं हतं (पुनः) इह संजातम् आत्मानं जानन् सः यदुभिः व्यरुध्यत ॥ ६८ ॥ महाबलः यदुभोजान्धकाधिपं च पितरम् उग्रसेनं निगृह्य स्वयं शूरसेनात् बुभुजे ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

निगडैः श्रृंखलैः अजनो विष्णुस्तच्छंकया ॥ ६६-६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे टीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

१. तं-श्रीधरादयः। २. न्पुत्रांश्च-वीर.। ३. सुहृदस्तथा-श्रीधरादयः; सुहृदः सखीन्-विज.। ४. निघ्नन्त्यसु-विज, ५. तृपा-वीर.। ६. यदुनामन्धका-इति कस्यचित्। ७. पूर्वार्धे श्री कृष्णावतारोपक्रमे-इति कस्यचित्। ८. द्वितीयोऽध्यायः- विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ऋषेर्नारदस्य। विनिर्गमे गमने सति। स्ववधं प्रति मत्वा च ॥६५॥ निगडैरंदुकैः 'अंदुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः। निगृह्य निरुद्ध्य। अयमेव मत्संहर्ता विष्णुरिति शंकया। जातं जातमुत्पन्नमुत्पन्नम्। हतवान्न तु जन्मकाल एव। तथा सति नामकरणासंभवे कीर्तिमंतमित्युक्तेरसांगत्यं स्यादिति भावः। युग्मम् ॥ ६६ ॥ परप्राणैः स्वप्राणांस्तर्पयंति ये तेऽसुतृपः। राजानस्तु प्रायशो बाहुल्येन "मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद। सुजनानुत वा बंधून्न पश्यति ययांधदृक् ॥" इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ६७ ॥ प्राक्पूर्वजन्मनि जानन् नारदोक्तेरिति शेषः। स कंसः ॥ ६८ ॥ चात्तत्संबंधिनोपि। स्वयं बुभुजे न केनचिदभिषिक्त इत्यर्थः ॥६९॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ऋषेरिति युग्मकम्। इति अनेन प्रकारेण विशेषेण पुनर्निवृत्तिशङ्कापगमनादिना पुरीतो निर्गमे सति ऋषेः साक्षात्तत्तन्निग्रहे लज्जाद्युत्पत्तेः किंवा तेन तन्निवारणस्य शङ्कया मत्वा ज्ञात्वा स्वस्य कंसस्य वधं प्रति तदर्थं विष्णुं च देवक्या गर्भे सम्यक् सर्वैश्वर्यपरिपूर्णतया भूतमाविर्भूतं भविष्यत्यपि भूतनिर्देशः सामीप्यात्तन्निर्द्धारणाद्वा यद्वा गर्भे सम्भूतं सम्भूतिर्यस्य तं मत्वा सम्भूतिमिति पाठोपि क्वचित् तदुज्ञानं च "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः" इति पूर्वोक्तेन समुदितात् "दैत्यानां च वधोद्यमम्" इति श्रीनारदवचनादेव ज्ञेयं, तथा च तत्रैव—

"तत्रैषा देवकी या ते मथुरायां पितृष्वसा। योऽस्या गर्भोऽष्टमः कंसः! स ते मृत्युर्भविष्यति ॥
देवानां चैव सर्वस्वं त्रिदिवस्य गतिश्च सः। परं रहस्यं वेदानां स ते मृत्युर्भविष्यति ॥
परतोऽपि परस्तेषां स्वयम्भूश्च दिवौकसाम्। ततस्त्वेतन्महद्भूतं दिव्यं ते कथयाम्यहम् ॥
श्लाघ्यश्च स हि ते मृत्युर्भूतपूर्वश्च तं स्मर" इति

तत्र पितृष्वसेति पितृसम्बन्धेन स्वसेत्यर्थः। देवकजनकेनाऽऽहुकेन पौत्री देवकी स्वपुत्रीत्वेन पालितेति केचित् निगृह्य बद्ध्वा निजगृहे अजनेति जीववज्जन्मरहितस्यापि प्राकृतज्जन्मशङ्कयेति कंसस्य मौढ्यं सूचितं किं वा अजनाद्या शङ्का भयं तया ॥ ६५–६६ ॥ ननु, बालान् घ्नन् कंसः कथं न लज्जते? तत्राह—मातरमिति। मात्रादीनां यथोत्तरं स्निग्धत्वेन न्यूनता मातरमपि घ्नन्ति किमुत पितरमित्येवं हि निश्चये यतो ये असून् निजप्राणानेव तर्प्यन्तीत्यसुतृपः राज्यादिलुब्धाः ते मात्रादीन् घ्नन्ति प्रायश इति तेऽपि न सर्वे इति तस्याऽत्यन्तावमत्वविवक्षया ॥ ६७ ॥ विष्णुना निजशक्त्या जगद्व्यापकेनेति हनने सामर्थ्यमुक्तं जानन्निति भूतपूर्वं च तं स्मरेति श्रीनारदवचनादेव पूर्वजन्मस्मरणात् ॥६८॥ न च केवलं तैः सह स्वपित्रापीत्याह—उग्रेत्यादि। यदुभोजाद्यधिपमपि निगृह्य बद्ध्वा अतिक्रम्य वा स्वयं बुभुजे यतो महद्बलं सामर्थ्यं दैत्यसेना वा यस्य सः भोजादीनां यदुत्वेऽपि पृथगुक्तिः तेषां तेषु प्रधानानामप्यधिप इति विवक्षया शूरसेनानिति माथुरांस्तत्पूर्वमेव तदनुज्ञामतिक्रम्य बुभुज इति द्योतितम् ॥६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत ऋषेर्नारदस्य विनिर्गमनानन्तरं कंसो यदून् सुरांशसम्भवान् स्ववधं प्रत्युद्दिश्य देवक्या गर्भे सम्भविष्यमाणं विष्णुञ्च ज्ञात्वा इत्यर्थः ॥ ६५ ॥ देवकीं वसुदेवं च निगडैः शृङ्खलैर्गृहे कारागृहे निगृह्य निग्रहपूर्वकमाबध्य अजनशङ्कया अरिष्टशङ्कया अर्दनशङ्कयेति पाठे स्वपीडाशङ्कया तयोर्देवकीवसुदेवयोः पुत्रं जातञ्जातमहन् जघान ॥ ६६ ॥ निर्घृणः कथमहन्नित्यत्र लोकपरिपाटीं दर्शयति—मातरमिति भुवि राजानः प्रायशोऽसुतृपाः परप्राणैरात्मप्राणतर्पकाः; लुब्धाः निषादसदृशाः मात्रादीनपि घ्नन्तीति हि निश्चयार्थद्योतकः ॥ ६७ ॥ आत्मानं प्राक् पूर्वजन्मनि विष्णुना हतं महासुरं कालनेमिम् इहास्मिन् जन्मनि आत्मरूपेण जातं जानन् नारदवाक्याज्जानन् स कंसः यदुभिः सह व्यरुध्यत विरोधङ्कृतवान् ॥ ६८ ॥ भोजानामन्धकानां च यादवानामधिपं पितरमुग्रसेनं निगृह्य स्वयं महाबलः कंसः शूरसेनान् जनपदान् बुभुजे उपभुक्तवान् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्य्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अहन् हतवान् अजनो विष्णुरवतीर्ण इति शङ्कया ॥ ६६ ॥ परप्राणैः स्वानसून् प्राणांस्तर्प्यन्तीत्यसुतृपः ॥ ६७ ॥ प्राक् पूर्वजन्मनि ॥ ६८ ॥ शूरसेनान् विषयान् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(विजयध्वजतीर्थपाठेन द्वितीयोऽध्यायः)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

विष्णुश्च स्ववधं प्रतीति पूर्वशत्रुर्विष्णुर्देवक्यामाविर्भूय त्वां वधिष्यतीति नारदेनोक्तं तत्तत्सर्वं एव शुश्रुपुश्चेत्यपि ज्ञेयम् अजनो विष्णुस्तच्छङ्कया ॥ ६५-६६ ॥ कंसादीनां दुर्जनानामेतन्न चित्रमित्याह—मातरमपि किमुत पितरमित्येवं यथापूर्वं गुरुत्वाधिक्यम् ॥ ६७ ॥ जानन् नारदवचनात् ॥ ६८ ॥ शूरसेनान्तर्गतत्वान्माथुरानपि ॥ ६९ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमे प्रथमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

निगडैः शृङ्खलैः अजनशङ्कया श्रीनारदोक्तविष्णुप्रादुर्भावशङ्कया ॥ ६६-६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे प्रथमाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ १ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं श्लोकत्रयमुक्त्वर्षौ गते कंसो यत् कृतवांस्तदाह पञ्चभिर्ऋषेर्विनिर्गम इति । अनुवादेपि येथास्ते पूर्वं नारदेनोक्ता इति ज्ञातव्यम् । ऋषिणैव निवारितमिति नर्षेरग्रे किञ्चित् कृतवान् । द्वयं ज्ञातवान् । चतुष्टयं कृतवान् । ज्ञातं द्वयमाह यदून् सुरान् देवान् मत्वा देवक्यागर्भेष्टमे सम्भूतिर्यस्य तादृशं च विष्णुं स्वस्य कंसस्य वधं प्रत्येव देवकीगर्भसम्भूतिं विदित्वा ॥ ६५ ॥ प्रथमतो देवकीं वसुदेवं चकारादन्यांश्च तदन्तर्गतान् स्वगृह एव निगडैर्निगृह्य जातञ्जातमानुपूर्व्येण जातमष्टमसङ्ख्याया अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वाद्गणनायामनियमसम्भवादजनशङ्कया विष्णुसन्देहात् षट् पुत्रानहन् । जातञ्जातमिति न कालभेदज्ञापकं किन्तु मारणे देवक्यां जननमेव निमित्तमितिज्ञापयितुमन्यथा क्षत्रियाणां त्रयोदश एवाह्नि नामकरणसम्भवादुत्पन्नमात्राणामेव मारणे 'कीर्तिमन्तं सुषेणञ्च'त्यादिनामोक्तिराद्यस्कन्धेनुपपन्ना स्यात् ॥ ६६ ॥ नन्वेवं कथमतिदुष्कृतं कृतवानित्याशङ्क्याह मातरमिति । अयं तु दैत्य एव । येप्यन्ये राजानस्तेप्यसुतृपः केवलं प्राणपोषकास्तत्रापि लुब्धाः । लोभः सर्वगुणनाशकोतस्तेषां गुणा न सन्तीतिज्ञापनार्थमुक्तम् । प्रायश इति लुब्धा इति च पदद्वयेन केचन धर्मात्मानो व्यावर्तिता अम्बरीषादयः । भुव्येषैव व्यवस्था । अतो युधिष्ठिरादयोपि पितामहादीन् मारितवन्तः । स्वस्य यत्रैव मरणसन्देहस्तानतिमान्यानपि मात्रादीन् पञ्चविधान् घ्नन्त्येव ॥ ६७ ॥ नन्वस्य स्वस्यापि देवत्वसम्भावनया तद्धिताचरणमेव कथं न जातमित्याशङ्क्याहात्मानमिति । पूर्वममृतमथने भगवता महासुरः कालनेमिर्हतो देवपार्ष्णिग्राहेण स एवायं कंस इत्यात्मानं जानन् पुनर्देवप्रेरणयैव मारणार्थमायातीति यदूनां देवत्वात् तैः सर्वैरेव सह विरोधं कृतवान् ॥ ६८ ॥ अन्यदप्यत्यन्तायुक्तं कृतवानित्याहोग्रसेनमिति । नाम्नैव महत्त्वं निरूपितम् । स्वस्य पितरं सर्वसहाययुक्तम् । यदुभोजान्धकाधिपं यदवो भोजा अन्धकाश्च । उपलक्षणमेतत् षड्विधानामपि यादवानाम् । तदाज्ञया ते सर्वे विपरीतं करिष्यन्तीति विशेषतस्तस्य बन्धनम् । बन्धकः स्वयमेव जात इत्याह स्वयं निगृह्येति । शूरसेनदेशस्तस्य भोगार्थं स्थितः । अतस्तस्य पुनर्वचनं शूरशूरसेनान् बुभुज इति । एतत्सर्वकरणे सामर्थ्यं महाबल इति । एवं सर्वेषां देवांशानां भक्तानां महानुपद्रवो निरूपितो भगवदवतारहेतुभूतः ॥ ६९ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

जातञ्जातमित्यत्र—ननु लक्षणप्रतिपदोक्तयोर्मध्ये प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न लाक्षणिकस्येतिवैयाकरणाभियुक्तोक्तनियमात् कथं नास्य कालभेदज्ञापकत्वमितिशङ्कायां तन्निवर्तकं तर्कमाहुरन्यथेत्यादि । तथा च यत्र लक्षणस्य सावकाशता तत्रैव प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणं 'यावद्वचनं हि वाचनिक'मितिन्यायात् । यत्र तु लक्षणस्य निरवकाशता तत्र न तत्प्रवृत्तिर्यथा पतिताग्निहोत्रप्रतिपत्तिस्मृत्या- 'हताग्निमग्निभिर्दहती'ति श्रुतौ यथा च तल्लिङ्गादिभिर्हेतुभिराकाशादिशब्दानां ब्रह्मवाचकत्वे । तथा च मीमांसाद्वयसिद्धत्वादत्र लाक्षणिकग्रहणं नायुक्तमित्यर्थः ॥ ६६ ॥ आत्मानमित्यत्र—देवपार्ष्णिग्राहेणेति 'ये ये हताश्चक्रधरेण राजंस्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन ते ते गता विष्णुगतिं प्रपन्नाः क्रोधो हि देवस्य वरेण तुल्य' इतिपाण्डवगीतावाक्यविरोधपरिजिहीर्षयैनमुक्तम् । पार्ष्णिग्राहस्यानुग्राहकत्वेन मार्ये क्रोधाभावात् । तत्रार्जुनेन भूरिश्रवसो बाहुच्छेदेर्जुनस्य तथात्वं प्रसिद्धम् । वस्तुतस्तु 'कृतप्रयत्नापेक्ष' इतिन्यायेन तथेत्यापाततो मर्यादाविरोधो न दोषः । यद्वोक्तवाक्ये 'प्रपन्ना' इयिकथनायत्र तदेकतानतारूपा प्रपन्नता तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येति 'क्रोधः' तु 'वरेण तुल्य' इति लौकिकभोगं दत्वापि चरितार्थो भवतीति न कोपि विरोधः । हिरण्यकशिपुवधे क्रोधस्यापि कथनादिति ॥६८॥

॥ इति श्रीप्रथमाध्यायप्रकाशः ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

मातरमित्यत्र—एषैवेति । लुब्धा घ्नन्त्येवेत्यर्थः । अम्बरीषादयस्तु लोभाभावान्न तथेतिभावः ॥ ६७ ॥

॥ इति श्रीप्रथमाध्यायलेखः ॥

बुभुत्सुबोधिका

ऋषेर्विनिर्गम इत्यत्र अनुवादेपीति 'एतत् सर्वं समाचष्टे कंस आहूय मन्त्रिणः अन्यथानुपपन्नं स्यान्निग्रहादिकमग्रिमम्'। अतः कंसकृते नारदशंसितस्य मन्त्रिणः प्रत्यनुवादे। अनुक्तत्वादननुवादोपिशब्दार्थः। पूर्वमिति पूर्वपद्योत्तरार्धे। ननु सत्यं त्वयक्तस्वप्युक्तं कुतोनूदितवान् कंस इति चेत्, तत्राहुः ऋषिणेवेति, इतरयोर्व्यवच्छेदकैवकारः। निवारितमिति सत्य राजकार्यम्। निवारितम् असत्यीकृतम्। 'नेति ऋषेर्विनिर्गम' इति वाक्यात्। चतुष्टयमिति अग्रेतनचतुःश्लोकोक्तं चतुष्टयं निगडनिग्रहादिकम्। यदूनिति यादवान्। बहुषु तद्राजस्य लुक्। तादृशं चेति कंसस्य राजत्वाद्बुद्धिः। विष्णवंशं 'स्ववधं प्रति' स्वस्य वधं प्रतीति स्पष्टम्। एवं 'देवक्या गर्भसम्भूति'मितिपाठे व्याख्यानमुक्तम्। चकारात् 'देवक्या गर्भसम्बन्ध'मितिपाठे श्रीशुकबुद्धिस्थं देवक्या गर्भे प्रद्युम्ने आधाराधेयभावो यस्य सङ्कर्षणस्य तं विष्णोर्ज्ञानस्य वेदमतेऽनिरुद्धस्य धर्मस्यांशं स्वस्य कंसस्य वधं प्रत्येव अपि न तु भूभारहरणमात्राय। वासुदेवस्तु मोक्षमात्रदाता कंसस्य। किञ्च विष्णोरंशं तावतीं मायां दूरीकृत्य प्रकटोंशस्तम्। विष्णुं अंशेऽवाङ्निवृत्तेर्विष्णुमात्रमुक्तम्, न त्वंशः। 'मत्वे'ति सम्बन्धः। 'ग्रहो'दिति उत्तरश्लोके मुख्यक्रियापदम्॥ ६५॥

देवकीं वसुदेवं चेत्यत्र विदित्वेति पूर्वोनुवादः। ग्रहीदिति सम्बन्धः। लुङ्। अडभावश्छांदसः। एवं ग्रहीदिति पूर्वश्लोकान्वयि सूचयित्वान्यपदानामर्थानाहुः प्रथमत इति। तदन्तर्गतानिति स्मृत्युक्तसूचकानुमोदकादीन् वसुदेवान्तर्गतान्। कलेः प्रवृत्त्यभावान्नैकस्य हन्तुरेव दोष इति, 'कलौ कर्तैव लिप्यत' इति। स्वगृह एवेति 'भोजेन्द्रगेहेग्निशिखेव रुद्धे'ति वक्ष्यमाणत्वात्। 'ग्रही'दित्यत्र णिजभावादिति भावः। एकवचनाच्च। अजननशङ्कायां हेतुमाहुः अष्टमेति। अयमेकोयमेक इत्यपेक्षाबुद्धिः। तज्जन्यत्वमयमष्टम इत्यष्टमत्वसङ्ख्यायाम्। तस्मात्। द्वितीयाद्यारभ्यगणनायाम्। अजननशङ्कयाजननतर्केणान्यथाज्ञानरूपेण। वासनया च एवं संदेहबीजाभ्यां विष्णुसंदेहादित्यर्थः। षट् पुत्रानहनदिति ननु भगवदैश्वर्यरूपानहनदिति किं सामर्थ्यं कंसस्येति चेच्छृणु। ब्रह्माण्डसमायातस्यैश्वर्यादितिरोधानजपरिदृश्यमानलोकनाट्यदुःखादिषूपपत्तिरुक्ता। तथा हि अत्र षड् धर्मा हताः, ते प्रद्युम्ने उपयुज्यन्ते। कृष्णे तु युक्तभर्गैः स्वैरितरत्र चाध्रुवै'रितिवाक्यात्, नित्याः। ते च 'विराड्जीवस्तु भोगभुगिति' विराड्जीवे तिरोहिताः, कृष्णे समायाते उत्पन्नाः 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'रिति वाक्यात् ते कंसेन हता इति लीलामर्यादा। कालभेदेति प्रथमज्ञप्तिकालभेदस्य शरीरस्वीकरणकालभेदस्य वा ज्ञापकम्। जननमेवेति एवकारेण जननविषयव्यवच्छेदः 'जातं जात'मिति भावे क्तो वा षड्धर्माणां नित्यानां जातं जननमहनदिति। न च प्रत्यक्षविरोधः। आश्चर्यत्वादतो न जातपदस्य जनने लक्षणा॥ ६६॥

मातरमित्यत्र एषैवेति लुब्धा ध्नन्त्येवेत्यर्थः। अम्बरीषादयस्तु लोभाभावान्न तथेति भावः। यत्रैव मरणसन्देह इति यन्निमित्तो मरणसंदेहः। निमित्तमिह कारणम्। पञ्चविधानिति 'तद्वार्या' इत्यत्र 'तत्सर्वा'नितिपाठे। 'सुहृद' इति सखिविशेषणं वा॥ ६७॥ आत्मानमिहेत्यत्र देवत्वसम्भावनयेति कलिः कंसो नित्यक्रीडास्थ इति तथा। यद्वा, वसुदेवेन स्वभावादिः कंसे स्थापित इति 'पूजयामास तं शौरि'रित्यत्र निरूपितम्। तेन देवत्वसम्भावना तया। तद्धिताचरणं भगवतः षड्धर्महिताचरणम्। नित्यलीलास्थत्वात्। पार्ष्णिग्राहेणेति प्रष्णिग्रहेण। पार्ष्णिग्राहस्यानुग्राहकत्वात्॥ ६८॥

उग्रसेनं चेत्यत्र निरूपितमिति उग्रा सेना यस्येति नामविग्रहान् निरूपितम्। सर्वसहायेति कंसस्यापि सहायत्वात् सर्वसहायत्वम्। षड्विधानामिति यदुभोजांधकमधुवृष्णिप्रभृतीनां, यद्वा यदुवंशानुकथने त्रयोविंशेध्याये 'तेषां तु षट्प्रधानाना'मितिवाक्यात् 'पृथुकीर्तिः पृथुश्रवा' इत्यादयः षट् प्रधानानि श्रेष्ठा येषां दशलक्षसहस्रमहाभोजपुत्राणां तेषां षट्प्रधानानां षड्विधानाम्। न च लक्षणाप्रसङ्गः। काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यत्र तात्पर्यवत् तात्पर्यात्। व्यञ्जनावृत्तेरिष्टत्वात्, वृत्तेस्त्रैविध्यात्। तदाज्ञयेति उग्रसेनाज्ञया। ते षड्विधाः। तस्येत्युग्रसेनस्य। स्थित इति माथुरशूरसेनयोर्मध्ये माथुरस्तु शूरसेननिवासस्थानम्। अत इति शूरसेनमाथुरयोर्विभज्यार्थात्, तस्येति शूरसेनदेशस्य। अध्यायार्थमाहुः एवमिति। हेतुभूत इति भक्तदुःखरूपः हेतुभूतः। ततोपि मुख्यः षड्धर्मवधः सोत्राध्यायार्थः उक्तः। षड्बालकवधो नाम प्रथमोध्याय इति। इति श्रीभागवत इत्यादि भागवतलक्षणं प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम्। महापुराण इति पुराणं 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षण'मित्युक्तम्। महत्त्वं दशलक्षणत्वम्। तस्मिन् महापुराणे। अध्यायः इक् स्मरणे, एरच् कर्मणि। इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरत इति आय, आङ्पूर्वकोऽयः। वाक्य मरणविषयः। पारमहंस्यां संहितायामितीति श्रियां दर्शनात् परमहंसः शुकः, तेनाधीता पारमहंसी 'तदधीते तद्वेदेति ञः। हिरण्यगर्भस्यैकप्राणयोगिकायामिति संहितायामित्यर्थः। 'वायुः शब्दतामापद्यत' इति प्राचां प्रवादात्। सम्यग्घिता संहिता॥ ६९॥

इति श्रीमद्वल्लभचरणैकतानश्रीगोपेश्वरविरचितायां शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिकायां प्रथमाध्यायव्याख्यानम्।

मातृपितृतोषिणी सुबोधिनीजी (पृष्ठ ३० से आगे)

कारिका—नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात्॥ ३॥ आश्रयः क्रमभावित्वान्निरोधो वेति संशयः॥ ३½॥

दशम स्कन्ध का अर्थ "आश्रय" है अथवा 'निरोध' है यह संशय है। कितनेक विवेचकों का यह मन्तव्य है कि "नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् आश्रयः" दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है। क्योंकि उस स्कन्ध में सर्ग-विसर्ग-

"स्थान-पोषण-ऊति-मन्वंतर-ईशानुकथा-निरोध और मुक्ति आदि नव लीलाओं से जानने योग्य भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी की लीलाएँ है। और इन दशम स्कन्ध की लीलाओं से भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप जाना जाता है इससे इसलिये दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है। तब अन्य चिन्तकों का मन्तव्य है कि "क्रमभावित्वात् निरोधः" द्वितीय स्कन्ध के 'अत्र सर्गो विसर्गश्च" इस श्लोक में बताये हुए सर्ग-विसर्ग-स्थान पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोध-मुक्ति और आश्रय इस क्रमानुसार प्रत्येक स्कन्ध की लीलाओं का क्रम दर्शाया गया है। उस क्रम में "निरोध" लीला का विषय दशम स्कन्ध में आया है इसी कारण को लेकर दशम स्कन्ध का अर्थ "निरोध" है आश्रय नहीं।

इस प्रकार दशम स्कन्ध के अर्थ में दो मन्तव्य होने से सन्देह है कि दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है अथवा निरोध है। अब आचार्यचरण प्रथम पक्षकार है जो आश्रय अर्थ को मानते है उन विचारकों का मन्तव्य इन कारिकाओं में प्रस्तुत करते हैं॥ ३½॥

आश्रय पक्ष की कारिकाएँ—

कारिका—लीला निर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्बलम्। यथा कथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते।
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः। प्रतीतो द्वादशेऽन्यत्र महत्वाच्छुद्धलीलया॥
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धः प्रतिपाद्य इहेति चेत्॥ ४-५-६॥

जो महानुभाव दशमस्कन्धार्थ को "आश्रय" मानते हैं उनका मन्तव्य है कि जिस जिस स्कन्ध में जिस २ लीला का वर्णन हो वा किया गया हो उससे ही स्कन्ध का अर्थनिर्णय करना चाहिये। लेकिन "अत्र सर्गो विसर्गश्च" यह जो द्वितीय स्कन्ध के दशमाध्याय के श्लोक में जो क्रम का उल्लेख किया है उस क्रम से निर्णय करना उचित नहीं होगा क्योंकि लीलाओं की अपेक्षा से "क्रम" निर्बल माना है। वेद में भी अर्थ का निर्णय करने की विधि दी है। उस विषय में दृष्टान्त को बताते हैं कि यागीय प्रक्रियायें पूर्वमीमांसा के अनुसार क्रम को गौण मान कर विषय सामग्री पर निर्णय करने की पद्धति है। "अग्निहोत्रं जुहोति" अग्निहोत्र याने अग्निहोत्र के अग्नि में होम करता है यह वाक्यक्रम में यद्यपि प्रथम आया है और "यवागूं पचति" होम की सामग्री "पायस" को सिद्ध करते है यह वाक्य पीछे आया है फिर भी प्रथम "पायस" ही सिद्ध किया जाता है और बाद में होम करते हैं। यदि यहाँ पर क्रम को मुख्य मान लिया जाय तब कार्य ही सिद्ध नहीं होगा इसलिये क्रमपक्ष दुर्बल है और अर्थपक्ष सबल है।

इसी न्याय से श्रीमद्भागवत में भी पूर्व मीमांसा के अनुसार पाठक्रम को दुर्बल मानकर लीलाओं के अर्थ को प्रधान जानकर दशम स्कन्ध का "आश्रय" ही अर्थ लेना चाहिए। और इस प्रकार श्रीमद्भागवत शास्त्र के श्रवण का फल सिद्ध होगा। श्लोक क्रम से यद्यपि दशम का निरोध हो सकता है लेकिन "निरोध" शब्द का प्रलय अर्थ लोक में प्रसिद्ध है इसलिये निर्बल क्रम से प्राप्त दशम स्कन्धार्थ निरोध को स्वीकार न कर श्रवण का फल देने वाला आश्रय ही ग्रहण करना उचित होगा॥ ४॥ और निरोध याने प्रलय वह द्वादश स्कन्ध में देखा भी गया है। दूसरा भी हेतु है कि "महत्वाद्" द्वादश स्कन्धों में दशम स्कन्ध महत्व का स्कन्ध है कारण कि दशम स्कन्ध में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण की शुद्ध लीलाओं का ही वर्णन किया है। निरोध शब्द का जो लोकप्रचलित अर्थ प्रलय है वह प्रलय स्पष्ट रूप से नित्य-नैमित्तिक-दैनिक और आत्यन्तिक प्रलय निरूपण के स्वरूप में द्वादश स्कन्ध में देखा गया है और भगवदाश्रय दशम स्कन्ध में मिलता है इसलिए दशम का अर्थ आश्रय है यह पूर्वपक्षकारों का मत है।

संशयनिवृत्ति के साथ जो सिद्धान्त स्थापित किया जाय उसी को उत्तरपक्ष कहते हैं। इसी उत्तरपक्ष की कारिकाओं को आचार्यचरण उपस्थित करते हैं।

कारिका—नहि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम्। नव लक्षणलक्ष्यस्तु ह्याश्रयो रूप्यते कथम्॥ ७॥
अग्रे लीलाद्वयकथा फलसिद्धौ वृथा भवेत्। पूर्वोत्तरस्कन्धायाश्च नश्येत् कारणकार्यतः॥ ८॥
कृष्णस्त्वेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत्॥ ८½॥

कारिकार्थ—सर्ग-विसर्ग आदि नव लक्षण की अपेक्षा रखने वाला जो आश्रय है उस आश्रय का प्रथम निरूपण कैसे हो सकेगा। क्योंकि जो "आश्रय" है वह तो आश्रय है। उस आश्रय का दशम स्कन्ध में श्रीशुकाचार्यजी ने कैसे वर्णन किया होगा। आश्रय तो अन्तिम लक्ष्य है और आश्रय ही फल है। यदि मध्य में ही फलप्राप्ति हो गई तो इसके अनन्तर मुक्ति एवं निरोध याने एकादश और द्वादश स्कन्ध की लीलाओं का कोई भी हेतु ही न रहा इससे दो स्कन्ध की दोनों लीलाएँ व्यर्थ हो जायेगी। और दूसरी यह भी बात है कि दशम स्कन्ध को आश्रयलीला माना जाय तो आश्रयलीला के अनन्तर मुक्ति और निरोध के वर्णन करने में द्वादश स्कन्धों की कार्य-कारण भाव की संकलना भी नष्ट हो जायगी। यदि ऐसा कहा जाय कि

दशम स्कन्ध में भगवान श्रीकृष्णजी की लीलाएँ हैं इस कारण से दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय होना सङ्गत है तब तो एकादश स्कन्ध में भी भगवान श्रीकृष्ण की लीला है तब मुक्ति स्कन्ध को भी आश्रय स्कन्ध कहना होगा। इन सब विषयों का परामर्श करने पर यही फलित होता है कि "अत्र सर्गो विसर्गश्च" इस व्यासोक्ति के अनुसार श्रीमद्भागवतजी में क्रमार्थ ही लेना अर्थ और क्रम सङ्गत होगा ॥ ७-८ ॥

अधिकार—द्वादश स्कन्धों का कार्य-कारण भाव का जरा सा अवलोकन करें। प्रथम स्कन्ध में तीन प्रकार के श्रोताओं का और वक्ताओं के लक्षण बतलाये हैं। इसलिये प्रथम स्कन्ध की अधिकार संज्ञा हुई। किसी भी कार्य के लिये अधिक योग्य बनना याने "कार्यक्षम" होना यह अधिकार है। यहाँ तक श्रवणादि के अधिकार का कथन है।

ज्ञान—अधिकारी को ज्ञान मिलता है और अधिकारी ही ज्ञानोपदेश कर सकते हैं इस न्याय से प्रथम स्कन्ध में अधिकार सिद्ध होने के अनन्तर "साधन ज्ञान का वर्णन द्वितीय स्कन्ध में आया है, इसलिए साधन युक्तों का श्रवण द्वितीय स्कन्ध में है।

सर्ग—साधन ज्ञान के अनन्तर स्वरूप ज्ञान होगा। अब भगवान का स्वरूप कैसा हो यह निमर्श होने लगा तब तृतीय स्कन्ध में सर्ग का निरूपण आया। इस स्कन्ध की लीला का नाम है सर्गलीला। कारण शरीरी पुरुषोत्तम का भूतादि शरीर से व्यक्त होना यह सर्गलीला है।

विसर्ग—चतुर्थ स्कन्ध में विसर्ग लीला है। पुरुष रूप से ब्रह्मादिकों की उत्पत्ति होना और उत्पन्न हुए के कर्तव्य-पुरुषकार निरूपण करना यह विसर्ग लीला है धर्मादि चतुर्विध पुरुषकार प्रत्येक के लिये आवश्यक है।

स्थिति—उत्पन्न किये हुये सर्व जीवों की और भूतों की मर्यादा से स्थापना के लिये पञ्चम स्कन्ध में देशस्थिति और स्वरूपस्थिति का वर्णन आया।

पोषण—पोषण का अर्थ है पुष्टि। वह पोषण ही भगवान का अनुग्रह है जिसको पुष्टि कहते है। कभी किसी जीव ने कुछ प्रमाद किया तब भगवान किस प्रकार अनुग्रह करते हैं यह कथन पुष्टि लीला में आयगा।

ऊति—ऊति का अर्थ होता है वासना। भगवान में वैषम्य दोष और निर्दयता का अभाव बताने के लिये सप्तम स्कन्ध में "वासना" का निरूपण किया गया है।

मन्वंतर-अष्टम स्कन्ध में मन्वंतर लीला है। चतुर्दश मन्वंतरों में सद्धर्मों का निर्देश किया जाता है। उन सद्-धर्मों का अनुष्ठान ही वासना का विशोधन करता है।

ईशानुकथा—नवम स्कन्ध में ईशानुकथा लीला बतायी गई है। जीवों की दोष निवृत्ति होने के लिये भक्ति होना आवश्यक था इसलिये नवम स्कन्ध में श्रीराम, श्रीपरशुराम और श्रीघनश्याम एवं तदनुयायियों के चरित निरूपित किये गये है।

निरोध—ईशानुकथा से भक्ति हृदय में आने के अनन्तर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी की रसात्म-लीलाओं के आस्वादन से प्रपंच की विस्मृति और अखंड रूप से भगवत् स्वरूपासक्ति की सिद्धि हो जाती है इसी को निरोध कहते हैं।

मुक्ति—भगवत्स्वरूप में आसक्त जीवों के प्रपञ्च निवृत्त हो जाने से स्वस्वरूप और भगवत् स्वरूप का ज्ञान होना मुक्ति है वह एकादश स्कन्ध में है।

आश्रय—स्वस्वरूप ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर जीवों की भगवल्लीलाओं में, भगवत्स्वरूप सेवा में ब्रह्म स्वरूप से स्थिति आश्रय है इसलिये इस प्रकार कार्य कारण भाव के कारण क्रम ही आदरणीय है।

यदि दशम को आश्रय मानेंगे तब इस प्रकार स्कन्धों में जो परस्पर कार्यकारण भाव का सम्बन्ध है वह नष्ट हो जायेगा अतः दशम स्कन्ध का अर्थ निरोध मानना ही युक्ति प्रमाण-उपपत्ति से सर्वथा संगत होगा। और दशम स्कन्ध को निरोध लीला स्वीकार करने से श्री शुक महाराज के कहे हुए क्रम का भी आदर होगा।

कारिका—निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः। शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ।९३॥

"निरोध" का अर्थ बतलाते हैं कि—इस पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी की याने श्रीहरि की कल्पना में न आने वाली शक्तियों सहित जगत में क्रीडा करना ही निरोध है॥ ९३ ॥

"निरोध" शब्द का अर्थ वा लक्षण, द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय के श्लोक ६ के पूर्वार्द्ध में "निरोधोऽस्यानु-शयनमात्मनः सह शक्तिभिः" श्रीशुकाचार्यजी ने स्वतः समझाया है। उस अर्थ को आचार्यचरण स्पष्ट कर रहे हैं कि "अस्य आत्मनः" का अर्थ "इस जीवात्मा की ... ऐसा नहीं है ... अर्थ ... "का अर्थ भगवान श्रीकृष्ण की अचिन्त्य

शक्तियाँ ऐसा है । और निरोध शब्द का अर्थ दुष्ट दैत्यों का प्रलय करना यह भी भगवान श्रीकृष्णजी का कार्य नहीं है लेकिन वह कार्य तो भगवान् श्रीकृष्ण अपने चार व्यूहों से करते हैं । भगवान् ने तो केवल रसात्मक लीलायें की है जिससे भक्तजनों की अविद्या निवृत्त हो जाय और भगवान् में आसक्ति हो जाय यह सिद्धान्त है इसलिये यहाँ जिस निरोध शब्द का अर्थ दुष्टों का प्रलय करना यह भी उचित नहीं ।

कारिका—नैमित्तिकनिरोधोऽन्यो धर्मग्लानिनिमित्ततः ।। १० ।।

इस कारिका के उत्तरार्ध से आचार्य चरण संदेह निवृत्ति करते हैं कि जिस धर्मग्लानि के कारण से जिन दुष्ट राजाओं दैत्यों आदि का नाशरूप निरोध है वह सर्ग आदि दश लीलाओं से अलग है । इस निरोध-नाश प्रलय के साथ "अत्र सर्गो विसर्गश्च" इस श्लोक में बताई हुई लीलाओं का कोई सम्बन्ध नहीं ।

कारिका—स चात्र नैव सङ्ग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम् । आद्यन्तयोरिहा भावान् मुक्तावप्यनुवृत्तितः ।।११।।
लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत् ।। ११½ ।।

भगवान् श्रीहरिने दुष्ट राजाओं का नाशरूप जो निरोध किया है वह निरोध सज्जनों को यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहाँ आदि और अन्त के प्रकरण में दुष्ट राजाओं का प्रलय-नाशात्मक निरोध का अभाव है । और अग्रिम स्कन्ध एकादश में मुक्तिलीला में दुष्ट राजाओं का विनाशरूप निरोध बताया है । इस प्रलयरूप निरोध में निरोध के लक्षण नहीं है और "प्रलयरूप निरोध का अर्थ मानें तब दश की जगह एकादश लीला हो जायेगी इस नाशरूप लीला अलग होने से इस स्कन्ध में वह प्रलयरूप निरोध कहना व्यर्थ है ।। ११-११½ ।।

कारिका—तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ।। १२ ।।

निरोध शब्द का अर्थ प्रलय और नाश आदि करना और दुष्टों के लिये रसात्मा श्रीकृष्ण का जन्म है, यह कहना श्री कुन्तीजी ने की हुई स्तुति के अर्थ से विरुद्ध है । श्रीवोपदेवजी ने भागवतजी की कारिकाओं को भागवत का अर्थ करते हुए लिखा है कि भगवान श्रीकृष्णजी ने खलों को मार कर धरणी का भार दूर करने के लिये अवतार लिया है यह जो कहते हैं वह संगत नहीं है क्योंकि प्रथम स्कन्ध के अष्टम अध्याय में श्रीकृष्णचन्द्रजी की स्तुति करते हुए कुन्ती माताजीने कहा है कि–

'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ।। १।८।२० ।।

यह श्लोक त्रिविध स्तुति के प्रकरण में आता है । पूर्व पक्षों को उपस्थित करते हुए श्रीकुन्ती माताजी सिद्धान्त पक्ष को कहती है कि—निर्मल मन वाले परमहंस मुनियों में भक्तियोग की स्थापना करने के लिये या भक्तियोग का विस्तार करने के लिये नहीं होता तब हम स्त्रीजनों को, निःसाधन जनों को आपका दर्शन कैसे होता इस प्रमाण से यह निश्चय होता है कि प्रभु का अवतार पुष्टिभक्ति का केवल विधान या विस्तार के लिये ही है । इसलिये दुष्टवध मुख्य प्रयोजन नहीं है ।। १२ ।।

कारिका—कार्यकारणहानिश्च प्रक्रान्तत्याग एव च । भक्तत्वाद् भुव उद्धारो भारहारान्निरूपितः ।। १३ ।।

यदि दशम स्कंध में "आश्रय" लीला को मान लें तो कार्य एवं कारण भाव की और जिस विषय का उपक्रम किया है उस उपक्रम का त्याग होगा । इस दशम स्कंध में श्री भूमिदेवी भक्तों में श्रेष्ठ भक्त है । श्रेष्ठ भक्त का उद्धार करना चाहिए। भूभार हरण करने से भूमिका उद्धार का वर्णन किया है ।

श्रीमदाचार्य चरण इसी विषय को इस कारिका से अधिक स्पष्ट करते हैं । आगे द्वितीय स्कंध में श्रीशुकाचार्यजी ने यह बात बताई है कि "**दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्**" क्रम से प्रतिपादित दसवीं "आश्रय" लीला की विशेषतया शुद्धि के लिये सर्ग-विसर्ग आदि लीलाओं का प्रारंभ कर द्वादश स्कन्ध में आश्रयलीला कही गई है । द्वितीय स्कन्ध के इस श्लोक में दो बातें महत्व की कही है । एक बात तो यह है कि सर्ग आदि दश लीलायें उत्तरोत्तर क्रमबद्ध है एव प्रथम दूसरी लीला में दूसरी तीसरी लीला में वैसे उत्तरोत्तर कारणकार्यसम्बन्ध से सम्बन्धित है । अब आश्रय लीला को दशम स्कन्ध की लीला माना जाय और निरोध को द्वादश स्कन्ध की लीला मानी जाय तब क्रमभङ्ग एवं अर्थसंकलन अर्थसङ्गति न होने से भागवतजी का स्वरूप विकृत बनेगा । भागवतजी का तात्पर्य तो यह है कि सर्ग से लेकर मुक्ति लीला पर्यन्त, तृतीय स्कन्ध से लेकर एकादश स्कन्ध पर्यन्त नव लीलाओं का ज्ञान होने के बाद ही आश्रय का ज्ञान अथवा ज्ञान की प्राप्ति होती है । जैसे सर्ग याने सृष्टि की रचना के बाद विसर्ग की याने पुरुषकार की चारों प्रकार के पुरुषार्थों की संभावना हो सकती है वैसे ही उत्तरोत्तर लीलाओं में प्रथम प्रथम लीला कारण बनती है और दूसरी दूसरी लीला कार्य बनती जाती है । अन्त में दसवीं आश्रय लीला बनती है उसमें पूर्व की नव लीलाओं का ज्ञान सर्वथा अनिवार्य है । इस सब दृष्टि से विचार करने से निरोध शब्द का अर्थ प्रलय अथवा शत्रुओं का वध करना एवं दशम में आश्रय लीला को मानना ग्रन्थकर्ता को अभीष्ट नहीं है और सङ्गत भी नहीं हैं । सब निरोध का अर्थ यही अभिप्रेत है कि प्रपञ्च की विस्मृति होना और भगवच्चरणों में आसक्ति होना यही अर्थ सुसङ्गत है ।

कारिका—प्रकटः परमानन्दो यदाभूमेस्तदैव हि । मर्दनक्लेशहानिः स्यादिति तस्याः समुद्यमः ।। १४ ।।

यदि साक्षात् श्रीविग्रह लेकर परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी का प्राकट्य हो तब जिन दुष्ट राजाओं की ओर से भूमिदेवता को मर्दनक्लेश हुआ है उस क्लेश की निवृत्ति होगी । जब भगवान का दर्शन होगा तब परमानन्द होगा और परमानन्द होने पर ही दुःख दूर हो जायगा इस लिये भगवती भूमि भगवान के पास पधारी और भगवान को अपने क्लेश का निवेदन किया यह उद्यम सफल हुआ ।

यह बात निश्चित है कि भूमि को दुष्टतापूर्ण मनुष्यों की वृद्धि से पीडा नहीं होती है । न तो पर्वतों का, सरिताओं का एवं सागरादिओं का बोझ लगता है । वह तो सब भूमि देवी सह लेती है लेकिन पाप के बोझ को नहीं सह सकती है । और पाप-निवृत्ति भगवद् दर्शन से ही होगी । अन्धकार निवृत्ति अनायास ही तब हो जायगी जब सूर्य का दर्शन होगा । वैसे निरोध रूप भगवान् प्रगट होंगे और पाप हट जायगा पुनः भूमि परमानन्द को प्राप्त कर लेगी ।। १४ ।।

कारिका—ब्रह्मरुद्रादिदेवानामत एवान्यसंश्रयः । भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः ।। १५ ।।

अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चयः ।। १५½ ।।

क्षीर सागर के तट पर भगवान की स्तुति करने और भगवान को भूतल पर पधारने का निवेदन करने के लिये "ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य" ब्रह्माजी श्रीरुद्रजी, और देवलोग श्रीभूमिदेवीजी को आगे कर उनका आश्रय लेकर पधारे थे । और भगवान् श्रीकृष्ण ने पधार कर स्वरूपदर्शन एवं लीलाओं से केवल भक्तजनों का संसार निवारण किया । संसार सागर से पार कराया । अब यह निर्णय होता है कि प्रपञ्च से निवृत्ति पूर्वक भगवान में आसक्ति रूप निरोध भक्तों का ही हुआ है । श्रीभरताचार्य ने कहा है कि "या तु व्यसनसम्प्राप्तिनिरोधः स तु कथ्यते" । निरोध उसी को कहा जाय जिससे व्यसन दशा की पूर्णरूप से प्राप्ति हो । पहले प्रेम फिर आसक्ति उसके अनन्तर व्यसन दशा ही भक्ति-पुष्टि भक्ति का अभीष्ट निरोध माना है ।। १५½ ।।

कारिका-यावद् बहिःस्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेन्न हि ।।१६।। तावदन्तःस्थितोऽप्येष न दारुदहनक्षमः ।।१६½।।
एवं सर्वगतो विष्णुः प्रगटश्चेन्न तद्विशेत् ।। १७ ।। तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः ।।१७½।।
रूपान्तरं तु नटवत् स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ।।१८।। प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निश्चयः ।।१८½।।

जब तक बाहर रहने वाली अग्नि प्रकट होकर काष्ठ में प्रविष्ट नहीं होगी तबतक काष्ठ में रही हुई अग्नि दारु याने काष्ठ को जलाने में सक्षम नहीं बनेगी । वैसे ही भगवान् विष्णुजी के सर्वत्र व्यापक रहने पर भी जब तक भगवान् भक्त जनों के लिये आकृति-स्वरूप लेकर बाहर प्रकट होकर पुनः भक्तजनों के हृदय में प्रविष्ट नहीं होंगे तब तक भक्तजनों का चित्तादि निरोध संभव नहीं होगा । फिर प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं होगी । अतः जैसे अग्नि काष्ठ में प्रवेश कर काष्ठ को जला सकती है वैसे भगवान् भी प्रथम प्रकट होकर मधुर लीलाओं और सुमङ्गल स्वरूप मधुर वाणी विलासादि से भक्तजनों के मन-इन्द्रियादि में प्रवेश करते हैं तब जीव के लौकिक देह आदि सर्व दिव्य सेवोपयोगी अलौकिक बन जायेंगे और प्रपञ्च की निवृत्ति भी होगी । श्रीकृष्ण प्रभु का प्राकट्य केवल भक्तजन के मनोनिरोध के लिये ही है । इसी कार्य को भगवान उद्यम कहते हैं । प्राकट्य के समय भगवान् चतुर्भुज थे फिर नट की तरह मनुष्याकृति द्विभुज स्वरूप को स्वीकार भी इसलिये किया जिससे तामस-राजस-सात्त्विक तीन प्रकार के निजजनों का अनायास निरोध हो और प्रपञ्चनिवृत्ति सिद्ध हो जाय ।। १८½ ।।

श्रीमदाचार्य चरणों ने इन कारिकाओं में दो शङ्काओं का प्रत्युत्तर दिया है । प्रथम तो कई टीकाकारों का यह कहना है कि दशम स्कन्ध में भक्तों के प्रपञ्च का नाश भगवान् ने किया है यह स्पष्ट देखने में नहीं आता है और भगवान् हृदयस्थ हैं और अन्तःकरण में रहकर प्रपञ्च का नाश करेंगे फिर अवतार का प्रयोजन क्या था । जो अन्तःकरण का कार्य है वह तो भीतर रहकर हो सकता है । लेकिन असुर समूह भूतल को सताता है उसके नाश के लिये प्राकट्य आवश्यक है ।

आचार्य चरणों ने इन दोनों शङ्काओं का समाधान इन कारिकाओं में बताया है । दोनों का समाधान यह है कि अग्नि काष्ठ के भीतर रहती है लेकिन जला सकती नहीं वैसे अन्तर्यामी स्वरूप से हृदय में निविष्ट भगवान् की सन्निधि कभी प्रपञ्च निवारण नहीं करेगी । इसलिये तो भगवान को स्वरूप लेना होगा और निरोध लीलाओं से निरोध करना होगा । दशम स्कन्ध दैत्यादि वध प्रक्रिया प्रमुख नहीं है । पूतनादि वध में पूतना का प्राण लेना मुख्य नहीं है लेकिन अविद्या निवृत्ति के माध्यम से व्रजजनों का निरोध कार्य मुख्य है । फिर भी जो दैत्यादि वध का कार्य है वह वह धर्मी लीला नहीं है अपनी कलाओं का संकर्षणादि व्यूहलीला है ।

अब जो दशम स्कन्ध में निरोध का निरूपण है वह तीन प्रकार का निरोध है । इन तीन निरोधों की साधन निरोध, व्यापारनिरोध और फल निरोध वैसी तीन श्रेणियाँ और तीन संज्ञाएँ हैं । यहाँ भगवान का शक्तियों के साथ प्रपञ्च में खेलना

साधन रूप निरोध है। साधननिरोध का ही अर्थ **"कारणरूप"** निरोध है। भगवान में भक्तों की आसक्ति होती है वह आसक्ति रूप निरोध **"व्यापार"** है। एवं आसक्ति से प्रपञ्च की निवृत्ति हो गई और प्रपञ्च का अभाव सिद्ध हुआ वह ही फलात्मक निरोध है। इसलिये दशम का विषय निरोध ही है आश्रय नहीं है एवं निरोध का अर्थ दुष्टों का नाश नहीं लेकिन भक्तों का भगवत्सेवा से भगवल्लीलाओं के पान से प्रपञ्च को भूल जाना एवं भगवत्स्वरूप में तन्मय होना है।

श्रीमदाचार्य चरणों ने कारिका में एक विषय अच्छा स्फोट किया है कि "रूपान्तरं तु स्वीकृत्य नटवत्" नट की तरह रूपान्तर का भगवान् ने श्रीदेवकीजी के निवास में चतुर्भुज स्वरूप से प्रकट होकर पुनः बालक स्वरूप अङ्गीकार किया। इसका भाव यह है कि रङ्गभूमि में नट वेश बदलता है लेकिन स्वरूप का परिवर्तन अथवा स्वरूप में स्वरूप भी विकार नहीं होता है और जो सामर्थ्य आदि नट में पूर्व था वही सामर्थ्य आदि रहता है वैसे भगवान भी भक्तों के मनोरथों के अनुकूल रूप स्वीकार करते हैं लेकिन जो स्वयं सर्व समर्थ सर्वज्ञ सच्चिदानन्द विग्रह है वही है।

कारिका—पञ्च प्रकरणान्यत्र चतुर्भिर्जन्म सत्पतेः ॥ १९ ॥ अष्टाविंशतिभिः पूर्वं तामसत्वात् व्रजोद्धृति ॥
तथैव राजसानां च यादवानां विशेषतः ॥ २० ॥ सात्विकानेकविंशत्या निःप्रपञ्चांश्चकार ह ॥
भगवानेव नान्योऽत्र तदर्थं षड्भगाभिधाः ॥ २१ ॥

इस दशम स्कन्ध के पाँच प्रकरण हैं। सत्पति श्रीकृष्ण भगवान का चार अध्यायों में प्रथम जन्म प्रकरण है। और सबसे तामस भक्त व्रजजनों का अट्ठाईस अध्यायों की तामस लीलाओं से उद्धार करने वाला दूसरा तामस प्रकरण है। उसी अध्याय राजस भक्तों का और विशेष कर यादवों का निरोध किया है इस प्रकरण की 'राजस प्रकरण' संज्ञा है एवं अट्ठाईस अध्याय का यह तृतीय प्रकरण है। और इक्कीस अध्यायों की लीलाओं से सात्विक भक्तों के निरोध की कथा आती है इसलिये सात्विकों की प्रपञ्च मुक्ति के २१ अध्यायों का चतुर्थ सात्विक प्रकरण है। और अन्तिम छह अध्यायों में भगवान के ६ भागों का–ऐश्वर्यों का–भगवान का ही गुणरूप से वर्णन है इसलिये इस पञ्चम प्रकरण की **"गुण प्रकरण"** नाम की संज्ञा है ॥ १९–२१ ॥

विवेचन—श्रीमदाचार्य चरणों ने इन कारिकाओं में प्रकरणों के विभाग दर्शायें हैं।

(१) जन्मप्रकरण—अध्याय १ से ४ इन जन्मप्रकरण के चार अध्याय हैं। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध चार व्यूह स्वरूपों से प्रकटे थे। भगवान् पूर्ण आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि स्वरूप हैं। और सर्व के स्वामी होने से खल निग्रह भूभार हरण आदि कार्य करने पड़ते हैं। इन कार्यों के लिये भगवान् के चार व्यूह स्वरूप हैं। वे चार स्वरूप प्रभु के परिवार के रूप माने जाते हैं। धर्मी स्वरूप भगवान् स्वतंत्र है और अपने चारों व्यूहों के स्वरूप से भगवान् कार्य करते हैं। प्रथम अध्याय में वसुदेव व्यूह स्वरूप से कंस को ज्ञान देकर भगिनी वध से लौटाया यह लीला की है। द्वितीय अध्याय में गर्भ को ले जाकर श्री रोहिणीजी के उदर में बसाया यह संकर्षण व्यूह लीला है। तृतीय अध्याय में जन्म कथा के प्रसङ्ग से प्रद्युम्न व्यूह लीला वेश विस्तार लीला प्रकरण है। चतुर्थ अध्यांय में अनिरुद्ध व्यूह लीला है। धर्म रक्षा अनिरुद्ध लीला कार्य है।

(२) तामस प्रकरण—अध्याय ५ से ३५ उसमें १२–१३–१४ ये तीन अध्याय कल्पान्तर कथा के हैं। तामस आदि तीनों प्रकरणों में अवान्तर प्रमाण प्रमेय-साधन-और फल संज्ञक चार प्रकरण हैं। और प्रत्येक प्रकरण में सात सात अध्याय हैं। इन सात अध्यायों में ऐश्वर्य-वीर्य-यशः-श्री ज्ञान-वैराग्य आदि षड् भगवद्धर्मों के छह अध्याय एवं सातवाँ धर्मी अध्याय इन अध्यायों के संकलन से सात सात अध्यायों के चार चार प्रकरण बनेंगे। इससे चारों प्रकरणों के संकलित अट्ठाईस अध्याय होते हैं। अतः तामस प्रकरण में प्रमाण ५ से ११, प्रमेय १५ से २१, साधन २२ से २८ और फल २९ से ३५ चार प्रकरण के २८ अध्याय हैं।

(३) राजस प्रकरण—अध्याय २८ = यह राजस प्रकरण पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्ध दो दो प्रकरणों में विभक्त हैं। उन चारों प्रकरणों में प्रमाण ३६ से ४२, प्रमेय ४३ से ४९, साधन ५० से ५६ और फल ५७ से ६३ चार प्रकरण के २८ अध्याय हैं।

(४) सात्विक प्रकरण—अध्याय २१=इस सात्विक प्रकरण में अवान्तर तीन प्रकरण हैं इनमें प्रमाण प्रकरण नहीं है। जो सात्विक भक्त हैं उनके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि सात्विक जीव शुद्ध अन्तःकरण वाले होने से श्रद्धा एवं विश्वाससम्पन्न होते हैं और संशय रहित होते हैं। इसलिये उनको प्रमाण का प्रयोजन नहीं रहता इससे प्रमेयादि तीन प्रकरण हैं। इन तीन प्रकरणों में प्रमेय ६४ से ७०, साधन ७१ से ७७ और फल ७८ से ८४ तीन प्रकरण के २ अध्याय है।

(५) गुण प्रकरण—६ अध्याय—इस गुण प्रकरण के छह अध्याय इसीलिये है कि भगवान् ने इन अध्यायों में अपने ऐश्वर्यादि छ धर्मों के स्वरूपों से लीला की है इसका तात्पर्य यह है कि एक एक अध्याय में एक एक ऐश्वर्यादि गुण से लीला की है। इसलिये ८५ से ९० अध्यायों में गुण प्रकरण समाप्त होता है। इस विषय का वर्णन आचार्य चरणों ने १९ वीं कारिका से

२१ कारिका में किया है। और एक विषय का ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवान् के छ धर्म भी भगवत्स्वरूप है। अन्तिम कारिका में "भगवानेव नान्योत्र" ऐसा जो निर्देश किया है उसमें यह कहना है कि यहाँ मायाशबल ईश्वर का निरूपण नहीं है लेकिन शुद्ध-परात्पर-लौकिक-प्राकृत गुणों से रहित श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द श्रीनन्दनन्दन यशोदोत्संगलालित भगवान् ही निरोधकर्त्ता है।

कारिका—चतुर्मूर्तेर्जन्मतोत्र तथाऽऽध्याया निरूपिताः। तत्तत्प्रकरणे तेषामुपयोगस्तु वक्ष्यते ॥ २२ ॥
हेतूद्यमस्वीकरणकापट्यैः प्रथमो महान्। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः ॥ २३ ॥
हेतुश्च त्रिविधो ह्यत्र गुणा भक्ता हितप्रदाः। कंसादेः कालतो ज्ञानात् त्रिधा दुःखं तु तद्गतम्॥ २४ ॥

शब्दार्थ—इस जन्मप्रकरण में वासुदेवादि चतुर्मूर्ति भगवान के जन्म-प्राकट्य के कारण के चार अध्याय हैं। इन चारों अध्यायों के चारों प्रकरणों में भगवान् ने किस स्वरूप से कौन सी लीला की है और कौन सी लीला का उपयोग यह सब उन अध्यायों में कहा जायगा ॥ २२ ॥

इन चारों अध्यायों में प्राकट्य का हेतु (१) उद्यम प्राकट्य का प्रयत्न (२) स्वीकरण चतुर्भुज स्वरूप को छिपाकर द्विभुज स्वरूप का स्वीकार (३) कापट्य याने मथुरा से गोकुल में पधारना, द्वारों का खुलना और सबको निद्राधीन करना यह माया का कार्य है इसलिये चतुर्थाध्याय में कापट्य (४) कार्य है। इन चारों व्यूहों के साथ पूर्णावतार श्रीकृष्णजी के प्राकट्य के कारण—प्रभुजी के प्रादुर्भाव से यह विभाग महान् श्रेष्ठ है वासुदेव—संकर्षण—प्रद्युम्न अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं ॥ २३ ॥

भगवत्प्रादुर्भाव का हेतु भी तीन प्रकार का है। और भक्तों के अहित दुःख देने वाले तीन गुण है। इन तीन गुणों के कारण दुःख भी तीन प्रकार के हैं। प्रथम कंसादि दुष्टों से दुःख हुआ, दूसरा काल से दुःख हुआ है और तीसरा अज्ञान से दुःख हुआ है। इस तद्गत दुःख तीन प्रकार का है ॥ २४ ॥

कारिका—भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः। यथायोग्यं दुःखमेषामत्रैवेति निरूप्यते ॥ २५ ॥
त्रयं भगवता शक्यं दूरीकर्तुमितीर्यते। प्रश्नेऽप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भूमि को कंसादि दुष्टों से दुःख था देवकी माताजी को आकाशवाणी के कारण दुःख सहना पड़ा और अन्य नन्द यशोदाजी यादव आदि भक्तजनों को भगवान के अज्ञान से दुःख था। ये तीन श्रीहरि के प्रिय हैं। इन तीनों को कैसे कैसे दुःख मिला इस विषय का प्रथम अध्याय में स्पष्टीकरण किया जायगा ॥ २५ ॥

और यह जो तीन प्रकार का दुःख है इस दुःख का निवारण भी भगवान् के बिना अन्य किसी से संभवित नहीं है। नवम स्कन्ध और दशम स्कन्ध को ठीक से ध्यान में रखकर यहां श्रीपरीक्षितजीने विशिष्ट प्रकार से प्रश्न किया है इसलिए और प्रश्नों से यह प्रश्न अधिक श्रेष्ठ प्रकार का प्रश्न है ॥ २६ ॥

कारिका—अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तत्वज्ञापकावुभौ। अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थं श्रीशुको वर्णयेत् कथम् ॥ २७ ॥
अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते। प्राणनार्थं कथायाश्च दयासिद्ध्यै शुकस्य हि ॥ २८ ॥
एवं प्रश्नो द्वादशभिः स मतो गुणदोषतः ॥ २८½ ॥

शब्दार्थ—अब इस कारिका में प्रश्न का श्रेष्ठत्व दिखाते हैं। श्रीपरीक्षित् दशम स्कन्ध के प्रारंभ में १२ अथवा १३ श्लोकों में प्रश्न किये हैं। उन श्लोकों में प्रारंभ में १½ श्लोक से नवम स्कन्ध का अनुवाद किया है और भगवान् के चरित्र की स्तुति कर भगवान में अनुराग भी दिखाया है ये दो बातें राजा परीक्षितजी को भक्त बनातीं है यदि उक्त श्रेणी के परीक्षितजी भक्त है यह ज्ञान परीक्षितजी के लिये श्रीशुकाचार्यजी को नहीं होता तब भगवान की गुप्त लीलाओं का शुकाचार्यजी वर्णन नहीं करते ॥ २७ ॥ इन दोनों प्रश्नों से राजा परीक्षितजी के अज्ञान का निवारण हुआ है। परीक्षितजी को भगवान के स्वरूप का ज्ञान बताया है और मायाशबल कृष्ण है इस प्रकार का अन्यथा ज्ञान भी नहीं है यह भी परीक्षितजी बताते हैं। और सच्चिदानन्द पूर्ण ही श्रीकृष्ण है और इसलिये भगवत्कथा ही पीयूष है वही मेरा जीवनप्रद है यह जानते हैं और कहते हैं। और वहीं राजा की निष्ठा श्रीशुकदेवजी के हृदय में दया को उत्पन्न कराती है। इस अध्याय के प्रारंभ में १३ श्लोक हैं। इन श्लोकों में ६ श्लोकों से लोक के दोष भी उत्कट हैं और भगवान के ६ गुण भी उत्कट हैं। उन उत्कट ६ दोषों का नाश भगवान के ६ गुणों के सिवाय संभवित नहीं है इसलिए १२ श्लोकों में प्रश्न और एक श्लोक में मुझे दुःसह क्षुधा का कोई क्लेश नहीं है यह निवेदन किया ॥ २८½ ॥

कारिकार्थ समाप्त

श्रीसुबोधिनीजी मातृपितृतोषिणी (प्रथम श्लोक से प्रथमाध्यायपर्यन्त)

नवम स्कन्ध में सोमवंश एवं सूर्यवंश के राजे भगवान के परम भक्त थे इसलिये उनके चरित्रों का और वंशों का विस्तार से वर्णन किया है। यद्यपि नवम स्कन्ध में प्रारम्भ में तो सूर्य वंश की कथा है। तदुत्तर सोमवंश का वर्णन है फिर भी राजा परीक्षित "सोमसूर्ययोः" ऐसा उल्लेख इसलिये करते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि भगवान श्रीकृष्ण जी का प्रादुर्भाव सोमवंश में है इसलिये सोमवंश विशेष सम्माननीय है और परीक्षितजी श्रीकृष्णजी के चरित्र का प्रधान रूप से वर्णन कराना चाहते हैं। इन कारणों से परीक्षितजी ने प्रश्न करने के अवसरपर **"सूर्यसोमयोः"** न कहकर **"सोमसूर्ययोः"** कहा है। **'विस्तारः'** यहाँ विस्तार शब्द से राजा ने यह निर्देश किया कि आपने नवम स्कंध में सोमवंश सूर्यवंश चरित्र विस्तार से कहा है। अब श्रीकृष्ण प्रभुजी के चरित्रों का विस्तार से वर्णन में चाहता हूँ अब श्रीकृष्ण प्रभुजी के चरित्रों का विस्तार इसलिये शुकाचार्यजी ने नहीं किया कि राजा पुनः वंश विस्तार को सुनना चाहते हैं। **"उभयवंश्यानाम्"** इस वाक्य में उभय पद से यह कहा कि इन दोनों के वंश के भक्तवरों के चरित्रों के सिवाय अन्य तृतीय की वार्ता सुनना नहीं चाहता हूँ। आपने जो इन दोनों के वंशज महान् भगवदीयों के चरित्रों का श्रवण विस्तार से कराया वह आप की कृपा ही है। कारण कि सूर्य दिवस में अंधकार का नाशक है और चन्द्र रात्री में अंधकार का नाशक है। दोनों मिलकर सम्पूर्ण अंधकार का नाश करते हैं वैसे दोनों वंश के भक्तों के चरित्र भी सर्व मनुष्यों के मोहादि अज्ञानादि अन्धकार का निवारण करते है एवं भक्ति का प्रकाश करते हैं। इस बात से राजा ने भी दोनों कुल के भगवदीयों की और आदर दरसाया और अपने में श्रवण की योग्यता का निवेदन किया। **"उत्पत्यैव भक्ताः"** उन उभय वंश के जो भक्त थे वे स्वयं भक्त बने थे यह बात नहीं है लेकिन वे जन्म से ही सहज भक्त थे। इसलिये **'वंश्यानां'** पद में षष्ठी विभक्ति का निर्देश किया है। और वे महानुभाव स्वयं भक्त थे इतनी बात नहीं परन्तु उनके चरित्रों के श्रवण से अन्य को भी भक्ति प्राप्ति होती है। राजा अम्बरीष रन्तिदेव आदि के चरित्र वैसे भक्तिप्रद होने के कारण पृथक् कहे गये हैं। **"राज्ञां च उभयवंश्यानां"** इस वाक्य में जो **'च'** अव्यय का उल्लेख है इससे यह कहा कि केवल अपने भक्त चरित्र का श्रवण नहीं कराया है परन्तु श्रीराम, परशुराम और भगवान् श्याम सुंदरजी के चरित्र भी सुनाये हैं। और वे चरित्र परम अद्भुत हैं परंतु श्रीकृष्णकथा केवल तीन श्लोकों में कही है इसलिये में अधिकतम कृष्ण कथा सुनना चाहता हूँ। क्योंकि भगवान के चरित्रों के श्रवण से जो अद्भुतता प्रकट होती है उससे भक्त हृदयों में अलौकिक आनन्द की स्फूर्ति होती है तथा उसके श्रवण से वह भक्ति प्रकट होगी जिससे परब्रह्म का स्वरूप और भगवल्लीला समझ में आने से आनन्द उमड़ता है। **'परमाद्भुतम्'** की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होगी **'परमेण भगवता अद्भुत'** और परमया **'परमया भक्त्या वा लीलया वा अद्भुतं परमाद्भुतम्'** ये दो प्रकार की व्युत्पत्ति होगी **यदोश्च**–अब **'यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां'** पद का भाव बताते है कि राजा ययाति ने यदु आदि पुत्रों से यौवन की याचना किया तब कई एक ने मना किया और उनमें मुख्य **यदु** थे तब पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला "अधर्मी" माना जाय फिर परीक्षित **'धर्मशीलस्य'** विशेषण यदुजी को कैसे देते हैं इस शंका का आचार्यचरण समाधान करते हैं कि पिता की यौवनाभिलाषा की आज्ञा का अनादर यदु के लिये अधर्मित्व का प्रतिपादन नहीं करता लेकिन धर्मोत्मापन का ज्ञापन करता है। यदु यह जानते थे कि पिता देह सम्बन्ध से पिताजी है और भगवान आत्म सम्बन्ध से परम पिता है। अब मैं भगवान की सेवा करना चाहता हूँ यदि यौवन लौकिक पिता को यौवनदान करूंगा तब वार्धक्य आ जायेगा तब परम पिताजी की सेवा कैसे होगी ? और मेरे यौवन से पिताजी विषय सेवन करेंगे तब मैं ही यौवन से मातृगामी बनूंगा यह भारी अधर्म होगा। यदि पिताजी भगवत्सेवा परार्थ कार्य के लिये यौवन चाहते तब मैं असंकोच और आनन्द से यौवन प्रदान करता यह विमर्श कर यौवन नहीं दिया इसलिये यदुराजा को धर्मशील बताते हैं। यदु में स्वभाव से ही धर्मानुराग था इस से वे धर्मशील हैं। अतो **'भगवदवतारात्'** इसी बात का समर्थन करते हुए कहते है कि पुरु राजा ने पिता को यौवन दान किया इस अपराध से भगवान ने पुरु वंश की समाप्ति कर दी जिससे भगवान का इस वंश से अपना जन्म सम्बन्ध न हो। तब यह शंका होगी कि भीष्म भी इस वंश में हैं तब उनसे सम्बन्ध कैसे होना चाहिए ! तब कहा कि भीष्म से सम्बन्ध इसलिये अयोग्य नहीं है कि अष्टवसुदेवों में से भीष्म का अवतार है और स्वयं भक्त भी है। केवल पुरुषवंश का भीष्म मेंहै आया वह बीजगत दोष है लेकिन स्वतः भीष्म में दोष नहीं है। उसी बीजगत दोष को लेकर आगे भीष्म को तिमिङ्गल अपने सजातीय मत्स्यों को निगलने वाला मत्स्य कहेंगे। इससे यह निर्णय हुआ कि यदु राजा स्वभाव से **'बीज से'** जीवन से धर्मनिष्ठ है और धर्मरूप है। इसलिये यदुवंश का विस्तृत वर्णन भी आवश्यक है।

"मुनिसत्तमः—श्री शुकाचार्य जी को मुनि सत्तम कहा उसका तात्पर्य यह है कि (१) मुनि का अर्थ है कि जो स्वयं मननशील है वे मुनयः मुनिलोक हैं। (२) मुनिसत् उन मुनियों में जो ज्ञान को भी प्राप्त कर चुके हैं वे मुनिसत् मुनियों श्रेष्ठ है। ३ मुनिसत्तर अब तीसरी श्रेणी मुनिसत्तर की है मनन शील है ज्ञान शील भी है और जो विरक्त-परमहंस है वह

"मुनिसत्तर" ज्ञानश्रेष्ठ है। और परम भागवत है और मननशील-ज्ञानशील-वैराग्यशील भी है वह ही 'मुनिसत्तम' है। श्री शुकाचार्य तीनों कक्षाओं से पर है इसलिये राजा ने मुनिसत्तम संबोधन किया है ॥ १३ ॥

एवमनूद्य—इस प्रकार नवम स्कन्ध में जो विषय सुना था उसका निर्देश डेढ श्लोक में कहकर अब आगे डेढ श्लोक से परीक्षितजी श्रीकृष्ण भगवान् के वीर्य एवं चरित्र पूछते हैं '**तत्रांशेनावतीर्णस्य**' इस श्लोक में विष्णु भगवान के वीर्यों की पृच्छा करते हुए राजा ने '**अंशेन**' अंश से अवतार लिया ऐसी जो पृच्छा की है उसका तात्पर्य नहीं जानने वालों की शंका है कि भगवान ने कृष्ण का अंशावतार लिया है इस विषय की समालोचना सुबोधिनीजी में करते हुए आचार्य चरण कहते हैं कि व्यासजी का '**अंस**' शब्द का आशय यह है कि श्रीवसुदेवजी और देवकीजी जिस कारागृह प्रदेश में थे उतने देश की माया को, अंश देश की माया को दूर कर पूर्ण पुरुषोत्तम प्रकट हुए हैं। यदि सर्वत्र रही हुई माया को हटा दे और प्रकट हो जाय तब तो सारे विश्व की व्यापक माया हटने के कारण प्रलय हो जाता और फिर प्राकट्य का प्रयोजन नहीं रहता कारण कि लीला ही नहीं हो सकेगी और लीलाओं से तो प्रभु परमानन्द देना चाहते हैं। अतः आवश्यक प्रदेश भाग की माया को दूर कर भगवान पूर्ण पुरुष विष्णु प्रकट हुए। यह विषय द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में '**अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसत्**' श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने स्पष्ट किया है कि भागवत शास्त्र के अर्थ के अज्ञान के कारण लोग "अंश" पद और भगवत् पद का अर्थ करने में भ्रमित होते हैं। सारस्वत कल्प के सिवाय अन्य कल्पों में भगवान् अंशावतार से पधारते हैं। इस प्रसिद्ध वार्ता के अनुरूप राजाने प्रश्न कर दिया है। कितनेक महानुभाव '**अंशेन**' पद से प्रद्युम्न अंश के साथ भगवान पूर्ण पुरुषोत्तम पधारे, ऐसा भी आशय बताते हैं। कारण कि यदुवंश से भगवान का प्रद्युम्न अंश का सम्बन्ध है। कितनेक विद्वान् '**अंशा ईना भजनीया यस्य सः अंशेनः। अंशेनश्चासौ अवतीर्णस्तस्य अंशेनावतीर्णस्य**' यह भी अर्थ करते हैं कि जिस भगवान के अन्य अंशावतार सेवनीय है और ऐसी भी व्युत्पत्ति करते हैं। अवतरणे-अवतीर्ण पद का तात्पर्य है कि भगवान् वैकुण्ठ से पृथ्वी पर पधारते हैं उसको अवतार कहते हैं। वह अवतरण तत्त्वों के द्वारा भी हो सकता है लेकिन यहाँ पर तत्त्वों का कोई अवतरण नहीं है लेकिन '**विष्णोः**' विष्णु पद का श्लोक में उल्लेख किया है इससे यह स्पष्ट किया कि साक्षात् सर्वत्र व्यापक विष्णु भगवान् स्वयं पधारे हैं। **वीर्याणि**—भगवान के चरित्र अचिन्त्य ऐश्वर्यों के बोध करने वाले होते हैं भगवान के वे पराक्रम भगवान के माहात्म्य का ज्ञान कराते हैं इसलिये '**वीर्य**' पद का उल्लेख किया है। '**नः**' भगवन्, अन्य लोग इन चरित्रों के श्रवण के लालायित अवश्य होंगे लेकिन शुकाचार्य मैं ज्यादातर उत्कण्ठित हूँ। भगवन्, इन चरित्रों का सर्व श्रवण करें यह भी मेरी अभिलाषा है ॥ २ ॥

चारों पुरुषार्थों की समान भगवच्चरित्र श्रवण भी सर्वोत्तम और स्वतंत्र पुरुषार्थ ही है और मत्स्यादि अवतारों में ये ही भगवान् प्रकट हुए हैं तब यह चरित्र श्रवण का प्रश्न व्यर्थ ही है ऐसी शङ्का न हो इसलिए तृतीय श्लोक '**अवतीर्य यदोर्वंशे**'—श्लोक का प्रारम्भ करते हैं कि भगवन्, मैंने मत्स्यादि चरित्रों का श्रवण किया है अब तो श्रीमुख से यदुवंश में अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णने जो चरित्र किये हैं उन चरित्रों का श्रवण करना चाहता हूँ तो कृपया वह सर्व चरित्र सुनाओ यह हा लालसा है। '**वंशे**'—वंश शब्द का भी तात्पर्य है कि यदुवंश में किये हुए चरित्रों में वीर्य-षड् ऐश्वर्यों की अधिकता है और पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण यदुवंश में अधिक समय तक विराजे थे। यदुवंश में होने के कारण सर्व चरित्र केवल इन्द्रियादि की क्रिया नहीं है लेकिन ऐश्वर्य-वीर्य आदि धर्मरूप है।

'**यदोः वंशे**'—यहाँ पर दो पृथक् पृथक् पदों का उल्लेख किया है उस के स्थान में "**यदुवंशे**" ऐसा समास कर एक पद कहते तो क्या हानि थी! तब कहते हैं कि यदु के चरित्र सामान्य धर्मरूप हैं किन्तु श्रीकृष्ण चन्द्र के चरित्र उनमें भी विशेष धर्मरूप है। वे विशेष धर्म भगवदैश्वर्य है। 'भगवान्" शब्द का मर्म यह है कि जीव के जीवन में सात प्रकार के जो व्यसन होते हैं जैसे क्षुधा-तृषा-रोग-कर्म-द्यूत-मदिरा-वाराङ्गना सात व्यसन मनुष्यों को सताते हैं वे सात भगवान में निरर्थक हो जाते हैं और भगवान के सामने व्यर्थ बन जाते हैं। इसका कारण भी यह है कि भगवान में छ ऐश्वर्य विराजते हैं और भगवान् स्वयं सातवाँ धर्मी है इसलिये सातों व्यसनों का भगवान के सामने नहीं चलता है। '**भूतभावनः**' पद का अर्थ यह है कि भूतों को आनन्द देने वाले भगवान हैं। भगवान् का अवतार जीवों के कल्याण के लिये है कारण यह कि प्रपञ्च में रहने पर भी भगवान् प्रपञ्च से परे है। बन्धन भगवान को नहीं जीव के लिये अवश्य है। यदि बन्धनयुक्त जीव भगवच्चरित्रों का श्रवण कर भगवद् भाव युक्त होगा तब मुक्त हो जायेगा। भगवान् चाहते तो अपनी इच्छा से मुक्ति का दानकर सकते थे फिर अवतार लेकर चरित्रों को करने का कोई श्रम आवश्यक न था यह सत्य होते हुए भी अनवतार दशा के जीवों का निरोध ओर कल्याण नाम का अग्रिम कार्य को करने का भगवदनुग्रह निश्चित होता है और भगवल्लीलामृत का पान कराने के लिये तो व्यासावतार है। भगवान् के चरित्र तब सफल होंगे जब उनको पूर्णरूप से जान लेंगे। **विश्वात्मा**—भगवान् का पूर्ण स्वरूप का ज्ञान क्या है तब इसका समाधान करते हैं कि भगवान् विश्व की आत्मा है। भगवान् जीवों का हित स्वयं स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इसलिये

अनेक प्रकार की लीलाएँ कर जीवों की अविद्या का नाश करते हैं जिस से उन जीवो में स्वतः बिना साधन भगवान् में प्रेम होने से उनका हित हो जाता है। यदि भगवान् इस प्रकार स्वतंत्र रूप से स्वतः जीवों का कल्याण न करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार का है कि यदि भगवान जीव का हित न करें तो जीव को अपने हित के लिये भक्ति का आश्रय लेना पड़े और भगवान् तब हित करे जब जीव भक्त हो इस ढंग से जीव को अपने हित के लिये भक्ति का आश्रय लेना पड़े याने साधन करना पड़े और भगवान को भक्त का आश्रय करना पड़े जिससे भगवान् का आश्रय लेना पड़े इससे विश्वात्मा होना एवम् स्वातन्त्र्य अन्योन्याश्रय दोष युक्त हो जायगा अतः भगवान में यह दोष न हो इसलिये स्वयं स्वतन्त्र होने से जीवों का हितकर अपने विश्वात्मापन तथा स्वातन्त्र्य का परिचय देते हैं। यज्ञ ज्ञान जब जीव को दृढ हो तब भगवल्लीला लाभदायक होती हैं। इसलिये आप सम्पूर्ण तीन चरित्र कहने की कृपा करें। यद्यपि द्वितीय तृतीयादि स्कन्धों में और नवम स्कंध के २४ अध्यायों में अन्तिम श्लोकों में **'जातो गतः पितृगृहात्'** यद्यपि कृष्ण चरित्र सुनाया है लेकिन वह संक्षेप में है अब विस्तार से सुनाइए ॥३॥

तीन श्लोक पर्यन्त भगवद्-वीर्यों की और भगवच्चरित्र की पृच्छा की अब तीन श्लोकों से भगवच्चरित्रों को और भगवान् के माहात्म्य को कहते हैं। माहात्म्य दो प्रकार का है। एक माहात्म्य तो अदृष्ट था जो देखने में नहीं आता है और दूसरा माहात्म्य दृष्ट है जो देखने में आता है अब प्रथम **'निवृत्ततर्षैः'** श्लोक से चरित्र का माहात्म्य कहते हैं—

कारिकार्थ—स्वरूप से, फल से, महापुरुष के सम्बन्ध से और विषय की उत्तमता ऐसे चार प्रकार से श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र परम श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

मुक्त पुरुष का कर्तव्य है कि वे महापुरुष मुमुक्षु-मोक्ष की कामना वाले जन्मों का भव नाश करें। यह भगवत् चरित्र अनिन्द्य है, इसलिये निन्दा न हो सके बल्कि प्रशंसा की जाय वैसे हैं। उचित है कि विरक्त को भी गुणों के गान में निश्चय-पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए ॥ २ ॥

जो कोई भी यदि भगवान् के चरित्रों के **गुणगान** से उपरत-विमुख हो तो समझना चाहिए कि वह (१) आत्मघाती, (२) कर्मजड़ (३) निन्दित विषयों में रस वाला (४) पशु वा (५) स्त्री जीव, इन पाँच में से कोई भी एक होना चाहिए। वैसे जीवों के सिवाय अन्य भगवान् के **गुणगान** से प्रेम करते ही हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—भगवान् के चरित्र **'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्'** इस विशेषण से बताया है कि ये चरित्र फल रूप होने के कारण ब्रह्मानन्द से भी अधिक रसरूप हैं अतः स्वरूप से उत्तम हैं।

'भवौषधात्' इस विशेषण से यह बताया है कि भगवान् के चरित्र अविद्या से उत्पन्न होने वाले अहन्ता ममता आदि संसार रूप दोष की औषध है जिसका उत्तम फल इन दोषों की निवृत्ति है।

'महापुरुषयोगतः' इस विशेषण से यह बताया कि इन चरित्रों से महापुरुष (भगवान) से सम्बन्ध होता है। अतः चरित्र का भी महत्व है। कारिका में चरित्र का विशेषण 'परमं' दिया है इससे तो स्पष्ट चरित्र की विशेष उत्तमता बताई है। क्योंकि इन चरित्रों के श्रवण से व गुणगान से, पर पुरुषोत्तम स्वरूप का पूर्ण ज्ञान (अनुभव) हो जाता है ॥ १ ॥

द्वितीय कारिका में 'अनुवाद' का उत्कर्ष (बड़ाई) बताते हैं। यह अनुवाद करना अर्थात् भगवान् के चरित्र स्वयं सुनकर व पढ़कर पुनः दूसरों को सुनाना एवं समझाना जीवन्मुक्त अर्थात् जिसकी अहन्ताममता नाश होकर भगवान् में आसक्ति हो गई है उन पुरुषों का कर्त्तव्य है। इसलिए भागवत के श्लोक में **'निवृत्ततर्षैः'** कहा है। ऐसा कहने से यह शङ्का हो सकती है कि तब जिनका संसार नाश नहीं हुआ हो क्या वे नहीं सुन सकते हैं? इस शङ्का के निवारण के लिए दूसरा विशेषण **'मुमुक्षोः'** दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि संसार नाश न भी हुआ हो परन्तु मनमें यह चाहता हो कि मैं इस संसार से छूट जाऊँ, मेरा मोक्ष हो; वैसा चाहने वाले भी श्रवण कर सकते हैं। कारण कि ये चरित्र संसारनाशक औषधि है। अतः संसार नाश के लिए उनको भी अवश्य सुनना चाहिये। चरित्रों का उत्कर्ष इसलिए है कि चरित्र का 'विषय' भगवान् में आसक्ति कराने में 'अनिन्द्य' है।

स्वरूप और फल से उत्तम तथा अनिन्द्य विषय होने से संसार से निरक्त अर्थात् भगवान् के रस में आसक्त पुरुषों को इसमें (भगवान् के चरित्रों के गुणगान में) निश्चय-प्रयत्न करना चाहिए ॥ २ ॥

तृतीय कारिका में कहते हैं कि प्रभु के चरित्रों का गुणगान अन्तःकरण के दोषों का नाश करने वाला है। जो मनुष्य उस गुणगान से प्रेम नहीं करता है अर्थात् उदासीन रहता है वह 'आत्मघाती' (अपनी हत्या करने वाला) है।

गुणानुवाद, मोक्ष का साधन है, जो इस साधन रूप गुणानुवाद से दूर रहता है वह 'कर्मजड़' (कर्तव्य का पालन नहीं करने वाला) है।

चरित्र, कर्ण तथा मन को आनन्द देने वाला अनिन्द्य विषय है। जो इस अनिन्द्य विषय में आसक्ति नहीं करता है वह 'निन्दितार्थरत' है।

'आत्मघाती', 'कर्मजड़' और 'निन्दितार्थरत' अर्थात् निन्द्य लौकिक विषयों का स्नेही इन तीनों के सिवाय 'स्त्री-जीव' और 'पशु-जीव' गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। आत्मघाती, कर्मजड़ और निन्दितार्थरत ये तीन ही पशुघ्न (जीव-हत्यारे) हैं। स्त्री-जीव प्रकृति के अधीन होने से और पशु-जीव विवेक-शून्य होने के कारण गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। इसलिए इन दोनों को पशुघ्न नहीं कहा है॥ ३॥

प्रथमतः फलरूपं चरित्रमेतदित्याह—भगवान् के चरित्र फलरूप हैं उनका वर्णन करते हैं, जिनकी तृष्णा अन्तःकरण के सर्व प्रकार के दोष पूर्णरूप से नाश हो गये हैं, जिनमें थोड़े भी दोष नहीं रहे हैं, वैसे ही निर्दोष व्यक्ति भगवान् के गुणों का गान उनके समीप में कर पाते हैं—समीप कहने से यह बताया है कि वैसे भक्तों को अन्यत्र जाने का परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है, गुणगान से एवम् श्रवण से ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये जैसे अन्य विषयों से आनन्द की प्राप्ति तब होती है जब विषय के अनुभव के लिए प्रयास व परिश्रम किया जाय, यहाँ वह प्रयास भी नहीं करना पड़ता है। श्लोक में **'निवृत्ततर्षें'** बहुवचन कहने का रहस्य यह है कि भगवान् के गुणों को गाते हैं एवं बारबार गाते ही रहते हैं जिससे जो दोष नाश होने योग्य हैं वे नाश हो जाते हैं। शेष जो दोष आगे फल रूप होने वाले हैं, उनका नाश नहीं होता है। भगवान् के चरित्र स्वतन्त्र फलरूप हैं, इसलिए भगवद्भक्त जहाँ भी कीर्त्तन होता है वहां आकर स्वयं गुणगान, बिना संकोच के करते हैं। क्योंकि कथा के स्थल पर जाकर सब साथ में मिल के जब गुणगान करते हैं तब रस का अन्तःकरण में सर्वतोगामी प्राकट्य होता है जिससे गुणगान करने वाले आनन्द रसमहोदधि में निमग्न हो जाते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि गुणगान करने वालों के यह गुणगान फलरूप होता है और जो श्रवण करते हैं उनके दोषों का नाश करने वाला होता है।

चरित्रस्य फलसाधकत्वमाह—चरित्र फल को सिद्ध कर देता है इस बात को बताने के लिए **'भवौषधात्'** विशेषण दिया है जिसका अर्थ यह है कि गुणगान संसार को नाश करने वाला औषध है। और यह गुणगान हमारा उपकार करने वाला है ऐसा समझ कर गुणों का गान करते हैं। श्रोता के लिए तो कर्म, ज्ञान और भक्ति से भी विशेष, मोक्ष के लिये सर्वोत्तम साधन है। औषध, रोग नाश के लिए के केवल उसको उदर में भेजने का ही मनुष्य से प्रयत्न चाहता है, शेष रोग का नाश तो स्वयं औषध स्वतः कर देता है। लौकिक औषध मुख द्वारा भीतर उदर में जाता है किन्तु यह औषध कर्ण द्वारा सुनकर अन्तःकरण में पहुँचता है। **अतः फलत्वसाधनत्वे एव यद्यपि**—यद्यपि यहाँ केवल फलत्व फलपन और साधनत्व साधनपन कहने चाहिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। तो भी **'श्रोत्रमनोभिरामात्'** कान और मन को आनन्द देने वाला है यह क्यों कहा ? इसका भावार्थ श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह औषध जघन्य कटु और कठिन होगा तब जिन कानों द्वारा यह भीतर प्रवेश करेगा उनको तथा जिस मन में प्रवेश करेगा उसको यदि अरुचिकारक बन जाएगा तब तो कोई भी मनुष्य इसको लेना पसन्द ही नहीं करेगा। इसलिए कहा है कि यद्यपि यह विषय जघन्य है तो भी कान और मन को आनन्द देने वाला है और आनन्द के साथ-साथ रोग का भी नाश करने वाला औषध है और इस औषधि का श्रवण द्वारा मन में प्रवेश होते ही सर्व प्रकार के दोष जो कहीं भी हों, वे अन्तःकरण के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं। जिनके मन में इस औषध का प्रवेश नहीं होता है उनके दोष आसुरी हैं जिससे औषधि का भीतर प्रवेश नहीं होता है।

'उपगीयमानात्' इस विशेषण में 'उप' शब्द देकर यह समझाया है कि श्रवण करने के लिए न कोई परिश्रम करना है और न कहीं जाना है अर्थात् किसी प्रकार से भी श्रवण अप्राप्य नहीं है क्योंकि वहाँ समीप में भी श्रवण हो रहा है। श्रवण के लिए धन की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुणगान, करने वाले वक्ता वे शुकदेव हैं, जिनकी तृष्णा नष्ट हो गई है। **'गीयमान्'** 'गान करना करना है। इसका तात्पर्य यह है कि गान से शब्दों की मधुरता प्राप्त होती है। जन्म और मरण के समय जो दुःख होता है उसका जीव ने बहुत बार अनुभव किया है अतः उसको दूर करने के लिये यह औषधि, जो उस दुःख को निवारण करने वाली है, उसे विशेष आदर के साथ लेना चाहिये क्यों कि यह कर्णों को कड़वी नहीं लगती है और परिणाम में लाभ देने वाली है। श्लोक में **'अभिरामात्'** पद में 'अभि' देने का तात्पर्य यह है कि परलोक में भी आनन्द कराने वाली है। वहाँ परलोक में भी भगवान् में आसक्ति होती है।

इस प्रकार, रूप, गुण तथा कर्म से भगवान् के चरित्रों की उत्कृष्टा बताई अब संबन्ध से भी उसकी उत्तमता कहते हैं, **उत्तमश्लोकगुणानुवादात्'** इस पद से उसको समझाते हैं! वे गुण कैसे हैं? जिन गुणों का गान उत्तम पुरुष करते हैं। भगवान् के माहात्म्य को बताने वाले हैं जिनका वर्णन भागवतादि शास्त्रों में है। जिनके दोष पूर्णतया नाश हो गये हैं वैसे भक्तों का उत्कर्ष (बड़ाई) भी भगवान् के कारण है। भगवान् महान् हैं, यह भगवान् का उत्कर्ष करने वाले भी उनके गुण ही हैं। गुणों की

उत्तमता अनुवाद करने से होती है। इस प्रकार सबों का उत्कर्ष 'उत्तम श्लोक, गुण और अनुवाद' इन तीनों को एकत्र कहने से सिद्ध होता है।

पुमानिति—श्लोक में 'पुमान्' शब्द आया है उसके देने का जो तात्पय है वह बताते हैं कि जिन पुरुषों का पशु अवतार है या स्त्री अवतार है वे पुरुष आकार, में होते हुए भी श्रवण के अधिकारी नहीं हैं। जो स्त्रियाँ श्रवण में आसक्त है वे चाहे किसी भी निमित्त से स्त्री देह में प्राप्त हुई हो पर वास्तव में वे पुरुष जीव ही हैं। अतः कोई भी पुरुष इस श्रवण से उदासीन नहीं होगा। कारण कि श्रवण के सिवाय कोई भी साधन ऐसा नहीं है जो इस प्रकार के उत्कृष्ट रस तथा वैराग्य को सिद्ध कर सके।

निवर्त्यमानानां दैत्यत्वमिति—आत्मघाती आदि पाँचो प्रकार के दैत्यपन को बताने के लिये दैत्यों का लक्षण बता कर उनका दैत्यपन सिद्ध करते हैं। जैसे कि-'पशुघ्न' उसे कहते हैं जो अपनी जिह्वा के रस के लिये पशुओं की हत्या करते हैं। वैसे मनुष्य, मनुष्य आकृति में होते हुए भी दैत्य हैं। दैत्य, स्वभाव से, दयाहीन होते हैं इस बात को दिति के चरित्र में सिद्ध किया गया है। दैत्य, सदैव, भगवान् के शत्रु होते हैं, इसी कारण से उनके दोषों की निवृत्ति नहीं होती है दैत्यों की मुक्ति तब होती है जब उनके दोष पूर्णतः सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

जो जैसे कालनेमि आदि जन्म से सहज दैत्य है वे स्वभाव से ही असुर हैं। लेकिन कंस तो सहज असुर कालनेमि का आधार रूप आवेश स्थान है। इसलिये आवेशी कंस की मुक्ति तो आवेश नष्ट होने से दोष भी नाश हो जात हैं इसलिये हो सकती है किन्तु सहज दैत्य की नहीं हो सकती क्योंकि उनकी मुक्ति तो अन्धःतम है जहाँ से वह लौटकर नहीं आते हैं। यदि कंसादि जैसे अनिष्टों की इस प्रकार की मुक्ति नहीं की जाय तो वे कालनेमि आदि सहज दैत्य लौटकर पुनः कंसादि में प्रवेशकर वैसे ही उपद्रव करने लग जायेंगे। अतः कंसादि आविष्टों की मुक्ति की जाती है। इन पांच प्रकार के पुरुषों को श्रवण से विमुख देखकर दूसरे भी वैसे न हो जाय, इसलिए इस श्लोक में उनके स्वरूपों का वर्णन किया है॥ ४॥

एवं चरित्रं स्तुत्वा पुण्यद्वारमात्रता वारयितुं भगवन्तं स्तौति—पितामहा इति द्वाभ्यां, श्रुतदृष्टभेदेन।

इस प्रकार भगवान् के चरित्रों की स्तुति की अब वे चरित्र स्वतः पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं, न कि पुण्यों के कारण पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं। इस वस्तु को स्पष्ट करने के लिये अब दो श्लोकों में भगवान् की स्तुति करते हैं। दो श्लोकों में इसलिये करते हैं कि वे दृष्ट याने देखे हुए और श्रुत याने सुने हुए भेद से दो प्रकार हैं।

मे पितामहाः—मेरे दादे पाण्डव, भगवत् रूप नाव के आश्रय से युद्ध में जिसको पार करना कठिन है ऐसे दुस्तर कौरवों के सैन्यरूप सागर को बछड़े के खुर के समान खड्डा बनाकर पार हो गये। पाण्डवों के वंश में एक पौत्र परीक्षित ही बचा था। परीक्षित के पितामह पांचों पाण्डव थे अथवा कुन्ती के संबन्ध से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीन पितामह थे। क्योंकि दूसरे के क्षेत्र में बीज डालने से उस बीज से उत्पन्न सन्तान, क्षेत्र के पत्नी के पिता का होता है। कुन्ती का पति पाण्डु है उसमें बीज डालने वाले धर्म, वायु और इन्द्र थे किन्तु उनका सन्तान पर इसलिए अधिकार नहीं है क्योंकि कुन्ती उनकी पत्नी क्षेत्र नहीं थी। अतः पाण्डु और कुन्ती दोनों से सम्बन्ध होने से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीनों पितामह हैं। जहां फिर क्षेत्र जैसे तैसे जिसके अधिकार में आ गया हो तो, उस समय बीज डालने से, जो सन्तान पैदा हो वह संतान बीज डालने वाले की होती है जैसे बुद्ध को चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है। यद्यपि वह बृहस्पति की स्त्री से पैदा हुआ था।

'पितामहा मे समरे—इस श्लोक, में युद्ध के लिये समर शब्द दिया है उसका तात्पर्य बताते हुए श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि मर शब्द का अर्थ मरना है और "स" विशेषण देकर कहा कि जिसमें मरना अवश्य होता है उसको समर कहते हैं वैसा होने पर भी पांच पाण्डवों में से कोई नहीं मरा। कारण कि उनके साथी भगवान् थे, यह भगवान के सान्निध्य का यश कहा।

इस समर में सामने लड़ने वाले कैसे है उनको बताते हैं कि वे भीष्मादि देवताओं को भी जीतने वाले थे, इस विशेषण से यह समझाया कि यद्यपि पाण्डव देवताओं के पुत्र थे और उनके पास देवों के दिये हुए शस्त्र भी थे किन्तु वे उन कौरवों को जीत नहीं सकते थे कारण कि जो देवों को जीतने वाले हैं उनको देवों के पुत्र कैसे जीत सकेंगे? उनका अमरञ्जयत्व देवों पर विजय पाना कभी भी नाश नहीं होता कारण कि वह उसका व्रत सत्य सङ्कल्प वाला है किन्तु उसमें अपने धर्म के त्याग करने की सामर्थ्य भी है। क्योंकि जो विचार आवे उसको पूर्ण करना वह भी एक प्रकार का सत्यव्रत है अतः भीष्म देवव्रत होते हुए भी कौरवों के संसर्ग से, भगवान की इच्छा के विरुद्ध कार्य कौरवों को सहाय करने से दैत्यव्रत कहलाये भीष्म आदि का अमरंजय तो केवल संज्ञामात्र संकेत मात्र है! क्योंकि "संज्ञायां भृतवृजीन्यादिना खश्" प्रत्यय करके अमरञ्जय शब्द बनाया है। भीष्म देवव्रत है यह प्रसिद्ध है। दूसरे द्रोणादिक भी भीष्म के मुख्य होने से देवव्रत हुए। समस्त योद्धा

अतिरथ होने से अलौकिक एवं अत्यन्त सामर्थ्य वाले थे। समुद्र में एक सौ योजन लंबा तिमि नाम वाला मत्स्य रहता है, ऐसे को भी जो निगल जाय वह तिमिङ्गिल कहलाता है वह जिस समय समुद्र में पड़ता है तो वहां का कोई भी मत्स्य जीवित नहीं रहता है, जब वे ही नष्ट हो जाते हैं तो दूसरी जाति वालों का नाश हो इसमें कहना ही क्या है ? उस तिमिङ्गिल में इतना बल दैत्य आवेश के कारण है कि वह अपनी ज्ञाति का नाशक होता है और क्रूर भी इसलिये है। इसी प्रकार ये देवव्रत भीष्मजी भी तिमिङ्गिल हैं क्योंकि उनमें भी दैत्यांश है जिससे वे अति क्रूर हैं, ऐसा होने से वे अपने सम्बन्धियों अथवा पौत्रों को जीवित छोड़ दें वह उनके स्वभाव से विपरीत है। क्योंकि दैत्य आवेश होने से उनमें विचार या विवेक रहा ही नहीं था। जैसे तिमिङ्गिल समुद्र में पड़े हुए अपनी जाति वालों का भी नाश करता है तो दूसरों को कैसे छोड़ेगा ? वैसे ये भी तिमिङ्गिल के समान दैत्यावेशी होने से जो भी इस समर रूप समुद्र में आवे वह चाहे कौरव पक्ष का ही क्यों न हो उसको भी नष्ट कर देवे जैसे थे तो दूसरों को नाश करने में उनको कौन सी देरी लगेगी। अतः कहा है कि यह कौरव सैन्य सागर दुस्तर है। जिस प्रकार समुद्र को पार करने के जहाज आदि साधनों को समुद्र के जीव मगर आदि नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ये कुरुवंशी भी लड़ाई में शत्रु का नाश करने के सिवाय कभी भी शान्त नहीं होते हैं। समुद्र अचेतन होने से स्वयं जहाज आदि साधनों को नष्ट नहीं कर सकता है किन्तु उसमें रहने वाले चेतन मकरादि जीव करते हैं यहाँ तो ये कौरव लोग स्वयं चेतन होने से साधनों का नाश करने में सर्वथा समर्थ हैं। ये चेतन हैं इसलिये स्वरूप से भी नाशक हैं। इतना सब होते हुए भी जिसके रक्षक भगवान् हैं अर्थात् इस कौरव सैन्य सागर से पार उतारने वाला जहाज भगवान् स्वयं हैं उस जहाज को कौन नष्ट करने की सामर्थ्य रखता है ? कोई नहीं। यहां प्लव शब्द इसलिये दिया है कि भगवान् श्रीकृष्ण केवल पाण्डवों के सान्निध्य में रहकर उनके रक्षक बने थे परंतु आप युद्ध नहीं करते थे। ऐसे महान् सेनारूप सागर को बछड़ा के पद के समान छोटा बनाकर पार हो गये, उसका कारण केवल श्री कृष्णाश्रय है। गीता में भगवान् ने अर्जुन को कहा है कि अर्जुन ! तू इनको मारने के लिये निमित्त मात्र केवल नाम मात्र निमित्त बन, क्योंकि इनको तो मैंने प्रथम ही मार दिया है।

इस प्रकार भगवान् के वचनों को सुनने से पाण्डवों के लिये कौरव सैन्य सागर बछड़े के खुर के सदृश खड्डे के जैसा बन गया, किन्तु तो भी पाण्डवों का दृढ़ और सम्पूर्ण आश्रय न होने से उनको वह खड्डा भी जैसे पीपिलिकाओं चीटीओं को महान् देखने में आता है वैसे दुस्तर देखने में आया। कारण कि वे पितामह भगवान् को अपनी दृष्टि से देखते थे जिससे उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने समान मान लिया। यही कारण था कि उनको दृढ़ विश्वास न हुआ। यदि कृष्ण में भगवद्भाव होता तो वत्स पद समान खड्डे को पार करने में संशय क्यों रहता ? तथा शस्त्र ग्रहण करने का भी कौन सा प्रयोजन था ? लेकिन ये सब आश्रय के अभाव से हुए हैं। यदि श्रीकृष्ण को अपने समान न मानकर भगवान् मानते तो उत्तरा के समान भगवान् के शरण जाते और शस्त्र ग्रहण कर हम शस्त्रों द्वारा शत्रुओं का वध करेंगे वैसा अहंकार मेरे पितामहों को न होता। इतना होने पर भी कृपानिधि श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से उनकी रक्षाकर निजत्व बताया। यदि श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार रक्षा नहीं करते तो, पाण्डवों की शक्ति शत्रुनाश में किसी भी प्रकार काम कर सकने वाली नहीं थी, और मेरे पितामहों का अवश्य नाश हो जाता। उस छोटे गड्ढे में डूबना ही यहाँ नाश था। भगवान् ने पहले भी मेरे पितामहों की रक्षा की थी, वह उपकार भी पाण्डव भूल गये और भगवान् का सामर्थ्य भी भूल गये, यही पाण्डवों में क्षुद्रपन था अर्थात् चींटीपन था। युद्ध में अन्य सर्व वीर नाश हो गये शेष अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बचे इस कारण से कौरव सैन्य सागर तुच्छ जैसा हो गया, तो भी अश्वत्थामा ने पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र छोड़े उनसे भी सुदर्शन चक्र द्वारा भगवान् ने रक्षा की तथा इस कौरव सैन्य सागर का पार किया ये दोनों अलौकिक कार्य साथ में हुए हैं। मेरे तीनों पितामह मरे नहीं यही कौरव सैन्य सागर का वत्सपद के समान होना है।

द्विधा विदीर्णो मुखस्थानीयोऽश्वत्थामा—अश्वत्थामा अग्रभाग के समान है, उसने दो बार अपकार किया एक बार पाण्डवों के पुत्रों का नाश किया, दूसरी बार उत्तरा तथा पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र फेंक कर अपकार किया था उनका दोनों ही बार निवारण भगवान् ने किया। पाण्डव भगवद्रूप नाव का आश्रय कर इस समुद्र को तरते तरते पार कर गये, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे त्यों त्यों पार किये सागर को सुखाते जाते थे। अन्त में पाण्डव कुछ शेष छोड़कर सैन्य सागर को पार कर गये और यश प्राप्त किया। यह अत्यन्त अलौकिक है। कारण कि कौरवों का नाश तो कालरूप से भगवान् ने कर ही रखा था किन्तु विजय की माला पाण्डव पहनकर यश के भागी बने यही भगवान् का अलौकिक प्रभाव तथा कृपा है।

एवमेव पूर्वपूर्वसंसारमपि—भगवान् के आश्रित भक्त भी इसी प्रकार अपने अहन्ता ममता रूप संसार से प्राप्त धनादि पदार्थों का त्याग कर संसार शोषण करते हैं और केवल भगवत्सेवा के कार्य में आने वाले दैवी द्रव्य का ही कुछ संग्रह कर भगवत्सेवा द्वारा संसार के उस पार स्थित भगवान् को प्राप्त करते हैं ॥ ५॥

एवं श्रुतमाहात्म्यमुक्त्वा दृष्टमाहात्म्यमाह-द्रौण्यस्त्रेति—

पूर्व श्लोक में श्रुत माहात्म्य का वर्णन किया अब स्वयं देखे हुए भगवान् के माहात्म्य का परीक्षितजी वर्णन करते हैं—

सर्वथा पाण्डवाशक्तौ स्वयमपि कृतवान्—जिस कार्य को पाण्डव नहीं कर सकते थे उन कार्यों को कृपानिधि भगवान श्रीकृष्णने स्वयं किया। यह मेरे ऊपर भगवान् की बहुत बड़ी कृपा है यह बताते हैं—पहली बात तो यह है कि अश्वत्थामा ने मुझ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग क्यों किया ? अश्वत्थामा के पिताकी द्रोणाचार्यजी का मेरे पितामहों ने वध किया था, पिता के वैरी से बदला लेना पुत्र का कर्त्तव्य है अतः अश्वत्थामा ने मुझ पर ब्रह्मास्त्र चलाया था। इसलिये अश्वत्थामा नाम न लेकर द्रौणि याने श्रीद्रोणाचार्य का पुत्र ऐसा कहा। द्रौणि शब्द का उल्लेख का श्रीद्रोणाचार्यजी की मृत्यु और महत्त्व दोनों बताये हैं। श्रीद्रोणाचार्य अस्त्रविद्या के अद्वितीय जानकार थे अतः सर्व योद्धाओं के आचार्य थे। और अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र कोई भी लौटा नहीं सके अथवा वह जिस पर फेंका जाय उसको नाश करने में असफल न हो, वैसा था, जिससे मेरा शरीर तो जल गया किन्तु मेरे पितामह श्रीअर्जुन वैष्णव थे क्योंकि नर के अवतार थे उनके वंश बीज रूप में लिङ्ग शरीर नष्ट नहीं हुआ अतः कुरु याने पाण्डवों का सन्तान बीज मेरा वह शरीर बच गया। यद्यपि परीक्षित पाण्डवों का वंश है किन्तु कौरवों को भी पिण्डदानादि से मुक्ति दिलाने वाला परीक्षित् ही है क्योंकि कौरवों के वंश में कोई नहीं बचा है इसलिये यह परीक्षित् कुरु और पाण्डवों के वंश का शेष बीज कहा गया है। **'कुरुपाण्डवानां'** इस पद में जब **'कौरवाश्च पाण्डवाश्च'** ऐसा समास किया जाय, व्याकरण की दृष्टि से **'जनपदे लुबिति'** योग विभाग करके प्रत्यय लोप करके **''कुरुपाण्डव''** पद बनेगा। और **'कुरुभिः सहिताः पाण्डवा इति'** ऐसी व्युत्पत्ति करने में कोई हानि नहीं है।

अन्तर्बीजमात्ररूपेण—देह के भस्म हो जाने के बाद उसकी रक्षा करना सर्वथा अशक्य है। इस पर कहते हैं कि ऊपर से देह जल तो गई थी किन्तु भीतर से बीज रूप से नष्ट नहीं हुई थी अतः जले हुए हिस्से भी बिना जले हुए जैसे दीख पड़ते थे। ऐसे मेरे शरीर की भगवान् ने रक्षा की। भगवान् ने शरीर के जल जाने के पहिले ही ब्रह्मास्त्र को रोककर रक्षा क्यों नहीं की ? इस शङ्का के निवारण के लिये श्रीसुबोधिनीकार आज्ञा करते हैं कि **'दाहो धर्मरक्षार्थः'** स्थूल शरीर को जलाये जितना, ब्रह्मास्त्र का कार्य था वह धर्म रक्षार्थ, करने दिया क्योंकि ब्रह्मास्त्र में वेद मन्त्रों से, ब्रह्मरूप देवता की स्थापना की जाती है, अतः यदि भगवान् ऐसे ब्रह्मास्त्र को रोक दें तो, वेद मार्ग की रक्षा करने वाले भगवान् हैं। अतः उनका यह धर्म नष्ट हो जाता है, इसलिये भगवान् ने इस अपने धर्म के रक्षार्थ ब्रह्मास्त्र को बीच में न रोककर स्थूल शरीर को जलने दिया जिससे मोक्ष में भी प्रतिबन्ध न हो और केवल स्थूल शरीर ही जला। यह भी भगवान् की महिमा है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बचाकर उसको पुनः पूर्ववत् बनाकर इसलिए भी रक्षा की, कि कुरु पाण्डव वंश के मोक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। **'इदं मदङ्गम्'** परीक्षित ने यहाँ पर **'इदम्'** शब्द देकर अपने शरीर का अङ्गुली से निर्देश दिया है कि यह मेरा शरीर है जिसको ब्रह्मास्त्र ने जलाया था भगवान् ने उसको कृपया बचाया है। श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा होने से शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई है। और मदङ्ग यह मेरा अंग यों कहने से यह बताया कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

संतानस्य वंशस्य बीजम्—भगवान् ने गर्भ में तो रक्षा की अब ब्राह्मण के शाप से आपकी रक्षा क्यों नहीं की ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस समय यदि रक्षा नहीं करते तो कुरु बीज पाण्डवों के सन्तान का बीज नष्ट हो जाता। भगवान् को इस वंश के सन्तान बीज की रक्षा करने की आवश्यकता इसीलिये थी कि कुरु भक्त थे उनके वंश में पाण्डव हुए थे वे भी भक्त थे। परम्परा से यह कुल भक्त है भक्तों की रक्षा करना भगवान् अपना प्रथम कर्त्तव्य मानते हैं इसीलिए रक्षा की है, अब मेरे सन्तान हो गई है, वंश चालू रहेगा अतः रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। उस समय मेरी रक्षा का यही कारण था कि भगवान ने मेरी माता के पेट में गर्भ प्रकट हो, भगवान ने चक्र धारण कर, तेजस् तत्व सहित, अपने स्वरूप को दिखाने की कृपा की, यह कृपा इसलिए की की है कि उस स्वरूप का पीछे ध्यान किया जा सके। उस समय न तो चक्र से रक्षा की और न उससे ब्रह्मास्त्र के तेज को दूर किया था। अस्त्र के तेज को तो अपनी गदा से नष्ट किया था इसलिए कोई विरोध नहीं है। भगवान् ने काल को रोकने के लिए कालरूप चक्र को हस्त में धारण किया था जिससे काल अपना मारने का कार्य इस समय न कर सके। इस प्रकार भगवान् ने गदा से ब्रह्मास्त्र के तेज को दूर किया और कालरूप सुदर्शन चक्र को अपने हस्त में लेकर काल की गति रोकली, जिससे मेरी रक्षा पूर्णरूप से हो गई। तदनन्तर उत्तरा के गर्भ में विराजमान होने की आवश्यकता न होने से आप तिरोहित हो गये।

भगवान् के तिरोहित हो जाने के अनन्तर काल चक्र सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा है। अब मैं भी इस समय काल चक्र द्वारा बन्धा हुआ हूँ। जो प्रभु मेरी माता के अनुभव में आये उन्होंने मुझे भी अनुभव कराया था। मेरी माता उनके शरण में गई थी अतः उनको प्रभु ने दर्शन दिये और उनकी कोख में प्रवेश किया।

हे शुकाचार्य, भगवान् के माहात्म्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है अतः आप कृपया भगवान् के जिन चरित्रों को सुनाओगे उनमें मेरा विश्वास होगा। कारण कि आपके कथन में मेरी अचल श्रद्धा है॥ ६॥

एवं स्वस्य भगवच्छ्रवणाधिकारं बोधयित्वा पूर्वपृष्टं भगवच्चरित्रं पुनः प्रकारान्तरेण फलसाधकमिति वदन्ननुवदति—वीर्याणीति।

इस प्रकार राजा परीक्षित् भगवान् के चरित्रों के श्रवण में अपना अधिकार बताकर, प्रथम पूछे हुए भगवच्चरित्रों को पुनः प्रकारान्तर से पूछते हैं। अर्थात् जिस समय भगवान् का प्राकट्य नहीं है, उस समय के जीवों का भी, ये चरित्र साधन रूप से उद्धारक हैं। यह बात अब इस श्लोक में बताते हैं।

केचिदिमं प्रश्नं पूर्वस्माद्भिन्नमाहुः—कितनेक इस प्रश्न को प्रथम पूछे हुए प्रश्न से भिन्न मानते हैं। और वे विद्वान् कहते हैं कि जो चरित्र मनुष्यरूप से किये जाते हैं वे चरित्र तो ऐसे हैं जो मनुष्यों की समझ में आ जाते हैं। इस प्रकार के प्रश्न पूर्व ही पूछे गये हैं। अतः अब दूसरे प्रकार के प्रश्न पूछते हैं जिनका अवतार से सम्बन्ध नहीं है, जैसे कि वरुण लोक में जाकर नन्दादि को छुड़ाना, वैकुण्ठ आदि का दिखाना ये चरित्र मनुष्यों की समझ से ऊपर हैं अतः इस प्रकार के प्रश्न अब पूछते हैं। इसी भाँति विश्लेषण करने से याने प्रत्येक भाग को अलग अलग कह उसके भाव बताने से इस चरित्र का जो फल कहा जाने वाला है उसका अमृत पान सिद्ध होगा दूसरों का नहीं होगा। इस अभिप्राय पर विचार करना चाहिये।

तस्य कृष्णस्याखिलदेहभाजाम्—किन्तु यहाँ तो समग्र देहधारियों के अन्दर पुरुषरूप से तथा बाहर काल रूप से विराजमान होकर अमृत और मृत्यु देने वाले उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित्रों को कहो, इस प्रकार दो श्लोक का अन्वय है। श्लोक में '**तस्य**' पद देकर यह बताया है कि यह वही मूल रूप है, जिसका वेदों में भूमा तथा रस स्वरूप से वर्णन किया गया है। यदि वही है तो मनुष्य जैसे क्यों दिखते हैं ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि '**मायामनुष्यस्य**' अर्थात् वही पूर्ण रस स्वरूप है किन्तु अज्ञान से हम उसको मनुष्य समझते हैं। आपने अपनी इच्छा से भक्तों को दर्शन देने के लिए यह रसमयी मनुष्याकृति धारण की है। और भगवान् ने अपनी माया से मनुष्यों की बुद्धि पर माया का आच्छादन डाल दिया है जिससे लोग उस परम तत्त्व को मायिक वा कल्पित मनुष्याकृति मानते हैं। और भगवान् की इच्छानुकूल प्रत्येक जीव अपने अधिकार के अनुसार भगवान् के उसी स्वरूप में विविध प्रकार से दर्शन करते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि इस अवतार में भगवान् ने मूलरूप और अवतार रूप दोनों को प्रकट किया है। इस श्लोक में यही श्रीकृष्ण रूप मूलरूप कहा है और उसके ही माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

वीर्याणीति—भगवान् का अनन्त माहात्म्य है इसको प्रकट करने के लिये 'वीर्याणि' बहुवचन दिया है।

'अखिलदेहभाजां' इस पद में 'अखिल' पद से सब कहे हैं, इसका रहस्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय कोई भी अन्य देवादि किसी को भी मृत्यु अथवा अमृत फलदान करने में समर्थ नहीं हैं। दोनों ही फल सबको भगवान् श्रीकृष्ण ही देते हैं, भिन्न-भिन्न दाता नहीं हैं। कारण कि भगवान् श्रीकृष्ण ही प्रत्येक प्राणी के देह में अन्तर रूप से याने अन्तर्यामी रूप से वा व्यापक रूप से विराजमान है। समस्त देहधारी जीव भगवान् के ही आत्मरूप अंशरूप हैं उन्हीं को उन जीवों को कारणवश याने लीला करने के लिये भिन्न-भिन्न देह आदि दिये हैं। इसीलिए हरएक को पृथक् पृथक् मृत्यु वा अमृत की प्राप्ति होती है।

पुरुषरूपाणि मत्स्यादीनि कालरूपाणि विषया इति केचित्—श्रीमदाचार्यचरण कहते है कि इस पुरुषरूप और कालरूप का स्वरूप कितनेक इस प्रकार बताते हैं—१-भगवान् ने जो मत्स्य आदि अवतार लिये हैं, वे भगवान् के पुरुषरूप हैं और शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ये विषय भगवान् के 'काल-रूप' हैं।

२—भगवान् के जिन रूपों का ध्यान किया जाता है वे भगवान् के 'पुरुष-रूप' हैं और ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त रूप भगवान् के 'काल-रूप' हैं। इस प्रकार अन्य दर्शनकारों के मन्तव्य को कह कर अब आचार्यचरण कहते हैं कि सब रूप भगवान् के ही है तो भी अन्तर और बाह्य इस प्रकार अन्य मत कहकर भी आपश्री कहते हैं कि भेद के कारण उनमें इस प्रकार पुरुष रूप और कालरूप से विशेषता रहती है। जैसे कि किसी प्रकार भी साधनों से जो बहिर्मुख होते हैं वे मृत्यु को पाते हैं तथा जो अन्तर्मुख होते हैं वे अमृत को ही प्राप्त करते हैं।

बहिर्मुख जीवों को मत्स्यादि रूप मृत्यु देते हैं अतः वे भी तब 'काल रूप' बन जाते हैं और अन्तर्मुखों को विषय भी अमृत देते हैं, वे विषय भी पुरुष रूप होते हैं। इस श्लोक में **मृत्युमुतामृतञ्च**' इस पद में 'उत' शब्द का भाव यह है कि भगवान् अन्तर्मुखों को पुरुष रूप तथा काल रूप दोनों रूपों से अमृत का ही दान करते हैं उनमें अन्तर्मुखों के लिये काल रूप भी पुरुष रूप हो जाते हैं यही भेद है। इससे मृत्यु और अमृत के तारतम्य भेद को जानना चाहिये। ऐसा करने की भगवान् में किस प्रकार की अपनी सामर्थ्य है। क्या इसी भांति भगवान् श्रीकृष्ण खेल खेलते हैं ? वह आपकी स्वाभाविक सामर्थ्य है, या अन्तर्भाव के बहिर्भाव का फल है ? अथवा मर्यादा की रक्षा के लिये वैसी भगवान् की इच्छा है। इन सब सन्देहों का निवारण तब होगा जब हम उस श्रीकृष्ण पराक्रमों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। वह ज्ञान तब प्राप्त होगा जब उनके चरित्रों का श्रवण किया जायगा। अतः भगवान् के चरित्र अवश्य श्रवण करने चाहिये। इस सन्देह का निर्णय गोकुलवासियों के वैकुण्ठ गमन प्रसङ्ग सुनने पर हो जायगा।

मनुष्यरूप से वैसा होना असम्भव है। इस शङ्का का निवारण करने के लिये भगवान् को मायामनुष्य कहा है, अर्थात् वह पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु है हम अज्ञान से उनको मनुष्य समझते हैं, अतः वह मनुष्य न होने से किन्तु कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं प्रभु होने के कारण सर्व करण में सामर्थ्यवान् है जिससे उसके किये हुए कार्य में असम्भवता समझनी हमारी अज्ञानता है।

हे विद्वन्! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप जानकार ज्ञानी हो भगवान् के वीर्यों का कीर्तन जो आप करोगे उससे हमारा तो उपकार होगा ही किन्तु साथ में कीर्तन करने का फल आपको भी प्राप्त होगा और 'विद्वन्' विशेषण का यह भी आशय है कि आपको भगवान् के सर्व चरित्रों का ज्ञान है ॥ ७ ॥

एवं भगवच्चरित्राणि पृष्ट्वा सन्दिग्धान् युक्तिविरुद्धानर्थान् पृच्छति—रोहिण्या इति पञ्चभिः।

पूर्व श्लोक में राजा परीक्षित इस प्रकार के चरित्रों को पूछकर अब ५ श्लोकों से जिन चरित्रों का वर्णन युक्ति के विरुद्ध देखने में आता है तथा जिसमें संशय होता है उनको पूछता है।

नवम-स्कन्ध के २४ वें अध्याय के **'बलं गदं'** इस ४६ वें श्लोक में बलरामजी को रोहिणी का पुत्र कहा है और वहीं पर **'वसुदेवस्तु देवक्यां सङ्कर्षणमजीजनत्'** ५४ वें श्लोक में सङ्कर्षण श्रीबलराम को वसुदेव ने देवकी से उत्पन्न किया है। यह परस्पर विरुद्ध वर्णन है। लोक में दूसरी देह के सिवाय दो स्थान पर प्रकट होना बन नहीं सकता है। इसका राजा ने प्रश्न किया है अन्यथा ईश्वर के प्रभाव से सर्व कुछ हो सकता है। अतः यों होने में भगवान् का प्रभाव ही कारण है ॥ ८ ॥

भगवतो मथुरापरित्यागे को हेतुरिति पृच्छति-कस्मादिति।

अब यह प्रश्न करते हैं कि भगवान् का मथुरा छोड़ने का क्या कारण था?

कालादिभयनिवारकस्य—जो भगवान् अन्यों के कालादि के भय को दूर करने वाले हैं और सबको मुक्ति देने वाले हैं वे स्वयं अभय स्वरूप है उनको वैसा कौन सा कारण आया जिसके लिये पिता का घर त्यागकर व्रज में पधार गये? और महावन तथा वृन्दावन में नन्दादिक गोपों का अपना कुटुम्बी बनाकर उनके साथ वहाँ निवास किया? अथवा जिनसे अन्य वर्ण के कारण कोई संबंध नहीं, पहचान नहीं उनके साथ सहकार कर व्रज में कहाँ और कैसे निवास करने लगे? [परीक्षित ने जो इस प्रकार कहा कि नन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह इसलिये कहा कि उसने अभी तक दशमस्कन्ध की कथा नहीं सुनी थी, इसलिये अज्ञान के कारण यह प्रश्न किया भगवान् का तो नन्दादि के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वसुदेव के साथ, इसीलिये श्रीकृष्ण ने गोवर्धन याग के प्रसङ्ग में कहा है कि **'वयं गोवृत्तयोनिशम्'** हम सदैव गौ चराने वाले हैं, और **श्रूयतां मे पितः** हे पिता मेरा वचन सुनो, इन वचनों के न सुनने से राजा भगवान् को केवल यदुकुल में प्रकट हुआ ही समझता था। इसलिये नन्दादिकों को अन्य समझ इस प्रकार कहा] जब आप शुद्ध सतोगुण में स्थित सत्पुरुषों के ही पति हैं और आपका अवतार वैसे सत्पुरुषों के लिये ही है तब आप भगवद्भाव रहित तथा अन्य ज्ञाति वाले, तामसों के वहाँ जाकर कैसे निवास करने लगे ॥ ९ ॥

प्रश्नान्तरं व्रजे वसन् किमिति।

अब राजा परीक्षित जी पूछते हैं कि व्रज में रहते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी ने और भी क्या किया?

तज्जात्यनुकरणतद्भावानु—इस श्लोक में दो प्रश्न हैं, एक प्रश्न तो व्रज में रहकर श्रीहरि ने क्या किया? और दूसरा प्रश्न मथुरा में रहकर प्रभु ने क्या किया? इनमें व्रज में रहकर क्या किया यह प्रथम प्रश्न स्पष्ट नहीं है, अतः आचार्यचरण उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्या व्रज में रहकर उन व्रजवासियों के समान सब प्रकार के वस्त्र आदि धारण, सम्भाषण और गोपालन आदि कार्य करते थे। दूसरा प्रश्न तो स्पष्ट है जो यद्यपि राजा कंस ने श्री वसुदेव देवकी जी को अनेक प्रकार के अनेक कष्ट दिये थे। किन्तु अपने हाथ से मातुल को मारने का काम लोक में निन्दित गिना जाता है, क्योंकि मामा मान देने योग्य अर्थात् पूजनीय है अतः वह मारने योग्य नहीं है। ऐसी होते हुए भी वैसा निन्दित कार्य भगवान श्रीकृष्ण जी ने किसलिये किया? यह पहले किये हुए प्रश्नों का अनुवाद ही है। इस दशवें श्लोक के उत्तरार्ध में कंस को क्यों मारा? ऐसा प्रश्न बताने वाला कोई शब्द नहीं है इसलिये आचार्यचरण सूचित करते हैं कि ऊपर के श्लोक में दिये हुए **'कस्मात्'** पद का अनुवर्तन करने से **'कस्मात् अवधीत'** किस कारण से क्यों मारा ऐसा अर्थ बन जायगा और प्रश्न बनेगा। इन प्रश्नों का सार यह है कि व्रज में और मथुरा में रहकर भगवान श्रीकृष्णजी ने किन २ का उद्धार किया? तथा कंस की भी क्या व्यवस्था की गई ॥ १० ॥

द्वारकायां कियत्कालं स्थितवानित्याह-देहमिति।

अब राजा परीक्षित जी इस श्लोक से द्वारका में भगवान् ने कितना समय निवास किया? यह प्रश्न करते हैं।

अत्यन्तनटोऽपि प्रहरमात्रं वेषं करोति-राजा ने प्रथम, समय का प्रश्न किया है, साधारण नट तो थोड़े समय के लिये ही रूप बदल सकता है। किन्तु विशेष कुशल नट एक प्रहर तक भी रूप बदल कर रह सकता है, तो आप बतलावे कि भगवान् ने जो नटवत् नट के समान मानुष देह धारण की वह कितने समय तक धारण कर रखी थी ? द्वारका में रहने का भगवान् का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं था तो भी मानुष देह धारण कर वहाँ कब तक रहे ? और जो व्यक्ति किसी प्रकार भी भगवान् के समान नहीं थे उनके साथ विशेष समय तक क्यों एवं किस प्रकार रहे, जो रहना योग्य भी नहीं था। भगवान् का वहाँ विशेष समय तक रहने का कारण यह है कि आप पृथ्वी पर जो दुष्ट राजाओं द्वारा किये हुए पापों का भार बढ़ गया था उसको यादवों द्वारा उतारना चाहते थे। अतः कोई भी लीला छिपाकर, अन्य प्रकार से न कहें। आप दुष्ट राजाओं को नाश करने के निमित्त सामर्थ्य का दान करने के लिये यादवों में प्रविष्ट होकर वहाँ उस समय तक रहे जब तक आपने दुष्ट राजाओं का नाश यादवों द्वारा नहीं कराया यही **'देहं मानुषमाश्रित्य'** का भाव है। इसीलिये ही भगवान ने एकादश स्कन्ध के प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में कहा है कि **'नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथंचित्'** इस यादव वंश का कैसे भी किसी दूसरे से पराजय नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि वे भगवान् के आश्रित हैं और आपने यादवों में प्रविष्ट होकर उनको आश्रय सामर्थ्य दे दिया है। श्लोक में **'अवात्सीत्'** जो पद दिया उससे वहाँ आप रहे तो निश्चय ही है और रहे भी दूसरों के स्थान में, यह भी यदुपुरी शब्द से सिद्ध होता है। वहाँ जब तक रहे तब तक कितनी पत्नियाँ को लक्ष्मी के समान भोग द्वारा भाग्यशाली बनाया गया ? अब प्रभु पद का तात्पर्य कहते हैं कि—यहाँ भगवान् का नाम प्रभु कहकर यह बता दिया कि वह सर्व सामर्थ्यवान् है अतः उनके लिये कोई भी समान-महान् सामान्य अपना वा पराया नहीं लेकिन सब समान है। आप तो यह सब लीलाएँ, कर रहे हैं ॥ ११ ॥

अन्यदपि युक्तिविरुद्धं सोपपत्तिकं वक्तव्यमित्याह—एतदन्यच्चेति।

अब परीक्षित् आगे के श्लोक से पूछना चाहते हैं कि दूसरा भी कोई चरित्र युक्ति से विरुद्ध देखने में आवे तो युक्तियुक्त उसका समाधान करें।

राजा परीक्षित ने शुकदेवजी को हे मुने ऐसा सम्बोधन देकर यह बताया है कि आप ज्ञानवान् हो इसलिये आपको भगवान् की लीलाओं का पूर्ण ज्ञान है, अतः मैंने जो लीलाएँ पूछी हैं वे, और अज्ञानवश जो नहीं पूछी है वे भी कहिये, कारण कि मैं भगवान् का दास-आश्रित हूँ इसलिये, भगवान के चरित्र सुनना, यही मेरा कर्त्तव्य है। अब श्लोक में जो **'कृष्णविचेष्टितम्'** पद दिया है उसका भावार्थ बताते हैं कि—कृष्ण सदानन्द स्वरूप होने से 'स्वतन्त्र' फलरूप है। वे स्वयं तथा उनकी लीलाएँ भी फलरूप हैं यही बात श्रुति भगवती ने कही है कि **'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'**। **'कृष्ण'** शब्द में जो **'कृष्'** धातु है उसका अर्थ तो है सदा ही रहना और **'ण'** शब्द का अर्थ है 'आनन्द' अब दोनों के मिलाने से शब्द हो जाता है सदानन्द जिसका भाव यह है कि जो स्वरूप सदा ही आनन्द रूप है वही **'कृष्ण'** परब्रह्म है यह वेदों में कहा गया है। अब कृष्ण सदानन्द है तब श्रीकृष्ण की लीलाएँ भी सदानन्द रूप ही हैं जिससे वे भी फलरूप ही हैं, अतः सब चरित्र कहिये। आपसे इस प्रकार इसलिए पूछता हूँ कि आप ही चरित्र के रहस्य के जानकार हैं और भगवन्, मैं तो भगवान् के चरित्रमात्र में श्रद्धा रखने वाला हूँ। भगवान् के वह चरित्र वीर्य आदि से रहित हो तो भी उसके सुनने में मेरी पूर्ण श्रद्धा है। अतः भगवान् कृष्ण का जो भी चरित्र हो और यदि वीर्य रहित हो वह भी विस्तार के साथ कहिये। वीर्य, सर्वगेय, अलौकिक वीर्य और अगेय ये श्रीकृष्ण के चार प्रकार के चरित्र हैं, वे सब विस्तार ये कहिये ॥१२॥

एवं द्वादशभिः प्रश्नं निरूप्य सर्वथा कथनार्थमकथने वा बाधकमाह—नैषेति।

परीक्षित् राजाने प्रथम इस प्रकार १२ श्लोकों में भगवान् के चरित्र विषयक प्रश्न किये और यह निवेदन किया कि आपको वे चरित्र मुझे सुनाने चाहिये, यदि नहीं सुनाओगे तो भगवन् मेरे प्राणों में बाधा पहुंचेगी। अब इस बात का इस श्लोक में निवेदन करते हैं।

आर्तिकथनाय नैषेति—अब परीक्षितजी यह बताते हैं कि मुझे जो सर्वथा सहन नहीं की जा रही है, और जिस दुःसह क्षुधा ने ऋषि के गले साँप डालने का महा पाप कराया ऐसी क्षुधा भी आज मुझे नहीं सताती है, यह कहने का भावार्थ यह है कि राजा को भगवान् के चरित्र सुनने की अन्तःकरण में अत्यन्त आर्ति (तड़पन) थी, जिससे यह बताया कि मुझे देह-रक्षा का विचार नहीं है, इसलिये अन्न के अभाव में, जल, क्षुधा और प्यास दोनों को शान्त करता है, यथा देह की भी रक्षा कर सकता हैं। मैंने तो वह जल भी छोड़ दिया है। यह कहना सूचित करता है कि राजा परम उत्तम अधिकारी है।

प्यास न कहकर केवल क्षुधा कहने का यह आशय है कि श्रुति में **"क्षुध् वै भ्रातृव्यः"** क्षुधा शत्रु है, क्योंकि शत्रु के समान अवश्य दुःख देने वाली है, अतः शीघ्र बाधा करती है। इसलिये **'बाधते'** क्रियापद में वर्तमान काल का प्रयोग किया है। **"पिबन्तं त्वन्मुखांभोजं"** शुकदेवजी के मुख को अम्भोज कमल कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीमुख से अमृत बह रहा है।

कथा कहने वाले शुकदेवजी आप उस अमृत को समझकर नहीं बहाते हैं किन्तु भगवान् के चरित्र ही ऐसे हैं जो कहने वाले को परवश कर देते हैं। जिससे कथा कहने के समय कथारस में मग्न होने से, क्या हो रहा है ? या क्या कर रहा हूँ ? यह ज्ञान वक्ता को नहीं रहा है अतः श्लोक में च्युत माने स्वयं निकलने वाला ऐसा शब्द दिया है जिसका भाव यह है कि वह कथारूप अमृत रस, मुख से स्वयं बहा जा रहा है। जैसे परिपक्व फल पेड़ से स्वयं गिर पड़ता है। ऐसा रस मैं पान कर रहा हूँ, अर्थात् केवल श्रवण नहीं करता हूँ किन्तु पानकर अन्तःकरण में धारण कर रहा हूँ जिससे सदैव स्मरण रहे। यहाँ भी **'पिबन्तं'** वर्तमान काल के कृदन्त का प्रयोग करने का आशय यह है कि मैंने जो चरित्र पहिले सुने हैं वे भी मुझे पूर्ण रीति से अब स्मरण है। **सम्भावनायेत्यन्ये—**अन्य विद्वानों की भी यह सम्मति है कि यह वर्तमानकाल की क्रिया परीक्षित ने इस आशा से दी है कि शुकदेवजी शीघ्र भगवान् के चरित्र सुनायेंगे। **आनन्दत्वचेतनत्वद्योतनायाह** यद्यपि बहुत करके भगवान् का 'हरि' नाम दुःख दूर करने वाला अर्थ प्रसिद्ध है तो भी यहाँ हरि शब्द आनन्द रूप और चेतनरूप के प्रकाशक है, यह बताने के लिए दिया है। अर्थात् भगवान् एवं उनके चरित्रों में आनन्द और चेतन, दोनों गुण उपस्थित है। विशेषता यह है कि हरिकथा अमृत ही है। किञ्च यहाँ अमृत से रूढि अर्थ वाला अमृत जो देव पीकर अमर बने हैं, वह अमृत नहीं समझना चाहिए किन्तु उसका यौगिक अर्थ समझना चाहिए। जिसके पान करने से मोक्ष प्राप्त होता है उस मोक्ष से जन्म मरण सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। अतः आप ही सच्चिदानन्दात्मक कथा सुनाने से हमारे मोक्षदाता हो। राजा परीक्षित ने इस प्रकार वक्ता श्रीशुकदेवजी की स्तुति की है ॥ १३ ॥

शौनकादीन् सावधानतयाभिमुखान् करोति सूतः—एतमिति।

अब सूतजी हरि कथा सुनाने में डूब गये हैं ऐसे शौनक आदि ऋषियों को कथा सुनाने के लिये सावधान करते हैं—

परस्पराभिनन्दनेनायमर्थः—श्रोता तथा वक्ता परस्पर जो अभिनन्दन करते हैं उससे हृदय में अर्थ की स्फूर्ति होती है, कारण कि श्रोता को वक्ता की योग्यता का ज्ञान होने से उसको निश्चय है कि यह वक्ता जो कहेंगे वह सत्य ही कहेंगे। इस प्रकार वक्ता भी श्रोता की योग्यता देखकर जानता है कि मैं जो कुछ कहूँगा वह पूर्ण रूप से समझकर यह धारण करेगा। इसलिए वक्ता गुह्य बात भी कहने में संकोच नहीं करता है और श्रोता दत्तचित्त होकर श्रवण करता है। श्रीशुकदेवजी जो चरित्र वर्णन करने लगे उनका मूल कारण परीक्षित का प्रश्न है इसलिए श्लोक में **'एतं'** इस प्रश्न ऐसा शब्द कहा है। बार बार पूछने से वक्ता के चित्त में व्याकुलता होती है, यदि वह प्रश्न आक्षेप से किया जाय तो वक्ता को क्रोध आता है। **'निशम्य'** पद देकर व्याकुलता एवं क्रोध दोनों को मिटाया है। **'निशम्य'** पद में दो शब्द है एक 'नि' उपसर्ग और दूसरा **'शम्य'** कृदन्त जिनके कहने का भावार्थ यह है कि श्रीशुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न को शान्ति से सुना और प्रश्नों के अर्थ तथा अभिप्राय को समीचीन प्रकार से समझा। और यह भी जाना कि परीक्षित ये प्रश्न कपट दुराव छल से नहीं करता है किन्तु चरित्र श्रवण की उत्कट इच्छा से भाव एवं श्रद्धा पूर्वक करता है। **विश्वासार्थं भृगुनन्दनेति सम्बोधनम्—**शौनक को भृगुनन्दन सम्बोधन कहा उसका भाव यह है कि उससे शौनक को सूचित किया कि मैं जो कहता हूँ उसमें विश्वास रखना, क्योंकि भृगु विश्वास रखते थे आप भी उसके पुत्र हो अतः आपको भी विश्वास रखना चाहिए।

शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्नप्रेम से शान्तिपूर्वक सुने। उसका कारण **'साधुवादं'** विशेषण से बताते हैं कि परीक्षित के जो प्रश्न थे उनमें भगवच्चरित्ररूप सुन्दरवाद था। जिन महानुभावों के हृदय से संसार का प्रेम निकल गया है, वैसे लोग जब परस्पर मिलते हैं तो भगवान् के चरित्रों के कहने के सिवाय अन्य किसी प्रकार की बातचीत नहीं करते हैं। **साधूवादम्-** परीक्षित ने भी जो प्रश्न किये हैं वे भी भगवच्चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले होने से **'साधुवाद'** ही है। भगवद्भक्त जब जब भी मिलें तब उनको ऐसे ही प्रश्न पूछने चाहिए। व्यासजी ने भी महान् कष्ट से भगवान् के गुणों को प्रतिपादन करने वाला यह शास्त्र बनाया है और ऐसे शास्त्र के प्रचार करने के लिए श्रीशुकदेवजी प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार महान् कष्ट से जिन भगवान् के गुणों और चरित्रों का प्रतिपादन हुआ है और जिनके प्रचार के लिए शुकदेवजी जैसे वीतराग, निरपेक्ष मुनि कटिबद्ध बने हैं, उन चरित्रों को 'साधुपाद' की अपेक्षा होती ही है अर्थात् उनका 'साधुवाद' करना ही चाहिए।

वैयासकिः स भगवान्—शुकदेवजी के लिए यहाँ दो विशेषण दिये हैं, एक **'वैयासकिः'** दूसरा **'स भगवान्'** उनके देने का भाव बताते हैं कि जब भगवान् के चरित्र सहज समझ में आ जावें वैसा नहीं हैं, तब उनका उत्तर किस प्रकार दिया जायँगा ? ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है क्योंकि उनका उत्तर देने वाले श्रीशुकाचार्यजी जिन्हों समाधि में अनुभव कर चरित्रों का निरूपण किया है वैसे व्यासजी के पुत्र हैं। और इसीसे श्रीशुकदेवजी उत्तर दे सकते हैं और आप के साथ भगवान् भी हैं वे ही अन्तःकरण में स्थित होकर उत्तर दे रहे हैं। **नन्वेव भगवान् स्वयमुत्तरं प्रयच्छति किमिति ?—**स्वयं भगवान् शुकदेवजी के हृदय में विराजमान होकर उत्तर देते हैं, उसका क्या कारण है ? इस शङ्का निवारण के लिए श्लोक में प्रश्नकर्त्ता परीक्षित के लिए **'विष्णुरातं'** विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि जिसकी भगवान् ने गर्भ में इसलिए रक्षा की थी कि

इसको मैं अपने चरित्रों को सुनाकर अपना पूर्ण ज्ञानी भक्त बनाकर मुक्त करूँगा। तात्पर्य यह है कि गर्भ में शत्रु से जैसे रक्षा कर परीक्षित को बचाया वैसे ही अब भगवान् ने संसार रूप शत्रु से बचाकर सदा के लिए उसको अमर बनाते हुए अपना ब्रह्मानन्द दिया।

श्लोक में 'अथ' पद देकर यह बताया है कि अब तक तो श्रीशुकदेवजी कह रहे थे। इसके बाद जो चरित्रों का वर्णन होगा वह भगवान् करेंगे। यदि भगवान् वैसे स्वयं चरित्र कहकर परीक्षित की रक्षा नहीं कर तो पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती जिससे रक्षा करनी व्यर्थ सी हो जाती। परीक्षित के प्रश्नों के भाव को विचारते हुए शुकदेवजी उसमें मग्न हो गये जिससे प्रश्नों की उत्कृष्टता समझ राजा की प्रशंसा करने से उसका बहुमान किया, परीक्षित ने तो प्रथम ही शुकदेवजी का अभ्यर्चन किया है इस प्रकार श्रोता तथा वक्ता का परस्पर सम्मान शास्त्र से सिद्ध है। भगवान् के गुण तथा भगवान् दोनों पूजा के योग्य हैं। वे भगवान् के गुण, दोनों, राजा तथा श्रीशुकदेवजी में प्रविष्ट हुए हैं। अतः दोनों ने परस्पर बहुत आदर किया। और ऐसा करने की **'योऽन्योऽन्यतो भागवतां'** इस वाक्य में आज्ञा है। इस उद्योग का फल 'कृष्ण' ही है। इसलिए फलरूप श्रीकृष्ण के चरित्र जो भी फलरूप होने से अलौकिक है, उनको ही राजा ने पूछा है। **पापस्य प्रतिबन्धकत्वान्नात्र श्रद्धा भविष्यतीत्याह 'कलिकल्मषघ्नं'** राजा ने पूछा वह तो अच्छा किया, किन्तु उसके सुनने में यदि पाप प्रतिबन्धक होंगे जिससे श्रवण में श्रद्धा नहीं होगी। इस शङ्का के निवारण के लिए **'कलिकल्मषघ्नं'** पद श्लोक में दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि कलियुग के दोष भगवान की कथा के श्रवण में प्रतिबन्धक होते हैं उनको भगवान् के चरित्र नाश करने वाले हैं। अन्य उपाय तो इस युग में प्रतिबन्धों का नाश करने में असमर्थ है केवल भगवच्चरित्र उनका नाश कर सकते हैं। यदि वे भी असमर्थ होते तो इस युग के धर्म में प्रवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा न हो सकती। यह कहने का सारांश यह है कि भगवच्चरित्र, कलि के सर्व प्रकार के मल नष्ट करने वाले हैं जिससे भगवच्छ्रवण में पापादि प्रतिबन्धक नहीं होते हैं और श्रद्धा बनी रहती है। शुकदेवजी ने महान् उत्साह से एवं उत्तम ढंग से जो चरित्र वर्णन का प्रारम्भ किया उसका कारण यह है कि कथा के श्रोताओं में भगवद्भक्त ही मुख्य थे। शुकदेवजी ने भी उनसे विशेष रस पाने की इच्छा से उत्साह पूर्वक विशेष रूप से चरित्र वर्णन करने का प्रारम्भ किया। इस कथारस में मग्न श्रीशुकदेवजी मनन का त्याग कर मात्र भगवान् के चरित्रों का वर्णन ही करने लगे। और ज्ञानी परमहंस ने भगवद्गुणानुवाद को ही प्रधानता दी, ज्ञानादिक को प्रधानता नहीं दी ॥ १४ ॥

स्वसमानशीलव्यसनं दृष्ट्वा राजानं प्रश्नं चाभिनन्दति द्वाभ्याम्—सम्यगिति।

अब श्रीशुकदेवजी राजा को अपने समान शील तथा व्यसन वाला देखकर दो श्लोकों से राजा और उसके प्रश्नों का अभिनन्दन करते हैं।

भगवति लयात्पूर्वं स्थिरप्रज्ञतैव सर्वोत्तमा भगवान् में लय हो जाने से पहिले ही यदि बुद्धि स्थिर हो जाय उसकी चञ्चलता मिट जावे तो यह सबसे उत्तम है। आपकी बुद्धि ने जो यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि, भगवान् की कथा के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं सुनना वह उत्तम है। आपकी बुद्धि के दृढ़ निश्चय जैसा निश्चय ब्रह्मर्षिओं को भी दुर्लभ है अतः आप राजर्षिसत्तम हो। अपनी प्रजा के पालन रूप धर्म में निष्ठा वाला लौकिक रीति से केवल राजा कहलाता है। प्रजापालन के साथ वैदिक धर्म में निष्ठावान् को राजर्षि कहते हैं। इन दोनों गुणों के साथ साथ यदि वह भगवत् धर्म में निष्ठावान् होता है तो उसको राजर्षिसत्तम कहते हैं। आपका तो उससे भी उत्कर्ष है क्योंकि भगवान् ने आपका अङ्गीकार भी किया है। इस कारण से भगवान् में लय होने से प्रथम आपकी ऐसी दृढ़ बुद्धि होने योग्य ही है। बुद्धि के दृढ़ हुए बिना भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है। स्थिर बुद्धि से भगवत्प्राप्ति होती है तब इस बुद्धि का लय भगवान् में हो जाता है और भगवद्भक्त को अलौकिक देह की प्राप्ति होती है इसलिये आचार्यश्री ने कहा है कि भगवान् में लय होने से पूर्व ही अचल मति होनी चाहिए। मनुष्य के जीवन में निश्चय दो प्रकार से होता है, एक शास्त्र में कहे हुए जीव को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये ऐसे उपदेश को सुनकर, और दूसरा अपनी (स्वभावगत) रुचि से निश्चय होता है। अब इन दोनों में पहिला शास्त्र सुनने से निश्चय होना 'मध्यम' मर्यादा मार्गीय वैदिक निश्चय है। और सहज रुचि से दृढ़ बुद्धि होना, यहाँ उत्तम पुष्टिमार्गीय निश्चय है। आप तो उत्तम हो कारण कि आपकी रति भगवान् की कथा के श्रवण में दृढ़ बुद्धि वाली स्वभावगत है। जिसको कोई बदल नहीं सकता है क्योंकि प्रेम उस निश्चय को अच्छे प्रकार से स्थिर करने वाला है। उस स्थिर निश्चय से कथा श्रवण में रति बढ़ती रहती है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में **'सम्यग् व्यवसिता बुद्धिस्तव'** कहे हुए दोनों कारण राजा के अभिनन्दन के लिए कहे गये हैं। भगवान् के चरित्रों के श्रवण में रति का होना प्रेम का होना सर्वथा दुर्लभ है। दुर्लभ होते हुए भी आपका जो श्रवण में प्रेम हुआ है उसका कारण बुद्धि की स्थिरता है। सभा में यद्यपि देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि ये सब उपस्थित हैं तो भी आपको ही वैसा प्रेम कथा श्रवण में हुआ है और साधन तथा फल भी आपको सिद्ध हो गये हैं अतः आप सत्कार करने योग्य हैं। राजन्, आपका का स्वरूप क्या है ? इसका ज्ञान तो आपके किये हुए प्रश्नों से सहज हो जाता है। राजन्, आपका धन्यवाद आपकी प्रशंसा नहीं है लेकिन आप के प्रश्नों की स्तुति है सचमुच प्रश्नों की ही प्रशंसा की है ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेणापि साक्षात् प्रश्नं स्तोति—वासुदेवेति।

अब इस श्लोक से श्री शुकदेवजी दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष प्रश्न की स्तुति करते हैं।

वासुदेवस्य मोक्षार्थत्वात्—वासुदेव शब्द का अर्थ मोक्ष है अतः उनसे सम्बन्ध वाले जो भी पदार्थ हैं वे सब, पवित्र करने वाले ही होते हैं। उसमें भी वासुदेव की कथा तो उनसे सम्बन्ध रखने वाले गुण तथा दोषों वाली होते हुए भी, भगवान् में आग्रह पूर्वक विश्वास उत्पन्न करती है। जैसे कि लोक दृष्टि में पूतना वध आदि गुण हैं और कंसादि मातुल वध दोष है। तथापि प्रश्न जिज्ञासा इन चरित्रों की श्रवण जिज्ञासा भी उस श्रद्धा को दृढ़ करने में कारण होती है। क्योंकि उन चरित्रों के श्रवण से, यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे भगवान् में श्रद्धायुक्त और आग्रही मन होता है। **त्रीन् पुरुषान्**—जहाँ कथा का प्रसङ्ग होता है वहाँ एक प्रश्नकर्त्ता, कोई श्रोता और उत्तरदाता इस प्रकार तीन पुरुष होते ही हैं। यदि वक्ता भगवान् के गुणों का ज्ञाता होकर भी जब तक मौन धारण करता है, समझना चाहिये कि यह मौन पापों के कारण है, पाप उसको बोलने नहीं देता है। भगवान् की कथा से सम्बन्ध वाला प्रश्न पापों का नाश करता है तथा गुणों का उदय करता है किन्तु यह प्रश्न वह कर सकता है जिसके पाप नष्ट हो गये हैं। श्रोताओं में जब तक पाप विद्यमान हैं तब तक उनके मन की भगवान् में आसक्ति नहीं होती है। जब कथा संबन्धी प्रश्न होते हैं तब उनके सुनने से श्रोताओं के पाप नष्ट हो जाते हैं और कथा में मन लगता है। मनमें प्रश्न करने की इच्छा हो किन्तु जब तक मुख से वह प्रश्न नहीं निकलता है समझना चाहिये कि तब तक पाप का अस्तित्व है। जब प्रश्न मुख से बाहर निकलता है तब उसके पापों को भी नष्ट करता है। अतः तीन पुरुषों को पवित्र करता है, यह कहना योग्य है। **प्रश्नकर्तुं पितृपितामहादयो भविष्यन्तीति**—तीन पुरुष कहने का तात्पर्य प्रश्नकर्त्ता, वक्ता और श्रोता से है, न कि पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीन पुरुषों से हैं।

यद्यपि वक्ता और प्रश्नकर्त्ता भी श्रवण करने से श्रोता ही हैं, किन्तु निमित्त कारण सब के भिन्नभिन्न हैं। इसलिये निमित्त ही प्रयोजक कहा गया है। कथा तीन पुरुषों को पवित्र करती है, पुरुष शब्द का अर्थ यहाँ भी वह लेना चाहिए जो आगे **'निवृत्ततर्षे'** श्लोक में कहा है। उस श्लोक में पुरुष उसको कहा है कि जो पशु तथा स्त्री जीव नहीं होवे, शेष सर्व पुरुष हैं। इस प्रकार के पुरुष ही श्रवण करने से पवित्र होते हैं असुर पवित्र नहीं होते। अन्य किसी कार्य करने के लिए आते हैं, वे भी पवित्र नहीं होते हैं। पवित्रता अनेक प्रकार की होती है, यहाँ कथा श्रवण से जिस प्रकार की पवित्रता होती है वह गङ्गाजी का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे भगवत्पदी गंगाजी का पावन सलिल पावन करता है वैसे ही प्रश्न भी पावन करता है। किस स्थल पर आकस्मिक प्रश्न उत्पन्न हुआ हो और कुछ पूछा गया हो फिर किसी वक्ता को प्रेरणा हुई हो, अथवा कोई सुनने की इच्छा से सन्मुख आ गया हो, केवल इतना ही बनने से फल की संभावना नहीं है। लेकिन फल की सिद्धि तब होगी, जब कि वह कथा तीनों के चित्त को भगवन्निष्ठ करती है तब ही सफलता मिलती है। गङ्गाजी पहले के सम्बन्धी पापों को तथा उनके कार्यों को नाश कर साक्षात् भगवान् की सेवा के योग्य शरीर को बनाती है। तात्पर्य यह है कि जिस शुद्धि से भगवान् की सेवा के लिये उपयोगी चित्त बने, ततुनवत्व सिद्ध हो शुद्धि करती है। हरि कथा की भाँति गङ्गाजी भी तीन लोक के पुरुषों को पवित्र करती है। तात्पर्य यह है कि तीन लोकों में स्थित जीवों को पवित्र करती है, (१) अथवा सात्विक आदि भेद तीन या नव भेद करके भिन्न-भिन्न पुरुषों को पवित्र करती है, (२) दोनों तीरों पर स्थित, जीवों को जलमध्य में स्नानार्थ आये जीवों को एवं पानार्थ स्थित जीवों को, वैसे तीन को पवित्र करती है, एवं ब्रह्मा, महादेव और भगीरथ तीनों को पवित्र करती है। इसी प्रकार कथा भा त्रिविध दैवी जीवों को शुद्ध कर उनकी तनु को श्रीकृष्ण सेवोपयोगिनी तनु बना देती है॥ १६॥

एवं भगवत्सम्बन्धित्वेन प्रश्नमभिनन्द्य भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थं कथामारभते॥भूमिरिति।

अब श्रीशुकाचार्यजी इस श्लोक से भगवान् से इस सम्बन्ध होने के कारण पूर्व श्लोकों में प्रश्न की प्रशंसा कर भगवान् के अवतार धारण के प्रयोजन का ज्ञान हो इसलिए कथा का प्रारम्भ करते हैं।

कारिका—१ भक्तानां दुःखनाशाय कृष्णावतरणं मतम्। भूमिर्माता तथा चान्ये भक्ता वै त्रिविधा मताः॥ १॥

कारिकार्थ—सकल शास्त्रों की यह सम्मति है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् का पूर्णावतार स्वरूप से पधारना केवल भक्तों के दुःख का नाश करने के लिए होता है। वे भक्त तीन प्रकार के माने गये हैं। भूमि माता, देवकीजी और अन्य भक्त ये तीन प्रकार के भक्त हैं॥ १॥

कारिका—२ सर्वेषां महद्दुःखं नान्येन विनिवार्यते। यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थितिः॥ २॥

कारिकार्थ—समस्त भक्तों को जो महान दुःख था वह दूसरे साधनादि नहीं मिटा सके तब दुःख हरण करने वाले श्रीकृष्णस्वरूप भगवान् श्रीहरि स्वयं प्रकट हुए। यही प्रादुर्भाव की व्यवस्था मर्यादा है॥ २॥

कारिका—३ ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः। तेषामुद्धारकः कृष्णः स्त्रीणामत्र विशेषतः॥ ३॥

कारिकार्थ—जो भक्त शास्त्रों में लिखे हुए साधनों को नहीं कर पाते इसलिये शास्त्ररहित हैं उनका तथा स्त्री, शूद्र और द्विज बन्धुओं का उद्धार करने वाले तो केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं और उन्होंने इस पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अवतार में स्त्रियों का उद्धार विशेषरूप से किया है ॥ ३ ॥

कारिका—येषां निरोधकं शास्त्रं योगादिविनिरूपितम्। शेषभावस्तत्र हरेर्न कदाचिद् गमिष्यति ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—जिन जीवों का निरोध करने वाले योगादि शास्त्र साधन हैं, उन साधनों में भी हरि साधन रूप होते हैं उनसे वह साधनपन याने गौणता कभी नष्ट नहीं होगी ॥ ४ ॥

कारिका—संसारदुःखव्यावृत्यै निरोधोऽत्र निरूप्यते। अतो निरोधो ज्ञानात्मा दुःखरूपा च संसृतिः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—साधन द्वारा निरोध चाहने वालों के मत में, संसार के दुःखों के नाश के लिए, निरोध कहा गया है। अहन्ता ममतात्मक संसार अविद्या के कारण उत्पन्न होता है। अतः उस अविद्या के नाशार्थ ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि अज्ञान का नाश ज्ञान से ही होता है। इसलिए इस मत में 'निरोध' ज्ञानरूप है। किञ्च भक्तिमार्ग में ससार भी लीलारूप होने से सुखरूप है। इस कारण से भी इनमें वैलक्षण्य किसी एक प्रकार की अद्भुतता है इस प्रकार भिन्नता के कारण निःसाधन ही भगवान् के लिए उद्धार के विषय हैं। निःसाधन फलात्मा पुरुषोत्तम का प्राकट्य निःसाधन भक्तों के लिए ही है ॥ ५ ॥

कारिका—एवमेकं फलं प्रोक्तं द्वयं वा न विरुद्ध्यते। साङ्गस्य प्रक्रिया युक्ता ततः स्कन्धोऽपि युज्यते। ६ ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार एक फल कहा अथवा दो फल हों तो भी कोई विरोध नहीं है। अङ्ग सहित जो क्रिया कही गई है वह योग्य ही है। इससे दशम स्कन्ध की योजना पूर्ण हो सकती है ॥ ६ ॥

कारिका—अवतारो निरोधाङ्गं, तदङ्गं दुःखमेव च। धैर्य्यार्थं सान्त्वनं प्रोक्तं भूमिमात्रोर्न चान्यथा ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—भगवान श्री कृष्ण का अवतार होना निरोध का अङ्ग है और उस अवतार का अङ्ग दुःख ही है। पृथ्वी तथा माता को धीरज देने के लिए ही सान्त्वन-आश्वासन दिया है अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

कारिका—अन्ते दुःखं भक्तकृतं प्रादुर्भावाय वै हरेः। आकाशवाणी वाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थमुद्गतः ॥ ८ ॥
अशक्तः संस्तथा चक्रे तथा नारद एव हि ॥ ८½ ॥

कारिकार्थ—भगवान् श्री कृष्ण जी का शीघ्र प्राकट्य हो इसी लिये भक्तवर नारदजी ने कंस को कहा कि व्रज में 'नन्दादिक', सब देव प्रकट हुए हैं जिन वचनों को सुनकर कंस भुलावे में पड़ गया और पुनः दुःख देने लगा तथा आकाशवाणी भी इसलिये ही हुई, उस नभोवाणी ने समझा कि मैं तो भगवान् के प्राकट्य कराने में अशक्त हूँ और सर्व की मुक्ति के लिये भगवत्प्राकट्य की आवश्यकता है। अतः मैं जब इस प्रकार कंस को कहूँगी तब वह भक्तों को दुःख देगा, जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट होंगे ॥ ८½ ॥

कारिका—दशभिः सान्त्वनं भूमेः पञ्चत्रिंशत्तनैस्तथा ॥९॥ अष्टभिर्नारदोक्त्यैव सर्वेषां दुःखमञ्जसा ॥ ९½ ॥

कारिकार्थ—दश श्लोकों से भूमि को और पैंतीस श्लोकों से माता को आश्वासन—मनः संतोष दिया है और आठ श्लोकों में नारदजी के कहने से उपलब्ध दुःखों का कथन है ॥ ९½ ॥

इस प्रकरण में दश श्लोकों से भूमि देवता को वाणी द्वारा सान्त्वन दिया गया है, और पैंतीस श्लोकों से देवकीजो की सान्त्वना उपाय द्वारा की गई है। पश्चात् आठ श्लोकों से भगवान् के प्राकट्य का कारण बताया है। वह कारण जो सर्व का दुःख है वह कहा जायगा। अब आचार्य चरण भूमि के दश श्लोकों का पृथक् करण करते हुए विवेक बतलाते हैं कि उद्यम, १८ वें श्लोक में दर्शाया है। उस उद्यम का स्वरूप अपने दुःख का वर्णन करते हुए गौ ने दीनता दिखाई है। १९ वें श्लोक में भक्त भगवान् के पास गये थे उसका वर्णन है। तत् पश्चात् २० वें श्लोक में निवेदन पूर्वक उन्होंने भगवत्स्तुति की है, २१ वें श्लोक में भगवान् ने जो आज्ञा ब्रह्मा जी को दी थी वह आज्ञा ब्रह्माजी ने सर्व देवताओं तथा अन्य भक्तों को सुनाई। अब २२ से २५ तक इन ४ श्लोकों में भगवान् के शब्दों का भावार्थ बताया है जैसे कि उनमें २२ वें श्लोक में क्रिया देवता, यादवों में प्रकट होवे वैसी क्रिया २३ वें श्लोक में जन्म भगवान् का प्राकट्य २४ वें श्लोक में संकर्षण तथा २५ वें श्लोक में माया इन चारों के विषय का विवरण है। इसके अनन्तर उपसंहार है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि पहिले भूमि ने उद्यम ब्रह्मा के पास जाने का प्रयत्न किया। प्रभु सर्वत्र गुप्त हैं। केवल व्यापि वैकुण्ठ में साक्षात् विराजते हैं। भूमि ने सोचा कि वराहावतार में भी मेरे उद्धार के लिए ब्रह्माजी ने उपाय किया था। अब भी उनके द्वारा ही मेरे दुःख की निवृत्ति होगी। अतः मुझे ब्रह्मा जी के पास चलना चाहिए। इस विचार से वह

ब्रह्माजी के पास गई लेकिन भगवान् के पास न गयी। भूमि, वास्तविक दैत्यों की है, देवताओं 'की भूमि तो केवल इतनी है कि मनुष्य बैठकर पीछे देखे तो उसके देखने में जितनी आवे, उतनी भूमि देवताओं की है, शेष असुरों की है। अतः भूमि देवताओं के उपयोग में आने वाला छोटा गौ का स्वरूप धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। जो गौ रूप धारण न कर यदि अपने ही विशाल रूप से जाती तो दैत्य बाधा करते। इसलिए उस बाधा के न होने के लिए गौ रूप से शीघ्र गई। अपने और दूसरों के दुःख मिटाने की तुलना में अन्य कोई कार्य आवश्यक नहीं है। अतः इस आवश्यक कार्य को पूर्ण कराने के लिए पृथ्वी ब्रह्माजी की शरण में गई। माया के उपासक सर्व दैत्य, पृथ्वी को रसातल में ले जाने के वास्ते राजाओं के रूप में जन्मे हैं। ये राजा दैत्य हैं इसका प्रमाण यह है कि ये अभिमानी तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले हैं। इसलिए शुकदेवजी ने इनको **'दृप्त'** विशेषण दिया हैं। असुरों का यह शास्त्र विरुद्ध आचरण एवम् अभिमान' ही सर्वत्र कहा गया है।

जिन दैत्यों का वध तो हुआ किन्तु मुक्ति नहीं हुई, वे दैत्य देवताओं में घुस गये हैं। इस प्रकार देव भी वैसे बन गये हैं। अतः उन देवों में मिले हुए दैत्यों के आवेश वाले भीष्मादिकों का निराकरण किया गया है। मूल श्लोक में **'व्याज'** शब्द देकर यह बताया है कि ये दैत्य यद्यपि राजाओं के रूप में उत्पन्न हुए हैं तो भी उनमें प्रजा पालन रूप राजधर्म तो नहीं है किन्तु प्रजा का घात करना, यह दैत्य धर्म है। अतः यह राजाओं का रूप उन दैत्यों ने छल से धारण किया है।

ये दैत्य, राजा का रूप धारण कर प्रजा को सुख देने और स्वयं सुख भोगने के लिए नहीं जन्मे हैं किन्तु प्रजा का घात करने के लिए आये हैं। इसलिए कहा गया है कि असंख्य सेना रूप में इकट्ठे हो गये हैं, जिसके भार से भूमि इतनी पीड़ित होकर दब गई है कि चारों तरफ से शीघ्र डूबती हुई दिख पड़ती है। अत्यन्त भार से इसलिए दुःखी हुई है कि जो दैत्य-पन भार को पैदा करता है, वह पाप भार डुबाने वाला है। जैसे एक ही उन्मत्त, नौका को डुबा देता है। यहाँ तो असंख्य उच्छृङ्खल सेनानियों की सेना के आक्रमण का भार पृथ्वी पर था। वह क्या नहीं कर सकता है! अतः पृथ्वी यह सोचकर ब्रह्माजी के पास गई क्योंकि पहले भी ब्रह्माजी ने उद्धार का उपाय किया था और अब भी वे ही करेंगे॥ १७॥

प्रकाशकार दशदिगन्त विजयी श्रीपुरुषोत्तमजी इस विषय को स्पष्ट समझाने के लिए श्रुति का प्रमाण देते हैं। **असुराणां वा इयमग्र आसीद्यावदासीनः पराश्यति तावद्देवानाम् इति, देवानां भूवाचनोत्तरं कियद्दास्यामीति प्रश्ने, ततः सालावृकीत्रिः परिक्रान्तिमितां याचित्वाधृतसालावृकोरूपेणेन्द्रेण सर्वस्याः परिक्रमणे। भूमेः प्रारथा वेदित्वमुक्तमिति श्रुतिः।**

रूपान्तरेण गमनं देवानां हितकारि न भवतीति हविर्द्धानीरूपेण गतेत्याह—गौर्भूत्वेति।

भूमि, हविर्द्धानी का रूप धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। हविष्य के पदार्थ दूध घी आदि को देने वाली को हविर्धानी कहते हैं इसका आशय यह है कि सब पशु आदि जीवों में गौरूप ही दीनता का है। जिसका देखकर सबको दया आ जाती है। अतः इस रूप से ही देवताओं का हित होगा। दूसरे देवता के रूप से जाने में देवताओं के हित में बाधा होने की सम्भावना थी इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

गौर्भूत्वा अन्तिके उपस्थिता—भूमि, गौ का रूप धारण कर ब्रह्माजी के समीप उपस्थित होकर अपना दुःख विधाता को सुनाने लगी। जिस समय भूमि, गौ रूप से ब्रह्माजी के पास पहुँची। उस समय गौ के अन्तःकरण में जो दुःख था उस दुःख के ताप से उत्पन्न हुआ पसीना, अश्रुरूप से आँखों में से अविरत बहता हुआ मुख में आ रहा था।

दुःखकर किसी बात के जानने से जो अन्तःकरण में क्लेश उत्पन्न होता है उस दुःख से उत्पन्न पसीना आखों से निकल आता है। उस पसीने को 'अश्रु' कहते हैं। भूमि को भी दैत्यों के अभिप्राय का ज्ञान होने से खेद हुआ था। वाक्य वह प्रमाण माना जाता है कि जिसके भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलन होवे, यदि वाक्य के भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलाप न हुआ तो वाक्य प्रमाण नहीं है।

भूमि के अन्तःकरण में दैत्यों के अभिप्राय जानने से जो दुःख हुआ था वह दुःख अन्तःकारण के धर्म से मिल गया था अतः भूमि ने उस धर्म को अश्रुद्वारा प्रकट करके दिखाया। किन्तु एक को तो केवल अश्रुद्वारा भी समझाया जा सकता है किन्तु जहाँ बहुत से दुःख हों वहां अश्रुओं से ही न समझाने में आने के कारण मुख से कहने की भी आवश्यकता होती है। इसलिये गौ रूपधारी पृथ्वी अपने दुःख मुख से कहने लगी। **अधिकारित्वादविचारदशायाम्**—ब्रह्माजी सर्वज्ञ होने से बिना कहे

भावार्थ—यह पृथ्वी पहिले असुरों की थी, केवल उतना भाग देवों का था जितने को बैठकर मनुष्य पीछे देख सके। किसी समय इस पृथ्वी को देवताओं की करने के लिए इन्द्र ने कुत्ती का रूप धारण कर दैत्यों से पृथ्वी को माँगा। तब दैत्यो ने कहा कि कितनी पृथ्वी तुझे चाहिए? कुत्ती रूपधारी इन्द्र ने कहा कि मैं जितनी पृथ्वी की तीन बार में परिक्रमा कर आऊँ, उतनी पृथ्वी दीजिये। दैत्यों ने उस कुत्ती का कहना मान लिया। कुत्ती का रूप धारण करने वाला इन्द्र समग्र भूमि की प्रदक्षिणा कर आया तब से पृथ्वी देवताओं की हुई।

हुए भी दुःख को जान सकते हैं, तो फिर कहने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि यों तो ब्रह्माजी ब्रह्म रूप होने से सर्वज्ञ हैं किन्तु अब यहाँ ब्रह्माजी की अधिकारी दशा है अर्थात् अधिकारी हैं इस कारण से इस समय वे सर्वज्ञ नहीं हैं इसीलिये भूमि को अपने दुःख का मुख से वर्णन करना पड़ा जो योग्य ही है। **खिन्नेति**—'खिन्ना' शब्द से यह बताया कि भूमि को एक ढंग से दुःख नहीं था किन्तु अनेक प्रकार से दुःख था अर्थात् खेदपूर्ण अन्तःकरण वाली थी। खेद पूर्ण थी इसका प्रमाण क्या है ? वहां कहते हैं कि खेद के कारण शरीर में एक तरफ दुर्बलता आ गई है और दूसरी तरफ उसका तेज नष्ट हो गया है। यह दोनों प्रकट चिन्ह उसके दुःख के साक्षी हैं। पुत्री का दुःख जैसे पिता शीघ्र दूर कर सकता है वैसे अन्य नहीं कर सकता है, अतः भूमि ने अपने दुःख की निवृत्ति के लिये पिता के पास जाना ही उचित समझा। भूमि उस समय करुणा युक्त रोदन करती हुई ब्रह्माजी के समीप गई, इस प्रकार के रोदन का कारण यह था कि भूमि ब्रह्माजी को बताना चाहती थी कि पिताजी, मुझे आपके वियोग का वैसा कष्ट नहीं है जैसी दैत्यों के दुःख का है। आपके वियोग में इस प्रकार करुण रोदन हो नहीं सकता है यह रोदन तो दैत्यों के दुःखों के कारण मुझे आ रहा है, अतः आप पिता हो इसलिये शीघ्र मेरे दुःखनिवृत्ति का उपाय करो। इस प्रकार के रोदन का गौण कारण यह भी था कि अपने पिताजी श्रीब्रह्माजी अधिकारी हैं। उनको अधिकारवश अनेक अन्य कार्य करने पड़ते हैं इसलिये कहीं मेरे दुःख निवृत्ति के उपाय में विलम्ब न कर देवें यह सोचकर कि दूसरे काम को पहले कर लूं पुत्री का काम है पीछे ही कर लूंगा, कहीं यों न हो जाय इसलिये भी करुणक्रंदन किया गया था।

भूमि ने सोचा कि पिताजी कदाचित् कह न देवें कि मुझसे यह तुम्हारे दुःख की निवृत्ति नहीं होगी, इसलिये पिता को **'विभो'** विशेषण देकर सावधान करती है कि मुझे मालूम है कि आप सब कुछ करने में समर्थ हो अतः मैं आपकी शरण में आई हूँ।

मूल श्लोक में 'उपस्थिता' इस पद में 'उप' उपसर्ग देने का आशय बताते हैं कि 'उप' कहने से समझना चाहिये कि 'भूमि' ब्रह्माजी के अन्तःकरण में अन्तर्यामि रूप से विराजमान प्रभु भगवान् श्रीकृष्ण के पास आकर अपने दुःख सुनाती है। कारण कि भूमि भक्त है वह अपने दुःख भगवान् को ही सुनाना चाहती है। समीप होने के सिवाय तो अपने दुःख सुनाये नहीं जा सकते हैं अतः भूमि भक्तिमार्गीय ध्यान द्वारा भगवान् की समीपता प्राप्त कर अपने क्लेश भगवान् को ही सुनाती है। श्लोक में 'उप' शब्द देकर उपरोक्त आशय को सिद्ध किया है कि भीतर तो भगवान के पास प्रार्थना है और बाहर केवल ब्रह्माजी के समीप खड़ी रही इसलिये 'अन्तिके' शब्द दिया है दुःख शब्द न देकर मूल में **'व्यसन'** शब्द दिया है। उसका आशय यह है कि यह दुःख ऐसा है जिसको भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय कोई नहीं मिटा सकता है। अतः अपने दुःख प्रभु के पास स्पष्ट प्रकार से वर्णन करने लगी ॥ १८ ॥

ततो ब्रह्मा दैत्यसम्बन्धित्वाद्भूमेः सहायार्थमाकरणशङ्काव्यावृत्यर्थमालोचनज्ञानेन तदुक्तार्थं निश्चित्य प्रतीकारं कृतवानित्याह—ब्रह्मेति।

जब गो रूपवाली पृथ्वी ब्रह्माजी के सामने खड़ी होकर अपना दुःख प्रकट करने लगी तब ब्रह्माजी के हृदय में शङ्का हुई कि क्या यह अपने दुःखों को मिटाने के लिए मुझे बुला रही है ? इस शङ्का को ब्रह्माजी ने विचार पूर्वक ज्ञान से मिटाया और उस ज्ञान से गौ के वचनों का भाव समझकर उपाय करने लगे। उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

ब्रह्मत्वात् तथासामर्थ्यं ज्ञानात्मकत्वात्—ब्रह्माजी ब्रह्म हैं, इसलिए ज्ञान स्वरूप भी हैं, भूमि के वचन सुनकर श्रीब्रह्माजी के मनमें जो तर्क उत्पन्न हुए थे, उनका भूमि के वचनों से नहीं किन्तु अपने ज्ञान से समाधान कर भूमि के अन्तः-करण के भाव का निश्चय कर लिया, पुनः देवगण भूमिदेवी आदि को साथ में लेकर क्षीर सागर के तीर पर पधारे। देवताओं को साथ में इसलिए ले गये थे कि जो कुछ भगवान् आज्ञा करेंगे वह इनको वहाँ ही सुना दें। ब्रह्माजी ने अपने मनमें जब तर्कों के समाधान के लिए समालोचन किया तो उस आलोचन से उपाय तथा उसके साधनों को भी जान लिया। त्रिनयन शंकरजी को साथ ले जाने का कारण यह था कि शिवजी सरल हैं दैत्य उनके भक्त हैं, कभी उनकी भक्ति के कारण दैत्यों को कुछ और उपाय भी बता दें तो कार्य में विघ्न आ जायगा लेकिन शिवजी को यदि साथ ले चलें तब शिवजी हमारे साथ

---

(१) योजनाकार लालू भट्टजी इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि, भूमि के वचन सुनकर ब्रह्माजी के मन में दो प्रकार के तर्क पैदा हुए—(१) प्रायः श्रीभूमिदेवी भगवद्भक्ता है अतः यह केवल अपना दुःख दूर करना नहीं चाहती है लेकिन दुष्ट राजाओं के भार उतारने के लिए भगवान् का प्राकट्य चाहती है। (२) अथवा दूसरी शङ्का यह भी हुई कि दैत्यों से सम्बन्ध होने के कारण भूमि को स्वार्थ बुद्धि हो गई होगी जिससे वह अपना दुःख ही मिटाना चाहती होगी। और भगवान् के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं चाहती होगी। इन दोनों शङ्काओं पर ब्रह्माजी ने पूर्ण रीति से विचार किया, जिससे ब्रह्माजी को निश्चय हुआ कि भूमि परम भक्त है, अतः दैत्य संग होने पर भी इसमें स्वार्थ नहीं आया है इससे यह भगवान् का ही प्राकट्य चाहती है।

रहेंगे तब तो दैत्यों को दूसरा उपाय नहीं बता सकेंगे। पृथ्वी को साथ में ले जाने का कारण यह था कि भगवान् को प्रकट होने के लिए निमित्त कारण चाहिये तो उस निमित्त कारण को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए भूमि को भी ले गये। यहाँ मूल श्लोक में महादेवजी का नाम **'त्रिनयन'** दिया है। उसका रहस्य बताते हैं कि देव, दैत्य और मनुष्य इन तीनों पर महादेवजी की दयादृष्टि रहती है। इस कारण से भी महादेवजी को साथ में ले जाना आवश्यक था। श्वेत द्वीप भगवान् का प्रिय धाम है एवम् व्यापि वैकुण्ठ का द्वार इस द्वीप के क्षीर सागर के समीप ही है। इसलिए क्षीर सागर के तीर पर गये। भूमि भगवान् की भक्त है। अतः भक्तों में आसक्त चित्त वाले भगवान् भूमि में भी आसक्त होकर ही इसका उपकार करेंगे, इसको जताने के लिए तीर पर ठहर गये ॥ १९ ॥

तत्रापि भगवतस्तिरोभावात् स्तोत्रं कृतवानित्याह—तत्र गत्वेति।

यदि शंका हो कि क्षीर सागर तीर जाकर स्तुति करने की क्या आवश्यकता थी? इस पर कहते हैं कि जब ब्रह्माजी वहाँ गये तब भगवान् वहाँ भी तिरोहित थे, उनका आविर्भाव कर प्रार्थना करने के लिए स्तुति की है। उसका कथन **'तत्र गत्वा'** इस श्लोक में कहते हैं।

गमनमात्रेणैव स्तोत्रं कृतवान्—उपरोक्त श्लोक में 'जगाम' गये यह क्रियापद है। पुनः इस श्लोक में **'गत्वा'** कहने का भाव यह है कि जाते ही बिना विलम्ब के ब्रह्माजी स्तुति करने लगे। इसलिए यहाँ **'गत्वा'** पद दिया है। ब्रह्माजी ने वहाँ जाते ही समाधि लगाकर पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति की। इस प्रकार श्लोक के पदों का सम्बन्ध लगाकर अन्वय और अर्थ करना चाहिए। ब्रह्माजी ने स्वयं दुःख का सामना नहीं किया। इसका कारण बताते हैं कि भगवान् जगन्नाथ जगत् के स्वामी हैं। और उनको ही यह अधिकार है, ब्रह्माजी को नहीं है। यदि ऐसा है कि भगवान् जगत् के नाथ हैं। इसलिए उनको यह अधिकार है तो जगत् के नाथ होने से दैत्यों के भी तो नाथ हुए तो फिर केवल देवों का ही हित क्यों करते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र रूप से क्रीडा करते हैं इसलिए भगवान् का नाम **'देवदेव'** कहा है। भगवान् कृष्ण केवल देवों से ही क्रीडा करते हैं दैत्यों से नहीं। यद्यपि भगवान् दैत्यों के भी स्वामी हैं किन्तु वह स्वामित्व मर्यादानुरूप है। इस समय दैत्य मर्यादा का भी उल्लङ्घन कर चुके हैं। अतः वे मर्यादा से भी हित करने योग्य नहीं हैं इसके सिवाय भगवान् देवों के आधिदैविक स्वरूप भी हैं। इसलिए भी भगवान् को देवों का हित करना आवश्यक है।

अब आचार्यचरण, वृषाकपि पद का तात्पर्य बताते हैं—यदि दैत्य भूमि को रसातल में ले जाय तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भगवान् स्वर्ग में देवों में क्रीड़ा कर सकते हैं और देवों का हित भी कर सकते हैं! इसलिये दैत्यों के अपकार और देवों के उपकार के लिये स्तुति कर बुलाना योग्य नहीं है। इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में भगवान् कृष्ण को **'वृषाकपि'** विशेषण दिया है। यदि भगवान् प्रकट होकर देवताओं की रक्षा न करें और दैत्यों का नाश न करें तो यह नाम निरर्थक हो जाय। क्योंकि वृषाकपि पद का अर्थ है यज्ञादिरूप धर्म के सम्पूर्ण फल का भोक्ता भगवान् है। यदि भूमि रसातल में चली जाय तो यज्ञ कैसे होंगे। यज्ञ न होने से देवों का देवत्व चला जायगा क्योंकि देवों का देवत्व यज्ञ के फल के भोग से ही है। अब आचार्यचरण पुरुष पद का तात्पर्य कहते हैं जो देखने में नहीं आता है एवं जो समीप में नहीं है। उसकी स्तुति कैसे की जाती है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् पुरुष हैं अतः वह सदैव ब्रह्माजी के हृदय में भी विराजते हैं और भगवान् नारायण ब्रह्माजी के पिता भी हैं। पिता के नाते से ब्रह्माजी का कार्य अवश्य करेंगे। पुरुष सूक्त से स्तुति इसलिए की है कि एक तो वैदिक स्तोत्र है और दूसरे भगवान् की प्रेरणा से प्राप्त हुआ है, जिससे भगवान् को अतिप्रिय है। और पुरुषसूक्त तेजोमय है भगवान् भी तेजोमय हैं जो सूर्य के अन्तर्गत नारायण रूप से स्थित हैं वह इस उपस्थान विद्या के द्वारा स्तोत्र होने से प्रसन्न होंगे अतः अन्तर्यामिपने के धर्म को धारण करने वाले भगवान् पुरुषोत्तम का इस पुरुष सूक्त से ही उपस्थान करना योग्य है ॥ २० ॥

ननु पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्य शङ्क्य तन्निराकरणपूर्वकं भगवत उत्तरं जातं स्वान्तःकरणे उपलभ्याति-सूक्ष्मत्वाद्देवानामगम्यं तान् ज्ञापितवानित्याह—गिरमिति।

अब इस श्लोक में ब्रह्माजी भगवान का संदेश सुनाते हैं—पुरुषसूक्त में पुरुष रूप की स्तुति की है अतः पुरुष ने ही अवतार लिया होगा परंतु पुरुषोत्तम प्रकट हुए नहीं होंगे। यदि ऐसी शंका हो तब इसका समाधान भगवान् ने सूक्ष्म रूप से कहा था ब्रह्माजी ने उसको हृदय में जान लिया था वह बहुत सूक्ष्म होने के कारण देवों की समझ में नहीं आया, इसलिये ब्रह्मा आगे के श्लोक में देवों को कहते हैं।

समाधौ भावितो भगवान्—ब्रह्माजी ने समाधि में लोक सहित भगवान् के स्वरूप की भावना की थी। उस समय समाधि में ही उस स्थान के आकाश में जो भगवान् ने वाक्य कहे वे ब्रह्माजी ने सुने, कारण कि ब्रह्माजी का नाम वेधाः हैं।

विधाता और इस जगत् के रचने वाले तथा धारण करने वाले भी हैं इसलिये उनकी भावना सत्य स्वरूप है जिससे वह भगवद्वाणी सुनकर समझ सके, यदि वैसे ही नहीं होते तो भगवान् की आज्ञा के बिना देवों को आज्ञा कैसे करते ? इससे जाना जाता है कि वे गुण ब्रह्माजी में हैं जिनसे भगवान् की वाणी सुन सके। यदि शंका हो कि देवगण भी ब्रह्माजी के समान ही हैं उन्होंने क्यों नहीं सुनी ? तब इस शंका के समाधान में इस श्लोक में देवताओं का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे देव त्रिदश हैं। त्रिदश शब्द का अर्थ है कि उनकी मनुष्यों के समान बाल, यौवन तथा वृद्ध तीन दशाएँ होती है। ब्रह्माजी कि नहीं होती है अतः देव ब्रह्माजी के समान नहीं हैं। जब देवों की ये तीन दशाएँ होती हैं तब ही तो उनको जन्म लेने की आज्ञा करनी योग्य हुई है।

ब्रह्माजी अचानक क्षणमात्र के लिये चुप हो गए। फिर कुछ विचार करने लगे, विचार करने के अनन्तर कहने लगे। उस समय सब देवता चकित हो गये कि ब्रह्माजी यकायक चुप क्यों हो गये ? यह आशय श्लोक में जो 'च' अव्यय बताया है, उसका है। ब्रह्माजी ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, इसलिये ब्रह्माजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि देवों। भगवान् ने जो वाणी कही है वह सुनो। वह वाणी सत्य है तथा खण्डन करने योग्य नहीं है। जैसे गौ दोहन कर, सार रूप दूध निकाला जाता है वैसे यह वाणी भी साररूप फलरूप सब का हित करने वाली है, और यह वाणी आपको सुनाने वाला मैं ब्रह्मा हूँ। मेरी वाणी अन्यथा कभी नहीं होती है। अथवा यह वाणी भगवान् के सम्बन्धवाली है मैं तो केवल सुनाने वाला हूँ, अतः यह वाणी सर्वथा सत्य है यों समझो।

भगवान् ने जिस प्रकार आज्ञा की उस प्रकार ब्रह्माजी अब देवों को सुनाते हैं। हे अमर! देवगण! प्रथम भगवदाज्ञा को श्रवण करें फिर बिना विलम्ब तदनुसार आचरण करें उसमें देरी नहीं करनी चाहिये। पहले सामग्री तैयार करने के लिये कहकर पश्चात् तदनुकूल कार्य करने को कहा। अंश से आप जन्म लो उसके करने में देरी न करें यह सब समझाकर पश्चात् जो करना है वह बतायेंगे।

शायद देवों के मनमें यह शंका होगी कि दूसरी देह धारण तो मरने के अनन्तर होती है तो क्या हम इस देवलोक और देवयोनि को छोड़कर मनुष्य योनि में जावें। इस शङ्का के समाधान के लिये, **'हे देवाः'** ! ऐसा सम्बोधन न कह कर **'अमराः'** ! ऐसा कहा कि आप अमर हो इसलिए आपकी यह देवयोनि नष्ट न होगी आपको अंशरूप से मनुष्य में प्रकट होना है इसलिए चिन्ता न करें। श्लोक में **'शृणुत'** है ऐसे क्रियापद के प्रयोग से सावधान होकर सुनने की सूचना दी गई है। मूल श्लोक में **'पुनः'** अव्यय पद इसलिए दिया है कि पूर्व त्रेता युग में भी रामावतार में रावण से डरे हुए देवों को अंशरूप से अवतार लेने की आज्ञा की थी, वैसे ही फिर इस पूर्णावतार में आपको आज्ञा दी जाती है। लेकिन आप देव लोगों ने उस आज्ञा पालने में तब विलंब किया था अब भी कहीं देरी न करदें इसलिये श्लोक में **'आशु'** अव्यय देकर सूचन किया है कि अब विलंब नहीं करना साथ ही आज्ञा का पालन करना। रामावतार में जिस प्रकार जो देव जितने अंश से आगे पीछे प्रकट हुए थे उसी प्रकार अब भी होना, यह तथा और एवं इन दोनों अव्यय कहने का आशय है। रामावतार में प्रथम दशरथजी ने अवतार नहीं लिया था जिससे पुनः आज्ञा देकर दशरथजी को अवतार धारण करवाया था जिस कारण से साठ हजार वर्ष का विलम्ब हो गया था। अब भी वैसा न हो जाय इसीलिए श्लोक में **'आशु'** माने अविलम्ब ऐसा कहा है फिर भी उसको दृढ करने के लिए और पूर्व की तरह शायद विलंब न हो जाय। अतः **'मा चिरम्'** ऐसा दो अव्यय पद देकर देरी मत करना, यह स्पष्ट पुनरावर्तन कर दृढ किया।

ननु त्वया किमुक्तं किं वा भगवतोक्तमितिशंकां दूरीकूर्वन् पूर्वं वानरेष्ववतारे प्राप्ते खेदो भूयान् प्राप्त इति देवाशंकां च परिहरन् भगवदुक्तमाज्ञापनमाह पुरैवेति।

पूर्व रामावतार में प्रकट होकर देवगण ने महान् कष्ट पाया था। इसलिए वे देव ब्रह्माजी को निवेदन करते हैं कि हमको आप बताइए कि आपने भगवान् को कौन सी प्रार्थना की है और उसके उत्तर में भगवान् ने क्या आपको कहा ? इस प्रकार की देवताओं की शङ्का के समाधान में ब्रह्माजी इस श्लोक को कहते हैं—

भूमेः पीडाकथनात् पूर्वमेव भगवता—भूमि की पीड़ा की कथा कहकर सुनने से पहिले ही भगवान् ने पृथ्वी का कष्ट निश्चित रूप से जान लिया था, कारण कि भगवान् पृथ्वी के स्वामी हैं। और पुरुष याने पति ही स्त्री को स्पर्श करता है। स्पर्श मात्र से ज्वर का पता चल जाता है। अतः हम लोगों के द्वारा उसके क्लेश को बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिससे मैंने केवल पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति ही की है। इसलिए मेरे, पृथ्वी के दुःख को कहने से पूर्व ही भगवान् ने स्वयं ही आज्ञा की है। ब्रह्माजी उसी आज्ञा को देवताओं को सुनाते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णजी भी प्रकट होंगे, उससे पूर्व भगवान् के प्रकट होने के समय के आस पास आप सर्व भी यादवों में प्रकट हो जाओ। प्रकट होने में आपकी भी आवश्यकता है, कारण कि आप देवता लोग भगवान् का अंश होने के कारण सहज ही सेवक हो, जैसे हाथ पैर आदि शरीर के अवयव होते

रहेंगे तब तो दैत्यों को दूसरा उपाय नहीं बता सकेंगे। पृथ्वी को साथ में ले जाने का कारण यह था कि भगवान् को प्रकट होने के लिए निमित्त कारण चाहिये तो उस निमित्त कारण को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए भूमि को भी ले गये। यहाँ मूल श्लोक में महादेवजी का नाम 'त्रिनयन' दिया है। उसका रहस्य बताते हैं कि देव, दैत्य और मनुष्य इन तीनों पर महादेवजी की दयादृष्टि रहती है। इस कारण से भी महादेवजी को साथ में ले जाना आवश्यक था। श्वेत द्वीप भगवान् का प्रिय धाम है एवम् व्यापि वैकुण्ठ का द्वार इस द्वीप के क्षीर सागर के समीप ही है। इसलिए क्षीर सागर के तीर पर गये। भूमि भगवान् की भक्त है। अतः भक्तों में आसक्त चित्त वाले भगवान् भूमि में भी आसक्त होकर ही उसका उपकार करेंगे, इसको जताने के लिए तीर पर ठहर गये ॥ १९ ॥

तत्रापि भगवतस्तिरोभावात् स्तोत्रं कृतवानित्याह—तत्र गत्वेति।

यदि शंका हो कि क्षीर सागर तीर जाकर स्तुति करने की क्या आवश्यकता थी? इस पर कहते हैं कि जब ब्रह्माजी वहाँ गये तब भगवान् वहाँ भी तिरोहित थे, उनका आविर्भाव कर प्रार्थना करने के लिए स्तुति की है। उसका कथन **'तत्र गत्वा'** इस श्लोक में कहते हैं।

गमनमात्रेणैव स्तोत्रं कृतवान्—उपरोक्त श्लोक में 'जगाम' गये यह क्रियापद है। पुनः इस श्लोक में **'गत्वा'** कहने का भाव यह है कि जाते ही बिना विलम्ब के ब्रह्माजी स्तुति करने लगे। इसलिए यहाँ **'गत्वा'** पद दिया है। ब्रह्माजी ने वहाँ जाते ही समाधि लगाकर पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति की। इस प्रकार श्लोक के पदों का सम्बन्ध लगाकर अन्वय और अर्थ करना चाहिए। ब्रह्माजी ने स्वयं दुःख का सामना नहीं किया। इसका कारण बताते हैं कि भगवान् जगन्नाथ जगत् के स्वामी हैं। और उनको ही यह अधिकार है, ब्रह्माजी को नहीं है। यदि ऐसा है कि भगवान् जगत् के नाथ हैं। इसलिए उनको यह अधिकार है तो जगत् के नाथ होने से दैत्यों के भी तो नाथ हुए तो फिर केवल देवों का ही हित क्यों करते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र रूप से क्रीडा करते हैं इसलिए भगवान् का नाम **'देवदेव'** कहा है। भगवान् कृष्ण केवल देवों से ही क्रीडा करते हैं दैत्यों से नहीं। यद्यपि भगवान् दैत्यों के भी स्वामी हैं किन्तु वह स्वामित्व मर्यादानुरूप है। इस समय दैत्य मर्यादा का भी उल्लङ्घन कर चुके हैं। अतः वे मर्यादा से भी हित करने योग्य नहीं हैं इसके सिवाय भगवान् देवों के आधिदैविक स्वरूप भी हैं। इसलिए भी भगवान् को देवों का हित करना आवश्यक है।

अब आचार्यचरण, वृषाकपि पद का तात्पर्य बताते हैं—यदि दैत्य भूमि को रसातल में ले जाय तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भगवान् स्वर्ग में देवों में क्रीड़ा कर सकते हैं और देवों का हित भी कर सकते हैं। इसलिये दैत्यों के अपकार और देवों के उपकार के लिये स्तुति कर बुलाना योग्य नहीं है। इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में भगवान् कृष्ण को **'वृषाकपि'** विशेषण दिया है। यदि भगवान् प्रकट होकर देवताओं की रक्षा न करें और दैत्यों का नाश न करें तो यह नाम निरर्थक हो जाय। क्योंकि वृषाकपि पद का अर्थ है यज्ञादिरूप धर्म के सम्पूर्ण फल का भोक्ता भगवान् है। यदि भूमि रसातल में चली जाय तो यज्ञ कैसे होंगे। यज्ञ न होने से देवों का देवत्व चला जायगा क्योंकि देवों का देवत्व यज्ञ के फल के भोग से ही है। अब आचार्यचरण पुरुष पद का तात्पर्य कहते हैं जो देखने में नहीं आता है एवं जो समीप में नहीं है। उसकी स्तुति कैसे की जाती है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् पुरुष हैं अतः वह सदैव ब्रह्माजी के हृदय में भी विराजते हैं और भगवान् नारायण ब्रह्माजी के पिता भी हैं। पिता के नाते से ब्रह्माजी का कार्य अवश्य करेंगे। पुरुष सूक्त से स्तुति इसलिए की है कि एक तो वैदिक स्तोत्र है और दूसरे भगवान् की प्रेरणा से प्राप्त हुआ है, जिससे भगवान् को अतिप्रिय है। और पुरुषसूक्त तेजोमय है भगवान् भी तेजोमय हैं जो सूर्य के अन्तर्गत नारायण रूप से स्थित हैं वह इस उपस्थान विद्या के द्वारा स्तोत्र होने से प्रसन्न होंगे अतः अन्तर्यामिपने के धर्म को धारण करने वाले भगवान् पुरुषोत्तम का इस पुरुष सूक्त से ही उपस्थान करना योग्य है ॥ २० ॥

ननु पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्य शङ्क्य तन्निराकरणपूर्वकं भगवत उत्तरं जातं स्वान्तःकरणे उपलभ्याति-सूक्ष्मत्वाद्देवानामगम्यं तान् ज्ञापितवानित्याह—गिरमिति।

अब इस श्लोक में ब्रह्माजी भगवान का संदेश सुनाते हैं—पुरुषसूक्त में पुरुष रूप की स्तुति की है अतः पुरुष ने ही अवतार लिया होगा परंतु पुरुषोत्तम प्रकट हुए नहीं होंगे। यदि ऐसी शंका हो तब इसका समाधान भगवान् ने सूक्ष्म रूप से कहा था ब्रह्माजी ने उसको हृदय में जान लिया था वह बहुत सूक्ष्म होने के कारण देवों की समझ में नहीं आया, इसलिये ब्रह्मा आगे के श्लोक में देवों को कहते हैं।

समाधौ भावितो भगवान्—ब्रह्माजी ने समाधि में लोक सहित भगवान् के स्वरूप की भावना की थी। उस समय समाधि में ही उस स्थान के आकाश में जो भगवान् ने वाक्य कहे वे ब्रह्माजी ने सुने, कारण कि ब्रह्माजी का नाम वेधाः है।

विधाता और इस जगत् के रचने वाले तथा धारण करने वाले भी हैं इसलिये उनकी भावना सत्य स्वरूप है जिससे वह भगवद्वाणी सुनकर समझ सके, यदि वैसे ही नहीं होते तो भगवान् की आज्ञा के बिना देवों को आज्ञा कैसे करते ? इससे जाना जाता है कि वे गुण ब्रह्माजी में हैं जिनसे भगवान् की वाणी सुन सके। यदि शंका हो कि देवगण भी ब्रह्माजी के समान ही हैं उन्होंने क्यों नहीं सुनी ? तब इस शंका के समाधान में इस श्लोक में देवताओं का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे देव त्रिदश हैं। त्रिदश शब्द का अर्थ है कि उनकी मनुष्यों के समान बाल, यौवन तथा वृद्ध तीन दशाएँ होती है। ब्रह्माजी कि नहीं होती है अतः देव ब्रह्माजी के समान नहीं हैं। जब देवों की ये तीन दशाएँ होती हैं तब ही तो उनको जन्म लेने की आज्ञा करनी योग्य हुई है।

ब्रह्माजी अचानक क्षणमात्र के लिये चुप हो गए। फिर कुछ विचार करने लगे, विचार करने के अनन्तर कहने लगे। उस समय सब देवता चकित हो गये कि ब्रह्माजी यकायक चुप क्यों हो गये ? यह आशय श्लोक में जो 'च' अव्यय बताया है, उसका है। ब्रह्माजी ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, इसलिये ब्रह्माजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि देवों। भगवान् ने जो वाणी कही है वह सुनो। वह वाणी सत्य है तथा खण्डन करने योग्य नहीं है। जैसे गौ दोहन कर, सार रूप दूध निकाला जाता है वैसे यह वाणी भी साररूप फलरूप सब का हित करने वाली है, और यह वाणी आपको सुनाने वाला मैं ब्रह्मा हूँ। मेरी वाणी अन्यथा कभी नहीं होती है। अथवा यह वाणी भगवान् के सम्बन्धवाली है मैं तो केवल सुनाने वाला हूँ, अतः यह वाणी सर्वथा सत्य है यों समझो।

भगवान् ने जिस प्रकार आज्ञा की उस प्रकार ब्रह्माजी अब देवों को सुनाते हैं। हे अमर ! देवगण ! प्रथम भगवदाज्ञा को श्रवण करें फिर बिना विलम्ब तदनुसार आचरण करें उसमें देरी नहीं करनी चाहिये। पहले सामग्री तैयार करने के लिये कहकर पश्चात् तदनुकूल कार्य करने को कहा। अंश से आप जन्म लो उसके करने में देरी न करें यह सब समझाकर पश्चात् जो करना है वह बतायेंगे।

शायद देवों के मनमें यह शंका होगी कि दूसरी देह धारण तो मरने के अनन्तर होती है तो क्या हम इस देवलोक और देवयोनि को छोड़कर मनुष्य योनि में जावें। इस शङ्का के समाधान के लिये, **'हे देवाः'** ! ऐसा सम्बोधन न कह कर **'अमराः'** ! ऐसा कहा कि आप अमर हो इसलिए आपकी यह देवयोनि नष्ट न होगी आपको अंशरूप से मनुष्य में प्रकट होना है इसलिए चिन्ता न करें। श्लोक में **'शृणुत'** है ऐसे क्रियापद के प्रयोग से सावधान होकर सुनने की सूचना दी गई है। मूल श्लोक में **'पुनः'** अव्यय पद इसलिए दिया है कि पूर्व त्रेता युग में भी रामावतार में रावण से डरे हुए देवों को अंशरूप से अवतार लेने की आज्ञा की थी, वैसे ही फिर इस पूर्णावतार में आपको आज्ञा दी जाती है। लेकिन आप देव लोगों ने उस आज्ञा पालने में तब विलंब किया था अब भी कहीं देरी न करदें इसलिये श्लोक में **'आशु'** अव्यय देकर सूचन किया है कि अब विलंब नहीं करना साथ ही आज्ञा का पालन करना। रामावतार में जिस प्रकार जो देव जितने अंश से आगे पीछे प्रकट हुए थे उसी प्रकार अब भी होना, यह तथा और एवं इन दोनों अव्यय कहने का आशय है। रामावतार में प्रथम दशरथजी ने अवतार नहीं लिया था जिससे पुनः आज्ञा देकर दशरथजी को अवतार धारण करवाया था जिस कारण से साठ हजार वर्ष का विलम्ब हो गया था। अब भी वैसा न हो जाय इसीलिए श्लोक में **'आशु'** माने अविलम्ब ऐसा कहा है फिर भी उसको दृढ करने के लिए और पूर्व की तरह शायद विलंब न हो जाय। अतः **'मा चिरम्'** ऐसा दो अव्यय पद देकर देरी मत करना, यह स्पष्ट पुनरावर्तन कर दृढ किया।

ननु त्वया किमुक्तं किं वा भगवतोक्तमितिशंकां दूरीकूर्वन् पूर्वं वानरेष्ववतारे प्राप्ते खेदो भूयान् प्राप्त इति देवाशंकां च परिहरन् भगवदुक्तमाज्ञापनमाह पुरैवेति।

पूर्व रामावतार में प्रकट होकर देवगण ने महान् कष्ट पाया था। इसलिए वे देव ब्रह्माजी को निवेदन करते हैं कि हमको आप बताइए कि आपने भगवान् को कौन सी प्रार्थना की है और उसके उत्तर में भगवान् ने क्या आपको कहा ? इस प्रकार की देवताओं की शङ्का के समाधान में ब्रह्माजी इस श्लोक को कहते हैं—

भूमेः पीडाकथनात् पूर्वमेव भगवता—भूमि की पीड़ा की कथा कहकर सुनने से पहिले ही भगवान् ने पृथ्वी का कष्ट निश्चित रूप से जान लिया था, कारण कि भगवान् पृथ्वी के स्वामी हैं। और पुरुष याने पति ही स्त्री को स्पर्श करता है। स्पर्श मात्र से ज्वर का पता चल जाता है। अतः हम लोगों के द्वारा उसके क्लेश को बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिससे मैंने केवल पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति ही की है। इसलिए मेरे, पृथ्वी के दुःख को कहने से पूर्व ही भगवान् ने स्वयं ही आज्ञा की है। ब्रह्माजी उसी आज्ञा को देवताओं को सुनाते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णजी भी प्रकट होंगे, उससे पूर्व भगवान् के प्रकट होने के समय के आस पास आप सर्व भी यादवों में प्रकट ही जाओ। प्रकट होने में आपकी भी आवश्यकता है, कारण कि आप देवता लोग भगवान् का अंश होने के कारण सहज ही सेवक हो, जैसे हाथ पैर आदि शरीर के अवयव होते

हैं। और स्वामी सदा हो सब जगह परिकर के साथ ही जाते हैं। अब **'यदुषूपजन्यतां'** का तात्पर्य कहते हैं कि रामावतार से इस अवतार में विलक्षणता है इसलिए कहा है कि 'यादवों में' जन्म लेना। उस अवतार में भगवान् ने मनुष्ययोनि में और आप लोगों ने बानर योनि में जन्म लिया था परन्तु अब भगवान् और आप लोग यादवों में ही प्रकट होंगे। यह ही रामावतार और इस अवतार में आपके प्राकट्य की विलक्षणता है। अङ्ग तथा सेवक पास में ही रक्खे जाते हैं। वैसे तो आप भूतल में कहीं अन्य स्थान में भी प्रकट हो तो, इसलिए पास में ही प्रकट होने के लिए स्पष्ट संकेत किया है कि जहाँ मेरा प्राकट्य होगा, वहाँ ही यादवों में आप भी प्रकट होवें। कारण कि आपसे इस प्रकार की सेवा लेनी है। इसलिए उसमें जरा भी रुकावट न पड़े। देवता रामावतार में बहुत समय तक रहने से दुःखी हुए थे। इसलिए उनकी इस शङ्का को दूर करने के लिए कहते हैं कि जब तक भगवान् यादवों में विराजेंगे तब तक आप भी भगवान् के समीप ही रहना। आप प्रभु के साथ स्थिति करोगे तब यदुकुल में पुत्र पुत्रादि रूप से भी स्थिति होगी। इसलिए मूल में **'उपजन्यताम्'** पद दिया है। यों करने से स्थिति तो स्वतः होगी ही, अतः 'स्थिति' न कहकर 'जनन' शब्द कहा है। भगवान् स्वयं कितने समय तक विराजेंगे, इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि वे ईश्वरों के ईश्वर है। जब ईश्वर ही स्वतन्त्र होते हैं तो ईश्वरों के ईश्वर कितने समय तक रहेंगे वह कौन कह सकता है और उसका नियमन भी कौन कर सकता है ?

भगवान् ईश्वरों के ईश्वर होने से जो जो कार्य जब तक करेंगे तब तक ये देव कार्य कर सकेंगे या नहीं यह शङ्का भी इससे ही मिटा दी। यद्यपि देवता लोग ईश्वर द्वारा नियमित स्वर्गीय सुख भोगने वाले हैं तो भी हस्त पादादि के समान सेवक होने से ईश्वर की आज्ञानुसार सर्व कार्य कर सकेंगे।

दैत्या अस्मान् मारयिष्यन्तीति न शङ्कनीयम्—ब्रह्माजी कहते हैं हे देवों! दैत्य हमको मारेंगे, इस प्रकार की शङ्का भी आपको मन में नहीं लानी चाहिए, क्योंकि भगवान् अपनी काल शक्ति से ही भूमि का भार दूर करेंगे। भगवान् एक जगह न रहकर तब तक विचरते ही रहेंगे जब तक सब दैत्यों का नाश नहीं करेंगे। दैत्य एक स्थान पर नहीं है इसलिये भगवान् चारों ओर घूमकर जहाँ भी दैत्य होंगे वहाँ जाकर उनका नाश करेंगे। प्रभु पृथ्वी पर कब प्रकट होंगे और कब तक विचरण करेंगे, यह तो मैं भी नहीं जान सकता हूँ। तो भी भगवान् का प्राकट्य तथा उनकी लीला अलौकिक होने से गुप्त नहीं रहेगी। पृथ्वी पर जन्मा हुआ साधारण जीव लौकिक कार्य ही कर सकता है। अलौकिक कार्य तो सर्वेश्वर प्रभु ही कर सकते हैं॥ २२॥

तथापि क्वावतरिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह वसुदेवगृह इति।

यद्यपि ब्रह्माजी ने भगवान् के प्राकट्य काल का अपने लिये अज्ञान प्रकट किया, तो भी कहाँ प्रकट होंगे ? वैसी देवों की जिज्ञासा जानकर 'भगवान् जहाँ प्र ट होंगे, उस स्थान का वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

तस्याप्यंशावतरणव्युदासाय—इस श्लोक में साक्षात् तथा भगवान् इन दो पदों के कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् वसुदेवजी के घर में अंश से, चक्रादि रूप से अथवा सत्वगुण में अपने स्वरूप को गुप्त रख कर प्रकट नहीं होंगे, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से प्रकटेंगे। यदि यह शङ्का हो कि भगवान् तो नारदादि ऋषियों को भी कहते हैं इसलिये यहाँ भी वह शब्द गौण है ऐसे क्यों न समझा जाय ? इस शङ्का को मिटाने के लिये मूल में "पुरुष" "पर" ये दो विशेषण दिये हैं। जिनका रहस्य यह है कि यहाँ भगवान् शब्द गौण अर्थ में नहीं है किन्तु पुरुषोत्तम वाचक कहा है न कि 'अक्षर' ब्रह्म परक समझें। कारण कि "पर" और पुरुष ये दोनों ही पद "भगवान्" के विशेषण हैं। **'नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दितः'** इस प्रमाणानुसार भगवान् शब्द तुरीयस्वरूप नारायण के लिये ही प्रसिद्ध है। और उसकी पुष्टि **परः** और **पुरुषः** इन दो विशेषणों से की गई है। गीता में जो व्यक्त ब्रह्मांड से परे अक्षर ब्रह्म का कहा गया है वह भाव रूप से कहा गया है पुरुष रूप से नहीं कहा गया है, पुरुष रूप से तो, ब्रह्माण्ड से परे पुरुषोत्तम ही है जिनको ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते हैं। वे ही प्रकृति प्रवर्तक रूप हैं। उनका ही यहाँ वर्णन है। समग्र कहने का भावार्थ यह है कि वसुदेवजी के गृह में प्रकट स्वरूप, अक्षरातीत पूर्ण पुरुषोत्तम ही है अतः उनकी सेवा के लिये सुरस्त्रियां जो कि लक्ष्मी के साथ समुद्र से उत्पन्न हुई थी, जिनका भोग भगवान् ने नहीं किया था, वे अपना जन्म सफल करने के लिये प्रकट हो जाय। अब किस प्रकार और कहाँ प्रकट होना ? यह बताते हुए कहते हैं कि सर्व प्रकार की मनोहर सुन्दरता से अपने को विभूषित कर अपने योग्य स्थान में प्रकट होवें। अब इस श्लोक में जो तत् प्रियार्थं पद कहा है उसका हार्दिक भाव यह है कि देवता लोग स्त्रीरूप धारण न करें॥ २३॥

भगवदवतरणात् पूर्वमेव सेवासावधानार्थं भगवच्छय्यारूपस्य शेषस्य सङ्कर्षणसहितस्यावतारमाह वासुदेवेति।

अब इस श्लोक में, भगवान् के प्राकट्य से प्रथम ही, निज सेवा में पूर्ण व्यवस्था करने के लिए, सङ्कर्षण के साथ भगवान् के शय्या रूप शेषजी के प्रकट होने का वर्णन करते हैं।

अब आगे की कारिकाओं में यह कहते हैं कि भगवान् के प्रकट होने से पहिले, लीला के सम्पादन कार्य में यथा योग्य सावधानी हो। इसलिए, सङ्कर्षण के साथ शय्या रूप शेषजी का प्राकट्य होगा, उनके स्वरूप का स्पष्ट एवं पूर्ण परिचय आचार्य-चरण इन चार कारिकाओं में कराते हैं।

कारिका—सात्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः। वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांशोऽनन्त उच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—जो हरि सात्विक कल्पों में, जल में शयन करते हैं, वह वासुदेव कहलाते हैं, उनका अंश 'अनन्त' में है शयन का अर्थ निद्रा नहीं है लेकिन 'स्थित रहना' इतना अर्थ है ॥ १ ॥

विवरण—'**वसुदेवगृहे साक्षात्**' श्लोक में पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर वासुदेव कलानन्त श्लोक में 'तत्कला' इतना कहने से विषय स्पष्ट हो जाता था फिर यों न '**वासुदेवकला**' इतना दीर्घ पद तात्पर्य इस कारिका में समझाते हैं। इस कारिका में यः शब्द कहकर बताते हैं कि व्यूहों में मुख्य जो अवताराधिकारी है, वह वासुदेव है। इस वासुदेव हरि का अंश 'अनन्त' में है इससे समझना चाहिए कि जिस अंशी रूप हरि का अंश अनन्त में है। वह पुरुषोत्तम का दूसरा रूप है अर्थात् वह मूल रूप पुरुषोत्तम नहीं है। इसको समझाने के लिए मूल श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला न कहकर 'वासुदेवकला' वासुदेव की कला अनन्त में है ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि श्री बलभद्रजी में उस पुरुषोत्तम के रूपान्तर वासुदेव का अंश है। न कि '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**' इस मूल स्वरूप का अंश है ॥ १ ॥

कारिका—कलात्मा स विज्ञेयो भूभारहरणे प्रभुः। तत्र सुप्तो हरिश्चापि तदाविष्टो भविष्यति ॥ २ ॥

कारिकार्थ—वह कालात्मा है, एवं भूमि के भारहरण में भी समर्थ है। शेष पर सोया हुआ हरि भी उस अनन्त में आविष्ट है।

विवरण—अब वासुदेव कलानन्तः श्लोक में जो '**वासुदेवकला**' और '**अनन्त**' दोनों पद साथ दिये हैं उसका तात्पर्य कि दोनों का रूप एक है तथा कार्य भी एक है इसीलिये समास कर साथ में कहे हैं और कालात्मा भी होने से उनका साथ में कहना आवश्यक था। यदि अनन्त में स्वतः सामर्थ्य है तो फिर वासुदेव के आवेश के बताने का क्या रहस्य है। इस पर समाधान है उस समय वासुदेव की कला अनन्त में प्रवेश होती है। इसके ज्ञात कराने के लिये यह उक्ति है। अनन्त रूप शेष में सङ्कर्षण का आवेश है, और सङ्कर्षण में वासुदेव की कला का आवेश है यह ही श्री बलभद्रजी का स्वरूप सर्वदा है। बलभद्रजी में तो पूर्ण मूल पुरुषोत्तम का आवेश तो कभी कभी विशेष लीला के अवसर पर होता है। और बलभद्रजी के उस स्वरूप से की हुई लीला भी मूल रूप से की हुई लीला समझनी चाहिये कारण कि अंश और अंशी का परस्पर भेद नहीं है वे एक ही है।

कारिका—अतोऽनुशयनं विष्णोर्बलभद्रेण नात्मनः। एकवत् प्रोच्यते कृष्णो द्विवल्लोकैः प्रतीयते ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इस कारण से बलराम में वासुदेव कला का ही आवेश है न कि श्री पुरुषोत्तम प्रभु का आवेश है। कृष्ण और बलराम एक ही कहे जाते हैं किन्तु लोक में दो की प्रतीति होती है।

विवरण—जी संकर्षणजी है वह तो शेषजी का आधिदैविक स्वरूप है और वह व्यूह रूप है। जब संकर्षणाविष्ट अनन्त शेषजी अवतार लेते हैं तब उस स्वरूप में सात्विक कल्प में जल में स्थिति करने वाले वासुदेव ही अपनी कला से उनमें प्रविष्ट होते हैं। अतः इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशम स्कन्ध का अर्थ बलदेवजी में आविष्ट वासुदेव कला की ही लीला है। ऐसी शङ्का के निवारण के लिये ही आचार्य श्री ने इस कारिका से '**न आत्मनः**' कहकर बताया है कि अनन्त में पुरुषोत्तम का आवेश न होने से वह (वसुदेव की लीला) दशम स्कन्ध का अर्थ (निरोध लीला) नहीं है। तब बलरामजी की लीला, निरोध लीला, कैसे कही जाती है ? इस शङ्का को कारिका के उत्तरार्ध से मिटाया गया है। जैसे कि उसमें कहा कि बलरामजी में वासुदेव का अंश सदैव रहता है और कृष्ण अंशी है, अंश अंशी का सदा ही अभेद है। अतः दोनों एक ही रूप है इसलिये वहां भी एकत्व का ही निरूपण है जिससे जैसे रूप एक है वैसे सर्व चरित्र भी उसी मूल स्वरूप के ही किये हुए समझने, इस प्रकार समझने से दशम स्कन्ध का अर्थ पुरुषोत्तम की निरोध लीला ही सिद्ध है। लोक में तो इस प्रकार देखने में नहीं आता है—इसको समझाकर कहते हैं, कि एक रूप होते हुए भी लोक में कृष्ण-बलराम जैसे दो प्रतीत होते हैं वैसे ही चरित्र भी पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु है एक ही। जिस भाँति आनन्दमय विद्या, सद्विद्या तथा शाण्डिल्य विद्याओं में ब्रह्म के रूप भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं किन्तु शास्त्रदृष्टि से वे सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं वैसे ही यहाँ भी जुदे २ होते हुए भी वास्तव में अशांशि-भेद से उसका चरित्र एवं रूप एक ही है ॥ ३ ॥

अब इस कारिका में देवकीजी के उदर में रहे हुए एवं रोहिणीजी के उदर में रहे हुए स्वरूपों का स्वरूप बताते हैं—

कारिका—देवक्यां शयनस्थैव सम्भवो न हरेः स्मृतः। रोहिण्यामपरस्यैति कर्षणान्नैव हीनता ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—देवकीजी के गर्भ में से शय्या रूप संकर्षण का प्राकट्य हुआ है न कि वासुदेव का। वासुदेवांश का रोहिणी में से प्राकट्य है अतः माया के कर्षण से उसकी कोई हीनता नहीं हुई है ॥ ४ ॥

विवरण—इस कारिका में देवकीजी के गर्भ को माया ने खींचकर रोहिणीजी में स्थापन किया है जिससे वसुदेव, जो मोक्षदाता हैं, उनकी हीनता प्रकट होती है। इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि देवकीजी के गर्भ में वासुदेवांश नहीं था। केवल संकर्षणाविष्ट शेषजी थे। वासुदेवांश तो रोहिणीजी के गर्भ में पहिले ही था। रोहिणीजी इस गर्भ की स्थिति के अनन्त नन्दरायजी के घर में रही थी, जिससे रोहिणीजी में अचानक गर्भ होने की शंका को भी मिटा दी है। और माया ने देवकीजी के गर्भ से शेषजी को ही लेके रोहिणीजी के गर्भ में स्थापित किया था। इससे वासुदेवजी की हीनता की शंका का प्रश्न ही निरर्थक है।

तं संकर्षणमन्यस्माद्भिन्नतया ज्ञातुं विशिनष्टि—उस संकर्षण को वासुदेव से पृथक् बताने के लिए मूल श्लोक में 'वासुदेव' शब्द दिया है। संकर्षण, वासुदेव की कला की रूप तथा धर्म रूप है, न कि स्वयं वासुदेव है। वह सङ्कर्षण का रूप शय्या रूप अनन्त-शेष रूप होने के कारण कलात्मक है। वासुदेव भगवान् अपने आश्रय रूप शय्या पर ही स्थिति करते हैं और स्थिति को ही शयन कहते हैं। अतः वह शय्या उनकी कला रूप है। वहाँ कला रूप शेष का आधिदैविक सङ्कर्षण स्वरूप भी विराजमान है। इसलिए श्लोक में उसको **'सहस्रवदन'** स्वराट् कहा है। सहस्रवदन सङ्कर्षण वेदात्मा वेद रूप भी है। सङ्कर्षण के सिवाय केवल शेष भी उसके समान होगा। उसका विरोध करते हुए कहते हैं कि सङ्कर्षण श्रेष्ठ है। कारण कि स्वर्ग में भी वे प्रकाश करते हैं। सङ्कर्षण का जो 'सितकृष्ण केशरूप' है वह प्रथम व्रज में प्रकट होगा। यदि वह प्रथम प्रकट होगा तो अनन्तर भगवान् के अवतार की क्या आवश्यकता है ? इस शंका को मिटाने के लिये मूल में संकर्षण का विशेषण 'देव' शब्द दिया है। जिसका भाव यह है कि वह संकर्षण साक्षी रूप से वहाँ कार्य करेंगे। विशेष कार्य नहीं करेंगे अतः प्रभु के प्राकट्य की आवश्यकता है। यदि केवल साक्षी रूप से प्रकट होते हैं तो उससे कौन सा लाभ होगा ? वा क्या कार्य सिद्ध होगा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् का प्रिय करने की इच्छा से प्रकट हुआ है। सर्व प्रकार के कार्य का प्रबन्ध करेंगे। समय पर युद्धादि में भी सहायता करेंगे। संकर्षण भगवान् सबों का दुःख हरने वाले हैं। दैत्यों के सुख के लिए तथा भूमि के भार के हरण के लिए जो कार्य श्रीकृष्णचन्द्र करेंगे, उसमें सहायता देकर उनकी सेवा करेंगे ॥ २४ ॥

एवं ससामग्रीकस्य गमने सर्वमुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह विष्णोरिति ।

यदि सर्वसामग्री सहित यदि भगवान् सम्पूर्ण माया का तिरोधान कर प्रकट होंगे तो सबकी मुक्ति हो जायगी। सबकी मुक्ति होने से सृष्टि क्रम बन्द हो जायगा ? इस शंका का समाधान इस श्लोक से करते हैं।

यो हि विष्णुर्मायोद्घाटनेन—विष्णु, जो सर्व व्यापक हैं तो भी जहाँ प्रकट होंगे वहाँ की ही माया का संकोच करेंगे। और जो माया कार्य सिद्ध करने के लिये प्रकट होगी, वह इसी माया का अंश है जिसको अपने अपने प्राकट्य स्थान से हटाया है। यह माया अंश रूप होते हुए भी भगवान् की कृपा से भगवती, ऐश्वर्य आदि छः गुणों वाली है। अतः वह अपने स्थान को छोड़ने से दोष वाली नहीं होती है। वह माया व्यापि वैकुण्ठ में रहते हुए भी यहाँ का कार्य सिद्ध करेगी। उस माया ने सम्पूर्ण जगत् को मोह में डाल दिया है जिससे सबों की मुक्ति नहीं होगी। यह भी शङ्का मन में नहीं लानी कि कदाचित् वह माया प्रकट न होवे तो ? वह अवश्य प्रकट होगी, कारण कि प्रभु ने उसको आज्ञा देदी है। जब सारे जगत् को मोहित करने वाली माया भी आज्ञा मानती है, तो आप सुरवरों को गर्व नहीं करना चाहिये। माया से आप बड़े नहीं हो। अब आचार्यचरण माया के कार्य का वर्णन करते हैं-१-यशोदा में दूध उत्पन्न करना, २-सप्तम गर्भ को देवकीजी से खींचकर, रोहिणीजी में स्थापना करना, ३-कंस को भुलावे में डाल देना, ४-वसुदेवजी तथा देवकीजी का कारागृह से छुटकारा कराना ॥ २५ ॥

एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा ब्रह्मा ततो निर्गत इत्याह इत्यादिश्येति ।

पुनः ब्रह्माजी इस प्रकार देवों का समाधान कर वहाँ से पधार गये। उसका निर्देश करते हुए श्रीशुकाचार्यजी कहने लगे—

अनेकविधा देवाः—देव अनेक प्रकार के हैं अतः उनके पृथक् पृथक् गण थे, और सर्व गण अपने नेता की आज्ञा का पालन करते थे। अतः ब्रह्माजी को प्रत्येक गण के गणपति को सर्व विषय समझाना पड़ता था। श्लोक में **'अमरगणान्'** पद में गण शब्द दिया है और बहुवचन भी दिया है। अतः ब्रह्माजी ने सब आगेवानों को सर्व विषय अलग अलग समझाये। ब्रह्माजी भी देव है तो भगवान् ने उनको क्यों नहीं अवतार लेने का आदेश दिया ? इस शङ्का का निवारण करने के लिये शुकदेवजी ने ब्रह्माजी को 'प्रजापति पति' कहा है कि ब्रह्माजी साधारण देवता नहीं है किन्तु सृष्टि करने वालों के भी स्वामी हैं अतः भगवान् ने ब्रह्माजी को अवतार लेने के लिये आदेश नहीं दिया। यदि आदेश देते तो सृष्टि के निर्माण में विघ्न आ जाता।

देवताओं को भगवान् ने साक्षात् आज्ञा नहीं की है किन्तु ब्रह्माजी द्वारा की है। ब्रह्माजी की आज्ञा देव लोग नहीं मानेंगे यह शङ्का संभव नहीं है क्योंकि ब्रह्माजी **'विभुः'** समर्थ-स्वामी है। देवताओं को कार्य करने की आज्ञा देने का अधिकार ब्रह्माजी को है। यद्यपि देवताओं को दी हुई आज्ञा को सुनकर भूमि सन्तुष्ट हो गई थी, फिर भी ब्रह्माजी ने पृथ्वी की विशेष प्रसन्नता के लिये अनेक प्रशंसावचन कहकर आश्वासन दिया। भूमि को यह निश्चय नहीं हुआ था कि भगवान् स्वयं प्रकट होंगे। किन्तु अब ब्रह्माजी के आश्वासन के वचनों से निश्चय हो गया अतः भूमि के भाग्य का अभिनन्दन करना समुचित था ॥ २६ ॥

एवं भूमेः सान्त्वनमुक्त्वा देवक्याः सान्त्वनं वक्तुं, तस्या प्रथमं दुःखप्रापणोपायमाह शूरसेन इति दशभिः।

इस प्रकार भूमि को सान्त्वना दिया, अब श्रीदेवकीजी की भी सान्त्वना करनी है वह करेंगे लेकिन प्रथम देवकीजी को दुःख हुआ, उसके उपाय का प्रकार बताते हैं। अर्थात् देवकीजी को किस कारण से और कैसा दुःख हुआ उसका दश श्लोकों से निरूपण करते हैं—

अब इन कारिकाओं में सात प्रकार का उत्कर्ष बताते हैं—

कारिका—**सर्वोत्कर्षे तु यद्दुःखं स्वल्पके स्मृतम्। देशतः कालतश्चैव अवस्थातः स्वतोन्यतः ॥ १ ॥**
द्रव्यतो मानतश्चेति सप्तैव सुखदाः स्मृताः। तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः ॥ २ ॥
प्रतिक्रियां समारेभे नवभिश्च प्रतिक्रिया ॥ २½ ॥

कारिकार्थ—देवकीजी को सर्व प्रकार से उत्कर्ष होने पर जो दुःख स्वल्प आकाश वाणी श्रवण के कारण होने से हुआ वह स्वल्प था। देवकीजी को देश, (१) काल, (२) अवस्था, (३) अपने, से (४) दूसरे, से (५) द्रव्य (६) और बहु मान, (७) ऐसे सातों प्रकार से उत्कर्ष हो रहा था किन्तु जब शब्द सुनने से दुःख को प्राप्त हुई, तब उनके पति वसुदेवजी दुःख के निवारण का उपाय करने लगे ॥ २½ ॥

विवरण—भगवद्भक्तिमार्ग का सहज नियम है कि भूतल पर भगवत्प्राकट्य तब होता है, जब भक्त दुःखी होता है। देवकीजी का सातों प्रकार से उत्कर्ष सिद्ध हो गया था। जिसमें उन देवकीजी को अल्प दुःख भी बहुत देखने में आया है। पूर्ण प्रसन्न तथा सुख सम्पन्न देवकीजी आकाशवाणी सुनते घबरा गई थी—स्वल्प कारणसे प्राप्त दुःख को भी भगवान् शीघ्र तथा अनायास ही नाश करेंगे। क्योंकि भगवन्मार्गीय शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन है। अतः इस विषय की किसी प्रकार से भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यहाँ तो श्री देवकी माताजी के दुःख प्राप्ति के उपाय का ही केवल वर्णन करना चाहिए। वह विवाह कर ससुराल जाते समय आकाशवाणी होने से हो गया। शेष दोषादि से उत्कर्ष का वर्णन करना व्यर्थ है। इस शंका का निवारण उपरि निर्दिष्ट चार कारिकाओं से किया गया है। देवकीजी के सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। प्रथम तो जैसे वसुदेव का जन्म समय आनक तथा दुन्दुभि का वाद होने से उत्कर्ष हुआ। वैसे देवकीजी विवाह कर जब श्वसुर गृह जाती थी उस समय जो सम्मान हुआ उससे उसका भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आया था। अब सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। **'शूरसेनो यदुपतिः'** इस श्लोक में उत्तम देश में निवास करने के कारण 'देश' का उत्कर्ष बताया (१) **'राजधानी ततः'** इस श्लोक से वह नगर उस समय यादवराजाओं की राजधानी था। इसलिए 'काल से' भी उत्कर्ष बताया (२) **'तस्यां तु कर्हिचित्'** आधे श्लोक द्वारा विवाह होने से अवस्था का उत्कर्ष बताया (३) **'देवक्या सूर्यया सार्धः'** इस पीछे आधे श्लोक से स्वतः श्री देवकीजी का ही अपना उत्कर्ष बताया (४) **'उग्रसेनसुतः कंसः'** इस श्लोक में कंस रथ का सारथी बनकर पहुंचाने चला। जिससे भी देवकीजी का अन्य से उत्कर्ष हुआ है (५) **चतुःशतं तथा दासीनां'** इन दो श्लोकों से द्रव्य का उत्कर्ष देखने में आया है (६) **'शङ्खतूर्यं'** इस श्लोक से मान का उत्कर्ष दिखाया है (७) आचार्यचरण कहते हैं कि इस प्रकार सात प्रकार के सुखों से सम्पन्न श्री देवकीजी को आकाशवाणी से प्राप्त थोड़ा भी दुःख असह्य होने लगा। आकाशवाणी से दुःखित देवकीजी के दुःख का निवारण और प्रतीकार श्री वसुदेवजी करने लगे।

सहस्राजुंनस्य पुत्राणां मध्ये—सहस्राजुंन से उत्पन्न हुए पुत्रों में से पाँच पुत्र बचे थे उनमें से शूरसेन द्वितीय थे। यादवों का राज्य ययाति ने शाप द्वारा निवृत्त कर दिया था तदनन्तर वह राजा राज्य कर सके जो भगवदंश हो। इससे भगवान् के अनुग्रह से ही राज्य चलता था अर्थात् जिस व्यक्ति वा वंश पर भगवान् की कृपा होती थी वह राज्य करता था। सहस्राजुंन में भगवान् का अंश था अतः भगवान् के अनुग्रह से वह राजा हुआ। उसने जीते ही अपने द्वितीय पुत्र शूरसेन को माथुर और शूरसेन देश ये दो मण्डल राज्य करने के लिये दे दिये, बड़ा पुत्र तो माहिष्मती में ही राज्य करता था।

सातों उत्कर्षों में से इस श्लोक में प्रथम देश के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। शत्रुघ्न की बनाई हुई मथुरा नगरी में सहस्राजुंन के द्वितीय पुत्र शूरसेन रहकर सर्व प्रकार के सुख भोगने लगे। वह शूरसेन यादवों के स्वामी थे। और यद्यपि

शूरसेन राजा के नाम से वह देश 'शूरसेन देश' कहलाता था तो भी उसको त्याग कर अपना निवास स्थान उन्होंने मथुरा को बनाया। वहाँ रहकर शूरसेन राजा तथा माथुर दोनों मण्डलों के राज्य को भोगते थे। इससे यादवों का स्वदेश मथुरा नगर हुआ ॥ २७ ॥

कालभेदेनापि सा महती जातेत्याह राजधानीति।

ततः प्रभृति यावन्तो राजानः—राजा शूरसेन से लेकर कंस पर्यन्त जितने भी राजा हुए, वे अपनी शक्ति से ही राजा बने थे। लेकिन वे अपने बल से खण्ड मण्डल के अधिपति बने थे, समग्र मण्डल के नहीं बन सके थे उनको वहाँ ही अत्यन्त सुख की प्राप्ति हुई थी। जिससे उनकी मथुरा ही राजधानी हो गई। वे सब राजा यादव ही थे! जहाँ राजा आनन्द से रहते हैं वह नगरी राजधानी कही जाती है। अथवा जिस नगरी में राजा का राज्याभिषेक होता है वह नगरी राजधानी मानी जाती है। इससे उस नगरी में राज्यलक्ष्मी नित्य विराजती है। जिससे वहाँ रहने वाले आनन्द में रहते हैं! उस आनन्द में रहने का करण भगवान् हैं। क्यांकि भगवान् नित्य 'मथुरा' में विराजते हैं ॥ २८ ॥

मथुरा, भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः—अब इन कारिकाओं में विमर्श किया जायगा कि सर्वत्रनिवासी भगवान् मथुराजी में नित्य सन्निहित है इसका रहस्य क्या है?

कारिका—सर्वतत्त्वेषु यो विष्टः स भूमावपि सङ्गतः। स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता ॥ १ ॥
तत्र स्थित्वा द्वयं चक्रे सर्वेषां सकलं हितम्। सर्वदुःखनिर्वृत्तिं च तत्र चेद्दुःखसम्भवः ॥ २ ॥
प्रतीकारा सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः। व्यर्था जाता सर्वथेति ज्ञापनार्थं निरूपितम् ॥ ३ ॥
देशकालादिमध्यस्थः षडङ्गत्वं य आगतः। सोऽन्यत्र सर्वदेशेषु शालग्रामादिषु स्थितः ॥ ४ ॥ २८ ॥

कारिकार्थ—जब कि सृष्टि के आरम्भ से तत्सृष्ट्वा **'तदेवानुप्राविशत्' 'त्रयो विंशतितत्त्वानां गणं युगपद् आविशत्'** इन श्रुति तथा श्रीमद्भागवत पुराण के वाक्यों से निर्विवाद सिद्ध है कि परमात्मा सर्व तत्त्वों में प्रविष्ट हुए जिससे उनकी मध्यपाती पृथ्वी में भी प्रविष्ट हुए। वह स्वरूप अन्तर्यामी स्वरूप है अर्थात् सबसे व्याप्त होकर विराजते हैं। तो भी **'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे'** इस श्रुति के अनुसार देह के एक देश 'अन्तःकरण' में ही विशेष रूप से व्यक्त हैं। वैसे सर्वत्र भूमि में व्याप्त होते हुए भी भूमि के देश मथुरा में नित्य विशेष रूप से अभिव्यक्त होकर विराजते हैं। मथुरा में विराजमान होकर भगवान् ने दो कार्य किये। सर्व का सर्व प्रकार सम्पूर्ण हित और सर्व जन की दुःख की निवृत्ति।

यदि ऐसा संशय होगा कि जब भगवान् ने वहाँ विशेष रूप से विराजमान होकर ये दो कार्य किये तब देवकीजी को दुःख क्यों हुआ? तब इस संशय का समाधान यह है कि भगवान् को शीघ्र अवतार लेकर प्रकट होना था और साथ २ यह भी दिखाना चाहते थे कि मर्यादा मार्ग के सर्व साधन व्यर्थ हो जाते हैं जबकि मेरी इच्छा वा कृपा न हो अथवा मेरी सन्निधि न हो। इसलिए भगवान् ने उस समय अपना नित्य सन्निहित स्वरूप भी तिरोहित कर दिया था।

श्रीरङ्गादिष्वपि नारायणस्य ब्रह्माण्डविग्रहस्य सान्निध्यम्।

अब आचार्यचरण अन्य क्षेत्रों से मथुराजी में भगवत्सान्निध्य का वैशिष्ट्य बताते हैं कि श्रीरङ्ग आदि धामों में भी भगवान् का सान्निध्य है किन्तु वहाँ नारायण का सान्निध्य है। तात्पर्य यह है कि वहाँ रङ्गादि धामों में अङ्ग रूप से अनुप्रविष्ट हैं और मथुरा में अङ्गी रूप से अनुप्रविष्ट है। अङ्ग से अङ्गी अधिक है। उन अङ्गी से ही जब सुखप्राप्ति नहीं है तो अङ्गभूत से कैसे होगी? इससे यह भी बता दिया है कि तापनीय उपनिषद् में जो द्वादश स्वरूप कहे हैं उनसे भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

मथुरादि के सिवाय अन्यत्र दूसरे स्थान पर भगवत्पूजादि नहीं करनी चाहिए! इसका समाधान चतुर्थ कारिका में करते हैं।

देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म इन यज्ञादि धर्म के ६ अङ्गों में भी भगवान् विराजमान है। वह भगवान तीर्थ से अन्य देश, शालग्राम, तुलसी, एकादशी व्रतों में भी अङ्ग रूप से विराजते हैं। अतः समयानुसार वहाँ पूजादि की जा सकती है किन्तु मथुरा में नित्य अङ्गी रूप से विराजते हैं।

तस्या अवस्थोत्कर्षमाह तस्यामिति।

इस प्रकार श्रीदेवकीजी का देश तथा काल से उत्कर्ष बताया अब आचार्यचरण इस श्लोक से श्रीदेवकजी की अवस्था का 'उत्कर्ष' बताते हैं।

तस्यां तु कर्हिचित् शौरिः—इस सातों प्रकार के श्लोकों में कहे हुए 'तु' अव्यय का तात्पर्य यह है कि अब तक तो देवकीजी को सुख था पर अब सुख, दुःख में पलटते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि यह 'सुख' भगवान् ने नहीं दिया है।

'तु' शब्द का भाव दूसरे प्रकार से बताते हैं कि 'तु' कहने का यह भी आशय है कि भगवान् जो सुखरूप हैं उनके अंश भी जहाँ प्रकट विराजते हैं, वहाँ सुख ही होता है। किन्तु अब स्वयं भगवान् को अवतार लेकर पूर्ण आनन्द दान करना है और भगवान् का प्राकट्य तब होता है, जब भक्त आदि सब दुःखी होते हैं। अतः अपने अंशों को उन्होंने खींच लिया। जिससे सुख तिरोहित हो गया और दुःख का आविर्भाव हुआ। श्लोक में ,कर्हिचित्' अव्यय देने का रहस्य यह है कि जिस समय वसुदेवजी जा रहे थे, उस समय सुन्दर मुहूर्त्त देखकर तैयारी नहीं की थी लेकिन एकाएक लग्न हुआ और जाने की तैयारी कर ली। वसुदेव नाम वाले बहुत हैं और और वसुदेव के भाई अन्य भी हैं इसलिये वसुदेव के साथ 'शौरि' विशेषण दिया है जिससे किसी प्रकार भ्रान्ति न होने पावे। केवल 'वसुदेव' नाम देने से, यह शङ्का रह जाती कि कौनसा वसुदेव है? और यदि केवल 'शौरि' कहते तो शूर के अनेक पुत्रों में से कौनसा पुत्र विवाह करके जा रहा है यह भ्रान्ति होती परन्तु शौरी, वसुदेव, इन दोनों पद देने से भ्रान्ति को अवकाश न रहा। नवविवाहिता भार्या देवकीजी के साथ अपने गृह जाने के लिये श्वशुर के दिये हुए रथ में बैठे। स्त्री की उत्तम अवस्था वह है जब विवाह का समय हो और अपने पति का साथ हो। इसलिये इस समय देवकीजी को ये दोनों प्राप्त थे अतः देवकीजी का अवस्था से भी उत्कर्ष है। तथा 'सूर्यया' पद से सूर्या नवविवाहिता थी। इसलिये 'स्वतः' भी उत्कर्ष हुआ। पति की प्रधानता भी पतिव्रता स्त्रियों के उत्कर्ष होने में कारण है। यद्यपि देवकीजी का पिता देवक बड़ा था तो भी वह ऐसा समय था जिससे मर्यादा के अनुकूल राज्य प्राप्ति नहीं होती थी जो बलिष्ठ होता था वह राजा बन बैठता था निर्बल शांति से रहकर व्यवहार चलता था। इसी कारण से इस विवाह प्रसंग में देवक का नाम नहीं आया है उस समय उग्रसेन अथवा कंस राज्य की कार्यवाही करते थे ॥ २९ ॥

मुख्य एव व्यवहारे सम्बन्धहेतुर्लोकप्रसिद्धः। अत उग्रसेनपुत्रोपि कंसो देवकपुत्र्या देवक्या भ्रातृकार्यं कृतवानित्याह उग्रसेनसुत इति।

लोक में यह प्रथा प्रसिद्ध है कि कुटुम्ब में जब कोई भी व्यवहार का कार्य होता है तो वह कार्य कोई पारिवारिक बड़ा व्यक्ति ही करता है। अतः उग्रसेन का पुत्र कंस इस समय मुख्य होने से देवकी के भ्रातापन का सर्व कार्य करने लगा। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

स्वसुर्भगिन्याः—बहिन देवकीजी के सम्मान पूर्वक प्रिय कार्य करने की इच्छा से कंस, राजा होते हुए भी स्वयं घोड़ों की बागडोर को लेकर सारथि बन गया। यदि कंस अकेला ही घोड़ों की लगाम ले रथको चलाकर वसुदेव को अपने घर पहुंचाने के लिये जाते तो न शोभा होती और न उनका, वसुदेव-देवकी का बहु मान भी होता फिर भी वे प्रसन्न न होते, तथा कंस राजा होकर इस साधारण रीति से बहिन को अकेला छोड़ने गया। यह कंस के लिये भी शोभास्पद नहीं था। अतः कहते हैं कि **'रौक्मैः रथशतैः वृतः'** सुवर्ण मण्डित सैकड़ों रथ चारों तरफ थे, जिनके मध्य में वसुदेवजी जिस रथ में बैठे थे वह 'रथ' था। कंस ने उसी रथ का सारथि बनकर अश्वों की बागडोर पकड़ रक्खी थी। इस दृश्य से सिद्ध होता था कि 'वसुदेव' ही मुख्य राजा बन गये हैं, और कंस जो राजा थे वे दास हो कर बैठे थे। इस प्रकार यह अधिक सम्मान है। इस श्लोक से देवकी जी का दूसरों से अधिक उत्कर्ष बताया गया है ॥ ३० ॥

पितृकृतं द्रव्यकृतमुत्कर्षमाह चतुःशतमिति द्वाभ्याम्—

अब निम्ननिर्दिष्ट दो श्लोकों में पिता देवक से और द्रव्य से देवकी का उत्कर्ष बतलाते हैं।

क्षत्रिया हि चतुरंगिणीं सेनां—क्षत्रिय लोग विवाह में वधू तथा वर के सन्तोष के लिये चतुरङ्गिणी सेना दहेज में देते हैं। किन्तु देवक ने पैदल सैनिकों के स्थान में कन्या की प्रसन्नता के लिये दासियाँ दी थी। सुवर्ण माला से सुशोभित चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े और अठारह सौ रथ दिये ॥ ३१ ॥

दासियाँ जो देवक राजा ने दी थी उसका कारण यह था कि ससुराल में देवकी के मन उल्लास के लिये सखियाँ अवश्य चाहिये, नहीं तो वहाँ उदास रहेगी अतः उसके समान सुकुमारी एवं अलंकृत दासियाँ भी दी। वे दासियाँ कन्या, देवकी को दी थी उनमें वसुदेव का कोई अधिकार नहीं था जिससे वसुदेव उन दासियों से कोई भी सेवा न ले सके। देवक ने देवकी के विवाह में ही इतना दहेज क्यों दिया? इस शङ्का का निवारण उससे **'देवक'** नाम से हो जाता है। देवक का अर्थ है **'ज्ञानवान्'** ज्ञानवान होने से इसको पता था कि देवकी के गर्भ से भगवान् का प्राकट्य होगा, इस हेतु से विशेष दहेज दिया था। कन्या को जो दासियाँ दी थी उनके आने जाने की सवरी के लिये पालकियाँ भी दि थी। उनके लिये भी पालकियाँ क्यों दी? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं देवक **'दुहितृवत्सलः'** कन्याओं में प्रेमवाले थे, वे दासियाँ भी कन्याएँ ही थीं। अथवा देवकी के कहने से उनको पालकियाँ दी थी ॥ ३२ ॥

सम्माननामाह शङ्खेति।

इस निम्न श्लोक में प्रयाण समय में जो सम्मान से विदा किया उसका वर्णन करते हैं।

शङ्खो हि मुखवाद्यम्—शङ्ख मुख से बजाया जाता है तुरही और मृदङ्ग हाथ के बाजे हैं, दुन्दुभि डण्डों से बजाई जाती है। ये सब साथ में ही बजने लगे। ये क्यों और कब साथ में बजने लगे ? जब वर और वधू के जाने का प्रारम्भ हुआ तब बजने प्रारम्भ हुए और मङ्गल सूचना देने के लिये बजने लगे। इनके बजने से यह मालूम हुआ कि शकुन अच्छे हैं, इसका फल उत्तम होगा ॥ ३३ ॥

कालो ह्यत्र प्रतिबन्धका जात इति वक्तुं तस्याधिभौतिकः कालनेमिः कंसे निविष्टः शेत इति तत्प्रादुर्भावार्थं तदनुगुणदेवतायास्तदुत्कर्षमसहमानाया अकस्माद् वाक्यं जातमित्याह पथीति।

अब इस श्लोक में काल की असहिष्णुता बताते हैं कि जब आनन्द मङ्गल के साथ वर वधू बिदा हो रहे थे तब आनन्द युक्त प्रयाण के समय काल ने आनन्द में रुकावट डाली। कैसे रुकावट डाली ? वहाँ कहते हैं कि काल के आधि भौतिक स्वरूप कालनेमि ने कंस में आकर निवास किया। वह काल, देवकी के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका अतः काल के अनुरूप देवता काल को प्रकट करने के लिये, अचानक रास्ते में आकाशवाणी हुई। जिससे कालनेमि के आवेश के प्रकट होने से कंस की बुद्धि विकारवाली होने लगी।

शोभातिशयो मध्येमार्गम्—मार्ग में अतिशय शोभा हो रही थी जिससे देवकी का भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आरहा था, घर में पहुँच जाने के बाद होता तो ये दो तो उस समय नहीं होते। परन्तु आकाशवाणी को तो रंग में भङ्ग और हर्ष में दुःख पैदा करना था अतः वह आकाशवाणी मार्ग में ही हुई। इससे यह बताया कि भक्तिमार्ग और विवाह मङ्गल में यह आधिभौतिक काल बाधक होता है। आकाशवाणी लगाम पकड़े हुए कंस को, सावधान करने के लिये प्रथम रे अबुध! कंस! संबोधन करती है, जब वह सावधान हो जाता है तब आवाज आती है वह आवाज तालु, होठ आदि के मिलाप से नहीं निकल रही थी, योंही वायु में मिश्रित होकर आरही थी इसलिये श्लोक में **'अशरीरवाक्'** पद दिया है जिसका अर्थ वह वाणी जो शरीर से न निकली हो। उस वाणी से सुनने में आया कि जिसको तू प्यार से पहुँचाने ले जारहा है उस देवकी का आठवाँ गर्भ तुझे नष्ट करेगा। इस प्रकार स्पष्ट कहने से यह बता दिया कि दासी आदि का गर्भ तुझे नष्ट नहीं करेगा। संख्या तो निश्चय बता दी किन्तु पुत्र व पुत्री यह स्पष्ट नहीं कहा। यों भी न समझना, कि यह मेरी बहिन है और उसकी सन्तान भागीनेय भाञ्जा मुझे कैसे मारेगा, यदि यों समझ लिया तो तू सर्वथा अबुध हो अरे कंस। बुरा मत मानना कि मैं ऐसा स्पष्ट तुझे अबुध इसलिये कहती हूँ कि मैं तेरा हित करना चाहती हूँ ॥ ३४ ॥

ततो यज्जातं तदाह इत्युक्त इति।

अब आकाशवाणी होने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका निरूपण करते हैं—

आकाशवाण्यास्त्वभिप्रायः सा—आकाशवाणी का इस प्रकार कहने का तो आशय था कि वाणी सुन कर राजा कंस देवकीजी को घर में रख लेंगे अथवा अन्य कोई दूसरा उपाय करेगा। किन्तु यह कंस दिग्विजयी था तथा स्वभाव से खल तो पूर्व से था ही और विशेष यह हुआ कि कंस में आधिभौतिक कालस्वरूप कालनेमि ने प्रवेश किया था, इससे वाणी सुनते ही हाथ में खड्ग उठाया और भगिनी को मारने के लिए मस्तक के केशों को पकड़ लिया। **ननु महत् पापम्**—केवल वाणी सुनने से इतना बड़ा भारी पाप करने के लिए कैसे तत्पर बना ? तब कहते हैं कि वह निरन्तर पाप कर्म करता ही रहता था जिससे पाप का पुञ्ज बन गया था। इससे शास्त्रवचनों की भी उसने दरकार नहीं किया और खल होने के कारण उसको लोक भी नहीं रोक सके। इसी प्रकार बान्धव भी रोकने में असमर्थ थे कारण कि वह कुलकलङ्क था। अतः उसको अपने कुल की मानमर्यादा भी इस निन्दित लज्जास्पद कार्य से नहीं हटा सकी। बालों को कुछ भी करना नहीं था इसलिए कच शब्द सप्तमी विभक्ति में दिया है यदि बालों को कुछ करना होता तो सप्तमी विभक्ति न देकर दूसरी देते। उस कंस को तो बहिन को ही मारने के लिए काल ने तैयार किया था। देवकीजी भाग न जावे केवल इसलिए बाल पकड़ रखे थे।

वसुदेवस्तु शूरोप्यसहायः कंसबलं च जानातीति स्वतो दोषस्तस्य च न भवतीति निश्चित्य सान्त्वनार्थं प्रवृत्त इत्याह तमिति।

यदि शंका हो कि शूरवीर शौरि वसुदेवजी ने प्रतीकार क्यों न किया। तब कहते हैं कि यद्यपि वसुदेव शूरवीर थे और साथा में कंस का पराक्रम भी जानते थे, इसके सिवाय स्वयं उस समय शस्त्र तथा सेना आदि नहीं होने से असहाय थे। एवं यह भी समझते थे कि कंस स्वतः दोष नहीं है जो कुछ कर रहा है वह कालप्रेरित है ऐसा निश्चय कर कंस को शान्त करने का ही उपाय करने लगे। यह बात इस श्लोक में कहते हैं—

नायं स्त्रीलोभेन तथा करोति—वसुदेवजी कंस की सान्त्वना स्त्रीलोभ से नहीं करते हैं कि देवकी मर जायगी तो मैं दुःखी हो जाऊंगा वा मेरी हानि होगी, किन्तु यह कंस का कर्तव्य अयोग्य है इससे वसुदेवजी के हृदय में दया उत्पन्न हुई कि कंस ऐसा पाप कर्म करेगा तो कंस का भारी अनिष्ट होगा और देवकी भी बिना दोष मारी जाती है। इसी दया के कारण वसुदेव जी ने कंस को शान्त करने का निश्चय किया। भगिनी की हत्या से मेरी लोक में अपकीर्ति होगी तो मैं समाज में मुख ऊपर कर कैसे चलूंगा, इस प्रकार लज्जा आने से स्वयं यह कार्य न करेगा, यों समझ कर वसुदेवजी को चुप रहना चाहिये था। इस पर कहते हैं कि लज्जा उसको आती है जिसने कभी भी निन्दित कार्य न किया हो, यह कंस तो सदैव निन्दित कर्म करने वाला है। उसको कैसे लज्जा आवेगी? यदि लज्जा से नहीं तो **'दयाया भगिनीमूर्तिः'** बहिन दया की मूर्ति है यों मानकर छोड़ देगा। इस पर कहा गया है कि वह कंस निर्दय है अतः उसकी कभी दया नहीं आयेगी और देव ी को छोड़ेगा नहीं इसके सिवाय वसुदेवजी यह भी जानते थे कि कंस, दैत्यों में भी अधम दैत्य होने से निर्लज्ज है, इन सब विषयों का विचार कर वसुदेवजी ने सोचा कि इसकी उपेक्षा करनी अयोग्य है अतः किसी भी प्रकार समझौता कराके देवकी को छुड़ाना चाहिये, यह करने की वसुदेवजी में शक्ति थी क्योंकि उनके जन्म के समय देवों ने बड़े नगाड़े इसलिये बजाये थे कि यह महाभाग्यवान् है ॥ ३६ ॥

आकाशवाणीं च श्रुत्वेयं च न मरिष्यतीति निश्चित्य कथञ्चित् प्रतीकारः कर्तव्य इति प्रतियुद्धादिकमकृत्वा कंसं परितः सान्त्वयन् तिष्ठ तिष्ठ मद्विज्ञापनां शृण्विति वदन्नाकाशवाण्याः समाधानार्थं वक्ष्यमाणमुवाच। आकाशवाण्युक्तं न मिथ्या। अयं च प्रतीकारार्थं यतते। तत्र क्रियया प्रतीकारो न भवति ज्ञानेनैव प्रतीकारो भवतीति नवभिः प्राणश्लोकस्तस्य सर्वं तत्त्वमुपदिशति श्लाघनीयेति।

वसुदेव जी सत्त्वनिष्ठ पुरुष होने के कारण ज्ञानवान् हैं उन्होंने आकाशवाणी सुनकर मन में निश्चय कर लिया कि श्री देवकी जी की मृत्यु होगी नहीं फिर भी व्यवहारानुसार इसका प्रतीकार करना चाहिये। परस्पर शस्त्रों से संग्राम न करके कंस को संपूर्णतया शान्त करने तथा आकाशवाणी के वचनों के समाधान करने के कारण कहने लगे कि, राजन्! राजन्! ठहरो ठहरो! प्रथम मेरी प्रार्थना को सुन लो। वसुदेवजी ने समझ लिया था कि कंस को निश्चय हो गया है कि आकाशवाणी ने जो कहा है वह मिथ्या नहीं है अतः उसका प्रतीकार करने का वह प्रयत्न कर रहा है। अब शस्त्र व्यवहार से मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतः इस कार्य की सिद्धि ज्ञान रूप उपाय से ही होगी यों निश्चय कर नव श्लोकों में कंस को सर्वप्रकार से ज्ञान का तत्त्व जताकर शान्त करते हैं। नव श्लोकों से उपदेश करने का तात्पर्य भी यह है कि 'प्राण' नव हैं जिनकी रक्षा करनी है।

यद्ययं मृत्यौनिरभिमानस्तिष्ठेत्—आकाशवाणी सुनकर कंस को निश्चय हो गया कि इसके आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। यदि मैं देवकी का ही नाश कर दूंगा तो मेरी मृत्यु नहीं होगी। इस प्रकार के मृत्यु का निश्चय कंस के हृदय से निकालने के लिये श्री वसुदेवजी प्रयत्न करने लगे। यदि श्री वसुदेवजी के कथन से कंस के मन से मृत्यु का भय अज्ञान जिसका मूल कारण वैसा देहाध्यास निकल जाता तो अक्लिष्टकर्मा भगवान् कंस को मारते नहीं। किन्तु यह वसुदेवजी का उपदेश, देवगुह्य, श्रीकृष्ण करके गुह्य है, जिससे कंस समझ न सका। न समझने के कारण उसका मृत्यु में वही अभिमान रहा, अतः उपदेश भी प्रतिबन्धक हो गया। वसुदेवजी का उपदेश देवगुह्य था उसका आशय यह भी था कि यदि देवकी मारी जायगी तो आकाशवाणी का कहना मिथ्या हो जायगा अतः देवकी की मृत्यु भी न हो और आकाशवाणी भी सत्य हो इसके लिये कोई दूसरा उपाय सोचना चाहिये। वसुदेवजी भी भगवान् की प्रेरणा से, उपदेश का अवसर एवं अपना अधिकार न होने पर भी करने लगे। कंस के कृत्यों को देखते हुए उसपर दया करने का अवसर नहीं था तो भी उसके हित के लिये वसुदेवजी दया के कारण उसको उपदेश देने लगे।

हे कंस! यह जो आप भगिनी-वध का कार्य कर रहे हो वह नव नव प्रकार के विचार से सिद्ध होता है कि नहीं करना उचित नहीं है।

१—बहिन का बध जैसा निन्दित कार्य महापुरुषों के योग्य नहीं है, एवं यह पापकर्म मृत्यु से बचने का उपाय भी नहीं है।

२—मान लीजिए बहिन का वध मृत्यु से बच जाने का उपाय भी हो तो भी नहीं करना चाहिये कारण कि मृत्यु के अनन्तर, देह से जीव के चले जाने के पश्चात् यह देह मलरूप गिनी जाती है। जिसका कोई भी स्पर्श करना नहीं चाहता।

३—दूसरा शरीर मिलने में अथवा न मिलने में किसी प्रकार की दुर्लभता नहीं है।

४—पूर्व देह के त्याग में किसी प्रकार का प्रयास नहीं है।

५—तात्त्विकदृष्टि से चिन्तन किया जाय तो जीव का जन्म ही नहीं होता है। केवल देह के अध्यास से जीव समझता है कि मेरा जन्म हुआ है।

६—देह में जो अध्यास हुआ है वह अज्ञान से हुआ है। वह अज्ञान, ज्ञान से मिटाया जा सकता है।

७—कोई भी जब तक दूसरे से द्रोह नहीं करता है तब तक उसको कोई भय नहीं है।

८—यदि आकाशवाणी सत्य ही समझते हो तो इस प्रकार के द्रोह करने पर भी मुझसे व मेरे भीतर विराजमान प्रभु के द्वारा तेरी मृत्यु निश्चय होगी ही।

९—आपने अपने आपको बचाने के लिए जो उपाय सोचा है वह लोक तथा स्वभाव के विरुद्ध है।

इन उपदेशवाक्यों में पहला, आठवाँ और नववाँ ये तीन लौकिक दृष्टि से कहे गये हैं। शेष और छह उपदेश पारमार्थिक हैं।

अब उस प्रथम प्रारम्भ किये निन्दित कर्म भगिनी-वध को छोड़ने के लिए कंस को उपदेश देते हैं—

हे कंस! आप अल्प भी विचार करें तब अच्छा है क्योंकि जरासन्ध जैसे शूरवीर भी आपका यश गाते हैं कि आप महान् शूरवीर हैं। शूर तो युद्ध ही चाहते हैं। वे मृत्यु से नहीं डरते हैं। कायर ही मृत्यु का विचार करते हैं। अतः शूरवीर होने से आपको तो इसका पुत्र मुझे मारेगा। यह शूरवीरता आनी चाहिए। शूरवीर तो संग्राम सुनकर उत्साहित होते हैं पर आप तो भयभीत बन गये हो। यह आपके लिये उचित नहीं है और बहिन का वध कर अपनी वीरता को नाश करना भी योग्य नहीं है। रण संग्राम में 'मरने वाले तथा मारने वाले' को मृत्यु दोनों की इच्छा के अनुकूल है किन्तु वैसी मृत्यु क्षत्रियों के लिए दुराप अर्थात् कष्ट से कभी मिलती है। आप तो क्षात्र धर्म को अच्छी तरह जानने वाले हो इस प्रकार आपकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि आप भोज के यश को फैलाने वाले हो तथा भोज वंश में आप जैसा शूर दूसरा कोई नहीं हुआ है। अतः आकावाशणी सुनने मात्र से बहिन का वध करना उचित नहीं है। इसको छोड़ने से आपका धर्म और यश बढ़ेगा। ऐसे धर्म तथा यश वाले आप, दयापात्र भगिनी को कैसे मारोगे? अरे राजन्, बहिन के लिए मनुष्य अपना शरीर भी दे देते हैं। बहिन का विचार छोड़ा जाय तो भी आखिर में 'स्त्री' जाति तो है। शूरवीरों को स्त्री का वध करना अनुचित है। यदि आप समझो कि यह मेरी बहिन भी क्षत्रिय होने के कारण शूरता आने से मुझसे लड़े या मुझे मार डाले? तब ऐसी शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह तो तब हो सकता है कि वे पुरुष प्रकृति की होती है लेकिन देवकी स्त्री प्रकृति वाली है। यदि आपको इसको मारना ही है तो भी अब विवाहोत्सव के समय में तो मत मारो पीछे मार देना। लौकिक राजा लोग जिसको मारना चाहते हैं उसको विषादि से मरवा देते हैं। इन कारणों से शौर्य आदि धर्म वाले आपको इसका वध करना योग्य नहीं है॥ ३७॥

किञ्च यदियं हन्यते तन् मृत्युप्रतीकारार्थं न तु वैरभावेन न च मृत्युरस्यां हतायां प्रतिकृतो भवति सहजत्वादित्याह मृत्युरिति।

अब बताते हैं कि मृत्यु तो काया से लगी ही है राजन् आप जब इस भगिनी को इसलिये मारते हो, कि मैं मरने से बच जाऊँ परन्तु बहिन से तो किसी प्रकार का वैर है नहीं जिसके लिये उसको मारते हो। तब आपको सोचना चाहिये कि इसको मारने से क्या आपकी मृत्यु टल जायँगी? यह तो कदापि नहीं होगा, कारण कि मौत तो जन्म के साथ जन्म लेती है यह बात इस श्लोक में बताई है—

नापि विलम्बार्थम्—हे कंस! इसको मारने से तेरी मृत्यु जो अवश्य होने वाली है, वह टलेगी नहीं। इसका गर्भ या किसी दूसरे का गर्भ तुझे मारेगा तो अवश्य ही। यदि कहो कि मृत्यु टलेगी नहीं, किन्तु कुछ समय रूकने से उसमें विलम्ब तो होगी। इस पर कहते हैं कि विलम्ब तो यों भी है ही। यह देवकी तो तुझे नहीं मारती है तथा न मारेगी और मारने वाला इसका आठवाँ गर्भ भी अब जन्म नहीं लेता है। इसलिये विलम्ब के कारण मारना भी व्यर्थ है। अतः इसका बध करना तो आप को बच जाने का उपाय नहीं।

मृत्यु तो प्राणियों के जन्म के साथ जन्म लेती है, **मृत्युनैवेदमावृतमासीत्'** ऐसा बृहदारण्यक के इस श्रुति में कहा गया है कि यह सब मृत्यु से घिरा हुआ था। भगवान् ने प्राणियों को इस मृत्यु से बाहिर निकाला और मृत्यु को प्राणियों के भीतर स्थापन किया, वह भीतर स्थित मृत्यु का रूप अशना क्षुधा है। यह क्षुधा रूप मृत्यु देह के साथ पैदा होती है इसलिये अशना या मृत्युरेव इस श्रुति में कहा है कि मृत्यु का रूप क्षुधा है। अतः प्राणियों को वह मृत्यु नित्य होती है। इसका प्रत्येक प्राणी को अनुभव है। जब भोजन नहीं मिलता है, भूख सताती है तो प्राणी के मुख से ये शब्द निकलते हैं कि मैं भूखों मरता हूँ जल्दी भोजन दो नहीं तो मेरे प्राण निकल जायेंगे। इससे निश्चय होता है कि आज या कल सौ वर्ष के अनन्तर मृत्यु तो होने वाली ही है। वसुदेवजी ने राजा कंस को हे वीर! ऐसा संबोधन देकर यह बताया कि आप तो शूरवीर है आप को भय नहीं करना चाहिये। सौ वर्ष के बाद भी तो मृत्यु सब मानते ही हैं तब ही आकाशवाणी सत्य होगी। अतः इस प्रकार विचारपूर्वक समझ लेने आपको इसका वध करना उचित नहीं है॥ ३८॥

न च देहत्यागे क्लेशो भविष्यतीति क्लेशनिवृत्त्यर्थमौषधपानवदस्या मारणमुचितमित्याह देह इति ।

यदि राजन् कंस ? यह भी नहीं समझना चाहिए कि देह के त्याग करने में जो दुःख होगा वह इसके वध से निवृत्त हो जायगा इसके लिये इसका वध मेरे दुःख निवृत्ति की औषधि जानकर यह कर्म करता हूँ । निम्न श्लोक से कंस को समझाते हैं कि देह त्याग में कोई क्लेश नहीं होता है ।

देहे पञ्चत्वमापन्ने—जब जीव इस देह के त्याग की तैयारी करता है तब देह के पाँचों तत्त्व पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों में क्रमशः लीन होने लगते हैं । उसके पश्चात् देहाभिमानी जीव, कल्याणकारी नवीन दूसरी काया को पाकर पहिली मलरूप बनी हुई काया को त्याग देता है । पुरानी देह के त्याग तथा नयी देह के ग्रहण करने में जीव को परिश्रम नहीं करना पड़ता है । कारण कि जीव कर्म के अधीन है । कर्म जहाँ जीव को ले जाते हैं वहाँ उसको जाना ही पड़ता है । कर्म ही उसको पहिली देह छुड़ाता है और नवीन देह दिलाता है । जीव को परिश्रम करने की भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह कर्म के अधीन है । 'अनुप्राप्य' शब्द से यह बताया है कि इस एक देह को छोड़कर दूसरी लेने में काल का कुछ भी विलम्ब नहीं होता है । देह के त्याग तथा ग्रहण करने में परिश्रम न होने से, औषध लेने की तरह भी इसका वध करना अयोग्य है ॥ ३९ ॥

किञ्च देहान्तरप्राप्तौ बिलम्बो भविष्यतीत्यपि न शङ्कनीयमित्याह व्रजन्निति ।

पहिली देह छोड़कर दूसरी देह की प्राप्ति में विलम्ब होगा, यह भी शङ्का मनमें नहीं लानी चाहिये । यह बात इस श्लोक में कहते हैं ।

यथा गच्छन् पुरुषः—जैसे पैदल जाने वाला मनुष्य प्रथम एक पैर से अगली भूमि पर स्थित होने के बाद, पीछे की भूमि से दूसरा पैर उठाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले ठहरने का स्थान स्थिर कर पीछे आगे वाला स्थान छोड़ा जा सकता है, यों करने से ही चलने वाला मनुष्य चलने में सफल हो सकता है अन्यथा नहीं । विशेष समझाने के लिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं जैसे तृण कीट घास के तिनके का कीड़ा दूसरे तिनके पर ठहरने के पश्चात् पहिले तृण का त्याग करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

जिस प्रकार इस लौकिक कार्य में प्रयत्न तथा बुद्धि की आवश्यकता है वैसे ही देह धारण करने में कर्म की गति की आवश्यकता है । अर्थात् जीव कुछ नहीं कर सकता है वह कर्म के वश है । कर्म के अनुसार देह का त्याग तथा देव तिर्यग् आदि देह की प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

नन्वधिकप्रयासाभावेपि दृष्टान्तानुरोधेनाल्पप्रयासो भविष्यति सोपि शीघ्रं मा भवत्विति मारणमिति चेत्तत्राह स्वप्ने यथेति ।

यदि कंस कहे, कि अधिक प्रयास नहीं होगा किन्तु दृष्टान्त के अनुसार थोड़ा प्रयास तो होगा, वह भी जल्दी न हो इसलिए इसका वध करता हूँ । तो इसका उत्तर निम्न श्लोक से देते हैं ।

स्वप्न के समय देह के ग्रहण तथा परित्याग में अल्प भी प्रयास नहीं होता है और विलक्षणता भी कभी-कभी ही प्रतीत होती है, सदा नहीं होती । स्वप्न की देह में इसलिए प्रयास नहीं होता है क्योंकि वह कर्म द्वारा प्राप्त नहीं की जाती है, बिना कर्म के ही मिलती है । इस पर कहते हैं कि वह भी यों ही नहीं देखने में आती है किन्तु उनके लिए एक प्रकार का कर्म करना पड़ता है । वह कर्म है 'मनोरथ' । जीव मनोरथ से जब जिस-जिस देह वा वस्तु की भावना करता है तब उस जीव की बुद्धि उस देह अथवा उससे भोग्य विषय का रूप बन जाती है । उस ज्ञान और कर्म से ही 'स्वप्न' आते हैं । जैसे दूसरे लोक देह की गति में विद्या, ज्ञान तथा कर्म सहायक होते हैं । उनके द्वारा ही उसका प्रारम्भ होता है । वैसे ही स्वप्न में देहादि का प्रारम्भ भी ज्ञान एवम् कर्म से युक्त मनोरथ से ही होता है । इस प्रकार दोनों देहों की समानता है और इसलिए दोनों के स्वीकार एवं परित्याग में कोई प्रयास या परिश्रम नहीं है । यों भी आप नहीं कह सकते हो कि स्वप्न की देह में मनोरथ कारण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा शास्त्र श्रवण द्वारा जो कुछ विषय मन में स्थित होते हैं उनका चिन्तन होता रहता है । जो दिन का चिन्तन किया जाता है वही प्रायः स्वप्न में देखने में आता है यह प्रत्येक का अनुभव है ही । कभी-कभी पूर्व जन्मों में संस्कारों का भी मनमें स्मरण हो आता है कि मैं राजा था वह इन्द्र था अथवा युद्ध में सिर कट गया था किसी कर्म से फाँसी हुई वे संस्कार भी जागृत हो जाते हैं और उनका अनुभव भी स्वप्न में होता है । अतः स्वप्न में मनोरथ-रूप कर्म ही कारण है । यदि आप कहो कि पूर्व जन्म की स्मृति ही नहीं है तो ग्रहण और त्याग की सम्भावना कैसे होगी ? इस पर कहते हैं कि 'अपगतस्मृतिः' जीव को देह सम्बन्धी स्मृति नहीं रहती है । 'स्वप्न' तो वह है जो पूर्व काल कभी भी अनुभव किया गया है । अतः इसको अनिर्वचनीय कहा जाता है । मनमें पहिले मनोरथ पैदा होता है, उससे स्वप्न उत्पन्न होता है, इससे स्वप्न का कारण मनोरथ है । उस मनोरथ का कारण केवल दृष्ट या श्रुत है और वह स्वप्न निद्रा के समय

आने से, मनोरथ किये हुए विषय पूरी तरह से दिखने में नहीं आते हैं, कारण कि निद्रा भी माया का रूप है, उनमें आने से स्वप्न को भी मायिक कहते हैं ।। ४१ ।।

किञ्च देहस्योत्पत्तिमरणे न त्वात्मनः । आत्मा तु तदध्यासाज्जायते म्रियते वा । तदाह यतो यत इति ।

'यतो यतः' इस श्लोक में कुछ और भी समझाते हैं । जैसा कि जीव न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, उत्पत्ति तथा नाश देह का होता है, जीव का तो देह में अध्यास होने से अपना जन्म और मरण होना मान लेता है ।

अस्मिन् सिद्धान्ते मन एव—देहात्मवादियों के इस सिद्धान्त में मन ही देह के ग्रहण तथा त्याग का कारण है । सङ्कल्प तथा विकल्प रूप, अनेक प्रकार के विकार रूप आत्मावाला मन है । उस मन को प्रेरणा करने वाला दैव है । काल कर्म और भगवदिच्छा प्रत्येक को दैव कहा जाता है । तीनों में से अधिकारानुसार किसी एक से प्रेरित होकर मन, माया से रचित विषयों में, मोह से जिन जिन विषयों को उत्तम समझता है उन २ विषयों में से किसी का त्यागकर, जिनको ग्रहण करना चाहता है उनमें आसक्त हो जाने से उनमें ही मन के साथ जीव जन्म लेता है अपने आप जन्म नहीं लेता है । मन जैसी भावना करता है वैसा ही शरीर बनता है और जिस भाव को छोड़ देता है वह देह नष्ट हो जाती है । यद्यपि सब विषय समान है तो भी मन जिसको उत्तम समझता है वह उसके लिये उत्तम है वही विषय उस मन को प्राप्त होगा और वह मन उस विषय को ग्रहण करता है । आपके मन को यह देह उत्तम गति इसलिए उसने यह ग्रहण की है । अतः इस उत्तम देह की रक्षा के लिए इस देवकी का वध नहीं करना चाहिये ।। ४२ ।।

एवं मनोऽनुसरणेन देहानुसरणमपि मोहादेव प्रतिबिम्बन्यायेन न त्वात्मानस्तथात्वमस्तीत्याह ज्योतिरिति ।

जीव जैसे मन के पीछे चलता है वैसे ही देह का भी अनुसरण मोह से करता है । वह अनुसरण आत्मा का नहीं है किन्तु वह प्रतिबिम्ब या परछाई के समान है । अर्थात् जैसे बिम्ब के चलने से ही प्रतिबिम्ब चलता है अपने आप नहीं चलता है वैसे ही जीव अपने आप जन्म आदि ग्रहण नहीं करता है मन के पीछे घसीटता जाता है । जीव का वास्तविक रीति से देहादि से कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार उसका जन्म आदि होता है उसका प्रतिपादन इस श्लोक से करते हैं ।

जैसे आकाश में स्थित सूर्य वा चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब नदी के जल में अथवा जल भरे हुए मिट्टी के पात्रों में पड़ता है, तब वायु से जल को हिलते देखकर अज्ञजन समझते हैं कि सूर्य वा चन्द्र हिलता है और न कि प्रतिबिम्ब हिलता है यों समझना अज्ञजनों की अज्ञानता है । केवल जल हिल रहा है पर उसके द्वारा भ्रम से समझा जाता है कि वे हिलते हैं । वैसे ही यहाँ अन्तःकरण, जल है और मृतिका का वर्तन, देह है मोह, वायु है उस मोहरूप वायु से अन्तःकरण चलायमान होकर देहादि द्वारा अनेक कार्यों में मन को आसक्त कराता है । यों तो जीव भगवद्रूप है किन्तु मोह के कारण मन का अनुगामी होने से देहादिकों में एकत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मोह के तथा अज्ञान अथवा अध्यास के कारण अपने को देह इन्द्रियादि समझकर भ्रम में पड़ जाता है । अतः इससे समझना चाहिये कि देह का सम्बन्ध भ्रम से है अतः उस भ्रम के वशीभूत होकर आत्मा की हानि नहीं करनी चाहिये ।। ४३ ।।

एवं तत्त्वं निरूप्य देहरागान्नात्मनोऽपकारः कर्तव्य इति यदुक्तं तल्लोकेपि तुल्यमिति वदन् मारणे भेदात्मकं भयं प्रदर्शयति तस्मादिति ।

वसुदेवजी कंस को इस प्रकार तत्त्व समझाकर अब आगे के श्लोक में कहते हैं कि देह में प्रेम होने से आत्मा की बुराई नहीं करनी चाहिये लोक में भी, इस देह के कारण आत्मा की बुराई करने को अच्छा नहीं कहते हैं । यों कहते हुए वसुदेवजी अब देवकी के वध से भेदात्मक भय होना दिखाते हैं । अर्थात् वध तब किया जाता है जब जिसका वध किया जाता हो उसको अपने से पृथक् दूसरा समझा जावे । यह भेददृष्टि भयावह है तथा अपकार करने वाली है ।

यस्माद् देहो नात्मा—जब यह देह आत्मा नहीं है तब उस देह की रक्षा के लिए किसी से भी द्वेष-वैर नहीं करना चाहिये । अपनी देह भी वैसी ही है जैसी अन्य की नाश की जाने वाली देह है अतः उस देह को अपनी देह के समान समझकर उस पर दया ही करनी चाहिये । यों उपदेश करने का फल यह है कि जैसे अपनी रक्षा का विचार किया जाता है कि मेरा कोई भी वध न करे किसी प्रकार भी मैं वध से बच जाऊँ तो अच्छा है, इसी प्रकार दूसरों की रक्षा के लिए भी विचार करना चाहिये । जो मनुष्य दूसरे की रक्षा का विचार नहीं करता है तो उसमें जो बाधक बन कर आते हैं अब उनको बताते हैं । जब मनुष्य अपने रक्षण सुख को चाहता हुआ दूसरे की रक्षा का विचार करता है तो वह अपना भी क्षेम होगा यों विचार करता है अर्थात् दूसरे की रक्षा से मेरी भी रक्षा होगी । नहीं तो द्रोह करने वाले को दूसरे से भय होगा । अर्थात् वह भी इसका द्रोह करेगा अर्थात् उसको मारेगा । इसलिए यदि तुम इसका वध करोगे तो वह मेरा ही वध है कारण कि यह मेरी पत्नी होने से मेरा आधा भाग है अतः मुझसे तुझे भय होगा अर्थात् कभी भी मैं तुझे मार दूँ ।। ४४ ।।

लौकिकव्यवहारेणापि मारणं नोचितमित्याहैषा तवानुजेति ।

लोक के व्यवहार से इसका वध करना योग्य नहीं है । इसका वर्णन नीचे बताये हुए श्लोक से करते हैं ।

लोके कनिष्ठभगिनीं स्नेहपात्रम् राजन् ! आप जानते हैं कि लोक में छोटी बहन तो पुत्री के समान स्नेह करने के योग्य है, उसमें भी वह आठ वर्ष की होने के कारण दुलार करने योग्य है तथा यह भय से व्याकुल है और इसमें कोई चातुर्य भी अभी तक नहीं आया है । अतः काष्ठ की पुतली जैसी अबोध है । अतः अपने को वध से छुड़ाने के लिये कुछ प्रार्थना भी नहीं कर सकती है । इसके सिवाय आप से छुड़ा के भाग जाय वह भी शक्ति वा युक्ति इसमें नहीं है और अभी तक विवाह के आभूषण शरीर पर होने से मङ्गल स्वरूप लक्ष्मी है । इसलिए ऐसी छोटी बहिन का वध करना योग्य नहीं है । इसको तो अब श्वसुरगृह ही ले जाकर छोड़ आना योग्य है कारण कि आप दीनों पर दया करने वाले हो वसुदेवजी इस समय कालनेमि का आवेश कंस में समझकर कहते हैं कि आप दीनों पर दया करने वाले हो ॥ ४५ ॥

एवं शास्त्रार्थनिरूपणेन दयाभयादिजननेपि न मारणान्निवृत्त इत्याहैवमिति ।

अब तक वसुदेवजी ने कंस को शास्त्रों का तत्व बताया और दया, भय आदि भी उस कंस में पैदा किया, किन्तु कंस ने मारने का निश्चय छोड़ा नहीं । यह बतलाते हैं—

वसुदेवजी नीति के ज्ञाता थे इसलिये उन्होंने साम और भेद से कंस को समझाया । प्रथम भेदनीति समझाया जिसको कहा कि आत्मा का स्वरूप यह है और अनात्मा का स्वरूप यह है और पाप कर्म से परलोक नरकादि की प्राप्ति तथा लोक में अपकीर्ति होती है इत्यादि भय बताये । उसके पश्चात् साम नीति से समझाया जिसमें ज्ञान, समानता तथा दया का उपदेश दिया । ऐसे अनेक प्रकार से भेद और साम नीति द्वारा समझाने पर भी वह कठोरचित्त दैत्यात्मा इस वध के कार्य करने से रुका नहीं । कारण कि उसने राक्षों के समान वध का व्रत धारण कर रखा था । कंस में कालनेमि आविष्ट था अतः उसके तुल्य यह भी करेगा ही ॥ ४३ ॥

एवं पूर्वप्रयास उपदेशात्मके विफले जाते पुनर्भगवदिच्छया प्रकारान्तरेण समाधानार्थं यत्नं कृतवानित्याह निर्बन्धमित्यष्टभिः ।

अयं लौकिको नालौकिकेन परमार्थेन निवर्ततेतोस्य लौकिक्येव युक्तिर्वक्तव्या । तस्माद्युक्तेः स्फूर्तिः प्रथममुच्यते । सा च । पुत्रदानात्मिका । तस्याश्चायुक्तत्वमाशङ्क्य युक्त्या युक्तत्वसमर्थनम् । ततः स्फुरितस्योपायस्यानुवादः सोपपत्तिकः । तस्यैव प्रतिकूलतर्कपराहत्या समर्थनम् । अशक्तावदृष्टशरणागतिः । तस्याप्युपायस्य ग्रहणार्थं साधनानुष्ठानम् । तत उद्योगः कथञ्चनेति अलौकिकस्फुरणात् तस्याङ्गीकारः । तेनायमुपाय आपाततः सफलः ।

इस प्रकार उपदेशरूप प्रथम प्रयास जब सफल न हुआ तब भगवान् की इच्छा से वसुदेवजी फिर अन्य प्रकार से समाधान करने के लिए प्रयत्न करने लगे । उसका वर्णन (निबंधं तस्य) श्लोक से आठ श्लोकों में करते हैं—

यह कार्य लौकिक है इसलिए पारमार्थिक एवं अलौकिक युक्तियों से इस कार्य को कंस छोड़ेगा नहीं अतः अब लौकिक युक्ति ही करनी चाहिये । वह युक्ति जिसके मनमें स्वतः स्फूर्ति हो आई प्रथम उसको कहते हैं । उसकी युक्ति यह थी कि, जो पुत्र उत्पन्न होगा वह तुझे उसी समय दे दूँगा । पुत्र दे देना अयोग्य देखने में आता है, किन्तु उसका समर्थन युक्ति से करते हैं कि पुत्र देना योग्य है फिर जो उपाय ध्यान में आया उसका उपपत्ति पूर्वक अनुवाद करेंगे । उसके बाद के श्लोक में प्रतिकूल तर्क देकर उसका खण्डन करते हुए प्रथम दी हुई युक्ति का समर्थन करेंगे । पाँचवें श्लोक में अशक्त होने पर अदृष्ट बलवान् है उसके ऊपर भरोसा रखना चाहिये यों कहकर समझाया है । उस प्रारब्ध के उपाय को ग्रहण करने के लिये साधन छठे श्लोक में बताये गए हैं । सातवें श्लोक में उद्योग कहे हैं । आठवें श्लोक में वसुदेवजी के मनमें अलौकिक शक्ति की स्फुरणा से आये हुए वचनों की अङ्गीकृति का वर्णन है । तात्पर्य यह है कि वसुदेवजी का यह प्रयत्न भगवान की प्रेरणा से होने के कारण सफल हो गया ।

पूर्वोपायवैयर्थ्यमनुवदति निर्बन्धं तस्येति ।

इस श्लोक में प्रथम किये हुए उपाय की विफलता बताते हैं—

तस्य कंसस्य वधरूपं तं—वसुदेवजी ने, कंस की आवश्यक क्रिया साधन और प्रयत्न रूप चेष्टा से जान लिया कि यह देवकी का वध अवश्य करेगा ऐसा इसका आग्रह ही है, अब मुझे इसको बचाने के लिये क्या उपाय करना चाहिये । यह जो आगे कहा जायगा उसकी मन में स्फूर्ति हुई । इस कंस के साथ लौकिक व अलौकिक प्रकार से विरोध करना मेरी शक्ति से बाहर है । दूसरे उपाय कर चुका हूँ जो विफल हुए हैं । अब शेष दो उपाय हैं-(१) एक तो देवकी इसे देदूँ अथवा (२) इसके जो पुत्र होंगे वे इसे देदूँगा । इस देवकी को देदूँ तो कंस अवश्य इसका वध करेगा । क्योंकि आकाशवाणी के जो शब्द सुने गये हैं

उनमें यों तो नहीं कहा गया है कि वसुदेव से उत्पन्न हुआ, आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा। किन्तु देवकी का वह गर्भ देव द्वारा होने वाला समझकर, कंस इसको अवश्य मारेगा। अब तो वह स्वतः मारता है पीछे मारने में मैं भी दोषी ठहरूँगा। पुत्र देना भी योग्य नहीं, कारण कि वह आठवाँ पुत्र तो भगवद्रूप होगा। यह ज्ञान इन वसुदेवजी को इसलिये हुआ कि इनके जन्म के समय इसलिये आनक और दुन्दुभि बजने लगे थे कि इनके यहाँ भ वान् का प्राकट्य अवश्य होगा और वह भी देवकीजी से, न कि दूसरी स्त्री से, देवकीजी से ही होगा उसमें आकाशवाणी प्रमाण है। इस प्रकार विचार करते हुए वसुदेवजी संकट में थे कि क्या करना चाहिये ? वसुदेवजी को यह निश्चय हो गया कि, मेरे द्वारा इस देवकी से ही आठवाँ गर्भ भगवान् होगा। वह दूँ ा ऐसा कहने से मैं भगवद्विमुख होता हूँ जिससे भगवान् अवतार ही न लेवें तो विशेष आपदा होंगी, यों विचार करते हुए अचानक मन में यह युक्ति, जो पीछे कही जायगी स्फुरित हुई कि अभी तो इस अवसर को टालने के लिये कह दूँ कि पुत्र होंगे वे आपको दे दूँगा। जब उनसे ही आपको भय है तो देवकी का वध क्यों करते हो। यद्यपि पुत्र दे दूँगा यह कहना भी योग्य नहीं है तो भी इस समय अयोग्य भी बोलकर मृत्यु को तो टाल ही देना चाहिये ॥ ४७ ॥

ननु 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये' त्यादिन्यायेनेदानीमेव कथं न तूष्णीम्भावस्तत्राह मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य इति।

'कीचड़ में पैर डालकर पोछे उसको धोना' यो करने से पहले ही शाति क्यों नहीं की, इस पर कहते हैं कि बुद्धिमान् को मृत्यु किसी भी प्रकार टालनी चाहिये, यह वर्णन निम्न श्लोक में करते है।

यदि मनुष्य होकर भी मृत्यु को टालने का प्रयत्न हम नहीं करते हैं तो भगवान् ने हम मनुष्यों को पशु आदिकों से जो विशेष बुद्धिमान् बनाया है वह किस लिये बनाया है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपनी अथवा दूसरे की मृत्यु को प्रयत्न कर टाल दे। एक बार यत्न करने पर मृत्यु नहीं टली, तो फिर हम क्या करें ? इस पर कहते हैं कि नहीं, एक बार प्रयत्न कर रुक न जाओ, लेकिन जहाँ तक बुद्धि का बल चले वहाँ तक प्रयत्न करते रहो। बुद्धिमान को क्रिया से तथा बुद्धि से प्रयत्न करते रहना ही योग्य है। जैसे पहला प्रयत्न विफल हुआ वैसे आगे के प्रयत्न भी विफल होंगे तो बार बार उद्यम करने से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं कि यदि बार बार उद्यम करने पर भी मृत्यु नहीं टली तो लोग इस मनुष्य के लिये यों नहीं कहेंगे कि उसने उपेक्षा कर इसको मृत्यु से नहीं बचाया, परन्तु यही कहेंगे कि इसने तो भरसक प्रयत्न किया इसका कोई दोष नहीं है। शास्त्र तो कहते हैं कि जितना बन सके उतना प्रयत्न करो। फल तो दैव के अधीन है। देहाभिमानी तो काल के दण्ड के योग्य होता ही है। वसुदेवजी ने इस प्रकार विचार कर, यह उपाय करना चाहिये ऐसा निर्णय किया ॥ ४८ ॥

तमुपायमाह प्रत्यर्प्येति।

इस श्लोक में यह उपाय बताते हैं—

मृत्युरयं कंसे निविष्टः—विश्वास किया जाता है कि मृत्यु कंस में प्रवेश हो गयी है, मृत्यु तो सबको खा जायगी, और वह मृत्यु टाली नहीं जा सकती है वह तो कभी न कभी पुत्रों को खायगी ही। इसने मुझे अब देवकी दी, तो मैं समझूंगा कि पुत्र भी दे दिये। अतः जो देता है उसको फिर लौटा देने में कोई दोष नहीं हैं। यों करने से पुत्र दूंगा ऐसा कहने मात्र से इस दीन देवकी को अब छुडालूं। इस तरह का कार्य करने में ही विशेष लाभ है। यदि इसको नहीं छुडाता हूँ तो, न यह रहेगी और न पुत्र होंगे। इस प्रकार भी अनुचित है, क्योंकि यदि इसको छुडाऊंगा तो यह एक बचेगी और पुत्र बहुत देने पड़ेंगे तथा वे मेरे अपने अन्तरङ्ग अंग है, उनको देना विशेष दोष है। और पुत्रों का अर्पण करना भी कठिन है तथा अब तो पुत्र नहीं है। विद्यमान और अविद्यमान दोनों को समझ कर विषय का निर्णय कर लेना भी असङ्गत है अर्थात् जो पदार्थ मौजूद नहीं है उसका अस्तित्व मानकर वह दूंगा यह कहना भी योग्य नहीं है। ऐसा करने से धर्म की हानि का प्रसङ्ग उपस्थित होगा तथा लोक में अपकीर्ति भी होगी। कारण कि यदि पुत्र हुए उस समय मोह के कारण न दे सका तो प्रतिज्ञा लोप होने से अधर्म लगेगा अथवा पुत्र नहीं हुआ तो देने की प्रतिज्ञा की पूर्ति न होने से भी अधर्म होगा जिससे लोक में अपकीर्ति होगी। अतः यह भी उपाय ठीक नहीं है। इसके उत्तर में दो प्रकार की युक्ति १—'लौकिकी, २—अलौकिकी' देकर कहते हैं कि १—लौकिकी–जो मुझे बहुत 'सुत' पैदा होवें तो अर्पण कर दूं कारण कि वे सुत तो केवल पैदा होते हैं और पिता के जीवित होते ही मर जाते हैं अतः वे पिंडादिदान न देने से नरक से नहीं बचाते हैं जिससे वे पुत्र नहीं कहे जाते हैं केवल उत्पन्न होने से 'सुत' कहे जाते हैं उनको देने में मन भी निषेध नहीं करेगा। अथवा पुत्र पैदा करना तो अपने आधीन है कैसे कि इस देवकी को अपने से अलग रखलूंगा। यों करने से कोई दोष नहीं लगेगा। दोष तो लगेगा क्योंकि शास्त्र कहता है कि ऋतु के समय पति को स्त्री के पास जाना चाहिये यह शास्त्राज्ञा का न मानना भी दोष है इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऋतु काल में जाने से प्राण रक्षा करना विशेष धर्म है। कह तो देते हो किन्तु यह भी करना कठिन है कारण कि एक तो शास्त्र की आज्ञा न मानना और दूसरा काम को रोकना दोनों को मनुष्य कर नहीं सकता है। एक पुत्र हो तो वह पिता पुत्रवान् नहीं अतः जब दो पुत्र हो जावें तब

पिता पुत्रवान् माना जाता है उसके पश्चात् यदि स्त्री के पास न जावे तो दोष नहीं है। इस प्रकार लौकिक युक्ति कही, अब अलौकिक युक्ति देते हैं—

भगवान् की इच्छा से और आकाशवाणी की प्रामाणिकता से, जो मेरे यहां बहुत सुत होंगे तो भी उसमें विशेष समय लगेगा। इतने समय में यदि भगवान् की इच्छा होगी तो मृत्युरूप कंस ही मर जावे। श्रुति में कहा है कि प्राणिमात्र को नित्य मृत्यु लेने आती है उसको टालना प्राणी मात्र का कर्त्तव्य है। जहाँ २ से भी मृत्यु आवे वहाँ २ से उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रकृति का नियम है कि जो उत्पन्न होता है उसका नाश भी होता है। प्रकृति के इस नियमानुसार उत्पन्न होने वाली मृत्यु भी उपाय करने से नाश होती है। अब आई हुई मृत्यु का प्रतीकार से नाश किया जाय। फिर दूसरी बार आयगी तो दूसरा उपाय किया जायगा। एक पक्ष है कि मृत्यु एक है वह मृत्यु एक बार आती है और नियत समय पर आती है कारण कि वह अपने आने के काल के सिवाय दूसरे काल में नहीं आती है, अतः फिर काल के अभाव में नहीं आवेगी। तात्पर्य यह है कि जिस काल में मृत्यु होने वाली हो उस समय में वह न मरे, मृत्यु से छूट जाय तो समझना चाहिये कि उसके लिये मृत्यु की मृत्यु हो गई अर्थात् मृत्यु टल गई। इस कारण से जैसे शब्द नित्य है तो भी वह अभिव्यक्ति करने वाले वायु के समय निकल जाने से सुनाई नहीं देता है वैसे ही देवकी की मृत्यु भी समय निकल जाने पर अपना कार्य नहीं कर सकेगी अर्थात् देवकी को नहीं मार सकेगी।

(मृत्यु एक है) उसकी मृत्यु होती है ऐसा कहीं भी सुनने में नहीं आया है। श्रुति कहती है कि, मनुष्य जहां से भी मृत्यु आती है वहां से वह उसको हटा देता है, अतः मृत्यु मनुष्य के पास सब स्थानों में पहुँच नहीं सकती है। इस श्लोक में कहा है कि **मृत्युवान् म्रियेत चेत्** जो मृत्यु न मरे तो, अर्थात् देवकी को मृत्यु न टल सके तो पुत्र देने ही योग्य है क्योंकि मृत्यु तो निश्चित ही है। कंस मृत्यु है वह मर जाय, ऐसा अर्थ करना (**अत्रात्र वै मृत्युर्जायत**) इस श्रुति के विरुद्ध है। आचार्य श्री कहते हैं कि कंस तो मृत्यु का अधिकरण यदि लक्षणा से कंस की मृत्यु माना जाय तो भी मृत्यु मरती नहीं है इसलिये वैसा अनुवाद करना व्यर्थ है। वैसा अनुवाद कंस मृत्यु है वह मरजाय मान भी लिया जाय तो भी आकाशवाणी के वचन प्रमाण होने से कंस मरेगा नहीं क्योंकि उसको देवकी का आठवां गर्भ मारेगा। अतः मृत्यु का अर्थ कंस करना सर्व प्रकार से विरुद्ध है! जब यो तो मैं दूँगा ॥ ४९ ॥

ननु कथमेवमयुक्तं कर्तुं शक्यते तत्राह विपर्ययो वा किं न स्यादिति।

पुत्रदान, पुत्र को मारने के लिए कंस को देने जैसा अयोग्य कार्य वसुदेवजी कैसे करते हैं? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं-कि—

वाणीप्रामाण्यात् चेत्—आकाशवाणी के कहने के अनुसार कंस का तो जब तक इसका मारने वाला आठवाँ गर्भ उत्पन्न न हो तब तक मरण होगा नहीं अतः इससे विपरीत कार्य ही क्यों न हो जाय? अर्थात् मेरे पुत्र से कंस का वध क्यों न हो जाय। यह वसुदेवजी का कहना युक्तिविरुद्ध है कारण कि कंस जैसे शूर को उनका पुत्र बालक होने से कैसे मार सकेगा? इस पर कहते हैं भगवान् की गति को कोई नहीं जान सकता है। किस प्रकार वह उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है उसका ज्ञान किसी को नहीं है कितने भी प्रयत्न करने पर उसका पता लगाना कठिन है। किसी भी लौकिक युक्ति से यह नहीं जाना जा सकता है कि भगवान् किसको मरवाना चाहता है और किसको उसका मारने वाला बनाना चाहता है। अतः शास्त्रों में कहा है कि **अलौकिकास्तु ये भावास्तांस्तर्केण योजयेत्** अलौकिक भावों को तर्को की सहायता से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे तर्क से नहीं समझे जा सकते हैं। इस कारण से पुत्र दूँगा यों कह कर अब इस देवकी की रक्षा की जाय। पीछे इसके पुत्रों द्वारा यह मारा जायगा। इसलिए यों करना योग्य है। इससे आई हुई इसकी मृत्यु टल जायगी। इसके मारने से छूटी हुई मृत्यु फिर इसकी रक्षा करने वाली हो जाय और कंस की घातक बन जाय। इस विचार से भी यह देवकी रक्षा के योग्य है।

श्रीधर स्वामी का कहना है कि श्लोक के पूर्वार्द्ध में **गतिर्धातुर्दुरत्यया** जो कहा है वाक्य का विवरण उत्तरार्द्ध में किया गया है। आचार्यश्री इस विचार से सम्मत नहीं है।

आचार्यश्री इस उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध **नापराधोऽस्ति देहिनः** इस ४८ वें श्लोक से बताते हुए कहते हैं कि—जो पुत्र देने का विचार छोड़ा जाय तो जो देवकी की मृत्यु थोड़े समय के लिए भी टाली जाती है वह नहीं टलेगी अतः पुत्र देने का कहकर इसकी मृत्यु अब टाली जाय यदि पुनः आजायगी तो—४८ वें श्लोक में कहे हुए के अनुसार देही का कोई अपराध नहीं है अर्थात् फिर मैं अपराधी नहीं बनूँगा ॥ ५० ॥

ननु यद्यपि परमार्थोयं तथापि लोकविरुद्धं न कर्तव्यं पुत्रदा न मनुचितमिति चेत्तत्राहाग्नेरिति।

जोकि यह विचार पुत्र देने को कह कर देवकी को बचा लेना उत्तम है, तो भी लोक के विरुद्ध है और पुत्र देना भी उचित नहीं है अतः यह नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर में नीचे का श्लोक कहते हैं कि—

मैं कंस को पुत्र दूँगा इससे ही वह मरेगा, यों नहीं है क्योंकि यदि पुत्र के भाग्य में कंस के हाथ से मरना लिखा होगा तो मरेगा ही। नहीं लिखा होगा तो वह इसको मार नहीं सकेगा। इस कथन का दृष्टान्त देकर समर्थन करते हैं कि, जैसे दावाग्नि जंगल में स्वतः लगी हुई अग्नि पास के पेड़ों को तो नहीं जलाती है किन्तु दूर खड़े हुए वृक्षों को भस्म कर देती है, कारण कि जिनके भाग्य में जलना लिखा था वे जल गये, जिनके भाग्य में जलना नहीं लिखा था वे बच गये। यह सब अदृष्ट का खेल है जिसका जैसा अदृष्ट हो उसको वैसा ही फल मिलता है। इसी प्रकार पुत्र आदि के जन्म तथा मरण में अदृष्ट ही कारण हैं। श्लोक में हि शब्द से बताया है कि अदृष्ट ही कारण है ऐसा कहना योग्य ही है। अदृष्ट ही कारण है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव भरतादिकों के चरित्र से किया हुआ है जैसा कि भरत ने हरिक्षेत्र में मरण समय में पाले हुए हरिण को देख उसका ही ध्यान रहने से शरीर त्यागा था जिससे वह कालिञ्जर में हरिण हुआ। कालिञ्जर में जन्म और हरिण देह प्राप्ति ये दोनों क्या दृष्ट कारण से प्राप्त हुए ? नहीं, इन दोनों का कारण पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म, जिसको भाग्य, अदृष्ट वा प्रारब्ध कहते हैं, वह है। जीवका जन्म सर्वत्र होता है। वहाँ जन्म क्यों हुआ ? इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दिखने में नहीं आता है। अतः उसके जन्म तथा मरण का क्या कारण है उसका पता लगाना कठिन है। इसलिए प्रारब्ध के वश पीछे, जो होने वाला होगा, वह भले हो, अब तो इसको छुड़ाना ही योग्य है ॥ ५० ॥

निर्धारितमित्याहैवं विमृश्येति ।

वसुदेवजी न यह विचार कर जो कुछ करने का निर्णय किया उसको श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं—कि वसुदेवजी ने यही विचार स्थिर किया कि देवकी को बचाना मेरा कर्त्तव्य है। किन्तु यह तब सफल होगा जब कंस मेरी प्रार्थना स्वीकार करे। इसकी सफलता होनी तो कठिन दिखने में आती है। क्योंकि एक तो यह प्रसिद्ध दिग्विजयी है जिससे इसमें अहङ्कार भी है और दूसरा पापी भी है जो बहिन को मारने से नहीं डरता है। अतः इसको शान्त कर अपनी प्रार्थना स्वीकार कराने के लिये वसुदेवजी विशेष प्रयत्न करने लगे। उस प्रयत्न को कहते हैं कि-उसकी पूजा करने लगे। पूजा करना यह अलौकिक उपाय है कारण कि पूजा में अपने हृदय में स्थित भाव को जिसका पूजन किया जाता है उसमें स्थापित करना पड़ता है तब उस पूजा से कार्य सफल होता है। इतना बड़ा प्रयत्न क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि कार्य की सिद्धि कराने के लिये, मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक अपनी बुद्धि से उपाय हो सके वहाँ तक उपाय करते रहना चाहिये। वह उपाय दृष्ट तथा अदृष्ट कारण को जानने में असमर्थ हो तब तक करना ही चाहिए। प्रथम अदृष्ट का अलौकिक उपाय पूजन किया। पूजन से कार्य-सिद्धि अवश्य होगी ऐसा समझकर पूजन किया इसलिये श्लोक में "वं" शब्द दिया है जिसका अर्थ है 'निश्चय से'। यह पूजा भी साधारण रीति से नहीं की थी किन्तु अत्यन्त मान के साथ पूजन किया जैसे कि अपने देवता को कंस में स्थापित करने के पश्चात् देववत् उसका पूजन किया। यह पूजा स्तोत्र तथा नमस्कार एवं नम्रता से भाव पूर्वक की गई थी। इसी प्रकार की पूजा का ज्ञान वसुदेवजी ने कहाँ से प्राप्त किया था ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'शौरि' वसुदेवजी शूरसेन के पुत्र हैं अतः यह ज्ञान उनको पिता से प्राप्त हुआ था ॥ ५२ ॥

पूजयित्वा विज्ञापनां कृतवानित्याह प्रसार्येति ।

पूजा करने के अनन्तर प्रार्थना करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

वसुदेवजी ने अपने मुख कमल को इसलिये प्रफुल्लित किया कि जिससे कंस समझ जावे कि वसुदेवजी मुझे धोखा नहीं देते हैं और मेरा हित ही करते हैं। वसुदेवजी ने अपने इष्ट देवता को कंस में स्थापित तो कर दिया परन्तु मनमें सन्देह रह गया था कि इस दुष्ट में मेरे देवता विराजेंगे वा निकल आवेंगे। इस कारण से वे वसुदेवजी दुःखित मन वाले थे, तो भी उस दुःख को छिपाने के लिये अच्छे प्रकार से हँसते हुए यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगे। वसुदेवजी ने अपने देवता को जिस अधिष्ठान कंस में स्थापित किया था उसमें मुख्य दो दोष थे जिससे उसमें देवता का विराजना जचता नहीं। वे दो दोष क्रोध तथा काम के कारण रूप 'निर्दयता' और 'निर्लज्जता' है। जो काम के सेवक अर्थात् कामी होते हैं वे निर्लज्ज होते हैं और निर्भय भी होते हैं। तथा जो निर्दयी होते हैं वे क्रूर एवं तामस क्रोध वाले भी होते हैं ॥ ५३ ॥

आत्मीयतया तं गृहीत्वा हितमिवाह न चास्यास्त इति ।

कंस को अपनापन दिखाते हुए मानो उसके हित की बात कह रहे हों, इस प्रकार वसुदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं- इससे अथवा मुझसे भी आपको भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणी ने स्पष्ट कहा है कि इसका आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा। जब वाणी ने यों कहा है तब इस बिना अपराध वाली का वध क्यों करते हो, ऐसा नहीं करना चाहिए। आप सौम्य बनो और मेरी प्रार्थना स्वीकार करो। जिनसे आप को भय है मैं उन पुत्रों को आपको समर्पित करूँगा। वे आपके पुत्र हो जायँगे आपके होने पर आपको नहीं मारेंगे। मैं कपट से नहीं कहता हूँ किन्तु आपके हित के लिए कह रहा हूँ और वाणी ने तो आपकी

मृत्यु केवल आठवें गर्भ से कही है मैं तो इतना निष्कपट होकर आपका भला चाहता हूँ जो भी पुत्र होंगे वे आपको दूँगा। क्योंकि आप मेरे सम्बन्धी हो, सम्बन्धी का हित करना सम्बन्धी का कर्त्तव्य है ॥ ५४ ॥

एवं दृष्टादृष्टोपायस्य कृतत्वादङ्गीकृतवानित्याह सुहृद्वधादिति ।

इस प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट उपाय करने से कंस ने वसुदेवजी का कहना स्वीकार किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं—

विवेक उत्पन्ने विचारप्रवणं चित्तम्—वसुदेवजी के उपदेशों को सुनकर कंस के मन में विवेक विचार शक्ति जिससे क्या करना और क्या नहीं करना इसके तत्त्व को जान लेना उत्पन्न हुआ जिससे उस कंस को यह ज्ञान हुआ कि यह बहिन है इसका वध कैसे किया जाय। यों समझकर बहिन के वध से हट गया।

कंस के मन में इस प्रकार की शङ्का ही उत्पन्न न हुई कि वसुदेवजी मुझे धोखा देते हैं, क्योंकि उसने वसुदेवजी के वचनों का सार समझ लिया जिससे उसने जाना कि यह जो कहते हैं वह सत्य है और उसको यह भी पता था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता होने के कारण ही वसुदेवजी के यहाँ भगवान् प्रकट हुए। तदनन्तर कंस ने दोनों बहिन तथा बहनोई को घर पहुँचाने के लिये रथ को चलाया। रथ को चलाते देखकर वसुदेवजी ने भी समझ लिया कि कंस के मन से अब वह कालापन निकल गया है जिससे प्रसन्न होकर मार्ग में तब तक कंस की प्रशंसा करने लगे जब तक घर में प्रवेश किया। इस प्रकार वसुदेवजी ने अनर्थ को कैसे भी शान्त करा दिया ॥ ५५ ॥

एतद्भगवतैव कृतमिति वक्तुमग्रिमं कार्यं समीचीनमेव जातमित्याह षड्भिरथेति ।

यह कार्य वसुदेवजी के कहने से कंस का देवकी के वध से हट जाना भगवान् ने ही किया। यों कहने के लिये कहते हैं कि आगे का कार्य बिना विघ्न के श्रेष्ठ प्रकार से होगा। इसका वर्णन छः श्लोकों से करते हैं।

इसके अनन्तर शीघ्र ही ऋतुकाल आया जिससे देवकीजी गर्भ को धारण करने के योग्य हो गई। ऐसा समय होने पर उसने आठ ही वर्षों में आठ पुत्र उत्पन्न किये तथा उनको कन्या होने की आसक्ति थी। अतः एक कन्या को भी जन्म दिया। प्रति वर्ष एक-एक पुत्र हुए। वे सब पूर्ण गर्भ थे अर्थात् पूरे दिन होने पर जन्मे थे। किसी बालक के उत्पन्न होने में किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ। कारण कि देवकीजी में सर्व देवता विराजमान थे। वे जहाँ रक्षक होवें वहाँ विघ्न कैसे आवेंगे आठ पुत्र हो गये अनन्तर आसक्ति के कारण नवमी कन्या भी हुई। श्लोक में आये हुए 'च' शब्द का यह आशय है और प्रसव में कोई वर्ष खाली नहीं रहा। यह 'अनु' उपसर्ग से जाना जाता है। प्रकाशकार दशदिगन्तविजयी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि श्लोक में आये हुए पहले 'च' का आशय है देवकी को कन्या उत्पन्न हो, ऐसी इच्छा हुई। दूसरे 'च' का आशय है नवमी कन्या हुई और **'तज्ज्ञापकत्व'** का आशय है कि वह कन्या सुभद्रा था ॥ ५६ ॥

यथैतया पुत्राः प्रसूतास्तथा वसुदेवोपि स्वोक्तं कृतवानित्याह कीर्तिमन्तमिति ।

ज्यों-ज्यों देवकीजी ने पुत्र उत्पन्न किये, त्यों-त्यों वसुदेवजी भी अपनी प्रतिज्ञानुसार कंस को पुत्र अर्पण करने का कार्य करने लगे। उसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

वसुदेवजी ने अपने धर्म में श्रद्धा तथा स्थिरता बताते हुए पहला उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र, जो ज्येष्ठ और महान् होने के कारण, कोई भी नहीं दे सकता है उसको भी दे दिया। श्लोक में कंस नाम देने का आशय यह है कि वह क्रूर स्वभाव वाला है और आनक दुन्दुभि नाम देकर यह बताया गया है कि यह नाम प्रतिज्ञापालन रूप सत्यधर्म का कारण है। पुत्र को दूसरे के द्वारा कंस के पास न भेजकर स्वयं वसुदेवजी ने ले जाकर अर्पण किया। उस समय वसुदेवजी के मनमें स्वाभाविक कष्ट तो हुआ किन्तु कष्ट से उस शोक को मनमें ही दवा दिया। यह श्लोक में आये हुए **'कृच्छ्रेण'** पद का भाव है।

जैसे असत्य बोलना अधर्म है। अतः वैसे ही मृत्यु के लिए पुत्र का देना भी अधर्म है। ऐसी अवस्था में प्राणों पर जब सङ्कट आता हो तो झूठ बोल देना निन्दित नहीं है, इस विचार से पुत्र को न देना ही ठीक था। इसके उत्तर में कहा गया है कि **'अनृतात् अतिविह्वलः'** मैं असत्यवादी न बन जाऊँ, इस भय से वसुदेवजी बहुत व्याकुल थे। कारण कि उन वसुदेवजी के जन्म के समय देवों ने इसलिए बड़े नगारे और नौबत बजाई थी कि वे सत्यवादी हैं। अतः इसके यहाँ भगवान् प्रकट होंगे। वसुदेवजी को तो पुत्र से भी सत्य की ही रक्षा विशेष अच्छी लगी क्योंकि वह सत्य भगवत् प्राकट्य कराने वाला है। पुत्रों का तो केवल देह से सम्बन्ध है और सत्य का भगवान् से सम्बन्ध है। जब वैसा है तो सत्य की ही रक्षा करना योग्य है। यदि अनृत करूँगा तो भगवान् का प्राकट्य हमारे यहाँ नहीं होगा। इससे विह्वल थे ॥ ५७ ॥

ननु पुत्रसमर्पणं दृष्टं सत्यमदृष्टं कथं दृष्टादृष्टयोर्बाध्यबाधकभाव इति चेत्तत्राह किं दुस्सहमिति ।

पुत्र का समर्पण दृष्ट है तात्पर्य कि इस समर्पण से जो फलरूप जो पुत्र की मृत्यु होने वाली है वह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है और सत्य अदृष्ट है अर्थात् सत्य की रक्षा के लिए पुत्र दे देने से जो उस सत्य का फल होगा वह अदृष्ट अर्थात् देखने में नहीं आता है कि क्या होगा ? इस शङ्का निवारण के लिए निम्न श्लोक कहते हैं :—

पुत्रस्यादाने किं मोहो हेतुः—पुत्र कंस को न दिया जाय। इस विचार के करने में लौकिक मोह कारण है अथवा शास्त्र कारण है। पहला कारण जो मोह है उसमें जो दूषण आते हैं उनका वर्णन करते हैं। साधु पुरुषों के लिए शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब समान हैं। अतः उनको सब कुछ सहन करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। वे जैसे लौकिक मनुष्य शत्रु का त्याग कर सकते हैं, उसके लिए उनको कोई कष्ट नहीं होता है। वैसो ही सत्पुरुषों को पुत्र आदि के त्याग में भी कोई कष्ट नहीं होना है। कारण कि वे समदृष्टि वाले होते हैं उनमें मोह का अभाव हो जाता है। इसलिए सत्पुरुष होने के कारण वसुदेवजी ने पुत्र का त्याग कर दिया। वसुदेवजी के लिए जैसा पुत्र है वैसा ही कंस है। अतः कंस का घात करने वाला पुत्र नहीं बचना चाहिए। इसलिए पुत्र दे देना योग्य है।

यदि पुत्र दोगे तो जो शास्त्रानुसार पिता को पुत्र की अपेक्षा होती है वह रह जायगी। जैसा कि कहा है "पिता पुत्र के द्वारा लोगों को जीतता है, पुत्र से धन की प्राप्ति की जाती है, पुत्र पुंनाम नरक से बचाता है और पुत्र यज्ञ है"। पुत्र के अभाव में उस अपेक्षा की पूर्ति न होगी अपेक्षा रह जायगी। इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञानी पुरुषों को कैसे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं रहती है। वे न तो साधन की तथा न ही फल की अपेक्षा वाले होते हैं। यदि अपेक्षा नहीं भी हो तो भी मरवाने के लिए अपेक्षा आप अज्ञ बालक को देना तो योग्य नहीं है। इस तर्क के उपस्थित करने पर उत्तर देते हैं कि में यदि बालक को न देकर मिथ्यावादी भी बन जाऊ, तो भी यह निश्चय नहीं है कि बालक आदि को वह नहीं मारेगा, क्योंकि वह मुझे मिथ्यावादी समझ न केवल बालकों को किन्तु स्त्री देवकी को तथा मुझे भी मार डालेगा। कारण कि कंस कदर्य है। कदर्य का स्वभाव ही है सबको सर्व प्रकार से पीड़ा देना और लोभ के कारण वे लोग सर्व प्रकार की धार्मिक तथा नैतिक मर्यादा का उल्लङ्घन कर सकते हैं। क्योंकि कदर्यों की हृदय रूप गुफा में ऐसे ही विचार भरे रहते हैं तथा कंस की उत्पत्ति ही वैसे दुष्ट हृदय से हुई है। **त्यजेदेकं कुलस्यार्थे'** कुल का नाश होने वाला हो तो उसकी रक्षा के लिए यदि एक की बलि देनी पड़े तो दे देनी चाहिए। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार पुत्र का दे देना हो योग्य है। यदि आप कंस ऐसा समझते हो तो आपको वसुदेवजी को भाग जाना ही उचित है। न कि निरपराध अज्ञ बालक को मरवाना योग्य है। इसका उत्तर देते हैं कि जिन्होंने हृदय में भगवान् को पधार रखा है, उनको भगवान् के सिवाय सब कुछ त्याग देना सरल है। कारण कि दूसरे पदार्थ पुत्र आदि उनके लिए बाधक हैं। पुत्र न देना, यह सर्व का नाश करने वाला होने से भगवान् के प्राकट्य में रुकावट करने वाला है। अतः जो भगवदीय हैं उनको किसी भी वस्तु के त्याग करने में गुण अथवा दोष के विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे प्रथम की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिज्ञात पुत्र को देना ही उचित है ॥ ५८ ॥

भगवत्कृतत्वान्नानिष्टं जातमित्याह दृष्ट्वेति।

वसुदेवजी ने यह सर्व कार्य भगवदिच्छा से ही किया। अतः आगे होने वाले कार्य में कोई विघ्न न आया। यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

कंस ने विचारपूर्वक देखा कि वसुदेव की दृष्टि समान है जैसा पुत्र को वैसा ही मुझे समझता है, वसुदेव यह भी जानता है कि मैं इसके पुत्र का घातक हूँ और इसका पुत्र मेरा घातक होगा ऐसा जानते हुए भी समता तथा सत्य पर इनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् वसुदेव का मन डिगा नहीं जिससे मेरे पास पुत्र को ले आया है। इनको देख कर प्रसन्न हुआ उपरोक्त श्लोक में परीक्षित को 'राजन्' सम्बोधन करके यह बताया कि राजा का धर्म ऐसा ही है। कंस अपना भोलापन दिखाने के लिए जोर से अच्छे प्रकार से हँसने लगा और निम्न वाक्य कहे ॥ ५९ ॥

अनेन पञ्चवार्षिको नीत इति ज्ञायते—श्लोक के **'प्रतियातु'** शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्यचरण बताते हैं कि यह कीर्तिमान् पुत्र जब वसुदेवजी ले आये थे तब पाँच वर्ष का था, पाँच पुत्र हो चुके थे छठा गर्भ में था, यदि वसुदेवजी छोटा ही बालक ले आते तो कंस कहता **'नय'** इसको ले जा किन्तु छोटा न रहने से कंस ने **'प्रतियातु'** लौट जावे कहा। वसुदेवजी ने ५४वें श्लोक में कहा था कि **'पुत्रान् समर्पयिष्ये'** यहाँ इस बहुवचन के कारण जब पाँच पुत्र हुए तब ले आये, तब तक नहीं लाये थे अपने पास ही रखे। इस प्रथम बार एक ही पुत्र इसलिए लाये कि कंस क्या करता है ? पश्चात् दूसरों को लाऊँगा। इसके लाने पर कंस प्रसन्न होकर कहने लगा कि यह बालक लौट कर घर चला जावे यह तेरा कुमार मेरा घातक नहीं है। इसको नहीं मारा। उसका कारण बताया कि इससे मुझे भय नहीं है। यों कहने से यह भी शङ्का नहीं करना कि आपने जो प्रतिज्ञा की है उसके बन्धन से आप छूट गये हैं। नहीं, वह तो ज्यों की त्यों ही है कारण कि आप दोनों का आठवाँ बालक मेरा घातक कहा गया है उससे मुझे भय है, अतः कंस का इस प्रकार कहने का अभिप्राय है कि उसको लाकर देना।

कंस ने जो इस प्रकार कहा वह नारदजी आदि को सम्मत नहीं था अर्थात् अच्छा नहीं लगा। कारण कि भगवान् के भक्तों को भगवान् के सिवाय दूसरे में निष्ठा करना योग्य नहीं है। अतः नारदजी ने कंस के विचार को बदलने के लिये जो कुछ किया वह योग्य ही था। श्लोक में आया हुआ 'किल' शब्द आकाशवाणी के अभिप्राय को सोचना चाहिये यह जताता है ॥ ६० ॥

तत्प्रियार्थमेव नयनमिति प्रकारान्तरेणापि तस्मिन् प्रीते पुत्रत्यागो न युक्त इति तद्वाक्यमङ्गीकृत्य पुनरानीतवानित्याह तथेति ।

यदि कंस किसी अन्य प्रकार से पुत्र देने के सिवाय प्रसन्न हो सकता तो पुत्र देना उचित नहीं था किन्तु ऐसा होना असम्भव समझ कर ही वसुदेवजी कंस को प्रसन्न करने के लिये पुत्र को कंस के पास ले गये। पुनः कंस का वाक्य मान कर घर ले आये। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

स्वयमेव गृहीत्वा ययौ—वसुदेवजी आप ही पुत्र को अपने साथ घर ले गये। कंस के वचनों पर विश्वास क्यों नहीं आया ? इसके समाधान के लिये वसुदेवजी को यहाँ आनकदुन्दुभि कहा है। जिससे वह जान गये कि भगवान् का प्राकट्य तो तब होता है जब बहुत क्लेश दुःख प्राप्त होता है, सुख की अवस्था में भगवान् का प्रादुर्भाव नहीं होता है, मेरे जन्म के समय बड़े नगारे इसीलिये बजे थे कि मेरे यहाँ भगवान् प्रकटेंगे। देवताओं और कंस दोनों का कहना परस्पर विरुद्ध है। देवताओं के वचन सत्य हैं। कंस ने जो अब कहा वह असत्य है। यों समझकर कंस के वाक्यों का अभिनन्दन नहीं किया। कारण कि कंस असत्यवादी है तथा स्थिर बुद्धि वाला नहीं है इसलिये जो कहा कि इसको मैं नहीं मारूँगा इस पर मुझे विश्वास नहीं है। जूठा मनुष्य सदा एक जैसा नहीं होता है और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है वह घातक एवं अपनी युक्ति अथवा कहने पर पक्का नहीं रहता है। अतः किसी ने कह दिया कि यह पहला ही आठवाँ है तो इसको मार देगा। इसी कारण से झूठे पर विश्वास नहीं करना चाहिये। जिस समय इससे राक्षस खाने के लिये पुरुष मागेंगे, उस वक्त किसी दूसरे के वचन की अपेक्षा न कर इनका घात करेंगे। ऐसे लोगों में क्रोध की उत्पत्ति अनेक प्रकार से हो सकती है क्योंकि उन्होंने अन्तःकरण को अपने वश में नहीं किया है अतः क्रोध आते ही मारने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करेगा ॥ ६१ ॥

महतामन्तःकरणमेव प्रमाण'मिति तथैव जातमित्याह नन्दाद्या इत्यष्टभिः ।

महान् पुरुषों का अन्तःकरण ही प्रमाण है। जैसे वसुदेवजी ने समझा वैसा ही हुआ, उसका वर्णन निम्न आठ श्लोकों से करते हैं।

उन आठों में से प्रथम के तीन श्लोक में नारदजी ने आकर कंस को समझाया है कि तुमने बालक को छोड़कर भूल की है, व्रज में सर्वत्र देव, दैत्य वधार्थ उत्पन्न हुवे हैं। वसुदेवादि सब देव हैं इत्यादि।

नारदस्य दुष्टत्वं व्यावर्तयति—कंस ने वसुदेव से जो शिष्टाचार किया अर्थात् उसको कहा कि इस तेरे पुत्र से मुझे भय नहीं है यह घर जावे। उसके कंस के कहने पर वसुदेवजी पुत्र को मन में अप्रसन्न होते हुए ले गये। किन्तु नारदजी को यह कंस का कृत्य अच्छा न लगा। कारण कि नारदजी ने जाना कि यह कार्य देवताओं के लिये हितकर नहीं हुवा क्योंकि देवता चाहते हैं कि भगवान् शीघ्र प्रकट होवे। भगवान् शीघ्र तब प्रकट होंगे जब वसुदेव देवकी आदि भक्तों पर विशेष संकट होगा। अतः देवताओं के गुह्य मनोरथ की पूर्ति के लिये नारदजी कंस के पास आये। वसुदेवजी का प्रसन्न रहना अनिष्टकारक है, अतः मैं ऐसी युक्ति करूँ जिससे वसुदेवादि सर्व साधारण भी पीड़ित होंवे जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट हों यह विचार कर नारदजी ने कंस को बहकाने के लिये तीन वाक्य कहे।

यमुनाजी के उस पार जो व्रज में नंदादि गोप हैं, और उनकी यशोदा प्रभृति स्त्रियां हैं, तथा ओर भी कुमारिकाएँ हैं, तथा इस किनारे पर यादव वंश में उत्पन्न वसुदेवादि तथा यदुवंश में जन्मी हुई देवकी आदि स्त्रियां हैं। यों प्रथम श्लोक में सबकी पहचान कराके अब दूसरे श्लोक में उनका देवपना बताते हैं। ये सब स्त्रियां तथा पुरुष आदि सर्व बहुत करके सब देवता तुल्य हैं। देखने में मनुष्य हैं किन्तु इनमें देवपना छिपा हुवा है, अतः जो बर्ताव आप देवताओं से करते हो वैसा ही इनसे भी करो। अर्थात् आप देवताओं को सदैव पीड़ा देते हो वैसा ही व्यवहार इनसे करो। आप असावधान मत रहो न केवल मनुष्य देवांश है किन्तु दोनों तीरों पर रहने वाले पशु आदि भी देवांश हैं। यह आशय श्लोक में आये हुए च अव्यय से निकलता है। इस श्लोक में जो परीक्षित को भारत यह सम्बोधन दिया है उसका सम्बन्ध (६४) श्लोक के **'एतत् कंसाय भगवान् शशंस'** से है। नारदजी ने विचारा कि मेरा यह कहना कंस न माने तो उसका विश्वास कराने के लिये देवों की गुह्य बात एकान्त में ही युक्तिपूर्वक कही जाती है, इसलिये एकान्त में कंस को समझाया गया है। नारदजी ने कंस को कहा कि आप यों भी मत समझो कि जो मुझसे उदासीन हैं वे केवल देव हैं। नहीं, आपके निकट रहने वाले अक्रूर आदि, जो ज्ञातिवाले तथा गोत्रवाले हैं, एवं जो आपके बान्धव सम्बन्धी तथा मित्र हैं और सेवक हैं विशेष क्या कहें। च अव्यय से यह भी बताया

है कि आपके पितादि भी देवांश हैं। इस तीसरे श्लोक में नारदजी ने कंस को आदर पूर्वक उपाख्यान के समान सब बात समझा दी है।

कंस को मन में यह शङ्का हो कि नारदजी दुष्ट हैं इसलिये मुझे बहकाकर दुष्कर्म कराते हैं तो इस शङ्का को दूर करने के लिये श्लोक में नारदजी को भगवान् विशेषण दिया है जिसका भाव यह है कि नारदजी दुष्ट तो नहीं है किन्तु ऐश्वर्य आदि छ गुणों वाले हैं अतः वह जो कुछ कहते हैं वह हितकर ही है। अतः कंस ने जो कुछ एकान्त में नारदजी से सुना उसका सार यह हुआ कि कंस को मालूम हो गया कि स्वर्ग में देवों ने मन्त्रणा कर हम दैत्यों का नाश करने के लिये पृथ्वी पर जन्म लिया है और हमारे वध के लिये उद्यम कर रहे हैं। और निश्चय ये मनुष्य रूप में देवांश ही हैं ॥ ६२-६४ ॥

एवं श्लोकत्रयमुक्त्वार्षौ गते कंसो यत् कृतवांस्तदाह पञ्चभिर्ऋषेर्विनिर्गम इति ।

इस प्रकार तीन श्लोक कहकर नारदजी पधार गये अनन्तर जो कुछ कंस ने मन्त्रणा कर कार्य प्रारम्भ किया उसका वर्णन पाँच श्लोकों से करते हैं—

अनुवाद में भी जो अर्थ कहे गये हैं वे प्रथम नारदजी के कहे हुए है यों समझना चाहिये। ऋषि की उपस्थिति में कंस ने कुछ नहीं किया उनके जाने के अनन्तर किया, उसका कारण आचार्यचरण कहते हैं कि नारदजी ने कंस को अपने सामने कुछ भी करने का निषेध कर दिया था। अतः उस समय कुछ न कर ऋषि के जाने के अनन्तर कार्य करना प्रारम्भ किया ऋषि के समझाने से कंस ने जो सार निकाला, उससे दो बात जानने की थी और चार करने की थी।

कंस ने दो बात जानी वे ये हैं। एक तो यादवादि सर्व देव हैं। और दूसरी देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी अब शेष चार जो करनी हैं वे ६६ वें श्लोक में कही है।

प्रथम तो देवकीजी और वसुदेवजी को तथा उनके सम्बन्धी यादवों को अपने घर में ही बेड़ा डाल कर कैद में रक्खा। जिस क्रम से उनके बालक जन्मे थे उस क्रम से उन ६ को इसीलिए मार डाला कि इसमें कौन विष्णु है इसका निश्चय नहीं है कारण कि गणना का कोई नियम नहीं है **'जातं' 'जातं'** कहने का भाव मारने के काल का ज्ञान कराना नहीं था किन्तु देवकी से उत्पन्न होना ही मारने का कारण था यह बताना था अतः जन्म होते ही नहीं मारे गये थे किन्तु पीछे कुछ बड़े हो जाने पर ५ वर्ष के बाद वे मारे गये थे। जन्मते ही न मारे गये उसका प्रमाण यह है कि क्षत्रियों का नामकरण संस्कार १३ वें दिन होता है। अतः जन्मे हुए बालकों के 'कीर्तिमान्' और सुषेण आदि जो प्रथम स्कन्ध में लिखे कहे गये हैं। वे युक्तियुक्त न होते ॥ ६६ ॥

नन्वेवं कथमतिदुष्कृतं कृतवानित्याशङ्क्याह मातरमिति ।

कंस ने वैसा दुष्कर्म कैसे किया ? इस शङ्का निवृत्ति के लिए (**मातरं**) यह श्लोक कहते हैं—

यह कंस तो दैत्य ही है, किन्तु जो भूपति दैत्य नहीं है वे भी लोभ से अपने प्राणों के पोषण कर्त्ता होते हैं लोभ सर्व प्रकार के गुणों को नाश करने वाला है। अतः प्राणपोषक लोभी राजा ही जब, माता पिता, भ्राता, सर्व प्रकार के बान्धव तथा मित्रों का घात करते हैं तो कंस तो दैत्य और प्राणपोषक लोभी होकर बहिन के पुत्रों का वध करे तो उसमें क्या आश्चर्य है ? श्लोक में प्रायशः पद देने का आशय यह है कि कोई २ अम्बरीष आदि धर्मात्मा राजा लोग वैसे नहीं होते हैं। किञ्च पृथ्वी पर यह ही व्यवस्था देखने में आती है अतः युधिष्ठिर आदि ने भी पितामह आदि को मार डाला। राजाओं की जहाँ कहीं भी किसी से मारे जाने की शङ्का होती है तो चाहे वे माता और भ्राता आदि ही क्यों न हो उन सबको मारने में नहीं हिचकते हैं ॥ ६७ ॥

नन्वयं स्वस्यापि देवत्वसम्भावनया तद्धिताचरणमेव कथं न जानमित्याशङ्क्याहात्मानमिति ।

इस कंस को अपने देवत्व होने की सम्भावना थी तो क्यों नहीं अच्छे कर्म किये ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि—

पूर्वकाल में अमृत मन्थन के समय, देवताओं की सेना के पृष्ठ भाग के रक्षक भगवान ने महान असुर कालनेमि को मारा था, वह ही यह कंस है, यों अपने को कंस जानता हुआ भी तथा भगवान् देवताओं की प्रेरणा से ही दैत्यों के वध के लिये आते हैं और ये सब यादव देव हैं इसलिये इन सर्व यादवों से वैर करने लगा ॥ ६८ ॥

अन्यदप्यत्यन्तायुक्तं कृतवानित्याहोग्रसेनमिति ।

इसके सिवाय दूसरा कार्य जो किया वह भी अत्यन्त अयोग्य है—यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

(उग्रसेन) नाम ही से महत्त्व प्रकट हो रहा है। विशेष महत्त्व उसके विशेषण **यदुभोजान्धकाधिपम्** कहने से जाना गया है। विशेषण में यदुः, भोज और अन्धक ये तीन नाम उपलक्षण रूप में दिये गये हैं। वास्तव में वह छ प्रकार के यादवों का अधिपति है। इसकी आज्ञा से ये सब मेरे विपरीत कार्य करेंगे अतः वैसा होने से पहले ही इनको बन्धन में डालना चाहिये, यह विचार कर स्वयं कंस ने अपने हाथ से पिता को बन्धन में डाल दिया। अनन्तर शूरसेन देश का राज्य करने लगा और सर्व प्रकार से राज्य का सुख भोगने लगा. इतना बड़ा भारी साहस का कार्य अकेले कंस ने कैसे किया ? वैसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वह कंस 'महाबल' महान् बलवान् है प्रत्येक बड़ा कार्य अपनी शक्ति से कर सकता है।

इस प्रकार सब उत्पन्न देवांश भक्तों का महान् उपद्रव का निरूपण हुआ, जो उपद्रव भगवान् के प्राकट्य का हेतुभूत है ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कन्ध, (पूर्वार्ध) प्रथम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त ॥ १ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

प्रथमोऽध्यायः

श्रीमते रामानुजाय नमः

॥ १-४ ॥ अमरञ्जयैर्देवानपि जेतुं समर्थैः वत्सपदं कृत्वा गोष्पदतुल्यं कृत्वा यत्प्लवा इति बहुव्रीहिः यच्छब्दो भगवद्विषयः ॥ ५-६ ॥ पूरुषकालरूपैः क्षेत्रज्ञकालाख्यरूपैर्विशिष्टस्य क्षेत्रज्ञानां कालावयवानां बाहुल्याद्बहुवचनम् अन्तःपुरुषरूपेणाऽमृतं प्रयच्छन् शरीरस्थितिहेतुः बहिः कालरूपेण मृत्युं प्रयच्छन् शरीरविनाशहेतुरित्यर्थः। मायामनुष्यस्य आश्चर्यभूतमनुष्यस्य सङ्कल्परूपज्ञानेन मनुष्यस्य वा प्रच्छन्नमनुष्यस्य वा ॥ ७ ॥ देहोऽवताररूप इति ॥ ८-११ ॥ त्यक्तोदम् अम्बुपानरहितम् ॥ १२-२० ॥ पौरुषीं परमपुरुषसम्बन्धिनीं वाङ्गिरम् ॥ २१ ॥ धराभरः भूभारः धाराज्वर इति पाठे क्लेशः पुंसः पुरुषस्य अवतारात्पूर्वमेवेत्यर्थः ॥ २२-२३ ॥ कला अंशः अनन्तः शेषः अग्रतः पूर्वकाले ॥ २४-३० ॥ पारिबर्हं दम्पत्योरुपचारसम्बन्धि ॥ ३१-३९ ॥ व्रजं स्तिष्ठन्निति गच्छन् पुरुषः एकेन पादेन तिष्ठन्नपि गच्छत्येव तद्वदित्यर्थः देहान्तरग्रहणेन पूर्वदेहत्यागे दृष्टान्तस्तृणजलूका ॥ ४० ॥ दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतमनीषितलाभार्थम् अपस्मृतिः अपगतबोधः ॥ ४१-४५ ॥ साम पञ्चविधं सम्बन्धो लाभ उपकृतिरभेदो मत्कीर्तनञ्चेति भेदो दृष्टादृष्टभयं वच इति। तत्र गुणकीर्त्तनादयः प्रकाराः श्लाघनीयगुण इत्यादिना दर्शिताः। एषा तवानुजा त्वया बाल्ये दैन्योपलालितेनाऽहन्तव्येत्यर्थः। पुरुषादानुवृत्तः राक्षसतुल्यः ॥ ४६ ॥ प्रतिव्योढुं समाधातुम् ॥ ४७ ॥ यावद्बुद्धिबलोदयं यथामति यथाशक्ति च मृत्युपरिहारे यतितव्यम् एतावता मृत्युरनिवृत्तोऽपि पुरुषस्य नापराधः इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ सुता मे इति मृत्युर्वा मृत्युभूतः कंसो न मरिष्यति मम पुत्रोत्पत्तेः पूर्वं किं ? मम पुत्रोत्पत्तेः कंसाऽवस्थानस्य च पाक्षिकत्वात् पुत्रार्पणप्रतिज्ञा न दोष इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ विपर्ययो वा मत्पुत्रः कंसहन्ता कथं न स्यात् ? अतोऽपि न दोष इत्यर्थः। उपस्थित इति उपस्थितोऽपि मृत्युः क्वचिन्निवर्त्तते यथा मार्कण्डेयादेर्निवृत्तः वरदानान्निवृत्तोपि मृत्युः पुनराव्रजेत् यथा हिरण्याक्षरावणादेः अपमृत्युनिवृत्तिसम्भावनया च न प्रतिज्ञादोष इत्यर्थः ॥ ५० ॥ दारुसंयोगवियोगशब्दाभ्यां शीघ्रविलम्बोत्पत्ति विवक्षिते अदृष्टतः यजमानादृष्टतः मृत्युः कर्माधीनो न पुरुषाधीनः अतोऽपि न भेतव्यमिति भावः ॥ ५१ ॥ यावदात्मनिदर्शनं स्वज्ञानारूपस्वाऽवगतादृष्टानुगुणम् ॥ ५२-५७ ॥ ऋतात्मनामिति पाठे स्वतः सत्यप्रतिज्ञानामित्यर्थः। शौरेः वसुदेवस्य ॥ ५८-६२ ॥ देवताप्राया देवतांशत्वात् तत्तुल्याः ॥ ६३ ॥ एतत् वक्ष्यमाणम् ॥ ६४ ॥ गर्भसम्भूतं मत्त्वेत्यन्वयः ॥ ६५ ॥ अजनशङ्कया भगवच्छङ्कया विष्णोरर्दनशङ्कयेति पाठे स्वान्तःसत्यपीडाशङ्कयेत्यर्थः ॥ ६६ ॥ असुतृपः आत्मप्राणतर्पकाः ॥ ६७ ॥ स व्यरुध्यत विरोधं कृतवान् ॥ ६८ ॥ अधिपम् उत्कृष्टम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्द्धव्याख्याने श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ततः ऋषेर्नारदस्य विनिर्गमे सति कंसो यदून् सुरान् मत्वा स्ववधं स्वस्य वधार्थं देवक्या गर्भे सम्भूतं जनिष्यमाणं विष्णुं च मत्वा। इतिशब्दः पादपूरणार्थः ॥ ६५ ॥ देवकीं वसुदेवं च निगडैः शृङ्खलैर्निगृह्य पादयोर्बद्ध्वा गृहे कारागृहे रुद्ध्वा अजनः प्राकृतजनवत् कर्मवशाज्जन्मरहितो विष्णुस्तस्य शङ्कया सोऽयमेव स्यादिति सन्देहेन तयोर्जातं जातं पुत्रमहनत्। यद्यप्याकाशवाण्याऽष्टमस्यैव विष्णुत्वं निश्चितं, तथापि सङ्ख्याया अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् पर्यायेण सर्वस्यैवाष्टमत्वसम्भवात् सन्देहः। जातं जातमिति। उत्पन्नमुत्पन्नमित्यर्थः। न तु जन्मकाल एव हननमन्यथा क्षत्रियाणां त्रयोदशे दिने नामकरणस्य शास्त्रसिद्धतया 'कीर्तिमन्तं सुषेणं च' इत्यादिनामोक्तिरनुपपन्ना स्यात् ॥ ६६ ॥ ननु कथमेवमविदुषकृतं कृतवानिति शङ्कायां दुर्जनानां नैतच्चित्रमिति कैमुत्यन्यायेनाह

मातरमिति। भुवि ये असुतृपः स्वप्राणपोषकाः लुब्धाः विषयकामुका राजानस्ते मात्रादीनपि घ्नन्ति, काऽन्यस्य वार्तेत्यर्थः। एवंविधाश्च बहव इत्याह-प्रायश इति ॥ ६७ ॥ प्राक् पूर्वजन्मनि विष्णुना हतं महासुरं कालनेमिमिह जातमात्मानं जानन् स कंसो यदुभिर्व्यरुध्यत यादवानां देवतात्वेन श्रुतत्वात्तैः सह विरोधं कृतवान्। जानन्निति। शुकेनानुक्तमप्यनुवादे सत्त्वात् नारदवचनादेव जानन्नित्यर्थः ॥ ६८ ॥ उग्रसेनं च पितरं चकारात्मातरं च निगृह्य निरुध्य शूरसेनान् देशान् स्वयं बुभुजे। तन्निरोधेन यादवानां महद्दुःखं जातमिति सूचयन्नाह—यदुभोजान्धकाधिपमिति। तन्निग्रहे सामर्थ्यमाह—महाबल इति ॥ ६९ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र सोमवंशनिरूपणे। प्रथमो विवृतोऽध्यायो जन्महेतुनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ऋषेरिति ॥ इत्येवमुक्तवतः ऋषेर्नारदस्य विनिर्गमे सति तद्वचनात् कंसः यदून् सुरान् मत्वा तथा विष्णुर्देवक्यामाविर्भूय त्वां वधिष्यतीति नारदवचनादेव स्ववधं प्रति स्ववधार्थं देवक्या गर्भे संभूतमाविर्भूतं विष्णुं च मत्वा संभूतमिति सामीप्यात् भविष्यत्यपि क्तः। गर्भे सम्भूतं सम्भवो यस्येति वा। तत्पूर्वशत्रुर्विष्णुर्देवक्यामाविर्भूय त्वां वधिष्यतीति नारदोक्तं तत्सर्व एव शुश्रुवुश्चेत्यपि ज्ञेयम्। गृहे देवकीं वसुदेवं च निगडैः शृङ्खलैर्निगृह्य अजनो विष्णुगतच्छङ्कया जातं जातं तयोः पुत्रम् अहन् ॥ ६५–६६ ॥ मातरमिति ॥ ये भुवि प्रायशः प्रायेण असुतृपः स्वप्राणमात्रतर्पका लुब्धाश्च भवन्ति ते राजानः मातरं पितरमित्यादीन् घ्नन्ति ॥ ६७ ॥ आत्मानमिति ॥ सः कंसः आत्मानं च प्राग्जन्मनि कालनेमिं नाम महासुरं विष्णुना हतम् इह सञ्जातं जानन् भूतपूर्वं च तत्स्मरेति नारदोक्त्या पूर्वजन्मस्मरणात् यदुभिर्व्यरुध्यत वैरं कृतवान् ॥ ६८ ॥ उग्रसेनमिति ॥ महाबलः सः यदुभोजान्धकानामधिपं पितरम् उग्रसेनं निगृह्य वशीकृत्य शूरसेनान् देशान् उपलक्षणतया माथुरानपि बुभुजे ॥ ६९ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम्। गङ्गासहायो दशमस्यादिमे निरमादमुम् ॥
इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एतदिति। भूमेः भारायमाणानां भूभारभूतानामित्यर्थः। दैत्यानां, वधोद्यमं देवकृतवधोद्योगं, एतत् पूर्वश्लोकोक्तं सर्वमपि च भगवान् नारदः, अभ्येत्य कंससमीपं प्राप्येत्यर्थः। कंसाय, शशंस। ततोऽन्तरधीयतेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ ऋषेरिति। ऋषेर्नारदस्य, विनिर्गमे, अन्तर्द्धानानन्तरमित्यर्थः। कंसः, यदून् सुरान् इत्येवं मत्वा, देवक्याः, गर्भसंभूतं देवकीगर्भद्वारा धृतजन्मानमित्यर्थः। विष्णुं मत्वा, तं च स्ववधं प्रति, मत्वा, स्ववधकर्त्तारं विबुद्ध्येत्यर्थः ॥ ६६ ॥ देवकीमिति। देवकीं वसुदेवं च, निगडैः शृङ्खलैः, गृहे कारागृहे, निगृह्य निग्रहपूर्वकमाबद्ध्य, कारागार आस्थाप्येत्यर्थः। अजनशङ्कया तज्जातपुत्रे विष्णूत्पत्तिशङ्कयेत्यर्थः। अर्दनशङ्कयेति पाठे स्वपीडनाशङ्कयेत्यर्थः। तयोः देवकीवसुदेवयोः, जातं जातं पुत्रं, अहन् जघान। इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ ६७ ॥ ननु यत्तत्पुत्रहननं कर्म त्वतिजुगुप्सितं तदयं कथं कृतवानित्यत्राह। मातरमिति। भुवि, राजानः प्रायशः, असुतृपः परप्राणैरात्मप्राणतर्पकाः, लुब्धाः व्याधसदृशाः, 'लुब्ध आकाङ्क्षिणि व्याधे' इति मेदिनी। भवन्ति। अतः, मातरं स्वजननीं, पितरं स्वजनकं, भ्रातॄन् स्वसहोदरान्, स्वसुहृदः निजसुहृद्वर्गान् च घ्नन्ति हि। तद्भार्याः सुहृदस्तथेत्यपि पाठः। तत्त्वे तद्भार्या भ्रातृपत्नीरित्यर्थः ॥ ६८ ॥ आत्मानमिति। इह लोके, संजातमुत्पन्नं, आत्मानं स्वं, प्राक् पूर्वजन्मनि, विष्णुना हतं, कालनेमिं कालनेमिनामानं, महासुरं महान्तमसुरं, जानन्, सन्, स कंसः, यदुभिः व्यरुद्ध्यत विरोधं कृतवान् ॥ ६९ ॥ उग्रसेनमिति। यदवो यदुवंशजाश्च भोजा भोजान्वयजाश्च अन्धका अन्धकान्वयजाताश्च तेषामधिपः स्वामी तं, पितरं स्वपितरं, उग्रसेनं च, निगृह्य, महाबलः स्वयं कंसः, शूरसेनान् जनपदान्, बुभुजे उपभुक्तवान् ॥ ७० ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थविबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

देवकीमिति : १०.१.६६.

ग्रामान्तरस्थितितयाऽब्दकरार्पणाच्च तत्सम्मतस्थितितया च न चाप नन्दः।
तत्क्लेशमित्यनुगतार्थमिहाग्र्यलेखादक्लेशभाक् तदनुरोधितया स्थितो यः ॥ ४८ ॥
प्रवृत्तोऽत्र स्वैरं भवति सति कर्मण्यसति वा न वै जन्तुः किन्तु भ्रमयति भवानेव ननु तम्।
शिशुप्राणत्राणप्रसृतवरणः सन्नपि विभो नृशंसो यत् कंसोऽसकृदधिकृतो नारदगिरा ॥ ५९ ॥

योहन्ति द्वेष्टि वा जाल्मो हिंस्रधीः कीर्तिमजनम् । सिद्धमेवास्य दुष्कीर्तिवारिधौ कीर्तिमज्जनम् ॥ ५० ॥
लोकोत्तरं यस्य सुखं भविष्णु स्यादेव पूर्वं स विपत्सहिष्णु ।
आनन्दयिष्यन् सदलङ्करिष्णुर्युक्तं तथा तान् विदधे स विष्णुः ॥ ५ ॥

मातरमिति : १०.१.६७.

असुधर्मैकवृत्तिर्यो यश्चाप्यजनशङ्कितः । विश्रृङ्खला गतिस्तस्य परस्येत्यभवत् स्फुटम् ॥ ५२ ॥

उग्रसेनमिति : १०.१.६९.

उग्रसेनोऽपि ततोऽपि निगृहीतो हि येन सः । प्राक्पुण्यफलके युक्तमासीत्काले महाबलः॥ ५३ ॥
श्रीशकल्पतरु-क्रीडाफल-भक्तिरसायने । मुदे भवतु साधूनामध्यायार्थनिरूपणम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद (कर्दमक्षमा)

जब देवर्षि नारद इतना कहकर चले गये तब कंस को यह निश्चय हो गया कि यदुवंशी देवता हैं और देवकी के गर्भ से विष्णु भगवान ही मुझे मारने के लिए पैदा होने वाले हैं इसलिए उसने देवकी और वसुदेव को हथकड़ा-बेड़ी से जकड़कर कैद में डाल दिया और उन दोनों से जो जो पुत्र होते गये, उन्हें वह मारता गया। उसे हर बार यह शंका बनी रहती कि कहीं विष्णु ही उस बालक के रूप में न आ गया हो ॥ ६५–६६ ॥ परीक्षित ! पृथ्वी में यह बात प्रायः देखी जाती है कि अपने प्राणों का ही पोषण करने वाले लोभी राजा अपने स्वार्थ के लिए माता-पिता, भाई-बन्धु और अपने अत्यन्त हितैषी इष्ट-मित्रों की भी हत्या कर डालते हैं ॥ ६७ ॥ कस जानता था कि मैं पहले कालनेमि असुर था और विष्णु ने मुझे मार डाला था। इससे उसने यदुवंशियों से घोर विरोध ठान लिया ॥ ६८ ॥ कंस बड़ा बलवान् था। उसने यदुभोज और अन्धक वंश के अधिनायक अपने पिता उग्रसेन को कैद कर लिया और शूरसेन-देश का राज्य वह स्वयं करने लगा ॥ ६९ ॥

पहला अध्याय समाप्त

अथ द्वितीयोऽध्यायः

श्लोक	अनु.	इ. व.	वं	इ. वं.	वसंत	उ. मि.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
४२	२१	१	२	१	१	१६	२	१६७१	१२	५१	१७३४	५२	६

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः । मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥

अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः । यदूनां कदनं चक्रे [२]बली मागधसंश्रयः ॥ २ ॥

ते पीडिता निविविशुः [३]कुरुपाञ्चालकैकयान् । शाल्वान् विदर्भान् निषधान् [४]विदेहान् कोसलानपि ॥ ३ ॥

एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते[५] । हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रलम्ब-बक-चाणूर-तृणावर्त-महाशनैः मुष्टिक-अरिष्ट-द्विविद-पूतना-केशि-धेनुकैः च अन्यैः बाण-भौम आदिभिः असुरभूपालैः युतः बली (कंसः) मागधसंश्रयः यदूनां कदनं चक्रे ॥ १–२ ॥ पीडिताः ते कुरु-पाञ्चाल-केकयान् शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोसलान् निविविशुः । अपि अनुरुन्धानाः के एके ज्ञातयः तम् परि उपासते ॥ २–३½ ॥ औग्रसेनिना देवक्याः षट्सु बालेषु हतेषु ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये कंसघाताय देवक्या गर्भगो हरिः । ब्रह्मादिभिः स्तुतः सा च सांत्वितेति निरूप्यते ॥ १ ॥

यदुभिः स व्यरुध्यतेत्युक्तं तमेव विरोधं प्रपंचयति त्वरया देवकीगर्भस्यान्यत्र संचारेण भगवतः प्रवेशं वक्तुं प्रलंबेत्यादिसार्धश्लोकत्रयेण महाशनोघासुरः ॥ १–२–३ ॥ अनुरुधाना अनुवर्तमानाः ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गर्भगः तदंतः (चित्ते) प्रविष्टः "गर्भो भ्रूणे ऽर्भके धाष्ट्र्ये सेक्तरि ज्ञानबालयोः । मध्ये कुक्षौ हंतृसंध्योपनसस्य च कंटके । चित्ते गर्त्ते मुखे चापि" इति धरणिः । सा च देवकी च । सांत्विता निर्भया कृता इति (१) त्वरया वेगेन । अन्यत्र रोहिण्याम् । संचारेण प्रापणेन । सार्द्धश्लोकत्रयेण प्रलंबेत्यारभ्य पर्युपासत इत्यंतेन ॥ १–२ ॥ ते यदवः । निविविशुः निवेश चक्रुः । परस्मैपदमार्षम् "नेर्विशः" इत्यात्मनेपदे प्राप्ते ॥ ३ ॥ एकेऽक्रूरादयः । तं कंसम् । औग्रसेनिना कंसेन ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रलम्बेति युग्मकम् ॥१॥ तैर्युतत्वे हेतुः बलीति ॥२॥ निभृतं विविशुः तत्तद्वेषादीनां ह्यालिकगोपादिग्रामेषु इत्यर्थः ॥३॥ एक इत्यर्द्धकम् अनुरुन्धानाः चातुर्येण वशीकुर्वन्तः यद्वा एके भक्ताः श्रीकृष्णावतारदर्शनरूपं स्वार्थमपेक्षमाणा इत्यर्थः । एतच्चाग्रे अक्रूरयाने व्यक्तं भावि पर्य्युपासते पर्य्युपासत हतेष्विति सार्द्धकम् जातं जातमहन्निति पूर्वमुक्तं ते कति हता इत्यपेक्षायामाह—हतेष्विति । ते हि पुरा मरीचेः पुत्राः देवाः श्रीब्रह्मणयापरावेनासुरत्वप्राप्त्या हिरण्याक्षपुत्रात् कालनेमेरुत्पन्नाः षड्गर्भा इति ख्याताः स्वं परित्यज्य ब्रह्मोपासकास्ते जाता इति क्रुद्धस्य हिरण्यकशिपोः पिता युष्मान् वधिष्यतीति शापं स्मृत्वा श्रीदेवकीगर्भे योगमायाद्वारा श्रीभगवता नियोज्य तत्पितृकालनेम्यवतारकं सहस्तेन घातिकी इत्यादिकमत्र श्रीहरिवंशाद्युक्तमनुसन्धेयं यत्त्वग्रे हिरण्यकशिपोर्जाता इति तेषामाख्यानं ते नैकवाक्यत्वाय कालनेमिस्तेभ्रे तस्मादेव जाता इति ज्ञेयं जाता इत्यत्र पुत्रा इत्यनुक्तत्वात् भारद्वादिषु च तथा श्रवणात् अथवा कल्पभेदं व्यवस्थेयं यातनं च तेषां विमुक्तय एवेत्यग्रे पञ्चाशीतितमाध्याये व्यक्तं भावि एवं तेषां हनने श्रीभगवत्कृतोपेक्षापि परिहृता स्यात् औग्रसेनिनेति येर्ष्ययुक्तं साक्षात्तन्नामाग्रहणात् ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

मागधो जरासन्धः ॥ २–३ ॥ अनुरुन्धाना अनुवर्त्तमानाः ॥ ४–६ ॥

---

१. महासुरैः—इति कस्यचित् । २. बलि—वीर. । ३. पञ्चालकेकयान्—श्रीधरादयः । ४. मगधान् कोसलानापि वीर. विदेहान् कौशलानपि—इति कस्यचित् । ५. मधुरायां स्थिताश्चैव येऽक्रूराद्या बिशां पते—इदमर्धमधिकं विज. ।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदुभिः स व्यरुद्ध्यतेत्येतदेव प्रपञ्चयन् श्रीभगवतो देवकीगर्भप्रवेशप्रकारं तत्प्रवेशप्रयुक्तप्रभातिशययुक्तदेवकीदर्शनोद्विग्नस्य कंसस्यावस्थानप्रकारं श्रीगर्भस्थं श्रीविष्णुमुद्दिश्य ब्रह्मादीनां स्तुतिप्रकारञ्चाह—द्वितीयाध्यायेन प्रलम्बेत्यादिना । प्रलम्बादिभिरन्यैश्चासुरप्रकृतिभिः भूपालैर्बाणादिभिः परिवृतः कंसः भौमो नरकासुरः बलिमागधौ संश्रयौ यस्य तथाभूतः बलेतिमागधविशेषणं वा मागधो जरासन्धः यदूनां कदनम् उपद्रवं चकार ॥ १-२ ॥ तथा ते यदवः केचित्पीडिताः कुर्वादीन् जनपदान् निविविशुः ॥ ३ ॥ एके तु ज्ञातयः तं कंसमनुरुन्धाना अनुवर्त्तमानाः पर्युपासते पर्यचरन् तत ओग्रसेनिना कंसेन पट्सु देवक्याः पुत्रेषु हतेषु सत्सु यद्वैष्णवं विष्णोः सम्बन्धि धाम तेजोंऽश इति यावत्, कोऽसौ ? यमंशमनन्तं प्रचक्षते स देवक्याः सप्तमो गर्भो बभूव, कथम्भूतः ? तस्याः हर्षशोकौ विवर्द्धयतीति तथा कंसभयाच्छोकः श्रीभगवत्कलासम्बन्धात् पुत्रो भविष्यति किं समर्थोऽस्माकमपीति हर्षः इति भावः ॥ ४-५ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अवताररूपं हरेर्न किञ्चिदपि भिन्नं साक्षात्स्वरूपमेव तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वादित्यभिप्रायेण निरूपणमस्मिन्नध्याये, तत्र दुष्टेन्द्रियः सदिन्द्रियनिग्रह इव कंसः प्रलम्बादिभिः सहितो यदुनिग्रहमकृतेत्यादिकं निरूपयति- प्रलम्बेत्यादिना ॥ १ ॥ कदनं कलहं मागधो जरासन्धः संश्रयो यस्य स तथा तं संश्रयतीति वा ॥ २ ॥ ते यादवा निविविशुः निवेशनं चक्रुः ॥ ३ ॥ अनुरुन्धानाः अनुवर्तमानाः ॥४-५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गर्भं सञ्चार्य रोहिण्यां देवक्या योगमायया । तस्याः कुक्षिं गतः कृष्णो द्वितीये विबुधैस्स्तुतः ॥ १ ॥

यदुभिः स व्यरुध्यत इत्युक्तं तमेव विरोधं प्रपञ्चयति-प्रलम्बेति सार्द्धत्रयेण । महासनोऽधासुरः ॥ १-३ ॥ एकेऽक्रूरादयः श्रीकृष्णावतारदर्शनोत्कण्ठावन्तः तं कंसमनुरुन्धानास्तदाज्ञावर्तिनः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं प्रथमाध्याये ब्रह्मादिप्रार्थनया भूभारहरणचिकीर्षया श्रीवसुदेवगृहे सम्भविष्णोर्विष्णोः पितृविवाहोत्सवः श्रीवसुदेवसाधुता कंसदौर्जन्यञ्चेति वर्णितमिदानीं श्रीदेवकीगर्भवासलीला ब्रह्मादिभिः कृता भगवत्स्तुतिश्च निरूप्यते । तत्र तावत्पूर्वोऽयायान्ते यदुभिः स व्यरुध्यतेति यदुक्तं तदेव विरोधं प्रपञ्चयति-प्रलम्बेतिसार्द्धैस्त्रिभिः । महाशनोऽघासुरः यद्वा महदशनं भोजनं येषां ते महाशना इति प्रलम्बादीनां विशेषणम् अघासुरस्य व्योमादिवदुपलक्षणतया ग्रहणम् ॥ १ ॥ स्वयं बली तथापि मागधसंश्रयः जरासन्धसहायः ॥ २-३ ॥ एके ज्ञातयः सगोत्राः अनुरुन्धानाः अनुवर्तमानाः सन्तस्तं कंसं परितः उपासते ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

कारिकाः—एवं हेतुं निरूप्याथ कृष्णोद्यम उदीर्यते । महत्त्वज्ञापनार्थाय द्वितीये सविशेषणः ॥ १ ॥
दुःखं हेतुरिहागन्तुमितिबोधाय तत्कथा । पुनर्निरूप्यते स्पष्टा शीघ्रागमनहेतुका ॥ २ ॥
सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यं तथा स्तुतिः । अन्यथा भगवानेव प्रादुर्भूतः कथं भवेत् ॥ ३ ॥

पूर्वं सामान्यतो विरोधमुक्त्वा शीघ्रं भगवदागमनार्थं लोके कंसकृतमत्युपद्रवमाह सार्धैस्त्रिभिः **प्रलम्बेति** ।

प्रलम्बो दैत्यो दैत्यरूपेणैव वर्तते । बको दैत्यः पक्षिरूपेण । **चाणूरो** दैत्यो मनुष्यरूपेण । **तृणावर्तो** राक्षसो वात्यारूपेण । एत एव **महाशना** बहुभक्षकाः । अनेन **'यदूनां कदनं चक्र'** इत्यत्र **यादवा** भक्षिता इत्यपि ज्ञापितम् । **महाशनोघ** इति केचित् । तत्र नामसु यौगिकप्रवेशश्चिन्त्यः । **मुष्टिकश्चाणूरवत्** । यथा प्रलम्बो बलभद्रेण हतः प्रथमनिर्दिष्टस्तथा मुष्टिकोपि । **अरिष्टो** वृषरूपो बकवत् । द्विविदो वानरः । **पूतना** राक्षसी । केश्यश्वात्मकः । धेनुको गर्दभात्मकः ॥ १ ॥

अन्ये चैवंविधाः शतशः सन्त्यसुरा भूत्वा ये **भूपालाः** । बाणो **बलिसुतः** नरको भौमः । आदिशब्देन जरासन्धादयः । गुप्तान् **यदून्** प्रलम्बादयो बाधन्ते । प्रकटान् **बाणादयः** । एवमेतैर्**यदूनां कदन**मन्यायनाशं **चक्रे** । एतेषामाज्ञाकारित्वे हेतुर्**बलीति** । **मागधो** जरासन्धः श्वशुरः सहायभूतः । तेनापि दिग्विजये पराजितेन सुते दत्ते । एतेषामन्यतरेणाप्याज्ञोल्लङ्घने कृते जरासन्धः साधयतीत्याश्रयः ॥ २ ॥

पीडितानां कृत्यमाह ते **पीडिता** इति । पूर्वोक्तैः **पीडिताः कुरु**देशान् हस्तिनापुरदेशान् **विविशुः** । तथान्ये **पाञ्चाल**देशान् कम्पिलादिदेशान् **केकयान्** चित्रकूटादिदेशान् **शाल्वान्** पश्चिमदेशान् **निषधा**नुत्तरदेशान् **विदर्भान्** दक्षिणदेशान्

विदेहांस्तरैर्भुक्तदेशान् **कोशला**नयोध्यादेशान् नितरां **विविशुर्गु**प्ततया स्थिताः । एते धर्मात्मानो राजानः । अतः स्वदेशं परित्यज्य सकुटुम्बास्तत्रैव स्थिता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ये पुनर्निर्गन्तुं न शक्तास्ते कंससेवका एव भूत्वा स्थिता इत्याह **एक** इति । **एके**ऽक्रूरादयस्त**मनुरुन्धाना**स्तं संवेष्ट्य तत्सेवकत्वेन स्थिता **ज्ञातयो गोत्रिणः परित उपासते** । एवं सर्वेषां महद्दुःखमुद्यमार्थं हेतुत्वेन निरूपितम् ॥ ३½ ॥

भगवत उद्यमं वक्तुं देवक्या बन्धनावधि चरित्रमाह **हतेष्वि**तिसार्धेन ।

देवक्याः षट्सु बालेष्वौग्रसेनिना हतेषु सत्सु । भागिनेयान् हन्तीति पितृनाम्ना निर्देशः । अन्येषां हननमर्थसिद्धमेव । लोके हि भागिनेयोतिमान्यः ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

द्वितीयाध्यायार्थोक्तौ—**कृष्णोद्यम** इत्यादि । भगवदुद्यमे हेतुमाहु**र्महत्त्वेति** । हेतोरितिशेषः । अत एव तावन्तमपि विलम्बसहिष्णुर्गर्भसङ्कर्षणमाज्ञप्तवान् न ह्येवमन्यत्रेतिभावः । अथवान्येभ्योवतारेभ्योत्र **महत्त्वज्ञापनाय माया**ज्ञापनवसुदेवादि-मनःप्रवेशलक्षणः स उच्यत इत्यर्थः । अथवा **महत्त्वं** पुरुषोत्तमत्वं **तज्ज्ञापनाय सविशेषणः** स उच्यत इति सम्बन्धः । असाधारण-त्वेनेतरेभ्यो व्यावर्तको धर्मो हि विशेषणम् । तदत्र **मायाज्ञापनमेकम्** । न हि ब्रह्मादिव्यामोहिकां तामन्य आज्ञप्तुमर्हति सान्याधीना वा भवति । वसुदेवदुरासदत्वादिकं देवक्यां स्वहन्तृज्ञानेप्यासुरभावत्याजनं कंसस्य **ब्रह्मादिस्तुतिश्च** । का. ॥ १–३ ॥ **हतेष्वि**त्यस्याभासे—**देवक्या बन्धनावधी**ति । अत्रेदमाकूतम् । सप्तमे गर्भे जाते 'नन्दाद्या ये व्रज' इत्यादि नारदेनोक्तं तदा षट्पुत्रहतिर्मातृबन्धनं च जातम् । तदत्र 'हते'ष्वित्येकेनानूद्य स **गर्भो देवक्या हर्षशोकविवर्धनो बभू**वेत्यर्धेन शीघ्रं भगवदुद्यमे हेतुरुक्तः । पूर्वं **शोकविवर्धनो** नासीद्धतेषु तेष्वयमपि तथा भविष्यतीतिज्ञानेन तथा **बभूव** । तथा चेदं सर्वं बन्धनानन्तरं जातमिति तदेव पूर्वावधिर्यस्य तादृशं चरित्रमाहेत्यर्थः । अत एवाग्रे वक्ष्यन्ति 'षट्पुत्रवधात् पूर्वमेव सङ्कर्षणगर्भ' इत्यासुरहनन-सङ्कर्षणगर्भविषयकं दुःखं च भगवच्चरित्रमेव ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

द्वितीयाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्त उपजीवकत्वमत्र सङ्गतिरित्याहु**रेवमि**ति । ननूद्यमनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्या-काङ्क्षायां टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **भगव**दित्यादि । तथा चेवं भक्तवात्सल्यस्वभावं भगवतो ज्ञापयितुं **हेतोर्महत्त्वज्ञापन**मित्यर्थः । यद्यप्येवंविधं हेतोर्**महत्त्वं** प्रह्लादेपि वर्तते परं ज्ञानविशिष्टया मर्यादाभक्त्या परिरक्षितः प्रकृते तु तथा नास्तीति प्रयोजनान्तर-मेवोद्यमस्य वक्तव्यमित्याशयेन प्रकारान्तरमाहु**रथवान्येभ्य** इत्यादि । एतावतावपि न पूर्तिरध्यायतात्पर्यस्येति प्रकारान्तरमाहु**रथवा महत्त्व**मित्यादि । एते त्रयोपि पक्षा मूलश्लोकेभ्यः स्फुटं प्रतीयन्त इति त्रयाणां समुच्चय एव न तु विकल्पस्तेनाथवेत्यत्र वाशब्दोव-धारणे ज्ञेयः । तथा च पूर्वं **हेतुमहत्त्वं** ज्ञात्वा तदनन्तरमुक्तप्रकारेण महत्त्वद्वयमवधारणीयमिति बोधयितुमाचार्यैरयमधर्मश्लोक उक्त इत्यर्थोथवाशब्दस्य बोध्यः । सुबोधिन्यामेतदेव स्पष्टीकुर्वन्ति **दुःखं हेतु**रित्यादिना । **इह प्रपञ्च आगन्तुं** भगवदागमनाय भक्तानां **दुःखं हेतुरि**तिबोधाय तत्कथा **शीघ्रागमनहेतुका** शीघ्रागमनकारणजन्या **पुनः स्पष्टा निरूप्यत** इत्यर्थः । एतेन **महत्त्वे**-त्यर्धस्य प्रथमोर्थः स्फुटीकृतः । द्वितीयार्थं स्फुटीकर्तुमाहुः **सर्वेषा**मित्यादि तथा च **सर्वेषां** दैत्यानां भगवदवतारज्ञापनार्थं 'प्राहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहा' मित्यादिकंसवाक्यमवतारान्तरेभ्योत्राधिक्यबोधकमित्यर्थः । तृतीयं स्फुटीकुर्वन्ति **तथा स्तुति**रित्यादि । स्तुतिर्ब्रह्मादिकर्तृका । **तथा** पुरुषोत्तमत्वज्ञापिका । **अन्यथा** स्तुत्यादिकं न कृतं स्यात् तदा पुरुषोत्तम **एव प्रादुर्भूत** इति **कथं निश्चितं भवेदि**त्यर्थः ॥ का. ॥ १–३ ॥ **हतेष्वि**त्यत्र—**टिप्पण्यामासुरहनन**मिति षट्पुत्रहननम् । तेषां हिरण्यकशिपुपुत्रत्वेना-सुरत्वादिति ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

द्वितीयेध्याये **महत्त्वे**त्यस्य तृतीयव्याख्याने—**सविशेषण उद्यमः** पुरुषोत्तमत्वज्ञापक उक्तः । तत्पक्षे तान्येव विशेषणानि विवृण्वन्ति **सर्वेषा**मिति । "आहैष मे प्राणहरो हरि"रिति**वाक्यं ब्रह्मादिस्तुतिश्च सर्वेषां** भक्तानां पुरुषोत्तमत्वज्ञापनाय । स्वसन्निधिमात्रेण दैत्यस्यापि तादृशं ज्ञानम् । 'अवतारो हरेर्योऽस्तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत् । वरादनुक्तेप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वत' इति तृतीयस्कन्धीयनिबन्धवाक्याद् ब्रह्मस्तुतिश्च पुरुषोत्तम एव सम्भवतीतिभावः **अन्यथे**ति । एतद्द्वयाभावेत्र **भगवान्** पुरुषोत्तम **एव प्रादुर्भूत** इति ज्ञानं **कथं भवे**दित्यर्थः ॥ का. ॥ १–३ ॥ **प्रलम्बे**त्यत्र—**चाणूरव**दिति । मनुष्य इत्यर्थः । **बकव**दिति । बक इव भगवद्धत इत्यर्थः ॥ १ ॥ **हतेष्वि**त्यत्र—**अन्येषा**मिति । यदूनामित्यर्थः । **बुद्ध्या हता** इति । 'अजनशङ्कये'त्युक्तत्वाद्धर्मि**बुद्ध्या हता** इति हेतोर्धर्मी समागत इत्यर्थः । **प्रकटो बभूवे**ति । एतादृशः सप्तमो गर्भो यः प्रकटो बभूव स **औग्रसेनिना बालेषु हतेषु देवक्या हर्षशोकविवर्धनो जात** इति मूले सुबोधिन्यां च टिप्पण्यनुसारेणान्वयः ॥ ४–५ ॥

(४) श्रीमदीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

द्वितीयाध्यायार्थोक्तौ - षड्गुणास्तेन बुद्ध्या हता इति। इहेदं ज्ञेयम्। कृष्णावतारसमये सर्वोपि परिकरो वैकुण्ठादागत इति स्थितं कृष्णोपनिषत्सु। तथाचैतेषामपि स्वरूपं तादृशं वैकुण्ठीयं वाच्यम्। तत्राष्टमगर्भस्य पूर्णपुरुषोत्तमत्वात् सप्तमस्याक्षरात्मकत्वादेतेषां षण्णामैश्वर्यादिषड्गुणात्मकत्वं युक्तं षट्सङ्ख्याया नियामकत्वाद् 'देवकी सर्वदेवते'तिवाक्यात् सर्वदेवतारूपाया देवक्या भगवज्जनन्या उदरे साधारणानां प्रवेशासम्भवाच्च। अत एते षड्गुणानामवतारभूता इति निश्चयः। पुरुषोत्तमावताराक्षरावतारयोर्जातयोः षड्गुणावतारस्यावश्यकत्वात्। न च गुणत्वे कंसकृतमारणासम्भव इति वाच्यम्। जीवविशेषेषु गुणानामावेशात्' अत एते जीवा गुणानामावेशावताराः पृथ्व्यादयो भगवत इव। अत एवा "सन् मरीचेः षट् पुत्रा" इत्यादिना पूर्वजन्मनि जीवत्वमुक्तं ब्रह्मापराधजन्यहिरण्यकशिपुर्योत्पत्तिरूपा दुरवस्था चोक्ता। ततः "पीतशेषं गदाभृत" इतिवाक्याद्भगवत्पीतशेषप्रसादलाभेन मुक्ता जाता अत इमे पुष्टिमार्गीया जीवा वैकुण्ठस्थास्तेषां भगवदिच्छया जन्मानि ततो भगवदैश्वर्यादिषड्गुणानामेतेष्वावेशस्ततो मुक्तिः॥ ४॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एवं हेतुं निरूप्येत्यादि। एवं पूर्वाध्याये भक्तदुःखरूपं भगवदवतारहेतुं निरूप्य तस्य **हेतोर्महत्त्वज्ञापनार्थाय** द्वितीयाध्याये **सविशेषणः कृष्णोद्यम उदीर्यत** इति। अत्र टिप्पण्यां **महत्त्वज्ञापनाये**तिपदं **त्रिधा** व्याख्यातं **हेतोर्महत्त्वज्ञापनायाथवान्येभ्योऽवतारेभ्योत्र महत्त्वज्ञापनायाथवा महत्त्वं पुरुषोत्तमत्वं तज्ज्ञापनाय सविशेषण उद्यम** उच्यत इति सम्बन्धः। अत्र समानविभक्त्यन्तपदोपस्थापितं **विशेषणं** न ज्ञेयं किन्त्वसाधारणत्वेनेतरेभ्यो व्यावर्तको हि धर्मो विशेषणम्। तदत्र मायाज्ञापनादिकम्। नहि ब्रह्मादिव्यामोहिकां मायामन्य आज्ञप्तुमर्हति सान्याधीना वा भवति॥ का. १॥ **दुःखं हेतुरि**ति। इह प्रवक्ष्य आगन्तुं भगवदागमनाय **भक्तानां दुःखं हेतुरितिबोधाय तत्कथा** 'प्रलम्बबकचाणूरे'त्यादिश्लोकेर्दुःखकथा **शीघ्रागमनहेतुका** शीघ्रभगवदागमनफलिका **पुनः स्पष्टा निरूप्यत** इत्यर्थः। अत्र **हेतु**शब्दः प्रयोजनवाची। विदुषां हेतुशब्दस्य कार्येपि प्रयोगात्॥ का. २॥ **सर्वेषामि**ति। 'आहैष मे प्राणहरो हरि'रिति **कंसवाक्यं** ब्रह्मादिस्तुतिश्च **सर्वेषां** भक्तानां पुरुषोत्तमत्वज्ञापनाय। स्वसन्निधिमात्रेण दैत्यस्यापि तादृशं ज्ञानं **ब्रह्मस्तुतिश्च पुरुषोत्तम एव** सम्भवतीतिभावः। **अन्यथे**ति। एतद्द्वयाभावे **भगवान् पुरुषोत्तम एव प्रादुर्भूत** इति ज्ञानं **कथं भवे**दित्यर्थः॥ का. ३॥

बुभुत्सुबोधिका

एवमिति पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण। तथा चाध्याययोर्हेतुर्यासङ्गतिरुक्ता भक्तदुःखं विना कृष्णोद्यमाभावात् कृष्णोद्यमः कार्यम्। भगवदाविर्भावश्च। महत्त्वेति टिप्पण्यामन्यत्रेति प्रह्लादेपीत्यर्थः। अक्षरप्राकट्यात्। तथा चैवं भक्तवात्सल्यस्वभावं भगवतो ज्ञापयितुं हेतोर्महत्त्वज्ञापनमित्यर्थः। भक्त्याहुरथवेति। वसुदेवादीति आदिना देवकी। पुरुषोत्तमत्वं भक्तवश्यत्वमात्र। तज्ज्ञापनायेति महत्त्वज्ञापनाय। तज्ज्ञापनायेति वक्तव्ये स्मार्तः प्रयोगः। सविशेषण इति मायाज्ञापनविशेषणेन सह वर्तमानः। एते त्रयोपि पक्षा मूलश्लोकेभ्य एव स्फुटं प्रतीयन्त इति त्रयाणां समुच्चय एव न तु विकल्पः। तेनाथवेत्यत्र वाशब्दोऽवधारणे ज्ञेयः। तथा च पूर्वं हेतुमहत्त्वं ज्ञात्वा तदनन्तरमुक्तमहत्त्वमवधारणीयमिति बोधयितुमिदं गोस्वामिभिर्वाशब्दद्वयं प्रयुक्तमिति बोध्यम्। सुबोधिन्याम्। एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति दुःखं हेतुरिति। यद्वा 'प्रलम्बबके'त्यादिप्रकरणज्ञापितार्थमाहुः दुःखं हेतुरिति। अयमर्थः। दुःखं कृष्णागमने हेतुरुक्तः। स सव्यापारो निर्व्यापारश्च, उद्यमादीनां व्यापारत्वे हेतुः सव्यापारः उद्यमस्यागमने महादुःखस्य हेतावन्तर्भावे निर्व्यापारश्चेतिबोधाय प्रथमाध्यायोक्त'प्रलम्बबके'त्यादिकथा। प्रलम्बादीनां नित्यलीलास्थक्रोधादिरूपत्वेन कृष्णोपनिषद्युक्तत्वात् तादात्म्याद्वेतेन परम्परया प्रद्युम्नप्रादुर्भावे योग्यता भक्तदुःखहेतुत्वात्। प्रलम्बबके'ति प्रक्रम इति भावः। अतः एवाहुः पुनर्निरूप्यत इति। प्रथमाध्याये निरूपणात् पुनरित्युक्तम्। शीघ्रागमनेति नित्यक्रीडास्थत्वाद् भक्तदुःखहेतूनां शीघ्रपदम्। कृष्णाविर्भावहेतुत्वात् एवं हेतुं निरूप्येति श्लोकार्धार्थमुक्त्वा सर्वेषामित्यादिनोत्तरार्धार्थमाहुः सर्वेषामित्यादि। सर्वेषां दैत्यानां भगवदवतारज्ञापनार्थं 'प्राहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहा'मित्यादि कंसवाक्यमवतारेभ्यः कृष्ण आधिक्यबोधकमित्यर्थः। तृतीयार्थं स्फुटीकुर्वन्ति तथा स्तुतिरिति। स्तुतिर्ब्रह्मादिकर्तृका तथा पुरुषोत्तमत्वज्ञापिका। अन्यथेत्यादि स्तुत्यादिकं न कृतं स्यात् तदा एतद्द्वयाभावे पुरुषोत्तम एव प्रादुर्भूत इति कथं निश्चितं (ज्ञातं) भवेत्। स्वसन्निधिमात्रेण दैत्यस्य कंसस्यापि तथाविधं ज्ञानम्। 'अवतारो हरेर्यावांस्तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत् वरादनुक्तेप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वत' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात् स्तुतिः।

विरोधमिति उपद्रवणात्सुकानां भयाविष्टानां च विरोधम्। उक्तानां निरोधकम्। चाणूरवदिति मनुष्य इत्यर्थः। पूर्वार्धोक्तरार्धप्रक्रमाभिप्रायमाहुः यथा प्रलम्ब इति मुष्टिकोपीति बलभद्रहतः उत्तरार्धे प्रथमनिर्दिष्ट इत्यर्थः। प्रलम्बशब्देनोपक्रमः सङ्कर्षणप्राकट्यार्थं सङ्कर्षणः प्रलम्बघ्न इति। उद्यमोऽध्यायार्थः॥ १॥

अन्यैश्चेत्यत्र जरासन्धादय इति आदिना यवनादयः। गुप्तानिति कुरुपाञ्चालादिदेशैर्गुप्तान्। प्रलम्बादयो नित्यक्रीडास्थत्वादधिकज्ञाना इति बाधन्ते। सुते इति अस्तिः प्राप्तिश्च। अन्यतरेणेति महाभाष्यप्रयोगाद् द्वयोर्निर्धारे डतरच् बहूनां निर्धारणेपि। आश्रय इति मागधः संश्रय आश्रयो यस्य। श्रयतीति श्रयः एरच्॥ २॥

ते पीडिता इत्यत्र तीरभुक्तदेशानिति तीरं भुक्तं यैः तान् देशान्। तीरसम्बद्धदेशान्। 'नितरा'मित्यस्यार्थमाहुः गुप्तत्येत्यादि। धर्मात्मान इति 'आत्मार्थं सकलं त्यजे'दिति वाक्योक्तो धर्म आत्मन्यन्तःकरणे येषां ते। तत्रैव देशान्तर एव। आ समन्तात् स्थिताः॥ ३॥

एके तमित्यत्र एवेति परीत्यस्यार्थः। अक्रूरादय इति आदिना सुनामन्यग्रोधादयः कंसभ्रातरः। तं संवेष्ट्येति रुधिर् आवरण इति धात्वर्थः। भावे क्त्वो ल्यप् अनुः समीपेर्थे सम्यक् समीपे क्रोधानुत्पादकं वेष्टनं कृत्वा। वेष्ट वेष्टने। भ्वा० आ० से० एतस्यैवार्थः। सेवकत्वेनेति सेवनं समीपे कर्तरि ण्वुल्। संवेष्ट्य स्थिताः, संवेष्टनकर्तारः। संवेष्ट्येत्यत्र वेष्टनं कृत्वेत्यत्र करणं प्रकृतिः पुनःकरणं प्रत्ययार्थः। करणं कृतिः, कृत्रिमत्वं कर्तृत्वम्। कृत्रिमत्वं च कृतिरेव सा स्वाश्रयं कर्तारमाक्षिपति। तथा च संवेष्टनकरणकृत्याश्रया संवेष्ट्येत्यस्यार्थः। स्थिता इत्यत्र 'गत्यर्था कर्मके'ति सूत्रेण कर्तरि क्तः। संवेष्ट्य तिष्ठन्तीति स्थिताः। अनुरुन्धाना रोधे तिष्ठन्तीति रुन्धानाः करोतिना विवरणस्य बहुषु स्थलेष्वभावात्। नोत्पद्यत इत्यस्य नोत्पत्तुमर्हतीति गदाधर्यां विग्रहदर्शनात्। न च रोधं तिष्ठन्तीति प्रयोगापत्तिः। धातोः फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वेन फलस्य ज्ञातिरूपकर्तृनिष्ठत्वात् तत्सेवकत्वेनेति तत्सेवकत्वेन स्थिता इति यावत्। गोत्रिण इति प्रधानकुलमस्त्येषां ते गोत्रिणः। परित इति भीतत्वात् सर्वतः। हतेषु षट्स्वित्यत्र देवक्या बन्धनावधीति टिप्पण्यां स्फुटम्। तथा भविष्यतीति शोकविवर्धनो भविष्यति। तथेति हर्षशोकविवर्धनो बभूव चरित्रमिति सङ्कर्षणगर्भभवनादि अग्र इति 'ततो जगन्मङ्गल'मितिश्लोके। आसुरहननमिति षट्पुत्रासुरहननम्। 'तेषां हिरण्यकशिपुपुत्रत्वेनासुरत्वा'दिति पुरुषोत्तमाः लेखे। सुबोधिन्याम्। पितृनाम्नेति राजधर्मत्वात् पितृनाम्ना तु मुख्यत्व'मिति वाक्यान् मुख्यत्वार्थं पितृनाम्ना निर्देशः अन्येषामिति ज्ञातीनाम्। यदूनां वा 'ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रता' इत्युक्तनारदवाक्यत्वा। अतिमान्य इति भगिन्या दयापात्रत्वादन्येभ्योतिमान्यः॥ ४॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

कारिकार्थ—प्रथम अध्याय में भगवान का प्राकट्य हेतु दुःख को बताया। भूमिमाता, देवकीमाता और भक्तवृन्द इन तीनों के दुःख हेतु रूप कहे गयें। अब श्रीमदाचार्यचरण द्वितीय का अर्थ श्रीकृष्णजी के उद्यम को बताते हैं। और कंसपीडित भक्तजनों के उद्यम का भी निरूपण हैं। भगवानने जो उद्यम किया वह विशिष्ट प्रकार का था। यह तीन प्रकार से असाधारण था। किसी भी अवतार में माया को आदेश नहीं किया और माया को आदेश भी नहीं कर सकते। आज भगवानने माया को सप्तम गर्भ को देवकी के उदर से लेकर रोहिणीजी के उदर में स्थापित करने की आज्ञा की वह एक महत्व हुआ। दूसरा महत्व यह था। कि वसुदेवजी के मन से देवकीजी में पधारे हुवे भगवान के सान्निध्य से कंस स्वयं देवकी जी के वध से निवृत्त हुआ। और तीसरा महत्व यह था कि पुरुषसूक्त द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम की ब्रह्मादि देवों ने स्तुति की ये सब उद्यम की बातें द्वितीय अध्याय में जताई है॥ १॥

भगवान् के शीघ्र प्रकट होने में भक्त का दुःख ही प्रधान कारण है इसी विषय की स्पष्टता करने वाली कथा द्वितीयाध्याय में आती है। और भक्तजनो के दुःख का कथन प्रलम्ब चाणूर आदि साढ़े तीन श्लोकों में करते हैं॥ २॥

इस अध्याय में २० श्लोक से २३ श्लोक के कंस के वाक्य और ब्रह्मादि देवों की स्तुति भी है। इन दोनों से ही सबको यह ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए हैं, यदि ये राजा कंस के वाक्य और ब्रह्मा, नारद, महादेव आदि की स्तुति नहीं होती हो तो भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान नहीं होने वाला था॥ ३॥

पूर्वं सामान्यतो विरोधमुक्त्वा शीघ्रं भगवदागमनार्थं लोके कंसकृतमत्युपद्रवमाह साधैस्त्रिभिः प्रलम्बेति।

प्रथम अध्याय में कंस का यादवों के साथ सामान्य विरोध बताया है; पुनः भगवान् के शीघ्र पधारने के लिए कंस ने लोक में जो अत्यन्त उपद्रव कियें उन उपद्रवों का साढ़े तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

अब आचार्यचरण दो श्लोकों में बारह संख्या में जो व्यासजी ने दैत्यों के नामों का उल्लेख किया है उनका स्वरूप और स्वभाव बताते हैं—उनमें प्रथम जो कि प्रलम्ब है वह दैत्य-रूप में, है। बक पक्षिरूप में है, चाणूर मनुष्य के रूप में है और तृणावर्त-वायु के रूप में रहता था। ये चारों बहुभोजी थे इसलिये श्लोक में इनको 'महाशनैः कहें हैं। बहुभक्षी होने से इन्होंने आज पर्यन्त बहुत यादवों का भक्षण किया था। कई एक विद्वान् 'महाशन' का अर्थ 'अथासुर' करते हैं। उस पर आचार्यचरण स्वमत कहते है कि नामों का यौगिक अर्थ करना विचारणीय है। मुष्टिक दैत्य मल्ल था चाणूर का भक्त और समान था।

जैसे प्रथम बताये हुए प्रलम्ब को बलरामजी ने मारा वैसे ही मुष्टिक को भी बलरामजी ने ही मारा है। अरिष्ट दैत्य वृषरूप था, और बक दैत्य पक्षी रूप था। द्विविद नामक दैत्य वानररूप था। पूतना राक्षसी थी। केशी दैत्य का रूप अश्व का सा था। धेनुक का रूप गर्दभ का था। और दूसरे भी इसी प्रकार के सैकड़ों असुर थे जो राजाओं के रूप में भी थे। जैसे कि बलि का पुत्र बाणासुर था और भौमासुर था। भौमासुर का नरकासुर दूसरा है। द्वितीय श्लोक में दिये हुए आदि शब्द से जरासन्ध इत्यादि असुर भूप भी समझ लेने चाहिये। जो यादव गुप्त होकर रहते थे उनको प्रलम्ब आदि असुर तथा जो यादव प्रकट रहते थे उनको बाणासुरादि राजा दुःख देते थे। इसी प्रकार कंस इन राक्षसों द्वारा यादवों का अन्याय से नाश करता था। वे सर्व राक्षस, राजा थे फिर भी कंस के आदेश को इसलिए मानते थे कि कंस बलवान् था। और राजा कंस का श्वसुर जरासन्ध भी कंस की सदा सहायता करने वाला था। जरासन्ध ने अपनी दो कन्याएँ कंस को इसलिए दी थी कि वह दिग्विजय में कंस से हार गया था। इन असुर राजाओं में से कोई भी यदि कंस की आज्ञा का उल्लङ्घन करता था तो जरासन्ध उस समय कंस की सहायता करता था जिससे वे राजादि दब जाते थे। इस प्रकार कंस को जरासन्ध का आश्रय तथा सहायता थी ॥ १-२ ॥

पीडितानां कृत्यमाह ते पीडिता इति।

अब डेढ़ श्लोक में इस प्रकार दुःखी हुए उन यादवों ने जो किया उसका निरूपण करते हैं—

पूर्वोक्तैः पीडिताः – कंस के अनुचरों से पीड़ित हुए हैं। पूर्व में कहे हुए सर्व यादव राजगण धर्मात्मा थे अतः स्वदेश छोड़कर सकुटुम्ब पृथक् पृथक् प्रदेशों में आश्रय के लिये चले गये। उनमें कितने ही कुरु देश में, अन्य पाञ्चाल, कैकय, शाल्व, कोशल आदि देशों में जाकर अत्यन्त गुप्त प्रकार से वहाँ पर ही रहने लगे। और जो यादव राजा मथुरा से निकल न सके, वे कंस के अनुयायी होकर वहाँ ही रहने लगे, एवं कितने ही अक्रूरादि एवं ज्ञातिवाले और सगोत्री भी उसके चारों तरफ ऊपर सेवक बनकर उसकी आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार प्रभु के प्राकट्य के लिए सर्व को उद्यम करना पड़ा। उन्होंने दुःख सहन रूप उद्यम किया ॥ ३½ ॥

भगवत उद्यमं वक्तुं देवक्या बन्धनावधि चरित्रमाह हतेष्विति सार्धेन।

उपरोक्त प्रसङ्ग में भक्तों के उद्यम का निरूपण करके अब आगे भगवान् के उद्यम का वर्णन कथन के लिए देवकी के बन्धन तक, जो चरित्र हुए उनका वर्णन करते हैं।

'षड्गुणास्तेन बुद्ध्या हता' आचार्यचरण कहते हैं कि इस श्लोक में कंस का नाम न देकर, उग्रसेन के पुत्र ने देवकी के छः पुत्रों को मारा। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कंस इतना क्रूर है कि देवकी, अपनी भगनी है, तो भी उसने उसके पुत्रों को मार डाला। लोक में भगिनी पुत्र भानजे अतीव पूज्य माने गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कंस दुष्ट और क्रूर है, जो बहिन के पुत्रों को भी मार डालता है, तो उसको दूसरों को मारने में तो कुछ भी संकोच नहीं होता होगा। वह अर्थ सिद्ध ही है ॥४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

द्वितीये योगमायाया निदेशो बलकर्षणम् ॥ ब्रह्मादिभिः स्तुतः कृष्णो गर्भे तिष्ठन्निरितीर्यते ॥ १ ॥

'यदुभिः स व्यरुध्यत' इत्युक्तं, तमेव विरोधं प्रपञ्चयति प्रलम्बेत्यादिसार्धत्रयेण। प्रलम्बो दैत्यस्तेनैव रूपेण वर्तते, बको दैत्यः पक्षिरूपेण, चाणूरमुष्टिकौ दैत्यौ मनुष्यरूपेण, तृणावर्तो दैत्यो वात्यारूपेण। एते महाशना बहुभक्षकाः। महाशनोऽघासुर इति वा, तैररिष्टो वृषभासुरः, द्विविदो वानरः, पूतना राक्षसी, केशी दैत्योऽश्वरूपः, धेनुको दैत्यो गार्दभरूपस्तैः ॥ १ ॥ अन्यैश्चा-सुरप्रकृतिभिर्भूपालैः बाणो बलिपुत्रः, भौमो भूमिपुत्रो नरकश्चादिर्येषां तैर्वृतः मागधो जरासन्धः संश्रयः सहायो यस्य सः स्वयं च बली कंसो यदूनां कदनं दुःखं चक्रे ॥ २ ॥ ते यादवाः सकुटुम्बाः कंसेन पीडिताः कुर्वादीन् देशान् निर्विविशुः तत्र तत्र गुप्ततया स्थिता इत्यर्थः ॥ ३ ॥ एके ज्ञातयः अक्रूरादयः तं कंसमनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः पर्युपासते पर्यचरन्। एवं यदुभिः सह विरोधं निरूप्य जातंजातमहन्निति तदुक्तं तत्र सङ्ख्यामाह—हतेष्विति। औग्रसेनिना कंसेन षट्सु देवक्या बालेषु हतेषु सत्सु ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

द्वितीये देवकीगर्भगतो विष्णुः सुरैः स्तुतः। देवकी सान्त्विता तत्र श्लोकाः सार्द्धाः द्विसिन्धवः (४२।) ॥

द्वे (२) उवाचेति पादाढ्या द्वापञ्चादनुष्टुभः (५२।) ॥ २ ॥

यदुभिः स व्यरुध्यत इत्युक्तं विरोधं प्रपञ्चयति—प्रलम्बेति द्वयम्। प्रलम्बादिभिः मुष्टिकादिभिश्च वृतः अत्र महाशनोऽ-घासुरः अन्यैश्च बाणभौमादिभिः असुरभूपालैर्दैत्यराजैर्वृतः बली मागधसंश्रयः जरासन्धाख्यस्वश्वशुरसाहाय्यवान् बली सः कंसः

यदूनां कदनं नाशं चक्रे ॥१-२॥ ते पीडिताः इति। ते च यादवाः पीडिताः सन्तः कुरुपाञ्चालादिदेशान् निर्विविशुः। निभृतं हलिकगोपादिवेषेण गुप्ता विविशुः। तङ्भाव आर्षः ॥ ३ ॥ एके इत्यर्द्धम्। एके केचित् ज्ञातयः अक्रूराद्याः अनुरुन्धानाः अनुवर्त्तमानाः सन्तः तं कंसमेव पर्युपासत अवतारदर्शनापेक्षया ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कंसं हन्तुं हि देवक्या द्वितीये गर्भगो हरिः। स्तुतो ब्रह्मादिभिः सम्यक् सान्त्विता सेति चोच्यते ॥ १ ॥

यदुभिः स व्यरुद्धयतेति प्रपञ्चयन् भगवतो देवकीजठरप्रवेशप्रकारं तत्प्रवेशप्रयुक्तप्रभातिशययुक्तदेवकीदर्शनोद्विग्नकंसस्यावस्थानप्रकारं च गर्भस्थं कृष्णमुद्दिश्य ब्रह्मादीनां स्तुतिप्रकारं चाह ॥ प्रलम्बेति ॥ प्रलम्बश्च बकश्च चाणूरश्च तृणावर्त्तश्च महाशनोऽघासुरश्च तैः, मुष्टिकश्च अरिष्टश्च द्विविदो वानरश्च पूतना च केशी च धेनुकश्च तैः ॥ १ ॥ अन्यैरिति ॥ अन्यैरुक्तेतरैः, बाणो बाणासुरश्च भौमो नरकासुरश्च तावादी येषां तैश्च, असुरभूपालैरसुरप्रकृतिभी राजभिः, युतो युक्तः, बलिर्बलिनामा नृपश्च मागधो जरासंधश्च तौ संश्रयौ श्वशुरादिभावेन समाश्रयौ यस्य सः। यद्वा। बली चासौ मागधश्च तस्य संश्रयः साहाय्यं यस्य सः, पाठान्तरे बली स्वतो बलवान्, कंसः, यदूनां यादवानां, कदनमुपद्रवं पीडनमिति यावत्। चक्रे ॥ २ ॥ त इति ॥ ते यदवः, पीडिताः कंसेन कृतातिपीडनाः सन्तः, कुरवश्च पाञ्चालाश्च केकयाश्च तान्, शाल्वान्, विदर्भान्, निषधान्, विदेहान्, कोसलान् अपि, विषयानिति शेषः। निर्विविशुः। प्रच्छन्नं तानाश्रित्यावसन्नित्यर्थः। एके केचित्, ज्ञातयः सगोत्राः, 'ज्ञातिस्तातसगोत्रयोः पुमान्' इति मेदिनी। तं कंसं, अनुरुन्धानाः अनुवर्त्तमानाः सन्तः, पर्युपासते पर्यचरन्निति भावः। 'यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम्। अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्' इति स्मृतेः ॥ ३ ॥ हतेष्विति ॥ ततः, औग्रसेनिना कंसेन, देवक्याः, षट्सु बालेषु, हतेषु सत्सु, यम् अनन्तं प्रचक्षते, यत् वैष्णवं विष्णोः संबन्धि, धाम तेजः, अंश इति यावत्। सः हर्षश्च शोकश्च तौ विवर्द्धयतीति तथाभूतः, गर्भसंभावनामात्रेण हर्षः, तत्प्रस्रवणेन शोकः। आनन्दरूपस्यावतीर्णत्वाद्धर्षः पूर्वगर्भसाधारणदृष्ट्या शोक इति वा। देवक्याः सप्तमः गर्भः, बभूव ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

प्रलम्बेति : १०.२.१.

अशेषबलशालिनो ध्रुवमिमे प्रलम्बादयः वरे मदनुरागिणो भुवि भवन्ति मल्लादयः।
इमे मदसुसौख्यदाः सकलबाणभौमादयोऽसुरा इति कृताशयः स युत आस तैरेव किम् ॥ १ ॥

ते पीडिता इति : १०.२.३.

स्वकरैर्यत्र राजेव क्लेशदस्तन्निवासिनाम्। युक्तेव भुवने काममन्याशाभिमुखस्थितिः ॥ २ ॥

कृष्णप्रिया

अतिशय आहार करने वाले प्रलम्बासुर-बकासुर-चाणूरमल्ल-तृणावर्त दैत्य-मुष्टिकमल्ल-अरिष्टासुर-द्विविद नामक वानर-पूतना-केशी धेनुक असुर एवं बाणासुर और भौमासुर आदि अनेक असुर रूप राजाओं से संयुत स्वयं बलवान् राजा कंस मगध देश नरेश जरासन्ध का आश्रय लेकर यादवों का अन्याय से और अनीति से नाश करने लगा ॥ १-२ ॥ और कंस राजा से पीडित वे यादव लोग कुरु-पांचाल-केकय-शाल्व-विदर्भ निषध-विदेह और कोशल देशों में चले गये। और जो यादव मथुरा से निकल न सके वे कितनेक कंस के आदेशानुसारी होकर राजा कंस की सेवा करने लगे ॥३॥ जब राजा कंस ने श्रीदेवकीजी के छ पुत्र मार डाले ॥ ४ ॥

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते। गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥ ५ ॥

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्। यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम्।

रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले। अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥ ७ ॥

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्। तत् संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय ॥ ८ ॥

---

१. निद्रां—इति कस्यचित्। २. याः—इति कस्यचित्।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यम् अनन्तं प्रचक्षते (तत्) वैष्णवं धाम, देवक्याः हर्ष-शोक-विवर्धनः सप्तमः गर्भः बभूव ॥ ५ ॥ विश्वात्मा भगवान् निजनाथानां यदूनां कंसजं भयं विदित्वा योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥ हे देवि ! हे भद्रे ! गोपगोभिः अलंकृतं व्रजं गच्छ ॥ ६½ ॥ वसुदेवस्य भार्या रोहिणी नन्दगोकुले आस्ते च कंससंविग्नाः अन्याः हि विवरेषु वसन्ति ॥ ७ ॥ देवक्याः जठरे शेषाख्यं मामकम् धाम (वर्तते) तत् सन्निकृष्य रोहिण्याः उदरे सन्निवेशय ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

धाम कला तदेव सप्तमो गर्भो बभूव । किं तद्धामेत्यत आह—यमनंतमिति । हर्षशोकविवर्धनः । आनंदरूपस्यावतीर्णत्वाद्धर्षः पूर्वगर्भसाधारणदृष्ट्या च शोक इति ॥५-७॥ ननु सा गोकुले किमित्यास्ते अत आह—अन्याश्चेति । न केवलं सैव अन्या अपीति । विवरेषु अलक्ष्यस्थानेषु । जठरे संतम् । ननु गर्भ आकृष्यमाणः कथं जीवेदत आह—मामकं धामेति । तत्ततः ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कला अंशः । शयनीयत्वाद्वा धामेति ॥ ५ ॥ निज आत्मैव नाथो येषां ते तथा तेषाम् ॥६॥ नंदगोकुले बृहद्वनाख्ये ॥७॥ मम धामत्वेन तस्याविनाशित्वमेवेत्याह—मामकं धामेति 'भवानेकशिशष्यते शेषसंज्ञः इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । ततो गर्भात् ! ननु शुद्धसत्त्वरूपायां भगवत्प्रकाशिकायां महाशक्तौ देवकीदेव्यां प्राकृतानां षड्गर्भाणां कथं प्रवेशस्सत्यं शुद्धसत्त्वरूपे श्रीभगवति समष्टिव्यष्टीनां प्रविष्टत्वेऽपि यथा न तद्योगस्तथैव देवक्यामपि षड्गर्भाणामित्यर्थः । तदुक्तम् 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः । न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' इति । किन्तु जनेषु भक्तिपरिपाटीप्रदर्शनार्थैवेयं लीलेत्यवगम्यते । तथाहि भक्तजने श्रवणकीर्तनादिरूपा भक्तिस्तिष्ठति तद्गर्भ एव तदानुषंगिकफलभूतत्वात् षड्विषयभोगाश्च तिष्ठंति अत एतैरेव संसारांधकूपे पतिष्यामीति । ततः प्रकटीभूताद्भयात्कालेन ते निवर्त्तंते च ततो भगवद्यशः श्रवणकीर्त्तनपरिचर्यादिमयी भक्तिरतिप्रवृद्धा भवति तस्यां च भगवान्रूपगुणमहोदधिः प्रादुर्भवति भक्तेर्भगवत्प्रकाशशुद्धसत्त्वस्वरूपत्वात् "भक्तिरेवैनं दर्शयति" इति श्रुतेः । एवमेव 'मरीचिर्मनसोऽभवत्' इति श्रवणान्मरीचेर्मनोऽवतारत्वं तत्पुत्राणां षण्णां षड्विषयावतारत्वं देवक्यां भगवत्प्रादुर्भावकत्वाद्भक्त्यवतारत्वं 'भयात्कंसः' इत्युक्तेर्भयमयत्वेन कंसस्य भयावतारत्वम् अतो भक्तिगर्भगतानां षड्विषयानां संसारभयमेव निवर्त्तकं तथैव षड्गर्भाणां कंसो हंता विषयनिवृत्तौ सत्यां यथा भक्तिगर्भे भगवद्यशः परिचर्यादिमयी प्रेमभक्तिरेव भवेत्तथैव देवक्यां षड्गर्भनिवृत्त्यनंतरं सप्तमो गर्भो भगवद्यशोनिवासशय्यासनच्छत्रादिरूपोऽनंतः ततः प्रेमभक्त्याविर्भावानंतरं यथा भगवत्साक्षात्कारो भक्तेरष्टमो गर्भस्तथैव 'देवक्याश्चाष्टमो गर्भो भगवान्' इति तत्त्वमत्र द्रष्टव्यमिति विश्वनाथः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

वैष्णवं श्रीकृष्णमयं यद्धाम अनन्तं सङ्कर्षणं चतुर्व्यूहद्वितीयं प्रचक्षते वदन्त्यभिज्ञाः ॥ ५ ॥ भगवान् स्वयमेव नित्यरूपः श्रीकृष्णः विश्वात्मा सर्वांशी अपिशब्दः क्षीरोदशाय्यपेक्षया पूर्वं स वै ब्रह्मादीन् समादिशत् अधुना स्वयमसावाप योगमायाभिति विदित्वा निवेदनं विनापि यदूनां भयं ज्ञात्वा तद्भयनिरासार्थमित्यर्थः । सम्यक् प्रोत्साहनादिपूर्वकमादिशत् कुतः निजाः श्रीवसुदेवादयो नाथा येषां तेषां भक्तवात्सल्यादिति भावः । स्वीयेषु श्रेष्ठानामिति वा योगो भगवच्छक्तिविशेषः स एव ब्रह्मादीनामपि मोहनान्माया तां जगत्कारणशक्तिताऽपि परावस्थामेकानांशाख्यां यद्वात्रापिशब्दोयं श्रीभगवतः परमोत्कर्षं सूचयित्वा तस्यास्तादृशत्वेपि ततोऽतिनिकर्षं सूचयति तादृशोपि तादृशीं तां समादिशदिति तु तस्य निजेषु वात्सल्यातिशयम् ॥ ६ ॥ गच्छेत्यर्द्धकं हे देवि जगत्पूज्ये ! भद्रे ! सर्वमङ्गले एतत्सर्वं तस्याः प्रोत्साहनार्थं यद्वा तत्र गमने योग्यतोक्ता, पुनर्विशेषेण प्रोत्साहयति; गोपेति । अनेन तेषां गोपानां गवां च तस्या अप्यगम्यं परमाश्चर्यरूपत्वं दर्शितं अन्या वसुदेवभार्याः ॥ ७ ॥ गर्भं भ्रूणं शेषाख्यं शिष्यत इति शेषोंशः स आख्या ख्यातिर्यस्य तं ममांशत्वेन ख्यातमित्यर्थः । मामकं सङ्कर्षणसंज्ञं धाम रूपं आधारशक्तिमयत्वेनाश्रयं वा सम्यक् अलक्षितं सुखपूर्वं च नितरां कृष्ट्वा ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

विवरेषु गिरिगुहासु ॥ ७-१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः भगवान् विश्वात्मा हेतुगर्भमिदं कंसाज्जातं निज आत्मा नाथो येषां ते यदूनां भयं ज्ञात्वा योगमायां स्वमायाधिष्ठात्रीं देवतामादिशदाज्ञापयामास ॥ ६ ॥ तदेवाह—गच्छेत्यादिना सन्दिष्टेवमित्यतः प्राक्तनेन । हे देवि ! भद्रे ! त्वं गोपैर्गोपीभिश्चालङ्कृतं श्रीनन्दव्रजं गच्छ तत्र गत्वा किं विधेयम् ? इत्यत्राह—नन्दगोकुले नन्दस्य गोकुले व्रजे वसुदेवस्य भार्या आस्ते

तथाऽन्याश्च तस्य भार्याः कंसात्संविग्ना भीताः तत्र तत्र विवरेषु पर्वतबिलादिषु प्रच्छन्ना वसन्ति ॥ ७ ॥ अधुना मामकं मदीयं शेषाख्यं धाम अंशं देवक्याः जठरे गर्भरूपेणावस्थितं तस्माद्देवकीजठरात्सन्निकृष्य सम्यग्बहिर्निष्कास्य रोहिण्या जठरे सम्यक् निवेशय अनेन रोहिण्यास्तनयः प्रोक्त इत्यादिप्राक्तनप्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वैष्णवं धाम विष्णुतेजः सन्निहितं हर्षशोकविवर्धन इति उत्पत्तिप्रस्रवणाभ्यामितिशेषः । हर्षं समेधयन् शोकमेधयन्निति वा ॥ ५-६ ॥ पर्वतविवरेषु ॥ ७-८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

शेषाख्यं ममांशत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः । तं सङ्कर्षणं मामकं धाम स्वरूपमाश्रयं वा ॥ ८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सप्तमो गर्भो बभूव यं गर्भमनन्तं प्रचक्षते कीदृशं वैष्णवं धाम कृष्णस्यांशमित्यर्थः । साक्षादानन्दस्य कुक्षिङ्गतत्वाद्धर्षः कंसो बधिष्यतीति बुद्ध्या शोकः ॥ ५ ॥ इदानीं स्वयं भगवान् कृष्णोऽपि योगमायां विमलादीनां चिच्छक्तिवृत्तीनां पञ्चमीम् ॥६॥ नन्दगोकुले रोहिण्यास्ते षड्गर्भवधानन्तरं रोहिण्या अपि जातं गर्भमालक्ष्य रहसि लोकद्वारा वसुदेवेनैव सा प्रेषिता कंसात् संविग्ना भीताः विवरेषु रहस्यस्थलेषु ॥ ७ ॥ मामकं धाम मदंशभूतं बलदेवस्वरूपं, कीदृशम् शेष इत्यंशेन आख्या यस्य "यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पतेः" इत्यग्रिमोक्तेः । अत एव तस्य रोहिणी नित्यमातृकत्वेऽपि देवक्या गर्भमत्प्रवेशानुरोधेनैव प्रथमं तेन प्रविष्टं ततः स्वांशं मन्निवासशय्यासनाद्यात्मकं शेषं तत्र देवकीगर्भे स्थापयित्वैव स्वस्मात् रोहिण्या गर्भे स्थापयेत्यर्थः । ननु, शुद्धसत्त्वस्वरूपायां भगवत्प्रकाशिकायां महाशक्तौ देवकीदेव्यां प्राकृतानां षड्गर्भाणां कथं प्रवेशः समुचितः ? भवति सत्यम् शुद्धसत्त्वस्वरूपे श्रीभगवति समष्टिव्यष्टीनां प्रविष्टत्वेऽपि यथा न तद्योगस्तथैव देवक्यामपि षड्गर्भाणामित्यर्थः । यदुक्तं "मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः । न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" इति किन्तु जनेषु भक्तिपरिपाटीप्रदर्शनार्थमेवेयं लीलाऽवगम्यते, तथाहि, भक्तजने श्रवणकीर्तनादिलक्षणा भक्तिस्तिष्ठति तद्गर्भ एव तदानुषङ्गिकफलभूतत्वात् षड्विषयभोगाश्च तिष्ठन्ति हन्त एतैरेव संसारान्धकूपे पतिष्यामीति ततः प्रकटीभूताद्भयात् कालेन ते निवर्त्तन्ते च ततो भगवद्यशःश्रवणकीर्त्तन-परिचर्यादिमयी भक्तिरिति प्रवृद्धा भवति तस्यां च भगवान् रूपगुणमहोदधिः प्रादुर्भवति भक्तेर्भगवत्प्रकाशकशुद्धसत्त्वस्वरूपत्वात् "भक्तिरेवैनं दर्शयति" इति श्रुतेः । एवमेव मरीचिर्मनसोऽभवदिति श्रवणान्मरीचेर्मनोऽवतारत्वं तत्पुत्राणां षण्णां शब्दादिति षड्विषयावतारत्वं देवक्या भगवत्प्रादुर्भावकत्वाद्भक्त्यवतारत्वं भयात् कंस इति श्रवणाद्भयमयत्वेन कंसस्य भयावतारत्वम् अतो भक्तिगर्भगतानां षड्विषयाणां यथा संसारभयमेव निवर्त्तकं तथैव देवकीषड्गर्भाणां कंसो हन्ता विषयनिवृत्तौ सत्यां यथा भक्तिगर्भे भगवद्यशः परिचर्यादिमयी प्रेमभक्तिरेव भवेत् तथैव देवक्यां षड्गर्भनिवृत्त्यनन्तरं सप्तमो गर्भो भगवद्योनिवासशय्यासन-च्छत्रादिरूपोऽनन्तः ततः प्रेमभक्त्याविर्भावानन्तरं यथा भगवत्साक्षात्कारो भक्तेरष्टमो गर्भस्तथैव देवक्याश्चाष्टमो गर्भो भगवानिति तत्त्वं द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वैष्णवं विष्णोर्व्यापकस्य परमपुरुषस्य धाम कला यं जनाः अनन्तं प्रचक्षते स वासुदेवस्य कलाभूतः श्रीसङ्कर्षणः षट्सु गर्भेषु हृतेषु सप्तमो गर्भो बभूव साधूनां हर्षविवर्द्धनः असाधूनां शोकविवर्द्धनः । यद्वा श्रीदेवक्या एवं संसर्गमात्रेणानन्ददातृतया बालघ्नं कंसं भयेन च हर्षशोकविवर्धनः ॥ ५-६ ॥ विवरेष्वलक्ष्यस्थानेषु ॥ ७ ॥ शेष इत्याख्या नाम यस्य तं मामकमित्यनेन सोऽपि सर्वं निर्गमनप्रवेशादिकं कर्तुं शक्त एव तथापि ममेच्छया देवकीगर्भप्रवेशानन्तरं भक्तवत्सलतया देवकीवसुदेवादिरूपैर्वर्त्त-मानानां स्वभक्तानां नियोज्यरूपेण मल्लीलां बालपौगण्डादिविहारात्मिकां संवर्द्धयितुं गुप्तैश्वर्यो देवकीगर्भेऽस्तीति सूचितम् । रोहिण्या उदरे सम्यक् वसुदेवसंयोगजः पाञ्चमासिकः षाण्मासिको वेति जनप्रत्ययकरणपूर्वकं निवेशयेत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

षड् गुणास्तेन बुद्ध्या हता इति धर्मस्थानभूतोक्षरात्मा समागतस्तस्यापि मारणमाशङ्क्य परिहरति वैष्णवमिति । **विष्णो-र्व्यापकस्य सर्वरक्षकस्य स्वरक्षायां सन्देहो नास्तीति** ज्ञापितम् । **सप्तम** एव परमावधिः । षड् गुणाः । सप्तमो धर्मी च तदाधारभूतः । पुरुषोत्तमस्तु ततो महान् । अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं **धामेति** । यतो लोका **यमनन्तं** कालात्मकमाचक्षते सोनन्तः सप्तमे पर्याये **गर्भः प्रकटो बभूव** । स चार्थप्रकटितानन्द इति **देवक्या** हर्षशोकविवर्धनो जातः । महानिति **हर्षः** । तादृशोपि मारणीय इति **शोकः** । प्रभावस्यादर्शनात् ॥ ५ ॥ एवं सति भक्तेषु दया स्थापितेति दयापरीतो भगवान् शीघ्रमुपायं कृतवानित्याह

भगवानिति। षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पूर्वापराधे प्रतीकारं कर्तुं सप्तमे स्पृष्टे तेनैव हननसम्भवात् प्रतीकारो न भविष्यतीति शीघ्रं च स्वयमागन्तुं तं गर्भमन्यत्र नेतुं **योगमायां समादिशत्**। या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा **योगमाया**। लोकानां दुःखपरिज्ञानार्थं **विश्वात्मेति**। यदूनां **कंसजं भयं विदित्वा**। सर्वस्यैव स्वरूपं जानाति किं पुनर्यादवानाम्? तेषामेव दुःखे सति प्रतीकारे **हेतुर्निजनाथानामिति**। निजः स्वयमेव नाथो येषाम्। केवलमिच्छयैव सर्वं न भवतीति दृष्टकारणार्थं **योगमायादेशः**॥ ६॥ आज्ञामेवाह **गच्छ देवी**ति नवभिः। प्रथमतो व्रजं गच्छ। तत्र गता स्वास्थ्यं प्राप्स्यतीति। मथुरायां दैत्यावेशात्। तेषां च भगवान् मायारूप इतीयमपि तत्र **प्रविष्टा** तेषामेव कार्यं साधयेत्। अतः केवलं देवाश्रितं गोकुलमेव गच्छेत्याज्ञा। यतस्त्वं देवतारूपा न दैत्यहितकारिणी। अतस्तथा सम्बोधयति। व्रजपदेन जङ्गमत्वमुक्तम्। अतः स्थावरान्नगरादुत्कर्षः। ननु तत्र स्थितानां देवानां मायागमने व्यामोहसम्भवाद् वैपरीत्यं स्यादितिशङ्कां वारयति भद्र इति। त्वं कल्याणरूपा। देवानां या देवता कल्याणरूपा। ऐहिकसुखदा। सा मुग्धैरत्यन्तं सम्मान्यत इति तदर्थमाह **गोपगोभिरलङ्कृतमिति**। गोपाश्च **गोपाः**। गोपाश्च गा श्च। ते उभये तस्य स्थानस्यालङ्करणभूतास्तरेव तत्रत्या शोभा। योन्यस्तिष्ठति स तु तदनुगुण एवेति तेषामप्रतिबन्धो निरूपितः। अतो दर्शनादेव तत्र सुखं निरूपितम्॥ तत्र गतायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह रोहिणीति। **वसुदेवस्य भार्या रोहिणी तत्रास्ते**। स्थितौ कः सम्बन्ध इत्यत आह नन्दगोकुल इति। नन्दसम्बन्धि**गोकुले**। अनेन नन्दवसुदेवयोर्भ्रातृत्वं द्योतितम्। अत्र पादद्वयमधिकं किमिति तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां निरूपितम्। **अन्याश्च स्त्रियो** वसुदेवस्यान्येषां वा। याः **कंससंविग्नाः** सत्यो **विवरेषु** गुप्तस्थानेषु **वसन्ति**। भयदशायां तथैव स्थितिर्युक्तेति हिशब्दार्थः॥ ७॥ ततः किमत आह **देवक्या** इति। **जठर** इति। इतरगर्भवैलक्षण्यार्थम्। तदिति प्रसिद्धम्। ततः **सन्निकृष्य रोहिण्या** उदरे सम्यङ् **निवेशय**। किं तद्गर्भरक्षायामित्याकाङ्क्षायामाह **शेषाख्यमिति**। **शेष** इत्याख्या यस्य। तस्मिन् **नष्टे भूमिरेव** निमग्ना भविष्यतीति। ननु तस्याकर्षणे नाशशङ्का स्यादित्यत आह **मामकं धामेति**। भगवत्तेजोरूपं भगवतोपि स्थानभूतं वा न नश्यतीति॥ ८॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

तर्हि हर्षवर्धनत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य तत्रोपपत्तिमाहुः **स चार्धमित्यादिना**। पुरुषोत्तमस्यैव पूर्णानन्दत्वान्मातुर्मनसि तदागमने तत्रानन्दाविर्भाव एवाभूत्। परस्य परं तादृशी नाभून्निरोधवशादिति सरस्वतीदृष्टान्तेन वक्ष्यते। अस्यानन्दमयत्वेपि **प्रभुसङ्गम एव पूर्णानन्दप्राकट्यकरणं** भवतीति तथा॥ ५॥ **गच्छ देवीत्यत्र**—स्थावरान्नगरादिति न गृणातीति **नगरमतः** स्थावरतुल्यम्। अभिमानेन स्तब्ध एव तीष्ठतीति तथा॥ ७॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सुबोधिन्यां **वैष्णवमित्याभासे—बुद्ध्येति**। भगवद्बुद्ध्या। **धर्मस्थानभूतो धर्माणां स्थानभूतः**। एतेन तेषामक्षरधर्मत्वं बोधितम्। पुरुषोत्तमधर्माणामनिवार्यत्वादिति। न 'चासन् मरीचेः षट् पुत्रा' इत्यादिगुणप्रकरणीयसन्दर्भविरोधः। 'तदेव' ब्रह्म कार्याकारेण भवतीति श्रुतेर्मत'मितिसिद्धान्तात् क्षरस्याक्षरधर्मतयाक्षरत्वनादोषाद्। विवृतौ **परमावधिरिति**। आनन्दमीमांसाद्युक्तोत्कर्षस्य **परमावधिरित्यर्थः**। तदेव विवृण्वन्ति **षडित्यादि**। **महत्त्वज्ञापनपरिकरमिदं** ज्ञेयम्॥ ५॥ **भगवानि**त्यत्राभासे—**दया स्थापितेति** 'प्रपन्नैर्पितया भृश'मिति तृतीयस्कन्धे स्पष्टमिदम्। **प्रतीकारो न भविष्यतीति**। परमानन्दप्राकट्याभावे सर्वदुःखनिवृत्तेरभावादित्यर्थः। **या जगदिति**। द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायसुबोधिन्यां स्पष्टमिदम्। **केवलमिच्छयैवेत्यादि**। 'स वै नैव रेमे' इत्यादिश्रुतिषु 'स तपो तप्यते'त्यादिसाधनान्तरनिर्देशदर्शनाद् भगवान् समर्थोपि स्वीयेच्छायां दृष्टं द्वारमन्यत् सम्पादयतीति निश्चितं तथात्र योगमायासमादेश इति नानुपपत्तिः। काचित्॥ ६॥ **गच्छ देवीत्यत्र—नवभिरिति**। अत्र प्रथमश्लोकः षट्पदीरूपो ज्ञेयः। **रोहिणीत्यत्र—किमिति तिष्ठतीति**। रोहिणीति शेषः। **आकाङ्क्षार्थमिति**। **अर्थो** निवृत्ति'मशकार्थो धूम' इतिवत्। **आकाङ्क्षायाम्**। अर्थो निवृत्तिर्यस्मात् तादृशमित्यर्थः॥ ७॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

भगवानित्यत्र—**प्रतीकारं कर्तुमिति पूर्वेषां** कीर्तिमदादीनामपराधे कृते सति प्रतीकारं तद्धन्तुः कंसस्य वधं कृत्वा'म्ब तातेतिसम्बोधनपूर्वकं वाक्यान्युक्त्वा 'मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुद'मितिश्लोकोक्तपुत्रपरिष्वङ्गादिमुज्जननं **कर्तुं योगमायां समादिशदित्यग्रिमेणान्वयः**। **भगवच्छक्तिरिति**। न तु सच्चिच्छक्ता क्रियाव्यामोहिके इत्यर्थः। इदं **शक्तित्रयं** द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये सुबोधिन्यां **स्फुटम्**॥ ६॥ सुबोधिन्यां **गच्छ देवीत्यस्याभासे—आज्ञामेवाहेति**। शुक इति शेषः। **'सन्दिष्टैव'**-मितिश्लोकोक्तकृतिराज्ञाकार्यत्वादाज्ञा। 'गर्भं' इति श्लोकोक्ताक्रोशो'प्यथाह'मित्यत्रोक्ताथशब्दविवरणमिति टिप्पण्यां विवृतत्वादाज्ञैवेत्येवकारः। **मध्यर्धमिति** तु तत्रैव वक्ष्यते। तथा च **नवभिः** श्लोकैः शुको भगवत्कृतामाज्ञामेवाहेत्यर्थः। व्याख्याने **तत्र गतेति** द्वितीयचरणस्य तात्पर्यार्थः सामान्यत उक्तः। इममर्थमग्रे विशदयन्ति **तदर्थमाहेत्यादिना**। एतादृश्यैहिकसुखदा मुग्धैरेव मन्यत इति हेतोस्तस्याः सम्माननसिद्ध्यर्थं तत्स्थाने मुग्धानां गोपानां स्थितिमाहेत्यर्थः। पदस्यार्थमुपसंहरन्त्यत इति। **मुग्धानां**

तत्र स्थितत्वात् तत्स्थानदर्शनादेव सुखं स्वास्थ्यं तव भविष्यतीति निरूपितमित्यर्थः। **पादद्वयमधिक**मिति नवसंख्यातोधिकमित्यर्थः ॥ ७ ॥ **देवक्या** इत्यत्र—**जठर** इतीति। **इतरेषां** षड्गर्भाणां जरायौ स्थितिरस्य त्वन्तर्वर्त्याकाशे जठरे निर्लेपतया स्थितिरितिवैलक्षण्यबोधनार्थं **जठर** इति पदमुक्तमित्यर्थः। **प्रसिद्धमिति** धामत्वप्रकारकप्रसिद्धवाचकत्वं तत्पदस्याभिप्रेत्य **धाम**विशेषणत्वेन नपुंसकलिङ्गोक्तेर्धामत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमदीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गोपगोभिरलङ्कृतमित्यत्र—गोपा गोप्यश्च गोपा इति। "पुमान्स्त्रिये"त्यनुशासनादेकशेषः। गोपैर्गोपीभिर्गोभिश्चालङ्कृतमित्यर्थः। व्रजे ह्यभिस्त्रिभिरलङ्करणम्। तत्र **गोपा** गावश्च स्वव्यवहारेण स्फुटं भूषयन्ति गोप्यस्तु साक्षाच्छ्रुतयो भगवतो लब्धवरा रासोत्सवसङ्गमाशया व्रजे स्थिता परस्परं गुणकथनचङ्क्रमणादिना घोषं भूषयन्ति। ता हि मुख्यतया व्रजस्य भूषणरूपाः। तदर्थमेव भगवदर्थमेव-भगवदाविर्भावस्य भावित्वात्। तासां व्रजभूषणत्वमपि गुप्तयैव गुप्तमेव शृङ्गाररसपद्धत्या ताभिः सह लीलानां भगवता चिकीर्षितत्वात्। इममर्थं गोपयितुमेकशेषवृत्त्या शुकेनोक्तं **गोपगोभिरलङ्कृत**मिति। **गोपा गोप्यश्च गोपा** इति विग्रहप्रदर्शनेन श्रीमदाचार्यैः सूच्यते **स्म**। तथा च मायामाज्ञापयन् भगवान् प्रकारं बाधयामास यैर्यथा व्रजो भूष्यते तत्र त्वं तदनुगुणभूयाधिकं भूषयेति। एवं सति गोपीभिर्गुप्ततया व्रजो भूषणीयस्त्वयापि तदनुगुणाभूय गुप्ततयाधिकं व्रजोलङ्करणीयः। तथा च मध्यस्थदूतीरीत्या गुप्ततया तदनुगुणीभूय स्थेयमितिगूढाशयो भगवतः। अतायमर्थः सुबोधिन्यां सूचितो **'योन्यस्तिष्ठती'**त्यादिना ॥ ७ ॥

बुभुत्सुबोधिका

बुद्ध्येति अजनशङ्कया हताः। राजभ्रमबुद्ध्या हताः। श्रीशुको वक्ति बुद्ध्येति। बुद्धिमानयं पदार्थान् जानातीत्यादिप्रतीत्या कंसबुद्धौ पदार्था हन्तव्यत्वेनोक्ताः। प्रतियोग्यभावयोः सामानाधिकरण्याद् धर्मस्थानभूतो व्यापकधर्मेषु गतेषु तद्भावात्मा दर्शनाविषयः धर्मस्थानभूतः अशेषविशेषशून्य अक्षरः शब्दात्मा। परमावधिरिति आनन्दमीमांसोक्तोत्कर्षस्यापि परमावधिः। शब्दार्थयोर्नित्यसम्बद्धयोर्वैलक्षण्यमाहुः पुरुषोत्तमस्त्विति। तत इति शब्दात्मकादक्षरात्। महान्, 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इतिवाक्यात्। कलात्मकमिति काल उपदेशे, काल आत्मा देहो यस्य। पर्याय इति निर्माणे 'पर्यायस्तु प्रकारे स्यात्, निर्माणेवसरे क्रमे' इति विश्वः। स चार्थेति टिप्पण्यां स्फुटम्। एवेति अक्षरयोगव्यच्छेदक एवकारः परं तादृशीति आनन्दमयी। वक्ष्यत इति 'सा देवकी'तिवाक्ये। अस्येति अक्षरस्य। प्रभुसङ्गम एवेति न तु विरहे। विप्रलम्भस्य विरहेर्ष्याप्रवासापालम्भादिपञ्चभावात्मकत्वात्। गणितानन्दप्राकट्यकरणमेव। तथेति अर्धप्रकटितानन्द इत्यर्थः। प्रभावस्येति सर्वरक्षकस्य। सुबोधिन्यां, स्वरक्षायां सन्देहो नास्तीति प्रभावस्य देवक्याऽदर्शनात् ॥ ५ ॥

भगवानित्यत्र एवं सतीति सप्तमस्य शब्दस्य हर्षशोकविवर्धनत्वेन भूभारहरणावश्यकत्वे सति, अर्थात्मा भगवानपीत्यन्वयः। ईक्षामनोहङ्कारातिरिक्तमायायाः श्रुतिविरुद्धत्वात् तद्ग्रहणं विना शरीराभवस्या 'त्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे' तिवाक्ये सिद्धान्ते मायाभावे यस्य देहस्य सम्बन्धाभावोक्तेर्न 'यत्र माये'त्यनेन 'प्रवर्तते यत्र रज' इत्यनेन च तत्र मायाभावादुभयसमाधानार्थं कृपात्वेन मायाविवक्षणात् तद्ग्रहणप्रकारमाहुः भक्तेष्विति। दयात्वेन माया भक्तेष्विति तत्र स्थापिता। अपहतपाप्मत्वाद्यतिरिक्तधर्माणां तत्र तत्र नियतत्वात्। 'प्रपन्नेपितया भृश'मिति तृतीयस्कन्धे स्पष्टम्। भक्तनिष्ठा माया बुभूषणा वैकुण्ठे गृहीता। 'यदा यदा हि धर्मस्ये' तिवाक्यात्। 'स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपरभ्यर्द्यमानेष्वकम्पितात्मे' तिवाक्याच्च। अथ 'मायाशबलितं ब्रह्मासी' दितिश्रुतेः। एवं दयापरीतो भगवान्। देहग्रहाणार्थमिति मर्यादा। शीघ्रमिति कृपाविष्टः साधनमिति तथा। षड्गुणैश्वर्येति षड्गुणदानार्थमैश्वर्यम्। तेन सम्पन्नः। किमर्थं सम्पन्न इत्यत आहुः पूर्वापराध इति। पूर्वेषां कीर्तिमदादीनां मारणे कृते प्रतीकारं तद्धन्तुः कंसस्य वधं कृत्वा 'म्ब ताते' तिसम्बोधनपूर्वकवाक्यान्युक्त्वा 'मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदमिति श्लोकोक्तपुत्रपरिष्वङ्गादिमुञ्जननं कर्तुं योगमायां समादिशदित्यन्वयः। स्पष्ट इति जन्मना स्पष्टे कृते। प्रतीकारो न भविष्यतीति परमानन्दप्राकट्याभावे सर्वदुःखनिवृत्तेरभावादितिभावः। या जगत्कारणेति द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायसबोधिन्यां स्पष्टमिदम्। दयात्वेन चिच्छक्तिः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणे निविष्टा वनमाला। तस्य चिद्रूपस्य माया या सा व्यामोहिका भिन्ना। सदंशस्य क्रियारूपा शक्तिः आनन्दस्य जगत्कारणभूतेति भगवतः आनन्दशक्तिः जगत्कारणभूता योगमाया। तेनाजस्यानन्दस्याविर्भाव इत्युक्तम्। आनन्द उपाधिर्जननेऽजस्य योगमायेति तेन युजिर् योग इत्यस्य रूपं योग इति। दुःखपरिज्ञानार्थं दुःखपरिज्ञानमुद्यमान्तर्गतम्। भयं विदित्वेति भयेन कश्चिद् भगवन्मयतां गतस्तत्र कारणभयसत्तया भक्तैः सह निगूढभावकरणं कर्तुं ज्ञानं विश्वभयस्य। विश्वात्मपदादक्षराभिन्नरूपेण वा विश्वभयज्ञानम्। 'अक्षराद् विविधसौम्यभावाः प्रजायन्त' इति 'यथाग्नेः क्षुद्रा' इति मुण्डकोपनिषदश्च। सर्वं न भवतीति आनन्दलीलायां न भवतीति। क्वचित् पुस्तके केवलमिच्छयव सर्वं भवतीति पाठः। अर्थस्तु स एव। सर्वमित्यस्येच्छारूपादृष्टकारणकमित्यर्थात्। अत्र साक्षात्सृष्टिरिति भेदः। 'निजनाथाना' मित्यत्र

निजपदादिच्छया श्रुत्युक्तेक्षया नारदपञ्चरात्रोक्तमहालक्ष्मीरूपयैव न त्वक्षरशक्त्या भगवद्रूपाधारे इत्यर्थश्च। योगमाययेति आनन्दशक्त्यादेशः ॥ ६ ॥

गच्छ देवीत्यत्र आज्ञामेवाहेति शुकनिर्देशमेवाहेत्यर्थः। 'सन्दिष्टं भगवते' तिवक्ष्यमाणवाक्यात्। आज्ञा तत्कार्यं सन्देशः सनिर्देश इति। 'गर्भं' इति श्लोकोक्ताक्रोशोऽप्य 'थाह' मित्यत्रोक्ताथशब्दविवरणमिति टिप्पण्यां विवृतत्वादाज्ञामेवेत्येवकारः। 'मध्ये अर्धं' मिति तु तत्रैव वक्ष्यते। अत्र प्रथमश्लोकः षट्पदीरूपो ज्ञेयः। तथा च शुको नवभिः श्लोकैः भगवत्कृतामाज्ञामेवाहेत्यर्थः। तत्र गत्वेति द्वितीयचरणस्य तात्पर्यार्थः सामान्यत उक्तः। इममर्थमग्रे विशदयिष्यन्ति तदर्थमाहेत्यादिना। दैत्यावेशादिति 'शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् हत्वा मधुवने चक्रे मथुरा नाम वै पुरी' मिति नवमस्कन्धाह्नवगावेशात् तथा। अत एव कंसे कालनेमिः। गोकुलमेवेति गोपगोभिर्मुख्यतयालङ्कृतमितिविशेषणाद् व्रजं गोकुलमितिभावः। व्रजं गच्छ गोस्थानमिति संहितयैवकारः। सम्बोधयतीति 'देवी' तिपदेन। व्रजतीति व्रज इति व्युत्पत्त्याहुः जङ्गमत्वमिति। व्रज गतौ। गोकुलाष्टके 'श्रीमद्गोकुलजीवात्मे'त्युक्त्या देहत्वात् तेन भक्तानां वैकुण्ठेऽक्षरात्मका ब्राह्मदेहाः। आधिदैविकवैकुण्ठस्य गोपगोकुलस्य वा जातित्वेन तत्र गमनसम्भवात् जनपदस्याकृतौ शक्तेः। अत इति उक्तशक्यतावच्छेदकात्। स्थावरादिति टिप्पण्यां स्पष्टम्। स्तब्ध एवेति व्रजो भगवच्छरीरत्वात् स्तब्धः पिप्पलादिवृक्ष इव। तथेति उत्कर्षेण वर्तत इति। सुबोधिन्यां, तत्रेति गोकुले। मुग्धैरिति मायाकार्यमोहाश्रयैः। गोपा गोप्यश्च गोपा इति 'पुमान् स्त्रिये' त्यनुशासनात् स एकशेषः। चकाराद् भगवद्देहत्वेन गोकुलाष्टकात्, चकारेण गोपा वा। द्वन्द्वस्यैकत्वात् चकारेणैकेन चारितार्थ्यात्। गोपैर्गोपीभिः स्वदेहत्वेन गोभिश्चालङ्कृतमित्यर्थः। लौकिकी भाषा। ते उभय इति पुंस्त्वाद् गोभिरित्यत्राप्येकशेषः। गावश्च गावश्च वृषाः गावः तैर्गोभिरिति। उभये। गोगोपाः शोभेति यथा घटो घटत्वेन शोभते। सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय इदि वाक्यपदीयात् व्रजे नान्या जातिः। वैकुण्ठो गोलोक इति पर्यायशब्दौ। जीवरहितो देहो न शोभत इति घटत्वादिभिरेव घटादीनां शोभेति तैरेवेत्यत्रैवकारः पूर्वोक्तः। तदनुगुण एवेपि गोपगोपीगवानुगुणः। यमुनाजलं पानार्थं वृक्षाश्छायार्थं तृणा भक्षणार्थं स्थलमुपवेशनार्थमित्येवम्। 'गोपा गोप्यश्च नः कु'र्विति कृष्णं प्रति सुरश्रुतिवाक्यादेवकारः। तेषामिति तत्रस्थानाम्। अत इति शक्यतावच्छेदकबलात् मुग्धानां तत्र स्थितत्वात् तद्दर्शनादेव सुखं स्वास्थ्यं तव भविष्यतीति निरूपितमित्यर्थः। अनेनेति नन्दस्य राजविरोधिसङ्ग्राहकत्वेनेत्यर्थः। 'उत्पथेन तु गच्छन्तं सोदरोपि विमुञ्चती'तिवाक्यात्। 'भ्रातरं नन्दमागत'मिति पञ्चमाध्यायीयवाक्यात्। वसुदेवपुत्रो नन्द इति नवमस्कन्धे। तत्त्वं न द्योतितम्। विशेषणस्य 'भ्रातर'मित्यस्य व्यावर्तकत्वात्। ननु 'नवभि'रित्यत्र सार्धनवभिरितिवक्तव्ये प्रतिज्ञाहानिरूपनिग्रह स्थानमिति चेत् तत्राहुः अत्र पादद्वयमिति। अत्रेति श्लोके, नवश्लोकीत्वात्। पादद्वयमिति नवसङ्ख्यातोधिकम्। किमितीति रोहिणी किमिति तिष्ठतीत्याकाङ्क्षानिवृत्तिर्यथा भवति तथा। निवृत्त्यर्थेथशब्दः। अन्या वसन्तीति रोहिण्यपि तिष्ठतीति किमिति तिष्ठतीत्याकाङ्क्षानिवृत्तिः। आकाङ्क्षार्थं वा, अग्रे प्रासङ्गिकमुक्तं, तत्र आकाङ्क्षानिवृत्तिः ॥ ७ ॥

अन्याश्चेत्यत्र गुप्तस्थानेष्विति गुप्तेषु स्थानेषु। 'गुप्तं रक्षितगूढयो'रिति विश्वः। स्थितिरिति वसन्ति स्थितिं कुर्वन्ति। ततः किमिति वासकथनस्याकाङ्क्षायाः किं प्रयोजनम्। अतः प्रयोजनकथाद्धेतोः प्रयोजनमाहेत्यर्थः। इतरगर्भेति इतरेषां षड्गर्भाणां जरायौ स्थितिरस्य त्वाकाशेन्तर्वर्तिनि जठरे निर्लेपतया स्थितिरितिवैलक्षण्यबोधनार्थं विकृतजठरपदमुक्तम्। एवं विकृतत्वं, जायतेत्र जन्तुरिति जठरः। 'जने ररष्ठ चे'तिसूत्रेणान्त्यस्य नकारस्या'लोन्त्यस्ये'तिसूत्रेण ठादेशः अरषप्रत्ययश्चेति प्रकृतिविकृतिरिति। यद्वा जठर इतरगर्भवैलक्षण्यार्थं तदित्यव्ययमित्यर्थः। प्रसिद्धमिति धामत्वेन प्रसिद्धिविषयम्। धाम तेजः स्थानं वेत्याशयेनाहुः भगवत्तेज इति। स्थानभूतमिति शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धात् नान्य आश्रयः ॥ ८ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

कंस ने देवकी के जो छ पुत्र मारे थे, वे भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश श्रीज्ञान और वैराग्य छ गुण रूप थे। किन्तु कंस ने उनको भगवद्रूप समझकर मारे थे। [लेकिन यह कंस की भ्रांति थी। भगवान् के छ गुण भगवद्रूप होने से भगवान के समान है उनको कोई मार सकता नहीं है। परंतु वास्तविक रहस्य यह है कि ब्रह्माजी के पुत्र प्रजापति श्री मरीचि नामक ऋषि थे उनके छ पुत्रों ने ब्रह्माजी का उपहास किया था। और ब्रह्मा जी ने असुर योनि में जाने का शाप दिया था आज वे आसुर भाव लेकर देवकीजी के उदर में आये थे भगवान ने कंस के हाथ से मरवा कर आसुर भाव का नाश कराया था भगवद् धर्मों का नाश नहीं हुआ था]। देवकी के गर्भ में सातवें बालक धर्मी, अर्थात् गुणों के स्थानभूत आश्रय अक्षर स्वरूप पधारे थे। उनको भी कंस मारेगा, यह शङ्का इस लिए नहीं है कि सप्तमी 'वैष्णव' धाम यह सातवाँ गर्भ व्यापक विष्णु का स्वरूप है। वह सबकी रक्षा करता है, जो सबकी रक्षा कर सकता है वह अपनी रक्षा करे यह बात बताई। संशय यह है कि सप्तम गर्भ अक्षरात्मा होने से यहाँ तक ही आनन्द की गणना की सीमा हुई है। तैतिरीय उपनिषद् में **'सैषा आनन्दस्य मीमांसा'** श्रुति वाक्य से आनंद की गणना की गई है, वहाँ मनुष्य के आनन्द से लेकर आखिर में प्रजापति के शत आनन्द के समान अक्षर ब्रह्म का आनन्द है। यह कह कर यहाँ तक ही आनन्द की गणना हो सकी है। यह बताया है। छ बालक गुण रूप धर्म हैं। उन छ धर्मों का आश्रय

स्थान सातवां बालक अक्षर स्वरूप होने से धर्मी हैं। पुरुषोत्तम स्वरूप तो उससे महान् है। अतः यह सातवाँ गर्भ पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं है। इसका ज्ञान कराने के लिए श्लोक में सातवें गर्भ के लिए 'धाम' शब्द दिया है। इस धाम शब्द का अर्थ है पुरुषोत्तम का 'निवास स्थान' अथवा पुरुषोत्तम का वा 'चरण रूप' जिस धाम को लोक अनन्त, कालात्मा भी कहते हैं। वह अनन्त सातवें गर्भ में प्रकट हुआ। उस अनन्त स्वरूप में आनन्द को पूर्ण रूप से प्रकट न करके उसमें आधा ही आनन्द प्रकट किया है। अतः देवकी को हर्ष भी हुआ और शोक भी हुआ। हर्ष इसलिए हुआ कि वह धर्मी स्वरूप अनन्त महान् है और शोक इसलिए हुआ कि छ बालकों के समान कदाचित् कंस दुष्ट है अतः इस सप्तम को भी न मार डाले। यह भ्रम इसलिए हुआ कि देवकी ने इस स्वरूप का प्रभाव अब तक देखा नहीं था ॥ ५ ॥

एवं सति भक्तेषुदया स्थापितेति दयापरीतो भगवान् शीघ्रमुपायं कृतवानित्याह भगवानिति।

इस प्रकार देवकीजी को हर्ष तथा शोक एवं यादवों के दुःख को देखकर, भगवान् के हृदय में भक्तों पर दया आई, और दयानिधि भगवान ने अपने शीघ्र प्राकट्य होने के लिए उपाय किया उसका वर्णन करते हैं।

षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण जी स्वयं हि कि कंस के किये हुए पूर्व के अपराधों का प्रतीकार करना चाहते थे इसलिए अपने शीघ्र प्राकट्यार्थ, उस सप्तम गर्भ को रोहिणीजी में स्थापन करने के लिए योगमाया को आदेश दिया। भगवान् योगमाया को ऐसा आदेश देते तो सप्तम गर्भ का प्राकट्य कारागृह में देवकी के यहाँ ही होता और कंस अवश्य उनको सामान्य पुत्र मानकर मारने के लिए हाथ से अवश्य स्पर्श करता, तब तो स्पर्शमात्र से ही कंस का नाश हो जाता। भगवान ने सोचा यदि ऐसा हुआ तो मैं प्रतिकार ले न सकूँगा और शीघ्र प्रकट भी नहीं हो सकूँगा। ऐसा निर्णय कर योगमाया को आपने आदेश दिया। जो जगत् के उत्पन्न करने में कारणभूत भगवच्छक्ति है उसी का ही नाम 'योगमाया' है। यमुनाजल में स्नान करते हुवे अक्रूरजीने भगवद् दर्शन पाया और स्तुति करने लगे तब द्वादश प्रकार की भगवान की शक्तियों का वर्णन किया उसमें 'माया' नामक एक शक्ति बताई। वह शक्ति तीन प्रकार की है। उसमें जगत् कारणभूत शक्ति का नाम योगमाया है। व्यामोहिका जो शक्ति है वह चिद्रूपा है और जो वह मायापति भगवान् समग्र विश्व की आत्मा है इस लिए सकल लोकों के दुःखों को भी जानते हैं। जब सर्व के दुःखों को तथा स्वरूपों को जानते हैं तो कंस से प्राप्त यादवों के दुःखों को जाने, इसमें कोई संशय नहीं है। उनके दुःखों का प्रतीकार आप करने लगे। उसका कारण यह है कि आप यादवों के नाथ हैं। यद्यपि भगवान् सर्व समर्थ होने से केवल इच्छा से भी सभी कार्य कर सकते हैं। सप्तम गर्भ को भी इच्छा मात्र से अन्यत्र पहुँचा सकते थे किन्तु कार्य करने में प्रत्यक्ष कारण, अन्य होना चाहिए, अतः 'योगमाया' को आज्ञा देकर प्रत्यक्ष कारण दिखाया ॥ ६ ॥

आज्ञामेवाह—इस श्लोक से नव श्लोक में मथुरा में दैत्य का आवेश है। इसलिए प्रथम भगवान् योगमाया को आदेश करते हैं कि आप व्रज में जाइए। वहाँ आपको सुख होगा। दैत्यों के भगवान् माया रूप है। जो माया मथुरा में रहेगी तो दैत्यों का कार्य सिद्ध कर देगी। इसलिये माया को कहा कि आप देवाश्रित गोकुल में जाइए। कारण कि आप देवता रूप होने से दैत्यों की हितकारिणी नहीं है। इसलिए भगवान् ने श्लोक में योगमाया को हे देवि! ऐसा संबोधन दिया है। 'गोकुल' के लिये व्रज शब्द का उपयोग कहकर यह बताया है कि गोकुल जड़ नहीं है किन्तु चेतन रूप है। इसलिए स्थावर जड़रूप नगर से व्रज की चेतनता से उत्तमता दिखलाई है। यदि 'माया' व्रज में आयेगी तो वहाँ के रहने वाले देवों को मोहित करेगी इस शङ्का की निवृत्ति के लिए श्लोक में 'माया' को 'भद्रे' विशेषण दिया है। यहाँ भद्रे संबोधन का मर्म यह है कि वह माया देवों की भी देवता होने से कल्याणमयी है। इस लोक के सुखों को देने वाली है। इस माया का सरल स्वभाव वाला जीव बहुत सन्मान करते हैं। व्रज में गोप, गोपी और गौ रहते हैं वे सरल हैं इसलिए माया का वहाँ सन्मान विशेष होगा। अतः भगवान् ने माया को व्रज में जाने की आज्ञा दी। ये गोपादि व्रज के अलङ्कार हैं इन्हीं से व्रज अलंकृत माना गया है। गोप आदि के विना अन्य भी जो लोग रहते हैं उन पर भी गोपादिकों का प्रभाव रहता है जिससे उन अन्यों से शोभा में किसी प्रकार की अड़चन नहीं है अतः व्रज के दर्शन मात्र से ही वहाँ सुखप्राप्ति होती है यह निरूपण किया है यहाँ जो **गोपगोभिरलंकृतं** पद है उसकी व्युत्पत्ति **गोपाश्च गोप्यश्च गावश्चेति गोपगोपीगावस्ताभिः गोपगोभिः** ऐसा एक पद समास करके बना है वहाँ मध्यम पद लोपी समास होने से मध्य का गोपी शब्द लुप्त हो गया है। वह लोप सूचन करता है कि जैसे यहाँ 'गोपी' शब्द लुप्त होकर रहा है वैसे ही व्रज में गोप गैयां व्यक्त रूप से और गोपी जन अव्यक्त रूप से व्रज के अलंकार है ॥ ६३ ॥

तत्र गतायाः मायायाः किं प्रयोजनम्-व्रज में जाने का माया का क्या प्रयोजन था? इसका समाधान इसी श्लोक में करते हैं। कि वसुदेवजी की भार्या रोहिणी नंदगाँव गोकुल में रहती है कारण कि गोकुल श्री नन्दजी का गाँव है इससे यह बताया कि वसुदेव और नन्द का परस्पर भ्रातृत्व सम्बन्ध है इस सम्बन्ध से ही रोहिणी वहाँ रहती है। श्री वसुदेवजी को जो अन्य स्त्रियां थी तथा अन्य यादवों की जो स्त्रियां थी वे कंस के भय से गुप्त स्थानों में रहती हैं। भय की दशा में गुप्त स्थानों में रहना चाहिए यह भाव 'हि' अव्यय से सूचित किया है ॥ ७ ॥

ततः किमत आह—भगवान ने आज्ञा की उसके बाद क्या हुआ उसका वर्णन करते हैं। सत्र गर्भ माता के गर्भाशय में स्थिति करते हैं किन्तु यह सातवां गर्भ माता के अन्दर रहे हुए जठराकाश में स्थित हुआ है कारण कि अन्य गर्भ से यह वैष्णवधाम विलक्षण स्वरूप गर्भ है। यहाँ संकेत जो श्लोक में 'तत्' शब्द है उससे सूचित किया है कि यह गर्भ मेरा धाम होने से प्रसिद्ध ही है। देवकी के जठर से इनको खींचकर रोहिणी के उदर में स्थापित करना। यहां से रोहिणी के उदर में स्थापित करने का कारण कंस से इनकी रक्षा करना है यदि कंस इनको नाश कर दे तो भूमि किसके आधार पर ठहरेगी ? इसलिये ऐसा करना आवश्यक है। हे योगमाये यह गर्भ मेरा तेजस्वरूप तथा धामरूप है अतः खींचने से इसका स्वरूप नाश न होगा। इसलिये नाश की शङ्का करना व्यर्थ है ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यमनन्तं प्रचक्षते वृद्धाः कथयन्ति स वैष्णवं विष्णोर्धाम तेजोंऽशो देवक्याः सप्तमो गर्भो बभूव। स च तस्या हर्षशोकविवर्धनः आनन्दांशस्यावतीर्णत्वाद्धर्षः पूर्वगर्भसाधारणदृष्ट्या कंसकर्तृकमारणभयाच्च शोकः ॥ ५ ॥ भगवानपि निज. स्वयं नाथः स्वामी येषां तेषां यदूनां कंसजं भयं विदित्वा योगमायां स्वशक्तिभूतां समादिशत् आज्ञापयामास। भयज्ञाने हेतुमाह— विश्वात्मेति। सर्वसाक्षीत्यर्थः ॥ ३ ॥ आज्ञामेव दर्शयति—गच्छेति सार्धैः सप्तभिः। देवानां भद्रं मयाऽवश्यं कर्तव्यं, तत्सम्पादयेति सूचयति—सम्बोधनद्वयेन। हे देवि ? हे भद्रे ! त्वं व्रजं गच्छ। गमनयोग्यत्वं सूचयन् व्रजं विशिनष्टि—गोपैर्गोभिश्चालङ्कृतमिति। तत्र नन्दस्य गोकुले व्रजे वसुदेवस्य भार्या रोहिणी आस्ते ॥ ७ ॥ न केवलं सैव तत्रास्ते, किं तु अन्या अपि वसुदेवभार्या हि यस्मात् कंसात् संविग्ना भीता अतो विवरेषु देशान्तरेष्वलक्ष्यस्थानेषु प्रच्छन्ना वसन्ति। तत्र गत्वा मया किं कार्यमित्यपेक्षायामाह–देवक्याम् इति। देवक्या जठरे स्थितं शेषाख्यं गर्भं ततः सन्निकृष्य सम्यग्बहिर्निष्कास्य रोहिण्या उदरे सम्यङ्निवेशय। ननु आकृष्यमाणो गर्भः कथं जीवेत्तत्राह—मामकं धामेति। मदीयमंशभूतमित्यर्थः। अतो न मरणं शङ्कनीयमिति भावः। अनेन रोहिणीदेवक्योर्गर्भसम्बन्ध एकस्यैव रामस्य कथमित्यस्याक्षेपस्योत्तरं दत्तं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

हतेष्विति सार्द्धम्। औग्रसेनिना कंसेन देवक्याः षट्सु बालेषु हतेषु सत्सु वैष्णवं धाम विष्णोः कला एव देवक्या हर्षशोकविवर्द्धनः सप्तमो गर्भो बभूव। आनन्दरूपस्यावतीर्णत्वाद्धर्षो पूर्वगर्भसाधारणदृष्ट्या शोकः यं गर्भगतं सात्वताः अनन्तं प्रचक्षते ॥ ५ ॥ भगवानिति ॥ विश्वस्यात्मा भगवानपि निजा वासुदेवादयो नाथा येषां निजेषु भक्तेषु नाथानां श्रेष्ठानामिति वा। निजः भगवानेव नाथो येषामिति वा। यदूनां कंसजं भयं ज्ञात्वा योगमायां विमलादीनां नवानां चिच्छक्तीनां पञ्चमीं समानिशत् ॥ ६ ॥ गच्छेति ॥ हे देवि भद्रे मङ्गले ! गोपैर्गोभिश्चालंकृतं व्रजं गच्छ। वसुदेवस्य भार्या रोहिणी नन्दगोकुले आस्ते। षड्गर्भवधानन्तरं रोहिण्या अपि जातं गर्भमालक्ष्य रहसि लोकद्वारा वसुदेवेनैव सा प्रेषिता इति सारार्थसंदर्शिनी ॥ ७ ॥ अन्या इति सार्द्धम् ॥ न केवलं रोहिण्येव गता किन्तु कंसात् संविग्ना भीताः अन्या अपि हि वसुदेवभार्याः विवरेषु अलक्ष्यस्थानेषु वसन्ति। देवक्या इति देवक्या गर्भे विद्यमानं गर्भं शेषाख्यं मामकं धाम अंशं कर्म तत ततो देवकीजठरात् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय। कंसकर्तृषड्गर्भवधादिलीला च जनेषु भक्तिपरिराटीप्रदर्शनार्थो। तथा हि ! मरीचिर्मनसोऽभवदिति श्रवणान्मरीचेर्मनोऽवतारत्वम्। तत्पुत्राणां षण्णां शब्दादिषड्विषयावतारत्वं देवक्या भगवत्प्रादुर्भावकत्वाद् भक्त्यवतारत्वम्। भयात् कंस इति श्रवणात् भयमयत्वेन कंसस्य भयावतारत्वम्। अतो भक्तिगर्भगतानां षड्विषयाणां यथा संसारभयमेव निवर्त्तकं तथैव देवकीषड्गर्भाणां कंसो हन्ता विषयनिवृत्तौ सत्यां यथा भक्तिगर्भे भगवद्यशःपरिचर्यादिमयी प्रेमभक्तिरेव भवेत् तथैव देवक्यां षड्गर्भनिवृत्त्यनन्तरं सप्तमो गर्भो भगवद्यशोनिवासशय्यासनच्छत्रादिरूपोऽनन्तः ततः प्रेमभक्त्याविर्भावान्तरं यथा भगवत्साक्षात्कारो भक्तेरष्टमो गर्भस्तथैव देवक्याश्चाष्टमो गर्भो भगवानिति तत्त्वं द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

भगवानिति। ततः विश्वात्मा सर्वान्तरात्मा भगवान् षाड गुण्यपूर्णः स्वयं पुरुषोत्तमः अपि, निजः स्वात्मा नाथः स्वामी येषां तेषां यदूनां, कंसजं भयं, विदित्वा ज्ञात्वा, योगमायां स्वमायाधिष्ठात्रीं देवतां, समादिशदाज्ञापयामास ॥ ५ ॥ तदाज्ञापनमेवाह गच्छेत्यदिना संदिष्टैर्वाक्यैः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। गच्छेति। हे देवि, हे भद्रे मङ्गलरूपे, गोपगोभिः गोपैर्गोभिश्चेत्यर्थ। अलंकृतं मण्डितं, व्रजं, नन्दव्रजं गच्छ। तत्र गत्वा मया किं विधेयमित्यत्राह। नन्दगोकुले नन्दव्रजे, रोहिणी रोहिण्याख्या, वसुदेवस्य भार्या पत्नी, आस्ते। ननु सैकैव तत्रास्ते तर्ह्यन्याः क्व स्थितास्तत्राह। अन्याश्च अन्या अपि, रोहिणीवद्देवेति शेषः। कंससंविग्नाः कंसाद्भीताः सत्यः, विवरेषु पर्वतबिलादिष्वलक्ष्यस्थानेषु, वसन्ति। प्रच्छन्नं यथा तथेति शेषः ॥ ६ ॥ देवक्या इति। मामकं मदीयं, अधुनेति शेषः। शेषाख्यं शेषसंज्ञं, धामांशः, देवक्याः जठरे, गर्भं गर्भरूपेणावस्थितं भवति। तत् संन्निकृष्य सम्यग्बहिर्निष्कास्य, रोहिण्याः उदरे जठरे, संनिवेशय सम्यक् निवेशय। अनेन' रोहिण्याख्यंतनयः प्रोक्तः' इत्यादि प्राक्तनप्रश्नोत्तरमुक्तम्। नन्दगर्भाया

रोहिण्या नन्नगृहे गमनादकाण्डं तस्यां चातुर्मासीयगर्भेक्षयाऽन्येषां शङ्कोदयः स्यादिति चेदस्या नन्दव्रजयानतः प्राक् सगर्भाया अपि गर्भो गदसंचारतो हि शुष्कतां प्राप्तः स च कालेनार्द्रीभूत इति किंवदन्त्यभूत्ततोऽन्येषां शङ्कोदयो न जात इति बोध्यम् ॥७॥ किमर्थमेवं कार्यमित्यत आह। अथेति। अथ अनन्तरमेव, हे शुभे शोभने अहम् अंशः मदंशः पुरुषस्तस्य भागोंऽशभूतः संकर्षणस्तेन सह, यद्वा अंशैः शक्तिभिः ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान् सर्वान् भजतेऽधितिष्ठति इत्यंशभागस्तेन परिपूर्णेन रूपेणेत्यर्थः। यद्वा। अंशैर्ज्ञानैश्वर्यबलादिभिर्भाजयति स्वीयान् योजयतीति तथा तेनेति। यद्वा अंशेन पुरुषरूपेण भागो माया या ईक्षणरूपं भजनं यस्य तेन, यद्वा। अंशेन मायया भागा गुणावतारादिरूपा भेदा यस्य तेन, यद्वा। अंशा मत्स्यकूर्मादिरूपास्त एव भागा भजनीया न तु साक्षात् स्वरूपं यस्य तेन, यद्वा। अंशैर्ज्ञानबलादिभिर्भजनं भक्तेष्वनुवर्त्तनं यस्य तेन, सर्वथा परिपूर्णेन रूपेणेति विवक्षितं 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्युक्तत्वात्। देवक्याः पुत्रतां सुतत्वं प्राप्स्यामि। त्वं नन्दपत्न्यां यशोदायां, भविष्यसि संभविष्यसि ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सप्तम इतिः १०.२.५.

विचित्रदोहदोद्बोधि-गर्भावस्थित्यवेक्षणात्। सहर्षा देवकी युक्तं खिन्ना चारिकृतेक्षणात् ॥ ३ ॥

कृष्णप्रिया

हिन्दी अनुवाद—तब जिसको अनन्त कहते हैं वे भगवान् विष्णु के धाम शेषजी, श्री देवकी के हर्ष और शोक को बढ़ाने वाले होकर देवकी जी के गर्भ में पधारें ॥ ५ ॥ विश्वात्मा भगवान् स्वयं यादवों के नाथ हैं। भगवान् ने उन यादवों का कंसकृत भय जान कर योगमाया को आदेश दिया ॥ ६ ॥ हे भद्रे! हे देवि! हे योगमाया जी आप गोप, गोपीजन एवं गोधन से समलंकृत व्रज में पधारें ॥ ६३ ॥ श्री वसुदेवजो की भार्या रोहिणी जी नन्दराय जी के गोकुल में है। कंस के त्रास से पीडित अन्य वसुदेवजी की स्त्रियाँ एवं अन्य स्त्रियाँ भी भूगर्भ में वास करती हैं ॥ ७ ॥ और योगमाये! श्री देवकीजी के जठर में शेष संज्ञा-नाम वाले जो मेरे धाम विराजते हैं, उनको आप देवकी जी में से अच्छी तरह निकाल कर श्रीरोहिणी जी के उदर में पधरावें ॥ ८ ॥

[1]अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे। प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥ ९ ॥
अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां [2]सर्वकामवरेश्वरीम्। [3]धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम् ॥१०॥
नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि। दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥११॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च। माया [4]नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥१२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे शुभे! अथ अहं अंशभागेन देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि त्वं नन्दपत्न्यां यशोदायां संभविष्यसि ॥ ९ ॥ सर्वकामवरेश्वरीं सर्वकामवरप्रदाम् त्वां मनुष्याः धूप-उपहार-बलिभिः अर्चिष्यन्ति ॥ १० ॥ च भुवि नराः स्थानानि कुर्वन्ति च दुर्गा इति भद्रकाली इति विजया इति वैष्णवी इति कुमुदा इति चण्डिका इति कृष्णा इति माधवी इति कन्यका इति माया इति नारायणी इति ईशानी इति शारदा इति अम्बिका इति च नामधेयानि कुर्वन्ति ॥ ११-१२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किमर्थमेवं कार्यमित्यत आह—अथेति। अनंतरमेवेत्यर्थः। अंशभागेनेति। अंशैः शक्तिभिर्भजतेऽधितिष्ठति सर्वान्ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतानित्यंशभागस्तेन परिपूर्णेन रूपेणेत्यर्थः। यद्वा अंशैर्ज्ञानैश्वर्यबलादिभिर्भाजयति योजयति स्वीयानिति यथा तेनेति। यद्वा अंशेन पुरुषरूपेण मायाया भागो भजनमीक्षणं यस्य तेन। यद्वा अंशेन मायया गुणावतारादिरूपा भागा भेदा यस्य तेन। यद्वा अंशा एव मत्स्यकूर्मादिरूपा भजनीया न तु साक्षात्स्वरूपं यस्य तेन। यद्वा अंशैर्ज्ञानबलादिभिर्भजनमनुवर्तनं भक्तेषु यस्य तेन सर्वथा परिपूर्णेन रूपेणेति विवक्षितम् "कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्" इत्युक्तत्वादिति। तां प्रोत्साहयति त्वं यशोदायामिति त्र्यक्षरोनसार्धचतुष्टयेन ॥ ९ ॥ सर्वान्पुत्रादीन्कामयंते ये तेषां वरामीश्वरीं श्रेष्ठां नियंत्रीमर्चकानां सर्वान्कामवरान्प्रददाति या ताम् ॥ १०-१२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवं गर्भसंकर्षणमित्यर्थः। अथेत्यव्ययस्य मंगलादिरूपबह्वर्थकत्वादनंतरार्थमेवात्र ग्राह्यमित्याह—अनंतरमेवेति। पूर्वव्याख्याने शक्तिभिरित्युक्तेः काः शक्तय इति जिज्ञासोत्पत्तेर्ब्रह्मादिषु कथंचिच्छक्तिदर्शनेऽपि स्तंबादिषु तददर्शनाच्च स्वरसप्रतीतेः

१. हं स्वांश-विज. २. कर्मवरेश्वरीम्-इति कस्यचित् कामप्रदेश्वरीं-वीर.। ३. नामोप-वीर. विज.। ४. शाना-वीर. विज.।

पुनराह—यद्वेति। इहापि स्त्रीत्वानित्युक्तेः। पक्षपातित्वेन वैषम्यनैर्घृण्ययोः प्रतीतेररुच्या पुनराह—यद्वेति। इहापि पुरुषरूपेणेत्युक्तेर्जीवस्यापि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च" इति श्रीमुखोक्तेः। पुरुषरूपत्वेन मायाभागित्वं स्यात्। किञ्च भागशब्दस्येक्षणार्थे वृत्तेरदर्शनादप्यस्वरसप्रतीतेः पुनराह—यद्वेति। इहापि मायासंबंधप्रतीतेर्भायिकत्वमायाति तादृशस्य तु न सर्वथा परिपूर्णत्वं सेत्स्यतीत्यरुच्या पुनराह—यद्वेति। न तु साक्षात्स्वरूपम्। "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिश्रुतेर्वाङ्मनसाऽगोचरत्वात्। तेन निर्गुणं स्वरूपं लभ्यते तत्र चांशादिकल्पनमप्ययुक्तमयोग्यत्वात् योग्य एव पृथिव्यादावंशयंशादिकल्पना दृश्यते नायोग्ये वियदादाविति अतोऽयमर्थोऽपि न तोषकर इत्यरुच्या पुनराह—यद्वेति। इह भक्तेष्वित्युक्तेऽपि रागद्वेषादयस्तत्र नैवोह्याः कल्पवृक्षादिवदिति। सर्वथा सर्वप्रकारेण। तां योगमायाम्। प्रोत्साहयति सोत्सहां करोति—त्वमित्यारभ्योच्छ्रय दित्यंतेन सार्द्धचतुष्कश्लोकेन ॥ ९ ॥ नियंत्रीं प्रेरिकां स्वामिनीमिति यावत् ॥ १० ॥ नामधेयानि नामानि। दुःखेन गम्यते प्राप्यत इति दुर्गा। भद्रं कल्याणं कलयति सृजति भक्तानामिति भद्रकाली। यद्वा—भद्रा मंगलरूपा चासौ काली नीलरूपेति भद्रकाली। विजया सर्वदुःखानि सर्वदुष्टदैत्यान्वेति विजया। विष्णोरियं शक्तिर्वैष्णवी ॥ ११ ॥ कौ भूमौ मुद्धर्षोऽनयेति कुमुदा शत्रुषु चडति कोपं करोतीति चंडिका। 'चंडि कोपे'। सदानंदरूपत्वात्कृष्णा कृष्णभगिनीत्वाद्वा। 'अदृश्यतानुजा विष्णोः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। "नंदगोपगृहे जाता यशोदागर्भसंभवा" इति मार्कंडेयाच्च कृष्णवर्णत्वाद्वा कृष्णेति। मधुवंशे जातत्वान्माधवी मधोर्भगवतो भगिनीत्वेन दयितत्वाद्वा माधवी। कं सुखं नयति प्रापयति दुष्टदैत्यनाशनेन सर्वं जगदिति कन्या 'जगत्स्वास्थ्यमतीवाप' इति मार्कंडेयोक्तेः। 'णीञ्—प्रापणे' अतः कः। यद्वा—कनति तत्तद्रूपेण द्योतसे सर्वत्रेति कन्या 'कनी—दीप्तौ' कन्यैव कन्यका। स्वार्थे कप्रत्ययः। मायः पीतांबरेऽपि स्यात्' इति कोशान्मायस्येयं माया। मीयते कार्यान्यथानुपपत्त्या ज्ञायते इति माया। अघटनघटनापटीयसी भगवच्छक्तिः। तद्रूपा नारस्य जनसमुदायस्यायनं प्रवृत्तिर्यया सा नारायणी "जलायना नराधारा समुद्रशयनाऽपि वा। नारायणी समाख्याता नरनारीप्रवर्त्तिका ॥" इति देवीपुराणोक्तरीत्या नारायणीपदं व्याख्येयम्। ईष्टे इतीशाना। सर्वेश्वरी सर्वदेवस्तुत्यत्वात्। तथात्वम् 'शक्रादयः सुरगणाः' इत्यादिना 'देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे' इत्यादिना च मार्कंडेये स्फुटतरम्। शीर्यते ज्ञानेनेति शारः संसारः। 'शॄ—हिंसायाम्' तं द्यति खंडयतीति शारदा 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये। सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥" इत्युक्तेः। "या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता च" इत्याद्युक्तेश्च। यद्वा—शरणं शारो हिंसा तं ददाति महिषादिदैत्येभ्य इति शारदा। शरदृतौ पूज्यत्वाद्वा शारदा। 'शरत्काले महापूजा क्रियते या च' इति मार्कंडेयोक्तेः। अम्ब्यते शब्द्यते दुःखे या सा अम्बा 'अबि—शब्दने' यद्वा—अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते या सा 'अवि—रातौ' "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्" इत्युभयत्रापि स्त्रियां घञ् ततष्टाप् स्वार्थिके आम्बिकेति ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथानन्तरमेवेति देवकी पुत्रत्वप्राप्तौ त्वरां बोधयति एवमेव श्रीबलदेवस्याल्पकालाग्रजत्वं तच्चाग्रे व्यक्तं भावि अंशेति तैर्व्याख्यातं तत्र प्रथमेऽथ कर्त्तरि घञार्थः द्वितीये च णिजन्तत्वात्तद्वत् तृतीये अंशेन पुरुषरूपेणेत्यादिकं त्वसम्मतसहायमिति ज्ञेयं यद्वा अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र तेन स्वरूपेण यद्वा अंशानां जीवानां भागधेयेन हेतुना ननु श्रीसङ्कर्षणाकर्षणे श्रीयशोदायां जन्मनि च मम का योग्यतेत्यपेक्षायामाह, शुभे मन्निदेशेनैव प्राप्तमङ्गले तत्र त्वं योग्याभूरित्यर्थः। एवं तां प्रति वरदानं ज्ञेयम् अत एव तया आनन्दादिमोहनं वक्ष्यति यद्वा, हे भाग्यवति ! यतो यशोदायां भविष्यसि यशोदायामिति तेन तव यशः नन्दपत्न्यामित्यानन्दश्च भवितेति भावः। निगूढश्चायमर्थः अंशभागेन प्रकाशभेदेन देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामीत्येवं प्रकाशान्तरेण श्रीयशोदाया अपि पुत्रतां प्राप्स्यामीति ज्ञेयं "अवतीर्णौ जगत्यर्थं स्वांशेन बलकेशवौ" इत्यत्र श्रीस्वामिचरणैरपि व्याख्यातं स्वांशेन मूर्तिभेदेनेति अत एव त्वं यशोदायां भविष्यसि विद्यमानतामेव प्राप्स्यसि न तु पुत्रीत्वमिति तथा व्यवहाराभावादिति भावः। एतद्व्यञ्जनयैव भविष्यसीति पृथगुक्तम् अन्यथा श्रीयशोदायां त्वं पुत्रतां प्राप्स्यसीति विभक्तिविपरिणामेनैवार्थसिद्धिः स्यात् पुत्रशब्दो हि कन्यामपि वदति अत एव तद्व्यवच्छेदाय "पुमांसं पुत्रमाधेहि" इति श्रुतौ पुमांसमिति पुत्रतामिति सामान्यवचनत्वेन पुस्त्वव्यभिचारित्वं युक्तीनामितिवत्। अयं भावः "दधार सर्वात्मकमात्मभूतम्" इति वक्ष्यमाणदृशा यथा देवकी मां मनसि धारायिष्यति स्वगर्भजत्वेनाभिमंस्यते च तथा सापि। यथा च देवक्यां मम मातृत्वानुभवस्तथा तस्यामपीति नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न इत्यादौ श्रीशुकवाक्ये विवृतीभविष्यति। अतो भवत्यास्तत्र सत्ताव्याजमात्रार्थं मया दिश्यते यतो भवती मायेति ॥ ९ ॥ तदेवाभिव्यञ्जयति–अर्चिष्यन्तीति त्रिभिः। मनुष्या इति प्रायस्तेषामेव सकामत्वात् धर्मेधिकाराच्च इत्यादिकं च तां प्रति वर एव, तथा च श्रीहरिवंशे—

"प्रसादं ते करिष्यामि मत्प्रभावसमं भुवि। येन सर्वस्य लोकस्य देवि! देवि भविष्यसि" ॥

इति ॥ १० ॥ नामेति युग्मकं कुर्वन्ति करिष्यन्ति भुवीति भुवि वर्त्तमानाः सर्वेऽपीत्यर्थः। दुर्गादिनामानि अर्चकानां भावभेदेन तत्तत्कामापेक्षया किं वा स्थानभेदेन तत्तदाख्यया प्रसिद्धेः तत्र च क्वापि नामकं कुत्रापि च द्वे क्वचिच्च बहूनीत्येतदभिप्रायेण तत्र तत्रेतिशब्दप्रयोगः चकाराच्च सर्वेषामेव प्राधान्यबोधनार्थमिति ॥ ११-१२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथाहमंशभागेन मदंशांशभूतेन सङ्कर्षणेन सह हे शुभे ! देवक्याः पुत्रत्वं प्राप्स्यामि त्वन्तु नन्दस्य पत्न्यां यशोदायां भविष्यसि सम्भव ॥ ९ ॥ सर्वेषां कामानामिष्टार्थानां वराणां च प्रदात्रीं सर्वकामप्रदानामपीश्वरीं त्वां नानाविधैरुपहारैर्नैवेद्यैरन्यैश्च बलिभिः पूजाभिर्नराः अर्चिष्यन्ति एवमनुगृह्णामीति भावः ॥ १० ॥ तथा भुवि तव स्थानानि मन्दिराणि नामधेयानि च कुर्वन्ति करिष्यन्ति, तत्र नामानि दर्शयति, दुर्गेतीति ॥ ११–१२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वांशभागेन स्वांशांशेन अंशस्य भागो भजनं स्वीकारः तेनेति वा ॥ ९–१० ॥ दुरधिगमत्वाद्दुर्गा भद्रा मङ्गला नीला चेति भद्रकाली सर्वा दिशो विजयतीति विजया विष्णोरियं वैष्णवी ॥ ११ ॥ कौ भूमौ मोदतीति कुमुदा "चडि कोपे" इति धातोः शत्रवे कुपितत्वाच्चण्डिका सदानन्दत्वात्कृष्णा मधुकुलोत्पन्नत्वान्माधवी विष्णुदयितत्वाद्वा कं सुखं नयतीति कन्या नित्यकुमारी वा मीयते ज्ञायते इति माया मां यातीति वा नारस्य नरसमुदायस्य अयनत्वान्नारायणी सर्वज्येष्ठा इति ईशाना शीर्यते इति शारः तं संसारं द्यति खंडयतीति शारदा शत्रुविषयं शारं हिंसां ददातीति वा सर्वस्य मातृत्वादम्बिका ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अथाहमिति । अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र तेन पूर्णस्वरूपेणैव ॥ ९–१२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अंशैर्ज्ञानबलादिभिर्भजनमनुवर्त्तनं भक्तेषु यस्य तेन सर्वथा परिपूर्णस्वरूपेणेति भावार्थदीपिकायाम् अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र तेन पूर्णेन स्वरूपेणेति अंशानां ब्रह्मादीनां भागेन भागधेयेन हेतुनेति द्वयं वैष्णवतोषिण्याम् । यद्वा, अंशभागेन अंशांशेन पुत्रतां पुत्रभावं प्राप्स्यामि न तु सर्वांशेनेत्यतः सा देवकी मयि वात्सल्यमैश्वर्यभावमयं करिष्यतीत्यर्थः । तेन भावान्तर-शून्यं सम्पूर्णमेव वात्सल्यसुखं श्रीयशोदायामेव प्राप्स्यामीति द्योतितम्, त्वन्तु यशोदायां भविष्यसि उत्पत्स्यसे मातरि यशोदायां पुत्रीत्वं समवाप्स्यसीत्यनुक्तस्त्वयि सुतायामपि सा वात्सल्यं न करिष्यते अलक्ष्यविग्रहत्वेनैव तव व्रजे वर्तिष्यमाणत्वादिति भावः ॥ ९ ॥ तवांशभूतां मायान्तु वसुदेवेनानेष्यमाणां कंसं वञ्चयित्वा विन्ध्यादिस्थानेषु प्रभविष्यन्तीति नरा आराधयिष्यन्तीत्याह अर्चिष्यन्तीति । यतः सर्वकामानां लोकानां वरां श्रेष्ठामीश्वरीम् ॥ १० ॥ कुर्वन्ति करिष्यन्ति तदेवमिदानीं मदवतारेण त्वदवतारेण च लोकाः केचिद्वैष्णवाः केचित् शाक्ताश्च भविष्यन्तीति भावः ॥ ११–१२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथानन्तरम् अंशानां जीवानां तत्तत्पुरुषार्थाधिकारिणां धर्मार्थकाममोक्षरूपा भागा यस्मात्तेन सर्वपुरुषार्थप्रदेन रूपेण देवक्याः पुत्रतां यास्यामि ते च धर्मादयस्तत्तदधिकारिभ्यो भगवता दत्तास्तत्तत्प्रकरणे द्रष्टव्याः ॥ ९ ॥ मनुष्याः मनुष्यत्वमन्याः न त्वात्मानात्मपरमात्मविदः सर्वान् बाह्यान् बहुरूपान् प्राकृतान् भोगान् कामयन्ते ये ते सर्वकामाः तेषां वरेश्वरीम् ॥ १० ॥ कुर्वन्तीति वर्तमानसामीप्ये प्रयोगा ज्ञेयः ॥ ११–१२ ॥

श्रीसुबोधिनी

तर्हि स्थितावेव कंसभयाभावात् को दोष इति चेत्तत्राहाथाहमिति । अयं पुरुषोत्तमो योगमायामाज्ञापयति । भक्तिमार्गे तस्यै सेव्यत्वात् । आरम्भे 'यदूनां निजनाथाना'मिति वचनात् । स चतुर्धात्र समायास्यति । तदर्थमाहाथ शीघ्रं तदनन्तरमेव । **अहं पुरुषोत्तमः । अंशानां वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां भागेन** विभागेन चतुर्धा कार्यकरणाद् **देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि ।** भागेनेत्येकवचनं प्रद्युम्नांशेनैव पुत्रत्वमितिज्ञापनार्थम् । **अथाह**मितिसन्दर्भेण यथा त्वं गमिष्यस्यन्यत्रोत्पन्नान्यत्र तथाहमपीति ज्ञापितम् । **पुत्रता**मिति लोकप्रतीत्या तद्धर्मवत्त्वं ज्ञापितं न त्वहं पुत्रो भविष्यामि **शुभे** इति सम्बोधनेन त्वद्गमनेन मद्गमणस्थानं शोभायुक्तं भविष्यतीत्यग्रिमाज्ञापने हेतुकथनार्थं तस्या भगवदेकशरणाया वैकुण्ठे केवलं स्थातुमयुक्तमिति । तामपि जनानार्थमा-ज्ञापयति **त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसीति** स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च ॥ ९ ॥ स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च यद्यप्युत्पाद्यते तथापि तस्यास्तदनिष्टमिति तदनुक्त्वा फलान्तरमाहा**र्चिष्यन्तीति । मनुष्या** इति । देवांशा दैत्यांशाश्च निवारिताः । देवांशास्तु भगवत्सेवका एव । दैत्यांशास्तु न भजन्त एव । अर्चनायां फलं हेतुः । **सर्वासां कामनानां वराणामीश्वरी-मिति । काम्याः** सोपाया विषयाः । वरा अनुपायाः । **स्त्रियः** साक्षात्सेवा तस्या अपि बाधिकेति तन्निवृत्त्यर्थं **धूपोपहारबलिनेति । पूजायां साधनत्रयं निर्दिष्टम् । धूपो** दूरादेव सम्भवति । **उपहारश्च । दीपस्तु** स्वतःप्रकाशमानाया उपयोगी न भवतीति नोक्तः ।

बलिः पशूनां दानम् । पूर्वं काम्यादीनां प्रभुत्व उक्तेष्यदातृत्वेभजनीया स्यादिति तद्दातृत्वमपि तस्यां भगवान् स्थापयति **सर्वकामवरान्** प्रकर्षेण ददातीति **सर्वकामवरप्रदा** ॥१०॥ तस्याः सान्निध्यार्थं मन्त्ररूपाणि नामानि स्थानान्याह **नामधेयानी**ति । **कुर्वन्तीति** वर्तमानसामीप्ये । नामस्वेव स्थानान्यपि प्रसिद्धानि भवन्ति । चकारादधिष्ठानानि । नरा इति पूर्ववत् । भुवीति स्थापनार्थम् । नामान्याह दुर्गेति । सर्वत्रेतिशब्दो मन्त्रदेशभेदेन प्रसिद्धिप्रतिपादनार्थः । **दुर्गा**काश्यां प्रसिद्धा **भद्रकाल्य**वन्त्याम् । **विजयो**त्कले । **वैष्णवी** महालक्ष्मीः कुल्हापुरे । **चण्डिका** कामरूपदेशे । **मायाशारदे** उत्तरदेशे । **अम्बिका**म्बिकावने । **कन्यका** कन्याकुमारी । अन्यान्यपि प्रसिद्धानि स्थानानि तथैव मन्त्रा ज्ञेयाः ॥ ११-१२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथेत्यत्र—अथाहमित्यादिसन्दर्भस्यायमर्थः । कंसभयाभावमात्रं न स्वावतारप्रयोजनमपि तु तत्सेवाकरणम् । स चानेकविधेत्यंशसंबन्धिनी च न सर्वफलदेति स्वावतरणावश्यकत्वमिति । **विभागेने**ति । चतुर्विधकार्याचरणकृतो यः **स्वरूपव्यूहविभाग**स्तेनेत्यर्थः । **एकवचन**मित्यादि । 'युवां वै ब्रह्मणादिष्टा'वित्यादिभगवद्वाक्यैः पृश्निसुतपोभ्यां प्रजासर्गसम्पादकपुत्रार्थं वरप्रार्थनावगमात् तदर्थं तत्कर्तृप्रद्युम्नस्यैवौचित्यात् तथेत्यर्थः । **भूम्या देवैश्च** भूभारहरणार्थमर्थितत्वात् तदर्थं 'यदा यदा हीति' गीतावाक्याद् धर्मरक्षार्थमवतार आवश्यको मोक्षार्थञ्च ज्ञानोपदेशा र्थश्चेति संकर्षण**निरुद्धवासुदेवा**नामप्य**वतारणम्** । न तु तेषां पुत्रता तथा स्वस्यापि । ऐक्यभ्रमाद्देव लोकानां परं तथाप्रतीतिर्भवित्रीति तथैव भगवदिच्छा । तथा च यथा परशुराम उभयोर्ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वयोर्निवेशेऽपि ब्राह्मणत्वेनैव पुत्रत्वं भार्गवत्वात् क्षत्रियत्वस्य तु युद्ध एव प्रादुर्भावः 'प्रहारः क्षात्रधर्मस्ये' त्युद्योगपर्वीयभीष्मवाक्यात् । तामुद्घाटयन्ति **पुत्रता**मित्यादि ॥ ९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अर्चिष्यन्तीत्यत्र–स्त्रिया इति । स्वरूपभूताया वरदानार्थं वक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रकटायाः **साक्षात्** स्नापनादिरूपा सेवा तस्या अपिशब्दान्मनुष्याणां च **बाधिका** वाममार्गवद्विकारसम्भवेन सेव्यसेवकभावविघातिकेतिहेतोस्तादृशबाधानिवृत्त्यर्थं दूरसेवासाधकं **धूपादिसाधनत्रयं निर्दिष्ट**मित्यर्थः । **दीपस्त्व**िति । सप्रकाशत्वोक्तेरियं स्वरूपभूता । दीपापेक्षा तु प्रतिमायामिति भावः ॥ १० ॥ **नामधेयानीत्यत्र—तस्या** इति । स्वरूपभूताया इत्यर्थः । 'नामानीति स्थापनार्थं'मित्यग्रे कथनात् प्रतिमारूपाया इति शेषः ॥ ११ ॥

बुभुत्सुबोधिका

अथाहमित्यत्र तर्हीति यदूनां भयभञ्जनं वैकुण्ठस्थितौ सत्यामेव कंसकृतस्य भयस्य यदूनामीश्वरसम्बन्धित्वज्ञानेऽभावात् भवति न तु यदुषु मानुषीं तनुमाश्रितस्य सम्बन्धिज्ञानेतः स्थितौ को दोष इत्यर्थः । यद्वा स्थितौ रोहिण्या गोकुले स्थितौ । **कंसभये**ति अष्टमगर्भस्य कंसाद् भयम् । 'अन्याश्चे'त्यत्रान्येषां वेतिपक्षोतो 'रोहिणीवसुदेवस्ये'ति पादद्वयमधिकम् । को दोष इति पादद्वयमधिकमित्यत्र को दोषः । 'अन्याश्चे'त्यत्र भेदप्रतियोगिनिरूपणार्थमपि न पादद्वयापेक्षेति पादद्वयमधिकं को दोष इत्यर्थः । तत्राह तादृशविषये वागतीतपुरुषोत्तमाविर्भाव स्वसेवार्थमाह । अयमित्यादि माया योगमायानन्दशक्तिः स्वयं दयापरीत इति कृपात्वेन मायेन्द्रियाणि अतो दयापरीतो गोविन्दः । संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपतां सेवया स्थिरप्रज्ञाद्वारा भगवत्प्रेप्सूनां दैत्यस्थानापन्नः संसारस्तज्जदुःखनिबर्हणभक्तियोगवितानार्थं तदाविर्भावस्यावश्यकत्वात् । पृथावाक्यात् । तदुक्तं भक्तिमार्गम् इत्यादिना । एवकारणाक्षरयोगव्यवच्छेदः । 'य एवास्मि स सन् यजे', 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्', 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति वाक्याच्च । अक्षरात्मकं जगत् सेवकम् । यदूनां निजेति यादवत्वेन यादवोपस्थितो 'यदुषु संसारदुःख'मित्याद्युक्तानां सन्निवेशो ज्ञेयः । निजनाथत्वस्यावान्तरभेदैर्बहुविधत्वात् । स चेति पुरुषोत्तमस्य चतूरूपत्वात् पुरुषोत्तमश्चेत्यर्थः । समायास्यतीति सम्यक्त्वं वेदोक्तप्रकारेण दयापरीत एवायास्यति यानुभवात्मा वेदान्त उक्तः । 'आत्ममायामृतं' इति वाक्ये अनुभवात्मन इत्यस्य प्रकृतजीवपरतया तत्त्वेपि भगवता देहपरिग्रह आत्ममायेन्द्रियाणीति पक्षेनुभवपदस्य सत्यज्ञानानन्तानन्दपरत्वेपि बाधकाभावात् । कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्त इति । 'भगवानपी'तिश्लोकं ज्ञानशक्तिद्वारा पुरुषोत्तमाविभावार्थमुक्तम् । अत्र कर्मद्वारा पुरुषोत्तमाविर्भावार्थं प्रद्युम्नाविर्भावः सङ्ख्यातात्पर्यार्थमुच्यते । भक्तार्चनकर्मणां पुरुषोत्तमाविर्भावः । 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते' इति 'कर्मैव गुरुरीश्वर' इति चोक्तेः । 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तो सन्दिह्य त परस्थितं' इति भाष्यात् । यद्वा । 'भगवानपी'त्यत्र कर्मद्वारा पुरुषोत्तमाविर्भावः । 'अथाह'मित्यत्र अहङ्कारेण पुरुषोवधस्योपस्थितः पुरुषोवधब्राह्मणोक्तज्ञानशक्तिद्वारा पुरुषोत्तमाविर्भावार्थमुक्तम् । तदा समायातीत्यत्र सम्यक्त्वं वेदान्तोक्तप्रकारणेत्यर्थो ज्ञेयः । तदनन्तरमिति रोहिण्युदरसन्निवेशानन्तरम् । अत्र शीघ्रमिति क्रियाविशेषणमानन्त्यं शीघ्रत्वबाधनेन व्यवहितानन्तयोनिवारणां 'दाविवशांशाभागेने'ति श्लोकसुबोधिन्युक्तार्थशब्दार्थसङ्ग्रहाय । तत्तत्रैव स्फुटिष्यति । तादृशानन्तरमत्रार्थशब्दार्थ इत्युक्तम् । **विभागेने**ति चतुर्विधकार्याचरणकृतो यः स्वरूपव्यूहविभागस्तेनेत्यर्थः । एवेति 'तस्य माता न माता पिता न पिते'तिश्रुतेरेवकारः । **प्रद्युम्नस्तु**

कर्मप्रधान इति मात्रादिकं सम्भवति । अत्र सङ्कर्षणाविर्भाव इति निबन्धे सङ्ख्यातात्पर्यार्थं प्रद्युम्नाविर्भाव इत्युक्तम् । 'न माते'-त्यस्य मेधावीति निघण्टावर्थः । एकरसत्वाद् वैकुण्ठस्थस्य तस्यात्रागतौ ह्येकरसत्वभङ्गमाशङ्क्यानुकरणधर्मेणाभङ्गमाहुः अथाहमिति । तथाहमपीति तथा अहमेकरसोऽप्यनुकरणधर्मेण गमिष्यामीत्यर्थः । 'अनुकृतेस्तस्य चे'ति व्याससूत्रात् । न त्वहमिति प्रद्युम्नस्तु पुत्रो भविष्यति च । अग्रिमेति 'त्वं यशोदाया'मित्यग्रिमाज्ञापने । आज्ञामध्यपात्यपि सर्वमाज्ञैव । नवधाभक्तिमध्यपात्यर्चनं भक्तिरितिवत् । तस्या इत्यादि आनन्दशक्तिभूताया योगमायायाः । तेनेयं वैकुण्ठे तिष्ठति । कृपात्वेन मायेन्द्रियरूपापि । गोविन्दत्वोपयोगिनी । मोहिका तमोरूपा 'न यत्र माये'त्यनेन 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्र'मित्यनेन द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये निषिध्यते । आज्ञापयतीति साज्ञां करोति तामाज्ञापयति । भविष्यसीत्याज्ञयेतिशेषः । स्तन्येत्यादि अष्टमे मासेऽपत्यस्नेहेन स्तन्यमिति लोकः । मोहेति मोहभिन्नमोहसदृशजननार्थम् । योगमायाया नित्यक्रीडास्थत्वेन तमोमोहाभावात् । मारणार्थमिति अवस्तुत्वेन क्लिष्टकर्मत्वाभावात् ॥ ९ ॥

अर्चिष्यन्तीत्यत्र उत्पाद्यत इति 'नन्दपत्न्यां भविष्यसी'त्यत्रोत्पादनार्थकभवतेः प्रयोगात् । 'परो भवती'त्यत्रेव । तस्या इति योगमायायाः । तत् उत्पादनम् अनिष्टं भगवदेकशरणत्वात् । 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं हरे'रिति अभयं फलम् । भगवतोऽनिष्टम् । न हि शरणागता आवर्तन्त इति भावः । 'त्रया ह प्राजापत्या' इति बृहदारण्यकादाहुः देवांशा इत्यादि । काम्या इति उक्तकामनासु पुत्र्यहं स्यामित्यादिरूपास्विच्छासु योग्या विषया इति काम्याः पुत्रादयः सोपायाः उपाया अर्चनादयस्तैः सह वर्तमानाः । विषयाः । वरा इति अनुपाया विषयाः । यथा हिरण्यकशिपोर्वरः । स्त्रिया इति स्वरूपभूतायाः वरदानार्थं वक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रकटायाः साक्षात्स्नापनादिरूपा सेवा तस्याः । अपिशब्दान् मनुष्याणां च बाधिका वाममार्गवद् विकारसम्भवेन स्वाम्यसेवकभावविघातिकेति हेतोस्तादृशबाधनिवृत्त्यर्थं दूरसेवासाधकं धूपादिसाधनत्रयं निर्दिष्टमित्यर्थः । दीपस्त्विति स्वप्रकाशत्वोक्तेरियमानन्दशक्तिरूपा जगत्कारणे प्रकाशयुक्ता । दीपापेक्षा तु प्रतिमायामितिभावः । दानमिति स्वसत्त्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनं दानम् । न तु हिंसनम् । अत एव पुरुषपशुदानानन्तरं हिंसनं भद्रकाली उच्चाट । 'पशुनां रुद्रं यजेत' इत्यादिस्थले पशु रुद्राय ददातीत्यन्तमेव । 'छागस्य वपां मेदो जुहुधे'त्यादिस्थले होमो दानमेव । हु दानादनयोरति धातुपाठात् । पूर्वं काम्यादानामिति पूर्वं 'सर्वकामवरेश्वरो'मितिपदम् । आदिना वरः । तदात्वं च कामशब्दात् परस्य यकारस्य वर्णस्य लोपश्छान्दसः । यतः काम इच्छा न तु पुत्रादयः लक्षणाप्रसङ्गात् ॥ १० ॥

नामधेयानीत्यत्र मन्त्ररूपाणीति मन्त्रि गुप्तभाषणे । गुप्तभाषणरूपाणि । मन्त्रैः रूप्यन्ते व्यवह्रियन्ते तानि मन्त्ररूपाणि । वर्तमानसामीप्य इति भविष्यत्काले । करिष्यन्तीत्यर्थः । भविष्यत्काले वर्तमानत्वम् । अधिष्ठानानीति प्रतिमारूपाणि । पूर्ववदिति देवांशा दैत्यांशाश्च निवारिताः 'मनुष्या' इत्यत्रेव । सर्वत्रेतिशब्द इति । इतिः प्रसिद्धे । 'इति प्रकरणे हेतोः प्रकाशादिसमाप्ति'ष्विति विश्वं, आदिपदार्थः प्रसिद्धिः । तथा च दुर्गेतिनामधेयं करिष्यन्तीत्यत्र । 'दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये' इति मन्त्रकाशीभूदेशाभ्यां इतरमन्त्रभूभेदेन दुर्गायाः प्रसिद्ध्या नामधेयम् । करिष्यन्ति । ताभ्यां दुर्गासान्निध्यमधिष्ठानमितिशब्दः प्रसिद्धिवाचकः सान्निध्यतात्पर्यकः । 'इति स्वरूपे सान्निध्यविवक्षानियमं मतं' इति विश्वात् । स्थानं देवालयं, एवमन्यत्र ॥ ११ ॥

कुमुदेत्यत्र कन्यकेति अम्बिकायाः पूर्वं व्याख्यानं भूदेशमन्त्राधिष्ठानस्थानव्याख्यानप्रायपाठात् । प्रसिद्धानीति अयमर्थः । आनन्दशक्तियोगमायाया नामानि । कृष्णां नारायणां माधवां भद्रकालीं योगमायायां एवं नामानि । 'देवः सुवेधनं राज्ञा'त्युक्त्वा 'देवीं भट्टारिकायां चे'ति विश्वः । अत्र 'गच्छ देवी'त्यत्र देवापदं राज्ञ्यां, ईश्वरस्य राजाधिराजत्वात् । साऽनन्दशक्तिर्जगत्कारणभूता योगमाया । कुमुदा मूलदेवीनाम सती वायुमायानाम 'अत एव प्राण' इति वैयाससूत्रात् । कन्यका मूलदेवीनाम सती नन्दगोकुलस्त्रीणां नाम । शारदा तथा सती हिरण्यगर्भमायानाम । परिशेषात् । माया तथा सती (–कद्र=शङ्कराचार्यमाया) बुद्धावतारमायानाम । दुर्गा चण्डिकाम्बिकाईशानीं च तथा सत्यः रुद्रस्य मायानामानि । विजयावैष्णव्या तथा सत्यो विष्णुमायानामानीति । विजयार्जुनस्य नरावतारस्य वा । तथा भद्रकाली । सुभद्रा । भद्रा काली भद्रकाली । सत्यभामेत्यत्रेव अत्र कृष्णा तथा सती कृष्णतुर्यमायानाम । नारायणी नारायणमायानाम । माधवी माधवमायानाम । एतानि नामानि सान्निध्यार्थं मन्त्ररूपाणि । मन्त्रि गुप्तभाषणे । व्युत्पत्तिभिर्नामानि गुप्तभाषणरूपमन्त्राः । अथ मन्त्रदेशौ । सान्निध्यातिरिक्तफले यत्राभियुक्तानां मन्त्र इति समाख्या स मन्त्रः । अस्यन्तत्कान्तोत्तमपुरुषान्तो वा मन्त्राः । अत्र कृष्णायाः मन्त्रदेशौ भुवि । उदयास्ताचलौ । लोकालोकाद्रिशिखरं वा । अत्र मन्त्रलक्षणं वेदत्वम् । 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेय'मिति पूर्वमीमांसायाम् । 'इतिहासपुराणं वेदानां पञ्चमो वेद' इति छान्दोग्यश्रुतेः । पुराणानामपि वेदत्वम् । तत्र मन्त्रस्तु 'ऋगावर्ता यजुर्वेदा सामस्तामार्मिमालिनी'त्याद्युक्त्वा 'सुपर्णपत्रांशुगतिर्द्विजस्कन्धसमाश्रिता' साङ्गोपाङ्गद्विजा अधिप्रादुष्कृतपदक्रमा । समन्त्रब्राह्मणा सूक्तकल्पकल्पितसत्क्रिये'ति । पद्मपुराणे मारीचिसर्गे यमुनामाहात्म्ये स्फुटम् । नारायणी 'नारायणसमी गुणे'रितिवाक्यात् पुरुषविधब्राह्मणोक्तपुरुषविधे निविष्टा । नारायणमन्त्रदेशौ । प्रसिद्धौ । माधवीत्यत्र पुंयोगलक्षणङीष् । अवतारमन्त्रदेशौ । भद्रकालीत्यत्र मन्त्रः 'कात्यायनि महामाये' महायोगिन्यधीश्वरि नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम' इति । 'देशोवन्ती । कुमुदा कौ' मोदते । कर्तरि क्विप्, टाप् । वायुमाया । कौमोदिकी गदा वायुतत्त्वम् । अन्तरिक्षदेशः ।

'वायवः स्थोपायवः स्थे'तिमन्त्रः उत्तमपुरुषान्तत्वात् उवायवो मनुष्याः। कन्यकेत्यत्र 'कन्यकुमारि धीमही'तिमन्त्रः। माथुरो देशः। शारदेत्यत्र शारदस्य स्त्रीत्वविवक्षायां टाप्। शरदोयं शारदः शरदृतुसम्बन्धिवर्षः प्रजापतिः। 'संवत्सरो वै प्रजापति'रितिश्रुतेः। 'शारदः पीतमुद्गे स्यात् शालीने प्रतिभे वने वर्षेथ जलपिप्पल्या'मिति विश्वः। मन्त्रः भद्रकाल्याः। भद्रा काली भद्रकालीति-प्रयोगत्रयात्। देशः उत्तरः। मायेत्यत्र मन्त्र उक्तेषु कश्चित्। देश उत्तरः। दुर्गेत्यत्र 'दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये' इति मन्त्रः उत्तमपुरुषान्तत्वात्। देशः काशी। दुःखेन गम्यते ज्ञायतेस्याम 'सुदुरोरधिकरणे' इति ङः। दुःखेन दुष्टैर्वा गीयते, गैशब्दे। आतोनुपसर्गे कः। 'दुर्गं कोटे दुर्गमे च दुर्गा तु नीलिकोमयो'रिति हेमचन्द्रः। दुर्गा उमा सती क्रोधे तस्याः स्वरूपं ज्ञातमिति। चण्डिकेत्यत्र चडि कोपे। ण्वुल। टाप् पचाद्यचि, बाह्वादिभ्यश्चेति ङीप्। 'चण्डी कात्यायनी देव्या'मिति कोशात्। 'कात्यायनि महामाये'ति मन्त्रः। कामरूपदेशः। अम्बिकेत्यत्र अम्बवाम्बिकः। अबि शब्दे। भ्वा० आ० से० अम्बते इत्यम्बा। पचाद्यच्, टाप्। 'अम्बिका पार्वती मात्रोर्धृतराष्ट्रस्य मातरि'। मन्त्रः पार्वत्याः। शिवस्तुतिः पर्वतस्येयं पार्वती। तस्येदमित्यण्। 'पर्वते-राध्यास'मिति संहितायाः। देशोम्बिकावनम्। ईशानीत्यत्र ईशस्य स्त्री। इन्द्रवरुणेति ङीषानुकौ। 'जाने त्वामीश विश्वस्ये'ति परशिवस्य स्तुतिर्मन्त्रः। स्तुतौ ईशपदात्। देशो वैकुण्ठः। 'ज्ञानेन भक्त्ये'त्यथर्वश्रुतेः। भक्तः शिवः। विजयेत्यत्र जयतीति जयः, विशेषेण जयो विजयो विष्णुस्त्रीत्वविवक्षायां टाप्। मन्त्र उत्कलदेशे। देश उत्कलः। वैष्णवीत्यत्र विष्णोरियं वैष्णवी। यस्येद-मित्यण्। कुल्लापुरे मन्त्रः देशः कुल्लापुरम्। विजयोर्जुनः तस्य विजया। मन्त्रदेशौ द्रष्टव्यौ। सुभद्रेत्यत्र मन्त्रः 'यया सृजस्यसि जगन्ति नाथ वक्षःस्थरोजाश्रयया स्वशक्त्या तां भद्ररूपां जगदाश्रयां ते देवारणिं पादयुगं नतोस्मी'ति स्कन्दपुराणे पुरुषोत्तमक्षेत्र-माहात्म्ये। उत्कलदेशः पुरुषोत्तमक्षेत्रम्। भद्रकाल्या अप्ययं मन्त्रः। अन्नत्यकाल्या अपि॥ १२॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

तर्हि स्थितावेव—माया शायद संशय करे कि यदि सप्तम गर्भ आपका तेज रूप है इनको वास्तव में कंस नाश नहीं कर पायगा फिर यहाँ ही रह जाय तो क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इस श्लोक में जो माया को आज्ञा देते हैं वे ये पुरुषोत्तम हैं, कारण कि भक्तिमार्ग के वे ही सेव्य हैं। आरम्भ से भी कहा है कि **'यदूनां निजनाथानाम्**। वे पुरुषोत्तम यहां चतुर्व्यूह प्रकार से पधारेंगे। इसलिये कहते हैं कि 'अथ' शीघ्र वा आप इस सप्तम गर्भ को ले जाओगी इसके अनन्तर ही, मैं पुरुषोत्तम, चार प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने के लिये, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध के चार व्यूहों के विभाग से, देवकी जी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा यहां श्लोक में **'अंशभागेन'** एक वचन का आशय यह है कि भगवान् ने देवकीजी के यहां 'प्रद्युम्न' व्यूह रूप से पुत्रत्व अङ्गीकार किया है। श्लोक में **'अथ अहम्'** कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् माया को कहते हैं कि जैसे तू एक स्थान पर, यशोदा के यहां प्रकट होकर अन्य स्थान पर देवकी के यहां जायगी। उसी प्रकार मैं भी एक स्थान पर देवकीजी के यहां प्रद्युम्नांश से प्रकट होकर अन्य स्थान पर यशोदाजी के पास जाऊँगा। श्लोक में **'पुत्रतां'** पद कहने का तात्पर्य यह है कि मैं लोकदृष्टि से अपने में पुत्रपन को दिखाता हूँ वास्तव में तो मैं किसी का पुत्र नहीं हूँ और नहीं होऊँगा। श्लोक में माया का विशेषण 'शुभे' शब्द में दिया है उसका आशय यह है कि माया के गोकुल में जाने से श्रीकृष्णजी का रमण स्थान गोकुल रमणीय होगा। माया को गोकुल में पहले जाने का यही हेतु है कि गोकुल को रमणीय करना और यह माया वह है जिसका केवल भगवान् ही एक अवलंबन होने से माया को वैकुण्ठ में अकेली छोड़ना भी अयोग्य है। इसलिये माया को कहा आप नन्दपत्नी यशोदा में उत्पन्न होना। यशोदा के वहां क्यों उत्पन्न होने वाली माया के स्तन्य उत्पन्न करना है, (१) मोह को प्रकट करना है। (२) और मारने का कार्य करना है। (३) ये तीन कार्य हैं॥ ९॥

स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं—कदाचित् माया को **स्तन्योत्पादन,** मोहन, मारण ये तीनों कार्य अभीष्ट न हों और इससे वह उत्पन्न होना न भी चाहे तो इसलिये भगवान् माया को कहते हैं कि माया आप जाकर ये कार्य करेगी तो सर्व मनुष्य आपका अर्चन करेंगे। इस प्रसङ्ग का कथन इस श्लोक में करते हैं, जगत् में जो देवांश है वे तो भगवान् के सेवक हैं और जो दैत्यांश हैं वे तो भजन करते ही नहीं हैं, शेष जो मनुष्य हैं वे तेरी पूजा करेंगे कारण कि तूं सब कामनाओं की तथा वरों की ईश्वरी है। कामनाओं की पूर्ति, उपाय करने से होती है और वरदान बिना उपाय के होते हैं। माया की पूजा का प्रकार धूप, भेंट सामग्री और बलि देना ये तीनों, कार्य दूर से ही किये जाते हैं इसलिये बताया है माया का काम स्त्री होने से उसकी भगवान् के साक्षात् श्री सङ्ग की सेवा के समानसेवा नहीं हो सकती है। यदि की जाय तब करने वाले को और माया को भी बाधक है। पूजा में दीप नहीं कहा इसका कारण यह है कि योगमाया स्वयं प्रकाशरूप है। ऊपर कहा कि सर्व कामनाओं तथा वरों की आप ईश्वरी है किन्तु ईश्वरी होते हुए भी यदि फलदातृत्व न हो तो वह पूजनीया नहीं हो सकती है इसलिये भगवान् ने माया में फलदातृत्व का स्थापन करने के लिये कहा है कि **'सर्वकामवरप्रदाम्'** आप सर्व प्रकार के कामनाओं तथा वरों को देने वाली है॥ १०॥

तस्याः सान्निध्यार्थ—योगमाया का सान्निध्य बनाने के लिये उसके मन्त्र, माया का स्वरूप और नाम तथा स्थान का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं। श्लोक में 'कुर्वन्ति' यह क्रियापद का वर्तमान काल संस्कृत के व्याकरण के अनुसार जो कार्य जल्दी होने वाला हो उसके लिये दिया जाता है अतः यहां इस क्रिया का अर्थ किया जायगा कि करेंगे आपके नामों के साथ धाम पीठ भी प्रसिद्ध होंगे। श्लोक में दिये हुए 'च' अव्यय से अधिष्ठान प्रतिमा का भी निर्देश किया है इसके साथ भुवि पृथ्वी पर शब्द देने का भाव यह है कि मनुष्य आपकी प्रतिमाओं को पृथ्वी पर स्थापित करेंगे। नाम मन्त्र का वर्णन करते हैं—दुर्गा, (१) भद्रकाली, (२) विजया, (३) वैष्णवी, (४) कुमुदा, (५) चण्डिका, (६) कृष्णा, (७) माधवी, (८) कन्यका, (९) माया, (१०) नारायणी, (११) ईशानी, (१२) शारदा, (१३) और अम्बिका, (१४)। नामों के साथ श्लोक में इति अव्यय दिया है इसका तात्पर्य है कि वे मनुष्यों के नाम के समान संज्ञावाचक नाम नहीं है लेकिन वे सर्वत्र मन्त्र तथा देशभेद से प्रसिद्ध है। जैसे कि दुर्गा काशी में प्रसिद्ध है, भद्रकाली अवन्ती में प्रसिद्ध है, विजया उत्कल उड़ीसा प्रान्त में, वैष्णवी महालक्ष्मी कोल्हापुर में प्रसिद्ध है, चण्डिका कामरूप देश में याने आसाम में, माया और शारदा उत्तर प्रदेश में प्रसिद्ध हैं, अम्बिका अम्बिका वन में, तथा कन्यका कन्याकुमारी में प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार जैसे अन्य स्थान प्रसिद्ध हैं वैसे ही अन्य नाम मन्त्र भी प्रसिद्ध समझने चाहिये ॥ ११-१२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

देवकीजठराद्गर्भसन्निकर्षे किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह—अथेति। अथ गर्भसङ्कर्षणानन्तरं शीघ्रमेव अंशभागेन अंशानां वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धमत्स्यकूर्मादीनां भागो विभागो यस्मात् सोंऽशभागस्तेन पूर्णानन्दस्वरूपेणाहं देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि। तदावतारेणैव मम लीलासम्यक्छोभना भविष्यतीति सूचयन् सम्बोधयति—हे शुभे इति। त्वं च नन्दपत्न्यां यशोदायां भविष्यसि ॥ ९ ॥ एवं मदाज्ञापालनात् सर्वलोके वरदानसमर्था पूज्या च भविष्यसीत्याह—अर्चिष्यन्तीति। नानाविधैरुपहारैर्नैवेद्यैरन्यैश्च बलिभिः श्रीफलादिभिर्मनुष्यास्त्वामर्चिष्यन्ति। तत्र हेतुमाह—सर्वेति। सर्वेषां कामानामिष्टार्थानां वरां श्रेष्ठामीश्वरीं स्वामिनीमित्यर्थः। एवमप्यदातृत्वे अभजनीयता स्यादिति तद्दातृत्वमप्याह—सर्वान् कामवरान् प्रकर्षेण ददातीति तथा तामिति। 'धूपोपहार' इति पाठान्तरम् ॥ १० ॥ तथा भुवि तव स्थानानि नामधेयानि च नराः कुर्वन्ति करिष्यन्ति। तत्र नामानि दर्शयति—दुर्गेति। इति शब्दाः प्रसिद्धिबोधकाः ॥ ११-१२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अथेति ॥ हे शुभे! अथ गर्भसंनिकर्षणानन्तरम् अहम् अंशभागेन अंशैर्ज्ञानबलादिभिर्भजनमनुवर्त्तनं भक्तेषु यस्य तेन सर्वथा परिपूर्णेन रूपेणेति विवक्षितम्। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्युक्तत्वादिति। अंशानां ब्रह्मादीनां तत्समयजातानां मनुष्यादीनां वा भागेन भाग्येन हेतुना इति वा। देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि त्वं तु नन्दपत्न्यां यशोदायां भविष्यसि। गूढार्थस्तु अंशानां ज्ञानैश्वर्यादीनां भागो भेदस्तेन रूपभेदेनेत्यर्थः। तत्रैकेन रूपेण देवक्याः पुत्रतामपरेण यशोदायाः पुत्रतां प्राप्स्यामि। त्वं तु नन्दपत्न्यां भविष्यसि सत्तामात्रं प्राप्स्यसि न पुत्रीत्वम्। यशोदादेवक्योर्मम मातृत्वानुभवः तयोश्च मयि पुत्रतानुभवः अन्यथा अग्रे रूपभेदाभावेनान्यतरस्याः पुत्रत्वाभावनिश्चयेनानर्थः स्यात् इत्याहुः ॥ ९ ॥ अर्चिष्यन्तीति ॥ मनुष्याः सर्वान् पुत्रादीन् कामयन्ते ये तेषां वरामीश्वरीं श्रेष्ठां नियन्त्रीम् अर्चकानां सर्वान् कामवरान् प्रददाति या तां त्वां धूपैः उपहारैः पुष्पाद्यैः बलिभिः भोज्याद्यैः अर्चिष्यन्ति ॥ १० ॥ नामधेयानीति द्वयम् ॥ नरा भुवि दुर्गा इति भद्रकालेत्यादीनि चकारात् महिषमर्दिनी इत्यादीनि च तव नामधेयानि स्थानानि विन्ध्यादीनि च कुर्वन्ति करिष्यन्ति ॥ १ -१२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तां प्रोत्साहयति। अर्चिष्यन्तीति। सर्वेषां कामानामिष्टार्थानां वराणां चेश्वरीं प्रदात्रीं, सर्वेषामर्चकानां कामवरान्निकामाभीप्सितार्थान् प्रददातीति तां,सर्वकामफलप्रदामिति पाठे प्रसिद्धोऽर्थः। त्वां, धूपश्च उपहारो नैवेद्यं च बलिः पुष्पादिपूजोपहारश्च तैः, नानोपहारबलिभिरित्यपि पाठः। मनुष्या नराः, अर्चिष्यन्ति पूजयिष्यन्ति। इत्यनुगृह्णामीति शेषः ॥ ९ ॥ नामधेयानीति। भुवि नराः तव, स्थानानि मन्दिराणि, नामधेयानि च, कुर्वन्ति करिष्यन्ति 'वर्तमानसामीप्य' इत्यादिना भविष्यदर्थे लट्। तत्र नामानि दर्शयति दुर्गेति सार्द्धेन। दुर्गा इति दूरधिगमत्वात्। भद्रा मङ्गला चासौ काली नीलेति भद्रकालीति, सर्वा दिशो विजयतीति विजया इति, विष्णोरियं वैष्णवीति च ॥ १० ॥ कुमुदेति ॥ कौ भूमौ मोदते मोदयतीति वा कुमुदा, चण्डति शत्रवे कुप्यतीति चण्डिका 'चडि कोपे' अस्मात् ण्वुल्। कृष्णा सदाऽऽनन्दमयत्वात्। मधुकुलोत्पत्तीक्षया माधवी, कनति दीप्यते इति कन्या सैव कन्यका इति च। 'कनी दीप्त्यादिषु' अघ्न्यादिः। कं सुखं नयतीति कन्येत्यन्ये। नित्यकुमारीति केचित्। विश्वं माति यस्यां मिमीते वा इति माया, 'मा माने' 'माङ् माने' वा। 'माच्छाशसिभ्यः' इति यः मां यातीति वा। 'आतोऽनुप—इति'

कः । मीयते ज्ञायते इति मायेत्यन्ये । नारस्य नरसमुदायस्यायनत्वान्नारायणी, नारायणस्य शक्तित्वाद्वा । ईष्टे इतीशाना । ईशानीत्यपि पाठः । शीर्यते इति शारः संसारः तं श्यति खण्डयतीति शारदा स्वोपासकानां मुक्तिदात्री । 'या मुक्तिहेतुरविचिन्त्य-महाव्रता त्वम्' इति मार्कण्डेयपुराणोक्तेः । अम्बैव अम्बिका, जगन्माता इति च ॥ ११ संकर्षणादिक्रमेण तस्यापि व्यपदेशा भविष्यन्तीत्याह ॥ गर्भेति ॥ गर्भसंकर्षणात्त्वत्कृतदेवकीगर्भसंकर्षणान्निमित्तादित्यर्थः । तं देवकीजठरतस्त्वदाकृष्टगर्भं, संकर्षणं संकर्षणशब्दवाच्यं, भुवि प्राहुः, पृथिव्यां वक्ष्यन्तीत्यर्थः । वै । लोकरमणाल्लोकरञ्जनान्निमित्तात्, रामेति, रामशब्दवाच्यमित्यर्थः । प्राहुः । इति नाऽभिहिते कर्मणि प्रथमा । ततः सन्धिरार्षः । बलवतामुदधिकः श्रय आश्रयणीयस्तस्मात्, बलं प्राहुः । 'बलभद्रं बलोच्छ्रयात्' इति पाठे, बलोच्छ्रयाद्बलाधिक्यात्, बलं भद्रं श्रेष्ठमस्येति तं बलभद्रं प्राहुः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अर्चिष्यन्तीति : १०.२.१०.

कार्ये सत्युदिते स्वयं नृपतिना सत्कार्य एवार्हणैः नित्यं सन्निहितः स्वशोऽपि कुरुते कार्यं स तेनोत्सवात् ।
नीतिर्नीतिमता व्यबोधि हरिणा सत्कृत्य मायां तदा कार्ये योजयता प्रभोरितरथा किं सेहते वेतनम् ॥ ४ ॥
मत्पादाब्जरतीनतीवसुमतीन् कंसो नृशंसोऽनिशं वृष्णीन् क्लेशयतीति शीघ्रमयनौ गन्तव्यमद्य त्वया ।
आयास्याम्यहमप्यरं त्वदनुगो देवीं त्वमेवाब्रवीयोमालम्ब्य दयां दयाहृदय ते याता क सा सम्प्रति ॥ ५ ॥
देवकीजठर एव सर्वतो गर्भ एष यदि पूर्णतां व्रजेत् । शेषगर्भ इति मामकी प्रथा स्याद्वृथेति स तथाब्रवीद्धि ताम् ॥ ६ ॥

कृष्णप्रिया

हिन्दी अनुवाद—और हे कल्याणी ! योगमाये । फिर मैं अंशों के भाग से पूर्णपुरुषोत्तम देवकी जी के पुत्रत्व को प्राप्त करूँगा । और आप श्रीनन्द रायजी की रानी श्रीनंदरानी जी में प्रकट होना ॥ ९ ॥ देवी योगमाये ! आप सकाम उपासकों को देने में समर्थ है और सर्व प्रकारके मनोरथों की पूर्ति का वर भी देने वाली है अतः सर्व मनुष्य धूप-भेट सामग्री और बलि पूजन से आप का अर्चन करेंगे ॥ १० ॥ (भद्रे आप यह करेंगे लोक कल्याण होगा) और भूतल पर मनुष्यगण आप के मन्दिर-पीठों का निर्माण करेंगे और आप के दुर्गेति, भद्रकालीति, विजयेति, वैष्णवीति, कुमुदेति, चण्डिकेति, कृष्णेति, माधवीति, कन्यकेति, मायेति, नारायणीति, ईशानीति, शारदेति, अम्बिकेति ऐसे नाम धरेंगे । और ये केवल नाम नहीं है लेकिन ये नाममंत्र भी हैं इस लिये श्लोकों में दुर्गेति इत्यन्त नामोल्लेख किया है ॥ ११-१२ ॥

गर्भसंकर्षणात् तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि । रामेति लोकरमणाद् बलभद्रं बलोच्छ्रयात् ॥ १३ ॥
सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः । प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत् ॥ १४ ॥
गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया । अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥ १५ ॥
भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः । आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गर्भसंकर्षणात् भुवि तं वै संकर्षणं प्राहुः लोकरमणात् रामेति बलोच्छ्रयात् बलभद्रं प्राहुः ॥ १३ ॥ भगवता एवं सन्दिष्टा तद् वचः तथा इति ओम् इति प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथा अकरोत् ॥ १४ ॥ योगनिद्रया देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रणीते (सति) अहो (कंसेन राक्षसैः) गर्भः विस्रंसितः इति पौराः विचुक्रुशुः ॥ १५ ॥ भक्तानाम् अभयंकरः विश्वात्मा भगवान् अपि आनकदुन्दुभेः मनः अंशभागेन आविवेश ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्वद्विक्रमेण च तस्य व्यपदेशा भविष्यंतीत्याह—गर्भसंकर्षणादित्यादिना । रामेति च संबोधनं करिष्यंति । त्वया संकृष्टेन तेन लोकस्य रमणाद्रत्युत्पादनात् ॥ १३ ॥ तथेति पुनरप्योमित्यादरेण प्रतिगृह्य गां पृथ्वीम् ॥ १४ ॥ विस्रंसितो विभ्रष्टो विस्रस्त इत्यर्थः । इति विचुक्रुशुर्न तु तद्विदुरित्यर्थः ॥ १५ ॥ मन आविवेश मनस्याविर्बभूव । जीवानामिव न धातुसंबंध इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्पुरुषार्थोत्कर्षमाह—त्वदिति । तस्याकृष्टगर्भस्य । व्यपदिश्यत उच्चार्यतेऽर्थादाहूयते यैस्ते व्यपदेशा नामानि । रत्युत्पाद-नात्प्रीत्युत्पादनात् । बलवतामुच्छ्रयात् उन्नतत्वात् । तम् आकृष्टगर्भजं प्राहुः वदिष्यंति । "वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" इति

१. बलं बलवदुच्छ्रयात्—श्रीधरादयः बलभद्रं बलोच्छ्रयात्—वीर. विज. ।

लट्। ॥ १३ ॥ एवं पूर्वोक्तरीत्या संदिष्टाज्ञप्ता । तथेति यथोक्तं श्रीमता तथा करोमीत्यर्थः । पुनरपि ओमित्यादरेण प्रतिगृह्य 'आमित्यंगीकारे ब्रह्मणि च' गां भूमिम् "दिग्दृष्टिदीधितिस्वर्गवज्रवाग्बाणवारिषु। भूमौ पशौ च गोशब्दो विद्वद्भिर्दशसु स्मृतः" ॥ इत्यनेकार्थध्वनिमंजर्याम् ॥ १४ ॥ विस्रस्त इत्यर्थः । कंसेनैव केनचिन्मंत्रौषधाद्युपायेन श्रावित इत्यर्थः । विचुक्रुशुः देवक्यां स्नेहवत्तया विलेपुः । इत्यर्थ इति । योगमायाकृत्यस्य देवैरपि दुर्विज्ञेयत्वादित्यर्थः । योगमायैव योगनिद्रा निद्रावत्सकलबोधहरणात्। तया प्रकर्षेण नीते देवक्या दुःखादिकं रोहिण्याश्च विस्मयादिकं गोकुलवासिनां च तज्ज्ञानादिकं किमपि नाभूदिति द्योतितम् । किञ्च हरिवंशाद्यनुसारेणात्र ज्ञेयं प्रागेव वसुदेवाहितगर्भायां श्रीरोहिण्याः पश्चाद्गोकुलं गतायाः सप्तमे मासि तं गर्भमपसार्य देवकीजठरात्साप्तमासिकं गर्भमलक्षितमाकृष्य रोहिण्युदरे नीता इति ॥ १५ ॥ इत्यर्थ इति । धातुसंबंधे हि जीवत्वं दुर्वारं तथाऽजत्वव्याघातश्च स्यादित्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

परममत्प्रेममयश्रीगोकुलसम्बन्धेन तस्याऽपि माहात्म्यमुद्देक्ष्यतीति सङ्कर्षणप्रयोजनान्तरमाह—गर्भेति । वै एव गर्भतः सङ्कर्षणादेव न तु शेषत्वादिना प्रलयादौ जगदाकर्षणादित्यर्थः । गर्भसङ्कर्षणादेव गोकुलप्राप्त्या सर्वलोकानां रमणात् तथैव बलस्य उच्छ्रयात् आधिक्यात यदीयपरमप्रेमोर्जितमनस्तयेति भावः । बलं बलवदुच्छ्रयादिति पाठे बलवत्सु आधिक्यादित्यर्थः । रामेति "सह सुपेति" सुप्मात्रेण समासः ॥ १३ ॥ तस्य भगवतो वचस्तत् यथादिष्टं तथैव न तु किञ्चिद्व्यभिचारेणेत्यर्थः ॥ १४ ॥ योगमायैव योगनिद्रा निद्रावत् सकललोकबोधहरणात् तया प्रकर्षेण नीत इति । देवक्या दुःखादिकं गोकुलादिवासिनां च तज्ज्ञानादिकं किमपि माभूदिति बोधितम् अत्र च श्रीहरिवंशाद्युक्तानुसारेणैव ज्ञेयं प्रागेव श्रीवसुदेवाहितगर्भायाः श्रीरोहिण्याः पश्चाद्गोकुलं गतायाः सप्तमे मसि तं गर्भमपसार्य श्रीदेवकीजठरात् सप्तमासिकं गर्भमलक्षितमाकृष्य रोहिण्युदरं नीत इति । तथा च हरिवंशे योगनिद्रां प्रति श्रीभगवदुक्तौ—

> "सप्तमो देवकीगर्भो योंऽशः सौम्यो ममाग्रजः। स संक्रामयितव्यस्ते सप्तमे मासि रोहिणीम्" ॥ इति

तन्नयनप्रकारविशेषश्च तत्रैव—

> "सार्द्धरात्रे स्थितं गर्भं पातयन्ती रजस्वला। निद्रया सहसाविष्टा पपात धरणीतले ।
> सा स्वप्नमिव तं दृष्ट्वा स्वगर्भं गर्भमाहितम् ॥ अपश्यन्ती च तं गर्भं मुहूर्त्तं व्यथिताऽभवत् !
> तामाह निद्रासम्विग्नां नैशे तमसि रोहिणीम् ॥ कर्षणेनास्य गर्भस्य स्वगर्भे चाहितस्य वै ॥
> सङ्कर्षणो नाम शुभे तव पुत्रो भविष्यति" ॥ इत्यादि ॥

अहो आश्चर्ये खेदे वा देवक्या गर्भो विस्रंसितः विस्रस्तः कंसभयादिति शेषः । तथा च श्रीविष्णुपुराणे "सप्तमो भोजराजस्य भयाद्रोधोपरोधतः । देवक्याः पतितो गर्भ इति लोको वदिष्यति" इति यद्वा कंसेनैव केनचिदुपायेन पातित इत्यर्थः । व्यक्ततया तदनुक्तिस्तेषां तद्भयात् विचुक्रुशुः उच्चैरार्तस्वरेण जजल्पुः विलेपुरिति वा ॥ १५ ॥ विश्वस्य आत्मा प्रभुरपि भक्तानामेवाभयङ्करः तदानीं तच्चित्ते भावविशेषेण पर्य्यस्फुरदित्यर्थः । तत्र च सर्वैश्वर्यपरिपूर्णतयेत्यभिप्रायेण श्रीभगवानिति एतदाद्यपद्यार्द्धं सर्वसम्मतं न स्यात् अत एव श्रीचित्सुखेनैवं व्याख्यातं मन आविवेश पौरुषं धामेति सम्बन्ध इति श्रीस्वामिपादानां तु सम्मतं लक्ष्यते तथा च तद्व्याख्यानात् ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तथा त्वया देवकीजठरात्सङ्कृष्टं शेषमत एव प्रवृत्तिनिमित्तात् सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणशब्दवाच्यम्, लोकरमणात् लोकरञ्जनान्निमित्तात् रामेति रामशब्दवाच्यम्, बलाधिक्यान्निमित्ताद्बलभद्रशब्दवाच्यं भुवि प्राहुर्वक्ष्यन्ति, यद्वा, तं तेभ्यो निमित्तेभ्यस्तं तत्तच्छब्दैर्व्यवहरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥ श्रीभगवदाज्ञोदयादनन्तरं सा योगमायाऽपि श्रीभगवदाज्ञां सर्वात्मनाऽत्यादरेण प्रणतिपूर्वकं शिरसि निधायाऽऽज्ञाक्रममनुल्लङ्घ्य भुवि समागत्य यथैवाज्ञप्ता तथैवाकरोदित्याह श्रीशुकः सन्दिष्टेवमित्यादिना । एवमित्थं श्रीभगवता सन्दिष्टा आदिष्टा योगमाया तस्य श्रीभगवतो वचः श्रीवचनं तथेति ओमित्यङ्गीकृत्य तथेत्योमिति तथैवास्वित्यङ्गीकारपूर्वकं प्रतिगृह्याभिनन्द्य तं प्रदक्षिणीकृत्य गां भूमिं गता प्रविष्टा सती तथैव यथोक्तमकरोत् ॥ १४ ॥ ततो योगनिद्रया श्रीभगवद्योगनिद्राधिष्ठात्र्या शक्त्या देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रति प्रणीते प्रापिते सति तदा पौरजनाः अहो देवक्या गर्भो विस्रंसितः विस्रस्तः "स्रंसु अधः पतने" इति धातुः विचुक्रुशुः रुरुदुः ॥ १५ ॥ ततो भक्तानामभयङ्करः भक्ताभयचिकीर्षुः विश्वात्मा श्रीभगवान् अंशभागेन जातस्येति शेषः । "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः" इति देवतानां श्रीभगवदंशत्वश्रवणादानकदुन्दुभेर्देवांशेन जातत्वाच्चेति भावः । मन आविवेश सङ्कल्परूपज्ञानेनाविवेशेत्यर्थः । "यो मनसि तिष्ठन्" इति पूर्वमेवाविष्टत्वावगमादंशभागेन सङ्कल्परूपज्ञानेनाविवेशेति वान्वयः ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

बलोच्छ्रयाद्बलोन्नतेः ॥ १३ ॥ तद्वचनं तथेति स्पष्टीकरणं तथेत्योमिति तथा करोमीति तद्वचः प्रतिगृह्येति वा ॥ १४ ॥ योगनिद्रया देवक्याः गर्भे रोहिण्यीं प्रणीते सति विस्रंसितः स्रावितः निर्गलित इति विचुक्रुशुः ॥ १५-१६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

रामेति "सहसुपेति" सुप्मात्रेण समासः ॥ १३-१४ ॥ विस्रंसितः पातितः कंसेनेति भयात् कर्तृपदगुप्तिः ॥ १५-१६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

रामेति "सहसुपा" (२।१।४) इति समासः ॥ १३ ॥ तथेति पुनरप्योमिति अत्यादरेण तदीयं वचः प्रतिगृह्य गां पृथ्वीं तत्तदनन्तरम् ॥ १४ ॥ विस्रंसितः कंसेनैव केनचिन्मन्त्रौषधाद्युपायेनेत्यर्थः । विचुक्रुशुः देवक्यां स्नेहवत्तया विलेपुः ॥ १५ ॥ विश्वात्मा विश्वस्यैव प्रेमास्पदीभविष्यन् अंशेन पुरुषाद्यवतारवृन्देन सह भागेन भगसमूहेन षडैश्वर्य्येण सहित एव मन आविवेश मनस्याविर्बभूव "परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान्" इति तृतीयोक्तेः ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

गर्भभूतस्य तस्य सम्यक्कर्षणात् भुवि तं सङ्कर्षणं प्राहुः स्वतोऽपि सङ्कर्षणसंज्ञ एव इत्यर्थः । लोकस्य रमणात्तेन रत्युपपादनात् रामेति सम्बोधनं करिष्यन्ति बलवत्सु बाह्वादिषूच्छ्रयादत्यूर्जितत्वाद्बलं प्राहुः ॥ १३ ॥ भगवता सन्दिष्टा आज्ञाप्ता तस्य भगवतः वचः तथेति परिगृह्य भगवन्तं परिक्रम्य ओमितिमङ्गलार्थं जप्त्वा गां गता भूमिं गत्वा यथा भगवतोक्तं तथैवाकरोत् ॥ १४ ॥ योगनिद्रेति तस्या एव नामान्तरम् , तया देवक्या गर्भे रोहिण्यां प्रणीते प्रापिते "स्रंसु ध्वंसुअधःपतने" "आचतुर्थाद्भवेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः" इति पतनकाले पञ्चमे षष्ठे वा मासे पौराः अहो गर्भो विस्रंसितः कंसेन पातित इति विचुक्रुशुः ॥ १५ ॥ विश्वात्मा सर्वात्मा सर्वत्र स्थितः भूभारं हर्तुं शक्तोऽपि भगवान् यतो भक्तानामभयङ्करः भक्तमनोरथपूरकः अतः अंशयोः स्वांशभूतयोः श्रीदेवकीवसुदेवयोर्भागेन पुत्रतया भजनीयेन रूपेण आनकदुन्दुभेः पुत्रीभूते पुरुषोत्तमे वात्सल्यरसास्वादनाय जातोऽयं शौरिरित्येवं देवैर्जन्मसमये आनकदुन्दुभिघोषादिभिः पूजितस्य मनः आविवेश नित्यसिद्धेनाप्राकृतविग्रहेणाविर्बभूव न तु देहान्तरसिद्धये जीवानामिव धातुसंसर्गप्राप्त इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं तस्या नामान्युक्त्वा शेषस्यापि नामान्याह **गर्भसङ्कर्षणादिति**। **गर्भरूपस्य** तस्य **सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणः सम्यक् कर्षणं** यस्येति । **प्राहुरिति**प्रमाणम् । भुवीत्यवतारदशायामेव । वस्तुतस्तु **सङ्कर्षण**श्चतुर्मूर्तेर्भगवता द्वितीयः । सोप्यत्राविष्टस्तथापि लोका **गर्भसङ्कर्षणादेव सङ्कर्षणं** वदन्ति । नामान्तरमाह **रामेति** । **लोकस्य रमणं** यस्मात् । रमयतीति **रामः** । राम इति वक्तव्ये विभक्तिकनिर्देशोसम्मत्यर्थः । सम्बुद्धिरूपो वा व्यवहारार्थः । **बलभद्रमपि प्राहुर्बलेन** **भद्र** इति **बलोच्छ्रयात्** । न तु बलकार्यात् ॥ १३ ॥ ईश्वरवाक्यादादेशानन्तरमेव तथा कृतवतीत्याह **सन्दिष्टैवमिति** । **भगवते**त्यनुल्लङ्घनार्थम् । तथेति करणार्थं जननार्थं च । **ओमिति** पूजाद्यर्थम् । तस्य भगवता वचः **परिगृह्य परिक्रमणं कृत्वा गां भूमिं गता** सती **तथैवाकरोत्** ॥ १४ ॥ तत् सर्वं भगवन्निर्दिष्टं तत्कार्यं लोके प्रसिद्धं जातमित्याह **गर्भे प्रणीत** इति । **गर्भे प्रकर्षेण नीते** रोहिण्युदरं प्रापिते । **योगनिद्रयेति** कर्षणप्रापणयोः सर्वाज्ञानं निरूपितम् । **अहो** इत्याश्चर्ये । **निस्रंसित** इति 'स्रंसु ध्वंसुअधःपतने' । तेन पञ्चमो मासः षष्ठो वेति ज्ञापितम् । **पौराः** पुरवासिनः । अनेन सर्वप्रतीतिर्जातेत्युक्तम् । राक्षसैः कंसप्रेरितैः **विस्रंसित** इति **विचुक्रुशुरत्याक्रोशं** कृतवन्तः ॥ १५ ॥ **अथाक्रोशानन्तरं** विस्रंसनज्ञानानन्तरमेव भगवान् वसुदेवद्वारा देवक्यामागत इत्याह**आविवेशेति** सार्धाभ्याम् । निषेकाभावेपि पूर्वं वसुदेवे ततस्तद्द्वारा देवक्यामागमनस्यायं भावः । अत्र हि नृसिंहहंसादिवन् न प्राकट्यं किं तु यदुवंशसम्बन्धित्वेन शूरपौत्रत्वेन वसुदेवपुत्रत्वेन । जीवे शरीरस्येव वंशसम्बन्धित्वेन तस्य च निषेकजन्यत्वेन तथोत्पत्तिरुच्यते । **ईश्वरे प्राकट्यस्यैवोत्पत्ति**पदार्थत्वाद् वक्ष्यमाणप्रकारेण **वसुदेवद्वारा** देवक्यामाविर्भाव उच्यते । अन्यथा देवक्यामेव तथोच्येतेत्यानकदुन्दुभेर्मनो **भगवानाविवेशायोगोलके वह्निरिव । अन्यथानकदुन्दुभित्वं** व्यर्थं स्यात् । **अंशानां भागेन विभागेन । केचित्तु—अंशेन** नारायणरूपेण **भागेन** केशरूपेण सह स्वयं प्रद्युम्न आविवेशेत्याहुः पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जातः । अन्यथा 'देवकीजठरभू'रितिवत् 'तव सुत' इति कथं वदेयुः ? 'तन्मातर'मितिशुकवाक्यं च विरुध्येत । माययैव रूपान्तरमिति **मायानिरूपणेनैव** चतुर्थाध्याये तस्योत्पत्तिर्निरूपिता । उत्पत्तेरनन्तरमेव नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इति **सम्भ्रमः** । एवं सति सर्वेषां **चरित्राणामभिनिवेशो भवति । जननं मनस इति मन उक्तम्** ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

आविवेशेत्यस्याभासः—**अथाक्रोशानन्तर**मित्यादि। ननु मूल एतदानन्तर्यवाचकपदाभावात् स्वयं तत्कथनमनुपपन्नमिति भातीतिचेन् मैवम्। भावानवबोधात्। तथा हि। इह हि शीघ्रं स्वागमनार्थमेव गर्भसङ्कर्षणज्ञापनम्। तद् 'गां गता तथाकरोदि'-त्येतावतैव विरूपितमभूत्। **आक्रोश**स्तु प्रकृतानुपयुक्तः। एवं सत्यपि 'गर्भे प्रणीत' इति श्लोककथनं यत् तद् भगवद्वाक्यस्याथशब्द-तात्पर्यकथनायेति ज्ञायते। अन्यथा 'तत्सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशये'त्युक्ते प्रयोजनाकाङ्क्षायामहं देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामीत्येतावतैव चारितार्थ्यादथशब्दं न वदेत्। एवं सति यस्मादानन्तर्यं प्रभुबुद्धिस्थं स पदार्थो 'गर्भे प्रणीत' इति श्लोकेन विवृतः **श्रीशुकेन**। **आचार्यै**रपि तमेवाथशब्दं प्रतीकत्वेनोक्त्वा 'गर्भे' इति श्लोकोक्ततात्पर्यमाक्रोशानन्तरमित्यादिनानूदितम्। अयमर्थो भगवतोऽत्यन्तं गोपनीय इति तत्सम्पत्तिर्लोकानामन्यथाज्ञानोक्त्या तत एव तदज्ञानसूचनेन च ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम्। **आविवेशे**तिश्लोकविवरणे—**पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एवे**त्यादि **भवती**त्यन्तम्। अत्रायं भावः। उक्तवाक्यानुरोधान् नन्दगेहे पुरुषोत्तमाविर्भावोऽवश्यमङ्गीकार्यः। एवं सति 'सुतं यशोदा शयने निधाये'त्यग्रिमवाक्यं चानुपपन्नं भवति। तत्र स्वरूपद्वयदर्शन-प्रसङ्गात्। आगतस्य तिरोधानं न वक्तुं शक्यम्। आगमनवैयर्थ्यापातात्। 'प्रागयं वसुदेवस्ये'तिवाक्यविरोधश्चेत्युभयतः पाशारज्जुरिति चेदत्र ब्रूमः। नन्दगेहे प्रादुर्भूतस्यैव पुरुषोत्तमस्य 'सर्वतःपाणिपादान्त'त्वेन तदा कार्यमस्तीति वसुदेवगृहे प्रादुर्भाव इति ज्ञायते स एव 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यनेनोक्तः। पूर्वरूपस्य तिरोधानेऽग्रिमकार्यार्थं स्वस्मिन्नेव स्थापितवान्। यतो **मुक्तिभूभारहरणवंशसम्बन्धित्वेनाविर्भावपित्रादिसुखदानवेदमार्गरक्षानारदशापविमोकद्विजसम्माननादिकार्याणि वासुदेवादि-मूर्तिनियतकारणकान्युक्तकार्याण्यग्रे स्पष्टानि**। एतदेवोक्त**मेव सति सर्वेषां चरित्राणामभिनिवेशो भवती**त्यनेन। अत्र श्रुतार्थापत्तिरेव **मान**मिति नानुपपत्तिः काचित्। **रूपान्तर**मिति। रूपान्तरत्वेन भानमित्यर्थः। **तच्च** मानुषत्वम्। तथा च शुद्धे पुरुषोत्तम एव तथाभानस्याग्रे वाच्यत्वान् **माया**निरूपणेन तन्नियतकार्यविषयस्याप्युत्पत्तिर्निरूपिता भवतीत्यर्थः॥ १६॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

आविवेशेत्यत्र—**केचित्त्वि**त्यादिना यन् मतान्तरमुक्तं तदेव कुतो नाद्रियत इत्याकाङ्क्षानिरासस्तु भगवद्वाक्यस्यांशभाग-पदस्य करणभूतस्योपादानाच्छुकेनैव भगवदावेशबोधनात् कृत इति चतुर्व्यूहरूपेणैव **भूमौ** पुरुषोत्तमप्राकट्यं न तु मूलरूपेणेति-शङ्का स्यात् तन्निरासायाहुः **पुरुषोत्तमस्त्वि**त्यादि। **सा**नाकाङ्क्षायां श्रुतार्थापत्तिं प्रमाणयन्त्य**न्यथे**त्यादि। नन्वत्र प्रादुर्भावो नोच्यते प्रकरणाभावात् किन्तु श्रीयशोदादिप्रतीतिरेवानूद्यतेऽतो नेदमत्रमानमित्याकाङ्क्षायामाहु**र्मायये**त्यादि। तृतीयाध्याये रूपान्तरं यदुक्तं तन् **मायाकरणम्**। तस्य करणभूता **माया** च चतुर्थाध्याये 'दृश्यतानुजा विष्णो'रित्यनेनानुजात्वेन निरूपिता। स च शब्दो रूढः सोदरत्वलक्षणसामानाधिकरण्यमन्तरेणानुपपद्यमानस्तत्सादराग्रजत्वेन भगवन्तं गमयति। तदेव पूर्वोक्तवाक्यान्युपोद्बलयति। न चानुजात्वं केनाप्यवतारकालीनेनावगतं येन तत्प्रतीत्यनुवादकत्वं वक्तुं शक्येत। अतो यदिदं शुकेनोक्तं तन् **नन्दगृहे** भगवतो **माया**ज्ञप्तुः शक्तिसाहित्येन प्रादुर्भावबोधनार्थमेवोक्तमितिनिश्चयः। एवं सति **तत्रांशभागेने**त्याद्यकथनादत्र केवल एवं प्रादुर्भूत इति सिद्धोऽर्थः। तदेतदुक्तं **मायये**त्यादिना। अयमेव **शुक**स्याशय इति दृढीकरणार्थमाहु**रुत्तरो**रित्यादि। **अन्यथो**त्सवस्य राज्ञादृष्ट-त्वाच्चतुर्थाध्यायोत्तरं 'व्रजे वसन् किमकरो'दित्यस्योत्तरभूतं पूतनामोक्षादिकमेव वदेन् न तु नन्दसम्भ्रमम्। अत एतदुपोद्घातत्वेनैव तस्योक्तिरिति **शुकस्यायमेवाशय** इत्यर्थः। अतः परमका स्वरूपद्वयदर्शनापत्तिशङ्कावतिष्ठते तामपाकर्तुमनुवदन्त एवास्य भावं **टिप्पण्या**माहु**रत्रायं भाव** इत्यादिना। ननु **नन्दगृह** आविर्भूतस्यैव तिरोधानं वाच्यमत आहुः **प्रागि**त्यादि। **कार्य**मिति। अविहित-भक्तिरसानुभवरूपं नाट्यरूपञ्च **कार्यम्**। **स** इति। कार्यार्थः प्रादुर्भावः। एवञ्चैकदैवोभयत्र प्रादुर्भावः पञ्चाध्याय्यामिवेति ज्ञापितम्। रूपद्वयदर्शनापत्तिस्तु दर्शनस्येच्छाधीनतयैव परिच्छेदावभानवत् परिहृता ज्ञेया। नन्वस्य रूपान्तरत्वेन भासमानस्य पुरुषोत्तमत्वेन भूभारहरणादिव्यूहकार्यकरणासम्भव इत्यत आहुः **पूर्वे**त्यादि। एतेनैव मतान्तरनिराकरणे बीजमप्युक्तप्रायम्। ननु 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यनेनोक्तस्य रूपस्य पुरुषोत्तमरूपत्वे किं मानं मायाकरणकं रूपान्तरमित्यत आहुः **रूपान्तरे**त्यादि। तथा च मूले **प्राकृत**वदस्यायमेवाशयः। तदेव विवृण्वन्ति **तथा चे**त्यादिना। **तन्नियतकार्यविषयस्ये**ति। अन्यथाभानविषयस्य मानुष-त्वस्येत्यर्थः। अत्रेदं सम्पद्यते। देवकीप्रार्थनया **चतुर्व्यूह**रूपं तिरोधाप्य प्रादुर्भूते पुरुषोत्तमरूपे यन् मनुष्यतया प्राकृतत्वभानं सम्पादितवांस्तेन शुक्तौ वृत्तिरूपस्य रजतस्येव स्वस्मिन् प्राकृतमनुष्यत्वस्याप्युत्पत्तिर्निरूपितेतितात्पर्यम्॥ १६॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गर्भसङ्कर्षणादित्यत्र-**सोऽप्यत्रे**ति। अत्र **शेषे** सङ्कर्षणोऽपिशब्दाद् वासुदेवांशश्चाविष्ट इत्यर्थः। देवक्यां स्थितिकाले वासुदेवांशाभावेऽपि लोकव्यवहारकालेऽस्त्येव। **असम्मत**त्यर्थ इति। **राम**पदस्य भगवद्रमणसाधकत्वमर्थोऽग्रे विवेक्यः सोऽर्थो भगव-त्सम्मतो न त्वयमर्थ इत्यर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकसंज्ञाभावान्न विभक्तिः। लोकसम्मतार्थेनार्थवत्त्वेऽपि प्रातिपदिकसंज्ञा भवत्ये-वेत्याभिप्रेत्याहुः **सम्बुद्धी**ति॥ १३॥ **आविवेशे**त्यस्याभासे—**देवक्यामागत** इति। यद्यपि मूले देवकीकर्तृकं धारणमुक्तं तथापि

तत् सर्वमल्पज्ञानां प्रतीत्यर्थमुक्तं वस्तुतस्तु भगवान् स्वयमेवागत इति तत्रैवाद्भुतमित्यस्य व्याख्याने वक्ष्यते। अतोत्र भगवत्कर्तृकत्वमेव मुख्यमित्याभासे तथोक्तम्। व्याख्यानेनांशानामिति। वक्ष्यमाणव्यवस्थानुरोधात् त्रयाणामंशानामित्यर्थः। **पुरुषोत्तमस्त्विति**। वासुदेवमात्रविशिष्ट इत्यर्थः। उक्तांशत्रयव्यावृत्त्यर्थं **तु**शब्दः। **वासुदेववैशिष्ट्य**स्य वसुदेवगृहे व्यावृत्त्यर्थ**मेव**कारः। 'तव सुत' इतीति। व्रजे देवकीसुतत्वयाप्रसिद्धावपि 'देवकीजठरभू'स्त्वकथनादेतासां यथार्थज्ञानमस्तीति निश्चीयते। तादृशीभिरेव 'तव सुत' इत्युक्तत्वादुभयत्र प्राकट्यं मन्तव्यमितिभावः। अत्र टिप्पण्यां **प्रादुर्भूतस्य**ेति। अस्यैव वसुदेवगृहे प्रादुर्भावो 'बभूव प्राकृतः शिशु'रितिरूपं दर्शनमित्यर्थः। **कार्यमस्तीति**। 'तमद्भुत'मित्यनेनोक्तस्वरूपस्य स्वस्मिन् स्थापन **कार्यं** ज्ञेयम्। एतत्संवादानन्तरं नन्दगृहाविर्भावस्तस्यैव 'बभूव प्राकृतः शिशु'रितिदर्शनं यथैव मायाविर्भावः। एतेषामानन्तर्यं शतपत्रवेधवद्दुर्लक्ष्यमिति त्रयमप्येककालिकमेव ज्ञेयम्। **सुबोधिन्यां चतुर्थाध्याय** इति। तृतीयाध्यायपर्यन्तं न मानुषत्वस्वीकारः किन्तु व्रजगमनानन्तरं मायायां मिलितायां तत्कार्यविषयस्य मानुषत्वस्य स्वीकार इत्याशयेनाहु**रुत्पत्तेरनन्तरमे**वेति। माया स्वकार्यं सम्पाद्य **मथुराया**मागतेति। देहेन्द्रियादिकं विहाय मनस्यावेशे हेतुमार्**जननमिति**। कामस्य मनोजन्यत्वान् मन एव स्वजन्यद्वारा सर्वान् जनयतीति जननं मनसो धर्मः। अतो जननप्रकारसिद्ध्यर्थमत्रापि मनस्यावेशः। परन्त्वन्यत्र मनसा कामद्वारा परम्परया जननमत्र तु मनसा साक्षादेव स्वरूपं तत्र देवक्यां स्थापनीयमितिभेदः॥ १६॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

आविवेशांशभागेनेत्यत्र—ननु वसुदेवमनस्यावेशं निरूप्य 'ततो जगन्मङ्गल'मित्यत्र देवकीकर्तृकं धारणं निरूपितमग्रे'थ-सर्वगुणोपेत' इति सन्दर्भे भगवदाविर्भावो निरूपितः। तथा च शूरपौत्रत्वेन वसुदेवपुत्रत्वेन या पुराणादौ प्रसिद्धिः सोपपन्नैव नन्दमनसि त्वेवमावेशस्यानिरूपितत्वात् तद्गृहे प्राकट्यं कथं वैष्णवैरुच्यत इत्याशङ्क्य नन्दालये स्वतन्त्रतया पुरुषोत्तमप्रादुर्भावं साधयन्ति **पुरुषोत्तमस्त्वि**त्यादिना। इहायमर्थः। **मथुरायां** हि वंशसंबन्धिलीलाचिकीर्षया वसुदेवमनसि प्रद्युम्नरूपेणाविश्य वैधदीक्षाप्रकारेण वसुदेवमानसाद् देवक्या आगतस्ततो व्यूहविशिष्टः साक्षात्पुरुषोत्तमोकस्मादलौकिकरीत्या वसुदेवदेवक्योरग्रे प्रादुर्भूतः 'आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कल' इति वाक्यात्। **नन्दगृहे** तु वंशसम्बन्धिलीलाया अचिकीर्षितत्वान् न नन्दमनसि प्रद्युम्नरूपेणावेशो न वा वसुदेवाद् देवक्यामिव नन्दमनस्तो यशोदायामागमनमतो वसुदेवगृहे प्रद्युम्नादिव्यूहानामपि प्राकट्यं नन्दगृहे तु न प्रद्युम्नादिप्राकट्यम्। नैतावता पुरुषोत्तमाविर्भावो नन्दगृहे निवारयितुं शक्यः किन्तु पुरुषोत्तमप्राकट्यमुभयत्रापि। अतो नन्दगृहे प्रादुर्भावं साधयन्ति **पुरुषोत्तमस्त्वि**त्यादिना। तु शब्देना 'विवेशांशभागेने'त्यनेनोक्तो व्यूहो व्यावर्तितः। तथा च वसुदेवमनसि प्रकटो व्यूहस्तद्रीत्या नन्दगृहे न जातः। पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे मायया सह जात एवेत्यर्थः। इह फक्किकायामेवकारो ह्ययोगव्यवच्छेदको न त्वन्ययोगं व्यवच्छिनत्ति। अत एवाग्रिमफक्किकाभिरन्यथानुपपत्तिं प्रदर्श्य नन्दगृहे प्रादुर्भावः साधितोऽन्यथा 'देवकीजठरभू'रितिवत् 'तव सुतः सता'ति कथं वदेयु'रित्यादिना। न च व्रजे नन्दपुत्रत्वेन प्रसिद्धिमादाय 'तव सुत' इत्युक्तिः। व्रजे देवकीसुतत्वेन प्रसिद्ध्यभावाद् 'देवकीजठरभू'रितिकथनानुपपत्तेः। अतो व्रजसुन्दरीणामार्षज्ञानमङ्गीकार्यम्। सिद्धे ह्यार्षज्ञाने 'तव सुत' इत्युक्तिरप्यार्षज्ञानजन्येति भगवतो नन्दपुत्रत्वं निराबाधम्। हेत्वन्तरमाहुस्तन्मातराविति **शुकवाक्यं च विरुध्येतेति**। ननु नन्दगृहे स्वतन्त्रतया चेत् पुरुषोत्तमप्रादुर्भावस्तदा जन्मप्रकरणे नन्दगृहीयस्वरूपस्योत्पत्तिः कुतो नोक्तेत्याशङ्क्य समादधते **मायये**वेत्यारभ्य **तस्योत्पत्तिनिरूपि**तेत्यन्तेन। **मायये**व **रूपान्तरमिति**। रूपान्तरत्वेन भानमित्यर्थष्टिप्पण्यां व्याख्यातः। अन्यद्रूपं रूपान्तरं चतुर्भुजरूपादन्यद् द्विभुजम्। तयोः परस्परमभेदेपि रूपान्तरत्वेन या प्रतीतिः सा **मायया**। वस्तुतस्तु 'परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयं चतुर्भुजस्तु वैकुण्ठे गोकुले द्विभुजः स्वय' मितिब्रह्मवैवर्ताद् द्विभुजश्चतुर्भुजश्च पुरुषोत्तम एक एव तत्र भिन्नत्वेन या प्रतीतिः सा मायिक्येन। **मायानिरूपणेनेति**। मायाकर्तृकभगवन्निरूपणेनेत्यर्थः। **तस्येति**। नन्दालयाविर्भूतद्विभुजपुरुषोत्तमस्येत्यर्थः। 'जातः खलु तवान्तकृद् यत्र क्वचित् पूर्वशत्रु'रित्यनेन कंसस्याग्रे देव्या निरूपितं तत्रापि 'यत्र क्वचि'दित्यनेन प्रसिद्धप्राद्र्भावस्थलं यन् मथुरातिरिक्तं लभ्यते तद् गोकुलमेवेति सिध्यति। **जात** इत्यनेन पृथक्तया जन्मैवोक्तम्। अन्यथा 'गतः खलु तवान्तकृदि'त्युक्तं स्यात्। अतो नन्दालये पृथगाविर्भावो मन्तव्यः। अत एव 'नन्दात्मजाय नवनीतमुषे नमस्त' इत्यादीनि ध्यानवाक्यानि युक्तानि भवन्ति। अन्यथा नन्दात्मजत्वाभावे नन्दात्मजत्वेन चिन्तने दोषः स्यात्। 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति वाक्यात्। एवं वसुदेवगृहे नन्दगृहे च पुरुषोत्तमप्रादुर्भाव इति सिद्धान्तः। अत एव 'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः' 'या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेष'मित्याद्युक्तिश्च सङ्गच्छते। किञ्च वरुणलोकगमनप्रसङ्ग 'एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुद'मित्यनेन शुकैः 'स्वपितर'मित्युक्त्या नन्दालये पृथगाविभावः स्वीकृतः। आविर्भावस्यैव पितृत्वसाधकत्वात्। अत एव श्रीशुकै 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुत' इत्याद्यनेकवाक्यैर्गोपिकासुतं 'देवक्यां विष्णुरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशय' इत्याद्यनेकवचोभिर्देवकीनन्दनत्वमप्युक्तम्। अतः पुरुषोत्तमाविर्भावो मथुरायां गोकुले च स्वीकर्तव्यः। **पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एवे**तिफक्किकायामन्ययोगव्यवच्छेदश्च देवकारार्थो व्याख्यायेत तदा वसुदेवगृहे प्रादुर्भावो बाध्येत। तथा सति भूयसां श्रुतिपुराणवाक्यानां विरोधो भवेत्।

'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर' इत्यादिवाक्यव्याख्या 'तमद्भुतं बालक'मित्यादिव्याख्या सुबोधिनी च कुप्येत्। **नन्दगृह एवे**त्यत्रैवकारस्य **वासुदेव**व्यूहविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भावीयान्ययोगव्यवच्छेदाङ्गीकारेऽग्रीमफक्किकाया 'मन्यथा देवकीजठरभूरितिवत् तव सुत' इत्यादिना प्रदर्शिता यान्यथानुपपत्तिः। सा तु सङ्गच्छत एव। अतः पूर्वोक्तो योगव्यवच्छेदपक्ष एव साधीयानितिदिक्। किञ्च **पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात** इत्यत्रावतीर्ण इत्यर्थो न तु व्यवहारविषये इति। **मायया** सहोत्पन्नया मातुरपि ज्ञानाभावात्। प्राकट्यस्यावताररूपत्वव्यवहारविषयत्वाभ्यां द्वेधाभानस्य वक्ष्यमाणतया नन्दगृहे निशीथसमयेवतरणरूपप्रादुर्भावस्यैव निजीकरिष्यमाणत्वात्। **व्यवहारविषय**तया रूपं तु नवम्यामितिविवेकः॥ १६॥

बुभुत्सुबोधिका

गर्भसङ्कर्षणादित्यत्र तस्या इति योगमायायाः। प्रमाणमिति ऐतिह्यं प्रमाणम्। यद्वा महान्तः प्राहुः महतामन्तःकरणं प्रमाणम्। जानातीच्छति यतत इति। एवेति अनवतारदशायोगव्यवच्छेदक एवकारः। सोऽयत्रेति अत्र शेषे सङ्कर्षणः। अपिशब्दाद् वासुदेवांशश्चाविष्टः। -वासुदेवकलानन्त' इति श्लोके वासुदेवांशाविष्टत्वोक्तेः। देवक्यां स्थितिकाले वासुदेवांशाभावेपि विविक्तव्यूहप्रकरणात्। लोकव्यवहारकाले 'वासुदेवकलानन्त' इति श्लोकादयस्त्वेव। अत एव बलहतानां मोक्षः। मोक्षस्य वासुदेवकार्यत्वात्। वदन्तीति शास्त्राभावेन लोकदृष्टं नाम वदन्ति। लोकस्येति 'लोकरमणा' दित्यस्य विग्रहः। रामशब्दविग्रहमाहुः रमयतीति। रञ्जयतीति राजेति राजपदस्य मनुप्रसङ्गे विग्रहवत्। 'रामक्रीडा रमणात्मिके' त्युक्तम्। अत्राग्रिमनामहेतुः। प्रयोजकहेतौ णिजन्ताद् घञ्। बाहुलकात्। असम्मत्यर्थ इति रमयतीत्यलौकिकविग्रहे प्रयोजककर्तर्यसम्मत्यर्थः। प्रयोजकहेतौ तु सम्मत्यर्थः। स्वरमणस्थानत्वेनानन्तत्वेनैव प्रयोजकहेतो घञि कृते रामः तत्र रामत्वं न तु प्रयोजककर्तरि घञा रामत्वं भगवत्सम्मतम्। न वा लोकस्य रमणात् इत्येवमसम्मत्यर्थः। रामशब्दस्य भगवद्रमणसाधकत्वमयोग्रे वाच्यः। प्रयोजकहेतोरधिकरणस्य हेतुत्वविवक्षाङ्गीकारात्। आश्चर्याभावमाशङ्क्याहुः सम्बुद्धोति। व्यवहारार्थ इति हे रामेति व्यवहारार्थः। शुकव्यवहारः। पूर्वनाम्नि हेतुभूतं नामेत्याहुः बलभद्रमिति। एवं च भद्रः, भगवद्रमणे प्रयोजकहेतुः। उच्छ्रय उद्गमः तस्मात्। भद्रः। शयनमपि बलेनैव बलेन भद्र इत्युक्तविग्रहात्॥ १३॥

सन्दिष्टेवमित्यत्र पूजाद्यर्थमिति ससन्देशपूजाद्यर्थम्। सन्देशे वेदत्वज्ञापनं पूजा। आदिना सन्देशप्रवर्तनम्। 'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिना' मिति सप्तदशाध्यायगीतायाः। तदर्थमित्यर्थः। 'त' दिति मूलस्यार्थः। तत्सर्वमित्यादि॥ १४॥

गर्भे प्रणीत इत्यत्र तत्कार्यमिति योगमायाकार्यम्। 'निद्रयापगतस्मृति' रितिवाक्यात् निद्रायाः स्मृतिनाशत्वेन सर्वे न गर्भाकर्षणं पश्यन्ति। योगनिद्रात्वेन योगमाया यदा कर्षन्ती जाता तदा तत्कार्यं सर्वस्मृतिनाशो जात इत्याहुः कर्षणेति। तेनेति अधःपतनकथनेन। पञ्चम इति अधः पतनज्ञापितः। 'चतुर्थेन तु पिण्डेन अस्थिमज्जा प्रजायते पञ्चमेन तु पिण्डेन हस्ताङ्गुल्यः शिरोमुखम्। षष्ठेन कृतुपिण्डेन हृत् कण्ठं तालु जायत' इति पिण्डोपनिषच्छ्रुतेः। मासि मासि पिण्डाः। विशब्दार्थमाहुः अतीति। क्रुश आक्रोशे। हेमधातुपाठे तु क्रुश रोदनाह्वानयोः भ्वादिः परस्मैपदो अनिट् नानुध्यायान् बहून् छब्दा' नितिश्रुतेर्निषिद्धः॥ १५॥

आविवेशेत्यत्र अथाक्रोशानन्तरमित्यादि अत्र टिप्पण्यां भावा नवेति अत्र हि श्रीशुको 'थाहाशभागेने'ति भगवद्वाक्यमनननिष्ठः। 'ज्ञानेन भक्त्ये'ति श्रुतेः। तन्मनने सामान्यप्रकारकजिज्ञासाया विशेषप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वं स्फुरितं सद् रसपरवशदशायां शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं विगलित 'मंशभागेने' तिपद 'मथ' शब्दस्मारकम्। पदजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्दबोधे कारणत्वात्। तदुक्तं 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिते' त्युक्त्वा 'विशेषस्मृतिहेतव' इति काव्यप्रकाशे। 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारक' मिति च। तथा 'चांशभागेने' ति पद 'मथ' पदस्मारकमि 'त्यनागतमतीतं चे' तिवाक्याद् दृष्ट्वा 'थ' पदमेव मण्डूकप्लुत्यावर्त्योपनिबद्धन्धुरिति भावस्तस्यानवबोधात्। तदपि दर्शयन्ति स्म तथा हीति। निदर्शनार्थं इदमव्ययम्। इह हीति ग्रन्थे हि। 'अथाहमंशभागेने' तिश्लोकैकवाक्यतायं आहुः शीघ्रं स्वागमनार्थमित्यादि। एवेति अन्यथा सङ्कर्षणाविर्भावान्तरमाविवेशांशभागः स्यात् विलम्बेन। प्रकृत उपयोगं वक्तुमाहुः आक्रोशस्त्विति। प्रकृतेति शीघ्रागमनेनुपयुक्तः। भगवद्वाक्यस्याथशब्दार्थतात्पर्येति 'अथाहमंशभागेने' ति भगवद्वाक्यम्। आनन्तर्यमथशब्दस्य वाच्योर्थः। शीघ्रं तात्पर्यार्थः। तस्य कथनाय। तदित्थम्। आनन्तर्य-'मथामंशभागेने' त्यत्राव्यवहितानन्तर्ये न विवक्षितम्। 'अथाह'मितिश्लोकसुबोधिन्याम 'थ शीघ्रं तदनन्तरमेवे' त्युक्तेः। तेन शीघ्रं आक्रोशानन्तरं विस्रंसनज्ञानानन्तरमेवेति तात्पर्यार्थः। सोत्र 'गर्भे प्रणीत' इति श्लोकेस्ति। अतस्तत्कथनायेति ज्ञायत इत्यर्थः। प्रभुबुद्धीति अभिधाप्रतिपाद्यं तात्पर्यप्रतिपाद्यं च। स पदार्थ इति तात्पर्यमात्रप्रतिपाद्यः श्रीशुकेनेति रसपरवशेन जन्मोत्सवे। पौरविक्रोशनतात्पर्यमाहुः अयमर्थ इति। जन्मरूपः। 'जन्म गुह्यं भगवत' इति 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये' इति च। तत्सम्पत्तिरिति जन्मनो गूढत्वस्य सम्पत्तिः। तत एवेति अन्यथाज्ञानादेव। जन्माज्ञानसूचनेन। सुबोधिन्यां आक्रोशानन्तरमिति विशेष्यत्वादितिभावः। विशेष्यं विस्रंसनज्ञानं भगवदिच्छमपि। प्रकारान्तरेण सङ्कर्षणज्ञानात्प्रकारान्तरेण विस्रंसनज्ञानत्वेन भ्रमविषयेण। एवकारस्तु जानातीच्छति यतत इति प्रणाल्या। देवक्यामागत इति यद्यपि मूले देवकीकर्तृकं धारणमुक्तं तथापि तत्सर्वमल्पज्ञानां प्रतीत्यर्थमुक्तं,

वस्तुतस्तु भगवान् स्वयमेवागत इति तत्रैवा 'तमभूत' मित्यस्य व्याख्याने वक्ष्यते। अतोत्र भगवत्कर्तृकत्वमेव मुख्यमिति तथोक्तम्। नृसिंहेत्यादि नृसिंहः काष्ठजः, हंस एकादशस्कन्धत्रयोदशाऽध्यायेऽकस्मान् आदिना नारदः 'उत्सङ्गान् नारदो जज्ञ इति। तस्येति शरीरस्य। तथोत्पत्तिरिति 'अथाहमंशभागेने' ति श्लोके प्रद्युम्नभागेनोत्पत्तिरुच्यते इत्यर्थः। तथोच्येतेति प्राकट्यत्वेन आविर्भाव उच्येत। आनकदुन्दुभेरित्यादि शब्दात्मकस्य विशुद्धसत्त्वस्य मनः आविवेश। भगवत्प्राप्तिरुक्ता साऽजुष्टग्राम्यविषयस्य वरहेतुकीं वेदत्वात्। 'यत्र वेदा न वेदा' इति श्रुतेः न वेदाः मेधाविनः। अतः प्रद्युम्नांशप्राधान्येन प्राप्तिः। भूमविद्यां विनापि। भक्तित्वेन पुरुषोत्तमप्राप्तित्वेन कार्यकारणभावात्। अतो भक्तानां भूम्यादीनां दुःखनिवारणे भक्तिः कारणमिति भूम्यादिभक्त्या भूमिविद्यया च भगवानाविवेश। आनन्दरूपः। 'मन आनन्द' मितिश्रुतेः। आनन्दं स्यास्तीत्यानन्दं अर्शआद्यच। अत एवां'शानां भागेन विभागेने' त्यर्थं 'अंशभागेने' त्यस्य वक्ष्यन्ति। मन आनन्दं आनन्दोस्यास्तीत्यानन्दमित्युक्तम्। स आनन्दो ब्रह्मेति, 'ब्रह्म तर्हि अग्नि'रितिश्रुत्य-भिप्रेताग्निरित्यग्निदृष्टान्तेन स्वरूपमाहुः अयोगोलक इति। अन्यथेति उक्तव्याख्यानाभावे। 'अंशभागेने' त्यत्र षष्ठीतत्पुरुषं व्याख्याय कर्मधारयं व्याकुर्वन्ति स्म केचित् त्विति। आहुरित्यस्वरसस्तु प्रसिद्धसमासत्यागः। पुरुषोत्तमस्त्विति अकारकः भक्तेः सह निगूढ-भावकरणं करोति यः सोर्थः परं ब्रह्म। भूमविद्यावत्त्वान् नन्दस्येत्येवकारः। माययेति मायेन्द्रियाणि कृपा वा तद्द्वारा कारकत्वाय। 'मायया सह जात' इत्यत्रोपपत्तिः। 'योगमायाऽजनि नन्दजायये' तिवाक्ये मायाजनिरुक्ता, पुरुषोत्तमाविर्भावस्तु 'अदृश्यतानुजा विष्णो' रिति वाक्ये 'नुजा' पदेन प्रकाशे साधितः। तथाहि यद्यपि मुहूर्तानन्तरं सा जातेत्यनुजात्वमस्त्येव तथापि स शब्दः सोदरानुजायां योगरूढ इति सोदरत्वलक्षणसामानाधिकरण्यमन्तरेणानुपपद्यमानस्तत्सोदराग्रजत्वेन भगवन्तं गमयति। यतो यदिद-मनुजात्वं शुकेनोक्तं तन् नन्दगृहे भगवतो मायाग्रजः मायारूपशक्तिसाहित्येन प्रादुर्भावबोधनार्थमेवोक्तमिति निश्चय इति। अत्र तुना वेदवेदान्तसारे श्रीभागवतेयोगोलके वह्निरिवेति दृष्टान्तेन वेदे वसुदेवेग्निर्वासुदेव उक्तः। अग्निर्गताविरयस्माद्धातोर्निष्पन्नोग्नि-शब्दः। अतः क्रियाश्रयत्वेन वह्निव्यवच्छेदः। यो वेदे ब्रह्मत्वेनोच्यते, व्यूहचतुष्टयश्च। पुरुषोत्तमस्तु अग्निरूपक्रियाश्रयः। आनन्दात्मा वेदान्तोक्तः। सुन्दरः पुरुषः पुरुषोत्तमः सर्वात्मभावगम्यः। पूर्वोक्तस्तु प्रतिपादकगम्यो वररूपसत्यवाग्गम्यश्च। पुरुषोत्तमस्तु ज्ञानाश्रयत्वेन। ज्ञानं सर्वात्मभावरूपं ज्ञेयम्। 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते' इतिभाष्यात्। शास्त्रद्वयार्थौ ज्ञानक्रिये। स्वरूपलक्षणे 'सत्यज्ञानपदाभ्यां तत्प्रधानाभ्यां' प्रतिपाद्ये। अत्र टिप्पण्यां उक्तवाक्येति 'अथाहमंशभागेने' त्युक्तवाक्ये 'ह' मितिशब्दस्य व्यूहतद्विशिष्टपुरुषोत्तमवाचकत्वेन साधनव्यवस्थया नन्दवसुदेवगृहयोराविर्भाव उक्तः। यदि तूक्तवाक्ये 'देवकीजठरभू'रिति 'तव सुत' इतिवाक्ये तदा तयोरनुरोधादित्यर्थः। अनुरोधस्तु श्रुतित्वाद् वाक्यवक्त्रीणाम्। अवश्यमिति नन्दस्य सर्वात्मभाववत्वाच्च नैयायिकाः शङ्कामाहुः तत्र स्वरूपेति। उभयत इति नन्दगृहे पुरुषोत्तमाविर्भावे रूपद्वयापत्तिः। 'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज' इति गर्गवाक्यादुभयत्राविर्भावानङ्गीकारे वाक्यविरोधापत्तिरित्युभयतः पाशो दूषणं तत्साधनं वाक्य-रूपा रज्जुः। नन्दगेह इति सर्वात्मभाववत्वेन सदाऽऽविर्भूतस्य भगवान् गृह एव तिष्ठतीति सुबोधिन्यां गृह्या देवता पुरुषोत्तम इत्यर्थः। अस्यैव वसुदेगृहे प्रादुर्भावो 'अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समं अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इतिश्रुत' इत्यत्रास्म-च्छब्दार्थपुरुषस्याहङ्कारस्य वा मूलरूपे वाच्यस्य 'बभूव प्राकृतः शिशु'रितिरूपं दर्शनमित्यर्थः, गर्भबालकपदयोः सामानाधि-करण्यात् पृश्णिगर्भो जातः। वसुदेवेन भक्त्या च परिभावितोऽप्यजुष्टग्राम्यविषयपरिभूतभक्त्या भावित इति। पर्यनर्थकः। अतः पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव जात इत्यर्थः। कार्यमस्तीति उक्तवाक्यविरोधाभावरूपं कार्यम् अविहितं भक्तिरसानुभावनरूपं नाट्यरूपं च कार्यं 'तमद्भुत'मित्यनेनोक्तस्य रूपस्य स्वस्मिन् स्थापनं च कार्यं ज्ञेयम्। एतत्संवादानन्तरं नन्दगृहाविर्भावस्तस्यैव 'बभूव प्राकृतः शिशु'रिति दर्शनं, तदैव मायाविर्भावः, एतेषामानन्तर्यं शतपत्रवेधवत् दुर्लक्ष्यमिति त्रयमप्येककालिकमेव ज्ञेयम्। ज्ञायत इति पश्चात् पुरुषोत्तमो मायया सहितस्तु नन्दगृह एव जात इत्यर्थः। अग्रिमकार्यार्थमिति उत्तरार्धे रुक्मिण्युत्थापनादि कार्यम्। सर्वेषां चरित्राणा'मित्यर्थः। यतो मुक्तीत्यादि तृतीयान्तेन व्यूहत्रयकार्यमुक्तम्। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं 'सम्बन्धित्वेने'तिपदं प्रत्येकं सम्बध्यते। आविर्भावकरणम्। अनिरुद्धकार्येण सह त्रयाणां कार्याण्याहुः पित्रादीति। मुक्तिसम्बन्धित्वेनेत्यत्र सम्बन्धो जन्य-जनकभावः। भूभारहरणसम्बन्धित्वेनेत्यत्र वध्यघातकभावसम्बन्धः। वंशसम्बन्धित्वेनेत्यत्राधाराधेयभावः। मनस आधारत्वात्। पित्रादिसुखदानं पञ्चमाध्याये उत्तरार्धेपि। अनिरुद्धकार्यम्। षष्ठाध्याये पूतनाविद्यानाशनमुत्तरार्धे आसुरचमूसंहरणं सङ्कर्षण-कार्यम्। दशमाध्याये यमलार्जुनमोक्षः उत्तरार्धे चैद्यादिमोक्षो वासुदेवकार्यं, द्विजसन्माननं गर्गसम्माननं अष्टमाध्याये, उत्तरार्धे विप्रार्चनाज्ञया। प्रद्युम्नकार्यं परिशेषात्। आदिना कृष्णकेशकार्यम्। अस्त्रकुलसंहरणम्। पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रे दशमस्कन्ध-नामसु स्पष्टम्। एवं च सर्वेषां वासुदेवादिमूर्तिकृतानां चरित्राणामित्यर्थः। अत्र श्रुतेति 'नन्दगेह' इत्यादिनोक्तेर्थे। वाक्यश्रुतस्य अर्थस्य आपत्तिः आसमन्तात् प्राप्तिरर्थान्तरकल्पनेन। अर्थापत्तिलक्षणं तु 'प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्यार्थान्तरं विनानुप-पद्यमानस्योपपत्तयेऽर्थान्तरकल्पना'। दृष्टार्थापत्तौ जीवन् देवदत्तो गृहे नास्तीत्युदाहरणम्। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्रेव। इयं मानान्तरमिति मीमांसकाः। अनुपपत्तिरिति उक्तेर्थे काल्पनिकत्वसम्भावनया मानानुपपत्तिः। तन्नियतेति मायाया नियतकार्यं रूपान्तरं तद्विषयमानुषत्वस्वीकरणस्यानिरुद्धस्याप्युत्पत्तिः। पित्रादिसुखदानरूपानिरुद्धकार्यात्। अत्र माया कृपा। 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यत्र 'प्रकृतिः स्वरूप'मितिव्याख्यानात्। सुबोधिन्यां, मानाकाङ्क्षायां श्रुतार्थापत्तिं प्रमाणयति स्म उभयत्र प्राकट्ये

अन्यथेत्यादि। तव सुत इतीति व्रजे देवकीसुतत्वाप्रसिद्धावपि देवकीजठरभूतस्य श्रुतित्वेन यथार्थज्ञानसत्त्वात् कथनम्। तादृशीभिरेव तव यशोदायाः सुत इत्युक्तत्वादुभयत्र प्राकट्यं मन्तव्यमितिभावः। श्रुतस्य वाक्याभ्यामुभयत्र प्राकट्यरूपार्थस्यापत्तिरासमन्तात् प्राप्तिरर्थान्तरस्य टिप्पण्युक्तस्य कल्पनेन। नन्वत्र प्रादुर्भावो नोच्यते प्रकरणाभावात्। किन्तु श्रीयशोदादिप्रतीतिरेवानूद्यतेतो नेदमत्र मानमित्याकाङ्क्षायामाहुः माययेत्यादि। तृतीयाध्याये रूपान्तरं यदुक्तं तत्कृपारूपमायाकरणकम्। तस्य करणभूता माया च चतुर्थाध्याये निरूपितेति मायानिरूपणेनैव चतुर्थाध्याये तस्य मयानियतकार्यरूपरूपान्तरविषयमानुषत्वस्वीकरणस्यानिरुद्धस्योत्पत्तिर्निरूपितेत्यर्थः। तृतीयाध्यायपर्यन्तं न मानुषत्वस्वीकारः किन्तु व्रजगमनानन्तरं मायायां मिलितायां तत्कार्यविषयस्य मानुषत्वस्य स्वीकार इत्याशयेनाहुः उत्पत्तेरित्यादि। योगमायोत्पत्तेः सम्भ्रमोजस्य मानुषत्वेन ज्ञानम्। मायायाः सङ्कर्षकत्वात्। तमोरूपायाः परस्मिन् ब्रह्मणि निषेधात्। मानुषत्वाश्रयपुरुषोत्तमोत्पत्तेर्निरोधः सफल इति ज्ञेयम्। सम्भ्रम इति उत्सवः। अनात्मजे आत्मजत्वेन ज्ञानमिति सम्यक् भ्रमः। अन्यथा उत्सवस्य राज्ञाऽप्रष्टत्वाच्चतुर्थाध्यायोक्तं 'व्रजे वसन् किमकरो'दित्यस्योत्तरभूतं पूतनामोक्षादिकमेव वदेन् न तु सम्भ्रममिति। जननं मनस इति भगवदधिष्ठानस्य। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठती'ति गीतावाक्यात्। 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वे'ति वाक्याज् जननं मनसः मायया सह जात इति 'माया मनः सृजती'तिचतुर्थस्कन्धः। 'तन्मनोकुरुते'ति बृहदारण्यके। 'मायाद्वारा मनःसृष्टि'रिति पुराणमतम्। अत एव माया भ.ष्नस्तुनौ क्षतादि दर्शयतीति ॥ १६ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

एवं तस्य नामान्युक्त्वा—इस प्रकार उपरोक्त दो श्लोकों में योगमाया के नाम कहकर इस श्लोक में शेष के नाम भी कहते हैं। शेषजी को अवतार दशा में पृथ्वी पर सङ्कर्षण कहेंगे, कारण कि इनके गर्भ काल में योगमाया ने इनको खींचकर रोहिणी के उदर में स्थापित किया था। वास्तव में तो भगवान् के चतुर्व्यूह रूप चार स्वरूपों में द्वितीय व्यूह स्वरूप सङ्कर्षण भी इनमें प्रविष्ट हैं इस लिये यह शेषजी सङ्कर्षण हैं किन्तु लोक में गर्भ खींचने के कारण इनको सङ्कर्षण कहेंगे। लोक जिनसे आनन्द पाते हैं और जो लोग को रमण कराते हैं अतः उनका दूसरा नाम राम है। श्लोक में राम शब्द विभक्ति के विना दिया गया है इसका तात्पर्य यह है कि यह नाम भगवान् को रुचिकर नहीं है अथवा राम शब्द संबोधन रूप होने से यह नाम व्यवहारिक है। श्रीशेषजी ने बल के सर्व करने से शेषजी का बलभद्र नाम बलभद्र नहीं है किन्तु विशेष बलवान् होने के नाते ही बलभद्र कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

ईश्वरवाक्याद् भगवान् ने माया को आदेश दिया उसके अनन्तर माया आज्ञा अनुसार कार्य करने लगी जिसका वर्णन अब इस श्लोक में करते हैं। श्लोक में माया को आज्ञा देने वाले के लिये भगवता पद में भगवान् शब्द दिया है उसका कारण है कि भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता है। और तथा शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसी भगवान् की आज्ञा गर्भसङ्कर्षण तथा माया के जन्म लेने के लिये हुई वैसे ही करने के लिये दिया है। एवं 'ओम्' शब्द का जो ग्रहण है वह पूजा के लिये दिया है। इसी से आज्ञा स्वीकार कर भगवान् की प्रदक्षिणा कर, योगमाया पृथ्वी पर पधारी और भगवदाज्ञा को पालने लगी ॥ १४ ॥

तत्सर्वं भगवन्निर्दिष्टं तत्कार्यं—श्रीयोगमायाजी को जिस कार्य के लिये भगवान ने आदेश दिया है वह सब कार्य लोक में प्रसिद्ध बनें जिसका वर्णन करते हैं कि भगवदादेश के अनुरूप योगनिद्राजी ने सुचारु प्रकार से गर्भ को ले जाकर श्रीरोहिणीजी के उदर में पधराया। और योगनिद्रा ने ऐसा कार्य किया जिससे सबको ऐसी नींद आ गई जो किसी को भी इस कार्य का पता भी न चला। और सबको आश्चर्य हुआ कि क्या हुआ ? इस विषय को स्पष्ट करने के लिये श्लोक में 'अहो' शब्द दिया है। और श्लोक में जो 'विस्रंसितः' कृदन्त है वह संस्कृत के 'स्रंसु' अधः पतने धातु से बना है जिसका अर्थ स्राव होता है। इस कृदन्त को देने का भाव यह है कि जिस समय योगमाया गर्भ को ले गई उस समय, 'गर्भ' पाँचवे या छट्ठे मास का होना चाहिये। 'पौरा' विचुक्रुशुः पदों से यह बात बताई कि पुरवासीजन चिल्लाने लगे कि कंस ने बड़ा अनर्थ किया उस खल के भेजे हुए राक्षसों ने देवकीजी के गर्भ को गिरा दिया है ॥ १५ ॥

श्र थाक्रोशानन्तरं विस्रंसनज्ञानानन्तरमेव भगवान् वसुदेवद्वारा देवक्यामागत इत्याहाविवेशेति सार्धाभ्याम्।

इधर लोगों में कोलाहल एवं गर्भ गिराने की बात सर्वत्र फैल जाने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण श्रीवसुदेवजी के मन द्वारा श्रीदेवकीजी में पधारे यह विषय ढाई श्लोको में कहते हैं—

निषेकाभावेपि पूर्वं वसुदेवे—निषेक का अर्थ है कि लौकिक प्रकार से, गर्भ धारण की क्रिया न होते हुए भी भगवान् प्रथम श्रीवसुदेवजी के मनमें पधारे पुनः वहाँ से देवकीजी में पधारे। यदि लौकिकवत् गर्भ धारण न हुआ तो वसुदेवजी के मन से देवकीजी के जठर में आने की क्या आवश्यकता थी। ? इस शङ्का को आचार्यचरण मिटाते हैं कि यहाँ भगवान् को नृसिंह तथा हंस के समान केवल अवतारत्व प्रकट नहीं करना था किन्तु अपना यदुवंश से सम्बन्ध, शूरसेनजी का पौत्रपना

तथा वसुदेवजी का पुत्रत्व भी प्रकट करना था। इसलिये देवकीजी के जठर में प्रविष्ट होने का व्यवहार को होना आवश्यक था। जीव का तो वंशादि सम्बन्ध देह से ही होता है अतः वहाँ स्त्री पुरुष संयोग से वीर्याधान होता है और उसको उत्पत्ति कहते हैं। जब ईश्वर के मात्र प्राकट्य को ही उत्पत्ति कहते हैं। इसलिये ऊपर कहे हुए प्रकार से ही वसुदेवजी के मन से देवकीजी में भगवान् का आविर्भाव कहा गया है। यदि यह प्राकट्य भगवान् का न होता तब तो वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश न होकर लोकसिद्ध गर्भाधान से सीधा देवकीजी में गर्भाधान होता वहाँ वसुदेवजी के मनमें भगवान् का प्रवेश है वह जैसे लोहे के गोले में अग्नि प्रवेश करती है वैसे हुआ है। जब वसुदेवजी का जन्म हुआ था तब देवों ने हर्ष में आकर दुन्दुभी बजाई थी कारण कि इनके यहाँ भगवान् प्रकट होंगे, और हमारे संकट नाश होंगे और इसी स्मृति के लिये वसुदेवजी का नाम 'आनकदुन्दुभी' रख दिया था। उस प्रसङ्ग को सार्थक करने के लिये भी भगवान् प्रथम वसुदेवजी के मनमें पधारे। 'अथांशभागेन' अंशों के विभाग से भगवान् ने वसुदेवजी में प्रवेश किया। अब ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्व्यूह रूप भगवान् ने इस समय एक ही प्रद्युम्न व्यूहरूप से वंशसम्बन्ध का कार्य सिद्ध करने के लिये प्रवेश किया है। कितने तत्वज्ञों का मत है कि 'अंशेन-भागेन' यों पदच्छेद करके उनका अर्थ 'अंशेन नारायण रूप और 'भागेन' केश रूप के साथ स्वयं प्रद्युम्न ने प्रवेश किया यों कहना चाहिये।

पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं। यदि वहाँ प्रकट न हुवे होते तो, जैसे भगवान् के लिये 'देवकीजठरभूः' देवकी के जठर से प्रकट हुए हैं ऐसा श्रुतियों ने कहा है वैसे ही यशोदाजी को 'तव सुतः' सति गदाधरबिम्बे इस वाक्य में तेरा पुत्र है इस प्रकार प्रमाण मूर्धन्य श्रुति रूप गोपिकाएँ कदापि नहीं कहती। जो भगवान् का प्राकट्य यशोदा के घर में न हुआ होता तो शुकदेवजी का बाललाला में 'तन्मातरौ' नंदलालजी की दो माताएँ यह कहना विरुद्ध हो जाता। चतुर्थाध्याय में माया के जन्म निरूपण से ही नन्दालय में 'भगवान्' की उत्पत्ति कही गई है। और माया के कारण ही 'मनुष्य' रूप से प्रतीति हो रही है। उत्पत्ति होने के अनन्तर ही पंचमाध्याय में 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' श्लोक से भगवान् के प्राकट्य का महान् उत्सव मनाया गया है। इस प्रकार अर्थ करने से ही सर्व चरित्रों का समन्वय हो सकेगा। जनन भगवान् का प्राकट्य मन से हुआ है इसलिये मूल में मनस्तः पद दिया है ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

गर्भसङ्कर्षणात्तं रोहिण्यास्तनयं भुवि वर्तमाना जनाः सङ्कर्षणं प्राहुः वक्ष्यन्ति। लोकरमाणात्तस्य रामेति सम्बोधनं करिष्यन्ति। बलवतामुच्छ्रयात्। श्रेष्ठत्वात् बलं वक्ष्यति। 'बलभद्रं बलोच्छ्रयात्' इति पाठान्तरम् ॥ १३ ॥ एवं भगवता सन्दिष्टा आज्ञप्ता योगमाया यथा भगवतोक्तं तथेति तथास्त्विति पुनरत्यादरार्थम्। ओमिति च तस्य भगवतो वचः प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य सामर्थ्य-लाभाय त परिक्रम्य गां पृथ्वीं गता सती यथा तद्भगवद्वचनं तथाऽकरोदित्यन्वयः ॥ १४ ॥ योगनिद्रया देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रति प्रणीते प्रापिते सति पौरा मथुरापुरवासिनो जना "अहो कंसभयात् देवक्या गर्भो विस्रंसितः पतित" इति विचुक्रुशुः। देवकीस्नेहाद्विलेपुरित्यर्थः। योगनिद्रापदेन अघटनायां सर्वविमोहे च सामर्थ्यं द्योतितम्। अहो इति तेषां खेदद्योतकम्। कंसभयादिति शेषस्तु 'सप्तमो भोजराजस्य भयाद्रोधोपरोधतः। देवक्याः पतितो गर्भ इति लोको वदिष्यति" इति विष्णुपुराणोक्त्यनुसारात्। 'स्रंसु ध्वंसु अधःपतन' इत्यनुशासनानुसारेण 'आचतुर्थाद्भवेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः। अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यात्' इति वचनाच्च पञ्चमासिकः षाण्मासिको वा गर्भः प्रणात इति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥ भगवान् विश्वात्मा सर्वस्वरूपोऽपि भक्तानां भूम्यादीनामभयङ्करः कंसादिभयं निवर्तयितुमंशभागेन पूर्णानन्दरूपेणानकदुन्दुभेर्मन आविवेशेत्यन्वयः। अनेन जीवानामिव न भगवतो धातुसम्बन्ध इति सूचितम्। यथा सर्वत्र व्यापकोऽपि महाभूताग्निरयःपिण्डादिष्वाविर्भूतः सन्नेव दाह्यं दहति, तथा सर्वात्माऽपि भगवान् केनचिद्रूपविशेषेणाविर्भूयैव दुष्टान् हन्तीति च सूचितम् ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गर्भेति ॥ वै एवार्थे। तं रोहिणीपुत्रं गर्भस्य संकर्षणादेव अत्र जन्मनि संकर्षणं प्राहुर्वक्ष्यन्ति नतु प्रलये जगदाकर्षणात्। लोकस्य रमणात् प्रीत्युत्पादनात् रामेति वक्ष्यन्ति। सुप्सुपेति समासः। रामेति संबोधयिष्यन्ति इति वा। बलवत्सु उच्छ्रयात् आधिक्याद्धेतोः बलं वक्ष्यन्ति ॥ १३ ॥ संदिष्टेति ॥ एवं भगवता संदिष्टा आज्ञप्ता देवी तस्य भगवतो वचः वचनं तथा इति पुनः ओमिति च आदरेण प्रतिगृह्य परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य गां पृथ्वीं गता सती तद् भगवद्वचनं यथा आदिष्टं तथा अकरोत् ॥१४॥ गर्भे इति ॥ योगनिद्रया कर्त्र्या देवक्याः गर्भे रोहिणीं प्रति प्रणीते प्रापिते सति अहो गर्भः विस्रंसितः कंसभयाद्विस्रस्तः कंसेनैव औषधादिना पातित इति वा। लोकाः स्नेहाकुलाः विचुक्रुशुर्विलेपुः नतु तत्कारणं विविदुरित्यर्थः। अत्र हरिवंशे देवक्याः सप्तमगर्भसंभवोत्तरमपि किंचित्कालं रोहिणी मथुरायामवात्सीत् पश्चात् गोकुलं गतायां तस्यां साप्तमासिक गर्भ आकृष्य प्रवेशितः तस्याः पूर्वस्थितो गर्भश्च ताव मासिक एवापसारित इत्युक्तम् ॥१५॥ भगवानिति ॥ [illegible] भगवानपि अंशभागेन पूर्णस्वरूपेणेति

पूर्ववदर्थः। आनकदुन्दुभेर्मनः कर्म आविवेश। मन इत्यनेनान्येषामिव धातुसंबन्धनिरासः अत एव काष्ठेत्यरूपो दृष्टान्तः। भगवानपीत्यर्द्धं चित्सुखाचार्याणामसम्मतम्। पौरुषं धाम मन आविवेशेति तद्व्याख्यानात्॥ १६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

संदिष्टेति। एवमित्थं, भगवता, संदिष्टा आज्ञप्ता योगमाया, तद्वचस्तस्य भगवतो वचनं, तथेति ओमिति तथैवास्त्येवमित्यर्थः। प्रतिगृह्य अङ्गीकारपूर्वकमभिनन्द्येत्यर्थः। परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य, गां भूमिं, गता प्राप्ता सती, तद्भगवद्वचनं, तथा यथोक्तं तथेत्यर्थः। अकरोत्॥१३॥ गर्भ इति। ततः, योगनिद्रया भगवद्योगनिद्राधिष्ठात्र्या शक्त्या, देवक्याः गर्भे रोहिणीं प्रति, प्रणीते संप्रापिते सति, तदा पौराः पुरवासिनो जनाः, अहो देवक्याः, गर्भः, विस्रंसितः निर्गलितः। इति विचुक्रुशुः। 'आचतुर्थाद्भवेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः' इति याज्ञवल्क्यः। न तु तद्विदुरित्यर्थः॥१४॥ भगवानपीति। ततः भक्तानां स्वाश्रितजनानां, अभयंकरः भयनिवृत्तिचिकीर्षुः, विश्वात्मा सकलजगदन्तरात्मा, भगवान् अपि, अंशभागेन देवत्वेन, जातस्येति शेषः। 'स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः' इति श्रुतेर्देवतानां भगवदंशत्वश्रवणात्। आनकदुन्दुभेर्देवांशत्वेन जातत्वाच्चेति भावः। आनकदुन्दुभेर्वसुदेवस्य, मनः, आविवेश। संकल्परूपज्ञानेन प्रवेशं चकारेत्यर्थः। 'यो मनसि तिष्ठन्' इति श्रुतेः पूर्वत एव तत्र तदावेशश्रवणात्पुनरावेशोक्तिः संकल्परूपज्ञानेनाविष्टत्वोक्त्यर्थो बोध्या॥ १५॥ स बिभ्रदिति। स वसुदेवः, पौरुषं भगवत्संबन्धि, धाम तेजः श्रीमूर्त्तिमित्यर्थः। बिभ्रत् बिभ्राणः, अत एव, रविः यथा तथा, भ्राजमानः सन्, भूतानां प्राणिनां, दुरासद इत्थंतयाऽभिसंहितुमशक्यतेजोयुक्तः, अतिदुर्द्धर्षः दुःखेनापि धर्षयितुमशक्यः, ह स्फुटं यथा तथा, संबभूव॥ १६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गर्भसङ्कर्षणादिति: १०. २. १३.

किञ्चित्कार्यवशान्मयाऽऽर्यपदवीं रामोऽयमारोपितः तेनैवाल्पदृशो भजन्तु मयि नाश्रद्धां कनीयानिति।
इत्यात्मन्यनुपाधिकाखिलजगज्ज्येष्ठत्वमव्याहतं व्यक्तीकर्तुमसौ तदा तदभिधाधानं चकाराच्युतः॥ ७॥

गर्भे प्रणीते इति: १०. २. १५

वसुदेवरोहिणीस्थितिरविकलभावा सा तु यत्रास्ते। पूर्णा योगोद्भूतिर्व्यक्ता मद्व्यक्तता च तत्र गवि॥ ८॥
विवरवसतिरयाजस्रमस्त्येव जाता यदि ह पुनरसौ सत्तादृशानन्ददान।
इति विभुरुचितज्ञो रोहिणीं गोकुलस्थां तमनघदलमन्या यद्बिलस्था विहाय॥ ९॥
धराभाग्यतो गोकुलेमन्निवासो भविष्यत्यतोऽस्यापि तत्रैव वासः।
प्रशस्तो यतः सर्वदैवैष युक्तो वियोगासहिष्णुश्च तस्यां युयोज॥ १०॥
अशेषज्येष्ठ एवास्मत्प्रभुरेवं वचः सताम्। कर्तुं सर्वांशतोऽन्वर्थं चक्रे शेषं निजाग्रजम्॥ ११॥
अध्यास्यमानां प्रभुणा निजेन यो भूमिं विशोध्याशु तदन्यतो वसेत्।
सत्सेवकोऽसौ भवति प्रियः प्रभोरग्रेसरश्चापि सदेति तत्स्फुटम्॥ १२॥
ये सन्त्यन्येऽवतारा जगति बहुविधास्तेंऽशरूपाः परात्मा श्रीकृष्णोऽद्धेति युक्तं मुनिवरवचनं भाति मायानिदेशात्।
स्वायत्तीकृत्य मायां विहरति किल यः सोऽयमात्मेति वेदो मानं किञ्च स्फुटं यच्चरितमपि तथैवाद्भुतानन्तकृत्यम्॥ १३॥
अनेकदेहसम्बन्धो योगिनो योगतोऽवनौ। स्फुट एवेति समभूद्रामस्तत्र निदर्शनम्॥ १४॥

भगवानपि: १०. २. १६.

यद्दुर्घटं चलमतीव च वस्तुजातसञ्चारि चेति बहुवारमवर्णि सद्भिः।
कीदृग्भवेत्तदिति किं प्रभुरीक्षणाय द्रागाययौ स वसुदेवमनः परात्मा॥ १५॥
यद्धामनस्थितितयाऽस्य पुराऽहमासं पुत्रोऽवनौ तदधुनापि तथैव भाव्यम्।
प्राग्रूपसंस्तवकृते किमसौ दयालुः, यद्वा मनःस्थितिमिहाप्युररीचकार॥ १६॥
अकामोऽप्यहं कामवानेव भक्तमनोजाततृप्त्यै भवामीति लोके।
दयाम्भोधिरम्भोधिशायी परात्मा तदानीं किमासीन्मनोभूनिवासी॥ १७॥
यौ बाहौ मम लोकविश्रुतगती पक्षीश्वरस्यन्दनौ सिद्धौ तौ भुवि नर्मकर्मणि तथा यात्रासु वाजौ क्वचित्।
भक्तानां तु मनोरथो मम मतस्तत्त्राणवेलास्विति प्रख्यात्यै स तदारुरोह भगवांस्तच्चेत एवोद्रात्॥ १८॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् श्रुत्यर्थमेनं प्रकटीचिकीर्षुः।
विभुः स्वयं सन्नपि विश्वनाथो विवेश [illegible]प्रमाणम्॥ १९॥

यो यं विना न कुरुते गुरु वाल्पकं वा कार्यं स तस्य गदितो भृशमन्तरङ्गः ।
आलोचयन्निति विभुः पितुरन्तरङ्गं प्रागाययाऽवभिलषन्नभयोर्वशित्वम् ॥ २० ॥
यो यो जनो भजति जन्मगति जगत्यां सर्वस्य तस्य मन एव सुखादिहेतुः ।
जानन्निदं प्रभुरसावपि तत्र वासं मैत्रीकृते किमु चकार जनुर्जिघृक्षुः ॥ २१ ॥
गोपालनं मम विधेयमिहाग्रतोऽस्ति तत्पालके वसतिरेव पुरोपयुक्ता ।
इत्येव गोगणनियन्तरि चेतसीशो वासं चकार किमु वाऽभ्यसनाय तस्य ॥ २२ ॥

नो मयि मनःप्रवेशो जातुचिदपि किन्तु भक्तहितकारी । अहमेव तद्दिशामीत्यबोधि बहुधा मनःप्रविष्टेन ॥ २३ ॥
इन्द्रियाणां मनश्चास्मीत्युक्तिं स्वां जगति स्फुटाम् । कर्तुं किमु हृषीकेशो मनःपदमुपाश्रितः ॥ २४ ॥
पितृतोऽपि पितामहस्य नप्तर्यनुरागोऽधिक इत्यशेषलोकः । वदतीत्यनुभूतयेऽस्य कामं स्वयमागात्स पितामहोपकण्ठम् ॥२५॥
यत्रामलो लसति भक्तिरसो मदङ्घ्रिपद्मं तथा मदभिधोत्तमरत्नराशिः ।
तत्रैव हंसवदहं विहरेयमित्थं तन्मानसे विहरता हरिणा न्यदर्शि ॥ २६ ॥
सङ्कल्पं निजभक्तिभृज्जनकृतं सत्यं विधातुं प्रभुर्भक्ताभीष्टफलप्रदो ध्रुवमसौ तत्रैव संतिष्ठते ।
ध्वस्ताराातिकभूमिपालनमये यद्वासुदेवे तदा सङ्कल्पेऽवसदेष एव हि मनो वासोऽस्य नत्वन्यवत् ॥ २७ ॥

कृष्णप्रिया

हिन्दी अनुवाद—गर्भ को सावधानी से खींच लेने से भूतल में उनको संकर्षण ही कहेंगे और लोकसमूह को रमण कराते हुए आनन्द प्रदान करने से 'राम इति' और अतिशय मङ्गलकर बलशाली होने से बलभद्र कहेंगे ॥ १३ ॥ जब भगवानने योगमाया को इस प्रकार आदेश दिया और योगमाया ने भगवान की आज्ञा के वचनों का स्वीकार किया पुनः प्रभु की परिक्रमा करके भूतल पर पधारी और पृथ्वी पर जाकर योगमाया ने भगवान की आज्ञा के अनुरूप कार्य का आरंभ किया ॥ १४ ॥ जब श्री योगमायाजी ने (भगवदाज्ञानुसार) देवकीजी के गर्भ को रोहिणीजी में स्थापित किया तब पौरजन चिल्लाने लगे कि अहो (कंस ने राक्षसों द्वारा) देवकीजी के गर्भ को विस्रंसित कराया ॥ १५ ॥ भक्तों को अभय करने वाले विश्वात्मा भगवान ने भी श्रीवसुदेवजी के मन में अंशों भाग से प्रवेश किया ॥ १६ ॥

[1]स बिभ्रत् पौरुषं धाम [2]भ्राजमानो यथा रविः । दुरा[3]सदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ॥ १७ ॥
ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः[4] ॥ १८ ॥
सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न[5] रेजे ।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञान[6]खले यथा सती ॥ १९ ॥
तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजिता[7]न्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ।
[8]प्राहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पौरुषं धाम बिभ्रत् सः रविः यथा भ्राजमानः भूतानां दुरासदः अति दुर्धर्षः ह सम्बभूव ॥ १७ ॥ ततः शूरसूतेन समाहितम् जगत् मङ्गलम् सर्वात्मकम् आत्मभूतम् (आनन्दकरम्) अच्युतांशम् देवी मनस्तः आनन्दकरं काष्ठा यथा दधार ॥ १८ ॥ सा सर्वजगन्निवासभूता सती देवकी भोजेन्द्रगृहे रुद्धा अग्निशिखा इव ज्ञानखले सरस्वती इव नितरां न रेजे ॥ १९ ॥ अजितान्तराम् प्रभया भवनं विरोचयन्तीम् शुचिस्मिताम् ताम् वीक्ष्य कंसः प्राह प्राणहरः एषः हरिः ध्रुवम् गुहाम् श्रितः यत् पुरा इयम् ईदृशी न ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

धाम श्रीमूर्तिम् ॥ १७ ॥ जगन्मंगलं जगतो मूर्तिमन्मंगलम् । अच्युतांशमच्युताश्च्युतिरहिता अंशा ऐश्वर्यादयो यस्य तम् । यद्वा अच्युतस्यांश इवांशः भक्तानामनुग्रहार्थं परिच्छिन्नवपुरित्यर्थः । सम्यग्भूतमेवाहितं वेधदीक्षयाऽर्पितं देवी द्योतमाना शुद्धसत्त्वेत्यर्थः । सर्वात्मकं सर्वस्यात्मानम् । अत एवात्मभूतं स्वस्मिन्नादावेव संतम् । मनस्तो मनसैव दधार धारणया धृतवती ।

---

१ अंशेन भगवान्विष्णुर्भुवो भारापनुत्तये-इदमन्यत्राधिकं दृश्यते । २. राजमानो-विज. । ३. दुरासदः सुदु-इति कस्यचित् । ४. मनस्थं-वीर. नभस्तः-विज. । ५. विरेजे-विज. । ६. द्युतखले-विज. । ७. ऽजितंभरां-विज. । ८. आहैष-श्रीधरादयः प्राहैष-वीर. ।

अत्रानुरूपं दृष्टांतमाह । यथा काष्ठा प्राची दिगानंदकरं चंद्रमिति ॥ १८ ॥ सर्वजगन्निवासस्य श्रीहरेर्निवासभूता सत्यपि नितरां सर्वजनाह्लादकतया न रेजे किं तु स्वयमेवानंदमन्वभवत् । यतः कंसस्य गृहे रुद्धाऽन्यैर्न दृश्यते । घटादिषु रुद्धाऽग्निशिखा दीपकलिकेव तथा सती शोभमाना सरस्वती ज्ञानखले ज्ञानवंचके रुद्धा यथाऽन्येषामनुपकारिणी न राजते तद्वत् ॥ १९ ॥ प्रभया भवनं विरोचयंतीम् । अजितोंतरा कुक्षिमध्ये यस्यास्ताम् । एष विरोचमानो ध्रुवं हरिरेव यद्यस्मादीदृशीयं पुरा पूर्वं नासीत् ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

श्रीमूर्तिं पुरुषाकारीभूतं तेज इत्यर्थः । दुरासदः प्राणिभिरासन्नभवितुमशक्यः । दुर्द्धर्षः कंसादिभिरभिभवितुमशक्यः । पौरुषं धाम पुरुषोत्तमस्य प्रभावं दधानः । स्वस्मिन्प्रादुर्भूतं कृष्णं पश्यन्तीत्यर्थः । "धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः" इति विश्वः ॥ १७ ॥ जगतो मूर्त्तिमन्मंगलम् । जगद्रिरक्षया मंगलेन मंगलानां च मंगलमित्युक्तदिशा परममंगलेन श्रीभगवता मूर्त्तिधृतेत्यर्थः । अपरिच्छिन्नैश्वर्यस्य परिच्छिन्नमनसा धारणमशक्यमित्यस्वारस्येन पुनराह–यद्वेति ! इत्यर्थः इति परिच्छिन्न इह वपुर्न तु परिच्छिन्नो जीववत्वापत्तेरित्यर्थः । सम्यग्भूतमेव न किञ्चित्तारतम्याद्यं वैधदीक्षायार्पितं ध्यानमात्रेणैव देवकीचित्ते वसुदेवेन मेतसा प्रापितमित्यर्थः. वैधदीक्षा तु कुलार्णवतंत्रे दीक्षाकथनप्रकृते कथिता । तथा हि–"स्पर्शदीक्षा वेधदीक्षा दृग्दीक्षा चेति चेदतः । दीक्षा तु त्रिविधा प्रोक्ता पार्वत्यै शंकरेण वै ॥ यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून्संवर्द्धयेच्छनैः । स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये ॥ यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत् । वेधदीक्षोपदेशस्तु मनसः स्यात्तथाविधः .. स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत् । "दृग्दीक्षाया उपदेशस्तादृश कथितः शिवे" ॥ इति । शुद्धसत्त्वेत्यर्थः । देवीपदस्य क्रीडमानेत्याद्यर्थो मा भूदित्यर्थः । अत एव सर्वात्मकत्वादेव । यद्वात्मनैव भूतं स्वयमाविर्भूतं न तु योगिवद्यत्नेन मनस्यानीतं तेन जीववज्जननीजठरसंबधो वारित इति । धारणया ध्यानेनेत्यर्थः । मनस्त इति । तृतीयार्थे तसिः । अत्र धारणेऽनुरूपं योग्यम् आनंदोऽमृतं यद्रूपाः करा रश्मयो यस्य तम् । काष्ठा प्राची यथा स्वतस्सिद्धं चंद्रमाकाशे दधाति तथा हृदयाकाशे "स्वतस्सिद्धे सर्वभूतांतरात्मा" इत्यादिश्रुतेर्दधारेत्यर्थः । चंद्रपक्षे तु अंधकारनाशकत्वेन जगन्मंगलम् । अच्युतांशं पूर्णकलम् । शूरः सूर्यस्तस्य सूतः । सुषुम्नाख्यो रश्मिस्तेन समाहितं निष्पादितम् । अमायां सूर्यलीनश्चंद्रस्तस्य सुषुम्नाख्यरश्मिनाभिव्यज्यत इति शास्त्रांतरप्रसिद्धः । सर्वासामोषधीनामंकुरजनकत्वात्सर्वात्मकम् । आत्मनो मनसोऽभिमानित्वादात्मभूतमिति योज्यम् ॥ १८ ॥ सर्वजगदाह्लादकतया निखिलविश्वानंदजनकत्वेन न रेजे न शुशुभे । स्वयमेवैकाकिन्येव । ज्ञानवंचकेऽधीत्यापि शास्त्रमनध्यापकेन्येषां तद्भिन्नानामनुपकारिणी अदत्ता सती न कस्यापि पठनपाठनजन्यपुण्योत्पत्तिं करोतीत्यर्थः । यद्वा–ज्ञानेन शास्त्रीयोपदेशेन लोकोन्धर्मे प्रवर्त्तयन्नपि स्वोपकारार्थं स्वयं स्वप्नेऽपि धर्मवार्त्तामपि यो न करोति सोऽपि ज्ञानवंचकस्तस्मिन्यथाश स्त्रं न शोभते तद्वदिति । यद्वा–ज्ञानवंचको दांभिकस्तत्र यथा सरस्वती न शोभते दांभिककथितं न कोपि सत्यं मनुते वंचकत्वात्तस्य । किञ्च यथाग्निशिखा प्रबला सती रोधकगृहं दहति तथा देवक्यपि कंसस्यैश्वर्यं धक्ष्यतीत्यर्थः । यथा च सती सरस्वती पापातिशयेन स्वरोधकं कालेन नाशयति तथैव देवकी कंसमिति भावः ॥ १९ ॥ प्रभया स्वदेहकांत्या । भवनं गृहम् । अजितो विष्णुरंतरा कुक्षिमध्ये कुष्यते निष्कृष्यते विचार्यते शुभाशुभमनेनेति कुक्षि मनस्तन्मध्येऽन्यथा मनस्त इत्युक्तिविरोधस्स्यादिति । कंसदृष्ट्या यथाश्रुतमेवास्तु । शुचि स्वाभाविकमानंदोत्थं न तु पूर्ववत्सकपटं स्मितं यस्यास्ताम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पौरुषं धाम श्रीभगवत्तेजः मनसि श्रीभगवदावेशेन तत्तेजोऽभिव्यक्तेः यद्वा, धामप्रादुर्भावं प्रभावं वा तथा च विश्वः "धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः" इति दुरासदः निकटे गन्तुमशक्यः चक्षुरग्राह्यो वा अत एव अतिदुर्द्धर्षः अभिभवितुमशक्यः सम्यग्बभूव ह स्फुटम् ॥ १७ ॥ सर्वात्मकमपि आत्मभूतम् आत्मनि प्रादुर्भूतं पुत्ररूपतया दधारेत्यर्थः । तेन जीववज्जन्माभावाद्व्यक्तिरेव श्रीभगवतो जन्मोच्यते । तथा च श्रीमध्वाचार्यधृतं तन्त्रभागवतवचनम् ।

"अहेयमनुपादेयं मद्रूपं नित्यमव्ययम् । स एवापेक्ष्य रूपस्य व्यक्तिमेव जनार्दनः ॥
अगृह्णाद्व्यसृजच्चेति कृष्णरामादिकां तनुम् । पठ्यते भगवानीशो मूढबुद्धिव्यपेक्षया ॥
तमसाद्युपगूढस्य यत्तमः पानमीशितुः । एतत्पुरुषरूपस्य ग्रहणं समुदीर्यते ॥
कृष्णरामादिरूपाणां लोके व्यक्तिव्यपेक्षया" । इति

महावराहवचनं च

"सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः । हेयोपादेयरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः । इति ।

भगवन्तमिति शेषः । आनन्दयन्तीत्यानन्दाः करा यस्य चन्द्रस्य तम् अमृतरश्मित्वात् अन्यत्तैः यद्वा न च्युतः एकोप्यंशो यस्य तं सर्वांशपरिपूर्णं भगवन्तमित्यर्थः । यत एवात्मभूतं सर्वमूलस्वरूपं समाहितं साक्षाद्दर्पितवत्प्रकाशितं हर्षशोकविवर्द्धनं इति

पूर्वं शोकोऽप्युक्तः अधुना च परमानन्द एव जात इत्याह, सर्वेषामात्मनां जीवानां कं सुखं यस्मात्तं यद्वा न च योगिनामेव तद्धारणे यत्न इत्याह, आत्मना भूतं समाहितः सन् यः स्वयमेवाविर्भूतस्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥ गच्छतीति जगदिति निरुक्त्या सर्वमात्रवाचकेनापि तच्छब्देनात्रानित्य एव सर्व उच्यते सर्वशब्दस्य पृथक्पाठात् ततः सर्वशब्देन तदतीतं सर्वमिति ततश्च नित्यस्य अनित्यस्य च सर्वस्य निवास आश्रयः, "यस्य भाषा" इत्यादिश्रुतेर्यदाश्रयत्वेनैव तत्तत्सर्वं भासते स श्रीकृष्ण इत्यर्थः। तस्य च निवासभूता आश्रयत्वं प्राप्तापीत्यर्थः। इति सर्वाह्लादकशोभा योग्यतोक्ता तादृश्यपि नितरां सर्वाह्लादकतया न रेजे किन्तु स्वान्तरङ्गैः श्रीवसुदेवादिभिर्विशिष्टस्य स्वस्यैवाह्लादकतया रेज इत्यर्थः। यथा तादृष्यग्निशिखा सरस्वती च नितरां सर्वोल्लासकतया न राजते किन्तु स्वान्तरङ्गविशिष्टस्वोल्लासकतयैव राजत इत्यर्थः। एते हि स्वदीप्त्या स्वयमुल्लासतः स्वानतरङ्गान् वोल्लासयत इति सरस्वतीपक्षे स्वान्तरङ्गं तन्मन आदिकं अग्निशिखेव रुद्धेत्यनेन सा प्रबला तद्गृहमपि धक्ष्यति तादृशी सरस्वती च निजाधारं पापेन नाशयिष्यत्येवेति भावः ॥ १९ ॥ वीक्ष्य साक्षात् दृष्ट्वा प्रभवेत्यत्र विशेषः श्रीविष्णुपुराणे "न शेके देवकीं द्रष्टुं कश्चिदप्यतितेजसा। जाज्वल्यमानां तां दृष्ट्वा मनांसि क्षोभमाययुः" इति भगवदानन्दस्फूर्तिस्वाभाव्यात् शुचि शुद्धं न तु पूर्ववद्वञ्चनार्थं सकपटं स्मितं यस्यास्ताम् आह स्वचित्ते गुहां हृदयमुदरं वा श्लेषेण नागस्येव मम सिंह इव भीषणोऽयं दरीं श्रित इति ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पौरुषं धाम भगवदीयं तेजः वसुदेवाय चित्त्वसिद्धये प्रथमं वसुदेवं हृद्गतः पश्चाद्देवकीजठरं विवेशेत्यर्थः ॥ १७ ॥ काष्ठा पूर्वादिक आनन्दकरं चन्द्रं पूर्वापरदिशोश्चन्द्रवदेव वसुदेवदेवकीजठरयोर्भगवतः सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ १८ ॥ परमात्मगर्भत्वादग्निशिखादृष्टान्तः "तस्या शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति हि श्रुतिः ज्ञानखले ज्ञानतः खले वेदविरुद्धज्ञानवती विरुद्धा सरस्वती उपनिषदिवेत्यर्थः ॥ १९–२० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वसुदेवः पौरुषं श्रीभगवत्सम्बन्धि तेजो विभ्रत् बिभ्राणः यथा रविस्तथा विराजमानो दुरासदोऽपि इत्थं तयाऽभिसंहितुमशक्येन तेजसा युक्तः भूतानां कंसादीनां दुर्द्धर्षः दुःखेनापि सोढुमशक्यो बभूव ॥ १७ ॥ ततः शूरसुतेन वसुदेवेन निहितं जगतां मङ्गलं यस्मात्तम् अच्युतोऽप्रच्युतोंऽशः सङ्कल्परूपविज्ञानं यस्य तं सर्वात्मकं सर्वशरीरकमात्मनोप्यात्मभूतं श्रीभगवन्तं देवकी दधार जठरे इति शेषः। हृदयाकाशे हृदयकमले वेति दिक् तथा काष्ठा पूर्वा दिक् घनस्थमभ्रपिहितमानन्दकरं चन्द्रं बिभर्ति तद्वत् वसुदेवापत्यत्वसिद्धये तावद्वसुदेवहृद्गतः पश्चाद्देवकीजठरं प्रविवेशेत्यर्थः। पूर्वदिशश्चन्द्रस्येव वसुदेवदेवकीजठरयोर्हृदययोर्भगवतस्सम्बन्ध इति भावः ॥ १८ ॥ सा धृतपरमपुरुषा देवकी सर्वजगदाधारभूतस्य श्रीभगवतो निवासभूता सती अतितरां न रेजे न रराज यथा भोजेन्द्रस्य गृहेऽवरुद्धा उग्रसेनस्य कंसस्य वा गृहे इत्यर्थः। अग्नेः शिखा इवावरुद्धेत्यभूतोपमेयं यथा च ज्ञानखले वेदविरुद्धेन ज्ञानेन हीने मूर्खे दुर्जने पुंसि सती निर्दुष्टा सरस्वती उपनिषन्न राजते तद्वत्परमात्मगर्भत्वादग्निशिखादृष्टान्ताः "तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रुतेः। ज्ञानबल इति पाठे वेदाविरुद्धज्ञानवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ तथा प्रभया जितानि अन्तराणि दिगन्तराणि यस्याः शुचि विशुद्धं स्मितं यस्यास्तां भवनं गृहं विरोचयन्तीं देवकीमालोक्य कंसः प्राह, उक्तिमेव दर्शयति—एष इत्यादिना इति घोरेत्यतः प्राक्तनेन। मे मम प्राणहरः प्राणान् जिहीर्षुरयमेव हरिः ध्रुवं गुहां देवकीजठरविवरं श्रितः पुरेयं देवकी नेदृशी एवंविधप्रभान्विता नासीदतो नूनं गुहामाश्रितः ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पौरुषं धाम पुरुषाकारीभूतं विष्णुतेजः ॥ १७ ॥ वसुदेवप्रवेशानन्तरं देवी अच्युतस्य हरेरंशं कृष्णकेशलक्षणं दधार जगन्मङ्गलयति भूभारहरणेन जगन्मङ्गलं करोतीति जगन्मङ्गलं शूरसुतेन वसुदेवेन समाहितं सर्वात्मनः सर्वव्यापिनो हरेः या सर्वव्यापित्वशक्तिः साऽस्यास्तीति सर्वात्मकस्तम्। आत्मभूतं देवक्यां प्रत्यगात्मस्वरूपम् आत्मनो मनसोभूतमभिव्यक्तं वा आत्मभुवश्चतुर्मुखस्य भूतमिष्टसाधकत्वादिष्टं देवं वा आनन्दकरमुक्तप्रपञ्चस्यापि सुखकरं कथमिव काष्ठा पूर्वादिक् आनन्दोऽमृतं करो यस्य स तमानन्दकरं चन्द्रं नभस्त आकाशे यथा दधाति तथा हृदयाकाशे दधार न तु योन्याकाशे। कीदृशी (१) काष्ठा पूर्णमनोरथा कीदृशी (२) देवी द्योतमाना कीदृशं चन्द्रं रात्र्यामन्धकारनिरासेन जगन्मङ्गलभूतं च्युतिरहिता अंशाः करा यस्य स यथा तं पूर्णकलमित्यर्थः। शूरश्चण्डकरः सूर्यस्तत्सुतः सुषुम्नाख्यो रश्मिस्तेन समाहितं निष्पादितम् अमावास्यायां सूर्ये लीनः चन्द्रः तस्य सुषुम्नाख्यरश्मिना अभिव्यज्यत इति शास्त्रप्रसिद्धिः सर्वासामोषधीनामङ्कुरजनकत्वेन प्रेष्ठत्वात्सर्वात्मकम् आत्मनो मनसोऽभिमानित्वादात्मभूतं लोकविडम्बनार्थं पितृमातृप्रवेशक्रमः न तु शरीरस्वीकारार्थं तदुक्तम्—

"आविश्य पितरं विष्णुस्वरूपेणैव मातरम्। विडम्बनार्थं लोकस्य निर्जनिश्चाप्यथाविशत् ॥
आनन्दमात्रदेहेन जातवत्प्रदर्शयत्" इत्यादिना ॥ १८ ॥

सा देवकी प्रथमं भोजेन्द्रगेहे रुद्धा न विरेजे इति नञमध्याहृत्य व्याख्येयं पश्चात्सर्वजगन्त्यास्मिन्निवसन्तीति सर्वजग न्निवासो विष्णुः तस्य निवासभूता हेतुगर्भं विशेषणं नितरामत्यन्तं विरेजे न रेज इति पाठे नञोऽध्याहार्यत्वम् अत्र दृष्टान्त दाहकाग्निशिखादाह्यतृणपटलादिना रुद्धा न राजते पुनः शुष्केण तेनैव ज्वलिता यथा राजते यथा वा सती सरस्वती सत्यरूपा वाणी द्यूतखले द्यूतरङ्गस्थले अनृतेन रुद्धा न राजते सैव निर्व्याजा रोचते तथेति अन्यथा यथास्थितकथनन्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविरोधाद युक्तम् ॥ १९ ॥ अजिबम्भरां विष्णुन्दृत्वानाञ्जेतुमशक्यगर्भभरा वा अन्तः स्थितविष्णुप्रभावर्धितस्वदेहप्रभया गर्भरूपेण हृदयगुहां प्रविष्टो यद्यस्मात्तं तस्माद्ध्रुवम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

पौरुषं धाम भागवतं वपुः ॥ १७-१८ ॥ सेति सा शुद्धसत्त्ववृत्तिरूपत्वेन प्रसिद्धा द्योतनाद्देवकीति यथार्थनाम्नी नितरां न रेजे इति तेजसः सर्वचक्षुष्षु प्रसरणाभावादानन्दस्य च सर्वमनस्स्विति भावः। पूर्वोऽत्र दृष्टान्तोऽग्निशिखेव रुद्धेति उत्तरोऽत्र सतो ज्ञानखले यथेति तत्र कंसस्य तद्गृहप्रवेशो पूर्वमनुभवविषयो भवदुत्तरं तु मनःप्रवेशाभावान्नैवेत्याह ॥ १९ ॥ तामिति एव जीवन् जीवरूपेण दृश्यमानोपि लोकबहिष्कृतत्वसाम्यात् मृत एव सन्निवृत्तो हेतुमाह—अन्तर्यामिरूपतया स्वयं प्रभु परमेश्वरो यत्रेति तस्य दोषमुक्त्वा श्रीहरिवंशसम्बन्धस्य स्वाभाविकं गुणमाह ॥ २०-२३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ततो भगवांस्तद्देहाद्देवकीदेहे प्रविष्ट इत्याह—तत इति। जगतां मूर्तिमन्मङ्गलं च्युतिरहिता अंशा नारायणनृसिंहादयो यत्र तत् सर्वेषां भक्तानां सर्वस्य शम्भोर्वा आत्मनो मनसः कं सुखं यत्र तत् आत्मभूतं आत्मनैव भूतं स्वयमाविर्भूतं न तु योगिवद्यत्नेन धारणया मनस्यानीतं मनस्तो मनसा दधार तेन जीववज्जननीजठरसम्बन्धो वारितः अत एवानुरूप दृष्टान्तमाह, काष्ठा प्राची दिक् आनन्दकरं चन्द्रं यथेति कियद्दिनानन्तरं तं तु सा स्वकुक्षिमध्येऽपि कृष्णं पश्यन्ती बभूवेति ज्ञेय "दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमान्" इत्यग्रे तथोक्तेः ॥ १७-१८ ॥ प्राकृताप्राकृतसर्वजगन्निवासस्य श्रीहरेर्निवासरूपा सत्यपि नितरा सर्वजनस्याह्लादकतया न रेजे किन्तु तत्रत्यस्वान्तरङ्गद्वित्रिजनसहितस्य स्वस्यैवेत्यर्थः। यतः कंसस्य गृहे रुद्धा अग्निशिखा इवेति सा यथा गृहे रुद्धा नगरं न प्रकाशयति किन्तु गृहस्थितवस्त्वेव तथा स्वसमीपवर्तिनां द्वित्रिजनानां शीतादिनाशिका च तथैवेत्यर्थः। यथा च सा प्रबला सती रोधकस्य गृहं दहति तथैव देवक्यपि कंसस्यैश्वर्यं धक्षतीत्यर्थः। ज्ञानखले ज्ञानवञ्चके रुद्धा सरस्वती सर्वलोकानुकारिणी सती यथा न राजते पापातिशयेन स्वरोधकं च कालेन यथा नाशयति तथैव स्वापराधेन कंसमपि देवकी नाश-यिष्यतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ प्रभया भवनं विरोचयन्तीम् अजितः अन्तरे कुक्षिमध्ये यस्यास्तां शुचि स्वाभाविकमानन्दोत्थं न तु पूर्ववद्वञ्चनार्थं सकपटं स्मितं यस्यास्तां वीक्ष्य स्वगतमाह मे मतङ्गजस्य हरिः सिंहः यद्यस्मात् ईदृशी पूर्वं नासीत् ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पौरुषं पुरुषस्य विष्णोर्धाम सुचिन्त्यापरिमितकल्याणविग्रहयुक्तं भगवत्स्वरूपमित्यर्थः ॥ १७ ॥ देवी श्रीदेवकी तत्स्त-स्मादानकदुन्दुभेर्मनसः सकाशाज्जगन्मङ्गलं भगवन्तं शूरसुतेन सम्यगाहितं ध्यानेनार्पितं मनस्तः मनसैव दधार धारणया गर्भत्वेन धृतवती आत्मभूतमात्मना धारणकाले भूतमनुभूतं द्रष्टुमित्यर्थः। मनसैव धारणे दर्शने च तस्याः सामर्थ्यं द्योतयितु देवीत्युक्तम् मनसो निर्गत्य मनसि प्रवेशेन प्रतीतं परिच्छिन्नत्वं निराकर्तुमाह—सर्वात्मकमिति। सर्वस्यात्मभूतं सर्वोपादानरूपम् जीवः पूर्वदेहं त्यक्त्वा देहान्तरं गृह्णाति तद्वैलक्षण्यं द्योतयितुमाह—काष्ठा यथाऽऽनन्दकरमजहच्छरीरं चन्द्रमिति मातुरुदरवासादौ जीवश्च्युतैश्वर्यो भवति तद्वैपरीत्यद्योतनायाह—अच्युतांशमिति। अच्युताः च्युतिरहिताः अंशा ऐश्वर्यादयो यस्य तम् ॥ १८ ॥ सर्वाणि जगन्ति निवसन्ति यस्मिन् तस्य सर्वाधारस्य निवासभूता आधाररूपा प्राणिनो बहिराह्लादयितुमन्तश्चक्षुर्द्वारा प्रविश्या-ह्लादयितुं च योग्यापि नितरामुभयथाऽऽह्लादकतया न रेजे तत्र हेतुमाह भोजेन्द्रगेहे रुद्धेति बहिरनाह्लादकतायां दृष्टान्तोऽ-ग्निशिखा दीपरूपा घटादिषु रुद्धेव अन्तराह्लादकतायां दृष्टान्तः सती भुक्तिमुक्तिप्रदातृतया शोभनापि सरस्वती ज्ञानखले ज्ञानवञ्चके रुद्धा यथा ॥ १९ ॥ अजितो भगवान् अन्तरा कुक्षिमध्ये यस्यास्तं शुचि स्मितं यस्याः ताम् अत एव भवनं प्रभया विरोचयन्ती तां देवकीम् वीक्ष्य आह एष मे प्राणहरः हरिः अस्याः क्लेशहरः गुहामुदरं ध्रुवं स्थितः यद्यतः पुरेयमीदृशी न ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

आविष्टे भगवति यादृशो जातस्तं वर्णयति स **बिभ्रदिति**। **पुरुषस्य** भगवतो **धाम** तेज आत्मनि बिभ्रदिति स्वतोपि स्वकान्तिसामर्थ्यादधिकानुभावो निरूपितस्तदा राजमानो जातः। **यथा रविरिति** सर्वेषां प्रतीत्यर्थमेवोक्तम्। अथवा द्वादशबिम्बा-न्येव तिष्ठन्ति येषु पुनर्यदा प्रविशति तदा स प्रकाशते तद्वत्। तदा तस्य कंसादीनां भयं निवृत्तमितिज्ञापयितुमाह दुरासद इति। कोपि निकटे गन्तुं न शक्नोति न बाधितुंपं कर्तुम्। अतः क्लेशो दूरे ज्ञापितः। भक्तानां सर्वेषामेव। दुष्टानां वा राक्षसादीनाम्।

सम्यग् बभूवेति न कोपि परीक्षार्थमपि बलादप्यागन्तुं शक्त इत्युक्तम्। **हेत्याश्चर्ये**। सर्वेषु भगवान् यद्यपि वर्तते तथापि नैवं तेजोन्यत्रेति ॥ १७ ॥

षट्पुत्रवधात् पूर्वमेव सङ्कर्षणगर्भस्ततः प्रभृति निगडगृहीत एव। अतः प्रकारान्तरेण स्वस्मिन् विद्यमानं भगवन्तं देवक्यामानीतवानित्याह **तत** इति। यद्यपि स्वस्मिन्नेव स्थापनमुचितं तथापि सर्वलोकरक्षार्थं देवक्यां स्थापितवानिति ज्ञापयितुमाह **जगन्मङ्गलमिति**। जगतामेव कल्याणभूतम्। नन्वेवमागमनावेशप्रवेशनिर्गमनेष्वन्यथाभावो न्यूनाधिक्यं वा भविष्यतीत्याशङ्क्याहाच्युतांशमिति। अच्युतश्चासावंशश्च। षष्ठ्यर्थेपि तदर्थमेव विशेषणम्। **सम्यगाहितमिति**। **वैधदीक्षाप्रकारेण**। वस्तुतस्तु **समाधौ** देवकीं भावयित्वा मनसैव तत्र साक्षात् तेजः स्थापितवान्। **शूरसुतेनेति**। विवेकार्थं पितृनाम्ना निर्देशः। **देवोति**। तस्या अन्तःप्रवेशेन **समाधावपि** तत्तेजोग्रहणसामर्थ्यं द्योतितम्। इयं हि देवतारूपा। देवतायाश्च तथासामर्थ्यं सिद्धमेव। अत एव दधार। नन्वेवं परधृतत्वे ब्रह्मत्वं भज्येतेत्याशङ्क्याह **सर्वात्मकमिति**। स हि **सर्वेषामात्मभूतः** सर्वैरेव ध्रियत इति धारणं न दोषाय। तथापि प्रकृते चैतन्यं बीजं वा मानसं प्राप्य तिष्ठतीति दूषणमेवेति चेत् तत्राहात्मभूतमिति। देवक्यामात्मरूपेणैव प्रविष्टो न तु बीजे चैतन्ये वा प्रविश्य तत्र प्रविष्टः। यथा ज्ञानेन स्वात्मानं बिभर्त्ययमहमात्माधार इति तथैव भगवन्तमात्मभूतं धृतवतीत्यर्थः। अनेन शुद्धमेव स्वरूपं **वसुदेवाद्** देवक्यामागतमित्युक्तम्। **चैतन्यबीजमन्त्रपक्षा** अल्पज्ञानां प्रतीत्यर्थमुक्ताः। वृद्धिराकाशस्येव। **क्रमेण** मायोद्घाटनात्। **तदा** मायाया भगवतश्चोभयोरविकृता बुद्धिरुत्पन्ना भवति। तदपि न स्वप्रयत्नाद् धारणलक्षणाद् भगवन्तमानीय धृतवती किन्तु यथा स्वत एवागतमुद्यन्तमानन्दकरं **चन्द्रं काष्ठा** पूर्वा दिग् बिभर्ति। धारणं च **मनस्त** एव। अविकृतमनसेतिज्ञापयितुं तसिल्प्रत्ययः। समाधाने धारणे च **मन** एव हेतुः ॥ १८ ॥

यथा **वसुदेवो** भगवदावेशे स्फुरद्रूपो जातो न तथा देवकी जातेत्याह **सा देवकीति**। **पुरुषस्य** हि तेजः **स्वतन्त्रमिति** विवेकादिसहभावाच्चिन्तया नाभिभूयते। स्त्रियास्तु परतन्त्रं विवेकादिरहितमिति चिन्ताभिर्भवान् न शोभते। यद्यपि **सा देवकी** देवतारूपा **सर्वजगतां निवासभूतस्य** भगवतो **निवासभूताधिकरणभूता**। न हि स्वस्मिन् विद्यमानेभ्यो लोमभ्यः स्वस्य भयं भवति। तथा भवति सर्वमस्तीति न सर्वस्माद् भगवतो भयम्। स्वस्य तु सुतरामेव जगतो भगवतश्च भगवन्निमित्तं च न भयम्। एतादृश्यपि **सती नितरां न रेजे**। भगवच्चिन्तया स्वस्य सर्वेषां च शोकहेतुर्जातेति। बहिरन्तःकरणेपि चिन्तादिना मालिन्यात्। हेत्वन्तरमप्याह **भोजेन्द्रगेहे** कंसगृहे **रुद्धा** निगडैर्गृहीता। बहिरागत्य सर्वसुखदायिनी न जाता। यथा कुण्डे उत्वलन्नप्यग्निर्भस्मना रुद्धोन्तर्ज्वाल एव भवत्येवमियमपि चिन्तादिना व्याप्रुता सम्यङ् न प्रकाशयुक्ता जाता। स्वधर्मैरेवास्फुरणे दृष्टान्तः। अन्यनिरोधेनास्फुरणे दृष्टान्तान्तरमाह **सरस्वती ज्ञानखले यथा सतीति**। **सती** सन्मार्गप्रवर्तिनी **सरस्वती भागवतादिरूपा ज्ञानखले ज्ञानवञ्चकेन्तः** स्वस्यैव तोषं जनयति न बहिःप्रकाशेन सर्वेषां तथा **कंसेन रुद्धा** गृह एव प्रकाशमाना जाता न बहिः। **असती** तु स्वतोपि न प्रकाशते। यस्तु स्वयं जानाति सद्विद्यां परोपकारजननीमधिकारिणेपि परस्मै न प्रयच्छति स **ज्ञानखलः**। तेन स्वान्तरङ्गेष्वपि स्वस्मिन् भगवदाविर्भावस्य सङ्गोपनं सूच्यते ॥ १९ ॥

येन सर्वेषां सुखदा न जाता सा तस्यापि न सुखदा जातेत्याह **तां वीक्ष्येति**। **प्रभयोपलक्षितां तां वीक्ष्य कंसः प्राह**। **प्रभयैव** ज्ञापिकयाजितोन्तरा यस्याः। भगवानस्या मध्ये वर्तत इति दृष्ट्वा **प्रभयव भवनं विरोचयन्तीम्**। **अजितत्वमपि** दर्शने ज्ञातम्। अधृष्यत्वावगमात्। परमानन्दे हृदि प्रविष्टे प्राणी सर्वदुःखनिवृत्तो भवतीतिनिश्चयात्। अस्याः प्रसन्नवदनत्वमपि दृष्ट्वा भगवानस्तीति निश्चितवानित्याह **शुचिस्मितामिति**। **शुचि** विशुद्धं बाह्यविकाराजनकमन्तरानन्दोद्भूतं स्मितं यस्याः। भगवत्कान्तिर्बहिर्निःसृता तामन्तर्बहिर्गृहं च प्रकाशितवतीत्यतो भगवानस्तीति निश्चित्य तस्य प्रयोजनान्तराभावं प्रकरणेन ज्ञात्वा वदति **मे प्राणहरो** हरिरेष एवास्या उदरे प्रकाशते। **ध्रुवं** निश्चितम्। यत इयं पुरेव न रूपेण सन्तोषादिना च। नन्वत्र भगवांश्चेत् सर्वैः कथं न दृश्यते तत्राह **गुहां श्रित** इति। उदरे विद्यमानत्वं तस्य न घटते। तस्याजीवत्वात्। तस्मादिदमुदरं गुहैव। 'गुहां प्रविष्टावात्मानाविति'न्यायात्। अतो हरिरेव। हरित्वादेव **मे प्राणहरः** ॥ २० ॥

(१) श्री प्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

दधार सर्वात्मकमित्यस्य विवृतौ—**वृद्धिराकाशस्ये**त्यारभ्य **भवती**त्यन्तम्। यथायथा भित्त्याद्यावरणापसारणं तथा तथाकाशप्राकट्यं यथा तथा यावन्मायारूपं येन प्रकारेणापसार्यते तावत्तावत् तेन प्रकारेण भगवत्स्वरूपं प्रकटं भवतीतिक्रमेणेत्र गर्भलक्षणाविर्भावस्तेनेतरगर्भेभ्यो भगवद्गर्भसम्बन्धिन्यपि बुद्धिर्देवक्या अविलक्षणोपपन्ना भवति। एवमेव यावतांशेनैतो मायापसारणं तावतांशेन यशोदागर्भे मायाप्रादुर्भाव इति यशोदाया अप्यविकृता बुद्धिस्तथेत्यर्थः। अन्यथा तत्त्वलौकिकत्वेन पूर्वं तल्लक्षणाभावे पश्चात्प्राकट्ये चोभयोर्यशोदादेवक्योर्बुद्धिर्विकृता भवेत्। तथा सति लीला न सम्पद्येतेति तथैव ज्ञेयमितिभावः। साकारव्यापकब्रह्मणस्तोकाकारमात्रवरणापसारणेपसारितस्यापि तस्य तथाकारत्वं लोकन्यायेनापि सिद्धम्। अत्रावरणस्य व्यापकत्वेनाविशेषाद् यशोदागर्भदेशेपि तत्प्राकट्यान नानुपपन्नं किञ्चित् ॥ १८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

स बिभ्रदिति। अत्र **पुरुषपद**तात्पर्यमाहुः **स्वकान्तीति**। स्वनिष्ठा या भगवत्कान्तिस्तत्सामर्थ्याद्धेतोर्वसुदेवस्य स्वतोपि भगवत्कान्तेरधिकानुभावो निरूपित इत्यर्थः। **प्रतीत्यर्थमेवेति**। अयं प्रातीतिको दृष्टान्तो न तु प्रियव्रतवद् रजन्या दिनत्वकरणमित्येवकारः॥ १७॥ **तत** इत्यत्र—वसुदेवकर्तृकानयनं गौणवाक्यार्थस्तत्र तादृशप्रकारहेतुमाभास आहुः **षट्पुत्रेति**। तथा च हेतुबोधनार्थमेव गौणवाक्यार्थ आभास उक्त ज्ञेयम्। नन्वेवमिति। **आगमनं** वैकुण्ठादवतरणम्। **आवेशो** वसुदेवमनसि **प्रवेशो** देवक्यां स्थितिस्ततो निर्गमनं चेतेष्वित्यर्थः। **वैधदीक्षेति**। विध्युक्तमन्त्रोपदेशे गुरुः स्वस्मिन् देवतामावाह्य शिष्ये स्थापयति तेन प्रकारेणेत्यर्थः। एतेन समुपसर्गस्यार्थ उक्तः **समाहित**पदस्यार्थान्तरमाहुर्**वस्तुतस्त्विति**। तथा च **समाहितं** समाधिप्रकारेण समानीतमित्यर्थः। **अत एवेति**। सामर्थ्यादेव दधार न तु लौकिकसम्बन्धरीत्येत्येवकारः। वसुदेवे स प्रकारः **समाहित**पदेन निराकृतः। देवक्यां स प्रकारो **देवी**पदेन निराकृतः। पदद्वयस्यैवमर्थकथने प्रमाणमर्थापत्तिराभासे षट्पुत्रत्वेनोक्ता। **चैतन्यमिति**। जीवमित्यर्थः। अत्र रेतोरूपबीजासम्भवान् **मानस**मित्युक्तं सनकादिवदित्यर्थः। **तत्र प्रविष्ट** इति। देवकीजीवे प्रविश्य तस्या उदरे प्रविष्ट इत्यर्थः। **शुद्धमेवे**त्येवकारव्यावर्त्यं विवृण्वन्ति **चैतन्येति**। देवकीकर्तृकधारणकथनेन चैतन्यपक्ष उक्तः **बीजमन्त्र**पक्षयोर्वसुदेवस्यैव प्राधान्यं न देवकीप्रयत्नापेक्षेतिभावः। **समाहित**पदस्य द्वितीयव्याख्याने **बीज**पक्षः प्रथमव्याख्याने **मन्त्र**पक्ष इति ज्ञेयम्। तथा च सङ्घातस्यात्मभूतमेव दधार न त्वात्मनि प्रविष्टमित्यर्थः। तादृशस्य धारणं तु **यथाज्ञानेने**त्यनेन विवृतमेव॥ १८॥ **सा देवकीत्यत्र—विवेकादिरहितमिति**। तदसमानाधिकरणमित्यर्थः॥ १९॥ **तां वीक्ष्ये**त्यस्याभासे—**सा तस्यापीति**। सरस्वती तु रोधकस्य तोषं जनयतीति दृष्टान्तव्याख्याने विवृतम्। **सा देवकी रोधकस्य कंसस्यापि न सुखदा जाते**त्यर्थः॥ २०॥

बुभुत्सुबोधिका

आत्मनीति मनसि। स्वतोपीति विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानत्वादितिभावः। प्रतीत्यर्थमेवेति रविदृष्टान्तः प्रातीतिको न तु प्रियव्रतवद् रजन्याः दिनत्वकरणमित्येवकारः। प्रतीत्यर्थापेक्षयोत्कृष्टार्थमाहुः अथ वेति। द्वादशेति 'द्वादशादित्या' इति श्रुतेर्द्वादशत्वम्। बिम्बान्युदयास्तमयकालिकानि। एवेति न तु प्रविष्टो ध्येयः। 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती'तिवाक्योक्तः। यदेति कालत्वेनोपस्थिते बिम्बे यदा यस्मिन् काले। तेन नात्र येष्वित्यत्र यस्मिन्नित्यध्याहारः। प्रकाशत इति 'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक'मिति वाक्यात्। भयं निवृत्तमिति 'भीरपि यद् बिभेती'ति वाक्यात्। आश्चर्यं प्रपश्यन्ति स्म सर्वेष्विति॥ १७॥

ततो जगन्मङ्गलमित्यत्र आर्थिकमाहुः षट्पुत्रेति। 'आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामी'ति प्रथमस्कन्धे प्रतिज्ञायाः। निगडनिगृहीता एवेति निगडनिगृहीतौ एवेत्यत्रैव 'चोयवायाव' इति सूत्रेणानिकृते 'लोपः शाकल्यस्ये'तिसूत्रेण वकारलोपः। अत इति निगडगृहीताभ्यां गर्भासम्भवात्। प्रकारान्तरेण वैधदीक्षाप्रकारेणेत्यर्थः। अत्र धारणानुकूलव्यापारवती देवी अत्र धातूपात्तव्यापारो गौणः 'शूरसुतेने'त्यत्र व्यापारनियतं करणत्वमिति करणनिविष्टव्यापारो मुख्यः। यद्व्यापारानन्तरं फलनिष्पत्तिस्तत्त्वं करणमिति। मुख्यकरणनिष्ठो व्यापार इत्याशयेन वसुदेवकर्तृकं देवक्यामानमुक्तम्। एतादृशे मुख्ये व्यापारे करणत्वमिति 'शूरसुतेने'तिकरणे तृतीया। ननु तथाप्याहेत्यनेन तु धातुक्रियान्वयः न तु करणक्रियान्वय इति चेन्न। करणक्रियान्वयाभावस्य दुरुपपादत्वात्। अतो गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति वसुदेव 'आनीतवा'नित्युक्तम्। मुख्यत्वेपि धातूपात्तव्यापारविशेष्यको बोधः। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादन्यथा 'जराया जरसन्यतरस्या'मितिसूत्रेण निर्जरसाविति न स्यात्। निर्जरशब्दस्य जराशब्दत्वाभावात्। यद्वा, करणव्यापारो विवक्षितः। काष्ठानि पचन्तीतिवत् सुबोधिन्याम्। न चैवमन्यदूषणार्थमाचार्यप्रवृत्तिरिति शङ्क्यम्। 'स्वादु स्वादु पदे पदे' इति प्रथमस्कन्धात्। उचितमिति 'हेयत्वावचनाच्चे'तिव्याससूत्रात्। सर्वलोकेति वेदे वसुदेवे स्थितौ वसुदेवमात्ररक्षा। नारायणकवचवत्। सर्वलोकरक्षा तु ब्रह्मविद्यायां सर्वदेवताप्रचुरायां देवक्यां स्थापने। सर्वलोकपदेन दैवीसम्बद्धतां ग्रहणम्। जगतामिति जगच्च जगच्च जगच्च जगन्ति तेषामाधिदैविकादीनाम्। नन्वेवमिति आगमनं वैकुण्ठादवतरणम्। आवेशो वसुदेवमनसि। प्रवेशो देवक्यां ततो निर्गमनं च। तेष्वित्यर्थः। अन्यथा भाव इति वैकुण्ठस्थत्वाभावः। षष्ठ्यर्थ इति षष्ठीतत्पुरुषे। अच्युतस्यांशमच्युतांशमित्येवम्। तदर्थमिति अच्युतस्वार्थमित्यर्थः। सम्यक् अच्युतं यथा भवति तथा। वैधदीक्षेति विध्युक्तमन्त्रोपदेशे गुरुः स्वस्मिन् देवतामावाह्य शिष्ये स्थापयति तेन प्रकारेणेत्यर्थः। एतेन समुपसर्गस्यार्थ उक्तः। सम्यक् वैधदीक्षाप्रकारेणाहितं स्थापितम्। 'समाहित' पदं समाधौ स्थापिते विषये यौगिकम्। तम् आहितम्। क्ते कर्मणि दधातेर्हितादौ कितीति हितमिति जातम्। तथा च समाधिविषयमिति 'समाहित'मित्यस्यार्थः तमर्थान्तरमाहुः वस्तुतस्त्विति। वेदत्वात् प्रत्याहारस्थले भावनामाहुः भावयित्वेति। ज्ञानकाण्डत्वेनानुभवस्य जातत्वात् संस्कारेण स्मरणात्मकं ज्ञानमुक्तं भावयित्वेति। मनस्त इति सार्वविभक्तिकस्तसिलिति मनसेत्युक्तम्। एवकारः 'स मानसीन आत्मा जनाना'मितिश्रुत्या 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धिय' इति चतुर्थाष्टकाद् वेदवेदान्तसारे श्रीभागवत उपायान्तरयोगव्यवच्छेदकः। तत्र देवक्यां साक्षात्तेजःस्वरूपलक्षणान्तर्गतज्ञानं स्थापितवान्। 'आत्मभूत'मि'त्यच्युतांश'विशेषणात्। स्त्रीणां चिदंशप्राधान्यात्। उपलक्षणं सदानन्दयोः। 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः पर' इति। अजुष्टग्राम्यविषयत्वेन भक्तिप्रतिबन्धाद् विपश्चित्त्वविशिष्टः पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव। नन्दस्य सर्वात्मभाववत्त्वाज् जडमायांशोद्घाटनाय कृपापरीतत्वात्,

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् यत्र क्वचित् पूर्वशत्रु'रित्यत्र पुरुषोत्तमाविर्भावो 'जात' इत्यनेनोक्तः। यतो माया व्यापिका। आत्मभूतातिरिक्तं तेजस्तु कुक्षौ। 'कुक्षिगतः परः पुमा'निति वाक्यात्। भगवन्मार्गीयत्वाद् वा तेजः कुक्षिगतम्। अविषयत्वाद् वेदानां नाहं वेदै'रितिवाक्यात्, अतः कुक्षिगतः। अत एवेति सामर्थ्यादेव दधार। न तु लौकिकसम्बन्धीत्येत्येवकारः। चैतन्यमिति जीवम्। 'यस्यात्मा शरीर'मित्यन्तर्यामिब्राह्मणाच्चैतन्ये प्रवेशः सम्भवतीति बीजं वेति द्वितीया कोटिः। अत्र रेतोरूप-बीजासम्भवान् 'मानस'मिति बीजविशेषणमुक्तम्। सनकादिवदित्यर्थः। तिष्ठतीति तेजः। दृषणमिति बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्चेति ब्रह्मेति-लक्षणे दृषणम्। बीज इत्यादि बीजे मानसे सनकादिवत् चैतन्ये जीवे छान्दोग्योक्तवत्। तत्र प्रविष्ट इति देवकीजीवे प्रविश्य तस्या उदरे प्रविष्ट इत्यर्थः। आत्मधारणे ज्ञानी दृष्टान्तत्वेन ध्वनितः तं दृष्टान्तमाहुः यथा ज्ञानेनेति। ज्ञानमत्रा 'यमहमात्माधार' इत्या-कारकम्। देहजीवविशेष्यकमात्माधारत्वप्रकारकम्। विषयाविनाभूतं ज्ञानं तेनेत्यर्थः। 'अयमहमस्मी'ति बृहदारण्यके। अनेनेति सर्वात्मकमात्मभूतमिति पदद्वयसमभिव्याहारेण। शुद्धमेवेति 'अहं सुतो वामभवम् प्रश्निगर्भ इति श्रुत' इति भगवद्वाक्योक्ता-हङ्कारात्मकम्। पुरुषोत्तमरूपं वा। प्रश्निगर्भस्तु समाधाने मन एव हेतुरिति मनसः। शुद्धमेवेत्येवकारव्यावर्त्यमाहुः चैतन्यबीजेति। देवकीकर्तृकधारणकथनेन चैतन्यपक्ष उक्तः। मानसमन्त्रपक्षयोर्वसुदेवस्यैव प्राधान्यं न देवकीप्रयत्नापेक्षेति भावः। समाहितपदस्य द्वितीयव्याख्याने मानसपक्षः। प्रथमव्याख्याने मन्त्रपक्ष इति ज्ञेयम्। तथा च सङ्घातभूतस्यात्मभूतमेव दधार न त्वात्मनि प्रविष्ट-मित्यर्थः। तादृशस्य धारणं तु 'यथा ज्ञानेने'त्यनेन विवृतमेव। वृद्धिराकाशस्येवेति अत्र टिप्पण्याम् भित्त्यादीति भित्तिघटमृत्पिण्ड-नौकामहापटादिरूपाकाशावरणस्यापसारणं भित्तेरन्तर्देशस्यापसारणं घटमृत्पिण्डस्यापि तथा नौकामहापटस्यापि। अत्र यः प्रकारः खातचक्रवीवरवायुरूपाः। तैः प्रकारैरपसारणं बोध्यम्। यावदिति कार्त्स्न्यपरिमाणम्। येनेति ज्ञानभेदेन। प्रकृते प्रभुरेव ज्ञानधर्म-प्रधानः षट्सु धर्मेषु। ज्ञानत्वेनावरणभङ्गत्वेन कार्यकारणभावात्। गर्भलक्षणेति गर्भः लक्षणं स्वरूपं यस्य भगवत्स्वरूपस्य माया-स्वरूपस्य च तस्याविर्भावः। षड्भावविकारा न सन्तीत्याहुः तेनेतरेति। वृद्धिरूपविकारस्य निषेधेन। अविलक्षणेति न विलक्षणा-ऽलौकिकसामग्रीविलक्षणा अविकृतोपपन्नेत्यर्थः। यशोदेति योगमायाया यशोदोदरे उद्भूतायाः अन्यत्र यशोदोदरे स्थापनं स्वधर्म इति तथा। तथेत्यर्थ इति यथा देवक्यास्तथा यशोदाया इत्यर्थः। विकृतेति वृद्धिरूपविकारविषया। किन्त्वलौकिकसामग्री निविष्ट-वृद्धिविषया। लीलेति ज्ञात्वा परपुरुषे निरोधलीला। तथैवेति अविकृतवृद्धिरित्येवमेव ज्ञेयमित्यर्थः। तत्प्राकट्य इति स्थापनेन योगमायाप्राकट्ये। सुबोधिन्यां तसिलिति अव्ययम्। जननं मनस इति मन उक्तमिति सुबोधिन्यामाहुः समाधान इति। आधानं गर्भः। हेतुरिति 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वे'ति वाक्यात्। 'स मानसीन आत्मा जनाना'मितिश्रुतेश्च। 'मनस्त' इति कथनाच्चन्द्रोपि। 'चन्द्रमा मनसो जात' इति श्रुतेः। चन्द्रवंशीयः। 'सर्वात्मकमात्मभूत'मित्यनेना 'यमहमात्माधार' इत्यत्रा'यमह'मित्यस्मच्छब्दार्थ-स्याक्षरात्मकत्वे जाते आत्मा पुरुषोत्तमो 'हं सुतो वा'मित्यत्राहङ्कारादेशेन तत्सहचरितगीतासप्तमाध्यायोक्तभूम्यादीनामाश्रयस्य पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यत्र सर्वभावत्वात्। गीता-विस्तारे श्रीभागवते सर्वभावः सर्वात्मभावः। मध्यमपदलोपी समासः। 'सर्वात्मभावोधिकृत' इति वाक्याद् विस्तारः कृतः। पुरुषोत्तमाविर्भावे सर्वात्मभावस्य तात्पर्यविषयस्य वेदब्रह्मविद्ययोर्वसुदेवयोरावश्यकत्वात्॥ १८॥

सा देवकीत्यत्र स्वतन्त्रमिति द्वादशविम्बगतं पौरुषम्। अन्यत्रापि पौरुषम्। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे'तिश्रुतेः। पर-तन्त्रमिति पुरुषतन्त्रम्। विवेकादिरहितमिति आदिना साहसः। विवेकादयो मनोधर्माः तद्राहित्यं तदभावरूपं मनसि, तेजसि तु तद्राहित्यं सहभावात्, सामानाधिकरण्यात्। तेजोत्र मनःस्थम्। ननु नितरामितिपदं निरर्थकम्। जगन्निवासो वराहो न रेजे शेषोपि परन्तु सत्तामात्रजगन्निवासनिवासभूता कुतो न रेज इत्यत्र नितरामिति 'नितरां रेजे ने'त्यत्र भगवच्चिन्ता हेतुत्वेनोक्ता वेदे वसुदेवे ब्रह्मविद्यायां देवक्यां भयाभावात्। तथापि भोजेन्द्रगेहे रुद्धेति भयं कुतो नेत्यत्र किञ्चिदाहुः न हीत्यादि मालिन्यादित्यन्तम्। लोमभ्य इति कृष्णकेशस्य भूभारहरणकर्तृत्वाद् भयहेतुत्वम्। न तु कृष्णकेशसत्तायाः न तु तत्सजातीयकेशानाम्। तदुक्तं न हीत्यादिना। स्वस्येति देवक्याः। भगवन्निमित्तमिति भगवान् निमित्तं कारणं यस्मिन् भये। ब्रह्मविद्यात्वात्। तथापि भक्तिमार्गीय-सामग्र्या ज्ञानमार्गीयसामग्र्या बलीयस्त्वेन भगवन्निमित्तं भयं सम्भावितम्। भगवच्चिन्तयेति चिति स्मृत्याम्। चु० प० से० ब्रह्मविद्या-त्वादेव। भगवद्धेतोः समुद्वेगाद् या चिन्ता तया। पूर्वं भगवत्कारणकं भयं नास्त्यस्या इत्युक्तं ब्रह्मविद्यात्वात्। अधुना तु समुद्वेगः समुद्भयमुक्तं तदपि ब्रह्मविद्यात्वादेव, तेन ब्रह्मविद्यायां देवक्यां ज्ञानसामग्र्याः भक्तिस्नेहसामग्र्या बलवतीत्वमुक्तम्। ज्ञानसामग्र्या भक्तिसामग्र्या बाधो ब्रह्मविद्यायामिति। चिन्तादिनेति आदिना भक्तिमार्गीयं भयम्। हेत्वन्तरमिति 'नितरां न रेज' इत्यत्रैव हेत्वन्तरम्। भागवतादीति आदिना वेदवेदान्तादिरूपा। असतीतिपदच्छेदे दोषमाहुः असतीत्विति। कुतो ज्ञानखल इति तत्पदवैयर्थ्यं दोषः। असतीतिपदच्छेदे। सूच्यत इति तेन दत्तात्रेयादिगुरुवद्गुरुत्वात् तथा॥ १९॥

तां वीक्ष्येत्यत्र तस्यापीति कंसस्यापि। 'वीक्ष्ये'त्यत्र विशेषस्तं विवरितुं प्रभारूपं विशेषं द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य कारणत्वात् प्रभैव विशेषः प्रभया विरोचयन्तीत्युक्तेस्तं विशब्दार्थे विशेषमाहुः प्रभयोपलक्षितामिति। ज्ञापिकयेति हेतुभूतया। देवकी अजितान्तरा प्रभावत्त्वात् ज्ञानिवदित्यनुमानम्। दृष्ट्वेति 'ता'मित्युक्तायाश्चाक्षुषं ज्ञानम्। मध्येऽजितज्ञानमनुमितिरूपम्। भवनं वीति

अन्तर्बहिः पुरुषोत्तमो व्याप्तः प्रभयेति तथा। दर्शनेज्ञातमिति देवकीदर्शने मध्येऽजितत्वं ज्ञातमनुमितम्। अधृष्यत्वेति अधृष्यत्वानुगमश्चाक्षुषः। अधृष्यत्वज्ञानेऽजितत्वमनुमितं दृढं भवति। निश्चितवानिति शब्दानन्तरं प्रत्यक्षानन्तरमनुमानसत्त्वात्। यद् यज्जनक तत् तद्गुणकं यद् यद्गुणकं तत् तदात्मकमिति व्याप्तेः। आकाशवाणीशब्दश्च। बहिर्निःसृतेति। तेजःप्रधानत्वात् भगवतः। अत एव सत्त्वे प्रवृद्धे सकलदेहप्रकाशो गीतोक्तः। प्रकरणेनेति जन्मप्रकरणेन। पुरे वनेति पुरा सादृश्यं नेति प्रथमान्तसादृश्येन नवर्थो भावान्वयः। रूपेण सन्तोषादिना च पूर्वसादृश्यं नेत्यर्थः। न्यायादिति वैयाससूत्रात्॥ २०॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

आविष्टे भगवति यादृशो जातस्तं वर्णयति स बिभ्रदिति—

अब भगवान् के प्रवेश के बाद जैसा वसुदेवजी देखने में आये वैसा वर्णन इस श्लोक में कहते हैं—

वसुदेवजी स्वतः स्वयं अपनी कान्ति से कान्तिमान् थे पुनः भगवान् के तेज के प्रवेश से श्रीवसुदेवजी में अधिक तेज का प्रवेश हुआ तब अतिशय प्रभाव देखने में आया। मान लिजिए आकाशस्थ सूर्य के द्वादश विम्ब हैं उन्हीं में जब भगवान् आधिदैविक रवि प्रवेश करते हैं तब सब बिम्ब अधिक प्रकाशित होते हैं, वैसे ही वसुदेवजी भी भगवान् के प्रवेश से विशेष विराजित होने लगे। प्रतीत्यर्थम् पद का तात्पर्य यह है कि श्रीवसुदेवजी का तेज प्रियव्रत राजा के समान तेज नहीं हुआ जो रात्रि को भी दिन बना दे। इसलिये ही आचार्यचरण ने 'प्रतीत्यर्थ' एव कहा है इसका आशय यह है कि यह सूर्य का दृष्टान्त प्रतीति के लिये ही दिया गया है। भगवत् प्रवेश से अब वसुदेवजी दुरासद हो गये। और कंसादि का भय भी निवृत्त हो गया। अब उनके पास जाने की कोई हिम्मत नहीं करता था फल यह हुआ कि सब भूतों की तरफ से अथवा राक्षसों से जो क्लेश भय दुःख होने थे वे सब दूर चले गये। कोई परीक्षा के लिये बल से भी आ नहीं सकता था। जैसा तेज उस समय वसुदेवजी में था वैसा किसी में भी नहीं था। **हेत्याश्चर्ये**—आचार्यचरण भागवतजी में अक्षरार्थ भी बताते हैं कि 'ह' अव्यय का यह तात्पर्य है कि सामान्यतया भगवान् का तेज सर्वत्र है क्योंकि भगवान् सर्वव्यापक है किन्तु वसुदेवजी जैसा तेज अन्यत्र नहीं हैं वैसा दिखाने के लिये मूल में 'ह' शब्द देकर आश्चर्य प्रकट किया है॥ १७॥

षट्पुत्रवधात् पूर्वमेव सङ्कर्षणगर्भस्ततः प्रभृति निगडगृहीत एव। अतः प्रकारान्तरेण स्वस्मिन् विद्यमानं भगवन्तं देवक्यामानीतवानित्याह तत इति।

अब इस श्लोक में श्रीदेवकीजी के छः पुत्रों के नाश के पूर्व ही सङ्कर्षणजी गर्भ में पधारे थे। उसी समय से वसुदेवजी और देवकीजी कारागृह में ही थे। अतः वसुदेवजी ने अपने में विद्यमान भगवान् श्रीकृष्णजी को अन्य प्रकार से देवकीजी में स्थापित किया उसका वर्णन करते हैं।

यद्यपि स्वस्मिन्नेव स्थापनमुचितम्—आचार्य कहते हैं कि श्रीवसुदेवजी को अपने में आविष्ट हुआ भगवत्तेज अपने में ही स्थापित करना चाहिये था, लेकिन वसुदेवजी ने सर्वलोक की रक्षा के लिये देवकीजी में स्थापित किया। कारण कि वह भगवत्तेज लोगों का कल्याणकारी रूप है। वह तेज पहले वसुदेवजी में प्रविष्ट हुआ अनन्तर देवकी जी में आकर स्थापित हुआ। **नन्वेवमागमनावेशप्रवेशनिर्गमनेषु**—अब कहते हैं कि इस प्रकार वैकुण्ठ से यहाँ आने तथा वसुदेवजी के मन से देवकीजी में जाने आदि से भगवत् स्वरूप में अन्यथाभाव न्यूनता वा वृद्धि आदि विकार नहीं हुए इसको बताने के लिये 'अच्युतांश' विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि आने जाने आदि करने से भगवान् के किसी भी अंश में च्युति नहीं होती है। अर्थात् उसमें कुछ भी करने से विकृति नहीं होती है, वह सदैव अच्युत, अखण्डित, अबाधित रहते हैं।

वैधदीक्षाप्रकारेण—श्रीवसुदेव देवकीजी तो शृंखलाबद्ध थे फिर कैसे आधान हुआ इसी को कहते हैं कि वैध-दीक्षा के प्रकार से देवकीजी ने सम्यक् प्रकार से उस तेज को धारण किया। यह आधान लौकिक स्त्री पुरुषों के संसार के समान न था लेकिन तात्पर्य यह है कि श्रीवसुदेवजी ने समाधि में देवकीजी की भावना कर मन से ही उन देवकीजी में साक्षात् तेज स्थापित किया। इसी बात को बताने के लिये श्लोक में वसुदेव नाम न देकर शूरसेन पुत्र कह कर विवेक दिखाया है और श्रीदेवकीजी को भी 'देवी' इसलिये कहा है कि स्वयं देवतामयी होने से अन्तः प्रवेश कर, समाधि में भी उस तेज को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्यवती है। क्योंकि देव लोगों में इस प्रकार का सामर्थ्य सहजसिद्ध ही है। अतः समाधि के समय में तेज को धारण कर लिया।

नन्वेवं परधृतत्वे ब्रह्मत्वं भज्येत—आचार्यचरण कहते हैं कि इस प्रकार दूसरों के धारण करने से ब्रह्मपने में कमी हुई होगी? इस शङ्का को अवसर नहीं है कारण कि श्लोक में जो 'सर्वात्मक' विशेषण दिया है इसका तात्पर्य है कि वह तेज सर्व की आत्मा है अतः सब उसको धारण करते हैं इसलिये धारण करने में कोई दोष नहीं, और धारण करने से ब्रह्मत्व में

किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। मान लीजिए कि ब्रह्मत्व में कभी नहीं हुई फिर भी प्रकृत विषय में चैतन्य, बीज वा मन में प्राप्त होकर रहना दूषण हो है, यदि इस प्रकार का दूषण कोई बतायें तब उसको मिटाने के लिए श्लोक में दूसरा विशेषण 'आत्मभूतं' दिया है। जिसका भाव है कि वह तेज देवकीजी में आत्मरूप से ही सीधा प्रविष्ट हुआ है न कि बीज व चैतन्य में प्रविष्ट होकर पीछे देवकीजी में उसने प्रवेश किया है। जैसे ज्ञानी ज्ञान से अपनी आत्मा को अपने में धारण करता है वैसे ही देवकीजी ने भी आत्म-रूप भगवान् को धारण किया है। इससे शुद्ध स्वरूप ही वसुदेवजी से देवकीजी में पधारे हैं। चैतन्य, बीज वा मन्त्र द्वारा पधारना अल्पज्ञों को समझाने के लिये कहा गया है। **वृद्धिराकाशस्यैव**—आचार्यचरण इस पद से स्पष्ट करते हैं कि उसकी वृद्धि आकाश की भाँति हुई है कि जैसे घटाकाश, घट टूटने से मठाकाश हो जाता है, और मठ टूटने से महाकाश हो जाता है वैसे ही जैसे गुरु प्रथम मन्त्र देवता को स्थापन कर, अनन्तर 'मन्त्रोपदेश' समयमें उस देवता को शिष्य में स्थापित करते हैं। ज्यों-ज्यों माया का अपसरण होता है वैसे ही तेज भी स्वयं बढ़ता हुआ दिखता है। वैसा ज्ञान होने से भगवान् और उसकी माया दोनों को अविकृत समझा जाता है।

तदपि स्वप्रयत्नाद् धारणलक्षणाद् भगवन्तमानीय धृतवती—अब आचार्यचरण कहते हैं कि इतना होने पर भी देवकीजी ने अपने प्रयत्न से भगवान् को धारण नहीं किया है किन्तु जैसे पूर्व दिशा में चन्द्रमा स्वतः आकार प्रकट होता है उसको वह दिशा धारण कर लेती है वैसे ही देवकीजी ने पधारे हुए अपनी आत्मारूप भगवान् को धारण किया है। लेकिन यह धारण अविकृत मन से किया है इसलिये श्लोक में 'मनसः' पञ्चमी विभक्ति के जगह 'मनस्तः' प्रत्ययान्त अव्यय पद दिया और अव्यय की तरह मन का अविकृतत्व बताया है। लाने और धारण करने में मन ही हेतु है ॥ १८ ॥

यथा वसुदेवो भगवदावेशे स्फूरद्रूपो जातो न तथा देवकी जातेत्याह सा देवकीति—

भगवान् के प्रवेश से जिस प्रकार वसुदेवजी प्रफुल्लित प्रसन्नरूप वाले देखने में आये वैसी देवकीजी नहीं हुई। अब इस श्लोक में इसका वर्णन करते हैं, पुरुष का तेज स्वतन्त्र है उसका कारण पुरुष में रूप से सहज विवेक आदि होने से चिन्ता कम होती है इसलिये पुरुष के तेज को स्वल्प चिन्ता दबा नहीं सकती है, किन्तु स्त्री का तेज परतन्त्र है कारण कि स्त्रियों में विवेकादि अपूर्ण हैं और उनमें चिन्ताएँ विशेष रहती हैं परिणाम में उनका तेज दब जाने से परतन्त्र है। इसी हेतु से देवकीजी वसुदेवजी के समान प्रमुदित चित्त वाली न हुई। यद्यपि वह देवकी देवता रूप है और सकल जगत् के निवासभूत भगवान् श्रीकृष्णजी का आधार निवासस्थान बनी है। अपने शरीर में उत्पन्न हुई रोमावली से अपने को भय नहीं होता है वैसे ही यह सर्व भगवान् में है अतः भगवान् को भी किसी से भय नहीं है।

श्रीदेवकीजी को तो भगवन्निमित्त जगत् से अथवा भगवान् से निपट भय नहीं है। वैसी देवकी होकर भी पूर्णतया शोभायमान न हुई। भगवान् की चिन्ता से अपने लिये और सबों के लिये चिन्ता का कारण बनी। देवकी में बाहर और भीतर की दोनों चिन्ताओं से मालिन्य रहा। सुशोभित अथवा अप्रसन्न होने का दूसरा कारण बताते हैं कि, देवकीजी कंस के गृह में बन्धन में होने से बाहर आकर सबको आनन्द नहीं दे सकती थीं। जिस प्रकार कुण्ड के भीतर अग्नि जलती भी रहती है तो भी ऊपर राख आ जाने से प्रकाश नहीं दे सकती है। वैसे ही यह भीतर प्रकाशवती होते हुए भी चिन्ता से व्यग्र होने से सम्यक् प्रकार से बाहर प्रकाशयुक्त नहीं हुई। यह दृष्टान्त अपने धर्मों से ही प्रकाशमान न होने में दिया हुआ है। अब अन्य धर्मों के कारण अप्रकाश होने में दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार सन्मार्ग का प्रकाश करने वाली भागवतादि शास्त्र रूप सरस्वती ज्ञानखल, पुरुष के अन्तःकरण को ही आनन्द देती है बाहर प्रकाश कर दूसरों को आनन्द नहीं देती है वैसे ही देवकीजी भी कंस के गृह में बन्धन में होने से घर के भीतर ही प्रकाश करने लगी, बाहर नहीं। इससे अपने में प्रकट हुए भगवान् के आविर्भाव को अपने अन्तरङ्गों से भी छिपाने की सूचना प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

येन सर्वेषां सुखदा न जाता सा तस्यापि न सुखदा जातेत्याह—श्रीदेवकीजी जैसे दूसरों को सुख देने वाली न हुई वैसे ही कंस को भी सुखदा न हो सकी। अब इसका वर्णन करते हैं। प्रभा से युक्त देवकीजी का दर्शन कर कंस मन में सोचने लगा कि देवकी की प्रभा से ज्ञात होता है कि इसके अन्दर अजित भगवान् विराजमान है इसीलिये अपनी कान्ति से घर को प्रकाशमान कर रही है। और भीतर विराजमान वह अजित होने से अधृष्य भी है, अपराजित है यह भी निश्चित है। और परमानन्द प्रभु के हृदय में प्रविष्ट हो जाने से प्राणी मात्र के सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, यह भी निश्चय ही है। राजा कंस ने भी श्री देवकीजी का प्रसन्न मुख कमल देखकर निश्चय किया कि इसमें भगवान् हैं। शुचिस्मितां श्री देवकीजी के मुख के शुचि और स्मित दो विशेषण से यह बताया कि शुचि और स्मित श्री देवकी के भीतर आनन्द उत्पन्न हुआ है। पुनः भगवान् का प्रकाश जो बाहर निकला उसने बाहर भीतर घर को प्रकाशित कर दिया था अतः भगवान् है ऐसा निश्चय कर लिया। और भगवान् के आने का अन्य कोई कारण नहीं है ऐसा प्रकरण से जानकर कंस ने कहा कि निश्चय ही मेरे प्राणों के हरने वाले हरि इस देवकी के उदर में प्रविष्ट हैं। यदि ऐसा न होता तो यह देवकी आगे इस प्रकार रूप से अथवा सन्तोषादि से प्रकाशित नहीं

थी। गुहां श्रितो यन्न यदि यहां भगवान् है तो सबको दर्शन होना चाहिए तब इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि गुहां श्रितः गुफा में गोविन्द विराजमान है। और भगवान् का उदर में होना नहीं बन सकता है कारण कि वह जीव नहीं है इस कारण से यह उदर गुहा ही है। उदर को गुहा कहना इसलिये संगत है कि श्रुति में गुहां प्रविष्टावात्मानौ कहा है अतः मेरे प्राणों के हरण करने वाले होने से यह हरि ही है ऐसा कंस ने निश्चय किया ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

स चानकदुन्दुभिः पौरुषं धाम भगवत्सम्बन्धि तेजो बिभ्रत् बिभ्राणोऽतो यथा रविस्तथा राजमानः, अतएव भूतानां कंसादीनां दुरासदः आसादयितुं समीपमग्निं गन्तुमशक्यः, अतएवातिदुर्धर्षः अभिभवं कर्तुमशक्यश्च सम्बभूव। इत्याश्चर्यं सूचयति ॥१७॥ ततश्च शूरसुतेन वसुदेवेन समाहितं सम्यक् मनसैव वैधदीक्षया अर्पितं जगतां यस्मात्तं भगवन्तं देवी अदित्यवतारत्वा-द्देवमाता देवकी मनस्तो मनसा धारणया दधारेति सम्बन्धः। वैधदीक्षा तु 'यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्। वैधदी-क्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रियः' इति कुलार्णवोक्ता ज्ञेया। नच तया एवं धारणेऽपि तस्य तत्सम्बन्धात् स्वरूपतो गुणतो वा च्युतिरित्याह—अच्युतांशमिति। सर्वात्मकत्वेऽपि न तस्य च्युत्यादिविकारः। किं पुनस्तद्धारणे तद्विकारो नास्तीति वक्तव्यमित्याश-येनाह—सर्वात्मकमिति। अत एवात्मभूतमिति। तत्र दृष्टान्तमाह—काष्ठेति। काष्ठा प्राची दिगानन्दकरं चन्द्रं यथा धत्ते, नहि दिक्सम्बन्धेन चन्द्रस्य कश्चिद्विकारस्तथा देवकीसम्बन्धेन भगवतोऽपि न कश्चिद्विकार इत्यर्थः ॥ १८ ॥ दुष्टस्य परशोभाप्रतिबन्ध-कत्वमनुपकारित्वं च स्वभाव एवेति सूचयन्नाह—सेति। सर्वजगन्निवासस्य भगवतो निवासतामाप्ता सर्वजनानां परमानन्दजनन-योग्याऽपि देवकी नितरां सर्वजनाह्लादकतयाऽतिशयेन न रेजे। तत्र हेतुमाह—भोजेन्द्रस्य कंसस्य गेहे रुद्धेति। अन्यैरदृश्यमाना। तत्र दृष्टान्तमाह—अग्निशिखेवेति। अग्निशिखा प्रदीपादिज्वालारूपा घटादिषु निरुद्धा यथा सर्वजनाह्लादकरी न भवति तथेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—सरस्वतीति। ज्ञानखले 'परस्यै तज्ज्ञानं माऽभूत्' इति ज्ञानवञ्चके पुरुषे रुद्धा सती सर्वोपकारिणी सरस्वती वेदादिविद्या यथा सर्वजनाह्लादिका न भवति तथेत्यर्थः ॥ १९ ॥ अजितो भगवान् अन्तरा कुक्षिमध्ये यस्यास्ताम्, अतएव प्रभया भवनं विरोचयन्तीम्, शुचि सुखपूर्वकं स्मितं यस्यास्ताम्, इत्यनेनानन्दमयस्य भगवतः प्रवेशादस्याः सर्वदुःखनिवृत्तिस्तदा सूचिता। तामेवंभूतां कंसो वीक्ष्य ध्रुवं निश्चितमेतत्। एष मे मम प्राणहरः शत्रुर्हरिरेवास्य गुहां कुक्षिं श्रितः प्रविष्टः, यत् यस्मात् पुरा इयमी-दृशी प्रभावती नाभूदित्याह। स्वमनसि तर्कितवानित्यर्थः। अत्र उदरपदं विहाय गुहापदोपादानेन भगवति हरिपदोपादानेन च तस्मिन् सिंहत्वमारोप्य दशसहस्रगजबलवतोऽपि स्वस्य प्राणहरत्वं निश्चितम् ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

स इति। पौरुषं भगवत्संबन्धि धाम श्रीमूर्तिरूपं तेजः बिभ्रत् अत एव रविर्यथा भ्राजमानः स वसुदेवः ह स्फुटं भूतानां दुरासदः प्राणिभिरासन्नीभवितुमशक्यः अतिदुर्द्धर्षः कंसाद्यैरप्यभिभवितुमशक्यश्च बभूव ॥ १७ ॥ तत इति। ततः देवी शुद्धसत्त्व-रूपतया द्योतमाना देवकी जगन्मङ्गलं जगतो मूर्तिमन्मङ्गलम् अच्युतांशम् अच्युताश्च्युतिरहिताः अंशा ऐश्वर्यादयो यस्य तम्। यद्वा। अच्युतस्यांश इवांशः भक्तानुग्रहाय परिच्छिन्नवपुः शूरसुतेन वसुदेवेन सम्यग्भूतमेवाहितम् अर्पितं सर्वात्मकं सर्वस्यात्मानम् अत एवात्मभूतं स्वस्मिन्नादावेव सन्तं भगवन्तं काष्ठा पूर्वा दिक् आनन्दकरं चन्द्रं यथा धरति तथा मनस्तो मनसैव दधार। यथा दीक्षाकाले गुरुः शिष्याय ध्यानमुपदिशति शिष्यश्च ध्यानोक्तां मूर्तिं हृदि निवेशयति तथा वसुदेवो देवकीदृष्टौ स्वदृष्टिं निदधौ। दृष्टिद्वारा च हरिः संक्रामन् देवकीगर्भे आविर्बभूव। एतेन रेतोरूपेणाधानं निरस्तम् ॥ १८ ॥ सा देवकीति। सर्वजगतां निवासस्य श्रीहरेर्निवासभूता सत्यपि भोजेन्द्रस्य कंसस्य गेहे रुद्धा सा देवकी घटादिषु रुद्धा अग्नेः दीपस्य शिखा इव नगरं न प्रकाशयति। सती शोभमाना सरस्वती ज्ञानखले ज्ञानवञ्चके रुद्धा यथाऽन्येषामनुपकारिणी न राजते तद्वत् नितरां सर्वजनाह्लादकतया न रेजे किंतु स्वयमेवानन्दमन्वभवत्। यथाऽग्निशिखा प्रबला गृहं दहति सरस्वती च परवञ्चनापापेन ज्ञानखलं च नाशयति तथेयं कंसं धक्ष्यतीति उपमाद्वयेन व्यङ्ग्यम् ॥ १९ ॥ तां वीक्ष्येति ॥ अजितो भगवान् आन्तरः कुक्षिगतो यस्यास्तां प्रभया भवनं विरोचयन्तीं शुचि स्मितं यस्यास्तां देवकीं वीक्ष्य कंस आह स्म। यत् यतः इयं पुरा ईदृशी न आसीत् अतः एष तेजोतिशयेन प्रत्यक्षायमाणा मे मम गजस्येव प्राणहरः हरिर्भगवान् सिंहश्च गुहां गर्भं दरीं च ध्रुवं निश्चितं श्रितः ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तत इति ॥ ततः, शूरसुतेन वसुदेवेन, समाहितं निहितं, जगतां मङ्गलं यस्मात्तं, जगतां मङ्गलहेतुभूतमित्यर्थः। अच्युतः क्षरणभावमप्राप्तः अंशः संकल्परूपविज्ञानं यस्य तं, सर्वात्मकं सर्वशरीरकं, आत्मभूतमात्मनामप्यात्मभूतं, भगवन्तमिति शेषः। देवी द्योतमानशरीरा देवकी, काष्ठा पूर्वदिक्, घनस्थमभ्रपिहितं, आनन्दकरं, यथा चन्द्रमिवेत्यर्थः। दधार धृतवती। यथा पूर्वा दिगभ्रपिहितं चन्द्रं बिभर्त्ति, तथा देवकी मानुष्यनाट्यभाक्त्वसंकल्पपिहितं भगवन्तं वसुदेवतः लब्धं स्वजठरे दधारेत्यर्थः। पूर्वदिशः स्वकुक्षौ चन्द्रस्य यथाऽसंबन्धस्तथा देवकीकुक्षौ भगवतो गर्भत्वभाक्त्वेऽप्यसंबन्ध इति भावः। नभस्त इति पाठे, काष्ठा

पूर्वा दिक्, आनन्दकरं चन्द्रं, नभस्त आकाशे, यथा तथा, देवी सर्वानन्दकरं भगवन्तं, स्वहृदयाकाशे, दधारेत्यन्वयः। मनस्त इति पाठे, मनसैव दधार। धारणया धृतवतीत्यर्थः। केचित्त्वत्र शूरसुतेन समाहितं सम्यग्भूतमेवाहितं वैधदीक्षयाऽर्पितमित्याहुः। तत्र दीक्षा त्रिविधा, स्पर्शदीक्षा, दृग्दीक्षा, वैधदीक्षा चेति। तदुक्तमागमे। 'यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्द्धयेच्छनैः। स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः परिकीर्त्तितः। स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्। दृग्दीक्षयोपदेशस्तु तादृशः परिकीर्त्तितः। यथा कूर्मी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्। वैधदीक्षोपदेशस्तु तादृशः परिकीर्तितः' इति। तेनात्र ध्यानमात्रेण गर्भसमर्पणमिति तेषामभिप्रायः। अन्ये त्वत्र चन्द्रभगवतोरुपमानोपमेयत्वं विधाय सर्वाणि द्वितीयान्तानि योजयन्ति, तत्र क्लिष्टत्वादलं तत्पल्लवनेन ॥ १७ ॥ सेति ॥ सा गर्भधृतपरमपुरुषा, देवकी, सर्वेषां जगतां निवासः श्रीहरिस्तस्यापि निवासभूता, सर्वजगदाधारभूतस्य भगवतोऽप्याधारभूता सत्यपीत्यर्थः। यतः, भोजेन्द्रगेहे कंससंबन्धिनि कारागृहे, रुद्धा अस्ति, अतः नितरामत्यन्तं, न रेजे। सर्वजनाह्लादकतयातीव शोभमाना नाभूदित्यर्थः। कथमिव। रुद्धा कुम्भ्यादावरुद्धा सती, अग्निशिखा प्रदीपशिखा इव, ज्ञानखले ज्ञानमालम्ब्य जनवञ्चके, रुद्धाऽवस्थिता सती, सरस्वती उपनिषद्विद्या, यथा तथा, न रेजे ॥ १८ ॥ तां वीक्ष्येति ॥ प्रभया स्वशरीरकान्त्या, भवनं कारागृहमपि, विरोचयन्तीं विशेषेण दीपयन्तीं, अजितो भगवानन्तरा कुक्षिमध्ये यस्यास्तां, यद्वा। प्रभया जितान्यन्तराणि दिगन्तराणि यया तामित्येकं पदं, तदा प्रभयेति तृतीयाया अलुक्। शुचि शुद्धं स्मितं यस्यास्तां, तां देवकीं, वीक्ष्याऽऽलोक्य, कंसः आह। एष इत्यादिना इति घोरतमादित्यतः प्राक्तनेन। उक्तिमेव प्रदर्शयति। मे मम, प्राणहरः प्राणान् जिहीर्षुः, एषः हरिः, ध्रुवं, गुहां देवकीजठरं, श्रितः संश्रितः, यत् यतः, इयं देवकी, पुरा पूर्वगर्भधारणकाले, ईदृश्येवंविधप्रभान्विता, न नैवासीदित्यर्थः ॥ १९ ॥ किमिति ॥ तस्मिन् हरौ वा तस्मिन्नेतस्मिन् संकटे, अद्येदानीं, मे मया, आशु शीघ्रं, किं करणीयं, ननु सन्त्येव सामादय उपायाः, सत्यं सन्त्येवेति विचार्य स्वयमेवाह। यद्यतः, अर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानः हरिः, विक्रमं मद्वधविधानात्मकं स्वपराक्रमं, न विहन्ति। अस्याः सकाशादुत्पन्नो भूत्वा मद्वधात्मकं स्वपराक्रमं करिष्यत्येवेत्यर्थः। एवं सर्वथाऽस्माद्बिभेषि चेदद्यैतस्या वधं कुर्वित्यत्राह। स्त्रियाः अङ्गनायाः, तत्रापि स्वसुर्भगिन्याः, तत्रापि, गुरुमत्याः गर्भिण्याः, अयं मत्कृतः, वधो विघातः, यशः कीर्त्तिं, श्रियं लक्ष्मीं, अनुकूलं स्वस्यानुकूलतोपेतं, आयुर्जीवितकालं च, हन्ति विनाशयति। स्त्रीवधस्य यश आदिविनाशहेतुत्वादिति भावः। अनुकालमिति पाठान्तरे प्रतिक्षणमित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ततो जगदितिः १०.२.१८.

सुमनोराज्यं हित्वा निविष्टधीर्यः सदा मनोराज्ये। महतोऽपि तस्य गर्भे वसतिर्नियतेति दर्शितं कृतितः ॥ २८ ॥

परोपकृतितत्परो भवति यः सदात्मस्थितिर्मनोविहृतिरप्यलं भवति तस्य बन्धाय न।

क्वचिज्जठरसंस्थितिर्विधिवशादवाप्याप्यसौ न दुःखजनिका भवेदिति विभुस्तथादर्शयत् ॥ २९ ॥

कृष्णप्रिया

भगवान् पूर्ण पुरुष के तेज स्वरूप को धारण करने वाले श्री वसुदेवजी सूर्य के समान तेजोमय शोभायमान हो गये। जिससे उनके पास दुष्ट राक्षस आदि कोई भी न आ सकता था। इसलिये श्री वसुदेव जी राक्षसादि दुष्टभूतों से अजेय हो गये ॥ १७ ॥ उसके बाद श्री शूरसेनजी तनय श्री वसुदेवजी ने मन से श्रेष्ठ प्रकार से स्थापित किये हुए जगत के मङ्गलकारी-सबके आत्मरूप और सर्व को आनन्द देने वाले अच्युतांश पूर्ण स्वरूप को जैसे पूर्णकलापूर्ण चन्द्रमा को पूर्व दिशा धारण करती है उसी प्रकार देवतामय देवी श्री देवकी जी ने मन से धारण किये ॥ १८ ॥ यद्यपि वह श्री देवकी जी सर्व जगत् के निवास रूप भगवान् का निवास रूप हुई फिर भी भोजेन्द्र कंस के घर में कैद होने से, जैसे किसी सच्छिद्र घड़े में बन्द की हुई घृत दीपक की लौ ज्योति, और विद्या को गुप्त रखने वाले ज्ञानखल में रही हुई सती सरस्वती प्रकाशित नहीं होती है वैसे सती देवकी जी भी पूर्णतया आनन्द देने वाली और प्रसन्न मनवाली नहीं हुई अथवा वहा से अधिक रूप में प्रकाशमान न हुई ॥ १९ ॥ भगवान् के अन्तःकरण में विराजमान होने से उत्पन्न हुई दिव्य कान्ति के कारण सर्व को प्रकाशित करती हुई और विशुद्ध स्मित वाली श्री देवकी जी को देखकर राजा कंस कहने लगा कि निश्चय रूप से मेरे प्राणों को हरने वाले हरि ने इसकी गुहा-कोख में आश्रय किया ही है क्योंकि यह देवकी पूर्व में ऐसी प्रकाशमय नहीं थी ॥ २० ॥

किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु[१] मे [२]यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः[३] स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः[४] ॥ २१ ॥
[५]स एष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन ।
देहे मृते तं मनुजाः[६] शपन्ति गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥ २२ ॥
इति घोरतमाद् भावात् संनिवृत्तः[७] स्वयं प्रभुः । आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत्[८] ॥ २३ ॥
आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन्[९] पिबन् । चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अद्य तस्मिन् मे आशु किम् करणीयम् यद् अर्थतंत्रः विक्रमम् न विहन्ति स्त्रियाः गुरुमत्याः स्वसुः अयम् वधः यशः श्रियम् आयुः अनुकालम् (तत् क्षणमेव) हन्ति ॥ २१ ॥ यः अत्यन्तनृशंसितेन वर्तेत स एषः जीवन् खलु सम्परेतः देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति तनुमानिनः ध्रुवं अन्धं तमः गन्ता ॥ २२ ॥ हरेः वैरानुबन्धकृत् स्वयम् प्रभुः इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः तज्जन्म प्रतीक्षन् आस्ते ॥ २३ ॥ आसीनः संविशन् तिष्ठन् भुंजानः पर्यटन् पिबन् हृषीकेशम् चिन्तयानः जगत् तन्मयम् अपश्यत् ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु संति सामादय उपायाः नेति स्वयमेवाह । अयमर्थतंत्रो देवकार्यप्रधानो विक्रमं न विहंति । मद्वधे पराक्रमं करिष्यत्येवेत्यर्थः । यद्वा तर्हीदानीमेवेयं हन्यतामिति । विचिंत्याह । अर्थतंत्रोऽपि पुमान्स्वं विक्रमं न विहंति न नाशयति स्त्रीवधे तन्नाशः स्यादिति भावः । तदेवाह । स्त्रिया इति । गुरुमत्या गुर्विण्याः ॥ २१ ॥ किं च । स एष जीवन्नपि मृतः स्यात् । नृशंसितेन क्रौर्येण यो वर्तेत तं जीवंतमेव मनुजाः शपंति दुर्वाक्यैर्धिक्कुर्वंति स च देहे मृते तनुमानिनः पापिनो नरस्य नरकं गच्छति । अथवा शापप्रकारमेवाह । तनुमानिनोऽस्य देहे मृतेऽयं ध्रुवमंधं तमो गमिष्यतीति ॥ २२–२३ ॥ संविशन् शयानः ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अधुना किं कार्यमिति चेत्तत्राह—नन्विति । आदिशब्दात् दानभेददंडा ज्ञेयाः । स्वयमेव कंसः । अयं गर्भगो हरिः । अथ चोपायेषु दंडस्य कार्यसिद्धिकरत्वेऽप्यनर्थहेतुत्वमाह—यद्वेति । इयं देवकी । इदानीमेवाधुनैव । न नाशयति रक्षत्येवेत्यर्थः । तन्नाशो विक्रमनाशः । स्यादिति भाव इत्यस्य तात्पर्यमाह । स्वार्थपरोऽपि लोको विक्रमं न विहंति संप्रत्यस्या वधेन मम वीरत्वव्यंजको विक्रमो नक्ष्यत्येवास्यां जीवंत्यां ततो जातप्रवृद्धतरुणीभूतेनास्या बालेन सह युद्धे जये पराजये वा समविक्रमः स्थास्यत्येव सगर्भस्त्रीवधे तु को विक्रम इति भावः । न केवलं विक्रमहानिरेव धर्मादिहानिरपीत्याह—स्त्रिया इति । प्रथमं स्त्रीवध एव महत्पापं तत्रापि स्वसा सापि सगर्भेति सर्वथा धर्मादिहानिरेवेति । गुर्विण्याः "आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्विण्यंतर्वत्नी च गर्भिणी" इत्यमरः ॥ २१ ॥ अत्र लोके क्रूरकर्मणामपि श्र्यायुरादयो यद्यपि संति तथापि ते सतां न श्लाध्या इत्याह—किञ्चेति । धिक्कुर्वंति निंदन्ति धिक्कारमाह—स चेति । स च धिक्कार ईदृश इत्याह—देह इति । शपंतीत्यस्य धिक्कुर्वंतीत्यर्थकल्पनातः प्रसिद्धार्थ एव वर इत्याह—अथवेति । तनुमानिनः प्राणिहिंसया स्वतनुं मानयतो लालयतोऽस्य जनस्य । अयं तनुमानी ध्रुवमतिशयेन यदंधं तमो नरकस्तद्गंता गमिष्यतीति मनुजाः शपंति (निन्दन्ति) इत्यन्वयः ॥२२॥ इति पूर्वोक्तविचारेण । घोरभावः सामान्यस्त्रीहिंसा घोरतरभावो भागनीहिंसा घोरतमस्तु सगर्भायास्तस्या हिंसा इति भावात्कर्मणः "भावो लीला क्रिया चेष्टा भावः सत्ता भवोऽपि च । भावो भक्तिः समाख्याता पदार्थो भाव उच्यते" इति हलायुधः । स्वयं प्रभुः स्वयमेव स्वीकृतराज्यत्वात् । 'उग्रसेनं च पितरम्' इत्याद्युक्तेः । ज्ञानित्वाभिमानित्वाद्वा स्वयं प्रभुः । तज्जन्माष्टमगर्भजन्म । प्रतीक्षन् कदोत्पत्स्यत इति मृशन् । वैरं विरोधस्तदनुबंधस्तदाधिक्यं तं करोतीति तथा निरंतरवैरकृदित्यर्थः ॥ २३ ॥ वैरानुबंधजनितभयेन कंसस्य चित्तावेशमाह—आसीन आससे स्थितः तिष्ठन्कुत्रचित्स्थित उत्थितो वा । पर्यटन् इतस्ततो विचरन् । हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तकं सर्वेन्द्रियग्राह्यविषये तमेव ददर्शेत्यर्थः । तन्मयत्वदर्शनं तु प्रेम्णा सदा परमानंदजनकं भयेन तत्कालं परमदुःखजनकमिति भक्तवैरिणोर्भेदः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

किमद्येति अत्र टीकायां यद्वेत्यस्य पूर्वत्र किन्तु स्त्रिया इति यदि विक्रमं न विहन्ति तथापि स्त्रिया इतीति ज्ञेयम् अद्यास्मिन्नेवाऽह्नि तत्राप्याशु अधुनैव एवं भयेनैव यत्स्वदौरात्म्यं स्तब्धं तत्तु विवेकेनैव स्वयं करोमीति स्वस्मिन्नभिमानसुखं कल्पयति…

१. घटनीय· विज· । २. यथार्थतन्त्रो—वीर· विज· । ३. स्त्रियः—विज· । ४. त्यनुकूल—वीर· विज· । ५. विहन्ति कान्ति सुदुरासदां परेस्त्यजन्ति सन्तो यशसा विहीनम्—इदमन्यत्राधिकं दृश्यते । ६. तमनु ह्यर्थकामो यशोऽमलं गौरमिमानिनो—विज· । ७. स निवृत्तः—इति पाठः । ८. बन्धवित्—विज· । ९. पर्यटन् महीम्—श्रीधरादयः; पर्यटन् पिबन्—वीर· विज· ।

स्त्रिया इति सार्द्धेन। अयं स्वदेहरक्षार्थकः क्षणिकोपि वा सर्वकालं यश आदि हन्ति स्त्रिया इत्यादेर्यथोत्तरमवध्यत्वे यश आदेश्च यथोक्तं तदपेक्ष्यत्वे श्रैष्ठ्यं यदर्थं वधस्तज्जीवनमपि हन्यादिति किन्तेनेति भावः॥ २१॥ ननु, दिनानि कतिचित् यज्जीव्यते तदपि शुभं तत्राह—स इति एष जीवन् जीवदवस्थत्वेन दृश्यमानोपि मृत एव लोकबहिष्कृततासाम्यादिति भावः। खलु वितर्के नृशंसितं हिंसा मनुजाः सर्व एव मनुष्याः अन्यत्तैः तत्र तनुमानिनः पापिन इति देहात्मबुद्ध्यैव पापाभिनिवेशो भवतीति भावः। यद्वा, देहे मृते जीवत्यपि सति किम्वा देहे सति मृते मरणे च सतीत्यर्थः॥ २२॥ इति एवं विचारेण भावात् अभिप्रायात् चेष्टिताद्वा स्वयमेव न त्वन्येषां मन्त्रणादिना सम्यक् निवृत्तः न तु गर्भपातनादौ च यत्नं चकारेत्यर्थः। यतः प्रभुरन्यनिरपेक्षः यद्वा, स्वयमात्मनैव न त्वन्यसंमतया प्रभुः प्रभुंमन्य इत्यर्थः। वस्तुतस्तु तत्र तत्रान्तर्यामिवश एव स्यादिति भावः। हरेः वैराग्य-शेषदोषहरत्वेन किम्वा सर्वमनोहरत्वेन तन्नामतया प्रसिद्धस्यापि यद्वैरं द्वेषस्तस्यानुबन्धोऽनुवर्त्तनं तं करोतीति तथाभूतः सन् यद्यपि भयात्कंस इत्युक्तं तथापि भयस्थाने वैरमपि भवतीति तथोच्यते तेन तस्य हरेर्जन्म प्रतीक्षमाण आस्ते बभूवेत्यर्थः। तत्प्रतीक्षायां च विशेषः श्रीहरिवंशे सचिवान्प्रति कंसोक्तौ "मासान्वै पुष्पमासादीन् गणयन्तु मम स्त्रियः। परिणामे तु गर्भस्य शेषं ज्ञास्यामहे वयम्" इति अतस्तत्रैव "यदर्थं सप्त ते गर्भाः कंसेन विनिपातिताः। तं तु गर्भं प्रयत्नेन ररक्षुस्तस्य मन्त्रिणः" इति॥ २३॥ वैरानुबन्धमेवाह आसीन इति। चिन्तयानः अयमधुनैवाविर्भूय मां हनिष्यतीत्येवं भावयन्नित्यर्थः। हृषीकेशमिति सर्वेन्द्रियवृत्तौ परिस्फूरणेन हृषीकेशताभिव्यक्तेः यद्यपि तन्मयत्वदर्शनं योगिनामपि सुदुर्लभं प्रेमभक्तानामेव संपद्यते तथापि तेषु परमानन्दमयत्वेन अस्मिंस्तु परमदुःखमयत्वेनेति भेदः॥ २४॥

श्रीश्रील-सनातनगोस्वामि-प्रभुपाद-कृता श्रीश्री बृहद्वैष्णवतोषणी

प्रथमोऽध्यायः

श्री श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

(वैष्णवतोषिण्यां मांगलिकश्लोकाः प्रदत्ता अतोऽत्र नोट्टङ्किताः, सम्पादकः)

तथा च द्वितीये (भा० २।१०।६) 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः' इति; अस्यार्थः शक्तिभिश्चिच्छक्तिमाया-शक्ति-आह्लादिनी-शक्तिभिः सहितस्य; यद्वा, श्र्यादिभिः शक्तिभिः तोश्चोनचत्वारिंशाध्यायान्ते (भा. १०।३९।५५); अस्यात्मनो हरेरनुशयनं निरन्तरशयनमिव, वशीकरणेनान्तर्बहिश्च स्थितिर्निरोध इति, तदर्थमेव दशमेऽत्र मधुरतरलीलाकथावतारणम्।

१–२ (१) श्रीयुक्तो राजा श्रीराजेत्यदन्ताभाव आर्षः; यद्वा, राजा कथम्भूतः? श्रीः साक्षात् श्रीरेवेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। सर्व्वकथैकमूलं श्रीकृष्णचरितं विस्तरेण श्रोतुं वक्तुः श्रीबादरायणेः प्रहर्यार्थः तदुक्तमभिनन्दन् प्रार्थयते कथित इति द्वाभ्याम्; तत्तदाख्यायिकयोक्तः, न तूद्देशमात्रेणेत्यर्थः। तत्रापि वंशानां विस्तारो जन्मारभ्य समाप्तिपर्य्यन्तं प्रत्येकं पुत्रपौत्रादि-प्रपञ्चः। भवतेति परमादरात्। उभयवंश्यानां सोमसूर्य्यवंशोद्भवानां दिग्विजयादिचरित्रञ्च कथितम्। परममद्भुतं विस्मयावहम्—श्रीपुरूरवः–ककुत्स्थादीनामूर्व्वशी-परिग्रहेन्द्रारोहणादिनात्यन्तालौकिकत्वात्। सोमादि-वंशकथनादेवायातस्यापि तद्वंश्यचरित्रकथनस्य पुनः पृथगुक्तिस्तद्विशेषापेक्षया। यद्यपि श्रीस्वायम्भुवमन्वादिवंश्य-तद्वंश्य चरितान्यपि तृतीयस्कन्धादौ कथितानि सन्ति, तथापि सोमसूर्य्ययोरित्युभयवंश्यानामेति च सर्वावतार-श्रेष्ठयोः श्रीयदुनाथ-रघुनाथयोस्तत्र तत्र सम्बन्धात्; किंवा निरन्तर-नवमस्कन्धोक्तानामेवानुस्मरणादिति।

(२) यदोर्वंशविस्तारस्तद्वंश्यानां चरितञ्च परमाद्भुतं नितरां सम्यक्तया कथितम्। तत्र हेतुः-धर्म्मशीलस्येति। धर्मोऽत्र श्रीभगवद्भक्तिलक्षणः, (भा. ११।१९।२१) 'धर्म्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्त' इति श्रीभगवदुक्तेः। श्रीयदोर्भक्तिनिष्ठत्वमेकादशस्कन्धे वक्ष्यते—पृथकत्वेन तस्योक्तिस्तद्वंशे श्रीयदुदेवावतरणेन सर्व्वतः श्रैष्ठ्यात्। एवं विस्तरेण सविशेषं तत्तत्कथनं सूचितम्। मुनिषु 'सन्' उत्तमः श्रीभगवद्भक्तः, 'सत्तरः' श्रीकृष्णे रतः, 'सत्तमः' तत्पादाब्जयोः प्रेमविशेषवानित्येवं सम्बोधनेन कथिते कथ्ये च समर्थतोक्ता। अतएव परमाद्भुतं श्रीभगवतो वंश-वंश्यचरितं विस्तार्य्य कथय इत्याशयेनाह—तत्रेति। धर्म्मशीलत्वादेव तस्मिन् यदोर्वंशेऽवतीर्णस्य श्रीवैकुण्ठलोकात् स्वयमागतस्य; अंशेन श्रीबलदेवेन सह, अन्यथा (भा. १।३।२८) 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यनेन विरोधापत्तेः। एवमन्यत्रापीति तस्यापि वीर्य्याणि शंस्यानीति भावः। यद्वा, 'मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः' इत्याद्यनुसारतो भक्तवात्सल्येन तेन सह कृतानि परमाद्भुतानि कर्म्माणि सूचितानि; तत्र हेतुः—विष्णोः सर्व्वव्यापकस्य, तथापि तत्र कृपयावतीर्णस्येति; अतएव वीर्य्याणि परमाद्भुतचरितानि नोऽस्मान् प्रति शंस स्तुतिवत् सोत्कर्षं वर्णय; 'नः' इति बहुत्वं तच्छुश्रूषयात्मनो बहुमानात्, स्वसंगिनामपेक्षया वा; सा च कृपया विनयेन वा; यद्वा, नोऽस्माकं पाण्डवानां यो विष्णुस्तस्येत्यात्मनस्तस्मिन् भक्तिस्तद्वीर्य्यश्रवणे लालसा च सूचिता। (भा० ९।२४।६६) 'जातो गतः' इत्यादिना पूर्व्वं संक्षेपतः किञ्चित् कर्म्ममात्रमुक्तम्, न तु वीर्य्याणीति भावः।

३. ननु सर्व्वाण्यपि तस्य कर्म्माणि परमाद्भुतानीति चेत्तर्हि तानि सर्व्वाण्येव कथयेत्याह—अवतीर्य्येति। अनेन साक्षात् परमेश्वरत्वमुक्तम्, यतो भगवान् सर्व्वैश्वर्यपरिपूर्णः, किञ्च, भूतभावनः स्वेच्छया सर्वजीवस्रष्टा, किञ्च, विश्वात्मा सर्वान्तर्यामीति। विशेषणानामेषां यथोत्तरं परमेश्वरत्वे श्रेष्ठ्यम्; यद्वा, अवतरणप्रयोजनमुद्दिश्य तु परमकारुण्यादिगुणप्रकटनं सूचितम्; अतो भूतानि सर्व्वाण्येव भावयति पालयतीति तथा सः, अत एव विश्वस्यात्मा परमप्रिय इत्यर्थः। एतच्चतुर्दशाध्यायान्ते व्यक्तं भावि; यद्वा, चेतयिता निजभक्ते प्रवर्त्तक इत्यर्थ इति तत्तदर्थं कर्म्मणामानन्त्यं तदीयत्वेन भगवत्त्वादिकञ्चाभिप्रेतम्। अतो यानि यावन्ति कर्म्माणि, तानि सर्व्वाण्येव वद संकीर्त्तय; तत्र च विस्तरात् प्रयोजनादिनिर्द्देशेन पल्लविततया, न तु पूर्व्ववत् संक्षेपेणेत्यर्थः॥

४. न च विस्तरेण श्रुते सति मे तत्र तृप्तिराशंक्येत्याशयेनाह—निवृत्तेति। निवृत्ततर्षैर्मुक्तैरप्युप अधिकं सर्व्वोपरितनत्वेन वा गीयमानादिति परमफलत्वेन सदोपगानात् परमानन्दमयत्वम्। भवौषधादिति सर्व्वदुःखनिवर्त्तकत्वम्। एवं साध्यत्वं साधनत्वञ्च, अतः सदा सर्वसेव्यत्वमप्युक्तम्। अत एवोत्तमः श्लोको यशो यस्य तस्य श्रीभगवतो गुणानां नित्यसत्यस्वाभाविकानामौदार्य्यवात्-सल्यादीनामनुवादः कथा तस्मात् को विरज्येत तृप्तो भवेद्विरतः स्यादिति वा। त्रयाणां विशेषणानामेषां यथाक्रमं न्यूनतोक्ता। तथोक्तिस्तु मुक्तत्वमुमुक्षुत्वाभावेऽपि मम विषयितया श्रोत्रमनोऽभिरामत्वेनापि तत्र विरक्तिर्न युक्तेति श्रीपरीक्षितो विनयादिना। पुमांश्चेत् स्त्रीवदस्वतन्त्रः क्लीबवदशक्तश्च कथञ्चिद्विरज्येतापीत्यर्थः। यद्वा, पुंस एव सर्वत्र प्राधान्यात् पुमानित्युक्तम्; यद्वा, पुमान् जीवस्तेन चाधिकारापेक्षापि निरस्ता। पशुघ्नात् व्याधात्, तस्य हि विषयित्वसम्भवेऽपि सततक्लेशादिना लोकद्वयसुखा-सिद्धया विषयिताया अप्यभावात्। अन्यद्-भगवद्भक्तिविलासटीकायां कथामाहात्म्ये विस्तारितमेवास्ति॥

५. तत्रापि विशेषतोऽस्मत् कुलैकगतेः श्रीकृष्णस्य कथा अवश्यं सदा विस्तरेण मया श्रोतव्येत्याशयेनाह—पितेति। समरे धर्म्मयुद्धेऽतरन्, किंवा युद्धमध्ये। अमरञ्जयैरिति महाशौर्यमुक्तम्। देवव्रत इति इच्छामृत्युत्वादिहेतु-महानियमनिष्ठया परमदुर्ज्जे-यत्वम्, स आद्यः सेनापतित्वादिना श्रेष्ठो येषामतिरथानां तैरिति तत्पालयत्वेन तेषामपि सुदुर्ज्जयत्वम्, अत एव दुरत्ययं दुस्तरमपि। अतिरथलक्षणं महाभारते—'एकादशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥ अमितान् योध-येद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः॥' कौरवाणां दुर्योधनादीनां सैन्यमेव सागर आनन्त्यादिना तम्, स्मेति प्रसिद्धौ, इवार्थे वा; वत्सपदमिव कृत्वेत्यनायासेनेत्यर्थः। तत्र हेतुः—यत्प्लवा इति प्लवो बहित्रम्; यथा वायुवेगेन स्वयमेव गच्छन्तं प्लवमाश्रिताः सुखं शीघ्रं महार्णवं तरन्ति वणिजस्तद्वदित्यर्थः॥

६. विशेषतश्च मम जीवनप्रदः श्रीकृष्ण एवेत्याह—द्रौणीति। विशेषेण प्लुष्टं दग्धमपि ब्रह्मास्त्रस्यानन्यनिवार्य्यत्वात् दाहकतरत्वाच्च। इदमिति जन्मान्तरीणत्वं व्यावर्त्तितम्; यद्वा, प्रत्यक्षमित्यर्थ इति तत्र संशयो निरस्तः; यद्वा, इदं सद्धर्म्मानर्हत्वेन घृणास्पदं हेयं ममांगं स्वतो नश्वरं पाञ्चभौतिकं देहमपि जुगोपेति परमवात्सल्यमुक्तम्; कुर्व्वादीनां सन्तानबीजमिति तेषां कुलक्षय-दोषनिरसनेन यशो धर्म्मश्च रक्षितोऽतस्तेषां हितार्थमेव जुगोप। पाण्डवानां कुरुत्वेऽपि पृथगुक्तिस्तेषां तत्र विशेषापेक्षया, यद्वा, भारते दुर्योधनादय एव कुरुतया प्रसिद्धास्ते एवात्र ज्ञेया इति तेषां स्वसन्तानाभाव उक्तः। तेन श्रीभगवतः परमकारुण्यमेवाभि-प्रेतम्, दुष्टानां समूलनाशनात्तथा तेषामपि बीजरक्षया परलोकहिताचरणाच्च। प्रायश्चक्रादानस्य सार्व्वदिकत्वादात्तचक्र इत्युक्तम्। गोपनन्तु गदयैव (भा० १।१२।१०) 'अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः' इति प्रथमे प्रोक्तत्वात्; यद्वा, भक्तवात्सल्येन व्यग्रतया चक्रमपि गृहीतम्; 'च' कारान्मातुरंगञ्च जुगोपेत्यर्थः, गर्भरक्षया तद्देहस्यापि रक्षणात्। शरणं गताया इति रक्ष रक्षेति वाङ्मात्रेणेत्यर्थः; अतस्तत् कथायां विरक्त्या ममाकृतज्ञतापि प्रसज्येतेति श्लोकद्वयतात्पर्य्यम्॥

७. अतस्तद्वीर्य्याण्यवश्यं कथ्यानीति पुनरौत्सुक्येन प्रार्थयमानः श्रीभगवन्माहात्म्यमाह—वीर्य्याणीति। देहभाजां जीवानाममृतं मरणाद्यशेषदुःखरहितं परममधुरं वा श्रीवैकुण्ठलोकं श्रीकृष्णपादाब्जप्रेम वा प्रयच्छतो ददतः, 'च' कारादन्यदप्य-पेक्षितम्; वदस्व गुह्यान्यपि प्रकाशयेत्यर्थः; यद्वा, स्व ! हे मदेकबन्धो, मदेकधनेति वा, अतो मद्धितार्थमवश्यं वक्तुमर्हसीति भावः। परं श्रीस्वामिपादैर्व्याख्यातमेव। भावस्त्वयम्—कथाश्रवणादिनान्तर्दृष्टीनां सतामन्तर्यामिरूपेणामृतं तदभावेन च बहिर्दृष्टीनां कालरूपेण मृत्युं ददाति यतः, अतस्तद्वीर्य्याणि ब्रूहीति; अथवा, अन्तर्बहिश्च यानि पुरुषकालयोः रूपाणि तैः, तत्र श्रवणादिनान्तःस्थितैः सद्भिः पुरुषस्य श्रीभगवतो रूपैः श्रीविष्ण्वादिमूर्त्तिभिः परमानन्दम्, तदभावेन च कालस्य रूपैर्बहिःस्थितैर्यमादिभिर्विविध-दुःखम्; किंवा बहिरन्तश्चामृतं बहिरन्तश्च मृत्युमपि प्रयच्छत इत्यन्वयः। यद्वा, पुरुषरूपेणान्तर्यामिद्रष्टृत्वेत्यर्थस्तद्वताम्, 'अ'-कार-प्रश्लेषेणामृत्युं मोक्षं संसार-निवृत्तिलक्षणं कालैः प्राधान्येन सहजश्यामलवर्णैः रूपैश्च श्रीरघुनाथाद्यवतारैरमृतं प्रयच्छत इति यथाक्रममेव योजना, मायया इच्छाशक्त्या; तथा च तन्त्रे—'योगमाया च माया च तथेच्छाशक्तिरेव च। कमलाभूमिशक्त्याद्यैर्विद्वद्भिः, सैव गीयते॥' इति; स्वेच्छया मनुष्यस्येव, त्वतो मनुष्यधर्म्मातीतत्वात्; यद्वा, माययाप्यमनुष्यस्य मनुष्यलोकातीतस्य साक्षाच्छ्रीगरुडारोहण-रुद्रजय-ब्रह्ममोहनादिनैश्वर्य्यप्रकटनात्; यद्वा, माया विचित्रलीला विविधा विचित्र-कैतवं वा, यथा रासक्रीडायामेऽपि धर्म्मोपदेशादि, तद्युक्तस्य मनुष्यस्य द्विभुजत्वादिना मनुष्याकारस्य; यद्वा, माया दया, 'माया दम्भे कृपायाञ्च' इति विश्वः;— तया मनुष्यस्य मनुष्याकारं प्रकटयतः। एवं मृत्य्वमृतप्रदानेनैश्वर्य्यविशेषात्तथा मायामनुष्यतया माधुर्य्यविशेषाच्चैकस्यैवावतारि-त्वावतारत्वाभ्यां माहात्म्यविशेष उक्त एव॥

८—तत्र विशेषं पृच्छति—रोहिण्या इति चतुर्भिः। संकर्षण इति श्रीदेवकीपुत्रेषु (भी० ७।२४।५४) 'संकर्षणमहीश्वरम्' इति संकर्षणाख्यया यः प्रोक्तः, स एव रोहिणीपुत्रो राम इति भेदो निरस्तः ॥

९ मुकुन्दो मुक्तिं दातेति कंसस्य मुक्तिं दातुं पुर्य्यामेव स्थातुं योग्यो न च व्रजे गन्तुमिति भावः; श्लेषेण 'मु'[1] मुक्तिसुखं 'कु' कुत्सितं यस्मात्, स मुकुस्तं प्रेमानन्दं ददातीति व्रजमेव गन्तुमर्हति; तत्र च कं हेतुं त्याजार्थमुद्भावयदित्यर्थः[2]। सात्वतां भक्तानां पतिः पालक इति स्वभक्तयादव-पालनार्थम्; यद्वा, सात्वतानां यादवानां पतिः स्वामीति तैः सहावश्यं वासोऽपेक्ष्य इति भावः ॥

१०–११। (१०) ननु कश्चित् कालं मधुपुर्य्यां ततश्च द्वारकायामिति सुप्रसिद्धमेवेति चेतर्हि तत्र तत्र कृतं सर्वं कथयेत्याह—व्रज इति द्वाभ्याम्। मधुपुर्य्यां च वसन् इति तत्र[3] वाससमये ऽन्यत्र कृतमपि तत्र तत्रैव पर्य्यवसायितम्। को ब्रह्मा, ईशो रुद्रः, तौ वयते स्वमहिम्ना व्याप्नोतीति; किंवा अस्त्यर्थे वः, तौ सेवकोत्तमतया विद्येते यस्येति परमेश्वरतोक्ता। अतस्तत्र तत्र तस्य वासेन मधुपुरादद्भुतकर्म्माणि सम्भवन्त्येवेति भावः। अद्धा स्वयमेवेत्यर्थः ॥

११—देहमिति। मानुषं मनुष्याकारं परमसुन्दरं देहमाश्रित्य प्रकटीकृत्य, सच्चिदानन्दघनत्वेन तस्य नित्यत्वात् यदुपुर्य्यां श्रीद्वारकायां विभोर्व्यापकस्येति पाठान्तरे च; प्रभोः समर्थस्येति पत्नीनां बाहुल्यमभिप्रेतम् ॥

१२—अहो तत्तद्विशेषा मयानभिज्ञेनान्ये कति प्रष्टव्यास्त्वया स्वयमेव सर्व्वे कथ्यन्तामित्याह—एतदिति। पृष्टमन्यच्चापृष्टमपि श्रीद्वारकावासादि सम्बन्धि श्रीकृष्णस्य नराकृतिपरमेश्वरस्यात एव विचित्रं चेष्टितं सर्वं विस्तृतं यथा स्यात्तथा, मे मह्यं वक्तुमर्हसि। कुतः ? श्रद्दधानाय; हे सर्वज्ञेति श्रद्धवतेऽवश्यं वाच्यमेवेति त्वया ज्ञायत एवेति भावः; (धर्मज्ञेति) पाठान्तरेऽपि तथैवार्थः। ननु, तत् सर्वमहं वक्तुं न योग्योऽस्मि ? तत्राह—मुने सदा तन्मननकर्त्तरिति ॥

१३— अन्यथाधुनैव मत्प्राणा निर्यास्यन्तीत्याह—नेति। एषानशनव्रतोत्था, सर्वानर्थमूलतया प्रसिद्धा वा; यद्वा, दुःखप्रदत्वेन सर्वैरनुभूयमाना, यया हि मया मुनिगले मृतसर्पप्रक्षेपणापराधः कृतोऽतोऽ तिदुःसहात्यन्तदुःखेनैव सह्या, किंवा सोढुमत्यन्तमशक्यापि; तत्र हेतुविशेषः—त्यक्तोदमिति; यद्वा, अन्यैरतिदुःसहमपि मां सदा विविधभोगेन मृदुतरांगमपि तत्र च त्यक्तोदमपि न बाधते न व्यथयति; किंवा कथा श्रवणादौ कश्चिद्विघ्नमपि कर्त्तुं न शक्नोतीत्यर्थः; नञः सर्वादौ निर्द्देशो निषेधस्यात्यन्तापेक्षया। तत्र हेतुः—हरेः सर्वदुःखहरस्य भगवतः कथैवामृतं संसारविस्मारणादिना परम-मादकत्वान्मधुरतरत्वाच्च। तत् पिबन्तं परमभक्त्या सेवमानमित्यर्थः; वर्तमानप्रयोगेण पानेऽविच्छेद उक्तोऽतस्तद्विच्छेदोऽनुचित इति भावः; यद्वा, पाने प्रवर्त्तमानमात्रमित्यर्थ इति देवभोग्यादमृताद्विशेष उक्तस्तस्मिन् पीते सत्येव क्षुद्राधाद्युपरमात्। किञ्च, तत्र मुखमेवाम्भोजं सुन्दराकारत्वादिना; तस्माच्च्युतं सारांशतया क्षरितमिति प्रसिद्धामृतस्येव शैत्य-सौरभ्यादिना सर्वतापहारित्व-मनोहरत्वादिगुणविशेषो दर्शितः, श्री भागवतोत्तमसुखेन श्री भागवतकथाया माधुरीविशेषोदयात् ॥

१४—तादृश-तदुक्त्या परमप्रीतः सन् श्रीवादरायणिः प्रयुक्तं प्रवृत्त इत्याह—एवमिति ईदृशम्। भृगुनन्दन ! हे श्रीशौनकेति प्रहर्षोदयात्, यद्वा, भागवतोत्तमानामयमेव स्वभाव इति सम्बोधयति। अथ तत्प्रश्नानन्तरमेव, स परमानिर्वचनीयमाहात्म्यः परमभागवतोत्तमतया प्रसिद्धो वा; यतो वैयासकिः—वेदव्यसनाद्व्यासस्तस्य पुत्र इति सर्ववेद-तत्त्वज्ञतोक्ता। भगवान्—तल्लक्षणं श्रीविष्णुपुराणे (६।५।७८) 'प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥' इति, किंवा श्रीभगवद्भागवतयोरभेदाभिप्रायेण। अतएव विष्णुना गर्भे प्रविष्टेन भगवता रातं "ब्रह्मास्त्रतो रक्षित्वा श्रीयुधिष्ठिरादिभ्यो दत्तम्; किंवा आदत्तं स्वीकृतमिति तस्यापि परमभागवतत्वमुक्तमत एव प्रत्यच्चर्य साधु साध्वित्येवम्; किंवा वक्ष्यमाणप्रकारेण विविधश्लाघया सम्मान्य; यद्वा, श्रीगुरुरयं यथा तेन विविधोपचारैः पूजितस्तैरेव तं प्रतिपूज्य कृष्णस्य सर्वचित्ताकर्षस्य भगवतश्चरितमतः कलौ यत् कल्मषं सुदुस्तरं पापं तदपि, यद्वा, सर्वपापहेतोः कलेरपि किं पुनस्तत्कालीनजनस्य कल्मषं दोषम्; यद्वा, किं तत्त्वं किं फलं किं वा साधनमित्यादिविषयकः कलिः कलह एव कल्मषं श्रीभगवन्माहात्म्यानिर्द्धारात्तद्धन्तीति तथा तत् श्रीभगवच्चरितश्रवणादिनैव तन्माहात्म्यविज्ञानादशेषकलह[4]दोषनिवृत्तेः; यद्वा, कलिञ्चात एव कल्मषञ्च सर्वदुःखमूलं पापं संसारदुःखमेव वा हन्तीति सर्वदुःखहन्तृत्वमुक्तम्; यद्वा, कथम्भूतं विष्णुरातम् ? कलिकल्मषघ्नं कलिरूपकल्मषजयिनम्। सुखप्रदत्वं सुखमयत्वञ्च कृष्णेत्यनेनैव ध्वनितम्। ननु राजसभायां विविधवासनमुनिगणाग्रे परमगोप्यं तं कुतः प्रकाशितम् ? तत्राह—भागवतेति तैर्व्याख्यातमेव; यद्वा, श्रीभागवत एव श्रीभागवत-शास्त्रमेव वा प्रधानं श्रेष्ठं परमादरणीयं यस्य सः, अनन्यापेक्षत्वादिति भावः। श्रीशुक इति प्रेमभरोदयेन शुकवन्मधुरमधुरभाषणात्। तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते व्यासं प्रति श्रीकृष्णवाक्यम्—'व्यास ! त्वदीयतनयः शुकवन्मनोज्ञं, ब्रुते वचो भवतु तच्छुक एव नाम्ना' इति। एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥

१५—अतस्त्वयात्माहं मुनयोऽपि विविध-दुर्वासनामलतः शोधिता इत्याह-वासुदेवेति। पुनरुक्तिस्तस्यैवोत्कर्षख्यापनेन तन्निष्ठार्थो; कथायाः प्रश्नोऽपि त्रीन् त्रिविधान्; हि निश्चितम्; पुरुषानिति तेषामेव प्राधान्यात्; तत्र वक्तारं पुनातीति प्रश्नेनैव वक्तुः

१. मुं (ग, घ,); २. हेतुमुद्भावयत् (ख); ३. तत्तद—(ख)। ४. तं (ग, घ, ङ); ५.—कलि-(ग);

कथायाः सम्यक् प्रवर्त्तनात्, श्रोतॄनिति च तेनैव कथा–प्रवृत्त्या श्रवणसिद्धेः; यद्वा, प्रश्ने भगवन्नामादि–सम्बन्धेनैव तन्मात्रेणापि सर्वेषां पावनात्; तत्र वक्तुः प्रष्टुश्चैकत्वं तस्य तस्य च तद्योग्यत्वात् अधिकारानपेक्षया सर्वेषामेव श्रीभगवत् 'सम्बन्धमात्रेण पावने दृष्टान्तः - तस्य पादसलिलं गंगा श्रीशालग्रामादिचरणामृतं वा ॥

१७ – दृप्तेति दैत्यत्वलक्षणम्; शतायुतैरित्यसंख्यत्वे तात्पर्य्यम् । शरणं ययौ आश्रितवती ॥

१८—कथम् ? तदाह—गौरिति । गोरूपेति कृपाविशेषजननार्थम्; तत्रापि खिन्ना दुःखिता, अतएव करुणं यथा स्यात्तथा रुदन्ती रुदन्ती,अतएवाश्रुमुखी अश्रुव्याप्तानना; यद्वा,करुणं रुदन्ती रुदन्ती करुणस्वरेण क्रोशन्ती विलपन्ती वा । तथा च श्रीविष्णुपुराण-हरिवंशयोः—'खेदात् करुणभाषिणी' इति । यद्वा, गौः पृथिवी अश्रुमुखी भूत्वा; विशेषेण योन्यादिव्यवधानराहित्येन नाभिक-मलादाविर्भवतीति विभुस्तस्येति साक्षाच्छ्रीभगवत्पुत्रतोक्ता, अतस्तस्मै तं प्रति व्यसनं निजदुःखं सम्यगुक्तवती; स्वमिति पाठे स्वकीयम् । तद्विशेषः श्रीविष्णुपुराणे (५।१।२१-२७)—

'तत् साम्प्रतमिमे दैत्याः कालनेमिपुरोगमाः । मर्त्त्यलोकं समागम्य बाधन्तेऽहर्निशं प्रजाः ॥
कालनेमिर्हतो योऽसौ विष्णुना प्रभविष्णुना । उग्रसेनसुतः कंसः सम्भूतः स महासुरः ॥
अरिष्टो धेनुकः केशी प्रलम्बो नरकस्तथा । सुन्दोऽसुरस्तथात्युग्रो बाणश्चापि बलेः सुतः ॥
तथान्ये च महावीर्य्या नृपाणां भवनेषु ये । समुत्पन्ना दुरात्मानस्तान्न संख्यातुमुत्सहे ॥
अक्षौहिण्यो हि बहुला दिव्यमूर्त्तिधराः सुराः । महाबलानां दृप्तानां दैत्येन्द्राणां ममोपरि ॥
तद्भूरिभारपीडार्त्ता न शक्नोमामरेश्वराः । बिभर्त्तुमात्मानमहमिति विज्ञापयामि वः ॥
क्रियतां तन्महाभागा मम भारावतारणम् । यथा रसातलं नाहं गच्छेयमतिविह्वला' ॥ इति ॥

१९ – अथेति मांगल्ये, श्रीभगवदवतारहेतूपसत्तेः,[२] यद्वा अनन्तरं सद्य एवेत्यर्थः । भूमेर्वचनं वासनं वोपधार्य्यावधानेन श्रुत्वा हृदि धृत्वा वा त्रिनयनेन सहित इति तस्य पृथगुक्तिर्भगवत्प्रियतमत्वे तस्य विशेषतः साहाय्यापेक्षया क्षीराब्धितीरे गमनं तत्र लक्ष्म्या सह सदावस्थित्या सुलभत्वात् सुप्रसन्नत्वाच्च ॥

२०—तत्र तीर एव गत्वा, न तु तत्रत्य–श्वेतद्वीपाख्यश्रीभगवत्पुर्य्यामिति तस्या अपि दौर्लभ्यमभिप्रेतम्; तच्च मोक्षधर्म्मे श्रीनारायणीये व्यक्तमेव । पुरुषमिति सदा तत्र पुरि शयनाभिप्रायेण विराडन्तर्य्यामितया वा । समाहितस्तदेकचित्तः सन्; उपतस्थे भक्त्या तुष्टाव; कुतः ? जगतां नाथं विशेषतश्च देवानां देवं पूज्यं जगत्पालनार्थं देवैः स्तुत्यत्वादिति भावः । किञ्च, वर्षति कामान् आकम्पयति क्लेशानिति वृषाकपिस्तमिति प्रयोजनं चोद्दिष्टम्, पुरुषसूक्तेनोपस्थितिस्तस्य वैदिकतया भगवन्माहात्म्यविशेषपरतया च पुरुषोत्कर्षैकोपयोगितया च तथा तदानीं गोकुलादिलीलानभिव्यक्त्या च सर्वस्तोत्रेभ्यः श्रैष्ठ्यात् ॥

२१—गगने समीरितामाकाशजामदृष्टवक्तृकामित्यर्थः; इत्यदृश्यमानेन श्रीभगवता नारायणेन तदीयेन वा केनचिदुक्तां समाधौ तत्रापि[३] गगने समीरितामिति परमादृश्यत्वमुक्तम्, अग्रे श्रीवृन्दावनादौ तस्य तादृशक्रीडया तदानीन्तनानां भाग्यविशेषबोध-नार्थम् । ह स्फुटं हर्षे वा । पौरुषीम्—पुरुषो विराडन्तर्य्यामी नारायणस्तदीयामिति तस्यां तेषां विश्वासार्थं पुनः पश्चात्तथैव तदनुरूप-मेव विधीयतां युष्माभिः सर्व्वैरेवेति वा; हे अमरा इति तद्देवामरत्वं नाम सिध्येदिति भावः ॥

२२—पुरुषमुखनिःसृतां गामेवार्थतः प्रतिपादयति—पुरेति चतुर्भिः । पुंसा यस्याहमंशस्तेन पुरुषोत्तमेन पुरैवावधृत इति तद्विज्ञापनार्थं युष्मत्प्रयासेनालमिति; यद्वा, अतएव तच्छ्रवणार्थं स्वयं नाविर्भूत इति भावः । अंशैर्निजाशेषांशैः सहोपजन्यतां पुत्त्रपौत्रादिरूपेण जनित्वा निकटे स्थीयतामित्यर्थः । यदुष्विति प्रायिकत्वात्, किंवा तत्सम्बन्धिनामपि पाण्डवादीनां तदन्तर्भावात्; यद्वा, मुख्यत्वादीश्वराणामपीश्वर इच्छामात्रेण सद्यः सर्वं कर्त्तुं शक्तोऽपि स्वकालशक्त्या यदा यत् कर्त्तुं युज्येत, तदैव तत् करोतीति यथाकालमित्यर्थः; स्वशब्देन कालस्यापि तदधीनतोक्तैव । यावद्भुवि चरेत् प्रकटो भुवि वर्त्तेतेत्यर्थः; अन्यथा तत्तन्नित्य-प्रियजनैः सह नित्यं श्रीवृन्दावनादौ विचित्रक्रीडां कुर्व्वतोऽपि तस्यान्यैरदृश्यत्वात् ॥

२३—यदुष्वंशैरुपजनने हेतुमाह—वसुदेवेति । गृह इति जीववत् पितुः सकाशादुत्पत्तिर्निरस्ता, यतः परः पुरुषः पुरुषोत्तमोऽवतारी श्रीभगवान् प्रकटसर्व्वैश्वर्य्ययुक्तः सन् साक्षात् स्वयमेव जनिष्यते प्रादुर्भविष्यतीत्यंशावतारत्वमपि निरस्तम् । तथा च पाद्मे श्रीव्यासवाक्यम् ,—

'ततो मामाह भगवान् वृन्दावनचरः स्मयन् । यदिदं मे त्वया दृष्टं रूपं दिव्यं सनातनम् ॥
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम् । पूर्णं पद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम ॥
इदमेव वदन्त्येते वेदाः परमकारणम् । सत्यं व्यापि परानन्दं चिद्घनं शाश्वतं परम् ॥' इति ।

१. श्रीभागवत—(ग, घ) । २.—हेतुवसम्पत्तेः (घ); ३. तथापि (ख) ।

अतस्तस्य भगवतः प्रियार्थं परिचर्य्यया प्रीत्युत्पादनाय; यद्वा, तस्य प्रियाः श्रीरुक्मिण्याद्याः श्रीराधाद्याश्च तासां सख्यार्थमत एव सम्यग् भवन्तु, उक्तप्रकारेण जायन्तामित्यर्थः; यद्वा, सम्भवन्तु योग्या भवन्त्विति वरप्रदानम्; तथापि जनन एव तात्पर्य्यम् ॥

२४—अग्रतः पूर्व्वं भविता ज्येष्ठभ्राता भविष्यतीत्यर्थः; स्पष्टतानुक्तिः सम्भ्रमात्। तत्र योग्यतामाह—वसुदेवस्य चतुर्व्यूह-प्रधानस्य कला अंशः, संकर्षणत्वात्, अत एवानन्तः प्रलयेऽपि नाशरहितः; यद्वा, अपरिच्छिन्नोऽत एव सहस्रवदनः श्रीवासुदेव-गुणगाने सहस्रमुख इति निरन्तरानन्तभगवद्गुणगानपरता सूचिता। ननु किं तर्हि सप्तपातालतलवर्त्ती धरणीधरः ? नेत्याह—स्वयं राजत इति स्वराट्, अतस्तं विनान्यत्र स्थातुमशक्तिमिति भावः। अग्रतो भविता देवः[1] सर्व्वेषां पूजार्ह इत्यर्थः। ननु श्रीलक्ष्मणवदसौ कनिष्ठतामेवार्हति ? तत्राह—हरेः प्रियचिकीर्षयेति। पुरा श्रीरघुनाथावतारे तस्य सेवातिशयेन यन्त्रितस्य हरेर्भक्तवत्सलस्याग्रज-त्वेनैव प्रीतिः स्यादिति तत्सम्पादनेच्छयेत्यर्थः। हरेरिति तादृशस्नेहेन तस्य मनोहरणात् ॥

२५—विष्णोर्विश्वव्यापकस्य भगवतो मायाख्या शक्तिः, अत एव भगवतो सर्व्वशक्तियुक्ता। भगवतीत्वमेव दर्शयन् तामेव कार्य्य-द्वारा विशेषेण लक्षयति-ययेति; इति चिच्छक्तिर्व्यावर्त्तिता सम्यग्भविष्यति; अन्यथा श्रीयशोदादिमोहनाशक्तेः। कार्य्यार्थ इति श्रीयशोदा-मोहनादि-कार्यस्य सुगोप्यत्वात् संकेतेनैवोक्तम् ननु वयं देवा त्वदाज्ञाकारिण[2] एव, अनन्तश्च हरिप्रिय-चिकीर्षयैव भविता; सा तु परमस्वतन्त्रा, कुतस्तथा कर्त्ता ? तत्राह—प्रभुणा तदीश्वरेण विष्णुनादिष्टेति 'यया सम्मोहितं जगत्' इत्युक्तम्। ननु तर्हि तस्यास्तत्र जन्मनाऽस्मदृशानामपि सम्मोहः सम्भवेदित्याशंक्याह—अंशेनेत्यंशेन भगवदंशेन सम्वलिता, अतस्तदिच्छानुसारेणैव मोहयिष्यतीति भावः ॥

२६—अमरगणान् सुरसमूहान्; यद्वा, अमरान् गणांश्च, गणाः—देवानुगा गन्धर्व्वादयः श्रीभगवज्जन्मोत्सवादौ गीत-वाद्यार्थमुपयुक्ताः। आदेशे योग्यतामाह—प्रजापतीनां मरीच्यादीनामपि पतिः; यतो विभुः, उक्तार्थमेवेदम्; यद्वा अत एव जगतामम-रगणानां वा प्रभुरिति। श्लेषेण श्रीभगवदवतारसाधनादिदानीमेव प्रजानां तत्पतीनाञ्च पालकत्वं विभुत्वमपि सिद्धमिति। गोभिः—त्वमेव धन्योस्यचिरात्तन्मधुरमधुरपदैर्भूषिता भविष्यसि' इत्यादिभिः। परमं सत्यलोकवर्त्तीतिविदूरस्य-तत्रत्यमूर्त्तिमद्वेदादि-निज-परिवाराणां साक्षाच्छ्रीभगवदवतारवार्त्तया सन्तोषणार्थम् ॥

२७—श्रीमथुरायां श्रीभगवदवतरणं वक्ष्यन्नादौ तत्कारणमाह—शूरसेन इति द्वाभ्याम्। स्वगुणैः सर्वचित्तस्य मथनाद्[3] विलोडनान्मथुरा, तां पुरीं पुरीत्वेन प्रसिद्धाम्, किंवा तत्रापि पुरीं श्रीयमुनातटे पुरा भगवता श्रीशत्रुघ्नेन वासितां नगरीम्। माथुरान् मथुरामण्डलसम्बन्धिनः; तानेव शूरसेनांश्च तद्भुक्तत्वेन तन्नाम्नैव प्रसिद्धान् देशान् बुभुजे उपबुभुजे; यद्वा, बुभुजे यतो यदुपतिर्यदुकुलश्रेष्ठो ययातिशापेन राजत्वाभावात् पतिरित्युक्तम्, न च राजेति, अत एव बुभुज इति, अग्रे च भूभुजामिति, पुरेति तस्य पूर्वपूर्वतरत्वात्, तच्चोक्तमेव नवमस्कन्वे ॥

२८—तत आरभ्य सा सुप्रसिद्धा अनिर्व्वचनीयमाहात्म्या वा मथुरा सर्व्वयादवभूभुजां निखिलयदुवंश्यक्षितिभृतां राजधानी कटकमभूत्। राजधानीति शूरसेनादीनां यदुपतित्वेन राजवद्व्यवहारात्। सर्वेषामेव तेषां राजधानीत्यत्र हेतुविशेषमाह—यत्र यस्यां भगवान् सर्वैश्वर्य्ययुक्तः श्रीयुक्तः[4] सन्निहितस्तत्रत्यानां निकटे तिष्ठतीत्यर्थः; तत्र च मथुरेत्येव हेतुर्ज्ञेयः, तया तस्यापि मनोविलोडनात्। नित्यमितिकालादि-दोषेण नान्यत्रैव वदन्तर्द्धानं[5] निरस्तम्, अस्याश्च नित्यत्वात्। तथा च पाद्मे श्रीभगवद्वाक्यम् 'अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः, पुरीं मदीयां परमां सनातनीम्। सुरेन्द्रनागेन्द्रमुनीन्द्र-संस्तुतां, मनोरमां तां मथुरां पराकृतिम् ॥' इति। हरिः परममोहन-रासादिलीलया मनोहरः; एवञ्च श्रीवैकुण्ठलोकादप्युत्कर्षः सूचितः। अत एवोक्तं पाद्मे पातालखण्डे—'अहोमधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी' इति ॥

२९—तत्रैव कंसकारागारे श्रीभगवतो जन्म वक्तुं तत्प्रसंगमारभते—तस्यां हीत्यादि; हि एव तस्यां श्रीमथुरापुर्य्यामेव कर्हिचित् चिरकाले तथैवातीते सति कदाचिदित्यर्थः। शौरिः शूरस्य पुत्र इति देवककन्या-विवाहयोग्यतोक्ता। प्रयाणे च विवाहा-नन्तरं निजगृहं गन्तुम् ॥

३०—उग्रसेनस्य सुत इति—स्वसृत्वसाधनार्थम्; तथा तदानीमुग्रसेनस्य तत्राधिपत्येन कंसस्यापि तादृशत्वबोधनार्थञ्च। अत एव स्वर्णमयैरसंख्यैः रथैर्वृतः सन् जगद्धिंसया कंसनाम्ना प्रसिद्धोऽपि, कसि-धातोः शातनार्थत्वात्। हयानां रश्मीन् जग्राह, स्वयमेव सारथ्यमकरोदित्यर्थः। किमर्थम् ? स्वसुर्देवक्याः प्रियं कर्त्तुमिच्छया; पाठान्तरेऽपि स एवार्थः। भग्नी-शब्दस्यापि वृत्तेः; तथा च द्विरूपकोषे—'भग्नी च भगिनी चैव' इति। अत एव माघमाहात्म्ये—'विप्रं तं प्रति सर्वास्ता वयसानुपमाः पुनः। शोभन्ते स्म यथा भग्न्योर्मिथस्ताः स्वसखीवृताः ॥' इति तस्यामसुष्य महास्नेहः सूचितः। एतदादिकं सर्वं कंसस्य वक्ष्यमाण-दुश्चेष्टयात्यन्त-खलत्व-ज्ञापनार्थम् ॥

---

१. अग्रतो भवनादेव देवः (ख); २. वेदाज्ञाकारिण (क), त्वदाज्ञाकारिण (ख); ३. मथाद् (ग, घ, ङ); ४. श्रीकृष्णः (ख); ५ नान्यत्रैवान्तर्द्धानं (ग, ख)।

३१-३२—किञ्च, तादृश-महोत्सवे तादृशं क्रौर्य्यं न किल सम्भवेदिति विवाहोत्सवं त्रिभिर्वर्णयन् आदावुपस्कर-प्रदानमाह—चतुरिति युग्मकेन[१]। हेम्नां माला माल्यं पंक्तिर्वा, तद्वतान्। एतदग्रेऽप्यनुसर्त्तव्यम्[२]। त्रिषट्शतमष्टादश शतानि। सुकुमारीणां नवयौवनानामित्यर्थः। सम्यग्विचित्रोत्तमवस्त्रभूषणादिना यथाविध्यलंकृते। प्रकर्षेण परमश्रद्धया साधुप्रकारादिनादात्। याने प्रयाणसमये, 'यानैः' इति पाठे (शिविकादिभिः सहिते, तासां स्वयं पादव्रजनाक्षमत्वात्। तावत् प्रदाने हेतुः—दुहितृपु दुहितरि वा सर्वकनिष्ठायां तस्यां वत्सल इति ॥

३३—प्रयाणस्य प्रक्रमे आरम्भे; समं युगपत्, यद्वा, अन्यूनाधिकरूपं यथा स्यात्, सुमंगलञ्च शोभन-शुभध्वनि यथा स्यात्तथा नेदुः स्वयमवाद्यन्त। एतच्च भाविशुभलक्षणम्। तातेति[३] वात्सल्येन सम्बोधनम्, श्रीभगवदवतारासन्नतादिना प्रहर्षात्; किंवा, तादृशमहोत्सवे भाव्यनर्थापात-स्मरणेन शोकवेगात् ॥

३४—प्रग्रहिणं गृहीताश्वपाशम्, गर्भोऽर्भकः; तथा च विश्वः—'गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ' इत्यादि। अबुध हे मूर्खेति शत्रुमातृवहनात् स्वमरणाद्यज्ञानाद्वा; कंसस्य भगिनीविषयकस्नेहेन सद्वृत्ततया तत्कारणोत्थापनार्थं व्यग्राणां देवतानामाकाश-वाणीयं[४] ज्ञेया। नयसे भर्त्तृगृहं प्रापयसि 'वहसे' इति पाठेऽपि स एवार्थः; किन्तु वाहनवद्वहसीति श्लेषः ॥

३५—इत्युक्त इति तद्वाङ्मात्रेणैव, न तु तदर्थविचारणादिनेत्यर्थः; यतः खलोऽधमः, क्रूरो वा, यतः पापो दुष्टः, पाप-स्वरूपो वा, अतो भोजानां यादव-भेदानां कुलपांसनः, अतएव हन्तुमारब्धः, आदिकर्म्मणि कर्त्तरि क्तः, सद्यः प्रवृत्तः। तत्प्रकार-माह—खड्गपाणिरिति, प्रग्रहान् विहाय दक्षिणेन करेणासिमुद्यम्य वामेन केशबन्धे तामग्रहीदित्यर्थः ॥

३६—जुगुप्सितं निन्दितं कर्म्म यस्य तम्, भगिनीवधे प्रवृत्तेः, नृशंसं सद्यस्तादृशस्नेहत्यागात्; निरपत्रपं तादृशोत्सवे सर्वलोकाग्रेऽत्यन्तविकर्म्मोद्यमात्। विशेषणानामेषामुत्तरोत्तरं दुष्टत्वे श्रैष्ठ्यम्; एवं तस्य महादुश्चेष्टायाः पुनः पुनर्निन्दा। महाभाग इति तैर्व्याख्यातमेव। तत्र स्वस्य श्रीवसुदेवस्य जन्मनि हर्षेण देवतैर्व आनकदुन्दुभिघोषस्तेन सूचितो यः स्वस्माद् वसुदेवाद्भावी भगवदवतारस्तेन हेतुना स्वस्माच्छक्यप्रतीकारता सम्भवतीत्यर्थः। अयमुक्तौ हेतुः। किञ्च, परिसान्त्वयन्नित्यत्र परीत्यस्य लेखकभ्रमादिति; अथवा, परमभाग्यवानिति तस्य महाधैर्य्यादिकं सूचितम्। अतएव परिसान्त्वयन्, तैर्व्याख्यातमेव; यद्वा, सान्त्वनपूर्वकं साम्नायुक्तिभेदेन (युक्तिभिर्भेदेन) स्नेहोत्पादनेन च क्रमेण प्रबोधयन्। तत्र पञ्चविधं साम, भेदश्च द्विविधः; तथा चोक्तम्—'सम्बन्ध-लाभोपकृतिरभेदो गुणकीर्त्तनम्। साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः ॥' इति ॥

३७—तत्रादौ साम्ना प्रबोधयति[५]—श्लाघनीयेति। शूरैर्युद्धधीरैः। भवानित्यादरात्। स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्रापि तद्विवाहोत्सवे कथं हन्यात्? अपि तु हन्तुं नैवार्हतीत्यर्थः; अन्यथा शौर्य्ययशसोर्हानिः। तत्र श्लाघनीयेति गुणकीर्त्तनम्, भोजेति सम्बन्धः, भगिनीमित्यभेदः, कथं हन्यादिति स्त्रीवधनिवृत्त्या यशोलाभः, उद्वाहेति सन्ततिवृद्ध्योपकारः। श्लेषेण शूरैर्मल्लादिभिरेव, न तु पण्डितैः साधुभिर्वा कैश्चित्। भोजानां कतिपयानां केषाञ्चिदेव यादवभेदानां यशस्करो न त्वन्येषाम्। यद्वा, भोजा भोगपरा भोजका वा देवान्नभोजिनो दुष्टास्त एव यशस्करा यशःख्यापका यस्येति ॥

३८—युक्तिभिः षट्श्लोक्या प्रबोधयन्नादौ मृत्योरपरिहार्य्यत्वमाह—मृत्युरिति। जन्मवतामिति यथा जन्म तथा मृत्युरप्यवश्यं भवेदिति भावः। अतएव देहेन सह जायत इति तदेव निर्द्धारितम्; तथा चोक्तम् (गी० २।२७) 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यादि। हे वीरेति सलालनसम्बोधनम्; श्लेषेण युद्धमात्रे समर्थ, न तु विचारादाविति। यद्वा, ननु मद्वीर्य्यान्मृत्युर्न प्रभविष्यति? तत्राह— वीरस्यापि देहेन सहेति; अतः प्राणिनां सर्वेषामपि ध्रुव एव मृत्युः। वा-शब्दाभ्यां पक्षयो-र्द्वयोरपि प्राधान्यं बोध्यते; वै एव, तत्प्रसिद्धमेवेत्यर्थः ॥

३९—ननु, सत्यं मृत्युर्भवितैव, किन्तु देहाभावेन भोगासिद्ध्या कञ्चित् कालं भोगार्थं देहरक्षा युक्तैव? तत्राह— देह इति। पञ्चत्वमिति पञ्चभूतैरारब्धत्वेन) विकारित्वात् पञ्चभूतात्मतापत्त्या तस्य मृत्युर्घटेतैवेति भावः। देहीति देहादिभिन्नत्वेन तस्य नाशो निरस्तः। देहान्तरप्राप्तौ हेतुः—कर्म्मानुग इति, कर्म्मणामवश्यभोग्यत्वात्। न च तत्र प्रयासोऽस्तीत्याह—अवशः, कर्म्मवशात् स्वत एव तत्सिद्धेरित्यर्थः। अनुत्यजत इत्यन्वयः, आत्मनेपदमार्षम् ॥

४०—देहीति; अन्यथा मध्ये किञ्चिद्देहाभावेन देहित्वासिद्धेरिति भावः। सा च नैव घटेतेत्याह—कर्म्मगतिं गत इति ॥

४१—एतच्च स्वानुभवसिद्धमपीत्याशयेन दृष्टान्तान्तरमाह—स्वप्न इति। हि एव तदेव। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, ननु देहादात्मनो भिन्नत्वे सतीदं घटेतापि? तच्च न सम्भवति, मरणादौ कदाचिदप्यात्मनो भिन्नत्वानुपलम्भात्? तत्राह— स्वप्न इति। अर्थः स एव; स्वप्ने मनोरथे च स्वदेहाभिमानपरित्यागेन देहान्तराभिनिवेशेनात्मनो देहात् पृथक्त्वमुपलभ्यत एव, तथा मरणेऽपि ज्ञेयमिति भावः। एवं कर्म्मवशाद्देहान्तरं प्राप्यैव प्राक्तनं देहं त्याजतीति देहप्राप्तेरावश्यकता दृढीकृता ॥

---

१. द्वाभ्यां (ख); २. अनुवर्ष्यम् (ख); ३. हे तातेति (ख, ग); ४. 'स्वमरणाद्यज्ञानाद्वा, ··· ··· देवतानामाकाशवाणीयं' इति टीकांशः ख-करलिपेः पाठः, 'घ--ङ' ग्रन्थयोर्नास्ति। ५. बोधयति (घ, ङ)।

४२—ननु, सत्यं भविता देहामात्रम्, किन्तु पुनर्मनुष्यदेहोऽतिदुर्घटः ? तत्राह—यतो यत इति । दैवेन चादितमिति—तदर्थं प्रयासान्तरं निरस्तम् । विकारात्मकमिति—मृत्युकालेऽप्यशान्तत्वमुक्तम् । माया भागवती, तया रचितेष्विति देहवैचित्री चोक्ता[1] । असौ अविवेकी देहादेर्भिन्नोऽपीति वा, प्रपद्यमानो मन्यमानः । मनुष्यदेहस्य प्राप्तौ तवेच्छा दृश्यते, तया च तत्प्रापकं दैवमनुमीयते; अतः सोऽप्ययत्नेन घटेतैवेति भावः ।

४३—ननु भवतु साधारणनरदेहः, राजदेहः सुदुर्लभः ? तत्राह—ज्योतिरिति । अदो निष्कम्पत्वेन ख-स्थितमपि स्वमाया स्वाविद्या, स्वस्मिन् श्रीभगवन्माया वा, तयैव रचितेष्विति मिथ्यात्वं बोधितम्; अन्यत् सर्वं तैर्व्याख्यातमेव । यद्वा, 'यतो यतः' इत्यनेनैव राजदेहप्राप्तिः साधिता । फलोन्मुखकर्म्मप्रेरित-मनोऽभिनिवेशेन मरणसमये राज्यभोगेच्छया, 'मरणे या मतिः सा गतिः' इत्यादि-न्यायेन पुरा[2] राजत्वसम्भवात् । ननु अस्तु नाम जन्मान्तरे राजदेहलाभः, तथापि गर्भे बाल्ये च सम्यग्विषयभोगासिद्धे रेतद्देहरक्षार्थं प्रयत्नो युक्त एव ? तत्राह—ज्योतिरिति । यथा जलादिषु प्रतिबिम्बं चन्द्रादिकं ज्योतिर्वायुवेगानुगतमेव सत् कम्पादियुक्तं प्रतीयते ,तथा गुणेषु विषयेषु रागानुवर्ती सन्नेव जीवो विशेषेण मुह्यति—इदमुपभुक्तमिदञ्च नेत्यादिचिन्तया विकलो भवति; अतो बाल्यादौ रागविशेषाभावात्तदानीं विषयोपभोगदुःखं न स्यात् , यथारागं विषयोपभोगेन सुखञ्चास्यादेवेत्यलं मृत्युप्रतीकारेणेति भावः ॥

अथवा,—(४२) ननु सत्यं देहो भावी, सदेष्टविषयभोगस्तु दुर्लभः ? तत्राह—यत इति । गुणेषु शब्दादिषु विषयेषु मध्ये यं यं प्रति मनो धावति, तं तं देही आप प्राप्तः,—निर्धार-विवक्षयातीत-निर्देशः—प्राप्नोत्येवेत्यर्थः । तत्र हेतुः—मायेति, तेषामपि मनोमयत्वादित्यर्थः अतो न तत्साधने प्रयासो ऽपीत्याह—प्रपद्यमानस्तं तं विषयमुपभुञ्जानस्तेन तेन विषयेण सहैव जायत इति बाल्यमारभ्यैव तत्तत्भोगसीद्धिरुक्ता ॥

(४३) ननु, तथापि वैदग्ध्यादिगुणान् विना तत्तद् भोगसुखं सम्यक् न स्यादतः सर्व्वगुणयुक्तोऽयं देहो यत्नाद्रक्ष्य एव ? तत्राह—ज्योतिरिति । मिथ्याभूतेष्वपि विषयेषु रागमात्रेणैव विमुह्यति—'अहो रूपमहो सौरभ्यमहो स्वादुता' इत्येवमासक्तिं याति, न तु विचारेणातस्तदर्थं भगिनीवधो नोपयुक्तइति भावः । अन्यत् समानम् ॥

४४—एवं श्रीकृष्ण-कथारम्भे मृत्योरावश्यकतायास्तथात्मनो विचित्रदेहप्राप्तेर्देहाद्भिन्नतायाश्च तथा विषयमायिकतादेश्च प्राक् प्रसंगः, तत्तज्ज्ञानं विना स्वहिताननुसन्धानेन श्रीभगवत्कथायामपि तस्यां रुच्यनुत्पत्तेरिति दिक् । एवमग्रेऽन्यत्रापि सर्वत्र तत्रैव तात्पर्य्यमुह्यम् । तथाविध उक्त जन्मादिप्रकारकः स पुमान्; यद्वा, द्रोहं नाचरेदित्यत्र हेतुः—यत आत्मनः क्षेमं निरन्तरमिच्छन् स द्रोग्धापि तथाविधो द्रुह्यमाणजनसदृशः, निजदुःखानुमानेनान्यस्यापि दुःखदर्शनादित्यर्थः । एवं कृपामुत्पादयति; यद्वा, सोऽपि तथाविधो द्रुग्धः स्यात्; तत्र हेतुमाह—द्रोग्धुरिति ः एवं दृष्टादृष्ट-भयप्रदर्शनेन द्विविधो भेदः ॥

४५—अत्युग्रे सस्तुति[3] सामैवोचितमिति पुनस्तदेवाह—एषेति नवोढा; कृपणा दीनस्वभावा भयेन रोदनादिपरेत्यर्थः । पुत्रिकोपमा तव पुत्रीतुल्या इति स्नेहं जनयति; यद्वा, पुत्तलिकासदृशी भद्राभद्रानभिज्ञेत्यर्थः; अतएव कल्याणीं निरपराधामित्यर्थः—विशेषणानामेषामुत्तरोत्तरकल्याणीत्वे श्रैष्ठ्यमुह्यम् । दीनवत्सल इति श्लेषेण दीनं मृतप्रायं वत्समेव लाति विप्रेभ्यो ददाति; किंवा, दीनादपि वत्समपि लाति गृह्णातीति निन्दैव ॥

४६—भेदैरिति बहुत्वम्,—मृत्युसूचनेन भेदस्य गौरवात्; यद्वा, एवमुक्तसदृशैरन्यैश्चेति ज्ञेयम् । पुरुषमदन्तीति पुरुषादा राक्षसा अघादयस्तान्' भक्षकेषु सामादीनां वैयर्थ्यं युक्तमेवेति भावः । सामादिभिरप्यनिवृत्तेर्विस्मयेन सम्बोधयति—हे कौरवेति; यद्वा, कौरवो दुर्य्योधनस्तद्वद् स्वकुलनाशका ये पुरुषादास्तान् ॥

४७—तं हननार्थं निर्बन्धमाग्रहम्, कालं समयं मृत्युं वा प्रतिवोढुं वञ्चयितुमित्यर्थः । तत्र कालवञ्चने, किंवा तदानीं सद्य एवेत्यर्थः ॥

४८—अपोह्यः प्रतिकार्य्यः परिहार्य्यो वा, बुद्धिबलयोः किंवा बुद्धेर्बलं सामर्थ्यं तस्योदय उत्कर्षस्तदवधि । असौ कंसो मृत्युर्वा । अपराध उपेक्षादोषः । देहिन इति देहपरतन्त्रस्य जीवस्य ततोऽन्यत्रासक्तेः; किंवा देहाभिमानिनोऽपि देहसम्बन्धिजनरक्षया दोषो न स्यादिति भावः । तथा चोक्तम्,—'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोष' इति ॥

४९—पुत्रान् अष्टमेतरान् सर्वानपि प्रकर्षेण दत्त्वा जातमात्रेणैव[4] साक्षात् सुखमर्पयित्वा, मृत्यव इति तस्य साक्षान्मृत्युरूपत्वात्; यद्वा, तं प्रति प्रदानेन सद्यो मृत्युप्राप्तेः । कृपणामिति प्रागुदीनजनरक्षोचितेति भावः । सुता इत्यष्टमो गर्भ इत्याकाशवाण्या पुत्राष्टकत्वात् । अयञ्च गूढो भावः—यद्येको द्वौ वा जायेते, तदाष्टमपुत्रत्वाभावेन युक्त्या तस्य शंकां निरस्य रक्ष्यावपि स्याताम्; यद्वा, बाहुल्याभावेन पुत्रानिति बहुपुत्रसमर्पणप्रतिज्ञाया हानिरपि छलेन सह्या स्यादिति विपर्य्ययोऽपि सम्भवेदित्यर्थः ।

१. प्रोक्ता (ग); २. पुनः (ग); ३. संस्तुति— (घ ङ); ४. ज्ञातमात्रेणैव (ख), जातमात्राणेव (ग);

यत उपस्थितोऽपि[1] मृत्युः श्रीमार्कण्डेयाजामिल-सत्यवदादीनां निवर्त्तते, निवृत्तोऽपि कुश-नमुचि-हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां पुनरापतेत्; यतो धातुरीश्वरस्य गतिरिच्छा दुरत्ययानतिक्रम्या दुर्ज्ञेया वेत्यर्थः ॥

५० ५१—हि एवमेव जन्तोः प्राणिमात्रस्यापि हेतुरदृष्टं दुर्विभाव्यः केनादृष्टेन कस्य कदा किं स्यात्तत्तर्कयितुमशक्य-मित्यर्थः। अत्र संयोगस्योक्तिर्दृष्टान्तत्वेन, किंवा सामान्यतोऽदृष्टस्य स्वभाव-बोधनार्थमिति कर्मशक्तेर्दुर्वितर्क्यतया मद्बालकादप्यस्य मृत्युः सम्भवेदेवेति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, एवमेव जन्तोरप्यदृष्टतोऽन्यन्मरण—जीवनयोः कारणं नास्त्येवेत्यर्थः। अतः कंसस्याशुभादहृष्टान्मरणम्, मत्पुत्रस्य च शुभाज्जीवनमेवेति भावः;—अन्यथा (भा० १०।१।३४) 'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता' इति देववाक्यवैयर्थ्यापत्तेः[2] ॥

५२—पापमपि बहुलादरपूर्वकं पूजयामास स्तुत्यादिना सम्मानितवान् ॥

५३ - ततश्च क्रूरं निर्दयमपि तं पुनरब्रवीत्। प्रत्यग्रवदनाम्भोजः सद्यो विकसितपद्मवत् प्रसन्नमुखः सन् प्रहसन्; 'प्रसार्य्य वदनाम्भोजम्' इति पाठः स्पष्टः। विश्वासाय तं प्रत्यात्मनोऽन्तःप्रसादो बोधितः, वस्तुतस्तु दूयमानेन मनसा विशिष्टः॥

५४—सौम्य! हे शान्तप्रकृते! अन्तःप्रसादबोधनार्थमेव पूर्ववदत्र श्लेषार्थोऽपि न स्पष्टः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, यतो यस्या वाचः सकाशात् सा यथाह, तथा तेन हि भयमस्ति, किन्त्वष्टमपुत्रादेव; तथापि तव हितार्थं तमेकमर्पयिष्यामीति किम्, अपि तु सर्व्वानपि सम्यक्स्नेहादि-परित्यागेन स्वयमेव सद्योऽर्पयिष्यामीति दुष्टकंस-सन्तोषार्थमुक्तम्।

५५—सुहृदो भगिन्या वधात्, सुहृदिति पितृव्य-पुत्रीत्वेन भगिनीत्वस्यातिनैकट्यबोधनार्थम्। श्लेषेण, शोभनहृदयेति, तस्या अपि निर्म्मलचित्तत्वेनाकापट्यमालक्ष्य वधान्निवृत्त इति भावः। किञ्च, तद्वधान्निवृत्त्या सुहृदामन्येषामपि वधान्निवृत्त इति सूचयति,—तस्यां सर्व्वेषामेव स्नेहभरेण तद्वधे तेषामपि वधप्रसक्तेः, किंवा देवकादिभिः सह युद्धापत्त्या तेषां वधासम्भवात्। तद्वाक्येति तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, तद्वाक्यस्य सार अन्तरोऽर्थभागस्तं विचारयन्, सारग्राही कृपाशीलोऽसीत्येवं स्तुत्वा, प्रकर्षेण गीत-वाद्यादिनाविशत्। इदमपि तद्विश्वासजननार्थमेव, अपिशब्दात् कंसोऽपि, पथि तस्मात् स्थानादेव निवृत्तः स्वगृहं प्रविष्ट इति।

५६—अथेति माँगल्ये; काल उपावृत्ते कतिपयकाले गते सतीत्यर्थः, (वि०पु० ५।२०।४४) 'युवेव वसुदेवोऽभूद्विहायाभ्यागतां जराम्' इत्यादि-श्रीविष्णुपुराणोक्तेः; 'वृद्धौ तवाद्य पितरौ' इत्यादि-श्रीहरिवंशोक्तेश्चानुसारेण प्रायो वार्द्धक्यान्तिके श्रीभगवदाविर्भावात; सा सर्व्वस्य देवता पूज्येत्यर्थः। कन्यां सुभद्राम्। अनुवत्सरमेव प्रत्यब्दमेकैकश इत्यर्थः; तच्च सत्वरमेव श्रीभगवदवतारार्थम् ॥

५७—कीर्त्तिमन्तमिति पूर्व्वजन्मनि स्मरः कीर्त्तिमांश्चेति नामद्वयं तस्यासीदित्यूह्यम् यद्वा, जातमात्रस्यैव देशाचारेण गणकादि-कृतं तन्नामेति। स कृत-प्रतिज्ञोऽतिविह्वलः परमभीतः ॥

५८—नु वितर्के; किं दुःसहमपि तु सर्व्वमेव सुखेन सह्यमित्यर्थः। एवमग्रेऽपि, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा साधूनां सर्व्वसहत्व-दार्ढ्यार्थं विदुषामित्यादिकं दृष्टान्ततया ज्ञेयम्। यद्वा, कृच्छ्रेणेत्युक्तम्[3]। ननु तादृशं दुःखं कथं सोढम्? तत्राह—किं दुःसहमिति। ननु, ततो देशान्तरं किं न गतः? तत्राह—विदुषां श्रीमथुरामाहात्म्यं किंवा तस्यां भावि-भगवदवतारं जानतां ततोऽन्यत्रापेक्षा नास्तीत्यर्थः। न च मन्तव्यम्—तेन स्वगृहं त्यक्तुं न शक्यत इति; यतो धृतात्मनाम्—संयतचित्तानां गृहाद्यासक्तिरहितानामित्यर्थः—किं दुस्त्यजम्? यथा कदर्य्याणां। कुत्सिताचाराणां किमप्यकृत्यं नास्तीत्यर्थः। यद्वा, ननु श्रीदेवकीहस्तेन कुतो नार्पयत्? पुनस्तद्वधशंकयेत्याह—किमकार्य्यमिति॥

५९—समत्वं पुत्रार्पणेन शत्रौ मित्रे च तुल्यताम्; "अममत्वम्' इति पाठे पुत्रस्नेहत्यागम्। सत्ये सत्यवाक्ये च—काराद्धैर्य्ये च। एव अपि, व्यवस्थितिं परमनिष्ठामपि तुष्टमनस्त्वादेव प्रकर्षेण हसन्; हे राजन्नित्याश्चर्य्येण सम्बोधनम्; यद्वा, राजमानः सन्, विशेषणानामेषां यथोत्तरं हेतुमत्तोह्या ॥

६०—हि ततोऽस्मादभयं मम न विद्यते; 'अस्ति मे' इति पाठः स्पष्टः। तत्र हेतुमाह—अष्टमादिति। युवयोरित्यन्यस्यां जातोऽपि व्यावर्त्तितः। विहितो विधात्रा। किलेत्याकाशवाण्याः प्रसिद्धं द्योतयति ॥

६१—यथोच्यते तथेति; किंवा एवमस्त्वित्युक्त्वेत्यर्थः। नामानन्दत न प्रतीयाय। कुतः? असतः खलस्याविश्वसनी-यस्येत्यर्थः; यतोऽविजितात्मनोऽस्थिरचित्तस्येत्यर्थः ॥

६२-६४— व्रजेत्वधिकारवर्त्तिनि श्रीमाथुरगोष्ठे अन्यत्रतया व्यवच्छिन्ना योषितः श्रीयशोदाद्याः,—तन्नामाग्रहणं गौरवात्; द्वितीय-च-कारेण तत्पुत्र-भृत्यादयः; देवताशब्देन श्रीभगवत्पार्षदा अप्युक्ताः; प्रायशब्दस्तत्र केषाञ्चिद्दैत्यत्वात्। हे भारतेति यथा

१. यदुपस्थितोऽपि (घ, ङ); २. देववाक्यवैयर्थ्यापत्तिः (क, ग)। ३. कृपणेत्युक्तम् (क, ग, घ, ङ)॥

भरतवंशे भवत्पितामहादयो देवता इति भावः। भोजादयस्तदीया अपि सर्वे देवता-प्राया इत्याह—कंसं प्रति अनुव्रता भक्ताः, ज्ञातयः सपिण्डाः, बन्धवः सम्बन्धिनः, सुहृदो मित्राणि; भगवान् सर्व्वज्ञः,—कंसस्य शान्त्या शीघ्रं श्रीभगवदवतारो न स्यात्, न च तस्य पित्रोः सुखपूर्वकं गोकुले गमनम्, नापि पूतनावधादिविचित्रलीला सम्भवेदित्यादिकं चिन्तयन्नित्यर्थः; यद्वा, परम-दयालुरित्यर्थः, शीघ्रं श्रीभगवदवतारकारणोत्थापनेन जगतामेव हिताचरणात्। अतस्तं प्रत्यसूया न कार्य्येति भावः। संशयामास स्वार्थे इण् शशंस। तद्विशेषश्च श्रीहरिवंशे (विष्णु–पु० १।२-९,१३,१५) —

'त्रिविष्टपादापतितो मथुरोपवने स्थितः। प्रेषयामास कंसाय स दूतं मुनिपुंगवः॥
स दूतः कथयामास नारदागमनं नृपे। स नारदस्यागमनं श्रुत्वा त्वरितविक्रमः॥
निर्जगामासुरः कंसः स्वपुर्य्याः पद्मलोचनः। स ददर्शातिथिं श्लाघ्यं देवर्षिं वीतकल्मषम्॥
तेजसा ज्वलनाकारं वपुषा सूर्य्यवर्च्चसम्। सोऽभिवाद्यर्षये तस्मै पूजां चक्रे यथाविधि॥
आसनञ्चाग्निवर्णाभं विसृज्योपजहार[1] सः। निषसादासने तस्मिन् स वै शक्र-सखो मुनिः॥
उवाच चोग्रसेनस्य सुतं परमकोपनम्। पूजितोऽहं त्वया वीर! विधिदृष्टेन कर्म्मणा॥
गते त्वेवं मम वचः श्रूयतां गृह्यताञ्च वै। अनुसृत्य दिवो लोकानहं ब्रह्म-पुरोगमान्॥
गतः सूर्य्यसखं तात! विपुलं मेरुपर्वतम्। सोऽहं कदाचिद्देवानां समाजे मेरुमुद्धनि॥
संगृह्य वीणां संसक्तामगच्छं ब्रह्मणः सभाम्। तत्र मन्त्रयतामेवं देवतानां मया श्रुतः।
भवतः सानुगस्येह वधोपायः सुदारुणः॥' इति॥

६५–६६(६५)—विशेषेण पुनर्नेतिशंकापगमादिना पुरीतो निर्गमे सति। अस्य परश्लोक-पूर्वार्द्धे नान्वयः। ऋषेः साक्षा-न्निग्रहे लज्जाद्युत्पत्तेः, किंवा तेन तन्निवारणस्य शंकया; मत्वा ज्ञात्वा; स्वस्य कंसस्य वधं प्रति तदर्थं विष्णुञ्च देवक्या गर्भे सम्यक् सर्वैश्वर्य्यपरिपूर्णतया भूतमाविर्भूतं विष्णुं प्रवेशनशीलमिति श्रीदेवकीगर्भे प्रवेशः सम्भावितः,—भविष्यत्यपि[2] भूतनिर्देशः सामीप्यात्तन्निर्द्धाराद्वा; यद्वा, गर्भे सम्भूतं सम्भूतिर्यस्य तं मत्वा सम्भूतिमिति पाठोऽपि क्वचित्। तज्ज्ञानं श्रीनारदवचनादपि, तथा च तत्रैव हरिवंशे, (विष्णु-पु० १।१६-१९)—

'तत्रैषा देवकी या ते मथुरायां पितृष्वसा। योऽस्या गर्भोऽष्टमः कंसः स ते मृत्युर्भविष्यति॥
देवानाञ्चैव सर्वस्वं त्रिदिवस्य गतिश्च सः। परं रहस्यं देवानां स ते मृत्युर्भविष्यति॥
परतोऽपि परस्तेषां स्वयम्भूश्च दिवौकसाम्। ततस्त्वेतन्महद्भूतं दिव्यं ते कथयाम्यहम्॥

तत्र पितृष्वसेति पितृसम्बन्धेन स्वसेत्यर्थः। देवकजनकेनाहुकेन पौत्री देवकी स्वपुत्रीत्वेन पालितेति केचित्॥

६६—निगृह्य बद्ध्वा निजगृहे। अजनेति जीववज्जन्मरहितस्यापि प्राकृतजन्मशंकयेति कंसस्य मौढ्यं सूचितम्। किं वा अजनाद् या शंका भयं तया॥

६७—ननु, बालान् घ्नन् कंसः कथं न लज्जते? तत्राह मातरमिति। मात्रादीनां यथोत्तरं स्निग्धत्वे न्यूनता, मातरमपि घ्नन्ति, किमुत पितरमित्येवं कैमुतिक-न्यायमवतार्य्य व्याख्येयम्। हि निश्चये, यतोऽसून् निजप्राणानेव तर्पयन्तीत्यसुतृपो राज्यादि-लुब्धास्तदानीं भुवि वर्त्तमाना राजानो मात्रादिघातिन इत्यर्थः, तेन साधारण्यान्न लज्जते। प्रायश इति केचिद्भवादृशा एव न घ्नन्तीत्यर्थः॥

६८—इह भूतले श्रीमधुपुर्य्यां वा; अत एव सम्यक् जातमिति पूर्वजन्मत उत्कर्षः सूचितः। विष्णुना निजशक्त्या जगद्व्यापकेनेति हनने सामर्थ्यमुक्तम्। जानन्निति श्रीनारदवचनादेव; यद्वा, 'भूतपूर्वश्च तं स्मर' इति तदाशिषा पूर्वजन्मस्मरणात् स कंसो यदुभिः सह व्यरुध्यत महावैरं चक्रे॥

६९—न च केवलं तैः सह, स्वपित्रापीत्याह–उग्रेति। यद्वादीनामधिपमपि निगृह्य बद्ध्वातिक्रम्य वा स्वयं बुभुजे; यतो महद्बलं सामर्थ्यं दैत्यसेना वा यस्य सः। कुकुरादिबहुभेदेषु सत्स्वपि यद्वादीनामेवोक्तिः प्राधान्यापेक्षया; भोजादीनां यदुत्वेऽपि पृथगुक्तिस्तत्ताख्याया तेषां पृथक् प्रसिद्धेः, शूरसेनानिति माथुरैः सह तेषामभेदान्माथुरा न पृथगुक्ताः॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रील-सनातनगोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

—:❀❀❀:—

१. विभज्योपजहार (ग, घ, ङ,)। २. भविष्यतामपि (घ)।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

१-२—प्रलम्बादिभिर्वृत इति द्वितीयेनान्वयः। असुररूपैर्भूपालैः, आदिशब्दात् साल्वादयः। कदनं पीडाम्। तैर्वृतत्वे हेतुः—बलीति। किञ्च, मागधो जरासन्धस्तदानीं सम्राट्, स आश्रयः श्वशुरत्वात् सहायो यस्य सः॥

३—नितरां निभृतं वा विविशुस्तत्र तत्र गतास्तत्तद्वेशादिनैक्यं प्राप्ता इत्यर्थः॥

४-५—एके केचिद्भक्तमुख्या वा अक्रूरादयोऽनुरुन्धाना आनुकूल्यमाचरन्तश्चातुर्य्येण वशीकुर्वन्तो वा; यद्वा, श्रीमधुपुर्य्यां स्थिताः—कंसे हते सद्योऽत्र श्रीकृष्णं द्रक्ष्यामो गोकुलक्रीडाञ्च तस्य नैकट्यात् सर्वां श्रोष्याम इत्यादिस्वार्थमपेक्षमाणा इत्यर्थः—एतच्चाग्रेऽक्रूरयाने व्यक्तं भावि। पर्युपासते सर्वतोभावेन सेवन्ते, समीपे वा तिष्ठन्ति, अतीते वर्त्तमाना तदविच्छेदात्। 'पर्युपासत' इति पाठो वा। 'जातं जातमहन्' इति पूर्वमुक्तम्; ते कति हता इत्यपेक्षायामाह—हतेष्विति। ते हि पुरा मरीचेः पुत्रा देवाः श्रीब्रह्मण्यपराधेनासुरत्वप्राप्त्या हिरण्यकशिपु-पुत्रात् कालनेमेरुत्पन्नाः षड्गर्भा इति ख्याताः; पिता सर्वान् वधिष्यतीति हिरण्यकशिपु-शापतः श्रीदेवकीगर्भे योगमाया-द्वारा श्रीभगवता नियोज्य तत्पितृ-कालनेम्यवतार-कंस-हस्तेन घातिता इत्यादिकमत्र श्रीहरिवंशाद्युक्तमनुसन्धेयम्; घातनञ्च तेषां विमुक्तय एवेत्यग्रेऽत्र पञ्चाशीतितमाध्याये व्यक्तं भावि। एवं तेषां हननेन श्रीभगवत्कृतोपेक्षापि परिहृता स्यादिति दिक्। औग्रसेनिनेति हतानां भागिनेयत्वबोधनेन कंसस्य महाक्रूरत्वं सूचयति। अनन्तं संकर्षणं चतुर्व्यूहद्वितीयं प्रचक्षते वदन्त्यभिज्ञाः॥

६—अपि-शब्दः पूर्व्वोक्त-क्षीरोदशाय्यपेक्षया; विश्वस्यात्मा व्यापकोऽतो विदित्वा; यद्वा, अन्तर्यामी यदूनां भयं विदित्वा निवेदनं विनापि तद्भयनिरासार्थमित्यर्थः, सम्यक् प्रोत्साहनादिपूर्व्वकमादिशत्। कुतः ? निजः स्वयमेव नाथः, किंवा निजाः श्रीवसुदेवादयो नाथा येषां तेषां भक्तवात्सल्यादिति भावः यद्वा, विश्वस्यात्मा प्रभुरिति योगमायां प्रति समादेशे हेतुः, तस्या अपि तदधीनत्वात्—योगो भगवच्छक्तिविशेषः, स एव श्रीब्रह्मादीनामपि मोहनान्माया, ताम्॥

७—देवि हे जगत्पूज्ये ! भद्रे हे सर्व्वमंगले ! एतत् सर्व्वं तस्याः प्रोत्साहनार्थम्; यद्वा, तत्र गमने योग्यतोक्ता; पुनर्विशेषेण प्रोत्साहयति किञ्च, नन्दयति जगदिति नन्दस्तस्य गोकुले आवासे अन्या वसुदेवभार्य्याः कंसात् सम्यक् विग्ना भीताः; हि निश्चितम्॥

८—गर्भं भ्रूणं शेषाख्यं संकर्षणाभिधं धाम रूपमेकं सम्यगलक्षितं सुखपूर्व्वकञ्च विकृष्य। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, ननु शेषाख्यश्चेत् तर्हि कंसभयाभावात् किमर्थं तथा कार्यम् ? तत्राह—मामकं धाम आश्रयः; यद्वा, तद्धाम गोकुलं प्रति, तेन विना तत्र मम क्रीडासुखासम्पत्तेरिति भावः॥

९—अथानन्तरमेवेति देवकी-पुत्रत्वप्राप्तौ त्वरात् बोधयति। एवं श्रीबलरामस्यात्यल्पकालमेवाग्रजत्वं ज्ञेयम्; तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। अंशेति तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, अंशानां श्रीब्रह्मादीनां भागधेयेन हेतुना। ननु शेषाकर्षणे यशोदायां जन्मनि च मम का योग्यतेत्यपेक्षायामाह—शुभे ! हे सर्वोत्तमे। मत्प्रभावादुत्तमत्व-सिद्ध्या योग्या भूया इत्यर्थः। एवं तां प्रति वर-प्रदानं ज्ञेयम्; अतएव तया श्रीनन्दादिमोहनं वक्ष्यति; यद्वा, हे भाग्यवति ! अतो यशोदायां भविष्यसि; यशोदायामिति तेन तव यशः। नन्दपत्न्यामित्यानन्दश्च भवितेति भावः॥

१०—१२—तदेवाभिव्यञ्जयति- अर्चिष्यन्तीति त्रिभिः। पूजयिष्यन्ति मनुष्या इति प्रायस्तेषामेव[1] सकामत्वात् धर्म्मेऽधिकाराच्च। सर्व्वेति तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, सर्व्वकामान् ये वृण्वन्ति, तेषां सेव्यामित्यर्थः। तत्र हेतुः-सर्व्वेति। इत्यादिकञ्च तां प्रति प्रसादवर[2] एव। तथा च श्रीहरिवंशे, (विष्णु-पु० २।३० —'प्रसादं ते करिष्यामि मत्प्रभावसमं भुवि। येन सर्व्वस्य लोकस्य देवि ! देवी भविष्यसि॥' इति कुर्व्वन्ति करिष्यन्ति भुवि वर्त्तमानाः सर्व्वेऽपीत्यर्थः। दुर्गादिनाभान्यर्च्चकानां भावभेदेन तत्तत्कामापेक्षया; किंवा स्थानभेदेन तत्र तत्र तत्तदाख्यया प्रसिद्धेः; तत्र च क्वापि नामैकम्, कुत्रापि द्वे, क्वचिच्च बहूनीत्येतदभिप्रायेण तत्र तत्रेति शब्दप्रयोगः। चकाराश्च सर्व्वेषामेव प्राधान्यबोधनार्थमिति॥

१३—श्रीगोकुलसम्बन्धेन तस्यापि माहात्म्यमुद्देक्ष्यतीति संकर्षण-(जन्म) प्रयोजनान्तरमाह—गर्भेति। वै एव; गर्भतः संकर्षणादेव, न तु शेषत्वादिना प्रलयादौ जगदाकर्षणादित्यर्थः। गर्भसंकर्षणादेव गोकुलप्राप्त्या सर्व्वलोकानां रमणात्, तथैव बलस्योच्छ्रयाद्यधिक्यात्॥

१४—भगवता परमेश्वरेणेति तदादेशप्रतिग्रहे हेतुः। परिक्रम्य तदादिष्टसंसिद्धये तं प्रदक्षिणीकृत्य तद्भगवद्वचो यथादिष्टं तथैव, न तु किञ्चित्तद्व्यभिचारेणेत्यर्थः॥

---

१. तेषामपि (ग); २. प्रसाद (ग)।

१५—योगमायैव योगनिद्रा निद्रावत् सकललोकबोधहरणात्तया प्रकर्षेण नीत इति देवक्या दुःखादिकं रोहिण्याश्च विस्मयादिकं गोकुलादिवासिनाञ्च तज्ज्ञानादिकं किमपि नाभूदिति बोधितम्। अत्र च श्रीहरिवंशाद्युक्तानुसारेणैवं ज्ञेयम्—प्रागेव श्रीवसुदेवाहित-गर्भायां श्रीरोहिण्याः पश्चाद्गोकुलं गतायाः सप्तमे मासि तं गर्भमपसार्य देवकीजठरात् सप्तमासकं गर्भम-लक्षितमाकृष्य* श्रीरोहिण्युदरं नीत इति। तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु—पु० २।३१) योगनिद्रां प्रति श्रीभगवदुक्तौ,—'सप्तमो देवकीगर्भो योंऽशः सौम्यो ममाग्रजः। स संक्रामयितव्यस्ते सप्तमे मासि रोहिणीम्॥" इति।"

तन्नयनप्रकारविशेषश्च तत्रैव (हरिवंशे विष्णु—पु० ४।३-६)—

'सार्द्धरात्रे स्थितं गर्भं पातयन्ती'[1] रजस्वला। निद्रया सहसाविष्टा पपात धरणीतले॥
सा स्वप्नमिव तं दृष्ट्वा स्वगर्भे गर्भमाहितम्। अपश्यन्ति च तं गर्भं मुहूर्त्तं व्यथिताभवत्॥
तामाह निद्रासंविग्नां नैशे तमसि रोहिणीम्। कर्षणेनास्य गर्भस्य स्व-गर्भे चाहितस्य वै॥
संकर्षणो नाम शुभे! तव पुत्रो भविष्यति॥' इत्यादि।

अहो आश्चर्ये खेदे वा, देवक्या गर्भो विस्रंसितो विस्रस्तः कंसभयादिति शेषः, तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।१।७३)—'सप्तमो भोजराजस्य भयाद्रोधोपरोधतः। देवक्याः पतितो गर्भ इति लोको वदिष्यति' इति। यद्वा, कंसेनैव केनचिदुपायेन पातित इत्यर्थः। व्यक्ततया तदनुक्तिस्तेषां तद्भयात्। विचुक्रुशुरुच्चैरार्त्तस्वरेण जजल्पुर्विलेपुरिति वा॥

१६—विश्वस्यात्मा प्रभुरपि भक्तानामेवाभयंकरः; यद्वा, विश्वान्तर्यामितया सदा तस्मिन् वर्त्तमानोऽपि तदानीं तच्चित्ते भावविशेषेण पर्यस्फुरदित्यर्थः। तत्र च सर्वैश्वर्यपरिपूर्णतयेत्यभिप्रायेणाह—भगवानिति। एतदाद्यपद्यार्थं सर्वसम्मतं न स्यात्॥

१७ - पौरुषं धाम श्रीभगवत्तेजो मनसि श्रीभगवदावेशेन तत्तेजोऽभिव्यक्तेः; यद्वा, धाम प्रादुर्भावं प्रभावं वा; तथा च विश्वः—'धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति। दुरासदो निकटे गन्तुमशक्यश्चक्षुराद्यग्राह्यो वा; अतएवातिदुर्द्धर्षोऽभिभवितुमशक्यः सम्यक् बभूव। ह स्फुटम्॥

१८—शूरस्य सुतेनेति श्लेषेण तत्र तस्य सामर्थ्यमुक्तम्। देवी देवकीति श्लेषेण तस्या अपि तद्धारणयोग्यतोक्ता। सर्वात्मकमप्यात्मभूतमात्मनि प्रादुर्भूतं पुत्ररूपतया दधारेत्यर्थः। भगवन्तमिति शेषः; अच्युतांशमित्यस्य च द्वितीयव्याख्ययेदमेव पदं विशेष्यं ज्ञेयम्। आनन्दयन्तीत्यानन्दाः करा यस्य चन्द्रस्य तममृतरश्मित्वात्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, न च्युता अंशा यस्य तं सर्वांशपरिपूर्णं भगवन्तमित्यर्थः। समाहितं साक्षादर्पितवत् प्रकाशितम्। हर्षशोकविवर्द्धन इति पूर्वं शोकोऽप्युक्तः। अधुना च परमानन्द एव जात इत्याह—सर्वेषामात्मनां जीवानां कं सुखं यस्मात्तम्। कुतः? आत्मभूतं परमात्मरूपं परमप्रियत्वा-दित्यर्थः। यद्वा, न च योगिनामिव तद्धारणे यत्न इत्याह—आत्मना भूतं समाहितं सत् स्वयमेवाविर्भूतमित्यर्थः॥

१९—सर्वजगतो निवास आश्रयः श्रीकृष्णस्तस्य निवासभूता परमाश्रयत्वं प्राप्तेत्यर्थः। किञ्च, देवकी साक्षाद्भगवन्मातृ तयावतीर्णेत्यर्थ इति भाग्यविशेषेण परमशोभायोग्यतोक्ता; तथापि न रेजे नाशोभत। अग्निशिखायाः स्वसुखाभावाद्दृष्टान्ता-न्तरमाह—सरस्वतीति, वेदशास्त्ररूपा। ज्ञाने खले वञ्चकः परस्मिंस्तदप्रकाशक इत्यर्थः, तस्मिन् जने तस्यात्मसुखं सतीत्वेन ज्ञान-खलेऽपि स्वतो बहुधोल्लासात्। भोजेन्द्रगेहे न ज्ञानखलस्य साम्यं बोधनमात्रत्वापेक्षया। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, ज्ञानखलः परोपतापार्थं शास्त्रज्ञानपरस्तस्मिन् कथञ्चित् प्राप्तोत्तमा सरस्वती यथा न रेजे आधारदोषात्तद्वदित्यर्थः। श्लेषेण भोजयन्तीति भोजाः सूदास्तेषामिन्द्रः श्रेष्ठस्तस्य गेहे महानसे भस्मादिभी रुद्धा ज्वलदग्निशिखान्येषामुपकारमकुर्वाणा यथा न रेजे इति तस्य दुष्टत्वाभावाद्दृष्टान्तान्तरम्। अथवा भोजेन्द्रगेहे रुद्धापि नितरां न रेजे किम्?—काक्वा, अपि तु नितरां रराजैवेत्यर्थः; यतः सर्वेति साक्षाद्भगवत्समाधिष्ठितेत्यर्थः। रुद्धाप्यग्निशिखा यथा राजते, तथा तस्यां नितरां दीप्त्यभावेनान्यो दृष्टान्तः—सरस्वती पाण्डित्यरूपा सती सर्वोत्तमा ज्ञानस्य खले सूचके संकेतादिनैव प्रतिपादके यथा चातुर्यविशेषव्यञ्जनेन नितरां राजत एवेति॥

२०—वीक्ष्य साक्षाद्दृष्ट्वा प्रभयेत्यत्र विशेषः श्रीविष्णुपुराणे (५।२।५)—'न शेके देवकीं द्रष्टुं कश्चिदप्यतितेजसा। जाज्वल्यमानां तां द्रष्टुं मनांसि क्षोभमाययुः॥' इति। शुचि शुद्धं न तु पूर्ववत्तद्वञ्चनार्थं कपटं स्मितं यस्यास्तामाह। स्वचित्ते गुहां हृदयमुदरं वा; श्लेषेण मद्भयाद्गुप्तस्थानमाश्रितः, किं वा नागस्य मम हननार्थं हरिः सिंहो दरीं श्रित इति॥

२१—अद्याधुना, तत्राप्याशु, अयं स्वदेहरक्षार्थकः क्षणिकोऽपि वा सर्वकालं यश आदि हन्ति। स्त्रिया इत्यादेर्यथोत्तर-मवध्यत्वे यश आदेश्च यथोत्तरं तदपेक्ष्यत्वे श्रैष्ठ्यम्। यदर्थं वधस्तज्जीवनमपि हन्यादिति किं तेनेति भावः॥

२२—दिनानि कतिचिद्व्यज्जीव्यते, तदपि शुभम्, तत्राह—स इति तत्प्रत्यक्षतां तात्कालिकतां वा बोधयति; खलु वितर्के निश्चये वा। नृशंसितं हिंसा। मनुजाः सर्व एव मनुष्याः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, देहे अमृते जीवत्यपि सति, किं वा देहे सति मृते च सतीत्यर्थः॥

*. -श्रीरोहिण्याः पश्चाद्‌·······गर्भमलक्षितमाकृष्य' इति 'ख'—करलिप्यां प्राप्तम्, प्रकरणसंगतत्वाद्गृहीतञ्च।

१. पालयन्ती (ख)।

२३—इत्येवं विचारेण। भावादभिप्रायाच्चेष्टिताद्वा। स्वयमेव; न त्वन्येषां मन्त्रणादिना सम्यङ्निवृत्तः, न तु गर्भपातनादौ यत्नं चकारेत्यर्थः; यतः प्रभुस्तादृशविचारे समर्थः। यद्वा, स्वयमात्मनैव, न त्वन्यसम्मत्या प्रभुः प्रभुम्मन्य इत्यर्थः। हरेर्वैराद्यशेषदोषहरस्यापि; किं वा स्वगुणैः सर्वमनोहरस्यापि यद्वैवं तस्मिन् द्वेषस्तस्यानुबन्धोऽनुवर्त्तनम्, तं करोतीति तथाभूतः सन् तस्य हरेर्जन्म प्रतीक्षमाण आस्ते बभूवेत्यर्थः। वैरानुबन्धे च विशेषः श्रीहरिवंशे (विष्णु पु० २।४) सचिवान् प्रति कंसोक्तौ,—'मासान् वै पुष्यमासादीन् गणयन्तु मम स्त्रियः। परिणामे तु गर्भस्य शेषं ज्ञास्यामहे वयम् ॥' इति; अतएव तत्रैव हरिवंशे (विष्णु-पु० ४।८)—'यदर्थं सप्त ते गर्भाः कंसेन विनिपातिताः। तं तु गर्भं प्रयत्नेन ररक्षुस्तस्य मन्त्रिणः ॥' इति ॥

२४—चिन्तयन् अयमधुनैवाविर्भूय मां हनिष्यतीत्येवं भावयन्। हृषीकेशमिति सर्वेन्द्रियवृत्तौ परिस्फुरणेन हृषीकेशताभिव्यक्तेः। यद्यपि तन्मयत्वदर्शनं योगिनामपि सुदुर्ल्लभं प्रेमभक्तानामेव सम्पद्यते, तथापि तेषु परमानन्दमयत्वेनास्मिंश्च परमदुःखमयत्वेनेति सिद्धान्तः ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानः अधर्मे विक्रमं यथा न विहन्ति तथा किं घटनीयमित्यर्थः। गुरुमत्याः गुरुतरगर्भवत्या अनुकायं प्रतिशरीरम् ॥ २१ ॥ योऽत्यन्तेति अत्यन्तनृशंसितेन नृशंसचेष्टितेन वर्त्तते स एष जीवन् संपरेतः जीववर्जित देह इति देहात्माभिमानिनः पुरुषस्य अन्तकाले देहमात्रपर्यवसिते यशोमलं दोषप्रयुक्तम् अनुभूत्या तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २२–२४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिका

अर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानोऽयं हरिः मम विक्रमं यथा न विहन्ति तथात्र हरिविषये मे मयाऽधुना आशु किं करण्यं किं घटनीयं यद्येनां हन्मि तर्ह्यस्याः स्त्रियास्तत्रापि स्वसुर्भगिन्यास्तत्रापि गुरुमत्याः गुरुतरगर्भिण्या वधोऽयं यश आदीनि हन्ति क्षपयति अनुकूलमित्यायुर्विशेषणं अनुकायमितिपाठान्तरं तदा प्रतिशरीरं यश आदीनि हन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥ स गुरुमतीहन्ता स्वयं जीवन्नपि संपरेतः मृतप्रायः खलु यः पुमान् अत्यन्तनृशंसितेन क्रूरचेष्टितेन जीवेत वर्त्तेत तनुमानिनः देहात्माभिमानिनो देहे मृते नष्टे सति मनुजास्तं शपन्ति स चान्धन्तमः नरकं ध्रुवं नूनं गन्ता गमिष्यति ॥ २२ ॥ इतीत्थं घोरतमाद्भावाद्गुरुमतीवधोद्योगरूपात्स्वयं प्रभुस्तां हन्तुं समर्थोपि निवृत्तः ततः हरेर्जन्म प्रतीक्षमाणस्सन् वैरानुबन्धं वैराविच्छेदं कुर्वन्नास्ते आस ॥२३॥ आसनादिक्रियास्वपि हरिमेव चिन्तयमानः जगत्तन्मयं हृषीकेशमयं तत्प्रचुरमपश्यदित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्तु तव प्राणहरो हरिस्ततः किमत्राह–किमद्येति। अद्य मे मया तस्मिन् गर्भस्थिते हरौ घटनीयम् उपद्रवत्वेन कर्तव्यं तत्केन प्रकारेणेति चिन्त्यते तदप्याशु कर्तव्यं न कालः क्षेपणीयः, कुतो ऽत्राह, अर्थेति अधुना अहमर्थतन्त्रः प्रयोजनाधीन इति यत्तस्मात् कालो न क्षेपणीय इति तत्राह, यथेति। यथा अयमर्थतन्त्रः देवकार्यलक्षणप्रयोजनैकपरायणो गर्भस्थितो हरिः मम विक्रमजीवनलक्षणं न विहन्ति तथा झटिति करणीयमित्यर्थः। यथा अर्थतन्त्रः पुरुषः स्वविक्रमं न विहन्ति तथेति वा, ननु, तर्हि तद्वध एव श्रेयानिति तत्राह, स्त्रिय इति। अयं स्त्रियो वधो यशो हन्ति अस्त्वयशस्करस्ततः किं तत्राह, स्वसुरिति स्वसुर्वधः श्रियं हन्ति "जीवन्भद्राणि" इति वचनात्तदप्यस्त्विति तत्राह, गुरुमत्या इति गर्भिण्या वधोऽनुकूलं क्लृप्तमायुर्हरति अतो वधो न घटनीय इति भावः ॥२१॥ ननु लोके केषाञ्चित्क्रूरकर्मिणां दीर्घायुष्यदर्शनात्तवापि किं न स्यादित्यत आह-स एष इति। जीवन् परेतो जीवन्मृतो न केवलं क्रूरकर्मकर्तुरत्र जीवन्मृतमात्रम् अपि तु मृते पुरुषार्थसर्वस्वहानिः स्यादित्याह, देह इति। अभिमानिनो देहे मृते पञ्चत्वं प्राप्ते तं देहमन्वर्थकामौ पुरुषार्थौ नश्यतः साधकाभावात् हिशब्दोऽर्थकामावनुधर्मो नश्यतीति दर्शयति तमनुगौ स्वर्गादिशब्दवाच्यो लोको नश्यति साधकाभावात् देहमनुमानिनोऽमलं यशो नश्यति ध्रुवं तत्र न संशय इत्यर्थः। अर्थकामयश आदिनाशे गौर्दृष्टिर्ज्ञानं नश्यति तान्दृष्टिमनुमानिनः पुंसो ध्रुवं नित्यसुखानुभवलक्षणो गौर्मोक्षो नश्यतीति वा स्वतोऽनृतस्यापि कंसस्य एवम्विधं ज्ञानं सच्चेतनावेशादुपपद्यते इति क्षुद्रबाधानवकाशः "गौर्दृष्टिर्दीधितिः स्वर्गे" इति हलायुधः ॥ २२ ॥ भावात्कर्मणः "भावो लीला क्रिया चेष्टा" इति यादवः स्वयं प्रभुर्ज्ञानित्वाभिमानी स्वमनसैव समर्थम् इति वा वैरानुबन्धवित् वैरम् अनुबन्धं स्नेहं च वेत्तीति वैरमनुस्नेहं करोतीति वा "विद कृतौ" इतिधातुः अनेन निरन्तरतच्चिन्तया स्नेहस्तर्क्यते न तु तात्त्विकः स्वत एव प्रधानो द्वेष इति ध्वनयति निरन्तरवैरकृद्वा ॥ २३ ॥ तच्चिन्ताप्रकारं दर्शयति-आसीन इति। सम्विशन् शयानः हृषिरानन्दः स एव केशो यस्य स तथा तं यद्वा हृषीकाणामिन्द्रियाणामीश इति तत्तत्पदार्थस्य कृष्णात्मकत्वमाशङ्क्य तन्मयत्वम् ॥ २४–२५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आसीन इति येनान्ते स दोपोऽपि तद्रूपं यास्यतीति भावः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

प्रथमोऽध्यायः।

दशमक्रमसन्दर्भे सन्दर्भाणां समाहृतिः। क्रियते यन्निदेशेन स मेऽनन्यगतेर्गतिः ॥
उक्त्वा सर्गविसर्गादिलक्षणानि नवैव तु। दशमे दशमः कृष्ण आश्रयत्वेन कथ्यते ॥

१—अथ (भा.१।१।१२) "सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः। देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥" इति श्रीशौनकसूतसंवादे उपक्रान्तस्य श्रीकृष्णावतारप्रयोजनबीजस्य, (भा. १।८।३५) "श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन" इति पुनः कुन्तीस्तुतौ किञ्चिदङ्कुरितस्य (भा.९।२४।६१) "कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम्। अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः ॥" इति नवमान्ते पुनः पल्लवितस्य विस्तारं पुष्पफलावधिमवगमयितुं (भा०२।१०।२) दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह कीर्तनम्" इति सर्गविसर्गादिनवलक्षणकथनद्वाराश्रयस्य दशमस्य श्रीकृष्णस्य विशुद्ध्यर्थं सर्गादिप्रासङ्गिककथनम्, वस्तुतस्तु श्रीकृष्णावतारकथनमेव श्रीभागवतप्रतिपाद्यमिति पूर्वोक्तसर्वविस्मरणार्थम्॥ तत्र तत्रालंबुद्ध्या पुनः सम्यक् श्रीकृष्ण-चरितश्रवणादिकमेव कार्यमिति बोधयितुं च परीक्षिता यत् पृष्टं तद्दर्शयन्नाह,—श्रीराजोवाच–कथित इति। तत्र तत्रालंबुद्धिद्योतकं तावताहं कृतार्थो न स्याम्; यस्य कथनेन कृतार्थः स्याम् तत् कथयति क्त प्रत्ययध्वनिः। सूर्य्यसोमयोरिति वक्तव्ये सोमशब्दस्य प्रथमोपादानं यदुवंशमूलभूतत्वेन पूजार्थम्, न केवलं वंशविस्तार एव कथितः; उभयवंश्यानां राज्ञा परमाद्भुतं चरितमपि; तथा मे न तृप्तिर्जाता, श्रीकृष्णावतारं सम्यक् कथयेति वाक्यार्थः। उभयवंश्यानामित्यनेनैव रघुयदोश्चरितेऽप्यायाते ॥

२—यदोश्चेति पुनरुपादानं तेषामप्यधिको यदुर्यद्वंशे वसुदेवो जात इति यदोः पूजार्थम्। तत्र (भा.९।२४।३०) "वसुदेवं हरेः स्थानम्" इत्युक्तेस्तस्मात् स्वयं हरिरवततार। अतएव (भा.९।२३।१९-२०) "यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैर्विमुच्यते। यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः॥" इत्याशयेनाह—तत्रांशेनेत्यादि। तत्र यदोर्वंशे आंशेन अंशानां समूहेन; तस्य समूह इत्यण्। सर्वैरंशैरिति यावत्, अंशेन बलदेवेनेति वा। अथान्यथा (भा. ९।२४।५५) "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल" इति;—स्वयमेव किलेति शब्दैः (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति स्वयं शब्देनाप्यसङ्गतिः स्यात्॥ (३)

४—श्रीकृष्णगुणानुवादादेव विषयनिवृत्तिः स्यादित्याह,—निवृत्ततर्षैरुपगीयमानादित्यादि। आपशुघ्नात् पशुघ्नो व्याधः, तमभिव्याप्य, कः पुमान् उत्तमश्लोकगुणानुवादाद्विना विरज्येत्, विरक्तो भवतीत्यर्थः। तच्छ्रवणेनैव सर्वत्रालंबुद्धया हेयत्वेन सर्वं जानाति। पशुघ्नोऽपि विरज्यति, किं पुनर्विद्वान्? वक्ष्यति च (भा०१०।४७।१८) "यदनुचरितलीला कर्णपीयूष विप्रुट्, सकृददन-विधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः। सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥" इति; यद्वा, पशुघ्नात् विना को विरज्येत? पशुघ्नः कर्मनिष्ठः, स्वर्गादिलोभेन ये पशून् घ्नन्ति, त एव न विरज्यन्ति। यद्वा, अपगता शुक् येषां ते अपशुचो वैष्णवास्तान् हन्ति द्वेष्टीति अपशुघ्नो वैष्णवनिन्दकः, तं विना। गुणानुवादं विशिनष्टि,-निवृत्ततर्षैर्निस्पृहैरात्मा रामैरप्युपगीय-मानात्, उपाधिकतया गीयमानात् न तु गीतात्; भवौषधात् संसारव्याधिभेषजात्; श्रोत्रमनोऽभिरामादिति मुक्तमुमुक्षुरागिणामेवा-नुकूलात्। रागिणस्तु श्रोत्रमनोऽभिरामत्वेनैव पूर्वं शृण्वन्ति, पश्चाद्वस्तुमर्यादया श्रवणेनैव विषयेभ्यो विरज्यन्तीति भावः॥ (५,६)

७—अतस्तमेव श्रीकृष्णगुणानुवाद कुर्वित्याह—वीर्याणि तस्येत्यादि। तस्य श्रीकृष्णस्य वीर्याणि वदस्वेति। (पा०१।३।४७) 'ज्ञानयत्नोपच्छन्देषुवदः' इत्यात्मनेपदम्। यत्नपूर्वकं वदस्वेति भावः। हे स्वेति वा छेदः, स्व सर्वभूतात्मनामात्मन्? यन्मयतया (भा०१।२।२) "तरवोऽभिनेदुः" इत्युक्तत्वात् कीदृशस्य? मायामनुष्यस्य, माया स्वाभाविकी प्रकाशिका शक्तिस्तया मनुष्यस्य मनुष्याकृतेः— (भा०७।१०।४८,७।१५।७५) "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्युक्तेः। यद्वा, मा लक्ष्मीः शोभा तस्या या प्राप्तिस्तया मनुष्याकृतेः, शोभालम्भेनैव मनुष्यत्वम्, न तु वास्तवं तस्येत्यर्थः। माया लक्ष्म्याः शोभायाः हेतोरिति पञ्चमी वा। पुनः कीदृशस्य? अखिलदेहभाजामन्तर्बहिर्वर्त्तमानस्येति यावत्। पुरुषकालरूपैर्मृत्युम्, अमृतं मोक्षमानन्दञ्च प्रयच्छतः,—मृतञ्च अमृतञ्चेत्येकशेषः; पुनरेकवचनम्। कालशक्त्या मृत्युम्, पुरुषरूपेण श्रीनारायणेन मोक्षम्, रूपेण स्वरूपेण तमालश्यामलवंशीविलासरूपेण। आनन्दमिति एकशेषः कृत्वा यथासंख्यं योजनीयम्। अथो हे पुरुष! हे विद्वन्!-इति सम्बोधनद्वयमेव; पुरुषेति सम्बोधनेन पौरुषत्वं व्यज्यते। तत्तु उपदेशेन परनिस्तारकत्वम्, विद्वत्ता च भगवत्परायणताद्वयं त्वय्येवास्तीति भावः। कालरूपैः कालस्य श्याममहसो रूपैर्नानाविधैस्तरङ्गैर्मृत्युसमृतमानन्दञ्च प्रयच्छतः'—अदर्शनेन मृत्युम्, दर्शनेनामृतम्। अथवा अखिलदेहभाजां मध्ये अन्तः— अन्तरङ्गाणां सुहृदाममृतं प्रयच्छतः, बहिः—बहिरङ्गाणां दैत्यानां मृत्युम्। कैः? कालरूपैः, कालरूपाभ्यां कालशक्त्या मृत्युम्, रूपशक्त्या अमृतं यथायोगं योज्यम् (गी०११।३२) 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्, इति स्वोक्तेः, 'कालरूपान्वमोदत' इत्युक्तेश्च। अथवा पुरुषकालरूपैरिति पूर्ववदेव पुरुषाः— स्वजना यादवादयः कालः कालशक्तिश्च, तैः; बहिरङ्गाणां मृत्युम्, रूपेणान्तरङ्गाणाममृतमिति पाण्डवानामन्तरङ्गत्वं कुरूणां बहिरङ्गत्वं मनसि कृत्वा तत्तत्परिणामस्फूर्त्या निरुक्तिः॥ (८)

९—वीर्याणि वदस्वेत्युक्त्वा किमयमामूलतः कथयति, न वेति शङ्कमानः स्वयमामूलतः पृच्छति—कस्मादित्यादि। मुकुन्दो भगवान् कस्माद्धेतोः पितुर्वसुदेवस्य गेहाद्व्रजं गतः, व्रजगतश्चेत्तदा पुनः क्व वा ज्ञातिभिर्यदुभिः साकं वासं कृतवानिति

व्रजमथुराद्वारकाविलासा एव कथनीयत्वेन पृष्टाः। सात्वतां पतिरिति सन् श्रीकृष्णः स उपास्यत्वेन वर्तते येषां ते सत्वन्तो वैष्णवाः, तेषां मतं सात्वतम् (पा० ४।३।१२०) 'तस्येदम्' इत्यण् तदाचष्टे इति णिजन्तात् क्विपि कृते सात्वदिति स्थितेस्तेषां सात्वताम्, सात्वतमतव्याख्यातॄणां पतिः पालकः ।। १० ।।

११—आमूलतः पृष्ट्वा कियदवधि पृथिव्यवस्थानं च पृच्छति—देहं मानुषमास्थायेत्यादि। मानुषं देहमास्थाय स्थितैर्वृष्णिभिः सह यदुपुर्यां मथुरायां द्वारकायां वा अवात्सीत्; कति वा पत्न्यश्चाभवन्, तन्मे कथयेत्यर्थः। स्थितैरित्यध्याहार्यम्। तेन च वृष्णीनां देवत्वम् न मानुषत्वमिति व्यङ्ग्यम्, (भा १०।१।२२) "यदुषूपजन्यताम्" इति वक्ष्यमाणत्वात्। मानुषं देहं राजकन्याभावेन मानुषीं तनुमाश्रित्य पत्न्यो वा कत्यभवन्निति वान्वयः। तेन च तासां सर्वासां लक्ष्मीत्वमायातम् ।।

१२—स उपसंहरति,—एतदन्यच्चेत्यादि। एतदिति यद्यत् पृष्टम् अन्यदिति यदपृष्टं वा। ननु कथमहं सर्वमेव ज्ञास्यामि? तत्राह—सर्वज्ञः, अत एवार्हसि। श्रवणे स्वस्य योग्यतां दर्शयति,—श्रद्दधानायेति। अतएव विस्तृतं यथा स्यात् ।। (१३)

१४—तच्छ्रुत्वा श्रीशुको यदाह, तं सूतो वदति—एतन्निशम्येति। भागवतानां वैष्णवानां प्रधानः श्रेष्ठः। प्रधानः, प्रधानशब्दो वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते। प्रधाना हरितामुहुरिति दर्शनात्। यद्वा, भागवतं शास्त्रं भागवतो धर्मो वा प्रधानं यस्य; साधुवादं यथा स्यात् 'साध्विति वादम्' इति णमुलन्तं वा पदम्, एतदित्यस्य विशेषणं वा ।। (१५-१८)

१९—अथ पृथिवीनिवेदनं श्रुत्वा ब्रह्मा देवगणैः सह क्षीरोदतीरं जगाम,—श्रीकृष्णलोकगमनं प्रत्यसामर्थ्यात्। क्षीरोदशायी अनिरुद्ध एव तस्मिन्नेवास्य निवेदनमित्याशयेनाह—ब्रह्मा तदुपधार्येत्यादि ।।

२०—तत्र गत्वा किमकरोदित्याह—तत्र गत्वेत्यादि। पुरुषमनिरुद्धं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे। कीदृशमित्याह—जगन्नाथमित्यादिविशेषणानि। तस्मिन्निवेदित एव भगवान् श्रीकृष्णोऽपि निवेदित इति कृत्वा तमेवास्तौत्। श्रीकृष्णं साक्षाद्गमनासामर्थ्यात् तत्र न गतमिति। श्रीकृष्णलोकस्य श्रीकृष्णेच्छयैव साक्षाद्भावः, न स्वसामर्थ्यात्। उक्तञ्च—(भा. २।९।२१) मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्" इति। मनीषिता ममैवेच्छा ।।

२१—उपासनानन्तरमनिरुद्धस्यैव गगने प्रादुर्भूतां वाणीं ब्रह्मा अश्रौषीदित्याह—गिरं समाधावित्यादि। गगने समीरितां तस्य वाणीं निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच; तामेव गिरमाहेत्यर्थः। किं तदित्याह—गामित्यादि। मे मत्तः सकाशात् पौरुषीं गां वाचम्—हे अमराः शृणुत। पौरुषीमिति आनिरुद्धीम्। श्रुत्वा च तदनुरूपमाचरत चेत्याह—विधीयतामाशिवत्यादि ।।

२२—कासौ पौरुषी वागित्याह-पुरैवेत्यादि। पुंसा श्रीकृष्णेन स्वयं भगवता धराज्वरोऽवधृतो ज्ञातः। स्वादृशा यदा मह्यं निवेदितस्ततः पूर्वमपि तेन ज्ञात इत्यर्थः। पुंसो महज्जनकादीन् त्रीन् पुरुषान् स्यति काले अवसाययति इति पुंसा; विनिक्षते पागोषादेशवत्, तस्य तृतीयैकवचने 'पुंसा' इत्येवरूपम्। तेन परात्परेणेति स्वतः सिद्धज्ञानत्वात् परनिवेदनापेक्षा तस्य नास्तीति भावः। तेन पुरैव धराज्वरं ज्ञात्वा किमुक्तमित्याशङ्क्याह भवद्भिरंशैरित्यादि। स पुरैव ज्ञात्वा मां प्रति इदमुक्तवान्। भवद्भिर्भवदादिभिरंशैरेव ममांशभूतैर्भवद्भिरित्यर्थः। यदुषूपजन्यतामित्यवादीदिति भावः। अथवा सर्वमेवानिरुद्धस्यैव वचः। तदा किं भविष्यतीत्याह स यावदित्यादि। यावत्तावच्च साकल्ये। स ईश्वरेश्वरः—ईश्वराणामस्माकमपीश्वरः। पुंसेति तथा व्याख्यानात्। स्वकालशक्त्या यावत् साकल्येन ऊर्व्या भवं क्षपयन् भुवि चरेत्, चरिष्यतीति भावः। इति पुरुषस्यानिरुद्धस्य वाणी या गगने प्रादुरभूत्, सा ब्रह्मणा देवेभ्यः कथिता, न त्वियं ब्रह्मणो वाणी देवान् प्रति—भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यतामिति अपितु श्रीकृष्णस्यैव। तेन सर्वैरंशैरेव भगवानवतीर्ण इत्यायातम्। यदवोऽपि भगवदंशा एव न तु देवांशाः। अथवा "पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरः" इत्यादि (भा.१०।१।२५) "कार्यार्थे संभविष्यति" इत्यन्तमेव पुरुषवाक्यं ब्रह्मा श्रुत्वा देवेभ्यः श्रावयामास ।।

२३—वसुदेवगृह इत्यादि;—(भा.९।२४।३०) "वसुदेवं हरेः स्थानम्" इत्युक्तेः। तत्रैव तस्य प्रकाश उचित इति तस्य गृहे साक्षाद् भगवान् श्रीकृष्णो जनिष्यते। साक्षादिति स्वेनैव रूपेण। गृह इति गृहिणीपरम्, वसुदेवस्य गृहे देवक्याम्; वस्तुतः कारागारमेव तत्। ततस्तस्य कृष्णस्य प्रियापि श्रीरमादेवी च पृथिव्यां प्रादुर्भविष्यति। रमा तु आनन्दरूपिणी, ऐश्वर्य्यानन्दरूपिणी चेति द्विधा आद्या तु व्रजेऽवतरिष्यति, द्वितीया राजकन्यात्वेनेति तयोरर्थं सुरस्त्रियोऽपि संभवन्त्वित्याह-तत् प्रियार्थमिति। तस्य श्रीकृष्णस्य प्रियाणां श्रीराधादीनां श्रीरुक्मिण्यादीनाञ्च, अर्थं निमित्तम्। सुष्ठु रातीति सुराः शोभनाः स्त्रियः श्रीरमाविभूतयः श्रीकृष्णलोकवासिन्यः प्रमदोत्तमाः; यद्वा, सुराणां स्त्रियः सुरस्त्रियश्च सुरस्त्रियश्च—पूर्वोक्तरूपे उभयोरेकशेषः। श्रीकृष्णलोकवासिन्यः श्रीराधादीनां सेवानिमित्तम्; सुरलोकस्त्रियश्च श्रीरुक्मिण्यादीनामिति तत्प्रियार्थमिति-शब्दस्यार्थः ।।

२४—वासुदेवकलेत्यादि। अग्रजो भविता अग्रजत्वेन भविष्यति; अग्रतो भवितेति पाठेऽपि स एवार्थः। कलापि भूत्वा कथमग्रजो भवितेत्याशङ्क्याह—हरेः प्रियचिकीर्षया। तथा सति तस्य प्रीतिर्भवतीत्यर्थः ।।

२५—अथ भगवदवतारे सति दुर्घटसंघटनार्थं भगवद्योगशक्तेरप्यवतारं सूचयति—विष्णोर्माया भगवतीत्यादि। माया योगमाया; सा च द्वेधा—साकारा, निराकारा चेति। साकारा तु दुर्गा; निराकारा तु केवलशक्तिरूपा दुर्घटनपटीयसी भगवती। यया

उभयविधया जगदसंमोहितं भवतीत्यर्थः। अतो ज्ञानरूपैवेयं प्रकाशिका माया। मायाशब्दोऽत्र शक्तिविशेषपरः। सा च द्विविधेत्यत्र ज्ञानरूपायाः प्रकाशिकाया एवावसरः न त्वावरिकायाः। अतोऽकारप्रश्लिष्टः। सैव प्रभुणा आदिष्टा सती साकारा नन्दगृहे भविष्यतीति; निराकारा तु कार्यार्थे। कार्यं तु अघटनसंघटनागर्भसंकर्षणादि; वृन्दावने च गोपीनां भगवत्सङ्गे विहरिष्यन्तीनाम् (भा. १०। ३३।३७) "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः" इत्यादिना छायारूपेण प्रतिसमीपे वर्त्तमानत्वादि- कृष्णलीलानुकरणे तासां प्रतिकूलतादात्म्यतया पूतनादित्वस्वीकारः; रासे च तत्तत् सामग्रीसमवधानञ्च। ननु कथं विरुद्धगोपी-च्छायादि पूतनाद्यनुकरणं स्यादित्याह—अंशेनेति। विरुद्धकार्यं प्रत्यंशेन, भगवत्कार्यं प्रति तु पूर्णभावेन ॥ (२६-६९)

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

—❀❀—

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(१-८) ९—(भा० १०।१।२५) "आदिष्टा प्रभुणांशेन" इति ब्रह्माणं प्रति अनिरुद्धो यदुवाच, तमेव प्रभोरादेशं प्रपञ्चयति—अथाहमंशभागेनेत्यादि। हे शुभे! अहं देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि, त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि। अथानन्तरं त्वं देवक्यां भविष्यसि, अहं नन्दपत्न्यां पुत्रतां प्राप्स्यामीति व्यत्ययोऽप्यथशब्देन बोद्धव्यः,—अव्ययानामनेकार्थत्वात्। अंशभागेन अंशानां भागेन भागधेयेन अंशा अत्र देवा इति बोद्धव्यम्। अथवा अंश्यते विभज्यते क्रिया अनेनेति अंशः कालः 'अंशांशल्क विभाजने' इत्यतो वाभिरूपम्। तस्य भागेन भेदेन; अहमादौ देवक्याः पुत्रो भविष्यामि, पश्चान्नन्दपत्न्याः, त्वमादौ नन्दपत्न्याः पुत्री भविष्यसि, पश्चाद् देवक्या इति। (भा० ९।२४।३०) "वसुदेवं हरेः स्थानम्" इति लक्ष्यलक्षणभावात् हरेः स्थानत्वं हि वसुदेवत्वम् तदुभयोरानकदुन्दुभिनन्दयोरेवास्ति। नन्दादयोपि यदुवंशान्तर्गताः,—क्षत्रियवैश्ययोः सम्बन्धात्, तेन (भा० १०।१।२२) "यदुपूपजन्यताम्" इति तेषामुभयत्रैवावतारश्च। अत एवं स्वयं वक्ष्यति भगवान् (भा० १०।४५।२३) "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः' इत्यादि ॥ (१०—१५)

१६—अथ (भा० ।१०।१।२४) "वासुदेवकलानन्तः" इति पूर्वोक्तमुपपादयति—(भा० १०।२।५) "सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते" इत्यादि। वैष्णवं धाम श्रीकृष्णतेजः, अथवा शेषतल्परूपं स्थानं यमनन्तं प्रचक्षते, अनन्तमित्याहुः, सप्तमो देवक्या बभूव। अयमर्थः—भगवद्धामत्वेनायमपि भगवानेव, तथापि यद्देवक्याः जठरस्थतया जीववद्गर्भाकारतां प्राप, यच्च योगमाया रोहिण्यां संक्रामयामास, संक्रामिते च तस्मिन् (भा० १०।२।१५) "अहो विस्रंसितो गर्भः" इति वा यल्लोकभ्रान्तिस्तत् सर्वं विचारतो वक्ष्यमाणस्य भगवतः प्रादुर्भावस्य व्यतिरेकमुखेन गर्भाकारताद्यभावसूचनार्थम्; यतोऽनन्तस्य गर्भत्वं कथितम् न तस्येति; तदेव दर्शयति- भगवानपीत्यादि। आनकदुन्दुभेर्मन आविवेश मनसि आविर्बभूव। अंशानां भागो यस्मात्तेन परिपूर्णभावेनेत्यर्थः। विग्रहेण कथं मन आविवेश ? तत्राह—भगवान्-अचिंत्यपरमैश्वर्य्यः॥ उत्तरागर्भे कथं प्रविवेश ? निरवकाशे स्तम्भे नृसिंहरूपेण कथमाविरासीत् ? तथाविधस्य तस्य तथाविधैव शक्तिर्व्यापकतत्वात्। अत आह विश्वात्मा। विग्रहरूपेण विश्वात्मनि गर्भाकार-वैलक्षण्यप्रतिपादनारम्भः।

१७—तन्मनसि तस्मिन् प्रविष्टे सति तस्य यथा रूपमासीत्तद्दर्शयति—स बिभ्रदित्यादि। वसुदेवः पौरुषं पुरुषाकारं बिभ्रत् धाम बभूव, तेजःस्वरूपोऽभवदित्यन्वयः। (भा० ९।२४।३०) "वसुदेवं हरेः स्थानम्" इति यत्तस्य सान्वयत्वं दधान इति भावः। अतएव दुरासदो दुर्विषहो भूतानां संबभूव ह, ह स्फुटम् – धामस्वरूपत्वात्। दुरासदत्वादि अत्र दृष्टान्तः—राजमानो यथा रविः स्वत एव सहजो दुर्विसहो रविः तत्र सुराजमानः अन्तर्वर्त्तिनारायणप्रभया राजमानो द्योतमानः। तथा च 'ध्येयं सदा सवितृमण्डल-मध्यवर्त्ति' इत्युक्तेः। तथाविधो रविरिवेति राजमानशब्दतात्पर्यम्। अथवा, पुरुषः पुरुषोत्तमः, तस्य धाम पौरुषं धाम विग्रहम् ॥

१८—अथ वसुदेवः स्वमनसि प्रादुर्भूतं भगवन्तमनुभूय कथमयं देवक्यामाविर्भवतीति समाधिना निकटस्थितायामेव तस्माद्गृहाद्गृहान्तरमिव नीयमानदशया सञ्चारयितुमुद्यतो यदासीत्, तदा स्वयमेव भगवानप्युभयोः पितृमातृभावमापादयितुं वसुदेवमनस्तो देवकीमनसि सञ्चचारेत्याह- ततो जगन्मङ्गलमित्यादि। शूरसूतेन वसुदेवेन समाहितं समाधिना भावनया आहितमर्पितं जगन्मङ्गलं जगन्मङ्गलावतारं श्रीकृष्णं मनस्तो मनसि दधार। कीदृशम् ? अच्युता अस्खलिता अंशा यत्र पूर्णत्वात्; सर्वात्मकसात्मभूतं विग्रहरूपम्। भगवद्विग्रहस्य सर्वात्मकत्वम् पूर्वं पूर्वमुक्तम्, (भा० ८।६।९) "योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्, पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्त्तौ" इत्यादि। तत्र दृष्टान्तः—काष्ठा यथेत्यादि। काष्ठा पूर्वा दिक् आनन्दरूपं चन्द्रं यथा दधाति, न हि चन्द्रस्तस्यां जायते, अपितु उदयत्येवेति ॥

१९—तदा सा कीदृश्यभूदित्याह—सा देवकीत्यादि। सर्वजगन्निवासः श्रीकृष्णस्तस्य निवासभूता सा भोजेन्द्रगेहे रुद्धा देवकी अग्निशिखेव किं न रेजे ? अपि तु, रेजे एव। भोजेन्द्रगेहे रुद्धेति राजमानताऽभावस्तथापि वस्तुमहिम्ना नितरां राजमान-

त्वम्। भोजेन्द्रगेहे रुद्धेत्येकदेशे दृष्टान्तः। ज्ञानखले ज्ञानेनापि खले आत्मवञ्चके ज्ञानमनुभूय अव्यवहारिणि जने सती शोभनापि सरस्वती यथा तस्य सुखाय न भवति, तथा तथाविधराजमाना सा देवी भोजेन्द्रस्य सुखाय नाभूदिति वाक्यैकदेशे दृष्टान्तः, नत्वखण्डवाक्ये। यद्वा, ज्ञानखले रुद्धापि सती उत्कृष्टा सरस्वती विद्यात्मिका वाणी यथा शोभते, आकारेण तस्य विद्यास्यातीति लोकैर्ज्ञायमाना शोभते एव, तद्वत् यद्वा, ज्ञानमेव खलं प्रशस्तस्थलविशेषस्तस्मिन् यथा सरस्वती शोभते तथा रेज इति क्रियया सम्बन्धः, न रेजे इति च तदर्थः॥

२०—तदा जगन्निवासनिवासभूतेति विशेषणवैयर्थ्यं (भा० १०।२।२०) तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां, विरोचयन्तीं भवनम्" इत्याद्यसङ्गतश्चेत्यत एवाह—तां वीक्ष्येत्यादि। तां देवकीम्; अन्तर्वर्त्तिमहामणिप्रदीपवसनमञ्जूषिकावद्धृदयस्थश्रीकृष्णप्रभया बहिरपि भवनं विरोचयन्तीं वीक्ष्य आहेत्यन्वयः। अन्तःप्रमोदेन शुचिस्मिताम्। एष इति तत्प्रभाबाहुल्येन बहिर्निःसरता। साक्षाद् दृश्यमान इव निर्दिश्यमानो मे प्राणहरस्तत्क्षणमेव तथैव प्रतीतेः। तत्र हेतुञ्च वक्ति—यन्न पुरेयमीदृशाति पूर्वश्लोकव्याख्या सङ्गतिः॥ (२१-२५)

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

प्रथमोऽध्यायः

अथ (भा०१।१।१२)

सूत ! जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः। देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया॥

इति सूतशौनकसंवादे उपक्रांतस्य (भा०१।८।३५)

"श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन" इति कुन्तीस्तुतौ अङ्कुरितम्-शुकपरीक्षितसंवादे (भा०१।२४।६१) "कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकभयापहम्" इत्यादिना नवमस्कन्धोक्तेन पल्लवितं श्रीकृष्णावतारस्य चिकीर्षितं हि श्रीभागवतप्रतिपाद्यम्। अन्येषान्तु (भा०२।१०।१) "अत्र सर्गो विसर्गश्च" इति नवानां कथनम् (भा०२।१०।२) दशमस्य विशुद्ध्यर्थं इति दशमस्य श्रीकृष्णस्य विशिष्टशुद्धिः परात्परता तज्ज्ञानार्थं कीर्तितानां प्रासङ्गिकानां नवानां कथनसमाप्तौ प्रतिपाद्यभूतं श्रीकृष्णलीलावतारं कथितस्य सर्वस्य विस्मरणार्थं श्रीपरीक्षिता पृष्टं श्रीशुकः श्रावयति। राजोवाच—कथितो वंशविस्तार इत्यादि। कथित इत्यलंबुद्धिद्योतकं यद्यत् कथितम्, तावताहं कृतार्थो न भवामि, किन्तु कथित एव भवता, अपितु यदर्थं मया पृष्टः, यदर्थं वा त्वया कथितः सोमसूर्ययोर्वंशविस्तार उभयवंश्यानां राज्ञां च परमाद्भुतं चरितम्, स कृष्णावतार इदानीं कथ्यतामिति कथितशब्दस्याभिप्रायः।

उभयवंश्यानामित्यनेनैव यदोश्चरिते प्राप्ते यदोश्चेति पुनरुपादानमत्यादरद्योतकम्। तदेव स्पष्टयति। तत्रांशेनेत्यादि। अंशानां समूह आंशम् 'समूहे अण्' तेन सह सर्वैरंशैरित्यर्थः। अन्यथा (भा०९।२४।५५) "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल" इति स्वयमेव किलेतिशब्दैः (भा०१।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यस्य च स्वयमिति शब्देनासङ्गतिः स्यात्। यद्वा अंशेन बलदेवेन।

ननु कथमत्र सङ्गतिः कार्या, यतो विष्णुपुराणादौ अन्यथैव श्रूयते। सत्यम्, यत्तु विष्णुपुराणे (५।१।२) "अंशावतारो ब्रह्मर्षे योऽयं यदुकुलोद्भवः" इति (५।१।३) "अंशांशेनावतीर्योर्व्याम्" इति (५।१।४) "विष्णोरंशांशसम्भूतिचरितम्" इत्यादि श्रूयते, तत्र तत्रायमर्थः क्रमेण दर्श्यते-अयं यदुकुलोद्भवोऽशावतारः—अंशानां नारायणादीनामवतारो यस्मात् स तथा-इत्येकः। अंशो ब्रह्मादयस्तेषामंशेन यादवरूपेण सहावतीर्य (भा. १०।१।२२) "भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्" इत्यत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्-इति द्वितीयः। विष्णोः श्रीकृष्णस्य चरितं कीदृशम् ? अंशांशसम्भूतिः—अंशानां ब्रह्मादीनामंशा यादवास्तेषां सम्यक् समीचीना भूतिः सम्पत्तिर्यस्माद् यत्र वा इति तृतीयः। यच्च तत्रैव (विष्णु पु० ५।१।५९–६०) "उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने। उवाच च सुरानेतौ मत्केशौ वसुधातले। अवतीर्य भुवो भारं क्लेशहानिं करिष्यतः" इति (विष्णु पु. ५।१।६३) "वसुदेवस्य या पत्नी देवकी देवतोपमा। तस्यायमष्टमो गर्भो मत्केशौ भविता सुराः॥" इति। एषां क्रमेणायमर्थः—आत्मनः सितकृष्णकेशौ उज्जहार उद्धावित्यर्थः न तूत्पाटयामास, तेषां केशानां चिद्रूपत्वात् छेदो दुर्बोधः, अमङ्गलप्रतिपादकश्च। अतस्तयोरुद्धृत्य दर्शनं सतात्पर्यं-तच्च तात्पर्यं मूर्धन्यत्व-प्रतिपादनार्थं वर्णसूचनार्थश्च। केशद्वयसंदर्शनेनापि संदिग्धान् पुनरुवाच-एतौ मम मूर्धन्यभूतौ शुक्लकृष्णवर्णौ मत्केशौ मदीयेश्वरभूतौ 'सर्वनाम्नः कप्रत्ययः' अहमीशौ याभ्यां तौ मत्केशौ 'त्वत्कपुत्रौ मत्कपुत्रौ' इत्यादिवत्। अथवा, मम कं सुखं तत्स्वरूपौ ईश्वरौ च, यद्यपि बलदेवस्तदीयेश्वरो न भवति, तथापि सहकालवचनानन्दातिशयात् स्वांशेऽपि तथा प्रतिपादनं पश्चाच्च व्यक्तीकृतं (विष्णु पु० ५।१।७२) "शेषाख्यांशस्ततो मम अंशांशेनोदरे तस्याः सप्तमः संभविष्यति" (५।१।६३) "अष्टमो भविता गर्भो मत्केश" इति पृथगाख्यानेन मत्केशः श्रीकृष्णः इति पूर्ववद्व्याख्यानम्। यद्वा मम कं सुखं यस्मात् स चासौ ईशश्चेति। यच्च भारते "स चापि केशौ हरिरुच्चजह्रे शुक्लमेकमपरञ्चापि कृष्णम्। तौ चापि केशावाविशतां यदूनां, कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च।

तयोरेको बलभद्रो बभूव, योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः। कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव, केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः॥" एषामेवमेवार्थः—यस्मै ब्रह्मादयो निवेदनमकार्षुः, स हरिः केशौ उच्चजह्रे उद्धृत्य दर्शयामास, 'हृञ् प्रापणार्थः, उद्धरणं वर्णमूर्द्ध-न्यत्वसूचनार्थम्। अतस्तौ चापि केशौ। अयमर्थः—यतस्तयोः प्रस्तावे केशौ उद्धृत्य दर्शितौ, ततस्तौ चापि रामकृष्णौ केशनामानौ बभूवतुः। ततस्तु यदूनां कुले स्त्रियौ अविशताम्, तयोरेकः केशः केशनामा बलदेवो बभूव। द्वितीयः केशनामा केशवो बभूव। के शिरसि शेते इति केशः। अन्यतोऽपि च, इति उभयोरपि केशत्वम् (भा०१०।२।५) सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते" इति वैष्णवधामत्वात्, षष्ठस्कन्धे उवाच च स्वयमेव सङ्कर्षणः (भा० ६।१६।५१) अहं सर्वाणि भूतानि भूतात्मा भूतभावनः। शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू॥" इति सर्वमनवद्यम्॥ (३)

४—निवृत्ततर्षैरित्यादि। आपशुघ्नात् पशुघ्नो व्याधः, व्याधमभिव्याप्य, कः पुमान् उत्तमश्लोकगुणानुवादाद् विना विरज्येत, विषयेभ्यो विरक्तो भवतीति भावः, न कोऽपि एतेन वा व्याधो भवतु यदि विरक्तो भवति, तदा परगुणानुवादादेवेति भावः। अतो विरक्तिमिच्छता भगवद्गुणा एव श्रोतव्या इत्यायाते तद्विशेषणमाह-निवृत्तेति। निवृत्तस्तर्षः कामो येषां तैरुपगीयमानाद्बीज-रूपेणापि हि तस्य रागस्य पुनः प्ररोहाशङ्कया निष्कामैरप्युपगीयमानात्, न तूपगीतात्, अतो भवौषधादिति मुमुक्षुभिर्निषेव्यमानात्। श्रोत्रमनोभिरामादिति सरागाणामपि प्रीतिप्रदात्, अतस्त्रिविधानामेव प्राणिनामनुकूलात्, ये तु पूर्वं श्रोत्रमनोभिरामत्वेनैव शृण्वन्ति, तेऽपि श्रवणानन्तरं विषयेभ्यो विरज्यन्तीति भावः। वक्ष्यति च (भा०१०।४७।१८) यदनुचरित" इत्यादि। अतस्त-द्गुणश्रवणेनैव म्रियमाणस्य बीजरूपेणापि यथा विषया न स्युः तथा वर्णयेति भावः। यद्वा, अपगताः शुचः संसारपीडा येषां ते अपशुचो वैष्णवाः, तान् हन्तीति अपशुघ्नो वैष्णवद्वेष्टा तं विना को विरज्येत ? (५,६)।

७—यतो वैष्णवेभ्य एव गुणानुवादः, तेषां विद्वेषे अत्र विरक्तिरेव, अतस्तमेव गुणानुवादं श्रावयेदित्याह वीर्याणीत्यादि हे पुरुष हे विद्वन्—इति सम्बोधनद्वयेन तद्भिन्ना हि क्लीवा मूर्खाश्चेति तात्पर्यम्। विद्वत्वं भगवत्-परायणत्वम्—(भा०४।२९।५०) "सा विद्या तन्मतिर्यया" इति। पुरुषत्वं पुरुषाकारं सदुपदेशेन परनिस्तारकत्वम्—उभयं तवैवास्तीति स्तुतिपूर्वकमाह-तस्य वीर्याणि वदस्वेति। ज्ञानयत्नोपच्छन्दनेषु वद, इत्यात्मनेपदं यत्नपूर्वं कथयेत्यर्थः। हे स्वेति वा छेदः, सर्वभूतानामात्मन्—(भा० १।२।२) "तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः" इत्युक्तत्वात्। कीदृशस्य ? अखिलदेहभाजामन्तर्बहिश्च कालरूपैः श्यामलरूपैर्मृत्युं मरणममृतमानन्दञ्च प्रयच्छतः, अदर्शनेन मृत्युं दर्शनेनामृतम्। 'कालश्यामलमेचका' इत्यमरकोषः। रूपैरिति बहुवचनमियत्ताभारत्वसूचकम्—श्याममहसः पुनः पुनः प्ररोहात्। यद्वा, अखिलदेहभाजां मध्ये अन्तः अन्तरङ्गाणां बहिर्बहिरङ्गाणाञ्च मृत्युममृतञ्च यथायोगं प्रयच्छतः, अक्रमेण योऽयम्—प्रविश पिण्डीं गृहं भक्षय' इत्यादिनान्वयानुसारेण हि योजना क्रियते, अन्तरङ्गाणां पाण्डवानां बहिरङ्गाणां कुरूणां तथा तथा (५म-श्लो०) 'दुरत्ययं कौरवसैन्य' इत्यादिना पूर्वश्लोकार्थस्य प्रपञ्चः। पुरुषाः स्वजनाः कालः कालशक्तिश्च रूपञ्च यथायोग करणत्वमभिगन्तव्यम्। अन्तरङ्गाणां स्वजने रूपेणामृतम्, बहिरङ्गाणां कालेन च मृत्युम्,—(गी०११।३२)"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्' इत्युक्तेः। मायामनुष्यस्य माययाप्यमनुष्यस्यालौकिकस्येति वा यावत्। अप्रतिच्छादनीय—परमैश्वर्यस्य॥ (८)

९—सात्वतां पतिरिति—सन् श्रीकृष्ण उपास्यत्वेन वर्तते येषां ते सात्वता वैष्णवाः; तेषां मतं सात्वतं 'तदाचष्टे' इति णिजन्तात् क्विपि रूपम्—सात्वत्, सात्वतः सात्वतमतव्याख्यातारस्तेषां पतिः॥ (१०)

११—देहं मानुषमित्यादि। मानुषं देहमाश्रित्य स्थितैर्वृष्णिभिः सार्द्धं कति वर्षाण्यवात्सीदिति स्थितैरित्याध्याहारेण वृष्णीनां देवत्वं ध्वनितम्।

१२—सर्वज्ञेति योगात् सम्बोधनम्, सर्वात्मकत्वात् सर्वः श्रीकृष्णस्तं जानातीति॥ (१३)

१४—भागवतप्रधानः श्रेष्ठः, प्रधानशब्दो विशेष्यनिघ्नोऽपि वर्तते, 'प्रधानहरिता मुद्गाः इति प्रयोगात्, यद्वा भागवतं शास्त्रं भागवतो धर्मो वा प्रधानं यस्य स तथा॥ (१५-१८)

१९—तीरं क्षीरपयोनिधेरित्यादि। क्षीरोदशायी हि श्रीकृष्णस्य प्रधानांशः तस्मिन्निवेदनेनैव श्रीकृष्णस्थाने निवेदितं भवति; श्रीकृष्णसन्निधौ गन्तुमसमर्थैरस्माभिरेतदेव कार्यमिति संमन्त्र्य क्षीरपयोनिधितीरमेव जग्मुः। हरिवंशे हरिवंशपर्वणि (५४।१७) चैवम्वित्रविस्तारे विष्णुं प्रति नादरवाक्यम्—"वसुन्धरायाः साहाय्यार्थं स्वमंशं नानुयुङ्क्षे इति (हरिवं प० ५४।८३) "तदा गच्छ स्वयं विष्णो गच्छावः पृथिवीतलम्" इति। अस्यार्थः—साहाय्यार्थं स्वमंशं नानुयुङ्क्षे न प्रयोजय 'अनुमतौ वर्तमाना छान्दसी'। यथा देवानामंशा नियोजिताः, तदा स्वं स्वमंशं न नियोजय, स्वयमेव गच्छतीति भावः। एतत् कौतुकं द्रष्टुमहमपि गमिष्यामीति गच्छावः। तदा च नारदवाक्यानन्तरं स विष्णुर्मनसि-चकार-'कालनेमिव्यापादितः, तथाप्यसौ कंसरूपेणाजनिष्ट विना परात्परं श्रीकृष्णं नैषां मोक्षो भवति, तर्हि तमेवाभ्यर्थये' इति। (हरिवंश प० ५५।५०-५१) "तत्र वै पार्वती नाम गुहा मेरोः सुदुर्गमा। त्रिभिस्तस्यैव विक्रान्तैर्नित्यं पर्वसु पूजिताः॥ पुराणं तत्र विन्यस्य देहं हरिरुदारधीः। आत्मानं योजयामास वसुदेवगृहं प्रति॥" विचारानन्तरं यच्चकार, तदेताभ्यां श्लोकाभ्यां प्रतिपादयति। तत्र क्षीरोदधेस्तीरे काचित् पार्वती नाम गुहा वर्तते। सा मेरोरपि सुदुर्गमा, मेरौ सर्वदेवानां प्रचारो वर्तते, न तत्र कस्यापीति पर्वसु उत्सवेषु तस्यैव विष्णोस्त्रिभिर्विक्रान्तैः प्रदक्षिणपरिक्रमैः

पूजिता स्वस्थानस्य प्रवेशे हि स्वयमपि प्रदक्षिणीकरोतीत्याचारः। अत्र गुहायां गत्वा देहं विष्णुदेहं देवदृश्यमानं विन्यस्य अन्तर्धाप्यादृश्यो भूत्वा गुहायामेव स्थीयत इति देवान् वञ्चयित्वा पुराणमनादिमात्मानं श्रीकृष्णं वसुदेवगृहं प्रति योजयामासेति श्लोकयोजनेति। कथं देवैरलक्षितां भूत्वा श्रीकृष्णं पार्श्वं जगाम ? इत्याह—उदारधिर्बुद्धिकौशलेनेत्यर्थः। तथात्रापि सर्वे ब्रह्मादयः क्षीराब्धौ शयानं निवेदयाञ्चक्रुः। स च श्रीकृष्णमिति रहस्यम् ॥

२०—एतदेव विवृणोति-तत्र गत्वेत्यादि। पुरुषं श्रीनारायणमुपतस्थे ॥

२१—उपासनानन्तरं गगने प्रादुर्भूतां वाणीं श्रुत्वा ब्रह्माह – गाः पौरुषीमित्यादि। पुरुषसम्बन्धिनीः गाः वाचं शृणुत पुरुषो यदुवाच, तदवधारयतेति भावः ॥

२२—तदेव किमित्याह—पुरैवेति, पुंसा श्रीकृष्णेन पुंसः पुरुषान् स्यति अवसाययति अन्तयति स्वस्मिन् विलापयति, 'योऽन्तकर्मणि' सन्ध्यक्षराणामाकारे सति (पाणिनिः ३।२।७४) "आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च" इति पुंसा इति गोषादिवत्तस्य तृतीयैकवचनेऽपि तथैव रूपम्। पुरैव भवतां निवेदनप्रागेव धराज्वरो विदितो मया, भवतां निवेदनानन्तरं यन्निवेदनं तस्य च प्रागेवेत्यर्थः - सर्वज्ञत्वात्तस्य निवेदनापेक्षा नास्त्येव। विदित एवास्तु धराज्वर इति किमुक्तं तदुच्यतामित्याह भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यतामिति। नेयं पुरुषस्य स्वकीया वाक्, अतएव पुंसा विदित इति न मया विदितः, श्रीकृष्णवाण्येवानेन पुरुषेणानुकृतेति यावत्। अतएव स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वर इत्यत्र ईश्वरेश्वरत्वेन प्रतिपादितम्। 'कार्यार्थे सम्भविष्यति' इत्युक्तम्। पुरुषस्य वाक् ब्रह्मणा देवेभ्यः प्रतिपादिता ॥

२३—वसुदेवगृहे जनिष्यते प्रादुर्भविष्यति, 'जनी प्रादुर्भावे, साक्षात् स्वरूपेणैव, न तु प्रच्छन्नः, परः पुरुषः श्रीकृष्णः, तत्प्रियार्थं तस्य प्रियाणां गोपीनामर्थं प्रियायाः प्रियो रमाया वा अमरस्त्रियः सम्भवन्तु ॥

२४—अग्रजो भविता इत्यादि। अग्रजत्वेन भवितुमनिच्छन्नपि अग्रजो भविता। कुतः ? हरेः प्रियचिकीर्षया, तथाभूते तस्य प्रियं भवतीति भावः ॥

२५—कार्यार्थे संभविष्यतीत्यादि। कार्यमघटनसंघटना तदर्थे प्रभुणा तस्य नियन्त्रा आदिष्टा। तस्याः कुत एवं सामर्थ्यम् ? अत्राह—अंशेन भगवदंशेन विशिष्टा 'विशेषणे तृतीया', तच्छक्तेस्तदंशत्वात् विष्णुमायेति शब्दितत्वात् विष्णुशक्तिरेव सा। अतस्तेनादिष्टं करिष्यति, अस्वातन्त्र्यात्। सा च अघटन-संघटना गर्भसंकर्षणादिः, वृन्दावने च गोपीनां भगवत्सङ्गे विलसन्तीनां (भा० १०।३३।३८) "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः" इत्यादिना छायारूपेण प्रतिनिकटे वर्तमानत्वादि कृष्णलीलानुकरणे तासां पूतनादिप्रतिकूलतादात्म्यतया विविधपूतनादिरूपस्वीकारः, रासे तत्तत्सामग्री समाधानमित्यादि ॥ (२६-६९)

इति श्री दशमे चैतन्यमतमञ्जूषायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

——:०:——

द्वितीयोऽध्यायः

(१-८) ९—अथाहमंशभागेनेत्यादि। अंशानां ब्रह्मादीनां भागेन भागधेयेन, अंशानां जीवानामिति वा;–(गी०१५।७) "ममैवांशो जीवलोके" इत्यादेः ॥ (१०-१५)

१६ –आविवेशांशभागेनेत्यादि। अंशभागेनेति पूर्ववत्, अंशानां भागो विभागो यस्मात्तथा तेन स्वेनैव रूपेणेत्यर्थ इति; यद्वा, अंशभागः परिपूर्णभागस्तेन। आनकदुन्दुभेर्मन आविवेश, मनसि प्रकटीबभूव। हरिः शेष इव मनोऽभिभूय तस्थौ ॥

१७—स बिभ्रदित्यादि। स वसुदेवः पौरुषं पुरुषाकारं बिभ्रत् यथा रविस्तथा राजमानः सन् धाम बभूव, धाम स्वरूपो बभूवेत्यर्थः। अतएव-च भूतानां जनानाञ्च दुरासदो दुर्धर्षः; यद्वा, पुरुषाणां नारायणादीनाञ्च धाम आश्रयभूतं श्रीकृष्णं बिभ्रत् सम्बन्धमात्रेण; यद्वा, पुरून् पाण्डवान् पुरु यथा स्याद् वा सिनोति बध्नातीति। पुरुषः श्रीकृष्ण एव तस्य धाम तत्स्वरूपं धामेति 'स्वार्थेवाऽण्' धाम विग्रहं वा, 'गृहदेहत्विट्प्रभावधामानि' इत्यमरः ॥

१८—ततो जगन्मङ्गलमित्यादि। अच्युतो अस्खलिता अंशा यत्र तत्तथा जगन्मङ्गलं सर्वात्मकमात्मस्वरूपं यत् श्रीकृष्णधाम तत् मनस्तो मनसि। कीदृशम् ? शूरसूतेन समाहितं समाधिना अर्पितं तस्य हृदये प्रागाविर्भूतं श्रीकृष्णधाम, तेन समाधिना देवक्यामर्पितम्, तद्धृदयात् (भा० ५।२४।३०) "वसुदेवं हरेः स्थानम्" इति प्रादुरभूदित्यर्थः। उभयोर्हृदये उत्तरागर्भ इव प्रादुरभूत्। उभयोः पितृमातृत्वानुग्रहकारणादुभयत्रैवाभिव्यक्तिः, भगवान् तमावेश्य तामाविशदित्यर्थः। यद्वा सर्वात्मभूतं सर्वात्मपरा मा शोभा तस्या आत्मभूतं त्रिलोकीसौन्दर्यसौभाग्यात्मकं जगन्मङ्गलमच्युतांशधाम दधारेत्यन्वयः। (१७ श. श्लो०)

"स बिभ्रत् पौरुषं धाम" इति धामशब्दश्रुत्या धामशब्दानुवृत्तिः कारयितव्या। तत्र दृष्टान्तः—काष्ठेति। आनन्दकरं चन्द्रं काष्ठा पूर्वा दिक् सा यथा चन्द्रं धत्ते, तस्यां तस्याविर्भाव एव, न सा तस्योत्पत्तिस्थानम्॥

१९—सा देवकीत्यादि। भोजेन्द्रगृहे रुद्धापि जगन्निवास-निवासभूता अग्निशिखेव नितरां न रेजे, ज्ञानखले ज्ञानेनापि खले धूर्ते आत्मवञ्चके दीनानुरूपव्यवहारिणि जने सती वर्तमाना शोभमाना वा सरस्वती यथा राजते, अस्थानस्थापि राजते, किन्तु पारलौकिकपर्याया न भवति, एवं भोजेन्द्रस्य सुखाय नाभूत्, किन्तु रेजे भोजगृहज्ञानखलयोः साधर्म्यम्। तथा च (भा० १०।२।२०) तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्" इति वक्ष्यति॥ (२०–२५)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्पष्टमप्याह—तस्मिन् मद्वैरिणि आशु इदानीं किङ्करणीयं गर्भस्थमेव तमिमं हन्यां चेन्न यद्यस्मादर्थतन्त्रः स्वार्थपरोपि लोकः विक्रमं न विनाशयति सम्प्रत्यस्य वधे मम वीरत्वव्यञ्जको विक्रमो नङ्क्ष्यति तस्माज्जातप्रवृद्धतरुणीभूतेनानेन सह संग्रामे जये पराजये वा मम विक्रमस्तु स्थास्यत्येव गर्भवधे तु विक्रम इति भावः। न केवलं विक्रमहानिरेव धर्मादिहानिरपीत्याह-स्त्रिया इति। गुरुमत्या गुर्विण्याः अत्र भयेनैव यत् स्वदौरात्म्यं स्तब्धं तत्तु मद्विवेकेनैवेति स्वस्मिन्नभिमानसुखं कल्पितं कंसेनेति ज्ञेयम्॥ २१॥ गर्भं हतवतो मम जीवितव्यमपि धिक्कृतमेवेत्याह-स इति। नृशंसितेन क्रौर्येण देहे मृते सतीति जीवति तु यद्यपि तस्मात् बिभ्यति तदपीति भावः। शपन्ति रे पापिन् कुम्भीपाके पतेति साक्षेपमुच्चैराक्रोशन्ति ततश्च तनुमानिनः प्राण्यन्तरहिंसया स्वतनु मानयतो लालयतो जनस्य भोग्यं यदन्धन्तमस्तत् ध्रुवमेव गन्ता गच्छति॥ २२–२३॥ वैरानुबन्धजनितेन भयेन कंसस्य चित्तावेशं विवृणोति–आसीन इति। सम्विशन् शयानः चिन्तयमानः चिन्तयन् हृषीकेशं सर्वेन्द्रियविषयीभूतं तन्मयत्वदर्शनं प्रेम्णा परमानन्दजनकं भयेन तु परमदुःखजनकमिति भक्तवैरिणोस्तन्मयत्वदर्शनस्य भेदो द्रष्टव्यः॥ २४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तस्मिन् गृहाश्रिते किं करणीयं तत्रापि अद्यैव तत्रापि आशु तत्रापि मे मयैव विलम्बे पुरुषान्तरनियोजने च विपरीतशङ्कये-दमुक्तम् स्वसूवधे तु ममैव हानिरित्याह—यदर्थतन्त्र इति। यद्यदा अर्थतन्त्रः आवश्यककार्यवशोऽयं जनो भवति तदापि विक्रमं न विहन्ति न नाशयति एतदेव विशेषत आह स्त्रियास्तत्रापि स्वसुस्तत्रापि गुरुमत्याः गुर्विण्याः वधः अनुकालं वधानन्तरक्षणमेव यश आदि हन्ति॥ २१॥ किञ्च, स इति योऽत्यन्तनृशंसितेनात्यन्तक्रूरकर्मणा वर्त्तेत जीवेत स एष जीवन् सम्परेतः सम्यक् मृतः यतस्तं जीवन्तं मनुजाः अयं दुरात्मा दुर्गतिं यात्वेवं शपन्ति स च देहे मृते तनुमानिनः देहाभिमानिनः पापकारिणोऽन्धन्तमः पुनः पुनर्नरकप्रदं ध्रुवं गन्ता गच्छति ईदृशी मतिस्तस्य भगवल्लक्षणगर्भवती देवकीदर्शनजे गण्यते॥ २२॥ स्त्रीमात्रस्य वधे यो भावः स घोरस्तत्रापि स्वसुर्घोरतरः गुरुमत्या घोरतमस्तस्मान्निवृत्तः॥ २३॥ सम्विशन् शयनं कुर्वन्॥ २४॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ॥ श्रीमद्धनुमद्भीममध्वांतर्गतरामकृष्णवेदव्यासात्मकलक्ष्मीहयग्रीवाय नमः॥

कृत्वा तरन्वत्सपदं स्म यत्प्लव इत्यस्यायं भावः। यथा वत्सपदतरणं प्लवारोहणादि क्लेशं विनैव भवति तथा दुरत्ययकौरव-सैन्यसागरतरणं प्लवारोहणादिक्लेशं विनैव जातम्। भगवद्रूपप्लवस्य सुखमात्रसाधनत्वादिति। एतेन वत्सपदतरणे प्लवो नास्ति। कौरव-सैन्यसागरतरणे भगवद्रूपप्लवोऽभूदतो दृष्टांतदार्ष्टांतिकयोर्वैषम्यमिति दूषणस्यानवकाशः। प्लवारोहणादिक्लेशाभावेनैव साम्यमि-त्यभ्युपगतमात्॥५॥ वेधा गगने समाधौ समाधानविषये समीरितां प्रयुक्तां देवानां समाधानं कर्तव्यमिति प्रत्युक्तमिति यावत्। गिरं निशम्य त्रिदशानुवाचेत्येत्तद्धि प्रसिद्धम्। हे अमराः। मे मम पौरुषीमुत्तमपुरुषभगवदभिप्रेतार्थविषयिणीं गां वाचं श्रृणुत तथा मया यथोच्यते तथैवाशु विधीयताम्। चिरं विलंबो मा भूत्। न केवलं श्रृणुत किंतु विधीयतां चेति। क्रियासमुच्चये पुनः शब्द इति। एतेन पौरुषीं गां श्रृणुतेत्यनुपपन्नम्। पुरैव पुंसावधृतो धराज्वर इत्यादि वक्ष्यमाणवाक्यविरोधात्। तत्र हि पुरैव मया धराज्वरोऽवधृत इत्यादि नोच्यते किंतु पुरैव पुंसा धराज्वरोऽवधृत इत्याद्युच्यते। अत इदं चतुर्मुखस्यैव वाक्यं न विष्णुवाक्यमिति दूषणं परिहृतम्। पौरुषीमित्यनेन पुरैवेत्यादि वाक्यस्य भगवद्वाक्यत्वमुच्यत इत्यनंगीकृत्य पौरुषीमित्यस्य पुरुषाभिप्रेतार्थविषयिणीमित्यंगीकारेण म इत्यनेन चतुर्मुखवाक्यत्वमुच्यत इत्यूरीकरणात्॥२१॥ प्रसक्तमरणं परिहर्तुमित्यर्थः॥ एतेन कालस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्। कालं परिह-र्तुमनुपपन्नमिति चोद्यं निराकृतम्। प्राप्तशब्दस्य प्रसक्तत्यर्थं कल कामधेनुरिति वचनेन कामधेनुर्यथा सर्वार्थान्ददाति तथा कल धातुः सर्वार्थवाचीत्युक्तत्वात्कलधातोर्भरणार्थकत्वं चांगीकृत्य प्राप्तकालं प्रतिव्योढुमित्यस्य प्रसक्तमरणं परिहर्तुमित्यर्थ इत्युक्तत्वात्॥ ४७॥ इति श्रीभागवतटिप्पण्यां प्रथमोऽध्यायः॥ १०–१॥

॥ हरिः ॐ॥ वसुदेवेन दुःसहपुत्रवियोगसहनं कथं कृतमित्यत उक्तम्॥ किं दुःसहमिति। अनेन साधूनां सदाचाराणां दुःसहं किं न किमपि। अतोऽयमपि साधुरिति दुःसहपुत्रवियोगसहनं कृतवानित्युक्तं भवति। सर्वापेक्षितपुत्रलालनाद्यपेक्षा वसुदेवेन

कथं त्यक्तेत्याशंकापरिहारायोक्तम् ।। विदुषामिति। अनेन विदुषां भगवद्ज्ञानिनामपेक्षितं किं न किमपि। अतोऽयमपि भगवद्ज्ञानीति पुत्रलालनादिकमपेक्षित न जातमित्युक्तं भवति। ननु वसुदेवेनाकार्यं हननार्थं पुत्रसमर्पणं कथं कृतमित्याशंकां परिहर्तुमुक्तम् ।। किमकार्यमिति। अनेन कदर्याणां कदर्यभयविशिष्टानामकार्यं किं न किमपि। अतोऽस्यापि कदर्यं कंसभयविशिष्टत्वाद्धननार्थमकार्यपुत्रसमर्पणं कृतमित्युक्तं भवति। ननु वसुदेवेन दुस्त्यजपुत्रत्यागः स्वहस्तेन कथं कृत इत्याशंकां निराकर्तुमुक्तम् ।। दुस्त्यजमिति। अनेन सत्यात्मनां स्ववाक्यं सत्यं कर्तव्यमित्यंतःकरणसंपन्नानां दुस्त्यजं कि न किमपि। अतो वासुदेवोऽपि प्राणभयेनोत्पन्नानां पुत्राणां समर्पणं करिष्य इत्युक्तं स्ववाक्यं सत्यं कर्तव्यमित्यंतःकरणवानिति पुत्रत्यागः स्वहस्तेन कृत इत्युक्तं भवति। एतेन वसुदेवस्य कदर्यत्वाभावात्किमकार्यं कदर्याणामित्ययुक्तमिति चोद्यं निराकृतम्। कदर्यशब्दस्य मत्वर्थीयाजंतत्वात्कदर्याणामित्यनेन भयसाधनत्वेन कदर्यविशिष्टानामित्यर्थो लभ्यत इति भावेन कदर्यभयसंपन्नानामिति तात्पर्यस्योक्तत्वात् ।। ४ ।। हर्षशोकविवर्धन इत्यस्य देवानां हर्षविवर्धनोऽसुराणां शोकविवर्धन इत्यर्थः। एतेन हर्षशोकविवर्धन इत्येतद्विरुद्धमिति दूषणं परास्तम् ।।५।। इति श्रीभागवतटिप्पण्यां द्वितीयोऽध्यायः ।। १०–२ ।।

।। हरि ॐ ।। स्त्रियः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं यशःश्रियं हंत्यनुकूलमायुरित्यनेनेोक्तमत्र सामान्यव्याप्त्योपपाद्यते। योऽत्यंतनृशंसी। तेनात्यंतनृशंसनेन वर्तेत स एष जीवन्नपि संपरेतो मृत इत्येतत्खलु निश्चितम्। योऽत्यंतहिंसकस्तद्यशो भाग्ययोर्ह्रानिर्भवतीति यावत्। अभिमानिनः सम्यग्देहाभिमानवतः। जीवनापेक्षावत इति यावत्। तस्य हिंसकस्य देहो मृतः प्राणवियुक्तो भवति। अनेन नानुकूलमायुर्हंतीन्येतदपेक्षितमायुर्हंतीत्येवं व्याख्यातं भवति। देहे मृते तमनु देहमनु। अर्थकामौ जन्मांतरीयार्थकामसंपादकपुण्ये गच्छतोऽमलं यशो जन्मांतरीयामलं यशः संपादकपुण्यं च गच्छति। गौर्विद्यावगच्छतीत्येतद्ध्रुवमिति। अनेनायुर्हंतीत्यत्रायुरित्येतज्जन्यंतदीयार्थकामसंपादकपुण्यादेरुपलक्षणमित्युक्तं भवतीत्येतद्धि प्रमाणप्रसिद्धमिति। एतेन देहवियोगस्य परमात्मनिष्ठत्वाद्देहो मृतो भवतीति चोद्यस्यानवकाशः ।। २३ ।।

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

।। श्रीमद्धनुमद्भीममध्वांतर्गतरामकृष्णवेव्यासात्मकलक्ष्मीहयग्रीवाय नमः ।।

स्वप्ने यथा पश्यतीति श्लोके मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः पुरुषः स्वप्ने यथा मिथ्याभूतं देहं पश्यति तथा दृष्टश्रुताभ्याम्। भावेक्तः। दृष्टेन मननाख्यदर्शनेन श्रवणेन च संस्कृतेन मनसा परं ब्रह्मानुध्यायन्पुरुष ईदृशं मिथ्याभूतमेव देहं प्रपद्यत इति देहोपलक्षितजगतः स्वप्नदृष्टांतेन मिथ्यात्वमुच्यत इति भ्रांतिः। तथाऽपस्मृतिरित्यनेन घटपटस्मरणाभाव उच्यत इति च प्रतीयतेऽतस्तत्प्रतीतिनिरासाय दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिंतयन्नित्यस्यान्वयप्रदर्शनपूर्वकं तात्पर्यार्थं वदन्नपस्मृतिरित्यस्य तात्पर्यार्थमाह ।। स्वप्ने यथेति। दृष्टश्रुतस्मृत्यनुसारिदेहं प्राप्नोति। दृष्टस्मृतकारणं संस्कारोपादानकदेहनिमित्तकसुखादिकमनुभवतीत्यर्थः। अनेन तात्पर्यवाक्येन दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतयोर्जाग्रद्देहयोर्मनसा जातं चिंतयंश्चिंतनमनुसृत्य स्मृत्यनुसारिदेहमिति भागवतवाक्यं व्याख्यातं भवति। तथा चिंतयन्नित्यत्र व्यत्ययो बहुलमिति सूत्राद्व्यत्ययेन कर्त्रर्थकोऽपि शतृप्रत्ययो भावार्थो ज्ञातव्य इति सूचितं भवति। मृतः पूर्वदेहनिमित्तकदुःखानुभवरहित इत्यर्थः। कुतोऽनुभवरहित इत्यतो हेतुं वक्तुमपस्मृतिपदमेव मुख्यार्थत्वेन व्याचष्टे। पूर्वदेहेति। अभिमानतो मदीयोऽयं देह इत्यभिमानेन पूर्वदेहस्मरणाभावादित्यर्थः। अभिमानत इति त्वसिद्धिपरिहारार्थम्। अनभिमानत इति क्वचित्पाठः। तत्रानभिमानत इत्येतत्पूर्वदेहस्मरणाभावस्यैव व्याख्यानमिति ज्ञेयम् ।। ततश्चायं श्लोकार्थः ।। स्वप्ने यथा दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतजाग्रद्देहयोर्मनसा जातं चिंतयंश्चिंतनं स्मृतिमनु अनुसृत्य। स्मृतिकारणसंस्कारोपादानकमिति यावत्। देहं पश्यति। दृष्ट्वा तन्निमित्तसुखादिकं प्राप्नोत्यनुभवति। अपस्मृतिर्जाग्रद्देहनिमित्तकसुखादिस्मृतिरहितश्च भवतीत्यर्थः। तथाऽयमज्ञो जीवः स्वयोग्यप्राप्यदेहविशेषे द्वारूपमनोरथयुक्तचित्तः सन्। तत्स्वयोग्यमीदृशमिष्टं किमपि शरीरं प्रपद्यते। तन्निमित्तकसुखादिकमनुभवति। अनंतरमपस्मृतिः पूर्वदेहनिमित्तकसुखदुःखादिरहितश्च भवति। कुतः। अपस्मृतिरपस्मृतेर्ममायं ब्राह्मणदेह इति विशेषतः स्वीयत्वाभिमानेन पूर्वदेहस्मरणाभावात्। अनभिमानत इति पाठे पूर्वदेहस्मरणाभावादित्यस्य विवरणमिदमिति ।।४।। यतो यतो धावतीति श्लोके मायारचितेष्वात्मपंचस्वात्मसंबंधिषु पंचसंख्याकेषु गुणेषु शब्दादिविषयेषु यस्य देहिनो मनो यतो यतः कर्मणो निमित्ताद्धावत्यसौ देही तेन तेन कर्मणा सहितः सन् जायत इत्यन्यथाप्रतीतेर्विवक्षितार्थाप्रतीतेश्चान्वयं दर्शयन्नपेक्षिताध्याहारेण तत्तात्पर्यार्थमाह ।। यतो यतो यत्र यत्रेति। आत्मानश्च ते पंच चात्मपंच तेषाम्। पंचसंख्यानां देहानामित्यर्थः। अत्र पंचस्विति सप्तम्या अधिकरणत्वादिभ्रांतिनिरासाय निर्धारणार्थत्वज्ञापनाय च पंचानामिति विभक्तेर्विपरिणामं कृत्वा मध्य इत्युक्तम्। ननु पंचस्वित्यत्रैवाध्याहृतमध्यपदेनान्वये कृते सति पंचस्विति सप्तम्या एव निर्धारणत्वस्य ज्ञातुं शक्यत्वाद्व्यर्थोऽयं विभक्तिविपरिणाम इति चेत्। सत्यम्। तथाऽपि तेषां मध्य इत्युक्त्या मंदबुद्धिभिर्यथा झटिति निर्धारणार्थत्वं ज्ञायते तथा तेषु मध्य इत्युक्त्या झटिति न ज्ञायते। अतो मंदबुद्धीनामनुग्रहायाचार्यैर्विभक्तिविपरिणामः कृत इति न वैयर्थ्यमिति। दैवेन परमात्मना वायुना च गुणानुबद्धः सन्सत्त्वादिगुणानुबद्धः सन्। इदं तु गुणेष्विति भागवतपदस्य फलितार्थकथनम्। आत्मा पंचस्वित्युक्त्या पंचात्मनः क इति जिज्ञासायां प्रमाणेनैव पंचात्मनो दर्शयन्स्वोक्तार्थमपि दृढयति ।। देवगांधर्वेति तत्र तत्रेत्यतः परं दैवेन सहेति शेषः पूरणीयः। स्वगुणस्य स्वरूपभूतसत्त्वादिगुणस्येत्यर्थः। सत्त्वादिविनिबंधनः स्वरूपातिरिक्तैः

प्राकृतैः सत्त्वादिगुणैर्विशेषेण नितरां बंधनं यस्य स तथा। अनेन तात्पर्यश्लोकार्धेन गुणानुबद्धः सन्निति स्ववाक्यस्थगुणशब्दः स्वरूपभूतगुणस्य प्रकृतिकार्यभूतगुणस्य च वाचक इति सूचितम्। तेन स्वस्वयोग्यानुसारेण प्रकृतिकार्यसत्त्वादिगुणकार्यदेवादिदेहप्राप्तिर्भवतीति सूचितम। तत्र स्वयोग्यतानुसारेण दैवादिप्राप्तिर्भवतीत्यस्मिन्नर्थे प्रमाणमाह ॥ देवादित्वं योग्यतयेत्यादि । तुः समुच्चयार्थोऽवधारणार्थश्च। तत्र समुच्चयार्थो यथास्थित एव। अवधारणार्थस्तु योग्यतयेत्यनेन संबध्यते। अनुस्मृतेर्विष्णोरनुचिंतनात्। यद्देवादित्वं यश्च तत्सकाशस्तेषां देवादीनां सकाशः सामीप्यं प्राप्यते तद्योग्यतयैव योग्यतानुसारेणैव। देवादित्वयोग्यो देवादित्वं प्राप्नोति। देवादित्वायोग्यो देवादिसामीप्यं प्राप्नोति। तदपि योग्यतानुसारेणैव ॥ यद्वा ॥ तत्सकाश इत्यस्य तेन देवादिप्रकाशेन सः समानः काशो दीप्तिरित्यर्थः। काशृ दीप्ताविति धातोर्भावे घञ्प्रत्ययः। समानस्य छंदस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केष्विति सूत्रेण समानशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति। तत्रापीत्यपिशब्दोऽवधारणे। अपेक्ष्येत्यनेन संबध्यते। योग्यतामपीत्यत्रापिशब्दः संभावनायाम्। संभावितां योग्यतामित्यर्थः। विष्णोर्वायुशक्रादीनामपि यत्स्थानं श्वेतद्वीपादि तत्र तु विशेषेण। अपि संभावितां योग्यताम्। यस्य यादृशी योग्यता संभवति तादृशीं योग्यतामपेक्ष्यैव। स्थितिर्भवतीति शेषः। विष्णोर्वायुशक्रादीनां च स्थानं श्वेतद्वीपादि विनाऽन्यत्रान्येषु त्रैलोक्यदेशप्रभेदेषु त्रैलोक्ये विद्यमानेषु प्रदेशविशेषेषु स्थित्यै योग्यता नैवापेक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ ज्योतिर्यथैवोदकेति श्लोके यथोदकपार्थिवेषु प्रतिबिंबितमदः सूर्यादिकं ज्योतिः समीरवेगानुगतं वायुवेगेन चंचलत्वादिप्राप्तमुदकमनुसृत्य गतं चंचलत्वादि प्राप्तं विभाव्यते प्रतीयते। उदकगतमेव चंचलत्वछिन्नत्वादिकं जलगतसूर्यादावारोप्यते। एवं रागानुगतो बहु स्यामितीच्छामनुगतो युक्तोऽसौ पुमान्परमात्मा स्वमायया रचितेषु स्वाज्ञानकल्पितेषु गुणेष्वप्रधानेषु देहादिषु प्रतिबिंबितो मुह्यति। अहं दुःख्यहं सुखी बद्ध इत्याद्यनेकविधं दुःखादिविषयं मिथ्याज्ञानं प्राप्नोतीति परमात्मन एव देहाद्युपाधिषु जीवरूपेण विद्यमानत्वं तत्र जीवे प्रतीयमानस्य दुःखादेर्मिथ्यात्वं चोच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायानूद्य तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ विभाव्यत इति। एवं स्वयं किंचिद्व्याख्यायेदानीं सर्वमपि श्लोकं प्रमाणेनैव विवृणाति ॥ यथैवोदशरावेष्वित्यादिना। उदशरावेषूदकपूर्णशरावेष्वित्यर्थः। प्रतिबिंबित इत्यनेन भगवतीति शेषः पूरितः। वायुना चलित इत्यनेन समीरवेगानुगतमित्येतद्विवृतं भवति। भाति छिन्नभिन्नादिरूपवानित्यनेन विभाव्यत इत्येतद्व्याख्यातं भवति। विष्ण्वच्छया जातमित्यनेन स्वमायारचितेष्वित्येतद्विवृतं भवति। छिन्नो भिन्न इति तात्पर्यश्लोकार्धेन विमुह्यतीतिपदं व्याख्यातं भवति। एवमेकेन प्रकारेण श्लोकं व्याख्यायेदानीं प्रकारांतरेण तमेव श्लोकं व्याख्याति ॥ दृढीभूतोदवदित्यादिना। निःशरावके शरावान्निष्क्रांते पृथक्कृते दृढीभूते चंचलत्वादिरहिते गुणैः प्रकृतिकार्यसत्त्वादिगुणकृतदेहादिभिः ॥ विमुक्तस्त्विति। तुरवधारणार्थो नेत्यनेन संबध्यते। द्रवत्ववत् द्रवत्वयुक्तजलेन तुल्यं वर्तते। यथा शरावगतोदकसंबंधेन सूर्यादिप्रतीतिबिंबस्य चांचल्यादिकं जायते तथा देहादिगताज्ञानसंबंधेन हरिप्रतिबिंबस्य जीवस्य दुःखादिकं जायत इति भावः। तज्ज्ञानं तज्जीवस्य स्वरूपभूतं ज्ञानम्। चः समुच्चये। एवशब्दः पूर्वार्धस्थेन तज्ज्ञानमिति पदेन संबध्यते। न केवलं जीव एव दृढीभूतोदवत्किंतु तद्गतस्तस्मिन्नित्यंतःकरणगतः प्रतिभातो जीवश्चेति चशब्दद्वयान्वयः। जडांतःकरणव्यावृत्त्यर्थं नित्यांतःकरणं विशेषितम्। ननु जीवतज्ज्ञानयोर्यत्प्रतिबिंबत्वमुक्तं तदयुक्तम्। तथात्वे मुक्तावुपाध्यादिनाशे तयोर्नाशः स्यात्। सूर्यकादौ तथा दृष्टत्वात्। मुक्तौ तन्नाशे मुक्तेरपुरुषार्थत्वं स्यादित्यत आह ॥ द्वयमेवेति। एवशब्दोऽध्याहृतेन चिद्रूपमित्यनेन संबध्यते। अपिशब्दः किंचिदित्यनेन संबध्यते। विमुक्तस्य द्वयमुपाधिप्रतिबिंबरूपं द्वयं चिद्रूपमेवेष्यते। न तु सूर्यकांतादिवत्किंचिदपि जडमिष्यत इत्यर्थः। कुत इत्यत आह ॥ तस्येति। उत प्रश्ने विकल्पे स्यादुताप्यर्थवितर्कयोरिति विश्वकोशाख्याभिधानादत्रौतशब्दोऽप्यर्थकः। स्वरूपं च तत् द्वयं स्वरूपद्वयं। द्वयमुपाधिप्रतिबिंबरूपं द्वयं तस्य मुक्तस्य स्वरूपमेव। उत आप्यते। प्राप्त्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञायते। प्रतिपत्तौ विमोक्षस्य नित्योपाध्या स्वरूपया। चिद्रूपया युतो जीवः केशवप्रतिबिंबक इत्यादिगीताभाष्याद्युदाहृतप्रमाणेनेति शेषः। उपसंहरति ॥ तस्मादिति। तस्मादुपाधेश्चित्स्वरूपमुक्तस्वरूपत्वेन विनाशाभावात्प्रतिबिंबस्य नाशाभावाद्बिंबस्य हरेर्व्याप्तत्वेन बिंबोपाधिसंबंधस्य च भावादीश्वरप्रतिबिंबभूतजीवस्य नित्यत्वाज्जीवस्तु केनचित्केनापि पुरुषेण हंतुं न शक्यः। यस्मात्केनापि जीवो हंतुं न शक्यस्तस्मादात्मवान्परमात्मप्रसादेन जीवनित्यत्वपरमात्मस्वातंत्र्यादिज्ञानवान्सन् परद्रोहं नाचरेत् परनाशाय यत्नं न कुर्यात्। यदि कुर्यात्तर्ह्यज्ञभावेनाज्ञस्य भावोऽज्ञत्वं तेन परेषां द्रोहमाचरन् पुरुषो हन्यते वा हन्यत एव। नरकादिकं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः। अनेन तस्मान्नहंतुं शक्योऽसावित्यादिसार्धश्लोकेन तस्मान्न कश्चिद्द्रोहमिति भागवतश्लोको व्याख्यातः। तत्र तथाविध इत्यस्यार्थः ॥ आत्मवानिति। द्रोग्धुर्वै परतोभयमित्यस्यार्थः ॥ हन्यते चेत्यादि। स्वमायया रचितेष्वित्यत्र स्वशब्देन.विष्णुर्गृहीतः। तत्कुत इति चेन्न। स्वशब्दस्य विष्णुनामत्वादित्याशयवास्तत्र प्रमाणमाह ॥ परः स्वो हरिरिति। अस्य वाक्यस्य स्वार्थे तात्पर्यमस्तीति सूचनाय फलोक्तिः ॥ ४३–४४ ॥ नन्वग्नेर्यथा दार्विति श्लोके यदग्नेर्दारुवियोगावदृष्टस्यैव कारणत्वमुक्तं तदयुक्तम्। तत्र प्रमाणाभावात्। अग्नेर्दारुयोगादेः स्वतः सिद्धत्वाच्चेत्याशंकापरिहारायापेक्षिताध्याहारेण तत् श्लोकतात्पर्यार्थमाह ॥ कुंडादिस्थाग्नेरिति। आदिपदेन तृणादेर्ग्रहणम्। स्वतः स्वातंत्र्येण। अनेन जडाग्नेर्जडत्वेन स्वतः प्रवृत्तेरेवाभावाद्दारुयोगादिकारणत्वं न स्वतः सिद्धम्। तदभिमानिचेतनाग्नेः स्वातंत्र्याभावेन दारुयोगादिकारणत्वं स्वतः सिद्धमिति सूचितम्। नन्वेवं चेद्भागवतोक्तमदृष्टस्य दारुयोगादिकारणत्वमयुक्तं स्यात् अदृष्टस्यापि जडत्वादित्याशंकां प्रमाणेनैव परिहरन्नुक्तार्थं च दृढयति ॥ यथा कुंडस्थिताग्नेरिति। अत्र दैवपदग्रहणेन भागवते दृष्टशब्देनादृष्टादिनियामकपरमात्मग्रहणान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति तथाऽन्यन्निमित्तमस्तीत्यत्र स्वातंत्र्येणेति शेषः पूरणीय इति सूचितं भवति। अग्नेरुप समीपे दारुसन्नमेत्प्रह्वीभूतं

भवेत्। णमु प्रह्वत्वे शब्दे चेति धातोः। अग्निसंयुक्तं भवेदिति भावः। उपलक्षणमेतत्। अग्निवियुक्तं च भवेदित्यपि ग्राह्यम्॥ ५१॥
इति श्रीभागवततात्पर्यटिप्पण्यां प्रथमोऽध्यायः॥ १०-१॥

॥ हरिः ॐ॥ भगवानपि विश्वात्मेति श्लोके तथा ततो जगन्मंगलमिति श्लोके यथा ततो रेतः सिंचमेवानुप्रविशत्यथ मातरमिति ब्रह्मसूत्रभाष्योदाहृतश्रुतौ जीवस्य शरीरोत्पत्त्यर्थं पित्रादिप्रवेश उच्यते। तथा विष्णोः शरीरोत्पत्त्यर्थं वसुदेवादिप्रवेश उच्यत इति भाति। तं निवारयितुं प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह॥ आविश्य पितरं विष्णुमित्यादिना। चशब्दो मातरमित्यनेन संबध्यते। विष्णुर्लोकस्य विडंबनार्थमनुकरणार्थं मोहनार्थमेव स्वरूपभूतेनानंदमात्रदेहेनैव पितरमाविश्याथमातरं चाविशत्। न तु जीववद्देहोत्पत्त्यर्थम्। निर्जनैरपि हरिर्देवक्यादिदेहात्तेनैव चिदानंदात्मकदेहेन बहिर्निर्गतः सन् जातवत्संप्रदर्श्यत इत्यर्थः। जातवत्संप्रदर्श्यत इत्यनेन भागवतचतुर्थाध्यायस्थे जायमाने जने तस्मिन्निति श्लोके निशीथे तम उद्भूत इति श्लोके च विद्यमानं जायमानपदमुक्ततात्पर्यार्थं भवति॥ १७-१९॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

॥ हरि ॐ॥ श्रीमद्धनुमद्भीमध्वांतर्गतरामकृष्णवेदव्यासात्मकलक्ष्मीहयग्रीवाय नमः॥

अत्र विरोधोद्धारे दशमस्कंधस्य क्रमप्राप्तेऽपि प्रसंगादघासुरवधाध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्तत्वं श्रीश्रीनिवासार्यैरेव साधितमत्र लिख्यते। अथ केचन श्रीमन्भगवन्मायामोहिता अघासुरवधप्रतिपादकाध्यायत्रयं भागवतांगं ब्रवते। तन्न। प्रक्षिप्तत्वात्। तथाहि। सर्वसंमतेन श्रीधरेण भागवतटीकारंभसमये कल्पद्रुमसाम्येन भागवतस्तुतिः कृता। तत्रेदं पद्यम्। श्रीमद्भागवताभिधः सुरतरुस्तारांकुरः सज्जनिः स्कंधैर्द्वादशभिस्ततः प्रविलसद्भक्त्यालवालोदयः। द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखाः सहस्राण्यलं पर्णान्यष्टदशेष्टदोऽतिसुलभो वर्वर्ति सर्वोपरोति। अत्र द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा इत्यनेन भागवतस्थत्रिंशदधिकशतत्रयाः प्रोक्ताः। कृतायां तु गणनायां पंचत्रिंशाधिकत्रिशताध्याया भवंति। तदित्थम्। प्रथमस्य (१९)॥ द्वितीयस्य (१०)॥ तृतीयस्य (३३)॥ चतुर्थस्य (३१)॥ पंचमस्य (२६)॥ षष्ठस्य (१९)॥ सप्तमस्य (१५)॥ अष्टमस्य (२४)॥ नवमस्य (२४)॥ दशमस्य (९०)॥ एकादशस्य (३१)॥ द्वादशस्य (१३) एवं मिलित्वा त्रिशतोपरिपंचत्रिंशत्संख्या भवति। (३३५)॥ तस्मात्पूर्वप्रतिज्ञाताध्यायापेक्षयाऽध्यायत्रयस्याधिक्याज्ज्ञायतेऽध्यायत्रयमिदं प्रक्षिप्तमिति। न च वाच्यं चकारेणाध्यायत्रयस्यापि संग्रहः पूर्वप्रतिज्ञायामेव कृतमिति। चशब्दोपात्तसंग्रहस्य निरंकुशत्वेनाधिकस्य न्यूनस्य वा कर्तुं सुशकत्वात्। चशब्दस्य संग्रहार्थत्वे समुच्चयार्थकत्वाभावेन द्वात्रिंशतमित्यस्यं द्वात्रिंशद्गुणितं त्रिशतमित्यर्थप्रसंगाच्च। दाशरथिवनवासप्रकरणे वर्षाणि नवपंच चेत्यत्रापि चकारेण चतुर्वर्षाधिक्यप्रसंगाच्च। अत्राध्यायत्रयोपलब्ध्याऽन्यत्र चतुर्वर्षाधिक्यानुपलब्ध्या च नैवमिति चेन्न। उपलब्धेरेव सर्वासंमतत्वेन संदिग्धत्वादसिद्धेः। अन्योन्याश्रयत्वाच्च। सत्यां चाध्यायत्रयोपलब्धौ चकारस्याध्यायत्रयसंग्रहार्थकत्वनिश्चयसिद्धिः। तत्सिद्धौ चाध्यायत्रयनिश्चयोपलब्धिसिद्धिरिति। ननु मास्तु च शब्देनाध्यायत्रयसिद्धिः। तथाऽपि द्वात्रिंशत्त्रिशतमित्यत्र त्रिशब्दस्य पुनरावृत्त्या त्र्यधिकं त्रिशतमित्यर्थोपपत्त्या पंचत्रिंशदधिकत्रिशताध्यायसिद्धेरिति चेत्। मैवम्। कल्पनागौरवात्। पद्ये द्वितीयत्रिशब्दाभावेन त्रिशब्दस्य कल्पनेव कार्या। ततोऽधिकशब्दस्यापि कल्पनम्। तेन पंचत्रिंशदधिकत्रिशताध्यायकल्पनमिति। न च वाक्यं गौरवं न दूषणम्। अन्यथाऽनुपपत्तेरिति। अध्यायत्रयाभावकल्पनस्यैव लाघवादन्यथाऽप्युपपत्तेः। ननु व्यासप्रोक्तस्यैव वस्तुतत्वाद्द्वात्रिंशत्त्रिशतमित्युक्तिः पूर्वप्रतिज्ञातायाम्। गणनायामध्यायत्रयाधिक्यं तु भागवतांते सूतप्रोक्तत्वादिति चेन्न। अंत्याध्यायद्वयस्यैव सूतप्रोक्तत्वात्। अन्यथा महापुरुषविन्याससूर्यादिसप्तकप्रतिपादकाध्यायस्य व्यासप्रणीतत्वेनाख्यानद्वयस्यानुक्रमणिकायामभावः प्रसज्येत। न हि तथाऽत्रास्ति। महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मन इति चोक्तम्। द्विजश्रेष्ठोऽहमिहास्मि व इत्युक्तेः। अत्रेति शब्दस्य सूर्यादिसप्तकाख्यानांते भागवतसूचकत्वाच्च। ननु भागवतस्य द्वात्रिंशदधिकत्रिशताध्यायत्वेऽपि नाघासुरवधवत्सहरणब्रह्मस्तुतिप्रतिपादकाध्यायप्रक्षेपः सिध्यति। किंतु त्र्यध्यायात्मकस्याजामिलोपाख्यानस्य भागवतानंतरभूतत्वाद्द्वात्रिंशत्त्रिशतमित्युक्तिः। यत इतिहासमिमं मह्यं भगवान्कुंभसंभवः। कथयामास मलये आसीनो हरिमर्चयन्निति शुकोक्तेरिति चेत्। मैवम्। षष्ठस्कंधस्यैकोनविंशत्यध्यायप्रतिज्ञाव्याहतेः। न च वाच्यं षष्ठस्तु षोडशोध्यायात्मकोऽध्यायत्रयं तु बाह्यमिति। तथा सूचितत्वाभावात्। अस्येतिहासस्य शुकायागस्त्योक्तत्वेऽपि व्यासग्रथितत्वसंभवाच्च। कृष्णोक्ताया अपि व्यासग्रथितत्ववत्। किंचेतिहासारंभस्तु कान्यकुब्जो द्विजः कश्चिदित्येतस्माच्छ्लोकादेव। तत्पूर्वश्लोकानां तु भागवतसंबंधोऽस्ति वा नास्ति। नाद्यः। अध्यायानां षोडशत्वानुपपत्तेः। न चोत्तराध्यायस्यांगम्। असंगतेः। न द्वितीयः। निवृत्तिमार्गः कथित इत्याद्यनुवादानुपपत्तेः। तस्मादजामिलाख्यानस्य बाह्यत्वासिध्या द्वात्रिंशत्त्रिशतमित्यध्यायसंख्यासिध्यर्थं सेत्स्यत्येवाध्यायत्रयप्रक्षेपः। स्यादेवं यदि वयं श्रीधरोक्तस्य श्लोकस्यैव प्रामाण्यमंगीकुर्मः। येनाध्यायत्रयप्रक्षेपसिद्धिः। तदेव नास्तीति चेत्। तथात्वे सर्वटीकाया एवाप्रामाण्यप्रसंगात्। यस्य हि ग्रंथस्य प्रारंभ एव ग्रथिताप्रामाण्यं तद्ग्रथितस्य सर्वस्याप्यप्रामाण्यं कथं न भवेत्। स्यादेतत्। यदि ग्रंथारंभेऽप्रामाण्यं स्यात्। तन्नास्त्येव। यतो द्वात्रिंशच्च त्रयश्च त्रिशतानि चेति व्युत्पत्तेर्विवक्षा। अनयाऽपि कथं संख्यासिद्धिरिति चेत्। मैवम्। शतानीति बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानात्। अपर्यवसितबहुत्वस्य त्रित्वे पर्यवसानमिति न्यायात्। इति

चेन्न। गौरवानिस्तारात्। त्रिशब्दस्य पार्थक्यकल्पनम्। शतशब्दस्य बहुवचनकल्पनम्। बहुवचनस्य त्रित्वकल्पनमिति। गौरवं न दोषाय। अन्यथाऽनुपपत्तेरिति चेन्न। द्वात्रिंशदधिकत्रिशतांगीकारेण लाघवस्याप्युपपत्तेः। किंच न्यायः सर्वत्रोपादीयते। अथवा। क्वचित्। नाद्यः। ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चात्सांगतार्थं हि कर्मण इत्यत्रापि ब्राह्मणत्रयस्यैव भोज्यत्वापत्तेः। दुव्यवरान्भोजयेद्विप्रानित्यत्र विप्रशब्दबहुवचनेनैव त्रित्वलाभे पुनर्दुव्यवर शब्दस्य वैयर्थ्यप्रसंगाच्च। द्वौ अवरौ अल्पौ येभ्य इति व्युत्पत्तिः। चतुर्थप्रभृतीनां तु अपर्यवसितत्त्वेनांगीकारायोगात् दुव्यवरशब्देन त्रित्वमेव सिध्यतीति। तस्य बहुवचनेनैव सिद्धत्वे विशेषणवैयर्थ्यं सुस्थमेव। त्रीणि त्रीणि वै देवानामृद्धानि त्रीणि छंदांसि त्रीणि सवनानि त्रय इमे लोका इत्यत्र सर्वत्र त्रिशब्दानां वैयर्थ्यप्रसंगाच्च। फलानि समिधः कुशानित्यत्रापि फलादीनां त्रयस्यैव हरणापत्तेश्च। यो भूतानामधिपतयो रुद्रस्तंतिचरो वृषेत्यत्र च भूतत्रयाधिपतित्वमेव रुद्रस्य श्रुतिप्रतिपादितं स्यात्। अन्येषां भूतानां च रुद्रानधीनता स्यात्। अस्तु क्वचित्कपिंजलाहरणादौ सार्थकमुपादानम्। अत्र मास्तु। नियामकाभावात्। अत्र शतत्रयोपलब्धिरेव नियामिकेति चेत्। सा च श्रवणादिना विना न भवति! श्रवणादिप्रवृत्तिश्च सुलभेष्टसाधनताज्ञानं विना न भवति। सुलभेष्टसाधनज्ञानं तु एतस्मात्पद्यादेव। इष्टदोऽतिसुलभ इत्युक्तत्वात्। एतत्पद्यप्रामाण्यसिद्धिस्तु तदाशयाध्यायोपलब्ध्या। एवं चक्रकापत्त्या तस्याप्यसिद्धेः। सुलभेष्टसाधनताज्ञानहेतुत्वं नास्यैव पद्यस्य। अन्यस्यापि संभवान्न चक्रकापत्तिरिति चेन्न। इष्टदत्वातिसुलभत्वप्रतिपादनस्य व्यर्थत्वेनाप्रामाण्यप्रसंगात्। इष्टदत्वादिप्रतिपादनं हि श्रोतृप्रवृत्तिजननार्थमेव। तस्मादुभयथाऽपि न्यायस्योपादेयताभावादव्युत्पादितार्थासिध्या प्रामाण्याभावो शक्यसाधन इति। किंचाघादिविषयाध्यायत्रयांतिमश्लोकस्य तत्पूर्वाध्यायांतिमश्लोकस्य च। एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे निलायनैः सेतुबंधैर्मर्कटोत्प्लवनादीभिः। इत्याकारकस्यैकत्वेनापि प्रक्षेपोऽध्यायत्रयस्य सिध्यति। प्रक्षेपकेण हि संगत्यर्थं पूर्वाध्यायांतिमश्लोकस्य गृहीतत्वात्। अन्यथाऽसंगत्यैव। प्रक्षेपज्ञानस्य सुशकत्वात्। नन्वेकस्यैव श्लोकस्य पुनर्ग्रहणेन तन्मध्यवर्तिनो ग्रंथस्य प्रक्षेपाभ्युपगमे नामकरणप्रकरणे आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्येत्यादीनां श्लोकानां पुनर्गोवर्धनोद्धरणप्रकरणे गृहीतत्वेन तन्मध्यवर्तिग्रंथस्यापि तथात्वं स्यात्। न च तथा। तस्मादेतस्याध्यायत्रयस्य तद्दृष्टांतेन प्रक्षेपासिद्धिरिति। मैवम्। दृष्टांतदार्ष्टांतिकयोर्वैषम्यात्। दृष्टांते हि आसन्वर्णा इत्यादीनां नामकरणप्रकरणे गर्गोक्तित्वेन गोवर्धनोद्धारणप्रकरणे च नंदानूदितत्वेन वक्तृभेदः। दार्ष्टांतिके च वक्तृभेदाभावः। उभयत्रापि शुकोक्तेरेवेति गर्गनंदवाक्ययोः शुकेनानूदितत्वात्। अपि च समाख्याभावाच्च प्रक्षेपः सिध्यति। तथाहि। द्वितीये ब्रह्मणा कृष्णकर्माणि नारदायोपदिष्टानि। तृतीये उद्धवेन विदुराय। दशमे गोवर्धनोद्धारे गोपोक्तानि। रंगसभायां च सभास्थैर्वर्णितानि। द्वादशे च सूतेन संग्रहोक्तानि। तेषां मध्ये अघाद्याख्यानस्य क्वाप्यदृष्टत्वात्। न च वाच्यं दशम एव प्रलंबबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैरित्यत्र महाशनशब्देन शब्देनाघासुरगृहीतत्वात्समाख्याऽस्तीति। महाशन शब्दस्याघासुर शब्दवाच्यत्वे प्रमाणाभावात्। तर्हि महाशनशब्देन को गृह्यते। कुवलयापीड इति ब्रूमः। कुतः। महान्पूज्यत्वेन वा स्वजातिश्रेष्ठत्वेन पिप्पलः सोऽशनं भक्षणं यस्येति व्युत्पत्त्या युक्तत्वात्। कुंजरः पिप्पलाशन इत्युक्तेः। यद्वा। प्रलंबादीनामेव महाशनशब्दवाच्यकामक्रोधादिरूपम्। उक्तं च गीतासु। काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मेत्यादि। कामक्रोधादयो दैत्या देवाः शमदमादय इति च। ननु मास्तु भागवते समाख्या। तथाऽपि अन्येषां बहूनां ग्रंथानां विद्यमानत्वेन स्यात्क्वचिदिति चेन्न। भारते हरिवंशे चाघासुरवधाख्याभावेन सर्वत्राप्यभावात्। उक्तं च ब्रह्मांडे। तस्माद्धि भारते नोक्तं तद्धि नैवास्ति कुत्रचित्। अत्रोक्तं सर्वशास्त्रेषु न हि सम्यगुदाहृतमिति। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिदिति च महाभारते। एवमेतत्प्रक्षेपसिद्धौ ग्रंथसंख्याऽपूर्तिः स्यादिति चेन्न। प्रक्षेपकेण हि पूर्वमिदं प्रक्षिप्य ग्रंथसंख्यालोचने आधिक्यभिया पारिजातहरणस्योद्धापात्। न च वाच्यं तस्यैव प्रक्षेप इति। हरिवंशादौ समाख्यासद्भावात्। तस्मादिदमेव प्रक्षिप्तमिति सिद्धम्॥ इत्यघासुरवधाद्यध्यायत्रयप्रक्षेपसाधनं समाप्तम्॥

॥ हरिः ॐ॥ **कथितेति** अत्र राज्ञाश्रुतनवमस्कंधानुवादः कृतः। तत्र पूर्वं सूर्यवंशकथनेऽत्र सोमसूर्ययोरिति व्यत्यये नोक्तमतो विरोधोऽत उच्यते। अल्पाच्तरमिति सूत्रेण सोमशब्दस्य सूर्यशब्दादर्धमात्रालाघवेन सायंप्रातः शब्दयोर्मध्ये सायंशब्दस्येव पूर्वनिपातौचित्यम्। यद्वा। अभ्यर्हितं पूर्वमिति सूत्रेण सोमवंशस्य स्वसंनिहितकृष्णावतारेणाभ्यर्हितत्वात्तच्छब्दस्य पूर्वमुक्तिः। अथवा। सोमस्य स्ववंशमूलपुरुषत्वेनाभ्यर्हितत्वाभिमानात्तथोक्तिरतो न विरोधः॥ १॥ यदोरिति। अत्र यदोर्नितरां धर्मशीलत्वमुक्तम्। तदयुक्तम्। जरायौवनव्यत्यासार्थं पितृकृताज्ञालंघनात्। मैवम्। स्वयौवने स्वमातृभोगापेक्षया पित्राज्ञाभंगस्यानधिकपापवहत्वात्। तर्हि पुरोरयं दोषः स्यादिति चेन्न। सापत्नमातुः पितृद्वारा संबंधसत्वेन तदाज्ञापालनस्यैवौचित्यात्। तस्माद्यदुकृतपित्राज्ञाभंगेन न धर्मशीलत्वहानिः! प्रकृतयदोरिति विचारवत्त्वादेव नितरामिति विशेषितम्। अन्यथा तद्वंशे कृष्णावतारासंभवात्॥ २॥ अवतीर्येति। पूर्वश्लोके विष्णोर्वीर्याणि शंस न इत्युक्तत्वेऽपि अत्र तानि नो वदेत्युक्त्या पुनरुक्तिरित्यत उच्यते। पूर्वश्लोके कृते प्रश्ने जातो गतः पितृगृहादिनोक्तमेव पुनः किं पृच्छसीत्याशंक्य पृच्छति। यद्यपि पूर्वस्कंधाते संक्षिप्योक्तं तथापीदानीं विस्तराद्वदेति प्रश्न न न पुनरुक्तिः॥ ३॥ ननु विस्तारकथने विषयतृष्णया प्रवाहितस्य वक्तुः सांसारिकतापपरिजिहीर्षोः प्रष्टुर्योग्ययोगिभेदेन द्विविधश्रोतॄणां मध्ये मनःसमाधानापेक्षकाणां योगिनामिंद्रियतृप्त्यपेक्षकाणामयोगिनां चावसराभावात्कथमिदं घटतेत्याशंक्य समाधत्ते॥ निवृत्तेति। यद्यपि पापापरिहारकालपर्कीर्तेः पुंसो गुणानुवादे कश्चन विरज्येत। तथाप्युत्तमश्लोकगुणानुवादात्पापनाशकमहाकीर्तेर्विष्णोर्गुणानामद्भुतचरितानुवादात् पुनः पुनः कथनप्रश्नश्रवणादिरूपात्मकः पुमान्। विरज्येत अलंबुद्धिमान् भवेत्। न

कोऽपीत्यर्थः । तत्र हेतुगर्भाण्यधिकारिभेदेन त्रीणि विशेषणानि निवृत्ततर्षैर्भवद्भिः । उपगीयमानात् कथ्यमानात् । भवतां विषयतृष्णाभावेन कथने वक्तुरवसरप्राप्तिरिति भावः । भवस्य तज्जन्यतापानां च । औषधात् । उष दाह इति धातोः । दाहकत्वादित्यर्थः । अनेन पृच्छकस्य समाप्त्यवसरसिद्धिश्च सूचिता । श्रोत्रमनोभिरामात् । योगिनामत्रागतानां श्रोतॄणां मुनीनां मनःसमाधानहेतोरयोगिनां केवलेंद्रियतर्पकाणां श्रोतॄणां श्रोत्रेन्द्रियरुचिकरात् । अनेन द्विविधश्रोतॄणामप्यवसरप्राप्तिः सूचिता । तस्माद्विस्तरकथनादिषु न विराग इति भावः । नन्वत्र विरक्तोऽपि कश्चिद्दृश्यत इत्यत आह ॥ विनेति । पशुघ्नात् । पशुरिति विष्णुदीक्षाराहित्येन जीवन्मृत इति ज्ञायते । सो पशुघ्नः । हन हिंसागत्योर्गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वात् । उक्तं च । ते नराः पशवो लोके किं तेषां जीवने फलम् । यैर्न लब्धा हरेर्दीक्षा सर्वबंधविमोचनीति कृष्णामृतमहार्णवे । तस्माद्विना न कोऽपि विरज्येतेति । यस्तत्र विरक्तः स तु जीवन्मृत इति भावः । यद्वा । पशुघ्नः पशुहत्यादिभिः केवलयज्ञादिकर्मणि निष्ठावान्ज्ञानशून्यः । यद्वा । अपशुघ्नादिति पदम् । अपगताः शुचो जीवगतशोकोपलक्षितसर्वदोषा यस्मात्तं हरिं हंतीति । ईश्वरोऽहमहं भोगी यस्त्वया मंदभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः कोऽसावित्यादिना चेश्वराभावकल्पनरूपां हत्यामाचरति तस्मात्पापरूपाद्विनेति । अथवा । पुमान् पुवर्णे आदौ यस्यास्तीति पुरुषोत्तम इत्यर्थः । पूर्णषड्गुणः पुंनामा भगवान्विष्णुर्यतोऽसौ पूर्णषड्गुण इत्युक्तेः । तादृशो विष्णुः । श्लोकगुणानुवादात् स्वकीर्त्यादिगुणाद्धेतोस्तमुद्दिश्येत्यर्थः । पशुघ्नात् शोकनाशकवैकुंठात् । विना गरुडेन । आप प्राप्तोऽभूत् । विनेत्यावृत्तिपक्षे गरुडेन विनेत्यर्थः । अनेन कथाश्रवणे उत्सुकता मर्यादा च सूचिता । अतस्तस्मात्क उत्तमो विरज्येत । यो विरज्येत स नोत्तमः किंतु नीच इति भावः । किंवा भवौषधात् रुद्रस्यौषधाद्विषतापहारकाद्रामायणात् । श्रोत्रमनोभिरामात् कर्णांतःकरणमनोहरात् । भारतात्सकाशादपि । पशुघ्नात् यस्य व्यासस्य शोकनाशकात् तथाऽपि नात्मा परितुष्यते इत्यादिना व्यासमनस्तोषसाधकत्वात् निवृत्ततर्षैः । न मे कर्मफले स्पृहेत्यादिभिस्तृष्णारहितैः । भगवद्ब्रह्मनारदव्यासशुकैः । उपगीयमानादुत्तमश्लोकगुणानुवादात् । अत्रानुवर्ण्यतेऽभिक्षणम् । इत्यादिना पुण्यश्लोकगुणानामनुवेलं वादो वर्णनं यस्मिंस्तस्मात् भागवतात् के सुखविषये । अपेक्षक इति शेषः । यः पुमान्नरः विरज्येत सः विना विरुद्धः पुरुषः पुरुषो न भवति किंतु पशुरिति भावः ॥ ४ ॥ द्रौण्यस्त्रेति । अत्र धार्तराष्ट्रस्य संतानस्यानपेक्षितत्वेऽपि कुरुशब्देन तेषां ग्रहणं कथमित्याक्षेपापाकरणायार्थं उच्यते । यः श्रीकृष्णः द्रौण्यस्त्रदग्धमिदं मदंगं पांडवानाम् । संतानबीजं वंशव्यञ्जकम् । कुर्विति शरणं गताया मे मातुः । कुक्षिगत उदरं प्रविष्टः तत्रापि । आत्तचक्रः । चक्र दीप्ताविति धातोः । दीप्तगदाभ्रमणेनालातचक्रवदर्शनादात्तचक्र इत्युक्तिः । अन्यथा प्रथमस्कंधोक्तेन परिभ्रमंतमुल्काभां भ्रामयंतं गदां मुहुरित्यनेन विरोधः स्यात् । तस्मात्तथा सन् जुगोप । तस्य वीर्याणि वदस्वेत्युत्तरेणान्वयः ॥ ६ ॥ वीर्याणीति । पूर्वत्र वीर्याणि शंस न इत्यनेन सामान्योक्तौ वद विस्तरादित्यनेन च विस्तररूपविशेषप्रश्नसिद्धौ पुनरत्र वदस्व विद्वानित्यनेन पुनरुक्त्यापात इति चेन्न । पूर्वत्र यद्यपि सामान्यविशेषविषयौ प्रश्नौ द्वावपि कृतौ तावक्तारविषयौ । तत्रांशेनावतीर्णस्येति । यदोर्वंश इति चोक्तेः । तथाप्यत्र देह्यं तर्वहिरित्युक्तेर्मूलरूपवीर्यविषयकप्रश्नेन विशेषसिद्धेः । न च मायामनुष्यस्येत्यनेन विरोधः । मायेतीच्छासमुद्दिष्टेति वचनान्मायया स्वेच्छया मनुष्या मनुष्यावतारा यस्मादिति व्युत्पत्त्या मूलरूपस्यैव सिद्धेः । नाप्युत्तराभावात्प्रश्नवैयर्थ्यमत्र शंक्यम् । शिवसंकटमोचकत्वभृगुवत्सलत्वश्रुतिस्तुतित्वाद्युक्तेः । ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ अखिलदेहभाजाम् । सर्वप्राणिनाम् ॥ अंतर्बहिः । पुरुषकालरूपैः । नन्वत्रांतर्बहिरेकैकरूपसत्त्वेन द्विवचनसंभवेऽपि रूपैरिति बहुवचनमयुक्तमिति चेन्न । शरीरांतःस्थद्विसप्ततिसहस्रनाड्यादिषु प्रातिस्विकत्वेन स्थितसूक्ष्मादिद्विपरार्धपर्यंतकालावयवादिषु प्रातिस्विकत्वेन स्थितरूपाणामनेकत्वात् । तथा च शरीरांतःस्थनाडींद्रियादिगतैरत एव पुरुषशब्दवाच्यै रूपैः मृत्युम् । देहवियोगलक्षणरूपमृत्यूपलक्षितदेहसंबंधरूपजन्मादिलक्षणसंसारम् ॥ प्रयच्छतः । प्रकर्षेण यमयतः । यावद्भगवान्स्थूलनाडींद्रियांतः स्थित्वा तानि देहभाग्भिः प्रवर्तयति तावत्संसारोऽत्रापगच्छतीति भावः ।

तथैव शरीरबहिःस्थातिसूक्ष्मतमादिपरांतकालावयवस्थैरत एव । कल छेदने कल कामधेनावित्यादिधातुभ्यः । संसारच्छेदकत्वेन मोक्षकामपूरकत्वेन कालसंज्ञकै रूपैः ॥ अनामयं । आरोग्यं मोक्षं वा । नास्ति नाम मृत्युनामापि यस्मिन्सोऽनामा विष्णुर्वा । अ इति ब्रह्मेति श्रुतेः । अशब्दवाच्यत्वाद्वा । तं याति प्राप्नोत्यनेनेति अनामयं ज्ञानं प्रयच्छतः ददतः ॥ अमनुष्यस्य । मनुष्योपलक्षितसर्वजीवभिन्नस्य । तस्य वीर्याणि ॥ माया । सप्तसु प्रथमेति सूत्रात् । बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत इत्युक्त्या बहुकालसिद्धज्ञानेन भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षो भवतीति भावः । अथवा । अंतर्बहिः पुरुषकालरूपैः । अंतःपुरुषरूपैः अंतराकर्षणेन पुरुषसंज्ञकै रूपैरुच्छ्वसैरित्यर्थः । बहिः कालरूपैः बहिर्विसृष्टत्वेन कं कायं न लांति । ला आदान इति धातोः । नांगीकुर्वंतीति व्युत्पत्त्या कालसंज्ञकै रूपैर्निश्वासैः । आयुर्गणनायां तेषामेव निमित्तत्त्वात् । अखिलदेहभाजां अखिलः पूर्णो विष्णुर्देहाः संत्येषामिति देहाः । अर्श आद्यच् । जीवा इत्यर्थः । विष्णुरेव जीवा इति । भजंति । उपासंति । तेषाम् । मृत्युं संसारं तमो वा । प्रयच्छतः । मायामनुष्यस्य । महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनी चेत्यारभ्य विष्णोः प्रज्ञप्तिरेवैकशब्दैरैतैरुदीर्यत इति नारायणश्रुतेः । माया ज्ञानं तद्युक्तो मनुष्य इति मध्यमपदलोपीसमासः । तस्य । अनामयं मोक्षम् । प्रयच्छतः । ज्ञानिनां मोक्षदश्च इत्यनुव्याख्यानोक्तेः । मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये इत्युक्तेर्देहभाग्मनुष्ययोर्बहुवचनैकवचने क्रमाज्ज्ञेये । अनामयं क्षेमं प्रति । क्षेमार्थमिति यावत् । अपि वा । अखिलदेहभाजां अखिलं सर्वमिष्टं ददातीति अखिलदा तथाविधा ईहा यस्य सोऽखिलदेहो हरिः तं भजताम् । अंतर्बहिः पुरुषकालरूपैः परमाण्वंशांतःस्थब्रह्माण्डबहिष्ठपुरुषकालाख्यरूपैः ज्ञातैरिति शेषः । पुरुषाख्यस्य भगवतो रूपैः रूप्यते

एभिरिति ज्ञानैरित्यर्थो वा तैः । अमृत्युं मोक्षम् । प्रयच्छतौ ददतः । अमनुष्यस्य मनुष्योपलक्षितसर्व विभिन्नस्य तस्य वीर्याणि ! माया । सप्तसु प्रथमेति सूत्रात् । इच्छां कामितं च वदस्वेति । यद्वा । मायेति शुकं प्रति संबुद्धिः । मः शिवे मा रमायां चेति विश्वात् । मः शिवः आ आत्मत्वेन याति प्राप्नोतीति स तथा। मां ज्ञानं वा यातीति स तथेत्यर्थे विद्वन्नित्यनेन पुनरुक्तिः । अतो मातीति मः सर्वज्ञः स चासौ अश्च व्यासश्च तस्मात् यं ज्ञानं यस्य तत्संबुद्धिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

नैषेति अत्रोत्प्रेक्षितकमलपर्यायादंभोजादमृतस्रवणमसंभावितमतो विरोधोऽतोऽर्थ उच्यते । अत्रांभोज शब्दश्चंद्रवाचकः । अब्जो जैवातृकः सोम इत्यभिधानात् । विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरित्यनेनामृतकराच्चंद्रादमृतस्रवणं युक्तमेवेति न विरोधः । किंच एतदन्यच्चेति पूर्वश्लोके विस्तृतं वक्तुमर्हसीत्युक्तम् । तत्र क्षुत्तृट्पीडितस्य तव कथमवसर इत्याशंक्य एवातिदुःसहा क्षुन् त्यक्तोदमपि मां न बाधते । तत्र हेतुगर्भविशेषणं त्वन्मुखांभोजसृतं हरिकथामृतं पिबंतमिति समाहितम् । अनेन ममापि क्षुत्तृट्परीतत्वात्कथमवसर इत्यपि परास्तम् । यद्यस्माद्बहिर्गच्छति तत्तस्मिन्नस्त्येवेति व्याप्त्या क्षुदुपशमस्यानुमेयत्वात् । यद्वा । अंभोजशब्दः कमलार्थक एव । द्रवद्द्रव्ये भाजनस्थे जाते तस्य तल्लेपेन न्यूनतादर्शनेऽपि पद्मपत्रमिवांभसीत्युक्त्या तत्र लेपासंभवेन कमलोत्प्रेक्षा मुखस्येति ज्ञेयं व्यासमुखाद्यावत्प्राप्तं तन्मध्ये किंचिदपि ऊनं न भूत्वैव सर्वं मत्कर्णोपरि पतिष्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ वासुदेवेति । अत्र केचिदुपमाया-मुक्तकर्मासंगतिं ब्रुवते । तदर्थमयमर्थः । कीदृशः प्रश्नः ॥ तत्पादसलिलं यथा । गंगाजलतुल्य इत्यर्थः । ननु तत्कर्मक्रिययोः संबंधोऽत्रा-न्वेषणीयः । उपमायां सर्वसाम्याभावात् । यद्वा । तत्संबंधावश्यकत्वे तु स्नानं कुर्वाणं तत्पितृपुत्रौ चेति त्रीन्पुरुषान्यथा गंगा पुनातीति उपमायां योज्यम् । उपमेये च वक्त्रादीस्त्रीनिति केचित्स्नातुः पितृपितामहप्रपितामहानिति । अन्ये पितृमातृमातामहानिति वदंति । तदयुक्तम् । स्नातुः फलायोगप्रसंगात् । तस्याप्यंगीकारे त्रित्वसंख्योक्त्यनुपपत्तेः । अथवा । वक्त्रादीनामेवोभयत्र संबंधसत्त्वापेक्षायां तु वक्तारं शुकं पृच्छकं राजानं श्रोतॄनृषिसूतादीन् त्रयाणामपि गंगामध्यस्थत्वेन पवित्रीकर्तुं शक्यत्वात् । जटास्थगंगा रुद्रावतारत्वेन शुकं वक्तारं गंगामध्ये प्रायोपविष्टत्वेन परीक्षितं पृच्छकं सदा यात्राप्रसंगात्स्नानपानादिना ऋषीन् श्रोतॄनिति योजना । उत वा । गंगा गंगेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि । मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छतीति वचनाद्वक्तारं कियद्दूरेऽस्ति गंगेतः किं योगात्साऽघहारिणीति पृच्छकम् । शृणुयाद्गंगामाहात्म्यं स याति परमां गतिमिति फलश्रुतेः श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा पुनातीत्यर्थः । ननु प्रश्नादिकृतिः स्वकर्तारमेव पावयेत् । अन्यथाऽतिप्रसगात् । तस्मात्प्रश्नस्य पृच्छकपावकत्वमस्तु । वक्त्रादिपावकत्वं तु कुत इति चेत् । उच्यते । वासुदेवकथाप्रश्नः श्रूयतां देवदेवेशेति वक्तृप्रार्थनया वासुदेवस्य श्रोतृत्वे सिद्धे शक्यसंबंधेन लक्षणया वासुदेवपदेन तद्गतश्रवणरूपो धर्मो गृह्यते । कथाशब्देन वक्तृधर्मः । प्रश्नशब्देन पृच्छकधर्मः । एकवद्भावेन वासुदेवकथाभ्यां सहिततद्गतिः । मध्यमपदलोपीसमासेन चैकवचनोपपत्तिः । अभ्यर्हितत्वाद्वासुदेवस्यादौ ग्रहणम् । अत एवाल्पाच्तरविरोधाभावः । ननु सहपठितेष्वेक-स्यैव लक्षणायां किं निमित्तमिति चेत् । इदं ज्ञेयम् । वक्तृपृच्छकयोः प्रार्थनाभावेन वासुदेवत्वासिध्या कथंचिदपावित्र्यसंभवेऽपि श्रोतृत्वाय प्रार्थितवासुदेवेऽपावित्र्यस्य सर्वथाऽसंभवात् । तत्रैव लक्षणाश्रयणं युक्तम् । तस्माच्छ्रवणादयः स्वस्वकर्तारं पुनंतीति भावः । तत्र दृष्टांतः ॥ तत्पादसलिलमिति । तनोति जगदिति तच्चतुर्मुखः । तनु विस्तारे ततः क्विप् । पातीति पो विष्णुः अत्ति जगद्भक्षयतीत्यदो रुद्रः । एते तत्पादास्तेषां सलिलं कमंडलुजं पादजं जटोद्भवं च तत्र द्वितीयं ध्रुवादीन् आद्यं शवादीन् । तृतीयं सगरादीनिति त्रीन्पथेत्यर्थः । गिरिजादिभिस्तत्त्ववक्तृत्वाद्रुद्रस्य नारदाय कृतप्रश्नत्वाद्ध्रुवादेः पितुराज्ञाश्रवणात्सगरादेः । एवं विवेकेन वक्त्रादिकमप्येतेषु युज्यत इति भावः । किंचैतद्वक्तृत्वादिकर्मत्रिके वक्तरि प्रश्नश्रवणादुत्तरदानाच्च प्रश्नं विना वक्तृत्वश्रोतृत्वधर्मद्वयसत्त्वाच्छ्रोतरि च प्रश्नोत्तरा-भावादेकस्य श्रवणस्यैव सत्त्वात्पृच्छके तूत्तरदानरूपवक्तृत्वाभावरूपेऽपि प्रश्नकरणरूपवक्तृत्वस्य प्रश्नस्याप्रयोजकत्वप्रसंगाच्छ्रवणस्य निजधर्मरूपस्य च सत्त्वेन धर्मत्रयस्यापि सद्भावात्पृच्छकाद्वक्तृराधिक्येऽपि परीक्षित्संमाननार्थं शुकेन प्रश्नस्यैव प्राधान्यसमर्थनार्थं श्रोतृत्ववक्तृत्वाभ्यां सहेति विवक्षया प्रश्नैकवचनप्रयोगः । यद्वा वासुदेवकथाप्रश्नो यजुः प्रसिद्ध प्रश्न इति गुणप्रतिपादकग्रंथैकदेशः । सप्तसु प्रथमेति सूत्रात् षष्ठ्यर्थे । तस्य वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंश्च तत्पादसलिलं गंगा यथा यथावत्पुनाति । अतो वक्त्रादीनां गंगया कृतपावित्र्यरूपफलप्राप्तेरयं प्रश्नस्तव समीचीन इति भावः । अथवा । वासुदेवकथाप्रश्नस्तत्पादसलिलगंगा यथावत्पुनाति किं पुनर्वक्त्रादीं-स्त्रीनिति योजना द्रष्टव्या । हि शब्दः किंत्वर्थे यच्छब्दस्य किमर्थकाद्वा । यथा शब्दस्य किमर्थकत्वम् ॥ १६ ॥ गौर्भूत्वेति । पूर्वश्लोके ब्रह्माणं शरणं ययावित्युक्तम् । तत्र जडरूपाया भूम्या नासंभवेऽत्र गौर्भूत्वेत्याद्युक्तम् । तथाप्यवोचतेत्यनेन विरोधः । गोजातेरपि वचनासंभवात् । अत उच्यते । ससंकेतेनावोचतेत्यर्थः । स्वमिति पाठे स्वं व्यसनमवोचतेति लुप्तोत्प्रेक्षा । उः शंकरः । उकाः शंकरः प्रोक्त इत्येकाक्षरः । सः पः पालको येषां तेषां कंसबाणजरासंधादीनाम् । स्थितेन स्वतले स्थित्वा यत् अंतिकं नाशवत्सुखं तद्विषये व्यसनम् अवोचत वेत्यर्थः । अन्यथा । उपांतिकशब्दाभ्यां पुनरुक्तिप्रसंगः । ननु भूम्या रूपांतरग्रहणशक्तौ गत्युक्तिसाधनरूपमगृहीत्वा केवलगतिसाधनगोरूपधरणे किं निमित्तमिति चेत् । स्त्रीरूपापेक्षया गोरूपस्यातिदयोत्पादकत्वात् । न च वचनं विना दयाहेतुदुःख-ज्ञानार्थम् । दयावशेन पुंसा तल्लिंगादिनाऽनुमेयत्वात् । अत एव करुणक्रंदनादीनि लिंगान्यभिहितानि । तस्माद्गोरूपस्यैव स्वभावा-त्पावित्र्या दयाजनकत्वाच्चौचित्यमिति भावः ॥ १८ ॥ तत्रेति । अत्र यद्यपि न वैकेनाक्षरेण छंदांसि वियंतीति श्रुतेरक्षराधिक्यं न दोषाय तथाऽपि यत्र गत्यंतरं नास्ति तत्रैव तत् । अन्यथा सर्वछंदोच्छेदप्रसंगात् । तस्मात्पुरुषं पुरुषसूक्तेनोपतस्थे समाहित इति पाठांगीकारे गत्यंतरसत्त्वात् । नात्र यतिभंगः शंक्यः । तस्य काव्यविषयत्वोक्त्या शास्त्राविषयत्वात् । भक्त्या भागवतं शास्त्रमित्यु-

क्त्याऽस्य च शास्त्रत्वात्। तदुक्तं टीकाचार्यैश्च। न गीतार्थं वक्ष्यामि लेशत इति गीताभाष्ये मंगलव्याख्याने इति चेत्। तस्य काव्यविषयत्वात्। नाप्यत्र संधिभंगः। अजायंत एके चोभयादत इत्यादेर्बहुशो दृष्टत्वात्॥ २०॥ गिरमिति। अत्र समीरितामित्यस्य तृतीयासापेक्षत्वात्तदभावेन न्यूनता स्यादित्यतोऽर्थ उच्यते। अकथप्रविसंभूमसखहाविष्णुवाचका इत्यभिधानात्। संशब्दवाच्येन भगवता ईरिताम्। यद्वा। सः विष्णुः मा रमा। यद्वा। मया सहितः समो भगवान् ते वासवा उत्तमत्वेन स्तोबा अस्ति यस्येति समी समीरणः तेन॥ ईरिताम्। उदीरिताम्। गिरं हे अमराः यूयं मे मत्तः॥ पौरुषीम्। विष्णूक्तां वायूक्तां वा॥ वा गां। वाचं। आश्रृणुत॥ पुनः। अनंतरम्॥ तथैव। भगवदुक्तानुसारिणैव॥ माचिरम्। अविलंबितम्॥ विधीयताम्। क्रियताम्। अन्यथा पुनरुक्तापातः। न तूक्तयोजनायामुभयोराशु माचिरमित्येतयोर्मध्ये एकस्य श्रवणक्रियायामन्यस्य विधानक्रियायामिति पार्थक्येन संगतत्वात्॥ २१॥ देह इति वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देहीति गीतासु जीर्णशरीरत्यागांते नवग्रहणोक्तिप्रतीत्याऽत्र च भूतार्थकसत्सप्तमी क्त प्रत्ययोक्त्या देहांतरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुरित्यस्य विरोधोऽत उच्यते। सप्तम्यादेरतिसामीप्यार्थकत्वात् क्तस्य च वर्तमानार्थकत्वात्॥ देहे पंचत्वम्। पंचरूपतयाऽदर्शनम् आपद्यमाने सतीत्यर्थः। अनेनात्रत्यो विरोधः परिहृतः। जडत्वेन स्वतोऽग्रे गंतुमशक्यत्वात्। कर्माणि अनुगानि यस्य सः॥ देही। देहाभिमानी जीवः॥ अवसः। विष्णुवशः सन्। अनेन जीवदेहाभिमानिकर्माणि विष्णवधीनानीति सूचितम्॥ देहांतरम्। अंतरे भव आंतरः देहस्य स्थूलदेहस्य आंतरः अंतःस्थो लिंगदेहः॥ तमनुप्राप्य। धृत्वैवेति यावत्॥ प्राक्तनं। जीर्णस्थूलशरीरं। त्यज्यते। गीतोक्तिविरोधोऽपि नास्ति। तस्याः स्थूलशरीरद्वयविषयत्वात्। अस्य च लिंगदेहाश्रयणेनैव प्राक्तनदेहविसर्जनपरत्वात्। ननु गीतायां जीर्णदेहांते एव नवदेहप्राप्तिरुक्ता। अत्र तु जीर्णदेहविसर्जनमेवोक्तम्। अतो विरोध इति चेन्न। तत्रापि हि जीर्णदेहविसर्जनकाल एव नवदेहप्राप्तिर्न विवक्षिता। मध्ये स्वर्गनरकभोगकालस्यापेक्षितत्वात्। ततः शेषेणेमं लोकं व्रजतीति श्रुतेः। कालांतरेणैव नवदेहप्राप्त्याऽत्रापि लिंगदेहस्थित्युक्तावपि तथैव स्थातुमशक्यत्वात्।अग्रे नवदेहस्यापेक्षितत्वाच्चैकवाक्यतासंभवात्। न च व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति। यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गत इत्यग्रिमश्लोके नास्यार्थस्य विरोधः। प्रातिकूल्याभावात्। तथाहि। व्रजनांता पुमान् एकेनेकसंख्याश्रयेण पदा दक्षिणाद्यन्यतमेन पादेन तिष्ठन् भारं स्थापयन्। अंतर्णिच्। सर्वशरीरभारमेकस्मिन्नेव पादे निधायेति यावत्। एकेन अन्येन। एके मुख्यान्यकेवला इत्यभिधानात्। पदा पादेन गच्छति पूर्वस्थापितभूमिं विसृजति यथा तथा स्वदेहांतःस्थं लिंगदेहमनुप्राप्य दीपज्योतिः सदृशाणुरूपेणाश्रित्य प्राक्तनं प्रकाशसदृशव्याप्त्याऽधिष्ठितं पूर्वं जीर्णं वपुः शरीरं त्यज्यते। यद्वा। पंचत्वमनु मरणानंतरं। गोवशः इंद्रियाधीनः कर्म। सप्तसु प्रथमेति सूत्रात्। कर्मणा आपन्ने प्राप्ते। अथवा। इ कर्मा। इ विचित्रे स्मरे पुमानिति यादवकोशात्। विचित्रकर्मेत्यर्थः। नवे देहे आपन्ने प्राप्ते सति देही तद्देहाभिमानी भवतीत्यर्थः तस्मात्कदाऽपि देहेन विनाऽनवस्थानात् तद्वियोगभियाऽकीर्तिकरं स्त्रीवधं कर्तुं नार्हसीति भावः। नन्वत्रोक्तोऽयमयुक्तो दृष्टांतः। तत्र पादांतरप्राप्त्या दार्ष्टांतिके च देहांतरप्रतीत्या स्वारस्याभावादित्याशंक्य दृष्टांतांतरमाह॥ यथेति। तृणजलूका तृणसंचारी शामनामा कीटविशेषः। देही शामकीटदेहवान्सन्नेव। भृंगाकारदेहमनुप्राप्य शामदेहाकारं त्यज्यते। एवं देही उत्तरदेहबीजभूतवृक्षांतरांकुरजनकत्वानुमेयबीजसदृशलिंगाख्यदेहावृत एव। कर्मगतिं कर्मानुरूपागतिः प्राप्तिर्यस्य तं नवदेहं गतः प्राप्तो भवतीति। तस्मात्प्राक्तनमनादिं देहांतरं स्थूलदेहांतःस्थलिंगदेहमनुप्राप्याधिष्ठायैव नवं सादिं पूर्वमुत्तरं च स्थूलदेहं त्यजते गृह्णाति चेत्यर्थः। अतः कदाऽपि देहेन विनाऽनवस्थानात्तद्वियोगभिया कीर्तिनाशकं स्त्रीवधं कर्तुं नार्हसीति भावः॥ ३९॥ इति श्रीभागवते प्र०॥ १०–१॥

॥ हरिः ॐ॥ कीर्तिमंतमिति। अत्र वसुदेवस्यानृतापदतिविह्वलत्वमुक्तम्। तत्कृष्णसमर्पणेन विरुद्धमतोऽर्थः उच्यते। स आनकदुंदुभिः॥ अनृतात्। नास्ति ऋतं सत्यम्। ऋगताविति धातोर्गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वात्। ज्ञानं वा यस्मिंस्तस्मात्कंसात्॥ अतिविह्वलः। बहूद्विग्नः सन्॥ कीर्तिमंतं। तन्नामकम्। आद्यजं पुत्रम्॥ कंसाय। कसि हिंसायामिति धातोः। हिंसनार्थं॥ कृच्छ्रेण अतिकष्टेन। अर्पयामासेत्यन्वयः। ननु स्वभोगसाधनदारकृते हिंसाविषये पुत्रदातुर्वसुदेवस्यानृतादिदोषभीतिः कथं युज्यत इत्यतः कृच्छ्रेणेत्युक्तम्। एतदुपलक्षणम्। कृच्छ्रादिप्रायश्चित्तपूर्वकमित्यर्थः। यद्वा। अनृतं नाम भगवत्प्रीतिविरोधि। अन्यत्सर्वं तत्प्रियत्वाद्गुणो दोषो तथा प्रियम्। एवं ज्ञानवतो दृष्टिरज्ञस्तन्नावगच्छतीत्युक्तेः। भगवद्वचः सत्यत्वाद्विश्वस्तेन धर्मराजेनाश्वत्थामा हत इति भाषणे निःसंदेहानाचरणे न तस्य दोषवत्त्वदर्शनाच्च। अतः श्रीकृष्णानर्पणस्य भगवद्विरोधित्वाभावेनावृतत्वाभावाद्वसुदेवस्यानृतादतिविह्वलत्वं न विरुद्धमिति भावः। अथवा पुत्रान्समर्पयिष्येऽस्या इति प्रतिज्ञातुर्वसुदेवस्य हत्यार्थं पुत्रोत्पादनमेवायुक्तमिति न शंक्यम्। सोऽनृतादित्येकं पदम्। उना उन्प्रत्ययेन सहितः ऋतुशब्दः ऋतुरिति भवति। तस्मादृतोः रजोदर्शनलक्षणात्। अतिविह्वलः दुस्त्यजं किमृतात्मानमित्युक्त्या वसुदेवस्य कामत्यागशक्तत्वेऽपि प्रदाय मृत्यवे पुत्रान्मोचये कृपणामिमामिति विचारितपुत्रदानापेक्षया देशकालाद्यनापदि भार्यांऋतौवंध्यत्वकारणे भ्रूणहत्यारूपदोषस्य स्वात्मकृतयाधिक्यं ज्ञात्वाऽतिभीतः सन्नित्यर्थः। कंसाय अंतं लक्षणया बालवधदोषम्। स्वस्मै चेति शेषः धर्मज्ञत्वेन कीर्तिमाप। दयितुमित्यध्याहार्थं। प्रथमजं पूर्वगर्भं! कृच्छ्रेण धर्मसंकटेन। अर्पयामास देवक्यामधात्। तस्मात्स्वेन केवलदत्तानां परेण हिंसा कृता चेत्तत्र स्वमनीषितस्याभावात्तदपेक्षया भार्यांऋतौवंध्यत्वकरणेन सभ्रूणहत्यायाः स्वकृतत्वसिध्या महादोषत्वमिति विचारेण पुत्रदाने केवलविह्वलत्वेऽपि भार्यांऋतुवंध्यत्वकरणेऽतिविह्वलः सन्

तेन कथंचित्पुत्रसंभवेऽपि तदाचारस्य युक्तत्वमेवेति भावः। अनेन कंसायांतमित्यादिना जातमात्रसुतार्पणे नामकरणकालसंभवेन नामानुपपत्त्या कीर्तिमंतमिति नामककथनेन प्राप्तविरोधोऽपि परिहृतो भवति। ततश्च शौरिभिर्भगवत्प्रचोदित इत्युक्तेः। परप्रेरणयाऽविहितकर्मकरणेऽपि कर्तुर्दोषाभावः। अन्यथा विश्वामित्रप्रेरिता वा वसिष्ठपुत्रहंतुः कल्माषपादस्य ब्रह्महत्याप्रसंगात्। न च तथा। किंतु प्रेरकस्य विश्वामित्रस्यैव ब्रह्महत्याप्राप्तिदर्शनात्। यद्वा अनृतत्वं नाम प्रतिज्ञाया अपारगम्। प्रतिज्ञा तु पुत्रान्समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितमिति। सम भेदे समीचीने इति यादवकोशात्। देवकीशोणितोपादानकशरीरत्वेन सं अभिन्नानामेव पुत्राणामर्पणप्रतिज्ञया काष्ठा यथानंदकरं नभस्त इति दृष्टांतेन मद्भ तं बालकमित्यादिना च भगवतः शोणितोपादानकशरीराभावेन भिन्नत्वसिध्या तददानेऽपि वसुदेवस्य नानृतभाषित्वप्राप्तिः। यतस्ते भयमित्यत्र अभयमिति पदच्छेदो वा। यतः। येभ्यो पुत्रेभ्यस्ते तुभ्यम् अभयमुत्थितं तान्प्रदास्यामीति प्रतिज्ञायां सत्यां भयहेतुपुत्रानर्पणे को दोषः। उत वा। तसेः सार्वविभक्तिकत्वात्। यतो येषां पुत्राणां ते त्वत्तो भयमुत्थितं तान्पुत्रान्समर्पयिष्य इति कंसयोग्यतानुरोधेन पूर्वमेव सविप्रलंभप्रतिज्ञायां कंसजभयोत्थानरहितस्य भगवतोऽनर्पणे कथमसत्याचारित्वं। नास्त्येवेत्यर्थः॥ ३॥ सर्वे इति। अत्र नारदेन कंसं प्रति भाषणाद्भारतेति संबुद्धिर्न युज्यतेत्यतोऽर्थ उच्यते। अत्र भारतेति संबुद्धिस्तु न कंसं प्रति नारदोक्ता। किंतु राजानं प्रति शुकोक्ता। तादृशसंबुद्धेरत्र बहुशो दृष्टत्वात्। यद्वा। भं ज्ञानं तत्र अरत ज्ञानशून्येत्यर्थः। इति कंसं प्रत्येव संबुद्धिः। अन्यथा कंसं प्रति भाषणे द्वितीयानुपपत्तिः। नेयं नारदोक्तिः किंतु शुकोक्तिरेवेति चेन्न। एतत्कंसायेत्यादिनाऽग्रे उपसंहारात्। मनुव्रताः। त्वन्नाशविषये यो मनुमंत्रस्तस्मिन्व्रतं नियमं येषां ते तस्य व्रतं कर्म वा येषां ते। अथवा। कं ब्रह्माणं सं विष्णुं अनुवृताः अनुसृतकर्माणः हिरण्यगर्भः कः प्रोक्त इति। अकथप्रविसंभूमसखहा विष्णुवाचका इति चाभिधानात्। तथा च॥ उभयोः। गोपवृष्णिकुलयोः। नंदवसुदेवयोर्वा। अपि शब्दाद्यशोदादेवक्योरपि॥ ज्ञातयः कुलजाः॥ बंधवः संबंधिनः॥ सुहृदो मित्राणि। ये च॥ कम्। विष्णुम्। कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति श्रुतेः॥ समनुव्रताः। अत्यनुकूलाः। सुदामादयस्ते सर्वे देवताप्रायाः प्रायो देवांशो वै। वसुदेवादीनां कश्यपस्यादित्वात्। शतधन्वादीनां देवेतरत्वात्। तद्व्यावृत्तये प्रायः शब्दः॥१०॥ असुरा इति। अत्र पूर्वसंगतिर्न शंक्या। यतः संबंधिनां देवत्वेऽस्मदादीनामपि तत्संबंधित्वाद्देवत्वं स्यादित्याशंकानिरासार्थं तद्व्यावर्तकविशेषणेन विवेचयति॥ असुरा इति। ये लोकोपद्रवकारिणस्त्वदादयस्ते सर्वेऽसुरा एवेति संगतिरित्यंतं नारदवाक्यम्। गत इति। अत्रापि तृतीयार्धस्य नासंगतत्वम्। तस्य क्रियाविशेषणत्वात्। यद्वा। उद्दिश्येत्यर्थकप्रतिरूपं द्वितीयाविभक्त्यर्थांगीकारात्। दैत्यवधोद्यममुद्दिश्य संशयामासेत्यर्थः॥ ११॥ इति श्रीभागवते द्वि०॥ १०-२॥

॥ हरिः ॐ॥ प्रलंबेति। अत्र महाशब्दोऽप्रसिद्धार्थोऽत उच्यते॥ महान्। स्वजातिश्रेष्ठोऽश्वत्थः। अश्वत्थः सर्ववृक्षाणामिति विभूक्तेः। स अशनं भक्षणं यस्य स कुवलयापीडः कुंजरः। कुंजरः पिप्पलाशन इत्युक्तेः। यद्वा। काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणमिति गीतोक्तेः। कामक्रोधाभिमानी कश्चन दैत्यः। प्रलंबादय एव कामाद्यभिमानिनो वा। अथवा। महाशनः क्रोधरूपः कालयवनः। गर्गक्रोधोत्थत्यादित्वात्। किंवा महो मीनोत्सवाचार्योः स्युरिति कोशांतरात्। महस्य तिमिंगलस्य। अशनं भक्ष्यरूपः हंसः डिभिकाग्रजः। तस्य तिमिंगिलग्रस्तत्वस्य हरिवंशोक्तेः। केचिदघासुरं ब्रुवंति। तदसमंजसम्। तदाख्यनस्य सर्वशिष्टासंमतेः। संवादाभावाच्च। तदेतदग्रे प्रदर्शयिष्यते। उत वा। महस्य क्रीडोत्सवस्य आशा येषां ते महाशा गोपास्तान्नयति बिलमिति। महाशनो व्योमासुरः। मेषायितानपोवाहेत्याद्युक्तेः॥ १॥ सप्तम इति। अत्र देवकीसप्तमगर्भरूपरामस्य विष्णुशेषांशत्वं दृश्यते। न ह्येकस्य भिन्नयोर्द्वयोरंशत्वं युज्यतेऽतो विरोध इत्यत उच्यते॥ वैष्णवम्। विष्णोरिदम्॥ धाम। शय्यासनभूतम्। शेषश्च शय्यासन इत्युक्तेः। यम् अनंतं प्रचक्षते बुधाः स शेषो देवक्याः सप्तमो गर्भो बभूवेत्यर्थः। यद्वा। विष्णोः शुक्लकेशरूपावेशस्थानं गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनंदना नरः फल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेरिति वचनात्। असाधारण्येन व्यपदेशा भवंतीति न्यायोपेतत्वाच्च॥ ५॥ अथेति। हे॥ शुभे। योगमाये। अथवा। जगत्कल्याणविषये। अथवा। उत्तमकुले मुहूर्ते वा। स्वांशभागेन। स्वांशस्य स्वरूपांशस्य भागो भजनम्॥ स्वीकार इति यावत्। तेन। अनेन बलरामस्य भिन्नांशत्वं सूचितम्। अत्रैव स्वशब्दप्रयोगात्। यद्वा स्वः स्वरूपभूतो योंऽशः तस्य भां द्युतिं गच्छति प्राप्नोतीति तेन रूपेण। अनेन कृष्णस्य पूर्णरूपत्वाभावशंका निरस्तेति बोध्यम्॥ ९॥ नामधेयानीति। अत्र भविष्यक्रियापेक्षितत्वे कुर्वंतीति लटा विरोधोऽत उच्यते। नामस्थानानां निश्चयेन भावित्वाद्वर्तमानव्यपदेशः। यद्वा। नराणां सप्तसु प्रथमेति सूत्रेण षष्ठ्यर्थकत्वात्॥ भुवि आश्रयोपलक्षितोपासनाविषये॥ नामधेयानि। दुर्गेत्यादीनि॥ स्थानानि। विंध्यादीनि॥ कुर्वंति। कुर्वाणे। इति योगमायासंबोधनं न तु लट् रूपक्रियाऽतो न विरोधः॥ ११॥ आविवेशेति। अत्रांशभागेनेत्यनेन पूर्णत्वस्य विरोधोऽतोऽर्थांतरं॥ अंशभागेन। अंशः किंचित्वं तस्य भां प्रकाशनं न गच्छति न प्राप्नोतीति तेन रूपेण। पूर्णरूपेणेत्यर्थः। अतो न विरोधः॥ १७॥ इतीति। स्वतो दुष्टस्य प्रभुशक्तिमतश्च कंसस्य दुष्टभावनिवृत्तिकथने विरोधोऽतोऽर्थ उच्यते॥ सन्। सच्चेतनः॥ इति। विचारसमाप्तौ॥ घोरतमात्। अतिभयंकरात्॥ भावात्। चेतनात् कंसात्। चेतनोऽचेतनश्चेति भावश्च द्विविधः स्मृत इति तत्त्वविवेकोक्तेः॥ निवृत्तः। कंसं विसृज्य गतः। अयं सद्विचारस्तु सच्चेतनावेशेनैव जात इति भावः। ततः स्वयमावेशरहितत्वात्। आत्मैवेत्यर्थः। अकथप्रविसंभूम सखहाविष्णुवाचका इत्यभिधानात्। प्रशब्दवाच्याद्विष्णोर्भवतीति प्रभुः कामः। यद्वा। प्रकर्षेण भवते व्याप्नोतीति प्रभुः। भू व्याप्ताविति धातोः। तथा तेनेदमावृतमिति गीतोक्तेश्च काम इत्यर्थः। तदभिमानित्वा-

त्कालनेमिः । काममानी कालनेमिरित्युक्तेः । तस्य भगवतो जन्म प्रतीक्षन्सन् हरेर्वैरानुबंधवित् वैरस्यैवानुबंधनकर्ता । विद कृताविति धातोः । स्वभावतो द्वेष्टेति भावः ॥ आस्ते । अस्ति । अंधेतमस्यपि भगवद्द्वेषयुक्तत्वाद्वर्तमाने लट् । स्वयं शब्देन स्वाभाविकद्वेषं द्योतयितुमात्मने पदम् । यद्वा । स्वयं प्रभुः कालनेमिरूपोपि । इति विचारेण घोरतमाद्भावाद्वधरूपकर्मणः सकाशात् । भावो लीलाक्रिया चेष्टा इति हि यादवः । सदा विद्यमानत्वान्निर्दोषत्वात्सशब्दवाच्येन भगवता निवृत्तः अत्रांतर्णिच् । निवर्तित इत्यर्थः ॥२४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ हरिः ॐ ॥

दशमे दिश मेऽम्बोधौ धीतया तरितुर्गतः । पाराशर्य परं पारमसि दाशसुतासुतः ॥ १ ॥

नवमान्ते कथां शुकेन सङ्कुच्य कथितां विस्तरतः श्रोतुमुत्कमनस्कः परीक्षित्किञ्चिदनूद्य श्रोतव्यं त्रयोदशश्लोकया पृच्छतीति वदति ॥ राजेति । हे शुक भवता सोमसूर्ययोर्वंशविस्तारोऽन्ववायार्थप्रपञ्चः । विस्तारो विग्रहो व्यास इत्यमरः । उभयोः सोमसूर्ययोः । हरदत्तेनोभयशब्दस्य द्विवचनमस्तीत्युक्तं तथाऽपि शेखरे ननु काकचोः को विशेष इत्यारभ्यैतन्मूलकमेवोभयशब्दस्यासर्वविभक्तिकत्वं तद्धितश्चे ति सूत्रे कैय्यटेनोक्तम् । तदाह कैय्यट इति हरदत्त इति । अत्रारुचिबीजं प्रागुक्तभाष्यविरोधः । भाष्ये तूभयशब्दपाठः प्रत्याख्यात इत्यन्तग्रन्थेन नास्तीति शंसनादस्वरसम् । अत एव सम्प्रदायविदः शय्याम् । जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राम् इति पञ्चमसर्गरघुवंशविशदने उभाभ्यां पक्षाभ्यामिति विगृह्य कैय्यटमतमुट्टङ्कितवन्त इति दिक् । वंशे भवा वंश्यास्तेषां चरितं कथितम् इति विपरिणतं सत्कथितमित्यन्वेति । कथननिमित्तं कथयति ॥ परमाद्भुतमिति । अत्याश्चर्यकरं परा मा ज्ञानं सम्यद्वा येन तच्च तदद्भुतं तयाऽद्भुतमिति वा । अद्भुतं स्कन्धान्तरे गतम् । किञ्चोभयवंश्यानां अभवतां न विद्यते भवः संसारो येषां तेषां मुक्तानां भावो मुक्तत्वं भवता साऽपि कथिता । त्वयेत्यनुक्त्वोक्त्वा चाकारप्रश्लेषभूमिकं पदं पूर्वं वदंश्चानन्तरं भवतेति भगवानुमुमर्थं विवक्षितवानिति प्रेक्षणीयम् । वंशस्तथा तद्वंश्यानां च चरितं कथितः कथितमित्यन्वेति ॥ १ ॥ तत्र यदुवंशेंऽशेनावतीर्णस्य यदोर्विष्णोरिति सामानाधिकरण्येनाप्यन्वयः । यथोक्तम् । अग्निना तुर्वशं यदुमित्यृग्भाष्यटीकयोर्यदस्ति तत उच्चत्वाद्यदुः । यदस्ति तत उच्चत्वाद्यदुरिति मयूरव्यंसकादित्वात्साधुरिति । विद्यमानसर्वोच्चत्वाद्विष्णुर्यदुरित्यर्थः । विष्णौ व्याख्यातोऽयं शब्दो ऋग्गेतरेयभाष्यदिशा स्कन्धान्तरे । तथा तत्त्वसङ्ख्यानटिप्पणे चास्मत्कृतेऽनुसंधेयः । वीर्याणि नितरां नः शंस । एतेन वक्तैकोऽनेके श्रोतार इति सूचितं भवति । तत्रेति समस्तमंसपदेन सम्बध्यते । तान् त्रायत इति तत्रः । स चासावंशश्च तेनेति । तत्र पृथक् पृथक्पदं सद्वंश इत्यर्थकं च । तकारद्वन्द्वाद्वन्द्वशङ्कापनुत्तिश्चोक्षा स द्यावाक् पृथिवीत्यृग्व्याख्याभाववोधे सदिति भवत्कार्यमिति द्वेधा व्याकृतमित्यत्र दकारद्वयश्रवणं स्यादितिदूषणाभासभासकभाष्यदीपिकामनूद्य भाष्यदीपिकायुक्तिवात्यायामस्मत्कृतायां यद्द्वैतं न पश्यति समरुद्राक्षोल्लसन्मण्डपं महत्या गदया समन्वित इत्याद्यनयतनोदाहरणपूर्वकं कृताऽनुसन्धेया । न मम समर्थता सविस्तरसङ्कीर्तन इति वद स्वामिंस्त्वमेष इत्यपि भाषते । भवता रुद्रतायत्ते ततः शंसेति ॥ २ ॥ भूतभावनो जगदुत्पादको विश्वात्मा जगद्धितततो वा तत्स्वामी वा तदादानादिकर्ता वा यानि वीर्याणि पराक्रमान्विस्तरात् । ऋदोरप् स्तृञ् आच्छादन इति स्मरन्ति । स च शब्दस्य विस्तर इत्यमरः । कृतवांस्तानि नो वद ॥ ३ ॥ मया वर्णितं त्वया चाकर्णितं किं पुनरवनीश जोषमास्वेति नो वदाहमेताद्दशो न तादृश इति शंसति ॥ निवृत्ततर्षैरिति । निवृत्तो गतस्तर्षो कामो येषां ते मुक्ता जीवन्मुक्ताश्च तैः । कामोऽभिलाषस्तर्ष इत्यमरः । तैरुपगीयमानाद्भवौषधान्मङ्गलोन्नाहागदादेकत्र परत्र संसाररोगवियोगौषधरूपात् । श्रोत्रमनोभिरामाच्छ्रोत्राणि च मनांसि च तान्यभिरामयति तोषयतीति स तथा श्रोत्रमनसाभिरामो येन तस्मात् श्रोत्राणि मनांसि च श्रोत्रमनः । प्राण्यङ्गतयैकवद्भावः । तस्याभिरामात्तस्मादुत्तमैर्ब्रह्मादिभिः श्लोक्यत इति स तथा । उद्गतं तमः संसारमूलमज्ञानं येन स श्लोकः । पद्ये यशसि च श्लोक इत्यमरायशो यस्य गुणानामनुवादो हि पुनः पुनर्वादस्तत्कः पुमान्विरज्येत न कोऽपि भवोद्विरक्त इत्यर्थः । पशुघ्नात्पशुघ्नानतिमुग्धानिति पाठत्रयम् । बलभद्रः प्रलम्बघ्नो वृत्रघ्न इति मूलविभुजादित्वात्सिद्धमिति सिद्धान्तकौमुद्युक्तेः । केत्युपधालोपे हो हन्तेरिति कुत्वे रूपम् । पशुभिर्गवांस्तं घ्नन्ति स नास्तीति सतिरेव हतिस्तस्मात्तान्वा विना मिथ्याज्ञानिनो विना भवेद्बहिरतिस्तादृशानामेव भवेन्नान्येषामिति भावः । यथोक्तमेकादशतात्पर्ये एतत्सजातीये । ब्राह्मणो विष्णुरुद्दिष्टः स नास्तीत्यभिचिन्तनम् । ब्रह्महत्या समुद्दिष्टा तां न कुर्यात्कञ्चनेति । पालनात्सुखरूपत्वात्पशुनामा जनार्दन इति छान्दोग्यभाष्योक्तेर्हरिः पशुः । साधारणपशुमारकतया सम्मतानां धर्मव्याधाद्यानां तद्विरक्त्यदर्शनादेवंविधः पशुवधो ग्राह्यः । अपशुक् अपगता शुक् शोको यस्मात्तं घ्नन्ति ते तथेत्यपि व्याकुर्वते । अपशुघ्नान्हरिः सर्वेशोऽस्तीति ज्ञानिनो विना । उत्तमश्लोकगुणानुवादादुत्तमः श्लोको गुणैरनुहीन इति वादान्नितरां वृत्तस्तर्षो विषयाभिलाषो येषां तैरुपगीयमानाद्भवौषधात्तत्प्राप्तिभेषजरूपात् श्रोतॄणां सतां पाक्षिकतयाऽमनोभिरामात्को विरज्येत न कोऽप्येतादृशो विरक्तियुक्तो भूयादिति दुरात्मदौरवस्थ्यपरताऽपि गमनिकयाऽनया ज्ञेया । निवृत्ताश्च ते तर्षा अभिलापास्तैः करणैः श्रोत्रमनोभिरामाद्भवौषधाद्भवस्य रुद्रस्य निरन्तरजपद्वारा विषभेषजरूपात् स्वेनोपगीयमानात् श्लोकगुणानुवादाद्धेतोः पुमान्पुरुषो हिरण्यगर्भ उत्तम इत्यदामननादित्यधिकार्यधिकः श्लोकगुणान् श्लोक्यन्त इति श्लोकास्ते च ते गुणाश्च तान् शुघ्नान् शुचं संसारक्लेशं घ्नन्तीति ते तथा तान् उवादात् । ल्यब्लोपनिमित्ता चेयं पञ्चमी । ओः रुद्रस्य वादोऽतथ्यवितथ्यवादस्तं परित्यज्य विना भगवताऽपि, तस्मात्को विरज्येतेति वा । शं लोकः सुखं ज्ञानं च ।

यथोक्तम्। कीर्तिं श्लोकं च विन्दत इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्येशं लोकः श्लोकः परमानन्दं परमज्ञानं चेत्यर्थः। लुक् प्रकाश इति धातोरिति। उत्तमानां यैस्ते उत्तमश्लोकास्तत्प्रापकाः प्रातिस्विकगुणास्तदनुवादादिति वा। य उवादादुक्तरूपाद्विरज्येत स कोऽपि यज्जात्यवच्छिन्नोऽपि पुमान्विना भगवता शुद्धनानुत्तमश्लोकगुणानाप आपेव। अतस्तद्वीर्याणि वदेत्यन्वयो वा। यथोक्तम्। त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय। अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुजेत्यादि वाराहे। यः पुमान्विरज्येत सः के स्वप्रास्ये सांसारिके लीने सुखे मोक्षसुखे वा विरज्येतेति वा। सुखद्वयस्य नपुंसकपुल्लिङ्गशब्दवाच्यताविशेषोऽवसेयः यथोक्तं बृहदारण्यकभाष्ये लोकशब्दव्याकृतौ। संसाराल्लुप्तानां मुक्तानां कानि सुखानि लोकाः। लीनं सुखं क इत्युक्तं कं नाम क्षीयतेऽत्र यदिति। क इत्यानन्द उद्दिष्ट इति छान्दोग्यभाष्येऽप्युक्तेः। ततश्चैतत्सुखद्वयं त्यक्तवानेव स मानव इति भावः। वीति वीष्णुः समुद्दिष्टो विशिष्टत्वाच्च सर्वत इति छान्दोग्यभाष्योक्तेः। अकयप्रवीत्येकाक्षररत्नमालोक्तेश्च विर्हरिः। तेन कः पुमान्विरज्येत न कोऽपि। स विरज्यमान एव विना विशिष्टः पुरुष इत्यप्यावृत्त्योऽन्वयो ज्ञेयः॥ ४॥ बहुबहुज्ञमुखतः श्रुतमनुभवसिद्धं माहात्म्यं न हातुमुत्सहेऽतो वक्तव्यमेवेति वक्तुं काञ्चित्सङ्गतिं विज्ञापयति॥ पितामहा इति। समरे रणे मे मम पितामहाः पञ्चपाण्डवा अमरञ्जयैः। असंज्ञायामपि बाहुलकान्मानवमावर्तनावर्तन्त इतिवन्मुमागमे छान्दसेऽशनायां हि मृत्युः सर्वाशननेतेत्यर्थे विन्दुः। आधिक्येऽधिकमिति सूत्रादिति बृहद्भाष्योक्तदिशा सर्वामरेस्यर्थके बिन्दौ वाऽमरञ्जयैरिति सम्भवति। अमरान्देवाञ्जयन्ति ते तथा तैः अमराणां वरादिना मरणरहितानां जयो यैरिति वा तैः। देवव्रतो भीष्मः स एवाद्यो येषां ते तथा। देवं क्रीडां स्त्रिया सह व्रतयति देवस्य व्रतं त्यागो येनेति सः। व्रताद्भोजनतन्निवृत्त्योरित्युक्तेः। पयो व्रतयति शूद्रान्नं व्रतयतीत्युदाहरणे। वेत्तूर्ध्वरेताः सततं भवानीति श्रीमदुक्तेः। ते च तेऽतिरथा देवव्रतो हरिव्रतवानादियेषां च ते रथा येषां तैरित्यर्थः। तिमिङ्गिलं स्तिमिं गिरति गॄनिगरणे मूलविभुजादिः कः। अतिविभाषेति लः। गिलेऽगिलस्येति मुम्। तिमिङ्गिलादयश्चाथेत्यमरभानुदीक्षितीये मत्स्यविशेषाणां नामेत्युक्तेस्तिमिङ्गिलतुलैः। दुरत्ययं दुःसाधोऽत्ययोऽतिक्रमणं यस्य तं कौरवाणां सैन्यं सेना तदेव सागरः समुद्रस्तं वत्सपदं वत्सस्तर्णकस्तत्पदमिव। लुप्तोपमेयं। कृत्वा यः प्लवो येषां तेऽनायासतरण एव तात्पर्यम्। यत्प्लवा येनैव प्लवः प्लुतगतिर्यस्य। प्लवः शब्दः कृष्णेत्यादेर्येषां ते तथा तरन्। प्लवः कारण्डवे भके कुलके फलके कृपौ। शब्दे प्लुतिगतौ प्लक्षे चण्डालजलकाकयोरिति विश्वः। यस्य स्वान्वत्सपदं सुतस्थानं कृत्वा। यत्प्लवा यः प्लवः पोतो येषां ते सन्तोऽतरन्। यं वत्सपदं वत्सापदेशं कत्वेति वा। पुत्रदूतत्वादिना कृत्वा प्रियः सुहृदः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृदित्यादेः। अनेन वत्सपदं कृत्वेतीरणेनेरणीयं यत्प्लवा इति वत्सपदतरणस्यानपेक्षिततरिक्तत्वादतो यत्प्लवो यत्प्लव इति शङ्काकल्पितेति ज्ञेयम्। स्म निन्दां धिक्कारयन्ति प्राप्नुवन्तीति स्मयन्तस्ते प्लवाः पोता यैरिति स्मयत्प्लवाः सन्तः। स्मपादपूरणेऽतीतसामिनिन्दार्थयोर्मतमिति विश्वः। स्मयन्तः स्मयमाना अस्मदसाध्योऽय व्यापार इतीव प्लवा येषा त इति वा। एवं तारणं नास्मत्साध्यमिति प्लवा विसिस्मिर इवाभवन्निति भाव इति वा। स्मयन्त इति चान्द्र्या रीत्येति ज्ञेयम्॥ ५॥

साक्षादधोक्षजाध्यक्षता मत्साक्षीक्षितेति न त्यक्ष्यामि तत्कथामृतमतस्तद्वदेति वदति॥ **द्रौणीति**। यः कृष्णो मे मातुरातुराया उत्तरायाः स्वं शरणं गतायाः कुक्षिमुदरं प्रविष्ट आत्तचक्र आत्तं चक्रं येन सः सन् कुरुपाण्डवानां कुरवश्च दुर्योधनाद्याश्च पाण्डवाश्च धर्माद्याश्चेति द्वये तेषां सन्तानबीजं वंशबीजायितमिदं मदङ्गं मत्कलेवरमपि जुगोपापीपलत्। किं घटितं सङ्कटं तवागतमित्यत आह। द्रौणेरश्वत्थाम्नो यदस्त्रं निर्वंशं करिष्ये पाण्डवकुलमिति कृतसङ्कल्पेन मुक्तं ब्रह्मास्त्रं तेन विप्लुष्टम्। उषप्लुषदाह इति स्मरणाद्दग्धमिति। ममैवं ज्ञानमपि तदानीं तद्दत्तमित्यप्यवयति॥ मेय इति। कुक्षिं गतो यो मातुर्ज्ञातुर्मम सकाशान्मेयो ज्ञेयः सन् जुगोपेत्यन्वयः। अनेन मदङ्गं मातुरित्येवोक्तौ स्वमातुरित्यर्थसम्भवे भवेदतिरिक्तं म इति शङ्का दुर्मुखीकृतेति ज्ञेयम्। चात्पाण्डवव्यसनं च वीक्ष्येति ग्राह्यम्। ग्राह्यं च कुन्त्यादिप्रार्थनं च॥ यथोक्तं प्रथमेऽश्वमेधपर्वणि च। तेषां तद्व्यसनं वीक्ष्येत्यादि। ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा। प्रोवाचेत्यारभ्य प्रपन्नानामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हतीत्याध्यायावसिति। मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन। ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा। अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्। आपीच्य दर्शनं श्यामं तटिद्वाससमच्युतम्। क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः। परिभ्रमन्तमुल्काभं भ्रामयन्तं गदां मुहुः। अस्त्रतेजः स्वगदया मिषतो दशमासस्य········। तत्रैवान्तर्दधे हरिरिति प्रथमे प्रथमतो गर्भगो भगवानयददित्युच्यते तथागदेति। अत्र दशमे चात्तचक्र इति। तथाऽश्वमेधपर्वणि च। नान्तरनन्तनिवेशः शंसितः। किञ्च गर्भस्थस्यास्य बालस्य विना प्राणेन पातनम्। तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः। इत्युक्तेर्वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ। शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतन इत्युक्तिर्जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्र इत्येवोक्तिश्चात्र कथमिति चेन्न। आचार्यैरेवाभिधानात्समाधानस्य। तथा हि। प्रविवेश पुरं कृष्णस्तदा सूतोत्तरासुतम्। द्रौण्यस्त्रसूदितं बालं दृष्ट्वा कुन्त्यादिकाः स्त्रियः। शरण्यं शरणं जग्मुर्वासुदेवं जगत्पतिम्। प्रत्यक्षमात्मनाभे रक्षितं प्रसवे हतम्। पुनरुज्जीवयामास केशवः पार्थतन्तव इति। अन्तर्यथा न मृतः स्यात्तथा ररक्ष कुक्षिस्थः। भूतलपातकाले पुनर्मृतोऽपतत् तत उज्जीवयामासेत्युभयैककण्ठ्यात्। परमवशिष्यते गदासुदर्शनगदने कथमिति शङ्कामात्रम्। चक्रं राष्ट्रास्त्रयोरपीति तथाऽस्त्रं प्रहरणेऽपि चेति विश्वाच्चक्रशब्द आयुधमात्रवचनोऽत्रेति तच्च प्रथमस्कन्धानुसन्धानेन गदेति गदनसम्भवात्। शङ्खचक्रगदापद्मधराश्चिन्त्या हरेर्भुजा इत्यादेस्तत्सहितता सहजेति द्वयोः स्थानद्वय उक्तिर्वा। याः शरणं गताः कुन्त्याद्यास्ताभ्यो मातुश्च निमित्तं जुगोपेत्याद्यूर्वेरितं पूर्ववत्। जु इति सौत्रो धातुर्गतिवेगवाची। ततो भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः

क्विबिति क्विप्प्रत्ययेजवतेर्दीर्घश्चेति काशिकोक्तेजूं इति जाते ह्रस्वो नपुंसक इति ह्रस्वे जु इति भवन्मदङ्गविशेषणम्। जुगतं मदङ्गम्। गोपनक्रुदपि न गोपसुतादन्य इत्यप्याह ॥ **गोपकुक्षिं गत इति**। गोपालपालितपुत्र इति द्योतयितुं कुक्षिं न इत्यनुक्ति-रुक्तिश्च कुक्षिं गत इति मन्तव्यम्। यः स एव जुगोपेत्यन्वयः। मनोजुवेत्यृग्भाष्यटीकायां मनोजु मनोवेगिनावित्युक्तेः। विस्तरस्त-ट्टिपणातोवसेयः। विप्लुष्टं भावे क्तः। विप्लोपं दाहं जु प्राप्तं मदङ्गमिति वा। पाण्डवानां सन्तानबीजं कुर्विति शरणं गताया मातुः कुक्षिं गत इदं मदङ्गं यश्च जुगोपेत्यन्वयो वा। अत एव कुरुपाण्डवेति जुगुप्सिताजुगुप्सितसन्तानबीजमित्युक्तिमस्वरसां मत्वाऽऽचार्यो केशवः पार्थतन्त्व इत्येवावदन्निति मन्तव्यम्। ननु भक्तिपादीयं कुरुपाण्डववक्तेषामुपपत्तेः पृथग्वच इत्यनुव्या-ख्यानव्याख्यावसरे सुधायां पाण्डवानां कुरुत्वेऽपि सामान्यविशेषापेक्षया सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानामित्यादौ कुरुभ्यः पृथग्वच-नमित्युक्तिविरोधोऽत्रैव तत्र पार्थेत्येवोक्तिविरोध इति चेन्न। निर्वीर्यं सामान्यविशेषप्रयोगं प्रदर्श्य त एवोपलक्षणयैतद्ग्रहोऽप्य-भिमतष्टीकाकाराणामिति सर्वैककण्ठ्यसम्भवात्। अत एव कुरुभ्यः पृथग्वचनमित्येव वचनम्। न च कुरुपाण्डवानां सन्तानबीज-मित्यन्वयप्रदर्शनमिति मन्तव्यम् ॥ ६ ॥ अखिलदेहभाजां सकलदेहधारिणामन्तर्बहिश्च क्रमात्पुरुषरूपैः कालरूपैश्च मृत्युं दुःखमनन्तरं मरणं चान्धंतमः। अनामयं नीरोगतां सुखमिति यावत्। तथा मोक्षं च प्रयच्छतो ददतस्तस्य मायामनुष्यस्य स्वेच्छोपात्तमनुज-तनुमतो वीर्याणि। नेतानि गोप्यानि गुरो इत्यप्याह ॥ **वीर्याणीति**। विशेषत ईर्याणि शंसनीयानि। तर्ह्यं तर्ह्यंव मानवतनुः कुतो भवद्भगवानित्यत आह ॥ **मायेति**। इच्छयैव मनुष्यो न तु तुच्छजनवज्जननं जनार्दनस्येति भावः। हे विद्वन्ज्ञानिन् शुक वदस्व। भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वद इत्युक्तेः। शृण्वित्युपमन्त्रणपूर्वकं वदेत्यर्थः। वद सन्देशवचन इत्यस्य वेदं रूपम्। स्वविद्वन् भगवज्ज्ञानिन्निति वा। परः स्वो हरिरुद्दाम इति वचनात् ॥ ७ ॥ ननु मुने सङ्कर्षणमहीश्वरमिति हि किल बलो देवकी-सुतत्वेन कीर्तितः। स एव बलं गदं सारणं चेति रोहिणीगर्भप्ररोहिणी त्वयैव कथितः। कथमन्तरा शरीरान्तरं योनिद्वयसंसर्ग एकस्याद्दष्टचर इति परीक्ष्य परीक्षित्पृच्छति ॥ **रोहिण्या इति**। सङ्कर्षणो रामस्त्वया रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो नवमान्ते। तस्यैव देवक्या गर्भसम्बन्धो देहान्तरं विना कुतः किंकारणकः। अत एव मयाऽतिमन्दमुक्तमिति नेत्याह ॥ **प्रेति**। प्रकर्षेणोक्त इति। देवक्या गर्भसम्बन्ध इति गर्भपदसमस्तस्यैकदेशोत्कीर्तनेन सम्बन्धशब्दस्यावर्तितस्य तृतीयान्तरोहिणीपदेनान्वयः। रोहिण्या सम्बन्धः कुत इत्यर्थः। सर्वजनीने प्रमेये किं चित्रयसि चेतः पातः क्षितिमित्यत आह ॥ **अस्तनय इति**। अस्तो निरस्तो नयो नीतिर्यस्य स तथा निर्नीतिक इत्यर्थः ॥ ८ ॥ पितुर्वसुदेवस्य ज्ञातिभिः सार्धं साकं सात्वतां पतिः क्व वासं कृतवान् ॥ ९ ॥ मधुपुर्यां च वसन्किमकरोदित्यन्वयः। मातुर्भ्रातरं कंसमतदर्हणं हननार्हम्। अद्धेति स्वहस्ततः सम्यगिति मातुर्भ्रातरं कंशमित्येकसरण्यानु-क्तिस्तदयोग्यतायतेति ज्ञेयम् ॥ १० ॥ मानुषं देहमाश्रित्य स्थितैर्वृष्णिभिरित्यप्यन्वयः ॥ ११ ॥ अन्यन्मया विज्ञातं सर्वं कृष्णविचेष्टितं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥ बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चनेत्युक्तेरहं बोधयामि बोधस्तव कथं भवेन्नृपोपोषितस्येत्यतो भाषते ॥ **नेति**। एषा सर्वप्रत्यक्षसिद्धाऽतिदुःसहा क्षुत्क्षुधा त्यक्तोदमपि त्यक्तमुदं सन्ध्याद्युपयुक्तोदकमन्तरेण येन तं मां न बाधते। तर्ह्यंतदन्तरा किंवा भक्तं भुक्तवानसीति नेत्याह ॥ **पिबन्तमिति**। सृतं बहिरुपायातं पिबन्तं कर्णाभ्यामिति शेषः। पिबन्तं श्रुतवन्तम् ॥ १३ ॥ एवं परीक्षित्पृष्टः किं शुकोऽकरोदिति शौनकसन्देहं परिहरति सूत इत्याह ॥ **सूत उवाचेति**। हे भृगुनन्दन शौनक साधुवादं निशम्य वैय्यासकिः रातम्। व्याससूनुर्विष्णुरातं प्रत्यर्च्य वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृपेति सत्कृत्य भागवतप्रधानस्तच्छ्रेष्ठः कलिकल्मषघ्नं कृष्णचरितं व्याहर्तुमारभत ॥ १४ ॥ प्रत्यर्चनमुदञ्चयति ॥ **सम्यगिति**। हे राजर्षिसत्तम राजर्षिश्रेष्ठ ते यद्यतो वासुदेवकथायां तच्छ्रवणे नैष्ठिकी स्थिरा चरमकालिकी रतिरासक्तिर्जाता ततस्तव बुद्धिः कर्तव्याकर्तव्यनिश्चयात्मिका। यथोक्तं बुद्धिर्ज्ञानमिति गीताभाष्ये। कार्याकार्यविनिश्चयो बुद्धिः। ज्ञानं प्रतीतिर्बुद्धिस्तु कार्याकार्यविनिश्चय इत्यभिधानम्। सम्यग्व्यवसिता प्रान्तगन्त्री सम्यग्विगतमवसितमलमित्युपरमणं यस्याः सेति वा नैष्ठिकी रतिर्यज्जाता यस्या बुद्धेः सा ते बुद्धिस्सम्यग्व्यवसितेत्यन्वयो वास्तवः। राजर्षय इति स्तोत्रं येषां ते च ते सन्तश्च तेषु श्रेष्ठेति वा बुद्धिरिति ज्ञानमात्रं सम्यग्व्यवसिता सर्वशास्त्रास्वपि भगवानेक एव प्रतिपाद्य इति सर्वसन्मतैक्यपरा इति वा। यथोक्तं गीताभाष्ये। बहव्यो हि बुद्धयो मतभेदात्। तत्कथमेकत्र निष्ठां करोमीत्यत आह ॥ **व्यवसायात्मिकेति**। सम्यग्युक्तिनिर्णीतानां मतानामैक्यनेवेत्यर्थ इति। सम्यक् समीचीनं ज्ञानवस्तुलं व्यव रक्ष सिता धवला प्रसस्तेति वा सिता मया ज्ञातेत्यावृत्त्याऽन्वयो वा। सितो धवले निबद्धज्ञातयोरपीति विश्वः। समश्चतीति समःसमिरिति सम्यादेशः। अबुद्धिर्बुद्ध्यभावः सिता बद्धेति वा। राज्ञामृषीणां च सन्तोऽवसादका दुरात्मानस्तांस्तमयति। तमु ग्लान इति स्मृतिः। ग्लापयतीति स तथा। यद्वा राजानश्च ऋषयश्च ते सन्तश्च तैस्तम्यते काङ्क्ष्यत इति स तथा सर्वथा तदपेक्षित इत्यर्थः। पुरुतमं पुरूणामित्यृग्भाष्य-टीकायां पुरुभिस्तम्यते आकाङ्क्ष्यते तम् अभिकाङ्क्षायामिति व्याख्यानात् ॥ १५ ॥ श्रोतव्या वक्तव्या च हरिकथेति तत्कार्य-निरूपणेन निरूपयति ॥ **वासुदेवकथेति**। हि यतो वक्तारं पृच्छकं श्रोतृनिति त्रीन्पुरुषान्पुनाति पवित्रयति। निदर्शनं दर्शयति ॥ **तत्पादेति**। तस्य वासुदेवस्य पादसलिलं गङ्गादिजलं यथा गङ्गा गङ्गेति कीर्तयन्तं तथैव माहात्म्यपृच्छकं श्रोतृश्च पुनाति तथेति। तव प्रश्नो यथा समीचीन इत्यर्थः। यथाशब्दस्य सम्यगर्थकत्वं षष्ठे स्पष्टमभिहितमनुसन्धेयम् एवमन्वयनेन कथं वक्त्रसम्बन्धिनः प्रश्नस्य तत्पावकता कथन्तरां कथाया मामित्येवातीतपद्ये कथनात्प्रश्नपर्यन्तानुधावनमिति शङ्काग्रन्थिर्मन्थरित इति ज्ञेयम्। यद्वा

पृच्छ्यत इति प्रश्नो हि कथारूपः प्रष्टव्योऽर्थ इत्यर्थः। प्रश्नमेतं वद प्रभवित्यादेः ॥ १६ ॥ अन्यच्च सर्वमिति सूचितं वक्तव्यत्वेन तदिदानीं किमर्थं भगवानवततारेत्येतद्रूपमित्यर्थात्सूचयंस्तदुत्तरं सङ्गमयन्नाह ॥ भूमिरिति। दृप्ता अहङ्कृता नृपव्याजा राजापदेशा दैत्या दैतेया एव नृपतयोऽवतार्णास्तेषामनीकशतायुतैरनीकानां सेन्यानां शतायुतैः। तात्पर्यं तु बाहुल्ये। तन्निमित्तको यो भूरिभारस्तेनाक्रान्ता व्याप्ता पीडितेति यावत् ब्रह्माणं चतुर्मुखम् ॥ १७ ॥ गौर्भूर्गोरूपिणीति केचित्। करुणयतीति करुणं स्वव्यसनमवोचतेत्यन्वयः। करुणं यथा भवति तथा रुदन्ती विभोरिति पाठे तस्य विभोर्ब्रह्मण इत्यर्थः। अन्तिके उपस्थिता भूत्वा व्यसनं तत्प्राप्ताशुभं विपत्तिं वा। व्यसनं त्वशुभेऽनिष्टफले पापे विपत्ताविति विश्वः ॥ १८ ॥ तन्मेदिनीखेदं देवैः सह तया च सह सत्रिनयनो महादेवसहितः। सह देवैरित्यनेनैव वामदेवो ग्रहीतुं शक्योऽप्राधान्यपिशाचि तु तं न मोचयति सत्रिनयन इत्युक्तावपीति किमिति पृथक् प्रमथकथनमिति चेत्। शङ्का तु निश्शङ्कमङ्कूरितान्तरिति मतिमति न चित्रं त्वयि। तर्हि कर्णावभ्यर्णं आनय विनेय वक्ष्यामः। सर्जको रजसां स्थूललोचनविलोचन इत्याद्युक्तेस्तृतीयनेत्रवीतिहोत्रमारमारकस्यापीदं मथनसमर्थता नास्तीति द्योतयितुं वा। एतत्पक्षे तृतीयं नयनं यस्य तेन सहित इति विग्रहः। त्रिशब्दस्य तृतीयवाचित्वं त्रिदशशब्दान्तर्गतत्रिशब्दवत्त्रिभाग इत्यादिवद्द्रष्टव्यम्। देवाः सर्वेऽपि सर्वं सहायामवतीर्य सेवां कृत्वा कृपामृषाकपेः सम्पादयन्ति नायं तथेति तत उत्कृत्य पृथगुक्तिरिति वा। एते देवा वासुदेवसेवां विधाय व्यवधानाव्यवधानेन धाम स्वं स्वं भेजिरेऽयं तु चिरञ्जीवः सन् भूमौ जीविष्यतीति भावमाविष्कर्तुं वेति। न केवलं मेदिनीखेदत एव धातुर्विधातुं तत्समाधानं धावनं सिन्धुं प्रति किन्तु सप्ततन्तुमुखाखण्डसत्कर्मविलोपतस्तत्कर्तृकुञ्जनान्निरीक्ष्येत्यप्याह ॥ सत्रिनयन इति। सत्रिषु क्रतुकारिष्वाहुत्यादिद्वारा तद्वत्सु सुरेषु वा नयनं कृपादृष्टिः उपसर्गाश्च धातुलीनार्थद्योतका इति नयममनुनयनं वा यस्य स तथा सन्निति वा समाधिसम्भवात्। क्षीरपयोनिधेः क्षीराब्धेस्तीरं तटम् ॥१९॥ वृषाकपिं हरिं। हरिविष्णू वृषाकपीत्यमरः। वृषं धर्ममाकम्पयति। कपिकम्पिचलन इति स्मरणात्। अहिकम्प्योर्नलोपश्चेतीः। वृषाद्धर्मादाकम्पयति तदननुष्ठातॄन्दुष्टानिति वा वर्षति कामान्। वृष सेचने इगुपधः कः। आकम्पयति पापानि। पूर्ववदिः। वृषश्चासावकपिरिति वा। वृषेण स्वानुष्ठितधर्मेणाकं दुःखं पियति गमयतीति स तथा पि मतौ अन्तर्भावितण्यर्थो वा विच् संज्ञापूर्वकत्वान्न गुणः। क्विपि तु ह्रस्वस्येति तुगागमे शासनस्यानित्यतया नेति ज्ञेयम्। वृषं धर्मं कम्पयत्यनुकम्पयतीति वा। अन्येषामपि। तुराषाट् इष्टापूर्तमितिवद्दीर्घः। इन्द्रं वा कम्पयति प्रापयतीति वा। भक्ताभिलषितसेचक इति सुखरूपत्वादासुखरूपत्वात्क आको वा स चासौ स च पालयतीति पिश्चेति वृषाकपिर्वा। पातेः किः। पुरुषसूक्तेन पुरुषं पूर्णषड्गुणं सर्वशरीरशायिनं जगन्नाथं जगदधिपं प्राणनाथं वा देवदेवं सर्वदा सर्वदेवैः स्तुत्यमुपतस्थे। उपान्मन्त्रकरण इति पुरुषसूक्तस्य करणत्वात्तिष्ठतेरात्मनेपदम्। देवपूजेत्यादिवार्तिकाद्पूजयदिति वा। पुरुषसूक्तेनेत्युक्तिस्तु वेदाः पुरुषसूक्तगा इत्युक्तेरेतन्मात्रस्तोत्रे सर्ववेदेन देवस्तुतिर्भवतीति भावेन वा। लोके लोकानामनुबन्धे बोधिते दयोदयमेतीति पद्भ्यां भूमिरजायतेति तत्रोक्तेर्गोत्रापुत्रीतत्परिदेवनमेवं न देव त्वया श्राव्यं किन्त्वान्येति विज्ञापयितुं वेति ज्ञेयम्। समाहितस्तदेकाग्रचेतस्कः ॥ २० ॥ गगने समीरिताम्। किं सम्बन्धिनी सा गीरित्यत आह ॥ पौरुषीमिति। पुरुषो भगवांस्तस्येयं पौरुषी ताम्। किमुद्दिश्य किं विषय ईरिता गीरित्यत आह ॥ गा समाधाविति। गां पृथ्वीं प्रति गौर्भूरेवेति प्राग्वादात् समाधौ समाधानार्थं समाधौ मनःपीडायां प्रसक्ते सति समा तस्येतरानिरास्यत्वं सूचयति। इतराश्रयणीयां श्रवणीयां चतुराननेनेत्यनेन द्योत्यते। स्वयं पौरुषीं समाधावागतसर्वसमाधनार्थं वा। वेधा निशम्य श्रुत्वा त्रिदशान्देवान्प्रति गतां मे गां वाणीं हे अमरा आशु शृणुत। श्रवणफलमपि लपति। यथा मयोच्यते तथा। पुनः शब्दश्चशब्दार्थः। मा चिरं च तथैव विधीयतां भवद्भिरिति शेषः। पुनः श्रवणानन्तरं मा चिरं निरालस्यं गगने समीरितामित्यन्वयो वा ॥ २१ ॥ धराज्वरो भूम्या उपतापः पुंसा परमपुरुषेणावधृतांश्चिकित्सनीयत्वेन ज्ञातः। यदुष्विति बहुवचनमाद्यर्थं। यद्वादिषु। एतत्पुरस्कृतिस्तु मुरहरावतारपात्रत्वादिति ज्ञेयम्। भवद्भिरंशैरुपजन्यताम्। स ईश्वरेश्वरः सर्वेशः स्वकालशक्त्या स्वरूपभूतद्भूतसंहारकशक्त्या क्षपयन्क्षपाचरादीन्भुवि चरेद्यावत्तावत्पर्यन्तं स्थीयताम् ॥ २२ ॥ साक्षाद्भगवान्परमपुरुषो वसुदेवगृहे तद्भार्यायां जनिष्यते यस्तत्प्रियार्थं सुरप्रियोऽपि सम्भवन्तु ॥ २३ ॥ वासुदेवकला अनन्त इति छेदः। य सहस्रवदनः स्वराट् स्वेन हरिणा यानेन राजत इति स्वराट् वासुदेवस्य कला भिन्नांशरूपः। वासुवासुदेवस्य कलासहितश्चासावनन्तश्चेति पदमेकं वा। तत्रापि वासुदेवस्य कलाऽप्यनन्ताऽपरिच्छिन्ना यस्मिन्स इत्यर्थ इति वा। हरेः प्रियचिकीर्षया हरेरग्रतः प्राग्भविता सौमित्रिः सन् स्वयुक्तातिरिक्तां सेवां कृतवान् इदानीं तत्सत्कृतस्य तत्कृतनमस्कारादिना तिरस्कारे स्वयोग्यतायोग्यस्य स्थितिं सम्पादयामास शेष इति भावः। अर्थादमुमेवार्थं सेवाखिन्नो लक्ष्मणोऽग्रे हरेर्भूदिति वदन्त आचार्यवर्या अपि सूचयामासुः ॥ २४ ॥

यदा जगन्मदादिकं सम्मोहितं भवति सा भगवती पूज्या योगमाया दुर्गाऽपि प्रगुणाऽऽदिष्टाऽऽज्ञप्तांऽशेन कार्यार्थं कर्तव्यप्रयोजनार्थं सम्भविष्यति प्रादुर्भविष्यति ॥ २५ ॥ अमरगणान्मरुदादिगणानामपि बाहुविध्याद्गणानित्युक्तिः। प्रजापतयो दक्षाद्यास्तेषां पतिर्धाता गीर्भिः। सान्त्वनप्रकारभेदाद्बहुवचनम्। परमं स्वधाम महरादितो महासम्पद्वा ॥ २६ ॥ अकरोदर्जुनो राज्यं तस्य पञ्चैवावर्वरिता मृधे जयधरः? शूरसेन इत्युक्तः कार्तवीर्यवीर्यजो मधुरां पुरीमावसत्। उपान्वध्याङ्वस इति द्वितीया। स्वराट् स्वेन द्रव्येण राजत इति स तथा। सु अत्यन्तं न विद्यते राट् राजा यस्यासां अखण्डभूमण्डलेश इति यावत् ॥ २७ ॥ यत्र यस्यां यतो

भगवान्हरिर्नित्यं सन्निहितस्ततः समधुरा सर्वयादवभूभुजां सर्वे च ते यादवभूभुजश्च तेषां राजधानी मुख्यराजस्थानमभूत्। हरिसन्निधिश्च कृत्रिमो ज्ञेयः यथोक्तमेकादशतात्पर्ये। आद्यन्तरः सन्निधिर्विष्णोर्बाह्या सन्निधिर्विष्णोर्बाह्यसन्निधिरेव च। द्विविधः सन्निधिः प्रोक्तः कृत्रिमो बाह्य उच्यते। स्वाभाविकस्त्वान्तरः स्यात्प्रतिमा जीवगो यथेति चेति। प्रतिमागतोऽचेतनप्रतिमादिगतः कृत्रिमः। सर्वजीवान्तर्गतः सन्निधि; स्वाभाविक इत्यर्थ इति न्यासोक्तेः ॥ २८ ॥ ततो वृत्तं वृत्तान्तं कथयति ॥ तस्यामिति। तस्यां मधुरायां कृत उद्वह उद्वाहो येन स कृतोद्वहो भार्यया देवक्या सार्धं सूर्ययेति पाठे नवोढयेत्यर्थः। प्रयाणे स्वगृहं प्रतिगन्तुं रथमारुहत् ॥ २९ ॥ स्वसुः पितृव्यसुतात्वेन स्वसुः। रौक्मैः सुवर्णमयोपस्करैः ॥ ३० ॥ पारिबर्हं प्राहुणिकैर्विवाहकाले पुंपक्षीयदेयं हेम्नां मा साऽस्त्येषां हेम्ना मालन्त इति वा तेषामयुतं दशसहस्रं त्रिषट्शतमष्टादशशतीम् ॥ ३१ ॥ यामे गमनसमये। निर्योयामायेतृग्भाष्ये यामार्गाय। तट्टीकायां च यात्यस्मिन्निति यामे मार्ग इत्युक्तेः। तत्र वावा यामाय वो यामं प्रति दाढर्याय। यामं गमनं प्रतीति तदुभयोक्तेश्च। किं वक्तव्यम्। याः मे इत्यवादीद्देवकी ताः सम्पदो ददौ देवक इति वा। किं तद्दाक्षिण्यमित्यत आह ॥ दुहितृवत्सल इति ॥ ३२ ॥ वरवध्वोर्वसुदेवदेवक्योः सुमङ्गलं यथा तथा नेदुः। प्रयाणप्रक्रमे तदारम्भसमये ॥ ३३ ॥ प्रग्रहिणं हयरश्मिवन्तमशरीरवाक्। वचनादेव वाग्ब्रह्मेत्यनुव्याख्यानोक्तेर्वक्तीति वाक् अशरीरं यथा तथा वक्तीति वागशरीरदेवताकं। समाभाष्याहतो नाहेत्यनुपपन्नम्। तां वाचं विविच्याह ॥ अस्या इति। हे अबुधाज्ञ कंस त्वं यां नयसे नीय उभयपदित्वात्। नयसि देवक्या अष्टमो गर्भस्त्वां हन्तेति। उच्यत इति वाक्। वच परिभाषणे क्विब्वचीत्यादिना क्विप् दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। गीर्वाग्वाणीत्यमरः। अशरीराऽतत्प्रयोज्या वागस्य स वायुरिति वा। मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयं वदतीतिवत्करणे कर्तृत्वोपचाराद्वागाहेति वा ॥३४॥ इत्युक्तोऽशरीरदेवतया पापः स्वभावतस्तद्वान् समीपेऽपि न समीचीना जना इत्याह ॥ स खल इति। सदा तत्सहवासी। स्वकुलव्याकुलतां व्यापारयति ॥ भोजानां कुलपांसन इति। नित्यसापेक्षत्वात्समासः। तत्कुलधूलीधूसरताकृत् आरब्धः संरब्धः सन् खड्गपाणिर्भगिनीं हन्तुं कचे केशपाशेऽप्रहीज्जग्राह ॥ ३५ ॥ महाभागवतो भगवदवतारहेतुदैववान्वसुदेवः परिसान्त्वयन्नुवाच ॥ ३६ ॥ सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो गुणकीर्तनम्। साम सप्तविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वच इति स्मृतेस्तत्र प्रथमतः क्रममननुसृत्य प्राधान्याद्गुणकीर्तनं सामविशेषमाह ॥ श्लाघनीयगुण इति। श्लाघनीया गुणा यस्येत्यर्थाद्गुणकीर्तिरियम्। न गृहे गृहिण्यादिभिरित्यभिधत्ते ॥ शूरैरिति। भोजयशस्कर इति कीर्तिलाभोऽन्यथाऽकीर्तिलाभ इत्यलाभलाभः। भगिनीमिति सम्बन्धदर्शनम्। स्त्रियमित्युपकृतिः। उद्वाहपर्वणीति भोजानामस्माकं च परस्परं दृष्टादृष्टभीत्यभावात्परममैत्र्येणाभेदः सूचितः। स्त्रियमित्यदृष्टभयं जनापवादरूपं दृष्टभयं चानेन द्योत्यत इति भेदोऽपि सूचित इति ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥ बुद्धिमता गच्छन्मृत्युश्रवणसमनन्तरं तत्प्रयत्नमनुष्ठाय स प्रच्यावनीयस्तदुपायमेवात्मार्थे पृथिवीमिति नीतेर्भो भामेति भो भोजवरेन्द्ररेयसि चेत्किं कदाऽप्येतदुपायैनैतदपायापायेन मृत्यूपस्थितिरिति मत्वा यतसे उतैतत्समयमात्रगमनमनसेति विकल्पं मनसि कृत्वा स सर्वथेशक्लप्तो नान्यथयितुं शक्य इति दृष्टादृष्टोभयभयवचनरूपभेदं प्रपञ्चयन्नाह ॥ मृत्युरिति। जन्मवतां जनानां देहेन सहैव मृत्युर्जायते। एवमनेन संसर्तव्यं मर्तव्यं चैवमिति जायते रणे मारणेनारिभिर्वीराणां स च नियतः क्षणे क्षणार्धे वेति तथा सम्बोधयति ॥ वीरेति। शालत्वादबलासङ्कालनयत्नवानहहेति वीरेति वदन्नुपजहास वसुदेव इति वा। अद्य वाऽब्दशतान्ते वेति शतायुर्वै पुरुष इत्यभिप्रायेणेति ज्ञेयम्। तन्मात्रे तात्पर्यं किन्तु तदास्कन्दितत्वे ततो ध्रुवत्वान्न तत्त्यजनं सुशकमिति भावः। तर्हि सर्वेषामेवमेव किमित्युक्तौ वक्ति ॥ प्राणिनामिति। प्रकर्षेणाणनवतां तरतमभावेन चेष्टकानां ब्रह्मादीनां मध्ये ध्रुवो विष्णुर्विमृत्युर्मरणरहितस्तस्य स्थविष्ठ स्थविरो ध्रुव इति हरिनामत्वात्। न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तदिति काठकोपनिषद्भाष्ये ध्रुवो भगवानिति व्याख्यातत्वाच्च। एतेन ध्रुव इत्यलं पुनर्मृत्युरित्युक्तिस्तथा प्राणिनामिति च कुत इति परास्तम्। वैशब्दो जरो विमृत्युरित्यादिप्रसिद्धिं द्योतयति ॥ ३८ ॥ तत्प्रकारं प्रपञ्चयति ॥ देह इत्यादिना। पञ्चत्वं नाशं गतमापन्ने प्राप्ते सति कर्मानुगोऽवशोऽस्वाधीनप्रवृत्तिरवशो भगवदधीन इति वा देहान्तरं स्वकर्मानुगुणमनुप्राप्य प्राक्तनं वपुस्त्यजते त्यजति ॥ ३९ ॥ एकस्मिन्नेवास्मिन् शरीरे देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिरिति विशोकदा दशा देहहानौ देहान्तरस्वीकार एवेत्यत्र निदर्शनद्वयं दर्शयति ॥ व्रजन्निति। व्रजन्पुमानेकेन पदा तिष्ठन्यथैवैकेन पदा गच्छति तथा बाल्येन तिष्ठन्कौमारं व्रजत्येवं जराम्। तृणजलूका तृणग्रहणकृत्कृमिविशेषः। पुरतस्तृणान्तरं गृहीत्वा प्राग्गृहीतं तृणं त्यजत्येवं जीवः स्वकर्मार्जितमूर्जितमनूर्जितं वा कलेवरं परं गृहीत्वेतत्त्यजति। कर्मणा गतिः प्राप्तिर्यस्य तं देहं गत इति वा। दृष्टान्तद्वयमेकत्रैवेति। पूर्वत्र। परस्तु किञ्चित्सोहितीत्यस्मद्व्याख्यानस्य। अत्र च स्वीकारपरित्यागौ नात्यन्तभिन्नविषयाविति स्पष्टं दृष्टान्तान्तरमाहेत्यवतारयिता चकारेत्युपर्येव ज्ञायते। जलमोको यस्याः। ओक उचः क इति निपातितोदन्त ओकशब्दः। जलोकापि जलौका स्याज्जलूका जलजन्तुकेति तारपालः ॥ ४० ॥ स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशमिति श्लोके यथा मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः स्वप्ने देही मिथ्याभूतमेव देहं पश्यति। तथा दृष्टेन श्रुतेन दृष्टया श्रवणेनानुचिन्तनसहितेन मनसा ध्यातं देहं प्रपद्यते। तद्देहनिदर्शनेनेतरसर्वस्य मिथ्यात्वमुच्यत इति भ्रमं शमयितुं योजनाप्रदर्शनपूर्वं समग्रश्लोकतात्पर्यमाह ॥ स्वप्न इति। स्वप्ने तदवस्थायां दृष्टश्रुतस्मृत्यनुसारिदेहमनुसारी चासौ देहश्च वासनामयश्च तं। भिन्नं पदं वा। कायो देहः क्लीबपुंसोरित्यमराद्देहशब्दो नपुंसकलिङ्गोऽपीति विशेषणमनुसारीति सम्भवति। प्रेण सुखदुःखानुभवप्रकर्षसहितत्वप्राप्तेः सूचयति। अनेन चिन्तयन्निति विशेषणं चिन्तनं प्रपत्तिसम्पत्तिसाधनं हरिं पश्यन्मुच्यत इतिवदिति सूचयति। अपस्मृतिरि-

त्यनूद्य व्याचष्टे ॥ अपस्मृतिर्मृत इति। किं प्रयुक्तोक्तामृततेत्यत आह ॥ अभिमानतः पूर्वदेहस्मरणाभावादिति। ममायं कायो मम सुखादिकं जातमित्यभिमानपूर्वकपूर्वदेहादिस्मृतिरहितं इति मृत इत्युच्यत इत्यर्थः। अनभिमानत इत्यचतुरपाठस्तथाऽपि अनभिमानतोऽभिमानाभावात्। तद्व्याख्याति पूर्वदेहस्मरणाभावादिति व्याख्यानव्याख्येयभाव इति व्याकुर्वते। के चिद्वैपरीत्येन व्याख्यानव्याख्येयभाव इत्याहुः। अनभिमानत इति पाठ एकादशतात्पर्योक्तार्थविशेषलाभ इति च ज्ञेयम्। तथा हि। उत्तरदेहाभिनिवेशेन पूर्वदेहस्मरणं यत्तन्मृत्युरिति ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ जलूकातुल्ततोपपादनेन तृणतद्वद्देवदत्रापि देहदेहिनोर्भेद इत्युक्तं स्यात्। तदैक्यात्तदसम्भावितमिति तत्राह ॥ स्वप्न इति। स्वप्नेऽवस्थाविशेषे तत्रापि स्वापं नयतीति स्वप्नो हरिरिति बृहद्भाष्यव्याख्यानानुसारेण च न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजत इति श्रुतेर्हरिस्तस्मिन्वासनामुपादानमुपादाय सर्जके च सतीत्यप्यर्थः। मनोरथेन जाग्रद्दृष्टश्रुतवस्तुसंस्कारसचिवेन मनोरथेनाभिनिविष्टा चेतना संविद्यस्य। चेतना संविदि प्रोक्तेति विश्वः तद्ग्रस्तधीरित्यर्थः। ईदृशं जाग्रद्देहसदृशं शरीरं यथा पश्यति स्वत्वेन जानाति परकीयत्वादिना वा। तत्रावलोक्यावलोकयितृकायभेदोऽनुभवसिद्धस्तथा दृष्टश्रुताभ्यां दर्शनश्रवणाभ्यां मनोऽपि यदनुचिन्तनसहितं तेन युक्तस्तदनुचिन्तनसाधनक्रमपस्मृतिरपगतस्मृतिरभिमानाभावप्रयुक्तपूर्वशरीरस्मरणरहितत्वान्मृतः किमपि स्ववासनानुसारि सुरनराद्यन्यतमं शरीरं प्रपद्यते हि यतोऽतः स्वतः सरणीयशरीरनिमित्तमुत्तम्भितासिः कथं स्वसुर्हननं तनुयास्त्यजेति भावः। निर्णयाभावात्किमपीत्युक्तिः ॥ ४१ ॥ यतो यतो धावतीति श्लोके विवक्षितार्थाप्रतीतेरात्मपञ्चसु स्वोपभोग्यशब्दादिविषयपञ्चक इत्याद्यन्यथाप्रतीतेश्च स्वयं यथावद्व्याकृत्य मानं चोदाहरति। यतो यत इति। सार्वविभक्तिकस्तसिरत्र सप्तम्यर्थ इत्याह यत्र यत्रेति। वीप्सा च विषयाणां बाहुविध्याद्युक्ता। आत्मपञ्चस्विति सप्तमी निर्धारण इति निर्धारयितुं पञ्चानां मध्य इत्युक्तिः। आत्मानो वक्ष्यमाणजीवाश्च ते पञ्च च तेषु तत्र तत्र तेन देवेन क्रीडादिमता भगवता। तथा दिवु क्रीडाकान्तिगतिष्विति स्मृतेरसाधारण्येन नयेन सदागतिर्ग्राह्या। तेन वायुना च सह गुणानुबद्धः सत्त्वादिगुणवशः स्वस्वरूपगुणानुबद्ध इति वा सन् जायते शरीरसम्बन्धवान्भवति। इदं विशेषविवक्षया। सामान्यतश्च तत्पराधीनविशेषावाप्त्यादिमान्भवतीति व्याकुर्वते। दैवगान्धर्वपित्र्येषु मानुषेष्वसुरेष्विति पञ्चानां मध्ये यत्र यत्र मनो ध्यायद्याति तत्र तत्र तेन देवेनोक्तरूपेण सञ्जायते। स्वगुणस्य स्वरूपभूतगुणानामनुसारेण तथा सत्त्वादिप्राकृतगुणैश्च नितरामवबन्धनं यस्य स इति। एतेनैव स्वपदस्यानुसारपदस्य च स्वारस्यं सूचितमिति ज्ञेयम्। स्वस्वगुणतत्त्वादिगुणैर्देवादित्वप्राप्तिर्भवन्ती सा योग्यतामनुसृत्येति मानेनाह ॥ देवादित्वमिति। देवेत्युत्तमाधिकार्युपलक्षणम्। गन्धर्वेत्यधमाधिकार्युपलक्षणम्। उपलक्षकं च पित्र्येति मध्यमानां मानुषा मिश्रमल्पो विमिश्रगतयोऽपि च। पुनः पुनर्मानुषास्तु सृतावावर्तयत्यसौ। नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा। एवमनेवं च मनुष्या इत्यादेर्नित्यसंसारिणः। एतन्मुक्तिसंसारस्तु नमकचमकविवरणेऽस्मत्कृते ललाटलतायितानामिति पदव्याकृत्यवसरे विस्तृत्य कथितस्तत्स्थानादिनीरूपणतस्ततोऽनुसन्धेयः। असुरासवयोग्या इति विवेकः। स्मरणमात्रेण तत्तत्प्राप्तिरिति पातनिकार्थोऽनुपपन्नः। तत्रेतिकर्तव्यान्तरमस्तीत्याह ॥ योग्यतयेति। तुरवधारणार्थे सन्योग्यतयैवेति योग्यान्वयः। योग्यतयैव देवादित्वं प्राप्नोति। अनुस्मृतेर्भगवदनुचिन्तनाद्देवादित्वं तदयोग्यश्च तत्सकाशं सामीप्यं प्राप्नोति सकाशतत्समानदीप्तिरित्यर्थः। काशतेर्दीप्त्यर्थाद्भावे घञि समानशब्दस्य समानस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदकेष्विति सभावे सकाश इति भवतीति वा। तद्धि विशेषेण योग्यतापेक्षिता किमित्यत आह ॥ श्वेतद्वीपेति। अपिर्योग्यतोत्तेजकसाधनान्तरसमुच्चायक एकः। तत्रापि वासाय योग्यतयैवापेक्षितेत्यवधारक एकः। यथोक्तम्। योग्यत्वं चात्र विवक्षितं। अत्र निवास इति शेष इति गीताभाष्यप्रमेयदीपिकयोः श्वेतद्वीपादि विष्णोः स्थानं साधनसध्रीचीनां योग्यतामपेक्ष्यैव प्राप्नोति। तथा वायुशक्रादीनां स्थानं च विना तत्रापि योग्यतापेक्षितैव। अन्यत्र त्रैलोक्यदेशभेदेष्विति सामानाधिकरण्यम्। त्रैलोक्यास्त्रिलोकीभवाश्च देशभेदास्तद्विशेषास्तेषु नैवापेक्षिता योग्यता स्थित्या इति ज्ञेयम् ॥ अथ मूलार्थः ॥ विकारात्मकं सङ्कल्पविकल्पादिस्वभावं मनो दैवचोदितमदृष्टोपोद्बलितं सत् गुणाः सन्ति येषां कारणतया ते गुणाः। कारणकार्यशब्दयोर्गीर्भिः शृणीत मत्सरं यथा ब्रह्मादिकं मुखमित्यादो साङ्कर्यं दृष्टमिति। गुणेषु तत्कार्येषु माया तु भगवदिच्छोद्बोधिता प्रकृतिस्तद्रचितेषु आत्मपञ्चसु देवादिजीवानां पञ्चानां मध्ये यतो यतो यत्र यत्र धावति तत्र तत्रासौ देही प्रपद्यमानो योग्यतानुसारेण स्मृतावदेहवान् तेन हरिणा वायुना च स जायते। स्वरूपतदितरगुणानुबद्धः सन् जायते। देहसम्बन्धादुत्पत्तिमान्भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वद इति श्लोके यथाऽनिलबलेन चञ्चलीभवज्जलतस्तत्प्रतिबिम्बितं ज्योतिः सूर्यादिकं चलनस्खलनभाग्भवति तथा भगवान् रागानुगतो बहु स्यामितीच्छानुगतः स्वाज्ञानरचितेषु देहादिषु प्रतिबिम्बितोऽहं सुखी दुःखी बुधोऽबुधो बद्ध इति मिथ्यामतिं प्राप्नोति। स एवात्र गात्रे जीवादिरूपी। तत्र दुःखादिकं च मायिकमेव प्रतीयत इत्यन्यथाप्रतीतिमन्यथयितुं किञ्चिदनूद्य तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ विभाव्यत इति। विभाव्यत इति मौलं पदं तद्व्याख्यानं तु विविधं भाव्यत इति। मायारचितेषु तथैव विष्णुमायारचितेषु। इदमपि रागानुगतः स्फुटार्थम्। पुमान् जीवः स्त्र्यादिसङ्ग्रहोऽनेन कृतो ज्ञेयः। विविधं मुह्यति मोहं प्राप्नोति। श्लोकमेकमखण्डप्रमाणेन व्याख्याति ॥ यथैवेति। उदमुदकं तत्पूर्णाः शरावा वर्धमानकास्तदादिषु सूर्यादिः प्रतिबिम्बितः। उदकपार्थिवेष्वित्यतः परं प्रतिबिम्बितमिति शेषः कर्तव्य इत्यनेनासूचि। समीरवेगानुगतमिति व्याकरोति ॥ वायुना चलितमिति। द्वैविध्यमाह ॥ छिन्नभिन्नादिरूपवानिति। अनेन विमुह्यतीति तात्पर्यमुक्तं वेदितव्यम्। एवं विष्णिवच्छयेति मायापदार्थः कथितः। प्रतिबिम्बो जीवो बहुधा। तृतीयाविभक्तेर्लोपः। बहुप्रकारेण

प्रतिपद्यत आत्मानं जानाति । प्रकारान्तरेणेमं श्लोकं व्याकुर्वन्मानमुपन्यस्यति ।। तदिति । निश्शरावके शरावान्निष्कासिते दृढीभूते उदके शरावादित्वेन दृढीभूते वाऽकम्प्याणुमुखपात्रस्थिते प्रतिबिम्बितं सूर्यादिकं निश्चलं सच्छेदभेदादिकं न प्राप्नोति । एवं गुणैः सत्त्वाद्यैर्विमुक्तस्त्यक्ताभिमतिरित्यर्थः । दुःखितं नाप्नोति बिम्बप्रतिबिम्बभावं घटयितुं दृष्टान्त इव दार्ष्टान्तिकमुपपादयन्नाह शरावव च्छरावेण तुल्यं वर्तन्त इति ते तथा । ब्रह्मादिगुणवैशेष्यादानन्दादिः परस्य च प्रतिबिम्बत्वमायाति मध्योद्यादिविभेदत इत्यादेर्गुणाः । शरावत्प्रोक्ताः अज्ञानं जैवं द्रवत्वं तज्जलमिव । यद्वा द्रवत्ववज्जलं लुप्तोपमा । तद्वद्दृढीभूतं यदुदमुदकं तद्वज्जीवस्तज्ज्ञानं जीवज्ञानं स्वरूपज्ञानं प्रतिबिम्बो जीवो जडान्तःकरणकार्यं च सज्जीवस्य दुःखादिकमिति दर्शयितुं नित्येति व्यपदिशन्तःकरणमिति ज्ञेयम् । ननु मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरिति स्थितेरुपाधिनाशेऽज्ञानान्तःकरणादिनाशस्ततः प्रतिबिम्बनाश इति सर्वनाशे मोक्षाशा का महामुने स्यादित्यत आह ।। द्वयमिति । तस्य द्वयं ज्ञानान्तःकरणादिकं जडमजडं चेति प्रकारद्वयोपेतम् । तत्र जडस्य नाशोऽनाशश्चापरस्य विमुक्तस्य किञ्चिज्जडं नेष्यते प्रामाणिकैर्नाङ्गीक्रियते । जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं बाह्य एव च । बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य संस्थितिः । नित्योपाध्या स्वरूपया चिद्रूपया युतो जीवः केशवप्रतिबिम्बक इत्यादिचतुर्थतात्पर्यगीताभाष्याद्युक्तेः । किञ्चिदपि न जडमतो न सूर्यकान्तादिवन् एकाकारं येनातिप्रसक्तिः स्यादिति भावः । उत लिङ्गभङ्गानन्तरं तस्य जीवस्य द्वयमुपाधिप्रतिबिम्बात्मकमपि स्वरूपमिष्यत इत्यन्वेति । न किञ्चिदित्येतद्विवरणमिदमिति ज्ञेयम् । देहस्य सर्वथा नाशशिरस्कत्वादात्मनश्चेदनाशात्किं प्रयुक्तमेतद्धननं न युक्तमित्यतस्तस्मान्न कस्यचिदित्युत्तरश्लोकतात्पर्यं विवक्षुस्तदर्थगर्भं मानमुदाहरन्नुपसंहरति ।। तस्मादिति । असौ जीवः केनचिदपि न हन्तुं शक्य आत्मवान्नित्यभूतस्वबिम्बपरमात्मवान् बिम्बस्यानाशाच्चेतनस्याप्यनाशादुपाधेश्च नित्यतयाऽऽत्मा न हन्तुं शक्य इति भावः । स्वजीवनार्थाय परदोहं नाचरेत् । यद्याचरेत्परेषां द्रोहमाचरन् सोऽज्ञभावेनैतत्प्रकाराज्ञत्वेन परैरत्रापरत्र हन्यते नरकाद्यनर्थं चाप्नोतीत्यर्थः । स्वमायेत्यत्रत्यस्वशब्दो विष्णुवाचीत्यत्र मानमाह ।। पर इति । परः स्वो हरिरुद्दाम इति नामचतुष्टयं गुह्यमज्ञैरज्ञातत्वात् । यो वेद स सर्वपापैः प्रमुच्यते मुक्तो भवति । अर्थवादेन तद्वेदनस्यावश्यकत्वेन विधीयमानतां द्योतयति । रूढिशब्दचतुष्टयसाधारणीं प्रकाशसंहितया प्रकाश्य प्रस्तुतस्वपदं महायोगेन हरिपरमिति प्रत्याययत्पाद्यं च मानमाह ।। स्वतन्त्रत्वादिति । स्वेति नाम यस्यासौ स्वनामा ।। ततश्चायं श्लोकार्थः ।। आत्मन एकत्वान्नानाविधताप्रतीतिः किंनिबन्धनेत्यतः सदृष्टान्तं तत्सम्भवमाचष्टे ।। ज्योतिरिति । अदो ज्योतिः सूर्यादिलक्षणम् । समीरवेगानुगतं समीरो वायुस्तस्य यो वेगस्तेनानुगतं सचलनं तच्चलनेनेत्यर्थः । उदकपार्थिवेषु पार्थिवाश्च मृद्विकृताः शरावोदञ्चनादय उदकयुताश्च ते ते च तेषु प्रतिबिम्बितं विभाव्यते छिन्नभिन्नत्वादिना प्रतीयत एकमप्येवं तथा असौ पुमान् जीवः स्वमायारचितेषु स्वस्य हरेर्माययेच्छया रचितेषु गुणेषु तत्कार्येषु देहेषु रागानुगतः । शोभनाध्यासो राग इति गीताभाष्योक्तेस्तदनुगतः सन्विमुह्यति छिन्नः खिन्ना भिन्नोऽहमिति विविधं वैचित्र्यं प्राप्नोति । किञ्च यथा तदेव ज्योतिः समीरवेगोऽनुहीनतां गतो यस्य तद्विकलमुदकपार्थिवेषु तन्मिश्रपार्थिवादिषु विभाव्यते वि विशिष्टमखण्डमिति यावत् भाव्यते प्रतीयते । एवं सज्जीवो गुणेषु रागान्वित इति पदमेकम् । गुणेन स्वगुणेन स्वरूपगुणेन वा इषुरागो इषुचतन्मये भवेदिति सकलेशनिवेशवान् रागोऽनुगतोऽयं वा सोऽनुगतो येन वा । स्वमायारचितेषु देहादिषु विमुह्यति मोहं न प्राप्नोतीति सज्जीवपरतया शरावद्गुणाः प्रोक्ता इत्यादिना तात्पर्यानुसारेण योजनीयोऽयं श्लोकः ।। ४३ ।।

निगमयति ।। तस्मादिति । यस्मात्तथाविधो नित्योपाध्यादियुतः परोऽपि स्वयं च तथाविधस्तत्प्रकार इति कस्यचित्प्राणिनो द्रोहमात्मनः क्षेममन्विच्छन्नाचरेत् । आचरतश्चानर्थमाह । परतो भयमिति । परत उपद्रुतादत्र परत्र च नरकादिभयं च भवतीति शेषः ।। ४४ ।। प्रकृतमनुसरति ।। एषेति । बहुहेतूक्तिस्तु मुक्तिर्भवेदिति मन्तव्यम् । पुत्रिकोपमा पुत्तलिका वस्त्रमयी वा तदुपमा निर्जीवप्रायेति वाऽर्थः । इतरस्तु स्फुटः ।। ४५ ।। पुरुषादाननुव्रत इत्यनेन, कामिनीकारुण्यं राक्षसानामस्तीति ध्वनितम् । वधूवधनिषेधे प्रस्तुते तदननुगुणमित्यतोऽप्याह ।। पुरुषादाननुव्रत इति । पुरुषादा अननुव्रता येन पुरुषादैरननुव्रत इति वा । तैरपि जुगुप्सिते कर्मण्युद्युक्त इत्यानुगुण्यं ज्ञेयम् । एतत्सर्वनिर्वाहार्थं दारुण इत्युक्तम् । स कंसः सामभिर्भेदैश्च बोध्यमानो वसुदेवेनेति शेषः । भगिनीभङ्गभङ्ग्या न न्यवर्तत न निववृते तत्र हेतुर्दारुण इति । स्वभावतः क्रूरश्चेदपि बोधकाः साधवो वर्तेरन्नित्यत आह ।। पुरुषादाननुव्रत इति । पुरुषानदन्तीतिताननुव्रतो राक्षसानुसृतेर्नापससारैवैतत्कुकर्मत इति भावः ।। ४६ ।। यदा दुर्वृत्तोऽनिवृत्तस्तदा वसुदेवः किमचरच्चरममुपसमोपायमित्यतोऽष्टभिः स्पष्टयति श्लोकैः ।। निर्बन्धं तस्येत्यादिभिः । तस्य कंसस्य निर्बन्धं हननदुराग्रहं प्रतिव्योढुं तदपोहितुं विचिन्त्य किञ्चिदालोच्य प्राप्तकालमनु सङ्कटकाले युक्तमिदमन्वपद्यतालब्ध ।। ४७ ।। यावद्बुद्धिबलोदयं बुद्धेर्यद्बलं तस्योदयो यावत्पर्यन्तं वर्तते तत्पर्यन्तं यथा भवति तथा । यावदवधारण इत्यव्ययीभावः । सैव नास्ति चेन्न तद्बलं तदुदयस्तु कपोणिगुडायित इत्यत आह ।। बुद्धिमतेति । तत्रापि मतुपा प्राशस्त्यं तस्य द्योत्यते । मृत्युरपोह्यः परिहार्योऽसौ मृत्युर्यदि न निवर्तेत देहिनः परिहृतियत्नं कुर्वतोऽपराधो वैदिकलौकिकापवादलक्षणो नास्ति । यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः । प्रयत्नमग्रतो निधायेत्यादेः । अपरहेतुभिरवान्तैरस्तन्निमित्तकमधोऽधोगतिरपि नास्तीति वर्णयन्ति ।। ४८ ।। पुत्रानेतद्गात्रजान्मृत्यवे हननाय कृपणां दयापदं प्रत्यर्प्य सङ्कल्पपूर्वमर्पणं कृत्वा मोचये । एकस्य मृतिं प्रच्यावयितुमनेकतोकसमर्पणसङ्कल्पो नाल्पमतिमत्सम्मत इत्यत आन्तरङ्गिकीं काञ्चन कालयापनचिन्तामुचितामाह ।। सुता इति । यदि मम सुता जायेरंस्तदा किल समर्पणं तन्मध्ये मृत्युरयं कंसो म्रियेत न चेत्किल दानं दानवाय ।। ४९ ।। विपर्यय एतन्मरणं वा न स्यात्किं न चेयतिसमये कथं

कंसहिंसेत्यतः शंसति ॥ गतिरिति । विपर्ययः मम सुतादेवास्य मृत्युः किन्न स्यात् । तनुजस्य तनीयसः कथं कथयेतन्मथकतेति तत्राह ॥ गतिरिति । धातुर्विधातुर्गतिर्दु रत्ययाऽस्येतुमशक्येति वा । यद्भावि तद्भवत्येवेति भव वसुदेव तूष्णीक इत्यत आह ॥ उपस्थित इति । सद्य उपस्थितो मृत्युः सत्या निवर्तेत । इदानीं निवृत्तो मृत्युस्तद्रूपोऽयं पुनर्मत्तनुजजननानन्तरं तेनैवापतेत् । अत्र गतिर्धोतुर्दु रत्ययेत्यपि योज्यम् । अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्तेत्यशरीरा गीरपि न वितथा भविष्यतीत्यन्तरङ्गबलवानेवं वसुदेवोऽवादीदिति भावसूचकं पीठिकोक्तं बुद्धिमत्त्वमिति मन्तव्यम् ॥ ५० ॥ अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरिति श्लोके काष्ठसंयोगवियोगावदृष्टघटिताविति प्रतीयते । न चैतद्युक्तम् । तयोर्यथायथं दृष्टसामग्रीसिद्धेरिति परिहर्तुमभीप्सितमध्याहृत्य तदप्रामाणिकत्वप्रच्युत्ये वामनपुराणवचनमुदाहरति ॥ कुण्डादिस्थेति । कुण्डादिस्थो योऽग्निस्तस्य दारुयोगादौ योगवियोगादौ स्वतः योजकं विना प्रवृत्तेरभावान्मूलानुकूल्येन वियोगयोगादाविति वक्तव्ये वियोगस्तु योगानन्तरकालिक इति वाऽभावज्ञानं प्रतियोगिज्ञानाधीनमित्यभावप्रतीतिर्भावप्रतीत्यधीना नियमेनेति टीकोक्तेर्युक्तं तात्पर्ये वियोगादग्रे योगाभिधानमिति ज्ञेयम् । अत एव मूलकृदपि दार्ष्टान्तिकसादृश्योक्तिसमये शरीरसंयोगवियोगेति पुरस्कुर्वन्संयोगं स्ववचनं व्याचख्याविति भावमिमं व्याख्यां त आचार्या आविर्भावयामासुरिति विभावनीयम् । पूर्वं तथोक्तिस्तु तयोरदृष्टघटितत्वाविशेषादिति मन्तव्यम् । कंसनिर्बन्धानुसारेण वियोगस्य पुरस्कृतिरिति वा । यथा कुण्डस्थितस्याग्नेरतदादिस्थिताग्नेर्दैवाद्धरेः सकाशादेव दारुकाष्ठमुप सन्नयेत्प्रह्वं भवेत्संयुक्तं भवेदिति यावत् । अन्यथेत्याकर्षणीयम् । अन्यथा च न सन्नमेद्वियुक्तं च भवेत् । तथा देहयोगः । पुनर्देहेति योगपदेन समस्तमपि विश्लेष्य वियोगपदेनाप्यन्वेतव्यम् । देहयोगो देहवियोगश्चेति देवाद्वासुदेवादेव । अन्यथा न च । अनेनाचेतनाग्निनिकेतनश्चेतनोऽपि प्रत्युक्तः । माने वामने देवादित्येकवारोक्तौ चारितार्थ्ये पुनर्दैवादित्युक्तिर्दैवं दिष्टमित्युक्तदैवस्याप्यस्वातन्त्र्यं द्योतयितुमिति मन्तव्यम् ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ यथाग्नेर्दारुवियोगयोगयोः काष्ठसंयोगवियोगयोरदृष्टतोऽदृष्टादन्यन्निमित्तं हेतुरितरो नास्ति । एवं तथा सर्वजन्तूनां शरीरसंयोगवियोगहेतुर्हरेरितरो दुर्विभाव्यो दुःसाध्यविभावः । अतो भगवानेवाङ्गसङ्गतद्भङ्गकृदिति नाभिमानाद्भामिनीहननमुन्नहनहेतुरिति निवर्तस्वेति भावः ॥ ५१ ॥ तं पापं पापपुरुषं विमृश्य निश्चित्य । आत्मनि स्वस्मिन्दर्शनं शास्त्रज्ञानं यावत्तावता शौरिर्बहुमानपुरःसरं राजेति बहुमानपूर्वकं यावदात्मनिदर्शनं, स्वानुभूतदृष्टान्तो यावान्यावदात्मनिदर्शनं यथा तथा । बहुमानपुरःसरं प्रमाणोपन्यसनपूर्वकं वा विमृश्यालोच्येति वा सान्त्वयामास ॥ ५२ ॥ प्रसन्नवदनाम्भोजः प्रत्यग्रवदनाम्भोज इति च पाठौ । प्रसन्नं वदनाम्भोजं यस्य सः । प्रत्यग्रं वदनमेवाम्भोजं यस्य सः । प्रत्यग्रमुक्तं सद्यस्कमिति हलायुधः । दूयमानेन तप्यमानेन मनसाऽन्तः प्रहसन्वहिः ॥ ५३ ॥ सौम्येति सुमुखीकर्तुमुक्तिः । अशरीरिणी वाग्वाणी यद्भयमाह तदस्याः सकाशात्तेन हि यतः पुत्रेभ्यो भयमुत्थितं तान्पुत्रांस्ते समर्पयिष्ये जातं जातं पोतं घातयितुं यातयामि । अष्टमत्वं प्रातिस्विकं सम्भवन्नैकत्र पर्याप्तमिति हन्ताऽस्या अष्टमो गर्भ इत्युक्तावपीति पुत्रानित्युक्तिः । त इत्यावर्तते । ते त्वया ते पुत्रा अस्या निरस्याः संहार्या इति यावत् । अतोऽभयं भयाभावः सिद्ध इत्यन्वयो वा । अनेनोभयस्थाने भयशब्दस्येवास्या इति शब्दस्यापि प्रयोगेऽतिरेकयितृमूकता बोधितेति बोध्यम् ॥ ५४ ॥ इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १०–१ ॥

॥ हरिः ॐ ॥ अत्र कंसकृत्यशंसनापदेशेन संसारो निस्सार इति शुकः शंसति ॥ सुहृद्वधादिति । भगिनीवधात् । सुहृदिति वदन्नदो हृदयं पद्माधवसद्मायितमिति शोभनं तद्वती सा देवकीति ध्वनयति । कंसो हिंसात इदानीं निवृत्तः किं क्षणान्तरे तनोतीत्यपि न किन्तु मनःशौद्ध्यान्निववृत इत्यप्याह ॥ सुहृदिति । शुद्धमनस्को वधात्प्रस्तुतादिव । तत्र निमित्तमाह ॥ तद्वाक्यसारविदिति । तस्य वसुदेवस्य वाक्यं तद्वाक्ये यः सारस्तं वेत्तीति स तथा । अशरीरवाणीसारविदिति वा । वाक्यभावविन्निववृते प्रीतः प्रस्तुतभीत्यपगमात्प्रशस्य स्तुत्वा स्वगृहं प्राविशत् ॥ १ ॥ सर्वदेवताः सर्वा देवता यस्यां सन्निधानवत्य इति वा भगवदवतारमृतत्वात्सर्वस्तुत्येति वा । दशमे मासि जायत इति श्रुतिश्रावितसमये उपावृत्ते प्राप्ते सत्यष्टौ पुत्रानेकां कन्यां चानुवत्सरं संवत्सरस्येकैकमिति प्रसुषुवे ॥ २ ॥ जन्म नाम्ना कीर्तिमंतं प्रथमं जायते स्म तथा तं कृच्छ्रेण कष्टेन कंसायार्पयामास । विना तद्याञ्चां हिंसायै कंसाय दानं नोचितमित्यत आह ॥ सोऽनृतादतिविह्वल इति । अदाने प्राप्यादनृतात्तद्वादित्वप्रयुक्तपातकादतिविह्वलः सन्नार्पयत् ॥ ३ ॥ पादत्रयेण सत्स्वभावमेकेन दुःस्वभावं चावेदयन्कथं वसुदेवो नृपभीतः पोतमदादित्युत्तरयति ॥ किमिति । साधूनां किं दुःसहं विदुषामपेक्षितं किं न किमपीत्युपेक्षितवान्सुतमिति भावः । किञ्चेदमपि तनुजन्यजनं दुःशकमित्यत आह । ऋतात्मनां सत्यसंहितचेतसां किं दुस्त्यजं न किमपि सर्वं सुत्यजमिति भावः । वसुदेवदत्तं पुत्रं न हन्यात्कंस इत्यत आह । कदर्याणां कृपणानां कुत्सितस्वामिनां वाऽकार्यं किं सर्वं हिंसादिकार्यमेवेत्यर्थ इति कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचानेत्यमरः । पर्यायेष्वेवं बहुस्थलेष्वमरो वर्तत इति नाद्भुतमिदम् । ऋतात्मनां हरिमनसामिति वा । ऋ गताविति धातोस्तु पूर्वावगतवत्सदास्थितेर्ब्रह्मर्तामित्युक्तमित्युक्तेः । ऋतमुञ्छशिलमित्युक्तेस्तद्वृत्तिमनसां वा ॥ ४ ॥ समत्वं तोषकातोषकार्ययोः सत्ये यथार्थभाषणे व्यवस्थितिं च दृष्ट्वेव तुष्टमनाः कंसः प्रहसन्सन्निदमब्रवीत् ॥ ५ ॥ अस्मात्प्राथमिकात्कुमारान्मे भयं हि यतो नास्ति ततोऽयं कुमारः प्रतियातु । युवयोरष्टमात्पुत्रान्मे मृत्युर्विहितः । किलेत्यशरीरवाणीवार्तायाम् ॥ ६ ॥ असतस्तत्रात्यविजितात्मनोऽनिगृहीतमानसस्य तत्प्रतियातु कुमारोऽयमिति वचनं नाभ्यनन्दत न विश्वसनीयमिति न तुतोष ॥ ७ ॥ शुकः कंसध्नकंसपक्षीयस्वरूपं निरूपयति ॥ नन्दाद्या इति । अमीषां गोपानां वसुदेवाद्या वृष्णयो देवक्याद्या यदुस्त्रियश्चेत्युभयोर्वसुदेवनन्दकुलयोः सर्वे देवताप्राया बाहुल्येन देवता एव ॥ ८ ॥ ये च

कंसमनुव्रतास्तज्ज्ञातयः सुहृदश्च लोकोपद्रवकारिण एते सर्व एवासुरा दैत्याः ॥ ९ ॥ देवकार्यार्थमुद्यतो नारदो देवताकार्यमेवार्थः स्वप्रयोजनं तेन मुद्यस्य स यतस्तत इति वा । भगवान्नारदः कंसाय गतम् । एतन्नन्दादिदेवादित्वं शंसयामास । णिच् स्वार्थे । शशंस । शशंसाभ्येत्य नारद इति पठन्ति । तथोत्तरत्र भूमेर्भारायमाणानामिति च ॥ १० ॥ भूमेर्भारावतीर्णानां तद्रूपत्वेनावतीर्णानां दैत्यानां वधोद्यमं देवताविहितं च शशंसेत्यन्वयः ॥ ११ ॥ ऋषेर्देवर्षेर्विनिर्गमेगमने इत्येवं प्रकारेण जाते सति स्ववधं प्रति तमुद्दिश्य विष्णुं देवक्या गर्भसम्भूतं मत्वा तथा यदून्सुरांश्च मत्वा देवकीं वसुदेवं च निगडैः शृङ्खलादिभिः । अनेन पादयोरुभयोरपि पृथक् पृथक् स्थापनं द्योत्यते । तेन च किञ्चिच्चलनादिसुलभता च ध्वन्यते । गृहे कारागारे निगृह्य जातं जातं पोतमजनशङ्कयाऽजनो लोकविलक्षणो जनार्दन इति वा शङ्कयाऽवतीर्ण इति सन्देहेन । अजनं स्वक्षेपणं संहाररूपं स्वगमनं मरणरूपं तच्छङ्कयेति च ॥ १३ ॥ किमेककारणमनेकतोकहिंसा कंसस्ततानेत्यत एतादृशानां स्वभावोऽयमित्यावेदयति ॥ मातरमिति । पूर्वरूपत्वात्पूर्वं मातृुक्तिः । अथवा कंसस्योत्तरत्र स्वेन वक्ष्यमाणस्वमातृजारजत्वेन मातृघातोऽपि घटितप्राय इति तत्पुरस्कृतिः । लुब्धा असुतृप्ता असून्स्वप्राणांस्तर्पयन्तीति ते तथा । इतरप्राणगार्ध्योपेता इति लुब्धास्तान्हत्वा स्वासुसंरक्षकाः प्रायो बाहुल्येन ॥ १४ ॥ प्रागमृतोत्पत्त्यनन्तरमासुरं कालनेमिं विष्णुना हतमिदानीमिह मेदिन्यां सञ्जातमात्मानं स्वं जानन् । यदुभिर्विष्णुना च स कंसो व्यरुद्ध्यत विरोधं कृतवान् ॥ १५ ॥ शूरसेनांस्तन्नामकदेशान् । तन्निग्रहहेतुर्महाबल इति ॥ १६ ॥ इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ १०–२ ॥ छ ॥ छ ॥

॥ हरिः ॐ ॥ कृष्णस्य न रेतोविकृतत्वं साक्षाद्धर्यात्मकता चेति ब्रह्मादिस्तुत्या सिषाधयिषुर्विनाऽनयं न हननं युक्तमिति कंसकंसानुचरदौरात्म्यमादौ वदति ॥ प्रलम्बेति । बकोऽयं वृकोदरकबलितादन्यः । महाशनोऽपि नाम्ना दानवः । आद्यासुर इत्येके परन्तु न समाधानमुपन्यस्तम् ॥ १ ॥ बाणो बलिसुतो भौमो नरको यदूनां तैः कदनं कलहं मागधो जरासन्धः संश्रय आश्रय यस्य सः स्वयं बली च ॥ २ ॥ ते यादवा न विविशुर्न विविशिरे कुर्वादयो देशाः ॥ ३ ॥ एके केचन तं कंसमनुरुन्धानोऽनुसरन्तः षट्सु कीर्तिमदादिषु ॥ ४ ॥ शरीरान्तरं विनैकलस्य बलस्य योनिद्वयसम्बन्धः कथमिति परीक्षित्प्रश्नमुत्तरयितुं तदुपोद्घातमाह ॥ सप्तम इत्यादिना । वैष्णवं धामाविष्टभगवत्तेजस्कम् । यथोक्तं प्रथमतात्पर्ये । आवेशो बलभद्रे । शङ्खचक्रभृदीशेशः श्वेतवर्णो महाभुजः । आविष्टः श्वेतकेशात्मा शेषांशं रोहिणीसुतमिति महावाराह इति । यमनन्तं शेषं प्रचक्षते सप्तमो गर्भः । तद्गतो बभूव । हर्षशोकविवर्धनो हर्षोऽङ्कुरित इति शोकस्तु स्रुत इति तौ वर्धयतीति स तथा ॥ ५ ॥ निजः स्वयमेव नाथो येषां ते तथा तेषां निजस्य नाथो नाथनं प्रार्थना येषां तेषामिति वा योगमायां दुर्गां समादिशदाज्ञापयामास । यदूनामिति द्वितीयान्तं च सद्योगमायामित्यनेनाप्यन्वेति । येनावतारेणोना हीना तामित्यर्थः । अधुनाऽनवतारेति तां प्रत्याज्ञोचिता तदर्थमिति तात्पर्यम् ॥६॥ तदाज्ञाप्रकारं प्रज्ञापयति ॥ गच्छेति । वसुदेवस्य रोहिणी नाम्ना भार्या नन्दकुले आस्ते । साऽङ्कुरिते गर्भे बहिर्यापिता तत्रास्ते तस्याः प्राक्तनं गर्भं बहिष्कृत्यैतन्निवेशयेत्यस्य भावोऽवसेयः । सम्पूर्णलक्षणचणं नवराजमानद्वारान्तरं परमसुन्दरमन्दिरं तत् । राजेव सत्पुरवरं भुवनाधिराजो निष्कासयन्परमसौ भगवान्विवेशेतिवद्धिनिश्चयार्थं देवकीगर्भजानामन्या भार्या धृतगर्भाः स कंसः स्थानान्तरे प्रसवो यावदासां संस्थापयामास सुपापबुद्धिः । हेतोस्तस्माद्रोहिणी नन्दगेहे प्रसूत्यर्थं स्थापिता तेन देवीत्याचार्योक्तेः ॥ ७ ॥ एकत्र भर्तैकत्र कलत्रं कुत इत्यत आह ॥ अन्याश्चेति । कंसविग्नाः खलः शृङ्खलाबन्धं तनुयादिति भीता विवरेष्वज्ञातप्रदेशेषु मामकं मत्सम्बन्धि तद्धाम सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय । अथानन्तरमहं स्वांशांशभागेन साक्षात्स्वांशकृष्णकेशत्वेन विभजनेन । अने अकयेत्वोदरो विष्णुस्तेनैव स्वांशं स्वरूपभूतमंशं भजतीति स तथा सन् स्वांशभागो हि स्वांशकला तेनेति वा । एते स्वांशकला इत्येतस्य किञ्चिच्छब्दतः किञ्चिदर्थतोऽनुवादोऽयमिति वा । एते प्रोक्तावतारा मूलरूपी कृष्णः स्वयमेवेति विवरणात्प्रथमे । स्वस्यांशस्य योग्यो भागो देवकीभागोऽयं तेन पुत्रतामिति वाऽन्वयः । भागो भागधेयैकदेशयोरिति विश्वः । शुभे दुर्गे ॥ ९ ॥ सर्वकामवराणामपेक्षणीयोत्तमानामीश्वरीं स्वामिनीम् ॥ १० ॥ नानोपहारबलिभिरुपग्राह्यमुपहारः करो बलिरित्युभयतश्चामरः । उपाहारः पुष्पस्तवकादिः । बलति प्राणिति भक्तेन येन स बलिरित्यर्थः । सर्वकामवरप्रदां त्वामर्चिष्यन्तीत्यन्वयः । स्थानान्यालयान् नामानि च कुर्वन्ति । तत्तत्क्रियानुगुण्येन युक्तानि जानन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ दुर्गेति दुर्ज्ञेयत्वाद्दुःखदत्वाद्दुष्प्राप्यत्वाच्च दुर्जनैः । सतामभयदत्वाच्च दुर्गा त्वं हृद्गुहाश्रयादिति दुर्गा । दुःखेन गम्या गम्लृ गतौ गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद्दुर्ज्ञेयेति दुर्गा । दुर्दुःखमिति सम्प्रोक्तमित्युक्तेर्दुरित्यावृत्तं दुर्जनवाचि । तथा च दुर्जनान्प्रति दुःखं गमयतीति सा तथेति । दुर्गा दुर्जनैर्दुष्प्राप्यत्वादिति स्फुटम् । वैकुण्ठादिरूपतया सतामभयरूपत्वाद्दुर्गा । दुर्गमस्या अस्तीति दुर्गा । अर्शआद्यचि हृद्गुहामततीत्यर्थः । भद्रकाली मङ्गलरूपिणी श्यामवर्णा चेति विजयत इति विजया विशिष्टो विविधो जयो यस्याः सेति वा । विष्णोरियं वैष्णवी कौ भूमौ मुदा हलन्तत्वादाबन्तः प्राचीनरीत्या । यया सा । चण्डिका कोपना कृष्णा नाम्ना माधवी प्रस्तुतमधुकुलजेति कन्यका दीप्तिमत्त्वात् क्षिपकादित्वान्नेत्वम् । मायाः सम्पदः प्रतिपदो वा यो लोभो यस्या नारायणी मद्भार्येति ईशाना सर्वेशनशीला शारदा शारं हिंसां ददाति लय इति शारदा । उपसर्गाणां द्योतकतापक्षे शारदा विशारदा कुशलेत्यर्थो वाऽम्बिका जगज्जननीति ॥१२॥ रामनामाऽप्यनन्तनामा भगवान्भगिनीं सोपपत्तिकमाह ॥ गर्भेति । गर्भात्सङ्कर्षणात्ततस्त्वत्कर्तृकं तं भविष्यन्तं सङ्कर्षणं प्राहुः । लोकरमणाद्रमयतीति राम इति । बलोच्छ्रयाद्बलेन सहित उच्छ्रय उन्नाहस्तस्माद्बलभद्रमाहुरित्यन्वयः । बलवत्वाद्बल इति श्रैष्ठ्याद्भद्र इतीति बलपदस्य पृथक् तद्वाचकत्वे विवेको ज्ञेयः । भद्रो

वाच्यवच्छ्रेष्ठसाधुनोरिति विश्वाद्भद्रतद्विवरणशब्दयोरानुरूप्यं ज्ञेयम्। अन्यथा भद्रपदमनर्थं स्यादिति। शब्दश्रेष्ठवाचीति श्रेष्ठोच्छ्रय-योरनतिभिन्नार्थत्वाद्बलेन भद्रशब्देन सन्तोष्टव्यम्। बलवदुच्छ्रयादिति पाठस्तु समस्ततत्पदनिरुक्तिप्रकारज्ञानदारिद्र्यमूलकः कल्पित इति ज्ञेयम्। अनेककोशेष्वदर्शनात्॥ १४॥ भगवतैवं सन्दिष्टा माया ओमिति हे ब्रह्मन्निति सम्बोध्य ओमिति ब्रह्मेति वाक्यमन्वकृत ग्रन्थकार इति मन्तव्यम्। तथैवेति वचः प्रतिगृह्य स्वीकृत्य तं भगवन्तं परिक्रम्य गां भूमिं गता सती गां गता कृतनमना च। अत एव न नमनानुक्तिः। तत्तथाऽकिञ्चिद्व्यत्यासम्। अकरोत्। व्याख्यानव्याख्येयभावस्वगतिका गतिरिति सुधाभिधानाद-गतिका गतिः॥ १५॥ योगनिद्रयेत्यनेन गर्भगार्भसङ्कर्षणकाले न देवक्या अङ्गस्मरणं स्यात्तथा निद्रां दत्वा तत्कर्षणसमर्थतां दर्शयति। देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रति प्रणोते नीते सति पौरा ग्रामोणा गर्भो विस्रंसितः स्रुतोऽहो आश्चर्यमिति विचुक्रुशुः॥ १६॥ भगवानपि विश्वात्मा। स बिभ्रत्पौरुषं धाम ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशमिति श्लोकत्रिके कर्मवशाज्जनिमतो जनस्य रेतःसिचमेवानु प्रविश्यत्यथ मातरम्। रेतःसिग्योगोऽथेति श्रुतिसूत्रादिभिर्यथा प्रथमतो जनकतनुप्रवेशोऽनन्तरं मातृगात्रप्रवेशः प्रमापितस्तथा वसुदेवप्रवेश ईशस्योच्यतेऽत्रेति भ्रमभ्रंशं प्रमाणेनैव कुर्वंस्तत्तात्पर्यार्थमाह॥ आविश्येति। पितरमित्येवोक्त्वाऽनुक्त्वा च वसुदेवमिति यत्र यत्र जगत्त्रातोच्यते तत्र तत्र गतिरियमित्यवगमयामासेत्यवसेयम्। स्वरूपेणारेतोविकृतेन पितरं यं कञ्चन तातत्वेन व्यवह्रियमाणमा-विश्याथानन्तरं मातरं च लोकस्य विडम्बनार्थमनुकरणार्थं निर्जनैर्लोकजनिरहितस्सन्नप्याविशत्। स्वरूपेणेत्येवोक्तम्। तत्किंरूप-मित्यतो निरूपयति॥ आनन्दमात्रदेहेनेति। जातेन तुल्यं वर्तत इति जातवत्सम्प्रदृश्यत इति च वामन इति शेषः। नन्वाविश्य मातरमाविशदित्युक्तावेव तदावेशस्य प्राक्कालिकतामात्रगात्रप्रवेशस्य तदनन्तरिकता स्वतोऽल्पबलादेव भवति विदितेत्यथेति वृथा मान इति चेन्न। तस्य कचित्कैश्चिन्मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादावुत्तरकालप्रत्यायकताऽप्यस्तीत्यङ्गीकृते निर्णायकत्वादथेति सार्थक्यो-पपत्तेः। पक्षान्तरे तु निर्जनैः कुत एवं तनोतीति प्रश्नार्थं क इत्यथशब्दः सार्थकः। तत्रोत्तरमाह॥ विडम्बनार्थमिति॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ विश्वात्मा जगदादानादिकर्ता जगद्व्यापी वा भक्तानामभयङ्करः। मेघर्तिभयेषु कृञः। भयशब्देन तदन्तविधिरित्युक्तेर-भयशब्दोपपदात्कृञः खश्। आनकदुन्दुभेर्वसुदेवस्य मनोंऽशांशभागेन गतम्। आविवेश॥ १७॥ स वसुदेवः पौरुषं परम-पुरुषसम्बन्धि धामांशं तेजो बिभ्रत् यथा दुरासदो रविस्तथा राजमानो भूतानामतिदुर्धर्षः सम्बभूव॥ १८॥

ततस्तत्प्रवेशानन्तरं जगन्मङ्गलं भूर्भूभारावरोहणेन येन तमच्युतस्यांशं नीलवालात्मकं सोऽपि च्युतिरहितोऽच्युत-श्चासावंशश्च तमिति वा सर्वात्मकं सर्वे च त आत्मानश्च तेषां स्वं सुखं यस्मात्तमात्मभूतमात्मना वसुदेवदेवकीकृततपनादियत्नेन देवताप्रार्थनरूपेण वा भूतमाविर्भूतमात्मना स्वेनैव स्वेच्छयेति यावत्। आत्मनैव भुवा ऊतस्सम्बद्धस्तं वा शूरसुतेन समाहितं तमिव विद्यमानं देवी द्योतमाना दधार। तत्र दृष्टान्तमाचष्टे। काष्ठा प्राची। आनन्दकरमिति चन्द्रपदं ग्राह्यं लक्षणया चन्द्रमित्यर्थः। चदि आह्लादन इति स्मरणात्। नभस्त आकाशाद्यथा धरति तथा॥१९॥ या देवकी भोजेन्द्रगेहे कंसकल्पितकारागारेऽवरुद्धार्द्रतृणादि-भित्तिरोहितप्ररोहशक्तिरग्नेशिखा भविष्यन्ती ज्वाला यथा सत्यन्तस्सति तत्प्राया। यथा वा द्यूतखले द्यूतस्थले सरस्वती यथा सम्यगृ-तरूपरागमसती तस्यानृतभूयिष्ठत्वात्तत्प्राया। तथा असत्यमङ्गलाङ्गयुता। सैवेदानीं सर्वजगन्निवासनिवासभूता सर्वजगतां निवास आश्रयस्तस्य श्रीशस्य निवासभूताऽऽश्रीभूता नितरामत्यन्तं विरेजे रराजेत्यन्वयः। अवरुद्धा तत्रापि शुद्धान्ते निरुद्धाऽवरोधस्तिरोधाने शुद्धान्ते राजवेश्मनीति खलं भूस्थानकल्केष्विति शिखा शिफायां चूडायां ज्वालायामग्रमात्रक इति विश्वस्मिन्विश्वः। द्यूतं च खलश्च। सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवदित्येकवद्भाव;। द्यूते खले नीचे सत्यपि रसत्वस्यसतीति वा। क्रूरे नीचेऽधमे खल इति सः। न रेजे इति पाठान्तरकल्पनं न स्वरसम्। प्रभया जितम्भरां विरोधयन्तीं न पुरेयमीदृशीत्युत्तरोक्त्यनानुगुण्यात्॥ २०॥ कंसोऽ-जितम्भरामसंज्ञात्वेऽपि पूर्ववज्ज्ञेयम्। केनाप्यपराजितं हरिं बिभ्रतीति सा तथा तां भवनं स्वप्रभया विरोचयन्तीं शुचिस्मितां तां वीक्ष्यैष गुहामुदरकुहरीं श्रितो गर्भान्तर्विद्यमानोऽर्भको मे प्राणहरो हरिर्ध्रुवं निश्चयः। तत्र कारणमीरयति। यद्यतः पुरा एतदङ्कुर-णात्पूर्वमियं देवकी ईदृशी नाभूत्॥ २१॥ तर्हि तस्या वधोपायः कर्तव्य इत्यत आह॥ किमिति। अद्य मया तस्मिन्घटनीयं किं न किमपि। कुत इत्यत आह॥ यथार्थतन्त्र इति। यथार्थं तन्त्रं सिद्धान्तो यस्य सोऽनन्यथा भवत्स्वाभिप्रेतो विक्रमं स्वपराक्रमं न विहन्ति न त्यजति मां हन्यादेव। कुमाराविर्भावात्पूर्वमिमामेव मारयेत्यत आह॥ स्त्रिया इति। आत्मनाशे समुत्पन्ने सर्वं त्यजति पण्डित इति वचनान्न गरीयसां प्राणेभ्य इत्यत आह॥ अयमिति। स्वसुस्तत्रापि गुरुमत्या गर्भिण्या वधो यशः श्रियमनुकूलं ब्रह्मणा क्लृप्तं यदायुस्तत्राशु हन्ति। एतद्धननेऽपि मद्धननं न हननेऽपि तदेवेति दुर्घटेऽस्मिन्कार्ये किं घटनीयमित्यन्वयः॥ २२॥ पापी चिरायुरित्याद्युक्ते किमायुर्यातीति यासि चिन्तां शंस कंसेत्यत आह॥ स इति। यश्चात्यन्तनृशंसितेनैवमादिहननादिना वर्तेत स एव जीवन्सम्परेतो मृतः खलु निश्चयः। देहे मृते गतप्राणे सति तं देहमनु अनुमानिनाऽभिमानवतस्तत्तज्जीवस्यामलं यश इहार्थश्च कामश्चेत्येतौ ध्रुवं निश्चयेन नश्यतो गौर्नाको नश्यति। गौर्ज्ञानं वा ध्रुवं माधवधामापि नश्यतीति वा। अतो देवकीवधः सर्वथाऽधोगतिहेतुरिति नाचरणीय इत्याशयः। गौः पशुसम इति वा। अमलं निर्दोषस्थानं मोक्ष इति वा। द्वयोस्तु रश्मिदृग्बाण-स्वर्गवज्राम्बुलोमसु गौरिति नानाध्वनिपदमञ्जरी। दृक् चात्र ज्ञानम्॥ २३॥ घोरतमादतिघोरान्मनसः सन्निवृत्तो न परवरणे-नेतीरयति॥ स्वयमिति। दौर्बल्याद्दरिद्रमनोरथवन्नैतस्येत्याह॥ प्रभुरिति। हरेस्तज्जन्म प्रतीक्षन्प्रतीक्षमाण आस्ते। अनुबन्धस्तु भक्तिः स्यादित्यादेः। वैरपूर्वकभक्तिप्रकारः॥ २४॥

श्रीसुबोधिनी

ततः किमत आह **किमद्येति**। तस्मिन्निति। **तस्मिन्** भगवति प्राणहरणकार्ये वोपस्थिते पूर्वप्रतीकाराणां वैयर्थ्यादद्य किं कर्तव्यमितिविचारः। तूष्णीं स्थितौ प्राणान् हरिष्यत्येवात **आशु मे किं कर्तव्यम्**। इयं मारणीयेति चेत् तत्राह यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रममिति। यद् यद्यपि मल्लक्षणो जनोर्थतन्त्रः स्वकार्यतन्त्रः कार्यवशस्तथा विक्रमं न विहन्ति। स्त्रीवधे स्वस्य पराक्रमस्य हानिरेव। अथवायमुदरस्थो भगवान् यद् यस्मादर्थतन्त्रः कार्यार्थमेव समागतोतः स्वस्य **विक्रमं न हन्ति** न नाशयति। तूष्णीं न स्थास्यतीत्यर्थः। ननु तव जीवनादृष्टे विद्यमानेयं न मारयिष्यतीति तदभावे त्वन्यतोपि त्वया मर्तव्यमित्येतद्द्रोहोनुचितो यद्यपि तथापि जीवनहेतौ सत्येवागन्तुकेन नाशहेतुना तत्सम्भवात् तत्प्रतीकारे प्रदीपस्येव जीवनसम्भवादस्या मारणमुचितमिति चेत् तत्राह **स्त्रिया** इति। विद्यमानेप्यदृष्टेत्युत्कटदुःकर्मकरणादायुः क्षीयेतैव। अतो विद्यमानेप्यायुषि मरणसम्भवान् नैतादृशं कर्म कर्तव्यम्। **स्त्रिया वधो यशो हन्ति**। स्त्रीरक्षार्थं शूराणां स्वप्राणपरित्यागो यशोहेतुः। **स्वसुर्वधः श्रियं हन्ति**। सर्वो हि पुरुषः सोमात्मकः। लक्ष्मीश्च भगिनी। अतो भगिनीवधो धनादिसर्वसम्पत्तिनाशकः। **गुरुमती** गुर्विणी। सा हि प्राणिनामायुःपोषिका। तस्या वध आयुर्नश्यति। अतः क्रमेण तस्या वधे **स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या यशः श्रियमनुकालं** तत्क्षणमेवायुश्च हन्ति॥ २१॥

अस्तु वा प्रबलजीवनादृष्टं तथापि न हन्तव्येत्याह **स एष** इति। **स** प्रसिद्धोपि **एष** मल्लक्षणोपि जनः शौर्येण राज्यलक्ष्म्या च युक्तोपि जीवन्नेव **सम्परेतो** मृतः। यशःश्रीगमने केवलं जीवनं मरणतुल्यमेवेति जीवन्नेव **सम्परेतः**। खल्विति निश्चये। **घोरतमेन नृशंसितेन** क्रूरकर्मणा **वर्तेत** जीवेत् स जीवच्छव इति। सत्यम्। यतोमृत एव देहे **तं मनुजाः शपन्ति** 'म्रियतामयं दुरात्मे'ति। मृते वा 'सम्यगयं दुरात्मा मृत' इति। एवमयं लोकधिक्कारसन्दग्धः परलोके **चान्धन्तमो गन्ता**। **तनुमानिनः** सम्बन्धिदेहाभिमानिनो ये नरका अन्धन्तमोन्तास्तानवश्यं गच्छतीत्यर्थः। भगवत्सान्निध्याद् भगवदिच्छया तस्य तथाज्ञानमुत्पन्नम्। अतो भगवदिच्छया सर्वेषां ज्ञानप्रकारविशेषश्च ज्ञाने भासते। देवक्याः पुत्रा मारणीया इति प्रथममुपदेशेन ज्ञानोदयः। वसुदेवस्यापि तथाबुद्धिः। अतः सर्वस्यापि सर्वज्ञानजनको भगवानेवेति कृष्णो भगवानेवैवंवाक्यैर्निश्चितः। तदर्थमेवैतानि वाक्यानि॥ २२॥

एवं विमर्शे यज् जातं तदाह **इति घोरतमाद्** भावादिति। अयुक्तवध एव **घोरः**। तत्रापि भगिन्या **घोरतरः**। गुरुमत्या **घोरतम** इति **सम्यङ् निवृत्तः**। नन्वन्यप्रेरणया कथं न मारितवानित्याशङ्कयाह **स्वयम्प्रभुरिति**। स्वयमेव प्रभुर्नान्योस्य प्रवर्तक इत्यर्थः। जननान्तरं युद्धं कर्तव्यमिति **तज्जन्म प्रतीक्षन्नास्ते**। तर्हि भक्तो भविष्यतीत्याशङ्कयाह **हरेर्वैरानुबन्धकृदिति**। हरेः सर्वदुःखहर्तुरपि पूर्वजन्ममारणलक्षणवैरस्यानुबन्धं निमित्तं तत्सम्बन्धिनां वधादिरूपं करोतीति तथा॥ २३॥ एवं वैरानुबन्धनेनापि भगवच्चिन्तने प्रमाणबलाभावेपि प्रमेयबलेनैव तस्य ज्ञानं जातमित्याहासीन इति। **आसीन** उपविष्टः **संविशन्** शयनं कुर्वंस्तिष्ठन्नुत्थित इत्यवस्था उक्ताः। क्रिया आह **भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्निति**। एवं सर्वावस्थासु सर्वक्रियासु **हृषीकेशं चिन्तयानः**। स्वदर्शनार्थमेव सर्वेन्द्रियस्वामी तथा प्रेरितवान्। अतः **कृष्णमयमेव जगदपश्यत्**॥ २४॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

किमद्येत्यत्र—जीवनहेतौ सत्येवेति। आगन्तुकेन नाशो जीवनादृष्टे सत्येव भवति तदभावे तु सहजेनैवादृष्टेन नाश इत्येवकारार्थः। तथा चागन्तुकेन नाशोपस्थितौ जीवनादृष्टं वर्तत इति निर्धारो भवतीति भावः॥ २१॥ **स एष इत्यत्र—एष** इत्यस्यार्थमाह **राज्येति**। 'सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्य'मितिकारिकायामुक्तमुपसंहारे विशदयन्ति **भगवत्सान्निध्या**दित्यारभ्य **निश्चित** इत्यन्तेन॥ २२॥ **इतीत्यत्र—वैरस्यानुबन्धमिति**। अनुबध्यतेनेनेति करणे घञ्। येन वैरमनुबध्यते दृढीक्रियते तादृशं निमित्तकारणमित्यर्थः। तत्सम्बन्धिवधेन वैरं दृढं भवतीतिभावः॥ २३॥

बुभुत्सुबोधिका

किमद्येत्यत्र ततः किमिति निश्चयात् किं वृत्तम् अतः कारणात् विचारं वृत्तमाह। हरिष्यत्येवेति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकै-वकारः। नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्रेव। तदभाव इति अदृष्टाभावे। एतद्द्रोहो देवकीद्रोहः। जीवनहेताविति आगन्तुकेन नाशहेतुना जीवनादृष्टे सत्येव नाशसम्भवो न तु जीवनादृष्टाभावे। तदभावे मृत्युरेव नागन्तुकेन नाशहेतुनापमृत्युरतः तत्प्रतीकारे नाशहेतुप्रतीकारे। प्रदीपस्येव प्रकृष्टो वर्तितैलशरावसहितो दीपः तस्य जीवनादृष्टसहितस्य आगन्तुकनाशहेतुः वायुतत्पुष्पादिः। तत्प्रतीकारे उपरोधे पातने च कृते जीवनसम्भवः न तु जीवनादृष्टरहितस्य, तस्मिन् कृतेपि जीवनसम्भवस्तस्मात्। एवकारस्तु जीवनहेत्वभावयोगव्यवच्छेदकः। अस्या इति आगन्तुकनाशहेतुगर्भायाः। मारणं नाशप्रतीकाररूपम्। तथा चागन्तुकेन नाश-हेतुना नाशोपस्थितौ जीवनादृष्टं वर्तत इति निर्धारो भवतीति भावः। अन्यथाऽदृष्टाभावान् नष्टो न त्वागन्तुकेनाष्टमगर्भवायु-तत्पुष्पादिरूपेण हेतुना नष्ट इति प्रतीतिः स्यात्। सोमात्मक इति प्रकृते जननं मनस इत्युक्ते तत्कारणकः पुरुषः सोमात्मकः। 'चन्द्रमा मनसो जात' इति श्रुतेः। भगिनीति एकसमुद्रोत्पन्नत्वात् सोमलक्ष्म्योर्भ्रातृत्वभगिनीत्वे। भगिनीवध इति लक्ष्म्यात्मक-भगिनीवधः। स्त्रीणां लक्ष्म्यात्मकत्वात् 'भूर्लक्ष्मीः भुवर्लक्ष्मीः सुवः कालकर्णी तन्ना महालक्ष्मी'रिति श्रुतेः। धनादीति पक्षपाता-

दितिभावः। नश्यतीति पोषकाभावान् नश्यति। अनुकालमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया कालः क्षणः अनु हीने। हीनकालं तत्क्षणं हीनक्षणम्। हन्तीति अत्युत्कटदुःकर्मत्वादितिभावः ॥ २१ ॥

स एष इत्यत्र अदृष्टे प्राबल्याप्राबल्ययोः कार्यैकोन्नेयत्वादाहुः अस्तु वेति। तथा चागन्तुकनाशहेतुर्यद्यपि मारणीयः आगन्तुकहेतुना कंसो नष्ट इति प्रत्ययवारणाय तथापीत्यर्थः। जीवन्नेवेति खलुरवधारणे व्याख्यातः। 'खलुः स्याद् वाक्यभूषायां जिज्ञासादौ च सान्त्वन' इति विश्वकोशे आदिपदार्थः। जीवन्नेवेति मरणतुल्यजीवनकर्ता। सम्परेतः मृतक इत्यर्थः। सादृश्ये कन्। परेतः प्रेतः स सम्, वैक्लव्याश्रयः इत्यर्थात्। षम वैक्लव्ये क्विप्। सम् वैक्लव्याश्रयः परेतः मृतको भवत्येव। अतो न सम्परेत-शब्दस्य मृत (सम्परेत) सदृशे लक्षणा। स 'जीवच्छव' इति सत्यमित्यन्वयः। यदिति यस्मात्। परलोक इति असुराणां परलोके। शारीरब्राह्मणे विभूतिरतानामन्धन्तम उक्तम्। अवश्यमिति ध्रुवमित्यस्यार्थः। सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यमित्यध्यायारम्भे कारिकायामुक्तमुपसंहारे विशदयन्ति स्म भगवत्सान्निध्यादित्यारभ्य निश्चित इत्यन्तेन। तथा ज्ञानमिति दैवसम्पदीयत्वेन दैवसम्पदीयं ज्ञानमुत्पन्नं, देवक्यमारणविषयकम्। सर्वेषां ज्ञानमिति देवक्यमारणविषयं ज्ञानम्। प्रकारविशेषः पुत्रमारणलक्षणस्तमेवाहुः देवक्या इति। न ज्ञानोदय इति तत्रैवोक्तः। तथा बुद्धिरिति असत्त्वेनाविजितात्मत्वेन च कंससम्बन्धिनी बुद्धिः। 'नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मन' इति वाक्यात्। अत इति कालभेदेन दैवासुरज्ञानदर्शनात्। सर्वेति सदसज्ज्ञानजनकः। इति कृष्ण इति हेतोः कृष्णो भगवानेव न तु कृष्णवर्णमात्रः। 'कृषेर्वर्णे' इति पाणिनिसूत्रात्, नक्। एवं वाक्यैरिति प्रथमोपदेशरूपे'स्तां वीक्ष्य कंस' इत्यादिभिश्च। तदर्थमेवेति सर्वेषां ज्ञापनार्थमेवेत्यर्थः। न तु कालनेमिवैशिष्ट्यतदभावबोधनार्थम्। भगवदिच्छां विना कालनेम्यपसारणाभावात्। एतानीति समीपतरवर्तीनि त्रीणि ॥ २२ ॥

इति घोरतमादित्यत्र युद्धं कर्तव्यमिति घोरतमभावान् निवृत्तत्वात्। बालवधोपि घोरतम इति हेतोः युद्धं कर्तव्यम्। पूर्वजन्मेति कालनेमिजन्मनि मारणलक्षणेत्यादि। अनुबन्धं निमित्तमिति अनुबध्यतेऽनेनेति करणे घञ्। येन वैरमनुबध्यते दृढी-क्रियते तादृशं निमित्तं कारणमित्यर्थः। तत्सम्बन्धिवधेन वैरं दृढं भवतीति भावः। 'अनुबन्धः प्रकृत्यादेर्दोषोत्पादे विनश्वरे मुख्यानु-पायिनि शिशौ प्रवृत्तस्यानुवर्तन' इति विश्वः। आद्यन्तयोरेकतरोर्थः। प्रकृतेस्तमसस्तत्सम्बन्धिवधादिदोषोत्पादे प्रवृत्तस्य वैरस्यानु-वर्तनेनुबन्धपदम्। वधादीति आदिना पीडादि। वधस्य दुःकरत्वादादिपदम्। तथेति वैरानुबन्धकृन्। करोतेः कर्तरि क्विप् ॥ २३ ॥

आसीन इत्यत्र प्रमाणबलेति 'कामाद् गोप्यो भयात् कंस' इति प्रमाणं वर्तते परन्तु बलाभावः 'यथा भक्त्येश्वरे मन' इति वाक्यात्। 'भक्त्या वयं विभो' इत्यत्रैव 'कामाद् गोप्यो भयात् कंस' इत्यस्य प्रमाणस्य बलमतः 'प्रमाणबलाभावेपी'त्युक्तम्। प्रमेयो भगवान्। तस्येति कंसस्य। ज्ञानं सर्वभूतेषु मन्मतिरूपं भक्तिकारणम्। अवस्था इति गमनं नावस्था क्रियायां पर्यटनेन्त-र्भावात्। भुञ्जान इत्यादि गृहस्थस्य क्रिया, अन्येषां भोजनं गौणं, पर्यटनं यतेः क्रिया, अपां पानं ब्रह्मचारिवानप्रस्थयोः। सर्व-क्रियास्विति कंसगृहस्थक्रियास्वन्तर्भूतासु। हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः हृषीकेशः तस्य चिन्तनस्य फलं प्रेरणाद्वारा भक्तिकारणं ज्ञानमित्याहुः स्वदर्शनेति। अत इति प्रेरणात्। अपश्यदिति भक्तिकारणां सर्वभूतेषु मन्मतिमकरोत्। एकादशैकोनविंशाध्याये वर्तते ॥ २४ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी-श्रीसुबोधिनीजी-

ततः किमत आह किमद्येति—अब देवकीजी के उदर में भगवान् के पधारने पर और मेरे प्राणों के जाने का समय आने पर एवं आगे के उपाय व्यर्थ होने पर मुझको क्या करना इस प्रकार कंस सोचने लगा। यदि मैं शान्त होकर बैठ जाऊँगा तो यह मेरे प्राणों को हर ही लेगा, इसलिये मैं शीघ्र क्या उपाय करूँ। यदि देवकी को मारना चाहिये यह निश्चय कर वध करूँ तो मैं कर न सकता हूँ और मैं किन्तु स्वतन्त्र हूँ फिर भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो न करे जिससे मेरी सामर्थ्य नष्ट हो जाय अथवा पराक्रम को कलङ्क लग जाय। स्त्री के मारने में अपने पराक्रम की हानि ही होती है। अथवा यह देवकीजी के गुहा रूप उदर में स्थित भगवान् स्वतन्त्र हैं व मेरे नाश के लिये आये हैं। अतः अपने पराक्रम को नष्ट नहीं होने देंगे और प्रभु यदि मैं मारने का प्रयत्न करूँगा तो निष्क्रिय नहीं बैठेंगे अवश्य मेरे प्राण ले लेंगे। पुनः कंस विचार करता है कि यदि मेरे अदृष्ट में मेरी अभी आयु होगी तो यह नहीं मार सकेंगे अन्यथा दूसरा भी मार डालेगा इसलिये यद्यपि देवकी का वधरूप द्रोह करना उचित नहीं है तो भी इसका मारना यदि मेरे जीवन का हेतु हो तो, अवश्य मारना उचित है। और यदि दूसरा कोई आगामी नाश का हेतु होगा, तो उसका भी सामना करना उचित है। जैसे वायु से बचा कर दीपक की रक्षा की जाती है वैसे जीवन की रक्षा करनी चाहिए इसलिये देवकी का वध करना उचित है यदि कोई ऐसा कहे तो उसको उत्तर कंस स्वयं देता है कि प्रारब्धानुसार आयु हो तो भी अति उत्कट पाप कर्म करने से आयु नष्ट हो जाती है अतः आयु होने पर भी मरण की संभावना से वैसा दुष्कर्म नहीं करना चाहिये। स्त्री जाति का वध यश का नाश करता है। स्त्री जाति की रक्षा करने से शूरवीरों का अपने प्राणों का त्याग यश का हेतु होता है। उसमें भी बहिन का वध, तो श्री लक्ष्मी का नाशक है। सर्वपुरुष सोम स्वरूप होने से श्री लक्ष्मी उनकी बहिन है। श्रीरूप बहिन के वध से धनादि सर्व प्रकार की श्री का नाश होवा है,

फिर भी यह बहिन तो गर्भवती है। गर्भवती स्त्री प्राणियों के प्राणों की रक्षा कर रही है, उसका वध, तो वध करनेवाले की आयु को नष्ट करने वाला है अतः देवकी स्त्री है, बहिन है और गर्भवती है इसलिये मारने से यश, श्री और आयु का क्रम से नाश होता है ॥ २१ ॥

अस्तु वा प्रबलजीवनादृष्टं तथापि न हन्तव्येत्याह स एष इति।

अब इस श्लोक से भले प्रारब्ध की प्रबलता से आयु हो या न भी हो तो भी देवकी का वध करना चाहिये यदि ऐसा कोई कहे तो कंस इसका उत्तर देता है।

स प्रसिद्धोपि मल्लक्षणोपि जनः— राजा कंस ने मन से सोचा कि यदि यश और श्री को नष्ट करने वाला कर्म को करने वाला वह पुरुष प्रसिद्ध भी हो और मेरे जैसे लक्षणां वाला मनुष्य, राज्य की लक्ष्मी से युक्त होते हुए भी यदि जीवित है, तो भी मरे हुए के समान है। कारण कि यश और श्री के चले जाने पर निश्चय से वह जीवन, और मरण में कोई अन्तर नहीं है। यह कहना सर्वथा सत्य है कि जो अत्यन्त दयाहीन, दुष्कर्म करते हुए, जीवन धारण कर रहा है वह जीवित शव है। और लोग उस जीते शव को भी शाप देते हैं, कि यह पापी मर जाय तो अच्छा है। और वह जब मर जाता है तब कहते हैं कि अच्छा हुआ जो वह मर गया। इस प्रकार लोगों की इस धिक्कार से यह जीते रहने पर भी जलता रहता है और मरने के अनन्तर परलोक में घोर रौरव नरक में जायगा। देहाभिमानियों को जो अत्यन्त हलका अन्धंतम नरक प्राप्त होता है उसको भी निश्चय से वही मिलता है। कंस को इस प्रकार का ज्ञान होना भगवान् के सान्निध्य से और भगवान् की इच्छा से हुआ है। इसलिये भगवदिच्छा से सबको समय पर विशेष प्रकार की ज्ञानबुद्धि होती है। जैसे देवकी के पुत्रों को मारना ही चाहिये वैसा ज्ञान कंस को प्रथम आया और वसुदेवजी की भी बुद्धि वैसी ही हो गई। अतः सब के, सर्व प्रकार के ज्ञान के जनक भगवान् ही हैं इससे 'कृष्ण' भगवान् ही हैं, इस प्रकार के वाक्यों से ऐसा निश्चय हो जाता है। इसलिये कंस के मुख से अब इस प्रकार के वाक्य निकले हैं ॥ २२ ॥

एवं विमर्शे यज् जातं तदाह— अब इस श्लोक में कहते हैं कि कंस राजा ने इस प्रकार का विचार किया कि देवकी का वध करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि यह घोर कर्म है, उसमें भी बहिन का वध, विशेष घोर कर्म है पुनः गर्भवती का वध तो अतिशय घोर पाप कर्म है। इस प्रकार के विचार विवेक से कंस ने यह कर्म करना त्याग दिया। अपने विचार करने से तो छोड़ दिया किन्तु अन्य दुर्मन्त्री आदि की मंत्रणा से भी क्यों न वध किया तो कहते हैं कि इस श्लोक के अन्दर कंस को 'प्रभु' अर्थात् सब करने में स्वतन्त्र कहा है जिससे कंस ने किसी भी मंत्रणा को नहीं माना। स्वयं स्वामी है इसका कोई दूसरा प्रवर्तक आज्ञा देकर काम कराने वाला नहीं होता है। वध से निवृत्त होकर भगवान् के जन्म होने की प्रतीक्षा करने लगा। तो अब क्या कंस भगवान् की भक्ति करेगा? जो भगवान् की प्रतीक्षा करता था? तब कहते हैं कि भक्त तो उसको नहीं होना था किन्तु कंस को हरि सर्व दुःखहर्ता से पूर्व जन्म कालनेमि के अपने वध का बदला कृष्ण से लेना था इसलिये प्रतीक्षा कर रहा था कि भगवान् पैदा हो जाय तो मैं उनका वध करूँ, तब तक उनके सम्बन्धियों का वध अपने सेवक, असुरों द्वारा कराने लगा ॥ २३ ॥

एवं वैरानुबन्धनेनापि भगवच्चिन्तने प्रमाणबलाभावेपि प्रमेयबलेनैव तस्य ज्ञानं जातमित्याहासीन इति।

अब इस श्लोक में प्रमेय बल बताते हैं कि कंस भगवान् के ध्यान में लग गया। अब कंस ने अपने असुरों द्वारा भगवान् के सम्बन्धियों का वध कराना प्रारम्भ किया, जिससे वैर दृढ़ होने लगा। जैसे वैर दृढ़ होने लगा तैसे अहर्निश कंस को सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन होने लगा। और भगवान् का ही स्मरण होने लगा। इस प्रकार का ज्ञान जो ज्ञानियों को प्रमाण बल से साधन द्वारा होता है वह कंस को केवल प्रमेय बल भगवान् की इच्छा से हो गया।

आसीन उपविष्ट इति—अब राजा कंस को बैठते, सोते, उठते आदि अवस्थाओं में भगवान् का दर्शन और स्मरण होता था। भोजन, घूमने और पानी पीने की क्रियाओं में भी इसी प्रकार हरि का दर्शन एवं स्मरण होता था। जिससे सर्व अवस्थाओं तथा सर्व क्रियाओं में भगवच्चिन्तन ही करता था। वैसा क्यों हुआ इस पर कहते हैं कि श्री हृषीकेश याने सर्व इन्द्रियों के नाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दर्शनार्थ इस प्रकार की अन्तःकरण में प्रेरणा की है। अतः कंस इस जगत् को कृष्णमय देखने लगा ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तस्मिन् मत्प्राणहरणायोपस्थिते हरौ अद्येदानीमाशु शीघ्रं मया किं करणीयम्। एवं चेदिदानीमेव तत्सहिता देवकी हन्यतामित्याशङ्क्याह—यदिति। यस्मात् अर्थतन्त्रः प्रयोजनवशोऽपि पुमान् पूर्वसिद्धं स्वविक्रमं यशो न विहन्ति न नाशयति। अस्या वधे तु अपेक्षितं यशआदि सर्वमेव विनश्येदित्याह—स्त्रिया इति। स्त्रियाः, तत्रापि स्वसुर्भगिन्या दयापात्रभूतायाः, तत्रापि

गुरुमत्या गुर्विण्या अस्या अयं वधो यशः श्रियमायुश्चानुकालं तत्क्षणमेव हन्ति ॥ २१ ॥ अनिष्टं चापद्यतेत्याह—स इति। य अत्यन्तनृशंसितेन अतिक्रौर्येण वर्त्तेत स एष अतिप्रसिद्धोऽपि मादृशो जीवन्नपि सम्परेतो मृततुल्य एव। खलुशब्दोऽवधारणे। तत्र हेतुमाह—देहे मृत इति। अस्य तनुमानिनो देहात्माध्यासवतो देहे अमृते जीवति सत्यपि तं मनुजाः शपन्ति "म्रियतामयं दुरात्मा, धिगस्य जीवितम्" इति धिक्कुर्वन्ति। मरणानन्तरं त्वमन्धं दुःसहदुखप्रदं तमो नरकं ध्रुवमवश्यं गन्ता गमिष्यतीत्यर्थः। अतोऽस्या वधस्तु नैव कर्तव्यः, पुत्र एव हन्तव्य इति भावः ॥ २२ ॥ इत्येवं विचारेण घोरतमात् "स्त्रीवधविषयको घोरः, तत्रापि भगिनीवधविषयको घोरतरः, तत्रापि गर्भिणीवधविषयको घोरतमः" तस्मात् भावात् सङ्कल्पात् सम्यक् निश्चयेन निवृत्तः। तत्र हेतुमाह—स्वयं प्रभुरिति। राजत्वेन स्वतन्त्र इत्यर्थः। तथापि हरेर्वैरमनुबध्यते दृढीक्रियतेऽनेन स हरेर्वैरानुबन्धस्तत्सम्बधिनां पीडनं तत्करोतीति तथाभूतः सन् तन्मारणार्थं तस्य जन्म प्रतीक्षमाण आस्ते स्म ॥ २३ ॥ एवं भयेन चिन्तनेऽपि तस्य योगिजनदुर्लभावस्था जातेत्याह—आसीन इति। आसीन उपविष्टः, संविशन् शयनं कुर्वन्, तिष्ठन् उत्थितः सन्, भुञ्जानः, महीं पर्यटन्। महीमित्यत्र 'पिबन्' इति पाठान्तरम्। एवं सर्वावस्थासु सर्वक्रियासु च भयाच्छत्रुभावेन हृषीकेशं सर्वेन्द्रियनियन्तारं भगवन्तं चिन्तयानः कंसः सर्वमपि जगत्तन्मयमपश्यत् ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

किमद्येति ॥ तस्मिन्मद्वैरिणि हरौ आशु इदानीमेव मे मम। कर्त्तरि षष्ठी। किं करणीयं किं कर्त्तुं शक्यम्। गर्भस्थस्य हननं न योग्यं यद्यस्मात् अर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानः हरिः जातमात्रोऽपि विक्रमं न विहन्ति। मद्वधे पराक्रमं करिष्यत्येवेत्यर्थः। यद्वा। अर्थतन्त्रः स्वकार्यसाधकः अपि मादृशः विक्रमं न विहन्ति न नाशयति। स्त्रीवधे तु विक्रमनाशः स्यादेवेत्यर्थः। तदेवाह। यतः तं जीवन्तमेव मनुजा शपन्ति धिक्कुर्वन्ति स च देहे मृते तनुमानिनः पापिनो नरस्य भोग्यम् अन्धं तमो नरकं गन्ता। यद्वा। अयं स्वदेहरक्षार्थं चिन्त्यमानः स्त्रियास्तत्रापि स्वसुः तत्रापि गुरुमत्या गर्भिण्या वधः यशः श्रियं कालस्य योग्यमनुकालं यथार्थेऽव्ययीभावः। आयुश्च हन्ति योग्यकालात्पूर्वमेव शीघ्रमेव आयुर्हन्ति इत्यर्थः। यद्वा। गर्भस्थस्य वधे मम वीरत्वव्यञ्जको विक्रमो नङ्क्ष्यति। यतः जातप्रवृद्धतरुणीभूतेनानेन संग्रामे जये पराजये वा विक्रमः स्थास्यत्येव। गर्भवधे तु को विक्रमः किञ्च न विक्रममात्रहानिरपि तु धर्मादिहानिरपीत्याह। स्त्रिया इति। अत्र भयेनैव स्वदौरात्म्यं स्तब्धं तदपि मद्विवेकेनैवेति स्वस्मिन्नभिमानसुखं कंसेन कल्पितम् ॥ २१ ॥ स एष इति ॥ यः अत्यन्तं नृशंसितेन क्रौर्येण वर्त्तेत स एष खलु नूनं जीवन्नपि सम्परेतः मृत एव तनुमानिनः प्राण्यन्तरहिंसया स्वतनुं मानयतो लालयतोऽस्य देहे मृते अयं ध्रुवमन्धं तमो नरकं गन्ता गमिष्यतीति वाक्यैः तं मनुजाः शपन्ति। यद्वा। यद्यपि जीवति तस्मिन् लोका बिभ्यति तथापि देहे मृते तं क्रूरं मनुजाः शपन्ति। रे पाप! नरके पतेति क्रोशन्ति शेषं प्रथमव्याख्यावत् ॥ २२ ॥ इतीति ॥ इत्येवं विचार्य घोरतमादत्यन्तभयंकराद् भावात् गर्भपातनाभिप्रायात् स्वयमेव निवृत्तोऽपि हरेः वैरस्यानुबन्धमनुवृत्तिं करोति तादृशः प्रभुः स्वरक्षणसमर्थः स कंसः तस्य हरेर्जन्म प्रतिक्षन् प्रतीक्षमाणः। आर्षः शता। आस्ते स्म ॥ २३ ॥ आसीन इति ॥ आसीनः संविशन् शयानः तिष्ठन् भुञ्जानः महीं पर्यटन् भ्रमंश्चापि हृषीकेशं हरिमेव चिन्तयानः। मुगभाव आर्षः। सर्वं जगत् तन्मयं हरिरूपमेव अपश्यत् ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्वेतद्यशोविघातादि कालेन स्यात्तावत्तु जीवनं स्यादित्यत्राह। स एष इति। यः पुमान्, अत्यन्तनृशंसितेन उक्तविधस्त्रीहत्याविधानात्मकक्रौर्येण, वर्त्तेत स्वप्राणान् धारयेदित्यर्थः। सः एषः, जीवन्नपि, संपरेतः मृतप्रायः, खलु। तनुमानिनः देहाभिमानिनस्तस्य, देहे मृते, कालान्तरे तद्देहपतने जाते सत्यपीत्यर्थः। मनुजाः, तं नृशंसं जनं, शपन्ति दुर्वाग्भिर्धिक्कुर्वन्ति। न केवलमेतावदेव, किं तु स जनः, अन्धं तमः, निरयमपि इत्यर्थः। ध्रुवमेव, गन्ता गमिष्यति ॥ २१ ॥ इतीति। प्रभुः तां हन्तुं समर्थः, स्वयं कंसः, इत्युक्तप्रकारेण, विचारं कृत्वेति शेषः। घोरतमात् गुरुमतीवधोद्योगरूपात्, भावादभिप्रायात्, संनिवृत्तः निवृत्तिं प्राप्तः, तच्छोभनकालभवनं बोध्यम्। हरेः तत् प्रसिद्धं, जन्म जन्मकालम्, प्रतीक्षन्नालोचयन्, वैरानुबन्धकृत् उपरिष्टाददर्शयन्नपि स्वान्तस्तद्वैरमनुस्मरन् सन्नित्यर्थः। आस्ते स्मेत्यध्याहार्यम् ॥ २२ ॥ वैरानुबन्धमेवाह। आसीन इति। आसीन उपविष्टः, संविशन् शयानः, अथ वा गृहादौ प्रवेशमाचरन्, तिष्ठन्नूर्ध्वमवस्थितः, भुञ्जानोऽन्नभुक्तिमाचरन्, पर्यटन्नारामादावटनं कुर्वन्, पिबन् सशर्करदुग्धजलादिपानं कुर्वन् महीमिति पाठे स्पष्टोऽर्थः। कंसः, हृषीकेशं, चिन्तयानः उपवेशनादिक्रियासु हरिचिन्तनमेव कुर्वाणः सन्नित्यर्थः। जगत् सकलमपि विश्वं, तन्मयं हृषीकेशप्रचुरम्, अपश्यत् ॥ २३ ॥ अथ ब्रह्मादिकृतगर्भस्तुत्यवगमाय तत्प्रसङ्गमवतारयति। ब्रह्मेति। ब्रह्मा स्वयं विधिः, भवः स्वयं शिवश्च, नारदादिभिः देवर्षिप्रभृतिभिः, मुनिभिः, तथा सानुचरैः स्वपरिचारकसहितैः, देवैरिन्द्रादिभिश्च, साकं, तत्र यत्र वसुदेवदेवकीनिवासस्तस्मिन् स्थाने इत्यर्थः। एत्यागत्य, गीर्भिरौपनिषदर्थानुकारिणीभिर्वाग्भिः, धिषणं सर्वदा स्वस्वरूपज्ञानयुक्तं भगवन्तम्, ऐडयन्। स्वार्थे णिच्। ब्रह्मा भवो देवाश्च तुष्टुवुरित्यर्थः। केचित्तु वृषणमैडयन्निति पठन्ति। तत्पक्षे वृषणं कामवर्षिणमिति तदर्थः। तथाप्यस्य शब्दस्याश्लीलप्रायत्वादुक्तपाठ एव साधुः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

किमद्येतिः १०.२.२१.

उन्मत्तवृत्तिरपि नित्यविरोधकोऽपि जन्तुर्यदि क्वचिदुदञ्चितवीक्षितेन।
दृष्टः सता सहरिवासहृदा तदैव स्यान्नीतिमानिह हि मानमभूत् स कंसः ॥ ३० ॥

प्रादुर्भावस्त्वदीयो विलसति हृदये यस्य हन्तुं तमीशो दुष्टो वा हिंस्रधीर्वा प्रभवति न परः कोऽप्यरी राज्यकृद्वा।
बीजं श्रीशैतदेव प्रकटमपरथा तस्य जाल्मस्य बुद्धिः कंसस्यैवं तदा किं मम निजभगिनी गुर्विणीत्युद्गता स्यात् ॥ ३१ ॥

आसीन इतिः १०.२.२४.

यद्वैरचिन्तनकृदप्यनिशं स कंसोऽपश्यत्पदार्थमखिलं खलु कृष्णरूपम्।
तद्भक्ति–चारुरसरञ्जित–मानसा ये पश्येयुरत्र नहि मानमपेक्ष्यतेऽन्यत् ॥ ३२ ॥

कृष्णप्रिया

राजा कंस ने मन में विचार किया कि अब इस परिस्थित में मैं शीघ्र इसके लिये कौन सा उपाय करूँ ? यद्यपि मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ फिर भी मेरे जैसा मनुष्य ऐसा कार्य तो नहीं करेगा जिस कार्य से पराक्रम का नाश हो जाय। मैं यदि देवकीजी का अभी वध कर डालूँ तब प्रथम तो यह स्त्री देहवाली गर्भवती और बहिन का बध यश-सम्पत्ति और आयुष्य को तत्क्षण नाश कर देगा ॥ २१ ॥ जो पुरुष अतिशय क्रूर कर्म से जीता है वह जीने पर भी मृतपाय ही है। यद्यपि वह जीवित है तो भी मनुष्य मात्र उसको धिक्कारते हैं उसका तिरस्कार करते रहते हैं और देहाभिमानी जन मृत्यु के बाद निश्चित रूप से घोर नरक में जाता है ॥ २२ ॥ भगवान् के साथ वैर भाव से सम्बन्ध रखने वाला राजा कंस यद्यपि देवकीजी का वध करने तक स्वयं समर्थ-स्वतन्त्र था फिर भी यह भगिनी वध अतिशय घोर-भयंकर है ऐसा मानकर इस घोर कर्म से निवृत्त हुआ। और भगवान् के जन्म की राह देखने लगा ॥ २३ ॥ अब कंस बैठते, सोते, खाते पीते, और घूमते फिरते भगवान् का ही चिन्तन करता था जिससे कंस सर्व विश्व को कृष्णमय देखने लगा ॥ २४ ॥

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः। देवैः[1] सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमीडतुः[2] ॥ २५ ॥

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य [3]सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २६ ॥

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः[4] षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो [5]दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥ २७ ॥

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं[6] संनिधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः– ब्रह्मा भवः च नारदादिभिः-सानुचरैः देवैः साकं तत्र एत्य गीर्भिः, वृषणम् ईडतुः ॥ २५ ॥ सत्यव्रतम् सत्यपरम् त्रिसत्यम् सत्यस्य योनिम् च सत्ये निहितम् सत्यस्य सत्यम् ऋतसत्यनेत्रम् सत्यात्मकम् त्वाम् वयं शरणम् प्रपन्नाः ॥२६॥ असौ आदिवृक्षः हि एकायनः द्विफलः त्रिमूलः चतूरस पञ्चविधः षडात्मा सप्तत्वग् अष्टविटपः नवाक्षः दशच्छदी द्विखगः (वर्तते) ॥ २७ ॥ अस्य सतः प्रसूतिः त्वम् एक एव सन्निधानम् त्वम् (एक एव) च अनुग्रहः त्वम् (एक एव) त्वन्मायया संवृत चेतसः त्वाम् नाना पश्यन्ति ये विपश्चितः न ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

रम्याभिर्गीर्भिर्वृषणं कामवर्षिणमैडयंस्तुष्टुवुः ॥ २५ ॥ प्रतिश्रुतं सत्यं कृतमिति हृष्टाः संतः सत्यत्वेनैव प्रथमं स्तुवंति। सत्यव्रतमिति। सत्यं व्रतं संकल्पो यस्य तम्। सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिंस्तम्। त्रिसत्यं त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं प्रलयानंतरं च स्थितिसमये च सत्यमव्यभिचारेण वर्तमानम्। तदेवाहुः। सत्त्यस्य योनिमिति सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि। त्यच्छब्देन

१. देवाः सानुचराः–इति कस्यचित्। २. वृषणमैडयन्–श्रीधर. वंशी. विश्व. शुक. ; धिषण मैडयन्–वीर. सुदर्शन.। ३. मुत सत्य–विज.। ४. शिफः–वीर. विज.। ५. च्छदो–वीर.। ६. स्थानं निधानं–विज.।

वाय्वाकाशौ । एवं सच्च त्यच्च सत्यं भूतपंचकम् । "तत्सत्त्यमित्याचक्षते" इति श्रुतेः । तस्य योनिं कारणम् । अनेन पूर्वं वर्तमानतोक्ता । तथा सत्ये तस्मिन्नेव निहितमंतर्यामितया स्थितम् । अनेन स्थितिसमयेऽपि सत्यत्वमुक्तम् । तथा सत्यस्य सत्यं तस्यैव सत्यस्य सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम् । अनेन प्रलयेष्ववधित्वेन सत्यत्वं दर्शितम् । एवं त्रिसत्यत्वमुपपादितम् । तथा ऋतसत्यनेत्रम् ऋतं सूनृता वाणी सत्यं समदर्शनं तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् । "सत्यं च समदर्शनम् । ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।" इति । तयोर्नेत्रं नयनसाधनं नेतारं प्रवर्तकमिति यावत् । एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां भगवन्वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ता इति ॥ २६ ॥ ननु भवंतोऽपि लोकेश्वरा मत्तुल्या एव किमिति मां शरणं प्रपद्यंते नैवं वाच्यं त्वमेवैकः सर्वेश्वरः सर्वसृष्ट्यादिकारणत्वात् वयं तु त्वदेकशरणा एव लोकादिरूपं द्वैतं च सर्वं त्वद्व्यतिरेकेण नास्तीति वक्तुं द्वैतप्रपंचं वृक्षरूपवेण निरूपयंति । एकायन इति । असौ प्रपंच आदिवृक्षः । वृश्च्यत इति वृक्षः समष्टिव्यष्टिदेहरूपः । कथंभूतः एकायनः एका प्रकृतिरयनमाश्रयो यस्य सः । द्वे सुखदुःखे फले यस्य सः । त्रयो गुणा मूलानि यस्य सः । चतूरसो धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो रसा यस्य सः । पंचेंद्रियाणि विधा ज्ञानप्रकारा यस्य सः । षडूर्मयः कोशा वा आत्मानः स्वभावा यस्य सः । सप्त धातवस्त्वचो यस्य सः । पंच भूतानि मनोबुद्ध्यहंकाराश्चेत्यष्टौ विटपाः शाखाविस्तारा यस्य सः । नव द्वाराण्यक्षाश्छिद्राणि यस्य सः । दश प्राणाः छदाः पत्राणि विद्यंते यस्य स दशच्छदी । द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यस्मिन्स द्विखगः ॥ २७ ॥ एवंरूपस्य संसारवृक्षस्य सतः कार्यस्य त्वमेक एव प्रसूतिः प्रकर्षेण सूतिर्जन्म यस्मात्स प्रसूतिस्त्वं कारणमित्यर्थः । त्वं सन्निधानं त्वमेव सम्यङ्निधीयतेऽस्मिन्निति । सन्निधानं लयस्थानम् । त्वमेवानुग्रहश्चानुगृह्णासीति पालकः । ननु ब्रह्मविष्णुरुद्रा एवंभूताः प्रसिद्धाः कथमहमेवेति चेत्तत्राहुः—त्वन्माययेति । संवृतं पिहितं चेतो ज्ञानं येषां ते त्वामेव नाना पश्यंति । ये तु विपश्चितो विद्वांसस्ते तथा न पश्यंति ॥ २८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र कंसकारागारे । एत्य प्राप्य । ब्रह्मा भवः सा च पृथिवी देवैः ऐडयन् इति संबंधः । अन्यथा बहुत्वासिद्धेः । अनुचरंतीत्यनुचरास्तैर्देवविशेषणमिदम् । गीर्भिरिति पूर्वं व्याख्यातमेव । ईडेः प्रयोजकणिजंताल्लङ् स कर्मकत्वात्प्रयोज्यकर्त्तरि तृतीया देवैरिति ॥२५॥ प्रतिश्रुतं भूभारनिवृत्तये वसुदेवगृहे भविष्यामीत्येवंरूपम् । तदेव त्रिकालावस्थायित्वमेव । "तत्" इत्यादिश्रुतेरर्थमाह–तत् भूतपञ्चकं सत्यं सत्यशब्दवाच्यमित्याचक्षते वदंतीत्यर्थः । तस्य भूतपञ्चकस्य । अनेन भूतपंचकोत्पादकत्वेन । तस्मिन्नेव भूतपंचके एव । अनेन भूतपंचकांतर्यामित्वेन । तस्यैव भूतपञ्चकस्यैव । पारमार्थिकं यथार्थम् । तन्नाशे भूतपंचकनाशे । अनेनावशिष्यमाणत्वेन । इति यावत् इति सिद्धांतः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । प्राप्ता इति । सर्वथा प्राप्ता इत्यर्थः । अर्थांतरमाह–सत्यनृताप्रियहीनं यथार्थकथनं व्रतं नियमो यस्य तम् "सत्यसंहिता वै देवाः" इति श्रुतेः । 'सत्यो धर्म उदाहृतः' इति कोशात्सत्यस्य धर्मस्य परं पालकम् । यद्वा–सत्तिरवसादनं ततोऽपरमन्यं तद्रहितमित्यर्थः । "अविनाशी वा अरे अयमात्मा" इति श्रुतेः । त्रिषु लोकेषु सत्यं तेषु नष्टेष्वप्यनष्टम् । सत्यस्य मुख्यप्राणस्य योनिं कारणम् "आत्मन एष प्राणो जायते" इति श्रुतेः । सत्ये निहितं सन्निहितम् । 'सत्येन प्राप्यते हरिः' इत्याद्युक्तेः । सत्यस्य प्रपंचस्य सत्यमबाधितस्वरूपम् "अद्वैतं परमार्थतः" इति श्रुतेः । सत्या देवा नेत्रं शिष्यादिषु नेतारो यस्य तम् । "तं देवाः प्रापयंते" इति श्रुतेः । यद्वा–सत्यं नेत्रं प्रकाशकं यस्य न ह्यसत्यवादिनां तत्प्रकाशो जायत इति भावः । सत्यमबाधितमात्मनः कं स्वरूपसुखं यस्य तम् "एष ह्येव हि परमानंदः" इति श्रुतेः यद्वा–स्वभक्तपालनैकव्रतत्वान्नित्यसत्यत्वाच्च त्वमेव प्रपत्त्यर्ह इत्याहुः–सत्यं व्रतं यस्य तं "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम" इति त्वदुक्तेः । न च स्वभक्तपालकदेवतांतरवत्त्वमनित्योऽनुत्कृष्टश्चेत्याहुः–सत्यः सर्वकालदेशवर्त्ती । परः श्रेष्ठश्च तम् । यद्वा–सत्यं सत्यनामानम् । "सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् । सत्यात्सत्यो हि गोविंदस्तस्मात्सत्यो हि नामतः" इत्युद्योगपर्वोक्तेः । परं परमेश्वरम् । त्वद्बुद्धिबलोदयोऽपि सत्य एवेत्याहुः-तिस्रः ज्ञानबलक्रियाः शक्तयस्सत्या यस्य तम् । "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतेः । त्वदंशा अपि सत्या इत्याहुः । सत्यस्य मत्स्यकूर्माद्यवतारवृंदस्य योनिमुद्गमस्थानमवतारिणमित्यर्थः । त्वद्धामापि नित्यमित्याहुः—निहितं सन्निहितं स्थितमित्यर्थः । सत्ये मथुरावैकुंठादिलोके । किञ्च सारस्य सार इतिवत् समस्तचिद्वस्तुसारस्त्वमेवेत्याहुः—सत्यस्य सत्यमिति । यद्वा-सत्यस्य यत्किंचित्कालवर्त्तिनो मायिकप्रपंचस्य प्रकाशकत्वात्सत्यं त्रिकालवर्त्तिनम् "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इति वत् "सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजंत" इति श्रुतेर्माध्वभाष्यप्रमाणितायाः । हे ऋत नित्य सत्यस्वरूप । सत्यं नेत्रं सर्वेन्द्रियोपलक्षकं नयनेंद्रियं यस्य तम् । सत्य आत्मा श्रीविग्रहो यस्य तम् इति विश्वनाथः ॥२६॥ "निर्बलाः शरणं यांति समर्था न कदाचन" इत्यभियुक्तोक्तिमाश्रित्य शंकते-नन्विति । किमिति कुतः । देवा ऊचुर्नैवमिति । त्वदेकशरणः त्वमेकः शरणं रक्षिता येषां ते तथा त्वद्व्यतिरेकेण स्वपार्थक्येन वृक्षरूपकेण रूपकालंकारेण । तल्लक्षणं च "यत्रोपमानचित्रेण । सर्वथाप्युपरज्यते । उपमेयमयीभित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते ।।" इति । तच्चानेकधा इह च समस्तं सादृश्यरूपकमस्ति "पृथक्क्कथितसादृश्यं दृश्यं सादृश्यरूपकम्" इति तल्लक्षणात् । समस्तत्वं चास्य एकायनोसावित्यादीनां सर्वेषां समासवत्त्वादिति ध्येयम् । आदिः सनातनश्चासौ वृक्ष आदिवृक्षः । अनेनानादित्वं समर्थितं प्रवाहापन्नत्वात् । यद्वाऽऽदेर्हरेर्वृक्षस्तथा "आराममस्य पश्यंति" इत्यादिश्रुतेः । यद्वाऽऽदिना ज्ञानेन वृश्च्यत इति तथा

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इति श्रुतेः। ज्ञानस्यादित्वं तु परमपुरुषार्थादिकारणत्वात्। यद्वाऽऽदिरदनार्होवृक्षस्तथा भोग्यरूपत्वेन विनाशित्वादिति "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इति श्रुतिरपीह यथाकथंचिदुन्नेयेति। धर्मार्थकामाः प्रवृत्तानां रसास्त्रयो निवृत्तानां त्वेको मोक्ष एव रस एवं चत्वारः संतीति। पंचेंद्रियैरेव सर्वं शब्दादि ज्ञायतेऽत उक्तं पंचविधा इति। षडूर्मयः क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू इत्याख्या आत्मानः स्वभावा यस्य। अन्येप्यस्तित्वादयः स्वभावाः संत्यस्य कथमुक्तं षडूर्मय इति तत्राह–कोशा वेति। कोशशब्दोत्र षड्भावविकारपरः। तच्चिंतापि कोशवदात्मावरकैवातस्तेऽपिकोशा एव ते चास्ति जायते वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यतीत्येवंरूपा ज्ञेयाः। यद्वा–पंचकोशा अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानंदमयाख्याः षष्ठश्चाहंकारस्तस्याप्यात्मावरकत्वेन कोशत्वं कैश्चित्स्वीकृतमेते वा षट्कोशाः "कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्ये खड्गपिधानके। जातिकोपेऽर्थसंघाते वेश्यां शब्दादिसंग्रहे॥" इति मेदिनी। सप्त धातवः त्वङ्मांसरुधिरस्नायुशुक्रास्थिमज्जाख्याः। नवद्वाराणि सप्त चक्षुरादीन्युपरिष्ठानि द्वे पायूपस्थरूपे अधोगे अक्षाः छिद्राणि। "अक्षो ज्ञानार्थशकटावयवेषु च पाशके। रुद्राक्षेंद्राक्षयोः सर्वे व्यवहारे बिभीतके॥ चक्रे कर्षे तथा छिद्रे तुत्थे सौवर्चलेंद्रिये" इति यादवमेदिन्यौ। दशप्राणाः प्राणापानसमानव्यानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्याः छदाः पत्राणि यस्य "छदः पलाशे गरुति ग्रंथिपर्णतमालयोः" इति मेदिनी॥ २७॥ कारणमित्यर्थः–इत्यस्योत्पादकमित्यर्थः। नतूत्पत्तिस्थानमिति। पुनराशंकते–एवंभूता उत्पत्तिस्थितिलयकर्त्तारः। तत्र ब्रह्मादीनामेवंभूतत्वे। आहुः देवा इति शेषः। किमाहुस्तत्राह–त्वन्माययेति। पिहितमाच्छादितम् तथा नाना॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्र बन्धनागारे आदिशब्देन सनकादिभिः तेषु श्रीनारदस्यादित्वं केवलं परमभक्ततयारामत्वेन मुख्यत्वात् श्रीहरिवंशोक्तस्य भगवदवतारार्थतदीयप्रयत्नविशेषस्य सफलतया प्रहर्षेण सर्वेषां तेषामग्रत आगमनाच्च सानुचरैः गन्धर्वादिसहितैः ऐडयन् ऐडयत द्वित्वेपि वाच्ये बहुत्वमार्षं किम्वा आगमने मुन्यादीनां पश्चाद्भावेनाप्राधान्यात् सहार्थयोगस्तृतीया च स्तुतौ तु च सर्वेषां यौगपद्येन प्राधान्यादेव कर्तृत्वमिते तौ मुन्यादिभिरनुगतौ पूर्वमागतौ च पश्चात्ते च तौ च युगपदेव तुष्टुवुरित्यर्थः! पूर्वं तेषामप्यप्रधानकर्तृत्वेनैककर्तृत्वाऽविरोधात् क्त्वायोगश्च॥ २५॥ सत्यव्रतमिति। व्रतं परिश्रुतं यः कश्चित् सङ्कल्पोपि सत्यः किं पुनर्व्रतरूप इत्यतोऽत्रावतरणमिदं युक्तमेवेति भावः। अतः सत्यपरं सत्यव्रतत्वादेव सत्यप्रियो भवान् तच्च तव प्रीतिं ज्ञात्वा विधीयमानं चेत् श्रेष्ठं भवति श्रेष्ठत्वं च तस्य तत्प्राप्तिसाधनताऽऽपन्नत्वमेवेति तथा तैर्व्याख्यातमेव अतः सत्यक्रोशनेन धरण्यापि त्वं प्राप्त इति भावः। स च धर्मो महासत्यस्य तव युक्त एवेत्याहुः त्रिसत्यमिति। अतः कलेः प्रथमांशमभिव्याप्य त्रियुगस्यापि तवावतारोऽयं नायुक्त इति भावः त्रिसत्यमेव सत्यस्य योनिमित्यादि विशेषणत्रयेणोपपादितं सत्यस्य सत्यमिति असंहितानिर्देशेन कालव्यवधानात् पूर्वगुरुत्वमनुभूय पादान्तवत् सकाकुगानप्लुतेन वा ततस्तथैव छन्दोनुरोधेन पठनीयं तवेदं सत्यव्रतत्वं त्रिसत्यत्वञ्च चित्रमित्याहुः ऋतेति सत्या प्रिया च या वाक् सा सूनृता सैव ऋतं समयव्यभिचारि यत् ज्ञानं तत् सत्यं तयोरपि प्रवर्त्तकं प्रकाशकं वेति तस्य तयोर्वाङ्मनसधर्मयोरव्यभिचारित्वं कैमुत्येनानीतं वैदिकरूपयोः परमयोस्तयोः परमाश्रयत्वेन त्रिसत्यत्वमपि अतो भवत्प्रसादादेव वयमपि भवन्तं जानीमश्चेत्यनुग्रहान्तरं च सूचितं अन्यत्तैः तत्र सृष्टेः पूर्वमित्यनेन भूतकालस्य वैशिष्ट्यमुक्तं प्रलयान्तरमित्यनेन भविष्यत्कालस्य स्थितिसमयमित्यनेन वर्त्तमानस्येति ज्ञेयं यद्वा व्रतं "सकृदेव प्रपन्नोऽयं तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतत् व्रतं मम" इति लक्षणम् अतो यादवादिस्वभक्तानामभयार्थं त्वयाऽवतीर्णं युक्तमेवेति भावः। यतः सत्यपरं सदा सर्वथा मिथ्यारहितमित्यर्थः। अत एव त्रिसत्यं यतः सत्यस्य व्यवहारिकसत्यस्य प्रपञ्चस्य योनिमित्यादि ननु देवकीगर्भे प्रविष्टस्य कथं सत्ययोनित्वादिकं? तत्राहुः सत्यात्मकं सत्यः विकाररहित आत्मा श्रीमूर्तिर्यस्य तम् अन्यत्समानम्॥ २६॥ द्विखग त्यधिष्ठातृत्वमात्रविवक्षया साम्येनैव निर्देशः विशेषस्तु तयोरेकः स्वाद्वत्ति पिप्पलान्नमित्यादौ ज्ञेयः एवमनयार्वृक्षाङ्गत्वाभावात्प्रपञ्चातीतत्वं दर्शितं प्रवाहरूपेण प्रथमत एव वर्त्तमानत्वात् आदिश्चासौ सदा कालच्छिद्यमानत्वाद्वृक्षश्च तत्र सुखदुःखरूपे फले चतूरसः त्वगष्टविटप इत्यत्र च छन्दः प्लुतस्वरेण घटनीयम् अन्यत्तैः तत्र एकायन इतीत्यन्ते द्वाभ्यामिति शेषः। पञ्चेत्यादौ ज्ञानेति करणे ल्युट् वृक्षस्यापीन्द्रियपञ्च सद्भावस्तेन पश्यन्ति पादपा इत्यादौ प्रसिद्धः कोशास्त्वङ्मांसरुधिरमेदोमज्जास्थीनि लोमरक्तमांसस्नाय्वस्थिमज्जान इत्येके धातवस्तु त्वगादयः शुक्रसंहिताः सप्तत्वगिति सप्तावरणानि त्वक् यस्येति वा॥२७॥ मुहुस्त्वं पदप्रयोगस्तत्र तत्र तदितरुयावृत्तिदार्ढ्यार्थः अन्यत्तैः यद्वा। ननु, प्रसूतिः सन्निधानं च महापुरुषः अनुग्रहो विष्णुः कथमहमेव तत्तद्रूपः? तत्राहुः–त्वदिति अकारप्रश्लेषेण। त्वन्मायया ये तु असंवृतचेतसस्ते नाना न पश्यन्ति किन्त्वेकमेव पश्यन्तीत्यर्थः। एवं सवषां भगवद्रूपाणामभिन्नत्वं चाभिप्रेतम् एकस्यैव भगवद्विग्रहस्य स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या नानारूपतासमावेशात् उपासनाभेदेनैव दर्शनभेदाश्च यथोक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रे—

"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाऽच्युत"॥ इति॥

मणिरत्र नानाच्छविधारी वैदूर्याख्यो ज्ञेयः। यद्वा संवृतचेतसः स्वल्पबुद्धयस्त्वदियया माययैव पूर्वोक्तं नानाविधं त्वां पश्यन्ति तयैव नानात्वमसौ प्राप्नोतीति मन्यन्त इत्यर्थः। ये विपश्चितस्ते तु तया तथा न मन्यन्ते किन्तु स्वाभाविकशक्त्य वेत्यर्थः। अन्यत्समानम् एवं सर्वेषामेव श्रीभगवद्रूपाणाममायिकत्वं सच्चिदानन्दघनरूपत्वञ्चोक्तम्॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

२५—तत्र बन्धनागारे। आदिशब्देन सनकादयस्तेषु श्रीनारदस्यादित्वं परमभागवतत्वेन मुख्यत्वात्, किंवा श्रीहरिवंशोक्तस्य तदवतारार्थ-तदीययत्नविशेषस्य सफलतया प्रहर्षेण सर्वेषां तेषामग्रत आगमनात्। सानुचरैर्गन्धर्वादिसहितैरैडयन् ऐडत—द्वित्वे वाच्येऽपि बहुत्वमार्षम्; किंवा मुन्यादिसाहित्येन बाहुल्यापेक्षया कंसस्य तत्तच्चेष्टानन्तरं देवानां स्तुतिस्तस्य निकटवर्त्तितयादौ श्रीभगवदवतारज्ञानां तेषाञ्च दूरवर्त्तित्वात्ततः पश्चादेव तत्सिद्धिरिति[1]॥

२६—सत्यव्रतमिति। यः कश्चित् संकल्पोऽपि सत्यः, किं पुनः प्रतिश्रुतमतोऽत्रावतरणमिदं युक्तमेवेति भावः। किञ्च, सत्यपरमतः सत्यक्रोशनेन धरण्यापि त्वं प्राप्त इति भावः। न च द्वापरान्ते कलिप्रवेशेऽधुना त्वत्प्राकट्यं न घटत इत्याह—त्रिसत्यमिति। एतदेव सत्तास्य योनिमित्यादिविशेषणत्रयेणोपपादितं सत्तास्य सत्यमित्यसन्धितया च्छन्दोऽनुरोधेन पठनीयम्। अतएवास्मान् प्रति तमिमं महानुग्रहमकरोदित्याशयेनाहुः—ऋतसत्ययोर्नेत्रं प्रवर्त्तकं किंवा चक्षुः—प्रकाशकम्; तत्र सत्यं समदर्शनम्, तच्च सर्वेषां जीवानां भगवदंशत्वेन समतया दर्शनं ज्ञानम्; किंवा, अन्तर्यामितया सर्वत्र साम्येन भगवतो दर्शनम्; यद्वा, मया लक्ष्म्या सह वर्त्तत इति समो भगवान्, तस्य दर्शनमिति। अस्माकं त्वत्स्तवनमिदं त्वज्ज्ञानञ्च कृपया त्वयैव प्रवर्त्तितमित्यर्थः। एवं प्रागेव तत्तदर्पितम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, व्रतं 'सकृदेव प्रपन्नः सन् यस्तवास्मीति याचते। अभयं सर्वदा तस्मै ददामि' इत्यादिलक्षणम्; अतो यादवादिस्वभक्तानामभयार्थं त्वयावतीर्णमिति युक्तमेवेति भावः; यतः सत्यपरं सदा सर्वदा मिथ्यात्वरहितमित्यर्थः। अतएव त्रिसत्यम्, अतः सर्वेषां यत् सर्वसाधुत्वम्, तच्च त्वत्प्रसादादेवेत्याह—ऋतेति, ऋतेन सूनृतया वाण्या सत्यं प्रेम त्वत्स्तुतिविषयकमस्माकं प्रेमापि त्वत्त एवेत्यर्थः। ननु देवकीगर्भे प्रविष्टस्य[2] कथं सत्ययोनित्वादिकम्? तत्राहुः,—सत्यात्मकं सत्यो विकाररहित आत्मा श्रीमूर्त्तिर्यस्य तम्; यद्वा, सत्यमव्यभिचारि आत्मनां जीवानामपि कं सुखं यस्मात्तम्, अतो भक्तवात्सल्येन देवकीगर्भप्रविष्टत्वेऽपि जीवस्येव गर्भवासादिदुःखं किमपि नास्तीति भावः। अन्यत् समम्। चतूरस इत्यनेन मिथ्यात्वमिव सूचितम् (भा० १०।१४।२६) 'अज्ञानसंज्ञौ भव-बन्धमोक्षौ' इति वक्ष्यमाणात्[3]॥

२७—द्विखग इत्यधिष्ठातृत्वमात्रापेक्षया द्वयोः साम्येन निर्देशः। आदिश्चासौ प्रवाहरूपेण प्रथमत एव वर्त्तमानत्वात् वृक्षश्चानित्यत्वात्। त्वगष्टविटप इत्यत्र छन्दोभंग आर्षत्वात् सोढव्यः॥

२८—त्वमितिपदस्य पुनः पुनः प्रयोगस्तत्र तत्र तदितरव्यावृत्तिदार्ढ्यार्थः[4]। अनुग्रहस्य पश्चान्निर्देशस्तदानीं तस्यैव प्राधान्यात्। एवं त्रयाणां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, सन्निधानमाश्रयः, संहारकस्यानुक्तिः स्तुतावयोग्यत्वात्। इत्थं कारणाश्रयपालत्वलीलया महापुरुष-नारायणविष्णवाद्यवतारैरभिन्नमपि त्वां नाना न पश्यन्ति, किन्त्वनेकरूपेण वर्त्तमानमेव पश्यन्तीत्यर्थः। के? तव मायाख्यशक्त्या न संवृतं सर्वतः प्रसरच्चेतो बुद्धिर्येषां तथाभूता विपश्चितः। एवं सर्वेषां श्रीभगवद्रूपाणामभिन्नत्वञ्चाभिप्रेतम्। यद्वा, संवृतचेतसः स्वल्पबुद्धयस्त्वदीयमाययैव नानाविधं त्वां पश्यन्ति, न तु सत्यतया। ये तु विपश्चितस्ते त्वन्मायया नाना न पश्यन्ति, किन्तु मायां विनैव[5] सच्चिदानन्दघनश्रीमहापुरुषादिरूपैः सत्यतया नानाविधं पश्यन्ति। त्वदिति पृथक्पदं वा। त्वत्तः संवृतमाकृष्टं चेतो यैस्ते अभक्ता इत्यर्थः। अन्यत् समानम्। एवं सर्वेषामेव भगवद्रूपाणाममायिकत्वमुक्तम्॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

धिषणं धिषणायुक्तं सर्वज्ञं तुष्टुवुः॥ २५॥ सत्यव्रतं सत्यसंकल्पं सत्यपरं सत्यभूतचिदचिदात्मकजगत्परं "यदन्यद्देवेभ्यः प्राणेभ्यश्च तत् सत् अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्सत्यं तदेकया वाचा व्यवह्रियते सत्यम्" इति श्रुतिः। ततः परं यथार्थवेदवाक् प्रतिपाद्यं वा त्रिसत्यं त्रयः प्रकृतिपुरुषकालाः सत्या यस्य तं सत्यस्य चिदचित्प्रपञ्चस्य योनिं सत्ये निर्विकारे परमे व्योम्नि निहितं जीवेभ्योऽपि सत्यं धर्मतोऽपि निर्विकारत्वात् ऋतसत्यनेत्रं सत्यमादित्यः "असावादित्यः सत्यम्" इति श्रुतिः। तत्साहचर्याद्दतशब्दश्चन्द्रपरः चन्द्रसूर्यनेत्रमित्यर्थः "चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इति श्रुतिः। यद्वा, एवं पुण्यकर्मणः, अपुण्यकर्मणः "एवमनृतादात्मानं जुगुप्सेत्" इति अपुण्यप्रतिसम्बन्धिन्यनृतशब्दप्रयोगात् ऋतं पुण्यमनुमोयमानो धर्मः तयोर्नेतारं सत्यात्मकं नित्यविग्रहरूपं विग्रहभूषणदेवीपरिजनादिविशिष्टं त्वां सर्वज्ञं परमकारुणिकम् अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यं शरणमुपायभूतं प्रपन्नाः॥ २६॥ एकायनः एकं प्रकृतितत्वम् अपरं ब्रह्मभूतत्वम् अयनमाश्रयो यस्य सः द्विफलः सुखदुःखफलः त्रिमूलः गुणत्रयमूलः चतूरसः चतुर्विधपुरुषार्थरसः पञ्चविधः शिफा शाखान्तमूलं सूक्ष्मभूतपञ्चकजटावानित्यर्थः। षडात्मा षडूर्मिमान् मनःषष्ठेन्द्रियवान् सप्त त्वक् वसारुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्ररूपाः सप्त धातवः ये च त्वग्यस्य सः अष्टविटपः हस्तौ पादौ शिरः कर्णवक्षोजठरश्च विटपस्थानीयाः नवाक्षः नवच्छिद्रकोटरः दशच्छदः शब्दादय एवानुकूला प्रतिकूलाश्च दश पत्रस्थानीया यस्य सः यद्वा, प्राणापान-

---

१. तत्सिद्धेरिति (क, ख), तत्प्रसिद्धेरिति (ग)।

'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते' इति (ग, घ, ङ) २. देवकीप्रविष्टस्य (क, ग, घ, ङ); ३. वक्ष्यमाणत्वात् (ख); ४. दार्ढ्यार्थं (ख); ५. मायाधीनैव (ग, घ)

व्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयरूपदशवायूपपन्नः द्विखगः जीवपरमात्मोपेतः आदिवृक्षः प्रवाहानादिः शरीराख्यः वृक्षः ॥ २७ ॥ अस्य वृक्षस्य त्वमुत्पत्तिस्थानं निधानं निधनं प्रलयस्थानं वा अनुग्रहः इष्टप्रदानादिना स्थितिकारणं त्वामिति जीवरूपेणावस्थितमित्यभिप्रायः । नानापश्यन्तीत्युक्तेः नहि जीवविलक्षणपरस्वरूपे स्वरूपतो नानादर्शनम् ॥ २८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत्र देवकीसन्निधौ नारदादिभिः मुनिभिः सानुचरैर्देवैश्च सह ब्रह्मा चतुर्मुखो भवो रुद्रश्च समागत्य गीर्भिरौपनिषदानुकारिणीभिर्वाग्भिर्धिषणं धिषणायुक्तं सर्वज्ञं श्रीभगवन्तमैडयन् तुष्टुवुः ण्यन्तान्निवृत्तप्रेरणादीडेर्लङ् नारदाद्यभिप्रायकं बहुवचनम् । वृषणमिति पाठे कामवर्षिणं श्रीभगवन्तमैडयन्निति स एवार्थः ।।२५।। स्तुतिमेवाह—सत्यव्रतमित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति । तावत्प्रकृतिपुरुषासम्भावितैर्धर्मैः विशिष्टं स्तुवन्ति सत्यव्रतमिति । सत्यव्रतं सत्यसङ्कल्पम् अनेन प्रतिज्ञातार्थो यथार्थीकृत इति सूचितम् । सत्यपरं चिदचिदात्मकं जगत् सत्यं "यदन्यद्देवेभ्यः प्राणेभ्यश्च तत्सत् अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्सत्यं तदेकया वाचा व्यवह्रियते सत्यम्" इति श्रुतेः । ततः परं विलक्षणमिदं साध्यम् अत्र सत्यव्रतत्वादीनि हेतवः कथं सत्यव्रतत्वम् ? तत्राह—त्रिसत्यं त्रयः प्रकृतिपुरुषकालाः सत्या यस्य तं प्रकृतिपुरुषकालशरीरकमित्यर्थः । प्रकृत्याद्यात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतः स्वनियाम्यत्वेन स्वसङ्कल्पप्रतिभटाभावादव्याहतसंकल्प इत्यर्थः । यतः सत्यव्रतमत एव सत्यस्य योनिं सत्यस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य योनिं कारणं सत्ये निर्विकारे परे व्योम्नि निहितं कर्त्तरि क्तः अधितिष्ठन्तमित्यर्थः । त्रिसत्यं सत्यस्य योनिमिति लीलाविभूतिमत्त्वमुक्तम् । निहितञ्च सत्य इति नित्यविभूतिमत्त्वम् एतदुभयं सत्यपरत्वहेतुः तथा सत्यस्य सत्यं जीवेभ्योपि सत्यं धर्मतोपि निर्विकारत्वात् "न ह्येतस्मादिति नेति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यस्य योनिहितम्" इतिश्रुतेः । तदर्थस्तु, इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितं तस्मादेतस्माद्वस्तु परं न ह्यस्ति ब्रह्मणोऽन्यत् स्वरूपतो गुणतश्च परं नास्तीत्यर्थः । न त्वन्यमात्रनिषेधः, तथा हि सत्यन्यत्परमिति वैयर्थ्यापत्तेः, तदुपपादयति-अथेति । प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यः चेतनेभ्योपि कदाचिदपि ज्ञानादिसङ्कोचाभावात् परमात्मा सत्यं निर्विकारमित्यर्थः । 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति श्रुत्यन्तरसंवादात् 'अन्यत्तु प्रकृतेतावत्त्वम्' इति शारीरकसूत्रभाष्यादवगन्तव्यम्, विस्तरभयान्नात्र लिख्यते ऋतसत्यनेत्रं सत्यमादित्यः "असावादित्यस्सत्यम्" इति श्रुतेः । तत्साहचर्यात् ऋतशब्दश्चन्द्रपरः चन्द्रादित्ययोर्नेत्रं प्रशासितारमित्यर्थः । 'य आदित्ये तिष्ठन् यश्चन्द्रमसि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः । यद्वा, तौ नेत्रे यस्य ते "चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इति श्रुतेः । "एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति" इति पुण्यकर्मप्रतिसम्बन्धितया "एवमनृतात्मानं जुगुप्सेत्" इत्यपुण्यकर्मण्यनृतशब्दप्रयोगात् ऋतं पुण्यमनुष्ठेयं कर्म सत्यमुच्यमानधर्मः तयोर्नेतारं सत्यात्मकं स्वरूपेणापि निर्विकारम् अनेन प्रधानव्यावृत्तिः एवम्भूतं त्वां वयं शरणं प्रपन्नाः अध्यवस्यामः ॥ २६ ॥ अथ त्रिसत्यत्वमेवोपपादयितुं कृत्स्नं जगद्वृक्षत्वेन रूपयित्वा तस्य भगवद्दासत्वमाहुः—एकायन इति । एकं परं ब्रह्म अन्यमाश्रयो यस्य द्विफलः द्वे सुखदुःखे फले यस्य त्रयः सत्त्वादयो गुणाः मूलं यस्य चत्वारो रसाः धर्मादिपुरुषार्थाः यस्य पञ्च शिफाः जटाः उत्तरमूलानि भूतसूक्ष्मात्मकानि यस्य षडात्मान ऊर्मयो मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि वा यस्य सप्त त्वक् वसामांसरुधिरमेदोमज्जास्थिशुक्ररूपा धातव एव त्वग्यस्य अष्टौ हस्तौ पादौ शिरः कण्ठो वक्षो जठरश्चेत्येते विटपाः शाखा यस्य नवाक्षाः छिद्रकोटरा यस्य दशच्छदः दश शब्दादय एवानुकूलाः प्रतिकूलाश्च प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयरूपाः प्राणापप्राणा वा छदाः पत्राणि यस्य द्वौ जीवपरमात्मस्वरूपौ खगौ पक्षिणौ यस्मिन् स आदिवृक्षः प्रवाहानादिशरीराख्यवृक्ष एकस्त्वमेवायनमाश्रयो यस्य धारणं तथाभूत इति भावः ॥ २७ ॥ अथ सत्यस्य योनित्वमुपपादयन्ति—त्वमिति । अस्य परिदृश्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य सतो जगतः प्रसूतिः जन्म कारणं त्वमेक एव त्वमेक एवास्य सन्निधानं संनिधीयते उपसंह्रियतेऽस्मिन्निति सन्निधानप्रलयाधिकरणमित्यर्थः । त्वमेक एवास्यानुग्रहः अनुगृह्णातोष्टप्रदानेनेत्यनुग्रहः स्थितिकारणमित्यर्थः । ननु नाहं सत् परः केचिन्मां जीवादभिन्नं पश्यन्तीत्यत्राहुः त्वन्मायया मोहितं चेतो येषामत एव न विपश्चित अज्ञाः नशब्दोयं निषेधार्थकः ततो "नलोपो नञः (६।३।७३) इति न लोपाभावः ये जनास्ते त्वां नाना पश्यन्ति जीवरूपेणावस्थितं पश्यन्तीत्यभिप्रायः । पश्यन्तोत्युक्तेर्न हि जीवविलक्षणं परस्वरूपं दृश्यते कुतो नानादर्शनं "मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्" इति श्रीभगवदुक्तेरिति भावः । यद्वा एवं कृत्स्नजगत्कारणत्वमुपपाद्य कार्यकारणयोरनन्यद्रव्यत्वसूचनाय तद्भेदवादं निराकुर्वन्ति, त्वन्माययेति, त्वां नाना त्वां विना इदं जगत् पश्यन्ति त्वत्तः पृथक् सिद्धं जगत्पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तत्र शङ्करादिभिः समेतो ब्रह्मा ज्ञानिसुगमगुणविशिष्टं विष्टरश्रवसमभिष्टौति-सत्यव्रतमिति । वयं त्वां शरणं प्रपन्ना इत्यन्वयः । कीदृशं त्वां सत्यव्रतं पूर्णानन्दज्ञानलक्षणं सत्यं तदेव व्रतं व्यावृत्तं रूपं यस्य स तथा तं सद्भ्यः पृथिव्यप्तेजोभ्यः द्वयोर्वाय्वाकाशयोः परत्वाद्विलक्षणत्वात् सत्यपरः तं त्रयाणां वेदानां सत्यत्वान्मुख्यार्थत्वात्त्रिसत्यः तं सत्यस्याबाधितप्रपञ्चस्य योनिं मूलकारणं सत्ये जगत्यन्तर्नियामकत्वेन निहितं सत्यस्य विश्वस्योत्तमानन्दज्ञानदं सत्यं सत्यस्य प्रपञ्चस्य नेत्रं नेतारं सत्यात्मकं

सत्यस्य प्रपञ्चस्य अत्तृत्वादादानाच्च सत्यात्मकः तं कप्रत्ययः प्रशंसायां उतशब्दः समुच्चयार्थः सच्छब्द उत्तमं ब्रूयादित्यादिनाऽक्षरात्मको ज्ञातव्यः प्रामाणिकत्वात् ग्राह्यमेतदिति सिद्धं यद्वा अनृताप्रियवर्जनं यथार्थकथनं सत्यं तदेव व्रतं नियमो यस्य स तथा तं "अजस्यावक्रतेजसः" इति हि श्रुतिः 'सत्यसंहिता वै देवा, इति च सत्यपरं धर्मपालकं सत्यं धर्म उदाहृतः, इत्यभिधानं 'सत्यपरं सत्तिरवसादनं तस्मादपरमन्यत्तद्रहितमित्यर्थः। "अविनाशी वा अरेऽयमात्मा" इति श्रुतेः। त्रिषु लोकेषु सत्यं तेषु नष्टेष्वप्यविनष्टमित्यर्थः। सत्यस्य मुख्यप्राणस्य योनिमुत्पादकम् "आत्मन एष प्राणो जायते" इति श्रुतिः सत्ये मुख्यप्राणे निहितं सन्निहितं "स प्राणमसृजत" इतिश्रुतिः सत्यमेव नेत्रं नयनं यस्य स तथा सत्यस्य प्रपञ्चस्य प्रकाशनात् निरुपमचरितत्वेन अबाधितम् "अद्वैतं परमार्थतः" इतिश्रुतिः सत्या देवास्ते नेत्रं शिष्यादिषु नेतारो यस्य स तथा तं देवाः प्राणयन्तेति श्रुतिः सत्यमबाधितमात्मनः कं सुखं यस्य स तथा तम् अबाधितस्वरूपसुखम् "एषह्येव परमानन्दः" इति श्रुतिरिति ॥ २६ ॥ ननु, प्रपञ्चोऽयं केचिज्जीवकर्तृकः केचित्प्रधानकर्तृक इत्यादि। सङ्गिरन्ते तत्राह—एकायन इति। अत्र यत्रशब्दमध्याहृत्यान्वेतव्यं असावादिवृक्षो यत्र स्थितस्तं त्वां शरणं प्रपन्ना इति पूर्वेणान्वयः। चेतनस्य मनुष्यस्य पुरुषार्थत्वादादिभूतमन्तरङ्गं साधनं ज्ञानं तेनादिना वृश्च्यत इत्यादिवृक्षः प्रपञ्चः आदेर्हरेरधीनो वृक्ष इति वा मुक्तामुक्तप्रपञ्चपक्षीकरणाय दूरस्थस्याप्यदस्शब्देन परामर्शः "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः उतामृतत्वस्येशानः" इत्यादिश्रुतिः। एका चेतनाचेतनात्मकलक्षणा प्रकृतिरयनं आश्रयो यस्य स एकायनः "यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्" इति श्रुतिः। द्वे फले प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणे यस्य स द्विफलः सत्वादिगुणा मूलानि यस्य सः त्रिमूलः चत्वारो रसा धर्मादिमोक्षान्ता यस्य स चतूरसः तत्र प्रवृत्तफलस्य धर्मादयस्त्रयो रसा निवृत्तफलस्य मोक्ष एका रस इति विभागः। पञ्च मात्राः शब्दादयः शिफा यस्य स पञ्चशिफः 'अस्ति जायते परिणमते विवर्द्धते अपक्षीयते विनश्यतीति' षड्विकारानाप्नोतीति षडात्मा त्वक्चर्म मांसरुधिरमेदोमज्जास्थीनि त्वग्रूपेण वर्त्तते यस्य स सप्तत्वक् देवगन्धर्वदानवराक्षसपिशाचतिर्यङ्मानुषस्थावरलक्षणाः अष्टविटपा यस्य सोष्टविटपः नवाक्षा इन्द्रियाधिष्ठानभूता यस्य स नवाक्षः—

"अक्षो रथाङ्ग आधारे व्यवहारे विभीतके। शकटे पाशके कर्षे द्यूतभेदेऽक्ष इन्द्रिये" ॥ इति यादवः ॥

दशच्छदाः पत्रस्थानीयानीन्द्रियाणि अस्य सन्तीति दशच्छदी प्रवृत्तिमार्गस्था निवृत्तिमार्गस्था इति द्विप्रकाराः खगाः पुण्याऽपुण्यफलभागिनो जीवा यस्य स द्विखगः तदुक्तं "जगद्वृक्षाश्रयाः" इत्यादि हिशब्देन "कारणस्य सदासत्त्वात्प्रवाहेण च सन्नसौ" इत्यादिना जगद्वृक्षस्य सनातनत्वं विष्णुकारणत्वं दर्शयति–हरिरेक एवायनं यस्याऽसौ तथा, द्वे पुण्यपापे फले यस्य स तथा तिस्रो जाग्रदाद्या अवस्था यस्य तिस्रो व्याहृतयो वेदा वा मूलं तस्य स तथा चत्वारो रसाः स्वर्गमोक्षनरकतमोलक्षणा यस्य स तथा, प्राणाऽपानव्यनोदानसमानाख्याः पञ्च शिफा अवान्तरमूलानि यस्य स तथा अशनापिपासाशोकमोहजरामृत्यवः षडात्मानः सहजा यस्य सप्त च्छन्दांसि त्वक्स्थानीयानि यस्य अष्ट विटपाः पञ्च महाभूतानि मनोबुद्ध्यहङ्काराः विटपा यस्य नव नवाक्षा व्यवहारा अष्टादश भाषा यस्य स तथा तन्त्रन्यायेन नवशब्दस्य एकोच्चारणं पायूपस्थयोरेकत्वेन नवेन्द्रियाणि वा यस्य दशेन्द्रियविषयाः शब्दस्पर्शादयः दशच्छदा अस्य सन्तीति द्वौ खगौ जीवपरमात्मानौ यस्य आदिरदनयोग्यः हरेरन्नभूतः प्रपञ्चः स एव वृक्षः आदिवृक्षः अनेन जगद्वृक्षस्य हरेरधीनत्ववर्णनेन हरेरत्युत्तमत्वमुक्तं भवतीति ॥ २७ ॥ ननु, "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता, एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" इत्यादिनेतरेषामपि जगदाश्रयत्वप्रतीतेर्हरेरेव तल्लक्षणं कथं स्यादिति तत्राह—त्वमेक एवेति। अस्य सतः सत्यजगतः प्रसूयत इति प्रसूतिः कारणं तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानम् अनुगृह्णाति रक्षतीत्यनुग्रहः संवृतचेतस आवृतज्ञानाः त्वां नाना पश्यन्ति ये विपश्चितः ते न पश्यन्तीत्यनेन हरेरेवोक्तलक्षणं नान्यस्येति निरणायि ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ब्रह्मेति अत्रागमने पश्चाद्भावि मुन्यादीनामप्राधान्यात् सहार्थयोगे तृतीया च स्तवे तु यौगपद्येन प्राधान्यात् सर्वेषां कर्तृत्वमेव विवक्षितमिति ऐडयन्निति बहुत्वं पूर्वं मुन्यादिमिलतौ तावागतौ पश्चात्तौ च ते च तुष्टुवुरित्यर्थः। पूर्वं तेषामपि प्रधानकर्तृत्वेनैककर्तृकत्वाविरोधात् क्त्वा योगश्च न यदित्यस्य व्याख्यायाम् ॥ २५ ॥ सत्यव्रतं विमर्शयति--सत्त्वेन सच्चिदानन्दघनत्वेन उपपन्नानि श्रौतसिद्धयुक्तिसिद्धानि ॥ २६—२८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ देवकीहृदयस्थं श्रीकृष्णं ब्रह्मादयः स्तुवन्त ऊचुः—सत्यव्रतमित्यादि। सत्यव्रतं सत्यसङ्कल्पम्,—अङ्गीकृतप्रतिपालनात्। सत्यं ब्रह्म तस्मादपि परमुत्कृष्टं परमानन्दप्रदं सविशेषम्,–तस्य निर्विशेषस्य वैभवत्वात्। उक्तञ्च—(भा०४।९।१०) "सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि" इति। त्रिसत्यं त्रिषु कालेषु सत्यम् त्रीणि श्रीविग्रहलीलास्वधिष्ण्यानि सत्यानि यस्येति वा। अतः सत्यस्य वैकुण्ठादेर्योनिमुत्पत्तिस्थानम्। निहितञ्च सत्ये सत्यस्यास्य वैकुण्ठादेः, सत्ये सति सत्यत्वे सति नितरां हितम्, सत्यशब्दो

धर्मवचनोऽप्यस्ति, (भा० १।१६।२७) "सत्यं शौचम्" इत्याद्युक्तेः। सन् वैष्णवः, तस्मिन् सति अमृतान्मोक्षादपि सत्यं दुर्लभं यत् प्रेम, तस्य नेत्रं नेतारं प्रापकम्। सत्यात्मकं सत्यस्त्रिकालसिद्ध आत्मा विग्रहो यस्य तं त्वां श्रीकृष्णं श्रयणं प्रपन्नाः स्मः ॥२७-२८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

२६—सत्यव्रतमित्यादि । सत्यव्रतं सत्यसङ्कल्पम्, सत्यं ब्रह्म तस्मादपि परम्, त्रीणि श्रीविग्रहलीलास्वधिष्ठानानि सत्यानि, यतः सत्यस्य योनिमुत्पत्तिस्थानम्, अस्य लोकस्य सत्ये सति निहितं नितरां हितमनुकूलम्, सति भक्ते अमृतात् मोक्षादपि सत्यं दुर्लभं यत् प्रेम तस्य नेत्रं नेतारं, सत्यं निरन्तरमात्मसु आत्मीयेषु परिजनेषु कं सुखं यस्य त्वां श्रीकृष्णं प्रपन्नाः ॥ २७-२८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वृषणं लीलामृतवर्षिणं कृष्णाम्बुदं ब्रह्मा भुवनचतुर्दशकेदारमहाकृषीवल इव भवश्रोल्लासितसाधुपक्षी नृत्यविनोदीमहानीलकण्ठ इव नारदादिभिस्तदेकजीवनैर्महासोत्कण्ठचातकैरिव देवैः कंसजरासन्धादिदावानलावृतैर्महामतङ्गजैरिव सह ऐडयन् ऐडत स्तुष्टुवुरिति। यावद्बहुवचनमार्षम् ॥ २५ ॥ "त्वमेव वास्तवं वस्तु संसारेस्मिन्न वास्तवे। त्वं भक्तैर्गम्यसे नान्यैरिति स्तुत्यर्थ ईक्षितः" स्वभक्तपालनैकव्रतत्वान्नित्यसत्यत्वाच्च त्वमेव प्रपत्तव्यस्त्वयहं इत्याहुः सत्यं व्रतं यस्य तं "सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम" इति तदुक्तेः। न च स्वभक्तपालकदेवतान्तरवत्त्वमनित्योऽनुत्कृष्टश्चेत्याह, सत्यः सर्वकालदेशवर्ती परः श्रेष्ठश्च तम् यद्वा सत्यं सत्यनामानं "सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्। सत्यात्सत्यो हि गोविन्दस्तस्मात्सत्यो हि नामतः। इत्युद्यमपर्वोक्तः परं परमेश्वरं त्वद्बुद्धिबलादयोऽपि सत्या एवेत्याहुः तिस्रः ज्ञानबलक्रियाशक्तयः सत्या यस्य तं "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतेः। त्वदंशा अपि सत्या इत्याहुः सत्यस्य मत्स्यकूर्माद्यवतारवृन्दस्य योनिमुद्गमस्थानमवतारिणमित्यर्थः। त्वद्धामापि नित्यमित्याहुः निहितं सन्निहितं स्थितमित्यर्थः। सत्ये मथुरावैकुण्ठादिलोके किञ्च सारस्य सार इतिवत् समस्तचिद्वस्तुसारस्त्वमेवेत्याहुः, सत्यस्य सत्यमिति। यद्वा सत्यस्य यत्किञ्चित् कालवर्तिनो मायिकप्रपञ्चस्य प्रकाशकत्वात् सत्त्यं सर्वकालवर्तिनं "चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" "इतिवत् सत्त्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत" इति माध्वभाष्यप्रमाणितश्रुतेः। हे ऋत नित्यसत्यस्वरूप! सत्यं नेत्रं सर्वेन्द्रियोपलक्षकं नयनेन्द्रियं यस्य तं सत्त्य आत्मा श्रीविग्रहो यस्य तम् ॥ २६ ॥ ननु यदि देहेन्द्रियधामादिविशिष्टोऽहमेव सत्यस्तर्हि जगदिदं किमसत्यम्? तत्र जगतः सत्यत्वेपि कालच्छेद्यत्वं तव तु तदभाव इत्याहुः—एकायन इति। असौ प्रपञ्च आदिवृक्षो भवति प्रथमत एव प्रवृत्तत्वादादिः वृश्च्यते कालेन छिद्यते इति वृक्षः समष्टिव्यष्टिदेहरूपः एका प्रकृतिरयनमाश्रयो यस्य सः द्वे सुखदुःखे फले यस्य सः त्रयो गुणा मूलानि यस्य सः चत्वारो वर्णधर्मा आश्रमधर्मा वा रसा यस्य सः पञ्च इन्द्रियाणि विधा ज्ञानप्रकारा यस्य सः षडूर्मयः आत्मानः स्वभावा यस्य सः अत्र शोकमोहजरामृत्युक्षुत्पिपासाः षडूर्मयः सप्त धातवस्त्वचो यस्य सः त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिवसाशुक्राणि धातवः अष्टौ पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहङ्काराः विटपाः शाखाविस्तारा यस्य सः नव द्वाराणि अक्षाः छिद्राणि यस्य सः दश प्राणाः छदाः पत्राणि विद्यन्ते यस्य स दशच्छदी द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यस्मिन् सः ॥ २७ ॥ त्वच्छक्तिकार्य्यत्वात् वृक्षोऽयं त्वदीय एवेत्याहुः—त्वमेव अस्य प्रपञ्चवृक्षस्य सतः सत्यस्य एक एव प्रसूतिरुत्पादकः सन्निधानं लयस्थानम् अनुग्रहः पालकः भावप्रधाननिर्देशेन तत्तदाधिक्यमभिप्रेतम्। ननु, भवदादयो ब्रह्मविष्णुरुद्रा एवंभूताः प्रसिद्धाः कथमहमिति चेत्तत्राहुः त्वन्मायया असंवृतचेतसः अनावृतज्ञानास्त्वां नाना न पश्यन्ति ये विपश्चितस्ते ब्रह्मादीनां त्वदवतारत्वादिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्र श्रीदेवकीसमीपे गीर्भिः भगवद्गुणस्वरूपादिविषयाभिर्वाणीभिः वृषणं पुरुषार्थवर्षिणम् ऐडयन् तुष्टवुः बहुवचनं नारदादिसाहित्यात् गीर्भिरिति मूर्तिमद्भिर्वेदैश्च साकमिति वा ॥ २५ ॥ क्षीरनिधेस्तीरे भगवदवतारार्थं तदाराधनं कृतं तत्फलदानेन भगवता सर्वं भजनादिकं सत्यं कृतमिति मुदिताः सत्यत्वेन तावत्स्तुवन्ति, सत्यव्रतमिति, सत्यं व्रतमस्मदादिकर्तृकं भजनं यस्य तम् सत्यं परं भजनफलं यस्मात्तम् त्रिसत्यम् त्रीणि भक्तभजनतत्फलानि सत्यानि यत्मात्तम्। देवकीजठरेऽस्मद्भजनादागतेन त्वया न केवलं भजनतत्फलयोरेव सत्यत्वं दर्शितमपि त्वस्माकं सत्यभक्तत्वं दर्शितमिति फलितोर्थः "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इति श्रुतेः सदुपादानकत्वात्सत्यस्य प्राकृतलोकस्य योनिमुपादानरूपं कारणम् अस्यापि सत्यता दर्शिता यत्र विहन्तुं प्रवृत्तोसीति भावः। सत्येऽप्राकृते लोके निहितं सर्वदा स्थितम् दर्शितं तस्य लोकस्य नित्यत्वं यस्मादिहागतोसीति भावः। तस्य लोकस्य प्राकृतत्वं "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्" इत्यत्र स्फुटीभविष्यति किं बहुना सत्यस्य सर्वस्य प्रकृतिपुरुषकालादेः तव लीलौपयिकस्य सत्यं परसत्तारूपम् ऋतसत्ययोः सूनृता वाणी समदर्शनयोः भवदीयोभयलोकसुखसाधनयोर्नेत्रं नेतारम् इत्थं सर्वशः सत्यात्मकं त्वां वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ताः ॥ २६ ॥ ननु सत्यस्य योनिं सत्यस्य सत्यमित्येवं कणादितत्त्वविन्मुनिमतविरुद्धं भवतां वचनमित्यत्र जगदभिन्ननिमित्तोपादानहेतुत्वं भगवतो वदन्तस्तन्मतं निराकुर्वन्ति, एकायनमिति द्वाभ्याम्। असौ आदिवृक्षः त्वं पदार्थरूपपक्षिभोग्यः

एकायनः एकत्वमेव चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्मायनमाश्रयो यस्य सः द्विफलः सुखदुःखफलः त्रिमूलः सत्वादिगुणमूलः चतूरसः पुरुषार्थचतुष्टयरसः पञ्च अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः कोशाः विधाः प्रकारा यस्य सः "स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्च नाम" इति श्रुतेः। षट् जन्ममृत्युक्षुधापिपासाशोकमोहाख्या ऊर्मयः आत्मानः प्रकृतयो यस्य सः सप्तत्वक् मांसरुधिरमेदोमज्जास्थिशुक्राख्याः धातवस्त्वचो वल्कलादीनि यस्य सः—

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा"॥

इत्यष्टप्रकृतयो विटपा यस्य सः नव मुखादीनि द्वाराण्यक्षाः छिद्राणि यस्य सः दश प्राणापानसमानोदानव्याननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्याः प्राणाः छदाः पत्राणि विद्यन्ते यस्य सः द्वावात्मान्तरात्मानौ खगौ यत्र सः॥ २७॥ "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इति श्रुतिप्रोक्तः अनादिवृक्षः बीजतुल्यैरनन्तैरंशैरनन्तब्रह्माण्डरूपवृक्षोत्पादकोऽचिंत्यानन्तस्वाभाविकगुणशक्त्याद्याश्रयः सर्वव्यापकः सर्वेश्वरो देवकीजठरगस्त्वमेकः समानाधिकशून्यः एवकारेणोपकरणनिरपेक्षः अस्य समष्टिव्यष्टिरूपस्य विश्ववृक्षस्य सतः सत्यस्य प्रसूतिः औषधादेः क्षितेः सकाशादिव प्रकर्षेण सूतिर्जन्म यस्मात्सः त्वदुपादानकमिदं जगत् न तु परमाण्वादिनानाकारणकमित्यर्थः। सम्यक् क्षिताबौषध्यादिकमिव सम्यग् निधीयते यस्मिन्तत्संनिधानं त्वमेव अनुगृह्णातीत्यनुग्रहः पालनादिहेतुश्च त्वमेव "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादिश्रुतयः जगतो निमित्तकारणमुपादानकारणं च त्वामेवाहुः ये तु त्वन्मायया यया संमोहितं जगदित्युक्तया संवृतचेतसः कुलालादिवन्निमित्तमात्रं त्वां नानापरमाण्वादिकं च कारणं पश्यन्ति न तु विपश्चितो विवेकिनः श्रुत्युक्तजगत्कारणविदो नाना पश्यन्ति॥ २८॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

सत्यव्रतं सत्यपरमिति श्लोके विद्यमानानां सर्वेषामपि सत्यपदानामबाधिततत्वरूपैकार्थत्वभ्रांतिनिरासाय प्रमाणेनैव विलक्षणार्थत्वं च दर्शयन्सत्यव्रतं सत्यपरमित्यादिवाक्यान्यपि व्याचष्टे॥ सच्छब्द उत्तमं ब्रूयादित्यादिना॥ तीति तकार आनंदं वदेदित्यर्थः। यतः कारणाद्धरेः रूपं नित्यं तादृक् पूर्णानंदज्ञानात्मकं ततस्तद्रूपं सत्यशब्दोदितम्। यतश्च विष्णुः सत्यशब्दोदितरूपवांस्ततः कारणात्सत्यव्रत इत्युच्यते। अनेन सत्यं वा व्रतं वर्तयति प्रवर्तयतीति व्रतं रूपं यस्य स तथेति सत्यव्रतशब्दस्य विग्रहः सूचितः। तथांऽतर्णी तण्यर्थाद् वृतु वर्तन इति धातोः कर्तर्यप्रत्यये धातोरमागमे च इको यणचि कृते व्रतशब्दनिष्पत्तिरिति सूचितं भवति। भूतत्रयं पृथिव्यप्तेजोरूपं सदित्युच्यते। तदन्यद्भूतत्रयादन्यमिति समुद्दिष्टम्। तुः स्वातंत्र्यरूपविशेषार्थकः। स्वातंत्र्येण तत्परत्वात्सत्यशब्दवाच्यप्रपंचात्परत्वादत्युत्तमत्वात्परः सत्यपर इत्युच्यते इत्यर्थः। वेदमुख्यार्थरूपत्वादित्यनेन त्रिभिः ऋगादिवेदैः सद्यते गम्यते ज्ञायत इति त्रिसत्य इति भागवतस्थत्रिसत्यपदस्य विग्रहः सूचितः। तथा पदॢ विशरणगत्यवसादनेष्विति धातोः कर्मणि यप्रत्यये धात्वादेः षस्य स इति सूत्रेण षस्य सत्वे सत्य इति शब्दरूपनिष्पत्तिः। गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वमिति सूचितं भवति। उत्तमानंदज्ञानदात्वत इत्यनेन भागवते सत्यस्य सत्यमित्यत्र सत्यमितिपदं मत्वर्थीयाच्प्रत्ययांतमिति सूचितम्। तथा सत्यमुत्तमानंदादिकं विद्यते यस्य सकाशात्सत्य इति सत्यशब्दव्युत्पत्तिश्च सूचिता भवति। अत्तृत्वाच्च तदादानादित्यनेन सत्यात्मकमित्यत्रात्मशब्दार्थद्वयं षष्ठीतत्पुरुषसमासश्चोक्तो भवति। आङ् पूर्वाभ्यामद भक्षणे डु दाञ् दान इति च धातुभ्यां कर्तरि डप्रत्यये टिलोपे चात्मशब्दनिष्पत्तिर्ज्ञेया॥२७॥ नन्वेकायनोऽसौ द्विफल इति श्लोकोक्तो वृक्षः प्रसिद्धाम्रादिवृक्षश्चेत्तर्हि तस्य द्विफलत्वादिकमयुक्तम्। आम्रादिवृक्षस्य बहुफलादिमत्त्वात्। यद्यप्रसिद्धवृक्षः स्यात्तर्हि सः कः कानि च तस्यैकायनादीनीत्याशंकां प्रमाणेनैव तत्सर्वं प्रदर्शयन्परिहरति॥ जगद्वृक्षाश्रया ह्येषेत्यादिना। अनेन जगदेवात्र वृक्षाख्यं चिदचित्प्रकृत्यादय एव तस्य वृक्षस्यायनादयो भवंतीत्युक्तं भवति। मात्राः शब्दादयः पंचशिफा अवांतरमूलानि। उत्पत्तुमिच्छतीत्युत्पित्सुस्तस्य भाव उत्पित्सुत्वम्। जननमिति यावत्। तदेवादिर्येषां त उत्पित्सुत्वादयः। आदिशब्देन सत्त्वपरिणामविवर्धनापेक्षया विनाशा गृह्यंते। प्रकारास्तन्निष्ठधर्मा इत्यर्थः। अनेन षडात्मनेत्यत्रात्मशब्दः प्रकारार्थ इत्युक्तं भवति। विटपाः शाखाः। इन्द्रियाण्यस्य पत्राणीत्यनेन भागवतस्थदशच्छदीत्येतद्व्याख्यातं भवति। दशेंद्रियाणि छदाः पत्राण्यस्य संतीति विग्रहश्च सूचितो भवति। द्वारो द्वार इत्यनेन नवाक्ष इत्येतद्व्याख्यातं भवति। नवद्वारोऽक्षिद्वयं कर्णद्वयं नासापुटद्वयं मुखं पायूपस्थे चेति नवसंख्याकानींद्रियगोलकान्येवास्य वृक्षस्य द्वारः प्रसिद्धवृक्षकोटरस्थानीयानि स्मृताः स्मृतानीत्यर्थः। प्रवृत्तं चेत्यादिना द्विफल इत्येतद्विवृतं भवति। धर्मादयस्त्वित्यादिना चतूरस इत्येतद्विवृतं भवति। तुर्विशेषार्थः। धर्मादयस्त्रयः प्रवृत्तरूपफलस्य रसा मोक्षस्तु विशिष्टो रसः। एकफलस्य निवृत्तरूपफलस्य ज्ञातव्य इत्यर्थः। प्रवृत्ताश्चेत्यादिना द्विखग इत्येतद्विवृतं भवति। हिः पादपूरणे हेतौ विशेषेऽप्यवधारण इति विश्वकोशाभिधानाद्भागवतस्थहिशब्दो जगद्वृक्षस्य सदासत्त्वाख्यविशेषं वक्ति। ननु घटादिरूपजगतोऽनित्यत्वस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात्कथं तद्विरुद्धं सदा सत्त्वं जगतो हिशब्देनांगीक्रियत इत्यतः प्रमाणेन तदुपपादयति॥ कारणस्य सदा सत्त्वादिति। कारणस्य कारणरूपस्य प्रकृत्यादेः कस्यचिज्जगतः सदा सत्त्वात्कस्य चित्कार्यरूपस्य जगतः प्रवाहेण सदा सत्त्वादसौ कार्यकारणरूपजगत्तरुः सदा सन्विद्यमानः। ननु पूर्वमभूतस्योत्तरत्राभविष्यतो जगतः कथं सदा सत्त्वमित्यत आह। न कदाचिदिति। असौ जगत्तरुः कदाचित्स्वतो वा परतो वा न

भूतः पूर्वकाले विद्यमानो नेति न। किंतु भूत एव। तथा कदाचिन्न भविष्यतीति न। किंतु भविष्यत्येव। उपसंहरति॥ सन्न इति। अतः कारणरूपेण प्रवाहरूपेण च पूर्वोत्तरकालयोर्विद्यमानत्वादसौ जगत्तरुः सदा सन्नित्यर्थः। अस्य सर्गादिकृद्विष्णुरित्यनेनार्धेन त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिरिति श्लोक उक्ततात्पर्यार्थो भवति॥ २८-२९॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

चिंतयान इति। अत्र सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यावहारिकभेदांगीकारे तस्यानित्यत्वेनांते तयोरैक्यापत्त्या मिथ्यात्वस्यापि ब्रह्मण्यापत्तिरिति भयेनाद्वैतिभिरपि जगदीशयोरपि पारमार्थिकभेदस्य स्वीकारार्हत्वात्किं पुनर्भेदवादिभिरत उभयेषामपि तन्मयशब्दस्य स्वरूपार्थोक्तौ विरोधप्रसंगोऽतोऽर्थांतरम्॥ तन्मयम्। मद्धंता विष्णुरत्रैव स्यात्किमिति भयेन तत्तत्पदार्थस्थतया तत्प्रतिमम्। जगदपश्यत्। यद्वा। जगत्। अहृषीकेशं विष्णुरहितम्। कर्तव्यमिति विशेषेण या चिंता तया तन्मयं तस्य विष्णोर्हिंसोपायम्। मिनु हिंसायामिति धातोः। लक्षणोपगमाच्च। नो पश्यत् न दृष्टवान्। अतो नोक्तविरोधः॥ २५॥ ब्रह्मेति। अनस्तोत्रक्रियाकर्तुर्मुन्यादिसाहित्योक्तौ बहुत्वापत्त्याऽस्तुवदित्येकवचनं विरुद्धमिति मंदाशंकापरिहारार्थम् उच्यते। तथात्वे पुच्छं जग्राह सामर इति प्रतिबंदी दुर्वारा स्यात्। अतः कर्तुर्वचनानुरूपेण कर्तरि क्रियावचनेन भवतिव्यमिति नियमादत्र ब्रह्मणः कर्तुरेकवचनात् क्रियैकवचनं युज्यते। न च भवश्चेत्यनेन बाधः। तस्याप्येकवचनेन समुच्चये न नियमभंगः तत्रागतो नारदस्तुंबरुश्चेति भारतादिष्वेतादृशप्रयोगस्य बहुशो दृष्टत्वात्। केचिदत्र गीर्भिर्वृषणमैडयन्निति पाठं कल्पयंति। तदयुक्तम्। कर्तुर्बहुवचनांतत्वाभावेनैकवचनांतस्य तृतीयस्याप्यभावेन बहुवचनांतक्रियाऽसंगतत्वात्। न च सेति पदेन भूम्या ग्रहणं युक्तम्। तस्याः स्वरूपतो जडत्वेन स्तवनायोगात्। गोरूपिण्याश्च पशुत्वेन वचनायोगात्। नापि व्यसनं समवोचतेत्यत्र वचनलाभः। तत्रापि ससंकेतेनावोचल्लक्षणयाऽसूसुचदित्यस्यैवौचित्यात्। अत्रापि लक्षणाऽस्त्विति चेन्न। अर्धजरतीयानुपपत्तेः। ब्रह्मभवयोर्वचनवृत्त्या गोरूपिण्याः सूचनवृत्त्येत्येकक्रियाया अर्थद्वयांगीकारानर्हत्वात्। श्रीधरेणाप्यैडयदिति पाठे वल्लभेति तद्व्याख्यानुसारिणो लेखकहस्तदोषादैडयन्निति लाभेन तथैव पठंतीति। एतच्चिंत्यम्। न हि व्याख्यातैवमसंबद्धं लिखेत्॥ २६॥ सत्यव्रतमिति। अन्यत्र विश्वस्य मिथ्यात्वोक्त्याऽत्र च सत्यत्वोक्तेर्विरोधः। पूर्वत्रास्तुवदित्येकवचनेनात्रोक्तस्य प्रपन्ना इत्यस्य बहुवचनस्य विरोधांतरं चातोऽर्थ उच्यते। विश्वमिथ्यात्वस्य विश्वांतर्वर्तित्वेन मिथ्यात्वासिध्या सिद्धां विश्वसत्यतां दृढीकर्तुं स्कांदोक्तविश्वसृष्टत्वाद्यष्टलक्षणेष्वपि विश्वसत्यत्वं ब्रवीति॥ सत्येति। विश्वं सत्यमिति श्रुतेरत्राष्टौ सत्यशब्दा विश्वार्थकाः। तस्य विश्वस्य व्रतम् आवरकत्वाद्व्याप्तत्वाच्च ज्ञानं यस्मात्तं वृञ् वरणे। अत सातत्यगमने इति च धातोः। अनेनाज्ञानदत्वं लक्षणम्॥ सत्यपरम्। सत्यस्य परम् अज्ञानविरुद्धत्वात्संसारतः पालकत्वात्परमसाधनत्वाद्वा ज्ञानं यस्मात्तम्। अनेन ज्ञानदत्वं लक्षणम्॥ त्रिसत्यम्। अतीतानागतवर्तमानरूपेण त्रिविधं सत्यं विश्वं यस्मिन्निति संहारकत्वं लक्षणम्॥ सत्यस्य योनिम्। तस्य योनिं कारणमिति स्रष्टृत्वलक्षणम्॥ सत्ये निहितम्। स्थितमित्यनेन पालकत्वलक्षणम्॥ सत्यस्य सत्यम्। सत्यं पुनरावृत्त्यादिदोषवर्जितत्वात्सत् निर्दोषं मोक्षं यापयति प्रापयति तम्। अनेन मोक्षदत्वलक्षणम्॥ सत्यनेत्रम्। तस्य नेत्रं मंथनरज्जुरूपं बंधनं यस्मात्तम्। इत्यनेनबंधकत्वलक्षणम्॥ सत्यात्मकम्। तस्यात्मत्वात्स्वामित्वान्नियामकत्वं लक्षणमिति। तं त्वां शरणं प्रपन्ना इत्यन्वयः। न वचनमिव शरणागतिर्द्वयोः किंतु सर्वेषामिति भावेन बहुवचनम्। अस्तुवदिति कर्तृवचनानुरोधादेकवचनात्मकस्यापि कर्तुर्द्वित्वदर्शनाद्ब्रह्मभावावूचतुरित्युभाभ्यामपि सर्वदेवाभिप्रायं स्वमनसोरानीयोक्तत्वात्प्रपन्ना इति बहुवचनम्। अतो न विरोधः। सच्छब्द उत्तमं ब्रूयादित्यादितात्पर्यानुसारेणार्थस्य तु व्याख्यातृप्रदर्शितत्वान्नेह प्रपंचः। अग्रिमस्यापि श्लोकस्य संगतिरित्थम्। हि यस्मात्। बंधनहेतुर्देहादिरूपः प्रपंचः। आदिवृक्षः आदिना सर्वकारणरूपेण त्वया वृश्च्यते छेद्यते स तथा। अतस्त्वां शरणं प्रपन्ना इति योजना॥ २७-२८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तत्प्रकारमाह॥ आसीन इति। आसीनः संविशच्छय्यां हृषीकेशं चिन्तयानो जगत्सर्वं तन्मयमपश्यन् भीतिशङ्कापदमभूदिति भावः॥ २५॥ हिरण्यगर्भो गर्भगमर्भकमेतैः समेत आगत्य तुष्टाव विष्णुमित्याह॥ ब्रह्मेति। यो भृगुर्मम तव च रीतिं परीक्ष्य यं पदोरसि ताडयित्वाऽपि येन बहुमतिं लेभेऽस्यासुरस्य सहवासेन कदाचित्सद्धीरभिव्यज्यत इति भवानुभवसिद्धं विशेषं द्योतयितुमेव देवेभ्यः पृथक् कृत्य भववचनमिति ज्ञेयम्। देवैरिन्द्राद्यैः सानुचरैर्गन्धर्वाद्यनुचरसहितैर्नारदादिभिः सानुचरैर्गिरिश्रृङ्गचरैः ऋषिभिरित्यप्यन्वयः। अनेन स्तुत्यगुणानां बाहुविध्यं गिरां भूयिष्ठत्वेन द्योत्यते। यथेतरसुरा अवतारेण हरिपरिचरणयोग्या न तथा कमलभवः इत्यप्याह॥ अभव इत्युत्पत्तिरहित इति। अतस्तत्रेऽयुपपन्नम्। ब्रह्मणो नावतारोऽस्ति ब्रह्माणमप्यनवतार इत्यादेः॥ २६॥ स यत्रतं स यवरमिति श्लोके सत्यपदाष्टकं तस्याबाधितत्वमात्रार्थकत्वं पुनरुक्त्यादिबाधितमतोऽर्थाप्रतीतेर्मौनेन तदर्थमाह॥ सच्छब्द इति। सदिति शब्द उत्तमं तत्त्वं ब्रूयाद्दाढ्यैवेति सर्वत्र ज्ञेयम्। आनन्दन्तीतीकार उच्चारणार्थः। केचिद्धस्वमेव ति पठन्ति। तृप प्राणन इत्यस्मात्क्विप् ङिश्चेति वर्णयन्ति। वस्तुतस्तु तीति सप्तम्यन्तम्। ति त् इति हलन्तकारे आनन्दं वदेत् वाच्यं वदेदित्यर्थः। इति हेतुसमर्पकः सन्नुत्तरत्रान्नेति। तद्विवरे दर्शयिष्यामः। येति प्रातिपदिकनिर्देशः। गत्यर्थानां नयेन यो ज्ञानं समुद्दिष्टमिति यतस्ततः पूर्णानन्ददृशिरर्थः। संश्चासौ उत्तमः पूर्णः त् आनन्दं यो ज्ञानं च तत् व्रतयति प्रवर्तयतीति व्रतं सत्यं

पूर्णानन्दज्ञानं व्रतं यस्य स तं यतो नित्यं हरेस्ततो विष्णुः सत्यव्रतस्तच्छब्दवाच्य इत्यर्थः। ततश्चान्तर्णीतण्यर्थाद्वृतु वर्तन इत्यस्मात्कर्तर्यप्रत्यये धातोश्चागमे यणादेशे व्रतम्। वृणोतेर्वा सत्यमुक्तम्। रूपं वृणोति स तथा तं वा। सत्यपरमिति विवृणोति ॥ सद्भूतेति। भूतत्रयं सदित्युच्यते। सन्नामकं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतत्सदिति श्रुतेः पृथिव्यप्तेजोरूपं त्यं तदन्यद्वाय्वन्तरिक्षाख्यमिति पञ्चभूतात्मा पदार्थः सत्यपदाभ्यां लभ्यते। यस्मात्परं विलक्षणमिति त्यं तदन्यत्समुद्दिष्टं ताभ्यां परस्तत्परः सत्यपर इत्युच्यत इत्यर्थः। त्रिसत्यशब्दार्थमाह। वेदेति। त्रिभिर्वेदैरृग्गादिभिः सद्यते गम्यते ज्ञायत इति त्रिसत्यः। मत्वाज्जश्त्वाभावः। अथर्ववेदविभागोऽल्पीयानिति तदनुक्तिरित्येके। त्रयश्च वेदा ऋग्यजुरथर्वणास्तैः साम्नो ऋच्यध्यारूढताम्नानात्तदुक्तौ तदुक्तिरिति केचित्। त्रिभिरृग्यजुरथर्वभिः सत्ता तत्त्रिकोत्तमेन साम्ना चेत्याहत्य चतुर्भिर्योज्यते ज्ञायत इति सत्य इत्यपरे। वेदानां सामवेदोऽस्मीत्यादेः। असाधारण्येन सर्वत्रापि मुख्यप्रतिपाद्यत्वं ज्ञेयमिति मुख्यार्थरूपत्वादित्युक्तिः। गुह्यदर्शनभाषे च भाषा चैव समाधिका। तिस्रस्तु मूलभाषाः स्युरित्येकादशतात्पर्योक्तेस्तिस्रो भाषा सत्यो यत्र स वेदश्चतुरात्मा तेन याप्यत इति त्रिसत्य इति वा। सत्यस्य सत्यमित्यर्थापयति। सत्यस्य चेति। सन्तो उत्तमौ त्यौ यस्मात्सत्य इति विग्रहे नार्शं आद्यजायास इति ज्ञेयम्। स ये निहित इति पदार्थमाह। सत्यस्थ इति। सत्यं चोक्तरूपः प्रपञ्च इति प्रपञ्चयति। जगत्स्थितेरिति। सत्ये निहित इत्यभिहित इत्यर्थः। व्युत्क्रमेण व्याकरणं तद्गुणाभेदज्ञापनार्थमिति ज्ञेयम्। विष्णुः सत्यं नेतेति नेत्रः। सत्यं चोक्तं जगत्। नीङ् प्रापणे दाम्नीति ष्ट्रन्। नेत्रो नेतरि भेद्यवदिति विश्वः। सत्यस्यात्तृत्वात्तस्यैवादानादिकर्तृत्वाच्च सत्यस्या मैव सत्यात्मकस्तमित्याह। अत्तत्वाच्चेति। आङ्पूर्वाद्द भक्षणे तथा तत्पूर्वादेव डुदाञ् दान इत्यस्माच्च कर्तरि ङ्वुत्प्रत्यये टिलोपे चर्वे चात्मनि ज्ञेयम्। ततश्चायं श्लोकार्थः। धराज्वरज्वरणाय धरोपरि चरितुमवतारमनधरास्यन्दमीरितां गिरं ताम्रुतीचकार कारुणिकशिरोमणिरिति तच्छब्दापुरस्करणेन तथा सत्यं ज्ञानमनन्तमिति श्रुतौ प्राथमिकतया तत्कीर्तनात्तामनुसंरब्ध सरसिजः स्वस्य तत्सनामलोकप्रदत्वोपाधिनाऽपि स्तौति। सत्यव्रतमिति। पूर्णज्ञानानन्दरूपं पञ्चमहाभूतभिन्नं वेदमुख्यवेदनीयं सत्यस्य प्रपञ्चस्य सत्यं जगति स्थितं सत्यस्य योनिमबाधितप्रपञ्चस्य कारणम्। तात्पर्ये सत्यशब्दार्थो व्याख्यातो बहुत्र योनिशब्दश्च सुमिलार्थ इति मन्तव्यम्। उत्तमानन्दज्ञानप्रदमुतापि च जगन्नियामकं लवलये जगदादकं तथा तदादानादिकर्तारं यः क्रमात्सत्यत्वादिशब्दबोध्यस्तं त्वां वयं शरणं प्रपन्नाः स्म इति। इह बहुधा विवरीतुं शक्यं श्लोके विचिन्त्यमत्येति। विस्तराद्वतो विरतं किञ्चाचार्यैरचारि नोत्कोचः ॥ २७ ॥ एकायनोऽसाविति श्लोकेऽनेकपदार्थाः सङ्केतेन कीर्तितास्ते क इत्यतस्तत्समाख्यारूपं तन्त्रभागवतवचनमुदाहृत्य तान्दर्शयति ॥ जगदिति। जगद्वृक्षेति यज्जगाद तेनादिवृक्षपदं विवृतं ज्ञेयम्। एषा प्रकृतिश्चिदचिद्रूपिण्येकाऽऽयनमाश्रयो यस्य स तथा गुणत्रयमवान्तरमूलं यस्य सः। अनेन त्रिमूल इति विवृतम्। मात्राः शब्दादिपञ्चकं शिफा जटाः। शिफा जटायामिति विश्वः। तस्य जगन्नगस्योत्पत्तुमिच्छतीत्युत्पित्सुः सनाशंसेत्युस्तस्या भाव उत्पित्सुखं जननं तदेवादिर्येषां ते जन्मसत्तापरिणामवृद्ध्यपक्षयविनाशाः षट्प्रकारा विकारास्तानाप्नोतीति षडात्मा। साम्याद्युभयत्र रूपकानुपन्यसनम्। अष्टौ विटपानाह। विटपा इति। देवा गन्धर्वा दानवा राक्षसाः पिशाचास्तिर्यञ्चो मानुषस्तस्थुट्शब्दोऽयं तस्थुषाः स्थावराः सुपां सुपो भवतीति जसः शसा दशेन्द्रियाण्येव पत्राणि द्वाशब्दोयं नवामक्षिद्विकं कर्णद्वयं नासापुटिकाद्विकं मुखं पायूपस्थे चेति। गोलकरूपद्वार एव द्वारः कोटरादयः स्मृताः। सप्त त्वक्चर्ममांसरुधिरभेदोमज्जाऽस्थीन्येकत्रापरत्र प्रसिद्धास्त्वच इति प्रसिद्धेर्मानेऽनुक्तिः। द्विफल इत्यर्थापयति। प्रवृत्तं च निवृत्तं चेति। चतू रस इत्यस्यार्थमाह। धर्मोदय इति। ते त्रयो रसाः प्रवृत्तफलरूपाः। तुर्विशेषमेकस्मिन्रसे द्योतयति। तमेवाह। मोक्षेति। उर्वरितैकफलस्यैकं निवृत्तं कर्म तस्य फलं मोक्षे रस इति। द्विखग इत्यत्र द्विशब्दो द्विधार्थक इत्याह। प्रवृत्ताः प्रवृत्तकर्मिणः एवं निवृत्ताश्च ते खगाः पक्षिणो मताः सम्मताः। आदिवृक्ष इत्यनेनादितो विद्यमान इत्युक्तं स्यात्। तच्च यथायथं प्रत्यक्षादिलक्षितक्षयकस्य तस्यानित्यताध्यवसायाद्बाधितमित्यतस्तदादित एवंरूपिणीति निरूपयन्मानमाह। कारणस्येति। प्रकृत्यादेः कारणस्य सदा सत्वात्तत्कार्यस्यानित्यप्रपञ्चस्य प्रवाहेण धाता यथा पूर्वमकल्पयदित्यादेः प्रवाहरूपेणासौ जगन्नगः कदाचिन्न न भूतो नावतिष्ठे न न भविष्यति चातः स्वतः स्वरूपेण प्रकृतिः सूक्ष्मादिः परतः प्रवाहतो वाऽयं जगत्तरुः सदा सन्। अस्योभयविधस्यापि प्रपञ्चस्य सर्गादिकृत् कस्यचिदुपचितिमपचितिं कस्यचिद्यथायथमुत्पत्तिनिवृत्ती च करोतीति स तथा। तस्य कर्ताऽपि वर्तेत चेद्विशेषोऽयं किमवसेय इत्यत आह ॥ सदानन्दैकरूपक इति ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ एका प्रकृतिरयनं मुख्याश्रयो यस्य स तथा। अवान्तरमूलमालपति ॥ त्रिमूल इति। गुणत्रयरूपमूलवान् द्विफलः प्रवृत्तनिवृत्तरूपफलद्वयवान्। फलं चेद्रसेन भाव्यं स क इत्यतस्तानाह ॥ चतूरस इति। रसाः प्रवृत्तकर्मफलरसा धर्मोद्यास्त्रयो निवृत्तफलरसस्तु मोक्ष एवमाहास्य रसाश्चत्वारः। चतूरस इति ढ्लोपदीर्घः। पञ्चशिफः पञ्चसङ्ख्या शब्दाद्याः शिफा जटा यस्य स षडात्मा षड्विकार आत्मा कायः संस्थानविशेषो यस्य स तानाप्नोतीत्यात्मा वा। सप्तत्वक् सप्त त्वक्चर्ममांसादयस्त्वचो यस्य सोऽष्टविटपोऽष्टौ विटपा देवगन्धर्वादिभेदाः शाखा यस्य सः। नवाक्षाणीन्द्रियगोलकानि द्वारभूतानि। इतरत्राक्षा आधारप्रदेशा यस्य अक्षो रथाङ्ग आरे व्यवहारे विभीतके शकटे पाशके कर्षे द्यूतभेदेऽक्षमिन्द्रिय इति यादवः। पुरमेकादशद्वारमिति काठकोपनिषदुक्तेः कथमत्र नवद्वारमिति कथितमिति चेन्न। नाभिशिरोरूपद्वारयोरद्रवद्वारत्वेन तद्वित्वाऽविवक्षणान्नवेत्युक्तिः। अत एवैकादशस्कन्धे क्षरन्नवद्वारमगारमेतदित्युक्तिरिति ज्ञेयम्। सप्त वैशीर्षण्याः प्राणा अर्वाग्द्वे इत्यादेर्नव द्वारे पुर इत्यादेश्च। दशेन्द्रियाण्येव छदाः पत्राण्यस्य सन्तीति दशच्छदी। द्विखगः प्रवृत्तकर्मिणो निवृत्तकर्मिणश्चेति द्विविधाः खगाः। खं सुखं सुलोपे खं दुःखमित्यर्थः। गतिस्तु पूर्व-

मुक्तेति वा। उपलक्षणया दुःखं च गच्छन्तीति ते तथेति चार्थः। आदिवृक्षः स्वतः परतो वा सदा सन् जगन्नगोऽस्य चोत्तरेणान्वयः। हीति मानसिद्धतामाह ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं पूर्वाध्याये महद्दुःखेन भगवच्चिन्तनमर्थादुक्तम्। कंसादीनामत्र। ब्रह्मादीनां वक्तुं स्तुतिलक्षणमाख्यानमाह **ब्रह्मा** ति। अनेन सामान्यतः सर्वेषां निरोधोऽप्युक्तः। भगवदागमनं सर्वेषामेव ज्ञातमभूदिति वक्तुं कंसादिगणनाभावाय च देवकीगृहे समागमनमुच्यते। **ब्रह्मा**। **भवो** महादेवः। चकरादन्येऽपि गुणाभिमानिनो देवाः। अवताराश्च वामनादय इत्येके। मुनयः सनकादयः। नारदादयो भक्ताः। देवा इन्द्रादयः। अनुचरा गन्धर्वादयः। **सर्वैः** सह। **गीर्भिः** स्वानुकूलवाणीभिः। वृषणं कामवर्षिणं वृषं धर्मं वा नयतीति। **ईडतुर्ब्रह्मभवयोरेव** मुख्यत्वात्। ऐडयन्निति पाठे सहोक्तानामपि कर्तृत्वेन ग्रहणम् ॥ २५ ॥

> कालात्मा भगवाञ्जात इति ज्ञापयितुं तथा। कलाभिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः ॥ १ ॥
> पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवानां हितकारिणी। ध्रुवा तु षोडशी प्रोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत् ॥ २ ॥

अत्र पञ्चदशभिर्भगवत्स्तोत्रमेकेन देवक्याः सान्त्वनम्। कालः पञ्चदशात्मा भवति। स एवावतीर्ण इति तैर्ज्ञातः। स द्विविधो भवति। दैत्यानां हितकार्यपि पञ्चदशः। देवानामपि। साधारणस्तु त्रिंशदात्मको भवतीति स्वपक्षपात्येव भगवानर्धेन निरूप्यते। स च पक्षपातः कालकृतश्चतुर्धा भवति। लोककृतः। स्मृतिकृतः। स्मृतिर्हि लोकवेदात्मिका भवति। वेदकृतस्तृतीयः। भगवन्मार्गकृतश्चतुर्थः चतुर्विधोऽपि प्रमाणप्रमेयसाधनफलैश्चतुर्धा। दैत्यकृतात् तस्य विशेषं वक्तुं तथोच्यते।

तत्र प्रथमं चतुर्भिः श्लोकैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलान्युच्यन्ते। तत्र लोकसिद्धानि देवपक्षपातरूपाणि निरूप्यन्ते। लोके सत्यमेव प्रमाणम्। परिदृश्यमानं जगदेव प्रमेयम्। गुणाभिमानिनो देवा एव साधनानि। क्षेम एव फलम्। तत्रापि दैत्यपक्षव्यतिरेकश्च साधनीयः।

तत्र प्रथमं देवानां सत्यं दैत्यानामनृतं प्रमाणम्। अतः सत्यरूपो भगवानवतीर्ण इति निरूप्यते। सत्यमपि देवानां हितकार्यष्टविधं भवति। अंशतः षोडशविधम्। वेदे सत्यं पञ्चविधं निरूपितं 'सत्यं पर'मित्यत्र 'प्राजापत्यो हारुणि'रित्यत्रापि। यत् सत्यं तत् परं सर्वेभ्य उत्कृष्टम्। यद्वा सर्वोत्कृष्टं तत् सत्यम्। एवं सत्यत्वसर्वोत्कृष्टत्वयोरैक्यं प्रतिपादनीयम्। अत्र एव सत्येन स्वर्गाल्लोकाच्च्युतिः कदापि न भवतीत्यामुष्मिकफलोत्कर्ष उक्तः। ऐहिकेऽपि सतां सत्यमेव मूलं फलम्। अतः सत्यं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपमिति ये देवपक्षपातिनस्ते सत्य एव रमन्ते। तथा च श्रुतिः "सत्यं परं पर꣡ँ सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सता꣡ँ हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्त" इति तदत्रापि निरूप्यते।

लोके हि व्रतमुत्कृष्टम्। यस्तु यत् किञ्चन व्रतमातिष्ठति स पर इत्युच्यते सत्यमपि। भगवतस्तूभयं सत्यम्। सत्यमेव व्रतं यस्य। तादृशं त्वां शरणं प्रपन्न इतिसम्बन्धः। एवं व्रतसत्ययोरैक्यमुक्तम्। उभयोः परत्वात्।

अतः परं यत् परं लोके वेदे च द्वादशविधं निरूपितं 'सत्यं तपो दमः शमो दानं धर्मः प्रजननमग्नयोग्निहोत्रं यज्ञो मौनं सन्न्यास'श्चेति तत् सर्वं भगवतः सत्यमेव। यथार्थमेव। न तु दैत्यानामिव तद् द्वादशविधमयथार्थम्। अत्र श्रुतिरनुसन्धेया पूर्वनिर्दिष्टा भगवतो व्रतानि "कौन्तेय प्रतिजानीहि" "द्विःशरं नाभिसन्धत्ते" "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" "साधवो हृदयं मह्य"मित्यादिवाक्यैः प्रतिपादितानि। लोकानुसारेण देवहितकारिणो नियामकं सत्यमेव। अन्यथा ईश्वरः केन नियमितः स्यात्? यथा प्रकृते स्वसत्यवाक्यादेव समागतः।

लोके हि त्रयो लोकास्त्रय आत्मानो भूरादयः कायादयश्च। त उभयेऽपि त्रिशब्देनोच्यन्ते। त्रयोऽपि सत्या यस्य। अनेन साधनफले एकीकृत्य निरूपिते। एवं चतुर्धाष्टविधो निरूपित उपपत्तिरूपः।

उत्पत्तिरूपमष्टविधं निरूपयति सत्यस्य योनिमित्यादि। यत् पूर्वमष्टविधं **सत्यमुक्तं** तस्य सर्वस्यापि **योनिः** कारणं भगवानेव कालात्मा। 'श्वो दास्यामी'त्युक्ते यदि श्वो न भवेद् वागसत्यैव स्यात्। एवं सर्वत्र।

न केवलं सत्यस्योत्पादकं किन्तु सत्यस्य रक्षकमपि। तदाह **निहितं च सत्य** इति। सत्ये नितरां हितः रक्षकः। स्वयं तत्र स्थित एव रक्षां करोतीति निहितपदसमुदायार्थोऽपि। एवं सत्ये स्थित्वा सत्यं पालयतीत्यर्थः। अनेन सत्यस्योत्पत्तिविचारे प्रमेयं साधनं चोक्तम्। इतरावाद्यन्तयोः। चकार इममेवार्थमाह।

सत्यस्य प्रलयोऽप्यत्रैवेत्याह **सत्यस्य सत्यमिति** यथा 'पूर्णस्य पूर्णमादाये'ति। सत्यं सत्य एव स्वाधिदैविके लीयते। सत्य एव प्रतिष्ठितम्। सत्यं फलम्। तच्चाधिदैविकं सत्यं भगवानेव। अनेन यो भगवति प्रतिष्ठितः स सत्यः। यः सत्ये स सत्यद्वारा भगवति प्रतिष्ठितो भविष्यतीत्युक्तम्। एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रसङ्गे पञ्चविधं सत्यमुक्तम्। एतावता त्रयोदशधा क्रियाशक्तिः सत्यत्वेन निरूपिता।

ज्ञानशक्तिं सत्यत्वेन निरूपयति ऋतसत्ये नेत्रे यस्येति। ज्ञानशक्तिर्द्विविधा प्रमाणवलेन प्रमेयवलेन च प्रमाणं वेदः। प्रमेयं भगवद्धर्माः। ऋतं सूनृता वाणी। वेदः सत्यप्रतिपादकः। अतः सत्यनिरूपणप्रस्तावेप्यृतनिरूपणम्। ऋतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति भगवत्प्राप्तिर्द्विधा भवतीत्युक्तम्।

एवं शक्तिद्वयं सत्यत्वेन निरूप्य धर्मिणं सत्यत्वेन निरूपयन्ति सत्यात्मकमिति। सत्यमेवात्मा स्वरूपं यस्य। यः सर्वानेव धर्मान् व्याप्य तिष्ठति स आत्मा। स सत्यमवाधितं भगवतः सद्रूपम्। स्वार्थे कः। कं। फलं वा। सत्यमात्मा कं सुखं च यस्य। सच्चिदानन्दरूपो भगवान्। चिदानन्दयोरपि सत्यरूपतेति तथोक्तम्। तादृशे च जीवैः कर्तव्यं शरणगमनमेव। प्रपन्ना इतिवहुवचनं सर्वेषामेव देवानां सत्यतया संरक्षार्थम्॥ २६॥

एवं प्रमाणरूपतामुक्त्वा प्रमेयरूपतामाह एकायन इति। इदं जगद् ब्रह्माण्डात्मकं वृक्षत्वेन निरूप्यते "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व"मितिश्रुतेर्भगवान् वृक्षरूपः। तस्माज् जायमानं जगदपि वृक्षात्मकमेव भवति। अनेन भगवतो महत्त्वं निरूपितम्। यथाश्वत्थादिवृक्ष एकस्मिन् कोटिशः फलानि भवन्ति। सोपि तादृश एव। एवमनादिनिधनो वृक्षो भगवान्। अत एव क्वचिद् ब्रह्माण्डनिर्माणं भगवत एव भवति। क्वचित् तत्त्वद्वारा। अक्षरमत्र फलम्। तस्य तत्त्वान्यंशाः। बीजं ब्रह्माण्डमिति। शकुनिभक्षितमेव ततो निर्गतं फलतीति तत्त्वानां चेतनरूपता निरूपिता। तत्र दैत्यादिकल्पे बहुबीजयुक्तादपि फलादेको वृक्ष उत्पद्यते। अत एव वाह्यादिशास्त्रेषु परमाणुभ्यो बहुभ्य एककार्योत्पत्तिर्निरूपिता। पिप्पलादयोपि काकविष्टातो जाता बहुभ्य एकं भवतीत्यध्यवसीयते तद्व्यावृत्त्यर्थमाहैकमेवायनं यस्येति। अण्डं प्रकृतिरक्षरं वा। काल इत्यन्ये। अनेनायमादिरूपः सद्वृक्ष उक्तः। अतोसाविति। परिदृश्यमानः प्रपञ्चः द्विफलः। द्वे फले यस्य। सुखदुःखेस्य फले। दैत्यानां तु दुःखमेव फलम्। ते फले नरकस्वर्गवाच्ये। नराणां कं सुखं विषयात्मकम्। स्वस्वरूपं गच्छतीति स्वर्गः। सृष्ट्यन्तरे सर्वे विषयिण इत्यत्र तु द्विविधा अपि। त्रयो गुणाः सत्त्वादयो मूलान्यधःप्ररोहा यस्य। अत्र त्रिविधान्यपि कर्माणि भवन्ति। अन्यत्र तामसान्येव। क्वचिद् वा राजसानि। सात्त्विकानि तु न भवन्त्येव। चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा रसा यस्य। अन्यत्रार्थकामावेव। पञ्च कर्माणि विधाः प्रकारा यस्य। तानि पञ्चेन्द्रियजन्यान्यप्युत्क्षेपणापक्षेपणप्रसारणाकुञ्चनगमनात्मकानि भवन्ति। अन्यत्रोत्क्षेपणाभावः। अथवान्नमयादयः पञ्च। "स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मे" तिश्रुतेः। ब्रह्माण्डविग्रहोपि तथा। अन्यत्र नानन्दः। षडात्मानो यस्य। षडिन्द्रियाण्यात्मत्वेन निरूपितानि। "अयमात्मा विज्ञानमयः" ज्ञानं च षड्विधमुत्पत्त्या भिन्नम्। सप्त त्वगादयस्त्वचो वल्कलादीनि यस्य! अष्ट प्रकृतयो विटपाः शाखा यस्य। "भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे" ति। नव देहच्छिद्राणि नवाक्षा यस्य। दश प्राणश्छदानि यत्र। द्वौ जीवान्तर्यामिणौ खगौ यत्र। एतस्माद् वैलक्षण्यमन्यत्र ज्ञातव्यम्। हीति सर्वत्र युक्तयः सन्तीति ज्ञापितम्। आदिवृक्ष इति समष्टिरूपः। एवं प्रमेयं निरूपितं भगवदात्मकम्॥ २७॥

अत्रोपपत्तिं वदन् साधनरूपमाह त्वमेक एवास्येति। अस्य जगतः सतः सद्रूपस्य। अनेन मायावादादिपक्षा निराकृताः। ते हि वैनाशिकाः। "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर" मितिवाक्यात् तेषामेव मतेस्य जगतोसत्यत्वम्। अन्यथासतोज्ञानकार्यस्य कर्ता भगवान् को वा स्यात् तस्य सर्वस्यापि सद्रूपस्य त्वमेव प्रसूतिरुत्पत्तिस्थानम्। प्रकर्षेण सूतिर्यस्मादिति। प्रसूतिपदेन पितराविवोत्पादकत्वं सूचितम्। त्वमेव सम्यग् निधीयतेस्मिन्निति सन्निधानं लयस्थानम्। त्वमेवानुगृह्यतेनेनेति पालकः। अत उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता त्वमेव। अन्यथाक्रमेणैवं सूचियति भगवद्रक्षितो न नश्यतीति। नन्वेते गुणाभिमानिन एव ब्रह्मादय उत्पत्त्यादावधिकारिणो नाहमित्याशङ्क्याहुस्त्वन्माययेति। ये त्वन्मायया संवृतं सङ्कुचितं चेतो मतिर्येषां ते त्वां नाना पश्यन्ति न तु विपश्चितः। त एव भगवन्तं परिच्छिन्नं जानन्ति ये तस्यैव मायासङ्कुचिता भवन्ति। अल्पेन हि ग्राहकेणाल्पमेव गृह्यते। सर्ववस्तुग्रहणार्थं चित्तं पुष्कलमेव भगवत्सृष्टम्। मायया सङ्कोचाभावे कथं परिच्छिन्नं गृह्णीयात्? अत एव त्वां नाना पश्यन्ति। परिच्छिन्नया दृष्ट्या गृहीतो देशो भिन्नतया स्वीक्रियत इति मायामोहः। अत एव ये विपश्चितस्ते ब्रह्मादीन् परस्परविलक्षणान् पश्यन्तोपि तत्तत्कार्यानुरोधेन तथाविधं त्वामेव मन्यन्ते न तु भिन्नं पश्यन्ति। य इत्यन्ते तेषां माहात्म्यनिरूपणार्थं निर्देशः। अनेन सृष्टिस्थानां गुणैर्भिन्नानां स्वकार्यसिद्ध्यर्थमेत एव यथारुचि भगवद्रूपाः सेव्या इतिसाधनमुक्तम्॥ २८॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अष्टविधं भवतीत्यादि। अष्टविधत्वञ्चाग्रे स्पष्टीभविष्यति। यत् सत्यं तत् परमित्यादि वक्ष्यमाणश्रुत्यर्थनिरूपकमिति ज्ञेयम्। यद्वा सर्वोत्कृष्टमित्यत्र वाशब्द एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे। श्रुताविव स्तुतावप्येतयोरैक्यं प्रतिपादनीयमित्यतिदिशन्त्येवं सत्यत्वेत्यादिना। लोके हि व्रतमुत्कृष्टमिति यदुक्तं तत्रोपपत्तिर्यस्त्वित्यादिनोच्यते। तथा च लोके व्रतं सत्यं चेति द्विविधं सत्यं निरूपितं भवति। मूले व्रतपदेनैतदुभयप्राप्तौ हेतुमाहुरुभयोः परत्वादिति। सत्यव्रतमित्यनेन 'सत्यं पर'मिति श्रुतिस्थपरस्यार्थ उक्तो भवति। तेन लोके सत्यं व्रतञ्चेतिद्वैविध्यम्। अग्रे 'पर' सत्य'मितिश्रुत्यर्थनिरूपकं सत्यं परमितिपदं व्याकुर्वन्त्यतः परमिति। अत्रापि लोके लौकिकं नियामकं वैदिकं द्वादशविधञ्चेतिद्वैविध्यम्। भगवतो व्रतं लोकानुसारेण देवहितकारिणो नियामकञ्चेतिद्वैविध्यम्। त्रिसत्यमितिपदार्थे भूरादित्रयं कायादित्रयमितिद्वैविध्यम्। एवमष्टविधत्वं सत्यस्य। भगवतः कालरूपस्य

यदि सत्यरूपत्वं न स्यात् तदा लोके व्रतादिकं नियामकञ्च वैदिकञ्च द्वादशविधं भगवद्व्रतानि च लोकाश्चात्मादयश्च न स्युरित्युपपत्तिरूपत्वम्। व्रतं ह्युपोषणादिरूपमहोरात्रादिसाध्यं सत्यमपि तप्ततैलादिष्वप्यदाहोद्युत्कटपापेल्पेनैव कालेनानिष्टमनुत्कटे चिरेणेत्यादि। अन्यत् स्पष्टम्। लौकिकमुक्तद्वा। दशविधं वैदिकञ्चेति द्विविधम्। भगवदीयं व्रतं नियामकञ्चेतिद्विविधम्। **लोका भूर्भुवःस्वर्लक्षणाः आत्मानः** कायजीवपरमात्मानः। लोकाः फलरूपाः। इतरे त्वितराणि। इदञ्च द्विविधम्। एवमष्टविधत्वं सत्यस्योक्तभेदेन पदद्वये विधेयभेदेन द्वैविध्यं त्रयश्च द्विविधमेवञ्चतुर्विधत्वम्। **इतरावि**ति। प्रमाणफललक्षणावित्यर्थः। **आद्यन्तयो**रिति। सत्यात्मकमित्यान्तिमेन पदेन फलमेतस्मादाद्येन 'ऋतसत्यनेत्र'मित्यनेन **प्रमाण**मित्यर्थः। भगवत्स्वरूपज्ञानशक्त्योः फलत्वप्रमाणत्वे प्रसिद्धे। अथवा **सत्यस्य योनि**मित्यनेन प्रमाणम्। **सत्यस्य सत्य**मित्यनेन फलम्। 'मानाधीना मेयसिद्धि'रिति कारणान्तःपाति मानमिति तथा। पूर्वमज्ञस्य ज्ञानेन विषयस्वरूपमपि तदैव सिद्धं भूतमिति यतो भातम्। एवं फलं विवृतावेव स्फुटं **सत्य एवे**त्यादिना। प्रमाणादिचतूरूपं भगवति प्रतिष्ठितं चेति पञ्चविधम्। पूर्वोक्तमष्टविधमेतत् पञ्चविधं चेति त्रयोदशधा। अग्रे ज्ञानशक्तिद्वयं धर्मो चेति षोडशधा ॥ २६ ॥

इदं श्रीमत्कल्याणरायाणाम्।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

टिप्पण्यां–तेन लोके सत्यं व्रतं चेत्यारभ्य धर्मो चेति षोडशधेत्यन्ते ग्रन्थे सत्यं विविच्यते। लोके सत्यं वचनम्। व्रतमेकादश्याद्युपोषणादिरूपम्, लोके लौकिकं नियामकं सत्यं तप्ततैलादौ शपथरूपम्। वैदिकं द्वादशविधम्। भगवतो व्रतानि 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' 'द्विःशर'मित्यादिना निरूपितानि। लोकानुसारेण देवहितकारिणो नियामकं भगवतो भगवद्वचनसत्यत्वम्। भूरादित्रयम्, कायादित्रयम्। इदमष्टविधं सत्यम्। लोके व्रतं शपथरूपं च सत्यमुक्तद्वादशविधं वैदिकं चेति द्विविधम्, लोके सत्यवचनम्। व्रतमेकादश्यादि तप्ततैलादौ शपथरूपं सत्यं चेदं त्रयं लौकिकत्वेनैकविधमुक्तद्वादशविधं वैदिकत्वेनैकविधमिदं द्विविधमपि परत्वेनैकम्, शपथस्य नियामकत्वेनान्येषामुत्कृष्टत्वेन च परत्वात्। भगवतो व्रतं नियामकं भगवद्वचनं चेति द्विविधं, भगवद्धर्मत्वेनैकम्। भूरादयः फलरूपाः। कायादयः साधनानि। भूरादीनां फलत्वेन कायादीनां साधनत्वेन वैक्यम्। इदं चतुर्विधं सत्यं, प्रमाणरूपं सत्यं वेदो भगवद्धर्माः प्रमेयरूपं सत्यं सत्यस्य कारणरूपो भगवान् साधनरूपं सत्यं सत्ये स्थितः सत्यरक्षको भगवान्। फलरूपं सत्यं सत्यस्य लयस्थानमाधिदैविकसत्यरूपो भगवान्। भगवति प्रतिष्ठितं वस्तु सत्यं चैतदुभयं फलितसत्यत्वेन पञ्चमं सत्यम्। इदं पञ्चविधं सत्यम्। सत्यत्वेन परत्वेन साधनत्वेन ऐहिकफलमूलत्वात् फलत्वेन रमणादिकरणत्वेनेतिप्रकारैः पञ्चविधं सत्यं वेदे निरूपितम्। तदष्टविध एव प्रविशति। पूर्वोक्तमष्टविधप्रमाणादिरूपं पञ्चविधं चेति त्रयोदशधा। इदं त्रयोदशधा ज्ञानशक्तिद्वयं वेदो भगवद्धर्माश्च धर्मी चेति षोडशधा। वेदे भगवद्धर्माणां प्रमापकत्वात् प्रमाणत्वोपाधिना क्रियाशक्तिरूपं पञ्चविधसत्यमध्ये प्रवेशेऽपि द्रुतं भगवत्साक्षात्कारसाधकत्वेन तज्ज्ञानशक्तित्वेनापि निरूपणं न दोषाय, सर्वत्रोपाधिभेदेन भेदात्। इति सत्यविवरणम् ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

सत्यव्रतमित्यत्र–स्तुतिश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं वदन्तो निबन्धे 'सङ्कर्षणोत्पत्तिर्द्वितीयाध्यायार्थो दैत्यवधार्थत्वस्य स्फुटत्वा'-दिति यदुक्तं तदत्र 'प्राहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहा'मित्यनेन कंसस्यापि ज्ञानकथनाद् यथा सुस्फुटं तथा स्वरक्षकत्वेन देवानां ज्ञानादपीति ज्ञापयितुमाहुः **कालात्मे**त्यादि। **भगवान्** पुरुषोत्तमः प्रश्नोपनिषदि 'षोडशकल' इति श्रवणात् **कलाभिः षोडशभिः कालात्मा जात इति ज्ञापयितु तथास्तुतिः**। षोडशभिः स्तुतिरित्यर्थः। तत्र प्रकारमाहुः **स्वपक्षख्यापकैः** पञ्चदश**भि**र्ह्यथा देवानां हितकारिणी पक्षपातस्तुतिः **षोडशो तु ध्रुवा भक्तहितकारिणी** स्वाभाविकत्वान्निश्चलेति। ननु भवत्वेवं तथापि षोडशकत्वेन कथं कालावगम इत्यत आहु**र्वृद्धो वा तादृशो भवेदि**ति। **वा**शब्दोवधारणे। तथा च वृद्ध्या तदवगम इत्यर्थः। तदेव स्फुटीकुर्वन्त्य**त्रे**त्यादिना। तथा च स्तुतिसान्त्वनश्लोके 'परः पुमा'नित्यादिकथनात् षोडशानामपि भगवत्स्तुतित्वमेव। यदि च पुरुषोत्तमस्य गर्भसम्बन्धाभावान्नैतेषां साक्षात्पुरुषोत्तमस्तुतित्वं तदा तु षोडशभिः कालात्मकस्यैव स्तुतिरिति सिध्यति। तत्र पञ्चदशभिः कालात्मकस्तुतिं व्युत्पादयन्ति **काल इत्याद्यर्धेन निरूप्यत** इत्यन्तम्। **अर्धे**नेति त्रिंशदर्धेन। तर्हि षोडशभिः कथं स्तुतिरित्यतस्तामुपपादयन्ति **स चेति**। **चो**वधारणे। **स** इति। षोडशभिः श्लोकैरुक्तः। तेनेदं सिध्यति। आध्यात्मिके द्वापरादिरूपे काले विपक्षे सति तत्कार्यप्रतिबन्धार्थं कृपया भगवानाधिदैविककालरूपो भवंस्तदंशैर्लोकादिभिर्लोकादिविभाजकप्रमाणाद्युपाधिभिश्च **पक्षपाती जात इति**। एवं षोडशधा विभागमुपपाद्य तत्प्रयोजनमाहु**र्दैत्यकृता**दिति। दैत्येषु कृतादुपकारात् स्वपक्षपातस्याधिक्यं **वक्तुमत्र षोडशधोच्यत** इत्यर्थः। **लोकक्कतं** चातुर्विध्यं विभजन्ते **तत्रे**त्यादि। एतस्यैव विवरणं **लोक**सिद्धानीत्यादि। **सत्य**मिति। **सत्यभाषणं तद्विषयश्च यथार्थः**। **साधनानी**ति। जगदुत्पत्त्यादिसाधनानि। एतावदेव दैत्यपक्षेपि तुल्यम्। अथ देवपक्षे विशेषं वक्तुमाहु**स्तत्रापी**त्यादि। लोके प्रमाणादावपि **दैत्यपक्षव्यतिरेकश्च दैत्यपक्षवैलक्षण्यञ्च** भगवत्त्वेनैव सत्यं प्रमाणं भगवत्त्वेनैव

जगत् प्रमेयमित्यादिरूपेण साधनीयमित्यर्थः। एवं प्रतिज्ञाय प्रथमतः प्रमाणमाहुस्तत्रेत्यादि। सत्यमिति। सात्त्विकज्ञानविषयं कालत्रयेऽप्यबाधितम्। अनृतमिति। राजसज्ञानविषयं व्यावहारिकं गुणसन्निपातकार्यम्। अत इति। देवपक्षपातात्। एतेन मायोपहितो गुणाधीनः कार्येश्वरश्चानृतरूपो निवारितः। एवं श्लोकतात्पर्यमुक्त्वा तत्र स्थितानामष्टविशेषणानां तात्पर्यमाहुः सत्यमपीति। अष्टविधत्वादिकं कथमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहुरष्टविधत्वमित्यादि। अग्र इति। विशेषणत्रयव्याख्यानोत्तरमष्टविधत्वं चकारात् "सत्यस्य सत्य"मित्यस्य व्याख्यानोत्तरं प्रमाणादिचतूरूपमित्यादिना त्रयोदशविध वत्रिविधत्वाभ्यां षोडशविधत्वञ्च स्फुटीभविष्यतीत्यर्थः। तेनैकस्मिन् विशेषणे प्रत्येकं विधाद्वयमित्येवं षोडशविधत्वं नोच्यते किन्तु प्रकारान्तरेणेति सूक्ष्मेक्षिकयांशतः-षोडशविधमित्यनेनोपपत्त्युत्पत्तिरूपाभ्यां स्फुटीभविष्यतीति बोधितं ज्ञेयम्। न च पुरःस्फूर्तिकमष्टविधत्वं विहाय षोडशविधत्वनिरूपणे कुत आग्रह इति शङ्क्यम्। स्तुतौ सत्यविधावबोधकानां श्रौतानां पदानां प्रत्यभिज्ञानेन तत्सामानाधिकरण्यबोधनार्थत्वात्। एतद्-बोधनार्थमेव सुबोधिन्यां वेदे सत्यमित्यादिना श्रुतितात्पर्यमुक्तं श्रुतिद्वयं च यदुपन्यस्तं तद् व्याख्यानग्रन्थ एवाग्रे स्फुटीभविष्यति। अतस्तत्तात्पर्यमनुक्त्वा यत् सत्यमित्यादेस्तात्पर्यमाहुर्यत् सत्यमित्यादि वाक्यालङ्कार इत्यन्तम्। एतत्कथनप्रयोजनमाहुः श्रुताविन्त्यादिना। तथा च यथा 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी' तिजाबालश्रुतौ प्रत्यक्पराग्वित्तिवेद्ययोस्त्वमहम्पदार्थयोर्व्यतिहारेण भगवत्त्वाद्यैक्यं प्रतिपादितं तथास्यामपि श्रुतौ "सत्यं परं पर᳚ सत्य" मितिवाक्यस्य व्यतिहारेण परसत्ययोः केनचिद्रूपेणैक्यं प्रतिपाद्यते। तथा सति येन रूपेणास्यां श्रुतावैक्यं प्रतिपादनीयमेवमनेन प्रकारेण सत्यत्वसर्वोत्कृष्टत्वयोर्भिन्नप्रतीतिविषययोरप्यैक्यं स्तुतौ प्रतिपादनीयमिति सुबोधिनीफक्किकार्थो ज्ञेयः। सुबोधिन्यामेवं विधाद्वयं व्याख्याय तृतीयां व्याकुर्वन्त्यत एवेत्यादि। यतः सत्यपरयोरैक्यमतस्यथेत्यर्थः। तुरीयां व्याकुर्वन्त्यैहिकेपीत्यादि। अत्र "सता᳚ हि सत्य" मितिश्रौतं वाक्यं साकाङ्क्षम्। तन्मूलं फलमिति फलद्वयेन पूरितम्। तथा च सतां सत्यमेव मूल सत्ताप्रयोजकमतस्तदेवैहिकं फलमित्यर्थः। पूर्ववाक्य आमुष्मिकफलस्य कथनेनात्रैहिकफलग्रहणस्यौचित्यात् 'प्राजापत्यो हारुणि'रितिद्वितीयश्रुतौ तथैव सिद्धत्वाच्च। पञ्चमीं व्याकुर्वन्त्यत इत्यादि। अतो यथार्थत्वादबाधितत्वाच्च सतां सत्यमेव च प्रमाणादिचतुष्टयरूपमितिहेतोरुक्तविधाः सत्य एव रमन्ते क्रीडन्ति। रता भवन्तीत्यर्थः। द्वितीया श्रुतिस्तु न व्याख्याता। तदुपन्यासप्रयोजनं त्वग्रे वाच्यम्। तदत्रापि निरूप्यत इति। श्रौतं पञ्चविधत्वं स्तुतावपि निरूप्यत इत्यर्थः।

वाक्यं व्याकुर्वन्ति लोके हीत्यादि। यस्त्वित्यादिनोच्यत इति। यस्तु यत् किञ्चन व्रतमातिष्ठति स पर इत्युच्यते तथा सत्यमपीत्यन्तेनोच्यत इत्यर्थः। अत्रातिष्ठतीत्यन्तं वाक्यं पुनरावर्तत इति बोध्यम्। तथाचैतयोः सत्यव्रतयोरास्थानाल्लोके परत्वकथनेन श्रुतौ परशब्देनोभयं सत्यं व्रतं च सङ्गृह्यत इत्यर्थः। तदेतत् प्रकृते योजयन्ति भगवत्तस्तूभयं सत्यमिति। यत् सत्यं यथार्थं तदुभयं सत्यं व्रतं चेतिद्वयं भगवत्स्वामिकम्। यत् पुनर्दम्भादिना कृतमयथार्थं तद् भगवत्स्वामिकं न। यथार्थत्वादेवोत्कृष्टतया परत्वमितीहापि सत्यमुद्दिश्यैव परत्वविधानाच्छ्रौतार्थसामानाधिकरण्यमेवेत्यर्थः। न च बहुव्रीहौ 'चित्रगुर्लम्बकर्ण' इत्यादिषु प्रथमनिर्दिष्टयोर्लम्बचित्रयोरेव विधेयत्वदर्शनात् सत्यव्रतपदेपि सत्यस्य विधेयत्वं शङ्क्यम् "कुटादिब्राह्मणादयः शूद्रदासोत्तराः प्रजा" इत्यादौ व्यभिचारदर्शनेन तथानियमाभावात्। तट् टिप्पण्यां निरामयन्ति लोके हीत्यादि। निरूपितं भवतीति। परत्वेन रूपेणोक्तं भवतीत्यर्थः। सुबोधिन्यामेवं सत्यपदार्थं व्याख्याय 'तस्मात् सत्ये रमन्त' इतिश्रुतितात्पर्यबोधनार्थं पदसम्बन्धमाहुः सत्यमित्यादि। तथा च सत्ये रताः शरणं प्रपन्ना न तु भयादिनेत्यर्थः। एतेन 'हृष्टाः स्तुवन्ती'ति श्रीधरोक्तमवतरणमादृतं ज्ञेयम्। एवं पदसम्बन्धमुक्त्वा लोके हि व्रतमित्यादिना यदुक्तं तन्निगमयन्त्येवमित्यादि। तद् विवृण्वन्ति टिप्पण्यां मूल इत्यादि। तथा च व्रतपदं स्वशक्यस्य नियमस्य परत्वेन सम्बन्धेनाजहत्स्वार्थया सत्यमपि प्रापयतीति परत्वमुभयप्राप्तौ हेतुरित्यर्थः। तेन सिद्धमाहुः सत्यव्रतमित्यादिना द्वैविध्यमित्यन्तेन। अत्र व्रतपरत्वेनोक्तायां विधेयकोटौ तयोः स्वरूपमनुपदमेव व्रतं ह्युपोषणादीत्यादिना टिप्पण्यां स्फुटिष्यति। तथा चैवंव्याख्यानेन श्रुतौ सत्योद्देश्यका परविधेयका विधा योक्ता सा बोधितेत्यर्थः। अग्रिमपदं विवृण्वन्तीत्याहुरग्र इत्यादि। अत्रापि सत्यपरपदेपि लोके लौकिकं नियामकं सुबोधिन्यां यत् परं लोक इत्यनेनोक्तं वैदिकं द्वादशविधं सुबोधिन्यां वेदे चेत्यारभ्य सन्न्यासश्चेत्यन्तेनोक्तमितिद्वैविध्यम्। एवम्प्रकारकं द्वैविध्यमित्यर्थः। तेनात्र नियामकत्वं परशब्दार्थे स्फुटमिति। तच्च यथाशास्त्रं प्रणीयमानदण्डनीत्यादिरूपम्। 'दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषता' मिति गीतावाक्यात्। द्वादशविधस्य परत्वं तु श्रुतौ "किं भगवतः परमं वदन्ती" तिप्रश्नेन तदुत्तरेण च परमत्वेनोक्तत्वम्। तदेतत् सुबोधिन्यां स्मारयन्त्यत्र श्रुतिरित्यादि। सा तु 'सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् सत्यं परमं वदन्ती'ति। एवं तपआदीनामपि श्रुतिर्बोध्या। अर्थस्तु सत्येन पूर्वजन्मीनसत्यभाषणेन मनुष्यत्वाद् देवतारूपं प्राप्य लोकोपकारार्थं वायुर्भूत्वा वाति। एवमादित्योपि दिवि रोचते प्रकाशं करोति। सत्यमेव वाचो वागिन्द्रियस्यापि स्थिरं स्थानम्। अनृतं तु न तथा। सत्ये यथार्थभाषणे सर्वं व्यवहारजातं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धेतोः सत्यं परममुत्कृष्टं साधनं वदन्तीति। अत्र प्रथमे वाक्यद्वय आमुष्मिकफलोत्कर्षः सिध्यति तदग्रे वाक्यद्वये चैहिकफलोत्कर्षः। एतदभिप्रेत्यैव प्रथमश्रुतो सता᳚ हि सत्यमित्यत्रैहिकं फलं व्याख्यातम्। भगवद्व्रतानां परत्वं त्वसाधारणत्वादेव स्फुटम्। शेषस्य भगवन्नियामकस्य परत्वं सुबोधिन्यामेवोपपादितमित्याशयेनाहुर्भगवतो व्रतमित्यादि। तथा सति परपदेन विधाचतुष्कसङ्ग्रह इतिभावः। तथा च मूले सत्यपरपदे सत्यं परं यस्येतिबहुव्रीहौ लम्बकर्णादिवत्

पूर्वनिर्दिष्टस्य विशेषणभूतस्य सत्यस्य विधेयत्वं परपदोक्तस्य चतुर्विधस्य नियामकादेरुद्देश्यत्वं बोध्यम्। एवमत्र श्रुत्युक्तव्यतिहार-बोधकं मूलस्थं पदद्वयं विवृतम्। व्यतिहारफलमैक्यं त्वग्रे विवेचनीयम्।

लोके हि त्रय इत्यादिना सुबोधिन्यां त्रिसत्यपदं विवृण्वन्तीत्याशयेन तत्सिद्धं विधाद्वयमष्टविधत्वपूर्णाय स्फुटीकुर्वन्ति। त्रिसत्यमित्यादि। स्पष्टार्थमिदम्। सुबोधिन्यां त्रिसत्यपदतात्पर्यमाहुरनेनेत्यादि। त्रिसत्यपदेन साधनफले 'सत्येन न सुवर्गाल् लोकाच् च्यवन्त' इतिश्रुत्युक्तं साधन 'सताः हि सत्य' मितिश्रुत्युक्तं फलं च त्रित्वसङ्ख्यासामान्येनैकीकृत्य निरूपितम्। श्रुत्युक्तानां स्वोक्तानां च विधानां पूरकं रूपं स्फुटीकुर्वन्त्येवमित्यादि। उपपत्तिरूप इति उपपत्त्या रूप्यते तादृश इत्यर्थः। टिप्पण्यां कथमुप-पत्तिरूपत्वमित्याकाङ्क्षायां विवृण्वन्ति भगवत इत्यादि रूपत्वमित्यन्तेन आदिकमित्यनेन। सत्यस्य सङ्ग्रहः। व्रतानि चेति। चकारेण भगवन्नियामकसत्यस्य सङ्ग्रहः। तथा चोक्तरूपयोपपत्त्या निरूप्यत्वादुपपत्तिरूपत्वमित्यर्थः। सुबोधिन्यां सत्यव्रतपदव्याख्याने सत्यपरव्याख्याने च व्रतसत्ययोः प्रविष्टत्वात् तयोरभेदे परपदोक्तनियामकयोश्चाभेदे विधाष्टकपूर्तिर्दुर्घटेति तदभावाय तेषां स्वरूप-माहुर्व्रतं हीत्यादि। एवं सत्यव्रतपदं विवृतम्। अत्र सिद्धं यद् व्रतं सत्यं च तत् प्रमाणभूतं बोध्यम्। भगवत्सम्बन्धिना तेन लौकि-काद्वतेन सत्येन कर्तृनिष्ठधर्मप्रमितिजननादिति। अन्यत् स्पष्टमिति। यत् परं लोक इत्यादि सुबोधिनीस्थं लोके लौकिकं नियामकमित्यादिना विवृतत्वात् स्फुटमित्यर्थः। तदेतत् सङ्गृह्णन्ति लौकिकमित्यादिना। लौकिकमिति। नियामकमितिशेषः। नियामकं चेति। देवहितकारिणो नियामकं चेत्यर्थः। इदं चतुर्विधं सत्यं प्रमाणभूतं बोध्यम्। स्मार्तवैदिकभगवद्वाक्यैः प्रतिभातत्वादिति एवं षड्भेदैर्द्वे अपि श्रौते विधेयकोटी ज्ञापिते। त्रिसत्यपदोक्तं विधाद्वयं व्याकुर्वन्ति लोका भूर्भुव इत्यादि। लोकाः फलरूपा इति। पुरुषार्थत्वेन प्राप्यत्वात् फलरूपाः। इतरे त्वितराणीति। कायादयस्त्रयस्तु तत्साधनशेषत्वात् साधनानि। इदञ्च द्विविधमिति। त्रिशब्देनोक्तं द्विप्रकारकमित्यर्थः। एवं विधाष्टकं निगमयित्वा त्रिसत्यपदे सुबोधिन्यामेवं चतुर्धेति यदुक्तं तन्निगम-यन्त्येवमष्टेत्यादि। एवमष्टविधत्वं सत्यस्योक्तभेदेनोक्तरीत्या सङ्गृहीतो यः षोडशभेदस्तेनेत्यर्थः। चतुर्विधत्वं निगमयन्ति पदद्वय इत्यादिना। सत्यव्रत सत्यपरमितिपदद्वये यो विधेयभेदस्तेन द्वैविध्यम्। प्रमाणप्रमेयत्वाभ्यां द्वैविध्यम्। त्रयम्। त्रिसत्यपदे त्रिशब्देनोक्तम् द्विविधम्। फलसाधनभेदेन द्विप्रकारकम्। तथा चैवं मूलस्थैस्त्रिभिः पदैः श्रौतञ्चतुर्विधत्वं समर्थितं ज्ञेयमित्यर्थः। सुबोधिन्यां नन्वेवं श्रौते चातुर्विध्ये स्वोक्तेष्टविधत्वे च समर्थिते शेषाणां पञ्चानां विशेषणानां किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षाया श्रौतव्य-तिहारफलभूताभेदसाधन स्वोक्तषोडशविधापूरणञ्च प्रयोजनमित्याशयेनाहुरुत्पत्तिरूपमित्यादि। उत्पत्त्या रूप्यते निरूप्यते तादृशं पञ्चभिर्विशेषणैर्निरूपयतीत्यर्थः। तत्र प्रथमं विशेषणं व्याकुर्वन्ति यत् पूर्वमित्यादि। श्वो न भवेदिति। द्वितीयदिनात्मा कालो यदि भगवता नोत्पादितो भवेत् तथात्राष्टविधं सत्यं भगवदुपादेयत्वात् सत्यत्वप्रयोजकमित्यर्थः। अग्रिमविशेषणेष्वप्यतिदिशन्त्येवं सर्वत्रेति। निहितञ्च सत्य इत्यादिविशेषणेष्वप्यष्टविधं सत्यं तत्तदुक्तेन धर्मेण तत्तत्कार्यप्रयोजकं ज्ञेयमित्यर्थः।

अग्रिमपदं व्याकुर्वन्ति न केवलमित्यादिना। तत्तात्पर्यमाहुरनेनेत्यादि। विशेषणचतुष्टयानन्तरवर्तिना निहितं च सत्य इतिविशेषणेनाष्टविधसत्यस्योत्पत्तिप्रयोजनविचारेष्टविधं सत्यं भगवद्रक्षितत्वेन प्रमेयं भगवदधिष्ठितत्वेन स्वस्वकार्यसाधनञ्चोक्तम्। न ह्यरक्षितं प्रमातुं शक्यते न वा भगवदनधिष्ठितं स्वकार्यं साधयितुं शक्नोति। "गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसे" त्यादिवाक्ये "स्तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्" इतिन्यायेन च भगवदधिष्ठितस्यैव कार्यक्षमत्वेन सिद्धत्वादित्यर्थः। नन्वेवं तर्हि प्रमाणफले कुत्रोक्ते इत्यत आहुरितरावाद्यन्तयोरिति। तस्यार्थष्टिप्पण्यां वक्तव्यः। नन्वितर वाद्यन्तयोरुच्येते इत्यत्र किं गमक-मित्यत आहुश्चकार इत्यादि। 'निहितं च सत्य' इत्यत्र चकार उक्तसमुच्चयाभावान्निरर्थकः स्यादित्यनुक्तप्रमाणफलसमुच्चयरूपमर्थमाह। तथा च चकार एव तद्गमक इत्यर्थः। इतरावाद्यन्तयोरिति यदुक्तं तट् टिप्पण्यां विवृण्वन्तीतरावित्यादि अत्र प्रमाणेत्यारभ्य प्रसिद्धे इत्यन्तमेकः प्रकारः। अथवेत्यारभ्य द्वितीयः। तत्र प्रथमे प्रकारे "सत्यस्य योनि" मितिविशेषणं सत्योत्पत्तिमात्रबोधकं न तु विधासङ्ग्राहकम्। द्वितीयं तु प्रमेयसाधनबोधकमिति सुबोधिन्यां स्पष्टम्। तृतीयं प्रतिष्ठितत्वबोधकम्। चतुर्थं प्रमाणस्य। पञ्चमं फलस्य बोधकम्। अस्मिन् पक्षे सुबोधिन्युक्तस्य पूर्णेत्यादिग्रन्थस्य विरोध इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरथवेत्यादि। ननु योनिशब्दस्य कारणवाचकत्वादत्र प्रमानिरूपणं कथं सङ्गच्छत इत्याकाङ्क्षायां सत्यस्य योनिमित्यनेन प्रमाणनिरूपणे प्रकारमाहु-र्मानेत्यारभ्य भातमित्यन्तम्। विवृताविति। सुबोधिन्याम्। नन्वेवं सुबोधिन्यविरोधेन प्रमाणफलयोः सिद्धौ पूर्वोक्तप्रकारलिखनस्य किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते। योनिशब्दस्य कारणे रूढत्वादत्र सत्यकारणत्वेनैव प्रयोगात् तस्य प्रमाणकारणत्वेन सङ्कोचे मूलविरो-धापत्तिः। सत्यस्य सत्यमितिविशेषणस्य फलबोधकताङ्गीकारे जहल्लक्षणापत्तिरिति जानीहि। नन्वेवं सति मूलविरुद्धः पक्षः सुबोधिन्यां कुत आदृत इतिचेदत्राप्युच्यते। योनिशब्दस्य प्रमाणपरत्वं "शास्त्रयोनित्वा" दित्यत्र भास्कररामानुजाचार्याभ्यामादृतम्। प्रकृते च भगवतो योनित्वकथनेन सत्यस्य तदुत्पन्नत्वं साधितमतस्तेन धर्मेण सत्यं प्रमाणमितिकथने को वा मूलविरोधः? किञ्च सत्यस्य सत्यमितिविशेषणे भगवतः सत्याधिदैविकत्वमुक्तं तत्र प्रतिष्ठितत्वेन रूपेण सत्यस्य फलत्वकथनेपि को वा मूलविरोध इति जानीहि। एवं च पुरःस्फूर्तिकमादाय प्रथमः प्रकारः सूक्ष्मेक्षणमादाय द्वितीय इति टिप्पण्यां न कोपि विरोधः।

सुबोधिन्यां सत्यस्य सत्यमितिकथनेन कथं लयस्य बोध इत्याकाङ्क्षायामाहुर्यथा 'पूर्णमदः पूर्णमिद' मितिमन्त्रे पूर्णशब्दवाच्यस्य प्रपञ्चस्य स्थित्युत्पत्ती उक्त्वा पूर्णस्य लय उच्यते तथात्रापि सत्यस्योत्पत्तिस्थिती पूर्वविशेषणाभ्यामुक्त्वात्र सत्यस्याग्निदंविकं सत्यमितिबोधनेनोत्पत्तिस्थितिप्रसङ्गादेव लय उच्यत इत्यर्थः। तह्यत्र कथं फलबोध इत्यत आहुः सत्य एवेत्यादि। प्रलयो हि कारणे प्रवेशरूप इति कार्यं सत्यं कारणभूते सत्ये प्रतिष्ठितं भवति। तच्च भगवानेवेति तेन रूपेण सत्यं फलमित्यर्थः। तदुपपादयन्त्यनेनेति। उक्तमिति। अनेन प्रकारेण फलमुक्तमित्यर्थः। एवं विशेषणोक्त्या विधापञ्चकसिद्धिं गमयन्त्येवमित्यादि। अष्टविधस्य सत्यस्यानेन प्रकारेणोत्पत्त्यादिप्रसङ्गे प्रतिष्ठितत्वस्यापि सिद्ध्या तदादाय पञ्चविधं सत्यमुक्तमित्यर्थः। अनेनात्र त्रयोदशत्वस्यापि सिद्धिमाहुरेतावतेत्यादि क्रियाशक्तिरिति। क्रियाजनकं क्रियात्मकं भगवत्सामर्थ्यमित्यर्थः। अत्र क्रियाशक्तेस्त्रयोदशविधत्वमेवं ज्ञेयम्। व्रतसत्ययोर्धर्मानुमापकत्वात् प्रमाणकोटिपातेपि कर्मरूपत्वात् क्रियारूपत्वम्। प्रमेयरूपाणां चतुर्विधानियामकानां तु तथात्वं यथासम्भवं क्रियारूपत्वात् तज्जनकत्वाच्च स्पष्टमेव। साधनफलयोश्च कर्मप्रधानकत्वात् तथात्वम्। अग्रे च साधनस्य प्रमेयस्य तथात्वादेव क्रियारूपत्वम्। प्रमाणस्याप्युत्पत्तिक्रियान्तःपातित्वात् तथात्वम्। उत्पत्त्यादिक्रियान्तःपातित्वादेव च प्रतिष्ठितफलरूपयोरपीति तथा। भगवच्छक्तित्वं तु भगवदाधारकत्वात् स्फुटम्।

अग्रिमविशेषणं व्याकुर्वन्ति ज्ञानशक्तिमिति। ज्ञानजनिकां भगवच्छक्तिं सत्यत्वेन निरूपयन्तीत्यर्थः। नन्वत्रर्तसत्ययोर्निरूपणस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तदुपपादयन्ति ज्ञानशक्तिरित्यादि। प्रमाणं वेद इति। तस्यानपेक्षतया प्रामाण्यस्य तत्रैव पर्यवसानात् तथा प्रमेय भगवद्धर्मा इति। "ये वै भगवता प्रोक्ता ह्युपाया ह्यात्मलब्धय" इत्यादिवाक्यैः प्रमितत्वात्। ऋतं च सूनृता वाणी सूनृता सत्यप्रतिपादिका। ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तितेतिभगवद्वाक्यात्। अत्र तन्निरूपणप्रयोजनमाहुर्वेद इत्यादि। उक्तमिति द्वयमुक्तम्।

सत्य एवेति सत्ये पूर्वोक्ते पञ्चदशविध एव। सत्यात्मकपदं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति कं फलं वेत्यादि। अत्रात्मा कं चात्मकम्। सत्यमात्मकं यस्येत्येवंविग्रहो बोध्यः। एवंव्याख्यानस्य प्रयोजनमाहुः सच्चिदित्यादि। तथोक्तमित्यादि। तथा व्याख्यानमित्यर्थः। अंशतः षोडशविधत्वं यत् पूर्वं प्रतिज्ञातं तन्निगमयन्ति टिप्पण्यां प्रमाणादीत्यादि षोडशधेत्यन्तम्। अत्र च सत्यस्योपपत्त्युत्पत्तिभ्यां सर्वस्मिन् भगवदुपादेयत्वभगवत्त्वप्रमितिजनकत्वात् प्रमाणत्वं बोध्यम्।

किञ्च श्रीधरीये सत्यव्रतपदस्य 'सत्यसङ्कल्प'त्वं यद् व्याख्यातं तदत्र भगवतो व्रतानीत्यादिना सिद्धम्। सत्यपरपदे 'सत्यं परं प्रापकं यस्ये'ति व्याख्यातं तदत्र क्रियाशक्तेस्त्रयोदशविधत्वेन सिद्धम्। यच्च त्रिसत्यादिविशेषणचतुष्टये व्याख्यातं तदत्र सत्यस्य योनिमित्यादिविशेषणत्रयेणैव सिद्धम्। तेन तन्मते त्रिसत्यमित्यस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यम्। व्याख्यानव्याख्येयभावस्यागतिकगतित्वात्। अतो दोषाणां विद्यमानत्वात् तदुपेक्ष्यमिति बोध्यम्॥ २६॥

एकायन इत्यत्र–एवं प्रमाणेत्यादि। पूर्वश्लोके सत्यस्य प्रमाणत्वकथने "सत्यात्मक"मित्यनेन भगवतः प्रमाणरूपतामुक्त्वाग्रे "त्वमेक एवास्ये" त्यनेन श्लोकेन साधनरूपतां वदिष्यंस्तदुभयसन्देशेनैकायनश्लोकेन भगवतो जगद्रूपतया प्रमेयतामाहेत्यर्थः। ननु ब्रह्माण्डस्य वृक्षत्वमत्र निरूप्यतेतः कथमत्र भगवतः प्रमेयत्वप्रतिपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुर्वृक्ष इवेत्यादि। भगवान् वृक्षरूप इति। तेनादिवृक्षोसावितिमूलान्वयो बोधितः। न चात्र श्रुतौ वृक्षो दृष्टान्तत्वेन प्रविष्टोतो नानया भगवतः प्रमेयत्वोपष्टम्भ इति शङ्क्यम्। 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद कश्चन न स जातु जनः श्रद्दध्यात् मृत्युर्मा मारयादितो'तिश्रुत्यन्तरे मृत्युमारणाभावश्रद्धारूपफलेन तस्य वृक्षस्य भगवद्रूपतावगमादिह कार्यरूपवृक्षनिरूपणेपि तेन कारणवृक्षस्यानुमानान्न प्रमेयत्वहानिरित्यर्थः। ननु तथापि सद्रूपस्य तथात्वमस्तु कालात्मकस्य कथमिति चेन्न। कालस्य जगदुपादानत्वात्। "गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषो प्रतिष्ठितः पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृज"दिति तृतीयस्कन्धे तथाप्रमेयत्वस्य सिद्धत्वात्। उपादेयस्योपादानात्मकत्वेन काले तथात्वसिद्धेरप्रत्यूहत्वादिति। निरूपितेति। तृतीयस्कन्ध "एते देवाः कला विष्णो"रित्यादिनोक्तेत्यर्थः। दैत्यकल्पादत्र फलेपि विशेषमाहुर्नराणां कमित्यादिना॥ २७॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

ब्रह्मेत्यत्र—सात्त्विककल्पे च विष्णोर्भगवत्त्वादत्रानागमनमिति ज्ञेयम्। वृषणमित्यस्य प्रथमेर्थे णकारान्तः शब्दो द्वितीयार्थेकारान्त इति ज्ञेयम्॥ २५॥

कालात्मेति—भगवान् पुरुषोत्तमः कालः सङ्कर्षण आत्मनि यस्य तादृशः सञ्जातः। सङ्कर्षणं गृहीत्वा प्रकट इत्यर्थः। तथेति। एतस्यैव विवरणं कलाभिरिति। चन्द्रस्य पञ्चदश कलाः पक्षः। चान्द्रमासमभिप्रेत्येदमुक्तम्।

स एवेति। अत्र पुरुषोत्तमे सङ्कर्षण एव भूभारहरणार्थं प्रार्थितत्वादवतीर्ण इति प्रकारेण तः सङ्कर्षणो ज्ञात इत्यर्थः। व्यूहान्तरज्ञानव्यावृत्त्यर्थमेवकारः। स्तुतेः पुरुषोत्तमत्वज्ञापकत्वं सङ्ख्यायाः सङ्कर्षणत्वज्ञापकत्वमितिविभागः। लोककृत इत्यादिषु लोकादिद्वारा कृत इत्यर्थः। दैत्यकृतादिति। दैत्येषु कृतादित्यर्थः। स त्वनृतादिरूप इतिभावः।

सत्यव्रतमित्यत्र भगवतः सत्यमेवेति । भगवतः सत्यं यथार्थं यद्रूपं तदेवैतत्सर्वरूपेण जातमित्यर्थः । न त्विति । अयथार्थं यद् रूपं तदिदं न भवतीत्यर्थः । तद् रूपं परिचाययन्ति दैत्यानामिवेति ।

पञ्चविधं सत्यमुक्तमिति । टिप्पण्युक्त आद्यपक्ष उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः प्रमेयं साधनं चेति पञ्चविधत्वं ज्ञेयम् ।। २६ ।।

एकायन इत्यत्र—चेतनरूपतेति । तृतीयस्कन्धे स्तुतिकथनेन चेतनत्वं निरूपितमित्यर्थः । इदं च तत्रैव व्युत्पादितम् । दैत्यादिकल्प इति । दैत्यानामादिकल्पे मुख्यसिद्धान्त इत्यर्थः ।। २७ ।।

त्वमेक एवेत्यत्र—सत इतिपदकथनस्यावश्यकत्वमाहुरन्यथेति । जगतः सत्त्वाभावे जगत्कर्तृत्वेनोच्यमानो भगवान् को ब्रह्मा वासतः कर्ता स्यात् । भगवतो ब्रह्मणो वाज्ञानकार्यकर्तृत्वेऽज्ञानरूपत्वं स्यादितिभावः । दैत्यानां दुर्गाभैरवादयः सेव्या इति तत्पक्षव्यतिरेको ज्ञेयः । चित्तं पुष्कलमिति । अण्वपि सर्वग्रहणक्षममित्यर्थः ।। २८ ।।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

सत्यव्रतमित्यस्य विवरणे—दैत्यानां हितकार्यपि पञ्चदश इति कालविशेषणम् । पञ्चदश अवयवाः कृष्णपक्षदिनरूपा विद्यन्ते यस्मिन् स पञ्चदशः कालः । अर्श आद्यच् । कालात्मा भगवान् जात इति । भूभारहरणार्थं तत्प्राकट्यस्यैवोचितत्वात् । 'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्ध' इतिभगवद्वाक्यात् । यद्यप्यत्र पुरुषोत्तमप्रादुर्भावोपि भावी तथापि पुरुषोत्तमस्य सर्वात्मतया सर्वहित-कर्तृत्वेन दैत्यनाशो न स्यादतः कालरूपः सङ्कर्षण एवास्मद्धितार्थमवतीर्णोयमिति ब्रह्मादीनां बुद्धिः । तथा च कालरूपस्य सत्त्वादि-गुणानुरोधितया सात्त्विकादिजीवानां पक्षपातं क्रमेण कुर्वंस्तद्गुणप्रतिकूलगुणयुक्तानां नाशमपि करोति । अत एव 'तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिण' इत्यादिवचांसि सङ्गच्छन्ते । कालरूपो भगवान् सात्त्विकानां हितकाङ्क्षयतो दैत्यनाशं करिष्यतीति तथैव ब्रह्मादिभिः स्तूयते । तत्र कालस्य भौतिकं रूपं वर्णनीयं यतो भौतिकरूपेण वर्णने कृत आधिदैविकं रूपं स्फुटीभवति । तत्र कालस्याधिभौतिकश्चन्द्र पञ्चदशकलः । तत्स्वरूपं प्रतिपादनीयम् । तत्प्रतिपादने तदाधिदैविकं ज्ञातं भवति । अतः कालभौतिकरूपस्य चन्द्रस्य पञ्चदश कला निरूप्यन्ते । षोडशी तु ध्रुवा । सा तु वृद्धिक्षयरहिता न पक्षावयवबोधहेतुः । अतः पञ्चदशैव कला वृद्धि-क्षयाभ्यां सितासितपक्षकर्त्र्यः । एकः कालः सितासितपक्षाभ्यां त्रिंशदात्मको भवति । तत्र पक्षपातसूचकस्तुतिचिकीर्षयैकपक्षत्यागे पञ्चदशात्मकत्वं कालस्येति तस्य देवपक्षपातिकालरूपस्य पञ्चदशात्मकत्वसूचनार्थं पञ्चदशभिः श्लोकैः स्तुतिरिति गर्भश्लोकसङ्ख्या-तात्पर्यम् । ध्रुवायाः सूचनार्थं षोडशः श्लोकः । ध्रुवा यथा सर्वाभ्यः कलाभ्योतिरिक्ता तथात्रापि स्तुतितोतिरिक्ता प्रार्थना षोडशे श्लोक इति ज्ञेयम् । एवं षोडशश्लोकसङ्ख्यया चन्द्रमाः कालभौतिकरूपः सूचितः । तेनाधिदैविककालात्मा सङ्कर्षणो दैत्यनाशाय देवपक्षपात्यवतीर्ण इति बोध्यते स्म ।। २६ ।।

।। इति श्रीद्वितीयाध्याययोजना ।।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

सत्यव्रतमित्यस्याभासे—कालात्मेत्यादि । तथेत्यस्य विवरणं कलाभिरिति । स्वपक्षस्थापकैरिति । कालो द्विविधः शुक्लपक्षरूपो देवहितकारी कृष्णपक्षरूपो दैत्यहितकारी चेति । तत्र देवपक्षतया स्थापकैः कलारूपैः पञ्चदशभिः श्लोकैः स्तुतिरित्यर्थः ।। १ ।।

पक्षपातेत्यादि । अत्र पञ्चदशभिर्भगवत्स्तोत्रमेकेन 'दिष्ट्याम्बे'तिश्लोकेन देवकीसान्त्वनम् । तत्र पञ्चदशभिर्देवानां हितकारिणी स्तुतिः षोडशी देवकीसान्त्वनरूपा तु कला ध्रुवा स्वाभाविकत्वादित्यर्थः । वृद्धौ वा तादृशो भवेदिति । तिथिवृद्धौ वा तादृशः षोडशदिनात्मकः कालो भवेदित्यर्थः ।। २ ।।

अत्र सुबोधिन्यां स्वयं षोडशविधं तदन्तर्गतमष्टविधं पञ्चविधं वेदोक्तं चेति त्रिधा व्याख्यातम् । तत्र वेदोक्तं पञ्चविधं यथा । 'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते न कदाचन सतां हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्त' इति श्रुतौ 'सत्यं पर'मिति-पदोक्तं प्रमाणरूपं सत्यमत्र श्लोके सत्यव्रतमितिपदेनोक्तम् । 'परं सत्य'मितिपदोक्तं प्रमेयरूपं सत्यमत्र सत्यपरमितिपदेनोक्तम् । 'सत्येन सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते न कदाचने'त्यनेनोक्तं सत्यं 'सतां हि सत्य'मितिपदोक्तं सत्यं चात्र त्रिसत्यमितिपदेन भूरादित्रय-कायादित्रयरूपफलसाधननिरूपकेणैकीकृत्य निरूपितम् । एतदेवोक्तं सुबोधिन्यामेवं चतुर्धाष्टविधो निरूपित इत्यत्र चतुर्धेति-पदेन । एवं वेदोक्तपञ्चविधसत्येषु चतुर्विधं सत्यं निरूपितम् । अथावशिष्टं 'तस्मात् सत्ये रमन्त' इत्यत्रोक्तं रमणाधिकरणभूतं पञ्चमं सत्यम् । तदत्र सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना इत्यनेन निरूपितं ज्ञेयमिति पुरुषोत्तमा व्याख्यातवन्तः ।

अथ षोडशविधम् । तत्र सत्यव्रतमितिपदेन श्लोक उपोषणादिरूपं व्रतं तप्ततैलादिष्वप्यदाहरूपं सत्यं चेति द्विविधम् । अत्र हि सत्यव्रतपदं श्रौतेन 'सत्यं पर'मितिपदेन तुल्यार्थकम् । तथा चात्र श्लोके श्रुत्युक्तोत्कृष्टार्थकपरपदतुल्यार्थकेन व्रतशब्देन व्रतसत्ययो-रुभयोरप्युत्कृष्टत्वात् सङ्ग्रहः । अथ सत्यपरमितिपदेन 'दण्डो दमयतामस्मी'तिवचनाल्लोके दण्डादिरूपं लौकिकनियामकं वैदिकं

द्वादशविधं भगवतो व्रतं भगवतो नियामकं चेति चतुर्विधम्। अत्र परशब्देनोत्कृष्टार्थकेन भगवदीयव्रतस्याप्युत्कृष्टत्वात् सङ्ग्रहः। त्रिसत्यमितिपदेन भूरादित्रयं कायादित्रयं च द्विविधम्। एवं त्रिभिः पदैरष्टविधं सत्यमुपपत्तिरूपं निरूपितम्। अथोत्पत्तिरूपमष्टविधं निरूप्यते। तत्र 'सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये सत्यस्य सत्य'मितिपदत्रयेण पञ्चविधं सत्यमुक्तम्। तदुक्तं सुबोधिन्यामेवमुत्पत्ति-स्थितिप्रलयप्रसङ्गे पञ्चविधं सत्यमुक्तमिति। सुबोधिनीग्रन्थार्थष्टिप्पण्यामनुक्तोपि श्रीवल्लभगोस्वामिलेखादवगम्यते। स यथा। सत्यस्य योनिमितिपदेनोत्पत्तिरूपमेकविधं सत्यम्। निहितं च सत्य इत्यनेन स्थितिरूपं प्रमेयसाधनरूपं चेति त्रिविधम्। सत्यस्य सत्यमित्यनेन प्रलयरूपमेकविधं सत्यम्। एवं पञ्चविधम्। ऋतसत्यनेत्रमितिपदेन प्रमाणनिरूपकेण द्विविधम्। सत्यात्मकमिति-पदेन फलनिरूपकेण धर्मिरूपमेकविधं सत्यमिति षोडशधा।

अथ टिप्पण्यां द्वितीयव्याख्याने सत्यस्य योनिमितिपदेन प्रमाणरूपमेकविधं सत्यम्। निहितं च सत्य इत्यनेन प्रमेय-साधनरूपं द्विविधम्। सत्यस्य सत्यमित्यनेन फलरूपं भगवति प्रतिष्ठितं चेतिद्विविधम्। एवं पञ्चविधं ज्ञेयम्। ऋतसत्यनेत्र-मित्यनेन ज्ञानशक्तिद्वयम्। सत्यात्मकमितिपदेन धर्मि चेति षोडश।

तथाचायं सङ्ग्रहः। सत्यव्रतमितिपदेन द्विविधम्। सत्यपरमितिपदेन चतुर्विधम्। त्रिसत्यमिति भूरादित्रयं कायादित्रयं चेतिद्विविधम्। एवमष्टविधम्। सत्यस्य योनिमित्येकविधं प्रमाणरूपम्। निहितं च सत्य इति प्रमेयसाधनरूपमिति द्विविधम्। सत्यस्य सत्यमिति फलरूपं भगवति प्रतिष्ठितं चेति द्विविधम्। एवं पञ्चविधं तु न वेदोक्तं किन्तु श्रीभागवतोक्तमेव। वेदोक्तं तु पूर्वमेवोक्तम्। एवं त्रयोदशधा क्रियाशक्तिर्निरूपिता। अथ ज्ञानशक्तिरूपं ऋतसत्यनेत्रमिति द्विविधम्। सत्यात्मकमितिपदेन धर्मिरूपमिति षोडशविधम्। टिप्पण्युक्तप्रथमपक्षीयवैलक्षण्यं तु पूर्वमेवोक्तमितिसङ्क्षेपः॥ २६॥

बुभुत्सुबोधिका

ब्रह्मा भवश्चेत्यत्र अर्थादिति 'विपदः सन्तु नः शश्व' दितिवाक्ये दुःखस्य भगवच्चिन्तनहेतुत्वमुक्तमतस्तथेत्यर्थः। कंसादीनां भगवच्चिन्तनमर्थादुक्तमित्यन्वयः। वक्तुमिति दुःखेन भगवच्चिन्तनं वक्तुम्। अनेनेति देवासुरचिन्तनकथनेन। ज्ञातमभूदिति भगवतो व्यापकत्वाद् व्यापकयोगमायया ज्ञानसङ्कर्षणात् तथा। कंसादीति देवक्याः शत्रुत्वात्। अनेन ब्रह्मविद्याऽऽसुराणां हितकारिणी न भवतीत्युक्तम्। गुणाभिमानिन इति प्रथमस्कन्धतृतीयाध्याय उक्ताः। स्वानुकूलेति स्वपक्षपातिनीभिर्वाणीभिः कामवर्षणमिति काम्यन्त इति कामाः पक्षपातादयः। वृषु सेचने, बाहुलकात् क्युः। पुल्लिङ्गशब्दः द्वितीयान्तः। वृषणोण्डकोशः। 'आण्डावानन्दा'वितिश्रुतिः तयोः कोपः पात्रम्। कोषशब्दः मूर्धन्यान्तः। भगवदिच्छया तालव्यान्तः प्रयुज्यते। अलौकिकव्युत्पत्तिमाहुः वृषमिति। नीञ् प्रापणे डः। सहोक्तानामिति नारदादीनाम्। व्याख्यानद्वयेन कामस्य धर्मात्मकस्य प्रापणकर्ता वृषण इत्युक्तम्। तदुक्तं बृहद्वामनपुराणे 'यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथे'ति॥ २५॥

सत्यव्रतमित्यत्र स्तुति श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं जातेष्टिन्यायेन मुख्यतो वदन्तो निबन्धे सङ्कर्षणोत्पत्तिर्द्वितीयाध्यायार्थो दैत्य-वधार्थत्वस्य स्फुटत्वादिति यदुक्तं तदत्र 'प्राहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहा'मित्यनेन कंसस्यापि ज्ञानकथनाद् यथा स्फुटं तथा स्वरक्षकत्वं देवानां ज्ञानादपीति ज्ञापयितुमाहुः कालात्मेत्यादि। कालात्मा कालदेहोनन्तः कालस्यात्मा कालात्मा। सोनन्तः पुरुषोत्तमः कृष्णः प्रकाशाश्रयन्यायेन। नित्यसम्बन्धाच्च शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसूत्रात्। ब्रह्मादिस्तुतिभिर्ज्ञायते। यद्वा काल उपदेशकशब्दो वेदात्मा सङ्कर्षण आत्मेति यस्य तादृशः सन् जातः प्रतिपादकसहितो जातः प्रतिपाद्यः। पक्षपातिनी स्तुतिरतः कालात्मत्वेन पुरुषोत्तमस्तुतिः। 'चतुर्धा स्वीकृतिश्चापि काले मूलस्वरूपत' इति निबन्धात्। तथा च प्रश्नोपनिषदि 'षोडशकल' इति श्रावणात् कलाभिः षोडशभिः कालात्मा जात इति ज्ञापयितुं तथा स्तुतिः षोडशभिः श्लोकैः स्तुतिरित्यर्थः। अत्र प्रकारमाहुः पञ्चदशभिरित्यादि। स्वपक्षख्यापकैः पञ्चदशभिर्हि एषा देवानां हितकारिणो पक्षपातस्तुतिरित्यर्थः। ध्रुवा त्विति षोडशी तु ध्रुवा मनःकलेति प्रश्नोपनिषदुक्ता। स्वाभावि-कत्वान् निश्चलेति भक्तहितकारिणी। ननु भवत्वेवं तथाप्ययनादिकं विहाय षोडशकलत्वेन कथं कालात्मत्वस्य देहेवगमः आत्मनो-नन्तस्य पुरुषोत्तमत्वेन षोडशकलत्वस्य पुरुषोत्तमेवगमश्च कथं इत्यत आहुः वृद्धौ वा तादृश इति। अयनादिग्रहणे कृष्णपक्षस्य सङ्ग्रहापत्तेस्तिथिवृद्धौ षोडशकलत्वेन कालत्वावगमो देहे तथात्मनि मनःकलाया अनिन्द्रियभूताया वृद्धौ तादृशः षोडशकलः पुरुषोत्तमो भवेत्। मानुषतन्वाश्रयणात् पुरुषपदं प्रश्नोपनिषदि। वाशब्दोऽवधारणे। तथा च वृद्ध्या तदवगम इत्यर्थः। एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति स्म अत्रेत्यादिना। तथा च स्तुतिसान्त्वनरूपद्विधाभेदाद् द्वैविध्येपि सान्त्वनश्लोके 'परः पुमा'नित्यादिकथनात् षोडशानामपि भगवत्स्तुतित्वमेव, उत्कर्षाधायकगुणवर्णनस्य स्तुतित्वात्। यदि च पुरुषोत्तमस्य गर्भसम्बन्धाभावान् नैतेषां साक्षात्पुरुषोत्तमस्तुतित्वं तदा तु कालदेहानन्तात्मनोरेव स्तुतिरिति सिध्यति। तत्र पञ्चदशभिः कालदेहानन्तात्मनोः स्तुतिं व्युत्पाद-यन्ति स्म काल इत्यादि अर्धेन निरूप्यत इत्यन्तम्। काल इति देहः स एव न त्वनन्तः। तैरिति विबुधैः। ज्ञात इत्यनन्तात्मन उत्पत्त्यभावाज् ज्ञातः। काल आत्मनि यस्येति व्युत्पत्तिपक्षे कालः सङ्कर्षणः स एवेति। अत्र पुरुषोत्तमे भूभारहरणार्थं प्रार्थितत्वा-दवतीर्ण इति प्रकारेण तैः सङ्कर्षणो ज्ञात इत्यर्थः। अर्धेनेति त्रिंशदर्धेन। तर्हि षोडशभिः कथं स्तुतिरित्यतस्तां व्युत्पादयन्ति स्म स

चेत्यादि चतुर्धेत्यन्तम्। कालकृत इति देहकृतः न तु पुरुषोत्तमकृतः। तस्य समत्वात् भक्तैः सह निगूढभावकरणाच्च। कालोत्र विश्वरूपप्रदर्शनाध्यायगीतोक्तः। तृतीयस्कन्धे कालकर्मस्वभावेषु क्षोभकः कालोयमेव। चतुर्धेति 'चतुष्पाद् ब्रह्म विभाती' तिश्रुतेः चतुष्पाद् ब्रह्मणः षोडशकलानां मध्ये चतसृणां चतसृणां कलानामेकैकपादत्वम्। चतुष्कल एकपाद इति। लोककृत इति लोकादिसन्मार्गद्वारा कालात्मकृतः। स्मृतिकृत इति उक्तोर्थः। लोकवेदात्मिकेति 'ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणात् स्मृतिरुच्यत' इति लौकिकी। ऋषीणां लोकोद्भवत्वेन तत्पूर्वचरितस्य लोकोद्भवत्वात्। उत्सन्नप्रच्छन्नशाखामूलत्वेन वेदत्वाद् वेदरूपा। अतो लोकवेदौ आत्मनि स्वरूपे यस्याः सा शब्दरूपा लोकवेदात्मिका। भगवन्मार्गकृत इति श्रीभागवतमार्गकृतः। 'कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिन' इति निबन्धात्। 'कृष्णवाक्यं गीता तद्विस्तारो भागवतम्'। तत्र द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्तः। पुष्टिमार्गश्च। प्रमेयबलसाध्यः स्वयं प्रमेयं निःसाधनानां ज्ञानभक्ती बलरूपे दत्वापि मोचयतीति। 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इतिवाक्यात्। भगवान् ब्रह्मकार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवे' दितिवाक्येन ज्ञानक्रियाकाण्डयोस्तद्वाचकयो रतौ तात्पर्यमुक्तम्। रतिराध्यात्मिकी भक्तिः। 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्योक्तेषु श्रद्धायामाधिभौतिकभक्तिरूपायां आधिदैविकभक्तिमेलने आध्यात्मिकभक्तिरूपरतिपदवाच्यत्वमिति। सन्मार्गेण पक्षपात इति छान्दोग्ये देवासुरस्पर्धायामुद्गीथविद्ययाऽसुरात्यये सिद्धः। एवं च लोकादिसन्मार्गद्वारा कृतः पक्षपात इत्युक्तम्, एवमत्र भगवन्मार्गकृत इत्युपसंहारेणार्थनिर्णयात्। एवं च प्रमेयबले ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिभक्तिभिर्मोक्षः स न भवति भगवद्धर्मत्वेन मार्गत्वाभावात्। अतो मार्गरूपज्ञानादिभिर्मुक्तिः। अत एतेषामंशानामाकर्षः। ते च तैत्तिरीयोक्ताः षोडश। तेनेदं सिध्यति आध्यात्मिके द्वापरादिरूपे काले विपन्ने सति कलिकार्यप्रतिबन्धार्थं कृपया भगवानाधिदैविककालरूपो भवंस्तदंशैर्लोकादिभिः न्यायशास्त्रसिद्धैः लोकादिविभाजकप्रमाणाद्युपाधिभिश्च पक्षपाती जात इति। एवं षोडशधा विभागमुपपाद्य तत्कृतं प्रयोजनमाहुः दैत्यकृतादिति। दैत्येषु कृतादुपकारात् स्वपक्षपातस्याधिक्यं वक्तुमत्र षोडशधोच्यत इत्यर्थः। लोककृतं चातुर्विध्यं विभजन्ते स्म तत्रेत्यादि। तत्र षोडशेषु एतस्यैव विवरणं लोकसिद्धानीत्यादि। लोके सत्यमेव प्रमाणमिति लोके भवो भगवान् सत्यरूपः प्रमाणम्। 'अत्र प्रमाणं भगवा'निति वाक्यात्। अनेनाप्यस्माकमस्तु केवलमिति पक्षपातार्थं स्तौति स्म। बाल्ये महाजनत्वाल्लौकिकत्वम्। ततोतिशयाधाने लोकवेदात्मकस्मार्तत्वम्। ततोप्यतिशयाधाने वैदिकत्वम्। ततोप्यतिशयाधाने भगवन्मार्गीयत्वमिति। लोके सत्यभाषणमित्यादिस्थले सत्यं भाषणमिति भानात् सत्यशब्दः प्रमाणम्। प्रमाकरणं प्रमाणम्। सत्यस्यापि शाब्दप्रमाविषयत्वेन विषयविधया कारणत्वमात्रम्। एवकारस्तु लोके प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि न भवन्ति किन्तु तत्प्रेरको भगवानिति। सत्यं भाषणं वा। शब्दात्मकं प्रमाणं (तद्विषयश्च) इति प्रकाशे, प्रमाणस्य प्रवर्तकत्वेन ग्रहणे प्रमाणं भगवानिति पितृचरणाः। सत्यपदस्य यथार्थत्वं शक्यतावच्छेदकम्। लौकिकशब्दानां शक्तिरस्ति। तादृशप्रमाणेन यादृशं प्रमेयं सिध्यति तदाहुः परिदृश्यमानं जगदेवेति। दैवसृष्टौ परिदृश्यमानं जगदेव प्रमेयम्। पूर्वश्लोकोक्तषोडशविधसत्यात्मकप्रमाणज्ञानवासनासहकृतचक्षुरादिप्रमाणजन्यप्रमितिविषयत्वात् प्रमेयमित्यर्थः। 'तेनैकायनोसा'वितिश्लोकप्रतिपाद्याधिदैविकवृक्षात्मकसत्यरूपप्रमाणपादाक्षरज्ञानविषयत्वेन सद्रूपतयैवेह जगत् प्रमेयमित्युक्तं भवति। ननु वृक्षत्वेन न लोको जगत् प्रत्येतीति चेत्, ब्रह्मादिः प्रत्येतु न लोकः। जगदेवेति एवकारेण वैदिकादिप्रमेययोगव्यवच्छेदः। लोके जगदतिरिक्ताज्ञानात्। न कदाचिदनीदृशं जगदितिमीमांसकानामुत्पत्त्याद्यज्ञानवत्। प्रमेयमिति प्रमाविषयं प्रमेयम्। एवंभूते प्रमेये तत्र सुखदुःखयोरुभयोरपि श्रवणे सति दुःखनिवृत्तिपूर्वकक्षेमफलसाधनविषय उत्कटोभिलाष उदेति कथं मे क्षेमफलं स्यादिति ततस्तत्पूर्व्यै साधनं निर्दिशन्ति स्माचार्यास्तृतीयश्लोके गुणाभिमानिन इत्यादि। लोकस्य त्रिगुणप्रधानत्वात् तत्तद्गुणप्रधाना लोके तं तं ब्रह्मादिकं देवं फलार्थं सेवन्त इतिभावः। यथा नन्दस्येन्द्रयागः। साधनानीति क्षेमसाधनानि। गुणाभिमानिदेवानां प्रमेयत्वेपि। कृपाविशिष्टत्वावच्छिन्नं प्रमेयत्वं साधनत्वम्। ब्रह्मविष्णुशिवातिरिक्तवस्त्वज्ञानाल्लोके एवकारः। ननु हिरण्याक्षबाणप्रभृतयोसुरा अपि ब्रह्मविष्णुशिवोपासनया प्रभूतबलाः श्रूयन्त इति कथमेकान्ततो दैवसृष्टावेव गुणाभिमानिदेवानां साधनत्वोक्तिः सङ्गच्छतामिति चेत्, सत्यम्। श्रूयन्ते यद्यपि तथापि तदुपासनं क्षेमार्थं न भवति, किन्तु स्वपरोपद्रावणार्थमेवेति फलभेदादपि साधनभेदस्तत्रावश्यमङ्गीकार्य इत्याशयेन देवसृष्टावभिमतं फलं निर्दिशन्ति स्म क्षेम एवेत्यादि। क्षेमः कुशलं वर्तत इत्येवागतं पृच्छन्ति। अतः क्षेम एव न तु तत्, तद्देवतासायुज्यमपि फलम्। उद्देशाभावात्। फलम् आनन्दाविष्टो भगवान् तस्य लोके क्षेमः कार्यमिति क्षेमः फलम्। आनन्दाविष्टो भगवान् फलमिति फललक्षणम्। अतो न प्रमेयसाधनयोः फललक्षणातिव्याप्तिः।

वदन्ति च। 'नमोस्तु राज्यवृक्षाय षड्गुण्यगुरुशाखिने। सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिन' इति। तथा च देवसृष्टौ गुणाभिमानिनां देवानां यत् साधनत्वमुक्तं तच्च स्वरूपसत्तामात्रेण न निर्वहति किन्तु यागादिवद् वैदिकादिमार्गेण श्रद्धापूर्वकं उपासनादिव्यापाराविष्टा एव तथा। एवं च हिरण्याक्षबाणप्रभृतयो हि स्वेष्टदेवत्वज्ञानेन श्रद्धापूर्वकं सदुपदेशान् न भजन्ति स्म, किन्तु कौतुकार्थमेव। कथमन्यथा 'दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मे भव'दितिनिर्मर्यादवचनं व्याहरेयुः। न ह्युपास्यं लक्ष्यीकृत्य संयुगप्रार्थनादिरुन्मत्तव्यवहार उपासकस्य योग्यः, तस्मान्नेदमुपासनं मर्यादया प्रेम्णा वेति, किन्तु केवलदम्भ एव, कथमन्यथा तत्रेश्वरः कुप्येत, वृकादीनामुपास्ये विरुद्धाचरणं स्पष्टमेवेति। किञ्चासुरा हि मायादेवताः सर्वे, माया हि व्यामोहिका कापट्यप्रधानेति तत्सेवका अपि तथेत्यपि कापट्ययुक्ता इति। उक्तपक्षपातस्तुतित्वं सङ्गमयितुमाहुः तत्रापीत्यादि। चतुर्षु। तत्रेति चतुर्षु प्रमाणादिषु।

अनृतमिति राजसमनृतं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यत्र पुरुषः तामसज्ञानविषयः। व्यावहारिकं गुणसन्निपातकार्यम्। शम्बरादिदर्शिता मायात्रानृतं प्रमाणं भगवत्स्थानापन्नत्वात् प्रवर्तकमित्यर्थः। 'ज्ञानकाशये'ति मायाविशेषणात्। 'माया च तमोरूपे'ति श्रुतेस्तमोरूपापि। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरितिपक्षे रजसः संशयस्तमसो विपर्यासः सत्त्वान्निश्चयः। माया शब्दात्मिका प्रमाणं स्पष्टम्। अर्थात्मिकापि प्रमाणं दैत्यप्रवर्तकत्वात्। तेन द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'आत्ममायामृते राज'न्नित्यत्र राजसतामसज्ञानरूपिका स्वयम्। सत्त्वं ज्ञानं व्यावहारिकम्। अत्र दैत्यपदेन लक्षणतो ये दैत्यास्त एव विवक्षिताः। अतो प्रह्लादादौ न नियमभङ्गः। तल्लक्षणं च 'भूमिर्दृप्तनृपव्याजे'त्यत्र निरूपितम्। उच्छास्त्रवर्तित्वम्। दित्युपाख्याने दयाभाव एवमन्यत्रापि हिंसाविहारभगवत्प्रत्यनीकत्वादित्तत्तत्प्रकरणादूह्यम्। प्रह्लादादीनां दैत्यवंशोत्पत्तिस्तु तद्वंशोद्धारार्थं, एकविंशतिपुत्रपौत्रादिरूपवंशोत्र। अत इति प्रमाणप्रकरणात् देवपक्षपातात्, यत इयं पक्षनिरूपिका स्तुतिरतो हेतोः। अत्रेदं ज्ञेयम्। पुरुषोत्तमपक्षे पक्षपातो न घटते, 'सत्यं चानृतं च सत्यमभव'दितिश्रुतेर्भगवतः सर्वरूपत्वात् तथापि ब्रह्मादिभक्तैः सर्वरूपेणैव स्तूयेत न तु सत्यरूपतामात्रेणेति स्तुतस्तद्वशः सन्नम्बरीषप्रसङ्गेम्बरीषपक्षपातो दुर्वासाः स्वशङ्करांशोऽपि न पक्षे पातितः भक्तवश्यत्वात्। एवं श्लोकतात्पर्यमुक्त्वा तत्र स्थितानामष्टविशेषणानां तात्पर्यं वदन्तः 'सत्यं पर'मिति वक्ष्यमाणश्रुतिनिरूपितपञ्चविधसत्येन सहैतच्छ्लोकोक्ताष्टपदनिरूपणीयसत्यस्यैकार्थतां दर्शयितुमाहुः सत्यमपीत्यारभ्य वेदे सत्यं पञ्चविधं निरूपितमित्यन्तेन। 'सत्यं पर'मित्यादिश्रौतवाक्यैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलधर्मिभेदेन पञ्चविधं सत्यं वेदे यन् निरूपितं तदत्र श्लोके देवानां हितकार्यष्टविधं निरूपितं भवति। अत्र टिप्पण्याम्। अग्र इति विशेषणत्रयव्याख्यानोत्तरमष्टविधत्वं, चकारात् 'सत्यस्य सत्य'मित्यस्य व्याख्यानोत्तरं प्रमाणादिचतूरूपमित्यादिना त्रयोदशविधत्वत्रिविधत्वाभ्यां च षोडशविधत्वं च स्फुटीभविष्यतीत्यर्थः। सुबोधिन्याम्। तर्ह्येकैकेनैव विशेषणेनैकैकं सत्यं प्रतिपादनीयमित्यष्टभिर्विशेषणैरष्टविधं सत्यमत्र निरूपितं भविष्यतीत्युपस्थितामाकाङ्क्षां निरसितुमाहुः अंशतः षोडशविधमित्यादि। वेदे यत् पञ्चविधमुक्तं तदत्र सत्यमंशतः षोडशविधं निरूपितं भवतीत्यर्थः। अंशत इति उत्पत्त्याश्रितधर्मादिचतुष्टयस्य तथा धर्मिणश्च विचारेणेत्यर्थः। तथा च यद्यत्राष्टविधमेव सत्यं प्रतिपादितुमिष्टं स्यात् तदा त्वेकैकेन विशेषणेनैकैका विधाच्येत, तत् तु नास्ति किन्तु षोडशानां विधानामत्रांशतः सत्ये प्रतिपिपादयिषितत्वाद् यथासम्भवं प्रथमेन पदेन विधाद्वयं द्वितीयेन विधाचतुष्टयं तृतीयेन विधाद्वयं तुरीयेणैका विधा। ततः पञ्चमादित्रिभिः प्रत्येकं विधाद्वयमष्टमेन चैका विधेत्येवं षोडशविधानां प्रतिपादनीयत्वान्नोक्ताशङ्केति भावः। अत्र पञ्चविधं सत्यं तैत्तिरीये महानारायणे तच् छान्दोग्ये उद्गीथविद्यायामष्टविधमुक्तं तत् प्रश्नोपनिषदि षोडशविधमुक्तमिति सुबोधिन्यामपि तथा निरूपितम्, पक्षपाते स्वस्मिन्नाकर्षणार्थम्। पञ्चविधं सत्यं 'सात्मना प्रथमा लीले'ति कारिकया पञ्चाध्याय्यां प्रोक्तं तस्याष्टविधत्वं छान्दोग्ये तत्र छान्दोग्यीयषोडशविधानामवतारकाल उद्दिष्टाभिः षोडशविधाभिः प्रश्नोक्तषोडशविधानामतिदिष्टानामवतारिसम्बन्धिनीनां कासांचिद् बाधः। एवं च 'पुरुषत्वे च मां धीराः साङ्ख्ययोगविशारदाः आविस्तरां प्रपश्यन्ता'ति वाक्यमत्र। पञ्चविधसत्यनिरूपकं वेदमाहुः सत्यं परमित्यत्रेति। श्रुतिद्वयं महानारायणोपनिषदि। प्राजापत्यो गोत्रतः 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' हेति प्रसिद्धे। प्रजापतिर्भगवान् वा, तथा च गीता 'अहं बीजप्रदः पिते'ति। अरुणस्यापत्यं आरुणिः 'अत इञ्'। श्रुत्युक्तं पञ्चविधत्वं स्फोरयन्तः श्रुतिं व्याकुर्वन्ति स्म यत् सत्यमिति। अत्र टिप्पणी वक्ष्यमाणेति वक्ष्यमाणो यः श्रुत्यर्थः 'सत्यव्रत'पदेन तन्निरूपकं श्रुतिवाक्यमित्यर्थः। 'प्राजापत्यो हारुणि'रित्यत्र 'सत्येन वायुरावाती'त्यादिपञ्चविधं सत्यं 'सत्यं पर'मितिव्याख्यानोत्तरं व्याकृतं भविष्यति 'अत्र श्रुतिरनुसन्धेये'ति सुबोधिन्या। परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वं, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यादिश्रुतिदृष्टमत्रापीत्याहुः सर्वेभ्य इति। यद्वेति अत्र टिप्पणी वाशब्द एवाकारार्थो वाक्यालङ्कारे इति यद्वा सर्वोत्कृष्टमित्यत्र वाशब्द इति व्याख्येयम्। यदेव सर्वोत्कृष्टं तत् सत्यमिति व्याख्या। अत्र सर्वोत्कृष्टत्वस्य विधेयत्वयोगव्यवच्छेदकैवकारो न किन्तु वाक्यालङ्कार इत्यर्थः। एवं सत्यत्वेत्यादिनेति व्यतिहारेणैक्यं प्रतिपादनीयमित्यर्थः। यथा कृष्णोहमहं कृष्ण इति। 'परं सत्य'मितिश्रुतौ वाशब्दाभावात्, अस्य चोक्त 'परं सत्य'मितिश्रुतिव्याख्यानत्वादितिभावः। श्रुताविवेति अत्र प्रतिपादनीयमित्यस्य प्रकृतार्थत्वादाहुः स्तुतावपीति।

सुबोधिन्याम्। एवं विधाद्वयं व्याख्याय तृतीयां व्याकुर्वन्ति स्म अत एवेति। यतः सत्यपरयोरैक्यं अतः साधनफलयोरैक्यादेव न तु भिन्नत्वात्। 'सत्येन स्वर्गालोकात्' परशब्दार्थात् आत्मसुखरूपात्। कदापीति आत्मसुखैकीभावात् तथा। तुरीयां व्याकुर्वन्ति स्म एहिकेपीत्यादि। अत्र 'सतां हि सत्य'मिति श्रुतं वाक्यं साकाङ्क्षं तत् 'मूलं फल'मितिपदद्वयेन पूरितम्। मूलं प्रवृत्तिकारणम्। पञ्चमीं व्याकुर्वन्ति स्म अत इत्यादि। प्रमाणप्रमेयेति सर्वोत्कृष्टं प्रमाणं भगवान् 'सत्यं पर'मित्यनेनोक्तम्। प्रथमोपस्थितत्वाद'त्र प्रमाणं भगवा'निति वाक्योपस्थित्या न फलं भगवान्। कार्यकारणयोरभेदाच्छब्दव्यत्ययेन प्रमेयं कार्यं 'परं सत्य'मित्यनेनोच्यते। 'सत्येने'ति तृतीयया साधनम्। 'सत्य'मिति फलम्। साधनानन्तरं तस्यौचित्यात्। सत्य एवेति स्वमूलभूते धर्मिणि। उपलक्षणं सत्यपदं ज्ञानानन्तयोरिति वक्ष्यन्ति। न त्वनृते रमन्ते। तदत्रापीति स्तुतावपि। वेदान्तसारत्वात् श्रीभागवतस्य। स्तुतिवाक्यं व्याकुर्वन्ति लोके हीत्यादि। अत्र टिप्पणी स्पष्टा। पर इत्युच्यत इति लोकोक्तिः यद्वा परमस्यास्थेयत्वेनास्तीति परः। अर्श आद्यच। तथा सत्यमपीति अत्र आतिष्ठतीत्यन्तमावर्तते। तथा चैतयोरास्थानाल्लोके परत्वकथनेन श्रुतौ 'सत्यं पर'मित्यत्र

स्वविशेष्यव्रतबोधकसत्यव्रतमिति पुराणोपष्टब्धं सत्यपदं सत् सत्यं व्रतं च प्रतिपादयत्युपलक्षणविधया एवं प्रतिपाद्यपरमित्यनेन परैक्यं प्रतिपाद्यत इति 'सत्य'शब्देन सत्यं व्रतं चेत्युभयं सङ्गृह्यत इति भावः। तदेतत् प्रकृते योजयन्ति स्म भगवतस्त्विति। उभयं सत्यं व्रतं च अत्रोभयत्वं परत्वं वा शक्यतावच्छेदकं उद्देश्यतावच्छेदकं च न तु सत्यत्वसमानाधिकरणं व्रतत्वम्। शरीरगौरवात्। अतो नोद्देश्यतावच्छेदकविधेययोः सत्यत्वयोरैक्यं प्रयोगबाधकम्। घटो घट इति प्रयोगाभावात् उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यात्। घटे घटत्वमिति तु भवत्येव प्रयोगः। तुना लौकिकव्रतसत्ययोर्व्यावृत्तिः क्रियते। उभयं सत्यमित्यस्य योजना यत् सत्यं यथार्थं, तत् उभयं सत्यं व्रतं चेति द्वयमिति। यद्वा उभयं सत्यमित्यस्यैवं योजना यत् सत्यं त्रैकालिकाबाधितं न तु यथार्थम्। यथार्थमित्यस्य 'परं सत्यं'मित्यत्रैवार्थत्वं अन्यत् पूर्ववत्। इदं द्वयं भगवद्देवताकं, यत् पुनर्दम्भादिना कृतमयथार्थं तद् भगवत्स्वामिकं भगवदाज्ञया प्रवृत्तं न। यदभावे तत्र भगवत्स्वामिकत्वाभावः इति व्यतिरेकः न तु यदभावे भगवदभाव इति व्यतिरेकः। ननु श्रुतौ परशब्दसत्त्वेपि 'सत्यव्रत'मित्यत्र 'पर'पदाभावात् कथमुभयोरेकवाक्यतेति चेत् सत्यं सत्यव्रत'मित्यत्र सत्यं सर्वोत्कृष्टरूपं परं व्रतं व्रतसत्योभयार्थकं उपलक्षणविधया। श्रुतौ सत्यपदं सत्यव्रतार्थकं यथा तथा स्तुतौ व्रतशब्दः व्रतसत्योभयपरं एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति। अत्र 'सत्यं पर'मित्यत्र परत्वं विधेयम्। 'सत्यव्रत'मित्यत्र सत्यत्वं परत्वं विधेयम्। 'कुटादिर्ब्राह्मणादयः शूद्रदाशोत्तराः प्रजा' इतिवदुत्तरस्य विधेयत्वम्। उत्तरस्योद्देश्यत्वं वा। एवं सत्यं व्याख्याय 'तस्मात् सत्ये रमन्त' इति श्रुतितात्पर्यबोधनाय पदसम्बन्धमाहुः सत्यमेवेति। एवकारो न विग्रहघटकः किन्तु दम्भादिकृतसत्ययोगव्यवच्छेदकः। तथा च सत्ये रताः रमणयुक्ताः शरणं प्रपन्नाः न तु भयादिनेति ब्रह्मरुद्रमात्रपरम्। सजातीयदेवानां भयादिसत्त्वात्। एतेन सत्ये प्रमाणे रता इति वाक्यार्थ उक्तः। यद्वा सत्ये फले प्रवर्तके रता इत्यर्थः। एवं पदसम्बन्धमुक्त्वा 'लोके हि व्रत'मित्यादिना यदुक्तं तन्निगमयन्ति एवमित्यादि। उभयोरिति अत्र टिप्पण्याम्। तदुभयेति व्रतसत्योभयप्राप्तौ। तथा च व्रतपदं स्वशक्यस्य नियमस्य परत्वेनैव सम्बन्धेनाजहत्स्वार्थया वृत्त्या सत्यमपि प्रापयतीत्यर्थः। सुबोधिन्याम्। एवं 'सत्यव्रत'मितिपदं व्याख्याय 'सत्यपर'मितिपदं व्याकुर्वन्ति अतः परमिति। अत्र टिप्पण्यां अत्रापीत्यादि। सत्यपरमिति पदेपि। लोके लौकिकं नियामकं तप्ततैलादौ शपथादिरूपम्। वैदिकं द्वादशविधं चेति योजनया द्वैविध्यं निरूपितमित्यर्थः। परत्वसर्वोत्कृष्टत्वयोरैक्योक्तेः। 'परं सत्य'मिति श्रुत्यनुरोधेन परपदव्याख्यानम्। परपदार्थस्तूत्कृष्टत्वं पूर्ववत्। अभेदे सति प्रमाणे निरूपणीये उत्कृष्टे सत्यत्वं विधेयम्। प्रमेये उत्कृष्टे सत्यत्वं विधेयमिति। प्रमाणे तु सत्ये उत्कृष्टत्वं विधेयं परन्तु परत्वोत्कृष्टत्वयोरैक्यमेव। प्रमाणं भगवान् प्रमेयकार्याभिन्नम्। यद्वा परपदार्थो लोके नियामकत्वं, तच्च यथाशास्त्रं तप्ततैलादौ शपथप्रणीयमानदण्डनीत्यादिरूपम्। राजादिनिष्ठम्। 'दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषता'मिति गीतावाक्यात्। अयमुक्तार्थान्नातिरिच्यते। सुबोधिन्याम्। 'सत्यं तप' इति महानारायणस्था श्रुतिः। सत्यं प्रथमाष्टके औपधिसांनाय्यरूपं विद्यात्वे सति वेदप्रतिपाद्यत्वात्। तपो द्वितीयाष्टके यज्ञः वायूपधावनरूपः। वायव्यं श्वेतमालभेते'तिश्रुतेः। दमः तृतीयाष्टके इन्द्रियदमनरूपः 'प्रजाः सृजेये'ति 'स तपोतप्यते'ति श्रुतेः। तप ऐश्वर्ये दि० आ० अनि० लङ्। शमः चतुर्थाष्टके 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धिय' इति श्रुत्यां मनोयोगोक्तेः। दानं पञ्चमाष्टके होमरूपम्। 'सावित्राणि जुहोती'तिश्रुतेः। सवितृदेवताकद्रव्याणां दानम्। हु दानादानयोः। धर्मः षष्ठाष्टके प्राचीनवंशकरणपूर्वकः 'प्राचीनवंशं करोती'तिश्रुतेः। प्रजननं सप्तमाष्टके कामरूपम्। 'प्रजननं ज्योति'रिति श्रुतेः। अग्नयो ब्रह्मचारिणः। अग्निहोत्रं गृहस्थस्य। यज्ञो वानप्रस्थस्य। 'वन्यैः चरुपुरोडाशै'रितिवाक्यात्। मनःसन्न्यासश्च यतेः। 'मनः पूतं समाचरे'दिति वाक्यात् मनः। 'आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरे'दितिवाक्यात्। वैदिके धर्मे 'आश्रमादाश्रमं गच्छे'दित्युक्तम्। परत्वमुत्कृष्टत्वं स्पष्टं, द्वादशविधपरस्मिन् श्रुतिरपि महानारायण एव, 'किं भगवन्तः परमं वदन्ती'तिप्रश्नेन तदुत्तरेण च परमत्वेनोक्तत्वम्। परमित्यत्र मवर्णागमः परमित्यर्थः। एवं परपदं व्याख्याय 'सत्य'पदं श्रुतिस्थं व्याकुर्वन्ति तत्सर्वमिति। आकर्षणान्तः। यथार्थमिति अर्थमनतिक्रम्येति यथार्थम्। अव्ययीभावः। यद्रूपं तदेवैतत् सर्वरूपेण जातमाकृष्टं च। अयथार्थं यद्रूपं तदिदं न भवति मायाकार्यत्वादित्यर्थः। एवं सत्यपदार्थ एक उक्तः द्वितीयः व्रतरूपोग्रे वक्तव्यः। अनेन श्रुतिस्थं 'सत्यपर'मितिपदं व्याख्यातप्रायम्। तदेतत् परत्वं स्मारयन्ति अत्र श्रुतिरिति। 'प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवं सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति'। एवं तपो दमः शमो दानं धर्मः प्रजनश्रुतयः। अग्न्यग्निहोत्रयज्ञमनःसन्न्यासश्रुतयश्च।

अर्थस्तु 'सत्येन' पूर्वजन्मीनसत्यभाषणेन मनुष्यत्वाद् देवतारूपत्वं प्राप्य लोकोपकारार्थं 'वायु'र्भूत्वा 'आवाति'। एव 'मादित्यो'पि 'दिवं' दिवि वा 'रोचते' प्रकाशं करोति। 'सत्य'मेव 'वाचः' वागिन्द्रियस्य 'प्रतिष्ठा' स्थिरं स्थानम्, अनृतं तु न स्थिरं स्थानम्। 'सत्ये' यथार्थभाषणे 'सर्वं' व्यवहारजातं 'प्रतिष्ठितम्'। 'तस्मात् सत्यं' 'परम'मुत्कृष्टं साधनं 'वदन्ति' इति। अत्र प्रथमे वाक्यद्वये आमुष्मिकफलोत्कर्षः सिध्यति। तदग्रिमवाक्यद्वये चैहिकफलोत्कर्षः सिध्यति। एतदभिप्रेत्यैव प्रथमायां 'सत्यं पर'मिति श्रुतौ 'सतां हि सत्य'मिति श्रुतावैहिकं फलं व्याख्यातम्। भगवतो व्रतानीति। अत्र टिप्पण्याम्। भगवद्व्रतानां परत्वं तु असाधारणत्वादेव स्फुटम्। शेषस्य भगवन्नियामकस्य यथार्थरूपसत्यस्य पूर्वोक्तस्य वरत्वं 'अत्र श्रुतिरनुसन्धेया पूर्वनिर्दिष्टे'ति सुबोधिन्यामेवोपपादितमित्याशयेन सत्यस्यार्थद्वये शक्तस्य यथार्थरूपमर्थमुक्त्वा व्रतरूपमर्थमाहुः

भगवतो व्रतमित्यादि। 'भगवतो व्रतानी'त्यारभ्य 'प्रतिपादितानी'त्यन्तसुबोधिन्योक्तम्। पूर्वोक्तं सत्यस्यार्थं स्मारयन्ति स्म लोकानुसारेणेति। देवहितकारिणो भगवतः नियामकमिति सत्यं यथार्थरूपं पूर्वोक्तम्। सत्यमेवेति 'सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यती'ति। एवकारेण तस्य परयोगव्यवच्छेदः क्रियते। यद्वा 'सत्यव्रत'मित्यत्र व्रतपदं सत्यव्रतोभयवाचकमुक्त तथाप्यत्र प्रमेयनिरूपणे यथा प्रमाणनिरूपणे सत्ये परत्वेनोपस्थिते व्रतसत्यत्वयोर्विधानं तथा प्रमेयनिरूपणे परस्मिन्नर्थचतुष्टयरूपे सत्यत्वस्य यथार्थत्वस्य विधानमत्र सुबोधिन्यां बोध्यं टिप्पण्यां तद्विवृत्तं वाध्यम्। तथा सति परपदेन विधाचतुष्कसङ्ग्रह इति भावः। एवं च स्तुतौ सत्यपरपदे सत्यं परं यस्येति बहुव्रीहौ लम्बकर्णादिवत् पूर्वनिर्दिष्टस्य विशेषणभूतस्य सत्यस्य विधेयत्वम्। परपदोक्तस्य चतुर्विधस्य नियामकादेरुद्देश्यत्वं बोध्यम्। एवमत्र श्रुत्युक्तव्यतिहारबोधकं मूलस्थं पदद्वयं विवृतम्। व्यतिहारफलमैक्यं त्वग्रे विवेचनीयम्। सुबोधिन्याम्। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'ति गीतायाम्। 'द्विःशरं नाभिसन्धत्ते रामो द्विर्नैव भाषते। द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो द्विः स्थापयन्ति नाश्रिता'निति वाल्मिकीये। अर्थस्तु। एकेनैव शरेण प्रतिपक्षो निराकरणीयः शरान्तरं च नैव योजनीयमित्यर्थे श्रीरामचन्द्रं नियमयति स्म। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीती'ति श्रुतिः। द्वा इत्यादि द्विवचनान्तम्। आवोडा। 'सुपां सुलु'गिति सूत्रेण। 'वृक्षे' शरीरे। 'परि'पूर्वकः 'ष्वञ्ज' सङ्गे धातुः तु० आ० अनि० लिड्द्विवचनान्तम्। 'पिप्पलं' कर्मफलम्। 'अभिचाकशीति' पश्यति। 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वह'मितिवाक्यम्। हृदयत्वं चिन्तनवशात्। आदिपदेन 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'तिवाक्यम्। भक्तैः सह निगूढभावकरणात् तथा। सर्वत्र नियमो ज्ञातव्यः। सुबोधिन्याम्। लोके हि त्रय इति। अत्र टिप्पण्याम्। त्रिसत्यमिति। अष्टविधत्वं प्रथमे विधाद्वयं व्रतसत्यरूपं द्वितीये विधाचतुष्टयम्। द्वयं परशब्दार्थः लोके लौकिकं नियामकं वैदिकं द्वादशविधम्। सत्यपदार्थद्वयम्। सत्यं व्रतं च। यद्वा चतुष्कं परपदार्थः सत्यत्वं विधेयं भूरादित्रयं कायादित्रयमिति द्वयमित्यष्टविधत्वं सत्यस्येत्यर्थः। सुबोधिन्याम्। लोके हीति लोकास्त्रयो व्याहृतिरूपाः। कायादय इति आत्मोपनिषदि बाह्यात्मान्तरात्मा परमात्मेत्युक्तम्। बाह्य आत्मा कायः। अन्तरात्मालिङ्गम्। परमात्मा जीवः। सत्या यस्येति व्याहृतिलोकानां सत्यत्वम्। अनेनेति व्याहृतिरूपलोकग्रहणेन। त्रिसत्यपदेन वा।

साधनफले 'सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचने'तिश्रुत्युक्तं साधनम्, 'सतां हि सत्य'मितिश्रुत्युक्तं फलं कार्यकारणवस्त्वैक्यमशर्नेनैकीकृत्य। कार्यकारणभावस्तु'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्यय'मितिवाक्यात्। एवं चतुर्धेति अत्र टिप्पण्याम् उपपत्तिरूपपदमष्टविधपदं चतुर्धापदं प्रतिलोमक्रमेण व्याख्यातम्। तत्र प्रथमम् उपपत्तिरूप इति पदं व्याकुर्वन्ति स्म भगवतः कालरूपस्येति। कालदेहोनन्तः कृष्णः कालात्मा कालः सङ्कर्षणः स आत्मनि स्वरूपे यस्य स कालात्मेति व्याकृतं 'कालात्मा भगवाञ्जात' इति कारिकाव्याख्याने कालात्मपदम्। तथा च कालरूपस्य कालदेहस्य। कालं सङ्कर्षणं गृहीत्वावतीर्णस्य पुरुषोत्तमस्येति च। तत्र कालः प्रकृतिक्षोभकोपि देहः। अथ कालयोर्देहसङ्कर्षणयोरात्मापि काल इति पक्षो न सम्भवति। सङ्कर्षणोत्पत्तेर्द्वितीयाध्याये निरूपणादिति। तत्र सङ्कर्षणनिरूपणं जन्मप्रकरणार्थं न त्वध्यायार्थत्वार्थमतोयमपि पक्षः साधुः। छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठके श्वेतकेतूपाख्याने प्रथमोपदेशे परदेवतात्मकोणिमोक्तः। द्वितीयोपदेशे काल उक्तः। सोत्र वक्तुं शक्य इति। तत्र कालात्मकोणिमोक्तः। यद् भवन्ति तदा भवन्ति 'स य एषोणिमे'तिश्रुतेः। तदेति काले दाप्रत्ययान्तं पदम्। तत्र नाना रसाः दृष्टान्तेत्र सर्वांशाकर्ष इति। भगवतः कालरूपस्येत्यर्थो वा। उपपत्तिरन्यथाज्ञानमित्याशयेनाहुः यदि सत्यरूपत्वमिति। सत्येनाष्टविधेन रूप्यते व्यवह्रियत इति सत्यरूपं तस्य भावः सत्यरूपत्वम्। इदं सत्त्वं विधेयम्। व्रतादिकमिति आदिना सत्यम्। सत्यव्रतमित्यत्र व्रतपदार्थौ नियामकं लौकिकम्। वैदिकं च द्वादशविधम्। व्रतानि चेति चकारेण भगवन्नियामकसत्यम्, अन्यथाज्ञानमेतत्। सप्तमस्कन्धे 'समः सुहृत् अविकृतं ब्रह्मे'तिपक्षपाते। तथा चोपपत्त्या रूप्यते व्यवह्रियते इत्युपपत्तिरूपो भगवान्। अष्टविध इति सुबोधिनीं व्याकुर्वन्तः 'सत्यव्रत'पदव्याख्याने 'सत्यपर'पदव्याख्याने च व्रतसत्यपदव्याख्याने च व्रतसत्ययोः प्रतिष्ठत्वात् तयोरभेदे, परपदोक्तनियामकयोश्चाभेदे, विधाष्टकपूर्तिर्दुर्घटेति तदभावाय स्पष्टयन्ति स्म व्रतं हीति। इत्यादीत्यन्तं 'सत्यव्रत'पदं विवृतम्। यत्र सिद्धं यद् व्रतं सत्यं च तत्प्रमाणभूतं बोध्यम्। भगवत्सम्बन्धिना तादृशेन लौकिकव्रतेन सत्येन च कर्तृनिष्ठधर्मप्रमितिजननात्। अन्यत् स्पष्टमिति 'यत् परं लोक' इत्यादिसुबोधिनीस्थं 'लोके लौकिकं नियामक'मित्यादिना विवृतत्वात् स्फुटमित्यर्थः। तदेतत् सङ्गृह्णन्ति लौकिकमित्यादि। लौकिकमिति नियामकमितिशेषः। नियामकं चेति देवहितकारिणो भगवतो नियामकं च। इदं चतुर्विधं सत्यं प्रमेयभूतं बोध्यम्। स्मार्तवैदिकभगवद्वाक्यैः प्रमितत्वात्। एवं षड्भेदैर्द्वे अपि परसत्यरूपे श्रौते विधेयकोटी ज्ञापिते। 'त्रिसत्य'पदोक्तं विधाद्वयं व्याकुर्वन्ति लोका भूर्भुव इत्यादि। कायजीवेति जीवो लिङ्गम्। 'जीवो जीवमजीवय'दितिवाक्यात्। लोकाः फलरूपा इति पुरुषार्थत्वेन प्राप्यत्वात् फलरूपाः। इतरे त्वितराणीति इतरे कायादय इतराणि साधनानि। इदं चेति 'त्रिसत्य'पदे त्रिसत्येनोक्तं द्विप्रकारकमित्यर्थः। चतुर्धेति सुबोधिनीं व्याकुर्वन्ति स्म पदद्वये इति।

'सत्यव्रतं सत्यपर'मिति पदद्वये यो विधेयभेदस्तेन द्वैविध्यमित्यर्थः। प्रमाणप्रमेयत्वाभ्यां द्विविधत्वम्। त्रयमिति त्रिसत्यपदे त्रिशब्देनोक्तं द्विविधम्। फलसाधनभेदेन द्विप्रकारकम्। तथा चैवं मूलस्थैस्त्रिभिः पदैः श्रौतं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपं सत्यं समर्थितं ज्ञेयमित्यर्थः। एवं चतुर्धा निरूपितो धर्मीति पञ्चविधः 'स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मेति प्राजापत्यो हारुणि'रित्यत्र

श्रुतेरत एवा'त्मना प्रथमा लीले'त्यत्र फलप्रकरणे पञ्चधा गणितः। सोष्टधा छान्दोग्यप्रथमप्रपाठके स षोडशधा प्रश्नछान्दोग्याभ्यां यद्यपि 'स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मेति प्राजापत्यो हारुणि'रित्यत्रत्य'संवत्सरोसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मे'ति परमेष्ठिनमुक्त्वोक्ता तथाप्यादित्यान्तःस्थः परमेष्ठी ब्रह्मैव (परमात्मैव), 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशा'दित्यधिकरणादिति पुरुषोत्तमपरत्वमक्षुण्णम्। सुबोधिन्याम्। नन्वेवं श्रौते चातुर्विध्ये स्वोक्तेष्टविधत्वे च समर्थिते शेषाणां पञ्चानां विशेषणानां किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां पक्षपातार्थं स्वोक्तषोडशविधापूरणं श्रौतव्यतिहारफलभूताभेदसाधनं च प्रयोजनमित्याशयेनाहुः उत्पत्तिरूपमित्यादि। उत्पत्त्यावतारेवतारिधर्मसत्योत्पत्तिधर्मपुरःसरधर्मप्रथमज्ञप्तिरूपया रूप्यते निरूप्यत इति तादृशं पञ्चभिर्विशेषणैर्निरूपयतीत्यर्थः। योनिः कारणमिति कालात्मनो देहरूपकालस्य समवायित्वाभावात् प्रसिद्धं निमित्तमात्रत्वमुक्तम्। तेनाभिन्ननिमित्तोपादानत्वमुक्तं भवति। ननु भगवानेवेति निरोधलक्षणग्रन्थे एवकारेण कालरूपदेहयोगव्यवच्छेदः स्यादत आहुः कालात्मेति। श्वो न भवेदिति द्वितीयदिनात्मकः कालो भगवता यदि नोत्पादितो भवेत् वागसत्यैव स्यात्, श्वो दास्यामीति प्रतिज्ञायां कालोपि विशेषणत्वेन प्रविष्ट आगामिदिनाधिकरणकभविष्यत्कालीनदानानुकूलो व्यापार इत्येवम्। एवं च द्वितीयादिनात्मकः कालो नाविर्भवेत् तदा तु विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टदानस्याप्यसिद्ध्या श्वो दास्यामीति प्रतिज्ञावागसत्यैव स्यादित्यर्थः। इदं सत्यं श्रुत्युक्तद्वादशविधप्रमेयेषु प्रथमोद्दिष्टसत्यमुदाहृतम्। तस्यैव प्रमाविषयत्वात्। त्रिषु सत्यज्ञानानन्तेषु स्वरूपेषु पक्षपातस्तुतौ। तेन व्रतशपथादिरूपप्रमाणे कारणत्वं प्रथममुदाहार्यमिति कुचोद्यमपास्तम्। लाघवात्। तेन कालात्मनि गर्भनिविष्टे कारणत्वं ज्ञेयम्। एवं चाष्टविधसत्यनिरूपिता कारणता काले या निरूपिता सा नान्यन्यायसाधारणत्वेन किन्तु कालोत्र साक्षादेव विशेषणतया प्रविष्ट इति विशिष्टैव कारणता प्रतिपाद्यत इति। एवं सर्वत्रेति तथा चाष्टविधं सत्यं भगवदुपादानकारणकत्वाद् वाक्यसत्यत्वप्रयोजकं न तु मायोपादानकं सत्यं दम्भादिरूपं वाक्सत्यत्वप्रयोजकं कारणं वेत्यर्थः। एवं सत्यं प्रति कालो निमित्तं कारणम्। अग्रिमविशेषणेष्वप्यतिदिशन्ति स्म एवं सर्वत्रेति। सत्यवागात्मकप्रमेयवदन्यत्रापि तपःप्रभृतिषु श्रुत्युक्तेषु प्रमेयेषु राजनीतिदण्डादिरूपेषु लौकिकेषु प्रमेयेष्वभगवद्व्रतरूपेषु प्रकीर्णवाक्योक्तप्रमेयेषु तथा प्रस्तुतदेवहितकारिभगवदवतारप्रयोजकस्ववाक्यादिरूपे च प्रमेये तथा 'सत्यव्रत'मिति विशेषणोक्तद्विविधे प्रमाणे तथा 'त्रिसत्य'पदोक्ते साधने फले च सर्वत्र कालस्य हेतुत्वं ज्ञेयमित्यर्थः। अन्यथा कालसत्यत्व उपपत्तिरूपत्वमेषां सत्यानां न स्यादितिभावः। प्रकाशे तु एवं सर्वत्रेत्यस्य 'निहितं च सत्य' इत्यादिविशेषणेष्वप्यष्टविधं सत्यं तत्तदुक्तेन यथा 'सत्यस्य योनि'मित्यत्र सत्यकारणत्वेन तथा सत्यपालकत्वेन सत्यप्रलायकत्वेन नेत्रत्वेन आत्मत्वेन धर्मेण वा तत्तत्कार्याणि पालनादीनि तेषां प्रयोजकं ज्ञेयमित्युक्तम्। यदि पालनकालो न भवेत् तदा स्थितौ पालयतीतिवागसत्यैव स्यादित्यादि। अग्रिममवतारयन्ति स्म न केवलमिति। सत्यस्येत्यष्टविधस्येति ज्ञेयं सर्वत्र। यथा ब्रह्मा जगदुत्पाद्य कृतार्थो रक्षणादिक्रियायामुदासीनस्तथा भगवतो रक्षणादिक्रियायामौदासीन्यं वारितम्। सर्वसामर्थ्यसहितत्वात्। तेन नित्यमेव सत्यस्यापेक्षां कृत्वा पालयतीति सत्यस्योत्कर्षो दर्शितः। 'ननु निहित'पदस्याधेयपरतया रक्षणप्राप्तिः कथमित्यत आहुर्नितरामिति। तथा च योगेन रक्षणप्राप्तिरित्यर्थः। अत्र हि केवलयोगेन रक्षणक्रियाप्रतिपादने रूढार्थस्य सर्वथात्यागादरुच्या रूढोर्थोपि यथा सङ्गृहीतो भवति तथा प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति स्म स्वयं तत्र स्थित इति। तथा च यथा पङ्कजपदं रूढ्या पङ्कजत्वेन रूपेण पद्ममुपस्थापयति, योगेन पङ्कजनिकर्तृत्वं च बोधयति तथात्र सप्तम्यन्तसत्यपदसमभिव्याहृतनिहितपदं रूढ्या सत्यानुयोगिकां स्थितिं भगवति बोधयद् योगेन सत्यप्रतियोगिकहितकर्तृत्वं च दर्शयतीतिभावः। समुदायार्थ इति अवयवशक्तिविशिष्टरूढार्थ इत्यर्थः। उपपत्तिनिरूपकाष्टविधसत्येषु यथा प्रमाणादिरूपत्वं दर्शितं तथोत्पत्तिप्रसङ्गेऽपि दर्शयन्ति स्म अनेनेत्याद्याहेत्यन्तेन। 'निहितं च सत्य' इति विशेषणेन। अष्टविधसत्यकारणत्वस्य कालात्मनि उत्पत्तिविचारे प्रथमज्ञप्तिविचारेऽष्टविधं सत्यं भगवद्रक्षितत्वेन प्रमेयं निहितपदप्रथमार्थे। न ह्यरक्षितं प्रमातुं शक्यते। द्वितीयार्थे भगवदधिष्ठितत्वेन वाश्यादिवत् स्वस्वकार्यसाधनं चोक्तम्। न हि भगवदनधिष्ठितं सत्यं स्वस्वकार्यं साधयितुं शक्नोति। 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसे'ति वाक्यात्। ननु यद्येवं तर्हि प्रमाणफले कुत्रोक्ते इति चेत् तत्राहुः इतरावाद्यन्त्योरिति। अत्र टिप्पण्याम्। 'सत्यात्मक'मित्यन्तिमेन पदेन फलम्। एतस्माद्याद्येन'र्तसत्यनेत्र'मित्यनेन प्रमाणमित्यर्थः। भगवत्स्वरूपज्ञानशक्त्योः फलत्वप्रमाणत्वे प्रसिद्धे। आद्यं फलबोधकापेक्षया न तु प्रकृत 'निहितं च सत्य इत्यस्यापेक्षयेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथ वेति। फलमिति सत्यस्याष्टविधसत्यस्य कर्मासम्बद्धस्य लयस्थानं अतो लयः तत्स्थानं च फलम्। ननु योनिशब्दस्य कारणवाचकत्वादत्र प्रमाणनिरूपणं कथं सङ्गच्छत इत्याकाङ्क्षया 'सत्यस्य योनि'मित्यनेन प्रमाणनिरूपणे प्रकारमाहुः मानेत्यारभ्य मानमित्यन्तम्। 'योनि' शब्दस्य प्रमाणपरत्वं 'शास्त्रयोनित्वा'दिति व्याससूत्रे भास्कररामानुजाचार्याभ्यामादृतम्। इति तथेति इतरौ भगवन्तावाद्यन्तयोरित्यर्थः। क्वचिद् भगवद्ध्यानस्यैवौचित्यादिति भावः। मेयसिद्धिरित्युक्ते मेयज्ञानसिद्धिरितिलक्षणां वारयन्ति स्म पूर्वमज्ञस्येति। लौकिकाधिभौतिकसत्यज्ञानसत्त्वेप्याधिदैविकस्याज्ञस्येत्यर्थः। ज्ञानेन आधिदैविकज्ञानेन। तदैवेति ज्ञानकाल एव सिद्धमभूत् ज्ञानस्य विषयाविनाभावात्। एवकार आधिभौतिककालयोगव्यवच्छेदकः। तच्च ज्ञानं आधिदैविकं सत्यं भगवानित्याकारकम्। भानं फलं विवृतौ सुबोधिन्यामेव स्फुटं सत्य एवेत्यादिना।

सुबोधिन्यां नन्वितरावाद्यन्तयोरित्यत्र किं गमकमित्यत आहुः चकार इत्यादि। 'निहितं च सत्य' इत्यत्र चकार उक्तं समुच्चिन्वन्नित्यर्थकः स्यादित्यनुक्तं प्रमाणफलसमुच्चयरूपमाहेत्यर्थः। तथा च चकार एतद्गमक इति भावः। अत्रैवेति स्वसमवाय्याधि-

दैविकसत्य एव। एवकारश्चिदानन्दयोगं व्यवच्छिनत्ति। सत्यस्य सत्यमितीति। सत्यस्याष्टविधस्य सत्यं आधिदैविकमित्यर्थः। 'सत्यस्य सत्य'मित्यनेन कथं लयस्य बोध इत्याकाङ्क्षायामाहुः यथेत्यादि। बृहदारण्यके 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इत्यत्र पूर्णशब्दवाच्यस्य प्रपञ्चस्य 'पूर्णात् पूर्णमुच्यत' इति पदच्छेद उत्पत्तिः, 'पूर्णमुत् अच्यत' इति पदच्छेदे स्थितिं चोक्त्वा 'पूर्णस्य पूर्णमादाये'त्यनेन स्वजनके आधिदैविके पूर्णे ब्रह्मणि कार्यस्य लय उच्यते। तथात्रापि सत्यस्योत्पत्तिस्थिती पूर्वविशेषणाभ्यामुक्त्वात्र सत्यस्याधिदैविकं सत्यमितिबोधनेनोत्पत्तिस्थितिप्रसङ्गादेवात्र लय उच्यत इत्यर्थः। सत्यमिति अष्टविधम्। तद्यत्र कथं 'इतरावाद्यन्तयो'रितिसुबोधिन्युक्तस्य फलस्य 'सत्यस्य सत्य'मित्यस्य टिप्पणीद्वितीयव्याख्यानोक्तस्य बोध इत्यत आहुः सत्य एवेत्यादि उक्तटिप्पणीदिशापूर्वमज्ञस्य लौकिकस्याधिभौतिके सत्येष्टविधे एव प्रतिष्ठितं सत्यं स्वाधिदैविकं फलमित्यर्थः। तस्य चाधिदैविकसत्यस्य भगवत्त्वेन ज्ञानेन विषयस्वरूपमपि तदैव सिद्धं भूतमिति भानं फलमित्याहुः तच्चाधिदैविकसत्यस्य भगवत्त्वेन ज्ञानेन विषयस्वरूपमपि तदैव सिद्धं भूतमिति भानं फलमित्याहुः तच्चाधिदैविकमिति। 'मनस उतये मनो विदु'रितिश्रुत्या तथा सिद्धत्वात्। तथा चाष्टविधे सत्ये भगवत्त्वेन भाते सत्ये भगवत्त्वेन ज्ञानेन ज्ञानस्य विषयाविनाभावात् विषयस्वरूपमपि तदैव सिद्धं भूतं फलमित्यर्थः। भगवानेवेत्येवकारस्तु 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशा'दिति सूत्रात्। तथा च प्रलयो हि कारणे प्रवेशरूप इति कार्यं सत्यं कारणभूते सत्ये प्रतिष्ठितं भवति तच्च भगवानेवेति तेन भगवत्त्वेन रूपेण सत्यं फलमित्युक्तम्। तदुपपादयन्ति स्म अनेनेत्यादि। भगवतीति आधिदैविकसत्यरूपे इत्यर्थः। प्रतिष्ठितः प्रतिष्ठां भक्तिं इतः प्राप्तः तारकादिभ्य इतच्। स सायुज्ये फले सति सत्यः। यः सत्य इति आधिभौतिकेष्टविधे सत्ये प्रतिष्ठितपदार्थः पूर्वोक्तः। स आधिभौतिकसत्यद्वारा भगवति स्वाधिदैविकसत्यरूपे प्रतिष्ठित इति पूर्ववत्। उक्तमिति अनेन प्रकारेण फलमुक्तमित्यर्थः।

पञ्चविधमिति अत्र टिप्पण्यां प्रमाणादिचतूरूपं भगवति प्रतिष्ठितं भक्तरूपं सत्यं चेति पञ्चविधमिति। प्रतिष्ठितमित्यस्य भक्तरूपं सत्यमित्यर्थः। उक्तमितिशेषः। अष्टविधस्य सत्यस्यानेन प्रकारेणोत्पत्त्यादिप्रसङ्गे प्रतिष्ठितत्वस्यापि सिद्ध्या तदादाय पञ्चविधं सत्यमुक्तमित्यर्थः उत्पत्तिः प्रथमविशेषणेन, द्वितीयविशेषणेन प्रमेयं साधनं चोक्तम्। तृतीयविशेषणेन स्थितिः प्रलयश्चेति श्रीवल्लभजितः। इदं पूर्वान् नातिरिच्यते। प्रथमेन प्रमाणता। द्वितीयेन प्रमेयसाधनत्वे। तृतीयेन फलत्वं भगवति प्रतिष्ठितत्वं चेत्येतैः धर्मैः सत्यं पञ्चविधमिति पितृचरणाः। अनेनैव त्रयोदशत्वस्यापि सिद्धिमाहुः एतावतेत्यादि। अत्र टिप्पण्यां पूर्वोक्तमष्टविधमेतत् पञ्चविधं चेति त्रयोदशधा, तर्हि पूर्वप्रतिज्ञातषोडशविधत्वं कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः अग्रे ज्ञानशक्तिद्वयं धर्मी चेति षोडशधेति। सुबोधिन्याम्। क्रियाशक्तिरिति क्रियाजनककृतिरूपं क्रियात्मकं च भगवत्सामर्थ्यम्। अत्र क्रियाशक्तेस्त्रयोदशविधत्वमेवं ज्ञेयम्। कर्मकाण्ड इति प्रसिद्धेः क्रियाशक्तिर्वेदार्थः स च प्रमेयनिरूपणे लौकिको द्वादशधा वैदिक उक्त इति त्रयोदशधा। भगवान् वा तत्र निविष्टस्त्रयोदशः। ननु वेदार्थत्वेपि प्रकृतसत्यव्रतादिषड्विशेषणैः प्रतिपाद्या कथमिति चेच्छृणु। पक्षपातिस्तुतित्वाद् गौणक्रियात्वेन व्रतसत्ययोर्धर्मानुमापकत्वात् प्रमाणकोटिपातेपि कर्मरूपत्वात् क्रियारूपत्वम्। प्रमेयरूपाणां तप्ततैलादौ शपथरूपं सत्यादिद्वादशविधं वैदिकं भगवद्व्रतानि भगवतो नियामकं सत्यवाक्यं चेत्येषां नियामकानां यथासम्भवं क्रियारूपत्वात् क्रियाजनकत्वाच्च स्पष्टमेव। साधनफलयोश्च कर्मप्रधानकत्वात् तथात्वं तृतीयविशेषणे। चतुर्थविशेषणे प्रमाणस्यापि उत्पत्तिक्रियान्तःपातित्वात् तथात्वम्। पञ्चमे साधनस्य प्रमेयस्यापि तथात्वादेव क्रियारूपत्वम्। षष्ठे विशेषणे उत्पत्त्यादिक्रियान्तःपातित्वादेव च प्रतिष्ठितफलरूपयोरपीति तथा। गौणकर्मत्वेपि भगवच्छक्तित्वं तु भगवदाधारकत्वात् स्फुटम्। गीतायां त्रिविधं कर्मोक्तं 'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रह' इत्यष्टादशेध्याये। सप्तमं विशेषणं क्रियाशक्तिनिरूपणानन्तरं ज्ञानशक्तेः स्मरणाद् व्याकुर्वन्ति स्म ज्ञानशक्तिमित्यादि। वेदवेदान्तसारत्वादितिभावः। ऋतसत्यनेत्रे यस्येति नेत्रे ऋतसत्ये इत्यर्थः। 'चित्रगुमानये' त्यत्र 'शूद्रदाशान्ताः प्रजा' इत्यत्र वा पूर्वपदार्थस्य विधेयत्वदर्शनाच्च। ज्ञानजनिकां भगवच्छक्तिं सत्यत्वेन निरूपयतीत्यर्थः। नन्वत्र ऋतसत्ययोर्द्वयोर्निरूपणस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तदुपपादयन्ति स्म ज्ञानशक्तिरित्यादि। ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती ज्ञानप्रधाना शक्तिर्ज्ञानशक्तिः ज्ञानजनिका भगवच्छक्तिरिति यावत्। ज्ञानरूपा। 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते' इति भाष्यात्। द्विविधेति द्विप्रकारिका। 'उद्यमश्च तथा प्रोक्तः सामग्रीवल उच्यत' इति निबन्धात्। तत्रर्तसत्यनेत्रपदे समासवर्तिपदार्थावनु समास एकार्थीभावसामर्थ्यात्। तत्र प्रथमपदार्थः प्रमाणत्वावच्छिन्नं ज्ञातम्। द्वितीयपदार्थः प्रमेयत्वावच्छिन्नं सत्यम्। बलपदार्थः। सामग्रीरूपज्ञानस्य प्रमाणस्य बलं सत्यप्रतिपादकत्वेन ज्ञानरूपवेदस्य स्फूर्तिः। वेदस्यात्मत्वात् तज्ज्ञानस्य मनोमयविषयस्य ज्ञाने भगवत्प्राप्तिः। 'ऋते ज्ञानान् न मुक्ति'रित्यत्र वेदात्मज्ञानस्यापि वक्तव्यत्वात्। शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धेन ब्रह्मज्ञानकाले वेदज्ञानस्यावर्जनीयत्वात्। तदेतदुक्तं प्रमाणबलेनेति। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यान'मिति वार्तिकेन तृतीयाऽभेदे। प्रमाणबलाभिन्ना ज्ञानशक्तिरित्यर्थः। द्वितीयपदार्थः प्रमेयत्वावच्छिन्नं सत्यम्। तस्य सामग्रीरूपज्ञानस्य प्रमेयस्य बलं भक्तिर्ज्ञानं च ताभ्यां भगवत्प्राप्तिः प्रसिद्धा। वक्ष्यन्ति च 'प्रमाणानां बलं दग्ध्वा मोहयामास गोपिका' मित्यादि। तदेतदुक्तं प्रमेयबलेनेति। प्रमेयबलाभिन्ना ज्ञानशक्तिरित्यर्थः। एवं प्रमाणप्रमेयबलपदार्थेषु निश्चितेषु तदर्थयोर्ज्ञानशक्तिपदयोः षष्ठीतत्पुरुषः। तदेतद् विशदयन्ति स्म प्रमाणं वेद इति। अनधिगतार्थगन्तृत्वलक्षणं प्रमाणम्। ऋतसत्यरूपधर्मनिरूपणे भगवतः प्रमेयत्वाभावादाहुः प्रमेयं भगवद्धर्मा इति। तदुक्तम् 'थातो धर्मजिज्ञासे'ति प्रतिज्ञाय 'चोदनालक्षणोर्थो धर्म' इति। अत्रापि नोदनालक्षणसत्त्वात्। 'ये वै भगवता प्रोक्ता' इत्यादिवाक्यैः प्रमितत्वात्। ऐश्वर्यधर्माणां चोपलक्षणमित्याशयेन प्रमेयं भगवद्धर्मा इति

सामान्यनिर्देशः। यद्वा प्रमाणस्य बलं भक्तिः प्रमेयस्यापि बलं भक्तिरुभयोः करणत्वेन व्यापारावश्यकत्वात्। तेन प्रमाणप्रमेययो ऋतसत्ययोः स्वव्यापारबलविशिष्टे शक्तिः। ऋतसत्ययोर्भगवत्प्रापकत्वरूपनेत्रत्वाभावेन समासेनान्वयापत्तेः। ननु सत्यप्रसङ्गऋतनिरूपणमप्रसक्तम्। तथा च ऋतमिति विहाय 'सत्यव्रत' मित्यादिवत् सत्यनेत्रमित्येव वक्तव्यमित्याशङ्कां वारयितुमाहुः ऋतं सूनृतेति। सूनृता सत्यप्रतिपादिका 'ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिते' तिभगवद्वाक्यात्। वेद इति वाणीविशेष्यमिदम्। सत्यप्रतीति तेन सत्येन प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धात् सत्यप्रसङ्गऋतनिरूपणमितिभावः। अत इति सत्यप्रतिपादकत्वात्। ऋतनिरूपणमिति 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविश' दितिश्रुते ऋतं अग्निरूपा सूनृता वाक् वेदः ज्ञानमिति यावत्, वेदपदेन वेदान्तस्यापि वेदने ऋते कारणदृष्टिः कर्तव्या। तस्योभयविधस्य निरूपणं कृतमित्यर्थः। ननु ज्ञानशक्तेर्द्वेधा निरूपणे किं प्रयोजनमित्यतस्तत्प्रयोजनमाहुः भगवत्प्राप्तिरिति। द्वेधापीति शब्दार्थयोर्ज्ञानेन। वेदः शब्दः सत्योर्थः।

उक्तमिति द्वयमुक्तम्। ज्ञानक्रियारूपं प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपं च। शक्तिद्वयमिति अत्र न फलसाधनयोः प्राप्तिः प्रमाणप्रमेयनिरूपणप्रसङ्गे क्रियाज्ञानशक्त्योरन्तर्गडुत्वाच् चतुर्णाम्। 'कर्मणैव तु संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'त्यादिषु कर्मज्ञानयोर्भगवत्प्राप्तिसाधनत्वमुक्तम्। तन्मात्रोपबृंहणत्वात् प्रमाणप्रमेयमात्रोक्तेः। सत्य एवेति सत्ये पञ्चदशविधे पूर्वोक्त एव। सत्यमेवात्मा स्वरूपं यस्येत्यपि पाठः। अतति व्याप्नोतीत्यात्मेत्याहुः यः सर्वानेवेति। धर्मानिति पञ्चदशसत्यरूपानपि। 'सत्यात्मक'पदं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति कं फलं वेति। अत्र आत्मा च कं च तयोः समाहार आत्मकम्। सत्यं आत्मकं यस्येति विग्रहः। एतदेवाहुः सत्यमात्मा कमिति। सुखं फलम्। अत्र चकार एक उक्तः तस्याभिप्रायः। कर्मधारये पूर्वपदान्ते सकारः प्रयोक्तव्यः, द्वन्द्वे तु चरमपदान्ते चकारः समासार्थस्यैकत्वात्। चकारद्वये समासार्थद्वयापत्तिः। अत्र 'सत्य'मितिविधायकं पदम्। 'आत्मक'मुद्देश्यं पदम्। एवं प्रतिपादनस्य प्रयोजनमाहुः सच्चिदिति। सत्यरूपतेति ननु सच्चिद्रूपतानन्दस्येति कुतो नोक्तमिति चेन्न। पक्षपातस्तुतित्वेन सत्य एव भरात्। अत एव छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दितिश्रुतिः। 'सत्तामात्रं निर्विशेष'मिति देवक्या ब्रह्मविद्यायाः स्मृतिः। सत्यरूपता तूभयोरेवम्। आत्मा चित् कमानन्द इति। 'सत्यात्मक'मित्यत्रेति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणात्। तत्र तत्र सत्यादिरूपप्राधान्यात् सत्यादिरूपेण व्यवहारः। तादृश इति वैकुण्ठस्थे जीवैः वैकुण्ठद्वारस्थैः 'तीरं क्षीरपयोनिधे'रित्यस्य व्याख्याने वैकुण्ठस्य द्वारं क्षीरपयोनिधेस्तीरे उक्तम्। भगवद्गृहे शरणमार्गः स्वगृहे भक्तिमार्ग इति। 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति गोपालतापिनीयश्रुतेरेवकारः भक्तिमार्गयोगव्यवच्छेदकः। देवानामिति तेन ब्रह्मण ईश्वरत्वेपि देवानामन्येषां बहुत्वात् तदनुरोधेन पूर्वं जीवैरित्युक्तम्। सत्यतयेति 'तं यथा यथोपासते तद्वैनं भूत्वावतो'ति-बृहदारण्यकोक्तेः। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोके उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तत्र तैत्तिरीये शीक्षायां पृथिवी पूर्वरूपम्, द्यौरुत्तररूपम्, आकाशः सन्धिः, वायुः सन्धानम्, इत्यधिलोकम्, अग्निः पूर्वरूपम्, आदित्य उत्तररूपम्, आपः सन्धिः; वैद्युतः सन्धानम्, इत्यधिज्यौतिषम्, आचार्यः पूर्वरूपम्, अन्तेवास्युत्तररूपम्, विद्या सन्धिः, प्रवचनँसन्धानम्, इत्यधिविद्यम्, माता पूर्वरूपम्, पितोत्तररूपम्, प्रजा सन्धिः, प्रजननँसन्धानम्, इत्यधिप्रजम्, अधरा हनुः पूर्वरूपम्, उत्तरा हनुरुत्तररूपम्, वाक् सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्, इत्यध्यात्ममिति चतुष्कपञ्चकमुक्तम्। पूर्वद्विकं स्मार्तकृतपक्षपातस्तुतौ। तृतीयं वैदिककृतपक्षपातस्तुतौ। चतुर्थं लोककृतपक्षपातस्तुतौ। पञ्चमं भगवन्मार्गकृतपक्षपातस्तुतौ। एत्रं च माता पूर्वरूपमित्यंशः। सत्यस्य मातृवद्रक्षकत्वात्। सुबोधिन्यामग्रिमश्लोके 'पितराविवोत्पादकत्वं सूचित'मिति वक्ष्यते। अत्र प्रकाशे श्रीपुरुषोत्तमोपन्यस्तप्रश्ने 'इहैवान्तःशरीरे सौम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ती'तिश्रुतिः अवतारपरा। 'सुकेशा च भारद्वाज' इत्यारभ्य 'ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा' इतिश्रुतेः। अभेदादत्रापि षोडशकला नोक्ताः। छान्दोग्ये मधुविद्यायां तु वक्ष्यमाणाः अवतारपराः। 'तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचे'तिश्रुतेः। अग्रे'ऽच्युतमस्यक्षितमसि प्राणसँशितमसीत्युक्तमुवाचे'त्यर्थः। 'अच्युतमसी'त्यत्र हे आदित्य 'अक्षितं' अक्षीणं अक्षत वा स्वरूप'मसि,' 'अच्युतं' स्वरूपादच्युतं स्वरूपं 'असि' 'प्राण'श्चासौ 'संशितं' तनूकृतमसीति। मन्त्रत्रयार्थः। छान्दोग्यीयाः षोडशकला 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः' इत्यारम्भके प्रपाठके उक्ताः 'प्राचीदिक्कला प्रतीचीदिक्कला दक्षिणादिक्कलोदीचीदिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान् नाम'। प्रमाणं चतुष्कमिदं 'अत्र प्रमाणं भगवा'नित्यत्र 'तत्सम्बन्धात् कृतिस्तस्य प्रमाण'मिति। तत्तद्दिग्देवानां भगवत्त्वात् प्रामाण्यम्। 'पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै चतुष्कलः पादः ब्रह्मणोनन्तवान् नाम', कृत्या पृथिवी, पृथिवीति प्रमाविषयं प्रमेयं भवति। 'अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान् नाम', ब्रह्मत्वात् फलत्वं स्पष्टम्। 'प्राणः कला चक्षुष्कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान् नाम', 'प्राण' इन्द्रियवाचकोपीति साधनत्वं स्फुटं इत्युक्तास्ता उच्यन्ते। उपक्रमस्य सञ्जातविरोधित्वादुपसंहारोक्ता मनःकला। 'स मानसीन आत्मा जनाना'मितिश्रुतेः 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठती'ति गीतायाः। स्वस्थित्यर्थं मनः कलां मनोरूपमंशमाचकर्ष। कला धर्मा यद्यपि तथापि व्यापकत्वमपेक्ष्य धर्मत्वमस्त्येव ॥ २६ ॥

एकायनोसावित्यत्र एवं प्रमाणेति पूर्वश्लोके सत्यस्य प्रमाणत्वकथने 'सत्यात्मक'मित्यनेन प्रमाणरूपतां भगवत उक्त्वाऽग्रे 'त्वमेक एवास्ये'त्यनेन श्लोकेन साधनरूपतां वदिष्यन् तदुभयसंदष्टेनै 'कायन' श्लोकेन भगवतो जगद्रूपतया जगत्त्वेन जगतो लोकप्रमेयतां शास्त्रपुरःसरं स्तुतिपाठार्थमाहेत्यर्थः। ननु ब्रह्माण्डस्य वृक्षत्वमत्र निरूप्यतेतः कथमत्र भगवतः प्रमेयत्वप्रपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुः वृक्ष इवेत्यादि। वृक्षरूप इति न पक्षी नापि वृषभः वेदे। वेदान्ते तु 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुते'रेकं' मुख्यं रूपं वृक्षः। वेदवेदान्तसारत्वात्। इदं जगदित्यादि लोके घटपटकुड्यकुसूलानीत्यस्मिन् प्रमेये न सर्वं जगत् प्रमेयं भवति, अत इदं जगदित्युक्तम्। समष्टिरूपम्। एतावतापि न सर्वं जगन्निरूपितम्। गच्छतीति जगदिति व्युत्पत्तेरतो योगरूढ्या जडमपि, तेन चिज्जडात्मकं ब्रह्माण्डरूपम्, तदपि न लोके पक्षिरूपं वृषभरूपं वा। पक्षिणश्चित्त्वात्। 'ततो ह जातो भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्म नामे' ति श्रुतेः। 'ब्रह्म' चित्। वृषभो धर्मरूपत्वात् क्रिया सद्रूपातो वृक्षत्वेन निरूप्यते लोक इत्यर्थः। ननु लोके श्रुतेः किं प्रयोजनं शक्तिग्रहे भाषाया अपि कारणत्वादिति चेन्न स्तोतुर्वेदगर्भत्वाद् वेदो वृक्ष इवेति। तेनादिवृक्षोसावित्यपि मूलान्वयो बोधितः। एवेति 'समानाः प्रजाः प्रजायन्त' इति संहितायां एवकारः। अनेनेति उभयोर्वृक्षतानिरूपणेन। महत्त्वं फलसहितत्वम्। परममहत्परिमाणवत्त्वं वा, कार्येभ्यो महत्त्वात् कारणस्य। विष्णुरूपं वृक्षं दृष्टान्तयन्ति स्म यथाश्वत्थेति। आदिना वटः। किंशुकश्च। कोटिश इति दीर्घायुष्ट्वेन वर्षावृत्त्या च कोटिसङ्ख्यां ददातीति कोटिशः। फलानीति दार्ष्टान्तिके कार्याणि। सोपीति भगवानपि। तादृश इत्यस्य तं भगवन्तमिवेमं जगद्वृक्षं पश्यन्ति जना इति दृश्यत इत्यर्थः। 'त्यदादिषु दृशेरनालोचने कञ्चे'ति सूत्रेण कञ्। एवकारस्तु 'ऊर्ध्वमूलमवाक्छाखं वृक्षं यो वेद सश्चन। न स जातु स नः श्रद्दध्यान् मृत्युर्मा मारये'दितिश्रुतेः। षश्च गतो भ्वा० प०-से० सश्चतीति'सश्चनः' नन्द्यादित्वाल्ल्युः। हे 'सश्चन'। अस्माभिः सह वर्तमानाः सवयं तेषां स नः षष्ठ्या बहुवचनस्य नस्। 'मा' माम्। तथा च मृत्युमारणाभावश्रद्धारूपफलेन तस्य वृक्षस्य भगवद्रूपतावगमात्। ननु सत्यरूपस्य तथात्वमस्तु, कालात्मनस्तु 'कालात्मा भगवाञ्जात' इति कारिकोक्तस्य कथमिति चेन् न। कालात्मनः कालदेहस्य कृष्णस्य जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वात्। 'गुणव्यतिकाराकारो निर्विशेषो प्रतिष्ठितः पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृज'दिति तृतीयस्कन्धे तथा सिद्धत्वात्। उपादेयस्योपादानात्मकत्वेन काले तथात्वसिद्धेरप्रत्यूहत्वात्। क्वचिदिति काले। ब्रह्माण्डनिर्माणमिति जगदात्मकब्रह्माण्डनिर्माणम्। 'तस्माद् विराडजायते'तिश्रुतेः। 'तस्मात्' कालात्मनः 'सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्युपक्रमात्। भगवत एवेति कालात्मनः। एवकारस्तत्त्वयोगव्यवच्छेदकः। क्वचिदिति पूर्ववत्। तत्त्वद्वारेति तृतीयस्कन्धषष्ठाध्याये। 'जनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुष'मिति वचनात्। 'अधिपूरुषं' ब्रह्माण्डम्। अधिपूरुषपदस्य 'तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः स जातो अत्यरिच्यत'ति पुरुषसूक्ते तथोक्तेः स्वराजि शक्तिः। तथापि देवदत्तपदस्य जीवदेहोभयत्र शक्तेस्तथात्रापि ब्रह्माण्डपदस्योभयत्र शक्तेः। अधिपूरुषपदे पक्षान्तरमपि सुबोधिन्यां 'पुरुषादप्यधिकं वे'ति तत्त्वयोगव्यवच्छेदं कृत्वा तत्त्वद्वारा ब्रह्माण्डनिर्माणमुक्तं, तत्र तत्त्वनिवेशमाहुः अक्षरमत्रेति। अक्षरात् सृष्टावक्षरमुपादानं, अत्र कालात्मनः सृष्टौ अक्षरं फलम्। कार्यत्वेन ग्राह्यं न तु अक्षरत्वेन। घटः पृथिवीत्यत्रेव, अन्यथा तत्त्वाकारणतापत्तेरक्षरस्य। तथा चाक्षरद्वारा तत्त्वानि यानि तानि नैवकारव्यवच्छेद्यानि। अकारणत्वापत्तेः। फलतावच्छेदकमाहुः तस्य तत्त्वानीति। तत्त्वत्वं फलतायाः कार्यताया अवच्छेदकम्। तस्य कालात्मनः अपि तत्त्वानि फलानि कार्याणीत्यर्थः। बीजमिति उपादानकारणम्। 'एतन् नानावताराणां निधानं बीजमव्यय'मिति। कृष्णस्यावतारत्वात्। तर्ह्यवतारेऽक्षरस्य कोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहुः शकुनीत्यादि। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योभिचाकशीती'तिश्रुतेः शकुनिः स्वराट् तेन भक्षितं कर्मफलं सुखदुःखसाक्षात्काररूपं विषयीकृतम्। तन्मध्ये किञ्चित् कर्म निर्गमनस्वभावकं निर्गतमवतारे गतं स्वफलं सुखदुःखसाक्षात्काररूपं करोतीति फलतीत्यस्यार्थः। कृष्णे फलत्यक्षरं कर्म। फलमक्षरमुक्तं तद्ग्रहणे मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवति ब्रह्मज्ञानरूपः, तदा गर्भो मानसीनः मनोंशेऽक्षरात्मके मनसि स्थितः तदा हृदयं भवति। हृदि अयं हृदयमिति छान्दोग्यव्युत्पत्तेः, हृदो मनसोक्षरात्मकत्वे जातेऽयं पुरुषोत्तमः कालात्मेति युक्तम्। क्षेमः फलं लोके। किञ्च 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति बृहदारण्यकात्; ततः शकुनेर्निर्गतं विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञं फलति कृष्ण इति। ततश्च 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववि'दित्युक्त्वा 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारय'न्निति भाष्यीयगीतायाः। अस्य विनियोग उत्तरार्धे नारदकर्तृकदर्शने 'ध्यायन्तं ब्रह्म परम'मित्यत्र। अधुनाक्षरांशानां विनियोगं वदन्ति स्म इति तत्त्वानामिति। इति हेतोस्तत्त्वानां ब्रह्माण्डनिर्मातॄणां तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'एते देवाः कला विष्णो'रित्यादिना निरूपिता। तथा च शकुनिभक्षितमेकैकं भूतं ततः शकुनेर्निर्गतं सत् तत्त्वरूपं कृष्णे फलति देहत्वे। अस्मदादिदेहेषु पाञ्चभौतिकत्वदर्शनात्। प्रभुदेहश्चेतनपाञ्चभौतिक इत्यर्थः, दैत्यपक्षव्यतिरेकं साधयन्ति स्म तत्र दैत्यादिकल्प इत्यादि। 'दैत्यानामादिकल्पे मुख्यसिद्धान्त इत्यर्थः'। एको वृक्ष इति वृक्षपदेनातादृशयो लतौषधयो व्यावृत्ताः। 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'तिवाक्यादेवमुक्तम्। बाह्यादीति आदिना नैयायिकाः। बहुभ्य इति अन्नस्थविष्ठांशविष्ठान्तर्गतबहुभ्योन्नांशेभ्यः। अण्डमिति ब्रह्मणोण्डं ब्रह्माण्डमित्यत्र ब्रह्मकर्तृकमण्डमित्यत्र ब्रह्म वृक्षः कार्यमण्डं वृक्षः। तत्र कारणवृक्षनिरूपणं वृत्तम्। कार्यवृक्षोण्डमित्यर्थः। एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्यय'मितिवाक्यात् कृष्णावतारे बीजमण्डमयनं बीजं यस्य जगतः। तेनारभ्भे ब्रह्माण्डात्मकं जगत् वृक्षत्वेन निरूप्यत इत्यत्र ब्रह्मणोण्ड आत्मा स्वरूपं यस्य जगत इतिविग्रहः। पुराणमतेनाहुः प्रकृतिरिति। माया। 'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः। न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे'तिवाक्यात्।

श्रौतमतेनाहुः अक्षरमिति। 'अक्षरात् सौम्य विविधाः भावाः प्रजायन्त' इतिश्रुतेः। बीजमिति ज्ञेयम्। अन्य इति उपनिषच्चिन्तकाः। श्वेताश्वतरे 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छे'तिश्रुतौ 'चिन्त्य'मित्यस्वरसादन्य इति। अनेनेति दैत्यपक्षव्यावर्त्त्यै एकायनत्वकथनेन। अयमिति प्रपञ्चः जगत्पदार्थो वा ब्रह्माण्डो वा। सद्वृक्ष इति औषधिविद्यात्वेपि बहुबीजफलवृक्षाणां मायिककामहैतुकजगदिति-सिद्धान्तपातित्वेन सुराबिन्दुस्पृष्टगङ्गाम्भोवदसद्वृक्षत्वम् एकबीजयुक्तफलवृक्षत्वात् सद्वृक्ष इत्यर्थः। आवरणभङ्गे बहुबीजत्वमेक-बीजत्वं ज्ञेयम्। 'आदिवृक्ष'स्यैकत्वलिङ्गेनाद्वितीयब्रह्मणि समावेशात्, किञ्च 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुतौ 'तमसः परस्ता'-दितिकथनाच्च वैदिकवृक्षस्य धर्मत्वात् वृत्तत्वाच्चानेकरूपकार्यवदादिकार्यवृक्ष इत्याशयेनाहुः अत इति। कार्यसद्वृक्षत्वात्। 'असा'विति विप्रकृष्टे व्याख्यातमपि पदं प्रत्यक्षे छान्दसं मत्वाहुः असाविति परिदृश्यमान इति। अत एव लोको वक्ति। 'नमोस्तु राज्यवृक्षाये'ति, परं वृक्षत्वेन न प्रत्येति। न 'रूपमस्येह तथोपलभ्यत' इति गीतावाक्यात्।

विदुषां शाब्दी प्रतीतिस्तु वृक्षत्वेन वर्तत एव। फले इति श्रुतौ कर्माकर्मविकर्मणामुक्तत्वादितिभावः। कर्मणः सुखं फलम्। अकर्मविकर्मणोः दुःखम्। दुःखमेवेति विषयासक्त्या दुःखम्। 'प्रसक्ताः कामभोगे पतन्ति नरके शुचा'वितिवाक्यादेवकारः। दैत्य-फलाद् व्यतिरेकं साधयितुं दुःखफलोपादानम्। पुनर्दैत्यपक्षाद् व्यतिरेकं साधयितुमाहुः सृष्ट्यन्तर इति। अनीश्वरवादेन कामहैतुके सृष्ट्यन्तरे। अत्र त्विति दैत्यपक्षव्यतिरिक्तायां ब्राह्म्यां सृष्टौ। द्विविधाः विषयिणो विरक्ताश्च। ईश्वरप्राप्त्यर्थं विरक्ताः। 'नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्। यन्मूलकेता यतय' इतिवाक्यात्। 'पानेन ते देव कथासुधाया' इतिवाक्याच्च। विशेषणद्वयं व्याख्याय तृतीयं व्याकुर्वन्ति स्म त्रयो गुणा इति। 'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः। न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे'तिवाक्यात्। 'त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविमादधेजः' इतिवाक्यात्। 'कविं' महत्तत्त्वम्। अधःप्ररोहाः अधःशिफाः। अन्यत्रेति दैत्यपक्षे। तामसान्येवेति 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा' इतिवाक्यात्। एवकारो गुणद्वययोगं व्यवच्छिनत्ति। क्वचिदिति वृषभासुरादौ राजसप्रकरणगतत्वात्। न भवन्तीति प्रह्लादादयस्तु नासुराः किन्तूद्धारा-र्थमासुरेषु प्रकटाः। रसा इति सुखास्वादकाः। रस आस्वादने। अन्यत्रेति दैत्यपक्षे। विषयोर्थमन्तरा न सिध्यतीति कामवादिनाम-र्थोपि पुरुषार्थः। एवकारेण धर्ममोक्षयोगव्यवच्छेदः। पञ्चेति पाणिवाङ्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः इन्द्रियाणि। गमनमङ्घ्रिजन्यं कर्म। आकुञ्चनं पायुजन्यम्। प्रसारणं मेण्ढ्रजन्यम्। अपक्षेपणं परिशेषाद् वाग्जन्यम्। क्षिप प्रेरणे। वाचा प्रेर्यत इति। उत्क्षेपणं पाणि-जन्यम्। अत्र वदन्ति। पञ्चानां गमनेन्तर्भाव इति। तत्र दोर्भ्यां गच्छतीतिप्रयोगापत्तिः। अन्यत्रेति दैत्यपक्षे। उत्क्षेपणाभावः 'अधो गच्छन्ति तामसा'इतिवाक्यात्। हस्तजन्यं कर्म तु वर्तत एव। श्रौतं मतमाहुः अथ वेति। अन्नमयादय इति अन्नमयप्राणमयमनो-मयविज्ञानमयानन्दमयास्तैत्तिरीयोक्ताः। 'स वा एष' इति श्रुतिः महानारायणे। पुरुषोत्तमपरापि तदन्तःस्थजगत्सहितपुरुषोत्तमपरेति जगदात्मकवृक्षपरा। तदेतदुक्तं ब्रह्माण्डविग्रहोपि तथेति। अन्यत्रेति दैत्यपक्षे। तमोरूपमायोपासकत्वादानन्दाभावः। षडिति पञ्चज्ञाने-न्द्रियाणि मनश्च। दैत्यपक्षव्यतिरेकमाहुः अयमात्मेति। दैत्यपक्षे मायिको जीवः चतुर्थस्कन्धोक्तः। षड्विधमिति जन्यं, अत उत्पत्त्या दैत्यपक्षे भिन्नम्। षड्विधज्ञानस्याप्याविर्भावतिरोभावौ देवपक्षे। त्वगादय इति नृवर्गे त्वक् मांसं शुष्कमांसं हृदयान्तर्गत-मांसं वपा रुधिरं एकान्या। इति त्वगादयः सप्त। त्वच इति बहुवचनेनोपलक्षणसूचनाद् बोध्याः। वृक्षे वल्कलादीनि 'त्वक् स्त्री चर्मणि वल्के च मृदुत्वचि विशेषत' इति कोशः। आदिना मांसादिस्थानीयानि। रुधिरं रक्तरूपम्। सप्तब्रह्माण्डावरणानि। अष्टेवेति पुरुषोत्तमयोगाध्याये गीतायामस्ति। देहच्छिद्राणीति विराजि सप्तदिवि। द्वे भुवर्लोके। 'भुवर्लोकोस्य नाभित' इतिवाक्यात्। मेण्ढ्रपायुच्छिद्रे। छदानीति 'पत्राणि छदः पुमा'नित्यमरः। नपुंसकत्वं स्मार्तम्। 'द्वा सुपर्णे'तिश्रुत्याहुः द्वौ जीवेति। जीवः स्वराट्। अन्तर्यामिणो नानावताराः। 'एतन् नानावताराणां निधानं बीजमव्यय'मितिवाक्यात्। एतस्मादित्यादि एतस्मात् ब्राह्मात् वैलक्षण्यं मायिकत्वम्। अन्यत्रेति दैत्यपक्षे। युक्तय इति 'युक्तयः सन्ति सर्वत्रे'त्येकादशस्कन्धवाक्यम्। समष्टिरूप इति असाविति विप्रकृष्टः असाविति परिदृश्यमान इतिपक्षद्वयेपि समष्टिरूपः, व्यष्टयस्त्वन्ये वृक्षाः। अथ तैत्तिरीयप्रश्नच्छान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। विस्तरः पूर्वश्लोक उक्तः। तैत्तिरीयेत्र पितोत्तररूपम्। वृक्षस्य पालकत्वात्। सुबोधिन्यां च 'पितराविवोत्पादकत्वं सूचित'मिति प्रश्ने कला। विशेषाभावात्। छान्दोग्ये प्राची दिक् कला, प्राच्यां दिशि देवता-प्रत्यक्षाकाशशरीराकाशे च दिगन्तर्भावात् प्रत्यक्षदिग्देहका। दिव्यादिवृक्ष इति। यद्यपि प्राची दिक् आधारस्तथापि कार्यवृक्षमपेक्ष्य कलाधर्मोस्त्येव ॥ २७ ॥

त्वमेक एवास्येत्यत्र प्रमेयमिति प्रमाविषयं प्रमेयम्। प्रमात्र विद्वत्ता शाब्दी, लोकानां प्रत्यक्षम्। भगवदात्मकमिति अन्यथा 'भगवानिति शब्द्यत' इतिवाक्योक्तप्रतिज्ञासन्न्यासाख्यनिग्रहस्थानापत्तेः। अत्रेत्यादि जगतो भगवदात्मकत्वे। उपपत्तिं जगत् सन्न स्याद् भगवतः प्रसूतित्वादि न स्यादित्यन्यथाज्ञानरूपाम्। साधनरूपं देवतांत्रिकं समाप्तौ वाच्यम्। 'सामादिचारुपुष्पाये'ति श्लोकतृतीयचरणं सामादिषु दानरूपं सेवासमर्पणं साधनम्। मायावादादीति आदिना बाह्याः 'सत' इतिपदकथनस्यावश्यकत्वमाहुः अन्यथेति। जगतः सत्त्वाभावे जगत्कर्तृत्वेनोच्यमानो भगवान् को ब्रह्मा वा असतः कर्ता स्यात्। आत्मसृष्ट्यभावात् सृष्ट्यन्तरवद् ब्रह्मद्वारकः कर्त्ता स्यादित्यर्थः। ब्रह्मणो रजउपाधित्वाद् रजसश्च मायैकदेशत्वादसदुत्पादकत्वम्। अस्मिन्निति अधिकरणे ल्युडित्यु-क्तम्। अनेनेति करणे घञुक्तः। कार्यलक्षणसन्निवेशोक्तेः 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय' मितिवाक्योक्तं स्मारितम्। वक्ष्यन्ति च

सुबोधिन्यां 'नेश्चिन्त्यं वाचि पूर्वव'दिति। न नश्यतीति अनुग्रहशब्दात् अत्यन्तानुग्रहे यं मृत्योरपि रक्षतीति तथा। प्रह्लादमिव। चेतः प्रति मायायाः करणत्वाभावादाहुः चेतो मतिरिति चिती संज्ञाने मनु अवबोधन इत्येकार्थता। मायारूपतमसो ज्ञानावरकत्वं न चेत आवरकत्वमिति चेतोत्र मतिः। स्मार्ती योगरूढ्यादिषु काचिच्छक्तिः बाहुलकम्। सर्वे सर्वार्थवाचका इति वात इति माया च तमोरूपेति मायावृता मतिस्तामसी अखण्डे नानात्वप्रकारिका भवति। अतस्मिन् तत्त्वप्रकारिका। अखण्डे एके नानात्वप्रकारिका। 'अधर्मे धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी'ति गीता। 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति बृहदारण्यकमप्रमेयविषयकं, न तु लौकिकप्रमेयविषयकम्। चेतसः सुषुप्तिग्राहकत्वान् नात्र मुख्यवृत्तत्वम्। तथा च ते मायावृतमतयस्तामसा इत्यर्थः। न तु विपश्चित इति सात्त्विकज्ञानेन विविधपश्यच्चित्त्वं तद्विशिष्टा विपश्चितः। पश्यतीति पश् क्विप् सर्वापहारिलोपः विपश् चासौ चित् चिती संज्ञाने। क्विप्। सात्त्विकज्ञानेन पश्यति ततः सम्यक् ज्ञानवन्त इत्यर्थः। लौकिकसाधने योजयन्ति स्म त एवेति। लौकिका एवेत्यर्थः। अल्पेनैवेति अणुना अल्पं परिच्छिन्नम्। यावत् तद्ग्राह्यं 'यत् तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकं अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृत'मिति गीतायाः। अनुभवादेवकारो-परिच्छिन्नयोगव्यवच्छेदकः। चित्तं पुष्कलमिति व्यापकसृष्टं पुष्कलं भवति। 'तन्मोकुरुते'ति बृहदारण्यके 'मन' इत्येकवचनात्। सङ्कोचाभाव इति सत्त्वेन रजसा तमसा तदवान्तरभेदैश्च सङ्कोचस्याणुत्वस्याभावे। 'अणवश्च'ेति व्याससूत्रं अन्नमयमनःपरम्। अत एवेति लौकिकानां सङ्कुचितबुद्धित्वादेव। भिन्नतयेति अभिन्ने भिन्नतया तामसबुद्ध्या स्वीक्रियत इत्यर्थः। मोहस्तमःकार्यम्। विपश्चित इति व्याख्यातम्। तत्तत्कार्येति सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि जननस्थितिसंयमाः तदनुरोधेन तथा विलक्षणान् नाना पश्यन्तीत्यर्थः। त्वामेव मन्यन्ते न तु भिन्नं पश्यन्तीति साधनंभेदापगमादितिभावः। भेदः सत्त्वादिगुणकृतः। एवकारस्तु 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति सा बुद्धिः पार्थ सात्त्विकी'ति गीतायाः। सात्त्विक्या बुद्ध्या सत्त्वादि-गुणोपमर्दात्। 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विक'मिति गीतावाक्यात्। न तु भिन्नमिति साधनैर्भेदापगमात्। अन्य इति श्लोकस्य माहात्म्यबोधकस्यान्ते। माहात्म्येति त्यदादीनामुत्सर्गतः पूर्वपरामर्षित्वात् तथा। गुणैरिति लौकिकानाम्। एत इति ब्रह्मविष्णुशिवाः। एवकारेण हरियोगव्यवच्छेदः। भगवद्रूपा इति गुरुमुखाच्छ्रुत्वा सेवा लौकिकैरपि कार्येत्युक्तम्। तेन जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूपब्रह्मलक्षणस्य नातिव्याप्तिः, त्रयाणां भगवद्रूपत्वात्। साधनमिति कृपाविशिष्टो भगवान् प्रमेयरूपः साधनमित्युच्यते। कृपावेशस्तु कृपया सत्त्वादिगुणयुक्तानां जीवानामर्थे सत्त्वादिगुणैर्ब्रह्मविष्णुशिवादिरूपाङ्गीकारात्। स्वभावस्यान्यथाभावाभावात्। कृपापात्राणि जनाः। इदं यथारुचिपदेन ज्ञाप्यते। देवसेवोक्त्या देवेषु पक्षपातो बोधितो ज्ञेयः। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये विद्या सन्धिरत्र। 'ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि सर्वज्ञानमनुत्तमां यतोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा'दितिश्रुतेः। सुबोधिन्यामपि ब्रह्मविष्णु-शिवसेवोक्तात्र, तथापि प्रजा सन्धिः एकचतुष्कगतत्वात् 'अस्य सत' इति प्रजोक्तेः। प्रश्ने कला काचित्। विशेषानुल्लेखात्। छान्दोग्ये 'कले'ति श्रुतिः। भूमौ ब्रह्मादिदेवाः पार्थिवशरीरप्रजाः शब्दप्रतिकृतिलिङ्गद्वारा प्राणप्रतिष्ठया सेव्या इत्युक्तम्। यद्यपि वायुः आधार-स्त्रयाणां देवानां तथापि व्यापकत्वांशकला धर्मरूपा भवत्येव ॥ २८ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

एवं पूर्वाध्याये महदुदुःखेन भगवच्चिन्तनम्—पूर्वाध्याय में महत् दुख के निमित्त भक्तों का भगवान् के चिन्तन का वर्णन किया है। अब इस अध्याय में कंसादिक के भगवचिन्तन का वर्णन, तथा ब्रह्मादिकों ने भगवान की स्तुति द्वारा जो भगवान् का चिन्तन किया उसका भी वर्णन इस अध्याय में बताया है। इस प्रकार सब भगवचिन्तन करने लगे इस से यह निश्चय हुआ कि भगवान् ने सर्व का सामान्यतया निरोध किया है। ब्रह्मा आदि देवगण देवकी के गृह में इसीलिये पधारे कि सब को यह ज्ञान हो जाय कि देवकी के गर्भ में भगवान् पधारे हैं। इसलिये ब्रह्मादि देवों ने कंसादिक की कोई भी परवाह नहीं की है। भगवान् गर्भ में पधारे तब जो देवगण स्तुति करने पधारे हैं उनके मुख्य नाम कहते हैं। १. ब्रह्मा २. महादेव और दूसरे भी गुणाभिमानी देव, सनकादिक मुनि, नारदादिक भक्त, इन्द्रादिक देवगण उनके अनुचर गन्धर्वादि देव ये सब मिल कर आये थे।

कई महानुभावों का अभिप्राय है कि गर्भस्तुति के अवसर पर श्री वामनादि अवतार भी पधारकर अपनी-अपनी अनुकूल वाणियों से भगवान की स्तुति करने लगे। यहाँ मूल श्लोक में 'ईडतुः' ऐसी द्विवचनक्रिया दी गई है उसका कारण यह है कि स्तुति करने वालों में ब्रह्मा और महादेव दो मुख्य है। अतः द्विवचन दिया है। और पुस्तक में 'ऐडयन्' बहुवचनान्त पाठ भी है। जहाँ बहुवचन हों वहाँ यह मानना चाहिये कि सबने मिलकर स्तुति की है भगवान् के लिये इस श्लोक में 'वृषण' शब्द दिया है इसका अर्थ दो प्रकार से होता है। एक अर्थ कामनाओं की पूर्ति करने वाले भगवान् हैं और दूसरा अर्थ, धर्म को नियम से चलाने वाले भगवान् हैं ॥ २५ ॥

कारिका—कालात्मा भगवाज् जात इति ज्ञापयितुं तथा। कलाभिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः ॥ १ ॥
पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवानां हितकारिणी। ध्रुवा तु षोडशी प्रोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—श्रीमदाचार्यचरण अब इन दो कारिकाओं में भगवत् प्राकट्य का स्वरूप बताते हैं। कालात्मा भगवान् प्रकट हुवें हैं। कालात्मा श्री संकर्षण जी का रूप है उस कालरूप संकर्षण जी को साथ में लेकर भगवान् देवकी जी में पधारें हैं और भगवान् कालात्मा संकर्षण जी के साथ पधारे हैं इसमें प्रमाण देते हैं पन्द्रह श्लोकों में देवों ने भगवान की स्तुति की है। शुक्लपक्ष देवों का पक्षपाती है और शुक्लपक्ष की पन्द्रह तिथियाँ होती है। इस पक्ष की प्रसिद्धि के लिये पन्द्रह श्लोकों में स्तुति है। ॥ १ ॥ यह ब्रह्मादि देवताओं ने स्तुति की है यह स्तुति देवताओं का हित करने वाली है। देवों का कहना है कि भगवान हमारे हित के लिये पधारने वाले हैं। अब सोलहवें श्लोक में भगवान की स्तुति है वह भक्तों के हित करने वाली स्तुति होने से ध्रुवा स्तुति है। ध्रुवा का अर्थ स्थिर स्तुति होता है। प्रश्नोपनिषद् में भगवान को षोडश कला पूर्ण कहे हैं। यहाँ षोडश कला परिपूर्ण भगवान पधारे हैं यह सूचित करने के लिए १६ श्लोक हैं और तिथियों की गणना को दृष्टि से कभी कभी वृद्धि तिथि होती है इसलिये १६ श्लोक हैं। यहाँ वृद्धि तिथि से भक्तों के आनन्द की वृद्धि भगवत् प्राकट्य से होगी यह भाव जानना चाहिए।

अब श्री मदाचार्यचरण १६ श्लोकों की स्तुति का विवेक बताते हैं कि यद्यपि १६ वें श्लोक में भी परः पुमान् पद देने से भगवान् की ही स्तुति है फिर भी प्रधानता से देवकीजी को सान्त्वन ही दिया है और भगवान को परः पुमान् भी देवकीजी को पूर्ण विश्वास दिलाने के लिये दिया है अतः देवों ने पन्द्रह श्लोकों से भगवान् की स्तुति की है और एक श्लोक से देवकी को सान्त्वन दिया है। काल पञ्चदशात्मा है, वे काल ही अवतीर्ण हुए हैं ऐसी देवों की समझ है। वह काल दो प्रकार का है; दैत्यों का हितकारी भी पञ्चदशात्मा कृष्णपक्ष पन्द्रह दिनका है और देवताओं का हितकरने वाला भी पञ्चदशात्मा शुक्लपक्ष का पन्द्रह दिन का है। साधारण रीति से तो काल त्रिंशदात्मक तीस दिन का है। अतः देवों ने अपने पक्षपाती भगवान् पधारे हैं ऐसा समझ कर भगवान् की अर्धकाल रूप पन्द्रह श्लोकों से स्तुति की है।

अब वह कालकृत पक्षपात चार प्रकार का है। १ लोककृत २–स्मृतिकृत, ३–वेदकृत और ४–भगवन्मार्ग कृत है। इस प्रकार के होते हुए भी पुनः प्रत्येक प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल से चार प्रकार का है। इस विभाग से देवताओं का काल षोडशात्मा हो गया, दैत्यों का काल केवल पञ्चदशात्मक है। षोडशात्मा काल ने दैत्यों के काल से देवताओं के काल की विशेषता षोडशात्मकता बताई।

अब प्रारंभ के चार श्लोकों से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल वर्णन करते हैं। उसमें लोकसिद्ध, जो देवों के पक्षपात वाले हैं उनका निरूपण करते हैं।

लोक में सत्य ही प्रमाण माना है और परिदृश्यमान यह जगत् जो देखने में आ रहा है वह ही प्रमेय है। गुणों के अभिमानी देव ही साधन है। क्षेम ही फल है। इसमें और दैत्य पक्ष में भेद सिद्ध करना चाहिये।

इसलिये बताते हैं कि देवता सत्य को प्रमाण मानते है और दैत्य असत्य को प्रमाण मानते हैं। अतः देवता यह निरूपण करते हैं कि सत्यरूप भगवान् प्रकट हुए हैं। देवताओं का सत्य भी आठ प्रकार का है। वह सत्य पुनः अंशतः षोडश प्रकार का है।

वेद में 'सत्य' पांच प्रकार का कहा है। 'सत्यं परं' इस श्रुति में और 'प्राजापत्यो हारुणिः' इस श्रुति में भी सत्य पांच प्रकार का कहा है। जो सत्य है वह पर है, सर्वसे श्रेष्ठ है अथवा जो सर्वसे श्रेष्ठ है वह सत्य है। इस प्रकार सत्यत्व और सर्वोत्कृष्टत्व का ऐक्य प्रतिपादन करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार सत्य का स्वरूप समझकर उस पर चलता है वह स्वर्ग-लोक याने मुक्ति को प्राप्त कर वहाँ से पुनः कदापि नहीं लौटता है। सत्य पर चलने वाले को यह आमुष्मिक उत्कृष्ट फल मिलता है। इस आमुष्मिक फल की उत्कृष्टता यह है कि जो वहाँ जाता है वह लौटकर नहीं आता है। इस लोक में भी सत्पुरुष सत्य को ही उत्तम फल समझते हैं। अतः सत्य ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है। यों समझकर देव पक्षपाती है तात्पर्य की जो दैवी जीव हैं वे सत्य में ही रमण करते हैं सत्य पर चलने को ही आनन्द मानते हैं और सत्य से ही प्रसन्न होते हैं। भगवती श्रुति ने भी यह ही कहा है जैसे कि—'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सत्तां, हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्ते' यह सत्य यहाँ निरूपण किया जाता है।

सत्यव्रतं त्वां शरणं प्रपन्नाः—लोक में व्रत को उत्कृष्ट श्रेष्ठ मानते हैं जो कोई जो कुछ व्रत करता है वह पर उत्तम कहा जाता है। सत्य को भी पर श्रेष्ठ कहते हैं। भगवान् के तो व्रत तथा सत्य दोनों सत्य हैं। अब हम जिनका सत्य ही व्रत है वैसे आपके हम शरण आये हैं। इस प्रकार दोनों 'पर' से सर्वश्रेष्ठ होने से सत्य और व्रत की एकता कही गई है।

सत्यपरं पद में जो पर पद है उसका तात्पर्य आचार्य चरण कहते हैं कि जो 'पर' है वह लोक तथा वेद में बारह प्रकार का कहा है। जैसे सत्य, (१) तप, (२) दम, (३) शम, (४) दान, (५) धर्म, (६) प्रजनन करना, (७) अग्नि, (८) अग्निहोत्र, (९) यज्ञ, (१०), मौन (११) और संन्यास (१२) ये बारह सब ही भगवान् के ही सत्य हैं। न कि दैत्यों के समान असत्य है। इसकी सत्यता प्रथम कही हुई 'सत्यं परं' श्रुति को विचार में लाना। भगवान् के व्रत हैं याने दृढ संकल्प ये है। जैसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' हे कौन्तेय ! मेरी तरफ से तू जाके प्रतिज्ञा कर, कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता है। इसी प्रकार 'द्विशरं नाभिसन्धत्ते' श्री रामावतार ने भी प्रतिज्ञा की है कि किसी भी लक्ष्य वेध करने के लिए एक ही दफा शर चढाऊँगा। तथा 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' भगवान् कर्म फल को नहीं भोगते हैं एवम् सत्य से प्रकाशते हैं **'साधवो हृदय मह्यं'** साधुजन मेरे हृदय हैं। **तस्मान्मच्छरण गोप्तुं मन्नाथ मन्निकेतनम्। गोपाये स्मात्मयोगेन सोयं मे व्रतआहितः** इत्यादि वचनों से भगवान् के व्रत और सत्य दोनों पर है तात्पर्य कि सर्वथा उत्कृष्ट कह हुए हैं। लोक के अनुसार भी देवों के हितकारी भगवान् का नियामक सत्य ही है। यदि सत्य नियामक न होगा तो ईश्वर का नियामक कौन होगा ? जैसे कि इस सत्य के नियामकत्व के कारण ही भगवान् ने जो आने का सङ्कल्प किया था उसको पूर्ण करने के लिए आप पधारे हैं।

अब त्रिसत्यम् पद पर आचार्यचरण विवेचन करते हैं कि भगवान् भूः, भुवः और स्वर्लोक ये तीन लोक तथा शरीर, जीव और परमात्मा ये तीन आत्मा भी सत्य है। जिससे साधन और फल की एकता करके निरूपण किया। जिसमें यह उत्पत्ति-रूप प्रभु माने प्रमाण रूप एवं उपपत्ति रूप से युक्तियुक्त रूप सिद्ध कर दिखाये हैं।

अब सत्यस्य योनिं पद का विचार करते हैं कि अष्ट प्रकार की उत्पत्ति का निरूपण **'सत्यस्य योनिं'** पद से करते हैं। जो प्रथम अष्टविध सत्य कहे हैं। उन सब आठों प्रकारों के सत्य का कारण भी कालात्मा भगवान् ही है। **'श्वो दास्यामि'** कल दूँगा—ऐसा कहा जाता है। यदि कल ही न हो तो वाणी असत्य हो जायेगी। किन्तु कल होता है जिससे वाणी सत्य हो जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

अब 'निहितञ्च सत्ये' पद का तात्पर्य बताते हुए आचार्यचरण कहते हैं कि भगवान् केवल सत्य के उत्पादक ही नहीं है किन्तु उसके रक्षक भी आप ही हैं। इस लिये कहा है कि **'निहितं च सत्ये'** आप सत्य में स्थिति कर उसकी रक्षा करते हैं। इससे सत्य की उत्पत्ति का विचार करते हुए प्रमेय और साधन दोनों कहे हैं। **'निहितं च सत्ये'** इस पंक्ति के मध्य में जो 'च' अव्यय आया है उसका यह तात्पर्य है कि शेष, प्रमाण और फल **'ऋतसत्यनेत्रे'** तथा **'सत्यात्मक त्वां'** इन दो विशेषणों से कहा है।

अब 'सत्यस्य सत्यं' इस वाक्य में सत्य का सत्य है इसका विमर्श आचार्यचरण करते हैं कि जैसे सत्य की उत्पत्ति और रक्षा का कारण भगवान् हैं, वैसे ही सत्य के लय का स्थान भी भगवान् ही है। इसको 'सत्यस्य सत्यं' पद विशेषण से कहा है। जिस प्रकार **'पूर्णस्य पूर्णमादाय'** श्रुति में सबका लय उसमें होता है वैसे ही सत्य भी आधिदैविक सत्य में लीन होता है। सत्य में ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही फल है। यह आधिदैविक सत्य भगवान् ही है। इससे जो भगवान् में प्रतिष्ठित है वह सत्य है। जो सत्य में है वह सत्य द्वारा भगवान् में प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रसंग में 'पञ्चविध' सत्य कहा गया है। इससे तेरह प्रकार की क्रियाशक्ति का सत्यपने से वर्णन किया है। संक्षेप में देखें कि सत्यव्रतं श्लोक में तेरह १३ प्रकार की शक्ति कैसे बताई हैं सत्यव्रतं पद में सत्य और व्रत के भेद से २ प्रकार; सत्यपरं पद में सत्य से वायु चलन (३) सत्य से सूर्य प्रकाश (४) सत्य में वाणी का निवास (५) सत्य में सर्व निवास (६); त्रिसत्यं पद में तीन लोक (७) काया जीव परमात्मा ये तीन आत्मा (८); सत्यस्य योनिं पद में सत्य का कारण यह एक भेद (९); निहितं च सत्ये पद में सत्य में स्थित (१०) और सत्य का रक्षक (११); सत्यस्य सत्यम् पद में प्रमाण (१२) और फल (१३) ये तेरह क्रियाशक्ति के प्रकार भेद बतायें है। उसके बाद ज्ञानशक्ति के ऋतसत्यनेत्रं पद में ऋत (१४) सत्य (१५) सत्यात्मकं पद से धर्मी (१६) भेद जान लेने चाहिए।

अब आचार्यचरण **'ऋतसत्यनेत्रे'** पदों का मर्म बताते है कि जो भगवान् की शक्ति, ज्ञान उत्पन्न करती है, वह भी सत्य है। जिस परमात्मा के ऋत और सत्य रूप नेत्र ही उसकी प्राप्ति कराने वाले या दिखाने वाले हैं अतः भगवान् को **'ऋतसत्यनेत्र'** कहा गया है जिससे भगवत्प्राप्ति दो प्रकार से होती है। ज्ञान उत्पन्न कराने वाली शक्ति, प्रमाण तथा प्रमेय बल के कारण दो प्रकार की है। प्रमाण बल वेद है, जैसे कि जगत् में कोई भी कार्य किया जाय तब वह कार्य योग्य है या नहीं ? ऐसी शङ्का होने पर उसको सत्य सिद्ध करने के लिए वेद का ही प्रमाण बतलाया जाता है। तथा प्रमेय बल भगवद्धर्म हैं, जैसे कि जहां प्रमाण बल की गति कुंठित हो जाती है अर्थात् जो कार्य प्रमाण बल से नहीं हो सकता है वह कार्य भगवद्धर्म से होता है। अतः इस भगवद्धर्म को प्रमेय बल कहते हैं।

सूनृता वाणी को माने सत्य को प्रतिपादन करने वाली वाणी को 'ऋत' कहते हैं। वेद सत्य को प्रतिपादन करने वाला है। अतः सत्य के निरूपण करने के समय ऋत का भी निरूपण किया गया है।

सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना—इस पर सुबोधिनीजीकार स्पष्ट तो कहते हैं कि इस प्रकार क्रियाशक्ति और ज्ञान-शक्ति दोनों सत्य रूप हैं। इनका निरूपण कर अब धर्मीस्वरूप भी सत्य रूप ही है उसको कहते हैं कि 'सत्यात्मकं' आप भगवान् की आत्मा स्वरूप सत्य ही है। **'अत सातत्य गमने अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा'** जो सब धर्मों में तात्पर्य कि पदार्थ मात्र में व्याप्त होकर रहती है उसको आत्मा कहते हैं। जो आत्मा है वह अबाधित सत्य है और वह भगवान् का सद्रूप है। 'सत्यात्मकं' पद में जो अन्तिम अक्षर 'क' है वह प्रत्यय है। 'क' प्रत्यय स्वार्थ में होता है अथवा 'क' अक्षर का आशय 'फल' भी होता है। यहाँ 'क' फल बताने वाला है। सत्यात्मा का फल सुख आनन्द है अर्थात् जिसकी आत्मा सुखरूप है वह भगवान् सच्चिदानन्दरूप है। भगवान् का जैसे 'सद्रूप' सत्य है वैसे चिद्रूप और आनन्दरूप भी सत्य है। जीवों को वैसे सत्यात्मक सच्चिदानन्दरूप भगवान् के ही शरण जाना चाहिये।

देवों ने श्लोक में 'प्रपन्ना' बहुवचन कह कर यह बताया है कि हम सब आपके शरण इसलिये आये हैं कि आप सत्यव्रत सत्यरूप हो अतः सत्यता से ही हमारी, आप रक्षा करेंगे ॥ २६ ॥

एवं प्रमाणरूपतामुक्त्वा प्रमेयरूपतामाह एकायन इति।

सत्यव्रतं श्लोक में सत्यात्मक परमात्मा प्रमाणरूप है यह स्पष्ट बताया अब इस **'एकायनोऽसौ'** श्लोक में भगवान की 'प्रमेय' रूपता का निरूपण करते हैं।

इदं जगद् ब्रह्माण्डात्मकं वृक्षत्वेन निरूप्यते—अब आचार्य चरण कहते हैं कि इस श्लोक में जगत का ब्रह्माण्डात्मक वृक्षरूप से वर्णन किया जाता है। परिदृश्यमान यह जगत् आदि वृक्ष रूप भगवान् से उत्पन्न हुआ है, वृक्ष से उत्पन्न हुआ पदार्थ वृक्ष ही होता है। भगवान् वृक्षरूप है इसमें श्रुति का प्रमाण देते हैं कि **'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्वम्'** इस श्रुति का अर्थ है जो एक आकाश में वृक्षवत् स्थित है उस पुरुष से यह सर्व जगत् पूर्ण है, जगत् को वृक्षरूप कहने से भगवान् का महत्त्व निरूपण किया है। जैसे एक ही अश्वत्थ (वट) आदि वृक्षों में से करोड़ों फल उत्पन्न होते हैं। वैसे ही भगवद्रूप वृक्ष से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं अथवा प्रपंच रूप भी वैसा है जिससे अनेक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भगवद्रूप वृक्ष का न आदि है और न अन्त है। वह सर्वदा ही है। अतएव इस कथन से ही इस ब्रह्माण्ड का निर्माण कभी भगवान् से होता है। **क्वचित् तत्व द्वारा अक्षरमत्र फलम्**—और कभी भगवान्, तत्त्वों द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण करते है, तब इस जगत में 'अक्षर' फल है। उस फल के अंश तत्त्व है और बीज ब्रह्माण्ड हैं। उस वृक्ष से उत्पन्न फल को जब पक्षी खाता है तब वह फल फलता है इससे यह बताया कि ये तत्त्व चेतन है। उसमें दैत्यों आदिकों के कल्प में बहुत बीज वाले फल से भी एक वृक्ष उत्पन्न होता है इस कारण से ही वेद से बाह्यशास्त्रों में बहुत परमाणुओं के संयोग से एक कार्य की उत्पत्ति कही है। पीपल आदि भी कौओं की विष्टा से उत्पन्न हुए थे। बहुतों से एक होता है यां समझा जाता है। लेकिन यह परमाणुवादियों का समझना ठीक नहीं है और इस मन्तव्य के निराकरण के लिए श्लोक में कहते हैं कि **'एकायनोऽसौ'** इस प्रपञ्च का एक ही अयन ही है एक ही बीज है। 'ब्रह्माण्ड' पद में दो शब्द हैं, एक शब्द ब्रह्म और दूसरा शब्द अण्ड है। अण्ड कहते हैं प्रकृति वा अक्षर को और उसका अर्थ यह है कि ब्रह्म के साथ जब अक्षर अथवा प्रकृति सम्मिलन होता है तब उसको ब्रह्माण्ड कहते हैं। कितनेक 'अण्ड' का अर्थ 'काल' भी करते हैं। इससे अब यह फलित हुआ कि यह परिदृश्यमान जगत् एकायन एक ही ब्रह्मरूप बीज वाला होने से आदि रूप सत् वृक्ष है। **'द्विफलः द्वे फले यस्य सुखदुःखेऽस्य फले'** जिसके सुख और दुःख दो फल हैं। वे दो फल, 'नरक और स्वर्ग' कहे जाते हैं। दैत्यों को तो दुःख रूप फल ही प्राप्त होता है। 'नरक' का अर्थ है नराणां कं सुखं 'विषयात्मकं' नरों का नश्वर विषयात्मक सुख है क्योंकि मनुष्य विषयों को ही सुख मानते हैं किन्तु वह सुख परिणाम में विषोपम होने से दुःख है अतः वह 'नरक' कहा जाता है। 'स्वर्ग' का अर्थ है **स्वःस्वरूपं गच्छतीति स्वर्गः** अपने स्वरूप की ओर जाना अतः जो अपने को अपनी आत्मा में ले जाते हैं वे सुख भोगते हैं वह स्वर्ग है। यहाँ तो ये दो प्रकार भी है, अन्य सृष्टि में सर्व विषयी होते हैं और जो विषयी होते हैं वे सर्व आसुरी होते होंगे। इस सृष्टि में तो दो प्रकार के दैवी और आसुरी जीव है अतः सर्व विषयी नहीं होते हैं 'आसुरी' विषयी और दैवी निर्विषयी होते हैं। **त्रयो गुणाः सत्वादयो मूलान्यधः परो ह्यस्य** – सत्वादि तीन गुण इस जगत की जड़े हैं। अतः यहाँ तीन प्रकार के कर्म भी होते हैं। दूसरी सृष्टि में कहीं तामस कर्म ही होते हैं और कहीं राजस कर्म होते हैं लेकिन सात्विक कर्म तो वहाँ सर्वथा नहीं होते हैं। **चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा रसा यस्य**—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकार के रस भी इस सृष्टि-वृक्ष में है, अन्यत्र अर्थ और काम दो रस है। **पञ्चकर्मा विविधाः प्रकारा यस्य**—पञ्च इन्द्रियों से जो पाँच कर्म, उत्क्षेपण, ऊपर फेंकना (१) अपेक्षण नीचे फेंकना (२) प्रसारण फैलाना (३) आकुञ्चन सिकुडना (४) और गमन (५) ये पाँच कर्म के प्रकार भी

यहाँ इस सृष्टि में है अन्यत्र 'उत्क्षेपण' कर्म नहीं होता है। अथवा अव्यय देकर—आचार्यचरण पञ्चविधः का अन्य अर्थ बताते हैं कि 'अन्नमयादि पांच कोशों को कर्म के पांच प्रकार समझने और श्रुति से स्पष्ट करते हैं कि जैसा भगवती श्रुति कहती है कि 'स वा एषः पुरुषः पञ्चधा पंचात्मा' वह यह पुरुष निश्चय पांच प्रकार के हैं और पंचात्मा है। ब्रह्माण्ड विग्रह भी उसी प्रकार का है। अन्य सृष्टियों में आनन्दमय आत्मा नहीं है। **षड् आत्मानो यस्य षड् इन्द्रियाण्यात्मत्वेन निरूपितानि**— जिस दृश्य जगत् रूप वृक्ष की षड् इन्द्रियाँ आत्मरूप हैं। यह आत्मा 'विज्ञानमय' है। 'ज्ञान' छः प्रकार का है क्योंकि श्रोत्र चक्षु आदि छः इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है इसलिये ज्ञान उत्पत्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार का है। **सप्त त्वगादयस्त्वचो वल्कलादीनि यस्य** इस जगत् वृक्ष के त्वक्-मांस-शोणित-मेद-अस्थि-मज्जा-वीर्य ये सात प्रकार के वल्कल-वस्त्र है। **अष्ट प्रकृतयो विटपाः शाखा यस्य**— भूमि-जल-अग्नि-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहङ्कार ये आठ प्रकृति आठ शाखाएं हैं। देह के नव छिद्र अक्ष-कोटर हैं। दश प्राण छदानि यस्य इस जगत् वृक्ष के—प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान-नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त धनंजय ये दश प्राण हैं, ये पत्र हैं। **द्वौ जीवान्तर्यामिणौ खगौ यस्य**—जीव और अन्तर्यामी ये दो पक्षी हैं। अन्य सृष्टियों में इस सृष्टि से विलक्षणता समझनी चाहिये। श्लोक में जो 'हि' शब्द हैं उसका रहस्य यह है कि सर्वत्र युक्तियाँ हैं। 'आदि वृक्ष, शब्द समष्टि रूप से दिया है। इस प्रकार इस प्रमेयस्वरूप का निरूपण किया गया है॥ २७॥

अत्रोपपत्तिं वदन् साधनरूपमाह त्वमेक एवास्येति।

अब इस श्लोक में युक्ति और हेतु को बताकर साधनरूप भी यह है इसका निरूपण करने के लिये 'त्वमेक एवास्य' श्लोक का प्रारंभ करते हैं।

"अस्य जगतः सतः सद्रूपस्य" आचार्यचरण कहते हैं कि इस श्लोक में प्रसूतिः पद देकर यह बताया है कि इस सद्रूप जगत् का उत्पत्ति स्थान, माता पिता के समान आप एक ही हो और इसका अर्थ है भली भांति जिससे उत्पत्ति हुई है। जगत् को सत्यरूप और भगवान् से उत्पन्न हुआ है यह कहकर सिद्ध किया गया है कि वैनाशिक आदि मत वाले जो जगत् को विनाशशाली मानते हैं वे अनीश्वरवादी है और उनके लिये इस भगवद्गीताजी में भगवानने अपने श्रीमुख से **"असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्"** इस वचन में उनका मन्तव्य को वेद सम्मत न होने के कारण आसुर मन्तव्य कहा है। उनके मत में ही जगत् असत्य कहा जाता है। यदि यह मन्तव्य अवैदिक का न हो, और वेद संमत हो तो ऐसा असत् और अज्ञान रूप कार्य का असद्रूप जगत् का ब्रह्म-भगवान् कर्त्ता कैसे हो? भगवान् सद्रूप है और सद्रूप ही पदार्थ बनाते हैं। कदापि भगवान् असत् और अज्ञान रूप कार्य का कर्त्ता नहीं होते हैं और यह जगत् सद्रूप है अतः भगवान् इसका कारण उत्पत्तिस्थान कहा गया है। भगवान् केवल जगत् का उत्पत्ति स्थान ही नहीं हैं किन्तु अन्त में इस जगत् का लयस्थान अधिष्ठान भी भगवान् ही है। एवं मध्य में जगत् का पालक स्थिति कर्ता भी भगवान् ही है। इस विश्व का उत्पत्ति, लय और पालक भी आप हो ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् जिस जगत् का रक्षक है उसका कदापि नाश नहीं होता है।

ये त्वन्मायया संवृतं संकुचितं चेतो पतिर्येषां ते—इस जगत् को उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिगुण के अधिष्ठाता आप तीन देव हैं, मैं तो नहीं हूँ यदि भगवान् ऐसा कहें तब ब्रह्मादि देव कहते हैं कि आपकी माया से जिनका चित्त सङ्कुचित है, अल्प है, ज्ञानरहित है और उदारचित्त नहीं है वे आपको पृथक् पृथक् भेद युक्त अनेक प्रकार से देखते हैं लेकिन जो वेद शुद्ध बुद्धि वाले विपश्चित है वे भिन्न भिन्न न देखकर सबको आपका ही रूप समझते हैं। और अल्प मन वाले वस्तु भी अल्प ही ग्रहण करते हैं। उदार हृदय वाले पुष्कल वस्तु ग्रहण करते हैं। माया ने जिनका चित्त संकुचित नहीं किया वे कैसे भगवान् को परिच्छिन्न समझेंगे? वे विपश्चित शास्त्रसंमत प्रज्ञावाले तो ब्रह्मादि देवों को परस्पर विलक्षण देखते हुए भी उस उस कार्य के अनुरोध से उस उस रूप से बने हुए आपको हीं देखते हैं। और वे जानते हैं कि ब्रह्मादि देव के स्वरूप में आप ही हैं आप उनसे पृथक् अन्य नहीं हैं। अतः गुणों करके भिन्न सृष्टि के मनुष्यों को अपने अपने कार्य की सिद्धि के लिये अपनी रुचि के अनुसार ये ही भगवद्रूप देव यथारुचि सेव्य है। इस प्रकार इस श्लोक में साधन कहे हैं॥ २८॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

नारदादिभिर्मुनिभिः सानुचरैरनुचरा गन्धर्वादयस्तत्सहितैर्देवैरिन्द्रादिभिश्च साकं ब्रह्मा भवो रुद्रश्च तत्र वसुदेवदेवकी बन्धनागार एत्य आगत्य सर्वे रम्याभिर्गीर्भिर्वृषणं कामवर्षिणं भगवन्तमैडयन् तुष्टुवुः॥ २५॥ स्तुतिमेव दर्शयति सत्यव्रतमित्यादिपञ्चदशभिः। तत्र प्रतिश्रुतमवतरणं भगवता सत्यं कृतमिति हृष्टाः सन्तः प्रथमं सत्यत्वेनैव स्तुवन्ति। सत्यं व्रतं सङ्कल्पो यस्य तम्, सत्यसङ्कल्पमित्यर्थः। तथा सत्यपरं सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिंस्तम्। त्रिसत्यं त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं, प्रलयानन्तरं, स्थितिसमये च सत्यमव्यभिचारेण वर्तमानम्। एतदेवोपपादयन्ति—सत्यस्य योनिमिति। सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि त्यच्छब्देन वाय्वाकाशौ। एवं सच्च त्यच्च सत्त्यं भूतपञ्चकं 'यदिदं किञ्च तत्सत्त्यमितीत्याचक्षत' इति श्रुतेः। तस्य योनिं कारणम्, अनेन पूर्वं वर्तमान-

तोक्ता। तथा सत्त्ये तस्मिन्नेव निहितं स्थितिसमीपेऽप्यन्तर्यामितया स्थितमित्यर्थः। तथा सत्त्यस्य सत्यं तस्यैव सत्त्वस्य प्रपञ्चस्य सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम्, अनेन प्रलयानन्तरमपि वर्तमानत्वं दर्शितम्। एवं त्रिसत्यत्वमुपपादितम्। ऋतसत्यनेत्रम्। 'ऋतं च सूनृता वाणी सत्यं च समदर्शनम्' एकादशे भगवता एवं व्याख्यास्यमानत्वात्। 'सत्यं च समदर्शनम्। ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता' इति। तयोर्नेत्रं प्रवर्तकं यद्वा ते नेत्रे प्रापके यस्य तम्। एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ताः॥ २६॥ ननु भवन्तोऽपि लोकेश्वराः किमिति मां शरणं प्रपद्यन्त इत्याशङ्क्य 'सृष्ट्यादिकारणत्वादस्मदादिशरणयोग्यः सर्वेश्वरस्त्वमेव' इति सूचयन् प्रपञ्चस्य वृक्षरूपत्वं भगवतस्तत्सृष्ट्यादिहेतुत्वं चाहुः—एकायन इति द्वयेन। असौ आदिवृक्षः 'वृश्च्यते कालेन छिद्यत इति वृक्षः' समष्टिव्यष्टिदेहरूपः सर्वोऽपि प्रपञ्चः एकायनः एका प्रकृतिरयनमाश्रयो यस्य सः। द्वे सुखदुःखे फले यस्य सः द्विफलः। त्रयः सत्त्वादयो गुणा मूलानि यस्य स त्रिमूलः। धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो रसा यस्य स चतूरसः। पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि विविधा ज्ञानप्रकाराः चिह्नविशेषा यस्य स पञ्चविधः। शोकमोहजरामृत्युक्षुत्पिपासारूपान् षडूर्मीन् जन्मास्तित्ववृद्धि-विपरिणामापक्षयविनाशरूपान् षड्विकारान् वा प्राप्नोतीति षडात्मा। सप्त त्वङ्मांसरुधिरमेदोस्थिमज्जाशुक्ररूपा धातवस्त्वचो वल्कलानि यस्य स सप्तत्वक्। अष्टौ 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च॥ अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इति भगवदुक्ता विटपाः शाखा यस्य स अष्टविटपः नव इन्द्रियगोलकानि अक्षाः कोटरा यस्य स नवाक्षः। दश प्राणापानसमानव्या-नोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः प्राणवायवः छदाः पत्राणि पत्रवद्रक्षका विद्यन्ते यस्य स दशाच्छदी। द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यस्मिन् स द्विखगः। हिशब्दो 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेन सर्वम्' इति श्रुत्या भगवतो वृक्षत्वेन निरूपणात् अश्वत्थजन्यस्याश्वत्थवत्तज्जन्यस्य प्रपञ्चस्यापि वृक्षत्वेन निरूपणं युक्तमेवेति सूचनार्थः॥ २७॥ अस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य सतः संसार-वृक्षस्य त्वमेक एव प्रसूतिः प्रकर्षेण सूतिर्जन्म यस्मात्सः, निमित्तोपादानरूपोभयविधं कारणमित्यर्थः। एवकारेण प्रकृत्यादेः पदार्था-न्तरत्वनिरासः। एकपदेन सहायान्तरनिरासः। एवं चैकस्यैवोपादानत्वं निमित्तत्वं च दर्शितम्। तथा सम्यक् निधीयतेस्मिन्निति सन्निधानं लयाधिष्ठानं त्वमेव। अनुगृह्यतेऽनेनेत्यनुग्रहः पालकश्च त्वमेव। ननु "ब्रह्मविष्णुरुद्रा एव जगज्जन्मादिष्वधिकारित्वेन प्रसिद्धा, नाहम्" इत्याशङ्क्याहुः—त्वन्माययेति। त्वन्मायया संवृतमाच्छादितं चेतो येषां ते त्वामेव ब्रह्मादिरूपैर्वर्तमानं नाना ब्रह्मादिरूपान् भिन्नान् स्वतन्त्रान् पश्यन्ति ये तु विपश्चितो मायामोहरहिता विवेकिनस्ते न तथा पश्यन्ति, किंतु त्वामेकमेव तत्तद्रूपेण स्थितं पश्यन्तीत्यर्थः॥ २८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ब्रह्मेति॥ ब्रह्मा भवः शिवश्च नारदादिभिः मुनिभिः सानुचरैः गन्धर्वाद्यनुचरसहितैः देवैः साकं तत्र सूतिगृहे एत्य आगत्य तौ च देवाश्च गीर्भिः वृषणं कामवर्षणं भगवन्तम् ऐडयन् तुष्टुवुः। अत्रेड् चुरादिः। बहुत्वं सर्वदेवाभिप्रायम्। आर्षमित्येके॥ २५॥ सत्यव्रतमिति॥ सत्यं व्रतं संकल्पो यस्य तं सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्य त्रिष्वपि कालेषु सृष्टिस्थितिलयकाले तेभ्यः प्रागनन्तरं च सत्यमव्यभिचारेण वर्तमानं सत् पृथिव्यप्तेजांसि त्यत् वाय्वाकाशौ एवं सच्च त्यच्च सत्त्यं भूतपञ्चकम् "तत्सत्त्यमित्या-चक्षते" इति श्रुतेः। तस्य सत्यस्य योनिं कारणम्। एतेन प्राग्विद्यमानतोक्ता। सत्त्ये तस्मिन्नेवान्तर्यामितया निहितं स्थितम्। एतेन स्थितिसमये सत्त्यत्वमुक्तम्। तथा सत्त्यस्य तस्यैव सत्यं पारमार्थिकं रूपं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम्। एतेन प्रलयेऽप्यवधित्वेन सत्त्वं दर्शितम् ऋतं सूनृता वाक् सत्यं समदर्शनं तयोर्नेत्रं प्रवर्तकम् एवं सत्यात्मकं सत्यस्वरूपं त्वां शरणं प्रपन्नाः स्मः॥ २६॥ एकायन इति॥ एकं प्रकृतिरूपमयनमाश्रयो यस्य। द्वे सुखदुःखे फले यस्य। त्रीणि सत्त्वरजस्तमांसि मूलानि यस्य। चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा वर्णधर्मा वा आश्रमधर्मा वा रसा यस्य। पञ्च इन्द्रियाणि विधा ज्ञानप्रकारा यस्य। षड् जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमति अपक्षीयते नश्यति इति भावविकाराः बुभुक्षा पिपासा शोकमोहजरामृत्युरूपाः षडूर्मयः त्वङ्मांसरुधिरमेदोमज्जास्थीनि षट् कोषा वा आत्मानः स्वभावा यस्य। सप्त रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्ररूपा रसस्थाने त्वचमपि पठन्ति तद्रूपा वा धातवः महदादिसप्तावरणरूपा वा त्वचो यस्य। अष्ट पञ्चभूतानि मनोबुद्ध्यहंकाराश्चेति। विटपाः शाखा विस्तारा यस्य। नव शरीरच्छिद्राणि अक्षाः कोटराणि यस्य। दश प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाः प्राणाश्छदाः पत्राणि विद्यन्तेऽस्य। दशभिः प्राणैश्छदी पत्रवान् इति वा। द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यत्र ईदृशो योऽसौ समष्टिव्यष्टिदेहरूपः आदिश्चासौ वृक्ष उपलभ्यते॥ २७॥ त्वमिति॥ अस्य सतः कार्यस्य पूर्वश्लोके वृक्षत्वेन वर्णितस्य विश्वस्य त्वमेक एव प्रसूतिः कारणं त्वमेव सन्निधानं लयस्थानम्। त्वमेवानुगृह्णातीत्यनुग्रहः पालकश्चासि अतः प्रपञ्चस्त्वद्भिन्नो न। नन्वेवंविधा ब्रह्मादयः प्रसिद्धा इति चेत्तत्राहुः। ये त्वन्मायया संवृतं पिहितं चेतो ज्ञानं येषां ते त्वामेव नाना पश्यन्ति ये तु विपश्चितः ते तु तथा न पश्यन्ति। यद्वा। ये त्वन्मायया न संवृतं चेतो येषां ते विपश्चितः त्वां नाना न पश्यन्तीत्येकमेव वाक्यम्। ब्रह्मादीनामपि त्वदवतारत्वात्॥ २८॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्रतिश्रुतं सत्यं कृतमिति हृष्टाः सन्तस्तावत् प्रकृतिपुरुषयोरप्यसंभावितैर्धर्मैर्विशिष्टं हरिं सत्यत्वेनैव स्तुवन्ति॥ सत्यव्रत-मिति॥ सत्यमवितथं व्रतं संकल्पो यस्य तं, अनेन प्रतिज्ञातोऽर्थो यथार्थीकृत इति सूचितम्। सत्यं धर्मः परं प्रधानीभूतो यस्य तं,

धर्मपालकमित्यर्थः। सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्येति वा। 'सत्यं धर्म उदाहृतः' इत्यभिधानात्। यद्वा। 'यदन्यद्देवेभ्यः प्राणेभ्यश्च तत् सत्यं, अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्सत्यं, तदेकया वाचा व्यवह्रियते सत्यम्' इति श्रुतेश्चिदचिदात्मकं जगत्सत्यं तस्मात्परो विलक्षणस्तं, त्रयः प्रकृतिपुरुषकालाः सत्या यस्य तम्, प्रकृतिपुरुषकालशरीरकमित्यर्थः। प्रकृत्याद्यात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतः स्वनियाम्यत्वेन स्वसंकल्पप्रतिभटाभावादव्याहतसंकल्पमिति भावः। यद्वा। त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरं च स्थितिसमये च सत्यमव्यभिचारेण वर्त्तमानं, सत्यस्य चिदचित्प्रपञ्चस्य, योनिमुत्पत्तिकारणं, सत्ये निर्विकारे परे व्योम्नि, निहितं च। कर्त्तरि क्तः। अधिष्ठितमेवेत्यर्थः। यद्वा। उक्तश्रुत्या सत्ये सत्यात्मके जगति, निहितमन्तर्यामितया स्थितं, सत्यस्य सत्यं, सत्येभ्यो जीवेभ्योऽपि धर्मतो निर्विकारत्वात् सत्यरूपमित्यर्थः। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति श्रुतेः। 'असावादित्यः सत्यम्' इति श्रुतेः सत्यशब्दाभिधेय आदित्यस्तत्साहचर्यादृतशब्दश्चन्द्रपरः, एवं सति ऋतसत्यौ चन्द्रादित्यौ तयोर्नेत्रं प्रशासितारमित्यर्थः। 'य आदित्ये तिष्ठन् यश्चन्द्रमसि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतौ तस्य तयोर्नियमनोक्तेः। यद्वा। तौ नेत्रे चक्षुषी यस्य तं, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इति श्रुतेः। ऋतं सुनृता वाक् सत्यं समदर्शनं तयोर्नेत्रं नेतारं प्रवर्त्तकमिति यावत्। सत्यात्मकं स्वरूपेणापि निर्विकारं, एवं सर्वप्रकारेण सत्यशब्दनिर्वाह्यं, त्वां, शरणं प्रपन्नाः। वयमिति शेषः ॥ २५ ॥ अथ त्रिसत्यत्वमेवोपपादयितुं कृत्स्नं जगद्वृक्षरूपत्वेन निरूपयित्वा तस्य भगवद्धार्यत्वमाहुः ॥ एकायन इति ॥ एकं परं ब्रह्म अयनमाश्रयो यस्य सः, 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः'। 'उतामृतत्वस्येशानः' इत्यादिश्रुतेः। यद्वा। एका चेतनात्मकलक्षणा प्रकृतिरयनमाश्रयो यस्य सः। 'यत्किं च जगत्यां जगत्' इति श्रुतेः। द्वे सुखदुःखे फले यस्य सः, यद्वा। द्वे प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणे फले यस्य सः, त्रयः सत्त्वादयो गुणा मूलानि यस्य सः। चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः रसाः यस्य सः, पञ्च इन्द्रियाणि विधा ज्ञानप्रकारा यस्य सः, सामान्यवृक्षेष्वपि 'तस्माच्छ्रृण्वन्ति पादपाः' इत्यादिना तदभिधानात्। पञ्चशिफ इति पाठे प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः पञ्चशिफा अवान्तरमूलानि यस्य सः, षट् अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणाख्याः षडूर्मयः आत्मानः स्वभावा यस्य सः, सप्त मांसरुधिरमेदोमज्जास्थिशुक्ररूपाः धातवः त्वचो यस्य सः, हस्तौ पादौ शिरः कण्ठो वक्षो जठरश्चेतेऽष्टौ विटपाः शाखा यस्य सः, भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरहंकारश्चेत्यष्टौ विटपा यस्येति वा। ब्रह्मरन्ध्रस्य दशमाक्षत्वात् पायूपस्थयोरेकत्वेन गणनया नवाक्षाणि छिद्राणि यस्य सः, नवद्वारैर्नवकोटर इत्यर्थः। दश शब्दादयो दशेन्द्रियविषयाः छदाः पत्राणि यस्य सः, प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्या दशविधाः प्राणाः छदाः यस्य स इति वा। दशाच्छदीत्यपि पाठः। द्वौ जीवपरमात्मरूपौ खगौ पक्षिणौ यस्मिन्नेवंविधः, असौ वृश्चयते ज्ञानासिना योगिभिश्छिद्यते इति वृक्षः आदिश्चासौ वृक्षश्चादिवृक्षः संसारतरुः देहरूपो वा वृक्षः, अस्ति हि ॥ २६ ॥ अथ सत्यस्य योनिमिति यदुक्तं तदुपपादयन्ति ॥ त्वमिति ॥ अस्य परिदृश्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य, सतः 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इत्यादिश्रुतीक्षयाऽनादिकालतः प्रवर्त्तमानत्वेन सद्रूपस्य जगदात्मकसंसारतरोरित्यर्थः। प्रसूतिर्जन्मकारणं, त्वम् एक एव, संनिधीयते उपसंह्रियतेऽस्मिन्निति संनिधानं, प्रलयाधिकरणमित्यर्थः। त्वम् एव, अनुगृह्णातीष्टप्रदानेनेति अनुग्रहश्च स्थितिकारणं, चेत्यर्थः। त्वमेव। ननु ब्रह्मविष्णुरुद्रा एवंभूताः प्रसिद्धाः, कथमहमिति चेत्तत्राहुः। त्वन्मायया, संवृतं पिहितं चेतो ज्ञानं येषां ते, त्वन्मायामुषितज्ञाना इत्यर्थः। त्वां नाना पश्यन्ति ब्रह्मादिरूपेण समीक्षन्ते, ये विपश्चितस्त्वत्स्वरूपस्य याथार्थ्यविदः, ते तु नाना न पश्यन्ति। सृष्टिस्थितिप्रलयाख्यत्वत्कर्मणः ब्रह्मादिषु त्वया निहितत्त्वात्त्वं तेभ्यः पृथग्भूत एव वस्तुतोऽस्त्यतः विपश्चितो नाना त्वां न निरीक्षन्ते इति भावः। यद्वा। ननु नाहं भवद्भिः प्रोक्तो यः सत्यपरः सः, यतः केचिन्मां जीवादभिन्नं पश्यन्तीत्यत्राहुः। हे हरे, त्वन्मायया संवृतं मोहितं चेतो येषां ते, अत एव न विपश्चितः, नशब्दोऽत्र निषेधार्थकः, ततो 'नलोपो नञ' इति नलोपाभावः। ये जनाः, ते त्वां नाना पश्यन्ति, नानाजीवरूपेण स्थितं पश्यन्तीत्यर्थः ॥२७-२८॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ब्रह्मेति : १०.२.२५.

मत्क्लेशापहृतावयं कृतमतिः श्रुत्वा मदभ्यर्थितं जानन्नेवमपीह यो न सदयं तं सेवते स्तौति वा।
नोन्मत्तो भुवि निस्त्रपस्तदपरो दुर्धीः कृतघ्नश्च वेत्यालोच्याच्युतमिष्टदं स्तुतिमतिः प्रागाद्विधिस्तत्क्षमम् ॥ ३३ ॥
एतावत्कृतिभिस्तिरस्कृतिपदं नीतोऽस्मि वेदान्तिभिः, मन्वानैर्वयमेव सर्वविषयेष्वस्मिन् विरक्ता इति।
धन्योऽस्म्यद्य तु सर्वभूतजनकस्वीकारतः स्यामितो मूर्तः स्तोतुमगादसौ किमु महासंसार एवेश्वरम् ॥ ३४ ॥
न चेद् गर्भस्तदा कुत्र जीवो ब्रह्मेति संस्थितिः। तत्प्रसादादिदं सर्वं युक्ता गर्भस्तुतिस्ततः ॥ ३५ ॥

सत्यव्रतमिति : १०.२.२६.

गर्भादिवासमवलोक्य जघन्यमीशो वित्रस्य चेतसि न जातुचिदाजहातु।
सन्धां पुरा निजकृतामिति धातृमुख्याः स्तोत्रापदेशविधिनोचुरखण्डसत्यम् ॥ ३६ ॥
समस्त-निगम-स्तुतोऽप्यखिलवस्तुविस्तारको वितस्तिमितकोदरो वससि देवकीये प्रभो।
अतस्तव दयालुता पतिततापनिस्तारणव्रतेत्यथ च तद्वशः प्रभुरितीह किं न स्फुटम् ॥ ३७ ॥

त्वयि सति जठरस्थे देवकीनाशभीतिर्नहि खलु रिपुजाऽऽसीदत्र चित्रं न यस्मात्।
सकलसुजनलोकानामपीहाविशङ्कं सपदि मृतिमुपेता देवकीनाशभीतिः ॥ ३८ ॥
यत्प्रत्यङ्गरुहान्तरङ्गगतया ब्रह्माण्डमुद्योतते यन्नाभ्युद्भवपद्मगर्भगतया हैरण्यगर्भस्थितिः।
यन्नामैव जनुष्मतामलमहो स्विद्गर्भकूलङ्कषं सत्वं गर्भनिवासयभूस्तदिह सद्वात्सल्यमाविष्कृतम् ॥ ३९ ॥

कृष्णप्रिया

ब्रह्माजी, भगवान् शंकर जी नारदादि मुनिजन और अपने सेवकों के साथ देवता लोग वहाँ आकर सुन्दर वाणी-स्तोत्रों से भगवान की स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥ देवता लोग कहने लगे कि आप सत्यव्रत है, आप का बारह प्रकार का सत्य परश्रेष्ठ है, आप के तीन लोक और, आपकी तीन आत्मा (जीव-शरीर-परमात्मा) सत्य है, आप सत्य के कारण है, सत्य में आप की स्थिति है; आप सत्य के सत्य-आधिदैविक स्वरूप है, ऋत (सुनृत वाणी) और सत्य (समदर्शन) ये दो आप की प्राप्ति कराने वाले है , और आप सत्य स्वरूप है , ऐसे आप भगवान के हम शरणागत हैं ॥ २६ ॥ यह ब्रह्मांड रूप जो आदिवृक्ष है इसका आधार केवल भगवान् ही है। और उसके सुख और दुःख दो फल हैं, तीन गुण उसकी जडें हैं धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चार रस हैं, पांच कर्म ही प्रकार है, छ इन्द्रियाँ ही आत्मा है, सात प्रकार की धातु सात वल्कल है, आठ प्रकार की प्रकृतियाँ आठ शाखा हैं, देह के नव छिद्र नव कोटर है। दश प्राण दश पर्ण है। जीव और अन्तर्यामी दो पक्षी है वैसा वह ब्रह्मांड नाम का वृक्ष है। इस सद्रूप जगत् के उत्पत्ति स्थान आप एकही हो, लयस्थान भी आप हो और इसकी स्थिति भी आप में हीं है। आपकी माया से जिनका ज्ञान ढ़क गया है वे आपसे भिन्न, जगत् को नाना रूप में देखते हैं। और जिनकी बुद्धि माया से आच्छादित नहीं हुई है वे विद्वान् नाना रूप में अलग न देखकर सब में एक आपको ही देखते हैं ॥ २८ ॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध [1]आत्मन् क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥ २९ ॥
त्वय्यम्बुजाक्षाखि[2]लसत्त्वधाम्नि समाधिनाऽऽवेशितचे[3]तसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥ ३० ॥
स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥ ३१ ॥
येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अवबोध आत्मन् चराचरस्य लोकस्य क्षेमाय सताम् सुखावहानि सत्वोपपन्नानि खलानाम् अभद्राणि रूपाणि मुहुः बिभर्षि ॥ २९ ॥ अम्बुजाक्ष अखिलसत्वधाम्नि त्वयि समाधिना आवेशितचेतसा महत्कृतेन त्वत्पादपोतेन भवाब्धिम् गोवत्सपदम् कुर्वन्ति ॥ ३० ॥ द्युमन् अदभ्रसौहृदाः सुदुस्तरम् भीमम्-भवार्णवम् भवत्पदाम्भोरुहनावम् (कृत्वा) स्वयम् समुत्तीर्य अत्र निधाय ते याताः भवान् सदनुग्रहः ॥ ३१ ॥ अरविन्दाक्ष अन्ये ये विमुक्तमानिनः त्वयि अस्तभावात् अविशुद्धबुधयः अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः परम् पदम् कृच्छ्रेण आरुह्य ततः अधः पतन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु देवकीपुत्रं मां कथमेवं वर्णयथेति चेत्तत्राहुः। बिभर्षीति। अवबोधैकस्वरूप आत्मा त्वमेव रूपाणि मूर्तीर्बिभर्षि धत्से। न तु त्वं कस्यापि पुत्र इत्यर्थः। क्षेमाय पालनाय। सतां धर्मवर्तिनां सुखकराणि। खलानामभद्राणि नाशकानि ॥ २९ ॥ न केवलमेतावत्। भक्तानां मोक्षार्थमपीत्याहुः—त्वयीति। त्वयि समाधिना आवेशितचेतसा निमित्तेन त्वत्पादपोतेनाश्रितेन। एके मुख्या विवेकिनः। महद्भिः कृतेन सेव्यतया संपादितेन। यद्वा इदमपि मायामयमित्यनादरं परित्यज्येदमेव महत्सर्वोत्कृष्टमिति मनसि कृतेन बहुमतेनेत्यर्थः। भवाब्धिं तुच्छीकुर्वंति। अनायासेनैव भजनानुसारिणी तेषां मुक्तिरित्यर्थः ॥ ३० ॥ ननु तेन पोतेन पूर्वे चेत्पारं गतास्तर्हीदानींतनानां का गतिस्तत्राहुः-स्वयमिति। अयमर्थः। हे द्युमन्स्वप्रकाश त्वत्पादपोतसामीप्यमात्रेण भवांबुधौ वत्सपदचिह्नमात्रे जाते अतस्तन्निरपेक्षं स्वयमेवान्येषां भीमं दुस्तरमपि भवार्णवं समुत्तीर्य भवत्पदांभोरुहरूपां नावमत्रैव निधाय।

---

१. आत्मा—श्रीधर. वंशी. शुक; आत्मन्—विज. । २. मलसत्व—वीर. । ३. चेतसो ये— विज. ।

भक्तिमार्गसंप्रदायं प्रवर्त्येत्यर्थः। पारं याताः तत्किम्। यतोऽदभ्रसौहृदाः सर्वभूतेष्वतिप्रीतियुक्ताः अतस्तेऽन्येषां तरणाय निधाय याता इति कथं मत्पादपोतश्रयणमात्रेण तीर्णा अत उक्तम्। भवान्सदनुग्रहः सतो भक्काननुगृह्णातीति ॥ ३१ ॥ ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन मुक्ता एव हि ते तत्राहुः—येऽन्य इति। विमुक्तमानिनो विमुक्ता वयमिति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवासन् यो भावस्तस्मात्। भक्तेरभावादित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभाः इति च्छेदः। अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्ध-बुद्धयः। कृच्छ्रेण बहुजन्मतपसा। परं पदं मोक्षसन्निहितं सत्कुलतपःश्रुतादि। पतंति विघ्नैरभिभूयंते। न आदृतौ युष्मदंघ्री यैस्ते ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यूयं विद्वांसश्चेत्तर्हि किमर्थमेवं स्तुवंति गर्भगमिति शंकते भगवान्-नन्विति। एवं जगदुत्पत्त्यादिकर्त्तारम्। तत्र देवकी-पुत्रत्वे। आहुः (कारणमिति शेषः) बिभर्षीति पद्येन। अवबोधैकस्वरूपो ज्ञानैकस्वरूपः। इत्यर्थ इति। न हि मूर्तिधारणेनान्यथात्वं जायतेऽन्यथा करकाणामपि जलत्वत्यागेन पार्थिवत्वं स्यादिति भावः। क्षेमाय तत्तत्कालप्राप्तविपत्परिहाररूपपालनाय। 'क्षेमो ना प्राप्तरक्षायाम्' इति यादवः॥ २९ ॥ एतावत् सत्पालनं खलहननमात्रमेव। किन्तु भक्तानां मोक्षार्थमपीति त्वयीति पद्येनाहुः। पादावेव पोतो वहित्रं तेन अभेदरूपकेण पादयोर्वहित्रत्वम्। 'पोतः शिशौ वहित्रे च' इति मेदिनी। कृतेनेत्युक्तेः कृत्रिमस्य माया-मयत्वं स्यादित्याह-यद्वेति। इत्यर्थ इति तात्पर्यम्। भवस्संसार एवाब्धिस्तं यथा वत्सचरणभरकृतनिम्नस्थितजलमयत्नेन तरंति तथा भवाब्धिमपीत्याह—तुच्छीकुर्वंति। भवाब्धेरस्तित्वमपि न जानंतीति भावः। "भवः क्षेमेशसंसारसत्तासु प्राप्तिजन्मनोः" इति मेदिनी। मुक्तिरित्यर्थ इति भावः ॥ ३० ॥ ते तु मुक्ता अन्येषां का गतिरिति शंकते-नन्विति। तेन त्वत्पादरूपेण। पारं गता मुक्ताः। इदानींतनानाम्। आधुनिकानाम्। का गतिः कथं मोक्षः। तत्र इदानींतनमोक्षे। स्वयमिति पद्येन। न केवलं स्वयं मुक्ताः किन्त्वन्य-जनमोक्षार्थमुपायं कृत्वैव स्वयं मुक्तिमिता इत्याह-अयमर्थ इति। ततो वत्सपदमात्रत्वात्। तन्निरपेक्षं पोतनिरपेक्षम्। अन्येषा-मभक्तानाम्। निधाय इत्यस्यायमर्थ इति बोधयतीत्यर्थ इत्यंतेन न तु संस्थाप्येति 'निपूर्वः स्थापने मतः' इत्युक्तेः। तत्संप्रदायप्रवर्त्तनं किं किमर्थम्। अत्र किमव्ययं प्रश्ने "किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि" इति मेदिनी। यतो हेतोः। अर्थान्तरमाह-द्युमन् हे सूर्येति। त्वं येषामन्तःकरणे नोदेषि तेषामेव तमःपुंजरूपः संसारोऽर्णवतुल्यो भीमो दुस्तरश्च भवति प्रेमभक्त्युदयपर्वते त्वय्युदिते समस्ततमसि स्वयमेव नष्टे सति स्वयमेव तरणं भवेदतो भवत्पदांबुरुहनावमत्रैव कूले निधाय याताः। यथाऽन्येप्येवं तरेयुरित्यभि-प्रायेणैवोत्प्रेक्ष्यत इति भावः। अत्र संसारस्य सामस्त्येन नष्टत्वेऽपि वयं संसारिण एवेति भक्तानां मिथ्याभिमान एव गोवत्स-पदाकारः। यथा च गोवत्सपदजलं पावनं श्लाघनीयं च भवेत्तथैव तेषां सोऽभिमानोप्यन्येषां भक्तमानिनामभिमानरोगहरोऽभिज्ञजनैः श्लाघनीयश्च भवतीति यतः सत्सु भक्तेष्वेवैतादृशोऽनुग्रहो यस्य नान्येष्विति भावः ॥ ३१ ॥ मुक्तानां भजनमकिंचित्करमिति शंकते नन्विति। विवेकिनां ज्ञानिनाम्। ते विवेकिनः। तत्र भजनाकरणे भावो भक्तिः। इत्यर्थ इति तु सत्तादिरूपो भावपदार्थोऽत्र न ग्राह्य इत्याह-किं च पदच्छेदे नार्थाधिक्यमाह-यद्वेति। छेद इति। अस्ता भा मतिर्येषां ते तथा भाति दीप्यते पुमाननयेति भा बुद्धिः। अधोऽवाक् तिर्यग्योनौ श्वशृगालादियोनौ रविंदोंधकारस्तद्भिन्नेऽरविंदः प्रकाशा ज्ञानमिति यावत्। "अंधकारो रविंदांधतिमिरं तम उच्यते" इत्युत्पलः। स एवाक्षिणी यस्य सोऽरविंदाक्षस्तत्संबुद्धौ हे ज्ञानलोचन। किञ्च हरिभक्तानामेव भवार्णवो गोष्पदी भवति ये तु तव शुद्धसत्त्वमयवपुषि मायाभानवंतो ज्ञानिनस्तेषां तु सुदुस्तरो भीमश्च 'कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशाम्' इत्यादिसनत्कु-मारोक्तेः 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' इति भगवता 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्' इति नारदेनापि तथैव देवा अप्याहुः। अन्ये त्वदनुगृहीतसद्भ्यो भिन्नाः अरविंदाक्षेति त्वत्कृपावलोकनमाधुर्याननुभाविन इति भावः। विमुक्तमानिनस्त्वद्भक्ता यथा संसारोत्तीर्णा अपि संसारिमानिनस्तथैवैते संसारमध्ये पतिता अपि विमुक्तमानिनस्तत्र हेतुस्त्वय्यरविंदाक्षे मधुराकारेऽस्तभावान्मायाशाबल्य-मननेन प्रीत्यभावात्। "अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्" इति भगवदुक्तेर्मौढ्यादविशुद्धज्ञानाः कामादिनिर्जयमूलकांतः-करणशुद्धिमत्त्वादुत्पन्नमपि ज्ञानं न विशुद्धं तदपि कृच्छ्रेण तपःशमदमादिकृच्छ्रजनितेन ज्ञानेन परं पदं जीवन्मुक्तदशायामारुह्य-त्येषां गुणीभूतभक्त्या युक्तत्वं ज्ञेयं तां विना परमपदारोहासंभवात् 'श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य' इत्याद्युक्तेस्तां विना ज्ञानस्य मरीचिका-जलायमानत्वात्ततोऽधः पतंति। ननु भक्तिसत्त्वे कथमधः पतंति तत्राहुः नादृतौ मायिकत्वबुद्ध्या युष्मदंघ्री यैस्ते। अमयर्थः-ज्ञानिनां ज्ञानांगभूता भक्तिर्द्विधा भक्तिं विना ज्ञानं न सिध्येदिति शास्त्राज्ञयैव किञ्चिन्मात्रीक्रियमाणा भजनीयभगवद्विग्रहादिषु मायिक-बुद्ध्याऽनादरवती अनादररहिता च। आद्यया तेषां तपःशमदमादिमतां बहुकालेनाविद्यानिरसनीं विद्यामुत्पाद्य ब्रह्मभूतत्वदशामुत्पाद्य च सहसैवांतर्द्धीयते ते विमुक्तमानिन एवोच्यन्ते न तु वस्तुतो जीवन्मुक्ताः 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' इति भगवदुक्तेर्भक्तिं विना तत्पदार्थस्यापरोक्षानुभवाभावात् भगवदपराधसंभवाच्च दग्धानामपि कर्मणां पुनः प्ररोहादधः पतंति तदुक्तं रथयात्राप्रसंगे विष्णु-भक्तिचंद्रोदये "नानुव्रजति ये मोहाद्व्रजंतं परमेश्वरम्। ज्ञानाग्निदग्धकर्मापि स भवेद्ब्रह्मराक्षसः॥" इति। वासनाभाष्ये "जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बंधनं यांति कर्मभिः। यद्यचिंत्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥" इति द्वितीयया तु तेषां ब्रह्मभूतत्वदशाद्यविद्या-विद्ययोरुपरामेत्यनु परमत्या तत्पदार्थसाक्षात्कारमनुभाव्यमाना जीवन्मुक्ताः सिद्धा एव स्युः। तदुक्तम् "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न

शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥" इति विश्वनाथः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अवबोधरूप आत्मा सर्वमूलस्वरूपः श्रीदेवकीनन्दनाख्यस्त्वमेव सत्त्वेन सच्चिदानन्दघनत्वेन उपपन्नानि श्रौतपुराणादि-वाक्ययुक्तिसिद्धानि रूपाणि पुरुषाख्यादीनि मुहुर्बिभर्षि जगत्सृष्टिं प्रतिधत्से प्रकटयसीत्यर्थः । अतो देवकीलक्षणनिजशक्तिद्वारा प्राकट्यात्तव तन्नन्दनत्वेपि तादृशत्वं च न व्याहन्यत एवेति भावः लोकक्षेमार्थत्वे हेतुः सुखेत्यादि सत्पालनखलदण्डाभ्यामेव तत्सिद्धेः खलानामपि दुष्टकर्मतो निवृत्तेः सन्तोऽत्र धर्ममर्यादाकारकाः खलास्तल्लोपका इति अन्यत्तैः । यद्वा त्वमेक एवास्येत्यादावेव श्रीदेवकीनन्दनरूपस्यैव तस्य तादृशत्वं निर्धार्य्येदमेवावताय्यं तेषां नानारूपाणां प्रयोजनमाहुः–बिभर्षीति । तदेवं सर्वेषामेव त्वद्रूपाणां तादृशत्वे सिद्धे किमुत स्वयं भगवतस्तवेति भावः ॥ २९ ॥ अस्तु तावत्त्वद्रूपाविर्भावसमयगतानां तेषां वार्त्ता अन्यदापि मनोमात्रे-णापि—लब्धत्वदाश्रयाणामनायासेनाऽखिलसंसारदुःखनाशः परमसुखरूपत्वप्राप्तिश्च भवति तत्प्रसङ्गेनान्येषामपि तादृशत्वं संपद्यत इत्याहुः त्वयीति द्वाभ्यां परमसुखात्मके तत्पारतीरायमाने त्वयि हे अम्बुजाक्षेति परमसौन्दर्य्यमुद्दिष्टम् अयमावेशे हेतुः किञ्च अखिलस्याखण्डस्य सत्त्वस्य चिच्छक्तिवृत्तिविशेषाचिन्त्यापरिमितसर्वसद्गुणात्मकत्वदीयस्वरूपसुखाभिव्यञ्जकशुद्धसत्त्वस्य धाम्नि आश्रये अमलेतिपाठे तस्य मायामलराहित्येन यत् शुद्धसत्त्वसंज्ञत्वं तदेव साक्षादुक्तम् ॥ ३० ॥ सम्यक् उच्चैस्तोर्त्वेति, वत्सपदमात्र-ताकरणेन नावस्तितीर्षोश्च चेष्टामात्रं निरस्तं द्युमन्निति तच्च तव प्रकाशस्वभावादेवेति भावः । अत्र पूर्वत्र च पादादिशब्दस्य साधन-लक्षणभक्तौ तात्पर्य्यम् अत उक्तमत्र निधायेति, अन्यत्तैः तत्र कथं मत्पादेत्यादौ ज्ञानं विनेति शेषः । यद्वा, एवं तेषामेव तत्तारणकार-णत्वे हेतुः सन्त एवाऽनुग्रहरूपा यस्येति ॥ ३१ ॥ ननु, विनापि मत्पदाश्रयं ज्ञानेनैव संसारोत्तरणादिकं भवेत् किन्तेन तत्राहुः-य इति । हे अरविन्दाक्ष इति दृष्टिमात्रेण सर्वतापहारित्वमुक्तं तादृशेपि त्वयि बहुत्वपर्यवसितेन युष्मत्पदेन तदीयाश्च गृह्यन्ते अन्यत्तैः तत्र श्रुतादीत्यादिग्रहणात् मननिदिध्यासनादि । यद्वा, प्रथमतस्तावत्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः तथापि ज्ञानमार्गमाश्रित्य विमुक्त-मानिनः देहद्वयातिरिक्तत्वेनात्मानं भावयन्तः ततः "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।" इत्युक्तेः कृच्छ्रेण परम्पदं जीव-न्मुक्तिरूपम् आरुह्य प्राप्यापि ततोऽधः पतन्ति कदेत्यपेक्षायामाहुः—अनादृतेति । यदीतिशेषः तेषां भक्तिप्रभावस्याऽननुवृत्तेरबुद्धि-पूर्वकस्य त्वदनादरस्य निवर्त्तकाभावात् तथापि दग्धानामपि पापकर्मणां महाशक्तिश्रीभगवत्पादपद्मावज्ञया पुनर्बन्धनविरोहात् तथा च वासनाभाष्यधृतं श्रीभगवत्परिशिष्टवचनम्—

"जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः । यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः" ॥ इति ।

अत एव तत्रैव—

"जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते क्वचित् संसारवासनाम् । योगिनो न विलिप्यन्ते कर्मभिर्भगवत्पराः" ॥

रथयात्राप्रसङ्गे श्रीविष्णुभक्तिचन्द्रोदयधृतं पुराणान्तरवचनं च—

"नानुव्रजति यो मोहाद्व्रजन्तं जगदीश्वरम् । ज्ञानाग्निदग्धकर्मापि स भवेद् ब्रह्मराक्षसः" ॥ इति ।

तदेवं भक्तिसोपानज्ञानमार्गे "तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते" इत्यादौ "तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्" इत्यादौ च यत्तद्ध्यानत्यागो धारणान्तरं सिद्धिश्च श्रूयते तत्रानादरो न मन्तव्यः किन्तु ब्रह्मकैवल्येच्छासंस्कारवशाच्छैथिल्यमेव यथा निद्रासंस्कारवशाद्विषयाविष्टानां विषये तद्दृश्यते तत्र श्रीभगवता वञ्चना च क्रियत इति ब्रह्मण्येव मग्नता स्यात् ।

"अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो—मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" ॥

इत्यादेः अनादरे तु नरकोऽपि श्रूयते "नातः परमयद्भवतः स्वरूपम्"इत्यादिषु "योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः" इत्याद्युक्तेः तस्मात् सर्वं समञ्जसम् ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

२९– रूपाणि श्रीमत्स्यादिमूर्त्तीरवबोधैकस्वरूप इति तद्रूपाणामपि तादृशत्वं सूचितम्; तदेवाभित्यञ्जयतिसत्त्वेति, सत्त्वं सत्तामात्रं ब्रह्म तदुपपन्नानि सच्चिदानन्दघनानीत्यर्थः । यद्वा, आत्मा स्वयमेव बिभर्षि न तु माययेति सोऽर्थः समर्थित एव । क्षेमत्वे हेतुः—सत्त्वानि विविधसाधुता तद्युक्तानि, अतएव सतामविच्छेदेन सुखकराणि, सतां सुखावहत्वेन खलानाञ्च नाशनेनैव पालन-सिद्धेः । यद्वा, सत्त्वानां सात्त्विकानामुपपन्नानि हितार्थं समीपं प्राप्तानि । मुहुरित्यस्य बिभर्षीत्यनेनान्वयः । ततश्च रूपाणां बाहुल्यं प्रत्येकं वैविध्यञ्च बोध्यते । यद्वा, सुखावहानीत्यनेनाभद्राणीत्यनेन चान्वयः । ततश्च तत्तदविच्छेदः, यद्वा, मुहुः खलानां पुनः पुन-र्दुष्टानामिति कदाचित् साधुत्वे सति तेषामपि भद्राणि स्युरिति भावः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, अवबोध इति यथा यस्य यदा येन

रूपेण क्षेमं स्यात्तज्ज्ञानं तदनुसारेण विभर्षीति भावः। क्षेमाय हिताय; अभद्राणि दण्डादिना दुःखकराणि, तथापि तेषां मध्ये केषाञ्चिन्मदभञ्जनादिना केषाञ्चिन्मोक्षदानेन च हितं सिध्येदेव; पक्षान्तरे च, न केवलं तान्येव, जगद्धितार्थमन्यान्यपि विविधानि रूपाणि प्रकटयसीत्याहुः—विभर्षीति अर्थः स एव ॥

३०—त्वद्भक्तानाञ्च मुमुक्षूणामप्यनायासेन स्वयं संसारोत्तरणार्थमन्यतारणार्थञ्च विभर्षीत्याहुः- त्वयीति द्वाभ्याम्। हे अम्बुजाक्षेति परमसौन्दर्य्यमुद्दिष्टम् अयं समाधिना चेतस आवेशे हेतुः। किञ्च अखिलानां सत्त्वानां जीवानां धाम्नि आश्रये। यद्वा, सत्त्वानां साधुत्वानामास्पदे; किंवा सम्पूर्णब्रह्मभूर्त्ताविर्त्यथः। अमलेति पाठे आद्ये पक्षे,—अमले सत्त्वधाम्नि, द्वितीये-अमलानां सत्त्वानाम्, तृतीये—विशुद्धसत्त्वं केवलसत्त्वरूपं ब्रह्मैवेति। एवं सर्वसद्गुणादिकमुक्तम् ॥

३१—सम्यगुच्चैस्तीर्त्वेति वत्सपदमात्रताकरणेन कथञ्चित्तत्सम्बन्धोऽपि निरस्तः। द्युमन्निति, तच्च तव कृपा-प्रकाशनादेवेति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, मोक्षाद्यपेक्षकानपि भक्तांस्तान्न कथञ्चित् कदाचिदपि त्वमुपेक्षस इत्याहुः-मन् सत्य उत्तमो वानुग्रहो यस्य सः ॥

३२ त्वद्भक्तिं विना ब्रह्मविदोऽपि सन्न्यासिनो विविधदुःखं प्राप्नुवन्तीत्याहुः—य इति। हे अरविन्दाक्षेति दृष्टिमात्रेण सर्व्वतापहारित्वमुक्तम्; तादृशेऽपि त्वयि; युष्मच्छब्देन त्वदीयाश्च गृह्यन्ते ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अवबोधः ज्ञानस्वरूपो रूपाणि अवताररूपाणि सत्त्वोपपन्नानि शुद्धसत्त्वमयानि ॥ २९ ॥ त्वयीति महद्भिरुपदेशकृतेन समाधिना त्वय्यावेशितेन चेतसोपलक्षिता एके अवताररूपप्रवणाः पुरुषाः त्वत्पादपोतेन भवाब्धिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति ॥ ३० ॥ द्युमत्स्वर्गादिस्थानोपेतम् अदभ्रसौहृदाः मैत्र्यादिगुणोपेताः भवत्पदाम्भोरुहनावं निधाय भवार्णवं समुत्तीर्य स्वयं याता इत्यन्वयः। एवं भवान् सदनुग्रहः सदनुग्रहलीलः ॥ ३१ ॥ विमुक्तमानिनः विमुक्ता वयम् इति वृथाऽभिमानिनः परम्पदं वर्णाऽऽश्रमादिरूपं स्थानमारुह्य अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः त्वच्चरण आदररहितमनसः वर्णाश्रमधर्मं क्रियमाणा अस्तभावात्त्वयि भक्तिशून्यत्वादविशुद्धबुद्धयः अधः पतन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

त्वमनुग्रह इति स्थितिकारणत्वमुक्तं तच्चान्तर्यामित्वस्वावतारमन्वाद्यनुप्रवेशेनेत्यभिप्रायेणाहुः- विभर्षीति। अवबोध आत्मा ज्ञानस्वरूपः असन्धिरार्षः यद्वा, अवबोधः ज्ञानस्वरूपः आत्मा सर्वान्तरात्मा च सन्नित्यसमस्तं पदद्वयं यद्वा अवबोध इति सप्तम्यन्तमवबोधे ज्ञानस्वरूपे जीवे आत्माऽन्तरात्मतयावस्थितस्त्वमस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य क्षेमार्थं रूपाणि अवताररूपाणि बिभर्षि कथम्भूतानि सत्त्वोपपन्नानि शुद्धसत्त्वमयानि सतां साधूनां सुखावहानि खलानां दुष्कृतां मुहुर्मुहुरभद्राणि मुहुर्विभर्षीति वान्वयः ॥ २९ ॥ एवं निखिलजगदुत्पादकारणत्वेन स्तुत्वाऽथ "कारणन्तु ध्येयम्" इति कारणत्वसमनियतत्वेन श्रुतमुपास्यत्वमपि त्वन्निष्ठमेवेत्यभिप्रायेण स्तुवन्ति, ब्रह्मादयो देवाः श्रीदेवकीगर्भगतं श्रीनिवासम्-त्वयीति। हे अम्बुजाक्ष! अमलसत्त्वधाम्नि शुद्धसत्त्वमयं धाम स्थानं शरीरं श्रीविग्रहो वा यस्येति यावत् तद्यस्य तस्मिन् विशुद्धसत्त्वमयदिव्यनित्यमङ्गलश्रीविग्रहविशिष्टे त्वयि एके विपश्चितः अवताररूपचरित्रगुणकथाश्रवणकीर्त्तनस्मरणादिपराः पुरुषाः समाधिना आवेशितं चेतो यैस्तथाभूताः चेतसैक इति सन्धिरार्षः समाधिना त्वय्याविशितचेतसोपलक्षिताः इति वा महत्कृतेन महता सदाचार्येण कर्णधारस्थानीयेन कृतेन सन्निधापितेन प्रदर्शितेन तव पादपोतेन श्रीपादपद्मरूपप्लवेन भवः संसारः स एवाब्धिः सागरस्तं गोवत्सपदं कुर्वन्ति तदिव सुखेनातितरन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ न केवलं ते स्वयमेव गोवत्सपदं कुर्वन्ति किन्त्वन्येषामपि तथैवास्त्विति तादृशशास्त्रप्रकाशानाद्यविच्छेदसम्प्रदायपरम्परामत्रैव दृढतया विस्तार्य भवत्कृपया श्रीभवद्धाम प्राप्ता इत्यभिप्रायेण स्तुवन्ति-स्वयमित्यादिना। हे द्युमन्! नित्यविभूतिमन् विभूतिद्वयनायक! द्युमिदिति पाठे द्युमद्भवार्णवमिति समस्तं पदं स्वर्गादिस्थानोपेतं भवार्णवं भीमं दुस्तरमपि अदभ्रमनल्पं सौहृदं त्वद्भक्तिरूपं येषां तथाभूतास्ते स्वयं समुत्तीर्य त्वत्पादपोतेनेत्यनुषङ्गः श्रीभगवतः पादाम्बुजमेव नौस्तामत्र निधाय इयमेव संसारसागरोत्तारणसाधनभूतेति प्रदर्श्य यातास्त्वत्पदं प्राप्नुवन्ति बिभर्षि रूपाणीत्यादिनोपक्रान्तमनुगृहीतृत्वप्रतिपादनमुपसंहरन्ति एवं भवान् सदनुग्रहः साधूनामनुग्रहशीलः ॥ ३१ ॥ तन्निहितश्रीभवत्पदाम्बुरुहनावमननुवर्त्तमानानां समाधिनावेशितचेतसैक इत्युक्तविपरीतानां गतिं वदन्तः स्तुवन्ति-य इति। हे अरविन्दाक्ष! येऽन्ये पूर्वश्लोकद्वयप्रस्तुतेभ्योऽन्ये ये जना विमुक्ता वयमिति वृथाभिमानिनः त्वय्यस्तभावाद्भक्तिशून्यत्वाद्धेतोरविशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथाभूताः परं पदं वर्णाश्रमादिरूपं परं पदमुत्कृष्टं स्थानं कृच्छ्रेण प्रयासेनारुह्यापि सुकृतविशेषाद्विप्रादिरूपं श्रेष्ठं जन्म प्राप्यापीत्यर्थः। अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः अनुपासितभगवच्चरणाः सन्तस्ततस्ततोऽधः पतन्ति पुनर्नीहीनं जन्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तत्तत्कालप्राप्तानर्थपरिहारलक्षणपालनं चावतारलक्षणस्वरूपग्रहणेनेत्याह-बिभर्षीति। अवबोध आत्मन् ज्ञानस्वरूपे त्वय्यधिकरणे इत्यनेन शुक्रशोणितसम्बन्धं निवारयति, क्षेमाय तत्तत्कालप्राप्तविपत्परिहारलक्षणपालनाय "क्षेमो नाप्राप्तरक्षायाम्"

इति यादवः । सत्त्वोपपन्नानि बलज्ञानसमाहारयुक्तानि सतामस्माकं सुखकराणि कंसादिखलानामभद्राणि तम आद्यमङ्गलकराणि ॥ २९ ॥ सतां सुखावहानीत्येतद्विवृणोति-त्वयेति । अखिलसत्त्वधाम्नि सदा सर्वगुणानामाधारभूते त्वयि समाधिना उपास्त्या आवेशितचेतसः तत्क्षिप्तचित्ताः ये पुरुषाः ते महत्कृतेन तयैवोपास्त्यायथा महद्भिस्तीर्णं भवति तथा विरचितेन प्लवेन भवाब्धिं संसारसागरं घोरं गोवत्सपदं कुर्वन्ति यथा वत्सचरणभारकृतनिम्नस्थितजलमयत्नेन तरन्ति तथेत्यन्वयः ॥ ३० ॥ नन्वस्तु गोवत्सपदोपमो भवाब्धिर्महान्त ते तमुत्तीर्य कुत्र यान्तीति तत्राह-स्वयं समुत्तीर्येति । हे द्युमन् ! तेजोमूर्ते, ये अदभ्रसौहृदाः । स्वस्वयोग्यभक्तिपूर्णाः स्वयमकृत्रिमया भवत्पदाम्भोरुहनावा दुस्तरं भवार्णवं समुत्तीर्य तीर्त्वा स्थितास्तेऽत्र योग्यादिषु शिष्यादिषु उपदेशेन निधाय तां भवत्पदाम्भोरुहनावमेव याताः नान्यद्याता भवन्तीति यदतो भवान् सत एवानुगृह्णातीति सदनुग्रही नामेत्यर्थः । ननु, सत्त्वोपपन्नानीत्यादौ सत्त्वगुणात्मकत्वप्रतीतेस्तार्त्वा पुनस्तत्प्राप्तिः कथं मुक्तिः स्यात् ? तस्या निर्गुणरूपत्वात्; उच्यते अत्र सत्त्वशब्देन न सत्त्वगुणविवक्षा किन्तु ज्ञानादिगुणसामग्रीप्रामाणिकत्वात् तदुक्तं "सदा सर्वगुणाढ्यत्वात्" इत्यादि त्वत्पादपोतेनेत्यनेन भगवद्भक्तस्य शिवादिपादपोतपुरुषाद्वैशिष्ट्यं ज्ञाप्यते तदुक्तम्"भगवत्पादपोताऽसौ"इत्यादि लोके नौतार्णस्य तां विहाय देशान्तरगतिदर्शनात् कथं तामेवाश्रिता इतयुज्यत इतिचेन्न भगवत्पादनावो वैलक्षण्यादर्थवैलक्षण्यस्य सम्भवात् तदुक्तं "भगवत्पादनौका या" इत्यादि । अस्यार्थः या भगवत्पादनौका इयं अन्यनौकोपमा न भवति कुतः तया भगवत्पादनावा भवाब्धिं तीर्त्वा श्रीहरिपादनावं तां प्राप्य सुखं तिष्ठन्तीति यस्मात्तस्मादिति लोके च कर्णधारादयः तयाब्धिं तीर्त्वा तत्तीर एव तामाश्रित्य तिष्ठन्तो दृश्यन्ते इत्यतोऽविषमो दृष्टान्त इति सन्तोष्टव्यम् ॥ ३१ ॥ खलानामित्युक्तं विवृणोति-येन्ये इति । रविन्दमन्धकारः स न भवतीत्यरविन्दं प्रकाशः ज्ञानमिति यावत् "अन्धकारा रविन्दान्ध तिमिरं तम उच्यते,, इत्युत्पलमाला, ये सद्भ्योऽन्ये खलाः ते ततः परमपदात् योगारूढाः पतन्तीत्यन्वयः । पतने कारणमाह, अनादृतेति । "अविरधिलधिगत्यर्थाः" इति धातोः अनुपासितभगवज्ज्ञानाः ज्ञानाभावे कारणमाह, त्वयीति । त्वय्यस्तभावात् त्वद्विषयभक्त्यभावात् अविशुद्धबुद्धयः दुष्टान्तःकरणाः दुष्टज्ञाना वा किं कृत्वा पतन्तीति तत्राह, आरुह्येति। कृच्छ्रेण महताऽऽयासेन परम्पदं भगवत्प्राप्तिनिमित्तयोगमारुह्य सन्न्यासाश्रमं प्राप्य तदनुष्ठानसामर्थ्याभावात् पतन्तीत्यर्थः । योगमवाप्य तद्भ्रंशे निमित्तमाह, विमुक्तेति । विमुक्ता वयमित्यभिमानो येषामस्तीति ताच्छीलिको णिनिः । हे विमुक्त ! इति वा अभिमान एव भ्रंशे कारणमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विभर्षीति लोकदृष्टि प्रतिधत्से प्रकटयसीत्यर्थः । अतो देवकीलक्षणनिजशक्तिद्वारा तव प्राकट्येन तत्पुत्रत्वेऽपि तादृशत्वं न व्याहतमिति भावः । न केवलं पालनार्थं किन्तु भक्तजनानां स्वानुभवानन्दावेशार्थमपि रूपं बिभर्षि येनोत्तीर्यमाणमुत्तीर्णञ्च भवाब्धिं जानन्ति तत्संसर्गेनान्येऽपि तादृशा न भवन्तीत्याहुः ॥ २९ ॥ त्वयीति । हे अम्बुजाक्ष ! इति सौन्दर्यं व्यञ्जितम् अखिलसत्त्वधाम्नीति अप्राकृतसत्त्वहेतुकनिरतिशयानां न गुणा त्वं प्राकृतसत्त्वस्य खण्डत्वेन सातिशयत्वात् परिमितकार्यत्वाच्च अमलेति पाठे प्रसिद्धसत्वाख्यानेनापि तादृशत्वं व्यक्तं तादृशे त्वयि भवसमुद्रपारपरमसुखदद्वीपायमाने महत्कृतेन परमादरविषयीकृतेन त्वत्पादेनैव पोतेन आवेशितं प्रवेशितं तच्चेतः तेन भवाब्धिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति तदानन्देन तदस्तित्वमपि न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ स्वमिति अत्र पूर्वत्र च पादशब्दस्य साधनलक्षणायां तद्भक्तावेव तात्पर्यं तत्र निधायेति अतः टीका च भक्तिमार्गं प्रवर्त्त्येत्यर्थः । इत्येषा भवापवर्गेत्यस्य व्याख्यायामपि स्वयम् ॥ ३१ ॥ येऽन्ये ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु प्रतिज्ञातं मया सत्यं कृतमिति सत्यव्रतत्वेन यदुक्तं तदुचितमेव; किमिति मत्स्यादिसाधारण्येन कृतावतारं मां सत्यपरत्वेन ब्रह्मणोऽपि परत्वेन, सविशेषब्रह्मत्वेन, सर्वकारणकारणत्वेन च निरूपयन्तोऽतिस्तवं प्रकुरुतेत्याशङ्क्याह—बिभर्षीत्यादि । हे नाथेत्यधाहार्यम् । हे नाथ ! त्वं सत्त्वोपपन्नानि रूपाणि बिभर्षि । कीदृशानि ? सतां भक्तानां सुखावहानि खलानां भद्राणीति सत्यमेव; किन्तु त्वमवबोधो ज्ञानस्वरूप आत्मा विग्रहः । तथा च वक्ष्यति—(भा० १०।१४।२२) "त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते" इत्यादि । अन्यावतारवत् सत्वमूर्त्तिरसीति न स्वयं निर्गुण एवेति सर्वकारणकारणत्वेन नायं तवातिस्तवः । यद्वा, लोकस्य मोक्षाय सत्त्वोपपन्नानि रूपाणि बिभर्षि, लोकस्यावबोधे प्रेम्णि आत्मा त्वमेवाधुनावतीर्णोऽसीति शेषः । अवबोधोऽधोज्ञानञ्च यस्मात् स तथा प्रेमरस इत्यर्थः । तदर्थमिति निमित्ते सप्तमी ॥ २९ ॥ इममर्थं प्रपञ्चयति – त्वय्यम्बुजाक्षेत्यादि बहुभिः । हे अम्बुजाक्ष ! एके मुख्याः सात्वता इति यावत् त्वयि आवेशिते तच्चेतसा भवाब्धिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति । कीदृशे अखिलानां सत्त्वानां सत्वमूर्त्तीनामवताराणां धाम्नि आश्रये, बीजभूत इति यावत् । अतस्त्वं परात्पर एवासीति भावः ॥ ३०–३४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

ननु प्रतिज्ञातं मया सत्यं कृतम् , तेन सत्यव्रतत्वादिना जात्युचितमेवास्तु तथा ? अस्य विश्वस्यादिवृक्षत्वं निरूपयन्तः सर्वकारणकारणत्वेन स्तुमः । किमिति मत्स्यादिसाधारण्येन कृतावतारम् ? हे नाथेत्यध्याहार्यम् । त्वं सत्वोपपन्नानि रूपाणि बिभर्षि,

तथापि लोकस्य क्षेमाय य आत्मा भवानेव, न तथा अंशभूतोऽसि न केवलं जगतः क्षेमाय, अवबोधे च, आत्मा त्वमेव अवबोधो ज्ञानं यस्मात्तस्मिन्। अवबोधे भक्तिरसे त्वमेव। अयं भावः—यथा त्वयि भक्तिरसो रस्यतामेति, यथा च लोकानां क्षेमः स्वरूपान्तरेष्विति त्वमेव सर्वकारणकारणं सर्वश्वरेश्वर इति ॥ २९ ॥ इममेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां परात्परत्वेन प्रपञ्चयति-त्वयीत्यादि बहुभिः। हे अम्बुजाक्ष! अखिलसत्वधाम्नि अखिलानि सर्वे सत्वरूपावतारास्तेषां धाम्नि बीजभूते त्वयीत्यादि। यद्वा, हे अम्बुजाक्ष! अखिलानां सत्त्वानां सत्त्वावताराणां धाम्नि आश्रये ॥ ३०-३९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अन्येऽपि मत्स्यकूर्मादयो बहवस्त्वदवताराः सन्तीत्याहुः विभर्षीति। अवबोधः चिद्घनरूपः सत्त्वोपपन्नानि शुद्धसत्त्वस्वरूपाणि खलानाम् अभद्राणि अभद्रकराणि ॥ २९ ॥ क्षेमायेत्युक्तं तदेव क्षेमं वास्तवमभिव्यञ्जयति-त्वयोति। खिलं निकृष्टसत्त्वं गुणात्मकम् अखिलसत्त्वं विशुद्धसत्त्वं निर्गुणं धाम स्वरूपं यस्य तस्मिन् अमलसत्त्वेति च पाठः समाधिना पृथिव्यामवतार्णस्य तव रूपगुणलीलादिध्यानातिशयेन त्वय्यावेशितं यच्चेतस्तेन हेतुना पाप्नेन त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन महद्भिर्भवाब्धेः पोततुल्यीकृतेनेत्यर्थः। गोवत्सपदं कुर्वन्ति भवाब्धेरस्तित्वमपि न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ किञ्च त्वत्पादपाताश्रयणमात्रेणैव भवाब्धौ गोष्पदतुल्ये जाते वैष्णवा भवाब्धिमजानन्त एव पद्भ्यामेवोल्लङ्घयन्तीत्याहुः स्वयमिति। तरणसाधननिरपेक्षमेव अन्यैः सुदुस्तरमपि भीममपि समुत्तीर्य्य याताः। द्युमन्! हे सूर्य! इति त्वं येषामन्तःकरणे नोदेषि तेषामेव तमःपुञ्जरूपः संसारोऽर्णवतुल्यो भीमो दुस्तरश्च भवति प्रेमभक्त्युदयपर्वते त्वय्युदिते तु समस्ततमसि स्वयमेव नष्टे सति स्वयमेव संसारतरणं भवेदतो भवत्पदाम्भोरुहनावमत्रैव कूले निधायैव भक्तिमार्गं सम्प्रदायं प्रवर्त्यैव यातास्ते यथाऽन्येष्वेवं तरेयुरित्यभिप्रायेणेत्युत्प्रेक्ष्यत इति भावः। अत्र संसारस्य सामस्त्येन नष्टत्वेपि वयं संसारिण एवेति भक्तानां मिथ्याभिमान एव गोवत्सपदाकारः संसारः यथा च गोवत्सपदमलं पावनं श्लाघनीयं च भवेत् तथैव तेषां सोभिमानोप्यन्येषां भक्तमानिनामभिमानरोगहरोऽभिज्ञजनैः श्लाघनीयश्च भवतीति भावः। यतः सत्सु वैष्णवेष्वेव अनुग्रह एतादृशो नान्येषु यस्य सः ॥ ३१ ॥ वैष्णवानामेव भवार्णवो गोष्पदीभवति ये तु तव विशुद्धसत्त्वमयवपुषि मायाभाववन्तो ज्ञानिनस्तेषां तु सुदुस्तरो भीम एव "कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षयन्ति। "तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तरदुस्तरार्णम्" इति यथा सनत्कुमारेणोक्तं 'क्लेशोधिकतरस्तेषाम्' इति यथा भगवतापि "नैष्कर्म्यमप्यच्युभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्" इति यथा नारदेनापि तथैव देवा अप्याहुः ये इति। अन्ये उक्तलक्षणेभ्यस्त्वदनुग्रहीतेभ्यः सद्भ्यो भिन्नाः अरविन्दाक्ष! इति त्वत्कृपावलोकमाधुर्य्यानुभविन इति भावः। विमुक्तमानिन इति त्वद्भक्ता यथा संसारोत्तीर्णा अपि संसारिमानिनस्तथैव ते संसारमध्यपतिता अपि विमुक्तमानिनस्तत्र हेतुः त्वय्यरविन्दाक्षे मधुराकारे अस्तभावात् मायाशाबल्यमननेन प्रोत्यभावात् "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीन्तनुमाश्रितम्" इति भगवदुक्तेर्मौढ्याद-विशुद्धज्ञानाः कामादिनिर्जयमूलकान्तःकरणशुद्धिमत्त्वादुत्पन्नमपि ज्ञानं न विशुद्धमित्यर्थः। तदपि कृच्छ्रेण तपःशमदमादिकृच्छ्र-जनितेन विज्ञानेन परम्पदं जीवन्मुक्तत्वदशामारुह्य तेषां गुणीभूतभक्त्या युक्तत्वं ज्ञेयं तां विना परमपदारोहासम्भवात् "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो! क्लिश्यन्ति" इत्यादेस्तां विना ज्ञानस्य मरीचिकाजलायमानत्वात् ततोऽधःपतन्ति। ननु, भक्तिसत्त्वे कथमधःपतन्ति तत्राहुः न आदृतौ मायिकत्वबुद्ध्या युष्मदङ्घ्री यैस्ते अयमर्थः ज्ञानिनां ज्ञानाङ्गभूता भक्तिर्द्विविधा भक्तिं विना ज्ञानं न सिद्ध्येदिति शास्त्राज्ञयैव किञ्चिन्मात्रीक्रियमाणा भजनीयभगवद्विग्रहादिषु मायिकबुद्ध्या वा अनादरवती आदररहिता च आद्यया तेषां तपःशमदमादिमतां बहुकालेनाविद्यानिरसनीं विद्यामुत्पाद्य ब्रह्मभूतत्वदशामुत्पाद्य सहसैवान्तर्द्धीयते ते विमुक्तमानिन एवोच्यन्ते न तु वस्तुतो जीवन्मुक्ताः "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः" इति भगवदुक्तेः भक्तिं विना तत्पदार्थस्यापरोक्षानुभवालाभात् भगवदपराधसम्भवाच्च दग्धानामपि कर्मणां पुनः प्ररोहादधः पतन्ति च यदुक्तं रथयात्राप्रसङ्गे श्रीविष्णुभक्तिचन्द्रोदयधृतं पुराणवचनम्—

"नानुव्रजति यो मोहाद्व्रजन्तं जगदीश्वरम्। ज्ञानाग्निदग्धकर्माऽपि स भवेद्ब्रह्मराक्षसः" ॥ इति।

वासनाभाष्योत्थापितं परिशिष्टवचनं च "जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः" इति द्वितीयया तु तेषां ब्रह्मभूतत्वदशामुत्पाद्य अविद्याविद्ययोरुपरामेप्यनुपरमन्त्या तत्पदार्थसाक्षात्कारमनुभाव्यमानाः जीवन्मुक्ताः सिद्धा एव स्युः यदुक्तम्—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" ॥ इति ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अत एव स्वकृतचराचरक्षेमाय साध्वसाधुजनसुखदुःखप्रदानाय च तवावताराः भवन्तीत्याहुः बिभर्षीति। अवबोधः ज्ञानस्वरूपः आत्मा सर्वात्मा त्वं रूपाणि पुरुषादीनि तत्तत्काले बिभर्षि धरसे अत्र तु स्वयमागतोऽसीति भावः ॥ २९ ॥ त्वदवताराः सतां

सुखावहाः यदा यदा साक्षादवतारिणस्तव पदाम्बुजं सत्तमानां सुखावहमिति किं वक्तव्यमित्याहुः त्वयीति। अखिलं देशतः कालतो वस्तुतः सम्पूर्णं यदप्राकृतं सत्त्वं तद्धाम मूर्तिर्यस्य तस्मिन् त्वयि समाधिना आवेशितचेतसोपलक्षितास्त्वत्पादपोतेनाश्रितेन एके मुख्याः सत्तमा महत् कृतेन महद्भिः गुरुभिः कृतेनोपदिष्टेन सम्प्रदायप्राप्तेनेत्यर्थः। भवाब्धिं संसारजलधिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति अनायासेनैव संसारमवलंघ्य मोक्षसुखं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ३०॥ तेषां कृपालुतामाहुः स्वयमिति। हे द्युमन्! हे महाद्युतिमन्! अदभ्रसौहृदाः अनल्पानुग्रहकर्तारस्ते भवत्पदाम्भोरुहनावम् उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणये ज्ञानतमोनुवृतेः सनन्दादिर्मुनिभिस्तथोक्तं "श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे नान्या गतिः दारविन्दात् सन्दृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दिताद्भक्तेच्छयोपात्तविग्रहवन्त्यविग्रहात्॥ अचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्" इत्येवं भवत्पदाम्बुजोपासना सम्प्रदायं निधाय स्वयं भवार्णवं समुत्तीर्य याताः भवन्तं प्राप्ताः यतो भवान् सतोऽनुगृह्णातीति तथा॥३१॥ एवं भगवदनुग्रहणेन भगवदुपासकाः कृतार्था इत्युक्तम् इदानीं भगवद्बहिर्मुखास्त्वकृतार्था एवेत्याहुः—येऽन्ये इति। येऽन्योपासनेन विमुक्तमानिनः त्वदीयां दीक्षां न प्राप्नुवन्ति तेऽन्ये एवातस्त्वय्यस्तो योऽनन्यभक्तिलक्षणो भावस्तस्मात्। यद्वा कृष्णांशः कृष्णाऽन्यो न भवति कृष्णात्मकत्वात् "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इति श्रीमुखवचनात् ये तु जीवस्य स्वतन्त्रसत्त्वाश्रयत्वं मन्यन्ते इत्यर्थः। केनचिदन्यशास्त्रोक्तज्ञानादिना वयं विमुक्ता इत्यभिमानवन्तोऽतस्त्वयि श्रीपुरुषोत्तमे अस्तो लुप्तो यस्तादात्म्यभावस्तस्माद्धेतोरविशुद्धबुद्धयो मलिनमतयः परं पदं मुक्तिसाधनं नृदेहं तपोऽध्ययनादिकृच्छ्रेण कष्टसाध्येन कर्मणा आरुह्य प्राप्यापि ततो परम्पदादधः पतन्ति पश्वादिषु जन्म प्राप्नुवन्ति यतो नादृतौ न सेवितौ युष्मदङ्घ्री यैस्ते॥ ३२॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

ननु त्वय्यंबुजाक्षाखिलेति श्लोके सत्त्वधाम्नीत्यनेन धाम स्वरूपमुद्दिष्टमाश्रयस्तेज एव चेत्यभिधानादीश्वरस्य प्रकृतिजसत्त्वादिगुणस्वरूपत्वमुच्यते। तदयुक्तं। हरेर्निर्गुणं निर्विकारमित्यादिप्रमाणेन प्राकृतसत्त्वादिगुणराहित्यस्योक्तत्वेन तद्विरुद्धत्वात्। तथा त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वंति गोवत्सपदं भवाब्धिमित्यनेन भगवत्पादस्य नौकत्वमुक्त्वा स्वयं समुत्तीर्येत्युत्तरश्लोके भगवत्पदांभोरुहनावं याता इत्यनेन हरिपादनाव एव प्राप्तिः फलत्वेनोच्यते। तदप्ययुक्तमसम्भवात्। न हि तयैव नावा नदीं तीर्त्वा नावं प्राप्नोतीति संभवतीत्याशंकापरिहाराय प्रमाणेनैव तत् श्लोकद्वयतात्पर्यार्थमाह॥ सदा सर्वगुणाढ्य वादित्यादिना। सर्वगुणाढ्यत्वादित्यनेन पूर्वश्लोकस्थसत्त्वोपपन्नानीति पदमपि व्याख्यातं। वतेत्यास्वादने। भागवतस्थात्रत्यस्य शिष्येष्वित्यर्थः। निधायेत्यस्य विवरणं संन्निधायेत्यर्थः। तदेव प्राप्नुयुर्यत इत्यनेन भगवत्पादनौकाया अन्यतो वैलक्षण्ये हेतुरुक्तः। उक्तमेवार्थं प्रमाणेन दृढयति॥ भगवत्पादनौका इति। यथा भगवत्पादनौका। इयं नौकोपमा लौकिकनौका उपमा यस्याः सा नौकोपमा तत्सदृशी नैव भवेत्। कुत इत्यतस्तत्र हेतुमाह॥ तया तीर्त्वेति। तुरवधारणे। तत्रेत्यनेन संबध्यते। फलितार्थमाह॥ अत इति। अतो लौकिकनौकायाः सकाशाद्धरिपादनौकाया अतिविलक्षणत्वादित्यर्थः। तामेव याता इत्युक्तिर्भगवते उपपद्यत इति शेषः॥ ३१॥ ३२॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

बिभर्षीति। अत्र अव बोधेति संबोधनपक्षे संधिभंगः। प्रथमायामात्मविशेषणानुपपत्तिः। सप्तम्यमन्वयानुपपत्तिः। किं च निर्गुणस्य भगवतः सत्त्वोपपन्नत्वमपि न युज्यते। अपि च चरशब्देन सतां खलानां च ग्रहणसिद्धया पुनः सत्खलग्रहणात्पुनरुक्तिप्रसंगः। पूर्वं चरांतर्वर्तिखलानामपि क्षेमायेत्यनेन क्षेमकारकत्वे सिद्धे पुनरभद्राणीत्यनेनाशुभत्वकथने व्याघातश्चेतिचेन्न। अभिप्रायसद्भावात्। तथाहि। रूपाणि बिभर्षीत्यनेनास्मत्सदृशजडशरीरात्मकरूपग्रहणं प्रसज्येतेत्यतोऽवबोधे ज्ञानात्मके॥ आत्मन्। आत्मनि। स्वरूपे। इयं विषयसप्तमी तृतीयार्थे। द्वितीयार्थे तृतीयार्थे पञ्चम्यर्थे च सप्तमी। चतुर्थ्यर्थे च विज्ञेया विपयेति च यां विदुरिति महाव्याकरणे। आत्मन्निति तु सप्तमी छांदसी। परमेव्योमन्नित्यादौ दृष्टत्वात्। ज्ञानात्मकस्वरूपेणेत्यर्थः॥ रूपाणि। मत्स्याद्यवतारान्॥ बिभर्षि। धत्से। यद्वा। हे आत्मन् अवबोधो ज्ञानस्वरूपस्त्वम्। अनेन कस्मिन्नप्यवतारे जडशरीरसंबंधो नास्तीति ध्वनितम्। चराचरस्य भूमिर्दृप्तेत्यादि व्यसनं समवोचतेत्यतेन भूलोकस्य चरत्वसिद्धेर्महाभूतात्मकत्वेनाचरत्वसिद्धेश्च। चराचरस्य लोकस्येत्यनेन भूलोको गृह्यते। तस्य मोक्षायेत्यनेनाधिकरणक्षेममेवाभ्युपेयते नाधेयक्षेमं। सत्त्वं स्वातंत्र्यमुद्दिष्टमिति भागवततात्पर्योक्तेः॥ सत्त्वोपपन्नानि। स्वातंत्र्योपेतानीत्यर्थः। इदानीमाधेयविशेषाणां क्षेमाक्षेमकरत्वमाह॥ सुखेति। सतां सुखावहानि खलानामभद्राणीति। मुहुरित्यनेन सार्वकालिकोऽयं नियमः सूच्यते इत्यतो न कश्चित्क्षुद्रशंकावकाशः॥ ३०॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

त्वमेक इति। अस्य प्रपञ्चस्य सतः सत्यभूतस्य स्वरूपतः प्रवाहतो वा प्रसूतिः प्रसूयत इति प्रसूतिः कारणं स्थानं स्थितिदो निधानमन्ततः प्रवेशाधिकरणं त्वमेवानुग्रहोऽनुगृह्णातीत्यनुग्रहश्च। अब्जभवभवादीनामेतत्प्रपञ्चरचनादिकर्तृतया तत्तत्सार्वोत्तम्यवादिर्भिर्हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्य इत्यादिमानतोऽङ्गीकरणात्कथं माधव एवेत्यवधार्यत इदं कर्तेत्यत आह॥ य इति। ये न विपश्चितः श्रुतिपरमार्थज्ञानहीनानां। कुतस्तेषां न शेनुपीत्यत आह॥ **त्वन्मायये**ति।

त्वन्मायया त्वद्बन्धकशक्त्या संवृतं चेतोऽन्तःकरणं येषां ते तथा नानाविधां त्वामन्यां देवतां कर्तृत्वेनैतदादिश्रुत्यर्थतया जानते। ये च त्वन्मायया न संवृतचेतसो विपश्चितः पातनिकार्थभ्रमभ्रंशयुता नाना उत्पादत्वादिप्रकारेण त्वामेव पश्यन्त्यतस्त्वमेक एवेत्याद्युपपद्यत इति भावः। ते चास्वतन्त्रास्तच्छब्दवाच्यश्च त्वमेवेति न तदभिमतः सत्सम्मतः श्रुत्यर्थ इति भावः। अमुं श्लोकं यथावद्विवरीतुमस्य सर्गादिकृद्विष्णुः सदानन्दैकरूपक इति मानमानन्दतीर्थचरणा आदावेवोदाजह्वरिति मन्तव्यम्। त्वन्मायया ऽसंवृतचेतसो विपश्चितस्त्वामेव प्रसूत्यादिना पश्यन्ति। नाना इतरथा न पश्यन्तीति वा ॥ २८ ॥ त्वमनुग्रह इत्युक्तानुग्रह एतद्रूप इति निरूपयति॥ बिभर्षीति। हे आत्मन्स्वामिन्। त्वं चराचरस्य समस्तस्य लोकस्य क्षेमाय तदर्थमवबोधे सुखक्षेमादिसाधने ज्ञाने सति तन्निमित्तोकृत्येति यावत्। सतां सत्त्वोपपन्नानि बलज्ञानसमाह्वयायुक्तानि। सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे न चापरे। अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषां न सत्त्वमित्याद्येकादशतात्पर्योक्तेः स्वातन्त्र्योपपन्नानीति वा सुखावहानि। चराचरस्य लोकस्येत्युक्तापवादमाह। खलानां कंसादीनां मुहुरिह परत्र चेति वा पुनः पुनरुत्पत्ताविति वा। अभद्राणि दुःखतम आद्यमङ्गलदानि रूपाणि बिभर्षि तत्तदापदपनुत्यै तत्तत्समययोग्याङ्गानि धरसीति त्वमनुग्रह इत्यर्थः। यान्यभद्राणि दित्यपत्यानि तेषां खलानां मुहुः सुखमप्राप्तहान्यप्रापकाणीति वाऽऽवृत्त्याऽन्वयः। अनेनाभद्राणि रूपाणीति शब्दतः प्राप्ताभद्रता विद्राविततेति ध्येयम् ॥ २९ ॥ त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नीति श्लोके धाम स्वरूपमुद्दिष्टमाश्रयस्तेज एव चेत्यभिधानात्सत्त्वगुणस्वरूपता विष्णोः प्रतीयते। सा च न तस्य प्राकृता मूर्तिः निर्गुणं निर्विकारमित्यादिनाऽवमानितेति नारदीयवचनेन सत्त्वशब्दार्थमाह ॥ सदेति। सर्वगुणाढ्यत्वात्तदात्मकत्वादित्यर्थः। सत्त्ववान्विशेषशक्त्या हरिरुच्यते न तु सत्त्वगुणात्मकत्वात्। तत्र तन्त्रं यतस्त्रिगुणवर्जित इति। विशेषाभावः सामान्याभावेन साध्यः। यद्वा त्रयो गुणा यस्य तदव्यक्तं प्रकृतिस्त्रिगुणपदवाच्यं तेन वर्जितः प्रकृतिसम्बन्धवैधुर्यात्प्राकृतगुणविधुर इति सत्त्ववर्जित इति वा। अनेनातीतपद्यगतं सत्त्वपदं व्याख्यातमिति वेदितव्यम् ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ हे अम्बुजाक्षाम्बुजे कमले इवाक्षिणी यस्य तत्सम्बुद्धिः। अखिलं सत्त्वं सर्वं गुणास्त एव धाम स्वरूपं यस्य स तस्मिन्सकलगुणाढ्य इति वा समाधिनोपासनया निवेशितं चेतो येषां ते तथा ये ते भवाब्धिं संसारशरधिं त्वत्पादपोतेन त्वच्चरणतर्या महद्भिः स्वस्वापेक्षयोत्तमैस्तत्त्वेन कृतेन गोवत्सपदं कुर्वन्ति। पादपोतनिरीक्षणमात्रेण वत्सपदीभवनं भवाब्धेरिति भावः ॥ ३० ॥ पूर्वश्लोके नौकात्वं हरिचरणस्योक्तम्। न लोके नौकामधिरुह्य परम्पारमेत्य पुनर्नौकां केऽपि प्राप्नुवन्ति किञ्च तां निधाय यानं च कथमित्यतस्तत्तात्पर्यं लोकनौकावैलक्षण्यमुपपादयाह ॥ भगवदिति। भगवत्पादपोतो भगवत्पादनौकाऽन्यपोतसमो लौकिकनौकासदृशो न बतेत्यास्वादने। शिष्येषु सन्निधायोपदेशापदेशेन निधाय तदेव तमेव पोतं यतः प्राप्नुयुस्ततो नोक्तसमः। प्रमाणान्तरमुक्तार्थ उक्त्वा तं द्रढयति ॥ भगवत्पादेति। भगवत्पादनौकाया इयं लौकिकी नौका उपमीयत इति उपमा सदृशी नैव भवेत्। येयं भगवत्पादनौका सा नौकोपमा नौकयोपमा सादृश्यं यस्याः सा तत्सदृशी नैव भवेत्। किं कृतं वैलक्षण्यमित्यत आह ॥ यद्यतरतयेति। दुरवधारणे। तया तीर्त्वा तामेव प्राप्य तत्रैव तिष्ठन्ति ततो न सदृशीत्यर्थः। अत एतद्धेतोस्तामेव याता इति मूले उक्तिरुपपद्यत इति शेषः ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ पूर्वमुक्तमनुग्रहमेवमित्याह ॥ स्वयमिति। हे द्युमन्ज्ञानतनो। अदभ्रसौहृदा बहुलभक्तिमन्तः सुदुस्तरमितरैर्भीमं भीष्मं भवार्णवं संसारसमुद्रमतिशोभनं स्वदैवमनुसृत्य स्वस्य स्वशब्दवाच्यस्य यद् ज्ञानं यस्मिस्तद्यथा भवति तथेति वा। अयः शुभावहो विधिः। येति ज्ञानमित्यादेः। समुत्तीर्य। समाऽपुनरावृत्तिं द्योत्यते। तीर्त्वा। अत्र शिष्यादिषु भगवत्पादाम्भोरुहनावं निधायोपदेशादिना स्थापयित्वा स्वयमपि तामेव याता अतो लौकिकनौकातोऽयं पोतो विलक्षण इति भावः। एवं भवांस्तत्तदौपसदतारकसदनुग्रहः सतोऽनुगृह्णातीति स वा सत्स्वनुग्रहो यस्येति वा सन्नुत्तमोऽनुग्रहो यस्येति वा। अत्रत इति पदमेकं वा। अतारं भगवन्तं अते गते सच्छिष्ये अत्तातो ज्ञातो येन तस्मिन्निति वा। जात्येकवचनं चेदं तदादाविति वा। तं शिष्यादिजनं। हे द्युमन्निति सम्बोध्य बोधयित्वा समयज्ञानिन् त्वमपि अभवान् भवेऽनिति चेष्टते यः स भवान् स न भवतीत्यभवान्। सदनुग्रहश्चास्मद्धद्धवेति अदभ्रसौहृदा विनेये सन्तस्तत्र विने पूर्ववदुर्वरितम्। एवमाशिषा विशेष्य शिष्यं स्वयं तामेव याता इत्यावृत्त्याऽन्वय इति वा ॥ ३१ ॥ खलानामिति प्रागभिहितं। ते च किमाकारा इत्यत ईरयति ॥ हे अरविन्दाक्ष। पद्माक्ष। अरविन्दे ज्ञानात्मके अक्षिणी यस्येति तत्सम्बुद्धिः। रविन्दोऽन्धकारः स नास्ति याभ्यां तौ रविशशिनौ अक्षिणी यस्य स तत्सम्बुद्धिरिति वा। अन्धकारो रविन्दान्धतिमिरं तम उच्यत इत्युत्पलमाला। अन्ये सत इतरे कृच्छ्रेण तपआदिश्रमेण परं पदं योगादिकमारुह्य ततः पुनरधः पतन्ति। कुत इत्यतः सपरिकरमीरयति ॥ त्वयीति। अस्तश्चासौ भावो भक्तिरनादृतयुष्मदङ्घ्रयोऽनादृतं युष्माकमङ्घ्री यैरतैरसम्पादितयुष्मज्ज्ञाना वा। अधिग्रत्यर्थ इति ज्ञानार्थः। अस्तभावादनन्तःकरणादिति वा। आदरो भजनं भक्तिरिति गीताभाष्योक्तेरनादृतेत्यनेनैवाभक्तिपूर्वकताप्रतीतेरिति वा। अतश्चाविशुद्धबुद्धयोऽपक्वज्ञानिनः। सर्वसम्भावकमवगमयति ॥ विमुक्तमानिन इति। विमुक्तोऽत्यक्तश्चासौ मानश्चाभिमानः सोऽस्ति येषामिति ते तथा। यद्यपि बहुव्रीहिणा निर्वाहस्तथापि तेषां निन्दनीयताऽधिका वेदिता भवतीति मतुपः सार्थक्यमवधेयम्। अस्तभा अस्ता निरस्ता भा त्वद्विषयद्योतो येषां तेऽस्तभाः। तर्हि सा क वर्तत इत्यत आह ॥ वादविशुद्धबुद्धय इति। वेदपातनिकार्थवचने विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यथोक्तं गीताभाष्ये। वेदवादरता वेदैर्यन्मुखत उच्यते तत्रैव रता वादो विषयकत्वं च मुखतो वचनं स्मृतमिति वा ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

फलमाह **बिभर्षीति।** **त्वमवबोध आत्मनि रूपाणि बिभर्षि।** ये त्वां सेवन्ते पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां रूपाणि ज्ञानरूप **आत्मनि बिभर्षि।** सायुज्यं तेभ्यः प्रयच्छसि। अथवावबोध आत्मनि शुद्धात्मसिद्ध्यर्थं रूपाण्यवतारारूपाणि बिभर्षि येषु भक्ताश्चिद्रूपमात्मानं लभन्ते। रूपाणां ग्रहणस्यान्यदपि निमित्तमित्याह **क्षेमाय लोकस्य चराचरस्येति।** चराचरशब्देन ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चेति न्यायविदः। **चराः** प्राणिनः। **अचरा** भूरादयः। उभयेषामपि **क्षेमाय।** अनेनैहिकफलदानार्थमपि भगवदवतार इति। गुणैर्ब्रह्मादीनामपि भगवत्त्वाद् रजसा तमसाप्यवताराः सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सत्त्वोपपन्नानीति।** लोकानुसारीणि मत्स्यादीनि। ब्रह्ममहादेवयोरप्याधिदैविकयोरप्यवताराः सत्त्वरूपा एव। तत्र निदर्शनं **सुखावहानीति।** ये सर्वप्राणिषु सुखमावहन्ति। पक्षपातस्तोत्रत्वाद् दैत्यानामपि सुखदानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **सतामेव सुखदानि। खलानां त्वभद्राणि।** लक्षणपूर्वकं दैत्यानां निर्देशः **खलानामिति।** सर्वदोषनिधानं खला ये परेभ्यो दुःखदातारः। **मुहुरिति।** सर्वेषां खलानां वारंवारम्॥ २९॥

एवं लौकिकप्रकारेण चतुर्णां निरूपणमुक्त्वा स्मृतिप्रकारेण पुनश्चतुर्णां निरूपणमाह **त्वयीति** चतुर्भिः। स्मृतिषु योगो धर्मः। स च योगो बहुविध इति यो देवहितो धर्मरूपस्तं निरूपयति। हे **अम्बुजाक्ष! अखिलसत्त्वधाम्नि त्वयि समाधिनावेशितचेतसा करणेन त्वत्पादपोतेन भवाब्धिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति।** योगे प्रत्यक्षो भगवान् संसारात् तारयतीति सिद्धम्। **अम्बुजाक्षेति।** दर्शनेनैव पापनाशकत्वमुक्तम्। यो योगस्तृतीयस्कन्धे निरूपितः स सर्वात्मको भगवद्विषयकः। तदाहाखिलसत्त्वधाम्नीति। **अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां धाम** स्थानम्। सर्वसत्त्वगुणनिधाने वा तादृशे भगवति। आसमन्ताद् **वेशितं** चित्तं यस्मिंस्तादृशेन **समाधिना करणेन** कृत्वा **त्वत्पादः पोतो** भवति। समुद्रतरणसाधनं **पोतः।** चरणस्य पृथ्वीरूपस्याकाशरूपस्य वाक्षररूपस्य वा **पोतत्वम्।** भूमिश्चेत् सर्वजनीना। आकाशं च भगवद्भावकसमाधौ भगवति विद्यमाने पादस्य पोतत्वाभावात् समाधिकल्पितस्यैव च संसारमध्यपातात् कथं पोतत्वमित्याशङ्क्याह **महत्कृतेनेति।** महद्भिः कृतेन। महान्तो हि सर्वस्यापि पदार्थस्य साध्यसाधनतामवगच्छन्ति। अतः **समाधावेव** भगवत्स्फूर्तौ स **पादः** संसारतारको भवतीत्यलौकिकसामर्थ्येन न युक्तिविरोधः शङ्कनीयः। "अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शन"मितिस्मृतेः। यथा यागादि स्वर्गसाधनं तथेदमप्यदृष्टद्वारा भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमपि **महत्कृतेनेत्युक्तम्। पादपोतो महान् कृतः।** हृदयं संसारपारं चाभिव्याप्य यथा तिष्ठति तावान् कृत इत्यर्थः। **करणं समाधिरेव। गोवत्सपदमिति।** तीर्णसंसारस्यास्थापितत्वाद् वत्सपदकरणम्। अनेन संसारे स्थिता एवं संसारं तुच्छं मन्यन्ते। अनतिगम्भीरत्वाय **वत्सपदम्।** समाधौ स्थितः समाधिनिर्वाहकं संसारमतितुच्छत्वेन मन्यते। सिद्धो योगः स्वयमेव सर्वमेव संसारं शोषयित्वा **स्वनिर्वाहकमेव** स्थापितवान्। न च ते महापुरुषा अन्येषामुद्धारमकृत्वा **वत्सपदत्वमात्रे** जातेपि स्वयमेव तरन्ति। अतो **वत्सपदमेव** कृत्वा यावदन्येषामुद्धारो भवति तावत् तूष्णीं तिष्ठन्ति। अत उक्तं **वत्सपदं कुर्वन्तीति** प्रमाणसमाप्तिः॥३०॥ तादृशेन प्रमाणेन यत् सिध्यति तत् प्रमेयमाह **स्वयं समुत्तीर्येति।** तीर्णस्यास्थापनेनैव वत्सपदकरणात् सम्पूर्णानुवादे **सुदुस्तरं भवार्णवं भीममित्युक्तम्।** मोक्षप्रतिपादकत्वात् सर्वशास्त्राणां मोक्षः सम्प्रदायश्च प्रमेयं भवति। **स्वयं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहनावमत्रैव निधाय ते याताः।** सम्यगुत्तरणं दुर्घटत्वे सति वक्तव्यमिति दुर्घटत्वमाह। **समुद्रो** हि **दुस्तरः** स्वतः। तत्रापि नक्रादिभिः कृत्वा **सुदुस्तरः।** व्यसनमृत्युजरादिभिरलौकिककरणसामर्थ्यघातकः स्वतोपि **भीमो** भयानकः। **द्युमन्निति**सम्बोधनं चरणस्त्रिविधदोषनिवारणसमर्थ इति ज्ञापयति। यथा सूर्योन्धकारं सर्वजगत्पूर्णं जाड्यं भयं च स्वत एव निवारयति तथा त्वच्चरणप्रसादात् तेपि संसारमुत्तीर्णाः। तर्हि कथमन्येषामुद्धारः? का वान्येषामुद्धारे तेषामिति? तत्परिहारार्थमाहा**दभ्रसौहृदा** इति। अदभ्रमच्छिद्रं सफलं **सौहृदं** येषामिति। अनेन पूर्वमेव कृतं सौहृदं सार्थकमेवेति तेषामवश्यमुपायकरणम्। तमुपायमाह **भवत्पदाम्भोरुहनावमिति।** तेषूत्तीर्णेषु तदनुसरणेनैव भूयान् संसारो गत इति पोतरूपोपि पादः सुखदः सर्वप्रदर्शकः। तत्क्षयानतिगम्भीरोम्भोरुहनौकारूपो जातः समुद्रश्च नदीरूपो जातस्तदाह **भवत्पदाम्भोरुहनावमित्यत्रैव निधाय याताः।** ननु ते महता प्रयासेन भगवन्तमाराध्य वशीकृत्य चरणमारुह्य सर्वं चरणे निवेश्य **यातास्तदुपदेशिनस्तु** न तद्विधा इति कथं तरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सदनुग्रहो भवानिति।** सत्स्वनुग्रहो यस्य। **भवानिति।** अस्मिन्नर्थे सन्मतिरुक्ता॥ ३१॥ साधनं महतामुपदेशप्रकारः। स च अर्थादुक्त इति साधननिरूपणे तदतिरिक्तसाधनान्येव निराकरोति **येन्येरविन्दाक्षेति।** अन्ये निरीश्वरसाङ्ख्यानुवर्तिनः। ते हि पूर्वज्ञानानुसारेण भगवन्तमुपासते। एवं बहुजन्मभिः प्रवृद्धं ज्ञानं विकर्मसहितं भगवदंशमात्मत्वेन स्फुरितं त्याजयित्वा निरीश्वरसाङ्ख्यं मायावादं वावलम्बन्ते। ते चेत् पूर्ववदपि तिष्ठेयुस्तथा सति कृतार्था भवेयुः। तथाबुद्धिर्विकर्मफला। ते च पूर्वज्ञानेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासरहिता जाताः। महता कष्टेन सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखवैमुख्येन तपसा श्रद्धया ब्रह्मात्मभावनां प्राप्तवन्तः। तदेव तेषां परं पदम्। य इति प्रसिद्धाः अन्ये भगवद्रहिता भगवद्विचारेण यान् भगवानन्यान् मन्यते न त्वात्मीयान्। **अरविन्दाक्ष।** कमलनयनेतिसम्बोधनेनासुरपक्षपातात् तेष्वदर्शनं सूचितम्। न हि रात्रौ कमले विकासोस्ति येन रात्रिस्थैरामोदोनुभूयेत। अतस्तेन्य एव। पूर्ववासनयात्मानं **विमुक्तमेव मन्यन्त** इति **विमुक्तमानिनो** न तु विमुक्ताः। ज्ञानं शास्त्रोत्थं विषयत्वेनात्मानं गृह्णाति। अतस्तस्मान्न फलम्। विषयान्तरवत् तस्याप्यभिमानजनकत्वात्। अत एव त्वयि पूर्वस्थितो भावः साधनत्वेन परिग्रहदादस्तोस्तं गतो यो भावस्तस्माद्धेतोर्न विशुद्धा **बुद्धिर्येषाम्।** अन्यथाहङ्कारादिसर्वदोषसम्बन्धे स्वान्तःकरणे दुष्टे जाते महान्तस्ते कथं न जानीयुर्वयं दुष्टा इति। तदा तं मार्गं परित्यज्य

यत्नमपि कुर्युः। अतोविशुद्धबुद्धय एव जाताः। परमशुद्धया च स्वदोषाः स्फुरन्ति। ज्ञानस्य पूर्वावस्थैवा यत् स्वदोषस्फुरणम्। अतः कृच्छ्रेणापि परं पदं ब्रह्मभावमारुह्यानादृतयुष्मदङ्घ्रयः पतन्त्येव। जीवस्य प्रकृतेरपि परस्य प्राप्तावुच्चगतौ निरालम्बने मार्गे भगवच्चरणातिरिक्तमवलम्बनं न सम्भवति। यतो वियद् विष्णुपदमेव। भगवच्चरणावलम्बनेनैव पुरुषस्योर्ध्वगमनं शृङ्खलद्वीपे श्रीपादारोहणे शृङ्खलापरित्यागवत्। अस्य चरणस्य ग्रहणादिक्लेशपरित्यागाभावायाहानादृतेति। आदरणमात्रेणापि न पतन्ति। आदर एव वा चरणस्थितौ हेतुः ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

बिभर्षीत्यस्य विवृतौ–**चराचरशब्देनेत्यादि**। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदन" इतिश्रुत्यर्थनिर्णयं कुर्वं"न्नत्ता चराचरग्रहणा" दितिसूत्रे विषयवाक्योक्त'ब्रह्मक्षत्रे' 'चराचर'शब्देन व्यासोवददिति तथेति ज्ञेयम् ॥ २९ ॥ **त्वत्पादपोतेत्यत्र**—**भगवद्भावकेत्यादि**। अक्षरपक्षेनुपपत्तिरियम्। भगवतः पुरुषरूपेणाविर्भावे ह्यक्षरस्य चरणरूपत्वम्। तदा भगवतैव तरणसम्भवे तावन्मात्रस्य तथात्वमयुक्तम्। एतदेवोक्तं **भगवतीत्यादिना**। न च **तेन पुरुषेणापि** तत्सम्भव इत्याह **समाधिकल्पितस्य चेति** ॥ ३० ॥ **येन्येरविन्दाक्षेत्यत्र**—सम्यग्वायुसञ्चारो नाडीशुद्धौ भवतीति तदर्थमपेयपानादिकं यत् तदेव **विकर्मेति** ज्ञेयम्। एतदुक्तं **विकर्मसहितमित्यनेन** ॥ ३२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

बिभर्षीत्यत्र—अनेन क्षेमार्थावतारोक्त्या देवेषु पक्षपातो बोधितो ज्ञेयः ॥ २९ ॥ **त्वयीत्यत्र**–पृथिव्यादित्रयाणां चरणत्वेपि कथं पोतत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुर्भू**मिश्चे**त्यादि। **भूमेर्जलोपरिष्टत्वेन** पोतत्वस्य प्रसिद्धत्वात् सा पोतरूपा **सर्वजनीना। आकाशस्य** च विष्णुपदतायाः प्रसिद्धत्वात् 'तत्र यदतरत् तत् तारकाणां तारकत्व' मितिश्रुत्या तत्रत्ये जल आकाशेनैव तासां तरणात् तदपि पोतरूपं **सर्वजनीनम्**। प्रकृते च **भूमौ** स्थित्वा कर्मादिसाधनकरणे "स्वर्गिणोप्येतमिच्छन्ती"तिवाक्येन भूमेरेव प्रयोजकत्वात् पोतत्वम्। आकाशस्यापि हार्दस्य ध्यानप्रयोजकत्वात् **पोतत्वं** बोध्यम्। अक्षरपक्षेनुपपत्तिमुद्भावयन्ति **भगवद्भावकेत्यादि**। तदेतट्-टिप्पण्यां विवृण्वन्त्यक्षरेत्यादि। **तेन पुरुषरूपेणेति**। समाधिकल्पितपुरुषरूपेण। सुबोधिन्यां समाधिकल्पितस्यापि तारकत्व उपपत्ति-माहुरयं त्वित्यादि। तथा च समाधिकल्पितस्यात्मदर्शनस्य मानसधर्मत्वस्य तत्वमित्यर्थः। कथमदृष्टद्वारकतानिवारणमित्यत आहुः **पादेत्यादि** करणं **समाधिरेवेति**। तथा च यस्य कस्यापि चरणस्य ध्यातस्यैव **पोतत्वभिप्रेतम्** न तु वास्तवस्येति तस्यापि तथामाहात्म्य-मित्यर्थः। **महान् कृत इति** महत्कृतशब्दावयवस्य कृतशब्दस्य तात्पर्यमिदम्। **इति प्रमाणसमाप्तिरिति**। भगवद्दर्शनजनकत्वेन प्रमाण-पर्यवसानमित्यर्थः ॥३०॥ **स्वयमित्यत्र–सम्पूर्णानुवाद** इति अन्यं प्रति सम्पूर्णानुवादे। किमत्र प्रमेयं योगप्रमाणेन प्रमितं भवतीत्यत आहुर्मोक्षेत्यादि। **मोक्षः सम्प्रदायश्चे**ति। फलत्वेन साधनत्वेन चेतिशेषः। तथा चैतद् द्वयमिह योगजधर्मेण प्रमितं भवतीत्यतस्तथे-त्यर्थः। **अलौकिककरणं** च पूर्वोक्तसमाधिरूपं बोध्यम्। ननु श्लोकद्वयेपि संसारस्य समुद्रत्वकथनात् प्रत्युतास्मिन् दुस्तरत्वायुक्तेरत्र चरणस्य **पोत**त्वकथनमेवोचितं तदपहाय किमिति **नौ**त्वादिकमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुस्तेष्वित्यादि। **सर्वप्रदर्शक** इति। कूलपरिच्छि-न्नतया **सर्वसंसारप्रदर्शकः**। एतस्यैव विवरणं **तत्कूपर्यं**त्यादि। एवं च पूर्वोक्तेन **स्मार्तेन** योगरूपेण प्रमाणेन भगवच्चरणरूपभक्तिमार्गा-त्मकसाधनभूतं प्रमेयं ततो भगवत्प्राप्त्यात्मकं **फलरूपं** च प्रमेयं प्रमितं भवतीत्यर्थः। चरणस्य **सम्प्रदाय**परत्वं तु पूर्वश्लोकोक्त-महत्कृतपदादेव सिद्धमिति न चोद्यावसरः। एतन्निदर्शनं च "भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते" इति प्रथमस्कन्धोक्तव्याससमाधि-सन्दर्भात् ज्ञेयम्। **सत्स्वनुग्रहो यस्येति**। तथार्वाचीनानामतथात्वेपि तन्मूलभूतेष्वाचार्येष्वनुग्रहात् तदनुसारिणस्तारयसीत्यर्थः ॥३१॥ **येन्य इति**—नन्वस्मिन् छ्लोके बहिर्मुखनिन्दैव दृश्यते न तु किञ्चित् साधनमतः कथमस्य साधनबोधकत्वमित्याकाङ्क्षायां तद्बोध-कत्वप्रकारमाहुः **साधनमित्यादि**। तथा च तदतिरिक्ते साम्प्रदायिके साधने निराकृते तत्र दृढविश्वासो भवत्यन्यथा पाक्षिकत्वं स्यादिति तदितरनिन्दाद्वारा 'न हि निन्दा'न्यायेनात्र साधनस्यैव कथनमितिभावः। **विकर्मसहितमिति ज्ञानविशेषणम्**। तदेतद् टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **सम्यगित्यादिना**। सुबोधिन्यां **तथाबुद्धिरिति**। **निरीश्वरादिबुद्धिः**। **नेत्यादि**। इदं कृच्छ्रपदस्य विवरणम् असुरपक्षपातादिति। अन्यपदोक्तानां तेषां तथात्वात्। **तस्मादिति** विपयत्वेनास्मज्ज्ञानादित्यर्थः। **साधनत्वेन परिग्रहादिति**। भावनासाधनत्वेन परिग्रहात् **शृङ्खलद्वीप** इत्यादि। पुराणान्तरादौ प्रसिद्धम्। **परित्यागवदिति**। सप्तम्यर्थे वतिः ॥ ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

बिभर्षीत्यत्र—चराचरशब्देनेति। एतदवयवभूतेनाचरशब्देनेत्यर्थः। **चरशब्देन** 'सर्वत्र परिभ्रमन् मृत्यु'रिति तत्र व्याख्यातम्। टिप्पण्यामप्येवमेवार्थो ज्ञेयः। **आधिदैविकया**विति। चिद्धर्मो रज आनन्दधर्मस्तम एतदुभयरूपयोः। तथा च **तादृशो भगवानेवेति** भगवदवतारा एवेतिभावः। भगवदवतारेषु यत्र सत्त्वरजस्तमोभेद उच्यते तत्रैते रजस्तमसी ज्ञेये चन्द्रदुर्वाससं वाधिभौतिकयोरवतारावित्यर्थः। **दैत्यानां नैतत् फलं** किन्त्वन्धन्तम इति दैत्यपक्षव्यतिरेको ज्ञेयः ॥ २९ ॥ **त्वयीत्यत्र—समाधिना-वेशितचेतसेति**। **समाधिनेत्यस्यैव** विशेषणमावेशितचेतसेति। तथा च महद्भिः पादस्य पोतत्वकरणे समाधेरेव करणत्वमग्रे तथाव्युतपाद-

नादिति ज्ञेयम् । सर्वात्मक इति । सर्व आत्मा यत्र यस्मिन् योगे । सर्वोपि प्रपञ्च आत्मत्वेन भासत इत्यर्थः । तदाहेति । भगवती-त्यन्तस्याभासोयम् । चेतसो भगवत्यावेशकथनेन चित्तवृत्तेर्भगवति योजनमाहेत्यर्थः । आकाशरूपस्य वेति । वियतो विष्णुपदत्व-प्रसिद्धेः । येन्य इतिश्लोके व्युत्पाद्यत्वादितिभावः । सर्वजनोनेति । सर्वानेव जनान् प्रति पोतत्वं स्यादित्यर्थः । पूर्वं भगवान् तारयती-त्युक्तं तत्र 'पादस्य पोतत्वं सम्पाद्यं'तिशेषो ज्ञेयः । इतिस्मृतेरिति । अतो धर्मत्वाद् यागादिवददृष्टद्वारा फलसाधकत्वं भवेदित्यर्थः । महान् कृत इति । सदादिपदानि विहाय महत्पदकथनेन पोतेपि महत्त्वम् । तथा च तात्पर्यार्थोयम् । विग्रहस्य महद्भिः कृतेनेति पूर्वोक्त एव । महद्भिः कृतो महद्भिः कृतो महानेव भवतीतिभावः । आभासेष्वाहेत्याद्येकवचनं तत्र 'ब्रह्मा भवश्चे'तिशेषो ज्ञेयः । प्रमाण-समाप्तिरिति । अत्र प्रमाणं योगो भगवत्प्रमाजनकत्वात् । तथा च वत्सपदकरण एव तत्समाप्तिः तरणं त्वनुग्रहसाध्यमत एव प्रमयेवि-रूपकेग्रिमश्लोके वक्ष्यत इतिभावः । दैत्यानां विमार्गपरिपोषितो निरीश्वरयोग इति तद्व्यतिरेकः ।। ३० ।। स्वयमित्यत्र—अलौकि-कानां साधनानां ज्ञानादीनां करणे मोक्षादिसम्पादने यत् सामर्थ्यं चित्तमालिन्यादिसम्पादनेन तद्घातकः । संसारासक्तौ ज्ञानं कार्य-क्षमं न भवत्यत एव ज्ञानिनो भीताः संसाराद् विरक्ता भवन्तीतिभावः । तेपीति । पूर्वश्लोकोक्तप्रकारेण कृतवत्सपदत्वा अपि सर्वांशेनोत्तीर्णाः प्रसादादेव न तु योगबलेनेत्यपिशब्दः । अच्छिद्रं सफलमिति । अच्छिद्रसौहृदत्वादन्येषामुद्धारः सफलसौहृदत्वा-दन्योद्धारापेक्षेति शङ्काद्वयपरिहारः । द्वितीयमर्थं विवृण्वन्त्यनेनेति । पदेनेतिशेषः । सार्थकमिति । सफलमित्यर्थः । इत्यत्रैवेति । चरणाम्भोरुहनौकारूपो जात इति हेतोरत्रैव निधायेत्यर्थः । दैत्यानां न संसारोत्तरणमिति तद्व्यतिरेकः ।। ३१ ।। येन्य इत्यत्र— भावस्यास्तत्वकथनेन पूर्वं सत्त्वमायातीत्याशयेनाहुस्ते हीति । पूर्ववदिति । विकर्म चेन्न कुर्युरित्यर्थः । तथाबुद्धिरिति बहुजन्मभिः प्रवृद्धं ज्ञानमित्यर्थः । विकर्मेति । महत कष्टे विकर्म फलं यस्यास्तादृशी जातेतिशेषः । विकर्म सम्पादितवती तेन विमुक्तमानिनो जाता 'जीवा एव ब्रह्म स्वाश्रयैव मुक्ति'रितिमायावादिमतमवलम्बितवन्त इत्यर्थः । परपदारोहे पातो-सम्भावित इत्यत आहुस्तदेवेति । ब्रह्मत्वेनात्मभावनमेव न तु भगवदाविर्भाव इत्येवकारः । इदमेवाग्रे विवृण्वन्ति ज्ञानं शास्त्रोत्थमिति । ब्रह्मात्मभावनारूपं तत्त्वम्' स्यादिवाक्योत्थमित्यर्थः । विषयविषयिभावरहितं ज्ञानं त्वात्मनि भगवदाविर्भावे भवतीतिभावः । शृङ्खलापरित्यागवादिति । तत्र शृङ्खलापरित्यागे सति यथा पतन्ति तथैते पतन्तीति मूलव्याख्यानान्वयः । ग्रहणादीति । ग्रहणादिक्लेशः शृङ्खलाया इव परित्याग-श्चे दद्भयाभावाय । अत्र क्लेशः परित्यागशङ्का च नास्तीत्यर्थः । विकर्मसहिता ज्ञानिनोस्मिन् छ्लोके उक्ता दैत्याः । स्वयं तदस्वी-कारेण तत्पक्षव्यतिरेक उक्तः ।। ३२ ।।

बुभुत्सुबोधिका

विभर्षीत्यत्र फलमाहेति लौकिकसाधनयुक्तेषु लौकिकेषु ये भक्तास्तेषां सायुज्यं फलम् । 'त्रिवर्गफलदायिन' इति बालबोध-टीकायां श्रीपुरुषोत्तमैर्लिखितं वाक्यं तत्र त्रिवर्गे क्षेमः फलम्, 'क्षेमाये'ति तादर्थ्ये चतुर्थ्या क्षेमप्रयुक्तफलत्वात् त्रिवर्गस्य च । तं क्षेमफलं चाहेत्यर्थः । आनन्दाविष्टो भगवान् प्रमेयरूपः फलम् । क्षेमरूपानन्दांशः त्रिवर्गनिविष्टः फलम् । लौकिके साक्षादानन्दा-भावात् । 'लौकिकं नैव मनुत' इति श्रीमदाचार्योक्तेः । अनेन क्षेमार्थमवतारोक्त्या देवेषु पक्षपातो बोधितः । न च तृतीयमार्गोक्ति-जन्ममरणे फले, प्रवर्तकत्वाभावात् । प्रवर्तकं फलं बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानप्रवर्तकं तस्य जन्ममरणयोरभावात् । स्वाधि-कारानुसारि फलं प्रवर्तकम् । तत्र प्रथमं सायुज्यमाहुः त्वम् अवबोध इत्यादिना । 'आत्म'न्नित्यत्र ङ्लेर्लुगित्याशयेनाहुः आत्मनीति । पूर्वोक्तेति पूर्वश्लोकोक्तप्रकारेण । तेषां सेवकानां रूपाणां ज्ञानरूपे आत्मनि भरणस्वरूपमाहुः सायुज्यमिति । तेभ्य इति ब्रह्मविष्णु-शिवसेवकेभ्यो विपश्चिद्भ्यो नानात्वापश्यद्भ्यः सायुज्यं ज्ञानात्मनि भरणेन सयुजो भावं प्रयच्छतीत्यर्थः । 'सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल'मिति वाक्यात् । एवं विपश्चिद्व्यवस्थामुक्त्वा भगवन्मायासंवृतमतीनां नानात्वं पश्यतां भक्तानां व्यवस्थां वक्तुं पक्षान्तरमाहुः अथ वेति । अस्मिन् पक्षे अवबोध इत्यत्र सप्तम्या अभेदसम्बन्धोर्थः । निरर्थकविशेषणविभक्त्यपेक्षया सम्बन्धार्थ-कत्वस्य विभक्तेर्न्याय्यत्वात् । आत्मनीति विशेष्यविभक्तेरर्थमाहुः शुद्धात्मेति । 'निमित्तात् कर्मयोग' इति सूत्रेण सप्तमी । निमित्तमिह फलम् । कर्मणा 'योगः' संयोगसमवायान्यतरसम्बन्धः, अत्र 'आत्मनि रूपाणि बिभर्षी'त्यत्र फलस्यात्मनः कर्मणा रूपैः 'योगः' संयोगः । आत्मरूपयोर्द्रव्यत्वात् । अवयवावयवित्वे समवायः । अवयवावयविनोः समवायात् । अवतारेति गुणावताररूपाण्यपि । भक्ता इति स्वस्वामिभावसम्बन्धेनावतारसेवकाः लौकिकाः । चिद्रूपमात्मानं लभन्ते, न तु सच्चिदानन्दरूपम् । लौकिकत्वात् । 'लौकिकं नैव मनुत' इतिवाक्यात् । पश्यन्ति नाना ये तेषां क्षेमफलार्थं रूपाणां भरणस्य फलान्तरमाहुरित्याहुः रूपाणां ग्रहणस्येति । अन्यदपि निमित्तमिति निमित्तान्तरं क्षेमरूपफलान्तरमिति यावत् । चराचरशब्देनेत्यादि अत्र टिप्पण्यां चराचरशब्देनेति चरान्तर्गतोचरशब्दः चराचरशब्दस्तेन । मध्यमपदलोपी समासः । द्वन्द्वगर्भितकर्मधारयस्तु न । 'चरशब्देन सर्वत्र भ्रमन् मृत्यु'रिति भाष्ये व्याख्यानात् । इति तथेति इत्येवं चराचरशब्देन ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चे ति न्यायविद इत्यर्थः । न्यायः सूत्रं तद्विदो व्यासादयः । सुबोधिन्यां हिरण्य-गर्भाभिप्रेतचराचरशब्दार्थमाहुः चराः प्राणिन इति । इतीति पूर्वाधार्थसमाप्तौ । इत्युक्तमिति वा । गुणैरिति भगवद्दत्तैरैश्वर्यादिभिः । सत्त्वोपपन्नानि सत्त्वेन युक्तानि न तु सात्त्विकानि सत्त्वोपाधौ 'तत्र भव' इति ठक् । लोकेति लोकस्त्रिगुणोपि श्रेयआकाङ्क्षी अतस्त-दनुसारीणि । रजउपपन्नानि तमउपपन्नानि तु न भवन्ति । 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा स्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।

स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्यु'रिति प्रथमस्कन्धात्। मत्स्यादीनीति तामसपुराणोक्तान्यपि सत्त्वेनोपपन्नानि भवन्ति। वने वासात्। 'वनं तु सात्त्विको वास' इतिवाक्यात्। वनं जलमपि ब्रह्ममहेति राजसतामसयोः। आधिदैविकयोरिति चिद्धर्मो रजः, आनन्दधर्मस्तमः, एतदुभयरूपयोः। तथा च तादृशो भगवानेवेति ते नृसिंहवराहहंसा राजसाः मत्स्याश्वकच्छपास्तामसाश्च 'मत्स्याश्वकच्छपवराहे'ति श्लोक वक्ष्यमाणा भगवदवतारा एवेति भावः। भगवदवतारेषु यत्र सत्त्वरजस्तमोभेद उच्यते तत्रते रजस्तमसी ज्ञेये। चन्द्रदुर्वाससौ त्वाधिभौतिकयोरवतारावित्यर्थः। दैत्यानां नैतत् फलम्, किन्त्वन्धंतम इति दैत्यपक्षव्यतिरेको ज्ञेयः। तत्रेत्यादि सत्त्वोपपन्नत्वे निदर्शनं हेतुः। यतः सुखावहान्यतः सत्त्वोपपन्नानीत्यर्थः। पक्षपातस्तोत्रत्वादिति पक्षपातस्तोत्रत्वात् सतामेव सुखदानीत्याहेत्याहेत्यनेनान्वयः। सर्वदोषनिधानमिति सर्वदोषनिधानं वस्तु, सर्वदोषनिधानं खला इत्यादि खललक्षणप्रवेशार्थं नपुंसकनिर्देशः सामान्ये। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोके उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते, तैत्तिरीये प्रजननं संधानमिति। प्रजननं कंदर्पः। 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्प' इति गीतायाः। 'सायुज्यं तेभ्यः प्रयच्छती'ति सुबोधिन्या अक्षरात्मकजीवसायुज्ये कन्दर्पः। जीवानामक्षरात्मकत्वात् अक्षरस्य गर्भाधानयोनित्वात् कन्दर्पणं गर्भाधानमिति। माता पिता प्रजाः प्रजननमन्तरा न भवन्ति। प्रश्ने कला काचित्। छान्दोग्ये 'विद्युत् कले'ति श्रुतिः। तथा च विद्युद्रूपात्मनि विभर्षि। 'विद्युद् ब्रह्मेत्याहु'रिति बृहदारण्यकात्। लोका अपि केचन वदन्तीति लोका 'आहु'रित्यपि श्रुतौ कर्त्राकाङ्क्षापूरणात्। ब्रह्मत्वात् फलत्वम्। अथवा लोककृतपक्षपाते चतुर्षु श्लोकेषु प्राचा दिक् कला, द्यौः कला, चक्षुः कला विद्युत् कलाः निरूप्यन्ते प्रमाणादिरूपाः। तत्र 'प्राचो दिक् कले'ति श्रुतिर्वा 'सत्यव्रत' श्लोके प्रमाणम्। लौकिकपक्षपाते प्रमाकरणं प्रमाणम्, न त्वनधिगतार्थगन्तृत्वम्। तस्य वेदकृतपक्षपातमात्रविषयत्वात्। तदत्र प्राची दिक् देवतेन्द्रः भगवत्कृतिरूपः, तस्य प्रमाणत्वं तृतीयस्कन्धे द्वाविंशेध्याये 'यतोभवद् विश्व'मित्यत्र 'सर्वथादरणीयो यः स प्रमाण'मित्युच्यते। 'तत्सम्बन्धात् कृतिस्तस्य प्रमाणं वाक्यमेव चे'ति कारिकायां कृतेः प्रमाणत्वाक्तरुक्तम्। तदित्थम्। विश्वकर्तुर्भगवतः प्रमाणत्वे तत्कृतेरपि प्रमाणत्वं प्रमाणान्तःपातात्, प्रमा उत्पत्तिः प्रथमज्ञप्तिरूपा. तस्याः करणं कृतिर्भगवन्निष्ठेतीन्द्रः प्रमाणम्। भगवान् विश्वमुत्पादयतीत्यत्र'यतोभवद् विश्व'मित्यत्र तु न। अधिष्ठानकारणत्वात्। 'सत्यव्रत'मित्यत्र 'सत्येन सुवर्गाल्लोकान्न च्यवन्ते कदाचने'तिश्रुतौ स्वर्गस्थेन्द्रस्य सुवर्गपदेन स्मारणात्। 'एकायनोसा'वित्यत्र 'द्यौः कले'तिश्रुतिर्वा,द्योर्विश्वान्तर्गतत्वाद् विश्वमुत्पादयतीत्यत्र प्रमाविषयत्वेन प्रमेयत्वम्। 'त्वमेक एवास्ये'त्यत्र 'चक्षुः (प्राण) कले'तिश्रुतिर्वा। 'पश्यन्ति नाने'ति मूलोक्तेः। प्राणरूपेण त्वद्दर्शनम्। कृपाविष्टो भगवान् 'पश्यन्ती'ति ज्ञानविषयत्वेनोक्तः साधनं, ज्ञानविषयस्य फलानुकूलस्य साधनत्वात्। 'विभर्षी'त्यत्र श्रुत्यादिकं स्पष्टम्॥ २९॥

त्वय्यम्बुजाक्षेत्यत्र निरूपणमिति परपक्षनिराकरणपूर्वकस्वपक्षस्थापनं निरूपणम्, तच्चतुर्णां प्रमाणादीनां भगवत्त्वनिरूपणेस्त्येवाचार्याणां सर्वत्र भगवत्स्फूर्तेरावश्यकत्वात्। 'सर्वभूतेषु मन्मति'रितिवाक्यात्। विगाढभावेन सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिः सर्वात्मभावादिति वा। निरूपणमिति पूर्ववत्। स्मृतिष्विति कपिलोक्तासु तृतीयस्कन्धे। कपिलोक्तसाङ्ख्यप्रवचनसूत्रवृत्तिरपि न, भगवन्मार्गोपयोगाभावात्। योगो धर्म इति 'अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शन'मिति स्मृतेः आत्मदर्शनं परमो धर्मः,योगो धर्म इति। 'तस्माद् योगी भवार्जुने'ति गीतायां योगस्य चोदनाविषयत्वात्। बहुविध इति 'भक्तिलक्षणो योगः। उपनिषदि षडङ्गः। योगस्मृतावष्टाङ्गः' इत्येवं बालबोधे। सुबोधिन्यां तु 'योग आध्यात्मिकः पुंसा'मित्यत्र तृतीयस्कन्धे 'योगो बहुविधः। भगवत्साक्षात्कारे य उपयुज्यते स आधिदैविकः, आत्मसाक्षात्कारे आध्यात्मिकः आधिभौतिकस्त्रिविधः। अणिमादिसाधकः शरीरसाधकः, प्राणसाधकश्च आद्यस्तु शास्त्रान्तरङ्गम्, द्वितीयोत्र मुख्य'इति कठिनत्वात् पदसम्बन्धमाहुः हे अम्बुजाक्षेति। आवेशितचेतसेति समाधिविशेषणम्। आ समन्तात् वेशितं चित्तं यस्मिन् तादृशेन समाधिनेत्येवमग्रे महद्भिः पादस्य पोतत्वकरणे समाधेरेव करणत्वस्य व्युत्पादनात्। प्रमाणत्वं चेतस एव, आवेशितचेतस्त्वेन रूपेण समाध्युपस्थितेः। घटः पृथ्वीत्यत्र पृथ्वीत्वेन घटोपस्थितिवत्। समाधेस्तु'त्वत्पादपोतेने'त्यत्र कारणत्वमित्याशयेन समाधेरधिकरणत्वमाहुः योग इति। समाधौ। प्रत्यक्ष इति चेतसेति ज्ञेयम्। 'एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेशे'ति श्रुतेः। लोके योगमातिष्ठति स पर इत्युच्यत इति लोकवेदात्मिकस्मृतिकृतपक्षपात उक्तः, 'तं यथा यथोपासते तद्धेनं भूत्वावती'ति बृहदारण्यकात्। योगे समाधौ भगवत्प्रत्यक्षं प्रति चेतसः प्रमाणत्वं प्रमाकरणत्वरूपं लौकिकं, अनधिगतार्थगन्तृत्वरूपं वैदिकम्। संसारादिति अहन्ताममतात्मकात्। 'व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः'। 'सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मति'रितिवाक्याभ्याम्। सिद्धमिति श्लोकेन सिद्धम्। पदकृत्यमाहुः अम्बुजाक्षेतीति। पापं तापक अज्ञानात्। 'एतँ ह वाव न तपती'तिश्रुतेः तादृशं पापं दर्शनेन ज्ञानेन नश्यति। अम्बुजवदिति विशेषणेन तापकाज्ञाननाशकत्वमुक्तम्। पापं लोके वेदे च नाश्यम्। लोकेऽनुत्कृष्टत्वावेदकम्। वेदे भगवत्प्रत्यक्षं प्रतिबन्धकम्। 'योगेन च दहेदंह' इतिवाक्यात्। श्रीभागवतस्य वेदवेदान्तसारत्वादन्यद् विहाय तदीययोगमाहुः यो योगस्तृतीयस्कन्ध इति। सर्वात्मक इति सर्व आत्मा यत्र। यस्मिन् योगे सर्वः प्रपञ्च आत्मत्वेन भासत इत्यर्थः। भगवद्विषयक इति चित्तवृत्तेरन्यतो निरोधेन भगवति स्थापनरूप इत्यर्थः। तदाहेति भगवतीत्यन्तस्याभासोयम्। चेतसो भगवत्यावेशकथनेन चित्तवृत्तेर्भगवति योजनमाहेत्यर्थः। उक्तस्थानमक्षरं 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'मि'त्यखिलसत्त्वधाम्नी' तिपदेन कृष्णस्तुतिर्नेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः सर्वसत्त्वगुणेति। 'विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दितं' सत्त्वं विष्णूपाधिः। सत्त्वं मायिकम्। विशुद्धसत्त्वं सङ्क्रमणार्थं तस्य स्थानम्। विष्णूपाधिसत्त्वस्य स्थानं तद्गुणैर्योगगोचरस्य स्वस्य

ज्ञापनार्थम्। 'विष्णुराविरासी' दित्यत्र यथा। मायिकसत्त्वस्य स्थानं साहित्यार्थम्। 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात' इत्यत्र यथा। करणेनेति चेतो भगवत्प्रत्यक्षे करणं समाधिस्तु त्वत्पादस्य पोतत्वे करणमिति विवेकः। यस्मिन्निति समाधौ। कृत्वेति पूर्वमीमांसकसरण्योक्तम्। उपपादयन्ति स्म समुद्रेति। संसारः समुद्रः। संसारे तत् समवायि मायिकान्तरालिकसृष्टिजलं तद्दृष्टिः कर्तव्या। तस्य तरणसाधनमित्यर्थः। पृथ्वीरूपस्येति व्याहृतित्वगुणोपसंहारे समाधौ भावितस्य पादः पृथ्व्या रूप्यते व्यवह्रियत इति पृथ्वीरूपः तस्येत्यर्थः। आकाशेति वियतो विष्णुपदत्वप्रसिद्धे'र्येन्य' इति श्लोके व्युत्पाद्यत्वादितिभावः। अक्षररूपस्येति। पुरुषाकृतित्वे पादत्वमक्षरस्य निबन्ध उक्तम्। पृथिव्यादित्रयाणां चरणत्वेपि कथं पोतत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः भूमिश्चे'त्यादि। सर्वजनीनेति सर्वजनेषु विदितत्वात् भूमेः सर्वान् जनान् प्रति पोतत्वं स्यान् न तु समाधिकृतः प्रत्येवेत्यर्थः। पूर्वं भगवांस्तारयतीत्युक्तम्। तत्र पादस्य पोतत्वं सम्पाद्येति शेषो ज्ञेयः। आकाशं चेति सर्वजनीनमिति सर्वान् जनान् प्रति पोतं स्यान् न तु समाधिकृतः प्रत्येवेत्यर्थः। भगवद्भावकेत्यादि अत्र टिप्पण्यां भगवतैवेति प्रमेयबलेनेति भगवतः पोतत्वं, एवकारेण चरणस्य पोतत्वयोगो व्यच्छिद्यते। तावन्मात्रस्येति पादमात्रस्येत्यर्थः। तथात्वं पोतत्वम्। एतेन पादस्य पोतत्वाभावादिति सुबोधिनी विवृता। तेन पुरुषरूपेणेति समाधिकल्पितपुरुषरूपेणेत्यर्थः। तत्सम्भव इति पोतत्वसम्भवोऽक्षरपादस्य। सुबोधिन्याम्। संसारेति तथा च संसारवत् संसरणसाधकत्वेन तरणसाधनपोतत्वं कथमितिप्रश्नः। न युक्तीति यथा स्वाप्निकपदार्थस्य मायाकल्पितत्वेपि न भगवदाज्ञादेर्मायाकल्पितत्वं तद्वन् न युक्तिविरोध इत्यर्थः। समाधिकल्पितस्यापि तारकत्वे उपपत्तिमाहुः अयं त्वित्यादि। तथा च समाधिकल्पितस्यापि दर्शनस्य मानसधर्मत्वात् पोतत्वम्। अकल्पितेपि रूप इयं स्मृतिरत्र मुख्या। अदृष्टद्वारेति पूर्वमीमांसका वदन्ति। आशङ्क्येति पूर्वमीमांसकाशङ्कां कृत्वा। महत्कृतेनेत्युक्तमिति महान्तो हि यथा यागादीनामेव स्वर्गोत्पत्तिपर्यन्तं सतां सूक्ष्मरूपेण स्वीकुर्वन्ति पूर्वमीमांसकव्यतिरिक्ताः तथा योगेनात्मदर्शनस्य त्रिक्षणावस्थायित्वमनङ्गीकृत्य संसारतरणपर्यन्तं साधनत्वमङ्गीकुर्वन्तीति महत्कृतेन त्वत्पादपोतेनेत्युक्तमित्यर्थः।महान् कृत इति 'महत्कृत'शब्दावयवस्य 'कृत'शब्दस्य तात्पर्यमिदम्।यद्वा 'महद्' यथा भवति तथा 'कृतेने'ति 'महत्' क्रियाविशेषणम्। एतदेवाहुः हृदयमित्यादिना। संसारपारमिति सेव्यसेवकभावसंसारम्। निरीश्वरसाङ्ख्यमनीश्वरसाङ्ख्यं च योगोप्येवम्। निरीश्वरयोः सांख्ययोगयोः। 'यश्चास्मिन् पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक' इतिश्रुतेरादित्यसेव्यसेवकभावः। सेश्वरयोस्तु आत्मनः सेव्यसेवकभावः। तीर्णसंसारस्येति साङ्ख्ययोगयोरपि 'सेवातपःसमाधिप्रणिधानानि क्रियायोग' इति तत्सूत्रात्। सूत्रे 'प्रणिधानं' यत्नः। तुच्छं मन्यन्त इति एतेन गोवत्सपदं कृत्वा तरन्तीत्यर्थः। अनतीति गोपदं कुर्वन्तीति नोक्तमिति भावः। अनतिगम्भीरेर्थे तात्पर्यवृत्तिः वत्सपदस्य। शोषयित्वेति संसारस्यावुपादानकत्वान् नान्वयानुपपत्तिः। तूष्णीं तिष्ठन्तीति उत्तरश्लोके 'ऽदभ्रसौहृदा' इत्यस्य व्याख्याने स्पष्टम्। कुर्वन्तीति न तु वत्सपदं कृत्वा तरन्ति तारयन्तीति पर्यन्तं श्लोक उक्तम्। 'गोवत्सपद'मित्यस्यायमभिधेयोर्थः। गावः किरणाः तेषां मुख्यः वत्सपदेनोच्यते, चतुर्थस्कन्धे मनुप्रसङ्गे तथा दर्शनात्। सूर्य एव तस्य पदं पदनीयं तावन्मात्रं संसारं कुर्वन्तीति। अत एवाग्रे'द्युमदि'ति सम्बोधनम्। तथा चारण्यकश्रुतिः 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम्। एतैः सर्वैरादित्यमण्डलमेव विधास्यत' इति। प्रमाणसमाप्तिरिति समाधिविशेषणावेशितचेतोरूपे भगवत्प्रत्यक्षजनकत्वेन प्रमाणस्य समाप्तिः पर्यवसानमित्यर्थः। त्वत्पादपोतत्वकरणे समाधिः करणमिति स प्रमाणम्। पोतत्वोत्पत्तिः प्रथमज्ञप्तिरूपा। तथा च पोतत्वकरणे एव तत्समाप्तिः। तरणं त्वनुग्रहसाध्यमत एवाग्रिमश्लोके वक्ष्यत इति भावः। दैत्यानां विमार्गपरिपोषितो निरीश्वरयोग इति तद्व्यतिरेकः पक्षपातस्तुतौ। अथ तैत्तरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु षाडशकलासु च कः कोंशात्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये चतुष्कद्वयं स्मार्तकृतपक्षपात उक्तम्। तत्र पृथिवा पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपं चात्र। पूर्वस्या'ध्याधिलोक'मित्युपक्रम्य पाठात्। द्वितीयस्या- 'ध्याधिज्यौतिष'मित्युपक्रम्य पाठाल्लोकवेदात्मकत्वं स्मृतेरिति। चरणस्य पृथ्वीरूपस्य समाधौ ध्यातरूपावयवत्वेन तत्प्रामाण्यात् प्रामाण्यम्। आदित्यस्य गोवत्सपदानभिधेयार्थ उक्तेः कालत्वेन चेष्टारूपस्य प्रामाण्यम्। 'तत्सम्बन्धात् कृतिस्तस्ये'ति कारिकायाः। प्रश्ने विशेषाभावः। छान्दोग्ये दक्षिणा दिक् कलात्र। तस्याः स्वामी यमः तस्य प्रामाण्यं 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इतिवाक्यान् भगवत्त्वेन प्रामाण्यम्॥ ३०॥

स्वयं समुत्तीर्येत्यत्र तादृशेनेति समाधिविशेषणचेतोरूपेणेत्यर्थः। प्रमेयमिति योगे प्रत्यक्षो भगवान् संसारात् तारयतीति सिद्धमिति पूर्वश्लोकसुबोधिन्यां प्रमा भगवद्विषयिणी तारकत्वप्रकारिका, संसारात् तारयतीत्यत्र योगिनः संसारात् तरन्ति तान् भगवान् संसारात् तारयतीति विग्रहात् तर्त्रविषयिणा च। अतः प्रमेयं तारकत्वप्रकारको भगवान्, पादनौकारूपः प्रमेयम्। मोक्षसम्प्रदायरूपः। तत्रादभ्रसौहृदरूपं च। प्रमाविषयस्य प्रमेयत्वात्। तदत्र 'सदनुग्रहो भवा'न्नित्यनेन तारकत्वविशिष्टो भगवान्। अन्यग्रन्थेन तर्त्रं। सुदुस्तरवत्सपदकरणपदयोर्विरोधं परिहरन्ति स्म तीर्णस्येति। सम्पूर्णस्येति अन्यं प्रति सम्पूर्णस्य सुदुस्तरभवार्णवस्यानुवादे। किमत्र श्लोके प्रमेयं योगविशेषणचेतःप्रमाणेन प्रमितं भवतीत्यत आहुः मोक्षेत्यादि। मोक्षः सम्प्रदायश्चेति 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति मोक्षः। 'भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याता' इति सम्प्रदायो भक्तिमार्गरूपः। फलत्वेन साधनत्वेन चेति शेषः। तथा चैतद् द्वयमिह योगजधर्मेण प्रमितं भवतीत्यतस्तथेत्यर्थः। सर्वशास्त्राणां शब्दरूपत्वात् मोक्षः सम्प्रदायश्च शाब्दीप्रमाविषयौ भवत इति प्रमेये। कृत्वेति प्राचां शैली। भवार्णवे नक्रादीनाहुः व्यसनेति। व्यसनं दुःखम्। अलौकिकेति समाधिकरणसामर्थ्यघातकः। द्युमन्निति द्युमत् चक्षुस्तदधिष्ठाता सूर्यो वा, तद्वान् द्युमान्, तत्सम्बोधने द्युमन्। द्युमान् सूर्यो वा। 'कृष्णद्युमणि-

निम्लोच' इतिवाक्यात्। योगरूढः शब्दः। चरणस्त्रिविधेति चरणस्त्रिषु आकाशरूपो द्युमतः पूर्वोक्तः। 'कृष्णद्युमणी'तिवाक्योक्तसूर्यरूपोपसंहारप्रयोजकमाहुः त्रिविधेति युगलगीते भक्तेष्वाविश्य भक्तान्धकारं निवारयति। उद्धवाय ज्ञानोपदेशेन जगत्पूर्णजाड्यं, भक्तानां भयं च, 'मा भैष्टेत्यभयाराव'मितिवाक्यात्। समर्थ इति 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'तिश्रुतेराकाशस्य शरीरत्वात् सामर्थ्यम्। निवारयतीति अनुभवाज् ज्ञेयम्। तेपीति पूर्वश्लोकोक्तप्रकारेण कृतगोवत्सपदत्वा अपि सर्वांशेनोत्तीर्णाः प्रसादादेव। कपिलादिस्मृतिषु सेश्वरस्मार्तात् तत्कृतपक्षपातात्। न तु योगबलमात्रेणैव तरन्तीत्यपिशब्दः। अन्येषामिति योगारुरुक्षूणाम्। तेषामिति आरूढयोगानाम्। अच्छिद्रं सफलमिति अच्छिद्रसौहृदत्वादन्येषामुद्धारः सुखेन, सफलसौहृदत्वादन्योद्धारापेक्षेति भावः। आभासोक्तशङ्काद्वयपरिहार इति। छिद्रं जीवप्रत्ययजनकं तद्दर्शकं सौहृदं येषां ते'ऽदभ्रसौहृदाः'। आकाशकार्यच्छिद्रे गते जीवमात्रमुद्धृतं मुक्तमित्यर्थः। 'छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इति सिद्धान्तमुक्तावल्यामाचार्योक्तेः। यद्वा, उपाधिमात्रे गते जीवमात्रमुद्धृतमित्यर्थः। द्वितीयमर्थं विवृण्वन्ति स्म अनेनेति। 'अदभ्र'पदेन। पूर्वमेव कृतमिति 'अदभ्र'पदार्थः सफलं, तादृशं फलं द्विविधं, दुःखाभावः सुखं च, तत्र पूर्वं दुःखाभावार्थमेव कृतं सौहृदं सार्थकं सुखरूपफलेन सफलम्। जीवानन्दाविर्भावसहितमित्यर्थः। सौहृदस्यानन्दजनकत्वादेवकारः। सौहृदेन कृपालूनामन्येषामुद्धारे तेषामपेक्षेतिभावः। तथा च पूर्वं पूर्वश्लोके 'महत्कृतं' महद्भिः कृतं पादपोतत्वप्रयुक्तं सौहृदमर्थः। तेषामित्यादि आरूढयोगानां स्वार्थमन्येषामर्थे च। तमिति सौहृदरूपम्। ननु श्लोकद्वयेपि संसारस्य समुद्रत्वकथनात् प्रत्युतास्मिन् दुस्तरत्वाद्युक्तेरत्र चरणस्य पोतत्वकथनमेव युक्तं, तदपहाय किमिति नौत्वादिकमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः तेष्वित्यादि। तेष्विति योगारूढेषु। गत इत्यन्येषाम्। पोतरूप इति पूर्वश्लोकोक्तः पादः आकाशरूपः। सुखदो भगवदीयत्वात्। सर्वप्रदर्शक इति 'बहिरन्तरमेव चे'तिवाक्या'दाकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते'ति छान्दोग्याच्च कूपजलपरिच्छिन्नतया सर्वसंसारप्रदर्शकः। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्त' इति श्रुतेः। तत्कृपयेति अत्र लोकवेदात्मकत्वमनुसन्धेयम्। अम्भोरुहस्य पादस्य समाधिकल्पितस्य लौकिकत्वम्, वैदिकत्वं समाधिकल्पितस्यावात्मनारायणस्य। वेदे वात्मनारायण इति। गम्भीरत्वं नारायणपादस्यारूपस्य वागगोचरत्वं जलनौकास्तम्भनसाधनलोहशृङ्खलानौकाचालनसाधनदीर्घवंशाद्यगम्यत्वं तत्तत्कृपया तद् गच्छति, न तु भक्त्या,समाधौ दार्ष्टान्तिकमानसीसेवाया आभासात्। 'ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधिय' इतिवाक्यात्। इदं महत्त्व उपयोक्ष्यते। मानस्याः सेवाया आभासेन तद्वशभगवत्सम्बन्धात्। महत्त्वं भगवत्सम्बन्धात्। अतस्तत्कृपायाः करणत्वम्। महत्कृपयेत्यर्थः। अनतिगम्भीरं क्रियाविशेषणं समुद्रश्चेत्यादिनान्वेति। महत्कृपया वेदज्ञानेऽवात्मनारायणत्वेन सत्यज्ञानानन्तत्वेन च वेदवेदान्तसारे श्रीभागवते ज्ञानात् अनतीति। कल्पितपादस्य संसारसमुद्रस्य च मायिकत्वात्। तत्र व्यसनमृत्युजरादिसत्त्वात् गम्भीरं यथा भवति तथा इति समुद्रश्चेत्यनेनाग्रेन्वयः। अम्भोरुहनौकारूपः पादपोतो जातः। आकाशस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वं वृद्धिह्राससूत्रे सिद्धम्। अम्भोरुहपदोक्तेनाब्धिसम्बन्धाभावादाहुः समुद्रश्चेति। 'भवः' सेवोपयोगी नदी वेदे यमुना तद्रूपो जातः यमुनायाः सेवोपयोगिनीत्वात्। लोके सिन्धुनदीरूपो जातः। संसारस्य कियतो मायायां स्वकारणे लयात् कारणमाया समुद्रः मार्कण्डेयं प्रतीवोर्वरितः। इत्यत्रैवेति चरणाम्भोरुहनौकारूपो जात इति हेतोः सर्वनिवेशरूपादत्रैव निधायेत्यर्थः। दैत्यानां न संसारोत्तरणमिति दैत्यपक्षाद् व्यतिरेकोत्र। त इति पोतारूढाः। वशीकृत्येति योगे समाधौ मानससेवाप्रवेशात् तथा। आरुह्येति मनोद्वारा स्वजीवं समाधिकल्पिते एकीकृत्य। व्यापकेऽणारारोहणम्। पोतस्य नौकारूपत्वेन महत्त्वप्रयोजनमाहुः सर्वमिति। योगसाधनमपि। सत्यव्रत इव। तदुपदेशिन इति स योगारूढकृत उपदेशो येषामस्ति ते तदुपदेशिनः योगारुरुक्षवः। तद्विधाः योगारूढविधाः। सत्सु अनुग्रहो यस्येति तथा चार्वाचीनानामतथात्वेपि तन्मूलभूताचार्येष्वनुग्रहात् तदनुसारिणस्तारयसीति भावः। 'सदनुग्रह' इत्यन्तवाक्ये विभक्त्युत्पत्तौ 'अस्ती'ति क्रियावश्यकत्वे तत्कर्ता 'भवा'नित्यनुक्तसिद्धे पुन'र्भवा' नित्युक्तेस्तात्पर्यमाहुः भवानित्यस्मिन्निति। सम्मतिरिति स्वसत्यवाक्यादेव सदनुग्रहायाजोपि जात इति सदनुग्रहपोषणम्। नलकूबरमणिग्रीवोद्धारेयं धर्मः स्फुटिष्यति। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये द्यौरुत्तररूपम्, आपः सन्धिश्चात्र। समाधेर्ब्रह्माण्डद्योरूपशिरसि जायमानत्वात्। पूर्वस्या'थाधिलोक'मित्युपक्रम्य पाठात्। द्वितीयस्या'थाधिज्यौतिष'मित्युपक्रम्य पाठाल्लोकवेदात्मकत्वं स्मृतेरिति। समाधौ ध्यातेन पृथ्वीरूपप्रमाणेन द्योरपि प्रत्यक्षविषयत्वात् प्रमेयत्वम्। पृथ्वीरूपप्रमाणाश्रयत्वाद् द्योः शिरोरूपाया योगिनाम्। आदित्यरूपकृतिः तद्रूपप्रमाणविषयत्वमपां भवाब्धिरूपाणाम्। कार्यत्वात्। अपां पुष्पस्यादित्यस्य प्रमाणत्वं तत्कार्यस्य पोतापां निर्मोकविषयाणां प्रमायाः करणत्वरूपम्। प्रश्ने न विशेषः। छान्दोग्ये समुद्रः कला। यमरूपप्रमाणेन समुद्रस्याधिष्ठानस्य प्रमायाः सत्त्वात्। प्रमाकरणस्य चक्षुरादेर्यमेन स्वस्वविषयग्रहणे प्रेरणात्। 'समुद्रं मनसा ध्याये'दितिश्रुतेः वैदिकं प्रमेयं यमुनारूपं च। लोके च सिन्धुनदीरूपम्। ॥ ३१ ॥

येन्य इत्यत्र कृपाविष्टः साधनं भगवान्, अतस्तद्व्यतिरिक्तसाधनलक्षणमाहुः साधनमिति। उपदेशक इति 'चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये मंत्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स कथ्यत' इति रामार्चनचन्द्रिकायां रुद्रयामिलवचनमुपदेशलक्षणम्। वैदिकोपदेशे 'तत्त्वमसी' त्यादौ लौकिकनामादिप्रवेशात् अज्ञातेर्थे इवार्थे वा कप्रत्ययः। तूष्णीमुपदेशो न फलायेति प्रकारपर्यन्तानुधावनम्। प्रकारः प्रकर्षेण करणं कृतिः। उपदेशकविषयिणी कृतिः फलाय भवति। एतेन नन्वस्मिन् श्लोके बहिर्मुखनिन्दैव दृश्यते, न तु

किञ्चित् साधनम् , अतः कथं साधनबाधकत्वमिति शङ्का परास्ता । तथा च तदति रिक्तेऽसम्प्रदायिके साधने निराकृते तत्र दृढविश्वासो भवति, अन्यथा पाक्षिकत्वं स्यादिति असम्प्रदायिकसाधननिन्दाद्वारा न हि निन्दान्यायेनात्र साधनस्यैव कथनमिति भावः । स चेत्यादि न हि निन्दा निन्द्यान् निन्दितुं प्रवृत्तापि तु विधेयं स्तोतुमितिन्याये निन्द्यानि तदतिरिक्तसाधनानि । विधेयं उपदेशकस्य प्रकारः स अर्थात् आक्षेपात् अर्थापत्त्या व्यञ्जनयोक्तो'ऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय' इति पदस्य । युष्मदङ्घ्र्यो यैरादृताः पादसेवनेन ते न पतन्तीति । अर्थापत्तिस्तु प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्यार्थान्तरं विनानुपपद्यमानस्योपपत्तयेऽर्थान्तरकल्पना । अत्र शब्देन प्रमितोर्थः पतनम् । अर्थान्तरं अपतनम् । अनुपपद्यमानं अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात् । अपतनाभावः पतनमिति प्रतियोग्यपतनम् । अर्थान्तरकल्पना अपतनकल्पनेत्यत्र ज्ञेयम् । तदतिरिक्तेति उपदेशकप्रकारातिरिक्तसाधनानि । भावस्यास्तत्वकथनेन पूर्वं भावस्य सत्त्वमायाति । 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति बृहदारण्यकादित्याशयेनाहुः ते हीति । भगवन्तमिति तथा च कापिलसाङ्ख्यप्रवचनसूत्रवृत्तिः 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपमृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर' इति । एवमिति भगवदुपासनेन । ज्ञानप्रवृद्ध्युपासनस्य कारणत्वं प्रसिद्धम् । विकर्मसहितमिति ज्ञानविशेषणमिदम् । अत्र टिप्पणी स्पष्टा । सुबोधिन्याम् । भगवदंशमिति भगवतोसङ्गपुरुषस्यांशं उपाधिभेदभिन्नं, 'उपाधिभेदेप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभि'रिति, 'उपाधिर्भिद्यते, न तद्वा'निति सूत्राभ्याम् । पूर्ववदपीति विकर्म चेन्न कुर्युः । तथाबुद्धिरिति साङ्ख्यमायावादयोरुत्कृष्टत्वेन ज्ञानकरणभूता वेदे आचार्यमतत्वात् । लोके निरीश्वरादिबुद्धिर्ज्ञानम् । बुद्धिर्ज्ञानमिति नैयायिकाः । कीदृशीत्यत आहुः विकर्मेति । विकर्मापेयपानादिसाङ्ख्यमायावादावलम्बनज्ञानं फलं यस्याः तादृशी । पूर्वज्ञानेनेति बहुजन्मभिः प्रवृद्धज्ञानेनोपासनाजन्येन । महतेति संसारावेशाः उपासकाश्चातो ज्ञानसंसाराभ्यां महत्कष्टम् । इदं कृच्छ्रपदस्य विवरणम् । सर्वस्वेति संन्यासे शाङ्करमतावलम्बे एवं भवति । ब्रह्मात्मेति 'अहं ब्रह्मास्मी' त्येवम् । निरीश्वरसाङ्ख्ये प्येवम् । 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति'रिति सूत्रात् । जीव एवात्मा ब्रह्म, स्वाश्रयैव मुक्तिरिति मायावादिमतावलम्बनेन 'विमुक्तमानिनो' जाताः । भावना स्मरणम् । शाब्दज्ञानविषयस्यात्मब्रह्मणः । परपदारोहे पातोसम्भावित इत्यत आहुः तदेवेति । ब्रह्मत्वेनात्मभावनमेव । न तु भगवदाविर्भाव इति तद्योगव्यवच्छेदक एवकारः । परं पदमिति आवरणभङ्गादिति ज्ञेयम् । 'असङ्गोयं पुरुष' इति सूत्रोक्तं साङ्ख्यानाम् । एव'मन्य'पदार्थं 'परं पद'मित्यस्यार्थमुपपाद्य पदानि व्याकुर्वन्ति स्म ये इतीत्यादि । प्रसिद्धा इति त्यदादित्रयाणां प्रसिद्धवाचकत्वम् । प्रधानरूपे जगति नित्यजगतोऽभेदं साधयन्ति स्म अन्ये भगवदिति । आन्तरालिकसृष्ट्युत्पन्नाः । प्रसिद्धा भिन्नाः पूर्वश्लोकोक्तेभ्यो भगवन्मार्गीयेभ्यो भिन्ना लौकिकाः । भगवतास्तिभातिप्रियत्वरूपेण रहिताः 'मायेत्यसुरा' इति वाक्येन प्रधानाज्जगज्जायत इति सांख्यसूत्रेण प्रधानस्य कारणत्वात् समवायित्वात् । तेन भगवद्रहिता निरीश्वरा इत्यप्यर्थः । ईश्वरान्निष्क्रान्ताः । ननु 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इतिश्रुते'रात्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसे'तिवाक्योपष्टब्धायाः कुतो भेद इत्यत आहुः भगवद्विचारेणेति । भगवद्विचारो जीवविचारश्च, तत्र जीवविचारः जीवस्य विचारः षष्ठीतत्पुरुषः जीवकर्तृकविचारः साङ्ख्ययोगसम्बन्धी । ईश्वरविचारो वेदद्वारा भगवतो विचारो भगवद्विचारः, षष्ठीतत्पुरुषः, भगवत्कर्तृको विचारस्तेनेत्यर्थः । पूर्वश्लोके भगवद्विचारः, अत्र श्लोके जीवविचारः, तेनोभाभ्यां श्लोकाभ्यां वेदलोकप्रतिपादनादपि लोकवेदात्मकस्मृतिचतुष्टयमत्र । न हि सर्वत्र भगवत्स्फूर्तौ ह्यत्र धर्मी धर्मादिषट्कं च व्यूहचतुष्टयं वा पुरुषार्थचतुष्टयं वा वक्तुं शक्यम् । व्याख्यानात् । बालबोधे 'धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोर्था मनीषिणां जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षये'त्यनेन सन्दर्भेण साङ्ख्ययोगौ द्वौ मोक्षोपयोगिनौ जीवविचारेणातो वेदविचारेण भगवदीयेन विचारेण 'एकः सन् बहुधा विचचार' इतिश्रुतेः अन्यानिति आत्मीयेभ्योन्यान् भिन्नान् भेदेन यान् प्रसिद्धान् मन्यते जानाति । 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे । सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्त' इतिश्रुतेरभिवदनरूपप्रयत्नस्येच्छाद्वारा कारणं यज् ज्ञानं तदनुकूलव्यापारवानिति 'जानाती'त्यस्यार्थः । लोके ज्ञानाश्रय इत्यर्थः । असुरेति अन्यपदोक्तानां निरीश्वराणां तथात्वात् । तेष्वित्यादि तेषु असुरपक्षपातिसाङ्ख्येषु आत्मीयत्वज्ञानाभावः । तेष्वित्यत्र विषयसप्तमी । अदर्शनं ज्ञानाभावः । रात्रिस्थैरिति रात्रिश्चरैः । आमोद इति पक्षपातः यौगिकः शब्दः । आ समन्तात् मोदो मोदनम् । अत इति व्यतिरेकात् । पूर्वेति दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् । यदादानं पदार्थस्य वासनेति प्रकीर्तिते'ति योगवाशिष्ठस्मरणात् । सङ्गात् दृढस्मरणेनेत्यर्थः । पदार्थस्य विमुक्तत्वेन रूपेणात्मनः अविमुक्तत्वमाहुः ज्ञानं शास्त्रोत्थमिति । ब्रह्मात्मभावनारूपं 'तत्त्वमस्या'दिवाक्योत्थं शाब्दम् । भक्त्यर्थं तद् भवति । निबन्धे 'तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः न विद्याजनने शक्तिरन्यार्थं तत्र कीर्तितम्' । 'अन्यार्थं' भक्त्यर्थम् । तथाप्यन्ये एत आत्मीयेभ्य इति शाब्दापरोक्षमत्र । विषयत्वेनेति अभेदसम्बन्धस्तु आत्मस्वरूपसम्बन्ध इत्यात्मानतिरिक्तः । आवरणभङ्गाद्वाऽभेदसम्बन्धापेक्षाभावः । 'उपाधिर्भिद्यते न तद्वा'निति साङ्ख्यसूत्रम् । शाब्दापरोक्षे वैदिके लोकप्रवेशे विषयविषयिभावो भासत इति विषयत्वेनेत्युक्तम् । वेदे विषयविषयिभावे जडत्वापत्तिरिति । अत इति स्मृतिर्हि लोकवेदात्मिकेति वेदे लोकप्रवेशादित्यर्थः । तस्मादिति विषयत्वेनात्मज्ञानात् । विषयान्तरवत् बन्धकम् । तस्यापीति विद्यारूपस्य विषयत्वेनात्मग्रहणस्यापि । अपिशब्देन वेदान्ते विद्ययाभिमान उक्तः । तथा च श्रुतिः । छान्दोग्ये 'महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाये'ति । श्वेतकेतुः पितुराज्ञया वेदानधीत्य 'महामनाः' सर्वज्येष्ठोऽहमिति मन्यमानः । 'अनूचानम्' अनुवचनसमर्थमात्मानं

मन्यत इत्य'नूचानमानी'। 'स्तब्ध:'अप्रणतस्वभाव: 'एयाय' स्वगृहान् प्रत्यायात इति श्रुत्यर्थः। 'त्वय्यस्तभावा'दित्यादि व्याकुर्वन्ति स्म अत एव त्वयोत्यादिना अत एवेति जनिताभिमानादेव। पूर्वस्थित इति 'ते हि पूर्वज्ञानानुसारेणे'त्यादिग्रन्थोक्तो भगवदुपासनारूपो 'ज्ञानात् मुक्ति' रितिसाङ्ख्यसूत्राज् ज्ञानरूपो भावः। साधनत्वेनेति भावनासाधनत्वेन परिग्रहाद्। आत्मविमुक्तत्वाभिमानसाधनत्वेन परिग्रहाद् वा। अस्तः स्वरूप त् प्रच्युतः। अस्तं गत इत्यत्रास्तमिति भावे क्तः। असनं गत इति प्रत्ययार्थो विषयः कर्मप्रत्ययात्। असनाभिन्नगमनविषय इत्यर्थः। अहङ्कारादीति अविद्यासूत्रोक्ताहङ्कारादीत्यर्थः। महान्त इति अविशुद्धबुद्धिपु तत्प्रतीत्या महान्तः साधनकरणात्। 'अन्य'त्वान्न भगवत्सम्बन्धकृतं महत्त्वम्। यत्नमपीति 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग' इति पातञ्जलसाङ्ख्यप्रवचनसूत्रीयेश्वरप्रणिधानपदवाच्यक्रियायोगम्। अत इति यत्नाकरणात्। एव जाता इति विशुद्धबुद्धियोगान्यवच्छेदक एवकारः। ननु 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्वतैरुपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मज'मितिवाक्यात् साङ्ख्ययोगशास्त्रिणामविशुद्धबुद्धित्वं महत्त्वविरुद्धमतो विशब्दार्थमाहुः परमेति। तथा च शुद्धबुद्धित्वं महत्वाविरुद्धं वर्तत इति न महान्त इति पदविरोध इत्यर्थः। अहङ्कारादिसर्वदोषास्फुरणं च शुद्धबुद्धित्वेपि। अहङ्कारादिसर्वदोषस्फुरणे परमशुद्धेः कारणत्वात्। ज्ञानस्येति सात्विकस्य, सर्वं एको भगवानित्याकारकस्वगीतोक्तस्य। पूर्वावस्थादोषत्वप्रकारकदोषविशेष्यकज्ञानस्य सात्त्विकत्वात्। एवं च दोषविषयकराजसतामधीशून्यत्वमन्तःकरणे परमशुद्धिस्त्वयेत्यर्थः। अत इति संसारावेशा उपासकाश्चातो ज्ञानसंसाराभ्यां कृच्छ्रात्। आरुह्येति व्यापके औपाधिकजीवारोहणम्। अनादृतेति आरोपापवादेनाङ्घ्रीणां सगुणत्वात् आरोपविषयीकरण'मनादरणम्'। भगवच्चरणेति आकाशरूपभगवच्चरणातिरिक्तम्। शृङ्खलद्वीप इति तत्र शृङ्खलापरित्यागे सति यथा पतन्ति तथैते आत्मीयेभ्योन्ये पतन्तीति मूलसंस्कारेणान्वयः, पुराणान्तरादौ प्रसिद्धम्। आदरेति आदरः स्नेहभेदः। चरणस्थिताविति समाधावनुभूतभगवच्चरणस्थितौ मनोनिवेशद्वारा तत्र जीवस्थितौ हेतुरित्यर्थः। अत्र विकर्मसहिताः ज्ञानिनोऽस्मिन् श्लोके उक्ता दैत्याः स्वयमङ्घ्र्यादरास्वीकारेण दैत्यपक्षव्यतिरेक उक्तः अथ तैत्तिरीयप्रश्नच्छान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यते इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये आकाशः सन्धिः अग्निः पूर्वरूपं चात्र अधिलोके आकाशः। वेदेऽग्निः। लोकवेदात्मकत्वं स्मृतेरिति। अत्र श्लोक आकाशस्य चरणत्वं अग्नेस्तत्प्रविष्टरूपस्यानादृतपदेन द्योतनात् प्रश्ने विशेषाभावः। छान्दोग्ये'चक्षुःकले'तिश्रुतिः। लोके चक्षुः साधनम्। सूर्यः स्मृतिपक्षपाते चक्षुराधिदैविकः। अग्निरूपः सूर्यो वेदे। इति लोकवेदात्मकत्वं स्मृतिकृतपक्षपाते ॥ ३२ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी—श्रीसुबोधिनीजी—

फलमाह बिभर्षीति ।

क्रमशः तीन श्लोकों में प्रमाण, प्रमेय और साधन कहकर अब चतुर्थ श्लोक में फल का निरूपण करते हैं ।

त्वमवबोध आत्मनि रूपाणि बिभर्षि, अब चतुर्थ श्लोक का श्रीमदाचार्यचरण विवरण करते हैं कि हे भगवन्! आप अपनी ज्ञानस्वरूप आत्मा में रूपों को धारण करते हो। पूर्व में कहे हुए प्रकार से जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हीं के रूपों को अपनी ज्ञान रूप आत्मा में धारण करते हो। कृपानिधि आप उनको सायुज्य मुक्ति का दान करते हो। अथवा दूसरा अर्थ बताते हैं कि ज्ञानरूप आत्मा में शुद्ध आत्मा की सिद्धि के लिये अवतारों को लेते हो। जिससे, उन अवतार स्वरूपों में भक्त जन्म अपनी चिद्रूप आत्मा को प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय आपके अवतारों को धारण करने का दूसरा भी प्रयोजन बताते हैं कि चर और अचर प्राणियों के कल्याण के लिये भी आप अवतार लेते हो। चर शब्द से ब्राह्मण और अचर शब्द से क्षत्रिय, ऐसा अर्थ न्यायविद विद्वान करते हैं। चर का अर्थ है प्राण वाले प्राणीमात्र और अचर का अर्थ है स्थिर पृथ्वी आदि पदार्थ। "अत्ता चराचरग्रहणात्" यह जो व्यास सूत्र है उसमें ऐसा अर्थ किया है। जब **"यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदन."** वहाँ श्रुति में चर शब्द से ब्राह्मण एवं अचर शब्द से क्षत्रिय ऐसा अर्थ मिलता है। इससे समझा जाता है कि भगवान् ऐहिकफल देने के लिये भी अवतार लेते हैं।

ब्रह्मादि देवता भी ईश्वर कोटि में गिने जाते हैं अतः उनका भी रजोगुण वा तमोगुण से अवतार धारण करना सम्भव है। इसलिए उनके अवतारों की व्यावृत्ति के लिये ब्रह्मा भव इन्द्र आदि देववृन्द कहते हैं कि आपके अवतार सत्वगुणसम्पन्न अवतार होते हैं। जैसे लोकानुसारी मत्स्य आदि आपके अवतार भी सत्वोपपन्न हैं आधिदैविक ब्रह्मा तथा महादेव के अवतार भी सत्वोपपन्न होते हैं कारण कि ब्रह्मा और महादेव के आधिदैविक रूप आप ही हो अतः सत्वोपपन्न जो भी अवतार है वे आपके ही हैं। क्योंकि सत्व अवतार ही सुखदायी होते हैं। मूल श्लोक में सत्वोपन्नानि **'सतां'** पद देने का तात्पर्य यह है कि भगवान् के अवतार सत्पुरुषों को सुख देने के लिए हैं। कारण कि दैत्य खल है इसलिए उनके लिए तो आपके सब अवतार दुःखदायी हैं यह जताने के लिए मूल में 'अभद्राणि मुहुः खलानाम्' शब्द दिया है। अतः यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि भगवान् अवतार लेकर दैत्यो का भी कल्याण तो नहीं करेंगे ?

एवं लौकिकप्रकारेण चतुर्णां निरूपणमुक्त्वा स्मृतिप्रकारेण पुनश्चतुर्णां निरूपणमाह त्वयीति चतुर्भिः ।

पूर्व के चार श्लोकों में प्रारंभ में लौकिक प्रकार से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल इन चारों का निरूपण किया। पुनः आगे के चार श्लोकों में स्मृति प्रकार से उन चारों का निरूपण करते हैं।

"स्मृतिषु गौणो धर्मः स च योगो बहुविधः इति" अब आचार्यचरण कहते हैं कि स्मृतियों में जो योग कहा है वह अनेक प्रकार का है उनमें से जो योग देवों के लिए हितकर धर्मरूप है अब उसका निरूपण करते हैं। अम्बुजाक्ष भगवान् का यह सम्बोधन है। भगवान् के इस सम्बोधन से यह बताया है कि हे कमललोचन ! आपके दर्शन से ही पाप नष्ट हो जाते हैं। समग्र जीवों के धाम रूप आप में मनुष्य समाधि द्वारा चित्त का प्रवेश कराकर, आपके श्रीचरण रूप नौका को अवलंबन बनाकर भवसागर को, गोवत्स के खुर के जल के गड्ढे के समान बना देते हैं। भगवन्, इससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् भवसागर से तारते हैं। लेकिन यह योग तृतीय स्कन्ध में वर्णन किया हुआ सर्वात्मक सवीजयोग एवं भगवत्संबन्धी योग है। **तदाहाखिलसत्वधाम्नीति** उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आप समग्र जीवों के धाम हो और समस्त सत्वगुणों के आश्रय हो वैसे आप में, जिन्होंने समाधि द्वारा सर्वात्मक भाव से अपना चित्त लगा दिया है और आपके चरण रूप नौका को साधन बनाया है उन्होंने भवसागर को गोवत्स के खुर के जल के गड्ढे समान कर दिया है। समुद्र से पार जाने का साधन नाव है। **चरणस्य पृथ्वीरूपस्याकाशरूपस्य वा**—भगवान् के पृथ्वी, आकाश और अक्षर रूप चरण भी संसारसागर से पार जाने के लिए जहाज है। सब जानते हैं कि यह भूमि सर्व के लिए हितकारिणी है इसलिए पृथ्वी नावरूप है। कारण कि नाव का कर्तव्य है कि अपने ऊपर बिठाकर जल में डूबने न दे और नाव स्वयं जल के ऊपर तैरती रहती है इस प्रकार भूमि भी जल के ऊपर स्वयं स्थिर रहती है। पृथ्वी सर्व को जल में डूबने नहीं देती है। इस लिए पृथ्वी भगवान् का चरणरूप नौका मानी जाती है। वैसे ही आकाश भी भगवान् का चरण रूप नाव है। और तारों को जल में डूबने से बचाकर तारता है। अक्षर भी तब चरणरूप होगा कि जब भगवान् पुरुष रूप लेकर भूतल पर पधारते हैं। वैसे समाधि में भगवान् पुरुषरूप से प्रकट होकर प्रत्यक्ष होते हैं अतः उस समय भी अक्षररूप चरण पोत बनता है। इस प्रकार पृथ्वी, आकाश और अक्षर ये तीनों ही भगवच्चरण है और भक्तन को भवाम्बुधि से तारने वाले होने से तीनों नाव हैं।

'भगवद्भावकसमाधौ भगवति विद्यमाने' भगवद् भावात्मक समाधि में कल्पित पुरुष संसार के मध्यपाती होने से उसके चरण कैसे 'नाव' तारक बनेंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि **'महत्कृतेन'** भगवान् के चरण को महापुरुषों ने बनाया है। महान् पुरुष प्रत्येक पदार्थ के साध्य और साधक भाव को जानते हैं। जिसको सिद्ध करना है वह साध्य भाव है। और जो सिद्ध करनेवाला है वह साधक भाव है। समाधि में भगवत्स्फूर्ति होने से वह चरण उस समय भी तारते हैं यह भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य है, इसलिए शंका का अवसर नहीं है। जैसे कि स्मृति में कहा है कि **"अयं तु परमो धर्मो यत् योगेन आत्मदर्शनम्"** योगद्वारा आत्मा का दर्शन ही परम धर्म है। अच्छा मान लिया तब क्या यज्ञादि अदृष्ट द्वारा स्वर्ग के साधन है वैसे यह भी भगवच्चरण होगा ? तब कहते हैं कि **'महत्कृतम्'** पद से यह बताया कि भगवान् का चरण अदृष्ट बनाकर फल नहीं देता है लेकिन स्वयं साक्षात् पार उतारता है। और यह बात महान् पुरुषों ने सिद्ध कर दिखाया है कि यह पादपोत महान् है अतः चरण हृदय तथा संसार में व्याप्त है। समाधि असाधारण साधन है। समाधि में चरण नाव का आश्रय कर भवसागर को गोवत्स पद जैसा बना देते हैं। इसका आशय यह है कि जिन्होंने भगवच्चरण का आश्रय लिया है उनके लिए यह संसार तुच्छ है वे संसार में रहते हुए भी संसार से लिप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यह संसार गोवत्स खुर के समान जल का छोटा गड्ढा है। योग सिद्ध हो जाने से उनका संसार तो स्वयं सूख जाता है। किन्तु योग आदि के निर्वाह के लिए नाम मात्र संसार को रक्खा है। वे महापुरुष हैं अतः संसार को गोवत्स पद कर केवल आप ही संसार से पार होकर चले नहीं जाते हैं लेकिन अन्यों के उद्धार के लिये आप मौनी होकर बैठते हैं। इसलिए ही कहा है कि उन महापुरुषों ने संसार को 'गोवत्सपद' बना दिया है। इस श्लोक में स्मृति के प्रकार से प्रमाण का निरूपण किया ॥ ३० ॥

तादृशेन प्रमाणेन यत् सिध्यति तत् प्रमेयमाह स्वयं समुत्तीर्येति।

आचार्य चरण बताते हैं कि ऊपर के श्लोक में निरूपित प्रमाण से जिस प्रमेय की सिद्धि होती है उस प्रमेय का निरूपण अब इस श्लोक में करते हैं।

तीर्णस्यात्रास्थापनेनैव वत्सपदकरणात्—अब श्रीमदाचार्य तीर्ण पद का अर्थ कहते हैं कि जो भक्तजन भगवत्-चरणों का आश्रय कर संसार से पार हो गये हैं उनको तीर्ण कहा गया है। वे तो भवाम्बुधि को वत्स पद कर स्वयं पार हो गये। और जिन पादों से अर्थात् पाद नौका से पार हुए उस पाद रूप नौका को यहाँ पुनः रख गये हैं। यदि भक्त जन ऐसा न करें तब इस संसार सागर का रूप तो सुदुस्तर पार करना कठिन है फिर भी उसमें रहे हुए व्यसन, मृत्यु, जरा आदि कठिन दोष अलौकिक साधन के सामर्थ्य के घातक होने से महा कठिन और भयावह है। अरे भाई, समुद्र यों ही पार करना कठिन है

यदि उसमें मगरमच्छ आदि रहे हैं तब तो महा कठिन तथा भयानक है। सर्व सच्छास्त्र मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं अतः मोक्ष फलरूप होने से प्रमेय है। और भगवान् का चरणरूप भक्तिमार्ग भगवत्प्राप्ति का साधन होने से प्रमेय है। द्युमन्निति सम्बोधनम् भगवान् को 'द्युमन्' संबोधन देकर कहा कि जैसे सूर्य स्वतः अन्धकारपूर्ण जगत् के अन्धेरे और भय को मिटाता है वैसे आप स्वयं प्रकाशरूप हैं, अतः आपके चरण तीनों प्रकार के दोषों को निवारण करने में समर्थ हैं। इसलिए आपके आश्रित भी आपके चरणों के प्रसाद से भवाम्बुधि को पार कर गये हैं। **अदभ्रमच्छिद्रं सफलं सौहृदं येषामिति**— जब वे पार हो गये तो अब अन्यों का उद्धार कैसे होगा या कौन करेगा ? जो स्वयं पार पहुंच गये उनको दूसरों के उद्धार की क्या चिन्ता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे महान् पुरुष दूसरों के पार उतरने का भी विचार करते हैं कारण कि उनका हृदय सुन्दर है कोमल और कपटरहित और वे हृदय से सब से स्नेह करते हैं। अतः उनका सौहार्द सफल इस हेतु से हुआ है कि दूसरों के लिये भगवच्चरण रूप पोत, भक्तिमार्ग सम्प्रदाय रूप नौका की स्थापना कर गये हैं। जिससे निःसाधन और साधननिष्ठ सर्व के लिये, यह दुस्तर संसारसागर गोवत्स पद जैसा छोटा सा जल का गड्ढा बन गया है और समुद्र नदी रूप बन गया है।

इसका रहस्य यह है कि परम भगवदीय पुरुष स्वयं इस भक्तिमार्ग सम्प्रदाय द्वारा पार जाकर सिखा गये हैं कि आप भी भगवान् के चरण रूप, भक्ति सम्प्रदाय को नाव बनाओगे तो सहज और सरल रीति से पार हो जाओगे। इसलिये श्लोक में भगवान् के चरण को अम्भोरुह जल में रहने वाला कमल कहा है। कमल कोमल ताप निवारक और जल में रहता है वैसे ही चरण रूप भक्ति-सम्प्रदाय भी सरल सहज कोमल और ताप निवारक है। वे तो इस प्रकार का भक्ति मार्ग स्थापना कर गये, किन्तु अब उस भक्ति मार्ग का उपदेश करने वाले तो वैसे नहीं हैं तो कैसे कली काल के जीव उस भक्ति-मार्ग से पार पहुंचेंगे। इसके उत्तर में कहा है कि '**सदनुग्रहो भवान्**' हे प्रभु! आप सत्पुरुषों, जिन्होंने भक्तिमार्ग की स्थापना किया है, उन पर सदैव अनुग्रह करते हो अर्थात् उनको माध्यम बनाकर जो भक्तिमार्गानुयायी होंगे उनको अपनी कृपा बल से अवश्य पार करते हैं॥ ३१॥

साधनं महतामुपदेशप्रकारः। स च अर्थादुक्त इति साधननिरूपणे तदतिरिक्तसाधनान्येव निराकरोति येन्ये-रविन्दाक्षेति।

अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में कहते हैं कि महान् पुरुषों ने जिस प्रकार उपदेश किया है वह प्रकार ही साधन है। और नहीं यह बात अर्थ से आ गई इसलिये अब भक्तिमार्ग से भिन्न प्रकार के साधनों का निराकरण करते हैं।

अन्ये निरीश्वरसांख्यानुवर्तिनः ते हि पूर्वज्ञानानुसारेण—जो अन्य पुरुष निरीश्वर सांख्य तथा मायावाद के अनुयायी होते हुए भी भगवान् की उपासना करते हैं उसका कारण यह है कि उन्होंने पूर्व जन्म में जो ज्ञान प्राप्त किया था उस ज्ञान के संस्कार से अब भी उनमें सद्बुद्धि रही है। किन्तु वह ज्ञान विकर्म सहित था। विकर्म का अर्थ है वेद भगवान् ने जिन कर्मों के लिये निषेध किया है वे कर्म विकर्म है। अतः उस ज्ञान द्वारा उनको जीव, आत्मस्वरूप से जो स्फुरित होने लगा था, उस ज्ञान को वे निरीश्वर साङ्ख्य और मायावाद के संसर्ग से छोड़ देते हैं। यदि वे पूर्व की भाँति, जीव का आत्मस्वरूप से अनुसन्धान करते रहते तो भी कृतार्थ हो जाते। किन्तु इस प्रकार न रहना विकर्मों का फल है। अब आचार्यचरण '**आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं**' का रहस्य स्पष्ट करते हैं कि पूर्व ज्ञान से उनके प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के चार अध्यास नष्ट हो गये और अतिशय कष्ट से इकट्ठे किये हुए धन का सर्वस्वदक्षिणा याग से दान कर, सर्व बन्धुजन का त्यागकर, सर्व प्रपंच के सुखों से मुँह मोड़ कर, तपश्चर्या तथा श्रद्धा से ब्रह्मात्मभाव को पाया, यही उनका परम पद था। '**येन्येरविन्दाक्ष**' इस श्लोक में अन्ये और 'अरविन्दाक्ष' दो पदों का आशय प्रकट करते हुए आचार्य चरण कहते हैं, कि दूसरे वे हैं जो कभी भी भगवत्सम्बन्धी विचार मात्र नहीं करते हैं ऐसे मनुष्यों को भगवान् अपना न समझ कर पराया समझते हैं। और आप अरविन्दाक्ष माने कमल नयन हैं अतः जो अन्य हैं, वे असुरों के पक्षपाती हैं, इसलिए आप उनको दर्शन नहीं देते हैं। जैसे कमल रात्रि को विकसित नहीं होता है, यदि और रात्रिस्थ कमल की गन्ध का अनुभव करते नहीं है क्योंकि वे रात्रिस्थ आमोद ग्रहण करने के योग्य नहीं है, अतः रात्रि को कमल विकसित नहीं होता है। इसी प्रकार जो असुर वा असुर पक्षपाती हैं वे दर्शन के योग्य नहीं है।

ते हि पूर्ववासनयाऽऽत्मानं विमुक्तमेव मन्यन्ते—

वे अन्य, पूर्व वासना के कारण अपने को विमुक्त मानते हैं किन्तु वास्तविक रूप से तो वे विमुक्त नहीं है। केवल शास्त्रीय ज्ञान से अपने को आत्मरूप मानते हैं इस प्रकार मानने से कोई आत्मानन्द अनुभव नहीं है। जैसे धनादि से धनादि का अभिमान ही होता है। इस प्रकार से अपने को विमुक्त आत्मा मान लेने से मुक्ताभिमान ही उत्पन्न होता है। फलतः केवल मुक्तत्व के अभिमान से निज में जो पहले जो भगवत् प्रेम था जो साधन रूप से किया जाता था वह भी अस्त होकर

बुद्धि मलीन हो जाती है। यदि बुद्धि मलीन न होती तब इतना विचार अवश्य होता कि अहङ्कारादि दोषों से अपना अन्तःकरण दूषित हो गया है और हम कुमार्ग पर जा रहे हैं। इसलिये इस कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर चलने का प्रयत्न करें इतना निश्चय करते किन्तु वैसा नहीं करते हैं इससे निश्चय से जाना जाता है कि उनकी बुद्धि मलीन हो गई है। जब बुद्धि निर्मल बन जाती है तब अपने दोष स्फुरित होते हैं। ज्ञान की पूर्वावस्था तब समझनी चाहिये जब अपने दोष स्फुरायमान होने लगे। अतः परिश्रम से भी ब्रह्मभाव तक पहुंच कर आपके चरणारविन्द का अनादर करने से उस पद से अवश्य गिरते हैं। जीव को प्रकृति से पर उच्च गति की प्राप्ति के लिये बिना आश्रय वाले मार्ग में भी भगवान् के चरणों का आश्रय अनिवार्य ही है। कारण कि जो 'वियत्' है वह जो आकाश है वह सर्व का आश्रय है क्योंकि आकाश विष्णु पद का ही नाम है। और भगवान् के चरणारविन्दों के आश्रय से ही जीव का ऊर्ध्वगमन होता है।

शृङ्खल द्वीप में जो श्रीपाद शैल पर आरोहण करता है वह शृङ्खला का आश्रय लेता है यदि उसको छोड़कर अपने बल से चढ़ता है तो गिर जाता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् के चरणों का आश्रय आवश्यक है। यदि अधिक विशेष न कर सके, तो केवल चरणों में आदर रखे तो भी उसका अधः पतन नहीं होता है। भगवच्चरण में जीव का विश्वास तथा प्रेम आदर से ही होता है अतः चरण में स्थिति का कारण आदर ही है॥ ३२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

त्वमनुग्रहश्चेति यत्पालकत्वमुक्तं तदेव स्पष्टयन्ति–बिभर्षीति। अवबोधः ज्ञानैकस्वरूपस्त्वं चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकस्य प्रपञ्चस्य क्षेमाय पालनाय मुहुः पुनःपुनः सत्त्वोपपन्नानि विशुद्धसत्त्वमयानि रूपाणि मूर्तीर्बिभर्षि धत्स इत्यन्वयः। तत्र हेतुमाहुः–आत्मेति। परमात्मनः विश्वपालनस्यावश्यकत्वादित्याशयः। ननु "जगति दुष्टानामपि विद्यमानत्वात् सर्वपालने तेषामपि पालनं स्यात्तथा चानर्थ एव स्यात्, न पालनम्" इत्याशङ्क्य विभागमाहुः–सतां सदाचारनिष्ठानामेव सुखावहानि, खलानां दुष्टानां तत्प्रतिपक्षाणां त्वभद्राणि नाशकान्येवेति॥ २९॥ त्वद्भक्तास्तु कृतार्था एवेत्याहुः–त्वयीति। "तव कृपादृष्ट्यैव संसारतापनिवृत्तिः, नान्यथा इति सूचयन्तः सम्बोधयन्ति-अम्बुजाक्षेति। अखिलसत्त्वधाम्नि शुद्धसत्त्वमूर्तौ त्वयि समाधिना आवेशितं स्थिरीकृतं यच्चेतस्तेनैव निमित्तेन एके मुख्या विवेकिनः महद्भिः कृतेन संसारतारकत्वेन सेव्यतया स्वीकृतेन, यद्वा इदमपि प्रपञ्चवन्माया-मयमिति कुवादमनादृत्येदमेव महत्सर्वोत्कृष्टमिति संसारतारकतया स्वीकृतेन त्वत्पादरूपेण पोतेन नौकारूपेण भवाब्धिं संसार-समुद्रं गोवत्सपदं गोवत्सपदमिव तुच्छीकुर्वन्ति। दुस्तरं संसारमनायासेनैव तरन्तीत्यर्थः॥ ३०॥ ननु "पादपोतेन पूर्वे चेत्संसारा-र्णवपारंगतास्तर्हि पादपोतोऽपि तैः सहैव गतः स्यात्, लोके पोतस्यापि पारगमनदर्शनात्। तर्हीदानीन्तनाः कथं पारं गच्छेयुः" इत्याशङ्क्याहुः—स्वयमिति। यथा सूर्याश्रितानामन्धकारभयं नास्ति, तथा त्वदाश्रितानामविद्यारूपान्धकारभयं नास्तीति सूचयन् सम्बोधयति हे द्युमन्निति। भवत्पादपोतेन स्वयं सम्यक् अनायासेन पुनरावृत्तिरहितं यथा स्यात्तथा भवार्णवमुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरु-हनावमत्र संसारे विधायान्येषामुत्तरणार्थं संस्थाप्य ते महान्तो याताः पारं गताः। संसाराद्विमुक्ता इत्यर्थः। नौनिधानं नाम भक्तिमार्गप्रवर्तनम्, तेन नेदानीन्तनानां संसारतरणमशक्यमिति भावः। तत्प्रवर्तने हेतुमाहुः—अदभ्रसौहृदा इति। अदभ्रमनल्पं सौहृदं दीनेषु कृपा येषां ते तथा। अम्भोरुहेति विशेषणेन यथा कमलं सन्तापनिवर्तकं सुखजनकं च तथा पदकमलमपीत्यन्यमार्गेभ्यो भक्तिमार्गस्योत्कर्षः सूचितः। अवश्यं चैतदुत्तरणाय प्रयत्नो विधेय इत्याशयेनाहुः—भीममिति। नरकादिदुःखैर्भयङ्करमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—सुदुस्तरमिति। कामक्रोधादिभिस्तज्जन्यैः पापैश्च तिमिङ्गिलतुल्यैस्तद्विमुखानां दुस्तरमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह–सदनुग्रहो भवानिति। यतो भवान् सतः शरणागतान् स्वभक्तानेवानुगृह्णाति, कामक्रोधादिभ्यो रक्षणेन संसारादुद्धरतीत्यर्थः॥ ३१॥ एवं भगवद्भक्तानां कृतार्थत्वमुक्त्वा तद्विमुखानामनर्थप्राप्तिमाहुः—य इति। तद्विमुखानां तु त्वत्कृपादृष्टिविषयत्वाभावान्न कदापि संसार-तापनिवृत्तिरिति सूचयन्तः सम्बोधयन्ति—हे अरविंदाक्ष इति। येऽन्ये भवद्विमुखास्ते कृच्छ्रेण विषयसुखत्यागपूर्वकतपआदिसाधन-प्रयासेन परं पदमारुह्य मोक्षसन्निहितं सत्कुलजन्मादि प्राप्यापि ततोऽधः नरके पतन्तीत्यन्वयः। तानेव दर्शयन्ति—नेति। 'न आदृतौ युष्मदंघ्री यैस्येभ्यो नातो नरकभाग्भिरसत्प्रसंगैः' इति भगवदनादरेण नरकपातस्योक्तत्वात्। अनादरे हेतुमाहुः—विमुक्तमानिन इति। संसारे पतिता अपि 'विमुक्ता वयम्' इति मन्यमाना भ्रान्ता इत्यर्थः। तत्र हेतुमाहुः-अविशुद्धबुद्धय इति। तत्रापि हेतुमाहुः—त्वयीति। त्वयि अस्तो निरस्तो यो भावो भक्तिस्तस्मात्। भक्तेरभावान्न विशुद्धा बुद्धिर्येषां त इत्यर्थः॥ ३२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अन्येऽपि तेऽवताराः सन्तीत्याहुः—बिभर्षीति॥ अवबोधः ज्ञानस्वरूप आत्मा त्वमेव चराचरस्य लोकस्य क्षेमाय सत्त्वेन सच्चिदानन्दघनरूपत्वेनोपपन्नानि श्रुतियुक्तिसिद्धानि सतां सुखावहानि खलानाम् अभद्राणि नाशकानि रूपाणि मुहुर्मुहुर्बिभर्षि लोक-दृष्टौ प्रकटयसि॥ २९॥ त्वयीति॥ हे अम्बुजाक्ष! एके मुख्या विवेकिनः अखिलसत्त्वधाम्नि शुद्धसत्त्वमूर्तौ त्वयि समाधिना आवेशितं स्थिरीकृतं यच्चेतस्तेनैव निमित्तेन महद्भिः कृतेन सेव्यतया संपादितेन इदमेव महदिति सादरं स्वीकृतेन वा। महद्भिः भवाब्धेः पोततुल्यीकृतेन वा त्वत्पादरूपेण पोतेन महानौकया भवाब्धिं संसारसमुद्रं गोवत्सपदमिव तुच्छं कुर्वन्ति। भवाब्धेर-

स्तित्वमपि न जानन्ति। अनायासेन तेषां मुक्तिरित्यर्थः॥ ३०॥ अन्येषां का गतिरिति चेत्तत्राहुः—स्वयमिति॥ हे द्युमन्! स्वयंप्रकाश अदभ्रम् अनल्पं सौहृदं दीनेषु कृपा येषां ते पूर्वोक्ताः विवेकिनः अन्येषां सुदुस्तरं भीमं भयंकरं च भवार्णवं स्वयं समुत्तीर्य अदभ्रसौहृदत्वात् भवत्पदाम्भोरुहरूपां नावमत्रैव निधाय भक्तिमार्गसंप्रदायं प्रवर्त्यैत्यर्थः। पद्भ्यामिवानायासेन पारं याताः यत् यतः कारणात् भवान् सदनुग्रहः सतो भक्तान् अनुगृह्णाति तादृशोऽस्ति॥ ३१॥ य इति॥ हे अरविन्दाक्ष! ये केचित् विमुक्तमानिनः केवलं ज्ञानमेवाश्रित्य विमुक्ता वयमिति मन्यमानाः त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवासन् यो भावः तस्मात् भक्तेरभावादित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यद्वा। त्वयि अस्तभाः इति च्छेदः। अस्तमतयः वादेष्वेव विशुद्धबुद्धयः अत एव न आदृतौ युष्मदङ्घ्री यैस्ते। युष्मदिति बहुत्वं भक्तसंग्रहाय। ईदृशाः सन्तः कृच्छ्रेण बहुजन्मतपसा परं पदं मोक्षसन्निहितं सत्कुलतपःश्रुतादि आरुह्य प्राप्यापि ततः अधः पतन्ति विघ्नैरभिभूयन्ते। तिर्यगादियोनिं वा प्रपद्यन्ते त्वदनादरणदोषान्नरके पतन्तीति वा। भक्तिरसिकास्तु शमदमादिकृच्छ्रजनितेन विज्ञानेन परं पदं जीवन्मुक्तदशामारुह्यापि भगवच्चरणानादरेण कर्मणां पुनः प्ररोहात्पुनः संसरन्ति जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति। कर्मभिः यद्यप्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिन इत्युक्तेरिति यथाश्रुतार्थमेवाहुः॥ ३२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु देवकीपुत्रं मां कथमेवं वर्णयथ इति चेत्तत्राहुः॥ बिभर्षीति॥ हे हरे, अवबोधश्चासावात्मा चावबोध आत्मा ज्ञानस्वरूप इत्यर्थः। असंधिरार्षः। यद्वा अवबोधो ज्ञानस्वरूपः, आत्मा सर्वान्तरात्मा च सन्, इत्यसमस्तं पदद्वयम्। यद्वा, अवबोधे ज्ञानस्वरूपे जीवे, आत्मा आत्मस्वन्तर्यामितया स्थित इत्यर्थः। त्वं, चराचरस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य, क्षेमाय क्षेमार्थं, सत्त्वोपपन्नानि शुद्धसत्त्वमयानि, सतां साधूनां, सुखावहानि, इदं विशेषणं भाव्यश्रीहरिकृष्णावतारं मनसि निधाय कृतमस्तीति बोध्यं 'अन्योऽपि धर्मरक्षार्थे' इत्यनेनाग्रे स्फुटमेवाभिधानात्। कृष्णहरिकृष्णयोरेकावतारत्वाच्च। एतन्नित्यानन्दमुनिप्रणीतश्रीहरिदिग्विजयात् स्पष्टं बोध्यम्। खलानां दुर्जनानां कंसकालीदत्तादीनां, मुहुः अभद्राणि, रूपाणि अवतारान् बिभर्षि। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' इति त्वदुक्तेः॥ २९॥ एवं निखिलजगदुत्पत्त्यादिकारणत्वेन स्तुत्वाऽथ 'कारणं तु ध्येयः' इति श्रुतेः कारणत्वस्य त्वयि नियतत्वेनोपास्यत्वमपि त्वन्निष्ठमित्यभिप्रायेण स्तुवन्ति॥ त्वयीति॥ हे अम्बुजाक्ष, अमलं शुद्धं सत्त्वं सत्त्वमयं धाम स्थानं विग्रह इति यावत्। यस्य तस्मिन्, शुद्धसत्त्वमयविग्रहयुक्ते इत्यर्थः। अखिलेति पाठे, अखिलं प्राकृतसत्त्वादभिरप्रतिहतं सत्त्वमित्यर्थः। त्वयि, एके विपश्चितः, समाधिना ध्यानेन, आवेशितं चेतो यैस्ते तथाभूताः सन्तः, चैतसैक इति संधिरार्षः। समाधिना, त्वयि, आवेशितचेतसा उपलक्षिताः सन्त इति वा। महता कर्णधारस्थानीयेन सदाचारेण कृतः संनिधापितः प्रदर्शित इति यावत्। तेन, त्वत्पादपोतेन तव चरणकमलोपासनाप्रधानभक्तिमार्गरूपप्लवेन, भवः संसार एवाब्धिः समुद्रस्तं, गोवत्सपदं, कुर्वन्ति। वत्सपदवदल्पं विगणय्य सुखेन भवाब्धिं तरन्तीत्यर्थः॥ ३०॥ न केवलं ते स्वयमेव भवाब्धिं गोवत्सपदं कृत्वाऽतरन्नपि तु अत्र तदास्थापितत्वत्पादपोतस्था अन्येऽपि तं तथैवातरन्निति प्रदर्शयन्तः स्तुवन्ति॥ स्वयमिति॥ हे द्युमन् हे स्वयंप्रकाश, नित्यविभूतिमन्निति वा। अदभ्रमतिशयितं सौहृदं त्वयि सुहृद्भावो येषां ते तथाभूताः, ते महत्कृतत्वत्पादपोतविहिताश्रयास्त्वदेकान्तिकोपासकजनाः, भीमं भगवज्जनेतराणां भयंकरं, सुदुस्तरं त्वदाश्रयाभावात् सुतरां तर्त्तुमशक्यमपि, भवार्णवं संसारसागरं, स्वयं समुत्तीर्य, स्वेषामुत्तरणसाधनभूतामिति शेषः। भवत्पदाम्भोरुहनावं त्वदीयचरणकमलोपासनाप्रधानभक्तिमार्गसंप्रदायरूपां नौकां, अत्र लोके, निधाय प्रवर्त्य, याताः त्वद्धाम प्राप्य तत्र त्वत्सेवाप्तिलक्षणां मुक्तिं संप्राप्ता इत्यर्थः। ननु ते किमर्थमेवं चक्रुस्तत्राह। भवान् सदनुग्रहः त्वमेवंविधेषु सत्पुरुषेष्वेवानुग्रहशीलोऽसि ततस्ते एवं चक्रुरित्यर्थः। तयाऽन्येऽप्यतरन्निति भावः॥ ३१॥ समाधिनाऽऽवेशितचेतसैक इत्युक्तविपरीतानां महज्जननिहितभवत्पदाम्भोरुहनावमननुवर्त्तमानानां गतिं वदन्तः स्तुवन्ति॥ य इति॥ हे अरविन्दाक्ष, अन्ये पूर्ववर्त्तिश्लोकद्वयप्रस्तुतेभ्योऽपरे, ये जनाः, विमुक्तमानिनः विमुक्ता वयमिति वृथा मानिनः भवन्ति, ते जनाः, त्वयि अस्तभावात् भक्तिशून्यत्वाद्धेतोरित्यर्थः। अविशुद्धा बुद्धिर्येषां, यद्वा त्वयि, अस्तभाः अस्तमतयः, वादेष्वेव विशुद्धा बुद्धिर्येषामिति तथाभूताः सन्तः, परं पदं वर्णाश्रमादिमत्सु जन्माप्तिरूपमुत्कृष्टस्थानमित्यर्थः। कृच्छ्रेण महता प्रयासेन, आरुह्य संप्राप्यापि, सुकृतविशेषाद्द्विप्रादिरूपं श्रेष्ठं जन्म प्राप्यापीति भावः। अनादृतौ युष्मदङ्घ्री यैस्ते अनुपासितत्वच्चरणाः सन्तः, ततः, अधः पतन्ति। पुनर्हीनयोनिषु जन्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ३२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

त्वय्यम्बुजाक्षेति : १०.२.३०.

भवाब्धितरणे तरिर्भवति कृष्णपादाम्बुजं विभाव्य निगमागमेष्विति समुत्सुकः सज्जनः।
विचित्रमवलोकितं यदवलम्बनादप्यसौ भवाम्बुधिरगादलं सुलघु गोष्पदावस्थितिम्॥ ४०॥
आरूढाः पदवीं परामपि तपोयोगादियोगादहो भ्रश्यन्ति प्रकृतावनादृतभवत्पादाम्बुजाता यदि।
तद्वन्नाथ न तावकाः परिपतन्त्येतत् स्फुटं तद्बुधैरुक्तं गर्भनुतौ विलोक्य भगवञ्जातोऽस्मि ते सेवकः॥ ४१॥

कृष्णप्रिया

आप चराचर लोक के कल्याण के लिये यद्यपि आप ज्ञानात्मा होने पर भी विविध प्रकार के अवतारों को धारण करते हैं और सत्वगुणसम्पन्न स्वरूप धारण करते हैं जिस से आप सत् पुरुषों का हित करते हो और खल पुरुषों का नाश करते हो ।। २९ ।। हे अम्बुजाक्ष ? अखिल सत्त्व जीवों के आधारभूत आप का कई महानुभाव समाधि से ध्यान करते हैं, चित्त को लगाते हैं वे महापुरुष किये हुए आप के चरण कमल नाव के आश्रय से भव सागर को गोवत्स बनाकर तैर जाते हैं ।। ३० ।। हे द्युमन् ! हे सर्वसमर्थ भगवन् ! यह भव सागर भयानक है। भक्ति सम्प्रदाय के संप्रवर्तक स्वयं पार कर जाते हैं और सम्प्रदाय-नाव को अन्य तरणार्थियों के लिये यहाँ छोड़ जाते हैं क्योंकि उन सज्जनों के हृदय सौहार्द से सभर हैं और आप सत्पुरुषों पर अनुग्रह करनेवाले हैं इससे जो लोक सत्पुरुषों के माध्यम से शरण लेते हैं एवं आप के श्रीचरणों के आश्रित बनते हैं उनको आप भव सागर से पार करते हैं ।। ३१ ।। हे अरविन्दनयन ? जो लोग हम मुक्त हैं ऐसा दावा करते हैं और हम मुक्त हैं ऐसा मन में अभिमान रखते हैं लेकिन आप के स्वरूप में भाव न होने से उनकी मति शुद्ध नहीं होती । संभवतः वे लोक कष्ट से मोक्ष पद को प्राप्त कर भी ले फिर भी आप के श्रीचरणों में अनुराग न होने के कारण उन्नत पद पर आरोहण कर मिटजाते हैं ।। ३२ ।।

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ।। ३३ ।।
सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते ।। ३४ ।।
सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ।। ३५ ।।
न नामरूपे गुणकर्मजन्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव [३]क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ।। ३६ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तथा माधव त्वयि बद्धसौहृदाः तावकाः ते मार्गात् न भ्रश्यन्ति प्रभो त्वया अभिगुप्ताः निर्भयाः विनायकानीकपमूर्धसु विचरन्ति ।। ३३ ।। भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं विशुद्धम् सत्वम् भवान् श्रयते वेद-क्रियायोगतपःसमाधिभिः येन जनः तव अर्हणम् समीहते ।। ३४ ।। धातः इदम् निजम् सत्वम् (वपुः) न भवेत् चेत् अज्ञानभिदा अपमार्जनम् विज्ञानं न भवेत् गुणप्रकाशैः भवान् अनुमीयते यस्य च येन वा गुणः प्रकाशते ।। ३५ ।। देव मनोवचोभ्याम् अनुमेयवर्त्मनः साक्षिणः तस्य तव नामरूपे गुणकर्मजन्मभिः न निरूपितव्ये अथ अपि क्रियायाम् प्रतियन्ति हि ।। ३६ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्वदीयास्तु न कदाचिदपि पततीत्याहुः । तथा नेति । विनायका विघ्नहेतवस्तेषामनीकानि स्तोमास्तानि पांति ये तेषां मूर्धसु विचरंति विघ्नाञ्जयंतीत्यर्थः ।। ३३ ।। सतां सुखावहानि रूपाणि धारयसीत्युक्तं बिभर्षि रूपाणीति तत्केन प्रकारेण सुखावहत्व-मित्यपेक्षायामाहुः–सत्त्वं विशुद्धमिति । सत्त्वं वपुः श्रयत इत्यन्वयः । श्रेय उपायनं कर्मफलदातृ । कथम् । येन वपुषा जनस्तवार्हणं पूजामीहते करोति । कैः । वेदाश्च क्रियायोगाश्च तपश्च समाधिश्च तैश्चतुराश्रमधर्मैरित्यर्थः । वपुषोऽनाश्रयणेऽर्हणासंभवान्न कर्मफल-सिद्धिः स्यादिति ।। ३४ ।। त्वय्यंबुजाक्षेत्यादिना श्लोकत्रयेण भगवद्भक्तानामेव मोक्षो नान्येषामित्युक्तं तत्र कर्मफलं भक्तिं विना माभून्मोक्षस्य तु ज्ञानैकसाध्यत्वात्किं भक्त्येति सानुशयान्प्रत्याहुः । सत्त्वं न चेदिति । हे धातरिदं सत्त्वं निजं तव वपुर्न भवेच्चेत्तर्हि विज्ञानं विशिष्टमपरोक्षं ज्ञानं न भवेदित्यनुषंगः । कथंभूतम् अज्ञानभिदापमार्जनमज्ञानं च तत्कृता भिदा च तयोरपमार्जनं निवर्तकम् यद्वा अज्ञानं भिनत्तीत्यज्ञानभिद्विज्ञानं मार्जनं नाशमाप प्राप्तमेवेति । ननु जडानां बुद्ध्यादीनां यतः प्रकाशस्तद्ब्रह्मेति ज्ञानं भवेदेवेति चेन्न । गुणप्रकाशैर्गुणावच्छिन्नैः प्रकाशैर्भवान्सर्वसाक्षी परिपूर्णः केवलमनुमीयते कल्प्यते न तु साक्षात्क्रियत इत्यर्थः । अनुमान-प्रकारमाहुः । प्रकाशते यस्य च येन वा गुण इति । यस्य संबंधी अयम् आभ्यन्तरो बुद्ध्यादिगुणः प्रकाशते । यो गुणसाक्षीत्येवं येन वा बुद्ध्यारूढेन प्रमात्रा बुद्ध्यधिष्ठात्रा बाह्यो गुणः प्रकाशते इत्यनुमीयत इत्यर्थः । शुद्धसत्त्ववपुषि त्वयि सेव्यमाने तु तदाकारेंतःकरणे त्वत्प्रसादेन साक्षात्कारो भवेदिति भावः ।। ३५ ।। एवं तावद्भक्तानामभ्युदयापवर्गार्थं रूपाणि बिभर्षीत्युक्तं तान्यपि भजनीयानि केवलं न तु ज्ञातुं शक्यंते अनंतत्वादतर्क्यत्वाच्च मनोवचसोरगोचरत्वादित्याहुः । न नामरूपे इति । गुणाश्च जन्मानि

१. निजं वपुः इति पाठः । २. जन्मकर्मभि–श्रीधर वंशी. सुदर्शन. विज. कर्म जन्मभि–जीव. ; वीर. विश्व. । ३. क्रियायाः–विज.

च कर्माणि च तैर्निरूपितव्ये निरूपणार्हे न भवतः। कुतः। अनुमेयं वर्त्म मार्गो यस्य तवेति। तत्रापि हेतुः। तस्य साक्षिण इति। न हि साक्षिणस्तत्त्वं मनोवचोगोचरमित्यर्थः। हे देव बहुधा द्योतमान। अथापि क्रियायामुपासनादिलक्षणायां त्वां प्रतियंत्युपासकाः साक्षात्पश्यंति। हि प्रसिद्धिं सूचयति ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

हरिभक्तानां पतनशंकैव नेत्याहुः–त्वदीयाः इति। 'विनायकस्तु हेरंबे तार्क्ष्ये विघ्नेऽजिने गुरौ' इति हरिदीक्षित इति। विघ्नहेतव उपद्रवहेतवस्ते तु विघ्ना एवमेषां स्तोमाः समूहाः 'स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृंदे' इति रुद्रः। इत्यर्थ इत्यस्य कोर्थः। न हि विचरतेर्गत्यर्थोत्र कार्य इति। ननु ज्ञानिन एव केवलं किमित्याक्षिप्यंते भरतेंद्रद्युम्नचित्रकेत्वादिदृष्ट्या भक्ता अप्याक्षिप्यंतामित्यत आहुः–तथेति। यथा विमुक्तमानिनोऽधः पतंति तथा तावका मार्गाद्भक्तियोगान्न भ्रश्यंति किमुत मृग्यात्त्वत्त इत्यर्थः। यदि वा भ्रश्यंति तदपि त्वय्येव बद्धसौहृदा एव भवंति चित्रकेतुभरतेंद्रद्युम्नादीनां भ्रंशे सति वृत्रादित्वे प्रेम्णः शतगुणीभावदर्शनाद्भक्तानां भ्रंशोपि प्रेमाधिक्यहेतुरेव दृष्टः। यद्वा–तथा न भ्रश्यंति यतो भ्रष्टत्वेपि त्वयि बद्धसौहृदाः 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति प्रतिज्ञातवता ममोपकरिष्यते च मत्प्रभुणा। ममायं भ्रंशः कृत इति त्वयि विश्वस्तमतयः ततश्चाभितस्त्वया रक्षिता विनायकानां विघ्नकारिणामनीकानि पांति ये तेषामपि मूर्द्धसु विचरंति तानभिभवंतीति। यद्वा-तच्चरणांस्तेऽपि भक्त्या मूर्द्धसु धारयंतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ तत्सुखावहत्वं केन प्रकारेणेति संबंधः। इत्यन्वय इति योजना वेदशब्देन तदभ्यासः चतुराश्रमधर्मैः क्रमाद्ब्रह्मचारिगृहस्थवनस्थयतिधर्मैर्वेदाभ्यासादिभिरित्यर्थ इत्याह–अर्हणासंभवात्पूजनाभावात् ॥ ३४ ॥ सानुशयान् सहवान् "भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबंधयोः" इति मेदिनी। अनुबंधो हठः। अनुषंगः पुनः सबंधः ननु किमर्थमनुषंगः कार्यः 'ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेणादर्शनायोगात्' इति न्यायमाश्रित्याह–यद्वेति। अचेतनचेतने नात्मज्ञानं स्यादेवेति शंकते—नन्वीति। अनुमानं विशदयति-अत्रेमौ प्रयोगौ बुद्ध्यादयः स्वातिरिक्तभास्याः प्रकाशरूपत्वाभावे सति प्रकाशमानत्वात्। जडत्वाद्वा घटादिवत्। बुद्धिकृतघटादिप्रकाशः तद्गतप्रकाशात्मप्रतिबिंबप्रयुक्तः स्वतोऽप्रकाशस्वच्छद्रव्यहेतुकप्रकाशत्वात्। स्वतोऽप्रकाशजलादिस्वच्छद्रव्यहेतुकमित्यादिप्रकाशस्यादित्यप्रतिबिंबयुक्तवदिति। अनुमीयत इत्यर्थ इत्यस्यायमनुमानोऽर्थ इति। न हि केवलमनुमीयतेऽपि तु प्रत्यक्षीभवतीत्याह—इति भाव इति ॥ ३५ ॥ पूर्वोक्तिरीत्येत्येवं पदार्थः। अभ्युदयः संपत्संतत्यादिरूपः। अपवर्गो मोक्षः। अप्रतर्क्यत्वात्तर्काविषयत्वात्। अगोचरत्वादविषयत्वात्। अनुमेयमनुमातुं योग्यं वर्त्म मार्गो यस्य 'वर्त्म नेत्र च्छदे मार्गे' इति मेदिनी। तत्रापि अनुमेयवर्त्मत्वे। तस्य नामरूपस्य। इत्यर्थ इति भावः। यद्यपि त्वं मनोवचोगोचरोऽथापि तथापि विश्वनाथस्तु—केवलमेतद्रूमेव ते विशुद्धसत्त्वात्मकमपि त्वेतस्य वाचकं नामापि ते च नामरूपे भक्त्यैवानुभवितुं शक्ये नान्यथेत्याहुः—नेति। गुणैः श्यामसुंदरकृपार्द्रलोचनेति। कर्मभिर्गोवर्द्धनोद्धरणत्रिभंगिललितेति। जन्मभिर्नंदनंदनवसुदेवनंदनेति। ये तव नामरूपे ते यद्यपि यथाकथंचिद्वाच्यध्येये भवतस्तदपि साक्षिणो विषयद्रष्टृर्जीवस्य निरूपितव्ये साक्षादनुभवनीयमाधुर्य्ये न भवतः तयोर्माधुर्य्याननुभव एव तदननुभवः यथा पित्तदूषितरसजनेन चर्वितस्यापि मत्सांडिक्यखंडस्य स्वादालाभादननुभव एव। एवं च भक्तिरहितजीवकर्तृकानुभवा शक्तेरेव हेतोर्नामरूपयोर्द्वयोरपि विशुद्धसत्त्वात्मकत्वमेव गतमिति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

त्वद्रूपोपासकास्तु आत्मतत्त्वादिज्ञानाभावेऽपि स्वधर्मपरित्यागेपि कथञ्चित्पातकापातेपि नैव पतन्तीत्याहुः–तथेति। पूर्वार्थविरोधे यथा त्वं मूर्खस्तथाऽहं नेति वत्। यद्वा किञ्चेत्यर्थः। तावकाः कदाचित्त्वच्चरणाश्रिता ये ते तु कदाचित् क्वचिदपि मार्गादपि किम्पुनर्मृग्यात् न पतन्ति, प्रत्युत त्वयि बद्धसौहृदाः प्राप्तनिश्चलप्रेमाणः सन्तः अत एव त्वया अभितो गुप्तास्सन्त इत्यादि माधव! हे लक्ष्मीकान्त! इति तेषां स्वत एव सर्वसम्पत्सिद्धिरप्यभिप्रेता यद्वा मधुकुलावतीर्णेति परमकारुण्यं प्रभो! हे सर्वशक्तियुक्त! इति प्रभुप्रभावात्तेषां तद्युक्तमेवेति भावः। अन्यत्तैः यद्वा तथा तेन प्रकारेणापि प्रथमप्रवृत्तत्वात् कथञ्चिदनादृतयुष्मदङ्घ्रित्वेनापि न भ्रश्यन्ति किन्तु बद्धसौहृदाः सन्त इत्यर्थः। विनायकान कपमूर्द्धसु विशेषेण चरन्ति निर्भयत्वेन तानेव महाविघ्नवर्गेशान् विघ्नकरणार्थमागतान् सोपानानीव कृत्वा श्रीवैकुण्ठपदमारोहन्तीत्यर्थः। तेषां भक्तिविघ्ने ह्यनुतापः स्यात्तेन च श्रीभगवतो महती कृपा स्यादिति अन्यत् समानम् ॥ ३३ ॥ "नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपम्" इति तृतीयोक्तानुसारेण परमकारणत्वद्वपुषः परमतत्त्वैकरूपत्वेऽपि विशुद्धसत्त्वस्य तत्प्रकाशशक्तिरूपत्वेन तदभेदविवक्षया विशुद्धं मायातीतं चिच्छक्तिवृत्तिविशेषसत्त्वमेव वपुरित्युक्तं स्थितौ पालनार्थं तच्छ्रयते नित्यानन्दविधवपुराकारवानेव यत्र पालने यादृशं वपुर्युक्तं तदर्थं तादृशं वपुः प्रवर्तयतीत्यर्थः। यथा नानेन्द्रियवानेव देवदत्तो दर्शनार्थं चक्षुः श्रयते श्रवणार्थं श्रोत्रमित्यादि व्यपदिश्यते तद्वदिति भावः। तदेवं स्वयं प्रकटीभूय पालनेन सुखावहत्वं दर्शितं ध्यानगतत्वेनापि दर्शयन्ति–शरीरिणामित्यादि। शरीरिणामशेषजीवानां श्रेयसः सत्कर्मफलस्य त्वत्प्रेमान्तपुरुषार्थवर्गस्य वा उपायनमुपढौकनमिव करुणया सादरदानं येन। यद्वा श्रेयसस्तस्य उपायनमाधिक्येनाश्रयरूपं परमानन्दफलस्वरूपमित्यर्थः "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुतेः। उभयथाप्युपासकानां तत्तत्फलदातृत्वे पर्यवसानं वेदेति

त्वदर्हणप्रधानैश्चतुराश्रमधर्मैरित्यर्थः। अर्हणस्य विवक्षितत्वात् केवलवेदाद्यर्पणलक्षणार्हणस्य तु वपुर्विनाप्युपदेशेनैव सम्भवाच्च येन वपुषा हेतुना जनश्चतुराश्रमवर्त्ती सर्वोऽपि सम्यगीहते यदनपेक्षितवपुर्वेदाद्यर्पणमात्रमर्हणं तत्तु न सम्यगिति भावः। तत्र चतुराश्रमिणामर्हणसिद्ध्या तत्सम्बन्धेनान्येषामपि तत्सिद्धेर्युक्तमेवोक्तं शरीरिणामिति अन्यत्तैः तत्र न कर्मफलसिद्धिरिति "सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्" इति न्यायेन ॥ ३४ ॥ धातः हे विविधमूर्त्तिधर! इदं सर्वोपकारकं सत्त्वात्मकं गुणस्य बुद्ध्यादेः प्रकाशैर्बहुत्वं बुद्ध्यादेस्तद्वृत्तीनां च बाहुल्यापेक्षया प्रकाशत इत्यत्र प्रयोगश्च अयं बुद्ध्यादिर्गुणः सम्बन्धिविशेषाश्रयः गुणत्वेन प्रकाशात् यो यो गुणत्वेन प्रकाशते स स सम्बन्धिविशेषाश्रयत्वेनैव प्रकाशते यथा गन्धादिः स चास्य सर्वस्य साक्ष्यस्य सम्बन्धिविशेषः परमसाक्षित्वेन भवानेवेति यथा अयं बुद्ध्यादिर्गुणः प्रमात्रधिष्ठितृकः जडत्वेऽपि प्रकाशमानत्वात् यो यो जडत्वेन प्रकाशते स स तदधिष्ठातृकत्वेनैव प्रकाशते यथा घटादिः स चास्य परमप्रमाता भवानेव यच्छक्त्या जीवस्यापि प्रमातृत्वम् इति अन्यत्तैः श्लोकत्रयेणेत्यत्र श्लोकपञ्चकेनेति वाच्यं किम्भक्त्येति गुणापोहद्वारैव ज्ञानसिद्धेरिति भावः। नेति तत्त्वज्ञानं न भवति किन्तु कल्पनामात्रमित्यपेक्षया तथा गुणसाक्षीतिपर्यन्त एकः प्रयोगः एवमित्यादिकोऽन्यः तथा शुद्धसत्त्वेत्यादौ त्वत्प्रसादेनैवेत्येव शब्दो योज्यः किं भक्त्येत्याक्षेपसमाधानार्थं तत्र प्रमाणं च "श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो!" इत्यादि बहुतरमेवास्तीति यद्वा। ननु, "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्" इत्युक्त्या मायिकसत्त्वात्मकतयैव तत्प्रकाशतां किं विशुद्धाख्यसत्त्वान्तराङ्गीकारेण तत्राहुः हे धातः! सर्वशक्तिधारिन्! इदमस्माभिरनुभूयमानं त्वत्प्रकाशशक्तिरूपं सत्त्वं चेत् यदि निजं त्वदीयं विज्ञानं चिच्छक्तिरूपं न भवेत् किन्तु मायिकं भवेत् तदा त्वज्ज्ञानप्रकार एव मार्जनमपि निर्विकल्पतया पर्यवसितवान् यतः गुणस्य प्राकृतसत्त्वस्य प्रकाशैर्भवाननुमीयत एव न तु साक्षात् क्रियत इति यद्वा इदं त्वदीयं चिच्छक्तिरूपं सत्त्वं न भवेन्नाविर्भवेच्चेत्तदा गुणेत्यादि कथम्भूतं सत्त्वं ज्ञानेन ब्रह्मज्ञानेन कृत्वा यद्भिदापमार्जनं तन्न विद्यते यत्र यस्मिन्नुदिते तदप्यपयातीत्यर्थः "आत्मारामाश्च मुनयः" इत्यादेः अनुमानप्रकारमाहुः यस्य सम्बन्धीविश्वैकाधिष्ठितत्वेन नित्याव्यभिचारिगुणः सत्त्वाख्यः प्रकाशते सूर्योदयसान्निध्यस्यैवारुणोदय इति येन च त्वदेकप्रकाश्यः स गुणः प्रकाशते वह्निनेव धूम इति अतस्त्वद्वपुषः परमानन्दरूपत्वेन स्वप्रकाशत्वाद्येन प्रकाशो येन च ब्रह्मज्ञानस्यापि तिरोधानं सा त्वदीयस्वप्रकाशता रूपा शक्तिरेव स्यात् ततो वाह्येन जडेन सत्त्वेन न तत्प्रकाशः किन्तु कथञ्चिदनुमानमेव अरुणोदयादिना सूर्यादेरिवेति यथा "मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्" इत्यादि वक्ष्यते अत एव श्रीविष्णुपुराणादौ —

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥
ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ। ह्लादतापकरीमिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते" ॥

इत्यादिबहुतरमस्ति। यद्वा तत्राप्येतत्त्वदीयावतारप्रकाशहेतुं विशुद्धसत्त्वविशेषं विना त्वन्माहात्म्यादिज्ञानं नैव स्यादित्याहुः, सत्त्वेनेति। निजं स्वयं भगवतस्तव साक्षात् सम्बन्धित्वात् अत एव त्वन्माहात्म्यादिज्ञानलक्षणं विशिष्टं ज्ञानं मार्जनं निवृत्तिं प्राप कीदृशं तदितरज्ञानमेवाज्ञानं तद्भित्। ननु, स्वयं भगवानेवाहमवतीर्ण इति कुतो ज्ञातं तत्राहुः-गुणेति। गुणस्य श्रीदेवक्यादिप्रभादेः प्रकाशैः। ननु, ममांशत एव तस्य तादृशाः प्रकाशा भवन्तु न विलक्षणत्वादित्याहुः प्रकाशत इति श्रीसङ्कर्षणादितस्तादृशत्वाननुभवादिति भावः ॥ ३५ ॥ ननु, नामरूपे खलु मनोमये एव स्यातां कथं मद्रूपस्य तादृशत्वं वर्ण्यते तत्राहुः गुणादिभिर्ये तव नामरूपे ते निरूपणीये ज्ञेये यथार्थ्येनानुभावनीये न भवत इत्यर्थः। तत्र गुणैर्नामभक्तवत्सल इत्यादि रूपं श्यामसुन्दरादि कर्मभिर्नामश्रीगोवर्द्धनोद्धरण इत्यादि रूपं च वेणुनादनत्रिभङ्गललितेत्यादि जन्मभिर्नामश्रीदेवकीनन्दन इत्यादिरूपं च श्रीमत्स्यादि यद्वा गुणाः शास्त्राभ्यासादयः कर्माणि सदाचाराः यमनियमादीनि वा जन्मानि सद्विप्रकुलोत्पन्नत्वादीनि तैरपि न निरूपणीये यतः मनसा तर्केण वचसा आप्तवाक्येन च अनुमेयमस्तीति निश्चियमेव न त्वनुभवितुं शक्यं वर्त्म गुणकर्मादिलक्षणं प्राप्तिसाधनं यस्य तस्य तव तत्र च हेतुः तस्य पूर्वोक्तबुद्ध्यादिगुणस्यापि यः साक्षी साक्षाद्दर्शनशक्तिमान् अत एव तेनादृश्यस्तस्य तदगोचरविलक्षणस्वरूपमाधुर्यमयगुणादेरित्यर्थः। वैपरीत्येन वा तयोर्हेतुहेतुमद्भावः अतो गुणादीनामनिरूपणीयत्वात्ते अपि न निरूपणीये इति तथा साक्षिसंबन्धित्वेन तयोरपि तादृशत्वं यदुक्तं तच्च प्रमितमेव परमानन्दकरूपेणाव्यतिरेकेण च विद्वदनुभावात् "तदश्मसारं हृदयं बतेदम्" इत्यादौ रूपं यदेतदवबोधरसोदयेनेत्यारभ्य नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपमित्यादौ च क्रियायां नामकीर्त्तनरूपध्यानलक्षणायां सत्यामित्यर्थः। प्रतियन्ति ते नामरूपे स्वरूपमाधुर्यादिना यथावदनुभवन्ति तदुक्तं "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्" इति अन्यत्तैः तत्र भजनीयानि स्मरणाभासादिना यथा कथञ्चिदनुवर्त्तनीयानि ज्ञातुम् अनुभवितुम् अतर्क्यस्वरूपादियाथार्थ्यत्वात् तत्त्वशब्देन नामरूपे अप्यन्तर्भाविते तयोस्तत्प्रकारत्वात् उपासनादीति उपासना मानसी आदिग्रहणाद्वाह्या क्रिया च गृहीतेति ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

३३—त्वदीयास्तु आत्मतत्त्वादिज्ञानाभावेऽपि स्वधर्म्मपरित्यागेऽपि कथञ्चित् पातकापातेऽपि नैव पतन्तीत्याहुः—तथेति। त्वर्थे तावकाः कथञ्चित्त्वदाश्रितास्तु ये, ते सर्व एव क्वचित् कदाचिदपि मार्गादपि किं पुनर्मार्ग्यात्? तत्र हेतुमाहुः—त्वयीत्यादिना।

अभितो गुप्ता अत एव विघ्नादेनिर्भयाः सन्तः। माधव ! हे लक्ष्मीकान्तेति तेषां स्वत एव सम्पत्सिद्धिरप्यभिप्रेता; यद्वा, मधुकुलावतीर्णेति परमकारुण्यम्; प्रभो हे सर्वशक्तियुक्तेति प्रभु-प्रभावात्तेषां तद्युक्तमेवेति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तथा तेन प्रकारेणाशुद्धबुद्ध्या कामादिना ये तावकास्तेऽपि न भ्रश्यन्ति, किन्तु त्वयि बद्धसौहृदाः सन्तस्त्वयाभिगुप्ता विनायकानीकपमूर्द्धसु विशेषेण चरन्ति, निर्भयत्वेन तानेव महाविघ्नवर्गेशान् विघ्नकरणार्थमागतान् सोपानानीव कृत्वा श्रीवैकुण्ठपदमारोहन्तीत्यर्थः। यद्वा, वीनां पक्षिणां नायका मुख्यास्तेषामनीकं पक्षिराजत्वात् पातीति विनायकानीकपः श्रीगरुडजातीयगरुडभेदस्तस्य मूर्द्धसु, बहुत्वं गौरवाद्विस्तीर्णत्वाद्वा, विचरन्ति श्रीवैकुण्ठलोकप्रयाणार्थमारोहन्तीत्यर्थः। अन्यत् समानम्॥

३४—स्थितौ पालनार्थम्। तत्प्रकारमेवाहुः—शरीरिणां चराचराशेष-जीवानां श्रेय उपायनमिति वेदादिभिः कृत्वा स्वस्वधर्म्मार्पणेनेत्यर्थः। येन वपुषा हेतुना चतुराश्रमवर्त्ती सर्वोऽपि जनः सम्यगीहते स्वधर्म्मैर्मनःशुद्धेरिति तेषामर्हणसाधनतोक्ता। तत्र चतुराश्रमिणामर्हणसिद्ध्या तत्सम्बन्धिनामन्येषां सर्वेषामेव तत्सिद्धेर्युक्तमेवोक्तं शरीरिणामिति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, श्रेयसां सर्वार्थानामुप समीप एव अयनं प्राप्तिर्यस्मात्तत्, विशेषतश्च त्वद्भक्तिविस्तारकमित्याहुः—वेदेति। अन्यथा चतुराश्रमिणां त्वद्भक्त्यसिद्धेरित्यर्थः। यद्वा, श्रेयः सर्वमेवोपायनमुपढौकनं समर्प्यं यस्मिन् तत्; कुतः? येन वपुषा तच्छ्रीमूर्त्त्यादिना द्वारा वेदादिभिरर्पितैर्जनस्त्वद्भक्तः सन् सर्वोऽप्याश्रमी तवार्हणं समीहते यद्वा, श्रेयः प्रेम वैकुण्ठलोको वा, तस्योपायनं शीघ्रप्रापकम्; कथम्? तदाहुः-वेदेति स्वधर्म्मार्पणेन श्रीमूर्त्ति—द्वारा तदर्हणसम्पत्त्या श्रेयः सिद्धेरित्यर्थः; अथवा, तावकत्वादिकन्तु सर्वं त्वया सत्त्वगुणे प्रकाशिते सत्येव सिध्येदित्याहुः—सत्त्वमिति; सत्त्वगुणं श्रयतेऽधितिष्ठति प्रकाशयतीत्यर्थः, येन सत्त्वेन शरीरिणां देहाभिमानिनामपि किंवा सर्वजीवानां वपुः श्रेय उपायनं सर्वार्थप्रापकं भवति। कथम्? तदाहुः—वेदेति। यद्वा, येन च स्वधर्मकृत् सन् सर्वाश्रमी त्वद्भक्तः स्यादित्याहुः—वेदेति। एवं पक्षद्वयेऽपि येनेत्यस्योभयतोऽप्यन्वयः॥

३५—धातर्हे विविधमूर्त्तिधर ! इदं सर्वोपकारकं सत्त्वात्मकं गुणस्य बुद्ध्यादेः प्रकाशैर्बहुत्वं बुद्ध्यादेस्तद्वृत्तीनां वा बाहुल्यापेक्षया; 'च' काराद्यदाश्रयः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, त्वच्छ्रीमूर्त्तिसेवयैव साक्षात्कारानन्दः सम्पद्यते, नान्यथेत्याहुः—इदं त्वद्वपुर्निजमात्मीयं प्रेम्णा सेव्यम्, न चेद्भवति, तर्हि विज्ञानं साक्षात्कारो मार्ज्जनं प्राप्यैव; अज्ञानभित् सर्वाज्ञानविदारकम्; साक्षात्कारे सति सर्वसंशयनिवृत्तेः; यद्वा, तत्राप्येतत्त्वदीयावतारं विना त्वन्माहात्म्यादि-ज्ञानं नैव स्यादित्याहुः,—सत्त्वं नेति। निजं साक्षाद्भगवत्त्वाद्विशिष्टं ज्ञानं श्रीभगवत्तद्भक्ति[1] 'तद्भक्तमाहात्म्यादि-सम्बन्धि। कथम्भूतम्? तदितरज्ञानमेवाज्ञानम्, तद्भित् मार्जनं निवृत्तिं प्राप। ननु, साक्षादहमवतीर्णोऽस्मीति कुतो ज्ञातम्? तत्राहुः—गुणस्य श्रीदेवक्याः प्रभावादैः[2], किंवा जगतां गुणस्य तत्तत्स्वभावस्य प्रकाशनैः; तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।२।४)—'ततो ग्रहगणः सम्यक् प्रचचार दिवि द्विज। विष्णोरंशे भुवं याते ऋतवश्चाभवन् शुभाः॥' इति। ननु स्वत एव तस्यास्तादृशाः प्रकाशाः सन्तु? नेत्याहुः— प्रकाशत इति, त्वत्सम्बन्धिगुणस्य त्वयैव प्रकाशसिद्धेरित्यर्थः। सत्त्वगुणपक्षे इदं तावकत्वादिसर्व-श्रेयः सात्त्विकं सत्वं सत्त्वगुणः, निजं त्वदीयं त्वदधिष्ठितमित्यर्थः। विज्ञानमार्ज्जनप्राप्तौ सत्यां किं स्यात्? तदाहुः—गुणेति। अनुमीयत एव, न तु दृढं विज्ञायत इत्यर्थः। सममन्यत्, अथवा, स सर्वश्रेयः प्रापकमूर्त्तिस्त्वं यदि न भवसि नावतरसीत्यर्थः। निजमस्मदीयं किंवा कस्यचिदपि निजं स्वाधीनमिदं त्वद्भक्तादिमाहात्म्यविषयकं विज्ञानं भवेत् किम्?—काका, अपि तु न भवेदेवेत्यर्थः। कथम्भूतम्? न ज्ञानेन भिदा तत्त्वज्ञानेन यो भेदाभाव इत्यर्थः, तस्य मार्ज्जनम्। अन्यत् समानम्॥

३६—गुणादिभिर्ये नामरूपे, तत्र गुणैर्नाम–भक्तवत्सल इत्यादि, रूपञ्च श्यामसुन्दरादि; कर्म्मभिर्नाम श्रीगोवर्द्धनोद्धरण इत्यादि, रूपं च वेणुवदन–त्रिभंग[3] ललितेत्यादि; जन्मभिर्नाम श्रीदेवकीनन्दन इत्यादि; रूपं श्रीमत्स्यादि। यद्वा, गुणाः शास्त्राभ्यासादयः, कर्म्माणि सदाचारा यमनियमादीनि वा, जन्मानि सद्विप्रकुलोत्पन्नत्वादीनि, तैरपि निरूपयितव्ये न स्याताम्; तयोरुपासनायां सत्यां प्रतियन्ति तयोर्माहात्म्यमनुभवन्ति तत्र विश्वसन्तीति वा, प्रतियन्ति त्वां नामरूपे वा। मनोवचोभ्यामनुमेयमेव, न तु प्राप्यं वर्त्म मार्गोऽपि यस्य, यतस्तस्य मनसो वचसश्च साक्षिणः। एवं नामरूपयोरपि तादृशत्वमभिप्रेतम्; नाम-नामिनो रूप-रूपवतोरभेदात् क्रियायामुपासनकर्म्मणि वर्त्तमानाः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, निरूपयितुं शक्ये न भवतस्तस्य कृपया साक्षात् स्वयमवतीर्णस्यापि तव। अन्यत् समानम्। अथवा, एवं रूपमाहात्म्यमुक्त्वा प्रसंगान्नाम्नोऽपि तादृशत्वमभिप्रेत्य पूर्वोक्त-रूपतत्त्वमभि[4]-व्यञ्जयन्तो द्वयोरपि माहात्म्यमेकत्राहुः—नेति, निरूपयितव्ये न स्याताम्, प्रत्येकं निर्गुणत्वात् सगुणत्वाच्च। नन्वेकस्यैव निर्गुणत्वं सगुणत्वं च दुर्घटम्? सत्यम्, उपासका एव तद्बोद्धुं शक्नुवन्ति नान्य इत्याहुः—देवेति, अन्यत्तथैव॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

विनायकानीकपमूर्द्धसु विघ्नसेनापतिशिरस्सु विचरन्ति॥ ३३॥ विशुद्धं रजस्तमोभ्यामननुविद्धं श्रेय उपायनं श्रेयसामाश्रयं येन शुद्धसत्त्वमयं वपुः संश्रयणेन दिव्यविग्रहस्य दुरवबोधत्वमाहुः॥ ३४॥ सत्त्वं न चेदिति विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं

१. श्रीभगवद्भक्ति-(ग, घ, ङ); २. प्रभादेः-(ग, घ)। ३. त्रिभंगि-(ग, घ); ४. तत्त्वमपि (ख.)।

प्रकाशकमित्यर्थः। अनेन स्वरूपतिरोधायकत्रैगुण्यव्यावृत्तिः ध्यातॄणामज्ञानकृतदेवादिभेदाभिमानापमार्जनं शुद्धसत्त्वमयं धाम तेजोरूपं ते वपुः जन्तवः एवंभूतं न वदन्ति किन्तु इतरसजातीयमेव मन्वते गुणप्रकाशैः गुणोन्मेषैः गुणकार्यैरनुमीयते कार्यस्य कारणभूत इति ज्ञायते यस्य गुणः गुणप्रपञ्चः प्रकाशते सर्वज्ञोऽसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ न नामरूप इति मनोवचोभ्यां वेदवाक्येन तदनुसारिमनसा अनुमेयस्वभावस्य सर्वसाक्षिणस्तव गुणजन्मकर्मभिः सह नामरूपे न निरूपितव्ये गुणजन्मकर्मसहितेतरसजातीयतया न निरूपणीयानि "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इति वचनात् अथापि वेदक्रियायां प्रतियन्ति अग्नीन्द्रादिनामरूपाणि त्वदीयानीति बुद्ध्या वेदक्रियायां प्रवदन्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

आदृतयुष्मदङ्घ्रीणां तु न कर्हिचिदधःपतनमस्तीति वदन्तः सन्तः स्तुवन्ति—तथा न ते माधव तावक इत्यादिना। हे माधव! ते तावकास्त्वद्भक्तास्तु तथा त्वद्भक्तिरहितवत् क्वचित् कदाचिदपि मार्गादुत्तमजन्मनः न भ्रश्यन्ति नाधःपतन्ति तत्र हेतुं वदन्तस्तान् विशिंषन्ति त्वय्येव बद्धं सौहृदं भक्त्यात्मकं येषां ते न भ्रश्यन्ति किन्तु त्वयाऽभिगुप्ता अभितो रक्षिताः "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" इति तदुक्तेरिति भावः। हे प्रभो! विनायकानीकपमूर्द्धसु विघ्नसेनापतिशिरस्सु भयरहिता विचरन्ति जीवद्दशायां विघ्नानुपहतत्वद्भक्तियोगास्ततस्त्वां प्राप्नुवन्तीति भावः॥ ३३ ॥ यद्यपि सङ्कल्पमात्रपरिकल्पितनिखिलप्रपञ्चस्त्वं संकल्पमात्रेणैव जगत्त्रातुं प्रभुर्नावतारमपेक्षसे तथाप्युपासकानाम् उपासनालम्बनार्थमवतरसीति स्तुवन्ति—सत्त्वमिति। स्थितौ स्थितिः पालनं तस्यां निमित्तभूतायां स्थित्यर्थं भवान् विशुद्धं रजस्तमोभ्यामननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयं वपुः शरीरं श्रयते बिभर्ति संश्रयणे मुख्यं प्रयोजनं दर्शयंतो वपुर्विशिषन्ति शरीरिणां श्रेय उपायनं श्रेयसे उपेयते "इण् गतौ" गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः उपास्यत् इत्युपायनं येन वपुषा आलम्बनभूतेनोपलक्षितस्य तव जना वेदक्रियादिभिरर्हणमाराधनं समीहते कुरुते वेदक्रिया वेदपूर्वभागचोदिता क्रिया यज्ञादि क्रिया योगः उत्तरभागचोदितमुपासनं तपस्तदनुग्राहकमनशनादिरूपं समाधिर्वेदक्रियातपोभ्यासानुगृहीतेन योगेन निर्वृर्त्यं चित्तैकाग्र्यं यदि भवान् वपुर्न संश्रयते तर्ह्याराध्यरूपापरिज्ञानादाराधकास्त्वामाराधितुमप्रभवः स्युः अतो भवानाराधकानुग्रहार्थं वपुः संश्रयत इति भावः॥ ३४ ॥ तदेव स्पष्टीकुर्वन्तः स्तुवन्ति—सत्त्वं न चेदिति। हे धातः विश्वकारणभूत! इदं विज्ञानं प्रकाशकमज्ञानभिदापमार्जनं ध्यातॄणामज्ञानकृतदेवादिभेदाभिमानापमार्जनं शुद्धसत्त्वमयं धाम तेजोरूपं निजमसाधारणं वपुर्न चेत् न भवानाश्रयते चेत्तर्हि यस्य पुंसः येन कारणेन कालकर्मादिरूपेण यो गुणः सत्वाद्यन्यतमः प्रकाशते उन्मिषति तस्य तैर्गुणप्रकाशैर्गुणोन्मेषैर्भवाननुमीयते कार्यस्य कारणभूतः देवमनुष्यादिविलक्षणः न ज्ञायते किन्तु इतरसजातीयतयाऽनुमीयते यदि भवान् वपुराश्रयते तर्हि तद्वपुरसाधारणानि देवमनुष्यादिष्वसंभावितानि गुणचेष्टितानि दृष्ट्वा तैर्देवादिभिर्विजातीयं मन्यमानो ध्यातृवर्गो ध्यायतीति भावः ॥ ३५ ॥ नन्वहमपि देवादिसजातीयवपुष्मानेवेत्यत्राह—न नामरूप इति। मनोवचोभ्यां वचसा वेदवाक्येन तदनुसारेण मनसा चानुमेयस्वभावस्य सर्वसाक्षिणः तव गुणकर्मजन्मभिः सह नामरूपे न निरूपितव्ये गुणकर्मजन्मनामरूपाणि इतरसजातीयतया न निरूपणीयानि "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमस्थूलमनण्वह्रस्वमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं, निष्क्रियं निष्कलम् अजायमानः" इत्यादिभिरितरसजातीयानि गुणादीनि प्रतिषिध्य "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च "यस्य चेतत्कर्म स वै वेदितव्यः' बहुधा विजायते" इत्यादिभिर्विलक्षणानामेव गुणादीनां श्रवणात् "जन्म कर्म च मे दिव्यमिति यो वेत्ति तत्त्वतः" इति त्वदुक्तेश्चेति भावः। यद्यपि देवादिविलक्षणगुणकर्मादियुक्तस्तथापि त्वां वेदक्रियायां प्रतियन्ति अग्नीन्द्रादिनामरूपाणि तदन्तरात्मभूतस्य तवैवेति बुद्ध्या त्वद्विशिष्टमपि त्वां वेदावगतयज्ञादिक्रियायां प्रतियन्ति आराध्यं मन्यन्ते ॥ ३६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

समः समाधिः प्रकृत इति नेत्याह–तथा नेति। करावलम्बबाहुल्यात् उत्तमाश्रमान्न भ्रश्यन्तीत्यर्थः। विनायकाः विघ्नाः श्रेयः-प्रतिबन्धिनः तेषामनीकं सेना तत्पतयः विनायकानीकपाः तेषां मूर्द्धसु उपरितनानतिक्रम्य श्रेयस एव यतन्त इत्यर्थः॥ ३३ ॥ अधुना कस्मिन्नधिष्ठाने स्थितो हरिः पूज्यः कैः साधनैरिति तत्स्पष्टयति-सत्त्वमिति। स्थिताविति सप्तमी चतुर्थ्यर्थे स्थितौ ज्ञानस्थिरीकरणाय भवान् विशुद्धसत्त्वं वपुः रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं ब्रह्मादिशरीरं श्रयते विशिनष्टि–शरीरिणामिति। ज्ञानार्थिनां जीवानां श्रेय उपायनं श्रेयस्साधनं जनो येन ब्रह्मादिशरीरे स्थितेन हरिणोपदिष्टमार्गेण वेदादिभिस्त्वदर्हणं पूजां समीहिते करोति अतस्त्वत्प्रसादादवाप्तं ज्ञानमेव स्थितं भवतीत्यर्थः। "विशुद्धसत्त्वं ब्रह्मादेरिति वचनादुक्त एवार्थः॥ ३४ ॥

ब्रह्मादि देहसन्निहितहरिप्रसादोत्पन्नज्ञानं पुरुषार्थसाधनमित्युक्तं तदनङ्गीकारे बाधकमाह—सत्त्वमिति। भो धातरिदं निजमात्मीयं विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं यस्मात्तत्तथा स्वयं च ज्ञानरूपं सत्त्वं ब्रह्मादिदेहाख्यम् अज्ञानभिदापमार्जनं अज्ञानान्यथाज्ञाननिवर्तकं न भवेच्चेद्यदि तर्हि विमतं ज्ञानं केनचिज्जनितं कार्यत्वात् वटवदिति सत्त्वगुणोत्पन्नज्ञानैर्भवाननुमीयते तदनुमितो न स्यात् यदि न स्यात्तर्हि अगुणो भवान् यस्य कस्य येन केन वा साधनेन प्रकाशते ज्ञायते एतदुक्तं भवति यदि ब्रह्मादिदेह-

सन्निहितश्रीनारायणप्रसादात् यज्ज्ञानमज्ञाननिवर्त्तकत्वेन श्रेयःसाधनं न स्यात्तर्हि तज्ज्ञानाभावेन तद्विषये लिङ्गस्थानं न स्यात् यद्यदि न स्यात्तर्हि त्वज्ज्ञानाभावेन त्वत्पूजाविधानं न स्यात् तन्न स्याद्यदि जगदान्ध्यं स्यात् न चेदनुपपन्नं "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्" इत्यादि वाक्यप्रामाण्यान्यथानुपपत्या त्वज्ज्ञानमज्ञाननिवर्त्तकत्वेन पुरुषार्थसाधनं भवतीति सिद्धं, तदुक्तं "सत्त्वं ब्रह्मादिदेहाख्यम्" इत्यादिकमस्मिन्नर्थे मानं यद्वा धातृदेहसन्निहितत्वाद्धातरिति सम्बुद्धिः हरे ! यो भवान् गुणप्रकाशैरनुमीयते अत्र सन्निहितहरिप्रसादादिदं ज्ञानमभूत्तस्मादत्र हरिः सन्निहित इति तस्य तवेदं सत्त्वं निजं नित्यसन्निधानयोग्यं न भवेच्चेत्तर्हि तत उत्पन्नमज्ञानभिद्विज्ञानं मार्जनं स्वरूपतो नाशमाप यद्येवं तर्हि गुणो ज्ञानानन्दादिगुणपूर्णो भवान् यस्य येन वा प्रकाशते न कस्याप्याविर्भूतो न भवति। साधनसामग्र्यभावात् यद्वा, यस्य तव गुणोऽनुग्रहलक्षणः प्रकाशते येन त्वया गुणो वा प्रकाश्यते यश्च भवान् गुणप्रकाशैरनुमीयते तस्य तवेदं सत्त्वं ब्रह्माद्यन्यतमाप्रधृष्यम्वलं निजं न भवेच्चेत्तह्यज्ञानभिदामापयतीत्यज्ञानभिदापम्विज्ञानमार्जनम्वरादिनाऽऽपादितम्भवति न तत्वौत्पत्तिकमतोऽप्रतिमन्तव सत्त्वमित्यर्थः। इति गुणप्रकाशैरिन्द्रियज्ञानैः एतदर्थद्वयं सिद्धान्ताविरुद्धत्वादाचार्यचित्ताव्याकृताकाशान्तर्गतमिति ज्ञातव्यं श्रोतुर्मतिमवेक्ष्य नोद्गलितमिदमिति ॥ ३५ ॥ गुणप्रकाशैः तव सद्भावानुमानं यथा तथा तव नामरूपानुमानेनापि त्वत्सद्भावज्ञानं किं न स्यादत्राह— न नामेति। त्वन्नामरूपाभ्यां त्वत्सद्भावज्ञानसम्भवात् किमायाससाध्येन परिशेषप्रमाणेनेत्यतो वात्राह, न नामेति। "शुक्लभास्वरं तेजः" इति गुणेन कृपीटयोनिरग्निरिति जन्मना दहनोऽग्निरिति कर्मणा यथाग्निर्निरूप्यते तथा तव नामरूपे न निरूपितव्ये निरूपयितुमशक्ये लोकप्रसिद्ध्यभावात् अप्राकृतत्वात्सत्त्वाद्यभावात् अक्लिष्टकारित्वान्नित्यत्वात् न च नामादिकं मिथ्येत्याह, तस्येति। तस्य नामादेः साक्षिणः साक्षाद्द्रष्टुर्न हीश्वरज्ञानगोचरस्य मिथ्यात्वं वक्तुं युक्तं तथा सति सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः स्यात्तस्मात् "वाचारम्भणं विकारः" इति श्रुत्यवष्टम्भेन नामरूपयोर्मिथ्यात्वेन हरेस्ते नस्त इति न वक्तव्यं किन्त्वलौकिकार्थसन्नाम्नां तद्वाच्यरूपाणां वाऽनन्तत्वादनामादिवचनमिति ज्ञानिमनसा चानुमेयानि नामरूपाणि सन्ति "सर्वनामा सर्वकर्मा रुक्मवर्णं कर्तारमीशम्" इत्यादि श्रुतेरित्याशयेनाह, मनोवचोभ्यामिति। यद्ययमनामा स्यात्तर्हि शब्दावाच्यः स्यात् न च तथा अहमेवेत्यादिश्रुतेरित्यादि ननु, ज्ञानाभावान्नास्त्येव नामादिकमिति तत्राह, प्रतियन्तीति अथापि यद्यप्यनन्तत्वाज्ज्ञातुमशक्यानि तथापि प्रतियन्ति जानन्ति ज्ञानिन इति शेषः। तज्ज्ञानं च न स्वनियतमित्याह, देवेति। देवस्य सर्वत्र द्योतमानस्य हरेः क्रियायाः प्रेरणालक्षणायाः श्रीनारायणप्रसादादित्यर्थः। लोकसिद्धार्थनाम्नः स इत्यारभ्य जानन्ति परमर्षय इत्यन्तमाचार्योक्तेरुक्तार्थसिद्धिरिति अस्तु नामरूपप्रसिद्धिः ततः किं तत्राह हीति हिशब्दो हेतौ ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तथा ॥ ३३ ॥ तस्मै इत्यादि व्याख्यायां सत्त्वमिति द्वयम् ॥ ३४ ॥ अत्र सत्त्वशब्दस्य साक्षात्तदाविर्भावे श्रीवसुदेवदेवक्यावेव तात्पर्यतोऽवगते श्रीवसुदेवाद्याख्यं सत्त्वं वपुरित्यादि योज्यं तदेव रूपप्रसङ्गे न नाम्नोऽपि स्वप्रकाशत्वमाहुः ॥ ३५ ॥ न नामेति पूर्वोक्तगुणस्य साक्षिणः तथापि क्रियायां श्रवणकीर्त्तनादिलक्षणायां भक्तौ प्रतिपत्तिभक्तौ जातायां स्वशक्त्यैव ते प्रकाशते इत्यर्थः "तदश्मसारं हृदयं बतेदम्" इत्यादेः "नाहं प्रकाशः सर्वस्य" इत्यादेश्च तस्मात्तत्तदुपासक एव तत्र तत्राविष्टचित्तो भवति भवाय च न कल्पते नान्य इत्याहुः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

स त्वं न तदित्यादि। हे धातः ! इदं तव वपुः स त्वं स भवान् इदं वपुः। कीदृशम् ? चेत् चेतयतीति तथा चैतन्यमित्यर्थः। निजं स्वाभाविकं न ? अपि तु भवत्येव। कीदृशम् ? विज्ञानं तत्स्वरूपम्, अज्ञानभिदयोरपमार्जनम्। यद्वा, अज्ञानभित् मार्जनं शोभाया अर्जनमाप ॥ ३६–३७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, ज्ञानिन एव केवलं किमीत्याक्षिप्यन्ते भरतेन्द्रद्युम्नचित्रकेत्वादिदृष्टया भक्ता अप्याक्षिप्यन्तामित्यत आहुः— तथेति। यथा विमुक्तमानिनोऽधःपतन्ति तथा तावका मार्गात् भक्तियोगान्न भ्रश्यन्ति किमुत मृग्यास्त्वत्त इत्यर्थः। यदि वा भ्रश्यन्ति तदापि त्वयि बद्धसौहृदा एव भवन्ति चित्रकेतुभरतेन्द्रद्युम्नादीनां भ्रंशे सति वृत्रादित्वे प्रेम्णः शतगुणीभावदर्शनात् भक्तानां भ्रंशोऽपि प्रेमाधिक्यहेतुरेव दृष्टः। यद्वा तथा न भ्रंश्यन्ति यतो भ्रष्टत्वेपि त्वयि बद्धसौहृदाः "न मे भक्तः प्रणश्यति" इति प्रतिज्ञातवता ममोपकरिष्यतैव मत्प्रभुणा ममाऽयं भ्रंशः कृत इति त्वयि दृढविश्वस्तमतयः ततश्चाभितस्त्वया रक्षिता विनायकानां विघ्नकारिणाम् अनीकानि स्तोमाः तानि पान्ति ये तेषामपि मूर्द्धसु विचरन्ति तानभिभवन्तीत्यर्थः। यद्वा तच्चरणांस्तेपि भक्त्या स्वमूर्द्धसु धारयन्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ तदेवं बिभर्षि रूपाणीत्यनेन शुद्धसत्त्वात्मकशरीराणां चराचरलोके प्राकट्यमुक्तं क्षेमायेति तत् प्रयोजनं क्षेमं च भक्तेः कैवल्यं त्वय्यंबुजाक्षेति चतुर्भिर्विवृतं तन्मध्य एव येन्येरविन्दाक्षेत्यनेन भक्तेर्गुणभावश्च मोक्षफलको

भगवच्चरणादरे सति ध्वनितः इदानीं भक्तेः प्राधान्यमपि प्रयोजनं शुद्धसत्त्वात्मकवपुः प्राकट्यस्येत्याहुः सत्त्वमिति विशुद्धं मायातीतं सत्वं चिन्मयं वपुर्भवान् श्रयते कीदृशं स्थितौ पालनसमये श्रेयसाम् उप आधिक्येन अयनं प्राप्तिर्यतस्तत् श्रेय एवाहुः वेदादिभिश्चतुभिश्चतुराश्रमधर्मैः सह अर्हणम् ईहते येन वपुषेति वपुषोऽनाश्रयणेऽर्हणासिद्धेः ॥ ३४ ॥ ननु, केचिद्दार्शनिका मद्वपुः प्राकृतसत्त्वमयमेव मन्यन्ते तत्राहुः—सत्त्वमिति। हे धातः! इदमिति तर्ज्जन्या गर्भं लक्षीकुर्वन्ति तव वपुरिदं निजं सत्त्वं शुद्धं सत्त्वं न भवेच्चेत् किन्तु प्राकृतमेव सत्त्वं भवेत् तदा विज्ञानं तथाभूतत्वेन सतामनुभवः मार्ज्जनं लोपम् आप प्राप्तं महदनुभव एवात्र प्रमाणमित्यर्थः। विज्ञानं कीदृशम् अज्ञानभित् अज्ञाननिवर्तकमिति त्वद्वपुषो विशुद्धसत्त्वत्वेन विज्ञानमात्रादेव संसारो निवर्तत इति तादृशविज्ञानस्याप्रामाण्यं नाशङ्क्यमिति भावः। न तस्य कल्पिततत्त्वमाशङ्कनीयमिति भावः। किञ्चात्र प्रमाणान्तर-मप्यस्तीत्याहुः गुणप्रकाशैर्गुणस्य अतितेजस्वित्वादस्मदादिसर्वमनःप्रसादकत्वप्रेमप्रदत्वादेः प्रकाशैरेव इदं वपुर्भवानेव न मायेत्यनु-मीयते सम्प्रत्यस्माभिरपीत्यर्थः। तथाहि यस्य च यस्यैव गुणः प्रकाशते चिन्मयत्वात् न प्रकृतेर्जाड्यात् प्रकाशोऽपि प्रयोजक-सापेक्षत्वाच्च येन वा शुद्धसत्त्वत्वेनैव हेतुना प्रकाशते न तु प्राकृतत्वेन अत एव वक्ष्यते "यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः। तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः" इति यद्वा इदं निजं सत्त्वं शुद्धसत्वात्मकं तव वपुः न भवेत् नाविर्भवेच्चेत् तदा अज्ञानभित् विज्ञानमपरोक्षानुभवो मार्जनम् आप नाशमेव प्राप्नुयादित्यर्थः। किन्तु तदा गुणानां बुद्ध्यादीनां प्रकाशैर्भवान् अनुमीयते केवलमनुमीयत एव अनुमानप्रकारमाहुः यस्य गुणः प्रकाशते येन वा बुद्ध्यधिष्ठात्रा हेतुना बाह्यो गुणः प्रकाशते स ईश्वर इति ॥ ३५ ॥ न केवलमेतद्रूपमेव ते विशुद्धसत्त्वात्मकमपि तु एतस्य वाचकं नामापि ते च नामरूपे भक्त्यैवानुभवितुं शक्ये नान्यथेत्याहुः—नेति। गुणैः श्यामसुन्दरकृपार्द्रलोचनेति कर्मभिः गोवर्द्धनोद्धरणत्रिभङ्गललितेति जन्मभिर्नन्दनन्दनवसुदेवनन्दनेति ये तव नामरूपे ते यद्यपि यथा कथञ्चिद्वाच्यध्येये भवतस्तदपि साक्षिणो विषयद्रष्टुर्जीवस्य निरूपितव्ये साक्षादनुभवनीयमाधुर्ये न भवतः तयोर्माधुर्योऽननुभव एव तदननुभवः यथा पित्तदूषितरसनजनेन चर्वितस्यापि मत्स्यण्डिकाखण्डस्य स्वादालाभादननुभव एव एवं च भक्तिरहितजीवकर्तृकानुभवाशक्तेरेव हेतोर्नामरूपयोर्द्वयोरपि विशुद्धसत्त्वात्मकमवगतमिति भावः। यद्वा साक्षिण इति तवेत्यस्य विशेषणनामरूपयोः स्वरूपभूतत्वात् न हि साक्षिणः स्वरूपं साक्षात् ज्ञातुं शक्नुवन्तीति भावः। हे देव! अथापि क्रियायां त्वदीयश्रवणकीर्तनादिभक्तौ सत्यां प्रतियन्ति नामरूपे साक्षादनुभवन्ति च तेषामनुभवस्त्वन्यैरनुमानज्ञेय इत्याहुः मनसा क्षान्तिमानशून्यत्वादिलिङ्गेन वचसा "मनोऽरविन्दाक्ष! दिदृक्षते त्वाम्" इत्याद्यनुरागव्यञ्जकवाक्येन अनुमेयं वर्त्म प्रेमभक्तियोगो यस्य तस्य ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ये तथा न पूर्ववदन्ये न स्युः हे माधव! ते तावकाः सर्वस्य भवदात्मकत्वमवगम्य त्वदात्मकभावयुक्ताः अत एव त्वयि बद्धसौहृदाः अतः क्वचित्कदाचिदपि मार्गात् श्रेयःसाधनात् भ्रश्यन्ति किम्? न कदाचिदपि भ्रश्यन्तीत्यर्थः। अधःपतनस्य तु का शङ्का मार्गव्यतिचारमपि न कुर्वन्तीत्यर्थः। किञ्च अन्येषां ये विनायकाः विघ्नहेतवस्तेषामनीकानि पान्ति ये तन्मूर्द्धसु निर्भया विचरन्ति ॥ ३३ ॥ अखिलसत्त्वधाम्नीति बहुव्रीहिना अन्यत्वोक्तेः स्वरूपविलक्षणं स्वस्वरूपवन्नित्यं पूर्णञ्च आनन्दरूपममृतं यद्विभाति "आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्धिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रु आप्रणखात्सुवर्णः" यादात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः "तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इत्यादिश्रुतिगणगीतं भगवतो वपुर्दर्शितं तदेव सर्वधर्मफलदत्वेन सर्वाश्रमपूज्यत्वेन च प्रतिपादयन्ति—सत्त्वमिति। प्रकृतिगुणेऽतिव्याप्तिवारणायाहुः—विशुद्धं कार्यकारणरूप-प्रकृतिविलक्षणं वपुः भवान् श्रयते कथम्भूतं? श्रेय उपायनं सर्वपुरुषार्थदातृ येन वपुषा जनः तत्तत्पुरुषार्थकामः तव परममङ्गल-मूर्तेरर्हणमाराधनं सम्यगीहते करोति कैः वेदे ये क्रियायोगतपःशमादयः वेदप्रमाणकचतुराश्रमधर्मास्तैः तत्र क्रियोपनयनपूर्वक-वेदवेदार्थधारणानुरूपो ब्रह्मचारिधर्मः योगः कर्मयोगो गृहीधर्मः तपोऽत्र वनिधर्मः समाधिः नैष्ठिकयतिसाधारणः आश्रमधर्मः वर्णधर्मोपलक्षकः ॥ ३४ ॥ येऽन्ये इति द्वाभ्याम्। ब्रह्मात्मकत्वाभिमानोऽभयत्वहेतुरित्युक्तं तत्र यदुपेक्षयाऽधः पातो यदाश्रयणेना-भयत्वं वा स्यात्स सर्वात्मा नास्तीति शङ्कां यच्चोक्तं वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिरित्यत्र यदाराधनार्थानां क्रियादीनां वेदप्रमाणकत्वं स किमनुमानादिप्रमाणगम्य इति शङ्कां च निराकुर्वन्ति—सत्त्वमिति। सः उक्तप्रकारस्त्वं न भवेच्चेत्तदा इदं प्रत्यक्षप्रमाणगम्यं विचित्रं जगदपि न भवेत् कारणाभावे कार्याभावात् किञ्च विज्ञायते सर्वं सर्वैः स्वपक्षपरपक्षगैर्येन तद्विज्ञानम् अज्ञानेन भिदा नानाप्रकारो यो भेदः स्वस्य परमेश्वरात्स्वात्स्वातंत्र्येण पृथगवस्थानरूपः परमेश्वरात्पृथक्प्रधानकालकर्मादीनां जगत्कारणभेदः परमेश्वरस्य तव समत्वेन देवतान्तरभेदः इत्येवं नानाप्रकारस्तस्यापमार्जनं निवर्तकं वेद लक्षणं शास्त्रं च न स्यात् प्रवर्तकाभावे प्रवर्त्याभावात् येन शास्त्रेणैव बोधकेन गुणप्रकाशैः सर्वात्मत्वसर्वशक्तित्वसर्वकारणत्वसत्यत्वानन्दत्वसौन्दर्यमाधुर्यत्वादिभवद्गुणवर्णनैः भवान् प्रकाशते अधिकारिहृदीति शेषः "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां भगवतोऽन्य-प्रमाणागोचरत्वं कैमुत्तिकन्यायेन दर्शयन्ति यस्य भवत एकोपि गुणः नानुमीयते इत्यनुषङ्गः स भवान्नानुमीयते इति किं वक्तव्यम् "नेन्द्रियाणि नानुमानम्" इति श्रुतेः चकारात् यत्कृतः अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकः संसारो नानुमीयते तत्कर्त्ता मानुमीयते इति

किं वक्तव्यं विस्तरस्तु वेदान्तकौस्तुभादिपु पूर्वैः कृतः ।। ३५ ।। एवं सङ्क्षेपतः स्तुत्वा साकल्येन तव नामरूपवर्णनं तु न कर्तुं शक्यमित्याहुः– नेति । श्रुतिनिर्णीतस्वरूपगुणादिविशेषशुश्रूषुणा मुमुक्षुणा "योऽयं जिघ्राणीति स आत्मा कतमः" इत्येवं गन्धग्राहकतया सामान्यतोऽनुमेयं वर्त्म यस्य जीवात्मनः स्वद्रष्टुस्तस्य साक्षिणः साक्षाद्द्रष्टुस्तव नामरूपे गुणादिभिर्न निरूपितव्ये न निरूपणार्हे भगवद्दृश्यभूतो जीवः स्वगुणादिभिः स्वद्रष्टुर्नामरूपयोर्निरूपणं नैव कुर्यादित्यर्थः । अथापि देवस्य तव क्रियायामाराधने प्रतियन्ति हि हेतौ तव कृपातः साक्षात् पश्यन्ति ।। ३६ ।।

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

हे धातर्जगद्धारक विष्णो । इदं निजं स्वकीयं सत्त्वं ब्रह्मादि देहाख्यः सत्त्वगुणः । सात्त्विकब्रह्मादि शरीरमिति यावत् । यस्य चेति च शब्दो येन वेति वा शब्द इत्येतौ परस्परसमुच्चयौ । अज्ञानभिदापमार्जनमज्ञानमिथ्याज्ञाननिवर्तकं च विज्ञानं विशिष्टः सर्वोत्तम इति ज्ञानकारणं च यदि । न स्यादिति यावत् । तर्हि येन केनाधिकारिणा यस्य कस्य सधनस्य सकाशाद्भवान्सर्वोत्तम इति । प्रकाशते प्रकाशेत ज्ञायेत न केनापि न कस्य साधनस्य सकाशात्ज्ञायेत । मत्सर्वोत्तमत्वज्ञानमनुमानेन भवतीत्याशंकापरिहारायोक्तम् ।। गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानिति । गुणप्रकाशैः पूर्णज्ञानानंदादि गुणानां ज्ञानैर्ज्ञातैः । पूर्णज्ञानानंदादि गुणैरिति यावत् । भवान्सर्वोत्तम इत्यनुमीयते । अनेन विष्णुः पूर्णज्ञानानंदादिमानिति ज्ञानं विष्णुसर्वोत्तमत्वानुमितेरयोगात्पूर्णज्ञानानंदादि ज्ञानार्थं विष्णुरपेक्षित एवेति विष्णुरेव विष्णुसर्वोत्तमत्वज्ञानकारणत्वमित्युक्तं भवति । अन्यत्राविद्यमानं सर्वोत्तमत्वं मम कुत इत्यत उक्तम् ।। अगुण इति । यतो भगवान्नगुणः सत्त्वादिगुणरहितोऽतः सर्वोत्तम इति ।। ता० अर्थः ।। ब्रह्मादिदेहाख्यं सत्त्वं सत्त्वगुणः सात्विको ब्रह्मादि स्थितो विष्णुरिति यावत् । तमोनुदमज्ञानमिथ्याज्ञाननिवृत्तिकारणं ज्ञानरूपं ज्ञानं विष्णुसर्वोत्तमत्वज्ञानं रूपयति निरूपयतीति ज्ञानरूपं विष्णुसर्वोत्तमत्वज्ञानकारणं यदि न स्यात् । तदा तर्हि विभुर्विष्णुः परः सर्वोत्तम इति तस्य जिज्ञासुभिः कथं ज्ञायेत न कथमपि । विष्णुसर्वोत्तमत्वज्ञानमनुमानेन भविष्यतीत्यत आह ।। सत्त्वप्रकाशानुमित इति । अधोक्षजो विष्णुः सत्त्वप्रकाशानुमितः सत्त्वस्य साधुत्वस्य । गुणपूर्णत्वस्येति यावत् । प्रकाशेन ज्ञानेनानुमितः सर्वोत्तम इत्यनुमितो भवति । अतो गुणपूर्णत्वज्ञानार्थं विष्णुरपेक्षितः । गुणपूर्णत्वज्ञानार्थं विष्णुरपेक्षित इत्यनंगीकारे बाधकमाह ।। यदीति । विष्णुः स्वगुणपूर्णत्वज्ञानकारणं यदि न स्यात्तर्हि गुणपूर्णत्वज्ञानं कस्य साधनस्य सकाशात्स्यात् । न कस्यापि साधनस्य सकाशात्स्यात् । विष्णुसर्वोत्तमत्वज्ञानाभावे बाधकमाह ।। कथमिति । यदि विष्णुः सर्वोत्तम इति ज्ञातो न स्यात्तर्हि विद्वज्जना अमुं विष्णुं कथमर्चयंत्यर्चयेयुः । विष्णुसर्वोत्तमत्वसंभावकमाह ।। निर्गुणत्वादिति । विभुर्विष्णुर्निर्गुणत्वात्सत्त्वादिगुणरहितत्वात्परः सर्वोत्तम इति ।। ३६ ।।

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

सत्त्वं विशुद्धमिति श्लोके भगवान् स्थितौ जगत्पालनाय विशुद्धं सत्त्वं केवलप्राकृतसत्त्वगुणात्मकं वपुः शरीरं श्रयते प्राप्नोति । येन केवलसत्त्वशरीरेण युक्तस्य तवार्हणं जनो वेदक्रियादिभिः समीहते करोतीति जगत्पालकविष्णुशरीरस्य प्रकृतिजसत्त्वगुणविकारात्मकत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह ।। विशुद्धसत्त्वमिति । सप्तसु प्रथमेति सूत्राद्विशुद्धसत्त्वमिति प्रथमा सप्तम्यर्थे । तच्छब्दो यच्छब्दमपेक्षते । यो हरिर्विशुद्धसत्त्वे विशुद्धसत्त्वाख्ये ब्रह्मादेः शरीरे संस्थितस्तं हरिं तेषामादेशमार्गेण ब्रह्मादीनां शरीरे स्थितहृद्युपदिष्टमार्गेण वेदाद्यैरर्चयन्ति । विद्वज्जना इति शेषः । आद्यपदेन भागवतस्यक्रियायोगादयो ग्राह्याः । तेषामादेशमार्गेणेत्यनेन भागवतस्थयेनेतिपदं विष्णुवाचकं न तु यच्छब्दरूपम् । अकयप्रविसंभूयसखहा विष्णुवाचका इत्यभिधानादित्युक्तं भवति । अनेन भागवते वपुरित्यत्र ब्रह्मादेरिति शेषः पूरणीय इत्युक्तं भवति । भागवतस्थयेनेतिपदव्याख्यानरूपेण तेषामादेशमार्गेणेति प्रमाणवाक्येनार्थादुपदेशेन ज्ञानं ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिरज्ञाननिवृत्त्या विज्ञानं विज्ञानाद्भगवदर्चनमर्चनाद्भगवत्तत्वज्ञानमित्युक्तं भवति । इदमेव प्रमेयं विपक्षे बाधकेन दृढीकर्तुं सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेदिति श्लोकः प्रवृत्तः । तत्र हे धातः परमेश्वर । इदं सत्त्वं सत्त्वगुणं निजं चेतनस्वरूपं न चेद्भवेत्तर्हि विज्ञानं सत्त्वात्संजायते ज्ञानमिति गीतातात्पर्यप्रमाणात्सत्त्वकार्यविज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनं भवेत् । भेदादिप्रपंचोपादानस्याज्ञानस्य भेदादिप्रपंचस्य चापमार्जनं निवर्तकं भवेत् । स्वरूपभूतज्ञानस्याज्ञानतदुपादानप्रपंचनिवर्तकत्वाभावाद्यदाऽज्ञानभिदापमार्जनं भवति तदा भवात्कस्य ज्ञानिनः केन हेतुना गुणप्रकाशैः प्रकाशरूपा इति प्रकाशा गुणाश्च ते प्रकाशाश्च तैरज्ञानिनां प्रतीयमानसार्वज्ञ्यादिगुणैरनुसृत्य । युक्तत्वेनेति यावत् । मीयते ज्ञायते । प्रकाशते प्रत्यक्षेण चकाश्यते ज्ञायते न कस्यापि ज्ञानिपुरुषस्य केनापि हेतुना । कुतः । यतस्त्वमगुणः पारमार्थिकसार्वज्ञ्यादिगुणरहित इति भेदादिप्रपंचस्य सार्वज्ञादिभगवद्गुणानां च ज्ञाननिवर्त्यत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतेर्विवक्षितोऽर्थश्च न प्रतीयतेऽतः प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह ।। सत्त्वं ब्रह्मादिदेहाख्यमित्यादिना । यदिशब्दस्य तदाशब्दस्य नकारस्य स्याच्छब्दस्य कथंशब्दस्य चावृत्त्या योजना कर्तव्या । सत्त्वं सत्त्वशब्दवाच्यं ब्रह्मादिदेहाख्यं वस्तु ज्ञानं रूपयति निरूपयत्युपदेशेन जनयतीति ज्ञानरूपं ज्ञानजनकं यदि न स्यात्तदा तमोनुदमज्ञाननिवर्तकं कथं स्यान्न कथमपि । यद्यज्ञाननिवर्तकं न स्यात्तदा विभुर्हरिः सत्त्वप्रकाशानुमितः सत्त्वगुणजन्यप्रकाशमनु अनुसृत्यानुमितो ज्ञातः कथं स्यान्न कथमपि । यदा हरिविषयकाज्ञाननिवृत्तिर्नास्ति तदा तत्र जीवे ज्ञानाद्याधिक्यानु-

सारेण विशेषेण संनिहितो हरिर्ज्ञातो न भवति। अज्ञानावरणस्य विद्यमानत्वात्। यदि परः सर्वोत्तमो विष्णुस्तत्र तत्र संनिहितत्वेन ज्ञातो न स्यात्तस्याविद्वज्जना अमुं सर्वोत्तमं विष्णुं तत्र तत्र कथमर्चयंति। अर्चयेयुः। न हि यस्य यज्ज्ञानमेव नास्ति तदर्चनं न संभवति। यदि हरिं नार्चयेयुस्तदा तत्त्वस्य स्वतंत्रतत्त्वस्य हरेर्जिज्ञासुभिर्ज्ञानेच्छुभिः पुरुषैर्हरिः कथं ज्ञायते। न कथमपि। नन्वर्चनाभावेऽपि तत्त्वजिज्ञासुभिर्हरिः कुतो न ज्ञायत इत्यत आह॥ कस्यापीति। षष्ठी तृतीयार्थे। नेत्यनुवर्तते। केनापि पुरुषेण हरिर्न ज्ञायेत न ज्ञायते। यत इति शेषः। अतोनार्चनजन्यहरिप्रसादं विना हरेर्ज्ञानाभावे हरेर्नित्याव्यक्तत्वं हेतुरुक्तः। नित्याव्यक्तत्वादर्चनाभिव्यक्तप्रसादं विना हरिर्न ज्ञायत इत्यस्मिन्नर्थे तदव्यक्तमाह हीत्यारभ्यानंतेन तथा हि लिंगमित्यंत ब्रह्मसूत्रभाष्योदाहृतश्रुत्यादिकमेव प्रमाणं ज्ञातव्यम्। ननु हरेर्नित्याव्यक्तत्वमेव कुत इत्यत आह॥ निर्गुणत्वादिति। अनेन हरिर्नित्याव्यक्तो भवितुमर्हति प्राकृतसत्त्वादिगुणत्रयातीतत्वाद्व्यतिरेकेण जीववत्। लक्ष्म्या अपि गुणत्रयाभिमानित्वेन गुणत्रयातीतत्वाभावान्न व्यभिचारः। निर्गुणत्वेऽधोक्षजः पर इति हेतुद्वयम्। अधोक्षजशब्दोऽनुमानस्योपलक्षकः। अधःकृतोऽक्षजादिर्येन स तथा। प्रत्यक्षानुमानाविषय इत्यर्थः। अनेनेंद्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयंतीति श्रुतिमर्थत उपादत्ते। अनेन सदागमैकविज्ञेयत्वमुक्तं भवति। परः सर्वोत्कृष्टः। सदागमैकविज्ञेयत्वात्सर्वोत्कृष्टत्वाद्धरिर्निर्गुणः। यः सगुणो जीवादिः स सदागमैकविज्ञेयो न भवति सर्वोत्कृष्टश्च न भवति। ननु विष्णोः सर्वोत्कृष्टत्वमेव कुत इत्यत उक्तम्। विभुरिति। विविधं जगद्भावयत्युत्पादयति सत्त्वादियुक्तं करोतीति विभुः। अनेन हरेर्जगन्नियामकत्वमुक्तम्। तेन यदि नाम परो न भवेत्स हरिः कथमस्य वशे जगदेतद्भूदित्यादितर्को विपक्षे बाधकः सूचितः। अत्र तात्पर्ये यदि न स्याद्यदि न स्यादिति द्विवारोक्त्या सत्त्वं न चेद्धातरिदमिति श्लोके न चेद्भवेदिति पदत्रयस्यावृत्त्या योजना कर्तव्येति सूचितं भवति॥ ३५-३६॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यदन्येषां दशाऽन्यरूपस्तत्प्रतियोगिनस्त्वद्यायोगिन एवमित्यावेदयति॥ तथेति। हे माधव प्रभो तावकाः षष्ठ्यादौ गतम्। त्वत्सम्बन्धिन एते तथा त इव त्वयाऽभिगुप्तास्त्वयि बद्धसौहृदा मार्गात्ततः क्वचिदपि न भ्रश्यन्ति भ्रष्टा न भवन्ति। निर्भया अतीतभीतयो विनायकानीकपमूर्धसु विनायको गणेशस्तस्यानीकानि सेना विघ्नास्तानि पान्तीत्यनीकपा महाप्रत्यूहास्तेषां मूर्धानः शिरांसि तेषु विचरन्ति घनान्विघ्नानपि ते घ्नन्तीत्याशयः। आनते त्वयीत्यप्यन्वयः। सर्वजननमस्कृत इत्यर्थः॥ ३४॥ सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान्स्थितौ वपुरिति श्लोकेऽतीतश्लोकेऽन्यत्रापि सदा सर्वगुणाढ्यत्वादित्यादिव्याकरणप्रकारेण भगवद्वाचकत्वेऽङ्गीकृते तवार्हणं येनेति न वक्तव्यं स्यात्तथा शुद्धसत्त्वगुणात्मकं वपुराश्रयत इत्यपि ज्ञानानन्दतनुमत्त्वाद्बाधितमित्यतोऽत्र युक्तं सत्त्वशब्दार्थं मानेनाह॥ विशुद्धेति। सुविशुद्धसत्त्वे सत्त्वसत्त्वसत्त्वप्रचुरादित्वेन ब्रह्मादेः शरीरे यो हरिः स्थितस्तेषां ब्रह्मादीनां शरीरस्य भगवदादेशेन एष आदेश एष उपदेशस्तन्मार्गेण वेदाद्यैस्तदुपदिष्टैर्यैऽर्चयन्ति। अर्चयो ज्ञानिनो तद्वदाचरन्ति तद्बहुलत्वात्तत्वेन व्यपदेशः। अग्ने भ्राजन्त्यर्चय इत्यादेरर्चिन्शब्दपर्यायोऽयमर्चिशब्दः। इनिस्त्विदन्तोऽप्यस्तीति भानुः। ते ज्ञानिनोऽर्चयन्ति पूजयन्ति॥ अथ श्लोकार्थः॥ कुत्र तिष्ठति किं साधनेऽनुष्ठिते भगवांस्तुष्टः स्यादिति किमुपदेशेन जायमानमानवसभाजनीयो जनार्दन इत्यत आह॥ सत्त्वमिति। भवान्विशुद्धं सत्त्वं ब्रह्मादेर्वपुर्देहं शरीरिणां ज्ञानादिप्राप्तियोग्यतावत्प्रशस्तशरीरवतां श्रेय उपायनं श्रेयसामधिकाश्रयं स्थितौ। तादर्थ्ये सप्तमी। प्राप्तप्रतिपत्तिस्थिरतायै श्रयते जनो येन तत्कायनिकायेन हरिणा। अकायेत्यादेः। न यच्छब्दोऽयं किन्तु यशब्दः। वेदाः क्रिया ज्योतिष्टोमादयो योग इति चोपायवाचि सत्काकाक्षिन्यायेन वेदक्रियायोगौ तद्रूपापायौ पुनर्योगौ तौ च तपःसमाधी चेत्यन्वेति। ततश्च वेदः क्रिया तपः समाधियोगैरिति सिध्यति। यद्वा क्रियायोगो ज्योतिष्टोमादिरितरत्पूर्ववत्। तैः करणैस्तवार्हणमर्चनं समीहते करोति। विध्याद्यधिष्ठातृत्वदुपदेशलब्धोपलब्धिः स्थैर्यं भजते स जनस्त्वामर्चतीति साधनाधिष्ठानं चोक्तं भवति॥३५॥ एवमनर्थापत्ते चैवमनर्थापत्तिरित्यनिष्टोपदर्शनेन पूर्वोक्तं सत्त्वाद्यर्थं व्यवस्थापयतः सत्त्वं न चेद्धातरिति पद्यस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वं हरेर्नैर्गुण्यं चार्थ इत्यन्यथाप्रतीतिं विवक्षितार्थाप्रतीतिं च प्रच्यावयितुं मानमेवाह॥ सत्त्वमिति। यदि ब्रह्मादिदेह इत्याख्या यस्य तत्सत्त्वं ज्ञानरूपं ज्ञानं रूपयत्युपदेशादिना प्रतिष्ठापयतीति तत्तथा न स्यात्। तमोनुदमज्ञानापनोदकं कथं स्यात्तदुपायाभावात्। यदि न स्यादज्ञाननिवर्तकं तदा विभुर्हरिः सत्त्वप्रकाशानुमितो ब्रह्माद्युपदेशप्रादुर्भूतं प्रकाशमनु अनुसृत्य मितो विषयीकृतः कथं स्यान्न कथमपि। यदा न तदज्ञानहानं स्वरूपतानिमित्तकं तत्र तत्र सन्निहितो हरिरिति परः सर्वविलक्षणो विष्णुरिति ज्ञानं क च स्यात्। न स्यात्तच्चेद्विद्वज्जना अमुं माधवं कथमर्चयन्ति। नानेकेषां मनीषिणां प्रमोषो वक्तुं शक्य इति विद्वज्जना इति बहुवचनमर्चयेयुः। न हि हीनस्तज्ज्ञानेन तं सदाऽर्चयेदिति भावः। यदि ते तं नार्चयेयुस्तदा तत्त्वं जिज्ञासवस्तत्त्वजिज्ञासवस्तैः। नलोकेति षष्ठीनिषेधात्। कथं ज्ञायेत न कथमपि। नन्वर्चनचर्चनं विना न तज्ज्ञानमिति कुत इत्यत आह॥ कस्यापि केनापीति। न ज्ञायते तत्र तन्त्रं निर्गुणत्वात्। केनचिद्धर्मेण कश्चिद्धर्मी केनचिज्ज्ञेय इति लौकिकी रीतिरियम्। निर्गुण इतरज्ञानविषयताहेतुसत्त्वादिगुणहीन इति प्रसादसौमुख्यमनासाद्य ज्ञानविषयो न भवतीत्यव्यक्तताऽनेन सूचिता। तदधिपतिर्नान्य इति नैतदसम्भावितमित्यप्याह॥ निर्गुणत्वादप्रधानत्वादिति। अनेन हरिर्नित्यमव्यक्तः स्वातन्त्र्येण गुणत्रयातीतत्वात्। तथा हरिर्गुणत्रयातीतः सर्वप्राधान्याद्यतिरेकेण स्वेतरसर्ववदित्यनुमानमशुष्कं मानमुक्तं वेदितव्यम्। ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽन्यथाऽपि ज्ञायत इति सर्वमुक्तं गजमज्जनायितमित्यतोऽधोक्षज इति। अधःकृतः

शुष्कप्रत्यक्षादिरिति न तद्बाधः। नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयन्तीत्यादेरर्थत उपादानम्। हरिः परः सर्वोत्कृष्टो विभुत्वादिति सूचयितुं विशेषणद्वयम्। वैपरीत्येन वेति ज्ञेयम्। विविधं भावयत्युत्पादयति सत्तावत्करोतीति विभुस्तदुत्पादकतया तत्सत्ताप्रापकतया तद्वशकत्वमुक्तम्। तच्च न तत्परत्वं विना सम्भवेत्तदाक्षिपति। यथोक्तमाचार्यैरन्यत्र। यदि नाम परो न भवेत्स हरिः कथमस्य वशे जगदेतदभूदिति। यदि न चेत्कथमित्यादीनां यथायथमावृत्याऽन्वयप्रदर्शनमुत्तरतात्पर्यपर्यालोचनमूलमिति मन्तव्यम्। तत्तत्त्वं जिज्ञासुभिस्तत्त्वस्य जिज्ञासुभिरिति पाठद्वयम्। द्वितीयपाठे तत्त्वसम्बन्धिजिज्ञासावद्भिरित्यर्थः। परो विभुरिति पदमेकं वा। परस्माद्ब्रह्मादेः परं परो श्रीतत्त्वम्। तदपेक्षया विभुर्गुणतो व्याप्त इति परो विभुः। परस्मादुत्तमं प्रोक्तं पर इति छान्दोग्यभाष्योक्ते॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ हे धातः (मां तु धातेति वदन्मरः पामरो वस्तुतस्तु सकलजगद्धारकत्वात्तच्चेन्मुख्यतो धातृत्वं तवैवेति धाता धातरिति सम्बोधयामासेति बोध्यम्) सकलजगद्धारक हरे। इदं निजं स्वकीयं विज्ञान विशिष्टज्ञानं यस्मात्तत्सत्त्वं ब्रह्मादिदेहाख्यमज्ञानभिदापमार्जनं भिदाऽन्यथाज्ञानं तयोरपमार्जनमपमार्जकं निवर्तकमिति यावत्। न भवेच्चेद्यदि न भवेत्तर्हि तद्विमतज्ञानजनकेन केनचिद्भवितव्यम्। कार्यमात्रस्य सकारणकत्वात् कार्यं चेदमिति। गुणप्रकाशैः सत्त्वाद्युत्पन्नज्ञानैर्भवाननुसृत्य मीयते ज्ञायत इति यदि न स्यात्तर्ह्य गुणो भवान्यस्य कस्य। यतश्चोदेति सूर्य इत्यादेः। येन साधनेन प्रकाशते ज्ञायते। अत्रेदमाकूतम्। ब्रह्मादिदेहगेहनारायणानुग्रहेण ज्ञानमज्ञानमिथ्याज्ञानहानिदत्वेन श्रेयःसाधनं न स्यात्तर्हि ज्ञानाभावेनानुमापकहेतुज्ञानं न स्यात्। तद्यदि न स्यात्तज्ज्ञानं दुर्मिलं यदि तत्तथा कस्य च पूजा जायेत सा च यदि नाम न स्यात्स्याज्जगदन्धं तच्चानिष्टम्। कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रिय इत्यादिमानदुराननतापत्तेरतो विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनं भवेत्पुरुषार्थसाधनं भवतीति सिद्धमिति॥ ३६॥

श्रीसुबोधिनी

नन्वेवं सति भक्तिमार्गानुसारेणापि भगवद्भजने विकर्मादिना कालान्तरे पुनर्बुद्धिनाशप्रसङ्गः। साधनत्वेनैव भक्तिमार्गस्यापि स्वीकारात्। अतस्तुल्यत्वात् किं मार्गान्तरदूषणेनेत्याशङ्क्य स्मार्तस्यापि भगवन्मार्गस्य फलमाह तथेति। हे माधव ते पूर्ववत् प्रवृत्ता अपि **तावकाः** सन्तः कचिदप्यारोहणावस्थायां **भ्रश्यन्त्यपि न**। पादोप्यधः प्रमादादपि न पतति। आरुह्यमाणमार्गात् स्वमार्गादपि न पतन्ति। मार्गस्यैव तथात्वात्। यथा वस्तुरक्षकाणां मध्ये सुगन्धरक्षकः सौरभ्यं प्राप्नोत्येव। लशुनादिरक्षकस्तद्विपरीतम्। यद्यपि स्वतन्त्रतया भगवान्न सेवितस्तथापि भगवानिति तस्य पातो न भवत्येव। **माधवे**तिसम्बोधनं रात्रावपि विलासेन तत्रत्यानां दर्शनार्थम्। तेन विकर्मतुल्यत्वेपि सेवापरत्वाद् भगवद्दर्शनं नान्येषामिति निरूपितमत एव **तावकाः**। अभ्रंशे हेतुस्त्वयि **बद्धसौहृदा** इति। सौहृदं स्नेहो रज्जुस्थानीयः। स स्वात्मानं जीवं भगवच्चरणे बध्नाति। अतो युक्त एव तेषामभ्रंशः। नन्वन्ये कालादयः कथं तान्न भ्रंशयन्ति भक्तिं वा न नाशयन्तीत्याशङ्क्याह **त्वयाभिगुप्ता विचरन्तीति**। त्वयाभितो बाह्याभ्यन्तरसर्वभावेन रक्ष्यमाणाः। बुद्ध्यादीनामपि नाशासम्भवादन्यप्रवेशासम्भवाच्च **न भ्रश्यन्तीति** युक्तम्। अत एव **विचरन्ति**। सर्वत्र विशेषेणानिन्दया सर्वेषु लोकेषु भ्रमन्ति। कालादिभयरहिता **निर्भयाः**। यदन्येषां त्यागस्थानं भयस्थानं वा तदेव तेषां परिभ्रमणस्थानमित्याह **विनायकानीकपमूर्धस्विति**। **विनायका** विघ्नकर्तारः। **वि**शब्देन विघ्ना उच्यन्ते। तेषां **नायका** जनका एव भवन्ति। तेषामनीकं सेना। एकस्मिन् विघ्नार्थे प्रवृत्ते तदशक्तौ तत्सहायार्थं बहवः समायान्ति। ते सर्वे स्वतन्त्रा नियामकाभावात् कार्यं न करिष्यन्तीत्याशङ्क्य तद्रक्षका अपि समायान्ति **तेनीकपाः**। तेपि बहवो भ्रंशयितुं समागताः। भगवदीयसुदर्शनादिभयादस्पृश्यैव निकटे तिष्ठन्ति। यथा प्रह्लादे। तेष्वेवारोहणार्थं भगवद्भक्ताः पादं प्रयच्छन्ति। तेषामधःपातनसामर्थ्याभावात् प्रतिष्ठाहेतव एव भवन्ति। यथा जडभरते मारणार्थमुद्यताः प्रतिष्ठाहेतव एव जाताः। तेषां **मूर्धानः** सर्वसामर्थ्यस्थानानि परमकाष्ठापन्नानि। एवं तेषां विचरणे हेतुः **प्रभो** इति। एतत्सामर्थ्यं त्वदीयमेव। अतस्ते समर्था अपि न द्विषन्ति। अतो भक्तिमार्गान्मार्गान्तरं साधनतः फलतश्च न समीचीनमित्युक्तम्॥ ३३॥

एवं स्मृतिमार्गेण भगवत्पक्षपातमुक्त्वा वैदिकमार्गेण पूर्ववदाह **सत्त्वमित्यादिचतुर्भिः**। वेदो हि द्विविधः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गप्रतिपादकः। तादृशोपि पुनः प्रत्येकं द्वेधा भिन्नैरधिकारिभिर्द्विविधः। तत्र प्रवृत्तावर्थावबोधोध्ययनमनुष्ठानं चेति ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य चाधिकारेण सिद्धम्। तप आत्मनि च स्थितिरुत्तमाश्रमस्थयोर्निवृत्तौ क्रमेणैव सिद्धम्। एतद् वेदानुसारेणाश्रमचतुष्टये धर्मानुष्ठानं दैत्यांशानामपि तुल्यमिति भगवान् सत्त्वमूर्तिः **स्वसत्त्वं** प्रकटीकृत्य सात्त्विकानेव **तद्धर्मेषु** प्रेरयति विपरीतांश्च निवर्तयति। अन्यथाश्रमस्थेष्वेव केचिदध्ययनादिकं यथाशास्त्रार्थं कुर्वन्ति केचिन्नेति व्यवस्था न स्यात्। वैदिकाश्च सर्वे धर्माः परिपाल्यमाना एव जगति प्रवर्तन्ते। अतः स्थितौ स्थित्यर्थं यदा भवान् **विशुद्धं सत्त्वं** सत्त्वगुणं **श्रयते** तदैव तेन सत्त्वगुणेन लोके प्रसृतेन व्याप्ता आश्रमस्थाः क्रमेण वेदाध्ययनं क्रियायोगः कर्मानुष्ठानं तपः वनवासादिः **समाधिरात्मस्थितिश्चे**तिचतुर्विधान् धर्मान् सम्यगनुतिष्ठन्ति। ततोपि तेन धर्मेण शुद्धान्तःकरणास्तवार्हणं **समीहन्ते**। शुद्धैरेव हि भगवत्सेवा कर्तुं शक्यत इति। ननु वेदेनैव कार्यसिद्धौ किं सत्त्वगुणेनेत्याशङ्क्याह **शरीरिणामित्यादि**। यदि फलदाता कोपि न स्यात् प्रथमप्रवृत्तं विसंवादिनं दृष्ट्वा कोपि न प्रवर्तेत। नन्वदृष्टादिद्वारा भूतसंस्कारद्वारा वा कार्यसिद्धौ किं सत्त्वमूर्त्येत्याशङ्क्याह **शरीरिणामिति**। ते हि शरीराभिमानिनो विद्यमानशरीराश्च। यदि प्रथमं

शरीरभिन्नतयात्मानं जानीयुस्तदा कर्तृसमानाधिकरणमदृष्टमुत्पद्येत एव। देहान्तरे वा फले प्राप्ये भूतसंस्कारो भवेत्। उभयोश्चाभावात् फलदाता भगवानेवापेक्ष्यते। तदाह **श्रेय उपायनम्**। **उप** समीप आनीय समर्पणम्। यस्माद् वपुरिति। दैवगत्या फलसिद्धिज्ञाना-भावाय। अस्तु वा फलसिद्धिः! तस्य धर्मस्य भगवद्भजने करणत्वं सहायत्वं वा चेन्न स्यात् तदा क्षयिष्ण्वेव फलमिति पूर्वदोषा-निवृत्तिः। अतो वैदिके मार्गे सर्वधर्मप्रवर्तको भगवानिति देवानां पक्षपोषकः। **जन** इत्येकवचनं जात्यभिप्रायं दुर्लभत्वज्ञापनाय।३४।

ननु ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्यापि श्रेयोदानार्थमात्मविवेकस्याजातत्वात् सत्त्वाश्रयणं भवतु नाम ज्ञानस्य तु सिद्धफलदातृत्वा-दसिद्धफलेपि साक्षादेव फलजननसम्भवात् तज्ज्ञाने तत्साधने तपसि वा भगवतः सत्त्ववपुर्नापेक्ष्यत इत्याशङ्क्याह सत्त्वं न **चेदिति**। इदं शुद्धसत्त्वं सर्वरक्षकं सर्वकर्मफलदातृ चेन्न **भवेद् विज्ञानमपि न भवेत्**। "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान"मिति सत्त्वाभावे ज्ञानं न स्यात्। न च शास्त्रसिद्धेन सत्त्वगुणेन ज्ञानमुपस्थापयितुं शक्यते। परकीयत्वात् यस्मिन् क्षणे शास्त्रानुसन्धानं तदर्थानुष्ठानं वा तदैव तत्सत्त्वमाविर्भवति। तद्धर्मत्वात्। इदं तु **निजम्**। न च तैरपि स्वमूलकारणभूतं सत्त्वगुणमुत्पादयितुं शक्यते तेषां कर्तृत्वाभावादिति ज्ञापयति हे **धातरिति**। **विज्ञानमनुभवः**। स च सत्त्वैकरूपेन्तःकरणे भवति। यथा यथा च विशुध्यते तथा तथाकामहतो भवतीति शुद्धसत्त्वाविर्भाव एव विज्ञानं युक्तं यथोत्पन्ने जगत्यन्ने सत्यां क्षुध्यन्नसम्पादनं सुकरं न तु क्षुदनन्तरं तत्सम्पादनं शक्यम्। अतो भगवता सत्त्व आविर्भाविते तत्कृपया भगवता सह सत्त्वमपि हृदये समागच्छेन्नान्यथा। निषिध्यमानं शास्त्रीयं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशिनष्ट्यज्ञानभिदापमार्जनमिति। **अज्ञाननाशकं विज्ञानमात्मानुभवः**। **भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम्**। उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः **शुद्धाद्वैतं च स्फुरति**। तच्च ज्ञानं न विषयविषयिभावेन। तादृशस्य पुरुषार्थासाधकत्वं पूर्वमुक्तम्। आविर्भावस्तु भगवतः स्वरूपस्य वा शुद्धसत्त्वव्यतिरेकेण न सम्भवति। यदि ज्ञाने सत्त्वापेक्षा सुतरां तपसि तदपेक्षेति न तत् पृथङ् निरूपितम्। **न चेद् भवेदिति**। इत्पदव्यतिरिक्तं सर्वमावर्तते। "अर्थवशात् पदानां व्यवस्था"। 'अज्ञानभिद् विज्ञानं मार्जनमापेति' न व्याख्यानम्। नन्वस्य सत्त्वस्य स्वतो ज्ञानरूपत्वाभावात् साधन उपयोगः। यद्यन्यथैव भगवदाविर्भावो भवेदात्मनो वा तदा किं सत्त्वेन ? तत्रेन्द्रियाणां प्रकाशो लोकदृष्टः स्वकारणप्रकाशमाक्षिपति। तत्र प्रवर्तकस्य भगवतोभिमानिनो जीवस्य च प्रकाशोवश्य-म्भावी। अतस्तदनुसन्धानेनैव तद्व्यवधायकमलनिवृत्तौ तदुभयोः प्रकाशो भविष्यतीति व्यर्थं सत्त्वमिति चेत् तत्राह। **गुणप्रकाशै-रनुमीयते भवानिति**। गुणानामिन्द्रियविषयादीनां प्रकाशैर्ज्ञानैः प्रेरकोभिमानी **चानुमीयतेस्तीति**। स ह्यनाविर्भूत एव तथा करोति। आविर्भावस्तु केन कर्तव्यो भवेत्? न च स्वरूपसत्त्वं कार्यकारणं वा प्रकृते प्रयोजकम्। आविर्भावस्तु सत्त्वाधीन इति पूर्वमवोचाम। न च प्रकाशोपि कार्यव्यतिरेकेण न सम्भवति। अन्यथा **गुणप्रकाशो** न भवेदिति वक्तव्यम्। यस्य सम्बन्धी वा गुणः प्रकाशते येन वा गुणः प्रकाशते। न तु सम्बन्धिनः करणस्य वा प्रकाशममपेक्षते। अतः प्रकाशार्थमवश्यं सत्त्वगुणोपेक्षितः ॥ ३५ ॥

एवं प्रमाणप्रमेये वैदिकप्रकारेण भगवद्रूपेण भगवद्रूपे विचारिते। साधनं विचारयति **न नामरूपे** इति। वैदिकमार्गा-नुसारेण साधनं भगवान् सर्वपुरुषार्थेषु। स च गुणातीत एव। वेदे **गुणाभावात्**। फलदानार्थं परं भगवान् देवपक्षपातार्थं तथा कृतवान्। अतः सगुणः साधनमितिपक्षं निराकरोति **न नामरूपे** इति। ते **नामरूपे** गुणकर्म**जन्मभिर्न निरूपितव्ये**। **साक्षो** भगवान् सर्वकर्मफलदाता कर्माध्यक्षः। स एव साधनम्। **गुणैः** कृत्वा यानि **कर्माणि** जन्मानि च तानि **तव** न सन्त्येव किन्तु क्रियाशक्त्यैव सद्रूपया धर्मरूपेण प्रकटस्य तवाविर्भावः **कर्माणि**। आनन्दरूपेण प्रकटस्य च **जन्मानि**। **तैरेव च नामरूपे**। अन्यथा प्राकृतत्वे सति न कोपि पुरुषार्थः सिध्येत्। भवतु वा भगवतः कल्पान्तरे तथाभूते अपि न तु शास्त्रे साधनत्वेन **निरूपितव्ये**। तदा तस्य फलदातृत्वं न स्यात्। कर्माध्यक्षत्वाभावात्। किञ्च सगुणं चेन् मनसा वचसा च व्याप्यं भवति। ततो मानसिकं वाचनिकमेव फलं प्रयच्छेद् न त्वात्मरूपं भगवद्रूपं वा। भगवांश्च **मनोवचोभ्यामनुमेयमेव तर्क्यमेव वर्त्म** यस्य तादृशः। न तु प्रत्यक्षविषयः। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू"रित्यादि श्रुतिवाक्यैः। तर्हि नामरूपाण्येव न सन्तीति चेत् तत्राहुर्देव **क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हीति**। हे **देव** सर्वपूज्य। **क्रियायां** श्रौत्यां तान्त्रिक्यां च **नामरूपे प्रतियन्ति**। "विष्णोर्नु कं" "तदस्य प्रियम्" "इदं विष्णुः" "प्र तद् विष्णुः" षडक्षरादिरामादिमन्त्राश्च। "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्य"न्निति श्रुतेर्ध्यानादिविधानाच्च। नामरूपाभावे ध्यानं मन्त्रश्च न भवेताम्। इमामेवोपपत्तिमाह **हि**शब्दः। अत एव तदन्यथानुपपत्त्या **प्रतियन्ति**। यतः प्रतियन्त्यतः प्राकृतत्वाभावाद् दिव्यान्येव तान्यानन्दमयानीत्यध्यवसीयन्ते। एवं सर्वाण्येव रूपाणि नामान्यानन्दमयानीति तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि निरूपितानि ॥ ३६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

ते हि शरीराभिमानिन इत्यादि। वैदिकं कर्म यथोक्तमेव कृतमदृष्टजनकम्। ज्ञानमपि तत्राङ्गं 'य एवं वेदे'तिवाक्येभ्यः। तथा च तदभावात् तथेतिभावः। जडत्वादपि तथात्वं ज्ञेयम् ॥३४॥ **उभयोः साक्षात्कार** इत्यादि। आत्मसाक्षात्कारस्य फलमध्यास-निवृत्तिः। द्वितीयस्याद्वैतस्फूर्तिः वैदिकमार्गे हि प्रमेयं "स हैतावानास" तिश्रुतेर्ब्रह्मात्मकम्। अतस्तत्त्वेन स्फूर्तिः फलमितिभावः। **इत्पदव्यतिरिक्तमिति**। **न चेदित्यत्र** यदित्पदं तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः। '**अज्ञानभिद् विज्ञानं मार्जनमापेति न व्याख्यान**'मिति। क्रियापदस्य समानलकारेणैवान्वयनियमान्मार्जनमाप्नुयादिति भवेत्। स्वोक्ताशङ्काया अनिवृत्तेश्च स्वव्याख्यातशास्त्रार्थो-प्राप्तेश्चेतिभावः ॥ ३५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

तथा न त इत्यत्र–**विकर्मादिनेति**। "यः कश्चिद् वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी" त्यादिवाक्येषु वैष्णवविशेषणतयोक्तेन विकर्मादिना। **साधनत्वेनैवेति**। त्वदीयतासाधनत्वेनैव। **अतस्तुल्यत्वादिति**। भगवद्भावे साधनत्वेन परिग्रहस्य तुल्यत्वात्। **स्मार्तस्येति**। मोक्षशेषभूतस्य। **पूर्वं तद्वत् प्रवृत्ता इति**। इदं मूलस्थतथापदस्य विवरणम्। तथाचैवमन्वयः। ये तथा पूर्वं तद्वत्प्रवृत्तास्तेपि तावकाः सन्तो न भ्रश्यन्तीति। **पाद इत्यादि**। इदं भ्रश्यन्त्यपि नेत्यस्य विवरणम्। एतस्यैव निष्कर्षमाहुरारुह्येत्यादि। यत् तु 'यथा पूर्वश्लोकोक्ताः पतन्ति तथा ते तावका न भ्रश्यन्ती'त्यन्वयं कश्चिदाशशङ्के तथा च "पातो भवति परं तथा न भवती" त्यर्थं चाह तन्मन्दम्। त इतिपदस्य वैयर्थ्यापत्तेः। यदि हि तच्छब्दस्येदं बहुवचनं तदा तेन पूर्वश्लोकोक्ता एव परामर्षणीयाः। तेषां तु पात उक्त इति न भ्रश्यन्तीतिवाक्यस्यैव विरोधः। यदि च युष्मच्छब्दस्य षष्ठ्येकवचनं तदा तेनैव भगवदीयतायाः प्राप्तत्वात् तावकपदस्य वैयर्थ्यम्। एवमन्यदपि तर्कितं दूषणीयमितिदिक्। **तत्रत्यानामिति**। रात्रौ भवानां भगवति विलासचिह्नानाम्। स्मार्तभक्तिमार्गे विद्यमानानां जीवानां वा दर्शनार्थमित्यर्थः। **विकर्मतुल्यत्व इति**। विषयासक्तिसद्भावेनेतरमार्गतौल्ये "अपि चेत् सुदुराचार" इतिवाक्यात् तथेत्यर्थः। अत्रायमाशयः। ये भक्ताः सेवां कुर्वन्तोपि न विषयासक्तिरहितास्तेषां विषयासक्तिनिवृत्त्यर्थं भगवान् स्वस्वरूपस्थितानि विलासचिह्नानि प्रदर्शयति। तदा चिह्नानामतिरमणीयत्वाद् भगवद्विलासे सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानेन विषयेष्वतिहीनत्वबुद्धिरुत्पद्यते तदा विषयं त्यक्त्वा भगवत्येवासक्ता भवन्तीत्यर्थः। नन्वेवङ्करणे भगवतः किं प्रयोजनमत आहुरत एवेति। **यतस्तावकाः**। पूर्वमेव भगवदनुगृहीताः। तावकत्वाभावे त्वयैवं किमिति क्रियेतेतिभावः। एवं च साधने दृढविश्वासे पूर्वोक्तं फलं भवतीत्यत्र निदर्शनमनेनोक्तं ज्ञेयम्। **अतो भक्तिमार्गादित्यादि**। तथा चात्र स्तुत्या फलनिरूपकत्वं बोध्यम्। लौकिके प्रकारे प्रमाणादीनि चत्वार्यपि भिन्नानि। स्मार्ते तु निरूपणप्रकारे प्रमेयकोटावेव साधनफलयोरन्तर्भाव इतिविशेषः। एतेषु चतुर्षु भगवत्स्तुतिस्तु स्फुटैव। कालस्तुतिस्त्ववतारस्तुतित्वाद् बोध्या ॥ ३३ ॥ **सत्त्वं विशुद्धमित्यत्र पूर्ववदाहेति**। प्रमाणप्रमेयसाधनफलभेदेन भगवत्पक्षपातमाहेत्यर्थः। **प्रमाणेन पक्षपातमुपपादयन्ति वेदो हीत्यादि न स्यादित्यन्तम्**। **द्वेधा भिन्नं रिति**। पूर्वाश्रमद्वयमेकस्यां कोटावुत्तराश्रमद्वयं चेतरस्यामित्येवं द्वेधाभिन्नैः। **एतदेव विवृण्वन्ति तत्रेत्यादि**। तथा च सत्त्वमूर्तेः स्वसत्त्वप्रकटनमेव प्रमाणमतः पक्षपात इत्यर्थः। **श्लोकं व्याकुर्वन्ति वैदिका इत्यादि**। **स्थित्यर्थमिति**। वैदिकधर्मस्थित्यर्थम्। **सिद्धमाहुः शुद्धैरित्यादि**। तथा च भगवत्सत्त्वेन चतुर्विधधर्मप्रमित्या भगवत्सेवाप्रमित्या च शुद्धैस्तथेत्यर्थः। **कार्यसिद्धाविति**। धर्मप्रमित्यादिसिद्धौ। **कोपीति**। वेदातिरिक्तश्चेतनो नियामकः। तथा च दृष्टविसंवादेपि केचिद् वेदमार्गे प्रवर्तन्तेऽन्ये च न प्रवर्तन्त इतिदर्शनान्न वेदेन कार्यसिद्धिः किन्तु श्रेयोजनकः सत्त्वोपाधिर्वैदिकपदार्थक्रियाप्रमितिजननायावश्यक इत्यर्थः। **एतदाक्षिपन्ति नन्वित्यादि**। **समादधते ते हीत्यादि**। अत्र समाधिष्टिप्पण्यां वैदिकं कर्मेत्यादिना निष्कृष्टो बोध्यः। **तदभावात् तथेति**। वेदान्तोक्तकर्तृस्वरूपज्ञानाभावने यथोक्तत्वाभावान्नादृष्टजननं कर्मप्रकारज्ञानाभावाच्च **न भूतसंस्कार** इत्यर्थः। **जडत्वादिति**। शरीराभिमानेन जडत्वाच्चेतनधर्मस्यादृष्टस्य तत्र नोत्पत्तिरित्यर्थः। सुबोधिन्याम**पेक्ष्यत इति**। तादृशां फलदानार्थमपेक्ष्यते। **अस्तु वेति**। यथाकथञ्चित् कर्तृस्वरूपज्ञानात् कर्मप्रकारज्ञानाच्चास्तु वा अस्मिन् पद्ये मैत्रायणीयोपनिषदुक्तो गुणान्तरसारभूतः सत्वगुणो वेदे प्रमाणमिति तदेतद्देवानां सात्विकत्वात् तत्पक्षपातार्थं भगवताधिष्ठीयते तदा दैवानां वैदिकधर्मेषु भगवत्सेवाकरणतायास्तत्सहायतायाश्च प्रमितिर्भवतीत्युक्तम् ॥ ३४ ॥ **सत्वं न चेदित्यत्र—पूर्वोक्तं पक्षपातमेकदेशेनाक्षिपन्ति नन्वित्यादि**। **भवतु नामेति**। तदुभयोपकारकं भवतु नाम। **सिद्धफलदातृत्वादिति**। सिद्धस्य परमानन्दरूपस्य मोक्षाख्यफलस्य दातृत्वात्। **असिद्धफलेवीति**। सिद्धं वृत्तिविचारगम्यरूपं फलं यस्य तादृशे तपस्यपि साक्षादेव द्वारान्तरमन्तरेणैव ज्ञानाख्यफलजननसम्भवात् तथा। **तज्ज्ञान इति**। वेदोक्ते ज्ञाने। अत्र मूलश्लोके चेदिति नैकं पदं किन्तु चोप्यर्थे। इदवधारणे। **तथा चैवं योजना**। इदित्यवधारणे। हे धातरिदं निजं सत्त्वं यदि न भवेदज्ञानभिदापमार्जनं विज्ञानं च न भवेदिति बोध्या। **तदेतद् व्याकुर्वन्तीदमित्यादिना**। चेदितिपदं तु तर्कत्वादर्थादध्याहृतं बोध्यम्। ननु सत्त्वमात्रस्यैवापेक्षा चेच्छास्त्रीयत्त्वेन निर्वाहान्न समाधिष्ठानापेक्षेत्यत आहुर्न च शास्त्रेत्यादि। **ज्ञानमिति**। साक्षात्काररूपं ज्ञानम्। **तद्धर्मत्वादिति**। शास्त्रधर्मत्वात् शास्त्रवेद्यत्वात्। **तैरिति**। **शास्त्रैः**। **विज्ञानशब्द उपासने प्रसिद्ध इति तद् व्यावर्तयितुं विज्ञानमनुभव इति**। अयमहमित्यभेदेनानुभवः। **यथा यथेत्यादि**। आनन्दमीमांसायां प्रत्यानन्दं "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये"तिविशेषणादितिभावः। **निषिध्यमानमिति**। न भवेदित्यनेन निषिध्यमानम्। **उभयोरिति**। आत्मनो भगवतश्चेत्यर्थः। **तदेतट् टिप्पण्यां व्याकुर्वन्त्यात्मेत्यादि**। सुबोधिन्यां **पूर्वमिति**। "येन्येरविन्दाक्षे" त्यस्य व्याख्याने। **श्लोकयोजनां स्फुटीकुर्वन्ति न चेत्यादि**। तदेतट् टिप्पण्यां व्याकुर्वन्तीतपदेत्यादि। सुबोधिन्यां **ननु** पदावर्तनापेक्षया व्याख्यानान्तरस्य ज्यायस्त्वाच्छ्रीधरोक्तमादरणीयमित्यत आहुरज्ञानेत्यादि। तद्व्याख्यानानादरे टिप्पण्यां हेतुमाहुः **क्रियापदस्येत्यादि**। **स्वोक्ताशङ्कत्यादि**। श्रीधरेण हि 'मोक्षस्य तु ज्ञानैकसाध्यत्वात् किं भक्त्ये'त्याशङ्कावतारिकायामुपक्षिप्ता। सा तदा निवर्तते यदा मोक्षस्य ज्ञानस्य वा भक्त्येकसाध्यता व्याख्यायते। तत् तु न व्याख्यातमिति तदनिवृत्तिः। स्वव्याख्यातशास्त्रार्थो भक्तानां मोक्षप्राप्तिरूपस्तस्याप्यनेनाप्राप्तिरित्यतः श्रीधरीयं द्वितीयव्याख्यानमयुक्तमित्यर्थः। सुबोधिन्यामुत्तरार्धमवतारयन्ति नन्वित्यादि। **स्वत इति**। प्राकृतगुणतया। **साधन इति**। आविर्भावसाधने। केन प्रकारान्तरेणा-

विर्भाव इत्यपेक्षायां तं प्रकारमाहुस्तत्रेत्यादि । **कारण प्रकाशमाक्षिपतीति कारणं** प्रवर्तकः स चेदर्थः । प्रकाशयुक्तो न स्यात् तस्मिन्नर्थे इन्द्रियं न प्रेरयेदतः प्रेरणादाक्षिपति । **तत्र** आक्षेपे । एवमाविर्भावोपपादनेन स्वरूपसत्त्ववैयर्थ्ये शङ्किते तत्पार्थक्यमुपपादयितुं मूलं व्याकुर्वन्ति **गुणानामित्यादि** । तथा 'चेन्द्रियप्रेरकाभिमानी च तत्तदर्थप्रकाशवान् तत्रतत्रेन्द्रियप्रेरकत्वात् यन्नैवं तन्नैव' मित्यनुमानेनेन्द्रियप्रवर्तकस्य प्रकाशेनुमितेपि तेन तत्सत्तामात्रं सिध्यति न तु तत्स्वरूपं प्रकाशते । यदि तत् प्रकाशेत तदायं भगवानयमहमित्येवं ज्ञानं स्यात् तत् तु न जायते । तत्र हेतुः स हीत्यादि । ननु स्वरूपसत्तादिनैव स्वत एवाविर्भावोस्त्विति चेत् तत्राहुर्न चेत्यादि । **स्वरूपसत्त्वमिति । स्वरूपसत्ता । प्रकृत** इति । पूर्वोक्तप्रकारकपरोक्षानुभवे । **पूर्वमिति** । पूर्वार्धव्याख्याने । इदमाक्षिपन्ति **न च प्रकाशोपीत्यादि प्रकाशो** भगवत्प्रकाशः । **कार्यस्य** गुणप्रकाशस्य **व्यतिरेकेण** गुणप्रकाशमपहायेतियावत् । तथा **न सम्भवति** न वक्तुं शक्यते । तत्र युक्तिरन्यथेत्यादि । तथा च यथा प्रकाशविशिष्ट एव सूर्यो वस्तुप्रकाशरूपं कार्यं करोति न सूर्यसत्तामात्रं सर्वप्रासादौ कार्यादर्शनादेवमत्र **गुणप्रकाशे**रपि प्रेरकाभिमानिनोः प्रकाशविशिष्टसत्तैवानुमेया न तु सत्तामात्रम् । 'जीवात्मनो भगवतश्च प्रकाशः कार्यकालेप्यस्ति प्रकाशत्वात् सूर्यादिप्रकाश' वदितिप्रयोगात् तथा च भगवत आत्मनो वा प्रकाशार्थं न सत्त्ववपुषोपेक्षेतिपूर्वपक्षहृदयम् । समादधते यस्येत्यादि । तथा चैवमनुमानेपि गुणात्मकप्रकाशस्यैवानुमितिर्न तु स्वरूपस्य तत्प्रकाशकस्य चाप्रकाश दितिभावः । सिद्धसिद्धमाहुरत इत्यादि । यतो गुणप्रकाशरूपेण कार्येण प्रकाशविशिष्टस्य सत्तैवानुमिता भवति न तु स्वरूपस्य प्रकाशोनुभवात्मकोतो भगवतो जीवस्य च स्वरूपप्रकाशार्थमवश्यं भगवद्वपूरूपः सत्त्वगुणोपेक्षितः । तेन विना उत्तमाश्रमिणोरपि हृदि स्वरूपप्रकाशो न स्यात् । तस्मादाश्रमचतुष्टयेपि भगवत्स्वरूपात्मकस्य सत्त्वगुणस्यापेक्षेत्यर्थः । एवं चात्र जीवस्वरूपप्रकाशः शुद्धाद्वैतप्रकाशस्य वैदिके वर्त्मनि प्रमेयमित्युक्तम् ॥ ३५ ॥ **न नामरूपे** इत्यत्र—**वेदे गुणाभावादिति** । तत्र सृष्ट्यादिनिरूपणस्थलेनादित्वेन गुणानामनुक्तत्वेन तथात्वात् क्वचिज्जन्यत्वेनोक्तत्वेपि भगवतः पूर्वं निर्गुणत्वादिति । **तथा** कृतवानिति । सत्त्वगुणाश्रयं कृतवान् । इदमेव द्वितीयस्कन्धे "स वाच्यवाचकतये" तिश्लोके 'यतो वस्तुतोकर्मकः सर्वकर्मरहितः सर्वेषां नियामकश्चै तादृशोपि सर्वानुत्पादयितुं त्रिगुणात्मकमव्यक्तं च रूपं करोती'ति विवृतम् । अनिरूपणे हेतुः साक्षीत्यादि । **कर्माध्यक्ष** इति । "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुण"श्चे तिश्रुतेः । **आनन्दरूपेण प्रकटस्य च जन्मानीति** । एतदेव ब्रह्माण्डपुराणेप्युक्तं "स्त्रीपुंमलानुषङ्गात्मा देहो नास्य विजायते किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुं प्रकाशयति सेवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरे"ति । एवमेव "यज्ञो वै विष्णु"रितिश्रुतेः **कर्माण्यपि** ज्ञातव्यानि । ब्रह्मसूत्रभाष्येपि "ज्ञापनार्थं प्रमाणानि सन्निकर्षादिमार्गतः सर्वथाविषयेवाच्येव्यवहार्ये कुतः प्रमे"त्याशङ्क्य क्षत्यधिकरणे चतुःसूत्रम् इदमेव प्रतिपादितं "स आत्मानं स्वयमकुरुते" त्यादिश्रुत्या चेति बोध्यम् । शास्त्रयोनित्वव्याख्यानेपि "मतान्तरवज्जन्मादीनां न विकारत्वं किन्त्वाविर्भावतिरोभाववेव तथोत्तरत्र वक्ष्यते तदनन्यत्वाधिकरण"इत्युक्तम् । तस्मिन्नधिकरणे च "सत्त्वाच्चावरस्ये" तिसूत्रे 'प्रपञ्चस्य सत्त्वात् त्रैकालिकत्वाद् ब्रह्मत्वं "सदेव सौम्येदमग्र आसीद्" "यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्याचक्षत" इतिश्रुते'रित्युक्तमत्र प्रपञ्चस्यापि यत्राविर्भावतिरोभावौ तत्र पुरुषोत्तमनामरूपयोस्तथात्वे किं वक्तव्यमिति सिध्यति । **इमामिति** । श्रुतार्थापत्तिरूपाम् ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तथेत्यस्याभासे—भक्तास्तु तादृशा अपि न पतन्तीत्यग्रिमश्लोके निरूप्यत इत्याशयेन तदाभासमाहुर्नन्वेवमिति । तत्र प्रह्लादभरतौ दृष्टान्तत्वेन वक्ष्येते । पूर्वं सनकादिरूपस्य प्रह्लादस्य भगवद्द्वारि क्रोधेन विकर्मणा दैत्येषु जन्म जातं परं तत्रापि भजनमेव न त्वधःपातः । भरतस्यापि मृगसङ्गेन विकर्मणा जन्मान्तरं जातं परं ततो द्विजत्वप्राप्त्या मुक्तिरेव न त्वधःपातः । एतेना- "त्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन् मुच्येत जन्मभि"रितिसिद्धान्तः समर्थितः । **अन्ते सर्वसामर्थ्ये**ति । यत्र तेषां विघ्नानां परमं सामर्थ्यं प्रभवति तादृशानि निषिद्धदेशरूपाणीत्यर्थः । भक्तास्तादृशस्थानेपि गतास्तत्कृतभयरहिताः । दैत्यानामभगवदीयत्वाद् भ्रंश एवेति तद्व्यतिरेकः । एवमग्रेपि सर्वत्र ज्ञेयम् । **अत** इति । **सामर्थ्यस्य** त्वदीयत्वादेतानपि त्वत्सृष्टान् ज्ञात्वा न द्विषन्तीत्यर्थः । सामर्थ्यस्य स्वकीयत्वे स्वातन्त्र्याद् द्वेषं न कुर्युरितिभावः ॥ ३३ ॥

सत्त्वं विशुद्धमित्यत्र—सम्यगनुतिष्ठन्तीति । येन सत्त्वाश्रयणे हेतुना वेदादिभिः करणैस्तवार्हणं समीहत इत्युक्ते वेदादीनां दृष्टद्वारकं भजनकरणत्वं न सम्भवतीति पूर्वं तदनुष्ठानं ततश्चित्तशुद्ध्या भजनमित्यदृष्टद्वारा करणत्वम् । तथा चैतावदर्थापत्त्या लब्धमिति ज्ञेयम् । **यदीति** । नियामकाभावे क्वचिद् विसंवादोपि भवेदितिभावः । नन्वदृष्टं भूतसंस्कारो वा नियामकोस्त्वित्याहुर्नन्वदृष्टादीति । धूमादिमार्गेदृष्टद्वारा फलसिद्धिरर्चिरादिमार्गे भूतसंस्कारद्वारेतिविभागः । **कर्त्रिति** । फलदाने कर्तृभूतमदृष्टं समानाधिकरणम् । कर्मण इतिशेषः । कर्मानुरूपमदृष्टं कर्तरि फलदायकमुत्पद्यतेत्यर्थः । तथा च ज्ञानाभावेन कर्मणो निरङ्गत्वान्नादृष्टोत्पत्तिर्न वा भूतसंस्कार इतिसमाधानम् ॥ ३४ ॥ **सत्त्वं न चेदित्यत्र—आत्मविवेकस्येति** । अनयोर्द्वयोरेतदभावादसिद्धं स्वर्गादिरूपमेव फलं भविष्यतीति भावः । **असिद्धेति** । पराश्रयमुक्तिपक्षेपीत्यर्थः । **तपसि** वेति । ज्ञाने तपसि वा सति । फलदानार्थं सत्त्वापेक्षा नास्तीत्यर्थः । तथापि ज्ञानार्थमेव सत्त्वापेक्षेतिसमाधानं भविष्यति । व्याख्याने निजपदव्यावर्त्यमाहुर्न **च शास्त्रेति** । **धातरित्यस्याभासमाहुर्न च तेरपीति** । **शास्त्रैरपि । स्वस्य मूलकारणभूतं** शास्त्रोत्थानि सत्त्वानि गुणा अंशा यस्यैतादृशं निजं वपुः सत्त्वमुपासकहृदय उत्पादयितुं शक्यत

इत्यर्थः। शुद्धसत्त्वोद्रेक **ऋषिभिः** शास्त्रप्रकटनात् सत्त्वस्य शास्त्रमूलत्वम्। **तेषामिति**। शास्त्राणां भगवदीयसत्त्वोत्पादकत्वाभावाद् यतो धाता निजसत्त्वोत्पादकस्त्ववत्येर्थः सत्त्वस्य विज्ञानहेतुत्वं **विज्ञानमिति**। प्रकारान्तरेणाप्याहुर्**यथा यथेति**। **इति शुद्धसत्त्वेति**। इति हेतुद्वयादित्यर्थः। **निषिध्यमानमिति**। 'न भवेदि'ति निषेधविषयीभूतं विज्ञानमित्यर्थः। उत्तरार्धं व्याचिख्यासवो **विज्ञान-स्वरूपं** विविच्य सत्त्वस्य तद्धेतुत्वं साधयन्ति **तच्चेति**। आविर्भूतस्य भगवतो जीवस्य चात्मत्वेनानुभवो **विज्ञानमितिभावः**। **स्वरूपस्य वेति**। जीवतात्त्विकरूपस्येत्यर्थः। उत्तरार्धस्याभासमाहु**र्नन्वस्येति**। **साधन** इति। विज्ञानहेतुभूताविर्भावसाधनार्थमित्यर्थः। **यद्यन्यथैवेति**। **अन्यथा**। सत्त्वं विनापीत्यर्थः। अर्थापत्त्याविर्भावः सिद्ध एव चेद् भवेत् तदा तत्साधनार्थं का सत्त्वापेक्षेत्यर्थः। **भवेत् सिद्ध** इतिशेषः। **तत्रेति**। आविर्भावहेतुगवेषणायामित्यर्थ **इन्द्रियाणामिति**। **लोकैर्दृष्टोनुभूयमान इन्द्रियाणां प्रकाशो** रूपादिग्रहणं स्वस्मिन् प्रवर्तकत्वाभिमानित्वाभ्यां हेतुभूतयोरन्तर्यामिजीवयोः **प्रकाशमाविर्भावमाक्षिपत्यर्था**पत्त्या बोधयतीत्यर्थः। तत्र हेतुमाहुस्तत्रेति। इन्द्रियाणां रूपादिग्रहणे प्रवर्तको भगवानभिमानी च जीवोत उभयोः प्रकाश आविर्भाव आवश्यकः। **भावः** सत्ता। तद्वान् भावी। भवतीत्यर्थः। **अत** इति। उभयोर्निर्धारादित्यर्थः। **तदनुसन्धानेनेति**। उभयोरनुचिन्तनेन तदुभयोरात्मत्वेन ज्ञाने व्यवधायकस्य प्रतिबन्धस्य मलस्य देहात्मज्ञानस्य निवृत्तौ सत्यामुभयोः प्रकाश आत्मत्वेनानुभवो भविष्यतीत्यर्थः। मूले गुणपदेनेन्द्रियाणि विषयाश्चे ति व्याख्यातम्। तत्रेन्द्रियाणि रूपादिज्ञानजनकानि तादृशज्ञानस्य रूपादिकं तु विषय इत्यर्थः। इन्द्रियाणां जनकतासम्बन्धो विषयाणां तु विषयतासम्बन्ध इतिविभागः। इन्द्रियजन्यं **विषयविषयकं** ज्ञानमिति। अत्र तदंशत्वाज्जीवोपि भगवत्पदेनोच्यत इत्याशयेनाहुः **प्रेरकोभिमानी चेति तथा करोतीति** इन्द्रियाणां विषयग्रहणं सम्पादयतीत्यर्थः। **केन कर्तव्य** इति? न केनापि कर्तुं शक्यो भवेदित्यर्थः। **प्रकृत** इति। विज्ञानसम्पादन इत्यर्थः। **प्रयोजकमिति**। हेतुरित्यर्थः। कैमुत्येन भगवदाविर्भाव-कथनार्थं चतुर्थश्चरण इत्याशयेन तस्यार्थमाहु**र्न चेति कारणं** गन्धादयः। **कार्यं** पृथिव्यादयः। तथा च पृथिव्यादि **व्यतिरेकेण** केवलगन्धादीनां **प्रकाशा** ज्ञानम**पि**शब्दात् स्थितिश्च **न सम्भव**ःयतः पृथिव्यादिप्रकाशो मन्तव्य इतिभावः। अन्यदित्याहु**रन्यथेति**। करणाभावे **गुणप्रकाशो न भवेत्**। सम्भावनायां लिङ्। न सम्भवतीत्यर्थः। अतः करणप्रकाशोपि मन्तव्यः। तथा च प्रकाशदेतूनां प्रकाशस्यावश्यकत्वात् प्रेरकाभिमानिनोरपि प्रकाशो मन्तव्य इतिभावः। इदं द्वयमपि **न च वक्तव्यमित्यर्थः**। **गुणो** रूपादि**र्यस्य** पृथिव्यादेः **सम्बन्धी प्रकाशते तस्य सम्बन्धिनः** पृथिव्यादेः **प्रकाशं** येन **च करणेन** चक्षुरादिना प्रकाशते **तस्य** चक्षुरादेः **प्रकाशं** च स्वप्रकाशे न त्वपेक्षते। तथा च संलग्नयोः सम्बन्धिकरणयोरेव चेत् प्रकाशनापेक्षते तर्हि **गुणप्रकाशो** भगवत्प्रकाशं कथं साधये-दितिभावः। ग्रहणं रूपादीनामेव। इन्द्रियाणां विषयग्राहकत्वात्। आश्रयस्तु रूपादिग्रहणे गृहीत एव भवति न तु तस्य भिन्नतया ग्रहणम्। अतो न कार्यकारणभाव इत्याशयः। भवानस्तीति भवतः सत्तामात्रं **गुणप्रकाशैरनुमीयते न तु तैर्भवतः** प्रकाशोनुमीयते। किं बहुना? यत्प्रकाशैर्भवाननुमीयते स **गुणो** यत्सम्बन्धी यत्करणकप्रकाशश्च स सम्बन्धी तत्करणं चाप्यस्तीति तत्सत्तामात्रमनु-मीयते न तु तत्प्रकाशोनुमीयत इति मूलेन्वयः। **प्रमाणप्रमेये** इति। **स्मृतिषु** योग इव वेदे प्रमाजनकत्वात् सत्त्वं प्रमाणम्। "इन्द्रि-याणां प्रमाणत्वं सत्त्वयोगान्न चान्यथे"त्यत्र तथाव्यवस्थापनात्। तत् सत्त्वं पूर्वश्लोके निरूपितं तेन साध्यः प्रमाविषयीभूत आविर्भावोत्र श्लोके निरूपित इत्यर्थः॥ ३५॥

बुभुत्सुबोधिका

तथा न त इत्यत्र। भक्तास्तु तादृशा अपि न पतन्तीत्याशयेनाभासमाहुः नन्वित्यादि। 'एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्य-कमेव च परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यत' इतिवाक्यात् साङ्ख्येपि पञ्चरात्रोक्तां स्वतो जातां वा आदरे जातेनादृतशब्द-प्रयोगात् भक्तिं निवेश्य साङ्ख्येपि भक्तिमार्गमाहुः भक्तिमार्गेति। विकर्मेति 'यः कश्चित् वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रयी' त्यादिवाक्येषु वैष्णवविशेषणतयोक्तेन विकर्मादिना। साधनत्वेनेति निरीश्वरसाङ्ख्यमायावादावलम्बनसाधनत्वेन। यद्वा। त्वदीयता-साधनत्वेन। आशङ्काग्रन्थत्वादेवकारस्त्वदीयत्वासाधनत्वयोगव्यवच्छेदकः। तुल्यत्वादिति बुद्धिनाशप्रसञ्जकत्वेन तुल्यत्वं आत्मी-यान्ययोर्मार्गयोः, भगवद्भावे साधनत्वेन परिग्रहस्य तुल्यत्वादित्यर्थो वा। मार्गान्तरं अन्यमार्गम्। स्मार्तस्येति आत्मीयेभ्यो येन्ये तेषां मार्गो गतः। तथा च मोक्षशेषभूतस्य। त इति स्मार्तभगवन्मार्गीयाः। पूर्वमिति बुद्धिनाशात् पूर्वम्। तद्वत् निरीश्वरसाङ्ख्यवत्। इदं मूलस्थ'तथा'पदस्य विवरणं, तथा चैवमन्वयः। ये तथा पूर्वं तद्वत् प्रवृत्तास्तेपि तावकाः सन्तः न नश्यन्तीति। पाद इति इदं भ्रश्यन्त्यपि नेत्यस्य विवरणम्। एतस्यैव निष्कर्षमाहुः आरुह्यमाणेति। साङ्ख्यमार्गात्। स्वमार्गादिति भगवन्मार्गात्। स्मृतिकृतपक्ष-पाते लोकवेदात्मकस्मृतिसङ्ग्रहोद्येति। विशेष्यविशेषणभावो वा। मार्गस्येवेति 'यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे'तिवाक्यात्। प्राप्नोत्येवेति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारः। भगवानितीति ऐश्वर्यप्रधानः। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वमैश्वर्यम्। न भवत्येवेति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारः। तत्रत्यानामिति तावकानाम्। विलास-चिह्नानां भगवति रात्रौ भवानां वा दर्शनार्थम्। विकर्मेति 'अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृत'मितिवाक्यात् तथा। द्वितीयपक्षे विषयासक्तिसद्भावेन विकर्मतुल्यत्वं दर्शनस्य। 'अपि चेत् सुदुराचार' इति वाक्यादाहुः सेवापरत्वादित्यादि। अनेन सेवाया विकर्म-बाधकत्वमुक्तम्। तदित्थम्। ये भक्ताः सेवां कुर्वाणा अपि न विषयासक्तिरहितास्तेषां विषयासक्तिनिवृत्त्यर्थं भगवान् स्वस्वरूप-

स्थितानि विलासचिह्नानि प्रदर्शयति, तदा चिह्नानामतिरमणीयत्वेन भगवद्विलासे सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानाद् विषयेष्वतिहीनत्वबुद्धिरुत्पद्यते, तदा विषयं त्यक्त्वा भगवत्येवासक्ता भवन्तीति। नान्येषामिति 'येन्य' इतिपदोक्तानां प्रसिद्धान्येषां नेत्यर्थः। अत एवेति दर्शनवत्त्वादेव। रज्ज्विति स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यज' इतिवाक्यात्। स इति स्नेहः, सः स्वं स्नेह आत्मनि यस्यैतादृशं जीवम्। तेषामिति स्मार्तभगवन्मार्गीयाणाम्। कालादय इति आदिना दुःसङ्गादयः। 'सर्वत' इत्यर्थक'मभित'इत्यव्ययमित्याहुः बाह्याभ्यन्तरेति। बाह्यं देहं कालादिभ्यः आभ्यन्तरं भक्तिं दुःसङ्गादिभ्यः। कालादिभ्यः एव वा बाह्यमाभ्यन्तरं च। तदपि सर्वं यतः सर्वभावेन सर्वत्वेन। रक्ष्यमाणाः रक्षिताः। यथाश्रुतं वार्थः। बाह्यमाभ्यन्तरं च सर्वमाहुः बुद्ध्यादीनामित्यादि। आदिना मनश्चित्ताहङ्काराः मनोवृत्तयश्च दशाभ्यन्तरं सर्वम्। अन्यप्रवेशो भूतादिप्रवेशो बाह्यं सर्वम्। सर्वेष्विति 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति छान्दोग्यश्रुतेः। 'तस्य' सर्वात्मभाववतो भक्तस्य। सर्वात्मभावदानेनापि रक्षिता रक्ष्यमाणा वा भ्रमन्तीत्यत्र कर्तारः। तदाहुः कालादिभयरहिताः निर्भया इति दुःसङ्गेपि निर्भयाः। यदिति सर्वलोकेषु विनायकानीकपमूर्धरूपम्। एतेषामिति आत्मीयानां तावकानाम्। नायका दुष्टानामित्याशयेनाहुः विघ्नकर्तार इति। स्वयमपि दुष्टाः। घ्नवर्णलोपं इत्याशयेनाहुः विशब्देनेति। 'विघ्नराज' इति शब्दसमानाधिकरणत्वाद् विघ्ना उच्यन्ते। जनका एवेति विघ्नजनका एव। अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः। अनधिकारात्। बहव इति बहुवचनार्थः। भगवदीयेति आदिशब्देन बलभद्रसुदर्शनभयमम्बरीषप्रसङ्गे नवमस्कन्धे दुर्वाससः। बलभद्रभयं फलप्रकरणे भक्तनयने शङ्खचूडस्य। शंखचूडस्पर्शेप्यत्रत्यस्पर्शात् पश्चादस्पृश्यैवेति ज्ञेयम्। उक्तदार्ष्टान्तिके दृष्टान्तमाहुः यथा प्रह्लाद इति। सामीप्ये सप्तमी। यथा प्रह्लादसमीपे अस्पृश्यैव तिष्ठन्तीत्यन्वयः। तेष्विति उक्तानां मूर्धसु सर्वसामर्थ्यस्थानेषु परमकाष्ठापन्नेषु आरोहणं मर्यादार्थं जन्म तदर्थं भगवद्भक्ताः प्रह्लादादयः। सेश्वरसाङ्ख्याः पादं चरन्तीत्यस्य गतिकर्मणः गत्याश्रयं, पादं पदनं गमनं स्वीयं कुर्वन्ति, प्रयच्छन्ति ददति। दैत्येभ्यः। अयमर्थः। पूर्वं सनकादिरूपस्य प्रह्लादस्य भगवद्द्वारि क्रोधेन विकर्मणा दैत्येष्वनुपदोक्तरीत्या जन्म जातम्। तथा च निबन्धे 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायत' इति सम्प्रदायः। इदं अशक्यत्वेन भातं परिभ्रमणस्थानं जीवानामित्याभासोक्तं युक्तम्। किंच तदनु सर्वेषु लोकेषु परिभ्रमन्ति। यत्र तेषां विघ्नानां परमं सामर्थ्यं प्रभवति तादृशेषु निषिद्धदेशेष्वपि भ्रमन्तीति तेषामध इति। विघ्नतत्कर्तॄणां भगवद्भक्तानां तत्कृतभयाभावाद् भगवद्बद्धसौहृदत्वेनाधःपातनसामर्थ्याभावात्। अत्राधःपातनं पादसेवनानादरः। पाद आकाशः। प्रतिष्ठाहेतवः भक्तिहेतवः एव भवन्ति। माहात्म्यस्मारकत्वात्। अत्र निबन्धः 'किन्तु हीनेषु जायत' इत्यस्याग्रे पूर्वसंस्कारतस्तत्र 'भजन् मुच्येत जन्मभि'रिति। अयं सिद्धान्तः समर्थितः। दृष्टान्तमाहुः यथा जडेति। तेषामिति त एते निरीश्वरसाङ्ख्याद्याभिनिवेशिनोपि। अहं ब्रह्मास्मीति भावनावन्तः। तेषां मूर्धानः मुख्याः। सर्वेति यत्र तेषां विघ्नानां परमं सामर्थ्यं प्रभवति तादृशानि निषिद्धदेशरूपाणि। गौणनिषिद्धदेशव्यावृत्त्यर्थं विशेषणं परमेति। परमकाष्ठा पश्चिमदेशकाष्ठा। अतस्त इति तावकाः। न द्विषन्तीति। अधःपतनसाधनं क्रोधं न कुर्वन्तीत्यर्थः। अधोगमनत्वेन तमस्त्वेन कार्यकारणभावात्। 'अधो गच्छन्ति तामसा' इतिवाक्यात्। यत् तु यथा पूर्वश्लोकोक्ताः पतन्ति तथा ते तावकाः न भ्रश्यन्तीत्यन्वयं कश्चिदाशशङ्के। तथा च पाता भवति परं तथा न भवतीत्यर्थं चाह। तन् मन्दम्। 'त' इति पदस्य वैयर्थ्यापत्तेः। यदि हि तच्छब्दस्येदं बहुवचनान्तपदं तदा तेन पूर्वश्लोकोक्ता एव परामर्षणीयाः। तेषां तु पात उक्त इति न भ्रश्यन्तीति वाक्यस्यैव विरोधः। यदि च युष्मच्छब्दस्य षष्ठ्येकवचनान्तं तदा तेनैव भगवदीयतायाः प्राप्तत्वात्, 'तावक'पदस्य वैयर्थ्यमिति दिक्। सिद्धमाहुः अतो भक्तीति। तथा चात्र स्तुत्या भगवदंह्य्यादरस्य साधनस्य फलनिरूपकत्वं बोध्यम्। फलमभयम्। 'अभयं ह वै जनक प्राप्तोसी'तिबृहदारण्यकाद् वेदः, एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्षः इति लोकः। दुःखं भयात्। 'मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न पर इति साङ्ख्यसूत्रम्। भाष्येप्येकंका भक्तिर्मुक्तिसाधनमित्युक्तम्। भक्तास्तादृशस्थानेपि गतास्तत्कृतभयरहिताः, दैत्यानामभगवदीयत्वाद् भ्रंश एवेति दैत्यपक्षव्यतिरेकः। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये 'वायुः सन्धानं' 'वैद्युतः सन्धान'मिति च श्रुतिः। वेदे वायुः अधिलोके वैद्युतः। लोकवेदात्मकत्वं स्मृतेरिति। परिशेषादत्र श्लोके। 'माधव'पदेना'त्मा वै पुत्र नामासी'तिश्रुतेर्वायुः वैद्युतश्च। विद्युता लिङ्ग्यत इति वैद्युतः, शैषिकोऽण्, माधवः। सूर्यो विद्युत्त्थः, माशब्दस्य विष्णुपत्न्यां लक्षणा, एकभर्तृत्वसम्बन्धः। फलत्वसाम्यात्। जन्मप्रकरणत्वेन सङ्ख्यातात्पर्यस्य मुख्यत्वात्। प्रश्ने विशेषाभावः। छान्दोग्ये 'सूर्यः कले'तिश्रुतिः। स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् एतैः सर्वैरादित्यमण्डलमेव विधास्यत' इत्यारण्यकात्॥ ३३॥

सत्त्वं विशुद्धमित्यत्र पूर्ववदिति प्रमाणादि किं भगवत्पक्षपाते आह। सप्तम्यन्ताद् वतिः। प्रमाणेन पक्षपातमुपपादयति स्म वेदो हीत्यादि न स्यादित्यन्तम्। वैदिके मार्गे सर्वधर्मप्रवर्तको भगवान् प्रमाणं, तच्चानधिगतार्थगन्तृत्वं, तत् सर्वमुच्यते। प्रवृत्तीति 'निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं दूरतस्त्यजे'दित्युक्तेः। प्रतिपादक इत्यभिधया। तात्पर्यवृत्त्या तु 'तवार्हणमर्थं' इत्यग्रे वक्ष्यन्ति 'ततोपी'ति ग्रन्थेन। 'आश्रमादाश्रमं गच्छेन् नान्यथा मत्परश्चरे'दितिवाक्यात् सर्वोत्तममार्गमेकादशस्कन्धे 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवे'दित्याद्यध्यायद्वयेनोक्तं व्याख्यायामाहुः तादृशोपीत्यादि। प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपादकोपि, प्रत्येकं एकं प्रवृत्तं निवृत्तं वा कर्म लक्षीकृत्य, द्विधा भिन्नैः ब्रह्मचारिगृहस्थावित्येको भेदः वानप्रस्थयती इत्येको भेदः। द्विधा भिन्नैश्चतुर्भिराश्रमैः। द्विविध इति ब्रह्मचारिगृहस्थाधिकारकः वानप्रस्थयत्यधिकारकश्चेति। सप्तदशाध्यायार्थैकवाक्यतयाहुः तत्र प्रवृत्ताविति। सिद्धमिति ब्रह्मचारिणोरध्ययनं

अर्थो वेदार्थः गृहस्थस्यानुष्ठानं तेनाध्यात्मिकचित्तशुद्धौ अवबोधो ज्ञानमिति सिद्धम्। अष्टादशाध्यायार्थैकवाक्यतयाहुः तप इत्यादि। एतेन वेदः प्रमाणं भगवत्कृतिश्चाश्रमचतुष्टयधर्मरूपा प्रमाणमुक्तम्। कृतिसम्बन्धिनं प्रवर्तकं भगवन्तं प्रमाणमाहुः एतदित्यादि। धर्मोनुष्ठानमित्यस्य विशेषणं वेदानुसारेणेति। क्रियाकाण्ड इतिनामानुसरणेन। दैत्यांशानामिति आश्रमचतुष्टयाधिकारित्वेवासुर-सम्पत्तिमताम्। सत्त्वमूर्तिरिति द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये'प्रवर्तते यत्रे'तिवाक्ये शुद्धसत्त्वस्य वैकुण्ठ उक्तेः'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्ति'-रित्युक्तम्। द्वितीयनवमाध्यायोक्ता। मिश्रसत्त्वप्रयोजनमाहुः स्वसत्त्वं प्रकटीकृत्येति। स्वं स्वीयम्। सात्त्विकानेवेति एवकारस्तामस-दैत्यांशयोगव्यवच्छेदकः। प्रेरयतीति बुद्धिद्वारा। विपरीतानिति तामसान्। श्लोकं व्याकुर्वन्ति स्म वैदिकाश्चेति। जगति प्रवर्तन्ते इति 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तत्थेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' इति गीतायाः। स्थितिपदार्थं विशदयन्ति स्म तदेव तेनेत्यानि। 'स्थितिर्वैकुण्ठविजय' इतिवाक्याद् वैकुण्ठरूपेणैक्येपि विजये न कर्तृकर्मभाव इति। श्रयते सेवते। क्रीडार्थ आत्मने-पदात्। द्वितीयस्कन्धनवम एव 'ददर्श तत्रे'त्यत्रेत्यादिवाक्योक्तः सात्वतां पतिर्वाक्ये भगवान्। भक्तवश्यत्वेपि क्रीडापि निमित्तम्। प्रसृतेनेति व्यापकधर्मस्य व्यापकत्वनियमात् व्याप्तेनेत्यर्थः। क्रमेणेति आश्रमक्रमेण। सम्यगनुतिष्ठन्तीति येन व्याप्तस्य सत्त्वस्या-श्रयणेन हेतुना वेदादिभिः करणैः'स्तवार्हणं समीहित' इत्युक्ते वेदादीनां दृष्टद्वारकं भजनकरणत्वं न सम्भवतीति पूर्वं वेदाद्यनुष्ठानं ततश्चित्तशुद्ध्या भजनमित्यदृष्टद्वारा करणत्वम्। तथा चैतावदर्थात् अर्थापत्तिरूपाल् लब्धम्, 'आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामा'ति कारिकाया इति ज्ञेयम्। वेदरूपप्रमाणस्याभिधया भगवान् तत्कृतिश्च प्रमाणं निरूप्य तात्पर्यवृत्त्या वेदप्रमाणसिद्धार्हणकृतिरूपप्रमाणमाहुः ततोपी-त्यादि। शुद्धान्तरिति आधिदैविकी शुद्धिरत्र। तवार्हणमिति तदुक्तं, 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवे'दिति। भगवत्सेवेति सेवा रतिः। श्रद्धायां भक्तौ व्यसनरूपप्रेममिलनात्। रतिरेवासक्तिः। अत्र 'श्रद्धा-रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्यम्। 'ततः प्रेम तथा सक्तिर्व्यसनं च यदा भवे'दित्याचार्योक्तिश्चानुसन्धेया। स्फुटिर्यथाऽनन्तपारस्य वेदस्यातिविस्तृतभगवत्सेवानिरूपकत्वेन विस्तारस्य स्कन्दपुराणचातुर्मास्यमाहात्म्यनिरूप्यत्वात् प्रवृत्त्यर्थं संक्षिप्तपूजनमेकादशेकोन-विंशाध्यायोक्तम्। एकोनविंशाध्यायोक्तश्रवणादिकं च भगवत्सेवापदेन गृह्यते। भक्तिवर्धिन्यां 'पूजया श्रवणादिभि'रित्याचार्य-वचनात्। अष्टाक्षरमन्त्रः श्रीभागवतमाहात्म्योक्तः साधनचतुष्टये मुमुक्षुकार्यम्। "मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेदितिश्रुतेः। आत्मनिवेदनं श्रद्धा, श्रवणादिसरणिः प्रेमान्ता, एकोनविंशाध्याय एकादशीये इयं मर्यादा भक्तिः। पुष्टिभक्तिस्तु सन्ध्यामन्त्रे। 'तत्वायामि ब्रह्मणा वन्द्यमान' इत्यादौ। 'तदाशास्त' इत्यनेन तच्छब्दार्थाशया यजमानो हविर्भिरिति मूर्तौ मर्यादामार्गकरणात्। सर्वात्मभावस्तु प्रदान-साध्य इत्यन्यदेतत् भावनादिकं ग्रन्थान्तरादूह्यम्। फलाध्यायरश्मेश्च मत्कृतात् अप्रतीकालम्बनसूत्रीयात्। विस्तरभिया न लिख्यते। ननु वेदेनेति विधिनिरूपकेणैव। एवकारः सत्त्वश्रयणयोगव्यवच्छेदकः। कार्यसिद्धाविति धर्मप्रमित्यादिसिद्धौ। मूले श्रेयः फलमित्या-शयेनाहुः यदि फलेति। कोपीति वेदातिरिक्तश्च तनो नियामकः। न च वपुर्विना वेदादपि न फलसिद्धिरिति वाच्यम्। तैत्तिरीये 'तस्य यजुरेव शिरः ऋग् दक्षिणः पक्ष' इत्यादिपक्षिवपुस्सत्त्वाद् वेदस्य। एवं वेदातिरिक्तापेक्षाभाव इति वाच्यम्। 'तासां न पौरुषी प्रिये' तिवाक्यात् पुरुषविधब्राह्मणोक्तवपुषो मुख्यत्वात्। वेदातिरिक्तचेतनापेक्षासत्त्वात्। विसंवादिनमिति फलेन विगतसंवादोस्यास्तीति विसंवादी तं विसंवादिनम्। फलरहितम्। न प्रवर्तेतेति'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजन' इतिवाक्यात्। तथा च दृष्टविसंवादेपि केचिद् वेदमार्गेण प्रवर्तन्तेन्ये च न प्रवर्तन्ते इतिदर्शनात्, न वेदेन धर्मप्रमित्यादि-सिद्धिः किन्तु श्रेयोजनकः सत्त्वोपाधिर्वैदिकपदार्थयथार्थज्ञानजननायावश्यकः, 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान'मितिवाक्यात्, प्रमेयबलं चैतत्, वेदशब्दस्तु स्वज्ञानजनने भगवत्प्रसादसापेक्ष इति वेदातिरिक्तश्च तनः फलदानायापेक्षितः। 'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते। तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात् परमात्मन' इतिश्रुतेः। एतदाक्षिपन्ति स्म नन्विति। शुद्धसत्त्वस्य प्रमेयबलतुल्यत्वे-नादृष्टभूतसंस्कारद्वारा प्रमेयबलेन ज्ञानभक्तिभ्यां वैदिकपदपदार्थयथार्थज्ञानजननरूपकार्यसिद्धावित्यर्थः। समादधते स्म ते हीत्यादि। अत्र टिप्पणी। अदृष्टजनकमिति प्रमेयबलजन्यज्ञानभक्तिव्यापारभूतं यददृष्टं तस्य जनकमित्यर्थः। ज्ञानमिति माहात्म्यज्ञानम्। 'य एवं वेदे'त्यन्तिमवाक्यं बहुषु स्थलेष्विति बहुवचनम्। तदभावादिति वेदान्तोक्तकर्तृस्वरूपस्य मुक्तस्य माहात्म्यज्ञानस्य चाभावेन यथोक्तत्वाभावात् न तादृशादृष्टजननं, षडङ्गाशुद्ध्या कर्मप्रकारज्ञानाभावाच्च न भूतसंस्कारः शरीरोत्पादनलक्षण इत्यर्थः। जडत्वादिति शरीराभिमानेन जडत्वाच्चेतनधर्मस्यादृष्टस्य तत्र नोत्पत्तिरित्यर्थः। सुबोधिन्याम्। जानीयुरिति ते चतुराश्रमस्थाः शरीराभिमानिनः शरीरमात्मेत्यन्यथाज्ञानवन्तः। शरीरमात्मत्वेन जानन्त्यतो यदि प्रथमं शरीरभिन्नतयात्मानं जानीयुः विद्वन्मण्डनोक्तरीत्या शरीरं नात्माऽनित्यत्वादित्येवमात्मविषयकानुमितिरूपज्ञानानुकूलव्यापारवद् व्यापारवन्तो विधिरस्मान् प्रेरयतीत्येवं विधिविषयत-यात्मज्ञानं कुर्युरित्यर्थः। तदा कर्त्रिति भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वं सामानाधिकरण्यम्। कर्तृपदप्रतिपाद्यार्थैक्येनार्थ-प्रतिपादकत्वमदृष्टपदे तत्प्रतिपाद्यमदृष्टमुत्पद्येतेत्यर्थः। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्। तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति'रितिगीतायाः। दैवमदृष्टम्। तथा च कर्तृपद-प्रतिपाद्यमदृष्टमुत्पद्येतेत्यर्थः। एवकारोत्यन्तायोगव्यवच्छेदकः। देहान्तर इति तेषां विद्यमानशरीराणां देहान्तरे वा फले प्राप्ये भूत-संस्कारो देहान्तरोत्पादको भवेदित्यर्थः। अभावादिति ज्ञानाभावेन कर्मणो निरङ्गत्वान् नादृष्टोत्पत्तिः न वा भूतसंस्कार इति समा-धानम्। भगवानेवेति कर्तृपदवाच्यो भगवान्। एवकारोऽधिष्ठानादिकर्तृचतुष्टययोगं व्यवच्छिनत्ति। वेदकृतपक्षपातत्वाद् भगवान्

वासुदेवः, 'वासुदेवश्छन्दसि पठ्यत' इति ज्योतिषे। तेन 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य' इतिसूत्राद् भगवान् कर्मापेक्षः फलदातेत्यपि प्रत्युक्तम्। वेदान्तमतत्वेन भगवन्मार्गाकृतपक्षपातविषयत्वात्। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'तिश्रुतेः, 'नाहं वेदे'रिति स्मृतेश्च। तथा च वासुदेवपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन वासुदेवत्वरूपविशुद्धसत्त्वस्य वसुदेवशब्दितस्यापेक्षेति भावः। 'विशुद्ध-सत्त्वं वसुदेवशब्दित'मितिवाक्यात्। अपेक्ष्यत इति फलदानार्थमपेक्ष्यत इत्यर्थः। श्रेय इति श्रेयांसि सुदामसमृद्धिः नन्दभक्तिः परीक्षिद्ब्रह्मास्त्रनिवारणं 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति योगक्षेमप्रापणम्। उक्तफलानि च। उप समीप इति अलौकिकी व्युत्पत्तिः उप समीपेऽयतेनेनेति लौकिकी। 'करणाधिकरणयोश्चेति ल्युट्'। यस्मादिति वपुषः। वं सुखं पुष्णातीति वपुरिति व्युत्पत्त्याहुः। दैवगत्येति। पुष्ट्या अधीतिनामिति बोध्यम्। किन्तु वपुषो व्यापकत्वादित्यपि बोध्यम्। अस्तु वेति यथाकथंचिच्छा-ब्दादिज्ञानरूपात् कर्तृस्वरूपज्ञानात् कर्मप्रकारज्ञानाद्वास्तु वा। तस्येति चतुराश्रमीणस्येत्यर्थः। भगवद्भजन इति भक्त्यात्मके करणत्वं, प्रसृतसत्त्वाज् ज्ञानं, ज्ञानादिच्छया यत्न इति। अन्यथासिद्धत्वे तु कारणत्वमपि न सत्त्वस्य, कुतः करणत्वमित्यरुच्याहुः सहायत्व-मिति। अन्यथासिद्धं यत् प्रतीयते कारणत्वं तदेव सहायत्वम्। यद्वा सहायत्वमाधिदैविकत्वं सत्त्वस्य भगवदीयत्वात्। भगवतश्चा-धिदैविकत्वात्। क्षयिष्ण्वेवेति 'जायस्व म्रियस्वे'ति छान्दोग्योक्ततृतीयमार्गोक्तं क्षयिष्ण्वेव फलम्। एवकार अक्षय्यफलयोरन्यव-च्छेदः। 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवती'ति श्रुत्युक्तं अक्षय्यं वैश्वदेवपर्वणि। तत् पूर्वमीमांसाभाष्ये वृत्तौ वा मत्कृतायां स्पष्टमिति ततोवसेयम्। पूर्वदोषेति कस्याप्यप्रवृत्तिलक्षणदोषस्यानिवृत्तिः। देवानां पक्षेति अस्मिन् पक्षे पूर्वार्धेन सत्त्वस्य फलसिद्धौ धर्मज्ञानद्वारा करणत्वमुक्तं, तच्च सत्त्वं पूर्वोक्तं मैत्रायणीयोपनिषदुक्तो गुणान्तरसारभूतः कारणं सत्त्वगुणः कारणनिष्ठो वेदे ब्राह्मण-रूपे प्रमाणं, मन्त्ररूपे वेदेनुष्ठीयमानवैदिकधर्मेषु भगवत्सेवाकरणतायाः तत्सहायतायाश्च प्रमितिर्भवति। ननु मन्त्रोक्तानुष्ठानेन फलं न ब्राह्मणप्रमितधर्मेणेति चेन्न। श्रेयस्त्वेन फलस्योपादानात्। तद् देवानां सात्त्विकत्वात् तत्पक्षपातार्थं भगवताधिष्ठीयते। सत्त्वेन धर्मप्रवृत्तिर्देवानां तमसा दैत्यानामिति। न च भगवत्सेवाकरणतातत्सहायताविशिष्टधर्मप्रमितौ सत्त्वस्यान्यथासिद्धत्वेन कारणत्वं कुतः करणत्वमिति शङ्क्यम्। सत्त्वाज् ज्ञानं ज्ञानादिच्छेच्छाया यत्न इति क्रमस्यात्राभावात्। सत्त्वे ज्ञानपदप्रयोगात्। यत्नेपि ज्ञानपदप्रयोगः पञ्चरात्रशास्त्रे। अतः सत्त्वस्येच्छाव्यापारकत्वं वा। अत्र मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति वेदकृतपक्षपाते उत्तरार्धेन वेदक्रियायोगतदर्हणानां फलसिद्धौ करणत्वमुक्तं, तानि च शब्दभगवत्कृतिजीवकृतिरूपत्वेन मन्त्ररूपे वेदे प्रमाणं अनधिगतार्थगन्तृत्व-रूपम्। वेदादिभिः तदर्हणादिरूपधर्मानुष्ठानादि प्रमा भवतीति। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्रश्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते तैत्तिरीये 'अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः जिह्वा सन्धान'-मिति चतुष्के वाक् सन्धिरत्र। 'वाचा विरूपनित्यये'ति श्रुतेः। वाक् प्रमाण, शब्दरूपत्वात्। प्रश्ने विशेषाभावः। छान्दाग्ये 'प्रतीची-दिक्कले'ति श्रुतिः। वरुणेन दिक्पतिना नारायणप्रमाणम्। व्रियते वृणोति वा वृणुते वा वरुणः। वृञ् वरणे। 'कृवृदादिभ्य उनन्'। नारा आप इति प्रोक्ताः ता अयनं यस्येति नारायणः।॥ ३४॥

सत्त्वं न चेदित्यत्र पूर्वश्लोके पूर्वाधनोक्तं पक्षपातमेकदेशेनाश्रमचतुष्टये आश्रमद्वयेनाक्षिपन्ति स्म नन्वित्यादि। भवतु नामेति भक्तिमार्गे पुष्टेः सत्त्वेन तदुभयोपकारकं भवतु नाम श्रेयोदानार्थम्। गृहस्थमुक्तेश्च छान्दोग्योक्तात्। इत्याश्रमद्वयव्यवस्था। आश्रमचतुष्टये द्वितीयैकदेशेनाहुः ज्ञानस्येत्यादि। आत्मसाक्षात्कारस्य भगवद्विज्ञानस्य च। विज्ञानं ज्ञानमेकमेव मन्यन्ते। सिद्ध-फलेति देहाध्यासनिवृत्तिद्वारा सिद्धस्य परमानन्दरूपस्य मोक्षाख्यफलस्य ब्रह्मज्ञानस्य दातृत्वात्, भगवद्विज्ञानस्य भेदनाशद्वारा सिद्धस्य परमानन्दरूपस्य मोक्षाख्यस्य फलस्य दातृत्वात्। असिद्धेति साध्यस्वर्गादिफले द्रव्यादियागेपि ज्ञानस्य साक्षादेव कर्मभिरेव 'य एवास्मि स सन् यज' इतिश्रुतेः फलजननसम्भवात्। तद्ज्ञान इति संन्यासाश्रमीणज्ञान आत्मसाक्षात्काररूपे। तत्साधन इति यतिज्ञानसाधने वानप्रस्थतपसि वन्यफलयागरूपे। नापेक्ष्यत इति विवेकस्य जातत्वादितिभावः। आत्मानात्मविवेकमन्तराश्रमद्वयेऽ-प्रवृत्तेः आहेति विशुद्धानुवादकनिजपदाभिप्रायपूर्वकं विज्ञानप्रमेयमाह। 'निजं सत्त्व'मिति योजनयाहुः शुद्धसत्त्वमिति। सत्त्वप्रयो-त्यार्थमाहुः सर्वरक्षकमिति। सर्वकर्मेति मोचककर्मसङ्ग्रहाय सर्वपदम्। 'शरीरिणां श्रेयउपायनं वपु'रित्यस्य तात्पर्यार्थः चेदिति। च इदिति पदच्छेदः। चोप्यर्थे इदवधारणे। विज्ञानमिति भगवद्विज्ञानं न भवेदिति पूर्वेणान्वयः। कारणाभावादिति हेतुः। अपिना श्रेयः। पदार्थसम्भावनायामपिः। सत्त्वस्य श्रेयोदानार्थत्वमुक्तं, पूर्वश्लोके विज्ञानार्थत्वे हेतुमाहुः सत्त्वात् सञ्जायत इति। शास्त्रसिद्धे-नेति शास्त्रीयवाग्विषयेण। उपेति उप समीपे नियन्तुः। परकीयत्वात् शास्त्रीयत्वात्। तदैवेति तत्काले। अभ्यासेपि पदजन्यपदार्थो-पस्थितेः कारणत्वात् शास्त्रानुसन्धाने शास्त्रार्थयागाद्यनुष्ठाने वा शास्त्ररूपपदजन्यत्वेन अनुष्ठाने मन्त्ररूपपदजन्यत्वेनैवकारोय-धारणार्थकः। आविरिति अन्यथाऽन्यदापि सत्त्वाज् ज्ञानं भवेदिति। तद्धर्मेति पदसमानाधिकरणः शास्त्रानुसन्धातुः तदर्थानुष्ठातुर्वा धर्मः तत्त्वात्। यद्वा सत्यादिधर्मत्वात्। सत्याद् रजः ज्ञानात् सत्त्वं आनन्दाच्च तम इति। स्वरूपलक्षणेऽनन्त आनन्द इति। इदमिति पार्थिवमिव प्रतीयमानमाकाशम्। निजं वागगोचरमध्यपातिवागगोचरम्। 'धात'रित्यस्याभासमाहुः न च तैरपीति। शास्त्रैरपि सात्त्विकराजसतामसैः। स्वमूलेति स्वीयसत्त्वादिगुणमूलं च तत्कारणभूतः सत्त्वगुणस्तम्। यद्वा तैरित्यस्य निजैरित्यर्थः। सत्यज्ञानानन्तधर्मैः सत्त्वरजस्तमोभिः उत्पादयितुमिति उपासकहृदये उत्पादयितुम्। तेषामिति प्रकृतिसाम्यावस्थारूपस्य गुणत्रयस्य

स्थित्यादिकालक्षुब्धानां विष्ण्वादिशक्तिभूतानां सत्त्वादिगुणानाम्। विशुद्धसत्त्वकारणत्वाभावात्। तस्य नित्यस्य कारणायोगात्। यतो धाता निजसत्त्वोत्पादकस्त्वमेवेत्यर्थः। सत्त्वस्य विज्ञानहेतुत्वं व्युत्पादयन्ति स्म विज्ञानमिति अनुभवस्तु आत्मभगवद्विषयकः। आत्मविषयकं भगवद्विषयकं चानुभवं व्युत्पादयन्ति स्म स च सत्त्वैकेति। सत्त्वं एकं रूपे यस्यान्तःकरणस्य तत् तथोक्तं तस्मिन्। 'माया मनःसृजती'ति चतुर्थस्कन्धात्। कारणस्य रजस्तमसो अन्तःकरणे तिरोहिते। साधनात्। भवतीति 'कामः सङ्कल्पः' इतिश्रुतौ मनोवृत्तिषु धीगणनात्। यथा यथेत्यादि ब्रह्मवित्प्रपाठके आनन्दमीमांसायां प्रत्यानन्दं 'श्रोत्रियस्य चा कामहतस्ये'ति विशेषणे छन्दोऽध्येतुः 'अकामहतत्व'मिच्छाऽपराभूतत्वं इच्छयाननुकूलेपि प्रवृत्तत्वमितियावत्। 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेसौ मत्पुण्यगाथा-श्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्त'मितिवाक्यमप्यनुसन्धेयम्। शुद्धसत्त्वेति आन्तं विशुद्धावन्तः-करणे मायिकसत्त्वाद्युपमर्देन शुद्धसत्त्वाविर्भावे भगवदधिष्ठानं तस्मिन् सत्येव समानाधिकरणं मनस्यात्मविज्ञानम्। जगत्यन्ने इति जगद्रूपेऽन्नेऽभेदान्वयः क्षुधीति दार्ष्टान्तिके आत्मविज्ञानाकाङ्क्षा क्षुत्स्थाने। शक्यमिति 'वासुदेवं परित्यज्य योन्यं देवमुपासते। तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मति'रिति पाण्डवगीताया न शक्यम्। अयमर्थः। जगतोन्नत्वं ईशावास्योपनिषदि 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज् जगत्यां जग'दिति जगदुक्तम्। तस्यान्नत्वं तैत्तिरीये 'अन्नं बहु कुर्वीत, तद्व्रतम्, पृथिवी वा अन्न'मिति।

'अन्नं'पृथिवीं 'बहु कुर्वीत' 'पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्न'मितिश्रुतेरन्नौषधिरूपेण बहु कुर्वीतेत्यर्थात्। अन्नसम्पाद-नमिति दार्ष्टान्तिके विज्ञानसम्पादनम्। न तु क्षुदनन्तरमिति दुःसहक्षुदनन्तरमित्यर्थः। दार्ष्टान्तिके दुःसहात्मविज्ञानाकाङ्क्षानन्तरम्। तत्सम्पादनं अन्नसम्पादनम्। दार्ष्टान्तिके आत्मविज्ञानसम्पादनं शक्यम्। ननु जानातीच्छति यतत इति आकाङ्क्षानन्तरं यत्न उचित इति चेन्न। ननु क्षुदनन्तरं तत्सम्पादनं शक्यमिति पाठान्तरसत्त्वात्। क्षुदनन्तरं क्षुज्ज्ञानं तदनन्तरं तन्निवर्तकान्नाकाङ्क्षा तदनन्तरं तत्सम्पा-दनमन्नसम्पादनं यत्नाख्यं शक्यम्। ननु प्रश्ने अयं प्रश्नः। यद्वा ननु निश्चयेऽयं निश्चय इत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकमाहुः अतो भगवतेति। आविर्भावित इति अन्नदृष्टान्तेन दृष्टान्तिते। तत्कृपयेति विज्ञानकारणभूतकृपया। विज्ञानत्वेन तत्कृपात्वेन कार्यकारणभावात्। आत्मविज्ञानाकाङ्क्षायां सत्यामिति बोध्यम्। सङ्कर्षणप्राकट्यस्याध्यायार्थत्वात् तत्प्रतिपाद्यपूर्वाध्यायार्थोपि भगवता सह सत्त्वं वासुदेवा-ख्यमित्यर्थः। तदायमहमित्यभेदेनानुभवः। इदं सत्त्वं आविर्भावितसत्त्वं प्रसृतं बोध्यम्। न त्वन्यथेति भगवता सत्त्वे अनाविर्भाविते। निषिध्यमानमिति न भवेदिति निषेधविषयीभूतं विज्ञानमित्यर्थः। शास्त्रीयमिति शाब्दं यस्मिन् क्षणे शास्त्रानुसन्धानमित्यादिना पूर्वमुक्तम्। तथा च सात्त्विकं ज्ञानं न भवेत् चेत् नावश्यकं अदृष्टादिनापि तदितिभावः। आवश्यकं तु ज्ञानभिदयोरपमार्जनं विज्ञान-मित्यपि भावः। विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं, तच्च विषयविशिष्टमित्याशयेनाहुः आत्मानुभव इति। आत्मनोनुभवः आत्मानुभवः अयमह-मित्याकारकः। प्रतियोगिनः स्वाभावनाशकत्वं दृष्टम्। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त' इति वाक्यादाहुः भेदनाशकमिति। भिदा माया तन्नाशकं भगवद्विज्ञानं श्रीकृष्णः शरणं ममे'ति विज्ञानम्। स्वसमीपे स्वाशयप्रकाशनात् 'प्रपत्तिमार्गः' शरणमार्गः। यद्वा आत्मा सविकल्पकं ज्ञानम्। भगवान् ब्रह्म निर्विकल्पकज्ञानम्। 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत' इति वाक्याच्छ्रुत्यादौ। शब्दत्रयात्। उभयोरिति आत्मभगवतोरित्यर्थः। अत्र टिप्पण्याम् अध्यासनिवृत्तिरिति आत्मानुभवेऽहं स्थूलोहं पश्यामीत्यादिदेहाद्य-ध्यासः तस्य निवृत्तिः। आत्मा स्थूलत्वादिरहितः शुद्धः बुद्धः मुक्तस्वभावः। द्वितीयस्येति भगवद्विज्ञानस्येत्यर्थः। अत्र 'सत्त्व न चे' दित्युक्तं सत्त्वं भगवता सह सत्त्वरूपं हृदये समागतं वासुदेवरूपं विज्ञानविषय इति विषयरूपेण कारणम्। अद्वैतस्फूर्तिः न सात्त्विकी गीताष्टादशाध्यायोक्ता किन्तु आत्मसृष्टिविषया। निजसत्त्वस्य वासुदेवात्मकत्वेनाभिन्ननिमित्तोपादानत्वात् विज्ञानात्मसृष्टौ ह्यद्वैतस्फू-र्तिर्या तामाहुः स वैदिकेति। सः अद्वैतविशिष्टत्वेन स्फूर्तिविषय आत्मा। प्रमेयमिति वैदिके मार्गे प्रमाणं वासुदेवः। 'विशुद्धसत्त्वं श्रयत' इतिवचनात् पूर्वार्धे उत्तरार्धे वेदः भगवत्क्रिया कृतिरूपा च प्रमाणमुक्तम्। सर्वथापि वैदिके मार्गे सर्वधर्मप्रवर्तको भगवानिति सुबोधिन्या भगवान् प्रमाणमित्युक्तम्। तादृशभगवज्जन्यकृतिजन्या या आत्मसृष्टिः तद्विषयिणी प्रमा च तद्विषयत्वं आत्मसृष्टावित्या-त्मसृष्टिः प्रमेयं प्रमाविषयं प्रमेयमितिलक्षणात्। तत्त्वेनेति अद्वैतविशिष्टत्वेन। आत्मनः सृष्टिरूपस्य स्फुर्तिरित्यर्थः। सुबोधिन्याम्। उत्तरार्धं व्याचिख्यासवो विज्ञानस्वरूपं विविच्य सत्त्वस्य विज्ञानहेतुत्वं साधयन्ति स्म तच्चेति। शुद्धाद्वैतस्फूरणम्। न विषयेति किन्त्वा-वरणभङ्गमात्रेण। तथा चात्मानुभव इत्यत्र भगवद्विज्ञानमित्यत्र च न षष्ठीतत्पुरुषः किन्तु कर्मधारय इति भावः। पूर्वमिति 'येन्येरविन्दाक्षे' त्यस्य व्याख्याने। किन्तु शुद्धाद्वैतं परिणामवादेन, 'आत्मकृतेः परिणामात्' इति व्याससूत्रात्। तच्च टिप्पण्युक्तत्वादा-त्मसृष्टौ भवति। तत्र स्वगतद्वैतस्य दुष्परिहरत्वाच् छुद्धत्वं स्वगतद्वैतशून्यत्वं त्रिविधद्वैतशून्यत्वम्। आत्मसृष्टावपि भेदस्य प्रत्यक्ष-सिद्धस्य द्वित्वसङ्ख्यारूपद्वैतसापेक्षत्वं संशयज्ञानरूपद्वंतसापेक्षत्वं वेति न द्वैतहानिस्ततो न शुद्धाद्वैतत्वमिति चेन्न। सात्त्विकज्ञानेन गीतोक्तेन भेदनिवृत्त्या तन्निबन्धनसङ्ख्यारूपसंशयज्ञानरूपद्वैतयोर्निवृत्तेरज्ञानमूलकमेव भेदस्फूर्तिः। कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणं पटतन्तुव'दितिवाक्यात्। एवं शुद्धाद्वैतं पुरुषार्थसाधकमिति विवेकः। एवं विज्ञानस्वरूपं विविच्य सत्त्वस्य विज्ञानहेतुत्वं साधयन्ति स्म आविर्भावस्त्विति। स्वरूपस्येति जीवतात्त्विकरूपस्य। शुद्धसत्त्वेति वासुदेवत्वादितिभावः। आत्मानुभवाधिकारिणावत्रा-श्रमद्वयस्थौ। आत्मविवेकस्य जातत्वात्। अत आश्रमस्थयोर्ज्ञानतपसी सत्त्वापेक्षे। आश्रमधर्मज्ञाने सत्त्वं हेतुतया तपसि तु ज्ञात्वा तपःस्वरूपं तपः कर्तव्यमिति। तपःस्वरूपं तु द्वितीयनवमाध्याये 'तपो मे हृदय'मिति वाक्योक्तम्। भगवतो हार्दकरणार्थं सन्तापः। तदपेक्षेति सत्त्वापेक्षा। न तदिति वानप्रस्थाश्रमधर्मस्तपः पृथङ्न निरूपितम्। ज्ञानादिति बोध्यम्। श्लोकयोजनां स्फुटीकुर्वन्ति स्म

न चेत्यादि । अत्र टिप्पण्याम् । यदित्पदमिति 'य इत् तद्विदुस्त इमे समासत' इति श्रुतौ ये इत् तद्विदुः समासते इति पदच्छेदः । तद्वत् यत् इत्पदमित्यर्थः ।

योजना तु विज्ञानं सत्त्वं स्वकारणस्वत्वयुक्तं हे 'धातः' 'इदं' आत्मानुभवरूपं आत्मानुभवस्य मानसप्रत्यक्षविषयत्वात् । 'निजं' च भगवद्विषयकं 'च न भवे'दिति । सुबोधिन्याम् । ननु चेदित्येकं पदं यदि तदा लाघवमिति चेत् तत्राहुः अर्थवशादिति । तथा चार्थेन लाघवं बाधकं, अन्यथा कलशपदार्थे कर्तव्ये लाघवात् कुम्भार्थापत्तेः । अज्ञानभिदिति अत्र टिप्पण्यां इति भवेदिति 'हेतुहेतुमद्भावे लिङ्गानुशासनात्' । कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायादित्यत्रेव । श्रीधरव्याख्यानं प्रत्युक्तम् । स्वोक्ताशङ्काया इति श्रीधरेण हि मोक्षस्य तु ज्ञानैकसाध्यत्वात् किं भक्त्येत्याशङ्कावतारिकायामुपक्षिप्ता । सा तदा निवर्तते यदा मोक्षस्य ज्ञानस्य वा भक्त्येकसाध्यता व्याख्यायते, तत् तु न व्याख्यातमिति स्वोक्ताशङ्काऽनिवृत्तिः । स्वव्याख्यातेति स्वव्याख्यातशास्त्रार्थो भक्तानां मोक्षप्राप्तिरूपः तस्याप्यनेनाप्राप्तिरित्यतः श्रीधरोक्तं द्वितीयव्याख्यानमयुक्तमित्यर्थः । सुबोधिन्याम् । उत्तरार्धस्याभासमाहुः नन्विति । अस्येति भगवदीयस्य । स्वत इति कार्यकारणभावसम्बन्धरूपलक्षणं विनाभिधयेत्यर्थः । साधन इति 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान'मिति वाक्याज् ज्ञानसाधने । ज्ञानमत्र प्रथमज्ञप्तिरूपोत्पत्तिरूपम् । आविर्भावः । तथा च आविर्भावसाधन इत्यर्थः । यद्यन्यथैवेति अन्यथा सत्त्वं विनापीत्यर्थः । अर्थापत्त्याविर्भावः सिद्ध एव चेद् भवेत् तदा आविर्भावसाधनार्थं का सत्त्वापेक्षेत्यर्थः । भगवदाविर्भावो भगवद्विज्ञानम् । भेदनाशकमित्येव । आत्मन इति जीवस्य सविकल्पज्ञानस्य वा आविर्भावः प्रथमज्ञप्तिरूपः सिद्धो भवेत् । आत्मानुभवः सिद्धो भवेत् । अज्ञाननाशक इत्येव । केन प्रकारान्तरेणाविर्भाव इत्यपेक्षायां तं प्रकारमाहुः तत्रेन्द्रियाणामिति । तत्रेति आविर्भावप्रकारे वाच्य इत्यर्थः । प्रकाश इति विषयग्रहणं, इन्द्रियकर्तृकं ज्ञानं वा । स्वकारणेति स्वमिन्द्रियाणि तस्य कारणं प्रवर्तकं केनोपनिषदुक्तं ब्रह्म तस्य प्रकाशो ज्ञानं इन्द्रियविषयकं गृह्यते इन्द्रियप्रवर्तनेनेन्द्रियविषयकयत्नात् । आक्षिपतीत्याक्षेपं करोति । आक्षेपोर्थापत्तिः । तत्रेत्यादि तत्रेति स्वकारणप्रकाश आक्षिप्ते प्रवर्तकस्येति केनोपनिषदुक्तस्येन्द्रियप्रवर्तकस्य । अभिमानिन इति स्थूलत्वद्रष्टृत्वाद्यभिमानवतः । भगवत अभिमानिन इति स्मार्तप्रयोगः । भावो भावः सत्ता तद्वान् भावी, षड्भावविकारेषु द्वितीयो भावः सत्ता । भवतीति शेषः । अत इति उभयोर्निर्धारात् । तदनुसन्धानेनेति उभयोरनुचिन्तनेन तदुभयोरात्मत्वेन ज्ञाने व्यवधायकस्य प्रतिबन्धकस्य मलस्य देहात्मज्ञानस्य निवृत्तौ सत्यामुभयोः प्रकाश आत्मत्वेनानुभवो भविष्यति वेदादिप्रमाणाभ्यां शाब्द इत्यर्थः । एवकारेण सत्त्वयोगव्यवच्छेदः क्रियते । इति प्रकाशेति इति हेतोः प्रकाशार्थं व्यर्थं सत्त्वमित्यर्थः । इन्द्रियेति इन्द्रियविषयाणां रूपादीनां आदिना सत्त्वादीनां गुणानाम् । ज्ञानैरिति तेनेन्द्रियाणां प्रकाशो विषयग्रहणं व्यावर्तितः । प्रेरक इति प्रेरक इन्द्रियाणां अभिमानीन्द्रियप्रेरकत्वद्रष्टृत्वादीनाम् । अनुमीयत इति इन्द्रियप्रेरकोभिमानी च तत्तदर्थप्रकाशवान्, तत्र तत्रेन्द्रियप्रेरकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवमित्यनुमानेनेन्द्रियप्रवर्तकस्य प्रकाशेनुमितेपि तेन तत्सत्तामात्रं सिध्यति । न तु तत्स्वरूपं प्रकाशते । यदि तत् प्रकाशेत तदाऽयं भगवानयमहमित्येवं ज्ञानं स्यात् । तत् तु न जायते, तत्र हेतुः स हीत्यादि । तथा करोति प्रेरणं करोति । अग्राह्यत्वात् । ननु स्वरूपसत्तादिनैव स्वत एवाविर्भावो भवतु 'यदा यदा'हीतिवाक्यादिति चेत् तत्राहुः न चेत्यादि । स्वरूपसत्त्वमिति स्वरूपसत्ता । कार्यकरणमिति कार्यं धर्मः 'यद्धिया त ऊरुगाय विभावयन्ति तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'ति वाक्योक्तवपुरूपः तस्य करणम् । प्रकृत इति पूर्वोक्तप्रकारकापरोक्षानुभवे । पूर्वमिति पूर्वार्धव्याख्याने । इदमाक्षिपन्तः तुरीयचरणं व्याकुर्वन्ति स्म न च प्रकाशोपीति । कार्यमुक्तमेवात्र । न सम्भवतीति अग्राह्यत्वात् । गुणप्रकाश इति सत्यादिगुणानां सत्त्वादीनां प्रकाशो ज्ञानम् । सम्बन्धिन इति भगवतः । केनोपनिषदः प्रेरक उक्तः । येनेतिपदोक्तस्य करणस्य । अत इति गुणेन कार्यरूपेण सम्बन्धिनः प्रकाशाभावात् । अपेक्षित इति तेन प्रकटस्य प्रमाणत्वे सत्त्वं पूर्वश्लोकोक्तं ग्राह्यं प्रमाणकमुक्तम् । अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते । तैत्तिरीये उत्तराहनुरुत्तररूपमत्र । परिशेषात् । अधराहनौ उपयोगाल्लोभोपयोगात् । 'लोभोधरोष्ठ' इति वाक्यात् । उत्तरश्लोकयोः स्फुटिष्यति । प्रश्ने विशेषाभावः । छान्दोग्ये 'पृथिवी कले'ति समर्थितम् । 'इद'मिति 'त्यक्षगे पृथिवीरूपे प्रयोगात् । पार्थिवं शरीरं ब्रह्मेति पृथिव्याकाशस्थानीयेति । 'यस्य पृथिवी शरीर'मित्यन्तर्यामिब्राह्मणे । 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'ति तैत्तिरीये । विशुद्धसत्त्वस्य मायाभावेन तत्र तत्सत्त्वाभावात् पृथिवीरूपत्वं वसुदेवे दृष्टम् ॥ ३५ ॥

न नामरूपे इत्यत्र प्रमाणप्रमेये इति स्मृतिषु योग इव, वेदे प्रमाजनकत्वात् सत्त्वं प्रमाणं भगवद्रूपं, अनधिगतार्थगन्तृत्वम् । प्रमाणम् । ज्ञानं भगवद्रूपम् । 'ज्ञानमात्रं परब्रह्मे'तिवाक्यात् । 'इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्त्वयोगान्न चान्यथे'त्यत्र तथा निरूपणात् । तत् सत्त्वं पूर्वश्लोके निरूपितम् । तेन साध्यः प्रमाविषयीभूत आविर्भावोऽत्र श्लोके विचारित इत्यर्थः इति श्रीवल्लभानां लेखे उक्तम् । 'स वैदिकमार्गे हि प्रमेय'मित्युक्तटिप्पण्यां 'स' अद्वैतविशिष्टत्वेन स्फूर्तिविषय आत्मा 'प्रमेय'मित्युक्तम् । श्रीपुरुषोत्तमैस्तु अत्र जीवस्वरूपप्रकाशः शुद्धाद्वैतप्रकाशस्य वैदिके वर्त्मनि प्रमेयमित्युक्त मित्युक्तम् । प्रमाविषयीभूत आविर्भावः श्रीवल्लभोक्तः, टिप्पण्युक्तोऽद्वैतविशिष्टत्वेन स्फूर्तिविषय आत्मा तन्निष्ठः । श्रीपुरुषोत्तमलेखे जीवस्वरूपश्च प्रकाशोन्य आत्मा ज्ञानरूपश्च जडो यस्मिन् प्रपञ्चे स तथोक्तः । स शुद्धाद्वैतस्य यः प्रकाशो ज्ञानं तस्य प्रमाया विषयमित्येवं प्रमेयमित्यनेनान्वयः । क्वेति चेन्न । वैदिके वर्त्मनी-

त्यन्वयः। इति परस्परं न विरोधभानम्। वैदिकेति 'वेदक्रियायोगे' तिवाक्ये शब्दार्थयोरुक्तेश्चतुर्षु वाक्येषु वैदिकमार्ग इति भवत्यवधृतिः। भगवानिति 'फलमत उपपत्ते'रिति व्याससूत्रात्। भगवान् कृपाविशिष्टो बोध्यः। ननु भगवत्त्वेन भगवतः कृपया धर्मेण साधनत्वं कुतः धर्मार्थकाममरूपसाधनस्य सत्त्वादिति चेन्न। 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयत' इति वाक्यात् भगवतः कृपारूपेण साधनत्वात्। सर्वपुरुषार्थेष्विति तेषु मोक्षरूपः। स च गुणातीत एवेति 'गुणेभ्यश्च परं वेत्ती'ति गीतायां आम्नायार्थदर्शिकायां 'गौणश्चेन्नात्मशब्दा'दिति व्याससूत्रादेवकारः। वेदे गुणाभावादिति 'वेदो नारायणः साक्षा'दितिवाक्येनात्मत्वादात्मनि च गुणाभावात्। उक्तसूत्रात् 'न यत्र माये'तिवाक्याच्च। तथा कृतवानिति मायिकसत्त्वभिन्नविशुद्धसत्त्वगुणाश्रयं कृतवान्। अत इति सत्त्वगुणसादृश्यात्। निराकरोतीति साक्षिण इति मूले, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'तिश्रुतौ साक्षित्वस्य निर्गुणत्वसमानाधिकरणत्वान् निराकरोति। गुणकर्मेति गुणाश्च कर्माणि च जन्मानि च गुणकर्मजन्मानि तैरिति श्रीधर्यीम्। तत्र गुणाः करणानि जन्मकर्मणोः। सात्त्विकजन्म सात्त्विकं कर्मेति प्रत्ययात्। न तु निरूपितव्ये करणानि आत्मनि गुणाभावादित्युक्तत्वात्। एवं च गुणैः कृत्वा यानि कर्माणि जन्मानि चेति द्वन्द्वः। कर्माधीनत्वाज् जन्मनः। तत्र मूले जन्मनोऽभ्यर्हितत्वा'दभ्यर्हितं चे'ति सूत्रात् पूर्वनिपातः। अतः गुणकर्मजन्मभिरिति सुबोधिन्यां पाठः। अनिरूपणे हेतुमाहुः साक्षीति। सुषुप्तिसाक्षी। श्रुतौ चेतः पदसमभिव्याहारात् सर्वभूताधिवासपदाच्च। तथा च श्रुतिः 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'ति। सर्वोपनिषदि ज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञानात् स्वयमेवमाविर्भावतिरोभावहीनः स्वयंज्योतिः स साक्षीत्युच्यते इति साक्षिलक्षणम्। अत उक्तं भगवानिति। सर्वकर्मफलदाता स्वयमेवमाविर्भावतिरोभावहीनो भवति। आविर्भावतिरोभावकाले कर्मफलदातृत्वाभावात्। कर्माध्यक्षः कर्माधिकृतः स स्वयंज्योतिर्भवति। साधनमिति भगवान् कृपाविष्टः साधनमिति बोध्यं, ग्रन्थान्तरात्। यद्वा 'द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिता'मिति भगवदनुकम्पाया वक्ष्यमाणत्वात् कृपाविशिष्टः। सगुणसाधनपक्षनिराकरणं स्पष्टयन्ति स्म गुणैः कृत्वेति। प्राकृतैर्गुणैः। सात्त्विकादिकर्माणि सात्त्विकादिजन्मानि। एवेति 'गौणश्चेन्नात्मशब्दा'दिति व्याससूत्रात्। 'कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वत'मितिश्रुतेः। स्वरूपलक्षणधर्मैर्जन्मकर्माण्याहुः किन्तु क्रियेति। सद्रूपयेति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणे सत्यत्वरूपया। धर्मरूपेणेत्यस्य वेदार्थधर्मरूपेण जैमिनिविचारितेन। आविर्भावः धर्मविशेषकर्मरूपेणाविर्भावः, जनी प्रादुर्भाव इति धात्वर्थः कर्म, प्राकट्यापरनाम। जात्यपेक्षयैकवचनमित्याशयेनाहुः कर्माणीति। विशेष्यम्। 'कर्मैके तत्र दर्शना'दिति जैमिनिसूत्रम्। एवं जन्मप्रकरणे सत्यत्वेन धर्ममुक्त्वा शरीरस्वीकृतिज्ञानस्य 'आत्ममायामृते राज'न्निति द्वितीयस्कन्धादतो ज्ञानमुक्तप्रायमिति ज्ञानं विहायानन्तानन्दमाहुः आनन्दरूपेणेति। 'अनन्त'मित्यानन्दविशेषणं स्वरूपलक्षण इति भाष्ये। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति महानारायणे। एवमुभयोरेकवाक्यतया रूपानन्दयोरेकरूपत्वे 'आनन्दरूपममृतं यो विभाती'ति श्रुत्युक्तेनानन्दरूपेणेत्यर्थः। 'अनन्तमानन्द'मित्यत्र श्रुतावानन्दमर्शआद्यजन्तम्। तेन नानन्दत्वेन रूपेणेत्युक्तम्। जन्मात्र चतुर्व्यूहसमुदायः। एतदेव ब्रह्माण्डपुराणेप्युक्तम्। 'स्त्रीपुंमलानुषङ्गात्मा देहो नास्य विजायते किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुं प्रकाशयति सैवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरे'ति। ज्ञानानन्दसत्यरूपामिति'चैतन्यसुखनित्या'मित्यस्यार्थः। निर्दोषां च चैतन्यसुखनित्यामिति निर्दोषचैतन्यसुखनित्याम्। तथा च 'प्रकटस्य तवे'ति सुबोधिन्यां 'धर्मरूपेणे'त्यत्र 'प्रकृत्यादिभिरुपसङ्ख्यानमिति वार्तिकेनाभेदे तृतीया, धर्मरूपाभिन्नाविर्भावविशिष्टमित्यर्थः। एकत्वावच्छिन्नाविर्भावाभिन्नानि बहुत्वविशिष्टानि कर्माणीत्यर्थः। आविर्भावो वर्तमानस्य वस्तुनो दर्शनविषयत्वयोग्यता विद्वन्मण्डनोक्तः। दर्शनविषयत्वयोग्यतास्वरूपसम्बन्धविशेषः। तैरेवेति जन्मकर्मभिरेव न तु गुणैः। जन्मना नन्दनन्दनः यशोदोत्सङ्गलालितः इत्यादीनि। कर्मणा गोवर्धनोद्धरणधीरः कालीयफणमाणिक्यरञ्जित श्रीपदाम्बुज इत्यादीनि नामानि। रूपाण्युद्राहूत्थितरिङ्गणकर्त्रित्यादीनि। नामरूपे इति उदाहरणार्थमेकवचनं प्रत्येकम्। सिध्येदिति न हि मरुमरीचिकायां स्नानं सिध्यति। 'न निरूपितव्ये' इत्यस्यार्थमाहुः भवत्विति। कल्पान्तर इति लक्ष्मीकल्पे सरस्वतीकल्पे गौरीकल्पे वा। मात्स्ये कल्पानुकीर्तने उपान्त्याध्याये। तथाभूते इति प्राकृते। तदा तस्येति तस्य भगवतः। अत्र हेतुः कर्माध्यक्षत्वेति। अलौककर्माधिकाराभावात्। आत्मरूपमिति जीवात्मरूपम्। 'अयमात्मा ब्रह्मे'तिश्रुतेः। अनुमेयमेवेति यथाहुः कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय' इत्युदयनाचार्याः कुसुमाञ्जलौ ग्रन्थे। मनः कर्तृपूर्वकं कार्यात् घटवत्। वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्। तथा च मनोवचोभ्यां पक्षाभ्यामित्यर्थः। त्वं असि मनसः देवदत्तवत्। त्वं असि वचसः देवदत्तवत्। इति वानुनेयम्। एवकारव्यावर्त्यमाहुः न तु प्रत्यक्षेति। पराञ्चि खानीति खानीन्द्रियाणि पराञ्चि बहिष्ठग्राहकाणि। न सन्तीति स्वरूपव्यतिरिक्तानि न सन्ति। आत्मसृष्टिवत्। श्रौत्यामिति वैधसेवारूपायामपि। 'तं भजेत् तं रसे'दिति गोपालतापिन्याम्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति मैत्रेयीब्राह्मणे। तान्त्रिक्यामिति नारदपञ्चरात्रोक्तायां पञ्चरात्रोक्तायाम्। प्रतियन्तीति भगवदिच्छयावगच्छन्ति। जगज्जन्मादिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीतीच्छया। 'अथापी'त्यस्य नामरूपाभावभिन्नप्रक्रमेण नामरूपे उपपत्त्यापीत्यर्थमाहुः विष्णोरित्यादि। विष्णुर्नाम 'इदं विष्णुर्विचक्रम' इति त्रिविक्रमरूपम्। षडक्षरादिमन्त्राः। वषट् स्वधा। वह प्रापणे। बाहुलकाड्डषट् वा। ध्यानादीति आदिना गुप्तभाषणम्। मन्त्रा इत्यत्र मत्रि गुप्तभाषणे इति। इमामेवेति श्रुतार्थापत्तिरूपाम्। अत एवेति नामरूपकल्पनरूपार्थापत्तेरेव, तस्याः कारणीभूतान्यथानुपपत्त्या सह। दिव्यान्येवेति एवकारो विवर्तनामरूपयोगव्यच्छेदकः। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र

श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये जिह्वा सन्धानमत्र। 'तव तस्ये'ति मूले तच्छब्दार्थस्य फलस्यास्वाद्यत्वात्। यद्वाऽधरा हनुः पूर्वरूपमत्र। अधरो लोभः। 'लोभोऽधरोष्ठ' इति वाक्यात्। तस्मिन् सति वेदेपि स्मरणेन क्रियायां पूर्णायामविभक्त्या नामरूपे प्रतियन्तीति। मूले 'प्रतियन्त्यथापी'ति वाक्यात्। प्रश्ने विशेषाश्रवणम्। छान्दोग्ये 'श्रोत्रं कले'ति। वचोनुषङ्गेन श्रोत्रस्यानुमेयत्वात् ॥ ३६ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी-श्रीसुबोधिनीजी-

नन्वेवं सति भक्तिमार्गानुसारेणापि भगवद्भजने विकर्मादिना कालान्तरे पुनर्बुद्धिनाशप्रसङ्गः। साधनत्वेनैव भक्तिमार्गस्यापि स्वीकारात्। अतस्तुल्यत्वात् किं मार्गान्तरदूषणेनेत्याशङ्क्य स्मार्तस्यापि भगवन्मार्गस्य फलमाह तथेति।

यदि भक्ति मार्ग के अनुसार भगवद् भजन करने में भी विकर्म करने से जब कालान्तर में बुद्धि का नाश हो सकता है यह स्थिति भक्ति मार्ग की है तो फिर अन्य मार्गों को दूषित करने से क्या ? इस शङ्का के समाधान के लिये कहते हैं कि स्मृतिप्रतिपादित भक्ति मार्ग में स्थित मनुष्यों को मिलने वाला फल इस श्लोक में बताते हैं।

हे माधव ते पूर्वं तद्वत् प्रवृत्ता अपि तावकाः सन्तः—हे माधव ! वे आपके भक्त जिन्होंने पूर्वकाल में ज्ञानियों की भाँति किये हुए पुण्य कर्मों से आपने उनको अपना बना लिया हैं अतः वे भक्त साधनावस्था में कदापि गिरते नहीं है। क्वचित् प्रमाद होने पर भी एक भी कदम नीचे नहीं गिरते हैं परंतु अपने ही मार्ग पर स्थिर रहते हैं कारण कि भक्तिमार्ग ही केवल विशेषता पूर्ण एक मार्ग वाला है। जो मनुष्य जैसी वस्तु अपने पास रखता है उसको वैसा ही फल मिलता है। जैसे इत्र फुलेल बेचने वाले को सहज सुगन्धि मिल ही जाती है। और जो लहसुन बेचने वाला है उसको निरुपाय दुर्गन्धि लेनी ही पड़ती है। उससे वह अपने को बचा नहीं सकता है। यद्यपि जिसको भगवान ने निजजन बना लिया है उसने स्वतन्त्र आपकी सेवा नहीं की है तो भी उसका अधःपतन नहीं होता है। इसका कारण यह है कि उसको अपनाने वाला ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पन्न स्वयं भगवान् हैं। अब आचार्य चरण श्लोक में भगवान् का माधव नाम को संबोधन देने का रहस्य बताते हैं कि भगवान् रात्रि में व्रजस्थ भक्तों को विलासपूर्वक दर्शन देते हैं। इससे यह दिखाया कि दोनों विकर्म की तुल्यता होने पर भी इन भक्तों को कृष्ण का, माधव का दर्शन होता है अन्यों को नहीं। जो भगवान् की सेवा करने वाले सेवक होते हैं वे भगवान् के हैं और वे कभी भ्रष्ट नहीं होते हैं। कारण कि इन भक्तों का भगवान् में अनन्य सौहार्द है। स्नेह का स्वभाव रज्जू के समान होता है यद्यपि रज्जू दूसरे को बान्धते हुए स्वयं भी बद्ध हो जाती है वैसे ही भगवान में स्नेह भी जीव को तथा अपने को भगवान् के चरणों में बद्ध कर देता है। इसलिये भगवच्चरणानुरागी सेवकों का पतन न होना समुचित है। **ननु अन्ये कालादयः कथं तान्न भ्रंशयन्ति**—शङ्का करते हैं कि कालादिक उनको भ्रष्ट क्यों नहीं करते अथवा उनकी भक्ति का क्यों नहीं नाश कर देते हैं ? तब कहते हैं कि उनकी रक्षा स्वयं भगवान् कर रहे हैं इसलिये भक्तजन निर्भय होकर घूमते हैं। भगवान निजजनों की साधारण प्रकार से रक्षा नहीं करते हैं किन्तु पूर्णतया करते हैं जिससे बाहर भीतर सर्वत्र रक्षा होने से उनकी बुद्धि का नाश नहीं होता है और न उनमें कोई दोष का भीतर प्रवेश होता है जिससे वे भ्रष्ट हो सकें। भक्तजनों को कालादिकों का भय न होने से तथा कहीं भी निन्दा न होने से वे सर्वत्र निर्भय होकर विचरते हैं। इतना ही नहीं, लेकिन कृष्ण प्रभु से रक्षित होने के कारण, जहाँ दूसरों को विघ्नों के कारण भय होता है और दूसरे विघ्नों के भय से, जिस स्थान को छोड़ देना चाहते हैं वहाँ पर ये भक्तजन उन विघ्न करने वाले सेनानायकों के शिर पर पैर धर कर निर्भय बनकर घूमते हैं शायद वहाँ विघ्नकर्ताओं की समग्र सेना विघ्न करने के लिये आक्रमण करे फिर भी कुछ कर नहीं सकती है। कारण कि आपके सुदर्शनचक्र आदि के भय से उनका स्पर्श तक न करके दूर ही खड़ी रहती है। प्रह्लाद के चरित्र से इसका प्रमाण मिलता है। भगवद्भक्त ऊपर चढ़ने के लिये विघ्नों के शिर पर सोपान बनाते हैं। और विघ्नकर्ताओं की शक्ति तो इन भक्तों को नीचे गिराने की नहीं होती है अतः ये विघ्नकर्ता, भक्तों की प्रतिष्ठा के लिये कारण बन जाते हैं। जैसे जड़भरत को मारने के लिये प्रयोग किये गये, वे उनको मार न सके किन्तु जड़भरत की प्रतिष्ठा के कारण बन गये।

विघ्नकर्ताओं के मस्तक सर्व सामर्थ्य वाले और परम श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त हुवे होने से वे आप के बल पर ही सबके पास जा सकते हैं किन्तु समर्थ होते हुए भी भक्तों से द्वेष नहीं करते हैं क्योंकि वहाँ उनकी शक्ति कुंठित हो जाती है, इससे सिद्ध होता है कि भक्ति मार्ग के साधन और फल से कोई भी अन्य मार्ग का फल और साधन उत्तम नहीं है ॥ ३३ ॥

एवं स्मृतिमार्गेण भगवत्पक्षपातमुक्त्वा वैदिकमार्गेण पूर्ववदाह सत्त्वमित्यादिचतुर्भिः।

अब तक चार श्लोकों से स्मृति मार्ग से भगवत्पक्षपात कह कर अब वैदिक मार्ग से भगवत्पक्षपात का पूर्व की तरह ४ श्लोकों में प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के भेद से निरूपण करते हैं।

वेदो हि द्विविधः प्रवृत्ति निवृत्तिमार्गप्रतिपादकः—प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के प्रतिपादन के कारण वेद दो प्रकार का कहा गया है। पुनः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के भिन्न-भिन्न अधिकारी के कारण दो-दो भेद हैं। और वे वैदिक दो भी

पुनः दो-दो प्रकार के हो जाते हैं। उन दोनों में से प्रथम प्रवृत्ति मार्ग में "**अर्थावबोध**" वेदशास्त्र के वचनों के अर्थ का ज्ञान (१) "**अध्ययन**" वेदशास्त्र स्मृति आदि का अभ्यास (२) और "**अनुष्ठान**" शास्त्रोक्त धर्मों का परिपालन जो ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म और गृहस्थाश्रम के धर्मों का अधिकार के अनुसार धर्म जिनके सिद्ध है वे प्रवृत्तिमार्ग के हैं। द्वितीय, निवृत्तिमार्ग के धर्म, वानप्रस्थाश्रम तथा चतुर्थ संन्यासाश्रम के अधिकारानुसार तपश्चर्या और आत्मा का अनुसन्धान निवृत्ति के समय क्रम से करने के लिये कहे गये हैं।

इस प्रकार वेदानुसार सर्व जीवों के लिये चारों आश्रमों के धर्मों का आचरण करने के लिये कहा है अतः जो दैत्यांश हैं वे भी इन धर्मों का अनुष्ठान करने लगेंगे। इसलिए सत्त्वमूर्ति भगवान् अपना सत्त्व प्रकट कर सात्त्विक जीवों को ही वैदिक धर्मों के करने के लिए प्रेरणा करते हैं और अन्य दैत्यांश वाले आसुरी जीवों को वहाँ से हटा देते हैं। जो इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा कारण नहीं होती तो आश्रम स्थितों में भी, कोई शास्त्रार्थानुसार वेदाध्ययन करते हैं, तथा कोई नहीं करते हैं इस भाँति की व्यवस्था नहीं होती। वैदिक धर्मों का प्रचार उनके पालन करने से ही जगत् में होता है। अतः जगत् की स्थिति समय में जगत् की स्थिति के लिए जब भगवान् सर्वथा शुद्ध सत्व रूप धारण करते हैं तब लोक में प्रतिष्ठित हुए आश्रम धर्म, क्रमपूर्वक ब्रह्मचारी में वेदाध्ययन, गृहस्थों में क्रिया योग कर्मानुष्ठान, वानप्रस्थों में तपश्चर्या वनवास और विरक्तों में समाधि आत्मानुसंधान इन चार प्रकार के धर्मों का जीव यथोचित प्रकार से सेवन करते हैं। अनन्तर इन धर्मों के पालन से शुद्ध अन्तःकरण होने पर आपकी सेवा कर सकते हैं। शुद्ध जीव ही भगवत्सेवा करने के योग्य हैं।

ननु वेदेनैव कार्यसिद्धौ किं सत्वगुणेनेत्याशंक्याह शरीरिणामिति– वेद से ही जब कार्य की सिद्धि हो सकती है तब सत्वगुण की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का के निराकरण के लिए श्लोक में 'जीवा' न कहकर "**शरीरिणः**" ऐसा कहा है। जीव को शरीरी कहने का कारण यह है कि जीव जब तक "**शरीराभिमानी**" है तब तक वेदाज्ञा का पालन कर धर्म नहीं कर सकता है। जीव अभिमान रजो एवं तमो गुण से होता है और अभिमान से बुद्धि भी अन्यथा होती है। अतः उन शरीराभिमानी जीवों के रजो गुण और तमो गुण को पराजित कर सत्वगुण का आविर्भाव भगवान् स्वयं अवतार द्वारा नहीं करेंगे, तब तक आश्रम धर्मों का पालन नहीं हो सकता है, फलतः जगत् की स्थिति भी, डावाँडोल बन जाती है, इसलिए वेदों के रहने पर भी, सत्वगुण की आवश्यकता है। अथवा यदि कोई वेद से अतिरिक्त कोई चेतन फलदाता न होवे, तो प्रथम प्रवृत विसंवादी संदेह को पैदा करने वाले को देखकर, प्रायः जनसमूह वैदिक कर्मों में प्रवृत नहीं होगा। अतः वेद से कार्य की सिद्धि नहीं होने से; श्रेय करने वाले सत्वगुणावतार को वैदिक पदार्थ तथा क्रिया का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए आवश्यकता है।

यदि ऐसा संदेह हो कि वेद से सिद्धि न हो तो भी अदृष्ट द्वारा या भूतसंस्कार द्वारा कार्य की सिद्धि हो जायगी फिर भी सत्त्वमूर्ति भगवदवतरण की आवश्यकता नहीं है। ऐसे संशय का इस भाँति समाधान करते हैं कि अदृष्ट और भूतसंस्कार तब बनते हैं जब जीव को देह से भिन्न समझा जाय वे तो शरीर को ही अपना रूप समझते हैं इसलिये उनका प्रारब्ध नहीं बनता है। और प्रारब्ध के न होने से भूतसंस्कार भी नहीं बनते हैं। और इन दोनों के अभाव में फलदाता भगवान् की अपेक्षा रहती ही है। भगवान् ही फलदाता है इसको सिद्ध करने के लिए श्लोक में 'श्रेयः उपायनं और वपुः' शब्द दिये हैं। उसमें श्रेयः उपायनं का अर्थ है कि भगवान् स्वयं सत्वमूर्ति धारण कर स्वयं पधारकर अमृतमय श्रीविग्रह को कल्याणकारी उपहार भेंट करते हैं। दैवगति से फल की सिद्धि होती है इस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति के लिए और भगवान् की कृपा से फल की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त जताया है।

क्षणभर यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि, दैवगति से फल की सिद्धि होती है फिर भी वह सिद्धि भगवद्भजन में साधनभूत सहायक न हुई तो उस सिद्धि का फल नश्वर होगा और पूर्व दोषों की निवृत्ति भी नहीं होगी। अतः वैदिक मार्ग में सर्वधर्म प्रवर्त्तक भगवान् ही है और देवों के पक्ष का पोषक है। श्लोक में येन जनः समीहते पद में जो 'जनः' शब्द एक वचन में दिया वहाँ एकवचन का प्रयोग जातिवाचक समूह वाचक के अर्थ में है और वह सेवोपयोगी देह दुर्लभ है यह बताने के लिये है ॥ ३४ ॥

ननु ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्यापि श्रेयोदानार्थमात्मविवेकस्याजातत्वात् सत्त्वाश्रयणं भवतु नाम ज्ञानस्य तु सिद्धफलदातृत्वादसिद्धफलेपि साक्षादेव फलजनसम्भवात् तज्ज्ञाने तत्साधने तपसि वा भगवतः सत्त्ववपुर्नापेक्ष्यत इत्याशङ्क्याह सत्त्वं न चेदिति।

यदि कोई भी ज्ञान सिद्धान्तवादी कहे कि ब्रह्मचारियों और गृहस्थियों को आत्मविवेक का उदय नहीं हुआ है इसलिए उनको आत्मज्ञान नहीं है श्रेयस् प्रदान के लिये उनमें सत्व प्रकट कर आत्म स्वरूप का ज्ञान देने के लिये अथवा मोक्ष देने के लिये सत्वगुण रूप अवतार लेने की भगवान् को चाहे आवश्यकता हो तब ठीक है और मान भी ले। लेकिन ज्ञान तो सिद्ध फल का दाता है, यदि फल की सिद्धि न भी हुई हो तो भी ज्ञान साक्षात् फलजनक होने से उस ज्ञान के वा उसके साधन

अथवा तपश्चर्या के लिए भगवान् के सत्त्वशरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं है। तब इन मतवादियों के लिए इस श्लोक का आरंभ करते हैं—

इवं शुद्धसत्वं सर्वरक्षकं सर्वकर्मफलदातृ चेन्नभवेद विज्ञानमपि न भवेत्—यदि सर्व रक्षक और सर्व फल देनेवाला आपका यह शुद्ध स्वरूप न हो तो विज्ञान भी संभवतः नहीं होवे। कारण कि गीता और शास्त्र कहते हैं कि **'सत्वात् संजायते ज्ञानं'** सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है अब सत्वगुण ही नहीं है तब ज्ञान की उत्पत्ति भी कैसे होगी। यदि कहो कि शास्त्राध्ययन से ज्ञान प्राप्त होगा तो वह भी शक्य नहीं है। कारण कि शास्त्राध्ययन से अथवा शास्त्र के अर्थ के मनन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह शास्त्र का धर्मरूप होने से अध्ययन काल पर्यन्त ही रहता है। और वह ज्ञान परकीय होने से स्थिर नहीं है। यह ज्ञान जो सत्वगुण वपुधारी-विग्रह से दान रूप में मिलता है इसलिए वह अपना होने से स्थिर रहता है इसलिये इस ज्ञान से सिद्धि होती है। शास्त्र, मूलभूत सत्वगुण को प्रकट नहीं कर सकते हैं। कारण कि शास्त्र, कर्ता नहीं है इसको सिद्ध करने के लिये भगवान् की अपेक्षा रहती है इसलिए भगवान् को **'हे धात'** नाम से संबोधन किया है आप रक्षक हो जिससे आपका स्थापित किया हुआ सत्त्वगुण सदैव रहकार ज्ञान को प्रकट करता है जिससे क्रमशः विज्ञान भी होता है। 'विज्ञान' का अर्थ है अनुभव, वह अनुभव सत्वगुणयुक्त अन्तःकरण में होता है। जैसे-जैसे ज्ञान द्वारा जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता है वैसे वैसे निष्काम बनता जाता है और उसको विज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे जगत् में अन्न उत्पन्न हो गया हो तो क्षुधा होते ही अन्न लाना सरल होता है। लेकिन क्षुधा के होने के बाद अन्न उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है और प्रयत्न करे तो वह यत्न व्यर्थ है। अतः भगवान् द्वारा सत्व का आविर्भाव होने से उनकी कृपा से उनके साथ सत्व भी हृदय में प्रवेश करता है, अन्य प्रकार से सत्व, हृदय में सदैव के लिए नहीं आता है ज्ञान से अथवा अन्य साधन से यदि आयेगा तब वह सत्व स्थिर नहीं होगा।

यदि इस प्रकार सत्व प्राप्त न हो तो शास्त्र से प्राप्त करेंगे। इस शङ्का को 'अज्ञानभिदापमार्जनं' विशेषण देकर निवारण करते हैं। विज्ञान के दो प्रकार हैं–एक प्रकार जो अज्ञान का नाश कर आत्मा का अनुभव कराता है वह आत्म-विज्ञान है। दूसरा प्रकार जो जीवात्मा और परमात्मा के भेद को मिटाता है उसको भगवद्विज्ञान कहते हैं। जब इस प्रकार जीव और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब देह इन्द्रिय आदि में जो अभ्यास है वह नष्ट हो जाता है और सर्वत्र शुद्ध अद्वैत स्फुरित होता है। वह ज्ञान, विषय तथा विषयीभाव से नहीं होता है कारण कि विषय और विषयीभाव द्वैत तक रहता है, अद्वैत में वह भाव नहीं होता है। विषय विषयी भाव पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं करता है यह पूर्व में कह दिया है। भगवान् आविर्भाव अथवा आत्मस्वरूप का आविर्भाव शुद्ध सत्वगुण के सिवाय नहीं होता है। यदि ज्ञान में सत्वगुण की अपेक्षा है तो तपश्चरण में भी सत्वगुण की अपेक्षा रहनी चाहिए। इसलिए उसका पृथक् निरूपण नही किया गया है।

अब आचार्यचरण कहते हैं यदि आप श्लोकों का अर्थ करना चाहें तब पदों का अन्वय अर्थ के अनुकूल किया जाय वह योग्य होगा। इसलिए इस श्लोक में यहाँ अर्थानुकूल अन्वय इस प्रकार करना चाहिए। अन्यों ने जिस प्रकार अन्वय किया है, वह प्रसङ्गानुकूल युक्त नहीं है।

अब श्लोक के पूर्वार्ध का अन्वय इस प्रकार करें—

हे धातः, इवं निजं सत्वं यदि न भवेत्, (तदा) अज्ञानभिदापमार्जनं विज्ञानं (अपि) न भवेत्।

अर्थ—हे धातः! यह अपना सत्व न हो तो अज्ञान के भेद को नष्ट करनेवाला विज्ञान भी उत्पन्न न होवे। इस प्रकार अन्वय करने पर कार्यकारण हो जाने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।

यदि इस प्रकार की शंका भी की जाय कि सत्व की क्या आवश्यकता है क्योंकि यह सत्वगुण स्वयं तो ज्ञानरूप नहीं है। इसलिए इस सत्वगुण का उपयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। तब अन्य प्रकार से ही भगवान् का और आत्मा का आविर्भाव हो जाय तो सत्व की क्या आवश्यकता है? इन्द्रियों का प्रकाश लोकदृष्टि से भी देखा जाय तो अपने कारण रूप भगवान् के प्रकाश का ही अनुगमन करता है। वहाँ ज्ञान मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् और भगवद् रूप होने का अभिमान करने वाले जीव दोनों का प्रकाश अवश्यम्भावी है। अतः अपने कारणरूप, भगवान् का अनुसन्धान करने से विक्षेप करने वाले मल की निवृत्ति हो जायगी, जिससे जीवात्मा और परमात्मा दोनों का प्रकाश हो जायगा। अतः सत्व की कोई आवश्यकता नहीं है। तब आचार्यचरण कहते हैं कि यह तर्क ठीक नहीं है सत्व की आवश्यकता है क्योंकि **'गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान्'** गुण के प्रकाश से अर्थात् इन्द्रियों के विषय ज्ञान से केवल अनुमान किया जाता है कि आप प्रेरक और जीव गुणाभिमानी हैं। इस प्रकार के अनुमान से उन दोनों की सत्ता का ज्ञान होता है, लेकिन उनके स्वरूपों का प्रकाश नहीं होता है। यदि स्वरूप का प्रकाश होता तब तो उस समय यह ज्ञान हो जाता कि यह तो भगवान् हैं और यह मैं हूँ परंतु वैसा

तो होता नहीं है। इसका कारण यह है कि वहाँ भगवान् आविर्भूत न होकर ही कार्य करते हैं। आविर्भाव तो कौन कर सकता है ? यदि कहा जाय कि स्वरूप, सत्ता से ही भगवान् का आविर्भाव हो जायगा तब कहते हैं कि प्रकृत में स्वरूप की सत्ता अथवा कार्यकारण भाव प्रयोजक नहीं है। आविर्भाव तो सत्व गुण पर अवलंबन रखता है। भगवान् का प्रकाश तो गुणों के प्रकाश के सिवाय भी होता है। यदि इस प्रकार न हो तो यों कहो कि गुणों का प्रकाश भी नहीं होगा। कारण कि जिसके सम्बन्ध वाला गुण, प्रकाश में आता है और जिससे गुण का प्रकाश होता है। इस प्रकार अर्थ करने से सर्व स्पष्ट हो जायगा। यहाँ सम्बन्धी वा करण के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रकाश के लिये सत्त्वगुण की आवश्यकता है ही। जैसे सूर्य की सत्ता हो तो भी, वह सत्ता वाला सूर्य, वस्तु का प्रकाश नहीं कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान, ग्रहण के समय में होता है, उस समय सूर्य की सत्ता है किन्तु वह, केवल सत्ता वस्तु को दिखा नहीं सकती है, ग्रहण के अभाव में जब प्रकाश युक्त सूर्य होता है तब वह वस्तु को दिखा सकता है। इसी भाँति यहाँ भी प्रकाशविशिष्ट सत्ता से ही कार्यसिद्धि होता है, अतः प्रकाशार्थ भगवान् के "वपु" विग्रहस्वरूप सत्व गुण की आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना उत्तमाश्रमी के हृदय में भी स्वरूप का प्रकाश नहीं होता है। इस प्रकार इस वैदिक मार्ग में, जीवस्वरूप, प्रकाश तथा शुद्धाद्वैत प्रकाश प्रमेय कहा गया है ॥ ३५ ॥

एवं प्रमाणप्रमेये वैदिकप्रकारेण भगवद्रूपेण भगवद्रूपे विचारिते। साधनं विचारयति न नामरूपे इति।

उपरोक्त श्लोक में वैदिक प्रमाण तथा प्रमेय का भगवद्रूप से विचार किया अब इस श्लोक में साधन का विचार करते हैं—

वैदिकमार्गानुसारेण साधनं भगवान् सर्वपुरुषार्थेषु – वैदिक मार्ग के अनुसार समस्त पुरुषार्थों में भगवान् ही साधन है। और वह साधनरूप भगवान् गुणातीत है कारण कि वेद में गुणातीत भगवान् का वर्णन है। किन्तु उस निर्गुण भगवान् ने देव पक्षपात के लिये तथा फलदान करने के लिये गुणविशिष्ट स्वरूप धारण किया है जिससे वह सगुण भगवान् यहाँ साधन रूप है। इस प्रकार यदि कहा जाय कि सगुण भगवान् साधनरूप है तो उस मन्तव्य का खण्डन करते हुए कहते हैं कि आपके नाम तथा रूप लोक की समान गुण कर्म और जन्म के कारण नहीं बनते हैं। कारण कि आप भगवान् तो साक्षी है सर्व कर्मों के फलदाता है एवं कर्मों के अध्यक्ष हैं वह ही साधनरूप है। गुणों से जो कर्म या जन्म होते हैं वे आप के नहीं होते हैं किन्तु सद्रूप क्रिया शक्ति द्वारा धर्मरूप से जो आपका प्राकट्य होता है वे ही आपके नाम हैं। तथा आनन्द रूप से जा आपका प्राकट्य है वे ही आप के जन्म हैं। इसलिए सद्रूप धर्म और आनन्द रूप से प्रकट गुण कर्मों से ही आपके नाम तथा जन्म है। यदि वैसे आपके अलौकिक-अप्राकृत नाम तथा जन्म न होवे तब प्राकृत होने पर कोई भी पुरुषार्थ उन प्राकृत नाम रूपों से सिद्ध न होंगे।

इस प्रकार भगवान् के नाम और रूप इस कल्प से दूसरे कल्पों में भले माने जाँय, किन्तु शास्त्र में साधन रूप से, निरूपण नहीं करना चाहिए। जो इसी तरह मान लिया जाय, तो भगवान् में जो फलदातृत्व है वह भी रहेगा नहीं। कारण कि प्राकृत नाम रूप वाले, फलदाता नहीं हो सकते हैं। पुनः जो सगुण माना जाय, तो वह मन एवं वाणी के विषय होने से, मानसिक और वाचनिक फल ही दे सकेंगे। भगवान् तो मन और वाणी से पर है और भगवान् के मार्ग का केवल अनुमान ही कर सकते हैं वैसे मन अगोचर और वागगोचर है। नकि प्रत्यक्षविषय है भगवती श्रुति **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह एवं पराञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्'** इत्यादि श्रुतियों में कहा है कि मन सहित इन्द्रियाँ वहाँ न पहुँचकर, लौट आती हैं, उस स्वयम्भू को इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकती हैं। तो उसके नामरूप नहीं है यदि यों कहो तो उसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि (**देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हीति**) हे देव ! यद्यपि आपके नामरूप इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं तो भी क्रिया से इनकी प्रतीति होती है जिसका प्रमाण भी शास्त्र ही है। जैसे कि कहा है—**'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कवयोऽहंतीह** विष्णु के वीर्य को कहते हैं। **'तदस्य प्रियं'** वह इसका प्रिय है। **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा पदम्'** विष्णु ने इस विश्व को तीन पादों में नाप लिया इत्यादि श्रुति विद्यमान है और षडक्षरादि राम आदि मंत्र तथा **यस्यैदेवतयेहविर्गृहीत तां मनसा ध्यायेद् वषट् करिष्यन्'** जिस देवता के लिए हवि अर्पण करने के लिए ग्रहण की है उस देवता का मन से ध्यान करो। इत्यादि क्रियाएँ तब हो सकती हैं जब भगवान् के नाम और रूप हो यदि नाम व रूप न हो तो ध्यान तथा मंत्र भी न होना चाहिए। (हि) शब्द से निश्चय पूर्वक यह उपपत्ति होती है कि, ये आपके नाम और रूप प्राकृत नहीं है किन्तु आनन्दमय अप्राकृत हैं। अतः वे आनन्दमय नाम तथा रूप सर्व पुरुषार्थों के साधक हैं। ऐसा निरूपण किया गया है ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

त्वद्भक्तास्तु कदाचिदपि न पतन्तीत्याहुः—तथेति। यथा त्वद्विमुखाः स्वाधिकाराद्भ्रश्यंति, तथा हे प्रभो ! हे माधव ! तावकास्त्वद्भक्ताः क्वचित्कदाचिदपि मार्गात् भजनाधिकारात् न भ्रश्यन्ति; भरतचित्रकेतुगजेन्द्रप्रह्लादादीनां जन्मान्तरेऽपि

भक्तिसद्भावदर्शनात्। किन्तु निर्भयाः कालकर्मादिभयरहिताः सन्तः विनायकाः। विघ्नकर्तारस्तेषामनीकिनी सेनास्तासां पालकानां मूर्द्धसु विचरन्ति विघ्नान् जयन्ति। तेषां भगवद्भजने विघ्नं कर्तुं विघ्नकर्तारो न शक्नुवन्तीत्यर्थः। तत्र हेतुमाहुः—त्वयाभिगुप्ता इति। तत्र हेतुं वदन्तो भक्तान् विशिंषन्ति—त्वयि बद्धं सौहृदं प्रेमातिशयो यैस्त इति। प्रभो इति सम्बोधनं रक्षायां सामर्थ्य-सूचकम्। माधवेति सम्बोधनेन। तत्र हेतुः सूचितः—"मा च ब्रह्मस्वरूपा या मूलप्रकृतिरीश्वरी। नारायणीति विख्याता विष्णुमाया सनातनी॥ महालक्ष्मीस्वरूपा च वेदमाता सरस्वती॥ राधा वसुन्धरा गङ्गा तासां स्वामी च माधवः" इति ब्रह्मवैवर्तोक्तेर्मायादि-स्वामित्वात् तद्रक्षितानां कथं पतनमिति भावः॥ ३३॥ सतां सुखावहानि रूपाणि बिभर्षीत्युक्तम्, तत् केन प्रकारेण सुखावहत्वमित्य-पक्षायामाहुः— सत्त्वमिति। स्थितौ निमित्तभूताया स्थितिः पालनम्, जगत्पालनार्थं भवान् विशुद्धं रजस्तमोभ्यामननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयं वपुश्च अमृतं पुष्णातीति वपुः उपासकानामानन्दपोषकं शरीरं श्रयते बिभर्ति। येन वपुषा युक्तस्य तव वेदादिभिः स्वधर्मैस्सहार्हणं पूजनं जनः आश्रमचतुष्टये स्थितः प्राणी समीहते करोति। तत्र वेदो वेदाध्ययनं ब्रह्मचारिधर्मः। क्रियायोगः कर्मानुष्ठानं गृहस्थधर्मः। तपो वनवासादि वानप्रस्थधर्मः। समाधिर्यतिधर्मः। ननु "सत्यसङ्कल्पस्य सङ्कल्पमात्रेणैव जगत्स्थितिः सम्भवति, आराधनं तु शास्त्रतः प्राप्तमेव। किं वपुर्धारणेन?" इत्याशङ्क्याहुः—शरीरिणामिति। शरीरिणां श्रेयसामुपायनं उप समीपे आधिक्येन वा अयनं प्राप्तिर्यस्मात्तत्। यद्यपि सर्वं सङ्कल्पमात्रेणैव सिद्ध्यति, तत्र च शास्त्रं प्रमाणमस्ति, तथापि तत्सामान्यस्य विवादग्रस्तत्वात्तत्र विश्वासाभावेन तदुक्तमार्गे कस्यापि प्रवृत्तिर्न स्यात्, फलं तु दूरतः अवतारग्रहणेन। साक्षात्फलप्रदाने तु शास्त्रप्रामाण्यस्यापि निश्चायात्तदुक्तमार्गे सुतरां प्रवृत्तिरित्याशयः। जन इत्येकवचनं दुर्लभत्वसूचनाय॥ ३४॥ एवं त्वय्यम्बुजाक्षेत्यादिश्लोकपञ्चकेन भगवद्भक्तानामेव मोक्षो, नान्येषामित्युक्तम्। तत्र 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षस्य ज्ञानैकलभ्यत्वनिश्चयात् किं भक्त्या किं वा भगवदवतारेणेत्याशंक्याहुः—सत्त्वमिति। "भवदग्रेऽस्माभिरतितुच्छैः किं बहु वक्तव्यम्? सर्वजनकत्वेन सर्वज्ञत्वात्" इत्याशयेन सम्बोधयन्ति—हे धातरिति। निजं भवदीयसत्त्वं विशुद्धसत्त्वमयमिदं वपुश्चेत् यदि प्रकटितं न भवेत् तदा तद्भजनाभावे अज्ञानं च तत्कृताभिधा देवमनुष्यतिर्यगादि-श्च तयोरपमार्जनं निवर्तकं विज्ञानं तव तत्त्वसाक्षात्कारात्मकमपि न भवेदित्यनुषङ्गः। 'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः ः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम्' इत्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य भक्तिजन्यत्वनिश्चयादित्याशयः। ननु "सत्यसङ्कल्पादि-गुणको भगवानेवाहं जात इति कथं ज्ञायते? तत्राहुः—गुणेति। येनैव हेतुना यस्य च भवतः सम्बन्धी गुणः प्रकाशबाहुल्यदुर्धर्ष-त्वादिरूपः देवकीवसुदेवयोः प्रकाशते अतस्तैर्गुणप्रकाशैर्भवान् सत्यसंकल्पादिपूर्णगुणकोऽनुमीयत इत्यन्वयः॥ ३५॥ पुनश्च भक्ताभ-क्तयोरुत्कर्षापकर्षावाहुः—नेति। यद्यपि गुणजन्मकर्मभिः स्वीकृते तव नामरूपे त्वद्विमुखानां मनोवचोभ्यां न निरूपितव्ये मनसा चिन्तनार्हे वचसा कीर्तनार्हे च न भवतः अथापि तथापि हे देव! बहुधा द्योतमानक्रियायां भवदुपासनायां वर्तमाना भक्ताः प्रतियन्ति नामानि कीर्तयन्ति रूपाणि च पश्यन्तीत्यन्वयः। हीति प्रसिद्धिं सूचयति, 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय' इति तृतीयोक्तेः। अनिरूपितव्यत्वे हेतुं वदन्तो भगवन्तं विशिंषन्ति—अनुमेयवर्त्मन इति। अनुमेयं महता प्रयत्नेन सूक्ष्मया बुद्ध्या विज्ञेयं वर्त्म प्राप्तिसाधनं यस्य तस्येत्यर्थः। तत्कथं तत्प्राप्तिसाधनस्य नामसङ्कीर्तनादेर्भगवद्विमुखानां विषयाविष्टानां मनोवचसोर्विषयत्वं स्यादित्याशयः। अनुमेयवर्त्मत्वे हेतुमाहुः - तस्येति। मनइंद्रियादिसङ्घातस्य साक्षिण इत्यर्थः। तत्र गुणैर्दीन-वत्सल इत्यादि, जन्मभिः रामः कृष्णः नन्दनन्दन इत्यादि, कर्मभिः गोवर्धनोद्धरण इत्यादि॥ ३६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तथेति॥ हे माधव! हे प्रभो! यथा त्वद्विमुखाः स्वाधिकाराद् भ्रश्यन्ति तथा त्वयि बद्धं सौहृदं प्रेमातिशयो यैस्ते तावकास्त्वद्भक्ताः कचित्कदाचिदपि तत्त्वज्ञानाभावेऽपि स्वधर्मत्यागेऽपि च मार्गात् मार्गणीयात् भजनाधिकारान्न भ्रश्यन्ति। भरतचित्रकेतुगजेन्द्रप्रह्लादादीनां जन्मान्तरेऽपि भक्तिसद्भावदर्शनात्। किन्तु त्वया अभि सर्वतः गुप्ताः रक्षिता अत एव निर्भयाः कालकर्मादिभयरहिताः सन्तः विनायका विध्नकर्तारस्तेषामनीकानि सेनास्तासां पालकानां मूर्द्धसु विचरन्ति। विध्नकरणार्थमागतानां देवादीनां मूर्द्धपरम्परां सोपानीकृत्य त्वत्पदमारोहन्तीत्यर्थः॥ ३३॥ बिभर्षि रूपाणीत्युक्तानां रूपाणां केन प्रकारेण सुखावहत्व-मित्याशङ्क्याह–सत्त्वमिति॥ भवान् स्थितिः पालनं तस्यां निमित्तभूतायां जगत्पालनार्थमिति यावत्। विशुद्धं रजस्तमोभ्यामन-नुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयं शरीरिणां श्रेयसः कर्मफलस्य उपायनं प्रापकं वपुः श्रयते बिभर्त्ति। येन वपुषा हेतुना जनः ब्रह्मचार्यादिः वेदाश्च क्रियायोगाश्च तपश्च समाधिश्च तैः क्रमेण चतुराश्रमधर्मैरित्यर्थः। तव अर्हणं पूजनं सम्यक् ईहते करोति। वपुषोऽनाश्रयणेऽ-र्हणासम्भवान्न कर्मफलसिद्धिः स्यादिति॥ ३४॥ सत्त्वं न चेदिति॥ हे धातः! निजं भवदीयं सत्त्वं विशुद्धसत्त्वमयमिदं वपुश्चेत् यदि प्रकटितं न भवेत्। तदा तद्भजनाभावेन अज्ञानं च तत्कृता भिदा भेदबुद्धिश्च तयोरपमार्जनं निवर्त्तकं विज्ञानं तव तत्त्वसाक्षा-त्कारात्मकमपि न भवेदित्यनुषङ्गः। यद्वा। चेद्यदि सत्त्वमयमिदं तव निजं वपुर्न भवेत् तर्हि अज्ञानभित् अज्ञाननिवर्त्तकं विज्ञानम-परोक्षज्ञानं मार्जनं नाशम् आप प्राप्तमेव तदा अपरोक्षज्ञानस्य नाश एव भवेदित्यर्थः। ननु जडानां बुद्ध्यादीनां यतः प्रकाशस्तद्-ब्रह्मेति ज्ञानं स्यादेवेति चेत्तत्राहुः। गुणेति॥ तदा हि यस्य संवन्धी अयं बुद्ध्यादिगुणः प्रकाशते यो गुणसाक्षीत्येवं येन वा

बुद्ध्यारूढेन प्रमात्रा बुद्ध्याद्यधिष्ठात्रा बाह्यो गुणः प्रकाशते इत्येवं गुणप्रकाशैः गुणावच्छिन्नैः प्रकाशैर्भवान् सर्वसाक्षी परिपूर्णः केवलमनुमीयते कल्प्यते नतु साक्षात्क्रियत इत्यर्थः। अनुमानप्रयोगश्च बुद्ध्यादयः प्रकाशकसापेक्षाः जडत्वात् घटादिवत् इति। अतः भवता शुद्धसत्त्वमूर्त्तिः धार्या एवेत्यर्थः। ततः शुद्धसत्त्ववपुषि त्वयि सेव्यमाने तु तदाकारेऽन्तःकरणे त्वत्प्रसादेन साक्षात्कारो भवेदिति भावः॥ ३५॥ यानि रूपाणि त्वं बिभर्षि तान्यपि भजनीयान्येव नतु ज्ञातुं शक्यानि अनन्तत्वादिहेतोरित्याहुः—न नामरूपे इति॥ अनुमेयं महता प्रयत्नेन सूक्ष्मया बुद्ध्या विज्ञेयं वर्त्म प्राप्तिसाधनं यस्य तस्येत्यर्थः। तस्य मनइन्द्रियादिसंघातस्य साक्षिणः तव गुणजन्मकर्मभिः स्वीकृते नामरूपे मनोवचोभ्यां न निरूपितव्ये मनसा चिन्तनार्हे वचसा कीर्त्तनार्हे च न भवतः। तत्र गुणैर्नामरूपे दीनवत्सलादि श्यामसुन्दरादि। कर्मभिर्गोवर्द्धनधरादि त्रिभङ्गाकृत्यादि। जन्मभिर्देवकीनन्दनादि मत्स्यादि। यद्वा। मनः मननं युक्तिः वचः आप्तवाक्यं ताभ्यामप्यनुमेयं न त्वनुभाव्यं वर्त्म गुणादिरूपं यस्य तस्य। तव नामरूपे गुणैः शास्त्राभ्यासाद्यैः कर्मभिः नियमादिभिः जन्मभिः सत्कुलादिभिर्हेतुभिरपि न निरूपितव्ये निरूपणार्हे न भवतः। अनित्यण्यन्ताश्च रादयः। हे देव ! अथापि तथापि क्रियायां भवदुपासनायां वर्त्तमाना भक्ताः प्रतियन्ति नामानि कीर्त्तयन्ति रूपाणि च पश्यन्तीत्यन्वयः। "यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।" इति तृतीयोक्तेः॥ ३६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

आदृतयुष्मदङ्घ्रीणां न कर्हिचिदधः पतनमस्तीति वदन्तः स्तुवन्ति॥ तथेति॥ हे माधव, तावकास्त्वद्भक्त्याचरणेन त्वदीयतां प्राप्ताः, ते आदृतयुष्मदङ्घ्रयः जनाः तु यत त्वयि बद्धसौहृदाः, त्वयि नित्यं निबद्धसुहृद्भावाः सन्ति, अतः तथा त्वद्भक्तिरहितवत्, क्वचित् कदाचिदपि, मार्गात् ब्राह्मणाद्युत्तमकुलजन्माप्त्यादेरध्वनः सकाशात्, न भ्रश्यन्ति नाधः पतन्तीत्यर्थः। प्रत्युत, त्वया, अभिगुप्ताः अभितो रक्षिताः, अत एव, निर्भयाः दुर्गतिप्राप्तिभयवर्जिताः सन्तः, हे प्रभो, विनायकाः श्रेयःप्रतिबन्धिनो विघ्नास्तेषामनीकं सेना तत् पान्तीति विनायकानीकपास्तेषां मुर्द्धानस्तेषु विघ्नसेनापतिशिरःस्वित्यर्थः। विचरन्ति विघ्नान् जयन्तीत्यर्थः॥ ३३॥ संकल्पमात्रपरिकल्पितनिखिलप्रपञ्चस्त्वमस्यतः संकल्पमात्रेणैव जगत्त्रातुं प्रभुर्नावतारमपेक्षसे, तथाप्युपासकानामुपासनालम्बनार्थमवतरसीति स्तुवन्ति॥ सत्त्वमिति॥ स्थितौ स्थितिः पालनं तस्यां निमित्तभूतायां स्थित्यर्थमित्यर्थः। भवान्, शरीरिणां देहिनां, श्रेयसे उपेयते प्राप्यते इति श्रेयउपायनं, शरीरिभिः श्रेयःप्राप्त्यै श्रयणीयमित्यर्थः। 'इण् गतौ' विशुद्धं रजःसत्त्वतमोभिरननुविद्धं, सत्त्वमप्राकृतसत्त्वमयं, वपुः शरीरं, श्रयते बिभर्त्ति प्रकटयतीत्यर्थः। अनेन भगवद्वपुः श्रयणमेव शरीरिणां मुख्यं श्रेयःसाधनमिति प्रदर्शितम्। येन वपुषा, आलम्बनभूतेन येन वपुषेत्यर्थः उपलक्षितस्येति शेषः। तव, अर्हणमाराधनं, जनः, वेदक्रिया वेदपूर्वभागोदिता यज्ञादिक्रिया च योगः वेदोत्तरभागोदितमुपासनं च तपस्तदनुग्राहकमनशनादिरूपं च समाधिस्तन्निर्वृत्यं चित्तैकाग्र्यं च तैः, समीहते करोति। यदि भवान् वपुर्न संश्रयते तर्ह्याराध्यरूपापरिज्ञानात् आराधकास्त्वामाराधयितुमप्रभवः स्युरतो भवानाराधकानुग्रहार्थं वपुः संश्रयते इति भावः॥ ३४॥ एतदेव स्पष्टीकुर्वन्तः स्तुवन्ति॥ सत्त्वं न चेदिति॥ हे धातः विश्वकारणभूत, विज्ञानं विशिष्टज्ञानप्रकाशकं, अज्ञानभिदापमार्जनं ध्यातॄणामज्ञानकृतदेवादिभेदाभिमाननिवर्त्तकं, सत्त्वं शुद्धसत्त्वमयं, निजमसाधारणं, इदं वपुः, न भवेत् चेत्, भवान्नाश्रयते चेत्तर्हीत्यर्थः। यस्य पुंसः, येन कालकर्मादिरूपेण कारणेन, यः च गुणः सत्त्वाद्यन्यतमो गुणः, प्रकाशते उन्मिषते, तस्य पुंसः, तैरिति च शेषः। गुणप्रकाशैर्गुणोन्मेषैः, युक्तः भवान्, अनुमीयते सकलकार्यकारणभूतो देवमनुष्यादविलक्षणश्चेति त्वं न ज्ञायसे, किं तु इतरसजातीयतयाऽनुमितिविषयः जायसे इत्यर्थः। वाशब्दोऽवधारणे। यदि भवान्वपुराश्रयते तर्हि तवासाधारणानि देवमनुष्यादिष्वसंभावितानि गुणचेष्टितानि दृष्ट्वा तैः त्वद्वपुः देवादिविजातीयं मत्वेदमेव भगवद्वपुरिति मन्यमानो ध्यातृवर्गोऽत्र तदेव ध्यायतीति भावः॥ ३५॥ नन्वहमपि देवादिसजातीयवपुष्मानेवेत्यत्राहुः॥ न नामरूप इति॥ मनोवचोभ्यां, अनुमेयवर्त्मनः वचसा वेदवाक्येन तदनुसारेण मनसा चानुमेयस्वभावस्येत्यर्थः। साक्षिणः सर्वसाक्षिणः, तस्य तव, गुणजन्मकर्मभिः सह, नामरूपे न निरूपितव्ये। गुणकर्मजन्मनामरूपाणीतरसजातीयतया न निरूपणीयानि, 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमस्थूलमनणवह्रस्वमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं' 'निष्क्रियं निष्कलं' 'अजायमान' इत्यादिश्रुतिभिरितरसजातीयानि गुणादीनि प्रतिषिध्य, 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' 'यस्य चैतत् कर्म स वै वेदितव्यः' 'बहुधा विजायते' इत्यादिश्रुतिवृन्दैर्विलक्षणानामेव त्वद्गुणादीनामुक्तत्वादिति भावः। ननु, यद्यहमेवं देवादिविलक्षणगुणकर्मादियुक्तोऽस्मि, तर्हि नाहं वेदोक्तक्रियाराध्यः, कुतस्तत्रेन्द्राद्याराध्यत्वादिति चेन्न, वेदा इन्द्रादिनामभिस्तत्र त्वामेव वदन्ति तव तदन्तरात्मत्वादित्याहुः। अथापि तवोक्तविधत्वेऽपि, त्वदुपासकाः, वेदक्रियायां यज्ञादिक्रियायां, त्वां एव, प्रतियन्ति आराध्यं मन्यन्ते। अग्नीन्द्रादिनामरूपाणि तदन्तरात्मभूतत्वात्त्वदीयानीति बुद्ध्या तद्विशिष्टमपि त्वां वेदावगतयज्ञादिक्रियायां सर्वत्रैवाराध्यं मन्यन्ते इत्यर्थः॥ ३६॥

कृष्णप्रिया

हे माधव ! जो लोग आप के हैं और आप ही में अनुराग वाले होने के कारण आप के ही बन गये हैं वे तो, जो लोग स्वयं अपने को ब्रह्म मान बैठे हैं एवं मुक्त भी समझ रहे हैं वे भी भगवन् मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होते किन्तु आप से सुरक्षित

होने से निर्भय वन कर बड़े बड़े विघ्नों के सिर पैर रखकर सर्वत्र विचरते हैं ।। ३३ ।। आप विश्वके पालन के प्रसङ्ग में जीवों को सत् कर्मों का फलस्वरूप भेट देने के लिये सत्व गुण मय श्रीविग्रह को धारण करते हो । जिस से–जिस श्री विग्रह के आधार पर जन समुदाय वेद में बताई हुई वैदिक क्रिया–योग-तपः समाधि से आप की सेवा कर सकते हैं ।। ३४ ।। हे धातः हे भगवन् यदि आप इस सत्वगुणमय वपु को धारण नहीं करो तो अज्ञान को नाश करने वाले विज्ञान की भी स्थिति न हो । गुणों के प्रकाश से ही हम आपका अनुमान कर सकते हैं कि जिसका और जिससे गुणों का प्रकाश होता है ।। ३५ ।। भगवन् ! आपके नाम और रूप, मन तथा वचन के अगोचर है इसलिये साक्षी स्वरूप आपके मार्ग का मात्र अनुमान होता है अतः गुण, कर्म और जन्म से निरूपण नहीं किये जा सकते हैं तो भी क्रियां में आपकी प्रतीति उपासकों को होती है ।। ३६ ।।

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते[1] ।
क्रियासु युष्मचरणारविन्दयोराविष्टचित्तो[2] न भवाय कल्पते ।। ३७ ।।
[4]दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः ।
दिष्ट्याङ्कितैः[5] त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ।। ३८ ।।
न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता [6]यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ।। ३९ ।।
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च तथा[7] धुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दन ते ।। ४० ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः – ते मङ्गलानि नामानि च रूपाणि शृण्वन् गृणन् च संस्मरयन् क्रियासु युष्मच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तः भवाय न कल्पते ।। ३७ ।। हरे दिष्ट्या भवतः पदः अस्या भूमेः ईशितुः तव जन्मना भारः अपनीतः दिष्ट्या सुशोभनैः अङ्कितैः त्वत्पदकैः तवानुकम्पिताम् गां च द्याम् द्रक्ष्यामः ।। ३८ ।। ईश बत अभवस्य ते भवस्य कारणं विनोदं विना न तर्कयामहे यतः अभव आश्रय आत्मनि त्वयि भवः निरोधः अपि स्थितिः अविधया कृताः ।। ३९ ।। यदूत्तम मत्स्य-अश्व-कच्छप-नृसिंह-वराह-हंस–राजन्य-विप्र-विबुधेषु कृतावतारः त्वम् नः त्रिभुवनम् च (यथा) पासि तथा अधुना हे ईश भुवः भारम् हर (हरे) ते वन्दनम् ।।४०।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तस्माद्भक्त्यैव मोक्ष इत्युपसंहरति । शृण्वन्निति । अन्यानपि संस्मारयन् । क्रियासु देवार्चनादिकर्मसु ।। ३७ ।। विशेषतः श्रीकृष्णावतारमभिनंदंति । दिष्ट्येति । दिष्ट्या भद्रम् तव पदः पादभूतायाः । ईश्वरस्य तव जन्ममात्रेणापनीत एव । किं च । त्वत्पदकैः कोमलैः पदैः सुशोभनैर्वज्रांकुशादिशुभलक्षणैः । गां पृथ्वीं द्यां स्वर्गं च तव त्वयाऽनुकंपिताम् ।। ३८ ।। तव जन्मना भारोऽपनीत इत्युक्त्या ममापि किं जीववत्संसार उक्तो नहि नहीत्याहुः । नेति । बत हे ईश ! संसारिणस्ते जन्मनः कारणं क्रीडां विना न तर्कयामः । किं च । हे अभयाश्रय न भयमाश्रयत इति तथा तत्संबोधनम् । हे नित्यमुक्त इत्यर्थः । तव जन्मकारणं नास्तीति किं वक्तव्यं यतो जीवात्मन्यपि भवादयस्त्वयि विषये या अविद्या तया कृता न परमार्थतः संतीति ।। ३९ ।। प्रस्तुतं प्रार्थयंते । मत्स्याश्वेति । नोऽस्मांस्त्रिभुवनं चान्यदा यथा पासि तथाऽधुनाऽपि पाहीति वंदनं ते इति च वदंतः सर्वे शिरोभिः प्रणमंति ।। ४० ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यस्मादुपासकास्त्वां साक्षात्पश्यंति तस्माद्धेतोरित्यर्थः । भक्त्यैव भक्तिद्वारेणैव । एवशब्दो भक्तिं विना मोक्षहेतुज्ञानासिद्धिमाह । तद्वक्ष्यति–"श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यंति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।" इति ।। ३७ ।। विशेषतः तृतीयार्थे तसिः । अभिनंदंति श्लाघंते दिष्ट्येत्यव्ययं भद्रे । पदः पादभूतायाः कार्याकारणाभेदाभिप्रायेण वा "पद्भ्यां भूमिः" इति श्रुतेः पद इत्युक्तम् । "भूः पादौ द्यौ शिरः" इत्युक्तेः । अपनीतोऽपास्त एव अधुनैव कंसादीन्हतान् जानीम इत्याह–भारः कंसादिहेतुकस्तवावतारमात्रेणैवाप नीत इदं विज्ञापनचातुर्यं देवानां ज्ञेयम् अन्यदपि सुखमनुभविष्याम इत्याह–किञ्चेति । त्वत्पदकैः तव कोमलैः पादैरिह पदशब्दात्कोमलेर्थे बाहुलकात्कः ।

१ वः–इति कस्यचित् । २. यस्त्व–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. शुक. । ३. चेता–श्रीधर. वंशी. ; चित्तो–वीर. विज. जीव. शुक. । ४. दिष्ट्या हरे नो भवतः इति पाठः । ५. अङ्कितां–वीर. विज जीव. शुक. ; अङ्किता–श्रीधर. वंशी. । ६. ह्यभवा–विज. । ७. यथा–श्रीधर. वंशी. वीर. जीव. ; तथा–विज. विश्व. शुक. ।

सुष्ठु शोभनानि शोभाकराणि वज्रादीन्येषु तैः। यद्यपि 'मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः' इति रीत्या तव जन्मनैव भारोपनीतस्तथापि बहिस्तल्लीलादर्शनार्थमस्माकमियं प्रार्थनानि। द्यां स्वर्गम् 'सुरलोको द्योदिवौ' इत्यमरः। कदाचित्पारिजातहरणाद्यर्थं तत्र गतस्य पारिजातपरागादिषु पदानामुदयात्स्वर्गमपि पदांकितं द्रक्ष्याम इत्यर्थः। अनुकंपा जाता यस्येति ताम्। जातार्थे इतच्॥ ३८॥ जीववज्जन्माद्युक्तेः कुपितमिव प्रसादयतां संभ्रमान्नह्निहीति द्विरुक्तिः। नेति। बत हे ईश "बतामंत्रणसंतोषखेदानुक्रोशविस्मये" इति मेदिनी। बत संबुद्धौ ज्ञेयोत्र त्वयि विषये याऽविद्या तया कृताः जीवस्यापि वस्तुतस्त्वद्रूपत्वात्त्वदज्ञानकल्पिता इत्याह-न परमार्थत इति॥ ३९॥ प्रस्तुतं भूभारनिराकरणम्। अन्यदा इदानींतनकालादन्यस्मिन्काले। अश्वो हयग्रीवः। विप्रो जामदग्न्यः। विबुधो यज्ञः। कृतोऽवतारा येन स तथा। वयं तु तव नतिं विना किञ्चिदपि प्रतिकर्त्तुं न क्षमाः इत्याहुः-वंदनमिति। यदव उत्तमा उद्गतक्लेशा येन स तथा तत्संबुद्धौ तवाविर्भावेण यदूनां क्लेशो नंक्ष्यत्यतो झटित्याविर्भवेति संबुद्ध्यभिप्रायः॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, तत् क्रियाचेत्तदनुभवस्य हेतुस्तर्हि कथं प्रथमत एव स न स्यात्? उच्यते अस्त्यत्र नानापराधमयी संसारवासना प्रतिबन्धिनी सा च तदा वृत्त्यैवापगच्छतीत्याहुः-शृण्वन्निति। श्रवणादीनां विकल्पो ज्ञेयः मङ्गलानि सर्वदुःखनिवर्त्तकत्वात् परमसुखात्मकत्वाच्चेति भावः। अतः स्वतः पुरुषार्थतोक्ता अत एव क्रियासु निजाशेषकर्म्मसु वर्त्तमानो यः सोपि त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो भूत्वा। यद्वा य इत्यस्य पूर्वेणान्वयः। यः शृण्वन् भवतीत्यर्थः। तच्चरणारविन्दयोः क्रियासु श्रवणादिकर्म्मसु आविष्टचित्तः यद्वा क्रियासु तत्तल्लीलासु युष्मदिति पाठश्च क्वचित् ततश्च समञ्जसमेव अतो भवाय संसाराय न कल्पते तत्कारणे विद्यमानेऽपि तद्योग्यो न स्यात्तद्वासनारहितो भवतीत्यर्थः॥ ३७॥ दिष्ट्या एतद्भद्रं जातम् अस्मादृशानां भाग्येनेत्यर्थः। अस्याः भारार्त्तायाः त्वदवतारेण परमधन्यत्वं प्राप्ताया वा पद इति पद्भ्यां भूमेरुत्पत्त्या कार्यकारणयोरभेदाभिप्रायेण "पद्भ्यां भूमिः" इति श्रुतेः अत एवाग्रेऽक्रूरस्तुतौ "अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिः" इति जन्मना श्रीदेवक्यामवतारमात्रेण भारः कंसादिहेतुकः अपनीतः दूरीकृतः इदं तद्विज्ञापनचातुर्यम् एवं भारहरणाद्धरे इति सम्बोधनं निजपदाब्जव्यपदेशसौभाग्यभाजनपृथिवीभारापनयनेन भक्तानामस्मादृशां भुवोऽपि हितं कृतमेवेति प्रयोजनमेकं सिद्धम्। किन्तु अस्माकं तस्याश्च परमहितकारिविचित्रक्रीडया सर्वलोककृतार्थीकरणमेव मुख्यप्रयोजनं कार्यमित्याशयेनाहुः-दिष्ट्याङ्किन्तामिति। अल्पार्थे कप्रत्ययः द्वापरान्तोचितनराकृतित्वेन महाशरीरिणां तेषां देवानां तादृशदृष्ट्या किं वा दयार्थे सुकोमलत्वस्फुरणात् अङ्किताम् अलङ्कृतामित्यर्थः। द्यामनुकम्पितामिति दैत्यवधादिना तत्रत्यानां हिताचरणात्। यद्वा विशेषणाद्वयमिदं द्वयोरेव ज्ञेयम्। ततश्च अङ्कितत्वेनैव भक्तिविस्तारणादिना वाऽनुकम्पितां गां द्यामङ्कितामिति कदाचित् पारिजातहरणार्थं तत्र गतस्य पारिजातपरागादिषु पदानामुदयात्॥ ३८॥ न भवः संसारो भक्तानां जगतामपि वा यस्मात्तस्य बत हर्षे अन्यत्तैः। यद्वा विनोदमात्रार्थत्वे हेतुः हे अभय! यतः सर्वाश्रयात्मनि त्वय्याश्रित्य वर्त्तमाना या अविद्याविद्याख्यायाश्चिच्छक्तेरितरा माया तयैव नित्यं भवादयः कृता वर्त्तन्ते ततस्तदन्तःपातिपालनमात्रार्थं नायं स्वस्वरूपेण प्रयत्नविशेषो युक्त इति विनोदं विना कारणान्तरं न तर्कयामह इत्यर्थः। दुष्टवधार्थप्रयत्नश्च सभयस्यैव सम्भवतीति तदेवं विनोदस्य स्वरूपाऽनुबद्धत्वेन सृष्ट्यादिलीलाभ्यो महान् विशेषो दर्शितः। अत एव नागपत्नीभिरुक्तम्। अव्याकृतविहारायेति, अत एव "अजितरुचिरलीलाकृष्टसारम्" इत्यादिकानि श्रीशुकादीनामपि विशेषणानीति॥ ३९॥ हे ईश! इति तत्र सामर्थ्यं दर्शयन्ति हे यदूत्तम! इति अधुना श्रीकृष्णरूपत्वेन साक्षाद्भगवत्त्वात् पूर्वतोपि विशेषेण पालनं कर्त्तव्यमिति भावः। अत एव भारं हरेति यद्यपि "मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः" इति रीत्या तव जन्मना भारोऽपनीत इत्युक्त्यैव तत्प्रार्थना विशेषतो लब्धा तथापि पुनर्बहिस्तल्लीलादर्शनार्थमत्युत्कण्ठयैवेदमुक्तमिति ज्ञेयम्। अन्यत्तैः यद्वा यथा पासि तथाऽधुनापि पासि पास्यसि काक्वा ततो अधिकमेव पास्यसीत्यर्थः। तदेवाभिव्यञ्जयन्ति भुवो भारं हरेति श्रीनृसिंहाद्यवतारे त्वया हतानामपि हिरण्यकशिपुकालनेमिप्रभृतीनां पुनरत्र जन्मना भुवो भारो भवत्येव अधुना तथा विधेहि यथा तेषां पुरावृत्तिर्न स्यात् येन भक्तानामस्माकं तादृशदुष्टादर्शनेन च परमहितं स्यादिति भावः। नन्वेवं दुष्टानां मुक्तिदानमयोग्यमित्याशङ्क्य तदर्थं सकाकु प्रणमन्ति यदूत्तमेति अन्यत्समानम्॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

३७—तत्तदुपासक एव परमकृतार्थो भवतीत्याहुः—शृण्वन्निति। श्रवणादीनां विकल्पो ज्ञेयः, मंगलानि परमसुखात्मकानीति स्वतः पुरुषार्थतोक्ता। अतएव क्रियासु निजाशेषकर्मसु वर्त्तमानो यः, सोऽपि त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तः परमासक्तो भवति; यद्वा, य इत्यस्य पूर्वेणान्वयः, यः शृण्वन् भवतीत्यर्थः। त्वच्चरणारविन्दयोः क्रियासु श्रवणादिकर्म्मस्वाविष्टचित्तो भवति। युष्मदिति ततश्च समञ्जसमेव; अतो भवाय संसाराय न कल्पते– तत्कारणे विद्यमानेऽपि तद्योग्यो न स्यादित्यर्थः। एवमानुषंगिकन्यायेन स्वत एव संसारनिवृत्तिरुक्ता॥

३८—दिष्ट्या—एतदभद्रं जातम्, किंवा अस्मादृशानां भाग्येनेत्यर्थः। अस्या भारार्त्तायास्त्वदवतारेण परमधन्यत्वं प्राप्ताया वा, पद इति पद्भ्यां भूमेरुत्पत्त्या; तत्र च कार्य्यकारणयोरभेदाभिप्रायेण। अतएवाग्रेऽक्रूरस्तुतौ (भा० १०।४०।१३)—

'अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिः' इति। जन्मना श्रीदेवक्यामवतारमात्रेण भारः कंसादिहेतुकोऽपनीतो दूरीकृतः। इदं तद्विज्ञापनचातुर्यम्। यद्वा, भारः पापलक्षणोऽपनीत एव,—दुष्टानामपि तत्तत्सद्बुद्ध्युत्पत्तेः। एवं भारहरणाद्धरे इति सम्बोधनं निजपदाब्ज-भारापनयनेन भक्तानामस्मादृशां हितं कृतमेवेति प्रयोजनमेकं सिद्धम्, किन्त्वस्माकं परमहितकारि विचित्रक्रीडया सर्वलोक-कृतार्थीकरणमेव मुख्यप्रयोजनं कार्यमित्याशयेनाहुः—दिष्ट्यांकितामिति। अल्पार्थे कप्रत्ययः पदानां सुकोमलत्वं बोधयति। अंकितामलंकृतामित्यर्थः। द्यामनुकम्पितामिति दैत्यवधादिना, तत्रत्यानां हिताचरणात्। यद्वा, विशेषणद्वयमिदं द्वयोरेव ज्ञेयम्। ततश्चांकितत्वेनैव भक्तिविस्तारणादिना वानुकम्पितां गां द्यामंकितामिति कदाचित् पारिजातपरागादिषु पदानामुदयात्॥ ३८॥

३९—न भवः संसारो भक्तानामपि जगतामपि वा यस्मात्तस्य, बत हर्षे। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, दुष्टवधादिना भारहरणमपि त्वत्क्रीडैवेति। अथवा ननु, भूभारहरणार्थमवतीर्णस्य दुष्टवधादिप्रयासेन सा विचित्रक्रीडा कथं सिध्येदित्यत्राहुः—नेति। यत आत्मनि साक्षाद्भूते, न तु किञ्चिद्व्यवहिते त्वयि वर्त्तमानयाविद्यया माययैव सृष्ट्यादयः कृता भवन्ति; आत्मनीत्य-विद्यायास्तत्र शक्तिः सम्भाविता, अतो दुष्टवधादिकं तव कियदेतत् प्रयोजनमिति भावः। यद्वा, युष्मत्प्रार्थनया भूभारहरणा-यावतीर्णोऽस्मीति तदेव कार्यम्, किमन्यक्रीडयेत्यत्राहुः—नेति। गोकुलादिक्रीडार्थमवतीर्णत्वात्तत्क्रीडावश्यं कार्येति भावः। अन्यत् समानम्' यद्वा, ननु सृष्ट्याद्या महालीला वर्त्तन्ते, तदपेक्षया कोऽयं विनोदो नाम? तत्राहुः—भव इति। आत्मनि जीवे विषये निमित्ते वा—जातावेकत्वम्। भवादयोऽविद्ययैव, ते मायिकाः। अयञ्च सत्य एवेत्यर्थः। एवं रूपलीलानां सच्चिदानन्दरूप-ताभिप्रेता॥

४०—हे ईशेति तत्र सामर्थ्यं दर्शयन्ति। हे यदुत्तमेति अधुना श्रीकृष्णरूपत्वेन साक्षाद्भगवत्त्वात् पूर्वतो विशेषेण पालनं कर्त्तव्यमिति भावः; अतएव भावं हरेति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, यथा पासि, तथाधुनापि पास्यसि किम्?—काका, ततोऽधिकं पाहीत्यर्थः। तदेवाभिव्यञ्जयन्ति—भुवो भारं हरेति, श्रीनृसिंहाद्यवतारे त्वया हतानामपि हिरण्यकशिपुकालनेमि-प्रभृतीनां पुनरत्र जन्मना भुवो भारो भवेत्येव; अधुना तथा विधेहि, यथा तेषां पुनरावृत्तिर्न स्यादिति भावः। नन्वेवं दुष्टानां मुक्तिदानमयोग्यमित्याशंक्य तदर्थं सकाकु प्रणमन्ति—यदुत्तमेति। अन्यत् समानम्। गूढोऽयमभिप्रायः—अपुनरावृत्तिमोक्षाख्या तेषां दुष्टानां कदाचिदपि दर्शनादिकं न भावीति भक्तानामस्मादृशां परमहितमेव सिद्धमिति। यद्वा, ते तव बन्धनं जगत्कर्तृक-भजनं यथा स्यात्तथा दुष्टवधादिना भुवो भारं हर; किंवा ते त्वदीयानां यदूनां यदुप्रधानभक्तानामुत्तमबन्धनं यथा स्यात्, दुष्टानामत्यन्ताभावेनैव प्रेमभक्तिसिद्ध्यात्यन्ताभावलक्षणो मोक्षस्तान् प्रति दातुं योग्य एवेति भावः॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

इन्द्रादिनामरूपेभ्यः स्वाऽसाधारणनामरूपाणां ध्येयत्वादिकमाहुः—शृण्वन्निति॥ ३७॥ अपनीतः अपनीतप्रायः गां भूमिम्॥ ३८॥ अभवस्य ते भवस्य जन्म न कारणमित्यन्वयः। अविद्यया संसारिणां ज्ञानाविरोधिन्या प्रकृत्या उत्पत्त्यादयो विकाराः प्रकृतिगता न स्वरूपगता इत्यर्थः॥ ३९॥ ४०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इन्द्रादिनामरूपेभ्यः स्वासाधारणनामरूपाणां ध्येयत्वादिकं वदन्तः स्तुवन्ति-शृण्वन्निति। यः पुमांस्ते तव मङ्गलावहानि नामानि रूपाणि च शृण्वन् वक्तृसन्निधौ सति गृणन् श्रोतृसन्निधौ तदुभयासन्निधौ नामानि स्मरन् रूपाणि चिन्तयंश्च संस्मरयन्निति णिजर्थस्त्वविवक्षितः क्रियासु वैदिकक्रियासु आसनाटनभोजनादिक्रियास्वपि त्वच्चरणारविन्दयोरासक्तं चित्तं मतिर्यस्य तथाभूतः स पुमान् भवाय श्रेयःसमृध्द्यै कल्पते नेति पाठे भवाय संसृतये न कल्पते किन्तु मुक्तय इत्यर्थः॥ ३७॥ आत्मनां प्रकृतावतार-प्रयुक्तमानन्दमाविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति—दिष्ट्येति। दिष्ट्येत्यानन्दद्योतकमव्ययं हे हरे आश्रितार्तिहारिन्! तव ईश्वरस्य जन्मना भवतस्तव पदा पादविन्यासेन च पद इति पाठे पदरूपाया अस्या भुवोभारोऽपनीतोऽपनीतप्रायः। इदं दिष्ट्या अस्माकमानन्द इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि सुशोभनैर्ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नैश्चारुभिः पदकैः पादविन्यासैरलङ्कृतां तव त्वया अनुकम्पितां च गां भूमिं द्याञ्च स्वर्गं द्रक्ष्यामः नित्यविभूतिमिव द्रक्ष्याम इत्यर्थः। एतद्दिष्ट्या सङ्कल्पमात्रनिर्वर्त्यजगद्रक्षणक्षमस्य तवावतारप्रयोजनं भक्तजना-नुग्रह एवेत्युक्तम्॥ ३८॥ अथावतारनिमित्तमाविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति—नेति। हे ईश! अभवस्य कर्माधीनोत्पत्तिरहितस्य तव भवस्य जन्मनः कारणं निमित्तं विना विनोदं लीलार्थं सङ्कल्पं विना अन्यन्न तर्कयामहे। बतेत्याश्चर्ये अनितरसाधारणत्वाद्विस्मयः यथा सृष्ट्यादि जगद्व्यापारो विनोदमात्रानुकूलसङ्कल्पमूलकस्तद्वज्जन्मादीत्यभिप्रायेणाऽऽहुः—भव इति। हे अभय! यतो विनोदादेव निमित्तादविद्यया संसारिणां ज्ञानविरोधिन्या प्रकृत्या जगत उत्पत्त्यादयो विकारास्तस्याश्रये आधारभूतेऽन्तरात्मनि च त्वयि कृताः तमेव विनोदमभवस्य तव भवकारणं मन्यामह इत्यर्थः। आश्रयात्मनि कृता इत्यनेन उत्पत्त्यादयो विकाराः प्रकृतिगताः न स्वरूपगता इति सूचितम्॥ ३९॥ यथा मत्स्याद्यवतारपरिग्रहेणास्मान् रक्षितवानेवमधुना भूभारापहारद्वाराऽस्मान् पाहीत्याहुः-मत्स्येति। मत्स्यादिषु कृतः परिगृहीतोऽवतारो येन तथाभूतस्त्वमस्मान् त्रिलोकीञ्च यथा पासि रक्षितवांस्तथाऽधुनाऽपि भुवो भारं हराऽपनय हे यदूत्तम! ते तुभ्यं वन्दनं नम इत्यर्थः॥ ४०॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यस्मान्नामादयः सन्ति तस्मात्क्रियमाणासु क्रियासु प्रेरकत्वेन नामानि शृण्वन् गृणन् रूपाणि चिन्तयन्नास्ते स त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तः पुरुषः भवाय संसाराय न कल्पत इत्यन्वयः। चशब्देन "सर्वक्रियासु कर्तृत्वपूज्यत्वेन जनार्दनम्। यो वेत्ति नेति संसारं तत्प्रसादान्न संशयः" इति स्मृतेर्न श्रवणादिना पूर्यते किं तु तज्ज्ञानं चावश्यमपेक्षितं भवति ॥ ३७ ॥ इदानीमवतारप्रयोजनं विज्ञापयति —दिष्ट्येति। तव जन्मना भवतः पदः भवच्चरणस्थानीयायाः भुवः असुरकृतभारोपनीत इति यत्तद्दिष्ट्या सर्वस्य सुखसभूत् सुष्ठु वा "सुष्ठु दिष्ट्योपजोषम्" इति यादवः तवानुकम्पिताम् अनुकम्पाविषयां द्यां च द्रक्ष्यामः दिष्ट्येत्यभ्यास आदरार्थं "पदाद्याश्रयणाद्विष्णोः पृथिव्याद्विपदादिकम्" इत्यादिस्मृतिसिद्धं भूमेर्विष्णुपदत्वम् ॥ ३८ ॥ लोकानुग्रहमन्तरेणान्यदवतारप्रयोजनं नास्तीति विज्ञापयतीत्याह नेति। न विद्यते भवः शुक्रशोणितसम्पर्कलक्षणं जन्म यस्य तथा तस्य भवस्य भद्रस्य जन्मादिदोषरहितस्येत्यर्थः "भवो भद्रे हरे प्राप्तौ सत्तासंसारजन्मसु" इति यादवः। ननु कर्दमे लीयत इव हरेर्जन्मादिमत्त्वं सत्यमित्यायातं तथा च तस्य कर्माधीनप्रवृत्तत्वेनेश्वरत्वहानेर्न मोक्षार्थं तदुपासनं विधेयमिति तत्राह—भव इति। त्वयीति षष्ठ्यर्थे सप्तमी अभवाश्रयश्चायमात्माचेत्यभवाश्रयात्मा मोक्षाश्रयः स्वामी तस्य मुक्ताश्रयस्य स्वरूपस्य वा तव कृता अङ्गीकृताः भवादयो ऽविद्यया त्वत्स्वरूपाज्ञानेन सत्या इति नरा मन्यन्ते इति यत इति शेषः। अस्य स्वस्य विद्यया इच्छया कृताः सत्या मन्यन्ते इति यतस्तस्मात्सरूपानादित्वेन ईश्वरत्वहान्यभावेन त्वदुपासनमेव विधेयमिति भावः—

"अज्ञानादेव मन्यन्ते विष्णोर्जन्ममृती नराः। स्थितिरूपस्य चान्यस्मात् स्थितिं मोक्षाश्रयस्य हि" इति ॥

वचनान्नेन्द्रजालमिति मन्तव्यमिति ॥ ३९ ॥ भक्तसङ्कटपरिहारमन्तरेणान्यदवतारप्रयोजनं न तवास्तीति यत इतो निकृष्टोत्कृष्टजातिग्रहणेन त्रिभुवनमपादित्युपसंहरतीत्याह—मत्स्येति। अश्वो हयग्रीवः कच्छपः कूर्म्मः विप्रो जामदग्न्यः त्रिभुवनं पास्यथा इति लकारव्यत्ययः तथा सति कार्ये कृतेऽप्यस्माभिरेतावदेवाऽनुष्ठीयते कृतप्रतिनिध्यभावादित्याह—यदूत्तम इति। अस्त्विति शेषः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

शृण्वन्निति। क्रियासु व्यवहारिकीष्वपि वर्त्तमानः योंऽशेन मत्स्यादिनाऽस्माकं भवाय स साक्षात् स्वयमेवेति कुक्षिं गत इति पूर्वे मनस्तो दधारेत्यप्युक्तं तत एकवाक्यतानुरोधेनायमर्थः यद्यपि तदीयप्राचीनतादृशप्रेमयाञ्चावशतया कुक्षिं प्रविष्ट एव तथापि कुक्ष्यादिद्रव्यं भगवतोऽवरोधकं न स्यात् किन्तु प्रेमैवेति तस्य च प्रेम्ण आश्रयः कुक्षिर्न भवति किन्तु मन एवेति तदात्मतया मन एव तद्धारणे साधनं ततः कुक्षिङ्गतः मनसैव दधारेति ॥ ३७—४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

३८—दिष्ट्याङ्किताम् इति। त्वत्पदकैः कोमलपदैः पदचिह्नैर्वा अङ्कितां गां पृथिवीं द्यां वैकुण्ठम्, द्योतते इति द्यौः, स्वप्रकाशत्वाद् द्योशब्दोऽत्र वैकुण्ठवचनः पृथिवीमधिष्ठितस्य तव पदकैः पृथिवीमङ्किताम्, तदनु तिरोभावलीलायां तथाङ्कितं वैकुण्ठञ्च द्रक्ष्यामः,—अस्यैव स्वरूपस्य नित्यत्वात्। आविर्भाव-तिरोभावावेवेति द्योशब्द-तात्पर्यम् ॥ ३९ ॥

४०—मत्स्यादयस्तु तवैवावताराः, त्वं तु त्वमेवेत्याह—मत्स्यान्-श्वकच्छपेत्यादि। राजन्यो दशरथादिः, विप्रः कश्यपादिः विबुधो धर्मादिः एषु कृतोऽवतारो येन स त्वं सर्वावतारबीजम्। अधुना भुवो भारं हर, तदा रूपान्तरं गृहीत्वैव नः त्रिभुवनञ्च पासि; अधुना तु स्वरूपेणैवावतीर्णो भूत्वा भारं हरेति वाक्यार्थः। कृतावतार इति गुणभावात् त्वमित्यस्य प्रधानत्वाच्च ते तुभ्यं वन्दनमस्त्वित्युपसंहारः ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मत्स्याश्वेत्यादि। मत्स्यादिषु कृतावतारः सन् त्रिभुवनं नोऽस्मानपि पासि, हे ईश! अधुना त्वं साक्षात् स्वयमवतीर्णः सन् भुवो भारं हरेत्यस्य सर्वेश्वरेश्वरत्वं प्रतिपादितम् ॥ ४० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च नामरूपयोः श्रवणादिभिरभ्यास एवानुभवे कारणमित्याहुः-शृण्वन्निति। क्रियासु स्वदैहिकव्यापारेषु वर्त्तमानोऽपि न भवाय कल्पते किन्तु भगवदनुभवाय कल्पते ॥ ३७ ॥ भारावतरणमवश्यकर्तव्यमिति भङ्ग्या विज्ञापयन्ति, दिष्ट्येति। पदः पदजन्यायाः "पद्भ्यां भूमिः" इति श्रुतेः। भारोऽपनीतः अधुनैव कंसजरासन्धादीन् हतान् जानीम इति भावः। पदकैः सुकुमारैः पदैः सुशोभनैर्ध्वजवज्रादिमङ्गलचिह्नवद्भिः गां पृथ्वीं द्यां स्वर्गं च ॥ ३८ ॥ अस्मद्विज्ञापितोऽस्मदादिपालनार्थमवतीर्णोऽसीत्यस्मा-

कमभिमान एव केवलं वस्तुतस्त्वं स्वैरजन्मकर्मलीलोऽसीत्याहुः-नेति। अभवस्य अजन्मनः भवस्य प्रादुर्भावस्य यत आश्रयात्मनि त्वयि त्वामाश्रित्य वर्तमाना या अविद्या माया तयैव भवादयो जगत्सृष्ट्यादयः कृता इत्यर्थः। हे अभय! नास्ति भयं यत इति त्वत्स्मरणादेव कंसाद्यसुरभयं निवर्तते तद्वधार्थं तव स्वयमेवाविर्भूयोद्यमो न घटत इति भावः॥ ३९॥ तदप्यस्माकमधीराणां बहुधैवावगतचरं वैकल्यमवगम्यतां चेत्याहुः-मत्स्याश्वेति। तथैव भुवो भारं हरेति भूभारहरणमेव सम्प्रत्यस्माक्तं पालनमिति भावः। वन्दनं ते इति वदन्तः सर्वे शिरोभिः प्रणमन्ति॥ ४०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तस्माद्भवदाराधनं मुक्तिसाधनमित्याहुः-शृण्वन्निति "यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्" इति स्मृत्या क्रियान्यूनतापूर्त्यर्थकानि—

"यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्। लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः"॥

इतिपूर्वोक्त्या सद्यः कल्मषहराणि—

"अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुस्सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृह्णन्ति ये ते"॥

इति पूर्वत्रोक्त्या सर्वशोधकानि सर्वसाधनफलप्रदानि—

"स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः। स्त्रीराजमित्रगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्। नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः"॥

इतिमहापातकप्रायश्चित्ततयोक्तानि—

"सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति"। इति।

स्मृत्या मोक्षप्रदानि नामानि प्रतिदिनं क्रियासु त्वद्भक्तैरुच्चारितानि रूपाणि च निरूपितानि शृण्वन् श्रोतरि सति गृणन् अन्यदा संस्मरयन् चकाराद्भक्तान् संस्मारयन् चिन्तयन् मननं कुर्वन् त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तः भवाय संसाराय न कल्पते॥ ३७॥ भूभारहरणप्रसङ्गेन सलोकाः वयं तीर्थीकृता इत्याहुः-दिष्ट्येति। दिष्ट्येत्यव्ययं मङ्गल हे हरे! स्वभक्तक्लेशहारिन्! दिष्ट्या भद्रं भवतः पदो भुवः पादरूपायाः क्षितेः तव जन्मनैव भार एको भारः अनाथतया सात्मप्रजाधारणरूपोऽपनीतः यथा काचित्पतिवियुक्ता सात्मप्रजाभारेण सीदमाना क्षुद्रैः क्लिश्यमाना च प्रत्यागमनमात्रेण गतैकभारा भवति। तथेयमित्यर्थः। किञ्च त्वत्पदकैः अतिमृदुपदकमलैः सुशोभनैः स्वासाधारणलक्षणसंपन्नैः तवानुकंपितां गां भूमिं द्यां देवलोकं च अङ्कितां ध्वजवज्रादिचरणचिह्नैः चिह्नितां दिष्ट्या द्रक्ष्यामः सलोकाः वयं कृतार्था इति भावः॥ ३८॥ किञ्च सर्वात्मनः सर्वगतस्य सर्वदा सर्वं कर्तुं समर्थस्यार्योवतारणं स्वेच्छया लीलार्थमित्याहुः- नेति। यतो यत्र त्वयि अभयानां "सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धानामाश्रयश्चासावात्मा च तस्मिन् भवादयः अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकविश्वजन्मादयः अविद्यया विद्यावर्जितया मायया त्वत्कृताः भवन्ति एवंभूतस्याभवस्य "अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादिश्रुत्युक्तप्रभावस्य ते जन्मनः कारणं विनोदं विना न तर्कयामहे इत्यन्वयः। किं यदिदं भूभारहरणादिकमिति भावः॥ ३९॥ तथापि विनोदायावतीर्णः असुरकृतं भूमेर्भारं हर नः पाहीति प्रार्थयन्ते- मत्स्येति। मत्स्यादिरूपभृत् नोऽस्मान् त्रिभुवनं चकाराद्धर्मादिकमन्यदा यथा त्वं पासि तथा अधुनापि पाहि भुवो भारं च हर हे यदूत्तम! ते वन्दनमिति किरीटकोटिभिः भूसंस्पर्शपूर्वकमभिवन्दनमस्तु॥ ४०॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

अस्याः भवतः पदो भुवः। इत्यस्य भवतः पदश्चरणभूताया अस्या भुवो भूम्या इत्यर्थः। एतेन भगवतः पृथिव्याश्रयणाभावाद्भवतः पदाश्रयभूताया अस्या भुव इत्यनुपपन्नमिति दूषणं निरस्तम्। यच्छब्दस्याश्रयत्वमनंगीकृत्य पदार्थस्योक्तत्वात्॥ ता० अर्थः॥ खन्नाभिश्चरणौ क्षितिरित्यनेन पृथिव्या भगवच्चरणत्वस्योक्तत्वाद्भगवतः पदो भुव इत्यनेन पृथिव्या भगवच्चरणत्वमेवोच्यते न तु भगवदाश्रयत्वम्। खन्नाभिश्चरणौ क्षितिरित्यनेन भवतः पदोभुव इत्यनेन च पृथिव्या यद्भगवच्चरणैक्यमुक्तं तन्मुख्यं न भवति किंतु तदाश्रितत्वतज्जन्यत्वतत्सादृश्यत्वरूपं गौणमित्यस्मिन्नर्थे प्रमाणमाह॥ पदाद्याश्रयणादिति। विष्णोः पदाद्याश्रयणात्तज्जन्यत्वात्पादादिजन्यत्वाद्वा। अथवा। सादृश्यात्पदादि सादृश्यात्पृथिव्यादि विष्णोः पदादिकं पादादिकमिति खन्नाभिश्चरणौ क्षितिरित्यादावुच्यते। अत्र दृष्टांतमाह॥ यथेति। यथा तु पुरुषस्य भूमिगं भूमौ विद्यमानं पदं प्रतिपदं पुरुषपादजन्यत्वात्पुरुषपादसदृशत्वाद्वा पुरुषस्य पदमित्युच्यत इति। एतेन भगवतः पदो भुव इति सामानाधिकरण्येनैव पृथिव्या भगवत्पादत्वस्य प्रतीयमानत्वात्। खन्नाभिश्चरणौ क्षितिरिति भवतः पदो भुव इति तात्पर्यं व्यर्थमिति दूषणस्यानवकाशः। भवतः पदो भुव इत्यनेन पृथिव्या भगवत्पादत्वस्य बाधितत्वाद्भगवदाश्रयत्वमुच्यत इति भ्रमं परिहर्तुं खन्नाभिश्चरणौ क्षितिरिति भवतः पदो भुव इति तात्पर्यं प्रत्यक्ष-

मित्यभ्युपगमात् ॥ ३९ ॥ मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रबुधत्वैर्युक्तः सन् कृतोऽवतारो येन स तथेति। एतेन मत्स्य-वाक्यस्य मत्स्येषु कृतावतारोऽश्वेषु कृतावतार इत्याद्यर्थो वक्तव्यः। तत्र भगवद्व्यतिरिक्तानां मत्स्यादीनां विद्यमानत्वात्। मत्स्येषु कृतावतार इत्याद्युपपद्यते भगवद्व्यतिरिक्तनृसिंहहंसस्याभावान्नृसिंहेषु कृतावतार इत्यनुपपन्नमिति शंका परिहृता। मत्स्याश्वकच्छप-नृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेष्विति सप्तमी बहुवचनं तृतीया बहुवचनोद्देशः। भावप्रधानोऽयं निर्देश इति चांगीकृत्य मत्स्यत्वेन युक्तः सन् कृतावतार इत्याद्यर्थ उच्यत इत्यभ्युपगम्य मत्स्यत्वादि योगवन्नृसिंहत्वयोगः संभवतीत्यूरीकरणात् ॥ ४१ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ १०-३ ॥ (अस्मत्क्रमेण द्वितीयोऽध्यायः)

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

न नामरूपे इति। ननु न नामरूपे इति श्लोके गुणकर्मभिः सहिते तव नामरूपे न निरूपितव्ये निरूपयितुं शक्ये न भवत इति हरेर्नामरूपादिराहित्यमुच्यते। तदयुक्तम्। सर्वनामा सर्वरूपः सर्वगुण इत्यादिप्रमाणेन विरुद्धत्वादित्यतः प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ लोकसिद्धार्थनाम्न इत्यादिना। नाम्न इति षष्ठी तृतीयार्थे। लोकसिद्धः प्रसिद्धोऽर्थो यस्य तत्तथा। तच्च तन्नाम च तस्येति विग्रहः। लोकसाधारणार्थवन्नामराहित्यादित्यर्थः। सत्त्वाभावात्प्राकृतसत्त्वादिगुणत्रयातीतत्वात्। अक्लिष्टकारित्वादक-र्मत्यन्वयः। सुसुखज्ञानान्येव रूपाणि यस्य संति स सुखज्ञानरूपवानित्यर्थः। यद्यस्मादस्य हरेस्तानि रूपाणि शुभलक्षणपूर्णानि शुभानि लक्षणानि येषु तानि तथा पूर्णानि संख्यया पूर्णानि। असंख्यातानीति यावत्। संत्यतोऽसौ हरिरनंतरूप इत्यन्वयः। असौ हरिर्बलैश्वर्यसुवीर्याद्य एव पूर्णा असंख्यगुणा यस्मिन्स तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः। ननु हरिगुणानां पूर्णत्वे किं मानमित्यत आह ॥ पूर्णानंदादिभोजनादिति। पूर्णत्वेनानंदादीनां भोजनादनुभवात्। हरेरिति शेषः। अनेन पूर्वगुणोऽहमिति विष्णोः प्रत्यक्षानुभव एवानंदादीनां पूर्णत्वे मानमित्युक्तं। हरेरिति पदं गुणा इत्यनेनाभिन्ना इत्यनेन संबध्यते। तद्गता भगवद्गुणगताः सर्वे धर्मा गुणाः सत्त्वादयश्चेत्यर्थः। प्राकृतस्य तु नामादेरित्यनेन तस्येति भागवतपदं व्याख्यातं भवति। ईक्षिता पुरुषोत्तम इत्यनेन साक्षिण इति भागवतपदं व्याख्यातं भवति। अनामादिवचोभिर्हरेर्नामरूपराहित्यादिप्रतिपादकवचोभिः। तुरवधारणे। एष इत्यनेन संबध्यते। स एष एवार्थोऽलौकिकार्थः सन्नाम्नामित्यारभ्य सर्वाणि जगदीशतुरित्यंतग्रन्थोक्त एवार्थः। अनु उपक्रमा-दिलिंगानुसारेण मीयते ज्ञायते प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। अनामत्वादि चान्यच्च लोकप्रसिद्धार्थवन्नामरूपराहित्यादिरूपोऽन्योऽर्थोऽनामा-दिवचोभिः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। नन्वनामादिवचसामलौकिकार्थनामादियुक्तत्वमर्थः कुतः। सर्वथा नामादिराहित्यमेवार्थः किं न स्यादिति चेन्न। अलौकिकार्थनामादियुक्तत्वरूपार्थस्य प्रामाणिकत्वात्सर्वथा नामादिराहित्यरूपार्थस्याप्रामाणिकत्वादित्याशयवानाह ॥ ज्ञानिनामिति। स एषोऽर्थ इति वाक्यमनुवर्तते। अन्यच्चेति चशब्दोऽवधारणार्थः। एष इत्यनेन संबध्यते। तेन परोक्तसर्वथाना-मादिराहित्यरूपोऽर्थो व्यावर्त्यते। इंग्यते ज्ञायत इत्यर्थः। अनेन ज्ञानिनामनुभव एवास्मिन्नर्थे प्रमाणमुक्तं भवति। न चायमनुभवो ज्ञानिनां स्वातंत्र्येणेति मंतव्यमित्यभिप्रायेणैवाह ॥ तेनैव चोद्य इति। चशब्दो ज्ञानिनामित्यनुकर्षणार्थः। षष्ठी तृतीयार्थे। ज्ञानिभिरेषोऽर्थस्तेनैव प्रसन्नपरमात्मनां तत्प्रेरणयैवोह्य ऊहितुं ज्ञातुं शक्यो नान्यथा। उपसंहरति ॥ तस्मादिति। तस्मात्सर्वथा नामादिराहित्यस्याप्रामाणिकत्वादलौकिकार्थनामादिराहित्यस्य ज्ञानिप्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात्प्रभुः परमसमर्थो हरिरिति पूर्वोक्ता-लौकिकार्थनामादिवत्त्वेव ज्ञेय इत्यर्थः। अत्रानामादिवचोभिरित्यारभ्य मनसेंग्यत इत्यंतेन तात्पर्यप्रमाणेन मनोवचोभ्यामनुमेय-वर्त्मन इति भागवतवाक्यं व्याख्यातं भवति। तेनैव चोद्य एषोऽर्थ इति तात्पर्यश्लोकपादेन देवक्रियायाः प्रतियंत्यथाऽपीते भागवत-वाक्यं व्याख्यातं भवति। देवक्रियायाः प्रतियंतीति भागवतश्लोकांत्यपादं देवक्रियाया इंद्रादिदेवानुद्दिश्य कृतयज्ञादिक्रियायाः प्रतियंति स्वर्गादिकं प्राप्नुवंतीत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय प्रमाणेन व्याख्यातमपि स्पष्टमव्याख्यातत्वादनूद्य स्पष्टं स्वयं व्याचष्टे ॥ देवक्रियायाः प्रतियंतीति। स्वोक्तार्थे प्रमाणमाह ॥ नामरूपादि विष्णोरिति ॥ ३७ ॥ शृण्वन् गृणन्निति श्लोके क्रियासु तदित्यत्र तच्छब्दस्य विवक्षितार्थान्वयाप्रतीतेरर्थान्वयौ दर्शयन् क्रियास्वित्यस्य चान्वयाप्रतीतेरपेक्षिताध्याहारेणान्वयं दर्शयति ॥ यस्मादिति। क्रियमाणासु क्रियासु प्रेरकत्वेन पूज्यत्वेन च। हरिं वेत्तीति शेषः शृण्वन् गृणन्। नामादानिति शेषः। स्वोक्तार्थे प्रमाणमाह ॥ सर्वक्रियास्विति ॥ ३८ ॥ दिष्ट्या हरे इति श्लोके भवतः पद इत्यनेन पृथिव्या विष्णोः पादाख्यावयवत्वमुच्यते। तदयुक्तं। पृथिव्या विष्णुपादत्वे प्रमाणाभावादित्यतः प्रमाणमुदाहृत्य तेन प्रमाणेनास्य भागवतवाक्यस्यान्वयं दर्शयति ॥ खं नाभिरिति। खमाकाशो नाभिः। क्षितिः पृथिवी चरणाविति प्रमाणस्य विद्यमानत्वाद्भगवतः पदो भुव इति पृथिव्या यद्विष्णुपदत्वमुक्तम्। तद्युक्तमिति शेषः। नन्वेवं चेद्विष्णुपादस्य जडत्वं स्यात्तदंगीकारे चेतोमुखः सुखगंधश्च ज्ञानभाः सत्पराक्रम इत्यादिश्रुत्यादिविरोधः स्यादित्यतः प्रमाणेनैव पृथिव्या विष्णुपादत्वमुपपादयंस्तत्प्रसंगादाकाशादीनां विष्णुनाभित्वादिकमुपपादयति ॥ पदाद्याश्रयणाद्विष्णोरिति। पदादीति पदद्वये। आदिपदेन नाभ्यादिकं ग्राह्यम्। विष्णोरिति पूर्वोत्तरत्र च संबध्यते। पदादिकमुच्यत इति शेषः। सादृश्यमेव स्पष्टयति ॥ यथा नुरिति। यथा नुः परमपुरुषस्य पदं भूमिगं भूमिगतं यस्मिंस्तद्भूमिगं भूमेराधारभूतं तथा नुः परमपुरुषरूपस्य कृष्णरामादेः पदं भूमिगं भूमौ गतम्। अनेन भूमेर्विष्णुपदस्य च सामान्यत आधारत्वादिमात्रं सादृश्यमुक्तं भवति ॥ ३९ ॥ न ते भवस्येशेति श्लोके अभवाश्रयात्मन्यभवः पारमार्थिकसंसाराभावस्तस्याश्रयो जीवः स एवात्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मिन्

जीवस्वरूपे त्वयि भव उत्पत्तिर्निरोधः संहारः स्थितिश्चाविद्यया कृताः कल्पिता इति कृष्णस्य जीवत्वं तथा जीवस्योत्पत्त्यादिस्थितीनां मिथ्यात्वं चोच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय प्रमाणेन तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ अज्ञानादेव मन्यंत इति। स्थितिं रूपयति निरूपयति करोतीति स्थितिरूपस्तस्य। अन्यस्मादित्यस्य स्थितिमित्यनेनान्वयः। न तु जनिमृती इत्यनेनापि। तथात्वेऽन्यस्माज्जनिमृत्यभावेऽपि। स्थितिवत्स्वभावत एव जनिमृती स्याताम्। तदंगीकारे नित्यो नित्यानाम्। अविनाशि तु तद्विद्धि। न जायते म्रियते वा कदाचिदित्यादिश्रुतिस्मृत्यादिविरोधः स्यादित्यतः स्थितिपदेनैवान्वयो ज्ञातव्यः। अमेन विष्णोर्ये तथाऽन्यस्मात्स्थितिं मन्यंते तेऽपि ज्ञानिनस्तथा ये जन्मादिकं मन्यंते तेऽज्ञानिन इति सामान्यत इत्युक्तं भवति। ननु तेऽज्ञानिनः कुतो ज्ञानिन एव किं न स्युरित्यत आह ॥ मोक्षाश्रयस्य हीति। हेतुगर्भविशेषणम्। मोक्षाश्रयत्वान्मोक्षप्रदत्वादित्यर्थः। न हि स्वयं जन्मादिमान् सन्परं जन्मादिभ्यो मोचयतीति संभवति। अतिप्रसंगात्। अनेनाभावाश्रयात्मनीति भागवतवाक्यं व्याख्यातं भवति। एवं मोक्षप्रदत्वेन हेतुना विष्णोर्जन्माद्यंगीकुर्वतां मिथ्याज्ञानित्वमुपपाद्य हेत्वंतरेणाप्युपपादयति ॥ स्वेच्छया हीति। चोऽवधारणे। स्वेच्छयेत्यनेन संबध्यते। हिशब्दोऽस्यार्थस्य प्रामाणिकत्वं द्योतयति। तज्जन्यादिर्जनिरादिर्यस्यासौ जन्यादिस्तस्य विष्णोर्जन्मादिस्तज्जन्मादिरिति विग्रहः। तदिति भिन्नं पदं कृत्वा तस्य तस्मादित्यन्वयोऽपि कर्तव्यः। अनेन स्वातंत्र्येण सर्वस्य जगतो जन्मादिकर्तृत्वान्न विष्णोर्जन्मादित्वं संभवति। न हि जन्मादिमतः स्वातंत्र्यं स्वातंत्र्येण सर्वजन्मादिकर्तृत्वं च संभवति। अता विष्णोर्जन्मादिमत्त्वज्ञानिनो मिथ्याज्ञानिन एवेत्युक्तं भवति। अत्राज्ञानादेव मन्यंत इति तात्पर्यश्लोकेन भागवतस्थमविद्यापदमज्ञानार्थत्वेन व्याख्याय भागवतश्लोको विष्णोर्जन्मादिमत्त्वज्ञानिनो मिथ्याज्ञानित्वपरत्वेन व्याख्यातः। स्वेच्छया हीति द्वितीयतात्पर्यश्लोकेन भागवतस्य तदेवाविद्यापदं भगवदिच्छार्थत्वेन व्याख्याय विष्णोः स्वातंत्र्येण जगज्जन्मादिकर्तृत्वपरत्वेन व्याख्यातः ॥ ४० ॥

इति श्रीभागवततात्पर्यटिप्पण्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ १०–३ ॥ (अस्मत्क्रमेण द्वितीयोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

न नामरूपे इति। न नामरूपे गुणकर्मभिर्जन्मभिर्निरूपितव्य इति श्लोके नामरूपानिरूपणीयत्वेन तद्राहित्यं तत्साहित्येन गुणकर्मादिराहित्यं च भगवत उच्यत इति प्रतीयते। तच्च सर्वनामा सर्वकर्मा सर्वगुणः सर्वरूपः। नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति। यो देवानां नामधा। ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिवाधितमित्यतोऽभिप्रायं प्रायो मतिर्मानेनैवाह ॥ **लोकेति।** स हरिर्नामवर्जित इत्युच्यते कुत इत्यत आह ॥ **लोकप्रसिद्धार्थनाम्नो रहित इति।** लोकप्रसिद्धोऽर्थो यस्य तच्च तन्नाम च तस्य राहित्यादभावात्। आनन्दो नेदृश आनन्द इत्यादेः साधारणाभिधेयहीनगामवानित्यर्थः। अन्यत्राप्यनामाऽसौ प्रसिद्धत्वादिति। अप्राकृतत्वादप्राकृतरूपवत्त्वादरूपो भूतवर्जनादित्युक्तेः। पूर्वपद्ये गदितमगुणपदमनुवर्ण्य तदर्थं वर्णयति। तथाशब्दः समुच्चायकः। सत्त्वाभावान्मुख्यस्यैव सत्त्वस्यासत्त्वस्यासत्त्वे द्वयोरमुख्ययोः प्रत्याख्यानं कैमुत्येन प्रत्येतुं शक्यमिति तन्मात्रग्रहणमिति ज्ञेयम्। तथा च गुणत्रयातीतयाऽगुण इत्युच्यत इति भावः। अक्लिष्टकारित्वादकष्टोऽकार्यकर्तृत्वादकर्मा। एतद्व्याजेनातीतैरयदेतत्सजातीयशब्दार्थमप्याह ॥ **नित्यत्वादज इति।** अलौकिकार्थानि यानि सन्ति नामानि तेषामनन्तत्वाज्जनार्दनो गतम्। अनन्तनामोच्यते। प्रकृतप्राकृतरूपराहित्ये किं नीरूप उत सरूपः। अनन्तरूपोऽनन्ताक्ष इत्यादिविरोधापत्तेः। द्वितीये तन्निरूपणीयमित्यत आह ॥ **सुसुखेति।** सुनामसुखज्ञानसाधारण्यं चारयति तान्येव रूपाणि सन्त्यस्येति सः। तानीत्यनेन रूपवानिति विशेषणरूपपरामर्शः। यत्तानि रूपाण्यस्य हरेः सुदिव्यानि सु शोभनश्चासौ गन्धश्च आ सम्यक् नि नितरां शुभं च मङ्गलं च येषु तानि। एतेन गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य इतीत्वं न कुत इति शङ्काऽऽतङ्कितेति ज्ञेयम्। आपञ्चभ्यः प्रयोक्तव्या उपसर्गा इत्याद्यृग्भाष्याद्युक्तेरानीत्युपपन्नम्। तात्पर्यं तु समानस्येत्यादिवदाधिक्य इति ज्ञेयम्। यद्वा गन्धो येषामस्तीति गन्धीनि सु शोभनानि गन्धीनि च स्वार्थशोभनताया विशेषणे गन्धे योग्यतयाऽन्वयः। प्रपञ्चः स्कन्धान्तरविवृतौ कृतोऽत्रानुसन्धेयः। सु शोभनश्चासौ गन्धश्च नितरां शुभान्यशुभमिश्राणि च शुभानि चेत्येवमेव विग्रहः। गन्धपदोत्तरं दीर्घश्च सांहितिकः। न चेदृशायासं विज्ञानं क्वेति वाच्यम्। ईदृशायासविज्ञ इत्येकादशमूलतात्पर्ये ईदृशं वर्तमानमाय एष्यन्सोऽतीत इति त्रैविध्यं भाति। विज्ञाय वस्तुनि विज्ञाते सति दीर्घलोपोऽत्रात इतिवत्। क्षैप्रेदीर्घलोप इति सूत्रादित्युक्तेर्विग्रहदशीयपदकाले ह्रस्व इति ज्ञेयम्। शुभानि लक्षणानीतरविलक्षणानि तैः पूर्णानि सुवर्णानि रुक्मवर्णमित्यादेर्महान्ति च। अतोऽसौ हरिरनन्तरूपः पूर्णानन्दादिभोजनाद्बलैश्वर्यसुवीर्यादयः पूर्णाः प्रत्येकमसङ्ख्याश्च गुणा यस्य स तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादसावनन्तगुण एव। तर्हि तत्तेषां भेदः किमित्यत आह ॥ **ते चेति।** तत्तेषां परस्परमप्यनन्तरमितीरयति। तद्गताः सर्वे धर्माश्च परस्परं चाभिन्ना भेदरहिता इति। रूपाण्यपि मत्स्यादीन्यप्यभिन्ना इत्याह। **अभिन्नानीति।** प्राकृतस्य। अत्र द्वे दर्शने। भागवतानां नाम्नां प्राकृतत्वमेवेत्येकम्। द्वयेषां च। अलौकिकास्तस्य शब्दास्तथार्था अलौकिको ह्येष विष्णुरिति न्यायविवरणं मूलम्। तस्य प्रथमेऽर्थोऽलौकिकत्वं वैदिकत्वमर्थानामप्राकृतत्वमिति श्रीभावबोधीये। द्वितीये स[illegible]य तद्वाचकाः शब्दास्तत्स्वरूपा अलौकिका अप्युक्ता लौकिकैः शब्दैरचिन्त्यैश्वर्ययोगतः। वस्तुतः सम्यक् तत्प्रतिपादने ब्रह्मस्वरूपभूता एव शब्दा नान्य इत्याह ॥ **सम्यगिति।** तथाऽपि प्रसिद्धानन्दसुखादिपदवाच्यताऽप्यस्ति। तादृशैश्वर्यादित्याह ॥ अपीति। इति सटीकसत्तत्त्वरत्नमालोक्तोऽर्थः। तथा चाद्यरीत्या प्राकृतस्य स्वनामेतरनामादेः। तु शब्दो रूपादीनां तत्वाभावं तत्वं नाम्न

इति विशेषसूचकः। द्वितीयस्याप्राकृतस्य च नामादेः स्वकीयस्येतिविवेकः। पुरुषोत्तमः क्षराक्षरपुरुषश्रेष्ठो नामादेरीक्षिता साक्षात्कर्ताऽनामादिवचोभिर्हरेर्नामरूपादिरहिततापप्रतिपादकवचोभिरनु उपक्रमाद्यनुसृत्यैष एवार्थो मीयते ज्ञायते। अनामत्वादिक-मन्यनामादिविलक्षणार्थकमित्यन्यत्। ज्ञानिनां बहूनां बहुज्ञानं मनसेङ्ग्यते ज्ञायते। अनेन बहुप्रेक्षावदनुभवो मानमस्मिन्नर्थ इति ज्ञापितमिति ज्ञेयम्। एषोऽर्थोऽनामेत्यादेस्तेनैव ज्ञानिज्ञानसिद्धत्वादितरैरूह्यः सम्भावितत्तयोहनीयः। तस्मान्मानिकःवादित्युक्त-प्रकारेण। प्रभुर्हरिर्ज्ञेयस्तत्रैव देवक्रियायाः प्रतियन्तीत्यनूद्य व्याख्याति॥ भगवत्प्रेरणादेव जानन्तीति। स्वोक्तार्थस्येतिमानमाह॥ नामरूपादीति। विष्णोर्नामरूपादिकमञ्जसा स्वसामर्थ्येन ज्ञातुं न शक्यम्। तर्हि सर्वथाऽज्ञेयं चेच्छून्यमिति स्यादित्यत आह॥ तथाऽपीति। तस्य विष्णोः प्रसादो ज्ञानी भव त्वमितीच्छाविशेषस्तेन परमर्पयस्तज्ज्ञानयोग्या जानन्ति। प्रसादो नामेच्छाविशेषो गुणान्तरं वा न नः काचित्क्षतिरिति सुधाभिधानात्॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ तस्य प्राकृतनामादेः साक्षिणः साक्षाद्द्रष्टुर्मनोवचोभ्यां मनश्च मनस्विनां वचश्च सर्वनामा। यो देवानां नामधा। नामानि सर्वाणि। अलौकिकार्थसन्नाम्नामित्यादि च वचश्च। ताभ्यामनु उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गमनुसृत्य मेयं ज्ञेयं मानोक्तप्रकारेणानुमेयं च वर्त्म यस्य स तस्य। नामरूपे गुणकर्मजन्मभिर्निरूपितव्ये ज्ञातृस्वातन्त्र्येण न निरूपयितुं शक्ये। तर्हि केचन जना जानत इति कथमित्यतः कथयति॥ देवेति। अथाऽपि स्वयं ज्ञातुं शक्ति-रिक्तत्वेऽपि हे देवैतद्रूपक्रीडाशालिन् तव क्रियायाः प्रेरणारूपिण्याः सकाशात्प्रतियन्ति जानते परमर्षय इति मानिकस्यात्र शेषः। देवक्रियाया इत्यैकपद्ये देवस्य क्रियाया इति व्याख्याने तवेत्यस्य प्रागेवान्वयः। हीति मानसिद्धं नामादिकमित्यसूचि॥ ३६॥ शृण्वन्गृणन्निति श्लोके क्रियासु तदिति तच्छब्दः किमन्वयः किमर्थ इति न ज्ञायत इत्यतस्तौ प्रदर्शयन्क्रियास्वित्यत्रापेक्षितं पूरयित्वाऽन्वयं च दर्शयति॥ यस्मादिति। नामरूपादयः सन्ति तस्मात् क्रियासु क्रियमाणासु तत्प्रेरकत्वेन पूज्यत्वेन च गृणन्स्तुवन् शृण्वंस्तच्चरितं। मूलस्थेन न भवाय कल्प्यत इत्यनेनान्वयः। तत्र मानमाह॥ सर्वक्रियास्विति। कर्तृत्वेन सहितं च तत्पूज्यत्वं च तेन यो वेत्ति स संसारं तत्प्रसादतो नेति॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ यस्माद्धरेर्नामरूपाण्युक्तरूपाणि सन्ति ततः क्रियमाणक्रियासु प्रेरकत्वेन पूज्यत्वेन त्वच्चरणारविन्दयोरेव समावेशितचित्तो नामानि गृणन् शृण्वन्रूपाणि संस्मरयन्नन्यान्संस्मारयन्स्वयं च चिन्तयन्मङ्गलानि तत्प्रदानि तद्रूपाणि वा जनार्दनं त्वां वेत्ति स भवाय संसृत्यै न कल्प्यते॥ ३७॥

दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुव इति धारिण्या हरिचरणतोक्ता। सा च जडपृथिव्या इव तदभिमानिन्या अपि। सद्देहः सुखगन्धश्च ज्ञानभाः सत्पराक्रमः। ज्ञानज्ञानः सुखसुखः स विष्णुः परम इति प्रमुखमानबाधितेत्यतो मेदिन्याः पदतां प्रतिपिपादयिषुः प्रसङ्गाद्गगनस्याप्यवयवविशेषतां प्रतिपादयन्मानमुदाहृत्य किञ्चिन्मध्ये सङ्गमनप्रकारं प्रदर्श्य विशिष्टेऽर्थे मानमुदाहरति॥ खमिति। खं गगनं नाभिः क्षितिश्चरणौ। इति मानस्य सत्त्वाद्भक्तः पदो भुव इति युक्तमिति शेषः। सामानाधिकरण्यघटना त्वेवं पदाद्या-श्रयणात्पदनाभ्याद्याश्रयणात्पृथिव्यादि खाब्धिमेखलादि पदादिकं पदनाभ्यादिकं तज्जत्वाद्वा। पदनाभ्यादेरुत्पन्नत्वात्। तत्त्वेनोच्यत इति शेषः। विष्णोरिति योग्यान्वयि। सादृश्याद्भूमिरप्युपरिगकतिपयपदार्थाधारभूता तथा भगवत्पदमपि सर्वाधारमिति वा भुवः पद इति सम्भवति। तन्निदर्शनेन दर्शयति॥ यथेति। नुर्गच्छतः पुंसः। उपलक्षणमेतत्। गच्छतः सर्वस्य जनस्य भूमिगं चेत्तन्मुद्रितं दृष्टवेदं तत्पदमित्याश्रयसादृश्यादेरिदमिति व्यवहारस्तयोक्तस्थलेऽपीति॥ ततश्चायं पद्यार्थः॥ स्वार्थितमर्थितदाता कृतवानित्याह॥ दिष्ट्येति। हे हरे भवतः पदो भुव आश्रितत्वतज्जत्वसादृश्यैस्तथा भूताया भुव ईशितुस्तव जन्मनाऽवतारेण भारोऽपनीतः। स्वस्वाम्याज्ञा नास्ति सा चेद्भारावतारः स्यादिति न च वद देव स नास्तीत्यप्याह॥ अपेति। पालकविकलेत्यर्थः। न्यायदीपिकायामापो ना इदमग्र इति व्याकृतावपः पालकरहित इत्युक्तेस्तत्सम्बुद्धिः। नीतोऽवितथसङ्कल्प इति सिद्धवदुक्तिः। अपनीत इत्यखण्डपक्ष ईशितुरित्यनेन कृतशङ्कापराकृतिर्ज्ञेया। इति यत्तद्दिष्ट्या सुखमभूत्। भूमेः सुशोभनैस्त्वत्पदकैः प्रतिबिम्बित-पदैर्गां भूमिमङ्कितां चिह्नितां द्रक्ष्यामः। तवानुकम्पितामनुकम्पा सञ्जाताऽस्या इति तारकादित्वच्। द्यां च द्रक्ष्याम इति। दिष्ट्याऽ-स्माकं सुखमिति द्विष्टस्य दिष्ट्येत्यस्यान्वयः। तावत्पर्यन्तमर्थपसदैरुपसर्गः कृत इति तदपनयनेन दिवोऽनुकम्पास्पदतेति ज्ञेयम्। भवतः पदं पष्ठ्यन्तं भुवस्तवेशितुर्जन्मना त्वत्पदकैरङ्कितां द्यां च तवानुकम्पितामिति पृथक् पृथगन्वयनान्नातिरेकः शङ्क्यः॥ ३८॥ न ते भवस्येति श्लोके वास्तविकसंसाररहितजीवात्मके भवादयोऽविद्याकल्पिताऽतोऽयं प्रपञ्चो मिथ्येति प्रतीयते। तां मानेन निराकरोति॥ अज्ञानादिति। केचिन्नरा अन्यस्मात्कर्तुरिव कर्मादेश्च विष्णोरज्ञानादेव जनिमृती मन्वते। स्थितिरूपस्य स्थितिप्रतिष्ठापकस्य स्थितिं च मन्यन्त इत्यन्वयः। कुतस्तेऽज्ञा इत्यतस्तद्दौर्घट्यं हेतुमाह। हि यतो मोक्षाश्रयस्येतरासुसाधनतद्दानिदानत्वेन तदाश्रयस्येति। न हि भवपरिभावकः स्वयं तद्वान्भवेत्। तद्वदितारोऽतोऽज्ञा इति भावः। नैतदन्यथाऽनुपपत्तिमात्रत एवं जनिमृतिदूरता हरेः स एवेतरजन्मादि तन्वान इत्यपि न जनिमृती तस्येत्याह॥ स्वेच्छयेति। स्वस्येच्छा स्वरूपभूतेच्छा तया यस्मादसावजः स्वयं सर्वस्य जगतो जनिं करोति तस्मादिति स्वेतरसत्ता लभ्यते यस्मादित्युक्तेः। तज्जन्मादिस्तस्य विष्णोर्जन्मादिर्यस्य सः। कुतः कस्माद्भवेत्। सर्वकर्तुः कर्ताऽन्यः कः स्यादिति भावः। समस्तस्य प्रपञ्चस्येत्यवचनेन सर्वस्य जगतः इति वचनेन सर्वस्य अर्व पर्व हिंसायामिति स्मृतेः सर्वति हिनस्तीति सर्वो रुद्रस्तस्य च सर्वोऽस्त्वेष रुद्रः सर्वः कालञ्जर शिव इति नामनिधानम्। जगतः प्राणात्मकस्य सर्गकस्य ब्रह्मणश्च यस्मात्तज्जन्मादिरित्यान्तरङ्गिको भावः सूचित इति ज्ञेयम्। जगत्प्राणसमीरणा इत्यत्र जगदिति भिन्नं पदं प्राणवाचीत्यपि भानुव्याख्यानात्। अनेन भगवान्नान्यतो जन्मादिमान्स्वातन्त्र्येण तत्कर्तृत्वाव्यतिरेकेणान्यवत्। सोऽप्ययमेवमवसेयः। ब्रह्मादिर्न

स्वातन्त्र्येण जननादिकर्ताऽन्यतो जन्मादिमत्त्वाद्यन्नैवं तन्नैवमिति सत्येवं हरेरितरतो जन्मादिकमिति ये मन्वते तान्मिथ्याज्ञानिन इति मन्तव्यम् ॥ अथ मूलार्थः ॥ अस्मदादिनाथनात एव नाथ तवावतारो नान्यत्तत्र निमित्तमित्याह ॥ नेति । हे ईश अभवस्यान्यकर्तृकोत्पत्तिर्भवः स न विद्यते यस्य तस्याभवस्यैतस्य विनोदं विविधो नोदोऽस्मत्प्रेरणा याञ्चेति यावत् । तं विना कारणमितरत्र नास्ति । अभवाश्रयात्मनि मुक्तस्वामिति त्वयि सति जगतो भवो निरोधः स्थितिश्च भवन्ति । ते च तेऽसन्त इति ये मन्वते तेऽविद्यया मिथ्याज्ञानेनाकृता आकृष्टा इति तर्कयामाहे । त्वय्यभवात्मनि भवादयोऽविद्यया कृता अङ्गीकृता बत खेद इति वा । अविद्ययाऽविद्ययेति पदद्वयं वा । हे अ ईश विद्यया तवेच्छयैव कृता इति तेने न सन्तीति वा । अदोषत्वाद्गुणोद्रेकाद् इत्युक्तो हरिः स्वयमगम्यत्वाच्च बुद्ध्यादेरिति बृहदारण्यकभाष्योक्तेः । ते सकाशाद्भवतीति भवस्तस्य भवस्य मम तथा भवस्य शिवस्यापि भवो निरोधः स्थितिर्यतः कृता अतस्तवादयोऽविद्ययाऽङ्गीकृता इति वा । विना भगवता त्वया विनेत्यावृत्तमन्वेतव्यम् । विना का देवताऽरणं न काऽपि रक्षयित्रीति योजयन्ति । नते सर्वनमस्कृते त्वयीत्यपि योजयन्ति । भवो निरोधः संहारोऽनिरोधः पालनं स्थितिरूर्ध्वगतिः साऽव्यक्तवाच्या यया सा च साऽविद्या तया स्थितिरुर्ध्वगतौ भाव इति विश्वात्स भावोऽस्यो ययेति सा तयेति वा । ये भवादयस्त्वय्यकृता नाङ्गीकृता ये ते चाविद्यया शिष्टं प्राग्वत् । अवित्त्वयि कृता इति जानातीति शेषः । यया ते शरीर्यप्यशरीरवानित्यभवस्य मम भवस्य शिवस्य च भवादयः कृतास्तस्य या रमाया शं यस्मात्तस्य ईशेति वा तत्सम्बुद्धिः । यं कामयते तं तमुग्रं कृणोमि तमृषिं तं सुमेधामित्यादेरित्यपि वर्णयन्ति ॥ ३९ ॥ सदा देवैवमवतारान्कुर्वतस्तव न किमपि प्रयोजनं किन्त्वस्मदादिसङ्कटविघटनमेव नेतन्मात्रं विना किञ्चित्प्रतिकर्तुं न समे वयं समर्था इति वदन्नुपसंहरति ॥ मत्स्येति । अ अश्व ईषदश्वो हयग्रीवश्च कच्छपः कूर्मादयश्च हंसश्च राजन्यो राज्यां राज्ञा जाता राजा रामादिश्च विप्रः परशुरामादिश्च विबुध उपेन्द्रो येषु तत्त्वेन कृतावतार इत्यर्थः । एतेन मत्स्यादीनामन्येषां सत्त्ववन्नृसिंहानामन्येषामभावात्कथमन्वय इति निरस्तम् । यद्वा मत्स्येत्येयोरभ्यावतारान्तमेकं पदम् । मत्स्य इति विबुध इतीषुरिति कृता अवतारा ये स तथा । यथोक्तं कर्णपर्वणि । विष्णुमिषुं समकल्पयन् । इषुश्चात्यभवद्विष्णुरिति । इषु इच्छायामिति स्मरणादिषेरौणादिके कुप्रत्यये इषु इच्छा तेन मत्स्येत्येवं सर्वत्रेषुणा कृतावतार इति वा । नृसिंह इव मत्स्याश्वकच्छपाश्च वराहहंसराजन्यविप्रविबुधाश्च तेषु कृतावतार इति वा । न च द्वन्द्वनिर्दिष्टेषु कथमेकस्य दृष्टान्तत्वमदृष्टं क्वापि कल्प्यत इति वाच्यम् । दोषारच्छिद्रशब्दानां पर्यायत्वमिति व्याकृतिलवेऽत्र छिद्रशब्दोपादानं दृष्टान्तत्वेनेति सुधाभिधानात् । अनेन रेतआद्यविकृततारूपार्थविशेषोऽपि लभ्यत इति ज्ञेयम् । यथा नृसिंहाकृतिराविरासीदित्यादेः । त्वं नस्त्रिभुवनं च पासि । अपा इति वक्तव्ये यदूत्तमाभेदं बोधयितुं पासीत्युक्तिरिति ज्ञेयम् । व्यत्ययो वा । धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति वा । यथा यथा तथाऽधुनाऽपीश यदूत्तम भुवो भारं हर ते वन्दनमस्तु कुर्म इति वा शेषः ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

तैः फलमाह शृण्वन् गृणन्निति । साङ्गानि कर्माणि वैदिकान्यवश्यं फलदातॄणि । "यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युत''मितिस्मृतेः । सम्पूर्णं चेज्जातं फलं जनयेदेव । तच्च फलं मोक्ष एवेति स्वर्गपदविचारे निबन्धे निरूपितम् । तदेवात्राप्याह । ते नामानि शृण्वन् । परैरुच्चारितानि रूपाणि च कीर्त्यमानानि ये शृण्वन्ति तदनु गृणन्ति । उभयविधान्यपि श्रोतरि सति । अन्यदा स्मरन्ति । तदपि स्मरणं ध्यानरूपमिति संस्मरणमुक्तम् । चकारात् स्मारयन्नुपदेशादिदानेन श्रावयन् वादयन्नपि । चिन्तयन् योगाङ्गध्यानत्वेन । तथैव चित्तनिरोधेन नामावृत्तिर्नाम ध्यानम् । अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः स्मरणं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारश्चिन्तनमितिविशेषः । तदेव रूपपरिकल्पने ध्यानमित्युच्यते । चकाराद् भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषां श्रवणादिकं फलसाधकमित्युक्तम् । मङ्गलानीति तत्र प्रतिबन्धाभावो निरूपितः । अन्यथा तस्याप्यसिद्धाविच्छायामपि सत्यां कार्यं न स्यात् तदर्थमन्यच्च कर्तव्यमापद्येत । त इति मङ्गलरूपस्य तव । उत्तरत्र वा सम्बन्धः । क्रियासु यज्ञादिषु भगवत्सेवारूपासु वा लौकिकक्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तः स सर्वथा भवाय संसाराय न कल्पते न समर्थो भवति ।

स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि । ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः ॥ १ ॥

सदोष एव हि संसारे कल्पते । एवं कृते सर्वदोषनिवृत्तौ संसारासामर्थ्यं युक्तमेव ॥ ३७ ॥

एवं वैदकप्रकारेण चतुष्टयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयमाह दिष्ट्येतिचतुर्भिः । भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम् । भगवत्साक्षात्कारः साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम् । भूमिप्रसङ्गाद् वयं कृतार्था जाता इति वदन्तः सर्वमेव जगद् भगवता कृतार्थमासीदित्याहुः । हरे ते पदो भुवः पादरूपाया भूमेस्ते जन्मना भारोपनीतः । मर्दनकेलशस्तु परमानन्दप्राकट्येनैव गच्छतीति । भारहानौ जन्मन एव करणत्वं न तु किञ्चित् तत्र कर्तव्यमस्ति । तत्र हेतुरीशितुरिति । ईशप्राकट्यमेव सर्वानर्थनिवर्तकम् । भूमिभारनिराकरणं च तवावश्यकम् । अस्माकं च हितकारि । यतस्तव चरणरूपा भूः । सर्वोपि स्वचरणभारं दूरीकरोति । उपास्ये च दोषाभावः सर्वेषां हितकारी । एतत्करणं चावश्यकं यतो हरिस्त्वम् । भगवज्जन्मनोलौकिकत्वात् क्लृप्तसाधनाभावात् सर्वात्मकत्वाच्च भगवतोसम्भावितमिति दिष्टचेत्युक्तम् । केचित् 'त्विदमुदरे समागमनं भूमेर्भारहरणमेव न तु तव

जन्मे'त्याहुः। अतो भूमावानन्द एव केवलं प्रकट इति। अन्यदपि जातमित्याह दिष्टयाङ्कितैरिति। देवा अपि भुवं न स्पृशन्ति किं पुनर्भगवान् स्प्रक्ष्यति? अतोसम्भावितमपि यद् भविष्यति तद् दिष्टये'ति। सर्वरूपत्वाद् भगवतो मनुष्यादिरूपेण भुवं स्पृशत्येव किमाश्चर्यमित्याशङ्क्याहाङ्कितैरिति। ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नैरङ्कितैः। अङ्कितामितिपाठे शङ्कापरिहारार्थम्। सुशोभनैः सर्वलक्षणसम्पन्नैः पादैरङ्कितां चिह्नितां गां द्रक्ष्याम इति महद्भाग्यमस्माकम्। भूमिः पदं गृह्णातीत्यपि भाग्यम्। पदं छायामपि जनयतीत्यपि। पुरुषपदमुद्धृता च भूर्ब्रह्मणो दुहितेति सानुरागाया भगवति दर्शनं दिष्टया। अत्र तामित्यनुक्त्वा गामिति यदुक्तवांस्तेन पदाङ्किता सती सर्वेषां सकलकामदोग्ध्री भविष्यतीति सूच्यते। अपरं च पूर्वमियमेव या गोरूपाश्रुमुखीत्यादियुक्ता दृष्टा सा परमानन्दरूपपदाङ्किता द्रक्ष्यत इत्यपि महद् भाग्यं न इत्यपि गोपदेन ज्ञाप्यते। किञ्च पादैरेवानुकम्पितां त्वया वा द्यां च द्रक्ष्यामः देवानां सर्वोपकारकरणाददित्याः कुण्डलदानादिना च द्यौरनुकम्पिता। अतोस्माकमेव भाग्यं यदुभयं द्रक्ष्यामः। दर्शनं प्रमाणमाविर्भावः प्रमेयमिति ॥ ३८ ॥

आविर्भावं समर्थयति न ते भवस्येति। ते भवस्य जन्मरहितस्य भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं विना न तर्कयामहे। विनोदो लीला। वेः कालस्य वा नोदः प्रेरणम्। कालो हि स्थिरः सर्वानेव मर्यादया यथासुखं करोति। स जन्मना नोद्यते। अन्यथाक्रियते। विनावि संसारनौकायां वा। अन्यथा संसारनौः पारं न गच्छेत्। अस्मिन्नर्थे नते नम्रे शरणागते पुरुषे भवनिवारकस्य यो भवो जन्म तस्य कारणं विनाविनोदं तर्कयामह इतिसम्बन्धो ज्ञेयः। यद्वा नतो य इभो गजेन्द्रस्तस्य वममृतं मोक्षो यस्मात् तादृशस्येत्यग्रे पूर्ववत्। तथा च पशुजातीयस्यापि नतिमात्रेण भवनिवारकस्य भवोसम्भावित इति तस्य हेतुं तं तर्कयामह इतिभावः। नौकारहिता वा संसृतिस्तस्यां सत्यां सर्वप्रेरणं तव भवस्य कारणम्। यद्यप्यत्र प्रमाणं नास्ति यथार्थद्रष्टराप्तस्याभावाद्यापि त्वयाप्यनुक्तत्वादतः स्वयमेव तर्कयामहे। वस्तुतस्तु लीलापि भवति न वेतिसन्देह एव। ननु सर्वस्यापि जीवस्य मदंशस्य यथा भवस्तथा ममापीति कथमभवस्येत्युच्यते? तत्राह भवो निरोध इति। सर्वस्यापि प्राणिन उत्पत्तिस्थितिप्रलया अविद्यया देहाद्यध्यासेन भवन्ति। स्वतो जीवानां जन्माभावात्। तदपि त्वयि सति भवति। अन्यथा निराधारे जगत्युत्पत्तिर्न स्यात्। तत्रापि त्वय्युदासीने न भवति। अनित्ये न भवति। असमवायित्वे न भवति। आधारसमवाययोरवश्यापेक्षणात्। तव चोत्पत्तौ जगतोनादित्वं भज्येत। अलीकत्वं च स्यात्। यथा तव भव आकस्मिक एवमेव जगतोपि भवेत् अतोभव आश्रयरूपे आत्मरूपे सत्येव जीवानामुत्पत्त्यादिर्भवेत्। एवं भगवतो लीलया प्रादुर्भावः। स्वरूपनिमित्ताज्ञानं वा। अन्यथा सर्वमेव जगन्न स्यादित्यानन्दाविर्भावो भगवान् निरूपितः ॥ ३९ ॥ स एव साधनमित्याह मत्स्याश्वे'ति। यथा पूर्वं नवावतारा जाता एवमयमपि दशमः। त्रयो जलजाः। त्रयो वनजाः। त्रयो लोकजाः। मत्स्य श्वकच्छपा नृसिंहवराहहंसा राजन्यविप्रविबुधाश्च तमोरजःसत्त्वसमानाकृतयः। अश्वो हयग्रीवः। अश्वोपि जलजो हयग्रीवोपि जलजः। नृसिंहः काष्ठजत्वाद् वनजः। वराह आरण्यप्रकृतिक इति अक्षजोपि बहिर्वायुस्थानत्वादारण्यः। राजन्यो रघुनाथः। विप्रः परशुरामः। विबुधो वामनः। तरतमभावात् त्रित्वम्। मत्स्यादश्व उत्तमः। अश्वादपि कूर्मः। वास्तव्यत्वात्। नृसिंहाद् वराहः। भूम्युद्धारकहिरण्याक्षमारकत्वात्। ततोपि ज्ञानप्रदो हंसो महान्। क्षत्रियब्राह्मणदेवेषु तरतमभावः स्पष्टः। एभिर्नवविधैर्नवविधा अपि रक्षिताः। इदानीमेकेनैव नवविधा रक्षणीयाः। अयमेव भगवान् तत्तज्जात्यनुकूलाकाररूपेष्ववतारं कृत्वा पाति। अधुना ततोप्यधिकं विज्ञापयन्ति। त्वमेतेषु पूर्वं कृतावतारो नोस्मान् त्रिभुवनं चकाराद् धर्मादिकमपि पासि। तथाधुना हे ईश। सर्वसामर्थ्यरूपेणावतीर्णस्तथा। पूर्वोक्तं त्रयं देवत्रैलोक्यधर्मरक्षा भूमेर्भारनिराकरणं चाधिकम्। अस्यापि लोके व्यवहारो यद्गूत्तमेति। प्रत्युपकारस्ते वन्दनम्। नमस्कार एव प्रत्युपकार इत्यर्थः॥ एतान्येव भगवतो दश रूपाणि सर्वपुरुषार्थसाधकानि। अत्र दृष्टान्तत्वेन मत्स्याद्युक्तेरयं भावः। भूभारभूतासुरराजन्यहननार्थं ह्यवतारः। एवं सति तैः सह युद्धं सम्भाव्यते। तच्च स्नेहातिशयेन भक्तैः सोढुमशक्यम्। अतो "रूपं चेदं पौरुषं जन्म ते मय्यसा"वित्यादिना देवकीवद् ब्रह्मादयो माहात्म्यज्ञानवन्तोपि भक्तत्वेन भूभारहरणे प्रकारविशेषं प्रार्थयन्ति यावत् स्वस्यैश्वर्याद्यप्राकट्येन निगूढत्वेनान्यतो वा शत्रुहननं भवति तावन् न स्वयं युद्धं कार्यमिति। तत्र प्रलयाब्धौ सत्यव्रतादिभक्ता रक्षणीयाः। एवं सति पुरुषादिरूपेण रक्षणे क्रियमाणे लोकरीत्या मकरादिभयसम्भावनया स्नेहेन भक्तानां क्लेशः स्यादिति तदभावाय येन रूपेण जलसञ्चारः सुखावहस्तद्रूपं जगति हीनजातीयमपि मात्स्यमङ्गीकृत्य रक्षितवांस्तथाधुनोक्तरीत्येतिप्रार्थना। अत एव स्वैश्वर्यादिविरुद्धमपि याचकत्वमङ्गीकृत्य भीमेन जरासन्धं मारितवान् न तु स्वयम्। हयग्रीवो ब्रह्मणः सत्रे प्रादुर्भूतः सन्नसुरहननवेदरक्षादिकं कृतवान्। इहापि राजसूये प्रकटो ब्राह्मणसम्माननेन मर्यादां स्थापयित्वा वेदविरुद्धवादिनं चैद्यमनायासेन मारितवान्। कच्छपस्तु "मेनेङ्गकण्डूयन"मित्यादिवाक्यैः सुखसाधनत्वेनैव मन्दरं दधार। तद्वदिहापि वीर्यबलाधिक्यजबाहुकण्डूशान्त्यर्थमेव युद्धं कार्यं न तु प्रतिभटोपस्थितिमात्रतः। तदा त्वन्य एव प्रेरणीय इतिप्रार्थना। अत एव यत्र युद्धं कृतं तत्र तथैव कृतमिति ज्ञेयम्। क्रीडार्थं मृगयावत्। अत एव "विक्रीडितं तज्जगदीशयोः पर"मितिवचनम्। यथामृतदानार्थमेव मन्दरधारणं तथेहापि स्वस्वरूपामृतदानार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं तेन रक्षां च कृतवान्। नृसिंहस्तु भक्तपितरमपि पूर्वभक्तमपि भक्तरक्षार्थमकस्मात् प्रादुर्भूय मारितवान्। लक्ष्म्यादीनामप्यगम्यो दैत्यत्वेपि भक्तमात्रगम्य इत्यपि ज्ञापितवान्। इहापि पाण्डवरक्षार्थं तत्पितामहादीन् भक्तानप्यासुरावेशिनो मारितवान्। तथैव कंसादीनपि वनवासे पार्थरक्षार्थमकस्मादाविर्भूय

शिष्टशाकान्नं भक्षयित्वा सर्वं समाहितवान्। वराहस्तु यदुद्धारार्थं प्रवृत्तस्तत्रैतादृक्पक्षपातवान् येन तन्मात्रविशेषगुणग्राहकेन्द्रियस्यैवाधिष्ठाने प्रकटोभवन्न तु नृसिंहादिवत्। इहापि पाण्डवरक्षार्थमागच्छंस्तन्मात्रगुणग्राहिविदुरगेह एव स्थितोभवन्न त्वन्यत्र। तथा व्रजस्थानुद्धर्तुं तन्मात्रसम्बन्धिनि स्थले स्वयमाविर्भूय तथा कृतवान् न त्वन्यत्र स्थितः। एवमेव वेदभर्त्युद्धारं कुर्वन् हिरण्याक्षवन्मध्येमार्गं प्रतिबन्धकर्तारं रुक्मिणमुपेत्यैव स्वकार्यं कृतवान् न तु तदैव हतवान्। अग्रे च तथा कृतवान्। हंसस्तु तत्त्वमुपदिश्य ब्रह्मादिविषादहन्ता। इहापि वेदमर्यादाविरोधिगुरुवधादेर्विमुखस्य तच्चिन्ताविषादं तत्त्वोपदेशेन हृतवान्। अन्यथा भूभारहरणं न स्यात्। राजन्यस्तु मज्जनसाधनं तारकं कृत्वैकभक्तार्थमनेकान् दैत्यानवधीत्। तथेहापि भूनिमित्तमनके मारणीयाः। एतेनैकस्या भुवो निमित्तमनेकान् कथं वधिष्य इतिशङ्कापास्ता। द्वेषादिभावस्यापि तारकत्वं स्पष्टम्। विप्रस्तु ब्रह्मवृत्तिरपि घोरं क्षात्रमूरीकृत्यासुरराजन्यानवधीत्। इहापि ब्रह्मत्वेन समत्वेपि दैत्यवधः कार्य एव। विबुधस्तु मातृप्रार्थनयाविर्भूय ब्रह्माद्यशक्यं त्रिभुवनहरणं वाङ्मात्रेण कृतवान्। एवमत्र वृकासुरवधे स्पष्टम्। देवकीप्रार्थनयाविर्भूय ब्रह्मादिदुरापं स्वानन्दं यदुभ्यो दत्तवान् राज्यलिप्सुं कंसं मारयित्वोग्रसेनाय राज्यं दत्तवान् न तु स्वयं गृहीतवानिति एवं नमस्कारान्तं भगवान् स्तुतः। कंसादिवधस्त्वप्रयोजकः। तस्मान्न विशेषेण गणितः॥ ४०॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

दिष्टचा हरेस्य इत्यत्र—भगवतः प्रमाणत्वं कथमित्याकाङ्क्षायामाहुर्भगवदित्यादि। "भिद्यते हृदयग्रन्थि"रितिश्रुतौ भगवद्दर्शने सर्वसंशयनिवृत्तेरपि फलत्वेनोक्तत्वाद् भगवत्साक्षात्कारः प्रमाणं श्रुतौ "तस्मिन् दृष्ट" इत्युक्तत्वेन साक्षात्कृते भगवत्येवोक्तफलस्य पर्यवसानात्। "प्राणन्नेव प्राणो भवती"तिवदावरणभञ्जनेन प्रमाणकार्यं कुर्वन् साक्षात्कृतो भगवानेव वा प्रमाणमित्यर्थः। अत्र द्वितीपक्षस्य मुख्यत्वेपि द्रक्ष्याम इति कथनेन भगवत इदानीमगोचरत्वाद् द्वितीयपक्षेनादरः सूच्यते। शङ्कापरिहारार्थमिति। पदान्तरशङ्कापरिहारार्थम्। ननु विस्मयजनक उत्तमेर्थे दृष्टे स्वभाग्यमभिनन्दनीयं पदाङ्कदर्शने किमाश्चर्यमित्याकाङ्क्षायामसम्भावितमिति। जन्मासम्भावितम्। पूर्वं मूलेन पदकशब्द "इवे प्रतिकृता"वित्यनेनकप्रत्ययसिद्धमन्यमर्थं बोधयन्ति। द्विधा पूर्वमाहुर्भूमिः पदमित्यादि पदं छायामित्यादि च। देवपादा भूमिं न स्पृशन्ति छायां च न जनयन्ति तदत्र देवदेवपदे जातमिति विस्मयादभिनन्दनम्। तृतीयमाहुः पुरुषपदमित्यादि। त्रिलोकीकल्पनायां भूः पुरुषस्य पदम्। अवान्तरकल्पेषु ब्रह्मणा त्रिलोकी निर्मीयत इति ब्रह्मजन्या भूः। किञ्च "पो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाचरत् तां वराहो भूत्वाहरत् तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साप्रथत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्व"मितिश्रुत्युक्ते पक्षेप्युद्धृता। उभयथापि ब्रह्मणो दुहितातस्तथेत्यतो भाग्याभिनन्दनमित्यर्थः॥ ३८॥

न ते भवस्येत्यत्र—आविर्भावं समर्थयतीति दर्शनप्रामाण्यार्थं समर्थयति। मूले बतशब्दो हर्षवाचकः। कारणमिति। प्रयोजकम्। न तर्कयामह इति। अन्यन्न तर्कयामहे। तथा च लीलैवाविर्भावप्रयोजिकेत्यर्थः। विनोदशब्दस्यार्थान्तरमाहुर्वेरित्यादि। तथा च कालस्यान्यथा करणमाविर्भावप्रयोजकमित्यर्थः। योगान्तरमाहुर्विनावीत्यादि। विशब्दो विशेषशब्दस्यैकदेशः सत्यासत्यभामेतिवद् विशेषं बोधयति। विशेषश्च देहः। पञ्चमस्कन्धे "येषां समूहेन कृतो विशेष" इति जडवाक्यात्। स च भावविकारविचारे संसारत्वेन पर्यवस्यति। भावविकारशून्यस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। संसारस्य नौत्वं च "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभ"मित्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्योक्तन्यायाद् बोध्यम्। एतेनैव तन्नोदनस्याविर्भावप्रयोजकता व्याख्याता। तदेतदाहुरन्यथेत्यादि। तदा च यदि भगवान् भक्तानां पतिपुत्राद्याभिमानिकसम्बन्धिरूपेण नाविर्भवेत् तदा संसारनौः पारं न प्राप्नुयादित्यर्थः। अस्मिन् पक्ष आरम्भगतस्य नशब्दस्यान्वयो न भवतीति तदर्थं योजनान्तरमाहुरस्मिन्नर्थ इत्यादि। अस्मिन्नेवार्थे पक्षान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि। विशब्दस्य वियोगरूपमर्थान्तरमभिप्रेत्यार्थान्तरमाहुर्नौकेत्यादि। सर्वप्रेरणमिति। सर्वेषामवतारकालीनानां कामभयादिभिः, स्वसम्बन्धकरणम्। नन्वेतेषु पक्षेषु कश्चिदेको निष्कृष्य वक्तव्यः किं बहुभिरित्याकाङ्क्षायामाहुर्यद्यपीत्यादि। तथा चाप्राभावात् कल्पनया बहवस्तर्क्यन्त इत्यर्थः। ननु तर्हि लीलापक्ष एवाद्रियतां किमन्यैरित्यत आहुर्वस्तुत इत्यादि। "स वै नैव रेम" इति श्रुतौ लीलायाः स्वबहुभवन एव कारणताया उक्तत्वेन मूलरूपजन्मकारणताया अनुक्तत्वेन च तत्रेदमपि गोचरीभवतीत्यस्य निर्णेतुमशक्यत्वात् सन्देह एवेत्यर्थः। उत्तरार्धव्याख्याने जगतीति। विषये सप्तमी। अनादित्वमिति। "न कदाचिदनीदृशं जगदिति"श्रुत्या "यथेदानीं तथा चाग्रे पश्चादप्येतदीदृश"मितिस्मृत्या च बोधितमनादित्वम्। अलीकत्वमिति। नित्यस्य मूलकारणस्याभावादलीकत्वम्। आकस्मिक इति। अहेतुजन्यः। तथा च यदृच्छापक्षापत्त्या श्रुतिविरोधः। अत इति। उत्तरदूषणनिरासार्थत्वात्। "जीवतदुत्पत्त्यादिर्मूलकारणाधारा साधिष्ठाना स्वरूपवती। उत्पत्त्यादिहेतुत्वात्। स्वस्वमतप्रतिपन्नप्रथमकार्यव"दित्यनुमानेन सिद्धे सत्ये तादृशे कारणे जीवाद्युत्पत्तिर्भवेत्। एवं युक्त्या भगवतोभवत्वं व्युत्पाद्य पद्ये फलितमाहुरेवमित्यादि। पूर्वोक्तरीत्या भगवत्सत्तायाः साधनेन "स वै नैव रेम" इति श्रुत्यनुसृतो लीलया प्रादुर्भावः समर्थितः पूर्वार्धोक्तरीत्या प्रादुर्भावप्रयोजकाज्ञानं वा समर्थितम्। तत्र युक्तिमाहुरन्यथेत्यादि। भगवतः सादित्वेनाश्रयत्वेनात्मरूपत्वे च सर्वमेव जगन्न स्यात्। नित्यस्य कारणस्य वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः॥ ३९॥

मत्स्याश्वेत्यत्र—अश्वोपि जडज इति। "अप्सु योनिर्वा अश्व" इति श्रुतेर्हयग्रीवोपि जलज इति। इदं कल्पान्तराभिप्रायम्। द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मसत्रे हयग्रीवप्रादुर्भावस्योक्तत्वात्। अथवा पञ्चमस्कन्धे "वेदान् युगान्ते तपसा तिरस्कृतान् रसातलाद् यो नृतुरङ्गविग्रहः प्रेत्याददे वै कवयेभि याचत" इत्यत्र युगान्तरे रसातलाद् वेदानयने जल एवाविर्भूय स्थिते तथेत्यर्थः। अक्षजोपीत्यादि। अक्षं मनोरूपमिन्द्रियं तस्मात् प्रकटो हंसः। स ब्रह्मणा ध्याने क्रियमाणे प्रकटः। ध्यानं च मानसम्। तथा च 'तदुदित' इति न्यायेन तस्याक्षजत्वमुच्यते। "स मानसीन आत्मा जनानां"मितिश्रुतेश्च। बहिर्वायुर्यत्रासौ बहिर्वायुराकाशस्तदेव स्थानमुड्डयने यस्य स तथा च योवतीर्यान्यान् वने प्रवेशयति तस्मादारण्यत्वमुचितमितिभावः। एवं व्याख्यानं जलवासित्वेन जलप्रकृतिकत्ववारणायेति बोध्यम्। तरतमभावादिति। मत्स्यादिपूत्तरोत्तरं तथात्वात्। वास्तव्यत्वादिति। सर्वदा जलवासित्वात्। इदं च तैत्तिरीयब्राह्मणे प्रजापतिकूर्मयोः संवादे "ममैव त्वं पूर्वः समभू"रिति प्रजापतिना प्रोक्तः कूर्मः "पूर्वमेवाहमिहास्मी"त्युक्त्वा "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादि"तिश्रावणात् स्फुटम्॥ ४०॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

शृण्वन्नित्यत्र—तथैवेति। रूपध्यानप्रकारेणैवेत्यर्थः। मङ्गलरूपस्य तवेतिसमभिव्याहारेण प्राप्तमिदम्। अत्रोक्तं मोक्षं व्युत्पादयन्ति स्मरणेनेति। इदमुपलक्षणम्। श्रवणादिचतुर्भिरपि क्रियाः पूर्णाः साङ्गा भवन्ति। "यस्य स्मृत्ये"तिवाक्यात्। क्रियारूपो भगवानाविर्भवतीत्यर्थः। तेनैव तत्र चित्तावेशश्च भवति। क्रियया चित्तशुद्धौ भगवदावेशो युक्त इति हि शब्दः। चरणाविष्टचेतस्त्वे ज्ञानशक्तिरूपो भगवानाविर्भवतीत्यर्थः। एवं ज्ञानक्रिये यदा विष्णुरूपे जाते तदा मोक्षो युक्त एवेत्यर्थः। भगवद्रूपकर्मणो मोक्षसाधकत्वं निबन्धे स्वर्गपदविचारे विवृतम्॥ ३७॥

दिष्ट्या हरे इत्यत्र—भगवत्साक्षात्कार इति। प्रमाणस्वरूपनिष्ठरसानुभावक इत्यर्थः। मूले गां द्यां च द्रक्ष्याम इत्युक्तं भगवत्साक्षात्कारः स्पष्टतया नोक्त इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः साक्षात्कृतो वेति। भगवान् स्वयमेव स्वरूपानन्दमनुभावयति न तु साधनसाध्यं तदितिभावः। जन्मनो भारापनेतृत्वं व्युत्पादयति मर्दनेति। तथा च मूले भारपदेन मर्दनक्लेशो ज्ञेयः। केचित्त्विति। अस्मिन् पक्षे जन्मनेति न तृतीयान्तं किन्तु न जन्मेतिपदच्छेदः। समागमनस्य भारहरणहेतुत्वं न तु तद्रूपत्वमेवेत्यस्वरस उक्तः। अत इति। जन्मनोभावेनाप्राकृतत्वसूचनादित्यर्थः। शङ्कापरिहारार्थमिति अङ्कितैरितिपाठे भूस्पर्शानाश्चर्यशङ्का तेन पदेन निरस्ता। अङ्किताभितिपाठे तु सा शङ्का सुशोभनैरितिपदेन निरस्तेत्यर्थः। अङ्कितत्वकथनेन भूमेर्भगवतश्चानुरागः सूचितस्तत्र भूम्यनुरागं विशदयन्ति भूमिरिति। अत्यनुरागेण सात्त्विकभावस्वेदोद्गमे पदं प्रतिफलति। अतः पदग्रहणेन भूमेरनुरागः सूचितः। भगवदनुरागमाहुः पदमिति। अनुरागेण गाढधारणे पदं छायामङ्कं जनयति। अतोङ्ककथनाद् गाढधारणसूचनेन भगवदनुग्रहः सूचित इत्यर्थः। भूमेर्ब्रह्मदुहितृत्वं सम्पादयति पुरुषपदमिति। पदं जघनमारभ्य तलपर्यन्तम्। "भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्या"मित्यत्र तथाविवरणात्। एतत्पक्षे ब्रह्मणा ध्यानेन तथा निर्मितत्वाद् दुहितृत्वम्। पृथग्भूतैव भूमिर्ब्रह्मणा वराहमाविर्भाव्योद्धृतेतिपक्ष उपकरणाद् दुहितृत्वम्। तथा च भूमिः पुरुषपदरूपोद्धृता चेतिपक्षद्वयेपि ब्रह्मणो दुहितेत्यर्थः। "जघनाब्जपृथग्रूपैस्त्रिधा भूमेर्निरूपणं" ब्राह्मे पाद्मे च वाराह इति सिद्धान्तः। तत्र जघनपक्षे पृथक्पक्षे च सन्दिग्धत्वाद् दुहितृत्वं व्युत्पादितम्। अब्जपक्षे "त्वनेन लोकान् प्राग् लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तय"दिति वाक्यात् स्वयमेव कल्पितेति दुहितृत्वं स्पष्टमेवेतिभावः। स्वदुहितुर्भगवदन्योन्यानुरागसहिताया दर्शनं दिष्ट्येत्यर्थः। पादैरेवेति। न तु सामान्यतो देवादिरूपेणेत्येवकारः॥३८॥

न ते भवस्येत्यत्र—अन्यथाक्रियत इति। प्राकट्यानन्तरं कालस्य साधकत्वं बाधकत्वं वा नास्तीतिभावः। संसारनौरिति। संसारस्थितेन्द्रियरूपा नौः कामोदधितारिका पारं कामस्य पर्यवसानं न प्राप्नुयादित्यर्थः। इन्द्रियनौकायां सत्यां तस्या नोदं स्वस्मिन् प्रेरणं प्राकट्ये कारणं तर्कयामह इत्यर्थः। स्वस्य कामान्तरूपत्वात् स्वस्मिन् प्रेरणे पारं गच्छेदितिभावः। तत्रापीति। उदासीने सति भवो न भवेत्। अनित्ये सति स्वस्यैव नाशप्रतियोगित्वात् तत्कृतोन्यस्य निरोधो न भवेत्। असमवायित्वे स्थितिर्न भवेत्। तत्र हेतुमाहुराधारेति। असमवायीत्यनेनाधारः समवायश्चोक्त इति भावः। अभवाश्रयात्मनोतिपदत्रयस्यार्थमाहुस्तवेति। भवदुत्पत्तेः पूर्वं जगतः कर्ता को वा स्यात्? आश्रयाभावे शशविषाणवदलीकं जगत् स्यात्। आत्माभावे यथा त्वय्यात्मान्तराभावात् स्वतन्त्रत्वेनानियतस्तव भवस्तथा जगतोपि स्यादित्यर्थः। स्वरूपेति। स्वरूपप्राकट्यनिमित्तं लीला वा प्रेरणं वान्यद्वेत्यज्ञानं तर्ककथनादितिभावः लीलैव चेद्धेतुस्तदा ज्ञानं सम्पन्नमन्यश्चेद्धेतुस्तदाज्ञानमिति तर्कस्वरूपं विवृतम्। उत्तरार्धार्थमाहुरन्यथेति। भगवतो भवे सत्युक्तप्रकारेण सर्वमेवानादिभूतं जगन्न स्यादितिहेतोरानन्दरूप एव न तु भवरूप आविर्भावो यस्य तादृशो भगवान् निरूपित इत्यर्थः॥ ३९॥

मत्स्याश्वेत्यत्र—हयग्रीवोपीति। हयग्रीवासुरोपीत्यर्थः। अतोश्वस्य जलजत्वं सम्भवतीतिभावः। बहिर्वायुस्थानत्वादिति। घ्राणं बहिर्वायुस्थानमरण्यमपि ग्रामाद् बहिर्भूतवायोः स्थानमितिभावः। तरतमभावं विवृण्वन्ति मत्स्यादिति। इदमुत्तमत्वं कार्यवशात् प्रातीतिकम्। वास्तव्यत्वादिति। वास्तवरूपमर्हतीति वास्तव्यः। कूर्मः पृथिवीं सदा बिभर्ति। अन्ये त्ववतारदशायामेव कार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः। भूम्युद्धारेति। नृसिंहेन प्रह्लादस्य यथास्थितस्य रक्षणं न तु नष्टाया भूमेरिवोद्धरणमितिभावः। भारनिरा-

करणमिति। रामावतारे रावणवधार्थं प्रार्थितत्वात् तावन्मात्रकरणं धर्मरक्षाप्रसङ्गेनान्यदपि न तु मुख्यतया यावद्भारनिराकरणमिति भावः। ननु नवावतारकार्यमधिकं दशमावतारकार्यं भूभारहरणं च प्रार्थितमवतारान्तरकार्यं कुतो न प्रार्थितमित्याशङ्क्याहुरेतान्ये-वेति। एतैरेव सर्वकार्यसिद्धिरित्यर्थः॥ ४०॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या।

शृण्वन् गृणन्नित्यत्र—स्मरणेनेति।

स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि। ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः॥ १॥

अत्र श्लोके हि वैदिकप्रकारेण मोक्षो निरूपितः। **स्मरणेनेत्युपलक्षणम्। श्रवणादिभिश्चतुर्भिरपि क्रियाः पूर्णा** भवन्ति। 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्ये'ति वाक्यात्। क्रियारूपो भगवानाविर्भवतीत्यर्थः। तेनैव **तत्र चित्तावेशश्च** भवति। चरणाविष्टचेतस्त्वे ज्ञानशक्तिरूपो भगवानाविर्भवतीत्यर्थः। एवं **ज्ञानक्रिये यदा विष्णु**रूपे जाते **तदा मोक्षो** युक्त एवेत्यर्थः। मूले स्मरन् गृणन्नि-त्यादिना स्मरणाद्युक्तिराविष्टचेता इत्यनेन चित्तावेशश्च स्पष्ट एव॥ ३७॥

इति द्वितीयाध्यायकारिकार्थः॥ २॥

बुभुत्सुबोधिका

शृण्वन्नित्यत्र पुरुषार्थेति स्वज्ञानद्वारेति बोध्यम्। तैरिति नामरूपैः। फलमिति अभवम्। साङ्गानीति ससाधनानि। साधनानामसिद्धवदावृत्तिः कर्तव्येति सुबोधिन्यामतः फलसाधने एकीकृत्य निरूपिते। जनयेदेवेति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारः। नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्रेव। मोक्ष एवेति एवकारेण 'जायस्व म्रियस्वे'ति तृतीयमार्गीयस्वर्गलोकयागयोगव्यवच्छेदः क्रियते। उभयविधानीति श्रवणगृणनविषयाणि नामानि रूपाणि च। अन्यदेति श्रोतृरहितकाले। ध्यानरूपमित्यग्रे विवेच्यम्। योगीश्वर-प्रबुद्धवाक्यं 'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरि'मितिवाक्यं तदनुसारेण चकारार्थमाहुः चकारादिति। वैदिकमार्गे गोपाल-तापिनीये 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति श्रुतिरुपदेशादि दानमाक्षिपति। अष्टाक्षरशरणमन्त्रः। आदिनाऽऽत्मनिवेदनम्। 'इमे विदेहा अयमहमस्मी'ति याज्ञवल्क्यं प्रति जनकवाक्यात्। योगाङ्गत्यादि एवं त्रिभिः श्रवणादिभिः ध्यानेन प्रेम्णि जातेऽवैवे 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजये'दिति तृतीयस्कन्धनिबन्धाद् योगाङ्गध्यानत्वेन। इदं चिन्तननिष्ठम्। ध्यानं रूपस्येति नाम्नो ध्यानस्वरूपमाहुः तथैव चित्तेति। योगाङ्गत्वेनैवेत्यर्थः। रूपध्यानप्रकारेणैवेति श्रीवल्लभाः। इदं योगाङ्गत्वं आवृत्तिनिष्ठम्। नामावृत्तिरिति नाम्नामावृत्तिः नाम्नां ध्यानमित्यर्थः। अप्रयत्न इति स्मरणविषये रूपादौ चित्तस्य व्यापारमात्रं न तु प्रत्यङ्गे रूपपरिकल्पने प्रयत्नवानित्यर्थः। रूपत्वप्रकारकं रूपविशेष्यकं स्मरणम्। सप्रयत्न इति रूपकल्पने नः प्रयत्नस्तेन सह वर्तमानो व्यापारो न तु प्रकटरूपकल्पनसमर्थः। 'संस्मरय'न्नित्यत्र 'स'मुपसर्गार्थमाहुः तदेवेति। चिन्तनमेव। एवकारः स्मरणयोगं व्यवच्छिनत्ति। रूपस्य प्रत्यङ्गे परितः कल्पनं समर्थनं येन प्रयत्नेन तादृशप्रयत्नवच्चित्तव्यापारो ध्यानम्। अत्रा'प्रयत्नश्चित्तव्यापारः स्मरण'मित्यादावभेदान्वयः। चित्तव्यापारः स्मरणानुकूलो व्यापारः, उपासनान्यमते। स्मरणं भावप्रत्ययान्तम्। भावो धात्वर्थः, तत्र स्मरणे स्मरतेः प्रकृत्यर्थः। फलं धात्वर्थो व्यापारः। फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृता इति भावप्रत्ययान्तस्मरणस्य स्मरणानुकूलो व्यापारोऽर्थः। स्मर्तेत्यत्र स्मरणानुकूलव्यापाराश्रय इति बोधः। नैयायिकमतेऽप्येवम्। स्मरणमात्रं भाव इति मण्डन-मिश्राः, तन्मते स्मरणमित्यत्र भावप्रत्ययार्थे पुनरुक्तिरतः स्मरणद्वयं प्रकृष्टं स्मरणं ज्ञापयति। प्रकर्षश्चोक्तव्यापारवैशिष्ट्यम्। स चाप्रयत्नः प्रयत्नभेदवान्। चित्तस्य ज्ञानत्वेन प्रयत्नसम्भवात्। समानाधिकरणसम्बन्धेन। उदाहरणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति स्मरणं अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः। 'तज्जलानिति शान्त उपासीते'ति चिन्तनं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः, स्मरणेऽप्रयत्नचित्तव्यापारे तज्जलान्त्वो-पासनाज्ञाविषयत्वेन पदजन्यचिन्तनविषयपदार्थोपस्थितौ लक्षणाभिधातात्पर्यप्रयत्नसाहित्यात् सप्रयत्नत्वम्। प्रयत्नेनाप्रयत्न-प्रतिबन्धो भवति। अभेदसम्बन्धः पूर्ववत्। यदा तु भक्त्या सप्रयत्नचित्तव्यापारे प्रयत्ने आधिदैविकरूपस्य विश्वरूपदर्शने गीतोक्तस्य परितः एकैकाङ्गे मनः कल्पनं प्रणयनं येन तादृशे जाते ध्यानमित्युच्यते, 'एकैकाङ्गे मनःप्रणयनं ध्यान'मिति ध्यानलक्षणादिति प्रपञ्चः। चकारादिति द्वितीयचकारात्। भगवत्सम्बन्धिनामिति समुद्रशेषचक्रव्यूहनृसिंहभगवद्भक्तानाम्। अन्येषामिति नामरूपाणामित्यर्थः। 'समुद्रं मनसा ध्याये'दित्यादिश्रुतेः। शेषोपासना पञ्चमस्कन्धे। चक्रोपासना नृसिंहतापिन्यां, नृसिंहोपासना च। व्यूहोपासना गोपालतापिन्यां भगवद्भक्तोपासना, 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकाम' इत्युपनिषदि। निरूपित इति तेन 'कथितो वंशविस्तार' इत्यारम्भे मङ्गलाभावेपि प्रतिबन्धाभाव इति ज्ञापितम्। मङ्गलत्वे युक्तिमाहुः अन्यथेति। प्रतिबन्धे तस्य श्रवणादेरसिद्धौ कार्यं फलं निरोधश्च न स्यात्। ननु भगवदिच्छया श्रवणाद्यभावेपि फलं भविष्यति गोपीनामिवेत्याशङ्क्याहु-रिच्छायामिति। पुष्टेरनुग्रहसाध्यत्वेनानुग्रहस्य ज्ञातुमशक्यततया कार्यं न स्यादित्यर्थः। तदर्थमित्यादि प्रतिबन्धाभावार्थं नामरूप-श्रवणाद्यादन्यत्। भजनानन्यत्वभञ्जकम्। मङ्गलरूपस्येति 'मङ्गलानी'त्यस्य समभिव्याहारात् प्राप्तमिदम्। उत्तरत्रेति उत्तरार्धे।

उत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति स्म । वेदतात्पर्यार्थमाहुः भगवत्सेवेति । 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति संहिता । जुष प्रीतिसेवनयोरिति धातुः तु० आ० से०, जुष परितर्पणे इत्यपि धातुः चु० प० से० । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रादाहुः लौकिकक्रियास्विति । 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वे'ति वाक्योक्तास्विति वा । यस्त्वदित्यादि आचार्योपायेन यः कोपि । त्वच्चरणारविन्दयोरिति पादकृतोपकार-स्मरणात् पादसेवनमुक्तम् । 'चरणं पवित्रं विततं पुराणमितिवेदः । वैधावैधसेवोपलक्षणम् । आविष्टचित्त इति मानसी सेवा तनुवित्तजसेवाफलम् । सर्वथेति लौकिकक्रियाप्रकारेण लोकवेदक्रियाप्रकारेण वैदिकप्रकारेण च । 'जायस्व म्रियस्वे'ति तृतीयमार्गेपि सेवयाहन्ताममतात्मकसंसारनिवृत्तिमाहेत्याशयेनाहुः भवायेति । अत्रोक्तं मोक्षं व्युत्पादयन्ति स्म स्मरणेनेति । इदमुपलक्षणम् । श्रवणादिचतुर्भिरपि । यद्वा उपलक्षणं विनाप्यर्थः । 'यस्य स्मृत्ये'तिवाक्यात् । क्रियाः पूर्णाः साङ्गा भवन्ति 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति सिद्धान्तमुक्तावलीवाक्याच्च । क्रिया इति वेदेनाभिहिताः तात्पर्यवृत्त्योक्ताश्च तनुजवित्तजरूपाः लौकिक्यश्च । पूर्णाः क्रियाः त्रयोदशगुणाः सत्य आनन्दरूपाः यास्ता गृह्यन्ते । फलनिरूपणात् । क्रियारूपो भगवानाविर्भवतीत्यर्थः । चित्ताावेशो मानसी सेवा । तत्र भगवति चित्तावेशः । क्रियया चित्तशुद्धौ भगवदावेशो युक्त इति हिशब्दः । उपकारस्मरणेन पादसेवने चरणाविष्टचित्तत्वे ज्ञानशक्तिरूपो भगवानाविर्भवतीत्यर्थः । क्रियाशक्तिर्यथा सदंशप्रकटा चिदानन्दतिरोहिता सा यदा प्रकटा-नन्दांशा तिरोहितसचिदंशाऽऽनन्दरूपा, तथा ज्ञानशक्तिः चिदंशप्रकटा सदानन्दांशतिरोहिता, सा यदा प्रकटानन्दांशा तिरोहित-चित्सदंशाऽऽनन्दरूपा । ज्ञानक्रियेति ज्ञानक्रिये जीवनिष्ठे जीवोऽशुभर्भगवदंशः । एवं ज्ञानक्रिये भगवदीयज्ञानक्रियांशौ । एवं च 'ज्ञान-शक्तिक्रियाशक्ती सन्दिह्यते परस्थिते' इति भाष्ये ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती विष्णू । आनन्दत्वेन ज्ञानक्रियाशक्त्योर्ग्रहणात् । वाच्यत्वार्थं विष्णुः । ज्ञानक्रिये जीवात्मके इति वाक्यवृत्तिः । शक्तिमतो 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतेर्वागविषयत्वात् । तद्वज् जीवीये ज्ञानक्रिये यदा विष्णुः तदा जीवस्य मोक्षः, ज्ञानक्रियाशक्त्योर्वैलक्षण्यात् । जीवे व्यापकत्वोद्गमाच्च मोक्षश्च 'परं ब्रह्माधिगच्छती'ति-वाक्यात् संसारदुःखनिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनं च । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मितिवाक्यात् । अन्यथा ज्ञानमार्गीयो मोक्षः । भगवद्रूपकर्मणो मोक्षसाधकत्वं निबन्धे स्वर्गपदविचारे विवृतम् । सदोष इति 'दोषा हरौ न सन्त्येव तथा भक्ताहिताः क्रियाः स्फुरन्ति बुद्धिदोषेण मूलं तस्य बहिर्दृशि'रितिवाक्यात् । निर्दोषयोगव्यवच्छेदक एवकारः । 'निर्दोष एव रमत' इतिवाक्यात् । हि युक्तश्चायमर्थः । अपहतपाप्मत्वात् भगवतः । सर्वदोषेति 'जीवाः स्वभावतो दुष्टाः दोषाभावाय सर्वथा श्रवणादि तथा प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिध्यती'तिवाक्यात् । संसारेति संसारायासामर्थ्यं संसारासामर्थ्यम् । 'सह सुपे'ति सूत्रेण समासः । अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते । तैत्तिरीयेऽधरा हनुः पूर्वरूपमत्र 'गृण'न्नित्युक्तेः । जिह्वा सन्धानं वात्र । अभवरस आस्वाद्यत इति । लिह आस्वादने इत्यस्य जिह्वेति जायते । प्रश्ने विशेषाभावः । छान्दोग्ये 'अग्निः कले'ति । 'अग्निमीळे पुरोहित'मिति ऋग्वेदारम्भात्, 'ब्रह्म तर्हि अग्नि'रित्युत्तरार्ध, अथवा वेदकृतपक्षपाते चतुर्षु श्लोकेषु आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या सन्धिः प्रवचनं सन्धानमिति चतुष्कं निरूप्यते । 'विशुद्धसत्त्वं वपुराचार्यस्य । 'आचार्यं मां विजानीया'दित्यभेदः । 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्यत्र वपुः पदम् ! अतः आचार्यः पूर्वरूपमत्र । 'सत्त्वं न चे'दित्यत्र 'विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जन'मन्तेवासिनीत्यन्तेवास्युत्तररूपमत्र । 'न नामरूपे' इत्यत्र वेदादिविद्या, अतः विद्या सन्धानमत्र । 'शृण्वन् गृण'न्नित्यत्र श्रवणाद्यर्थप्रतिपादको वेद इति प्रवचनं सन्धानमत्र 'प्रवचनं' वेदः । पदजन्यपदार्थोपस्थितिरत्र । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इति जैमिनिसूत्रे शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धोक्तं 'औत्पत्तिकमिति नित्यं ब्रूम' इति शाबरभाष्यात् ।। ३७ ।।

दिष्ट्येत्यत्र स्वसिद्धान्तेति वेदकृतपक्षपातस्य मार्यादिकस्योक्तत्वात् तत्प्रसङ्गेन पौष्टिकपक्षपातं वक्तुं स्वस्य श्रीभागवतस्य सिद्धान्तः । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इति श्रुत्युक्तः श्लोके 'दिष्ट्ये'तिपदेन साधनाभावोक्तेस्तदनुसारेणाहेत्यर्थः । भगवच्छास्त्र इति श्रीभागवते द्वितीयनवमेध्याये । भगवानेवेति 'हर' इति पदात् शास्त्रार्थत्वेन व्याप्त्या भगवानेवेत्येवकारः । सर्वात्मभावाद् भगवानिति । 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच् छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमे'ति सर्वात्मभावलक्षणं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणभाष्ये । भगवतो'न्यत्' 'यत्र' भावे सुखत्वेन सुखसाधनत्वेन 'पश्यती'त्यादि । 'भूमा' सर्वात्मभावो भगवांश्च भूमाधिकरणे । 'स्वयमेवात्म-नात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'तिवाक्यात् । उभयोर्भूमत्वम् । प्रमाणादीति प्रमाणं ज्ञानरूपो भगवान् । 'दर्शनं प्रमाण'मिति वक्ष्य-माणत्वात् । 'अत्र प्रमाणं भगवा'निति वाक्यमनुसन्धेयम् । आनन्दाविर्भावो भगवान् प्रमेयं, वक्ष्यमाणश्लोके प्रमाविषयत्वात् । स एव कृपाविष्टः साधनम् । लीलायुक्तः फलं लीला वा आनंदयुक्तस्य लीलात्वात् । अग्रे स्पष्टीभविष्यति । तत्र प्रमाणं स्पष्टयन्ति स्म भगवत्साक्षात्कार इति । 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्मे'ति श्रुतेः । 'अत्र प्रमाणं भगवा'नित्युपष्टम्भानुरोधादाहुः साक्षात्कृत इति भगवच्छास्त्रं पञ्चरात्रमपीति । द्वितीयस्कन्धानुसारेण विराड्ध्याने पृथिवी पादरूपा सोपकारस्मरणात्, द्वितीयनवमाध्याये'ऽहमेवासमेवाग्रे' इति वाक्ये भगवानग्र आस कारणात्मा, पृथ्वी कार्यरूपा पूर्वमासीदिति । पञ्चरात्रेण भगवद्धार्या भक्तेति च । भगवच्छास्त्रे पूर्वं निरूपयन्ति स्म भूमीत्यादिना । 'यमेवे'ति श्रुतौ भार्यात्वेन भक्तात्वेन च वृता । तस्याः प्रसङ्गादित्यर्थः । वयमिति ब्रह्माद्याः । कृतोर्थः भगवन्मार्गीयमोक्षः तदीयत्वलक्षणो यैस्तादृशा जाताः । 'भगवानेव हि फल'मिति निरोधलक्षणग्रन्थे भगवानानन्दाविष्टो लीलायुक्तः । लीलारूपो वा । द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'इदं मतं ममातिष्ठ परमेण समाधिना भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति

कर्हिचि'दिति मोहाभावश्च मोक्षः, उक्तः स तदीयत्वे निविशते। भगवन्मार्गे तदीयत्वं भर्तृसूक्तप्रकारेण भूमेर्गृहीतम्। दत्तात्रेयवत्। तदुक्तं टिप्पण्याम्, 'स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन केशवं हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति। कृतार्थमासीदिति स्वस्वमार्गीयं फलं प्राप्तवत्। त इति 'भवत' इत्यस्यार्थः। जन्मनेति चतुर्व्यूहैः। 'समुदायो जन्यवाची'ति निबन्धात्। वासुदेवेनासुरमोक्षदानाद् भारोपनीतः। सङ्कर्षणेन भूभारहरणेन। प्रद्युम्नेन गर्भसम्बन्धेन। अनिरुद्धेन धर्मरक्षणेन। अध्यायार्थसङ्कर्षणजन्मना वा। प्राकट्यरूपेण। अत्राश्चर्यरसोऽनुसन्धेयः। 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्य' इति गीतायाः। 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धे'ति काठकोपनिषच्च। एवं दुःखाभावरूपं फलमुक्त्वा सुखरूपं फलं भगवन्मार्गप्रवर्तकमाहुः मर्दनेति। तथा च मूले भारपदेन मर्दनक्लेशो ज्ञेयः। भर्तृगर्भसम्बन्धे आनन्दो भवति परन्तु मर्दनक्लेशस्तु परमानन्दप्राकट्येन न तु आनन्दप्राकट्येनेति परमपदम्। सर्वानर्थेति 'जगन्मङ्गल'मितिवाक्यात्। उपास्ये चेति विराजि। स्वराजि। 'कृष्णद्युमणिनिम्लोच' इति वाक्यात्। सूर्यदेहे चन्द्रस्य वंशीयस्य। 'मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतो वर्त्मा पुनर्जन्मनामात्मेत्यात्मविदां क्रतुश्च यजतां भर्ताऽमरज्योतिषां लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुश्चानेकधा यः श्रुतौ वार्णी नः स ददात्वनेककिरणस्त्रैलोक्यदीपो रवि'रिति बृहज्जातके। 'शशभृत'श्चन्द्रस्य 'मूर्तित्वे' परिच्छिन्नपरिमाणत्वार्थं 'परितः कल्पितः' समर्थितः। यतो जलमयश्चन्द्रः प्रकाशहीनः तत्र रविकलाः प्रतिफलिताः ज्योत्स्ना भवन्ति। तदुक्तं 'सलिलमये शशिनि दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशं क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्त' इति। 'यः पुनर्जन्मनां' मोक्षमार्गिणां 'वर्त्मा' मार्गभूतः। मोक्षभाजो रविं भित्त्वा गच्छन्ति। एतत्करणमिति भारापनयनकरणम्। हरिरिति हरति दुःखमिति हरिः। अलौकिकत्वादिति तावतीं मायां दूरीकृत्य प्रकटत्वं चतुर्व्यूहसमुदायः तद्रूपभगवज्जन्मनः अलौकिकत्वात्। क्लृप्तेति मनस्तोऽपि धारणे तथा। सर्वात्मकत्वादिति भगवतः भिन्नं जन्मासम्भावितं भेदाभावादित्यर्थः। दिष्ट्या महता भाग्येन। तेन साधनाभावद्योतनाद् द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये पुष्टिसिद्धान्तोऽत्रेति सूचितम्। केचित् त्विति अस्मिन् पक्षे जन्मनेति न तृतीयान्तं किन्तु जन्मेति पदच्छेदः। भारोपनीतस्तव जन्म, ईशितुस्तव जन्म, नेत्यर्थः। समागमनस्य भारहरणहेतुत्वं, तत् तु न तु भारहरणहेतुत्वमेवेत्यस्वरस उक्तः॥

अत इति जन्माभावेनाप्राकृतत्वसूचनात्। यद्वा आभ्यां दिष्ट्येत्युक्तेः। आकारसमर्पकत्वाच्च। जातमिति भविष्यतीति क्रियापदम्। शङ्कापरिहारार्थमिति भगवति आभासोक्तशङ्कापरिहारार्थं पद्मपुराणे चरणचिह्नाध्याये 'केनैव ज्ञायते देवो भगवान् भक्तवत्सलः तान्यहं वेद नान्योऽस्ति सत्यमेतन् मयोदितम् षोडशैव तु चिह्नानि मया दृष्टानि तत्पदे दक्षिणे नव चिह्नानि इतरे सप्त एव चे'त्युक्त्वाग्रे चिह्नलक्षणान्युक्त्वा 'अङ्कान्येतानि भो विद्वन् दृश्यन्ते तु यदा कदा कृष्णाख्यं तु परं ब्रह्म भुवि जातं न संशय' इति वामचरणचिह्ननिरूपणानन्तरं वाक्यं, दक्षिणचिह्ननिरूपणानन्तरं 'चिह्नान्येतानि भो वत्स दक्षिणे चरणे सदा स वै कृष्ण इति ज्ञेयो बुद्धिमद्भिर्नरोत्तमै'रिति वाक्यम्। ताभ्याम्। देवपादाः भूमिं न स्पृशन्ति छायां च न जनयन्ति तदत्र देवदेवपदे जातमिति पुरुषोत्तमकृतपक्षपातो जात इति भाग्याभिनन्दनमित्याशयेन पुरुषोत्तमकृत इति हर्षात् प्राप्तं 'दिष्ट्ये'त्यस्यार्थमाहुः महदिति। महतां भूनारदवसुदेवनन्दानां भाग्यं अस्माकम्। असमस्तं वा पदद्वयम्। मूले पदकशब्दः सर्वलक्षणसम्पन्नैः पदैरितिस्वार्थकप्रत्ययान्तो व्याख्यातोऽधुना 'इवे प्रतिकृता'विति सूत्रेण कप्रत्ययेऽप्यज्ञातार्थेऽपि सिध्यन् यावर्थौ बोधयति तौ द्विधा पूर्वमाहुः भूमिः पदमित्यादि पदं छायामित्यादि च। पूर्वं पदं प्रतिकृतिरूपं द्वितीयं च। छायाम्। अज्ञातं पदमित्यर्थः। तृतीयं कप्रत्ययार्थमनुवदन्ति स्म पुरुषपदमिति। स्वार्थे कप्रत्ययान्ते पदकपदे कृते पुरुषस्य भगवतः पदकमित्यर्थः। उद्धृता चेत्याधिभौतिकी भूः। अग्रे चाधिदैविकी भूः, पक्षपातो जात इति पक्षपातज्ञानार्थं दुहितेति। त्रिलोकीकल्पनायां भूः पुरुषस्य पदम्। अवान्तरकल्पेषु ब्रह्मणा त्रिलोकी निर्मीयत इति ब्रह्मजन्या भूरतो दुहिता। सानुरागाया इति भूमिः पदं गृह्णातीत्यत्रात्यनुरागेण सात्त्विकभावस्वेदोद्गमे पदं प्रतिफलतीति पदग्रहणे भूमेरनुरागः सूचित इति सानुरागायाः। भगवति अनुरागेण सह वर्तमानायाः। दिष्ट्यति देवा अपि भुवं न स्पृशन्ति तत्र देवदेवस्य भूस्पर्शे सानुरागत्वदर्शनं विस्मयाविष्टमिति भाग्येन। पदाङ्किता सतीति भगवदर्थे मनुप्रसङ्गे चतुर्थस्कन्धे'सर्वपा'मित्यादिः। पूर्वमिति प्रथमाध्याये, 'गौर्भूत्वाश्रुमुखी'त्यत्र। परमानन्देति मर्दनक्लेशहान्यनन्तरमिति बोध्यम्। महदिति तेन भाग्यमित्यत्रैकदेशग्रहणं ज्ञेयम्। अपिशब्दात्। न इत्यपीति नो देवानां सकलदेवानामपि पक्षपातदोग्ध्री। 'तवानुकम्पिता मिति व्याकुर्वन्ति स्म किञ्चेति। तव पादैरेव न तु दैवान्तरपादैः। 'तवे'त्यत्र करणत्वसम्बन्धाविवक्षायां सम्बन्धसामान्ये षष्ठीत्याशयेनाहुः त्वया वेति। दिव्यवतारपादसत्तामाहुः देवानां सर्वेति। तथा च दिव्यपि देवोपकारकरणात् 'तवानुकम्पितां द्याम्'। कुण्डलेति आदिना कुण्डलयोः स्वसत्त्वध्वंसाभावः। आदित्या इति षष्ठी, सामर्थ्यात्। रजकस्य वस्त्रं ददातीति वत्। अत्र स्वसत्त्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनाभावेन दानत्वाभावान् न चतुर्थी। अस्माकमिति देवानां एवकारेणासुरपक्षपातव्यतिरेकात् असुरयोगव्यवच्छेदकः। उभयमिति अनुकम्पितां गां द्यां चेत्युभयम्। दर्शनं प्रमाणमिति व्याप्तिज्ञानवत् प्रमाणम्। दर्शनं भावल्युडन्तप्रतिपाद्यं धात्वर्थरूपं भगवदनुकम्पितगोद्योसाक्षात्काररूपं, तेन देवैर्निरोधक्रीडाः कर्मरूपाः कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वादाविर्भावजनकत्वम्। आविर्भावो वर्तमानस्य वस्तुनो दर्शनविषयत्वयोग्यता, सा च प्रथमज्ञप्तिरपि। विषयस्य ज्ञानत्वाद् विषयत्वयोग्यतापि स्वरूपसम्बन्धविशेषाज्ञानरूपैवेति तादृशप्रमाकरणत्वं धात्वर्थज्ञान इति करणल्युडन्तप्रतिपाद्यप्रमाणं दर्शनमित्यर्थः। अभेदान्वयो भवत्येव। ते आविर्भाव इति प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वमनुकम्पितत्वाविर्भाव-

स्येत्याविर्भावः प्रमेयम्। दिष्ट्येत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां चतुष्कं भिन्नम् अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये अधरा हनुः पूर्वरूपमत्र। अधरोष्ठो लोभः। तस्य फलं 'वाक् सन्धि'रित्युक्ता वाक्। विद्याप्रवचनयोः पूर्वश्लोकचतुष्के गतत्वात् काण्डद्वयार्थानन्तरं कांडद्वयतात्पर्यार्थभक्तिमार्गीया 'मत्स्याश्वे'ति श्लोकोक्ता वागत्र गृह्यते। तत्र वाचि प्रवचनपदोक्तयावत्पुराणवेदस्मृतीतिहासातिरिक्तायां वरणमात्रेकलभ्यायां 'उपध्मानीयामोष्ठौ जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूल'मितिवचनोक्तपुरुषोत्तमोङ्कारजिह्वास्वादनस्य पारोक्ष्येण तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपादिकायां ओष्ठद्वयं जिह्वा चोपयुक्तेतिक्रमेण चतुष्कोपयोगः। अतोधरा हनुः पूर्वरूपमत्र उक्तवाक्कारणत्वात्। उकारशब्देनोङ्कारः परोक्षवादात्। बाहुलकाच्च। पुः पुरुषोत्तमः। उक्ताभ्यामेव हेतुभ्याम्। तेन पुष्टिमार्गीयं भक्तसंवलितं पुरुषोत्तमरूपम्। उपध्मानीयः पकारात् पूर्वं अर्धविसर्गसदृशः उपध्मानीयः पुरुषोत्तमपकारात् पूर्वं अर्धचन्द्रसदृशः उपध्मानीयः तुरीयतत्त्वं चन्द्रः तद्रूपपुरुषोत्तमः। जिह्वामूलीयस्येत्यत्र ककारात् आत्मसुखात् पूर्वं अर्धविसर्गसदृशः जिह्वामूलीयः पुरुषोत्तमो मनसा चन्द्ररूपेणात्मसुखम्। खकारादाकाशरूपशरीरात् पूर्वं अर्धविसर्गसदृशोपि जिह्वामूलीयः तेनाधरौष्ठलोभकार्यपुरुषोत्तमप्रतिपादनात् उत्तरत्र उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् मत्स्याश्वादिषु कृतावतार यदुत्तम वन्दनं त इति सेवापूर्णताद्योतकवन्दनभक्त्यन्तप्रतिपादिका सन्धिः जिह्वा रसास्वादकर्त्री पुरुषोत्तमरूपा 'परः पुमा'निति चतुर्थश्लोके उक्ता। अतो वाचः सेवापूर्णताद्योतकवन्दनभक्त्यन्तप्रतिपादिकायाः प्रपञ्चः पूर्वश्लोकयोः चतुर्थे चेति, तेनार्थापत्त्या प्रमाणेन तत्प्रतिपादकाध-रहन्वादेरुपस्थितिकल्पनं तत्प्रतिपादकपदाभावेपि श्लोके। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र रात्रिभोजनकल्पनवत् इति शुभम्। प्रश्ने विशेषाभावः। छान्दोग्ये 'उदीची दिक् कले'ति। तस्याः स्वामी कुवेरः। धनाधिपः लक्ष्मीपतौ मुख्यः शब्दः कुंवति, कुवि छादने, कुंवेर्नलोपश्चेत्येरक्। तदुक्तं वायुपुराणे। 'कुत्सायां क्वितिशब्दोयं शरीरं वेरमुच्यते कुवेरः कुशरीरत्वान् नाम्ना तेनैव सोङ्कित' इति। तत्रापि कौ वर्तमाने वातगणे। विराट्प्राणरूपे। 'वेरं वातगणेपि चे'ति विश्वात्। तथा च कौ पृथिव्यां वेरं वातगणः कुवेरः। वेरशब्दस्य पुंस्त्वम्। 'प्राणस्तथानुगमा'दिति व्याससूत्रात्। अतो भगवत्त्वात् कुवेरः प्रमाणम्॥ ३८॥

न तेऽभवस्येत्यत्र आविर्भावमिति पूर्वश्लोके'द्रक्ष्याम' इतिपदोक्तदर्शनस्य प्रामाण्यार्थं ब्रह्मा समर्थयति स्म ते अभवस्येति। जन्मनः कारणमिति भक्तमनोरथविषयविनोदस्य जन्मकारणत्वं वक्तुं शक्यं, भक्तवश्यत्वाद् भगवत इति। तर्कयाम इति तर्कः व्याप्तिशोधकः। निर्भवः स्यान्निर्विनोदः स्यादिति। तथा च त्वं जन्मवान् लीलावत्त्वात्। विषयिवदित्यनुमानम्। वन्ध्यावलो वाक्यमप्यत्र। इच्छावादेनाहुः वेः कालस्येति। कालो हि स्थिर इति अनन्तदेहत्वात् स्थिरः सन्। व्यापकश्च। अत एव प्रस्थानरत्नाकरे स्वरूपेन्तर्भावः कालस्योक्तः। बुभूषुः प्रभुर्यदा भवति तदा कालकर्मस्वभावान् गृह्णातीति श्रीभागवते। यथासुखमिति काल उपदेश इति धातुपाठात्, उपदेशेन सुखं प्रसिद्धः अधिकारिणि काले वेति वक्ष्यन्ति। अन्यथेति स इच्छया पुष्टिमार्गोपयोगी क्रियते। प्राकट्यानन्तरं कालस्य मर्यादायाः साधकत्वं बाधकत्वं वा नास्तीति भावः। 'यदा यदा हि धर्मस्ये'ति गीतामूलादाहुः विनावीति। मोक्षविरुद्धायामिन्द्रियरूपायां नावि। संसारनौरिति संसारस्थिता नौरिन्द्रियरूपा कामोदधितारिका पारं कामस्य पर्यवसानं न प्राप्नुयादित्यर्थः। 'कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्या'मिति सप्तमस्कन्धात् क्षुत्तृड् न भवेदित्यर्थः। इन्द्रियनौकायां सत्यां तस्या नोदं स्वस्मिन् प्रेरणं प्राकट्यकारणं तर्कयामह इत्यर्थः। स्वस्य कामान्तरूपत्वात् प्राकट्येनेन्द्रियरूपाया नौकायाः स्वस्मिन् प्रेरणे निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्या पारं कृष्णं गच्छेत् प्राप्नुयादिति श्रीवल्लभजिल्लेखे। पारावारः कृष्णः तस्यैकदेशः पारः। सत्या भामेतिवत्। अस्मिन् पक्षे मूले नशब्दान्वयो न भवतीति तदर्थं अस्मिन्नर्थ इत्यादिना योजनान्तरमुक्तम्। अस्मिन्नर्थे भक्तो नागतः शरणागत इत्यर्थाच्छरणमार्ग आगत इति। किञ्च पशुजातीयनागत इति शरणभक्तिमार्गार्थं पक्षान्तरमाहुः यद्वेति।

तमिति नोदम्। विशब्दस्य वियोगरूपमर्थान्तरमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुः नौकारहितेति। तस्यामिति वियुक्ता नौः श्रेयःसाधनरूपा यस्यां संसृतौ तस्याम्। सत्याम्। सर्वप्रेरणमिति सर्वेषामवतारकालीनानां 'कामाद् गोप्यो भयात् कंस' इतिवाक्यविषयाणां कामादिभिः स्वस्मिन् इन्द्रियाणां प्रेरणं स्वसम्बन्धकरणं निरोध इति यावत्। अनवतारकालीनानामपि शब्दरूपश्रीभागवते स्वस्वरूपे अधिकारिणां श्रवणादिभिरिन्द्रियाणां प्रेरणं स्वसम्बन्धकरणं निरोध इति यावत्। अत्रेति कारणे। प्रमाणं ऐतिह्यरूपम्। शब्दरूपमपि प्रमाणं नास्तीत्याहुः अद्यापीति। तेन भगवन्मार्गकृतपक्षपाते भक्तकृततर्कशोधितव्याप्तिज्ञानातिरिक्तप्रमाणाभाव उक्तः। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इतिश्रुतेः। 'नाहं वेदैर्न तपसे'ति स्मृतेश्च, 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति स्मृतेश्च। भगवन्मार्गकृतपक्षपातस्तु विश्वरूपदर्शनाध्यायोक्तधर्माणामुपसंहारात्। तत्र दैत्यानां क्षयः सुराणां जयः। कृष्णेपि जृम्भालीलायां सुरपक्षपातः। तर्कयामह इति तर्क उक्तः वेदयुक्तिरूपः। अतः सत्यसंकल्पात् 'वशीकुर्वन्ति भक्त्ये'त्येवंरूपात्। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह'मितिवाक्यरूपादुक्तरूपाद् वा। तर्के शोधके व्याप्तौ हेतोर्विरुद्धत्वमाहुः वस्तुतस्त्विति। रजोभाजो ब्रह्मणस्तर्को व्याप्तिशोधकः संशयविषय इति तथा। एवं च लीलावत्त्वादिति हेतोः सन्दिग्धविरुद्धत्वमिति भावः। सकलशास्त्राग्राह्यत्वे सति चरणग्राह्यो तर्कोपि सन्दिग्ध उक्तः। 'प्रवर्तते यत्र रज' इति द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायवाक्यात्। अधिकारि-भक्तिः सर्वथाऽप्रयोजिका, केनचित् प्रकारेणैव प्रयोजिका। यथा मानसी सेवा ब्रह्मणः मानसीसेवात्वेन प्रयोजिका। अत एवकारः। ममापीति कारणगुणाः कार्ये समायान्तीत्यदोषात्। अविद्ययेत्यस्य विवरणं देहाद्यध्यासेनेति। देहस्तु तं विद्याकर्मणी

समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुत्युक्तविद्यादिभिः तस्याध्यासो देहे गृहीते स्थूलोऽहमिति देहधर्मस्थौल्याध्यासः । स्थितिः स्पष्टा । प्रलयः देहान्तरे व्यापकत्वे च मुक्तामुक्तयोः मुक्तस्य च । मुक्तस्यापि स्वोपास्याध्यासाङ्गीकारात् । एवमन्तःकरणाध्यास इन्द्रियाध्यासः प्राणाध्यासः स्वरूपविस्मरणं च उत्पत्तिरुक्ता तां व्याकुर्वन्ति भाष्यत्वाय । जगति इति जगति ब्रह्माभिन्न आधारे, उत्पत्तिरुत्पत्त्यादीति । गीताविस्तारो भागवतमतः सुबोधिन्या भाष्यत्वमविरुद्धम् । त्वयीत्यधिष्ठानकारणम् । उदासीने न भवतीति किन्तु सिसृक्षाद्यविष्टेऽभवे भवति । अनित्ये नेति किन्तु नित्ये आश्रयरूपे भवति । असमवायीति किन्तु समवायिन्यात्मरूपे सत्येव जीवानामुत्पत्त्यादिर्भवेदित्यन्वयः । आधारेति आश्रयेत्यर्थः । अवश्येति उदासीनेऽक्षरे जीवानामुत्पत्त्यादिर्भवतीति नावश्यकतानुदासीनत्वस्य । 'अभयाश्रयात्मनी'त्यत्र'भवाश्रयात्मनी'तिपाठमङ्गीकृत्याहुः अत अभव इति । स्मार्तः प्रयोगः । अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते । तैत्तिरीये उत्तराहनुरुत्तररूपमत्र । तद्वाचकपदाभावेऽप्यर्थापत्तिः प्रमाणपूर्वश्लोकव्याख्यान्त उपपादितम् । प्रश्ने विशेषाभावः । छान्दोग्ये अन्तरिक्षं कलात्र । 'अन्तरिक्षदेवा वै पशव' इतिश्रुतेः । 'आदित्यः पशुरासीत् तेनायजन्ते'तिपञ्चमाष्टकसंहिता । यद्वा'ऽग्निः पशुरासीत् तेनायजन्ते'-तिश्रुतिः । गतवैदिकपक्षे'वायुः पशुरासीत् तेनायजन्ते'तिश्रुतिप्रसरः । ब्राह्मणे वराहोक्तेः । 'वराहो वायु'रिति । ब्रह्मणस्तो निर्गमात् । पश्यतीति 'पशु'पदनिरुक्तिः । अन्तरिक्षमाकाशः, तेना'काशशरीरं ब्रह्मे'तिश्रुतेर्जरायुर्निरूपितम् ॥ ३९ ॥

मत्स्याश्वेत्यत्र प्रथमपर्यायमनूद्य द्वितीयपर्यायमनुवदन्ति स्म स्वरूपेति । स्वरूपं चतुर्व्यूहरूपं जन्मवागगोचरस्य तस्य निमित्तं कारणमिच्छारूपं तस्या ज्ञानम् । अन्यथेति लीलया प्रादुर्भावे स्वरूपनिमित्तेच्छाज्ञानाभावे वा । न स्यादिति कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्त इति हेतोर्न स्यात् । आनन्दाविर्भाव इति आनन्देन विनोदेन लीलयाविर्भावो यस्य तादृशः भगवानिति ज्ञानं तद्विषयः प्रमेयं निरूपितः । स एवेति ज्ञान मुपासनं तेनाविर्भूत एव मत्स्यादिः साधनम् । उपास्यातिरिक्तस्य साधनत्वायोगात् । एवकारस्तु 'यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद् भूत्वावती'ति बृहदारण्यकात् । 'एनं' 'वाग्विदं तद् भूत्वा' विज्ञातस्वरूपं भूत्वा । कृपाविष्टो बोध्यः कृपाविष्टं साधनमिति । एवं च 'तत्रानुकम्पिता'मिति श्लोकादनुकम्पितपदमनुवर्त्यानुकम्पाविशिष्टो मत्स्यादिरिति बोध्यम् । एवमन्यत्र । नवाहुरित्याशयेन व्याकुर्वन्ति स्म त्रयो जलजा इति । 'अप्सुयानिर्वाऽश्व' इतिश्रुतेरश्वापि जलजः । आपःसु योनयो यस्य सोऽप्सुयोनिः । अग्रे स्पष्टम् । तमो रज इति 'बहुष्वनियम' इति सूत्रात् सत्त्वस्थाने रजः । तथा च तमःसत्त्वरजःसमानाकृतयः त्रयस्त्रयो बोध्याः क्रमात् । तमःसमाना निन्दिताकृतिः, सत्त्वसमाना आपाततः पूर्वं निन्दिताकृतिः, विचारे तु न निन्दिताकृतिः । रजःसमानाकृतिः आपाततः पूर्वमनिन्दिताकृतिः, विचारे तु निन्दितिकाकृति । अश्वो हयेति हयः ग्रीवः हयग्रीव इति नामत्रयमतस्तथा । जलज इति उक्तश्रुतेः । अतो हयग्रीवोपि जलजः । त्रयस्तामसाः । वनवासगृहवासातिरिक्तवासात् । 'तामसं द्यूतसदन'मितिवाक्यात् । उपलक्षणविधयेदमपि । जगति हीनजातीयं मात्स्यमिति तामसं निन्दितत्वात् । निन्दन्ति तामस'मिति वाक्यात् । तमःसमानाकृतिः लोकनिन्दितमत्स्यसमानाकृतिः । न तु मत्स्यः । 'मायामत्स्यविडम्बन'मितिवाक्यात् । 'यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृत'मितिगीतायाः । कच्छपः तामसः । 'मेनेङ्ग कण्डूयन'मित्यादिवाक्यैर्दुःखसाधनं मन्दरं सुखसाधनत्वेन दधारेति दुःखसाधने सुखसाधनत्वज्ञानं तामसं, तादृशज्ञानवान् तामसः । तामसकच्छपपुराणप्रतिपाद्यत्वाच्च । आरण्येति आरण्यपशुस्वभावकः । अक्षोपीति अक्षः अक्षजः हंस इति पाठत्रयं पुस्तकभेदेन । अक्षः हंसः । हन्तीति हंसः वृत्रवदिह नीति सः । यद्वा पचाद्यचि कृते भवेद् वर्णागमाद्धंस इति सक् । तदर्थोक्षोपि व्यवहारः यौगिक आत्मजो वा एकादशस्कन्धात् 'अक्षः कर्षे तुषे चक्रे शकटव्यवहारयोः आत्मजे पाशके चाक्ष'मिति विश्वः । व्यवहारस्तु 'व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभि'रित्येकादशस्कन्धादसुकार्यं अहं ममेति धीः । 'सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मति'रितिवाक्यात् । शरीरे बहिर्वायुस्थानत्वादारण्यः । अक्षजो हंसः । अक्षं मनोरूपमिन्द्रियम् । 'अधोक्षज' इत्यत्र तथा व्याख्यानात् । तस्मात् प्रकटः अक्षजः हंसः, स ब्रह्मणा ध्याने क्रियमाणे प्रकटः, ध्यानं च मानसम् । तथा च 'तदुदित' इतिन्यायेन तस्याक्षजत्वमुच्यते । तदुदितः तस्मादुदितो जातः । 'स मानसीन आत्मा जनाना'मितिश्रुतेश्च । बहिर्वायुर्यत्रासौ बहिर्वायुराकाशः । तदेव स्थानमुड्डयने यस्य स तथा । तथा च योषतीर्यान्यान् वने प्रवेशयति तस्यारण्यत्वमुचितमिति भावः । एवं व्याख्यानं मानसौकस्यजलवासित्वेन जलप्रकृतिकत्ववारणायेति बोध्यम् । हंस इति पाठे स्पष्टम् । 'हंसः स्यान् मानसौकसि निर्लोभनृपविष्णवर्कपरमात्मन्यमत्सरे योगभेदे मन्त्रभेदे शारीरमरुदन्तरे तुरङ्गमप्रभेदे चे'तिकोशः । एते त्रयः सात्त्विकाः । वनवासात् । 'वने तु सात्त्विको वास' इतिवाक्यात् । 'यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादज'मिति गीतायाः । सत्त्वसमानाकृतयश्च । नृसिंहः पशुत्वांशे निन्दितत्वस्य पूर्वं भानेपि छान्दोग्य उपदेशे 'सिंहो वा व्याघ्रो वे'ति कालोपाधिकपरदेवतारूपमिति ज्ञाने परमोत्कृष्टत्वज्ञानात्, एवं वराहेपि । 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वे'तिश्रुतेः । 'ते' जीवाः । हंसः सत्त्वाकृतिः प्रसिद्धः परमात्माऽपरपर्यायः । 'परमात्मनी'त्युक्तकोशात् । 'ततो ह जातो भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्म नामे'ति श्रुतेः । 'यद्यद् वृद्धाः प्रचक्षत' इति वाक्यात् सुष्ठुगाकृतयः । राजन्य इत्यादि एते त्रयः राजसाः गृहे वासात् । 'गृहे राजस उच्यत' इत्येकादशस्कन्धात् । 'रघुनाथस्तु सीताभक्तार्थेनेकदैत्यानवधी'दिति पूर्वं एकभक्तार्थेनेकहननं माहात्म्यद्योतकमपि समत्वहानेः पश्चात् 'विषमिवे'ति राजसः । 'विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्

तदग्रेऽमृतोपमं परिणामे विषमिव तत्सुखं राजस'मिति गीतायाः। क्षात्रधर्मो न समत्वबाधक इति चेद् रजः कर्मबहुलमिति। यागादिकर्मबहुलं यत्रेति राजसः। परशुरामो राजसः प्रसिद्धः। सहस्रार्जुनवधेन माहात्म्येपि पश्चात्तापात् यागादिबहुलकर्मकरणाच्च राजसः। वामनस्तु राजसवामनपुराणप्रतिपाद्यत्वाद् राजसः। रजःसमानाकृतयश्च। राजत्वात् राजकत्वाभ्यां च 'राजसं तदुपेक्षित'-मितिवाक्यात्। तरतमेति मायाविडम्बनमत्स्यात् तामसतामसाद्धयग्रीवो राजसतामसः उत्तमः। द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मसत्रे हयग्रीव-प्रादुर्भावस्योक्तत्वात् कर्मणां राजसत्वेन कर्मान्तपाती हयग्रीवोपि राजसः। तामसस्तु द्विरूपत्वेनासुरसादृश्याङ्गीकारात्। कूर्म इति सात्त्विकतामसः, उत्तम इत्यर्थः। वास्तव्यत्वादिति सर्वदा जलवासित्वात्। तामसकूर्मपुराणप्रतिपाद्यत्वात् तामसः। जनवास्तव्यत्वात् सात्त्विकः। आश्रयः। इदं च तैत्तिरीयब्राह्मणे कूर्मप्रजापतिसंवादे प्रजापतिना 'ममैव त्वं पूर्वः समभूरिति प्रोक्तः कूर्मः पूर्वमेवाह हास्मीत्युक्त्वा सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् भूत्वोदतिष्ठ'दिति श्रावणात् स्फुटम्।

ज्ञानांशः सात्त्विकः कूर्मस्तामस इति। एवं तामसे तरतमभावं प्रोच्य सात्त्विकत्रिक आहुः नृसिंहादिति। हिरण्य-कशिपुमारकात्। नृसिंहः सात्त्विकः मारकस्तामसः। वराह इति भूम्युद्धारे सात्त्विकः, सात्त्विकवराहपुराणप्रतिपाद्यत्वात्। हिरण्याक्षवधे राजसः। हिरण्यकशिपुवत् अत्यन्तापराधाभावेनान्ते विषमिव तत्सुखमिति नृसिंहेन प्रह्लादस्य यथास्थितस्य रक्षणं कृतं न तु नष्टाया भूमेरिवोद्धरणमिति भावः। महानिति सात्त्विकसात्त्विकः स्वयं सात्त्विकः ज्ञानप्रदः सात्त्विकः। 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान'मितिवाक्यात्। स्पष्ट इति राजन्यो राजसतामसः। विप्रो राजसराजसः। 'रजो रागात्मकं विद्धी'ति कर्मणि रागाद् राजसः। पितृमारकसहस्रार्जुनमारकत्वात् राजसः। विबुधो राजससात्त्विकः। देवाः सात्त्विकाः, वामनो राजसः राजकार्य-कर्तृत्वात्। एभिरित्यवतारैः। नवविधाः सगुणाः। एकेनेति कृष्णेन। निर्गुणेन। स्वगुणान् सङ्गृह्य। अयमेवेति अवतारी अवताररूपेण प्रत्यक्षः। एवकारस्तु 'यदेकमव्यक्तमनन्तररूप'मितिश्रुतावनेकरूपस्य 'तमसः परस्ता'दिति कथनेन तमःपरत्वमवता-रिलिङ्गमिति। 'अनुकृतेस्तस्य चे'ति सूत्रादाहुः तत्तज्जातीति। मत्स्यादिजात्यनुकरणरूपेषु मायाविडम्बनमत्स्यादिरूपेषु अवतारं वैकुण्ठादागमनं कृत्वा स्वायम्भूमन्वादीन् पाति। त्वमेतेष्विति त्वमवतारी साधनत्वात् कृपाविष्टः। ननु कृपाबोधकपदाभावात् कुतः कृपा यद्वैशिष्ट्यमुच्यते इति चेच्छृणु। कृपात्वेन मोक्षसाधनोपदेशत्वेन कार्यकारणभावस्य 'इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृत'मितिवाक्ये सिद्धत्वात्। पूर्वमिति अवतारिदशायां अवतार्यवतारयोरभेदः 'समान एवं चाभेदा'दिति व्याससूत्रात्। हे ईशेति अवतारिन् आकृष्टसर्वांशेनावतीर्णः वैकुण्ठात् कृष्णत्वेनागतः। पूर्वोक्तत्रयं त्रिभुवनं करोषि। अदित्याः कुण्डलदानेन द्यां पासि। अन्तरिक्षशरीरग्रहणेनान्तरिक्षम्। द्वयोः पालनेन भूः पालितेव, देवाः भूमिं न स्पृशन्तीति। देव त्रैलोक्येति हे देव क्रीडितः त्रैलोक्यधर्मरक्षाः 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजा' इतिवाक्यात्। भारनिराकरणमिति अवतारिणा रघुनाथावतारे रावणवधार्थं प्रार्थितत्वात् तावन्मात्रकरणम्। धर्मरक्षाप्रसङ्गेनान्यदपि शूर्पणखा-विरूपादिकरणं न तु मुख्यतया यावद्भारनिराकरणमिति भावः। यदूत्तमेति मत्स्यादिवद् यदूत्तमेति। 'यदूत्तमे'तिव्यवहारः क्वचिद् द्रष्टव्यः। प्रत्युपकार इति त्रिभुवनकरणादेः प्रत्युपकारः। एवेति 'नमो नम इत्येव सदुपशिक्षित'मिति पञ्चमस्कन्धात्। ननु नवावतारकार्यं दशमावतारकार्यं भूभारहरणं चाधिकं प्रार्थितमवतारान्तरकार्यं कुतो न प्रार्थितमित्याशङ्क्याहुः एतान्येवेति। एतैरेव सर्वकार्यसिद्धिरित्यर्थः। सर्वपुरुषेति दशरसत्वाज् जगतः। अत्रेति कृष्णावतारे। प्रार्थयन्तीति 'हरे'ति प्रार्थनार्थकलोडन्तप्रयोगात् तथा। निगूढत्वेनेति अरूपवत्सदृशेन। 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वा'दिति सूत्रात्। अन्यत इति बलपार्थभीमाद्यतः। तेन (येन) रूपेणेब्धि मत्स्यरूपेण। उक्तरीत्येति 'तथाधूने'तिमूलार्थः, 'तथा पूर्वोक्तत्रय'मित्यादिनोक्तरीत्या। प्रार्थना 'हरे'तिलोटा। राजसूय इति युधिष्ठिरराजसूये। यत्रेति रङ्गभूमौ। अमृतेति 'पयोनिधिं येन निर्मथ्य सुराणां राधिता सुधे'तिवाक्यादेवकारः। 'मेनेङ्ग कण्डूयन'मित्यादिवाक्योक्तं तु ग्रासं गच्छन् तृणं स्पृशतीतिवत्। स्वस्वरूपेति 'क्षुत्तृड्व्यथा'मित्यस्य सुबोधिन्यां स्पष्टम्। अत एवैवकारः। तेनेति गोवर्धनोद्धरणेनासार पीडातो रक्षाम्। पूर्वभक्तमिति पूर्वस्मिन् जयद्वारपालकाले भक्तम्। पाण्डवेति 'पितामहा मे' इतिश्लोके 'व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्ये'तिश्लोके च प्रथमस्कन्धे स्पष्टम्। श्रीभागवतमूले, गीतायां तु स्पष्टम्। मारितवानिति ते मृतवन्तस्ताम् मारितवान्, कंसादयो मृताः क्रूरकर्मणा तान् मारितवान्। पार्थरक्षार्थमिति भोजनानन्तरसागताद् बहुशिष्याद् दुर्वाससः भक्षयित्वेति स्वार्थेणिच्। सर्वमिति पार्थरक्षाप्रतिकूलम्। यदुद्धारार्थमिति पृथिव्युद्धारार्थम्। पक्षपातेति पक्षपातः सर्वत्र ज्ञेयः। पक्षपातस्तुतित्वात्। तन्मात्रेति पृथिवीमात्रविशेषगुणो गन्धः न्यायप्रसिद्धः तद्ग्राहकेन्द्रियं घ्राणं तस्याधिष्ठाने नसि। प्रकटो भवन्नित्यत्राभवन्निति लिङन्तं पदम्। आगच्छन्निति। तन्मात्रेति पाण्डवमात्रेत्यर्थः। 'अजातशत्रोः प्रतियच्छ दाय'मित्यादि-वाक्येभ्यः। 'यद्वा अयं मन्त्रकृद् वो भगवानखिलेश्वरः पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसत्कृत'मितिवाक्याच्च। अभवदिति लिङन्तम्। स्थल इति मथुरायाम्। तथाकृतवानिति व्रजस्थानुद्धृतवान्। 'लोके विकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्व'मितिवाक्यात्। अन्यत्रेति व्रजादन्यत्र। अग्रे चेति उत्तरार्धे। तथेति हननम्। ब्रह्मादिविपादेति एकादशे त्रयोदशे स्फुटम्। इहापीति अपिना गीता। ननु मर्यादाविरोधितत्त्वोपदेशः शास्त्राणां विषयः कथमिति चेत् तत्राहुरन्यथेति। भूभारहरणमिति अयमर्थः मर्यादा-विरोधितत्त्वोपदेशोयं मार्यादिकानामेव न तु पुष्टिमर्यादास्थानां पाण्डवानां यतो गुरुवधादिः पुष्टिमार्गे न दोषः, 'ज्ञानी चेद्

भजते कृष्ण'मिति निबन्धात्, ज्ञानिनस्तु तत्त्वोपदेशवन्तः 'नासाधुना कर्मणा कनीयांस' इति बृहदारण्यक उक्तम्। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुने'ति भगवताप्युक्तम्। अतो ज्ञानिनः पुष्टिमर्यादास्थाः पाण्डवाः। अत उक्तं भीष्मेण सर्वधर्मभृतां वरेण 'व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या कुमतिमहरदात्मविद्यया य' इति। भगवदीयस्य तु भगवच्चिकीर्षितकार्योन्मुख्येव मतिरुचिता, तद्विरुद्धा कुमतिरेव। अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात् ततो निवर्तिका मतिः कुमतित्वेन नोच्येत सर्वधर्मभृतां वरेण। तथा च मर्यादाविरोधितत्वोपदेशः पुष्ट्यंशे ज्ञानिनं विशेषणीकृत्य, ज्ञानिपुष्टिमर्यादास्थाः पाण्डवा इति तथेति ज्ञेयम्। गीतातात्पर्यनाम्नि ग्रन्थे स्फुटम्। मज्जनेति अस्नानम्। अयोध्यास्थानां द्वेषादिकं च। रामोयोध्यास्थान् वैकुण्ठं निनाय। द्वेषादिभाववतां तथा कृतवानित्युक्तोद्धाराविषयत्वमाशङ्क्याहुः द्वेषादीति। 'कामाद् गोप्यो भयात् कंस'इति सप्तमस्कन्धे स्पष्टम्। मात्रिति 'अदितेरास कश्यपा'दितिवाक्याददितिप्रार्थनया। वृकासुरेति अत्र मातृस्थानीयः शिवः। साक्षान्मातृप्रार्थनया प्राकट्यमाहुः देवकीप्रार्थनयेति। आविर्भूयेति द्विभुजत्वेनाविर्भूयेत्यर्थः। स्वानन्दमिति स्वार्थरूपं स्वस्य ब्रह्मण आनन्दम्। एकादशे चतुर्दशाध्याये 'धर्ममेके यशश्चान्य' इतिवाक्यात्। न तु स्वयमिति दृष्टान्ते इन्द्राय दत्तवान् न तु स्वयं विबुधो गृहीतवानिति बोध्यम्। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कोंशोत्र श्लोक उच्यत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये वाक् सन्धिरत्र 'मत्स्याश्वे'त्यादिवाक्। इत्युपपादितं 'दिष्ट्या हरे' इत्यस्य व्याख्यानान्ते। प्रश्ने विशेषाभावः। छान्दोग्ये 'मनः कले'ति 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति बृहदारण्यकात्। मनोत्र भक्तिरूपं 'भक्तिरहस्यभजनं, तदिहामुत्र फलभोगनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पन'मेतदेव च 'नैष्कर्म्य'मिति गोपालतापिनीये। 'मानसी सा परा मते'ति सिद्धान्तमुक्तावल्याम्। 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम् यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् परोपि मनुतेनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे लोकस्याजानतो व्यासः चक्रे सात्वतसंहिता'मिति समाधिभाषायां मनसः करणत्वमाभास उक्तमतो मनसः आश्रयत्वं करणत्वं चोक्तम्॥ ४०॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

तैः फलमाह शृण्वन् गृणन्निति। साङ्गानि कर्माणि वैदिकान्यवश्यं फलदातॄणि—

उपरोक्त श्लोक में भगवान् के नामो व रूपों के अलौकिक व अप्राकृत स्वरूप का वर्णन किया गया कि भगवान् के वे नाम और रूप नित्य तथा आनन्दमय हैं, अब इस श्लोक में उनके लेने और ध्यान करने से जो फल मिलता है उसका वर्णन करते हैं। जो कर्म सांग किये जाते हैं और वैदिक जो कर्म है वे अवश्यफल देने वाले होते हैं यह बात शृण्वन् श्लोक से कहते हैं—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्'॥ इस श्लोक द्वारा स्मृति शास्त्र कहता है कि वैदिक कर्म जब अङ्गों सहित पूर्ण किये जाते हैं, तब वे फल देते हैं। यदि उनमें कुछ त्रुटि रह जाय तो फल नहीं देते हैं। अतः उस त्रुटि की उसी क्षण में हो पूर्ति करने के लिए स्मृतिकार ने कहा है कि तपश्चर्या में यज्ञादि क्रियाओं में रही हुई कर्मक्षति की पूर्ति, अच्युत भगवान् की स्मृति से और नाम लेने से हो जाती है। मैं उस अच्युत भगवान् को वन्दन करता हूँ। इस स्मृति वाक्य का पालन वैदिक कर्मों के अन्त में किया जाता है और वहाँ जो फल बताया है वह मोक्ष है। आचार्य चरण कहते हैं कि हमने निबन्ध में स्वर्गपद का विश्लेषण करते हुए यह समझाया है कि 'स्वर्ग' शब्द का तात्पर्यार्थ मोक्ष है। उसे ही यहाँ भी कहा है।

यदि और भक्तजन भगवान् के नामों का उच्चारण करते हैं तथा उनके गुण व रूपों का कीर्तन करते हैं तो उनको सुनकर जो श्रवण करने वाले स्वयं भी उसी भाँति बोलते हैं और स्मरण करते हैं तो वह स्मरण भी अतिशय एकाग्रता से करना चाहिए। श्लोक में संस्मरयन् कहा है। उसका ख्याल रखना चाहिए। और श्लोक में कहे हुए 'च' का तात्पर्य है कि केवल स्वयं भगवन्नाम न लेकर अन्यों को भी भगवन्नाम स्मरण करावे तथा उपदेशादि दान से भगवन्नामों का भाव बताते हुए दूसरों को श्रवण करावे और हो सके तो उन्हींसे नामसंकीर्तन करावे।

चिन्तयन् योगाङ्गध्यातृत्वेन—अब श्री आचार्यचरण 'स्मरण' तथा 'चिन्तन' में रहे हुए भेद को समझाते हैं कि प्रापंचिक पदार्थों के स्मरण से चित्त को रोक कर बार-बार नाम लेना नाम का जप करना ध्यान है, और जिस ढंग से चित्त को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना पड़े उस प्रकार अनायास नाम लेने को 'स्मरण' कहते हैं। प्रयत्न से नाम स्मरण में चित्त लगाने को चिन्तन कहते हैं। **तदैव रूपपरिकल्पने ध्यानम्**—उसी चिन्तन के समय में स्मरण करते हुए यदि भगवद्रूप की भी कल्पना की जावे तो वह 'ध्यान' है। इस श्लोक में दूसरे 'च' का यह तात्पर्य है कि यदि भगवान् से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों का श्रवण किया जाय तो उनसे भी फलसिद्धि होती है। **मंगलानीतिः**—यदि फल प्राप्ति की भावना रही और फलसिद्धि न हुई तो क्या फल प्राप्ति के लिए कोई दूसरा उपाय करना चाहिये? ऐसी शंका का अवसर ही नहीं है क्योंकि भगवान् के नाम, रूप और गुण तथा भगवत् सम्बन्ध वाले भगवान् के सब पदार्थ मंगलरूप हैं। अतः वे सब मङ्गलरूप है तो सिद्धि की

प्राप्ति में प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है। क्योंकि आपकी यज्ञादि, भगवत्सेवादि अथवा लौकिक जैसी क्रियाएँ सब मंगलरूप होने से बिना प्रतिबन्ध के सिद्धि देने वाली है।

जिसका चित्त आपके श्रीचरणारविन्दो में संपूर्ण प्रविष्ट हो चुका है वह कदापि संसार में नहीं आता है क्योंकि वह भक्त मुक्त हो जाता है। और संसार में वही आयगा कि जिसमें दोष रहे हों। लेकिन श्रवण स्मरणादि क्रिया करने से सर्व प्रकार के दोषों की जब निवृत्ति हो जाती है, तब अहंताममतारूप संसार का निर्बल बन जाना सहज है। जिससे निर्दोष की मुक्ति हो जाती है॥ ३७॥

कारिका—स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि। ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः॥ १॥

कारिकार्थ—भगवान् के स्मरण से सर्व क्रियाओं में पूर्णता आती है और भगवान में चित्त का प्रवेश हो जाता है। ज्ञान और क्रिया दोनों जब विष्णु रूप हो जाय तब मोक्ष होता है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है॥ १॥

यद्यपि कारिका में केवल स्मरण का उल्लेख है किन्तु इस स्मरण शब्द से 'श्रवण, स्मरण, चिन्तन और कीर्तन' इन चारों समझने चाहिए क्योंकि इन चारों प्रकार से भगवच्चिन्तनादि करने से भक्त के हृदय में क्रियात्मक भगवान् का आविर्भाव होता है। हृदय में क्रियारूप भगवान् का आविर्भाव होने के फलरूप उस भक्त का चित्त भगवान् के चरणारविन्द में प्रविष्ट होता है। भगवच्चरण में चित्त प्रविष्ट होने से ज्ञान शक्तिरूप भगवान् का भी हृदय में आविर्भाव होगा। इस रीति से जब भक्त की क्रिया तथा ज्ञान शक्ति विष्णुमय बन जाएगी तब मोक्ष होता है। इसमें संशय का अवसर नहीं है॥ १॥

एवं वैदिकप्रकारेण चतुष्टयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयमाह दिष्ट्येति चतुर्भिः।

उपरोक्त चार श्लोकों में वैदिक प्रकार से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल इन चारों का निरूपण किया। अब देवताओं के सिद्धान्तानुसार प्रमाणादि चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

भगवच्छास्त्रे—भगवत् शास्त्र में भगवान् ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं। भगवान् का साक्षात्कार अथवा साक्षात्कारकृत भगवान् ही प्रमाण है। भूमि के प्रसङ्ग के कारण हम सब देवता लोग तो कृतार्थ हो गये हैं किन्तु भगवन् केवल, हम ही नहीं किन्तु समग्र जगत् भी भगवान् के प्राकट्य से कृतार्थ हुआ है। हे हरे! आपको पाद रूप भूमि का भार आपके चरण स्पर्श से उतर गया है। पृथ्वी की प्रजा का मर्दन क्लेश तो केवल परमानन्द के प्राकट्य मात्र से दूर हो गया है। पृथ्वी भार नाश का साधन आपका जन्म ही है जिसके लिये अन्य प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिसका जन्म हुआ है वह भगवान् सर्वथा समर्थ हैं और सर्व अनर्थों को स्वयं निवृत्त करने वाले हैं। हे हरे! भूमि के भार का निराकरण करना आपके लिये आवश्यक है। और वह हमारे लिये हितकर है। कारण कि पृथ्वी आपकी चरणरूपा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चरणों का भार दूर करता है। अपने उपास्यदेव में दोष न रहे वह समस्तों के लिये हितकर है। इस प्रकार कर्त्तव्य करना आपके लिये आवश्यक है क्योंकि आप स्वयं सर्वदुःखनिवारक हरि हो।

भगवन्, आपका आविर्भाव अलौकिक है। आपके आविर्भाव के लिये संपूर्ण साधन भी नहीं है और आप सर्वात्मक हो, ऐसे होते हुए भी जो आप पृथ्वी का भार उतारने के लिये और दैत्यों के विनाश के किये कृपाकर प्रकटे हो, यह हर्ष है। कई लोगों का कहना है कि देवकी के उदर में आना यह पृथ्वी के भार का हरण करना ही है, नहीं कि आपका जन्म है। इसलिये तो पृथ्वी पर केवल आनन्द ही प्रकटे हैं। आपके समागमन से और भी जो कुछ हुआ है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि देव भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते हैं तो क्या भगवान् उसका स्पर्श करेंगे? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जो न होने वाला है वह भी यदि आपके जन्म से होगा वह भी प्रसन्नता का चिन्ह है।

सर्वरूपत्वाद्भगवतो मनुष्यरूपेण भुवं स्पृशत्येवः—भगवान् सर्वरूप है अतः मनुष्य रूप से पृथ्वी को स्पर्श करते ही हैं, इसमें क्या आश्चर्य है? ऐसी शङ्का का उत्थान कर देवता उसके समाधान में कहते हैं कि ध्वज, वज्र और अंकुशादि सर्व चिह्नों वाले आपके सुन्दर चरण चिह्नित भूमि का हम दर्शन करेंगे। यह हम लोगों का परम सौभाग्य है। पृथ्वी पद को, ग्रहण करती है यह इस भूमिका भी भाग्य है। खास बात तो यह कि भगवच् चरणों की छाया भी पृथ्वी पर पड़ती है। धरा, भगवान् का पद है, भगवान् ने उसका उद्धार भी किया है तथा वह ब्रह्मा की पुत्री है जिससे उसका भगवान् में प्रेम है, प्रेम के कारण भगवान् ने इस प्रकार दर्शन दिये हैं। यह भी प्रसन्नता है। इस श्लोक में व्याकरणानुसार **'गां द्यां च तवानुकम्पिताम्'** इस पद में भूमि के लिए 'तां' पद न देकर गाँ शब्द दिया है उसका भाव आचार्य श्री बताते हैं कि भगवान् के पदों से चिह्नित होने से यह भूमि सकल कामनाओं को कामधेनु के समान पूर्ण करने वाली होगी, एवं पहले यह भूमि ही आंखों से आंसू बहाती हुई, जो रूप धारण करती हुई, हमने देखी थी अब वह ही परमानन्द स्वरूप चरणों से अङ्कित होने के कारण आनन्द में प्रफुल्लित हुई हम देखेंगे, यह भी हमारा महद्भाग्य है यहाँ श्लोक में गो पद देने से ये दो भाव बताये गये हैं। नाथ

पृथ्वी के साथ चरणों द्वारा आपसे अनुकम्पित स्वर्ग को भी देखेंगे। देवों के ऊपर सर्व प्रकार के आपने उपकार किये और अदिति के कुण्डल का दान किया उससे स्वर्ग भी अनुगृहीत है। अतः हमारे देवों का परम भाग्य है जो (इन दोनों भूमि तथा स्वर्ग को) इस प्रकार के अनुगृहीत देखेंगे। दर्शन प्रमाण रूप हैं और आविर्भाव प्रमेय रूप है ॥ ३८ ॥

आविर्भावं समर्थयति नतेभवस्येतः—ते, भवस्य जन्म—जन्मरहित आपके जन्म का कारण केवल लीला के बिना अन्य प्रकार का तर्क हम नहीं कर सकते हैं। अथवा विनोद पद में दो शब्द हैं एक 'वि' शब्द है जिसका अर्थ है काल, दूसरा 'नोद' है जिसका अर्थ है प्रेरणा करना। अब विनोद का अर्थ हुआ कि काल स्वयं स्थिर है। सकलों को ही मर्यादानुसार सुखी करता है उस काल को आप जन्म से प्रेरणा करते हो अर्थात् अन्यथा करते हो। अब आचार्यचरण विनोद शब्द का दूसरा अर्थ बताते हैं कि बिना विनोद इन दो पदों को मिलाकार 'विनाविनोद' ऐसा एक पद बनाकर फिर 'विनावि' और 'नोद' ऐसा पदच्छेद करना ओर 'विनावि' इस संसार नौका में 'नोद' प्रेरणा करना अर्थात् यदि आप संसार नौका को प्रेरणा न करें तो यह संसार रूप नौका कभी भी पार न जा सके। ऐसा कहने का रहस्य यह है कि भाव विकारों से रहित यह संसार ब्रह्मात्मक है और संसार एक प्रकार की नौका है। जैसा कि एकादश स्कन्ध के 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्प' इस श्लोक में मनुष्य देह को नौका बताया गया है इसीसे उस नौका को संसार से पार जाने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता देखकर आप प्रेरणा देने के लिए ही अपना आविर्भाव करते हो। यदि नाथ, आप कृपा करके भक्तों के यहाँ पति पुत्रादि के आभिमानिक सम्बन्ध रूप से प्रकट न होते तो संसार नाव पार न पहुंचती। आचार्य श्री अब नतेऽभवस्य पदों का अन्य प्रकार से अन्वय करते हैं कि 'न' और 'ते' ये पद भिन्न हैं उनको मिलाकर एक पद 'नते' सप्तमी विभक्ति कर उसका अर्थ करते हैं नते–शरणागते शरणागत पुरुष पर कृपाकर अजन्मा आप जो प्रकट होते हो वह भी संसार नौका को पार करने की प्रेरणा के लिये ही है यों हम तर्क करते हैं। पुनः आचार्य श्री अन्य प्रकार बताते हैं न ते भवस्य इस पद का विच्छेद नतेभ-वस्य नत+इभ ओर 'वस्य' कर के अर्थ करते हैं कि 'नतेभ' पद में 'नत' और 'इभ' ऐसे दो पद है और 'नत' का अर्थ शरणागत और "इभ" का अर्थ गजेन्द्र अर्थात् जो गजेन्द्र शरण आया है उसको 'व' अमृत अथवा मोक्ष जिससे प्राप्त हुआ उसका जन्म विनाविनोद केवल लीला का है अन्य कुछ नहीं है ऐसा हम अनुमान करते हैं। यद्यपि वैसे पशु जाति के केवल शरण आने से संसार निवर्त्तक 'अभव' का जन्म रहित का जन्म असम्भावित है तो भी इस प्रकार भी आविर्भाव होने का आशय भी लीला ही है यों हम अनुमान करते हैं। यह संसारसागर नौका रहित है उसको पार पहुंचने की प्रेरणा करने के लिए ही आपका आविर्भाव है। यद्यपि हमारे इस कथन की पुष्टि के लिए न तो कोई प्रमाण है, न तो कोई यथार्थ द्रष्टा प्राप्त पुरुष भी है जो इसका प्रत्यक्ष सबूत दे और न कि आपने भी आज तक इस विषय में कुछ कहा है, इसलिए हम स्वयं वैसा अनुमान लगाते हैं। वस्तुतः यह लीला भी है, या नहीं, इसमें भी सन्देह है, तात्पर्य यह है कि आपके प्राकट्य का कारण आप ही जानते हो अन्य सर्व अनुमान ही है। न ते भवस्य पद में जो शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। संपूर्ण पद समासान्त है। वह समास इस प्रकार बहुव्रीहि किया गया है 'न ते भवस्य व यस्मात्' सः नतेभवः तस्य नतेभवस्य। जिसका अर्थ होता है शरणागत गज को एवं। मोक्ष जिससे प्राप्त हुआ उस भगवान् का जन्म बिना विनोद अन्य कोई कारण है, ऐसा तर्क नहीं कर सकते हैं।

ननु सर्वस्यापि मदंशस्य :—हे देवो! आप मुझे अभव क्यों कह रहे हो, जैसे मेरे अंश रूप जीव का जन्म होता है वैसे मेरा भी जन्म मान लो। तब देवता कहते हैं कि यदि भगवान् ऐसा कहे तो उत्तर यह है कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देहगेहदारा द्रव्य आदि के अध्यास के कारण होते हैं। स्वतः तो जीवों का भी जन्म नहीं होता है। वह भी तब होता है जब आप हो। यदि आप नहीं हो तो निराधार जगत् में उत्पत्ति का संभव ही नहीं हो सकता है। यदि आप उदासीन रहे तो भी उत्पत्ति न होगा। अनित्य में भी उत्पत्ति नहीं होती है। कोई समवायी-कारण न हो तो भी उत्पत्ति नहीं होती है। 'समवायीकारण' उसको कहा जाता है जिससे वस्तु बने जैसे कि तंतुओं से पट बनता है तो तन्तु पट का समवायीकारण है वैसे भगवान् से जगत् बना है तो भगवान् जगत् का समवायी कारण है। उत्पत्ति के लिए आधार और समवायी कारण की आवश्यकता रहती है। यदि नाथ! आपकी भी उत्पत्ति मानी जाय तो जगत् का अनादिपन न रहेगा तथा जगत् अलीक—असत्य हो जायगा—जैसे आप का प्राकट्य एकाएक होता है वैसे जगत् का भी होगा।

अतो भव आश्रयरूपे आत्मरूपे :—अतः आत्मा के आश्रयरूप होने से ही जीवों की उत्पत्ति आदि होते हैं और आपका तो लीला से ही प्राकट्य होता है। भगवान् जीवों की तरह जन्म लेते हैं यह कहना भगवान् के स्वरूप का एवम् उनके कारण का अज्ञान ही है। भगवान् का जन्म नहीं है किन्तु आनन्दरूप का प्राकट्य है यह निरूपण किया गया है। भगवान् का जन्म मानने से समस्त जगत् अनादि न रहेगा ॥ ३९ ॥

स एव साधनमित्याह—मत्स्याश्वेति।

वही आनन्दरूप भगवान् साधन है। इसका वर्णन करते हैं।

स एव साधनमित्याह मत्स्याश्वेति वही भगवान् साधन है इसका मत्स्याश्व श्लोक से वर्णन करते है—कि प्रथम जैसे आपके नव अवतार हुए वैसे ही यह आपका दशवां अवतार है। इन नव अवतारों में तीन अवतार जल से हुए, तीन बन से हुए और तीन लोक में हुए। मत्स्य, हयग्रीव तथा कच्छप तमोगुण जैसी आकृति वाले हैं। नृसिंह, वराह और हंस राजस गुण समान आकार वाले हैं। रामचन्द्रजी, परशुराम और वामन ये सत्वगुण सहज रूप वाले हैं। मूल में अश्वपद हयग्रीव का वाचक है। अश्व भी जलज जल से उत्पन्न होता है और हयग्रीव भी जलज है। नृसिंह स्तम्भ से प्रकट होने के कारण वनज कहे जाते हैं। वराह की आरण्यक प्रकृति है अतः वनज है। हंस बाहिर वायु वाले खुले आकाश स्थान में रहने की प्रकृति वाला होने के कारण वनज है। जो हंसावतार से प्रकट होकर भगवान् उपदेश द्वारा अन्यों को वनवासी बनाते है अतः हंस जी को वनज कहना यह योग्य ही है। रघुनाथ जी क्षत्रिय है परशुराम जी विप्र है और वामनजी देव है इन तीनों का तरतम भेद बताने के लिए पृथक वर्णन किया है। मत्स्य से अश्व उत्तम है। अश्व से कूर्म उत्तम है। यह उत्तमता कार्य करने से सिद्ध होती है अतः यह उत्तमता देखने में आती है अर्थात् अन्य अवतारों में उत्तमता कार्य समय में देखने में आती है। कूर्म की उत्तमता वास्तविकी है कारण कि कूर्म सदैव जल में रहकर पृथ्वी की रक्षा करते हैं। नृसिंह से वराह इसलिए उत्तम है कि नृसिंहजी ने यथास्थित प्रह्लाद की रक्षा की थी किन्तु वराह ने जल में डूबी हुई पृथ्वी को जल से उपर लाकर उद्धार किया तथा हिरण्याक्ष का वध किया था। वराह से हंस ज्ञानप्रद होने के कारण उत्तम है। क्षत्रिय, ब्राह्मण और देव अवतारों में तरतम भाव एक से एक श्रेष्ठ भाव स्पष्ट ही है। इन नवविध अवतारों ने नवविधों की रक्षा की है। इस समय आपको एक ही अवतार से नवविधों की रक्षा करनी है। ये ही भगवान् जिस जाति की रक्षा करनी होती है उस जाति में अवतार लेकर उस जाति की रक्षा करते हैं। अब देवता उससे भी विशेष प्रार्थना करते हैं कि आपने प्रथम उन में अवतार धारण करके हम लोगों की, तीनों भुवनों की और धर्मादिक की भी रक्षा की है। वैसे ही इस समय भी हे ईश! सर्व प्रकार से सामर्थ्य से अवतीर्ण हुए हो अतः उसी प्रकार देवता, तीन लोक और धर्म की रक्षा करने के साथ विशेष में भूमि का भार उतारने की कृपा करो। आप ईश होते हुए भी लोक में आपका 'यदूत्तम' नाम से व्यवहार होता है। आपके इन उपकारों का बदला केवल वन्दन ही हो सकता है।

श्रीकृष्णावतार के समय देवों ने नव अवतारों के कार्य से अधिक, भूभारहरण कार्य की प्रार्थना की, लेकिन अवतारों के कार्यों से विशेष अन्य कार्यों की प्रार्थना क्यों नहीं की? इस शङ्का के उत्तर में श्री मदाचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् के ये मत्स्यादि अवतार ही सर्व कार्य साधक हैं। इस प्रसङ्ग में जो मत्स्यादि अवतारों का वर्णन दृष्टान्त रूप से किया गया है उसका यह भाव है कि पृथ्वी पर जो भार रूप असुर नृपति हुए थे उनके नाश के लिए ही भगवान् अवतार लेते हैं। इसलिए जो अवतार लिये जाते हैं तो उन असुर राजाओं से युद्ध होने की सम्भावना होती है। लेकिन भगवान् में अतिशय अनुराग के कारण अनन्य भक्तजन वह युद्ध नहीं चाहते हैं कारण कि युद्ध में भगवान् को अतिशय कष्ट उठाना पड़ेगा। और भक्तों से वह सहन नहीं किया जा सकता है। 'रूपंचेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मां सदृशां कृषीष्ठाः और जन्मते मय्यसौ' इन दो श्लोकों में देवता कहते हैं कि यह आपका पौरुष जन्म हमारे लिये है। अतः देवकीजी के समान भगवान् का माहात्म्य जानते हुए भी भक्त होने के कारण भूभार का हरण युद्ध बिना अन्य प्रकार से करने की प्रार्थना करते हैं।

यावत्स्वस्यैश्वर्याद्यप्रकटनेन निगूढत्वेनान्यतो वा :—जब तक आपने अपने ऐश्वर्य आदि को प्रकट नहीं किया है तब तक गुप्त रीति से अन्य द्वारा शत्रुओं का नाश हो सके तब तक युद्ध नहीं करना। वहाँ पर प्रलयाब्धि के समय में सत्यव्रत आदि का भक्तजन रक्षणीय है।

(१) भगवन् आपने पुरुष रूप धारण किया है, इसलिये आप युद्ध द्वारा रक्षा करना चाहोगे तो युद्ध रूप महासागर में युद्ध क्लेशादि रूप मकरों से भय की सम्भावना है ऐसे विचार से स्नेह भाव वश भक्तों को दुःख होगा। वह दुःख भक्तों को अभीष्ट नहीं है अतः जैसे हीन जाति वाले मत्स्य का रूप धारण कर सुख पूर्वक विनाश्रम जल संचार करते हुए रक्षण किया था वैसे अब भी करो यह प्रार्थना है। इसी कारण से अपने ऐश्वर्य के विरुद्ध होते हुए भी भीमसेन ने याचक बनकर जरासन्ध को मारा न कि भीम ने क्षात्र रूप से मारा।

(२) भगवन् आपने हयग्रीव रूप से ब्रह्मा के सत्र में प्रकट होकर असुर बध तथा वेद की रक्षा की। यहाँ भी राजसूय यज्ञ के समय प्रकट होकर ब्रह्माजी के स्वरूप ब्राह्मणों का सम्मान कर धर्म मर्यादा की स्थापना की और वेदविरुद्ध बकवास करने वाले शिशुपाल का बिना श्रम विनाश किया। (३) कच्छपावतार में 'मेनेऽङ्गकण्डूयनं ८.७-१० इस वाक्यानुसार खुजली मानकर आपने सुखपूर्वक 'मन्दराचल' को धारण किया। वैसे ही यहाँ भी विशेष वीर्य शक्ति के कारण भुजाओं में उत्पन्न हुई खुजली की शान्ति करने के लिये लीलामय युद्ध करना, न कि सामने आये हुए प्रतिपक्षी योद्धाओं को मारने के लिए। जब ऐसा अवसर हो तो, उनको मारने के लिए दूसरों को प्रेरणा कर दें। यही हमारी प्रार्थना है लेकिन आप कृपया विशेष श्रम न करें। अतः भगवान् का जहाँ जहाँ युद्ध हुआ है वहाँ वहाँ ऐसा ही किया है, तात्पर्य यह है कि भगवान् ने

अपने अन्य व्यूहों को प्रेरणा की है। जैसे राजा लोग क्रीड़ा के हेतु शिकार खेलते हैं वैसे ही भगवान् युद्ध करते हैं। इसलिए कहा गया है। विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् यह जगत् के दोनों ईशों की क्रीडा है। जिस प्रकार अमृतदानार्थ कच्छपजीने मन्दराचल को धारण किया वैसे ही यहाँ पर अपने आनन्दमय निज स्वरूप रूप अमृत के दान के लिए ही गोवर्धन को धारण किया है और उससे व्रजमण्डल की रक्षा भी की है। (४) नृसिंह अवतार में पूर्व जन्म के भक्त जय विजय और इस जन्म में भक्त के पिता हिरण्यकशिपु का भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिये यकायक प्रकट होकर नाश किया। यह भी जताया कि नृसिंहावतार के समय दैत्यत्व के तथा क्रूर होने के कारण लक्ष्मीजी भी स्वयं समीप नहीं जा सकती थी तो भी आपके पास भक्त जा सकते थे कारण कि भक्तों को आनन्द रूप से ही दर्शन देते थे। यहाँ भी पाण्डवों की रक्षा के लिए आसुरावेशी उनके भीष्म आदि पितामहादि का विनाश किया। वैसे हो कंसादिकों का भी बध किया। वनवास में पार्थ रक्षार्थ अचानक आविर्भूत होकर शेष बचे हुए शाकान्न का उपभोग कर सबका समाधान किया। (५) श्री वराहजी श्री नृसिंहजी के समान प्रकट न होकर जिस पृथ्वी के उद्धार के लिए स्वयं प्रकट हुए थे उस पृथ्वी के गन्ध गुण को ग्रहण करने वाली नासिका इन्द्रिय को अधिष्ठान बनाकर उससे प्रकट होकर आपने पृथ्वी से अपना स्पष्ट पक्षपात दिखा दिया। इस कृष्णावतार में भी पाण्डवों के रक्षणार्थ विदुरजी के घर में बिराजे परंतु अन्यत्र दुर्योधनादि के राजभवन में नहीं बिराजे। कारण कि विदुरजी पाण्डवों के गुणों के ग्राहक थे। इसी प्रकार व्रज भक्तों के उद्धारार्थ व्रज जनों से सम्बन्धित श्री गोकुल में स्वयं प्रकट होकर व्रज भक्तन की रक्षा की लेकिन अन्यत्र स्थिति नही की। इसी भाँति विदर्भराजतनया रुक्मिणीजी का शिशुपाल से उद्धार करते हुए, हिरण्याक्ष की तरह मार्ग के मध्य में अन्तराय करनेवाले रुक्मी को बाँधकर ही स्वकार्य सिद्ध किया, लेकिन मङ्गल प्रस्थान के अवसर रुक्मी को मारा नहीं। आगे चलकर समय आने पर श्रीबलभद्र द्वारा रुक्मि का बध किया। (६) जैसे हंसावतार में तत्व-ज्ञान का उपदेश देकर सनत्कुमारोने ब्रह्मादिकों का विषाद नष्ट किया वैसे यहाँ भी यदि वैदिक मर्यादा के विरुद्ध गुरुवध करना पाप समझ कर स्वधर्म युद्ध से विमुख, भक्तवर अर्जुन की चिन्ता और विषाद को मिटाने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया और पृथ्वी पर बढ़ा हुआ असुर राजाओं का भार उतारा।

(७) रामावतार में डूबने के साधन पत्थरों को तारने का साधन बनाकर एकभक्ता श्रीजानकी जी और एक भक्त विभीषण के लिए अनेक दैत्यों का नाश किया वैसे ही यहाँ इस कृष्णावतार में एक पृथ्वी के लिए और अनेक व्रजभक्त गोपीजनों के लिए अनेकों का मारे। एक पृथ्वी के लिये अनेकों को कैसे मारा? इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि असुरावेशी राजाओं में जिनको मारा था उनमें द्वेषादिभाव था। जिनको इन्होंने मारा वे नाम मात्र के लिये ही गये थे किन्तु उनका उद्धार हो गया। (८) परशुरामावतार ब्राह्मण वृत्ति होते हुए भी उसमें घोर क्षात्र धर्म स्वीकार कर असुर क्षत्रियों का बध किया है। इस अवतार में ब्रह्मत्व समान होते हुए भी दैत्य वध करना ही है। (९) देवावतार में श्रीवामनजीने तो माता की प्रार्थना से प्रकट होकर जिस त्रैलोक्य को लेने के कार्य को ब्रह्मादिक भी नहीं कर सके, उस कार्य को केवल अनायास वाणीमात्र व्यवहार से कर दिखाया। इस प्रकार यहाँ वृत्रासुर बध में यह स्पष्ट है। माता श्रीदेवकीजी की प्रार्थना से प्रकट होकर ब्रह्मादिकों को कठिनाई से मिलने वाला अपना आनन्द यादवों को दान दिया। राज्य के लोभी कंस को मारकर राज्य उग्रसेन को दिया आपने नहीं लिया था। इस प्रकार नमस्कार पर्यन्त भगवान् की स्तुति की गई है। कंसादिवध तो भूतल पर अवतारी स्वरूप से पधारने में अप्रयोजक है इसलिए इसकी पृथक् विशेष रूप से गणना नहीं की है॥ ४०॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

श्रवणादिभक्त्या भक्तानामेव मोक्ष इत्युपसंहरति–शृण्वन्निति। मङ्गलानि श्रवणादिपरस्य मोक्षप्रतिबन्धकदुरित-निरासपूर्वकं पुण्यावहानि ते तव नामानि रूपाणि चकारात् कर्माणि च वक्तरि सति शृण्वन्, श्रोतरि सति गृणन् कीर्तयन्, श्रोतृवक्त्रोराभावे स्वयमेव संस्मरयन्, चिन्तयन्, चकारादन्यानपि स्मारयन् क्रियासु लौकिकालौकिकव्यापारेषु वर्तमानोऽपि युष्मच्चरणारविन्दयोराविष्टमासक्तं चित्तं यस्य सः। पुनर्भवाय संसारप्राप्तये न कल्पते न योग्यो भवतीत्यर्थः। प्रयत्नं विना मानसिकव्यापारः स्मरणम् सप्रत्नश्च सञ्चिन्तनमिति भेदः॥ ३७॥ भवदवतारेणास्मद्वाञ्छितं सर्वमेव जातप्रायमित्याहुः—दिष्ट्येति। आश्रितार्तिहरणशीलस्य तव तदर्थमवतारो युक्त एवेत्याशयेन सम्बोधयन्ति-हे हरे इति। तव जन्ममात्रेण भवतः पदः पादभूताया अस्या भारार्ताया भुवो दैत्यादिजनितो भारोपनीतो दूरीकृत एवेति दिष्ट्या भद्रं जातम्। किञ्च सुशोभनैर्वज्राङ्कुशादिभिः शुभलक्षणैस्त्वत्पदकैस्तव कोमलैश्चरणैरङ्कितां तत्र त्वयानुकम्पितां कृपादृष्ट्यावलोकितां गां पृथ्वीं द्यां स्वर्गं च वयं द्रक्ष्यामेत्यपि दिष्ट्या भद्रमेव। जन्ममात्रेण चरणस्पर्शेन वा कथं भारापगमादि तत्राहुः– ईशितुरिति। देवानां पादस्पर्शोऽपि भुवो दुर्लभः, किं पुनर्देवदेवस्य भगवतः पादस्पर्श इत्याश्चर्यम्? भगवत्कृपायाः कृत्यमित्याशयः। अदित्याः कुण्डलदानार्थं स्वर्गे गमनात्तत्रापि पादाङ्कितत्वं बोध्यम्॥ ३८॥ भारोऽपनीतस्तव जन्मनेति जीववज्जन्मोक्त्यापराधमाशङ्क्य तन्निरासाय संकल्पमात्रे भूभारहरणादि कर्तुं समर्थस्यापि तवावतारे स्वजनानां श्रवणादिसुखपूर्वकोद्धारार्थलीलासङ्कल्प एव कारणमित्याहुः—न ते ऽभवस्येति हे ईश!

ते तव भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं क्रीडासङ्कल्पं विनान्यन्न तर्कयामः। ननु जीववज्जन्ममापि जन्म कुतो नेत्याशङ्क्याहुः-भव इति। आत्मनि जीवात्मन्यपि भवो जन्मनिरोधः मरणं स्थितिश्चेत्येते त्रयो यतस्त्वयि निमित्ते सति अविद्यया देहेन्द्रियान्तःकरणादावात्माध्यासेनैव कृता भवन्ति, अविद्यानिवृत्तौ तु तस्यापि जन्मादयो न भवन्ति। तव तु जन्मादि तद्वत्कथं स्यात्। तत्र हेतुमाहुः- अभवस्येति। अविद्याराहित्येनासंसारिण इत्यर्थः। तत्र हेतुं सूचयन्तः सम्बोधयन्ति-हे अभयेति। स्वयं भयरहितोऽन्यभयनिवर्तकश्चोभयथाप्यभयस्तत्सम्बोधनम्। अविद्यानिवारणेन जीवाभयप्रदस्य कथमविद्याधीनत्वं स्यादित्याशयः। तत्र हेतुं सूचयन्तः पुनः सम्बोधयन्ति—हे आश्रयेति। अविद्यादिसकलाधारभूतेत्यर्थः। तत्रापि हेतुः-ईशेति। सम्बोधनेन सूचितलोकवज्जन्मप्रतीतेराश्चर्यं तव लीलाया इति सूचयन्ति— बतेति॥ ३९॥ प्रस्तुतं प्रार्थयन्ते –मत्स्येति। हे ईश कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ? अन्यदा यथा मत्स्यादिषु कृतावतारः संस्त्वं नः अस्मान् देवान् त्रिभुवनं त्रिभुवनस्थान् साधुजनांश्च पासि तथाऽधुनापि भुवो भारं हरेत्यन्वयः। एवं परमोपकारिणः परिपूर्णस्य तव नमनव्यतिरेकेण प्रत्युपकारे वयमसमर्था इति सूचयन्तो हे यदूत्तम ? ते वन्दनमिति वदन्तः सर्वे प्रणमन्ति। अश्वो हयग्रीवः। राजन्यः श्रीरामः। विप्रः परशुरामः। विबुधो वामनः॥ ४०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्माद् भक्त्यैव मोक्ष इत्युपसंहरन्ति शृण्वन्निति॥ मङ्गलानि पुण्यावहानि ते तव नामानि रूपाणि चकारात्कर्माणि शृण्वन् स्वयं स्मरन् अन्यांश्च सोत्कण्ठं संस्मारयन् चिन्तयंश्च श्रवणादीनां विकल्पो ज्ञेयो नतु समुच्चयः। क्रियासु लौकिकालौकिकव्यापारेषु वर्त्तमानोऽपि क्रियासु देवार्चनादिष्विति स्वामिपादाः। युष्मच्चरणारविन्दयोराविष्टमासक्तं चित्तं यस्य। यद्वा। क्रियासु त्वल्लीलासु त्वच्चरणारविन्दयोश्चाविष्टचित्तः स पुनर्भवाय संसारप्राप्तये न कल्पते न योग्यो भवतीत्यर्थः। प्रयत्नं विना मानसिकव्यापारः स्मरणं स प्रयत्नश्च सचिन्तनमिति भेदः॥ ३७॥ दिष्ट्येति॥ हे हरे! ईशितुः ईश्वरस्य तव जन्ममात्रेण भवतः पदः पदजातत्वेन तदभेदात् पादभूताया अस्या भारार्त्ताया भुवो दैत्यादिजनितो भारोऽपनीतो दूरीकृत एवेति दिष्ट्या भद्रं जातम्। किंच सुशोभनैर्वज्राङ्कुशादिभिः शुभलक्षणैः त्वत्पदकैः। अल्पार्थे अनुकम्पायां वा कन्। कोमलैः पदैरित्यर्थः। अङ्कितां तव त्वयाऽनुकम्पितां कृपादृष्ट्याऽवलोकितां गां पृथ्वीं द्यां स्वर्गं च वयं द्रक्ष्यामेत्यपि दिष्ट्या भद्रमेव। सलोप आर्षः। अदित्याः कुण्डलदानायर्थं स्वर्गे गमनात्तत्रापि पादाङ्कितत्वं बोध्यम्॥ ३८॥ जन्मनेत्युक्त्या प्रसक्तं संसारित्वकथनापराधं मार्जन्ति –न ते इति॥ हे ईश! हे अभय भयरहित! हे आश्रय यद्वा। अभवाश्रय अभवस्य असंसारिणः तव भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं क्रीडासंकल्पं विनान्यन्न तर्कयामहे। लीलार्थमेव जन्म कंसवधादि त्वतितुच्छम्। यतः आत्मनि जीवात्मन्यपि भवो जन्म निरोधः मरणं स्थितिश्चेत्येते त्रयो यतस्त्वयि विषये अविद्याकृता न परमार्थतः सन्तीति। तव तु जन्मादि तद्वत्कथं स्यात्। यद्वा। प्रपञ्चस्य सृष्ट्यादिका अपि त्वदाश्रितया अविद्ययैव कृताः। तत्र कंसवधादेः का वार्त्ता॥ ३९॥ मत्स्याश्वेति॥ हे ईश! अन्यसमये यथा मत्स्यादिषु कृतावतारः सन् त्वं नः अस्मान् देवान् त्रिभुवनस्थान्साधुजनांश्च पासि तथाऽधुना भुवो भारं हरेत्यन्वयः। अधुना भूभारहरणमेवास्माकं पालनम् इत्याशयः। तत्र अश्वो हयग्रीवः राजन्यः श्रीरामः विप्रः परशुरामः विबुधो वामनः। हे यदूत्तम! ते वन्दनमिति वन्दतः सर्वे प्रणमन्ति। तवोपकारस्य प्रणमन्ति। तवोपकारस्य प्रणाम एव प्रत्युपकार इत्याशयः॥ ४०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इन्द्रादिनामरूपेभ्यो हरेरसाधारणनामरूपाणां हि ध्येयत्वादिकं वदन्तः स्तुवन्ति॥ शृण्वन्निति॥ यः पुमान्, ते तव, मङ्गलानि मङ्गलावहानि, नामानि कृष्णहरिकृष्णादीन्यभिधानानि, रूपाणि कृष्णशुक्लवर्णादीनाकारांश्च, शृण्वन् वक्तृसंनिधाने सत्याकर्णयन् गृणन् श्रोतृसंनिधाने सति तान् प्रति कथयन्, तदुभयासंनिधौ संस्मरयन् णिजर्थस्त्वविवक्षितः चिन्तयंश्च सन्, क्रियासु वैदिकासु आसनाटनभोजनादिलौकिकक्रियासु चापि, त्वच्चरणारविन्दयोः, आविष्टचित्तः आसक्तमतिः भवेत्, सः पुमान्, भवाय श्रेयसः समृद्ध्यं, कल्पते योग्यो भवति। स इत्यत्र नेति पाठे, भवाय संसृतये, न कल्पते। किं तु मुक्तये कल्पते इत्यर्थः॥३७॥ आत्मनां प्रकृतावतारप्रयुक्तमानन्दमाविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति॥ दिष्ट्येति॥ दिष्ट्येत्यानन्दद्योतकमव्ययम्। हे हरे आश्रितार्त्तिहारिन्, ईशितुरीश्वरस्य, तव जन्मना, भवतः पदा पादविन्यासेन च, पद इति पाठे, भवतः पदः, तव पदरूपाया इत्यर्थः। अस्याः भुवः, भारः अपनीतः अपहृतप्रायो जात इत्यर्थः। इदं, दिष्ट्या अस्माकमानन्दकृदित्यर्थः। सुशोभनैः ध्वजवज्राङ्कुशयवोदूर्ध्वरेखात्मकचिह्नैश्चारुभिरित्यर्थः। त्वत्पदकैः तव पादविन्यासैः, अङ्किताम‍लंकृतां, तव त्वया, अनुकम्पितामनुकम्पाविषयतामुपनीतां, गां भूमिं, द्यां स्वर्गं च, द्रक्ष्याम द्रक्ष्यामः। एतदपि दिष्ट्या दिष्ट्येत्यस्य पूर्ववदर्थः॥ ३८॥ अथावतारनिमित्तमाविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति। नेति। हे ईश, अभवस्य कर्माधीनोत्पत्तिरहितस्य, ते तव, भवस्य जन्मनः, कारणं निमित्तं, विनोदं विना, लीलार्थकसंकल्पमृते इत्यर्थः। न तर्कयामहे। तदर्थमेवेति जानीम इत्यर्थः। बतेत्याश्चर्ये अनितरसाधारणत्वाद्विस्मयः। यथा सृष्ट्यादिजगद्व्यापारो विनोदमात्रानुकूलसंकल्पपूर्वकस्तद्वत्त्वज्जन्माऽपीत्यभिप्रायेणाहुर्भव इति। यतो भवद्विनोदादेव निमित्तात्, हे अभय, पाठान्तरे हे अभव, अविद्यया संसारिणा ज्ञानविरोधिन्या प्रकृत्या, जगत इति शेषः। भवः प्रादुर्भावः, स्थितिः पालनं, निरोधो लयश्चापि, इत्येते

त्रयोऽपि विकाराः, आश्रयात्मनि आश्रये तस्याधारभूते, आत्मनि अन्तरात्मनि, आश्रयेऽऽत्मनि इति पाठे, 'गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते' इतिवद्वर्णविकारः। त्वयि, कृताः तमेव विनोदमभवस्य तव भवकारणं मन्यामहे इत्यर्थः। आश्रयात्मनीति संधिरार्षः। अनेन जगत उत्पत्त्यादयो विकाराः प्रकृतिगता न स्वरूपगता इति सूचितम्। अस्माभिर्जगदुत्पत्त्यादिकं यद्विधीयते तत्त्वन्निदेशागतैश्वर्येण, त्वयि तु साहजिकं, तदपि विनोदानुकूलसंकल्पमात्रतस्तदपि अविद्याद्वारजमेवेति त्वमपारैश्वर्य इति भावः॥ ३९॥ यथा मत्स्याद्यवतारपरिग्रहेणास्मान् रक्षितवानेवमधुना भूभारापहारद्वाराऽस्मान् पाहीत्याहुः। मत्स्येति। मत्स्यश्च अश्वश्च कच्छपश्च नृसिंहश्च वराहश्च हंसश्च राजन्यः क्षत्त्रियश्च विप्रश्च विबुधा देवाश्च तेषु, कृतः परिगृहीतोऽवतारो येन स तथाभूतः, त्वं नोऽस्मान्, त्रिभुवनं त्रिलोकीं च, यथा पासि रक्षितवान्, तथा अधुनाऽपि, हे ईश, भुवः भारं हर अपनय। हे यदूत्तम, ते तुभ्यं, वन्दनं, नमस्कुर्म इत्यर्थः॥४०॥

कृष्णप्रिया

हे भगवन्! आपके मङ्गलमय नाम और मङ्गलमय रूपों को स्मरण करते हुए, सुनते हुए, कहते हुए और चिन्तन करते हुए जो पुरुष देवार्चनादि क्रियाओं के करने के समय आपके चरणारविन्द में ही चित्त स्थिर रखते हैं। उनका कभी भी पुनर्जन्म नहीं होता है॥ ३७॥ हे हरे। प्रसन्नता का विषय है कि आपके श्रीचरण स्वरूप इस भूमि का भार, आप प्रभु के जन्म प्रादुर्भाव से दूर हो गया। आपके सुन्दर चरणारविन्दों से चिह्नित तथा कृपावाली पृथ्वी और स्वर्ग को हम देखेंगे यह भी हर्ष का विषय है॥ ३८॥ हे ईश! हे श्रीकृष्ण! आप यद्यपि अजन्मा हो, फिर भी जन्म लेने का कारण केवल क्रीड़ा बिना दूसरा कोई हेतु हमारे विचार में नहीं आता है। जन्मरहित, आपके विषय में जन्म, निरोध तथा स्थिति, अज्ञान के कारण, हम देखते हैं॥ ३९॥ हे यदूत्तम! मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, क्षत्त्रिय, विप्र और देवों में अवतार धारण करके आपने दूसरे समय में जैसे हमारी तथा त्रिलोकी की रक्षा की है वैसे अब भी करो और पृथ्वी का भार उतारो। हे ईश! हम आपको प्रणाम करते हैं॥ ४०॥

दिष्ट्याम्ब[१] ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः।
मा भूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा। ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [२]जन्मप्रकरणे समुद्यमो नाम द्वितीयोऽध्यायः[३]॥ २॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे अम्ब दिष्ट्या ते कुक्षिगतः अंशेन परः पुमान् साक्षात् भगवान् नः भवाय (समागतः) मुमूर्षोः भोजपतेः भयम् मा भूत् तव आत्मजः यदूनाम् गोप्ता भविता॥ ४१॥ श्रीशुक उवाच—इति पुरुषम् यद्रूपम् अनिदम् यथा तथा अभिष्टूय ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः दिवम् प्रतिययुः॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

देवकीं प्रत्याहुः। दिष्ट्येति। नोऽस्माकं भवायोद्भवाय साक्षात्परः पुमांस्ते कुक्षिं गतोऽतो भयं माभूदिति॥ ४१॥ यस्य रूपमनिदं सर्वप्रत्यग्भूतम्। यथा यथावत्। अस्मान्वंचयित्वा एताविह स्थास्येते इति मन्यमाना ब्रह्मेशानौ पुरोधाय पुरतः कृत्वा ययुरिति॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे टीकायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

प्रत्याहुः सांत्वयामासुः। यदूनाम् अंशेनापि भोजपतेः कंसस्य सकाशाद्भयं मा भूत् किं तु हर्यवतारेण सर्वं तेषां भयं नष्टं भविष्यतीति। यद्वा—योंऽशेनः परः पुमान्प्रकृतीक्षणकर्त्ता पुरुषः स साक्षादिति संबंधः। अन्यथा 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' इत्युक्तिरसमंजसा स्यादिति भावः। हे अम्बेति। भगवन्मातृत्वेन परमवंद्यत्वात्। यद्यपि मनस्तो दधारेयुक्तं तथापि मातरि कुक्षिगत

१. दिष्ट्या च ते इति कस्यचित्। २. गर्भगत विष्णोर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम—इति कस्यचित्। ३. तृतीयोऽध्यायः—विज.।

इति तथैव वक्तुं योग्यत्वादुक्तम्। अंशेन श्रीबलदेवेन तस्यापि तस्यां जन्म प्रकाशितमिति यद्वांशेन मत्स्यादिना योऽस्माकं भवाय भवेत्स एव साक्षात्ते कुक्षिगत इति दिष्ट्या। ननु कंसस्य दुश्चेष्टाभरेण बिभेमि तत्राहुः—मुमूर्षोरिति। निकटापातमृत्युत्वादेवं चेष्टत इति भावः। ते भयं मा भूत्वं भयं मा कुर्वित्यर्थः। ननु जाने तावदेव किमनिष्टं स्यात्तत्राहुः—यदूनां सर्वेषामपि किं पुनस्तव श्रीवसुदेवादीनां तस्य स्वस्य चेत्यर्थः। एवं नित्यमेव देवास्तां स्तुवंतीति ज्ञेयं तदुक्तं वैष्णवे "अदृष्टाः पुरुषस्त्रीभिर्देवकी देवता गणाः। बिभ्राणां वपुषा विष्णुं तुष्टुवुस्तामहर्निशम्॥" इति विश्वनाथः॥ ४१॥ सर्वप्रत्ययभूतं सर्वांतरम्। यद्वानिदम्। इदंतया वक्तुमशक्यं प्रत्यक्षजगद्विलक्षणम्। 'एतावित्थं स्थितौ किञ्चिद्रहस्यं मा द्रक्ष्यत' इति मन्यमाना देवा ब्रह्मेशानौ पुरोधायैव ययुरिति भावः॥ ४२॥ गर्भस्य देवक्यष्टमगर्भस्य स्तुतिर्यस्मिन् स गर्भस्तुतिः अस्य द्वितीयाध्यायस्य नामेत्यर्थः॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवमन्यैरलक्ष्यमाणा देवाः श्रीभगवन्तं स्तुत्वा तेनैवातिविस्मितां श्रीदेवकीमाश्वासयन्ति—दिष्ट्याम्ब! इति हे मातरिति भगवन्मातृत्वेन परमवन्द्यत्वात् यद्यपि मनस्तो दधारेत्युक्तं तथापि कुक्षिङ्गत इति मातरि तस्यां तथैव वक्तुं योग्यत्वादुक्तं परः पुमान् परमपुरुषोत्तम इत्यर्थः। तत्र साक्षात् स्वयमेव न त्वंशादिना अत एव भगवान् सर्वैश्वर्ययुक्तः अंशेन श्रीबलदेवेनेति तस्यापि तस्यां जन्म प्रकाशितमिति ज्ञेयं न इति साक्षात्तदङ्गविशेषयोर्युवयोर्भवायेति किम्वक्तव्यमपि तु तत्प्रजानामस्माकमेवेत्यर्थः। यद्वा, अंशेन मत्स्याश्वादिना योऽस्माकं भवाय भवेत् स एव साक्षात्त कुक्षिं गत इति यत् एतद्दिष्ट्या। ननु, कंसस्य दुश्चेष्टाभरेण बिभेमि तत्राहुः—मुमूर्षोरिति। निकटायातमृत्युत्वादेवं चेष्टत इति भावः। ते भयम्माभूत्वं भयमाकुर्वित्यर्थः। ननु, न जाने तावदेव किमनिष्टं स्यादिति तत्राहुः—यदूनां सर्वेषामपि किम्पुनस्तव श्रीवसुदेवादीनां वा तस्य स्वस्य वेत्यर्थः। एवं नित्यमेव देवास्तां स्तुवन्तीति ज्ञेयं तथा च विष्णुपुराणे—

"अदृष्टाः पुरुषैः स्त्रीभिर्देवकीं देवतागणाः। बिभ्राणां वपुषा विष्णुं तुष्टुवुस्तामहर्निशम्"॥ ४१॥

पुरुषमिति श्रीदेवकीहृदयपुरे स्थित्यभिप्रायेण। यद्वा परमपुरुषोत्तमं यस्य रूपमनिदं प्रपञ्चातीतं परब्रह्मात्मकं तथा तथाभूतत्वेन स्तुतेरविषयमपीत्यर्थः। इत्यनेन देवकीजन्ममात्रेणैव भूभारोऽपनीत इत्यादिगर्भितेन प्रकारेणाभितः स्तुत्वेति परमात्मतादिवर्णनेन स्तवनादपि श्रीदेवकीगर्भजातत्वादिवर्णनस्तुतेरुत्कर्षोऽभिप्रेतः॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

४१—एवमन्यैरलक्ष्यमाणा देवाः श्रीभगवन्तं स्तुत्वा तेनैवातिविस्मितां श्रीदेवकीमाश्वासयन्ति—दिष्ट्याम्बेति, हे मातरिति भगवन्मातृत्वेन परमवन्द्यत्वात् यद्यपि मनस्तो दधारेत्युक्तम्, तथापि कुक्षिंगत इति स्नेहविशेष-जननार्थं तव पुत्र इत्यर्थः। भक्तवात्सल्येन स्नेहभर-जननार्थं कुक्षिप्रवेशोऽपि भगवत्तया विकारादिदोषाभाव एवेति सिद्धान्तेऽपि विरोधो न स्यादेव। परः पुमान् पुरुषोत्तमः परमेश्वर इत्यर्थः। तत्र च साक्षात् स्वयमेव, न त्वंशादिना, अतएव भगवान् सर्वैश्वर्ययुक्तोंऽशेन श्रीबलदेवेनेति तस्यापि तस्यां जन्म प्रकाशितमिति ज्ञेयम्। यद्वा, योंऽशेन मत्स्याश्व-कच्छपादिना नोऽस्माकं भवाय भवेत्, स एव साक्षात् ते कुक्षिं गत इति यदेतद्दिष्ट्या। 'नः' इति श्रीदेवकी-वसुदेवादीनप्यात्मीयत्वेन गृह्णन्ति। ननु कंसस्य दुश्चेष्टाभरेण बिभेमि? तत्राहुः—मुमुर्षोरिति निकटायातमृत्युत्वादेवं चेष्टत इति भावः। ननु न जाने तावदेव किमनिष्टं स्यादिति? तत्राहुः—गोप्त्रेति, यदुनां सर्वेषामपि, किं पुनस्तव वसुदेवादीनामेवेत्यर्थः। एवं नित्यमेव देवास्तां स्तुवन्तीति ज्ञेयम्। तथा च श्रीविष्णु-पुराणे (५।२।६) 'अदृष्टाः पुरुषैः स्त्रीभिर्देवकीं देवतागणाः। बिभ्राणां वपुषा विष्णुं तुष्टुवुस्तामहर्निशम्॥' इति॥

४२—पुरुषमिति श्रीदेवकीहृदयपुरे स्थित्यभिप्रायेण; यद्वा, पुरुषोत्तममपि यस्य रूपमनिदं प्रपञ्चातीतं परब्रह्मात्मकमित्यर्थः। तथाभूतमपीत्यनेन देवक्यां जन्ममात्रेणैव भूभारोऽपनीत इत्यादिप्रकारेणाभितः स्तुत्वेति परमात्मतादिवर्णनेन स्तवनादपि देवकीगर्भजातत्वादि-वर्णनस्तुतेरुत्कर्षोऽभिप्रेतः॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रील-सनातन-गोस्वामि-पाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

देवकीं प्रत्याहुः—दिष्ट्याम्बेति भवाय समृद्धये॥ ४१-४२॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

देवकीं प्रत्याहुः - दिष्ट्येति । हे अम्ब ! नोऽस्माकं भवाय समृद्ध्यै अंशेन स्वसङ्कल्पेन हेतुना परमपुरुषो भगवान् साक्षात् तव कुक्षिं प्रविष्टः मुमूर्षोर्भोजपतेः कंसाद्भयं तव माभूत् तव आत्मजो यदूनां गोप्ता भविता भविष्यति ।। ४१ ।। इतीत्थं यथा यस्य भगवतो रूपम् अविदंस्तथा स्वमत्यनुसारेण तं परमपुरुषमभिष्टूय ब्रह्मरुद्रौ पुरुस्कृत्य देवाः स्वर्गं ययुः ।। ४२ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्य्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवद्भक्तबहुमानातिशयेनापि भागवतो धर्म इति प्रदर्शनाय देवकीमाह–दिष्ट्येति। दिष्ट्या मङ्गलं "दिष्ट्या स्यान्मङ्गलादिषु" इति यादवः साक्षात्तुर्यः जाग्रदाद्यवस्थातिक्रान्तः भविता भविष्यति ।। ४१ ।। यद्रूपमनिदं प्रत्यक्षसिद्धं जगद्विलक्षणं तं पुरुषं पूर्णं यथा यथावदाभिष्टूय यद्वा यद्रूपं यथाऽनिदं प्रतीयते तादृशैर्विशेषणैरभिष्टूय ।। ४२ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

दिष्ट्याम्ब ते इति। साक्षात् परः पुमान् ते कुक्षिं गतः। अंशेन बलदेवेन। अंशे किं न इति वा। अंश्यते विभज्यते अस्मादित्यंशः पूर्णभावः, तेनेति वा; अन्यथा साक्षादित्यसङ्गतेः ।। ४२ ।।

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

दिष्ट्येत्यादि। हे अम्ब मातः! देवः परो भगवान् साक्षात् स्वयमेव ते तव कुक्षिं गतः कुक्षिप्रविष्टः, यः खल्वंशेन भवायनो भवो विश्वमयनं यस्यांशेन पुमान् पुरुषावतारः अतो भोजपते, सकाशादुभयं मा भूत्। यद्वा, नोऽस्माकं भवाय वृद्धये साक्षाद् भगवान् ते तव कुक्षिं गतः, अंशेन पुरुषः पुरुषावतारो यस्यांशो इत्यर्थः। अतः परः परात्परः ।। ४१-४२ ।।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

देवकीं स्तुवन्तं आश्वासयन्ति–दिष्ट्येति। अंशेन बलदेवेन सह कुक्षिङ्गत इति यद्वा योंऽशेन परः पुमान् प्रकृतीक्षणकर्ता भवेत् साक्षाद्भगवानित्यर्थः। भवाय भूत्यै ।। ४१ ।। यस्य रूपम् अनिदं प्रपञ्चातीतं चिन्मयमित्यर्थः। अस्मान् वञ्चयित्वा एताविह किमपि रहस्यमद्भुतं द्रक्ष्यत इति मन्यमाना ब्रह्मेशानौ पुरतः कृत्वा ।। ४२ ।।

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। द्वितीयो दशमेऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ।। २ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीदेवकीं प्रत्याहुः—दिष्ट्येति! हे अम्ब मातः! योंऽशेन नो भवायोद्भवाय भवति स साक्षात्परः पुमान् ते कुक्षिङ्गतः अत्याश्चर्यरूपं तव भाग्यम् ।। ४१ ।। इदं प्राकृतमनिदमप्राकृतम् अप्राकृतविग्रहं परं पुरुषम् इति पूर्वोक्तरीत्या यथाशक्त्याभिष्टूय ब्रह्मेशानौ पूज्यतया पुरोधाय पुरस्कृत्य दिवं प्रति ययुः यद्वा, वयमंशेनात्रावतीर्णा भगवदाज्ञया तथैव निवसामः एतौ तु कदाचिदत्र भगवल्लीलादर्शनार्थं साक्षान्निवसिष्यतः अतः पुरोधायेत्युक्तम् ।। ४२ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे द्वितीयाऽध्यायार्थप्रकाशः ।। २ ।।

श्रीवंधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

इतीति। अत्रादौ ब्रह्माभवश्चास्तुवत्। मध्ये ब्रह्मभवावूचतुः। अंते इत्यभिष्टूय देवताः प्रतिययुरिति। अतो विरोधः। तस्मादर्थांतरं। पुरुषं गर्भस्थं। यदित्यव्ययं। यस्यां देवक्यामित्यर्थः ।। अनिदं। इदं शब्दवाच्यजगद्विलक्षणं ।। रूपं। भगवद्रूपं। स्थितं तं च ।। यथा। योग्यतामनतिक्रम्य ।। इति। उक्तप्रकारेण ।। अभिष्टूय। स्तुत्वा। यद्वा। यस्य भगवतः। रूपं। अनिदं अनः प्राणो गुरुत्वेनास्त्येषामिति अनिनो वैष्णवाः। तान् दयति पालयति। तत् अनिदं। देङ् पालन इति धातोः। तं पुरुषमभिष्टूय स्थिताविति ब्रह्मेशानविशेषणत्वेन शेषं कल्पयेत्। अन्यथा ल्यवंतक्रिययोरेककर्तृकत्वनियमात्स्तवनरूपक्रियायाः सर्वदेवकर्तृकत्वे ब्रह्मभवावूचतुरिति पूर्ववाक्यस्य विरोधापत्तिरतस्मात्स्थितशब्दस्य स्थानरूपक्रियायामेव ब्रह्मेशानकर्तृकल्यवंतान्वयं कृत्वा तत्पुरोधानार्थकेन पुरोधायेति ल्यवंतेन सहयानरूपक्रियाया देवमात्रकर्तृकत्वं ज्ञेयं। तस्मान्न कोऽपि विरोधः ।। ४३ ।।

इति श्रीभागवते तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।। (अस्मत्क्रमेण द्वितीयोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

देवकीर्तनवद्देवकीगुणकीर्तनमपि भगवत्तोषदमिति तामुद्दिश्य भाषते ।। दिष्ट्याऽम्बेति । अम्बार्थनद्योरिति ह्रस्वः । हे अम्ब दिष्ट्या मङ्गलम् । दिष्ट्या स्यान्मङ्गलादिष्विति यादवः । परः पुमान्परमपुरुषो भगवानंशेनावेशावतार इति पराकरोति ।। साक्षादिति । मुख्यांशेन नो भवाय मङ्गलाय भवाय नो मङ्गलाश्रय इति वा । ते कुक्षिं गत इति स तथा । भोजपतेः कंसात् । मा भूत्स कीदृश इत्यत आह ।। मुमूर्षोरिति । तथा जनाशङ्कितात् श्वा मुमूर्षति । कूलं पिपतिषतीत्यादिवदाशङ्कायां सन् तवात्मजो यदूनां गोप्ता रक्षिता भविता भविष्यति ।। ४२ ।। यद्रूपमनिदं नेदमनिदं जगद्विलक्षणं तं पुरुषं पूर्णषड्गुणं यथा सम्यगिति पूर्वोक्तप्रकारेणाभिष्टूय स्तुत्वा ब्रह्मेशानौ ब्रह्मा चेशानश्च तौ ब्रह्मा चेशश्च तौ । अनित इत्यनौ च । चेष्टावन्तौ गन्तुमुद्यताविति यावदिति वा । तौ पुरोधाय पदमेकं देवा दिवं प्रति ययुः ।। ४३ ।।

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे तृतीयोऽध्याय ।। १०३ ।। छ ।।
अस्मत्क्रमेण द्वितीयोऽध्यायः ।।

श्रीसुबोधिनी

प्रसङ्गात् तच्चरित्रं फलरूपं निरूपयन् देवकीसान्त्वनमप्याह **दिष्टचाम्बेति** । हे अम्ब मातः । सर्वात्मकस्य भगवतो माता मातैव । नृसिंहादिवदकस्मादेवाविर्भावो युक्तः । **यत् ते कुक्षिं गत एतद् दिष्टया** । उक्तमर्थमुपपादयितुमाह **परः पुमानिति** । पुरुषोत्तम इत्यर्थः । अंशेन तव कुक्ष्येकदेशेन प्रद्युम्नांशेन पुत्रो वा । **साक्षाद् भगवानिति** ज्ञानक्रियांशव्यावृत्त्यर्थम् । तवोदरे त्वदर्थं नागतः किन्तु **भवाय** नोऽस्माकमेवोद्भवाय तव **कुक्षिं गतः** । तर्हि मम का गतिरितिचेत् तत्राह तव **भयं मा भून्न** भविष्यति । आशंसायां प्रथमार्थ "छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इति लडर्थे लुङ् । "माङि लुङ"तिसूत्रादपि तथा । **भोजपतेः** कंसात् । स हि वचनेनैव भीषयति । न तु क्रियां कर्तुं शक्तः । वचनं च तस्योपेक्ष्यम् । यतोयं **मुमूर्षुः** । मुमूर्षूणां विक्लवा गिरो भवन्ति । ननु वचनमात्रेणैव कथं भयनिवृत्तिस्तत्राह **गोप्ता यदूनां भविता तवात्मज** इति । तव रक्षायां कः सन्देहः ? **यदूनां** सर्वेषामेव **तवात्मजो गोप्ता भविष्यति** । अनेन स्वरूपकार्यमानुषङ्गिकं च कार्यमुक्तम् ।। ४१ ।।

उपसंहरतीति । **पुरुषमिति** । स्वतन्त्रतया सर्वकार्यकर्तृत्वमुक्तम् । **यद् रूपं** पूर्वं स्तोत्रे यादृशं रूपं निरूपितम् । **अनिदं** यथैतदुक्तं तथा च न भवति । दैत्यानामपि मुक्तिदानेन हितकर्तृत्वात् । इदमेवं भवदपि तथा न भवति । प्रकारभेदेन सर्वमेव सत्यं सर्वमसत्यमित्यर्थः । **ब्रह्मेशानौ** कथञ्चिदत्रैव स्थास्यत इति शङ्कया तौ **पुरोधाय**ाग्रे कृत्वा **देवा दिवं प्रति ययुः** । प्रतिदिवमिति । एकविंशतिः स्वर्गाः शतं स्वर्गाश्चेतिमतभेदेन स्वस्वस्वर्गे स स देवो गत इत्यर्थः । **ययुरिति** । मध्ये दैत्यकृतो विघ्नः कापि न जात इति "या प्रापण" इतिधातुना सूचितम् ।। ४२ ।।

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीयोध्यायः ।। २ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दिष्टचेत्यत्र–तच्चरित्रं फलरूपमिति । "दिष्ट्या हरेरस्या"इत्यत्र भगवच्छास्त्रे भगवानेन प्रमाणादिचतुष्टयमिति प्रतिज्ञाय यदत्र चरित्रस्य फलत्वमुक्तं तद् धर्मरूपेण प्रकटस्याविर्भावः कर्माण्यानन्दरूपेण प्रकटस्याविर्भावो जन्मानीति वैदिकसिद्धान्तस्य भगवच्छास्त्रसिद्धान्तस्य च सामानाधिकरण्यादिति बोध्यम् ।। ४१ ।।

इतीत्यत्र–मूलेनिदंयथेत्येकं पदम् । **समासस्तु इदं च तद् यथा च इदंयथा न इदंयथा अनिदंयथेत्येवं** तत्र बोध्यः । **एकविंशति स्वर्गा** इति । ते च नृसिंहपुराणे सिद्धाः । एवं शतस्वर्गपक्षोपि पुराणान्तरादवगन्तव्यः ।। ४२ ।।

इतिश्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे द्वितीयाध्यायविवरणम् ।। २ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

दिष्टचाम्बेत्यस्याभासे–प्रसङ्गादित्यस्य देवकीसान्त्वनमित्यनेनान्वयः । फलरूपत्वस्यावान्तरप्रकरणार्थसङ्गतत्वात् सान्त्वनस्य च कथासङ्गतत्वात् परपुरुषत्वकथनात् तच्चरित्रस्य फलरूपत्वमुक्तम् । व्याख्याने **प्रथमार्थ** इति । अष्टाध्यायोक्रमेणा "शंसावचन लिङी" तिसूत्रात् प्रथमस्य"लृट् शेषे चे"ति सूत्रस्याथ लृडर्थे भविष्यत्याशंसायां वाच्यायां"छन्दसी"ति सूत्रेण लुङित्यर्थः । **अनेनेति** । "परः पुरुष" इतिस्वरूपं **"नो भवाये"ति कार्यं "तव भयं माभू"** दित्यानुषङ्गिकं कार्यमिति विभागः ।।४१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे प्रथमे जन्मप्रकरणे समुद्यमो नाम द्वितीयोध्यायः ।। १० ।। २ ।।

बुभुत्सुबोधिका

दिष्ट्याम्बेत्यत्र नमस्कारान्तमिति वन्दनभक्तिः दास्यसेवापूर्त्यर्थं तद्वत् स्तवनरूपकीर्तनभक्तिपूर्त्यर्थं नमस्कारान्तं भगवान् स्तुत इत्यर्थः। विशेषेणेति 'भारं भुवो हरत्यदूत्तम वन्दनं त' इत्यत्र तथा। प्रसङ्गादिति देवकीसान्त्वनमित्यनेनान्वेति। प्रसङ्गाद् देवकीसान्त्वनमप्याहेत्यर्थः। चरित्रं फलरूपमिति 'कुक्षिं गत' इति पदाभ्यां देवानन्दजनकं पक्षपातस्तुतित्वेनानन्दफलरूपचरित्रमित्यर्थः। निरूपयन्निति भूमौ निरूपयन्। लोके 'विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्व'मिति परलोकेपि फलरूपं चरित्रं कुक्षौ तु स्वल्पकालं फलमिति निरूपयन्। नन्वानन्दरूपं चरित्रं भूमावस्तु, वैकुण्ठे तु सगुणः, निर्गुणफलरूपं चरित्रं कथमिति चेन्न, विद्वन्मण्डने नित्यलीलावादान्ते निपुणतरमुक्तस्य प्रत्युक्तत्वात्, 'परः पुमा'निति परपुरुषत्वकथनात् तच्चरित्रस्य फलत्वं वोक्तम्। नृसिंहादीति आदिना हंसवराहौ। कुक्षिंगत इति लोकरीत्या फलरूपानन्दज्ञापितेयं कुक्षिगमनक्रिया तद्रूपं चरित्रम्। छान्दोग्यीयाष्टमोपदेशोक्तं 'अथ न जानाति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेत'विति कुक्षौ भवतीत्युपसंहारे सान्त्वनम्। एकादशस्य दशमेध्याये 'बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयम' इति वाक्यादिन्द्रियसंयमो मोक्षः कुक्षिंगतः। 'इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्यव' इति बृहदारण्यके 'समुदाहृताः'। अतोयमग्रे गोविन्दो भविष्यति गवामिन्द्रियाणां इन्द्रः। 'पश्यन् चक्षुर्भवती'त्यादि बृहदारण्यकात्। उक्तमिति 'सर्वात्मकस्ये'त्यादिनोक्तमर्थम्। पुरुषोत्तम इति तत्र सर्वं सम्भवतीति भावः। ज्ञानक्रियेति काण्डद्वयार्थौ, भगवद्धर्मभूते ज्ञानक्रिये। ममेति देवक्याः। सान्त्वनपक्षे का गतिः किं फलम्। 'अन्ते या मतिः सा गति'रित्यत्र गतिपदस्य फलवाचकत्वं दृष्टम्। आशंसार्थद्योतनाय विशेषसूत्रमाहुः आशंसायामिति। प्रथमार्थे इति अष्टाध्यायीक्रमेणा'शंसावचने लिं'ङिति सूत्रात् प्रथमस्य 'लृट् शेषे चे'तिसूत्रस्यार्थे लृडर्थे भविष्यति। आशंसायां वाच्यायां 'छन्दसी'तिसूत्रेण लिङिति श्रीवल्लभानां लेखः पुस्तकान्तरसूत्रानुसारी। कंसादिति कसि गतिशासनयोः अदा० आ० से० पचाद्यच्, कंसः तस्मात्। क्रियां कर्तुमिति 'भयात् कंस' इति वाक्याद् भयभीतस्तथा। वचनेनेति उपेक्षितवचनमात्रेणेत्यर्थः। 'भविते'ति लुडन्तं न तु तृन् तृजन्तमित्याशयेनाहुः भविष्यतीति। अद्यतनकालाभावादिति भावः। अनेनेति परः पुरुष इति स्वरूपम्। 'नो भवाये'ति कार्यम्। 'तव भयं माभू'दित्यानुपङ्क्तिकं च कार्यमुक्तमित्यर्थः। अथ तैत्तिरीयप्रश्नछान्दोग्योक्तेषु चतुष्केषु षोडशकलासु च कः कांशोत्र श्लोक उच्यते इत्याकाङ्क्षायामुच्यते। तैत्तिरीये जिह्वा सन्धानमत्र, परः पुमा'निति वाक्यात्। पुरुषोत्तम आस्वादनीयः शृङ्गाररसो भक्तिरसश्च, चतुर्थः। लिह् आस्वादने अदा० उभ० अनिट्। लेढि लिहन्त्यनया वा, जिह्वा। शेवयह्व जिह्वेति साधुः। ह्रस्व जः वप्रत्यय इति। प्रश्नेऽविशेषः। छान्दोग्ये 'चन्द्रः कले'ति, 'परः पुमा'निति वाक्यात्। शिक्षायां 'भूर्भुवः सुव'रिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थम्। महाचमस्यः प्रवेदयते। भूरिति वा अग्निः, भुव इति वायुः, सुवरित्यादित्यः, मह इति चन्द्रमाः चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्त' इति। न च भक्त्यकवेद्यत्वहानिरिति वाच्यम्। 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षाराब्धिशायिनं लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधि'मिति मङ्गलाचरणकारिकायां 'कलानिधि'पदादिति शुभम्। अस्यार्थो वृत्रोदरे। तदुक्तं षष्ठस्कन्धे द्वादशेध्याये 'कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् नभा गम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वये'ति। वाक् वृत्रासुरचतुःश्लोकीति सर्वं सुस्थम्। सङ्ख्यातात्पर्यफलं चतुष्पाद्ब्रह्मणंवेतं सम्भरति। षोडशविकारभिन्नषोडशविकारसदृशसूक्ष्मदेहेन सम्भरतीति च प्रश्नेऽविशेषः, य एवं चतुष्पादं षोडशकलं च भावयति सः ॥ ४१ ॥

इत्यभीत्यत्र उपसंहरतीति पक्षपातस्तुतिं ससान्त्वनां उपसंहरति, उपसंहारः समाप्तिः। चरमवर्णध्वंसस्तं करोति। इति शब्देन। स्वतन्त्रतयेति 'स्वतन्त्रः कर्ते'ति पाणिनिसूत्रात्। अनिदंयथेति मूले 'अनिदंयथे'त्येकं पदमत्रापि। समासस्तु इदं च तद् यथा इदं यथा न इदंयथा अनिदंयथेत्येवं बोध्यः। तथा न भवतीति 'सर्वं सर्वमय'मिति श्रुतेः। ऋषिः सिंहोपि भवति। श्रीगोवर्धनः पर्वतः सर्वोपि भवति। 'एषोवमानितो मर्त्यान् कामरूपो वनौकसः हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे ह्यात्मनो गवा'मितिवाक्यात्। प्रकारेति प्रकारो ब्राह्मत्वं मायिकत्वं च। यद्वा इदं वटादिवेत् ब्राह्मत्वेन प्रकारेण भवेदपि देवमुक्तिदानार्थमित्यर्थः। तथा न भवतीति ब्राह्मत्वेन प्रकारेण न भवति किन्तु मायिकत्वेन प्रकारेण भवति दैत्यहितार्थमित्यर्थः। प्रकारेति प्रकारयोः ब्राह्मत्वमायिकत्वयोर्भेदेन। इत्यर्थ इति 'अनृतेन प्रत्यूढ'मितिश्रुतेरित्यर्थः। स्थास्यत इति ननु तिष्ठतां नाम का चिन्तेति चेन्न। ब्रह्मापत्यान्तरा सुरपक्षपातं ईशानस्तु समत्वाद् दैत्यपक्षपातं कुर्यादिति तयोः पुरोधानस्यावश्यकत्वात्। एवं 'प्रतेर्लक्षणार्थ उक्तः। वीप्सार्थमाहुः एकविंशतीति। नृसिंहपुराणे प्रसिद्धाः। एवं 'शतं स्वर्गा' इति पक्षापि पुराणान्तरादवगन्तव्यः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभचरणैकतानश्रीगोपेश्वरविरचितायां शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिकायां द्वितीयाध्यायव्याख्यानम् ॥ २ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

प्रसङ्गात् तच्चरित्रं फलरूपं निरूपयन् देवकीसान्त्वनमप्याह दिष्टचाम्बेतिः—

प्रसङ्ग से श्रीकृष्ण का चरित्र फलरूप है उसका और देवकी के सान्त्वना का भी वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

प्रसङ्गात् तच्चरित्रं फलं— अब इस श्लोक में प्रसङ्ग से श्रीकृष्ण का चरित्र फलरूप है उसका एवं माता देवकीजी के आश्वासन का भी वर्णन इस श्लोक में करते हैं। सबों की आत्मा भगवान् हैं। अतः उनकी माता सबको माता है। इसलिए देवों

ने देवकीजी को कहा है कि हे अम्ब ! हे माँ ! आपके यहाँ श्रीनृसिंहादि अवतारों की भांति अकस्मात् प्राकट्य होना भगवान केलिये योग्य नहीं होने से ही आपकी कूँख में विराजे हैं यह आनन्द बधाई है। उनकी कूँख में विराजने की योग्यता का समर्थन करते हैं कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। 'अंशेन' शब्द का भाव यह है कि कूँख के एक देश से अथवा प्रद्युम्नांश से पुत्र रूप होकर विराजते हैं। "साक्षात् भगवान्" कहने का आशय यह है कि केवल क्रियाशक्ति से ! आकर नहीं बिराजे हैं किन्तु साक्षात् ज्ञान क्रिया विशिष्ट आप भगवान् पधारे हैं। आपके उदर में केवल आपके लिए नहीं पधारे हैं लेकिन हमारे हित के लिए हमारे उद्भव के हेतु पधारे हैं। आगे बढ़कर देव कहते हैं कि माताजी आप अब किसी प्रकार का डर मत करो। क्योंकि कंस तो केवल आकाश वचन से डरा रहा है वह कुछ नहीं कर सकता है। उसके वचनों पर ध्यान नहीं देना चाहिये, कारण कि वह मरने वाला है। जिनको मृत्यु समीप होती है उनके वचन घबराहट वाले और असम्बद्ध होते हैं। यदि देवकीजी कहे कि आपके कहने से मैं निडर कैसे बनूँगी ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि हम केवल आपको वचनों से नहीं कहते हैं किन्तु हम देव हैं। इसलिए हम जानते हैं कि यह आपके पुत्र कंस को मारकर यादवों के रक्षक होंगे। अतः आप निर्भय रहो। क्योंकि जब सब यादवों की रक्षा करेंगे तो आपकी रक्षा में कौनसा संशय है ? कोई नहीं हो यह आपके पुत्र की ही स्वल्प यादवों को रक्षा करेंगे यों न समझना किन्तु समस्त यादव मात्र की रक्षा करेंगे। इस प्रकार कहने से स्वरूप कार्य और आनुषंगिक दोनों कार्य कहे ॥ ४१ ॥

उपसंहरतीति—

उपसंहार करते हैं—

अब इस श्लोक में जो "पुरुष" पद है उसका तात्पर्य बताते हैं कि पुरुष शब्द से यह बताया कि परमात्मा सर्व-कर्त्ता है। जिस स्वरूप का वर्णन प्रथम स्तुति में जैसा किया है वैसे ही हैं और उतने ही वे हैं यों नहीं है। इसका रहस्य यह है कि भगवान् केवल देवताओं के ही पक्षपाती हैं सो नहीं है किन्तु दैत्यों के भी हितकारी हैं कारण कि उनको भी मुक्तिदान दिया है। यह इस प्रकार का होता भी है, नहीं भी होता है, तात्पर्य यह है कि प्रकार भेद से प्रभु आप सर्व रूप होने से सत्य भी हैं। और असत्य भी है। देवताओं को यह शङ्का हुई कि हम तो जा रहे हैं कदाचित् ब्रह्मा तथा शिवजी यहाँ ही रुक न जायँ, इसलिये इनको आगे करके उनके पीछे सब अपने अपने स्वर्ग में गये। देव अपने अपने स्वर्ग में गये इससे समझा जाता है स्वर्ग एक नहीं है किन्तु बहुत हैं। नृसिंह पुराण में इक्कीस स्वर्ग कहे हैं। अन्य पुराणों में शत स्वर्ग भी कहे हैं। यहाँ क्रियापद में "या" प्रापणे अर्थ में 'या' धातु देने का आशय यह है कि देवताओं को मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आया और सब सुख पूर्वक पहुंच गये यह तात्पर्य है क्योंकि "या" धातु का अर्थ है पहुंचना ॥ ४२ ॥

दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य कृत श्री सुबोधिनीजी का मातृपितृतोषिणी हिन्दी अनुवाद समाप्त ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं भगवन्तं स्तुत्वा देवकीमाश्वासयन्ति—दिष्ट्येति। भगवान्मातृत्वेन पूज्यत्वं मत्वा स्वयमपि मातृत्वेन सम्बोधयन्ति—हे अम्बेति। यः परः पुमान् पुरुषोत्तमः अंशेन वा राघवावतारेण नोऽस्माकं भवायोद्भवायासीत् स इदानीं साक्षात् पूर्णेनैव रूपेण ते तव कुक्षिं गत इति दिष्ट्या भद्रमेव जातमित्यन्वयः। कंसाद्बिभेमीति चेत्तत्राहुः—मेति। भोजपतेः कंसाद्भयं माभूत् न कुरु। तत्र हेतुमाहुः—मुमूर्षोरिति। आसन्नमृत्योरित्यर्थः। तथापि यावज्जीवमस्मदपेक्षया स प्रबल एवेत्याशङ्क्याहुः—सर्वेषां यदूनामयं तवात्मजो गोप्ता रक्षको भविता। किं पुनर्युवयोः स्वस्य वा रक्षणे सन्देहः ? ॥ ४१ ॥ यस्य रूपं यथा यथावत् अनिदमिदं दृश्यं विश्वं तस्माद्विलक्षणं भवति तं पुरुषं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तमित्येवमुक्तप्रकारेणाभिष्टूय स्तुत्वा ब्रह्मेशानौ पुरोधाय अग्रतः कृत्वा देवा दिवं स्वर्गं प्रति ययुः ॥ ४२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र हरेर्जन्मनिरूपणे। द्वितीयो विवृतोऽध्यायो गर्भवासनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

देवकीं प्रत्याहुः—दिष्ट्येति। अम्ब हे मातः ! नः अस्माकं भवाय परः पुमान् भगवान् एव अंशेन बलदेवेन सह साक्षात्पूर्णरूपेणैव ते तव कुक्षिं गतः इति दिष्ट्या भद्रमेव जातम्। मुमूर्षोः आसन्नमृत्योः भोजपतेः कंसात् भयं मा भूत्। अन्येषामपि कुक्षिं हृदयं गतो हरिर्भवति तेषां भयं न भवतीति कुतस्तव भयं तव आत्मजः सर्वेषां यदूनां गोप्ता रक्षको भविता किं पुनर्युवयोः स्वस्य वा रक्षणे संदेहः ॥ ४१ ॥ इत्यभिष्टूयेति। यस्य रूपं यथा यथावत् अनिदमिदं विश्वं तस्माद्विलक्षणं सर्वप्रत्ययभूतं भवति

तं पुरुषं सर्वान्तर्यामिणं भवन्तमित्येवमुक्तप्रकारेणाभिष्टूय स्तुत्वा। दैर्घ्यमार्षं ततस्तुबभावः। ब्रह्मेशानौ देवश्रेष्ठत्वात् पुरोधाय अग्रतः कृत्वा देवाः दिवं प्रति ययुः। यद्वा। अस्मान् वञ्चयित्वा एताविह किमपि रहस्यमद्भुतं मा द्राष्टामिति ब्रह्मेशानौ पुरोधाय अग्रे कृत्वा। पुरोऽव्ययमिति गतित्वात्समासे क्त्वो ल्यप्॥ ४२॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सांप्रतं देवकीं प्रत्याहुः॥ दिष्ट्येति॥ हे अम्ब, नोऽस्माकं, भवाय समृद्ध्यै, अंशेन स्वसंकल्पेन हेतुना, परः पुमान्, भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः, सर्वपरः स्वयं पुरुषोत्तम इत्यर्थः। साक्षात्, ते तव, कुक्षिंगतः कुक्षिं सम्यक् प्रविष्टः, दिष्ट्या। मुमूर्षोर्मर्त्तुमिच्छोः, भोजपतेः कंसात् सकाशात्, तव भयं मा भूत्। तव आत्मजः पुत्रः, यदूनां गोप्ता रक्षकः, भविता भविष्यति॥४१॥ इतीति॥ इतीत्थं, यथा यद्रूपं यस्य भगवतो रूपं, अविदन्, तथा स्वमत्यनुसारेणेत्यर्थः। अनिदं यथेति पाठे, यद्रूपं यथाऽनिदं प्रतीयते, तथा तादृशैर्विशेषणैरित्यर्थः। पुरुषं तं परमपुरुषमित्यर्थः। अभिष्टूय स्तुत्वा, अस्मान्वञ्चयित्वा एताविह स्थास्यत इति मन्यमानाः सन्त इति शेषः। ब्रह्मेशानौ विधिरुद्रौ, पुरोधाय पुरस्कृत्य, देवाः दिवं स्वर्गं, प्रति ययुः॥ ४२॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचिता-यामन्वयार्थतत्त्वबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दिष्ट्येति : १०.२.४१.

धन्यमद्य भुवि भाग्यमम्ब ते यन्न केनचिदवाप्तमंशतः। दुर्लभा अपि विधीन्द्रशङ्कराः किङ्करा इव पदान्तिके यतः॥ ४२॥
संध्यातोऽपि चिरादचिन्त्यचरितश्चित्तेऽपि यो योगिनां नैवायाति विकासमञ्चति न वा स्फूर्तिं किलार्धक्षणम्।
सोऽयं पूर्णसुखः सुखान्निवसति त्वज्जाठरे कोटरे मातस्तत्तव पुण्यवर्णनविधौ के नाम कीटा वयम्॥ ४३॥
मातर्विश्वविधातृधात्रि निखिला देवेन्द्रमुख्या अपि नप्तारो यदमी वयं तव पुनर्जाताः स्म तत्पाहि नः।
सन्तीमे शिशवस्ततो न गणयेतेषां त्वमागांस्यमून् प्रीत्या पालय देहि चेप्सितमिति प्रोच्य स्वपुत्रं मुहुः॥ ४४॥
यन्नाकानकदुन्दुभि-ध्वनिरभूद्यज्जन्मनि श्रीमती पत्नी यस्य च मूर्तमेव सुकृतं वृत्तिश्च तत्त्वार्थवित्।
पुत्रोऽपि प्रभुरिन्दिरापतिरयं सर्वेश्वराधीश्वरस्तत्किं वा वसुदेव नास्ति भवतस्त्रैलोक्यलोकोत्तरम्॥ ४५॥
सुत्रामा-ऽनल-धर्मराज-निकषोद्भूता-ऽप्पति-स्पर्शनत्र्यक्षस्नेहिमहेश्वरान् वसुदिशामीशांस्त्वदङ्घ्रिस्पृशः।
कृत्वा यद्वसुदेव येन विहितं नामापि तेऽन्वर्थकं तद्वाच्यं तव किं सुतं कथय तं नित्यास्मदीयावनम्॥ ४६॥
गर्भोऽप्यर्हतमेन चेन्निजपदं नीतस्तदानीं जगद्वन्द्यानामपि वन्द्यतापदमसौ सञ्जायते यत्स्फुटम्।
गर्भे गर्भनिवासमप्यजमुखा देवाः समग्रा अपि दृष्ट्वा श्रीशपदश्रियं सुनतयः सन्तो मुहुः प्रास्तुवन्॥ ४७॥

श्रीशकल्पतरुक्रीडा.॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

कृष्णप्रिया

हे अम्ब! हे माँ! आपकी कूख में प्रद्युम्नांश व्यूहरूप से पूर्ण पुरुषोत्तम पधार गये हैं, वे साक्षात् भगवान् हैं। वे हमारा कल्याण करने के लिए आये हैं। अत्र आप समीप में ही मरने वाले कंस से मत डरो। ये आपके आत्मज पुत्र यादवों का रक्षण करेंगे। यह मंगल बधाई है॥ ४१॥ श्री शुकाचार्य जो कहते हैं कि राजन् देवताओं ने इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम की स्तुति की कि वह भगवान् का स्वरूप इस भांति हैं भी और नहीं भी है। किन्तु भगवान् सर्व रूप है। तदनन्तर ब्रह्माजी तथा महादेवजी को आगे कर सब देव स्वर्ग को गये॥ ४२॥

दूसरा अध्याय समाप्त।

—:❀❀❀:—

अथ तृतीयोऽध्यायः

सं· श्लोका·	अनु.	वं·	मालिनी	उ·प.	उवाच	श्लो·अ·	उ·अ.	अ.अ.	स·श्लो·अ·	सं श्लोका	अ·
५३	३२	१	५	१५	७	२०१०	४५	४६	२१०१	६५।।	५

श्रीशुक उवाच

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः। यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥ १ ॥
दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्। मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥ २ ॥
नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः। द्विजालिकुलसंनादस्तवका वनराजयः ॥ ३ ॥
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः। अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत[1] ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अथ कालः परमशोभनः सर्वगुणोपेतः (संजातः) यर्हि एव अजनजन्मर्क्षम् (तर्हि) शान्तर्क्षग्रहतारकम् (अभवत्) ॥१॥ दिशः प्रसेदुः गगनं निर्मलोडुगणोदयम् (संजातम्) मही मङ्गल-भूयिष्ठ-पुर-ग्राम-व्रज-आकरा (संजाता) ॥२॥ नद्यः प्रसन्नसलिलाः ह्रदाः जलरुहश्रियः वन-राजयः द्विज-अलि-कुल-सन्नाद-स्तवकाः, (समभवन्) ॥ ३ ॥ पुण्य-गन्ध-वहः शुचिः सुखस्पर्शः वायुः ववौ च, द्विजातीनाम् शान्ताः अग्नयः तत्र समिन्धत ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये निजरूपेण संभूतस्तु हरिः स्वयम् ॥ पितृभ्यां संस्तुतो नीतः पित्रा भीतेन गोकुलम् ॥ १ ॥

अथेति मंगलार्थम्। यर्हि सर्वगुणोपेतः कालो बभूव तदा देवक्यां विष्णुराविरासीदित्यष्टमश्लोकगतेनान्वयः। परमशोभनत्वमेवाह यर्हीत्यादिना। अजनान्नारायणाज्जन्म यस्य प्रजापतेस्तस्य ऋक्षं रोहिणीनक्षत्रम्। कथंभूतम्। शांतानि ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि ग्रहाश्च तारकाश्च यस्मिंस्तत्। यर्हीति सर्वत्रानुषज्जते ॥ १ ॥ निर्मलानामुडुगणानामुदयो यस्मिंस्तत्तथा। मंगलभूयिष्ठाः पुरादयो यस्यां सा ॥ २ ॥ जलरुहैः श्रीः शोभा येषां ते। द्विजालिकुलानां पक्षिभृंगसमूहानां सन्नादो येषु ते स्तवका यासु ताः ॥ ३ ॥ समिंधत। आडागमोऽत्र द्रष्टव्यः समैंधतेति। सम्यग्दीप्ता बभूवुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

निजरूपेण स्वाभाविकेन रूपेण। स्वयं हरिः। परिपूर्णतमः। पितृभ्यां मातापितृभ्यां देवकीवसुदेवाभ्याम्। पित्रा वसुदेवेन (१)। शोभनकालस्तु हरिभक्ताविर्भावयुतः परमशोभनत्वं कालस्य हर्याविर्भावत एवेति ज्ञेयम्। ग्रहाः सूर्यादयः। तारकाः सप्तर्षिमंडलादिरूपाः। सर्वत्र दिशः प्रसेदुरित्यादिषु सर्वेषु वाक्येष्वनुषज्यते संबध्यते। यद्वा—यर्ह्येवाजनस्य प्राक्तनजन्मरहितस्य भगवतो जन्मनक्षत्रमभूत्तदैव सर्वगुणोपेतकालोऽभूदिति योज्यम्। श्लिष्टत्वेनोक्तिः। 'जन्मर्क्षं न प्रकाशयेत्' इति नीतिशास्त्रोक्तेर्गोपनार्थेति ज्ञेयम् ॥ १ ॥ 'दिशः प्रसेदुः' इत्यादिना वर्षास्वपि शरद्गुण उक्तः। 'निर्मलोडुगणोदयम्' इत्यनेनोद्ध्वंस्थप्रसाद उक्तः। 'मही मंगल'—इत्यादिनाधस्थप्रसाद उक्तः ॥ २ ॥ 'ह्रदा जलरुह'—इत्यादिना रात्रावपि दिनगुणयुक्तः। 'द्विजालिकुल' इत्यादिना वर्षास्वपि वसंतगुण उक्तः ॥ ३ ॥ 'सुखस्पर्शः' इत्यनेन शैत्यम्। 'पुण्यगंधवहः' इति सौरभ्यम्। शुचिरिति मांद्यं धूल्याद्यसंपर्केण निर्मलत्वं चोक्तम्। इत्यर्थ इति। सम्यग्दक्षिणावर्त्तत्वेन दीप्ता बभूवुरिति भावः। द्वापरेपि त्रेतागुण उक्तः 'त्रेतायां यजतो मखैः'—इत्याद्युक्तेः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत। वैष्णवतोषिणी

सर्वगुणोपेतत्वादेव परमशोभनः यर्हीत्यादिकं तैर्योजितं तत्र यर्ह्यजने जायमाने तत्संनिहितसमये तादृगजनजन्मर्क्षादिकमासीत् यर्हि च जनार्दने जायमाने तज्जन्मसमय एव च तादृग्दुन्दुभिनादादिकमासीत् तदा देवक्यामाविरासीदिति विशेषो द्रष्टव्यः यद्यप्येवं सार्द्धैरष्टभिरेकमेव वाक्यं स्यात्तथापि सुबोधत्वाय तदन्तर्वाक्यानि पृथक् प्रथगङ्कयित्वैव व्याख्येयानि सार्द्धाष्टत्वेऽप्यष्टमश्लोकगतेनेति तद्व्याख्यापरार्द्धस्य तदन्तर्भावविवक्षया शान्तर्क्षादिकत्वं तस्मिंस्तु रोहिणीदिने सर्वेषामृक्षादीनामुग्रर्द्धाष्टत्वराहित्या-

---

१. समेधिताः—इति कस्यचित्।

दिना तच्चोग्रादीनामुग्रत्वादिपरिहारादेः अत्र विशेषश्चोक्तः खमाणिक्यनाम्नि ज्योतिर्ग्रंथे "उच्चस्थाः शशिभौमचांद्रिशनयो लग्नं वृषो लाभगो जीवः सिंहतुलादिषु क्रमवशात् पूषोशनोराहवः। नैशीथः समयोऽष्टमीबुधदिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणे श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणमभूदाविः परमब्रह्म तत् ॥" इति किञ्चान्यत्र "वृषकन्यातुलामीनराजेषु स्फुटमुच्चगाः। सोमसौम्यशनिक्षोणीसुतास्तज्जन्मनि स्थिताः। यस्माद्विश्वावसौ वर्षे जन्म श्रीनन्दजन्मनः विश्वमेव वसुश्रीमद्बाभूवामुष्य तुष्यतः" ॥१॥ उदयः प्रकाशः ॥ २ ॥ प्रसन्नसलिलत्वजलरुहश्रीत्वयोस्तत्र तत्र पृथक् निर्देशः प्राधान्यमात्रेण अत उभयेषामप्युभयं ज्ञेयम् ॥३॥ सुखस्पर्श इति शैत्यं पुण्येति सौरभ्यं "पुण्यं तु चार्वपि" इत्यमरः शुचिर्निर्मल इति धूल्याद्यसम्बन्धेन मान्द्यमुक्तं च शब्दोऽत्र वाय्वग्न्योर्युग्मतापेक्षया पूर्वोक्तसमुच्चये अत एव तत्र वायौ सतीत्यर्थः। शान्ता निर्वाणप्राया अपि यद्वा प्रदक्षिणावर्त्ताः सन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सर्वगुणोपेतत्वादेव परमशोभनः शान्तर्क्षादिकत्वं तदानीं रोहिण्यां सर्वेषामृक्षादीनां दृष्टिराहित्यादिना। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, प्रत्यासन्ने भगवज्जन्मनि सर्वगुणोपेतः परमशोभनश्च कालो बभूव; गुणाः स्वतः सम्भविनः, शोभनता च कृत्रिमैर्वाद्याद्युत्सवैस्तत्र च दिक्प्रसादादयश्चिरप्रवृत्ता दुन्दुभिनादादयश्च तत्कालीना इति यथायथं विवेचनीयम्। सर्वगुणोपेतत्वं दर्शयति—यर्हीत्यादिना; यस्मिन् काले प्रथमं ऋक्षादीनां शान्त्वमुक्तम् ॥ १ ॥ अधुना तेषां नैर्मल्येनोदय उच्यते, प्रावृषि तदभावसम्भवात् ॥२॥ नद्यादीनां वृष्टिकालादिना सलिलप्रसादाद्यभावेऽपि तत्तदुदयस्य; किंवा, तदानीं तत्तद्विशेषस्यापेक्षया तत्तदुक्तिः ॥३॥ सुखस्पर्श इति सुशीत्यम्, पुण्येति सौरभ्यम्, शुचिर्निर्मल इति धूल्याद्यसम्बन्धेन मान्द्यमुक्तम्। शान्ता निर्वाणप्राया अपि; यद्वा, प्रदक्षिणावर्त्ताः सन्त इत्यर्थः; तत्र तदानीम् ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अथ सर्वेति अभूदिति शेषः ॥ १-३ ॥ पश्य तस्मिन् पूर्वं शान्ताः अग्नयः तदा समेधिता जज्वलुरित्यर्थः यद्वा शान्ताः अकलुषाः ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवदवतारं प्रस्तौति अथेति। यर्ह्येव अजनजन्म अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य भगवतो जन्म अथ तदा कालः सर्वैर्गुणैरुपेत अत एव परमशोभनोऽभूदिति शेषः। तदेव प्रपञ्चयति शान्तर्क्षग्रहतारकम् ऋक्षं भगवज्जन्मनक्षत्रं रोहिण्याख्यं तस्मिन् शान्ता अनुकूलाः अन्येषु च नक्षत्रेषु ग्रहाः सूर्यादयः तारकाः अश्विन्यादिव्यतिरिक्तनक्षत्राणि च यस्मिन् यथा भवति तथा अभूदिति क्रियाविशेषणम्, यद्वा, अजनाद्भगवतो जन्म यस्य तस्य प्रजापतेः यदृक्षं रोहिण्याख्यं तस्मिन् इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥ तदा दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः गगनं निर्मलानाम् उडूनां नक्षत्राणां गणो यस्मिन् तथाभूतं पुराणां प्राकारोपेतानां ग्रामाणां तद्रहितानां व्रजानां गोष्ठानामाकराश्रयभूता मही मङ्गलभूयिष्ठा बभूव ॥ २ ॥ नद्यस्तु प्रसन्नानि सलिलानि यासु तथाभूताः ह्रदास्तु जलरुहाणां श्रीर्येषु तथाभूताः वनानां राजयः पङ्क्तयस्तु द्विजानां पक्षिणामलीनां भृङ्गाणाञ्च कुलानां सङ्घानां सन्नादो येषु तानि स्तवकानि यासु तथाभूताः ॥ ३ ॥ वायुस्तु शुचिर्धूलिरहितः पुण्यगन्धवहः सुगन्धिस्सुखस्पर्शश्च ववौ प्रससार द्विजातीनां त्रैवर्णिकानामग्नयः पूर्वं शान्तास्तदा समेधत "इन्ध दीप्तौ" जज्वलुः समेधितः इति पाठेऽपि स एवार्थः यद्वा शान्ताः अकलुषाः ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवद्भक्त्यर्थं तदवतारप्रयोजनं समयेनाविर्भूतपूर्वकालादिगुणर्विलासमाह—श्रीशुक इति। सर्वेषां ग्रहाणामुच्चस्थानगतत्वादिगुणविशिष्टः सर्वगुणोपेतः परमं शोभनं यस्मात्स तथा अजनजन्मर्क्षं रोहिणी यत्र स तथा शान्तानि प्रसन्नानि ऋक्षाणि ग्रहाश्च तारका यस्मिन् स तथा यर्हि यदैवंविधः कालः ॥ १ ॥ तदा दिशः प्रसेदुरित्यादिकमभूत् निर्मलोडुगणस्य उदयो यस्मिन् स तथा मङ्गलपूर्णाः पुराणि ग्रामा व्रजाकराश्च यस्यां सा तथा ॥ २ ॥ जलरुहाणां पद्मानां श्रियो येषु तथा वनराजयः वनपङ्क्तयः ॥ ३ ॥ समिन्धत ज्वलिताः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अथेति। यर्हि यदा अजनस्य कदाप्यन्यदा ज्ञातत्वेनाश्रुतस्य श्रीकृष्णस्य निजजन्मना स्वीक्रियमाणम् ऋक्षं तद्द्वापरान्तकालविशेषगतरोहिण्याख्यम् अभूत्तदैव सर्वकालगुणोपेतः सर्वशुभसमेतश्च कालोऽभूत्तदिच्छायां जातायां दुर्घटघटनीभिः तच्छक्तिरेव वा स्वभावेनैव वा स तथा सम्पन्न इत्यर्थः। सर्वगुणत्वादिकमाह-शान्तेत्यादिना। यथा यथञ्च तत् ज्ञेयं तेषां भीषणस्वभावत्वेन सर्व एव तेभ्यो द्रुह्यन्तीति असुरद्रुहां सर्वप्राणिनाञ्च एव तेभ्यो द्रुह्यन्तीति ॥ १-४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ भगवदाविर्भावकालस्य सौभाग्यमाह—अथ सर्वगुणोपेत इत्यादि। भगवदवतारस्य निकटे वर्षाकालस्य ये ये दोषास्ते गताः, सर्वे गुणा एव समासन्ना इति तात्पर्येण सर्वगुणोपेतत्वम् अथवा कालो वर्षाकालः, सर्वेषामृतूनां गुणैरुपेत आसीदित्यर्थः। अतएव परमशोभनः। उक्तञ्च श्रीविष्णु पुराणे-(५।२।४) 'विष्णोरंशे भुवं याते ऋतवश्चाभवन् शुभाः' अंश्यन्ते विभज्यन्ते कला अस्मादिति अंशः परिपूर्णभागः। भवन्त्यस्यामिति भूर्देवकी तां याते प्राप्ते सति, ऋतवः षडेव, शुभा निर्दोषा अभवन्। अथवा अंशे अनन्ते भुवं पृथिवीं याते सति, अतः परं श्रीकृष्णोऽवतरिष्यतीति कृत्वा षडेव ऋतवः शुभा आसन्। अंश इति यथा-श्रुतव्याख्याने –(वि० पु० ५।२।६) 'बिभ्राणां वपुषा विष्णुं तुष्टुवुस्तामहर्निशम' इति तत्रैवोक्तत्वादसङ्गतेस्तत्रापि वपुषेति वपुर्विशिष्टम्॥ १॥ (२ ७)

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अथ सर्वगुणोपेत इत्यादि। भगवदवतारनिकटे कालस्य ये ये दोषास्ते गताः, सर्वे गुणा एव प्रत्यासन्ना इत्यर्थः। कालो वर्षाकालः सर्वेषां ऋतूनां गुणोपेत आसीत्, अतएव परमशोभनः। उक्तञ्च (वि० पु० ५।२।४) "विष्णोरंशे पुरं याते ऋतवश्चा-भवञ्छुभाः" इति। अस्यार्थः अंश्यन्ते विभज्यन्ते कला इति अंशः परिपूर्णभागो भुवं याते भूमिष्ठे सति ऋतवः शुभा आसन्; अतः परं श्रीकृष्णोऽवतरिष्यतीति कृत्वा (विष्णु पु० ५।२।६) "बिभ्राणा वपुषो विष्णुं तुष्टुवुस्तमहर्निशम्" इति तत्रैव विष्णुत्वेनोक्त-त्वादंश इति न सङ्गच्छते "विष्णुर्नारायणः कृष्णः" इति विष्णुशब्दो हि कृष्णपरः॥ १—७॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

"तृतीये देशकालादौ प्रसन्ने श्रीहरेर्जनिः। पितृभ्यां संस्तुतिः प्राप्तिर्यशोदासूतिकागृहे"॥

यर्ह्येवाजनस्य प्राकृतजन्मरहितस्य भगवतो जन्म नक्षत्रमभूत् अथ तदैव सर्वगुणोपेतः कालोऽभूदित्यन्वयः। श्लेषेण जन्मर्क्षनामाप्याह—अजनान्नारायणाऽजन्म यस्य सोऽजनजन्मा प्रजापतिस्तस्य ऋक्षं रोहिणीनक्षत्रमित्यर्थः। श्लिष्टत्वेनोक्ति "जन्मर्क्षं न प्रकाशयेत्" इति नीतिशास्त्ररीत्या गोपनार्थो कीदृशं शान्तानि ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि ग्रहाश्च तारकाश्च यस्मिंस्तत्॥ १॥ सर्वगुणोपेतत्वमाह—दिश इति। वर्षास्वपि शरदो गुण उक्तः तदानीं सर्वाणि तत्त्वानि प्रसन्नानि तत्र महाभूतस्योर्द्ध्वस्थस्य प्रसाद-माह, गगनमिति। अधःस्थस्य प्रसादमाह महीति॥ २॥ मध्यस्थानां त्रयाणां प्रसादमाह—द्वाभ्यां नद्य इति। जलरुहश्रिय इति रात्रावपि दिवसस्य गुणः द्विजालिकुलानां सन्नादः स्तवकाश्च यासु ता इति वर्षास्वपि वसन्तस्य गुण उक्तः॥ ३॥ सुखस्पर्श इति शैत्यं पुण्येति सौरभ्यं "पुण्यं तु चार्वपि" इत्यमरः शुचिर्निर्मल इति धूल्याद्यसम्बन्धेन मान्द्यमुक्तं शान्ता निर्वाणप्राया अपि समिन्धत अडागमाभाव आर्षः सम्यग्दक्षिणावर्त्तत्वेन उद्दीप्ता बभूवुरिति द्वापरयुगेपि त्रेतायाः गुण उक्तः॥ ४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथ तृतीयाऽध्याये स्वयं विष्णोरनावृतस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सर्वात्मनः सर्वभिन्नाभिन्नस्य सर्वेश्वरस्याचिन्त्याद्भुताप्राकृत-मूर्तेः प्रादुर्भावं सर्वज्ञाभ्यां भगवद्गुणस्वरूपशक्त्याद्यभिज्ञाभ्यां श्रीदेवकीवसुदेवाभ्यां कृतं भगवद्गुणस्वरूपादिप्रकाशकं स्तोत्रं पितृद्वारा भगवतः श्रीनन्दगृहे गमनं च वर्णयति— अथेति। मङ्गले –

"ओंकारो वाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्जातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ"

इति स्मृतेः यर्हि सर्वगुणोपेतः कालो जातस्तदा देवक्यां विष्णुराविरासीदित्यष्टमेनान्वयः सर्वैर्नानाऋतुगतैर्गुणोपेतः अनेन कालगुणसकलीकरणेनाऽघटनघटनापटीयसी शक्तिर्भगवतो द्योतिता अयमर्थः यदिच्छयैव प्रावृषि वसन्तग्रीष्मशरदादिगुणाः आगताः न च तत्तदृतुषु गुणा लुप्ताः स सर्वत्र स्वव्याप्तिमलोपयित्वैव व्यापक एव आविरासीदिति वक्ष्यते च अनावृतस्य बहिरन्तरं न ते इत्यादिना—

"क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भू -संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या- वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्"॥

इत्यादिना च साक्षात्स्वरूपस्यैकत्वेपि अधिकारीतारतम्यादर्शनेपि तारतम्यं वक्ष्यति भगवान् शुकः—

"इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन। मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः"॥ इति

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदैवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः"॥

इति च अजनो विष्णुस्तस्माज्जन्म यस्य ब्रह्मणस्तस्य ऋक्षं रोहिण्याख्यं नक्षत्रम् अश्विन्यादीनि ऋक्षाणि च सूर्यादयो ग्रहाश्च तारकाश्च ते तथा शान्ताः ऋक्षादयो यस्मिन् तत् यर्हीत्यस्याग्रेपि योगो ज्ञेयः ॥ २ ॥ सर्वा दिशो यर्हि स्वरूपतः सुमङ्गला जाताः सर्वासु दिक्षु भगवत्पार्षदैर्देवैश्च गीतनृत्यशङ्खघोषादिनोत्सवः कृतोऽतो दिशः प्रसेदुरिति गगनं च निर्मलानामुज्ज्वलानामुडुगणानामुदयो यत्र तत्तथेत्येवंभूतं जातम् मङ्गलभूयिष्ठाः पुरग्रामादयो यस्यां सा ॥ २ ॥ प्रसन्नानि सलिलानि यासां ताः जलह्रदैः पद्मादिभिः श्रीः शोभा येषां ते द्विजाः अण्डजाः अलयो भ्रमरास्तेषां कुलानि जातिभेदास्तेषां हृष्टानां संनादो येषु ते स्तबका यासां ताः वनराजयोऽरण्यपङ्क्तयो यर्हि जाताः ॥ ३ ॥ शान्ताः पिहिता अपि समिन्धतः अडागमोऽत्र द्रष्टव्यः समेधत सम्यग्दीप्ता जाताः "इन्धि दीप्तौ ॥ ४ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

॥ हरिः ॥ ॐ ॥ अथेति । अत्र कालस्य सामान्येन परमशोभनत्वमुक्तम् । तदयुक्तम् । कंसादिभ्योऽशोभनत्वात् । अतो विरोधः । तस्मादर्थांतरम् । अथसर्वगुणोपेत इत्येकं पदम् । नास्ति थम् अन्नं यस्य सोऽथः । यस्मादन्नं थमुच्यते इति कौर्म्ये । निरशनो भगवानित्यर्थः । अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति श्रुतेः । अन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयानिति स्मृतेश्च । तं सरंति जानंति ते सर्वाः । सृगतौ ततो वः । गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वात् । अनुसरंतो वा । तेषां गुणोपेतः सुखकारक इत्यर्थः । यद्वा । अथ भगवदवतारारंभ एव । सर्वान्प्रति गुणोपेतोऽपि कालः ॥ परम् । शत्रुं प्रति । अशोभनः । आसीदिति शेषः । परम् अत्यर्थम् । अशोभनः कालः । अपेतः परावृत्तः । किंतु । सर्वगुणः सर्वगुणा एव यस्मिन्स तथा । अभूदिति शेष इति वा ॥ अजानन । विष्णोः । जन्म यस्य तस्य ब्रह्मणः ॥ ऋक्षः । रोहिणीनक्षत्रम् । यर्हि । यस्मिन्समये । स कालः सर्वगुणोपेत इति योजना । यद्वा । अजनजन्म जनविलक्षणस्य जन्मरहितस्य वा भगवतो जन्मऋक्षम् । ऋकारो देवमाता स्यादित्येकाक्षरात् । ऋशब्दवाच्या दितिरूपदेवकी क्षं क्षेत्रं यस्य तत् । क्षःक्षेत्रे राक्षसे क्षये इति वररुचिकोशात् । क्षा भूमिर्यस्य वा । क्षा शब्दस्य पृथिवीनामसु पाठात् । देवक्यां भगवज्जन्म यदासीदित्यर्थः । यर्ह्येव । यदैव । आसीत्तदा कालः ॥ शांतर्क्षग्रहतारकोऽभूत् । शांताः प्रसन्नाः । ऋक्षाणि अश्विन्यादीनि । ग्रहाः सोमादयः । तारका अन्य भानि । यस्मिन्काले सः । यर्हि यदा । एवं कालः । तदा दिशः प्रसेदुरित्यादिरन्वयः । यद्वा । अथ शब्दावृत्तिः कार्या । तथा च । यर्हि यदा । अथ सर्वम् । अथ मंगलम् । मंगलानंतरारंभप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथोऽथेत्यमरः । तदा कालः सर्वगुण इति योजना । केचित् । शांतर्क्षग्रहतारकमिति पाठं कल्पयित्वा ऋक्षविशेषणत्वेनोत्तरचरणं च शांता ऋक्षादयो यस्मिंस्तदिति बहुव्रीहिणा योजयंति । तच्चिंत्यम् । ऋक्षादेस्तच्छांतत्वस्य वा रोहिण्याश्रयत्वानुपपत्तेः ॥ १ ॥ दिश इति । अग्रे मंदमंदं जलधरा जगर्जुरिति सद्भावात् । अत्र निर्मलोडुगणोदयमिति विरुद्धम् । अतोऽर्थांतरम् ॥ निर्मलः । निर्दोषः ॥ उडुगणोदयम् । लग्नम् । यस्मिन्गगने तत् । उडूनां गणः अनेकत्वं यस्मिंस्तद्राशेः उदयो लग्नमिति विग्रहः । राशीनामुदयो लग्नमित्यमरः । यद्वा । निर्मलः तिमिररहितः । उडुगणोदयः रोहिण्यादिनक्षत्रोदयः । यस्मिन्निति । चंद्रोदयाभावेन तत्तिथौ कृत्तिकांतानामुडूनां तमस्युदयेऽपि रोहिण्यादीनां चंद्रोदयसद्भावान्न तमस्युदय इति भावः । अथवा । निर्मलः पुण्यरूपः । यः । उडुगणः कृत्तिकादिविशाखांताश्चतुर्दशनक्षत्रगणः । तन्मध्येऽग्निदैवतत्वेनाद्यांत्ययोर्यज्ञाद्युपयोगित्वाभावस्य क्वचिदुक्तत्वेन रोहिण्यादेरेव प्राशस्त्यात् । यत्पुण्यं नक्षत्रमित्यादिश्रुत्या तदादेर्देवनक्षत्रोक्तेः । तस्योदयो यस्मिंस्तत् । अभ्रपिधानेऽप्युदयाचलोर्ध्वागमनरूपोदयस्याप्रतिबद्धत्वान्न विरोधापत्तिरिति भावः । किंवा । निर्मलोडुमलैः पापग्रहैः सहितान्युडूनि मलोडूनि निर्गतानि मलोडूनि यस्मात्तत् । तत्काले रोहिण्युदयात्तत्पूर्वाणि दृश्यमानानि चतुर्दशनक्षत्राणि पापग्रहानधिष्ठितान्याकाशेऽभवन्नित्यर्थः । गणोदयम् । नामैकदेशग्रहणेन नामग्रहणमिति न्यायात् । गणो गणेशः । तस्याकाशाभिमान्युदय आविर्भावो यस्मिंस्तद्गगनमासीत् । इदमप्युपलक्षणम् । कालादीनां सर्वेषामप्यभिमानिदेवताव्यक्तिः स्वस्वाभिमन्यमानस्थानेऽभूदिति ग्राह्यम् ॥ २ ॥ द्विजाळीति । अत्र रात्रौ पक्षिशब्दासंभवाद्विरोधोऽतोऽर्थांतरम् । द्विजानां ब्राह्मणानाम् । आलिः पंक्तिः । तस्याः । कुः आश्रयभूमिः । तत्र यः । लसन् शोभमानः । नादः शब्दः । यस्य सः । स्तवः स्तुतिः । यासु तादृश्यो वनराजयस्तदा आसन् । स्वार्थे कः । बवयोरभेदश्च ॥ ३ ॥ अग्नय इति । अत्र निशीथे ब्राह्मणाग्नीनां प्रदीपनासंभवाद्विरोधोऽत उच्यते । कंसादिभयाद्ये पूर्वम् ॥ शांताः । विनष्टाः । ते ॥ तत्र । भगवज्जननकाले ॥ सं । स्वत एव ॥ इंधत । प्रदीप्ताः । इति वैलक्षण्यज्ञापनायैव अडागमस्यापेक्षितत्वेऽपि समिंधतेति विलक्षणः प्रयोगः । अन्यथा समैंधतेति स्यात् । अथवा । ये च पूर्वं द्वीजातीनामग्नयः कोपाग्नयः संतापाग्नयो वा । समिंधत प्रदीप्ता आसन् । ते । तत्र जन्मकाले । शांताः शमं प्राप्ताः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ अथेति । ब्रह्मादिग्रामनानन्तरमित्यानन्तर्यार्थकं सच्छ्रुत्या मङ्गलप्रयोजनकम् । सर्वगुणैरुच्चस्थानस्थत्वादिसर्वग्रहगुणैरुपेतः । जनानां विद्यते थमन्नं यस्मिन्सः । अथः स चासौ सर्वगुणोपेतश्चेति वा । यो भुङ्क्ते तद्दिने मोहात्पूयशोणितमत्ति स इत्यादेः । परमं शोभनं यस्मात्स तथा । परमरिजनं प्रत्यशोभनः । एकस्यैव कालस्य सदसद्विवक्षया शोभनत्वाशोभनत्वे वियुक्तनारी परितापकरी किमिन्दुरानन्दकरो लोक इत्यादिवज्ज्ञेये । अजनस्य प्राकृतकायसंसर्गरूपजननहीनस्य जन्मनटनस्य ऋक्षं

नक्षत्रं रोहिणीनामकं यस्मिन्सः। अजनेति वदन् जन्मेति जल्पन्प्रसिद्धजन्मोपजहास शुक इति ज्ञेयम्। शान्तिप्रदानि ऋक्षाण्य-स्थूलनक्षत्राणि ग्रहा राह्वादयो ये ऋक्षाः कृतनिवेशना हि ते विहितस्थाननिवेशाश्च ते ग्रहाश्चेति वा। ऋक्षः कृतनिवेशने ऋक्षमुक्तं च नक्षत्र इति विश्वः। तारकाः स्थूलानि नक्षत्राणि नक्षत्राणि वा यस्मिन्सः। तारका ज्योतिंषीति निपातनान्नेत्वम्। तारकाणि यस्मिन्स इति वा। नक्षत्रे तारकं तारकाऽ।प चेति विश्वः। यर्ह्यखण्डे खण्डःकाल इति यदेत्युक्तिः। अजनान्नारायणाज्जन्म यस्य स ब्रह्मा देवता यस्य तदृक्षं रोहिणीनक्षत्रं यस्मिन्स इति केचित्। प्रजापतिदेवतेति। तथा चोक्तं। द्रुवदे चतुर्ब्रह्मः कं देवताप्रस्तावे। रोहिणीनक्षत्रं तथा च कालामृते। ऋत्वेशा अथ दस्रकालहुतभुग्ब्रह्मेन्द्विति॥ १॥ तदा दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना अभूवन् गगनं भागभेदत इयमुक्तिः। निर्मलानामुडूनां गणस्योदयो यत्रेति तन्मही मङ्गलभूयिष्ठा पुराणि ग्रामा बहुजनाकीर्णा व्रजनिकराश्च यस्यां सा॥ २॥ जलरुहाणां कमलानां श्रियः शोभा येषां ते वनराजयो वनपङ्क्तयो द्विजानां पक्षिणामलीनां भ्रमराणां च कुलं तस्य सन्नादो येषु ते च स्तबका गुच्छा यासां ताः॥ ३॥ सुखं तत्साधनं स्पर्शो यस्य सः। सुखमासनमिति यथा। वहतीति वहः पुण्यगन्धस्य शुचिः शुद्धो वायुः शान्ताः प्राक्। तत्र तत्समये समिन्धत दीप्ता बभूवुः॥ ४॥

श्रीसुबोधिनी

जननं वर्णनं स्तोत्र सान्त्वनं गमनं तथा। षड्विधो भगवानत्र तृतीये विनिरूप्यते॥ १॥
रूपान्तरस्वीकरणमध्यायार्थं इहोदितः। प्रतीयमानो भगवानिति षड्विध उच्यते॥ २॥
अष्टभिश्च चतुर्भिर्वै दशभिश्चाष्टभिस्तथा। चतुर्दशभिरष्टाभिः षडर्थाः क्रमतोत्र हि॥ ३॥
ऐश्वर्यमष्टधा यस्मादर्धमात्रा हरौ परा। सार्धाष्टभिरतः प्रोक्तमैश्वर्यं सर्वमङ्गलम्॥ ४॥
अधिकारिणि काले वै अनन्ता भगवद्गुणाः। खण्डशस्तेवयवशः सर्वेषां फलबोधकाः॥ ५॥
मूले समागते कालः स्वकीयान् सकलान् गुणान्। हरौ प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान् यथा॥ ६॥
देशोपि त्रिविधश्चैव भूतान्यपि तथैव च। तत्रत्या ये विदुस्तेपि ज्ञापनार्थं गुणान् स्वकान्॥ ७॥
प्रकटीकृतवन्ता वै दोषनाशपुरःसरम्॥ ७½॥

एवं पूर्वाध्याये भगवत उद्यममुक्त्वा सर्वेषां त्रिविधदुःखदूरीकरणाय रूपान्तरस्वीकरणमुच्यते, अत आदौ रूपं वक्तव्यं, अन्यथा रूपान्तरत्वं न स्यात्, तस्य च प्राकट्ये यद्यधिकारिणां नैमित्तिकगुणप्राकट्यं सर्वं नोच्येत तदा प्राकट्यमपि जननापरपर्यायं स्यात्, न ह्येकस्य जनने सर्वं गुणा प्रकटीभवन्ति महतामन्येषां च, जनकयोर्वा यदि स्तोत्रं नोच्येत तादृशमेव जनितमिति तयोर्बुद्धिः स्यात्, रूपस्य प्रदर्शनमात्रप्रयोजनव्यावृत्त्यर्थं स्वरूपकथनमपि वक्तव्यं, अन्यथाश्चर्यमात्रत्वेन निदानाज्ञानात् सन्देह एव तिष्ठेत्, रूपान्तरेण कार्यं न भवतीति गमनमावश्यकं, रूपान्तराभावे सर्वमुक्तिरेव स्यात्, लीलाया रसालता च न स्यात्, अलौकिकं लोकाद् दुर्बलमिति ज्ञापयितुं दृष्टेप्यलौकिके जनकयोर्भयवर्णनम्।

प्रथममष्टैश्वर्ययुक्तमाविर्भावमाह, यदैव ते स्तुत्वा गता अथ तदनन्तरमेव भगवानाविर्भूत इति सम्बन्धः, तदैव **सर्वगुणोपेतः कालो** जातः, यावन्तो गुणाः काले स्थापितास्ते सर्वे प्रकटीभूता भगवज्ज्ञापनार्थमित्यर्थः, अत एव **परमशोभनो** जातः, परमस्यापि भगवतः पूर्णगुणस्य शोभाजनकः, कालावयवरूपाणि यानि नक्षत्राणि तेष्वपि केवलगुणाधारभूता रोहिण्येव, भगवता हि स्वगुण-प्राकट्यार्थमेव ब्रह्मोत्पादितः, स तु विकारान् दूरीकृत्य गुणानेव प्रकटयितुं तन्नक्षत्रं गृहीतवान्, अत एवाजनस्य जन्मरहितस्य पुत्रोपि जन्मरहित एवेति ज्ञापयितुमजनाज् जन्म यस्य तस्य नक्षत्रमित्युक्तं "ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहंस्तद्रोहिण्यै रोहिणीत्व"मितिश्रुतेः, यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं जातं, तदैव सर्वगुणोपेतः कालो जात इतिसम्बन्धः, अनेन नक्षत्रारम्भे जन्मेति सूचितं, तस्य नक्षत्रस्य सर्वेषां सहायवर्तिनामानुगुण्यमाह शान्तर्क्षग्रहतारकमिति, शान्तान्यन्यान्यृक्षाणि ग्रहास्ताराश्च यस्य, अश्विन्यादीनि नक्षत्राणि, आदित्या-दयो ग्रहाः, अन्यानि च नक्षत्राणि ताराः, यद्यपि तेषां ज्योतिःशास्त्रे फलं नोक्तं तथाप्यस्तीति शान्तत्वमुक्तं, अनेन स्वाभाविका आनुषङ्गिकाश्च गुणा निर्दोषाः कालगता निरूपिताः॥ १॥

देशस्त्रिविधः, अध उपरि परितश्चेति, तत्र परितो दिश उपरि द्यौरधो भूमिः, त्रयाणां दोषाभावपूर्वकं गुणा उच्यन्ते, तत्र दिशो देवतात्मिका भूतात्मिकाश्च भवन्ति, तत्र मेघादिना दूरदर्शनलक्षणप्रसादो दिशां भवति, देवताप्रसादस्तु सर्वसाधकः, अतो ज्ञानं सर्वमेव च फलं सिध्यतीत्युभयविधदिशां प्रसाद उच्यते।

दिशः प्रसेदुरिति, निर्मला उडुगणा यत्र वर्षाकाले मेघाः सहजास्तैः कृत्वोडुगणानां प्रकाशो न दृश्यत इति नैर्मल्यमुच्यते, उदयेति, उदयकालेपि मेघानामभावः, उदयो दर्शनमेव वा, **महो भूमिर्मङ्गलभूयिष्ठा**, सर्वत्रैव विवाहपुत्रजन्माद्युत्सवास्तस्मिन् समये जायन्त इति, पुरं नगरं, ग्रामाः साधारणाः, **व्रजो** गवां स्थानं, **आकरा** रत्नाद्युत्पत्तिस्थानि, सर्वाण्येव **मङ्गलभूयिष्ठानि** यस्याम्॥ २॥

एवं देशकालयोर्गुणानुक्त्वा भौतिकानां तत्तद्भूतप्रधानानां गुणानाह, तत्र प्रथममपामाह। **नद्यः प्रसन्नसलिला** इति, यद्यप्यापो बहुविधा एकोनविंशतिभेदास्तथाप्युभयविधा एव, स्थावरा वहन्त्यो वा, अत उभयानां गुणा उच्यन्ते नदीषु कालवशात्

पङ्किलं जलं भवति, आधिदैविककालवशात् कालनियन्तृभगवद्वशाद् वा स निवर्तते, अतः कालनियन्तरि भगवति समागते नद्यः प्रसन्नं सलिलं यासां तादृश्यो जाताः, दोषनिवृत्तिपूर्वकः स्वाभाविक गुण उक्तः, ह्रदाः स्थावराः, जलरुहाणां कमलानां श्रीर्येषु जलस्य योयं सारांशः स कमलादिः, अतो साधारणा गुणा अनेनोक्ताः, भूमेर्गुणान् वक्तुं गन्धस्तस्या मुख्यो गुण इति स च पुष्पादिषु प्रसिद्ध इति गन्धरसकार्यकथनपूर्वकं पुष्पादिसम्पत्तियुक्तां वनरूपां भूमिमाह द्विजालीति द्विजाः पक्षिणः, अलयो भ्रमराः, उभयेषां कुलानि, तेषां सन्नादयुक्ताः स्तबका पुष्पगुच्छा यासां तादृश्यो वनराजयो वनपङ्क्तयो जाताः ॥ ३ ॥

ववौ वायुरिति सुखस्पर्शो वायोर्गुणः, गन्धं च भूमेर्वहतीति शुभकार्यं, पुण्यं गन्धं वहतीति पुण्यगन्धवहः, शुचिर्गङ्गादि-जलसम्बन्धी दोषरहितो वा, यो वा वायुः शुभसूचकः स शुचिः, अग्नयो लौकिका वैदिकाश्च द्विजातीनामिति निषिद्धेतराः, तत्राप्य-शुभकार्यस्थव्यावृत्त्यर्थं शान्तास्तस्मिन् समये समिन्धत सम्यग् दीप्ता जाताः, तस्मिन् समये शुभा अग्नयः पिहिता अपि प्रज्वलिता जाता इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अधिकारिणि काल इति, दक्षिणायनकृष्णपक्षनिशीथादिदोषेषु सर्वकर्मणि निन्दितेषु सत्सु सर्वगुणोपेतत्वोक्तिर्मूलेनुपपन्ने-त्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुरधिकारिणीत्यादिना, तथा 'प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि' रितिन्यायेनोक्तदोषानिवृत्तिस्तदवस्थैवेति चेत्, अत्र वदामः, नात्र पूर्वोक्ताधिभौतिककाले प्रादुर्भाव उच्यते किन्त्वधुनैव लीलाविर्भावारम्भ इति लीलाकालो योग्य भगवदात्मकत्वेन वाच्यः स प्रादुर्भूत इति, एवमेव देशादिरपि, अत एवाथशब्दो भिन्नप्रक्रमार्थक उक्तः, आधिभौतिकस्य तस्य जन्मनिमित्तत्वाभावाद्, भौतिकस्याधिष्ठानत्वेपि यथा वरदेयरात्रीणां तदा दिवापि प्रकटनं कृतमिति तद्रात्रीणां दिवारूपत्वमपीति न वक्तुं शक्यं तथास्याधि-भौतिकतद्रूपत्वं न वक्तुं शक्यं, एतज्ज्ञापनायैव शुकैस्तथोक्तं, अन्यथा प्रकटे त्वदुक्तदूषणे सत्येवं न वदेत्, यद्यप्याधिभौतिक उत्तरा-यणत्वादिविशिष्टेप्येतत्प्रकटनं सम्भवति तथापि यदेतादृशे तस्मिंस्तथाकरणं तन् मर्यादामार्गात् पुष्टिमार्गोतिविलक्षणो बालुष्ठश्चे-तिज्ञापनायेति जानीमः, अत एव सर्वदेवतासान्निध्यप्रयुक्तसर्वगुणोपेतत्वव्यावृत्त्यर्थं तद्गमनानन्तरं भिन्नप्रक्रमेणेदमुक्तं, असङ्कोचात् सर्वशब्देनैश्वर्यादय उच्यन्ते, तेन भगवदात्मकत्वमुक्तं भवति, तेन लीलाकालत्वमायाति ॥ १ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

तृतीयाध्यायं व्याख्यातुं सङ्गतिमवसररूपां सूचयन्तोर्थविशेषमाहुर्जननमित्यादि, अत्र षड्विधो भगवानित्युक्त्या "दिष्ट्या हरेस्या" इत्यत्र 'धर्मरूपेणाविर्भावः कर्माण्यानन्दरूपेणाविर्भावो जन्मानी'ति यः श्रौतसिद्धान्त उक्तः स स्मारितो ज्ञेयः ॥ १ ॥ अत्र षडर्थानां निरूप्यत्वेध्यायार्थाननुगम इत्यत आहू रूपान्तरेत्यादि, तर्हि षण्निरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः प्रतीयमान इत्यादि, रूपान्तरस्वीकारात् पूर्वं यः प्रतीयमानः स भगवान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न इति ज्ञापयितुं रूपान्तरस्वीकारोपयोगित्वेन तथोच्यते. तेन रूपान्तरस्वीकरणमेवाध्यायार्थ इत्यर्थः ॥ २ ॥ जननस्य सार्धाष्टभिर्निरूपणे हेतुमाहुरैश्वर्यमित्यादि, अर्धमात्रा हरौ परेति, "अर्धमात्रात्मकः कृष्ण" इति तापनीयश्रुते "रर्धचतुर्थमात्रेणामित्येकेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीते" तिप्रश्नश्रुतेश्च प्रणवस्य या चतुर्थ्यर्धमात्रा सा हरौ प्रकटे परा परत्वबोधिका, अर्धमात्रा चात्र गर्भवृद्ध्यादेस्तुल्यत्वेपि प्रादुर्भावप्रकारेण लोकविलक्षणन स्वरूपेण च प्रकटीकृतेतिज्ञापनाय तथेत्यर्थः ॥३-४॥ टिप्पण्यां ननु जनने वर्णनीये कालगुणवर्णनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायाम् अधिकारि-णीत्यर्धं विवृण्वन्ति दक्षिणेत्यादि, नन्वाधिदैविककालप्रादुर्भावे किं मानमित्यत आहुरत एवेत्यादि तथोक्तमिति सर्वगुणोपेतत्वमुक्तं, ननु प्रक्षालनपङ्कन्यायेन दक्षिणायनं विहायोत्तरायण एव तद् भगवता कुतो न कृतमित्यत आहुर्यद्यपीत्यादि, अत्रापि गमकमाहुरत एवेत्यादि, ननु भवत्वेवं तथापि भगवदात्मत्वे किं गमकमत आहुरसङ्कोचेत्यादि, सर्वशब्देनेति, सर्वगुणोपेतशब्दैकदेशेन, तेन सुबोधिन्यां मूले कालस्य सर्वगुणोपेतत्वादिकथनेन सर्वथा भगवत्तुल्यत्वमायातीति तद्वारणायाहुः खण्डश इत्यादि, भगवद्गुणैकदेश-तस्ते गुणा अवयवशः कालावयवैः कृत्वा सर्वेषां ग्रहर्क्षतारादीनां यत् फलं तस्य बोधका उद्बोधकाः, तथा च तावन्मात्रकार्यकर्तृत्वात् कालस्य न सर्वथा भगवत्तुल्यत्वमित्यर्थः ॥ ५ ॥ गुणप्राकट्यं देशादिष्वप्यांतदिशन्ति मूल इत्यादिसार्धद्वयेन, देशोपि त्रिविध इति, उपर्यधःपरित इति, भूर्भुवस्वरिति वा, चैवेति, चकारः सर्गगुणप्राकट्यबोधकः, एवकारस्तस्याप्याधिदैविकत्वज्ञापकः, एवंभूतान्यपि ज्ञेयानि, तत्रत्या ये विदुरिति, त्रिविधदेशोद्भवेषु ये भगवत्प्राकट्यं विदुरित्यर्थः, ज्ञापनार्थमिति, अवतरतो मूलरूपत्वज्ञापनार्थ-मित्यर्थः ॥ ६-७३ ॥

कारिकोक्तमर्थं विशदीकर्तुमाहुरेवमित्यादि भयवर्णनमित्यन्तं, तत्र स्वीकरणमुच्यत इत्यन्तेन सङ्गतिबोधनायाध्यायार्थ उक्तः, अतो वर्णनतात्पर्यमाहुरत इत्यादि, ततः जननस्वरूपबोधनार्थं सर्वगुणप्राकट्यतात्पर्यमाहुस्तस्येत्यादि, ततः स्तोत्रयोस्तात्पर्यमाहु-र्हुर्जनकयोरित्यादि, तादृशमेव जातमिति तयोर्बुद्धिः स्यादिति, पूर्वोक्तरूपमेव तयोरुत्पन्नमिति सर्वेषां बुद्धिः स्यात्, ततः सान्त्वन-गतस्वरूपकथनस्य तदाहू रूपस्येत्यादि, गमनस्य च स्फुटं, ननु रूपेणेव सकलकार्यसिद्धेः किं रूपान्तरग्रहणेनेत्यत आहू रूपान्तरेत्यादि, नन्वात्मत्वेन ज्ञानाभावादपि सर्वमुक्त्यभावसिद्धिरिति नेदं रूपान्तरग्रहणप्रयोजनमित्यतो हेत्वन्तरमाहुर्लीलाया इत्यादि, तर्हि

भयवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इत्यत आहुरलौकिकमित्यादि, अलौकिकं माहात्म्यज्ञानं लोकात् स्नेहाद् बालरूपात् कंसाद्वेत्यर्थः, तद्वद्धय-नुवादोयं, अथ मूलं व्याकुर्वन्ति प्रथममित्यादि, प्रादुर्भूत इति 'प्रादुरासीदि' त्यस्यार्थोयं एवमेव जातपदमपि बोध्यं, यद्यपि दूरान्वय एवं भवति तथाप्यध्याहारापेक्षया लघीयस्त्वादेवमुच्यते ।। १ ।।

दिशः प्रसेदुरित्यत्र देवताप्रसाद इति, 'कर्णौ दिश' इत्यादिवाक्याद् दिशः श्रोत्रेन्द्रियदेवतास्ताः प्रसन्नाः, सर्वमेव भगवत्सम्बन्धि श्रोष्यन्तीति तत्प्रसादः सर्वसाधक इत्यर्थः, तद् विवृण्वन्त्यत इत्यादि, निर्मलेत्यत्र निर्मला उडुगणा उदये यत्रेति गड्वादिसमासोत्र बोध्यः, सभासान्तरमपि बोधयन्त्युदयो दर्शनमिति, अस्मिन् पक्षे निर्मलानामुडुगणानामुदयो यत्रेतिसमासः, महीत्यत्र विवाहेति, 'सर्वर्तवो विवाहस्ये' त्यापस्तम्बस्मृतेस्तथेत्यर्थः ।। २ ।।

नद्य इत्यत्रैकोनविंशतिभेदा इति, यद्यपि तैत्तिरीयसंहितायां "कूप्याभ्यः स्वाहे"त्यादिना "सर्वाभ्यः स्वाहे"त्यन्तेन विंशतिभेदा अपामुक्तास्तथापि "सर्वाभ्य" इत्यन्तिमस्य पूर्वोक्तसर्वग्राहकत्वेनातिरिक्तत्वाभावमभिप्रेत्यैकोनविंशतिभेदा इति बोध्यं, कालनियन्तुरिति सङ्कर्षणस्य, तथा च भगवदंशो यः कालनियंता तस्मादित्यर्थः ।। ३-४ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तृतीयाध्याये प्रथमकारिकायां स्तोत्रे इतिद्विवचनान्तं, वसुदेवदेवकीकृतं स्तोत्रद्वयमित्यर्थः ।। १ ।। अनन्तेषु गुणेषु सत्सु श्रोतव्यविषयतावच्छेदकत्वेन षडेव गुणा"स्तस्माद् भारते"तिश्लोक उक्ताः, तथा च भागवते प्रतीयमानो भगवानेवेतिहेतोः षड्विध उच्यत इत्यर्थः ।।२।। हरौ परेति परमेश्वरत्वबोधिकेत्यर्थः ।।३-४।। सर्वगुणोपेतत्वे शङ्काव्यावृत्यर्थमधिकारिणीतिकारिकाद्वयमुक्तमिति टिप्पण्यामुक्तं, भगवतोधिकारिणि काले शुभफलसूचका उत्तरायणादयो भगवद्गुणा अनन्ताः सन्ति परन्तु भगवदतिरिक्तानां सर्वेषां ते केनचिदंशेनोत्तरायणत्वाद्यन्यतमावयवेन तत्रापि खण्डशः फलबोधकाः, अतः कालः कञ्चिद् गुणं प्रकटयतीतिशेषः, फलदातृत्वं भगवत एव न तु कालस्थितानां गुणानां, काले तु स्वधर्मानावेश्योत्तरायणत्वादिव्यपदेशं सम्पाद्य फलं बोधयतीति बोधका इत्युक्तं न तु दायका इत्यर्थः ।। ५ ।। मूले भगवति समागते तु कालः स्वनिष्ठान् भगवद्गुणान् शुभफलसूचकान् सकलान् प्रकटीकृतवान्, तथा च प्रतीत्या दक्षिणायनत्वादिरूपत्वेपि शुभफलसूचकत्वादुत्तरायणनिष्ठो धर्मः शुभफलसूचनं तद्वत्त्वादुत्तरायणादिरूपत्वमितिभावः, यद्यपि कालगुणप्राकट्येपि भगवतो न कोपि विशेषस्तथापि यथा राज्ञा सेवकगृहे स्थापितमाभरणादिकं राज्ञि समागते तत्प्रदर्शनार्थं पुरतः स्थाप्यते तथेति सूचयितुं प्रदर्शनार्थायेत्युक्तं, यथा यथावदित्यर्थः, तादृशे काले प्राकट्यं तु भगवतः कालानपेक्षासूचनाय, काल एव भगवत्प्राकट्यं ज्ञात्वा भगवते प्रदर्शयितुं स्वनिष्ठान् गुणान् प्रकटीकृतवानितिभावः, ननु सर्वगुणोपेतत्वमधिकं जातं न तु तावता पूर्वोक्तदोषहानिरतो दोषसहिता एव गुणाः स्युरित्यरुचिमुद्भाव्य स्वतन्त्रलेखनं टिप्पण्यां कृतमिति चेदत्र वदाम इति, इतिशङ्का चेद् भवेत् तदात्रार्थ आचार्यैर्गोपनार्थमनुक्तमपि वयं वदाम इत्यर्थः ।। ६ ।। सुबोधिन्यां देशोपोति गुणान् 'प्रकटीकृतवानि'तिपूर्वेणान्वयः, त्रिविधः परित उपर्यधोभेदेन, तथैव चेति गुणान् प्रकटीकृतवन्तीत्यर्थः, तत्रत्या इति, देवा मुनयश्चे त्यर्थः, किन्नरास्त्वाकाशगुणत्वेनोक्ता इति तत्र व्याख्यास्यते, ये विदुरिति, भगवत्प्राकट्यमितिशेषः ।। ७½ ।।

त्रिविधेति, 'कंसादेः कालतोज्ञानादि'त्यर्थः, महतामिति, अन्येषामपि महतां पृथ्व्यादीनां मध्य एकस्य जनन इति पूर्वेणान्वयः, तयोर्बुद्धिरिति, एतादृशी तयोर्बुद्धिरितिज्ञानमस्मदादीनां स्यादित्यर्थः, स्वरूपकथनमिति, 'त्वमेव पूर्वसर्गेभू'रित्यादिना भगवत्कृतं स्वरूपकथनं शुकेन वक्तव्यमित्यर्थः, रूपान्तरेणेति, गमनं विना रूपान्तरस्वीकारमात्रेण पूर्वोक्तं कार्यं त्रिविधदुःखदूरीकरणं न भवतीत्यर्थः, तर्हि तदेव रूपं स्थापनीयमित्यत आहू रूपान्तराभाव इति अथेत्यत्र भगवानिति, अत्र भगवानाविर्भूतो जात इतिहेतोरिति, फलार्थं राजनिर्गमफलार्थं पूर्वमेव यथामार्गसंस्कारस्तथा तेषां गमनानन्तरमेवाजनजन्मर्क्षादीनां गुणानां काले सम्बन्धो जातोथतस्तदैव सर्वगुणोपेतः कालो जात इत्यर्थः, भगवत्प्राकट्यज्ञानं कालस्य गुणप्राकट्ये हेतुः, पूर्वस्थितानामपि रोहिण्यादीनां कालावयवरूपैश्चन्द्रादिभिर्न सम्बन्ध इति भावः, अत्रानन्तर्यार्थोथशब्द उक्तः, टिप्पण्यां भिन्नप्रक्रमार्थ उक्तस्तत् स्वतन्त्रलिखनत्वात् पक्षान्तरमिति ज्ञेयं, भगवज्ज्ञापनार्थमिति भगवते स्वस्वरूपज्ञापनार्थमित्यर्थः, अजस्येति, कारणसदृशं हि कार्यं, तथा च भगवतो यथाजननप्रकारेणाविर्भावस्तथा ब्रह्मणोपीत्यर्थः, ब्रह्मणो भगवानेव कारणं, ततो जातास्तु कालादिसहकारिवशाद् विकारयुक्ता जाता इति भावः ।। १ ।।

दिश इत्यत्र देवतात्मिका इति, श्रोत्रेन्द्रियदेवतारूपा इत्यर्थः, भूतात्मिका इति, प्राच्यादिरूपा इत्यर्थः, भूतात्मिकानां प्रसादमाहुस्तत्रेति, दिशां भूतात्मिकानामितिशेषः, देवतारूपाणामाहुर्देवतेति, सर्वेन्द्रियदेवतोपलक्षकमिदमिति ज्ञापयितुं देवतेतिसामान्यत उक्तं, भूतरूपाणां प्रसादो दूरदर्शनमात्रं भवति न तु तेन सर्वफलसिद्धिस्तद्व्यावृत्यर्थं तु शब्दः, सर्वसाधक इति, इन्द्रियजन्यज्ञानक्रियासाधक इत्यर्थः, भूतरूपाणां दूरदर्शनं प्रसाद इति स्वरूपतः प्रसाद उक्तो देवताप्रसादः फलत उक्त इतिविभेदः, ज्ञानमिति, दूरदर्शनमित्यर्थः, निर्मला उडुगणा यत्रेत्यर्थकथनं, विग्रहस्तु निर्मलानामुडुगणानामुदयो यत्रेति, तस्मिन् समय इति, उत्तरायणादिरूपे काले, जायन्त इतिहेतोः काले तादृशत्वस्य जातत्वान् मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा जातेत्यर्थः, अत्रापि सर्वगुणप्राकट्यादुत्तरायणत्वादिप्राकट्यात् तदाधेयानां मङ्गलानामपि प्राकट्यमितिभावः ।। २ ।।

नद्य इत्यस्याभासे भौतिकानामिति, नदीजलादीनि पञ्चीकृतत्वाद् भौतिकान्येव न तु भूतरूपाणि किन्तु तत्तद्भूतप्रधानानीत्यर्थः, व्याख्याने कमलादिरिति, सहस्रपत्रं कमलं तदादिः सर्वोपि जलरुह इत्यर्थः, गन्धरसेति, स्तबकेषु द्विजानामपि सन्नादकथनान् मालत्यादिषु च रसमात्राभिलाषिणां मोदासम्भवात् स्तबकपदेन मालत्यादिपुष्पाणामाम्रादिपुष्पाणां च गन्धा उच्यन्ते, तथा च गन्धरूपं यत् कार्यं रसरूपं च यत् कार्यं तत्कथनपूर्वकमित्यर्थः, पुष्पगुच्छा इति, आम्रादिपुष्पाणां मालत्यादिपुष्पाणां च गुच्छा इत्यर्थः ॥ ३-४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तृतीयाध्यायोक्तौ प्रतीयमानः भगवानिति, जीवो हि देहं गृह्णन् न प्रतीयते, देह एव प्रतीयते, एवमत्रापि देह एव प्रतीतोस्ति तदन्तर्गतो भगवानन्य एव भविष्यतीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं भगवतो देहदेहिभावाभावात् प्रतीयमानस्यैव भगवत्त्वमिति सूचयितुं षड्भिः प्रकारैरत्राध्याये निरूपणमित्यर्थः ॥ १-२ ॥ तान् षट्प्रकारानाहुरष्टभिरित्यादिना ॥ ३ ॥ तत्र प्रथममैश्वर्यं निरूपणीयं, तदथ सर्वगुणोपेत इत्यादिना निरूप्यते तत्राथ सर्वगुणोपेत इत्यादिसार्धाष्टश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यमाहुरैश्वर्यमष्टधा यस्मादर्धमात्रा हरौ परेति, तच्चाष्टविधमैश्वर्यं श्लोकानामष्टत्वसङ्ख्यया सूच्यते, अर्धश्लोकेन तु प्रणवार्धगता मात्रा सूच्यते, तथा च योष्टविधैश्वर्यवान् यश्च प्रणवगतार्धमात्रावाच्यः सोवतीर्ण इति सार्धाष्टश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं, अर्धमात्रायाः प्रणवगतायाः परब्रह्मवाचकत्वस्य गोपालतापिन्यादिषूक्तत्वात् परब्रह्मत्वमेव सूचितं ज्ञेयम् ॥४॥ खण्डशस्तेवयवश इति, कालो हि खण्डशो व्यक्तिभेदेनोत्तमं फलं ददाति तदवयवशोवयवरूपैः सूर्यादिभिर्ददाति लोके, यथा नवमस्थानगुरुणेष्टं करोति, न हि सर्वेषां नवमो गुरुर्भवति अतो देवदत्तयज्ञदत्तादिव्यक्तिभेदेन फलदानं खण्डशो दानं सूर्यचन्द्रयोरन्यतरद्वारा शुभफलदानमवयवशो दानमिति लोके व्यवस्था, अतो जीवजन्मनि कश्चनैको द्वौ वा त्रयो वा गुणाः भगवज्जन्मनि तु सर्वे शुभगुणा आधिदैविककालेन प्रकटीकृताः, अतः सर्वगुणोपेतः कालः शुकेरुक्तः ॥ ५-७½ ॥

अजनजन्मर्क्ष इत्यस्य व्याख्यानेजनस्य जन्मरहितस्येति, इह कालस्याधिदैविकस्य प्रतिष्ठायां निरूप्यमाणायामजनजन्मर्क्षपदेनापि महिमैव वक्तुमुचित इति तमाहुरजनस्य जन्मरहितस्येत्यादिना, भगवतो नित्यत्वाज् जन्मराहित्यमतः प्रादुर्भाव एव भगवतो वाच्यः, एवमेवाजनाद् भगवतो जातस्य भगवत्पुत्रस्य विधेरपि न प्राकृतरीत्या जन्म किन्तु तस्यापि गुणावतारत्वेन प्राकट्यं, एतदेवोक्तं पुत्रोपि जन्मरहित इति, प्रादुर्भावशालीत्यर्थः, अत एव 'गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि' रित्यादिषु ब्रह्मणो ह्यज इति नाम दृश्यते, अनेन तस्य गुणावतारत्व न जीवत्वमित्युक्तं, तथा चैतादृशस्य विधेर्नक्षत्रं रोहिणी, सा सर्वनक्षत्रोत्तमेति तस्यां भगवदाविर्भावो युक्त एव, अत एव 'ततो वै ते सर्वान् रोहानरोह'न्निति तैत्तिरीयाणां ब्राह्मणे रोहिण्याः स्तुतिः प्रदर्शिता ॥ १ ॥

दिशः प्रसेदुरित्यत्र मेघादिना दिशां दूरदर्शनलक्षणः प्रसाद इति, ननु दिशां निराकारत्वात् कथं प्रसादो ज्ञेयः को वा प्रसाद इत्याकाङ्क्षायामाहुर्दिशामित्यादि, निशीथसमये मेघबाहुल्ये निकटस्थमपि वस्तु न दृश्यते किमुत दूरस्थम् ? प्रकृते तु भगवदाविर्भावमहिम्नाधिदैविकदिशामानन्दाधिक्यजप्रकाशवशाद् दूरदिक्स्थवस्तूनां सर्वेषामेव साक्षात्कारो भवति, अयमेव भौतिकदिशां प्रसादपदार्थो नाम, सर्वत्रैव विवाहपुत्रजन्मादिभ्यो जन्या य उत्सवा आनन्दास्ते जायन्ते विवाहपुत्रोत्पत्त्यादिभिर्यादृशा आनन्दास्तादृशास्तदा जायन्त इति तात्पर्यम् ॥ २-३ ॥

अग्नयश्चेत्यत्र लौकिका वैदिकाश्चेति, लौकिकाः स्मार्ता वैदिका अग्निहोत्रादिसम्बन्धिनः, निषिद्धेतरा इति, निषिद्धा असुरादिशास्त्रसिद्धदुष्कर्मसम्बन्धिनः, तेषां तु तत्समये न समिन्धनमिति तदग्निव्यावृत्तये द्विजातिपदमितिभावः ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

'स्तोत्रे इति द्विवचनान्तं, वसुदेवदेवकीकृतं स्तोत्रद्वयमित्यर्थः', अत्र तृतीयाध्याये, षड्विधो जननादिषट्प्रकरणार्थरूपो भगवान् विनिरूप्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥ अत्र तृतीयाध्याये 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यत्रोक्तं रूपान्तरस्वीकरणमध्यायार्थः, अत्र प्रतीयमानो भगवानेवेतिहेतोः पूर्वोक्तजननवर्णनादिप्रकारेण षड्विध उच्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ अष्टभिर्जननं चतुर्भिर्वर्णनं दशभिर्वसुदेवस्तुतिरष्टभिर्देवकीस्तुति 'स्त्वमेव पूर्वसर्गेभू'रित्यादिचतुर्दशभिः सान्त्वनमष्टाभिः श्लोकैर्भगवतो गोकुले गमनमित्यर्थः ॥ ३ ॥ ऐश्वर्यमिति, अनेन सार्धाष्टभिः श्लोकैर्जनननिरूपणे हेतुरुक्तः, तत्राष्टौ श्लोका अष्टविधैश्वर्यबोधकाः 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कल' इति, अर्धमात्रा प्रादुर्भूतहरौ परा परैश्वर्यबोधिकेत्यर्थः, यथा प्रश्नोपनिष'द्यर्धचतुर्थमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीते'त्यत्र प्रणवस्यार्धचतुर्थमात्रा परत्वबोधिका तथात्रेतिभावः ॥४॥ अधिकारिणीति, दक्षिणायनकृष्णपक्षनिशीथरूपे सर्वत्र निन्दितत्वेन प्रसिद्धे काले सर्वगुणोपेतत्वे शङ्काव्यावृत्त्यर्थं कारिकाद्वयमित्युक्तं टिप्पण्यां, भगवतोधिकारिणि काले शुभफलसूचका उत्तरायणत्वादयो भगवद्गुणा अनन्ताः सन्ति परन्तु भगवदतिरिक्तानां सर्वेषां ते गणाः केनचिदवयवेन तत्रापि खण्डशः फलबोधका न तु पूर्णफलदायकाः, मूलरूपे हरौ तु समागते कालः स्वनिष्ठान् सकलान् गुणान् प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान्

यथेति, यथावदित्यर्थः, अथवा यथा कालस्तथा देशादिरपीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५–६ ॥ देशोपीत्यादि, 'दिशः प्रसेदुरि'तिश्लोकोक्तः परित उपर्यधोभेदेन त्रिविधो देशोपि गुणान् प्रकटीकृतवानित्यर्थः, तत्रत्या इति, 'मुमुचुर्मुनयो देवा' इत्यत्रोक्ताः पूर्वोक्तत्रिविधदेशोद्भवा मुनिदेवादयोपि ये भगवत्प्राकट्यं विदुस्तेपि स्वसेवाज्ञापनार्थं गुणान् प्रकटीकृतवन्त इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

बृहत्सुबोधिका

जननमित्यादि सङ्गतिरवसररूपा सूचिता । प्रथमाध्याये हेतुमुक्त्वा सव्यापारो हेतुरिति कोस्य व्यापार इति प्रतिबन्धकीभूतजिज्ञासानिवृत्त्यर्थं कृष्णोद्यमं द्वितीयाध्याये निरूप्यावश्यवक्तव्यस्य रूपस्य रूपान्तरस्य चावश्यवक्तव्यत्वमवसरसङ्गतिलक्षणसमन्वयः । प्रतिबन्धकीभूतजिज्ञासानिवृत्तौ सत्यामवश्यवक्तव्यत्वमवसर इत्यवसरसङ्गतिलक्षणम् । कारिकार्थोग्रे वक्तव्यः स्वयमेव । स्तोत्रे इति द्विवचनान्तम् । वसुदेवदेवकीकृतं स्तोत्रद्वयम् । का० १ । अत्र षडर्थानां निरूप्यत्वेऽध्यायार्थाननुगम इत्यत आहुः रूपान्तरेत्यादि । तथा च 'कमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति' श्रुतेर्नाननुगम इति भावः । अनन्तेषु गुणेषु सत्सु षण्णामेव निरूपणे हेतुमाहुः प्रतीयमान इति । अनन्तेष्वपि गुणेषु सत्सु भगवत्त्वेन श्रोतव्यविषयतावच्छेदकाः षडेव धर्मा गुणाः 'तस्माद् भारत सर्वात्मे'त्यत्र द्वितीयस्कन्धे उक्ताः । तथा च भागवते प्रतीयमानो भगवानेवेति हेतोः षड्विध उच्यत इत्यर्थः । का० २ । ब्रह्म वेदेत्र भगवानिति अष्टभिरित्यादि श्लोकैरेवमग्रेपि । अत्रेति अध्याये । का० ३ । ऐश्वर्यमिति । एकादशेऽणिमाद्यैश्वर्यम् । ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वर इति वेणुगीतोक्तं त्रिधैश्वर्यं कुतोऽष्टधेति चेन्न । गताध्याये 'सर्वात्मकं दधारे'त्युक्तेऽष्टविधे प्राकाश्ये त्रिधैश्वर्यान्तर्भावात् । अत एव वक्ष्यन्ति 'ऐश्वर्यं सर्वमङ्गल'मिति । अष्टधैश्वर्यमोंकारनिष्ठं सङ्ख्यातात्पर्यस्य जन्मप्रकरणे मुख्यत्वात् । अत आहुः अर्धमात्रेति । हरावित्ति वेदवाच्यत्वाय तात्पर्यार्थं कृष्णे पुष्टिमार्गीयफलरूपे ॐकारभक्तविशिष्टेऽर्धमात्रा परा 'अर्धमात्रात्मकः कृष्ण इति तापिनीयश्रुतेः कृष्णः । तेन कृष्णो वाच्यवाचकरूप उक्तः । 'अर्धचतुर्थमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीते'ति प्रश्नश्रुतेः ॐमिति प्रणवः । तदर्थः श्रीगोस्वामिभिर्गायत्र्यर्थकारिकासु कृतः । विविधहरिभावास्तत्रापि । सर्वमङ्गलमिति सर्वात्मकत्वाद् भगवतः सर्वमङ्गलम्, न तु वेणुगीतलक्षणकमात्रमैश्वर्यम् । का० ४ । अधिकारिणीति अत्र टिप्पण्याम् सत्स्विति तेन ननु जनने वर्णनीये कालगुणवर्णनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां सर्वगुणोपेतत्वोक्तिर्मूलेनुपपन्नेत्याशङ्काप्रयोजनमित्युक्तम् । अधिकारिणीति अनन्तदेहः कालः चेष्टारूपः सकलकार्याधिकारी । अधिष्ठानं चाविर्भावे । अधिकं तत्रेति तत्र सर्वगुणोपेतत्वोक्तिर्मूलेनुपपन्नेति दोषेऽधिकं आधिभौतिककाले प्रादुर्भावः । तद्धानिः उक्तदोषहानिः । अग्र इति अत्रैव 'तमद्भुत'मितिश्लोकीयकारिकाव्याख्याने च । प्रादुर्भूत इति कालस्यानन्तदेहत्वाद् देहस्य प्रादुर्भावात् । किञ्च त्रिविधसुधाविर्भावोपि । अन्यथा 'न तदश्नोति कश्चन न तदश्नोति कञ्चने'तिश्रुतिविरोधः स्यात् । देशादीति आदिना तत्रत्याः । नन्वाधिदैविककालप्रादुर्भावे किं मानमित्यत आहुः अत एवेति । आनन्तर्येऽथशब्दः सुबोधिन्यामभिधया व्याख्यातः, तात्पर्यवृत्त्या तु टिप्पण्यां भिन्नप्रक्रमार्थक उक्तः । विविधहरिभावार्थम् । तथा च पूर्वार्धसमाप्तौ मङ्गलाचरणश्लोकः 'सर्वेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि मार्गो यदा भगवतो भवतामभीष्टः भक्तिप्रकारसहितो हरिभावयुक्तो ज्ञेयस्तदा विवृतिरेव सदा विचिन्त्ये'ति । वरदेयेति वरे देयानां रात्रीणाम् । तदा दिवापीति वरदानकाले दिवेत्यव्ययं प्रातःकालेपि । दिवारूपत्व'मिति स्वाधिष्ठानदिवारूपत्वम् । अस्येति आधिदैविककालस्य आधिभौतिकस्वाधिष्ठानरूपत्वम् । तथोक्तमिति सर्वगुणोपेतत्वमुक्तम् । अन्यथेति एतज्ज्ञापनाभावे । एवमिति पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वगुणोपेतत्वम् । ननु प्रक्षालनपङ्कन्यायेन दक्षिणायनं विहाय उत्तरायण एव सर्वगुणोपेतत्वप्रकटनं भगवता कुतो न कृतमित्यत आहुः यद्यपीत्यादि । एतदिति सर्वगुणोपेतत्वप्रकटनम् । एतादृश इति दक्षिणायने काले । तथाकरणम् सर्वगुणोपेतत्वकरणम् । जानीम इति भगवत्कृतपक्षपातस्य साधनापेक्षया पुष्टिफलदातृत्वानुभवाज् जानीम इत्यर्थः । मयि दृष्टे साधनादिक्लेशनिवर्तनं भवतीत्यर्थबोधकवाक्याच्च । अत्रापि गमकमाहुः अत एवेत्यादि । भिन्नप्रक्रमेणेत्य'थ' शब्दार्थः । इदमिति । सर्वगुणोपेतत्वमुक्तम् । ननु भवत्वेवम्, तथापि भगवदात्मकत्वे कालस्य किं मानमतः सर्वशब्दार्थापत्तिं मानमाहुः असङ्कोचेत्यादि । सर्वशब्देनेति सर्वगुणोपेतशब्दैकदेशेन सर्वशब्देन । ऐश्वर्यादयः काले देहे सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन । एकं रूपं रसात् पृथगित्यत्रेव । तेनेति ऐश्वर्यादिमत्त्वेन । तेनेति जगद्वत् कारणात्मनाऽभेदानुक्त्यैश्वर्यादिनाऽभेदेनेत्यर्थः । सुबोधिन्याम् । मूले कालस्य सर्वगुणोपेतत्वादिकथनेन सर्वथा भगवत्तुल्यत्वमायातीति तद्वारणायाहुः खण्डश इति । भगवद्गुणैकदेशतस्ते गुणाः अवयवशः कालावयवदानेन कृत्वा सर्वेषां ग्रहर्क्षतारादीनां यत् फलं तस्य बोधका उद्बोधकाः । 'कालावयवाः' उत्तरायणदक्षिणायनादयः । तथा च तावन्मात्रकार्यकरणान्न सर्वथा भगवत्तुल्यत्वमिति भावः । का० ५ । गुणप्राकट्यं देशादिष्वतिदिशन्ति स्म मूल इत्यादि सार्धद्वयेन । मूले कारणे । हरावित्याश्रयबोधार्थमधिकरणसप्तमीविवक्षा । विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति । प्रदर्शनार्थायेति राज्ञः प्रदर्शनार्थायाभरणादिकं पुरतः स्थाप्यते तथा प्रदर्शनार्थाय । यथेति यथावत् । का० ६ । देशोपीति उपर्यधः परितश्च । आधिभौतिकादिभेदाद्वा । चैवेति चकारो मूलकारिकोक्तं कालव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानुक्तस्य समुच्चायकः, एवकारः आधिभौतिकत्वयोगव्यवच्छेदकः । भूतानीति 'मही मङ्गलभूयिष्ठे'त्यादिपद्योक्तानि भूतान्यपि । तथैव च उक्तप्रकारेणैव च पुनः । किन्नरास्त्वाकाशगुणत्वेनोक्ता इति तत्र व्याख्यास्यते । तत्रत्या ये विदुरिति तत्रत्या देशोद्भवा ये भगवत्प्राकट्यं विदुरित्यर्थः । ज्ञापनार्थमिति अवतरतो मूलरूपत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः । दोषनाशेति 'निर्मलोडुगणोदय'मिति गगनदोषनाशः तत्पुरःसरम् । स्वामिन्यागते उडुगोपनं दोषो वा तस्य नाशः प्रकटनात् । एवं सर्वत्र । का० ७ ।

कारिकोक्तमर्थं विशदीकर्तुमाहुः एवमित्यादि भयवर्णनमित्यन्तम्। तत्र स्वीकरणमुच्यत इत्यन्तेन सङ्गतिबोधनायाध्यायार्थ उक्तः। तत्र त्रिविधेति आधिभौतिकादिदुःखदूरीकरणाय, कंसादेः कालतोऽज्ञानादित्यर्थः। अतो रूपवर्णनतात्पर्यमाहुः अत इति। रूपमिति भेदप्रतियोगि। रूपान्तरत्वमिति वर्णितरूपात् चतुर्भुजात् अन्यत् रूपं रूपान्तरं द्विभुजम्। तस्याध्यायार्थत्वं सार्वदिकत्वाभिप्रायेण। गोपालतापिनीये। 'कदाचिच्च चतुर्भुज' इति श्रुतेरुपक्रमगतत्वेपि नाध्यायार्थत्वम्। कादाचित्करूपप्रतिपादकत्वेन सन्दिग्धत्वात् उपक्रमस्य। ततो जननस्वरूपबोधार्थसर्वगुणप्राकट्यतात्पर्यमाहुः तस्येत्यादि। जननेति 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधे'ति कारिकोक्तजननापरपर्यायम्। न ह्येकस्येति कालस्य देहस्य। महतामित्यादि पृथ्व्यादीनां अन्येषां गन्धर्वादीनाम्। 'जगुः किन्नरगन्धर्वा' इति वाक्यात्। ततो वसुदेवस्तोत्रयोस्तात्पर्यमाहुः जनकयोरिति। एकशेषः। स्तोत्रमिति जात्यपेक्षयैकवचनम्। स्तोत्रे इति पाठो वा। तादृशमिति धर्मरूपम्। तयोर्बुद्धिरिति तादृशी तयोर्बुद्धिरिति ज्ञानमस्मदादीनां स्यादित्यर्थः। यथास्थित एवार्थः स्यात्। तत 'त्वमेव पूर्वसर्गे भू'रित्यादिगतस्वरूपकथनस्य तात्पर्यमाहुः रूपस्येति। चतुर्भुजरूपस्य। स्वरूपकथनमिति 'त्वमेव पूर्वसर्गे भूः' इत्यादिभिः स्वरूपत्रयकथनं शुकेन वक्तव्यमित्यर्थः। आश्चर्येति अकस्मादग्रे प्रकटे चतुर्भुजरूपे। आश्चर्यमात्रत्वेन निदानस्य कारणस्य वरस्याज्ञानात्। सन्देहः भगवान् वा अन्यो (अक्षरो) वेति। एवकारो निश्चययोगव्यवच्छेदकः। तथा च 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतिविरोधः। परावरः कृष्णः। 'ततश्च शौरिर्भगवत्प्रणोदित' इत्यस्य तात्पर्यमाहुः रूपान्तरेणेति। कार्यं भक्तत्रिविधदुःखदूरीकरणं न भवतीति बृहद्वने गमनमावश्यकम्। कार्याप्रयोजकरूपान्तरग्रहणप्रयोजनमाहुः सर्वमुक्त्यभावरूपं रूपान्तराभाव इति। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेती'तिश्रुतेरेवकारः सर्वमुक्त्यभावयोगव्यवच्छेदकः। ज्ञाताज्ञातौषधपानेन तद्गुणवत्। तर्हि भयवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इत्यत आहुः अलौकिकमित्यादि। अलौकिकं माहात्म्यज्ञानम्। लोकात् स्नेहात्। इदं च टिप्पण्यां स्फुटं षष्ठेध्याये। भयवर्णनमिति 'अयं त्वसभ्य' इत्यनेन 'समुद्विजे भवद्धेतो'रिति वाक्याभ्यां तथा।

अथ मूलं व्याकुर्वन्ति स्म प्रथममित्यादि। अष्टैश्वर्येति अष्टैश्वर्ययुक्तं दर्शनविषयत्वयोग्यत्वमाहेत्यर्थः। युक्तत्वं सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन। वस्तुतो दर्शनविषयत्वयोग्यताविर्भावः। ते इति पूर्वाध्याये ब्रह्मादयः। आधिभौतिककालस्याधारतानिवृत्त्यर्थं वाक्यभेदेन व्याकुर्वन्ति स्म अथ तदनन्तरमिति। 'द्रव्यसंस्कारयोर्मध्ये द्रव्यं बलीय' इति न्यायेन 'स आत्मा स्वाश्रयाश्रय' इति द्रव्यं स्वाश्रयश्चासावाश्रयस्तत्त्वभङ्गो यदा तदा वाक्यभेदेन व्याख्यानं न दोषाय। संस्कारो यर्हि पूर्वोक्तं सर्वं जातं तदा विष्णुराविरासीदिति वाक्यभेदविरहेण व्याख्यानम्। एवं व्याख्याने कालस्याश्रयत्वापत्त्याधेयत्वेनाश्रयत्वभङ्गः। आविर्भूत इति 'प्रादुरासी'दित्यस्यार्थोयम्। एवमेव जातपदमपि बोध्यम्। यद्यप्येवं दूरान्वयदोषो भवति तथाप्यध्याहारापेक्षया लघीयस्त्वादेवमुच्यते। अत एवेति भगवत्सेवापरत्वादेव। 'परमशोभन' पदार्थमाहुः परोवतारी मीयते ज्ञायतेनेति परमः तस्य। पूर्णा गुणा यस्य। पूर्णगुणरूपस्य वा। शोभाजनक इति तेन शोभन इत्यत्र नन्द्यादित्वाल्ल्युः। शोभते शोभां कुरुते जनयतीति शोभाजनकः। ण्वुल्। पञ्चाङ्गे नक्षत्रप्राधान्यमित्याशयेनोत्तरार्धं विवृण्वन्ति स्म कालावयवेति। कालः शरीरम् सावयवं भवत्येव। अवयवा अस्थीनि। 'नक्षत्राण्यस्थीनी'ति बृहदारण्यकात्। भगवद्दृश्यत्वादाहुः केवलेति। वक्ष्यमाणश्रुतेरेवकारः। भगवत्सृष्टस्रष्टृत्वादाहुः स्वगुणप्राकट्येति। 'दोषा हरौ न सन्त्येव तथा भक्ताहिताः क्रियाः। स्फुरन्ति बुद्धिदोषेण मूलं तस्य बहिर्दृशि'रिति वाक्यादेवकार उक्तः। उत्पादित इति 'नारायणाद् ब्रह्मा जायत' इति नारायणोपनिषदः। रजो गृहीतवानित्यर्थः। 'सत्त्वं रजस्तम' इति प्रथमस्कन्धात्। सत्त्वरजस्तमोगुणान् भगवत्सृष्टान सृजति ब्रह्मा। माया रजोदेहरूपा विकारान् षड्भावविकारान्। गुणानेवेति एवकारो मायिकगुणयोगव्यवच्छेदकः। तन्नक्षत्रमिति स्वदेवताकं रोहिणीनक्षत्रं गृहीतवान् स्वीकृतवान्। नक्षत्रस्य सर्वरोहरोहकर्तृत्वेन गुणप्राकट्यहेतुत्वात्। तस्येति ब्रह्मणः। 'ततो वै ते' इति श्रुतिस्तु यजुर्ब्राह्मणे प्रथमप्रपाठके द्वितीयानुवाकेस्ति। 'प्रजापती रोहिण्यामग्निमसृजताम्, तं देवा रोहिण्यामादधत, ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्, तद् रोहिण्यं रोहिणीत्वम, रोहिण्यामग्निमाधत्ते तृध्नोत्येव सर्वान् रोहान् रोहती'ति। श्रुत्यर्थस्तु सायणाचार्यैर्माधवीये वेदार्थप्रकाश एवं कृतः। अथ निर्दोषनक्षत्रं विद्यते। 'ततः प्रजापति'रित्यादिश्रुतिमुपन्यस्य। रुह्यन्ते प्राप्यन्त इति रोहाः कामाः। ते च यस्यां रुह्यन्ते सा रोहिणी। रोहिण्यै इति षष्ठीस्थले चतुर्थी। तृध्नोत्येव समृद्धो भवति। समृद्धिरेव सर्वानित्यन्तेन विशदीकृतेति तत्र असृजत अमिति पदच्छेदः। अम् प्रसिद्धार्थकमव्ययम्। रुह जन्मनि। भ्वा० प० अ० तृध वृद्धौ। भ्वा० प० भ्वादेराकृतिगणत्वात्। विकरणव्यत्ययः। सर्वगुणोपेत इति काले सर्वगुणोपेतत्वं जातम्। कालस्य नित्यत्वात्। रोहिण्या रोहिणी वात् सर्वगुणोपेतत्वस्य। आनुगुण्यमिति निर्दोषनक्षत्रत्वादिति भावः। तेषामिति तारानक्षत्राणाम्। शान्तत्वमिति अशान्तत्वप्रतियोगिकं यत् शान्तत्वाभावाभावरूपं शान्तत्वमुक्तम्। अनेनेति सम्बन्धकथने रोहिण्याः कारणत्वेन। आनुषङ्गिका इति रोहिण्यनुषङ्गजाः सर्वगणोपेतत्वादयः। एवं पञ्चाङ्गे नक्षत्रमुक्तम्। प्रत्यक्षत्वात्। 'यत् पुण्यं नक्षत्रं तद्वट् कुर्वीतोपव्युष'मिति श्रुतिः। अर्थस्तु 'तत्' नक्षत्रं 'वट्' प्रत्यक्षं 'कुर्वीत'। वष वधे इत्यस्मात् क्विपि अव्ययम्। प्रत्यक्षकरणोपायमाह उपेति। उषः कालोष्टपञ्चाशदिति विध विचारे लिखितवाक्यादुषसीति व्युषमिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। व्युषं समीपव्युषम्। पारिभाषिकसूर्योदयकाल इत्यर्थः। पञ्चाङ्ग इतराणि तिथिवारयोगकरणानि नारदीये ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्येषु 'सिंहराशिगते सूर्ये गगने जलदाकुले मासि प्रोष्ठपदेष्टम्यामर्धरात्रे विधूदये बुधवारे वृषे लग्ने रोहिण्याश्चरमांशके शुभे हर्षणयोगे च

कौलवेन युते तथा वसुदेवेन देवक्यामहं जातोस्मि पद्मज इहातः शिश्नहास्यैव कृष्णजन्माष्टमीत्वत' इति। शिश्नहा नपुंसकत्वात्। एवं पञ्चाङ्गं निष्पन्नम्। अत्रा 'थ सर्वे'त्युपक्रमः 'देवक्यां विष्णु'रिति पदद्वये विष्णुः प्रद्युम्नप्राकट्यार्थम्। अध्यायार्थः स्पष्टः॥१॥

दिश इत्यत्र त्रयाणामिति देश आधिदैविकत्वाभावादाधिभौतिकत्रिकाभावात् तथा। वैकुण्ठे दिशोयं देश इति चातुरर्थिक-प्रत्ययान्तदेशपदप्रयोगाप्रवृत्तेः। तत्रेति उक्तासु तिसृषु। देवतात्मिका इति श्रोत्रेन्द्रियदेवतारूपाः। भूतात्मिका इति प्राच्यादिरूपाः। आध्यात्मिका देवतारूपा एव। 'यस्तु आध्यात्मिकः प्रोक्तः सोसावेवाधिदैविक' इति वाक्यात्। चकारेणाध्यात्मिकाः। भूतात्मिकानां दिशां प्रसादमाहुः तत्रेति। मेषादिनेति चातुर्मास्य आविर्भावादिति भावः। मेषादिनेति द्वितीयः पाठः। आदिना दिशां व्यापकत्वं क्रियाव्यापकत्वम्। 'मेषास्तस्यात्ममूर्तय' इति वाक्यादिन्द्रक्रियारूपात्ममूर्तित्वात् क्रियारूपाः। क्रियाणां करणत्वमिन्द्रियव्यापार-रूपाणाम्। मेषादिना लग्नादिरूपेण तेषां फलानि। 'चण्डोभिमानी गुणवान् सकोपः सुहृद्विरोधी च सखा परेषाम्। पराक्रम-प्राप्तयशोविशेषो मेषादयो यः पुरुषोधिरोप' इति मेषलग्नफलम्। 'भवति साहसकर्मकरो नरो रुधिरपित्तविकारकलेवरः। क्षितिपतिर्मतिमान् सहितश्च क्रिये रवि'रिति राशिफलम्। क्रिये मेषे। कालस्य करणत्वं प्रसिद्धम्। दूरदर्शनेति दूरे श्रावणप्रत्यक्ष-लक्षणः प्रसादः। दिशामिति भूतात्मिकानाम्। 'दिशः श्रोत्रा'दितिश्रुतेर्मेषादिना स्वव्यापारेण मेषादिना कालेन स्वगुणैश्चण्डत्वादिभिः क्षुब्धगुणो दूरे शृणोतीत्यर्थः। प्रसादस्तु प्रसन्नतेति करणे मनसि आनन्दः। 'मन आनन्द'मिति तैत्तिरीयश्रुतेः। भगवदाविर्भावे दिगा-दीनां साधारणासाधारणधर्मा उच्यन्ते। देवताप्रसाद इति 'कर्णो दिश' इति वाक्याद् दिशः श्रोत्रेन्द्रियदेवताः तासामाकाशेन्तर्भावात् तत्प्रसादः सर्वसाधकः। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ती'ति श्रुतेः सर्वकारणत्वात्। तद् विवृण्वन्ति स्म अत इति। ज्ञानमिति दूरदर्शनम्। निर्मलोडुगणं च तदुदयमिति बहुव्रीहिगर्भितकर्मधारयमाहुः निर्मला इति। बहुव्रीहौ यत्रेति गगने दर्शने वा। वर्षाकाले भाद्रपदे। उदयेतीति उदया सोरसमो डा मूले। गगनं उदयरूपं भगवद्देहत्वात्। प्रसिद्धिस्तैत्तिरीये। उदयोपि मलाभावरूपः सान्निध्यादित्याहुः उदयेति। गगने उदयकाले इत्यर्थः। अपिशब्दात्। उदयस्य मलरहितस्य गगनस्य कालेपि मलाभावः, नीलिमा काले नास्तीत्यर्थः। 'कृषेर्वर्णे' इति पाणिनिसूत्रात् कृष्णस्वाभाविक-नीलिमा गगने काले चेति भावः। यत्तु निर्मला उडुगणा उदये यत्रेति समासो गड्वादिः स प्रयोजनशून्यः, अवतारकालेपि साधारणगगनोक्तेः प्रयोजनाभावात्। उदयो दर्शनमिति आकाशरूपदेहस्य ज्ञानं तदानीं जातम्। उदयोस्यास्तीति उदयम्। अर्श आद्यच्। एवकारो ज्ञानरहितस्य गगनदेहत्वयोगव्यवच्छेदकः। विवाहेति षोडशसंस्कारादित्वात् पूर्वं ग्रहणं विवाहस्य। सर्वर्तवो विवाहस्येति वर्षाकालेपि विवाह उक्तः। अजायन्तेति निशीथकालेपि रोहिणीसत्त्वाद् भगवत एव वा सत्त्वात्। 'मही मङ्गलभूयिष्ठा' इति पाठेऽर्थमुक्त्वा 'मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामे'त्यादिपाठेऽर्थमाहुः पुरं नगरमिति। सर्वाण्येवेति रोहिणीभगवतोः सत्त्वादेवकारः॥ २॥

नद्य इत्यत्र भौतिकानामिति नद्यादीनाम्। तत्तद्भूतेति सलिलजलरुहादिप्रधानानाम्। गुणान् श्रीप्रसन्नतादीन्। तत्रेति 'बहुष्वनियम' इति सूत्रेणानियमे। एकोनेति यद्यपि तैत्तिरीयसंहितायां 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यादिना 'सर्वेभ्यः स्वाहे'त्यन्तेन विंशतिभेदा अपामुक्तास्तथापि 'सर्वेभ्य' इत्यन्तिमस्य समष्टित्वेन पूर्वोक्तसर्वसङ्ग्राहकत्वेन सर्वातिरिक्तत्वाभावात्। उभयविधा एवेति स्थावर-जङ्गमजगद्वत्। एतदेवाहुः स्थावरा इति। उभयेषामिति 'उभय'शब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः। कालेति वर्षाकालवशात्। कालनिय-न्तुरिति सङ्कर्षणात्। कालनियन्तृभगवद्वशादिति पाठान्तरम्। कालनियन्तुर्भगवतो वशादित्येकदेशान्वयः। स इति दोषः। काल-नियन्तरीति कालनियन्तरि ई इति छेदः। इ आश्चर्ये। स्वाभाविक इति गुणः प्रसन्नता। कमलादिरिति पार्थिवांशप्रतीतिभ्रमात्। मत्स्यादिष्विव। वायूपनीतपार्थिवांशप्रतीतिर्वात एव गन्धो रसयुक्तः। अनेनेति विशेषणेन। भूमेर्गुणानिति पूर्वं भूमेर्मङ्गलान्युक्तानि। मुख्य इति पृथ्वीतन्मात्रत्वे सति गुणत्वं मुख्यत्वम्। गन्धरसेति भगवत्प्राकट्याद् रोहिणीनक्षत्राच्च, गन्धास्वादः गन्धाघ्राणाच्छब्दः, रस आस्वादने रस शब्दे इति धातुपाठे, 'सन्नादे'तिशब्दोक्तं शब्दः कार्यं, तत्कथनपूर्वकम्। भूमेरैश्वर्यख्यापकाः। मूढैरलिभ्रमरैस्त-दाघ्राणादिकरणरूपपूजनात्। 'ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिण' इति वेणुगीत-सुबोधिनीकारिकायाः। कुलानीति समूहाः। पुष्पगुच्छा इति मालत्यादिपुष्पाणामाम्रादिपुष्पाणां च गुच्छाः। जाता इति आधिदैविककालेनाधिदैविका जाताः॥ ३॥

ववौ वायुरित्यत्र सुखस्पर्श इति त्रिगणस्पर्शः रोहिणीनक्षत्रे गुणः भगवत्प्राकट्यात्। अन्यदा तु स्पर्शमात्रम्। सामाना-धिकरण्यसम्बन्धेन स्पर्शे त्रिगुणान् शीतमन्दसुगन्धानाहुः गन्धं चेति। भूमेरिति मालत्यादिपुष्पाणामाम्रादिपुष्पाणां च। तेन मन्दत्वगुणोप्युक्तः। पुण शुभे पुणमर्हति पुण्यमित्याशयेन पुण्यशब्दार्थमाहुः शुभकार्यमिति। कर्मणि घञ् न कृतः। वेदवेदान्त-सारत्वात् पचाद्यच् कृतः। वाह इत्यत्र अब्विकारो वा, वहतीति वहः पुण्यगन्धस्य वहः पुण्यगन्धवह इति षष्ठीतत्पुरुषो न कृतः। कर्मणि घञ्प्रसक्तेः। गन्धादिजलेति वर्षाकालत्वात् तथा। दोषेति जीवसाम्यदोषः प्राणत्वाद् भवति। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'-त्युपक्रम्य 'प्राणस्तथानुगमा'दित्युपसंहारो भाष्ये प्रथमचरणस्य यतः। शुभसूचक इति हिरण्याक्षहिरण्यकशिपूत्पत्तौ कठोरवायुर-शुभसूचकोयं तद्विपरीतः शुभसूचकः। लौकिका इति स्मार्ताः। निषिद्धेति चिताग्न्यसंस्कृताग्न्य इतरे येभ्यः ते निषिद्धेतराः। शान्ता

इति अशुभकार्यस्थास्तु क्रूरा अशुभभयात् । जाता इति रोहिण्याः स्वभावात् शुभसूचका जाताः । कालोपि प्रतिबन्धपिहितत्वनिवारक इति तत्पुरःसरं विवृण्वन्ति स्म तस्मिन् समय इति । जाता इति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

कारिका जननं-वर्णनं-स्तोत्रे-सान्त्वनं-गमनं तथा । "षड्विधो भगवानत्र" तृतीये विनिरूप्यते ॥ १ ॥
रूपान्तरस्वीकरणमध्यायार्थ इहोदितः । प्रतीयमानो भगवानिति षड्विध उच्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ—अत्र श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि इस तृतीय अध्याय में १. जनन भगवान् का प्राकट्य, २ वर्णन स्वरूपवर्णन, ३ स्तोत्रे श्रीवसुदेवजीकृत स्तुति एवं ४. श्रीदेवकीकृत स्तुति, ५ सान्त्वन श्रीदेवकी वसुदेवजी के प्रति आश्वासन और पूर्व जन्मकथा तथा ६. 'गमन'—गोकुल को पधारना भगवान के इन छह, (६) भगवच्चरित्रों का स्पष्टरूप से निरूपण किया है । भगवच्चरित्र भगवत्स्वरूपात्मक होते हैं इसलिए कारिका में अत्र भगवान् यहाँ भगवान् निरूपित किये गए हैं ऐसा कहा है । इस श्रुतिप्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार यहाँ पर ६ प्रकार से भगवान् का निरूपण हुआ है । ऐसा कहा गया है । ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये भगवान् के षड् गुण हैं जिनकी सूचना इधर वर्णित हुए छह चरित्रों की संख्या से हो रही है ॥ १ ॥

अब आचार्यचरण द्वितीय कारिका में बतलाते हैं कि इस अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रूपान्तर स्वीकार कहा है । कारागृह में माता पिता के देखते ही भगवान् का द्विभुज प्राकृत शिशु रूप ग्रहण करना ही रूपान्तर का स्वीकार करना है । इस रूपान्तर के स्वीकार करने वाले षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान् ही है जिस रूप में उसकी प्रतीति हो रही है वह रूप देह देही के भेद से रहित है । ऐसी सूचना देने को जननादि षट्चरित्रों से अध्यायार्थ को समन्वित कर उसकी भगवद्रूपता बतलाई गई है । परम दयाला श्रीविट्ठलनाथजी श्रीटिप्पणीजी में कहते हैं कि श्रीनन्दालय में भगवत्प्राकट्य के समय ही श्रीमथुराजी में उसी द्विभुज नन्दनन्दन का दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है जिसे प्राकृत शिशु रूप में कहा गया है । इस मर्म की सूचना करने के लिए भी रूपान्तर स्वीकार को ही मुख्य रूप से अध्यायार्थ माना है ॥ २ ॥

कारिका—अष्टभिश्च चतुर्भिर्वै दशभिश्चाष्टभिस्तथा । चतुर्दशभिरष्टाभिः षडर्थाः क्रमतोत्र हि ॥ ३ ॥
ऐश्वर्यमष्टधा यस्मादर्धमात्रा हरौ परा । सार्धाष्टभिरतः प्रोक्तमैश्वर्यं सर्वमङ्गलम् ॥ ४ ॥
अधिकारिणि काले वै अनन्ता भगवद्गुणाः । खण्डशस्तेवयवशः सर्वेषां फलबोधकाः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—यहाँ प्रथम कारिका में क्रम से ही 'जनन आदि' ६ अर्थों का निर्देश किया है । प्रथम आठ श्लोकों से भगवान् का जनन चरित्र कहा है, चार श्लोकों से भगवत्स्वरूप वर्णन चरित्र कहा है, पुनः दश श्लोकों से श्रीवसुदेवजीकृत स्तोत्र एवम् आठ श्लोकों से श्रीदेवकीकृत स्तुति कही गई है । चौदह श्लोकों से मातापिता का आश्वासन चरित्र और आठ श्लोकों से गमन चरित्र कहा है ॥ ३ ॥

अब श्रीआचार्यचरण तृतीय अध्याय के प्रथम प्रकरण के ८॥ श्लोकों के उपलक्ष्य में कहते हैं कि प्रथम जनन चरित्र में भगवान् के प्रथम गुण अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना जिन आठ श्लोकों से की है उनका अष्टम श्लोक 'सार्ध' १॥ है । तात्पर्य कि उसमें आधा श्लोक अधिक होने से साढ़े आठ श्लोक हैं । जिससे यह फलित हुआ कि अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना के साथ-साथ ही भगवान् की परमतत्त्वरूपता भी सूचित हो रही है, क्योंकि ओङ्कार की अन्तिम अर्धमात्रा परमतत्त्व की प्रतिपादिका है । तापनीय उपनिषद् में 'अर्धमात्रात्मकः कृष्णः' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है । "अर्धचतुर्थ मात्रेण 'ओं'—इत्येके नैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत", इस प्रश्न श्रुति के अनुसार परम पुरुष के ध्यान में भी ओंकार की आधी चतुर्थमात्रा को ही मुख्य रूप से बताई है । अतः साढ़े आठ श्लोकों से यह निर्देश होता है कि जो सर्व मङ्गल निधान व अष्ट ऐश्वर्यपूर्ण एवं ओंकार गत अर्धमात्रा प्रतिपाद्य परमतत्त्व है उसी के प्रादुर्भाव का यहाँ पर वर्णन हो रहा है । तभी तो श्री देवकीजी के गर्भ का बढ़ना आदि सर्व धर्म सर्व स्त्री साधारण थे तो भी भगवान् के प्रकट होने का प्रकार 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः' लोकविलक्षण था एवम् **'यमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्'** स्वरूप भी लोकोत्तर था ॥ ४ ॥

अब पांचवी कारिका द्वारा आचार्यचरण यह बतलाना चाहते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम का प्राकट्य जिस समय में हुआ है वह समय यद्यपि माङ्गलिक कार्यों में प्रशस्त नहीं माना गया किन्तु निंदित कहा गया है क्योंकि उत्तरायण न होकर दक्षिणायन का काल था, शुक्ल पक्ष न होकर कृष्ण पक्ष था दिन न होकर रात्रि का भी निशीथ समय था ऐसे दोषों के रहते हुए भी उस समय को सर्वगुणोपेत सर्वगुणपूर्ण बतलाकर महर्षि व्यासजी ने यह सूचित कर दिया है कि काल भगवान् का एक अधिकार-प्राप्त सेवक है । भगवान् का कार्य मंत्री है, उसमें उत्तरायण आदि अनन्त शुभ फल सूचक गुण भगवान् के ही हैं उनकी कृपा से ही उसे प्राप्त हुए हैं । वह उत्तरायणादि काल गुण भी किसी अंश से सब लोगों को प्राप्त होने वाले अपूर्ण फल का

बोध मात्र कराते हैं। फल का दान तो भगवान् के ही हाथ है। अधिकारिणे = भगवान् से अधिकार प्राप्त भगवत्सेवक, काले वै = काल में, अनन्ताः भगवद्गुणाः = भगवान् के अनन्त गुण जो हैं वे 'खण्डशः-अवयवशः'।। ५।।

कारिका—मूले समागते कालः स्वकीयान् सकलान् गुणान्। हरौ प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान् यथा।। ६।।
देशोऽपि त्रिविधश्चैव भूतान्यपि तथैव च। तत्रत्या ये विदुस्तेऽपि ज्ञापनार्थं गुणान् स्वकान्।। ७।।
प्रकटीकृतवन्तो वै दोषनाशपुरस्सरम्।। ७½।।

अब आचार्यश्री षष्ठी कारिका में कहते हैं कि जब काल के स्वामी मूलतत्त्व भगवान् स्वयं पधारते हैं तब तो वह काल अपने आराध्य प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी की सेवा में अपने समस्त उत्तरायणादि सद्गुणों को उनके दृष्टिगोचर कराकर निवेदन करता है—भगवान् आपकी वस्तु इस प्रकार सुरक्षित रखी है। अब इन वस्तुओं को कृतार्थ करें इस आशय से प्रकट करता है।। ६।।+

उच्च देश आकाश, मध्य देश दिशा और अधोदेश भूमि ने तथा इन देशों में रहने वाले देव, मुनि, सिद्ध; गन्धर्व, किन्नर, चारण आदि ने भी एवम् जल, अग्नि, वायु आदि भूतों ने भी अपने अपने गुणों को प्रकट किया, इन सबके दोषों का नाश तो पूर्व में ही हो चुका था।

आभास व्याख्यान—इस प्रकार अगले दूसरे अध्याय में भगवान् के भूतल पर पधारने के उद्यम का वर्णन किया। अब तृतीयाध्याय में (१) भूमि, (२) माता-पिता, एवं (३) अन्यान्य भक्त इन सबके सात्विकादि, तीन प्रकार के दुःख दूर करने के लिए अथवा (१) कंसकृत, (२) कालकृत, (३) अज्ञानकृत इन तीनों प्रकार के दुःख दूर करने के लिए भगवान् का रूपान्तर स्वीकार कहा जाता है। इसलिए प्रथम रूप का वर्णन आवश्यक है क्योंकि किसी एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तन करना ही तो रूपान्तर है। यदि भगवान् के रूप का वर्णन न किया जाय तो भगवान् के रूपान्तर का स्वीकार करना जो कि अध्याय का विषय-अर्थ है वह सङ्गत न हो सकेगा और यदि भगवत्प्राकट्य में काल आदि अधिकारियों के प्रभु प्राकट्य निमित्त से शुभसूचक गुणों के प्रकट होने का सर्वांश में वर्णन न किया जाय तब तो भगवत्प्राकट्य को प्राकट्य शब्द से नहीं कहा जा सकेगा। तब तो उस प्राकट्य का जन्म अर्थात् "जनन" शब्द से ही व्यवहार होगा क्योंकि सर्व गुणों का सर्वांश में प्रादुर्भाव किसी एक देव के भी जन्म काल में नहीं होता। समर्थ से समर्थ महानुभाव 'पृथु' महाराज जैसों के भी प्राकट्य काल में सर्वगुणों का प्राकट्य नहीं हुआ। यदि वसुदेव एवम् देवकीकृत स्तुति का वर्णन न किया जाय तब तो उनके विषय में सर्व साधारण की यही बुद्धि हो सकती है कि इन माता-पिताओं को इतना ही ज्ञान होगा कि हमारे चतुर्भुज पुत्र उत्पन्न हुआ है यह साक्षात् भगवान् है। इस प्रकार का ज्ञान तो उनकी को हुई स्तुति से ही स्पष्ट होता है। उक्त चतुर्भुज रूप केवल माता-पिता को दिखाने को ही प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं किन्तु श्रीवसुदेव देवकीजी के पूर्व जन्मों के प्रसङ्गों का स्मरण कराने के लिए है। अतः शुकदेवजी ने पाँचवें सान्त्वन प्रकरण में भगवत्कृत स्वरूप वर्णन को आवश्यक मानकर ही उल्लेख किया है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वह अद्भुत स्वरूप दर्शन आश्चर्य ही बना रहता और उसके कारण का ज्ञान न होने से सन्देह ही रह जाता कि यह हमारे पुत्र कैसे हो सकते हैं। रूपान्तर के स्वीकार मात्र से भक्त दुःख निवृत्ति का कार्य बिना गोकुल पधारे नहीं हो पाता, अतः मथुराजी से प्रस्थान भी अध्याय के अन्तर्गत आवश्यक है।। ७½।।

अब आचार्यचरण रूपान्तर स्वीकार के तीन हेतु बताते हैं कि, यदि प्राकृत शिशु रूप ग्रहण न किया जाता तो चतुर्भुज स्वरूप दर्शन से सर्व साधारण की मुक्ति हो जाने की सम्भावना थी (१) तथा लीला की वह वात्सल्य माधुर्य आदि रसमयता भी सम्पन्न न हो पाती। (२) माता पिता श्री वसुदेव एवं देवकी जी के भय का वर्णन उनकी ही स्तुति में आता है,

+ परम दयालु श्री विट्ठलेश प्रभु अतिशय मननीय समाधान करते हैं कि 'अधिकं तत्रानु प्रविष्टं न तु तद् हानिः' इस न्यायसे यदि कोई कहे कि भगवान् के प्राकट्य का काल यदि उत्तरायण शुक्ल पक्ष दिन आदि होता तब तो और भी अच्छा ही था। भगवत्सेवक काल उन गुणों को अवश्य प्रकट करता ही उसमें क्या संदेह लेकिन उत्तरायण आदि और अधिक रूप से गुणों की वृद्धि में उपयुक्त हो जाते, और कोई हानि तो थी नहीं। उक्त शंका का समाधान करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि भगवत्प्राकट्य की देश कालादि सर्व सामग्री आधिदैविक होती है, आधिभौतिक देश कालादि में भगवत्प्राकट्य का सम्भव ही नहीं। यदि उत्तरायणादि काल रहता तब भी आधिभौतिक ही रहता और भगवान् प्राकट्य के लिये वह पर्याप्त न था। यह लीलाकाल भगवत्स्वरूप है। भगवल्लीला का प्रारम्भ होने वाला है। अतः यह स्वरूपात्मक लीलाकाल प्रकट हुआ है। इसकी सूचना मूल में **'अथ सर्वगुणोपेतः'** वाक्य में अथ शब्द से की है कि अब सब ही प्रकार भिन्न है। जिस प्रकार रास लीला की षड् मास की रात्रियों में दिन का प्रवेश नहीं हुआ, यह उन रात्रियों की विलक्षणता थी, और आधिदैविकता थी उसी प्रकार इस प्राकट्य काल में भी आधिभौतिक दक्षिणायनादि का प्रवेश नहीं। यह पुष्टिमार्ग की मर्यादा मार्ग से विलक्षणता अलौकिकता और महत्ता है। **'सर्वगुणोपेतः'** इस विशेषण से इस प्राकट्य काल की ऐश्वर्यादि गुणपूर्ण भगवद्रूपता स्पष्ट होती है।"

जब कि चतुर्भुज अलौकिक स्वरूप का दर्शन कर रहे हैं। चतुर्भुज भगवद्दर्शन दशा में भी भय का होना स्पष्ट सूचित करता है कि लौकिक स्नेह की अपेक्षा अलौकिक कुछ दुर्बल होता है। भगवान् की महिमा का ज्ञान अलौकिक है। उस अलौकिक ज्ञान के होते हुए भी इस बालक का क्रूर कंस से कोई अनिष्ट न हो जावे, इस प्रकार की स्नेहमय लौकिकबुद्धि का बना रहना स्पष्ट कर देता है कि लोक की प्रबलता है, अलौकिक की नहीं।

प्रथममष्टैश्वर्ययुक्तमाविर्भावमाह—भगवान् श्रीशुकाचार्यजी सर्व प्रथम भगवान् के अष्टैश्वर्य सहित प्रादुर्भाव का वर्णन करते हैं कि जब देवगण स्तुति करके चले गये, उसके पश्चात् ही भगवान् प्रकट हुए, उसी समय काल सर्वगुण सम्पन्न हो गया, जितने गुण काल में स्थापित किये थे वे सब प्रकट हो गये, भगवान् को अपनी सेवा बतलाने के लिये काल ने गुण प्रकट किये। इसी हेतु से काल परम शोभापूर्ण हो गया अब तो परम तत्त्व एवं सर्व गुणपूर्ण भगवान् की भी शोभा का हेतु बन गया। काल के अवयव जो नक्षत्र हैं उनमें भी केवल गुणों का आश्रय 'रोहिणी' नक्षत्र ही है, भगवान् ने अपने गुणों को प्रकट करने के लिए ही ब्रह्मा को उत्पन्न किया।

स तु विकारान् दूरीकृत्येति—श्री ब्रह्माजी ने तो काल के दोषों को दूरकर गुणों को ही प्रकट करने के लिए उस रोहिणी नक्षत्र का अङ्गीकार किया। तात्पर्य यह था कि निर्दोष ऐसे सर्व गुणों के प्राकट्य द्वारा भगवत्प्राकट्य काल की आधिदैविकता सिद्ध करना ब्रह्माजी को अभीष्ट है। इसलिए रोहिणी नक्षत्र को "अजनजन्म जन्मरहित भगवान् श्रीकृष्ण से, जिसका आविर्भाव है वैसे ब्रह्माजी भी अजन्मा है रोहिणी को उस ब्रह्माजी का नक्षत्र कहा है, जिससे उक्त नक्षत्र के देवता ब्रह्मा की निर्विकारता सिद्ध होती है। रहस्य यह है कि भगवान् तो जन्मादि विकारों से रहित होने के कारण 'अजन' है और ब्रह्मा उन्हीं भगवान् के पुत्र के नाते स्वयं भी जन्मरहित ही है। इसी से ब्रह्मा को भी "अज" कहते हैं। अतः अजन्मा भगवान् से जन्म लेने के कारण **"स्वयंभूः"** "अज." आदि शब्दों से व्यवहृत ब्रह्मा के नक्षत्र का निर्दोष गुणपूर्ण होना सर्वथा समुचित ही है। श्रुति में 'रोहिणी' शब्द का जो निरूपण मिलता है वही इस नक्षत्र की महिमा का काफी प्रमाण है। भगवती श्रुति ने कहा है कि **"ततो वै सर्वान् रोहानरोहंस्तद्रोहिण्यै रोहिणीत्वमिति"** "उस नक्षत्र से ही वे लोग सर्व उच्च स्थानों को चढ़ गये" वे अपने संबंध वालों को उच्च स्थान पर चढ़ा देना रोहिणी का रोहिणी नाम से कहलाने का कारण है। जब रोहिणी नक्षत्र का आरंभ हुआ तब ही सर्वगुणपूर्ण काल हुआ, इस प्रकार की योजना से सूचित होता है कि भगवान् का जन्म रोहिणी नक्षत्र के प्रारम्भ में ही हुआ। उस समय रोहिणी नक्षत्र के सब ही सहायवर्ती दूसरे भी नक्षत्र ग्रहादि भी सानुकूल थे। ऐसा निर्देश करने के लिए 'शान्तर्क्ष' इत्यादि विशेषण का प्रयोग किया है। इस समय रोहिणी नक्षत्र के सहचारी अन्य नक्षत्र, ग्रह और तारा भी शान्त थे, इस अवसर पर अश्विनी आदि नक्षत्र, सूर्य आदि अन्य ग्रह एवं उपनक्षत्र तारा सब ही सब शान्त उच्चस्थान के शुभ थे। यद्यपि ज्योतिष शास्त्र में इन का फल नहीं कहा तो भी उनका भी फल होता है। इसीलिए उनकी शान्त अवस्था का उल्लेख किया है। इस श्लोक से काल के सब ही स्वाभाविक एवम् सहयोग से प्राप्त होने वाले संयोग प्राप्त गुणों का निरूपण किया है ॥ १ ॥

देशः त्रिविध इति—नीचे का, उपर का और सब ओर चारों बगल का, वैसे देश तीन प्रकार का है। उसमें चारों ओर दिशा, ऊपर आकाश और नीचे भूमि इन तीनों की निर्दोषता के साथ गुणों का वर्णन किया जा रहा है उन देशों में दिशा देवता रूप भी होती है और भूतात्मक भी होती है। उनमें भूतात्मक पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं की प्रसन्नता उज्ज्वलता यह है, जिससे दूरदेशस्थ वस्तु का भी दर्शन हो सके। आकाश में मेघ आदि के न रहने पर वैसी निर्मलता होती है और श्रवण इन्द्रिय की अधिष्ठात्री दिग्देवता की प्रसन्नता तो सर्व सिद्धि का कारण है। इसलिए ज्ञान भी सिद्ध हो और सर्व फल भी सिद्ध हो, इसलिए भूतात्मक और देवात्मक दोनों प्रकार की दिशाओं की प्रसन्नता **"दिशः प्रसेदुः"** इन शब्दों से कही है—

निर्मल तारागणों से उनके उदयकाल में भी आकाश शोभित था। वर्षाकाल में मेघों का होना स्वाभाविक है और उन मेघों के निमित्त ताराओं का प्रकाश नहीं दीख पाता। इस हेतु से ताराओं की निर्मलता बतलाई गई कि उदयकाल में भी मेघादिकों का अभाव था। अथवा यहां उदय शब्द का "दर्शन" अर्थ पर अधिक उपयुक्त है। आकाश में निर्मल तारागणों का दर्शन हो रहा था। सर्वत्र पृथ्वी में पुत्र-जन्म आदि माङ्गलिक उत्सव होने लगे। बड़े से बड़े नगर में और छोटे से छोटे ग्रामों में, गोशालाओं में एवं रत्न आदि की खानों में सब प्रकार बहुविध और अधिकतर मङ्गलमय दृश्य पृथ्वी में सज उठा ॥ २ ॥

एवं देशकालयोर्गुणानुक्त्वा उपर के श्लोकों से देश और काल के गुणों का वर्णन कर उन-उन भूतों में प्रधानभूत भौतिक पदार्थों के गुणों को अब इस श्लोक से कहते हैं। **'नद्यः प्रसन्नसालिता इति'** उनमें प्रथम जलों के गुणों को कहते हैं कि नदी प्रसन्नसलिला हो गई। उनका जल प्रशान्त और स्वच्छ हो गया। यद्यपि जल अनेक प्रकार के रहते हुए भी मुख्य दो ही प्रकार हैं। एक तो स्थिर रहने वाले बद्धघाट सरोवर और दूसरे बहने वाले सरिता आदि। इसलिए इन दोनों के गुण कहे जाते हैं। नदियों में कालवश जल मलिन हो जाता है। आधिदैविक काल के प्रकट होने से या काल के नियामक भगवान् के

सामर्थ्य से उस मलिनता का दोष दूर होता है। इसलिये यहाँ काल के नियामक भगवान् के पधारने के समय नदियों का नीर निर्मल बन गया और प्रसाद गुण पूर्ण हो गया। 'नद्यः प्रसन्नसलिलाः' इस पद के द्वारा मलांश दोष की निवृत्ति और स्वाभाविक नयनानन्दकारी सौन्दर्य गुण का निर्देश किया गया है। सरोवर स्थिर जलाशय होते हैं। जल में प्रकट होने वाले कमलों की शोभा उन जलाशयों में व्याप्त हो रही थी। जल का जो यह सार भाग है वह कमलादि ही है। अतः जल के असाधारण गुणों का वर्णन इस विशेषण से हुआ है। पृथ्वी के गुणों का वर्णन करना है, और गन्ध ही पृथ्वी का प्रधान गुण है, इस दृष्टि से एवं उस गन्ध की प्रसिद्धि पुष्पादिकों में है इस दृष्टि से गन्ध और रस के कार्यों का कथन करते हुए पुष्पादि सम्पत्ति वाली वनरूपिणी पृथ्वी का वर्णन करते हैं कि पक्षियों और भ्रमरों के समूहों की मधुर ध्वनि से शब्दायमान पुष्प गुच्छों द्वारा वनराजियाँ भी आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो गई ॥ ३ ॥

ववौ वायुरिति—सुखमय स्पर्श वायु का गुण है और वह वायु पृथ्वी के प्रधान गुण गन्ध का वहन करता ही है परन्तु भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर तो उस वायु ने मांगल्यसूचक पवित्र सुगन्ध को बहा दिया। उस पवित्र पवन ने दिशा और अवान्तर दिशाओं को सुगन्ध से सुवासित कर दिया। इस पावन पवन में गंगादि पवित्र तीर्थों के जल कण व्याप्त थे इसलिये पवन को 'शुचि' कहा है अथवा दोष रहित होने के कारण पवन 'शुचि' है अथवा मंगलसूचक होने के कारण वायु 'शुचि' है, तात्पर्य कि सब ही अभिप्रायों को लेकर शुचि पद का प्रयोग हुआ है। वायु के गुणों में उसके तीनों विशेषणों का उपयोग है, और स्मृति प्रतिपादित धर्म कर्मों के उपयोगी लौकिकाग्नि तथा श्रुतिप्रतिपादित अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के उपयोगी वैदिकाग्नि दोनों प्रकार के मङ्गल अग्नि प्रज्वलित हो उठे। **'द्विजातीनामिति'**–द्विजाति पद से अग्नि के ब्राह्मण क्षत्रिय आदि उच्च श्रेणी के सत्कर्माधिकारियों के सम्बन्धी होने का निर्देश किया है द्विजाति पद से म्लेच्छ आदि से सम्बन्धित निषिद्ध कर्मगत अग्नि का अग्रहण भी सूचित किया गया है। तात्पर्य तो यह था कि म्लेच्छों की अग्नि बुझ गई, यह सूचित किया है। 'शान्ता' स्तस्मिन्–शांत विशेषण से अशुभ कार्यगत अग्नि का व्यावर्तन किया है, आशय यह है कि भगवत्प्राकट्य के मङ्गल अवसर पर मंगल अग्नि भस्म में दबी हुई भी जाग उठीं और अशुभ क्रियागत अग्नि जगाने पर भी नहीं जगी ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तृतीये श्रीहरेर्जन्म पितृभ्यां संस्तुतिस्तथा। गोकुले नयनं तस्य वसुदेवेन वर्ण्यते ॥ १ ॥

एवं देवानां गमनानन्तरं भगवतः प्रादुर्भावं निरूपयति—अथेति। अथ ब्रह्मादिगमनानन्तरमित्यर्थः। तेन ब्रह्मादिदेवसान्निध्यात् कालादेर्गुणवत्वं जातमितिशङ्का निराकृता भवति। तस्मिन् अजने जनार्दने जायमाने सति यर्हि परमशोभनः कालादिर्बभूव तदा देवक्यां विष्णुराविरासीदिति सार्द्धाष्टमश्लोकगतेनान्वयः। "भगवत्प्रादुर्भावे न कालादिशोभनत्वं हेतुः, तस्य स्वातन्त्र्येण कालादिपारतन्त्र्याभावात्। किन्तु तत्प्रादुर्भावसान्निध्यमेव कालादिशोभनत्वे हेतुः" इति सूचयितुं जायमानेऽजन तस्मिन्नित्याद्युक्तम्। तस्मिन् स्वतन्त्रत्वेन प्रसिद्धे कालकर्मादिवशवर्तिजन्मरहिते भगवति। तत्र हेतुमाह - जनार्दने इति। जनानामविद्यामर्दयतीति तथा तस्मिन् यो हि स्वाश्रितजनानां जन्मादिहेतूनविद्याकालकर्मादीन् निवर्तयति स स्वयं कथमविद्यादिवशवर्तिजन्मवान् स्यादिति भावः। कालस्य शोभनत्वे हेतुमाह--सर्वगुणोपेत इति। तानेव गुणानाह यर्ह्येवेति। अजनो भगवांस्तस्माज्जन्म यस्य, तस्य ब्रह्मणः ऋक्षं रोहिणी नक्षत्रं यर्ह्येव बभूव तदा देवक्यां विष्णुराविरासीत्। एवमग्रेऽपि सर्वत्र यर्ह्येवेत्यनुषङ्गेणान्वयो बोध्यः। तस्य नक्षत्रस्य सहायकानामानुगुण्यमाह–शान्तेति। शान्तानि ऋक्षाणि अश्विन्यादीनि, ग्रहा आदित्यादयः, तारकाः अन्यानि नक्षत्राणि यस्मिंस्तत्। तत्रर्क्षग्रहाणां शान्तत्वं दुष्टस्थानस्थितिराहित्यम्, तारकाणां तूत्पातसूचनराहित्यम् ॥ १ ॥ एवं कालगुणानुक्त्वा देशगुणानाह–दिश इति। देशस्त्रिविधः। तत्राधोदेशो भूमिः, उपरि गगनम्, परितो दिश इति। तत्र दिशः प्रसेदुः निर्मला जाताः। निर्मलानामुडुगणानां नक्षत्रादीनामुदयो यस्मिंस्तथाभूतं यर्हि गगनं बभूव। मङ्गलानि पुत्रजन्मादीनि भूयिष्ठानि येषु तथाभूताः। पुरादयो यस्यां तथाभूता यर्हि मही बभूव। तत्र पुराणि हट्टादिमन्ति, तद्रहिता ग्रामाः गोगोपनिवासस्थानं व्रजः, आकरः सुवर्णमण्याद्युत्पत्तिस्थानम् ॥ २ ॥ अथ जलगुणानाह—नद्य इति। प्रसन्नानि पङ्करहितानि सलिलानि यासां तथाभूता यर्हि नद्यो जाताः एवं जङ्गमजलगुणमुक्त्वा स्थावरजलगुणमाह–ह्रदा इति। जलरुहाणां कमलादीनां श्रीः शोभा येषु तथाभूता ह्रदा जाताः। भूमेर्गुणं गन्धातिशयं द्योतयन्नाह - द्विजेति। द्विजानां पक्षिणामलीनां भ्रमराणां च कुलानां सङ्घानां गन्धमत्तानां सन्नादो मनोहरशब्दो येषु ते स्तबका पुष्पगुच्छाः यासां तास्तथाभूता वनराजयः वृक्षपङ्क्तयो यर्हि बभूवुः। यद्यपि वर्षाकाले जलानां स्वच्छता रात्रौ कमलशोभा पक्ष्यादिशब्दश्च न सम्भवति, तथापि भगवत्प्रादुर्भावमहिम्ना जातमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥ वायुगुणानाह- ववाविति। सुखस्पर्श इति शीतत्वं मन्दत्वं चोक्तम्। पुण्यगन्धवह इति सुगन्धित्वम्। शुचिः यमुनाजलसम्बन्धी। तेजसो गुणमाह—अग्नय इति। द्विजातीनां ब्राह्मणादीनां श्रौतस्मार्तकर्माङ्गभूताः अग्नयश्च पूर्वं शान्तास्तत्र तस्मिन् समये समिन्धत। अडागमाभाव आर्षः। सम्यक् होमा बभूवुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तृतीये स्वयमुद्भूतः पितृभ्यां च स्तुतो हरिः । गोकुलं प्रापितः पित्रा श्लोकाः सार्द्धास्त्रिमार्गणाः (५३।।) ॥
षडुवाचेति (६) पादाढ्यास्त्रयः षष्टिरनुष्टुभः (६३।) ॥ ३ ॥

अथेति ॥ अथेति मंगलार्थम् । यर्हि सर्वगुणोपेतः कालो बभूव तदा देवक्यां विष्णुराविरासीदित्यष्टमश्लोकगतेनान्वयः । अन्येऽप्यन्वयप्रकाराष्टीकान्तरेषु ज्ञेयाः । यद्वा । यर्ह्येव शान्तानि ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि ग्रहाश्च तारकाश्च यस्मिंस्तत् अजनस्य जन्मरहितस्य भगवतो जन्मनक्षत्रं रोहिणी अभूत् । यद्वा । अजनान्नारायणाज्जन्म यस्य तस्य प्रजापतेर्ऋक्षं रोहिण्यभूत् । अथ तदैव सर्वगुणोपेतः परमशोभनः कालोऽभूदिति सारार्थसंदर्शिन्यां सर्वेभ्यो लघुः प्रकारो भाति ॥ १ ॥ सर्वगुणोपेतत्वं सर्वतत्त्वानां प्रसादादिनाह – दिश इति ॥ तत्र दिशः प्रसेदुः निर्मला जाताः इति वर्षासु शरद्गुणः गगनं च निर्मलानामुडुगणानां नक्षत्रादीनामुदयो यस्मिंस्तथाभूतं बभूव । मही च मङ्गलानि पुत्रजन्मादीनि भूयिष्ठानि येषु तथाभूताः पुरादयो यत्र तादृशी बभूव । तत्र पुराणि हट्टादिमन्ति तद्रहिता ग्रामाः गोगोपनिवासस्थानं व्रजः आकरः सुवर्णमण्याद्युत्पत्तिस्थानम् ॥ २ ॥ नद्य इति ॥ नद्यः प्रसन्नानि पङ्करहितानि सलिलानि यासां तथाभूता बभूवुः । ह्रदाश्च जलरुहैः विकसितकमलैः श्रीर्येषां तथाभूता बभूवुः । इति रात्रावपि दिवसगुणः । वनानां राजयः द्विजानां पक्षिणामलीनां भ्रमराणां च कुलानां सङ्घानां गन्धमत्तानां सन्नादो मनोहरशब्दो येषु ते स्तबकाः पुष्पगुच्छाः यासां तास्तथाभूता बभूवुः । इति वर्षासु वसन्तगुणः । सर्वमेतत् भगवत्प्रादुर्भावमहिम्नैवेति बोध्यम् ॥ ३ ॥ ववाविति ॥ तत्र काले सुखः शीतः स्पर्शो यस्य सः पुण्यः सुरभिर्यो गन्धस्तस्य वहः प्रापकः शुचिर्यमुनासङ्गी वायुर्ववौ । द्विजातीनां ब्राह्मणादीनामग्नयः शान्ताः कंसपापप्राबल्येन निर्वाणप्राया अपि समिन्धत । सम्यग् दक्षिणावर्तत्वेन उद्दीप्ता बभूवुः । यद्वा । शान्ताः धूमादिरहिताः सन्तः समिन्धत । आडागमाभाव आर्षः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स्वस्वरूपेण संभूतस्तृतीये संस्तुतो हरिः । पितृभ्यां विस्मयता नीतो गोकुलं जनकेन सः ॥ १ ॥

अथ भगवदवतारं प्रस्तौति ॥ अथेति ॥ यर्हि यदा, अजनजन्म कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य भगवतो जन्म, अभूत् , अथ तदा, कालः, सर्वेषां ग्रहाणां गुणा उच्चस्थानगतत्वादयो गुणास्तैरुपेतो विशिष्टः, परमं शोभनं यस्मात् सः, एवंभूतः अभूत् । शान्तानि ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि भानि ग्रहाः सूर्यादयः तारका अन्ये तःरागणा यस्मिंस्तत् , ऋक्षं भगवज्जन्मकालीनं रोहिणीनक्षत्रं, अभूत् । यद्वा, अजनान्नारायणाज्जन्म यस्य ब्रह्मणः ऋक्षं रोहिण्याख्यं, शान्तर्क्षग्रहतारकं, यर्हि अभूत्, तदैव भगवाननाविरासीदित्यष्टमश्लोकस्थेनान्वयः । अत्र ऋक्षस्योपलक्षणत्वाद्बुधवाराष्टम्यौ ग्राह्ये । अत्र निशीथे बुधाष्टमीरोहिणीनां मुख्यता, प्रपञ्चस्तु गौरवभयान्न कृतोऽस्ति यर्हीति सर्वत्रानुषञ्जनीयम् ॥ १ ॥ दिश इति ॥ यर्हि दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः, निर्मलानामुडुगणानां नक्षत्रगणानामुदयो यस्मिंस्तथाभूतम् , गगनं नभः, अभूत् । पुराणि प्राकारोपेतानि च ग्रामास्तद्रहिताश्च तेषां व्रजानां समूहानामाकरा आश्रयभूता, मही भूः, मङ्गलानि भूयिष्ठानि बहूनि यस्यां तथाभूता, बभूव । पाठान्तरे मङ्गलानि भूयिष्ठानि येषु तथाविधाः पुरग्रामव्रजाकरा यस्यां तथाविधा, महीति ॥ २ ॥ नद्य इति । यर्हि नद्यः, प्रसन्नानि सलिलानि यासु तास्तथाभूताः, ह्रदा अगाधजला जलाशयाः, जलरुहाणां जलरुहैर्वा श्रीर्येषु तथाभूताः, अत्र ह्रदानां भगवज्जन्मकाले जलरुहश्रीयुक्तत्ववर्णनात् जलरुहाणां च सूर्यसंबन्धेन श्रीयुक्तत्वदर्शनात् , अर्द्धरात्रे सूर्यस्यासंबन्धात् श्रीयुक्तत्वहानेर्न सूर्यविकाशिपद्मरूपोऽर्थः, किं तु जलरुहशब्देनात्र रक्तादिवर्णवन्ति चन्द्रविकाशिकुमुदानि बुद्ध्यन्ते, तैरपि तेषां श्रीमत्त्वस्य युक्तत्वात् । भगवत्प्रतापदृष्ट्या प्रफुल्लपद्मश्रीमत्त्वेऽपि तेषां न बाधः । वनराजयो वनपङ्क्तयश्च, द्विजानां पक्षिणामलीनां भ्रमराणां च यानि कुलानि संघास्तेषां सन्ना निवृत्ता आदा अदनानि येषु तानि स्तबकानि यासु ताः, अदनम् आदः कणचयनं, भगवत्प्रतापेक्षया तु द्विजालिकुलानां सन्तः शोभना नादा येषु ते स्तबका यासु ताः, इति वा । अभवन् ॥ ३ ॥ ववाविति । यर्हि वायुरपि, शुचिर्धूलिरहितः, पुण्यगन्धवहः पवित्रगन्धवाहकः, सुखस्पर्शः सुखकारकस्पर्शश्च, ववौ । द्विजातीनां त्रैवर्णिकानाम् , अग्नयः, तत्र स्वस्थानभूतेषु कुण्डेषु, शान्ताः करीषादिसंबन्धजधूमादिकालुष्यरहिताः सन्तः, समिन्धत समैन्धत प्रज्वलिता आसन् । अडागमाभाव आर्षः । अत्रैषामित्थंभावोऽपि भगवत्प्रादुर्भावावसरत एव ॥४॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अथ सर्वगुणेति : १०.३.१.

यः सर्वैकगुणाश्रितो निगदितः कालो जनानिष्टकृत् सोऽपि श्रीमदधोक्षजोदयतयाऽजन्युत्तमः शोभनः ।
किं वाच्यं स्थितिसर्गजृम्भणगुणाक्रान्तस्य दिष्टस्य वा भ्वादीनां स्थितिरित्यभूत्स्फुटमिह प्राग्दिष्टसद्वर्णनात् ॥ १ ॥
प्रजारूपेणाहं बहु भवितुमिच्छामि च यदा ततः पूर्वं सर्वं निरवधितमस्तोमकलितम् ।
इतीव श्रुत्यर्थद्वयमिदमबोधि स्फुटमिह तथादिष्टोल्लेखाद् ध्रुवमजनजन्मेति पदतः ॥ २ ॥

सन्मार्गमेव स्वच्छाशं कर्तुमभ्युद्यते विधौ। युक्तैव कान्तिः शान्तिश्च सदा सत्पथवर्तिनः ॥ ३ ॥
सकलगुणान्वयशोभिनि सर्वज्ञे श्रीपतौ समवतीर्णे। भूमिजबुधगुरुकवयः सुखोदयं प्रापुरेतदिति युक्तम् ॥ ४ ॥
वाच्ये सति प्रसिद्धे सिद्धस्तद्वाचकोच्छ्रयो लोके। प्रणवोल्लासिनि भगवति युक्तोऽसावमलतारकोल्लासः ॥ ५ ॥

दिशः प्रसेदुरिति : १०.३ २.

रिपुजातभयोज्झिताधिकारैः पतिभिः साकमितोऽचिरेण योगः।
प्रभवेदिति ता दिशः प्रसेदुर्भुवि जन्मैशमवेक्ष्य कंसहन्तृ ॥ ६ ॥
हरित्वं हरावेवमेवासु सिद्धं निराबाधमस्तीति युक्तं दिशस्ताः।
सुभव्येऽच्युतात्मप्रसन्नोदये सत्यलं प्रापुरच्छाच्युतात्मप्रसादम ॥ ७ ॥

आशाः प्रसादफलकाः सकला अपीह भूमौ भवेयुरचिरादमलस्थितीनाम्।
अर्थोऽस्त्वयं सुविशदोऽर्थत इत्यबोधि प्रायः प्रसेदुरनिशं दिश एवमुक्त्या ॥ ८ ॥

दुर्दान्तोद्धतदैत्यदत्तविपदां तत्क्लेशनाशार्थिकां श्रोतुं वाचमदुर्ह्रदां सदयधीर्दत्तावधानः सदा।
अस्त्येव प्रभुरित्यशङ्कमखिलस्पष्टावगत्यै तदा युक्तं ता निखिलाः प्रसेदुरमलास्तच्छ्रोत्ररूपा दिशः ॥ ९ ॥
साधारणोऽपि सुकृती यदि यत्कुले स्यात् तत्पूर्वजो भवति तेन हि निर्मलात्मा।
युक्तं तदेशजनुषोडुगणोच्छकान्तिरासीदसौ यदिह पूर्वजपुंप्रियात्मा ॥ १० ॥
हरावुदयमासन्ने सहस्रगुणशोभिनि। भुवने पुष्करोल्लासो युक्त एवेति विद्महे ॥ ११ ॥
यस्माद्रसः स्रवति सर्वमलापहारी यद्राजहंसपदमाश्रयद द्विजानाम्।
यद्भाति मानसमिवाच्छसमग्रतारं युक्तं वियत्तदमलं च सुशोभमासीत् ॥ १२ ॥

मही मङ्गलेति :

ध्येयं योगिभिरर्च्यमाश्रितजनैर्गेयं हि देवर्षिभिः सेव्यं भव्यदया च यत्सदयया सर्वाढ्ययापि श्रिया।
तच्छ्रीमत्पदमद्य मय्यविरतं सञ्चारशीलं भवेदित्यानन्दयुता तदाऽवनिरभून्माङ्गल्यतोऽलङ्कृता ॥ १३ ॥
त्वदीय-परिधान-सद्वसनवास्यसौ मत्पतिस्ततो भृशमदुर्लभो भवति भोगयोगोऽस्य ते।
इति प्रियसखीकृतं समुपहासमन्वर्थतोऽचिरादनु भवेयमित्यवनिराप्तभव्याऽभवत् ॥ १४ ॥
आयाते क्वचिदेव सद्मनि निजे जामातरि प्रेमतः कन्यामातुरतीव चेतसि भवत्यानन्द एतत्स्फुटम्।
सर्वत्रेति न चित्रमत्र यदभूत्सा भूमिरानन्दभाक् सीताभर्तुरनामयाऽऽगमनमालक्ष्याऽखिलाधीशितुः ॥ १५ ॥
पुरा वराहवर्ष्मणोद्धृता द्विजाग्रतोऽप्यहं न तद्विहारसौख्यभागभूवमेवमंशतः।
पदे पदे पदाम्बुज-प्रचारसार-सौख्यभागितो भवेयमित्यभूदिला समुत्सुमङ्गला ॥ १६ ॥
देवर्षि-द्विज-वह्निसाक्षिकमहं पाणिग्रहेणादृताप्यात्मीयव्रतरक्षिणा न हरिणा संभोगपात्रीकृता।
संचिन्त्यैशमिहावतारमतुल-क्रीडा-प्रधानोज्ज्वलं साध्वभ्यन्तरमोदमानहृदया साऽभूरभूद्भव्यभूः ॥ १७ ॥
वर्णितवाद्यदुपेन्द्रतोऽनुविहित ब्रह्मार्पणाद्रामतोयत्सीतापतितोऽप्यभून्न च सुखं श्वश्रूत्वतस्तादृशम्।
तत्सौभाग्यसुखं किलाद्य फलितं तद्भोगतोऽस्मिन् भवेदस्माद्धासकसज्जिकेव समभूद्भूमिस्तदाऽत्युज्ज्वला॥१८॥
यस्यां ग्रामपुरव्रजादिरचना विद्योतते सूत्रवत् कामं तत्र सुमङ्गलत्वमृषिणा वक्त्रेदमत्राध्वनि।
आलक्ष्येशमहोदयं बहुदयं सौभाग्यसन्धायकं श्रीमन्मङ्गलसूत्रसूत्रितगला सेलोज्ज्वलश्रीरिति ॥ १९ ॥
प्राप्तं कार्यमनर्हमर्हमपि वा यस्तुल्यभावं क्षमाशीलः संसहते लषन्निजपति-प्रेमर्द्धिमन्तश्चिरम्।
नीतश्चेत्प्रभुणा स सत्कृतिपदं कार्तार्थ्यमस्यार्थतस्तद्व्यक्तं भवतीति युक्तमतिभा सर्वंसहाऽऽसीत्तदा ॥ २० ॥
पुत्रेणाखिललोकपालनकला संदर्शनीयाऽनिशं स्वीया सर्वसदिष्टशर्मरुचये ताताय निस्तन्द्रितम्।
युक्तं तत्किल मङ्गलोऽप्यविकलं संलक्ष्य तातागतिं यद्ग्रामव्रजपूर्वनान्यवनिजः स्वार्थान्वितान्यादधे ॥ २१ ॥
यः सतामच्युतोऽजस्रमचलानन्दकारकः। युक्तस्तदुदयोऽप्यस्मिन्नचलानन्दकारकः ॥ २२ ॥
त्यक्त्वाऽन्यामखिलामपि व्यवहृतिं स्वस्थाचलानन्ददां यत्तादृप्यमानसोक्तिविषयं प्राप्तुं यतन्ते बुधाः।
स्वात्माकारतयाऽद्य तु स्वयमहो सोऽयं स्थितः श्रीपतिः शंसन्ती निजदिष्टमिष्टमिति सा पृथ्वी तथाऽऽसीत्तदा ॥ २३ ॥

नद्यः प्रसन्नसलिला इति : १०. ३. ३.

प्रक्षिप्तानेकभूभृन्निचय-परिचलद्-व्यस्तनीरधिवार्द्धौ सेतूद्योगेन भव्यं जनकगृहसुखं येन दत्तं पुरा नः।
सोऽयं भूयोऽभ्युपेतस्तदनुपमसुखं लभ्यमस्मभ्यमस्मात् भूयो भूयोऽभ्यरत्नादिति ननु सरितः सुप्रसन्नास्तदासन्॥२४॥

दृष्टास्मज्जनकावनिध्रपदया संदर्शनीयं त्वया हे मन्दाकिनि नः शुभं निजसमद्भूतेर्निदानं पदम्।
एवं भूरितरार्थिनाऽपि नहि सा प्रादर्शयद् द्वेषतः स्पष्टं दृष्टमितोऽचिरेण भवितेत्यासन् प्रसन्नास्तु ताः ॥ २५ ॥
नित्यं सन्निहितोऽपि भर्तृसदने नास्माभिरालोकितो जामाताऽस्ति स कीदृशः स्वमहो यः संवृतः पद्मया।
इत्यभ्यन्तरवासनामसुलभां निर्यत्नलभ्यामितो निश्चित्य स्फुटनामरूपविभवास्ताः किं तथाऽऽसंस्तदा ॥ २६ ॥

एता नदी नेष्टकदन्तरा इति मत्वा रमानायक न त्यजाद्य नः।
इत्यर्थनासन्धिमवेक्ष्य तास्तदा नद्यो मुदा निर्मलवृत्तयः स्थिताः ॥ २७ ॥
यत्कान्तः शरणमिहास्ति यस्य तस्मिन् तत्स्त्रीणां निरुपधिवृत्तिरेव युक्ता।
जानन्त्यो नयमिममार्यजुष्टमिष्टं सन्नद्योऽकलुषित-जीवनास्तदाऽऽसन् ॥ २८ ॥
भुवनाधिपतौ हि शूरजाते भुवनत्राणकृतौ कृतप्रतिज्ञे।
भविता न कथं प्रसादशालि भुवनं भूरितरास्तदाश्रिता वा ॥ २९ ॥

ह्रदा इति :

कश्चित्सम्पदमुत्तमामधिगतश्चेत्तर्हि तेनापरे कार्तार्थ्यं बहुमानयन्त्यतिजडास्तज्जातिमत्त्वाश्रिताः।
एतद् व्यक्तमभूत्प्रदा यदखिला फुल्लाम्बुजातश्रियः संचिन्त्य स्वक्रमत्र भावि भगवत्क्रीडं तमेकं ह्रदम् ॥ ३० ॥
जडाशया इमे इति प्रकाममुग्धबुद्धयो वदन्तु किन्तु तत्त्वतः परेशवृत्तयो वयम्।
यतः श्वफल्कजं पुरो विधाय माधवोऽत्र नः करिष्यति प्रतिष्ठितानिति ह्रदास्तथाऽभवन् ॥ ३१ ॥
सकलमपि भुवनजातं जडजातं मोदयेदयं सदयः। इति सत्प्रत्ययहेतुकमभूत्प्रसन्नं ह्रदोत्थजलजातम् ॥ ३२ ॥

द्विजालीति :

न्यरचि भूर्यवतारभृता वने स्वतनुकेलिरनेन महात्मना।
तदधिकामधुना तु करिष्यतीत्युदितहर्षरवा वनराजयः ॥ ३३ ॥
जपो वा तपो वा महोपासना वा निदिध्यासनं साधनौघः परो वा।
कृतो जातु नेतो भवो दुस्तरो नः प्रभौ पातरीहेत्युवाच द्विजालिः ॥ ३४ ॥
तिर्यञ्चोऽपि भवेमेश सदयेक्षणलक्षिताः। वयं धन्याः सदा वन्यामिति वोचुर्द्विजालयः ॥ ३५ ॥
लसन्ति येऽस्मिन् सुमनःसुवृत्तयः सदैव वा ये वनजातशोभिनः।
द्विजादयस्तेऽभ्युदिते हरौ लसद् गिरस्तदाऽऽसन्निति युक्तमेव तत् ॥ ३६ ॥
अवनविहृतिदीक्षां स्वाममुञ्चन् मुरारिर्वनविहृतिममीषां प्राग्वदत्रापि कुर्यात्।
इति किमु किमु वाच्यं साधुवात्सल्यमस्य प्रतिवनमिति सर्वेऽप्यूचिरे ते द्विजाद्याः ॥ ३७ ॥
वृन्दावनं स्वपदकेलिपदं करिष्यत्यस्मिन् दयोदधिरसौ बहुधावतारे।
श्रुत्वा द्विजालिगिरमेवमुदारवल्ली वृन्दावनालिरभवत् स्तवकामितश्रीः ॥ ३८ ॥

ववौ वायुरिति : १०. ३. ४.

दातृप्रीत्यूद्विरास्तां मयि सततमिति स्पृह्यते येन तेन स्वीकार्यं भव्यकृत्तद्व्यसनमिह यतस्तुल्ययोः प्रीतिरुक्ता।
जानन्नित्थं वदान्योत्तरवरदपदे श्रीपदावभ्युदीतेतत्प्रीतिप्राप्तिकामोऽध्यवनि स पवनः सत्सुखस्पर्श आसीत् ॥ ३९ ॥
गुणी बहुगुणान्वयोच्छ्रितपदं परं प्रेक्ष्य यत् प्रकाशयति सद्गुणं निजबहुप्रशंसाऽऽशया।
विलोक्य जगतीपतेस्तदतिशायिनोऽस्योदयं सदागतिरसावपि स्वगुणदर्श्यभूत्तत्क्षमम् ॥ ४० ॥
नित्योल्लसत्पदमुकुन्दमुखारविन्दधर्मोदविन्दु-मकरन्द-रसैकपाने।
उत्तुङ्गभृङ्गतिरस्तु मानवद्येत्यभ्यासधीः परिववौ स तदा नभस्वान् ॥ ४१ ॥
प्रभुपदेक्षणलालसता यदि सुकृतमेव हि तर्हि नरार्जय।
उपदिशन्निति सर्वजनान्निजं सुकृतगन्धमसावकरोत् स्फुटम् ॥ ४२ ॥
पुत्रेण प्रागधनुमता कृतयाऽस्य भूयः शुश्रूषयाऽत्र भृशमस्मि कृतार्थ एव।
साक्षात्तथाप्यहमिहापि समाचरेयं सेवामतः परिचचार तदा सदा सः ॥ ४३ ॥
युक्त एव सतां त्रातर्यवतीर्णे जगत्प्रभौ। वन्दान्यपूत-पुण्यात्म-जगत्प्राणसुखोदयः ॥ ४४ ॥
तथा मरुत्सौख्यमहं दिशाम्यलं सुखप्रचारो भविता यथा सदा।
इति प्रतिज्ञो यदुपागतः प्रभुस्ततसाधुसामोदमरुद्गतिः सुखे ॥ ४५ ॥

अग्नय इति ।

निस्तन्द्रं सुजनावनोत्सुकमना नारायणः सम्प्रति प्रादुर्भूय धनञ्जयर्द्धिमतुलां लोके करिष्यत्यसौ ।
अर्थः पार्थपरोऽस्तु तस्य वचसो नाम्नास्तु कीर्तिर्ममेत्यानन्दादनलस्तदा किल लसत्कीलाकलापो बभौ ॥ ४६ ॥
पातिव्रत्यभयाद्विदेहदुहितुस्त्वत्क्रोधभीत्याऽथवा शान्तोऽसावनलः कृपापदमभूत्तेनैव ते श्रीपते ।
शान्ता एव निसर्गतो वयममी स्मः सम्प्रतीति प्रभुख्यात्यै शान्ततरार्चिषः समभवन् सर्वे द्विजात्यग्नयः ॥ ४७ ॥
यः कश्चिदस्मज्जातीयः स्यान्मुख्यः श्रीपतेरपि । अचिरादित इत्यासन् सुप्रभाः प्रेमतोऽग्नयः ॥ ४८ ॥

वर्णाश्रमाद्यखिलसत्स्थितिक-श्रुतीड्ये प्राप्तेऽवनौ श्रुतिमुखे भगवत्यनन्ते ।
विश्वेनराः सुरसभाः किल यत्तदासन् स्वस्यैकधर्मकलिता इति युक्तमेव ॥ ४९ ॥
अभ्यागते स्वामिनि शान्तवृत्तिस्तदाश्रयाशस्य हि मुख्यधर्मः ।
तद्युक्तमाप्तेऽखिललोकनाथे तदाऽऽश्रयाशः स यदास तादृक् ॥ ५० ॥
नारायणे समुदिते वेदावनपरायणे । युक्ता द्विजप्रेष्ठ जातवेदस्थितिरनामया ॥ ५१ ॥
अस्मत्परित्राणकृते कृपालुः कृतप्रतिज्ञः सुकृतात्मरूपः ।
धृतावतारो ह्यधुनेति देवा आसन् सदास्या बहुधाग्निवक्त्रा ॥ ५२ ॥

कंसाद्यैरसुरैर्बलादपहृतं स्वीयं हविर्वैभवं लब्धं तत्पुनरच्युते समुदिते मत्त्वेत्यभूत् कान्तिमान् ।
सम्प्राप्तेऽमितवैभवेऽपि सबले प्राबल्यतो धीमता सन्त्याज्यो विनयो न जातुचिदपीत्यासीच्च शान्तोऽनलः ॥५३॥

कृष्णप्रिया

भगवान् की स्तुति कर देवताओं के प्रस्थान के अनन्तर परम सुन्दर एवं सर्व गुणसम्पन्न काल प्रकट हुआ जब ही रोहिणी नक्षत्र आया और उसके सहवर्ती अन्य नक्षत्र ग्रहतारा भी शान्त रूप से शुभ फल की सूचना देने के लिये उपस्थित हुए ॥ १ ॥ भगवत्प्राकट्य कालका निरूपण करते कह रहे हैं कि सर्व दिशाएँ प्रसन्न हो गई थीं आकाश भी निर्मल तारागणों के उदय से प्रसन्न-निर्मल था । पृथ्वी में भी प्रत्येक नगर और ग्रामों में एवम् गौओं के व्रज स्थान तथा रत्नादिकों के भी उत्पत्ति स्थानों में सर्वत्र ही उत्कट प्रमाणमें मङ्गल कार्य हो रहे थे ॥ २ ॥ अब जल तत्व की प्रसन्नता बताते हैं कि — नदियों का जल प्रसन्न था, सरोवर भी खिले हुए कमलों से शोभा प्रदान कर रहे थे । वनराजियाँ भी पक्षीवृन्द एवम् भ्रमरपुञ्ज की गुंजन से पुष्प गुच्छों को गुंजित कर रही थी ॥ ३ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रजी के प्राकट्य अवसर पर जगपावन एवं माङ्गल्य सूचक सुगन्धपूर्ण तथा स्पर्श से सुख देनेवाला वायु बह रहा था और द्विजातियों के शांति पुष्टिकर अग्नि देव भी प्रदीप्त हो उठे थे ॥ ४ ॥

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् । जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥ ५ ॥
जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः । विद्याधराश्च[1] ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा[2] ॥ ६ ॥
मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः । मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥ ७ ॥
निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने । देवक्यां [3]देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः[4] ॥ ८ ॥
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८½ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तस्मिन् अजने जायमाने असुरद्रुहाम् साधूनाम् मनांसि प्रसन्नानि आसन्, दिवि दुन्दुभयः नेदुः ॥ ५ ॥ किन्नर-गन्धर्वाः जगुः, सिद्धचारणाः तुष्टुवुः च विद्याधराः अप्सरोभिः समं मुदा ननृतुः ॥ ६ ॥ मुदान्विताः मुनयः देवाः सुमनांसि मुमुचुः जलधराः मन्दम्-मन्दम् अनुसागरम् जगर्जुः ॥ ७ ॥ जायमाने जनार्दने निशीथे तम उद्भूते प्राच्यां दिशि यथा पुष्कलः इन्दुः इव देवक्यां देवरूपिण्यां सर्वगुहाशयः विष्णुः आविरासीत् ॥ ८½ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

असुरद्रुहां देवानां कंसादिव्यतिरिक्तानां सर्वप्राणिनां चेति । स्वर्गे तु विशेषमाह । जायमान इति । अजने जायमाने ॥५॥ तदा आसन्नः प्रसवो यस्मिंस्तस्मिन्समये ॥ ६ ॥ अनुसागरं सागरनादमनुलक्ष्य मन्दं जगर्जेति ॥ ७ ॥ तमसोद्भूते घनतमसि निशीथे । यथा यथावदैश्वरेणैव रूपेण ॥ ८ ॥

---

१. धर्यश्च—श्रीधर. वंशी जीव. गिरि. भक्त. । २. तदा—श्रीधर. वंशी. जीव. गिरि. भक्त. । ३. देव—श्रीधर. वंशी. जीव. विजय. विश्व. गिरि. भक्त. । ४. गुणाश्रयः—वीर. भक्त. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

क्लिष्टकल्पनां परित्यज्याह—देवानां वेति। अजने वस्तुतो जनिरहिते तस्मिन्भगवति जायमाने आसन्नप्रसवे आसन्नोऽतिनिकटः प्रसव आविर्भावो यस्मिन्समय इत्यर्थ इत्युक्तेर्जाते सतीत्यर्थो न विधेयः ॥ ५ ॥ समं सार्द्धम्। तदा भगवदाविर्भाववेलायाम् ॥ ६ ॥ सुमनांसि पुष्पाणि अनुसागरम्। अनुकृतं सदृशीकृतं सागरः तद्गर्जनं यत्र तद्यथा स्यात्तथेति ॥ ७ ॥ निशीथेऽर्द्धरात्रे। जनार्दने जनभयंकरे। जायमाने सति तत्र हेतुः—तम इत्यादिः। यद्वा—जनैरर्द्यते प्रार्थ्यते उदयो यस्येति जनार्दनश्चंद्रः। यद्वा—जनानां सर्वज्ञभक्तमुनिदेवादीनामर्दने भगवन्नाविर्भवाविर्भवसमयोऽयमिति याचने जायमाने सति। वस्तुतस्तु—जनान्दुष्टजनानर्दयति नाशयति स्वांशैरिति जनार्दनः स्वयं भगवति नंदनंदने श्रीगोलोकस्वामिनि जायमाने तत्कालमेवाविर्भूते सति। स्फुटमेवात्रावतारद्वयं भगवत उक्तमिति एवं जायमानेऽजने तस्मिन्नित्यत्रापि ज्ञेयम्। देवस्य विष्णोरिव रूपं सच्चिदानंदघनं वर्तते यस्यास्तस्यामाविरासीत्। सर्वासु गुहासु गुहावदसदगम्यस्थलेषु मथुरावैकुंठादिषु जीवांतःकरणेषु वा सर्वजनापरोक्षत्वाच्छेत इति तथा सः। अन्यो बालो यथा गर्भादायंत्रितः सन्निस्सरति तथा नेत्यत्र दृष्टांतः। किञ्च—दृष्टांतदार्ष्टांतिकयोर्युगपदाविर्भावमाह—तद्दिने (अष्टमीतिथौ) निशीथे प्राच्यां दिशि इंदुरपृष्टोपि मद्वंशं मत्प्रभुर्जन्मनालंचकारेतीत्यानंदोद्रेकेण पुष्कलः। पूर्णिमेंदुरिव सन्यथाविरासीत्तथैव देवक्यां विष्णुरपि सर्वांशकलापरिपूर्ण आविरासीदित्यर्थः। आविर्भावश्च कंसवंचनार्थमष्टमे मासि। तदुक्तं हरिवंशे "गर्भकाले त्वसंपूर्णे ह्यष्टमे मासि ते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥" इति खमानिक्यग्रंथे श्रीकृष्णजन्मपत्री चोक्ता - "उच्चस्थाः शशिभौमचांद्रिशनयो लग्नं वृषो लाभगो जीवः सिंहतुलावृषक्रमवशात्पूषोशनोराहवः। नैशीथः समयोऽष्टमी वुधदिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणे श्रीकृष्णाभिधमंबुजेक्षणमभूदाविः परं ब्रह्म तत् ॥" इति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भीषणाकारादित्वेन सर्वेष्वपि उद्वेगहेतुतया तेभ्यो द्रुह्यन्त्येव सर्वे इति असुरद्रुहां सर्वप्राणिनां च ततः कंसादीनां तु चित्तोद्वेगोऽधिकमजनीति भावः। ननु, सर्वगुणोपेतत्वादिकमजनजन्मर्क्षस्य कियन्तं कालमारभ्येत्यपेक्षायामाह अजने भगवति जायमाने इति। "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (३।३।१३१) तदादिभागमारभ्यैव तत्तत्प्रवृत्तं किन्तु निकटं त्वधिकमित्यर्थः। अजनपदं तस्यापि यदा जन्म तदा वा किं किमाश्चर्यमिति भावः अजने भगवति जायमान इति यर्हिपदेन सहेदमपि सर्वत्र योज्यं नेदुः स्वयमेव शुभविशेषोदयात् तथा च श्रीहरिवंशे "अनाहता दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तदा" इति अत्र दिक् प्रसादादयश्चिरप्रवृत्ताः दुन्दुभिनादादयस्तु तत्कालीना इति ज्ञेयम् ॥ ५ ॥ विद्याधर्यश्चेति चशब्दः पूर्ववत्समानगुणत्वापेक्षया मुदेति निभृतं श्रीभगवत्प्रादुर्भावे सत्यपि तत्तदाचरणे हेतुः तदनुसन्धानाभावेप्याकस्मिकहर्षस्वाभाव्येनैव तदाचरणात् तदेति पाठस्तु सर्वदेश्यः किन्तु स्वाम्यसम्मत इव यर्हीत्यादिनाऽष्टमश्लोके तस्याध्याहृत्य व्याख्यानात् यद्वा तेनैव सम्बन्ध उद्दिष्टः ॥ ६ ॥ अत्रापि पूर्ववद्विवक्षया मुदेति अन्विताः अन्योन्यं मिलिताः सन्तः अनुसागरं सागरं गर्जन्तमनु तथा च श्रीविष्णुपुराणे "सिन्धवो निजशब्देन वाद्यं चक्रुर्मनोहरम्" इति ॥७॥ नेदुर्दुन्दुभय इत्यादिकं कदेत्यपेक्षायामर्द्धेनाह—निशीथेऽर्द्धरात्रे कीदृशे तम उद्भूते तमसा उच्चैर्व्याप्ते भूप्राप्तौ भाद्रकृष्णाष्टमीत्वात् विशेषणं चेदं तत्कान्तिद्वारा तमोनाशनेनापीन्दूपमायोजनाय तथाप्यभूतोपमेयं निशीथे पूर्णचन्द्रोदयादर्शनात् तेनोपमा चेयं यथा कथञ्चिदेव न त्वतियोग्येति ज्ञाप्यते दुन्दुभिनादादौ हेतुः जायेति श्रीब्रह्मादिभक्तजनप्रार्थ्यमानप्राकट्ये तस्मिन् प्रकटीभवति प्राकट्यक्षण इत्यर्थः। कंसादीनां तत्तदज्ञानं गोकुले जायमानाया मायायाः प्रभावेणैवेति ज्ञेयम् अथवा अथेति यर्हि यदा अजनस्य कदाप्यन्यदा जातत्वेनाश्रुतस्य श्रीकृष्णस्य जन्मर्क्षं निजजन्मना स्वीक्रियमाणं तद्द्वापरान्तसमयविशेषगतरोहिण्याख्यमभूत् तर्ह्येव तदारम्भ एव सर्वस्य ऋत्वादेः कालस्य स्वस्य च ये गुणाः सुखदा धर्मास्तैरुपेतः सर्वशुभसमेतश्च कालोऽभूत् तदिच्छायां जातायां दुर्घटघटनीभिस्तच्छक्तिभिरेव वा स्वस्वभावेनैव वा तथा सम्पन्न इत्यर्थः। अजनजन्मर्क्षमिति शब्दश्लेषमयसंङ्केतनिर्देशो रहस्यत्वं सूचयति—तच्च तद्व्रतोत्सवमहिमार्थमिति ज्ञेयम्। सर्वगुणोपेतत्वं दर्शयति शान्तर्क्षेत्यादिना महीत्यर्द्धवर्जितेन मनांसीत्यर्द्धान्तेन तत्र सर्वगुणोपेतत्वं शान्तेति परमशोभनत्वं जायमान इत्यादिना मुमुचुरित्यर्द्धान्तेन महीत्यर्द्धेन च अत्र दिक्प्रसादादिवायुपर्यन्तवर्णनं शरद्वसन्तादिसम्बन्धिनां गुणानां दर्शकं जलरुहश्रिय इति रात्रौ च दिवससम्बन्धिना अम्नय इत्यादिपद्यं तेषां सत्यादिसम्बन्धिनाम् उपलक्षणं चैतदन्यदीयानां मन्दमन्दमित्यर्द्धं दिगन्ते वर्षागुणानां च दर्शकं दिश इत्याद्युक्तत्वात् मध्ये हि ते न संभवन्ति अतो "मन्द जगर्जुर्जलदाः पुष्पवृष्टिमुचो द्विजाः" इति वैष्णववाक्यं जन्मर्क्षारंभसम्बन्ध्येव ज्ञेयमिति अन्यत् समानम्। देवस्य भगवतो रूपमिव रूपं सच्चिदानन्दविग्रहः तद्वत्यामिति तदुदराविर्भावेपि न कश्चिद्दोष इति भावः। विष्णुरूपिण्यामिति पाठोपि क्वचित् सर्वगुहाशयः दुर्गमत्वात् दुर्वितर्क्यत्वाच्च गुहेव गुहा श्रीभगवत्स्थानं सर्वासु सर्वजीवाद्यन्तरलक्षणासु श्रीवैकुण्ठादिलक्षणासु च गुहासु शेते अक्षुभिततया विहरतीति पुष्कलः सर्वांशपूर्ण इति अन्तर्यामित्वादिना हृदयादिषु वर्तमानैरंशैः सर्वैरेव सम्भूयावतीर्णः अन्तर्यामिणामपि तदानीं श्रीदेवकीनन्दनत्वेनैव महत्सु स्फूर्तेः तथा च श्रीभीष्मवाक्यम्—

"तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकं समधिगतोस्मि विधूतभेदमोहः" ॥

इति तथा च श्रीवैकुण्ठलोकाद्यधिष्ठातारोपि ततस्ततः सम्भूयावतीर्णा इति श्रीहरिवंशाद्युक्तेन मुकुटमाहृत्य गोमन्थे श्रीगरुडागमनादिना स्पष्टत्वात् इति एतच्च श्रीभागवतामृते विवृतमस्ति न चात्र दोषः स्वस्वरूपेणैव परमविभौ तत्रैव निजमर्ववृत्तिं प्रकाश्य तत्तेजोनिगूढतया तेषां स्थितत्वात् तथा च श्रीमध्वाचार्यधृतं पाद्मवचनं "स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्" इति। प्राच्यामितिदृष्टांतेन सर्वत्र प्रकाशमानस्यापि श्रीदेवक्यामाविर्भावयोग्यतोक्ता अत एव श्रीविष्णुपुराणेपि "ततोखिलजगत्पद्मबोधायाच्युतभानुना। देवकीपूर्वसन्ध्यायामाविर्भूतं महात्मना" इति आविर्भावश्च कंसवञ्चनाद्यर्थमष्टमे मासीति श्रीहरिवंशे "गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च सुषुवाते समन्तदा" इति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

असुरद्रुहामिति कंसादीनां चित्तोद्वेगोऽधिकमजनीत्यर्थः। सर्वगुणोपेतत्वे हेतुमाह—अजनेऽपि भगवति जायमान इति। परमशोभनत्वं दर्शयति—नेदुरित्यादिना, नेदुः स्वयमेव शुभविशेषोदयात्। तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु–प० ४।१८) ॥ ५ ॥

'अनाहता दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तदा'[1] इति ॥ मुदेति निभृत श्रीभगवत्प्रादुर्भावेऽपि तत्तदाचरणे हेतुहर्षेण तदननुसन्धानादित्यर्थः। अतएवाग्रेऽपि तत्पुनरुक्तिः; अन्विता अन्योऽन्यं मिलिताः सन्तः। अनुसागरं समुद्रे, यद्वा, सागरं गर्ज्जन्तमनु; तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५ । ३ । ५)—'सिन्धवो निजशब्देन वाद्यं चक्रुर्मनोहरम्' इति। निशीथे जगर्ज्जुरेव केवलम्, न तु व्योमाच्छाद्य ववृषुरित्यर्थः, तथा सति निर्मलोडुगणोदयत्वाद्यसम्भवात्। अतएव तत्रैव (वि० पु० ५।३।६)—'मन्दं जगर्ज्जुर्जलदाः पुष्पवृष्टिमुचो द्विज' इति। परमशोभनत्वेऽपि तदेकहेतुता—विवक्षया पूर्वोक्तमेव हेतुमाह—जनार्दने दुष्टजननाशके भक्तानां जन्मलक्षणसंसार[2]ध्वंसके वा श्रीब्रह्मादिभक्तजनप्रार्थ्ये वा भगवति जायमाने इति। तमसोद्भूते व्याप्त इति कृष्णाष्टमीत्यादिना कंसादीनां तत्तदज्ञानं गोकुले जायमानमायाप्रभावादिनेति ज्ञेयम्। देवस्य भगवतो रूपमिव रूपं सच्चिदानन्दविग्रहस्तद्वत्यामिति तदुदरादाविर्भावेऽपि न कचिद्दोष[3] इति भावः। 'विष्णुरूपिण्याम्' इति पाठोऽपि कचित्। सर्वगुहाशयोऽन्तर्यामित्वेन जगच्चित्तान्तर्वर्त्त्यपि पुष्कलः सकल इत्यन्तर्यामित्वादिना हृदयादिषु वर्त्तमानैरंशैः सर्वैरपि सम्भूयावतीर्ण इत्यर्थः। तत्र वैकुण्ठलोकाद्यधिष्ठातारः श्रीनारायणादयस्ततस्ततोऽवतीर्ण एवेति श्रीवाराहाद्युक्तेन श्रीगरुड–मथुरागमनादिना स्पष्टमेव। तथा च पाद्मे—'स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत् ॥' इति। तच्च श्रीभागवतामृते विवृतमस्ति। अन्तर्यामिणाञ्च सर्वेषु तदानीं श्रीदेवकीनन्दनत्वेनैव स्फुर्त्तेस्तैरपि सम्भूयेति ज्ञेयम्। तथा च प्रथमस्कन्धे श्रीभीष्मवाक्यम् (भा० १।९।४२)—'तमिममहमजं शरीरभाजां, हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्। प्रतिदृशमिवनैकधार्कमेकं, समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥' इति प्राच्यामिति दृष्टान्तेन सम्बन्धासम्भवेऽपि सम्बन्धसत्ता, तथा सर्वत्र प्रकाशमानस्यापि श्रीदेवक्यामेवाविर्भावे योग्यता चोक्ता। सर्वत्र योग्यसत्ताकस्यापि पूर्णेन्दोः प्राच्यामेवोदयादिति दिक्। अतएव श्रीविष्णुपुराणेऽपि (५।३।२)—'ततोऽखिलजगत्पद्मबोधायाच्युतभानुना। देवकीपूर्वसन्ध्यायामाविर्भूतं महात्मना[4] ॥' इति। आविर्भावश्च कंसवञ्चनाद्यर्थमष्टमे मासीति श्रीवैशम्पायनमतम्। तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु–प० ४।११)—'गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥' इति ॥ ७–८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अमरद्रुहामपीत्यर्थः ॥ ५–१० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

असुरद्रुहां देवानां साधूनाञ्च मनांसि प्रसन्नान्यासन् तस्मिन् भगवति जायमाने सति दिवि दुन्दुभयो नेदुः दध्वनुः ॥५–६॥ कुसुमानि समन्ततः मुमुचुरित्यन्वयः ॥ ७ ॥ जनार्दने जायमाने निशीथे अर्द्धरात्रे तमसाऽन्धकारेण उद्भूते व्याप्ते सति मेघा मन्दं मन्दमनुसागरं सागरमनुसृत्य जगर्जुर्यथा सागरो ध्वनति तद्वत् सादरमिति पाठे आदरयुक्तं यथा तथा अनुजगर्जुरित्यर्थः। तथा देवभूतायां देवतांशत्वात्तत्तुल्यायां देवक्यां सर्वेषां गुणानां ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजःप्रभृतीनां गुणानामाश्रयो विष्णुराविरासीदाविर्बभूव यथा प्राच्यां दिशि पुष्कलःषोडशकलापरिपूर्णश्चन्द्रस्तद्वत् इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सुमनांसि पुष्पाणि अनुसागरं समुद्रस्योपान्ते ॥ ५–७ ॥ जायमान इति द्विर्वचनं जन्मवैलक्षण्यप्रदर्शनपरं देवस्य हरेरूपं अस्यामस्तीति देवरूपिणी तस्याम् ॥ ८ ॥

---

१. 'प्राणदन् दिवि' इति पाठान्तरम्;

२. जन्ममरणसंसार–(ग); ३. कुक्षिर्द्दोष (ग); ४. महात्मनः (घ, ङ)।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

असुरद्रुहां सर्वप्राणिनाञ्च ॥ ५–६ ॥ अनुसागरं सागरेण सह ॥ ७ ॥ जायमाने जनार्द्दन इति तज्जन्मार्थं जनानां याचने सतीत्यर्थः । देवो वसुदेवस्तद्रूपिण्यां शुद्धसत्त्ववृत्तिरूपायामित्यर्थः । पाठान्तरे विष्णुरूपिण्यां तद्वद्व्यापकाप्राकृतविग्रहामिति च धारणायोग्यतोक्ता सर्वासु गुहासु तद्वत् दुर्ज्ञेयस्थलेषु वकुण्ठादिषु शेते निगूढं क्रीडति यः स सर्वांशः परिपूर्ण इत्यर्थः । दृष्टान्ते च तथाह पुष्कल इति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

अथ (भा० १०।२।१८) "काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः" इति पूर्वोक्तेर्न देवकी चिरं मनस्येव दधार, अवतारसमयमासाद्य भगवान् तन्मनसो बहिर्बुभूषुरतिशयं भवितुमिच्छुः प्राकट्यमासेदिवानित्याह—देवक्यामित्यादि । देवरूपिण्यामिति देवी भक्तिर्भगवती तद्रूपिणीति पुंवद्भावः,—भक्तावेव भगवत्प्रकाशनियमात् । विष्णुर्व्यापकोऽपि सर्वेषु गुहाशयत्वेन वर्त्तमानोऽपि तस्यां यथा यथावत् याथार्थ्येन श्रीकृष्णाख्यस्वरूपेणाविरासीत् । क इव कस्याम् ? इन्दुः प्राच्यां दिशीव, पूर्णत्वेनान्यत्र स्थितोऽपि चन्द्रः प्राच्यां दिश्येवोदयति नान्यस्यामित्येव याथार्थ्यम् ॥ ८)

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

देवक्यामित्यादि । प्राच्यां दिशि इन्दुरिव यथा यथावत् स्वभावसिद्धत्वेनाविरासीत्; यथा अन्तःस्थितस्तथैव बहिः प्रादुरासीत्, अन्तः प्रादुर्भावानन्तरं बहिः प्रादुरभूदित्यर्थः । न हि प्रवेशनिर्गमाभ्यां तथात्वं व्यापकत्वात्; न हि नृसिंहो निराकाशे स्तम्भे प्रविश्य पुनर्बहिर्भूतः । एतेन न लौकिकगर्भरूपत्वम्, दृष्टान्तेऽपि पुष्कलशब्दोपादानात्, पुष्कलः सम्पूर्णः । न हि प्राच्यामिन्दुः क्रमशो वर्द्धित्वा उदेति, प्रागेव सम्पूर्ण एवोदेति, पुष्यन्तीति पुषः कला यस्य नित्यसम्पूर्ण इव चन्द्रो यथा प्राच्यां दिशि—इति वान्वयः । नित्यसम्पूर्णस्यासम्भावनायामिवशब्दः, उपमायां यथाशब्दः ॥ ८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मनांसि मनोबुद्धीन्द्रियादीन्यपि तत्त्वानीत्यर्थः । असुरद्रुहामित्यसुरकर्तृकद्रोहवत्वेन साधूनामपि मनांसि पूर्वमप्रसन्नान्येवासन्निति भावः । जायमाने आसन्ने प्रादुर्भावे अजने श्रीकृष्णे ॥ ५–६ ॥ अनुकृतः सदृशीकृतः सागरः सागरगर्जनं तद्यथा स्यात्तथा ॥ ७ ॥ ननु, दिशः प्रसेदुरिति गगनं निर्मलोडुगणोदयमिति पूर्वोक्तेर्जलधराः खलु कदा जगर्जुरित्यपेक्षायामाह—निशीथे इति । तमसा उत्कर्षेण भूते व्याप्ते इति निशीथ एव मध्येगगनं मेघखण्डोद्गमात् भूप्रावित्यस्य रूपं जनानां सर्वज्ञभक्तमुनिदेवादीनाम् अर्द्दने भगवानाविर्भावाविर्भावसमयोऽयमिति याचने जायमाने सति देवरूपिण्यां विष्णुरूपिण्यामिति च पाठः । देवस्य विष्णोरिव रूपं सच्चिदानन्दघनं वर्तते यस्यास्तस्याम् आविरासीत् प्रकटीबभूव सर्वासु गुहासु गुहावदगम्यस्थलेषु मथुरावैकुण्ठादिषु जीवान्तःकरणेषु च सर्वजनपरोक्षत्वाच्छेते इति सः अन्यो बालको यथा गर्भाद्यन्त्रितः सन्निस्सरति तथा नेत्यत्र दृष्टान्तः यथेति किञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्युगपदेव आविर्भावमाह—तद्दिने निशीथे प्राच्यां दिशि अष्टम्याम् इन्दुरपुष्टोपि मद्वंशं मत्प्रभुर्जन्मनाऽलङ्करिष्यत्यानन्दोद्रेकेण पुष्कलः पूर्णिमाया इन्दुरिव पुष्टकलः सन् यथा आविरासीत्तथैव देवक्यां विष्णुरपि सर्वांशकलापरिपूर्ण आविरासीदित्यन्वयः आविर्भावश्च कंसवञ्चनाद्यर्थमष्टमे मासि यदुक्तं हरिवंशे—

"गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ । देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा" ॥ इति

खमाणिक्यनाम्नि ज्योतिर्ग्रन्थे जन्मपत्रीचोक्ता "उच्चस्थाः शशिभौमचान्द्रिशनयो लग्नं वृषो लाभगो जीवः सिंहतुलाविषुक्रमवशात् पूषोशनो राहवः । नैशीथस्समयोऽष्टमीबुधदिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणे श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणमभूदाविः परम्ब्रह्म तत्" इति ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अजने "अजायमानो बहुधा विजायते" इतिश्रुतिप्रोक्ते कर्मनिबन्धनजन्मरहिते जायमाने दुन्दुभयः स्वतो नेदुः अयमर्थः चेतनाचेतनेषु प्रहर्षः सर्वगतेन हरिणोत्पद्यमानेन कृत इति ॥ ५ ॥ तुष्टुवुः स्तुतिं कृतवन्तः ॥ ६ ॥ तमसा उद्भूते व्याप्ते निशीथे जनार्द्दने जायमाने पूर्वमेव सुमनांसि मुमुचुरित्यन्वयः । विष्णुराविरासीदित्यनेनैव व्यापकस्यावतारो दर्शितः हैतुकानामंशेनैव विष्णोरवतारः व्यापकस्य चैकत्र प्राकट्यासम्भवादिति तर्कतिरस्कारार्थं पुनराह—सर्वगुहाशय इति । हेतुवादो नोऽस्माकं सच्छास्त्रानुवर्तिनाभिष्टः तथाह भगवती श्रुतिः "नैषा मतिस्तर्केणापनेया" इत्यादि श्रीपुरुषोत्तमविग्रहोऽपि नित्यसिद्ध एवेति दृष्टान्तमुखेन दर्शयति । दिशि पूर्वायां पुष्कलः पूर्णः इन्दुश्चन्द्रः पूर्वसिद्ध एव न तु दिक्सम्बन्धिद्रव्योपचितो जायते तद्वद्देवक्यां यथास्ति तथैवाविरासीत् ॥ ७-८ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

मनांसीति। अत्र द्रोग्धुर्वै परतो भयमित्युक्त्या परद्रोहिणां भयसद्भावेन मनःप्रसादः साधुत्वं च कथम्। जडस्य स्वतः प्रवृत्तिः कथम्। अतो विरोधोऽत्र उच्यते ॥ असुरद्रुहां सुरद्रोहा न भवंतीति तेऽसुरद्रुहस्तेषामिति विग्रहेण द्रोहाभावे तात्पर्यसिद्धेर्न विरोधद्वयमपि। यद्वा। आसन्निन्त्यत्र अ आसन्निति पृथक् पदद्वयम्। नैषा तर्केण मतिरापनेयेत्यत्रत्यापेतिवत्। तथा च साधूनां मनांसि प्रसन्नानि नावसन्नानि आसन्। असुरद्रुहां अः विष्णुः सुरा देवास्तान् द्रुह्यंति ये तेषां तु। प्रसन्नानि प्रकर्षेण खिन्नानि आसन्॥ अजने। जन्मरहिते जनविलक्षणे वा। भगवति जायमाने सति॥ तस्मिन्निति। विषयसप्तम्यास्तृतीयार्थत्वात्। भगवज्जन्मनिमित्तेनेत्यर्थः। दिवि दुंदुभयो नेदुः स्वयमेव शब्दमकुर्वन्। यद्वा। देववादिता इति विशेषेणान्वयः। अतो न विरोधोऽपि तृतीयः॥ ५॥ निशीथ इति। पूर्वं जायमाने जने तस्मिन्निति वाक्यसद्भावादत्र जायमाने जनार्दने इति पुनरुक्तिः। अतोऽर्थांतरम्। द्विर्वचनस्य जन्मवैलक्षण्यप्रदर्शनार्थत्वात्। सत्प्रयोजनत्वेन सत्यामपि पुनरुक्तावदोषः। वैलक्षण्यं हि प्राकृतदेहविधुरत्वाच्चतुर्भुजादियुक्तत्वाच्च। जन्मनो लोकातिशयितत्वाद्वा। व्यत्ययोऽतिशयकुत्सनाभेदेष्विति हि सूत्रम्। यद्वा॥ जनार्दने। अर्द गतौ याचने चेति धातोः। जनैरर्द्यते प्रार्थ्यते यस्तस्मिन्। तथा॥ अतमसः। तमोविरोधिनः। प्रकाशस्य॥ उद्भूतं। उद्भवं। यस्मात्तथाविधे॥ निशीथे। नितरां शीते चंद्रे इत्यर्थः। उद्गीथवत्तस्य स्थाः॥ जायमाने। उदयं प्राप्नवति सति। विष्णुर्देवक्यां प्रादुरासीदिति संबंधः। अथवा। इथे विचित्रभयलक्षणे। निशि रात्र्यां। उद्भूते सति। जनार्दने विष्णौ। च जायमाने सति। तमोंऽधकारः। यदा बभूवेति शेषः।

तदा प्रादुरासीदिति संबंधः। इ विचित्रे स्मरे पुमानिति हि यादवः। थकारो भयलत्रे इत्येकाक्षरे। षट् पादत्वात्सार्धोऽयं श्लोकः। तम उद्भूते तमसा उद्भूते उत्कृष्टे। निशीथे मध्यरात्रे। अधिकरणे सप्तमी वा। जनार्दने जनान् असत्प्राणिनः। अर्दयति। पीडयतीति स तथा। अनेकार्था हि धातव इत्युक्तेः। धातूनामनेकार्थत्वात् रूढत्वाच्च। अर्द हिंसायामिति धातोः। असत्प्राणिहिंसको वा। शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्निति श्रुतेः। जनेषु जन्मवत्सु। अर्दनं गमनं। यस्येति तथा। प्रवेश इति यावत्। जनैरर्द्यते प्रार्थ्यतेऽसौ तथा वा। अर्द गतौ याचने चेति धातुः। अथवा। न जायते अर्दयति च संसारमिति जनार्दनः। संभूतः स जनार्दन इति सद्व्यासीत्सनासीत्सोर्दयदिति श्रुतेः। उत वा। अजनार्दन इति विच्छिद्य जन्मरहिते संसारनाशके चेत्यर्थः। अपि वा। अजनैर्मुक्तैरर्द्यते गम्यते प्रार्थ्यते इति वा। किंवा। न जायतेऽनेनेति अजनं। अर्दनं गतिः ज्ञानं वा यस्येति। गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्। उक्तगुणविशिष्टविष्णौ। जायमाने आविर्भवति सति। जलधरा मंदं मंदं जगर्जुरिति पूर्वेण संबंधः। ननु जायमाने जने तस्मिन्निति वाक्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वेनेयं पुनरुक्तिः प्रसज्येत चेति चेन्न। अस्य श्लोकांतरस्थत्वेनादोषात्। अथवा। अजाय ब्रह्मणे। जनार्दने विष्णुविषये। माने ज्ञाने। अतमः मोहरहितं। यथा भवति तथा। उद्भूते उत्पन्ने सति। निशीथे मध्यरात्रे। प्रादुरासीदिति वा।

उत वा जनार्दनविषये। तमसः अज्ञानस्य। उद्भूते उद्भवे। जायमाने जने सति। निशीथे प्रादुरासीदिति। किंवा। उद्भूतानि भूतानि यस्मात्तादृशे जनार्दने जायमाने सति। निशीथेऽपि अतमः प्रकाशो बभूवेति। स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं विरोचयंतमिति वक्ष्यमाणत्वात्। अथवा। जनार्दने। जन हिंसायां। जायमाने जायमानायां सत्यां तमसोत्कृष्टे निशीथे आविरासीदिति। यद्वा। अजा कालशक्तिः। यमः अंतकः। ताभ्यां सकाशात्। एजनं कंपः। एजृ कंपने। भयमिति यावत्। येषां तेभ्यो असुरेभ्यः सकाशात्। अर्दने पीडने। भूते जाते सति। यदा तु सतां। उत् उत्कृष्टं। तमः ग्लानिः। बभूव। तमु ग्लानौ। तदा निशीथे आविरासीदिति। अपि वा। अजायमाने जनानामसुराणामर्दने हिंसाविषये तम उद्भूते निशीथे आविरासीदिति। जनार्दने जनपीडके तमसोत्कृष्टे निशीथे जायमाने सतीति वा। उत वा। उद्भूते उत्कृष्टभूते जीवजात इत्यर्थः। जडस्यापि भूतशब्दवाच्यत्वात्तद्व्यावृत्तये विशेषणं। जडस्य जीवापकृतत्वात्। स्वापायोगाच्च। निशीथेन निमित्तेन इता गता। इण् गताविति धातोः। मा ज्ञानं यस्य तादृशे सति निशीथे। सर्वजीवेषु सुप्तेष्वित्यर्थः। आत् वासुदेवाज्जन्यत इति अजनो ब्रह्मा। अकारो वासुदेवः स्यादित्येकाक्षरः। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमिति श्रुतेश्च। तस्य। अर्दने याचने जायमाने सति च। आविरासीदित्यन्वयः। अहो स्वित्। जन्यंते ते जनाः। प्रकरणाद्देवकीपुत्राः। तेषां। अर्दने हिंसने। भूते जाते सति। निशि प्रलये। इ विचित्रं विश्वं थं अन्नं यस्य तादृशे भगवति। प्रलये विश्वोपसंहारक इत्यर्थः। यस्मादन्नं थमुच्यत इति कौर्म्ये। उत् ऊर्ध्वं। षड्गर्भहिंसानंतरमित्यर्थः। जायमाने सति दुर्गादेवी यदा बभूव तदा आविरासीदिति। सर्वाधिकत्वेन तमो हि दुर्गा इत्यौद्दालिकायनश्रुतिः। दुर्गेति भद्रकालीतीति च। या योगमायाऽजनि नंदजाययेति वक्ष्यमाणत्वात्। ग्रंथबाहुल्यभिया विस्तरेणालमिति सद्भिः संतोष्टव्यम्॥७॥ अथोत्तरत्र पादचतुष्टयार्थोऽपि लिख्यते। यथेवेत्युपमाद्वयवैयर्थ्यनिरासार्थम्। यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इंदुः प्रादुरासीत्तथा देवक्यां विष्णुः प्रादुरासीत्तथा प्राच्यामिंदुः प्रादुरासीदिति परस्परप्रमेयत्वप्रदर्शनार्थमुपमाद्वयं। यद्वायथा शब्द उपमार्थः। इवशब्द उत्प्रेक्षार्थः। तथाहि। इंदोः कृष्णाष्टम्यामुदितत्वेन पूर्णकलात्वाभावात्पुष्कल इत्युत्प्रेक्षितेंदुर्यथा प्राच्यां तथा देवक्यां विष्णुरित्यनेनोत्प्रेक्षणेन तद्दिने चंद्रस्यापूर्णकलात्वेन पूर्णावतारत्वेन च भगवतश्चंद्रोपमानयोग्यत्वं नास्तीति ध्वनितम्। अथवा। यथा विष्णुश्चतुर्भुजत्वादिगुणोपेतस्तथैव सन् प्राच्यामिंदुरिव देवक्यां प्रादुरासीत्। चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधमिति वक्ष्यमाणत्वात्। न प्राकृतशिशुवदिति भावः। उत वा। स्ववंशे भगवदवतारेण तद्दिनेऽपूर्णकलोऽपि चंद्रो यथा यथावत्पुष्कलः पूर्णकल इंदुरिव विष्णुर्देवक्यां प्रादुरासीदिति। किंवा। यथा सर्वगुहाशयस्तथैव

भूर्लेंदुरिव देवक्यां प्रादुरासीत्। हरेर्देवक्युदराद्बहिः प्रादुर्भावेऽपि तदुदरं विष्णुव्याप्तिहीनं नासीदिति भावः। अहो स्वित्। इव पुष्कल इत्येकं पदम्। इ विचित्रे स्मरे पुमानिति यादवकोशात्। इ शब्दवाच्यो मदनस्तत्सदृशं वपुः शरीरं कलयतीति स तथा। दग्धशरीरमदनं वपुषा कलयति बंधयतीति स तथेति वा। कल बंधन इति धातुः। अपि वा। इंदुरिव किंचित् चंद्रोऽल्पकलावानित्यर्थः। प्रादुर्बभूव। विष्णुस्तु यथावत्पुष्कलः प्रादुरासीत्। एककाले उभयोः सत्यपि जन्मनि न साम्यमिति भावः। किंचित्त्वे चोभयत्वे च संशये सदृशे तथा। इव शब्दः प्रयुज्येत न्यक्कारेऽपि च पंडितैरिति शब्दनिर्णये। यद्वा। यदा विष्णुर्देवक्यां प्रादुरासीत्तदा पुष्कलोऽपि चंद्र इव न्यक्कृतस्तिरस्कृत इति यावत्। अथवा। इ वपुः कलः इति पदद्वयं भगवद्विशेषणं। इ वपुः विचित्रशरीरः। शुक्रशोणितसंबंधविधुरशरीर इत्यर्थः। तमद्भुतमिति वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव प्रागुदितचंद्रदृष्टांतः। चंद्रस्य प्रागुदयेऽपि शुक्रशोणितादिराहित्यम्। एवं देवक्यामुत्पन्नत्वेऽपि शुक्रशोणितादिराहित्यं भगवत इति भावः। कलः कं सुखमेव लाति आदत्ते स तथा। ला आदान इति धातुः आनंदस्वरूप इत्यर्थः। इदमेवालौकिकशरीरत्वे हेतुरपीति। तस्मान्नात्र पुनरुक्तादिदोषगंधोऽपीति भावः॥ ८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

असुरेभ्यो द्रुह्यन्तीत्यसुरद्रुहस्तेषां साधूनां मनांसि प्रसन्नान्यासन्। तस्मिन् अजने हरौ जायमाने समीपभविष्यज्जनने सति दिवि दुन्दुभयो नेदुः स्वयम्॥ ५॥ अप्सरोभिः समं साकम्॥ ६॥ सुमनांसि सुमनसः स्त्रियः सुमनसः पुष्पमित्यर्थः। भूम्नि स्त्रियां सुमनस इति रत्नकोशः। सुमनाः पुष्पमालयोः स्त्रियां ना धीरदेवयोरिति मेदिनी। तम्। यद्वा सुमनसश्च सुमनांसि च सुमनांसि। द्वन्द्वे नपुंसकं भविष्यति। एकवचनं चेति प्रासङ्गिक्युक्तिः। कृष्ण एव मनांसि स्थापितवन्त इति द्योतनार्थं सुमनांसीत्युक्तिः। अनुसागरं समुद्रसमीपे मन्दं जलधरा जगर्जुः॥ ७॥ तम उद्भूते प्रचुरतमस्के तमो दुर्गोद्भूतं यस्मिंस्तस्मिन्यशोदायां दुर्गोत्पत्तौ तदानीं भाव्यायामिति यावदिति वा। तमो हि दुर्गेत्यादेः। आहिताग्न्यादिः। निशीथे निशीथः स्यादर्धरात्रे निशीथो रात्रिमात्रक इति विश्वः। गोपीथेत्यादिनिपातितः शब्दः। अजनार्दने जनो लोके महर्लोकात्परलोके च पामर इति विश्वादजना अपामरास्सज्जनास्तेषामर्दने कंसादिभिर्जायमाने सति जनार्दने जनानां मुख्यादीनामर्दन आगमे जायमाने सतीति वा। जनार्दने जायमाने वर्तमानसामीप्ये वर्तमानव्यपदेश इति भविष्यति वा। अजायमाने जनार्दन इति पदमेकं वा। अजश्चासावुत्पत्तिरहितश्चासावयमोऽसदृशश्चासावनेजनो न विद्यते एजनं भयं यस्य सोऽजनश्चासावदनो याचितश्च तस्मिन् जायमान इति पूर्वेण नेदुर्दुन्दुभय इत्यनेनान्वयो वा अनेज्वलपातेनास्माकं नैल्यवर्णः कश्चन समुद्रशाय्युत्पत्स्यत इति स्वामिनोऽभिमतभङ्गभियेति ध्वन्यते। सजलजलदनीलमित्यादेः। अनेजन्निर्भयत्वादीशावास्योपनिषद्भाष्योक्तेः। अन्यत्राजनो लोकविलक्षण इत्यर्थः। जायमाने जने तस्मिन्नेदुरिति श्लोके जायमाने जनेऽतस्मिन्निर्ति छेदः। अतस्मिन्न सः तस्मिन्नतस्मिन् श्रीहरिभिन्ने कीर्तिमदादिपूर्वजे जायमाने यानि मनांसि प्रसन्नानि शीर्णान्यधुना मधुनाथोऽत्र प्रादुर्भूत इति जनार्दने जायमाने प्रसन्नान्यासन्नित्येकान्वयो वा। देवरूपिण्यां देवस्य रूपं तदस्त्यस्यामिति देवरूपिणी तस्यां सर्वगुहाशयः सर्वेषां गुहा हृदयगुहास्तासु शेत इति स तया। अधिकरणे शेतेरित्यच्। एवमेव देवो देवक्यां वर्तत इति दर्शयितुमदो विशेषणम्॥ यथा यथावत्पूर्ण एव प्राच्यां। यथाप्राच्यामित्येकं पदं वा। योग्या या प्राची तस्यां तत्तद्देशवासिविवक्षया प्राचीत्वादेरव्यवस्थितत्वादिति केचित्। दिशि पुष्कला पूर्णकल इन्दुश्चन्द्रमा इव। यथा प्रादुरासीत्तथा सम्यग्देवरूपिण्यां देवक्यामिति योजना वा। इन्दुः इव पुष्कल इति वा छेदः। अस्यापत्यं इर्मन्मथस्तस्य यद्वपुस्तद्वस्य कलांशस्तस्मिन्कला यस्य सः। साक्षान्मन्मथमन्मथ इत्यादेस्ततोऽपि सुन्दर इति भावः॥ ८॥

श्रीसुबोधिनी

सात्त्विकाहङ्कारकार्यं मन इति भौतिकगुणसमये मनसो गुणा उच्यन्ते।

यदा सत्त्वमारूढं भवति तदा **मनांसि प्रसन्नानि** भवन्ति, **मनसो** दैत्यसम्बन्धित्वमपि वर्तत इति तन्निवृत्त्यर्थं **साधूना**मित्युक्तं, इदं **साधु**पदं दैत्यव्यतिरिक्तमात्रपरमिति ज्ञापयितुमसुरद्रुहामित्युक्तं, **साधु**पदं च व्यवहारे सन्मार्गवर्तित्वाय, इयमवस्था स्थूलकालेपीति निकटकाले विशेषमाह **जायमाने जन** इति, **अजने जायमाने दिवि दुन्दुभयो नेदुः**, तस्मिन्निति तन्निकटे, यथा वसुदेवादयः श्रृण्वन्ति, आकाशस्य गुणा नृत्यवादित्राणि, दुन्दुभिर्मङ्गलवाद्यं, स्वयमेव नेदुर्न तु कैश्चिद् वादिताः॥ ५॥

किन्नरगन्धर्वा अपि स्वत एवोल्लसितहृदयाः **जगुः**, अज्ञात्वैवेति ज्ञातव्यं, अन्यथा माहात्म्यप्रतिपादकं न स्यात्, **सिद्धाश्चारणाश्च तुष्टुवुः**, अकस्मादेव स्तोत्रं तत्काले कृतवन्तः, ते हि वैतालिकप्रायाः, विद्याधरा नर्तकाः, चकाराद् **विद्याधर्यश्च ननृतुः**, **अप्सरोभिः सम**मित्यानन्दावेशेनैव नृत्यं, न तु शास्त्रीयं, **मुदा**नन्देन, न केनचित् प्रेरिताः, स्वत एवानन्दाविर्भूता अकस्मात् **तस्मिन् समये** स्त्रियः पुरुषाश्च **ननृतुः**, अनेन ये केचन यस्यां विद्यायां रतास्ते कस्मान् **मुदा** तत्तत् कार्यं कृतवन्त इत्यर्थः॥ ६॥

(अथ च मुनयः सुष्ठु निर्दुष्टानि मनांसि पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात् समाधितो निष्कास्य तदाविर्भावस्थले मुमुचुर्ववृषुरित्यर्थः, देवास्तु पुष्पाणीत्यर्थः, अत एव पुष्पादिपदानि विहायोभयार्थकत्वात् सुमनःपदमुक्तं, सुमनस इति स्त्रीलिङ्गप्रयोगाभावश्च, पुष्पवाचकस्यैव स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्, अन्यथा भुवि स्थितानां मुनीनां नभसि स्थितैर्देवैः सह वृष्टिकर्तृत्वं कथमुपपद्येत ? मनसः पुष्पतया कथनमुज्ज्वलत्वसङ्कोचविकासादिधर्मवत्त्वादविरुद्धं, मुदान्विता इति, तत्रानन्दावेशलक्षणमकरन्दसम्पत्तिः सूचिता, तदा सुमनोवृष्ट्यपेक्षया जलवृष्टिरल्पा नाद्भुता चेति मत्वा मेघा न ववृषुः किन्तु तत्र गर्जितं नास्तीति तावत् कार्यं कृतवन्त इत्याह मन्द मन्दं जलधरा जगर्जुरिति, मेघानामुच्चैर्गर्जनं पूर्वोक्तवाद्यगीतादिश्रवणप्रतिबन्धकता भवतीति तदभावाय मन्दं मन्दमित्युक्तं, अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः, तथा च युगपज्जायमानान्यपि वाद्यगीतगर्जितान्यन्योन्यमिश्रितानि सर्वैरश्रूयन्तेतिभावः किञ्च जगर्जुरेव न तु ववृषुः, यतो जलधरा न तु जलमुचः, अत्रायमाशयः, मेघास्तु भगवत्प्राकट्यात् पूर्वं लोके नीलरूपमश्लाघ्यं मत्वा स्वस्य तादृशत्वेन तदभावाय जलमुचो जाताः, इदानीं स्वसारूप्यमङ्गीकृत्य भगवान् प्रकट इति कवयोग्रे स्वस्योपमां दास्यन्ति तेन स्वजन्मसाफल्यं भविष्यतीति हर्षवशादात्मनो नीलरूपस्यैवाभीष्टत्वेन तद्धेतुभूतं च जलधारणं, अन्यथा शुभ्रता स्यात्, अतो जलधरा जाताः, यद्यपि मरकतेन्दीवरादीनामपि सारूप्यमस्ति तथापि स्वस्य विद्युत्सहभावात् कामिनीतनुकनकलतालङ्करणदशायां द्वैरूप्येपि सादृश्यमधिकमिति च जलधरपदेन सूचितं, सजलमेघानामेव तडित्सहभावदर्शनात्, अपि च समुद्रः स्वगाम्भीर्यगुणं प्रभुरङ्गीकृतवानितिगर्वेण गर्जति तस्य तं गर्वमपहन्तुं धर्मापेक्षया स्वरूपसादृश्यं स्वस्याधिकमिति ज्ञापयितुमनुसागरमित्युक्तं,) देवा ज्ञात्वैव पुष्पवृष्टिं मुमुचुर्मुनयश्च, शब्दबला मुनयः, अर्थबला देवाः, उभये प्रामाणिकाः, स्वसेवामभिज्ञतां च ज्ञापयितुं शुभसूचनार्थं सुमनांसि पुष्पाणि हर्षेणान्विता मुमुचुः, सर्वथा मेघानामभावे विपरीतः कालधर्मो शुभकर इति तेषामपि कार्यमाह जलधरा मन्दं मन्दं सागरनिकटे जगर्जुः ॥ ७ ॥

एवं देशकालयोस्तत्रत्यानामृतोश्च गुणानुक्त्वा रात्र्यास्तन्मुहूर्तस्य च गुणानाह निशीथ इति ।

अर्धरात्रं निशीथं पञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयं, तस्य दोषाभावः, तमउद्भूत इति, तम उद्भूतं, ऊर्ध्वं भूतं निवृत्तं यस्मिन्, यो हि निर्गच्छति स ऊर्ध्वो भवति जायमाने जनार्दने सतीति गुणा उक्ताः, यावता गुणेन जनानामविद्यामर्दयतीति सर्वाविद्यानाशकः प्रादुर्भवति तादृशगुणवान् निशीथ इत्यर्थः, भगवज्जननस्य मूलभूतगुणानां प्राकट्ये भौतिकानां च प्राकट्ये निमित्तत्वं वक्तुं 'जायमानेजन' इति मध्ये निरूपितं, अजनत्वान्न कालनिमित्तत्वं किन्तु कालस्य तादृशगुणवत्त्वेजन एव मध्ये निमित्तं, अन्ते च पुनर्जायमाने जनार्दन इति सर्वाविद्यानाशनार्थं प्रादुर्भावे सर्वगता गुणाः प्रकटीभवन्तीति प्रकटीभावे हेतुरुक्तः, एवं सन्दर्भे भगवतोवतारत्रयमप्युक्तं, सर्वधर्मसंरक्षकोनिरुद्धः सर्वमुक्तिदाताज्ञाननिवृत्तिद्वारा सङ्कर्षणो देवक्यां प्रद्युम्नो नन्दगृहे वासुदेव इति सर्वरूपेणाप्याविर्भूतो भगवानित्युक्तं, निमित्तत्वं च भगवत एव दोषाभावे गुणप्राकट्ये च, ननु तादृशोपि कालः सहजः कश्चिदस्तीत्येकमेव चेन् निमित्तमुच्येत तस्मिन् समयेन्योप्युत्पन्नो भगवत्सदृशः स्यात्, अतो भगवत्प्रादुर्भाव एव गुणप्राकट्ये निमित्तं भगवत्प्रादुर्भावार्थमेव गुणप्राकट्यं चेति निरूपितं, एवं सर्वांशो भगवान् प्रादुर्भूत इत्याह देवक्यामिति, देवक्यां विष्णुः प्रादुरासीत्, देवानां समूहो देवकी, सम्पूर्णे देवसमूहे पूर्णसत्त्वं भवति, तच्च सत्त्वं भगवदाविर्भाव आधारत्वेन निमित्तं भवति यथाग्नावरणिः, न केवलमव्यापाराविष्टा निमित्तमरणिरपि भवतीति मथनस्थानीयं किञ्चिन निरूपणीयं, तदाह विष्णुरूपिण्यामिति, विष्णो रूपमस्यामस्तीति विष्णुरूपिणी, भगवद्रूपमेव तत्र विद्यमानं भगवन्तं प्रकटीकृतवन् न तु प्रयत्नः प्रसूतिवातादिर्वा तत्र निमित्तमिति तन्निराकरणार्थमुक्तमिदमेव रूपमिति सिद्धान्तः, देवक्यां विद्यमान आधिदैविक इति केचित्, तदा विष्णुरूपायामित्यर्थो भवति, पाठान्तरेऽपि देवो विष्णुरेव, विष्णुर्व्यापकः पुरुषोत्तमो यो वेदान्ते 'ब्रह्म' शब्देनोच्यते, तस्य सर्वत्रैव विद्यमानत्वात् प्रादुर्भावो भाक्त इत्याशङ्क्य सर्वव्यापकत्वेपि यः सर्वान्तरः सर्वान्तर्यामी सोन्तःस्थितो बहिरागत इति वक्तुं सर्वेषां गुहा हृदयाकाशं तस्मिन्नासमन्ताच्छेतेधितिष्ठतीति गुहाशय इत्युक्तं, अनेन सर्वेषां भजनार्थं स्वयं हृदि स्थित्वा तत्पराः कृतार्था भविष्यन्तीति ज्ञापयितुं वेदांश्चकार स इदानीमत्रैव प्रकटीभूत इति न पूर्वप्रक्रियातःपरमुपयुज्यते किन्त्वयमेव बहिः सेव्य इति निरूपितं, प्रादुरासीत् प्रादुर्भूतो जातः, अकस्मात् प्रकटः, अन्तरनुभूयमानो बहिर्दृष्टः, न तु कश्चन व्यापारो देवक्यास्तत्र जातो निमित्तभूतोपि ज्ञानं सावधानता वा, स सम्पूर्ण एवानन्दमय इति निरूपयितुमाधारप्रकटीभूतयोर्दृष्टान्तमाह यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवेति, सर्वोपास्या प्राची दिक् सर्वदेवतामयी, साप्यागमने मार्गमात्रं न तु जनने, इन्दुरमृतमयः, 'इदि परमैश्वर्ये' इति परमैश्वर्ययुक्त आनन्दमयः, स प्राच्यां दिशि प्रथमं पूर्ण एव दृश्यते खण्डास्तु मध्ये प्रान्ते उच्चैश्च खण्डोपि प्राच्यां दृश्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पुष्कल इति पूर्णः, पुष्कलशब्देन पुष्टोप्युक्तः, तेन निष्कलङ्को निरूपितः, कलङ्कस्यैव क्षयहेतुत्वात्, तथोक्तरीत्या प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरित्येको दृष्टान्तः, नन्वानकदुन्दुभेः पत्नीषु बह्वीषु सतीषु देवक्यामेवाविर्भावे को हेतुरितिशङ्कानिरासाय यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिति द्वितीयो दृष्टान्तः, अत्र प्राच्यादिपदानाम वृत्तिर्ज्ञेया, एवं सति पूर्णेन्दुप्राकट्यस्थानं प्राच्येव तथा पूर्णशक्तेः पुरुषोत्तमस्य प्राकट्यस्थानं देवक्येवेति तथेत्यर्थः, अतः सर्वकलापूर्णो भगवान् सच्चिदानन्दविग्रहोऽकस्मादग्रे प्रादुर्भूत उपविष्टयोस्तयोर्देवकीवसुदेवयोः सतोः, अत एव तयोराश्चर्यं वर्णनं च सङ्गच्छते ।

दासीनां सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशम् । प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत् ॥ १-८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववदिति, वाच्युपनिषद्रूपायामित्यर्थः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह,' 'अदृश्यमग्राह्यं,' 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः,' 'न चक्षुषा दृश्यते नोत वाचे'त्यादिविरोधः प्राकट्यकथन आपतति, स च 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,' 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान'' इत्यादिश्रुतिभिर्भगवदिच्छया भगवान् दृश्य इन्द्रियसामर्थ्येनादृश्य इति श्रुत्योस्तात्पर्यनिरूपणेन निरस्यत इति प्राकट्यात् पूर्वमविरोधो यथा तथा प्राकट्यानन्तरमपीति न काचिच् चिन्तेत्यर्थः ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

मनांसीत्यत्र भौतिकगुणसमय इति, तामसाहङ्कारकार्यगुणसमये, **मनः**पदमिन्द्रियाणामप्युपलक्षणम् ॥ ५-६ ॥

मुमुचुरित्यत्र मुनीनां देवानां भगवत्प्राकट्यज्ञाने हेतुमाहुः **शब्दबल** इत्यादि, शब्दस्य श्रुतेरर्थस्य भगवतश्च **बलं** येषां तेन तथा, अतो ज्ञानात् तथा कृतवन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

निशीथ इत्यत्र रात्रेस्तन्मुहूर्तस्य चेति, **निशीथ**शब्दस्यार्धरात्रवाचकत्वात् तेनैवार्थबलाद् रात्रेरपि प्राप्तेस्तथेत्यर्थः, सिंहार्के निशीथ इदानीं षट्चत्वारिंशत्सप्तचत्वारिंशद्घटिकाद्वयात्मको भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं विवक्षितं प्रादुर्भावसमयं निश्चिन्वन्तुमाहुः **पञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयमिति**, ईदृशस्तु निशीथो विषुवदिन एकस्मिन् भवति पञ्चमस्कन्धीयाद् 'यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ती'तिवाक्याज् ज्योतिः शास्त्राच्च निश्चीयते, तदग्रे तु प्रत्यहं पलद्वयं रात्रेर्दिनस्य च वृद्धिह्रासौ, एवं सति यदत्रैवमुक्तं तत्रायमर्थः, द्वापरस्य 'पञ्चविंशाधिक'शरच्छतावशेषे भगवत्प्रादुर्भाव इत्येकादशस्कन्धीयाच् 'छरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं विभो' इति ब्रह्मवाक्यान् निश्चीयते, तत्र च गणितविचारे स्फुटोर्कः ४।१९।०।१, गतिः ५८।८, अयनांशाः २४।३२।२०, मधुपुर्यां पलप्रभा, ८।५, चरखण्डानि ६०।४८।२०, चरपलानि ३२, दिनमानं ३१।४, रात्रिमानं २८।५६, रात्र्या अर्धं १४।२८, निशीथः ४५।३२, एवं सति तत्राषाढोधिकोभ्युपेयः, उक्तरीत्या स्पष्टेर्केपि सति ४।१९।०।१, एतादृशस्य सूर्यस्य तदैव सिद्धेरिति, एतावान् भवति तत्राष्टम्याः प्रान्तभाग इति तत्र चन्द्रप्रकाशस्तेभ्यो द्वात्रिंशत्पलेभ्यः पूर्वं भवति, चन्द्रप्रकाशस्य क्षितिजसंयोगे तमसो निवृत्तेः, तदेवाभिप्रेत्य मूले **तमउद्भूत** इत्युक्तं, भगवत्प्राकट्यं तु तावत्पलोत्तरं निशीथारम्भसमये चन्द्रोदयसमकाले तदेवाग्रिमश्लोके **प्राच्यां दिशीन्दुरिवेति**दृष्टान्तेन सूचयिष्यते, अतो द्वात्रिंशत्पलान्यनादृत्य यत् पञ्चचत्वारिंशेत्यादिकथनं तत् प्रकाशन्यायेन दोषनिवृत्तिबोधनार्थमिति न कोपि विरोधः, ननु 'जायमानेजन' इत्यनेनैव **गुणनिरूपणसिद्धिरिति जायमाने जनार्दन** इत्यस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुर्**भगवज्जननस्येत्यारभ्य हेतुरुक्त** इत्यन्तं, तथा च **कालः पूर्वमुपक्रान्तः** सर्वत्र च हेतुत्वेन प्रसिद्ध इति प्रकृतेपि स एव निमित्तत्वेन सम्भाव्यत इति तद्व्युदासाय 'जायमानेजन' इत्युक्तं प्रादुर्भावस्य निमित्तत्वाय च **जायमाने जनार्दन** इत्युक्तमिति भावः, ननु नेदं युक्तं **देवक्यामिति**पद्येनैव चारितार्थ्यादित्याशङ्कायामस्याप्याशयं सूक्ष्मेक्षिकयाहुर्**एवं सन्दर्भ** इत्यादि, **त्रयमपीति**, **अपि**शब्दः प्रासङ्गिकत्वं सूचयति, पुरुषोत्तमस्यैव प्रकरणित्वात्, तत् स्पष्टीकुर्वन्ति **सर्वेत्यादि**, तत्र 'जायमानेजन' इत्यस्य **गुणाविर्भावोक्ति**मध्ये निरूपणाद् धर्मरक्षकता स्पष्टेति तेनानिरुद्धावतारो जायमाने जनार्दन इत्याविद्यारूपाज्ञाननिवर्तकत्वेन **सङ्कर्षणावतारो देवक्यामित्यनेनेन** च **प्रद्युम्नः** पित्रोः सुखदानाद् विष्णुरूपिण्यामिति वक्ष्यमाणाच्च, यः पुन'र्बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यनेनोक्तः स तु **वासुदेवो** नन्दगृहे प्रादुर्भावात् पूर्वमत्र जात इति ''प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज् जातस्तवात्मज'' इति गर्गवाक्यादवसीयते, अतो हेतोः **सर्वरूपेणाप्यविर्भूतो भगवानिति**, एतत् तृतीयाध्यायरूपे **सन्दर्भ उक्तमित्यर्थः**, ननु तादृशगुणाधारादौ कालस्य निमित्तत्वेङ्गीकृते को वा दोष इत्यपेक्षायामाहुर्**निमित्तत्वमित्यादि**, **एकमिति**, **कालात्मकं**, **निरूपितमिति**, वारद्वयं 'जायमान' इत्यादिकथनेन **निरूपितमित्यर्थः**, न चास्त्वेवं तथापि सकृदुच्चारितैर'जना'दिपदैः कथमर्थद्वयबोध इति शङ्क्यं, सकृदुच्चारितादप्य'जना'दिशब्दादर्थमर्यादया छिद्रेतरत्ववदवतारत्रयबोधस्यापि सुखेन सम्भवात्, ननु पूर्वाध्याये पुरुषोत्तमप्रादुर्भावस्य नन्दगृहे समर्थितत्वादत्र **नन्दगृहे वासुदेव**पदस्य व्यूहसाधारणस्य कथने किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते, वासुदेवव्यूहस्य नान्तरीयकत्वज्ञापनायेति जानीहि, वक्ष्यन्ति च पञ्चमाध्याये 'वासुदेवोत्रैवाविर्भूत इति सिद्धान्त' इति, द्वितीयस्कन्धे विमर्शाध्याये 'भूमेः' सुरेतरेत्यस्य व्याख्याने चोक्त'मेकमेव चरित्रं मोक्षभक्ती निरूपयती'ति, तेन पुरुषोत्तमवासुदेवयोराधिदैविकाध्यात्मिकवत् तत्तत्कार्यकरणादेव व्यपदेशभेद इत्यभिप्रेत्यैव '**शुद्धसत्त्व आविर्भूतः पुरुषोत्तम एव वासुदेव**' इति 'वसति जगदस्मिन्निति वासुदेवः क्रीडावान् स चासौ देवश्च 'सर्वतःपाणिपादान्त'मितिवाक्योक्तधर्मवा'निति च द्वेधापि साम्प्रदायिकानां व्याख्यानं सङ्गच्छते, **देवक्यामित्यत्र** ननु **नन्दगृहे वासुदेवश्चेत् तर्ह्यत्र** नेति वक्तव्यं तथा सति कथं सर्वांशेन प्रादुर्भाव इत्याकाङ्क्षायामाहुः **सम्पूर्ण** इत्यादि, तथा च निबन्धे 'प्रथमे वासुदेवोभू'दिति कथनात् तद्द्वारात्रापि तदागमनेन वासुदेवाविर्भावादस्ति सर्वांशेनाविर्भाव इत्यर्थः, ननूभयत्र वासुदेवाविर्भावस्य किं प्रयोजनमत आहुर्न **केवलमित्यादि**, **इदमिति**, **वासुदेवाख्यं**, तथा च पुरुषोत्तमस्याक्षर एवाविर्भावो न तु गुणसंसर्ग इति तदभावार्थमत्रापि वासुदेवाविर्भावाङ्गीकरणमित्यर्थः, सत्त्वगुणाभिमानिव्युदासायाहुर्**विष्णुर्व्यापक** इत्यादि, **सर्वान्तर** इति, अनेन स्वतोनाविर्भाव उपपत्तिरुक्तान्तर्यामिव्युदासश्च कृतः, स्वत आविर्भावे स्वभावहानिप्रसङ्गादन्तर्यामिणः प्रतिशरीरं

भिन्नत्वाच्चेति, दृष्टान्तसिद्धमर्थं व्याकुर्वन्ति सर्वेत्यादि, तथा च प्राचीदृष्टान्तेन श्रीदेवक्या आविर्भावप्रयोजकत्वमात्रं न तु मातृवज्जननीत्वं द्योतितं, इन्दुपदेन च परमैश्वर्ययोगात् पूर्णत्वं द्योतितं, तर्हि दृष्टान्तेन कथं तत्सिद्धिरित्यत आहुः स इत्यादि, स इन्दुः प्राच्यां दिशि प्रथमं पौर्णमास्यां षोडशकलत्वदशायां पूर्वं पूर्ण एव दृश्यते, तथा च प्राचीपदेन्दुपदयोः समभिव्याहाराद् दृष्टान्तेपि तत्सिद्धिरित्यर्थः, नन्वेवं दृष्टान्तेनैव पूर्णत्वसिद्धौ पुष्कलपदस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुरुच्चैरित्यादि, तथा च कृष्णद्वितीयादावुच्चैःखण्डस्यापि प्राच्यां दर्शनात् तद्व्यावृत्त्यर्थं पुष्कलपदमिति तत्समभिव्याहृतदृष्टान्तादेव पूर्णत्वसिद्धिरित्यर्थः, अत्र दृष्टान्तबोधकयोर्यथेवपदयोः सत्त्वात् पुष्कलपदस्यार्थान्तरमभिप्रेत्यैतद् द्विधा व्याकुर्वन्ति पुष्कलशब्देनेत्यादि नन्वित्यादि च, अत्रेति, एवं व्याख्याने, एवं सतीति, दृष्टान्तद्वयेङ्गीकृते सति, इति तथेत्यर्थ इति, एवंबोधनार्थं दृष्टान्तद्वयमुक्तमित्यर्थः, सिद्धमाहुरत इत्यादि, एतमर्थमुपपत्त्या दृढीकुर्वन्त्यत एवेत्यादि, प्रादुर्भाव आपतितं श्रुतिविरोधं कारिकया परिहरन्ति दासीनामित्यादि अर्थस्तु, दास्यो वक्ष्यमाणा अङ्गीकार्याः, तासां सर्वपुरुषार्थरक्षानिमित्तं तादृशं स्वसमानाकारं वासुदेवमत्युत्कटं भक्तदुःखं वा, निमित्तीकृत्य स्वाविर्भावे प्रयोजकं कृत्वा, मम स्वामी पुरुषोत्तमः प्रादुर्भूत इति, शेषं तु टिप्पण्यां व्याख्यातं वाचीत्यादिना, 'अयं टिप्पण्योक्तोर्थः साधनाध्यायद्वितीयपादेरूपवदधिकरणस्य द्वितीये "प्रकाशवच्चावैयर्थ्या"दितिसूत्रे स्फुटः, तत्र हि "यथा सौरः प्रकाशो व्यवहार्योव्यवहार्यश्च न हि स्वतः सम्पादयितुं शक्यते स्थापयितुं वा, आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावे च सान्निध्यमात्रेण व्यवहारः कर्तुं शक्यते तथा लौकिकवाङ्मनोभिर्न शक्यते व्यवहर्तुमीश्वरसन्निधाने तु शक्यत इति द्वयमाह श्रुतिः, कुत एतदवगम्यते ? तत्राह 'अवैयर्थ्यात्', अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्या"दित्येवं प्रतिपादनात् ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

मनांसीत्यत्र सात्त्विकाहङ्कारेति, तामसाहङ्कारकार्याणि भूतानि निरूपितानि, सात्त्विकाहङ्कारकार्यं मनोत्र निरूप्यते, राजसाहङ्कारकार्याणीन्द्रियाणि मनोनिरूपणेन निरूपितानि, एतद्देवतास्तु 'दिशः प्रसेदु'रित्यत्रोपलक्षणविधया निरूपिताः, तथा चाहङ्कारत्रयकार्यमपि निरूपितं जातमित्यर्थः, सत्त्वमारूढमिति, भगवतेतिशेषः, देवक्यां देवरूपिण्यामित्यत्र देवक्याः सत्त्वरूपत्वं व्याख्यास्यते, तथा च सत्त्वं यदा भगवतारूढं भवति तदा स्वकारणे भगवदारोहान् मनसां प्रसादो भवत्येवेत्यर्थः, दैत्यसम्बन्धित्वमिति "द्वयाह प्राजापत्या" इतिसन्दर्भे सत्त्वरूपेषु शमादिष्वसुराणामरुचेर्व्युत्पादितत्वात् सत्त्वेन तेषां प्रसादो नेतिभावः, स्थूलकाल इति, जननात् किञ्चिदर्वाक् पश्चाच्च मायाजननावधीत्यर्थः, निकटकाल इति, जननसमय इत्यर्थः, जायमान इतिवर्तमानप्रत्ययोक्त्येतिभावः, 'यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं' जातं तदैव 'सर्वगुणोपेतः कालो' जातस्तदैव च 'दिशः प्रसेदुर्गगनं' तथा जातमेवं मनांस्यासन् प्रसन्नानीत्यत्र 'यर्ह्येवे'त्यस्यान्वयः' आकाशस्येति, आकाशप्रधानस्यान्तरिक्षलोकस्येत्यर्थः, न तु कैश्चिद् बादिता इति किन्नरादयः केनचित् प्रेरिता न ॥ ५ ॥ अतो मुदेत्युक्तत्वात् स्वत एव जातो य आनन्दस्तेनाविर्भूतास्तेषां गानादिक्रिया इतिशेषः, अत्र श्लोके मुदा जगुस्तुष्टुवुर्ननृतुरित्युक्त्यानन्दोद्रेकादेव गानादिकं न तु हेतुज्ञानेनेति सूचितमित्याशयेनाज्ञात्वैवेत्युक्तम् ॥ ६ ॥ अग्रिमश्लोके तु मुदान्विता इत्युक्तं न तु क्रियायां मुदः करणत्वमतो हेतुज्ञानं सूचितमित्याशयेनाहुर्देवा ज्ञात्वैवेति, गानादिकं रसोद्रेकात् स्वतोपि जायते पुष्पवृष्टिस्तु हेतुज्ञानं विना न जायत इतिभावः, पुष्पवृष्टिमिति, वृष्टिर्धारा, पञ्चविंशेध्याये "तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिवे" तिवाक्यात्, तथा च पुष्पधारा मुमुचुरित्यर्थः, देवानामूर्ध्वस्थितानां सुमनोविमोको वृष्टिप्रकारेणैव सम्भवतीत्यर्थापत्तिलभ्यं वृष्टिरूपं प्रकारं बोधयितुमेवमुक्तं, शब्दबला इति, शब्देन बलं येषां, स्वाध्यायबला इत्यर्थः, अर्थबला इति, मन्त्रार्थरूपान् देवान् ज्ञात्वा तैर्मन्त्रैर्हविर्दानेन तादृशहविर्भोगेन देवाः पुष्टा भवन्तीत्यर्थेन प्रतिपाद्ययोगेन बलं येषां तादृशा इत्यर्थः, अत उभयेपि प्रामाणिकाः, प्रमाणं वेदस्तत्सम्बन्धिनः, तदुपजीवका इत्यर्थः, तथा च पूर्वश्लोकेषु रूपलीलासम्बन्धिनां गुणा उक्ता अत्र नामलीलासम्बन्धिनां गुणा उक्ता उत्तरार्धे दोषाभाव उक्त इति सप्तभिः श्लोकै रूपनामव्यवस्थोक्तेति सूचितं, स्वसेवामित्युभयमुभयोरन्वेति ॥ ७ ॥ तत्रत्यानामिति, भूतानां देवादीनां चेत्यर्थः, मन्दं मन्दमित्यर्धेनर्तोर्गुण उक्तः, रात्र्या इति, तादृङ्निशीथवत्त्वंरात्र्या गुणः, गुणा उक्ता इति, जनार्दने जायमाने सति तमउद्भूते निशीथे सति देवक्यां विष्णुः प्रादुरासीदित्यन्वयः, तथा च सङ्कर्षणप्राकट्यस्य तमोनिवृत्तौ हेतुत्वोक्त्या तत्प्राकट्ययोग्या गुणा निशीथ उक्ता इत्यर्थः, मूल 'तेति, काले स्थितानां मूलभूतस्य भगवतो गुणानामित्यर्थः, भौतिकानामिति, नद्यादिगुणानामित्यर्थः, कालनिमित्तत्वमिति, कालो निमित्तं यस्य तादृशत्वमित्यर्थः, 'जायमानेजन' इत्यत्रानिरुद्धप्राकट्यं, तद् व्युत्पादयन्ति सर्वधर्मेति, 'अनुसागर'मित्यन्तैः सप्तभिः श्लोकैर्धर्मरक्षोक्तेति तन्मध्ये कथनमनिरुद्धस्यैवोचितमितिभावः, जायमाने जनार्दन इत्यत्र सङ्कर्षण उक्तस्तद् व्युत्पादयन्ति सर्वमुक्तीति इदं वासुदेवकार्यमित्याशङ्क्याहुरज्ञानेति, तस्य साक्षान्मोक्षदातृत्वमस्य परम्परयेतिविभेदः, तथा च जनार्दनपदादयं सङ्कर्षण इतिभावः, देवक्यामिति, देवक्यां विष्णुरूपिण्यामितिश्लोक इत्यर्थः, पुरुषोत्तमस्तूक्त एव, परं व्यूहत्रयमध्ये द्वयं पूर्वमुक्तं देवक्यामितिश्लोके तृतीयोप्युक्तो न तु वासुदेव एव, तदाभासे तथा वक्ष्यमाणत्वात्, पुरुषोत्तमप्राकट्यमपि कारिकयोपसंहारे वदिष्यन्ति, तथा च व्यूहत्रयविशिष्टपुरुषोत्तमप्राकट्यं देवक्यामितिश्लोके निरूपितमित्यर्थः, सर्वरूपेणेति, चतुर्व्यूहरूपेण सह भगवान् पुरुषोत्तम आविर्भूतोत्रावतार इतिशेषः, न त्वधुनैव, वासुदेवाविर्भावस्य नवम्यां निर्धारितत्वात्, अत एव "तमद्भुत" मित्यत्र "मधुसूदनो माधवश्च"तिकारिकाव्याख्याने 'सङ्कर्षणा-

निरुद्धप्रद्युम्नरूपताप्युक्ते'ति व्यूहत्रयमेव निरूपितं टिप्पण्यां 'चतुर्भुज'पदव्याख्याने कार्यचतुष्टयमुक्तं, कार्यं तु चतुर्णामपि मथुरायामेवादौ प्रकटमिति प्रागुक्तमेव, यद्यप्यत्रावतारे नारायणः कृष्णकेशश्चास्ति तथापि नारायणोनिरुद्धांशः कृष्णकेश सङ्कर्षणांश इति व्यूहनिरूपणेनैव तौ निरूपितौ जातावितिभावः, देवक्यामित्यस्याभासे सर्वांशो भगवानिति, सर्वे त्रयोपि व्यूहा अंशा यस्मिंस्तादृशो व्यूहत्रयविशिष्टो भगवान् पुरुषोत्तम इत्यर्थः, व्याख्याने देवानां समूह इति, 'देवकी सर्वदेवते' तिव्याख्यानात् सर्वदेवसान्निध्याद् देवसमूहरूपमेव सम्पन्नमित्यर्थः, न त्वयं विग्रहः, सत्वे भगवत्स्थितावंशावतारत्वं स्यादित्याशङ्क्याहुराधारत्वेनेति, अयं भावः, अंशावतारे विग्रहः सत्त्वं तत्र भगवदाविर्भावोऽयोगोलके वह्निरिवेति साधनाध्याये गुणोपसंहारचरणे निरूपितं अत्र तु प्राकट्यार्थमाधारत्वेन तदपेक्षा न तु प्राकट्यानन्तरमपि सत्त्वं व्यवधानेन स्थितिरिति, अत एवारणिदृष्टान्तमाहुर्यथेति, यथाग्निप्राकट्ये रणिर्निमित्तमाधारत्वेन तथेत्यर्थः, मथनस्थानीयमिति,व्यापारसम्पादकमथनदण्डस्थानीयमित्यर्थः, विष्णुरूपिण्यामित्यत्रोक्तं रूपं विचारयन्तीदमेवेति, प्रादुर्बुभूषु रूपमेव तदिति मुख्यः पक्षः, गौणं पक्षमाहुर्देवक्यामिति, अस्य गौणत्वे हेतुमाहुस्तदेति, आधिदैविकदेवक्यां सत्त्वरूपायां हि प्रादुर्भावः, तथा च देवक्याधिदैविकरूपस्य विष्णोस्तु सा स्वरूपभूतैव न त्वधिकरणमतो विष्णुरूपिण्यामित्यत्र मत्वर्थीयेनिप्रत्ययस्यार्थोसङ्गतो भवेदितिभावः, भाक्त इति भक्तिर्भागोंश इतियावत्, तथा चांशतः सिद्धो भवेदित्यर्थः, सर्वान्तर इति, 'अन्नमया' दीनां चतुर्णामन्तरस्तेषामन्तर्यामी च 'पुरुषविध'त्वसम्पादक 'आनन्दमय'इत्यर्थः, हृदयाकाशमिति, 'गुहायां परमे व्योमन्नि'त्यत्रोक्ता गुहेत्यर्थः, तत्र 'निहितो' व्यापिवैकुण्ठस्थित एव समागत इतिभावः, अनेनेति, सर्वेषां भजनसिद्ध्यर्थं स्वयं हृदि स्थित्वा तदररा वेदपराः कृतार्था भविष्यन्तीति ज्ञापयितुं वेदांश्चकार, इयं सर्वदा व्यवस्थितिः, इदानीं सोत्रैव प्रकट इति हेतोः पूर्वक्रिया नोपयुज्यते किन्त्वयमेव बहिः सेव्य इत्यनेन गुहाशयस्य प्राकट्यकथनेन निरूपितमित्यन्वयः, अन्तरनुभूयमान इति भजनार्थ स्वयं हृदि स्थित्वेत्यनेन भक्तहृदयस्थितेरुक्तत्वाद् भक्त्या देवक्या अन्तरनुभूयमान इत्यर्थः, न त्विति, जननिमित्तभूतस्तु जननाभावादेव न जातः, अनिमित्तभूतोपि ज्ञानरूपो व्यापारोवधारणार्थं मनसस्तदेकपरता सावधानता विनयेन स्थितिस्तादृशोपि व्यापारो न जात इत्यर्थः, सम्पूर्ण एवेति प्रियमोदप्रमोदानन्दयुक्तो न तु कञ्चिदप्यंशं विहायानन्दमयः प्रकट इतिशेषः, यथा प्राच्यां दिशीत्येतावत्प्रतीकेनाधारदृष्टान्तः, इन्दुरिवेतिप्रतीकेन प्रकटीभूतदृष्टान्तः, प्रथम दृश्यत इति, प्राच्या दिशः प्रथमभाग इत्यर्थः, प्रान्त इति, पश्चिमदिशीत्यर्थः, उच्चैश्चेति, कृष्णपक्षद्वितीयादिष्वपि प्राच्यां दिशि दृश्यते परन्तु तस्योच्चैः खण्डोपि दृश्यतेतः प्राच्यां दिशि दर्शनमात्रेण पूर्णत्वं नायातीतिभावः, प्राच्यादिपदानामिति, यथेवेतिपदद्वयस्य विद्यमानत्वादेवं व्याख्यायते, प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरितिचतुर्णां पदानामावृत्तिः, यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुस्तथा देवक्यामित्याधारे दृष्टान्तः, प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिव विष्णुः प्रादुरासीदिति प्रकटीभूते दृष्टान्तः, अत इति, पुष्कलेन्दुदृष्टान्तकथनादित्यर्थः, श्लोकार्थं कारिकायां विशदयन्ति दासीनामिति भक्तानां, सर्वस्य सङ्घातस्य रक्षणार्थं, तादृशं देवकीनिष्ठं सत्त्वं, निमित्तीकृत्य स्वरूपतोनिमित्तमपि मथनस्थानीयेन रूपेण व्यापाराविष्टत्वसम्पादनादाधारत्वेन निमित्तं कृत्वा, मम स्वामी पुरुषोत्तमः प्रादुर्भूतः, पूर्वं व्यूहत्रयप्राकट्यं देवक्यां विवृतमिति तावदेव भविष्यतीतिशङ्का स्यादत उपसंहारे पुरुषोत्तमप्राकट्यमुक्तमिति ज्ञेयं, गुहाशयपदस्य तात्पर्यमाद्यचरणेनोक्तं, पूर्वं भक्तानां देहेन्द्रियादिरक्षामन्नमयादिरूपैरकरोत्, तद् विवृतमानन्दमयाधिकरणे, अधुना तु स्वयमानन्दमयरूपेणैव तथा रक्षां कर्तुमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवं सन्दर्भ इति, मूले 'जायमाने जने तस्मि'न्नित्यनेनानिरुद्ध उक्तः, "मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहा"मित्यनेन रक्षाकार्यस्योक्तत्वात्, जायमाने जनार्दन इत्यनेन जनामविद्यामर्दयतीतिव्युत्पत्त्याज्ञानप्रलयकर्ता सङ्कर्षणो निरूपितः, प्रलयस्य सङ्कर्षणकार्यत्वात्, तत इहाविद्याकार्यरूपाज्ञानप्रलयः सङ्कर्षणकार्यम्, 'य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ती'तिपञ्चमस्कन्धवाक्यात्, देवक्यां विष्णुरूपिण्यामित्यनेन विष्णो रूपं विद्यते यस्यामितिव्युत्पत्त्या प्रद्युम्न उक्तः, प्रद्युम्नस्य वसुदेवमनस्याविष्टस्य पूर्वोक्तेनालौकिकप्रकारेण देवक्यां समागमनात्, "दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्त" इति वाक्यात्, विष्णुः सर्वगुहाशय आविरासीदित्यनेन साक्षाद् भगवान् पुरुषोत्तम उक्तः, एवं व्यूहसहितपुरुषोत्तमाविर्भावो मथुरायां बोध्यः, अत एव दिशीन्दुरिव पुष्कल इति पूर्णचन्द्रो दृष्टान्तीकृतः, न "न्वथ सर्वगुणोपेतः काल" इत्युपक्रम्य "निशीथे तमउद्भूते जायमान" इत्युक्त्वा "विरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कल" इत्यनेन निशीथकालाधिकरणकं भगवज्जन्मेति शुकेनोक्तं, एवं सति कालाधीनत्वप्रतीतेर्भगवति कथं तदतीतत्वं ? किञ्च "मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूना" मित्यनेनासुरद्विण्मनःप्रसाद उक्तस्तस्य चासुरनाशजन्यत्वात् तदर्थं कृष्णाविर्भाव इति प्रतीयते, तच्च विरुद्धं, भूभारनाशस्य व्यूहकार्यत्वेन मूलरूपाविर्भावे प्रयोजनान्तरस्यैव वक्तुमुचितत्वाज् जन्मप्रकरणारम्भे तथाव्यवस्थापनाच्च, अन्यच्च "विरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कल" इत्यत्र पुष्कलपदेन पूर्णत्वोक्त्या पूर्णस्य परब्रह्मणः सर्वव्यवहारविषयत्वरूपः प्रादुर्भावो दुरुपपादः, "अदृश्यमग्राह्य" "न चक्षुषा गृह्यते", "पराञ्चि खानी"त्यादिश्रुतिव्याकोपात्, एवमाशङ्कात्रयं परिहर्तुं श्रीमदाचार्यवर्याः कारिकां पठन्ति दासीनां सर्वरक्षार्थमित्यादिना, अयमर्थः, मथुरायां

व्यूहसाहित्येन पुरुषोत्तममाविर्भावादसुरद्विष्मनःप्रसादो व्यूहाविर्भावनिबन्धनः, अत एव श्रीमदाचार्यैरुक्तमस्मिन् सन्दर्भे भगवतोऽवतारत्रयमप्युक्तमिति, न ह्येतावता पुरुषोत्तमो भूभारहरणायावततारेति वक्तुं शक्यं, "तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनां भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः" "यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये"ति वाक्यात्, किन्तु दासीनामग्निकुमारश्रुतिगोपिकादीनां सर्वस्माद् भगवद्भिन्नाद् या रक्षान्यविनियोगराहित्यसम्पादको निरोधस्तदर्थं कृष्णावतार इत्यर्थः, भगवान् विविधलीलाभिः प्रापञ्चिकविलक्षणं नित्यं निरवधिकं परमानन्दं प्रयच्छन् भक्तान् विस्मृतप्रपञ्चान् करोति, युक्तं चैतत्, परमानन्दप्राप्तौ प्रापञ्चिकतुच्छसुखहेतुभ्यो विषयेभ्यो विरागः, इदमेव हि प्रभुकर्तृकं सर्वतो रक्षणं नाम, तदर्थमेव मूलरूपप्राकट्यं, "कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डल" इति बृहद्वामनीभगवद्दत्तवरवाक्यात्, एवं सति भगवज्जन्मनो दशमस्कन्धार्थप्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपनिरोधाङ्गभूतत्वाज् जन्मप्रकरणस्य स्कन्धार्थसङ्गतिर्निष्प्रत्यूहेति ध्येयं, एवं प्राकट्यस्य प्रयोजनं निश्चित्य कालातीतत्वं साधयितुं भगवज्जन्मनः कालाधिकरणत्वं न कालकृतं किन्तु भगवत्कृतमित्याहुर्निमित्तीकृत्येत्यादिना, तादृशं "सर्वगुणोपेत"माधिदैविकं कालं निमित्तीकृत्येत्यर्थः, तादृशमितिपदे"नाथ सर्वगुणोपेत" इत्यत्रोक्त आधिदैविकः काल उच्यते, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात्, यद्यपि भगवज्जन्मनि तादृशकालो न निमित्तं स्वेच्छयैवाविर्भावात्, "नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाम मानिना"मिति कालस्वरूपनिरूपकतृतीयस्कन्धवाक्यात्, अक्षरस्य कालनियम्यत्वाभावादक्षरातीते श्रीकृष्णे कालाधीनत्वसम्भावनस्यापि वक्तुमशक्यत्वात्, तथापि तस्य लीलया निमित्तीकरणं ज्ञेयं, अयमर्थश्चिवप्रत्ययेन बोधितः तादृशेऽर्थे तस्य स्मरणात्, अतः परदृश्यत्वादिनिरूपकश्रुतिविरोधं परिहरन्ति नैश्चिन्त्यं वाचीत्यादिना, वाच्युपनिषद्रूपायां, नैश्चिन्त्यं समाधानं, पूर्ववदनवतारदशावत्, अयमाशयः, वैकुण्ठादौ यथा भगवत्कृपया दर्शनं तथेहापि चक्षुर्न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छाविशेषेण, तथा चादृश्यत्वादिश्रुतिस्तादृगिच्छाविषयभिन्नचक्षुरदृश्यत्वपरेतिव्यवस्थायां न कोपि दोषः, एवं सति "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिश्रुतयोपि सविषया भवन्ति, विस्तरस्तु भाष्यविद्वन्मण्डनादौ द्रष्टव्यः, तथा सति प्रादुर्भूतः सर्वव्यवहारयोग्योपि कृष्णः परं ब्रह्मवेति ज्ञेयं, अत एव "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकस्तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इति श्रुतावुक्तं, अतो नात्र भगवज्जन्म किन्तु स्वेच्छया देवक्यामभिव्यक्तिमात्रं वक्तुं "प्राच्यां दिशीन्दु"वेतिदृष्टान्तो मूले पठितः, परमकाष्ठापन्नत्वेनास्मिन्नेव श्रीकृष्णे भजनीयत्वपर्यवसानमिति बोधयितुं मम स्वामीत्यनेन स्वस्वामित्वाभिमानः श्रीमदाचार्यैरुक्त इति दिक् ॥ ८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

देवक्यामित्यत्र दासीनामिति, भक्तानां सर्वरक्षार्थं तादृशं देवकीनिष्ठं निमित्तीकृत्य मम स्वामी पुरुषोत्तमः प्रादुर्भूतः, नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववदिति, वाच्युपनिषद्रूपायामित्यर्थः, 'अदृश्यमग्राह्य'मित्यादिश्रुतिविरोधः प्राकट्यकथन आपतति स च विरोधः 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षते'त्यादिश्रुतिभिर्भगवदिच्छया भगवान् दृश्य इन्द्रियसामर्थ्येनादृश्य इति द्विविधश्रुतितात्पर्यनिरूपणेन निरस्यत इति प्राकट्यात् पूर्वमविरोधो यथा तथा प्राकट्यानन्तरमपीति न काचिच्चिन्तेत्यर्थ इति व्याख्यातं जनकापरमूर्तिभिः श्रीमत्प्रभुभिष्टिप्पण्याम् ॥ ८ ॥

बुभुत्सुबोधिका

मनांसीत्यत्र भौतिकगुणसमय इति तामसाहङ्कारकार्याणि भूतानि निरूपितानि । स्मरणात् सात्त्विकाहङ्कारकार्यं मन इति तद्गुणा उच्यन्ते । राजसाहङ्कारकार्याणीन्द्रियाणि मनोनिरूपणेन निरूपितानि । स्वस्वगुणप्रकटकानि । तद्देवतास्तु 'दिशः प्रसेदु'रित्यत्रोपलक्षणविधया निरूपिताः । तथा चाहङ्कारत्रयकार्यमपि निरूपितं जातमित्यर्थः । सत्त्वमारूढमिति । भगवदिच्छया स्वकार्ये मनसि आरूढं जातं प्रतीतिविषयं भवतीत्यर्थः । 'माया मनः सृजतो'ति चतुर्थस्कन्धात् । श्रीवल्लभानां लेखे तु भगवतेति शेषः । 'देवक्यां देवरूपिण्या'मित्यत्र देवक्याः सत्त्वरूपत्वं व्याख्यास्यते । तथा च सत्त्वं यदारूढं भवति तदा स्वकारणे भगवदारोहात् मनसां प्रसादो भवत्येवेत्यर्थ उक्तः । प्रसन्नानीति 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान'मिति वाक्यात् । स्थूलेति भौतिककाले । निकटेति भगवद्रूपे रोहिणीरूपे जायमान इति जायमानेऽजने प्रद्युम्ने । 'निशीथ' इतिश्लोकसुबोधिन्यां 'देवक्यां प्रद्युम्न' इत्युक्तेः । 'अजन' इति मूले पदच्छेदः । 'दिवि दुन्दुभय' इति पदसमभिव्याहारात् । तस्मिन्निति सामीप्ये सप्तमीं व्याकुर्वन्ति स्म तन्निकट इति । वटे गावः सुशेरत इत्यत्र वटनिकटे गावः सुशेरत इत्यर्थात् । नित्यवादित्राणीति नित्यशब्दा आकाशगुणाः वादित्ररूपाः । दुन्दुभिरिति तेषु दुन्दुभिरित्यर्थः । केश्चिदिति मयापि (गोपेश्वरेण) दुन्दुभिरेतादृशी श्रुता आकृतिस्त्वाकाशत्वात् । 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते'ति छान्दोग्यात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वं सर्वत्र । तेन कदाचित् केचिद् वादिता अपि ॥ ५ ॥

जगुरित्यत्र स्वत इति आनन्दस्य व्यापकत्वात्, मायाज्ञापनाच्च, 'मुदे'ति श्लोके पदात् । अज्ञात्वैवेति व्यापकानन्दज्ञानं न जातम् । मायाज्ञापनात् तत्कार्यमुल्लसितहृदयत्वम् । अन्यथेति स्वत एवोल्लसितहृदया इति, आर्थिकोऽर्थोऽत्र न प्राप्नोतीति

न्यूनपूरणं कृत्वा। किन्नरगन्धर्वविशेषणाभावे। लेखे तु मुदेति दूरान्वयं कृत्वा मुदेत्यस्यार्थमाहुः। तदान्यथेत्यस्य मुदेत्यस्यात्रान्वयाभाव इत्यर्थः। माहात्म्येति देवत्वस्य प्रतिपादकं 'जगुः किन्नरगन्धर्वा' इति वाक्यं न स्यात्। अकस्मादित्यव्ययम्। कारणशून्ये। कृतवन्त इति ननु रोहिण्या अपि कारणत्वं भज्येतेति चेन्न। वाचनिकत्वात्। वैतालिकेति वैताला वंशशंसकाः। विद्याधर्य इति तेन वाचकं विना विद्याधरा इत्यत्र नैकशेषः कर्तव्यः। पाठभेदेनोभयप्राप्तेः। विद्याधरा इति पाठे एकशेषे कृते तु चकारस्तात्पर्यग्राहक इति भावः। आनन्दावेशेनेति अद्यापि जन्माष्टम्यादौ विवशदशायामेवं नृत्यं कुर्वन्ति। शास्त्रीयं संगीतं नृत्यम्। केनचिदिति मुदा तु स्वकीयानन्दरूपेति न कारणत्वसमर्पिका। 'आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशे'ति भागुरिर्वष्टि। मुदारूपा इत्यर्थः। मुदेति करणत्वपक्षमग्रे वक्ष्यन्ति। अत्र पक्षे मुदा आनन्दरूपाः। मुदा इत्यत्र विसर्गलोपश्छान्दसो वा। स्वत इति आनन्द आविर्भूतो येषु। कपो वैकल्पिकत्वम्। अस्मिन् पक्षे मुदा आनन्दे केनचित् प्रेरिता इति पाठः। मुदा आनन्देन न केनचित् प्रेरिता इति पाठान्तरम्। अकस्मात् इत्यस्य कारणशून्ये। तस्मिन् समये कार्ये। मुदेति टाबन्तं पदं लुप्तविसर्गकं पदं तृतीयान्तं च पदम्॥ ६॥

मुमुचुरित्यत्र देवा ज्ञात्वैवेत्यारभ्य पुस्तकेषु ग्रन्थः। कस्मिंश्चित् पुस्तके तु विविधभावार्थं अथवेत्यारभ्येत्युक्तमित्यन्तो ग्रन्थोधिकः। सोप्याख्यायते। अथवेति तेनाथवेत्यस्य पूर्वं स्पष्टमिति ग्रन्थोऽसूचि। श्लोकव्याख्यानं स्पष्टमित्यर्थः। तथापि भावविवशा आहुः अथवेति। स्पष्टव्याख्यानापेक्षया विविधभावव्याख्यानं श्रेष्ठमिति। 'भक्त्या भागवतं शास्त्रं न बुद्ध्या न च टीकये'ति श्रीव्यासं प्रति नारदवाक्यम्। 'न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युसिक्क्षया' इति वाक्याच्च। मानसाः सत्त्वप्रधाने मनसि वर्तमानाः। मनस इमे मानसाः। चातुरर्थिकः प्रत्ययः। 'उसिक्' कमनीयं ब्रह्म, 'क्षयो' निवासो येषां ते उसिक्क्षयाः। सुमनांसि यद्यपि पुष्पाणि तथा चित्रपदत्वाच्छोभनानि मनांस्यप्यर्थः। यथा गतश्लोके मुदाशब्दः। अत आहु; सुष्टु निर्दुष्टानि मनांसीति। 'सुमनः' पदमहिम्नाहुः ववृषुरिति। सुमनोभिरिव पूजायै ववृषुरित्यर्थः। गर्भे ऐक्यस्यायुक्तत्वात्। देवक्यां ववृषुः। 'तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्के'ति-श्लोकोनुसन्धेयः। उभयेति कर्तृसम्बन्धात् तथा। उपपद्यत इति मुख्यमुपपद्यते कादाचित्कत्वात्। आनन्दावेशेति शब्दबलत्वेन शब्दार्थानन्देन व्याप्ताः, भगवत्प्राकट्यानुभावात्। 'मन आनन्द'मिति श्रुतेः। तच्च गर्जितमिति तत् प्रसिद्धम्। बृहदारण्यके। भाणरूपं वेदारण्यके। विद्युद्ब्रह्म वाल्पशब्दरूपं गर्जितं गगने नास्तीत्यर्थः। प्रतिबन्धकतामिति प्रतिबन्धकता अम् इति छेदः। अत्रायमाशय इति अत्र जलधरपदे। तादृशत्वेनेति नीलत्वेन। कवय इति 'तदेव ब्रह्म परमं कवीना'मिति महानारायणात् कवीनामधिकारः। जलधरा इति जलस्य धरा इति पुण्यगन्धवह इतिवत्। जाता इति रोहिण्याः। स्वस्य विद्युदिति स्वस्य जलधरस्य विद्युत्सहभावोन्यकालेपि दृष्ट इति तस्मात्। गर्जतीति जलधराशयः। धर्मापेक्षयेति गर्जितशब्दापेक्षया। स्वस्येति समुद्रापेक्षया जलधरस्याधिकम्। अनुसागरमिति सागरं लक्ष्मीकृत्य। लक्षणेत्थम्भूताख्यानेति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीया। इति 'अथवे'-त्यारभ्य 'इत्युक्त'मित्यन्तग्रन्थाख्यानम्। सङ्क्षेपेण सम्बन्धमाहुः देवा ज्ञात्वैवेति। अत्र मुदान्विता इत्युक्तम्, न तु मोचनक्रियायां मुदः करणत्वमतो भगवज्जन्मरूपहेतुज्ञानं सूचितमित्याशयेनाहुः देवा ज्ञात्वैवेति। गानादिकं रसोद्रेकात् स्वतोपि भवति। पुष्प-वृष्टिस्तु हेतुज्ञानं विना न जायत इति भावः। हेतुज्ञानं योगजप्रत्यासत्त्येत्याहुः शब्दबला इत्यादि। मुनीनां व्यासमुख्यानां व्यासस्य शब्दबलं भाष्ये उक्तमित्यन्येषामपि मुनीनाम्। अतो योगजधर्मेण भगवदनुभावरूपमानन्दं कृष्णजन्मीनं ज्ञात्वेत्यर्थः। अर्थबला इति बादरिरर्थबलविचारक इत्येवं भाष्ये उक्तस्तदनुसारिदेवाः अर्थेनानुभावसहितेन विचारविषयेणाङ्गप्रयोगमायाकार्येण तद्विषयज्ञापनेन कृष्णजन्म ज्ञात्वेत्यर्थः। प्रामाणिका इति दैवी सम्पत् तेषु वर्तत इति। स्वसेवां सुमनोवृष्टिरूपाम्। अभिज्ञताम् कृष्णविषयिणीम्। शुभेति सर्वोच्चैष्ट्वरूपशुभसूचनार्थम्। संहितायां पुष्पाणि ऊर्ध्वमेव गृह्णन्तीति। हर्षेणेति 'मुदे'ति तृतीयान्तम्, न टावन्तम्, नापि लुप्तविभक्तिकं मुद्पदम्। विपरीतः कालधर्म इति वर्षायां सर्वथा मेघानामभावः, शरदि सर्वथा मेघाः, इति विपरीतः कालस्य शरदो धर्म इत्यर्थः। अशुभेति उत्पातेन्तर्भावात्। कार्यमिति अविपरीतं कालधर्मं जलधरगर्जनमाहेत्यर्थः। सागरनिकट इति 'अनुसागर' मित्यत्र सागरं लक्ष्मीकृत्येत्यर्थात् तथा॥ ७॥

निशीथ इत्यत्र भगवत्प्राकट्ये पूर्वश्लोकैः सह सप्तार्थौ वक्तुमाहुः एवं देशकालयोरित्यादि। देशकालौ प्रकरणमिति निबन्धात् चतुर्व्यूहसमुदायो जन्म तस्य देशकालाविति। यद्यप्यनिरुद्धजन्म चतुर्थाध्याये तथापि शुकहृदयेस्त्येवेत्यदोषः। तत्रत्या-नामिति भूतानां देवादीनां च। अनेन आनन्दत्वेन लीला शास्त्रार्थ उक्तः। 'जगुः किन्नरगन्धर्वा' इत्यत्र स्वत एवोल्लसितहृदया इति न्यूनपूरणाय तस्य विशेषणमुक्तम्। सा लीलानन्दत्वेनात्र। ऋतोश्चे'ति 'मन्दं मन्दं जलधरा' इत्यनेन वर्षर्तोर्गुण उक्तः। तेनोत्स-वाविष्टचित्तानां निरोधात् स्कन्धार्थ उक्तः। रात्र्या इति 'निशीथ' शब्दस्यार्धरात्रवाचकत्वात् तेनैवार्थबलात् रात्रेरपि प्राप्तेस्तथेत्यर्थः। एतादृशनिशीथवत्त्वं रात्र्या गुणः। मुहूर्तस्य घटिकाद्वयात्मकस्य। निशीथस्य गुणस्तमउद्भूतत्वादिः। अध्यायार्थः—रूपान्तरस्वी-करणम्। 'विष्णुराविरासी'दिति रूपं रूपान्तरप्रयोजकम्। अथ वाक्ये सप्तार्थाव्याप्तिपरिहारोपि व्याख्यास्यते। सिंहार्के निशीथविचारस्तु श्रीपुरुषोत्तमानां लेखेस्ति। तथाहि। सिंहार्के निशीथे इदानीं षट्चत्वारिंशत्सप्तचत्वारिंशद्घटिकाद्वयात्मको भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं सौरमानब्राह्ममानाभ्यां घटीद्वयविषमभावात् विवक्षितं प्रादुर्भावसमयं निश्चतुमाहुः पञ्चचत्वारिंशदिति। तत्रायमर्थः। द्वापरस्य पञ्चविंशाधिकशरच्छतावशेषे भगवः (भगवतः ?)। 'शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं विभो' इति ब्रह्मवाक्यान् निश्चीयते।

तत्र गणितविचारे स्फुटोर्कः ४-१९-०-१ चतुरङ्केन गतकर्कराशिः। सिंहेर्क इत्युच्यते। एकोनविंशाङ्केन सिंहराश्येकोनविंशांशाः अंशादिना विकलाः पूर्णाः। एकाङ्केन विकला एका। गतिः ५९ ९ सूर्यगतिः एकोनषष्टिः कलाः, नव विकलाः। अयनांशाः २४-३२-२०। मधुपुर्यां पलप्रभा ६-५। चरखण्डानि ६०-४८-२०। चरपलानि ३२। दिनमानं ३१-४। रात्रिमानं २९-५६। रात्र्यर्धम् १४-२८। निषीथः ४५-३२। एवं सति तत्राषाढोधिकोभ्युपेयः। उक्तरीत्या स्पष्टेर्के सति ४-१९ ०-१। पूर्ववत् राश्यंशकलाविकलाश्चतस्रः। एतादृशस्य सूर्यस्य तदैव सिद्धेः। षट्चत्वारिंशद् घटिका द्वात्रिंशत्पलात्मिका भवति। इति षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयमिति। ईदृशस्तु निशीथो विषुवदिने एकस्मिन् भवति। पञ्चमस्कन्धीयात्। 'यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाऽहोरात्राणि समानि भवन्ती'ति वाक्यात्। ज्योतिःशास्त्राच्च निश्चीयते दिनमानं ३०-०। रात्रिमानं ३०-०। रात्र्यर्धं १५-०। निषीथः ४५-४६-०। तदग्रे तु पलद्वयं प्रत्यहं रात्रेर्दिनस्य च वृद्धिह्रासौ। एवं सति यदत्राष्टम्याः प्रान्तभाग इति। तत्र चन्द्रप्रकाशस्तेभ्यो द्वात्रिंशत्पलेभ्यः पूर्वं भवति। चन्द्रप्रकाशक्षितिज (पृथ्वीछाया) संयोगे तमसो निवृत्तः। तदेवाभिप्रेत्य मूले 'तम उद्भूत' इत्युक्तम्। भगवत्प्राकट्यं तु द्वात्रिंशत्पलोत्तरं निशीथारम्भसमये चन्द्रोदयसमकाले। एतदेवाग्रिमश्लोके 'प्राच्यां दिशीन्दुरिवे'ति दृष्टान्तेन सूचयिष्यते। अतो द्वात्रिंशत्पलान्यनादृत्य यत् पञ्चचत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयमितिकथनं तत् प्रकाशन्यायेन लक्षणादोषनिवृत्त्यर्थं भगवत्प्रभावादिति न कोपि विरोधः। ऊर्ध्वो भवतीति उत्क्षेपणकर्मोक्तं तमसः। गुणा उक्ताः। नन्वनन्तस्य कालात्मनोनन्तमाहात्म्ये कृष्णत्वोक्तेर्जनार्दनाविर्भावे निशीथे गुणाः क इत्याकाङ्क्षायां गुणा उक्ताः। निशीथे तमउद्भूते सत्युत्क्षेपणकर्मणा रोहिण्या च जनार्दने सङ्कर्षणे सितकेशे जायमाने। इत्यन्वयोत्र। सर्वाविद्येति सर्वेषां निरोधाधिकारिणां पूतनाद्यैद्यप्रलम्बादिरूपाविद्यानाशकः। तादृशगुणवानिति तमउद्भूतत्वगुणवान्। तमोऽविद्या विद्यया नश्यतीति वेदविद्यारूपः सङ्कर्षण उक्तः। ननु 'जायमानेऽजने' इत्यनेनैव चारितार्थ्यं, विद्यागुणनिरूपणसिद्धेः, अतो जायमाने जनार्दन इत्यस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षामाहुः भगवज्जननस्येत्यारभ्य हेतुरुक्त इत्यन्तम्। भगवज्जननस्येत्यस्य निमित्तत्वमित्यनेनान्वयः। मूलभूतेत्यादि काले स्थितताना'मथ सर्वगुणोपेतः काल' इत्यारम्भश्लोकोक्तानां मूलभूतस्य भगवतो गुणानाम्। भौतिकानां नद्यादिगुणानाम्। 'दिशः प्रसेदु'रित्यादिभिः पञ्चमहाभूतानां दिश आकाशेन्तर्भाव्य प्राकट्ये इत्यर्थः। मध्य इति कालगुणभौतिकगुण 'नेदुर्दुन्दुभयो दिवी'त्याद्युक्तदेवगुणास्तेषां मध्ये। देहलीप्रदीपन्यायेन निमित्तत्वं वक्तुम्। कालनिमित्तत्वमिति कालो निमित्तं यस्य तादृशत्वमित्यर्थः। अन्ते चेति अष्टधार्धमात्रानिरूपणान्ते च। प्रकटीति अविद्यानाशादिति भावः। ननु नेदं युक्तम्, देवक्यामितिपद्येन 'देवकी सर्वदेवते'ति सर्वदेवतावाचकपदघटितेनैव चारितार्थ्यादित्याशङ्कायामस्याप्याशयं सूक्ष्मेक्षिकयाहुः एवं सन्दर्भ इत्यादि। त्रयमपीत्यपिशब्दः प्रासङ्गिकत्वं सूचयति स्म। पुरुषोत्तमस्यैव प्रकरणित्वात्। सर्वधर्मेति 'अनुसागर'मित्यन्तैः सप्तभिः श्लोकैर्धर्मरक्षोक्तेरैश्वर्यार्धमात्रामध्ये कथनमनिरुद्धस्यैवोचितमिति भावः। सर्वमुक्तीति सर्वेषां चैद्यप्रलम्बादीनामासुरसम्पत्तियुक्तानां मुक्तिदाता तथेत्यर्थः। अज्ञाननिवृत्तिरज्ञानसंहारः। विद्ययाऽज्ञाननाशे मोक्षो वासुदेवकार्यमिति विवेकः। तथा च जनार्दनपदादयं सङ्कर्षण इति भावः। तथा चार्द हिंसायां चु० आत्म० से० तस्य रूपं न तु अर्द गतियाचनयोरित्यस्य भ्वादेः परस्मैपदिनः सेटः। देवक्यामिति 'देवक्यां देवरूपिण्या'मिति श्लोके देवरूपाधिकरणत्वकथनात्। वासुदेव इति 'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज' इतिवाक्याद् वसुदेवगृहेपि व्यूहचतुष्टयप्राकट्यम्। पुरुषोत्तमो नन्दगृहे पूर्वमुक्तो वासुदेवोत्रोक्तो वेदसारः तेन वेदवेदान्तसारत्वात् पदभेदः। सर्वरूपेणापीति विश्वप्रदर्शनं मुखे करिष्यमाणमिति सर्वरूपेणेत्यस्य नार्थः, किन्तु चतुर्व्यूहरूपेण सह भगवान् पुरुषोत्तम आविर्भूत इत्यर्थः। पूर्वपक्षस्या'थोमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोग' इतिवाक्योक्तौत्पत्तिकात्मयोगत्वात्। द्वितीयाध्याये 'कालात्मा भगवान् जात' इति काल देहात्मा भगवानुक्तः, तत्रापि न कालस्य निमित्तत्वं किन्तु देहिनो भगवत एव। न तु देहस्य कालस्य तमोरूपदोषाभावे 'सर्वगुणोपेत' इतिपदोक्ते गुणप्राकट्ये चेत्यर्थः। तादृश इति देहरूपः। सहज इति बलभद्रे तु सहजः, अत्र तु चतुर्व्यूहरूपेण सह पुरुषोत्तमो जात इति सङ्कर्षणाप्राधान्यात् न सहज इत्यर्थः। कश्चिदिति द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायेपि विशुद्धसत्त्वस्य तत्रोक्तेः तस्यैव देहत्वं, न तु कालस्येति भावः। एकमिति कालरूपम्। 'निर्दोष एव रमत' इतिवाक्यादाहुः भगवत्प्रादुरिति। गुणप्राकट्यमिति पूर्वोक्ताज्ञाननिवृत्तिद्वारा। तेन नान्योन्याश्रयः। निरूपितमिति वारद्वयं 'जायमाने' इत्यादि कथनान्निरूपितम्। सर्वांश इति कृष्णकेशनारायणांशावपि। तत्र कृष्णकेशः सङ्कर्षणे शब्दे कृष्णशब्दात्मके नारायणांशोनिरुद्ध इति विवेकः। तेन सर्वशब्देनेन्द्रियदेवता अपि। देवक्यां विष्णुरिति प्रद्युम्नः। विष्णुपदप्रयोगतात्पर्यमग्रे स्वयमेव वाच्यम्। देवानां समूह इति "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजन्यराजपुत्रवत् समनुष्यादृवुञ्" इति सूत्रेण समूहार्थकप्रत्यये विष्ण्वाविर्भावः कारणम्। अन्यथाविर्भावो न स्यादधिष्ठानान्तरे। वृद्ध्यभावश्छान्दसः। तदुपपादयन्ति स्म सम्पूर्ण इत्यादि। तथा च 'देवक्यां देवरूपिण्या'मिति पाठान्तरम्। पूर्णमिति भगवता पूर्णम्। मूषानिषिक्तन्यायेन। देवकी ब्रह्मविद्या, भगवानपि सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपविद्यारूपोसङ्गत्वात्। आधारत्वेनेति अवतारे आधारनिमित्तं न दोषाय। भक्त्यन्तःपातित्वाद्वा। सत्त्वं ज्ञानं वा। तेन स्वाश्रयः। अनवतारदशायां त्वक्षरात्मकत्वे हृदयस्य जाते तत्राविर्भूत 'परमं व्योमे'त्याद्युक्तमेवाधारत्वेन निमित्तम्। 'ब्रह्म तर्हि अग्नि'रित्युत्तरार्धे वक्ष्यमाणत्वादाधानोक्तः साधिष्ठानोग्निर्दृष्टान्तीक्रियते यथेति। भवतीति इतिशब्द उत्तरत्र हेतुवाची। मथनेति मथनदण्डस्थानीयम्। ज्ञानस्य प्रयत्नासाध्यत्वादाहुः भगवद्रूपमिति। देवकीत्वरूपम्। तत्रेति देवक्याम्। इदमेवेति सर्वभूतस्थं जातिरूपं प्रादुर्बुभूषुरूपमेव वा। आधिदैविक

इति ब्रह्मविद्यारूपः। यद्वा देवक्यां विद्यमानः सर्वव्यापकत्वेन यः स विष्णुपदेनोच्यते। पाठान्तर इति देवक्यां 'देवरूपिण्या'मिति पाठान्तरे। गुहा हृदय आकाशमिति हृदयाकाशमिति समस्तोपि पाठः। तस्मिन्निति 'गुहायां परमे व्योम'न्नित्यत्रोक्तायामित्यर्थः। व्योमन्नित्यत्र ङलुंक्। आ समन्तादिति अन्तर्याम्यपि स्वांशजीवरूपेणापीत्यर्थः। सत्त्वगुणाभिमानित्वव्यावृत्त्यर्थमाहुः विष्णुर्व्यापक इत्यादि। पुरुषोत्तम इति विष्णुसमानयोगक्षेमत्वेनाकारकत्वेन च पुरुषोत्तमे विष्णुपदमुक्तमिति भावः। ब्रह्मशब्देनेति चतुष्पाद्-ब्रह्मत्वेन। अत्र चत्वारः पादाः व्यूहाः तात्पर्यवृत्त्या। सर्वान्तर इति सर्वेषामन्नमयादीनामन्तर आनन्दमय इत्यर्थः। सर्वान्तर्यामी अन्दर्यामिसमष्टिः, अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तानां सर्वेषां पृथ्व्यादीनामन्तर्यामी वा। अनेनेति अध्यायार्थप्रद्युम्नस्य राजसत्वेन तत्प्रकरणीय-गुहाशयपदेनेत्यर्थः। सर्वेषामिति ब्रह्मप्रभृतीनाम्। भजनार्थमिति 'भगवान् ब्रह्मकात्स्न्येने'ति वाक्यात्। तेन वेदे माहात्म्यज्ञानं ऐक्यं चेत्युभयं भजनाङ्गं भजनार्थमुच्यते। स्वयं हृदि स्थित्वेति 'तेने ब्रह्म हृदे'त्यत्रेति बोध्यम्। तदुक्तं गीतायाम् 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती'ति। वेदांश्चकारेत्यन्वयः। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा' इति श्रुतेः। किं प्रयोजन-मित्याकाङ्क्षायामाहुः तत्परा इति। वेदपराः, भजनद्वारा कृतार्था इत्यादि। तदुक्तं सुबोधिन्यां ब्रह्मा मानसीं सेवां प्रत्यहं करोतीति। इयं सर्वदा व्यवस्थितिः। सोत्रैवेदानीं प्रकट इति हेतोरवतारपूर्वप्रक्रिया नोपयुज्यते। अतः परं अवतारदशायाम्। अयमेवेति गुहाशय एव। गुहाशयप्राकट्यकथनेन निरूपितमिति अन्वयः। अन्तरन्विति विद्यारूपज्ञानस्य निर्विषयत्वाभावात् तथा। पूर्वोक्तप्रणाड्या वा। न त्विति जननिमित्तभूतस्तु जननाभावादेव न जातः। अनिमित्तभूतोपि ज्ञानरूपो व्यापारोवधारणार्थं मनसस्तदेकपरता। सावधानता विनयेन स्थितिः, तादृशोपि व्यापारो न जात इत्यर्थः। सम्पूर्ण एवेति गतिप्रतिबन्धकमुल्लङ्घ्य प्रियमोदप्रमोदादियुक्तः पक्षी न तु कश्चिदप्यंशं विहायानन्दमयः प्रकट इत्यर्थः। चतुर्भुजत्वेग्रे 'बभूव प्राकृतः शिशु'रिति न्यायो बोध्यः। आधारेति विशुद्धसत्त्वमाधारः। यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवेति 'यथा प्राच्यां दिशी'त्येतावत्प्रतीकेनाधारदृष्टान्तः, इन्दुरिवे'ति प्रतीकेन प्रकटीभूतदृष्टान्तः। सर्वोपास्येति 'तस्यै दिशे नमस्कृत्ये'तिवाक्यात्। हेतुगर्भं विशेषणमाहुः सर्वदेवतेति। श्रीभागवते तत्र देवताप्राकट्यकथनाज् ज्ञायते सर्वदेवतामयीति। तस्या आकाशेन्तर्भावा'दाकाशशरीरं ब्रह्मे'ति श्रुतेः सर्वदेवमयब्रह्मशरीरत्वात् तथा। आगमन इति चन्द्रागतौ। अमृतमय इति जलमयः। 'अपां पुष्पं यो वेदे'ति श्रुतेः। आनन्दरूपामृतमयो वा। 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'तिश्रुतेः। इदीति औणादिक उः। आनन्दमय इति नन्वानन्दमयाधिकरणे आनन्दमयः परमात्मोक्तः कुतश्चन्द्र इति चेन्न। तैत्तिरीये देवतात्रयपक्षे चतुर्थ्याकाङ्क्षायामस्योपादानात्। अत एव जन्माष्टम्यामर्धरात्रे चन्द्रार्घ्यदानं स्मृतम्। तथा च प्राचीदृष्टान्तेन श्रीदेवक्या आविर्भावप्रयोजकत्वमात्रम्। न तु मातृवज् जननीत्वं द्योतितम्। इन्दुपदेन च परमैश्वर्ययोगात् पूर्णत्वं द्योतितम्। तर्हि दृष्टान्तेन कथं पूर्णत्वसिद्धिरित्यत आहुः स इन्दुः प्रथमं पूर्णमास्यां षोडशकलत्वदशायां प्रथमं पूर्वं पूर्ण एव दृश्यते। खण्डास्त्विति चन्द्रमसः खण्डास्तु तिथ्यन्तरे आकाशमध्ये तत्प्रान्ते पश्चिमदिशि च दृश्यन्ते। तथा च प्राचीपदेन्दुपदयोः समभिव्याहारात् दृष्टान्तेनापि तत्सिद्धिरित्यर्थः। नन्वेवं दृष्टान्तेनैव पूर्णत्वसिद्धौ पुष्कलपदस्य विष्णुविशेषणप्रतिपादकस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः उच्चैरित्यादि। तथा च कृष्णद्वितीयादौ उच्चैः खण्डस्यापि प्राच्यां दर्शनात् तद्व्यावृत्त्यर्थं पुष्कल-पदमिति तत्समभिव्याहृतदृष्टान्तादेव पूर्णत्वसिद्धिरित्यर्थः। समाप्तपुनरात्तत्वदोषापहान्यैतद्गतभूयोधर्माणां दार्ष्टान्तिके निरूपयितुं पूर्णत्वातिरिक्तधर्मनिरूपणार्थं पुष्कलपदस्यार्थान्तरमभिप्रेत्यैतद् द्विधा व्याकुर्वन्ति स्म पुष्कलशब्देनेत्यादि, नन्वित्यादि च। क्षयेति लोके प्रसिद्धम्। अत्रेति एवं व्याख्याने। प्राच्यादीति 'यथेवे'तिपदद्वयस्य विद्यमानत्वात् प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिति चतुर्णां पदानामावृत्तिः। यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुस्तथा देवक्यामित्याधारदृष्टान्तः। प्राच्यां दिशीन्दुरिव विष्णुः प्रादुरासीदिति प्रकटीभूते दृष्टान्तः। तथेत्यर्थ इति पत्नीषु वह्वीषु सतीषु देवक्यामेवाविर्भावः। अत इति समाप्तपुनरात्तत्वदोषानवृत्त्ययं दृष्टान्ते निवेश्य पुष्कलेन्दुदृष्टान्तकथनादित्यर्थः। आश्चर्येति 'सविस्मयोत्फुल्लविलोचन' इति पदेन। आविर्भावे प्राप्तं सदैकरसत्वश्रुतिविरोधं कारिकया परिहरन्ति स्म दासीनामिति। भक्तानाम्। स्त्रीप्रत्ययस्तु प्रसादरूपशक्तिरूपस्त्रीत्वविवक्षायां भवति। 'स्त्रीद्वारा पुरुषे भवेत्' इति च। 'दास्यो वक्ष्यमाणा अङ्गीकार्या' इति लेखे (प्रकाशे)। सर्वरक्षार्थं सर्वपुरुषार्थरक्षानिमित्तम्। स्वसमानाकारं वासुदेवं अत्युत्कटं भक्तदुःखं वा। निमित्तीकृत्य स्वाविर्भावे प्रयोजकं कृत्वा। मम स्वामी पुरुषोत्तमः प्रादुर्भूतः। अत्र 'मायया सह जात' इति सुबोधिन्या मायिकी विषयता जाता, तया 'न तदश्नोति कश्चन, न तदश्नोति कश्चने'तिश्रुतिविरोधो न। कृपारूपमाया त्रिविधा सुधा तस्या अप्याविर्भावो बोध्यः। नैश्चिन्त्यमिति, अत्र टिप्पणी, स्पष्टार्था, पूर्ववदित्यस्य व्याख्या प्राकट्यात् पूर्वमित्यादिना। अयमर्थः साधनाध्यायद्वितीयपादे। 'अरूपवदेवे'त्यधिकरणस्य द्वितीयसूत्रे 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्या'दित्यत्रोक्तः (३-२-१५) ॥ ८ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

सात्त्विकाहंकारकार्यं मन इति—सात्विक अहंकार का कार्य मन है इस हेतु से तामस अहङ्कार के कार्य पृथिवी जल तेज आदि भौतिक पदार्थों के गुण वर्णन के अवसर पर मन के भी गुणों को कहा जाता है। यह सहज नियम है कि मन सत्व गुण पर स्थित होता है, तब मन प्रसन्न होते हैं। दैत्यसम्बन्धी भी मन होता है, उस मन को प्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई ऐसा 'साधूनाम्' से सूचित किया गया है, यह 'साधू' पद दैत्यों के अतिरिक्त सब ही का बोधक है ऐसा सूचित करने के लिये

'असुरद्रुहाम्' पद का विशेषण दिया है, व्यवहार में सन्मार्ग पर रहने वाले सदाचारी ही साधु जन है ऐसा 'साधु' पद से सूचित होता है। यह अवस्था स्थूल काल में भगवान् के जन्म काल से कुछ पूर्व में प्रारम्भ हुई और माया के जन्म पर्य्यन्त यह देश काल आदि की प्रसन्नता वाली अवस्था वर्तमान रही परन्तु जन्म के निकट समय में तो यह विशेषता हुई कि आकाश में दुन्दुभि स्वयं बज उठीं, और अजन्मा भगवान् के प्राकट्यकाल के निकट आते ही आकाश में नगाड़े खड़कने लगे, यह मंगल ध्वनि इतना समीप थी जिससे श्री वसुदेवजी आदि सर्व सुन सकें। आकाश के गुण नृत्य और वाद्य हैं, दुन्दुभि मंगलवाद्य है, भगवत् प्राकट्य की महिमा यह थी कि बिना बजाये स्वयं ही दुन्दुभि बजी थीं ॥ ५ ॥

किन्नरगन्धर्वा अदि किन्नर और गन्धर्व भी स्वतः ही उल्लासपूर्ण हृदय होकर गान करने लगे। पुरुषोत्तम प्रकट हो रहे हैं, इस ज्ञातव्य विषय के ज्ञान के बिना ही उनकी यह रसमत्त अवस्था बन गई थी। यदि भगवत्प्राकट्य को जानकर उन्होंने गान किया ऐसा समझा जाय तब तो भगवत्प्राकट्य की महिमा का प्रतिपादन न हो सकेगा। प्राकट्य की स्वाभाविक चमत्कृति का दिग्दर्शन न हो सकेगा। जब सिद्ध और चारण स्तुति करने लगे, तब अकस्मात् ही किन्नर और गन्धर्व गण माङ्गलिक स्तुति पाठ में प्रवृत्त हो गये। कारण यह था कि वह लोग इस माङ्गलिक समय के राय भाट जैसे थे, और विद्याधर लोग नाचने वाले नर्तक थे। विद्याधराश्च इस पद में जो च अव्यय है उससे यह भी सूचित होता है कि विद्याधरों की गृहिणीयाँ भी नाचने लगीं। अप्सराओं के साथ हो रहा यह नृत्य आनन्द के आवेश से ही है लेकिन नाट्यशास्त्र की अवाग्रता से गान तान की पद्धति से नहीं है इस बात को 'मुदा' पद से निर्देश किया है। मुदा पद द्वारा आनन्द की सूचना की है, किन्नर आदि गायक किसी के प्रेरणा से गानादि में प्रवृत्त नहीं हुए किन्तु स्वतः ही आनन्द में डुब कर अकस्मात् स्त्री और पुरुष उस समय साथ साथ नाचने लगे, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो भी कोई जिस विद्या में तल्लीन थे वह सहसा हर्ष के साथ उस उस कार्य को करने लगे ॥ ६ ॥

देवा ज्ञात्वैव— देवगण और मुनिगणों ने भगवत्प्राकट्य को जान कर ही सतत सुमनों की वृष्टि की थी, मुनियों को शब्द रूप श्रुति का बल है और देवताओं को अर्थ रूप भगवान् का ही बल है, यह दोनों प्रामाणिक है, इन्होंने अपनी सेवा और भगवान् पधारते हैं, इस विषय में अपनी जानकारी प्रकट करने को मङ्गल की सूचना के लिए हर्षपूर्वक सुमनस वृष्टि की, भगवत्प्राकट्य काल में यदि सर्वथा ही मेघ न रहे तब तो वर्षा-ऋतु में मेघों के न होने के कारण काल-धर्म विपरीत होने से अशुभकारी समझा जावे, अतः मेघों का भी कार्य वर्णन किया है कि समुद्र के तट पर मेघों ने गर्जना की ॥

मुनियों ने अपने निर्मल मानसों को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध के न होने के कारण समाधि से निकालकर भगवान् के प्राकट्य स्थल पर छोड़ दिये व रख दिये। मुनिजनों की मनोवृत्ति तन्मय बन कर वहीं पर लग गई। देवताओं ने तो वहाँ पर पुष्पों की वृष्टि की। व्यासजी ने पुष्प आदि पद को छोड़ कर यहाँ पर "सुमनस्" पद का प्रयोग किया है, क्योंकि सुमनस पद सुन्दर मन और पुष्प दोनों अर्थों का वाचक है, पुष्पवाचक "सुमनस्" शब्द यद्यपि स्त्रीलिङ्ग है, फिर भी स्त्रीलिङ्ग की द्वितीया विभक्ति बहुवचन का "सुमनसः" पद का प्रयोग न करना और सुमनांसि ऐसा पद लेने का तात्पर्य है कि सुमनस् शब्द का द्वितीय अर्थ 'सुन्दर मन' भी यहाँ अभीष्ट है, अन्यथा भूमि में निवासी मुनिजनों का आकाश निवासी देवताओं के साथ पुष्प-वृष्टि करना कैसे सिद्ध हो सकेगा। और एक और भी समाधान है कि मन का पुष्प रूप से कथन पुष्पों के "उज्ज्वल एवं सङ्कोचविकास आदि धर्मों से युक्त होने के कारण सुसंगत है मुनि और देवों को 'मुदान्विताः' इस विशेषण से मुनि और देवताओं में आनन्दावेश की सूचना है जिससे पुष्प रूप मुनि मानसों की मकरन्दभरपूर्णता व्यञ्जित होती है। उस समय मेघों ने विचार किया कि इस सुमन वृष्टि की अपेक्षा हमारी की हुई जल-वृष्टि न्यून रहेगी और ऐसी अद्भुत न होगी इसलिये मेघोंने जल-वृष्टि नहीं की लेकिन पुष्पवृष्टि में गर्जना नहीं है अतः गर्जना मात्र ही मेघों ने आवश्यक कर्त्तव्य समझकर की। गर्जना भी मन्द मन्द सुहावने नाद से की जिससे वह किन्नर गन्धर्वों के गान तान सुनने में आ सके। उच्चस्वर गम्भीर मेघ-गर्जना पूर्वोक्त की वाद्य गीत आदि के श्रवण में प्रतिबन्ध करने वाली होती है अतः उसमें प्रतिबन्ध न होने पावे इसलिए मन्द गर्जना की ऐसा कहा है। यदि तार नाद से मेघ गर्जना होती तब वाद्य गीतों की व्यर्थता हो जाने की आपत्ति थी। आचार्यचरण कहते हैं कि इससे यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि एक ही साथ वाद्य, गीत, और गर्जना हो रहे थे और उनका आपस में मेल मिल रहा था एक दूसरे के उतार चढ़ाव में सहायक हो रहे थे ऐसी सुव्यवस्था के साथ सब लोगों के सुनने में आ रहे थे।

किञ्च जगर्जु रेव न तु ववृषुः—वह मेघ जल को धारण करने वाले ही थे वर्षा करने वाले नहीं थे, इसलिये गर्जना ही की, वृष्टि नहीं की यह बताने के लिये शुकाचार्यजी ने मेघों का 'जलधर' शब्द से व्यवहार किया है। भगवत्प्राकट्य से पूर्व में नील वर्ण की प्रशंसा लोक में नहीं थी इस कारण वह अपने नीलरूप को अप्रशस्त समझ कर उसके दूर करने के लिए जल का त्याग करते रहते थे, और शुभ्र हो जाते थे, परन्तु अब तो परम मनोहर श्याम स्वरूप प्रभु प्रकट हो रहे हैं अतः कविगण आगे हमारी उपमा उन्हें देंगे, उससे हमारा जन्म सफल होगा इस हर्ष के कारण अपने नील रूप को अभीष्ट होने से उसे बचाये

रखने को उस नीलरूपता का कारण जल धारण है, इस विचार से जलधर ही रहे आये, 'जलद' या 'जलमुक्' नहीं हुए, यदि जल धारण नहीं करते उसको वृष्टि कर देते तो शुभ्रता हो जाती नीलिमा न रह पाती, यद्यपि मरकत मणि, नील कमल आदि की भी समानरूपता है तथापि मेघ का सहयोग विद्युत से होता है मरकतादि का विद्युत संयोग नहीं, अतः स्वामीनियों की सुनहरी तनुलता से जब श्याम तमाल प्रभु वेष्टित होंगे तब उस दशा में युगलच्छवि के दोनों रूपों में अधिक साम्य अपना ही ठहरेगा, इत्यादि 'जलधर' पद का स्वारस्य है, क्योंकि जल वाले मेघों में ही विद्युत् का साथ देखने में आता है, और भी बात यह है कि समुद्र इस गर्व से गर्जना करता है कि मेरे गाम्भीर्य गण को प्रभु ने अङ्गीकार किया है, उसके उस गर्व को दूर करने के लिए मेघ गर्जता है कि तेरा तो केवल गाम्भीर्य मात्र धर्म से ही साम्य है और मेरा साम्य तो स्वरूप से है अतः मेरा साम्य अधिक है तू क्या गर्व करता है ऐसा सूचित करने के लिए 'अनुसागरम्' यह पद कहा है ॥ ७ ॥

एवं देशकालयोस्तत्रत्यानामृतोश्च गुणानुक्त्वा रात्र्येस्तन्मुहूर्तस्य च गुणानाह-निशीथ इति।

एवं देशकालयोः—इस प्रकार देश कालों के तथा देश कालस्थ जलवायु आदि तत्वों के और वर्षा ऋतु के गुणों का निरूपण करने के बाद निशीथे' तम इस श्लोकार्ध से रात्री के और उनके मुहूर्त के गुणों का वर्णन करते हैं। निशीथ का अर्थ है रात्री का मध्यभाग। उस मध्य भाग में जहाँ रात्री के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलते हैं उसको अर्धरात्र या निशीथ कहते हैं। वह निशीथ जो कि ४५ पैंतालीस और ४६ छयालसवीं घड़ियों का जोड़ा है, यद्यपि मेष या तुला राशि पर सूर्य के संक्रमण काल में ही दिन मान और रात्रि मान ३० तीस तीस घड़ियों का समान होता है और उसी दिन अर्ध रात्र ४५ और ४६ घड़ियों का होता है श्रीकृष्ण प्रादुर्भाव के समय श्रावण (भादों) मास में सिंह राशिस्थ सूर्य के काल में ४६–४७ घड़ियों का अर्ध रात्र होता है तो भी आचार्य चरणों ने ४५–४६ घड़ियों का निर्देश किस प्रकार किया ? इस विषय पर प्रकाश डालते हुए श्री प्रकाशकार ने भगवान् के जन्मकाल का गणित कर इस प्रकार निर्णय दिया है कि कलियुग के आने से १२५ वर्ष पूर्व भगवान् का जन्म हुआ था, तथा उस वर्ष में 'आषाढ़' मास अधिक था उस दिन का मान ३१ घड़ी ४ पल था एवं रात्रि का मान २८ घड़ी ५६ पल था रात्रि का पूर्वार्ध १४ घड़ी २८ पल का था तथा रात्रि का उत्तरार्ध भी १४ घड़ी २८ पल का ही था तदनुसार अर्धरात्र का काल ४५ घड़ी के अनन्तर ३२ पल व्यतीत होने पर आता है भगवान् का जन्म उसी समय हुआ था उसी समय चन्द्रमा का भी उदय हुआ था परन्तु अन्धकार की निवृत्ति ४५ वीं घड़ी के आरम्भ होते ही हो गई थी ३२ पलों से पूर्व ही चन्द्र प्रकाश का क्षितिज से संयोग होने पर अन्धकार हट गया था इस अन्धकार के हटने के काल का उल्लेख ४५ वीं घड़ी पर किया है जिससे अन्धकार की निवृत्ति के द्वारा सर्व दोषों की निवृत्ति का बोध कराना अभीष्ट है कि उस समय किसी प्रकार का कोई दोष अवशिष्ट नहीं रहा था सर्व दोषों की निवृत्ति होने पर ही 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः' पूर्ण चन्द्र कृष्ण चन्द्र का प्राकट्य हुआ। उसका निशीथ काल की निर्दोषता का सूचक 'तम उद्भूते' यह विशेषण है क्योंकि उस निशीथ में तम अन्धकार उद्भूत हो चुका था ऊंचा हो चुका था अर्थात् निवृत्त हो गया था; रात्री का दोष अन्धकार है उसकी निवृत्ति से निर्दोषता सिद्ध होती है, ऊँचा होने का तात्पर्य ही निवृत्त होना है क्योंकि देखा जाता है कि जो निकल जाता है वह ऊँचा होता है और जो फंस जाता है वह नीचा पड़ा रहता है। जायमाने जनार्दने जनार्दन के जन्म का वर्तमान काल होने से जायमाने जनार्दने पद द्वारा उस काल के गुणों का निर्देश किया है कि जितने गुणों से सर्व प्राणियों के अविद्या नाशक जनार्दन प्रभु प्रकट होते हैं वैसे गुणों का आधार वह निशीथ काल था, ऐसा अर्थ है। कालगत मूल रूप भगवद्गुणों के और भौतिक नदी आदि के गुणों के प्रकट होने में भगवान् का प्राकट्य ही निमित्त है कालनिमित्त नहीं है, इस तत्व को लक्षित कराने के लिए आगे पंचम श्लोक में जायमाने अजने ऐसा कहा जा चुका है, ऐसा 'अजन' शब्द से भगवान् का जन्मादि विकारों से रहित होना सूचित कर और भगवान् का स्वेच्छा से प्राकट्य होने में विकार हेतु काल निमित्त नहीं हो सकता किन्तु प्राकट्यकाल के सर्व गुण युक्त होने में स्वयं प्रकट होने वाले 'अजन' भगवान् ही निमित्त हैं। **अन्ते च पुनर्जायमाने जनार्दन इति सर्वाविद्याविनाशनार्थं** अन्त में आगे चलकर 'जायमाने जनार्दने' पद द्वारा यह सूचित करना अभीष्ट है कि सर्व तत्वों के गुणों का प्रकट होना इसलिए अनिवार्य है कि भगवान् सबकी अविद्या का नाश करने को प्रकट हो रहे हैं इसलिये भगवत्प्राकट्य ही भूमि जल आकाश आदि सबके गुणों के प्रकट होने में हेतु है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में गूढार्थ प्रकाशक पद्धति से विचारित तृतीयाध्याय ग्रन्थ में भगवान् के अवतारत्रय भी कहे हैं सर्व धर्म के संरक्षक श्री 'अनिरुद्धजी', एवं अज्ञान निवृत्ति के द्वारा मोक्षदाता 'सङ्कर्षण' जी और देवकी जी में जो विष्णु रूप है वह 'प्रद्युम्न जी' तथा नन्दालय में 'वासुदेव' जिन भगवान् का दर्शन चतुर्भुज से द्विजभुज स्वरूपके स्वीकार स्थल' पर श्री देवकी वसुदेवजी माता-पिता को हुआ है इस प्रकार सर्वरूप से प्रकट हुए यही भगवान् हैं, ऐसा कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अनिरुद्धव्यूह के प्राकट्य की सूचना 'जायमानेऽजने' इस स्थल पर मिलती है क्योंकि 'अथसर्वगुणोपेतः' वर्णन से लेकर 'जगर्जुरनुसागरम्' वर्णन पर्यन्त कालादि गुणरूप धर्मों का निरूपण है उसी के मध्य में अजन के जन्म का जो उल्लेख है धर्म वह संरक्षक अनिरुद्ध व्यूह स्वरूप का ही परामर्श करता है। सङ्कर्षण व्यूह की सूचना भी 'जायमाने जनार्दने' इस स्थल पर हुई है। क्योंकि जो जनार्दन

का प्राकट्य है वह उस संकर्षण स्वरूप का प्राकट्य है जो जना नामक अविद्या का 'अर्दन' विनाश करता है, विनाश अथवा तो प्रलय करना सङ्कर्षण का कार्य है, अविद्या का विनाश करने पर मोक्षदान भी करते हैं। देवकी में प्रकट होकर वंशवृद्धि करने वाला स्वरूप प्रद्युम्न व्यूह है। और श्रीनन्दालय में तो द्विभुज धर्मी श्रीपुरुषोत्तमजी का प्रादुर्भाव है।

निमित्तत्वं च भगवत एव दोषाभावे गुणप्राकट्ये च दोषों के सम्पादन में एवं गुणों के प्रकट होने में भगवान् ही कारण हैं, काल कारण नहीं है यदि दोषाभाव का सम्पादक एवं गुणों को प्रकट करने वाला कोई स्वाभाविक काल ही है ऐसा मान लिया जाय तब तो उस समय में उत्पन्न होने वाला और कोई पुरुष भी भगवान् के समान ही होना चाहिये था क्योंकि उस पुरुष की उत्पत्ति का काल एवं भगवत्प्राकट्य का काल एक ही है जो कि दोनों स्थलों पर निमित्त रूप से उपस्थित है, इसलिये यह ही मानना उचित है और अनिवार्य है कि भगवान् का प्राकट्य ही सर्व गुणों के प्राकट्य में निमित्त है और उन गुणों का प्राकट्य भी भगवान् के प्रकट होने के लिए ही हुआ है, ऐसा निरूपण दो बार 'जायमाने' बात के कथन से अभीष्ट है। एवं **'सर्वांशो भगवान् प्रादुर्भूतः'** इस प्रकार सर्वांश पूर्ण भगवान् प्रकट हुए ऐसा कहते हैं कि देवकी में विष्णु प्रकट हुए, देवकी सर्व देवता है सर्व देवताओं की समूहात्मक मूर्ति है, सम्पूर्ण देव समूह में पूर्ण सत्व होता है और वह पूर्ण सत्व भगवान् के आविर्भाव में आधार रूप से निमित्त होता है, जैसे अग्नि के विषय में अरणि काष्ठ को आधार रूप से निमित्त देखा गया है यहाँ पर अरणि काष्ठ के दृष्टान्त को लेकर यह विचार प्रस्तुत होता है कि अरणि (काष्ठ) भी किसी मथन व्यापार के आवेश को पाकर ही अग्नि के प्रकट होने में निमित्त होती है वैसे देवकी में भी मथन के स्थान पर किसी व्यापार का निरूपण करना आवश्यक है, उक्त विचार को लक्ष्य में रखकर **'विष्णुरूपिण्याम्'** यह देवकी के लिये विशेषण प्रयुक्त हुआ है। श्री देवकी में विष्णु का रूप विद्यमान है अतः देवकी को विष्णुरूपिणी कहा गया है। यहाँ रहस्य यह है कि देवकी के अन्तः-स्थित भगवत्स्वरूप ने ही बाहर भगवान् को प्रकट कर दिया है, देवकी का कोई प्रयत्न अथवा प्रसव का वायु आदि कुछ भी भगवत्प्राकट्य में निमित्त नहीं उन प्रयत्न आदि अन्य निमित्तों के निवारण करने के लिए बतलाया गया यह देवकी हृदयगत रूप ही स्वयमेव मथन स्थानीय होकर अपने आविर्भाव में कारण है, ऐसा सिद्धान्त है।

देवक्यां विद्यमान आधिदैविक इति केचित्—कुछ विद्वानों का कहना है कि देवकी में जो आधिदैविक स्वरूप विद्यमान है उसका विष्णु शब्द से निर्देश है, परन्तु उस दशा में **'विष्णुरूपायां'** विष्णुरूपा देवकी ऐसा अर्थ होता है। विष्णु-रूप को धारण करने वाली विष्णु रूपवती देवकी इस प्रकार विष्णु रूप से अतिरिक्त उसकी आधार रूप देवकी ऐसा अर्थ यहाँ पर अभीष्ट है। मूल भागवत पाठ में कहीं **'देवरूपिण्याम्'** ऐसा भी पाठ मिलता है वहां भी देव शब्द से विष्णु का ही ग्रहण अभीष्ट है। विष्णु का अर्थ व्यापक पुरुषोत्तम है वेदान्त में जिसको ब्रह्म कहा जाता है। जब उस व्यापक की सर्वत्र ही सत्ता है तो उसका प्रादुर्भाव वास्तविक नहीं औपचारिक किसी धर्म को लेकर कथन मात्र ही है ऐसी शङ्का के निवारण के लिए **'सर्वगुहाशयः'** इस पद का प्रयोग किया है। भगवान् प्राणीमात्र की हृदयरूप गुहा में विराजते हैं वह सर्व व्यापक होते हुए भी सर्वान्तर हैं, सबके अन्तर्यामी हैं, अन्तर्देश में स्थित हैं वह आज स्वेच्छा से बाहर पधारे हैं बाहर पधारना ही उनका प्रादुर्भाव है, अतः व्यापक का प्राकट्य कैसे ? ऐसी शङ्का को स्थान नहीं होता है। भगवान् की व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुतिसिद्ध हैं अतः उनका अविरोध है, उक्त गुहाशय स्वरूप के प्राकट्य प्रतिपादन से यह निरूपण किया है कि भगवान् ने अपने भजन के लिए सर्व साधारण लोगों के हृदय में विराजमान होकर इस तत्व को समझाने के लिए वेदों की रचना की कि वेदोक्त कर्तव्य-परायण लोग कृतार्थ हो जाय। आज इस समय वह अन्तरस्वरूप बाहर प्रकट हुआ है इसलिए अब इससे आगे भविष्य में वेदोक्त अन्तःस्वरूप चिन्तन आदि की प्रक्रिया का उपयोग आवश्यक नहीं किन्तु इस बाहर प्रकट हुए भगवत् स्वरूप की ही सेवा करनी चाहिए।

आविर्भावे को हेतुः—आचार्यचरण कहते हैं कि श्री देवकी जी जिस आनन्दमय भगवत् स्वरूप का हृदय में अनुभव कर रही थी वह स्वरूप यकायक बाहर दृष्टिगोचर हो गया; श्री देवकी जी का कोई भी व्यापार प्रभु को प्रकट करने में निमित्त नहीं हुआ, और देवकीजी को न कुछ ज्ञान ही हुआ कि प्रसव होने वाला है और न उसके लिए सावधानता रखनी पड़ी, लेकिन जो स्वरूप प्रकट हुआ वह स्वरूप सम्पूर्ण ही आनन्दमय है ऐसा निरूपण करने की आश्रयभूता श्री देवकी का प्राची दिशा और प्रकट हुए भगवान् का पूर्ण चन्द्र दृष्टान्त कहा है **'आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः'** प्राची पूर्व दिशा सबकी उपासना करने योग्य है और सर्व देवतामयी है। वह प्राची भी चन्द्रमा के आगमन में मार्ग मात्र है, चन्द्रमा को उत्पन्न करने में कारण रूप नहीं क्योंकि चन्द्रमा अमृतमय है और परम ऐश्वर्यशाली है इसलिए चन्द्र को भी कहते हैं, यह आनन्दमय है; पूर्व दिशा में प्रथम इसका पूर्ण रूप से ही दर्शन होता है, इसके खण्ड तो मध्य आकाश में और प्रान्त भाग पश्चिम दिशा में दीखते हैं, और इसका ऊँचा विशाल खण्ड भी पूर्व दिशा में दीखता है। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया तिथियों के काल में पूर्व दिशा में दीखने वाले रेखा मात्र चन्द्र के निवारण करने के लिए 'पुष्कल' शब्द का प्रयोग किया है। इस पूर्ण चन्द्र के दृष्टान्त से भगवान् की पूर्णता सिद्ध की है, पुष्कल शब्द से परिपुष्टता भी सूचित होती है, जिसके द्वारा निष्कलङ्कता का बोध होता है क्योंकि कलङ्क ही

तो क्षय का कारण है, तथा उक्त रीति से पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति देवकी में विष्णु का प्राकट्य हुआ, यह एक दृष्टान्त निकलता है, और इस शङ्का के निवारण करने के लिए कि वसुदेवजी की अनेक पत्नियों के होते हुवे देवकी में ही भगवान् का प्राकट्य क्यों हुआ ? दूसरा दृष्टान्त है कि, जैसे अनेक दिशाओं के होते हुए भी पूर्ण चन्द्र प्राची दिशा में ही उदित होता है उसी प्रकार देवकी में ही भगवान् प्रकट हुए, 'इव' और 'यथा' इन दो दृष्टान्तवाचक शब्दों की आकांक्षा शान्त करने को 'प्राची-दिशा' और 'पुष्कल-चन्द्र' इन शब्दों का दो बार उच्चारण जानना आवश्यक है, इस प्रकार व्याख्या करने पर यह अर्थ सिद्ध होता है कि जैसे पूर्ण चन्द्र का प्राकट्य स्थान पूर्व दिशा ही है, उसी भांति सर्व शक्ति परिपूर्ण पुरुषोत्तम का प्राकट्य स्थान देवकी ही है, अतः सच्चिदानन्दस्वरूप, एवं सकलकला परिपूर्ण भगवान् अकस्माद् ही देवकी वसुदेव के सम्मुख प्रकट हो गये वह दोनों तो बैठे थे उनके बैठे-बैठे ही आकस्मिक प्रादुर्भाव हुआ तभी आश्चर्य भी उन दोनों को हुआ और उन्होंने वर्णन भी किया।

कारिका– दासीनां सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशम्। प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत् ॥ १ ॥ ८½ ॥

यह भी सङ्गत होता है, भगवान् के प्रकट होने में कुछ श्रुति वाक्यों का विरोध प्रतीत होता है उसके निवारणार्थ आचार्यचरण उपर निर्दिष्ट कारिका में समाधान करते हैं कि मेरे स्वामी दासीजनों की सर्व प्रकार से रक्षा करने के हेतु वैसा निमित्त बना कर प्रकट हुए हैं, 'अदृश्यम् अग्राह्यम्' भगवान् याने ब्रह्म तो दृष्टिविषय नहीं कर पादादि से स्पर्श के विषय नहीं है ऐसी उपनिषद् वाणी में किसी प्रकार की **'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत्'** चिन्ता की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्द्रियसामर्थ्य से उनकी अग्राह्यता एवं अदृश्यता में उसका तात्पर्य है, स्वेच्छा से तो वह दृश्य एवं ग्राह्य होते ही हैं लेकिन जीवों के किसी भी प्रकार के योगादि सामर्थ्य से ग्राह्य और दृश्य नहीं होते हैं। अतः प्राकट्य से पूर्व जैसे कोई विरोध नहीं था प्रकट होने पर भी कोई विरोध नहीं है। इस कारिका के शब्दों से निश्चय होता है कि श्री वल्लभाचार्य ने अपने सर्वस्व प्रभु का जिन्हें गोपीजन वल्लभ कहते हैं यहां प्राकट्य माना है **'मम स्वामी'** और **'दासीनाम्'** इन शब्दों का स्वारस्य इस ओर आकृष्ट करता है, मथुरा में व्यूह सहित पुरुषोत्तम का प्राकट्य है, यह तो सर्वसम्मत है ही, अनिरुद्ध, संकर्षण, और प्रद्युम्न इन तीनों व्यूहों का तो श्री सुबोधिनी में स्पष्ट उल्लेख हुआ ही है, प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी महाराज ने श्री सुबोधिनी के ही अक्षरों के आधार पर वासुदेव व्यूह का प्राकट्य भी मथुरा में हुआ है, ऐसा सिद्ध कर दिया है, लेखकार वासुदेव के प्राकट्य को यहाँ नहीं मानते हैं उनका मत है कि वासुदेव व्यूह के अतिरिक्त तीनों व्यूहों के साथ पुरुषोत्तम का प्राकट्य मथुरा में हुआ है, वासुदेव का प्राकट्य तो नन्दालय में नवमी के दिन हुआ है, पुरुषोत्तम प्राकट्य में तो कोई मतभेद नहीं है, पुरुषोत्तम प्राकट्य व्यूहों के सहित मथुरा में हुआ और व्यूहरहित द्विभुज पुरुषोत्तम प्राकट्य गोकुल में हुआ ॥ ८½ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

साधूनां मनांसि प्रसन्नान्यासन् के ते साधव इत्यपेक्षायामाह—असुरद्रुहामिति। असुरकर्तृकद्रोहवतामित्यर्थः। तेन भगवद्भक्तानां प्रह्लादादीनामपि सङ्ग्रहः। असुराणां मनःप्रसादाभावः सूचितः। दिवि स्वर्गे दुन्दुभयः स्वयमवादिता अपि नेदुर्दध्वनुः। तेन भगवन्माहात्म्याज्जडानामपि चैतन्यसादृश्यं सूचितम्। तथोक्तं हरिवंशे—'अनाहता दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तदा' इति ॥ ५ ॥ तदा तस्मिन् समये किन्नरा गन्धर्वाश्च भगवद्गुणाञ्जगुः। सिद्धाश्चारणाश्च भगवन्तं तुष्टुवुः अप्सरोभिः समं सह विद्याधर्यश्च ननृतुः ॥ ६ ॥ मुनयः सुष्ठु निर्मलानि मनांसि मुमुचुः, भगवद्ध्यानपराणि कृतवन्तः। देवास्तु सुमनांसि पुष्पाणि मुमुचुः ववृषुः। अतएवमन्वयमभिप्रेत्यैव पुष्पादिपदं विहायोभयार्थकसुमनःपदप्रयोगः। यद्वा मुनयस्तुष्टुवुरित्यनुषङ्गः। मुदा हर्षेणान्विताः पूर्णा इति मुनीनां देवानां च विशेषणम्। अनुसागरं सागरगर्जनसहितं यथा भवति तथा जलधरा मेघा मन्दं मन्दं जगर्जुः गम्भीरशब्दं कृतवन्तः। तथोक्तं विष्णुपुराणे—'सिन्धवो निजशब्देन वाद्यं चक्रुर्मनोहरम्' इति। तम उद्भूते तमसा व्याप्ते निशीथे अर्धरात्रे। न च "गगनं निर्मलोडुगणोदयम्, दिशः प्रसेदुः" इत्युक्तिविरोधः शङ्कनीयः। सर्वथा मेघाद्यभावे कालगुणवैपरीत्येन भयसूचकत्वं सर्वगुणोपेत इत्युक्तिविरोधश्च स्यादतस्तदनुकूला मेघादयः सन्तीति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ देवरूपिण्यामिति। देवमात्रदित्यवतारभूतायामित्यनेन वसुदेवभार्यासु बहुषु सतीषु देवक्यामेव किमिति प्रादुरभूदित्याशङ्का निरस्ता, तस्या एव तदवतारयोग्यत्वात्। एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति। यथाऽन्यासु दिक्षु सतीष्वपि प्राच्यां दिश्येवेन्दुः प्रादुर्भवति योग्यत्वात्, तथाऽन्यासु सतीष्वपि देवक्यामेव भगवानाविरासीदित्यर्थः। इव शब्दस्तथार्थः। न्यूनकलोऽपि चन्द्रः प्रादुर्भवतीति दृष्टान्तेन भगवतोऽप्यंशावतारशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्या भगवतः पूर्णत्वज्ञापनार्थमाह—पुष्कल इति। पूर्ण इत्यर्थः। विष्णुशब्दस्य व्यापकवस्तुवाचकत्वात्तद्वाच्यस्य भगवतो व्यापकत्वमाह—सर्वगुहाशय इति। सर्वेषां प्राणिनां गुहास्वन्तःकरणेषु शेते नियामकतया तिष्ठतीति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मनांसीति ॥ असुरद्रुहां सुरद्रुहः कंसाद्यास्तद्भिन्ना असुरद्रुहस्तेषां सर्वप्राणिनां देवानां च। यद्वा। असुरा द्रुहो द्रोहकर्त्तारो येषां तेषामसुरकर्तृकद्रोहाखिन्नानां साधूनां मनांसि पूर्वमप्रसन्नानि तदा तु प्रसन्नानि आसन्। एतत्पर्यन्तमष्टम्यां सूर्योदयादे-

वाभूत्। अथ तस्मिन् अजने श्रीकृष्णे जायमाने आसन्नप्रादुर्भावे सति दिवि दुन्दुभयः स्वयमेव नेदुः। "अनाहता दुन्दुभयो देवानां प्राणुदंस्तदा।" इति हरिवंशे ॥ ५ ॥ जगुरिति ॥ तदा किन्नराः गन्धर्वाश्च भगवद्गुणान् जगुः। सिद्धाश्चारणाश्च भगवन्तं तुष्टुवुः अप्सरोभिः समं सह विद्याधर्यश्च ननृतुः ॥ ६ ॥ मुमुचुरिति ॥ मुदा हर्षेणान्विताः एकत्र मिलिता इति तोषिणी। मुनयो देवाश्च सुमनांसि पुष्पाणि मुमुचुः। क्लैव्यमार्षम्। जलधरा मेघाः अनुसागरम् अनुकृतः सागरो यत्र तत्र कर्मणि तथा समुद्रव-दित्यर्थः। यद्वा। सागरगर्जनसहितं यथा भवति तथा मन्दं मन्दं जगर्जुः गम्भीरशब्दं कृतवन्तः। तथोक्तं विष्णुपुराणे। "सिन्धवो निजशब्देन वाद्यं चक्रुर्मनोहरम्।" इति। न च दिशः प्रसेदुरित्यस्य जलधरा जगर्जुरित्यनेन विरोधः शङ्क्यः प्रावृट्-कालानुगुण्येन मेघगर्जनस्यापि गगनदेशकालभेदेनोचितत्वात्॥ ७ ॥ निशीथ इति सार्द्धम्॥ तमसा उत् उत्कर्षेण भूते व्याप्ते निशीथे यद्वा अतिशयिनि निशीथे निशीथे तमे उद्भूते जाते सति "घकालतनेषु" इति सप्तम्या अलुक्। जनानां भक्तादीनाम् अर्दने भगवन्नाविर्भव इति याचने जायमाने सति जनानां पीडाकरे निशीथे जायमाने इति केचित्। सर्वेषां गुहास्वन्तःकरणेषु शेते सः विष्णुः देवस्येव रूपं विद्यतेऽस्याः तस्यां देवमात्रदित्यवतारभूतायां देवक्यां विष्णुरूपिण्यामित्यपि पाठः। प्राच्यां दिशि पुष्कलः पूर्ण इन्दुरिव यथा यथावत्पूर्णरूपेण आविरासीत्। यद्वा तद्दिने निशीथे प्राच्यां दिशि अष्टम्या इन्दुरपुष्टोऽपि मद्वंशं मत्प्रभुर्जन्मनाऽलंचकारेत्यानन्दोद्रेकेण पुष्कलः पूर्णिमाया इन्दुरिव पूर्णकलः सन् यथा आविरासीत्तथैव देवक्यां विष्णुरपि सर्वांश-कलापरिपूर्ण आविरासीदिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्यौगपद्यम्। आविर्भावश्च कंसवचनार्थमष्टमे मासि यदुक्तं हरिवंशे। "गर्भकाले त्वसंपूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ॥ देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥" इति। खमाणिक्यनाम्नि ज्योतिर्ग्रन्थे जन्मपत्री चोक्ता॥ "उच्चस्थाः शशिभौमचान्द्रिशनयो लग्नं वृषो लाभगो जीवसिंहतुलादिषु क्रमवशात् पूषोशनोराहवः॥ नैशीथः समयो-ऽष्टमी बुधदिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणे श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणमभूदाविः परं ब्रह्म तत्॥" इति। तथा च जन्मकुंडली ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मनांसीति॥ तदा इत्युत्तरश्लोकादाहार्यम्। असुरद्रुहां देवानां, साधूनां भागवतानां च, मनांसि प्रसन्नानि, आसन्। तस्मिन्नुक्तविधमहामहिमप्रसिद्धे, अजने भगवति, जायमाने आसन्नप्रादुर्भावसमये सति, दिवि स्वर्गे, दुन्दुभयः देवानामानकाः, नेदुर्दध्वनुः॥ ५ ॥ जगुरिति॥ तदा किंनराः किंपुरुषाश्च गन्धर्वा देवगायकाश्च ते, जगुः। सिद्धाः सिद्धजनाश्च चारणाश्चारण-जनाश्च ते, तुष्टुवुः। तदा, विद्याधर्यश्च, अप्सरोभिः समं ननृतुः॥ ६ ॥ मुमुचुरिति॥ तदा, इदं पूर्वश्लोकादाहार्यम्। मुनयः, देवाश्च, मुदाऽत्यानन्देन, अन्विताः, सन्तः, सुमनांसि कुसुमानि, मुमुचुः पुष्पवृष्टिं चक्रुः। जलधरा मेघाः, अनुसागरं गर्जन्तं सागरं लक्षीकृत्य, समुद्रस्योपान्ते वा, मन्दं मन्दं, जगर्जुः॥ ७ ॥ निशीथे इति॥ निशीथेऽर्द्धरात्रे, तमसा अन्धका-रेणोद्भूते व्याप्ते सति, घनतमसि सतीति यावत्। जनार्द्दने विरहिजनपीडाकरे चन्द्रे, जायमाने उदीयमाने सति, अर्द्धरात्रे चन्द्रोदयसत्त्वमष्टम्यामेव, तेन तत्काले तिथिरप्यष्टम्येवाभूदित्यपि ज्ञापितम्। देवस्य हरे रूपमस्यामस्तीति देवरूपिणी तस्यां, देवतुल्यायामिति पाठे, देवतांशत्वात्तत्तुल्यायां देवभूतायामित्यर्थः। द्योतमानरूपवत्यामित्येके। देवक्यां, सर्वे ये गुणा ज्ञानशक्ति-बलैश्वर्यतेजःप्रभृतयस्तेषामाश्रयः, सर्वगुहाशय इति पाठे, सर्वान्तर्यामिरूपः, अत एव विष्णुः व्यापको भगवान्, प्राच्यां दिशि पूर्वदिशायां, पुष्कलः षोडशकलायुक्तः, इन्दुश्चन्द्र इव, यथा यथावदेव, षाड्गुण्यपरिपूर्णेश्वररूपेणेत्यर्थः। आविरासीदा-विर्बभूव॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मनांसीति : १०.३.५.

एतावदस्माकमसीम आसीद्यत्नः स्वरूपाकलनेऽच्युतस्य।
इतःसहाक्षैरपि तद्व्रजामः प्रसन्नताऽऽसीदिति सन्मनस्सु॥ ५४ ॥

यद्यद्रूहपमहं दधामि वहुधा तत्तात्विकाज्ञानतः श्रान्तान्येव भवन्ति साधुहृदयान्येवं विभाव्याच्युतः।
अस्मास्वन्यतमे स्ववासममले कृत्वैव सम्प्रत्यभूद् व्यक्तोऽसाविति तानि तत्सुखवशादासन् प्रसन्नानि वा॥ ५५ ॥

सुमनःसुखैकवितरणमवतरणं जगति भगवतो ज्ञात्वा।
क्षममेव तत्सुमनसांप्रसन्नताऽऽसीत्तदा सतामिति यत्॥ ५६ ॥

उपवनभुवि दिवि सत्स्वपि सुमनःश्रेणी बभूव सामोदा।
तद्युक्तमेव सकलानन्दकरे माधवोदये सदये॥ ५७ ॥

अनामयानन्दविधेर्विधायकः समग्रभूतश्रुतिसौख्यदायकः।
प्रभौ जनानां द्विविधक्षमाश्रिते स्फुटं तदासीत् स्वरवस्थितो रवः॥ ५८ ॥

स्वयं सुखी यः सुखिनः परानपि करोति लोकेष्विति युक्तमेव तत्।
स दुन्दुभिः स्वस्थ इहाखिलेष्वपि निजोक्तितः स्वास्थ्यमलञ्चकार यत्॥ ५९ ॥

जगुरिति : १०.३.६.

सन्नरावनकरोऽस्मि सदैव किन्नरावनमितोऽपि करिष्ये ।
श्रीशमेवमनुसन्धमुदीक्ष्य किन्नरा जगुरिति क्षममेव ॥ ६० ॥

यत्सौख्याप्तिसमीहयाऽनवरतं पूर्णाप्तकामोऽप्यसौ श्रीशोऽङ्गीकुरुते जनुः कुतुकतस्तं भूरिभव्यं भवम् ।
सन्तोऽस्मन्नगरेण तुल्यमिति यत्प्राहुस्तदस्मत्पुरं सर्वोत्कृष्टमिति प्रहृष्टमनसो गन्धर्वसङ्घा जगुः ॥ ६१ ॥

स्वस्थान्तःकरणैरलक्षि किल यैः सच्चित्सुखात्मा विभुस्तेषां तद्गुणगान-वर्णन-सुखास्वादस्य दुर्भिक्षता ।
सिद्धेवेति तदा विभाव्य तमजं षाड्गुण्यभाजं मुहुः तत्स्तोत्रोत्सुकतान्विताः समभवन् सिद्धास्तदेतत्क्षमम् ॥ ६२ ॥

सद्वृत्तयो ये तदनुप्रचारणाः सिद्धेकसङ्गाद्दतचेतसः सदा ।
तेषां हि तादृग्व्रतरक्षकं तदा दृष्ट्वेशमासीत् स्तुतिबुद्धिरित्यलम् ॥ ६३ ॥
विद्याप्रधानव्रत-शालिनीशे विद्याप्रदानाय धृतावतारे ।
स्वस्थैकसौख्यागमसस्पृहाणां विद्याधरीणामुचितं सुनृत्तम् ॥ ६४ ॥

अनङ्गदोऽयं शत्रूणामपि श्रीशो भवेदितः । किं पुनर्नः स्वराढ्यानामिति ता ननृतुर्मुदा ॥ ६५ ॥

मुमुचुरिति : १०.३.७.

ये वा सदा विहितसन्मननाः पुमांसो ये सत्प्रभा दिविषदो विलसद्विमानाः ।
तेषामयत्नसुलभे भगवत्स्वरूपे त्यक्त्वाऽन्यकर्म सुमनोर्पणमेव युक्तम् ॥ ६६ ॥

मन्दं मन्दमिति :

सागर त्वदुपदेशफलं तद्यद्वयं बहुजडस्थितपः स्मः । तत्तथा वद यथात्वमिवास्मिंस्तत्प्रिया वयमपि प्रभवामः ॥ ६७ ॥

भक्तत्राणविधावजस्र-मनुदासीनोऽहमद्याऽभवमेवं त्वां त्यजताऽच्युतेन जलधे व्यक्तीकृतः स्वाशयः ।
अब्दत्वं तदितः खनाम्नि सफलं कुर्वन्नहं चापि तत्सेवायां नितरो भवेयमनुदासीनश्च विष्णोः पदे ॥ ६८ ॥

जडजोद्धरणे प्रशस्तहस्तः सदयोऽसौ जडजातवृत्तयो हि ।
वयमस्य कृपापदं भवामो नियमेनेति जगुस्तदा मुदाऽब्दाः ॥ ६९ ॥

मद्वस्वायत्तवृत्तिर्यदसि घन ततो मद्वदत्यक्तवेलो वर्तस्वेत्युक्तिमब्धेस्तदुदितरवतस्तर्कयन्नम्बुवाहः ।
सन्मार्गस्थः सवियुद्वसुद इह मरुद्योगतः सञ्चरामि सूर्याद्युत्कृष्टतेजा इति स किमवदन्मन्दमन्दस्वरेण ॥ ७० ॥

भूयिष्ठप्रसरे भूमावधर्मे धर्मरक्षकः । प्रादुर्भवति लीलात्ततनुरीश इति स्फुटम् ॥ ७१ ॥
सोमसूर्यदशोरेका पुरा तेजस्विनी कृता । चक्रेऽन्यामुज्ज्वलीकर्तुमीशस्तद्वंश-संश्रयम् ॥ ७२ ॥
एकः सौरोऽपरश्चान्द्रो मार्गौ द्वावेव सम्मतौ । द्वयोर्वंशावलम्बेन प्रायः श्रीशेन बोधितम् ॥ ७३ ॥

क्रूराः क्रोड-नृसिंह-वामनमुखा लेखैककार्योन्मुखाः तत्तत्कार्यवशान्मया मलमुषो नैकैऽवतारा धृताः ।
सौम्यस्तेष्वयमेव मे वर इति श्रीशेन मन्ये तदा विश्रम्भाय सतां श्रितो ह्यविकलो लोकेषु सोमान्वयः ॥ ७४ ॥

अतिक्रूराः केचिन्नरहरिमुखाः केऽप्यतितरां प्रशान्ता हंसाद्या मम सदवताराः शतविधाः ।
अयं शत्रौ क्रूरो भवति सुजने सौम्पपदभागितीव त्वं शौरिः प्रकटमभवः सौम्य इति च ॥ ७५ ॥

मदीयावस्थानं प्रणव इति सद्वेदगदितं यदो रूपं चापि प्रणवमयमेवास्ति जगति ।
अतः स्थानभ्रंशो नहि तदवतारे प्रभवितेत्यदो ज्ञात्वा मन्ये प्रभुरजनि वंशे भुवि यदोः ॥ ७६ ॥

वसुदेव-सुखद-गोत्रोद्धरणं कार्यं मयेति चिन्तयता । यत्तं सुजन्मना तद्गोत्रोद्धारः कृतोऽत्र यदुपतिना ॥ ७७ ॥

मदर्थं यः क्लिष्टो भवति सततं प्रेष्ठमदनुग्रहस्यारात्पात्रं स भुवि भवितेति स्वनियमम् ।
स्फुटीकर्तुं लोके स्वजनमपि पातुं च कृपया कृपाब्धिर्देवक्यां प्रकटमभवत् क्लिष्टवपुषि ॥ ७८ ॥

वंशाद्यशीतकर - जन्मभुवीन्दिरेशो देशे स यामुनपदे विदधेऽवतारम् ।
यत्तस्य बीजमिदमेव विभाति तस्मिन् देशे स्वमूलपुरुषाऽऽगतवृत्तिमत्त्वम् ॥ ७९ ॥

मन्नामश्रावणासक्तेर्मद्दर्शनमदुर्लभम् । प्राबोधि बहुधा कृष्णः श्रावणस्योदयादिह ॥ ८० ॥
भोगतो जनवज्जन्म न मेऽनन्तपदस्थितेः । लीलया किमिति ज्ञप्त्यै प्रादुरासीन्नभोगतः ॥ ८१ ॥
अष्टम्यामुदितेनास्मिन्नीशेनेदमबोधि यत् । अष्टमीभूमिकैवेका नित्यानन्देष्टकारिणी ॥ ८२ ॥

कुलेन्द्रचन्द्रमङ्गलाग्रतः प्रचारणाग्रणीः सुरासुरैकपूज्यपादशोभिताग्रभागभूः ।
मदीयवंशविस्तृतिप्रधानहेतुरित्यसावजो बुधं निजोदयादलञ्चकार साधु तत् ॥ ८३ ॥

अनुष्टुङ्क्तिमप्येतन्मूलेऽथापि प्रसङ्गतः । श्रीश-चित्र-चरित्रैक-प्रस्तावाद्विशदीकृतम् ॥ ८४ ॥ (कुलकम्)

निशीथ इति १०.३.८.

योे जागर्ति निशायां स पश्यतीशमिति श्रुतिम् । व्याख्यातुमखिलाधीशो निशायामुदितः किमु ॥ ८५ ॥

ये ये निशानाथकुलेऽवतीर्णाः सर्वेऽपि सौम्याः परिभाषया ते ।
नाहं तथेति प्रतिबोधनाय साक्षान्निशायामुदितः किमीशः ॥ ८६ ॥

वसत्येव गर्भस्त्रिया मध्यभागे प्रसूतिस्ततश्चेति वृत्तं विदन्तः ।
निशानाथवंशे निशामध्यतोऽभूदितीशोऽत्र युक्तं न के वा वदेयुः ॥ ८७ ॥

कृष्णाष्टमीनिशायां निशीथ एवोदयेन भवितव्यम् ।
जगति विधोरिति शास्त्रं रक्षन् प्रभुरपि तदैव स समुदिता ॥ ८८ ॥

निशीथादर्वाक् चेन्मदवतरणं तत्र भविता सुखोल्लासो राजद्-द्विजवरमुखो वेति विफलम् ।
तदूर्ध्वं चेत्सिद्धो भुवि मदवतारेण हि वनेत्यलं मन्वानस्तन्मति-रभवदीशोऽर्धगनिशि ॥ ८९ ॥

नास्माद्रुद्धाधिकारात्कथमपि जनकाज्जातकं स्यान्मदीयं तस्मात्संपाद्यमाद्यान्वयपुरुषकरस्पर्शतः सम्प्रतीति ।
आलोच्यैवाच्युतोऽसौ समजनि समये तादृशे एव यस्मिन्नागन्ताऽसौ लसद्गुरुर्ध्रुवमिह सकलात्माब्धिवाराप्लुतश्च॥ ९० ॥

पुत्रजन्मर्क्ष एवात्मजन्मभाजेश्वरेण हि । आत्मा वै पुत्रनामासि श्रुत्यर्थोऽयं प्रकाशितः ॥ ९१ ॥

प्रजापतौ सृष्टिविधानचातुरी विभाति या सा ननु रोहिणीफलम् ।
भवेदितीशो यदुवंशविस्तृतिं विधित्सुरासीदुदयेन तत्स्थितः ॥ ९२ ॥

ज्येष्ठत्वेऽपि विभिन्नमातृकतया खेदोऽवशिष्टः पुरैवं स्वाग्रज-रामचेतसि कदाप्यायातु नेत्याशयात् ।
मन्येऽन्यासु षडक्षिसम्मित-महातारासु कारागृहे रोहिण्यामुदयं दयानिधिरयं स्वस्यापि चक्रेऽञ्जसा ॥ ९३ ॥

याः स्युः पूर्वजवल्लभाः सुमहिलास्ताश्चात्र सर्वा अपि सत्पुत्रा मम जन्मना भुवि यथा स्याद्वा न सापत्न्यकम् ।
रामे ज्येष्ठजनौ च तादृगधुना सत्कार्यमित्यच्युतो रोहिण्यां निशि चाविरास युगपत् सद्देवकीयोदरे ॥ ९४ ॥

यो मध्यमो बहुतमस्थितिरप्यजस्रं मद्रूपदर्शनसमुल्लसदुत्सवश्चेत् ।
प्राप्तोत्तमस्थितिमहं द्विजराजपूज्यं कर्ता तमित्यलमदर्शि निशार्धभागे ॥ ९५ ॥

आविरासीदिति :

अगर्भसम्बन्धकमेव जन्म व्यक्तीचकारेह निजं रमेशः ।
तद्बीजमात्मान्वयमुख्यधर्मस्वीकार इत्यध्वनि तादृगुक्त्या ॥ ९६ ॥

सस्याढ्या वसुधा जलं सुविमलं शान्तार्चिषश्चाग्नयः पूतो वायुरनन्तकान्तिविलसत्तारं नभोमण्डलम् ।
इत्थं कृत्स्नसुभूत-शुद्धिरभवद् भावत्कलीलोद्भवप्राग्भूतक्षण एव तेन भगवन् जाताङ्गशुद्धिर्न किम् ॥ ९७ ॥

कृष्णप्रिया

भगवत्प्राकट्य के अवसर पर असुरों के द्रोह करनेवाले सब ही सत्पथवर्ती सज्जनों के मन उल्लासपूर्ण होकर खिल उठे थे, अजन्मा के जन्म काल के अधिक निकट आने पर आकाश में नगाड़े बजने लग गये ॥ ५ ॥ भगवान के प्राकट्य अवसर पर किन्नर और गन्धर्व गान करने लगे, सिद्ध और चारणगण स्तोत्रपाठ करने लगे और विद्याधर गण अप्सराओं के साथ हर्ष से नाच रहे थे ॥ ६ ॥ राजन् ! श्रीकृष्ण चन्द्रजी के प्राकट्य कालः—मुनि एवम् देवताओं ने प्रसन्नता के साथ सुमन पुष्पवृष्टि की एवं मेघों ने सागर के निकट मन्द मन्द गर्जना की ॥ ७ ॥ जब, जना—अविद्या को दूर करनेवाले भगवान् जनार्दन प्रकट हो रहे थे तब तमः अंधकार नष्ट हो चुका था उस अर्धरात्र के समय विष्णु स्वरूप धारण करने वाली श्रीदेवकी में सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भाँति प्रादुर्भाव हुआ ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं [1]शङ्खगदाद्युदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥ ९ ॥
[2]महार्हवैडूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥१०॥
स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन् मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् ॥११॥
अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित् ॥१२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अद्भुतम् बालकम् अम्बुजेक्षणम् चतुर्भुजम् शंखगदाद्युदायुधम् श्रीवत्सलक्ष्मम् गलशोभिकौस्तुभम् पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥९॥ महार्हवैडूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् उद्दामकाञ्च्यङ्गदकंकणादिभिः विरोचमानम् (तम् बालकम्) वसुदेवः ऐक्षत ॥ १० ॥ तदा विस्मयोत्फुल्लविलोचनः सः आनकदुन्दुभिः हरिम् सुतम् विलोक्य कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमः मुदा आप्लुतः द्विजेभ्यः गवाम् अयुतम् अस्पृशत् ॥ ११ ॥ अथ भारत स्वरोचिषा सूतिकागृहं विरोचयन्तम् एनं परं पुरुषम् अवधार्य प्रभाववित् गतभीः कृतधीः नताङ्गः कृताञ्जलिः (सन्) अस्तौत् ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तमद्भूतं बालकं वसुदेव ऐक्षतेति द्वितीयश्लोकेनान्वयः। अद्भूतत्वे हेतुगर्भाणि विशेषणान्यंबुजेक्षणमित्यादीनि। श्रीवत्सलक्ष्मं श्रीवत्सलक्ष्माणम्। गलेन शोभत इति गलशोभी स कौस्तुभो यस्मिन् ॥ ९ ॥ परिष्वक्तसहस्रकुंतलं किरीटकुंडलादीना त्विषा स्फूरदपरिमितकेशमित्यर्थः ॥ १० ॥ विस्मयेनोत्फुल्ले विकसिते लोचने यस्य सः गवामयुतमस्पृशन् मनसा दत्तवान् कंसनिगृहीतस्य दानासंभवात्। स्पृष्टौ हेतुः कृष्णावतारेति। मुदा आप्लुतो व्याप्तः स्नात इति वा ॥११॥ कृतधीः शुद्धबुद्धिः ॥१२॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

श्रीकृष्णजन्माङ्गम्।

स्थान	अङ्कः / ग्रहाः
ऊर्ध्वम्	३ ; रा २ चं ; १
वाम / दक्षिण	४ ; बृ १२
मध्ये	सू ५ ; ११
वाम / दक्षिण	६ बु ; १० मं
अधः	श ७ शु ; ८ के ; ९

उदिति झटिति कंसादिहिंसनक्षपणाय। उद्यतान्यायुधानि यस्य तं तथा। आयुधक्रमश्च गौतमीये "दक्षस्योदूर्ध्वे स्मरेच्चक्रं गदां च तदधः करे। वामस्योदूर्ध्वे शार्ङ्गधनुः शंखं च तदधः स्मरेत्" ॥ इति "शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टम्" इति वक्ष्यमाणानुसारेण शार्ङ्गस्थाने पद्मं ज्ञेयं तत्र शार्ङ्गपदोपादानमुपासनाविशेषार्थमेवेति ध्येयम्। श्रीवत्सं लक्ष्म चिह्नं यस्य स तथा तम्। अत्र समासांतो डः। 'चिह्नं लक्ष्मं च लक्षणम्' इत्यमरः। "दक्षिणावर्त्तरोमालिः श्रीवत्सं दक्षभागगम्। वक्षसि भृगुपादांकं कैश्चिच्छ्रीवत्समुच्यते ॥ वत्सं नाम उरः प्रोक्तं श्री रमा प्रोच्यते मुने। श्रिया युक्तं तु यदुरस्तच्छ्रीवत्समुदाहृतम्" इत्यादिपुराणीयवृंदावनमाहात्म्ये। ननु सर्वादिकारणहिरण्यगर्भस्य जनके श्रीभगवति कथं बालक इति प्रयुक्तमिति चेन्नहि स्तनंधयवाच्ययं प्रयुक्तोऽपि तु स्वयं भगवदर्थक एव तथा हि—बालः को ब्रह्मास्येति बालकः। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" इति श्रुतेः। बालानां गोपानां कं सुखं येनेति वा। बालानामज्ञानामपि कं सुखं यन्नामोच्चारणादिनेति "अज्ञानादपि यन्नाम स्मृतं सर्वार्थसाधकम्" इति स्मृतेः। बालेषु रोमसु कानि ब्रह्मांडानि यस्येति वा। "ईदृग्विधाविगणितांडपराण्डचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्" इति वक्ष्यति ब्रह्मा। बालयति चालयति वातादीनिति वा। "यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्" इति। "भीषास्माद्वातः पवते" इत्यादिश्रुतेश्च। यद्वा—बलानां सेनानां समूहो बालं रावणादिसैन्यं तदालयति वारयति नाशयतीति यावत् बालो लक्ष्मणस्तेन कं सुखं रामावतारे यस्येति वा "बालोऽज्ञे लक्ष्मणे शिशौ" इति धरणिः। स एव बालकः। बालान् कृन्तति छिनत्ति रुक्मिण इति वा "चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं सश्मश्रुकेशं प्रवपन् विरूपयन्" इत्युक्तेः। के प्रलयजले बालो वटपत्रपुटशायीति वा। राजदंतादित्वात्परनिपातः। बालानां

१. गदाद्युदा-श्रीधर. वंशी. भक्त. ; द्युदायुधम्-गिरि. । २. वैदूर्य-श्रीधर. वंशी. विज. जीव. गिरि भक्त. ।

मेध्यानां कं शिरो मुख्यमिति यावत्। 'पवित्राणां पवित्रं यः' इति स्मृतेः। 'अलंकारांतरे मेध्ये वालो रोमणि' इति विश्वः। वा वक्रा अलकाः केशा यस्येति वा 'वो वक्रे हिंसके वरे' इति धरणिः। वायां नर्मदायां लिनाति श्लिष्यतीति वालः शिवः 'नर्मदायां सदाशिवः' इति पुराणात्। 'वा स्यान्नर्मदा नदी' इति सौभरिः। तेन कायते स्तूयते इति बालकः। सर्वत्र डप्रत्ययः। बालान् कारयति स्वभक्तविरोधिस्त्रीणां केशान् विक्षेपयतीति वा "केशान्विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्यः" इत्युक्तेः। बान् बालान् लाकयत्या-स्वादयति स्वभोजनमिति वा बालकः। 'लक—आस्वादनोपार्जनयोः'। किमनंतमहिम्नोऽल्पार्थैरित्यलम्। सांद्रपयोदः अंदति प्लुतधृतं बध्नातीत्यंद्रं जलं तेन सह वर्त्तत इति सांद्रः स चासौ पयोदश्चेति तथा। सजलमेघस्तद्वत्सौभगं सुंदरम् 'सांद्रं वने घने मृदौ' इति मेदिनी। काठिन्ये संहतौ च घनः॥ ९॥ महार्हमनर्घं यद्वैदूर्यं नीलपीतरक्तच्छविरत्नं तद्युते किरीटकुंडले तत्त्विषा तद्भास्वत एवोद्भूतानि सा। इत्यर्थ इति तात्पर्यम्। "कुंतलश्चषके बाले जवे पुंभूम्नि नीवृति" इति मेदिनी। उद्दामानि स्वतंत्राणि यानि कांच्यंगदकंकणादीनि तैः। "उद्दामो बंधरहिते स्वतंत्रे च प्रचेतसि" इति मेदिनी। कांची मेखला "कांची स्यामेखलादाम्नि प्रभेदे नगरस्य च" इति मेदिनी। अंगदं केयूरम् "अंगदः कपिभेदे ना केयूरे तु नपुंसकम्" इति च। "कंकणं करभूषणम्, कंकणं करभूषायां सूत्रमंडनयोरपि" इति च। आदिनांगुलीयकादयो ज्ञेयाः॥ १०॥ स्पृष्टौ दाने 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्" इत्यमरात्स्पृशिर्दानेपि। सामान्यबालस्यापि जन्मनि पिता दानाद्युत्सवं करोति मम तु श्रीकृष्णः साक्षात्परब्रह्मैव पुत्रो जातः संप्रत्यहं कमुत्सवं करोमीति प्राप्तसंभ्रमः प्रसिद्धार्थमाह—स्नात इति। 'आप्लुतः स्नातके स्नातः' इति मेदिनी। विस्मयेनोत्फुल्ले सुप्रकाशे विलोचने यस्य स तथा विस्मयानाह—अहो मुनींद्राणामपि दुर्लभदर्शनो मम पुत्रत्वेन दृश्यो बभूवेति हेतोर्विस्मयः प्रथमः। सर्वव्यापकं परं ब्रह्मापि मानुषगर्भादजनिष्टेति द्वितीयः। विविधास्त्रवस्त्रभूषणविशिष्ट एवं गर्भान्निष्क्रांत इति तृतीयः। साक्षान्महा-भयस्यापि भीषण आदिपुरुषो भगवानपि मां कंसभीतं पितृत्वेनांगीचक्र इति चतुर्थ इत्येवमनंता एव विस्मयास्तस्यासन्निति। 'विस्मयोद्भुतमाश्चर्यम्' इत्यमरः॥ ११॥ गतभीर्निर्भयः। तत्र हेतुः—प्रभावविदिति। ईशोऽयमनंतोऽयं सर्वान्तकर इत्याद्यैश्वर्यज्ञानवान्॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तमिति युग्मकम् बालकं मृदुस्वल्पाकारतया बालकत्वेनैव प्रतीयमानं शङ्खादीनि उदिति झटिति कंसादिहिंसनज्ञापनाय उद्यतानि उत्कृष्टानि वा आयुधानि यस्य तम् आयुधक्रमश्चोक्तो गौतमीये बृहद्गौतमीये चैतद्ध्यानकमन्त्रविशेषप्रसङ्गे 'दक्षस्योर्ध्वे स्मरेच्चक्रं गदां च तदधः करे। वामस्योर्ध्वे शार्ङ्गधनुः शङ्खं च तदधः स्मरेत्" इति किन्तु शङ्खचक्रगदा-पद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजमिति वक्ष्यमाणानुसारेणात्र शार्ङ्गस्थाने पद्मं ज्ञेयं तत्र तु शार्ङ्गोपदेश उपासनाविशेषार्थमेव भगवति तु सर्वदा सर्वसमावेशान्नासम्भावितमिति सान्द्रपयोदादपि सौभगं वर्णसौन्दर्यं यस्य तं महार्हं तत्रत्यरत्नेष्वपि परमोत्कृष्टं यद्वैदूर्यं बालवायजाख्यं नीलपीतरक्तच्छविरत्नं तद्विद्यते मध्ये महिष्ठतया यस्मिन् तादृशस्य किरीटस्य त्विषोर्ध्वं कुण्डलयोस्त्विषात्वधः किर्मीरितबहुलकुन्तलमित्यर्थः। यद्वा त्विषेति टाबन्तं हलन्ताद्वेति विधानात् दिशादिवत् ततश्च महावैदूर्यमिव किरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तं सहस्रकुन्तलं यस्य तं तद्वन्नानाच्छावतया शोभमानकुन्तलवृन्दमित्यर्थः। किरीटं त्रिकोणं पत्रावलिरूपं मुकुटं तु समस्तकचावरकमिति भेदः। उद्दामभिः तेजसात्युद्भटैः काञ्च्यादिभिः कृत्वा विशेषतो रोचमानम् यद्वा तैरुपलक्षितं स्वयमेव विरोचमानं किन्तु स्वरूपलावण्यादिलब्धधामभिरेव तैः स्वयमसौ प्रतिभूषितो भवतीति भावः। अत एव घनतमस्यपि तादृशमैक्षत वक्ष्यते च स्वरोचिषेति अत्र गौतमीये यद्गरुडोपरि निविष्टत्वमष्टमहिषीसमावृतत्वं ब्रह्म-शिवादिभिः स्तूयमानत्वं चोक्तं तन्नोक्तं पितृभ्यामदृष्टत्वादिति ज्ञेयम्॥ ९-१०॥ सः परमभाग्यवान् हरिं कंसादीनां सर्वज्ञानहरं भगवन्तं सुतं पुत्रतां प्राप्तं विलोक्य साक्षाद्दृष्ट्वा विस्मयेन विकसितलोचनः सन् तदा तत्क्षणमेव अस्पृशत् अस्पर्शयत् दानाय सङ्कल्पमकरोत्। ननु, कंसेन पीडितस्य हृतसर्वस्वस्य बद्धस्य सङ्कल्पोऽपि कथं घटेत? कथं वा स्नानं विनैव दानं? तत्राह—कृष्णेति, कृष्णप्रादुर्भावस्वभावेन य उत्सव उल्लासस्तेन सम्भ्रमो मनस्त्वरा यस्य सः ततो विचारमपि न कृतवानिति भावः। ततश्च मुदा व्याप्तो बभूव क्षणं मुग्ध इवासीदित्यर्थः। यद्वा मुदा हर्षपूर्वकं स्नातः सन् कृष्णेत्यादिलक्षणो भूत्वाऽस्पृशदिति॥ ११॥ अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः। पुरुषं परमेश्वरं तत्रापि परं परिपूर्णतयाऽवतीर्णम् अवधार्य निश्चयेन ज्ञात्वा अत्र हेतुः कृतधीः तत्र न्यस्तचित्त इति ततश्च नतानि कृतप्रणामानि अङ्गानि भुजादीनि यस्य सः साष्टाङ्गं प्रणम्येत्यर्थः। यद्वा अवनतशिराः सन् अवधारणे हेत्वन्तरमप्याह-स्वीयेन असाधारणेन मनोनयनाह्लादकेन मिलिताकेन्दुकोटितुल्येनापि रोचिषा तमोव्याप्तं सूतिकागृहमेव न तु तद्बाह्यं विशेषेण रोचयन्तं प्रकाशयन्तम् एवमेकस्यैव युगपन्निजतेजसः क्वचिद्विस्तारणेन क्वचिच्च संवरणेन पारमैश्वर्यशक्तिर्द्योतिता कीदृशः सन्नस्तौत्, तत्राह गतभीः अपगतकंसभयः सन्। ननु, स्तवशब्दं कंसप्राहरिकाः श्रोष्यन्तीति भयहेतुस्त्वस्त्येति तत्राह, प्रभावं तदैश्वर्यं वेत्तीति तथा सः किं करिष्यन्त्येते वराकाः सोऽपि वेति भावयित्वेति भावः। भारत! हे भरतवंश्येति श्रीवसुदेव-भाग्यतरेण प्रीत्या सम्बोधयति श्लेषेण भाः श्रीकृष्णस्य तादृशी कान्तिः हेतुगर्भत एव तस्यां रतेति॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

बालकं मृदु-स्वल्पाकारतया बालकत्वेनैव प्रतीयमानम्। शङ्खादीनि 'उत्' उद्यतान्युत्कृष्टानि वायुधानि यस्य तम्, सान्द्र-पयोदादपि सौभगं वर्णसौन्दर्य्यं यस्य तम्। महार्हं बहुमूल्यं यद्वैदूर्य्यं वाल-वायजात्यं रत्नं तस्य किरीटं कुण्डले च तेषाम्। यद्वा, महार्हं वैदूर्य्यं येषु तेषां किरीटादीनामुपरि किरीटस्याधश्च कुण्डलयोस्त्वियोद्दामभिस्तेजसात्युद्भटैः काञ्च्यादिभिः कृत्वा विशेषतो रोचमानम्। यद्वा, तैर्विशिष्टं स्वत एव विरोचमान[1] मत एव घनतमस्यपि तादृशमैक्षत ॥ ९-१० ॥

स च परमभाग्यवान्। हरिं कंसादीनां सर्व्वज्ञानहरं रूपादिना मनोहरं वा भगवन्तं सुतं पुत्रतां प्राप्तं विलोक्य साक्षाद्-दृष्ट्वा विस्मयेनाश्चर्य्येण विकसितविलोचनः सन् तदा तत्क्षण एवास्पृशदस्पर्शयद् दानसंकल्पमकरोत्। ननु कंसेन पीडितस्य हृतसर्व्वस्वस्य वद्धस्य संकल्पोऽपि कथं घटेत ? तत्राह—कृष्णेति। ननु तथापि कतिचिदेवाल्पतराः संकल्पन्ताम् ? यद्वा, ननु स्नाना-नन्तरमेव संकल्पो युज्यते ? तत्राह —मुदाप्लुतो व्याप्त इति। यद्वा, आप्लुतः स्नातस्ततो मुदेति गोस्पर्शने कृष्णेति च विस्मये हेतुः ॥ ११ ॥

अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः। परं पुरुषं परमेश्वरम्, किंवा परं परिपूर्णतयावतीर्णं पुरुषं श्रीभगवन्तमवधार्य्य निश्चयेन ज्ञात्वा। नतानि कृतप्रणामान्यंगानि भुजादीनि यस्य सः, साष्टांगं प्रणम्येत्यर्थः। यद्वा, अवनतशिराः सन् कृतधीः श्रीभगवति न्यस्तचित्तो विनीतो वा। अवधार्य्येत्यत्र हेतुः—स्वकीयेनासाधारणेन मनोनयनाह्लादकेन मिलितार्केन्दुकोटितुल्येनापि रोचिषा तमोऽव्याप्तं सूतिकागृहमेव, न तु तद्बाह्यं विशेषेण रोचयन्तं प्रकाशयन्तम्,—एकस्यैव युगपन्निजतेजसः क्वचिद्विस्तारणे क्वचिच्च सम्वरणे परमेश्वरशक्तिं विनान्यथानुपपत्तेः। अतो गतभीरपगत-कंसभयः; यतः प्रभावं तदैश्वर्य्यं वेत्तीति तथा सः, यद्वा, तादृशैश्वर्य्य-दर्शनेनापि गतभीः साध्वसाकुञ्चितचित्तः, यतो भक्तवात्सल्यादि-तन्माहात्म्यवित्। भारत ! हे भरतवंश्येति श्रीवसुदेव-भाग्यभरेण प्रीत्या सम्बोधयति, श्लेषेण भाः श्रीकृष्णभक्त्या कान्तिः[2] रताः यस्मिन्निति ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आप्लुतः स्नातः स्पृशतः अदात् दत्तवान् ॥ ११ ॥ अस्तौत् स्तुतवान् ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तमवतीर्णं भगवन्तं वसुदेव ऐक्षत अपश्यदित्यन्वयः। कथंभूतम् ? अद्भुतमदृष्टरूपत्वादाश्चर्यविषयम् अम्बुजे इवेक्षणे नेत्रे यस्य चत्वारो भुजा यस्य शङ्खादीन्युद्धृतान्यायुधानि यस्य आदिशब्देन चक्रपद्मसंग्रहः श्रीवत्सं लक्ष्म चिह्नं यस्य आर्षत्वाट्टि-लोपः यद्वा श्रीवत्समेव लक्ष्म तदस्याऽस्तीति श्रीवत्सलक्ष्मः अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयेऽचि 'नस्तद्धिते'' (६।४।११४) इति टिलोपः श्रियां लक्ष्म्यां वत्सला सापत्न्यदोषनिवृत्त्याऽनुकूला क्ष्मा भूमिर्यस्येति व्याख्यानान्तरं गले कण्ठे शोभि शोभावान् कौस्तुभो यस्य पीतमम्बरं यस्य सान्द्रनीलाम्बुदस्येव सौभगं सौन्दर्यं वर्णं इति यावत् यस्य तथाभूतं यस्य महार्हाण्यनर्घाणि वैडूर्यादिरत्नानि यस्मिंस्तस्य किरीटस्य कुण्डलयोश्च त्विषा कान्त्या परिष्वक्ताः अनुविद्धाः सहस्रकुन्तलाः यस्य उद्दामैः श्लाघ्यैः काञ्च्यादिभिर्विरो-चमानम् ॥ ९-१० ॥ स वसुदेवस्तं हरिं सुतं पुत्रभूतं विलोक्य विस्मयेनोत्फुल्ले विकसिते लोचने यस्य कृष्णावताररूपादुत्सवात् संभ्रमो यस्य तथाभूतः तथैवाप्लुतः स्नातः द्विजेभ्यो गवामयुतमस्पृशत् दातुं सङ्कल्पितवान् इत्यर्थः। तदा कंसनिगृहीतस्य दाना-सम्भवात् ॥ ११ ॥ अथ हे भारत ! स्वरोचिषा सूतिकागृहं विरोचयन्तम् एवं कुमारं परमपुरुषम् अवधार्य निश्चित्य नतं प्रणतमङ्गं यस्य कृतो बद्धोऽञ्जलिर्येन कृता समाहिता धीर्येन गता भीः कंसजा यस्य तथाभूतो वसुदेवः तस्य भगवतः प्रभावं जनान् अस्तौत् तुष्टाव ॥ १२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शङ्खगदे आदी येषां तानि शङ्खगदादीनि तानि चोत्कृष्टानि चायुधानि यस्य स तथा तं श्रीवत्सलक्ष्मं श्रीवत्सलाञ्छनं सान्द्रपयोदसौभगं सान्द्रपयोदस्य जलपूर्णमेघस्येव सौभगं कान्तिविशेषो यस्य स तथा तम् ॥ ९ ॥ महार्हाणि अनर्घाणि वैदूर्य-मयकिरीटकुण्डलानि महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलानि तेषां त्विषा शोभया किरीटं च कुण्डले च किरीटकुण्डलानि परिष्वक्ता आलीढाः सहस्रकुन्तला यस्य स तथा ॥ १० ॥ अस्पृशत् दास्यामीति मनसा संक्लिप्तवान् मुदा आप्लुतः ॥ ११ ॥ कृतधीः शिक्षितबुद्धिः पण्डित इत्यर्थः गतभीत्वे निमित्तं प्रभावविदिति ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तमद्भुतमिति परिच्छेदानामपि तत्स्वरूपभूतत्वे लिङ्गमिदं तत्सहितानामेवाविर्भावात् परिष्वक्तेति किर्मीरितानेककेश-मित्यर्थः ॥ ९-१० ॥ सुतं हरिं विलोक्येति अवतारसामान्यज्ञानं तत्र कृष्णेति मुनीन्द्रवाक्यं तत्स्वभावं बत एवात्यन्तोल्लासज-

१. रोचमान-(ग, घ)। २. श्रीकृष्णकान्तिः (ग, घ, ङ);।

चेतस्त्वराबोधनाय ततो विशेषज्ञानाय ततो विशेषज्ञानमाह ॥ ११ ॥ परं पुरुषं श्रीकृष्णाख्यं स्वयं भगवन्तमेव निश्चित्य तत्र हेतुः कृतधीर्न्यस्तचित्तः तथैवाह ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

आविर्भावमाह—तमद्भुतमित्यादि द्वाभ्याम् । प्रमाणगतस्थूलत्वेन बालवत् प्रतीयमानम्, न तु वास्तवं बालकम्, अतएवाद्भुतम् । अथवा वलत इति बालः, बालं निविडं कं सुखमानन्दं सान्द्रानन्दमिति यावत् । पयोदस्यापि सौभगं यस्मात्—तद्वर्णोपमानभाग्यात्, न तु पयोदस्येव वर्णो यस्य, सौभगशब्दोपानाद्वर्णस्यालौकिकत्वम् । अथवा, वसुदेवस्तं बालकं श्रीकृष्णं शङ्खगदाद्युदायुधं चतुर्भुजं ददर्श इत्यद्भुतम् । अथवा बालकञ्च चतुर्भुजञ्च ददर्शेत्यर्थः । श्रीकृष्णस्वरूपं नित्यकैशोरमेव, द्विभुजमेव तथाप्यसौ पूर्वपूर्वाराधनसंस्काराच्च चतुर्भुजं पुत्रो मेऽधुना बभूवायमिति बालकमेव ददर्शेत्यद्भुतत्वं वसुदेव एवादौ ददर्श । देवकी तु तत्तेजसा धर्षितनेत्रा हर्षेण विवशा च 'किमयं द्विभुजश्चतुर्भुजो वा' इति न ज्ञातवतीत्यायातम् ॥ ९-१२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तमद्भुतमित्यादि । प्रमाणगतस्तोकत्वेन बालकवत् प्रतीयमानम्, न तु बालकमित्यद्भुतशब्दार्थः । यद्वा, बलते इति बालः, बालं बलमानं कं सुखं यस्य सान्द्रानन्दम् । पयोदस्य सौभगं यस्मात्तदुपमायोग्यत्वात्, न तु पयोदवर्णम्, वर्णस्तु प्राकृतः, तस्य तु सच्चिदानन्दरूपं पयोदसौभगं धाम ॥ ९-१२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तमद्भुतं बालकं वसुदेव ऐक्षतेति द्वितीयेनान्वयः । अद्भुतत्वहेतुगर्भाणि विशेषणानि अम्बुजेक्षणमित्यादीनि वैडूर्यं नीलपीतरक्तच्छविरत्नं तद्युक्तं किरीटं त्रिकोणपत्रावलिरूपम् ॥ ९-१० ॥ स विस्मयेत्यहो महामुक्तमुनीन्द्राणामपि दुर्लभदर्शनः परमेश्वरो मम पुनरविद्या बद्धजीवस्याविद्याबद्धजीवेन कंसेनापि बहिरपि बद्धस्य गृहेऽवतीर्य दृश्यो बभूवेत्येको विस्मयः सर्वव्यापकं परं ब्रह्मापि मानुषगर्भादजनिष्टेति द्वितीयः विविधास्त्रकटककुण्डलकिरीटाद्यलङ्कारविशिष्ट एव बालको गर्भान्निष्क्रान्त इति तृतीयः साक्षान्महाभयस्यापि भीषण आदिपुरुषो भगवानपि कंसभयभीतं मां स्वपितृत्वेनाङ्गीचक्रे इति चतुर्थः इत्येवमनन्ता एव विस्मयास्तस्याभूवन्निति भावः । हरिं सुतं विलोक्येति तस्मिन् स्वेष्टदेवत्वपुत्रत्वयोर्भावना यौगपद्येनैव तस्याभूदिति भावः । कृष्णावतारेत्यहो सामान्यबालकस्यापि जन्मनि पिता दानध्यानाद्युत्सवं करोति एव पुत्रत्वेनावतीर्णः सम्प्रत्यहं कमुत्सवं करोमीति प्राप्तसम्भ्रमः मुदा आप्लुतः आनन्दसमुद्रेण निमज्जितः सन्नस्पृशत् मनसा ददौ "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्" इत्यभिधानात् स्पृशि दानार्थकोऽपि ज्ञेयः ॥ ११ ॥ कृतधीस्तस्मिन्नेव यौगपद्येन कृतैश्वर्यवात्सल्यबुद्धिः गतभीः प्रभावविदिति हन्तहन्तास्मिन्नभ्यङ्गे कंसः सहसाऽऽगत्यास्त्रं प्रयोक्ष्यते इति पुत्रबुद्ध्या यद्भयमुद्बभूव तदैश्वर्य्यबुद्ध्या प्रभावज्ञानेन गतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथ तं परममङ्गलं स्वासाधारणाभरणवस्त्रायुधयुतमद्भुतं सर्वाश्चर्यमयं वसुदेव ऐक्षतेति द्वयोरन्वयः । गलेन शोभते गलशोभि कौस्तुभो यस्मिन् ॥ ९ ॥ महानपरिमितः अर्हो मूल्यं येषान्तेषाम्महार्हाणां किरीटादीनां त्विषा कान्त्या परिष्वक्ता आलिङ्गिताः सहस्रपरिमिताः कुन्तलाः "हिरण्यकेशः" इति भगवत्या श्रुत्या प्रदर्शिताः केशाः यस्य तम् ॥ १० ॥ स श्रीवसुदेवः हरिं सुतं विलोक्य मुदाऽऽप्लुतः गोदानं कर्तुं स्नातः यद्वा मुदा आप्लुतः हर्षजलेनैव स्नातवान् कृष्णावतारे य उत्सवः कुतूहलस्तेन सम्भ्रमः किं मया पुण्यं कृतं कोऽस्मि यः सर्वेश्वरेणैवमादृत इत्येवं रूपो यस्य गवामयुतं द्विजेभ्य अस्पृशत् मनसा द्विजानुद्दिश्य दत्तवानित्यर्थः ॥ ११ ॥ अथानन्तरमेनं शास्त्रार्थभूतं भगवन्तम् आनकदुन्दुभिः आस्तौत्—

"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा" ॥

इत्यन्यथा स्तुतौ दोषपरिहाराय कृतधीः कृता भगवत्स्वरूपगुणादियाथात्म्योऽर्पिता धीर्येन सः परं पुरुषमवधार्य अत एव नताङ्गः कृतप्रणामः ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

बालकं तद्विद्यमानं बालः को ब्रह्मा यस्य तमित्यान्तरङ्गिको भावः । बाल एव कृष्णकेश एव बालक इति भावोऽपि विभावनीयः । चिकुरः कुन्तलो बालः । बालः कचे शिशौ । कचः केशः शिरोरुह इति सोपयुक्तयुक्तामरविश्वामराः । अम्बुजेक्षणं कमललोचनं रमासमायुक्तनेत्रं वा । अम्बुजे चन्द्रमसीक्षणं । अम्बुजश्चन्द्रमा ईक्षणे यस्येति वा । शिशिरत्वकुलगुरुत्वाभ्यां सति शीतांशुग्रहः । चत्वारो भुजास्तत्काले प्रदर्शिता येन स तं । अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधमित्यादेश्चतुर्भिः प्रकारैर्भुङ्क्ते भक्तमित्यप्यर्थः । शङ्खगदायुधं शङ्खश्च गदा च शङ्खगदे ते उद्धृते आयुधे

नन्दकचक्रके यस्य स तं। श्रीवत्सलक्ष्मगलशोभिकौस्तुभमिति पदमेकम्। श्रीवत्सो लक्ष्म चिह्नं यस्य तदसाधारण्यद्योतको बिन्दुः शोभाऽस्यास्तीति शोभि शिखादिः शोभत इति शोभी वा गलेन शोभी कौस्तुभो मणिर्यस्य तं। चिह्नं लक्ष्म च लक्षणमित्यमरः। पीतमम्बरं वस्त्रं यस्य तं। सान्द्रशब्देन जलपूर्णता द्योत्यते। सान्द्रा जलपूर्णाः पयोदा मेघास्तेषां सौभगं कान्तिविशेषो यस्य तम्॥ ९॥ महानर्हो मूल्यं येषां तानि वैदूर्याणि गतं। तेषां किरीटः कुण्डले च कर्णवेष्टने च तेषां त्विट् कान्तिस्तस्या परिष्वक्ताः परितः सम्बद्धाः सहस्रं कुन्तला यस्य तं। त्विषेति टाबन्ततापक्षे पदमेकम्। त्विषाभिरिति विग्रहभूमिकं च भवतीति कश्चन लाभस्तत्रेति ज्ञेयम्। उद्दामानि काञ्च्यङ्गदकङ्कणान्यादयो येषां तैराभरणैर्विरोचमानं तं वसुदेव ऐक्षतेति श्लोकद्विकान्वयः। पुंस्यादिः पूर्वपौरस्त्येत्यमरः॥ १०॥ विस्मयोत्फुल्ललोचने यस्य स हरि सुतं विलोक्य कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमः कृष्णस्यावतार-जनितो योऽयमुत्सवस्तत्र सम्भ्रम आदरो यस्य सः। स आनकदुन्दुभिस्तदा आप्लुतः। स्नात इत्यनुक्त्वोक्त्वाऽऽप्लुत इति जलोत्प्लवनं सम्प्रदायायातमिति ध्वनयति। मुदा गवामयुतं। द्विजेभ्योऽस्पृशन्मनसा ददौ। स्पर्शनोतेनामते? स्पर्शदानयोः स्पर्शनं मतमिति विश्वः। मुदा आप्लुत इति वा। कृष्णायां भूमौ योऽवतारस्तन्निमित्तो य उत्सवस्तत्र सम्भ्रमो यस्य स इत्यत्र दृश्यते। एतेनाधुनाऽजातकर्माऽपि न जातं कथं जातस्य कृष्णेति नामेति पराकृतेति वदन्तो यत्कृष्णं तदन्नस्य रक्तोऽग्निरुदकं शुक्लं कृष्णैव पृथिवी स्वत इत्यादेर्हरिमितीरणतदवतारेत्येतावता पूर्तेः कृष्णेत्यवक्तव्यमिति युक्तिमुपन्यस्यातुतुपन्निति ज्ञेयम्। सुरभीणासुरभीति-तस्तदानीं दानासम्भवाद्गवामयुतमुद्दिश्य गवां सङ्कल्पवचसां प्रातिस्विकेनायुतमस्पृशद्ददावित्यन्वयेन मनसेत्यध्याहार इति वदन्ति॥ ११॥ अथ पूः दानवभाररूपं पूरणं पुरारुद्वा यस्य तं। पूः पूजने समाख्याता पूरण इति विश्वः। तदवताराय कृतावतार इति भूभारभूतभूपकोपो विहित इति भावः। नताङ्गो नतान्यङ्गान्यष्टौ येन यस्य स वा नताङ्गः कृतधीः शिक्षितप्रेक्षः कृताञ्जलिः स्वरोचिषा सूतिकागृहं विरोचयन्तं परं श्रीहरिमवधार्य परं पुरुषं परमपुरुषमवधार्य वा निश्चित्यैनं भगवन्तमवधारण-कर्मीभूततयोपात्तं पुनः स्तुतिकर्मत्वेनाप्युपादानात्। इदमोन्वादेशे द्वितीया टौस्त्वेन इति एनादेशः। गता भीर्भीतिर्यस्य स सन्नस्तौत्तुष्टाव। ननु हिंसककंसकंसकिङ्कराणामसतां सतां कथं स्तवनावसरो गतभीतिश्चायमित्यत आह॥ प्रभावविदिति। आगताश्चेदवगत्य हन्यादेव देवो न समयोऽयं चेत्तान्मोहयेदिति तत्सामर्थ्यं वेत्तीति स तथा। तर्हि साकल्येनास्तौत्किमित्य-तोऽप्याह॥ प्रभाविति। प्रभौ भगवद्विषयेऽविदज्ञ एव। अथाथाप्यस्तौदिति व्याचक्षते। गतभीःप्रभावविदिति पदमेकं वा। गता प्राप्ता वातादीन् भीर्यस्मात्स गतभीः। भीषाऽस्मास्माद्वात इत्यादेः। गतभीरिति प्रभावो माहात्म्यं तं वेत्तीति स तथेति च विवृण्वन्ति। तन्निकाशे का शङ्केति भावः॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

एवं भगवतः प्रादुर्भावमैश्वर्येण निरूप्य वीर्यनिरूपणार्थं भगवन्तमनुवर्णयति तमद्भुतमिति द्वाभ्याम्।

अत्र निर्वृताः सर्वे श्रोतारो बहिःसंवेदनरहिता जाता इति ज्ञापयितुं पुनः शुकोक्तिकथनम्।

दशलीलानिरूप्योयं पुरुषो द्वादशात्मकः। द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते॥ १॥
सर्वेषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः। ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तकः॥ २॥
सगुणां नवधाभक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन्। काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्र द्वादशधा मतः॥ ३॥
सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः। आत्मा कार्यं च भूतानि अहन्तत्वमुभौ त्रयः॥ ४॥
अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिः स्वयम्॥ ४½॥

तत्र प्रथमं दशधा स्वरूपलक्षणानि वर्णयति तमिति, तं प्रसिद्धं लोकवेदयोः, "अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति आश्रयभूतः सर्वमूलभूतत्वात्, सृष्टिरूप इति केचित्, अद्भुतमिति, अलौकिकमेव ह्यद्भुतं न तु लोकवेदसिद्धं, इदं हि प्रमेयबलं प्रमाणादतिरिक्तं, तदेव हि वीर्यं भवति यल्लौकिकैर्वैदिकैश्चानुल्लङ्घ्यं, आश्चर्यं तदेव भवति, अनेन तद्रूपं दृष्टमेवो-पपद्यते न तु स्मतुं वर्णयितुं वा शक्यत इत्युक्तं, एवं सर्वैर्वर्णयितुं शक्यमशक्यं चोक्तं पदद्वयेन, बालकमिति, बाले बाले को ब्रह्मा ब्रह्माण्डविग्रहो यस्य, अद्भुतश्च बालको न स्वरूपतो वक्तुं शक्यः, बालानामपि कं सुखं यस्मादिति, बालः को ब्रह्मा यस्य, बलसम्बन्धिनो ये बालास्तेषां कं शिरोभूतं, एवमद्भुतपराक्रमत्वेन यशो निरूपितं, अलौकिकशोभां निरूपयत्यम्बुजेक्षणमिति, अम्बुजतुल्ये कमलतुल्ये ईक्षणे यस्य, अम्बुजा वा लक्ष्मीरीक्षणे यस्य, अम्बुजौ वा सूर्याचन्द्रमसावीक्षणे यस्य, अम्बुजे वा पञ्चाग्निविद्यया साधितरूपवती क्षणं ज्ञानं यस्य, अम्बुजाया इः कामस्तदेव क्षणं सुखं यस्य, अम्बुजे ब्रह्माण्डे वा पालनार्थमीक्षणं यस्य, अम्बुजायां लक्ष्म्यामीक्षणं सुखं यस्य वा भोगायतनत्वात्, अम्बुजायां पृथिव्यामेवेक्षणं यस्य नान्यत्र, एवमनेकधा भगवतः श्रीर्निरूपयितव्या ज्ञानात्मिका, मध्येनिविष्टभ्रमरमेवाम्बुजं नेत्रतुल्यं भवति, निश्चलश्च भ्रमरः, तेन मकरन्दपूरस्तत्र निरूपितः, दयामृतादयोत्र मकरन्दाः, तत्सम्बन्धे सर्वोपि मधुपो भवतीति निरूपयितुं प्राकृतैरप्युपमीयते, यथा वा जलेद्भुतरूपं भवति कमलमेवं सम्पूर्णेपि रूपेद्भुतरूपे नेत्रे भवतः, अनेनाद्भुता ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, क्रियाशक्तिं निरूपयंश्चतुर्विधमपि ज्ञानमाह चतुर्भुजमिति,

चत्वारो भुजाः क्रियाशक्तयो यस्य, चतुर्विधकार्यार्थं हि भगवदवतारः, तान्येव कार्याणि चतुर्भुजरूपेणोच्यन्ते, चत्वारो वा पुरुषार्था भूतानि वा धर्मादयो दिक्पाला वा भुजा भुजेषु वा यस्य, अनेन द्विगुणः पुरुष उक्तः, लौकिकोलौकिकश्च ।

घातकौ रक्षकौ चोक्तौ विरोधेप्यतिसङ्कटे । वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा ।। १ ।।
मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा ।। १½ ।।

शङ्खगदाद्युदायुधमिति वैराग्यं, शङ्खस्तदादिश्च गदा तदादिश्च, "अपां तत्त्वं दरवरं," भुवनात्मकं कमलं प्राणात्मको वायुर्गदा, "तेजस्तत्त्वं सुदर्शनं एवं शङ्खपद्मगदाचक्राणि क्रमेण निरूपितानि, शङ्खगदादीन्येवोद्यतान्यायुधानि यस्य, इन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणैरेव सर्वमारणमित्याकाशलक्षणं शरीरं, अन्यानि महाभूतान्यायुधानि, उदायुधानि वा, तत्रैव सर्वान् मज्जयन्ति न तु छित्त्वापि त्यजन्ति, एवं षड्गुणो भगवान् निरूपितः, पुनरैश्वर्यादयो वैदिका उच्यन्ते श्रीवत्सलक्ष्ममित्यादि, श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य, श्रीर्वत्सा यस्य, यल् लक्ष्म्या जनकं तद् भगवतश्चिह्नं व्यावर्तकं, सा हि ब्रह्मानन्दो भवति, तस्या मूलं ब्रह्मैव, यत् सर्ववेदप्रतिपाद्यं स भगवतोसाधारणो धर्मः, सर्वात्मकस्य भगवतो जगद्ब्रह्मकालादिलक्षणधर्मवतो ब्रह्म हि मुख्यं लक्षणं भवति, अत एव हि सर्वब्रह्माधारवतो भृगोः पदं तत्र प्रतिष्ठितं भवति स्वाश्रयत्वाल्लक्ष्म्याश्च स जनको भवति, "भृगोः ख्यात्यां समुत्पन्ना श्रीः पूर्व"मितिवाक्याद्, ब्रह्मलक्षणत्वेनैश्वर्यं निरूपितं, वीर्यं निरूपयन् कयाचिदवस्थयावस्थितं ब्रह्म जीवाख्यं लक्षणान्तरत्वेनाह गलशोभिकौस्तुभमिति, गले शोभायुक्तः कौस्तुभो यस्य, स हि सर्वजीवानां स्वरूपभूतः, "चैत्यस्य तत्त्व"मितिवाक्यात्, क्रियाशक्तेर्ज्ञानशक्तिरुत्तमेति मुक्तजीवानां सरस्वतीस्थानप्रापणार्थं कण्ठे कौस्तुभस्थापनं, जीवानामुभयविधत्वज्ञापनाय मध्ये स्थापनं, केचन क्रियानिष्ठाः केचन ज्ञाननिष्ठा इति, अत एव सर्वाङ्गवर्णनायां कौस्तुभो मणिरुभयत्र निरूपितः, "कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं" "चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ" इति च, अत एव शोभा द्विविधा, क्रियाकृता ज्ञानकृता च, जीवस्तूभयधर्मयुत इति शोभायुक्त उक्तः, एवं ब्रह्मद्वयसम्बन्धं भगवति निरूप्य जीवानां तथात्वहेतुभूतां मायां भगवतः प्रदेशविशेषावरिकां पीताम्बरं निरूपयति, पीतमम्बरं यस्येति, आकाशतनोरविकारसम्बन्ध एव शोभाहेतुर्भवति, पीतत्वं तामसराजससम्बन्धात्, अन्यथा त्रिविधमेव रूपमिति पीतत्वं नोपपद्येत, "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच् छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्ये"तिश्रुतेः, व्यामोहिका तु माया तथैव भवति लयविक्षेपात्मिका, प्रभां वर्णयति सान्द्रपयोदसौभगमिति, सान्द्रो हि स्निग्धो नीलः, पयोदो मेघः, परमानन्दस्य नीलरूपत्वे प्रकारचतुष्टयं पूर्वं निरूपितं, आकाशकालभूमिवैकुण्ठैस्तस्य धर्मा इदानीं निरूप्यन्ते, यस्तु स्वकाले सर्वानन्ददाय्यन्नोत्पादकस्तापनाशकश्च स सान्द्रः पयोदः, एवमेव भगवानपि पृथिव्याः स्वर्गस्य धर्मस्य भक्तानां च सर्वानिष्टनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टकर्ता, "सर्वत्र पूर्णगुणकोपि बहूपमोभू"दिति प्राकृतोपमा न दोषः, अन्यथा न सङ्गच्छेत, 'स्निग्धप्रावृड्घनश्याम' इत्यर्थः, अनेन कान्तिलक्षणा श्रीर्निरूपिता ।। ९ ।।

एवं मूलभूते ब्रह्मणि स्वयं स्थित्वा स्वांशान् जीवान् कृतार्थान् कृत्वा भूमिष्ठान् जीवान् व्यामोहेन स्वरूपज्ञानरहितान् विधाय तेभ्यश्चतुर्विधपुरुषार्थान् प्रयच्छतीत्युक्तं, तत्र ज्ञानक्रिययोः प्रकारभेदाः सन्तीति ज्ञापयितुं सर्वशास्त्ररूपाणि भगवदाभरणान्यनुवर्ण्यन्ते ज्ञानवैराग्यरूपेण महार्हेति ।

महानर्हो मूल्यं यस्य तादृशवैडूर्ययुक्तं किरीटं कुण्डले च तेषां त्विषा कान्त्या परिष्वक्तान्यालिङ्गितानि सहस्रं कुन्तलानि यस्य, भगवन्मुखनिरीक्षकाः शास्त्राभिज्ञा जीवा भगवन्मुखामोदपानरताः षट्पदा इव भक्तौ परितश्चकासते, तेषां वेदः सांख्ययोगौ च शोभाजनका भवन्ति, वेदसांख्ययोगानां प्राप्तिश्च सर्वलोकप्रसिद्धाद् गुरोरेव भवतीति महार्हवैडूर्यरूपेण निरूपिताः, वेदे काण्डद्वितयं, योगोपि साधनफलरूपो द्विविधः, सांख्यमपि न्यासज्ञानभेदेन द्विविधं, एवं षट् शास्त्राणि निरूपितानि भवन्ति, तान्येव पदानि, त्रयाणामपि भेदाः सहस्रं सन्तीति ज्ञापयितुं कुन्तलानां संख्या निरूपिता, लौकिकज्ञानविस्मरणार्थं परिष्वङ्गो निरूपितः, एवं लोके ज्ञानं निरूप्य क्रियां निरूपयत्युद्दामेति, कर्माण्यनन्तान्येव तथापि त्रिविधानि निरूप्यन्ते काञ्च्याङ्गदकङ्कणरूपाणि तमःसत्त्वरजोरूपाणि, एतानि त्रीणि वेदादिभूतानि स्वसजातीयानि बहून्येव जनयिष्यन्ति, लोके काञ्ची सदामा भवति, इयंतूद्दामा दामरहिता, हिंसाप्रचुरापि वैदिकी कृतिर्न लोकानुसारिणी, भूमौ मायाव्याप्तानामेव तत्राधिकार इति पीताम्बरोपरि काञ्ची तिष्ठति, लौकिकानि तानि व्यावर्तयितुं लौकिकसूत्राभाव उक्तः, उत्कृष्टानि वा लौकिकानि तत्र साधनानि निरूपितानि, अङ्गदानि बाहुमध्ये तिष्ठन्ति, अङ्गं द्यति खण्डयतीति राजसं तद् भवति, सात्त्विकराजसयोर्विभागहेतुत्वात्, आदिशब्देन मुद्रिका अङ्गदस्थानीयान्यन्याभरणानि क्षुद्रघण्टिकानूपुरादीनि च निरूप्यन्ते तैः सर्वैरेव धर्ममार्गवर्तिभिर्भगवत्सम्बन्धिभिर्विरोचमानो भगवान् भवति, "वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा । आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयते" इति, नन्वेतादृशो भगवानिति किमर्थमुच्यते ? तत्राह वसुदेव ऐक्षतेति, तत्पूर्वोक्तानां धर्माणां लौकिकत्वमलौकिकत्वं च सम्भवति, यदि वसुदेवो न ज्ञास्यति तदा लौकिकान्येवैतानीति मंस्यते, अथ ज्ञास्यति तदोक्तं व्याख्यानमुभयार्थं तादृशधर्मयुक्तं दृष्टवानिति शुक आह, एतज् ज्ञानं स्तोत्रे स्पष्टं भविष्यति ।। १० ।।

एवं भगवन्तं दृष्ट्वा शुद्धसत्त्वात्मको वसुदेवः क्रियां ज्ञानं च प्रकटीकृतवानित्याह द्वाभ्यां, दानं क्रिया, स्वरूपज्ञानबोधकं स्तोत्रं, कर्मण्यधिकारचतुष्टयं, श्रद्धा चाङ्गं; 'अर्थी विद्वान् समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्त'श्च, इदं च कर्म नैमित्तिकं, तस्यापेक्षाज्ञापको हर्षः, स चासाधारण एव भगवन्निष्ठो भवति, तदाह **स विस्मयोत्फुल्लविलोचन** इति।

एतत्सर्वपरिज्ञाने स इति पूर्वोक्तो वसुदेवो हेतुः, अलभ्यलाभाद् विस्मयः, स विस्मयोन्तःप्रविष्ट उत्फुल्ले विलोचने करोति, पूर्वं हरिः सुतो भविष्यतीति श्रुतं, इदानीं **हरिं सुतं** विलोक्य, अनेन विद्वत्तोक्ता, निमित्तज्ञानेनैव नैमित्तिकमपि ज्ञातमपि ज्ञानं करणात् भविष्यति, आनकदुन्दुभिरिति, असामर्थ्ये आनका दुन्दुभयश्च कथं नेदुः ? कृष्णस्यावतारे य उत्सवो मनसो विलासस्तस्मिन् जाते सम्यग् भ्रमो यस्य तादृशश्च भगवच्छास्त्रे स्मृतिशास्त्रे चोत्सवाविष्टः, तादृशे कर्मणि शास्त्रेणापर्युदस्तः, पुत्रस्य सर्वलक्षणसम्पत्तावेव तथाधिकार इति कृष्णपदं, मुदेति, हर्षः स्नेहात्मक इति भक्तिसूचकः, गवाभयुतं द्विजेभ्योऽसृजद् ब्राह्मणानुद्दिश्य दशसहस्रं गावो दत्ताः, ननु स्नात्वा गावो देयाः कथमेवमेव सङ्कल्पं कृतवानित्याशङ्क्याह मुदाप्लुत इति, हर्षजलेनैव स्नातवानित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु पुत्रः संस्कर्तव्यो जातकाख्येन कर्मणा तत् कथं न कृतवानित्याशंक्य प्राकृत एव तस्य संस्कार इति नास्मिंस्तदपेक्षेति तज् ज्ञानं स्वस्य वर्तत इति ज्ञापयन् भगवन्तं स्तौतीत्याहाथैनमिति।

अथ कर्मसमाप्तिं विधाय तदनन्तरमेनं पुत्रत्वेनाविर्भूतं भगवन्तमस्तौत्, स्तोत्रमुत्कृष्टे कर्तव्यमिति कथं पुत्रे स्तोत्रमित्याशंक्याहावधार्य पूरुषमिति, पूर्वोक्तवर्णनप्रकारेण परः पुरुषः पुरुषोत्तम एवायमित्यवधार्य, अभिनन्दनात्मकमपि स्तोत्रं भवतीति तद्व्युदासार्थं नताङ्ग, नतमङ्गं यस्य, नमस्कारं कृत्वेत्यर्थः, यो भगवान् जातो यादृशस्तं तथैव ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं, 'अन्यथा सन्तमन्यथा' चेत् "प्रतिपद्यते" तद्युक्तमिति तद्व्युदासार्थमाह कृतधीरिति, यद्यपि पूर्वं पुरुषोत्तम आविर्भविष्यतीतिज्ञानं न स्थितं तथापि प्रदर्शितैर्भगवतावयवादिभिः कृता धीर्यस्य, समानयोरपि तथात्वं सम्भवतीति तद्व्युदासार्थं कृताञ्जलिरिति, अञ्जलिर्महत एव क्रियते, स्तोत्रं कायवाङ्मनोभिः कर्तव्यं, तत्र कृताञ्जलिरिति स्तोत्रे कायस्थितिः, कृतधीरिति मनसः, स्तोत्रं वाचनिकं, ननु स्तोत्रमुच्चैः कर्तव्यं तथा सति प्राहरिकाणां जागरणं भवेदित्याशंक्य कंसभयं तस्य नास्तीत्याह गतभीरिति, तत्र हेतुः प्रभावविदिति, भगवतः कालादिनियमनं जानातीति प्रभाववित्, ननु विद्यमानमपि सामर्थ्यं न प्रकटयेच्चेत् प्रमाणसिद्धं वा शालग्रामादिवत् सामर्थ्यं स्यात् तदा विपरीतं भवेदित्याशंक्य प्रकटतेजःपुञ्जेन प्रकटमेव सामर्थ्यं तस्येत्याह स्वरोचिषा स्वरूपकान्त्या कोटिमणितेजसा यथा गृहं प्रकाशितं भवति तथा प्रकाशयन्तं, भारतेतिसम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

विशेषणसंख्यातात्पर्यं वदन्त आद्यश्लोकस्थविशेषणसंख्ययोः प्रत्येकसमुदायाभ्यां तात्पर्यमाहुर्दशलीलेत्यादिना, आद्यस्थतत्संख्याभिप्रायोयं, द्वितीयेन पदेन समुदिततत्तात्पर्यमुक्तं, द्विगुण इति मर्यादामार्गीयमैश्वर्यादिकं भूभारहरणवेदधर्मविहितभक्तिज्ञानादिप्रवर्तकमेकं, ब्रह्ममर्यादाया अप्युल्लंघनं दैत्यानामपि मुक्तिदानमदेयस्वरूपामृतदानादौ पुष्टिमार्गीयैश्वर्यादिकं हेतुः, एवं सत्युभयविधं प्रकटीकृत्य प्रकट इति समुदितस्तत्तात्पर्यं, एवमग्रेपि ज्ञेयं, भक्तानां दशप्राणाविरूपः, सर्वप्रकाशकः सूर्यो द्वादशात्मेति तथा, लीलासम्बन्धिपदार्थानामनन्यप्रकाश्यत्वात्, लीलायाः कालातीतत्वेन तदवच्छेदो न सम्भवतीति द्वादशमासात्मको लीलाधारभूतो यः संवत्सरात्मकः कालस्तद्रूपोपि, तेनै 'कहायन' 'त्रैमासिकः कुमार'इत्याद्युक्तिर्न विरुध्यते, लौकिकेन्द्रियविषयत्वाल् लीलायास्तन्मध्यपातिभक्तानामेकादशेन्द्रियरूपस्तन्नियामकश्चेति द्वादशात्मा, आत्मपदेन जीवपरमात्मानावुच्येते, काय महत्तत्त्वं भूतान्येकविधानि, उभौ प्रकृतिपुरुषौ, त्रयो गुणाः, अन्यत् स्पष्टम्, एतेन लीलासम्बन्धिपदार्थसृष्टिरेतत्स्वरूपात्मिकैवेति फलितं, एवंतात्पर्यनिरूपणेपीदमेव मूलम्, अन्यथा प्राकृतसम्बन्धे ब्रह्मत्वानुपपत्तिरिति, न तु लोकवेदसिद्धमिति, यद्यपि साकारत्वेन वेदे सिद्धं तथापि यादृग् रूपं प्रकटमधुना तत् तथैवेति तदभिप्रायेणेदमुक्तं, तेन पूर्वेण न विरोधः, चतुर्विधमपीति, प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपमपीत्यर्थः, अत्रायं भावः, सम्पूर्णस्वरूपवर्णने ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च वाच्यानि, तत्र ज्ञानेन्द्रियेष्वीक्षणमेवोक्तं, कर्मेन्द्रियेषु भुजा एवोक्ताः, तेनैकेनैव पूर्णा ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्च निरूपितेति ज्ञायते, एवं सति कर्मेन्द्रियं निरूपयन् यद् भगशब्दार्थरूप ज्ञानं निरूपयति तेन जीवानामिव भगवतः कर्मेन्द्रियाणि न ज्ञानजनकानीति न किन्तु स्वयं चिद्रूपाणि पूर्णज्ञानजनकानीति ज्ञापयति, चतुर्विधकार्यैर्मित्यादिना चतुर्विधक्रियाशक्तिविवरणं, व्यूहकार्याण्येव चतुर्विधानि तानि, तेषां नियतकार्यत्वात्, भगवद्भुजानां क्रियाशक्तिरूपत्वेन सर्वेषां क्रियावतां मूलत्वात् पृथिव्यादिचतुर्णामेव भूतेषु क्रियावत्त्वात् तदाधिदैविकरूपत्वमपीत्याशयेन भूतत्वमुक्तं, तेन लीलामध्यपातिनां तेषां प्रभुभुजरूपत्वमेव न प्राकृतत्वमितिभावः, जरायुजस्वेदजाण्डजोद्भिज्जानि वा, तान्यप्युक्तरूपाणीति ज्ञेयं, पुरुषस्य द्विभुजत्वमौत्सर्गिकमित्यत्र द्विगुणपुरुषत्वं, एतस्यैव विवरणं लौकिक इत्यादि, युद्धादिना जरासन्धादिमारणं लौकिकसदृशं, अन्यथेश्वरस्यैतच्चमूमारणे का युद्धापेक्षा स्यात् ? अवस्थासाधनविरुद्धकार्यकरणं पूतनाशकटादिमारणमलौकिकं, घातकाविति, हननरक्षणयोरेकत्रैकदाकरणं विरुद्धं, तथापि तत् कृतवान्, परीक्षितो लौकिकबीजांशस्य दाहनं

वैष्णवांशस्य गर्भस्य रक्षणं तन्मातुश्च, तत्राप्यनिवर्त्यत्रह्माम्नात्, एतदेव संकटरूपमपि, तथैवेन्द्रवृष्ट्यादिकमपि ज्ञेयं, वेदोक्तमिति, कर्मब्रह्मविषयकमात्मपरमात्मविषयकं, वा ज्ञानमित्यर्थः, भक्तिरपि सगुणा निर्गुणा च साधनफलरूपा वा, वैराग्यं हि सर्वदुःखनिवर्तकं, भक्तदुःखनिवर्तनं ह्यायुधैः, तेन तेषां वैराग्यरूपता, तेन भक्तेष्वेव रागस्तद्द्वेषिषु तदभाव इति ज्ञाप्यते, अत एव मातुलादयोपि हताः, मधुसूदन इत्यादि, उक्तरीत्या मधुसुदनः, गदाचक्रे दक्षिणयोरब्जशङ्खौ वामयोर्धारयन् माधवो भवति, एवं सति गदाचक्रयोरेकत्राब्जशङ्खयोश्चैकत्रस्थितिमात्रसाधर्म्येणात्र माधवत्वमपि, शङ्खाब्जे दक्षिणयोश्चक्रगदे वामयोर्धारयन् नारायणो भवति, तेन शङ्खाब्जयोश्चक्रगदयोश्चैकत्रस्थितिमात्रसाधर्म्येण नारायणत्वं, एवं त्रिवृद्रूपत्वं सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपतापि, शङ्खेत्यादिविग्रहवाक्ये शङ्खगदे आदी ययोस्ते शङ्खगदादिनी पद्मचक्रे उदायुधे यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, शङ्खाब्जाभ्यां मारणासम्भवादायुधत्वं कथमितिशङ्काभावाय तत्तात्पर्यमाहुरिन्द्रियेत्यादि, प्राणपोषितानीन्द्रियाणि हि कार्यसाधकानि, "विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते"तिवाक्याच् छङ्खस्य तादृशत्वादिन्द्रियरूपता, तेनान्तरो मारकः, दर्पाभावे मृतप्रायो मृतः, गतदर्पस्य बाह्योपमर्देनाशु नाशो भवति, प्रकृते च ब्रह्माण्डविग्रहा नारायण इति तदात्मकाब्जधारणेनैव यथोपरि पतित्वोपमर्दनं तथा भवतीति तथा, गदाया आधिदैविकप्राणात्मकत्वादधिभूतासुरप्राणान् निहन्ति, तेजोरूपमन्तःकरणं, चक्रं च तथा, मुक्तिदित्सायां चक्रेण मारयतीति तद्धतास्तथैव भवन्ति "ये ये हताश्चक्रधरेण"तिवाक्यात्, स्वयं निर्लेप एव महाभूतैरेव मारयतीतितात्पर्येण पक्षान्तरमाहुराकाशेत्यादि, शङ्खगदाद्यायुधमेतावतैव चारितार्थ्येऽप्युदायुधमितिकथनेनान्योपि भावः सूच्यत इति तमाहुरुदायुधानीति वेति, उदमुदकं तद्रूपाणीत्यर्थः, उदकत्वोक्तितात्पर्यमाहुस्तत्रैवेति, गुरुपदार्थं हि तत् स्वस्मिन् पतितं मज्जयति तद्वदहङ्कारेणानम्रानासुरान् ग्रावप्रायान् महाभूतान्येव पुनः प्रापयन्ति न तु मुक्तिमित्यर्थः, श्रीवत्स इत्यादि, अत्रेतावद् वाच्यं, पुरुषोत्तमैकनिष्ठत्वेन तदसाधारणं लक्षणं श्रीर्भवति, तस्याश्चेतरागोचरत्वेन लक्ष्यज्ञानं कस्यापि न भविष्यतीति तत्प्रादुर्भावस्थानासाधारणधर्मं सर्वगोचरं कृत्वा स्वस्मिन् धारयति, तद्दर्शनेन तत्र श्रीस्थितिज्ञानेन पुरुषोत्तमत्वज्ञानं भवति, अस्य मुख्यत्वमुपपादयन्ति सर्वात्मकस्येति, "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानी"तिभगवद्वाक्याद् "यः पृथिव्यां तिष्ठ"न्नित्यादिश्रुतिभ्यश्च जगत् तथा, "परस्तस्मात् तु भावोन्योव्यक्तो व्यक्तः सनातन" इत्युपक्रम्या "व्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिं यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं ममे"तिप्रभुवाक्याच् छ्रीव्रजजनमनोरथपूर्तये "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं । सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनं यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता" इत्यादिवाक्यैः सर्ववेदप्रतिपाद्यत्वेनाप्यक्षरं ब्रह्म पुरुषोत्तमस्य लक्षणं, चेष्टारूपत्वेना "थ सर्वगुणोपेतः काल" इत्यादिना निरूपितो य आनन्दमयो लीलाकाल सोपि तथा, आदिपदाल् लीलाविशेषाश्च, तथा च सर्वात्मकत्वभगवत्त्वजगदादिलक्षणेषु ब्रह्म मुख्यं लक्षणं, सर्ववेदप्रतिपाद्यत्वादाविर्भूतसच्चिदानन्दरूपत्वाज् ज्ञानिमुक्तिस्थानत्वात् पुरुषोत्तमगृहचरणात्मकत्वात्, अतः श्रीवत्सस्य लक्ष्मत्वमुक्तं, अन्यथेतरविशेषणवदिदमप्युक्तं स्यादिति भावः, अत्रोपपत्त्यन्तरमाहुरत एवेति, जातिवेदाक्षरब्रह्मणि तदानन्दश्च सर्वशब्देनोच्यते, तदाधारभूतो भृगोर्देहः, तद्धतस्तस्य गतिर्भगवत्पर्यवसायिन्येवेति तथेत्यर्थः, किञ्च भगवत्स्वगिन्द्रियाद् भृगोरुत्पत्तिः, तच्चेतरेन्द्रियेभ्यो विशिष्टमन्तर्बहिर्व्यापित्वात् तथा ज्ञानजनकत्वाच्च स्पर्शसुखाभिव्यक्तिहेतुत्वाद् भगवतः स्पर्शसुखाभिव्यक्तिहेतुः, श्रीस्तत आविर्भूतेत्याशयेनाहुर्लक्ष्म्याश्चेत्यादि, गलशोभोत्यत्र सरस्वत्या ज्ञानशक्तिरूपत्वात् तथाकृतिः, अत्र विद्यादिपदानि त्यक्त्वा सरस्वतीपददानस्यायं भावः, सा हि वीणागानपरा प्रभुश्च 'मुक्तोपसृप्य' इति मुक्ताः सर्वे संगीतविद्यया यथा प्रभुं सन्तोषयन्ति तदर्थमेवंकरणं, एतेनैवंविधानां लीलास्थभक्तानां न प्राकृतत्वं किन्तु कण्ठभूषणरूपत्वमेवेति ज्ञाप्यते, स्थानं प्रभुगुणज्ञानं, मुक्तानामेव शुकादीनां तत्राधिकारादितिभावः, पूर्वमिति, निबन्धे निरूपितमित्यर्थः, तत् स्मारयन्त्याकाशेत्यादि, चक्षू रूपवद् द्रव्यं गृह्णत् तदभावे निर्मेघ आकाशे दूरं गतं सन् नीलमिव पश्यति तथा ब्रह्माप्यतिगाढं गम्भीरतया नीलमिव पश्यतीत्येकः प्रकारः, तत्तद्युगाधिष्ठातृदेवतानां तादृक्तादृग्रूपत्वात् तत्प्रतिबिम्बानां नियतानेकरूपत्वमिति द्वितीयः, भूमेर्नीलरूपत्वेन तत्राविर्भावे तत्प्रतिफलनेन तथा भातीति तृतीयः, शुद्धस्य सत्त्वस्य नीलरूपत्वेन तत्प्रतिफलेन वैकुण्ठाविर्भूतं ब्रह्म तथा भातीति तुरीयः, अथवा भूमिवैकुण्ठं श्वेतद्वीपं, हन्तेदं ब्रह्मो नीरूपत्वपर्यवसायित्वेन न विद्वज्जनमनोरमं भवतीति चेन्, मैवं, अंशावतारविभूतिरूपावतारविषयत्वादस्य, श्रीपुरुषोत्तमाख्यं तु वस्त्वेव तादृशं न त्वौपाधिकं तत्राणव्यस्ति शुद्धब्रह्मरूपत्वादित्यनुपदमेव प्रमाणप्रकरणे निरूपयिष्यत इति विद्वद्धृक्तमनोरममेतदिति जानीहि, यस्तु स्वकाल इत्यादि तु परोक्षवादत्वेनापि ज्ञेयं, स्वकाले लीलाकाले, अत एव स्वपदं, नूतनरसोत्पादको दिनान्तादिष्वग्रिमश्च, एवमित्यादिना श्रीवत्सेत्यादिविशेषणोक्तितात्पर्यमुक्तक्रमेण पुरुषोत्तमासाधारणचिह्नत्वात् तत्त्वेन ज्ञाने मूलकारणभूतः श्रीवत्सस्तस्य ब्रह्मत्वं निरूपितं, वस्तुतस्तु श्रीरूप एव सः, ब्रह्मानन्दरूपत्वात् तस्याः तत्र स्थितो लीलां करोतीति लीलामूलभूतमपि तद्रूपं ब्रह्म, "कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यज" इति वाक्यात् स्वीयत्वेनाङ्गीकृतानामात्मनामाधिदैविकं रूपं स्वकण्ठे स्थापयन् न जातु त्यजति स्वरूपानन्दं चताननुभावयतीति तथा, भूरूपकत्या आवरणोक्त्या तथात्वं, प्रावृड्घनश्यामत्वोक्त्या सर्वानिष्टनिवृत्तिपूर्वकं सर्वार्थदानम् ॥ ९ ॥

भगवन्मुखनिरीक्षका इत्यादि, अत्रायं भावः, "बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले" इति वाक्यात् तद्रूपयोस्तयोः सहभावेन किरीटस्योक्ते "मौलिपदं पारमेष्ठ्य"मित्यत्रापि तद्रूपो वेद एवोच्यत इत्यवगम्यते, सर्वप्रमाणानामुपरिस्थितिस्तस्यैवोचिता यतः, एवं सति तज्जनितज्ञानमेव तडिद्रूपमिति तत्परिष्वङ्गोक्त्या तेषां तथात्वमेव सम्पद्यत इति जीवानां तत्र स्थितिरयुक्तेतिशङ्का-

निवारणाय भगवन्मुखेत्याद्युक्तं, अपरं च तेषां बहुत्वेपि तडिदित्येकत्वोक्त्या तज्जनितस्य भक्तिभावस्यैकरूपत्वं मूले ज्ञाप्यते, तेन वेदादीनां भक्तिरेव फलमिति ज्ञापितं भवति, अर्हस्य प्रापकद्रव्यरूपत्वेन तादृशोत्र गुरुरेवेति तथोक्तं, अन्यथा त्वमूल्यपदमेव वदेदितिभावः, इदं च भक्तिमन्महापुरुषानुग्रहादेवेतिज्ञापनायार्हं महत्त्वमुक्तं, अत एव "वेदवादरताः पार्थे"त्यादिनोक्तशीलानां न भक्तिलाभः, एतदेवाभिसन्धाय सर्वलोकप्रसिद्धादितिविशेषणं दत्तं, अर्हस्य लोकसिद्धत्वेनापि तथाविशेषणमिति ज्ञेयं, कुन्तलानां रसोद्दीपकत्वेन तेषु भक्तिप्रवर्तकत्वमपि सूच्यते, तान्येव पदानीति, कुन्तलानां भ्रमरतुल्यत्वेन तेषां षट्पदत्वेनैतेष्वेतान्येव तानीत्यर्थः, त्रयाणामपीति, वेदसांख्ययोगानामित्यर्थः, कुन्तलानां शास्त्राभिज्ञजीवत्वेन पूर्वमुक्तत्वात् तेषामनेकविधत्वे तज्ज्ञान-प्रकारानेकविधत्वमेव प्रयोजकमिति कुन्तलानेकत्वोक्त्या तत्प्रयोजकमप्याक्षिप्तं भवतीत्यर्थः, उद्दामेत्यत्र त्रयाणां कर्मत्वोक्तेरयं भावः, भूमावेव कर्ममार्गा इति तद्रूपकट्यां भूषणत्वेन स्थितस्य कर्मत्वं युक्तमितरयोः क्रियाशक्तिप्रतिष्ठितत्वेनेति ॥ १० ॥

सम्यग् भ्रमो यस्येति, विविधपदार्थैर्महानुत्सवः कार्य इति बुद्ध्या तत्र तत्र मनोधावनं भ्रमः, पुरःप्रकटे भगवत्यत्रापि मनोधावनस्यानुचितत्वात् परं तूत्सवरसस्तादृश एवेति भक्तिमार्गे स गुण एवेति भगवच्छास्त्रेणापर्युदस्तः ॥ ११ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तमद्भुतमित्यत्र वीर्यनिरूपणार्थमिति, सामर्थ्यनिरूपणार्थं, ऐश्वर्यस्याष्टविधत्वात् तत्राष्टौ श्लोका युक्ताः, निरूपणीये वीर्ये कुतो द्वौ श्लोकौ कुतश्च प्रथमे श्लोके दश पदानि द्वितीयश्लोके च द्वे इत्याकांक्षया सार्धचतुष्टयकारिकाभिस्तत्तात्पर्यं वदन्तीत्याशयेन टिप्पण्यां तद् व्याकुर्वन्ति विशेषणेत्यादि, अयमिति, प्रथमचरणोक्तः, हेतुरिति, उक्तदानादौ हेतुभूतं, द्वितीय-मितिशेषः, समुदिततत्तात्पर्यमिति, समुदितं यच् छ्लोकद्वयं तत्तात्पर्यमित्यर्थः, अग्र इति, अग्रिमकारिकासु, सर्वेषामितिपदं संकुचितवृत्तिकमित्याशयेनाहुर्भक्तानामित्यादि, अग्रे तु स्फुटत्वान्न व्याख्यातं, परं तत्रार्धाभ्यां द्विधा द्वादशविधत्वमुच्यत इति बोध्यं, सर्वप्रकाशकश्चेत्यनेन पुनरन्या विधोच्यत इत्याशयेनाहुः सर्वेत्यादि, कालात्मेत्यनेन ततोप्यन्योच्यत इत्याशयेनाहु-र्लीलाया इत्यादि, इन्द्रियनायक इत्यनेन ततोप्यन्योच्यत इत्याहुर्लौकिकेत्यादि, आत्मेतिकारिकां व्याकुर्वन्त्यात्मपदेनेत्यादि, नन्वत्र श्लोकद्वये तमित्यस्येक्षतिक्रियाकर्मत्वेन मुख्यतयान्वयदर्शनाद् द्वादशानामपि विशेषणत्वाङ्गीकारो न युक्त इतिचेन्न, तमित्यस्यात्रैवं विशेष्यत्वेपि पूर्वश्लोके यः 'प्रादुरासीदि'त्यादिनोक्तस्तत्परामर्शितयेतरव्यावर्तकत्वेन विशेषणत्वानपायात्, एवं चापेक्षाभेदेन तमित्यस्योभयरूपत्वाद् विशेषणानां द्वादशत्वं युक्तमेवेति जानीहि, एवं कारिकाणां तात्पर्यमुक्त्वा एवंविधाकथनस्य प्रयोजनं बीजं चाहुरेतेनेति, अष्टधा द्वादशविधत्वनिरूपणेन, इति फलितमिति, इति हेतोः सर्वरूपतयात्यलौकिकभगवत्सा-मर्थ्यरूपं वीर्यमेव फलितं, सुबोधिन्यां तमित्यस्याभासे तत्रेति, द्वादशसु विशेषणेषु, विवृता "युत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्यु-दाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वर" इति गीतायां श्लोकद्वये सर्वान्तराविश्वसर्वधारकत्वेन क्षराक्षरातीतत्वेन च य उच्यते सोत्र तच्छब्देन परामृष्ट इत्याशयेनाहुस्तमित्यादि, यादृशस्तच्छब्देन परामृष्टस्तस्य सामान्यतः स्वरूपमेतेनोक्तं, "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं तत"मितिलक्षणान्तरसंग्रहायाहुराश्रयेत्यादि, तथा च गीतोक्तलक्षणत्रयवानत्र परामृश्यत इति बोधितं, एतेन सर्वनियामकत्वादिरूपमैश्वर्यं चोक्तं, मतान्तरमाहुः सृष्टिरूप इति केचिदिति, अत्र युक्त्यलिखनादुक्तवाक्यविरोधाच्च तदसङ्गतमिति बोधितं, टिप्पण्यां तमद्भुतमितिपदद्वयव्याख्यानयोः परस्परं विरोधं परिहरन्ति यद्यपीत्यादि, तथा "चान्यदेव तद् विदितादथोविदितादधी"तिश्रुत्या विदिताविदितपरत्वस्यापि श्रावणा-दस्यैवार्थस्य सिद्धेर्न विरोध इत्यर्थः, सुबोधिन्यामिदमिति, लोकवेदप्रसिद्धत्वे सत्यप्यद्भुतत्वं, एवमत्र तात्पर्यवृत्त्या पदद्वयं व्याख्यातं, अतः परं योगेनाग्रिमपदं व्याकुर्वन्ति बाल इत्यादि, 'अद्भुतं' 'बालकं' पदयोः समभिव्याहारेण सूचितमर्थमाहुर-द्भुतश्चेत्यादि, पद्मानेत्यादि, "अत्र ह्यापः पुरुषवचसो भवन्ती"तिश्रुतेस्तद्विद्यासाधितरूपस्याम्बुजत्वं बोध्यं, प्राकृतैरिति अम्बुजैरित्यर्थः, चतुर्भुजमित्यस्याभासे क्रियाशक्तिमित्यादि, ज्ञानशक्तिवदद्भुतां क्रियाजनिकां शक्तिं निरूपयंश्चतुर्विधमपि ज्ञानमाह, क्रियाया ज्ञानमूलकत्वात् तच्छक्तिनिरूपणे छिद्रेतरत्ववत् तन्मूलभूतं ज्ञानमर्थबलादाहेत्यर्थः, किं तच्चतुर्विधमित्या-काङ्क्षायां टिप्पण्यां तद् विवृण्वन्ति प्रमाणेत्यादि, निरूपयतीति, अर्थबलान्निरूपयति, ज्ञाननिरूपणप्रयोजनमाहुस्तेनेत्यादि, चतुर्विधेत्यादेस्तात्पर्यमाहुश्चतुर्विधेत्यादि, तेषामिति, व्यूहानां, भूतानि वेत्यस्य तात्पर्यमाहुर्भगवद्भुजेत्यादि, तस्यैवार्थोन्तरमाहु-र्जरेत्यादि, उक्तरूपाणीति, आधिदैविकरूपाणि, अत्र चतुःशब्देन नानाविधानां चतुःसंख्याकानां यः सुबोधिन्यां संग्रहस्तत्र बीजं तु जातेष्ट्यधिकरणे सिद्धं संख्यायाः प्रयोजनवत्त्वमेव ज्ञेयं, तत्र हि वैश्वानरद्वादशकपालेष्टादिसंख्यानां विद्यमानत्वात् ताभिस्त-त्समानाक्षरच्छन्दःप्रभृतीनां तत्कार्याणां चावरोधदर्शनादेवमत्रापि चतुर्णां भुजानां दर्शनेनेदं सर्वं सूच्यते, अन्यथा गोपालतापनीये 'द्विभुज'मितिश्रावणादत्रापि तथैव दर्शयेदिति, दिक्पाला वेति तु "इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्रा" इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् स्फुटतो न व्याख्यातं, द्विगुणपुरुषत्वं विवृण्वन्ति पुरुषस्येत्यारभ्यालौकिकमित्यन्तं, घातकाविति, कारिकयोजना तु चतुर्षु भुजेषु द्वौ भुजौ घातकौ रक्षकौ विरोधेप्युक्तौ, च पुनरतिसङ्कटेपि तथोक्तौ, किञ्च चतुर्भुजपदेन भुजतया वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानमुक्तं तथा भगवतो भक्तिरुक्तेतिरूपामङ्गीकृत्य तां विवृण्वन्ति घातकावित्यारभ्य रूपा वेत्यन्तं, अत्रैतद् बोध्यं, मूले सकृदुच्चारितेष्वेतेषु

पदेषूक्ता अनेकेर्थाः खलेकपोतिकान्यायेनापतन्तो 'गतोस्तमर्क' इतिवद् बोद्धव्यवैशिष्ट्येन तं तं प्रत्येकैकशः स्फुरन्तोपि भगवत्कृपावलोकितं सर्वज्ञं प्रति युगपत् क्रमेण वा यथाधिकारं विषयीभवन्तीति न कोपि शङ्कालेशः, एवमग्रेपि बोध्यं, अग्रिमपदे वैराग्यं कथमुच्यत इत्याकाङ्क्षायां तद् विवृण्वन्ति वैराग्यमित्यादि, अर्थस्तु स्पष्टः, उक्तरीत्येति, दक्षिणहस्तयोरुपरि शङ्खो नीचैः पद्मं वामयोरुपरि गदानीचैश्चक्रमनया रीत्या धारयन् मधुसूदनः, पुराणान्तरे तथा प्रसिद्धत्वान् मन्दारमधुसूदनादौ तथा दर्शनाच्चेति भाति, एवं माधवरूपेपि बिन्दुमाधवादौ तथादर्शनान् नारायणस्वरूपेपि व्यङ्कटेशे तथा दर्शनाद् भाति, अत्र पूर्वं चतुर्भुजपदविवरणे चतुर्विधकार्यकारणार्थमवतारकथनेन चतुर्व्यूहत्वसिद्धावपि यदत्र त्रिरूपत्वेन विवरणं तच् छङ्खगदाद्युदायुधमित्यत्र क्रमेण शङ्खस्य गदाया आदिपदोक्तस्य चोत्पदेनोच्चैः स्थापनबोधनादङ्गीकृतमिति प्रतिभाति, त्रिव्यूहत्वं च त्रिव्यूहकार्यस्यैव बहुशः कारणादुक्तं ज्ञेयं, वासुदेवकार्यस्य गीतोपदेशभीष्ममुक्त्यादौ क्वचिदेव करणादिति भाति, इन्द्रियेत्यादिपक्षं व्युत्पादयितुमवतारयन्ति शङ्खेत्यादि, पद्मस्य देहरूपतामायुधरूपतां चोपपादयन्ति प्रकृत इत्यादि, तथेति, पद्मस्य देहरूपत्वमायुधरूपत्वं चेत्यर्थः, तेजोरूपमिति, अन्तःकरणस्य सात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वात् प्रकाशकत्वेन तेजोरूपं, पक्षान्तरमवतारयन्ति स्वयमित्यादि, इदं "चापां तत्त्वं दरवर"मित्यादेरेव प्रपञ्चरूपं ज्ञेयं, शेषं स्फुटं, श्रीवत्सलक्ष्ममित्यत्रा"च् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्न" इत्य'त्राजि'तियोगविभागादच् पद्मनाभ इतिवत्, विशेषणान्तरेष्वपि व्यावर्तकस्य सत्त्वादत्रैव यल् लक्ष्मत्वमुक्तं तत्तात्पर्यं श्रीवत्सेत्यादिना वदन्तीत्याशयेन टिप्पण्यां तद् विवृण्वन्ति श्रीवत्स इत्यादिना, अत्रेति, अस्मिन् विशेषणे, स्थानासाधारणधर्ममिति, स्थानरूपमसाधारणधर्मं, तथा चास्य मुख्यत्वादत्र लक्ष्मपदप्रयोग इत्यर्थः, कथं मुख्यत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुरस्येत्यादि भाव इत्यन्तं, अत्रेति, मुख्यत्वे, अत एवेति, मुख्यलक्षणत्वादेव, तद्वत इति, त्रिब्रह्मवतः, गतिरिति, महत्त्वपरीक्षार्थं गमनं, तथेति मुख्यत्वं, तथा च यदि तत्र भगवति पुरुषोत्तमत्वं न स्यात् तदा महत्त्वपरीक्षार्था भृगोर्गतिस्तत्र न पर्यवस्येत, यत एवमतः श्रीवत्सस्य ब्रह्मत्वान् मुख्यत्वमित्यर्थः, इदं प्रकारान्तरेणापि भृगुपदस्य नानुचितत्वमित्याहुः किञ्चेत्यादिना, तथा च तज्जातो भृगुरपि विशिष्ट इति नानुचितत्वमित्यर्थः, इदं प्रकारान्तरेणाहुः स्पर्शेत्यादि, अनुचितत्वपरिहारायैवमुपपत्तित्रयेण भृगोरक्षरात्मकत्वं तेन श्रीवत्सस्याक्षरात्मकत्वं च समर्थितं, सुबोधिन्यामस्मिन् विशेषणे पूर्वोक्तमैश्वर्यनिरूपणं निगमयन्ति ब्रह्मेत्यादि, ब्रह्मणोक्षरस्योक्तरीत्या निरूपितेन लक्षणत्वेनैव भगवतोक्षरप्रयोजकत्वरूपमैश्वर्यं निरूपितमित्यर्थः, अग्रिमविशेषणमवतारयन्ति वीर्यमित्यादि, स्वरूपसामर्थ्यं हि वीर्यं, तदत्र मुक्तजीवस्वाधीनकरणलक्षणं, तन् निरूपयन् कण्ठाभरणतयावस्थितं जीवस्वरूपं लक्षणान्तरत्वेनाहेत्यर्थः, अङ्गान्तरेस्थापयित्वा यत् कौस्तुभस्य कण्ठे स्थापनं तत्तात्पर्यमाहुः क्रियाशक्तेरित्यादि, क्रियाशक्तिर्हस्तादिः, ज्ञानशक्तिः कण्ठदेशः, पश्यन्त्यनन्तरमध्यमास्थानत्वेन ज्ञानप्रत्यासन्नत्वात्, अतः सोत्तमेति तथेत्यर्थः, तदेव टिप्पण्यामाहुः सरस्वत्या इत्यादि, पीताम्बरमित्यत्र तथात्वहेतुभूतामिति, जीवत्वप्रयोजकभूतां, नन्वम्बरस्य मायात्वे पीतत्वं नोपपद्यते तस्या लोहितशुक्लकृष्णवर्णत्वेन पीतत्वस्य तत्रानुक्तत्वादित्यत आहुः पीतत्वमित्यादि, रजस्तमोगुणजन्यं यत् सुवर्णं तत्सम्बन्धादित्यर्थः, तदुपपादयन्त्यन्यथेत्यादि, तथा चेदमागन्तुकं रूपमित्यर्थः, तत्रास्पष्टं लिङ्गं मानत्वेनाहुर्व्यामोहिकेत्यादि, तथा च "वैरं च पञ्चम"मितिप्रथमस्कन्धवाक्याद् वैरजनकस्य सुवर्णस्य तथात्वेन तन्मूलभूता सा लयविक्षेपात्मिकेत्यर्थः, पीताम्बरमित्यनेन यशो निरूपितं ज्ञेयं, प्रथमस्कन्धे 'सम्यक्त्वेन रूपेण वर्णनयोग्यं गुणक्रियादिपौष्कल्यं यश' 'आधारोत्कर्षाधायकः सर्वजनाह्लादको विसर्पिगुणोपि यश' इति च पृथ्वीवाक्यव्याख्याने तत्स्वरूपस्योक्तत्वात्, तच्च गुणपौष्कल्यमत्राभासे जीवानामित्यादिनोक्तं, येदृशो सा नाभिप्रदेशविशेषावरिकैव न तु तं वशयितुं समर्थेति, सान्द्रेत्यत्र टिप्पण्यां भूमेरित्यादि, अयं च प्रकारो निबन्धे त्रुटित उपलक्षणविधया व्याख्यातो ज्ञेयः, तदेव स्फुटीकुर्वन्त्यथ चेत्यादिना, अत्र रूपविषये किञ्चिदाशंक्य परिहरन्ति हन्तेत्यादि जानीहीत्यन्तं, तथा च निबन्ध आकाशपक्षस्य यद् व्याख्यानान्तरं प्रभुभिः कृतं तत्र प्रमाणप्रकरणोक्तमेव बीजमिति न तस्याचार्योक्तिविरुद्धत्वं बोधितं, न चैवं सत्येते पक्षा अत्राचार्यैः किमित्युक्ता इति वाच्यं, वासुदेवादिव्यूहसाहित्यस्यात्र सत्त्वेन तद्रूपबोधनार्थत्वात्, नन्वनौपाधिकं चेद् रूपं मूलाभिप्रेतं स्यात् तदा पयोदद्दृष्टान्तो नोक्तः स्यात् पयोदे नीलत्वस्य प्रावृट्कालोपाधिकत्वादित्याशङ्कायां तत्तात्पर्यमाचार्यैस्तस्य धर्मा इत्यारभ्य स्निग्धप्रावृड्घनश्याम इत्यर्थं इत्यन्तेन निरूपितं, तथा चैतद्बोधनार्थं प्राकृतोपमा न त्वौपाधिकरूपबोधनार्थं, अतस्तद्वस्तुनस्तादृशत्वमभिप्रेत्यवोक्तमित्याशयेनाहुर्यस्त्वित्यादि, तथा च तस्य परोक्षत्वात् परोक्षवादत्वेनाप्युपपन्नत्वं ज्ञेयं, अतो निबन्धे यत् प्रकारचतुष्टयमुक्तं तन् नीलरूपत्वसाधनार्थं तत्र तथैव प्रतीतेः, न तु वस्तुस्वभावेन तादृशत्वार्थत्वमत्रेव तत्र कार्यानुल्लेखादित्यर्थः, अत्र स्वकालः को वा विवक्षित इत्याकाङ्क्षायां तद् विवृण्वन्ति स्वकाल इत्यादि, अग्रिम इति, तापनाशकः, एवं मूल इत्यादेस्तात्पर्यमाहुरेवमित्यारभ्य दानमित्यन्तं, तत्त्वेनेति, पुरुषोत्तमत्वेन, श्रीवत्स इतिशेषः, निरूपितमिति, श्रीर्वत्सायस्येति विगृह्य तद्व्याख्यानेनोक्तं, वस्तुत इत्यादि, "उरो वत्सं च वक्ष"श्चेतिकोशाद् वत्सशब्दस्य वक्षोवाचकत्वे वत्सस्य लक्ष्म वत्सलक्ष्म श्रीवत्सं लक्ष्म यस्येतिविग्रहे "वक्षस्यधिश्रितवधू"रित्यादिवाक्याद् वस्तुस्वरूपविचाराद् लक्ष्म्याश्च स्वार्थं चिद्रूपत्वेपि भगवदर्थमानन्दरूपत्वात् तथेत्यर्थः, तर्हि श्रीवत्सस्यात्र मूलभूतब्रह्मत्वं कुत उक्तमित्यत आहुस्तत्रेत्यादि, तथा च प्रतिष्ठाश्रुत्या लीलास्थानत्वमभिप्रेत्योक्तमिति श्रीरूपत्वं ब्रह्मरूपत्वं च न विरुद्धमित्यर्थः, शेषं स्फुटम् ॥ ९ ॥

महार्हेत्यत्र सुबोधिन्यां भक्ताविति, भक्तौ सत्यामित्यर्थः; टिप्पण्यामत्रापि तद्रूप इति, मौलौ किरीटरूपः, अवगम्यते शास्त्रप्रायपाठादवगम्यते, तथात्वमिति, शास्त्राभिज्ञत्वं, तादृश इति, शिष्यनिष्ठभगवद्भक्त्या प्रसन्नः शास्त्रत्रयाभिज्ञो यथा महापौरुषकत्वेन प्रसीदन् छुकस्तथा, उद्दामेत्यत्र, सुबोधिन्यामेवं लोके ज्ञानमिति, शास्त्रीयत्वेन रूपेण लोकेनैकविधतां प्राप्तं भगवद्विषयकं ज्ञानमित्यर्थः, चतुर्भुजमित्यत्र यज्ज्ञानं निरूपितं तदलौकिकमिति ततो भेदज्ञापनायात्र लोकपदं, जनयिष्यन्तीति, कर्मणां सजातीयोत्पादनस्वभावत्वाज्जनयिष्यन्ति, हिंसाप्रचुरापीति, अनेन वैराग्यरूपता स्फुटीकृता बोध्या, शंखगदादीत्यत्रैवात्र वैदिककृतेलौकिकदुःखनिवर्तकत्वात्, तत्र साधनानीति, काञ्चीरूपे वैदिककर्मण्युपकरणानि, अङ्गदानीत्यादि, अत्र बहुवचनं चतुष्टयत्वस्मारणाय, बाहुमध्ये तिष्ठन्तीति, कर्मत्वोपपादनाय, इदमेव टिप्पण्यामिलरयोरित्यादिना विवृतं, समानयोगक्षेमत्वं कङ्कणानामपीति न पृथक् तदुक्तिः, अङ्गदानां सात्त्विकत्वे हेतुमाहुरङ्ग इतीत्यादि, ''कर्मणः सुकृतस्याहु''रितिवाक्याद् विदेहकैवल्यसम्पादकत्वेन सात्त्विकं तदित्यर्थः, तदिति, कङ्कणमित्यर्थः, राजसत्वं च तस्य चलत्वाद् भाति, नन्वेकस्यामेव क्रियाशक्तौ प्रतिष्ठितयोः शास्त्रबोधितकर्मरूपयोस्तयोर्द्वैविध्यं कथं सङ्गच्छत इत्यत आह सात्त्विकेत्यादि, कर्त्रोरितिशेषः, विलक्षणाधिकारिकर्तृत्वेनैकस्य कर्मणो विलक्षणत्वं गीतायां ''नियतं सङ्गरहित''मित्यादिना स्फुटमिति न शङ्कालेशः, तैरिति, शास्त्रोक्तकर्मरूपाभरणैः, तैर्विरोचमानत्वे गमकमाहुर्वेद इत्यादि, हरिवंशे पुष्करप्रादुर्भावसमाप्ताविदं पद्यं, शुक आहेति, दर्शनाङ्कनार्थकमेक्षतेतिपदमाहेत्यर्थः ॥ १० ॥ स्वविज्ञस्य इत्यत्रैतत्सर्वपरिज्ञान इति, दानस्तोत्रस्वाधिकाराणां परिज्ञाने, पूर्वोक्त इति, ईक्षणकर्तृत्वेनोक्तः शुद्धसत्त्वात्मकः, अलभ्यलाभादित्यादि, एतेनार्थितोक्ता, नैमित्तिकमपीति, नैमित्तिकविषयकमित्यर्थः, तादृश इति, समीचीनभ्रमयुक्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ अथैनमित्यस्याभासे प्राकृत एव तस्य संस्कार इति, प्राकृते पुत्रे जाते तस्य पुत्रस्य संस्कारः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तमद्भुतमित्यत्र पुनः शुकोक्तीति, मूलेस्मिन् छ्लोके श्रीशुक उवाचेतिपाठो वर्तत इति ज्ञेयं, दशलीलेत्यस्य टिप्पण्यामाद्यश्लोकस्थविशेषणसंख्ययोरिति, द्वादशसंख्याद्यस्थविशेषणान्यादायैवोक्तेति, तेषु द्वादशसंख्यापि वर्तते परमपर्याप्ता दशसंख्या तु पर्याप्तेतिविभेदः, यथा नवसु पुरुषेषु मध्य एकस्मिन् पुरुष एकसंख्या वर्तते नवसंख्यापि पर्याप्तत्वापर्याप्तत्वाभ्यां परं विभेदस्तथात्रापि, तथा चैतद्विभेदाविवक्षया संख्याद्वयमप्याद्यश्लोकस्थविशेषणेष्वस्तीति संख्ययोरित्युक्तं, सुबोधिन्यां तमित्यस्य विशेष्यत्वात् तमादाय विशेषणेषु दशसंख्या न भवतीत्याशङ्क्याहुस्त प्रसिद्धमिति, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वे स्वरूपमात्रबोधकत्वाद् विशेष्यत्वमेव भवेत् प्रसिद्ध्यर्थकत्वे तु प्रसिद्धिरूपधर्मपुरःसरं बोधकत्वाद् विशेषणत्वमपि, सृष्टिरूप इति, सृष्टिं निरूपयतीति, सर्गलीलाप्रवर्तक इत्यर्थः, अत्र लीलाप्रवर्तकत्वं संख्यातात्पर्येणोच्यते न तु प्रत्येकं विशेषणेषु ता लीला व्याख्यातुं शक्यन्तेतोत्रापि न व्याख्येयमित्याशयेन केचिदित्युक्तं, ननु प्रमाणं 'यतो वाच' इत्यादिभिर्विशेषज्ञानस्य निषेधाददद्भुतत्वज्ञानं कथं भवतीत्याशङ्क्य व्युत्पादयन्तीदं हीति, हि यत इदमद्भुतत्वज्ञानजनकं प्रमेयस्वरूपस्य बलमतः प्रमाणात् प्रमाणबलादतिरिक्तमधिकमित्यर्थः, तथा च पूर्वविशेषणोक्तं सामान्यतो ज्ञानं वेदेनापि भवति तद्विशेषाणामद्भुतत्वादीनां ज्ञानं तु तदधिकेन प्रमेयबलेनैव भवतीतिभावः, प्रमाणतोधिकबलत्वादेवास्य वीर्यरूपत्वमित्याहुस्तदेव हीति, तदेवेति, लौकिकवैदिकानुल्लंघ्यवीर्यप्राकट्ये सत्येवेत्यर्थः, अनेनेति, लोकवेदाप्रसिद्धाश्चर्यरूपत्वकथनेन, तद् रूपमनुग्रहवशात् स्वत एव दृष्टं सदुपपद्यते याथातथ्येन विषयीभवतीत्यर्थः, ब्रह्माण्डेति, ब्रह्माण्डं चतुर्दशलोकात्मकं पादमूलाद्यवयवभेदेन विग्रहो यस्य तादृशो विराड्रूप आध्यात्मिको ब्रह्मेत्यर्थः, ब्रजसम्बन्धिन इति, ''रामाद्या गोपबालका'' इत्यत्रोक्ता बालाः क्रीडायां तेषु मुख्यो भगवानिति, अलौकिकेति, श्रीपदस्य शोभार्थकत्वमभिप्रेत्य चतुर्थो गुणोनेनोक्तः, अम्बुजपदस्य वह्न्यर्थकत्वेन व्याचिख्यासितत्वात् तत्सादृश्यकथनेनालौकिकत्वं शोभाया उक्तं, अम्बुजौ वा सूर्याचन्द्रमसाविति, ''अद्भ्यः प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशती''तिश्रुतेरम्बुजत्वं सूर्यस्यातस्तन्न्यायेन चन्द्रोपि तथा, ईक्षणे इति द्विवचनान्तः, एतावीक्षणरूपौ यस्येत्यर्थः, चन्द्रस्य वामनेत्ररूपत्वमित्यपि पक्षः, अत एव गीतायां स्वरूपदर्शने 'शशिसूर्यनेत्र'मित्युक्तं, तमादायैव नाटकादिषु 'कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने'इत्यादिप्रयोगः, ज्ञानं यस्येति विषयता षष्ठ्यर्थः, यद्विषयकं ज्ञानमित्यर्थः, ब्रह्माण्डे ईक्षणमिति, तदन्तर्वर्तिनी पृथिव्यप्युक्तैव, अतः प्रथमपक्षाद् भेदं सूचयितुमाहुर्नान्यत्रेति, लोकान्तरचिन्तां विहाय पृथिवीमात्रोद्धारार्थं प्रवृत्त इत्यर्थः, एवमन्येप्यर्था ऊह्या इत्याशयेनोक्तं निरूपयितव्येति, कमलनेत्रयोः साधारणधर्मं विशदयितुमाहुर्मध्य इति, दयामृतादय इति, दयया प्रकटं यदमृतं नेत्रनिष्ठो रसस्तदादयो मरकन्दा अत्र स्वरूपे, भवन्तीतिशेषः, तत्सम्बन्ध इति, कमलसम्बन्धे भ्रमरो मधुपो भवति तन्निष्ठमकरन्दपानकर्ता भवति तथा भगवन्नेत्रसम्बन्धे सर्वोपि तद्रसपानकर्ता भवति, भगवान् यं दयया पश्यति तस्य तद्रसास्वादो भवतीतिभावः, एतावदर्थबोधनार्थं प्राकृतैरुपमीयते, तथा च स्वसम्बन्धेन मधुपत्वकरणं साधारणधर्म इत्युक्तं, पक्षान्तरमाहुर्यया वेति, तदा स्वाधारापेक्षयाद्भुतत्वं साधारणधर्मः, शङ्खादित्वं पद्मस्य गदादित्वं चक्रस्य व्युत्पादयन्त्ययं तत्त्वमिति, शङ्ख आदिर्यस्येत्यर्थः, उत्पत्तिक्रमे जलं पृथिव्या आदिरितिभावः, एवं गदादिर्यस्य, वायुस्तेजस आदिरितिभावः, शङ्खगदादीन्येवेति, शङ्खगदे आद्यावयवभूते येषां शङ्खगदापद्मचक्राणां मध्य इतिसमासः, येषामिति, निर्धारणे षष्ठी,

तत्पुरुषाभावान्न समासनिषेधः, क्रमोत्र न विवक्षितः, मूले तु क्रमस्य वक्तव्यात् तत्र ययोरितिद्विवचनान्तेन विग्रहष्टिप्पण्यां व्याख्यातः, तदा ययोरित्यस्य सम्बन्धमात्रं षष्ठ्यर्थः, श्रीवत्सलक्ष्मेत्यत्र व्यावर्तकमिति, क्षरादक्षराच व्यावर्तकमित्यर्थः, अत्र टिप्पण्यामेतावद वाच्यमिति, मूले लक्ष्मत्वकथनादेव किञ्चिदाधिक्यं वाच्यमित्यर्थः, पुरुषोत्तमैकनिष्ठत्वेनेति, क्षराक्षरयोरपि लक्ष्मीस्तिष्ठति परं तत्र तस्याश्चलत्वमतस्तस्या निष्ठा नियता स्थितिः पुरुषोत्तम एवेत्यर्थः, तत्प्रादुर्भवेति, तस्या लक्ष्म्याः प्रादुर्भावस्थानं श्रीवत्सस्तद्रूपम-साधारणधर्ममित्यर्थः, सुबोधिन्यां ब्रह्मानन्द इति, ब्रह्मणोक्षरस्यानन्दः, सच्चिदानन्दात्मकमक्षरं ब्रह्म तन्मध्य आनन्दो लक्ष्मीरित्यर्थः, इदं द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायसुबोधिन्यां स्फुटं, सर्ववेदेति, सर्वे वेदास्तल्लक्षणमक्षरं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, स्वरूपं त्ववाङ्मनोगोचरमिति-भावः, नन्वक्षरस्य पुरुषोत्तमाधारत्वकथनात् पुरुषोत्तमोक्षरे भासते न तु पुरुषोत्तमेक्षररूपः श्रीवत्स इति चेदत्रैवं ज्ञेयं, इदमाधारत्वं न लौकिकगृहादिवत्, तथा सति पुरुषोत्तमस्य तद्व्याप्यत्वं स्यात्, किन्तु मण्डले सूर्यस्येव, यथा सूर्यो मण्डलं प्रतपन् बहिरपि किरणैः प्रतिपत्ति, तदुक्तं "स्वधिष्ण्यः प्रतप"न्निति "गोभिः सूर्य इवातप"न्निति च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां च विवृतं, यथा वायोगोलके वह्निः, यथा वह्निरयोगोलकमन्तर्बहिर्व्याप्य तिष्ठति बहिरपि दाहादिसम्पादकत्वात् तदधिकदेशवर्ती वा तथा भगवान्, तथा च भगवति बहिःप्रकटे लक्ष्यज्ञापनार्थं केनचिदंशेनाक्षरमपि भासते प्रवलेग्नावयोगोलकश्यामतेवेति, अत एवेति, श्रीवत्स-स्याक्षरत्वादेवेत्यर्थः, एतस्य स्वाश्रयत्वादित्यनेनान्वयः, स्वपदेन भृगुस्तदाश्रयोक्षरं ब्रह्मेत्यर्थः, सर्वब्रह्माधारवत इति हेतुगर्भ-विशेषणं, तादृशदेहवान् ज्ञान्यक्षरमाश्रित्यैव तिष्ठतीतिभावः, लक्ष्म्याश्चेति, भृगोः सर्वब्रह्माधारदेहवत्त्वेन ज्ञानित्वाद्‍व्यन्तरेभ्यो विशिष्टत्वाच् छ्रीवत्सस्य तदाश्रयत्वमिति चकारष्टिप्पण्यां च किञ्चेत्युक्तं, स्पर्शसुखाभिव्यक्तिहेतुत्वेन तत्पदस्पर्शे सुखमेव जातमिति भावः, इदं हेतुद्वयं भृगुनिष्ठं स्वाश्रयत्वेक्षरत्वं श्रीवत्सनिष्ठो हेतुरितिविभागः, कयाचिदवस्थयेति, अक्षरब्रह्मण एवावस्थाविशेषो जीव इति काशकृत्स्नमतमनुसृत्येदमुक्तं, स्वरूपभूत इति, अनारोपितमविचारहितं रूपमित्यर्थः, देहादिस्त्वविचारोपितं रूपमिति-भावः, बाह्वादिकं विहाय कण्ठेस्थापनस्य तात्पर्यमाहुः क्रियाशक्तेरिति, मुक्तजीवानामिति, अविचारहितत्वादितिभावः, अत एव सर्वाङ्गेति, स्थलद्वये निरूपणादुभयविधत्वमिति संख्यातात्पर्यमात्रं, तथात्वहेतुभूतामिति, तादृगवस्थोत्पादनेन जीवत्वहेतुभूता-मित्यर्थः, वर्णान्तरं विहाय पीतस्यैवाम्बरस्य धारणे हेतुमाहुराकाशतनोरिति, पीतत्वं व्युत्पादयन्ति पीतत्वमिति, अन्यथेति, सम्बन्धकृतत्वाभाव इत्यर्थः, रूपस्य त्रैविध्यनियमे श्रुतिं प्रमाणयन्ति यदग्नेरिति, सत्त्वसम्बन्धाभावे हेतुमाहुर्व्यामोहिका त्विति, सत्त्वरजस्तमसां नीलरक्तश्वेतरूपता, तथा च सत्त्वसम्बन्धि नीलमपि रूपं प्रतीयेतेतिभावः, पीताम्बरस्य मायात्वं भगवदावर-कत्वादिति ज्ञेयं, तस्य धर्मा इति, नीलवर्णस्य धर्मास्त्रयो निरूप्यन्ते सान्द्रदृष्टान्तेन ज्ञाप्यन्त इत्यर्थः, तान् धर्मानाह सर्वानन्देति, नीलवर्ण एव मेघ एते भवन्त्यतो नीलमेघधर्मा न वर्णान्तरमेघस्य, भगवति जीवनदातृत्वादिना मेघदृष्टान्तः सिद्धस्तस्य सान्द्रत्व-कथनेनैते धर्माः सूचिता इति भावः, भगवानपीत्यन्तेन मेघसाधर्म्यं विवृतं, विशेषमप्याहुः पृथिव्या इति ॥ ९ ॥

महार्हेत्यस्याभासे तत्रेति, भगवत्स्वरूप इत्यर्थः, वेदसांख्ययोगानामिति, तथा च मूले महानर्होनुग्रहो यस्येत्यर्हपदे-नानुग्रहः, वेदसांख्ययोगप्रापक इत्यर्थः, स यस्येति, सम्बन्धमात्रं षष्ठ्यर्थः, उद्दामेत्यस्याभास एवं लोक इति, लोके शास्त्राभिज्ञ-जीवेष्वेवं किरीटकुण्डलत्विट्परिष्वंगप्रकारेण वेदसांख्ययोगसम्बन्धिज्ञानं निरूप्येत्यर्थः, लौकिकानीति, भगवति लौकिकानि कर्माणि न सन्ति किन्त्वलौकिकानि, तानि तु नित्यत्वात् साधनानपेक्षाणीत्यर्थः, साधनानामपि भगवद्रूपत्वसिद्धान्तमभिप्रेत्याहु-रुत्कृष्टानि वेति, अलौकिकानि भगवद्रूपाणीत्यर्थः, "तत् साधनं च स हरिः प्रयाजादिस्रुगादि य"दितिसिद्धान्तात्, अङ्गदानीति, चतुर्भुजत्वमभिप्रेत्य बहुवचनं, तद् भवतीति, तमःसत्त्वरजोरूपाणीति पूर्वमुक्तत्वात् तत् कङ्कणं राजसं भवतीत्यर्थः, विक्षेपवत्त्वा-दितिभावः, अङ्गदकङ्कणयोर्हस्तस्थितितात्पर्यमाहुः सात्त्विकेति, रजउत्पादकत्वाद् भगवतः सकाशाद् विभागहेतुः सत्त्वमपि विभक्ततया स्थापयतीति तद्धेतुरेव तमस्तु भगवति लयसम्पादकत्वात् विभागनिवर्तकमतोङ्गुल्यादिभावेन विभक्तयोः सखण्डयो-र्हस्तयोरङ्गदकङ्कणस्थितिरविभक्तायामखण्डायां कट्यां काञ्चीस्थितिरित्यर्थः, धर्ममार्गवर्तिभिरिति, 'चोदनालक्षणोर्थो धर्म'स्तन्मार्ग-वर्तिभिः, तथा च वेदविहितैर्न त्वविहितैरित्यर्थः, भगवत्सम्बन्धिभिर्भगवत्याभरणत्वेन प्रतीतैरित्यर्थः, भगवान् पूर्वकाण्डे प्रतिपाद्य इत्यर्थः, विशेषणसंख्यायास्तात्पर्यान्तरमप्याहुर्वेद इति, चतुर्ष्वादावन्ते मध्ये चेति स्थानत्रये गीयते, एवं द्वादशविधत्वमित्यर्थः, नन्विति, 'देवक्यां प्रादुरासी'दित्यस्यानन्तरं 'सविस्मयोत्फुल्ले'तिश्लोको वक्तव्यस्तत्र विलोक्येतिपदाद् दर्शनमात्रोपलभ्यं भविष्य-त्येवेति मध्ये श्लोकद्वयेन लौकिकवैदिकैश्वर्यादियुक्तो भगवानिति किमर्थमुच्यते तत्राशङ्कायां सत्यां शुको वसुदेव ऐक्षतेत्याहेत्यर्थः, तथा च वसुदेवस्य तावद्धर्मविशिष्टज्ञानं जातमितिबोधनार्थं श्लोकद्वयमुक्तमितिभावः, ज्ञानसम्पादनप्रयोजनं विवृण्वन्ति पूर्वोक्ताना-मिति, लोकेपि प्रियव्रतादिष्विव कार्यार्थं प्रकटयितुं योग्या ऐश्वर्यादयो लौकिका इत्युच्यन्ते, लोकप्रसिद्धत्वाल् लोके प्रकटयितुमयोग्या निरतिशया वैदिका भगवत्स्वरूपमिव वेदैकसमधिगम्या तेत्रालौकिका इत्युच्यन्ते, तथा च पूर्वोक्तानामैश्वर्यादिधर्माणामुभयविधत्वं सम्भवत्यतो वसुदेवश्चेदुभयविधत्वं न ज्ञास्यति तदाग्रे लीलास्वचिन्त्यैश्वर्यादिकं दृष्ट्वापि प्रियव्रतादिष्विव लौकिकान्येवैश्वर्यादीनि मंस्यते, अतः पूर्वमेव वसुदेवस्य तावद्धर्मज्ञानं सम्पादनीयमित्याहुरथेति, अधुनैव चेत् तावद्धर्मान् ज्ञास्यति तदास्माभिरुक्तमु-भयविधैश्वर्यादिप्रतिपादकं स्वरूपस्य यद् व्याख्यानं विवरणं तदग्रेपि लीलासु ज्ञास्यतीत्यन्वयः, अस्मदुक्तव्याख्यानप्रकारेण लीलास्वैश्वर्यादिकं ज्ञास्यतीत्यर्थः, अतस्तादृशधर्मयुक्तं दृष्टवानिति शुक आह, श्लोकद्वयेनेतिशेषः, वसुदेवस्य तथाज्ञाने प्रमाण-

माहुरेतज् ज्ञानमिति, अर्थोति, निमित्तार्थीत्यर्थः, तस्येति निमित्तस्येत्यर्थः, वसुदेवस्य भगवत्प्रादुर्भावोपेक्षित इत्यर्थः, नन्वधिकारिविशेषणं तु फलकामना न तु निमित्तकामनेत्याशंक्येदं चेति पूर्वमुक्तं, नैमित्तिकं जन्मरूपं निमित्तं प्राप्य प्रवृत्तमित्यर्थः, काम्ये कर्मणि तथैव नैमित्तिके तु जन्मादिरूपनिमित्तकामनैव, यस्य पुत्रजन्माभिलषितं भवति स एव विशेषणदानादिकं करोतीति भावः भगवन्निष्ठ इति, भगवति निष्ठा स्थितिर्येन भगवन्निष्ठतासम्पादकस्तादृशो हर्ष इत्यर्थः। भगवन्निष्ठतां 'युवां मा'मितिश्लोके कारिकाभिर्व्याख्यास्यन्ति, भगवति विषयतासम्बन्धेन निष्ठा स्थितिर्यस्य, भगवद्विषयको हर्ष इत्यर्थः, अत्र 'हर्षः स्नेहात्मक' इति व्याख्यास्यन्ति, तदाहेति, हर्षस्यासाधारण्यं गवामयुतदानेनाहेत्यर्थः ॥ १० ॥

स विस्मयोत्फुल्लेत्यत्र ननु कर्मविद्वत्ताधिकारिविशेषणं न तु निमित्तविद्वत्तेत्यत आहुर्निमित्तज्ञानेनैवेति, एतेनैव कर्मज्ञानमप्युक्तमित्यर्थः, स्नेहात्म इति, स्नेह आत्मनि स्वरूपे यस्य, स्नेहविशिष्ट इत्यर्थः, सुदेत्यस्यावृत्त्योभयत्राप्यन्वयोऽस्पृशदित्यनेनाप्लुत इत्यनेन चेतिज्ञेयम् ॥ ११ ॥

अथैनमस्तौदित्यत्र पुत्रत्वेनाविर्भूतमिति, 'देवक्या'मितिश्लोके प्रद्युम्नप्राकट्यस्योक्तत्वादित्यर्थः, प्रमाणसिद्धमिति, शास्त्रसिद्धं, द्वेष्टुरामुष्मिकानिष्टजननमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तमद्भुतमित्यत्र पुनः शुकोक्तिकथनमिति, श्रीशुक उवाचेत्यनेन कथनमिति साम्प्रदायिकाः, तमद्भुतमित्यस्य विवृतावम्बुजौ वा सूर्यचन्द्रमसावीक्षणे यस्येति, मुण्डकोपनिषत्स्व'ग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो'वित्यनेन सूर्यचन्द्रमसोर्नेत्रत्वकथनात्। 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो'वित्यनेन सूर्यचन्द्रमसोर्नेत्रत्वकथनात्, पीताम्बरमित्यस्य विवृतौ पीतत्वं राजसतामससम्बन्धादिति, ननु "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूप" मितिश्रुतौ रूपत्रयमेवास्तीत्युक्तमतः कथं प्रभोरम्बरस्य पीतरूपमित्याकाङ्क्षायामाहुः पीतत्वं राजसतामससम्बन्धादिति, सत्त्वरजस्तमसां नीलरक्तश्वेतरूपतेति गुणावतारवाक्यैर्निर्णीयत इति तत्त्वदीपप्रकाश उक्तत्वात् रजोगुणस्य रक्तत्वं तमसः श्वेतत्वमुभयोर्मिश्रणे पीतत्वं भगवदम्बरस्येत्यर्थः, पीताम्बरस्य मायारूपत्वं तन्त्र उक्तं, तत्र मायया गुणत्रयात्मकत्वेन सत्त्वगुणस्याप्यपेक्षितत्वेपि व्यामोहकमायारूपत्वान्न सत्त्वगुण इतिगुणद्वयमेवात्रेति ज्ञेयं, तत्र भगवत्सम्बन्ध्यनेकभावोत्पादनाय पीताम्बरे विक्षेपकरजोगुणोस्तीति भक्तानां रजस उपयोगः, भजनानधिकारिणां तु भगवत्स्वरूपाद् विक्षेपोत्पत्तौ रजोगुणकार्यं, स्वरूपसौन्दर्ये भक्तानां मनसो लयार्थं तमोगुणः पीतांवरे बहिर्मुखानां तु भगवत्स्वरूपाच्छादनं तमोगुणकार्यमितिविवेकः, अत एवाग्रे वक्ष्यते "व्यामोहिका माया तथैव भवति लयविक्षेपात्मिके"ति, तथा च सर्वभगवत्सामर्थ्यरूपायां तु सत्त्वगुणोपीतिभावः ॥ ९ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या।

तमद्भुतमित्यत्र दशलीलेत्यादि, दशलीलानिरूप्योयं पुरुषो द्वादशात्मकः द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते, अत्राद्यश्लोके दश विशेषणानि सन्ति द्वितीयश्लोके च द्वे विशेषणे, तेन तात्पर्यं प्रत्येकसमुदायाभ्यामुच्यते, सर्गविसर्गादिदशलीलानिरूप्य इत्याद्यश्लोकस्थसङ्ख्याभिप्रायः, द्वादशात्मक इति समुदितविशेषणतात्पर्यं, द्वादशात्मकमुपपादयन्ति द्विगुण इति, मर्यादामार्गीयमैश्वर्यादिकमेकं द्वितीयं पुष्टिमार्गीयमैश्वर्यादिकं, एवं सत्युभयविधं प्रकटीकृत्य प्रकट इति द्विगुणपुरुषत्वं, प्रकारान्तरमाहुः सर्वषामिति, सर्वषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः, भक्तानां दशप्राणरूप ऐहिकः पारलौकिकश्चेति द्वादशवेतितात्पर्यम्, तामाहुर्ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तक इति, प्रकारान्तरमाहुः सगुणामिति, सगुणां नवधाभक्ति निर्गुणां च प्रवर्तयन् काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्र द्वादशधा मतः, स्फुटं, पुनः प्रकारान्तरमाहुरर्धेन सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायक इति, सर्वप्रकाशकः सूर्यो द्वादशात्मेति, कालात्मा द्वादशमासात्मकः, इन्द्रियनायक इति, भक्तानामेकादशेन्द्रियरूपस्तदिन्द्रियनियामकश्चेति द्वादशात्मा, तात्पर्यान्तरमाहुरात्मेति, आत्मा कार्यं च भूतानि अहंतत्त्वमुभौ त्रयः अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिः स्वयं, आत्मेतिपदेन जीवपरमात्मानावुच्येते, कार्यं महत्तत्त्वं, भूतान्येकविधानि, अहंतत्त्वमहंकारः, उभौ प्रकृतिपुरुषौ, त्रयो गुणाः, अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा, एतेन लीलासम्बन्धिपदार्थसृष्टिरेतत्स्वरूपात्मिकैवेति फलितम्।

अत्रैव श्लोके चतुर्भुजमित्यस्याभासे घातकाविति, घातकौ रक्षकौ चोक्तौ विरोधेप्यतिसंकटे वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा, विरोधेप्यतिसंकटेपि द्वौ भुजौ घातकौ द्वौ च रक्षकौ, हननरक्षणयोरेकत्रैकदाकरणं विरुद्धं तथापि तत् कृतवान्, परीक्षितो लौकिकबीजांशस्य दाहनं वैष्णवांशस्य गर्भस्य रक्षणं तन्मातुश्च, एतदेव सङ्कटरूपमपि, वेदोक्तमिति, कर्मब्रह्मविषयमात्मपरमात्मविषयकं ज्ञानमित्यर्थः, भक्तिरपि सगुणा निर्गुणा च साधनफलरूपा वा, एतेनापि चतुर्भुजकार्याण्युक्तानि। अत्रैव श्लोके मधुसूदन इत्यादि, मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा, चतुर्भुजरूपस्यायुधधारणक्रमभेदेन मधुसूदनमाधवनारायणादयश्चतुर्विंशतिभेदा वैष्णवशास्त्र उक्ताः, प्रकृते क्रमेण शंखपद्मगदाचक्राणि धारयन् मधुसूदनो भवति, किंचित् साम्यमादाय माधवत्वं नारायणत्वं चेति त्रिरूपत्वं, एवं संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपतापि ॥ ९ ॥

महार्हवैडूर्ये 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा आदावन्ते यथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयत इति, अत्र श्रीपुरुषोत्तमा 'हरिवंशे पुष्करप्रादुर्भावसमाप्तावदं पद्यमनेन शास्त्रोक्तकर्मरूपाभरणैर्विरोचमानत्वे गमकमुक्त'मित्याहुः, श्रीवल्लभगोस्वामिनस्तु 'वेद इति वेदादिषु चतुर्ष्वादावन्ते मध्ये चेतिस्थानत्रये गीयत एवं द्वादशविधत्वमित्यर्थः, एतेन द्वादशविशेषणानां तात्पर्यान्तरमप्युक्त'मित्याहुः ॥ १० ॥

बुभुत्सुबोधिका

तमद्भुतमित्यत्र ऐश्वर्येणेति 'ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिण' इत्यैश्वर्यलक्षणम्। अत्रान्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः। अजनः प्रादुर्भून इति। वीर्येति 'वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्छा तेन ततो मह'दिति लक्षणकवीर्यनिरूपणार्थम्। देवे वसुदेवे वीर्यमत्र। अग्रे देवेषु वीर्यं अपि न, किन्तु दैत्येष्विति विपरीतलक्षणयार्थः। पुनः शुकोक्तीति मूलेस्मिन् श्लोके 'श्री शुक उवाचे'ति पाठो वर्तत इति ज्ञेयम्। 'अद्भुत'पदस्मारित 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्वव'दिति तत् प्रपञ्चयन्ति स्म दश लीलेति। अत्र टिप्पणी, ऐश्वर्यस्याष्टविधत्वात् तत्राष्टौ श्लोका उक्ताः। निरूपणीयस्य वीर्यस्य कुतो द्वौ श्लोकौ कुतश्च प्रथमे श्लोके दश पदानि द्वितीयश्लोके च द्वे इत्याकाङ्क्षायां सार्धचतुष्टयकारिकाभिस्तत्तात्पर्यं वदन्तीत्याशयेन व्याकुर्वन्ति स्म विशेषणेत्यादि। अयमिति प्रथमचरणोक्तः। पदेनेति विशेष्येण 'पुरुष'पदेन। अत्र व्युत्पत्तित्रयम्। द्वादशात्मकः उभयश्लोकावशेषणसङ्ख्यातात्पर्यम्। समुदायसङ्ख्यातात्पर्यम्। द्विगुण इति 'द्वादशाङ्गायं पुरुष' इति श्रुतेर्द्वादशाङ्गानां वक्तव्यत्वेनानन्दमात्रकरपादमुखादरादिरूपेपेक्षाबुद्धिजन्यद्वादशत्वाभावाज् जन्यत्वादाहुः मर्यादामार्गीयमित्यादि। पूर्वं पक्षपातादधमाङ्गे ऐश्वर्यादिकं पुरुषोत्तमस्या (=वासुदेवस्यो) च्यते। षट्कभागे भूभारहरणप्रवर्तकं सङ्कर्षणव्यूहरूपम्। वेदधर्मप्रवर्तकमनिरुद्धव्यूहरूपम्। विहितभक्तिः उद्धवद्वारैकादशस्कन्धोक्ता, तत्प्रवर्तकं गर्भस्थवद्धप्रद्युम्नव्यूहरूपम्। ज्ञानवैराग्ययोः प्रवर्तकं वासुदेवव्यूहरूपम्। यशः समुदायेन। 'तस्य नाम महद्यश' इति महानारायणात्। चतुर्व्यूहैः षड्गुणा उक्ताः। इदं रूपं वेदे देवासुरमर्यादया एकम्। वेदान्ते पुष्टिरूपं उत्तमाङ्गे पक्षपाताभावादैश्वर्यादिकं वासुदेवस्य (पुरुषोत्तमस्य) उच्यते। मर्यादाया अपीति पूर्वमैश्वर्यादिकं वासुदेवस्य पुरुषोत्तमस्य वा कारणरूपस्य व्यापारभूतमुक्तम्। अधुना कार्यरूपमैश्वर्यादिकमुच्यते। तथा च पुरुषोत्तमः स्वव्यापारेण वेदधर्मप्रवर्तकानिरुद्धेन पुष्टिधर्मं मर्यादाया अप्युल्लङ्घनं कार्यं ऐश्वर्यरूपम्। तथा स एव स्वव्यापारेण भूभारहरणप्रवर्तकसङ्कर्षणेन पुष्टिधर्मं दैत्यानामपि मुक्तिदानं कार्यं वीर्यरूपं करोति। उभयं ऐश्वर्यादिकं अदेयस्वरूपामृतदानादौ हेतुः। नपुंसकत्वविशिष्टैश्वर्यादिकाभिन्नपुंस्त्वविशिष्टो हेतुरित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्। अदेयस्वरूपामृतदानं ऐश्वर्यकार्यकार्यम्। स एव स्वव्यापारेण विहितभक्तिप्रवर्तकप्रद्युम्नेन पुष्टिधर्मं यशःश्रीरूपं करोति। आदिशब्देन देयस्वरूपदानं वीर्यकार्यकार्यम्। स एव स्वव्यापारेण ज्ञानवैराग्यप्रवर्तकवासुदेवेन पुष्टिधर्मं ज्ञानवैराग्यरूपं करोतीति। समुदितेति समुदितं यच्छ्लोकद्वयं तत्तात्पर्यमित्यर्थः। तेन पुरुषपदे पुरा आसेति पुरमुपेतीति व्युत्पत्तिद्वयम्। पुरि शेत इति तृतीया व्युत्पत्तिर्नास्ति व्यापकत्वादिति बोधितम्। अग्र इति अग्रिमकारिकासु। सर्वेषामितिकारिकायां सर्वेषामितिपदं सङ्कुचितवृत्तिकमित्याशयेनाहुः भक्तानामित्यादि। ऐहिकः पुरुषार्थरूपः पारलौकिकश्चेति द्वादशात्मक इत्यर्थः। तेन 'प्राणस्तथानुगमा'दितिसूत्रोक्तप्राणरूपता। वेदसारत्वात्। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'ति वेदः। तथा ज्ञानक्रियोभययुत इत्यज्ञात्वा लीलाः प्रवर्तयति करोतीति द्वादशधा मत इति ज्ञेयम्। तथा सगुणां नवधाभक्तिं इत्यत्र तात्पर्यार्थं भक्तिं प्रवर्तयन् काण्डद्वयस्यार्थं अभिधेयरूपं ज्ञानक्रियारूपं तनुत इति द्वादशधा मत इति ज्ञेयम्। अत्र कारिकासार्धेनाद्भुतं कर्म 'कर्मैव गुरुरीश्वर' इति सिद्धान्तोक्तम्। बलं चोक्तम्। 'बलं भक्तिरिति सिद्धान्त' इति भाष्यात्। जन्मप्रकरणे द्विधा द्वादशधा सूक्ष्मरूपेण विद्यमानापीदानीं सङ्ख्यातात्पर्यरूपापि। सर्वप्रकाशक इतिकारिकां सार्धां विवृण्वन्ति स्म सर्वप्रकाशक इत्यादिना। तथेति 'कृष्णद्युमणिनिम्लोच' इतिवाक्यात् सूर्यात्मकः। द्वादशस्कन्धे द्वादश सूर्या इत्याश्रयस्कन्धप्रतिपाद्यत्वादाश्रयरूपा द्वादश। स्मार्तसिद्धान्ताप्यत्र। 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् एतैः सर्वैरादित्यमण्डलमेव विधास्यत' इत्यारण्यकात्। कालात्मेत्यादि कारिकांशं विवृण्वन्ति स्म लीलाया इत्यादि। तदवच्छेद इति कालावच्छेदः। एकहायन इत्यादि नात्र कालावच्छेदः स्वरूपातिरिक्तः। इन्द्रियनायक इत्यनेनान्या विधोच्यते सूक्ष्मदेहरूपेत्याशयेनाहुः लौकिकेति। आत्मेतिकारिकां विवृण्वन्ति स्म आत्मपदेनेत्यादि। अन्यदिति आनन्दमात्र इत्यन्यत्। अक्षरं भगवांश्चेति पदद्वयं स्पष्टम्। कारिकांशरूपं च। एतत्स्वरूपात्मिकैवेति भाष्ये फलाध्याये स्पष्टम्। छान्दोग्यीयश्रुतेरेवकारः। 'आत्मतः सर्व'मिति श्रुतिः। एवमैश्वर्यं निरूप्य वीर्यं निरूपयन्ति स्म एवं तात्पर्येति। पूर्वोक्तप्रकारेण। इदमेवेति वीर्यमेव, ऐश्वर्यमेव वा। एवकारस्तु 'वीर्यं मे दुश्चरं तप' इति वाक्यात्। फलितमित्यन्वयः। हरिरिति सुबोधिन्यां प्रतिपाद्यत्वाय कृष्णस्याकारकत्वाय। सुबोधिन्याम्। तत्र प्रथमं दशवेति द्वादशसु विशेषणेषु, दशवेति विशेषणेषु, तमित्यस्य प्रसिद्धार्थकत्वे विशेषणत्वात्। आश्रयार्थकत्वे तु तमिति विशेष्यम्। यादशस्तच्छब्देन परामृष्टः तस्य सामान्यतः स्वरूपमेतेनोक्तम्। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'ति वाक्यात्। स्वरूपलक्षणानीति। 'दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमान्' इति पूर्वाध्यायान्त उक्तत्वात्। तथा 'परः पुमान्' भगवानिति वक्तुं युक्तम्। यथा घट इत्युक्ते कम्बुग्रीवादिमानिति लक्षणविद् वक्ति, न त्वातानवितानवानिति पटलक्षणम्, अनाप्तत्वापत्तेः। एवं वाङ्मनातीते परपुरुषे तत्त्वादद्भुतत्वादिलक्षणानि न। तमिति 'यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि

चोत्तमः अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति वाक्याद् वा। एकं स्वरूपलक्षणं लोकवेदप्रसिद्धत्वम्। 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं तत'मिति लक्षणान्तरसङ्ग्रहायाहुः आश्रयेति। कृष्णाश्रयभूतः। सृष्टिरूप इति 'तदात्मानं स्वयमकुरुते'ति श्रुतावप्यकर्मत्वोक्तेः। केचिदिति विरलाः। मायापसारणादिकमत्रापि ज्ञेयम्। लेखे (प्रकाशे) मतान्तरमाहुः 'सृष्टिरूप इति केचिदिति अत्र युक्त्यलिखनादुक्तवाक्यविरोधाच्च तदसङ्गतमिति बोधित'मिति। श्रीवल्लभास्तु 'सृष्टिरूप इति सृष्टि निरूपयतीति सर्गलीला-प्रवर्तक इत्यर्थः, अत्र लीलाप्रवर्तकत्वं सङ्ख्यातात्पर्यत्वेनोच्यते, न तु प्रत्येकं विशेषणेषु ता लीला व्याख्यातुं शक्यन्ते, अतोत्रापि न व्याख्येयमित्याशयेन केचिदित्युक्त'मित्याहुः। आश्रयत्वं द्वितीयं स्वरूपलक्षणम्। अलौकिकमेवेति लोके भवं लौकिकं, अद्भुतं भवति, 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन'मितिवाक्यात्, परं परिचयात् प्रतीतिविषयं न भवतीत्यलौकिकमेवेत्येवकारः। अलौकिकत्वं तृतीयं स्वरूपलक्षणम्। न तु लोकवेदसिद्धमिति अत्र टिप्पणी 'तमद्भुत'पदयोर्विरोधपरिहरित्री यद्यपीत्यादि। सिद्धमिति तृतीयाष्टके सिद्धम्। 'प्रजापतिरकामयते'ति प्रजापतिपदेन। 'ब्रह्मन् पुंसि चे'ति लिङ्गानुशासनसूत्रम्। अत एव संवत्सरोत्सवः सवत्सरादिः। 'संवत्सरो वै प्रजापति'रिति संहिता। तत्तथैवेति तत् रूपं तथा विरुद्धधर्माधारत्वेन एव। 'उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलव'दिति सूत्रभाष्यादेवकारः। इदमिति लोकवेदप्रसिद्धत्वे सति अद्भुतत्वम्। 'अदि भुवो डुतच्' इति पाणिनीयसूत्रम्। पूर्वेणेति 'त'मिति विशेषणार्थेनेत्यर्थः। सुबोधिन्याम्। ननु प्रमाणे'र्यतोवाच' इत्यादिभिर्विशेषज्ञानस्य निषेधादद्भुतत्वं ज्ञानं कथं भवतीत्याशङ्कय व्युत्पादयन्ति स्म इदं हीत्यादि। हि यत इदम् लोकवेदप्रसिद्धत्वे सत्यद्भुतत्वं स्वेच्छया यदा प्रमाविषयं भवति तदा तस्य बलं भक्तिः स्नेहः प्रमाणाद् 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यस्मात् अतिरिक्तं स्निग्धभगवद्विषयकम्। तथा च पूर्वविशेषणोक्तं सामान्यतो ज्ञानं वेदेनापि भवति, तद्विशेषाणामद्भुतत्वादीनां ज्ञानं तु तदधिकेन प्रमेयबलेनैव भवतीति भावः।

प्रमाणतोधिकबलत्वादेवास्य वीर्यरूपत्वमित्याहुः तदेव हीति। अनुलङ्घ्यमिति उलङ्घनं लौकिकैः दूषणं वैदिकैरप्रमाणीकरणं तद्योग्यं न भवतीत्यर्थः। तदैवेति लौकिकवैदिकानुलङ्घ्यवीर्यप्राकट्यकाल एवेत्यर्थः। अनेनेति लोकवेदाप्रसिद्धाश्चर्यरूपत्वकथने-नेत्यर्थः। दृष्टमित्यनुग्रहवशाद् दृष्टम्। उपपद्यत इति प्रत्यक्षप्रमाणादुपपन्नं भवति, युक्तियुक्तं कुरुतेऽन्योपि। इत्युक्तमिति तथा च श्रुतिः "अन्यदेव तद् विदितादथोऽविदितादधी"ति उक्तमिति तात्पर्यवृत्त्योक्तम्। वाच्योर्थस्तु त्यदादीनां पूर्वोर्थः प्रधानोर्थो वा। त्यदादीनां पूर्वपरामर्शित्वं प्रधानपरामर्शित्वं वा। अद्भुतपदस्याश्चर्यं वाच्योर्थः। बाले बाले क इति 'नैश्चिन्त्यं बाचि पूर्वव'दिति निशीथसूत्र उक्तत्वाद् रोमे 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख'वृत्ते समवायसम्बन्धेन ब्रह्माण्डविग्रहो यस्य, तथा बाले पुरो दृश्यमाने को ब्रह्माण्ड-विग्रहो यस्य जृम्भिष्यतः। यद्वा। 'सर्वं सर्वमय'मिति श्रुतेः तथा। यद्वा। बालब्रह्माण्डयोराधाराधेयभावसम्बन्धमात्रम्। अस्मदादि-रोमशरीरयोः सम्बन्धस्तथा। श्रीभागवते वाक्यमपि। अद्भुतबालकपदयोः सामानाधिकरण्यस्वभावात् सूचितमर्थमाहुः अद्भुत-श्चेत्यादि। बलसम्बन्धिन इति 'रामाद्या गोपबालका' इत्यत्रोक्ता बालाः क्रीडायां तेषु मुख्यो भगवानिति। अद्भुतपराक्रमत्वेनेत्यादि अद्भुतः पराक्रमो वीर्यं तदभेदाद् बालके तत्त्वेन बालकपदेन यशो निरूपितमित्यर्थः। 'यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् स्वधर्मं योजयेत् तेषु तदा भवति नान्यथे'ति लक्षणकम्। 'विमूढा' लौकिकाः अद्भुतबालके बालकधर्मासक्तियुक्ता भवन्त्येव। 'स्वधर्मं' पीयूषरूपम्। चतुर्थं स्वरूपलक्षणमद्भुतबालकत्वम्। लक्ष्मीरीक्षण इति कामपुरुषार्थत्वात् तदीक्षणे लक्ष्मीः, प्रतिबिम्बद्वारा ईक्षणे भवति। सर्वतोक्षित्वाद्वा। अम्बुजौ सूर्याचन्द्रमसौ अपां पुष्पत्वात्, आरण्यके प्रसिद्धम्। ईक्षणे इति द्विवचनान्तं पदम्। पञ्चाग्नीति अत्र 'ह्यापः पुरुषवचसो भूत्वा वदन्ती'ति श्रुतेस्तद्विद्यासाधितरूपस्याम्बुजत्वं बोध्यम्। ज्ञानं यस्येति विषयता षष्ठ्यर्थः। यद्विषयकं ज्ञानमित्यर्थः। सप्तमी तु न भवति। तात्पर्यार्थत्वात्। भोगायतनेति भोगायतनं शरीरम्। कादाचित्की क्रीडा। "प्राप्तं तन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नम" इति श्रीगोस्वामिविज्ञप्तेः। पृथिव्यामेवेति पृथिवी पत्नी पञ्चरात्रशास्त्रे भगवतः। अन्यत्रे-त्यन्तरिक्षे दिवि च। पृथिव्याः प्रकृतत्वात्। पादयोर्दृष्टिरुक्ता न शिरसि न मध्येन्तरिक्षे। अनेकधेति पूर्वोक्तप्रकारेणेति बोध्यम-दृष्टोत्पादकत्वात्। 'श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदी'ति श्रीलक्षणम्। 'सेवका' ईक्षणं इन्द्रियाणि च। अत्रैव ज्ञानं निरूपयन्ति स्म ज्ञानात्मिकेति। तत्रेत्यम्बुजे। दयामृतादय इति अमृतं जलम्। आदिना लक्ष्मीः। तत्सम्बन्ध इति भक्त्या बोध्यम्। प्राकृतैरिति 'लौकिकं नैव मनुत' इतिवाक्यात् पक्षान्तरमाहुः यथा वेति। कमलमेवेति हंसशैवालादयोऽद्भुता भवन्ति तद्योगव्यव-च्छेदायैवकारः। दार्ष्टान्तोपयोगिनो न भवन्तीति। ज्ञानलक्षणं तु, 'ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदी'ति। सर्वो हि भगवद्व्यतिरिक्ते आसक्तः स्वभावात्, स्वभावविजये भगवदयामृतादिमकरन्दमधुपो भवति। तथाऽद्भुतरूपत्वेन नेत्रज्ञानं तद्वान् भवति। इदं गीतोक्तज्ञानपक्षे। स्वयं प्रकाशत्वं ज्ञानत्वमितिपक्षे तु न। अम्बुजेक्षणत्वं पञ्चमं स्वरूपलक्षणम्। चतुर्विधमिति 'क्रिया ज्ञान'मिति पञ्चरात्रमित्याशयेनात्र टिप्पणी प्रमाणेत्यादि। सङ्ख्यातात्पर्यम्। यद्वा। कामः प्रमाणं शृङ्गाररसत्वात्। 'अत्र प्रमाणं भगवा'नितिवाक्यात्। अर्थः प्रमेयम्। धर्मः साधनम्। मोक्षः फलम्। चतुर्व्यूहकार्यम्। निरूपितेति उभयकाण्डार्थौ। ज्ञानं निरूप-यतीति पञ्चरात्रात् कर्म ज्ञानत्वेन निरूपयति। इति नेति जानातीच्छति यतते इति नैयायिकप्रवादात्। स्वयमिति कर्मेन्द्रियाणि। चिद्रूपाणि ज्ञानरूपत्वात्। पूर्णज्ञानजनकानि अद्भुतत्वात्। तेषामिति धर्मार्थकाममोक्षाणाम्। अत्र सुबोधिनी तान्येवेति "चतुर्णां पुरुषार्थानां दानाद् देवश्चतुर्भुज" इति प्रसिद्धेरेवकारः। यद्यत्र तिष्ठति तदन्यस्मै ददातीति तथा। चतुर्भुजरूपेणोच्यन्त इति

चतुर्भुजरूपेण चतुर्भुजाभिरुच्यन्त इत्यर्थः। पुरुषार्था इति सङ्ख्यातात्पर्यं जन्मप्रकरणत्वात्। एवं स्पष्टेति न व्याख्याता। भूतानि वेत्यस्य तात्पर्यमाहुः भगवद्भुजानामित्यादि। तदाधीति क्रियाधिदैविकरूपत्वमपि। तन्मात्राणि गन्धादीनि तद्रूपत्वम्।

अपिना तन्मात्राकार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयरूपत्वं, 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'ति भुजानामाकाशरूपत्वम्। ज्ञाननिरूपण-प्रयोजनमाहुः तेनेत्यादि। तेषामिति ज्ञानरूपकर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। भूतपदस्यार्थान्तरमाहुः जरेति। सङ्ख्यातात्पर्यं प्रकरणात्। उक्तरूपाणीति जरायुजादीनामाधिदैविकरूपाणि। तेन जरायुजादीनां कर्मसिद्धान्ते क्रियारूपभुजामूलम्। अत्र वाक्यम्। 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयत' इत्यादि। भगवान् पुरुषद्वारा स्रष्टा। पुरुषान्तःस्था जरायुजादयः। धर्मादयो दिक्पाला वेति तु 'इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्रा' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् स्फुटमतो न व्याख्यातम्। द्विगुणपुरुषत्वं विवृण्वन्ति स्म पुरुषस्येत्यारभ्या-लौकिकमित्यन्तम्। युद्धापेक्षेति 'कालः कलयतामह'मिति वाक्यात्। अवस्थेति बाल्यावस्था। साधनं स्तनपीडनचरणोत्क्षेपणम्। घातकावितिकारिकायोजना तु चतुर्षु भुजेषु द्वौ द्वौ भुजौ घातकौ रक्षकौ विरोधेप्युक्तौ। च पुनः अतिसङ्कटेपि तथोक्तौ। किञ्च चतुर्भुजपदेन भुजतया वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानमुक्तम्। तथा भगवतो भक्तिरुक्तेति रूपामङ्गीकृत्य तां विवृण्वन्ति स्म घातकावित्यारभ्य रूपा वेत्यन्तम्। विरुद्धमिति सहानवस्थानलक्षणो विरोधः। तथापि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् तद् विरुद्धं कृतवान्। कर्म ब्रह्मेति वेदशब्देन वेदान्तस्यापि सङ्ग्रहे बोध्यम्। वेदान्तासङ्ग्रहे त्वाहुः आत्मपरमात्मेति। आत्मा वेदे। 'कृष्णाजिनं ब्रह्मे'ति श्रुतौ। परमात्मा स्मृतौ। तेनोत्सन्नप्रच्छन्नशाखामूलत्वम्। स्मृतीनामुत्सन्नप्रच्छन्नशाखामूलत्वात्। अत्र द्वयं द्वयं घातकं रक्षकं च। भक्तिरपीत्यत्र सगुणा साधनरूपा च घातिका। निर्गुणा फलरूपा च रक्षिका। मूलेन सकृदुच्चरितेषु पदेषु अद्भुतत्वादनेकेर्थाः 'सर्वं सर्वमय'मितिश्रुतेर्ब्रह्मविषयिण्या उक्तास्ते खले कपोतन्यायेनात्र बोध्याः। वैशिष्ट्येन तं प्रत्येकैकशः स्फुरन्तोपि भगवत्कृपाव-लोकितं सर्वज्ञं प्रति युगपत् क्रमेण वा यथाधिकारं विषयीभवन्तीति न कोपि शङ्कालेशः। चतुर्भुजत्वं न लक्षणं, अम्बुजेक्षणरूप-स्वरूपलक्षणेन्तर्भावात्। 'ज्ञानं क्रिये'ति पञ्चरात्रात्। अग्रिमपदेन वैराग्यं कथमुच्यत इत्याकाङ्क्षायां तद् विवृण्वन्ति स्म वैराग्यं हीत्यादि। सर्वदुःखेति भगवद्रूपत्वात् तथा। तेनेति यद् यज्जनकं तत् तद्गुणकं यद् यद्गुणकं तत् तदात्मकमितिव्याप्तेस्तन्न्याये-नेत्यर्थः। अत्र विरुद्धधर्मौ व्यवस्थयेत्याहुः तेन भक्तेष्विति। वैराग्यलक्षणं तु, 'हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिते'ति 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्य'मिति साङ्ख्यसूत्रोक्तनिर्व्यापारं भक्तिमार्गेनुपपन्नम्। मिथ्याचारत्वस्य गीतोक्तस्यापत्तेः। सुबोधिन्यां शङ्खं तदादिश्चेत्यादि शङ्खादिः पद्मम् 'तदादि'शब्दार्थः। शङ्खं आदिर्यस्येति। आदिशब्दोऽनपुंसकः। शङ्खं च गदा च शङ्खगदे। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः आदिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेन शङ्खगदे आदि श्रुतौ ययोः पृथिवीतेजसोः ते शङ्खगदादिनी। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। तदनन्तरं शङ्खगदादीनि आयुधे यस्येति बहुव्रीहिः। गदादिश्चेति गदा आदिर्यस्याग्नेः स गदादिः। शङ्खादित्वं पद्मस्य, गदादित्वं चक्रस्य व्युत्पादयन्ति स्म अपां तत्त्वमिति। श्रुतिस्तु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायु'रित्यादिस्तैत्तिरीये। इत्येवं स्फुटत्वान्न व्याख्यातम्।

टिप्पण्याम् उक्तरीत्येति लेखे (प्रकाशे) 'दक्षिणहस्तयोरुपरि शङ्खो नीचैः पद्मम्, वामयोरुपरि गदा नीचैश्चक्रम्। अनया रीत्या धारयन् मधुसूदनः, पुराणान्तरे तथाप्रसिद्धत्वात्। मन्दारमधुसूदनादौ १ म. ३ / ४ द. २। तथा दर्शनाच्चेति भाति। एवं माधवरूपेपि, बिन्दुमाधवादौ ३ मा. १ / २ द. ४। तथा दर्शनात्। नारायणस्वरूपेपि वैङ्कटादौ ४ ना. / १ द.। तथा दर्शनाद् भातीति। तथा एवं त्रिवृद्रूपत्वमित्यादिटिप्पणीलेखे (प्रकाशे) "अत्र पूर्वं चतुर्भुजपदविवरणे चतुर्विधकार्यकरणार्थमवतारचतुष्टयकथनेन चतुर्व्यूहत्व-सिद्धावपि यदत्र त्रिरूपत्वेन विवरणं तत् 'शङ्खगदाद्युदायुध'मित्यत्र क्रमेण शङ्खस्य गदायाः 'आदि' पदोक्तस्य चक्रस्य च उत्पदेनोच्चैः स्थापनबोधनादङ्गीकृतमिति प्रतिभाति। त्रिव्यूहकार्यस्यैव बहुशः करणादुक्तं ज्ञेयम्। वासुदेवकार्यस्य गीतोपदेशभीष्ममुक्त्यादौ क्वचिदेव करणादिति भाती"ति। अत्र प्रथमभातीतिपदं एवं शङ्खपद्मेति सुबोधिन्या दक्षिणावर्तनेपि क्रमो नायातीति क्रमेणेति सुबोधिन्या विरोधः, अतोयं क्रमो वासुदेवव्यूहे दक्षिणावर्तने नास्ति। वासुदेवो वेदे पठ्यत इति वेदत्रयीपक्षवत्। व्यूहत्रयपक्षे वासुदेवव्यूहः पुरुषोत्तमः इति हेतोः क्रम उक्तः सुबोधिन्याम्, लेखे (प्रकाशे) तु प्रतिकृतिकानुरोधेनोक्तम्। तद्यथा १ म. ३ / ४ द. २।

द्वितीयभातीति तत्र माधवनिरूपणे तथेति गदाचक्रे दक्षिणयोरब्जशङ्खौ वामयोर्धारकत्वप्रकारेण। तद्यथा ३ मा. १ / २ द. ४। नारायण-निरूपणे तथेति शङ्खाब्जे दक्षिणयोः चक्रगदे वामयोर्धारकत्वेन प्रकारेण। तद्यथा। शं. ना. च. / प. द. ग.। त्रिरूपत्वेनेति त्रिवृन्नारायण इति नैकं पदं नारायणे त्रिवृत्करणस्य वेदादिबाधितत्वात्। प्रतिभातीति, समासस्य सुबोधिन्यामुक्तत्वात् प्रकारान्तरस्य व्यूहेषु युक्तत्वात् प्रतिभाति। ३ अ. २ / १ द. ४। लेखोक्तप्रकारात्। ३ सं. २ / १ द. ४। व्यूहप्रतिपादकत्वेन तद्विरुद्धक्रमाप्राप्तेः। सङ्कर्षणो वेदात्मेति। ३ प्र. ४ / १ द. २।

शङ्खगदादिनी पद्मचक्रे उदायुधे यस्येति टिप्पण्याः। अस्याः शङ्खगदे आदी ययोस्ते शङ्खगदादिनी पद्मचक्रे उदायुधे यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति टिप्पणीफक्किकाया आधुनिकत्वे तु शङ्खगदादय एव उद्यतान्यायुधानि यस्येति सुबोधिन्युक्तविग्रहो द्रष्टव्यः। अग्रे स्पष्टम्। उक्तमिति उपलक्षणविधया व्यूहत्रयपक्षादुक्तमित्यपि। भातीति ४ वा. २ / १ द. ३। पञ्चमस्कन्धे 'श्रीवत्सलता मन्दरवरवनरुहवनमालाछूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षित' मिति वाक्यात्। 'अछूरि' चक्रम्। त्रिधाति व्यूहाश्चतुर्धापि। वासुदेवो धर्मी वेदे। २ वा. ३ / १ द. ४। वेदेऽस्पष्टत्वात् पञ्चरात्रं 'इत्युक्तो ब्रह्मणा देवः शङ्खचक्रगदाधर' इति। पुष्टौ तु विपरीतः क्रमः। ३ वा. २ / ४ वा. १।

अत्र वासुदेवः पुरुषोत्तमो। न व्यूहः। २ पु. १ / ३ द. ४। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निरग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'ति श्रुतेः। अत उक्तं भातीति। तदग्रे शङ्खेत्यादिविग्रहेति टिप्पणी। विग्रहवाक्ये शङ्खगदादय इत्यत्र शङ्खः गदा च शङ्खगदे आदिः आदिश्चेति आदी सरूपैकशेषः। शङ्खगदे आदी च शङ्खगदादयः। परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोरित्यजहल्लिङ्गविषयत्वात्। 'आदि'शब्दो नियतपुल्लिङ्गः। क्वचित् स्त्रियामपि। आदिशब्दे न्यूनपूरणम्, आदिः तदादिः शङ्ख आदिर्यस्य। आदिः गदादिः गदा आदिर्यस्य। न त्वार्थिकमिदम्। अर्थस्यार्थान्तरं विनानुपपत्त्यभावात्। यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र रात्रिभोजनकल्पनमन्तरा पीनत्वानुपपत्तिस्तथात्र नेति। न च वसुदेवदर्शनादार्थिकं तत्र तु न्यूनपूर्णमिति वाच्यम्। दर्शनस्य भविष्यत्वात्। एवकारो स्यादिचतुष्टययोगव्यवच्छेदकः। 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात' इति मायाशबलितस्य नन्दगृह एव सत्त्वात्। अष्टभुजामायासहितस्य उद्यतानीति उत् प्रधानानि तत्त्वरूपाणि यतानि। उत् प्राधान्ये। इन्द्रियेत्यादिसुबोधिन्युक्तं पक्षं व्युत्पादयितुमवतारयन्ति स्म शङ्खाब्जाभ्यामित्यादि। 'अपां तत्त्वं दरवर'मित्यादौ अपां तत्त्वे कारणताशक्तौ भगवन्निष्ठायां दरवरत्वं न तु दरत्वं तच्चेन्द्रियम्। दरवरस्यान्यविधस्यास्याविसर्जनाया ज्ञानाविषयत्वं इन्द्रत्वादिन्द्रसम्बन्धि किञ्चित् तत्त्वमिन्द्रियम्। योगमात्रात् 'सर्वं सर्वमय'मिति सर्वे सर्वार्थवाचका' इति च वाक्याभ्याम्। यद्वा, प्राणपदस्येन्द्रियवाचकत्वमपाति प्राणपोषितमपीन्द्रियम्। तदाहुः प्राणपोषितानीति। कार्येति गतप्राणेन्द्रियाणां कार्यासाधकत्वात्। तादृशत्वादिति प्राणपोषितत्वात्। प्राणेन्द्रसम्बन्धेनेन्द्रियत्वात्। द्वे आयुधे आन्तरमारकौ इत्याहुः तेनान्तर इति। 'दर्पोहङ्कारकः सूर्य' इति विश्वः। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे'ति श्रुतेः सूर्य आत्मा। प्रकृते चेति अवतारे च। पद्मस्य देहरूपता, तां चोपपादयन्ति स्म ब्रह्माण्डेति। उपरीति कंसस्योपरि। तथा भवतीति दर्पहन्तृ भवतीत्यर्थः। तथेति देहरूपत्वमायुधरूपत्वं च पद्मस्येत्यर्थः। एवं दर्पोपमर्दके द्वे उक्त्वा प्राणघातके द्वे आयुधे आहुः गदाया इति। निहन्तीति तम उपाधिमैच्छिकं स्वीकृत्येति बोध्यम्। अतिदेशाधिकरणे प्राणपदवाच्यत्वोक्तेर्ब्रह्मणः। तेजोरूपमिति मन ज्ञाने मनोन्तःकरणमतस्तेजोरूपम्। सात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वाच्च। पक्षान्तरमिति पद्मादेहात् पक्षान्तरमाहुः। इति हेतो 'राकाशशरीरं ब्रह्म'। अन्योपीति वेदान्तादन्यो वैदिकः भावः, 'आप मायासपः सर्वा' इत्यारण्यकोक्तो वात्मभावः। मज्जयतीति जलं कर्तृ। प्रापयन्तीति इच्छाविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाः कर्त्र्यः। तेन न तु छित्त्वेत्यस्याः सुबोधिन्या अयमर्थः। देवासुरान् द्वैधीकृत्वाप्यासुराणां महाभूतपातनं न त्यजन्तीच्छाविद्यादयः। तदुक्तं दशमे नलकूबरमणिग्रीवस्तुतौ 'त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वर' इति चतुर्व्यूहेष्वेकत्वसामानाधिकरण्येपि शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावादायुधेष्वेव देहास्वादीनां कारणेषु देहास्वादिरूपेष्वलौकिकेषु प्रवृत्तिः, देहः असुः आत्मा इन्द्रियाणि च तेषामीश्वरः। आभिरीशिनीभिरीशते इतीश्वरः। यद्यपि सर्वभूतानां देहास्वादीश्वरः तथापि तस्तैरूपैरीश्वरो बोध्यः। अलौकिकत्वाच्च चतुर्णाम्। शङ्खगदाद्युदायुधत्वं षष्ठं स्वरूपलक्षणम्। एवं षड्गुण इति ऐश्वर्यादिगुण एवं 'तमद्भुत'मित्याद्युक्तप्रकारेण भगवान् निरूपितः, न तु तत्त्वादद्भुतत्वादिप्रकारेण। परपुरुषस्य स्वरूपलक्षणलक्षितस्य वक्तुं युक्तत्वात्। वेदे स्मृतौ पुराणे च 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत' इति वाक्यात्। पुनरिति 'हरिः सर्वत्र गीयत' इति वाक्यात् पुरुषस्य द्विगुणत्वात् शङ्ख्यातात्पर्यात् वेदान्तोक्तरूपानन्तरं वैदिकैश्वर्यादेः प्राप्तत्वाच्च पुनरित्यर्थः। श्रीवत्स इत्यादि, अत्र टिप्पणी, अत्रैतावदिति मूले लक्ष्मत्वकथनादत्र विशेषणे ज्ञानक्रियाशक्तिरूपमधिकं किञ्चिद् व्याख्यानं वाच्यमित्यर्थः। लक्ष्म लक्षणं, तज्ज्ञानवत्त्वं लक्षणम्। 'यः सर्वज्ञ' इति श्रुतेः सर्वज्ञानमक्षरम्। अनन्तत्वात्। क्रियावत्त्वं च। जगज्जन्मादिकर्तृत्वं कृतिः। तत्र श्रीः कृतिः। कार्यलक्षणरूपा परम्परया स्वजनकाक्षरद्वारा। 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम' मिति वाक्यात्। अक्षरं 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'। इदं स्वरूपलक्षणम्। तत्र श्रियः परम्परालक्षणभूतायाः 'जन्मा'दिसूत्रे साक्षाल्लक्षणत्वेन प्रतीतेराहुः पुरुषोत्तमेति। अनेन भाष्ये 'ब्रह्मलक्षणं पुरुषोत्तमे तु कृतिः श्रीरूपा परिचायिता अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति वाक्यादक्षरसमावेशमाहुः तस्याश्चेतरेति। लक्ष्मीत्वेनागोचरत्वं भक्तिजज्ञानविषयत्वात्। ब्रह्मानन्दत्वेन तु प्रत्यक्षत्वम्। तत्प्रादुर्भावेति लक्ष्म्याः प्रादुर्भावस्थानं च तत्, असाधारणधर्मः, अक्षरः तम्। धारयतीति तद्द्वारपरम्परया श्रियं च धारयतीत्यर्थः। तद्दर्शनेनेत्यक्षरदर्शनेन। अत्र सुबोधिनी जनकमिति अक्षरमित्यर्थः। व्यावर्तकमिति क्षराक्षराभ्यां व्यावर्तकम्।

ब्रह्मानन्द इति ब्रह्मणोऽक्षरस्यानन्दः। इदं द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये सुबोधिन्यां स्फुटम्। सर्ववेदेति सर्वे वेदास्तल्लक्षणमक्षरं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति। स्वरूपं त्ववाङ्मनोगोचरमिति भावः। धर्माधारत्वं तु अयोगोलके वह्नेरिव। तथा च बहिःप्रकटे

भगवति लक्ष्मज्ञापनार्थं केनचिदंशेनाक्षरमपि स्वानन्दधर्मेण भासते। प्रवलेग्नावयोगोलकश्यामतेवेत्येवं स्फुटेति न व्याख्याता। सर्वात्मकस्येत्यादिसुबोधिनीं विवरीतुमाहुः अस्य मुख्यत्वमित्यादि। साक्षात् सृष्टावुक्त्वा परम्परासृष्टौ पृथिवीस्थं जगत् लक्षणमाहुः यः पृथिव्यामित्यादि। अन्तर्यामिब्राह्मणेऽस्ति। जगत् तथेति कृष्णाश्रयस्यादिपदार्थत्वेन वक्तव्यत्वाज् जगदाश्रयलक्षणमुक्तम्, तथा लक्षणम्। अक्षरमिति सत्यं ज्ञानमनन्तानन्दम्। जन्यमात्रं कालोपाधिः 'जन्यानां जनकः काल' इति अलौकिकसृष्टौ कालापेक्षाया-माहुः चेष्टेति। तथेति लक्षणम्। अक्षरलक्षणेऽनन्तानन्दस्य कालस्यापि निवेशात्। कृष्णाश्रयलक्षणमाहुः आदिपदादिति। लीला-विशेषा दशमस्य विशुद्धयर्थं नवविधलीलाः, देहिष्वसङ्गता लीला वा। अत्रेति मुख्यत्वे। अत एवेतीति मुख्यलक्षणत्वादेव, श्रीवत्स-स्याक्षरत्वादेवेति वा। जातीति ब्राह्मणत्वजातिः, भृगुत्वं वा। तदानन्द इति अक्षरानन्दः। चकारात् सर्वर्षिदत्तविद्याः भार्गवी विद्या च। तद्वतस्तस्येति देहवतो भृगोः। गतिरिति महत्त्वपरीक्षार्थम्। तथेति मुख्यत्वम्। स्वाश्रयत्वादितिसुबाधिनी स्वमक्षररूपभृगुस्तदा-श्रयोक्षरः तत्त्वादित्येव स्पष्टेति न व्याख्याता। प्रकारान्तरेणापि भृगुपदस्य नानुचितत्वमित्याहुः किञ्चेत्यादि। अन्तर्बहिरिति ब्रह्म (प्राण) धर्मवत्त्वात्। तथा ज्ञानेति स्पार्शनप्रत्यक्षस्य ब्रह्मधर्मस्य जनकत्वात्। 'आत्तगजेन्द्रलीला' इति वाक्यात्। स्पर्शसुखं गजेन्द्रस्य प्रसिद्धम्। तथा च स्पर्शजातो भृगुरपि विशिष्ट इति नानुचितत्वमित्यर्थः। इदं प्रकारान्तरेणाप्याहुः स्पर्शेत्यादि। अनु-चितत्वपरिहारायैवमुपपत्तित्रयेण भृगोरक्षरात्मकत्वं तेन श्रीवत्सस्याक्षरात्मकत्वं समर्थितम्। अत्र "अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्न" इति सूत्रेऽजितियोगविभागादच्। सुबोधिन्याम्। अस्मिन् विशेषणे आभासोक्तमैश्वर्यनिरूपणं निगमयन्ति स्म ब्रह्मेत्यादि। ब्रह्मणो-क्षरस्योक्तरीत्या निरूपितेन लक्षणत्वेनैव भगवतोक्षरप्रयोजकत्वरूपं कर्तुं समर्थरूपमैश्वर्यं निरूपितम्। अयमर्थः। 'ईश्वरः पूज्यते लोके' इत्युक्तैश्वर्यलक्षणात् अकारके मूलरूपे 'मूढा' वैचित्र्यं प्राप्तास्तैरक्षरं पुच्छं चरणं वैकुण्ठरूपं वा भगवत्कृतं 'पूज्यते' प्रतिपादन-सौकर्यार्थं अर्हं क्रियते इति। कयाचिदिति अक्षरब्रह्मण एवावस्थाविशेषा जाव इति काशकृत्स्नमतमनुसृत्येदमुक्तम्। वैदिकत्वेन धर्मरूपैकदेशत्वात्। क्रियाशक्तेरित्यादि, अत्र टिप्पणी ज्ञानशक्तीति क्रियाशक्तिर्भुजा, तद्व्यतिरिक्तत्वं ज्ञानशक्तित्वम्। सरस्वती कीर्तनभक्तिरूपा ज्ञानशक्तिः। 'एतद् ज्ञान'मिति गीतायाः। स्थानमित्यस्य विशेषणं प्रभुगुणगानमिति। प्रभुगुणा गायन्तेस्मिन् कण्ठ इत्यधिकरणे ल्युट्। तेन सुबोधिन्यां ज्ञानशक्तिरुत्तमेत्यत्रोत्तमा देहासमारम्भिका। क्रियाशक्तिस्तु देहारम्भिका। 'तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति शारीरब्राह्मणात्। न च पूर्वप्रज्ञाभावः। विद्यात्वेन सत्त्वात्। सुबोधिन्याम्, 'शोभी'ति विशेषणादाहुर्मध्य इति। ज्ञानक्रियाशक्त्योर्मध्ये। अत एव सर्वाङ्गेति जीवानां द्विविधत्वादेव। उभयत्रेति कण्ठे भुजायां च। कण्ठं चेति चकाराद् भुजा। कण्ठ इति अन्यविधं भुजायामिति ज्ञेयम्। 'चेत्यस्य तत्त्व'मितिविशेषणे 'तत्त्व' पदात्। तत्त्वं कारणता-शक्तिः। चेत्यमात्रमन्यत्र। अन्यथा जीवा नोत्पद्येरन्। कर्माभावात्। अत्रार्थे प्रत्यक्षं प्रमाणमाहुः अत एवेति। उक्तचकारार्थात् 'तत्त्व'पददानाच्चैव। उभयेति भगवदंशत्वादितिभावः। जीवा अक्षरांशा इति स्त्रीप्रायत्वात् वीर्यलक्षणं सङ्गतम्। ब्रह्मद्वयेति अक्षरं कयाचिदवस्थयावस्थितं ब्रह्म जीवाख्यं चेति ब्रह्मद्वयम्। तथात्वेति तादृगवस्थोत्पादनेन जीवत्वप्रयोजकभूतामित्यर्थः। प्रदेशविशेषेति यदवच्छेदेन मायासम्बन्धः स प्रदेश अक्षरात्मकचरणः पुच्छं वा तत्र मायासम्बन्धः मायास्मृतेः। सृष्टीच्छा मायाया ज्ञाननाश्यत्व-प्रतिबन्धिका। आकाशशरीरे वा मायासम्बन्धः। पीताम्बररूपत्वं गोपालतापिनीये। निरूपयतीति देहसम्बन्धमर्यादार्थं कारणे निरूपयति। वर्णान्तरं विहाय पीतस्यैवाम्बरस्य धारणे हेतुमाहुः आकाशतनोरिति। एवेति सायं प्रातराकाशे सिन्दूरादिवर्णसम्भवेपि न तादृशी शोभेति भावः। पीतत्वमित्यादि तामसमाकाशीयकृष्णं रूपं सजलवालुकासु राजसं सूर्यातपरूपं रोहितं तयोः सम्बन्धात् संयोगरूपात् पीतं रूपं प्रसिद्धं लोके। इदं भास्वरशुक्लकं रूपम्। रूपाणां त्रैविध्यात्। यद्वा, पीतमम्बरं यस्येति विग्रहे पीताम्बर-रूपा माया सा तु ज्ञानकाशेति ज्ञानं विषयाविनाभूतं पीतं चाम्बरं वेति संशयात्मकं राजसं ज्ञानं तमोरूपमायायाः पीतत्वांशे सत्त्वात्। तथा पीतमम्बरमिति भ्रमात्मकं तामसं ज्ञानं शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञानवत्। ननु रविकरा एकादशाङ्गुलसूर्यबिम्ब-स्योदयास्तं गच्छतस्तन्निष्ठनारायणस्य भवन्तीति राजसतामसत्वं कथं नारायणस्य सात्त्विकत्वादिति चेन्न। तमसः पारे विराज-मानस्य द्वितीयस्कन्धोक्तसत्त्वादिषु मायारूपपीताम्बरे सत्त्वस्यानुपयोगाद् द्वितीयतामसराजससम्बन्धग्रहणात्। अन्नस्येति पृथिव्याः। 'पृथिवी वा अन्न'मितिश्रुतेः। सत्त्वसम्बन्धाभावे हेतुमाहुः व्यामोहिकेति। तथा च सत्त्वसम्बन्धे नीलमपि रूपं प्रतीयेतेति भावः। लयेति भगवति दृष्टेपि विषयेषु मनोलयः विषयत्वेन भगवद्ग्रहणात्। चित्तविक्षेपोपि भवति। सुवर्णग्रहणे। आकाशे तथा दर्शनात्। तेन मायाप्राबल्यम्। चिक्रीडिषया। पीताम्बरमित्यनेन यशो निरूपितम्। 'यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणा'-दित्युक्तलक्षणकम्। कारागृहे श्रीवसुदेवस्य वैचित्र्यसम्भवात् मूढानां प्रत्यक्षे स्वमोचनादिविषयकज्ञाने आसक्तिवारणात् 'स्वधर्मं' दिव्यचक्षुरादियोजनाल्लक्षणसङ्गतिः। सान्द्रो हीत्यादि 'सान्द्रं घनकाननयोर्मृदा'विति विश्वः। घनकाननमृदावर्थे। सान्द्रपयोदस्येव सौभगं कान्तिर्यस्य स तथोक्तः, तमित्यत्र सौभगपदार्थमाहुः परमानन्दस्येति। ननु परमानन्दः कालः प्रद्युम्नो वात्रेति चेन्न। 'कालदेहः प्रद्युम्नः' इत्युक्तम्। काल आनन्दमय इति कालविशेषणं परमानन्दस्येति। पूर्वमिति अत्र टिप्पणी पूर्वमिति निबन्ध इति शास्त्रार्थनिबन्धे। रूपवद् द्रव्यमिति रूपविशिष्टं द्रव्यम्। रूपद्रव्यमाकाशम्। नीरूपो नील आकाश इति रूपं द्रव्यमिति कर्मधारयः। तथेति चक्षुः कर्तृ। अतिगाढमिति दृढम्। यथा गाढं जलं नीलं वियति विक्षेपे शुक्लम्। अतिगाढमप्यगम्भीरं छिन्नरं जलं शुक्लं भवतीति गम्भीरतयाऽगाधतयेत्युक्तम्। आकाशेन नीलरूपत्वमुक्तम्। कालेन नीलरूपत्वमाहुः तत्तद्युगेति। तादृक्त्वादृगिति 'कृते

शुक्लश्चतुर्बाहु'रिति 'आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोनुयुगं तनू'रिति च ताद्दक्ताद्दग्रूपत्वात्। तत्तदिति स्फटिके जपाकुसुमारुणिमेव। भूम्या नीलरूपत्वमाहुः भूमेर्नीलेति। 'यत् कृष्णं तदन्नस्ये'तिश्रुतेः। वैकुण्ठेन नीलरूपत्वमाहुः शुद्धस्येत्यादि। अयं च प्रकारो निबन्धे त्रुटितः। उपलक्षणविधया व्याख्यातो ज्ञेयः। तदेव स्फुटीकुर्वन्ति अथवेत्यादिना। अंशावतारेत्यादि आकाशनीलः अंशस्य जीवस्याक्षरस्य, कालनीलः अवतारस्य अध्यायार्थस्य, 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्ध' इति देहविषयश्च भूमिनीलः विभूतिरूपव्याहृतेः, वैकुण्ठनीलः अवतारस्य लोकरूपस्याक्षरस्य, तथा च अंशः अवतारः विभूतिरूपं अवतारश्चे'ति द्वन्द्वः, एते विषया यस्य तत्त्वात् अस्य प्रकारचतुष्टयस्य। निरूपयिष्यत इति यथा 'इदानीं कृष्णतां गत' इति, कृष्णता स्वाभाविकी, अन्यतिरोभावेन यथा जाते चिदंशः प्रधान इतरयोस्तिरोभावः, तथा च 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति सिद्धान्तोक्तशुद्धसत्त्वनीलो वास्तविक इत्युक्तम्। तस्य धर्मो इति सुबोधिनी 'नीलवर्णस्य धर्मो' इत्येवं स्पष्टार्थेति न व्याख्याता। यस्तु स्वकाल इत्यादि सुबोधिनीं व्याख्यातुमाहुः यस्तु स्वकाल इत्यादीनि। जन्मप्रकरणे भगवतः फलत्वात् फलांशे परोक्षवाद इति फलांशे परोक्षवादमाहुः परोक्षवादत्वेनापीति। अत एवेति लीलाकालस्य पारोक्ष्येण विवक्षितत्वादेव। अन्यथा प्रावृट्काल इति वदेयुरिति भावः। अन्नोत्पादक इत्यस्य परोक्षवादः। नूतनरसोत्पादक इति 'दिनान्त' इति पदात् तथा। आदिनान्यदपि। अग्रिम इति तापनाशक इत्यस्य परोक्षवादः स्पष्टः। सान्द्रः पयोद इति तस्येव सौभगं यस्येति ज्ञेयम्। एवमेवेत्यादिसुबोधिनीतात्पर्यमाहुः एवमित्यादिनेत्यादिना। अनेन प्राकट्यनिमित्तभक्तदुःखनिवारकधर्मस्य सर्वोनिष्टेत्याद्युक्तस्य वसुदेवकर्तृकदर्शनविषयत्वमुच्यते। स्वतोऽविषयत्वात्। विशुद्धसत्त्वात्मकत्वेपि वसुदेवस्य 'न वत्राथेपवर्गं मे मोहितौ मम मायया' इति वाक्ये मोहकथनात्। अतो 'देवभोग्या सुवे'यम्। द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'विषयते'त्युच्यते। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति ब्रह्मणः पादत्वमुक्तम्। भृगोर्ब्रह्माधारवतोत्र पादः प्रतिष्ठित इत्युक्तम्। पादः पृथिवी। भुवनत्रयपक्षे। एवं च श्रीवत्सो ब्रह्म, पाद इति यावत्। उपपादयन्ति स्म पुरुषोत्तमेति। तत्त्वेनेति अक्षरवत्त्वेन। मूलकारणेति 'अक्षरात् सौम्य विविधाः भावाः प्रजायन्त' इति श्रुतेरक्षरः श्रीवत्सः। अत इति शेषः। तस्येति श्रीवत्सस्य। नैतावता 'श्रीवत्सलक्ष्म'मित्यत्र साक्षाच्छ्रियः लक्ष्मत्वं येन पृथिवीविषयि ज्ञानं तद्विषयणीच्छा तदनु पृथिवीप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम्। वक्तुः शुकस्येच्छा वा पृथिवीप्रतीतिविषयिणी न स्यात् तात्पर्यरूपा। तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। वक्तुरिच्छा वा तात्पर्यम्। अत आहुः वस्तुतस्त्विति। स इति श्रीवत्सः। अन्यथा श्रीर्यथा तपः कृत्वा वक्षःस्थानं प्राप्ता तथा भूमिः हिरण्यगर्भद्वारा सर्वोनिष्टनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टकर्तारं प्राप्तेति प्रतीतीच्छया वक्तुरिच्छया वा 'श्रीवत्सलक्ष्म'मिति विशेषणं नोक्तं स्यात् श्रीशुकेनोक्त 'भूमिर्दृप्तनृपव्याजे'तिप्रसङ्गेन। जानातीच्छति यतते इति नैयायिकोद्घोषात्। 'यन् मनसा ध्यायति तद् वाचा वदती'तिश्रुतेः। किञ्च, स्वरूपलक्षणवाधितं श्रीघटितं लक्षणं न ब्रूयाच्छुकः। गौणमुख्यन्यायेनाप्याहुः ब्रह्मानन्दरूपत्वादित्यादि। तद्रूपमिति ब्रह्मानन्दरूपम्। 'उरो वत्सं च वक्षश्चे'ति कोशाद् 'वत्स'पदं वक्षो वाचकं तत्पक्षे लक्ष्मपदासङ्गतिः। श्रौतेन स्वरूपलक्षणेन विग्रहप्राप्तेनास्य विग्रहस्य बाधात्। एवं 'श्रीवत्स'पदे व्याख्यातब्रह्मरूपायाः भृगोः पादरूपायाः पृथिव्याः सर्वानिष्टनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टकर्तृत्वमुक्तम्। 'गलशोभिकौस्तुभ'मित्यस्य विशेषणस्य तात्पर्यं स्वर्गस्य सर्वोनिष्टेत्यादावाहुः कौस्तुभव्यपेति। तथेति व्याहृतिरूपभगवतो द्यौः शिरः अतः स्वर्गस्य सर्वोनिवृत्तीत्यादौ तात्पर्यमित्यर्थः। तेन कौस्तुभव्यपदेशेनेत्यादिवाक्यज्ञानवतः शुकस्येच्छातात्पर्यलक्षणघटिका बोध्यात्र। 'पीताम्बर'मितिविशेषणस्य तात्पर्यं धर्मस्य सर्वोनिष्टेत्यादावाहुः भूरूपेति। नरको हि धर्मग्लानिजकः भूस्थः तस्यावरणे ग्लानिनिवृत्त्या तथात्वं धर्मस्य सर्वोनिष्टेत्यादौ तात्पर्यमित्यर्थः। अत्र 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह'मितिगीताज्ञानवतः शुकस्येच्छातात्पर्यलक्षणघटिका बोध्या। 'सान्द्रपयोदसौभग'मिति विशेषणस्य तात्पर्यं भक्तानां सर्वोनिष्टेत्यादावाहुः प्रावृड्घनेति। सुबोधिन्याम् ,सर्वत्रेत्यादि, अग्रे हेतुः प्राकृतेति। सान्द्रपयोदोपमा ॥९॥

महार्हेत्यत्र वीर्यक्रीडां धारयितुं श्लोकार्थं स्मारयन्ति स्म एवं मूलभूत इति। एवं श्रीवत्सलक्ष्मलक्षणे 'तमद्भुत'मित्याद्युक्तमूलभूते ब्रह्मणि 'वस्तुतस्त्वि'त्यादिटिप्पण्युक्तदिशा ब्रह्मानन्दे स्थित्वेत्यर्थः। 'गलशोभिकौस्तुभ'मित्यस्यार्थमाहुः स्वांशानिति। पीताम्बर'मित्यस्यार्थमाहुः भूमिष्ठानिति। व्यामोहः पीताम्बररूपमायाधर्मः। 'सान्द्रपयोदसौभग'मित्यस्यार्थमाहुः तेभ्य इति। अनुगृहीतेभ्यः प्रमेयबलेन। चतुर्विधेति भुजाभिप्रायेण। तत्रायुधेषु पृथिव्याः स्वभार्यायाः भारदूरीकरणेन कामः धर्मो वा गदया स्थापितः, अस्त्रतेजः स्वगदये'ति वाक्यात्। 'गदा सा कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिवर्हणी'ति उपनिषदि। पद्मेन स्वदेहरूपेण तु कंसतृणावर्तादौ भुवनभारदानात् अर्थः। शङ्खेनापां सत्त्वेन सर्वशुद्धया कामः। अद्भिः शुद्धिः प्रसिद्धा। चक्रेण मोक्षः। 'ये ये हताश्चक्रधरेण राज'न्निति वाक्यात्। तत्रेति भगवत्स्वरूपे। सर्वशास्त्रेति वेदवेदान्तयोः। ज्ञानक्रिये। साङ्ख्यादिषु प्रकारभेदः। सांख्ययोगयोः असङ्गत्वम्। पञ्चरात्रे चतुर्भुजत्वम्। पाशुपतशास्त्रे पशुपतित्वमिति सर्वशास्त्रै रूप्यन्तेऽभेदेन व्यवह्रियन्त इति सर्वशास्त्ररूपाणि शब्दार्थरूपाणि। ज्ञानवैराग्येति ज्ञानत्वं स्वरूपात्मकत्वात्, किरीटादीनाम्। भक्तैः सह निगूढभावकरणे उपयोगात् वैराग्यं तदितरेषु। यशःश्रीवाचकपदाभावात् तन्नोक्तम्। ताद्दशवैडूर्येति राहुरूपम्। सप्तग्रहाङ्गीकारपक्षे द्वयाभावमाशङ्क्योक्तं उपलक्षणविधया केतुरपि। रत्नं पद्मरागः। त्विषेति राहुकेतुत्विट्स्वरूपोपाधिकी। 'स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं विरोचयन्त'मिति वाक्यात्। अत्र द्वितीयनवमाध्याये तत्र तमोनिषेधात् समाकर्षाधिकरणोक्तकृष्टार्थस्तमःपदस्य विवक्षितः। वसुदेवस्तत्र स्थित ऐक्षत एव पुनस्तत्कथनेन योर्थोद्भुतरूपस्तमाहुः परिष्वक्तानीत्यादि। किमेतावता तत्राहुः भगवन्मुखनिरीक्षका इति अत्र टिप्पणी अत्रापि

तद्रूप इति मौलौ किरीटरूपः। अवगम्यत इति शास्त्रप्रायपाठादवगम्यते। तथात्वमिति शास्त्राभिज्ञत्वम्। यद्वा, तेषां कुन्तलानां तथात्वं भगवन्मुखनिरीक्षकशास्त्राभिज्ञजीवत्वम्। वृत्तिस्तु तात्पर्यरूपा। अयुक्तेति भक्त्यभावादयुक्ता भगवन्मुखेति भक्तिरूपभगवन्मुखेत्यादिः। भक्तिज्ञानमात्रं भक्त्योक्तम्। सुबोधिन्याम् भगवन्मुखामोदेति भक्त्यामोदतज्जनकसाधनशास्त्राणि तेषां पानं समवधारणं पानम् अनुभवार्थमन्तःप्रवेशनं तत्र रता इत्यर्थः। 'पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाती'तिश्रुतेर्भक्त्यामोदः। भक्ताविति मुखारविन्दरूपभक्तौ सत्याम्। अन्यदा तु अपरितः। चकास् दीप्तौ। अथ वैराग्यसाङ्ख्ययोगे तु ज्ञानं फलं निबन्ध उक्तम्। दैवगत्यानुग्रहेण भक्तौ तु फलभक्तिरूपभगवन्मुखामोदपानरताः तद्गताः सारूप्यमुक्तिं प्राप्ताः कमलगताः षट्पदा इव भवन्ति। टिप्पण्यां फलमिति मुखारविन्दसायुज्यं सारूप्यमुक्तिगतानाम्। वेदसाङ्ख्ययोगानामितिसुबोधिनीं विवृण्वन्ति स्म अर्हस्येत्यादिना। शिष्यनिष्ठभगवद्भक्त्या प्रसन्नः शास्त्रत्रयाभिज्ञः। तादृश इति यथा महापौरुषिकत्वेन प्रसीदन् शुकस्तथा। तथोक्तमिति वैडूर्यरूपेणोक्तम्। महार्हत्वेन वैडूर्यं निरूपितं वा। इदं चेति भगवन्मुखामोदपानम्। तथा विशेषणमिति 'महे'तिविशेषणम्। उक्तसायुज्ये काममार्गीयकामप्राप्तेस्तत्र स्थितिरयुक्तेति भक्तिशाबल्यमाहुः कुन्तलानामिति। भक्तिप्रेति 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इतिवाक्यात्। सुबोधिन्याम् शास्त्रिणां मुक्त्यनन्तरं षट् शास्त्राण्याहुः वेदे काण्डद्वितयमिति। षट्पदत्वार्थमुक्तम्। 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्वतैरुपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मज'मित्यत्र द्वे शास्त्रे, अन्यत्र वेदान्ते भेदाभावरूपमद्वैतमिति साधनेन मुक्त्यनन्तरम्। सात्वते मुख्यतया विष्णुशिवपरत्वमिति साधनेन मुक्त्यनन्तरम्। टिप्पण्याम् एतेष्वेतानीति। मुक्तजीवेषु एतानि त्रीण्येव तानि षट्पदानि। तत्प्रयोजकमित्यादि कुन्तलानेकत्वप्रयोजकम्। आक्षेपोऽर्थापत्तिः। लौकिकज्ञानेत्यादिसुबोधिनी तु स्कन्धार्थानुस्यूततया लौकिकज्ञानं शास्त्रत्रयोत्थं प्रपञ्चसम्बन्धि शास्त्रीयत्वेन रूपेण लोकेऽनेकविधतां प्राप्तं भगवद्विषयकं ज्ञानम्, तद्विस्मरणे प्रपञ्चविस्मृतिर्जाता, तत्पूर्वकभगवदासक्तिः परिपूर्वकष्वञ्जधातोरर्थः। तु० आ० अनि० ष्वञ्जिः। भगवतो निरोधस्तु वर्तते एव। लोके ज्ञानमिति शास्त्रत्रयोत्थं लोके ज्ञानं 'महार्हवैडूर्यकिरीटकुण्डलत्विषे'त्यनेन निरूप्य ज्ञानक्रिययोः काण्डार्थयोः द्वितीयं निरूपयतीति स्पष्टार्थेति तां विहाय कर्माण्यनन्तानीत्यादिसुबोधिनीं विवृण्वन्ति स्म त्रयाणामित्यादि। दशगण्युक्तकर्मणां भ्वादेराकृतिगणत्वेन बहुविधत्वेपि पुराणे मायायाः व्यापारत्वेन तस्या गुणत्रयसाम्यावस्थारूपत्वेन गुणत्रयकार्येषु गुणत्रयरूपकर्ममुख्यत्वं, तत्र द्रव्येषु कर्मत्वं कथमित्यत आहुः भूमावेवेति। तद्रूपकस्त्यामिति 'कर्ता कर्म च करणं च त्रिविधः कर्मसङ्ग्रह' इत्यत्र कर्तरि पञ्चविधे'धिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्, विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्, तत्रैवं सति कर्तारं आत्मानं केवलं तु यः पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति'रित्यधिष्ठाननिवेशात् कर्मरूपकस्त्यामित्यर्थः। एकरसत्वाद् युक्तम्। द्रव्यत्वेपि वेदान्ते। प्रतिष्ठितत्वेनेति पूर्ववद् द्रव्यत्वेपि कर्मत्वं वेदान्ते। सुबोधिन्याम्। जनयिष्यन्तीति कर्मणः सजातीयोत्पादनस्वभावत्वाज्जनयिष्यन्ति। काञ्च्यां अद्भुतत्वं तमोरूपत्वं चाहुः लोके काञ्चीति। उद्दामेति 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्न' इत्यत्राजिति योगविभागादच्। प्रतिसाममित्यादिवत्। टापि उद्दामा। हिंसेति हिंसाप्रचुरं कर्म तामसम्। तामस वं द्वितीयनवमाध्यायसिद्धान्तविरुद्धं मत्वाहुः न लोकेति। लौकिकदुःखनिवर्तकत्वात्। अनेनाभासोक्ता वैराग्यरूपता स्फुटीकृता। लोकदुःखनिवर्तकत्वं वैराग्यम्। हरेरपि हरित्वे वैराग्य उत्कर्षः। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णसंज्ञं वैराग्यमर्थात् सिद्धम्। तत्रेति काम्यकर्मसु। तानीति कर्माणि। नित्यकर्मसङ्ग्रहायाहुः उत्कृष्टानि वेति। अलौकिकानि नित्यानि भगवद्रूपाणि। तत्र निरूपितानीति काञ्च्यां वैदिककर्मणि उपकरणानि। 'तत्साधनानि स हरिः प्रयाजादिस्रुगादि य'दितिसिद्धान्तात्। अङ्गदानां सात्त्विकत्वे हेतुमाहुः अङ्गं द्यतीत्यादि। न च तामसत्वम्। दो अवखण्डने इति धातुपाठेऽवखण्डने शक्तेः। सात्त्विकबाह्वंशेवस्थानात्। भगवतः फलत्वेनाद्यमनोरथस्य सिद्धत्वात् साध्ये आद्यमनोरथे पूर्वदेहावखण्डनेऽङ्गदं सात्त्विकं फलम्। 'यत् तदग्रे विषमिव परिणामेमृतोपमम्। तत् सुखं सात्त्विकं विद्यादात्मबुद्धिप्रसादज'मिति गीतायाः। इति हेतोः सात्त्विकं भवतीति शेषः। 'अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन् मनोरथ' इति सेवाफलग्रन्थे। कङ्कणं निरूपयन्ति स्म राजसं तदिति। कङ्कणम्। राजसं कर्मबहुलं कङ्कणम्। सात्त्विकराजसयोरिति यावत्पर्यन्तं कङ्कणचलनं बाहौ तावद् राजसं कङ्कणं बाहुश्च। अङ्गदस्थानापेक्षया कङ्कणस्थाने कर्मबाहुल्यात् तद्भिन्नं सात्त्विकं स्थानमङ्गदस्थानम्। एवं च सात्त्विकराजसयोरेकबाह्वोरंशद्वयोरित्यर्थः। भेदरूपा मायात्र कृपा। अन्यस्या निषेधात्। कृपायां गुणत्रयं द्वितीयस्कन्धोक्तम्। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते तदादायाहुः अङ्गदस्थानीयानीति अन्यानीति अङ्गदोत्तरं सम्बद्धादिशब्दार्थः। काञ्चीसम्बद्धादिशब्दार्थमाहुः क्षुद्रघण्टिकेति। 'आदि'शब्देन चरणभूषणानि। धर्ममार्गेति प्रभुबाहवो धर्मरूपाः क्रियारूपत्वात्। वसुदेवज्ञानमिश्रीभावे मार्गत्वम्। भगवद्धर्माणां क्रियारूपाणाम्। अन्यथा भगवद्धर्मत्वमेव। एकादशसुबोधिन्यां तथोक्तेः। तद्वर्तिभिः। तेन क्रमेण वसुदेवदर्शनविषयत्वं 'तमद्भुत'मित्यादिविशेषणोक्तानामर्थानाम्। भगवद्रूपाणां जन्मनि सङ्ख्यातात्पर्यमावश्यकमिति तद् वदन्त एव जन्मप्रकरणव्यतिरिक्तस्थले 'यतो वाच' इति श्रुते 'स्तमद्भुत'मित्यादिकथनं युक्तमित्याशङ्क्य तत्र गमकमाहुः वेद इत्यादि। तथा च जन्मप्रकरणेपि हरिरेव नारायणस्तत्समानयोगक्षेमत्वात् कृष्णोपि। हरिवंशे पुष्करप्रादुर्भावसमाप्ताविदं पद्यम्। तथापि नारायणपरमिति वेदपुराणसम्मतम्। किमर्थमिति श्रीभागवतत्वेपि शब्दत्वात् प्रत्यक्षामूलत्वे किमर्थमित्यर्थः। यतो वेदेपि ब्रह्मण आर्षं वर्तत इति किमर्थमुच्यत इत्यर्थः। तत्पूर्वोक्तानामिति ते पूर्वोक्ताधर्माश्चेति द्वन्द्वः। अलौकिकत्वमिति अद्भुतत्वसमानाधिकरणम्। वसुदेव

इति भगवदधिष्ठानं ज्ञानरूपः । मंस्यत इति लोकः । उभयार्थमिति लौकिकालौकिकत्वार्थम् । शुक आहेति दर्शनाङ्कनार्थकमैक्षतेतिपद-माहेत्यर्थः । वसुदेवस्य तत्समये तथाज्ञाने प्रमाणमाहुः एतद् ज्ञानमिति । तथा च प्रमेयबलमिदमिति भावः ॥ १० ॥

स विस्मयेत्यत्र भगवन्तमिति अङ्गदप्रधानमिति बोध्यम् । शुद्धसत्त्वात्मक इति विशेषणं कर्मानर्हदेहव्यावर्तकम् । साङ्ग-दभगवदनुभावेन कर्मार्हदेहोत्पादनम् । तेन शुद्धसत्त्वात्मको जातः । तत्कार्ये इच्छाद्वारा क्रिया । यदा तु शुद्धं सत्त्वं न ज्ञानं तदा साक्षाज्ज्ञानं च । कारागृहे क्रियाज्ञानप्राकट्ये हर्षो हेतुः । हर्षे पुत्रजन्म हेतुः । कर्मणीति जातकर्मणि । एतस्यैव विवरणं आसमाप्ति । इदं कर्म यथाकालम् । न मुख्यं हर्षहेतुकम् । अर्थीति भगवत्प्रादुर्भावार्थी । गीतायामर्थार्थी । विद्वदादयोग्रे स्पष्टाः । नैमित्तिकमिति नित्यकाम्यनैमित्तिकेषु कर्मसु । कारागृहे कर्मबाधादाहुः तस्येति । जातकर्मणः । भगवन्निष्ठ इति भगवति निष्ठा स्थितिर्भक्तिर्वा येन स तथोक्तः । 'स विस्मये'त्यत्रोत्फुल्लं विस्मयो हेतुस्तज्ज्ञाभाय स इति भिन्नं पदम् । एतन् सर्वेति दानस्तोत्रस्त्राधि-काराणां परिज्ञाने । पूर्वोक्त इति ईक्षणकर्तृत्वेनोक्तः शुद्धसत्त्वात्मकः । अलभ्यलाभादित्यादि एतेनार्थितोक्ता । विस्मय आश्चर्यम् । पूर्वमिति 'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् प्रकृतेः परः जनिष्यत' इति वाक्ये श्रुतम् । विद्वत्ता सुतविषयकज्ञानवत्ता । गीतायां ज्ञानी । ननु कर्मविद्वानधिकारी, न तु हर्षद्वारा निमित्तसुतं विद्वानित्यत आहुः निमित्तज्ञानेनैवेति । निमित्तं सुतं तज्ज्ञानेनैव, न तु पृथक्तया । नैमित्तिकं सवनकर्म ज्ञातम् । करणात् ज्ञानेन स्पष्टं भविष्यति । ततो निमित्तसुतविद्वान् कर्मविद्वानधिकारी । नेदुरिति तेन गीतायामार्तोधिकारी । 'अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुत' इतिश्रुतेः । सम्यक् भ्रमो यस्येति अत्र टिप्पण्याम् भगवच्छास्त्रेणापर्युदस्त इति श्रीभागवतेन अपर्युदस्तः, अतोधिकमतः । कारागृहेपि । स्मृतिशास्त्रे न त्वधिकाराभावादधिकमतः । पर्यनर्थकः 'अपपर्यनर्थका'-वितिसूत्रात् । सुबोधिन्याम् । तथाधिकार इति कारागृहे स्मृतिशास्त्रेणाधिकाराभावेपि हर्षकृतोऽधिकारः । एवमङ्गचतुष्टयं विवृत्योक्त-श्रद्धाङ्गं विवृण्वन्ति स्म मुदेतीति । सूचितार्थो मुदेत्यस्य भक्तिस्तयेत्यर्थः । 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्याच्छ्रद्धा भक्तेः पूर्वरूपम् । 'अयुत'मित्यस्यार्थः दशसहस्रमिति । एवमेवेति स्नानं विनैव । हर्षजलेनैवेति न तु नेत्रजलमात्रेण ॥ ११ ॥

अथैनमित्यत्र इत्याशङ्क्येति तेनाशङ्काग्रन्थे कारागृहेऽप्राप्तापि जातसंस्कारोक्तिर्न विरुद्धा । प्राकृत इति प्राकृत एव पुत्रे जाते तस्य पुत्रस्य संस्कारः । कृतधीत्वात् । कर्मसमाप्तिमिति हर्षजलाप्लवनान्तं कर्म मानसम् । अवभृथान्तकर्मवत् । तदनन्तर-मित्यथशब्दार्थः । पुत्रत्वेनेति 'देवक्यां'मितिश्लोके प्रद्युम्नाविर्भावस्योक्तत्वादित्यर्थः । पूर्वोक्तेति 'त'मित्यादिपूर्वश्लोकद्वयोक्त-वर्णनप्रकारेण । तथात्वमिति अभिनन्दननताङ्गे कृतधीत्वम् । प्रमाणसिद्धमिति शास्त्रसिद्धम् । द्वेष्टुरामुष्मिकानिष्टजननम् । अग्निं प्रत्युक्तिर्या घोरा तनुः तया तान् प्रति गच्छ योस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति शास्त्रं वेदः । भारतेति भरताऽत्यगान् मायामिति । कापट्याभावाद् विश्वासः, तदर्थम् ॥ १२ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

एवं भगवतः प्रादुर्भावमैश्वर्येण निरूप्य वीर्यनिरूपणार्थं भगवन्तमनुवर्णयति तमद्भुतमिति द्वाभ्याम् । अत्र निर्वृताः सर्वे श्रोतारो बहिःसंवेदनरहिता जाता इति ज्ञापयितुं पुनः शुकोक्तिकथनम् । इस प्रकार भगवान् के प्रादुर्भाव का निरूपण उनके ऐश्वर्य के साथ साथ साढ़े आठ श्लोकों से करने के बाद उनके वीर्य का निरूपण करने के लिये **'तमद्भुतम्'** आदि दो श्लोकों से भगवान् का अनुरूप वर्णन करते हैं, इस वर्णन के पूर्व में **'श्रीशुक उवाच'** ऐसा कहा गया है, जब कि अध्याय के आरम्भ में ही **'श्री शुक उवाच'** ऐसा कहा जा चुका है, साढ़े आठ श्लोकों में प्रादुर्भाव का वर्णन शुकदेवजी ने ही किया है बीच में कोई अन्य संवाद आया नहीं अत्र वर्णन भी शुकदेव ही कर रहे हैं ऐसी स्थिति में पुनः 'श्रीशुक उवाच' इस प्रकार का उल्लेख आवश्यक नहीं लगता है, उल्लेख करते हैं इससे यह मालुम होता है कि श्रोतृगण की कोई विशेष दशा की दिशा को दिखला रहा है कि इस भगवत्प्राकट्य प्रसङ्ग में आनन्दमग्न हुए श्रोतृगण बाह्यानुसन्धान रहित हो गये और परीक्षित आदि सबकी लीला में तन्मयता हो गई उन्हें पुनः सावधान करते हुए शुकदेवजी वर्णन करने लगे इस अभिप्रायसे यहाँ पुनः 'शुक उवाच' कहा गया है ।

कारिका—दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुषो द्वादशात्मकः । द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते ॥ १ ॥
सर्वेषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः । ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तकः ॥ २ ॥
सगुणां नवधाभक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन् । काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्र द्वादशधामतः ॥ ३ ॥
सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः । आत्मा कार्यं च भूतानि अहन्त्वममुभौ त्रयः ॥४॥
अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिः स्वयम् ॥ ४½ ॥

कारिकार्थ—जिसका सर्ग, विसर्ग, आदि दश विध लीलाओं से स्वरूप निरूपण किया गया है वह ही द्वादशात्मक पूर्ण पुरुषोत्तम आज अद्भुत बालक स्वरूप से प्रकट भये हैं यहां पर प्रकट हुए भगवान् मर्यादा पुष्टि के ऐश्वर्य से द्विगुण हैं । षड् ऐश्वर्यादि गुणयुक्त जो भगवान् कहलाते हैं उसकी अपेक्षा यहाँ द्विगुण है, इसलिए तात्पर्य यह है कि प्रकट हुए स्वरूप में

मर्यादा मार्गीय षड् ऐश्वर्यादि और पुष्टिमार्गीय षड् ऐश्वर्यादि दोनों प्रकार के गुण मिलकर एक काल में एक साथ विराजमान हैं अतः इस स्वरूप को द्विगुण भगवान् जानना ऐसा द्विगुण पद से कहा गया है ॥ १ ॥

यह प्रकट हुआ स्वरूप सब का दशविध प्राण है और इस लोक एवं परलोक दोनों लोक का परम फल है, एवं ज्ञान-शक्ति तथा क्रियाशक्ति दोनों शक्तियों से परिपूर्ण है और सर्ग आदि दशलीलाओं को प्रवृत्त करने वाले हैं ॥ २ ॥

श्रवण, कीर्तन, आदि नवधा सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम लक्षणा, भक्ति को प्रवृत्त करते हुए वेद के पूर्व और उत्तर दोनों काण्डों के प्रतिपाद्य कर्म, और ज्ञान का विस्तार करते हैं वही भगवान् यहाँ पर द्वादश प्रकार से मान गये हैं ॥ ३ ॥

यह स्वयं श्री हरि द्वादशात्मा पुरुषोत्तम द्वादश राशियों के द्वादश सूर्यों की भांति सर्व प्रकाशक हैं, (१) एवं द्वादश भासात्मक काल रूप हैं, (२) तथा एकादश इन्द्रिय और उनका नायक मन यह सब मिलकर द्वादश रूप है यह ही है, (३) आत्मा आत्मा–जीवात्मा[१] एवं परमात्मा[२] कार्य–महत्तत्व[३] भूतानि–पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत[४] अहन्तत्वं (अहङ्कार[५]) उभौ दोनों प्रकृति[६] और पुरुष[७] त्रयः–तीनों गुण सत्त्व[८], रज[९], तम[१०], अक्षरं[११] अक्षरब्रह्म च भगवान्' परब्रह्म[१२] इस प्रकार द्वादशात्मा स्वयं हरि ही सब कुछ है ॥ ४ ॥

उपरोक्त कारिकाओं में 'तमद्भुतम्' और महार्ह वैडूर्य इन दो श्लोकों में प्रयुक्त हुए भगवत्–स्वरूप के परिचायक १२ विशेषणों की संख्या का प्रयोजन ८ आठ प्रकार से सूचित किया है। (१) प्रथम श्लोक में १० और द्वितीय श्लोक में दो विशेषण हैं, उनका पृथक् और मिलाकर दोनों प्रकार से तात्पर्य वर्णन किया है, एवं उसके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि भगवल्लीलास्थ सर्व सामग्री भगवद्रूप ही है।

(२) दो श्लोकों से वीर्यगुण का निरूपण भी भगवान् की द्विगुणता का सूचक है।

(३) जो लोकवेदप्रसिद्ध है वह ही अद्भुत भी है अर्थात् लोकवेदप्रसिद्ध नहीं भी है, यह तत्त्व प्रमाणयुक्ति द्वारा बुद्धिगम्य नहीं हो पाता क्योंकि उस अद्भुत तत्त्व की अद्भुतता तो यह ही है कि सब प्रमाण उसका अनुसरण करते हैं परन्तु 'इदमित्थ' यह इस प्रकार का है इस रूप से नहीं बतला पाते उस प्रमेय स्वरूप परम तत्व का यह बल है यह ही उसका वीर्य है कि लोक और वेद दोनों मिलकर या पृथक् २ भी उसका पार नहीं पा सकते है, वह अपार है दो श्लोकों द्वारा लोक और वेद दोनों से भगवत्स्वरूप का वर्णन उनके वीर्य की, प्रमेय बल की अगम्यता सूचक है ॥ ४½ ॥

तत्र प्रथमं दशधा स्वरूपलक्षणानि वर्णयति—आचार्यचरण कहते हैं कि उन द्वादश विशेषणों में प्रथम दश प्रकार के स्वरूप लक्षण विशेषणों का वर्णन करते हैं, 'तम्' इस विशेषण से भगवद्गीता के १५ वें अध्याय के १८ वें श्लोक में 'अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' पुरुषोत्तम का निर्देश किया है जो मूलरूप होने के कारण आश्रयभूत सर्वाधार है उसी का निरूपण हुआ है। कितने विवेचकों ने 'तम्' इस प्रथम विशेषण से, 'सृष्टि' सर्ग नामक लीला का ग्रहण कर भगवान् की सृष्टिरूपता स्वीकार की है। अद्भुत शब्द भगवान् की अलौकिकता का सूचक है क्योंकि जो पदार्थ लोक अथवा वेद में प्रसिद्ध होता है वह तो नेत्रगोचर अथवा श्रवण गोचर होकर सर्वसाधारण को आश्चर्यजनक नहीं हो सकता है लेकिन अलौकिक पदार्थ ही आश्चर्यजनक होता है, यही प्रमेय बल कहलाता है। यह प्रमाण से सर्वथा भिन्न है, वीर्य वह ही होता है जिसका उल्लङ्घन लौकिक और वैदिकों से न हो सके, तब ही आश्चर्य होता है 'अद्भुत' विशेषण से सूचित होता है कि भगवत्स्वरूप ऐसा है कि जिसके देखते ही बनता है उसका स्मरण या वर्णन नहीं हो सकता, इस प्रकार 'तम्' और 'अद्भुतम्' इन दो पदों से भगवत्स्वरूप के सर्व साधारण लोगों से वर्णित हो सकने की और न हो सकने की सूचना की है। उपरोक्त तम् और अद्भुत पदों से ऐश्वर्य और वीर्य का वर्णन किया।

बालकमिति बाले बाले को ब्रह्मा—अब तृतीय पद से बालक का तात्पर्य बतलाते हैं कि बालकम्, इस विशेषण के द्वारा भगवान् के यश का निरूपण अभीष्ट है, जिसके बाल बाल में प्रत्येक रोम के छिद्र में ब्रह्माण्ड शरीरधारी ब्रह्मा है, ऐसे अद्भुत बालक का यथावत् वर्णन शक्य नहीं। अब बालक शब्द का दूसरा अर्थ कहते हैं, **बालेभ्यः कं यस्मात्सः** जिससे अत्यन्त मुग्ध गोपबालकों को 'क' सुख ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है या होने वाला है ऐसा यह अद्भुत बालक है, अब तीसरा अर्थ कहते है कि 'क' ब्रह्मा भी जिसका बाल पुत्र है। एवं बलभद्रेण साकं खेलतां बालानां (बलदेव जी के साथ क्रीड़ा करने वाले) बाल सखाओं के 'क' शिर रूप उनमें सर्वश्रेष्ठ सबके शिरोमणि यह बालक है, इत्यादि निर्वचन से आपके पराक्रम की अद्भुतता के द्वारा 'यश' का निरूपण हुआ है। 'अम्बुजेक्षणम्' इस विशेषण से चतुर्थ वीर्य अलौकिक श्री शोभा का निरूपण करते हैं, कि कमलजैसे आपके नयन हैं, एवं अम्बुजा समुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी आपके ईक्षण दर्शन में है जो आपको देख पाता है अथवा जिस पर आपका दृष्टिपात हो जाता है वह सर्व समृद्धिसम्पन्न बन जाता है। अब दूसरा अर्थ बताते है कि सूर्य चन्द्र को उपनिषद् में जिसका नेत्र बतलाया है। अब अम्बुजेक्षण का विशेष अर्थ कहते हैं कि श्रुतिसिद्ध

पञ्चाग्नि विद्या के द्वारा जिस रूप की साधना उच्च कोटि के साधक करते हैं उस रूप वाले पुरुष को अम्बुज' शब्द से कहा है क्योंकि **''पञ्चम्यामा हुता वापः पुरुष वचसो भवन्ति''** इस श्रुति में पञ्चम आहुति के होने पर जलों की पुरुषसंज्ञा का उल्लेख मिलता है, उस अम्बुज नामक पुरुष में जिसका ईक्षण है जिसका ज्ञान उस पुरुष में प्रकट होता है, ऐसा वह अद्भुत बालक है। एवं लक्ष्मी का काम जिसका सुख है, तथा ब्रह्माण्ड में उसकी रक्षा के निमित्त जिनका दृष्टिपात होता है, और लक्ष्मी में जिसका दृग्विलास या सुख है क्योंकि लक्ष्मी आपका भोगमन्दिर है। **अम्बुजायाः** श्री लक्ष्मी जी का इः कामः कामपूर्ति वही क्षणं सुखं यस्य जिसका सुख है वैर वही अम्बुजेक्षण है। इस विषय को आचार्यचरण व्युत्पत्ति करते हैं कि **'अम्बुजायां रक्षणं यस्य तमम्बुजेक्षणम्** जल से जिसकी उत्पत्ति है वैसी लक्ष्मी और पृथ्वी इन दोनों में जिसका ईक्षण अनुग्रह बना रहा है वह भगवान् अम्बुजेक्षण है।

और आगे बढ़कर आचार्यचरण कहते हैं कि जल से प्रकट हुई पृथिवी में जिसका दर्शन है अन्यत्र नहीं मिलता, अब तो ऐसा सुभग सुयोग बना कि जिस कृष्ण के दर्शन को अलभ्य या दुर्लभ कहते हैं वह पुरुषोत्तम अब यहाँ पृथिवी पर ही दर्शन दे रहे हैं अब कहीं अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं, ऐसे अनेक प्रकार से भगवान् की ज्ञानात्मक श्री का निरूपण किया है। नेत्र ज्ञानशक्ति प्रधान है और कमलश्री सौन्दर्य प्रधान है इन दोनों का साम्य भी अभेद पर्यवसायी ही है अतः ज्ञानमयी श्री का निरूपण होता है षड् ऐश्वर्यादि गुणों की भी पारस्परिक विभिन्नता ही हो, ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान-गुण, श्रीगुण का एवं श्रीगुण, ज्ञानगुण का कार्य कर सकते हैं अप्राकृत गुणों में ऐसा ही सहज चमत्कार है। भ्रमरयुक्त कमल को ही नेत्र की उपमा प्राप्त होती है और वह भ्रमर भी जब निश्चल ही हो जाता हो, तब ही नेत्र तारा की सदृशता को प्राप्त कर सकता है, कमल में भ्रमर मकरन्द रस पान मग्न होकर ही निश्चल बन जाता है अतः कमल की समानता नेत्रों में किसी विलक्षण मकरन्द रसपूर को बतलाती है, भगवान् के नेत्रों में दया, अमृत आदि ही मकरन्द स्थानीय हैं, उन दयामृतादि रूप भगवत्कृपाकटाक्ष के सम्बन्ध होने पर ही सब को भगवद्रस के आस्वाद की योग्यता एवं अधिकार प्राप्त होते हैं। मकरन्द रस सम्बन्ध से रहित भ्रमर को मधुप नहीं कह सकते वह मकरन्द (रस) पान से ही मधुप कहलाता है इस रहस्य का निरूपण करने के लिये प्राकृत कमलों से भी नेत्रों को समानता दी है, अथवा जल में कमल एक अद्भुत सौन्दर्यशाली पदार्थ होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण रूप में नेत्रों की प्रधानता होती है वह अद्भुत शोभा सम्पन्न होते हैं, इस विशेषण से अद्भुत ज्ञानशक्ति का निरूपण किया है।

चतुर्भुजमिति चत्वारो भुजाः क्रियाशक्तयो यस्य—अब चतुर्भुजपद का अर्थ कहते हैं कि इस विशेषण से भगवान् की क्रियाशक्ति का निरूपण करते हुए उसके चतुर्भुज पद के मूलभूत ज्ञान की चतुर्विधता का भी निरूपण करते हैं। भगवान् की भुजा चार हैं, इन भुजाओं से आदान प्रदान आदि क्रिया होती है अतः भुजा क्रियाशक्तिस्वरूप है, भगवान् की भुजा आदि कर्मेन्द्रिय जीवों की भुजा आदि कर्मेन्द्रियों की तरह ज्ञानशून्य नहीं है किन्तु ज्ञानपूर्ण है। और ज्ञान में किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ज्ञान के चार अङ्ग अथवा तो चार प्रकार अपेक्षित है। उस ज्ञान की प्रमाण-प्रमेय-साधन और फल ये चार अङ्गों की संज्ञा है। दृष्टान्त रूप से देखे जैसे श्रीनाथजी के मन्दिर का कोई दर्शन करना चाहता है तो सबसे पहले चक्षु इन्द्रिय प्रमाण बनेगी मन्दिर को देख कर जैसा वर्णन किया था वैसा स्वरूप मिला तब चक्षुरिन्द्रिय प्रमाण बनी।

फिर जानने की जो वस्तु थी मन्दिर वह तो प्रमेय बना, इसलिए ज्ञान को ज्ञातव्य जानने योग्य प्रमेय की भी अपेक्षा रही। अब ज्ञान को साधन की भी अपेक्षा रहेगी जैसे श्रीनाथ द्वार के स्टेशन पर आये वहाँ संकेत फलक नहीं दीख पड़ा तब संदेह हुआ कि यह कौन गाँव होगा? इतने में किसी ने समीप में रहे फलक-पटिया को बताया तब साधन ज्ञान हो गया। साधन ज्ञान होने के बाद नाथ द्वार में श्रीनाथजी के मन्दिर आ पहुँचे यह ज्ञान का फल मिला। वैसे भगवान् के ज्ञान के लिये भी प्रमाण-प्रमेय-साधन और फल ये चार अङ्गों की अपेक्षा रहेगी। भगवान् का अवतार चार प्रकार के कार्य करने को हुआ है, उन्हीं कार्यों को चतुर्भुज रूप से कहा है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यह चारों पुरुषार्थ अथवा पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत अथवा धर्म, वरुण, इन्द्र, कुबेर, यह चार दिक्पाल भगवान् की भुजा हैं या भुजाओं में यह सब हैं, इस विशेषण से भगवान् की पुरुषरूपता को द्विगुण रूप से कहा है वह लौकिक भी है और अलौकिक भी हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इन व्यूहों के क्रमशः मुक्तिदान, असुरवध, वंशवृद्धि, धर्मरक्षा कार्य हैं, उन्हीं का भुजाओं से संकेत है। युद्ध आदि के द्वारा शत्रुवध लौकिक चरित्र है, और शकटभङ्ग आदि अलौकिक चरित्र हैं।

कारिकार्थ—घातकौ रक्षकौ चोक्तौ विरोधेऽप्यतिसंकटे। वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा—भगवान् की चार भुजाओं में दो भुजा घातक है और दो भुजा रक्षक हैं, एक समय में एक ही स्थान पर घात भी करना और रक्षा भी करना यद्यपि अत्यन्त विरुद्ध है, फिर भी विरुद्धधर्मसमाश्रयी श्रीकृष्ण के लिए तो अलङ्कार है। जैसे महाराज परीक्षित को उत्तरा माता के उदर में अश्वत्थामा के अमोघ ब्रह्मास्त्र से प्रहार कराकर राजा के लौकिक बीजांश का घात भी

किया और वैष्णवांश गर्भ की रक्षा भी किया और उसकी माता उत्तरा की रक्षा की, महान् सङ्कट की अवस्था में भी इस प्रकार भक्तों के दोष विनाशपूर्वक रक्षा करने की सूचना चतुर्भुज शब्द से की गई है। अथवा वेदोक्त ज्ञान दो प्रकार का होता है एक कर्मज्ञान, और दूसरा ब्रह्मज्ञान, अथवा तो आत्मज्ञान और भगवत्स्वरूपज्ञान, उसी प्रकार से भगवद्भक्ति भी दो प्रकार की होती है, एक साधनभक्ति, और दूसरी फलभक्ति, अथवा तो सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति इत्यादि सर्व फलों का दान भगवान् के ही हाथ है ऐसी सूचना चतुर्भुज शब्द से होती है।

शङ्खगदाद्युदायुधम्—इस पद से चारों आयुधों के संकेत को आचार्यचरण बताते हैं और यह छट्ठा विशेषण है इस विशेषण से भगवान् के छट्ठे वैराग्य ऐश्वर्य की सूचना है। कारण यह है कि वैराग्य होने पर ही सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। उद् आयुधम् इस प्रकार का पदच्छेद होता है इसमें उद् का अर्थ होता है कि आयुधों को ऊँचे उठाना इससे देवकीजी को और भक्तों को भगवान् निर्भयता की सूचना करते हैं और दुःखों की निवृत्ति बताते हैं।

अब "शङ्खगदाद्युदायुधम्" पद से चारों आयुधों का संकेत समझाते हैं कि शंखस्तदादि शंख और तदादि पद से कमल का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि "अपां तत्त्वं दरवरं" शंख जल तत्त्व है जल से पृथिवी उत्पन्न हुई अतः पृथिवी तत्त्व का जल आदि कारण है इसलिये जो "भुवनात्मक कमलरूप पृथिवी तत्त्व का आदि पद से ग्रहण किया जायगा। अब गदा तदादिश्च ऐसी व्युत्पत्ति से गदा और चक्र का ग्रहण हो जायेगा क्योंकि गदा प्राणात्मक वायुतत्त्व है और 'वायोरग्निः' इस श्रुति वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि का आदि कारण वायु है अतः आदि पद से अग्नि तत्त्व सुदर्शन चक्र का ग्रहण हो जायगा वैसे—**शंखः तदादि** इस दो पदों से शंख और कमल, एवं गदा तदादि दो पदों से गदा और चक्र का ग्रहण होता है। इस प्रकार क्रमसे शंख-पद्म-गदा-चक्र इन चारों आयुधों का संकेत शुकाचार्यजी ने सूचित किया है। भक्तों के दुःखों की निवृत्ति के लिये भगवान् ने चारों आयुधों को ऊँचा उठाये हुए रखे हैं।

कारिकार्थ—मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा १½ वैष्णवशास्त्र में चतुर्भुज स्वरूप के आयुधों के धारण क्रम में भेद होने से 'मधुसूदन' माधव, नारायण, इत्यादि भेद बतलाये हैं, यहाँ पर प्रकटहुए स्वरूप को दक्षिण हस्तों में ऊपर शङ्ख, और नीचे पद्म, तथा वामहस्तों में ऊपर गदा और नीचे चक्र इस प्रकार से मधुसूदन माना है, साथ साथ कुछ समानता के कारण माधव और नारायण रूप भी कहा है, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, रूपता भी है।

इसी कारिका का तात्पर्य श्रीपुरुषोत्तमजी एवं विट्ठलनाथजी आदि बतलाते हैं। उक्त आयुधों के विषय में यह शंका हो सकती है कि शङ्ख, और कमल को किस प्रकार शस्त्ररूप माना जाय क्योंकि शंख कमल से तो शत्रुवध नहीं होता, उक्त शंका के निवारणार्थ आयुध शब्द के प्रयोग का तात्पर्य समझाते हैं कि यह शङ्ख, पद्म, गदा, चक्र भगवान् के क्रमशः इन्द्रिय, देह, प्राण, अन्तःकरण हैं, इनसे ही भगवान् दैत्य वध करते रहते हैं। शङ्ख प्राणात्मक वायु से भरा जाता है उसकी ध्वनि से दैत्यों का दर्प नष्ट होता है अतः शीघ्र ही वे मारे जाते हैं, इन्द्रियों का भी पोषण शङ्ख की भाँति प्राण से ही होता है अतः शङ्ख इन्द्रिय रूप है। अब कमल का समन्वय बताते हैं कि कमल ब्रह्माण्डरूप होने से भगवान् का स्थूल शरीर ही है, उसको धारण कर सूचित करते हैं कि जैसे अधिक भार युक्त पदार्थ ऊपर गिर पड़ने से साधारण जन्तुओं को कुचल कर मार देता है उसी प्रकार ब्रह्माण्डात्मक कमल के घूमाने से इन साधारण कीट पतंग जैसे दैत्यों को भगवान् जब चाहें तब जहां चाहें वहीं पीस देता है। इस प्रकार शंख कमल की आयुध संज्ञा सर्वथा युक्त है, अब आचार्यचरण गदा और सुदर्शन तत्त्व का समन्वय दर्शाते हैं कि गदा वायु तत्त्व होने से आधिदैविक प्राण रूप है ही, और सुदर्शन चक्र तो तेज स्वरूप होने के कारण आपका अन्तःकरण है। भगवान् मोक्ष देने की इच्छा से जिसका वध करते हैं तेजःस्वरूप चक्र के द्वारा उसे तेज में ही लय प्राप्त करा देते हैं, अब प्रकारान्तर से आचार्यचरण चारों तत्त्वों का आयुध रूप से समन्वय करते हैं अथवा पञ्च महाभूतों में आकाश को छोड़कर अन्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टय ही आपके आयुध हैं, आकाश तो निर्लेप होने के कारण आपके श्रीविग्रह के रूप में उपयोग पाता है, पृथिवी कमल है, जल शङ्ख है, तेज सुदर्शन चक्र है और वायु गदा है, आप तो आकाश की भांति निर्लेप रहते हैं भूतों से भूतों का वध होता रहता है यह अभिप्राय है। उक्त विशेषण में 'उदायुध' पद का 'उद् + आयुध' इस प्रकार पदच्छेद करने से उद् पद का 'उदक याने जल' इस अर्थ की भी प्रतीति होती है उस अर्थ के अनुसार भी व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार जल अपने में गिरे हुए भारी पदार्थ को अपने में ही डुबा लेता है उसी प्रकार अभिमान के भार से लदे हुए उद्दण्ड पाषण जैसे दैत्यों को भगवान् के आयुध अपने में ही मिला लेते हैं लेकिन निकाल कर अलग नहीं फेंकते अतः असुर लोग भूतों में ही लीन होते हैं भगवान् में मिलते नहीं हैं इससे मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

इस प्रकार **तमद्भुतं बालकं** श्लोक के पूर्वार्ध में षड् गुण सहित भगवान् का निरूपण किया है, अब फिर श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं उत्तरार्ध में वैदिक ऐश्वर्य आदि कहे जाते हैं, अब प्रथम विशेषण श्रीवत्सलक्ष्मम् है इस विशेषण से श्रीवत्स को भगवान् का चिह्न बतला कर उनकी अक्षर ब्रह्म से प्रधानता सूचित की गई है, जिससे उनके वैदिक ऐश्वर्य का बोध होता है,

किस प्रकार से यह समन्वय होगा, इसको कहते हैं कि उक्त विशेषण में श्री, वत्स और लक्ष्म ये तीन शब्द हैं, इनमें श्री शब्द का अर्थ 'लक्ष्मी' है वह ही ब्रह्मानन्द कहलाती है, वह ब्रह्मानन्दस्वरूपा श्री 'लक्ष्मी' जिसकी 'वत्सा' 'पुत्री' है वह श्री वत्स सर्व वेद प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म ही है वह ब्रह्म स्वरूप श्रीवत्स जिसका लक्ष्म 'चिह्न' है परिचय कराने वाला असाधारण धर्म है, वह परब्रह्म स्वरूप यह अद्भुत बालक है। सर्वात्मा भगवान् के 'जगत्' अक्षर ब्रह्म-काल-आदि अनेक लक्षणरूप धर्मों में 'अक्षर ब्रह्म की मुख्यता है, अतएव आपके वक्षःस्थल में 'भृगुपद' का चिह्न है। भृगु ऋषि सर्व प्रकार से ब्रह्म को धारण करने वाले थे, वे जाति से भी ब्राह्मण थे, और वेदाध्ययनपरायण थे, और अक्षर ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करने वाले थे, उन्होंने जाति रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, वेद रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, और अभेद चिन्तन की प्रक्रिया से भी ब्रह्म का धारण किया था, महाराज भृगु सर्व प्रकार से ब्रह्म के धारण करने वाले महात्माजी का पद जहाँ अंकित है वह सर्वथा ही ब्रह्म का आश्रय है क्योंकि आश्रय में ही पद स्थिर होकर ठहरता है अन्यत्र मार्गादि में तो वह पद गतिशील ही बना रहता है, जब कोई किसी गन्तव्य देश को लक्ष्य कर चलता है वह जब तक वहाँ पहुँच नहीं पाता तब तक उसके पद गमनशील होते हैं ठहरते नहीं, पद तो ठहरते वहीं पर जहां उसे पहुँचना है जो उसका आश्रय है, सर्वथा ब्रह्म मय भृगु ऋषि के भगवान् ही आश्रय हैं अतः उनकी गति का पर्यवसान भगवान् में ही है वहीं पर उनका पद आश्रय प्रतिष्ठित हुआ है, आचार्यचरण का यह विश्लेषण अतिशय गहरा है पुनः पुनः चिंतन करने पर कुछ समझ में आयेगा। अब आगे आचार्यचरण की बात समझाते हैं कि इन भृगु ऋषि को ख्याति नामकी पत्नी से "श्री" नामकी कन्या उत्पन्न हुई थी अतः इन भृगु मुनि को "श्रीवत्स" कहते हैं क्योंकि श्री जिसकी वत्सा हो उसे श्रीवत्स कहा जाता है, अब इस पद में वैदिक मार्गीय ऐश्वर्य कैसे समन्वित होता है इस को बताते हैं कि ब्रह्म का लक्षण रूप से अपने परिचायक धर्म रूप से ग्रहण करना भगवान् के ऐश्वर्य का कार्य है और वह ऐश्वर्य वेदसिद्ध होने से यह वैदिक ऐश्वर्य का निरूपण हुआ है। **वीर्यं निरूपयन् कयाचिदवस्थयाऽवस्थिते ब्रह्म जीवाख्यं लक्षणान्तरेणाह गलशोभिकौस्तुभमिति** अब **"गलशोभिकौस्तुभम्"** इस विशेषण से भगवान् के वैदिक "वीर्य" गुण का निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि ब्रह्म ही किसी अवस्था से सम्पर्क प्राप्त कर जीवपदवी को धारण करता है वह भी भगवान् का एक प्रकार का लक्षणविशेष है—

भगवान् के कण्ठ में विराजमान जो है वह सर्व जीवों का स्वरूप भूत प्रतीक है, **"चैत्यस्य तत्त्वममलमणिमस्य कण्ठे"** ऐसा उल्लेख भा० स्कं० ३ अ० २८ श्लोक २८ में कौस्तुभमणि के वर्णन में बतलाया है, भगवान् ने कौस्तुभमणि को श्रीहस्तादि में स्थान न देकर गले के श्रृङ्गार विभूषण में स्थान देने का अभिप्राय यह है कि क्रियाशक्ति की अपेक्षा ज्ञानशक्ति उत्तम होती है, इसलिए मुक्त जीवों को सरस्वती का स्थान ही उपयुक्त है। भगवान् का कण्ठप्रदेशज्ञान शक्ति स्वरूपा सरस्वती जी का आश्रय है अतः वहां मुक्तात्माओं का स्थान है। **"मुक्तोपसृप्यो भगवान्"** मुक्तजनों से प्राप्य भगवान् मुक्त जीवों को कण्ठाभरण रूप से धारण करते हैं। कौस्तुभमणि का मुख और कबन्ध के बीच में धारण करना यह सूचित करता है कि जीव दोनों प्रकार के होते हैं। कोई क्रियानिष्ठ होते हैं जिनका कर्मकाण्ड की पद्धति से ब्रह्मप्राप्ति के लिये उद्यम होता है और कुछ ज्ञाननिष्ठ होते हैं जिनका ज्ञानकाण्ड की पद्धति से ब्रह्मप्राप्ति के लिए उद्यम होता है। भगवान् की सर्वाङ्ग वर्णना श्री भा० स्कं० ३ अ० २८ में हुई है वहां कौस्तुभ का वर्णन दो बार किया है इससे भी द्विविधता स्पष्ट होती है, श्लोः सं० २६ **कण्ठञ्च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम्** श्लोः सं २८ **चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे**, यह दोनों श्लोकों के अंश हैं, शोभा दो प्रकार की होती है ज्ञानकृत शोभा और कर्मकृत शोभा सत्कर्माचरण से हुई शोभा कर्मकृत शाभा है, और तत्त्वचिन्तनादि से सम्पन्न हुई शोभा ज्ञानकृत शोभा है। जीव के ये दोनों ही, क्रिया और ज्ञान, धर्म हैं अतः जीवतत्त्वात्मक कौस्तुभमणि को "शोभि" शोभा सम्पन्न बतलाया है, उक्त प्रकार से भगवान् में अक्षर ब्रह्म एवं जीव ब्रह्म इन दोनों के सम्बन्ध का श्रीवत्स और कौस्तुभ रूप से निरूपण किया गया है।

जीवस्य तथात्वहेतुभूतां भगवतः प्रदेशविशेषावरिकां पीताम्बररूपां निरूपयति—जीवों के जीव भाव में करणीभूत माया का भगवान् के अमुक अंश को आच्छन्न करने वाली होने के कारण पीताम्बर रूप से निरूपण करते हैं, 'पीताम्बरम् भगवान् का वस्त्र पीतवर्ण है, अतः शोभा का हेतु है क्योंकि नीलवर्ण तो आपका श्रीविग्रह है, और आकाश का वर्ण भी नील है इसलिये आपको आकाशतनु कहा है कि भगवान् का शरीर आकाश है, नील वर्ण पर पीतवर्ण अधिक शोभादायक होता ही है साथ ही में एक धर्म और भी शोभा में उपयोगी है कि भगवान् का शरीर आकाश है ऐसा **"आकाशः शरीरं ब्रह्म"** आदि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

आकाश निर्विकार है तब उसकी शोभा भी निर्विकार पदार्थ होने पर ही रह पावेगी लेकिन विकारिवस्तु के सम्बन्ध होने पर निर्विकार की भी शोभा नहीं रह पाती। भगवान् का पीताम्बर सर्वांश में निर्विकार है इस पीताम्बर में पीत और अम्बर दो अंश हैं, अम्बर शब्द आकाश वाचक होने के कारण निर्विकारिता का सूचक है। अब बात रही पीतवर्ण के विषय में

निर्विकारिता के विचार में, कि पीतवर्ण निर्विकारिता का द्योतक कैसे है तब पीतवर्ण के विषय में इस प्रकार से विचार करने पर निर्विकारिता प्रतिपादित होगी कि तामस और राजस के सम्बन्ध से पीतवर्ण सम्पन्न होता है, इसमें सात्त्विक का सम्बन्ध नहीं है। सात्त्विक अहंकार को "वैकारिको राजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा" आदि स्थल पर वैकारिक कहा है एवं रोमांच आदि सात्त्विक भावों को भी विकार माना है अतः पीतवर्ण में सात्त्विक का सम्बन्ध न होने से निर्विकारता है। यदि कहें कि पीतवर्ण स्वतन्त्र है राजस तामस के सम्बन्ध से क्यों माना जाय तो इस विषय में तो श्रुति ही प्रमाण है कि रूप तो तीन ही प्रकार का होता है लाल, शुक्ल और कृष्ण, पीतवर्ण आया कहाँ से। श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है कि "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्छुक्लंतदपांयत्कृष्णं तदन्नस्य" लालवर्ण तेज का है, शुक्ल वर्ण जलों का है, कृष्ण वर्ण अन्न पृथ्वी का है। अतः पीत वर्ण तामस राजस के संयोग से बनेगा और 'सात्त्विक सम्बन्धरहित' होने से निर्विकार है तो पीताम्बर से नीलवपु की निर्विकार से निर्विकार की शोभा होना सर्वथा सुसंगत है।

"प्रभां वर्णयति–सान्द्रपयोदसौभगमिति" अब सान्द्रपयोदसौभगम् विशेषण से भगवान् की 'श्री' प्रभा का वर्णन करते हैं, सान्द्र अत्यंत गाढ नील वर्ण वाले मेघ के समान आपकी सुन्दरता है, परमानन्दस्वरूप भगवान् की नीलवर्णता का निरूपण चार प्रकार से पूर्व के "निबन्ध" में किया जा चुका है, प्रथम प्रकार यह है कि जैसे नेत्र रूप वाले पदार्थ को देखते देखते आकाश में किसी वस्तु के न होने पर मेघ शून्य प्रदेश में दूर जाकर कुछ नीलासा दिखता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अत्यन्त गम्भीर होने के कारण नीला जैसा ही दीखता है। द्वितीय प्रकार यह है कि सत्ययुग आदि युग के अधिष्ठाता देवताओं के शुक्ल, रक्त, पीत, नील, वर्ण हैं उनके प्रतिबिम्बों की प्रतीति ब्रह्म में होती है। तृतीय प्रकार यह है कि भगवान् भूमि में प्रकट हुए हैं अतः भूमि का नीला वर्ण उनमें प्रतिफलित होता है। चतुर्थ प्रकार यह है कि शुद्ध सत्त्व का वर्ण नील है शुद्ध सत्त्वात्मक वैकुण्ठ में प्रकट हुए ब्रह्म में उस शुद्ध सत्त्व की नीलता झलकती है।

तस्य धर्मा इदानीं निरूप्यन्ते यस्तु स्वकाले सर्वानन्ददायी—इस प्रकार आकाश, काल, भूमि, और वैकुण्ठ इनके द्वारा चार प्रकार से नीलरूपता का प्रतिपादन किया है। इस समय तो नील मेघ की उपमा के द्वारा उसके धर्मों का निरूपण करना अभीष्ट है, जो मेघ अपने समय पर सर्व साधारण को आनन्द देता है, एवं अन्न पैदा करता है, और ताप निवारण करता है वह मेघ सान्द्र और नीलवर्ण होता है, इसी प्रकार भगवान भी पृथिवी, एवं स्वर्गलोक, धर्म, तथा भक्तों के सर्व अनिष्टों का निवारण कर सर्व अभीष्टों को सिद्ध करते हैं। भगवान् के विषय में कहा है कि "सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि बहूपमोऽभूत्" वह भगवान् सर्वत्र पूर्ण गुणों से सम्पन्न होते हुए भी बहुत उपमाओं को अंगीकार करते हैं। अतः प्राकृतमेघों की उपमा कोई अनुचित नहीं, अन्यथा सर्वथा अप्राकृत ब्रह्म को प्राकृत मेघों की उपमा कैसे संगत हो सकेगी, इस विशेषण से मनोहर वर्षाकालीन मेघ के समान श्याम सुन्दर स्वरूप का वर्णन कर भगवान् की कान्तिस्वरूप श्री का निरूपण किया है ॥ ९ ॥

एवं मूलभूते ब्रह्मणि स्वयं स्थित्वा—इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक में "श्री वत्सलक्ष्मम्" आदि चार विशेषणों से यह बतलाया कि भगवान् मूलभूत अक्षर ब्रह्म में विराजमान होकर, अपने अंश रूप जीवों को कृतार्थ करके, भूमिस्थित जीवों को महामोह से स्वरूप ज्ञान रहित बनाकर उनको चतुर्विध पुरुषार्थ का दान करते हैं। अब इस श्लोक में ज्ञान और वैराग्य के रूप से भगवान् के सर्व शास्त्र मय अलंकारों के अनुरूप वर्णन किया जाता है। इस वर्णन द्वारा यह सूचित करना अभीष्ट है कि भगवत्स्वरूपगत ज्ञान, एवं क्रिया यह दोनों शक्ति, विविध भांति की हैं, और ज्ञान क्रिया शक्ति के अनेक प्रकार हैं।

महानर्हो मूल्यं यस्य तादृशवैदूर्ययुक्तं किरीटं—बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटित किरीट एवं कुण्डलों की कान्ति से मिश्रित हिरण्यकेश भगवान् के सहस्रशः केश आलिङ्गित हो रहे हैं, अब इस विशेषण से यह सूचित होता है कि भगवान् के श्री मुख के दर्शन करने वाले शास्त्र तत्त्व के मर्मज्ञ जीववृन्द भगवान् के श्री मुख कमल के मकरन्द रस पान में डूबे हुए भ्रमरों की भांति भक्ति के हो जाने पर सब ओर से सुशोभित हो रहे हैं। आचार्यचरणों का यहाँ यह कहना है कि केवल पद पदार्थों के ज्ञानमात्र से शास्त्र श्रम सफल नहीं होता लेकिन श्रीकृष्ण के श्रीमुख दर्शन से भक्ति प्राप्त होने के बाद ही शास्त्रतत्त्व का मर्मज्ञान होगा इसी विषय में सुभाषित है कि "यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ॥ तथैव विप्राः षट्शास्त्रयुक्ताः मद्भक्तिहीनाः खरवद् वहन्ति ॥ १ ॥

तेषां वेदः सांख्ययोगौ च शोभाजनका भवन्ति—उन जीवों की शोभा के सम्पादन में वेद, और सांख्य योगों का उपयोग है तथा वेद सांख्य योगों की प्राप्ति सर्व लोकप्रसिद्ध गुरु से ही होती है। भगवान् ने इसलिये वैदूर्यमणि को बहुमूल्य कहा है, लेकिन अमूल्य नहीं कहा। बहुमूल्य कहना वस्तु की प्राप्ति के साधन की सूचना करता है और उसके महत्व का भी सूचक है। इसका मर्म यह है कि किरीट आदि आभूषणों से सूचित वेद उपनिषद आदि शास्त्र भी, बहुमूल्यवती हरिभक्ति से या तो सद्गुरु कृपा से प्राप्त होते हैं। वेद में कर्म और ज्ञान, के प्रतिपादक दो काण्ड हैं, योग में भी साधन, और फल, भेद से दो प्रकार है, और सांख्य में भी न्यास तथा ज्ञान के भेद से दो प्रकार है, इस प्रकार षट् शास्त्रों का निरूपण होता है। यह षट् शास्त्र ही षट्

पद भ्रमर रूप जीवों के पद हैं। **परिषक्तसहस्रकुन्तलम्**—स्वरूप वर्णन में कुन्तलों की संख्या सहस्र शब्द से इसलिये प्रकट की है कि वेद, सांख्य, योग, इन तीनों के भी हजारों भेद हैं शास्त्रज्ञ भक्तों का लौकिक ज्ञान विस्मृत हो जाता है इस आशय को व्यक्त करने के लिए कुन्तलों का किरीट और कुण्डलों की कान्ति से परिषाङ्ग माने समालिंगन बतलाया है, इसका तात्पर्य यह है कि कुन्तल रूप जीव षट् शास्त्र ज्ञान जनित भक्ति भाव से सर्वाङ्ग परिपूर्ण हो जाते हैं अतः उन्हें लौकिक का अनुसन्धान नहीं रहता है। अब उद्दाम काञ्च्यंगद पद का रहस्य कहते हैं कि—इस प्रकार लोक में नाना प्रकारों को प्राप्त हुए ज्ञान के निरूपण करने के अनन्तर 'उद्दाम', इत्यादि विशेषण के द्वारा क्रिया का निरूपण करते हैं। यद्यपि कर्म अनन्त प्रकार के ही हैं फिर भी तीन प्रकार के ही बतलाये गये हैं। इसका हेतु यह है कि सर्व कर्मों का सात्त्विक, राजस, तामस, तीन रूप से ही विभाग होता है, अतः यहां पर उन कर्मों का काञ्ची–अङ्गद–कङ्कण, के रूप में निरूपण किया है, इन तीनों में करधनी काञ्ची तमोमय कर्मरूप है, अङ्गद बाजूबन्ध सत्त्वमय कर्म रूप है और कङ्कण रजोमय कर्म स्थानीय है।

कांची-अंगद-कंकण ये भगवान् के आभरण रूप त्रिविध कर्म वेदादि शास्त्रों से प्रतिपाद्य हैं, और जितने कर्म करेंगे उन कर्म मात्र के मूलभूत पूर्ववर्ती कारण हैं। वे कर्म अपने समान जातीय अनन्त सात्त्विक आदि कर्मों को भविष्य में प्रकट करते रहते हैं, इसका कारण यह है कि कर्मों का स्वभाव है कि उत्तरोत्तर अपने जैसे कर्मों को उत्पन्न करते रहना, काञ्च्यंगदकङ्कणादिभिः पद में जो आदि शब्द है वह काञ्ची, अङ्गद, और कङ्कण तीनों से सम्बन्धित है अतः तामस कर्म तामस कर्मों को, सात्त्विक कर्म सात्त्विक कर्मों को और राजस कर्म राजस कर्मों को, जन्म देते हैं यह सूचना अभीष्ट है।

लोके काञ्ची सदामा भवति इयं तूद्दामा दामरहिता—लोक में काञ्ची दाम रेशम के सूत्र सहित होती है परन्तु यहाँ बालमुकुन्द जी की करधनी तो उद्दाम बन्धन रहित है। वैदिक क्रिया यद्यपि स्वल्प हिंसात्मक होती है फिर भी वह भयंकर लौकिक हिंसा की तरह निन्द्य या पाप जनक नहीं और बन्धन हेतु नहीं इस अभिप्राय को 'उद्दाम' विशेषण से व्यक्त किया है। साथ ही वैदिक कृति के हिंसात्मक होने की सूचना से काञ्ची की वैराग्यरूपता भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि राग प्रयुक्त हिंसा ही पाप है एवं बन्धन का कारण है वैदिक हिंसा पाप नहीं क्योंकि वह शुद्ध विधि प्रयुक्त ही है अतः राग के अभाव की या वैराग्य की स्पष्टता हो ही जाती है। पीताम्बर के ऊपर काञ्ची स्थित है, वह यह सूचित कर रही है कि जो लोग भूमि में माया से व्याप्त हैं उनका ही वैसे हिंसात्मक कर्मों में अनुराग है क्योंकि भगवान् के चरण स्थानीय भूलोक पर पीताम्बर-रूपिणी माया है और उसका काञ्ची रूप वैसे कर्मों से निकट सम्बन्ध है। भगवान् में लौकिक कर्मों का सर्वथा अभाव है अतः उन लौकिक कर्मों की व्यावृत्ति करने के लिये, उनके अभाव बतलाने के लिये लौकिक सूत्र का अभाव 'उद्दाम' शब्द से सूचित किया गया है। उद्-और दाम इन दोनों शब्दों का अर्थ यह है कि जिसमें से दाम सूत्र उद् माने निकल गया है ऐसी करधनी को उद्दाम कांची कही गई है। अथवा 'उद्दाम' शब्द के अन्तर्गत 'उद्' शब्द का उत्कृष्ट अर्थ होने के कारण उस काञ्ची रूप वैदिक कर्म में अलौकिक साधनों का निरूपण 'उद्दाम' शब्द से किया है। यज्ञ में जो स्रुग् स्रुव चमस आदि यज्ञोपयोगी साधन होते हैं वे काष्ठादि के स्वरूप में नहीं होते लेकिन निबन्ध में बताये हुए सिद्धान्त के अनुसार '**तत् साधनञ्च स हरिः प्रयाजादि-स्रुगादिवत्**' वे साधन भगवद्रूप है। अङ्गद बाहुओं के मध्य में रहते हैं, यह सात्त्विक कर्मों के मूलभूत है क्योंकि '**अङ्गं द्यति खण्डति**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अङ्ग का देहाध्यास का खण्डन करने वाला ही अङ्गद शब्द का वाच्यार्थ है। देहाध्यास की निवृत्ति या विदेह कैवल्य की प्राप्ति में अङ्ग का, देह का अनुसन्धान न रहना स्वाभाविक है। यह देहविस्मृति की अवस्था सात्त्विक है अतः इस अवस्था का प्रयोजक कर्म भी सात्त्विक हो है। कङ्कण चंचल होने से राजस कर्म स्थानीय है, यद्यपि शास्त्रविहित कर्म रूप अङ्गद और कङ्कणों की क्रियाशक्ति रूप भगवान् को भुजाओं में स्थिति होने से उनके सात्त्विक या राजस होने में कोई स्थूल कारण नहीं दीखता परन्तु एक ही कर्म की सकाम निष्काम कर्त्ताओं के आधार पर सात्त्विकता और राजसत्ता गीता १८ श्लोक २३-२४ में कही है उस दिशा से सात्त्विक और राजस कर्ता ही कर्म के सात्त्विक और राजस इस विभाग के कारण है अतः उक्त विषय में कोइ शङ्का नहीं।

कांच्यंगदकंकणादिभि—पद में जो आदि शब्द है उस आदि शब्द से अंगूठी एवं बाजूबन्द के स्थान पर धारण करने योग्य अन्य आभरण तथा क्षुद्र घण्टिका नूपुर आदि का निरूपण किया है। उन सब ही धर्म मार्गीय भगवत्सम्बन्धी कर्म-रूप आभूषणों से भगवान् शोभा सम्पन्न होते हैं।

'**वेदे रामायणे चैव** पुराणे भारते तथा। **आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयते**' इस हरिवंश के पद्य का उद्धरण इस दृष्टि से किया गया है कि सर्व सच्छास्त्रों में भगवान् की सम्पूर्ण महिमा का ही गान किया गया है। अतः शास्त्रोक्त कर्म रूप आभरणों से भगवान् का विराजमान होना सर्वथा सङ्गत ही है। श्री लेखकार जी का हरिवंश के इस पद्य का भाव यह बतलाते हैं कि तमद्भुतम् और महार्ह वैडूर्य इन दो श्लोकों में जो द्वादश विशेषण दिये गये हैं उनका तात्पर्य यह है कि वेद में आदि (१) मध्य (२) अन्त में (३) रामायण में आदि (१) मध्य (२) अन्त में (३) पुराणों में आदि (१) मध्य (२)

अन्त (३) में और श्री महाभारत में आदि (१) मध्य (२) अन्त में (३) बारह प्रकार से यहाँ श्री वसुदेव जी के कारागृह में प्रकटे हुए भगवान् का ही निरूपण है। उक्त श्लोक में 'वसुदेव ऐक्षत' वसुदेवजी ने उक्तस्वरूप भगवान् को देखा, ऐसा कहा गया है, शुकमुनि का ऐसा कथन एक शङ्का के निवारणार्थ हुआ है, कि प्रकट हुए भगवान् का दर्शन तो स्वतःसिद्ध है उसके कथन की फिर क्या आवश्यकता! जो स्वरूप प्रकट हुआ है उसका दर्शन होना तो सहजसिद्ध ही है। फिर आगे बैठकर 'स विस्मयोत्फुल्ल' श्लोक में 'विलोक्य' पद से दर्शन का अनुवाद आगे किया ही है ऐसी स्थिति में भगवत्स्वरूप वर्णन की क्या आवश्यकता थी कि ऐसे रूप को वसुदेवजी ने देखा। भगवान् प्रकट हुए उनको देखकर वसुदेव जी ने दान, गुणगान आदि किये इतना कथन ही काफी था, लेकिन बात यह है कि वसुदेवजी को भगत्स्वरूप का सर्वांश में यथार्थ ज्ञान हो गया है, इस रहस्य की सूचना के लिये वह कथन किया है, बात ऐसी है कि पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि भगवद्धर्मों की लौकिकता का भी सम्भव है और अलौकिकता का भी सम्भव है, इस समय वसुदेवजी को यदि यथार्थ ज्ञान न होगा तो वह उन ऐश्वर्यादिकों को लौकिक ही मानेंगे, और यदि यथार्थ ज्ञान होगा तो हमने लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्यादिकों का प्रतिपादक जो व्याख्यान पूर्व में कहा है उसी प्रकार का आगे भी उनको भगवल्लीलाओं में अनुभव होता रहेगा, अतः शुकदेवजी कहते हैं कि वसुदेवजी ने वैसे धर्मों के सहित भगवान् को देखा उनका लौकिक वैदिक उभयविध ऐश्वर्यादि परिपूर्ण स्वरूप उसी समय पहिचाना, वसुदेवजी का वह ज्ञान उनके किये हुए स्तोत्र में स्पष्ट हो जावेगा ॥ १० ॥

एवं भगवन्तं दृष्ट्वा शुद्धसत्त्वात्मकः वसुदेवः—इस प्रकार भगवान् का दर्शन कर शुद्ध सत्व गुणमय श्री वसुदेवजी ने क्रिया और ज्ञान को प्रकट किया, यह दो श्लोकों से कहते हैं, गोदान रूप क्रिया है, और गुणगान भगवत् स्वरूप के ज्ञान का बोधक है, कर्म में चार प्रकार का अधिकार और श्रद्धा अंग है।

अब आचार्यचरण कर्ता अर्थी-विद्वान्-समर्थः-शास्त्रेणापर्युदस्तः'' अभिलाषायुक्त-ज्ञानी-समर्थ और शास्त्रसंमत होना चाहिए ऐसी वेदाज्ञा का तात्पर्य कहते हैं कि कर्ता अर्थी होना चाहिये जिस निमित्त से वह कर्म करता है उस निमित्त की उसे अभिलाषा होनी चाहिये। एवं वह कर्ता विद्वान भी हो उसे निमित्त का और नैमित्तिक कर्म का ज्ञान भी हो, अन्यथा कर्म नहीं कर सकेगा। इसी तरह उसे सामर्थ्यशाली भी होना आवश्यक है, क्योंकि सामर्थ्य के विना कुछ भी नहीं किया जा सकता है। फिर उस कर्ता को शास्त्र से कर्म करने में निषेध प्राप्त न होना चाहिये इस प्रकार कर्ता के यह चार विशेषण कर्म में अधिकार रूप हैं, और यह दान रूप कर्म नैमित्तिक है। और पुत्रजन्म आदि के निमित्त से किया जाने वाला है। वसुदेवजी अर्थी है, विद्वान् है, समर्थ है, और शास्त्र से निषेध नहीं है और वसुदेवजी को भगवान् के जन्म की अपेक्षा है, इसकी सूचना उनका हर्ष ही कर रहा है, वह हर्ष भगवद् प्राकट्य के कारण के होने से असाधारण ही होता है, उस असाधारण हर्ष का अब **सविस्मयोत्फुल्लं** और **अथैनमस्तौद्** इन दो श्लोकों से कहते हैं।

एतत्सर्वपरिज्ञाने स इति पूर्वोक्तो वसुदेवो हेतुः—उक्त श्लोक में 'स' शब्द से पूर्वोक्त वसुदेवजी का परामर्श कर उनके दान, भगवद् गुण गान और स्वाधिकार सम्बन्धी परिज्ञान में हेतु का निर्देश किया है कि श्री वसुदेवजी ने भगवत्साक्षात्कार किया है एवं स्वयं विशुद्ध सत्त्वात्मक है, इसलिए इनके सर्वविध ज्ञान सम्पन्न होने में किसी भी प्रकार के संदेह का अवसर नहीं। इनको अलभ्य लाभ होने के कारण विस्मय हुआ, अलभ्य वस्तु का लाभ विस्मयजनक तो होता ही है साथ ही उस वस्तु की उत्कट प्राप्ति की इच्छा का भी द्योतक है जिसको प्राप्त करने की पूर्ण लालसा होने पर अपने साधन बल से प्राप्त होने की संभावना न हो, ऐसी वस्तु का लाभ होने पर वह अलभ्य लाभ कहा जाता है। अलभ्य लाभ का वह विस्मय अन्तःस्तल हृदय में प्रविष्ट होकर नयनों को विकसित प्रफुल्लित कर देता है यह विस्मय का स्वभाव है। वसुदेवजी के नेत्र विस्मय से खिल उठे, उन्होंने पूर्व में यह सुना था कि भगवान् हरि पुत्र रूप से प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्र रूप से प्रकट हुए हरि को देख रहे हैं, इस प्रकार के दर्शन से उनका ज्ञान स्पष्ट होता है जो ज्ञान कर्माचरण के अधिकारों में एक अंग है। प्रस्तुत गोदान कर्म में भगवत्प्रादुर्भाव निमित्त है, वही अर्थ है जो अर्थ भी एक अंग है इस निमित्त के ज्ञान से वसुदेवजी का नैमित्तिक गोदान कर्मविषयक ज्ञान भी सिद्ध होता है। उनका वह ज्ञान आगे कंसवध के अनन्तर गोदान करने से स्पष्ट होगा। श्री वसुदेवजी को इसलिये तो आनकदुन्दुभि कहते हैं कि इनके जन्म समय में आनक और दुन्दुभि दो वाजित्र बजे थे, इस कारण इनका गोदानादि सत्कर्माचरण में सामर्थ्य व्यक्त होता है जो अधिकारिता में एक अंग है यदि दश सहस्र गोदान का सामर्थ्य नहीं होता तो जन्म काल में आनक दुन्दुभियों का नाद भी कैसे सम्भव था।

अब श्रीमदाचार्यचरण ''कृष्ण'' शब्द का महत्त्व और रहस्य खोलते हैं कि भगवान् कृष्ण के प्राकट्य होने पर श्रीवसुदेवजी के मनो विलास रूप जो उत्सव प्रकट हुआ उस आनंदोत्सव से सुन्दर संभ्रम और अतिशय व्यग्रता हुई कि इस मंगल उत्सव पर क्या क्या न्यौछावर न किया जाय। भगवच्छास्त्रों में एवं स्मृतिशास्त्रों में वैसे पुरुष का ही गोसहस्र दानादिकर्म में अधिकार बताया कि जिसका मन उल्लासपूर्ण हो और सम्भ्रान्त हो। वैसा उल्लासपूर्ण मन और सम्भ्रान्त मन तब ही होगा जब पुत्र

यदि सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न होगा। और वैसे पुत्र के पिता को शुभ कर्म का अधिकार प्राप्त हो सकता है। अतः यहाँ कृष्ण पद का प्रयोग कर पुत्र की सर्व लक्षण सम्पत्ति सूचित की गई है। दशसहस्र गोप्रदान तो कोई बड़ी चीज नहीं है। करोड़ों गोप्रदान किया जाय तब भी कुछ नहीं दान किया। 'मुदा' हर्ष के साथ श्री वसुदेवजी ने गोदान किया, हर्ष स्नेहस्वरूप है, उसके स्वरूप में स्नेह अन्तः प्रविष्ट है, अतः भक्ति की सूचना करता है, कि भक्तिमान् वसुदेवजी ने भक्ति पूर्वक गोदान का मानस संकल्प किया। दश सहस्र गौओं का दान ब्राह्मणों को उद्देश्य कर वसुदेवजी ने किया, यद्यपि जातकर्म गोदानादि पुण्यकर्म में नैमित्तिक स्नान, करने के अनन्तर ही होता है क्योंकि वैसे सत्कर्मों का विधान है, फिर श्री वसुदेवजी ने बिना स्नान संकल्प कैसे किया इस संदेह का यह समाधान है कि 'मुदाऽऽप्लुतः' श्रीवसुदेवजी ने हर्ष नामक जल से स्नान किया है और ऐसे अर्थ को लाने के लिये **मुदा द्विजेभ्यो गवामयुतमस्पृशत्** और मुदा आप्लुतः दोनों पदों में "मुदा" अव्यय का आवर्तन करना और हर्ष से दान किया और हर्षजल से स्नान किया ऐसा अर्थ करना ॥ ११ ॥

ननु पुत्रः संस्कर्तव्यो जातकाख्येन कर्मणा तत् कथं न कृतवान्—ऐसी शङ्का हो सकती है कि पुत्र का संस्कार 'जातक' नामक कर्म से करना चाहिये, तब वसुदेवजी ने वैसा क्यों नहीं किया, ऐसी शङ्का को यहां अवसर नहीं, क्योंकि प्राकृत पुत्र के जन्म होने पर गर्भशुद्धि के लिए संस्कार का विधान है इस अप्राकृत बालक में संस्कार की आवश्यकता नहीं, श्रीवसुदेवजी को इस बालक की दिव्यता का ज्ञान हो चुका है, इसलिए तो स्तुति करते हैं। मानसिक गोदान रूप कर्म की समाप्ति के अनन्तर श्रीवसुदेवजी ने पुत्र रूप से प्रकट हुए पूर्ण पुरुषोत्तम की स्तुति की है। स्तुति अपनी अपेक्षा से उच्च कक्षा वाले पुरुष की की जाती है, पुत्र की स्तुति कैसे की गई, इस संशय के समाधान के लिए शुकदेवजी कहते हैं कि वसुदेवजी ने पूर्वोक्त प्रकार से इस बालक को परतत्त्व रूप पूर्ण पुरुष जानकर स्तुति की है, कभी कभी स्तुति केवल प्रशंसा करने मात्र से भी हो सकती है परन्तु यह स्तुति वैसी नहीं है, यह तो शतशः नम्रतापूर्ण स्तुति है वसुदेवजी 'नताङ्ग' होकर स्तुति करते हैं, भगवान् को नमस्कार करके स्तुति कर रहे हैं उनका अङ्ग झुक गया है।

कृतधीः—अब कृतधी पद का स्वारस्य बतलाते है कि जो भगवान् जैसे प्रकट हुए हैं उनको वैसा ही जानकर स्तुति करना उचित है, अन्यथा उचित नहीं। शास्त्र में कहा है कि 'अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते' आत्मा का स्वरूप हो कुछ अन्य प्रकार से, और यदि कोई अबुध अथवा अव्यवस्थितमति व्यक्ति उसे अतिरिक्त प्रकार से समझने लग जाते तो आत्मा के स्वरूप को अन्यथा स्वरूप समझाने वाले उस आत्मापहारीने कौन सा पाप नहीं किया!' इसलिये आत्मा का यथार्थ ज्ञान समझना चाहिए। श्रीवसुदेवजी ने तो कृतधीः स्थितप्रज्ञ होने के कारण भगवत्स्वरूप को यथार्थ जाना है यह ज्ञान यद्यपि पूर्व में वसुदेवजी को नहीं था कि पुरुषोत्तम का प्राकट्य होगा परन्तु भगवान् ने अपने श्री हस्तादि अवयवों का दर्शन कराकर उनकी उस प्रकार की बुद्धि बनादी जिससे वह समझ गये कि यह पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। कभी कभी नम्रता पूर्वक स्तुति भी समान स्तर के लोग परस्पर किया करते हैं परन्तु यहाँ वैसी बात नहीं है इसलिए, वसुदेवजी को कृताञ्जलिः कहा है कि वह अंजलिबद्ध बनकर स्तुति करते हैं क्योंकि महान् पुरुष की ही हाथ जोड़ कर स्तुति की जाती है, समान कक्षा वाले की नहीं की जाती। स्तुति मन वाणी और काया से होनी चाहिये, हाथों का जोड़ना काया की स्थिति का सूचक है कि स्तुति करने में काया का विनियोग हुआ, और 'कृतधी' शब्द से मन का विनियोग हुआ है, और वाणी का विनियोग तो स्तुति में स्पष्ट ही है क्योंकि स्तवन-कथन वचन द्वारा ही हो पाता है।

गतभीः प्रभाववित्—भगवद्गुणानुवाद उच्च स्वर से किया जाता है ऐसा करने पर जागरूक जग जायेंगे ऐसी शङ्का के निवारणार्थ 'गतभीः' विशेषण का प्रयोग किया है कि वसुदेवजी को कंस का भय नहीं था, क्योंकि वह 'प्रभावविद्' थे, भगवत्प्रभाव को उन्होंने जान लिया था कि यह काल आदि के भी नियामक हैं। यदि कोई कहे कि भगवान् का सामर्थ्य होते हुए भी उसे प्रकट न करें अथवा शालग्राम शिला आदि की भाँति सामर्थ्य के रहते हुए भी अतिक्रम करने वाले को परोक्ष रूप से ही दण्ड देते हैं। प्रत्यक्ष रूप से कोई दण्ड नहीं देते केवल शिलावत् मूक ही रहे तब तो विपरीत हो जाने का सम्भव है, इस शङ्का को निवृत्त करते हैं कि **स्वरोचिषा विरोचयन्तम्** भगवान् का सामर्थ्य तो प्रकट तेजःपुञ्ज से प्रत्यक्ष ही प्रतीत हो रहा है अपनी दिव्य कान्ति से जन्म स्थान को इस प्रकार प्रकाशित कर रहे हैं जैसे करोड़ों मणियों से गृह प्रकाशित होता है। भारत! यह सम्बोधन परीक्षित के विश्वास के लिये प्रयुक्त हुआ है कि हे राजन् तुम भगवद्भक्त राजर्षि भरत के वंश में प्रकट हुए हो अतः तुम्हारा इस प्रकार के भगवत्प्रभाव पर पूर्ण विश्वास होना तो अनिवार्य है ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं भगवतः प्रादुर्भावं निरूप्य प्रादुर्भूतं तं वर्णयति—तमिति द्वाभ्याम्। तं पुरुषोत्तमत्वेन शास्त्रे प्रसिद्धं, अद्भुतं सर्वाश्चर्यरूपं, बालकं वसुदेव ऐक्षत अपश्यदित्यन्वयः। अम्बुजे इव ईक्षणे नेत्रे यस्य तम्। चत्वारो भुजा यस्य तम्। शङ्खगदादीन्युद्यतानि उद्धृतानि येन तम्। आदिशब्देन चक्रपद्मयोः सङ्ग्रहः। 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता'

इति वाक्यात् शङ्खस्याप्यायुधत्वम्। कमलं तु क्रीडनकम्। श्रीवत्सं लक्ष्म चिह्नं वक्षसि रोमावर्तविशेषो यस्य तम्। गलेन शोभतेऽसौ गलशोभी स कौस्तुभो यस्य तम्। पीते अम्बरे यस्य तम्। सान्द्रो हि स्निग्धो यो नीलपयोदो मेघस्तद्वत् सौभगं सौन्दर्यं वर्णो यस्य ॥ ९ ॥ महार्हमसमूल्यं यद्वैदूर्यम्, तन्मयानि यानि किरीटकुण्डलानि, तेषां त्विषा प्रभया परिष्वक्तानि अनुविद्धानि सहस्रमपरिमितानि कुन्तलानि केशा यस्य तम्। उद्दामैरत्युत्कृष्टैः काञ्च्यादिभिर्विरोचमानमतिशयेन शोभमानम्। तत्र काञ्ची कटिसूत्रम्, अङ्गदानि बाहुभूषणानि, कङ्कणानि करभूषणानि, आदिपदेन भूषणान्तराणि सर्वाणि सङ्गृहीतानि ॥ १० ॥ स आनकदुन्दुभिर्वसुदेवस्तदा हरिं सुतं विलोक्य विस्मयेनाश्चर्येण उत्फुल्ले विकसिते विलोचने यस्य सः। कृष्णावतारनिमित्तः कर्तव्यो य उत्सवस्तत्र सम्भ्रमस्त्वरा यस्य सः। मुदा हर्षेण आप्लुतः व्याप्तः सन् द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो गवामयुतं दशसहस्रमस्पृशत्, कंसनिगृहीतत्त्वेन तदा दानस्याशक्यत्वात् मनसा दानं सङ्कल्पितवानित्यर्थः ॥ ११ ॥ अथ गोदानसङ्कल्पानन्तरं नताङ्गः कृतदण्डवत्प्रणामः ततश्चोत्थाय कृताञ्जलिः सन्नेनमस्तौदित्यन्वयः। ननु पुत्रे जाते जातकर्मादिसंस्कारः कर्तव्यो, न तु तत्स्तुतिरित्याशङ्क्याह—परं पुरुषमवधार्य निश्चित्येति। नहि तत्र परमेश्वरत्वनिश्चये प्राकृतवत् संस्कार उचित इत्याशयः। तथाऽवधारणे हेतुमाह—स्वप्रकाशेन सूतिकागृहं विरोचयन्तमिति। एवं प्रकाशकत्वेऽपि कलुषितान्तःकरणस्यैव निश्चयो न सम्भवतीत्याशङ्क्याह कृतधीरिति। भगवद्भक्त्या निर्मलीकृतबुद्धिरित्यर्थः। ननु कंसभयव्याकुलस्य कथं स्तुतिकरणं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—गतभीरिति। गता निवृत्ता भीर्भयं यस्य सः। तत्र हेतुमाह—प्रभावविदिति। स्वभक्तप्रतिपक्षिदुष्टविनाशकरूपभगवत्प्रभावं वेत्तीति तथा ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमद्भुतमिति द्वयम् ॥ अम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खो गदा अरि चक्रम् एतदादीन्युद्यतानि उत्कृष्टानि वा आयुधान्यस्य श्रीवत्सं वक्षसि रोमावर्त्तरूपं लक्ष्म चिह्नं यस्य। अदन्तमार्षम्। गले गलेन वा शोभते तादृक् कौस्तुभो यस्य पीताम्बरं सान्द्रो य पयोदो मेघस्तस्येव सौन्दर्यं यस्य महार्हाण्युत्कृष्टानि वैदूर्याणि नीलपीतरक्तच्छविरत्नविशेषा यत्र तादृक् यत्किरीटं मुकुटं त्रिकोणपत्रावलिरूपमिति च चक्रवर्ती। तच्च कुण्डले च तेषां त्विषा प्रभया परिष्वक्तानि अनुविद्धानि सहस्रमपरिमितानि कुन्तलानि केशा यस्य तम्। त्विषेत्याबन्तं वा। उपरि किरीटत्विषा परिष्वङ्गः उद्दामैरत्युत्कृष्टैः कांच्यादिभिर्विरोचमानमतिशयेन शोभमानम् तत्र काञ्ची कटिसूत्रम् अङ्गदानि बाहुभूषणानि कङ्कणानि करभूषणानि आदिपदेन भूषणान्तराणि सर्वाणि संगृहीतानि तम् अद्भुतं बालकं वसुदेव ऐक्षत ॥ ९-१० ॥ स इति ॥ आनकदुन्दुभिर्वसुदेवस्तदा हरिं सुतं विलोक्य विस्मयेनाश्चर्येण अहो अविद्यया बद्धस्य बहिः कंसेन च बद्धस्य च गृहे सर्वबन्धनमोचको विष्णुरवतीर्णः। सर्वव्यापकोऽपि गर्भादजनिष्टेत्यादिरूपेण उत्फुल्ले विकसिते विलोचने यस्य सः कृष्णावतारनिमित्तः कर्त्तव्यो य उत्सवस्तत्र संभ्रमस्त्वरा यस्य सः मुदा हर्षेण आप्लुतः व्याप्तः सन् हर्षजलेनैव स्नात इति वा द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो गवामयुतं दशसहस्रमस्पृशत्। कंसनिगृहीतत्त्वेन तदा दानस्याशक्यत्वात् मनसा दानं संकल्पितवानित्यर्थः ॥ ११ ॥ अथेति ॥ हे भारत स्वस्य रोचिषा प्रकाशेन सूतिकागृहं विरोचयन्तम् एनं बालं परं पुरुषं भगवन्तम् अवधार्य निश्चित्य प्रभाववित् भगवत्प्रभाववेदी अत एव गता कंसजा भीर्भयं यस्य सः कृतधीः शुद्धबुद्धिः वसुदेवः नताङ्गः कृतदण्डवत्प्रणामः ततश्चोत्थाय कृताञ्जलिः सन् अस्तौत् ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति। महार्हेति च। वसुदेवः, तमवतीर्णं भगवन्तं, ऐक्षतापश्यदिति द्वयोरेकसंबन्धः। तं कथंभूतं, अद्भुतमदृष्टपूर्वत्वादाश्चर्यविषयं, बालकं बालमूर्त्तिं, अम्बुजे कमले इव ईक्षणे नेत्रे यस्य तं, चत्वारो भुजा यस्य तं, शङ्खः पाञ्चजन्यश्च गदा कौमोदकी च अराणि सन्त्यस्येत्यरि चक्रं च उदमुदकमायुर्जीवनमस्येत्युदायुः पद्मं च तानि धत्तेऽसौ शङ्खगदार्युदायुधस्तम् 'अरं शीघ्रे च चक्राङ्गे' इति मेदिनी। बाष्पोदबिन्दूनिति रसमञ्जर्याम्। 'विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहा' इत्येकादशस्य षष्ठेऽध्याये एकोनविंशश्लोकटीकायामुदमुदकं वहन्तीति श्रीधरस्वामिनः 'को नाम तत् प्रतिकरोति विनोदपात्रम्' इत्यादावुदशब्द उदकार्थः। 'विद्यादायुं तथाऽऽयुषा। आयुरप्यायुषा सह' इति च द्विरूपकोषः। केचित्तु शङ्खगदाद्युदायुधमिति पठन्ति। पठन्ति। तत्त्वे शङ्खगदे आदी येषां तानि शङ्खगदादीनि उद्युतानि आयुधानि यस्य तं, श्रीवत्सो लक्ष्म चिह्नं यस्य तं, आर्षत्वाट्टिलोपः। यद्वा। श्रीवत्स एव लक्ष्म तदस्यास्तीति तं, आर्षत्वान्मत्वर्थीयेऽचि 'नस्तद्धित' इति टिलोपः। श्रीवत्सलाञ्छनमित्यर्थः। श्रियां लक्ष्म्यां वत्सला सापत्न्यदोषनिवृत्त्या अनुकूला क्ष्मा मूर्त्तिर्यस्येत्यन्ये। गले कण्ठे शोभी शोभावान् कौस्तुभो यस्य तं, पीतं पीतवर्णमम्बरमधोंऽशुकं यस्य तं, सान्द्रपयोदस्य जलपूर्णमेघस्येव सौभगं कान्तिविशेषो यस्य तम् ॥ ९ ॥ महार्हाण्यनर्घ्याणि वैदूर्यादीनि रत्नानि यस्मिंस्तस्य किरीटस्य कुण्डलयोश्च समाहारस्य या त्विट् कान्तिस्तया आ समन्तात् परिष्वक्ता अनुविद्धा सहस्रं कुन्तला यस्य तं, उद्दामा श्लाध्यतमा ये काञ्च्यङ्गदकङ्कणादयस्तैः, विरोचमानो विशेषेण शोभमानस्तं, तत्र काञ्ची कटिमेखला, अङ्गदे केयूरे, कङ्कणानि हस्तकटकानि, आदिशब्देन हंसकशृङ्खलकादेर्ग्रहणम् ॥१०॥ स विस्मय इति। सः आनकदुन्दुभिः वसुदेवः, हरिं स्वशरणगतार्त्यादिहरं श्रीपुरुषोत्तमं, सुतं पुत्रभावं प्राप्तं, विलोक्य, तदा, विस्मयेनाश्चर्येण उत्फुल्ले विकसिते विलोचने यस्य सः, कृष्णावतारः साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमप्रादुर्भावस्तस्माद्य उत्सवस्तस्मात् संभ्रमश्चित्तसंवेगो यस्य तथाभूतः, तथा आप्लुतः स्नातः

संभ्र, मुदाऽत्यानन्देन, द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः, गवां धेनूनां, अयुतम् अस्पृशत् । दशसहस्रगोदानसंकल्पं मनसा कृतवानित्यर्थः ॥११॥ अथेति । अथानन्तरम् , हे भारत, वसुदेवः, स्वरोचिषा स्वकान्त्या, सूतिकागृहं विरोचयन्तम् एनं प्रादुर्भावं प्राप्तं, पुरुषं, परं परम-पूरुषम्, अवधार्य निश्चित्य, नताङ्गः विनयेनावनताङ्गः, कृतधीः शुद्धबुद्धिः, कृताञ्जलिः विहितकरसंपुटः, गता भीः कंसाद्भयं यस्य सः, प्रभाववित् भगवन्महिमाभिज्ञः, एवंभूतः सन् , अस्तौत् तुष्टाव ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

भगवति विधियोगादागतेऽध्यक्षभावं हितमति रतितोषादक्षजातं तदैव ।
विगतविविधभावो योजयेद् ब्रह्मभूते किमिति स वसुदेवोऽबोधयद्गोप्रदानात् ॥ ९८ ॥
सितोल्लसितसद्गुणं दरगदारि-पद्मोल्लसत्करं स्वपदसेवकावन-समुल्लसन्मानसम् ।
पयोमुगसितप्रभं कनकवर्ण-चीनाम्बरं वराभयदयाकरं वरमिदं प्रपद्ये महः ॥ ९९ ॥
किं वर्णयामि भगवंस्तव रूपमेतद् भक्तैकहेतुकमनन्तसुख-प्रबोधम् ।
तत्सर्वभावविहिता प्रणतिर्ममेयं त्वद्ध्यान-पूजन-नुतिप्रसृतार्थदाऽस्तु ॥ १०० ॥
किं ते वदामि भगवन् वरदानजातिमद्यापि नापि किल यद्धितमिन्द्रमुख्यैः ।
त्वज्जन्मना व्यरचि तद्धितदानमद्य नाम्नेऽपि मे किमुत मे परमेशवाच्यम् ॥ १०१ ॥
निराकाराऽपि साकारा मूर्तिस्तव मयेक्षिता । प्रभो किं चित्रमत्रैषा कारा राकात्वमागता ॥ १०२ ॥
मोदं दत्स्व विभो यदत्र सततं कौमोदकीमत्करो ब्रूषे देहि सुसम्पदं च यदयं पद्माश्रितस्ते करः ।
शत्रून् भञ्जय भञ्जयाऽश्वरिदरप्रोद्यत्करः सेवकांस्तन्नः पालय विश्वतात सदयेत्याम्नातनामासि यत् ॥१०३॥

कृष्णप्रिया

वह प्रकट पुरुषोत्तम अद्भुत है; बालक है; कमल तुल्य नेत्र है चार भुजाओं से युक्त है; उन भुजाओं में शङ्ख कमल गदा चक्र चार आयुध उठे हुवे हैं वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिह्न है; कण्ठ में कौस्तुभ मणि विराजमान है, पीताम्बर धारण किये हैं; नील गाढ़ स्निग्ध मेघ के समान अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥ उत्तममूल्य वाले नीलपीतरक्त कान्तिवाले वैदूर्य मणि से जटित किरीट और कुण्डलों की कान्ति से चारों और स्फुरायमान हिरण्यकेश केश वृन्दवाला, कटिप्रदेश पर सूत्र के बन्धन से रहित करधनी-बाजूबन्द-कंकण आदि आभूषणों को छबि को अधिक ठहराने वाला दिव्य स्वरूप वेदप्रसिद्ध वह बालक का श्री वसुदेवजी ने दर्शन किया ॥ १० ॥ जब प्रभु का प्राकट्य हुआ तब श्रीहरि भगवान को पुत्र रूप में हरि को देखकर वसुदेवजी के नयन विस्मय से विकसित हो गये, और श्रीकृष्ण का अवतार होने के कारण उल्लास और आनन्द के अतिरेक से संभ्रान्त होकर प्रसन्नता जल से स्नान कर ब्राह्मणों को दश सहस्र गोप्रदान का मानस संकल्प किया ॥ ११ ॥ भारत ! राजन् परीक्षित् ! श्री वसुदेवजी ने मानस संकल्प से गोप्रदान किया, फिर अपनी दिव्य कान्ति से प्रसूति गृह को विशेष प्रमाण में प्रकाशित करने वाले चतुर्भुज इस अद्भुत बालक को यह ही पूर्णपुरुषोत्तम है ऐसा निश्चय कर, प्रभु के सामर्थ्य को जानने वाले श्री वसुदेवजी निर्भय होकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए अञ्जलि जोड़कर स्तुति करने लगे ॥ १२ ॥

श्री [1]वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥ १३ ॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् । तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥ १४ ॥
यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह । नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि[2] ॥ १५ ॥
सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव । प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः ॥ १६ ॥

फर्दमक्षमा

अन्वयः—भवान् प्रकृतेः परः पुरुषः केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् साक्षात् विदितः असि ॥ १३ ॥ सः एव त्वम् अग्रे स्वप्रकृत्या त्रिगुणात्मकम् इदं सृष्ट्वा तदनु अप्रविष्टः अपि प्रविष्टः इव भाव्यसे ॥ १४ ॥ यथा इमे अविकृताः भावाः तथा ते पृथग्भूताः नानावीर्याः विकृतैः सह सन्निपत्य विराजं जनयन्ति (एवं) समुत्पाद्य अनुगताः इव दृश्यन्ते प्राग् एव विद्यमानत्वात् तेषाम् इह सम्भवः न ॥ १५–१६ ॥

१. वसुदेव उवाच–श्रीधर. वंशी. गिरि. मक्त. ; प्राचीनप्रत्यां वसुदेव उवाच पाठो न दृश्यते । २. जनयन्ति च–इति कस्यचित् शयनं तव–विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

वसुदेवः प्रथमं पुत्रबुद्ध्या पश्यंस्तां परित्यज्याऽऽह । विदितोऽसीति । कथं विदितोऽस्मि । भवान्प्रकृतेः परः पुरुष इति । ननु किमाश्चर्यं पुरुषस्य प्रकृतेरन्यत्वादेवेत्यत आह । साक्षादिति । प्रत्यक्षत इत्यर्थः । नन्वक्षिसन्निकृष्ट प्रत्यक्षतः उपलभ्यते किं चित्र-मित्यत आह । केवलेति । केवलश्चासावनुभवश्च स चासावानंदश्च तदेव स्वरूपं यस्य सः । किं च सर्वबुद्धिदृक् न ह्येवंभूता दृश्यो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु देवकीजठरे प्रविष्टस्य किमियमतिस्तुतिः क्रियतेऽत आह । स एवेति । स एव उक्तस्वरूप एव त्वमसि न देवकीजठरे प्रविष्ट इत्यर्थः । ननु विश्वं सृष्ट्वा तदनु प्रविष्टस्य किमेतद्वहुत आह । स्वप्रकृत्येति । स्वमायया सृष्ट्वा तदनु त्वमप्रविष्ट एवेति । ननु तर्हि कथं श्रुत्याच्यते "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यत आह । प्रविष्ट इवेति । भाव्यसे निरूप्यसे प्रत्यक्षतो वा सद्रूपेण वा प्रविष्ट इव लक्ष्यसे ॥ १४ ॥ अत्र दृष्टांतः । यथेति । इमेऽविकृता भावा महादादयो यथा तथेति । दृष्टांतं विवृणोति । ते विकृतैरिति । ते महदादयः विकृतैः षोडशविकारैः सह संनिपत्य विराजं ब्रह्मांडं जनयंति । संनिपतने हेतुः । यतः पृथग्भूताः संतो नानावीर्या विशिष्टकार्यसमर्था भवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥ अतः संनिपत्येति । एवं समुत्पाद्यानुगताः प्रविष्टा इव दृश्यंते न पुनः प्रविष्टाः । कुतः । उत्पत्तेः प्रागेव कारणतया विद्यमानत्वान्न तेषामिह सृष्टे कार्ये पश्चात्संभवः प्रवेश इति ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तां पुत्रबुद्धिम् अक्षिसन्निकृष्टं नेत्रगोचरम् । यद्वा—विदितोऽस्यय मयोपलब्धोसीत्याह—यः प्रकृते परस्तद्द्रष्टा पुरुषः स भवान् यथा यः केवलानुभवानंदस्वरूपः परब्रह्माख्यो निर्विशेष आत्मा सोऽपि भवान्यश्च सर्वबुद्धिदृक् सर्वांतर्यामी परमात्मा सोऽपि भवानिति तत्तद्रूपकत्वात्स्वयं भगवत्त्वेन ज्ञातोऽसि तत्रापि साक्षाद्विदितोऽसि चक्षुषा दृष्टोसीत्यहो मे भाग्यमहिमेति भाव इति तोषिण्याम् । इत्यर्थ इति । नहि द्रष्टा दृश्यतां यातीति भावः । केवलो द्वितीयोऽनुभवो ज्ञानं आनन्दसुखं कथमेतादृश-स्तत्राह—किंचेति ॥ १३ ॥ केवलद्रष्टृरूपस्य कथं जन्मादीति शंकते—नन्विति । जठरम् उदरम् । उक्तस्वरूपः केवलानुभवानंदस्वरूपः । इत्यर्थ इति । न ह्येतादृशस्य जठरे प्रवेशः संभवतीति भावः । पुनराशंकते नन्विति । तदनु सृष्टिमनु । किमेतद्बहु किमधिकं कथ्यते प्रविष्ट इति । अतो हेतोः । पुनराह—स्वप्रकृत्या स्वमाययाऽघटनघटनापटीयस्या स्वशक्त्या । पुनराशंकते नन्विति । श्रुत्या वक्ष्य-माणया प्रत्यक्षतो योगिभिरेवान्यैः कथं लक्ष्य इत्याशंकानिवृत्तये सद्रूपेण आकाशः सन्वायुः सन्नित्यादिरूपेण सर्वैर्लक्ष्यते इति भावः । अत्र विश्वनाथः—ननु भो तात त्वद्गृहे प्रविष्टं परिच्छिन्नमेव जातमेव जानास्यतः किमपि मे तत्त्वं न जानासीत्याशंक्य स्वज्ञानमाविष्कुर्वन्नाह—स एवोक्तस्वरूप एव स्वप्रधानशक्त्येदं विश्वं सृष्ट्वा तदनु प्रविष्ट इवाप्रविष्ट इव च निरूप्यसे जगतोंतरुप-लभ्यमानत्वादप्रविष्ट इव न त्वप्रविष्टः बहिश्चोपलभ्यमानत्वात्प्रविष्ट इव न तु प्रविष्ट इत्यर्थः । एवमेव वर्त्तमानस्त्वं मद्गृहे प्रविष्ट इव न तु प्रविष्टः सर्वदैव वर्त्तमानस्त्वं जात इव न तु जातस्तेन च सर्वव्यापकमूर्त्तस्तव कंसः किमपि कर्त्तुं न शक्नुयादिति-जानाम्येवेति ॥ १४ अत्राप्रविष्टस्यापि प्रवेशे महदादयः सप्त महदहंकारपंचतन्मात्रारूपाः । विवृणोति स्फुटयति । सन्निपत्य मिलित्वा । विशिष्टकार्यसमर्था ब्रह्मांडोत्पादनसमर्थाः ॥ १५ ॥ अतो हेतोः । एवं समुत्पाद्य मिलित्वोत्पाद्य ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

विदित इति तैर्व्याख्यातं तत्र कथमिति किं प्रकारक इत्यर्थः । भवानित्यादौ हेतुरूपे वाक्यान्तरे तत्तल्लक्षणदृष्ट्या परम-पुरुषत्वेन सिद्धो भवान् प्रकृतेः परः इति व्याख्येयं नन्वित्यादौ ननु तर्हि आश्चर्यवत्कथं विदितोसीति वदसि ? पुरुषस्य प्रकृतेरन्यत्वं प्रसिद्धमेवेत्यत आह—साक्षादिति । यद्वा परमदुर्लभस्यापि साक्षात् प्राप्त्याऽतिप्रहृष्यन्नाह-विदितोसीति । मयाऽद्यत्वमुपलब्धोऽ-सीत्यर्थः । वेदनप्रकारमेवाह—यः प्रकृतेः परः प्रकृतिद्रष्टा पुरुषः स भवान् यथा यः केवलानुभवानन्दस्वरूपः परब्रह्माख्यो निर्विशेष आत्मा सोऽपि भवान् यश्च सर्वबुद्धिदृक् सर्वान्तर्यामी परमात्मा सोपि भवानिति तत्तद्रूपकत्वात् स्वयं भगवत्वेन विदितोसीत्यर्थः । तत्रापि साक्षाद्विदितोसि चक्षुषा दृष्टोऽसीत्यहो मम भाग्यमहिमेति भावः ॥ १३ ॥ तत्र दैन्येन तस्मिन्निजपुत्रत्वापलपनाय "सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता" इति दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानित्यादि लब्धमपि तत्प्रवेशं वारयति—स एवेति चतुर्भिः तस्मात् सर्वव्यापकस्य तवात्र सम्प्रति प्रकाश एव न तु प्रवेश इति तात्पर्यम् । वास्तवार्थस्त्वेवं न केवलं साक्षात्प्राप्तोसि अपितु पुत्रतयाऽपीत्याशयेनाह—स इति । स एव पूर्वोक्तमदनुभवरीत्या अनेनैव रूपेण स्वयं भगवद्रूप एव त्वं ततो हेतोरप्रविष्टः असम्भावित-प्रवेश इत्यर्थः । "पराजेरसोढः" (१।४।२६) इति वन्निष्ठार्थवैशिष्ट्यं तथाभूतोपि स्वप्रकृत्या प्रेमवशत्वेन परमाचिन्त्यशक्तित्वेन च निजस्वभावेन इदं देवक्युदरं हि निश्चितं प्रविष्टो भाव्यसे क्रियसे तत्र दृष्टान्तः अग्रे सृष्ट्यादौ कारणार्णवशायिरूपेण त्रिगुणात्मकं ब्रह्माण्डं सृष्ट्वा गर्भोदकशायिरूपेणानु पश्चात्तदिवेति अत्र सामान्यतोऽयं भावः वक्ष्यमाणानुसारेणायोग्येपि तत्र यदि प्रविष्टस्तदात्र योग्ये किमुतेति विशेषतः स्वयं ब्रह्मादिभक्त्या तत् प्रवेशे सत्यपि ब्रह्माण्डस्य जडत्वेन त्वत्प्रेमाभावात् प्राकृतगुणमयत्वेन त्वत्स्पर्शि-त्वाभावाच्च तत्रोदासीन एवासि अतः प्रविष्टोऽप्यप्रविष्ट एव अस्यास्तु तद्वैपरीत्यादस्त्येव तत्तद्योग्यतेति तद्वदेव च ममेति स्वविग्रह-प्रविष्टत्वेन पुत्रतयापि त्वं प्राप्तोसीति अत एव । यद्वा तदनु हि निश्चितमप्रविष्टस्त्वम् इदं तु प्रविष्ट इव भाव्यसे यथा अन्यत्रान्यः

प्रविष्टो भवति तथैव क्रियस इति। एतदुक्तं भवति "न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्" इत्यादिरीत्या परमकारणतत्त्वैकरूपमपि विभुमपि निजविग्रहं निजजनप्रेम्णा स्वल्पदेशमध्यस्थितमेव सन्दर्शयसि तेन चानन्दयसि ब्रह्मानुभविनोपीऽत्यन्यथानुपपत्त्या मणिमन्त्रमहौषधादिवत् काप्यचिन्त्या शक्तिरेव निमित्तमुपपद्यते तथैव निजजनप्रेमप्रवर्तितया लोकवल्लीलाकैवल्यविनोदशीलशालिनस्तत्र प्रवेशोपि सम्पादितः तथा पुत्रभावोपीति तत एव भगवतो वरादिकं च निर्व्यूढमिति ज्ञेयम् अत्र श्रीदेवक्या तदर्थमस्मिन्नेव जन्मनि व्रतं विधाय तस्मात्तद्वरो लब्ध इति श्रीविष्णुधर्मप्रसिद्धिश्चानुसर्त्तव्या ॥ १४ ॥ अन्यत्र महदादीनामिव भवतः सुतरां प्रवेशोपि न सम्भवेदित्याह—यथेति युग्मकेन। बहिर्गतस्यान्तर्गमनमेव प्रवेशोपि न सम्भवेदित्याह—यथेति युग्मकेन। बहिर्गतस्यान्तर्गमनमेव प्रवेशः पूर्वं विद्यमान एव हि कारणे कार्यांशाभिव्यक्तिश्चेति न तेषां प्रवेश इत्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

परमदुर्लभस्यापि साक्षात् प्राप्त्यातिप्रहृष्यन्नाह—विदितोऽसीति, मयाद्य त्वं साक्षादुपलब्धोऽसीत्यर्थः। यद्यपि भवान् प्रकृतेः परः पुरुषः परमेश्वरः केवलानुभवानन्दस्वरूपः परब्रह्म सर्वबुद्धिदृक् च परमात्मेत्यर्थः। अहो मम भाग्यमहिमेति भावः ॥ १३ ॥ तत्रापि पुत्रतया प्राप्तोऽसीत्याशयेनाह—स इति। 'एव' अपि, स उक्तस्वरूपोऽपि त्वं स्वस्य तव प्रकृत्या भक्तवात्सल्यादिस्वभावेनेदं मद्गृहं श्रीदेवक्युदरं वा प्रविष्ट इव भाव्यसे क्रियस इवेति तत्त्वतो मनोधारणेनोदरप्रवेशाभावात्, किंवा लोकोक्तिरीत्यानधिकार्थम्; 'हि' अपि, पूर्वं त्रिगुणात्मकं जगत् सृष्ट्वा तदन्वप्रविष्टोऽपि ॥ १४ ॥ अप्रविष्टत्वमेव, किंवा, अप्रविष्टस्यापि प्रविष्टत्वं दृष्टान्तेन साधयति—यथेति द्वाभ्याम्। यद्यपि तेषां महदादीनां प्रथमत एव कारणत्वेनावरणतया बहिर्विद्यमानत्वादिह विराजि प्रवेशो नास्ति, तथापि प्रविष्टा इव दृश्यन्त एवेत्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तथा तेन तन्मायाशक्त्युद्भवत्वादिप्रकारेण ते त्वदीया इत्यर्थ इति तेषां शक्तिः सम्भाविता; यद्वा, तथेत्यस्य परेणान्वयः; तेनानिर्वचनीयेन प्रकारेणेत्यर्थः। अथवा, बहुजन्मसु त्वन्माहात्म्यं जानतोऽपि ममाधुनैव कृतार्थताभूदिति वक्तुमादौ तज्ज्ञानप्रकारमेवाह—विदित इति। भवान् पूज्यस्त्वं जन्मानि बहूनि व्याप्य साक्षात् स्वयमेव मया ज्ञातोऽसि। कथम्? तदाह—पुरुष इत्यादि पादोनद्वयेन। प्रकृतिपरत्वादिरूपेण श्रीदेवक्युदरप्रविष्टत्वेन चेत्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥ १५-१६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सर्वबुद्धिदृक् सर्वज्ञानधरः ॥ १३-१४ ॥ सप्तमहदहङ्कारतन्मात्राः विकृतैः स्थूलभूतैः सन्निपत्येति पञ्चीकरणमुक्तं विराजं ब्रह्माण्डं शयनस्थानभूतम् अनुगताः अंडान्तर्गताः इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थः क इवेति बत तत्प्रागेव अण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमानत्वात् पृथिव्यादीनामण्डान्तरं नोत्पत्तिरित्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स्तुतिमेव दर्शयति–विदितोऽसीत्यादिभिर्दशभिः। तावत् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दम्, 'यतो वा इमानि भूतानि'' इत्यादिभिर्वेदान्तवाक्यैरवगतं स्वरूपतः स्वभावतश्च प्रकृतिपुरुषविलक्षणं ब्रह्म तदेव त्वमिति स्तौति–विदितोसीति द्वाभ्याम्। प्रकृतिशब्देनात्र "भूमिरापोऽनलो वायुः, अपरेयमितस्त्वन्याम्" इति श्लोकद्वयप्रतिपादितं चिदचिदात्मकप्रकृतिद्वयं तन्त्रेण विवक्षितं न त्वचेतनप्रकृतिरेव सर्वबुद्धिदृगिति सर्वसाक्षित्वोक्तेः जीवाद्व्यावृत्तेरप्यवगमान्मुक्तजीवस्वरूपस्य तत्संभवेऽपि स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकमित्यवगतजगद्व्यापारासंभवात्तदसंभवस्य जगद्व्यापारवर्जं "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (४।४।१७) इति सूत्रितत्वात् यद्वा प्रकृतेः पर इत्यनेनाचेतनप्रकृतेः परत्वमुच्यते सर्वबुद्धिदृक् स एवेत्यादिना बद्धमुक्तजीवाभ्यां परत्वमुच्यते यः प्रकृतेः परो विलक्षणोऽसौ केवलमनुभवः ज्ञानमानन्दश्च स्वरूपं यस्य सः अनुभवस्वरूप इत्येतावदुक्तेः दुःखस्यापि ज्ञानात्मकत्वेन तत्स्वरूपत्वं प्रतीयेत अतस्तद्व्यावृत्तये आनन्द इत्युक्तम् आनन्दोऽनुकूलं ज्ञानं स्वरूपं यस्येत्यर्थः। केवलशब्देन दुःखसंभिन्नानुभव व्यावृत्तिः सर्वा बुद्धीः तद्वृत्तीः युगपत् पश्यतीति तथा एवमनेन बद्धजीवाद्व्यावृत्तिरुक्ता ॥ १३ ॥ अथ मुक्तजीवाद्व्यावर्त्तयितुमाह—स एवेति। यः प्रकृतेः परः सर्वबुद्धिदृक्स एव त्वमग्रे सृष्टेः प्राक्कारणत्वेनावस्थित इति शेषः। स्वप्रकृत्या स्वशरीरभूतया महदादिपृथिव्यन्तरूपेण परिणतया त्रिगुणात्मिकया इदं परिदृश्यमानं स्थूलचिदचिदात्मकं सत्त्वादिगुणत्रयपरिणामरूपत्वेन तद्वश्यजीवप्रचुरत्वेन च तदात्मकं जगत् सृष्ट्वा अनु पश्चात्तज्जगत्प्रविष्टः स्थित्यर्थं सङ्कल्परूपज्ञाने प्रविष्टः सृष्टिदशायामपि प्रविष्टत्वात्तथाप्यप्रविष्ट इव भाव्यसे प्रविष्टजगद्गतविकारैरस्पृष्ट इव भाव्यसे विभाव्यसे विज्ञायस इत्यर्थः। तथा च श्रूयते "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् सत्यञ्चानृतं च सत्यमभवत्" इति विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेव भवेत् निरस्तनिखिलदोषमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमेकस्वरूपमेवाभवदित्यर्थः। इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थः। अप्रविष्ट इव तद्गतदोषास्पृष्ट एव विभाव्यस इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु कार्यानुप्रविष्टस्य मम कार्यात्प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थानं कथम्? कथन्तरां कार्यगतविकारास्पृष्टत्वम्? चेत्याशंक्य तदुभयं महदादिपृथिव्यन्ताचेतनदृष्टान्तमुखेनोपपादयति—यथेति चतुर्भिः। तावद्दृष्टान्तं शिक्षयति–यदेति

द्वाभ्याम्। सप्तमहदहङ्कारतन्मात्रारूपाः विकृताः प्रकृतिविकारात्मकाः भावाः पदार्थाः ये त इमे तैः विकृतैस्तद्विकाररूपैराकाशादिस्थूलभूतैरिन्द्रियैः साधिदैवतश्च सह तथा तैरिति पाठे ये च विकृता महदादयो भावास्तथा ये च तद्विकाराः स्थूलभूतरूपास्तैस्तैस्सहेत्यन्वयः। तावन्नानावीर्याः विभिन्नशक्तयः ब्रह्माण्डरूपैककार्योत्पादनोपयुक्तैकरूपसामर्थ्यरहिता इत्यर्थः। अत्र हेतुः पृथग्भूताः परस्परसंमेलनरहिताः तावदेवं भूतास्सन्तः "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि नामरूपे व्याकरोत्त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति श्रुत्युक्तरीत्या तदनुप्रवेशपूर्वकत्वत्कर्तृकत्रिवृत्करणद्वारा त्रिवृत्करणं पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणम्॥ १५॥ किञ्च संनिपत्य समुत्पात्य संहतत्वं समागतत्वञ्चेत्यवस्थाद्वयं प्राप्य "समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः" इति वैष्णववचनात्तत्र संहतत्वं नाम पृथक्स्थित्यनर्हसंयोगमात्रं समागतत्वं पृथक्स्थित्यनर्हसंश्लेषविशेषः विराजं ब्रह्माण्डं त्वच्छयनस्थानं जनयन्ति हि हिशब्देन "महदादिविशेषान्ताह्यण्डमुत्पादयन्ति ते" इति वैष्णवादिपुराणान्तरप्रसिद्धिर्द्योत्यते एवं सम्यग्विराजम् उत्पाद्यानुगता इव दृश्यन्तेऽण्डान्तर्गता इव दृश्यन्ते इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थः अण्डान्तर्गता इव तत्रैव उत्पन्ना इव दृश्यन्ते न त्वण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमाना इवेत्यर्थः। न चैतावता तेषां तत्रोत्पत्तिरिति शक्यं वक्तुमित्यभिप्रायेणाह प्रागेवेति अण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमानत्वात्पृथिव्यादीनामण्डान्तर्नोत्पत्तिरित्यर्थः॥ १६॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रकृतेः परत्वेन केवलाऽनुभवानन्दस्वरूपत्वेन सर्वबुद्धिसाक्षित्वेन च पुरुषः षड्गुण इति भवान् पूज्यस्त्वं विदितोऽसि साक्षान्नोपचारमात्रम्॥ १३॥ ननु, साक्षित्वेनोदासीनश्चेत् जगत्स्रष्टा क इति तत्राह—स एवेति। तदनुसृष्टेरनन्तरं बहिरपि विद्यमानत्वात् अप्रविष्टः पूर्णस्वरूपात्प्रविष्टः सर्वगतस्य प्रवेशाप्रवेशौ उपचारतो न तु देवदत्तवन्मुख्यावित्यत इव शब्दः "बहिश्च विद्यमानत्वादप्रविष्टो जगत्पतिः। प्रविष्टवच्च तत्रैव पूर्णरूपत्वतो विभुः" इत्यादेः सर्वगतरूपेणाप्रवेशः पुरुषरूपेण प्रवेशः जले प्रतीयमानाकाशादिवदिति वा हि शब्दोऽसङ्गत्वमाह॥ १४॥ सृष्टिप्रकारं दर्शयति—य इति। य एते सप्ताविकृताः महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि भावाः पदार्थास्ते विकृतैः स्थूलीभूतैः पृथिव्यादिभिर्जन्यप्राणिकामकर्मादिभिर्वा सह सन्निपत्यान्योन्यं मिलित्वा विराजं ब्रह्माण्डं समुत्पाद्य अनुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते बहिरपि विद्यमानत्वात् कथम्भूता भावाः पृथग्भूता विश्लिष्टाः नानावीर्याः अवकाशदानादिशक्तीनां नानाविधित्वाद्विभक्तशक्तित्वात्तदभिमानिदेवानामिति शेषः। ननु, तर्हि मेलनकर्ता क इति तत्राह—शयनमिति। तव शयनस्थानीयत्वात्त्वमेव मेलनकर्त्ता इत्यर्थः॥ १५॥ व्यक्तिविशेषादण्डे प्रवेशमात्रमेवोत्पत्तिर्न तु साक्षादित्याह, प्रागेवेति। इह ब्रह्माण्डे सम्भवः साक्षादुत्पत्तिर्नास्ति किं तु व्यक्तिविशेषेण प्रवेशमात्रमेव कुतः प्रागेव विद्यमानत्वात् लब्धसत्तात्वात्पूर्वमेवोत्पन्नत्वादित्यर्थः। प्रकृतिविकृतत्वमन्तरेणावान्तरविकृतत्वाभावात् महदादयोऽविकृता इत्युच्यन्ते, "महदादिस्त्वविकृतः" इत्यारभ्य "अण्डेत्वेषामभिव्यक्तिर्जनिरित्यभिधीयते" इत्यन्तेन सम्यग्व्याख्यातमाचार्यैरिति भाव्यम्॥ १६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विदितोऽसि भवान् विज्ञातोऽसि कथं यः प्रकृतेः परः पुरुषस्तद्द्रष्टा स भवान् यः केवलानुभवानन्दः परब्रह्माख्य आत्मा स भवान् सर्वबुद्धिदृक् सर्वान्तर्यामी सोऽपि भवानिति स्वयं भगवत्त्वेनेत्यर्थः। तत्रापि साक्षादेव विदितो दृष्टोऽसीत्यहो मम भाग्यमिति भावः। कियत् एतद्वा यतः पुत्रतयापि प्राप्ताऽसीति तमवतारकारणेन सह वक्तुं तादृशप्राप्तिदुर्लभताख्यापनाय प्रकृतिपरादित्वं योजयन् तस्य घटनाय सर्गादिपरिपाटिञ्चानुवदन् सर्गप्रवेशौ तावदाह॥ १३॥ स एवाह—तत्र प्रवेशोऽपि ततः परत्वमाह—एवं भवानित्यन्त्याभ्यां यथेति द्वाभ्याम्॥ १४॥ यथेमे पृथिव्यादयस्तथा ते महदादयोऽपि कथं हि यस्मात् कृतैरिति पूर्वत्र तु सजलादिभिः परत्र षोडशविकारैः पूर्वत्र विराजं तत्प्रायं घटं परत्र ब्रह्माण्डम्॥ १५–१६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

ईक्षित्वा यदुवाच, तदाह—विदितोऽसीत्यादि। त्वं विदितोऽसीति किं प्रकारेणेत्याकाङ्क्षायामाह— प्रकृतेः परः पुरुषः। तत् किमहं पञ्चविंशः? नेत्याह,—केवलानुभवानन्दस्वरूपः। तर्हि किमहं नौरूपः? नेत्याह—साक्षान्मूर्त्तम्, आनन्दज्ञानघन इति यावत्; अथवा केवलेनानुभवेन आनन्दो येषां तेषु भक्तेषु स्वरूपं श्रीकृष्णाख्यं रूपं यस्य॥ १४–१८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

विदितोऽसीत्यादि। केवलानुभवानन्द इव त्वमात्मा यस्य तत् केवलानुभवानन्दत्वं ब्रह्म तदेव रूपं रूपविशेषो यस्य। यद्वा, केवलेनानुभवेन स्फूर्त्या तर्काद्यगोचरतया आनन्दो येषां तेषु भक्तेषु स्वं रूपं प्राकट्यं यस्य, साक्षादपरोक्षः॥ १४-१८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हे भगवंस्त्वं मामेवं निजस्वरूपं यद्दर्शयसि तस्यायमभिप्रायः मत्पिता मदर्थं कंसाद्बिभेति तन्मामीश्वरं प्रतीत्य निर्भयो भवत्विति तत्सत्यं त्वयीश्वरत्वेन मम प्रतीतिः जातैवेत्याह —विदितोऽसि, कीदृशत्वेनेति चेदत आह - यः प्रकृतेः परः पुरुषस्तदीक्षणकर्त्ता स भवानेव यः केवलानुभवानन्दस्वरूपः परब्रह्माख्य आत्मा स भवान् यः सर्वबुद्धिदृक् सर्वान्तर्यामी सोपि भवान्

साक्षादेव स्वयं भगवत्त्वेनैवेति सर्वमहं जानाम्येवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु, भोः तात! त्वद्गृहे प्रविष्टं मां परिच्छिन्नमेव जातमेव जानासि अतः किमपि मे तत्त्वं न जानासीत्याशङ्क्य स्वज्ञानमाविष्कुर्वन्नाह स एव उक्तस्वरूप एव त्वं स्वप्रकृत्या स्वीयप्रधान-शक्त्या इदं जगत् सृष्ट्वा तदनु अप्रविष्ट इव प्रविष्ट इव च भाव्यसे निरूप्यसे जगतोऽन्तरुपलभ्यमानत्वात् अप्रविष्ट इव नत्व-प्रविष्टः बहिश्चोपलभ्यमानत्वात् प्रविष्ट इव न तु प्रविष्ट इत्यर्थः। एवमेव सर्वत्र वर्तमानस्त्वं मद्गृहे प्रविष्ट इव न तु प्रविष्टः सर्वदैव वर्तमानस्त्वं जात इव न तु आतस्तेन च सर्वव्यापकमूर्तस्तव कंसः किमपि कर्त्तुं न शक्नुयादिति जानाम्येवेति भावः ॥ १४ ॥ अत्र दृष्टान्तः यथा इमे अविकृता भावा महदादयो ब्रह्माण्डे प्रविष्टा अपि न प्रविष्टाः तत्र पुनर्जातवत् प्रतीता अपि न जातास्तथैव त्वमित्यर्थः। दृष्टान्तं विवृणोति ते अविकृताः विकृतैः षोडशविकारैः सह नानावीर्याः परस्परविसदृशस्वरूपा अपि पृथग्भूताः परस्परममिलिता अपि सन्निपत्य चैतन्यप्रेरणवशात् मिलितीभूय विराजं जनयन्ति ततश्च विराजं समुत्पाद्य अनुगता इव तत्र प्रविष्टा इव दृश्यन्ते न तु प्रविष्टास्तद्बहिरपि तेषां वर्त्तमानत्वादित्यर्थः। तथा तत्र विराजि समुद्भूतास्तत्र हेतुमाह प्रागेवेति इह विराजि सम्भव उत्पत्तिः समुद्भूता इव दृश्यन्ते न तु ॥ १५–१६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ज्ञानी भक्तो भगवतोऽतिप्रिय इत्यत आत्मनो भगवत्स्वरूपादिवर्णनेऽधिकारं निवेदयति—विदितोऽसि मया ज्ञातोऽसि कोऽस्मि? भवान् प्रकृतेः कार्यकारणरूपायाः मायायाः परः पुरुषः अप्राकृतलोकस्थः पुरुषोत्तमोऽस्ति किंलक्षणः? इत्यत्र सत्यत्वा-दिमत्त्वे सति जगज्जन्मादिहेतुत्वं ब्रह्मत्वमिति पुरुषोत्तमलक्षणमाह—सार्द्धेन केवलेति। केवलश्चासावनुभवश्चानन्दश्च स एव स्वरूपं यस्य सः केवलशब्दोऽत्र सत् शब्दार्थबोधकः तथा च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, प्रज्ञानमानन्दम्ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिप्रोक्तसत्यत्वादि-गुणयुक्तस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् सर्वज्ञः ॥ १३ ॥ स एव सत्यत्वादिगुणयुक्तस्त्वं स्वप्रकृत्या त्रिगुणमयया शक्त्या इदं विश्वं सृष्ट्वा तदनु "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः विश्वनियमनाय प्रविष्ट एव तथापि प्रवेशात्पूर्वं सर्वकारणस्य सर्वशक्तेः सर्वात्मनस्तव विद्यमानत्वादेवाप्रविष्ट इव भाव्यसे लक्षणं तु सत्यत्वादिमत्त्वे सति जगज्जन्मादिहेतुत्वं ब्रह्मत्वमिति विस्तरस्तु वेदान्तकौस्तुभे द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥ भगवतः प्राग्विद्यमानत्वमात्रे दृष्टान्तमाह—यथेति, द्वाभ्याम्। इमे स्वकार्यापेक्षया अविकृताः महदादयो यथा तथेति एतत् प्रपञ्चयति—ते इति। ते महदादयः विकृतैः स्वकार्यैः सह विराजं सावर्णं समष्टिशरीरं जनयन्ति ॥१५॥ ननु, पृथग्भूतानां तेषां विराड्जनने का शक्तिरित्यत्राह—सन्निपत्य सम्यगेकीभूय जनयन्तीति सम्बन्ध एवं समुत्पाद्य विराजं सम्यगुत्पाद्य अनुगता इव प्रविष्टा इव दृश्यन्ते न तु प्रविष्टाः यतो हि कारणरूपेण तेषां प्रागेव विद्यमानत्वात् न सम्भवः न प्रवेशसम्भवः ॥ १६ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ ॥ स भगवान् त्वमेव प्रकृत्या स्वाधीनया प्रकृत्या अग्रे त्रिगुणात्मकमिदं जगत्सृष्ट्वा जगदनु जगत्सर्जनानंतर-मेवाप्रविष्टो बहिर्विद्यमानत्वात्। प्रविष्टोऽतर्विद्यमानत्वात्प्रविष्ट इव जगत्समपरिमाणतया जगति विद्यमानत्वाद्भाव्यसे ज्ञायस इत्येतद्धि बहिश्च विद्यमानत्वादिति प्रमाणप्रसिद्धमिति। अयं भावः। गृहे प्रविष्टं घटादिकं गृहाद्बहिस्तिष्ठति गृहेऽपि गृहान्न्यूनपरिमाणतया तिष्ठति। भगवांस्तु जगतो बहिस्तिष्ठतीति कारणादप्रविष्ट इत्युच्यते। जगतोऽतस्तिष्ठतीति कारणात्प्रविष्ट इत्युच्यते। जगत्यपि जगत्समपरिमाणतया तिष्ठतीति कारणादप्रविष्ट इत्युच्यते इति। एतेन सृष्ट्वेत्यनेनैव जगत्सर्जनानंतरमित्यर्थ इत्यस्य प्राप्तत्वात्। तदन्वित्येतत्पुनरुक्तमिति चोद्यस्यानवकाशः। सृष्ट्वेत्यनेन जगत्सर्जनानंतर्यमुच्यते। तदन्वित्यनेन जगत्सर्जनानंतरमेव न तु कालाव्यवधानेनेत्युच्यत इत्यभ्युपगमात्। एतेनैव प्रविष्ट इवेति प्रविष्टसादृश्योक्त्या बहिर्विद्यमानस्य प्राप्तत्वाद्बहिर्विद्यमानत्वादप्रविष्ट इत्युच्यमाने पुनरुक्तिः स्यादिति दूषणमपास्तम्। प्रविष्ट इवेत्यनेन बहिर्विद्यमानत्वं नोच्यते किंतु समपरिमाणत्वमुच्यत्त इत्यभ्युप-गमात् ॥ ता० अर्थः ॥ विभुर्हरिर्जगतो बहिश्च बहिरंतश्च विद्यमानत्वाज्जगदप्रविष्टो जगत्प्रविष्ट इति चोच्यते। जगत्येव पूर्णरूपत्वतो जगत्पूर्णरूपत्वात्। जगत्समपरिमाणरूपत्वादिति यावत्। प्रविष्ट इव प्रविष्टसदृश इत्युच्यते। उक्तार्थे शब्दवेदिनां संमतिमाह ॥ अप्रवेश इति। बहिरंतर्गतस्येति हेतुगर्भविशेषणं। बहिरंतर्गतस्येति जगत्समपरिमाणस्याप्युपलक्षणं। भगवतो बहिर्गतत्वादप्रवेशोऽ-प्रवेशोक्तिर्युक्ता स्यात्। जगदंतर्गतत्वात्प्रवेशः प्रवेशोक्तिर्युक्ता स्यात्। जगत्समपरिमाणत्वात्तथा प्रविष्टोपमता प्रविष्टोपमतोक्तिर्युक्ता स्यादिति शब्दवेदिनः शब्दार्थवेदिन आहुरिति। एतेन बहिश्च विद्यमानत्वादिति श्लोकेनैवाप्रविष्टत्वस्य प्रविष्टोपमत्वस्य चोपपादि-त्वादप्रवेश इति श्लोकः पुनरुक्त इति चोद्यं परिहृतं। प्रमाणकारेणाप्रवेश इत्यनेन स्वोक्तार्थे शब्दवेदिनां संमतिरुच्यत इत्यंगीकारात् ॥ १५ ॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ स एव स्वप्रकृत्येति श्लोके स एव त्वं प्रकृत्या स्वेच्छयेदं जगत्सृष्ट्वाऽनंतरमेव जगत्प्रविष्ट इव भाव्यसे ज्ञायसे न वस्तुतः प्रविष्टोऽसीति हरेर्जगति प्रवेशाभाव उच्यते। सोऽनुपपन्नः। तथात्वे तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यादिश्रुतिविरोधः स्यादित्यतः प्रमाणेन तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ ॥ बहिश्चेति। चशब्दोऽनुक्तस्यांतरित्यस्य समुच्चयार्थः। तदंतरितिपदं तत्रैवेत्यनेन

संबध्यते। जगतो बहिर्विद्यमानत्वाद्धरिर्जगदप्रविष्टो भवति। तत्र जगदंतः पूर्णत्वत एव प्रविष्टवत्प्रविष्टसदृशश्च भवति। यथाऽऽकाशो घटेंऽतःपूर्णरूपं भवतीति कृत्वा प्रविष्टमित्युच्यते। तद्धरिरपि जगदंतः पूर्णरूपत्वात्प्रविष्ट इवेत्युच्यत इत्यर्थः। ननु बहिरेव प्रवेशः प्रविष्टसादृश्यं चेति द्वयमेवागतं न तु वस्तुतः प्रवेशः। तथा च पूर्वोक्तश्रुतिविरोधस्तदवस्थ एवेत्यत आह॥ अप्रवेशः प्रवेशश्चेति। जगतो बहिरंतर्गतस्याप्रवेशः प्रवेशस्तथा प्रविष्टोपमता च स्यादित्यन्वयः। नन्वंतर्गतस्य हरिरूपस्य प्रविष्टत्वमेवास्तु बहिष्ठत्वमपि कुतोंऽगीक्रियत इति चेत्। उच्यते। यदि जगदंतर्गतस्य हरिरूपस्य प्रविष्टत्वमेव स्यात्तर्हि घटांतर्गतस्य जलस्य यथा घटबहिष्ठत्वं नास्ति तथाऽस्यापि जगद्बहिष्ठत्वं न स्यात्। न चेष्टापत्तिः। तथात्वे एष म आत्मांतर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वेत्यादिना हृदयांतर्गत-हरिरूपस्य हृदयपूर्णरूपत्वमुक्त्वा तस्यैवांतर्गतरूपस्य एष म आत्मांतर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानंतरिक्षादीति बहिष्ठत्वप्रतिपादक-छांदोग्योपनिषदादिश्रुतिविरोधः स्यात्। अत्र हृदयांतर्गतहरिरूपस्य हृदयापेक्षयाऽधिकपरिमाणोक्त्या हृदयाद्बहिष्ठत्वं प्रतीयते। हृदयादधिकपरिमाणं तु सर्वलोकात्मकब्रह्मांडादधिकपरिमाणोक्त्या ज्ञायते। अतो यस्यैकस्य वस्तुनोऽतर्बहिष्ठत्वं प्रमाणसिद्धमस्ति तस्यैकस्यैव प्रवेशादित्रयं संभवति। यस्यैकस्यैव घटांतर्गतस्य घटबहिर्गतस्य धा जलादिवस्तुनोऽतर्बहिष्ठत्वं नास्ति तस्यैकस्य वस्तुनो प्रवेशादित्रयं न संभवति। हरिरूपस्य त्वंतर्बहिष्ठत्वस्योक्तप्रमाणसिद्धत्वादप्रवेशः प्रवेशस्य प्रविष्टवदिव प्रविष्टोपमत्वं चावश्यमंगी-कार्यमिति॥ १५॥ य एतेऽविकृताभाव इति श्लोके य एतेऽविकृता अपरिणामरूपाः सप्तभावा द्रव्याद्यभावांतसप्तपदार्था विकृतैः स्वस्वकार्यैः सह। विराजं ब्रह्मांडमनुगता इव प्रविष्टा दृश्यंत इति वैशेषिककल्पितसप्तपदार्थानां ब्रह्मांडप्रविष्टोपमत्वमुच्यत इत्यन्यथा-प्रतीतिनिरासाय प्रमाणेनैव सप्तभावा इत्यस्यार्थं दर्शयंस्तेनैव तेषामविकृतत्वं च घटयति॥ महदादिस्त्विति। आदिपदेनाहंकारतत्त्वं पंच शब्दादयो मात्रा गृह्यंते। तुर्महदादीनां विशेषार्थकः। सन्निपत्य समुत्पाद्येति श्लोकेऽनुगता इवेति वाक्यं विराजं ब्रह्मांड-मनुसृत्य गच्छंति इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायानूद्य व्याचष्टे॥ अनुगता इवेति। महदादेरपि प्रविष्टोपमत्वादित्रयं पूर्वोक्तयुक्त्यैवोप-पादनीयमित्याशयवान्पूर्वोक्तातिदेशेन तामेव युक्तिमाह॥ पूर्वोक्तवदिति। बहिरप्यंतश्च। ब्रह्मांडस्येति शेषः। ननु प्रागेव विद्यमानत्वादित्यादिना भागवतवाक्येन यो महदादीनां ब्रह्मांडे उत्पत्त्यभाव उच्यते स न युज्यते। महदादीनामंडादुत्पत्ति-प्रतिपादकेनांडजो ब्रह्मेत्यादिप्रमाणेन विरुद्धत्वादित्यतः प्रमाणमन्यथा व्याचष्टे॥ देवतानामिति। इत्यादि इत्यादावित्यर्थः। प्रवेशमात्रं तत्वानां महदादितत्त्वानां तदभिमानिदेवतानां चांडजो ब्रह्मेत्यादावुत्पत्तिरित्युपचर्यते। उपचारेणांडज इत्युत्पत्तिशब्दार्थो भवति। नन्वंडज इत्युत्पत्तिशब्दस्य प्रवेशरूपगौणार्थः कुतोंऽगीक्रियते। मुख्योत्पत्तिरेव किं न स्यादित्यत आह॥ पूर्वोत्पन्नत्वा-दिति। ब्रह्मांडादिति शेषः। पूर्वोत्पन्नत्वे हेतुः॥ विभक्तशक्तित्वादिति। तारतम्येन शक्तिमत्त्वादित्यर्थः। ननु ब्रह्मादीनां तारतम्येन शक्तिमत्त्वं केन प्रमाणेन सिद्धमिति चेन्न। विष्णुवायुगिरीशेंद्रा देवा विप्राः क्रमात्सदा। सामर्थ्यतो विहीनास्तु गुणैः सर्वैस्तथैव च। हीनो विष्णुर्न कस्यापि सर्वतश्चोत्तमोत्तम इति याज्ञवल्क्योपनिषद्भाष्योदाहृतहरिवंशप्रमाणसिद्धत्वात्। ननु तर्हि तारतम्येन शक्तिमत्त्वमस्तु। तथाऽप्यंडात्पूर्वोत्पन्नत्वं कुतः। अंडे उत्पन्नानामेव तारतम्येन शक्तिमत्त्वं किं न स्यादिति चेन्न। विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते चेति ब्रह्मसूत्रभाष्योदाहृतेन पूर्वे पूर्वे यतो विष्णोः सन्निधानं क्रमादिकम्। सामर्थ्याधिक्यमेतेषां पश्चादेव लयस्तथेत्यादिवामनपुराणेन विरोधः स्यात्। तत्र प्रमाणवाक्ये क्रमान्मुख्योत्पत्तिमतामेव तारतम्येन शक्तिमत्त्वस्योक्तत्वात्। ननु तत्र प्रमाणवाक्ये पूर्वपूर्व इत्युत्पत्तिमात्रमुच्यते। न तु मुख्योत्पत्तिस्तज्ज्ञापकाभावादिति चेन्न। बाधकाभावे सति मुख्या-मुख्योर्मुख्ये संप्रत्यय इति न्यायेन मुख्योत्पत्तेरेव ग्राह्यत्वात्। मुख्योत्पत्तिस्त्वंडात्पूर्वोत्पत्तिरेव भवति न त्वंडांत उत्पत्तिः। नन्वंडात्पूर्वोत्पत्तिरेव मुख्योत्पत्तिर्न त्वंडांतरुत्पत्तिर्मुख्येत्येतत्कुतः सिद्धमिति चेन्न। चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यादिति ब्रह्मसूत्रभाष्योदाहृते परादव्यक्तमुत्पन्नमव्यक्तात्तु महांस्तथेत्यादिस्कांदपुराणवाक्ये एवं बाह्या परा सृष्टिरित्यनेन बाह्यसृष्टेरेव परत्वं मुख्यत्वमुक्त्वांऽतः-सृष्टेरंतस्तद्यक्त्यपेक्षयेत्यनेनामुख्यत्वस्योक्तत्वात्। तत्र बाह्यांतःशब्दयोरंडादित्यध्याहृतांडशब्देनान्वयस्य टीकाकारैरुक्तत्वादंडाद्-बाह्यांतःसृष्टिरिति ज्ञायते। नन्वेतावता प्रबंधेनांडज इत्यत्रोत्पत्तिवाचकशब्दप्रवेशे गौणीवृत्तिरङ्गीकृता। गौण्या वृत्तेस्तु मुख्यार्थ-निष्ठासाधारणगुणसदृशगुणयोगो निमित्तम्। अत्र तादृशः को गुणोऽस्तीत्यत आह॥ व्यक्तिविशेषादिति। यथा घटादीनामुत्पत्त्य-नंतरमभिव्यक्तिर्भवति तथा ब्रह्मादीनामंडे प्रवेशानन्तरमभिव्यक्तिर्भवतीत्यभिव्यक्तिकारणत्वरूपमुख्यार्थनिष्ठगुणसदृशगुणयोगोंऽडे प्रवेशेऽप्यस्तीति न काऽप्यनुपपत्तिः। अत्र विभक्तशक्तित्वादित्यनेन तात्पर्यवाक्येन नानावीर्या इति भागवतवाक्यं हेतुगर्भविशेषण-परत्वेन व्याख्याय तस्य प्रागेव विद्यमानत्वादित्यत्र हेतुत्वेनान्वयः सूचितो भवति। स्वोक्तार्थे प्रमाणमाह॥ महद्रूपादिनेति। आदिपदेनाहंकारादिरूपं ग्राह्यम्। अभिधीयते प्रतिपाद्यते। लक्षणयेति शेषः॥ १६॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

प्रभावविदित्युक्तज्ञत्वं सर्वज्ञं प्रति सम्बोध्य किञ्चिद्दर्शयति। विदित इति। प्रकृतेः परो विलक्षणः पुरुषः। नाविष्टरूपादिरित्याह साक्षादिति। मुख्यतया केवलो जडामिश्रो अनुभवो ज्ञानं चानन्दस्तावेव स्वरूपं यस्य स बुद्ध्यत इति बुद्धिः सर्वो चासौ बुद्धिः पदार्थस्तं पश्यतीति स तथा। यद्वा बुद्धं बुद्धिर्भावेक्तस्तदस्ति यस्य तत् सर्वं च तद्बुद्धिं च ज्ञानविषयो जगत्पश्यतीति सर्वबुद्धि-दृगिति सर्वजीवद्रष्टा। बुद्धिर्जायत इति प्रोक्त इति तात्पर्यान्तरादिति वा। भवान्विदितोऽसि। त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन इति

ऋग्भाष्ये त्वं विष्णो प्रथमो मातरिश्वन आविर्बभूयास्य सुबोधवत्त्वादिति कथमुक्तमित्यर्थादाशङ्क्य टीकायां युष्मद्युपपदेऽपि त्वं देवशक्त्यामित्यादौ प्रथमपुरुषो दृष्ट इत्युक्तेरत्र भवच्छब्दयोगेऽत्यत एव भागवतान्मध्यमपुरुषो ज्ञेयः । व्यत्ययस्तद्विवरणकृद्भिः स्वातन्त्र्यार्थ इत्युक्तोऽत्रापि मद्वेदनदानत्वमेव स्वतन्त्र इति स्वातन्त्र्यद्योतक इति भवान्विदितोऽसीत्युपपद्यते । तन्नियमप्रच्यावनं न कार्यं चेत् । (१) भा दीप्तौ (२) भा ज्ञाने (३) भा आधारभावे (४) भा औदार्ये (५) भा सन्धाने (६) भा उपादाने (७) भा निकटभावे (८) भा सेव्यत्वे (९) भा ऊरीकरणे (१०) भा सन्ततभावे (११) भा नानाभावे (१२) भा वैलक्षण्ये (१३) भा आधिक्ये (१४) भा स्वातन्त्र्ये (१५) भा आनन्दे (१६) भा सन्ततवचने (१७) भा पूज्यभावे (१८) भा विस्तारे (१९) भा विनाशने (२०) भा स्वामिभावे (२१) भा विनिश्चललाभे भावे (२२) भा उग्रभावे (२३) भा उद्गाने (२४) भा सम्मोहने (२५) भा सञ्चारे (२६) भा विदारणे (२७) भा आलोचने (२८) भा सुन्दरभावे श्रीमदुडुपी श्रीकृष्णपादपद्मराधक-हृषीकेशश्रीमच्चरणैः श्रीमध्वराजमुखकमलाच्छ्रुत्वा लिखितमेतद्धातुव्याख्यानमिति तत्सम्प्रदायाभिज्ञोक्तमुखाच्छ्रुत्वा कृतेयं लेखेति एतदन्यतमो योग्यो भोऽस्यास्तीति भवानिति वा त्वं विदितोऽसीत्यन्वयः ।। १४ ।। स एव प्रकृत्येदमिति श्लोके प्रविष्ट इवेत्यनेन प्रवेशोऽवास्तविक इति प्रतीयते । सा च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित इत्यादिमानाव-मानितेत्यनेन प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यमाह । बहिरिति हरिर्बहिश्च बहिरपि विद्यमानत्वाज्जगज्जगतोऽप्रविष्ट इत्युच्यते । विभुः पूर्णरूपत्व-तस्तत्र जगति प्रविष्टवत्प्रविष्ट इव तत्कृतलेपाभावादिवेत्युक्तिः । अणुत्वस्यैव घनत्वस्यैवासत्त्वरं वाऽणोरणीयान्महतो महीयानित्यादेः । इदमेव विशदयति । अप्रवेश इति । अप्रवेशः प्रवेशश्च प्रविष्टोपमता तथा । बहिरन्तर्गतस्यास्य हरेः स्यादिति शब्दवेदिन आहुरिति च ब्रह्मतर्क इति शेषः । एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्व्रीहेर्वेत्यादिना हृदयान्तर्गतस्य रूपस्य पूर्णत्वमुक्त्वा तस्यैवैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायानिति छान्दोग्योपनिषदाद्युक्तेः । ततश्चायं श्लोकार्थः । यो मया विदितः स एव सः सारत्वात्स इति प्रोक्त इत्यादेः साररूप इति वा सः साधकतापन्न इति वा । स कोपे वारणे सस्ये तया शूलिनि साधक इति विश्वः । स्वप्रकृत्या स्वाधीनप्रकृतिमुपादानीकृत्याग्रे जगत्सृष्ट्वा । अवान्तरकारणमाह । त्रिगुणात्मकमिति । अनु सर्जनमनुसृत्य तज्जगदेवाप्रविष्टो बहिष्ठरूपेणाप्रविष्टोऽन्तर्गतरूपेण प्रविष्टः । इवेन तत्कृतदुर्दशाशून्यतामाह । भाव्यसे विभाव्यसे हीति ब्रह्मतर्कप्रसिद्धिद्योतिका ।।१५।। य एते विकृताभावा इति श्लोकेऽविकृता अपरिणताः सप्तभावा द्रव्याद्यभावावसानाः पदार्था विकृतैः स्वस्वकार्यैः समेता ब्रह्माण्डं विराजमनुगता इव दृश्यन्त इति वैशेषिककल्पनास्पदसप्तपदार्थानां ब्रह्माण्डप्रविष्टोपमताऽत्रोच्यत इत्यपरधाप्रतिपत्त्यापत्त्यै भावाः सप्तेत्यस्य यथावदर्थं प्रदर्शयन्मानमुपन्यस्य तेनैव तेषामविकृतत्वं चैवमित्यावेदयति । महदादिरिति । अहङ्कारतत्त्वं शब्दादयः पञ्च-तन्मात्राश्चादिपदार्थः । अविकृतो महदादीनां साक्षादुपादानस्य प्रकृतेर्नित्यत्वादेषां सूक्ष्मरूपं च नित्यकमित्यादेरीषद्विकृतरूपतोऽसंसृष्ट-त्वाद्रूपभेदेनाविकृतत्वमप्रविष्टवतदुपादानत्वादीनि ज्ञेयानि । सन्निपत्य समुपयेत्युत्तरश्लोकेऽनुगता इवेति विराजं ब्रह्माण्डमनुसृत्य गच्छन्तीति भाति । तन्निरासाय तदनूद्य व्याचष्टे । अनुगता इवेति । तस्यार्थः प्रविष्टा इवेति । महदादिष्वपि प्रविष्टत्वाप्रविष्टत्वं भागवते पक्ष इवोपपादनीयमित्याशयवान्सङ्कुचयोक्तां स्मारयति । पूर्वोक्तवदिति । ब्रह्माण्डान्तस्तद्बहिश्च विद्यमानत्वात्तत्रिकं ज्ञेयम् । प्रागेव विद्यमानत्वादित्यादिनाऽत्रत्येन वाक्येन महदादीनामुत्पत्तिराहित्यमुच्यते । तच्चानित्यं द्विविधं मतम् । असंसृष्टं च संसृष्टमसंसृष्टं महानहम् । बुद्धिर्मनः खानि दश मात्रा भूतानि पञ्च च । संसृष्टमण्डं तद्वं च समस्तं सम्प्रकीर्तितम् । पूर्वं पूर्वं कारणं स्यात्प्रकृत्यंशैश्च संयुतम् । महदादिषु तत्त्वेषु त्वण्डाद्यं तात्त्विकं स्मृतम् । सूक्ष्माणि महदादीनि स्थूलान्यण्डादिकानि च । स इदं सर्वमसृजत ।। ॐ प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः । ॐ यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् । इत्यादि वियदधिकरणसुधा । ससर्ज भगवानादौ त्रीन्गुणान्प्रकृतेः परः । महत्तत्त्वं ततो विष्णुः सृष्टवान्ब्रह्मणस्तनुम् । महत्तत्त्वादहङ्कारं ससर्ज शिवविग्रहम् । दैवा-न्देहात्मनः स्वानि खं च सत्रिविधात्तत इत्यादिविरुद्धत्वान्नोपपद्यत इत्यतो मानमनुमतार्थतया समीकरोति । देवतानामिति । इत्यादीत्यस्येत्यावित्यर्थः । महदादीनां तत्त्वानां प्रवेशमात्रं देवतानामभिमानः । अण्डजो ब्रह्मेत्यादौ जनिधात्वर्थीभूतोत्पत्तिरुप-चर्यते । प्रवेशादिरूपगौणार्थपरेत्यर्थः । कुतो न सा मुख्योत्पत्तिरिति तिरस्करोति । पूर्वोत्पन्नत्वादिति । अण्डात्पूर्वमुत्पन्नत्वात् । तदसिद्धिं परिहरति । विभक्तशक्तित्वादिति । तारतम्येन विभागो ह्यल्पशक्तिः स्यादित्यादेः शक्तिमत्त्वादित्यर्थः । तथा हि बृहदार-ण्यकभाष्योदाहृतहरिवंशे । विष्णुवायुगिरीशेन्द्रदेवविप्राः क्रमात्सदा । सामर्थ्यतो विहीनास्तु गुणैः सर्वैस्तथैव च । हीनो विष्णुर्न कस्यापि सर्वतश्चोत्तमोत्तम इति । नन्वस्तु वरो विभक्तिशक्तित्वे पूर्वमुत्पन्नत्वं तु कुत इति चेन्न । ॐ विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यत इति सूत्रभाष्ये पूर्वे पूर्वे यतो विष्णोः सन्निधानं क्रमाधिकम् । सामर्थ्याधिक्यमेतेषां पश्चादेव लयस्तथेत्यादेः । बाह्यसृष्टिर्मुख्या त्वमुख्याऽण्डान्तःसृष्टिः । यथोक्तम् । चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यादिति सूत्रभाष्ये परादव्यक्तमुत्पन्नमव्यक्तात्तु महांस्तथा । एवं बाह्या परा सृष्टिरन्तस्तव्यक्त्यपेक्षयेति । को वा गुणः सम औपराक्यां वृतावित्यत आह । व्यक्तिविशेषादिति । घटादीनामिवोत्पत्त्यनन्तरं व्यक्तिविशेषस्तथा तद्गुणव्यक्तिकृत्सदृशव्यक्तिकृद्युक्तत्वाद्गौणी ज्ञेया मानमप्युक्तार्थं आह । महद्रूपेति । महद्रूपं महत्तत्त्वरूपं तदेवादिर्यस्याहंरूपादेस्तन्महद्रूपादि तेन ब्रह्मदेवा ब्रह्मादयो देवाः । अण्डे त्वित्युक्त्येयं जनिस्तद्बहिरिति द्योत्यते । तथा च तस्या-मुख्यत्वमपि ज्ञापितं ज्ञेयम् । अण्डे तदन्तर्जनिर्या श्रुता साऽभिव्यक्तिरभिधीयते गौणीवृत्त्या । ततश्चायं श्लोकद्विकार्यः । सृष्ट्वाऽग्र

इत्यग्रे कथितसृष्टिप्रकारमीरयति । य इति । ये एते सप्त अविकृता भावा महदहङ्कार पञ्च तन्मात्राः पदार्थास्ते विकृतैर्विकारमात्रैः पृथिव्यादिभिः सन्निपत्यान्योन्यं मिलित्वा विराजं ब्रह्माण्डं समुत्पाद्यानुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते बहिरपि सत्त्वात् । तद्भावस्वरूपं निरूपयति । पृथग्भूता इति । विश्लिष्टा नानावीर्यास्तत्तत्पदार्थशक्तीनां बाहुविध्यान्नानावीर्या इत्युक्तिः । तत्तदन्तर्गतानां विभक्तशक्तित्वादिति शेषः । तव शयनीयस्थानं तस्मात्त्वमेव मेलक इति भावः । उत्पत्तिस्तूपचारत इत्याह । इह ब्रह्माण्डान्तः प्रागण्डसृष्टेः पूर्वं विद्यमानत्वात्तेषां सम्भव उत्पत्तिर्मुख्या न हि । किन्तु व्यक्तिविशेषेण प्रवेशमात्रम् । प्रकृतिविकृतत्वातिरिक्तविकृतत्वाभावादविकृतैषां ज्ञेये.त ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा । नवधा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते ॥ १ ॥
यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति । पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्रं वेदेन सम्मितम् ॥ २ ॥
लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी । नवधा वसुदेवोस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी ॥ ३ ॥
एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरम् । दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे ॥ ४ ॥
शास्त्रतो भगवानेव प्रतीत्यापि दृढीकृतः । बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः ॥ ५ ॥

तत्र प्रथमं बाधकधर्मैश्चाक्षुषत्वादिभिर्ब्रह्मत्वं नोपपद्यत इति चाक्षुषत्वे निमित्ताज्ञानाद् भगवद्विषयकमज्ञानं सम्भवति तदादौ निराकरोति विदितोसीति ।

विदितोसीति ज्ञातस्वरूपस्तोत्रे एते, **भवान्** विदितो मया सम्यग् ज्ञात आर्षेण ज्ञानेन "तत्त्वमस्या" दिवाक्योत्थेन ब्रह्म एव जीवमपि भगवत्त्वेन जानन्तोति चेत् तत्राहासीति, यस्तु युष्मच्छब्देनापि व्यवह्रियते चतुर्भुजः सोपि त्वं **विदितोसी**त्यर्थः, अप्रयुज्यमानेपि युष्मच्छब्दे मध्यमपुरुषप्रयोगः, अतः शास्त्रतो लोकतश्च यः प्रतीयसे स मया विदित इत्यर्थः, अनेन परम्परया यः प्रतीयते चेतनश्च यो वा साक्षात् प्रतीयते तदुभयरूपो भवानित्युक्तम् ।

अथवा, "विदितोसी"ति प्रतिज्ञाय भगवतो ब्रह्मत्वमुपसंहरिष्यन् सर्वत्वं प्राप्तस्य ब्रह्मत्वं भवतीति "भवान् "पुरुष" इतिपदद्वयेन बाह्याभ्यन्तररूपस्त्वमेवेत्याह, प्रत्यक्षोप्यप्रत्यक्ष इति ज्ञापयितुं वा सम्मुखोप्यसम्मुख इति वा पुरुषत्रयरूपो भगवानिति वा वक्तु"मसि" "भवान्" "साक्षात्पुरुष" इतिपदत्रयं, अन्नमयादेरपि पुरुषविधत्वात् पुरुषो भवतीति तद्व्युदासार्थं साक्षादित्युक्तं, पुरुषप्रवेशात् परम्परया ते पुरुषाः, नन्वात्मस्फुर्तौ ब्रह्मविदामपि साक्षात्पुरुषत्वं भवतीति ततोप्याधिक्यमाह प्रकृतेः पर इति, न हि ते जीवाः प्रकृतिनियन्तारः, प्रकृतिनियमनं च गुप्तानामर्थानां मायाजीवादीनां प्राकट्यकरणात् प्रत्यक्षदोष'स्त्वसि' 'भवा'नितिपदाभ्यां परिहृतः, ज्ञानत्वदोषश्च सर्वभावेन प्राकट्यात् , विरुद्धा धर्मा एकैकांशेन चरितार्था भवन्ति, तर्ह्यहमात्मा चतुर्भुजदेहे विद्यमानस्तथा भविष्यामीतिचेत् तत्राह **केवलानुभवानन्दस्वरूप** इति, **केवलो** देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणरहितः, नापि जीववत् केवलं चिद्रूपः किन्त्वनु- **भवानन्दः**, अयोगोलके वह्निरिव भगवानस्मिन् देहे चिदानन्दः संक्रान्तो भविष्यतीत्याह स्वरूप इति, यत् स्वरूपं दृश्यते तदेव चिदानन्दरूपं, न तु चिदानन्दौ स्वरूपे यस्मिन्, अतश्चिदानन्दस्वरूपः सच्चिदानन्दविग्रह इत्यर्थः, एवं परोक्षापरोक्षान्तर्यामिरूपः परिदृश्यमानो भवानित्युक्तं, आत्मा नोक्त इत्यात्मत्वेनापि भगवन्तं निरूपयति सर्वबुद्धिदृगिति, सर्वेषां बुद्धीः, पश्यतीति सर्वेषां बुद्धिषु दृग् ज्ञानं यस्येति वा एव षड्विधोपि भगवानयमेवेत्युक्तं प्रत्यक्षव्यवहारादयश्च धर्मा अंशेन समर्थिताः ॥ १३ ॥

दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति स एवेति,

यद्यहं सर्वरूपो भगवानेव कथं देवक्या उदरे प्रविष्ट इति चेत् तत्राहाप्रविष्ट एव तत्र विद्यमान एव **प्रविष्ट इव भाव्यसे,** न हि दर्शनमात्रेण प्रविष्टत्वनिर्धारः कर्तुं शक्या यावच्छास्त्रेण दर्शनं संवादि न भवति, "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये" "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्", "गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे" एवं वेदे स्थित्यर्थं कार्यार्थमनेकरूपभवनार्थमन्यप्रवेशनार्थं च प्रवेशः श्रूयते, तथा देवक्यामपि कश्चन प्रवेशनप्रकारो भविष्यति, ननु तथापि सोपाधिक एव कार्याभिनिविष्ट एव प्रविशतीति मुख्यः कृष्णः कथं स्यात् तत्राह—**प्रविष्ट एव प्रविष्ट इवेति,** योगबलादपीन्द्र इव प्रवेशः सम्भवति दक्षिणायां वा जननार्थं प्रवेशः सम्भवति, "यो वा इता जनिष्यते स इन्द्रो भविष्यतीति तां प्राविशत् तस्या इन्द्र एवाजायते"तिश्रुते।दतेर्जठरे च मरुतां छेदनार्थमिन्द्रः प्रविष्टस्तथा भगवानत्र न प्रविष्ट इति वक्तु**मप्रविष्ट** इत्युक्तं, प्रवेशधर्मो भगवति वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं **प्रविष्ट इवेति** विभाव्यते, तर्हि कः प्रकारः प्रवेश इत्याकाङ्क्षायामाह यः पूर्वं सच्चिदानन्दरूप उक्तः स एवाग्रे पूर्वमेव स्वप्रकृत्याधिदैविकस्वभावेनेदं भगवदर्थमेव **जगत् त्रिगुणात्मक सृष्ट्वा,** अन्यार्थं जगत्सृष्टौ प्रवेशोपेक्ष्यते न स्वार्थसृष्टावित्यप्रविष्ट एव भोगार्थं कारणत्वेनैवाविर्भूतः सृष्ट्यन्तरन्यायेन **प्रविष्ट इव विभाव्यसे,** अयमत्र प्रवेशदर्शने प्रकार उक्तः, भगवान् स्वार्थं सृष्टानस्मानुपभोक्तुमस्मासु स्थित एवाविर्भूत इत्यप्रविष्ट एव **प्रविष्टो विभाव्यस** इत्यर्थः यथा सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रवेशभावना तथा स्नेहद्वेषसाधारणभावानामपि प्रभुविषयकाणां लीलास्थजनेषु दर्शनात् सृष्ट्यन्तरन्यायेन तेषामेवात्र

सत्वादिरूपत्वमित्याशयेन त्रिगुणात्मकत्वोक्तिर्ज्ञेया, अत्रिगुणात्मकमिति वा, यद्वाग्रे पूर्वं त्रिगुणात्मकं जगत् सृष्ट्वा तदनु तदनन्तरमुक्तरूपया स्वप्रकृत्येदं लीलात्मकं जगत् सृष्ट्वेत्यग्रे पूर्ववत्, अन्यथाक्त्वाप्रत्ययेनैव पूर्वभावित्वप्राप्त्याथोदेवाप्रवेशानन्तर्यमपि लभ्यत एवेति तदन्वितिपदं व्यर्थं स्यात्, यद्वा सृष्ट्यनन्तरं यस्तत्र प्रवेशस्तस्यानुप्रवेश इति रूढनाम ज्ञेयं, तथा सति नोक्तदोषः, अत एव श्रुतिरपि "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश"दित्युक्तवती, अन्यथान्वित्युपसर्गवैयर्थ्यं स्यात् ॥ १४ ॥

उक्तरीत्या दूषणान्तरमप्याशङ्क्य पुनः परिहरति द्वाभ्यां **यथेमे विकृता भावा** इति।

नन्वस्मिन् रूपे प्राकृतेष्विव पृथिव्यादीनि भूतानि प्रतीयन्ते, ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह यथेमेस्मिन् रूपे विद्यमाना **अविकृता भावा** आधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितानि तत्तत्कार्यार्थं तत्र तत्र स्थितानि, विकृतैस्तथैव चतुर्विंशतितत्त्वैः प्राकृतैः **सह नानावीर्या** रूपरसादिज्ञापनादिसमर्था अन्योन्यमिलिता भिन्नान्येव कार्याणि कर्तुमेकस्मिन्नेव कार्ये सर्वे संहत्य **विराजं** ब्रह्माण्डविग्रहं स्वराड्देहं **जनयन्ति**, युक्तश्चायमर्थ आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात् केवलात् कार्यं न सम्भवतीति, तथा प्रकृतेपि सर्वांशो भगवानिति तान्याधिदैविकानीह प्रतीयन्त इति न कोपि दोषः ॥ १५ ॥

ननु त्वक्चर्मादयोपि प्रतीयन्ते लोमदन्तनखानि च ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह **सन्निपत्येति**।

सन्निपत्य मिलित्वा सम्यगुत्पाद्येतिपूर्वोनुवादः कार्येपि कारणेष्ववाधिदैविकं रूपं वर्तत इति ज्ञापनार्थः, **अनुगता इव** दृश्यन्ते पुनः कार्ये त्वक्चर्मादिरूपेण पृथिवीसमष्टौ तत्तद्रूपा वा, सर्वत्र रुधिरादिरूपं जलमेवमन्यदपि, तर्हि दर्शनप्रामाण्यादनुगता इव भवन्त्विति चेत् तत्राह प्रागेव कारणत्वेनेह विद्यमानत्वात् पुनस्तेषामिहोत्पत्तिर्न सम्भवति, कारणानां विलक्षणत्वात् साक्षात् प्रवेशस्तु प्रतीत्यैव बाधितः, यथाधिदैविकानि कारणरूपाण्येवं दन्तादीन्यप्याधिदैविकानीति पूर्ववत् तेषामप्यत्र प्रतीतौ न कोपि विरोधः ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

यस्त्वित्यारभ्य प्रयोग इत्यन्तं, अत्रेवं ज्ञेयं, 'असी'तिव्यवहारो युष्मच्छब्देनोपस्थित एव भवतीतिस्थितावपि व्यवहारमात्रोक्तिर्या सा स तेन विनानुपपन्नस्तमाक्षिपतीत्यन्यलभ्यत्वाभिप्रायेणेति, अत एव 'पिधेहीत्यादौ 'द्वार'दिपदार्थस्यैवाध्याहारो न तु पदस्यापि लाघवा दिति भाट्टा मन्यन्ते, प्रकृते त्वर्थस्य पुरःस्थत्वेन नाध्याहारापेक्षापि, वस्तुत'स्त्वसिभवा'निति समस्तं पदं, तथा चासिशब्दयुक्तो भवानित्यर्थः, तद्युक्तत्वं तेन व्यवहार्यमाणत्वं, **पूर्वोक्तपक्षे भवच्छब्दसंगत्यभावारुच्या पक्षान्तरमाहुरथ-वेत्यादि**, क्षराक्षरपुरुषोत्तमा आधिभौतिकादयो वा त्रयः पुरुषाः, असीति देहरूपेण सत्त्वेन प्रतीयमान उक्तो भवानिति तदभिमानित्वेनाग्रिमेण परमात्वेन प्रतीतिविषय उक्तस्तेन श्रुत्युक्त'सैन्धवघन'दृष्टान्तन्यायोत्राभिप्रेत इति ज्ञायते, प्रत्यक्षदोषस्त्वित्यादि, शुद्धब्रह्मत्वेन पुरुषोत्तमत्वेन च वेदनं हि **विदितोसीत्यनेन** प्रतिज्ञात'मसि भवानि'तिव्यवहारश्च प्रत्यक्षविषय एव भवति, एवं सत्युक्तव्यवहारविषयस्यैव प्रभोरुक्तरूपत्वं सिध्यतीति तत्परिहार इत्यर्थः, ननु ज्ञातत्वे प्रामाणिके सत्युक्तदोषपरिहारस्तच्च न वक्तु शक्य दोषत्वादित्यत आहुर्ज्ञातत्वेति, 'भवत्' 'पुरुष'पदाभ्यां पूर्वं तथोक्तत्वादलौकिकचक्षुस्तत्सामर्थ्यरूपेणापि स्वयमेव हरिः प्रकटो जात इति स्वस्य स्वज्ञानं यथा न विरोधि तथा वसुदेवज्ञानमपीत्यर्थः, "अन्यदेव तद् विदितादथोविदिता"दित्यादिश्रुतिरपि लौकिकयोस्तयोः सकाशादेव भेदमाह, अन्यथा वदद्व्याघात इति भावः, नन्वदृश्यत्वादिप्रतिपादकवेदाप्रतिपाद्यत्वाद् ब्रह्मत्वमपि न वक्तुं शक्यमित्यत आहुर्विरुद्धा इति, यद् रूपं यदा दृश्यं तदेव तदैवादृश्यमपीतीन्द्रियसामर्थ्यलक्षणेनांशेन प्रभ्विच्छालक्षणेन तेन चोभयधर्मसिद्ध्या ब्रह्मत्वं न क्षतं भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ **स एव स्वप्रकृत्येत्यत्राधिदैविकस्वभावेनेति, आधिदैविकस्वभावे-नेत्यादि, लीलौपयिकपदार्थानामलौकिकत्वेन लौकिक्या प्रकृत्या न तत्सृष्टिः सम्भवतीति तथोक्तं, अन्यथा स्वपदानर्थक्य-मितिभावः** ॥ १४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

विदितोसीत्यत्र ज्ञातस्वरूपस्तोत्रे इति, ज्ञातस्वरूपाभ्यां कृते स्तोत्रे इत्यर्थः, ज्ञातस्वरूपत्वं व्युत्पादयन्ति यस्त्वित्यादि, तथा च यश्चाक्षुषत्वेन प्रतीयसे सोपि त्वं पुरुषोत्तमत्वेन विदित इत्यर्थः, नन्वत्र मूले युष्मच्छब्दाभावात् कथमेव व्यवहारोक्तिरित्य-तस्तदाशयं टिप्पण्यामाहुर्यत्रैवमित्यादि, व्यवहारमात्रोक्तिरिति, तदभावेपि व्यवहारमात्रोक्तिः, अन्यलभ्यत्वाभिप्रायेणेति, शब्दार्थ-स्याप्युपलभ्यत्वाभिप्रायेणेत्येतदर्थं, व्यवहारोपपादनायाप्युपलभ्यस्यापि ग्रहणे विद्वत्सम्मतिमाहुरत एवेत्यादि, अत एवेति व्यवहार-स्योपपाद्यत्वादेव, तथा चा"सी"तिप्रयोगेण शब्द एवाक्षिप्यत इति भवत्पदेन वेदनकर्माकाङ्क्षापूर्तावपि यदेवंप्रयोगस्तच्चाक्षुषत्वेन ज्ञायमानस्यैव विदितत्वज्ञापनार्थं इति सुबोधिन्याशय इतिभावः, कल्पनाक्लेशपरिहाराय पक्षान्तरमाहुर्वस्तुत इत्यादि समस्तं पदमिति, असीतिविभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं तेन सह समासं प्राप्तमेकं पदं, तथा च यथा'स्ति क्षीरा गौ'रित्यादा"वस्तीत्या" व्ययं

प्रथमपुरुषार्थे तथा "सी" त्यव्ययमपि मध्यमपुरुषार्थे, तस्य च भवच्छब्देन समासे पूर्वोक्तोर्थोसीतिकल्पनाक्लेशश्च न भवतीत्यतस्तथे-त्यर्थः, भवच्छब्दसङ्गत्यभावारुच्येति, अध्याहृतेन त्वंपदेन भवत्पदकार्यसिद्धेस्तदसङ्गत्यरुच्या, तदभिमानित्वेनेति, भातीति भवान् प्रकाशमान इत्यतोभिमानित्वेन, सुबोधिन्यां प्राकट्यकरणादिति, कौस्तुभपीताम्बराभ्यां प्राकट्यकरणात्, टिप्पण्यां तत्परिहार इत्यर्थः, इदं चाग्र "एतद् वां दर्शितं रूपमि" तिभगवद्वाक्याच्च स्फुटीभविष्यति, तथोक्तत्वादिति, ज्ञातत्वस्योक्तत्वात्, ननु ज्ञातत्वस्य प्रामाणिकत्वे "प्राप्य मनसा सहे" तिश्रुतिविरोधस्तु दुष्परिहर इत्यत आहु'रन्यदेवे'त्यादि, अपिशब्दा 'दानन्दं ब्रह्मणो विद्वानि'तिश्रुतिः सङ्गृह्यते, अन्यथेति, समानकारणयोरेकविषये विदितत्वाविदितत्वयोः प्रामाणिकत्वे, तथा च वदतोव्याघातपरिहाराय विदितत्वावि-दितत्वयोः स्वरूपभेदे सिद्धे लौकिकविदितत्वाद् भिन्नत्वस्य सिद्धत्वे सुखेन तस्यापि परिहार इत्यर्थः, सुबोधिन्यामत इति, अनुभवा-नन्दावेव स्वरूपं यस्येत्युद्देश्यविधेयभावादित्यर्थः, परोक्षापरोक्षान्तर्यामिरूप इति, अदृश्यरूपो दृश्यरूपोन्तर्यामिरूपश्चेत्यर्थः, आत्मेति, सर्वात्मा षड्विध इति, क्षराक्षरपुरुषोत्तमान्तर्यामिदेहजीवभेदेन षड्विधः, यद्वा सैन्धवघनदृष्टान्तात् पूर्वमाधिभौतिकादि-त्रयरूपेणात्र सर्वान्तर्यामिदेहजीवरूपेणेत्यर्थः ॥ १३ ॥

स एवेत्यत्र कश्चन प्रकार इति, तथा च तैः प्रकारैर्यथा न सर्वरूपत्वव्यापकत्वादिहानिस्तथानेनापीत्यर्थः, तथापीति, वैदिकप्रकारेपीत्यर्थः, आहेति, प्रवेशस्य भावनामात्रत्वादप्रविष्टत्वमाहेत्यर्थः, तदुपपादयन्ति योगेत्यादि, यथानुगमाधिकरणविषयवाक्ये योगबलादिन्द्रः परमात्मनि प्रविष्टस्तथेत्यर्थः, दक्षिणायां वेति वाशब्द इवार्थे ज्ञेयः, प्रकारान्तरेणापीन्द्रप्रवेशमाहुर्द्वितेरित्यादि, तथेति, सोपाधिकः कार्याभिनिविष्टश्च वा, तथा चानुपाधिकत्वं कार्यार्थतया प्रवेशभावना चोपपद्यत इत्यर्थः, प्रकारसंदेहं परिहर्तुं व्युत्पादयन्ति तर्हीत्यादीत्यर्थ इत्यन्तं, आधिदैविकस्वभावेनेत्यस्य तात्पर्यं तत्र प्रमाणं च टिप्पण्यामाहुराधिदैविकेत्यादि, सुबोधिन्या-मपेक्ष्यत इति, साक्षित्वप्रकाशननियमनाद्यर्थमपेक्ष्यते, न तु स्वार्थसृष्टाविति, स्वार्थसृष्टौ कारणतया विद्यमानेनैव रूपेणान्तर्यामि-कार्यस्य जीवकार्यस्य च करणान्नापेक्ष्यते, ननु "तमद्भुत" मित्यत्र लीलोपयोगिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वमभिप्रेतमित्युक्तमिह तु त्रिगुणात्मकत्वमुच्यत इति कथमविरोध इत्यत आहुर्यथेत्यादि ज्ञेयेत्यन्तं, मायासाम्यस्य दौर्बल्यमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुरत्रिगुणात्म-कमिति वेति, अकारप्रश्लेषमनङ्गीकृत्य पक्षान्तरद्वयमाहुर्यद्वेत्यारभ्योक्तरीत्यन्तम् ॥ १४ ॥

यथेमे इत्यत्र सुबोधिन्यां प्रतीयन्त इति, शरीररूपेण पृथ्वी मुखे मुख्या आपः कान्तिरूपं तेजः सर्वत्र प्राणरूपो वायुर्ना-सिकायां छिद्रेष्ववकाशरूपेणाकाश इत्येवं प्रतीयन्ते, तत्राहेति, तादृश्यामाशङ्कायां स्वरूपे प्रतीयमानानां तेषां दृष्टान्तमुखेन नित्यत्वं चाविकृतत्वं चाहेत्यर्थः, दृष्टान्तं व्युत्पादयन्तो मूले यथेत्यस्य विराज जनयन्ति हीतिचतुर्थपादेनान्वय इत्यभिप्रेत्य व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि प्रतिपादितानीति, उपलक्षणविधया प्रतिपादितानि, तत्रतत्रेति, तेषुतेष्विन्द्रियेष्विव तेषु तथैवेति, तादृशैरविकृतसदृशैः, अयं मूलस्थस्य तथा त इत्यस्य विवरणं, त इति, वक्ष्यमाणा ये विकृताः, वस्तुतस्तु तथैव विकृतैः सहेतिपाठो भाति, 'सहेत्यन्तस्ये-कस्मि' न्नित्यग्रिमग्रन्थेनान्वयः, नानावीर्या इत्यादिकं तु विकृताविकृतयोः साधर्म्यबोधनार्थं, शेषं स्फुटं, तथा सत्येवं योजना, इमे अविकृता भावा नानावीर्याः पृथग्भूतास्तथा तादृशास्ते वक्ष्यमाणाविकृता भावाः, तथैवेति वा पाठः, 'विकृतैः सह यथा विराजं जनयन्ति ही'ति बोध्यं, एवं दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयन्ति तथा प्रकृतेपीत्यादि, तानीति, विराड्जनकान्यविकृतानि तत्त्वानि, न कोपि दोष इति, पृथिव्यादिभूतदर्शनकृतो यः स्वरूपेनित्यत्वविकृतत्वादिप्रतीतिरूपो दोषः सोपि नेत्यर्थः, न च विकृतैस्तथैवेत्यादिना चतुर्विंशतितत्त्वानां विकृतत्वप्राकृतत्वकथनं कथं सङ्गच्छते प्रकृतितत्त्वे विकृतत्वप्राकृतत्वयोः सांख्यैः पौराणि-कैश्चानङ्गीकारादिति वाच्यं, एकादशस्कन्धे द्वाविंशाध्याये 'प्रकृतिः पुरुषश्चे'तिविकल्पः पुरुषर्षभ एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिक-रात्मक' इत्यादिना प्रकृतिपुरुषयोरपि विकल्पत्ववैकारिकत्वगुणव्यतिकरात्मकत्वानां भगवतैवाङ्गीकारात, सिद्धान्तस्य च भगवन्मती-यत्वाद् ब्रह्मवादे ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यापि विकारत्वाद् 'यावद्विकारं तु विभागो लोकव'दिति सूत्रोक्तन्यायस्य प्रकृतत्त्वेप्यङ्गीकारे बाधकाभावाच्चेति ॥ १५ ॥

अग्रिमे ततः कथमिति, कारणरूपेण पृथिव्यादिप्रतीतौ भवतु समाधानं न तु कार्यरूपेणापि प्रतीतौ कार्यस्य जन्यत्वादतः कथम् ? तत्राहेति, तादृश्यामाशङ्कायां त्वगाद्यात्मककार्यरूपेणापि प्रतीयमानस्य दृष्टान्तमुखेन नित्यत्वमविकृतत्वं चाहेत्यर्थः, मिलि-त्वेति, पूर्वं 'विकृतैः सहे'त्युक्तं स सहभावो निमित्तभूतानामिवापि सम्भवतीति तद्व्युदासार्थं दुग्धजलादिवदुपादानत्वेन मिश्रीभूय, पूर्वानुवाद इति जनयन्तीत्यस्यानुवादः, वर्तत इति, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इतिन्यायेन वर्ततेन्यथा कार्यजन्यं कार्यान्तरं न स्यात्, अनुगता इवेति, पटे तन्तव इव, समष्टाविति, ब्रह्माण्डे, अन्यदपीति, तेजोवाय्वाकाशव्योमापि, तथा चानुगतत्वात् कार्ये कारण-भूतानां तत्त्वानां सत्ता दृष्टान्तेनोपपादिता, अतः परं तेषां तत्त्वानां बीजाङ्कुरवत् कृत्स्नप्रसक्तिवारणायावतारयन्ति तर्हीत्यादि, भवन्त्विति, कार्यमात्ररूपा भवन्तु, समाधिं व्याकुर्वन्ति प्रागित्यादि, इहेति, स्वरूपे ब्रह्माण्डोपरि च, इहोत्पत्तिरिति, कार्ये पुनरुत्पत्तिः, विलक्षणत्वादिति, कृत्स्नप्रसक्तिवारणार्थं कार्यानवयवतयातिरिक्तत्वेन विद्यमानत्वात्, ननु तत्रानुगमो बीजाङ्कुरन्यायेनास्तु 'जातेऽङ्कुरे कथमिहोपलभेत बीज'मिति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्याच्चेति चेत् तत्राहुः साक्षादित्यादि, तथा च त्वगादीनां बीजाङ्कुर-न्यायकप्रवेशस्तु मातापित्रोः शरीरे तेषां विद्यमानत्वप्रतीत्यैव बाधित इत्यर्थः, एवमाधिदैविकानां कारणभूतानां तत्त्वानां व्यतिरेकं

दृष्टान्तेन साधयित्वा फलितमाहुर्यथेत्यादि, न कोपि विरोध इति, शास्त्रसिद्धत्वात् तद्विसंवादिप्रतीतकृतो विरोधोऽकिञ्चित्करत्वान्नेत्यर्थः ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनोलेखः

विदितोसोत्यस्याभासे कारिकासु **स्मृतिश्चैव हि लौकिकी**ति, लोकैर्भगवद्व्यतिरिक्तैर्ऋषिभिः प्रणीतेत्यर्थः, **अन्यथाज्ञानमिति**, प्राकृतत्वज्ञानं ब्रह्मत्वेनाज्ञानं च ब्रह्मत्वे बाधकं ब्रह्मसाक्षात्कारे ह्यज्ञानमन्यथा ज्ञानं च न तिष्ठतीतिभावः, एताभ्यां तन्निरूपणाभाव एतयोरन्यथाज्ञानमज्ञानं वा शंक्येत तथा च दृश्यमानस्य ब्रह्मत्वं न सिध्येदित्यर्थः, **तत्रे**ति, ब्रह्मत्वे साधनीय इत्यर्थः, **प्रथममिति**, वक्ष्यमाणाशङ्काभ्यः प्रथममित्यर्थः, **बाधकधर्मै**रिति, ब्रह्मत्वे बाधकमज्ञानमन्यथाज्ञानं च तद्धेतुभूतैर्धर्मैरित्यर्थः, **चाक्षुषत्वे**ति, चाक्षुषत्वे निमित्तं 'सर्वे मां पश्य'न्त्वित्याकारिका भगवदिच्छा तस्या अज्ञानादित्यर्थः, व्याख्याने **चतुर्भुज** इति, देहेन्द्रियादिरूपो न तु जीवस्थानीयमात्ररूप इत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे **विदितोसी**ति भिन्नं वाक्यं, वक्ष्यमाणपक्ष एतस्यैव प्रकारकथनमग्रिमेणेतिविभेदो ज्ञेयः, अत इति, **विदित** इत्यनेन शास्त्रतः प्रतीतिरुक्ता तत्र व्यवहारकथनेनासीत्यनेन लोकतोपि प्रतीतिरुक्तात एव व्याख्याने सोपि त्वं विदित इत्यपिशब्द उक्तः, **अनेने**ति, 'विदितोसो'तिपदद्वयेनेत्यर्थः, **शास्त्रप्रतीतिः** परंपराप्रतीतिः, 'असी'त्यनेन व्यवहारकथनादचेतनदेहेन्द्रियादिरूपोप्युक्त इत्याशयेनाहु**रचेतनश्चे**ति, **तदुभये**ति, परम्पराप्रतीतिसाक्षात्प्रतीतिरूप इत्यर्थः, आद्यपक्षे**सो**ति न क्रियापदं किन्त्व सिंना व्यवह्रियमाण इत्यर्थबोधकं, **अस्मिन्** पक्षे त्वंपदमिव'भव'त्पदमपि न वक्तव्यमिति टिप्पण्युक्तारुच्या पक्षान्तरमुक्तमथवेति, अस्मिन् पक्षे **भवत्पदस्य** तेन व्यवह्रियमाणत्वमर्थः, तत्रासिपदं व्यर्थं क्रियायास्तु **विदितपदेनैव** चारितार्थ्यादित्यरुच्या तृतीयः पक्षः उक्तः, **पुरुषत्रये**ति, **भवत्पदेन** भातीतिव्युत्पत्त्या भानकथनात् प्रत्यक्षत्वं, एतादृशोपि सन् पुरि शेत इति पुरुषोऽप्रत्यक्षः, तथा च **मूले भवान् सन् पुरुष** इत्यन्वयः, **सम्मुख** इति, भगवत्पदेन दृश्यमानत्वसूचनादितिभावः, **पुरुषे**ति पदत्रयेण पुरुषत्रयरूपत्वमुक्तं, अर्थान्तरमाहु**र्भगवानिति** वेति, पदत्रयमिदमग्रिमं च पदत्रयमेवं षड्भिः पदैः सङ्ख्यातात्पर्यत्वेन भगवत्त्वं वा वक्तुमिदं पदत्रयं पूर्वमुक्तमित्यर्थः, इममेवार्थमभिप्रेत्य वाक्यार्थोपसंहार **'एवं षड्विधोपि भगवानि'**ति वदिष्यन्ति, **सच्चिदानन्दविग्रह** इति, अनुभवानन्दौ स्वरूपं यस्येत्युक्त्या सत्त्वेन प्रतीयमानस्य विग्रहस्य चिदानन्दात्मकत्वमुक्तं, तथा च सच्चिदानन्दात्मको विग्रहो न तु केवलं सदात्मक इत्युक्तं जातमितिभावः, **परोक्षे**ति, दृश्यमानो विग्रह एव चित्सदानन्दरूप इत्यर्थः, **आत्मे**ति, अत्र विग्रह आत्मत्वेन प्रतीयमानस्य स्वरूपं नोक्तमित्यर्थः, **सर्वे**ति, सर्वबुद्धिद्रष्टुः स्वबुद्धिद्रष्टृत्वं सिद्धमेवेतिभावः **बुद्धिशब्देन** पञ्चेन्द्रियजन्यानि ज्ञानानि ॥ १३ ॥

स एवेत्यत्र **दर्शनमात्रेणे**ति, 'जगन्मङ्गल'मितिश्लोके समाधौ देवकीं भावयित्वा तत्र भगवन्तं स्थापितवानित्युक्तं तथा च **दर्शनमात्रेणे**त्यस्य मानसप्रत्यक्षमात्रेणेत्यर्थः, **स्थित्यर्थमिति**, इदं चतुष्टयमुक्तेषु चतुर्षु वाक्येषु क्रमाज् ज्ञेयं, **अन्ये**ति, जीवप्रवेशनार्थमित्यर्थः, **सोपाधिक एवे**ति, 'सोकामयते'त्यत्रोक्तकामसहित एवेत्यर्थः, **कार्याभिनिविष्ट** इति, जगज्जननार्थं तत्प्रकाराभिनिविष्टचेता इत्यर्थः, **मुख्यः कृष्ण** इति, 'अद्भुत'पदोक्त लोकवेदाप्रसिद्ध इत्यर्थः, **इन्द्र एवे**ति, आधिभौतिक इन्द्रे भगवद्बाहुरूपस्याधिदैविकस्य प्रवेश इत्यर्थः, अत्र प्रवेशमात्रं साधारणधर्मं न तु योगबलादित्यस्येन्द्रेप्यन्वयः, यथा तत्र **प्रवेशस्तथात्र** योगबलादपि सम्भवतीत्यर्थः, **प्रवेशधर्म** इति, प्रवेशकृतो धर्मो बहिर्निर्गमनं जननमित्यर्थः, यद्वा **सृष्टयनन्तरमिति**, एतद्दूषणसमाधानमेवं वा कर्तव्यमित्यर्थः, तथा च पूर्वोक्तैकसृष्टिपक्ष एव दूषणसमाधानपूर्वकमनेन स्थापित इति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

यथेमे इत्यत्राविकृता एव भावा भावत्वेन सदृशैर्विकृतैः भावैः सहभूता विराजं जनयन्तीत्यन्वयः, **रूपरसादी**ति, **पूर्वमादिपदेन** गन्धादयः, अग्र आदिपदेन क्रियादयः, 'विनापि सहपदं सहार्थे तृतीये'तिव्यवस्थापितत्वादत्र सहपदप्रयोगं विनापि **विकृतैरि**तितृतीयया सहार्थलाभेपि सहपदप्रयोगादन्योन्यमपि सहभावो विवक्षित इत्याशयेनाहुः **सर्वं संहत्ये**ति, तथा च **मूलस्थसहपदस्यार्थोयं**, **प्राकृतैः**सहेतिसहपदेन तु तृतीयाया अर्थ उक्त इति ज्ञेयं, **ब्रह्माण्डविग्रहमिति**, ब्रह्माण्डरूपो यो विग्रहस्तद्रूपमित्यर्थः, **स्वराड्देहमिति**, विराडन्तर्गतस्य स्वराजो देहमित्यर्थः, **सर्वांश** इति, अत्र सर्वांशयुक्तो भगवानित्यंशसम्बन्धिन एते भावाः **प्रतीयन्त** इत्यर्थः, **अंशानां** सत्त्वव्यवहितत्वात्, सत्त्वनिष्ठा विराड्देहजनकाः कारणभूता भावास्तत्र प्रतीयन्ते, **पुरुषोत्तमस्य** त्वानन्दमयत्वात् तत्र शिर आदयः प्रियादिरूपा एव न हि ते कारणभूताः, 'कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वत' इति **सिद्धान्तात्**, अतः सुष्ठूक्तं **सर्वांशयुक्तत्वादेतत्प्रतीतिरि**ति, तथा चेदं समाधानमंशसद्भावमभिप्रेत्य केवलपुरुषोत्तमाख्यं तु वस्त्वेव तादृशमिति तत्र न शङ्का काचिदितिभावः ॥ १५ ॥

सन्निपत्येत्यत्र **पूर्वानुवाद** इति, संहननस्य विराजुत्पादनस्य च **पूर्वश्लोकोक्तस्यानुवाद** इत्यर्थः, **कारणेष्विवे**ति, अंशावतारेष्विवेत्यर्थः, परमत्राधिदैविकमेव रूपं न त्वाधिभौतिकं कार्ये तूभयविधमपीतिविशेषः, **अनुगता इवे**ति, अग्रिमव्याख्यानानुरोधाद् यतो दृश्यन्तेतोनुगता इव सन्तीत्यन्वयः, **पूर्वोक्ता** अविकृता भावाः पूर्वं विराजितत्त्वरूपेण दृष्टाः पुनः **कार्ये** व्यष्टौ तत्त्वकार्यत्वक्चर्मादिरूपेण दृश्यन्तेतः कार्येनुगता इव सन्तीत्यर्थः, **अनुगतत्वं** विशदयन्ति **पृथिवीति**, **समष्टौ** सङ्घातरूपेस्मदादिदेहे **कारणभूताधिदैविकी पृथिव्यनुगतेव**, **सर्वसङ्ग्रहार्थमाहुस्तत्तद्रूपा वे**ति, घटादौ सर्वत्र तत्कारणरूपाधिदैविकी पृथिव्यनुगतेव

समष्टौ जलं रुधिरस्वेदादिरूपं हिमकरकादौ च तत्कारणरूपमनुगतमिवेत्यर्थः, अन्यदपीति, तत्त्वान्तरमपीत्यर्थः, **तर्हीति**, एतस्यैव विवरणं **दर्शनेति**, अत्रापीतिशेषः, कार्ये कारणगुणानां दर्शनप्रामाण्यात् कारणगता गुणाः कार्येनुगता इव सन्तीति चेदुच्यते तर्ह्यत्र स्वरूपेपि कार्यधर्माणां दर्शनादत्रापि कार्यधर्मा अनुगता इव भवन्त्वित्यर्थः, पुनस्तेषामिति,एकवारं कार्येपूत्पन्नानां पुनः कारण उत्पत्तिर्नेत्यर्थः, विलक्षणत्वादिति, कार्यविलक्षणत्वादित्यर्थः, कारणधर्माः कार्येषु गता इव भवन्ति ततः कार्यसम्बन्धिनो भूत्वा पुनः कारणेनुगता इव न भवन्तीदमेव कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यमितिभावः, कार्येपि कारणासाधारणधर्मा नानुगच्छन्ति किन्तु केचन साधारणधर्मा अनुगता भवन्तीतीवपदप्रयोगः, कार्येषु धर्मा अपि साधारणाः कार्यरूपेणोत्पद्यन्तेतस्तत्रानुगताः कारणे तूत्पत्तिर्न सम्भवत्यतोदर्शनेपि कार्यधर्मा अनुगता इव न सन्तीत्यर्थः, तथा च 'तत् सृष्ट्वे'तिप्रकारेण यथा कारणधर्मा कार्येनुगतास्तथा कार्यधर्माः कारणेनुगता नेत्युक्तं, तर्हि 'तदेवानु प्राविश'दितिप्रकारेण कार्यधर्माः कारणे प्रविशन्तामित्यत आहुः **साक्षात्प्रवेशस्त्विति**, धर्माः कार्ये कार्यं स्वसमष्टौ विराजि स च स्वकारणभूततत्त्वेषु तानि भगवतीत्येवम्परम्परया प्रवेशः सम्भवति साक्षादेवानुप्रवेशलक्षणः प्रवेशस्तु कार्यधर्माणां तावत्सामर्थ्याभावात् प्रत्येतुमेव न शक्यतेतो बाधित इत्यर्थः, श्लोकद्वयार्थमुपसंहरन्ति **यथेति**, अत्र तत्त्वरूपाश्चक्षुरादयः प्रतीयन्ते त आधिदैविका एवेति पूर्वश्लोकार्थः, तत्त्वकार्यरूपास्त्वगादयः प्रतीयन्त त आधिदैविका एवेति द्वितीयश्लोकार्थः, विराजुत्पत्तेः पूर्वावस्था द्वितीयश्लोक उक्तातत्र कार्यभूता उक्ता इति भावः ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

विदितोसीत्यत्र परम्परयेत्यादि, दृश्यमाने चतुर्भुजदेह आत्मत्वेन यः प्रतीयत इत्यर्थः, आत्मा हीन्द्रियप्रेरकतया परम्परयैव प्रतीयते लोके न तु साक्षात्, तस्येन्द्रियातीतत्वात्, एवमत्रापि चतुर्भुजदेहे कश्चिदात्मा भविष्यतीतिप्रतीतिरता यः परम्परयात्मा प्रतीयते चतुर्भुजरूप इत्यर्थः, अचेतनश्चेति, लोके ह्यचेतनो देहः साक्षात् प्रतीयत आत्मभिन्नत्वेनाचेतनतया चक्षुरादिविषयत्वात्, तथेहापि चतुर्भुजो देह आत्मभिन्न इत्यज्ञानकृतः प्रत्ययः, एव प्रतीतिद्वयमुपपाद्य तयोः परम्परासाक्षात्प्रतीतयोः स्वरूपं मयावगतमिति वक्तुं **भवान् साक्षात्पुरुष** इति वसुदेवेनोक्तं, तदाशयं स्फुटीकुर्वन्ति **तदुभयरूपो भवानित्युक्तमित्यनेन**, अयमर्थः, लोके देहदेहिनोर्भेदोस्ति तद्वदिहाप्यज्ञानां तथैव प्रतीतिर्भवेन् मया तु चतुर्भुजस्वरूपमेव देहत्वेन देहित्वेन ज्ञातं, युक्तं ह्येतत्, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चने"तिश्रुतेः सजातीयादिद्वैतत्रयाभावात्, अतो देहदेहिरूप एक एव त्वमित्यर्थः, अत एव "सच्चिदानन्दविग्रह"मिति श्रुतौ पठितं, अतो न त्वयि देहात्मपार्थक्यमितिभावः, इह "भवानि"तिपदेनात्र प्रत्यक्षरूप आत्मा "सी"तिपदेन युष्मच्छब्दवाच्यः प्रत्यक्षो देहो गृहीतः, एवमात्मदेहौ पृथगुद्दिश्य तत्र "साक्षात्पुरुष" इत्यनेनाभेदं प्रतिपाद्य शुद्धब्रह्मत्वं साधितमिति ज्ञेयं, **अथवेति, सर्वत्वं प्राप्तस्येति**, "स सर्वं भवति" "इदं सर्वं यदयमात्मा" "पुरुष एवेदं सर्वमित्यादिश्रुतिभिर्यः सर्वरूपः स एव परमात्मातोस्मिंश्चतुर्भुजरूपे ब्रह्मत्वबोधनार्थं सर्वरूपता वाच्येति "भवत्पुरुष"पदाभ्यां **क्रमेण** बाह्याभ्यन्तररूपता प्रदर्शिता, अतो बाह्यरूप आन्तररूपस्त्वमेवेति सर्वरूपो विदित इत्यर्थः, प्रत्यक्षोप्यप्रत्यक्ष इति, चतुर्भुजरूपेण प्रत्यक्षत्वमिदमित्थतया ज्ञानाभावादप्रत्यक्षत्वमतो विरुद्धधर्माश्रयत्वमितितात्पर्यं सम्मुखोप्यसम्मुख इति, भवत्पदेन भातोतिव्युत्पत्त्या पूज्यत्वसूचनेन **कृपया सम्मुखत्वं सूचितं**, पुरुषपदेनान्तरत्वाद् बहिःप्राकट्याभावेन चक्षुराद्यगोचरतयासम्मुखत्वं, भक्तानां तु कृपया सम्मुखो बहिः प्रकटीभूय व्यवहारविषयो भवति, अन्येषां तु बहिःप्राकट्याभावेन केवलमन्तर्यामितया स्थितो भगवानसम्मुख एव ॥ १३ ॥

यथेमे विकृता भावा इत्यस्य विवृतावाधिदैविकचतुर्विंशतितत्त्वानीत्यादि, अयमर्थः, अस्मिंश्चतुर्भुजदेहे पृथिव्यादीनि यानि प्रतीयन्ते तान्याधिदैविकान्याधिदैविकानामतिरोहितानन्दांशत्वेनाविकृतत्वमतो नास्मिन् रूपे कोपि प्राकृतांश इति भावः, ननु चतुर्भुजस्यास्य साक्षात्पुरुषोत्तमत्वे नात्राधिदैविकतत्त्वानामपि विग्रहपातित्वं न वक्तुमुचितं केवलानन्दमयत्वादाधिदैविकतत्त्वानां तु भगवद्धर्मात्मकविशुद्धसत्त्वरूपत्वेन पूर्णरूपेनंगीकारादित्याशंक्य समाधिमाहुः **प्रकृते सर्वांशो भगवानित्यनेन**, अयमर्थः '**कृष्णस्तु भगवान् स्वय**'मितिवाक्यादस्यावतारित्वेन सर्वेषामंशानामत्र विद्यमानत्वं, अंशानां तु भगवद्धर्मात्मकविशुद्धसत्त्वरूपविग्रहत्वेन तत्राधिदैविकतत्त्वानां सत्त्वं प्रमाणसिद्धमित्यंशिनि कृष्णे तादृक्तत्त्वानां प्रतीतौ न कोपि दोषः, नेतावता चतुर्भुजरूपस्यानन्दमयत्वं हीयत इति भावः ॥ १५ ॥

सन्निपत्येत्यस्य विवृतौ **कार्येपि कारणेष्विवेति**, यथा कारणान्याधिदैविकचतुर्विंशतितत्त्वानि 'यथेमेविकृता भावा' इत्यत्र विकाराहित्येनोक्तानि तथैव कार्येष्वपि त्वक्चर्मादिष्वाधिदैविकत्वमत आधिदैविकानि कार्याणि त्वक्चर्मादीनि चतुर्भुजरूपे प्रतीयन्ते, आधिदैविकानामतिरोहितचिदानन्दत्वात् तेषां सत्तया न कोपि दोषः, अंशिनि कृष्णेंशानां सत्तयांशगतान्याधिदैविककार्यरूपत्वगादीनि प्रतीयन्तेंशी चतुर्भुजरूपस्तु केवलमानन्दमय एव, तत्र नाधिदैविकतत्त्वानामाधिदैविकत्वगादीनां वा विग्रहघटकत्वमिति बोध्यं, अत एव 'इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया त' इत्यस्य विवृता 'वसौ प्राक्तनरूपो विन्यास इयानेतावानन्दमयस्य त्वन्य'इत्युक्तं, अतश्चतुर्भुजरूपं तु केवलमानन्दमयमेव, ज्ञापनार्थं इति, सन्निपत्येत्यादिना पूर्वश्लोकोक्तप्रकारानुवादे कृते तान्येवाधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि भौतिकैर्विकृतैश्चतुर्विंशतितत्त्वैर्विराजमुत्पाद्याधिदैविककार्येनुगतान्यत

आधिदैविकतत्त्वानुगतानि कार्याण्यप्याधिदैविकान्यनुवादं विना पूर्वोक्तस्मारणाभावे न दृश्यन्तेनुगता इवेत्येतावन्मात्रकथने भौतिकानामनुगतत्वं सम्भाव्येतात आधिदैविकप्रसक्त्यर्थमनुवाद इत्यर्थः, त्वक्चर्मादिरूपेण पृथिवीति, आधिदैविकत्वक्चर्मादिरूपेणाधिदैविकपृथिव्यनुगतात आधिदैविकास्त्वगादयोत्र प्रतीयन्त इत्यर्थः, एवं भगवत्स्वरूपविसर्गरीत्या आधिदैविककारणकार्ये निरूप्य लोकप्रसिद्धव्याख्यारीत्या लापयन्ति **समष्टावित्यारभ्यान्यदपीत्यन्तेन,** अस्मिन् पक्षे भौतिका भावा भौतिकतत्त्वानि विराजमुत्पाद्य समष्टौ तत्तद्रूपाः कार्यरूपा अनुगता इति श्लोकद्वयार्थो बोद्धव्यः, तत्र दृष्टान्तो रुधिरादिरूपं जलमिति, अतिदिशन्त्येवमिति, **अनुगता इवेति,** कार्यरूपेण अनुगता उत्पन्ना भवेयुरितिपूर्वपक्षाशयः, तत्र समादधते प्रागेवेत्यारभ्य न सम्भवतीत्यन्तेन, तथा च कारणत्वेन प्रकटसच्चिदानन्दरूपेणालौकिकभावेनाधिदैविकतत्त्वानामिह रूपे विद्यमानत्वात् पुनस्तेषां त्वगादिरूपेणोत्पत्तिर्नास्त्यपि त्वाधिदैविकतत्त्वान्येवावतारवत् त्वगादिशब्दवाच्यं रूपान्तरं गृहीत्वा तिष्ठन्तीति न तत्कार्यत्वमाधिदैविकत्वगादीनामपि तु रूपान्तरत्वमतो नित्यान्येव त्वगादीनीति कार्यत्वं तत्र भाक्तमिति भावः, अत एव अनुगता इवेतीवपदं, **अत एव न तेषामिह सम्भव** इत्यनेनाधिदैविककारणानां त्वगादिरूपेणोत्पत्तिर्निराकृता, तत्र हेतुमाहुः **कारणानां विलक्षणत्वादिति,** आधिदैविककार्यत्वगादिनिरूपितकारणत्वानामाधिदैविकतत्त्वानामित्यर्थः, **विलक्षणत्वादिति,** भौतिकतत्त्वेभ्यो विलक्षणत्वादित्यर्थः, अयं भावः, भौतिकानां तत्त्वानां लौकिककार्येष्वनुगतत्वं तत्तद्रूपेणोत्पत्तिराधिदैविकतत्त्वानां त्वाधिदैविककार्यरूपेण नोत्पत्तिराधिदैविककार्याण्याधिदैविककारणानामवतारवदंशरूपाणीति ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

विदितोसीत्यत्र द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते, वसुदेवेन नवभिः श्लोकैः स्तूयमानो नवधेति, देवक्या त्रिभिः श्लोकैः स्तूयमानो हरिस्त्रिधा, तत्र नवधा वैदिकस्त्रिधा स्मृत्युक्तप्रकारेण स्तूयमानो लौकिक उच्यते, तत्रोपपत्तिमाहुर्यज्ञस्त्विति, **यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति** पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्र वेदेन सम्मितं, अग्निहोत्रादिपंचात्मको यज्ञः प्रोक्तश्चतुर्धा वासुदेवादिव्यूहात्मकः, एवं पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिश्चेति नवधा वैदिकः प्रोक्त इत्यर्थः, ननु चतुर्मूर्तिर्न वेदोक्तः किन्तु तन्त्रोक्त एवेति कथं नवधा वैदिक इत्याशंक्याहुस्तन्त्रं वेदेन सम्मितमिति, लौकिक इति, **लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी नवधा वसुदेवोस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी,** लोकैर्भगवद्व्यतिरिक्तैर्ऋषिभिः प्रणीतत्वात् स्मृतेर्लौकिकत्वमुच्यते, **एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरं दशभिः पंचभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे,** 'अयं त्वसभ्य' इत्येकेन पूर्वं वसुदेवकृतं प्रार्थनं तथापरं देवकीकृतं प्रार्थनं द्वाभ्यां 'स त्वं घोरा'दिति 'जन्म ते मय्यसौ पापा' इति श्लोकाभ्यामित्यर्थः, एवं प्रार्थनया सह दशभिर्वसुदेवकृता स्तुतिस्तथा प्रार्थनाद्वयेन सपञ्चभिर्देवकीकृता स्तुतिरित्युभेपि स्तुती निरूप्येते, यच्च'प्युपसंहर विश्वात्म'न्नित्यनेन सह त्रिभिरेव 'प्रार्थनात्रितयं तथे'ति तथापि केवलस्वार्थमुपसंहारप्रार्थनं द्वयं तु प्रकृतोपयोगि, तथा च रक्षाप्रार्थना जन्माज्ञानप्रार्थना चेति प्रार्थनाद्वयं मुख्यत्वविवक्षया पृथगुक्तं, चकारेण तृतीयापि संगृहीता, तथा 'चोपसंहर विश्वात्मन्नितिश्लोकेन सह त्रिभिः श्लोकैः प्रार्थनात्रयं मध्ये 'मर्त्यो मृत्युव्याले'तिश्लोकेन 'शरणाग'मने 'हेतु'रुक्तः, अन्ते 'विश्वं यदेत'दित्यनेन 'विरोधपरिहार' इति, एवं सति मुख्यतया त्रिभिरेव स्तुतिः, प्रार्थनाद्वयेन सह पञ्चमी रूपोपसंहारप्रार्थनाशरणागमनेहेतुविरोधपरिहारैः सहाष्टभिरितिविवक्षाभेदेन देवकीस्तुतौ त्रिभिः पञ्चभिरष्टभिश्चेतिप्रकारत्रयमुक्तं, **शास्त्रत इति, शास्त्रतो भगवानेव प्रतीत्यापि दृढीकृतः बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः,** 'विदितोसी'त्यत्र 'विदित' इत्यनेन शास्त्रतो भगवानेवेत्युक्तं, तत्र 'व्यवहार'कथनेना'सी'त्यनेन प्रतीत्यापि दृढीकृत इत्यर्थः, ब्रह्मत्वबाधकमज्ञानमन्यथाज्ञानं च चाक्षुषत्वादिहेतुभ्यः सम्भवति तद् 'विदितोसी'त्यादिना निवार्यत इत्यर्थः, 'सर्वे मां पश्य'न्त्विवतीच्छयैव चाक्षुषत्वं न त्विन्द्रियसामर्थ्येनेति न चाक्षुषत्वादिकं ब्रह्मत्वबाधकमित्यर्थः ॥ १३ ॥

बुभुत्सुबोधिका

विदितोसीत्यत्र द्वादशात्मेत्यादि, अत्र टिप्पणी, द्वादशधा प्रादुर्भाव इति क्रमेणेत्युक्तम् । तद्रूपेति भगवद्रूपे दृशो ययोस्ताभ्याम् । पूर्ववदिति 'त'मित्यादिश्लोकद्वयवत् । त्रिवेति दशश्लोकैर्वसुदेवः अष्टभिर्देवकीत्यष्टादश श्लोकाः स्तुतौ, तदग्रे स्पष्टम् । स्तुत्योरिति दशभिरष्टभिश्च कृतयोरित्यर्थः । वैदिको लौकिक इत्यत्रावृत्त्या विशेषणं स्मृतेर्लोकवेदात्मकत्वादित्याहुः वैदिको लौकिक उच्यत इत्यनेनेति । आहुरिति कारिकाद्वयेनाहुः । 'भगवा'नित्यस्यार्थमाहुः षड्गुणैश्वर्यवानिति । षड्गुणाः तदाता धर्मोप्युक्तः ऐश्वर्यरूपः । शेषं पूरयति स्म साकारेति । ऐश्वर्यकृतः । तन्त्रे पञ्चरात्रे । फलितमित्यादि अवान्तराभासः । इदमेवेति न नवविधोपदेशोक्तं, वेदमार्गत्वेन तन्त्रत्यागापत्तेः । नन्विति अवान्तराभासः । तत्रेति वेदे । अत्र त्विति तन्त्रे त्वित्यर्थः । तथेति भाव इति तन्त्रं वेदेन सम्मितमित्यर्थः । त्रिधात्व इति अष्टश्लोकैः कृतायास्त्रिधात्वे । लौकिको हरिर्यस्त्रिगुण इत्यत्र गुणपदार्थमाहुः अत्र गुणेति । प्राकृतेति प्राकृतगुणवाची । सा तथेति तन्त्ररूपा स्मृतिर्लौकिकी लोकैर्भगवद्व्यतिरिक्तैः ऋषिभिः प्रणीतेत्यर्थः । अत आधिदैविकादिरूपपरो गुणशब्दोष्टश्लोकेषु । त्रिवेति मुख्यव्यवहार इति भावः । लौकिकस्यैवेति शास्त्रदृष्ट्या दर्शनाविषयस्येति ज्ञेयम् । अत एवेति

त्रित्वादेव । अनुवदन्तीति भक्त्यानुवदन्ति । मुख्येति त्रिधाऽष्टधयोर्मुख्या । एकेन प्रार्थनमिति कारिकायां एकेनेत्यादेरर्थ उक्तः । त्रिधेत्यत्र पञ्चत्वाय देवकीस्तुतौ द्वयमाहुः द्वाभ्यां चेति । तदर्थमाहुः मर्त्यो मृत्युव्यित्यादि । पर्यवसानत इति प्रपत्तिः विरोधपरिहारश्च तत्र प्रतीयेते पर्यवसानतः स्तुतिरूपं अपरमित्यर्थः । पर्यवसानतः स्तुतिप्रतिपादकाभ्यामिति चकारार्थः । एवं च एकेन वसुदेवस्तुतौ प्रार्थनं, पूर्वं नवभिः श्लोकैः पूर्वम् । तेन वसुदेवस्तुतौ दश श्लोकाः इत्यर्थः । त्रिधा देवकीस्तुतौ त्रिभिराधिदैविकादिभिः द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां च पर्यवसानतः स्तावकाभ्यां अपरं प्रार्थनात् तथा अपरं स्तुतिरूपमेव न तु प्रपत्तिविरोधपरिहाराभ्यां परिसमाप्तार्थौ श्लोकौ । सिद्धमाहुः दशभिरित्यादि । पञ्चभिरिति द्वौ श्लोकौ आधिदैविकादित्रयं चेति पञ्च तैरिति कारिकार्थः । फलितमिति 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या'मिति व्याससूत्रम् । उभाभ्यामिति शास्त्रप्रत्यक्षाभ्याम् । तथेति दृढीकृतः । आवश्यकत्वमिति दृश्यमानस्य ब्रह्मत्वार्थम् । बाधकमितीति अन्यथाज्ञानं प्राकृतत्वेन ज्ञानम्, अज्ञानं ब्रह्मत्वेन, एतदुभयं ब्रह्मत्वे बाधकम् । ब्रह्मसाक्षात्कारे ह्यज्ञानमन्यथाज्ञानं च न तिष्ठतीति भावः । शास्त्रप्रत्यक्षाभ्यां तन्निरूपणाभावे एतयोरन्यथाज्ञानमज्ञानं वा शङ्क्येत, तथा च दृश्यमानस्य ब्रह्मत्वं न सिध्येदित्यर्थः । हेतुत इत्यस्यार्थमाहुः उभयोर्हेतुरिति । अज्ञानान्यथाभावयोर्हेतुः । आदिना प्राकृतत्वज्ञानम् । तस्मादिति हेतुतः । सुबोधिन्याम् । तत्रेति ब्रह्मत्वे साधनीये । प्रथममिति बाधकशङ्काभ्यः प्रथमम् । बाधकधर्मैरिति ब्रह्मत्वे बाधकमज्ञानमन्यथाज्ञानं च तद्धेतुभूतैर्धर्मैरित्यर्थः । चाक्षुषत्वनिमित्तेति चाक्षुषत्वस्य निमित्तं लोकद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीतीच्छा तदन्तर्गता ज्ञातस्वरूपो भविष्यामीतीच्छा तस्या अज्ञानात् । ज्ञातस्वरूपेति ज्ञातस्वरूपो भविष्यामीतीच्छयेह ज्ञातस्वरूपाभ्यां कृते स्तोत्रे इत्यर्थः । जानातीच्छति यतत इत्यनुक्रमात् । ताभ्यां ज्ञातस्वरूपस्य स्तोत्रे इति वा । विदित इति पुरुषोत्तमत्वेन स्मृतः । सम्यगिति ज्ञाने सम्यग् यथा भवति तथा । अयं परः पुमान् कुक्षिगतो यश्छान्दोग्याष्टमोपदेशोक्तोतो भक्तानुग्रहाय चतुर्भुजः । धर्मग्लानिर्भक्तदुःखादिजन्या कारणम् । भक्तमनोरथपूरकत्वात् । वहव इति शङ्कराचार्यप्रभृतयः । ज्ञातस्वरूपत्वं व्युत्पादयन्ति स्म यस्त्वित्यादि । अत्र टिप्पणी । सुबोधिनी । चतुर्भुज इति तेनात्रावतारविषये माध्वमतेन भागत्यागलक्षणेति भावः । सिद्धान्ते विरुद्धधर्माश्रयः । अद्भुतः । इत्यर्थो स्फुटेति न ख्याता, यस्त्वित्यारभ्य प्रयोगान्तं व्याख्यायते अत्रैवं ज्ञेयमिति । छान्दसः प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोग इत्यनुक्त्वा व्याकरणोक्तरीत्या वाक्यभेददोषेण यत् सुबोधिन्यां व्याख्यातं तस्मिन् प्रत्यक्षव्याख्याने एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञेयमित्यर्थः । छान्दसत्वकल्पनापेक्षया शब्दबलविचारकाणां 'भवान् असी'तिपदाभ्यां वाक्यभेदपक्षो ज्यायान् वाह्याभ्यन्तररूपनिरूपक इति व्याकरणस्मृतिः प्रबलेति हेतोः । किञ्च भवान् उत्पत्तिसामयिको विदितः । भवतेरुत्पत्त्यर्थकस्य षड्भावविकारेषु प्रथमस्य वाक्यभेदेनोक्तिः । असिपदेन द्वितीयभावविकारः । स स्थितौ अस्तिपदवाच्यायामिति न वाक्यभेदो दोष इत्याशयेनाहुः असीति व्यवहार इति । 'व्यवहारस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः' । स्थितावपीति द्वितीयभावविकारेपि । व्यवहारमात्रोक्तिरिति न तु युष्मच्छब्देनोपस्थितोक्तिः । स युष्मच्छब्देनोपस्थितः । तेन विना असीतिव्यवहारेण विना । तमिति युष्मच्छब्देनोपस्थितम् । अत एवेति स्थितौ अर्थाक्षेपादेव । सुबोधिनी । य इति चेतनस्थानीय इत्येवं स्फुटेति तां विहाय अध्याहारापेक्षाभावात् तदपेक्षाकथनारुच्या पक्षान्तरमाहुः वस्तुतस्त्विति । पुरुषत्रयरूपो वेत्यारभ्य पदत्रयमित्यन्ता सुबोधिन्यत्र व्याख्याता । सुबोधिन्याम् । अतः शास्त्रत इत्यादि वाह्याभ्यन्तरभेदेन वेदनापेक्षणाच्छान्दसत्वस्यानावश्यकत्वात् । शास्त्रतः आभ्यन्तररूपः लोकतः लोके दर्शने प्रत्यक्षतो वाह्यरूपः यः । अधुना भवान् विदितोसीति छान्दसप्रयोगेपि वाह्याभ्यन्तरभेदोपपत्तिरन्यथा पूर्वेण चारितार्थ्यमित्याशयेनाहुः अनेनेत्यादि । अङ्गग्रन्थेन । भवत्पदस्य द्वेधा व्युत्पादनेनेत्यर्थः । य इति भातीति भवानिति व्युत्पत्त्या यो भवानित्यर्थः । 'चतुर्भुज' इत्यत्र भवत्युत्पद्यत इति भवान् । शता लोकतो चेतनः । इत्युक्तमिति वेदोवयवीतिपक्षेप्युक्तम् । अथ वेति, अत्र टिप्पणी, भवच्छब्दसङ्गतीति आवृत्तिं विना तथा । देहरूपेणेति 'यथा दशमस्त्वमसी'त्यत्र । तदभीति भातेर्डवतौ तथा । अग्रिमेणेति पुरुषपदेन । भवानिति वेदाङ्गनिष्पन्नात् पश्चात् पुरि शेत इति पुरुष इति तथा । तेनेति भवत्पुरुषपदाभ्यामेकरूपत्वेनोभयोक्तिस्सारितकृत्स्नत्वेन । प्रतिज्ञायेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनानि गमनानि पञ्चावयवा इतिवत् । सुबोधिन्याम् । सैन्धवदृष्टान्तन्यायश्छान्दोग्ये । उपसंहरिष्यन्निति वसुदेवः विशुद्धसत्त्वेऽवतारकारणे स्वस्मिन्नुपसंहरिष्यन् । 'एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणै'रिति श्लोकेनोपसंहरिष्यन् । तत्र स्वरूपमात्रमुक्तम्, बहिरन्तररूपोपसंहार उक्तः । अस्मिन् पक्षे एकेन प्रार्थनं पूर्वं बोध्यम् । असीतिक्रियायाः प्रतिज्ञायां निवेशात् सर्वदृगस्त्विति प्रार्थने लोडन्तक्रियाध्याहारात् । यद्वा । विदिते प्रतिज्ञाते ब्रह्मत्वं विराड्त्वाद्युपसंहरिष्यन् प्रापयन् । 'उपसंहारोर्थाभेदा'दित्यादिव्याससूत्रात् । भवान् पुरुष इति भवान् विराट् पुरुषस्त्वण्डसंस्थितः अतः सर्वत्वं प्राप्तः । 'तृतीयं सर्वभूतस्थ'मितिवाक्यात् । तेन पूर्वोक्तः भवान् चतुर्भुजः महतः स्रष्टा बोध्यः । भारते सारं गीता । गीतायामपि विश्वरूपदर्शनाध्यायः सारमिति । उपसंहार्याधिभौतिकरूपमुक्त्वाध्यात्मिकं रूपमाहुः प्रत्यक्ष इति । स्वेच्छया प्रत्यक्षः आध्यात्मिकरूपो भवान् अप्रत्यक्षः पुरुष इति । आधिदैविकं रूपमाहुः सम्मुख इति । भक्तसम्मुखः भक्त्या प्रकटः भवान् । असम्मुखः पुरुषः व्यापकः । वेदान्तसारभागवतपक्षमुक्त्वा वेदसारभागवतपक्षमाहुः पुरुषत्रयेति । टिप्पण्यां व्याख्यातम् । असि भवानिति अत्रापि टिप्पणी समस्तं पदमिति असीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । तेन सह समासं प्राप्तमेकं पदम् । यथास्ति क्षीरा गौरित्यादावस्तीत्यव्ययं प्रथमपुरुषार्थे । तथासीत्यव्ययमपि मध्यमपुरुषार्थे । संहितायामापस्तम्बादि'रसि विष्णव' इत्याह, 'अधस्तमसि विष्णवे त्वे'त्याह, 'यज्ञो वै विष्णुः यज्ञायैवैनददस्तं करोती'त्यनेन । तेन सुबोधिन्यामसि भवान् साक्षात्पुरुष इति पदत्रयं न व्याख्येय-

विरोधापादकम्। 'यस्यामतं तस्य मत'मितिश्रुतेरिति द्योतितम्। सुबोधिन्याम्। पुरुषपदकृत्यमाहुः पुरुषप्रवेशादिति। पुरुष आनन्दमयः पुरा आसेति पुरुषपदव्युत्पत्तेः। तस्य प्रवेशादित्यर्थः। त इति अन्नमयादयः। न त्वात्मस्फूर्तावित्यादिः 'प्रकृतेः पर' इत्यस्याभासः। प्रकृतीति तेन परत्वं नियन्तृत्वं इत्युक्तम्। गुणानामिति त्र्यंशेष्वेकप्राधान्यं द्वयोस्तिरोभावः प्राकृतसत्त्वादिश्च तैर्गुणानाम्। मायाजीवेति 'आत्मानं त्रिगुणात्मकं परोपि मनुत' इति समाधिभाषायां मायाजीवाः, तेषाम्, आदिना जडानाम्। प्राकट्यकरणादिति कौस्तुभपीताम्बराभ्यां प्राकट्यकरणात्। प्रत्यक्षदोषस्त्वित्यादि अत्र टिप्पणी प्रत्यक्षविषय इति 'भवा'नित्यत्र भवतेरुत्पत्त्यर्थकस्य शतृप्रत्ययान्तस्य ग्रहणात् तथा। 'असी'ति षड्भावविकारेषु द्वितीय इत्येवकारः। उक्तव्यवहारेति प्रत्यक्ष-व्यवहारविषयस्य। उक्तरूपत्वमिति असि भवानित्युक्तरूपत्वम्। तत्परिहार इति इच्छया प्रत्यक्षदोषपरिहारः। शरीरप्रत्यक्षात् 'लोकद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामी'ति भाष्ये सत्त्वात्। तयोरिति विदिताविदितयोः। अन्यदितिपदेन भेदमाह। वदद्व्याघात इति शब्देन विदिते भगवति विदितभेदे वदद्व्याघातः। यदादृश्यमिति अदृश्यमिति पदच्छेदः। उभयेति इन्द्रियसामर्थ्येनादृश्यत्वसिद्ध्या प्रभिच्छालक्षणेन दृश्यत्वधर्मसिद्ध्या। भाष्येनैकदेशिमतम्। सुबोधिन्याम्, तथा भविष्यामीति। प्रकृतेः परो भविष्यामीत्यर्थः। अनुभवानन्द इति ज्ञानानन्तानन्दः। अयोगोलके वह्निरिवेति पूर्वं उत्तरं चान्वेति चिदित्यनुभवविवरणम्। नन्वपरोक्ष उक्तदेह इति षड्विधत्वभङ्गमाशङ्कयाहुः आत्मा नोक्त इति बुद्धीः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, ज्ञानकारणानि वा। षड्विध इति द्विगुणसच्चिदानन्दः। अयमिति वसुदेवज्ञानविषयः। प्रत्यक्तेति आदिशब्देनाप्रत्यक्षव्यवहारः॥ १३॥

स एवेत्यत्र तत्रेति उदरे। दर्शनमात्रेणेति 'ततो जगन्मङ्गल'मितिश्लोके समाधौ देवकीं भावयित्वा 'देवक्यां' भगवन्तं 'स्थापितवा'नित्युक्तम्। तथा च दर्शनमात्रेणेत्यस्य मानसप्रत्यक्षमात्रेणेत्यर्थः। स्थित्यर्थमिति यावज्जीवं स्थित्यर्थमिति प्रथमश्रुतौ। कार्यार्थं भूभारहरणादिकार्यार्थमिति द्वितीयश्रुतौ। क्षुरोसिः। विश्वम्भरो भगवान्। दृष्टान्तयोः कार्ये ऊह्ये, विश्वम्भरः कीटविशेषः। अनेकरूपभवनार्थमिति सृष्टानामनेकरूपत्वात्। अन्यप्रवेशनार्थम् आतपादन्या छाया तस्याः प्रवेशनार्थम्। त्रिभ्योऽन्यद्वा प्रवेशनं तदर्थं वा। छायाप्रवेशनार्थमित्यर्थः। कश्चनेति द्वितीयः। दक्षिणायां वेति इवार्थे वाशब्दः। "जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायां"मित्यत्र द्वितीयस्कन्धे सिद्धः। चतुर्थस्कन्धारम्भेपि वर्तते। 'यस्तयोः पुरुषः साक्षात् विष्णुर्यज्ञ-स्वरूपधृक्, या स्त्री सा दक्षिणाभूतेरंशभूतानपायिनी'त्यादिना दक्षिणाप्रसङ्गः। तथेति सोपाधिकः कार्याभिनिविष्टश्च वा। तथा चानुपाधिकत्वं कार्यार्थतया प्रवेशभावना चोपपद्यत इत्यर्थः। इत इति दक्षिणायाः। इदं शुक्रं कर्तृ। तामिति दक्षिणाम्। अवतार-प्रवेश उक्तः। सामान्यप्रवेशप्रकारप्रश्नमवतारिविषयकमाहुः तर्हीत्यादि इत्यर्थ इत्यन्तम्। प्रकार इति सामान्यप्रकारः। पूर्वमिति सृष्टेः पूर्वम्। स्वप्रकृत्येत्यादि स्वस्य भगवतः प्रकृतिः स्वभावः। आधिदैविकेति अत्र टिप्पणी तथोक्तमिति आधिदैविकस्वभावेनेति व्याख्यातम्। सुबोधिन्याम् अपेक्ष्यत इति स्वभोगार्थम्। अन्यार्थसृष्टावन्येषां मायाजीवानां भोगात्। यद्वा। साक्षित्वप्रकाशननियम-नार्थमपेक्षते। न तु स्वार्थेति स्वार्थसृष्टौ कारणतया विद्यमानेनैव रूपेणान्तर्यामिकार्यस्य च कारणात् नापेक्षते। कारणत्वेनैवेति आधिदैविकरूपेणैव। आधिदैविकादिभेदस्य सर्वत्र सत्त्वादेवकारः। सृष्ट्यन्तरमिति पुरुषद्वारा सृष्टिः। सृष्ट्यन्तरन्यायेनेति वा पाठः। अग्रे तथोक्तेः। प्रकार इति उक्तसामान्यप्रकारः। ननु 'तमद्भुत'मित्यत्र लीलोपयोगिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वमभिप्रेतमित्युक्तम्, इह तु त्रिगुणात्मकत्वमुच्यत इत्यत आहुः यथेत्यादि ज्ञेयेत्यन्तम्। प्रवेशभावनेति प्रवेशस्मरणम्। तेषामेवेति सात्त्विकादीनामेव। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। मायासाम्यस्य दौर्बल्यमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुः अत्रिगुणात्मकमिति। अकारप्रश्लेषप्रतीतमनङ्गीकृत्य पक्षान्तरद्वयमाहुः यद्वेत्यारभ्य उक्तरीत्येत्यन्तम्। अत्रैव 'स्व'पदानर्थक्यपरिहारः। 'तद'न्वितिपदव्यर्थत्वपरिहारश्च। योग्र इदं प्रकृत्याऽक्षरद्वारा त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा तदनु स एव स्वप्रकृत्याऽत्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा अग्रे पूर्ववत्। तदन्विति 'अनुकृतेस्तस्य चे'तिसूत्रादिदमुक्तम्। अत्र युक्तिमाहुः अन्यथेति। 'अनाविष्कुर्वन्नन्वया'दितिसूत्रादाहुः। यद्वानन्तरमिति रूढमिति यौगिकशक्ति-सङ्कोचात्मकरूढिस्तद्युक्तम्। वेदे योगरूढिः वेदान्ते ईदृशी रूढिः प्रस्थानरत्नाकरे ग्रन्थे उक्ता। उक्तदोषः इति आनन्तर्यस्य शाब्द-त्वदोषः। त्रिगुणात्मकत्वदोषो वा प्रपञ्चस्य। अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात्। अत एवेति अनुप्रवेशस्य रूढत्वादेव। अन्विति यथा भुक्त्वा व्रजतीत्यत्रानूपसर्गाभावेप्यानन्तर्यस्य क्त्वाप्रत्ययेनैव सिद्धेर्नानूपसर्गः। उक्तरीत्या इति अतः पूर्वव्याख्यानोक्तरीत्या॥१४॥

यथेमे इत्यत्र दूषणान्तरमिति प्राकृततुल्यत्वम्। तथैवेति तादृशैरविकृतसदृशैः। मूलस्थ'तथा तै'रित्यस्य विवरणम्। 'तैः' इति वक्ष्यमाणा ये विकृतास्तैः। तेन विराजि आध्यात्मिकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि। रूपरसादीति पूर्वमादिपदेन गन्धादयः। अग्रे आदिपदेन क्रियादयः। अमिलिता इति चिक्रीडिषया विशेषपदार्थेनामिलिताः। विनापि 'सह'पदप्रयोगं सहार्थे तृतीयेति व्यवस्थापित-त्वात्, अत्र सहपदप्रयोगं विनापि 'विकृतै'रिति तृतीयया सहार्थलाभेति 'सह'पदप्रयोगादन्योन्यमपि सहभावो विवक्षित इत्या-शयेनाहुः सर्वे संहत्येति। तेनार्थिकान्यपूरणयोरङ्गग्रन्थाप्राप्तौ प्रसङ्गो बोध्यः। हिशब्दार्थमाहुः युक्तश्चेति। कार्ये इति देहे। सर्वांश इति अत्र सर्वांशो भगवानित्यंशसम्बन्धिन एते भावाः। प्राकृताः प्रतीयन्त इत्यर्थः। अंशानां चतुर्विंशतितत्त्वानां सत्त्वव्यवहितत्वात् सत्त्वनिष्ठा विराड्देहजनकाः कारणभूता भावास्तत्र प्रतीयन्ते। पुरुषोत्तमस्य त्वानन्दमयत्वात् तत्र शिरआदयः प्रियादिरूपा एव, न हि ते कारणभूताः। 'कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वत' इति सिद्धान्तात्। न कोपाति पृथिव्यादिभूतदर्शनकृतो यः

स्वरूपेऽनित्यत्वविकृतत्वादिप्रतीतिरूपो दोषः सोपि नेत्यर्थः। किञ्चानन्दमयः लीलास्थकालः। तथा दुःखादिलीला अप्यानन्दमय्यः। यतः सुखात्मके जगति ईर्ष्यादिमिश्रणे सुखं दुःखायते। भगवदिच्छाननुकूलत्वे च दुःखम्, न तु स्वत इति न कोपीत्युक्तम् ॥१५॥

सन्निपत्येत्यत्र 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्वव'दिति पूर्वश्लोकेवतारिविषयोऽवतारेप्युक्तप्रायः। अवतारेप्यन्यदप्युच्यते सन्निपत्येति। सन्निपातोवतारिणि सिद्धः। अवतारे त्वाहुः मिलित्वेति। मायाजवनिकां दूरीकृत्योद्घाटितांशे मिलित्वा। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुतेः। दर्शनाच्च। यद्वा, विराजि त्वाहुः मिलित्वेति। दार्ष्टान्तिकस्याग्रे कथनात्। विराजि मिलित्वा। पूर्वेति विराजमिव सम्यक्। 'सौन्दर्यं प्रकटीकरिष्यामी'तीच्छानुकूलम्। प्रद्युम्नव्यूहमुत्पाद्येति पूर्वस्य वैराजस्यानुवादः। सिद्धस्य कथनमनुवादः। कारणेष्विवेति विराडादिषु। एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्यय' मितिवाक्यात्। आधिदैविकमिति यद्यपि विराड्याध्यात्मिकं रूपं तथाप्यवतार्यभेदादाधिदैविकमित्युक्तम्। विराड्यपि युक्तम्। 'यस्तु आध्यात्मिकः प्रोक्तः सोसावेवाधिदैविक' इतिवाक्ये आधिदैविकाध्यात्मिकयोरभेदोक्तेः। अनुगता इति अग्रिमव्याख्यानुरोधात् यतो दृश्यन्तेऽतोनुगता इव सन्तीत्यन्वयः। पटे तन्तव इव। पूर्वोक्ता अविकृता भावाः पूर्वं विराजि तत्त्वरूपेण दृष्टाः पुनः कार्यरूपव्यष्टौ तत्त्वकार्यत्वक्चर्मादिरूपेण दृश्यन्तेऽतः कार्येनुगता इव सन्तीत्यर्थः। अनुगतत्वं विशदयन्ति स्म पृथिवीति सङ्घातरूपस्मदादिदेहे। कारणभूता आधिदैविकी पृथिव्यनुगतेव। विराड्यावरणरूपादौ रूपे आनन्दः पृथिवीरूपेण प्रतीयते। वायवीयदेहे वायुः पृथ्वीव प्रतीयते यथा। सर्वसङ्ग्रहार्थमाहुः तत्तद्रूपा वेति। घटादौ सर्वत्र तत्तत्कारणरूपा घटत्वादिरूपाधिदैविकी पृथिव्यनुगतेव। रुधिरादीति अस्मदादिसमष्टौ देहरूपायां जलं रुधिरस्वेदादिरूपम्। विराजि जलमावरणरूपम्। हिमकरकादौ च तत्तत्कारणरूपमनुगतमिव। अदोरूपे तु वायुर्जलमिव वायवीयदेहे तद्वदानन्दरूपं जलम्। अवतारे तु वैराजं जलम्। अन्यदपीति तेज आदि सत्त्वान्तरम्। अतः परं तत्त्वानां कृत्स्नप्रसक्तिवारणाय बीजाङ्कुरन्यायमवतारयन्ति स्म तर्हीत्यादि। अत्रापीति शेषः। भवन्त्विति उत्पद्यन्ताम्। प्रागेवेति अवतारिदशायाम्। कारणत्वेनेति न तु कार्यत्वेन। 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्यय'मितिवाक्यात्। इहेति स्वरूपे, ब्रह्माण्डोपरि च। इहोत्पत्तिरिति कार्ये पुनरुत्पत्तिः। विलक्षणत्वादिति आधिदैविकत्वादिना। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविश'दिति श्रुतिविरोधं वारयन्ति स्म साक्षादिति। एवकारेण न तु श्रुत्या। श्रुतिबोधितः कृष्णत्वप्रवेशस्तु वर्तते श्रुतिप्रामाण्यात्। पूर्ववत् तेषामपीति अवतारिदशावत् तेषां त्वक्चर्मादीनाम्। अत्रेत्यवतारे। न कोपीति शास्त्रसिद्धत्वात् तद्विसंवादिप्रतीतिकृतो विरोधोऽकिञ्चित्करत्वान्नेत्यर्थः ॥ १६ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

कारिका—द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा। नवधा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते ॥ १ ॥

यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति। पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्रं वेदेन सम्मितम् ॥ २ ॥

लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी। नवधा वसुदेवोऽस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी ॥ ३ ॥

एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरम्। दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे ॥ ४ ॥

शास्त्रतो भगवानेव प्रतीत्यापि दृढीकृतः। बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ - भगवान् श्री हरि द्वादशात्मा है, ऐसा प्रतिपादन नव और दश इन दो श्लोक के ऊपर की कारिकाओं से अनेकधा किया जा चुका है, विशेष श्री वसुदेव जी श्री देवकी जी के द्वारा की हुई स्तुतियों के श्लोकों की संख्या भी उसी तत्त्व की परिचायक है इस आशय को आचार्यचरण अब आगे की कारिकाओं में निरूपण करते हैं। श्री हरि को द्वादशात्मा जानना चाहिये, क्योंकि श्री वसुदेवजी ने नव श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी नवविधता बतलाई है और श्री देवकी जी ने ३ (तीन) श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी त्रिविधता बतलाई है। दोनों स्तुतियों की संख्या को मिलाने से द्वादशविधता स्पष्ट हो जाती है। वैदिक प्रकारसे नव श्लोकों से गाये हुए भगवान् नवधा वैदिक रूप से बतलाये गए हैं, और स्मृति निर्दिष्ट प्रकार से तीन श्लोकों से स्तुति किये हुए भगवान् त्रिधा स्मार्त या लौकिक रूप से कहे जाते हैं। इस प्रथम कारिका में आचार्यचरण श्री वसुदेवजी की स्तुति में दश श्लोक के रहते हुए नवश्लोक कहते हैं और श्री देवजी की स्तुति में आठ श्लोकों के रहते हुए भी तीन श्लोक कहते हैं इसका तात्पर्य यह है कि जो वसुदेव जी का अन्तिम दशवाँ श्लोक है उसमें स्तुति नहीं है लेकिन हमारे घर आप का पधारना योग्य नहीं और आपके पधारने के समाचार जानकर अभी कंस आ जायगा ऐसी वस्तुस्थिति का कथन मात्र है। श्री देवकीजी के आठ श्लोकों में से तीन ही श्लोकों में भगवत्स्वरूप का और भगवदैश्वर्य का स्तवन है और पिछले पाँच श्लोकों में दैन्य अभ्यर्थना कुछ निवेदन आदि बातें आती है। अग्निहोत्र १ दर्शपूर्णमास २ पशु ३ चातुर्मास्य ४ सोम ५ इन भेदों से यज्ञात्मा भगवान् पांच प्रकार के हैं, एवं वासुदेव १ सङ्कर्षण २ प्रद्युम्न ३ अनिरुद्ध ४ इन व्यूहों के भेद से भगवान् चार प्रकार के हैं, फलतः भगवान् पञ्चयज्ञात्मक है और चतुर्व्यूहात्मक भी हैं, यद्यपि वेद भगवान् ने व्यूह मूर्ति का निरूपण नहीं किया है किन्तु तन्त्र ने किया है तथापि तन्त्र भी वेद तुल्य है इसलिये वैदिक पञ्चयज्ञात्मक और तांत्रिक व्यूह चतुष्टयात्मक मिलकर नवधा स्वरूप को यहाँ वैदिक पद से लिया गया है ॥ २ ॥ सत्त्व, रज, तम इन गुणों के भेद से लौकिक, स्वरूप त्रिविध

कहा है, और श्री देवकीजी ने स्मृति की प्रक्रिया से स्तुति की है स्मृतिकार ऋषियों ने लोकरीति से वर्णन किया है अतः स्मृति लौकिक ही कही गई है। वसुदेवजी ने नवधा स्तुति की है, और देवकी ने त्रिधा स्तुति की है। दोनों मिलकर द्वादशधा बनेगी ॥३॥ यद्यपि श्री देवकी जी एवं श्री वसुदेव जी दोनों की स्तुति के संकलित १८ श्लोक हैं परन्तु प्रथम कारिका में श्री वसुदेव जी के नव और देवकी जी के तीन श्लोक को जोड़ कर बारह प्रकार कहे गये हैं। अब दोनों स्तुतियों में पन्द्रह एवं अठारह प्रकार का समन्वय बताते हैं। प्रथम जो वसुदेवजीकृत स्तुति है उसमें नव श्लोक स्तुति के और एक श्लोक प्रार्थना का ऐसे दश श्लोक होंगे इसलिये इस चतुर्थ कारिका में "दशभिः" पद से एक वसुदेव जी के दश श्लोक कहें। देवकीजीकृत स्तुति के लिये "पञ्चभिः" पद कहा उसमें तीन श्लोक स्तुति के और दो श्लोक प्रार्थना के ऐसे पांच प्रकार की स्तुति कही। इसी विषय का विशद विवरण यह है कि—आचार्यचरणों ने प्रथम कारिका में श्रीवसुदेवकृत स्तुति "नवधा" और श्री देवकी जी कृत स्तुति को त्रिधा ऐसा कहा। अब आचार्यचरण चतुर्थ कारिका में पुनः **दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते** स्तुती उभे दश श्लोकों से और पञ्च श्लोकों से दोनों स्तुतियों का निरूपण किया जाता है ऐसी आज्ञा करते हैं तो इसका रहस्य यह है कि पूर्व में श्री वसुदेव जी कृत स्तुति में प्रार्थना के श्लोक को न लेकर स्तुति के नव श्लोक कहे। अब प्रार्थना के श्लोक को लेकर "दशभिः" दश श्लोकों से स्तुति है ऐसा कहते हैं। अब श्री देवकी जी कृत स्तुति में आठ श्लोक है फिर "पञ्चभिः" कहते है तो इसका तात्पर्य यह है कि प्रारंभ के तीन श्लोकों में ही मुख्यतया स्तुति है। जो चतुर्थ श्लोक है उसमें तो मात्र तृतीय श्लोक में "क्षेमधाम प्रपद्ये" कहकर देवकीजी ने प्रपत्ति का जो निर्देश किया उस प्रपत्ति का कारण बताया गया है इसलिये चतुर्थ श्लोक का तृतीय श्लोक में अन्तर्भाव हो जायगा। फिर पञ्चम श्लोक में रक्षण की प्रार्थना है और षष्ठ श्लोक में कंस को भगवत्प्रादुर्भाव का ज्ञान न हो यह प्रार्थना है अतः प्रार्थना दो प्रकार की और तीन प्रकार की स्तुति उन दोनों का जोड़ कर इस कारिका में पञ्चभिः पाँच श्लोकों से स्तुति की है ऐसी आचार्यचरणों ने आज्ञा की है। अब फलित यह हुआ कि चतुर्थ श्लोक का तृतीय में अन्तर्भाव करने से तीन श्लोक पञ्चम और षष्ठ दो श्लोकों में प्रार्थना इस तरह तीन और दो मिलकर पांच श्लोक स्तुति के बने। अब रहे सप्तम और अष्टम दो श्लोक तब इन दोनों में से सप्तम श्लोक में भगवान् के रूप के उपसंहार की प्रार्थना है लेकिन उस प्रार्थना का पूर्व प्रार्थनाओं के समान स्तुति में उपयोग नहीं अतः दो ही प्रार्थना बनी तीन नहीं। अष्टम श्लोक में तो प्रार्थना नहीं है और स्तुति भी नहीं है लेकिन विश्व को धारण करने वाले भगवान् के गर्भगत होने में विरोध का केवल परिहार ही है, अतः इस श्लोक का स्तुति में सन्निवेश उपयुक्त नहीं इस दृष्टि से अवलोकन करने पर विदित होता है कि देवकीकृत स्तुति प्रधान रूप से तीन प्रकार की है उनमें प्रार्थना के दो श्लोंको का सन्निवेश करने से स्तुति पाँच प्रकार की होती है यह बात "दशभिः पञ्चभिः" कारिका में कही गई है। और देवकी जी के आठ श्लोक तो है ही तब संख्या की दृष्टि से स्तुति आठ प्रकार की भी है ॥ ४ ॥

'**विदितोऽसि**' इस वाक्य में वसुदेवजी ने भगवत्स्वरूप को शास्त्रसिद्ध कहा है और प्रतीति के द्वारा भी उस शास्त्रैक-समधिगम्य स्वरूप की दृढता की है। भगवत्स्वरूप के चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय हो जाने के कारण लोगों को भगवत्स्वरूप के ब्रह्म रूप होने में बाधा डालने वाला अन्यथा ज्ञान एवं अज्ञान हो सकता था परन्तु वसुदेवजी स्तुति के द्वारा '**विदितोऽसि**' वाक्य में उस अदृश्य और इन्द्रियादि से अग्राह्य ब्रह्म की स्वेच्छा से दृश्य ग्राह्य होने की सूचना देकर उस अज्ञान एवं अन्यथा ज्ञान का निवारण करते हैं ॥ ५ ॥

तत्र प्रथमं बाधकधर्मैश्चाक्षुषत्वादिभिः—उक्त स्तुति में सर्व प्रथम वसुदेवजी ने '**विदितोऽसि**' इस वाक्य से मुझको आप का यथार्थ ज्ञान आप के दर्शन से हो चुका है ऐसा कह कर भगवान् के विषय में अपने अज्ञान का निराकरण किया है। अज्ञान की सम्भावना इस प्रकार हो सकती है कि ज्ञानियों का यह मन्तव्य है कि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय है, उसका चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिये जो स्वरूप नेत्र के सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहा है वह ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म का नेत्रों आदि के विषय उस स्वरूप को ब्रह्मता के बाधक धर्म हैं, इस प्रकार का ज्ञान अज्ञान है। हाँ जीव यदि अपने सामर्थ्य से भगवान को इन्द्रियों का विषय बनाता है तब तो उसका अज्ञान है परन्तु ब्रह्म के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में कारण उस ब्रह्म की एकमात्र इच्छा ही है ऐसा ज्ञान न हो पावे तो उक्त प्रकार से अज्ञान का सम्भव है, अतः आरम्भ में ही वसुदेवजी ने वैसे अज्ञान का अपने में अभाव बतलाया है कि '**विदितोऽसि**' आप ही भगवान् हो ऐसा जाना है। वसुदेव और देवकी इन दोनों की की हुई स्तुति उनके भगवद्विषयक ज्ञान की सूचक हैं कि पिता और माता दोनों को भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो चुका है।

वसुदेवजी का कहना है कि मैंने आपको अच्छी तरह जान लिया है, आर्ष ज्ञान से आपको मैंने भली भाँति पहिचान लिया है। कदाचित् भगवान् ऐसा प्रश्न कर बैठें कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिक वाक्यजन्य ज्ञान से तो बहुत लोग जीव को भी भगवद्रूप से जान लेते हैं क्या उसी तरह आपका भी ज्ञान है ? इसके समाधान में वसुदेवजी ने 'असि' इस मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है, उक्त श्लोक में 'त्वम्' इस प्रकार युष्मद् शब्द का प्रयोग नहीं भी हुआ है तो भी 'असि' यह मध्यम

पुरुष का प्रयोग सम्मुखस्थ चतुर्भुज स्वरूप के प्रति किया गया है कि 'युष्मद्' शब्द से जो सम्मुखस्थ चतुर्भुज रूप व्यवहृत होता है वह भी तुम जान लिये गये हो, अतः शास्त्र से और लोक से जो तुम ज्ञात होते हो वह मैंने जान लिया है, इस व्याख्यान से यह निरूपण किया है कि जिस अन्तर्गत स्वरूप की परम्परा से प्रतीति होती है जिसके लिये 'भवान्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है एवं जिस देह इन्द्रियादि रूप जड वर्ग की बाह्य प्रतीति होती है जिसके लिये 'त्वम्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है वह दोनों रूप आप एक ही हैं, आप के स्वरूप में देह देही का विभाग नहीं, आप सर्वांश में आनन्दमय हैं 'आनन्द मात्र करपाद मुखोदरादि, श्रुति सिद्ध आपके स्वरूप का ज्ञान मुझे हुआ है। और एक बात यह भी है कि 'विदितोऽस्ति भवान्' ऐसा पाठ न होकर उक्त असि पाठ का होना और वह भी भगवान् के जन्मप्रसङ्ग में उनके पिता श्री वसुदेवजी के शब्दों में वैयाकरणों को जो कि अर्धमात्रा के लाघव से पुत्रोत्सव मानते हैं अपनी ओर आकृष्ट करता है क्योंकि 'अस्ति' पद की अपेक्षा 'असि' पद में अर्धमात्रा का लाघव है वसुदेवजी का पुत्रोत्सव ही स्तुति रूप में व्यक्त हो रहा है।

अथवा **विदितोसीति प्रतिज्ञाय**—पूर्व व्याख्यान में 'भवान्' शब्द की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती है क्योंकि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग से 'त्वम्' शब्द का या उसके अर्थ का लाभ होना अनिवार्य है ऐसी दशा में 'भवान्' शब्द से जो कार्य सिद्ध करना है वह 'त्वम्' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है, अतः दूसरे प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि—अथवा 'विदितोऽसि' तुमको मैंने जान लिया ऐसी प्रतिज्ञा करके भगवान् की ब्रह्मरूपता का ही आगे उपसंहार में निरूपण करना है इस दृष्टि से 'भवान्' और पुरुष, इन दो पदों के द्वारा बाह्य, एवं आभ्यन्तर दोनों रूपों में एक रूप तुम ही हो क्योंकि सर्वभाव को प्राप्त होने वाला ही तो ब्रह्म है—

पुरुषस्वरूपो भगवानिति वा अस्तु—अथवा 'भवान् पुरुषः' इन पदों से ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता का ज्ञान दिखलाना अभीष्ट है कि वह प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष है सम्मुख होते हुए भी असम्मुख है, इस व्याख्यान में भी यह अरुचि रह जाती है कि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग के विना भी 'विदितो भवान्' इत्यादि प्रकार से भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदि अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो सकता था 'भवान्' शब्द ही 'त्वम्' के अर्थ को बोधित कर सकता था 'असि' पद की सार्थकता प्रतीत नहीं होती अतः प्रकारान्तर से व्याख्यान करते हैं कि—अथवा भगवान् पुरुषत्रय रूप हैं—क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक रूप से त्रिविध रूप आप ही है ऐसा प्रतिपादन करने के लिये 'असि' 'भवान्' और साक्षात्पुरुष' इन तीन पदों का संयोग किया है, और एक बात है कि 'असि' पद से देह रूप, 'भवान्' पद से देहाभिमानी, 'साक्षात्पुरुष', पद से परमात्मा इन तीनों का बोध होता है, भगवत्स्वरूप में जो देह है वही देही आत्मा है और वही परमात्मा भी है, भगवत्स्वरूप को सक्कर के आकार की भाँति एक रस सर्वांश में आनन्दमय वसुदेवजी ने जाना है, व्याकरण में प्रथम, मध्यम, उत्तम, इस प्रकार पदों में व्यवहार किया गया है वहाँ भी उन्हें 'पुरुष' पदवी मिली है जो कि भगवान् की त्रिविधता की सूचक है 'साक्षात्पुरुषः' पद के अन्तर्गत 'साक्षात्' पद का प्रयोग इसलिये है कि आनन्दमय पुरुष का ही बोध हो अन्नमयादि पुरुषों का नहीं, क्योंकि वह आनन्दमय पुरुष के प्रवेश से पुरुषरूप होते हैं अतः साक्षात् पुरुष नहीं हो सकते वह तो परम्परा से पुरुष हैं, आत्मस्वरूप की स्फूर्ति होने पर ब्रह्मवेत्ताओं को भी साक्षात्पुरुषरूपता हो जाती है अतः उनसे भी अधिकता बतलाते हैं कि आप तो प्रकृति से पर हैं उसके नियन्त्रण करने वाले हैं। वह ब्रह्मवेत्ता लोग तो जीव हैं इसलिये प्रकृति के नियामक नहीं, भगवान् ने कौस्तुभमणि और पीताम्बर के द्वारा गुप्त जीव, माया, आदि तत्त्वों का प्रकट कर अपनी प्रकृति नियामकता स्पष्ट की है।

प्रत्यक्षदोषस्तु 'असि' भवन्तीति पदाभ्यां परिहृतः—प्रत्यक्ष दोष का परिहार तो 'असि' 'भवान्' इन पदों द्वारा कर ही दिया है कि भगवती श्रुति ने जिस तत्त्व को अतीन्द्रिय कहा है वही तत्त्व स्वेच्छा से साकार आनन्द रूप में श्रीवसुदेवजी के सम्मुख समुपस्थित होता है और श्रीवसुदेवजी उनकी इच्छा से उन्हें जानकर कहते हैं कि आपको मैंने शुद्ध ब्रह्म पुरुषोत्तम रूप से जान लिया है, ऐसी अवस्था में यह मानना ही पड़ेगा कि अतीन्द्रिय होने के कारण ब्रह्म की प्रत्यक्षता जो दोष रूप मानी जाती थी वही उनकी निजेच्छा से गुण रूप हो जाती है, यद्यपि ब्रह्म को जान लेना प्रमाणसिद्ध नहीं क्योंकि उस अनन्त, एवं अग्राह्य तत्त्व का ज्ञान सम्भव नहीं अतः उसके विषय में 'ज्ञातत्त्व' भी एक दोष ही है परन्तु उस दोष का भी परिहार भगवान् के सर्वभाव से प्रकट होने के कारण हो जाता है, बात ऐसी है कि 'स सर्वं भवति' भगवान् सब कुछ हो जाते हैं, **'इदं सर्वं यदयमात्मा'** यह सब कुछ जो है यह आत्मा ही है, इत्यादि श्रुति भगवान् की सर्वरूपता का प्रतिपादन करती हैं; वसुदेवजी भी 'भवान् पुरुष, पदों से उनकी बाह्य एवं आभ्यन्तर रूपता का वर्णन कर सर्वरूपता ही सूचित करते हैं, ऐसी स्थिति में यह मानना अनिवार्य है कि भगवान् को देखने वाले नेत्र या नेत्रों का सामर्थ्य भी भगवान् ही है, तब स्वयं भगवान् का अपने आपको जान लेना जिस प्रकार दोषावह नहीं उसी प्रकार वसुदेवजी का भी उन्हें जान लेना अविरुद्ध ही है वसुदेवजी या उनकी शक्ति आदि सर्वरूप भगवान ही तो हुए हैं अतः सर्व भाव से प्रकट होने के कारण ज्ञातव्य दोष को

अवकाश नहीं, प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व, आदि विरुद्ध धर्म एक एक अंश से चरितार्थ हो जाते हैं, प्राकृत इन्द्रियों से तो ब्रह्म सर्वथा अग्राह्य ही है परन्तु अप्राकृत इन्द्रिय भगवद्रूप ही है अतः अप्राकृत इन्द्रिय से ग्राह्य होने पर भी भगवान् की अधोक्षजता निर्विरोध सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि उनका विरोध नहीं रहता। अपनी इच्छा से भगवान् जिस समय दर्शन देते हैं उसी समय दर्शन करने वाले की इन्द्रिय के सामर्थ्य से अदृश्य भी बने रहते हैं।

अयोगोलके वह्निरिव भगवान् देहे चिदानन्दः संक्रान्तोभविष्यतीत्याह स्वरूपः इति केवलानुभवानन्दस्वरूपः— इस विशेषण से वसुदेवजी ने भगवान् के एक प्रश्न का उत्तर देकर उनके स्वरूप के विषय में अपनी अभिज्ञता प्रकट की है भगवान् ने प्रश्न किया कि तो क्या इस चतुर्भुज देह के अन्तर्गत जो आत्मा है वही मैं उस प्रकार का पुरुषोत्तम आदि रूप होऊँगा। वसुदेवजी उत्तर में कहते हैं कि आप तो केवल हैं, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण रहित हैं, आपके स्वरूप में जड़ देह एवं इन्द्रियादि का सम्भव ही नहीं, और न आप जीव की भाँति केवल ज्ञानरूप ही हैं, आप तो अनुभवानन्द रूप हैं, चिन्मय एवं आनन्दमय हैं, लोहे के गोले में जिस प्रकार अग्नि का संक्रमण होता है कि प्रथम तो लोहा अग्नि से भिन्न ही प्रतीत होता है पश्चात् मुद्गर प्रहार आदि की प्रक्रिया से धीरे धीरे अग्नि उस लोहा में प्रकट होकर सर्वांश में उसे अपने रूप में मिला लेता है। क्या उसी प्रकार चिदानन्द का सङ्क्रमण इस चतुर्भुज देह में हैं? नहीं ऐसा नहीं है जो स्वरूप दृष्टिगत हो रहा है यह ही चिदानन्द रूप है, इस में चिद् और आनन्द हों और यह उनसे पृथक् हों ऐसी बात नहीं, आप चिदानन्द स्वरूप हैं, सच्चिदानन्द ही आपका विग्रह है। मूर्तिमान् सच्चिदानन्द आप हैं, इस प्रकार परोक्ष, अपरोक्ष, और अन्तर्यामी इन तीनों रूपोंवाला जो स्वरूप सामने दीख रहा है वह आप हैं यह निरूपण किया है, आप ही सर्वात्मा है ऐसा कहना अवशिष्ट रह गया, अतः सर्व बुद्धि दृग् इस विशेषण से सबकी आत्मा हैं इस प्रकार निरूपण करते हैं कि आप सब को बुद्धियों को देखते हैं, अथवा सबकी बुद्धियों में जिनका दर्शन है, ज्ञान है, प्रकाश है, जिनके प्रकाश से सब की बुद्धि प्रकाशित होती है इस प्रकार क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, देह, जीव, अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, अन्तर्यामी, देह, जीव इन रूपों से छहों प्रकार का भी भगवान् यह ही है ऐसा कहा है, और प्रत्यक्ष व्यवहार आदि धर्मों का अंशतः समर्थन किया है॥ १३॥

दूषणान्तरमाशंक्य परिहरति स एवेति यद्यहं सर्वरूपो भगवानेव कथमिति—अग्रीम श्लोक में अन्य दोष की आशङ्का कर समाधान करते हैं, भगवान् ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यदि मैं सर्वरूप भगवान् ही हूँ तो देवकी के उदर में मेरा किस प्रकार से प्रवेश हुआ, तब उक्त प्रश्न पर वसुदेवजी कहते हैं कि आप तो अप्रविष्ट ही हैं कहीं अन्य स्थान से आकर आपने देवकी के उदर में प्रवेश किया नहीं है आप तो वहाँ प्रथम से वर्तमान ही है प्रवेश तो उसका होता है जो वहाँ पर न हो, फिर भी आप प्रविष्ट की भाँति प्रतीत होते हो। केवल दर्शन या मनुष्य की अपनी प्रतीति से प्रवेश का निर्णय नहीं किया जाता है जब तक कि वह दर्शन या प्रतीति शास्त्र से अनुमोदन प्राप्त न करें। भक्त को या जीव को जो दीखता है वह तब ही प्रमाणित माना जाता है जब शास्त्र भी वैसा ही प्रतिपादन करता हो। प्रवेश के विषय में कतिपय श्रुति उपलब्ध होती हैं, उनके अनुसार स्थिति के अर्थ तथा कार्यार्थ, एवं अनेक रूप होने के लिये, और अन्य के प्रवेश के लिये अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश के लिये ब्रह्म का प्रवेश होता है, ऐसा सुना जाता है। जैसे **बृहदारण्यक उपनिषत्** प्रथमाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण में सप्तम मन्त्र है। **'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये'** इस मंत्र में स्थिति के निमित्त आत्मा का प्रवेश इस शरीर में होता है यह निरूपण किया है छुरे का उसके कोष में प्रवेश स्थिति के निमित्त से ही होता है अतः छुरे के दृष्टान्त से यहां स्थित्यर्थ प्रवेश ही अभिमत है जैसा कि **'अवहितः स्यात्'** इस वाक्य शेष से स्पष्ट होता है। दूसरा दृष्टान्त विश्वम्भर के कुलाय प्रवेश का है, इसके द्वारा कार्यार्थ प्रवेश सिद्ध होता है, यदि विश्वम्भर शब्द से भगवान् विष्णु का ग्रहण किया जावे तब तो भूभारहरणादि कार्य के लिये भगवान् का प्रवेश जिस प्रकार देव मनुष्य पशु पक्षि आदि शरीरों में होता है उस प्रकार आत्मा का प्रवेश भी कार्यार्थ ही है, विश्वम्भर शब्द 'अग्नि' के अर्थ में यदि प्रयुक्त हुआ है तो भी **'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'** के अनुसार अन्न परिपाक कार्य के लिये प्राणियों के देह में अग्नि रूप से भगवत्प्रवेश की भांति आत्मा का प्रवेश कार्यार्थ सिद्ध होता है।

तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् यह श्रुति तैत्तरीय उपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली षष्ठ अनुवाक के अन्तर्गत है। उसका निर्माण कर उसमें प्रवेश किया इस प्रवेश को अनेक रूप भवनार्थ मानना आवश्यक है।

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे यह श्रुति कठोपनिषत् प्र० अध्याय तृतीय वल्ली के प्रथम मन्त्रगत है यहाँ पर और जीवात्मा परमात्मा दोनों का हृदय में प्रवेश कहा गया है।

तथा देवक्यामपि कश्चन प्रवेशप्रकारो भविष्यति—उस प्रकार देवकी में भी प्रवेश का कोई प्रकार होगा, ऐसा मानना या कहना पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के लिये सुसंगत नहीं है क्योंकि श्री देवकी के उदर में प्रकार विशेष से श्रीकृष्ण का प्रवेश मानने में भगवान् की मुख्य कृष्णरूपता में एवं उनकी प्रधानपरमतत्त्वरूपता में विसंवादिता उत्पन्न हो सकती है।

कि प्रवेश करने वाला तो सोपाधिक भी कामना की उपाधि युक्त होकर ही प्रवेश करता है और उसका किसी कार्य में अभिनिवेश भी होता है। जो कामनायुक्त एवं अभिनिवेशयुक्त है वह किसी कार्य के सम्पादन के लिये उपायों का आग्रहपूर्वक संग्रह भी करता है जैसा कि जगत् के निर्माण आदि कार्य के लिये कार्यानुकूल 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव आदि श्रुतियों से सिद्ध है, किसी भी कामना की उपाधि वाला और कार्यार्थी स्वरूप, मुख्य तत्त्व सदानन्द कृष्ण नहीं हो सकता वह तो सर्वोपाधि रहित लोक और वेद में प्रसिद्ध पूर्णानन्द है। उसका प्रवेश सम्भव नहीं, इस संदेह की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि 'अप्रविष्ट एव प्रविष्ट इव' आपतो अप्रविष्ट ही हैं प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हैं।

अब दूसरे विकल्प का खंडन करते हैं कि **योगबलादपीन्द्र इव प्रवेशः**—योग बल से भी प्रवेश हो सकता है (इन्द्र योगबल से परमात्मा में प्रविष्ट हुआ था) एव दक्षिणा नामक स्त्री में जन्म ग्रहण करने के निमित्त प्रवेश हो सकता है जैसा कि **'यो वा'** इत्यादि श्रुति से सिद्ध है कि जो दक्षिणा से जन्म ग्रहण करेगा वह इन्द्र होगा इस कारण से इन्द्र ने दक्षिणा में प्रवेश किया और दक्षिणा से इन्द्र ही उत्पन्न हुआ, एवं दिति के उदर में स्थित मरुत नाम वाले गर्भस्थ बालकों के नाश के लिये भी इन्द्र ने प्रवेश किया था, परन्तु भगवान् का प्रवेश उस प्रकार का नहीं है, इसे स्पष्ट करने के लिये "अप्रविष्टः" इस शब्द से भगवान् को अप्रविष्ट कहा है, परन्तु प्रवेश धर्म तो भगवान् में है ऐसा बतलाने को "प्रविष्ट इव" प्रविष्ट जसे प्रतीत हो रहे हो ऐसा कहा गया है।

प्रकृत्याऽऽधिदैविकस्वभावेनेदं भगवदर्थमेव जगत् त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा—यदि प्रविष्ट नहीं है परंतु प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहा है तब प्रवेश किस प्रकार का होगा—ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि जो पूर्व में सच्चिदानन्दरूप कहा गया है वह ही आप अपनी निज प्रकृति या आधिदैविक स्वभाव से इस भगवल्लीलोपयोगी त्रिगुणात्मक जगत् की रचना करने के अनन्तर यद्यपि आप उसमें प्रविष्ट नहीं हुए हो प्रवेश की केवल प्रतीति है, क्योंकि अन्य के लिये की जाने वाली जगत् की सृष्टि में साक्षी होने के लिये अथवा तो प्रकाश एवं नियन्त्रण आदि करने के लिये प्रवेश अपेक्षित है अपने लिये की गई लीला सृष्टि में तो कारण रूप से विद्यमान स्वरूप के द्वारा ही अन्तर्यामी का एवं जीव का भी कार्य हो जाता है अतः वहाँ प्रवेश की अपेक्षा नहीं। लीलासृष्टि में तो भोग्य पदार्थों का भोग करने को कारण रूप से जो आप प्रकट होते हैं उन्हें ही जीवार्थ सृष्टि की भाँति प्रविष्ट जैसा मान लिया गया है। यहाँ पर प्रवेश के दर्शन में यह प्रकार बतलाया है कि वास्तव में परमतत्त्व कृष्ण का प्रवेश सम्भव नहीं प्रवेश की प्रतीति मात्र है। वसुदेवजी कहते हैं कि आप भगवान् हैं आपने अपने लीला विलास के लिये हम लोगों को बनाया है हमारा उपभोग करने के लिये हमारे भीतर विराजमान ही आप बाहर प्रकट हुए हो अतः अप्रविष्ट ही हो तो भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो यह अर्थ होता है। वसुदेवजी ने इस लीलासृष्टि को त्रिगुणात्मक इस दृष्टि से कहा है कि जिस प्रकार जीवार्थ सृष्टि में होने वाले आपके प्रवेश की भावना इस निज सृष्टि में भी होती है मुख्यतया प्रवेश तो अन्यार्थ सृष्टि में ही है यहाँ तो केवल उसको भावनामात्र है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक भी साधारण जगत् ही है यह असाधारण लीलात्मक जगत् त्रिगुणात्मक नहीं फिर भी लीलास्थजनों में भगवद्विषयक स्नेह, द्वेष एवं औदासीन्य आदि भावों की प्रतीति होती है उन्हीं भावों को परार्थ सृष्टि की प्रक्रिया से यहां सत्त्व आदि गुण रूप मान लिया गया है और लीलासृष्टि को त्रिगुणात्मक कह दिया है।

अत्रिगुणात्मकमिति वा भगवन् वास्तव में तो यह सृष्टि गुणातीत ही है, अत्रिगुणात्मकम् ऐसा पदच्छेद यहाँ पर अभीष्ट है, तब तो लीलासृष्टि की गुणातीतता स्पष्ट ही है, अथवा "अग्रे त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा तदनु स्वप्रकृत्या-इदं सृष्ट्वा' इस प्रकार पदयोजना अभीष्ट है, 'तदनु' पद का योग 'प्रविष्ट' पद से नहीं क्योंकि 'तदनु' का अर्थ 'तदनन्तर' होता है और उस अनन्तर अर्थ की प्रतीति 'सृष्ट्वा' पद के अन्तर्गत 'क्त्वा' प्रत्यय से हो हो जाती है, क्योंकि वह 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्व काल की क्रिया का बोधक है, तब अनन्तर या उत्तर काल की प्रतीति स्वभावतः हो जाती है। अतः प्रवेश की उत्तरकालिकता 'तदनु' पद के बिना ही सिद्ध है तदर्थ उसकी आवश्यकता नहीं, अतः उक्त योजना के अनुसार इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये कि पूर्व में त्रिगुणात्मक जगत् को रचकर तदनन्तर आधिदैविक प्रकृति से इस लीलात्मक जगत् को रचकर आप अप्रविष्ट ही प्रविष्ट जैसे होते हैं, अथवा तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' इस श्रुति में 'अनु' इस उपसर्ग का प्रयोग हुआ है इससे यह स्वीकार करना आवश्यक है कि सृष्टि के अनन्तर जो प्रवेश होता है उसका 'अनुप्रवेश' यह रूढ नाम है, उसके अन्तर्गत 'अनु' पद का 'अनन्तर' अर्थ नहीं है, ऐसा मान लेने से पूर्वोक्त रीति से जो 'अनु' पद की व्यर्थता का दोष सम्भावित था वह नहीं रहता है।

उक्तरीत्या दूषणान्तरमप्याशङ्क्य पुनः परिहरति द्वाभ्याम्—अन्य दोष को आशङ्का कर पुनः उसका परिहार 'यथेमे' आदि दो श्लोकों से करते हैं, यह शङ्का हो सकती है कि इस भगवत्स्वरूप में उसी प्रकार पृथिवी आदि भूतों की प्रतीति होती है जिस प्रकार प्राकृत पदार्थों में उनकी प्रतीति होती रहती है, तो इस भगवत्स्वरूप को आनन्दमय कैसे माना जाय, शरीररूप से पृथिवी की, मुखारविन्द में प्रधानतया जल की, सर्वाङ्ग में कान्तिरूप से तेज को, नासिका में प्राण रूप वायु की, एवं अन्यान्य छिद्रों में अवकाश रूप से आकाश की प्रतीति होती है, उक्त आशङ्का का समाधान करने के लिये दृष्टान्त के द्वारा

भगवत्स्वरूप में प्रतीत होने वाले पृथिवी आदि तत्त्वों की नित्यता एवं अविकारिता सूचित करते हैं कि इस भगवत्स्वरूप में विद्यमान देह इन्द्रियादि सब अविकारी भाव हैं चौबीसों तत्त्व आधिदैविक ही हैं, आधिभौतिक नहीं, इनकी आधिदैविकता का प्रतिपादन केनोपनिषत् को 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि श्रुति ने उपलक्षणरूप से किया है, कि वह श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों का श्रवण आदि रूप हैं, मनः प्रभृति अन्तःकरणों का मन आदि रूप है, वागादि कर्मेन्द्रियों का वाक्-आदि रूप है एवं पृथिवी का पृथिवी, जल का जल आदि भी है, यह ही आधिदैविक तत्त्व है, आधिभौतिक पृथिवी आदि में यह आधिदैविक तत्त्व उन उन कार्यों के लिये स्थित रहते हैं, इनके बिना केवल आधिभौतिक चक्षु आदि से रूपादि ग्रहण का कार्य नहीं हो सकता।

अन्योन्यमिलितेति—जिस प्रकार आधिदैविक २४ प्रकृति आदि तत्त्व (नाना वीर्य) है जैसे आधिदैविक चक्षु रूप का ज्ञान करा देने की सामर्थ्य रखती है, रसना रस के ज्ञान करा देने की सामर्थ्य रखती है एवं आधिदैविक हस्तपादादि भी आदान प्रदान, गमन आगमन आदि की सामर्थ्य रखते हैं तथा पृथक् पृथक् अवस्थित है परस्पर में मिलित नहीं है, भिन्न भिन्न कार्यों को करने के लिए पृथक् ही रहते हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक प्रकृति आदि तत्त्व भी (नाना वीर्य) है और पृथग्भूत भी है, परन्तु ब्रह्माण्ड रचना के एक ही कार्य में यह सब आधिदैविक तत्त्व आधिभौतिकों से मिलकर ब्रह्माण्ड शरीर विराट् को जन्म देते हैं जो कि स्वराट् पुरुष का देह कहलाता है, ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि आधिदैविक मूल या प्राणप्रद तत्त्व के बिना केवल आधिभौतिक से कार्य नहीं हो सकता है, जब ऐसी बात है कि प्राकृत स्थल में भी अप्राकृत तत्त्वों का रहना शास्त्रसम्मत है तब अप्राकृत भगवत्स्वरूप में जो तत्त्व दृष्टिगत हो रहे हैं वह अप्राकृत ही हैं आधिदैविक ही है अतः उनको लेकर भगवत्स्वरूप की विकारिता या अनित्यता का सन्देह नहीं रह पाता, किसी दोष का अवकाश नहीं रह जाता क्योंकि जो स्वरूप प्रकट दर्शन दे रहा है वह सर्वांशयुक्त भगवान् है किसी भी अंश में प्राकृतता का स्पर्श नहीं ॥ १५ ॥

ननु त्वक् चर्माद ोऽपीति—पूर्व श्लोक में यह निरूपण किया गया है कि भगवत्स्वरूप में जो कारण रूप से पृथिवी आदि तत्त्व प्रतीत होते है वह आधिदैविक तत्त्व हैं प्राकृत नहीं, अतः सर्वांशपूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण में उनके अंशगत आधिदैविक तत्त्वों की प्रतीति होने पर भी उनकी आनन्दमयता अक्षुण्ण बनी रहती है, परन्तु यहाँ एक सन्देह उपस्थित हो सकता है कि भगवत्स्वरूप में जो त्वचा, चर्म, रोम, दन्त, नख आदि प्रतीत होते हैं वह तो कार्यरूप हैं पृथिवी आदि तत्त्वों के विकार हैं, इनको आधिदैविक कैसे माना जा सकता है अतः भगवान् की आनन्दमयता विचारणीय ही है, उक्त सन्देह के निवारणार्थ इस श्लोक से दृष्टान्त के द्वारा त्वचा, चर्म आदि की भी आधिदैविक होने से नित्यता एवं अविकारिता बतलाते हैं, इस श्लोक में आधिदैविकतत्त्व आधिभौतिकतत्त्वों से जल से दुग्ध की तरह मिलकर विराट् जगत् को भलीभाँति उत्पन्न करके उसमें, पट में तन्तुओं की भाँति, अनुगत जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण उनकी यहाँ उत्पत्ति का सम्भव नहीं ऐसा कहा है, ध्यान देने की बात है कि जब पूर्वश्लोक में 'विराजं जनयन्ति हि' ब्रह्माण्ड के निर्माण की चर्चा हो चुकी है तो प्रकृत श्लोक में 'समुत्पाद्य' पद के द्वारा उस चर्चा को फिर दुहराना इसी मर्म को रखता है कि आधिदैविक तत्त्वों की सत्ता कारणों तक हा सीमित नहीं है अपितु उनके साथ साथ कार्य में भो व्याप्त है, इस मर्म की सूचना 'सन्निपत्य' 'समुत्पाद्य' इन पदों द्वारा हुए अनुवाद से ही होती है अन्यथा पूर्व श्लोक में 'सह' 'जनयन्ति' इन पदों से मिलकर उत्पन्न करने का प्रसंग कथित ही है प्रकृत श्लोक में उसका अनुवाद करना निष्प्रयोजन सिद्ध होगा, आशय यह है कि अनुवाद के द्वारा आधिदैविक तत्त्वों का स्मरण कराना अभीष्ट है अन्यथा 'दृश्यन्तेऽनुगता इव'

एवं दृष्टान्तद्वयमुपपाद्येति—इतने कथन मात्र से आधिभौतिकों के ही अनुगत होने की प्रतीति की सम्भावना थी, वह ही आधिदैविक तत्त्व कार्य में अनुगत जैसे प्रतीत हो रहे हैं, आधिदैविक त्वचा चर्म, आदि रूप से आधिदैविक पृथिवी तत्त्व, अनुगत है अतः भगवत्स्वरूप में जो त्वचा आदि प्रतीत होते हैं वह आधिदैविक ही हैं एवं समष्टिरूप भौतिक देह में या ब्रह्माण्ड में पृथिवी, जल, तेज आदि कारण तत्त्व उन रूपों में प्रतीत होते हैं, देह में कारण रूप जल तत्त्व ही रुधिरादि रूप से प्रतीत होता है, इसी प्रकार अन्य आकाश आदि तत्त्व भी छिद्र के अवकाश आदि रूप से प्रतीत होते हैं, जबकि कारण तत्त्व कार्य में दृष्टिगत होते हैं तो उसी आधार पर उस दर्शन (प्रतीति) के प्रमाण बल से यह क्यों न मान लिया जाय कि कारण तत्त्व अनुगत ही हैं, अर्थात् वह कारण ही कार्यरूप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी शङ्का कर उत्तर देते हैं कि पहले से ही कारण रूप से इस विराट् रूप में और ब्रह्माण्ड के ऊपर भी विद्यमान रहने के कारण फिर उन कारण तत्त्वों की यहाँ कार्य में उत्पत्ति सम्भावित नहीं, प्रकृत के उपयोगी आशय को इस प्रकार जानना आवश्यक है कि भगवत्स्वरूप में आधिदैविक तत्त्वों की प्रकट सच्चिदानन्दरूप अलौकिक भावात्मक कारण रूप से सत्ता है अतः उनकी त्वचा चर्म; आदि रूप से उत्पत्ति नहीं है किंतु वह आधिदैविक तत्त्व ही त्वचा चर्म आदि के रूप को अवतार की तरह ग्रहण करके वहाँ पर उपस्थित हैं, अतः भगवत्स्वरूपगत त्वक् चर्मादि आधिदैविक तत्त्वों के कार्य नहीं किंतु रूपांतर ही है, उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं क्योंकि आधिदैविक तत्त्वरूप कारणों की

आधिभौतिकों से विलक्षणता होती है, भौतिक तत्त्व लौकिक कार्यों में उस रूप से उत्पन्न होते हैं आधिदैविक तत्त्व तो आधिदैविक कार्यों का अवतार की भांति रूपान्तर ग्रहण करते हैं।

चेत् तत्राह—जिस प्रकार बीज अङ्कुर रूप में प्रकट होता है तब बीज की पृथक् सत्ता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वहाँ बीज का साक्षात् प्रवेश है उसी प्रकार कारण तत्त्व कार्य रूप में प्रकट हो जाता है ऐसा भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि माता पिताओं के शरीरों में त्वचा आदि की सत्ता पृथक् ही प्रतीत होती है अतः पुत्र के शरीर में उन त्वचा आदि का साक्षात् प्रवेश सिद्ध नहीं हो सकता बीज का अंकुर में जैसे साक्षात् प्रवेश है वैसा प्रवेश तो उक्त प्रतीति से बाधित होने के कारण नहीं माना जा सकता। उक्त प्रक्रिया से यह सिद्ध होता है कि जैसे आधिदैविक कारणरूप पृथिवी आदि तत्त्व भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं इसी प्रकार दन्त आदि भी आधिदैविक ही हैं अतः पृथिवी रूप शरीर आदि की भांति दन्त आदि की प्रतीति में कोई विरोध नहीं ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्कृतां भगवत्स्तुतिमेव दर्शयति—विदितोऽसीत्यादिना। भवान् त्वं मया विदितोऽसि। कथंभूतो विदितोऽस्मीत्यत आह—प्रकृतेः परः। केवलश्चासावनुभवश्चानन्दश्च तावेवं स्वरूपं यस्य सः ज्ञानानन्दैकस्वरूपः, अतएव पुरुषः पुरुषोत्तम इति। एवंभूतस्य तव शाब्दमपि ज्ञानं दुर्लभम्, मम तु त्वत्कृपया साक्षात्कारोऽपि जात इत्याशयेनाह—साक्षादिति। तस्य दुर्लभत्वे हेतुमाह—सर्वेति। सर्वेषां प्राणिनां बुद्धीः पश्यतीति सर्वबुद्धिदृक्। नहि सर्वसाक्षिणः साक्षात्कारस्तत्कृपां विना सम्भवतीति भावः ॥ १३ ॥ ननु देवकीजठरप्रविष्टस्य मम कथं पुरुषोत्तमत्वमित्याशङ्क्य सर्वोपादानत्वेन सर्वस्मिन् जगति प्रविष्टस्यापि तव क्षतिर्नास्ति, किं पुनर्वक्तव्यं देवकीगर्भप्रवेशे क्षतिर्नास्तीति इत्याशयेनाह स इति। स सच्चिदानन्दस्वरूप एव त्वमग्रे सृष्ट्यादौ स्वशक्तिरूपया प्रकृत्या त्रिगुणात्मकमिदं विश्वं सृष्ट्वा तदनु ततः पश्चात् अप्रविष्टोऽपि प्रविष्ट इव भाव्यसे 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुत्या निरूप्यसे इत्यर्थः। हीत्यप्यर्थे ॥ १४ ॥ अत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथेमेऽविकृता भावा महदादयस्तथेत्यर्थः। एतदेव विवृणोति—ते इति। ते महदहङ्कारशब्दादिपञ्च, तन्मात्राः सप्त, विकृतैः पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेत्येवं षोडशभिः सह सन्निपत्य मिलित्वा विराजं ब्रह्माण्डं जनयन्ति। सन्निपतने हेतुमाह – नानेति। यतः पृथग्भूताः सन्तो नानावीर्याः विरुद्धनानास्वभावा विशिष्टकार्यजनने समर्थाः न भवन्तीत्यर्थः। हिशब्दोऽस्यार्थस्य शास्त्रप्रसिद्धिं सूचयति, तृतीयस्कन्धे तथोक्तत्वात् ॥ १५ ॥ एवं विराजं समुत्पाद्य तत्रानुगता इव प्रविष्टा इव दृश्यन्ते, परन्तु तेषां महदादीनामिह सृष्टे कार्ये सम्भवः पश्चात्प्रवेशो नास्ति। तत्र हेतुमाह—प्रागेव विद्यमानत्वादिति। नहि कार्योत्पत्त्यनन्तरमुपादानं तत्र प्रविशति, तत्समवेतत्वेनैव कार्यस्योत्पन्नत्वादित्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विदित इति॥ भवान् प्रकृतेः परः पुरुषः केवलो निरुपाधिकश्चासावनुभवः चिद्रूपश्चासावानन्दश्च तदेव स्वरूपं यस्य सः सर्वेषां बुद्धीः पश्यतीति सर्वबुद्धिसाक्षी इत्येवंरूपतया साक्षात् प्रत्यक्षतः विदितोऽसि। न ह्येवंभूतो दृश्यो भवति चक्षुषा साक्षात्कारस्तु महावाक्येनेव वृत्तिव्याप्तत्वमात्रेण फलव्याप्तत्वं तु अत्रापि नास्ति स्वयंप्रकाशत्वसाम्यात्। सच्चिदानन्दरूपे स्वप्रकाशे भगवति न विवदितव्यम्। बहुवाक्यप्रामाण्यात् इति तोषिणी ॥ १३ ॥ ननु देवकीजठरे प्रविष्टस्य किमियमतिस्तुतिः क्रियत इत्याशङ्क्य अनावृतस्याप्रच्युतस्य तव मुख्यप्रवेशः क्वापि नास्ति सर्वकारणतया वर्त्तनरूपो गौण एव प्रवेशस्तथैव देवकीजठरे प्रवेश इति प्रतिपादयति स एवेति॥ सः सच्चिदानन्दस्वरूप एव त्वमग्रे सृष्ट्यादौ स्वशक्तिरूपया प्रकृत्या त्रिगुणात्मकमिदं विश्वं सृष्ट्वा तदनु ततः पश्चात् अप्रविष्टोऽपि प्रविष्ट इव भाव्यसे। प्रत्यक्षतो वा सद्रूपेण वा प्रविष्ट इव लक्ष्यसे। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुत्या निरूप्यसे इत्यर्थः। हि इत्यप्यर्थे। एवमेव देवकीजठरे प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥ १४ ॥ अत्र दृष्टान्तः—यथेति युग्मकेन॥ अत्र तथा इत्यन्तं दशाक्षरं भिन्नं वाक्यम्। अग्रे च तद्विवरणं यथा इमे अविकृता भावाः महदादयः विराडादिषु कार्येषु अप्रविष्टा अपि प्रविष्टा इव दृश्यन्ते तथा त्वम् अप्रविष्टोऽपि प्रविष्ट इव भाव्यसे। एतदेव विवृणोति ते इति। ते महदादयः महदहङ्कारशब्दादि पञ्च तन्मात्राः सप्त हि यतः पृथग्भूताः सन्तो नानावीर्याः विशिष्टकार्यजनने असमर्था भवन्ति। अतो विकृतैः पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेत्येवं षोडशभिः विकारैः सह सन्निपत्य संभूय विराजं ब्रह्माण्डं जनयन्ति। यद्वा। नानावीर्याः परस्परविसदृशा अपि पृथग्भूता अपि च चैतन्यप्रेरणया सन्निपत्य विराजं जनयन्तीति एवं विराजं समुत्पाद्यानुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते न पुनः प्रविष्टाः। उत्पत्तेः प्रागेव कारणतया विद्यमानत्वात् तेषामिह सृष्टे कार्ये पश्चात् संभवः प्रवेशो न इत्यर्थः ॥ १५–१६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स्तुतिमेव दर्शयति दशभिः॥ विदित इति॥ प्रकृतेः 'भूमिरापोऽनलो वायुः' इत्यादिनोक्तद्विविधप्रकृतेः परः, अनेन चिदचिदात्मकप्रकृतेः परत्वमुक्तम्। केवलमनुभवो ज्ञानमानन्दश्च स्वरूपे यस्य सः, सर्वेषां जीवानां बुद्धीः बुद्धिवृत्तीः पश्यतीति

सर्वबुद्धिदृक्, पुरुषः पुरुषाकृतिः, यः भवान्, स एव त्वं इति साक्षात्, विदितः असि। यः प्रकृतेः परत्वेन केवलानुभवानन्दस्वरूपत्वेन सर्वबुद्धिसाक्षित्वेन च वर्त्तमानः पुरुषाकृतिः षाड्गुण्यपूर्णो भगवान्वेदैरुक्तः, स त्वमेवेति साक्षात् विदितोऽसि। नात्रोपचारमात्रमिति भावः ॥ १३ ॥ चित्प्रकृतिगतजीवानां बद्धमुक्तभेदेन द्वैविध्यात् पूर्वश्लोके चित्प्रकृतिगतबद्धजीवेभ्यो व्यावृत्तिरुक्ताऽथ मुक्तजीवेभ्यो व्यावर्त्तयितुमाह ॥ स एवेति ॥ यः प्रकृतेः परः, सर्वबुद्धिदृक् स एव त्वं, अग्रे सृष्टेः प्राक्, कारणत्वेनावस्थितः सन्निति शेषः। स्वप्रकृत्या महदादिपृथिव्यन्तरूपेण परिणतया त्रिगुणात्मिकया स्वशरीरभूतया प्रकृत्येत्यर्थः। इदं परिदृश्यमानं, त्रिगुणात्मकं स्थूलभावापन्नगुणत्रयपरिणामरूपत्वेन तद्वश्यजीवप्रचुरत्वेन च तदात्मकं जगत्, सृष्ट्वा, अनु पश्चात्, तज्जगत्, प्रविष्टः स्थित्यर्थं संकल्परूपज्ञानेन प्रविष्टः, असि हि। अथापि, अप्रविष्टः इव, भाव्यसे। इवशब्दोऽत्रावधारणार्थः। जगद्गतविकारैरस्पृष्ट एव ज्ञायसे इत्यर्थः। तथा च श्रूयते। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् सत्यमभवत्' इति। स्थूलभावे विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणवत् प्रतीयमानमपि ब्रह्म सत्यमेवाभवत्। निरस्तनिखिलदोषमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दं सदेकस्वरूपमेवाभवदिति श्रुत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु कार्यमनुप्रविष्टस्य मम कार्यप्रवेशात् प्रागिव तत्कारणतयाऽवस्थानं कार्ये प्रवेशे कृते सत्यपि कार्यगतविकारास्पृष्टत्वं च कथंतरामित्याशङ्क्य तदुभयं महदादिपृथिव्यन्ताचेतनदृष्टान्तमुखेनोपपादयति चतुर्भिः, तत्र तावत् दृष्टान्तं दर्शयति द्वाभ्याम्। यथेति ॥ संनिपत्येति च ॥ नानावीर्याः विभिन्नशक्तयः, ब्रह्माण्डोत्पादनरूपैककार्योत्पादनोपयुक्तैकरूपसामर्थ्यरहिता इत्यर्थः। पृथग्भूताः, परस्परसंमेलनरहिताः, ये विकृताः भावाः, महदहंकारतन्मात्ररूपाः प्रकृतिविकृत्यात्मकास्तत्त्वात्मका ये सप्त पदार्था इत्यर्थः। ते इमे विकृतैराकाशादिपञ्चस्थूलभूतैकादशेन्द्रियरूपषोडशभिर्विकारैः सह, इन्द्रियदेवानामिन्द्रियेभ्यः पृथग्भावेन तत्त्वेष्वगणनाद्विकाराणां षोडशत्वम्। संनिपत्य अन्योन्यसंयोगं प्राप्य, विराजं ब्रह्माण्डाख्यं वैराजपुरुषशरीरं, जनयन्ति हि। अनेन 'समेत्याऽन्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः। महदादिविशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते' इति वैष्णवादिपुराणान्तरप्रसिद्धिर्द्योत्यते। एवं, समुत्पाद्य विराजं सम्यक् सृष्ट्वा, यथा अनुगताः अण्डान्तरं गताः इव, दृश्यन्ते, अण्डे एव उत्पन्ना इव दृश्यन्ते। तथापि, तेषां प्रागेव अण्डोत्पत्तेः प्रथमत एव, विद्यमानत्वात्, इव ब्रह्माण्डे, संभवः न। तथा, अस्यायं भावः। यथा महदादिविशेषान्तानां भावानां ब्रह्माण्डोत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थानं ब्रह्माण्डान्तर्गतदेवमनुष्यादिभावेष्वनुवृत्तिरनुवृत्तत्त्वेऽप्यननुवृत्तवदवस्थानमास्ति, तथा कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतयावस्थितिस्ततस्तदनुप्रविष्टोऽपि अप्रविष्ट इव भाव्यसे इव द्वयोरेकान्वयः ॥ १५-१६ ॥

कृष्णप्रिया

श्री वसुदेवजी ने कहा है कि भगवन्! मैंने आपको जान लिया है आप साक्षात् प्रकृति से पर और प्रकृति के नियामक पुरुषोत्तम हो, आपका स्वरूप केवल अनुभव एवं आनन्द रूप है, आप सर्व चेतनों की बुद्धि के द्रष्टा हैं ॥ १३ ॥ वह ही आप अपनी प्रकृति से इस गुणत्रयात्मक जगत् को बनाकर उस जगत् के भीतर प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो।१४। जिस प्रकार यह अविकृत (आधिदैविक भाव) है उसी प्रकार वह प्राकृत भाव भी हैं, इन दोनों का सादृश्य नाना प्रकार के सामर्थ्य और पृथक् होने से है यह अविकृत भाव विकृत भावों से मिलकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं यह ठीक ही है ॥ १५ ॥ (वह प्राकृत और अप्राकृत भाव) मिलकर भले प्रकार (भौतिक जगत्) को उत्पन्न कर उसमें अनुगत जैसे पीछे से प्रविष्ट हुए से दीखते हैं, परन्तु पहले से ही विद्यमान होने के कारण यहाँ उनका प्रवेश सम्भव नहीं है ॥ १६ ॥

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥ १७ ॥
य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् ॥ १८ ॥
त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥ १९ ॥
स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तपसा जनात्यये ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—एवं भवान् अपि बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः ग्राह्यैः गुणैः सन् अपि तद्गुणाग्रहः सर्वस्य सर्वात्मनः आत्मवस्तुनः ते अनावृतत्वात् बहिः अन्तरं न ॥ १७ ॥ यः आत्मनः दृश्यगुणेषु स्वव्यतिरेकतः सन् इति व्यवस्यते (सः) अबुधः अनुवादं

विना तन्मनीषितं सम्यक् न यतः पुमान् त्यक्तम् उपाददत् ॥ १८ ॥ विभो अनीहात् अगुणात् अविक्रियात् त्वत्तः अस्य जन्मस्थितिसंयमान् वदन्ति ब्रह्मणि त्वयि नो विरुध्यते तदाश्रयत्वात् गुणः उपचर्यते ॥ १९ ॥ सः त्वं स्वमायया त्रिलोकस्थितये आत्मनः शुक्लं वर्णं बिभर्षि खलु सर्गाय रजसा उपबृंहितं रक्तं जनात्यये तमसा कृष्णं वर्णं च (बिभर्षि) ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दार्ष्टांतिकेऽतिदिशति । एवं भवानिति । ननु यद्यहमप्रच्युतस्वरूप एव कारणतया कार्येषु वर्ते तर्हि तेष्विंद्रियैर्गृह्यमाणेषु मम ग्रहणं किं नास्ति तत्राह । बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरिति । बुद्ध्या रूपादिज्ञानेनानुमेयं लक्षणं स्वरूपं येषां तैर्गुणैरिंद्रियैर्ग्राह्यैर्गुणैर्विषयैः सह सन्नपि वर्तमानोऽपि तद्गुणाग्रहस्तैर्गुणैः सह न गृह्यते भवान् । अयं भावः । नहि ग्राह्यैः सहभावमात्रं ग्रहणे कारणं किं त्विंद्रियाणां शक्तिः सा च कार्यैकसमधिगम्या यथा कार्यमेव कल्प्यते अतो यथा चक्षुषा रूपग्रहणेऽपि रसादिग्रहणं नास्ति एवं सहभावेऽपि जिह्वया रस एव गृह्यते न तु रूपं तथैव विषयग्रहणे त्वद्ग्रहणमपीति । अविषयत्वेन च ग्रहणानर्हत्वमुक्तमेव सर्वबुद्धिदृगित्यत्र एवं तावत्प्रागेव विद्यमानत्वात्प्रवेशो नास्तीत्युक्तम् । किं च परिच्छिन्नस्य नीडे पक्ष्यादेरिव प्रवेशो भवेत्तव त्वनावृतत्वादपरिच्छिन्नत्वेन बहिरंतर्भेदो नास्ति । कुतः प्रवेशः इत्याह । अनावृतत्वादिति । अनावृतत्वे हेतूनाह । सर्वस्येति नहि सर्वस्वरूपस्यान्यदावरकमस्ति सर्वात्मनः । न ह्येकेनावृतोऽन्यस्यात्मा भवेत् । आत्मवस्तुन इति आत्मनो वस्तुनश्चेति हेतुद्वयम् ॥ अत सातत्यगमन इत्यस्मादतति व्याप्नोतीत्यात्मा नहि व्यापकस्यावरणं घटते । तथा वस्तुनः परमार्थवस्तुन आवरणं न घटत इत्यर्थः । आवृतं हि न प्रकाशेत । तस्मात्त्वांतर्यामितया प्रवेशो न मुख्योऽस्ति कुतस्तरां गर्भे प्रवेशः अतः केवलानुभवानंदस्वरूप एव त्वं विदितोऽसीत्याश्चर्यं मम भाग्यमित्यर्थः ॥ १७ ॥ नन्वेतद्धेतुचतुष्टयं प्रपंचस्यावस्तुत्वे घटेत तत्तु न संभवति सत्यत्वेन प्रतीतेरित्याशंक्याह । य इति । आत्मनो दृश्येषु गुणेषु देहादिषु स्वव्यतिरेकत आत्मव्यतिरेकेण पृथक्सन्नयं देहादिरिति व्यवस्यते निश्चिनोति यः पुमान्सोऽबुधोऽविद्वान् व्यतिरेकदर्शनात् । किं च मनीषितं विचारितं तद्देहादि सर्वं यतो विनानुवादं वाचारंभणमात्रं विना सम्यङ् न भवति । अतोऽवस्तुत्वेन त्यक्तं बाधितमेव वस्तुबुद्ध्या उपाददत्स्वीकुर्वन्नबुध इत्यर्थः ॥ १८ ॥ एवं परमेश्वरदृश्यस्य तद्व्यतिरेकेणासत्त्वमुक्तं परमेश्वरोपादानत्वादपि तद्व्यतिरेकेणासत्वमित्याह । त्वत्तोऽस्येति । न चैवं सत्यपि विकारित्वमित्याह । अनीहादिति । अगुणत्वादनीहत्वं ततो विकारित्यमित्यर्थः । नन्वनीहत्वे कथं कर्तृत्वं कर्तृत्वे वा कुतोऽविकारित्वं तत्राह । त्वयीश्वर इति ब्रह्मत्वादविकारित्वमीश्वरत्वात्कर्तृत्वमिति । नन्वेतदपि विरुद्धमेव नेत्याह । त्वदाश्रयत्वादिति । गुणैः कुर्वद्भिस्त्वयि सृष्ट्यादिकर्तृत्वमुपचर्यते गुणाश्रयत्वात् । यथा भृत्यकृत्यं राजनीति ॥ १९ ॥ एवंभूतस्यैव तव यथा विश्वस्थितिसर्गप्रलयार्थं त्रिवर्णा गुणावतारा एवमयं भूभारापनयनार्थमिति ज्ञातमित्याह स त्वमिति श्लोकद्वयेन ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यमुद्दिश्य दृष्टांतः प्रदीयते स दार्ष्टांतिकः । अतिदिशति साम्येन कथयति । एवमनेन प्रकारेण भवानपि । यथा ते महदादयो ब्रह्मांडप्रविष्टा अपि न प्रविष्टास्त पुनर्जातवत्प्रतीता अपि न जातास्तथैव त्वमपीत्यर्थः । पुनराशंकते नन्विति । तेषु कार्येषु मम कारणस्य किं नास्ति कुतो नेत्यर्थः । तत्र कार्यग्रहणेऽपि कारणाग्रहणे गुणैरिति पदमावृत्त्या योज्यं गुणैर्विषयैः अनुमेयमनुमातुं योग्यम् अनुमानं तु रूपाद्युपलंभः करणसाध्यः क्रियात्वात् छितिक्रियावदिति । किं–च या या क्रिया सा सा करणसाध्येति व्याप्तेर्वा स्यादिरूपकरणसाध्यच्छिद्दिक्रियायां दृष्टत्वादिंद्रियसिद्धावित्थं बोध्यम् । अयं भावः इदमत्र तात्पर्यम् । तदाह–नहीति । कार्यैकसमधिगम्या कार्यद्वारेणैव केवलं ज्ञेया । यथा कार्यं कार्यानुसारेण । यतः कार्यानुसारेण कल्प्यतेऽतः कारणात् । यथाम्रफले दृष्टे तद्गतनीलपीतादिवर्णविशिष्टाकारमात्रं चक्षुषा गृह्यते न तदंतर्वर्तिरसोऽपि तद्वदित्यर्थः । अविषयत्वेन द्रष्टृरूपत्वादगोचरत्वेन । ग्रहणानर्हत्वं ज्ञानाविषयत्वम् । एवमनया रीत्या तावत् निश्चयेन साकल्येन वा । अन्यदप्याह किं चेति । परिच्छिन्नस्य परिमितस्य नीडे तृणादिरचितपक्ष्यावासे । पक्ष्यादेरिहादिना सर्पादिग्रहः । अनावृतत्वादावरणहीनत्वात् । अपरिच्छिन्नत्वेनापरिमितत्वेन । बहिरंतर्भेदो बाह्याभ्यंतरभेदः । कुतः प्रवेशः कथं प्रवेशः संगच्छेदित्यर्थः । इत्यर्थ इति । अवस्तुनो जगतः परिछिन्नत्वेनावरणं संजाघट्यादेवेति न हि परमार्थरूपत्वात्सर्वव्यापकस्येति तात्पर्यम् । यस्मात्त्वांतर्यामितया मुख्यः प्रवेशो नास्ति तस्मात्कुतस्तरां गर्भे प्रवेश इति संबंधः । यतो गर्भे न प्रवेशोऽतो हेतोः । इत्यर्थ इति । न हि परपुण्योत्कर्षं विनैतद्रूपस्य दर्शनादि भवतीति भावः ॥ १७ ॥ मीमांसकमतेन प्रपंचसत्यत्वमंगीकृत्य पुनराशंकते नन्विति । एतत्पूर्वोक्तं हेतुचतुष्टयं सर्वस्वरूपत्वात्सर्वात्मत्वादात्मत्वाद्वस्तुत्वादित्येवं रूपाणां हेतूनां चतुष्कम् । अवस्तुत्वेऽपरमार्थत्वे घटेत संगच्छेत । तत्तु अवस्तुत्वं तु । व्यतिरेकदर्शनात् भेददर्शनात् । भेददर्शनं त्वविचारचार्वित्याह किञ्चेति । सर्वं जगत् । इत्यर्थ इति । असति सद्बुद्धिकर्त्ता मूर्ख इति भावः ॥ १८ ॥ दृश्यस्य द्रष्टारं विहाय निष्पत्तेरनुपलंभादुपादेयस्योपादानाव्यतिरिक्तत्वाच्चासत्त्वमस्तीत्याह—एवमित्यादिना । एवं सत्यपि जन्माद्युपादानत्वे सत्यपि । विकारित्वं सविकारत्वम् । तत्र हेतुः–अनीहत्वादिति । अचेष्टत्वादित्यर्थः । ततोऽनीहत्वात् । इत्यर्थ इत्थं हेतुहेतुमद्भाव इति भावः । पुनस्तत्रैवाशंकते—नन्विति । संभवमाह–त्वयीति । निरुपाधित्वादकर्तृत्वेपि नियंतृत्वेन कर्तृत्वं तवास्त्येव तर्हि ईश्वरत्वेपि एतत्कर्तृत्वं विरुद्धमेव लोके ईशो राजादिर्न हि कार्यकर्त्ता

दृश्यते किं-तु भृत्यादिरेवात ईशः कर्त्तेति विरुद्धं तत्राह नेति। त्वयि त्वद्विषये। उपचर्य्यते आरोप्यते। तदाश्रयत्वाद्गुणाश्रयत्वात्। यद्यपि गुणाश्रयत्वं प्रकृतेरेव तथापि तस्या अपि त्वच्छक्तिरूपत्वेन त्वदाश्रयत्वात्तदाधारा अपि पारंपर्य्येण त्वदाश्रया एव त इत्यर्थः। भृत्यकृतं योद्धृकृतं जयपराजयादिकर्म ॥ १९ ॥ एवंभूतस्यैव निर्विकारस्यैव त्रयः शुक्लरक्तकृष्णा वर्णा येषां ते त्रिवर्णाः गुणैरवतीर्यंत इति गुणावतारा ब्रह्मविष्णुरुद्राख्याः। एवमयं तथैवाधुना मद्दृग्गोचरो यस्तेऽवतारः। अपनयनमपाकरणम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भवतस्तु परमकारणत्वेन न सुतरां प्रवेशो न च स्पर्श इत्याह—एवमिति। तस्मादेवम्भूतस्य तव साक्षाद्योऽयं प्रकाशः सोपि तव परमप्रसादमय इति भावः। अन्यत्तैः तत्र गुणैरिति विशेषेण भेदेनार्थभेदाद्द्विधा व्याख्यातं यद्वा, अत्रैवार्थविशेषेण प्रेमवश्यत्वादिगुणशीलत्वं योजयति एवमुक्तप्रकारेण प्रेमवश्यत्वादिभिर्गुणैः सह नित्यं वर्त्तमानोपि तेषु गुणेषु आग्रहः पुनः पुनरासक्तिर्यस्य तथाभूतो भवान् भवति, कथंभूतैः ? बुद्ध्यनुमेयमेव न तु प्राप्यं लक्षणं स्वरूपं येषां तैः "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति श्रुतेः। तत्र हेतवः सर्वस्येत्यादयः सर्वमयस्य सर्वात्मनः सर्वचेतयितुः सर्वव्यापकस्य वा आत्मना स्वयमेव वस्तु यत्तस्य स्वतः परमपुरुषार्थस्वरूपस्येत्यर्थः। तथापि तद्गुणाग्रह इति सततभक्तप्रेमवशत्वेन सतताशेषसद्गुणाभिव्यञ्जकत्वं दर्शितं तत आवयोर्यत्पुत्रतया प्रविष्टः प्राप्तोऽसि च तद्भवतो युक्तमेव तदेव चावयोरपि परमफलमिति भावः ॥ १७ ॥ नन्वन्येषामन्येऽपि देवाः पुत्रादिरूपाः प्रकाशन्ते कथं मय्येवाग्रह इत्यत्राह—य इति द्वयेन। परमस्रष्टारं परमकारणञ्च त्वां विनाऽन्येषां स्वातन्त्र्येण सत्त्वाभावान्न तेषु पुरुषार्थत्वमिति भावः। यद्वा आत्मनः स्वरूपदृश्याः साक्षादनुभवनीया मनोहरा वा गुणा येषां तेष्वपि मध्ये स्वव्यतिरेकतः तेषामपि मूलस्वरूपं त्वां विना अयं देवस्सन् उत्तम इति यो निश्चिनोति स मूर्खः, यतः तन्मनीषितं दृश्यगुणोऽयं सन्निति विचारितं सम्यक् उत्तमं न भवति, कुतः ? अनुवादं तत्त्वनिर्द्धारणार्थमन्योन्यवादं विना तत् सत्सङ्गाभावेन तत्त्वानिश्चया-देवेत्यर्थः। यतः स पुमान् सूरिभिस्त्यक्तं पुरुषार्थांतरमेवोपाददत् स्वीकृतवान् ददेः परस्मैपदमार्षम् ॥ १८ ॥ त्वत्त इति तैर्व्याख्यातं तत्रोपादानत्वनिर्वाहायैवं व्याख्येयम् अनीहत्वमक्षोभितत्वमित्यर्थः। अविकारित्वं स्वरूपान्यथाभावरहितत्वमित्यर्थः। गुणमय्या-विद्यया विवर्त्तत एवेति नोपादानत्वेपि दोष इति भावः। अथ निमित्तत्वे दोषमाशङ्कते नन्विति। ब्रह्मत्वादित्यादौ वस्तुतो ब्रह्मस्वरूप एव तस्मिन् गुणाध्यारोपादेव विकारित्वादिप्रतीतेरिति भावः। यद्वा निर्दोषेण सर्वकारणत्वेन सर्वोत्कृष्टानन्तगुणत्वं स्थापयति त्वत्तः प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधेनेति न्यायेनोपादानान्निमित्ताच्च अत्र विरोधमाशङ्क्य परिहरति विभो इत्यादिना तत्रागुणादविक्रिया-दनीहादिति पदत्रयस्य क्रमेणायमर्थः, यद्यपि तव रज आदित्रैगुण्यसम्बन्धो नास्ति तत उपादानता हेतुः स्वरूपान्यथाभावसम्भवोऽपि नास्ति निमित्ततहेतुर्बहिरन्तश्चेष्टापि नास्तीति तथापि विभो इत्यस्यायमर्थः, यद्यपि च कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्यापको वेत्युक्त-रीत्या विभोरेकदेशाभावेन सर्वपरिणतावुपास्यांशानवस्थानादिदोषः स्यात् निमित्तत्वाङ्गीकारे चेष्टापि न सम्भवेदिति तथापि "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (२।१।२७) इति न्यायेन श्रुत्यैकप्रमाणास्त्वत्त एव वदन्ति निर्गुणत्वादित्वे जगदुद्भवादिहेतुत्वे च भ्रमादिदोषचतुष्टयराहित्येन स्वत एव प्रमाणभूताभिः श्रुतिभिरेव सिद्धे क इव सन्देह इत्यभिप्रायादित्यर्थः। न चायं विरोध इत्याह—त्वयीति। ब्रह्मणि निर्विकारपरमानन्दैकरूपेपि ईश्वरत्वे सर्वाचिन्त्यशक्ताविति चिन्तामण्ययस्कान्तादीनामपि नानापदार्थ-प्रसरलोहचालनादावविकारत्वादौ च दृष्टे "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्" इति पुराणानां निर्णये च सति सर्वाचिन्त्यशक्तिगणपूर्वकपरस्परापरमकारणभूते त्वयि को वा विरोधः स्यात् अन्यथाऽनु-पपत्तिर्हि सर्वोपमर्दिनी ये यमुभयत्राप्यचिन्त्यामेव शक्तिं बलादुपस्थाप्य विरोधमपि निरुन्धे ततः सर्वपरमत्वेन तादृशशक्तेः परम-योग्यत्वात् वाङ्मनसातीतपरमानन्दैकरूपत्वेनाविद्याविषयाश्रयतारहितत्वाच्च न विवर्त्तकल्पनं युक्तमित्यर्थः। ननु, भवतु वैकुण्ठैश्व-र्यादिहेतुनिर्दोषषाड्गुण्यशक्तिता जगज्जन्मादिहेतुसदोषत्रैगुण्यशक्तिता तु दोषायैवेत्याशङ्क्याह—तदाश्रयत्वादिति। तस्याः शक्तिच्छायारूपत्वान्न तद्दोषेण लिप्यसे तथापि त्वामाश्रयमन्तरेण तद्गुणा न सिद्ध्यन्तीति तैर्गुणैस्तत्कर्तृत्वादिकमुपचर्य्यत एवेत्येत-दप्यचिन्त्यता वैभवमेवेत्यर्थः ॥१९॥ ननु, कथं मत्तोऽस्य सर्वं सृष्ट्यादिकं ब्रह्मादीनामपि सर्गादिकर्तृकत्वादित्यत आह —सत्त्वमिति। स उक्ताविरोधप्रकारेण सृष्ट्यादिकारकस्त्वं शुक्लं स्वतो मायागुणराहित्यात् सांनिध्येनापि सत्त्वमात्रोपकारकत्वाच्च शुद्धमित्यर्थः। तादृशमात्मनः स्वस्यैव वर्णं रूपं श्रीविष्णुः सन् बिभर्षि जगति धारयसि प्रकटयसीत्यर्थः। तत्र हेतुः स्वमायया निजकृपया तथा रक्तं रजोमयत्वेन सिसृक्षादिरागबहुलं ब्रह्मात्मा सन् बिभर्षि पुष्णासि तथा तमोमयत्वेन कृष्णं क्रोधादिप्रायतया नाभिव्यञ्जित-स्वरूपप्रकाशमित्यर्थः। तत्तु रुद्रात्मा सन् बिभर्षीति अत्र चाक्षुषे गुणे न तात्पर्यं परमतामसानां बकादीनामपि शुक्लवर्णत्वात् परमसात्त्विकानां श्रीव्यासशुकादीनामपि श्यामवर्णत्वात् शुक्लादिशब्दास्तु ब्राह्मणादिजातिष्वपि प्रयुज्यन्ते किञ्च क्षीरोदशाय्येव गुणावतारो विष्णुरिति पूर्वं प्रतिपादितं स च तत्र तत्र श्यामवर्णत्वेनैव प्रसिद्धः रुद्रश्च शुक्लः तथा तयोर्नानावतारा नानावर्णा अपि यथा त्वं पालनसंहारपरा एव अतो ब्रह्मणो रक्तवर्णत्वेपि न तत्र तात्पर्यं श्रीविष्णोस्तु निर्गुणरूपत्वमेव नान्यवत् सगुणत्वं वक्ष्यते च त्रिदेवीपरीक्षायाम्—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः। शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसम्वृतः ॥ इति।

अत एवात्रापि रजसेत्यादिवत् सत्त्वेनेति नोक्तं तैरपि तत्तद्गुणक्रियाव्यत्ययेन व्याख्यास्यते रक्षितुमिच्छुरवतीर्णोसि कृष्णेन वर्णेनेति अत इत्यादौ च प्रत्युत तामसानां हननमेव वक्ष्यते अन्यथा तदीयस्वव्याख्यासहस्रेणापि विरोधः स्यादिति सर्वदा सच्चिदानन्दघनस्वरूपमेव तद्रूपमिति ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवमुक्तप्रकारेणोद्दर्शैर्वा स्वाभाविकैर्भक्तवात्सल्यादिगुणैः सह नित्यं वर्त्तमानोऽपि तेषु गुणेष्वाग्रहः पुनः पुनरासक्तिर्यस्य तथाभूतो भवान् भवति । कथम्भूतैः ? बुद्ध्यानुमेयमेव, न तु प्राप्यं स्वरूपं येषां तैरपरिच्छिन्नत्वादिना परमदुर्वितर्कैरित्यर्थः । अतो ग्राह्यैः सर्वोपादेयैः परमसेव्यैरित्यर्थः; यद्यपि ते तव बहिरूपेक्ष्यमन्तरञ्चापेक्ष्यं नास्ति । कुतः ? अनावृतत्वात् परमस्वतंत्रत्वादित्यर्थः । तत्र हेतवः सर्वस्येत्यादयः सर्वमयस्य सर्वात्मनः सर्वचेतयितुः सर्वव्यापकस्य वात्मा स्वयमेव वस्तु यस्तस्य स्वतः परमपुरुषार्थस्वरूपस्येत्यर्थः; तथापि तद्गुणाग्रह इति सततभक्तवात्सल्याद्यशेषगुणनिधित्वमुक्तम् ॥ १७ ॥ अत एव त्वमेव भजनीयो न त्वन्य इत्याह—य इति । आत्मनः स्वस्य दृश्याः साक्षाद् भवनीया मनोहरा वा गुणा येषां तेष्वपि मध्ये स्वव्यतिरेकतस्त्वां विनायं देवः सन् उत्तम इति यो निश्चिनोति, सोऽबुधः, यतस्तन्मनीषितं सम्यगुत्तमं न स्यात् । कुतः ? अनुवादमन्योन्यसम्वदि विना; यद्वा, नु अहो ! तत्त्वनिर्द्धारार्थमन्योऽन्यं वादं विना तत्सत्संगाभावेन तत्त्वानिश्चयादेवेत्यर्थः । अतः पूर्वैस्त्यक्तं भजनीयान्तरमुपाददं स्वीकुर्वन् पुमान् बुध एव; किंवा, तन्मनीषितमनुवादं विनैवेतित्यक्तमुपेक्षितमुपाददं पुमान् सम्यक् समीचीनो न भवति ॥ १८ ॥ ननु, कथमहमेव भजनीयः ? तत्राह—त्वत्त इति । अनीहान्निष्कामादनन्यापेक्षादपीत्यर्थः; अगुणान्मायागुणसम्बन्धरहितादपि; अविक्रियात् क्रोधादि-विकार-रहितादपि, वदन्ति वेदास्तद्विदो वा । विभो हे प्रभो ! सर्वशक्तियुक्तेत्यर्थः । एवं पूर्वोक्तप्रकृतिपरत्वादिकस्यापि तस्य (परमेश्वरस्य) मायिकसृष्ट्यादि-(आदि-शब्दात् स्थितिसंयमौ) कर्त्तृत्वं समर्थितम् । तत्रानीहत्वादित्रयं यथाक्रमं यथासम्भवं वा प्रकृतिपरत्वादित्रयादुह्यम्; तथानीहत्वादावपि सति स्रष्टृत्वादित्रयञ्च । नन्वेवं विरुद्धं स्यात्तत्राह—त्वयीति । यथैकस्यैवेश्वरत्वं ब्रह्मत्वञ्च न विरुध्यते—ऐश्वर्य्यस्यापि समग्रस्यामायिकत्वेन ब्रह्मात्मकत्वात्, तथेदमपीत्यर्थः । ननु सत्यं वस्त्वविरुद्धमास्ताम्, सृष्ट्यादिकन्तु मायिकत्वाद्विरुद्धं स्यादेव ? तत्राह—त्वदिति । मायागुणैः क्रियमाणं सृष्ट्यादिकं त्वय्युपचर्य्यते, मायागुणाश्रयत्वात्, तत्त्वतः सम्बन्धाभावेन त्वत्सम्बन्धसत्तया वा, न विरुध्यत इत्यर्थः । यद्वा, एवमविरोधादेव गुणैर्भगवत्तावाच्यैरुपचर्य्यते परिचर्य्यते नित्यं सेव्यते भवान् तदाश्रयत्वात्, तादृशगुणानां भवानेवैक आश्रयः, नान्यः कोऽपीत्यतो हेतोरित्यर्थः । एवमाश्चर्य्यस्वरूपत्वाद्भवानेव भजनीय इत्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु, कथं मत्तोऽस्य सृष्ट्यादिकं ब्रह्मादीनामेव तत् कर्त्तृत्वादत आहुः—सत्त्वमिति । सत्त्वगुणाधिष्ठातृत्वेनाभेदादुक्तम्; यद्वा, स उक्ताविरोधप्रकारकः सृष्ट्यादिकारको वा त्वं प्रायः शुक्लं शुक्लवर्णं रूपं श्रीयज्ञादि-मन्वन्तरावतारैः स्वमायया निजकृपया यद्यपि भवानेव स्वयं पालकः, अत एवात्र प्रथमं स्थितय इत्युक्तम् । तथाप्यवतारावतारित्व-भेदापेक्षया स ततो भिन्नतयोक्तः । कृष्णं नीललोहितं जनात्यये जगत्संहारे निमित्ते । एवं ब्रह्मादयोऽपि तवैव गुणावतारा इति त्वत्त एव सृष्ट्यादिकमित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

बुध्यनुमेयलक्षणैः बुद्धिनिरूप्यस्वभावैः गुणैः गुणमयकामैः सन्निति एककारणतया अस्तीति न ग्राह्यत्वं तद्गुणग्राहं तत्तद्गुणमयं कार्यं साक्षात्कतुं तत्र हेतुरनावृतत्वम् असङ्कुचितज्ञानत्वं बहिरन्तरं न ते बहिर्भोगस्तत्प्रतिसम्बध्यन्तर्भोगश्च नास्ति व्यापित्वात्, तदेवाह; सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यस्य सर्वात्मनः सर्वशरीरकस्य आत्मवस्तुनः सर्वेषामात्मवस्तुनः सर्वषामात्मभूतस्य बहिरन्तरं नेत्यन्वयः ॥ १७ ॥ अदात्मनः इति आत्मैव नित्यस्तथापि स्वव्यतिरिक्तेषु भोग्यपदार्थेषु सन्निति नित्य इति अबुधो व्यवस्यते अबुध्वा व्यवस्यति तन्मनीषितं न सम्यक् विनानुवादं अनित्यत्वनिषेधार्थमनन्यत्वमनुवादेनाक्तं चेत् तत्सम्यङ्नित्यत्वप्रतिपादनं तत्तु न सत्यमित्यर्थः । यतस्त्यक्तमुपाददत्पुमानिति विवेकिभिरितरानित्यतया त्यक्तं हि तद्बुद्ध्या पुमानुपादत्ते अतो न सत्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥ अनीहात् संकल्पेतरव्यापाररहितात् अगुणात् गुणत्रयरहितात् अविक्रियात् अविक्रियस्वरूपात् त्वयि न विरुध्यते सर्वशक्तित्वादित्यर्थं तस्मिन् कथं सृज्यत्वादिव्यपदेशः ? इत्यत्राह—त्वदाश्रयत्वादिति । स्वशरीरभूतस्य कार्यवर्गस्यान्तरात्मतया धारकत्वात्तत्तच्छरीरगतैरुत्पत्यादिभिर्विशिष्टे त्वयि न तु साक्षादुच्यत उपचर्यते इत्यर्थः ॥ १९ ॥ स्वमायया स्वसङ्कल्पेन शुक्लादिशब्दैः सत्त्वादिगुणा लक्ष्यन्ते ॥ २०-२१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दृष्टान्ताभिप्रेतमर्थं दार्ष्टान्तिके निगमयति—एवमिति । यथा महदादिविशेषान्तानां भावानामण्डोत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतया अवस्थानमण्डान्तर्गतदेवमनुष्यादिभावेष्वनुवृत्तिश्च तथा भवानपि कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थितस्तदनुप्रविष्टः अथानुप्रविष्टोऽप्यप्रविष्ट इव भाव्यस इत्येतदुपपादयति—बुद्धीतिसन्नपि देवमनुष्यादिपदार्थेष्वनुप्रविश्य विद्यमानोऽपि बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ज्ञाननिरूप्यस्वभावैर्ग्राह्यैरैन्द्रियकैर्गुणैर्गुणमयैर्देवादिपदार्थैर्गुणकार्यैर्विशिष्टोपीति शेषः । तद्गुणाग्रहः तद्गुणैर्देवादि-

भावगतविकारैर्न गृह्यते नोपादीयते न स्पृश्यते इति यावत् तथा तद्गुणग्रह इति पाठे तद्गुणमयकार्ये साक्षात्कर्ता भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यै र्गुणैर्विशिष्टोपि सन्नेकरूपो निर्विकारः निरस्तनिखिलदोषोऽपरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वरूपः एकरूपत्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः। यद्वा, बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यै र्गुणैः सन्नपि तैः सह वर्त्तमानोऽपि तद्गुणाग्रहः तद्गतविकारास्पृष्टः पाठान्तरे तत्साक्षात्कर्ता न तु तद्गतविकारस्पृष्टः इत्यन्वयः। कथं तद्विशिष्टस्यापि तद्गतविकारास्पर्शः? इत्यत्राह—अनावृतत्वादिति। अनावृतत्वादसङ्कुचितज्ञानत्वान्नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानत्वेन जीवस्येव कर्माधत्तज्ञानसङ्कोचविकासादिविकाराभावादनेन जीवगतविकारास्पर्श उक्तः अनावृतत्वे हेतुमाह; बहिरन्तरं न ते इति। बहिर्भोगस्तत्प्रतिसम्बध्यन्तर्भोगश्च ते तव नास्ति व्यापित्वादपरिच्छिन्नस्यावरणासंभवादिति भावः। व्यापित्वमचेतनगतदोषास्पर्शश्चाह; सर्वस्य कृत्स्नजगत्कारणतया तदनन्यत्वेनावस्थितस्य किं सर्वत्वं स्वरूपेण? नेत्याह; सर्वात्मनः सर्वशरीरकस्य शरीरात्मभावनिबन्धनमेवानन्यत्वं न तु स्वरूपाभेदनिबन्धनमिति भावः। शरीरगोचरबुद्धिशब्दानां शरीरपर्यन्तत्वात् सर्वशरीरकत्वेपि सर्वानन्यत्वमविहतमेवेति भावः। यतः सर्वात्मा अत एव न सर्वगतदोषसंस्पर्शप्रसङ्गः न हि देहगता बाल्यादयो धर्मास्तदात्मनि प्रसजन्तीत्यभिप्रायेण विशिनष्टि; आत्मवस्तुन इति, सर्वेषामात्मभूतस्य तव बहिरन्तरं नेत्यन्वयः। सर्वत्र सर्वथा सर्वतः परिपूर्णत्वादिति दिक्। यद्यपि बालोऽहं युवाऽहम् इति देहधर्मास्तदात्मनि प्रतीयन्ते तथापि सा प्रतीतिर्जीवानां देहात्मभ्रान्तिमूला परमपुरुषस्य त्वनावृतत्वादावरणमूलकदेहात्मभ्रान्त्यादेरभावादात्मनि न शरीरगतदोषसंस्पर्शस्तत्प्रतीतिश्चास्तीति भावः॥ १७॥ एतदेव विशदयितुं परमपुरुषस्य प्रत्यक्षतः स्वयाथात्म्यत्वेन देहात्मभ्रान्त्यभावं जीवस्य तद्वैपरीत्यञ्चाह—य इति। यो भवान् बुधः सर्वज्ञः शश्वत्स्वयाथात्म्यज्ञः आत्मनः स्वस्माद्व्यतिरेकतः भेदाध्यवसायाद्दृश्यगुणेषु दृश्येष्वेन्द्रियकेषु गुणेषु गुणकार्येषु देवादिभावेषु सन्निति व्यवस्यते देवादिपदार्थेष्वन्तरात्मतया अवस्थितमध्यात्मानं सन्नित्येव निरस्तनिखिलदोषत्वेनापरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वरूपत्वेन चैकरूपतया निर्विकारत्वेनैव व्यवस्यति विविनक्ति आत्मनेपदन्त्वार्षं चस्त्वर्थः तन्मनीषितन्तु तस्य जीवस्य मनीषितमध्यवसायः बालोऽहं युवाऽहं देवोऽहं मनुष्योऽहम् इत्यध्यवसायस्त्वनुवादं विना न सम्यग्विवेकिभिः तत्त्वत्रययाथात्म्यविद्भिर्निषेधार्थमनुवादं विना न सम्यक् नाबाधितः तन्मनीषितं केवलं निषेधार्थमनुवादरूपतयोपयुज्यते नत्वबाधितमित्यर्थः। कुतः? यतः विवेकिभिस्तत्त्वत्रययाथात्म्यविद्भिस्त्यक्तं परिहृतं बाधितं मनीषितं पुमान् देहात्मभ्रान्तिमानुपाददद्धितबुद्ध्योपादत्ते तदेवं शश्वत् प्रत्यक्षितस्वयाथात्म्यत्वाद्देहात्मभ्रान्त्यभावाच्छरीरभूतचिदचिद्गतविकाराभावात्प्रविष्टस्याप्यप्रविष्टप्रायत्वात्कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्राक् तत्कारणतया निर्विकारत्वेनावस्थितो भगवानिदं जगत्ससर्जेति समुदायार्थः॥ १८॥ ननु, निर्विकारस्य मम कथं विकाराश्रयत्वरूपं जगत्कारणत्वम्? इत्यत्राह—त्वत्त इति। हे विभो! अनीहात्सङ्कल्पेतरव्यापाररहितादगुणात्सत्वादिगुणत्रयरहितादविक्रियस्वरूपादपि त्वत्त एव कारणादस्य जगता जन्मादीन् वदन्ति संयमो लयः "निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" सत्यं ज्ञानमनन्तं" सदेव सौम्येदमग्र आसीत् "एकमेवाद्वितीयं' तदैक्षत बहु स्याम्" इत्यादयो वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। कथमग्निना सिञ्चेदितिवदसङ्गतमर्थं वेदान्ता अपि प्रतिपादयेयुरित्यत्राह—त्वयीति। तज्जगत्कारणत्वमीश्वरं प्रकृतिपुरुषनियन्तरि तच्छरीरके ब्रह्मणि निमित्तत्वोपादानत्वोपयुक्तसार्वज्ञसर्वशक्तित्वाद्यनन्तकल्याणगुणैः स्वरूपेण च बृहत्त्ववति सर्वशक्तौ त्वयि न विरुध्यते सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे सर्वशक्तौ त्वयि कारणत्वविरुद्धमेव स्वरूपस्य निर्विकारत्वेऽपि स्वशरीरभूतचिदचिद्द्वारा विकाराश्रयत्वात्तदाश्रयत्वरूपं कारणत्वमविरुद्धमेवेत्यर्थः। ननु, सृज्यत्वादेः शरीरभूतचिदचिद्गतत्वात्कथं मम साक्षात्सृज्यत्वादिव्यपदेश इत्यत्राह—आश्रयत्वादिति। स्वशरीरभूतकार्यवर्गस्याश्रयत्वादन्तरात्मतया धारकत्वाच्छरीरगतैरुत्पत्त्यादिभिर्विशिष्टे त्वयि तदुपचर्यते शरीरद्वारकमुच्यते न तु साक्षादुच्यत इत्यर्थः॥ १९॥ ननु, नाहं जगज्जन्मसंयमकारणम् अपि तु ब्रह्मरुद्रादीत्यत्राह—सत्त्वमिति। स उक्तविधस्त्वं त्रिलोकस्य स्थितये पालनायात्मनः स्वस्य मायया सङ्कल्पेन शुक्लं विशुद्धं वर्णमाकारं रजतस्तमोभ्यामननुविद्धमप्राकृतं शुद्धसत्त्वमयं विग्रहं बिभर्षि साक्षादुपादत्से सर्गाय त्रिलोकसृष्टये तु रजसा रजोगुणोपलक्षितेन चतुर्मुखाख्यजीवेन उपबृंहितमधिष्ठितं रक्तं वर्णं रजोगुणमयं वर्णं शरीरं बिभर्षि चतुर्मुखाख्यजीवद्वारा बिभर्षीत्यर्थः। तथा जनस्योत्पत्तिमतः त्रिलोकस्यात्यये प्रलये निमित्ते तमसा गुणेनोपलक्षितेन रुद्राख्यजीवेनोपबृंहितः कृष्णः तमोगुणमयं वर्णं शरीरं बिभर्षि ब्रह्मरुद्राख्यजीवानुप्रवेशेन जन्मसंयमौ करोषि स्थितिं तु साक्षात्त्वमेव करोषीत्यर्थः। अत्र शुक्लरक्तकृष्णशब्दैः सत्त्वरजस्तमोगुणा लक्ष्यन्ते यथा "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इत्यत्र तद्वद्रजस्तमःशब्दाभ्यां तद्गुणप्रचुरौ ब्रह्मरुद्राख्यौ जीवौ वर्णशब्देन शरीरं सत्त्वमित्येकं पदं वा शुक्लं रजस्तमोभ्यामननुविद्धं सत्त्वं शुद्धसत्त्वमयं वर्णं शरीरं बिभर्षीत्यन्वयः॥ २०॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स इत्यनुवर्तते यथा तत्त्वानामचेतनत्वेन तदभिमानिनां विभक्तशक्तित्वेन च तेषामन्यस्त्वं मेलयितृत्वेन भाव्यः स एवं शरीरमुत्पाद्य समुत्पत्तेः प्राक् पश्चादपि निर्दोषत्वेन वर्तमानो भवान् ग्राह्यैरनुमेयैर्गुणैरिन्द्रियविषयैः उत्पन्नया बुद्ध्या ज्ञानाख्यलिङ्गेनानुमेयानि लक्षणानि स्वातन्त्र्यादीनि यस्य स तथा तेषामिन्द्रियाणां गुणाग्रहः विषयज्ञापकोऽस्तीति ज्ञायते "क्षेत्रज्ञः पुरुषो ह्यात्मा" इत्यत्र क्षेत्रज्ञानस्य जीवनिष्ठत्वेन दर्शनान्नारायणनिष्ठत्वेनोच्यत इति कथम्? तत्राह—अपीति। ग्राह्यगणेष्वस्वातन्त्र्यप्रतीतेरिदं

जानामीति। जीवसमवेतग्रहणशक्तिरपि तन्नियतेति तदुक्तमाचार्यैः ग्राह्यगुणेत्यादि सत् सर्वस्य ज्ञातृत्वेन वर्त्तमान इति वा तदुक्तम् ज्ञातापि सर्वभावानामिति उपहितस्यैव बहिरन्तर्विभागः, न सर्वज्ञस्य भवेदित्याह—अनावृतत्वादिति अव्यवधानेन द्रष्टृत्वात् तदुक्तम् "सर्वत्राव्यवधानेन द्रष्टृत्वात्सर्ववस्तुनः" इति कुतो नास्तीति तत्राह—सर्वस्येति। सर्वस्य पूर्णस्य, हेतोरनुग्राहकमाह—सर्वात्मन इति। न ह्यव्याप्तस्य सर्वस्यात्तृत्वं देवदत्तस्येव युज्यते तस्मात्सर्वभक्षकत्वान्यथानुपपत्त्याऽपरिच्छिन्नत्वमेष्टव्यं नन्वपरिच्छिन्नस्य "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यन्याश्रयत्वेन अवस्थानं कथमिति, तत्राह—आत्मवस्तुन इति आत्मन्येव वसति न परस्मिन्न-शक्तित्वेनेत्यात्मवस्तु तस्य पूर्णसामर्थ्यात् सर्वात्मा सर्वभक्षणादिति च ॥ १७ ॥ ज्ञानलिङ्गेन शरीरेन्द्रियादिभ्यो भेदेन ज्ञायसे इत्युक्तं तत्राज्ञानिन एवं मन्यन्त इत्याह—यदात्मन इति। यदात्मनः परमात्मनः प्रत्यगात्मनः दृश्यगुणेषु शरीरेन्द्रियादिषु सन्निवेः प्रवेशलक्षणसन्निधानादवुधैरस्वव्यतिरेकतः स्वाभेदेन व्यवस्यसे निश्चित्य ज्ञायसे इति यत्तदनुवादमनुकूलं वेदवचनं विना न मनीषितम् नैवाङ्गीकारयोग्यं कुत इति तत्राह—सम्यगिति। पुमान् पुरुषः पर्यङ्कशयनो विष्णुः व्यक्तं संशयनिरासकरणं सम्यग्वचः अपौरुषेयत्वेन निर्दोषवेदवाक्यं उपाददत्स्वीकृतवानाहेत्यन्वयः। परमात्मनोऽपि शरीरे सन्निधानादवुधैरस्वव्यतिरेकतो ज्ञायस इत्यादेरयमर्थः सिद्धः (१) यदिदं जगदेकम् एकीभूतं मामभियाति तर्ह्यहमेक एव निःपट् नितरां सहमानोभियोद्धास्मि अथवा द्वावभियातस्तावप्येवमेव अथवा त्रय एतादृशा मामभ्येत्य किमु करन्ति किं कुर्वन्ति त्वां घ्नन्तीति वार्ता माभूत् अहमेव हन्मीत्याह—खलेनेति पर्षान् धान्यानि कुलित्थादीनि खलेन खेले इव भूरीणि शत्रुभूतानि जगन्ति प्रति हन्मि हनिष्यामि त्वद्धननशक्त्यभावेपि तव दुर्भगजीवाभेदवचनेन त्वां निन्दतीति तत्राह—किमिति। शत्रवो मा मां किं निन्दन्ति सर्वगुणाकरत्वेन दोषलेशस्पर्शाभावात् स्वतो दोषाभावेपि बलादापादयन्ति हीति तत्राह—अनिन्द्रा इति। असमर्था इत्यर्थः—

प्रविष्टत्वाच्छरीरेषु जीव एवेति दुर्धियः। मन्यन्ते परमात्मानं न तन्मतमनुव्रजेत्॥ इत्यादेः—

तर्हि निन्दाफलं किमिति अस्याप्येतदेवोत्तरमाह—अव्यक्तमिति। अव्यक्तम् अप्रकाशलक्षणं व्यक्तिशून्यमन्धन्तमः यान्तीति च देववचनमुपादत्ते ऐकात्म्यज्ञानतो यान्ति तम इति तर्हि भेदज्ञानस्य किं फलमित्यस्यापीदमेवोत्तरमित्याह—व्यक्तमिति। विगताज्ञनं निर्दोषभेदज्ञानं मुक्तिसाधनमुपाददत् भेदात्परं पदं स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिज्ञानं भेददर्शिर्भवेदिति वचनम्॥ १८॥ कुलालघटयोरिव कार्यकारणयोर्जगद्ब्रह्मणोर्भेदः पारमार्थिक इति ज्ञापनाय सृष्टिप्रकारं स्पष्टयति–त्वत्त इति। अस्य प्रपञ्चस्य कुलालवदायासग्रस्ततया कर्त्ता नायं किं तु पूर्णानन्दत्वेनेत्याशयेनाह–अनीहादिति। अनीहादक्लिष्टकारित्वादिति अनीहत्वेन कर्ता-चेन्मृद्वद्विकारित्वं हरेरिति तत्राह–अविक्रियादिति। तथाऽविकृत एव सन् सर्वं करोतीति। नन्वियं सृष्टिः गुणपूर्विका सृष्टित्वात् पट-सृष्टिवदिति तत्राह–अगुणादिति। नन्वियं प्रतीतिविरूद्धा सृष्टिर्निष्क्रियस्य क्रियावत्त्वम् अगुणस्य गुणवत्त्वमविकारिणा विकारित्वमिति तत्राह–त्वयीति। ईश्वरे ब्रह्मणीति पदद्वयं हेतुगर्भम् "ऐश्वर्यात्पूर्णशक्तितः" इति वचनात्। नन्वयमीश्वरः सृष्ट्यादौ प्रवर्तमानो गुणम-पेक्षते न वा प्रथमे गुणित्वम् सृष्ट्याद्यनुपपत्तिरिति तत्राह–तदाश्रयत्वादिति। गुणैः सत्त्वादिभिः सृजसि न तत्र सन्देहः तर्हि निर्गुणस्य गुणित्वापातः इति शङ्का माभूदिति तदाश्रयत्वाद्गुणानां जडत्वेन स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्प्रवृत्यर्थं तत्प्रेरणाद्गुणीत्युपचर्यसे न तु मुख्यतो गुणी 'केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतेः। ननु, सगुणागुणवचनस्य का क्लृप्तिस्तर्हीत्यस्यापीदमुत्तरं तदाश्रयत्वादिति ज्ञानादिगुणैः क्लृप्तदेहत्वात्सत्त्वादिगुणविधुर इत्युपचर्यते उपसङ्गम्यसे ज्ञायसे इत्यर्थः। तेषां सत्त्वादिगुणानामाश्रयत्वादैश्वर्यादिगुणपूर्णं वाद्वा सगुण इत्युपचर्यसे सम्भाव्यस इत्यर्थः—

"अगुणो गुणदेहत्वात्सगुणो गुणधारणात्। ऐश्वर्यादिगुणित्वाद्वा वासुदेव इतीर्यते"॥

इति वचनात् अर्थविशेषो ज्ञायत इति॥ १९॥ तदाश्रयत्वं प्रपञ्चयति–सत्त्वमिति। अयमर्थः यदा त्रिलोकस्थितये त्रैलोक्यरक्षणाय सत्त्वगुणं (१) वर्धयन्नास्ते तदा हयग्रीवादिरूपं शुक्लवर्णं निर्मुक्तकलङ्कानूनबिम्बचन्द्रबद्धवलवर्णं बिभर्षि "जगतां वर्धयन् सत्त्वं यदा रक्षति केशवः" इत्यादेः खल्वलङ्कृतोऽयमर्थः यदा सर्गाय तत्तत्स्वभावाभिव्यक्तये रजोवर्धयंस्तदा रजसोप-बृंहितं रजोगुणशक्तिव्यञ्जकं रक्तं जामदग्न्यादिरूपं बिभर्षि खलु "वर्द्धयंस्तु रजो येन जगदुत्पादयेद्धरिः" इत्यादेः जनस्यात्यये प्रलये। अत्तय इति पाठे अत्तिः संहृतिः तस्यै यदा लोके तमो वर्द्धयन् तदा तमसोपबृंहितं तमोगुणप्रवर्तकं कृष्णं यादवादिरूपं बिभर्षि खलु "येन विनाशयेत्। वर्धयंस्तु तमो लोके तत्कृष्णं यादवादिकम्" इति वचनात् ननु, सर्वत्र सर्वशक्त्यभावादपूर्णता हरेरित्य-स्यापि इदमुत्तरं खल्विति जिज्ञासा लक्षणा वाप्सा कर्तव्या तथा हि यच्छुक्लं रूपं सत्त्वं वर्द्धयन् बिभर्षि तद्रूपं त्रिलोकस्थितये खलु न भवति किन्तु सर्गसंहाराभ्यां बिभर्षि रजो वर्द्धयन् रक्तरूपं बिभर्षि तत् सर्गाय खलु न भवति किन्तु तत् स्थितिसंहाराभ्यां च बिभर्षि यत्तमो वर्द्धयन् कृष्णं रूपं बिभर्षि तज्जनात्यय एव खलु न भवति किन्तु तत् त्रिलोकस्थितिसर्गाभ्या च बिभर्षि इति मन्दमतीनां विस्पष्टतयाभ्यासात्कं "सर्वत्र सर्वं कुरुते विशेषस्तत्र कीर्तितः" इत्यादेः तत्तात्पर्यार्थपरतया श्लोकार्थो ज्ञातव्यः। "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" इत्यादेर्धातोः सृष्टिसंहाराविति सत्त्वशब्देन ज्ञातव्यौ "रजो रागे" इति धातोः रागशब्दस्यानेकार्थत्वेन स्थितिसंहारार्थोऽपि ज्ञातव्यः। "तमु ग्लाने" इति धातोः ग्लानशब्दस्य सृष्टिस्थितिविरोधिज्ञापकत्वेन तत्परत्वेनार्थो बोद्धव्यः

निर्गुणस्य गुणोपरक्तत्वं कथमित्यत उक्तं स्वमाययेति "स्वेच्छयानुगुणाद्विष्णुर्नानारूपान् करोत्यजः" इत्यादि च "निषेधे वागलङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु" इत्यमरः "निषेधे वागलङ्कारे वीप्सनेऽनुनये खलु इति" यादवः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एवं भवान् तथा तद्गुणेषु गृह्यमाणेषु अग्रहो ग्रहणाभावो यस्य तादृशश्च भवानिति तु स्थितौ ततः परत्वमुक्तं प्रवेशमेव निराकुर्वन् प्रपञ्चस्य स्वतः सत्तां परिहरति ॥ १७ ॥ य इति। यदि स्वस्य जीवात्मनो द्रष्टुर्व्यतिरेकेणापि न जगदुपलभ्यते तदा किं पुनः सर्वप्रकाशकस्य परमात्मन इत्यर्थः। अनुवादं वेदानुमतिं विनेति तत्र सापि नास्तीत्यर्थः। "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि श्रुतेः। यतः स पुमान् वेदैस्त्यक्तमुपाददत् उपादेयत्वेन स्वीकृतवानित्यर्थः। दद धातौ तिङातिङौ भवन्तीतिच्छान्दसं परस्मैपदं सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि ततः परत्वम् आह ॥ १८ ॥ त्वत्त इति "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति न्यायेन सिद्धान्तमाह—वदन्तीति। विरोधं परिहरति ईश्वरे ब्रह्मणीति चिन्तामणादिवदचिन्त्यशक्तित्वेनेति भावः। तत एव त्रैगुण्यं शक्तित्वेऽपि तदस्पर्शमाह—तदाश्रयत्वादिति। तथैव पालनलक्षणान्तरस्थितिविसर्गलक्षणावान्तरं जन्म दैनन्दिनादि लक्षणावान्तरसंयमा अपीत्याह ॥ १९ ॥ स त्वं स तथाभूत एव त्वम् अत्र लोकेषु त्वद्भक्ता एव मुख्या इति मुख्यं तत् पालनमेव प्रयोजनमिति भावः। तदेवाह-स्वमायया स्वेषु भक्तेषु कृपया भक्तकृपाऽत्र प्रवर्त्तिका पूर्ववदचिन्त्यशक्तिस्तु दुर्घटघटनीति ज्ञेयं शुद्धत्वेन श्यामोऽपि शुक्लत्वेनोक्तम् उत्तरत्र रजसेत्यादिवत् सत्त्वेन त्यक्तत्वात् न ततस्तद्वर्णः किन्तु तदधिष्ठानक एवेत्यर्थः। आत्मनः श्रीविष्णुरूपस्य तथैवाधुनापि इत्युपसंहरति ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

प्रकृतिपुरुषावेव यद्यपि जगत्कारणम्, तथापि सर्वकारणकारणत्वात्त्वमेव जगत्कर्त्तेति ये केचिद्वदन्ति, तदपि न विरुद्धमित्याह त्वत्तोऽस्येत्यादि। निरीहात् अन्तरङ्गलीलेहां विना बहिरङ्गरूपा जगत्कर्तृत्वादिलीला तव नास्तीति निरीहस्तस्मात्; अतएवागुणात् सत्त्वादिगुणरहितात्, अविक्रियात् विक्रिया विकारः परिणामस्तद्रहितान्नित्यकैशोरादित्यर्थः। तथापि त्वत्त एवास्य जगतः स्थित्यादय इति यद्वदन्ति, तत्त्वयि ईश्वरे ब्रह्मणि श्रीकृष्णे न विरुध्यते। कुतः? तदाश्रयत्वात्। तेषां स्थितिजन्मादिकर्तृणां विष्णुब्रह्मरुद्राणामाश्रयत्वमेव। अतो हेतोस्तेषां गुणैरुपचर्यते, वस्तुतस्तु त्वं निर्गुण एवासि ॥ १९ ॥ उपचर्यते इति यदुक्तम्, तदेव प्रपञ्चयति—सत्त्वमित्यादि। स त्वं निरीहत्वादिपूर्वोक्तविशेषस्त्वं त्रिलोकस्थितये शुक्लं वर्णं विष्णुरूपं बिभर्षि। अथवा, सत्त्वं सत्त्वगुणमयशुक्लरूपं बिभर्षि। एवं रजसा रक्तवर्णं ब्रह्मरूपेण, तमसा कृष्णपिङ्गलं वर्णं रुद्ररूपेण, (नृ० पु० १।६) ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' इति रुद्रोपस्थाने तद्रूपोक्तेः। उक्तञ्च—'ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः। संनियच्छति तत् कालः' इत्यादि। बिभर्षीत्यविकारः, त्वं भवसीत्यनुक्तेः, विभक्तेर्धारणार्थत्वादविकारस्य वेशान्तरधारणवत्। अथवा, खलुशब्दः प्रतिषेधार्थः, त्वं खलु बिभर्षि? मा बिभर्षीत्यर्थः—'निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः। तं तं वर्णं त्वदंशा एव बिभ्रति, त्वं तु अविकृत एव ॥ २० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

त्वत्तोऽस्येति। केचिद् वदन्ति त्वत्त एवास्य जगतो जन्मस्थितिसंयमाः, वस्तुतस्तु त्वदंशभूतेभ्य एव ब्रह्मादिभ्यः, अतस्ते वदन्त्येव, न तु तत्त्वतो जानन्ति। तथापि तेषां त्वदंशत्वात् त्वय्युपचारः, अतस्त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते, ईश्वरो ब्रह्मपरं ब्रह्मेति त्वयि ईश्वरे ब्रह्मणि श्रीकृष्णे विरोधाभावस्य हेतुमाह—त्वदाश्रयत्वात्तेषां ब्रह्मादीनामाश्रयस्त्वमेवेति। अतस्त्वत्तो निरीहादपि जगतोऽस्य सृष्ट्यादय इति न विरोधः। गुणैः सत्त्वादिभिः सृष्ट्यादिहेतुभिः ॥ १९ ॥ उपचर्यत इति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयति—स त्वमित्यादि। स त्वमनीहत्वादिविशिष्टः, अथवा, सत्त्वं सत्त्वगुणमयं शुक्लवर्णम् रजोमयं रक्तञ्च वर्णम्, एवं तमोमयं कृष्णवर्णं खलु बिभर्षि न बिभर्षि, खलु शब्दोऽयमव्ययो निषेधार्थः, अलंखल्वोरिति अलंकृत्वा, खलु कृत्वा, अमरश्च—'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इति। तं तं वर्णं त्वदंशो एव बिभ्रति, त्वं त्वविकृत एव। मद्गृहे यत्त्वमवतीर्णोऽसि, स तु त्वमेव स्वस्वरूपः, न तु जनात्ययाधिकरणकृष्णवर्णधारी 'अतएव प्रथमत एव (९ म श्लो०) 'पयोदसौभगम्' इत्येव उक्तम्, न तु कृष्णवर्णम्, स तु कालाग्निरुद्रः, (महानारायणोप १०।१०) ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' इति; उक्तञ्चात्रैव (भा० २।१०।४३) ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः। सन्नियच्छति तत्काले" इत्यादि ॥ २० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्चेमे तत्तद्गुणैर्लिप्ता इव भवांस्तु कारणत्वेन प्रविष्टोऽप्यलिप्त एवेत्याह—एवं भवान् स्वप्रकृत्या सृष्टे जगति प्रविष्टोपि बुद्ध्या अनुमेयमेव लक्षणं येषां तैः स्वप्रकाशत्वाखण्डज्ञानानन्दादिभिर्ग्राह्यैः स्वोपादेयैर्गुणैः सह सन्नपि सदा विराजमानोपि तद्गुणाग्रहः तस्याः प्रकृतेर्गुणान् लेपकान् दुःखात्मकान् आनन्दैकमयस्त्वं न गृह्णासि कुतः अनावृतत्वात् योहि प्रकृतिगुणैरावृता

भवति स एव तान् गृह्णाति लिप्तश्च भवति यथा जीव इति भावः। अतस्तव बहिरन्तरं व्याप्यते प्रकृतेर्गुणा न सन्ति यथा जीवस्य बहिः शब्दस्पर्शादयः अन्तश्च शोकमोहादय इति भावः। सर्वात्मतः सर्वत्रान्तर्यामितया प्रविष्टस्यापि किञ्च केवलं न तवैव अपि तु आत्मवस्तुनः तव स्वीयपदार्थस्य सर्वस्य कृत्स्नस्यापि लीलाविलासधाम भक्तादेर्बहिरन्तरं च व्याप्यते लेपकाः प्रकृतिगुणा न सन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥ ननु, लेपका अपि प्रकृतिगुणाः केचित्सुखदा भद्रा एवेत्यत आह—य आत्मनः स्वस्य दृश्यगुणेषु भोग्यस्रक्-चन्दनवनितादिषु सन्निति उत्तमोयं पदार्थ इति व्यवस्यते निश्चिनोति स अबुधः कृतः स्वव्यतिरेकतः स्वस्मिंस्तेषां सदा संयोगा-भावात् ततश्च शोकमोहादिदुःखप्रदत्वात् संसारप्रवाहप्रापकत्वाच्चेति भावः। नन्वसौ मीमांसको भोग्यस्रगादिः सन्निति वदन् मनीषिणमेवात्मानं मन्यते तत्राह—विनेति। नु निश्चितमेव वादं विना तन्मनीषितं न सम्यक् मनीषितं तत्र प्रवाद एव न तु स मनीषीत्यर्थः। यतस्त्यक्तमेव त्वदीयजनैर्घृणास्पदत्वेन यत् तदेव उप आधिक्येनाददत्स्वीकृतवान् ह्रस्वत्वमार्षम् ॥ १८ ॥ ननु, स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वेत्यादि त्वदुक्तेर्गुणमयप्रकृतेश्च मच्छक्तित्वेनाभेदात् गुणमयजगदुपादानस्य मम कथमन्तर्बहिर्गुणयोगाभाव-स्तत्राह—त्वत्त इति। ननु, जगत्सृष्ट्यादिकर्तुः कुतोऽनीहत्वादि सम्भवेत्? तत्राह—त्वयि ईश्वरे ब्रह्मणि न विरुद्ध्यते त्वयि ब्रह्मत्वान्यथानुपपत्त्यैवेश्वरत्वेप्यनीहत्वादिकमभ्युपगम्यमेव स्वरूपद्वयाभावादिति षष्ठोक्तेरित्यर्थः। नन्वेतेन विरोधो नापयातीत्यत आह तदाश्रयत्वादिति। गुणैः कुर्वद्भिस्त्वयि सृष्ट्यादिकर्तृत्वमुपचर्य्यते गुणाश्रयत्वात् यथा भृत्यकृतं राजनीत्यतः प्रकृतेस्त्व-च्छक्तित्वेऽपि बहिरङ्गत्वेन त्वत्स्वरूपत्वाभावादन्तर्बहिस्तव तद्गुणयोगाभाव उपपादितः। यद्वा ननु, त्वत्पुत्रस्य चतुर्भुजस्य मम कथं ब्रह्मत्वं कथं वेश्वरत्वं सम्भवेदिति चेत्सत्यं त्वं न ब्रह्म नापीश्वरः किन्तु "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" इति त्वदुक्तेराद्योऽवतारः पुरुषः परस्येति ब्रह्मोक्तेश्च तयोराश्रयस्त्वं भवसीत्याह—तदाश्रत्वात् तयोर्ब्रह्मेश्वरयोरप्याश्रयत्वाद्गुणैरुपचर्य्यते इति स्रष्टृत्वादिगुण-निबन्धनोपचारादाश्रितधर्ममाश्रयोऽपि धत्त इति पुण्यतमोऽयं देश इतिवत्त्वमपि ब्रह्म ईश्वरश्च भवसीत्यर्थः। उक्तिरियं रसरीत्येव यदुक्तं "रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः" इति वस्तुतस्तु ब्रह्म ईश्वरः कृष्ण एक एव स्वरूपद्वयाभावादिति षष्ठोक्तेः ॥ १९ ॥ ननु, ब्रह्मादिभ्योऽस्य सृष्ट्यादिप्रसिद्धं कथं त्वत्त इति ब्रूषे? सत्यं ब्रह्मादयोऽपि तवैव रूपाणीत्याहुः, स प्रसिद्धस्त्वमेव स्वमायया स्वरूपेणैव शुद्धमित्यर्थः। जगत्पालकस्य विष्णोः श्यामवर्णत्वात् जनात्यये जनसंहारायेत्यर्थः। अत्र रजसोपबृंहितं रक्तमितिवत् तमसोपबृंहितं कृष्णमितिवत्सत्त्वेनोपबृंहितं शुक्लमित्यनुक्तेर्ब्रह्मरुद्रयोरजस्तमोभ्यां योग इव विष्णोर्न सत्त्वेन योगः सत्त्वस्या-वरणविक्षेपाभावादौदासीन्यरूपत्वेन शुद्धसत्त्वे परमेश्वरे सान्निद्ध्यमात्रं न तु स्पर्शः अत एवोक्तं त्रिदेवीपरीक्षायां "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्" इति "सत्त्वादयो न सन्तीशे" इति "साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुतिश्च ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ननु, परिच्छिन्नतया स्थितं मां कथं सर्वत्र विद्यमानत्वेन वदसीत्यत आह-एवमिति एवमुक्तप्रकारः ग्राह्यैर्गुणैः प्राकृतरूपादिभिः सह सन्नपि विद्यमानोपि भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरिन्द्रियैस्तद्गुणग्रहः तैर्गुणैः सह न गृह्यसे इत्यर्थः। अयमर्थः चक्षुषा पुष्पगते रूपे गृह्यमाणे तद्गतः सुगन्धः प्राकृतो यदि न गृह्यते चक्षुषस्तद्ग्रहणे शक्त्यभावात्तदभावान्न गृह्यते इति किमु वक्तव्यम् यदीन्द्रियाणां तव ग्रहणे एव शक्तिर्नास्ति तदा परिच्छिन्नं त्वां केनेन्द्रियेण को वक्तुं शक्नोति अतो व्यापक एवाप्राकृतरूपः स्वेच्छया प्रत्यक्षोसीति भावः घटादिकं त्विन्द्रियाणि यथेष्टं गृह्णन्ति भगवद्रूपं तु तदिच्छानुसारेणेति विवेकः एवं बालत्वतरुणत्वादिकं प्रत्यक्षत्वमप्रत्यक्ष-त्वमनेकविग्रहत्वं द्विभुजत्वचतुर्भुजत्वसहस्रपादोरुभुजाननत्वादिकं च न प्रकृतिकालक्षेत्रज्ञतत्करणनिबन्धनं किन्तु स्वाभाविका-नन्तगुणशक्तिसिन्धौ सर्वज्ञे सर्वव्यापके सर्वेश्वरे भगवति सर्वं यथा प्रयोजनं स्वभावत एव सूपपन्नमिति राद्धान्तः कृपां विना करणाग्राह्यत्वे हेतुं सूचयन् व्यापकत्वं दर्शयति—अनावृतत्वादिति। ते अनावृतत्वात् अनवधिकनिरावृतस्वरूपत्वात् हेतोः तद्गुणाग्रह इति निरन्तरेण पूर्वपदेन सम्बन्धः पूर्वत्र स्वातन्त्र्येण करणानामेव तद्ग्राहकशक्त्यभावः कथितः। अत्र स्वरूपस्यैवा-नन्तत्वाद्यथावद्गृह्यत्वाभाव उक्तः आनन्त्यमेवाह बहिरन्तरं न ते इति परितो निस्सीमत्वाद्बहिर्नास्ति मध्ये सर्वत्राकाशवत्पूर्ण-त्वादन्तरं च ते नास्ति कथम्भूतस्य कल्पद्रुमवत्सर्वस्य मुख्यतत्त्वस्य पुनः कथम्भूतस्य सर्वात्मनः सर्वेषां चिदचित्तत्त्वद्वयभेदानां शक्तिभूतानां पत्रादिस्थानीयानां मुक्तनित्यमुक्तादीनां प्राकृताप्राकृतकालाख्यानां पदार्थानामात्मा कल्पद्रुमस्थानीयस्तस्य ननु ममाप्याश्रयं किञ्चिद्वस्त्वन्तरं किमस्ति नेत्याह आत्मवस्तुनः स्वाश्रयस्येत्यर्थः। अत्र "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, प्रधानक्षेत्रज्ञयतिर्गुणेशः" अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः, सदा पश्यन्ति सूरयः, योस्याध्यक्षः स परमे व्योमन् तिष्ठति 'ज्ञः कालकालः "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। मत्तः परतरं नान्यत्। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्याद्याः श्रुतिस्मृतयोऽनुसन्धेयाः ॥ १७ ॥ नश्वरः सर्वः सर्वात्मा च सर्वेश्वर-तोऽत्यन्तभिन्नत्वादिति सेश्वरं साङ्ख्यायादीनां पक्षं निराकरोति—य इति। यः "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि-श्रुतिप्रोक्तस्य परमेश्वरस्य प्रधानक्षेत्रज्ञपतेर्भगवतो दृश्येषु गुणेषु शक्तिगुणपरिणामेषु जङ्गमाजङ्गमेषु पदार्थेषु स्वव्यतिरेकतः परमेश्वर-व्यतिरेकतः अतदात्मकतया कमपि पदार्थं सदिति व्यवस्यते निश्चिनोति स अबुधः बालः "एतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्युपदेशं न गृह्णातीत्यर्थः। तन्मनीषितं तस्य मतं विनानुवादं न भवति वचनमात्रमस्ति न त्वर्थत इत्यर्थः। अतोऽबुध एव यतः स पुमान् सन्

"स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुत्याज्ञापालनयोग्यः सन् "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यादि—श्रुतिभिः सम्यक् त्यक्तं मतमुपाददत् स्वीकुर्वन् ॥ १८ ॥ विश्वस्य चिदचिच्छक्तिमयस्य शक्तिमति स्वाभाविको भेदाऽभेदसम्बन्धो केवलभेददर्शिनोऽबुधत्वमुक्तमथ कार्यकारणयोः स्वाभाविकभेदाभेद एव सम्बन्ध इति दर्शयितुं विश्वस्य भगवदुपादानकत्वमाह—त्वत इति । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति" इत्याद्याः श्रुतयः त्वत्त एवास्य विश्वस्य जन्मादीन्वदन्ति कथंभूतादनीहान्निर्व्यापारात् अगुणात्त्रिगुणास्पृष्टस्वरूपात् अविक्रियादविकृतस्वरूपात् ननु निर्व्यापारस्य कथं जगत्कर्तृत्वं निस्त्रिगुणस्य रजोगुणं विना स्रष्टृत्वं सत्त्वगुणं विना स्थितिकर्तृत्वं तमोगुणं विना संहर्तृत्वं च कथं घटेत ? अतः सर्वमिदं विरुद्धमेवेत्यत आह त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते इति । बृहीबृंहीवृद्धौ बृहद्गुणशक्तिमति शक्तिपरिणामाङ्गीकारात् सर्वज्ञत्वं सर्वाधारत्वं सत्यसङ्कल्पत्वादिकल्याणगुणयोगात् सङ्कल्पमात्रेणैव विश्वोत्पत्तिसम्भवान्न किञ्चिदीश्वरे सर्वेश्वरे ब्रह्मणि त्वयि विरुध्यते इत्यर्थः । ननु ब्रह्मविष्णुशिवाः सृष्टिस्थितिसंहारकर्त्तार इति प्रसिद्धिरत्राह त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैरिति विष्णुः सत्त्वगुणनियन्ता स्वावतारः "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्" इति "कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्" इति च प्रागुक्तेः ब्रह्मशिवौ तवांशविशेषौ गुणावतारौ रजस्तमःप्रकृती "सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः" इति पूर्वोक्तेस्त्वाज्ञानुकारिणौ एवं त्वदाश्रयत्वात्तेषामपि तत्कर्तृत्वं गुणैः सत्त्वादिभिरुपचर्यते यत्तु गुणैः कुर्वद्भिस्त्वयि सृष्ट्यादिकर्तृत्वमुपचर्यते इति तदयुक्तमेव "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, इति "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) इति श्रुतिसूत्रयोर्ब्रह्मलक्षणप्रतिपादकयोर्निर्विषयत्वप्रसङ्गात् साङ्ख्यपक्षप्रवेशाच्च ॥ १९ ॥ "त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः" इत्येतद्विवृणोति—स इति । सः निखिलविश्वजन्मादिकर्ता त्वमवान्तरलोकस्थित्याद्यर्थं शुक्लादिवर्णान् गुणावतारद्वारा बिभर्षीत्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

एवं भवान् बुद्धीति श्लोके भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणो बुद्ध्याऽनुमेयं लक्षणं स्वलक्षणं शुद्धस्वरूपं यस्य स तथा । तव स्वरूपं प्रत्यक्षगम्यं न । कुतः । ग्राह्यै गुंणैरनावृतत्वाद्युक्तत्वाभावान्निर्गुणत्वात् । सगुणं हि प्रत्यक्षगम्यं न तु निर्गुणं । तथाऽऽत्मा वस्तुन आत्मस्वरूपं वस्तु पारमार्थिकसत्यं यस्य स तथा तस्य तव स्वरूपस्य पारमार्थिकसत्यत्वादन्यस्य तदभावादित्यन्यथाप्रतीतेर्विवक्षितार्थाप्रतीतेश्च ग्राह्यैर्गुणैरित्यस्यान्वयं दर्शयन् बुद्ध्यनुमेयलक्षण इत्यस्य तात्पर्यमाह ॥ ग्राह्यगुणविषयेति । अनेन गुणैरिति तृतीया विषयसप्तम्यर्थेत्युक्तं भवति । ग्राह्यगुणेषु तद्विषये ज्ञानेऽस्वातंत्र्यात् । जीवस्येति शेषः । अन्यः । स्वतंत्र इति शेषः । स्वोक्तार्थे प्रमाणं दर्शयंस्तेनैव प्रमाणेन व्याख्यातभागवतपदानि व्याचष्टे ॥ ज्ञाताऽपीति । जिघृक्षोर्गृहीतुमिच्छावतः । अनेन तद्गुणाग्रह इति भागवतपदं व्याख्यातं भवति । सर्वत्राव्यवधानेन द्रष्टृत्वात्सर्ववस्तुन कृत्यनेनानावृतत्वादिति पदं व्याख्यातं भवति । आंतरं बाह्यमित्युर्वरिताधें बहिरंतरं न त इति वाक्यं व्याख्यातं भवति । सन्नपीत्यपिशब्दव्यासन्नपीत्यसत्त्वसमुच्चयार्थत्वभ्रांतिनिरासायार्थमाह ॥ जीवस्य ग्रहणेति । ननु पूर्वं दृष्टांतस्यानुक्तत्वादेवं भवानिति दार्ष्टांतिकार्थकैवंशब्दः कथमुक्त इत्यत आह । एवं शरीरमिति । अनेन भागवते बुद्ध्यनुमेयलक्षण इत्यतः पूर्वं यथेति पदमध्याहार्यम् । एवमित्यतः परं शरीरमुत्पाद्य ज्ञायत इति चाध्याहार्यमित्युक्तं भवति । सर्वस्येत्यस्य जगद्विशेषणत्वभ्रांतिनिरासायार्थमाह । सर्वस्येति । स्वोक्तार्थे प्रमाणं वदंस्तेनैव प्रमाणेन सर्वात्मन आत्मवस्तुन इति पदद्वयं व्याचष्टे । सर्वः संपूर्णसामर्थ्यादिति । सर्वभक्षणादित्यनेन सर्वमत्तीति सर्वात्मेति विग्रहः । तथा आङ् पूर्वादद भक्षण इति धातोः कर्तरि मन्प्रत्यये दकारस्य तत्व आत्मेति शब्दरूपसिद्धिरिति च सूचितं भवति । अनन्याश्रयतश्चेति प्रमाणेनात्मवस्तुन इत्यस्यानन्याश्रयत्व उक्तः । स कथं पदलब्ध इत्यतः स्वयं तद्विग्रहं दर्शयति । आत्मन्येवेति । अनेन सप्तम्यंतात्मपदोपपदाद्वस निवास इति धातोः कर्तयौणादिके तुन्प्रत्यये आत्मवस्त्विति शब्दरूपसिद्धिरित्युक्तं भवति ॥ १७ ॥ यदात्मनो दृश्येति श्लोके यद्यस्मात्कारणाद्दृश्यगुणेषु दृश्येष्वप्रधानेषु देहेन्द्रियादिपदार्थेष्वात्मनो मनसः सन्निवेः संनिहितत्वादासक्तत्वादबुधैर्मिथ्याज्ञानिभिस्त्वं स्वव्यतिरेकतः स्वस्माद्भिन्नत्वेन व्यवस्यसे ज्ञायसे । तत्तस्मात्तव जीवभिन्नत्वं न मनीषितं यथार्थज्ञानविषयो न । ननु द्वासुपर्णेत्यादिवेदेन प्रतिपादितस्य भेदस्य कथं मनीषितत्वाभाव इत्यत उक्तम् । विनाऽनुवादमित्यादि । पुमान् ज्ञानिपुरुषो व्यक्तं यथा भवति तथा सम्यग्वचः समीचीनं वेदरूपं वाक्यमनुवादं विना नोपाददत् । द्वासुपर्णेत्यादिवेदवाक्यमनुवादकमात्रं न तु विधायकमतो भेदस्य मनीषितत्वाभावो युक्त इति जीवेश्वरादिभेदस्य भ्रांतिविषयत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय तत्तात्पर्यार्थमाह । परमात्मनोऽपीति । यथाऽनुकूलवादमित्यनेन भागवतस्थानुवादपदस्य यथावस्थितमनुकूलमर्थं वदतीत्यनुवाद इति विग्रहं प्रदर्श्य तस्य पदस्य वेद एवार्थो न तु लोकप्रसिद्धानुवादरूपोऽर्थ इति सूचितं भवति । सम्यगित्यनेन भागवते सम्यग्वच इत्यतः सम्यगितिपदं पृथक् कृत्य मनीषितमित्यनेन संबंधनीयमित्युक्तं भवति । प्रवर्तनादिति भागवतेऽध्याहारो ज्ञातव्यः । भागवते विनाऽनुवादमित्यनेन जीवेश्वराभेदस्याप्रामाणिकत्वमुक्त्वा प्रमाणविरुद्धत्वं वक्तुं वचो व्यक्तमुपाददत्पुमानित्युक्तम् । तत्र वचःशब्दोक्तवेदवाक्यमुदाहृत्य तद्भागवतवाक्यं व्याचष्टे । अभी इदमेकमिति । स्वोक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति । प्रविष्टत्वाच्छरीरेष्वित्यादिना । विष्णुः किमाहेत्यतो अभी इदमेक इत्यादिश्रुतिव्याख्यानरूपं विष्णुवाक्यं दर्शयति । इदं जगत्सर्वमिति । ब्रह्मांडपुराणस्थभूरीणि वेति वाक्ये वाशब्दमनुक्तसमुच्चयार्थत्वेन व्याचष्टे । व्रेत्तीति । तसेः सार्वविभक्तिकत्वात्फलत इति तसिर्द्वितीयार्थो न केवलं देहनाशाख्यमेव फलं यांति किंतु तमःप्राप्तिरूपमपि फलं

यांतीति चेति । शब्देनोच्यत इति शेषः । अनेन श्रुतौ प्रतिहन्मीतिपदस्य तमसि पातनरूपं हननं करोमीत्यर्थांतरमुक्तं भवति । ततश्चेबं श्रुत्यर्थः । यदीदं जगदेकमेकीभूतं सत् मा मां संख्ये युद्धे युद्धार्थमभि अभियाति तर्हि अहमेक एव निष्षाळ् नितरां सहमानः सन् अभियोद्धाऽस्मि । अथ द्वावभियातश्चेत्तर्हि तावप्येवमेव । अथ त्रय एतादृशाः मामभ्येत्य किमु कुर्वंति न किमपि मम कुर्वंति । प्रत्युताहमेव पर्षान् धान्यानि खलेन खले इव भूरि भूरीणि शत्रुभूतानि जगंति प्रतिहन्मि । यथा कश्चिद्धान्यान्युलूखलादौ प्रक्षिप्य चूर्णयति तथाऽहमेक एवापरिमितानि शत्रुभूतजगंति प्रतिहन्मि नाशयामि तमसि पातयामि चेत्यर्थः । ननु तर्हि ते शत्रवोऽयं दुष्ट इति तव निंदां करिष्यंतीत्यत आह । किमिति । शत्रवो मां किं निंदति । निंदा नाम विद्यमानदोषोत्कीर्तनम् । अहं तु कल्याण-गुणत्वेन सर्वदोषरहितो मां किमपि न निंदंति । किंच मन्निंदनेऽसमर्थाश्चेत्याह । अनिंद्रा इति । असमर्थाः । मम निंदन इति शेषः । सुखमिच्छता पुरुषेण सर्वथा जीवेश्वरभेदज्ञानमेव संपादनीयं न तु जीवेश्वरैक्यज्ञानमिति सूचनाय जीवेश्वरैक्यज्ञानस्य तमःफलकत्वे जीवेश्वरभेदज्ञानस्य मोक्षफलकत्वे प्रमाणांतरं वदंस्तेनैव प्रमाणेन जीवेश्वरभेदज्ञानस्वरूपं च दर्शयति । ऐकात्म्यज्ञानत इति । भेदाद्धेदज्ञानात् ॥ १८ ॥ त्वत्तोऽस्य जन्मेति श्लोकेऽनीहादित्यनेन हरेः पाषाणवत्सर्वथा चेष्टाराहित्यमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतेर्विवक्षि-तार्थाप्रतीतेश्च प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह । अनीहोऽक्लिष्टकारित्वादिति । तदविकारेणव सर्वकरणं युक्तमित्यर्थः । अत्र हेतुद्वय-मैश्वर्यमित्यादि । अनेन न विद्यते ईहा क्लेशहेतुचेष्टा यस्य स तथा तस्मादित्यनीहपदस्य विग्रहः सूचितो भवति । ननु तत् श्लोकांत एव तदाश्रयत्वादुपचर्यसे गुणैरित्युपचारेण गुणवत्त्वे गुणाश्रयत्वं हेतुरुच्यते । तदसंगतम् । न हि यो यस्याश्रयः स उपचारेण तद्वानिति संभवति । तथात्वे जलपूर्णो घट उपचारेण जलवान्स्यादतोऽसंगतमिदं भागवतवाक्यमिति चेन्न । अस्य वाक्यस्य शंकापरि-हारकत्वेन संगतत्वादित्याशयवांस्तन्निवर्त्यांशंका प्रदर्श्य तद्वाक्यमवतारयति । अगुणश्चेत्कथमिति । सृष्ट्यादिकृदितीति शब्दात् परमत आहेति शेषः पूरणीयः । अनेन सत्त्वादिगुणकार्यदेहादिरहितत्वेनागुणोऽपि विष्णुः सत्त्वादिगुणाधारत्वाद्गुणैः सत्त्वादिगुणै-रुपचर्यते । सत्त्वादिगुणवानित्युपचारेणोच्यते न तु जीववत्सत्त्वादिगुणकार्यबद्धत्वेन मुख्यतः । अतो हरेर्गुणैः सृष्ट्यादिकृत्त्वं युक्तमिति शंकापरिहारः सूचितो भवति । स्वोक्तार्थे प्रमाणमाह । अगुणो गुणदेहत्वादिति । गुणधारणादैश्वर्यादिगुणत्वाद्वेत्यनेन तदाश्रयत्वादिति भागवतवाक्यं व्याख्यातं भवति । तत्रैश्वर्यादिगुणाश्रयत्वादिति व्याख्यानपक्षे गुणैरैश्वर्यादिगुणैरुपचर्यसे उप समीपे वर्तसे गम्यसे प्राप्यसे । ऐश्वर्यादिगुणैर्युक्तोऽसीति भागवतवाक्यं प्रकारांतरेण व्याख्येयम् ॥ १९ ॥ सत्त्वं त्रिलोकस्थितय इति श्लोके स्वमायया स्वाश्रितमायया लोकस्थितये सत्त्वं प्राकृतसत्त्वगुणमाश्रित्यात्मनः स्वस्य तत्कार्यं शुक्लवर्णं रूपं बिभर्षि । तथा सर्गाय रजसा प्राकृतरजोगुणेनोपबृंहितमभिवृद्धं रक्तवर्णं बिभर्षि । जनात्यये तमसा जातं कृष्णवर्णं बिभर्षीति हरेः प्राकृतसत्त्वादिगुण-जन्यशुक्लादिरूपत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय प्रमाणेन तत्तात्पर्यार्थमाह । जगतां वर्धयन्सत्त्वमित्यादिना । जगतामिति षष्ठी द्वितीयार्थे । अस्य पदस्य रक्षतीत्यनेनान्वयः । येन जामदग्न्यादिरूपेण हयग्रीवादीत्यादिपदेन विष्ण्वादिरूपं गृह्यते । जामदग्न्या-दीत्यादिपदेन चतुर्मुखस्थब्रह्मादिरूपं गृह्यते । यादवादीत्यादिपदेन रुद्रस्थरुद्रादिरूपं गृह्यते । लोके लोकमित्यर्थः । नन्वनेन हय-ग्रीवादीनां रक्षकत्वमेव नोत्पादकत्वमिति प्राप्तं । तथात्वे परस्परविरुद्धधर्माधिकरणत्वेनात्यंतभेदः स्यादित्यत आह । सर्वत्रेति । यतः सर्वत्र सर्वस्मिन्देशे काले च सर्वरक्षणोत्पत्त्यादिकं च कुरुते । हयग्रीवादिजामदग्न्यादिसर्वरूपो हरिरिति शेषः । अतः सर्वत्र सर्वेषु हयग्रीवादिजामदग्न्यादिरूपेषु सर्वं शुक्लरक्तादिकं रूपमस्ति । तथाऽपि तत्र हयग्रीवादिरूपेषु विशेषो लोकदृष्ट्याऽभिव्यक्तौ रक्षणादिरूपो विशेषः प्रकीर्तितः । ननु विष्ण्वादिरूपाणां जगत्पालकत्वादिना जगद्रक्षकत्वादिकं संभवति । हयग्रीवादिजामदग्न्यादीनां जगत्पालकत्वाद्यभावात्कथं रक्षकत्वादिकमित्यत आह ॥ ज्ञानदानादिनेति । रागदानेन सृष्टिस्तद्रागयुक्तत्वेन करणं । कृष्णरूपी हरिर्यदा सतां विवर्धनायासतां तमोवृद्धिं कुर्वन् पातयेदंधं तमः प्रापयति तदा । विनाशक इत्युच्यत इति शेषः । सर्वत्र सर्वं कुरुत इत्युक्तं विवृणोति । ज्ञानाद्युत्पत्तिकृच्चेति । विभोर्विष्णोर्यच्छुक्लं हयग्रीवादिरूपं तद्रक्तमपि भवतीति स्मृतं । तथा कृष्णवर्णमप्यु-दाहृतं । कुतः । यतो ज्ञानाद्युत्पत्तिकृद्यतश्च तमो विनाशकमज्ञानाख्यतमोनाशकं । न केवलं ज्ञानदानादिना रक्षकं । किंतु ज्ञाना-द्युत्पत्तिकृच्च तमोविनाशकमपीति चापिशब्दयोरर्थः । विष्णोर्यद्रक्तं जामग्न्यादिरूपं तच्छुक्लमपि स्मृतं । कृष्णमप्युदाहृतं । कुतः । यतो ज्ञानाद्युत्पत्तिकृत् । ज्ञानादिनोत्कृष्टां पत्तिं संपत्तिं रक्षारूपां करोति यतश्च शत्रुरूपतमोविनाशकं । विभोर्विष्णोर्यत्कृष्णं रूपं तद्रक्तमपि स्मृतं शुक्लमप्युदाहृतं । कुतः । यतो ज्ञानाद्युत्पत्तिकृत् । अस्य पदस्य पूर्वोक्तार्थद्वयमेवात्र वर्णद्वये हेतुत्वेन ज्ञातव्यं । रागदानेन महतामिति प्रमाणवाक्ये रागशब्दस्य प्रकृतिजरजोगुणकार्यं रागोऽर्थ इति भ्रांतिर्भवति । तमोविनाशकमिति प्रमाणवाक्येन तमःशब्दस्य प्रकृतिगुणकार्यतमोगुण एवार्थ इति भ्रांतिर्भवति । अतस्तन्निरासाय रजस्तमःशब्दार्थमाह ॥ आचार्यादिष्विति । तमसोऽ-पीत्यपिशब्दः सुतिगतानामित्यनेन संबध्यते । तेन कैमुत्यं द्योत्यते । आदिपदेन सच्छिष्यो ग्राह्यः । आचार्यादिषु रागः सच्छास्त्रं व्याख्यास्यामीत्यादिरूपेच्छा सच्छिष्येषु रागः सच्छास्त्रश्रवणं करिष्यामीत्यादिरूपेच्छा स एवार्थस्तस्मिन् निमित्तसप्तमीयं । तन्निमित्तं रजो यतः शुद्धसत्त्वात्मकं व्यपेक्षितं विशेषेणापेक्षितं एवं यतस्तमसोः विष्णुद्वेषाज्ञानादिरूपतमसो नाशे नाशनिमित्तं परं तमः शुद्धसत्त्वात्मकमुदीर्यते । अतः सुतिगतानामपि तु विशिष्टा उक्तरागाद्या न गुणोद्भवाः प्रकृतिजरजस्तमोगुणोद्भवा यदा न भवंति तदा मुक्तानां रागाद्याः प्रकृतिजगुणोद्भवा न भवंतीति किमु वक्तव्यं । तर्हि मुक्तानां रागाद्याः किमात्मका इत्यत आह शुद्धज्ञानेति । सर्वे रागाद्याः । अत्र रागादीनां शुद्धज्ञानात्मकत्वे शुद्धसत्त्वात्मकत्वं चेत्यर्थः । ननु तमोनाशे तमःकारणं कथं भवति ।

न ह्यंधकारस्य नाशोंऽधकारेण भवत्यतस्तमःपरमिति कथमुक्तमित्यतोऽत्र तमःशब्दार्थमाह। तमो द्वेषात्मकमिति। लोके यस्य यत्र प्रद्वेषः स तस्य नाशं करोति। नान्यथा। अतो विष्णुद्वेषाज्ञानादौ द्वेषादेव तन्नाशो भवतीति द्वेषाख्यतमसः विष्णुद्वेषाज्ञानादि-तमोनाशं प्रति कारणत्वं यदुक्तं तद्युक्तमेव। न च तर्हि प्रद्वेष इति वक्तव्यं तद्विहाय तम इति कथमुक्तमिति वाच्यं। एवं वचनेन विष्णुद्वेषाज्ञानादिव्यतिरिक्तेषु विष्णुभक्त्यादिसप्तपदार्थेषु प्रद्वेषस्य प्रकृतिजतमोगुणकार्यत्वमंधंतमःसाधनत्वं च सूचितं भवति। अत एवात्र विष्णुद्वेषाज्ञानादिविषयद्वेषस्य विष्णुभक्त्यादिद्वेषान्महावैलक्षण्यद्योतनार्थं परमिति विशेषणमुक्तं। अत्र सूतिगानां महतां यः सच्छास्त्रव्याख्यानादिविषयो रागोऽवैष्णवादिविषयद्वेषश्च शुद्धसत्त्वगुणात्मकः। मुक्तानां तु सच्छास्त्रव्याख्यानादिविषयपरागादयः शुद्धज्ञानात्मका इति विवेको ज्ञातव्यः। एवं सर्वत्र सर्वं कुरुत इत्यत्रोक्तं सर्वरूपाणां कर्तृत्वादिकं सप्रपंचमुपपाद्येदानीमेकस्मिन्वि-रुद्धानेकवर्णादिकं कथं घटत इत्याशंकां घटकोक्त्या परिहरति ब्रह्मतर्ककारः। सर्वत्र सर्वकृच्चापीति। अत्रापि बहुरूप इवेयत इत्यत्र बहुरूपोऽयमत्यंतभिन्नाभिन्नरूपाभावादिति प्रविष्टवच्चेत्यादाविवोपपादनीया। अचिंत्यैश्वर्यरूपत्वादित्यनेन घटकमुक्तं। अत्रैव श्लोके स्वमाययेति माया शब्दस्याज्ञानार्थत्वभ्रांतिर्भवति। तथा रजसा तमसोपबृंहितमित्यनेन रजस्तमोगुणाभ्यामभिवृद्धत्वभ्रांतिश्च भवति। तन्निरासाय प्रमाणेन तदर्थमाह। स्वेच्छयात्विति। तुरवधारणे। तेन परांगीकृतमज्ञानप्रभेदमायां व्यावर्तयति। नानारूपवान् नाना भिन्नं विलक्षणं रूपं स्वरूपं येषां तथा तान् गुणान्सत्त्वादीनित्यर्थः। द्वितीयस्तुरवधारणे। तेन बृंहितशब्दस्याभिवृद्ध्यर्थत्वं व्यावर्तयति॥ २०॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

एवं भवान्बुद्ध्यनुमेयलक्षण इति श्लोके गुणराहित्यं तथाऽनुमानमात्रमानकलक्षणकत्वमेकस्य पारमार्थिकताऽपार-मार्थिकता चेतरस्येत्यसदर्थप्रतीतेश्च सतोऽर्थस्य ग्राह्यैर्गुणैरित्यस्यान्वयनप्रकारं प्रदर्श्य बुद्ध्यनुमेयेत्यादेस्तात्पर्यमाह। ग्राह्यगुणैरिति। सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्या भिसादेशः। ग्राह्यगुणेष्विति तृतीया सप्तम्यर्थ इति प्रदर्श्यार्थापयति। बुद्ध्यनुमेयलक्षणग्राह्यगुणेष्विति। तद्गुणज्ञान इति यावत्। बुद्ध्यनुमेयं लक्षणं स्वातन्त्र्यरूपं यस्य स तथाऽस्वातन्त्र्याज्जीवस्येति शेषः। तज्ज्ञापको गुणज्ञानजन-कोऽन्यो जीवविलक्षणोऽस्तीति ज्ञायते। बुद्ध्यनुमेयलक्षणग्राह्यगुणेष्विति ज्ञापनमात्रेण नार्थ उक्तप्राय इति तदभिप्रायकं प्रमाण-मुपन्यस्य भागवतमप्यवगतां नयति। ज्ञातेति। सर्वस्य स्वेतरस्य ज्ञाताऽपि भगवान्ज्ञानलिङ्गतो जीवजातज्ञानलिङ्गेन ज्ञायते तज्ज्ञानप्रेरकतया ज्ञायत इत्युच्यते। चेतनमात्रस्य सम्भवति ज्ञानं तत्रास्वातन्त्र्यं कुतो जीवस्येत्यत आह। जिघृक्षोरिति। ग्रहीतु-मिच्छावतः स्वभावजिज्ञासोरिति यावत् स्वत एव ज्ञानाभावादन्योऽभ्युपेयः। कुतस्तन्नेत्यत आह। अस्वातन्त्र्यप्रतीतित इति। अस्वातन्त्र्येणैव प्रतीतिमित्त्वाज्ज्ञास्यामीतीच्छति न जायते तदित्यस्वातन्त्र्यप्रतीतेरित्यपि योजयन्ति। अनेन सन्नपि तद्गुणाग्रह इति विवृतम्। अनावृतत्वादिति विवृणोति। सर्वत्रेति। सर्वत्राव्यवधानेन लिङ्गाद्यनपेक्षतया द्रष्टृत्वात्सर्ववस्तु भगवांस्तस्य सर्वस्मिन् वसतीति वसतेस्तुन्प्रत्ययः। सर्वाच्छादकत्वात्सर्वशक्तत्वाद्वा सर्ववस्तु शक्तं वस्त्विति तात्पर्यान्तरात्। सर्ववस्तुनः सर्वपदार्थस्येति वा। तस्याव्यवधानद्रष्टृताहेतुमाह। आन्तरमिति। यद्विशेषकृतं व्यवधानं स नास्तीत्यर्थः। अपेरर्थमाह। जीवस्येति। इत्यपिशब्द इत्यर्थद्योतकोऽपिशब्द इत्यर्थः। प्राक् कस्याप्यर्थस्यानुक्तत्वादेवमित्यतिदिशः कथमिति तत्राह। एवमिति। ब्रह्माण्डोत्पत्तिप्रकारस्यो-क्तत्वादेवं शरीरमुत्पाद्य ज्ञायत इत्यध्याहार्यं मूल इति सूचितम्। सर्वस्य सर्वात्मन इत्यनयोरर्थविशेषं स्वयमेकं व्याख्यायोभयार्थ-सङ्ग्राहकं मानमाह। सर्वस्य पूर्णस्य सर्वात्मा सर्वभक्षणात्। आङ्पूर्वाददेः कर्तरि मन्प्रत्यये दस्य चर्त्वे आत्मेति ज्ञेयम्। आत्म-वस्तुन इत्यस्यार्थमाह। अनन्याश्रयतश्चेति। कथमिदमात्मवस्तुपदाल्लब्धमित्यतः स्वयमाह। आत्मन्येवेति। ततश्चायं श्लोकार्थः। यथा तत्त्वानां तदभिमतानां चाचेतनत्वेन विभक्तशक्तित्वेन च तदन्यो मेलयितृत्वेन सम्प्रतिपन्नस्तथा भवाञ्छरीरमुत्पाद्य सन्सर्वदा ग्राह्यैर्गुणैस्तेषु विषयेषु बुद्ध्यनुमेयं लक्षणं स्वातन्त्र्यादिक यस्य स तच्छरीरादिभेदेन ज्ञायते। तद्गुणानामग्रहो ज्ञानाभावो जीवस्येति शेषः। अस्वातन्त्र्यात्तद्गुणानामग्रहः सम्यग्ग्रहणं ते सकाशादेव। ममापि कुत इदमित्यत इत इत्याह। अनावृतत्वाद-प्रकृत्यावृतत्वादिति। अबहिरन्तरमिति नास्ति। सर्वस्य सम्पूर्णसामर्थ्यात्पूर्णस्य व्याप्ततया पूर्णस्येति वा। सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व इत्यादेः सर्वात्मनः सर्वभक्षकात्सर्वस्वामिनो वा। आत्मवस्तुन आत्मन्येव वसतीति स तथा। स्वे महिम्नीत्यादेः॥ १७॥

यदात्मनो दृश्यगुणेष्विति श्लोके स्वव्यतिरेकतो बुधैर्व्यवस्यसे। द्वासुपर्णेत्यादिकमनुवादमात्रं न भेदविधायकमतो भेदमतं मनीषि-मनीषितं नेत्यन्यथापत्तिमन्यथयति। परमात्मनोऽपीति। परमात्मन इति व्यस्तं समस्तं च। आत्मनो जीवस्य परमात्मनो हरेरपि। आत्मनः सर्वस्वामिनः शरीरे सन्निधानात्। जीवपक्षे कर्मणेतरत्रेच्छयाऽबुधैरन्यथाज्ञानिभिरव्यतिरेकतोऽभेदेन ज्ञायते। ज्ञायत इति स्वारस्यादात्मनोऽपि स्वस्यापि सन्निधानात्। त्वमव्यतिरेकतोऽबुधैः परं यथा स्यात्तथा ज्ञायस इत्यन्वयो वा। अव्यतिरेकतो मननमेतद्रूपमिति निरूपयति। यथेति। यथानुकूलमननुकूलार्थमुपक्रमाद्यानुकूल्येनार्थं व्यवस्थापयद्वेदवचनं तद्विना प्रवर्तनात्तद-भेदमतं न सम्यङ्मनीषितम्। वैपरीत्यशङ्कामपाकुर्वन्मूले सम्यग्वचःशब्दसङ्ग्राह्यं वाक्यमुदाहृत्य भागवतं समीकरोति। अभी इदमिति। इति जीवभेदे व्यक्तं स्पष्टार्थं परः पुमान्पर्यङ्कशायी विष्णुर्वच उपाददे भेदसाधकतयोपाददे। प्रमाणं स्वोक्तार्थदार्ढ्यायाह। प्रविष्टत्वादिति। मननहेतुः प्रविष्टत्वं तन्मतं नानुव्रजेच्छुभेच्छुः। तत्कुत इत्यत आह। दुर्धिय इति। बहुवचनेन च तथाकथका

एवासुरा बहुला यस्मादित्यादेर्बहव इति सूचयति । अत्र वेदवादः परमार्थवादो धर्तव्यस्तद्विरुद्धत्वात् । यद्वा वेदवाद इति तत्पातनिकार्थवान्वेद इति विरुद्धस्तत्त्वात् । तामेवं मन्त्रनुयातानुगच्छन्यः स तमो विशेत् । अत एतद्धेतोः पर्यङ्कशयनो सनातनो विष्णुराह । किमित्यत आह । इदं जगदिति । इदं सर्वं जगत्सङ्ख्ये युद्धार्थमेकमायाति चेत् । मा मां प्रति भूरीणि द्वे त्रीणि वाऽथेदशानि वाऽभियान्ति तानि मर्त्यैः खलगानि धान्यानि यद्वत्सञ्चूर्णयत्यहमेक एव चूर्णयिष्यामि । वाशब्दस्तमो विशेदित्युक्ततमोरूपफलाप्तिसमुच्चायक इति व्याचष्टे । वेतीति । फलतः फलं तमो यान्तीति । एतदर्थकमित्यर्थः । ततश्चायमभी इदमित्यृगर्थः । यदीदं जगदेकं मा मां प्रति सङ्ख्ये युद्धार्थमायाति तर्ह्यहमेक एव निःषाट् नितरां सहमानः सन्नभियोद्धाऽस्मि द्वां द्वे जगती अभ्यायातश्चेदपि प्रतियोद्धाऽस्मि । त्रयः पञ्च किं करन्ति किं कुर्वन्ति प्रत्युताहमेव मर्त्यैः खले न इव धान्यानि प्रतिहन्ति तथा पुरुषान्निष्ठुरान्प्रतिहन्मि भूरीणि जगन्ति प्रतिहन्मि संहरामि तमसि पातयामि चेत्यर्थः । अथ च दैत्यहतिस्तमसि चिरेत्यादेः । ते तर्हि त्वद्धतावसिष्ठा निन्दयेयुरित्यत आह । किमिति । मा किं निन्दन्ति शत्रवो निन्दनं च विद्यमानदोषाविष्कारस्त एव न सन्ति मयाति किं निन्दन्तीत्युक्तिः । मन्निन्दने न समर्थास्त इत्याह । शत्रवोऽनिन्द्रा इति । अनिन्द्रा दरिद्रा इत्यप्यर्थः । करन्तीति व्यत्ययेन करवद्धस्तवदाचरन्ति हस्तौ यथा स्वाधीनौ तद्वद्वर्तन्त इत्यर्थविशेषद्योतनिको भवतीति भावमाविष्कुर्वन्ति । बुभूषुणा जीवेशभेदबोध एव सम्पाद्यो नाभेदबोध इति तत्फललपनानि दर्शयन्मानमुदाहरति । ऐकात्म्यज्ञानत इति । ऐकात्म्यं नाम यदिदं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः । याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यव इत्यादेः । भेदात्तज्ज्ञानतः परं पदम् । नान्यः पन्था अयनाय विद्यत इत्यादेः । किमाकारं भेदज्ञानमित्यत आह । स्वातन्त्र्यमिति । स्वतन्त्रो हरिरितरदस्वतन्त्रमित्यादिज्ञानं भेददर्शिभवेत् । ततश्चायं श्लोकार्थः । ज्ञानलिङ्गतः स्वतन्त्रो ज्ञायस इत्युक्तम् । तत्राज्ञानिज्ञानिनां मननमेवंरूपमित्याह । यदात्मन इति । आत्मनो जीवस्यात्मनस्तव च दृश्या गुणा विषया यैस्तेषु देहेन्द्रियादिषु सन्निवेः प्रवेशादविबुधैरन्यथामतिभिरस्वव्यतिरेकतः स्वेभ्यो व्यतिरेकः स्वभेदः स नेत्यस्वव्यतिरेकोऽभेदस्तेन व्यवस्यसे तथा ज्ञायस इति तत्तस्य व्यवसायस्यानुवादं वेदवचनं यथानुकूलं विनाऽतिहाय प्रवर्तनात्तन्मनीषितम् । सम्यगित्युभयान्वये । सम्यक् न । न च तत्त्वमसीत्यादेर्वेदस्य सत्त्वात्कथमिदं न सम्यङ्मनीषितमित्यत आह । सम्यग्वच इति । पुमान्पुरुषः पर्यङ्कशयनो व्यक्तं स्पष्टार्थां सम्यग्वचः स आत्मा तत्त्वमसीत्याद्यर्थकतां घटयन्निरवकाशमिति यावत् । तादृग्वाक्यमभीदमित्यादिकमुपाददद्दुपादत्ताहेति यावत् । न च द्वासुपर्णा सयुजेत्यजजीवभेदसाधके सति माने ते कथमतथा कथयन्तीत्यतो वाऽऽह । विनानुवादमिति । अनुवादं पातनिकार्थं वेदमुखवादं विना तच्च मनीषितं समवन्न भवतीत्यव्यतिरेकतो व्यवस्यसे । अतः सम्यग्वचः पुमान्व्यक्तमुपाददत्स्वीकृतवानित्यन्वयः । बुधैर्दृश्यगुणेषु सन्निवेर्जडाजडेषु कृत्रिमाकृत्रिमसन्निधानाद्धेतोः स्वव्यतिरेकतः स्वभेदेन व्यवस्यसे । तदभेदनिश्चयनमनुवादमुक्तरूपं विना मनीषितं न च । तर्हि किंरूपं तन्मनीषितं वच इत्यत आह । पुमान्व्यक्तं सम्यग्वच उपाददत्यपि भेदात्परं पदमिति तात्पर्यानुयाय्यन्वयो ज्ञेयः । अन्यथामतियथावन्मतीनां फलमप्याह । अबुधैरव्यक्तं सप्रकाशं नेत्यव्यक्तं तमो मनीषितमुपाददद्यद्वच ऐकात्म्यज्ञानतो यान्ति तम इत्यादिकं पुमानुपाददत्प्राप्यं तदित्यर्थः । व्यक्तं पक्ष्युपलक्षितदुर्जनं तु स बद्धुमिति विभरक्तं तम इति । पक्षिभिर्विक्षिताङ्गानित्यादेरिति वा । स्वव्यतिरेकतः स्वश्च हरिश्च स्वश्चाहं च स्वौ व्यतिरत्यधिकश्च करोद्यमश्च तौ च तौ च स्वव्यतिरेकौ । व्यतीङ्रवीविपदिति विवृतौ विशेषत्वात्तदेव ताः स्मृता इत्युक्तेर्व्यतिर्विशेषतोऽधिकः । रेको विवेके शङ्कायां रेकः स्यादधमेऽपि च । रेको नीचे चेति विश्वः । भावप्रधानं चेदम् । स्वव्यतित्वं स्वरेकत्वं बुधैर्जानद्भिर्व्यक्तम् । निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीत्यादेरक्तम् । भावे क्तः । विगतमक्तमञ्जनं यत्र तन्मोक्षस्थानं भेदज्ञानफलत्वेन वदद्वेदवचनं पुमानुपाददिति । स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिज्ञानं भेददर्शिभवेदिति तात्पर्यमक्षरानुगुणं विवृतं ज्ञेयम् । पर्यङ्कशयन इत्युक्त्या रमया सह शयनसमये तां प्रति भगवतेदमीरितमिति न सा प्रातार्यासमयैश्च कान्तिक इति विश्वसनीयतां ध्वनयति । तथा चोक्तं पर्यङ्कोपासनायाम् । पर्यङ्कफलपुष्पादिविविधानन्तरूपकैः । पूजयन्ती जगन्नाथमित्यादि । आह देवो रमोत्सङ्गविलसत्पादपल्लव इति विवरणे प्रसन्नता द्योत्यत इत्युक्तेरत्रापि सा ज्ञेया । श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय पादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिरित्यादेः पर्यङ्कपदेन रमाग्रहणं युक्तमिति ज्ञेयम् । पर्यङ्कः पल्यङ्कः शेषस्तत्र शयनं यस्य स तस्य च विकर्णत्वादाकर्णयितुरितरस्य प्रतार्यस्याभावात्स्वयमेव मननकृदिति तदानीन्तनं वचनं नाविश्वसनीयमिति ध्वनिमुत्प्रेक्षयन्ति ॥ १८ ॥ त्वत्तोऽस्येति श्लोकेऽनीहादचेष्टादिति शिलातुलता प्रतीयते विवक्षितोऽर्थो न च प्रतीयते इत्यतः प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह । अनीह इति । अक्लिष्टमक्लेशकारित्वात्तथाऽविकृत एव सन्सर्वं करोषि । तदक्लेशेन करणमविकृततया करणं चेत्येतदुक्तम् । लोके केनापि नालोकीत्यसम्भावितमिदमिति तत्राह । ऐश्वर्यात्पूर्णशक्तित इति । वैभवादगुणात् । गुणैरुपचर्यस इति प्रतीयते तदाह अगुणश्चेत्कथं गुणैः सृष्ट्यादिकं दधातीति । तदनन्तरमत आहेति शेषः । तदाश्रयत्वादिति । सत्त्वादिविकृतताशून्यस्तदाधारत्वात्सत्त्वादिगुणवानित्युपचारेणोच्यते । स्वोक्तार्थे मानमाह । अगुणादेहत्वादिति । अगुणा गुणा देहहीनत्वादिहोपचर्यत इति स्मरणादतदुचितत्वाद्वाऽगुणा इत्युच्यते । गुणधारणात्सगुणाश्चर्यते ऐश्वर्यादिगुणत्वाद्वा वासुदेवः सगुण इतीर्यते । आग्नेये अग्निकलिभ्यां ठग्वक्तव्ये ठकि ईयन्नादेशः । ततश्चायं श्लोकार्थः । अगुणात्सत्त्वादिगुणरहितात्तथाऽविक्रियान्न विद्यते विक्रिया यस्मिन्स तस्मादनीहादीहा क्लेशपूर्विका चेष्टा सा न यस्मिंस्तस्मात्त्वत्तोऽस्य प्रपञ्चस्य जन्मस्थितिसंयमान्वदन्ति । कर्ता विगुण इति विप्रतिषिद्धमित्यत आह । विभविति । त्वयीश्वरे ईश्वरत्वाद्ब्रह्मणि पूर्णत्वादिति हेतू । ऐश्वर्यात्पूर्णशक्तित इति मानानुयानाततो नो विरुद्ध्यते । गुणाधारत्वात्सृष्टिरुपपन्नेत्याह । तदाश्रयत्वाद्गुणाधारत्वादिति । तैर्गुणैर्नि-

मित्त्वेरूपचर्यसे गुणीति गीयसे। केवलो निर्गुणश्चेति श्रुतेः। मुख्यं सागुण्यं नास्ति किमीश्वर इत्यप्युत्तरयति। तदाश्रयत्वादिति। विशेषमहिम्ना तदाश्रयत्वम्। हे उप शर्वप वा ज्ञायसे गुणात्पूर्णत्वेन वा। अभेदे तृतीया। गुणैस्तदभेदेन च चर्यस इति वा ॥१९॥ सत्त्वं त्रिलोकेति श्लोके स्वमायया लोकस्थितये सत्त्वं प्राकृतगुणमाश्रित्यात्मनस्तत्कार्यं शुक्लवर्णं बिभर्षीत्येवमुत्तरत्रापि प्राकृतगुण-जन्यं रक्तिमानं कृष्णं च बिभर्षीति प्रतीयते। तच्च पूर्वपद्योक्तागुणाविक्रियत्वादिबाधितमित्यतः प्रमाणेन तदर्थमाह। जगतामिति। विभुः सत्त्वं विवर्धयन् जगतां जगन्ति रक्षति यदा हयग्रीवादिरूपेण साक्षाद्धयग्रीवविष्ण्वादिरूपेण। विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजं प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तय इत्यादेः। शुक्लवर्णो भवति। तथा येन रूपेण रजो वर्धयन् हरिर्जगदुत्पादयेत्तज्जामदग्न्यादि रक्तम्। आदिपदेन सर्जकचतुर्मुखान्तर्गतं च ग्राह्यम्। एवं यादवादिकमित्यत्रादिपदेन रुद्रान्तर्गतं च रूपं ग्राह्यम्। येन रूपेण तमो वर्धयन् जगद्विनाशयेत्तद्यादवादिकं प्रस्तुतं कृष्णं तद्वर्णम्। तर्हि भगवद्रूपेषु निरूपितो विशेष इति भेद आपन्न इत्यत आह। सर्वत्रेति। सर्वत्र देशे काले। तथा सर्वरूपेषु सर्वं कार्यं रक्षणक्षपणसर्जनादिकं कुरुते। तथाऽपि विशेषस्तत्र कीर्तितो लोकमवलोक्य। ननु विष्णवादिः पालकतया सम्प्रतिपन्नो न सम्प्रति सम्प्रतिपन्न उक्तहयग्रीवादिरित्यत एवंरूपं पालकत्वादिकं तत्रास्तीत्याह। ज्ञानदानादिनेति। महतामधिकारिणां ज्ञानदानादिना रक्षा तद्रूपिणी रक्षेत्यर्थः। रागदानेन सृष्टिर्या सा सृष्टिरित्युदीर्यते। कृष्णादिरूपी सद्विवर्धनायासतां तमोवृद्धिं कुर्वन् असतां तान्यदा पातयेदन्धंतमः प्रापयेत्तदाऽवृद्धिं नाशं कुर्वन् वृद्धिं छेदनं कुर्वन्नाशक उच्यते। सर्वत्र सर्वमित्युक्तं तत्सङ्क्रामणप्रकारं निरूपयति। ज्ञानाद्युत्पत्तिकृदिति। ज्ञानाद्युत्पत्तिकृद्धयग्रीवादिरूपं यच्छुक्लं तद्रक्तमपि स्मृतम्। तथा कृष्णं कृष्णादिकं शुक्लं रक्तं चोदाहृतम्। हयग्रीवादिकं ग्लानिदं विनाशकं चोदाहृतम्। रज आदिशब्दानां प्रसिद्ध-रजआद्यर्थकत्वभ्रमं वारयंति। आचार्यादिष्विति। तमसोऽपीत्यत्रत्योऽपिः सृतिगानामपीत्यप्यन्वेति तेन कैमुत्यं द्योत्यते। आदिपदेन सच्छिष्यो ग्राह्यः। आचार्यो रागो व्याख्यास्यामीत्यादिः शास्त्रश्रवणं करिष्यामीति शिष्ये राग इच्छा स एवार्थस्तन्निमित्तं यद्रजः शुद्धसत्त्वात्मकमेव व्यपेक्षितम्। एवं यतस्तमसो विष्णुद्वेषादितमसो नाशे तन्निमित्तं तमसो नाशे परमन्यतमो व्यपेक्षितं तद्द्वेषात्मकं तच्छुद्धसत्त्वात्मकमुदार्यते। प्रतिद्वेषादिकं विना द्वेषादिनाशासम्भवात्तमोनाशे परं तमोऽपेक्षितं तच्च शुद्धसत्त्वात्मकमिति भावः। तमआदिशब्दप्रयोगेण तद्वक्तादिद्वेषस्य तमागुणकार्यत्वेन तमःसाधनत्वमपि स्फोरयतीति ज्ञेयम्। यः सृतिगतानां महतामाचार्यादीनां सच्छास्त्रविषये रागो वैष्णवद्वेषश्च शुद्धसत्त्वात्मक इत्येते रागाद्या गुणोद्भवा नो मुक्तानां किन्तु ज्ञानानन्दात्मका अत्र संशयो नास्ति। तुरिति किं वक्तव्यमिति विशेषार्थः। सर्वत्र सर्वकरणमुपपाद्यैकस्मिन्ननेकवर्णादिघटकं वर्णयित्वा तद्दौर्घट्यं पराकरोति ग्रन्थकारः। सर्वत्रेति। जामदग्न्यादिरूपवांश्च ज्ञानादिरक्षको हयग्रीवादिकार्यकारि। एवं सोऽपि दोषनाशककृष्णादिर्ज्ञानाद्युत्पादकः स दोषनाशकश्चैकरूपोऽप्येव बहुरूप ईयते। अचिन्त्यैश्वर्यपूर्णत्वात्पूर्णानन्दैकरूपक इति। अचिन्त्यैश्वर्येणैकरूप्यं बाहुरूप्यं च घटत इति भावः। मायारजआदिपदार्थोन्मानेनाह। स्वेच्छयेति। अजो विष्णुः स्वेच्छया गुणान्नानारूपान्नाना विलक्षणानि रूपाणि येषां ते तान्गुणान्करोति गुणानां सत्त्वादीनामाश्रयत्वादाधारत्वादेवागुणबृंहित आनन्दादिगुणपूर्णास्तच्छुक्लादिकमप्यप्राकृतमिति गुणबृंहित इत्यनेनाहेति व्याकुर्वते। भक्तैर्भगवदभक्तेषु क्रियमाणः कोपादिः शुद्धसत्त्वाद्यात्मा भगवतस्तु तदादिशुद्धज्ञानाद्यात्मा तथा च मुक्तानां च कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यो न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि कथं तमो रोषमयं विभाव्यत इत्या-देर्विवेको ज्ञेयः। ततश्चायं श्लोकार्थः। स त्वं यदा मायया स्वेच्छया त्रिलोकस्थितये तद्रक्षायै सत्त्वं वर्धयन् शुक्लवर्णं तद्वृद्धये हयग्रीवादिरूपं चात्मनो बिभर्षि। एवं सर्गाय सृष्टये रजसोपबृंहितं रक्तं जामदग्न्यब्रह्मान्तर्गतं च रक्तवर्णं बिभर्षि। जनात्यये तन्नाश आसन्ने कृष्णं वर्णं कृष्णं रुद्रान्तर्गतं च रूपं बिभर्षि खलु सर्वमलङ्कारभूतं न तु दोषात्मकमित्यर्थः। त्रिलोकस्थितये सत्त्वं बिभर्षि तथा शुक्लमित्येव खलु नापि तु रक्तं सर्गाय रक्तमेव खलु न किन्तु सत्त्वं तदेव खलु न किन्तु कृष्णं तमश्चेति सर्वत्र शक्तिसर्वस्वं ज्ञेयम्। भक्तैरभक्तेषु यत्तमः कोपादिकं तत्सत्त्वं शुद्धसत्त्वात्मकं भगवति तु व्युत्पादितप्रकारेण ज्ञानानन्दाद्यात्मकं मुक्तेष्वपि तथेति यथामानं ज्ञेयम् ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं दृष्टान्तद्वयमुपपाद्य तेषामाधिदैविकानां भगवतो भेदो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं दार्ष्टान्तिकेतिदिशत्येवं भवानिति।

एवंरूपो भवानेवेत्यर्थः, अन्यथा मूलस्याताद्दशत्वे कार्यं तादृशं न कदापि भवेदिति पुनर्दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति बुद्ध्यनुमेयेति, ननु भगवान् दृश्यः कथमन्यथा सर्वमुक्तिश्च स्यात्? बाह्यत्वेन भिन्नत्वेन च कथं प्रतीयते? न हि भगवान् बाह्य एव भिन्न एव, तस्माद् भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन दृश्यत्वेन च प्रतीयमानत्वाद् दोषत्रयसद्भावान्नानन्दमयो भगवानिति चेत् तत्राह बुद्ध्यनुमेयं लक्षणं येषां तादृशैरिन्द्रियैर्ग्राह्यैर्गुणै रूपादिभिः सह तत्र विद्यमानो भवान् गृह्यमाणोपीन्द्रियसम्बन्धयुक्तोपि सन्नपि तद्गुणैरिन्द्रियसामर्थ्यैर्न ग्रहो यस्य, यद्यपि भगवानिन्द्रियेषु विषयेष्वपि वर्तते तथापि तेषा-मिन्द्रियाणां न भगवद्ग्रहणसामर्थ्यं, न बाधिदैविकानामन्यार्थं निविष्टानां, ग्राह्यस्वरूपत्वाच्च न ग्राहकत्वं, न वा विषयाणां स्वाधि-दैविकैः सह ग्राहकसम्बन्धः, अतः सर्वत्र विद्यमानोपि रूपभूतोपि रूपे गृह्यमाणे न गृह्यसे, इन्द्रियाणां प्रत्यक्षता तु नास्ति, आत्मा-ग्राहकत्वात्, अतो 'रूपोपलब्धिः करणसाध्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियाव'दित्यनुमानेन सामान्यतः करणे सिद्धे नेत्रगोलकान्वयव्यति-

रेकानुविधानाच्च चक्षुरेव करणमित्यध्यवसीयते, एवं रसोपलब्धिर्गन्धोपलब्धिरित्यादि, अनेन 'प्रत्यक्षत्व एव प्राकृतत्वमप्रत्यक्षत्वेऽप्राकृतत्व'मिति निरस्तं, न ह्यप्रत्यक्षाणीन्द्रियाण्यप्राकृतानि भवन्ति, अतो भगवतः प्रत्यक्षत्वेपि प्राकृतत्वमप्राकृतत्वं वा न सेत्स्यतीति युक्तिरप्रयोजिका, ननु व्यापकव्यभिचारो न दोषायेति चेद् यत् प्रत्यक्षं तत् प्राकृतमेवेति भगवतः प्रत्यक्षत्वात् प्राकृतत्वमेवेति चेत् तत्राह ग्राह्यैर्गुणैरिति, सर्वत्रैव भगवान् वर्तते न सर्वत्रैव प्रत्यक्षः, रूपादिषु विद्यमानस्यास्यैव चक्षुषाऽग्रहणात्, क्वचिदपि प्रत्यक्षत्वमपि बाधकमिति चेत् तत्राह तद्गुणाग्रह इति, न हि चक्षुषः सामर्थ्येनेदानीमत्रापि भगवान् दृश्यते, किन्तु स्वेच्छयैव, अतः स्वेच्छया प्रतीतमिन्द्रियग्रहणदोषेण न दुष्टं भवति, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ'न्निति श्रुतेः परावृत्तचक्षुषो ग्राहकत्वं श्रूयते स्वभावतश्च निषेधः, न ह्युभयं विरुद्धं, तथा प्रकृतेपीन्द्रियसामर्थ्याददृश्यः स्वेच्छया तु दृश्य इत्यविरुद्धं, तस्माद् दृश्यत्वेनाब्रह्मत्वशङ्का परिहृता, भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन प्रतीतौ समाधानमाहानावृतत्वाद् बहिरन्तरं न त इति बाह्याभ्यन्तरव्यवस्थाकाशकृतेति पूर्वमेवावोचाम, तदपि भूतादीनामेव, भगवतो व्यवधायकं न किञ्चित्, न हि गृहमध्यस्थितैर्गृहमन्यस्माद् व्यवहितं भवति, न वा स्वस्य स्वयं व्यवधायकं, व्यापको भगवानिति, ततः स्थूलकार्यस्यास्थूलकार्यस्याभावाद् भगवतोनावृतत्वं, एतदग्रे स्पष्टीभविष्यत्युलूखलबन्धने, अनावृतत्वादेव तव बाह्याभ्यन्तरव्यवहारो नास्ति, सम्पूर्णं तडागे तदुद्धवैश्छन्ने क्वचित् प्राकट्ये तावन्मात्रत्वं तदुद्धवानां वावच्छेदकत्वं न सम्भवति तथा प्रकृतेपि व्यापकस्यैव तवैकदेशे प्रकटस्य न बाह्यान्तरभेदः सम्भवति, प्रतीतिस्तूपपादितैव, परिच्छिन्नत्वमप्यनेनैव परिहृतं, अस्मिन्नर्थे शास्त्रीयं हेतुत्रयमाह सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुन इति, सच्चिदानन्दरूपो भगवान्, जगद्रूपो भगवान सद्रूपः, चिद्रूपा जीवात्मानः, आनन्दरूपः स्वयं तेषां फलरूपः, अत्र व्यावर्तकत्वं जगतो जीवानां फलस्य च न सम्भवति, त्रयाणामपि स्वरूपं भगवानेव, तदाह सर्वस्य सर्वरूपस्य सर्वेषामात्मरूपस्य सर्वात्मनां च वस्तुरूपस्य फलरूपस्य चात्मना न परिच्छेदः, नाप्यात्मनो महतः, अतो भगवदंशानामंशान्तरैर्भगवता वा परिच्छेदः सम्भवति न तु भगवतः केनापि प्रकारेण, तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् आत्मनैवात्मपरिच्छेदपक्षोऽग्रे विवेचनीयः ।

एवं वैदिकप्रकारेण पञ्चात्मको भगवान् निर्दोषपूर्णगुणविग्रह एवायमिति निरूपितः ॥ १७ ॥

तन्त्रप्रकारेण चतूरूपो निरूप्यते य आत्मन इत्यादिचतुर्भिः ।

तत्र तन्त्रे प्रथमो वासुदेवस्तत्र श्रीर्माया "यत् प्रवदन्ति माया"मितिवाक्यात्, मोक्षप्रतिबन्धनार्थं तया केवलया जगत् सृज्यते, तत्र चेत् सद्बुद्धिस्तदा प्राणी न मुच्यत इति तन्मतं वदन्नेव चतुर्मूर्तिर्भगवानवतीर्ण इति वासुदेवोयमन्तरेव बहिर्वा द्रष्टव्यः, उभयथापि न तत्त्वसहितो द्रष्टव्यः केवलचिदानन्दरूपो द्रष्टव्य इति प्रथममाह, य आत्मन आत्मभूतस्य भगवतो दृश्येषु सङ्घातरूपेष्वात्मनैवानुभूयमानेष्वनुभवातिरेकेण तेषां सत्त्वाभावाच्च चतुर्विंशतितत्त्वेष्वप्यात्मनो बन्धकेषु गुणेषु यः सन्निति कमपि पदार्थं व्यवस्यति, अस्ति च तत्र सर्वत्रैव तद्रूपेण निविष्टः स सन्नेव भवति तत्सत्तयैव च तत्त्वान्यपि सत्त्वेन प्रतीयन्त इति परमार्थः, यदि दृश्यव्यतिरेकेणात्मव्यतिरेकेणात्मसम्बन्धाभाव आत्मव्यतिरिक्तस्य वा सत्त्वं यद्यङ्गीक्रियेत तदाबुधः, न तस्य ज्ञानमस्ति, मायामोहित एव स इत्यर्थः, नन्वात्मसम्बन्धात् तस्य सत्त्वमुत्पद्यतामतः सत्प्रतीतौ न दोष इति चेत् तत्राह विनानुवादं न च तन्मनीषितमिति, वैराग्यार्थमिदं मतं, त्यागार्थमेवास्यानुवादः, सत्त्वसिद्धिव्यतिरेकेण त्यागो नोपपद्येतेति तदर्थमात्मसम्बन्धात् सत्त्वमित्यनुवादेनोक्तं, न त्वात्मना सह सम्बन्धोप्यस्ति प्रतीत्यतिरिक्तस्तदाहानुवादं विना तज्जगत् मनीषितं मनसा सत्त्वेनाकलितं न भवति, नन्वेवमप्यबुधत्वं कथमारोपार्थमपि तथाज्ञानं युक्तमेवेति चेत् तत्राह सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमानिति, सङ्घात आत्मान्वेषणदशायामात्मव्यतिरिक्तं सर्वमेव त्यक्तं तच्च चेत् पुनर्गृह्णाति तह्यंबुध एव, तदाह पुमान् स्वयं पुरुषोपि भूत्वा सम्यक् त्यक्तमुपाददबुध एवेति पूर्वेणैव सम्बन्धः, त्यक्तमपि दूराद् दृश्यते न तूप समीपे, अन्योपदेशार्थमनुवादेनापि ग्रहण सम्भवति तद्व्यतिरेकार्थमाह सम्यक् त्यक्तमाददिति, येनैव प्रकारेण सम्यक् त्यक्तं तेनैव तद् गृह्णातीति ।

अथवात्मनो भगवतो दृश्येषु गुणेषु केशलोमनखरूपस्पर्शादिष्वेकोपि गुणः स्वस्मात् सच्चिदानन्दात्मकभगवत्स्वरूपाद् व्यतिरेकतः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तथा च व्यतिरेकं प्राप्यैव सन्, अन्यथैकरसे ब्रह्मणि विविधरूपत्वभानं न स्यात्, इति यो व्यवस्यते सोबुधः, धर्मिग्राहकमानेन शुद्धस्यैव ब्रह्मणस्तथैव सिद्धेः, एतदेवाह विनेति, वस्तुन एव तथात्वादाकारदर्शनान्तरं यो भक्तकृतः कराम्बुजं पदाम्बुजं नयनाम्बुजमित्यादिरूपो वादः सोनुवादस्तं विना तत् कराम्बुजादिकं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेन मनीषितं मनसा सत्त्वेनाकलितं न हि भवति, ननु प्राकृतेष्वपि भगवत्सम्बन्धात् सत्त्वोत्पत्त्या तथाप्रतीतौ न दोष इत्यत आह सम्यगिति, "स यथा सैन्धवघनोनन्तरोबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" "अथात आदेशो नेति नेती"त्यादिश्रुतिविचारदशायां त्यक्तं प्राकृतधर्ममुपाददद् भवतीत्यर्थः, तैः सह सम्बन्धे सति हि तेषु सत्त्वोत्पत्तिसम्भावना तस्यैवाभावात् तदसम्भव इति भावः, अथवा यः पुमानात्मनो द्रष्टुः स्वस्य दृश्येषु गुणेषु करपादादिषु भगवान् सन् वर्तमान इति व्यवस्यते सोबुधः, तत्र हेतुरस्वव्यतिरेकत इति, तेष्वात्मत्वेनाभिमतादभिन्नत्वादित्यर्थः, अव्ययान्तप्रयोगेणाविकृतत्वं सूच्यते करादिषु, शेषं पूर्ववत्, अतोस्मिन्नपि पक्षे कोपि त्वयि प्राकृतो धर्मो नास्तीति वासुदेवो भवान् ॥ १८ ॥

प्रद्युम्नरूपं भगवन्तं निरूपयति त्वत्तोस्येति, स हि जगत्कर्ता निरूपितः, स्मृतिर्हि तस्य श्रीः, स तस्यां प्रकृतिमुत्पादितवान्, न ततः काचित् पुरुषोत्पत्तिः, प्रकृतौ स्त्र्येव प्रधानभूता, पुरुषस्तु गुणभूतः, तया प्रकृत्या सृष्टिस्थितिप्रलया भवन्ति, सङ्कर्षणादुत्पन्नेनैव "सूत्र"नाम्ना तस्यामुत्पाद्यत इति जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलये परम्परया सन्निधिमात्रेण प्रद्युम्नस्योपयोगः, तन्मात्रेणैव लोकः प्रद्युम्नात् सृष्टिमाह न तु वासुदेववदपि ततः सृष्टिरस्ति, तदत्रानूद्यते, त्वत्तः प्रद्युम्नरूपाद् भगवतोस्य जगतो जन्मस्थितिसंयमानुत्पत्तिस्थितिप्रलयाँल्लोका वदन्ति, तथा कथने हेतुर्विभो इति, समर्थत्वाद् वदन्तीत्यर्थः, नन्वस्तु तथैव को दोष इति चेत् तत्राहानीहादगुणादविक्रियादिति, यो हि चेष्टां करोति स एवोत्पादयति, यस्तु महदैश्वर्यादिगुणानवलम्बते स पालयति, पालनं ह्याज्ञयैवाविकृतादपि सम्भवति, यस्तु क्रोधादिविक्रियां प्राप्नोति स संहारको भवति, अयं च सत्त्वरजस्तमोगुणातीतः, अत एव नास्य कापि विक्रिया, अतः कूटस्थोयं निरीहः, तस्मादघटमानमेवालौकिकसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वाल्लोको वदति, यद्ययं कर्तुमिच्छेत् तदा गुणानप्युत्पादयेदविकृतश्च भवेदुत्पत्त्यादिकमपि कुर्यात्, चिन्तामणिरिव वा स्वत एव कुर्यात्, तर्हि विरोधेन्यतरपरित्यागस्योचितत्वा'दन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीय' इति न्यायेनान्तरङ्गा एव स्वरूपधर्मा बलिष्ठा न तु लोकप्रतीतिर्बहिरङ्गेति भगवतो जगत्कर्तृत्वाभाव एवास्मिन् पक्षे मुख्यः सिद्धान्त इति युक्तमतो वासुदेवान्न कोपि विशेष इति चेत् तत्राह त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यत इति, विरोधे ह्येकतरपरित्याग उचितः सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावान्नैवङ्कल्पनोचिता, किञ्च न केवलं भगवान् ब्रह्मरूप एव किन्त्वीश्वरोपि, ईश्वरत्वेन जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मत्वेनाविकृतत्वं च द्वयमुपपद्यते, देशकालस्वरूपावस्थाभेदा अपि नापेक्ष्यन्ते, ईश्वरत्वाद् ब्रह्मत्वाच्च, आज्ञाशक्तिरीश्वरेप्रतिहता सर्वभवनसामर्थ्यं च ब्रह्मणि, तस्माद् विरोधाभावान्नैकतरपरित्याग उचितः, किञ्च प्रतीत्यनुरोधेन हि विरोधः प्रतीतिस्त्वन्यथापि व्याख्यातुं शक्या, न हीयं प्रतीतिः प्रत्यक्षा किन्तु शास्त्रीया, शब्दप्रयोगस्तु गौण्यापि सम्भवति यथा 'सिंहो माणवक' इति, तथाधारभूतो भगवानेवेति निराश्रयस्य जगतोऽसम्भवादाधारत्वे सिद्धे तद्द्वारा कर्तृत्वमप्युपचर्यते, वस्तुतस्तु गुणा एव कर्तारोत एव साङ्ख्यादयः प्रकृतेरेव कर्तृत्वं वदन्ति, गुणानामप्ययमाश्रय इति कार्यकारणाधारभूतत्वादभिमानाभावेपि लोकदृष्ट्या कर्तृत्वकथनमुपपद्यते, एवं जगतोमायिकत्वं भगवतोकर्तृत्वं कर्तृत्वमुभयं चेति वासुदेवाद् वैलक्षण्येन प्रद्युम्नो निरूपितः, इदमाध्यात्मिकत्वेनोत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकत्वमुक्तम् ॥ १९ ॥

आधिदैविकत्वेनानिरुद्धं तथाभूतमुपपादयति स त्वमिति, यथा पिता कृषीवलादिर्वा पुत्रान्नादेरुत्पादको यथा वा ब्रह्मादयो वृष्टिद्वारेन्द्रादेस्ते गुणावतारा उच्यन्ते, तादृशस्त्वनिरुद्धः, तत्र ब्रह्मविष्णुशिवानामेव प्रत्येकगुणैरुत्पत्त्यादिनियामकत्वं न त्वनिरुद्धस्येत्याशङ्क्य तस्यैव त्रितयमाह, **त्रिलोकस्थितये स्वमायया शान्त्या सत्त्वं बिभर्षि**, तस्य सत्त्वस्य स्वरूपमाहात्मनः **शुक्लं वर्णमिति**, खल्विति, प्रसिद्धिः "कृते शुक्लश्चतुर्बाहु"रित्यादिवाक्यादुपाधिकालरूपाण्येवास्मिन् पक्षे भगवद्रूपाणि, तदर्थं गुणान् वदन् रूपाणि वदति, **सर्गाय रक्तरूपं बिभर्षीति**सम्बन्धः, तस्य रूपस्य सहजत्वाभावायाह **रजसोपबृंहितमिति**, तथैव **कृष्णं वर्णं जनानामत्यये नाशार्थं बिभर्षीति** सम्बन्धः ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

त्वयीश्वर इत्यत्राविरोध ईश्वरत्वब्रह्मत्वलक्षणं हेतुद्वयमुक्तं तृतीये पादे, चतुर्थेपि द्वितीयकोट्युपस्थितिर्न प्रामाणिक्यतोपि न विरोध इति हेत्वन्तरमुक्तमिति किञ्चेत्यादिना व्याख्यातं, अन्यथा त्वविरोधः पूर्वेणोक्त एवेत्यग्रे तच्छङ्कोपचारोक्तिः शशशृङ्गभिया पलायनमनुहरेत्, वस्तुतस्तु 'ननु साङ्ख्यादिषु गुणानामेव कर्तृत्वमुच्यत' इत्यत आह त्वदाश्रयत्वादिति, त्वमेवाश्रयो येषां तादृशत्वाद् गुणानां त्वन्निष्ठं कर्तृत्वं तेपूपचर्यत इत्यर्थोभिप्रेत इति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अग्रिममवतारयन्त्येवमित्यादि, अतिदेशे युक्तिमाहुरन्यथेत्यादि, तथा च 'व्यावहारिकः प्रपञ्चः स्वसत्तोत्कृष्टसत्ताकप्रपञ्चपूर्वको मायिकप्रपञ्चत्वादैन्द्रजालिकप्रपञ्चव'दितिन्यायेन पारमार्थिकप्रपञ्चसिद्धौ पश्चात् तत्स्वरूपे विचार्यमाणे 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति 'यदक्षरे परमे प्रजा' इत्यादिजातीयकश्रुतिभिर्द्वितीयस्कन्धीयचतुःश्लोक्युक्तप्रकारेण च ब्रह्मरूपत्वं पर्यवस्यति, एवं ब्रह्मणः सर्वाकारत्वे सर्वात्मकत्वे च सिद्धे नाद्वैतश्रुतिविरोधः, अविद्यादिवदभेदस्यापि भेदविरुद्धसम्पद्रूपत्वादिति, इदं चादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणादवगन्तव्यं, बुद्ध्यनुमेयेत्यत्र दूषणान्तरं व्युत्पादयन्ति नन्वित्यादि, अन्यथेति, साधनं विनैव दृश्यत्वे, सर्वमुक्तिश्चेति, चकारेण सर्वाभावकृतो लीलाया अभावः समुच्चीयते, हीति, श्रुतिविरोधरूपाद्धेतोः, तत्राहेति, तादृश्यामाशङ्कायामिन्द्रियसामर्थ्येनाग्राह्यत्वादिकमाहेत्यर्थः, तदुपपादयितुं व्याकुर्वन्ति बुद्ध्येत्यादि, बुद्ध्येति, उपलब्ध्या, लक्षणमिति, ज्ञानकरणत्वं, सामर्थ्यमिति दर्शनाभावेनैव तथानिश्चयादित्यर्थः, ननु मास्तु लौकिकेन्द्रियग्राह्यत्वं तथाप्याधिदैविकेन्द्रियाणां भगवद्विभूतिरूपत्वाद् भगवतस्तद्ग्राह्यत्वं त्वदण्डवारितमित्यत आहुर्न वेत्यादि, अन्यार्थमिति, लौकिकेन्द्रियेषु सामर्थ्याधानार्थं, तथा च यथा दहरविद्यायां नाडीरुपक्रम्य "मुष्मादादित्यात् प्रतायन्त" इत्यादिनोक्तो नाडीसूर्यरश्मिसम्बन्धो देहान्निष्क्रमणसमये जीवस्य मार्गप्रकाशनमात्रं करोति न तु कार्यान्तरं तद्वदित्यर्थः, ननु सामर्थ्याधानवद् ग्राहकत्वमप्यङ्गीकार्यमिति चेत् तत्राहुर्ग्राह्येत्यादि,

इन्द्रियैर्यद् ग्राह्यं रूपादि तत्स्वरूपत्वादित्यर्थः, इदं च द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये "घ्राणं च गन्ध" इत्यादौ स्पष्टं, ननु तथापि तेषां देवरूपत्वेन सत्त्वप्रधानत्वाद् भगवद्ग्रहणसामर्थ्यं कल्प्यमिति चेत् तत्राहुर्न वेत्यादि, विषयाणां सम्बन्धी यः सन्निकर्षः संयोगरूपः स स्वाधिदैविकैः सह न किन्त्वाधाराधेयभावरूपः स्वरूपसम्बन्धः, तस्मिंश्च ग्राहकसम्बन्धत्वं न क्वचित् सिद्धमतो न कल्पयितुं शक्य इत्यर्थः, सिद्धमाहुरत इत्यादि, यत आधिदैविकानामन्यार्थत्वग्राह्यस्वरूपत्वाभ्यां न ग्राहकत्वमाध्यात्मिकानां तु सन्निकर्षराहित्यान्न तथात्वमतो न ग्राह्यस इत्यर्थः, ननु मास्तु विषयप्रत्यक्षे भगवद्ग्रहः सन्निकर्षाद्यभावादिन्द्रियाधिदैविकरूपाणि त्विन्द्रियमध्यवर्तीन्येव तथा चेन्द्रियं स्वस्वरूपं गृह्णत् तत्स्वरूपमपि गृह्णात्विति चेत् तत्राहुरिन्द्रियाणामित्यादि, आत्माग्राहकत्वादिति, स्वस्वरूपाग्राहकत्वात् , तथा च तन्न स्वयं स्वग्राहकमतस्तत्सहभूतस्य भगवतोपि न ग्राहकमित्यर्थः, नन्विन्द्रियाणामप्रत्यक्षत्वं चेत् तर्हीन्द्रियसद्भावे किं मानमित्याकाङ्क्षायां नैयायिकादिप्रसिद्धमनुमानमेव मानत्वेनाहुरत इत्यादि, तथा चानुमानमेव तत्सद्भावे प्रमाणमित्यर्थः, एतेन मूलस्थं बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरितिपदं व्याख्यातं ज्ञेयं, तेन सिद्धमाहुरनेनेत्यादि, युक्तिरप्रयोजिकेति, दृश्यस्य प्राकृतत्वकथनेद्दृश्यस्याप्राकृतत्वं यदङ्गीकृतं सा युक्तिरनुकूलतर्कशून्येत्यर्थः, एवमप्रत्यक्षत्वेनाप्राकृतत्वेन व्याप्तौ दूषितायां पुनराशङ्कान्तरमवतारयन्ति नन्वित्यादि, प्रसिद्धानुमाने यथा व्यापकस्य वह्नेर्व्यभिचारो न दोषाय तद्वदत्रा 'प्राकृतोप्रत्यक्षत्वा'दित्यनुमानेप्यप्रत्यक्षत्वस्य व्यभिचारो न दोषाय, मया 'प्राकृतः प्रत्यक्षत्वा'दित्यनुमानाङ्गीकारात् , तथा सति 'यत् प्रत्यक्षं तत् प्राकृतमेवे'तिव्याप्तौ तु न दोषोतस्तथेत्यर्थः, समाधिं व्याकुर्वन्ति सर्वत्रेत्यादि, तथा च व्यतिरेकव्याप्त्याप्रत्यक्षत्वस्यापि सिद्धेर्लौकिकिरूपादिसहभूतस्याप्यप्रत्यक्षत्वान्नानन्दमयत्वबाध इत्यर्थः, पुनराशङ्कन्ते क्वचिदित्यादि, तत्राहेति, बाधकयुक्तेरप्रयोजकत्वमाहेत्यर्थः, तद् व्युत्पादयन्ति न हीत्यादि, न दुष्टं भवतीति, 'प्राकृतः क्वचित्प्रत्यक्षत्वा'दित्यनुमानेपि हेतोरिन्द्रियसामर्थ्येनोपहितत्वं व्यभिचारित्वमप्रयोजकत्वं चेत्यतो नानेन हेतुना दर्शनं दुष्टं भवतीत्यर्थः, दोषं व्युत्पादयितुं प्रमाणमाहुः पराञ्चीत्यादि, तथा च 'पराक्' पदादिन्द्रियसामर्थ्येनोपहितत्व"मैक्षदि"त्यनेन व्यभिचारः श्रुत्या प्रदर्श्यते तत एवाप्रयोजकत्वमपि सिध्यतीति श्रुतिरेवात्र मानमित्यर्थः, सिद्धमाहुस्तस्मादित्यादि, तस्मादिति, श्रुत्या प्रतिपक्षहेतौ दोषप्रदर्शनात् , उत्तरार्धमवतारयन्ति भिन्नत्वेनेत्यादि, बाह्यत्वपरिहारं व्याकुर्वन्ति बाह्य'त्यादि, पूर्वमवोचामेति, तृतीयस्कन्धे कापिलेय आकाशलक्षणे 'बहिरन्तरमेव चे'त्यत्र, तदपीति, आकाशकृतं बाह्याभ्यन्तरत्वमपि, अन्यस्मादिति, द्रष्टुः, उपपादितैवेति भगवदिच्छयैवोपपादिता, तथा च न बाह्यत्वप्रतीतकृत आनन्दमयत्वबाध इत्यर्थः, एतेनैव भिन्नत्वकृतस्यापि परिहारमाहुः परीत्यादि, परिच्छिन्नत्वे हि भिन्नत्वं, व्यापकत्वेन तस्मिन् परिहृते भिन्नत्वमपि परिहृतप्रायमेवेत्यर्थः, कथमित्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुत्रयमवतार्य व्याकुर्वन्त्यस्मिन्नित्यादि विवेचनीय इत्यन्तं, व्यावर्तकत्वमिति, भेदकत्वं, अग्र इति, उलूखलबन्धस्थले, तथा च परिच्छिन्नतया भिन्नत्वस्यापि स्वेच्छया कृतत्वान्न तत्प्रतीत्याप्यानन्दमयत्वबाध इत्यर्थः, एवमेतैः श्लोकैर्दोषपरिहारेण "विदितोसी"तिप्रतिज्ञा समर्थिता, उपसंहरन्त्येवमित्यादि, वैदिकप्रकारे यज्ञोग्निहोत्रादिपञ्चात्मकः, अत्र च भिन्नत्वनिराकरणे "सर्वस्य सर्वात्मन" इति विशेषणद्वयेन सर्वरूपत्वसर्वात्मकत्वप्रतिपादनात् "पञ्चात्मकः स भगवानि'तिपञ्चरात्रस्मृत्युक्तपञ्चात्मकत्वस्याप्यर्थादेव सिद्धेः श्लोकसङ्ख्या सूचिता, यज्ञात्मकताप्यर्थादेव सिद्धा, उत्तरकाण्डोक्तं सकारब्रह्मत्वं तु व्याख्यानेन समर्थितमतो वैदिकप्रकारेण तथा निरूपित इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अग्रिम एवं वैदिके प्रकारे निरूपिते सति "य आत्मन" इति वक्ष्यमाणश्लोकस्थं प्रमेयं भगवत्पक्षे पुनरुक्तं भवति प्रपञ्चपक्षे च सर्वात्मकत्वं विरुद्धं भवतीति कथमविरोध इत्याकाङ्क्षायां मतान्तरमिदमित्याशयेनाहुस्तन्त्रेत्यादि, प्रथम इति, परब्रह्मरूपः, यत् प्रवदन्तोति, 'इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेवनामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता तस्याज्ञयैव नियता परमापि रूपं यत्रे द्वितीयमिव यत् प्रवदन्ति माया'मितिपञ्चरात्रवाक्यात् , सृज्यत इति, नृसिंहोत्तरतापिनीयोक्तप्रकारकं व्यावहारिकमसत् सृज्यते, तन्मतमिति, तादृशं पञ्चरात्रमतं, अन्तरेव बहिर्वेति, स्वान्तरेव स्वस्माद् बहिः पराग् देशे वा, आत्मभूतस्येति, केवलचिदानन्दरूपस्य, दृश्येष्विति, लौकिकेन्द्रियसामर्थ्येन दृश्येषु, आत्मनेति, अन्तर्वर्तिना भगवता, अनुभवातिरेकेणेति, प्रतिभासातिरेकेण, आत्मनो बन्धकेष्विति गुणशब्दस्यार्थः, गुणानाम्रज्जुरूपत्वेन द्रष्टृबन्धकत्वादिति, व्यवस्यतीति, निश्चिनोति, तादृशस्याबुधत्वं व्युत्पादयन्त्यस्मीत्यादि, आत्मव्यतिरेकेणेत्यस्यैव व्याख्यानमात्मसम्बन्धेत्यादि, तत्राहेति, सत्त्वोत्पत्तिप्रतीतौ दोषमाह, सत्त्वसिद्धीत्यत्र सत्त्वशब्देन सत्ता ज्ञेया, न भवतीति, तथा चानुवादस्य प्रतीतिमात्रसापेक्षत्वात् प्रतीतेश्चाभास्यसत्तामात्राद् दोषवशेन द्विचन्द्रप्रतीतिवत् सिद्धेरनुवादेनैव तदाकलितं भवतीति न तेन सङ्घातसत्तासिद्धिरित्यर्थः, गृह्णातीति, सत्त्वेन गृह्णाति, पुरुषोपि भूत्वेति, पुरमुपति दहतीति पुरुषस्तादृशोपि भूत्वा, समीप इति, गृह्यत इति शेषः, तथा चादरेण ग्रहणादबुध एव सः, अविचारेण ग्रहणात् , ग्रहणमिति, आदरेण ग्रहणं, येनैव प्रकारेणेति, आत्मव्यतिरिक्तत्वेन प्रकारेण, तथा च व्याख्यानारम्भे 'अन्तरेवे'त्यारभ्य 'चिदानन्दरूपो द्रष्टव्य'इत्यन्तेन यदुक्तं तदेव सिध्यतीति लौकिकेन्द्रियसामर्थ्येन दृश्येषु व्यावहारिकेषु सङ्घातरूपेष्वर्थेषु वैराग्यार्थमसद् बुद्धिरेव कार्या तदैव तथा दर्शनसिद्धिरितिव्याख्यानसन्दर्भार्थः, न चात्र मायावादसिद्धया वैदिकसिद्धान्तविरोधः शङ्कनीयः, आभासाभासयोर्बिम्बप्रतिबिम्बयोश्च समानाकारत्वनियमेन तस्यैतत्प्रयोजकतया विरोधाभावात् , तन् मया पूर्वमनुमानेनैव साधितं, उत्तरतापनीयटीकायां भाष्यप्रकाशे च व्युत्पादितमिति ततोवधेयं, एवमेव श्लोकं प्रभुचरणाः

पूर्वोक्तब्रह्मवादरीत्या व्याकुर्वन्त्यथ **वेत्यादि, दृश्येष्विति**, भगवदिच्छया भक्त्या दृश्येषु, **धर्मिग्राहकमानेनेति**, 'उभयव्यपदेश' सूत्रबोधितेनेतिभावः, इतिहेतोस्तादृश्यमुपाददद्बुध एवेतिभाव इत्यर्थः, तथा च तन्त्रेपि भिन्नस्य जगत एव वैराग्यार्थमसत्त्वमुच्यते न तु स्वरूपात्मकस्येति तन्त्रमपि वेदेन समानं मोक्षधर्मे पञ्चरात्रस्य तथात्वनिश्चायनादितिबोधनार्थमेवं व्याख्यातमतो न कोपि दोष इत्यर्थः, श्रीधरीये 'व्यवस्यत' इत्यात्मनेपदपाठदर्शनात् तस्मिन् पाठे पूर्वोक्तोर्थो न सङ्गच्छत इति तेन पाठेन व्याख्यानान्तरः **माहुरथ वेत्यादि, स्वस्य दृश्येष्विति, स्वेन्द्रियसामर्थ्येन दृश्येषु, करपादादिष्विति**, भगवत्करपादादिषु, **वर्तमान** इति, व्याप्य **स्थितः, तेष्वात्मत्वेनेति, इदमस्वव्यतिरेकपदस्य** व्याख्यानं, तथा च तेषु करपादादिषु भगवदभिन्नत्वेन जीववदभिमतादभिन्नत्वाज्जीववदभिमानेन भगवान् वर्तमान इति यो **व्यवस्यते सोबुध** इत्यर्थः ॥ १८ ॥

त्वत्तोस्येत्यत्र प्रद्युम्नरूपमिति, यो भवान् प्रत्यक्षगोचरः परब्रह्मतया वासुदेवत्वेन निरूपितस्तमेवेश्वरत्वब्रह्मत्वाभ्यां **प्रद्युम्नरूपत्वेन निरूपयतीत्यर्थः, निरूपित इति**, पञ्चरात्रे निरूपितः, तत्प्रकारमाहुः **स्मृतिरित्यादि, प्रकृतिमिति**, रजःसत्त्वतमोमयीं **भूतप्रकृतिं, प्रकृतौ स्त्री एव प्रधानभूतेति**, प्रकृतिसमीपे शाक्तमते स्त्री एव मुख्या; **उत्पाद्यत** इति, पुरुष उत्पाद्यते, **वासुदेवादिति, बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन, अस्तु तथैवेति**, सामर्थ्यात् साक्षात्कर्तृत्वमस्तु, **अघटमानमेवेति**, कर्तृत्वमघटमानमेव, **तर्हि विरोध इति, सामर्थ्यसत्तायां** विद्यमानायामप्यकर्तृत्वे सति कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्विरोधे, **तत्राहेति; वासुदेवाद् भेदं** वक्तुं कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्विरोधाभावे हेतुमाह, **नैवङ्कल्पनेति**, नैकतरपरित्यागकल्पना, ननु ब्रह्मत्वेन सर्वभवनसामर्थ्यस्याविकृतस्य विद्यमानत्वाज्जगदकरणेस्त्येव विरोध इत्यत आहुः **किञ्च नेत्यादि, नापेक्ष्यन्त इति**, कर्तृत्वार्थं नापेक्ष्यन्ते, विरोधभावमुपपादयन्त्याज्ञेत्यादि, प्रकारान्तरेणाप्युपपादयन्ति किञ्चेत्यादि, तथा चानीहत्वादिकं गौण्यात्रोच्यतेतो न विरोध इत्यर्थः, तुरीयपादं व्याकुर्वन्ति **तथेत्यादि, तद्द्वारेति**, आधारत्वद्वारा, ननु पूर्वोक्तहेतुद्वयेन कर्तृत्वाकर्तृत्वयोरविरोधे सिद्धे पुनरुपचारेणाविरोधसाधनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं टिप्पण्यामाहुरविरोध इत्यादि, **द्वितीयकोट्यु पस्थितिरिति**, कर्तृत्वकोट्युपस्थितिः, हेत्वन्तरमिति, **त्वदाश्रयत्वादिति** हेत्वन्तरं, **तच्छङ्कयेति**, विरोधशङ्कया, तथा च मूलानुसरणं प्रयोजनमित्यर्थः, ननु मूल उपचारपक्षः किमित्युक्त इत्याकाङ्क्षायां यत् सुबोधिन्यां **वस्तुतस्त्वित्यादिनोपपद्यत** इत्यन्तेनोक्तं तद् विवृण्वन्ति वस्तुतस्त्वित्यादि ज्ञेयमित्यन्तं, तथा च मूले गुणेषु कर्तृत्वोपचार इत्याशयो न तु भगवति तदुपचारः, एवं च सुबोधिन्यां **गुणा एव कर्तार** इत्यस्यात्र एवेत्यस्याभिमानादेवेत्यर्थो ज्ञेयोतो न विरोध इत्यर्थः, सुबोधिन्यां श्लोकार्थं निगमयन्त्येवं **जगत** इत्यादि, अग्रिमे वासुदेवात् प्रद्युम्नतश्च वैलक्षण्येनानिरुद्धं निरूपयितुं पूर्वोक्तमनुवदन्तः प्रस्तुतमवतारयन्तीदमित्यादि, प्रद्युम्ने प्रकृतिजननद्वारेदमुत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकत्वमाध्यात्मिकत्वेनाध्यात्मं भवत्वेनोपादानतया निरूपितम् ॥ १९ ॥

अतः परमधिदैवं भगवत्त्वेन प्रयोजकतयांशत उपादानतया चानिरुद्धं जगत्कर्तारमुपपादयन्ति, तथा च वासुदेवस्तटस्थत्वेन प्रद्युम्न उपादानत्वेनानिरुद्धः प्रयोजकत्वादिना कारणमित्येवम्भेदमुपपादयन्तीत्यर्थः, तद् व्युत्पादयन्ति **यथापितेत्यादि, उत्पादक** इति, एतदग्रे **'वृष्टिद्वारेन्द्रादि'**स्तदग्रे **'यथा वा ब्रह्मादय'** इत्येवम्पाठः प्रतिभाति, तथा च पितृवदंशविशेषेणोपादानभूतः कृषीवलेन्द्रब्रह्मादिवदनेकधा स्वक्रियारूपव्यापारेण प्रयोजकश्चानिरुद्ध इति वासुदेवादिभ्यो विलक्षण इत्यर्थः, व्याकर्तुमवतारयन्ति **तत्रेत्यादि, शान्त्येति**, स्वश्रिया शान्त्या, ननु गुणावताररूपेषु सत्त्वस्य श्यामस्तमसश्च शुक्लो वर्णो निरूपितः प्रकृते च विपरीत इति कथं प्रसिद्धिभेदसमाधिरित्यत आहुः **प्रसिद्धिः कृते शुक्ल** इत्यादि, **उपाधिकालरूपाणीति**, सत्त्वरजस्तमसामुपाधिभूतकालरूपाणि, **तदर्थमिति**, रूपनिरूपणार्थं, तथा चात्र 'स्थितये सर्गाय जनात्यय' इतिकार्यनिर्देशात् सत्त्वतमसी क्रियाव्याप्ते सती विपरीतरूपे भवत इति न गुणावतारवर्णवाक्यविरोधः, यथा गन्धकधूमेन जपाकुसुमादेः श्वैत्यं धूमान्तरेण शुक्लपटादेः श्यामत्वं तद्वद् **वस्तुविशेषजन्यक्रियाविशेषजसंयोगस्यैव** तत्र कारणत्वादिति न चात्र प्रद्युम्नानिरुद्धयोः क्रमेण निरूपणे किं मानमिति वाच्यं, श्लोकारम्भे तत्तत्कार्यबोधक'जन्म'पद'त्रिलोकस्थिति'पदयोरेव मानत्वात् , तन्त्रे प्रद्युम्नस्य सृष्टिकृत्त्वेनानिरुद्धस्य पालकत्वेनैव प्रसिद्धत्वात् , उभयत्र कार्यान्तरनिर्देशस्तु योग्यतामादाय वासुदेवार्थत्वाय वेति न कोपि दोष इति दिक् , अग्रिमे **सङ्कर्षणात्मक**माहेति, कार्यनिरूपणमुखेन तथाहेत्यर्थः, शेषं स्फुटम् ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एव भवानित्यस्याभास एवमिति, एत एव विराजं जनयन्तीतिकथनेन विराजीवात्रापि तत्त्वानि प्रतीयन्ते परं त्वाधिदैविकानीति पूर्वश्लोक उपपादितं कार्येनुगता इव, अत्र तु दृश्यमानत्वेपि कार्यगतानां सम्भवो नेतिकथनेन तत्त्वकार्याणि त्वगादीनि कार्य इवात्रापि प्रतीयन्ते परं त्वाधिदैविकानीति द्वितीयश्लोक उपपादितं, तथा **चोपपाद्याधिदैविकत्वबोधनार्थमितिशेषः**, तात्पर्यवशादयमर्थो लब्ध इत्युपपाद्येत्युक्तं, अत्र ते सन्तोत्याधाराधेयभावत्वे भेद आयाति तन्निराकरणार्थमतिदिशति यथा दृष्टान्ते प्रतीयन्ते तथात्रापि प्रतीयन्ते परमत्र स्वरूपमेव तत्तद्रूपेण जातमितिविशेषोस्तीति वदतीत्यर्थः, अयं पदस्याभास उक्तो वाक्यस्याभासस्तु **पुनर्दूषणान्तरमित्यनेन** वक्ष्यत इति ज्ञेयं, स्वरूपस्य तावद्रूपभवने प्रयोजनमाहुरन्यथेति, एतस्यैव विवरणं मूलस्येति, नन्विति, **भगवांश्चेद् दृश्यः कथम्** ? कथमित्यस्याग्रेण्यन्वयः, **अन्यथेति**, दृश्यत्वाभावे **सर्वमुक्तिश्च कथं स्यादित्यर्थः**, तथा च भगवत्त्वे

दृश्यत्वं बाधकमितितात्पर्यं, बाधकद्वयमन्यदप्याहुर्बाह्यत्वेनेति, भगवत्त्व इतिशेषः, बुद्ध्यानुमेयमिति, 'रूपग्राहकमिन्द्रियं चक्षु'रित्यादीनि लक्षणानि बुद्ध्या विचारेणानुमेयानि न तु घटस्य जलग्राहकत्वमिव प्रत्यक्षत उपलभ्यन्त इत्यर्थः, इन्द्रियैरग्रहणेऽप्याधिदैविकैः सूर्यादिभिरेव ग्रहणं भवत्वित्याशङ्क्याहुर्न बाधिदैविकानामिति, आधिदैविका अन्यार्थं विषयग्रहणार्थं निविष्टा अतो 'न सामर्थ्य'मिति पूर्वेणान्वयः, तथा चासामर्थ्यान् न ग्राहकत्वमितिभावः, हेत्वन्तरमाहुर्ग्राह्योति, ग्राह्यत्वेन सम्भाव्यो भगवांस्तत्स्वरूपा आधिदैविका भवन्ति, अतो भगवद्ग्राहकत्वमाधिदैविकानां न, न हि स्वयं स्वेन गृह्यत इति भावः, तथा चेन्द्रियेषु स्थितोऽप्याधिदैविकैर्न गृह्यत इत्यत्रेन्द्रियनिष्ठग्राह्यस्वरूपत्वं हेतुरुक्तः, न वा विषयाणामिति, स्वपदेनेन्द्रियाणि, तदाधिदैविकैः सह विषयाणां साक्षाद्ग्राहकत्वसम्बन्धो नास्ति किन्तु विषयाणामिन्द्रियैरिन्द्रियाणां च स्वाधिदैविकैः साक्षात्सम्बन्धाभावादाधिदैविकैर्विषयस्थितस्याप्यग्रहणं, तथा चान्यार्थं निविष्टत्वेन सामर्थ्याभावाद् ग्राह्यस्वरूपत्वात् साक्षात्सम्बन्धाभावाच्चाधिदैविकानां न ग्राहकत्वमित्यर्थः, आध्यात्मिकेन्द्रियाणां त्वसामर्थ्यमित्युक्तमेवेतिभावः, ननु सार्वदिकीयं व्यवस्थाधुना तु स्वरूपं दृश्यत एव तथा च दृश्यत्वात् प्राकृतत्वं सिध्येदेवेत्याशङ्क्य प्रत्यक्षत्वप्राकृतत्वयोर्व्यभिचारं साधयितुं मूले बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरितिपदोक्तमिन्द्रियाणामप्रत्यक्षत्वं साधयन्तीन्द्रियाणामिति, निश्चयार्थं तु शब्दः, तत्र हेतुरात्माग्राहकत्वादिति, न हि स्वं स्वेन गृह्यत इति भावः, अत इति, अप्रत्यक्षत्वादेवम्प्रकारकानुमानेनैव साधनीयमित्यर्थः ।। १७ ।।

य आत्मन इत्यत्र, केवलयेति, प्रेरकत्वमात्रं न तु स्वयं व्यापाराविष्ट इत्यर्थः, तन्मतं वदन्नेवेति, वदन्नेव प्रथममाहेत्यग्रिमेणान्वयः, आद्यपक्षे दृश्यगुणानामसत्त्वकथनेन तत्र सद्बुद्धौ प्राणी न मुच्यत इति मतमुक्तं जातं, द्वितीयपक्षेपि भगवतः केशादीनां भिन्नसत्ताकत्वे जगद्रूपत्वमेव सम्पन्नमितीदमेव मतमुक्तं जातमितिभावः, ननु वासुदेवस्तु नन्दगृह आविर्भविष्यतीत्यधुनात्र कथं तत्कथनमित्याशङ्क्याहुरन्तरिति, 'प्रथमे वासुदेवोभू'दित्यनेन निबन्धेन्तःप्राकट्यं निरूपितं तदवधि वसुदेवहृदि प्रकट एवास्ति, अत एव वसुदेव आविर्भवतीति वासुदेवपदनिरुक्ति 'र्वसुदेवं हरेः स्थान'मित्यादिवाक्यानि च, बहिःप्राकट्यं नन्दगृहे भविष्यति, इममन्तर्बहिर्भेदमविवक्षन्नन्तः प्रकटं पश्यन् तत्स्वरूपं निरूपयतीत्यर्थः, आत्मभूतस्य भगवत इति, जीवानामात्मभूतस्यान्तःप्रकटस्य वासुदेवस्येत्यर्थः, बहिर्वा दृष्टव्य इति पक्षोथवेत्यनेनाग्रे वाच्यः, सञ्जातरूपेष्विति, दृश्योस्मदादीनां सञ्जातोपि वासुदेवस्यैव गुणतच्छक्तिश्रीकृतत्वादितिभावः, दृश्यपदस्यार्थमाहुरात्मनैवानुभूयमानेष्विति, गुणपदतात्पर्यमाहुरात्मनो बन्धकेष्विति, जीवात्मन इत्यर्थः ।

द्वितीयपक्षे भगवतः केशादीनां भिन्नसत्ताशङ्काया प्राकृतत्वमेव शङ्कितं जातमित्याशयेनाहुर्ननु प्राकृतेष्वपीति, तृतीयपक्ष आत्मनो द्रष्टुरिति, स्वस्य जीवस्य दृश्येषु भगवदीयकरपादादिष्वित्यर्थः, आत्मत्वेनाभिमतादिति, एतादृशात् स्वरूपात् करपादादीनामभिन्नत्वमित्यर्थः, आत्मानात्मविभागाभावादात्मत्वमपि न वक्तुं शक्यत इत्यभिमतादित्युक्तं, अस्मिन् श्लोके वासुदेवव्याख्यान उपपत्तिमाहुः कोपि त्वयीति, व्यूहत्रयं गुणत्रययुक्तं वासुदेवो गुणातीत इति तन्त्रसिद्धान्तादितिभावः ।। १८ ।।

त्वत्तोस्येत्यत्र तस्यामुत्पाद्यत इति, जगदितिशेषः वासुदेववदपीति, प्रेरकत्वेनापीत्यर्थः, तदत्रेति, तन्मतमित्यर्थः, महदैश्वर्येति, तथा चागुणपदस्यैश्वर्यादिगुणानामाश्रय इत्यर्थः, एतेषां गुणानां पालनकरणत्वं व्युत्पादयन्त्याज्ञयैवेति, विकारनियमाभावेप्याज्ञानियमस्तु वर्तत एवेत्यर्थः, अयं चेति, अविक्रियपदव्याख्यानमिदं न त्वगुणपदस्य, अतो गुणानतीतस्तैर्विक्रियां न प्राप्नोति, तदनधीन इत्यर्थः, न तु गुणरहितः, तादृशस्तु वासुदेव एवेति पूर्वमुक्तं, स्वत एवेति, चेष्टां विनैवेत्यर्थः, चिन्तामणेरपि चेष्टा नास्तीति तद्दृष्टान्तः, वासुदेवादिति, वासुदेवः स्वश्रिया मायया केवलया जगत् करोत्यतः स्वयमकर्तैवेतिभावः, भगवानेवेतीति, इति हेतोराधारत्वे सिद्ध इत्यन्वयः, भगवत आधारत्वं साधयन्ति निराश्रयस्य जगतोसम्भवादिति, उपसंहारे कर्तृत्वमुभयञ्चेति, पूर्वार्धे 'लोका वदन्तो'तिकथनादकर्तृत्वं तृतीयचरणेनोभयं चतुर्थचरणेन कर्तृत्वमितिविभागः ।। १९ ।।

स त्वमित्यत्र विष्णोः श्यामत्वादत्र शुक्लत्वं कथमुक्तमित्यत आहुरुपाधिभूतो यः कालस्तत्कृतानि त्रीण्यपि रूपाणीत्यर्थः, तथा च सत्त्वतमसोः कालवशाद् वर्णव्यत्ययः, अत्र विष्णुर्ब्रह्मशिवा नोच्यन्ते किन्तु युगाभिमानिनोवतारा उच्यन्त इति भावः, कृतयुगे त्रिलोक्या रक्षार्थं शुक्लं चतुर्बाहुरूपं धृतवांस्त्रेतायां रक्तवर्णं तत्र यज्ञैर्भगवद्भजनस्योक्तत्वात् तेषां च प्रवृत्तिस्वभावत्वात् सर्गायेत्युक्तं, 'कलौ कृष्णवर्णः' स एव कल्किभूत्वाधर्मिष्ठान् मारयतीति जनात्यय इत्यर्थः, रक्षोत्पत्तिप्रलयानामेव वक्तव्यत्वात् त्रयमेवोक्तं, द्वापरावतारेपि प्रवृत्तिस्वभावतान्त्रिकपूजाया उक्तत्वात् तस्यापि सर्गोपयोगित्वमेव ज्ञेयं, पीतवर्णोपि रक्तसजातीय एव ।। २० ।।

बुभुत्सुबोधिका

एवमित्यत्र दृष्टान्तद्वयमिति अवतारि विराड्रूपं द्वयम् । दार्ष्टान्तिकोक्तिस्तु प्रासङ्गिकी सुखबोधायेति ज्ञेयम् । भेद इति आधाराधेयसम्बन्धे भेद आयातीति तन्निराकरणार्थमतिदिशति, अन्यत्रैव प्रतीतायाः कृत्स्नाया धर्मसन्ततेः अन्यत्र कार्यतः प्राप्तावतिदेशः, स कथ्यत इति । अत्रान्यत्र दृष्टान्तद्वये । अन्यत्रावतारे । अतिदेशयुक्तिमाहुः अन्यथेति । एतस्य विवरणं मूलस्येत्यादि ।

विराजो मूलस्येत्यर्थः। कार्यं कृष्णावताररूपमत्र। तथा च व्यावहारिकः प्रपञ्चः स्वसत्तोत्कृष्टसत्ताकप्रपञ्चपूर्वकः मायिकप्रपञ्चत्वात्, ऐन्द्रजालिकप्रपञ्चवदितिन्यायेन पारमार्थिकप्रपञ्चसिद्धौ पश्चात् तत्स्वरूपे विचार्यमाणे 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता' दिति 'यदक्षरे परमे प्रजा' इत्यादिजातीयकश्रुतिभिः द्वितीयस्कन्धचतुः श्लोक्युक्तप्रकारेण च ब्रह्मरूपत्वं पर्यवस्यति। एवं तमः परत्वलिङ्गेनाक्षरप्रतिष्ठत्वलिङ्गेन च ब्रह्मणः सर्वाकारत्वे सर्वात्मकत्वे च सिद्धे नाद्वैतश्रुतिविरोधः। अविद्यादिवद्भेदस्यापि भेदविरुद्धसम्पद्रूपत्वात्। इदं चा 'दृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते' रित्यधिकरणे स्पष्टम्। अन्यथेति दृश्यत्वे। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्यु-मेती' तिश्रुतेः। बाधकद्वयमन्यदाहुः बाह्यत्वेन भिन्नत्वेन चेति। आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात्। व्यापकाद् भिन्नत्वेन। दोषत्रयेति प्रतीतित्रयविषयत्वानि दोषाः तेषां त्रयम्। तत्राहेति तादृश्यामाशङ्कायामिन्द्रियसामर्थ्येनाग्राह्यादिकमाहेत्यर्थः। बुद्ध्येत्यादि तत्र तैजसाहङ्कारोपादेयत्वे सति ज्ञानक्रियान्यतरकारणत्वमिन्द्रियत्वम्। इदं साक्षात्सृष्टावव्याप्तमिति देहसंयुक्तत्वे सति स्वफलेनात्म-ज्ञापकत्वं लक्षणम्। इदं क्रमसृष्टौ नाव्याप्तम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानिनं प्रति लक्षणस्य मुख्यत्वात्। कालिकसम्बन्धेना-व्याप्तेरदुष्टत्वात्। परं त्विहांशभेदेन विरुद्धधर्मसमाधानात् सैद्धान्तिकमतमिति यत् सम्प्रयुक्तेर्थे विशदावभासं ज्ञानं जनयति तदिन्द्रियमिति मीमांसकलक्षणम्। अथवा शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिति नैयायिकलक्षण-मादर्तव्यम्। उद्भूतविषयगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वं श्रोत्रेन्द्रिये व्याप्तमिति शब्देतरेति। विशेषणदलं घटादावतिव्याप्तमिति विशेष्यदलम्। तदपि व्यापकात्मकालादावतिव्याप्तमिति विशेषणदलम्। सूर्यग्राहकमिन्द्रियं चक्षुरित्यादि-लक्षणानि च बुद्ध्या विचारणानुमेयानि न तु कम्बुग्रीवादिमत्त्ववत् प्रत्यक्षत उपलभ्यन्त इत्यर्थः। तत्रेति आनन्दमये गह्वरे। अत्रोक्तं दृष्टान्तद्वयमनुसन्धेयम्। तेन विराड्यपि विद्यमानो गृह्यते, तेन तत्रेत्यस्य तयोरित्यर्थः। अपीन्द्रियसंयुक्तोपि इति सर्वे मां पश्यन्त्वितीच्छयेन्द्रियसंयुक्तः। दृष्टान्तीयविराट् तु साधारणेच्छयेन्द्रियसंयुक्तः। ननु विषयता काचिदस्ति तयेन्द्रियसंयुक्तोस्त्विति चेत् तत्राहुः सन्नपीति। विषयता मायिक्ययं तु सन्नित्यर्थः। सर्वे मां पश्यन्त्वितीच्छया विषयतास्त्वयं तु विषयतानिष्ठः सन्नित्यर्थः। व्यावहारिकी सत्तेत्युच्यते। तद्गुणेति तद्गुणैरिन्द्रियसामर्थ्यैः। वर्तत इति व्यावहारिकी सत्तारूपेण वर्तते। न भगवदिति दिव्य-चक्षुराद्यभावादवतारिवन्नेत्यादिः। इन्द्रियैरग्रहणेत्याधिदैविकैः सूर्यादिभिरेवावतारिवद् ग्रहणं भवत्वित्याशङ्क्याहुः न वाधिदैविका-नामिति। अन्यार्थमिति विषयग्रहणार्थम्। निविष्टानां न भवद्ग्राहकत्वमित्यन्वयः। ग्राह्येति इन्द्रियैर्यद् ग्राह्यरूपादि तत्स्वरूपत्वा-दित्यर्थः। न वा इति ग्राहकेति स्वनिष्ठग्राह्यत्वनिरूपितग्राहकत्वसम्बन्धः। ग्राहकेति भावप्रधानम्। इन्द्रियैस्तु वर्तते इति भावः। अत इति यत आधिदैविकानामन्यार्थत्वग्राह्यत्वाभ्यां न ग्राहकत्वं मायात्मिकानां तु सन्निकर्षराहित्यान्न तथात्वमतोवतारिवत् त्वं न गृह्यस इत्यर्थः। विद्यमानोवतारिवत् रूपभूतो विराड्वत्। 'एवं भवा' नित्युपपाद्य दोषत्रये दृश्यत्वेनाग्राह्यत्वं निराकरोतीत्याशयेन पूर्वार्धं व्याकुर्वन्ति स्म इन्द्रियाणामित्यादि। बुद्ध्यनुमेयत्वं साधयितुं प्रथमतः प्रत्यक्षतामुपस्थितां वारयन्ति स्म प्रत्यक्षतेति। अर्षआद्यच्। प्रत्यक्षविषयता। प्रत्यक्षं चक्षुस्तत्त्वं न निषेधार्हमिन्द्रियेषु। प्रत्यक्षं ज्ञानं तत्ता ज्ञानेन्द्रियेषु नास्ति। तत्तद्द्रव्यरूप-त्वात्, आत्मग्राहकत्वात्। ज्ञानरूपाणीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणीति न समासः आत्मग्राहकत्वापत्तेः। 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इतिवाक्यात्। अतः स्वविषयरूपादिग्राहकाणीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि। अत इति 'अणवश्चे'ति सूत्रेणेन्द्रियाणां प्रत्यक्ष-विषयत्वाभावात्। बुद्धिरनुमानज्ञानजनिका। बुद्धिमानयं पदार्थान् जानातीति प्रत्ययात्। बुद्धिस्तत्त्वान्तरम्। क्रियात्वादिति साध्यतावच्छेदकसम्बन्धो ग्राहकता। हेतुतावच्छेदकसम्बन्धः समवायः।

ननु स्वरूपसिद्धो हेतुरिति चेन्न, वेदवेदान्तसारत्वेनोपलब्धेः क्रियात्वेन विवक्षितत्वात्। तथा च पञ्चरात्रशास्त्रं ज्ञानं क्रियेति। छिदि क्रियायां दात्रं करणम्। नेत्रेत्यादि यत्र यत्र क्रियात्वं तत्र तत्र नेत्रगोलके इत्यन्वयव्याप्तिः। यत्र यत्र नेत्रगोलका-भावस्तत्र तत्र क्रियात्वाभावः। 'यस्तु ह्याध्यात्मिकः प्रोक्तः सोसावेवाधिदैविक' इति द्वयमुपात्तम्। आधिदैविकस्याध्यात्मिकाभेदात्। इत्यादीति शब्दोपलब्धिः स्पर्शोपलब्धिः। एतेन मूलस्थं 'बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरिन्द्रियै'रितिपदं न्यूनपूरणेन व्याख्यातं ज्ञेयम्। न यथामूलं व्याख्यानमस्त्विति शङ्क्यम्। दृष्टान्तोपात्तेन्द्रियवदत्रापि न्यूनपूरणे कर्त्रभिप्रायात्। तेन सिद्धमाहुः अनेनेत्यादि। निरस्तमिति तेन विदितेप्यप्राकृतत्वमिति भावः। युक्तिरिति दृश्यस्य प्राकृतत्वकथनेऽदृश्यस्याप्राकृतत्वं यदङ्गीकृतं सा युक्तिरनुकूलतर्क-शून्येत्यर्थः। एवमप्रत्यक्षत्वेनाप्राकृतत्वेन व्याप्तौ दूषितायां पुनराशङ्कान्तरमवतारयन्ति स्म नन्वित्यादि। प्रसिद्धानुमाने यथा व्यापकस्य वह्नेरयोगोलकादौ हेतुव्यभिचारः हेत्वभाववद्वृत्तित्वं न दोषाय, तद्वदत्र अप्राकृतोऽप्रत्यक्षत्वादित्यनुमानेप्यप्रत्यक्ष-त्वस्य व्यभिचारो न दोषाय। मया प्राकृतः प्रत्यक्षत्वादित्यनुमानाङ्गीकारात्। तथा सति यत् प्रत्यक्षं तत् प्राकृतमेवेति व्याप्तो न दोष इत्याशङ्का चेत् यदीत्यर्थः। सर्वत्रेति तेन ग्राह्यैर्गुणैः सह सन्नपि प्राकृतं विदितत्वात् प्रत्यक्षत्वात् घटवदित्यत्र विदितत्वहेतुः सत्प्रतिपक्ष इति भावः। अनुमानं तु रूपादिषु भगवानप्राकृतः अप्रत्यक्षत्वात् भक्तनिष्ठभगवद्वत्। साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः। चक्षुषाऽग्रहणादिति अग्रहणादिति छेदः। पुनराशङ्कते क्वचिदपीति। प्राकृतः क्वचित्प्रत्यक्षत्वादित्यनुमानं बाधकं प्रत्यनुमानसत्प्रतिपक्षत्वेन मूलानुमानसत्प्रतिपक्षत्वविघटकमित्यर्थः। तत्राहेति आशङ्कायां बाधकानुमानस्याप्रयोजकत्वमाहेत्यर्थः। चक्षुषः सामर्थ्येनेति तद्गुणैर्ग्रहो यस्येत्यत्र तद्गुणान्तर्गतेनानेन। इदानीमित्यादि न हि ग्रहो यस्येत्यस्यार्थः। अत्रापीति जन्म-स्थानेपि। न दुष्टं भवतीति उक्तक्वचित्प्रत्यक्षत्वहेतोः सोपाधिकत्वात् दुष्टम्। इन्द्रियसामर्थ्यमुपाधिः। यत्र यत्र प्राकृतत्वं तत्र तत्र

इन्द्रियसामर्थ्यम्। यत्र यत्र क्वचित्प्रत्यक्षत्वं तत्र तत्र इन्द्रियसामर्थ्यमिति नास्ति, किन्तु स्वेच्छयैव क्वचित्प्रत्यक्षम्। तथा क्वचित्प्रत्यक्षत्वहेतोर्व्यभिचारित्वं साध्याभाववद्वृत्तित्वम्। धीरप्रत्यक्कृते दर्शने विषये प्राकृतत्वाभाववति क्वचित्प्रत्यक्षत्वहेतोः सत्त्वात्। अत एवाप्रयोजकत्वं च हेतोः। इन्द्रियग्रहणदोषेण न दृष्टं भवतीति पाठः। अत्रेन्द्रियग्रहणेन दोषः प्राकृतत्वं तेन सह न धीरदृष्टं भवतीत्यर्थः। यद्वा। इन्द्रियैर्भगवद्ग्रहणे इन्द्रियाणां दोषः पराक्दृष्टृत्वं विषयदोषस्त्वपराक्त्वम्, तेन पूर्वोक्तस्तु करणदोषः। दोषं व्युत्पादयितुं प्रमाणमाहुः पराञ्चीति। खानीन्द्रियाणि। अन्तरात्मन्नित्यत्रामोलुक्। प्रत्यक्जीवः। तथा च पराक्पदादिन्द्रियसामर्थ्येन सोपाधिकत्वम्। ऐक्षदित्यनेन व्यभिचारः श्रुत्या प्रदश्यते। तत एवाप्रयोजकत्वमपि सिध्यतीति श्रुतिरेवात्र मानमित्यर्थः। सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि। तस्मादिति श्रुत्या प्रतिपक्षहेतौ दोषप्रदर्शनात्। उत्तरार्धमवतारयन्ति स्म भिन्नत्वेनेत्यादि। पूर्वमिति तृतीयस्कन्धे कापिलेये आकाशलक्षणे बहिरन्तरमेव चेत्यत्र। तदपीति आकाशकृतं बाह्याभ्यन्तरत्वम्। अन्यस्मात् द्रष्टुः गृहमध्यस्थितान्तर्गतात्। स्वस्य गृहस्य। स्वयं गृहम्। दार्ष्टान्तिके योजयन्ति स्म व्यापको भवानिति। उपपादयन्ति स्म तत इति। व्यापकाद् भगवतः। अग्र इति उलूखलबन्धन इत्यनेनान्वेति। तदुद्भवैरिति तृणशैवालादिभिरित्यर्थः। तावदिति अनाच्छन्नप्रकटतडागमात्रत्वम्। जगदुद्भवानामिति तदुद्भवव्यतिरिक्तानां पुरुषद्वारोद्भवानामिति बोध्यम्। अवच्छेदकत्वम्। अन्यूनवृत्तित्वं अनतिरिक्तवृत्तित्वम्। न संभवतीति तादृशव्यापकत्वात्। एकदेशे इति कारागृहे भक्तहृदये च तावन्मायादूरीकरणेन प्रकटस्येत्यर्थः। उक्तदृष्टान्तेन प्राकृतेन प्रतीतत्वं न सेत्स्यतीत्यत आहुः प्रतीतिस्त्विति। दृष्टान्तीयाशेषधर्मापत्त्या माभूत् प्रतीतिः। उपपादिताऽलौकिकी प्रतीतिस्तु स्यादेवेत्यर्थः। पराञ्चि खानि इत्युक्तश्रुतेरेवकारः। तथा च न बाह्यत्वप्रतीतिकृत आनन्दमयत्वबाध इति भावः। एतेनैवाभिन्नत्वकृतस्यापि परिहारमाहुः परीत्यादि। अनेनैवेति 'अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न त' इति विशेषणेनैव। परिच्छिन्नत्वे हि भिन्नत्वं व्यापकत्वेन तस्मिन् परिहृते भिन्नत्वमपि परिहृतप्रायमेवेत्यर्थः। कथमित्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुत्रयमवतार्य व्याकुर्वन्ति स्म अस्मिन्नित्यादि विवेचनीय इत्यन्तम्। अस्मिन्निति तृतीयपादोक्तेर्थे। प्रथमतो वेदान्तशास्त्रीयं हेतुमाहुः सच्चिदिति। सच्चिदानन्दरूपो भवान् सर्वैः अंशत्रययुक्तः। गवर्णलोपः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतेः। भगवानित्युत्तरत्राप्यन्वेति। 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दितिश्रुतेः। जीवात्मेति द्वितीयनवमाध्याये स्पष्टम्। 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्युपक्रम्या 'नन्दमेतज्जीवस्ये'तिश्रुत्युक्तमानन्दं व्यावर्तयन्ति स्म न आनन्दरूप इति। किन्तु 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्युपक्रम्या 'नन्दं ब्रह्मणो विद्वा' नित्युक्त आनन्दमयः। काल आनन्दमयचेष्टा सधर्मक आनन्दमय इति, 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाती'तिश्रुतेः। अत्रेति एकस्मिन् सर्वरूपे। व्यावर्तकत्वं भेदकत्वम्। जगत इत्यादि जगतो जडस्य कर्ममयस्य, जीवानां ज्ञानानां, फलस्य कर्मद्वारा जीवफलस्य। यथा जगदाश्रये सति जगद् भेदकम्। आश्रयो भिद्यते जगद्वत्त्ववात्। घटत्वान् घट इत्यत्र घटत्वजगद्वति घटे पट भेदवत्। पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यत्र गन्धजगद्वत्यां पृथिव्यामबादिभेदवत्। जगदाश्रयो भिद्यते जीवेभ्यः, कौस्तुभवत्। जडाश्रयाद् भिद्यते। एवं फलस्य भेदकत्वं, कृष्णाश्रयः भिद्यते आनन्दमयत्वात्। आनन्दमयजीववत्। एवं न सम्भवति भेदकत्वम्। त्रयाणामितीति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति ज्ञानस्वरूपम्। ज्ञानमात्रं परं ब्रह्मेतिवाक्यात्। अपि स्वरूपमिति पाठे स्वरूपं समष्टिः। एवकारस्तु व्यावर्तकाभावे समष्टित्वेन सति ज्ञानरूपत्वात्। सर्वरूपस्येति सर्वं त्रयं तद्रूपस्येत्यर्थः। 'सर्वात्मन' इत्यस्यार्थमाहुः सर्वेषामिति। तेन षष्ठीतत्पुरुषः। 'आत्मवस्तुन' इत्यस्यार्थमाहुः सर्वात्मनामिति। आत्मनेति स्वस्वरूपेण। महत इति अवतारस्य। अंशान्तरैरिति सदानन्दरूपैः। भगवता आकाशशरीरेण व्युच्चरणे सति 'छिद्रा व्योम्नीव चेतना' जीवा भवन्तीति। आत्मनैवेति स्वस्वरूपेणैव। इतरव्यावर्तक एवकारः। अग्र इति उलूखलबन्धनस्थले। तथा च परिच्छिन्नतया भिन्नत्वस्यापि स्वीयेच्छया स्वेच्छाकृतत्वान्न तत्प्रतीत्याप्यानन्दमयत्वबाध इत्यर्थः। एवमेतैः श्लोकैर्विदितत्वे ब्रह्मत्वबाधकदोषपरिहारेण विदितोसीति प्रतिज्ञा समर्थिता। उपसंहरन्ति स्म एवमित्यादि पञ्चात्मक इति पृथिव्याद्यात्मकः। कालात्मकः पञ्चनित्ययागात्मकः इति शास्त्रद्वयम्। वेदवेदान्तरूपम्। पञ्चरात्रशास्त्रीयम्। 'पञ्चात्मकः स भगवा'-निति पञ्चरात्रात्। तीति इत्येवं निरूपितोवतारः॥ १७॥

य आत्मन इत्यत्र पञ्चात्मक इति पृथिव्याद्यात्मकः। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' इत्यादिश्रुतेश्चतुर्भुजः। उक्तरूपश्च। तन्त्रेत्यादि 'गहना कर्मणो गति'रिति बोधयन् अनुकल्पं वैदिकप्रकारानन्तरं 'पञ्चात्मकः स भगवा'निति पञ्चरात्रं तद्रूपेण वेदभेदेन तत्रस्योक्तत्वात् तत्रत्यचतूरूपो निरूप्यते भयाभावाय। 'सोबिभे'दिति बृहदारण्योक्तं भयमेकस्येति। प्रथम इति परब्रह्मरूपः। यत् प्रवदन्तीति 'इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेवनामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता, तस्याज्ञयैव नियता परमापि रूपं वत्रे द्वितीयमिव यत् प्रवदन्ति माया'मितिपञ्चरात्रवाक्यात्। केवलयेति सदसृष्ट्या। न मुच्यत इति 'योन्यथासन्त' मितिश्रुत्युक्तपापापत्त्या मर्यादाभक्तिप्रतिबन्धान् न मुच्यते। सद्बुद्धिरसज्जन्ये जगति या बुद्धिः सा तामसी। तमोऽज्ञानजमित्यज्ञानाच्च न मुच्यते। वदन्नेवेत्यस्य प्रथममाहत्येनेनान्वयः। अन्तरेवेत्यादि स्वान्तरेव स्वस्माद् बहिः पराक्देशे। वासुदेवपदात् स्वस्य वसुदेवस्यान्तरे स्वस्माद् वसुदेवाद् बहिः केवलचिदानन्देति चित् श्रीरानन्दो ब्रह्मानन्दः तद्रूपः। श्रीकार्यं उत्पन्नत्वात्। आत्मभूतस्येति केवलचिदानन्दरूपस्य। दृश्येष्विति लौकिकेन्द्रियसामर्थ्येन दृश्येषु। आत्मनैवेति अन्तर्वर्तिनानुभवरूपभगवता। तेषामित्यादि सङ्घातरूपाणाम्। सत्त्वाभावात् व्यावहारिकसत्त्वस्याप्यभावः कारणे सत्त्वाभावात्। बन्धकेष्विति सर्जकत्वेनेच्छाविषयत्वात्।

व्यवस्यति निश्चिनोति। तादृशस्य अबुधत्वं व्युत्पादयन्ति अस्तीति। परमार्थोऽस्तीत्यन्वयः। तेन तान्त्रिकोवस्यति। तन्त्रं वेदविरुद्धांश इति परमार्थः। आत्मव्यतिरेकेणेति तसिल् तृतीयार्थे व्याख्याय षष्ठ्यर्थे तस्यैव व्याख्यानं आत्मसम्बन्धेत्यादि। मोहित इति मुह वचित्ये, मायाधर्मो मोहः। आत्मसम्बन्धादिति अनुभवसम्बन्धात्। 'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थसम्बन्ध' इतिवाक्यात्। तस्येति श्रीकार्यस्य। वैराग्यार्थमिति अस्ति सत्त्वं तथापि प्रपञ्चे वैराग्यार्थं केवलया जगत् सृज्यत इति मतम्, अनुवादात्। अस्येति मतस्यानुवादः। तन्त्रोक्तवादिति भावः। नोपपद्येतेति खपुष्पत्यागायोगात्। अनुवादेनेति सिद्धस्य कथन-मनुवादस्तेन। सिद्धं वैदिकमतम्, तस्यानुवादस्तन्त्रे पुनरुक्तिदोषरहितः। सम्बन्ध इति अज्ञातः। प्रतीत्यतीति अनुभवातिरिक्तः। सङ्गात इति 'अत्र मां मार्गयन्त्यद्धे'तिवाक्यात्। ज्ञानमार्गीयज्ञानानन्तरम्। आत्मव्यतिरिक्तमिति 'कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण' इतिश्रुत्युक्तात्मव्यतिरिक्तम्। गृह्णातीति सत्त्वेन गृह्णाति। सत्त्वसिद्धिव्यतिरेकेणेति पाठे। स्वत्वसिद्धिव्यतिरेकेणेति पाठे स्वत्वेन गृह्णाति। पुरुषोऽपि भूत्वेति पुरमुपति दहतीति पुरुषः। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे'ति श्रुतेः। पुरा आसेति ब्रह्मणि पुरुषपदव्यु-त्पत्तिः। पुरि शेत इति श्वोपशुसाधारणो व्युत्पत्तिः। 'निवृत्ततर्षै'रित्यत्र स्पष्टः। पूर्वेणैवेति भवतीत्यादि क्रियापदम्। एवकार इतर-योगव्यवच्छेदकः। समीप इति गृह्यत इति शेषः। न्यूनपूरणं स्पष्टम्। तथा चादरेण ग्रहणाद्बुध एव स इति भावः। अन्योपेति दत्तात्रेयगुरुवत्। आत्मसम्बन्धात् सत्त्वानुवादेन। ग्रहणमिति आदरेण ग्रहणम्। येनैव प्रकारेणेति आत्मव्यतिरिक्तत्वेन प्रकारेण। गृह्णातीतीति इति हेतोरन्योपदेशार्थमनुवादेनापि ग्रहणसम्भवव्यतिरेक इत्यर्थः। एवं 'निगमो वसुदेवोभू'दितिश्रुत्यावसुदेवनिगमस्य वैदिकप्रकारेणोक्त्वा स्तुतिं तद्गौणतन्त्रप्रकारेणोक्तौ 'वेदान्तरूपवेदेन स्तुतिं प्रभुचरणा आहुः अथवेत्यादि। व्यतिरेकमिति व्यतिरिक्तत्वं प्राप्य सन् व्यावहारिकः सन्। धर्मिग्राहकेति उभयव्यपदेशसूत्रोक्तेन। न हीति हि युक्तश्चायमर्थः। भक्तिमन्तरा स्वरूपाज्ञानात्। तस्यैवेति तैः सह सम्बन्धस्यैव। तदसम्भव इति व्यावहारिकसत्त्वोत्पत्त्यसम्भवः। इति भाव इति इति हेतोस्तादृश-मुपाददद्बुध एवेति भाव इत्यर्थः। तथा च तन्त्रेऽपि भिन्नस्य जगत एव वैराग्यार्थमसत्त्वं स्मार्यते न तु स्वरूपात्मकस्येति तन्त्रमपि वेदेन समानम्। मोक्षधर्मे पञ्चरात्रस्य तथात्वनिश्चायनादिति बोधनार्थमेवं व्याख्यातमतो न कोऽपि दोष इत्यर्थः। श्रीधरीये व्यवस्यत इत्यात्मनेपदपाठदर्शनात् तस्मिन् पाठे जीवब्रह्मवादानुक्तेः। किञ्च। 'स्वव्यतिरेकत' इत्यस्य स्वपदघटितस्य स्वस्मिन् यदभावे यदभावो व्यतिरेक इति व्यतिरेकलक्षणासम्भवात् इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि। आत्मनो द्रष्टुरिति आत्मपदार्थः द्रष्टुरिति। अनुभवेन सत्त्वकर्तुः स्वस्यात्मीयस्य जीवस्य दृश्येषु स्वेन्द्रियसामर्थ्येन दृश्येषु भगवदीयकरपादादिषु। वर्तमानः व्याप्य स्थितः। व्यवस्यत इति जीवब्रह्मवादेन जनविमुखकरणनिश्चयं कुरुते इत्यर्थः। अत्र फलमात्मने भवतीत्यात्मनेपदम्। स्वात्मत्वेनेति अस्वव्यतिरेकपदविवरणम्। विवर्तवादे आत्मानात्मविभागाभावादात्मत्वमपि न वक्तुं शक्यते इत्यभिमतादित्युक्तम्। सिद्धान्ते कराम्बुजं पदाम्बुजमित्यत्र विशेषमाहुः अव्ययान्तेति। तसिलन्तमव्ययम्। कोऽपि त्वयीति व्यूहत्रयं गुणत्रययुक्तं वासुदेवो गुणातीत इति तन्त्रे सिद्धान्तादिति भावः। एवमनुवादपदस्वारस्येन तन्त्रमतमुक्तम्॥ १८॥

त्वत्तोऽस्येत्यत्र प्रद्युम्नरूपमिति यो भवान् प्रत्यक्षगोचरः परब्रह्मतया वासुदेवत्वेन निरूपितः गुणातीतस्तमेवेश्वरत्वहिरण्य-गर्भत्वाभ्यां प्रद्युम्नरूपत्वेन निरूपयतीत्यर्थः। स हीति प्रद्युम्नः, हिर्हेतौ, राजसत्त्वात्। निरूपित इति पञ्चरात्रे निरूपितः। प्रकृतिमिति रजःसत्त्वतमोमयीं भूतप्रकृतिम्। प्रकृतौ स्त्र्येवेत्यादि। सामीप्ये सप्तमी। प्रकृतिसमीपे शाक्तमते स्त्र्येव मुख्या। ननु राजसाज्जन्म भवतु स्थितिप्रलयौ कुत इत्यत आहुः सङ्कर्षणादीति। न प्रद्युम्नमात्रात् सृष्टिः, किन्तु ब्रह्मोपाधिरजोरूपात् प्रद्युम्नात्। एवं चेश्वरवत् प्रद्युम्नोऽप्यनुस्यूतः। एवं च वासुदेवात् सङ्कर्षणः, सङ्कर्षणात् प्रद्युम्नः, प्रद्युम्नादनिरुद्ध इति। सङ्कर्षणादुत्पन्नेनैव सूत्रनाम्ना तस्यां जगत् पुरुषो वोत्पाद्यत इत्यर्थः। जगदुत्पत्तीत्यादि प्रद्युम्नादुत्पत्तिः, प्रद्युम्नानुस्यूतवासुदेवात् स्थितिः। प्रद्युम्न-सङ्कर्षणात् प्रलय इति। तन्मात्रेणेति सन्निधिमात्रेणैव। एवकारव्यावर्त्यमाहुः न त्वित्यादि। वासुदेववदिति बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन, प्रेरकत्वेनापीत्यर्थो वा। तदत्रेति तन् मतम् अत्र स्तुतौ। त्वत्तः प्रद्युम्नरूपादिति ननु वासुदेवादिति कुतो नोक्तं तन्त्रत्वादिति चेन्न। गौणमुख्यन्यायात् 'वदन्ती'ति वचनेन तन्त्रे लोकमतस्य प्रबलत्वात्। शब्दबलविचारकत्वादाचार्याणाम्। किञ्च, युष्मच्छब्दस्य गर्भसम्बद्धे प्रद्युम्ने प्रयोगः दशमस्त्वमसीत्यत्र तथा दर्शनात्। लोका वदन्तीति तन्त्रेऽपि लोकमतत्वादस्वरसः। अतो 'वदन्ती'तिपदेना-स्वरसार्थं प्रद्युम्नरूपादिति व्याख्यातम्। प्रद्युम्नेन रूपं यस्य, प्रद्युम्ने रूपं यस्येति वा, प्रद्युम्नो रूपं व्यवहार्यं यस्येति वा, प्रद्युम्नेन रूप्यते व्यवह्रियत इति वा। ननु सङ्कर्षणत्यागे किं मानमिति चेन्न। शब्दबलविचारकत्वादाचार्याणाम्। तन्त्रे तथाशब्दः। अस्तु तथैवेति सामर्थ्यात् साक्षात्कर्तृत्वमस्तु। महदैश्वर्यादीति महताम् ऐश्वर्यं मूढपूजनाश्रयत्वं तदादि समत्वं सत्त्वं सत्यवत्त्वं च। एतेषां गुणानां पालनकर्तृत्वं व्युत्पादयन्ति स्म आज्ञयैवेति। विकारनियमाभावेऽप्याज्ञानियमस्तु वर्तत एवेति भावः। आज्ञायैवेति पाठोऽपि। तथा चागुणपदस्यैश्वर्यादिगुणानाश्रय इत्यर्थः। अयं चेति वासुदेवः च पुनरयं प्रद्युम्नः। मायागुणानां ज्ञानिनां प्रत्युदस्तानामभावाद् गुणातीतः। अस्येति प्रद्युम्नस्य। विक्रिया गुणानामिति भावः। अत इति गुणादर्शनात्। अघटमानमिति कर्तृत्वमघटमानमेव। तर्हि विरोध इति सामर्थ्यसत्तायां विद्यमानायामप्यकर्तृत्वे कर्तृत्वकाले, कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्विरोधः। अन्तरङ्गे'ति स्वल्पापेक्षमन्तरङ्गं बह्वपेक्षं बहिरङ्गम्। बलिष्ठा इति तेन त्वत्तः अनीहात् अगुणात् अविक्रियादेषां सामानाधिकरण्यमिति भावः। पक्ष इति प्रद्युम्नपक्षे। वासुदेवादिति गुणातीतात्। तत्राहेति वासुदेवाद् भेदं वक्तुं कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्विरोधाभावे हेतुमाहेत्यर्थः। एवमारोपवादसङ्गत्या

कर्तृत्वाकर्तृत्वविरोधः परिहृतः। सिद्धान्ते तु निर्वाहकसङ्गत्याऽविरोधमाहुः विरोधे ह्येकतरेति। नैवंकल्पनेति नैकतरपरित्यागकल्पना। देशभेदेनेति ज्ञेयम्। ननु ब्रह्मत्वेन सर्वभवनसामर्थ्येऽपि विकृतत्वस्य विद्यमानत्वाज् जगदकरणेऽस्त्येवोभयोर्विरोध इत्यत आहुः किञ्च नेति। ब्रह्मरूप एवेति विशेष्यत्वात् पूर्वमुपादानम्। 'त्वयी'ति युष्मच्छब्दार्थः, प्रद्युम्नो वा विशेष्यम्। जगत्कर्तृत्वमिति अन्यथाकर्तृत्वसामर्थ्येन, रजो विनापि कर्तृत्वम्, जगत इति बोध्यम्। नापेक्षयन्त इति कर्तृत्वार्थं नापेक्षयन्ते। ईश्वरत्वादिति कर्तुम कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो यः स पूज्यते मूढैरितीश्वरः। विरोधाभावमुपपादयन्ति स्म आज्ञाशक्तिरिति। एकतरेति कर्तृत्वाकर्तृत्वयोरेकतरपरित्यागः। प्रकारान्तरेणाप्युपपादयन्ति स्म किञ्चेत्यादि। इयमिति कर्तृत्वाकर्तृत्वविषयिणी। शास्त्रीयेति शास्त्रं वेदान्तरूपम्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इति 'निष्कलं निष्क्रियं शान्त'मित्यादि च। शास्त्रशब्दाद् 'वृद्धाच्छः'। सम्भवतीति विरोधाभावाय सम्भवति। यथेति सिंहत्वमाणवकत्वे विरुद्धे, सिंहपदस्य गौण्या वृत्त्या क्रौर्यादिगुणवाचकत्वम्, "लक्ष्यमाणगुणैर्योगात् वृत्तेरुक्ता तु गौणते"ति, सिंहपदेन क्रौर्यादिगुणाः लक्ष्यन्ते, आधेयतासम्बन्धो लक्षणा, तथा च सिंहनिष्ठक्रौर्यादिगुणविशिष्टो माणवक इत्यर्थः, तथा जगत्कर्ताऽविकृत इत्यत्र, वक्ष्यमाणरीत्या च, तथा च निर्वाहकसङ्गतिप्रकारादन्यः प्रकारः प्रकारान्तरम्। चतुर्थपादं व्याकुर्वन्ति स्म तथेत्यादि। यथा दृष्टान्ते सिंहस्तथा। कर्तृत्वाधारभूतो भगवानेव। 'परात् तु तच्छ्रुते'रिति सूत्रादेवकारः। आधारत्वे सिद्ध इत्यन्वयः। तत्र हेतुः निराश्रयस्येति। त्रिगुणात्मकं जगत् कचिदाश्रितं गुणत्वात् रूपवत्। तद्द्वारेति आधारत्वद्वारेत्यर्थः। कर्तृत्वमाधारत्वसमानाधिकरणं गुणेपूपचर्यते। 'गुणै'रिति सप्तम्यर्थे तृतीया। भगवान् सगुणः कर्तेत्यत्र भगवन्निष्ठगुणेषु भगवच्छब्दं कर्तृत्वलक्षकं कृत्वा तद्वान् (तद्विशिष्टः) सगुणः, अर्थात् गुणाः कर्तृत्ववन्त इति गुणेपूपचर्यते। यद्वा। गुणैः सह वर्तमाने त्वय्युपचर्यते, सहार्थे तृतीयान्तस्य क्रियायामन्वयो दृष्टः, पुत्रेण सहागतः पितेत्यत्रेतोऽहापि तथा। तेन वेदान्तगुणेपूपचार इति लभ्यते, न तु 'गुणै'रिति सप्तम्यर्थे तृतीया। ननु पूर्वोक्तहेतुद्वयेन कर्तृत्वाकर्तृत्वयोरविरोधे सिद्धे पुनरुपचारेणाविरोधसाधनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं टिप्पण्यामाहुः अविरोध इत्यादि। द्वितीयकोटीति कर्तृत्वकोट्युपस्थितिः। न प्रामाणिकोति शुक्तौ रजतोपस्थितिवत्। हेत्वन्तरमिति 'त्वदाश्रयत्वा'दिति हेत्वन्तरम्। पूर्वेणेति पक्षेण। तच्छङ्कयेति विरोधशङ्कया। तथा च मूलानुसरणं प्रयोजनमिति भावः। ननु मूले उपचारपक्षः किमित्युक्तः सहार्थतृतीयान्तपदेन इत्याकाङ्क्षायां यत् सुबोधिन्यां वस्तुतस्त्वित्यादिनोपपद्यत इत्यन्तेनोक्तं तदुक्तवेदान्तपक्षेपीत्याशयेन तद् विवृण्वन्ति स्म वस्तुतस्त्वित्यादि ज्ञेयमित्यन्तम्। तथा च मूले गुणेषु कर्तृत्वोपचार इत्याशयो न तु भगवति तदुपचारो वेदान्तपक्षे, एवं च सुबोधिन्यां गुणा एव कर्तार इत्यस्य अभिमानेन कर्तारः। अत एवेत्यस्याभिमानादेवेत्यर्थो ज्ञेयः। अतो न वेदान्तपक्षे विरोधः। सुबोधिन्याम्, प्रद्युम्नस्य स्मृतिरूपश्रीद्वारा सृष्टौ मायिकत्वात् साङ्ख्यावलम्बनं स्पष्टमेव। अत एव साङ्ख्यादय इत्यादिशब्दः। सुबोधिन्याम्। अप्ययमाश्रय इति अपिनोक्तवेदान्तमतीयकर्तृत्वस्य। अयमिति भगवान्। कार्यकारणेति कार्यकर्तृत्वं कारणानि गुणाः तेषामभिमानाभावेप्याधारत्वात्। तथा चोपचारो लक्षणापि। आधाराधेयभावलक्षणा। कर्तृत्वेति भगवति कर्तृत्वकथनं मायिकसृष्टावपि तन्त्रमतत्वादुपपद्यते इत्यर्थः। श्लोकार्थं निगमयन्ति एवं जगत इत्यादि। असायिकत्वमिति स्मृत्यां प्रकृत्युत्पादकथनात् स्मार्ती सृष्टिरमायिकीति। अकर्तृत्वमित्यादि तृतीयचरणेनोभयम्। चकारेण पूर्वार्धे लोका वदन्तीति कथनादकर्तृत्वम्, चतुर्थचरणेन कर्तृत्वमिति विभागः ॥१९॥

सत्त्वमित्यत्र वासुदेवात् प्रद्युम्नतश्च वैलक्षण्येनानिरुद्धं निरूपयितुं पूर्वोक्तमनुवदन्तोनिरुद्धमवतारयन्ति स्म इदमित्यादिना। प्रद्युम्ने प्रकृतिजननद्वारा इदमुत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकत्वम् आध्यात्मिकत्वेन 'अनीहा'दित्यादिवाक्याद्ध्यात्मभवत्वेनोपादानतया निरूपितम्। उत्पत्तिस्थितीति उत्पत्तिस्थितिप्रलया आत्मनि यस्येति तथोक्तम्। 'अधिष्ठानं तथा कर्ते'ति वाक्यमनुसन्धेयम्। अतः परमधिदैवभवत्वेन प्रयोजकतयांशत उपादानतयात्रानिरुद्धं जगत्कर्तारमुपपादयति। तथा च वासुदेवः तटस्थत्वेन, प्रद्युम्न उपादानत्वेन, अनिरुद्धः प्रयोजकत्वादिना कारणमित्येवं भेदमुपपादयतीत्यर्थः। तद् व्युत्पादयन्ति स्म यथा वेत्यादि। उत्पादक इति बीजद्वाराप्रयोजकः। वृष्टिद्वारा इन्द्रादिः। आदिना मेघाः। यथा वा ब्रह्मादयः। गुणावतारा उच्यन्त इत्यन्वयः। त्रितयमिति त्रयोवयवा यस्य तादृशरूपम्। विष्णोः श्यामत्वादत्र शुक्लत्वं कथमुक्तमित्यत आहुः उपाधीति। उपाधिरूपो यः कालः कृतादिः तत्कृतानि त्रीण्यपि रूपाणीत्यर्थः। कालात्मत्वाद् भगवतः। अस्मिन् पक्ष इति गुणावताररूपेषु सत्त्वस्य श्यामः तमसश्च शुक्लो वर्णो निरूपितः ततो विपरीतपक्षे। तदर्थमिति रूपनिरूपणार्थम्। गुणानिति स्थित्यादिगुणान्। रूपाणीति वर्णान्। त्रिलोकस्थितिपदेन पालकोनिरुद्धः उक्तः। तन्त्रे प्रद्युम्नस्य सृष्टिकर्तृत्वेनानिरुद्धस्य पालकत्वेन प्रसिद्धेः ॥ २० ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

यद्यपीति —इस प्रकार दो श्लोकों से दो दृष्टान्तों का विचार करने के अनन्तर उन दृष्टान्तोक्त आधिदैविक भावों का भगवान् से भेद होगा ऐसी शङ्का के निवारण के लिये दृष्टान्तों द्वारा जिसे लक्षित करना है उस दार्ष्टान्तिक भगवत्स्वरूप में आदेश करते हैं कि 'एवं भवान्' ऐसे स्वरूप वाले आप ही हैं, अर्थात् पूर्व दो श्लोकों में आधिदैविक तत्त्वों के विषय में जो चर्चा की है वह आपकी ही है, क्योंकि सब के मूल रूप तो आप ही हैं, यदि मूल तत्त्व नित्य, अविकृत नहीं हो तो उसका कार्य

कदापि नित्य, अविकृत नहीं हो सकता, आधिदैविक तत्त्वों की नित्यता और अविकारिता के प्रयोजक उनके मूल रूप होने के कारण आप ही हैं, पुनः अन्य दोष की आशङ्का कर (बुद्ध्यनुमेय) इत्यादि के द्वारा उस आशङ्का का निवारण करते हैं, आशङ्का यह है कि भगवान् तो दृष्टा है वह दृश्य कैसे हो सकता है और यदि वह दृश्य है तो सर्व मुक्ति की सम्भावना है क्योंकि बिना ही साधन के जब भगवत्स्वरूप दृष्टिगत हो सकता है तो मुक्ति होने में क्या साधन अवशेष रह जाते हैं जो वह नहीं हो तो, अतः उक्त स्वरूप का दृष्टिगत होना उनके भगवद्रूप होने में बाधक है, ब्रह्म को तो 'अदृश्यमग्राह्यम्' आदि कहा है, एवं जो 'अनन्तरमबाह्यम्' बाह्य आभ्यन्तर आदि भेदों से रहित है वह बाह्य रूप से तथा भिन्न रूप से कैसे प्रतीत होता है, न तो भगवान् बाह्य ही हैं न वह भिन्न ही हैं, अतः भिन्न, तथा बाह्य, और दृश्य रूप से प्रतीत होने के कारण त्रिदोष के उपस्थित होने से प्रस्तुत स्वरूप को आनंदमय भगवान् नहीं माना जा सकता, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि जब इन्द्रियों के सामर्थ्य से आपका ग्रहण नहीं होता तो श्रुतिसिद्ध आपकी अदृश्यता व अग्राह्यता से तो कोई विरोध ही नहीं है, बुद्धि से जिनके लक्षण या स्वरूप को अनुमानतः जाना जाता है उन इन्द्रियों से ग्रहीत होने वाले रूप आदि गुणों के साथ वहां आप विद्यमान हैं, अतः इन्द्रियों से आपका ग्रहण होता भी है, रूपादि की भांति इन्द्रियों से आपका संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध भी होते हुए भी आप उन इन्द्रियों के गुणों से उनके सामर्थ्यों से गृहीत नहीं होते। बात ऐसी है कि भगवान् इन्द्रियों में भी विराजते हैं और उनसे गृहीत होने वाले घट पटादि वस्तु में तथा रूप, रसादि गुणों में भी विराजमान हैं, तो भी उन इन्द्रियों की सामर्थ्य नहीं जो भगवान् को ग्रहण कर सके, तथा आधिदैविक इन्द्रिय तो सामान्य इन्द्रियों में लौकिक विषय के ग्रहण करने के सामर्थ्य सम्पादन के लिये उन भौतिक इन्द्रियों में प्रविष्ट होते हैं अतः उनका भी सामर्थ्य नहीं, तथा (श्रोत्रममुष्य शब्दः) (घ्राणोऽस्य गन्धः) भा० द्वि० प्र० अध्याय के अनुसार आधिदैविक इन्द्रिय तो स्वयं ग्राह्य विषय स्वरूप है वह विषय के ग्राहक नहीं हो सकते, एवं अपने आधिदैविक इन्द्रियों के साथ विषयों का वह सम्बन्ध भी नहीं जो विषय ग्राहक इन्द्रियों से विषयों का होता है, अतः आप सर्वत्र विद्यमान भी हैं सबके स्वरूप हैं, रूप, रस आदि भी आप है तो भी रूपादि के ग्रहीत होते हुए भी आप ग्रहीत नहीं होते। यदि इन्द्रियों की प्रत्यक्षता का संभव हो तब तो इन्द्रियों के सहवर्ती आपका उनके आधिदैविक रूप में प्रत्यक्ष सम्भावित है परन्तु इन्द्रिय तो अपने स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकती अतः वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, उनकी सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान का आकार इसप्रकार है कि (पक्ष) रूप, रस, गन्ध आदि विषयों की उपलब्धि (ज्ञान), (साध्य) किसी करण (व्यापार वाले असाधारण कारण से साध्य है, (हेतु) क्रिया रूप होने से, (दृष्टांत) छेदन (विदारण) क्रिया की भांति, सारांश यह है कि जैसे काटना फाडना आदि क्रिया किसी खड्ग कुठार आदि साधन से ही साध्य होती है उसी प्रकार रूप आदि का जान लेना भी एक क्रिया है वह भी किसी साधन से ही साध्य हो सकती है अतः सामान्यतया करण की सिद्धि होने पर नेत्र गोलक के साथ रूप ग्रहण का अन्वय और व्यतिरेक देखा जाता है कि नेत्र गोलकों के सद्भाव में रूप ग्रहण हुआ है, एवं उनके अभाव में नहीं इस प्रकार अनुसंधान से नेत्र गोलकवर्त्तीचक्षु इन्द्रिय ही रूप ग्रहण का कारण है ऐसे ही रसना इन्द्रिय रस ग्रहण का व घ्राण इन्द्रिय गन्ध ग्रहण का कारण है यह सिद्ध होता है, इस प्रकार इन्द्रियों की अप्रत्यक्षता के प्रतिपादन से यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि जो प्रत्यक्ष होगा वह ही प्राकृत होगा, और जो अप्रत्यक्ष होगा वह ही अप्राकृत होगा, क्योंकि इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते हुए भी अप्राकृत नहीं प्राकृत ही हैं, अतः भगवान् का प्रत्यक्ष हो रहा है तो भी इतने मात्र से उनकी प्राकृतता या अप्राकृतता सिद्ध न हो पावेगी, क्योंकि दृश्य वस्तु को प्राकृत ठहराने में अदृश्य वस्तु का अप्राकृत स्वीकार करना तर्क की कसोटी पर साफ नहीं उतरता, वादी की युक्ति को सहायता देने वाला उसे सफल या सप्रयोजन सिद्ध करने वाला कोई विचार उपस्थित नहीं होता वह युक्ति अप्रयोजक ही रह जाती है निर्बल पड़ जाती है, यदि ऐसा कहा जाय कि जो प्रत्यक्ष होता है वह प्राकृत ही होता है वह अप्राकृत नहीं होता, और जो प्राकृत होता है वह प्रत्यक्ष ही होता है, वह अप्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा नियम नहीं, वह अप्रत्यक्ष भी देखा जाता है जैसे इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते भी प्राकृत ही हैं, अतः प्राकृतत्व, और प्रत्यक्षत्व समव्याप्त नहीं प्राकृतत्व व्यापक है प्रत्यक्षत्व की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति है और प्रत्यक्षत्व व्याप्य है प्राकृतत्व की अपेक्षा अल्प देशवृत्ति है, सारांश यह है कि जहां भी प्रत्यक्षत्व होगा वहां प्राकृतत्व अवश्य होगा, परन्तु जहां प्राकृतत्व होगा वहाँ प्रत्यक्षत्व होगा ही ऐसा नियम नहीं है वहां अप्रत्यक्षत्व भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में इन्द्रियों की प्राकृतता होते हुए अप्रत्यक्षता अनुचित नहीं परन्तु प्रत्यक्षता होने पर भगवत्स्वरूप की अप्राकृतता तो कैसे स्वीकृत की जाय, व्यापक का व्यभिचार (अधिक देश में रहना) तो दोषजनक नहीं वह तो उचित है परन्तु व्याप्य का व्यभिचार दोषजनक है, व्याप्य कदापि व्यापक के अभावाधिकरण में नहीं मिलता उनका व्यापक भाव ही नष्ट हो जाता है अतः प्राकृतत्वाभाव स्थल स्थल में प्रत्यक्षत्व नहीं रह सकता अतः प्रत्यक्ष हुए भगवत्स्वरूप को अप्राकृत स्वीकार करना कहाँ तक सम्भव है उसका प्राकृत होना ही सम्भावित है ऐसी आशङ्का के निवारण करने के लिए उस विषय में कहते हैं कि इन्द्रियग्राह्य गुणों के साथ भगवान् सर्वत्र ही विद्यमान है तो भी सर्वत्र उनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता। रूप, रस आदि में रहने वाले भगवत्तत्त्व का

चक्षु रसना आदि इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। रूप, रस, आदि मात्र का ही ग्रहण होता है, अतः भगवान् में प्रत्यक्षता नहीं है तो प्राकृतता भी नहीं है, अप्राकृतता ही है, यदि कहें कि कहीं भी प्रत्यक्षता होना अप्राकृतता का बाधक है तो भी इन्द्रियों के सामर्थ्य से होने वाले प्रत्यक्ष को ही अप्राकृतता का बाधक कह सकते हैं, भगवान् तो 'तद्गुणग्रह' हैं, इन्द्रियां के गुणों (सामर्थ्यों) से ग्रहीत नहीं होते, इस समय भी जो भगवान् का दर्शन हो रहा है, वह नेत्र के सामर्थ्य से नहीं किन्तु उनकी निजेच्छा से ही हो रहा है, अतः स्वेच्छा से प्रतीत होने वाला स्वरूप इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने के दोष से दूषित नहीं हो सकता, श्रुति में कहा है कि स्वयम्भू ने इन्द्रियों को पराङ्मुख बनाकर उनकी हिंसा की है अतः बाहर दीखता है अन्तरात्मा में नहीं, कोई धीर पुरुष अमृतत्वरूप परमानन्द की इच्छा करने वाला अपने चक्षु को अन्तर्मुख कर लेता है और अन्तरात्मा का दर्शन करता है, इस प्रकार श्रुति में परावृत्त हुए चक्षु की ग्राहकता भी बतलाई है और स्वभावतः ग्राहकता का निषेध भी किया है, इन दोनों श्रौत सिद्धान्तों का विरोध नहीं है, उसी प्रकार प्रकृत से भी इन्द्रिय सामर्थ्य से आप अदृश्य ही हैं, और निजेच्छा से दृश्य हैं इस रीति से कोई विरोध नहीं रह जाता है, उक्त कारण से भगवान् के दृश्य होने से उनकी अब्रह्मता या प्राकृतता की शङ्का नहीं रह जाती, अब भिन्नता एवं बाह्यता से जो प्रतीति हो रही है उस विषय में समाधान करते हैं कि अनावृत होने के कारण आपका बाहर एवं भीतर कुछ भी नहीं है, आपको न बाहर कहा जा सकता है न भीतर ही कहा जा सकता है, अमुक वस्तु बाह्य है या आभ्यन्तर है, इस प्रकार व्यवहार व्यवस्था आकाशकृत है यह बात हम पूर्व में तृतीय स्कन्ध २६ अध्याय श्लोक ३४ के 'बहिरन्तरमेव' की व्याख्या में कह चुके हैं, वह भी पृथ्वी आदि भूतों का ही बाह्य अथवा आभ्यन्तर व्यवहार होता है, भगवान् का तो व्यवधायक कोई वस्तु मात्र नहीं उन्हें अपनी आड़ से रोक दे या सीमित कर दे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिस प्रकार घर के भीतर रहने वाले पदार्थों से घर दूसरे किसी देखने वाले से व्यवहित नहीं होता आड़ में नहीं आ सकता एवं स्वयं भी वह घर अपना ही आप व्यवधान नहीं करता। अपनी आड़ आप ही कर लेता हो यह बात भी नहीं है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्वव्यापक है सर्वत्र विद्यमान है उनसे स्थूल या महान् कोई भी कार्य नहीं जो उनका व्यवधान या आवरण कर सके अतः भगवान् अनावृत्त है किसी आवरण या व्यवधान से सीमित नहीं है इसका स्पष्टीकरण आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में होगा, आवरण रहित होने के कारण आपके सम्बन्ध में बाह्य, या आभ्यन्तर व्यवहार नहीं होता, यदि सम्पूर्ण तालाब उसी में उत्पन्न हुए कमल शैवाल आदि से ढका हुआ हो या किसी अमुक भाग में खुला भी हो तो वह जितने भाग में खुला है उतना ही तालाब है ऐसा नहीं माना जाता और न उन कमल शैवाल आदि को तालाब का अवच्छेदक ही माना जाता है कि यह तालाब इतना ही है इस तालाब की इयत्ता या सीमा कमल शैवाल आदि के आधीन हो ऐसी भी बात नहीं है, तालाब से प्रकट हुए पदार्थ तालाब को सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत विषय में आप व्यापक हैं एक देश में प्रकट हुए हैं, अतः आपका बाहर भीतर वाला भेद नहीं हो सकता है, प्रतीति जो हो रही है वह तो आपकी इच्छा से उत्पन्न ही है, आप अपनी इच्छा से बाह्य आदि रूप से प्रतीत होते हैं, जैसे इन्द्रिय सामर्थ्य से अदृश्य होते हुए भी स्वेच्छा से दृश्य होते हैं उसी प्रकार सर्व व्यापक होते हुए भी स्वेच्छा से एकदेशस्थ, बाह्य, भिन्न आदि प्रतीति के विषय होते हैं, परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) या भिन्नता का परिहार भी आपके अनावृत्त या व्यापक होने के कारण हो ही जाता है, इस विषय में शास्त्रोक्त तीन हेतुओं का निर्देश करते हैं कि आप सब कुछ हैं, और सब के आत्मा हैं, एवं सब आत्माओं के वस्तुस्वरूप भी हैं, भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं। उस सच्चिदानन्द का 'सद्' रूप तो जगत् रूपी भगवान् है, और 'चिद्' रूप तो जीवात्मा हैं ही और उन जीवात्माओं का फल रूप स्वयं आप आनन्दरूप हैं, इसमें जगत् या जीव, या फलरूप आनन्द एक दूसरे से अपनी व्यावृत्ति (भेद) नहीं कर सकते हैं क्योंकि तीनों का स्वरूप भगवान् ही है, तब कौन किसका व्यावर्तक (भेदक) होगा, उक्त तथ्य को 'सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः' इन शब्दों में कहते हैं, कि भगवान् सर्वरूप हैं (जगद् रूप हैं) सबके आत्मस्वरूप हैं (जीवात्मा) हैं, एवं सर्व जीवात्माओं के भी वस्तुस्वरूप फलात्मक आनन्दरूप हैं, उनका अपने आप से परिच्छेद (व्यावृत्ति या भेद) नहीं हो सकता है, **'अतति व्याप्नोति'** इस व्युत्पत्ति से आत्मा पदार्थ सर्वव्यापक महान् सिद्ध होता है उस महान् का परिच्छेद कहाँ सम्भावित है, अतः भगवान् के अंशों का उनके अन्य अंशों से या भगवान् से परिच्छेद हो सकता है परन्तु भगवान् का किसी भी प्रकार परिच्छेद नहीं हो सकता क्योंकि उनसे अन्य कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं तो परिच्छेद किससे होगा, स्वयमेव आप ही अपना परिच्छेद करते हैं इस पक्ष का विवेचन आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में करना आवश्यक है, इस प्रकार पाँच श्लोकों द्वारा निर्दोषपूर्ण गुणसम्पन्न शरीरधारी साकार यह अद्भुत बालक ही (१) अग्निहोत्र, (२) दर्शपूर्णमास, (३) पशु, (४) चातुर्मास्य, (५) सोम नामक पञ्च यज्ञात्मक है ऐसा वैदिक प्रकार से निरूपण किया है ॥ १७ ॥

'य आत्मन' आदि चार श्लोकों से तन्त्र में कही हुई प्रक्रिया के अनुसार वासुदेव आदि चतुर्मूर्ति भगवान् का निरूपण किया जाता है, वहाँ तन्त्र शास्त्र में प्रथम परब्रह्मरूप वसुदेव हैं ऐसा माना है, वहाँ पर 'श्री' नामक भगवच्छक्ति या श्रीश्च ते **लक्ष्मीश्च पन्त्यौ'** के अनुसार भगवत्पत्नी को माया कहा है क्योंकि पञ्चरात्र में ऐसा वाक्य है **'इत्थं विचिन्त्य परमः स तु**

वासुदेवो नामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता, तस्याज्ञयैव नियता परमाऽपि रूपं भवेद्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति मायाम्' प्राणियों के मोक्ष में प्रतिबन्ध करने को वह केवल माया ही जगत् को रचती है, वासुदेव तो प्रेरणामात्र करते हैं उस जगत् में यदि प्राणी सत्यबुद्धि करता है उसे सत्य समझता है तो वह मुक्त नहीं होता है, इस प्रकार तान्त्रिक मत कहते हुए ही श्रीवसुदेवजी पूर्व में यह कहते हैं कि यह चतुर्मूर्ति भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, अतः इस वासुदेव का दर्शन अन्तर्देश हृदय में अथवा बहिर्देश में जहाँ कहीं भी करना चाहिए परन्तु दोनों प्रकारों में केवल चिदानन्द का ही दर्शन अभीष्ट है। पृथ्वी आदि तत्त्वों के सहित उनका दर्शन अपेक्षित नहीं, वसुदेवजी का कहना है कि जो प्राणी आत्मस्वरूप भगवान् के दृश्य गुणों में देह, इन्द्रिय आदि समुदायों में किसी भी पदार्थ को 'सत्' यह सत्य है ऐसा निश्चित कर लेता है वह मूर्ख है, क्योंकि यह देह, इन्द्रिय आदि समुदाय आत्मा के द्वारा ही अनुभव के विषय होते हैं अनुभव के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं प्रतीतिमात्र ही है, प्रकृति आदि चौबीस तत्त्व गुण हैं। रस्सी की भाँति बन्धन करने वाले हैं जीवात्मा को प्रपञ्च में फसा देने वाले हैं, उनमें से किसी एक को भी जो कोई सत्य मानता है वह मूर्ख है, क्योंकि असली बात तो यह है कि वहाँ सर्व वर्गों में उन उन रूपों से भगवान् ने ही प्रवेश किया है, भगवान् सत्य ही है, उनकी सत्ता से ही तत्त्व भी सत्य रूप से प्रतीत होते हैं, यदि आत्मा के सम्बन्ध के बिना ही किसी पदार्थ को सत्य मानता है अथवा आत्मा से अतिरिक्त किसी पदार्थ को सत्य रूप से स्वीकार करता है तो वह मूर्ख ही है, उसकी बुद्धि कार्य नहीं करती वह माया से मोहित हो चुका है, यहाँ पर यह पक्ष उठाया जा सकता है कि आत्मा के सम्बन्ध से अनात्म पदार्थ देहादि में भी सत्यता उत्पन्न हो जाती है ऐसा मान लिया जाय तो उसकी प्रतीति में तो कोई आपत्ति या दोष नहीं इसका खण्डन कर वे उक्त विषय पर कहते हैं कि विचारशील मनीषियों के मन ने जगत् को सत्य रूप से नहीं विचारा है, केवल उसका अनुवाद ही किया है, अनुवाद के बिना उसकी अन्य कोई सत्ता नहीं, जगत् की असत्यता के प्रतिपादन किये बिना विषयासक्ति की निवृत्ति नहीं हो सकती, इस दृष्टि से विषयों से वैराग्य कराने के लिये यह मत उपयुक्त है, आत्मा से अतिरिक्त वस्तु मात्र का त्याग अपेक्षित है अतः इसका अनुवाद आवश्यक है, त्याग उसी वस्तु का हो सकेगा जिसकी सत्ता सिद्ध होगी, जिसकी सत्ता ही नहीं, जो कुछ है ही नहीं उसका त्याग कैसा, अतः आत्मा के सम्बन्ध से देह इन्द्रिय आदि जगत की सत्ता है ऐसा अनुवाद रूप से कहा गया है। परन्तु आत्मा के साथ जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं केवल प्रतीतिमात्र ही है, अतः कहते हैं कि अनुवाद के बिना वह जगत् मनीषित नहीं, मन के द्वारा सत्य रूप से विचारित नहीं, आशय यह है कि अनुवाद किसी वस्तु के यथार्थ या अयथार्थ होने की अपेक्षा नहीं रखता वह तो केवल प्रतीतिमात्र की अपेक्षा रखता है, चाहे वह प्रतीति ठीक हो वा न हो जिसे आँख के दोष से आकाश में दो चन्द्रों की प्रतीति होती है वह कहता है कि दो चन्द्र हैं, उसकी उक्ति का अनुवाद तटस्थ व्यक्ति करता है कि (दो चन्द्र हैं) ऐसा यह भ्रमवश कह रहा है वास्तव में दो चन्द्र नहीं हैं, जिस प्रकार ऐसे अनुवाद से दो चन्द्रों की सत्ता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार त्यागार्थ अनुवाद मात्र से जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं होती, आत्मा के अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि दृश्यवर्ग की वास्तविकता नहीं, यद्यपि किसी वस्तु का निषेध करने के लिये भी उसका स्वरूपतः उल्लेख आवश्यक होता है, वस्तु के उल्लेख किये बिना उसका निषेध सम्भव नहीं। रस्सी का यथार्थ ज्ञान होने पर यह सर्प नहीं ऐसा कथन भी सर्प का उल्लेख चाहता है जिसे कभी सर्प मान लिया था वह सर्प नहीं रस्सी है, इसी प्रकार जगत् को असत्य ठहराने में उसके पूर्व जो जगत् में सत्यता का आरोप आवश्यक है उसके लिये जगत् को सत्यरूप से जानने में कोई बुराई नहीं वह तो ठीक ही है तो वैसे जानने वालों को (अबुध) क्यों कहा जाय ऐसी आशङ्का में कहते हैं। कि जब विचारपूर्वक अग्राह्य समझकर जिस वस्तु का त्याग कर दिया है उस वस्तु का ग्रहण करने वाला पुरुष मूर्ख ही है, आत्मा और देह इन्द्रियादि के समुदायात्मक इस सङ्घात में आत्मा के अन्वेषण की दशा में आत्मा से अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सबको अग्राह्य समझा था उनका त्याग किया था उन त्यागे हुए देहादिकों को पुनः ग्राह्य रूप से स्वीकार करना मूर्खता ही है, (पुमान्) शब्द से ऐसे व्यक्ति का उपहार व्यङ्ग्य है कि स्वयं पुरुष होकर भली भांति विचार कर त्याग कर चुका है उसी का पुनः ग्रहण करना क्या पुरुषार्थ सिद्धि के अनुकूल है ! नहीं नहीं अत्यन्त मूर्खता ही है, छोड़ी हुई वस्तु दूर से देखी जा सकती है, समीप में उसका ग्रहण नहीं किया जाता, पास में वह वस्तु नहीं रखी जाती, किसी अन्य व्यक्ति को तत्त्व का उपदेश करने के लिये यद्यपि अनुवाद रूप से उस दृश्य वर्ग का ग्रहण सम्भावित है परन्तु जहाँ पर उपदेशादि की सम्भावना के बिना ही दृश्य वर्ग में सद्बुद्धि होती है वहाँ तो वह मूर्खता ही है क्योंकि जिस प्रकार से त्याग किया है, अनित्य समझकर अग्राह्य कक्षा में समझा है, उसी प्रकार से नित्य समझकर ग्राह्य कक्षा में रखता है अतः मूर्ख ही है क्योंकि उसका विचार यथार्थ नहीं पूर्व में भली भांति त्याग किया अब भली भांति ही ग्रहण करता है ॥ १८ ॥

प्रकृत श्लोक का ब्रह्मवाद की रीति से यह व्याख्यान गो० श्री विट्ठलनाथ प्रभु चरणों ने किया है, (आपने स्वव्यतिरेकतः) इस पद का (स्वव्यतिरेकं प्राप्य) ऐसा विवरण किया है (तथा सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति) (प्रत्येक वाक्य निश्चय के साथ होता है) इस मीमांसकसंमत विचारशैली के अनुसार (एव) पद का (प्राप्य) पद के साथ प्रयोग किया है,

एवं (प्राप्य) इस पूर्वकालिक क्रिया का (सन्) पदार्थैक देश सत्ता क्रिया से अन्वय किया है, (स्वव्यतिरेकतः) यह पद पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (त) (तसिल्) प्रत्यय के योग से सिद्ध हुआ है (ल्यब्लोपे कर्म्मण्यधिकरणे च) इस व्याकरण के नियमानुसार (प्रासादमारुह्य प्रेक्षते) के स्थान पर (प्रासादात्प्रेक्षते) इस वाक्य की भांति (स्वव्यतिरेकं प्राप्यैव सन्) के स्थान पर (स्वव्यतिरेकतः सन्) यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इस प्रक्रिया से यह वाक्यार्थ सिद्ध होता है कि आत्मस्वरूप भगवान् के दृश्य गुणों में (भगवदिच्छा से दृष्टिगत होने वाले) केश रोम नख एवं रूप रस स्पर्श आदिकों में किसी एक भी गुण को जो ऐसा मानता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं भगवान् से व्यतिरेक (भेद) को प्राप्त करके ही यह सत्तावान् है, भगवान् से भिन्न होकर ही इसकी सत्ता है, उस प्रकार का निश्चय करने वाला मूर्ख है, आशय यह है कि भगवान् के गुण धर्म आदि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है, भिन्न नहीं, भिन्न मानने वाला मूढ़ सोचता है कि ब्रह्म तो एकरस है यदि उसके रूप आदिकों को सत्य माने तो किसी एक रूप के सत्य मानने पर विविधरूपता सिद्ध नहीं होगी, (समो नागेन समो मशकेन) यह श्रुति हाथी और मच्छर के समान आकार वाला ब्रह्म है ऐसा प्रतिपादन करती है, यदि हाथी के समान है तो मच्छर के समान नहीं हो सकता है, और यदि मच्छर के समान है तो हाथी के समान नहीं हो सकता है, अतः रूपादि की प्रतीति यथार्थ नहीं, रूपादि गुण को ब्रह्म से भिन्न ही स्वीकार करना उचित है ऐसा जो निश्चय कर बैठता है वह मूर्ख है, वह यह नहीं समझ पाता कि धर्मी ब्रह्म ही यथाऽवसर उन उन धर्मों को प्रकट करता रहता है, उसके स्वरूपात्मक सब धर्म नित्य सिद्ध हैं, सर्प कुण्डलाकार भी हो जाता है और सरलाकार भी हो जाता है उसके वह आकार न तो उससे भिन्न है और न मिथ्या ही हैं, यथावसर उन आकारों को प्रकट करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी धर्मिग्राहक मान से उसके स्वरूप का ज्ञान कराने वाले (उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्) ब्रह्म सूत्र तृ० अ० द्वि० पा० २७ सूत्र, इस न्याय से विविध रूपों को प्रकट करता रहता है, यह सिद्ध हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म। उन उन रूपों को अभिव्यक्त करता है, इसी बात को कहते हैं कि 'विनानुवादम्' भगवत्स्वरूप वस्तु ही वैसा है, उसके आकार विशेष के दर्शन करने के अनन्तर भक्तों के द्वारा किया गया यह कथन ही अनुवाद है कि यह श्रीहस्तकमल है और यह श्रीचरण कमल है एवं यह श्रीनयन कमल है, इस अनुवाद के बिना वह श्रीहस्तकमलादि भगवत्स्वरूप से पृथक् सत्तात्मक रूप में मन के द्वारा भी विचारित नहीं होते, यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थों को भी प्राकृत ही मान लिया जावे, केवल भगवत्सम्बन्ध होने के कारण उनको 'सत्' कहा जाता है क्योंकि उनमें सत्त्व की उत्पत्ति भगवत्सम्बन्ध से हुई है अतः प्राकृत पदार्थ ही सद् रूप से प्रतीत होने लगते हैं ऐसा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं होता उक्त शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि भगवत्तत्व श्रुतिपाद्य है श्रुतिविरुद्ध तर्क से उसके विषय में विचार करना मूर्खता है, भगवती श्रुति आज्ञा करती है कि—जैसे सैन्धवघन (जमा हुआ लवण) भीतर बाहर के भेद से रहित सर्वांश में लवण रस का एक पिण्ड है उसी प्रकार अरे जिज्ञासुगण ! यह आत्म स्वरूप भगवान् भीतर बाहर के भेद से रहित प्रज्ञान का सर्वांश में प्रकृष्ट ज्ञान का मूर्तिमान् स्वरूप है, तथा 'यह पुरुष असङ्ग ही है' इसका किसी प्राकृत वस्तु से स्पर्श या सम्बन्ध नहीं, पुष्कर पलाश की भांति निर्लेप है, एवं ब्रह्मतत्त्व के विषय में 'अब इस कारण यह आदेश है कि इसको निषेध मुख से समझो कि वह तत्त्व प्रकृति के साम्राज्य में जो पदार्थ है उन सब से भिन्न है, इस प्रकार प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के विचारकाल में प्राकृत धर्मों का सर्वथा त्याग किया गया है कि ब्रह्म में प्राकृत पदार्थ का गन्ध भी नहीं है उसी त्यागे हुए प्राकृत धर्म का स्वीकार करना कि ब्रह्म के सम्बन्ध से उनके प्राकृत गुणों में सद्रूपता आ जाती है सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध होने पर ही उनमें सत्ता की उत्पत्ति ही की संभावना है जब सम्बन्ध नहीं तब कैसे सत्ता प्रकट हो सकेगी, उक्त श्लोक में 'व्यवस्यति' के स्थान पर 'व्यवस्यते' ऐसा पाठ भी सम्भव है, तदनुसार 'अस्वव्यतिरेकतः' ऐसा पदच्छेद भी अभीष्ट है, तब अथवा इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है कि जो पुरुष आत्मा देखने वाले स्वयं अपने इन्द्रिय सामर्थ्य से दृष्टिगत होने वाले भगवान् के कर चरणादि अंगों में भगवान् विद्यमान् हैं उन अंगों को व्याप्त कर अभिमानी जीव की तरह स्थित हैं ऐसा निश्चय करता है वह मूर्ख है, क्योंकि 'अस्वव्यतिरेकतः' उन कर चरणादिकों में उसका व्यतिरेक (भेद) नहीं है जिसे आत्मा रूप से मान रखा है, जीव की भाँति वहां देह देही का भेद ही नहीं तो आभिमानिक सम्बन्ध भी असम्भावित है, वहां तो कर चरणादि उनके आत्मरूप ही हैं, जैसे आत्मा शुद्ध निर्विकार है उसी प्रकार आत्मा के (भगवान् के) कर चरणादि भी निर्विकार शुद्ध चिन्मय आननन्दघन हैं इस प्रकार की सूचना हमको अव्ययान्त प्रयोग से मिल रही है, (व्याकरण में तसिल् प्रत्यय की 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' सूत्र से अव्यय संज्ञा हुई है, अव्यय में कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं होता उसके प्रयोग से प्रकृत में भगवत्स्वरूप की शुद्ध एकरसता का बोध कराना अभीष्ट है, इस व्याख्यान में अन्य विवरण पूर्व व्याख्यान की भाँति ही जान लेना इसके लिए विशेष मात्र का निर्देश किया है अतः इस पक्ष में भी आप में (भगवान् में) कोई प्राकृत धर्म नहीं है इस कारण आप वासुदेव हैं ॥ १८ ॥

प्रत्यक्ष हुए जिस अद्भुत बालक का तांत्रिक प्रक्रिया से परब्रह्म होने के कारण वासुदेव रूप से निरूपण किया उसका इस श्लोक से ईश्वर और ब्रह्म होने के कारण प्रद्युम्न रूप से निरूपण करते हैं कि आप ही भगवान् प्रद्युम्न रूप भी हैं, पञ्चरात्र में

प्रद्युम्न को जगत् का कर्त्ता बतलाया है और उसी की शक्ति या पत्नी को 'स्मृति' कहा है, प्रद्युम्न ने स्मृति को पैदा किया है, जो कि रजःसत्त्वतमोमयी है, उससे कोई पुरुष की उत्पत्ति नहीं होती प्रकृति में स्त्री की ही प्रधानता है पुरुष ता अप्रधान ही है, उस प्रकृति से सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, सङ्कर्षण से उत्पन्न हुए'सूत्र' नामक तत्त्व से उस प्रकृति में जगत् उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में प्रद्युम्न का उपयोग परम्परा से समीप होने मात्र से ही है, इतने मात्र से ही लोग प्रद्युम्न से सृष्टि वतलाते हैं, किन्तु वासुदेव की भाँति प्रद्युम्न से सृष्टि नहीं उस मत का यहाँ अनुवाद किया जाता है कि हे विभो ! उनके इस प्रकार कहने का कारण आपकी विभुता है, सर्वसमर्थता है, हे विभो ! यह सम्बोधन पूर्वोक्त लोकोक्ति के कारण की सूचना करता है कि आप समर्थ है लोग आपसे जगत् की उत्पत्ति आदि बतलाते हैं, शङ्का हो सकती है कि सामर्थ्य है तो प्रद्युम्न से उत्पत्ति आदि क्यों न मानली जावें, उक्त विषय में उत्तर रूप में कहते हैं कि 'आपतो अनीह (चेष्टारहित) गुणरहित एवं विकाररहित हैं' अतः जो ही चेष्टा करता है वही उत्पादन करता है, जो महान् ऐश्वर्य आदि गुणों का अवलम्ब करता है वह पालन करता है, पालन तो आज्ञा मात्र से भी सम्पन्न हो सकता है उसके लिये विकार की आवश्यकता नहीं, देखा जाता है कि राजवर्ग आज्ञा मात्र से सर्व पालन सम्बन्धी शासन व्यवस्था करता रहता है परन्तु संहार तो क्रोध आदि विकार के विना नहीं होता जो क्रोध आदि विकार को प्राप्त करता है वही संहार करता है, यह भगवान् प्रद्युम्न तो सत्त्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर गए हैं, इन गुणों से परवर्ती हैं इनके सर्वथा आधीन नहीं है, अतः इनमें किसी भी विकार का सम्भव नहीं यह कूटस्थ हैं सर्वथा निष्क्रिय एवं अविचल स्थिर हैं, उक्त कारण से इनका जगत्कर्ता आदि होना सर्वथा नहीं घटता, परन्तु अलौकिक सामर्थ्य के होने से लोग कहते हैं, यदि यह जगत् को उत्पत्ति आदि करना चाहें तो गुणों को भी उत्पन्न कर दें और स्वयं विकारों से रहित भी रह जावें और उत्पत्ति आदि भी कर देवे, अथवा जिस प्रकार चिन्तामणि किसी अन्य साधन के सहयोग के विना ही अनेक पदार्थों की सृष्टि कर देता है उसी प्रकार यह प्रद्युम्न भगवान् भी गुणादिकों की अपेक्षा न कर स्वतः सब कुछ कर सकते हैं, जब सामर्थ्य होते हुए भी जगत् का निर्माण नहीं करते तो इनको अकर्ता ही क्यों न मान लिया जावे, कर्त्ता मानने की क्या आवश्यकता है, विराध होने पर किसी एक धर्म का परित्याग करना उचित ही है, यदि कर्त्ता मानना हो तो अकर्तृत्व का त्याग करना आवश्यक है, अकर्त्ता मानना हो तो कर्तृत्व का त्याग अपेक्षित है, क्योंकि विरोध होने पर किसी एक धर्म का त्यारा करना ही पड़ता है।

धर्मा बलिष्ठा इति—यदि लोकप्रतीति से कर्ता मानते हो और स्वरूपतः अकर्ता स्वीकार करते हो तो ऐसी दशा में स्वरूपगत अकर्तृत्व धर्म को ही बलिष्ठ मानना होगा क्योंके यह अन्तरङ्ग है भगवत्स्वरूप के अन्तर्गत है और कर्तृत्व तो लोकप्रतीति के आधार पर माना गया है अतः दुर्बल है क्योंकि लोकप्रतीति बहिरङ्ग है अन्तरङ्ग और बहिरङ्गों में अन्तरङ्ग अधिक बलवान होता है इस लोकसिद्ध न्याय से अन्तरङ्ग स्वरूप धर्मों की ही बलिष्ठता सिद्ध हाती है बहिरङ्ग लोकप्रतीति दुर्बल पड़ जाती हैं, अतः इस पक्ष में यह ही सिद्धान्त होना उचित है कि भगवान् कर्ता नहीं है, अतः वासुदेव की अपेक्षा प्रद्युम्न की कोई विलक्षणता सिद्ध नहीं होता ऐसी शङ्का में वासुदेव से प्रद्युम्न की विलक्षणता बतलाने को उक्त विषय में कर्तृत्व और अकर्तृत्व इन दोनों धर्मों के परस्पर अविरोध होने के कारण कहते हैं कि (त्वयीश्वरे) इत्यादि, यदि विरोध हो तब तो दोनों में से किसी एक का परित्याग उचित है परन्तु जब ब्रह्म की यह स्वाभाविकता है कि वह सब कुछ हो सकता है उसमें किसी भी विरोध को अवकाश ही नहीं तो किसी एक धर्म के परित्याग करने की कल्पना उचित नहीं, अकर्तृत्व और कर्तृत्व यह दोनों धर्म ब्रह्म के स्वरूप में अविरुद्ध है, अन्य कारण यह भी है कि भगवान् ब्रह्म ही नहीं ईश्वर भी है, ईश्वर होने के कारण जगत्कर्ता हैं ब्रह्म होने से सर्व विकार रहित है, अतः जगत्कर्तृता और निर्विकारता दोनों ही युक्त हैं, भगवान् को लौकिक कर्ता की भाँति किसी देश या काल की अपेक्षा नहीं, और न उन्हें स्वरूप की अवस्थाओं का भेद ही अपेक्षित है, अतः सर्वथा निर्विकार ही रहते हैं, और जगत् का सर्जन भी करते हैं, जगद्रूप भी होते हैं, क्योंकि वह ईश्वर हैं, और ब्रह्म हैं, ईश्वर में आज्ञाशक्ति अकुण्ठित रहती है, उनको स्वयं कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती उनके आदेशमात्र से सर्व व्यवस्था सम्पन्न होती रहती हैं, तथा ब्रह्म में सब कुछ हो जाने की शक्ति है, अतः किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना ही नहीं है तब कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्मों में किसी एक के त्याग की चर्चा अनुचित है, ब्रह्म के विषय में अविरोध प्रतिपादन करने की एक प्रक्रिया यह भी है कि विरोध तो प्रतीति के अनुरोध से होता है, कि प्रतीति की व्याख्या अन्य प्रकार से हो सके तो विरोध नहीं रहपाता, ब्रह्म कर्ता है या अकर्ता है वह अनीह, अगुण, अविकार है या नहीं इत्यादि प्रतीति प्रत्यक्षप्रमाणजन्य तो है नहीं, किन्तु शास्त्रगम्य हैं, शास्त्रों में ब्रह्म को कर्ता भी कहा है और अकर्ता भी कहा है, अनीह आदि भी कहा है, शास्त्र शब्दात्मक है और शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ को लेकर ही होता हो ऐसी बात नहीं है वह किसी गुणकृत साम्य से भी होता है, जैसे (सिंहो माणवकः) इस वाक्य में बालक को सिंह कहा है परन्तु सिंह शब्द के मुख्य अर्थ पशु विशेष को लेकर नहीं, उसके पराक्रम आदि गुणकृत

साम्य को लेकर उस बालक को सिंह कह दिया है उसी प्रकार ब्रह्म की कर्तृता भी औपचारिक है मुख्य नहीं मुख्य तो अकर्तृता ही है अतः विरोध नहीं, यदि कर्तृत्व, और अकर्तृत्व दोनों वास्तविक हो तब तो विरोध की आशङ्का हो सकती है किसी एक को अवास्तविक मानने पर विरोध नहीं रह पाता, भगवान् सर्वाधार हैं विना आधार के जगत् सम्भव नहीं, अतः भगवान् की जगदाधारता सिद्ध हो जाती है, उसी आधारता को लेकर उन्हें कर्ता कह दिया है वास्तव में तो गुण ही कर्ता है अतएव सांख्य वालों ने प्रकृति का ही कर्तृत्व स्वीकार किया है, गुणों के भी भगवान् ही आश्रय हैं, जगत् रूपी कार्य और उसके कारण रूप गुणों के भी आश्रय होने से ब्रह्म को जगत् का कर्ता कह देना सङ्गत हैं, यद्यपि कर्तापने का अभिमान ब्रह्म में सम्भव नहीं तो भी लोकदृष्टि से उसकी कर्तृता युक्त ही है, इस श्लोक में जगत् को अमायिकता है तथा भगवान् की अकर्तृता और कर्तृता दोनों ही हैं ऐसा निर्देश कर वासुदेव की अपेक्षा विलक्षणता से प्रद्युम्न का निरूपण किया है क्योंकि वासुदेव के निरूपण में जगत् की मायिकता और भगवान् की सर्वथा साक्षिरूपता या केवल प्रेरकता का ही निरूपण किया है, प्रद्युम्न में जो प्रकृति के उत्पादन द्वारा उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूपता का जो निरूपण किया है वह आध्यात्मिक (उपादान) रूप से किया गया है ॥ १९ ॥

आधिदैविकत्वेनानिरुद्धं तथेति—उक्त श्लोक में आधीदैविक रूप से भगवान् अनिरुद्ध का जगत्कर्त्ता होना सिद्ध किया है, जिस प्रकार पिता पुत्रादि का उत्पादक होता है या कृषीवल खेती करने वाला किसान अन्न आदि का उत्पादक होता है, एवं वर्षा के द्वारा इन्द्र आदि देवता सस्यादि सृष्टि के प्रयोजक होते हैं, अथवा गुणावतार रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, संहार के प्रयोजक होते हैं, उस प्रकार का स्वरूप भगवान् अनिरुद्ध का है, उक्त विषय में आशङ्का हो सकती है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव को ही रज आदि एक एक गुण के द्वारा उत्पत्ति आदि का नियामक माना गया है अनिरुद्ध को तो उस प्रकार नहीं कहा गया है ऐसी आशङ्का कर समाधान करते हैं कि अनिरुद्ध की ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार इन तीनों में नियामकता है अर्थात् ब्रह्मा विष्णु शिव यह तीनों प्रकारान्तर से अनिरुद्ध के ही रूपान्तर हैं, ऐसा कहते हैं, त्रिलोकी की रक्षा के लिये आप अपनी शान्ति नामक माया से सत्त्वगुण को धारण करते हो उसे पोषण देते हो उस सत्त्वगुण का स्वरूप आपका अपना शुक्ल वर्ण है, ऐसी प्रसिद्धि है, सत्य युग में शुक्लवर्ण एवं चतुर्भुज रूप कहा है, तदनुसार सत्व आदि गुणों को लेकर जो भगवान् के शुक्ल आदि वर्ण बतलाये है वह उन गुणों के उपाधिभूत काल के रूप हैं, उन्हें ही इस पक्ष में भगवद्रूप कहा है, उसी के लिये गुणों को कहते हुए रूपों का निरूपण करते हैं, कि सृष्टि के लिये रक्त वर्ण को धारण करते हैं, वह रूप आपका स्वाभाविक नहीं है किन्तु रजोगुण से अभिवृद्ध हुआ आगन्तुक है, उसी प्रकार कृष्ण वर्ण को लोकों के नाश के निमित्त धारण करते हो, इस प्रकार पूर्वार्ध के (बिभर्षि) इस क्रियापद से सम्बन्ध वाक्यार्थ सिद्ध होता है ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं दृष्टान्ते उपपादितमर्थं दार्ष्टान्तिके अतिदिशति—एवमिति । एवं महदादिवत् भवानपि कार्योत्पत्त्यनन्तरं तत्राप्रविष्टोऽपि, तदुपादानत्वेन प्रागेव विद्यमानत्वात् प्रविष्ट इव भाव्यस इत्यर्थः । ननु यद्यहमप्रच्युतस्वरूप एव कारणतया कार्येषु वर्ते, तर्हि तेष्विन्द्रियैर्गृह्यमाणेषु सत्सु मम ग्रहणं कुतो न भवतीत्यपेक्षायामाह—बुद्धयनुमेयलक्षणैरिति । बुद्धया रूपादिज्ञानेनानुमेयं लक्षणं स्वरूपं येषां तैर्गुणैः कार्यैरिन्द्रियैर्ग्राह्यैर्गुणैर्घटादिविषयैः सह सन् वर्तमानोऽपि भवान् तद्गुणाग्रहः तैर्गुणैः सह न ग्रहो ग्रहणं यस्य तथाभूतः । अनुमानप्रयोगस्तु—'रूपाद्युपलब्धिकरणजन्यक्रियात्वात् या या क्रिया सा सा करणजन्या, यथा छिदिक्रिया । तथा चेयं तस्मात्तथा' इत्यनुमानेन सामान्यतः करणे सिद्धे नेत्रगोलकाद्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरादिविशेषसिद्धिः । अयं भावः—नहि ग्राह्यैः सह भावमात्रं ग्रहणे कारणम् , किन्तु इन्द्रियाणां शक्तिः । सा च कार्यैकसमधिगम्या, यथा कार्यमेव कल्प्यते । तथा च यथा चक्षुषा रूपग्रहणे सत्यपि सामर्थ्याभावाद्रसग्रहणं न भवति, तथैवेन्द्रियैर्विषयग्रहणेऽपि सामर्थ्याभावादेव भगवद्ग्रहणं न भवति । एवमविषयत्वं च 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इति श्रुत्या सर्वबुद्धिदृगित्यत्र चोक्तम् । तत्कृपया तु इन्द्रियविषयत्वमपि भवति, 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' 'दर्शयामास लोकं स्वम्' इत्यादिवाक्येभ्यस्तथैव निश्चयात् । एवं तावदुपादानतया प्रागेव विद्यमानत्वात् पश्चात् प्रवेशो नास्तीत्युक्तम् । इदानीं तु "परिच्छिन्नस्यैव नीडे पक्ष्यादिवत् प्रवेशः सम्भवति, तव त्वनावृतत्वादपरिच्छिन्नत्वेन बहिरन्तर्भेदाभावात् कुतः प्रवेश" इत्याह—अनावृतत्वादिति । अनावृतत्वे हेतूनाह-सर्वस्येति । नहि सर्वस्वरूपस्यावरणं सम्भवति, तद्भिन्नस्यावरकस्याभावादित्यर्थः । सर्वात्मन इति । सर्वस्यात्मनोऽन्तर्यामिण इत्यर्थः । नह्यावृतः परवशो नियामको भवितुमर्हतीत्याशयः । आत्मवस्तुन इति । 'अत सातत्यगमने' इति धातोः अतति व्याप्नोतीत्यात्मा, स चासौ वस्तु च परमार्थभूतस्तस्यैवंभूतस्याप्यावरणं न घटत इत्यर्थः । अतो न तव स्वरूपतो गुणतो वा क्षतिरिति सिद्धम् ॥ १७ ॥ ननु "यर्हि सर्वोपादानतया सर्वस्वरूपोऽहमेव, तर्हि कथं नैयायिकमीमांसकादिजन आत्मव्यतिरिक्तमपि पदार्थं सत्त्वेनाङ्गीकरोति" इत्याशङ्कयाह—य इति । यः पुमानात्मनो दृश्येषु प्रकाश्येषु गुणेषु गुणकार्येष्वाकाशादिषु स्वव्यतिरेकतः आत्मभिन्नतया सन्निति व्यवस्यते सत्त्वं निश्चिनोति स अबुधः । अत एव

तत्र हेतुमाह—यत इति। यता विवेकिभिस्त्यक्तमस्वीकृतमप्यात्मव्यतिरिक्तमपि वस्तु स उपाददत् स्वीकुर्वन्भवतीत्यर्थः। ननु 'तर्हि कथं तथा स्वीकारेण सर्वोऽपि व्यवहार' इत्याशङ्क्याह—विनेति। अनुवादं वाग्व्यवहारं विना वाग्व्यवहारमात्रं भवतु, तथापि मनीषितं विचारितं सत्तु तत् आत्मव्यतिरिक्तस्य सत्तया स्वीकरणं सम्यक् न भवतीत्यर्थः॥ १८॥ किं तत्र प्रमाणमित्यपेक्षायामाह-त्वत्त इति। त्वत्त एवास्य विश्वस्य जन्मादीन् वदन्ति 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः श्रुतयो वर्णयन्तीत्यर्थः। तर्हि विकारित्वं स्यादित्याशङ्क्याह—अविक्रियादिति। तत्र हेतुमाह-अनीहादिति। ईहा चेष्टा, कामना वा तद्रहितात्। तत्रापि हेतुमाह—अगुणादिति। गुणाधीनत्वाभावादित्यर्थः। ननु एकस्यैवानीहत्वं जगज्जन्मादिकर्तृत्वं च विरुद्धमेवेत्याशङ्क्याह—त्वय्येति। हे विभो! सर्वदा सर्वथा सर्वत्र समर्थः, त्वय्येतन्नो विरुद्ध्यते। तत्र हेतुमाह—ईश्वरे ब्रह्मणीति। अचिन्त्यानन्तशक्तित्वात्। तथापि कथं न विरोध इत्यपेक्षायामाह—गुणैरिति। रजआदिगुणैः कुर्वद्भिर्जगज्जन्मादिकर्तृत्वं त्वय्युपचर्यते। यथा भृत्यकर्तृत्वं तत्स्वामिनीत्यर्थः। उपचारे हेतुमाह—त्वदाश्रयत्वादिति। तेषां गुणानामाश्रयत्वादित्यर्थः। तथाच गुणद्वारा कर्तृत्वम्, स्वतस्त्वनीहत्वादिति न विरोध इति भावः॥ १९॥ नन्वेवं चेद्ब्रह्मविष्णुरुद्रेभ्यः सृष्ट्यादिप्रतिपादकशास्त्रविरोधः स्यादित्याशङ्क्य ब्रह्मादिस्वरूपमपि त्वमेव बिभर्षि इत्याह स त्वमिति। खल्वित्यवधारणार्थः। सच्चिदानन्दात्मकः परमेश्वरस्त्वमेव त्रिलोकस्य स्थितये पालनाय स्वमायया स्वेच्छयैव सत्त्वेन गुणेनात्मनः स्वस्य शुक्लं स्वच्छं शान्तवर्णं विष्णुरूपं बिभर्षि धारयसि। तथा त्रिलोकस्य सर्गाय रजसा उपबृंहितं प्रकटितं रक्तं रागयुक्तं ब्रह्मस्वरूपं बिभर्षि। तथा जनानामत्यये संहाराय तमसा गुणेन कृष्णं क्रोधादितमःकार्ययुक्तं रुद्ररूपं बिभर्षि। अत्र शुक्लादिशब्दाः 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इति श्रुत्युक्तसत्त्वादिवर्णपराः सत्त्वादिगुणकार्यशान्तिरागक्रोधादिपराश्च, न स्वीकृतमूर्तिवर्णपराः। सत्त्वमूर्तेर्विष्णोस्तमोमूर्तेः रुद्रस्य च मूलोक्तवर्णवैपरीत्यनिश्चितत्वात्॥ २०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशति—एवं भवानिति। एवं भवानपि अप्रविष्टोऽपि प्रविष्ट इव भाव्यसे। ननु यद्यहमप्रच्युतस्वरूप एव कारणतया कार्येषु वर्ते तर्हि तेष्विन्द्रियैः गृह्यमाणेषु मम ग्रहणं किं नास्ति तत्राह बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरिति। बुद्ध्या रूपादिज्ञानेनानुमेयं लक्षणं स्वरूपं येषां तैर्गुणैः इन्द्रियैः ग्राह्यैर्गुणैः सह सन्नपि वर्त्तमानोऽपि तद्गुणाग्रहः तैर्गुणैः सह न गृह्यसे। अयं भावः। न हि ग्राह्यैः सह भावमात्रं ग्रहणे कारणं किन्तु इन्द्रियाणां शक्तिः सा च कार्यैकसमधिगम्या। यथा कार्यमेव कल्प्यते अतो यथा चक्षुषा रूपग्रहणेऽपि रसादिग्रहणं नास्ति एवं सहभावेऽपि जिह्वया रस एव गृह्यते नतु रूपं तथैव विषयग्रहणे त्वद्ग्रहणमपीति अविषयत्वेन च ग्रहणानर्हत्वम्। यद्वा। एवं भवान् स्वप्रकृत्या सृष्टे जगति प्रविष्टोऽपि बुद्ध्याऽनुमेयमेव लक्षणं येषां तैः स्वप्रकाशत्वानन्दादिभिर्ग्राह्यैः सह सन्नपि तस्याः प्रकृतेर्गुणान् दुःखात्मकान्न गृह्णातीति तद्गुणाग्रहोऽस्ति। यद्वा ग्राह्यैः प्राप्यैः उपादेयैः गुणैः प्रेमवश्यत्वादिभिः सह सन्नपि नित्यं वर्तमानोऽपि तेषु गुणेषु आग्रहः पुनः पुनरासक्तिर्यस्य तथाभूतो भवान् भवति तानेव गुणान् गर्भप्रवेशादिभिर्व्यञ्जयसीत्यर्थः। किञ्च अपरिच्छिन्नत्वात् नीडे पक्षिण इव तव प्रवेशोऽपि न संभवति इत्याह। सर्वस्य सर्वरूपस्य सर्वेषामात्मनोऽन्तर्यामिणः आत्मा चासौ वस्तु च तस्य व्यापकस्य परमार्थवस्तुनश्च ते तव अनावृतत्वात् परिच्छेदरहितत्वात् बहिरन्तरं बहिरन्तर्भेदो नास्ति। न हि सर्वस्वरूपस्य सर्वात्मनो व्यापकस्य चावरणं घटते नापि भेदः कुतः प्रवेश इत्यर्थः। तस्मात्त्वान्तर्यामितयापि प्रवेशो न मुख्योऽस्ति कुतस्तरां गर्भे प्रवेशः। अतः केवलानुभवानन्दरूप एव त्वं विदितोऽसीत्याश्चर्य्यं मम भाग्यमित्यर्थः॥ १७॥ य इति। यः पुमान् आत्मनो दृश्येषु गुणेषु देहादिषु स्वव्यतिरेकतः आत्मव्यतिरेकेण पृथक् सन्नयं देहादिरिति व्यवस्यते निश्चिनोति। तच्चार्थः। सः अबुधः अविद्वान् यतः मनीषितं विचारितं सत् देहादि सर्वम् अनुवादं वाचारम्भणं विना न सम्यग्भवति अतोऽवस्तुत्वेन त्यक्तं बाधितमेव वस्तु बुद्ध्या उपाददत् स्वीकृतवान्। अतः स अबुध एव "दद दाने" लङ् परस्मैपदमार्षम् डुदाञो रूपं चेत् ह्रस्वत्वमप्यार्षम्। यद्वा। यः आत्मनः स्वस्य गुणेषु भोगेषु स्रक्चन्दनादिषु सन्निति व्यवस्यते सः स्वस्मिन् तेषां व्यतिरेकतः सदा संयोगाभावाद्धेतोः शोकादिप्रदत्वात् अबुधः नु निश्चितं वादं विना तस्य मनीषितं सम्यक् नास्ति वाद एव तत्रास्ति न तु विचार इति भावः। यतः स पुमान् त्वद्भक्तैः त्यक्तं घृणयोत्सृष्टमेव भोग्यं वस्तु उपाददत्। यद्वा। यः आत्मनो दृश्याः गुणाः सौन्दर्यप्रभावादयो येषु तेषु देवादिषु मध्ये स्वव्यतिरेकतस्तद्व्यतिरेकेण अयं देवः सन्निति यो व्यवस्यते सः अबुधः। यतस्तस्य जनस्य मनीषितं ह्यसिद्धार्थानुवादं विना नास्ति। अन्धपरम्परोपदेशेन प्रमाणत्वाभावात्। अतः सम्यङ् न भवति। यतः स पुमान् सूरिभिः अपुरुषार्थतया त्यक्तमेवोपाददत्। यद्वा। दृश्या रम्या ये गुणास्तेषु मध्ये स्वव्यतिरेकतः स्वरूपभूताधिष्ठानं त्वां विनाऽन्यत्र देवादिषु अयं गुणः सन्निति यो निश्चिनोति सः अबुधः समानमन्यत्॥१८॥ त्वत्त इति॥ हे विभो! अनीहात् ईहा चेष्टा कामना वा तद्रहितात् अगुणात् निर्गुणात् अविक्रियात् निर्विकाराच्चापि त्वत्तः अस्य जगतः जन्मस्थितिसंयमान् वदन्ति। ब्रह्मणि निर्विकारादिरूपेऽपि ईश्वरे ईशनाद्यचिन्त्यशक्तिमति त्वयि एतन्न विरुध्यते ब्रह्मत्वादविकारित्वमीश्वरत्वात् कर्तृत्वमिति न विरोधः। चिन्तामण्ययस्कान्तादीनामविकारिकार्यकारित्वयोर्दर्शनात् उभयविधश्रुतिसद्भावात् उपपत्त्यन्तरमाह—तदाश्रयत्वात् जगदाकारपरिणतानां तेषां गुणानामाश्रयत्वात् गुणैः कुर्वद्भिर्जगज्जन्मादि कर्तृत्वं त्वय्युपचर्यते।

यथा भृत्यकर्तृत्वं तत्स्वामिनीत्यर्थः। आध्यासिकसंबन्धेन परिणममानगुणाधिष्ठानत्वात्॥ १९॥ स त्वमिति। स खलु स एव सच्चिदानन्दात्मकः परमेश्वरः त्वमेव त्रिलोकस्थितये त्रयाणां लोकानां पालनाय स्वमायया स्वच्छयैव सत्त्वेन गुणेनात्मनः स्वस्य शुक्लं स्वच्छं शान्तवर्णं विष्णुरूपं बिभर्षि धारयसि तथा त्रयाणां लोकानां सर्गाय रजसा उपबृंहितं प्रकटितं रक्तं रागयुक्तं ब्रह्मस्वरूपं बिभर्षि तथा जनानामत्यये च संहाराय तमसा तमःकार्ययुक्तं कृष्णं वर्णं रुद्ररूपं बिभर्षि॥ २०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, भवान् त्वं बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः ज्ञाननिरूपणीयस्वभावैः, ग्राह्यैः इन्द्रियैर्ग्रहीतुं योग्यैरित्यर्थः। गुणैर्गुणमयैर्देवादिपदार्थैः, सन्नपि देवमनुष्यादिपदार्थेष्वनुप्रविश्य विद्यमानः अपि, तद्गुणैर्देवादिभावगतविकारैर्न गृह्यते नोपादीयते न स्पृश्यते इति यावत्। इति तद्गुणाग्रहः, भवति। ननु कथं तद्विशिष्टस्यापि मम तद्विकारास्पर्श इत्यत्राह। सर्वस्य कृत्स्नजगत्कारणतया तदनन्यत्वेनावस्थितस्य, सर्वात्मनः सर्वशरीरकस्य, शरीरात्मभावनिबन्धनमेवानन्यत्वं, न तु स्वरूपाभेदनिबन्धनमित्यर्थः। यतः त्वं सर्वात्माऽत एव न तव सर्वगतदोषप्रसङ्ग इति भावः। न हि देहगता बाल्यादयो धर्मास्तदात्मनि प्रसज्जन्तीत्यभिप्रायेण विशिनष्टि। आत्मवस्तुनः सर्वेषामात्मनामप्यात्मभूतस्येत्यर्थः। ते तव, बहिः, अन्तरं, न। कुतः अनावृतत्वात् असंकुचितज्ञानत्वात्। यद्वा। अनावृतत्वात् ते, बहिः, अन्तरं न। यद्यपि बालोऽहं युवाहमिति देहधर्मास्तदात्मनि प्रतीयन्ते, तथापि जीवानां सा प्रतीतिः देहात्मभ्रान्तिमूला, आत्मात्मनः परमपुरुषस्य तव त्वनावृतत्वादावरणमूलकदेहात्मभ्रान्त्यादेरभावादात्मात्मनि त्वयि न शरीरगतदोषसंस्पर्शः तत्प्रतीतिश्चेति भावः॥ १७॥ एतदेव विशदयितुं परमपुरुषस्य प्रत्यक्षतः स्वयाथात्म्यवेदनत्वेन देहात्मभ्रान्त्यभावं जीवस्य तद्वैपरीत्यं चाह॥ य इति॥ बुधः सर्वज्ञः, शश्वत् स्वयाथात्म्यज्ञ इत्यर्थः। यः भवान्, स तु, आत्मनश्च स्वस्य तु व्यतिरेकतः सर्वस्मात् भेदाध्यवसायात्, दृश्यगुणेषु दृश्येष्विन्द्रियकेषु गुणेषु गुणकार्येषु देवादिभावेषु इत्यर्थः। सन्निति सत्यमिति व्यवस्यते च। विविनक्त्येव। अयं भावः। देवादिपदार्थेष्वन्तरात्मतयावस्थितमप्यात्मानं निरस्तनिखिलदोषत्वेनापरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वरूपत्वेनैकरूपतया निर्विकारत्वेन च सद्रूपमिति विविनक्ति इति। आत्मनेपदमार्षम्। ननु जीवोऽपि स्वस्वरूपं मद्वद्विविनक्तु किमिति देवोऽहं मनुष्योऽहं बालोऽहं युवाऽहमित्यात्मन्यध्यवस्यतीति चेत्, स देहात्मभ्रान्त्याऽऽत्मनि देहादिमध्यवस्य तथाऽनुवदति, तच्च विवेकिभिरात्मनः सकाशाद्दूरे समुत्सारितं तस्योपादानमात्मनि कुर्वतोऽस्य मनीषितं न सम्यगित्याह। विनेति। तन्मनीषितं तस्य जीवस्य देवोऽहं बालोऽहमित्याद्यध्यवसायः, अनुवादं विना, भवति। स्वात्मानुभवं विनैव वर्त्तते इत्यर्थः। अतः न सम्यक्, च अविचारसुन्दरमेवास्तीत्यर्थः। ननु लोके पण्डिततया विचक्षणतया ज्ञानितया च विख्यातोऽयं कथमित्थंभूतमनीषित उच्यते तत्राह। यतः स पुमान्, त्यक्तं उपाददत्, तत्त्वत्रययाथात्म्यविद्भिस्त्वं देवो न, बालो नेत्येवं तत्र तन्निषेधार्थमुपयोगीकृतं यत्तदेव देहात्मभ्रान्त्या स्वीकरोति, तेन स्वीकृतमपि तद्बाधितमेव, न त्वबाधितमिति भावः॥ १८॥ ननु निर्विकारस्य मम विकाराश्रयत्वरूपं जगत्कारणत्वं कथमित्यत्राह॥ त्वत्त इति॥ हे विभो, अनीहात् संकल्पेतरव्यापाररहितात्, अगुणात् सत्त्वादिगुणत्रयरहितात्, अविक्रियादविक्रियस्वरूपादपि, त्वत्तः कारणरूपाद्भवतः सकाशादेव, अस्य जगतः, जन्मोत्पत्तिश्च स्थितिः पालनं च संयमो लयश्च तान्, वदन्ति। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहु स्याम्' इत्यादयो वेदान्ताः, प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। ननु कथमग्निना सिञ्चेदितिवदसंगतमर्थं वेदान्ता अपि प्रतिपादयेयुरित्यत्राह। त्वयीति। ईश्वरे जगत्कारणे प्रकृतिपुरुषशरीरके, तयोर्नियन्तरीत्यर्थः। ब्रह्मणि निमित्तत्वोपादानत्वोपयुक्तसार्वज्ञसर्वशक्तित्वाद्यनन्तकल्याणगुणैः स्वरूपेण च बृहति, त्वयि नो विरुद्ध्यते। जगत्कारणत्वमिति मेषः। प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे सर्वशक्तौ त्वयि सर्वकारणत्वमविरुद्धमेवेत्यर्थः। अयं भावः। त्वत्स्वरूपस्य निर्विकारत्वेऽपि त्वच्छरीरभूतचिदचिद्द्वारा तव विकाराश्रयत्वात् तदाश्रयत्वरूपं कारणत्वं न विरुद्धताभागिति। ननु त्वमेव सृज्यं स्रष्टा चेत्यादिवाक्यैर्मामेव सृज्यं स्रष्टा चापि वदन्ति। तत्र सृज्यत्वादेः शरीरभूतचिदचिद्गतत्वात् कथं मयि साक्षात् सृज्यत्वादिव्यपदेश इत्यत्राह। आश्रयत्वात्, गुणैरुत्पत्त्यादिगुणैः युक्ते त्वयि, तत् सृज्यत्वादिकं, उपचर्यते। स्वशरीरभूतकार्यवर्गस्याश्रयत्वादन्तरात्मतया तद्वारकत्वाच्च शरीरगतैरुत्पत्त्यादिभिर्गुणैर्विशिष्टे त्वयि, शरीरद्वारा तदुपचर्यते न तु साक्षादित्यर्थः॥ १९॥ ननु नाहं जगज्जन्मस्थितिसंयमकारणमपि तु ब्रह्मविष्णुरुद्रा एवेत्यत्राह॥ स त्वमिति॥ स उक्तविधः त्वं, त्रिलोकस्थितये त्रिलोकपालनाय, स्वमायया स्वस्य संकल्पेन, आत्मनः शुक्लं विशुद्धं, वर्णमाकारं, रजस्तमोभ्यामननुविद्धमप्राकृतं शुद्धसत्त्वमयं विग्रहं बिभर्षि उपादत्से खलु। सर्गाय त्रिलोक्याः सृष्टिविधानार्थं तु, रजसा रजोगुणोपलक्षितेन ब्रह्मणा, उपबृंहितमधिष्ठितं, रक्तं वर्णं रजोगुणप्रधानं शरीरमित्यर्थः। बिभर्षि। तथा, जनस्य उत्पत्तिमतस्त्रैलोक्यस्य अत्ययः प्रलयस्तस्मिन्, त्रिलोकीलयविधाननिमित्तमित्यर्थः। तमसा तमोगुणोपलक्षितरुद्रेणेत्यर्थः। उपबृंहितमधिष्ठितं, कृष्णं वर्णं च, तमोगुणमयं शरीरमपि, बिभर्षि॥ २०॥

कृष्णप्रिया

इसी प्रकार आप बुद्धि के द्वारा ही जिनका स्वरूप अनुमानतः सिद्ध होता है उन इन्द्रियों से गृहीत होने वाले गुणों के साथ रहते हुए भी उन इन्द्रियों के सामर्थ्य से गृहीत नहीं हो पाते, आपके आवरण होने के कारण बाहर भीतर का भेद नहीं क्योंकि आप सर्वरूप हैं सबके आत्मा हैं और आत्मामात्र के वस्तु रूप (फलरूप) हैं ।। १७ ।। जो पुरुष आत्मा के दृश्य देह इन्द्रियादि गुणों में किसी पदार्थ को आत्मा से भिन्न है इस प्रकार समझता है वह मूर्ख है, क्योंकि विचार करने पर वह देह इन्द्रियादि केवल अनुवाद मात्र ही हैं; विचार दशा में जिस पक्ष का अच्छी तरह से त्याग किया जा चुका है उसी पक्ष का स्वीकार करना मूर्खता नहीं तो क्या है ।। १८ ।। हे विभो ! आप से इस जगत् के उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होते हैं ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, आप तो कोई चेष्टा नहीं करते एवं गुण और विकारों से रहित हैं परन्तु समर्थ ब्रह्म में यह कुछ विरोध नहीं आता, गुण भी तो आपके ही आश्रित है, रज आदि गुण से उत्पत्ति आदि का होना उपचार मात्र है ।। १९ ।। त्रिलोकी की स्थिति के लिये आप अपनी माया से अपने शुक्ल वर्ण रूप सत्त्वगुण को धारण करते हैं, सृष्टि के लिये रजोगुण से पुष्ट हुए रक्त वर्ण को धारण करते हैं एवं तमोगुण से पुष्ट हुए कृष्ण वर्ण को लोक प्रलय के निमित्त धारण करते हैं ।। २० ।।

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ।। २१ ।।
अयं त्वसभ्यस्तव जन्म [1]नो गृहे श्रुत्वाग्रजांस्ते [2]न्यवधीत् सुरेश्वर ।
स तेऽवतारं पुरुषः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ।। २२ ।।

श्रीशुक उवाच

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् । देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता [3]सुविस्मिता ।। २३ ।।

[4]श्रीदेवक्युवाच

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ।। २४ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विभो अखिलेश्वर त्वम् अस्य लोकस्य रिरक्षिषुः मम गृहे अवतीर्णः असि राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैः निर्व्यूह्यमानाः चमूः निहनिष्यसे ।। २१ ।। सुरेश्वर असभ्यः अयं तु नः गृहे तव जन्म श्रुत्वा ते अग्रजान् न्यवधीत् सः पुरुषैः समर्पितं ते अवतारं श्रुत्वा उदायुधः अधुना एव अभिसरति ।। २२ ।। अथ कंसात् भीता देवकी एनम् आत्मजं महापुरुषलक्षणं वीक्ष्य सुविस्मिता तम् उपाधावत् ।। २३ ।। अव्यक्तम् आद्यं ब्रह्म ज्योतिः निर्गुणं निर्विकारं सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सः साक्षात् अध्यात्मदीपः विष्णुः त्वम् (असि) ।। २४ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

रिरक्षिषुः रक्षितुमिच्छुरवतीर्णोऽसि । कृष्णेन वर्णेन अतः साधूनां रक्षणार्थं राजन्यसंज्ञा येऽसुरकोटियूथपास्तैर्निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाश्चमूः सेना निहनिष्यसे संहरिष्यसि ।। २१ ।। किं तु तथाप्यप्रमत्तेन त्वया भाव्यमित्याह । अयं त्विति । असभ्यः खलः । समर्पितं कथितम् । अभिसरत्यागमिष्यति ।। २२ ।। उपाधावदस्तौत् ।। २३ ।। त्वयि भयशंकैव तावन्नास्तीति श्लोकचतुष्टयेनाह देवकी किंचिद्विज्ञापयितुम् । रूपमिति । यत्तत्किमपि रूपं वस्तु प्राहुर्वेदाः । किं तद्वस्तु तदाह । अव्यक्तम् । अत्र हेतुः । आद्यं कारणम् । किं परमाणवः न ब्रह्म बृहत् । किं प्रधानं न ज्योतिश्चेतनम् । किं वैशेषिकाणामिव ज्ञानगुणं न निर्गुणम् । किं मीमांसकानामिव ज्ञानपरिणामि न निर्विकारम् । किं पुष्कराक्षादीनामिव शक्तिविक्षेपपरिणामि न सत्तामात्रम् । तर्हि किं सामान्यं न निर्विशेषम् । तर्हि किं कारणत्वात्सक्रियं न निरीहम् । सन्निधिमात्रेण कारणं एवंभूतं किमपि कार्यकल्प्यं यद्वस्तु स एव साक्षात्त्वं विष्णुरिति । न केवलं कार्यकल्प्यत्वम् अपरोक्षश्चेत्याह । अध्यात्मदीप इति । बुद्ध्यादिकरणसंघातप्रकाशक इत्यर्थः । अथवा अव्यक्तं न केनापि प्रकारेण व्यज्यत इत्यव्यक्तम् । कथं उत्पत्त्या तावन्न व्यज्यत इत्याह । आद्यं सर्वस्य कार्यस्याद्यं कारणम् ।

---

१. नौ–श्रीधर. गिरि. ; जन्मगृहे नो–वंशी. ; जन्म मे गृहे–मक्त. । २. हतवान्–इति कस्यचित् । ३. शुचि–श्रीधर. वंशी. वीर. गिरि. मक्त. । ४. देवक्युवाच–श्रीधर. ।

अनादीत्यर्थः। तथा ब्रह्म ज्योति निर्गुणं निर्विकारमिति चतुर्भिः पदैर्देशेन प्रकाशेन च गुणेन च विकारेण च व्यक्तिं निराकरोति। तथा सत्तामात्रमिति विशेषेण निर्विशेषमिति सामान्येन निरीहमिति क्रियया च व्यक्तिं निराकरोति। अन्यत्समानम्। एवंभूतस्य तव न भयशंकेति भावः ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यतोऽवतीर्णोसि अतो हेतोः ॥ २१ ॥ यद्यपि खलप्रहाणयेऽवतीर्णोसि तथाप्यन्यच्छृणिवत्याह—किं त्विति। अप्रमत्तेन सावधानेन भाव्यं भवितव्यम्। अयं कंसः। कंसस्य बालहननादि दुश्चरितं पश्यद्भिरपि सुरैर्न किञ्चित्तद्दमनं कृतमतस्त्वां प्रार्थयामीति सुरेश्वरसंबुद्ध्यभिप्रायः। अभिसरति अभिमुखमेवागतप्रायं तं पश्यामीत्यतोऽधुनैवेदं रूपमुपसंहर समागते तु तस्मिन्नुपसंजिहीर्षतः पूर्वं किं भविष्यतीति। उदायुध उद्धृतायुध इति। मे महान्कंप इति भावः ॥ २२ ॥ अथ वसुदेवस्तुत्यनंतरम्। एनमित्यन्वादेश एतद् एनदादेशः। यो वसुदेवेन स्तुत एनं महापुरुषो विष्णुस्तस्य लक्षणानि शंखचक्रादीनि यस्य तम्। यद्वा—अथ पत्युर्भयं दृष्ट्वा समीपं भीतेति। स्वरूपमुपसंहरंतं स्मयमानं तमालक्ष्य परमेश्वरत्वाहंकारेण कंसभयं न गणयति तदहं किं करोमीति विह्वलेत्यर्थः। सुविस्मितेत्यस्य परमेश्वराग्रे कोयं खलु वराकः कंसस्तदप्यावयोर्भयं वर्द्धत एवेति कोयमविवेको दुस्तर इति भावः। शुचिस्मितेति पाठे। अहो मे भाग्यं साक्षात्परब्रह्मैव पुत्रतामाप्त इत्याह्लादेन शोभनेषद्धासमुखीत्यर्थः ॥ २३ ॥ अथ देवकी परमात्मनि निर्भयतां निवेदयंती स्तौतीत्याह—त्वयीति। तावत्सर्वथा। विज्ञापयितुं बोधयितुम्। रूप्यते निरूप्यत इति रूपम्। तदाह—वस्तु वक्ति न व्यज्यते वेदातिरिक्तमानेन प्रकाश्यत इत्यव्यक्तम्। अत्राव्यक्तत्वे। "आद्यं कारणं कोऽद्धा वेदकः प्रावोचत्" इत्यादिश्रुतेः। तार्किकैः परमाणव एव जगत्कारणत्वेन स्वीक्रियंते तन्निरस्यंत्याह—न ब्रह्मेति। ननु तर्हि "अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्" इत्यादिश्रुतेः "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥" इति श्रीमुखोक्तेश्च। किं प्रधानं सांख्यैरपि तदेव जगत्कारणत्वेनांगीक्रियते तन्निरस्यंत्याह न ज्योतिरिति। चेतनं प्रधानं त्वचेतनत्त्वान्न कारणमिति निरूपितमाद्यश्लोकव्याख्याने "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इति परमर्षिसूत्रेण वैशेषिका अपि तार्किका एव ते ईश्वरं ज्ञानगुणकं मन्यंते तदाक्षिपंत्याह—न निर्गुणमिति। मीमांसकास्तु "विक्रिया ज्ञानरूपस्य नित्यत्वेन विरोत्स्यते" इत्यादिवाक्यैर्ज्ञानपरिणामिनमात्मानमभ्युपगच्छंति तन्मतं घ्नंत्याह—न निर्विकारमिति। पुष्कराक्षा उत्तरमीमांसकैकदेशिनस्तु शक्तिविक्षेपेण मायानिष्ठविक्षेपशक्त्या परिणामिनमात्मानमभ्यर्हंति तन्मतमनंगीकुर्वंत्याह—स सत्तामात्रमिति। सत्स्वरूपं सर्वदैकरसमिति यावत्। तर्हि किं सामान्यं तन्निरस्यंत्याह—न निर्विशेषमिति सामान्यस्य परापररूपविशेषवत्त्वात्। तार्किकैः परापरभेदेन सामान्यद्वयमूरीक्रियते परं सत्ताऽपरं द्रव्यत्वादीति। कारणत्वं समर्थ्य पुनराशंकते—तत्र तर्हीति। तर्हीह वाक्यालंकारेऽव्ययमिति ध्येयम् अव्ययानामनेकार्थत्वात्। निरीहं निष्क्रियं सन्निधिमात्रेण चुंबकाश्मवदिति। एवंभूतं सन्निधिमात्रेणैव कारणतावत्। किमपि अनिर्वाच्यम्। कार्येण जगदुत्पादनादिरूपेण कल्प्यत इति कार्यकल्पम् "यतो वा इमानि भूतानि जायंते" इत्यादिश्रुतेः। साक्षात् अपरोक्षः प्रत्यक्षः। इत्यर्थ इति। जडानां चेतनमंतरा प्रकाशासंभवादिति भावः। पूर्वव्याख्याने नानामतनिरासप्रयासात्तद्विहाय शुद्धवेदांतमतमेव श्रेयोऽतस्तत्पक्षमाह—अथ वेति। केनापि प्रकारेण प्रत्यक्षानुमानादिरूपेणेत्यर्थः। तावत्प्रथमम्। इत्यर्थ इति। आदिमत एव व्यक्तिर्भवति न त्वनादेरिति तात्पर्यम्। तथा दर्शयति चतुर्भिर्विशेषणैः। ब्रह्म व्यापकं नहि व्यापकस्य कस्मिंश्चिद्देशे एव व्यक्तिरस्ति व्यापकत्वव्याघातादिति भावः। ज्योतिः सर्वप्रकाशकम् "येनेद्धः सूर्यस्तपति" इत्यादिश्रुतेः। सर्वप्रकाशकस्य कश्चित्परिच्छिन्नप्रकाशो व्यक्तिं कर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः। निर्गुणं निर्गुणस्य न केनापि गुणेन व्यक्तिः संभवतीति निर्गुणत्वहानेः निर्विकारम्। सविकारस्य प्रकृत्यादेर्महदादिद्वारेणाभिव्यक्तिर्भवति निर्विकारस्य तु सा कथमपि न संभवतीत्यर्थः। तथैव सत्तामात्रम्। सत्तास्वरूपस्य व्यक्तिकारको न कश्चिद्विशेषोऽस्ति तस्यैव सर्वव्यंजकत्वात्। तच्च घटः सन् पटः सन्निति सत्तयैव घटादयो व्यज्यंते न तु घटादिभिः सत्तापीति तेषामसत्त्वात्। असतोऽपि व्यंजकत्वे वंध्यात्मजोऽपि स्वरूपादि व्यंजयेदिति भावः। निर्विशेषं सविशेषस्यैव सामान्येन घटत्वादिना घटादेर्व्यक्तिर्दृश्यते न तु निर्विशेषस्य ब्रह्मणोपीति विशेषोऽत्रावयवादिर्ज्ञेयो न तु तार्किकाभिमतपंचमपदार्थ इति। निरीहम्। सचेष्टस्यैव क्रियया कर्मणा व्यक्तिर्दृश्यतेऽविहितकपाटकोष्ठान्तर्गतस्य यथा कपाटोद्घाटनकर्मणा न तु निश्चेष्टस्याकाशादेरपीति। अन्यद्विवृतावशिष्टं रूपं यत्तदित्यादि। एवंभूतस्य सर्वथा परब्रह्मरूपस्य। इति भाव इति। न हि 'यद्बिभेति स्वयं भयम्' इत्युक्तेः 'भीरपि य द्बिभेति' इत्युक्तेश्च "मृत्युश्चरति यद्भयात्" इति श्रुतेः "यस्य मृत्युरुपसेचनम्" इति श्रुतेश्च कालस्यापि त्वत्तो भीतत्वात्कथमपि तव भयशंकैव नोदेति भयं तु कथं स्यादिति तात्पर्यम् ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अधुना तु लोकहितार्थं स्वयमेव मत्पुत्रतां प्राप्नोसि अहो लोकभाग्यं किमुत मद्भाग्यमित्याह—त्वमिति। अस्य विविधदुःखसागरनिमग्नस्य यादवादिभक्तजनप्रधानस्य सर्वलोकस्य रिरक्षिषुः सुपांसुपो भवन्तीति द्वितीयायाः षष्ठी तं रक्षितुमित्यर्थः। हे विभो अखिलेश्वरेति अवतारासम्भवं द्योतयति तथाप्यवतीर्णोऽसि तत्रापि मम गृहे मत्सम्बन्धमात्रयुक्ते कारागृहेऽपि अहो परम-

कारुण्यमहिमेति भावः। तस्मात् क्षत्रियच्छद्मासुरचक्र वर्त्तिवृन्दैर्निःशेषेण विशेषेण च उह्यमानाश्चाल्यमानायाश्चम्वस्ताः पुनरावृत्य-भावेन नितरां हनिष्यस एव तदग्रतस्तासां हननेन तेषां हननस्यापि सुष्ठुप्राप्तेस्तत्सहितहननमेव विवक्षितं यद्वा निर्व्यूह्यमाना निर्व्यूढाः सिद्धा इत्यर्थः। दीर्घपाठस्तु तेषामसम्मतः निःशेषेण व्यूहं कार्यमाणव्यूहत्वेन रच्यमाना इत्यर्थः ॥ २१ ॥ अयमिति। अत्र तेषामाभासे किन्त्विति पितृस्नेहमूढतया त्विदं निवेदयामीत्यर्थः। तदेवाह तथापीति यद्वा तेषां मध्ये महादुष्टत्वात्तदीयानां नः परमदुःखदत्वात् अद्यापि धृष्टचेष्टतयैव भावित्वाच्चायमेव प्रथमं प्रतिकार्य इत्याह अभ्यहनत् अभ्यहन् शिलायां पेषयामास न्यवधी-दिति पाठस्तु सार्वत्रिकः तैः सम्मतश्च सिद्धत्वेनासमाहितत्वात् अभिसरति आगच्छन्नेव वर्त्तते हे सुरेश्वरेति तच्च त्वदुक्तदेववैरिणा-मसुराणां युक्तमेवेति भावः ॥ २२ ॥ अथ श्रीवसुदेवस्तवानन्तरं तमेनमित्यन्वयः। तं चिरमपेक्षितम् एवं दिव्यरूपेणाविर्भूतमित्यर्थः। आत्मजं निजोदरादेव जातत्वेन भातं तादृशभानोत्पादनं च ममता विशेषजननार्थम् अत एव मम गर्भजोऽभूदित्याद्युक्तिः किन्तु प्रसूतिरीत्यनुकरणात्तद्गोपनाय पूर्वं योगनिद्रया वा भगवत्तेजसा वा बाह्येन्द्रियावरणमपि कृतम् अत एवात्मेत्युक्तं महापुरुषः स्वयम् भगवान् तत्रात्मजत्वदर्शनं भये हेतुः महापुरुषत्वदर्शनं विस्मये हेतुः स्तोत्रे चेति ज्ञेयं तथापि भयस्थितिरात्मजत्वदर्शनमयस्य स्नेहस्य प्राबल्यं दर्शयति ॥ २३ ॥ रूपमिति। तैर्व्याख्यातं तत्राव्यक्तं सर्वागोचरं ननु, वस्तु च सर्वागोचरं चेति न सम्भवति तत्राह—कारणं सर्वकारणं कार्यान्यथानुपपत्त्यैव गम्यमित्यर्थः। न ह्यग्नेरर्चिषोऽग्निः प्रकाश्यते दह्यते वा स इति भावः। ननु, परमाणुसमुदाये खल्वव्यक्तत्वं कारणत्वं च विद्यत इति तत्रातिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्कते किं परमाणव इति परिहरति नेति। तेषां वाय्वादिपरमाणूनां परस्पराव्यावृत्तेर्न बृहत्तमत्वमित्यर्थः। तर्हि तत्तद्धर्ममये प्रधानेऽतिव्याप्तिरित्याह, किमिति परिहारे तु स्वतः प्रकाशमानत्वाज्ज्योतिः शब्देन चेतनमुच्यते प्रधानस्य जडत्वात् तत्प्रकाश्यत्वमिति भावः "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" (१।१।२५) इति न्यायात् ननु, चितो ज्ञानस्य योगाच्चेतनमुच्यते तर्हि यथा वैशेषिकाणामात्मानः स्वतो जडाः किन्तु ज्ञानगुणयोगादेव चेतना इति मतं तथा किन्तरापि तद्वस्त्वित्याशङ्कते किं वैशेषीति तथैव तत्राशङ्कान्तरं किं मीमांसकानामिव इति अथ भास्करीया यद्ब्रह्मण एव शक्तिकृतविक्षेपेण ज्ञानक्रियादिरूपतया परिणामं मन्यन्ते तदप्याशङ्कन्ते किं भास्करीत्यादिना तत्परिहरति न सत्तामात्रमिति। सच्छब्देनात्र वस्त्वेवोच्यते तस्य तु प्रवृत्तिनिमित्तं सत्तातन्मात्रमित्यविकृतमेव तदित्यर्थः। तत्तु सोत्प्रासमाक्षिपति। तर्हीति सा खलु सामान्यं तच्च पराजातिरेवोच्यते सा च पूर्वोक्ता व्यक्तादिरूपा न भवतीति हस्तिस्नानमिव सर्वं जातमिति भावः। तत्र सिद्धान्तयति न निर्विशेषमिति सामान्यं खलु विशेषेष्वनुगतमेव स्यात् तत्तु विशेषात् पूर्वमुत्तरमपि वर्त्तमानं न सामान्याकारमित्यर्थः। ततस्त-त्प्रकाशकत्वात्तद्वाचकशब्दस्यापि प्रवृत्तिनिमित्तं या चित् सैव सत्तोच्यत इत्यर्थः, चेतनत्वं च स्वयं प्रकाशत्वादेवोक्तमिति भावः। तदेवं सामञ्जस्ये पुनराशङ्कते तर्हीति सक्रियं सक्षोभमित्यर्थः। एवं निरीहमित्याद्यपि सन्निधिमात्रेणेति स्वरूपभूताचिन्त्यशक्त्यै-वेत्यर्थः। विशेषतश्चायमर्थः ननु, सारांशविवेके सति जगदपि ब्रह्मत्वेनोपलभ्येत तर्हि केन विशेषस्तत्राह, साक्षादिति मायाना-वृतत्वेनेत्यर्थः। तस्मादिदं व्यक्तत्वं षाड्गुण्यं कृपादिविकारित्वम् अङ्गप्रत्यङ्गविशेषवत्वं करचरणादिचेष्टासौष्ठवमपि स्वरूपं धर्म-वैभवमेव श्रीरामानुजादिमतानुसारेण तत्स्वरूपस्य सधर्मत्वस्थापना तु श्रीभागवतसन्दर्भतट्टीकादौ द्रष्टव्या अतः सत्तामात्रं केवल-धर्मरूपं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ब्रह्म सर्वतो बृहत् आद्यं जन्मरहितं दृष्टदोषप्राकृततत्तद्धर्मनिरासेन ज्ञानिनः प्रतिप्रकाशमानं तद्वस्तु यत् रूपं श्रीविग्रहं प्राहुः स तद्रूप एव भवान् न चैतदपि तत्तद्दोषार्हं भवेत् अदृष्टदोषत्वात् विद्वदनुभवसिद्धार्थैः शास्त्रैर्निराकृत-त्वाच्चेत्यभिप्रेत्य स्वयमेव निराकरोति तत्र जन्मराहित्यं साक्षादित्यनेनैव निराकरोति तत्तन्निजपरिच्छदवता स्वस्वरूपेणैव प्राकट्यात् परिच्छिन्नत्वं निराकरोति विष्णुरिति सर्वव्यापक इत्यर्थः। "न चान्तर्न बहिर्यस्य" इत्यादिवचनवृन्दात् श्रीयशोदादिभिः सर्वा-धारादित्वेनानुभवनीयत्वाच्च व्यक्तत्वं निराकरोति अध्यात्मदीप इति प्रत्युतास्माकं च बुद्ध्यादिकमेवेदं प्रकाशयसि ततो ब्रह्मवत्स्वय-मेव प्रकाशसे ततश्च न केनापि व्यज्यस इति शब्दश्लेषेण च आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमाना अध्यात्मान आत्मारामाः तानपि दीपयसि परमानन्देनोल्लासयसीति ब्रह्मतोपि परमाविर्भावत्वं दर्शितं साक्षादित्यनेन च तथैव व्यञ्जितम् अस्फुटस्फुटत्वेन तारतम्यादिति दिक्। यद्वा, यदिति यस्य रूपं श्रीविग्रहं तत् अनिर्वचनीयं वस्तु प्राहुः तदेवाह—अव्यक्तमित्यादिना निर्गुणादित्वं प्राकृतगुणादिरहितत्वम् एवं परब्रह्मत्वमुक्तं स एव त्वं विष्णुः निजैश्वर्येण सर्वव्यापक इति परमेश्वरत्वम् अध्यात्मदीप इति परमात्मत्वम् अन्यत्समानम्।।२४।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अधुना च लोकहितार्थं स्वयमेव त्वं मत्पुत्रतां प्राप्तोऽसीत्यहो ! मद्भाग्यमित्याह—त्वमिति। अस्य विविधदुःखसागर निमग्नस्य सर्वलोकस्य ततो रक्षितुमिच्छुः; किंवा अस्य यादवादि-निजभक्तलोकस्य भक्तिविघ्नतो रक्षार्थं मम गृहे मत्सम्बन्ध-मात्रयुक्ते कारागारेऽप्यवतीर्णोऽसि। विभो ! हे अपरिच्छिन्नेति अखिलेश्वर ! हे जगदीशेति चावतारणासम्भवं बोधयति, तथाप्य-वतीर्ण इत्यहो परमकारुण्यादिमहिमेति भावः। निःशेषेण विशेषेण चोह्यमानाः; दीर्घपाठे निःशेषेण व्यूहं कार्यमाणा इत्यर्थः, अत्रार्षो दीर्घः; नितरां हनिष्यसे भूभारहरणार्थमपुनरावृत्तिमोक्षदाने संहरिष्यसीति प्रार्थनापाटवम् ॥ २१ ॥ एवमखिललोकहितार्थम-त्रैवान्तिके साक्षादवतीर्णस्यापि तव माहात्म्यमभक्तः कदाचिदपि बोद्धुं न प्रभवेदित्याह—अयमिति। पूर्वमभ्यहनत् शिलायां मुहुः प्रक्षिप्य पिष्ट्वा मारयामास; अधुनाप्युद्यतायुध एव सन्नभिसरिष्यति, वेगेन धावन्नभिमुखमेष्यतीत्यर्थः। हे सुरेश्वरेति—

तच्च त्वद्भक्तद्वेषवैरिणामसुराणां युक्तमेव, अन्यथावधानापत्तेरिति भावः ॥ २२ ॥ अथ श्रीवसुदेवस्तवानन्तरमेनमीदृशमष्टमं वात्मजं निजोदरात् प्रसूतिरीत्या जातं यद्यपि जीववद्गर्भे प्रवेशो जन्मनैव घटते, तथापि स्नेहविशेषार्थं श्रीभगवतैव तादृशत्वं-प्रदर्शनात्तस्यास्तादृगभिमानः सम्भवत्येव । अतएव मम गर्भजोऽभूदित्याद्युक्तिः । एकमेव लौकिकवत् प्रसवानुकरणात् प्रसूतिसमये प्रसुप्ताया मातुः प्रागात्मजदर्शनासम्भवादथेत्युक्तम् । यद्वा, श्रीभगवत्तेजसोत्पन्नसाध्वसात् प्रागद्रष्टुमक्षमायाः पश्चात् प्रतिस्तुत्यनन्तरमाश्वस्तायास्तद्दर्शनमिति महापुरुषः श्रीनारायणस्तस्येव चतुर्भुजत्वादिना लक्षणं यस्य तं वीक्ष्य साक्षाद्दृष्ट्वा सुविस्मिता सती कंसाद्भीतापि तमात्मजमेव हर्षणास्तौत् । यद्वा, तादृशं वीक्ष्यापि स्नेहोद्रेकेण कंसाद्भीता । श्रीभगवज्जन्मना च सुविस्मिता । तमेनमिति वान्वयः । चिरमपेक्षितं दिव्यरूपेणाविर्भूतमित्यर्थः ॥ २३ ॥ रूपमिति तैर्व्याख्यातमेव । यद्वा, यदिति यस्य रूपं श्रीमूर्त्तिस्तदनिर्वचनीयं वस्तु प्राहुः । तदेवाह—अव्यक्तमित्यादिना । एवं परब्रह्मत्वमुक्तम् ; स एव त्वं विष्णुर्निजैश्वर्येण सर्वव्यापक इति परमेश्वरत्वम् ; अध्यात्मदीप इति परमात्मत्वम् । अन्यत् समानम् ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तमस्यः तमोगुणाभिभूतः ॥ २२-२३ ॥ रूप्यत इति रूपं स्वरूपम् अव्यक्तमिन्द्रियाग्राह्यं निर्गुणं सत्वादिगुणरहितं निर्विकारं शोकमोहादिविक्रियारहितं सत्तामात्रं वृद्धिक्षयादिरहितं निर्विशेषं शब्दादिरहितं निरीहं पुण्यपापरूपव्यापाररहितम् आत्मज्ञानं दीपो यस्य सः अध्यात्मदीपः आत्मविषयज्ञानप्रदो वा ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यद्यपि भवान् दुष्कृद्विनाशपूर्वकं त्रिलोकपालनाधिकृतत्वात्तदुपयुक्तया स्वासाधारण्या तन्वा अवातरत् तथाप्येनां तिरोधाप्य मनुष्यसजातीयां तनुमाश्रयान्यथाऽधुनवाऽयं कंसोऽभिद्रवतीत्यत्राह-त्वमिति द्वाभ्याम् । हे विभोऽखिलेश्वर ! अस्य लोकस्य रिरक्षिषुः पालयितुमिच्छुः मम गृहे कलत्रेऽवतीर्णोऽसि अस्येति कर्मणि षष्ठी राजन्यसंज्ञा येऽसुरसङ्घास्तेषां कोटिभिर्निर्व्यूह्यमानाः प्रचोद्यमानाः चमूः सेनाः निहनिष्यसि ॥ २१ ॥ तथा हे सुरेश्वर ! असभ्यः असत्सभाप्रवेशानर्हः खलेश्वर इति पाठे दुष्टाग्रगण्यः अयं कंसो मम गृहे तव जन्म श्रुत्वा भविष्यतीति श्रुत्वा तन्मात्सर्यादेव हेतोस्तवाग्रजान्यहनद्धतवान् कंसोऽधुना पुरुषैः स्वभटैः समर्पितं निवेदितं श्रावितमिति यावत्तवावतारं श्रुत्वाऽधुनैवोद्धृतमायुधं खड्गं येन तथाभूतोऽभिसरत्यभ्येति अत एव तनूं तिरोधापयेति भावः । अधुना अभिसरन्तमपि हन्तुं प्रभुरेव त्वं तथाप्यहं ततो विभेमीति च भावः ॥ २२ ॥ अथैनं देवक्यपि स्तुत्वा प्रार्थयामासेत्याह मुनिः—अथेति । महापुरुषस्य भगवतोऽसाधारणविलक्षणानि चतुर्भुजत्वादीनि यस्य तमेनमात्मजं वीक्ष्य परमपुरुषं ज्ञात्वा पूर्वं कंसाद्भीताऽपि शुचिस्मितं यस्यास्तथाभूता स्वपुत्ररूपभगवद्दर्शनेन निवृत्तभीतित्वाच्छुचिस्मिता सती देवकी तमुपाधावत् तुष्टाव ॥ २३ ॥ उपाधावनमेवाह-रूपमित्यादिभिः चतुर्भिः । तत् प्रसिद्धं यद्वेदान्तैकसमधिगम्यं परमात्मस्वरूपं स एव त्वमिति स्तौति—रूपमिति । यत्तद्रूपं वेदान्ताः प्राहुः स साक्षाद्विष्णुस्त्वमित्यन्वयः । रूप्यते प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन निरूप्यत इति रूपं परमात्मस्वरूपं वैलक्षण्यमेव दर्शयितुं विशिनष्टि अव्यक्तमित्यादिना, तत्राव्यक्तं निर्गुणं सत्तामात्रं निर्विशेषम् इत्येतानि प्रकृतिव्यावर्त्तकानि विशेषणानि अन्यानि तु पुरुषव्यवच्छेदकानीति विवेकः । अव्यक्तं व्यक्तैरिन्द्रियैर्न व्यज्यते न विषयीक्रियते इत्यव्यक्तमदृश्यमतीन्द्रियमित्यर्थः । प्रधानन्तु पृथिव्यादिरूपेण व्यक्तमिति भावः । अत्र "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" इत्यादि श्रुतिरनुसन्धेया यद्वा, तदन्यार्थको नञ् पृथिव्यादिरूपेण व्यक्तादचिद्द्रव्यादन्यदव्यक्तमिति साध्यधर्मोक्तिः तत्र हेतुः आद्यमादौ भवमाद्यं व्यक्तादचिद्द्रव्यादौ कारणत्वेनावस्थितं, किं तर्हि तत् सूक्ष्मावस्तमचिद्द्रव्यम् ? नेत्याह, निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितमनेन सूक्ष्मावस्था चिद्व्यावृत्तिः सत्तामात्रं सतो भावः सत्ता सैव सत्तामात्रं सच्छब्दः सततैकरूपवस्तुवाची वृद्धिक्षयादिरहितमित्यर्थः । निर्विशेषं विशेषाः शब्दस्पर्शादयः आकाशादिभूतपञ्चकगुणास्तेभ्यो निर्गतं तद्रहितमित्यर्थः । एवं कार्यकारणोभयावस्था चिद्द्रव्यावृत्तिः अथ चिद्द्रव्यव्यावृत्तये विशिनष्टि, ज्योतिः स्वयं प्रकाशं, किं तर्हि तद्बद्धजीवः ? नेत्याह; निर्विकारं शोकमोहादिविकाररहितं निरीहं पुण्यपापरूपव्यापाररहितं, तर्हि तत्किं मुक्तजीवः ? नेत्याह; अध्यात्मदीपः आत्मन्यध्यात्ममिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः आत्मनि दीपः दीपवत्स्वप्रकाशं नित्यमसङ्कुचितं धर्मभूतं ज्ञानं च यस्य सः अनेन मुक्तजीवव्यावृत्तिः तेषां संसारदशायां सङ्कुचितज्ञानत्वात्, तर्हि किं नित्यसिद्धजीवः ? नेत्याह; ब्रह्मस्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयवृहत् अनेन नित्यसिद्धव्यावृत्तिः तत्स्वरूपस्याप्यणुत्वात्सत्त्वं विष्णुरध्यात्मदीप इति पुंस्त्वनिर्देशो विधेयप्राधान्याभिप्रायकः । तत्त्वमिति पाठे तस्य भावस्तत्त्वमबाधितमित्यर्थः । एवं प्रकृत्यादिविलक्षणमबाधितं यद्रूपं तत्त्वम् इत्यध्याहारः । यद्वा तत्त्वमिति पदद्वयं यत्तदित्यत्र तच्छब्दः प्रसिद्धिद्योतकः यत्प्रसिद्धं प्रकृत्यादिविलक्षणं रूपं तत्त्वमित्यन्वयः । प्रकृत्यादिनामपि तच्छरीरकत्वेन तदात्मकत्वात्तदन्यदेवेति तद्व्यावृत्तये साक्षातत्त्वमित्युक्तं प्रकृत्यादीनां तदनन्यत्वं शरीरात्मभावकार्यकारणभावनिबन्धनं तव तु तद्रूपानन्यत्वं मृदात्मको घट इति यत्स्वरूपाभेदरूपमिति साक्षाच्छब्दाभिप्रेतोर्थः चतुर्मुखादि देवान्तरव्युदासाय विष्णुरित्युक्तम् ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सर्वरूपेषु सर्वशक्तिरस्तीत्याशयेन स्तौति-त्वमस्येति। त्वदवतारेण संहारकारणेन रक्षा कथंकारा स्यादित्याशङ्क्या-सतां हनने सतां तारतम्येन सुखसमृद्धिः स्यादित्याशयेनाह-राजन्येति। निर्व्यूह्यमानां निहनिष्यसे निहनिष्यसि गमयिष्यसि सतां सुखानुभवमितीतिशेषः। "चरभक्षणे" इति धातोः "सतां सुखविवृद्ध्यर्थमसतां पीडनं हरेः" इत्यादेश्च ॥ २१ ॥ स्वात्मनि स्वभक्तेषु द्वेषवृद्धिकरत्वेन द्वेषात्मकं तमो भवतीत्यतस्तदुपादाय त्वत्प्रवर्तनमित्याशयेनाह-अयं तमस्य इति। तमस्यः स्वभक्तद्वेषमूर्तिः तदुक्तं "तमो द्वेषात्मकं शुद्धं सत्त्वात्मानमुदीर्यते इति वा जन्म भविष्यतीति स्वपुरुषैः समर्पितम् अभिसरत्यभ्यागच्छति उदायुधः धृतायुधः ॥ २२ ॥ उपाधावत् गुणस्मरणपूर्वकं तुष्टाव ॥ २३ ॥ भगवदनुग्रहपात्रत्वाद्वेदान्तनिर्णीतगुणविशिष्टं स्तौति-रूपमिति। यद्यस्य तद्रूपम् एवंविधं प्राहुः वेदान्ता इति शेषः। परोक्षत्वात्तदित्युच्यते, कथंभूतम् ? अव्यक्तम् आराधनेऽपि स्वप्रसादमन्तरेणा-प्रत्यक्षं "तदव्यक्तमाह हि" (३।२।२२) "अव्यक्तमचलन्ध्रुवं तर्हि शून्यं नेत्याह" आद्यम् आदौ विद्यमानं "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" किमस्य संज्ञेत्यत्राह-ब्रह्मेति "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति ? "बृहन्तोऽस्मिन्गुणाः" संज्ञान्तर-माह-ज्योतिरिति। "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" यद्वा गुणित्वेपि चेतनत्वं माभूद्घटवदित्यत्राह-ज्योतिर्ज्ञान-लक्षणप्रकाशरूपं सुवर्णज्योतीः साक्षी चेता च गुणाः सत्त्वादयः किं नेत्याह—निर्गुणं केवलो निर्गुणश्च उत्पन्नक्षणे सर्वकार्याणां निर्गुणत्वम् उत्तरक्षणे नास्तीत्यादिविकारः किं न स्यादित्यत्राह—निर्विकारं निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः अज्ञानादिभिश्चज्ञानगुणः किं न स्याज्जीवगुणवदिति तत्राह-सत्तामात्रं सर्वाशुभनिर्मुक्तगुणैकरूपं "सर्वाशुभविनिर्मुक्तगुणमात्रो यतो हरिः। सत्तामात्रमतः प्राहुः" एवंविधमन्यन्नास्तीत्याह—निर्विशेषं निर्गतो विशेषो द्वितीयोयस्मात्तन्निर्विशेषं "निर्विशेषोऽखिलोत्तमः" "एकमेवाद्वितीयम्" निरहमात्मकर्तृत्वाभिमानादिरहितं न तु क्रियाशून्यं "स इमाल्लोकानसृजत" इति श्रुतेः "अनादरान्निरीहश्च सेहः सर्वकृती यतः" स साक्षात्त्वम् अन्यो न विद्वज्जनोक्तलक्षसंज्ञाभ्यामयं नारायण इति प्रत्येत्यतः प्राकृतजनप्रत्ययोत्पत्तये तत्सिद्धसंज्ञामाह—विष्णुः। णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा "स यो हेतौ णकारषकारावनुसंहितमृचो वेद" योगिभिर्ध्येयं वस्त्विदमेव नान्यदित्याशयेनाह— अध्यात्मदीपम् आत्मानमधिकृत्य वर्तमानदेहेन्द्रियादिप्रकाशकं "अध्यात्मयोगाधिगमनेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" यत्तदिति सामानाधिकरण्येन प्रकृते यदित्यस्य षष्ठीत्यङ्गीकारे किं नियामकम् ? उच्यते स इति पुल्लिङ्गेन परामर्शात् तद्रूपमि-त्यभ्युपेयते स इति पुनरुक्ते प्रथमायाः षष्ठ्यर्थत्वं न दृष्टमिति चेन्न "सप्तसु प्रथमा" इति सूत्रात् ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

त्वमस्येति मम त्वदेककामत्वात् कारागृहरूपेऽपि गृहे दारेषु वा विभो सर्वत्र सर्वांशेन स्थितः हे अखिलेश्वर ! सर्वेषां कायमनोवागतीताचिन्त्यानन्तशक्ते ! ततो भक्तकृपाप्रवर्त्तितया अचिन्त्यशक्त्या तवावयोः प्रवेशोऽपि घटते भवदङ्गीकृतः पुत्रभावोऽ-पीति भावः। न विद्यते इत्यस्य रूपव्याख्यायामपि सत्त्वमित्यादि द्वयम् ॥ २१ ॥ अथ वृत्तमपि निवेदयन् तथाप्ययन्तु शीघ्रमेव प्रतिकार्य इत्यभिप्रैति अयन्त्विति अथेति आनन्तर्ये योगनिद्रया तावद्बाह्येन्द्रियावरणात् अन्तरेवमन्तः किञ्चिज्जातमिति भानात् ॥ २२ ॥ अथेत्युक्तमात्मजमिति च तद्भावनञ्च ममताविशेषजननाय जीवद्गर्भनिष्क्रमणस्य सर्वांशानङ्गीकारात् तत्सङ्गो-पनाय ज्ञयम् ॥ २३ ॥ रूपं विशेषतश्चायमर्थः। ननु, सारांशविवेके सति जगदपि ब्रह्मत्वेनोपलभ्येत तर्हि केन विशेषस्तत्राह— साक्षादिति। माया नावृतत्वेनेत्यर्थः। तस्मादिदं व्यक्तत्वं षाड्गुण्यं कृपाविकारित्वम् अङ्गप्रत्यङ्गविशेषत्वं करचरणादिचेष्टा सौष्ठवमपि स्वरूपधर्मवैभवमेव अतः सत्तामात्रं केवलधर्मरूपं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत् आद्यं जन्मरहितं दृष्टदोषप्राकृत-तत्तद्धर्मनिरासेन ज्ञानिनः प्रतिप्रकाशमानं तद्वस्तु यद्रूपं श्रीविग्रहं प्राहुः स तद्रूप एव भवान् न चैतदपि तदोषाहँ भवेत् अदृष्ट-दोषत्वात् विद्वदनुभवार्थः शास्त्रे निराकृतत्वाच्चेत्यभिप्रेत्य स्वयमपि निराकरोति जन्मराहित्यं साक्षादित्यनेनैव निराकरोत् तत्तन्निज-परिच्छदवता स्वस्वरूपेणैव प्राकट्यात् परिच्छिन्नत्वं निराकरोति—विष्णुरिति। व्यापकमूर्त्तिरित्यर्थः। व्यक्तत्वम् अध्यात्मदीप इति प्रत्युतास्माकं बुद्ध्यादिकमेवेदं प्रकाशयते ततो ब्रह्मवत् स्वयमेव प्रकाशते ततश्च केनापि व्यञ्जित इति शब्दश्लेषेण च आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमाना अध्यात्मान आत्मारामाः तानपि दीपयसि परमानन्देनोल्लासयसीति ब्रह्मतोऽपि परमाविर्भावत्वं दर्शितं साक्षादित्यनेन च तथैव व्यञ्जितं स्फुटास्फुटत्वेन तारतम्यादिति दिक् ॥ २४-२७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

एवंविधः सर्वकारणकारणमनीहोऽविकृतस्त्वं मम गृहेऽवतीर्णोऽसीत्यहो मे सौभाग्यमित्याह—त्वमस्य लोकस्येत्यादि। हे विभो ! त्वं मम गृहेऽवतीर्णोऽसि, किं चिकीर्षुः ? अस्य लोकस्य रिरक्षिषुरिति। (भा० १०।३।२०) "कृष्णञ्च वर्णं तमसा जनात्यये" इति यदुक्तम्, तस्यान्यथाप्रतीतौ विरुद्धमतिकृददोषनिवासः। रिरक्षिषुत्वं प्रकटयति—हे अखिलेश्वर ! राजन्यसंज्ञासुर-कोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमानाचमूर्निहनिष्यसे, निःशेषेण हनिष्यसि, हननद्वारा अपुनर्भवं तेभ्यो दास्यसि, यथा पुनरुत्पद्य लोकपीडां न कुर्वन्ति। तत्तु त्वत्त एव भवति, नांशद्वारा, यतस्त्वमखिलेश्वरः। विष्णुना हतस्यापि कालनेमेः पुनः कंसत्वेनोत्पत्तेः इति नेरुपस-र्गस्य ध्वनिः ॥ (२२-२३) अथ देवकी स्तौति—यत्तदित्यादि। स त्वं साक्षात् प्रकटीभूतोऽसि। अहो मे भागधेयमिति शेषः। स

त्वमिति कोऽहमित्याशङ्क्याह—तद्रूपं सविग्रह इत्यर्थः। कीदृशम्? आद्यम्। तदिति कम्? तत्राह—यद्यस्य ज्योतिर्ब्रह्म प्राहुः, अर्थात् सात्वताः। ब्रह्म कीदृशम्? अव्यक्तम्, निर्गुणम् निर्विकारम्, सत्तामात्रम्, निर्विशेषम्, निरीहम्। रूपत्वेन किमहं परिच्छिन्नः? नेत्याह—विष्णुर्व्यापकः वियत् व्याप्नौ। तर्हि दृश्योऽस्मि किम्? नेत्याह—अध्यात्मदीपः, आत्मानमधि आध्यात्मम्, दीप आत्मप्रकाशने आत्मैव प्रकाशक इत्यर्थः॥ २४॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

त्वमस्येति। प्रत्युत त्वमस्य जगतः रिरक्षिपुः, अतोऽखिलेश्वरेति सम्यक् सम्बोधनम्। अतएव (१३ श-श्लो,) "विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः" इति पूर्ववत् व्याख्या॥ २२-२३॥ रूपं यत्तदिति। स त्वं साक्षात् प्रकटीकृतोऽपि अहो मे भागधेयम्? तर्हि कोऽहमित्यपेक्षायामाह-रूपं श्रीविग्रहः; तत् किं लौकिकम्? नेत्याह-यदिति। यत् अव्ययम्, यत् यस्य रूपस्य ब्रह्म ज्योतिः। ब्रह्म तु कीदृशम्? तत् प्रसिद्धमव्यक्तं निर्गुणं निर्विकारम् सत्तामात्रमित्यादि। रूपत्वेन किं परिच्छिन्नम्? नेत्याह—विष्णुर्व्यापको विग्रहोऽपि व्यापी। ननु व्यापी तावद् भवानिति, किन्तु दृश्योऽस्ति किम्? नैवमित्याह—अध्यात्मदीपः—आत्मानमधि अध्यात्ममात्मनः प्राकट्यं तस्य दीपः प्रकाशकः। दीपभूतेन त्वया दत्तस्वप्रादुर्भावकशक्तिविशेषैरेव भक्तानामिन्द्रियै-रनुभूयसे इति दृश्यत्वं तेनायातीति॥ २४॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भोस्तात! सत्यं त्वयाऽहं विदिततत्त्व एवास्मि त्वद्गृहे किमर्थमवातरमित्यपि जानासि चेद्ब्रूहीत्यत आह-त्वमिति। अस्य लोकस्य इमं लोकम् अतः साधूनां रक्षणार्थं राजन्यसंज्ञा येऽसुरकोटियूथपास्तैः निव्यूह्यमानाः इतस्ततश्चाल्यमानाश्चमूः सेनाः॥२१॥ अतस्त्वत्कृपया तव सर्वमैश्वर्य्यमहं जानाम्येव तदप्यविवेकसमुद्रो मया दुस्तर एव यतः साम्प्रतिकस्य महादुष्टकंसस्य दौरात्म्यं त्वां ज्ञापयामीत्याह-अयन्त्विति। ननु ममैतत् अलौकिकरूपमाधुर्य्यास्वादनिमग्नो मां न प्रहरिष्यति प्रत्युत प्रीणयिष्यतीति तत्राह-असभ्यः रसास्वादहेतुर्हि सभ्यत्वमेवेति भावः। हिंसायां कैमुत्यमाह—तवेत्यादि। समर्पितं कथितम् अभिमुखमेव सरतीति तमागतप्रायमहं पश्यामीत्यतोऽधुनैव रूपमिदमुपसंहर तस्मिन्नागते तूपसञ्जिहीर्षोतः पूर्वं किं भविष्यतीति मे महाकम्प इति भावः॥ २२॥ अथ पत्युर्भयं दृष्ट्वा उप समीपं भीतेति स्वरूपमनुपसंहरन्तं स्मयमानं तमालक्ष्य परमेश्वरत्वाहङ्कारेण कंसभयं न गणयति, तदहं हन्त किङ्करोमीत्यतिविह्वलेत्यर्थः। सुविस्मितेत्यस्य परमेश्वरस्याग्रे कंसः खलु को वराकस्तदप्यावयोर्भयं वर्द्धत एवेति कोऽयमविवेको दुस्तर इति भावः॥ २३॥ किञ्च भक्ताः खलु स्तुत्या भगवन्तमपि वशीकुर्वन्तीति प्रसिद्धेरेनं महाहठिनं स्तुत्यैव वशीकृत्य स्ववचने स्थापयामीति मनसि विमृश्य भो परमेश्वर! आवयोः प्रतिक्षणमेवातिभये वर्द्धमानेऽपि तव भयशङ्कैव नास्तीत्याह-चतुर्भिः, रूपमिति। यद्यस्य तव तत् प्रसिद्धं रूपमाकारं नारायणराघवहयशीर्षादिकम् अव्यक्तं सर्वेन्द्रियागोचरम् आद्यम् अजन्यं प्राहुर्वेदाः तथा निर्गुणं निर्विकारं ब्रह्म यस्य तव ज्योतिः प्राहुः "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतेः "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनमित्यग्रिमोक्तेः—

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्। ममैव तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

इत्यर्जुनं प्रति हरिवंशे भगवदुक्तेः—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहम्भजामि॥

इति ब्रह्मसंहितोक्तेः "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" इत्यत्र स्वामिचरणैस्तथा व्याख्यानाच्च विभूतिप्रसङ्गे विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजःसत्त्वन्तमःपरमित्यत्र परमितिशब्दस्य ब्रह्मेति तैर्व्याख्यानाच्च "मदीयं महीमानं च परम्ब्रह्मेति शब्दितम्" इति मत्स्यदेवोक्तेश्च "परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः" इति श्रीयामुनाचार्यस्तोत्राच्च तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् किरणार्कोपमायुजोः इति भक्तिरसामृताच्च तथा यस्य तव सत्तामात्रं शुद्धसत्त्वसामान्यं शुद्धसत्त्वविलासभूतमिति यावत् स्वविग्रहधामभक्तपरिकरादिकं निर्विशेषं विशेषात् प्रपञ्चा-न्निर्गतं प्राहुः अत एव निरीहं स्वतः परिपूर्णत्वेन वितृष्णं यद्वा सकामभक्तानपि निरीहयतीति निरीहं किम्वा निश्शेषेण ईहयतीति त्वमभिलाषयतीति निरीहं स्पृहेहातृड्वांछेत्यमरः सत्वं विष्णुरध्यात्मदीपः सर्वतत्त्वप्रकाशक इत्यविज्ञाया अपि मम मनसि यथा स्फोरयसि तथाऽहं वच्मीति भावः॥ २४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

भविष्यं कृत्यं विज्ञापयति, त्वमिति॥ २१॥ कंसविचेष्टितं विज्ञापयति—अयमिति॥ २२॥ श्रीवसुदेवे तूष्णीं स्थिते अथानन्तरं देवकी एनं प्रस्तुतं महापुरुषलक्षणं स्वासाधारणलक्षणमात्मजं वीक्ष्य कंसाद्भीता तमुपाधावत् अस्तौत् पुत्रीभूते भगवति विद्यमानेपि कंसाद्भीतेत्यस्य यदि दैवादल्पतरं ममायुर्भवेत् क्रूरतरः कंसः कृतवैरः सन्निहित एव मृत्युहेतुः तर्हि हरिलीलारसलाभो न

भविष्यतीत्याशयः ॥ २३ ॥ किञ्चिद्विज्ञापयितुं भगवद्गुणस्वरूपनिरूपणेन स्तौति—रूपमिति । "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इत्याद्याः श्रुतयो तद्रूपं सर्ववेदवेद्यतया प्राहुस्तत्त्वमित्यन्वयः। अत एवोक्तं श्रीमुखेन "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति, हे मातः ! मयि पुत्रदृष्टिं कुरु किं बहुभाषणेनेत्यतो रूपं विशिनष्टि हे भगवन् ! आद्यं सर्वकारणं श्रुतयः प्राहुः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्याद्याः तस्मिन् सर्वजनके जन्यभावनाऽन्याय्या अत एवाऽव्यक्तं व्यक्तं पाञ्चभौतिकं रूपं तद्विलक्षणम् अत एव निर्विशेषं निर्गताः स्वभावतः सर्वे विशेषाः स्थूलत्व-अणुत्व-जन्ममरणक्षुत्-तृट्शोकमोहादयः सर्वे दोषा यतस्तत् तत्र हेतुगर्भविशेषणम् । निर्गुणं सत्त्वरज आदिगुणरहितम् अत एव निरीहं गुणनिबन्धनेहारहितम् अत एव निर्विकारम् अत एव सत्तामात्रम् । नन्वेवंभूतं सर्वकारणं कथं भवेदित्यत्राह—ब्रह्मेति । बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च तस्मादुच्यते परं ब्रह्म स्वरूपतो निर्विकारम् अनन्तचेतनाचेतनशक्तिभिः बृंहयति विश्वमिति ब्रह्म। ननु, स्वशक्तिविकारेण कदाचित्तदावृतं न कुतो भवेदित्यत आह—ज्योतिरिति । ननु, मातः ! एवंभूतरूपो विष्णुर्भवतु अहन्तु भवत्याः पुत्र एव त्वद्गर्भोदत्यल्पदेशादल्परूपो जातोऽस्मीत्यत आह—स विष्णुः त्वमेव साक्षादित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

त्वमस्य लोकस्येति श्लोकेऽस्य लोकस्य सकाशाद्विशिष्टत्वेन भवतीति विभुस्तस्य संबोधनं विभो सर्वोत्तमत्वं रिरक्षिषुर्मम गृहेऽवतीर्णोऽसि । अत एव मम रक्षणार्थं राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निव्यूह्यमानां नितरां विशेषेणोह्यमानां चमूं निहनिष्यस इत्यन्यथाऽन्वयार्थप्रतीतिनिरासाय प्रमाणेनैव तं श्लोकं व्याचष्टे ॥ सतां सुखविवृद्ध्यर्थमिति । हरेः सकाशादिति शेषः । पीडनमित्यन्वयः । च शब्दोऽभ्यधिकमिति वक्ष्यमाणस्यानुकर्षणार्थः । तत्तु दुःखसुखमित्युभयत्र संबध्यते । यत्र यावत्तमः क्षीणं भवति तत्र तावत्प्रकाशस्य तु विशेषेण वर्धनं भवतीत्यन्वयः । चोऽवधारणे । कलेरित्यनेन संबध्यते । सर्वस्मादभ्यधिकेति शेषः । अनेनास्य लोकस्य रिरक्षिषुस्त्वं मम गृहेऽवतीर्णोऽसि लोकरक्षणार्थमेव राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निव्यूह्यमानां चमूं निहनिष्यस इति भागवतपदान्वयस्तथा लोकपदस्य सज्जनार्थत्वं सूचितं भवति । उपसंहरति ॥ तस्मादिति । सर्वकर्म असतां नाशनादि कर्म ॥ २१ ॥ रूपं यत्तत्प्राहुरिति श्लोके ब्रह्म निर्गुणमित्यस्य सत्त्वादिगुणत्रयराहित्यार्थत्वभ्रमनिरासाय स्वयमेवार्थमाह ॥ निर्विशेषमिति । सर्वधर्मरहितम् । सत्तामात्रं केवलं सत्त्वं । ब्रह्म निरीहं सर्वथा चेष्टारहितमिति परब्रह्मणः सर्वगुणक्रियाराहित्यं सत्ताजात्यैक्यं चोच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय प्रमाणेनैव तेषां पदानामर्थमाह ॥ सर्वाशुभविनिर्मुक्तेत्यादिना । अनेनात्र सत्तेत्यत्र सच्छब्दः सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यत इति गीताप्रमाणात्साधुभावार्थकः । साधुभावशब्दस्य तु साधुश्चासौ भावश्च साधवो भावा धर्मा यस्मिन्स साधुगुण एव । ततश्च सत्तामात्रं साधुगुणस्वरूप एवेति सत्तामात्रशब्दस्याक्षरार्थः सूचितो भवति । तथाऽखिलोत्तम इत्यनेन विशिष्यत इति विशेष उत्तमः । निर्गतो विशेषो यस्मात्स निर्विशेष इति निर्विशेषपदस्य व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता । चोऽप्यर्थे । यतः सर्वकृती सर्वं प्रति कृतं कर्तृत्वम् । तदस्त्यस्मिन्निति सर्वकृती । अतः सेहोऽपि सचेष्टोऽप्यनादरात्तज्जन्यफले आदराभावात् फलोद्देशेन चेष्टानिरीह इत्युक्त इत्यन्वयः । ननु यदव्यक्तं ज्योतिर्ब्रह्म सत्त्वमिति यच्छब्दस्य तच्छब्देनान्वये पूर्तेस्तदिति तच्छब्दो व्यर्थः । रूपशब्दस्यान्वयाभावात्सोऽपि व्यर्थ इत्यतस्तयोः शब्दयोरन्वयं दर्शयति ॥ यस्य तद्रूपं सत्त्वमिति । ननु यदिति प्रथमांतपदस्य यस्येति षष्ठ्यंतत्वेन यद्व्याख्यानं तत्कुत इत्यत आह ॥ सप्तस्विति । इति सूत्रात्प्रमाणात् षष्ठ्यंतत्वेन व्याख्यानं युक्तमिति शेषः ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

त्वमस्य लोकस्येति श्लोके लोकस्य रिरक्षिषुस्त्वं राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निव्यूह्मानां चमूं हनिष्यत इति परस्परमसङ्गतमवनहननयोर्वैयधिकरण्यादित्यवतारयन्ति । अस्य लोकस्य सकाशाद्विभुर्विविधभवनवानिति विभो मम मन्मात्ररक्षणार्थं चमूं हनिष्यस इत्यन्यथाप्रतीतिं वारयितुं प्रमाणेन तं श्लोकं व्याकरोति ॥ सत्तामात्रमिति । केचिल्लोकस्य सदसत्सङ्घस्य रिरक्षिषुरित्युक्त्वा पुना राजन्यसंज्ञेत्यादिवचनं च व्याहतमित्यतः प्रमाणेन तद्विवेकं लोकपदार्थसङ्कोचनमुखेन दर्शयति ॥ सतामिति । असतां हरेर्यत्पीडनं तत्सतां सुखविवृद्ध्यर्थं तत्सम्बन्धि यत्पीडनमिति हरेः सकाशात्पीडनमिति वाऽन्वयः । यावदसुरदुःखं च स्यात्तावदेव सुखं ज्ञानिनां भवेत् । तत्रापि सत्समुदायेऽपि तावदेव सुखमिति पाठोऽसुरप्रतियोगिसमर्पक इति सुललितः । तारतम्येन ब्रह्मणः सुखमधिकं भवेत् । असदवधिकलिपीडामभिधाय सदवधिकार्यविधिसुखमभिधत्ते । सर्वस्मात्पीडायोग्यात्कलेः पीडाऽभ्यधिकमिति विपरिणतमन्वेति । अभ्यधिकेति ब्रह्मणः सुखयोग्यात्सर्वस्मात्सुखमधिकम् । उपसंहरति ॥ तस्मादिति । लोकस्य सतां रक्षणाय सर्वं हरेः कर्म स्मृतम् ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ हे विभो अखिलेश्वर । अस्य लोकस्य सज्जनस्य तं लुक् प्रकाशन इति धातोर्ज्ञानवतामिति वा । रिरक्षयिषुः रक्षितुमिच्छुर्मम गृहे भार्यायामवतीर्णोऽसि । किञ्च तरतमभावेन सदसत्सुखाप्त्यै राजन्येति संज्ञा येषां ते च तेऽसुरकोटियूथपाः सेनानायकास्तैर्निव्यूह्यमानां समूहीकृत्यानीतां चमूं सेनां हनिष्यसे संहरिष्यसि । निव्यूह्य ऊहोऽगोचरो मानोऽहङ्कारो यस्याः सा तां वा । चमू भक्षणे चम्यत्यरिनिकरमिति चमूस्ताम् ॥ २१ ॥ यः प्राक् मम गृहे भार्यायां तेषां जन्मोत्पत्तिं श्रुत्वा तेऽग्रजान्कीर्तिमदादीन्यहन्नहन्स तमस्यस्तमोगुणकार्यत्वद्धक्तद्वेषवान् । तेऽवतारं पुरुषैस्तद्भटैः समर्पितं

निवेदितं श्रुत्वा। उदायुध उद्धृतायुधवानधुनैव रात्रावेवाभिसरत्यभि भयरहितं यथा भवति तथा सरतीति वा। अयं त्वसभ्य इति पाठे खल इत्यर्थः। नार्वितयपि पठन्ति। आवयोर्गृहे गेह इत्यर्थः। महापुरुषस्य भगवतो लक्षणानि यस्य तं देवकी मातैन-मात्मजं वीक्ष्य कंसाद्भीता शुचिस्मिता प्राक् शुचि अन्तः सत्यामपि बहिः स्मिता स्मयमाना तमुपधावदस्तौत् ॥ २२ ॥ रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यमिति श्लोकेऽखण्डब्रह्मस्वरूपपरं सत्तामात्रमित्यादीनीति प्रतीतिनिरासाय निरीहादिशब्दार्थोन्मानेनाह ॥ सर्वशुभेति। यतो हरिः सर्वाणि च तान्यशुभानि च तेभ्यो विनिर्मुक्तश्चासौ गुणनामात्रं कात्स्न्र्यं यत्र स तथा मात्रक वा तदात्मकमिति यावत्। अतः सत्तामात्रं ज्ञानिनः प्राहुः। सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यत इत्यादेस्तस्य तद्गुणानां च साधुत्वात्सच्छब्दवाच्यतेति ज्ञेयं। अखिलोत्तमत्वान्निर्विशेष इत्युच्यते। विशिष्यत इति विशेषोऽतिशायी स नास्ति यस्मात्त इति व्युत्पत्तिः सूचिताऽनेनेति ज्ञेयं। न नादरात्फलस्नेहराहित्यान्निरीह इति निरुक्त्यन्तरमिदमिति मन्तव्यं। सर्वं कृतं कर्म चेष्टा सृष्ट्यादावस्तीति स इति सेहा चेष्टावान्। ननु यदव्यक्तं ज्योतिर्ब्रह्म स त्वमिति यच्छब्दस्य तच्छब्देनान्वयनेन न तच्छब्दो व्यर्थः। व्यर्थश्चान्वयाभावाद्रूपशब्दश्चेति द्वयोरन्वयपरमाह ॥ यस्य तद्रूपं सत्त्वमिति। यद्यस्येति व्याख्याने बीजमानमाह सप्तसु विभक्त्यर्थेषु ततश्चात्र यदिति षष्ठ्यर्थे इत्युक्तं भवति ॥ अथ श्लोकार्थः ॥ साक्षाद्दितिरित्युत्तमत्वादुपनिषदुक्तगुणत्वेन देवं देवकी स्तौति ॥ रूपमिति। यद्यस्य तद्रूपमव्यक्तमित्यादिप्रकारेण प्रादुर्वेदान्ताः। प्रेण च न च पातनिकोऽर्थ एतदुक्त इति द्योतयति। बहुवचनेन च बहुसम्मतिरिति नाविश्वसनीयमिदमिति ध्वनयति। अव्यक्तं प्रसादमन्तरा। अव्यक्तमचलं। तदव्यक्तमाह हीत्यादेः। आद्यमादौ भवं। अनेनेदानीं दानवहान्यै मय्ययमवतार इति ध्वनयति। ब्रह्म बृहन्तोऽस्मिन्गुणा इत्यादेर्गुणपूर्णं ज्योतिः परं ज्योतिः। वीदं ज्योतिर्हृदय, आहितं यत्। ज्योतिश्चरणाभिधानादित्यादेः। जातमोतमित्याद्यपि ज्ञेयं। ज्योतिर्ज्ञानस्वरूपं। गुणाः किं ब्रह्मपदोक्ताः सत्त्वादय इति नेत्याह ॥ निर्गुणमिति। केवलो निर्गुणश्चेत्यादेः सत्त्वाद्यैर्वा स्वाभिन्नैर्वा रहितं निर्विकारं निर्विकारोऽक्षरः शुद्ध इत्यादेः। सत्तामात्रं सत्ता सद्भावः। ग्रामजनेति योगविभागात्समूहार्थे तल्। मात्रं च सर्वाशुभव्युदासकः। ततश्च सर्वाशुभविनिर्मुक्तगुणगणात्मकं गुणात्मकमिति वा सत्तामात्रं निर्विशेषं निर्गतो विशेषो विशिष्यतेऽतिशायी यस्मात्तदखिलोत्तमं न त्वत्समश्चाभ्यधिकः। एकमेवाद्वितीयमित्यादेः। निरीहमफलादरान्निरीहं नितरामीहा चेष्टा यस्य तदिति वृत्त्यन्तरं च सेहेः सर्वकृती यत इत्यादेरनुसन्धेयम्। स इमांल्लोकानसृजत इत्यादेः। स्वयमेव ज्योतिरूपमिति नेत्याह ॥ अध्यात्मदीपमिति। आत्मान-मधिकृत्य विद्यमानस्वस्वेन्द्रियादिकं दीपयति प्रकाशयतीति तत्तथा। सत्त्वं विष्णुर्णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा स यो हेतौ णकारषकारावनुसंहितमृचो वेदेत्याध्यायावसित्यैतरेयगीताभाष्याद्युक्तप्रकारेणार्थोऽवसेयः। साक्षादित्याविष्टत्वादिव्युदासः। अत्र नानाश्रुत्यादिवाक्यसङ्ग्राहकाणि विशेषणान्यव्यक्तमित्यादीनि निमित्तीकृत्य वितत्य विचरो व्योमरोमन्थायित इति बहुविस्तार-हेतुरिति वा तत्र न मनः श्रमणीयमित्युपरतमिति मन्तव्यं। न च बृहदारण्यकभाष्य इदमिति द्वितीया षष्ठ्यर्थ इति प्रतिपत्तिलघु-तामादाय दृष्टिं व्याकरणान्महाव्याकरणसूत्रं चेदं षट्सु द्वितीयेति चेति किं न च तथोचुरिति वाच्यं। तत्रेदमग्र इत्येव श्रुतेर्द्वितीयाकर्तुं रूपाव्यक्तादिपदानां सामानाधिकरण्य आवश्यके किल पुनः स इति तच्छब्दनैरर्थ्यप्रतीतिरतस्यां च षष्ठ्यन्ततया विवरणं तत्र सूत्रमानीकरणं चेतीदमर्थविशेषेणैवमेव वक्तव्यत्वादिति दिक् ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

सङ्कर्षणात्मकमाह त्वमस्येति, अस्य लोकस्य रिरक्षिषु रक्षितुमिच्छुः सन् मे गृहेवतीर्णोसि, अवश्यरक्षायां हेतुरखिले-श्वरेति, विभुरिति, सामर्थ्यं, इदं सङ्कर्षणकार्यं देवान् प्रति तद्द्वेषिदैत्यवधादेव न तु सर्वनाशकत्वेन, अतो देवांशो जगतो रक्षक एव दैत्यानामेव निवारकः तदाह राजन्यसंज्ञेति, राजन्या राजान इति संज्ञामात्रं वस्तुतस्त्वसुरा एव, तेषां कोटयः सेनारूपास्तासां यूथपा महान्तः कंसादयस्तैर्नितरां व्यूह्यमानाः परिपाल्यमानाः प्रेर्यमाणा वा चमूर्निहनिष्यसे नितरां मारयिष्यसे, अतो रक्षार्थमेव दैत्यवधः, भगवत्सान्निध्यात् सर्वज्ञता तस्य, "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती"त्यार्षज्ञानं वा ॥ २१ ॥

एवमपि ज्ञाते भयं न निवृत्तमिति लौकिकस्य बलिष्ठत्वज्ञापनाय भयाद् भगवन्तं विज्ञापयत्ययं त्वसभ्य इति, तुशब्दः पूर्वार्थं स्तुतिलक्षणं व्यावर्तयति, भगवानवतीर्ण इति सतामेव सुखं भवति न त्वसतां, अयं त्वसभ्य इममर्थमज्ञाप्यः, अत एव तव जन्म नो गृहे श्रुत्वा तेऽग्रजान् मम षट् पुत्रान् न्यवधीत्, सुराणामीश्वरेतिसम्बोधनं पक्षपातार्थं, तर्हि किमधुना कर्तव्यमिति चेत् तत्रा स एव क्रूरात्मा कंसो रक्षकैः पुरुषैस्त्वेवतारं निवेदितं श्रुत्वोदायुधः सन्नधुनैव निकट एवाभिसरत्यागच्छति, 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वे'ति वर्तमानप्रयोगः, ईश्वरे निवेदनमात्रं सेवककार्यं कर्तव्यं तु प्रभुरेव जानातीत्यस्य तूष्णीम्भावः, अभिप्रायस्तु यदीदानीं मारणीयस्तदा स्थातव्यं नो चेदन्यत्र गन्तव्यमिति, इदानीं मारणे गुप्ततया गोकुलवासिभिः सह क्रीडोद्धारादिकं न भविष्यतीति तत् कृत्वा पश्चान्मारणं, अतः पितुरभिप्रायादन्यत्र गतवानिति लक्ष्यते ॥ २२ ॥

तूष्णीं स्थिते वसुदेवे देवकी रूपोपसंहारं कंसस्य भगवज्जन्माज्ञानं च प्रार्थयितुं प्रथमतः स्तौतीत्याहाथैनमिति, स्वस्यैवायं पुत्र इति ज्ञातवती, तथा बुद्धेरुत्पादितत्वात्, परं स पुत्रश्चतुर्भुजादिलक्षणैर्लोकप्रसिद्धैर्भगवत्तुल्योयमिति ज्ञात्वा स्वबुद्ध्या स्मृति-पुराणेषु प्रसिद्धं भगवत्स्वरूपं प्रकृतेनुवर्णनीयमिति तदर्थमाह, महापुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य लक्षणानि यत्र तं भगवन्तमुपाधावच्

च्छरणं गता, स्तुत्यैव शरणं गमिष्यति, भगवन्निमित्तमेव कंसाद् भीता, तर्हि भगवत्स्वरूपज्ञानाद् भयमेव कथं न निवर्तयतीत्याशङ्क्याह सुविस्मितेति, आश्चर्यरस एव तस्या उत्पन्नो न तु निर्धारितं ज्ञानं जातं येन भयं निवर्तेतेत्यर्थः, शुचिस्मितेतिपाठे भगवत्स्तोत्रज्ञानार्थं तस्याः पातिव्रत्यादिधर्मो निरूपितः, अथेति भिन्नप्रक्रमे न तु वेदादिप्रकारेण, अन्यथा पौनरुक्त्यं स्यात् ॥२३॥

शरणं गता देवक्यष्टभिः स्तोत्रमाह, आधिदैविकमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमिति भगवतो रूपत्रयमादौ निरूप्य शरणागमने हेतुं चोक्त्वा प्रकृते रक्षां भगवत्स्वरूपाज्ञानं द्वयं प्रार्थयते, इदानीं मारणे युद्धार्थं प्रवृत्तावेव पूर्वज्ञानसदृशत्वात् प्राणा न स्थास्यन्ति, अतस्तेन प्रकारेण रक्षा न कर्तव्या, प्रकारान्तरेण रक्षां प्रार्थयन्त्यज्ञानमपि प्रार्थयते, अन्यथा प्रथमपक्ष एव न स्यात्, रूपोपसंहारं च प्रार्थयते, सर्वाधिक्ये सर्वद्वेषसम्भवात्, सर्वमारणं चाशक्यं, अलौकिके च शीघ्रमुपसंहारश्च स्यात्, अतः केवलं स्वार्थमुपसंहारः, प्रार्थनाद्वयं तु प्रकृतोपयोगि, एवं प्रार्थनात्रयं स्वस्य गर्वाभावार्थं, इदं न जननरूपं किन्तु नटवदनुकरणरूपमिति भगवदवतारं निरूपयति।

रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा। नटत्वमितिविज्ञानं स्वस्य यादृक् तथोदितम् ॥ १ ॥

आदौ भगवानाधिदैविक इति वदन्ती स्वाभिज्ञानप्रमाणे प्रसिद्ध्या निरूपयति, इदं रूपं तदेव यत् सर्वैराधिदैविकत्वेनोच्यते, द्वयन्मल्लोकसिद्धं, अलौकिकं त्वाधिदैविकमेव, अन्यथा प्रमाणानामनुवादकत्वं स्यात्, अत इदं रूपं तदेव, किं तदित्याकाङ्क्षायामाह तत् यत् प्राहुरिति, यत्तदोरानुपूर्व्येण निरूपणमाकाङ्क्षावैपरीत्येपि स्वानुभवदार्ढ्यार्थं, नन्वाधिदैविकमेतद् भवितुं नार्हति वैलक्षण्यादित्याशङ्क्य वैलक्षण्यहेतुभूतान् धर्मानत्रैव साधयत्यव्यक्तमित्यादिनवभिः पदैः, नवधा हि जगत्, तद्विलक्षणं ब्रह्म नवधा निरूप्यते, जगद्धर्माश्च तस्मिन् रूपे प्रतीयन्ते, तत्र"व्यक्तादीनि भूतानी"तिवाक्यादव्यक्तं मूलरूपं, व्यक्तं तु जगत्, इदं तु व्यक्तमितिलोकप्रतीतिः, मूलभूतं त्वाद्यं भवति, इदं त्वाधुनिकं, जगच्च स्वरूपकृतं कालकृतं च वैलक्षण्यमुक्तं पदद्वयेन, देशकृतं वैलक्षण्यं वदन्ती परिमाणेन तदाह ब्रह्मेति, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म" मूलभूतं, जगत्तु परिच्छिन्नमबृंहितं च तथैवरूपं, एवं सदशेन वैलक्षण्यत्रयं निरूपितं, चिदंशेनापि त्रयमाह ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारमिति, "प्रकाशकं तच्चैतन्यं" जगत् प्रकाशयति, अन्यथा जगदभिव्यक्तिर्न स्यात्, त्रिगुणात्मकं च जगत्, त्रिगुणातीतमेव हि कारणं भवति, गुणानामपि कारणत्वे भगवत्कारणता न स्यात् स्वातन्त्र्याभावात्, सदंशा एव गुणा न चिति सम्भवन्ति, यत्रैव भूतेन्द्रियान्तःकरणानि तदेव सगुणं, तदेव कारणं भवति यत् प्रपञ्चविलक्षणं, प्रपञ्चस्तूत्पत्त्यादिभावविकारयुक्तः, अतो निर्विकारमङ्गीकर्तव्यं, लौकिकानि च ज्ञानानि विकारयुक्तानि रूपादिगुणयुक्तानि चेन्द्रियादिभिश्च प्रकाश्यन्ते, विषयकृतं वैलक्षण्यमानन्दांशे निराकरणीयमित्येतदर्थमाह सत्तामात्रमिति, सत्ता विद्यमानता कालत्रयाबाधितसत्ता वा, सर्वमेव हि जगत् सद्रूपमपि विशेषनामरूपधर्मवद् भवति, यावद्विशेषनिर्मुक्तं सामान्यं न भविष्यतीत्याशङ्क्य लौकिक एव विषय इयं व्याप्तिर्न त्वलौकिक इति सत्तमात्रमपि निर्विशेषमित्याह, अन्यथा पौनरुक्त्यं स्यात्, विशेषा हि व्यावर्तकाः, मूलसत्तायां व्यावर्त्याभावात् किं विशेषेण ? कार्ये तु सा सर्वत्रानुस्यूतेति कार्यं न व्यावर्तनीयं, अन्यथा तस्य कारणत्वेव न स्याद् घटपटयोरिव, "पूर्णमदः पूर्णमिद"मित्यादिश्रुतौ सर्वचेष्टारहितमेव कारणं भवति, कार्यं सर्वमेव चेष्टमानं, आकाशादेरपि शब्दजननलक्षणा चेष्टा वर्तत एव, आवरणापगमे कार्यापगमवदाकाशापगमस्यापि दृष्टत्वादन्धकारवदीहा तत्रापि, ब्रह्मणि त्वावरकासम्भवादव्यवहार्यत्वाच्च निरीहत्वं सिद्धमेव, यद्यप्येकस्मिन्नपि विशेषणे सर्वे धर्माः क्रोडीकर्तुं शक्यन्ते तथापि नवधा वैलक्षण्यस्य वक्तव्यत्वान्नव विशेषणान्युक्तानि, तादृशमिदमेव रूपं, नवविधानां प्राणिनां स्वदोषेणैव नवविधत्वप्रतीतिः, यथा भ्रमरिकादृष्ट्या गृहीता भूमिरपि भ्रान्तेव दृश्यते तदपि तस्यैव दृष्ट्येवमत्रापि ब्रह्मविदां दृष्ट्या भगवान् वर्णितगुण एव, अन्यथा तदभिव्यक्त्यर्थं प्रयत्नं न कुर्युर्ब्रह्मादयोपि पश्चादुत्पन्नं न नमस्कुर्युः सायुज्यं चात्र न प्राप्नुयुरेतज्ज्ञानेन च सर्वज्ञा न भवेयुरेतन्निष्ठाश्च निर्गुणा न भवेयुरेतद्भजनेन च सर्वविकाररहिता न भवेयुः सर्वेषु पदार्थेष्वेतं च न पश्येयुरेतज्ज्ञानेन च प्रपञ्चो न निवर्तेतैतत्क्रियया च ब्रह्मनिष्ठा न भवेयुः, अतोयमेतादृश एव, नन्वेतत् सर्वं सर्वज्ञायुपास्यत्वे भगवतः सम्भवति न त्विदानीमेवाविर्भूतस्य तथात्वं वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह स त्वमिति, यदेतादृशं तत् त्वमेव, तत्र हेतुर्विष्णुरिति, विष्णुर्हि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वोपास्यः, स एव सर्वेषामधिदेवः, स एवाविर्भूत इति ब्रह्मवाक्यादवसीयते, नन्वेवमप्यंशावतारः स्यात् ततश्च मूलत्वाभावादुक्तं सर्वं बाधितमित्यत आह साक्षादिति, ननु वाक्यं गौणमपि भवति स्तुतिपरमपि भवति तस्मात् कथं निर्णय इति चेत् तत्राहाध्यात्मदीप इति, अध्यात्मं मदन्तःकरणं वस्तुतो जडं मुग्धं सर्वशास्त्रविहीनं तच्चेदेवम्प्रकाशयुक्तं त्वत्सान्निध्यात् तदेवास्य कारणमित्यवसीयते, आधिदैविकस्यैवाध्यात्मप्रकाशजनकत्वात्, अतो मदनुभवेनापि भवानुक्तरूप एव, कार्यं चाव्यभिचारि लिङ्गम् ॥ २४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

इदानीं मारण इत्यादि, युद्धे भगवतैव तन्मारणसम्भवेपि पूर्वमुद्यतायुधेन बाला मारिता इत्यधुनापि तादृशतदर्शनं **पूर्वज्ञानसदृशं**, तथा च तन्मात्रेणैव तथेत्यर्थः, **अन्यथेति**, जन्माज्ञानाभावे प्राणास्थितिरेव स्यादित्यर्थः, न सिध्येदितिपाठे **प्रथमः पक्षो रक्षा** ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अयं त्वित्यत्र पूर्वार्थमिति, लक्ष्यत इति, वैयाकरणमतेन वाक्ये शक्तिमङ्गीकृत्य पूर्वोक्तरीत्या कंसकर्तृकोदायुधाभिसरणसंसर्गरूपस्य शक्यार्थस्य सम्बन्धो गमनादाविति तादृशोभिप्रायोस्याजहत्स्वार्थया लक्ष्यते, 'तदवाचकत्वेपि तत्प्रतीतिजनकत्व'मितितात्पर्यलक्षणाङ्गीकारे तु तात्पर्यगोचरीक्रियत इति वार्थो बोध्यः ॥ २२ ॥

अथैनमित्यत्रेति तदर्थमिति, एवम्प्रकारकश्रीदेवक्याशयज्ञापनार्थं, तर्हीति, भगवन्निमित्तमेव ॥ २३ ॥

रूपं यत् तदित्यत्राष्टभिरिति, नन्वष्टभिः स्तोत्रोक्तौ पूर्वोक्तकारिकासु पञ्चभिरितिसङ्ख्योक्तिविरोध इति चेत्, अत्रेदं प्रतिभाति, पूर्वं 'द्वाभ्यां चैव तथा पर'मितिचकारसूचितेन तृतीयेनापि प्रार्थनं लभ्यते, पञ्चभिः स्तुतिस्तु टिप्पण्यामुपपादितैव, एवं सति त्रयमिदमपि तत्र सङ्गृहीतमिति न विरोध इति, अष्टानामर्थमाहुराधिदैविकमित्यादि, रूपत्रयं क्रमतस्त्रयाणां हेतुस्तुरीयस्य प्रकृत इत्यारभ्य पञ्चमस्येदानीमित्यारभ्य सिध्येदित्यन्तं षष्ठस्य, तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्युद्ध इत्यादि, रूपेत्यादि सप्तमस्य स्वस्येत्यादिकमष्टमस्य, तदेतत् कारिकायां सङ्गृह्णन्ति रूपेत्यादि, प्रार्थनात्रितयमिति, तच्चतुष्टयघटितं श्लोकत्रयं रूपादर्शनप्रार्थनस्य रूपोपसंहारप्रार्थनायामेव प्रवेशात् प्रार्थनात्रयं वा, विज्ञानमित्यादिकं त्वर्थचतुष्टये प्रत्येकमन्वेतीति बोध्यं, रूपं यत् तदित्यत्र स्वाभिज्ञानमिति, स्वस्य भगवत्प्रत्यभिज्ञानं, अन्यथेति, अस्यापि लोकसिद्धत्वे, आकाङ्क्षावैपरीत्येपीति, यत् प्राहुस्तद्रूपमित्याकाङ्क्षायामपि, वैलक्षण्यादिति, आधिदैविकादस्य वैलक्षण्यादित्यर्थः, अत्रैवेति, जगत्सलक्षणत्वेन प्रतीयमान एवास्मिन् रूपे, कारणस्य गुणातीतत्वे युक्तिमाहुर्गुणानामित्यादि, कारणतेति, कर्तृता, तत्र हेतुः स्वातन्त्र्याभावादिति, तथा च गुणानां कारणत्वे श्रुतिविरोध इति गुणातीतमेव कारणमित्यर्थः, न चितीति, ज्योतिरित्यनेन चिद्रूपत्वमुक्तं तद्विरुद्धाश्च गुणा न तत्र सम्भवन्तीत्यतोपि गुणातीतमेव कारणमित्यर्थः, प्रकृते सगुणत्वानुमापकमाहुर्यत्रैवेत्यादि, तथा चानया व्याप्त्या 'इदं सगुणं भूतादिमत्त्वाज् जगद्वत् यन्नैवं तन्नैवं पुरुष'वदिति चिद्विरुद्धसाधकमनुमानं प्रदर्शितं, तेन सिद्धमाहुस्तदेवेत्यादि, उत्पत्त्यादीति, उत्पत्तिस्थितिप्रलयवृद्धिविपरिणामापक्षयाख्यषड्भावविकारयुक्त इत्यर्थः, प्रकृते सविकारत्वाद्यनुमापकमाहुर्लौकिकानीत्यादि, ज्ञानानीति, ज्ञानविषयाणि, इन्द्रियादिभिरिति, आदिपदेन सूर्यादिसङ्ग्रहः, परप्रकाश्यत्वानुमापकमेतत्, तथा च 'प्राकृतं ज्योतिरादिविरुद्धं विकारयुक्तत्वाद् रूपादिगुणयुक्तत्वादिन्द्रियादिप्रकाश्यत्वाच्च घटादिव'दितिप्रयोगो बोध्यः, नन्वानन्दांशे वक्तव्ये सत्तामात्रमिति किमित्युक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुर्विषयेत्यादि, अत्र च सत्तापदेनोक्तरूपतया सन्नात्मैव सर्वशब्दवाच्य उच्यते, तथा च त्रैकालिकाबाधितसत्तामात्रत्वेन भूमरूपता बोधिता तेनानन्दांशेपि न विषयकृतं वैलक्षण्यमित्यर्थः, तर्हि निर्विशेषपदस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तदवतारयन्ति सर्वमित्यादि, विशेषनामरूपधर्मवदिति, विशेषभूता ये नामादयस्तद्युक्तं, इयं व्याप्तिरिति, सामान्यत्वेन विशेषत्वेन व्याप्तिः, इतीति, एतज्ज्ञापनार्थं, अन्यथेत्यादि, तद्भिन्नभिन्नत्वे सति तदभिन्नत्वस्य मात्रपदार्थत्वात् सत्तामात्रपदेनैवाशेषराहित्यप्राप्तावियं व्याप्तिरलौकिके कुतो नेत्याकाङ्क्षायां, तत्र तदभावं व्युत्पादयन्ति विशेषा हीत्यादि, मूलसत्तायामिति, आत्मरूपायां सत्तायां, तस्य कारणतेति, मूलसतः समवायिता, निरीहपदं व्याकुर्वन्ति पूर्णमित्यादि, ननु कार्येपि न चेष्टा नियता आकाशादौ व्यभिचारादित्यत आहुराकाशेत्यादि, चेष्टा हि व्यापारः, ननु महाभाष्यकृता व्यापारश्चेष्टात्वेनाङ्गीकृतो न त्वन्यैरत आकाशे चेष्टाराहित्यं न कारणासाधारणलक्षणमित्यत आहुरावरणेत्यादि, आकाशापगमस्यापीति, आवरणकृताविति शेषः, तथा च दीपचलनेन्धकारचलनवदाकाशेपि दृष्टानुरोधान्नैमित्तिकी चेष्टाङ्गीकार्या, अन्यथा तादृशप्रतीतेर्निर्विशेषत्वापत्तेः, न च सा भ्रम इति वाच्यं, किं तावता ? भ्रमत्वेपि सविषयत्वस्यावश्यकत्वात्, न च विषयोसन्नेव प्रतीयत इति वाच्यं, श्रौते मत आकाशस्य कार्यत्ववदव्यापकत्वस्यापि सत्त्वात्, अन्यथा 'ज्यायानाकाशा'दितिश्रुतिविरोधापत्तेः, एवं सिद्धेव्यापकत्वे तत्र क्रियाङ्गीकारोपि युक्त एवेति पूर्वोक्तप्रतीतेरभ्रान्तत्वमेव युक्तं, धियां बाधकं विना प्रमात्वस्यौत्सर्गिकत्वादिति, नन्वेवं सति ब्रह्मण्यपि चेष्टास्तु मिषत्त्वस्य तत्रापि श्रौतत्वादित्यत आहुर्ब्रह्मणीत्यादि, तथा च विरुद्धधर्माश्रयत्वादव्यवहार्यस्य तस्य सत्त्वेपि व्यवहार्यस्य तस्यासत्त्वान्निरीहत्वं सिद्धमेवेत्यर्थः, वैलक्षण्यस्येति, जगद्वैलक्षण्यस्य, तादृशमिति, नवविशेषणविशिष्टं, नन्वेकस्मिन्नपि विशेषणे सर्वधर्मसङ्ग्रहसिद्धौ किमिति नवानामुक्तिरित्यत आहुर्नानाविधेत्यादि, तस्यैवेति, भ्रमदोषदुष्टस्य, ननु भवत्वेवं तथाप्यत्रोक्तानां नवानां स्वरूपे प्रतीत्यभावात् कथं सिद्धिरित्याकाङ्क्षायां व्याप्तिमूलभूततर्कानुगृहीतानुमानेन सिद्धिरित्याशयेनाहुरेवमित्यादि, अन्यथेतिपदमग्रिमेषु वाक्येषु सम्बध्यते, तथा च भगवानव्यक्तो ब्रह्मादिभिस्तदभिव्यक्त्यर्थं प्रयत्नकरणाद् यन्नैवं तन्नैवं, आद्यः पश्चादुत्पन्नत्वेपि ब्रह्मादिभिस्तन्नमस्करणात्, ब्रह्म तस्य तत्र सायुज्यप्राप्तेर्यन्नैवं तन्नैवं, ज्योतिस्तज्ज्ञानेन तेषां सार्वज्ञ्यभवनाद् यदेवं तदेवं यन्नैवं तन्नैवं, गुणातीतस्तन्निष्ठानां निर्गुणभवनात्, निर्विकारस्तद्भजनेन सर्वविकारराहित्यात्, सत्तामात्रः सर्वेषु पदार्थेषु तेषां तद्दर्शनात्, निर्विशेषस्तज्ज्ञानेन प्रपञ्चनिवृत्तेर्यन्नैवं तन्नैवं, आनन्दमात्रो निरीह एतत्कृपया तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वभवनाद् यन्नैवं तन्नैवम्, अत इति, उक्तविधानुमानेभ्यः, कालिकव्यभिचारमाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेनाहुर्नन्वित्यादि, ब्रह्मवाक्यादिति, दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमा'नितिवाक्यात् ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

त्वमस्येत्यत्र ननु रक्षायाः कथं सङ्कर्षणकार्यत्वमित्यत आहुरिदमिति, देवान् लक्ष्यीकृत्येदं लोकरक्षणं तद्द्वेषिदैत्यवधादेव हेतोः सङ्कर्षणकार्यं, वधजन्यत्वादेतस्य सङ्कर्षणकार्यत्वमित्यर्थः, इदं व्युत्पादयन्ति नन्वित्यारभ्य बध इत्यन्तेन, सङ्कर्षणोधुना सर्वनाशकत्वेन तु न तिष्ठत्यतो देवानां रक्षको दैत्यानां निवारक इतिविभाग इत्यर्थः, तदाहेति, रक्षार्थं दैत्यनिवारणमाहेत्यर्थः, अत इति, चमूमारणादित्यर्थः, दैत्यवधो लोकरक्षार्थमेवातोधुना देवांशरक्षा सङ्कर्षणकार्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥ अय त्वसभ्य इत्यस्याभासे लौकिकस्येति, लौकिकः कंसकृतोपद्रवो बलिष्ठ इति भगवते ज्ञापनायेत्यर्थः ॥ २२ ॥ अथैनमित्यत्र देवक्याः स्मृतिप्रकारेण स्तुतौ हेतुमाहुः स्वबुद्ध्येति, स्त्रियाः श्रौतज्ञानेनाधिकारादितिभावः, आभासोक्तवाक्यार्थमुपपादयितुमाहुःस्तुत्वैवेति, कथं न निवर्तयतीति, भगवानितिशेषः ॥ २३ ॥ रूपं यत् तदित्यस्याभासे प्रसिद्ध्येति, प्रसिद्ध्या सहेत्यर्थः, यत तत् प्राहुरित्यनेन प्रसिद्धिरुक्ता, स त्वं साक्षाद् विष्णुरित्यनेनाभिज्ञानमुक्तम्, अध्यात्मदीप इत्यनेन प्रमाणमुक्तमितिविभागः, व्याख्यान आवरणापगम इति, यथावरणस्य घटादेरपगमे चलने कार्यं तदन्तर्वर्ति जलादिकमपि चलति तथा जलाद्यभावे तदन्तर्वर्त्याकाशोपि चलत्यतोन्धकारवदाकाशेपीहास्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

देवकीस्तुतौ 'रूपं यत् तदि'त्यस्याभासे—

रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा । नटत्वमितिविज्ञानं स्वस्य यादृक् तथोदितम् ॥ १ ॥

आधिदैविकादि रूपत्रयं तथा 'मर्त्यो मृत्युव्याले'त्यनेन शरणागमने हेतुः प्रार्थनात्रितयं 'स त्वं घोरा'दित्यादिभिस्त्रिभिः, नटत्वमितिविज्ञानं 'विश्वं यदेव तदि'त्यनेन भगवज्जन्मनो नटवदनुकरणत्वज्ञानमित्यष्टभिर्देवकीस्तुतिः ॥ २४ ॥

बुभुत्सुबोधिका

त्वमस्येत्यत्र सङ्कर्षणात्मकमिति वासुदेवकार्यम् । सङ्कर्षणकार्यमिति रक्षणस्य तद्द्वेषिदैत्यहननजन्यत्वेन कार्यकारणयोरैक्यात् । सर्वज्ञतेति अनागतज्ञानं सर्वज्ञतान्तर्गतम् । तस्य वसुदेवस्य । आर्षज्ञानमिति ऋषेर्मन्त्रद्रष्टुरिदमार्षम् । मन्त्राः लीलाप्रतिपादका अपि ॥ २१ ॥

अयं त्वित्यत्र लौकिकस्येति लौकिकः कंसकृतोपद्रवो बलिष्ठः विशुद्धसत्त्वत्वे शूरत्वेपि विद्योपमर्दोऽविद्ययेति भगवते ज्ञापनायेत्यर्थः । भयमविद्याकार्यं, तस्मात् । 'तु'शब्द इति पूर्वार्थव्यावर्तने शक्तः । अज्ञाप्य इति ज्ञापयितुमयोग्यः कंसोसभ्यत्वात् । न इति बहुवचनं सर्वाभिप्रायेण । वर्तमानेतिफक्किका नातिप्रयोजना । पूर्वश्लोके आर्षज्ञानस्योक्तत्वाद् वसुदेवस्य । अस्येति वसुदेवस्य । मारणीय इति शङ्काद्यायुधधारित्वात् । गन्तव्यमिति शिशुर्भूत्वा मां प्रेरयित्वा गन्तव्यम् । लक्ष्यत इति अर्थाज् ज्ञायते । ग्रन्थाच्च न्यूनपूरणाद् वा ज्ञायते ॥ २२ ॥

अथैनमित्यत्र प्रार्थयितुमिति 'प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशया'दिति योगविषयं भक्त्याविर्भूतपुरुषोत्तमस्य न तु ब्रह्मविद्याविषयमिति ज्ञापितम्, देवक्या ब्रह्मविद्यात्वात् । प्रथमत इति शरणगमनात् प्रथमतः । पदचतुष्टयार्थमाहुः स्वस्यैवेत्यादि । षड्भिः श्लोकैः विदितस्य ब्रह्मत्व उपपादिते आत्मजादिपदासङ्गतिर्ब्रह्मविद्यादेवकीं प्रति तद्वारणाय भिन्नप्रक्रमार्थकाथशब्दाभिप्रायेण पदचतुष्टयं सहेतुकं विवृतम् । स्वस्यैवेत्येवकारो'थ'शब्दस्य भिन्नप्रक्रमार्थत्वात् वेदादिरूपवसुदेवव्यावृत्त्यर्थः । 'वीक्ष्ये'त्यस्यार्थः ज्ञातवतीति । तथा बुद्धेरिति 'वैष्णवीं व्यातनोन् मायां पुत्रस्नेहमयी'मिति वाक्यात् । तया तामस्याऽपुत्रेपि पुत्रत्वज्ञानात् । न तु 'स्त्रीशूद्रद्विजजातीनां त्रयी न श्रुतिगोचरे'ति ज्ञानाभावात् । 'महापुरुषे'त्यस्याभासमाहुः परमित्यादि । चतुर्भुजादीति आदिना श्रीवत्सलक्ष्मादि । इति तदर्थमिति इत्येवं श्रीदेवक्याशयज्ञापनाय । देवक्याः स्मृतिप्रकारेण स्तुतौ हेतुमाहुः स्वबुद्ध्येति । स्त्रियाः श्रौतज्ञाने नाधिकार इति भावः । 'उपाधाव'दित्यस्य 'प्रपद्य' इति वक्ष्यमाणैकवाक्यतयार्थमाहुः शरणं गतेति । यथा प्रथमस्कन्धे पृथा उपधावनानन्तरं शरणं गता । तत्र शरणं कार्पण्यरूपम् । अत्रापि तदेव । शरणमुपोपसर्गार्थः । उप दाक्षिण्ये पूजायां वा विश्वकोशात् । दाक्षिण्यं पूजा वा शरणम् । धाव् गतिशुद्ध्योः । भ्वा० उ० से० । आभासोक्तवाक्यार्थमुपपादयितुं स्तुतिमाहुः स्तुत्वैवेति । ब्रह्मविद्यात्वादेवकारः । गमिष्यतीति चतुर्थश्लोके । भीतेति ब्रह्मविद्यात्वादिति भावः । निवर्तयतीति भगवान् अभयं मोक्षं कथं न ददातीत्यर्थः । येनेति साधनेन । विस्मय आश्चर्यरसः । 'तमद्भुत'मित्यत्रोक्तोद्भुतरसोत्र स्मारितः । विस्मयः स्थायिभावः । चमत्कारदर्शनस्पर्शनस्मरणजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो विस्मयः । 'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा । जुगुप्सा विस्मयश्चे'ति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः' । 'स्थायिभावो रसः स्मृतः' परं तु परिपूर्णः । 'चित्रं महानेष बतावतारः क कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गिः, लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः' इत्यत्र विभावादयः । नायकवचनम् । एष पुरुषः महान् विकाररहितः चित्रम् । बत हर्षे । एषा कान्तिः क ? न कुत्रापि । प्रकारोभिनव एव । धैर्यं लोकोत्कृष्टम् । अहो प्रभावः । आकृतिरपि का ? अपूर्वैव । ब्रह्मण एष विषयसर्गः

विषयसृष्टिर्नूतनः। अत्र लोकोत्तरवस्तुदर्शनादिर्विभावः। नेत्रविकासाद्यनुभावः। हर्षादि व्यभिचारी। विस्मयस्थायिभावोद्भुतरसः। इतिसरस्वतीतीर्थः। एवं प्रकृतेपि। भङ्गिः, तत्र गमनोपवेशनदर्शनादिगतसौन्दर्यातिशयस्येति विस्तारिकाकृत्। तस्याश्रया। 'स्थायिभावो रसः स्मृतः' इति रसशास्त्रे। 'अभिसरत्युदायुध' इत्युक्तं ततश्चो 'पाधावत्कंसा' दित्येकं पदमतः क्रियापदाकाङ्क्षाया 'मथ'शब्दमन्ते धृत्वा भिन्नप्रक्रमस्तवनभिन्नप्रक्रमस्तस्मिन् सत्य 'स्तौ' दितिक्रियापदमर्थाल्लब्धमिति तेनान्वयो न तु भिन्नप्रक्रमे वेदादिप्रकारेण तत्र स्त्रिया नाधिकार इति। अन्यथेति 'उपाधावत्कंसा' दित्येकपदाभावे 'उपाधाव' दित्यस्या 'थैनमस्तौदवधार्य पूरुष' मित्यत्रोक्तेना- 'स्तौ'दित्यनेन पौनरुक्त्यं स्यात्॥ २३॥

रूपं यत् तदित्यत्र अष्टभिरिति श्लोकैः। 'पञ्चभि'रथैः। अर्थानां संनिवेशादन्यत्र। अष्टानां स्वरूपमाहुः आधिदैविकमित्यादिना। रूपत्रयं क्रमतस्त्रयाणां श्लोकानाम्। तुरीयस्यार्थमाहुः शरणागमने हेतुमिति। हेतुस्तुरीयस्य। 'मर्त्यो 'मृत्युव्यालभीत' इत्यस्य 'पञ्चभि' रित्यत्रापि तुरीयस्यार्थस्य। प्रकृत इत्यारभ्य पञ्चमस्य। 'पञ्चभि'रित्यत्राधिदैविकार्थस्य। इदानीमित्यारभ्य सिध्येदित्यन्तं षष्ठस्य। 'पञ्चभि'रित्यत्राध्यात्मिकस्यार्थस्य। 'मधुसूदने'तिपदात्। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्युक्तस्याधिदैविकस्याधिभौतिकवसुदेवमनःसम्बन्धात् आध्यात्मिकत्वम्। अत्र टिप्पण्याम्, तन्मारणेति आकाशवाणीप्रामाण्यात् कंसमारणसंभवे। पूर्वज्ञानेति सुबोधिनीं विवृण्वन्ति स्म पूर्वमुद्यतेति। तादृशतद्दर्शनमिति उद्यतायुधकंसदर्शनम्। आकाशादिकृतं मायिकं वा। तथेत्यर्थ इति प्राणा न स्थास्यन्तीत्यर्थ इत्यर्थः। सुबोधिनी, प्रकारान्तरेणेत्यादिः प्रकारान्तरं जन्माज्ञानरूपं, तेन। प्रार्थयन्ता देवकी। अज्ञानं 'मा विद्या'दित्यनेन षष्ठे श्लोके प्रार्थयत इत्येवं स्पष्टार्थेत्यन्यथेतिसुबोधिनीं विवृण्वन्ति स्म अन्यथेतीति। जन्माज्ञानेति'मा विद्या'दित्यनेन जन्माज्ञानोपस्थित्या तदभाव उक्तः, न तु जन्मज्ञान इत्युक्त शक्यतावच्छेदकलाघवेपि। प्राणास्थितिरिति भगवतो युद्धार्थं प्रवृत्तावित्येव। अयमेव प्रथमपक्षः। रक्षेति इदानीमुभयोरेकतरस्य कंसस्य। सुबोधिन्याम् रूपेत्यादि सप्तमस्य श्लोकस्य। 'पञ्चभि'रित्यत्राधिभौतिकस्यार्थस्य। तत्रैव सुबोधिन्यां स्पष्टम्। अत्राप्याधिभौतिकत्वं स्पष्टयन्ति स्म सर्वाधिक्य इत्यादिना। अलौकिक इति प्रार्थनाविषयेऽलौकिकत्व उपसंहृते लौकिकसमानेऽलौकिक इत्यर्थः। शीघ्रमिति संस्काराभावेपि। चे इत्यत्र इ इत्यस्याश्चर्यार्थकस्य छेदः। स्वार्थमिति स्वस्याः ब्रह्मविद्याया विषयत्वार्थम्। आधिभौतिकम्। वसुदेवमनोपि ब्रह्मविद्या। मन ज्ञान इति धातुपाठात्। 'यतो वाचो निवर्तन्त' इतिश्रुतेः। द्वयमिति 'स त्वं घोरा'दिति 'जन्मत' इति श्लोकद्वयोक्तं द्वयम्। प्रकृतेति प्रकृतायां भयकृतस्तुतौ। स्वस्येत्यादिकोष्टमस्य श्लोकस्य। 'पञ्चभि'रित्यत्र पञ्चमस्यार्थस्य। स्वस्येति देवक्याः। भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणं पुंस्त्वं विवक्षितम्। तदेतत् कारिकायां सङ्गृह्णन्ति स्म रूपत्रयमित्यादि। रूपत्रयमाधिदैविकादि। प्रार्थनात्रितयं श्लोकत्रयात्मकम्। विज्ञानमित्यादिकं चतुष्टये प्रत्येकमन्वेति। स्वस्येति देवक्याः, पुंस्त्वं भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणम्। याद्वगिति ब्रह्मविद्यासामग्रीं न्यूनां कृत्वा भक्तिमार्गीयसामग्रीप्रबलविषयकम्। तेन चतुर्भुजादिरूपोपसंहारप्रार्थनेपि न चतुर्भुजादिरूपे गोपालतापिनीयादिब्रह्मविद्यानिरूपिते काचित् क्षतिः। स्वामीति 'स त्वं साक्षाद्विष्णु'रित्यभिज्ञानम्। 'अध्यात्मदीप' इत्यनेन प्रमाणम्। आधिदैविक इत्यर्थात्। आधिदैविको भगवान् प्रमाण, 'अत्र प्रमाणं भगवा'निति वाक्यात्। अन्यत्र ज्ञानमात्रं शाब्दं वा भवतु, न त्वभिज्ञानं, उक्तश्रुतेः। प्रसिद्ध्येति प्रसिद्ध्या सह इत्यर्थः। 'यत् तत् प्राहु'रित्यनेन प्रसिद्धिरुक्ता। द्वयमिति आध्यात्मिकमाधिभौतिकं च। आध्यात्मिकस्याधिदैविकाधिभौतिकसम्बन्धजन्यत्वात्। अन्यथेति अस्यापि लोकसिद्धत्वे, 'योध्यात्मिकोयं पुरुष' इतिवाक्यात्। प्रमाणानामिति आधिदैविकादिशब्दानाम्। अनुवादकत्वमिति सिद्धस्य कथकत्वम्। तदेवेति प्रत्यभिज्ञा। आनुपूर्व्येणेत्यादि यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इत्यानुपूर्व्येण। आकाङ्क्षावैपरीत्यं 'रूपं तत् यत् प्राहु'स्तद्रूपमित्येवम्। स्वस्य देवक्या अनुभवः स्वबुद्ध्या स्मृतिजनकः तस्य दार्ढ्यार्थम्। अनुभवदार्ढ्ये स्मृतिर्दृढा भवति भगवद्विषयिणी। वैलक्षण्यादिति आधिदैविकादस्य वैलक्षण्यात्। अत्रैवेति जगत्सलक्षणत्वेन प्रतीयमान एवास्मिन् रूपे। नवधा हि जगदिति पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहंकारजीवा इति नवधा, 'भूमिरापोनलो वायु'रित्यादिवाक्यात्। 'तत्त्वान्युक्तानि मे नवे'ति श्रीभागवते। आत्ममायागुणास्त्रयः, विस्तारे नव, एकैकस्य त्रैविध्यात् इति वा। यद्वा। सच्चिदानन्दानां त्रयाणां विस्तारो नव। मूलरूपमिति 'अक्षरात् सौम्य विविधा भावाः प्रजायन्त' इति श्रुतेः। 'पुरुषोत्तमेऽव्यक्तत्वं समाकर्षा'दित्यधिकरणोक्तम्। आद्यमिति सत्यज्ञानानन्तानन्दम्। जगच्चेति इदं त्वाधुनिकमिति लोकप्रतीतिरित्यनेनान्वयः। उक्तमिति अव्यक्तं स्वरूपलक्षणकं द्वेधापि आद्यं कालकृतं परमित्येवमुक्तं 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते'रित्यधिकरणे च। वदन् परिमाणेनेति शब्दो वदन् परममहत्परिमाणेन। तथैव रूपमिति इति लोकप्रतीतिरित्यन्वयः। तदिति प्रसिद्धं सूर्यादिनिष्ठम्। सूर्यादिनिष्ठतेजसो भगवदीयत्वे युक्तिमाहुः अन्यथेति। तेजसो भगवदीयत्वाभावे जगत्त्वावच्छेदेन जगदभिव्यक्तिर्न स्यात्। दशाङ्गुलं बिम्बमिति। तथा च तेजो भगवदीयं न स्यात् जगदभिव्यक्तिर्न स्यादित्यन्यथाज्ञानरूपा युक्तिः। ननु कारणवैजात्ये कार्यं कथं त्रिगुणमित्याकाङ्क्षायां समवायिकारणवैजात्ये तथा न तु कर्तृत्वे इत्याहुः गुणानामित्यादि। गुणानां कारणत्वं साङ्ख्यमते। सिद्धान्तेपि 'आत्ममायामृते' इति वाक्यात्। भगवत्कारणतेति भगवतः कर्तृता। तत्र हेतुः स्वातन्त्र्येति। गुणाधीनत्वेन तथा। 'स्वतन्त्रः कर्ते'ति पाणिनिसूत्रात्। ब्रह्मविद्यारूपदेवक्याः स्तुतिर्वेदान्तरूपापि। तथा च गुणानां कारणत्वे वेदान्तश्रुतिविरोध इति गुणातीतमेव कारणमित्यर्थः। निर्गुणं विवृण्वन्ति स्म सदंशा इति। न चितीति ज्योतिरित्यनेन चिद्रूपत्वमुक्तम् तद्विरुद्धा गुणा नात्र तत्र सम्भवन्तीति गुणातीतमेव कारणमित्यर्थः। कारणस्य स्वमतेन निर्गुणत्वमाहुः तदेवेति। प्रपञ्चविलक्षणमिति निर्गुणमित्यर्थः।

रूपं त्वाधिदैविकभूतेन्द्रियादिरूपम्। निर्विकारं विवृण्वन्ति स्म प्रपञ्चस्त्विवति। भावविकाराः षट्, जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते नश्यतीति। अत इति प्रपञ्चविलक्षणत्वात्। तदेवाहुः लौकिकानीति। इदं तु प्रपञ्चविलक्षणम्। इन्द्रियादिभिरिति। आदिपदेन सूर्यादिचक्षुराद्याधिदैविकसङ्ग्रहः। नन्वानन्दमात्रे वक्तव्ये 'सत्तामात्र'मिति किमित्युक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः विषयकृत-मित्यादि। यद्वा। प्रपञ्चवैलक्षण्येऽङ्गीकृते आनन्दवैलक्षण्यं प्राप्तं वारयन्ति स्मेत्याहेत्याहुः विषयकृतमिति। निराकरणीयमिति 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति 'आनन्दमेतज्जीवस्ये'ति श्रुतिद्वयदर्शनादिति भावः। मात्रच्प्रत्ययः कार्त्स्न्ये इत्याहुः सर्वमेवेति। कृत्स्नमेव। अपीति अपिना चिद्रूपं आनन्दरूपं च। तेनानन्देपि न विषयकृतं वैलक्षण्यमिति भावः। आद्यपदेनानन्दमयस्य मूलभूतत्वात्। 'सत्तामात्र'मित्युपलक्षणम्। 'सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना' इत्यत्र सत्यपदवत्। तेन व्यष्टिसत्तायां कारणत्वभरः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दिति छान्दोग्यात्। तेन स्त्रीत्वेन स्मृत्या स्तुतिः, विद्यात्वेनोपनिषदनुसारिणी स्तुतिः। आनन्दांशे जगद्वैलक्षण्यं निराकृतं, अधुना जगद्वैलक्षण्यार्थं जगति वैलक्षण्यं विशेषरूपमग्रिमविशेषणप्रतियोगिरूपमाहुः विशेषनामेति। व्यावर्तकविशेष-पदार्थनामरूपधर्मवद् भवति परमाण्वंशे। बृहदारण्यकात् षष्ठस्कन्धार्थेन विशेषदर्शनं भगवति षष्ठस्कन्धार्थवैलक्षण्यार्थम्। षष्ठस्कन्धे प्रकरणत्रयम्, नामप्रकरणं रूपप्रकरणं क्रियाप्रकरणं च, षष्ठस्कन्धार्थः पोषणम्, 'पोषणं तदनुग्रह' इतिवाक्याद् विषयता-सम्बन्धेन जगद्वृत्त्यनुग्रहात् आश्रयतासम्बन्धेन नामरूपकर्मवान् भगवान् विलक्षणः। जीवे विशेषकर्म भगवति सामान्यं कर्मेति बोध्यम्। एवं सर्वमित्यादिफक्किकाभासे तात्पर्यार्थाभावदर्शनाद् व्याख्याता जगदानन्दस्यावैलक्षण्यार्थम्। आवृत्त्या व्याख्यायते। तर्हि मात्रचोवधारणार्थत्वमपीति तस्याङ्गीकारे निर्विशेषपदस्य किं प्रयोजनमित्यतो 'निर्विशेष' पदमवतारयन्ति स्म सर्वमित्यादि। सामान्यमिति सत्तारूपं नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं न भवति किन्तु ब्रह्म। इयं व्याप्तिरिति सामान्यत्वेन विशेषवत्त्वेन व्याप्तिः। सत्ता विशेषवती, सामान्यत्वात्, घटसत्तावदित्यनुमानम्। इतीति एतज्ज्ञापनार्थम्। साध्यतावच्छेदकसम्बन्धभेदात्। सत्तामात्रं सामान्यत्वहेतुमदपि साध्याभाववदित्याहेत्यर्थः। अन्यथेत्यादि अन्यथा उक्तव्याख्यानाभावे। सत्तामात्रनिर्विशेषयोः पौनरुक्त्यं स्यात्। साध्याभावोपि सत्तामात्र एवेत्याहुः विशेषा हीति। नामरूपधर्मरूपाः। हीति 'चरमः सद्विशेषाणां' इत्यत्रापि विशेषा व्याव-र्तकाः। मूलसत्तायामिति आत्मरूपायां सत्तायाम्। तथा च विशेषवत्त्वं चित्यानन्दे चेति भावः। व्यावर्त्यसत्त्वात्। सत्तावन्तस्त्रय-स्त्वाद्या इति सामान्ये सत्ताभावाद् धर्माभावप्रयुक्तो नामरूपाभावः। वाङ्निवृत्तिश्रुतेः। आद्याः द्रव्यगुणकर्मपदार्थाः सामान्यसम-वायविशेषाभावेषु। विशेषेणेति व्यावर्तकेन। कार्यं न व्यावर्तनीयमिति सत्तया कार्यं न व्यावर्तनीयम्। घटत्वद्रव्यत्वादिना तु व्यावर्तनीयम्। क्वचित् कार्यं न कर्तव्यवर्तयमिति पङ्क्तिः। सा यथा लिखितपाठकस्य भाष्ये पाठकाधमेषु पाठात् बाहुलकाद् व्याकृता। अधुना जन्मप्रकरणे फले परोक्षातिपरोक्षवादानुक्तेः परोक्षवादमाहुः कर्तव्यवर्तयमिति। अतिपरोक्षवादः। कतं छिन्नं तस्मान् न व्यावर्तनीयमित्यर्थः। काना—न्यक्षरयोरलुखरति (?) परोक्षवादार्थम्। कर्तव्यवर्तवृतु वर्तने क्विप्। इ अम् अव्ययद्वयम् आश्चर्ये प्रसिद्धौ चेति परोक्षवादः। कर्तव्ये वर्तनीयमित्यस्य। अन्यथेति सत्तायाः कार्यवैलक्षण्ये। तस्य कारणेति मूलसत्त्वसम-वायिता। 'निरीह'पदं व्याकुर्वन्ति स्म पूर्णमित्यादि। चेष्टमानमिति 'अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्ये'ति साङ्ख्यसूत्रात् प्रधानचेष्टा। ननु कार्येपि न चेष्टा नियता, आकाशादौ व्यभिचारादित्यत आहुः आकाशेत्यादि। आदिना जडलोहादिकमभि-मन्त्रितम्। चेष्टा व्यापारः। महाभाष्येपि। ननु नैयायिकैश्चेष्टात्मधर्मो व्यापारो जडधर्म इत्युच्यत इत्याकाशे चेष्टाराहित्यं न कारणासाधारणलक्षणमित्यत आहुः आवरणेति। घटाद्याकाशावरणस्य घटादेर्गमने सर्वक्रियारूपे गमने कार्यापगमे घटादिनाशे तन्निष्ठाकाशे साकारे साकारत्वापगमवत्। तथा च चेष्टात्वव्यापारत्वजातिद्वयकल्पने गौरवमिति भावः।

अयं दृष्टान्त उत्तरत्र। आकाशापगमस्यापीति आवरणनिवृत्ताविति द्रष्टव्यम्। अन्धकारवदिति सप्तम्यन्ताद् वतिः। दीप-चलनेन्धकारवत्। तथा च दीपचलनेन्धकारचलनवदाकाशेपि घटाकारे दृष्टानुरोधान् नैमित्तिकी चेष्टाङ्गीकार्या। अन्यथा घटाद्या-काराकाशप्रतीतेर्निर्विषयत्वापत्तेः। न च सा भ्रम इति वाच्यम्। भ्रमत्वेपि सविषयत्वस्यावश्यकत्वात्। आकाशस्य सर्वगतत्वात्। न च विषयोऽसन्नेव प्रतीयत इति वाच्यम्। श्रौते मते आकाशस्य कार्यत्ववदव्यापकत्वस्यापि सत्त्वात्। अन्यथा 'ज्यायानाकाशा'-दितिश्रुतिविरोधापत्तेः। एवं सिद्धेऽव्यापकत्वे तत्र क्रियाङ्गीकारोपि युक्त एवेति पूर्वोक्तप्रतीतेरभ्रान्तत्वमेव युक्तम्। धियां बाधकं विनौत्सर्गिकत्वादिति। नन्वेवं सति ब्रह्मण्यप्याकाशशरीरे चेष्टास्तु, मिषत्वस्य तत्रापि श्रौतत्वादित्यत आहुः ब्रह्मणीत्यादि। आवरकेति आकाशवद् घटाद्यावरकासम्भवात्। 'आकाशवत् सर्वगत' इत्याकाशदृष्टान्तादावरणसम्भवादाहुः अव्यवेति। जगज्जन्मादिकर्तृत्वेन वेदान्ते व्यवहार्यत्वं, साङ्ख्ये तु 'असङ्गोयं पुरुष इती'ति सूत्रादव्यवहार्यत्वात्। 'प्रधानाज्जगज्जायत इती'ति साङ्ख्यसूत्रात्। प्रधानस्य व्यवहार्यत्वात्। एकस्मिन्निति यथाऽव्यक्ते नवधर्माणां क्रोडीकरणं पातङ्गिकरणम्। 'क्रोडः शूकरपातङ्ग्यो'रिति विश्वः। पतदङ्गः पतङ्गः शकन्ध्वादिः। तस्यापत्यं पातङ्गिः अत इञ्। पतङ्गार्भककरणम्। पृथिव्यामिदं सर्वमिति। अव्यक्तं प्रकृतिः पृथ्वीः। ३। एवमाद्ये नवधर्माणां क्रोडीकरणं मूलकारणत्वात् सत्तारूपाणाम्। आद्यः बुद्धिः। आत्मत्वात्॥ १॥ एवं ब्रह्मणि नवधर्माणां क्रोडीकरणम्। 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वे'ति वाक्यात्। ब्रह्म मनः। 'आत्मा देहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धि'ष्विति विश्वात्॥ २॥ एवं ज्योतिषि नवधर्माणां क्रोडीकरणम्। 'ब्रह्म तर्हि अग्निः' इति सुबोधिन्याम्॥ ४॥ एवं निर्गुणे, नवधर्माणां क्रोडीकरणम्। 'सर्वाणि इमानि भूतानि आकाशात् समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशः परायण'मिति छान्दोग्यात्। निर्गुणम् आकाशः। 'आकाश-

शरीरं ब्रह्मे'ति श्रुतेः। 'नीरूपो नील आकाश' इति प्रस्थानरत्नाकरग्रन्थे। ३। तृतीयपञ्चमाद्धव्यत्ययो वा। एवं निर्विकारे नवधर्माणां क्रोडीकरणम्। 'आपमापामपः सर्वा' इति श्रुतेः। आपः विकारो शुद्धिः तद्रहिताः॥ ६॥ एवं सत्तामात्रे नवधर्मक्रोडीकरणम्। अतिदेशाधिकरणे प्राणश्रुतेः प्राणेर्भूयत इति भावप्रत्ययात्॥ ७॥ एवं निर्विशेषे नवधर्मक्रोडीकरणम्। निर्विशेषा निराकारा जीवाः। नामरूपधर्मरहिता वा। तत्र नवधर्माः शरीरद्वारा प्रसिद्धाः। 'नैव किञ्चित् करोमी'ति वाक्यात्॥ ९॥ एवं निरीहे नवधर्मक्रोडीकरणम्। निरीहोऽहंकारः। अहंकारी सर्वत्र न गच्छतीति। 'ततोहं नामाभव'दिति पुरुषविधब्राह्मणश्रुतेः प्रथमकार्ये नवधर्मक्रोडीकरणं युक्तम्॥ ८॥ अत्र 'भूमिरापो नलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा, अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्, जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जग'दिति सप्तमे ज्ञानविज्ञानयोगाध्याये। वाक्ये अनुसन्धेये। इमे पुरुषोत्तमयोगाध्याये योक्तव्ये। पुरुषोत्तमजन्मप्रकरणात्। तथाहि। 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्, स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यत्र। 'एवं' नाम क्षराक्षरोत्तमत्वेन। तत्र क्षराक्षरयोर्नवधात्वम्; इति पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तयोः। प्रकृतिर्यदि स्वरूपम्, तदात्मसृष्टिः। यदा तु माया तदा पौराणी क्रमसृष्टिरिति ज्ञेयम्। वैलक्षण्यस्येति जगद्वैलक्षण्यस्य। वक्तव्यत्वादिति अत्रैवाग्रे वक्तव्यत्वात्। तादृशमिति नवविशेषणविशिष्टम्, स्वदोषेणैवेति इच्छाभावात् दिव्यचक्षुरादायदानाच्च करणदोषेण। सर्वभोग्यसुधाया अपि तादृशविषयत्वेनाभावादेवकारः। नन्वेकस्मिन्नपि विशेषणे सर्वधर्मसङ्ग्रहसिद्धौ किमिति नवानामुक्तिरित्यत आहुः नवविधत्वेति। इयं भ्रमरूपा। आनन्दमात्रे गीतोक्तभूमित्वादिप्रकारेण ज्ञानात्। भ्रमरिकेति दृष्टिरूपकरणदोषः। तस्यैवेति करणविषयान्यतरदोषदुष्टस्यैव। इतरयोगव्यवच्छेदकैवकारः। एवेति न तु नवधात्वविशिष्टः। ननु भवत्वेवम्, तथाप्यत्रोक्तानां स्वरूपे प्रतीत्यभावात् कथं सिद्धिरित्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणव्याप्तिमूलभूततर्कानुगृहीतानुमानात् सिद्धिरित्याशयेनाहुः एवमत्रापीत्यादि। अन्यथेतिपदमग्रेपि सम्बध्यते।

तथा च भगवान् अव्यक्तः ब्रह्मादिभिस्तदभिव्यक्त्यर्थं प्रयत्नकरणात्, यन्नैवम् तन्नैवम्, घटादिवत्। भगवान् आद्यः पश्चादुत्पन्नत्वेपि ब्रह्मादिभिस्तन्नमस्करणात्। यन्नैवं तन्नैवम्, घटादिवत्। भगवान् ब्रह्म, ब्रह्मादीनां तत्र सायुज्यप्राप्तेः। यन्नैवं तन्नैवं, मायिकघटादिवत्। भगवान् ज्योतिः तज्ज्ञानेन ब्रह्मादीनां सार्वज्ञ्यभवनात्। यदेवं तदेवं धूर्जटिवत्। यन्नैवं तन्नैवं, विष्णुमित्रवत्। भगवान् गुणातीतः तन्निष्ठानां निर्गुणभवनात्, यदेवं तदेवं व्रजभक्तवत्, यन्नैवं तन्नैवं घटादिवत्, भगवान् निर्विकारः तद्भजने सर्वविकाररराहित्यात्। यदेवम् इत्यादि पूर्ववत्। भगवान् सत्तामात्रः सर्वेषु पदार्थेषु तेषां तद्दर्शनात्। यन्नैवं तन्नैवं घटसामान्यवत्। भगवान् निर्विशेषः, तज्ज्ञानेन प्रपञ्चनिवृत्तेः। यन्नैवं तन्नैवं घटादिवत्। आनन्दमात्रो निरीहः एतत्कृपया तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वभवनात्। यन्नैवं तन्नैवं प्रेरितघटादिवत्। अत इति उक्तविधानुमानेभ्यः। सम्भवतीति किन्तु भक्तभजनीयत्व एव सम्भवति। 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत, इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते'ति पुरुषोत्तमयोगाध्यायवाक्याभ्याम्। 'सर्वभावेने'त्यस्य सर्वात्मभावेनेत्यप्यर्थः। कालिकव्यभिचारमाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेनाहुः नन्विदानीमित्यादि। न त्वनवतारकालिकस्वरूपस्येति तद्योगव्यवच्छेदक एवकारः। आविर्भूतस्येति कालात्मनः। शक्यत इति तथा च कालिकात्मनि सङ्कर्षणव्यूहेषु नैतादृशत्वस्य व्यभिचारः। विशेषेणाभितश्चरणम्। कालिकानवतारूपे ज्योतिराद्यधिकरणोक्ते कस्मिंश्चित् प्रसिद्धव्यभिचारः साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपः। तत्त्वमेवेति प्रत्यभिज्ञा। सेयं दीपसालिकेतिवत्। तत्ताइदंताप्रकारकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। अयमर्थः। शब्दार्थयोर्द्वितीयाध्यायोक्तयोः कालात्मनोरैक्यं औत्पत्तिकसम्बन्धात्। युष्मच्छब्दार्थः प्रद्युम्नः व्यूहत्रयेयं प्रत्यक्षः। सः तत् इति पूर्वोक्तेति विष्णुः पुरुषोत्तमसमानधर्मत्वेन पुराणे प्रसिद्धः। अत उक्तं पूर्वोक्तप्रकारेणेति। ब्रह्मवाक्यादिति 'दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमान्' इति 'विष्णुः सर्वगुहाशय आविरासी'दिति वाक्यैकवाक्यतया 'स त्वं विष्णु'रिति ब्रह्मविद्यात्वाद् देवक्या ज्ञानम्। तथा च ब्रह्मवाक्यादित्यस्य शुकवाक्ये 'विष्णुः सर्वगुहाशय' इत्यस्मिन् ग्राह्ये भगवद्वाक्यादित्यर्थः। 'वैयासकिः सभगवान्' इत्यत्र शुकवाक्ये भगवद्वाक्यत्वोक्तेः। अंशावतार इति सत्त्वावतारः। वाक्यमिति 'स त्वं विष्णुः साक्षा'दितिवाक्यम्। अध्याहृतक्रियया 'एकतिङ् वाक्यम्'। अध्यात्ममिति पूर्वमाधिदैविकभगवन्मनःसम्बन्धाद् वसुदेवमनसः। वस्तुत इति स्वरूपतः। तदेवास्येति त्वत्सान्निध्यमेवास्य प्रकाशस्य कारणम्। मदनुभावेनेति ममानुभावः त्वत्कृतः तेन। अनुभावो वस्तुत इत्यारभ्य प्रकाशयुक्त इत्यन्तेनोक्तः। कार्यमिति एवं प्रकाशरूपम्। लिङ्गमिति आधिदैविकत्वे॥२४॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

तस्य रूपस्य सहजत्वाभावायाह रजसोपबृंहितमिति—इस श्लोक में भगवान् का सङ्कर्षण रूप कहा है, कि हे विभो! आप इस लोक की रक्षा की इच्छा रखते हुए मेरे गृह में प्रकट हुए हो, रक्षा करना आपका आवश्यक कर्तव्य है क्योंकि आप अखिलेश्वर हैं, समस्त जगत् के स्वामी हैं, एवं विभु सर्वथा समर्थ भी हैं, यह लोक रक्षात्मक सङ्कर्षण कार्य देवताओं के प्रति उनके द्वेषि दैत्यों के नाश करने से ही सिद्ध होता है, सर्व नाश करने से नहीं, अतः देवांश सङ्कर्षण सर्वथा संहारक ही हो यह बात नहीं वह तो जगत् के रक्षक ही हैं केवल दैत्यों का निवारण करते रहते हैं, उक्त तथ्य को कहते हैं कि आप राजा कहलाने वाले असुरों की सेनाओं के यूथपति कंस आदिकों से अत्यन्त सुरक्षित एवं उत्तेजित सेनाओं का निःशेष रूप से वध करेंगे, अतः

आपके द्वारा सम्पन्न हुआ दैत्य वध लोक रक्षा के लिये ही सिद्ध होता है, इस प्रकार भविष्य का निर्देश वसुदेवजी की सर्वज्ञता का सूचक है जो कि उन्हें भगवान् के सन्निधान से प्राप्त हुई है, अथवा श्रुति कहती है कि ब्रह्म के विदित हो जाने पर सब कुछ विदित हो जाता है, इस कारण इनका यह ज्ञान ऋषियों की भांति भगवत्तत्त्व के ज्ञान से भी हो सकता है ॥ २१ ॥

एवमपि ज्ञाते भयं न निवृत्तमिति—ऐसा ज्ञान होने पर भी वसुदेवजी का भय निवृत्त नहीं हुआ इसलिये लौकिक की प्रबलता के सूचनार्थ 'अयन्तु आदि श्लोक द्वारा भय से भगवान् के प्रति विज्ञापना करते हैं, उक्त श्लोक में (तु) शब्द स्तुति की व्यावृत्ति का द्योतक है कि अब स्तुति समाप्त हुई पूर्व में जो कहा गया है वह स्तुति पदार्थ है उसकी समाप्ति कर अब एक श्लोक से प्रार्थना करते हैं, वसुदेवजी कहते हैं कि यह कंस तो असभ्य है, भगवान् प्रकट हुए हैं ऐसा जानकर साधु पुरुषों को ही सुख होता है दुष्टों को नहीं, अतः इससे इस प्रसङ्ग को कहना सर्वथा अयोग्य है, असभ्य होने के कारण ही इसने आपके जन्म को हमारे गृह में सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राता मेरे षट् (६) पुत्रों को मारा है, उक्त श्लोक में (सुरेश्वर) यह सम्बोधन अमृत मन्थन आदि प्रसङ्ग पर देवताओं के पक्षपात की स्मृति दिलाता हुआ भक्त पक्षपात का सङ्केत करता है, इस समय क्या करना चाहिये इस प्रश्न के विषय में वसुदेव जी कहते हैं कि वह हत्या प्रिय कंस प्रहरी लोगों से सूचित हुए आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों का उठाये हुए अब ही निकट भविष्य में आ ही रहा है, वर्तमान के समीप होने पर भी वर्तमान जैसा व्यवहार होता है अतः अभिसरति यह वर्तम न का प्रयोग सङ्गत है, ईश्वर के प्रति प्रार्थना मात्र ही सेवक का कार्य है, कर्त्तव्य विषय का ज्ञान तो प्रभु को ही है, अतः वसुदेवजी मौन हो गये, वसुदेवजी का अभिप्राय तो यह है कि यदि इसी समय मारना हो तो यहां विराजे अन्यथा अन्यत्र पधारें, भगवान् ने विचार किया कि अभी मारने में तो गुप्त रूप से जो व्रजवासियों के साथ लीला अपेक्षित है वह नहीं होगी एवं और भी लोगों का उद्धार आदि न हो पावेगा अतः उस कार्य को करने के अनन्तर ही कंस का वध उचित है अतः पिता श्री वसुदेवजी के अभिप्राय से अन्यत्र पधारे ऐसा तात्पर्यतः विदित होता है ॥ २२ ॥

तूष्णीं स्थिते वसुदेवे देवकी रूपोपसंहारं कंसस्य—वसुदेवजी के मौन हो जाने पर श्री देवकी भगवान् से उनके रूप के छुपा लेने की एवं कंस को उनके जन्म के ज्ञान न होने की प्रार्थना करने के लिये प्रथम स्तुति करती है, ऐसा (अथैनम्) इस श्लोक द्वारा शुकदेवजी कहते हैं, श्री देवकी ने उस अद्भुत बालक को 'यह मेरा अपना ही पुत्र है, ऐसा समझा क्योंकि भगवान् ने उस प्रकार ही उनकी बुद्धि उत्पन्न कर दी थी, परन्तु वह पुत्र लोकप्रसिद्ध चतुर्भुज आदि लक्षणों से भगवान् के समान है ऐसा जानकर अपनी बुद्धि से स्मृति और पुराणों में भगवान् का स्वरूप जैसा प्रसिद्ध है वैसा इस अवसर पर वर्णन करना आवश्यक है अतः देवकी द्वारा वैसे वर्णन करने के लिए महापुरुषलक्षणम्' इस विशेषण का प्रयोग शुकदेवजी ने किया है, महापुरुष श्री पुरुषोत्तम के लक्षण जिस बालक में हैं, उस अद्भुत बालक भगवान् की शरणागति देवकी ने प्राप्त की, स्तुति करने के अनन्तर ही इन्हें शरणागति सिद्ध होगी, यह भगवान् के निमित्त से ही कंस से भीत (डरी हुई) हैं, शङ्का हो सकती है कि तब महापुरुष लक्षणों से भगवत्स्वरूप के ज्ञान द्वारा देवकी ने भय को क्यों नहीं निकाल दिया उसके विषय में कहते हैं कि देवकी 'सुविस्मिता' थी उनको आश्चर्य रस ही उत्पन्न हुआ, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हुआ, जिससे भय निवृत्त होता 'शुचिस्मिता' ऐसा पाठ भी सम्मत है, तदनुसार भगवान् की स्तुति के उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता के प्रयोजक देवकी के पातिव्रत्य आदि धर्म का निरूपण हुआ है 'ऐसा जानना', उक्त श्लोक के प्रारम्भ में ही 'अथ' शब्द इस प्रसङ्ग की पूर्व प्रसङ्ग से विभिन्न शैली का सूचना देता है कि वसुदेवजी ने वेद और तन्त्र के प्रकार से स्तुति की थी, और देवकीजी उनसे भिन्न स्मृति पुराणोक्त दिशा से स्तुति करेंगी, अन्यथा वसुदेवजी के प्रकार से स्तुति करने में तो पुनरुक्ति दोष का संभव है ॥२३॥

शरणं गता देवक्यष्टभिः स्तोत्रमाह—शरणागत देवकी आठ श्लोकों से स्तुति कह रही हैं, प्रारम्भ में भगवान् के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन तीनों रूपों का तीन श्लोकों द्वारा निरूपण कर चतुर्थ श्लोक से शरणागति में कारण का उल्लेख कर पञ्चम श्लोक से उपस्थित परिस्थिति में रक्षा, एवं सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का ज्ञान न हो, यह दो प्रार्थना करती है, षष्ठ श्लोक में इस अभिप्राय से कि अभी कंस के मारने में तो उसके साथ आपके युद्ध के लिये प्रवृत्त होते ही मेरे प्राण नहीं रहेंगे क्योंकि पूर्व में मैं जिस भयङ्कर दृश्य को देख चुकी हूँ वैसा ही दृश्य (शस्त्रों को उठाये कंस का आना) देखने में आयेगा, यद्यपि युद्ध में आप ही उसे मारेंगे फिर भी मेरे षट् (६) पुत्रों का हत्यारा शस्त्रधारी क्रूर कंस मेरे सम्मुख उपस्थित होगा इतने मात्र से ही मेरे प्राण नहीं ठहर सकते हृदय इतना दुर्बल पड़ गया है, अतः उस प्रकार से रक्षा न कीजिये, आपका अभी युद्ध में उसे मारकर हम लोगों की रक्षा करना मुझे अभीष्ट नहीं, किसी अन्य प्रकार से रक्षा अभीष्ट है, अभी तो आपके जन्म का ज्ञान भी उसे नहीं होना चाहिये, ऐसी प्रार्थना करती है, क्योंकि यदि आपके जन्म का ज्ञान उसे हो जावेगा तो भी हम लोगों के प्रथम पक्ष की ही संभावना हैं अर्थात् प्राणों की स्थिति नहीं रहेगी, (रक्षा सिद्ध नहीं होगी) सप्तम श्लोक से चतुर्भुज रूप के छुपा लेने की प्रार्थना करती हैं, सम्भव है सर्व साधारण लोग आपसे द्वेष करने लगें क्योंकि ऐसा अद्भुत रूप किसी का भी नहीं है अतः सब से अधिकता होने पर द्वेष ईर्ष्या आदि का सर्व साधारण में उद्गम होना संभावित है, और

सब का ही संहार कर देना भी अशक्य है क्योंकि तब तो कोई भी न रहेगा तो आदान भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा, अतः सब को मार देना भी नहीं बनेगा, अतः इस रूप को ही तिरोहित कर लेना उचित है, दूसरी बात यह भी है कि इस अलौकिक रूप में शीघ्र ही उपसंहार की संभावना है।

कारिका—रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा। नटत्वमितिविज्ञानं स्वस्य यादृक् तथोदितम्॥ १॥

कारिकार्थ – आधिदैविक आदि तीन रूप और शरणागति का कारण, तथा रक्षा, भगवत्स्वरूप का तथा उनके जन्म का ज्ञान न होना, और रूप का उपसंहार (तिरोभाव) करना, यह तीन प्रार्थना एवं नट की भाँति भगवान् का जन्म अनुकरण मात्र है, ऐसा श्री देवकी ने अपने अनुभव के अनुसार कहा है।

आदौ भगवानाधिदैविक इति वदन्ती—अधिक समय तक इस अद्भुत रूप से सर्व साधारण जनता में विराजना सम्भावित नहीं, अतः चिरकाल तक आपके विराजमान रहने के केवल अपने स्वार्थ को लेकर रूप के उपसंहार की प्रार्थना है, अवशिष्ट दो प्रार्थनायें तो प्रस्तुत में उपयोगी है हीं, इस प्रकार तीन प्रार्थना की है, अष्टम श्लोक से श्री देवकी अपने गर्व के न होने की सूचना करती हुई यह निरूपण करती है कि आपका अवतार तो नट की भाँति अनुकरण मात्र ही है, माता के आधीन होकर गर्भ में रहना और सर्व साधारण की भाँति जन्म ग्रहण करना नहीं है।

श्री देवकी स्तुति के आरम्भ में भगवान् की आधिदैविक बतलाती हुई अपने भगवद्विषयक ज्ञान और उसमें प्रमाण इन दोनों का प्रसिद्धि के साथ निरूपण करती है कि यह प्रत्यक्ष सम्मुख दृष्टिगत होने वाला रूप वह ही है जिसे सब लोग आधिदैविक कहते हैं, आधिभौतिक व आध्यात्मिक यह अन्य दो रूप तो लोकसिद्ध हैं, अलौकिक रूप तो आधिदैविक ही हैं, यदि आधिदैविक रूप भी लोकसिद्ध हो तब तो उसका ज्ञान लोकतः प्राप्त है अतः उसके ज्ञापक वचनों को अनुवाद ही मानना होगा, प्रमाण नहीं, अतः श्री देवकी का कहना है यह रूप वह ही है, वह क्या है ऐसी आकाङ्क्षा (जिज्ञासा) होने पर कहती है कि यह वह है जिसे कहते हैं, अर्थात् सर्व शास्त्रों में जिसे परम तत्त्व मूलरूप कहा है वह ही यह साकार आधिदैविक तत्त्व है, श्री देवकी ने अपनी इस उक्ति में अपने अनुभव की दृढ़ता बतलाने के लिये (यत्) शब्द के अनन्तर ही (तद्) शब्द का प्रयोग कर दिया है यद्यपि (यत् प्राहुस्तद् रूपम्) इस प्रकार का शब्दविन्यास अपेक्षित था, अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के निरूपण करने के लिये (यत्) और (तद्) इन दोनों शब्दों के मध्य में (प्राहुः) शब्द का प्रयोग करना आवश्यक था और (तद्) शब्द के साथ ही 'रूप' शब्द का प्रयोग भी उचित था, परन्तु देवकीजी ने वैसा प्रयोग नहीं किया।

जगद्धर्माश्च तस्मिन् रूपे प्रतीयन्ते, तत्राह– क्योंकि उनके अनुभव में अंशतः भी शिथिलता नहीं थी सर्वांश में दृढ़ था अतः उनको उस प्रकार के शब्दविन्यास की आवश्यकता नहीं, उनको अपने अनुभव पर विश्वास था अतः उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रयास करना अनावश्यक समझकर (यत् प्राहुस्तद्रूपम्) इस प्रकार आकाङ्क्षा के विपरीत होने पर भी (रूपं यत् तत् प्राहुः) ऐसा ही प्रयोग किया, यह स्वरूप आधिदैविक नहीं होना चाहिये क्योंकि आधिदैविक स्वरूप तो विलक्षण होता है ऐसी शङ्का के समाधान करने के लिये विलक्षणता के कारण रूप धर्मों को (अव्यक्त) आदि नव (९) पदों के द्वारा इसी स्वरूप में सिद्ध करती है, जगत् नव (९) प्रकार का ही है, उससे विलक्षण ब्रह्म नव (९) प्रकार से ही निरूपित होता है, जगत् के धर्म उक्त प्रकट हुए भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं, वहाँ (अव्यक्तादीनि भूतानि) भगवद्गीता द्वि० अ० श्लो० २८ में सर्व जगत् का मूल रूप अव्यक्त है ऐसा कहा है, जगत् तो व्यक्त है ही, परन्तु यह भगवत्स्वरूप व्यक्त है इस प्रकार की लोकों को प्रतीति होती है (वास्तव में तो यह अव्यक्त ही है) एवं मूल तत्त्व तो आद्य सब से पूर्ववर्ती है, और यह स्वरूप अभी देखने में आया है अतः आधुनिक है (ऐसी लोकप्रतीति है) जगत् भी आधुनिक है, (अव्यक्त) (आद्यम्,) इन दो पदों से स्वरूपकृत और कालकृत विलक्षणता उक्त भगवत्स्वरूप की बतलाई गई है, श्री देवकी उक्त स्वरूप की विलक्षणता को देशकृत भी बतलाती हुई परिमाण के द्वारा (ब्रह्म) शब्द से उसे सूचित करती हैं कि यह स्वरूप वह है जिसे (ब्रह्म) कहा है, मूलभूत पर तत्त्व बृहत् (व्यापक) होने से एवं बृहण (वर्धनशील, बढ़ता ही रहे) होने से (ब्रह्म) कहलाता है, जगत तो व्यापक नहीं परिच्छिन्न (सीमित) है एवं वर्धनशील भी नहीं ह्रासशील है, उसी प्रकार से लोगों को प्रकट हुआ यह रूप भी प्रतीत होता है, (परन्तु वास्तव में तो यह रूप (ब्रह्म) ही है, इस प्रकार सच्चिदानन्दगत सदंश से तीन विलक्षणताओं का निरूपण किया, चिदंश के द्वारा भी तीन विलक्षणताओं को बतलाती हैं कि यह स्वरूप (ज्योति) (निर्गुण,) एवं निर्विकार है।

लौकिकानि च ज्ञानानीति —(प्रकाशकं तच्चैतन्यम्) आदि वचनों से चैतन्य (चित्) को प्रकाशक कहा है, वह जगत् को प्रकाशित करता है अन्यथा उसके प्रकाश के बिना जगत् की प्रतीति ही न हो पावेगी, एवं जगत् त्रिगुणात्मक है, सत्य आदि गुणत्रयों का रूपान्तर है, कारणभूत मूल तत्त्व तो गुणत्रय से अतीत है निर्गुण है, यदि जगत् के प्रति गुणों को भी कारण मानलिया जावे तो भगवान् की जगत्कर्तृता सिद्ध न हो सकेगी क्योंकि कर्ता स्वतन्त्र होना चाहिये गुणों के कारण उसकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती, गुण सदंश है अतः उनका (चित्) में सम्भव नहीं, पृथिवी आदि भूत एवं इन्द्रिय अन्तःकरण जहां

भी होते हैं वह सगुण होता है, कारण वह ही होता है जो प्रपञ्च (कार्य) से विलक्षण हो, प्रपञ्च तो उत्पत्ति आदि षट् ६ भाव-विकारों से युक्त है अतः कारण तत्त्व को निर्विकार मानना आवश्यक है, लौकिक वस्तु मात्र जो ज्ञान के विषय हैं वह सब सविकार हैं और रूपादि गुणों से समन्वित हैं, तथा चक्षु आदि इन्द्रिय एवं उनके सूर्य आदि देवताओं से प्रकाशित होते हैं, अतः चिदंश से उक्त विलक्षणता भगवान् की सिद्ध होती है, क्योंकि लौकिक चित् की भांति आपका प्रकाश इन्द्रियादि के आधीन नहीं आप तो स्वयं प्रकाश ज्योती रूप है, और न आप लौकिक गुण एवं विकारों से ही युक्त हैं आप तो निर्गुण एवं निर्विकार हैं, सत्तामात्र निर्विशेष, निरीह, इन पदों द्वारा आनन्दांश से विलक्षणता बतलाती हैं, आनन्दांश में विषय के द्वारा कोई विलक्षणता नहीं आती यह बतलाना आवश्यक है अतः भगवान् को सत्तामात्र कहा है, आपका स्वरूप सर्वत्र विद्यमान है किसी भी काल में आपकी सत्ता बाधित नहीं होती, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में वह अक्षुण्ण बनी रहती है, सत्ता शब्द किसी 'सद्' वस्तु के भाव को ही कहता है, **सतो भावः सत्ता सदैव सत्तामात्रम्** , बात ऐसी है कि लौकिक आनंद में भी लौकिक ज्ञान की भाँति विषयकृत विलक्षणता देखी जाती है; जिस प्रकार घट, एवं पट, की विलक्षणता से घटज्ञान एवं पटज्ञान विलक्षण प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार कामिनी स्पर्शज सुख एवं पुत्र स्पर्शज सुख भी कामिनी 'एवं पुत्र' की विलक्षणता से विलक्षण ही प्रतीत होते हैं।

दृष्टत्वादन्धकारवदीहा तत्रापि—अलौकिक सुख में वैसी विलक्षणताओं का सम्भव नहीं क्योंकि वह सुख स्वरूपतः सुख है, कामिनी, एवं पुत्र आदि के स्पर्श के विषय को लेकर नहीं, वह तो सत्ता मात्र है किसी देश या काल में उसके अभाव का सम्भव नहीं वह व्यापक है अतः वह ही यथार्थ सुख है **'यो वै भूमा तत्सुखम्-नाल्पे सुखमस्ति'** आदि श्रुति भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं, अस्तु। जब 'सत्तामात्र' शब्द से व्यापक आनन्द का प्रतिपादन हो जाता है तब 'निर्विशेष' शब्दके प्रयोग की क्या आवश्यकता रह जाती है क्योंकि जो पदार्थ सविशेष होता है वह उस विशेष को लेकर अन्य पदार्थ के भिन्न सिद्ध होता है: वैशेषिकों ने परमाणुओं के पारस्परिक विभेद का कारण विशेष पदार्थ माना है, सर्वव्यापक सत्तामात्र आनन्दमय ब्रह्म का भेद सम्भव ही नहीं उसकी निर्विशेषता तो अनुक्त सिद्ध है। ऐसी अवस्था में 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग एक लौकिक नियम का अलौकिक विषय में अनादर बतलाने को उसकी अमान्यता सूचित करने को किया है, कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् ही सद् रूप है, **'घटः सन् पटः सन्'** घट है, पट है, इत्यादि प्रतीति के आधार पर सत्ता सर्वत्र व्याप्त है एवं सर्वत्र ही नाम 'रूप' विशेष भी धर्म रूप से उपलब्ध होते हैं, जो है उसका कोई नाम विशेष 'घट' आदि भी है एवं उसका रूप विशेष भी रक्त कृष्ण, गोलाकार, लम्बाकार आदि भी है ऐसा कोई भी सामान्य पदार्थ नहीं जो नाम रूप विशेष से सर्वथा रहित हो तथापि जगत् के पदार्थों की भाँति ब्रह्म के भी सविशेष होने की शङ्का के निवारणार्थ 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग किया है कि लौकिक विषय में ही यह व्याप्ति या नियम है कि सामान्य पदार्थ सविशेष ही होता है निर्विशेष नहीं, अलौकिक ब्रह्म के विषय में यह नियम नहीं वह तो सर्व विशेष, विनिर्मुक्त, निर्विशेष ही है, आशय यह है कि केवल उक्त नियम का ब्रह्म के विषय में अपवाद बतलाने को 'निर्विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं किन्तु पुनरुक्ति दोष का ही सम्भव था, उक्त नियम को अलौकिक विषय में इसलिये नहीं माना जाता कि विशेष पदार्थ भेद करने वाले होते हैं, मूल सत्ता स्वरूप ब्रह्म में किसी से भेद अभीष्ट ही नहीं, उससे किसी को व्यावृत्त या पृथक् सिद्ध करना अपेक्षित ही नहीं एवं सम्भावित भी नहीं तो वहाँ विशेष से क्या प्रयोजन है, कार्य में तो सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है। अतः सत्तात्मक कारण रूप ब्रह्म से कार्य की तो व्यावृत्ति या भेद का सम्भव नहीं, यदि कार्य से उसका उपादान भिन्न हो तब तो उसमें उपादान कारणता ही नहीं मानी जा सकेगी—उपादान कारण तो पट है।

नन्वेतत् सर्वं सर्वज्ञान्युपास्यत्वे भगवतः सम्भवतीति—तन्तुओं की भांति कार्य में अनुस्यूत ही रहते हैं, 'घट' एवं 'पट' यह दोनों एक दूसरे से व्यावृत हैं तो एक दूसरे के कारण भी नहीं हैं, ब्रह्म सब का कारण है सद्रूप से सर्वानुगत है उसकी व्यावृत्ति नहीं अतः वह निर्विशेष ही है, 'निरोहम्' पद से ब्रह्म की चेष्टा का अभाव प्रतिपादन अभीष्ट है ब्रह्म सर्व चेष्टाओं से रहित है, क्योंकि चेष्टा करने वाला अपनी किसी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिये चेष्टा करता है, ब्रह्म में अपूर्णता का संभव नहीं, भगवती श्रुति उसके विषय में प्रतिपादन करती है कि **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म पूर्ण ही है, उक्त श्रुति में कारण सर्व चेष्टाओं से रहित है ऐसा सूचित किया है, सर्व जगत् का कारण ब्रह्म किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं करता उस कारण का लक्षण ही चेष्टारहित होना है, और कार्य मात्र चेष्टाशील है, किसी भी प्रकार की चेष्टा होना कार्य में अनिवार्य है, आकाश आदि भी चेष्टा रहित नहीं शब्द को जन्म देने की चेष्टा आकाश आदि की भी प्रसिद्ध ही है, इतना ही नहीं किन्तु जिस प्रकार आवरण के हट जाने पर कार्य की स्थिति नहीं रहती वह भी हट जाता है, जिन कपाल आदिकों ने जितने अंश में आकाश को आवृत करके घट रूपी कार्य को उपस्थित किया था उन आवरण रूप कपाल आदि के हट जाने पर घट आदि कार्य भी हट जाता है उस घट आदि कार्य की नष्ट या चलित हो जाने की चेष्टा प्रतीत होती है उसी

प्रकार वह आकाश भी जिसके आवृत होने से घट आदि कार्य दृष्टिगत हुए थे नष्ट या चलित प्रतीत होता है, एवं दीपक के चलने पर अंधकार का चलना प्रतीत होता है उसी प्रकार आकाश भी आवरण के हटने पर हटता हुआ प्रतीत होता है अतः आकाश में चेष्टा है ही, ब्रह्म में तो किसी प्रकार चेष्टा का सम्भव नहीं क्योंकि न तो उसका कोई आवरण करने वाला है और न वह किसी प्रकार के व्यवहार का विषय ही है, अतः उसकी निरीहता सिद्ध ही है, यद्यपि किसी एक ही विशेषण से सर्व धर्मों का संग्रह संभावित है तो भी नव (९) प्रकार से विलक्षणता का बतलाना आवश्यक है अतः नव (९) विशेषण कहे हैं, पूर्वोक्त नव (९) विशेषणों के द्वारा जैसा मूल कारण ब्रह्म का स्वरूप कहा है वैसा ही प्रत्यक्ष दृष्टिगत यह स्वरूप है, व्यक्त आदि (९) नव प्रकार के लोगों को अपने दोष से ही उनमें व्यक्तत्व आदि नव (९) दोषों की प्रतीति होती है, प्राणी स्वयं व्यक्त, आधुनिक, परिच्छिन्न पर प्रकाश्य, सगुण, सविकार, त्रैकालिक, सत्ताहीन, सविशेष, सचेष्ट होते हैं उनको भगवत्स्वरूप में भी व्यक्तत्व आदि नव धर्मों की प्रतीति होती है, जैसे घूमती हुई दृष्टि से देखी गई पृथ्वी घूमती सी प्रतीत होती है उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी-व्यक्त आदि रूप में प्रतीत होता है, भ्रान्त दृष्टि वाले की दृष्टि से ही पृथ्वी भ्रमित प्रतीत होती है।

एवमाधिदैविकरूपं निरूप्याध्यात्मिकं रूपं निरूपयति –स्थिरदृष्टि वाले की दृष्टि से नहीं, भगवत्स्वरूप भी संसारी लोगों की दृष्टि से ही व्यक्त आदि रूप से प्रतीत होता है ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि से तो अव्यक्त, आद्य आदि वर्णन किये गये गुणों से परिपूर्ण ही दिखता है, यदि भगवान् अव्यक्त नहीं होते व्यक्त हो होते तो उनकी अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के लिए भक्त जन प्रयत्न नहीं करते क्योंकि व्यक्त तो प्रकट ही है उसकी अभिव्यक्ति तो स्वतःसिद्ध है, उसके अर्थ प्रयत्न प्रकाश में दीपक जलाने की भाँति व्यर्थ ही है अतः अभिव्यक्ति के प्रयत्न से सिद्ध होता है कि आप अव्यक्त हैं, एवं यदि आप आद्य नहीं आधुनिक होते तो इस अर्वाचीन स्वरूप को ब्रह्मादिक सर्व प्राचीन देवता नमस्कार नहीं करते, यदि आप ब्रह्म नहीं होते तो मुक्तात्मा इस स्वरूप में सायुज्य को प्राप्त नहीं कर पाते, यदि स्वयं प्रकाश ज्योति रूप नहीं होते तो इनके ज्ञान से साधक गण सर्वज्ञ नहीं हो पाते, यदि निर्गुण नहीं होते तो इसमें निष्ठा रखने वाले लोग निर्गुण नहीं हो पाते, यदि निर्विकार नहीं होते तो इनके भजन से भक्तजन सर्व विकार रहित नहीं हो पाते, यदि सर्व देश-काल में सत्तात्मक रूप से नहीं विराजते तो सर्व पदार्थों में इनका दर्शन न हो पाता, यदि नाम रूप आदि विशेषों से विरहित न होते तो इनके ज्ञान से नाम रूपात्मक प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं हो पाती, यदि स्वयं पूर्ण होने के कारण चेष्टा रहित न होते तो इनकी कृपा से लोग ब्रह्मनिष्ठ परम शान्त भी नहीं हो पाते, अतः यह प्रत्यक्ष दृश्यमान स्वरूप ऐसा ही है, एक शङ्का हो सकती है कि यह सब कुछ उस दशा में सम्भावित है जब भगवान् सर्व ज्ञानी जनों के उपास्य रूप में माने गये हों, इस समय प्रकट हुए स्वरूप को 'अव्यक्त' आदि कहना शक्य नहीं, सामर्थ्य से साध्य नहीं, उक्त आशङ्का के निवारणार्थ कहती है कि **'सत्त्वम्'** वह आप ही हैं, जो ऐसा अव्यक्त आदि स्वरूप है वह आप ही हैं, उसमें कारण आपका विष्णु रूप होना है, क्योंकि कि विष्णु ही अव्यक्त आदि पूर्व-वर्णित प्रकार से सर्व साधारण के उपास्य हैं, वह ही सबके अधिदेव हैं, वह ही आप प्रकट हुए हैं, ऐसा ब्रह्माजी के वचन से निश्चित होता है, **'दिष्ट्याम्ब ! ते कुक्षिगतः परः पुमान्'** ऐसा ब्रह्मा का स्पष्ट वचन है, यद्यपि ब्रह्मा के उक्त वचन में **'अंशेन जातः'** अंश शब्द का प्रयोग किया है अतः अंशावतार की सम्भावना हो सकती है, तब मूल रूप होने के कारण पूर्व में कहा हुआ सब ही बाधाग्रस्त है, युक्तिसङ्गत नहीं, ऐसी शङ्का के निवारणार्थ **'साक्षात्'** पद का प्रयोग कर श्री देवकी ब्रह्माजी के पूर्वोक्त वचन गत **'अंशेन'** के साथ प्रयुक्त हुए **'साक्षात् भगवान् भवाय नः'** साक्षात् पद का स्मरण दिलाती है कि आप साक्षात् मूल रूप ही हैं। **तस्मादयं भगवानात्मा, अन्यस्य लयावधित्वं नास्तीति**—किसी ज्ञान या क्रिया के अंश से प्रकट हुए हों ऐसी बात नहीं है, श्री देवकी ने ब्रह्मा के कथन से ही भगवान् की परमतत्त्वरूपता समझी हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा का उक्त वाक्य **'सिंहो माणवकः'** की भाँति गौण भी हो सकता है, जिस प्रकार बालक में शूरता आदि गुणों को देखकर उसे सिंह कह देते हैं उसी प्रकार मूल तत्त्व के किसी अंश को लेकर भी अंशावतार को साक्षात् भगवान् कहा जा सकता है, तथा प्रशंसात्मक स्तुति में भी ब्रह्मा का तात्पर्य हो सकता है प्रशंसा सर्वांश में यथार्थ ही हो ऐसा नियम नहीं है, श्री देवकी ने अपने अन्तःकरण के संवाद से निर्णय किया है आप कहती है **'अध्यात्मदीपः'** मेरा अध्यात्म यह अन्तःकरण जो कि जडता एव मोह से व्याप्त है सर्व शास्त्र विहीन है जिसे किसी प्रकार से प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ, उस अन्तःकरण का आपके सन्निधान से इस प्रकार प्रकाशपूर्ण हो उठना ही सूचित करता है कि आप परम तत्त्व हैं, इस जड मुग्ध अन्तःकरण की प्रकाशपूर्णता का कारण आपका मूल रूपत्व ही है ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि अध्यात्म को प्रकाशित करने वाला आधिदैविक ही होता है, अतः मेरे अनुभव से भी आप उक्त रूप ही हैं, अव्यक्तादि विशेषण विशिष्ट परम कारण मूल तत्त्व आधिदैविक स्वरूप ही हैं, क्योंकि कार्य तो बिना कारण के होता नहीं धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता वह अग्नि का कार्य है, अग्नि से प्रकट होता है, उसे देखकर अग्नि नहीं भी दीखता तो भी निर्णय कर लिया जाता है कि अग्नि है, क्योंकि धूम अग्नि से व्यभिचरित नहीं होता वह उसका अव्यभिचारी लिङ्ग है (चिह्न है) उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता

अतः धूम अग्नि का अनुभाषक या निश्चायक है उसी भांति अध्यात्म (अन्तःकरण का प्रकाश भी) भगवान् के आधिदैविक होने का निश्चायक है ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं भगवत्सान्निध्याद्वसुदेवस्य सर्वज्ञता जातेति भूतं कार्यं निरूप्य भाव्यपि अवतारप्रयोजनमाह—त्वमिति। अस्य लोकस्य साधुजनस्य रिरक्षिषू रक्षितुमिच्छुः सन् मम गृहे त्वमवतीर्णोऽसि, युक्तं चैतत्तवेत्याशयेन सम्बोधयति—अखिलेश्वरेति। रक्षायां सामर्थ्यं सूचयन् पुनः सम्बोधयति—विभो इति। अतः साधुरक्षार्थं राजन्या इति संज्ञामात्रं येषां, वस्तुतस्त्वसुरा एव। तेषां कोटिशो यूथानि तानि ये पान्ति तैर्निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाश्चमूः सेना निहनिष्यसे संहरिष्यसि ॥ २१ ॥ एवं भगवन्माहात्म्यं कार्यं च ज्ञात्वापि लौकिकस्यालौकिकात् प्रबलत्वात् कंसाद्भीतः संस्तत्प्रतीकारस्यावश्यकर्तव्यत्वं सूचयंस्तद्दुश्चेष्टितं विज्ञापयति—अयं त्विति। 'तवावतारः सतामेव सुखावहो, न खलानाम्' इति सूचयितुं तुशब्दः। अयं कंसः असभ्यः सभानर्हः खल एव। अतो नौ आवयोर्देवकीवसुदेवयोर्गृहे तव जन्म भविष्यतीति श्रुत्वा त्वयि शत्रुत्वारोपात्त्वच्छङ्कया ते तवाग्रजान् मम षट्पुत्रानवधीत् हतवान्। 'त्वयि तु तद्भयशङ्का नास्त्येव, देवपक्षपातश्च त्वयाऽवश्यं कार्यं' इति सूचयन् सम्बोधयति—सुरेश्वरेति। सोऽतिक्रूरस्वभावः पुरुषैर्द्वारे स्थापितैः स्वपुरुषैः समर्पितं श्रावितं ते तवावतारं श्रुत्वा उदायुधः गृहीतखड्गः सन्नद्युनैवाभिसरति आगमिष्यतीत्यर्थः। सेवकेन स्वाम्यग्रे वृत्तनिवेदनमात्रमेव कर्तव्यम्, कर्तव्यं तु स्वयमेव स करिष्यति। इति वृत्तनिवेदनं कृत्वा वसुदेवस्तूष्णीं बभूव ॥ २२ ॥ अथ तत्स्तुत्यनन्तरं कंसाद्भीता देवकी एनमात्मजं स्वसकाशात् प्रादुर्भूतं महापुरुषस्य भगवतो विष्णोर्लक्षणानि चतुर्भुजत्वादीन्यसाधारणचिह्नानि यस्य, तथाभूतं वीक्ष्य महापुरुषं ज्ञात्वा भयनिवृत्तः प्रहसितमुखी सती तमुपाधावत् अस्तौत् ॥ २३ ॥ तत्कृतां स्तुतिमाह– रूपमिति। यत्तद्रूपं परमार्थं वस्तु वेदाः प्राहुः प्रतिपादयन्ति स साक्षादध्यात्मदीपः देहेन्द्रियान्तःकरणादिसङ्घातप्रकाशको विष्णुस्त्वमेवेत्यन्वयः। परमार्थत्वे हेतुमाह—आद्यमिति। सर्वकारणभूतमित्यर्थः। तत्र ज्ञापकमाह—सत्तामात्रमिति यस्य कारणतया कार्येष्वन्वितस्य स्वरूपसत्तया सर्वमपि विश्वं सदिति प्रतीयत इति भावः। तर्हि सर्वकारणत्वात् परिणामादिविकारः स्यादित्याशङ्क्याह—निर्विकारमिति। तत्र हेतुमाह—निर्गुणमिति। लोके गुणकार्यस्यैव विकारो दृष्टः, तत्तु ततो भिन्नमित्यर्थः। तर्हि जडकारणत्वेन तस्यापि जडत्वापत्तिरित्याशङ्क्याह—ज्योतिरिति। चिद्रूपमित्यर्थः। कारणत्वात् सक्रियत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—निरीहमिति। तत्र हेतुमाह—ब्रह्मेति। व्यापकत्वेन तस्य क्रिया न संभवतीत्यर्थः तस्य तर्हि कुतो न प्रतीतिरित्यत आह—अव्यक्तमिति। अतीन्द्रियमित्यर्थः ॥ तत्रापि हेतुमाह—निर्विशेषमिति। जातिगुणक्रियावयवादिविशेषरहितमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्वमिति। हे विभो अखिलेश्वर ! त्वम् अस्य लोकस्य साधुजनस्य शेषे षष्ठी। रिरक्षिषू रक्षितुमिच्छुः सन् मम गृहेऽवतीर्णोऽसि अतः राजन्या इति संज्ञामात्रं येषां वस्तुतस्त्वसुरा एव तेषां कोटिशो यूथानि तानि ये पान्ति तैर्निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाश्चमूः सेनाः साधुरक्षार्थं निहनिष्यसे संहरिष्यसि। तङार्षः ॥ २१ ॥ एवं ज्ञाततत्त्वोऽपि भगवता प्रेममोहित आह—अयमिति ॥ हे सुरेश्वर ! असभ्यः खलः अयं कंसस्तु नौ आवयोर्देवकीवसुदेवयोर्गृहे तव जन्म भविष्यतीति श्रुत्वा त्वच्छङ्कया ते तवाग्रजान्मम षट्पुत्रानवधोत् हतवान्। सोऽतिक्रूरः कंसः पुरुषैः समर्पितं श्रावितं ते तवावतारं श्रुत्वा उदायुधः गृहीतखड्गः सन्नद्युनैवाभिसरति आगच्छन्नेव वर्तते। अतः शीघ्रमेतत् रूपमुपसंहरेति ॥ २२ ॥ अथेति ॥ अथ कंसाद् भीता देवकी एनमात्मजं स्वसकाशात्प्रादुर्भूतं महापुरुषस्य भगवतो विष्णोर्लक्षणानि चतुर्भुजत्वादीन्यसाधारणचिह्नानि यस्य तथाभूतं वीक्ष्य महापुरुषं ज्ञात्वा भयनिवृत्त्या शुचिस्मिता सती उपाधावत् अस्तौत्। अत्रात्मजत्वदर्शनं भयहेतुः महापुरुषत्वदर्शनं स्मिते स्तुतौ च तत्रापि भयस्थितिः पुत्रस्नेहप्रावल्यं व्यनक्ति ॥ २३ ॥ रूपमिति ॥ अव्यक्तमतीन्द्रियम् आद्यं कारणं ब्रह्म व्यापकं नतु परमाणवस्तार्किकाणामिव तथा ज्योतिश्चिद्रूपं नतु प्रधानं सांख्यानामिव निर्गुणं नतु तार्किकाणामिव ज्ञानगुणं निर्विकारं नतु मीमांसकानामिव ज्ञानपरिणामि सत्तामात्रं नतु पुष्कराक्षादीनामिव शक्तिविक्षेपपरिणामि निर्विशेषं जातिगुणादिविशेषरहितं निरीहं सन्निधिमात्रेण कारणं नतु सक्रियं यत्तत् किमपि कार्यकल्प्यस्वरूपं परमार्थवस्तु वेदाः प्राहुः प्रतिपादयन्ति सः साक्षादध्यात्मदीपः देहेन्द्रियान्तःकरणादिसङ्घातप्रकाशको विष्णुः त्वमेव ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यद्यपि भवान् दुष्कृतविनाशपूर्वकं त्रिलोकीपालनोपयुक्तया स्वासाधारणया तन्वा विधृतावतारोऽसि, तथाप्येनां तिरोधाप्य मनुष्यसजातीयां तनुमाश्रयान्यथाऽधुनैवायं कंसोऽभिद्रवतीत्याह त्वमिति द्वाभ्याम् ॥ त्वमिति ॥ हे विभो, हे अखिलेश्वर, अस्य लोकस्य, कर्मणि षष्ठी। रिरक्षिषुः लोकं पालयितुमिच्छुः, त्वं, मम गृहे कलत्रे, अवतीर्णः, असि। राजन्यसंज्ञाः क्षत्रियसंज्ञा येऽसुरास्तेषां यूथानि संघास्तेषां कोटयस्ताभिः, असुरकोटियूथपैरिति पाठे राजन्यसंज्ञा येऽसुरकोटियूथपास्तैः, निर्व्यूह्यमानाः

प्रचोद्यमाना इतस्ततश्चाल्यमाना इति यावत्। चमूः सेनाः, निहनिष्यसे संहरिष्यसि ॥२१॥ तथाप्यप्रमत्तत्वेन त्वया भाव्यमित्याह॥ अयमिति ॥ हे सुरेश्वर, खलेश्वर इति पाठे, दुष्टाग्रगण्यः, असभ्यः सत्सभाप्रवेशानर्हः, अयं कंसस्तु, मे मम, गृहे मत्पत्न्यामस्यां देवक्यामित्यर्थः। तव जन्म श्रुत्वा अस्यां त्वद्रिपोर्जन्म भविष्यतीत्याकाशगिरोक्तमाकर्ण्य, त्वन्मात्सर्याद्धेतोरेवेत्यर्थः। ते तव, अग्रजान् न्यवधीत् हतवान्। केचिन्नो गृहे इति पठन्ति, तन्मते नोऽस्माकं गृहे इत्यर्थः। नाविति पाठे, नावावयोः गृहे, एवमुभयथा पाठे गृह इत्यस्य भवने इत्यर्थः। सः कंसः, पुरुषैः स्वभटैः, समर्पितं निवेदितं, ते तव, अवतारं श्रुत्वा, अधुना एव, उदायुधः उद्धृतखड्गः तथाभूतः सन्, अभिसरति अभ्येति। 'वर्त्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च' इति वर्त्तमानता। अभिसरन्तमपि तं हन्तुं त्वं प्रभुरस्येव, तथापि त्वत् स्वरूपायथार्थविदहं बिभेमि, अत एनां तनुं तिरोधापयेति भावः ॥ २२ ॥ अथैवं देवक्यपि श्रुत्वा प्रार्थयामासेत्याह मुनिः॥ अथेति ॥ अथानन्तरं, देवकी, कंसात्, भीता पूर्वमिति शेषः। ततः शुचि स्मितं यस्याः सा, पुत्रभूतभगवद्दर्शनेन निवृत्तभीतित्वात् शुद्धस्मिता सती, एनं आत्मजं, महापुरुषस्य परमेश्वरस्य लक्षणानि पादगतषोडशलक्ष्मचर्भुजादीनि यस्य तथाभूतं, वीक्ष्य, तं, उपाधावत् तुष्टाव ॥ २३ ॥ प्रसिद्धं वेदान्तैकसमधिगम्यं यत् परमात्मस्वरूपं तत्त्वमेवेति ब्रुवाणा तदुपधावनं चतुर्भिराह ॥ रूपमिति ॥ हे प्रभो, यत् रूप्यते प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन निरूप्यते इति रूपं, परमात्मनस्तव स्वरूपमित्यर्थः। तत्, वेदान्ताः अव्यक्तादिविशेषणविशिष्टत्वेनेति शेषः। प्राहुः कथयन्ति। तद्यथा। व्यक्तेरिन्द्रियैर्न व्यज्यते न विषयीक्रियते इत्यव्यक्तमदृश्यमतीन्द्रियमित्यर्थः। यद्युच्यते प्रधानमप्यस्ति तथाविधमिति चेन्न, प्रधानं तु पृथिव्यादिरूपेण व्यक्तमस्तीति भावः। 'यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्' इति श्रुतेः। आद्यं भवमाद्यं, व्यक्तादचिद्द्रव्यादपि प्रथमतः कारणत्वेनावस्थितमित्यर्थः। एवं चेत् सूक्ष्मावस्थमचिद्द्रव्यमपि तथाभूतमस्त्येव तत्राह। निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितं, अनेन सूक्ष्मावस्थाचिद्व्यावृत्तिः कृता। सतो भावः सत्ता सैव सत्तामात्रं, सच्छब्दः सततैकरूपवस्तुवाची। वृद्धिक्षयादिरहितमित्यर्थः। विशेषाः शब्दस्पर्शादय आकाशादिगुणास्तेभ्यो निर्गतं तद्रहितमित्यर्थः। अनेन कार्यावस्थाचिद्द्रव्यव्यावृत्तिरुक्ता। एवं कार्यकारणोभयावस्थाचिद्द्रव्यतो व्यावृत्तिमभिधायाथ चिद्द्रव्यतो व्यावृत्तये विशिनष्टि। ज्योतिः स्वयंप्रकाशं, किं तर्हि तद्बद्धजीवरूपं नेत्याह। निर्विकारं शोकमोहादिविकाररहितं निरीहं पुण्यपापाचरणव्यापाररहितं, ज्योतिःस्वरूपत्वेऽपि बद्धजीवे शोकमोहपुण्यपापादिमत्त्वान्निर्विकारतया निरीहतया च ततो विलक्षणमिति भावः। तर्हि किं तन्मुक्तजीवरूपं नेत्याह। आत्मनीऽध्यात्मं, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अध्यात्ममात्मनि दीपो दीपवत् स्वप्रकाशं, लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि विशेषणविशेष्यतायां तयोर्न बाधः। नित्यासंकुचितस्वरूपभूतधर्मभूतज्ञानमित्यर्थः। अनेन मुक्तजीवतो व्यावृत्तिरुक्ता। तेषां संसारदशायां संकुचितधर्मभूतज्ञानवत्त्वात्। तर्हि किं नित्यसिद्धजीवरूपं नेत्याह। ब्रह्म स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयं बृहत्। अनेन नित्यसिद्धजीवव्यावृत्तिरुक्ता। एवं रूपशब्दं विशेषीकृत्य उक्तः यः विष्णुः, सः साक्षात् प्रत्यक्षः, त्वमेव ॥ २४ ॥

कृष्णप्रिया

हे विभो ! आप इस लोक की रक्षा करने के इच्छुक हैं, हे अखिलेश्वर मेरे गृह में प्रकट हुए हो, राजनामधारी असुरों की कोटियों के यूथपतिओं द्वारा प्रेरित हुई सेनाओं का आप वध करेंगे ॥ २१ ॥ हे सुरेश्वर ! इस असभ्य कंस ने तो हमारे गृह में आपका जन्म होगा ऐसा सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राताओं का वध किया है, वह दुष्ट अपने प्रहरी पुरुषों द्वारा विदित किये गये आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों को उठाये हुए अभी आता ही है ॥ २२ ॥ श्री शुकदेवजी ने कहा इसके अनन्तर इस पुत्र को महापुरुष के लक्षणों से सम्पन्न देखकर कंस से डरी हुई देवकी उस पुत्र रूप भगवान् की शरणागत हो गई, उस दशा में वह आश्चर्य रसान्वित थी अथवा पवित्र मृदुहास से सुशोभित थी ॥ २३ ॥ श्री देवकी ने कहा कि जिसे अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार एवं सत्तामात्र, निर्विशेष निरीह कहा है (वह आधिदैविक रूप से यह ही है जिसे मैं देख रही हूँ) जो अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला है वह सर्वोपास्य विष्णु आप ही हैं ॥ २४ ॥

नष्टे लोके द्विपरार्धवसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥ २५ ॥
योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो [1]महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥
मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् [2]सर्वांल्लोकान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥ २७ ॥
स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि ।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥ २८ ॥

---

१. गरी—इति कस्यचित्। २. लोकान् सर्वा—श्री॰ वंशी॰ गिरि॰ भक्त।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कालवेगेन द्विपरार्धावसाने लोके नष्टे महाभूतेषु आदिभूतं गतेषु व्यक्ते अव्यक्तं याते अशेषसंज्ञः भवान् एकः शिष्यते ॥ २५ ॥ अव्यक्तबन्धो यः अयं निमेषादिः वत्सरान्तः महीयान् कालः येन विश्वं चेष्टते तस्य ते चेष्टां आहुः तं तु ईशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥ मर्त्यः मृत्युव्यालभीतः सर्वान् लोकान् पलायन् निर्भयं न अध्यगच्छत् आद्य यदृच्छया त्वत्पादाब्जं प्राप्य स्वस्थः शेते अस्मात् मृत्युः अपैति ॥ २७ ॥ सः त्वं घोरात् उग्रसेनात्मजात् त्रस्तान् नः पाहि भृत्यवित्रासहा असि पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं इदं रूपं मांसदृशां मा कृषीष्ठाः ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं च महाप्रलयेऽप्यवशिष्यमाणस्य कुतो भयमित्याह। नष्टे लोक इति। चराचरे लोके महाभूतेषु लीने तेष्वप्यादिभूतं भूतसूक्ष्मं प्रविष्टेषु तस्मिन्नपि व्यक्तेऽव्यक्तं प्रधानं प्राप्ते। अशेषसंज्ञः अशेषात्मके प्रधाने संज्ञा प्रज्ञा यस्य। एवं मयि लीनमिदमस्ति पश्चादेवमुद्बोधनीयमिति प्रज्ञा यस्येत्यर्थः। सोऽशेषसंज्ञ इति वा ॥ २५ ॥ किं च एवं प्रलयहेतुर्योयं काल एनम्। हे अव्यक्तबंधो प्रकृतिप्रवर्तक। तस्य प्रलयावधिभूतस्य ते तव चेष्टां लीलाम् आहुः। चेष्टते विपरिवर्तते पुनः पुनर्वत्सरावृत्त्या। महीयान् द्विपरार्धरूपः। यस्य चेष्टामाहुस्तं त्वा त्वां क्षेमधामाभयस्थानं प्रपद्ये शरणं व्रजामि ॥ २६ ॥ क्षेमधामत्वमेवाह। मर्त्य इति। मृत्युः संसारः स एव व्यालः तस्माद्भीतः लोकान्प्रति यदृच्छया केनापि भाग्योदयेन। हे आद्य अस्मात्त्वत्पदाब्जादपैति पलायते। "मृत्युर्धावति पंचमः" इति श्रुतेः ॥ २७ ॥ प्रस्तुतं विज्ञापयति। स त्वमिति। भृत्यानां वित्रासं हंतीति भृत्यवित्रासहा भृत्यविदिति वा छेदः। पौरुषमैश्वरं ध्यानधिष्ण्यं ध्यानास्पदम्। मांसदृशां मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृथाः ॥ २८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

महाभयस्थलेऽपि तव निर्भयत्वादन्यत्र कथं तत्स्यादित्याह—किञ्चेति। तेषु महाभूतेषु। तस्मिन्नपि भूतसूक्ष्मेपि। व्यक्ते-व्यक्तसंज्ञके भूतसूक्ष्माहंकारमहत्तत्त्वानां प्रकृतेर्व्यज्यमानत्वाद्व्यक्तत्वं तथा चादिभूतपदं चात्रोपलक्षकं महदहंकारयोरपि अशेषात्मके सर्वकारणे प्रधाने प्रकृताविति। यद्वाऽशेषाः संज्ञा यस्य सः "नामानि सर्वाणि यमाविशंति" इति श्रुतेः। न शेषो यस्मात्सोऽशेषः सर्वात्मा स एव संज्ञा यस्येति वा न शेषोऽर्थात्प्रपंचस्य यत्र सोऽशेषः प्रलयस्तस्मिन्संज्ञा ज्ञानं यस्येति वा। प्रलयेऽपि यज्ज्ञानं न नश्यतीत्यर्थः। प्रधानेऽशेषात्मकत्वासंभवं पर्यालोच्याह—शेषसंज्ञ इति। शिष्यतेऽस्थूलमनण्वित्यादिना सर्वनिषेधेऽवधित्वेनेति शेषः परमात्मा स एव संज्ञा यस्येति। अनंतस्यापि प्रलये श्रूयमाणत्वात्तत्संज्ञो वेत्यर्थः ॥ २५ ॥ कालस्यैव 'यतो भिन्नदृशां भयम्' इत्यादिना सर्वभयहेतुत्वं श्रूयते स तु तव चेष्टैवातस्तव कथं भयं न हि स्वकरादिचालनं स्वस्य भयकरमित्याह-किञ्चेति। एवं महाभूतादिलयप्रकारेण। ईशानं कालस्यापि नियंतारम् ॥ २६ ॥ यद्वा-त्वत्पाद एवाब्जो धन्वंतरिस्तं प्राप्य व्यालदष्टं यथा धन्वंतरिः पाति तथा मृत्युग्रस्तं त्वत्पादाब्जं रक्षकमिति भावः। "अब्जोऽस्त्री शंखे ना निचुले धन्वंतरौ हिमकरणे च पद्मे क्लीबम्" इति मेदिनी ॥ २७ ॥ प्रस्तुतं प्रकृतम्। विज्ञापयति बोधयति। भृत्यवित्रासहंतृत्वेन भगवति वैषम्यमाशक्याह—भृत्यवित् त्रासहेति छेदम्। भक्तवत्सलः सामान्यतस्सर्वत्रासहर इति। यद्वा—भृत्यानामपि त्वं विविधत्रासं भयं हंसि आवयोः पित्रारंतर्भयं कुतो न हंसीति भावः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कालवेगेनेति सर्वत्रैव हेतुः एक इति। वैकुण्ठादीनामपि तदभेदाभिप्रायेण यद्वा अशेषा ये तदानीं वैकुण्ठादयस्तत्तत्पदार्थाभिधास्तेऽपि संज्ञा यस्य तत्तद्रूपेणापि यः स्वयमेवेत्यर्थः। यद्वा, शिष्यन्ते महाप्रलयेऽपि तिष्ठन्तीति श्रीवैष्णवमते यथेष्टविनियोगार्हं शेषशब्देन कथ्यन्त इति वा शेषाः श्रीवैकुण्ठलोकपरिच्छदपरिवारादयः तेऽपि संज्ञायन्ते येन यद्ग्रहणेनैव ते गृहीता भवन्तीत्यर्थः। एवम्भूतो भवानेकः शिष्यते नत्वन्तर्गतेतरजीववृन्दप्रपञ्चेत्यर्थः। तथैव तृतीये श्रीविदुरप्रश्नः—

"तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसङ्क्रमः। तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते" ॥ इति।

एवमेव कैमुत्येन वक्ष्यते मर्त्यो मृत्युरित्यादि ॥ २५ ॥ कालवेगेनेत्युक्त्वा प्राप्तं कालस्य स्वातन्त्र्यं निरस्यन्ती ततः सुतरां तस्य भयमात्रं निराकुर्वती स्वयमपि कंसादिभयाच्छरणं याति य इति योऽयं निमेषादिर्वत्सरान्तः कालः वत्सरावृत्त्या च महीयान् द्विपरार्द्धरूपः येन च कालेन हेतुना विश्वं चेष्टते तं कालं तस्य तादृशस्य ते तव चेष्टामाहुरित्यन्वयः। अत एवेशानं सर्वेश्वरं ततः प्रपन्नभयहरणमात्रं क्रियद्वेति भावः। अत एव क्षेमस्याभयस्य सुखप्राप्तेश्च स्थानं यद्वा सर्वमङ्गलद्रव्यादीनामप्याश्रयम् ॥ २६ ॥ यतस्त्वत्पादाश्रितोऽपि निर्भयः सन् सुखी स्यादित्याह—मर्त्य इति। मरणधर्मा यः कश्चित् मृत्युस्ततत्परम्परानिर्भयं भयाभावं न प्राप आद्य हे सर्वश्रेष्ठ! मृत्व्यादिनियन्तरित्यर्थः। स्वस्थः भयरहितः सन् शेते निर्वृतो भवतीत्यर्थः। यतः अस्मात् त्वत्पदाब्जाद्धेतोर्मर्त्योद्वा

तस्मात् सकाशात् मृत्युः पलायते अञ्जत्वरूपकेन स्वतः पुरुषार्थत्वमपि तस्य ध्वनितं तत्प्रभावमात्रजातत्वं तु भयाभावस्य यद्वा मृत्युरिति अद्य अधुना त्वयि साक्षात्प्रादुर्भूते सर्वो लोकः स्वस्थः सन् शेते वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवत्वं तत्र हेतुः मृत्युरिति अन्यत्समानम् एवं परब्रह्मत्वेन सूचितं निर्भयत्वं प्रलयेऽप्यवशिष्यमाणत्वेन सर्वोपसंहारादिहेतुकाललीनत्वेन शरणापन्नमृत्युनिवारण-तस्तत्कैमुत्येनैव दृढीकृतम् अतः प्रकरणैकवाक्यतानुरोधेन रूपं यत्तदित्युक्तक्रमवाक्यं न ब्रह्मपरत्वेन व्याख्यातम् ।। २७ ।। स तादृश-त्वेन निर्भयः मद्भाग्येन च मत्पुत्रतामाप्तस्त्वम् त्राहि द्विष्टत्वेनारोचकत्वात् साक्षात् कंसनामाग्रहणम् एवं पूर्वमपि अयं त्वसभ्य इत्येवोक्तं शब्दश्लेषेण परमोग्रत्वं सूचितम् अर्थश्लेषेण च पितृव्यजत्वव्यक्त्या भयाधिक्यं निकृन्तति समूलं हि "बन्धुभ्यो भय-मुत्थितम्" इति न्यायात् नस्त्राहीति अस्मद्रक्षामेव कुरु न तु तं घातयितुं प्रार्थये इति कृपाविशेषाय दैन्योक्तिः । भो इति परमात्यौ सम्बोधनं तथापि मातृभावस्वभावतो भयविषयं तमेवान्तर्द्धापयितुं छलेनाह, रूपं चेति । पुरुषस्य व्यष्ट्यन्तर्यामिणो रूपमाकारं चतुर्भुजत्वात् तत एव विराडन्तर्वर्तिषु ध्यानधिष्ण्यत्वेन प्रसिद्धमित्येवार्थः । द्विभुजत्वेऽपि गूढत्वं ध्यानधिष्ण्यत्वं च श्रूयते "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्यादि सप्तमादौ "शृङ्गवेणुधरं तु वा" इत्यादि श्रीगोपालतापनीध्यानादौ मांसदृशामज्ञानाम् अयोग्यत्वादिति भावः । तत्र हेतुस्तु वक्ष्यते विश्वमित्यादिना ।। २८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अतएव महाप्रलयेऽपि निजलोके पार्षदादिभिः सह विहरसीत्याह—नष्ट इति । कालवेगेनेति सर्वत्रैव हेतुः । शेषपदञ्च पार्षदः शिष्यते; उपलक्षणमेतत्—श्रीगरुडादयोऽप्यवशिष्यन्ते । यद्वा, शिष्यन्ति महाप्रलयेऽपि तिष्ठन्तीति; किंवा, साक्षाच्छेष-तामिव प्राप्ताः शेषाः श्रीवैकुण्ठलोकपरिच्छदपरिवारास्तेषां संज्ञा ख्यातिर्यस्मात् सः । तथा च श्रीवैष्णवाः पठन्ति—'यथेष्टविनि-योगार्हं शेष-शब्देन कथ्यते' इति; श्रीभगवतो यथार्हविनियोगार्हमित्यस्यार्थ इति नित्यं तत्साहित्यमभिप्रेतम् ।। २५ ।। कालवेगे-नेत्युक्त्या प्राप्तं कालस्य स्वातंत्र्यं निरस्यन्ती (सा) कंसादिभयाच्छरणं याति—य इति । अतएव ईशानं सर्वेश्वरं प्रपन्नजना-शेषभयहरणसमर्थं वा; अतएव क्षेमस्याभयस्य मंगलस्य वा स्थानम् ।। २६ ।। अतस्त्वदाश्रितो निर्भयः सन् सुखी स्यादित्याह—मर्त्त्य इति । मरणधर्मशीलो मनुष्यो निर्भयं मृत्युभयाभावं भयरहितं वा कञ्चिदपि नाद्यगच्छत्, न प्राप । आद्य ! हे सर्वश्रेष्ठ ! मृत्व्यादि-नियन्तरित्यर्थः । स्वस्थो मृत्युभयरहितः सन् शेते निश्चिन्तस्तिष्ठेत् सुखी स्यादित्यर्थः; यतोऽस्मात्त्वत्पादाब्जाद्धेतोर्मर्त्त्याद्वा, तस्मात् सकाशान्मृत्युः पलायते । यद्वा, अद्य अधुना त्वयि साक्षात् प्रादुर्भूते सति सर्वलोकः स्वस्थः सन् शेते, सामीप्ये वर्त्तमाना, शयिष्यत इत्यर्थः । एवमपैतीत्यपि । अन्यत् समम् । एवं परब्रह्मत्वादिना सूचितं निर्भयत्वं प्रलयेऽप्यवशिष्यमाणत्वेन तथा सर्व-संहारक-काल-लीलत्वेनाश्रितस्यापि भयहरणेन च दृढीकृतम्; स सर्वथा स्वयं निर्भय एव त्वम्; यद्वा, परब्रह्मत्वादिनोक्तं माहात्म्यं तेन द्रढीकृतम्; ततश्च स तादृशस्त्वं मत्सुतोऽसीत्यहो ! मद्भाग्यमहिमेति भावः ।। २७ ।। अतः कंसात् त्रस्तान् दीनानस्मानस्म-द्विधजनान् पाहि । उग्रा घोरा सेना परिजनलक्षणा यस्य तस्यात्मजादिति श्लेषेण परमोग्रत्वं सूचितम् । यद्वा, उग्रसेनस्य पितृव्यस्यात्मजादिति भयाधिक्यम्,—'निकृन्तति समूलं हि बन्धुभ्यो भयमागतम्' इति न्यायात् । यद्वा, त्राहीत्यस्मद्रक्षामेव कुरु, न तु कंसं घातयेत्यर्थः । कुतः ? उग्रसेनात्मजान्मातुलत्वादित्यर्थः । ननु कथं तर्हि त्रस्ताः स्थ ? तत्राह-घोरादिति । भो इति परमार्त्त्यो सम्बोधनम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, त्राणप्रकारमेव निवेदयति—भृत्यानां विगतस्त्रासो यस्मात्तथाभूतहासयुक्तमपीदं रूपं मांसदृशामज्ञानम्, किंवा मांसे दृक् भक्षणार्थं दृष्टिर्येषां तेषां कंसादीनां प्रत्यक्षं दृश्यं मा कृथाः । कुतः ? ध्यानधिष्ण्यं मुनीनामपि ध्येयमेवेत्यर्थः । दिव्यैतद्रूपादृष्ट्या तज्जन्माज्ञानेनास्माकं भयं नोत्पादयिष्यति । यद्वा, रूपरूपवतोरभेदेन त्वमन्तर्हितो भवेति स्नेहभरेण प्रार्थितमिति भावः ।। २८ ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आदिभूतं भूतादिं महदहङ्कारं व्यक्ते महति ।। २५ ।। चेष्टामाहुः—स्वसङ्कल्पाधीनकालेनेत्यर्थः क्षेमधाम क्षेमस्याश्रयं "क्षेमं वहामि" इत्युक्तम् ।। २६ ।। ध्यानधिष्ण्यं योगिध्येयं पौरुषं परमपुरुषत्वसूचकम् ।। २७-३० ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

आद्यत्वमेव दर्शयितुं प्राकृतप्रलयावशिष्टं वस्तु त्वमेवेत्याह नष्ट इति । चतुर्मुखस्य तन्मानेन वर्षशतात्मकमायुस्तस्य पञ्चा-शद्वर्षात्मकं पूर्वार्द्धमुत्तरार्द्धञ्च परार्द्धमुच्यते तदुक्तम्—

"ब्रह्मणः स्वस्य मानेन ह्यायुर्वर्षशतं स्मृतम् । तत्परं वै तदर्द्धं तु परार्द्धमभिधीयते" ।। इति—

द्विपरार्द्धावसाने द्वयोः परार्द्धयोरवसाने चतुर्मुखलय इत्यर्थः । कालस्य वेगेन हेतुना महाभूतेषु पृथिव्यादिषु स्वकारणपरं-परया आदिभूतं भूतादिमहङ्कारं गतेषु तस्मिन् लीनेषु सत्सु तथाऽव्यक्तेऽहङ्कारप्रकृतिभूते महत्तत्वेऽव्यक्तं सूक्ष्मावस्थमचिद्द्रव्यं याते गते सति इदम् "अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरन्तमसि लीयते तमः परे देव एकीभवति" इति श्रुत्यर्थस्याप्युपलक्षणम् एवं सति यः

शिष्यते पदार्थः स एको भवानेव यतो भवान् अवशिष्यतेऽत एव निमित्ताच्छेषसंज्ञः शेषशब्दाभिधेयश्च नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतया अवशिष्ट एकस्त्वमेवेत्येकशब्दाभिप्रायः अनेन "तमः परे देव एकीभवति" इति श्रुत्युक्तैकीभावश्चाभिप्रेतः नामरूपाभ्यामविभाव्यतया स्वाश्रयवस्तुसंश्लेषो ह्येकीभावः अनेन प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वं फलितम् एतदभिप्रायेणैव हि श्रुतौ "अक्षरं तमसि लीयते" इत्येतत्पर्यन्तं सर्वत्र लय उक्तः "तमः परे देव एकीभवति" इत्यत्रत्वेकीभावः अयमर्थः, अत्र द्विविधा हि लयो विवक्षितः एकस्तावत्स्वावस्थाप्रहाणेन पूर्वावस्थाप्राप्तिरूपः यथा पृथिवीत्वावस्थायाः प्रहाणेन स्वावस्थाप्राप्तिः इतरस्तु स्वावस्थाप्रहाणमन्तरेण वस्त्वन्तरविभागानर्हसंसर्गविशेषप्राप्तिः यथा प्रकृतिपुरुषयोः पुरुषरूपं प्रकृतिरूपं च परित्यज्य नित्यसिद्धमबाधित्वा विशेष्यभूतेन भगवता विभागानर्हसंसर्गविशेषप्राप्तिः तदेव तम एकीभवतीति विशिष्टैक्यरूपतया अभिधीयते तदेव चात्रैकशब्देनाभिप्रेतं पूर्वं तु "पृथिव्यप्सु प्रलीयते "इत्यादिना साक्षाल्लयशब्द एव प्रयुज्यते "उभावेतौ लीयते परमात्मनि" इति वैष्णववचनमपि प्रकृतिपुरुषयोर्भगवता सह संश्लेषमात्रमेव कथयतीति न विरोधः। संसर्गविशेषेऽपि लयशब्दः प्रयुज्यते यथा "वृक्षेषु पक्षिणो लीयन्ते" इति साक्षात् लयशब्द एव प्रयुज्यते अत एव—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया" ॥

इत्यादिषु "तदेतदक्षयं नित्यं जगत्स्थावरजङ्गमम्" इत्यादि वेदपारवेदिनां पराशरादीनां वाक्येषु च प्रकृतिपुरुषयोरनादित्वं प्रोक्तम् तस्मादपि तयोर्न साक्षाद्विलयः यथायुधरूपेण परिणते अयसि परिगृहीतं तोयं तोयरूपेणैव तिष्ठति अन्यथा स्नेहानुवृत्त्याद्ययोगात्तद्वत्प्रकृतिपुरुषावपि भगवत्यविभागार्हसंसर्गविशेषमात्रेणैकीभावव्यवहारविषयमात्रभूतौ विशेषणजगत्सृष्ट्यादावुपकुरुत इति "महानव्यक्ते लीयते" इत्यादि श्रुतावव्यक्तशब्दश्चित् समष्टिसंसृष्टा चित्समष्ट्यवस्थाविशेषपरः अक्षरशब्दस्तु अचित्समष्टिपरः तमःशब्दस्तु सर्वाचित्प्रपञ्चकारणभूताजहत् स्वावस्थसूक्ष्मचित्परः ॥ २५ ॥ ननु, कालवेगेनेति कालावशेषस्यापि सूचितत्वेन कथमेकस्य ममैवावशेष इत्यत्राह—य इति। हे अव्यक्तबन्धो अव्यक्तस्य निरतिशयसूक्ष्मदशामापन्नस्य प्रधानस्य बन्धो! तदाश्रयत्वरूपं तद्बन्धुत्वमिह विवक्षितम् इदं दृष्टान्तार्थमुक्तं यथा सूक्ष्मचिद्द्रव्यं त्वयि संश्लेषविशेषमापन्नं त्वदपृथक्सिद्धविशेषणं सत् त्वदेकत्वाविरोधि तद्वद्यम् कालाऽप्यपृथक्सिद्धविशेषणभूतस्सन्नेकत्वाविरोधीति योऽयं निमेषादिर्वत्सरान्तः कालस्य सूक्ष्मावस्था निमेषः स्थूलावस्था तु वत्सरः महीयान् महीयस्त्वमात्र ब्रह्मादीनामपि प्रभुत्वरूपं विवक्षितं येन कालेन निमित्तेन भवान् विश्वं चेष्टते करोति सृजत्यवत्यत्ति च यद्वा विश्वं कर्तृ चेष्टते प्रवर्तते तं च कालं तस्योक्तविधस्य ते तव चेष्टामाहुः चेष्टातुल्यमपृथक्सिद्धविशेषणमाहुरतो नायं त्वदेकत्वविरोधीति भावः। यं कालं यस्य तव चेष्टामाहुस्तमीशानं कालस्यापि नियन्तारं क्षेमधाम क्षेमस्य आश्रयं क्षेमङ्करं त्वां प्रपद्ये शरणं व्रजामि हेतुगर्भमिदं क्षेमधामत्वात्प्रपद्य इत्यर्थः ॥२६॥ कीदृशं तत्क्षेमधामत्वम्? यतो मां प्रपद्यसे इत्यत्राह—मर्त्य इति। मर्त्यः मरणशीलः जन्मनोऽप्युपलक्षणमिदम्। जन्ममरणादिरूपसंसृतिभाक् पुमान् मृत्युव्यालभीतः मृत्युर्जन्ममरणादिरूपः संसारः स एव व्यालः दुष्टसत्त्वस्तस्माद्भीतः मुमुक्षुः सन् इत्यर्थः। सर्वान् लोकान् प्रति पलायन् पलायमानः परस्मैपदमार्षम् लोक्यन्ते उपायत्वेनाध्यवस्यन्ते इति लोकाः उपायाः सर्वानुपायाननुतिष्ठन्नित्यर्थः। निर्भयम् भयस्याभावो निर्भयम् अर्थाभावेऽव्ययीभावः मृत्युव्यालभयाभावं नाध्यगच्छन्न प्राप न मुक्तो बभूवेति भावः। यदृच्छया यादृच्छिकसुकृतविशेषपरिपाकेन त्वत्पादाम्बुजं प्राप्य उपायत्वेन प्राप्य शरणं प्रपद्येति भावः। स्वस्थः मृत्युव्यालभयनिवृत्तये कर्त्तव्योपायान्तररहितः शेते यावज्जीवं सुखं वर्त्तते ततोऽस्मान्मृत्युरपैति अपगच्छति संसारान्मुक्तो भवतीत्यर्थः। त्वत्पदाब्जशरणवरणमात्रेणैव निश्रेयसप्रदस्य तव कियदेतल्लौकिकश्रेयःप्रदत्वमिति भावः॥ २७॥ इत्थमभिष्टूयाथ हृद्गतं विज्ञापयति स त्वमिति। स क्षेमङ्करस्त्वं घोराद्दृष्टुमप्यशक्यादुग्रसेनस्यात्मजात् कंसात् त्रस्तान् भीतान् नोऽस्मांस्त्राहि पाहि यतस्त्वं भृत्यानां वित्रासहा भयापहर्ता भवसि पौरुषं परमपुरुषासाधारणं परमपुरुषत्वसूचकं चेदं रूपं ध्यानधिष्ण्यं योगिनां ध्यानैकशुभाश्रयभूतम् अतस्त्वं मादृशां मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः माकार्षः॥ २८॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

निर्गुणत्वादिकं तल्लक्षणमेवेत्याह—नष्ट इति। द्विपरार्द्धावसाने ब्रह्मणः शतायुर्लक्षणः कालः द्विपरार्द्धस्तस्याऽवसाने लोके नष्ट इति सामान्येनोक्तं विशिनष्टि–पञ्चमहाभूतेषु पृथिव्यादिषु अहङ्कारद्वारा आदिभूतं महत्तत्त्वं गतेषु व्यक्ते महत्तत्त्वे अव्यक्तं प्रधानं गते सति अशेषसंज्ञः अशेषाः संज्ञाः यस्य स तथा "नामानि सर्वाणि च यं विशन्ति" इति श्रुतेः॥ २५॥ कालवेगेन यात इत्यत्र प्रतीतं कालस्वातन्त्र्यं निवारयति, योऽयमिति। निमेषादिर्वत्सरान्तो योऽयं कालः तं कालं यश्चाशेषसंज्ञस्तस्य ते तत्र चेष्टामाहुरित्यन्वयः। अव्यक्तबन्धो! मुख्यबन्धो! प्रारब्धः येन त्वया येन कालेन वा क्षेमधाम निर्भयस्थानम् "अभयम् प्रतिष्ठां विन्दते" इति श्रुतिः॥ २६॥ क्षेमधामत्वं दर्शयति—मर्त्य इति। मृत्युरेव व्यालः तस्माद्भीतः पलायन् पलायमानः अस्मान्मर्त्यात्॥ २७॥ भृत्यवित्रासहा भृत्यानां विविधभयनाशकोऽसि मादृशामप्रत्यक्षं कृषीष्ठाः प्रत्यक्षं न कुरु ध्यानधिष्ण्यं ध्यानविषयम्॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एक इति वैकुण्ठानामपि स्वरूपं चेति पुरुषविराडन्तर्यामिणो रूपम् आकारं चतुर्भुजत्वात् अत एव विराडन्तर्वर्ति ध्यानधिष्ण्यत्वेन प्रसिद्धं मांसदृशाम् अज्ञानाम् अयोग्यत्वादित्यर्थः। रूपं चेदमित्यादि प्रकरणव्याख्याविशेषं चतुर्थसन्दर्भस्य सप्तनवति-

तमपद्यानन्तरप्रवृत्के दृश्यः ननु मातस्तव किमर्थं भयं तमहं मारयाम्येव तथा ममाप्रत्यक्षतायां गर्भचौर्येण तस्माद्भयमेव स्यात् इत्याशङ्क्य यथार्थमेव निवेदयति ॥ २८-२९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

आद्यमिति यदुक्तम् तद्विवृण्वन्नाह—नष्टे लोक इत्यादि। एकः सजातीयद्वैतशून्यः। अत आह—अशेषसंज्ञ इति। ज्ञानं ज्ञा, सम्यग्ज्ञानं भगवत्तत्त्वज्ञानं येषां ते संज्ञाः पार्षदाः। अशेषा अविनाशिनः संज्ञा यस्य स तथाभूतः सन् शिष्यते पार्षदैः सह शिष्यत इत्यर्थः। पार्षदस्थितया तल्लोकस्यापि स्थितिरिति (भा० २.९.३२) "अहमेवासमेवाग्रे" इत्यत्र योऽर्थः स एवात्रापि ॥ २५-२७ ॥ अथ स्त्रीत्वस्वभावात् कंसतो भीता स्वल्पतरमपि वरं प्रार्थयमानाह—स त्वं घोरादित्यादि। भिया नामापि न गृहीतम्, उग्रसेनात्मजादित्येवोक्तम्। यतस्त्वं भृत्यवित्रासहोऽसि; अन्यच्च, इदं पौरुषं नारायणीयं रूपं चतुर्भुजाकारं मांसदृशां चर्मचक्षुषात् प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः। अथवा इदं पौरुषं, इदमुक्तप्रकारं ब्रह्मज्योतिर्यस्येत्यादि निरुपमं पौरुषं पुरुषाकारो यस्य तथाविधम्, इदं पौरुषमित्येकमेव पदम्। ध्यानधिष्ण्यं परमप्रेमानन्दसमाधिस्थानं द्विभुजं श्रीकृष्णरूपं मांसदृशां वहिर्मुखानां मा प्रत्यक्षं कृषीष्ठाः। अतो मातृवचनप्रतिपालनात् अन्तरङ्गेभ्य एव द्विभुजं रूपं प्रकाशयति, वहिरङ्गेभ्यस्तु चतुर्भुजरूपमिति पौण्ड्रादयस्तं तथैव ददृशुः। अथवा, सदृशां सचक्षुषां मध्ये मां प्रति इदं पौरुषं चतुर्भुजरूपं मा प्रत्यक्षं कृषीष्ठाः, मां प्रति द्विभुजमेव स्वरूपं दर्शनीयमित्यर्थः; यत्र पुत्रबुद्ध्या वात्सल्यं जनिष्यते ॥ २९ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

नष्टे लोके इत्यादौ नातिविप्रतिपत्तिः। एकोऽपि अशेषस्वजने सम्यग्ज्ञानं यस्य, स्वजना अपि ते नित्या इत्याह - शेष इति सात्वतग्रन्थे पार्षदसंज्ञा, तेन संज्ञपनं मारणं संज्ञपनं संज्ञा मरणम्, न विद्यतेऽशेषाणां पार्षदानां मरणं नाशो यस्मात् सोऽशेष संज्ञः ॥ २५-२७ ॥ रूपञ्चेत्यादि। रूपं कीदृशम्? इदं पौरुषम्, इदं पूर्वोक्तप्रकारं यस्य ब्रह्मज्योतिरित्यादिकं पौरुषं सामर्थ्यं यस्य, इदं-पौरुषमित्येकमेवपदम्, एवं प्रकारकपुरुषाकारमित्यर्थः। मांसदृशां प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः, परमानन्दचक्षुषामेव प्रत्यक्षमिदम्, अतएव गुरुवचनप्रतिपालनकारणेन प्रेमभक्तजनान् विना सामान्येभ्यः शत्रुभ्यश्च तथारूपं न दर्शयेति मन्तव्यम् ॥ २८-२९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च महाप्रलयेऽप्यवशिष्यमाणस्य तव कुतो भयमित्याह, नष्टे चराचरे लोके महाभूतेषु लीने सति तेष्वप्यादिभूत-महंकारं गतेषु सत्सु तस्मिन्नप्यहङ्कारे व्यक्ते व्यक्तं प्रविष्टे सति तस्मिन्नपि व्यक्ते महत्तत्त्वे अव्यक्तं प्रधानं प्राप्ते सति एको भवानेव शिष्यतेऽवशिष्टो भवतीति पूर्वश्लोकोक्तलक्षणं भवत एकस्यैव रूपं ज्योतिः सत्तामात्रं च शिष्यत इति सपरिवारस्थानपरिच्छदस्यैव तस्य नित्यत्वमभिप्रेतम् अतः शेषसंज्ञः शेषनामा शिष्यत इति व्युत्पत्त्या भवान् शेष उच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥ कालवेगेनेत्युक्त्या प्राप्तं कालस्यापि स्वातन्त्र्यं वारयन्ती सर्वभीषणात्कालादपि यद्भयं नास्ति तत्र हेतुमाह—योऽयं सर्वसंहारकः कालस्तमपि तस्य तव चेष्टामाहुः हे अव्यक्तबन्धो! प्रकृतिप्रवर्त्तक! येन त्वच्चेष्टारूपेण कालेनैव विश्वं चेष्टते स एव कालः कस्तत्राह—निमेषेति। महीयान् पुनः पुनर्वत्सरावृत्त्या द्विपरार्द्धरूपः त्वा त्वां प्रपद्ये यथा त्वं निर्भयस्तथैव स्वमातरं मामपि निर्भयां कुर्व्विति भावः ॥ २६ ॥ त्वच्चरणाश्रितोऽपि निर्भयः किमुत त्वमित्याह—मर्त्य इति। सर्वान् लोकान् प्रति पालयन् निर्भयं भयाभावं न प्राप यदृच्छया यादृच्छिकमहत्कृपालब्धभक्त्यैवेत्यर्थः। त्वत्पादमेवाब्जं धन्वन्तरिं प्राप्य "अब्जोऽस्त्रीशङ्खे ना निचुले धन्वन्तरौ च हिमकिरणे" इति मेदिनी। हे आद्य! तेन त्वद्भक्तापि त्वया मातृत्वेन स्वीकृतापि कंसादपि केवलमहमेव महाभयविह्वलेति भावः ॥ २७ ॥ त्वं त्वदीयश्च निर्भयः कथमावामेव महाभयग्रस्तौ करोषि इत्याह—स त्वमिति। घोरादिति महाभीषणत्वम् उग्रेति पिता नोग्रः सेना च नोग्रा किन्त्वात्मज एवोग्र इति भयेनैव साक्षात्तन्नामाग्रहणम् किञ्च भृत्यानां विविधं त्रासं हंसि पित्रोरावयोः किमन्तर्भयं न हरसीति भावः। भो मातः! कंसवधार्थमेवावतीर्णोऽस्म्यायातु कंसस्तमधुनैव वधिष्यामि चक्षुर्भ्यां पश्येति तदुक्तिमाशङ्क्य वर्द्धिष्णुना पुत्रभावेन तस्मात् कंसवधमसम्भावयन्ती प्रत्युत कंसादेव तदनिष्टमाशङ्कमाना महाभयकम्पितसर्वाङ्गी हन्त हन्त परमेश्वरत्वाहङ्कारवति पुत्रेऽस्मिन् भेदादय उपाया न घटन्त इत्यतः साम्नैव स्वकृत्यं साधयामीति मनसि विमृश्य तद्रूपमुपसंहारयितुं युक्त्यन्तरमुत्थापयति-रूपमिति। पौरूषमैश्वरं ध्यानधिष्ण्यं ध्यानास्पदं मांसदृशां मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृथाः ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं भगवतः सर्वकारणत्वेन सर्वतः आद्यत्वं कारणत्वेऽपि निर्विकारत्वादिमत्वं चोक्तमथ सर्वनिधित्वमाह-नष्टे इति। आदिभूतं तन्मात्रसंज्ञम् एवं व्यक्ते कार्ये स्वस्व कारणद्वारा अव्यक्तं प्रधानं त्वच्छक्तिभूतां प्रकृतिं सा च त्वच्छक्तित्वात्सदैव प्राप्ता परमकारणम् भवन्तम् अशेषेषु स्वस्मिन् लीनेषु चेतनाचेतनेषु तत्प्रलयोत्पत्तिस्थितिनिमित्तकालकर्मादिषु च प्रज्ञा यस्य सः सर्वज्ञः

भवानेव शिष्यते ॥ २५ ॥ ननु, कालवेगेनेत्यनेन कालस्य पृथगवस्थानं प्रतीयते इत्यत आह–योऽयमिति। हे अव्यक्तबन्धो! प्रकृतिस्वामिन्! योऽयं कालः एनं तस्याऽशेषसंज्ञस्य ते चेष्टां शक्तिमाहुः तं सर्वकारणकारणं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं त्वां प्रपद्ये शरणं व्रजे ॥ २६ ॥ हे आद्य! सर्वजनक! ॥ २७ ॥ पौरुषं चतुर्भुजम् ध्यानधिष्ण्यम् अयमर्थः परमविष्णोः परमपुरुषस्य तवावतार-भूतश्चतुर्भुजः पुरुषो ध्येयत्वेन प्रसिद्धोऽतस्तद्रूपेण स्थितं त्वां लोका वेत्स्यन्ति अत इदं रूपं मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः मा कृथाः "एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः" इत्यत्र करणानां भगवद्रूपग्रहणशक्त्यभावो दर्शितः भगवति तु व्यापकत्वादिना च चतुर्भुजत्वेन द्विभुजत्वादिना च स्वरूपप्रकाशनशक्तिरस्त्येव अतः प्रत्यक्षं मा कृथाः अयमाशयः मुक्तिस्तु येषामिच्छसि तेषां द्विभुजरूपदर्शनाद्भ-विष्यत्येव पुत्रबुद्धिस्तु नरलोके चतुर्भुजेऽप्रशस्ताऽतो द्विभुजो बालो भवेति प्रार्थनेति द्विभुजरूपदर्शनान्मुक्तौ को विवादः तत् स्मरणमात्रेणापि मुक्तिर्वक्ष्यते "सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहितामनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम्" इति श्रुतिश्च "द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वन-मालिनमीश्वरम्। चिन्तयेच्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः" इति ॥ २८ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

हेऽव्यक्तबंधो लक्ष्मीपते। येन कालेन विश्वं चेष्टतेऽयं निमेषादिर्वत्सरांतो महीयान्कालस्य ते त्वां चेष्टां। चेष्टतेऽनेनेति चेष्टां। आहुः। तं कालचेष्टकमीशं ब्रह्मादीनां स्वामिनं क्षेमधाम आत्यंतिकक्षेमप्रदवैकुंठादिस्थानस्वामिनं त्वां प्रपद्य इति। एतेन कालस्य भगवच्चेष्टैक्याभावात्। तं कालं चेष्टामाहुरित्यनुपपन्नमिति दूषणस्यानवकाशः। चेष्टाहुरित्यनेन कालस्य भगवच्चेष्टैक्यं नोच्यते किंतु चेष्टाशब्दस्य चेष्टतेऽनेनेति व्युत्पत्तिमंगीकृत्य ते इति षष्ठ्यास्त्वामिति द्वितीयादेशत्वं च स्वीकृत्य तस्य कालस्य त्वां चेष्टकमाहु-रित्यर्थ उच्यत इत्यभ्युपगमात्॥ ता०॥ कालश्चेष्टतेऽनेन भगवतेति हेतोर्भगवांश्चेष्टेत्युच्यत इति ॥ २६–२८ ॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

नष्टे लोके इति श्लोके शिष्यतेऽशेषसंज्ञ इत्यनेन हरेःशेषैक्यप्रतीतिर्भवति। अतस्तन्निरासाय तदनूद्य तस्यार्थमाह॥ अशेषसंज्ञ इति। अनेनाशेषाः सर्वाः संज्ञा नामानि यस्येति विग्रह उक्तो भवति ॥ २६ ॥ योऽयं कालस्तस्येति श्लोके योऽयं कालस्तं कालं तस्य पूर्वोक्तस्य तव चेष्टा पदस्य प्रसिद्धक्रियारूपचेष्टार्थत्वभ्रांतिनिरासाय तस्मिन्नेव भागवतश्लोके चेष्टते येन विश्वमित्यनेन व्युत्पत्तिरुक्ता। तत्रान्वयपूर्तेर्विभक्तिविपरिणामेनावृत्तपूर्वपदेनान्वयं दर्शयति॥ चेष्टत इति। येनेत्यस्यार्थः॥ अनेनेति। चेष्टतो विश्वमिति शेषः। इति व्युत्पत्त्या कालश्चेष्टेत्युच्यत इत्यर्थः। न चेदं तात्पर्यवाक्यं चेष्टापदस्यैव व्युत्पत्तिप्रदर्शकं न तु चेष्टाव्युत्पत्ति-प्रदर्शकस्य चेष्टते येन विश्वमिति भागवतवाक्यस्यान्वयप्रदर्शकमिति वाच्यम्। तथात्वे चेष्टतेऽनयेति तात्पर्यवाक्यप्रयोगः स्यान्न त्वने-नेति। चेष्टायाः स्त्रीलिंगित्वात्। अत उक्तं युक्तमिति ॥ २७–२८ ॥

इति श्रीभागवततात्पर्यटिप्पण्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ १०–४ ॥ छ ॥ (अस्मत्क्रमेण तृतीयोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

नष्टे लोके इति श्लोके शेषसंज्ञ इति शेषतादात्म्यमुच्यत इति प्रतीयत इति स्वयमकारप्रश्लेषं कृत्वा विवृणोति॥ अशेषसंज्ञः सर्वनामेति। केचिदेवमपि प्रदर्शितान्यथाप्रतीतेर्विना विवरणमनिवारणात्। वस्तुतस्तु शिष्यत इति शेषपदनिर्वचननैर्भर्यभ्रमेण शेषनामैकलमेव भगवत इति प्रतीयते। सा च न माहात्म्यापादिकेत्यत अकारप्रश्लेषेण व्याख्याति॥ अशेषेति। अशेषाः संज्ञा नामानि। नामानि सर्वाणि यमाविशन्तीत्यादेर्यस्य सः॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ द्विपरार्धावसाने शतानन्दशतायुर्लक्षणो द्विपरार्धः कालस्तस्यावसाने लोके नष्टे। प्रतिज्ञातां नष्टिमेव विशिनष्टि॥ भूतेष्विति। कालवेगेन कालजवेन महाभूतेषु पृथिव्यादिष्वादिभूतं महत्तत्त्वं गतेषु व्यक्ते प्रकृतितो व्यक्ते महत्तत्त्वेऽव्यक्तं प्रकृतिं याते सति सर्वेषां नाशेन वाच्यार्थहीनता वेदादेरित्यत आह॥ अशेषसंज्ञः शेषनामा सन् भवान् शिष्यत इति। अत्यन्तसमीपवर्तिनीरमेये क इति वेशकोटिनिवेशाद्वोक्तिरिति व्याकुर्वते ॥ २५ ॥ योऽयं काल इति श्लोके कालस्य भगवच्चेष्टारूपत्वमद्रव्यत्वात्कालस्य कथं चेष्टारूपत्वमित्यत आह॥ चेष्टत इति। एतच्चार्थकथन-परमिति नानेन लिङ्गविपर्यासदोषः॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ तर्हि कालस्य सकलकलनसमर्थता किमित्यत उक्तापवादमाह॥ योयऽमिति। येन त्वया विश्वं चेष्टते तस्य ते सम्बन्धी कालो योऽयं निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयानुक्तद्विपरार्धरूपस्तं कालं चेष्टामाहुः। हे अव्यक्तबन्धो रमापते। अव्यक्तं श्रीरुदाहृता। अव्यक्तात्पुरुषः पर इत्यादेः। तं क्षेमधाम क्षेमस्थानं नित्यक्षेममोक्षाश्रयं वा ईशानमीशनादेव चेशान इति स्मृतेः सर्वप्रेरकं प्रपद्ये ॥ २६ ॥ तं क्षेमधामत्वं दर्शयति॥ मर्त्य इति। हे आद्य यो मर्त्यो मृत्युरेव व्यालः सर्पो वा दुर्दन्ती वा तस्माद्भीतः। व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे श्वापदे दुष्टदन्तिनीति विश्वः। सर्वान् लोकान्पलायन्निर्भयस्थानं नाध्यगच्छन्नालब्धः सो यदृच्छया यदृच्छा तु तदिच्छा स्यादिति त्वदिच्छया त्वत्पादाब्जं प्राप्य शेते। सति मृत्यौ कथं स्वास्थ्येनावस्थानमित्यत आह॥ मृत्युरिति। अस्मात्त्वत्प्राप्तिमतो मृत्युरपैति। स्वस्मिन् अस्मज्जातिनाथे तिष्ठतीति स्वस्थः स सन् शेते। य इति मृत्युसर्पोपासर्पदहं पद्मोऽस्मीदं च पादाब्जमिति मृत्युं दुर्दन्त्यपागादस्मादिति प्रेक्षावन्त उत्प्रेक्षयन्ति। एकनाम्नोः

सदा प्रीतिरित्याम्नानात् ॥ २७ ॥ यस्त्वमुक्तरीत्या भृत्यवित्रासहा भृत्यानां वित्रासं हन्तीति स तथाऽसि अतो घोरादुग्रसेनात्मजात्त्रस्तान्नस्त्राहि । ऋग्भाष्याद्युदाहरणपूर्वकं प्रकृत्यन्तररूपत्वेनातीतस्कन्धोक्तः समाधिरवधेयः । त्रायस्व भृत्यानां वित्रासं यथा भवति तथा हासयति सन्तोषातिशयेन तद्वित्रासह यद्रूपमित्यप्यन्वयो ज्ञेयः । ध्यानधिष्ण्यं ध्यानस्थानं तद्विषयमिति यावत् पौरुषं रूपं चतुर्भुजत्वादिमन्मादृशां जनानामप्रत्यक्षं कृपीष्ठाः कुरु त्वमन्यद्रूपं लोकपालवद्दृशां पिशितलोचनानामप्रत्यक्षं मा कृपीष्ठाः साधारणाकारधारणेनास्माकं दृग्विषयो भव भगवन्नित्यावृत्त्याऽन्वयो वा । स्वत्वावन्यपर्यायावित्युक्तः ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमाधिदैविकरूपं निरूप्याध्यात्मिकं रूपं निरूपयति **नष्टे लोक** इति, आधिभौतिकस्य सर्वस्याध्यात्मन्येव लयः, तस्यैवात्मत्वप्रतिपादनात्, दृश्यते च स्वप्नादौ बाह्यप्रकाशेष्यान्तरः प्रकाशः, तस्मादयं भगवानात्मा, अन्यस्य लयावधित्वं नास्तीति तस्य लयावधित्वमाह लोके प्रकाशे चतुर्दशलोकेषु च नष्टेषु सर्वनाशो नियतकाल इति ज्ञापयितुमाह **द्विपरार्धावसान** इति, ब्रह्मण आयुः परशब्देनोच्यते, तस्यार्धं परार्धं, परार्धद्वये ब्रह्मसमाप्तिः, बन्धमोक्षव्यवस्थां लोके वक्तुं ब्रह्मण आयुषोर्धव्यवहारो ब्रह्मण उत्तरायुष्येव ब्रह्माण्डस्थानां मुक्तिरितिज्ञापनार्थः, द्विपरार्धस्याप्यवसाने समाप्तौ, ब्रह्माण्डस्य तु प्रलयस्तदैव भवति, तदा तत्त्वानि तिष्ठन्ति, तेषामपि प्रलयमाह **महाभूतेष्वादिभूतं गतेष्विति**, **आदिभूतशब्देनाहङ्कार** उच्यते, अग्रे महत्तत्त्वस्यापि प्रकृतौ लयस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अहङ्कारोपि महति लीयत इति ज्ञापितं, भूतानामादिभूत इतिव्युत्पत्त्यादिभूतशब्दवाच्योहङ्कारो भवति, आदौ भूतो जातश्चेन् महत्तत्त्वमेव, व्यक्ते महत्तत्त्वेव्यक्तं प्रकृतिं गते सति, व्यक्ताव्यक्तपदाभ्यामेतत् सूचयति, अक्षरात् प्रकृतिपुरुषविभागपक्षे प्रकृतिपुरुषयोरप्यक्षरे लयः, कालादीनामव्यक्तत्वैव, किं बहुना ? सर्वमेव **व्यक्तमव्यक्ते प्रविष्टं**, तत्र प्रवेशे कालवेग एव हेतुः, भगवतः सर्वोपसंहारेच्छायां सर्वोपसंहारार्थमधिकारी कालो वेगवत्तरो भवति, एवं स्वयमप्यक्षरे, अक्षरं पुरुषोत्तमे, पुरुषोत्तमाभिन्ने वाक्षरे, तदा भवानेवैकः शिष्यते, तस्य भगवतः स्वरूपाणि यानि स्थितान्याधिदैविकानि तेषामपि लयमाशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाहाशेषसंज्ञ इति, अशेषाः सर्वाः संज्ञा यस्य, सर्वशब्दवाच्यो भगवानेक एवेति, एक एव शिष्यत इत्यर्थः, एवमाधिभौतिकानां सर्वेषां लयस्थानभूतोध्यात्मा उक्तः ॥ २५ ॥

आधिभौतिकं रूपमाह **योयं काल** इति, आधिभौतिकानामाधिभौतिकभूतो भगवान् न त्वाधिभौतिक एव, तथात्वज्ञापकमाह **कालो यस्य चेष्टेति**, कालप्रेरितानि सर्वाण्येवाधिभौतिकानि, योयं कालः सर्वेषां भूलभूतस्य, स एव भवानिति ते तव चेष्टामाहुः, ननु भगवतश्चेष्टासत्त्वे किं प्रमाणं चेष्टाया वा कालत्वे ? तत्राहुरिति चेष्टायाः कालत्वे मानमुक्तं, चेष्टासत्त्वे मानमाह **चेष्टते येन विश्वमिति**, येन कालेन विश्वमेव चेष्टते, न हि कारणस्य चेष्टाभावे कार्ये चेष्टा भवति, कालवशाच्च चेष्टा, चेष्टायाः कर्मरूपत्वात्, कर्म च कालजनितं, काले कर्मविधानात्, अतो भगवच्चेष्टारूपः कालः, ननु प्रकृतिकारणपक्षे तद्द्वारा कार्यपक्षे वा न चेष्टारूपः कालः सिध्येदित्याशङ्क्याहा**व्यक्तबन्धो** इति, अव्यक्तस्य प्रकृतेर्बन्धुः सर्वकार्यकर्ता, अतः प्राकृतकार्यपक्षेपि चेष्टारूपः कालः, आधिदैविककालस्य भगवद्रूपत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **निमेषादिर्वत्सरान्त** इति, यद्यपि परमाणुकाल आदिभूतस्तथापि परमाण्वादिलवान्तानामतिसूक्ष्मत्वाद् व्यवहारानौपयिकत्वमाशङ्क्य **निमेषादिरेव** गृहीतः, 'द्विपरार्धावसान'त्वाच्चेष्टारूपकालस्य संवत्सरो मध्यम इति ततोप्याह **महीयानिति**, एवं यस्य चेष्टा कालो य"श्चावशिष्यते" यश्चाधिदैविकः सर्वकारणकारणभूतस्तं त्वां प्रपद्ये शरणं गच्छामि, अनेन 'वालकः पुत्रः कथं शरणार्ह' इति निरस्तं, तं त्वामित्यत्र प्रमाणं पूर्वमुक्तमे'वाहु'रित्य'ध्यात्मदीप' इति च 'विष्णु'रिति च, एवं सर्वरूपोपि यदि रक्षादिकं नाविष्कुर्यात् तदा शरणगतिरप्रयोजिकेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहे**शानमिति**, यत्र भगवत एतावन्तो धर्माः स ईश एव भवति, ऐश्वर्यं विलम्बं न सहते न चोपेक्षते, नन्वीश्वरो दैत्यपक्षपाती चेत् तदापि कार्यं न सिध्यतीति तदर्थमाह **क्षेमधामेति**, क्षेमाख्यं शुद्धसत्त्वं धाम यस्य, अतः शिष्टानामेव पक्षपातं करिष्यतीति न काचिच्चिन्ता, आधाररूपधर्मस्यैव प्राधान्यख्यापनार्थं लिङ्गव्यत्ययः ॥ २६ ॥

एवं भगवतो रूपत्रयं प्रपत्तिं च निरूप्य तस्याः प्रपत्तेः प्रकृतोपयोगित्वाय हेतुं निरूपयति **मर्त्य** इति, अतीन्द्रियः कालो लोके स्वज्ञापनार्थं स्वप्रतिकृतिं सर्पमुत्पादितवान्, लौकिकास्त्वलौकिकं तद्द्वारैव प्रतिपद्यन्ते, यथा सिंहप्रतिकृतिर्ग्रामसिंहः, एवं बिडालगवादयश्च व्याघ्रगवयादीनां प्रतिकृतिरूपाः, कालः स्वभक्ष्यमेव सृजति, अतः कालसृष्टा **मर्त्या** इत्युच्यन्ते, तस्य च भार्या कुण्डलिनी शक्तिः स्वभर्तृज्ञापिका सर्वेषु पुरुषदेहेषु तिष्ठति, **योगो** हि तदुद्बोधकः, तच्छरणं गत एव योगी, तदा तया प्रार्थितः कालः शीघ्रं न भक्षयति, तस्य चाध्यात्मा वेदः, तदुक्तकर्मणापि विलम्बो भवति, अन्ये च सर्वे देवाः पुराणोक्तास्तस्याधिभौतिकरूपाणि, तेपि विलम्बहेतवो भवन्ति, इमे त्रिविधा अपि धर्ममार्गवर्तिनो निरन्तरमेकनिष्ठास्तत्प्रवणाः, ये पुनर्लौकिकाः साधारणाः शीघ्रं भक्षणार्थमेव स्थापिता ओदनभूतास्ते चेत् कालातिक्रमार्थं यतन्ते तदा कालकार्यं स्वस्मिन् रोगादिकमनुभूय कालनिवर्तकत्वेन श्रुतान् बहूनेव धर्मान् कर्तुं यतन्ते तद् व्यालभीतस्य पलायनं मूषकस्येवाग्रे पतितस्य, मृत्युः कालस्य मुखं, सोपि **व्यालः**, भयहेतुवाचको व्यालशब्दो मुखहेतुक एव, यत्र क्वापि गच्छन् क्षुत्पिपासे जरावलोपलितायुर्नीचधर्मानननुभवति, अतः कालकार्यदर्शनाद् भयं न निवर्तते, देवत्वे मानुषत्वे वृक्षत्वे वा बहुकालस्थितधर्मेषु भयं निवर्तत इत्याशङ्क्य **लोकान् सर्वा**नित्युक्तं, **निर्भयं** भयाभावं,

अतः केनाप्युपायेन मृत्युर्न निवर्तत इति **निर्भयं नाध्यगच्छन्** भयनिवर्तकस्थानं वा, शास्त्रानुभवयोः संवादे हि तन् निवर्तते, येपि पूर्वमुक्तास्त्रिविधास्ते कालाधीना इत्यवश्यभक्ष्यत्वे न समर्था भवन्ति, प्रार्थना हि दुर्बला, एवं शरणान्वेषणार्थं परिभ्रमणे क्रियमाणे सर्वत्र प्रवर्तको भगवान् कदाचित् परितुष्यति तदा भगवच्चरणप्राप्तिः, सत्सङ्गो भागवतं चेति भगवच्चरणद्वयमाधिभौतिकं, ज्ञानं भक्तिश्चाध्यात्मिकं, चरणावेव प्रसन्नस्याधिदैविकौ, तन्मध्ये अन्यतरप्राप्तावपि कृतार्थतेति ज्ञापयितुं त्वत्पादाब्जमित्युक्तं, भगवत्सहितं भगवच्चरणारविन्दं **प्राप्य, यदृच्छया** भगवदिच्छया, कालसम्बन्धाभावाय **यदृच्छये**त्युक्तं, नियतकालस्य यदृच्छात्वाभावात्, अब्जपदेन चालौकिको लोक एव ज्ञापकः शोभातिशयो निरूपितः, त्रितयापेक्षयाप्यतिशयः, अनेनैव विश्वासेन, अद्यैव यदैव चरणप्राप्तिस्तदैव, **स्वस्थः शेते,** मृत्युनिवारणार्थं यत्नं च न करोति, मृत्युः पुनः स्वत एव निवर्तते, भगवच्चरणारविन्दमत्र वर्तत इत्यस्मादसाध्यादपगमनं युक्तमेव, शास्त्रं तु प्रमाणं, संवादस्त्वलौकिकभावसिद्धिः, कालनियन्ता च भगवान्, अतोनुभवप्रमाण-युक्तयोत्रैव सन्तीति न पूर्ववदस्मिन् मार्गे शङ्का, निःकपटतया प्रवृत्तौ तु नात्र व्यभिचारः ॥ २७ ॥

एवं शरणागतौ हेतुमुपपाद्य त्रयं प्रार्थयति **स त्वमि**त्यादित्रिभिः, अत्रावसरे त्रयं सम्भवति, भगवानिदानीमेवान्तर्हितो भवेत् पश्चात् स्वेच्छयान्यत्र स्थितः कंसं मारयेत्, तदिमां कथां कंसः श्रुत्वा मारयेदस्मान् ज्ञानदापनयोर्नियोगात्, अतो रक्षा प्रार्थनीया, इदानीं वा कंसं मारयेत् ततो गच्छेत् ततः कंसपक्षपातिनः पश्चादस्मान् मारयेयुः, तदर्थमिदं रूपं लौकिके न ख्यापनीय-मिति प्रार्थनीयं, एवंरूपेणात्रैव च स्थितिरपि सम्भवति तदालौकिकं दृष्ट्वा प्राकृतो लोको द्वेषं कुर्यादस्मदादयश्च शीघ्रं मुच्येरन् भक्तिरसानुभवश्च न स्यान् मर्यादा च भज्येतेत्यतो रूपाप्रदर्शनप्रार्थना युक्तैव, एतत्सर्वदोपपरिहारार्थं साम्प्रतं कंसस्याज्ञानं भवत्विति प्रार्थना, इदानीं मारणे वा युद्धसमये स्वजीवनार्थमनुपसंहारे पूर्वोक्तपक्षसम्भवादुपसंहारोपि प्रार्थ्यः, भगिनीपतिश्चेति कदाचिन्न मारयेदित्याशङ्काव्युदासार्थमाह **घोरा**दिति, प्रार्थनीयसर्वदानसामर्थ्यार्थं **स त्वमि**ति, स पूर्वोक्तधर्म एव त्वं, **घोरो** निर्दयो भयानकः, क्रूर इतियावत्, उपायेन विषादिनाऽमारणार्थमुग्रसेनात्मजादित्युक्तं, उग्रसेनस्य शरीरजः कथं वध्यो भवेत्? घोरत्वात् स मारयेदेव, **त्रस्ता**निति, पूर्वपुत्रमारणेन **त्राहि** पालय, उभयपदी धातुरयं प्रचुरप्रयोगान्निश्चीयते, ननु पर्यवसाने बाधाभावादिदानीं मारणपक्षे किमिति रक्षा प्रार्थ्यत इति चेत् तत्राह **भृत्यवित्रासहासीति**, भृत्यानामस्मदादीनां वित्रासं भयं हन्तीति तथा, असीति तव सङ्कल्पः, यथा गन्धः पृथिव्या एवैवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्वमेव, यथास्मद्रक्षेदानीममारणेनान्यत्र गमनेन च कर्तव्या तथा स्थितौ रूपोपसंहारश्च कर्तव्य इत्याह **रूपं** चेदमिति, सर्वदानेन रूपेण स्थातुमयुक्तमिति, इदं रूपं **मांसदृशां** चर्मचक्षुषां प्रत्यक्षं **मा कृषीष्ठाः**, तर्हि कस्यापि मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्क्याह **ध्यानधिष्ण्य**मिति, ध्यानमेव धिष्ण्यं स्थानं यस्य, ध्यान एव प्रकाशो भवतु न बहिः, अतः सर्वं सुस्थं भविष्यतीतिभावः, **मा कृषीष्ठा** इत्यनेन चैतज् ज्ञापितं, अयं स्वेच्छयैव प्रकटो-करोति, वस्तुतस्त्विन्द्रियावेद्यमेव, **मांसदृशा**मित्यनेन दैत्या एते मांसभक्षका मांसमेव पश्यन्ति सर्वत्र न तु विहितं निषिद्धं वा विचारयन्तीत्युक्तं, चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

व्यक्तेव्यक्तमित्यत्र **पुरुषोत्तमाभिन्न** इति, पुरुषोत्तमचरणात्मक इत्यर्थः ॥ २५ ॥ त्वत्पादाब्जं प्राप्येत्यत्र ननूक्तपलायन-विशिष्टस्य साक्षाद्भगवच्चरणप्राप्तिर्न सम्भवत्यतोनुपपन्नमिदमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **सत्सङ्गो भागवतं** चेत्यादिना ॥ २७ ॥ **स त्वं घोरादित्यत्रेदानीं मारणे** वेत्यादि, रक्षाप्रार्थनेतिशेषः, **अस्मिन् पक्षे** रूपानुपसंहारातिरिक्तस्य बाधकाभावात् तत् कृत्वान्यत्र स्थेयमितिभावः, एतदेवोक्तम**नुपसंहार** इत्यादिना, **अन्यतरे**ति, इदानीमेव मारणं लोके चैतद्रूपदर्शनमित्येतयोरन्यतरस्य तथात्वा-येत्यर्थः, इदानीं मारणमन्यत्र गमनं च **मध्यमः** पक्षः, एवं सत्यपि यदि तममारयित्वैवान्यत्र गतिर्भवति तदा स्वतस्तन्मारणान्नि-वृत्तिर्भवतीति, तथापि दोषानिवृत्तिरित्याहु**र्मध्यमपक्षे स्वत** इत्यादिना, तेन जन्माज्ञानस्यावश्यकत्वमुक्तं भवति ॥ २८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

नष्टे लोक इत्यत्र **तस्यैवे**ति, अभिमन्तुः, लोकशब्दस्यार्थद्वयमभिप्रेतमित्याशयेनाहु**र्लोक** इत्यादि, लोक्यतेनेनेतिकरण-व्युत्पत्तौ लोको बाह्यप्रकाशः, लोक्यन्त इति लोकाः कर्मव्युत्पत्तौ, ते चतुर्दश, यद्यपि ब्रह्मणः 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेती'तिश्रुत्याध्यात्मिकस्यापि लय उच्यते परं सोत्र नाभिप्रेत इतिज्ञापनाय विवृण्वन्ति **स** चेत्यादि, **स कालो ब्रह्मण** इत्यादिना विवृतः, तथा च निद्रापूर्वभाग इत्यर्थः, **तदैवे**ति, एतेनावान्तरकल्पेषु त्रिलोक्या इव महाकल्पेषु सप्तलोक्याः प्रलयः शेषाद् ब्रह्माण्डरूपा भूस्तिष्ठतीत्यनुसन्धेयमिति ज्ञापितम्, **आदौ भूत** इतिपद्येहङ्कारो नायातीतिमूलस्थे **गतेष्वि**तिपदेहङ्कारद्वारा **गतेष्वि**ति व्याख्यानं ज्ञेयम्, **एतत् सूचयती**ति, एकस्यैव भगवतः स्थितिं सर्वसंहारकाले वदन्ती व्याख्यायमानप्रक्रियां सूचयति, **पुरुषोत्त-माभिन्न** इतिपक्षस्यार्थष्टिप्पणीतो ज्ञेयः, **सर्वशब्दवाच्य** इति, सर्वैः शब्दैर्वाच्य इत्यर्थः ॥ २५ ॥ यो यं काल इत्यत्राधिभौतिकाना-**माधिभौतिकभूत** इति, 'तदभिध्यानादेव त्वि'तिन्यायेन तत्र प्रविष्टस्तल्लिङ्गः, **स एवे**ति, 'प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि-चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षित' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् काले निविष्टः काललिङ्गः, **चेष्टामाहु**रितिमूलवाक्यं

तमित्यध्याहारेण पूरणीयं, योयमिति, यच्छब्दस्य तच्छब्दसापेक्षत्वादिति, चेष्टासत्त्वमुपपादयन्ति न हीत्यादि, चेष्टायाः कालत्वे प्राहुरिति यन्मानमुक्तं तदुपपादयन्ति कालेत्यादि, अत इति, यो यज्जनकः स तदात्मक इतिन्यायात्, प्राकृतकार्यपक्षेपीत्यादि, 'प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः सतोभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वह'मित्येकादशस्कन्धवाक्यादित्यर्थः, ततोप्याहुरिति, ततोप्यधिकमाह, आधाररूपधर्मस्येति, आधारभूतस्य धर्मरूपस्य सत्त्वस्य ॥ २६ ॥ मर्त्य इत्यत्र रूपत्रयमिति, कालरूपमीश्वररूपं विष्णुरूपं च, हेतुमिति, प्रपत्तिहेतुभूतं भयम्, अलौकिकमिति, अतीन्द्रियं भयजनकं कालं, प्रतिकृत्या तादृशपदार्थान्तरप्रतिपत्तौ दृष्टान्तमाहुर्यथेत्यादि, ननु भवत्वेवं तथापि भयं कुत इत्यत आह कालः स्वभक्ष्यमेव सृजतीति, कालस्य सृष्टिकर्तृत्वं तृतीयस्कन्धे 'सोनन्तोन्तकरःकालोनादिरादिकृदव्ययः जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तक' इत्यत्र भारते राजधर्मेपि स्पष्टं, तत्र गमकमाहुरत इत्यादि, तदुपपादयन्ति तस्येत्यादि, तस्येति, कालात्मकस्य सर्पस्य, तस्य चेति, अतीन्द्रियस्य, त्रिविधा इति, योगिनः कर्मठा देवोपासकाश्च, तत्प्रवणा इति, कालाधीनाः, ओदनभूता इति, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन' इतिश्रुत्युक्ताः, मुखमिति, भक्ष्ये द्वारमुक्तत्वृतीयस्कन्धवाक्यात्, सोपीति, मृत्युरपि, व्यालत्वमुपपादयन्ति भयेत्यादि, विविधमालभनमर्थोस्मादिति क्षीरस्वामिभिर्निरुक्तत्वाद् योगेन भयहेतुवाचको व्यालशब्दः, तथापि मुखहेतुक एव 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे शठे श्वापदसिंहयो'रिति कोशे मुखवतामेवोक्तत्वात् तेषु योगरूढः, अन्यथा 'नदीप्रवाहपतद्भित्तिनिस्त्रिंशा'दावपि योगस्य तुल्यत्वात् तत्रापि प्रयोगः स्यात्, अतस्तस्मात् पलायनं मूषकस्येवेत्यर्थः, तदाहुर्यत्रेत्यादि, इत्युक्तमिति, तथा च देवत्वादावपि न निवर्तत एवेत्यर्थः, कुतो नाध्यगच्छदित्यत आहुः शास्त्रेत्यादि, तथा च संवादाभावान्नाध्यगच्छदित्यर्थः, त्रिविधा इति, योगवेदोपासनाः, अवश्यभक्षकत्वे नेत्यत्र सप्तम्यनन्तरं नेति भिन्नं पदं, हिर्हेतौ, 'योसौ तपन्नुदेती'तिश्रुतिविचारे तथानिर्णयात्, तर्हि कथं भयनिवृत्तिरित्याकाङ्क्षायामुत्तरार्धं व्याकुर्वन्त्येवमित्यादि, तन्मध्य इति, त्रिविधयोर्द्वयोर्मध्ये, त्वत्पादाब्जमित्यत्र समासस्यार्थमाहुर्भगवत्सहितमिति, त्वया सहितमितिव्युत्पत्त्या तथार्थः स्फुरति, लोक एवेति, सप्तमी त्रितयापेक्षयेति, कुण्डलिनी वेददेवापेक्षया ते कालाधीना, इदं च तदतोतमिति, ततोतिशयः, स्वपदार्थमाहुर्मृत्यिवत्यादि, तर्हि मृत्युः स्वतः कुतो न प्रवर्तत इत्यत आहुर्मृत्युरित्यादि, एवं सर्वं व्याख्याय सिद्धमर्थं निगमयन्ति शास्त्रं त्वित्यादि, 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मे'तिश्रुतौ 'नास्य जरयैतज् जीर्यति न वधेनास्य हन्यत' इति तैत्तिरीये च 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येनात्म्येनिरुक्तेभयं प्रतिष्ठां विन्दतेथ सोभयं गत' इतिशास्त्रं प्रमाणं, संवादस्तु स्वस्यालौकिकभावसिद्धिः, युक्तिस्तु सर्वस्य वशी सर्वस्येशानो' 'भीषास्मा'दित्युपक्रम्य 'मृत्युर्धावति पञ्चम' इत्यादिश्रुत्युक्ता, कालनियन्ता च भगवानत एभ्यो हेतुभ्यस्तथेत्यर्थः, ननु लोके व्यभिचारो दृश्यत इत्यत आहुर्निःकपटतयेत्यादि, तथा च यथा प्रह्लादस्य तथास्यापि प्रवृत्तिश्चेत् स्यात् तदा न व्यभिचार इत्यर्थः ॥२७॥ स त्वं घोरादित्यत्र श्लोकत्रयोक्तानां चतसृणां प्रार्थनानां तात्पर्यं वदन्त्यत्रेत्यादि, एतेषु श्लोकेषु प्रथमे प्रार्थनाद्वयं तत्र प्रार्थनीयेत्यन्तेन प्रथमायास्तात्पर्यमुक्तम्, इदानीमित्यारभ्य प्रार्थनीयमित्यन्तेन द्वितीयस्याः, एवमित्यारभ्य युक्तैवेत्यन्तेन तत्रैव पक्षान्तरोपपादनेन युक्तत्वसमर्थनं, न स्यादिति, अस्माकमितिशेषः, मर्यादेति, पुत्रभावमर्यादा, एवं युक्तैवेत्यन्तेन प्रथमश्लोकतात्पर्यमुक्तं, एतदित्यादिना द्वितीयस्य, इदानीं मारणेत्यादिना तृतीयस्य ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नष्टे लोक इति, अध्यात्मन्येवेति, अधिक आत्माध्यात्मा तस्मिन्नित्यर्थः, तत्र लयेनुभवं प्रमाणयन्ति दृश्यते चेति, अन्यस्येति, स्वप्नद्रष्टुर्जीवस्येत्यर्थः, अत्र प्रलयेवधिर्न भवति किन्तु स्वप्नमात्र इत्यर्थः, ब्रह्माण्डस्थानां मुक्तिरिति, अधिकारिणां क्रममुक्तिं प्राप्तानां परान्तकालप्रारब्धानां चेतिशेषः, पूर्वपरार्धे सृष्टेरुत्तरोत्तरमभिवृद्धिरतोधिकारिणां बन्ध एवोत्तरायुषि सृष्टेरुत्तरोत्तरं ह्रासोतोधिकारिणामपि क्रमेण बन्धनिवृत्त्यन्ते मोक्षो 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मितिवाक्यादितिभावः, ब्रह्माण्डस्थानामित्युक्तेरधिकारिन्यायेन येषां येषां च क्रममुक्तौ ब्रह्मणः परान्तकाले प्रारब्धसमाप्त्या मोक्षः प्राप्तस्तत्रोन्तेन्येषां तु ज्ञानिनां भक्तानां च 'निशि नेति चेन् ने'तिसूत्रत्रयेण कालनियमाभावः प्रतिपादित एव ॥ २५ ॥ स त्वमित्यत्र रक्षाप्रार्थनायां हेतुः प्रथममुक्तः, रूपाप्रदर्शने हेतुमाहुरिदानीं वेति, पक्षान्तरेणेदं रूपमिति, कंसमारकं रूपमित्यर्थः, यद्यपि सर्वदैवंस्थितावेतद्दोषनिवृत्तिस्तथापि दोषान्तरं भवतीत्याहुस्तदेति, पूर्वोक्तपक्षेति, मारयित्वा गमने कंसपक्षपातिनोस्मान् मारयेयुरेवंरूपेण स्थितौ च द्वेषं कुर्यादित्युक्तानि दूषणानि भवेयुरित्यर्थः, तथा चेदानीं मारणे चेत्यनेन रक्षाप्रार्थनायामेव रक्षान्तरमुक्तमुपसंहारप्रार्थनायां तु पूर्वोक्तपक्ष एवानूदित इति ज्ञेयं, रूपं चेदमित्यस्याभासे स्थिताविति, अन्यत्रापि स्थितावित्यर्थः ॥ २८ ॥

बुभुत्सुबोधिका

नष्टे लोके इत्यत्र आध्यात्मिकं रूपमिति अध्यात्मनि भवमाध्यात्मिकम्। तत्र भव इति ठक्। लयम्। 'अशेषसंज्ञः' च। उपपादयन्ति आधिभौतिकस्येत्यादि। 'अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवती'ति श्रुत्युक्तस्यैव। 'अत्रे'ति स्वप्ने। तथा सुषुप्तिसाक्षिप्राज्ञस्यैव। मुक्तावप्यात्मा तस्यैव। तत्र लयेऽनुभवं प्रमाणयन्ति स्म दृश्यते चेत्यादि। अध्यात्मनीति अव्ययीभावभ्रमो न कर्तव्यः। सर्वस्य

लोकस्यात्मनि लयाभावात्। अतोधिक आत्माध्यात्मा तस्मिन्नित्यर्थः। स्वकारणे इत्यर्थः। एवकार आत्मसृष्टावप्येवमिति प्रकारान्तर-योगव्यवच्छेदकः। तस्यैवेति अभिमन्तुः। एवकार इन्द्रियादियोगं व्यवच्छिनत्ति। स्वप्नादाविति आदिना सुषुप्तिः। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेती'ति श्रुत्याध्यात्मिकस्याभिमन्तुर्ज्ञानस्य तमोरूपाज्ञानाभिभवेन लय उच्यते। सोप्यध्यात्मके। सुखमाधिदैविकमन्तर्यामिसुखे आधिभौतिके मिलितं सुखरूपमाध्यात्मिकमित्यर्थः। अयमिति 'अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवती'ति श्रुत्युक्त आध्यात्मिकः अयं प्रत्यक्षः। श्रुता'वत्रे'ति स्वप्ने। अयमात्माधिक इत्यर्थः। अन्यस्येति स्वप्नद्रष्टुर्जीवस्य। स लयेवधिर्न भवति किन्तु स्वप्नमात्र इत्यर्थः। लयावधित्वमिति लयाधिकरणत्वेपि 'जन्माद्यस्य यत' इत्यारम्भे व्याससूत्रे चेति लयावधित्वम्। पञ्चमीश्रवणात्। आहेति 'नष्टे लोक' इत्यनेनाहेत्यन्वयः। लोकस्य सविषयत्वाल्लोकशब्दस्यार्थद्वयमभिप्रेतमित्याहुः लोक इत्यादि। लोक्यतेनेनेति लोकः बाह्यप्रकाशः। लोक्यन्त इति लोका इति कर्मव्युत्पत्तौ ते चतुर्दश। सर्वनाश इति न तु यस्य कस्यचित् स्वाप्निकः। परार्धद्वय इति द्वे परार्धे द्विपरार्धं द्विगुः। लोक इति ब्रह्मकार्ये। ब्रह्मण उत्तरेति एवकार इवार्थे। ब्रह्माण्डस्थानामिति पूर्वायुष्ये विषयासक्त्या बन्धः। पञ्चाशद्वर्षपर्यन्तम्। उत्तरोत्तरमभिवृद्धितः। उत्तरायुषि सृष्टेरुत्तरोत्तरं ह्रासोतोधिकारिणामपि क्रमेण बन्धनिवृत्त्या मोक्ष इति ज्ञापनार्थम्। प्रलय इति प्राकृतिकप्रलयः 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मिति विशिष्टजीवानाम्। प्रलय इति प्राकृतिकः। तत्त्वानीति ब्रह्माण्डकारणानि। तदैवेति एतेनावान्तरकल्पेषु त्रिलोक्या इव शतमहाकल्पेषु सप्तलोक्याः प्रलयः। चतुर्दश लोकाः सात्त्विकपक्षे। त्रिलोकीपक्षस्तामसः। सप्तलोकीपक्षो राजसः। शेषा तु ब्रह्माण्डरूपा भूस्तिष्ठती-त्यनुसन्धेयमिति ज्ञापितम्। तत्त्वानीति ब्रह्माण्डकारणानि। अग्र इति अत्रैवाग्रे। आदौ भूत इति अस्मिन् पक्षेऽहङ्कारो नायातीति मूलस्थे'गते'ष्विति पदेऽहङ्कारद्वारा गतेष्विति व्याख्यानं बोध्यम्। प्रकृतिमिति अव्यक्तम्। व्यक्ताव्यक्तेति महत्तत्त्वे प्रकृतिमित्यस्य स्थले व्यक्ताव्यक्तपदाभ्याम्। एतदिति एकस्यैव भगवतः स्थितिसंहारकाले वदन्ती देवकी व्याख्यायमानां प्रवेशक्रियां सूचयति। अक्षरादिति साक्षात्सृष्टिः क्रमसृष्टिः मुण्डकेऽक्षरात् सृष्टिः। 'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थः केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत्' इत्यादि श्रीभागवते। पुरुषोत्तमाभिन्न इति अत्र टिप्पणी। अक्षरस्य रूपद्वयं वस्तुन एव तथात्वात् जातिव्यक्तिभेदेन। जातिश्चरणौ वाक्यपदीये जातेरात्मत्वोक्तेः। जातिगुणयोरक्षराक्षरत्वयोर्भेदः स्पष्ट एवं स्पष्टार्थो। इदं द्वयम् आभासोक्तमध्यात्मरूप-द्वयम्। तेना'दृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते'रित्यधिकरणेऽक्षराभिन्नपुरुषोत्तम उक्तः, स चरणरूपाक्षराभिन्न इति ज्ञेयम्। स्वरूपाणीति 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति महानारायणोक्तानि। आधीति तमः परत्वलिङ्गात्। तन्निवृत्त्यर्थं लय-निवृत्त्यर्थम्। संज्ञा इति 'श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दो नित्यलीलाविनोदकृत् सर्वागमविनोदी च लक्ष्मीशः पुरुषोत्तम' इत्यादिपुरुषोत्तमसहस्र-नामस्तोत्रोक्ताः। ब्रह्मविद्यात्वात् देवक्या अशेषपदे तात्पर्यमुक्तम्। तत्प्रसङ्गेन शेषपदच्छेदे त्वाहुः सर्वशब्देति। शेषाशेषादिशब्द-वाच्यः। शेषः शब्दः वेदेऽशेषोर्थो वेदान्ते ब्रह्मविद्यायाम्। वेदे। श्रुतिस्तु 'स शयानमसृजते'ति तृतीयाष्टके 'तस्मात् समानाः प्रजाः प्रजायन्त' इति श्रुतिश्च ॥ २५ ॥

योयं काल इत्यत्र अध्यात्मेति अधिक आत्मा। आधिभौतिकं रूपमिति रूप्यते व्यवह्रियते येनाधिभौतिकत्वेन तदाधि-भौतिकत्व रूपम्। आधिभौतिकभूत इति आधिभौतिकत्वजातिरूपात्मा। अयमिति प्रत्यक्षः आधिभौतिकानामाधिभौतिकः काल आधिभौतिको भगवान् जातिरूपः। तथात्वेत्यादि आधिभौतिकानामाधिभौतिकत्वज्ञापकम्। इदं पदोक्तप्रत्यक्षसमानाधिकरणः कालः आधिभौतिकः चेष्टा यस्य तत्सम्बन्धिनस्ते तव चेष्टामाहुरिति सम्बन्धः। कालरूप इत्यस्य चेष्टात्मकर्मपदार्थस्याभेदो यथा तथात्रै-वाग्रे वाच्यः। कालेति आधिभौतिकवच् चेष्टारूपो भगवानितो 'निमेषादिर्वत्सरान्त'स्तत्प्रेरितानि। चेष्टारूपकर्मपदार्थरूपत्वं प्रकाशा-श्रयन्यायेन। सामान्यत्वतलादिप्रतिपाद्यजातिरूपत्वं 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दिति छान्दोग्येन। 'योय'मित्याधिभौतिकः 'निमेषा-दिर्वत्सरान्तः'। तस्येति व्याख्येयम्। सर्वेषामित्याधिभौतिकानामित्यर्थः। मूलभूतस्येति आधिभौतिकस्य जातिरूपस्य तव 'चेष्टा-माहु'रित्यन्वयः। तत्र हेतुः स एवेति। 'प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षित' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात्। स एव भवानिति हेतोः। तत्रेति तादृशे विचारे मानमिति शब्दरूपं मानम्। 'तं चेष्टामाहु'रिति मूले योजना। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। चेष्टासत्त्वमुपपादयन्ति स्म न हीत्यादि। अस्तिभातिप्रियत्ववत्। समन्वयाधिकरणे स्पष्टम्। 'आहु'रित्यन्यमुखेनास्वरसेन चेष्टायाः कालत्वमुक्तम्। 'चेष्टते येन विश्व'मित्यनेन स्वमतमित्याशयेनाहुः कालवशाच्चेति। चकारः 'आहु'रित्युक्तमभेदपक्षमाह। चेष्टायाः कालत्वे 'आहु'रिति यन् मानमुक्तम्, तदस्वरसग्रस्तमिति द्वितीयं यत् तदुपपादयन्ति स्म काले कर्मेति। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्यत्र। अत इति यो यञ्जनकः स तदात्मक इति व्याप्तेः। प्रकृतीति वक्ष्यमाणैकादशवाक्योक्त-पक्षे। द्वितीयस्कन्धे तु 'ह्यात्ममायामृत' इत्यत्र मायाद्वारा कार्यपक्षस्तस्मिन्। सर्वकार्यकर्तेति तस्य सम्बोधनं 'अव्यक्तबन्धा'विति। प्राकृतेति 'प्रकृतिर्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः सतोभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वह'मित्येकादशस्कन्धवाक्यादित्यर्थः। अत्र कालः सतोभिव्यञ्जकः। द्वितीयपक्षे चेष्टा कालस्तज्जनको वा। देहरूपस्य कालस्य चेष्टात्मकस्वरूपभूतकर्मरूपस्य च व्यवस्थामाहुः आधिदैविककालस्येति। भगवद्रूपत्वं शब्दार्थयोरभेदात् साधनप्रकरणे कर्मेश्वरवादाच्च। तद्व्यावृत्त्यर्थमिति 'अय'मिति मूलपद-विरोधात् तद्व्यावृत्त्यर्थम्। ततोप्याहेति ततोप्यधिकमाह। एवमिति संवत्सरतो महीयान्। अवशिष्यत इति काल इत्यन्वयः। आधिदैविकः कालः। प्रपद्य इति प्रपत्तिः शरणमार्गः। अनेनेति चेष्टाकालरूपत्वादिना। प्रमाणमिति 'आहु'रित्यादिशब्दात्मकम्। स

ईदृश एवेति शरणागतेरप्रयोजकत्वनिवर्तकः परिदृश्यमान एव। देवक्युदाहरणमत्रेत्याहुः ऐश्वर्यमित्यादि। आधाररूपधर्मस्येति आधारभूतस्य धर्मरूपस्य सत्त्वस्य। क्षेमधामेति लिङ्गव्यत्ययः। सत्त्वस्य नपुंसकत्वादिति भावः॥ २६॥

मर्त्य इत्यत्र रूपत्रयं प्रपत्तिं चेति उक्तश्लोकचतुष्टयार्थाः। प्रकृतेति स्तुत्युपयोगित्वाय। हेतुमिति प्रपत्तिहेतुभूतं भयम्। अतीन्द्रिय इति 'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृत्त' इत्युक्तः। प्रत्यक्षस्तु दत्तदिव्यचक्षुषा। प्रकृतिं समुत्पादितवान् 'सोनन्तोन्तकरः कालोनादिरादिकृ'दिति वाक्यात्। 'आदिः' प्रकृतिस्तस्याः कृत्। अयं कालो मृत्युभ्रातृरूपभयजनकत्वात् मृत्युप्रसङ्ग उक्तः। कालोयं मृत्युबालजनकत्वात् कुण्डलिनीरूपप्रकृतिसमुत्पादकत्वाच्च सङ्कर्षणः शेषः शब्दात्मा। अतोर्थाभेदात् सूरिरस्मान् न विरुद्धा। कालश्चेष्टा इतिपक्षे निर्धर्मकत्ववारकः वेदार्थ इति वेदार्थेनाभेदः। ननु न सङ्कर्षणस्य शेषत्वेन प्रतीतिः, किन्तु 'देवप्रवर'त्वेनेति चेत् तत्राहुः लौकिकास्त्विति। दत्तदिव्यदृष्टिरहिताः। अलौकिकमिति अतीन्द्रियं भयजनकं कालम्। तद्द्वारा प्रकृतिरूपकुण्डलिनी-द्वारा। लौकिकद्वारा वा। प्रतिपद्यन्ते जानन्ति। प्रतिकृत्या तादृशपदार्थान्तरप्रतिपत्तौ दृष्टान्तानाहुः यथा सिंहेत्यादिना। सिंहो हिंसकः। व्याघ्रो द्वीपीति भेदः। कालः स्वभक्ष्यमिति कालस्य सृष्टिकर्तृत्वं तृतीयस्कन्धे 'सोनन्तोन्तकरः कालोनादिरादिकृदव्ययः, जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तक' इत्यत्र। अयमर्थः। मर्त्यास्त्रिविधाः। असन्मृत्युर्बृहदारण्यकोक्ताधिदैविकः कामरूपत्वात्। असन् कामी। सदासक्त्यभावात् ते मर्त्याः। ज्ञानिनो ज्ञानिभक्ताश्च, तेत्र श्लोके। अत्यन्तविस्मृतिर्मृत्युराधिभौतिकः। अत्रानुभूयमानत्वात्, पाप्मा मृत्युराध्यात्मिकः। असदत्यन्तविस्मृतिरूपमृत्युभ्यां मिश्रः। स बृहदारण्यकोक्तोऽग्न्यादिचन्द्रान्तानाम्। द्वितीयस्त्वत्रत्य-मर्त्यानाम्। लौकिकभाषोक्तत्वादत्र। एतेन पूर्वश्लोकसङ्गतिरप्युक्ता। तत्र गमकमाहुः अत इत्यादि। मर्त्या इति मृत्यूपसेचनयुक्ता ब्रह्मक्षत्राः ते शीघ्रं भक्षणार्थं स्थापिताः उपसेचनयुक्तत्वाच्छीघ्रम्। शब्दसृष्टौ तदुपपादयन्ति स्म तस्येत्यादि। तस्येति कालात्मकस्य सर्पस्य। तदुद्बोधक इति कुण्डलिन्युद्बोधकः। तच्छरणमिति कुण्डलिनीशरणगतः यदा भवति तदा तया कुण्डलिन्या प्रार्थितो-तीन्द्रियः कालः शीघ्रं न भक्षयति। मृत्युभ्रातृभयप्रेषणेन मृत्युजनकं भक्षणं न करोति। स्वजन्यमृत्युरनुकूलो यतः अर्थसृष्टिः वैश्यशूद्रो सेवकावतः शीघ्रं नेत्युक्तम्। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनं मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स' इति श्रुतेः। तस्य चेति अतीन्द्रियस्य कालस्याधिक आत्मा वेदः। 'स एष जीवो विवरप्रसूति'रित्यत्र 'मनोमयो' वेदः। अन्तीन्द्रियः कालः। 'छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इत्यत्रोक्तार्थसंवलितः शब्दः। छिद्रवदाकाशधर्मः। तदुक्तेति 'अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य च लङ्घनादालस्या-दन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसती'ति निबन्धात्। अपिना कुण्डलिनीप्रार्थनया। यादृशमध्यात्मत्वं तदुक्त्वाधिभौतिकानाहुः अन्ये चेत्यादि। वेदोक्ता नित्यानित्यभिया नाधिभौतिकाः पुराणोक्तास्तु तथा। तस्याधिभौतिकरूपाणीति अतीन्द्रियकालस्य। जन्यमात्रस्य कालरूपशब्दोपाधित्वात्। विलम्बहेतव इति मन्त्रौषध्यादिभिः। त्रिविधा इति योगिनः कर्मठाः देवोपासकाश्च। धर्ममार्गेत्यादि यथासङ्ख्यम्। त्रितयमेकत्र वा। तत्प्रवणाः कालाधीनाः अपि सेवकाः 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्तावल्याः। द्वितीयान् मर्त्यानाहुः ये पुनरिति। लौकिका इति उक्तत्रितयभिन्नाः। शीघ्रमिति असमार्गवर्तिनां रक्षकाभावाच्छीघ्रम्। अमुमुक्षुत्वादेवकारः। ओदनभूता इति उक्तश्रुतेः। धर्मानिति काम्यान् उपवेदोक्तौषधिरूपानपीत्यर्थः। पलायनमिति काम्यधर्माचरणमन्याश्रयरूपम्। मुख्यार्थेन दृष्टान्तः। मूषकस्येवेति व्यालभीतस्य। पतितस्येति पलायनशून्यस्य। मृत्युः। मृत्युः कालस्य मुखम्। भक्षणे उपायः उपसेचनरूपः। सोपीति मृत्युरपि। व्यालत्वमुपपादयन्ति स्म भयेत्यादि। विविधमालमनर्थोऽस्मादिति क्षीरस्वामिना निरुक्तत्वाद् योगेन भयवाचको व्यालशब्दः। तथापि तात्पर्यवृत्त्या मुखं वक्त्रं तद्धेतुक एव। 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे शठे श्वापदसिंहयो'रिति विश्वे मुखवतामेवोक्तेः। तेषु योगरूढः। अन्यथा नदीप्रवाहपतद्भित्तिनिस्त्रिंशादावपि योगस्य तुल्यत्वात् तत्रापि प्रयोगः स्यात्। गच्छन्निति काम्यकर्माणि कुर्वन्। क्षुत्पिपासे असन्मृत्योर्घोरे तनू। जरावलीपलितादि, आदिना अपस्मृतिः। भयेन मृतस्य देवादि-देहप्राप्तौ भयं निवर्तत इत्याशङ्क्याहुः देवत्वेत्यादि। बहुकालः स्थितो धर्मो येषु तेषु। अभ्यासाद् भयं निवर्तते। लोकान् देहानपि। निर्भयमिति निर् इत्यस्याभावोर्थः। वेदेङ्गविकल्पात्। अत इति कार्यकारणमृत्यून् प्राप्य। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति प्रसिद्धेराहुः भयनिवर्तकेति। अभ्यासेन कुतो नाध्यगच्छदित्यत आहुः शास्त्रेत्यादि। शास्त्रं प्रश्नघटकेच्छाविषयोनुभवश्च जनकस्य। 'अभयं ह वै जनक प्राप्तोसी'ति श्रुतेः काम्यकर्मभिर्नानुभवः, किन्तु तत् तत् फलम्। नित्यकर्मभिस्तु चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानेऽभयं भवति। एवं लौकिकसाधारणविषये उक्त्वा उक्तत्रिविधविषय आहुः येपीति। पूर्वमिति अत्रैव पूर्वमुक्ताः। कालाधीना इति योगिनः समाधिकालाधीनाः। कर्मठा दर्शपूर्णमासादिकालाधीनाः। देवोपासकाः प्रातरादिकालाधीनाः। अवश्यभक्षकत्व इति सप्तम्यन्तम्। भगवतोवश्यभक्षकत्वनिमित्तं सामर्थ्ययुक्ता न भवन्तीत्यर्थः। काले प्राप्ते तु भवन्ति। तत्र हेतुः प्रार्थनेति। कुण्डलिनीकृता। दुर्बला ईश्वरस्य स्वातन्त्र्यात्। तर्हि कथं भयनिवृत्तिरित्याकाङ्क्षायामयमर्थ इत्याद्युक्तप्रथमपद्येणोत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति स्म एवमित्यादि। भगवच्चरणप्राप्तिरिति छान्दोग्ये 'उपरि उपरि सञ्चरन्तो न विन्दन्ति ब्रह्मे'त्युक्तं परितुष्टस्तु प्रतिबन्धनिवारणे प्रेरकः स्वचरण-प्राप्तिकरो भवतीत्युक्तं सुबोधिन्याम्। अक्षरस्य चरणत्वे एकत्वं व्यापकत्वं च स्यात्, तद्वारणायाहुः सत्सङ्ग इत्यादि। शब्दार्थौ। पुष्टिमार्गस्य मुख्यत्वात् सत्सङ्गरूपोर्थ उक्तः अर्थविशिष्टः शब्द एको व्यापकश्च। सत्सङ्गो भगवत्प्रापकश्चरणश्चेति सत्सङ्गस्य। सत्सङ्गत्वेन रूपेणाक्षरप्राप्तौ भगवत्प्राप्तिः अक्षरत्वेनाक्षरप्राप्तिरक्षरैक्यम्। भागवतं भगवत्प्रापकं प्रसिद्धम्। सत्सङ्गवाचकमपि। अक्षरं सर्वं यद्यपि तथापि प्रकृतोपयोगि चरणरूपं यत् तद् गृहीतम्। आध्यात्मिकमिति ज्ञानभक्ती भगवद्धर्मौ सत्सङ्गे भागवते च

मिलितौ आध्यात्मिकम्। चरणावेवेति ज्ञानभक्त्योराध्यात्मिकत्वोक्त्या ज्ञानभक्तिरूपौ धर्मौ चरणौ, चरणयोरिव भगवत्प्रापकत्वात्। प्रसन्नस्येति चरणविषयत्वार्थम्। तन्मध्य इति त्रिविधयोर्द्वयोः। षण्णां मध्ये द्वयोरन्यतरस्य प्राप्ताविति वा। पूर्वोक्तं स्फुटीकर्तुं'त्वत्पादाब्ज'मित्यत्र समासार्थमाहुः भगवत्सहितमिति। समासे न समासघटकानां शब्दानां पृथक्शक्तिः। समसनं समासस्तद्वैयर्थ्योपत्तेः। अतस्त्वया (भगवता) सहितमिति व्युत्पत्त्या विशेषणस्याक्षरव्यावर्तकत्वात् तथार्थः स्फुरति। भगवच्चरणारविन्दमिति 'त्वत्पादाब्ज'मित्यस्यार्थः। लोक एवेति सप्तम्यन्तं लोकपदम्। ज्ञापको भगवज्ज्ञापकः। शोभातिशयः चरणयोः। त्रितयेति कुण्डलिनीवेददेवापेक्षया। ते च कालाधीनाः अक्षरात्मानः, इदं च तदतीतमिति ततोतिशयः। स्वस्थपदार्थमाहुः मृत्वित्यादि। तर्हि मृत्युः स्वतः कुतो न प्रवर्तत इत्यत आहुः मृत्युरित्यादि। निवर्तत इति प्राप्तचरणान् मर्त्यात्। भगवच्चरणारविन्दमिति मृत्युत्रयप्रतियोगि। चिद्रूपत्वात्। निवर्तत इत्यनुक्त्वा'पैती'त्युक्तं तत्स्वरूपमाहुः अस्मादित्यादि। असाध्यत्वं त्वक्षरब्रह्मत्वात्। अप आ एतीति छेदः। अन्यथा त्वपेतीति। युक्तमेवेति मृत्योरुपसेचनत्वाद् युक्तियुक्तम्। एवं सर्वं व्याख्याय सिद्धमर्थं निगमयन्ति स्म शास्त्रं स्वित्यादि। 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मे'ति श्रुतौ 'नास्य जरयैतज् जीर्यति न वधेनास्य हन्यत' इति। तैत्तिरीये च 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो' इति शास्त्रं प्रमाणम्। संवादस्तु स्वस्यालौकिकभावसिद्धिः। युक्तिस्तु 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति। 'भीषास्माद् वातः पवत' इत्युपक्रम्य'मृत्युर्धावति पञ्चम' इतिश्रुत्युक्ता। कालनियन्ता च भगवान्। अत एभ्यः हेतुभ्यः अनुभवादिः। अत्रैवेति साङ्ख्यवेदान्ते। पूर्ववदिति वसुदेवाक्तवैदिकमार्गवत्। शङ्केति विदितत्वादिनाऽब्रह्मत्वशङ्कावन्न शङ्क्येत्यर्थः। ननु लोके व्यभिचारो दृश्यत इत्यत आहुः निःकपटेत्यादि। 'दासवद् यदमायये'त्येकादशस्कन्धात्। 'माया' कापट्यम्। तथा च यथा प्रह्लादस्य तथान्यस्यापि प्रवृत्तिश्चेत् तदा न व्यभिचार इत्यर्थः। अब्रह्मविदितत्वाद् घटवदित्र शङ्का वसुदेवस्य ब्रह्मत्वे भवेत्। अत्र तु 'रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्य'मित्यत्र श्लोकेन्यमुखेन सर्वैर्विदितेपि साक्षादविदितत्वात्। 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतेः। तथा च ब्रह्मविदितत्वेपि साक्षादविदितत्वादक्षरवदित्यत्र न व्यभिचारः साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपः। अब्रह्मविदितत्वादित्यत्र घटे व्यभिचाराभावेपि नृसिंहादौ व्यभिचारात्॥ २७॥

स त्वं घोरादित्यत्र हेतुमिति भयम्। त्रयमिति उग्रसेनात्मजात् पालनं, जन्माज्ञानं, रूपोपसंहारं च। वसुदेववेदस्य गतभीत्वाद् देवक्या ब्रह्मविद्यात्वात् कंसस्य कनिष्ठत्वाद् भयाभावेऽविद्यया विद्यानाशे भयसम्भावनयाहुः अत्रेति। अत्र श्लोके। भयावसरे। तत्र प्रथमे 'प्रार्थनीये'त्यन्तेन रक्षाप्रार्थनतात्पर्यमुक्तम्। तत्र ज्ञानदापनयोरिति आकाशवाणीवाक्यान् मारकत्वेनाष्टमगर्भज्ञानम्। 'तथेति सुतमादाये'ति दापनं तयोर्नियोगादवधारणात्। एतत् कंसस्य। श्लोकोत्तरार्धीयप्रार्थनातात्पर्यमाहुः इदानीं वेति। इदं रूपमिति कंसमारकं रूपम्। प्रार्थनीयमिति 'कृपोष्ठा' इति लिङंतमिति तथा माङ्योगे छान्दसम्। एवमित्यारभ्य युक्तेवेत्यन्तेन तत्रैव पक्षान्तरोपपादनेन युक्तत्वसमर्थनम्। एवं रूपेणेति दृश्यादृश्यरूपेण। अत्रैव काराग्रह एव। यद्यपि सर्वदैवममारयित्वा स्थितौ कंसकंसपक्षपातिकृतमारणदोषनिवृत्तिस्तथापि दोषान्तरं भवतीत्याहुस्तदेति। भक्तिरसेति 'पुत्रभावेन' भक्तिरसानुभवः। मर्यादेति अलौकिकत्वेपि द्विभुजत्वमर्यादा कपिलदेवादौ दृष्टेति तथा। द्वितीयश्लोकीयप्रार्थनातात्पर्यमाहुः एतदित्यादि। एतेषां पूर्वोक्तानां सर्वेषां दोषाणां इदानीमेवान्त इत्याद्युक्तानां कंसकंसपक्षपातिप्राकृतलोकास्मदादिनिष्ठानां मारणद्वेषशीघ्रमुक्तिभक्तिरसाननुभवानाम्। प्रार्थनेति 'मा विद्या'दिति प्रार्थना। 'ननु 'त्रयं प्रार्थयती'त्युक्तम्। चतुर्थीप्रार्थनोपसंहारविषयिणी कुत इत्यतः 'शङ्खचक्रे'त्यादिविशेषणात् इदानीं मारणे वेति पक्षान्तरे प्रार्थनानुवाद इत्येवमुप संहारस्य प्राथ्यर्त्वं समर्थयन्ति स्म इदानीमित्यादि। स्वजीवनार्थमिति कंसपक्षपातिभ्यः। अत्र टिप्पणी। अस्मिन्निति अनुवादपक्षे। तत्कृत्वेति 'उपसंहरे'तिश्लोकोक्तं रूपोपसंहरणं द्वेषाभावादिभिः कृत्वेत्यर्थः। सुबोधिन्याम्। पूर्वोक्तपक्षेति अलौकिकं दृष्ट्वेत्याद्युक्तपक्षसम्भवात्। प्रार्थ्य इति अनुवादत्वेपि प्रार्थ्यः। प्रसङ्गादाहुः भगिनीपतिरिति। पक्षपातिभिर्न मारयेत। प्रार्थनीयेति अग्रेतनग्रन्थाभासः। पूर्वोक्तेति विरुद्धधर्माश्रयत्वादिति भावः। त्रैङ् पालने। भ्वादिः आ अनिट्। त्रायस्वेति प्राप्त आहुः उभयपदीति। प्रचुरेति उत्तरार्ध इदं द्रष्टव्यम्। इयं फक्किकाऽनिविष्टापि। नन्वित्यादि भगवदधिष्ठानत्वेन 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति वाक्यार्थज्ञानेन पर्यवसाने बाधस्य मारणस्याभावात्। प्राथ्र्यत इति ज्ञानदापनयोर्नियोगे आकाशवाणीप्रामाण्याद् दापननियोगाभावात्। सङ्कल्प इति 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'ति वाक्यात्। स्थिताविति अन्यत्रापि कंसममारयित्वा स्थितौ। अयुक्तमिति'कदाचिच्च चतुर्भुज' इति श्रुतिविरोधादयुक्तम्। सर्वमिति श्रुतिविरोधाभावः मुक्तिश्च अन्यदपि। इत्यनेनेति छान्दसप्रयोगेण। चकारात् स्वरेण। 'मांसदृशा'मित्यस्य विग्रहमाहुः मांसमेव पश्यन्तीति। पश्यन्तीति दृशः मांसस्य दृशः मांसदृशः। विहितमित्यादि 'कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतमिति विहितम्। 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यत' इति मांसदर्शनं निषिद्धम्। उक्तसमुच्चयेति उक्ततात्पर्यसमुच्चयार्थः। आद्य उक्तान्तेर्थी चकारः सर्वतात्पर्यसङ्ग्रहार्थम्॥२८॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

एवमाधिदैविकरूपं निरूप्याध्यात्मिकं रूपं निरूपयति 'नष्टे लोक इति'—इस प्रकार आधिदैविक स्वरूप का निरूपण कर 'नष्टे लोके' आदि श्लोक से आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करती हैं, समस्त आधिभौतिक पदार्थ का लय अध्यात्म में ही है क्योंकि 'अधिक आत्मा' 'अध्यात्मा', इस व्युत्पत्ति से सर्वाधिक आत्मा ही सर्व तत्त्वों का लयस्थान

होने से आत्मारूप से प्रतिपादित हुआ है, स्वप्न आदि में देखा जाता है कि बाह्य वस्तु के सर्वथा प्रकाश न रहने पर भी आन्तरिक प्रकाश होता है, उक्त कारण से यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह भगवान् आत्मा है, प्रलय काल में अन्य कोई स्वप्न का द्रष्टा जीव लय का अवधि नहीं होता, वह तो स्वप्नावस्था में ही उस प्रकार का हो सकता है इस कारण भगवान् को ही लय का अवधि बतलाया है कि लोक के नष्ट हो जाने पर आप ही शेष रहते हैं 'लोक' शब्द से 'प्रकाश' तथा चतुर्दशभुवन' दोनों ही का ग्रहण अभीष्ट है, सर्व नाश एक किसी निश्चित काल में होता है ऐसा बतलाने को **'द्विपरार्धावसाने'** कहा है, ब्रह्मा के आयु को 'पर' शब्द से कहते हैं, उस आयु के अर्ध भाग को परार्ध कहते हैं, दो परार्धों के समाप्त होने पर ब्रह्मा की समाप्ति हो जाती है, ब्रह्मा के आयु का अर्ध व्यवहार अर्थात् पूर्वार्ध और परार्ध इस प्रकार का विभाग लोक में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था के सूचनार्थ ही प्रचलित हुआ है, कि जिससे लोगों को ज्ञात हो जावे कि ब्रह्मा के आयु के उत्तरार्ध में ही ब्रह्माण्डवर्ती जीवों की मुक्ति होती है, द्विपरार्ध के भी अवसान अर्थात् समाप्ति होने पर ही ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, ब्रह्माण्ड का प्रलय तो तब ही होता है परन्तु उस समय तत्त्व रह जाते हैं, उनके प्रलय को भी कहती है कि पृथ्वी आदि महाभूत अहङ्कार को जो कि सर्व भूतों का आदि भूत है उसे प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उसमें लीन हो जाते हैं, आदि भूत शब्द से अहङ्कार कहा जाता है, आगे महत्तत्व का लय प्रकृति में होता है ऐसा कहेंगे अतः अहङ्कार भी महत्तत्व में लीन हो जाता है यह सूचना मिलती है, आदि भूत शब्द से अहङ्कार का ग्रहण **'भूतानामादिभूतः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार पृथ्वी आदि भूतों के प्रथमवर्ती होकर उनको उत्पन्न करने से उचित ही है, **'यदि आदौ भूतो जातः'** इस प्रकार व्युत्पत्ति अभीष्ट है तो 'महत्तत्व' का ग्रहण 'आदिभूत' शब्द से सम्भावित है, 'व्यक्त' महत्तत्व के 'अव्यक्त' प्रकृति को प्राप्त कर लेने पर भगवान हो शेष रहते हैं, यहाँ 'व्यक्त' 'अव्यक्त इन पदों द्वारा श्री देवकी यह सूचना देती हैं कि जब यह मान्यता है कि अक्षर ब्रह्म से प्रकृति और पुरुष का विभाग हुआ है तो उस पक्ष में प्रकृति और पुरुष का भी अक्षर ब्रह्म में लय होता है, 'व्यक्त' शब्द से प्रकृति और पुरुष भी संगृहीत होते हैं, और 'अव्यक्त' शब्द से अक्षर ब्रह्म का संग्रह अभीष्ट है, काल आदि तो अव्यक्त ही हैं, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है सब ही 'व्यक्त' प्रकट हुए पदार्थ 'अव्यक्त' अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, प्रवेश कर जाते हैं, उस प्रवेश में कारण काल का वेग ही है, जब भगवान् सर्व जगत् को समाप्त करना चाहते हैं तो उस कार्य के लिये उनका अधिकारी काल तीव्र वेग धारण करता है, और वह स्वयं काल भी अक्षर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, अक्षर ब्रह्म का लय परब्रह्मपुरुषोत्तम में होता है अथवा उनके चरण रूप होने से उनके स्वरूप से पृथक् न रहकर उनके चरण में ही प्रवेश कर जाता है, उस समय केवल भगवान् ही आप शेष रहते हैं, उक्त अवस्था में भगवान् जो आधिदैविक स्वरूप हैं उनका लय भी हो जाता होगा इस आशङ्का के निवारणार्थ **'अशेषसंज्ञः'** पद का प्रयोग किया है कि आपकी तो सब ही संज्ञा यथावत् रहती हैं, आप तो अपने वाचक अशेष शब्दों से वाच्य बने रहते हैं, अनन्त शब्दों के द्वारा जिन जिन अनन्त रूपों का बोध होता है उन सर्व रूपों को लेकर आप एक मात्र अवशिष्ट रहते हैं, इस प्रकार सब ही आधिभौतिकों के लय स्थान आध्यात्मा का प्रतिपादन किया है ॥ २५ ॥

आधिभौतिकं रूपमाह योऽयं काल इति । श्री देवकी उक्त श्लोक में भगवान् के आधिभौतिक रूप को कहती हैं, उनके आधिभौतिक होने का प्रकार यह है कि वह आधिभौतिक वर्ग में प्रवेश कर आधिभौतिक कहलाते हैं, जैसे वह चक्षु के चक्षु हैं, श्रोत्र के श्रोत्र हैं, वैसे ही आधिभौतिकों के आधिभौतिक हैं, न कि आधिभौतिक ही हैं, उक्त प्रकार से उनके आधिभौतिक हो जाने का ज्ञान कराने के लिये काल को उनकी चेष्टा बतलाया है कि यह जो काल है जिसके द्वारा सब ही आधिभौतिक वर्ग प्रेरणा प्राप्त करते हैं वह आपकी चेष्टा है, श्री देवकी का कहना है कि सब का निमित्त कारण जो यह काल है वह आप ही हैं क्योंकि सबके मूल कारण तो आप ही ठहरे अतः काल में प्रवेश कर उसे प्रेरणा शक्ति का लाभ कराने से काल भी आपका अन्यतम रूप है जैसा कि श्री कपिल देवजी ने देवहूति के प्रति कहा है कि **'प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ! चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः'** भा. तृ. स्कं॰ २६ अध्याय श्लो॰ १० हे मनुपुत्रि ! आप महात्मा मनु की पुत्री होने के कारण अलौकिक प्रकार को समझती हैं जब तक काल के द्वारा प्रकृति के गुणों में क्षोभ का उदय नहीं होता तब तक किसी भी प्रकार का विशेष (भेद) न होने से उन गुणों की साम्यावस्था निर्विशेष कहलाती है काल के द्वारा चेष्टा प्राप्त होने पर ही उन गुणों में क्षोभ होता है उनकी निष्क्रियता दूर होती है वह सक्रिय होकर परस्पर में एक दूसरे का अभिभव करते हैं एवं उत्तरोत्तर प्राकृत तत्त्वों का सर्जन करते हैं वह चेष्टा का हेतुकाल उपलक्षण रूप से भगवान् ही समझा जाता है वास्तव में तो वह काल आपकी चेष्टा ही है उक्त श्लोक में 'आहुः' इस क्रियापद से भगवान् की चेष्टा के काल रूप होने में प्रमाण की आकाङ्क्षा को शान्त करती हैं कि अलौकिक तत्त्व के यथार्थदर्शी महानुभावों ने भगवान् की चेष्टा को काल कहा है, भगवान् की चेष्टा के अस्तित्व में प्रमाण की आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिये अनुमान प्रमाण का उपन्यास करती कहती हैं कि **'चेष्टते येन विश्वम्'** जिस काल से समस्त विश्व चेष्टा युक्त हुआ हैं, विश्व का सचेष्ट होना ही भगवान् की सचेष्टता का साधक है क्योंकि

विश्व कार्य है भगवान् कारण है, कारण के धर्म ही कार्य में उपस्थित होते हैं, विश्व में चेष्टा प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है तो उसके कारण भगवान् में भी चेष्टा की सत्ता है भगवान् भी चेष्टावान है, यह सिद्ध हो जाता है, अनुभवियों ने चेष्टा को काल इसलिये कहा है कि समस्त चेष्टा काल ही के आधीन है और कालवश से ही चेष्टा होती है, चेष्टा का स्वरूप कर्म ही है, कर्म की उत्पत्ति काल से है क्योंकि उन उन कर्मों के लिये शास्त्र ने नियत काल का निर्देश किया, कि अमुक काल में अमुक कर्म कर्त्तव्य है अतः काल को कर्मों का कारण मानना आवश्यक है, जो जिसका कारण होता है वह उसका प्रकारान्तर से एक रूपान्तर है अतः कर्म या चेष्टा को काल बतलाना युक्तियुक्त ही है, काल भगवान् की चेष्टा का ही स्वरूप है, जिस पक्ष में प्रकृति को विश्व का कारण माना है अथवा प्रकृति के द्वारा विश्व की कार्य रचना होती है ऐसा स्वीकार किया है, उस पक्ष में काल की चेष्टा रूपता सिद्ध न हो पावेगी ऐसी आशङ्का कर 'अव्यक्तबन्धो ! इस सम्बोधन से समाधान करती हैं कि हे अव्यक्तबन्धो ! आप तो अव्यक्त (प्रकृति) के बन्धु (सहायक) है, बन्धु बन्धु की सहायता करता है आप प्रकृति के सर्व कार्यों को सिद्ध करते हैं, अतः प्रकृति सम्बन्ध से प्राकृत कार्य जगत् होता है इस पक्ष में भी प्रकृति के बन्धु भगवान् चेष्टा करते हो हैं, तो उस पक्ष में भी भगवान् का चेष्टा रूप काल सिद्ध होता है, आधिदैविक काल तो भगवद्रूप होता है अतः उसे चेष्टात्मक न समझ लिया जावे इसलिये आधिभौतिक काल के आकार को भी बतला देती हैं कि निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का जिसका विभाग है वह काल आपकी चेष्टा है, यद्यपि काल के अवयवों में सर्व प्रथम आदि अवयव परमाणु काल माना है परन्तु परमाणुकाल से लेकर लव पर्यन्त का काल अत्यन्त सूक्ष्म होने से व्यवहार में उपयुक्त नहीं अतः निमेष से ही प्रारम्भ मान कर उसका ही आदि रूप से ग्रहण किया है, वर्ष पर्यन्त का काल भी पूर्ण तो नहीं है चेष्टात्मक काल की समाप्ति तो वहाँ पर नहीं होती उसके एक अंश की समाप्ति ही वहाँ पर होती है, चेष्टात्मक काल तो उससे कहीं अधिक विशाल है, ब्रह्मा की आयु का अन्तिम भाग द्वितीय परार्ध जब समाप्त होता है तब उस काल का अन्त कहा जाता है, संवत्सर तो उसके मध्य में होता रहता है अतः वह तो मध्यम काल ही है इस मध्यम काल से उसकी महत्ता का बोध कराने को (**महीयान्**) शब्द प्रयुक्त किया है कि आपका चेष्टा रूप काल तो अत्यन्त महान है वत्सर पर्यन्त का कथन तो उसके अवान्तर भेद को लक्ष्य में रखकर कर दिया है, क्योंकि वत्सरों के द्वारा ही तो उसका परिणाम होता है, इस प्रकार काल जिसकी चेष्टा है, एवं सबके लय हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, तथा जो आधिदैविक परतत्त्व है सर्व कारणों का कारण है वह आप ही है, मैं उन्हीं आपकी शरणागत हूँ, इस प्रकार आधिदैविक आदि रूप त्रय का प्रतिपादन करने से एक आक्षेप का समाधान किया है कि, जो बालक एवं पुत्र है उसे शरण कैसे किया जावे, इस आक्षेप को अवकाश नहीं क्योंकि आप तो वह ही है जो पूर्व में बतलाये गये हैं, इस विषय में प्रमाण तो 'आहुः' 'अध्यात्मदीपः' विष्णु इन पदों द्वारा सूचित हो ही चुका है, इस प्रकार सर्व रूप होते हुए भी यदि रक्षा आदि धर्म को प्रकट नहीं करें तो शरणागति निष्प्रयोजन ही ठहरेगी अतः उसके निवारणार्थ कहती हैं कि ऐसा नहीं हो सकता आप '**ईशान**' हैं, समर्थ हैं जिसमें भगवान् के इतने धर्म प्रकट हैं वह ईश ही होता है, ऐश्वर्य विलम्ब का सहन नहीं करता शीघ्र ही शरणागत का त्राण करता है और उपेक्षा भी नहीं करता शरणागत की रक्षा ही करता है, ईश्वर यदि दैत्यों का पक्षपाती होवे तो भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता इस शङ्का के निवारणार्थ '**क्षेमधाम**' पद का प्रयोग है, क्षेम नामक विशुद्ध सत्त्व ही आपका धाम है अतः विशुद्ध सत्त्व में विराजने वाले आप भद्र पुरुषों का ही पक्षपात करेंगे दैत्यों का नहीं अतः कोई चिन्ता नहीं है, 'क्षेमधाम की उक्त व्याख्या के अनुसार '**क्षेमधामानम्**' ऐसा पुलिङ्ग का निर्देश उचित था परन्तु आधारभूत विशुद्ध सत्त्व रूप धर्म की प्रधानता को बतलाने के लिये यह लिङ्ग व्यत्यय हुआ है अर्थात् इस लिङ्ग परिवर्तन से विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता के साथ सत्पुरुषों की रक्षा सूचित होती है ॥ २६ ॥

एवं भगवतो रूपत्रयं प्रपत्तिं च निरूप्येति—इस प्रकार भगवान् के आधिदैविक आदि तीनों रूपों का तीन श्लोकों से निरूपण किया है और तृतीय श्लोक में शरणागति का भी निरूपण किया है, तदनन्तर उस शरणागति के प्रकृत में उपयोगी होने की सिद्धि करने के लिये श्री देवकी मर्त्य आदि श्लोक से शरणागति के हेतु भय का निरूपण करती है, काल अतीन्द्रिय है इन्द्रियों द्वारा वह नहीं जाना जाता अतः उसने अपने स्वरूप को लोगों के बुद्धिगम्य बनाने को सर्प प्रकट किया सर्प काल की प्रतिकृति है उसके समान आकार प्रकार वाला है, लौकिक प्राणी उस अलौकिक या अतीन्द्रिय काल की सर्प के द्वारा ही समझ पाते हैं, जैसे सिंह जैसे आकार का श्वान होता है, व्याघ्र एवं गवय जैसे आकार के बिडाल एवं गौ होते हैं, वह काल जिसे प्रकट करता है वह उसका भक्ष्य ही होता है अतः काल से रचे गये प्राणी 'मृत्यु' कहलाते हैं, उस काल की भार्या कुण्डिलिनी शक्ति है वह अपने भर्त्ता काल से परिचय करा देती है सब पुरुषों के देहों में उसका निवास है उस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करने वाला योग ही है, योगी उस कुण्डलिनी के ही शरणागत होता है, तब उस काल भार्या कुण्डलिनी की प्रार्थना के कारण योगी को काल शीघ्र भक्षण नहीं करता, और उस काल का आध्यात्मिक रूप वेद है अतः वेदोक्त कर्म से भी विलम्ब होता है, जो कर्म मार्गी वैदिक कर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, उपासकों का भी भक्षण करने में काल विलम्ब करता है।

फिर जो सर्व पूराणोक्त देवता है वे काल के आधिभौतिक रूप हैं वह भी विलम्ब के कारण हो जाते हैं, पुराणोक्त देवताओं के उपासक भी काल के शीघ्र भक्ष्य नहीं होते। यह योगी, कर्मी, और उपासक ये तीनों निरन्तर एक ही साधन में निष्ठापूर्वक तत्परता से लगे रहते हैं अतः इनके भक्षण में विलम्ब होता है।

ये पुनर्लौकिकाः साधारणाः शीघ्रं भक्षणार्थं—फिर जो साधारण प्राणी हैं जिनको काल ने अपने भक्षण के लिये ही रखा है जो पकाये हुए ओदन की भाँति सरलता से उसके गले में उतर जाने वाले हैं वह लोग यदि काल के उल्लङ्घन के लिये प्रयत्न करें तब काल के कार्य रोग आदि का अनुभव कर उस काल के निवारक रूप से सुने गये बहुत से धर्मों का आचरण करने का प्रयास करते हैं, वह उनका काल से बचने का प्रयत्न सर्प से डरे हुए एवं उसके आगे पड़े हुए मूषक के भागने के समान व्यर्थ है। मृत्यु काल का मुख है वह भी व्याल है यद्यपि कोष में सर्प, दुष्ट, हस्ती, शठपुरुष, एवं व्याघ्र सिंह आदि हिंसक पशुओं को ही व्याल शब्द से बोधित होने वाले कहा है फिर भी वह सब मुख के द्वारा ही भय के कारण हैं अतः काल के मुखरूप मृत्यु को मुख्य व्याल कह देना समुचित ही है, उस मृत्यु से डर कर भागना मूषक की भाँति ही सिद्ध होता है, जहाँ कहीं भी जाता है वहाँ भूख, प्यास, वृद्धता, शरीर की त्वचा का सिकुड़ना, बालों का श्वेत हो जाना आदि ऊँचे नीचे विविध प्रकार के काल धर्मों का अनुभव करता है, काल के कार्यों के देखने से भय बना ही रहता है उसकी निवृत्ति नहीं होती, बहुत काल तक स्थित रहने वाले देवत्व, मनुष्यत्व, वृक्षत्व, आदि धर्मों के प्राप्त होने पर भय की निवृत्ति होती होगी इस आशंका के निवारणार्थ कहा है कि 'सर्वांल्लोकान्' सब लोकों को दौड़ता हुआ भी निर्भयता को प्राप्त नहीं करता 'निर्भयम्' पद से भय का अभाव बोधित होता है अतः किसी भी उपाय से मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती यह अर्थ सिद्ध हुआ, अथवा 'निर्भयम्' पद का अर्थ है 'भय का निवर्तक स्थान' ऐसा कोई स्थान विशेष नहीं मिल पाता जहाँ मृत्यु का भय न हो, सब लोग दौड़ते रहने पर भी भय के निवारण करने वाले स्थान को नहीं पहुंच पाता।

शास्त्रानुभवयोः संवादे हि तत् निवर्तते—क्योंकि भयनिवारण तो शास्त्र और अपने अनुभव इन दोनों के परस्पर मिलन से ही हो सकता है, शास्त्र में जिसे निर्भय बतलाया हो और अपने अनुभव से भी वह निर्भय ही सिद्ध होता हो, जहाँ पहुंचकर किसी प्रकार के भय के उदय की हृदय में सम्भावना भी न हो, ऐसा स्थान शास्त्र एवं अनुभव के द्वारा अवगत नहीं होता, पूर्व में जिनकी चर्चा कर चुके हैं वह तीनों योग, कर्म और उपासना तो काल के आधीन ही हैं, अतः योगादि के साधन करने वालों को भी काल अवश्य भक्षण करता है, कुछ विलम्ब से भक्षण करे यह बात दूसरी है, परन्तु सर्वथा उनको छोड़ नहीं देता, अतः वह भय निवारण में समर्थ नहीं है।

प्रार्थना हि दुर्बला एवं शरणान्वेषणार्थं परिभ्रमणे क्रियमाणे—पूर्वोक्त कुण्डलिनी की प्रार्थना दुर्बल है वह भी काल से सर्वथा निवृत्ति नहीं करा सकती, इसलिये अपने रक्षक को ढूँढने को परिभ्रमण कर रहा है ऐसी स्थिति में सर्वत्र प्रवृत्ति कराने वाले कृपानिधि कृष्ण कदाचित् प्रसन्न हो जावें तब प्रभु श्रीचरणों की प्राप्ति होती है। 'सत्सङ्ग' और 'श्रीमद्भागवत'जी यह दोनों भगवान् के आधिभौतिक चरण युगल हैं। ज्ञान और भक्ति, यह दोनों श्रीकृष्णजी के आध्यात्मिक चरण युगल हैं और स्वयं प्रसन्न हुए भगवान् श्रीकृष्ण के साक्षात् चरण युगल आधिदैविक तो है हीं, उनमें से किसी एक की भी प्राप्ति हो जाने पर परम पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है ऐसा सूचित करने को 'त्वत्पादाब्जम्' यह एक वचन प्रयुक्त किया है। उक्त पद में भगवान् के साथ उनके चरण कमल की प्राप्ति की सूचना है क्योंकि समास के द्वारा उनकी मिलित रूप से उपस्थिति होती है, 'ते पादाब्जम्' इस प्रकार पृथक् पदों का उपन्यास न कर समास युक्त पद का प्रयोग भगवान् को लक्षित कर सत्संग, भागवतादि का सेवन कर्त्तव्य है, ऐसा सूचित करता है, भगवान् के साथ उनके किसी भी अन्यतम चरण कमल का लाभ होने से कृतार्थता हो जाती है, यह चरण कमल का लाभ किसी काल से सम्बन्धित नहीं है कि अमुक समय उसकी प्राप्ति के लिए नियत हो वह सर्वथा काल के आधीन नहीं वह तो भगवदिच्छा पर ही निर्भर है अतः भगवदिच्छा के बोधक 'यदृच्छया' पद का प्रयोग किया है, नियत हुए काल को यदृच्छा नहीं कह सकते आकस्मिक स्थल में ही यदृच्छा शब्द का प्रयोग होता है, अतः भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति भगवदाधीन ही है कालाधीन नहीं यह सिद्ध होता है, 'पादाब्जम्' शब्द से चरण को कमल बतलाया है, कमल जल में होता हुआ भी उससे अस्पृष्ट एवं अन्यान्य पुष्पों से अधिक शोभाशाली होता है प्रभु का चरण भी लोक में होते हुए अलौकिक तथा अपने स्वरूप का चमत्कार बतलाने वाला अतिशय शोभाशाली है ऐसा प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट है, भगवच्चरण की शोभा कुण्डलिनी, वेद, देव इन तीनों से कहीं अधिक यह तीनों काल के आधीन हैं—

भगवच्चरणकमल कालाधीन नहीं है परंतु कालातीत है, अधिक क्या कहा जाय काल भी भगवच्चरणाधीन है जो भक्तजन भगवच्चरण का आश्रय करता है उसको काल कवलित नहीं करता है ऐसा विश्वास अपेक्षित है। इस विश्वास के बल पर जब ही जीव प्रभु चरणों का आश्रय लेता है तब ही निश्चिंत बन जाता है इस अभिप्राय से श्लोक में 'अद्य' पद का प्रयोग किया है। यदि आज अभी चरण कमल की आकस्मिक प्राप्ति हो गई तब तत्काल ही वह जीव स्वस्थ होकर प्रभु के चरणों में

शयन करता है, और मृत्यु की निवृत्ति के निमित्त प्रयत्न नहीं करता। मृत्यु तो फिर अपने आप ही निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वह मृत्यु सोचता है कि इसके हृदय में भगवच्चरणारविन्द विराजमान हैं और भगवच्चरणों का आश्रय है अतः मेरा प्रभाव यहां न चलेगा, अतः इससे हट जाना ही उचित है ऐसा जानकर हट जाता है। उक्त विषय में यद्यपि शास्त्र प्रमाण हैं ही, परन्तु अलौकिक भाव की सिद्धि ही अपने अनुभव के साथ उन शास्त्रों का संवाद होना है, तात्पर्य यह है कि स्वानुभवैकवेद्य अलौकिक भाव के उदय होने पर ही शास्त्रप्रतिपादित भगवच्चरण की काल भय निवारकता प्रत्यक्ष हो जाती है। जब भक्त के हृदय में भगवान् के चरणों के प्रति अलौकिक भाव सिद्ध होता है तब स्वयं ही भक्तहृदय निर्भयता का अनुभव करता है। भगवान् काल के नियामक हैं उसे अपनी इच्छानुसार प्रेरणा देते हैं, उसका नियन्त्रण करते हैं अतः अनुभव, प्रमाण एवं युक्ति इसी पक्ष में हैं कि भगवच्चरण शरणागत जीव ही निर्भय होता है अतः योगादि मार्गों की भांति शरण मार्ग में कोई भी शङ्का का अवसर नहीं उसके लेश का भी अवकाश नहीं, निष्कपट भाव से शरण मार्ग में प्रवृत्ति हो जाने पर सर्वथा निर्भयता हो जाती है ऐसा सुदृढ सिद्धान्त है और अकाट्य नियम है। यह नियम कभी भी व्यभिचरित नहीं होता या भंग नहीं हो सकता ध्रुव, अम्बरीश, प्रह्लाद आदि भक्त उक्त सैद्धान्तिक नियम के उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित हैं॥ २७॥

एवं शरणागतौ हेतुनुपपाद्य त्रयं प्रार्थयति स त्वम् इत्यादिभिः त्रिभिः—श्रीदेवकी जी इस प्रकार शरणागति में कारण का उपपादन करके **स त्वं घोरात्** इत्यादि तीन श्लोकों से भगवान् के श्री चरणों में तीन प्रार्थनायें कर रही है कि भगवन् इस प्राकट्य प्रसङ्ग पर तीन संभावनायें घटित हैं।

(१) प्रथम सम्भावनाः—"भगवान् इदानीमेवान्तर्हितो भवेत्" "प्रथम पक्ष तो यह है भगवान् तो अभी तो अन्तर्हित-गुप्त हो जाय और वाद में अपनी इच्छानुसार अन्यत्र विराजमान होकर कंस का नाश करे" तब तो कंस आपके प्राकट्य की वार्ता सुनकर हम सबको मार सकता है कारण कि कंस जानता है कि इन वसुदेव देवकी को हमें मारने वाला अष्टम गर्भ है इस विषय का ज्ञान था और यही अष्टम गर्भ आया है इसलिये इन्होंने ही उसको अन्यत्र भेज दिया है इस प्रकार आपके विषय में हमारे "ज्ञान" और दापन-अन्यत्र प्रेषण के अपराध का वह कंस निर्णय करेगा और हमें मारे विना नहीं रहेगा ऐसी सम्भावना को लेकर अपनी रक्षा की आप को प्रार्थना करना उचित एवं आवश्यक है।

(२) द्वितीय सम्भावनाः—"इदानीं वा कंसं मारयेत् ततो गच्छेत्" अब दूसरी यह है कि यदि भगवान् इसी समय भगवान् कंस का वध कर देवें पुनः अन्यत्र विदाय हो जाय तब कंस का भय न रहेगा लेकिन कंस के पक्षपाती श्वशुर जरासंधादि वैरवृत्ति से हम सबको मार सकते हैं इसलिए इस चतुर्भुज स्वरूप को लोक में प्रख्यात न करें ऐसी भी अभ्यर्थना करना उचित हैं।

(३) तृतीय सम्भावनाः—"एतद्रूपेणात्रैव च स्थितिरपि संभवति" भगवान् क्या करेंगे वह तो कौन जाने लेकिन यह तीसरी भी सम्भावना है कि भगवान् कंस का अभी वधकर दें और यहाँ पर इस अलौकिक चतुर्भुज स्वरूप से विराजमान रहें तब भी इस दिव्यस्वरूप को देखकर हमारे असूयान्वित ज्ञातिजन सामान्यजन आसूयक स्वभाववाले दुष्टजन जिसका स्वभाव अपने पड़ोसी के और कुटुम्बी की समृद्धि को देखकर जलने का है वे लोग द्वेष भी कर सकते हैं। फिर दूसरी यह भी चिन्ता है कि आपके इस दिव्य स्वरूप के दर्शन से विना विलम्ब हमारी मुक्ति हो जाने की भी सम्भावना है तब तो महती हानि होगी क्योंकि हमें भक्ति रसानुभूति नहीं होगी साथ साथ पुत्रभाव का आस्वाद पुत्रभाव की मर्यादा भी नहीं रह पावेगी तब क्या लाभ ? इससे आपके इस दिव्य स्वरूप के अदर्शन की प्रार्थना उचित है।

भगवन् इन तीनों प्रकार की सम्भावना में आपका क्या आशय है यह कहना सुलभ नहीं लेकिन इन सब दोषों के निवारण के निमित्त इस अवसर कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हों यह अभ्यर्थना श्रीचरणों में है। अथवा श्रीदेवकी माता इस आशय से रक्षा का भगवान् को निवेदन कर रही है कि भगवन् यदि आप अभी कंस को मारे तब उस कंस को मारने के कारण उसके साथ आप के युद्ध होने के समय में मेरा जीवन नहीं रहेगा क्योंकि आप के अग्रज भाइयों के हत्यारे क्रूर कंस का भयानक दृश्य-स्वरूप को देखते ही मेरे प्राण निकल जायेंगे अतः रक्षा की प्रार्थना आवश्यक है। एवं रूप के उपसंहार या परिवर्तन की प्रार्थना इस दृष्टि से आवश्यक है कि यदि इस अद्भुत रूप को ही धारण किये रहेंगे तो पूर्वोक्त पक्षों का संभव है कंस को मारकर अन्यत्र पधारने में उसके पक्षपातियों से हमको आशङ्का रहेगी और यहाँ विराजने पर लोक प्रद्वेष की आपत्ति बनी रहेगी, अतः इस अलौकिक स्वरूप का उपसंहार भी प्रार्थनीय ही हैं। **कदाचित् भगिनीपतिश्चेति न मारयेत्**–बहन बहनोई का सम्बन्ध विचार कर कदाचित् कंस नहीं मारे ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है, क्योंकि **घोरात्** विशेषण से कंस की क्रूरता निश्चित की गई है। **"स त्वम्"** इन पदों द्वारा भगवान् के उस सामर्थ्य की सूचना है जिस सामर्थ्य से आप अपने भक्तों के सर्वविध प्रार्थनीय अभीष्ट पदार्थों को देते रहते हैं, पूर्व में जिन शरणागत वत्सलता आदि गुणों को कहा है आप उन समस्त गुण या धर्मों के आश्रय हैं। 'घोर' शब्द से कंस को निर्दय एवं भयानक हत्यारा कहा है, एवं उग्रसेन का आत्मज

शरीर से उत्पन्न हुआ सन्तान बतलाकर उसको अन्य उपायों से अवध्य सूचित किया है। वह विष आदि उपायों के द्वारा नहीं मारा जा सकेगा क्योंकि वह जिस उग्रसेन के शरीर से उत्पन्न हुआ है उसकी तो सेना ही 'उग्र' विष रूप है अतः विष का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता। कंस तो स्वयं ही घोर हालाहल विष है। श्रीदेवकी माता 'त्रस्तान्' पद के द्वारा अपनी भयभीत परिस्थिति का निदर्शन करती हैं कि हम लोग अत्यन्त उद्विग्न हैं हमारे पूर्व पुत्रों को मार कर कंस ने हमको अत्यन्त व्यथित कर दिया है उस कंस से हमारी रक्षा करो, 'त्राहि' यह पालनार्थक 'त्रैङ्' धातु का परस्मैपद प्रयोग पाणिनीय व्याकरण की रीति से यद्यपि सङ्गत नहीं, क्योंकि धातु पाठ में इसे आत्मनेपदी ही माना है, परन्तु स्तोत्रों में इसका परस्मैपद में प्रयोग अधिक प्रमाण में मिलता है अतः त्रैङ् धातु को उभयपदी मानना आवश्यक है, ऐसा निश्चय किया जाता है। **ननु पर्यवसाने बाधाभावादिदानीं मारणपक्षे किमिति**—यह शङ्का की जा सकती है कि कंस का अभी वध करने में परिणाम तो बाधा रहित ही रहेगा उसमें तो कोई आपत्ति आने की नहीं तो रक्षा की प्रार्थना की क्या आवश्यकता इसके समाधान के विषय में श्रीदेवकी कहती है कि आप तो अपने भृत्यगण हम सेवक लोगों के विविध प्रकार के त्रासों का विनाश करने वाले हैं। अतः परिणाम में बाधा न होने पर भी आरम्भ की पूर्वोक्त बाधा निवृत्ति के लिए रक्षा प्रार्थनीय है। 'असि' पद के द्वारा भगवान् की प्रतिज्ञा की सूचना है कि आपका तो यह प्रण है **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** भक्तों का दुःख निवारण करना आपका स्वभाव है जिस प्रकार 'गन्ध' पृथिवी का सहज गुण है उसी प्रकार भक्तों के दुःखों की निवृत्ति करना आपका सहज स्वभाव है। जिस प्रकार हम लोगों का रक्षण वर्तमान में कंस के न मारने से एवं अन्यत्र पधारने से करना आवश्यक है, उसी प्रकार यही स्थिति रखने में इस रूप का उपसंहार करना भी आवश्यक है, इस बात को माता देवकीजी **'रूपञ्चेदम्'** इस उत्तरार्ध से कहती हैं कि सर्वदा इस अलौकिक रूप से विराजना उचित नहीं इस रूप को लौकिक बाह्यदर्शी चर्मचक्षु लोगों के प्रत्यक्ष न कीजिये। इस स्वरूप के दर्शन के बिना किसी की मुक्ति न हो सकेगी इस आशङ्का के समाधान में कहती हैं कि यह रूप तो **'ध्यानधिष्ण्यं'** है ध्यान ही इसका स्थान है अतः ध्यान में ही इसका प्रकाश होना चाहिए बाहर नहीं, इससे सर्व व्यवस्था सुन्दर रहेगी, ध्यान से मुक्ति हो सकेगी। **'मा कृषीष्ठाः'** साधारण लोगों के प्रत्यक्ष न करिये ऐसा कहने से सूचित होता है कि यह स्वरूप स्वभावतः तो इन्द्रियगम्य नहीं अप्रत्यक्ष ही है परन्तु भगवदिच्छा से ही प्रत्यक्ष होता है, **'मांसदृशाम्'** पद से सूचित किया है कि यह मांसाहारी दैत्य सर्वत्र मांस को ही देखते हैं कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का विचार नहीं करते, 'रूपञ्च' यहाँ पर 'च' शब्द पूर्वोक्त रक्षा का समुच्चायक है अर्थात् देवकी को 'रक्षा' और रूप का 'अदर्शन' दोनों ही अपेक्षित है॥ २८॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं सर्वकारणत्वमुक्त्वा प्रलयावशिष्टत्वमाह—नष्ट इति। चतुर्मुखतन्मानेन वर्षशतात्मकमायुः परशब्दवाच्यार्थः, तस्यार्धं परार्धम्। कालवेगेन हेतुना द्विपरार्धस्य ब्रह्मायुषोऽवसाने समाप्तौ सत्यां लोके चतुर्दशभुवनात्मके नष्टे सति महाभूतेषु पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतेषु एतदिन्द्रियाणां देवतानां चोपलक्षणम्। आदिभूतं भूतानामादिमहङ्कारं गतेषु स्वस्वकारणपरम्परयाऽहङ्कारे लीनेषु सत्सु तस्मिन्नप्यहङ्कारे व्यक्तं महत्तत्त्वं याते इति शेषः। तस्मिन् व्यक्ते महत्तत्त्वेऽप्यव्यक्तं प्रधानं याते प्राप्ते तस्मिन्नपि प्रधाने त्वयि लीने सतीति शेषः। भवानेक एव शिष्यते। अतः शेषादेव शेषसंज्ञः शेषशब्दाभिधेयः॥ यद्वा अशेषसंज्ञः इति पदच्छेदः। अशेषात्मके प्रधाने प्रज्ञा 'एवं मयीदं सर्वं लीनमस्ति, पश्चादेवमुद्बोधनीयम्' इति प्रज्ञा यस्य सः॥ २५॥ कालवेगेन यातेत्युक्त्या कालस्यापि स्वातन्त्र्यप्रतीतेस्तस्यापि भगवत्पारतन्त्र्यं वदन्ती तं शरणं व्रजति—य इति। हे अव्यक्तबन्धो! अव्यक्तं प्रधानं तत्प्रवर्तकः योऽयमुत्पत्तिप्रलयादिहेतुः निमेषः आदिः सूक्ष्मावस्था यस्य सः वत्सरान्तः संवत्सरपर्यन्तस्थूलस्तदावृत्त्या च द्विपरार्धलक्षणो महीयान् कालः, येन कालेन सर्वमपि विश्वं चेष्टते विपरिवर्तते तं तस्योक्तस्य ते तव चेष्टां शक्तिविशेषमाहुः महान्तो वर्णयन्ति। यस्य चेष्टामाहुस्तमीशानं प्रकृतिकालादिनियन्तारमत एव क्षेमधाम अभयं स्थानं त्वा त्वां प्रपद्ये शरणं व्रजे॥ २६॥ क्षेमधाम त्वमेवेति स्पष्टयन्ती शरणागतेः फलमाह—मर्त्य इति। मर्त्यः मरणशीलः, इदं जन्मादीनामप्युपलक्षणम्। जन्ममरणादिसंसारी जनः मृत्युरेव व्यालः महासर्पः तस्माद्भीतः सर्वाँल्लोकान् पलायन् पलायमानः तत्तल्लोकं मृत्युभयरहितं श्रुत्वा तत्र लोकप्राप्तिसाधनान्यनुष्ठाय तं तं लोकं गच्छन्नपि निर्भयं स्थानं नाध्यगच्छत् न प्राप। हे आद्य! यदृच्छया केनापि सुकृतविशेषपरिपाकेन त्वत्कृपया त्वत्पादाब्जं सेव्यतया प्राप्य स्वस्थः निर्भय एव शेते तिष्ठति। तत्र हेतुमाह—अस्मात् प्राप्तत्वच्चरणकमलात् पुरुषात् मृत्युरपैति। निवर्तत इत्यर्थः। आद्येति सम्बोधनेन सर्वकारणत्वादिति हेतुः सूचितः। अब्जपदेनानन्दजनकत्वं च सूचितम्॥ २७॥ एवं मृत्युनिवारकत्वेन स्तुत्वा प्रस्तुतकार्यं विज्ञापयति—स इति। स उक्तविधः परमेश्वरस्त्वं घोरात् क्रूरस्वभावेन भयङ्करात् उग्रसेनात्मजात् कंसात् त्रस्तान् भीतान् नोऽस्मान् त्वत्सेवकान् त्राहि पाहि। ङित्त्वेऽप्ययं धातुरुभयपदी, बहुशः परस्मैपदप्रयोगदर्शनात्। पालने हेतुमाह—भृत्येति। यतो भृत्यानां विशिष्टं महान्तं त्रासं हन्तीति तथाभूतोऽसीत्यर्थः। किञ्चेदं रूपं मांसदृशां मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं त्वं मा कृषीष्ठाः मा कुर्थाः। तत्र हेतुमाह—ध्यानधिष्ण्यं मुमुक्षूणां ध्यानयोग्यमिति। तत्र हेतुमाह—पौरुषमिति। ऐश्वर्यमित्यर्थः॥ २८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

महाप्रलयेऽपि शिष्यमाणस्य तव कुतो भयमित्याह—नष्टे इति ।। कालवेगेन हेतुना द्विपरार्धस्य ब्रह्मायुषोऽवसाने समाप्तौ सत्यां लोके चतुर्दशभुवनात्मके नष्टे महाभूतेषु लीने सति तथा महाभूतेषु इन्द्रियदेवतासहितेषु आदिभूतं भूतसूक्ष्मं भूतानामादिमहङ्कारं वा गतेषु कारणपरम्परया लीनेषु तस्मिन्नपि व्यक्ते महत्तत्वे लीने महत्तत्वेऽपि अव्यक्तं प्रधानं याते प्रधाने लीने सति प्रधानेऽपि त्वयि लीने सतीति शेषः । अशेषे अशोषात्मके प्रधाने संज्ञा प्रज्ञा यस्य एवं मयि लीनमिदमस्ति । पश्चादेवमुद्बोधनीयमिति सोऽशेषसंज्ञ इति । यद्वा । शिष्यते इति शेषः अतः शेषसंज्ञः शेषशब्दाभिधेयः भवानेक एव शिष्यते ।। २५ ।। कालवेगेनेत्युक्त्या प्राप्तं कालस्वातन्त्र्यं वारयति । योऽयमिति ।। हे अव्यक्तस्य प्रधानस्य बन्धो प्रवर्त्तक ! योऽयमुत्पत्तिप्रलयादिहेतुः निमेषः आदिः सूक्ष्मावस्था यस्य सः वत्सरान्तः संवत्सरपर्यन्तःस्थूलस्तदावृत्त्या च द्विपरार्धलक्षणो महीयान् कालः येन कालेन सर्वमपि विश्वं चेष्टते विपरिवर्त्तते तस्य प्रलयावधिभूतस्य ते तव चेष्टां शक्तिविशेषमाहुः महान्तो वर्णयन्ति । तमीशानं प्रकृतिकालादिनियन्तारमत एव क्षेमधाम अभयस्थानं त्वा त्वां प्रपद्ये शरणं व्रजामि ।।२६।। मर्त्य इति ।। मर्त्यः मरणशीलः इदं जन्मादीनामप्युपलक्षणं जन्ममरणादिमान् संसारी जनः मृत्युरेव व्यालः महासर्पः तस्माद् भीतः सर्वान् लोकान् पलायन् पलायमानः । आर्षः शता । तत्तल्लोकं मृत्युभयरहितं श्रुत्वा तत्र लोकप्राप्तिसाधनान्यनुष्ठाय तं तं लोक गच्छन्नपि निर्भयं स्थानं नाध्यगच्छत् न प्राप । हे आद्य ! यदृच्छया केनापि सुकृतविशेषपरिपाकेन त्वत्कृपया त्वत्पादाब्जं सेव्यतया प्राप्य स्वस्थः निर्भय एव शेते तिष्ठति । तत्र हेतुमाह । अस्मात्प्राप्तत्वच्चरणकमलात् पुरुषात् मृत्युरपैति निवर्त्तत इति । यद्वा अद्याधुना त्वयि प्रादुर्भूते सति सर्वोऽपि स्वस्थः शेते शयिष्यते ।। २७ ।। स त्वमिति ।। स उक्तविधः परमेश्वरस्त्वं घोरात् क्रूरस्वभावत्वेन भयंकरात् उग्रसेनात्मजात् त्रस्तान्भीतान्नोऽस्मान् त्वत्सेवकान् त्राहि पाहि । परस्मैपदमार्षम् । "बहुलं छन्दसि" इति शब्लुक् आत्वम् । यतो भृत्यानां विशिष्टं महान्तं त्रासं हन्तीति तथाभूतोऽसीत्यर्थः । किंच पौरुषम् ऐश्वर ध्यानधिष्ण्यं मुमुक्षूणां ध्यानयोग्यमिदं रूपं मांसदृशां मांसचक्षुषामज्ञानां प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः । आशीर्लिङार्षः ।। २८ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पूर्वश्लोकोक्तमाद्यत्वं दर्शयितुमेव प्राकृतप्रलयावशिष्टं यद्वस्तु तत्त्वमेवेत्याह । नष्ट इति । वैराजब्रह्मणस्तन्मानेन वर्षशतात्मकमायुस्तस्य पूर्वपञ्चाशद्वर्षात्मकं पूर्वार्द्धमुच्यते, उत्तरपञ्चाशद्वर्षात्मकमुत्तरार्द्धमुच्यते, तत् द्वयं परार्द्धसंज्ञमप्युच्यते । द्विपरार्द्धावसाने द्वयोः परार्द्धयोरवसाने, लोके नष्टे, सर्वलोकाधारभूते वैराजब्रह्मणि लय प्राप्ते सतीत्यर्थः । कालवेगेन हेतुना, महाभूतेषु, स्वस्वकारणपरंपरयेति शेषः । आदिभूतमहंकारं गतेषु, त्रिविधाहंकारकार्यभूतस्तत्त्वगणः स्वकारणभूताहंकारे लीने सतीत्यर्थः । तस्मिन्नहंकारे इति शेषः । व्यक्ते स्वप्रकृतिभूते महत्तत्वे, लीने सतीति शेषः । तस्मिन्महत्तत्त्वात्मके व्यक्ते इति शेषः । अव्यक्तं याते, अव्यक्तशब्दाभिहितप्रधानपुरुषे लीने सतीत्यर्थः । अत्रानुक्तेऽपि प्रधानपुरुषवर्गे मूलप्रकृतिपुरुषयोर्लीने सति मूलप्रकृतिपुरुषाक्षरे लयं प्राप्ते सतीति बोध्यं, स्कान्दादौ तथाभिधानात् । अयमनयोर्लयः जललीनमत्स्यवद्वृक्षलीनपक्षिगणवद्दिवसलीननक्षत्रगणवद्बोध्यः । न तु जललीनलवणवत्, 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इति भगवद्वचने बाधापातात् । एवं सति, यः शिष्यते, सः एकः भवानेव, अतः शेषसंज्ञः शेषशब्दाभिधेयः, त्वं वर्त्तसे इति शेषः अत्र केचित्तु एकः मुक्तभावं प्राप्तेष्वनादिमुक्तेषु च मध्ये प्रधानः, 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च' इति 'एके मुख्यान्यकेवलाः' 'एकं संख्यान्तरे श्रेष्ठे' इत्यादिकोशेषु एकशब्दस्य श्रेष्ठत्वेनाभिधानात्, शेषः प्रलयकालत्वात् सर्गकर्मोपयुक्तेतरः, 'शेषोऽनन्ते वधे सीरिण्युपयुक्तेतरेऽपि च' इत्यनेकार्थसंग्रहहेमे उपयुक्तेतरत्वेन शेषशब्दार्थाभिधानात् सृष्टिकर्मोपयुक्तत्वतः पृथग्भावेन स्थित इत्यर्थः । इत्युक्त्वा 'यः स्वभक्तेभ्यो रमते स मे सर्वस्वम्' 'स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम' इत्यादिश्रुतिस्मृतीक्षया स न तदानीमेकलः, किं तु स्वभक्तैः सर्वदा क्रीडामाचरतीति वदन्ति ।। २५ ।। 'कालवेगेन याते' इत्यनेन प्रतीतं कालस्वातन्त्र्यमपि निवारयति । योऽयमिति। हे अव्यक्तबन्धो निरतिशयसूक्ष्मदशापन्नप्रधानबन्धो, निमेषादिः, वत्सरान्तः, महीयानतिमहान्, यः अयं कालः भवति, येन कालेन निमित्तेन भवान् विश्वं चेष्टते चेष्टयते, करोति सृजति अत्ति चेत्यर्थः । यद्वा, येन विश्वं चेष्टते, तं कालं, तस्योक्तविधस्य, ते तव चेष्टां, आहुः । ईशानं तस्य कालस्यापि नियन्तारं, क्षेमधाम क्षेमस्याप्याश्रयं, क्षेमंकरमित्यर्थः । त्वा त्वां, प्रपद्ये शरणं व्रजामि । हेतुगर्भमिदम् । क्षेमधामत्वात् प्रपद्ये इत्यर्थः ।। २६ ।। कीदृशं तत् क्षेमधाम त्वं यतो मां प्रपद्यसे इत्यत्राह । मर्त्य इति । मर्त्यः मरणशीलः, इदं जन्मनोऽप्युपलक्षणम् । एवं सति जन्ममरणादिरूपसंसृतिभाक् पुमान्, मृत्युव्यालभीतः जन्ममरणाद्यात्मकसंसाररूपाजगरग्रसनभययुक्त इत्यर्थः । मुमुक्षुः सन्निति भावः । सर्वान् लोकान् प्रति, पलायन् परस्मैपदमार्षम् । पलायमान इत्यर्थः । यद्वा सर्वान् लोक्यन्ते उपायत्वेनाध्यवस्यन्ते इति लोका उपायास्तान् अनुतिष्ठन्निति शेषः । अस्मिन् पक्षे सर्वान् लोकानिति शेषत्वेनोपादाय तदग्रे पलायन्निति योज्यम् । एवंभूतः सन्नपि, भयस्याभावो निर्भयं, अर्थाभावेऽव्ययीभावः । मृत्युव्यालजभयाभावमित्यर्थः । न अध्यगच्छत् न प्राप । मुक्तो न बभूवेत्यर्थः । हे आद्य सर्वकारणभूत, यदृच्छया यादृच्छिकसुकृतविशेषपरिपाकेनेत्यर्थः । त्वत्पादाब्जं त्वयीयाङ्घ्रिकमलं, प्राप्य उपायत्वेनोपलभ्य, शरणं प्रपद्येति भावः । स्वस्थः मृत्युव्यालजभयनिवृत्त्यर्थकर्त्तव्योपायान्तररहितः सन्नित्यर्थः । शेते । यावज्जीवं तु सुखं यथा तथा वर्त्तते,

ततः अस्मात् मृत्युः, अपैति अपगच्छति। संसारात् मुक्तो भवतीत्यर्थः। त्वत्पादाब्जशरणवरणमात्रेणैव निःश्रेयसप्रदस्य तव कियदेतल्लौकिकश्रेयःप्रदत्वमिति भावः ॥ २७ ॥ एवं स्तुतिं कृत्वा सांप्रतं स्वहृद्गतं विज्ञापयति। स त्वमिति। सः उक्तरीत्या सर्वथा क्षेमंकरः, त्वं, घोरात् द्रष्टुमप्यशक्यात्, उग्रसेनस्यात्मजः कंसस्तस्मात्, त्रस्तान् भीतान्, नोऽस्मान्, त्राहि त्रायस्व पाहीति यावत्। यतः त्वं भृत्यवित्रासहा स्वभृत्यभयापहर्त्ता, असि। पाठान्तरे यथार्थस्वभृत्यस्वरूपाभिज्ञः, त्रासहा यथार्थभृत्यानामेव त्रासनाशकश्चेत्यर्थः। पौरुषं पुरुषाकृतिपरमपुरुषासाधारणं परमपुरुषत्वसूचकं चेत्यर्थः। ध्यानधिष्ण्यं योगिनां ध्यानैकशुभाश्रयभूतं, इदं रूपं, त्वं, मांसदृशां चर्मचक्षुषां, प्रत्यक्षं, मा कृषीष्ठाः मा कार्षीः मा कृथा इति यावत् ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

द्विपरार्ध (ब्रह्मा की पूर्ण आयु) के समाप्ति काल में भुवनों के नाश हो जाने पर एवं प्रकाश के विलीन हो जाने पर पृथ्वी आदि महाभूतों के आदिभूत अहंकार में लीने हो जाने पर काल वेग से सब ही व्यक्त हुए महतत्त्व आदि पदार्थों के अव्यक्त (प्रकृति अथवा अक्षर ब्रह्म) में प्राप्त हो जाने पर अपनी अशेष संज्ञाओं को धारण किये हुए सर्व शब्दों के वाच्यार्थ आपही एक अवशिष्ट रहते हैं ॥ २५ ॥ हे अव्यक्तबन्धो ! प्रकृति के सहायक ! यह सम्पूर्ण विश्व जिससे चेष्टा प्राप्त कर रहा है वह जो यह काल है उसे आपकी चेष्टा बतलाते हैं, वह निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का है वर्षों से भी उसका अन्त नहीं वह अत्यन्त महान् है उस काल के स्वामी मङ्गलमय धाम विशुद्ध सत्त्व में विराजनेवाले सर्व समर्थ आपकी मैं शरणागत हूँ ॥ २६ ॥ मरणधर्मा मनुष्य मृत्युरूपी सर्प से डर रहा है, डर से भाग रहा है, ऊँचे नीचे लोकों में भटक रहा है कहीं भी निर्भयता या शान्ति इसे नहीं मिल पाती। अकस्मात् आज आपके चरणारविन्द को प्राप्त कर स्वस्थ होकर शान्ति से सोता है, और इससे मृत्यु भाग जाता है ॥२७॥ कृपानाथ वह आप हमारी उस भयानक उग्रसेन के आत्मज कंस से रक्षा करें हम उससे भयभीत हो रहे हैं, और आप भृत्यजन के भय का निवारण करने वाले हैं कृपया आप इस पुरुषोत्तम सम्बन्धी चतुर्भुज रूप को चर्म चक्षुओं के प्रत्यक्ष न करें आप का यह स्वरूप तो ध्यान का ही विषय है ॥ २८ ॥

जन्म ते[1] मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन। समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥ २९ ॥
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्। शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच[2]

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
[3]विभर्षि सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं [4]महत् ॥ ३१ ॥[5]
त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति। तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः— मधुसूदन असौः पापः मयि ते जन्म मा विद्यात्, अधीरधीः अहम् भवद्धेतोः कंसात् समुद्विजे ॥ २९ ॥ विश्वात्मन् अदः शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टम् चतुर्भुजम् अलौकिकम् रूपम् उपसंहर ॥ ३० ॥ निशान्ते यत् एतत् विश्वम् स्वतनौ यथा अवकाशं विभर्षि सः अयम् भवान् परः पुरुषः मम गर्भगः अभूत् अहो नृलोकस्य महद्विडम्बनम् ॥ ३१ ॥ हे सति पूर्वसर्गे स्वायंभुवे त्वम् एव पृश्निः अभूः अयं (वसुदेवः) तदा सुतपाः नाम अकल्मषः प्रजापतिः (आसीत्) ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

मा विद्यात् न जानातु। भवत एव हेतोर्निमित्तादहं कंसात्समुद्विजे बिभेमि यतोऽधीरचित्ता ॥ २९–३० ॥ किमित्युपसंहर्तव्यमेवंभूतेन मया पुत्रेण तव महती श्लाघा स्यादिति तत्राह। विश्वमिति। निशांते प्रलयावसाने। यथावकाशमसंकोचतः असंभावितत्वादुपहास्यतैव स्यादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ चतुर्भुजेन रूपेणाविर्भावे कारणं तावदाह त्वमेवेत्यादिचतुर्दशभिः। पूर्वसर्गे प्रथमजन्मनि। अभूः आसीः। पृश्निर्नाम। स्वायंभुवे मन्वंतरे। तदा अयं वसुदेवः ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

भवत एवेति। यदीश्वरं मां जानासि तर्हि किमर्थमुद्विजसे तत्राह—यतोऽधीरधीश्चलबुद्धिः अलौकिकं लोकेष्वविद्यमानं शंखादीनां श्रिया कांत्या जुष्टं सेवितं यतः। यद्वा—शंखादिभिः सहिता श्रीश्चिह्नरूपा रमा तया उपसंहर अंतर्द्धेहि। अत्र

१. जन्म मे—च. पु.। २. अन्यत्र श्रीभगवानुवाच पाठो न दृश्यते। ३. बिभर्ति—श्रीधर. वंशी. वीर. शुक. गिरि. मक्त.। ४. हि तत्—श्रीधर. वंशी. गिरि.; महत्—वीर. मक्त.; यदेतत्—इति कस्यचित्। ५. 'श्रीभगवानुवाच' पाठः श्रीधर.—वंशीधर.—मक्त.—पाठेषु दृश्यते।

विश्वनाथः—भो मातर्यदीदं रूपमंतर्धापयामि तदा कंस आगत्य गर्भस्ते क्व गत इति गर्भचौर्यापराधेन त्वामधिकं ताडयिष्यतीति चेत्तत्र मम का शंकेत्यत आह—ते जन्म मा जानातु। हे मधुसूदनेति। मधुं हतवतो मम कंसवधे कः प्रयास इति मामंस्थाः। तदानींतनान्मधोरप्ययमिदानींतनः कंसः कोटिगुणबलाधिक इति भावः। भवद्धेतोरिति मदपराधं प्रकल्प्य मत्ताडनादिकं कुर्याच्चेत्करोतु केवलं भवतः कल्याणमाशास इति भावः तर्हि 'रूपं यत्तत्' इत्यादिना मदैश्वर्यं वृथा—किमवादीः सत्यं पुत्र भवन्मातहमधीरधीरिति मातृवात्सल्येनैवेदं रूपमुपसंहरेति भावः ॥ २९-३० ॥ एतादृशं पुत्रं सर्वे वांछंति त्वं किमेवं वदसीत्याह—किमिति। एवंभूतेन शंखादिशोभितेन नृलोकस्य मनुष्यलोकस्य विडंबनमुपहास एवेत्यर्थः। इत्यर्थं इति। उचितेनैव श्लाघा न त्वसंभविनेति भावः ॥ ३१ ॥ तावदादौ चतुर्दशभिः 'त्वमेव—इत्यारभ्य 'मद्गतिं पराम्' इत्यंतैः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, मातस्तव किमर्थं भयं तथा ममाप्रत्यक्षतायां गर्भचौर्यापराधेन तस्मात् भयमेव स्यात् इत्याशङ्क्य यथार्थमेव निवेदयति—जन्मत इति। भवदर्थमेव बिभेमि नात्मार्थमिति यद्यपि मधुसूदनत्वेन त्वयि क्षुद्रादस्माद्भयं न सम्भवति तथाऽपि तत्र कारणमिदमेवेत्याह- अधीरधीरिति हठाद्धैर्यविलोपकेनानुकम्पोदयेनेत्यर्थः। अत्र कंसानामग्रहणमत्युत्कण्ठया ॥ २९ ॥ तत्रानुमति-माशंक्य पुनस्तदप्यसहमानाऽऽह-उपेति। शङ्खादिश्रिया सेवितं चत्वारो भुजा यत्र तादृशं यत् रूपम् आकारविशेषः तदेवोपसंहर गोपय रूपान्तरन्तु प्रकटयेत्यर्थः। तथा सति लोके कुत्रापि गोपयितुमशक्यस इति भावः। हे विश्वात्मन्निति युगपदनन्तरूपावकाश-त्वान्नात्र तवाशक्तिरिति भावः अतोऽधिकभुजद्वयं कौस्तुभादिकं च गोपयन् निगूढं लोकानुरूपमेव रूपं प्रकाशयेत्यर्थः। तथा सति लोके कुत्रापि गोपयितुं शक्यस इति भावः ॥ ३० ॥ नन्वधुना बन्धनात्तारयाम्येव त्वां मारयाम्येव तं तथेदृशेन मया पुत्रेण कीर्तिरेव भविष्यति मांसचक्षुषोऽपि च मत्कृतिमाप्स्यन्तीत्याशङ्क्य पुनर्वलाद्वर्द्धिष्णुना मातृभावेन तस्य तादृशशक्तेरप्रतीत्या व्याजान्तरेणापि तत्प्रार्थयते विश्वमिति। अत्र तेषामाभासेपि किमिति साटोपमेव वाक्यं ततश्च अधुना मारयाम्येवेत्येवौद्धत्येन ध्वनितं स्यात् एवमित्यर्थान्तरं विश्वम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकं निशा प्राकृतप्रलयरात्रिः तदन्ते तस्या नाशे सृष्टिस्थितिसमये परः पुरुषो महत्स्रष्टृरूपः सन् बिभर्षीति सोयमेव हि विश्वमन्तर्भावयन् स्वांशिनं तं प्रविश्याविर्भवतीत्यभिप्रायात् गर्भजो गर्भगश्चेति पाठ-द्वयम् ॥ ३१ ॥ एवं तयोरुक्तिभिरानन्दितो निजप्रसिद्धरूपाविर्भावकारणकथनादिना तौ प्रतिष्टुवन्निव परिसान्त्वयन् मातरि स्नेह-विशेषेण तां संबोध्याह-त्वमेवेत्यादिना। स्वायम्भुवे मन्वन्तरे सति वर्त्तमाने, यद्वा, हे सतीति पुनःपुनस्तस्यैव पत्नीतया पाति-व्रत्यनिष्ठाभिप्रायेण अकल्मषः रागद्वेषादिरहितः एवमन्योन्यं दाम्पत्ययोग्यतोक्ता ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु, मातस्ते गर्भो व्यक्त एवासीदतो जातः सन् पित्रा कुत्रापि नीत इति वितर्क्य कंसः प्रतिज्ञातपुत्रार्पणं तं किल पीडये-दित्याशंक्य प्रार्थयते—जन्मेति। कंसो मयि तव जन्म न जानातु। हे मधुनाम-महादैत्य-हन्तः! इत्थं यद्यपि त्वयि त्वदीयेष्वपि भयशंका नास्त्येव, तथाप्यहं भवदर्थं कंसान्महादुष्टात् सम्यगुच्चैर्विजे बिभेमि। कुतः? अधीरधीः स्नेहोद्रेकेण धैर्याभावा-दित्यर्थः ॥ २९ ॥ अतोऽद इदं रूपमाकारमुपसंहर संवृणु; यतोऽलौकिकं दिव्यम्। हे विश्वात्मन्निति रूपोपसंहारे सामर्थ्यं द्योतितम्। अलौकिकत्वमेव दर्शयति—शङ्खेति, शङ्खादीनां श्रिया शोभया, किंवा, शङ्खादिभिः श्रिया च वस्त्राभरणादिसम्पत्त्या जुष्टमलौकिकत्वमेवोपसंहर्त्तव्यमित्यर्थः। गूढोऽयं भावः—तथासति लोके कुत्रापि निह्नुत्य रक्षितुमपि शक्य इति। यद्वा, रूपा-प्रत्यक्षीकरणे हेतुमाह—जन्मेति। ततो मा विद्यादिति सम्भावनायां सप्तमी। तत् किमित्यत्राह—यतो भवतो भवज्जन्मन एव हेतोरहं समुद्विजे त्वज्जन्माज्ञानेन कंसोऽस्मान्न खलु पीडयिष्यतीति भावः। ननु, तर्ह्यन्तर्दधानि? नेत्याह—उपेति। अर्थः स एव ॥ ३० ॥ किञ्चास्मिन्नैश्वरे रूपे वृत्ते सति मनुष्याणां मादृशां त्वयि स्नेहोऽपि न सम्भवतीत्याह—विश्वमिति। तत् मद्गर्भ-जत्वमनुकरणमात्रम्, न तु तात्त्विकमिति ज्ञानादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं तयोरुक्तिभिरानन्दितो निजदिव्यरूपाविर्भावकारण-कथनादिना तौ प्रतिष्टुवन्निव परिसान्त्वयन् मातरि स्नेहविशेषेण तां सम्बोध्याह—त्वमेवेत्यादिना। स्वायम्भुवे मन्वन्तरे सति वर्त्तमाने; यद्वा, हे सतीति पुनः पुनस्तस्यैव पत्नीतया पातिव्रत्यनिष्ठाभिप्रायेणाकल्मषो रागद्वेषादि-रहिते दुर्वासनाहीनो वा। एवमन्योऽन्यं दाम्पत्ययोग्यतोक्ता ॥ ३२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

विडम्बनम् उपहासास्पदम् ॥ ३१ ॥ स्वायम्भुवो स्वायम्भूवमन्वन्तरे अभवः ॥ ३२-३८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे मधुसूदन ! अयं पापः कंसः मयि तव जन्म मा विद्यान्न जानातु तत्र हेतुमाह; भवद्धेतोः त्वद्रूपात्कारणात् भवदव-ताररूपात् निमित्तादिति यावत् कंसादहमधीरधीर्हेतुगर्भमिदं धैर्यरहितबुद्धित्वात्समुद्विजे बिमेमि ॥ २९ ॥ हे विश्वात्मन् ! अथो

अतः अद इति पाठे अदः एतच्छंखचक्रादिभिर्जुष्टं श्रीर्लक्ष्मीः शङ्खादीनां श्रिया शोभया जुष्टं वा चत्वारो भुजा यस्मिन् अत एवालौकिकं प्राकृतजनेष्वसंभावितं रूपमुपसंहर तिरोधापय ।। ३० ।। स्वनाभीकमलस्थाखिललोकमपरिच्छिन्नवैभवं श्रीभगवन्तं स्वगर्भे धृतवत्यस्मीति विस्मयते—विश्वमिति । निशा प्रलयः तस्या अन्तःसृष्टिदशा तदा स्वतनौ स्वतन्वेकदेशभूते नाभीकमले यः परमपुरुषो भवानिदं कृत्स्नं चिदचिदात्मकं विश्वं बिभर्ति सोऽयं भवान् मम गर्भगोऽभूदिति यत्तन्नृलोकस्य विडम्बनं तद्वदनुकरणमात्रः अहो अत्याश्चर्यमेतस्य भगवतो माहात्म्यमिति विस्मयः ।। ३१ ।। तदेवं पितृभ्यां संस्तुतः प्रार्थितश्च स्वासाधारणदिव्यमङ्गलविग्रहप्रदर्शननिमित्तं विवक्षुस्तदुपोद्घातरूपमितिहासमाह भगवान् त्वमित्यादिना एतद्वामित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । पूर्वसर्गे इतस्तृतीये जन्मनि स्वायम्भुवे मन्वन्तरे सति त्वमेव पृश्निर्नामयोषिदभूः तदा अयं तव भर्ता वसुदेवस्तु सुतपा नाम प्रजापतिरभूत् कथम्भूतः अकल्मषः विशुद्धः ।। ३२ ।।

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अप्रत्यक्षकरणे कारणमाह—जन्मेति । मा विद्यान्न जानातु समुद्विजे बिभेमि अधीरधीः चञ्चलबुद्धिः ।। २९-३० ।। हरेर्गर्भवादिदुःखाऽनुभवो नास्तीत्याशयेनाह—विश्वमिति । निशान्ते रात्रिमध्ये यथावकाशम् अवकाशमनतिक्रम्य यथा सादृश्य इति समासः ।।३१।। अहं युवयोस्तपःप्रभावादाविर्भावमकरवं न तु कर्माधीनत्वेनेति पूर्वजन्मसङ्कीर्णतपोमाहात्म्यं कथयति त्वमेवेति, अयं वसुदेवः ।। ३२ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

जन्मत इति । भवदर्थमेव बिभेमि नात्मार्थमिति यद्यपि मधुसूदनत्वेन क्षुद्रात्तस्मात्तव न भयं सम्भवेत् तथाप्यधीरधीत्वेनैव बिभेमीत्यर्थः । अतोऽधिकं भुजाद्वयं कौस्तुभादिकञ्च गोपयन् निगूढं लोकानुरूपमेवाकारं प्रकाशयेत्यर्थः । तथा सति लोके कुत्रापि गोपयितुमपि शक्येथामिति भावः । नन्वधुना मारयाम्येव तं तथेदृशेन मया पुत्रेण तव कीर्त्तिरेव भवेत् मांसदृशोऽपि च मत्कृतिसुखमाप्स्यन्तीत्याशङ्क्य तादृशस्नेहेनैव तस्य तादृशशक्तिमप्रतीयती व्याजान्तरेणापि तदेव प्रार्थयते ।। ३० ।। विश्वमिति । विश्वम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकं निशा प्रलयरात्रिः तदन्ते तदानीमेव तेषामभिव्यक्तेः परः पुरुषो महत्स्रष्टृरूपः सन् ।। ३१-३३ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

अत्र भक्तिगौरव एव इममर्थं पुनर्द्योतयति—उपसंहरेत्यादि । हे विश्वात्मन् ! अहो रूपमुपसंहर । कीदृशम् ? अलौकिकं चतुर्भुजम् । लौकिकद्विभुजमेव तव श्रीकृष्णस्य स्वरूपम्—'नराकृति परं ब्रह्म' (भा० ७।१०।४८,७।१५।७५) "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्", "परमात्मा नराकृतिः" इत्याद्योक्तेः, तदेव प्रकाशयेत्यर्थः । इदं तु पौरुषं रूपम्, तद्विशिनष्टि—शङ्खचक्रेत्यादि ।। ३०-३६ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

उपसंहरेत्यादि । उपसंहर तिरोभावय, अद इत्यस्यायं भावः—तथाविधेन तेजसा निमीलिताक्षी सर्वमिदमुक्तवती, अतो विप्रकृष्टमिव तद्रूपं तस्यासीत् , तेजसा मुषितचक्षुषा अद इति गदितम् , अदसो विप्रकृष्टवाचित्वात् अलौकिकं यथा स्यात्तथोपसंहर अन्यथोपहरिष्यमाणरूपस्य लौकिकत्वमायाति ।। ३० ।। मम गर्भगोऽभूदिति । गर्भजमात्रत्वेन तस्याः प्रतीतिमात्रम् , न तु वास्तवमिदं रूपं तिरोभावनीयमेव, तत्र सन्देहो नास्ति ।। ३१-३६ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भो मातः यदीदं रूपमन्तर्द्धापयामि तदा कंस आगत्य गर्भस्ते क्व गत इति गर्भचौर्य्यापराधेन त्वामधिकं ताडयिष्यतीति चेत्तत्र मम का शङ्केत्याह जन्मेति । मा विद्यात् मा जानातु मधुसूदनेति मधुदैत्यं हतवतो मम कंसवधे कः प्रयास इति मामंस्थास्तदानीन्तनात् मधोरप्ययमिदानीन्तनः कंसः कोटिगुणितबलाधिक इति भावः । भवद्धेतोरिति मदपराधं प्रकल्प्य मत्ताडनं वधादिकं कुर्य्यात् चेत्करोतु केवलं भवतः कल्याणमाशासे इति भावः । ननु, तर्हि रूपं यत्तदित्यनेन नष्टे लोक इत्यनेन योऽयमित्यनेन मर्त्योमृत्युव्यालेत्यनेन मदैश्वर्य्यं वृथैव किमवादीः सत्यं पुत्र ! भवन्माताऽहमेवमधीरबुद्धिरेव मा खिद्यस्य ममैव दोषोऽयं निर्मंछनं ते यामि मातृवात्सल्येनापि रूपमिदमुपसंहरेति भावः ।। २९ ।। विश्वात्मन्निति विश्वस्य मध्ये अमहृप्यस्मि तन्ममान्तर्मध्ये स्थित्वा कथमेवमधीरां धियं प्रवर्त्तयसीति तवैवायं दोष इति भावः । अलौकिकमिति लौकिकनरबालकाकारो भव यथा झटिति त्वामहं क्वापि गोपयानीति भावः ।। ३० ।। ननु, किमित्युपसंहर्तव्यम् मया परमेश्वरेण पुत्रेण तव महती प्रतिष्ठैवास्त्विति चेन्नाहं प्रतिष्ठामाशासे इत्याह—विश्वमिति । निशान्ते मन्दिरे "निशान्तवस्त्यसदनभवनागारमन्दिरम्" इत्यमरः । स्वतनुमन्दिरे यथावकाशमसङ्कोचतः नृलोकस्य मानुष्या मम विडम्बनमेव तदिदम् अयि मूढे कोटिब्रह्माण्डविग्रहो भगवांस्तव मानुषपुत्र्या गर्भे स्थितोऽभूदिति वक्तुमभिमन्तुमपि किं न लज्जसे ? इति प्रतिवेशिन्यो मामुपहसिष्यन्तीति प्रत्युताप्रतिष्ठैव मे स्यादिति भावः । ननु,

परब्रह्ममूर्तेर्भगवतः साक्षादपरोक्षानुभविनोर्देवकीवसुदेवयोरपि किमिदमघटमानममाविद्यकं भयशोकादिकं मैवं विद्याविद्याभ्यां बहिरङ्गाभ्यां परभूता खलु यान्तरङ्गा स्वरूपभूता चिच्छक्तिस्तस्या अपि सारवृत्तिरूपो यः प्रेमा तद्विलासभूतमेवेदं भयशोकादिकमाविद्यकत्वप्रवादपात्रीभवितुं नैवार्हतीति प्रेम्णोमायातीतत्वे किं प्रमाणमिति चेत् भगवतः प्रेमवश्यत्वान्यथानुपपत्तिरेव मायामयत्वे तस्य मायावश्यत्वमापद्येतेति किञ्चात्र चान्यत्र च व्युत्पत्त्यर्थमिदमभ्यस्यते "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इति भगवदुक्तेस्तस्य स्वरूपं भक्त्यैव गम्यमित्यवसीयते सा च भक्तिस्त्रिविधा गुणीभूता प्रधानीभूता केवला च तासां च क्रमेण ज्ञानं ज्ञानमयीरतिः प्रेमा चेति फलानि तत्र ज्ञानेन केवलं चित्सुखैकमयं ब्रह्मस्वरूपमेव ज्ञानमयरत्या चिदैश्वर्यसुखमयं भगवत्स्वरूपमेव प्रेम्णा तु माधुर्य्यमयं कृष्णरामादिस्वरूपमेवास्वाद्यते कस्यचित्प्रेमवत्साधुसङ्गमहिम्ना प्रधानीभूतापि भक्तिः प्रेमफला स्यात् किन्तु तत्प्रेमैश्वर्यमेवेत्याहुः, स्वरूपस्य वस्तुत ऐक्येप्यास्वादनभेदाद्भेदातिदेशः तच्च माधुर्य्यं श्रीविग्रहनिष्ठरूपादिपञ्चकस्य भक्तवात्सल्यस्य लीलायाश्चेति सप्तविधं रजस्थस्य तस्य तु वेण्यवैश्वर्ययोराधिक्यानवविधं यदुक्तम् –

"चतुर्धा माधुरी तस्य व्रज एव विराजते । ऐश्वर्यक्रीडयोर्वेणोस्तथा श्रीविग्रहस्य च" ॥ इति ।

प्रेमा च दास्यसख्यवात्सल्योज्ज्वलभेदाच्चतुर्विधः तेष्वपि मध्ये वात्सल्यप्रेमा स्वस्वभावमहिम्नैव कृष्णमनुकम्प्यत्वेन ममत्वातिशयविषयीकृत्य स्पष्टमप्यैश्वर्यं स्वयमनुभूयमानत्वं प्राप्तमपि तथाऽऽच्छादयति, यथा तन्ममतारसनया निबद्धो वशीभूय स कृष्णः स्वमाधुर्य्यमपारमन्यानास्वाद्यं वात्सल्यप्रेमवज्जनमास्वादयति। ज्ञानेन वा ज्ञानमयरत्या वा सच्चिदानन्दात्मकवस्तूनां य आस्वादस्तस्मात् कोटिकोटिगुणितं ममता हेतुकमास्वादं प्रेमा प्रवर्त्तयति तथा हि सर्वसन्तापनिवर्त्तकात् परमाह्लादकात् दृश्यमानात् चन्द्रादपि सकाशात्सर्वगुणहीनोऽपि कालत्वादिदोषयुक्तोपि दृश्यमानः स्वपुत्रो यत्सुखमधिकं दत्ते तत्र ममतैव यदि कारणं तदा सर्वगुणमण्डिते स्वभावादेव निरवधिकसुखप्रदे श्रीकृष्णे पुत्रीभूते निरवधिकैव सा ममता प्रेमनिष्ठा किमुतेति ज्ञानप्रेम्णोर्भेदो विवृतः यथाह्यविद्यास्ववृत्त्या ममतया जीवं दुःखयितुमेव बध्नाति तथैव प्रेमा स्ववृत्त्या ममतयेश्वरं सुखरूपमप्यतिसुखयितुं बध्नाति यथा दण्डनीयजनस्य गात्रबन्धनं रज्जूनिगडादिना माननीयजनस्यापि गात्रबन्धनमनर्घसुगन्धसूक्ष्मश्लक्ष्णकञ्चुकोष्णीषादिनेत्यविद्याधीनो जीवो दुःखो प्रेमाधीनः कृष्णोऽतिसुखीति किञ्च यथैवाविद्यया स्वतारतम्येन ज्ञानावरणतारतम्याज्जीवस्य पञ्चविधक्लेशतारतम्यं विधीयते तथैव प्रेम्णापि स्वतारतम्येन ज्ञानैश्वर्याद्यावरणतारतम्यात् स्वविषयाश्रययोः अनन्तप्रकारं सुखतारतम्यं विधीयते इति तत्र केवलः प्रेमा श्रीयशोदादिनिष्ठः स्वविषयाश्रयौ ममतारशनया निबद्धय परस्परवशीभूतौ विधाय ज्ञानैश्वर्य्यादिकमावृत्य यथादिकं सुखयति न तथा देवक्यादिनिष्ठः ऐश्वर्य्यज्ञानमिलितत्वेन प्राबल्याभावात् तत्तत्प्रेम्णस्तथा तथा भूतत्वे कारणं तु नान्वेष्टव्यं तासां यशोदादिदेवक्यादीनां नित्यसिद्धत्वादेव तत्तत्तादृशप्रेमविशेषाणामपि नित्यसिद्धत्वादिति सर्वं निरवद्यम् ॥३१॥ भो मातर्न केवलमस्मिन्नेव जन्मनि त्वद्गर्भगतोऽहमपितु जन्मान्तरेष्वप्यतस्त्वं किमिति स्वदैन्यं मन्यसे न त्वं प्राकृत्येव मानुषीत्याह— त्वमेवेत्यादिचतुर्दशभिः। अभूः आसीः स्वायम्भुवे मन्वन्तरे सति वर्तमाने अयं वसुदेवः ॥ ३२-३३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

भवतः एव हेतोः कंसात्समुद्विजे मयि सति क उद्वेगः अत्राह–अधीरधीरिति ॥ २९ ॥ पौरुषं रूपं प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठा इति यदुक्तं तद्विवृणोति, उपसंहर इति ॥ ३० ॥ निशान्ते प्रलयान्ते विश्वं यथावकाशमसङ्कोचतः स्वतनौ भवान् बिभर्ति स भवान् मम गर्भगोऽभूदिति मम भाग्यं परन्तु असम्भावनया नृलोकस्य विडम्बनमुपहासास्पदं भवेदत उपसंहरेति पूर्वेणान्वयः ॥ ३१ ॥ प्रार्थितं स्वीकृत्य आवयोः प्रार्थनयैव जन्मान्तरे कृतयैवं जातोऽस्मीति विज्ञापयति भगवान्-त्वमिति चतुर्दशभिः। हे सति! मातः! स्वायम्भुवे मन्वन्तरे अभूः आसीः ॥ ३२ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

निशांत इत्येतन्निशायां दिवसस्यांते निशाया आदिभाग इति व्याख्येयम्। एतेन निशाया आदाविति वक्तव्यम्। निशाया अंत इति कथनमनुपपन्नम् इति दूषणं निरस्तम् ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तदेव देवकी देवं प्रति विविच्य वक्ति। जन्मेति। हे मधुसूदन मयि ते जन्मासौ पापो मा विद्यान्न जानातु। अधीरंधीरहं भवद्धेतोस्त्वत्कारणं कंसात्समुद्विजे बिभेमि। अहं रोहिणी चेति द्वाभ्यां जायत इति द्विजो बलस्तद्विषये समुद्वर्तते स्थानान्तरमिति ससन्तोपेत्यावृत्त्याऽर्थः ॥ २९ ॥ अनेन स्थानान्तरगमनागमनौ भवत इति ध्वन्यते। मां प्रति किं वदसि मातरितः परमित्यत ईरयति। उपसंहरेति। हे विश्वात्मन् विश्वे नानाप्रकारा आत्मानो देहा यस्य स तथेति। अनेनानेनैव रूपेण यथा मनीषितं तथा भवनसामर्थ्यं द्योत्यते। अलौकिकं तदलौकिकत्वमुपपादयति। शङ्खचक्रैः गदापद्मैः सहिता या श्रीस्तया वा तेषां श्रिया शोभया वा जुष्टं चतुर्भुजं भुजचतुष्टयसहितमिति। हे रूपम रूपाणां मा सम्पद्यस्येदानीं ग्राह्यरूपज्ञानं रूपेषु प्रतिरूपं मा रमाऽस्येति तत्सम्बुद्धिः। लौकिकमदः

कृषीष्ठाः कुर्विति ॥ ३० ॥ एतादृशोऽपि त्वमीश मे गर्भकोशजात इति जातमद्भुतमिदमित्याह । विश्वमिति । यदेतद्विश्वं जगत्परः पुरुषो भवान्यथावकाशं पदमेकम् । अवकाशमनतिक्रम्य यथा सादृश्य इति समासः । निशान्ते प्रलयावसाने स्वतनौ बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदिति यन्नृलोकस्य महद्विडम्बनमाश्चर्यम् ॥ ३१ ॥ न मम कर्मनिर्मितमेतद्वर्ष्म किन्तु भवत्प्रार्थनयेति तौ स्मारयंस्तत्पूर्वरङ्गमाह । त्वमेवेति । पूर्वसर्गेऽतीतजन्मनि हे सति स्वायम्भुवमन्वन्तरे सतीति वा त्वं पृश्निस्तन्नाम्न्यभूरयं वसुदेवस्तदाऽकल्मषा सुतपा नाम प्रजापतिरभूत् ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

अन्यतरकरणाभावाय मध्यमपक्षे स्वतो निवृत्तावपि कंसश्चेज् जानीयात् स्वयमागत्य युद्धं कुर्यात्, अत एव स दोषस्तदवस्थ इति तस्य जन्माज्ञानं प्रार्थयति जन्मत इति, असौ कंसस्ते जन्म मा विद्यात्, यतोयं पापः, तर्हि मत्स्वरूपं न जानासीतिचेत् तत्राह मधुसूदन इति, यद्यप्येतज् जानीमस्तथापि मध्यमपक्षशङ्कया प्रार्थ्यते, ननु मध्यमपक्षे को दोषोविश्वासस्तु न कर्तव्य इति चेत् तत्राह भवद्धेतोः कंसादहं सम्यगुद्विजे, विश्वासः कर्तव्य इति चेत् तत्राहाधीरधीरिति, न हि भगवत्युत्पन्ने परमानन्दे कोपि क्लेशहेतुर्भवितुमुचितः, भवद्धेतोरित्यनेनैतज् ज्ञापयति यद्ययं जानीयादस्मादुत्पन्नो भगवानन्यत्र तिष्ठतीति तदा निर्बन्धेन समानयनं वा प्रार्थयेत् पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात्, अतोस्य ज्ञानाभाव एवोचितः ॥ २९ ॥

रूपान्तरस्वीकारे त्वन्यत्रापि स्थापयितुं शक्यते न त्वनेन रूपेणेत्युपसंहारं प्रार्थयत्युपसंहरेति, अदो वेदवेद्यमलौकिकं रूपं लोक उचितं न भवतीत्युपसंहर, विश्वात्मन्निति रूपग्रहण उपसंहारे च सामर्थ्यं द्योतितं, स हि विश्वस्मिन् सर्वाण्येव रूपाणि गृह्णात्युपसंहरति च, अद इति पदेन चैतज् ज्ञापयति, अवतारो नोपसंहर्तव्योलौकिकत्वमात्रमुपसंहर्तव्यमिति, सर्वमेवालौकिकमिति सर्वस्यैवोपसंहारे प्राप्ते यल् लौकिकसमानं तत् स्थापनीयमन्यदुपसंहर्तव्यमिति वदन्त्यलौकिकमंशमाह शङ्खचक्रेति, शङ्खचक्रगदापद्मान्यायुधान्युपसंहर्तव्यानि, अलौकिकी श्रीश्चोपसंहर्तव्या भुजानां चतुष्टयं चोपसंहर्तव्यं द्वयं स्थापनीयं, उपलक्षणमेतत्, प्राकृतभावाद्यदतिरिक्तं तदुपसंहर्तव्यं, अविद्यमानोपि प्राकृतो भावः स्थापनीयः, यद्यपि चतुर्भुजं रूपं देवादीन् प्रति प्राकृतमेव तथापि साधारणान् प्रति तादृशमपि न प्रकटनीयमिति प्रार्थना ॥ ३० ॥

एवं स्तुत्वा प्रार्थयित्वा च विरोधं परिहरति विश्वमिति, अथवार्धोपसंहारेणार्धस्थापने सामर्थ्यार्थं विरोधिगुणमनूद्यान्यतरस्य प्रदर्शनपरत्वेनोपपादयन्ती समर्थयते विश्वमिति, स्वतनौ स्वशरीरे विराजि ब्रह्माण्डाख्ये निशान्ते सृष्टिसमये यथावकाशं चतुर्दशलोकात्मकं भुवनं बिभर्षि, प्रलये सूक्ष्मतया निवेशनं भवतीति निशान्त इत्युक्तं, किर्मीरतया स्थितिर्निषिद्धा, नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह पुरुषः पर इति पुरुषो व्यष्टिः परः समष्टिः, भवानिति सम्मत्यर्थं, तेन स्वस्य एतादृङ्माहात्म्यज्ञानवत्त्वसम्बोधनं, एवं विश्वाधारभूतोपि भवान् मम गर्भगोभूत्, यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रयस्य भगवतो नेदमाश्चर्यं तथापि स्वप्रतीत्याश्चर्यं मत्वा परिहरत्यहो नृलोकस्य विडम्बनं महदिति, अहो इत्याश्चर्ये, नुलोकस्य मनुष्यमात्रस्य महदेतदनुकरणमितिसमाधानं महानप्यल्पमनुकरोति यथा पुरुषो बिडालं तथापि ब्रह्माण्डविग्रहस्य परमसूक्ष्मताश्चर्यरूपेत्याशङ्क्याह महदिति, अनुकरणं महदिति अनुकरणं, सत्यमेव, परमलौकिकमनुकरणं, अनेन गर्वाभावोप्युक्तः ॥ ३१ ॥

एवमुभयोः स्तोत्रे सप्रार्थने कृते भगवान् स्वस्य पुत्रत्वे तादृशरूपेण प्राकट्ये च हेतुं वदंस्तयोः पूर्ववृत्तान्तमाह परिज्ञानार्थं, त्वमेवेति चतुर्दशभिश्चतुर्दशविद्यानां प्रामाण्यार्थम् ।

पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो भजनं हरेः । कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया सह ॥ १ ॥
अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च । त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत् ॥ २ ॥
रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत् ॥ २½ ॥

प्रथमं स्थितिमाह, पूर्वसर्गे प्रथमब्रह्माण्डे प्रथमकल्प इतः पूर्वकल्पे वा, साक्षाद् देवकीं प्रत्येवाह भगवान्, तस्या दीनत्वेन स्नेहातिशयात्, पृश्निरितिनाम, त्वमेव पृश्निरभूः स्वायंभुवे मन्वन्तरे, सतीतिसम्बोधनं, अनेनास्या अधिककृपायां धर्मातिशयो हेतुरुक्तः, तदा तस्मिन्नेव समये, अयमपि सुतपा इति नाम प्रसिद्धः, अयं च प्रजापतिर्ब्रह्मणः सुतो मरीच्यादिवत् कर्दमवत् स्वभाववत् एवायमकल्मषः कामक्रोधलोभादिरहितः ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

शङ्खचक्रेत्यत्र यद्यपीति, केचिद् देवा अपि चतुर्भुजा भवन्तीति तादृशे रूपे देवानां नालौकिकत्वेन भानं, इतरेषां तु भवतीति तथा तादृशमपीति, उपसंहृतालौकिकप्रभं चतुर्भुजाकारमात्रमपीत्यर्थः, रूपं चेदमित्यनेन कंसादीनामदर्शनं प्रार्थितमत एव "मांसदृशा"मित्युक्तं, अनेन तु तददर्शनेपि मनुष्यमात्रस्य तथा दर्शनं नास्मद्धितमिति तदभावः प्रार्थितोतो नान्यतरवैयर्थ्यं शङ्कनीयं, किञ्च यद्यप्याद्येनैव द्वितीयचारितार्थ्यं भवति तथापि "रूप"पदमात्रं "ध्यानधिष्ण्य"पदं च श्रुत्वा सर्वांशेन तिरोधानं हरिर्मा करोत्विति विशेषप्रार्थनं द्वितीयं कृतमिति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

भगवदुक्तवाक्यसङ्ख्यातात्पर्यमाहुश्चतुर्दशेति, पूर्णब्रह्मणो देवकीपुत्रत्वं न प्रमाणसिद्धमिति भ्रमाभावाय सर्वा अपि विद्या अत्र प्रमाणानीतिज्ञापनाय तत्समानसङ्ख्यैर्वाक्यैर्भगवतोक्तमित्यर्थः, प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यं, प्रमाणत्वमिति यावत्, तदर्थमित्यर्थः, न च सङ्ख्यायामपि तात्पर्यवत्त्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यं श्रुतिसिद्धत्वात्, तथा हि 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिंस्तेजो दधाति यद् दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति यदेकादशकपालस्त्रिष्टभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति यद् द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधातीतिश्रुतौ कपालेषु द्वादशसङ्ख्याविधानतात्पर्यं तदवयवभूतसङ्ख्याफलोक्त्या निरूपितम्, तत्तत्सङ्ख्यायास्तत्तत्फलसाधकत्वोक्तेरपि तत्तत्फलसङ्ख्यासजातीयत्वमेव प्रयोजकमिति ज्ञेय "मष्टाक्षरा गायत्री तेजश्रिवृद् दशाक्षरा विराडन्नं विराडेकादशाक्षरा त्रिष्टुब् द्वादशाक्षरा जगती जागताः पशव" इतिश्रुतिभ्यः, ननु सकृत्पुत्रत्वेपि वरवाक्यसत्यत्वे वारत्रयं तथात्वं कुत इत्यत आहुस्त्रिगुणमित्यादि, लौकिकमेकगुणं द्विगुणं वैदिकं भरावदीयं त्रिगुणमतः सर्वाधिकमिहोक्तमिहैव फलति चेत् तदा सत्यं भवति, वैदिकं तु जन्मान्तरेपि फलतीति तथा, भगवदुक्तं त्वामोक्षं यावन्ति जन्मानि तेषु सर्वेष्वेव फलतीत्येतदेवैकगुणत्वादिकं तेषु ॥ ३२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

जन्मत इत्यग्रिमश्लोकस्याभासं टिप्पण्यां विवृण्वन्तीदानीं मारणेत्यादि, इदानीममारयित्वान्यत्र गमनं प्रथमः पक्षः, इदानीं मारयित्वान्यत्र गमनं मध्यमः पक्षः, इदानीममारयित्वानेन रूपेणात्र स्थितिस्तृतीयः, मध्यमपक्षे पक्षद्वयं, स्वत उपेत्य युद्धेन कंसस्य मारणमित्येकः, स्वतो निवृत्तावपि कंसो युद्धार्थमायाति चेत् तदा मारणमिति द्वितीयः, एवं पक्षद्वये सत्यपि स स्वतो नायाति तदा तममारयित्वैवान्यत्र गतिर्भवति तदा तथेत्यर्थः, सुबोधिन्यां क्लेशहेतुरिति, अधीरत्वरूपक्लेशहेतुः, तथा च विश्वासेप्यधीरत्वाज्जन्माज्ञानं प्रार्थयत इत्यर्थः, ननु यद्येवं तर्हि भवद्धेतोः समुद्विज इति कुत उच्यत इत्यत आहुर्भवदित्यादि ॥ २९ ॥

विश्वं यदेतदित्यत्रोपपादयन्ती समर्थयत इति, विरोधाभावमुपपादयन्ती विरोधं समर्थयते, ज्ञानवत्त्वसम्बोधनमिति, ज्ञानवत्त्वस्य भगवते सम्यग्बोधनम् ॥ ३० ॥

भगद्वाक्यतात्पर्योक्तिटिप्पण्यां ननु च 'सङ्ख्याया' इत्यारभ्य 'श्रुतिभ्य' इत्यन्तेन यत् सङ्ख्यायास्तात्पर्यमुक्तं तन्न सङ्गच्छते, सङ्ख्यायाः पुरोडाशविशेषणतया तत्र श्रावणेन पुरोडाशेष्टाकपालत्वादिरूपधर्मे वा पर्यवसानादिति चेन्न, उदवसानीयविधायकश्रुतौ तथा निर्णयात्, तत्र हि 'अप वै सोमेनेजानाद् देवताश्च यज्ञश्च क्रामन्त्याग्नेयं पञ्चकपालमुदवसानीयं निर्वपेदग्निः सर्वा देवताः पाङ्क्तो यज्ञो देवताश्चैव यज्ञं चावरुन्द्धे गायत्रो वा अग्निर्गायत्रच्छन्दास्तं छन्दसा व्यर्धयति यत् पञ्चकपालं करोत्यष्टाकपालः कार्योष्टाक्षरा गायत्री गायत्रो वा अग्निर्गायत्रच्छन्दाः स्वेनैवैनं छन्दसा समर्धयति पाङ्क्त्यौ याज्यानुवाक्ये भवतः पाङ्क्तो यज्ञस्तेनैव यज्ञान्नैती'ति श्रावितं, तथा च तत्राष्टाकपालपुरोडाशविधाने तस्मिन् पञ्चकपालस्य सत्त्वेपि तदनादृत्य याज्यानुवाक्ययोः पञ्चसङ्ख्याकत्वविधानेन पञ्चसङ्ख्याकयज्ञादनपगमविधानतस्तथा निश्चयात्, अतः सत्ताया एव सतात्पर्यकत्वमपेक्षितस्थले निश्चयमनपेक्षितानां निस्तात्पर्यकत्वं चेति दिक् सुबोधिन्यां पूर्वस्थितिरित्यादिकारिकाधिर्भगवद्वाक्यार्थ उच्यते, तत्र जन्मत्रितय इत्यारभ्य श्लोकत्रयस्य तात्पर्यं, तत्र त्रिगुणमित्यादिकथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां तदाहुर्नन्वित्यादि ष्ष्वित्यन्तम् ॥ ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

जन्मत इत्यत्र मध्यमेति मध्य इदानीं मारणपक्षे शङ्कया विपरीतं कदाचित् भवेदितिसन्देहेनेत्यर्थः ॥ २९ ॥ उपसंहरेत्यत्रादशशब्दस्यार्थमाहुर्वेदवेद्यमिति श्रीश्चेति, तथा च पद्यान्तैः श्रिया च जुष्टमितिमूले समासः ॥ ३० ॥ विश्वमित्यस्य द्वितीयाभासे विरोधीति, एतमनूद्य समर्थयत इत्यन्वयः, अन्यतरस्येति, स्वगर्भगतत्वस्येत्यर्थः, अत्र कर्मणि सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी, गर्भगतत्वं प्रदर्शनार्थत्वेनोपपादयन्तीत्यर्थः, विश्वं भगवत्तनौ नित्यत्वात् सर्वदा तिष्ठतीति निशान्तपदवैयर्थ्यमाशङ्क्य तदानीन्तनं विशेषं वक्तुमाहुः प्रलय इति, तदा सूक्ष्मरूपेण स्थितिर्निशाया अन्ते जाते तु स्थूलरूपेण यथावकाशं स्थितिरित्यर्थः निषिद्धा इति, यथावकाशपदेनेतिशेषः ॥ ३१ ॥

बुभुत्सुबोधिका

जन्मत इत्यत्र अन्यतरेति अत्र टिप्पणी । तथात्वायेति करणाभावाय । इदानीमेव मारणं अन्यत्र गमनेनैतद्रूपादर्शनम्, तस्मै । इदानीमेवामारणं लोके चैतद्रूपदर्शनं तस्मै च । इदानीं मारणमिति 'रूपं चेद'मित्यस्य व्याख्यानम् । द्वितीयः पक्षः मध्यमपक्षस्तस्मिन् । एवं सत्यपीत्यादि अयं प्रथमपक्षः । स्वत इति स्वस्माद् भगवत इत्यर्थः । स्वस्य भगवत इति वार्थः । दोषानिवृत्तिरिति मारणदोषानिवृत्तिः । स दोष इत्यस्याः सुबोधिन्या अर्थः मध्यमपक्षे स्वत इत्यादिनेति । मध्यमपक्षे पक्षद्वयम् । स्वत उपेत्य युद्धेन कंसस्य मारणमित्येकः पक्षः । स्वतो निवृत्तावपि कंसो युद्धार्थमायाति चेत् तदा मारणमिति द्वितीयः । एवं पक्षद्वये सत्यपि स स्वतो

नायाति तदा तममारयित्वैवान्यत्र गतिर्भवति । इत्युक्तम् । जन्माज्ञानस्येति मूलश्लोकोक्तस्य । सुबोधिन्याम् । स चेदित्यत्र सश्चे दिति पाठे सश्च गतौ । भ्वा० प० से० । अत इति ब्रह्मविद्याकृतनिषेधात् । पापः जन्माज्ञानकारणमर्यादाभक्तिप्रतिबन्धकपापात्मा । मत्स्वरूपमिति सर्वसामर्थ्यसहितम् । अविद्ययोपमर्दो विद्यया ज्ञेयः । ममाकारकत्वाद्वा । मधुसूदन इतीति अकारकस्य दूतात् सम्बोधनं सम्भवति । अतः प्लुत्वम् । मधुसूदनायुधक्रमः 'शङ्खगदायुदायुध'मित्यस्य व्याख्यान उक्तः । अविश्वास इति सर्वसामर्थ्ये विश्वात्मत्वे । विश्वास इति विश्वात्मत्वेनैकतमरक्षणाभावे । तथा । उचित इति एतादृशज्ञानवत्यहमधीरधीः । भवद्धेतोरिति भवान् हेतुस्तस्मात् सकाशात् । अतो 'जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्या'दिति जन्माज्ञानं प्रार्थ्यत इति भावः ॥ २९ ॥

उपसंहरेत्यत्र पूर्वमिति 'तथेति सुतमादाये'ति वाक्ये । 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति कोशात् अदस्शब्दस्यार्थमाहुः अलौकिकरूपमिति । अलौकिकप्रकारकम् । श्रीश्चेति तथा च पद्मान्तैः श्रिया च जुष्टमिति मूले समासः । यद्यपीति अत्र टिप्पण्यां तदभाव इति अलौकिकांशदर्शनाभावः । नान्यतरेति उक्तादर्शनयोरन्यतरस्य वैयर्थ्यं न शङ्कनीयमित्यर्थः ॥ ३० ॥

विश्वं यदेतदित्यत्र विरोधं परिहरतीति फले समवायिरूपत्वरूपविरोधं नृलोकस्य विडम्बनकथनेन परिहरतीत्यर्थः । विरोधीति विराड्रूपत्वम् । विरोधीति दीर्घान्तपाठे ई आश्चर्ये । अन्यतरस्येति विराड्रूपत्वनृलोकविडम्बनयोरन्यतरस्य कर्मादीनामपि सम्बन्धसामान्यविवक्षया षष्ठीप्रदर्शनपरत्वं तेनेत्यर्थः । उपपादयन्निति देवकीपदार्थः । देवकी भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणपुंस्त्ववतीत्यतः देवकी उपपादयन्नित्यत्र पुंस्त्वविशिष्टोपपादनकर्त्रभिन्ना स्त्रीत्वविशिष्टा एका देवकीति बोधः । विराजीति 'यथावकाश'मितिपदात् । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं तत्रे'ति नोक्तम् । 'रूपं चेद'मितीदमः प्रयोगात् पुनश्चा'दो रूप'मित्युक्तम् । तदकारकम् । स्तुत्यविषयम् । अत आहुः ब्रह्माण्डाख्य इति । 'कालात्मा भगवान् जात' इत्युक्तकारिकायामपि कालः समवायी विराट् आत्मा स्वरूपं यस्येत्यपि ज्ञेयम् । गीताप्रसिद्धेः चतुर्दशेति सात्त्विकपक्ष उक्तः । किर्मीरितत्वेति सङ्कुचिततया । पुरुष इति विराट् । विराट्त्वेनोपासनार्थमुक्तम् । तदत्र मृत्स्नाभक्षणविश्वदर्शने जातम् । 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा'दिति सूत्रभाष्य उक्तम् । सङ्गत्यर्थमिति समष्टिसङ्गत्यर्थम् । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति वाक्यात् । समाधानमिति प्रथमाभासोक्तविरोधस्य द्वितीयाभासे विरोधिगुणस्य च परिहार इत्यर्थः । बिडालमिति बिडालोनिच्छतीमपि मार्जारीं भुनक्तीति दृष्टान्तः । उपकारं कृत्वा भुनक्तीति वा । गृहीव तिष्ठतीति वा । अनेनेति महत्पदेन । गर्वोभाव इति भगवता बोध्यः ॥ ३१ ॥

त्वमेवेत्यत्र स्तोत्रे इति कीर्तनभक्तिरूपे, भगवान् वदन्नित्यत्र हेतुः । जन्मप्रकरणत्वात् सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः चतुर्दशेति । प्रामाण्यार्थमिति भगवद्वाक्यत्वाद् वेदत्वेन प्रामाण्यार्थम् । अत्र टिप्पण्याम् । चतुर्दशविद्यासम्बन्धिप्रमाणार्थमिति स्वार्थे ष्यञ् भवति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहुः प्रमाणस्येति । व्याख्यानात् । सङ्ख्याया इति तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्ववक्तृरूपे तात्पर्यवत्त्वे । अतः षष्ठी । वक्तुरिच्छारूपतात्पर्यविषयत्वे सप्तमीप्रसङ्गः । मोक्षे इच्छास्तीतिवत् । वैश्वानरमिति वैश्वानरो देवतास्य पुरोडाशस्य, 'सास्य देवते' त्यण् । तदवयवेति पुरोडाशविशेषणभूतद्वादशकपालस्य सङ्ख्यायाः फलाक्त्या । तत्तत्फलेति सजातीयत्वं अष्टत्वादिना । त्रिवृदिति अस्थिमज्जावाग्रूपम् । नवकपाल इत्युक्तत्वात् तेजस्त्रिवृद्वदन्नं त्रिवृत् । पुरीषमांसमनोरूपम् । एवमापः त्रिवृत् । मूत्ररुधिरप्राणरूपाः यद्वा । 'तजस्त्रिवृ'दित्युक्तेराधिदैविकादिभेदान्नव । विराडिति छन्दः । फलसङ्ख्यासजातीयत्वायाहुः अत्र विराडिति । 'पृथिवी वा अन्नमिति' श्रुतेः दशधा पृथिवी सात्त्विक्यादिभेदात् । श्रुतिभ्य इति न च वाच्यमिति पूर्वेणान्वयः । सुबोधिन्याम् । भगवद्वाक्यार्थोनाहुः पूर्वस्थितिरित्यादिकारिकाभिः । त्रिगुणमित्यादि अत्र टिप्पण्याम्, सर्वाधिकमिति लौकिकाद् वैदिकान् महदित्यत्र महदित्यस्यार्थः । तथेति द्विगुणं सत्यम् । तेष्विति आधिदैविकादिसत्येषु । 'बहुपुवहुवचन'मिति सूत्रात् । सुबोधिन्याम् । इत इति सारस्वतकल्पात् । प्रत्येवेति 'धृतिर्वाक् श्रीश्च नारीणा'मितिवाक्याद् धृतेरेवकारः । 'कश्चिद्धीर आत्मानमैक्ष'दितिश्रुतेः । पृश्नित्वं सतीत्वं वा न भगवज्ज्ञाने जानातीच्छति यतत इति प्रक्रियोक्ते प्रयोजकमिति हेत्वन्तरमाहुः तस्या दीनत्वेनेति । 'भक्तानां दैन्यमेकं हि हरितोषणसाधन'मिति वाक्यात् । अयमपीति वसुदेवोपीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

अन्यतरकरणाभावाय मध्यमपक्षे स्वतो निवृत्तावपि –कंस को वर्त्तमान में मार दिया जावै और अलौकिक रूप को सर्व साधारण देखे इन दोनों घटनाओं में से एक भी घटना उपस्थित न हो न तो कंस अभी मारा जाय और न सर्वसाधारण को भगवत्स्वरूप का दर्शन ही हो इसलिये श्रीदेवकी माता कंस को भगवान् के जन्म का अज्ञान चाहती है कि कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो, अभी कंस को न मारकर अन्यत्र पधारें यह प्रथम पक्ष है, उसके विषय में अपने प्राणों की आशंका थी देवकी ने पूर्व में प्रस्तुत की है, एवं कंस को अभी मारकर यहाँ पर ही विराजमान रहें यह तृतीय पक्ष है उसके विषय में भी ज्ञातिजन सामान्य जन द्वेषी जन की असूया और द्वेष एवं हम लोगोंकी विनाविलंब मुक्ति का प्रसङ्ग महती हानि के रूप से निर्दिष्ट किया गया है। कंस को अभी मारकर भगवान् यदि अन्यत्र पधार जावैं यह मध्यम पक्ष है, इस मध्यम पक्ष में भी स्वयं कंस के पास जाकर उसे मारें तो आपके अन्यत्र पधारने पर उसके पक्षपातियों का भय हम पर

बना रहेगा अतः आप स्वतः अपनी ओर से कंस के मारने से निवृत्त भी हो जावें स्वयं उसे मारने को नहीं भी पधारें तो भी यदि कंस को आपके जन्म का ज्ञान हो जायगा तो स्वयं आकर युद्ध करेगा, तब उस घोरस्वरूप कंस के दृश्य से हमारे प्राणों की स्थिति न रहने की संभावना का दोष तो इस मध्यम पक्ष में भी बना ही रहेगा अतः आपके जन्म का ज्ञान कंस को नहीं होना चाहिये ऐसी प्रार्थना करती हैं कि यह कंस आपके जन्म को नहीं जाने, क्यों कि यह पापात्मा है, अत्यन्त भयङ्कर हत्यारा है, आप ऐसा न कहें कि तू मेरे स्वरूप को नहीं जानती, मैं जानती हूँ आप मधु दैत्य के विनाशक हैं, यद्यपि हम लोग जानते हैं कि आप ही उसे मारेंगे तो भी मध्यम पक्ष की सम्भावना से प्रार्थना की जाती है। आप कह सकते हैं कि मध्यम पक्ष में क्या दोष है अविश्वास करना तो उचित नहीं, मैं इस विषय में कहती हूँ सुनिये भगवन् आपके कारण से मैं क्रूर कंस से अत्यन्त उद्विग्न हूँ भय से कांप रही हूँ, आप के सामर्थ्य में विश्वास करना आवश्यक है पर विश्वास धीरता की अपेक्षा रखता है मैं तो 'अधीरधीः' हूँ मेरी बुद्धि तो धैर्य को खो बैठी है। परमानन्दमय भगवान् के प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकार के क्लेश का कारण उपस्थित होना उचित नहीं फिरभी यह उद्वेग या क्लेश आप के निमित्त है इसी बात को कहती है कि 'भवद्धेतोः' यदि कंस को विदित हो जावे कि हम लोगों से उत्पन्न हुए भगवान् कहीं अन्यत्र विराजते हैं तो हठपूर्वक आपको मंगालेने के लिये हमें बाध्य करेगा क्योंकि पूर्व में वैसी प्रतिज्ञा उससे की गई है कि अपने पुत्रों को तुम्हें देंगे, अतः कंस को आपके जन्म का ज्ञान ही न होना चाहिये ॥ २९ ॥

रूपान्तरस्वीकारे इति—भगवान् यदि रूपान्तर करे तब तो आपको कहीं अन्यत्र भी पधराया जा सकता है, परंतु इस अद्भुत चतुर्भुज रूप से तो नहीं पधराया जा सकता। नाथ इसलिये तो मैं इस रूप के उपसंहार की प्रार्थना करती हूँ, कि वह वेद के वेद्य अलौकिक रूप लोक में दिखाना उचित नहीं अतः इस स्वरूप का उपसंहार कर लीजिये। 'विश्वात्मन्' इस सम्बोधन से यह सूचित किया गया कि आप रूप के ग्रहण एवं उपसंहार के विषय में समर्थ है। विश्वात्मा भगवान् विश्व में सब ही रूपों का ग्रहण और त्याग भी करने में समर्थ रहते हैं। अदः पद से भगवत्स्वरूप की अलौकिकता व्यक्त की है जिसके द्वारा यह सूचित किया है कि अवतार का तिरोधान न करे केवल अलौकिकता का ही तिरोभाव करने को कृपा करें। भगवत्स्वरूप में सब ही अलौकिक सामग्री है तो सब का ही उपसंहार करना होगा ऐसी दशा में जो लोक के समान है उसको रखना चाहिये अन्य जो लोकवत् नहीं है उसका उपसंहार करना चाहिये ऐसा बतलाती हुई श्री देवकी अलौकिक अंश को कहती हैं, कि शंख चक्र, गदा, पद्म—इन आयुधों को तिरोधान कर दीजिये और अलौकिक श्री 'शोभा' का भी तिरोधान कीजिये एवं चार भुजाओं को छुपा लीजिये, और दो ही भुजा रखिये यह कथन मात्र एक उपलक्षण है तात्पर्य तो यह है कि लौकिकता से जो भिन्न प्रतीत होता है वह सब छुपा लीजिये, अलौकिक स्वरूप में यद्यपि लौकिकता की सत्ता अंशतः भी नहीं है तो भी लोगों के दिखाने भर के लिये उसको रखना आवश्यक है। यद्यपि चतुर्भुज रूप देवताओं के लिये साधारण जैसी बात है क्योंकि ब्रह्मा शिव इन्दु आदि देवताओं के तो चार मुख, तीन नयन एवं विभिन्न संख्या वाले बाहु आदि प्रसिद्ध है परन्तु सर्व साधारणों के प्रति वैसा चतुर्भुज रूप भी प्रकट करने योग्य नहीं यह प्रार्थना है ॥ ३० ॥

एवं स्तुत्वा प्रार्थयित्वा च विरोधं परिहरति—भगवती श्रीदेवकीजी माता तीन श्लोकों से इस प्रकार स्तुति एवं प्रार्थना करने के अनन्तर **'विश्वम्'** इस चतुर्थ श्लोक में विरोध का परिहार करती हैं, अथवा अलौकिक अर्ध अंश का उपसंहार करके लौकिक समान अर्ध अंश के रखने में भगवान् के सामर्थ्य के प्रतिपादन करने के लिये 'विश्व को स्वकुक्षि में रखना और स्वयं मेरी कुक्षि में रहना इस विरोधी गुण का अनुवाद कर उन दोनों में से एक गुण मेरे कुक्षिस्थ होना तो दिखाने मात्र है इस प्रकार विरोध के अभाव का प्रतिपादन करती हुई माता देवकी अविरोध का समर्थन करती हैं कि ब्रह्माण्ड नाम वाले अपने विराट् शरीर में **सृष्टि के समय** आप यथावकाश उसे **सङ्कुचित** किये बिना ही चतुर्दश लोकात्मक विश्व को धारण करते हैं। **प्रलये सूक्ष्मतया निवेशनं भवतीति निशान्त इत्युक्तम्**—**"निशान्ते"** पद से प्रलय रूप निशा की समाप्ति हो जाने पर आने वाला सृष्टि का काल सूचित होता है, प्रलय काल में तो सूक्ष्म रूप से विश्व की ब्रह्म में स्थिति होती है, स्थूल रूप से नहीं अतः प्रलय की समाप्ति होने पर उपस्थित होने वाले सृष्टि काल का निर्देश 'निशान्त' शब्द से किया गया है। **'यथाऽवकाश'** शब्द के द्वारा **'किर्मीरतया'** सङ्कुचित रूप से स्थिति का निषेध किया है, कि अवकाश बना रहे अपेक्षित विकास में कोई बाधा न आवे उस प्रकार विश्व का धारण आप सृष्टि काल में करते हैं। यदि पूछा जाय कि इसमें प्रमाण क्या है तब इस आशङ्का का समाधान करने के लिये **'पुरुषः'** और **'परः'** इन दो पदों का प्रयोग हुआ है, श्री देवकी कहती हैं कि आप ही पुरुष हैं और आप ही पर हैं, वृक्ष आदि के समान व्यष्टिरूप एकदेशी भी आप हैं और वन आदि के समान समूहात्मक समष्टिरूप सर्वदेशी भी आप हैं। अतः आप से विश्व का विकास के साथ धारण करना वन और वृक्ष के दृष्टान्त से सर्वथा सुसंगत है। इस विषय के प्रतिपादन में किसी भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रह जाती, इस विषय में भगवान् की सम्मति के सूचनार्थ **'भवान्'** पद का उपयोग हुआ है, कि आप से आप का स्वरूप तो अज्ञात नहीं आप तो विदित ही हैं कि आप ऐसे ही हैं। उक्त सम्मति के

प्रदर्शन से श्रीदेवकी को अपना भगवद्विषयक माहात्म्यज्ञान हो जाने का भगवान् को अच्छी तरह से जनाना अभीष्ट है, इस प्रकार विश्व के आधारभूत होकर भी आप मेरे गर्भस्थ हुए यह महान् आश्चर्य है। यद्यपि परस्पर सर्व विरुद्ध धर्मों के आश्रयरूप भगवान् के विषय में यह आश्चर्य की बात नहीं फिर भी श्रीदेवकी अपनी प्रतीति से आश्चर्य मान कर विरोध का परिहार करती हैं कि यह तो मनुष्यमात्र का महान् अनुकरण है। श्लोक में अहो अव्यय का उल्लेख आश्चर्यसूचक है, मनुष्यमात्र का अनुकरण ही उक्त शंका का समाधान है। बड़े लोग भी छोटों का अनुकरण करते हैं जैसे मनुष्य बच्चों को खुश करने के लिये बिडाल का अनुकरण करता है। अब श्लोक में 'महत्' पद आया उसका आशय बताते हैं फिर भी ब्रह्माण्ड शरीर धारी पुरुषोत्तम की परम सूक्ष्मता आश्चर्यरूप है इस शङ्का को हटाने के लिये मूल में 'महद्' पद का प्रयोग किया है कि आप का यह अनुकरण भी महान् है, भगवन् आप का यह अनुकरण है यह तो सत्य है लेकिन ऐसा अलौकिक अनुकरण लोकसाधारण अनुकरण नहीं, इस कथन से श्रीदेवकी ने अपने गर्व का अभाव सूचित किया है कि मेरा क्या सामर्थ्य है जो आपको धारण कर सकूँ यह तो सब आप की अनुकंपा है और आप ही का खेल है ॥ ३१ ॥

एवमुभयोः स्तोत्रे सम्प्रार्थने कृते भगवान् स्वस्य पुत्रत्वे तादृशरूपेण प्राकट्ये हेतुं वदन्—इस प्रकार वसुदेवजी और देवकी दोनों की की हुई प्रार्थना के सहित स्तुतियों के वर्णन करने पर भगवान् अपने पुत्र होने में एवं उस प्रकार से अलौकिक रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हुए उन दोनों माता-पिता के पूर्व जन्म के वृत्तान्त को सर्वथा ज्ञात कराने के लिये **त्वमेव पूर्वसर्गे भूः पृश्नि स्वायंभुवे**—इत्यादि चौदह श्लोकों द्वारा सूचित करते हैं। इन श्लोकों की १४ चतुर्दश-संख्या इस मर्म से रखी गई कि चतुर्दश विद्यावेद्य पूर्ण ब्रह्म पर तत्व ही श्रीदेवकी नन्दन रूप में प्रकट होते हैं इसमें कोई सन्देह या असम्भावना आदि करने का अवकाश नहीं है। इसकी प्रमाणिकता में चतुर्दश विद्यायें अपने समसंख्याक श्लोकों के मिष से उपस्थित है। ऋग्-यजुः-साम-अथर्व चार वेद, शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष यह षड् वेदाङ्ग और स्मृति-पुराण-मीमांसा-तर्क यह चार शास्त्र सब मिलकर चौदह विद्या है।

कारिका—पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो भजनं हरेः। कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया सह ॥ १ ॥
अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च। त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत् ॥ २ ॥
रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत् ॥ २½ ॥

पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो भजनं हरेः इत्यादि कारिका का विवेचनः—श्रीदेवकी वसुदेवों की पूर्व जन्म की स्थिति प्रथम श्लोक में कही है। द्वितीय श्लोक में उनका कार्य तप कहा है। तृतीय श्लोक में तपश्चर्या का प्रकार कहा है। चतुर्थ श्लोक में उनका भगवदाराधन हरिभजन कहा है। पञ्चम श्लोक में तपश्चर्या का काल बताया है। षष्ठ श्लोक में भगवान् की प्रसन्नता का कथन है। सप्तम श्लोक में वरदानार्थ भगवान् का प्रकट होना कहा है साथ में वर के लिये प्रार्थना भी कही है। ॥ १ ॥ अष्टम श्लोक में उनकी बुद्धि की अल्पता बतलाई है कि मोक्ष नहीं माँग सके इसका उल्लेख है। नवम श्लोक में उनका ग्राम्य सुख भोग का उल्लेख है। दशम, एकादश, द्वादश, इन तीन श्लोकों में भगवान् के तीन बार भूतल पर अवतार ग्रहण करने का निर्देश किया गया है। भगवान् का कहा हुआ सत्य वचन लौकिक सत्य और वैदिक सत्य इन दोनों से अधिक महत्त्व रखता है, इस मर्म की सूचना तीन बार अवतार ग्रहण से होती है। लौकिक सत्य एक गुण है वैदिक सत्य द्विगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवत्तर भगवत्सत्य त्रिगुण है। इसलिये लौकिक वैदिक दोनों सत्य से अधिक बलवत्तर भगत्सत्य है लौकिक सत्य वह है कि इस जन्म में कहा हुआ इसी जन्म में फलित हो। वैदिक सत्य जन्मान्तर में भी फलित होता है। भगवत्सत्य तो मोक्ष पर्यन्त जितने भी जन्म हों सर्वत्र फलित होता है ॥ २ ॥ त्रयोदश श्लोक में भगवत्स्वरूप के दर्शन का कार्य पूर्व जन्मों का स्मरण कहा है। चतुर्दश श्लोक में स्नेह रूप महान् साधन का निर्देश किया है ॥ २½ ॥

प्रथमं स्थितिमाह—अब भगवान् श्रीकृष्णजी माता-पिताजी के पूर्व जन्म की स्थिति को कहते हैं कि पूर्व सृष्टि काल में जब सर्व प्रथम ब्रह्माण्ड की रचना हुई तब प्रथम कल्प में अथवा इस वर्तमान कल्प से पूर्व कल्प में हे सति! आप पृश्नि के रूप में थी। श्री भगवान् माता देवकीजी को और भक्ति को देख कर आर्द्र हो गये और स्नेहातिशय के कारण माता श्री देवकी को ही सती पद से सम्बोधित कर साक्षात् माता के प्रति ही वचन कहते हैं कि माताजी, उस समय आप का पृश्नि नाम था, आप ही पृश्नि हुई थी, उस समय स्वायम्भुव मन्वन्तर था। भगवान् ने यहाँ पर सती पद से सम्बोधित कर श्री देवकी माताजी के प्रति अधिक कृपा होने का कारण निर्दिष्ट किया है कि पातिव्रत्य धर्म की महत्ता ही वैसी कृपा का कारण है। उस समय यह श्री वसुदेवजी भी सुतपा इस नाम से प्रसिद्ध प्रजापति हुए थे। यह सुतपा प्रजापति मरीचि आदि की भाँति ब्रह्मा के पुत्र होने से प्रजापति कहे गये, और महर्षि कर्दम प्रजापति की भाँति स्वभाव से ही यह थे काम, क्रोध और लोभ आदि दोषों से रहित अकल्मष मुनि ॥ ३२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एतद्रूपप्रदर्शने को दोष इत्याशङ्क्य रूपान्तरं कथंचिद्गोपयितुमपि शक्यम्, इदं तु न तथा । तथा चास्यां विष्णुः प्रादुर्भविष्यतीति श्रुतवतः कंसान्महद्भयं स्यादित्याशयेनाह–जन्मेति । असौ पापाचारः कंसो मयि ते तव जन्म मा विद्यात् न जानातु । यतः पूर्वं बहवः पुत्राः कंसेन विहिंसिता अत इदानीं भवत एव हेतोः निमित्तात् कंसादहं समुद्विजे बिभेमि तर्हि पूर्वोक्ते मत्प्रभावे तव किंनिश्चयो नास्तीत्याशङ्कानिरासाय सम्बोधयति-मधुसूदनेति । महाबलपराक्रमं मधुदैत्यं हतवतस्तव कंसहनने कः सन्देह इत्याशयः । तर्हि कथं बिभेषीत्याशङ्क्याह–अधीरधीरिति ॥ २९ ॥ 'प्रत्यक्षं मा कृथा' इत्युक्तमेव स्पष्टयति–उपसंहरेति । अदो रूपमुपसंहर । रूपोपसंहारो नाम स्वरूपान्तर्भावः; तस्मिन् सति अवतार एव निष्फलः स्यादित्याशङ्क्याह–अलौकिकमिति । तदेव दर्शयति—शङ्खेत्यादि । तथा चालौकिकमुपसंहृत्य लौकिकसदृशेन रूपेणैव स्थेयमित्यर्थः । सङ्कल्पमात्रेण विश्वरूपेणैव स्थेयमित्यर्थः । सङ्कल्पमात्रेण विश्वरूपेण स्थितस्यैवंकरणायासस्तु तव नास्त्येवेत्याशयेन सम्बोधयति–विश्वात्मन्निति ॥ ३० ॥ ननु "किमिति रूपमिदमुपसंहर्तव्यमेव । एवंभूतेन मया पुत्रेण महती श्लाघा स्यात् । कंसहनने त्वहं समर्थ एवेति तद्भयं तु त्वया नैव कर्तव्यम्" इत्याशङ्क्याह–विश्वमिति । यत् यतः परः पुरुषो भवान् निशान्ते प्रलयावसाने सृष्टिस्थितिसमये एतदसङ्ख्यातब्रह्माण्डात्मकं विश्वं स्वतनौ स्वशरीरे यथावकाशमसङ्कीर्णं यथा भगवति तथा बिभर्ति धारयति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदिति यत्तत् हि यस्मात् नृलोकस्याहो विडम्बनमतिशयेनोपहासास्पदम्, असम्भावितत्वात् । तस्माददो रूपमुपसंहरेति शेषः ॥ ३१ ॥ एवं पितृभ्यां संस्तुतः सम्प्रार्थितश्च भगवांश्चतुर्भुजादिरूपेणाविर्भावे कारणमाह—त्वमिति चतुर्दशभिः । पूर्वे सर्गे इतस्तृतीये पूर्वजन्मनि स्वायम्भुवे मन्वन्तरे हे सति मातः ! त्वमेव पृश्निर्नाम अभूः । तदाऽयं वसुदेवः अकल्मषः सर्वदोषरहितः सुतपानाम प्रजापतिरभूत् ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

जन्मेति ॥ हे मधुसूदन ! असौ पापः कंसो मयि ते तव जन्म मा विद्यात् न जानातु । यतः अधीरा धैर्यरहिता धीर्यस्याः सा अहं भवत एव हेतोः निमित्तात् कंसात् समुद्विजे बिभेमि ॥ २९ ॥ उपसंहरेति ॥ हे विश्वस्यात्मन् ! अलौकिकं दिव्यं शङ्खचक्रगदापद्मानां श्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् अदः इदं रूपम् उपसंहर गोपाय उपसंहृत्य च बालकाकारो भवेत्यर्थः ॥ ३० ॥ विश्वमिति ॥ यत् यतः परः पुरुषो भवान् निशान्ते प्रलयावसाने सृष्टिस्थितिसमये एतदसंख्यातब्रह्माण्डात्मकं विश्वं स्वतनौ स्वशरीरे यद्वा स्वतनुरूपे निशान्ते गृहे "निशान्तपस्त्यसदनभवनागारमन्दिरम्" इत्यमरः । यथावकाशमसंकीर्णं यथा भवति तथा बिभर्ति धारयति। सोऽयं मम गर्भगोऽभूदिति यत्तत् हि यस्मात् नृलोकस्याहो विडम्बनमनुकरणमुपहासास्पदम् ॥ ३१ ॥ त्वमेवेति ॥ पूर्वसर्गे इतस्तृतीये पूर्वजन्मनि स्वायंभुवे मन्वन्तरे सति विद्यमाने त्वमेव पृश्निर्नाम अभूः तदाऽयं वसुदेवः अकल्मषः सर्वदोषरहितः सुतपा नाम प्रजापतिरभूत् ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

जन्मेति ॥ किं च हे मधुसूदन, पापः पापरूपः, असौ कंसः, मयि, ते तव, जन्म मा विद्यात् न जानात्वित्यर्थः । तत्र हेतुमाह । भवद्धेतोः त्वन्निमित्तं, अहं कंसात्, समुद्विजे बिभेमि । यतोऽहं, अधीरधीः धैर्यरहितबुद्धित्वाद्बिभेमीत्यर्थः ॥ २९ ॥ ॥ उपेति ॥ हे विश्वात्मन्, शङ्खचक्रगदापद्मानां या श्रीस्तया, जुष्टं, चत्वारो भुजा यस्मिंस्तत्, अतः अलौकिकं प्राकृतजनेष्वसंभावितमित्यर्थः । अदः एतत्, रूपं उपसंहर तिरोधत्स्व ॥ ३० ॥ स्वनाभिकमलस्थाखिललोकापरिच्छिन्नवैभवं भगवन्तं स्वगर्भेण धृतवत्यस्मीति विस्मयमानाऽऽह ॥ विश्वमिति ॥ निशान्तः प्रलयस्यान्तः सृष्टिदशेति यावत् । तस्मिन्, स्वतनौ स्वतन्वेकदेशभूते नाभिकमले इत्यर्थः । परः पुरुषः परमपुरुष इत्यर्थः । भवान्, यत् एतत् विश्वं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगदित्यर्थः । यथावकाशं, बिभर्त्ति, सः अयं परमपुरुषः त्वमेव, मम गर्भगः अभूत् । एतत् महत्, नृलोकस्य, विडम्बनं, अहो आश्चर्यरूपम् । विडम्बनं हि तदिति पाठे, अहो चित्रकृत् तत् तव नृलोकस्य विडम्बनम् ॥ ३१ ॥ तदेवं पितृभ्यां संस्तुतः प्रार्थितश्च भगवान् स्वासाधारणदिव्यविग्रहप्रदर्शननिमित्तं विवक्षुस्तदुपोद्घातरूपमितिहासमाह त्वमित्यादिना एतद्वामित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ त्वमेवेति ॥ हे सति, पूर्वसर्गे इतस्तृतीये पूर्वजन्मनि, स्वायंभुवे स्वायंभुवमन्वन्तरे सति, त्वं एव, पृश्निः पृश्निनाम्ना प्रसिद्धा योषित्, अभूः । तदा, अयं तव भर्त्ता वसुदेवः, सुतपा नाम सुतपा इति नाम्ना प्रसिद्धः, अकल्मषो विशुद्धः, प्रजापतिः, अभूत् ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

उपसंहरेति : १०.३.३०.

सत्पुत्रसौख्यमनिशं यदि मे ददासि त्वं कौतुकेन यदि वेच्छसि मातृसौख्यम् ।
तद्ध्यानधिष्ण्यमधिमानसमस्तरूपं साधारणं च बहिरस्त्वखिलान्यबालैः ॥ १०४ ॥
रूपेण चेद्विहरसे त्वमनेन भूयादुच्छिन्नमेव जपयोगतपोविधानम् ।
स्यात्तारतम्यमसतामपि वा न भक्तिभाजामतो भव विभो भुवि भावदृश्यः ॥ १०५ ॥

न दारिद्र्यं लक्ष्मीः कृतविविधयत्नापि तिमिरं न चार्कः संपश्यत्यपि सुरनदीपापनिचयम्।
तथेशैतद्रूपस्त्वमपि न च पश्यस्यरिगणानतो धृत्वा रूपं लघु जहि खलान् कंससहितान्॥ १०६॥

विश्वं यदेतदिति : १०.३.३१.

तातोऽपि सर्वजगतां जनपालकोऽपि नित्योऽप्यनन्तशयनोऽपि च चित्सुखोऽपि।
जातो मयीति भुवनेषु विडम्बनाऽपि सौख्यं हरे दिशति खल्वितरैर्दुरापम्॥ १०७॥

कृष्णप्रिया

हे मधुसूदन ! यह पापात्मा कंस मुझ में आप के जन्म को न जान पावे, मैं आपके कारण कंस से डरती हूँ, मेरी बुद्धि अधीर हो रही है धैर्य धारण नहीं कर पाती ॥ २९ ॥ हे विश्वात्मन् ! शङ्ख चक्र गदा पद्म और अलौकिक शोभा से सम्पन्न इस अलौकिक रूप का उपसंहार संगोपन कर लीजिये ॥ ३० ॥ श्री ब्रह्माजी की रात्री के अन्त में सृष्टि काल में इस समग्र विश्व को विश्व का किसी भी अंग का संकोच किये विना आप अपने ब्रह्माण्ड शरीर में धारण करते हैं, आप ही परम पुरुष पुरुषोत्तम हैं। आज वह पूर्णपुरुष ब्रह्माण्डविग्रह मेरे गर्भगत हुआ यह परम आश्चर्य है, मैं मानती हूँ कि मनुष्य लोक का महान् अनुकरण है ॥ ३१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णजी ने कहा कि हे सति ! पूर्व सृष्टिगत स्वायम्भुव मन्वन्तर में आप ही प्रश्नि नाम वाली हुई थी, और उस समय यह श्रीवसुदेवजी सुतपा नाम के कामादि दोषों से रहित प्रजापति हुए थे ॥ ३२ ॥

युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः। [1]संनियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः॥ ३३॥
वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु। सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ॥ ३४॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा। मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः॥ ३५॥
एवं वां तप्यतोर्भद्रे[2] तपः परमदुष्करम्। दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः॥ ३६॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः— यदा ब्रह्मणा प्रजासर्गे युवां आदिष्टौ (तदा) इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य परमं तपः तेपाथे॥ ३३॥ वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणान् अनु सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ मत्तः कामान् अभीप्सन्तौ शीर्णपर्णानिलाहारौ उपशान्तेन चेतसा मदाराधनम् ईहतुः॥ ३४ ३५॥ हे भद्रे ! परमदुष्करम् तपः तप्यतोः मद् आत्मनोः द्वादश दिव्यवर्षसहस्राणि ईयुः॥ ३६॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तेपाथे तपः कृतवंतौ॥३३-३४॥ ईहतुः कृतवंतावित्यर्थः॥३५॥ तप्यतोराचरतोः। ईयुर्गतानि। मदात्मनोर्मच्चित्तयोः॥३६॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

प्रजासर्ग तादर्थ्ये सप्तमी तेपाथे आत्मनेपदमार्षम्॥ ३३॥ तपसः परमत्वमाह–आतपः सौरतापः घर्मो निदाघोत्थतापः। वर्षाद्या घर्मांताश्च ते कालगुणास्तान्। श्वासरोधेन प्राणायामेन विनिर्धूतं निरस्तं मनोमलं चांचल्यं याभ्यां तौ तथा॥ ३४॥ शीर्णपर्णानि वायुपातितपत्राणि। ईहतुश्चक्रतुः 'इह–चेष्टायाम्' परस्मैपदमार्षं तत्त्वादेवामभावश्च॥३५॥ एवं वर्षादिसहनादिप्रकारेण। वां युवयोः॥ ३६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

वै प्रसिद्धौ स्मरणे वा ततस्तदानीमेवेति ब्रह्मादेशपालनपरतोक्ता सन्नियम्येति च शान्तिनिष्ठा अत एव परमम् अनेकार्थस्य तपेः तपः कृत्यर्थव्यक्त्य एव तपःशब्दो ऽनूद्यते इत्यभिप्रेत्य तैर्व्याख्यातं तेपाथे तपः कृतवन्ताविति किन्तु उक्तार्थानामप्रयोग इति तत्र कृतवन्तावित्येवार्थः। पर्यवस्यति तत एव चान्वितं स्यादिति॥ ३३॥ तप एव दर्शयति–वर्षेति युग्मकेन। वर्षादीन् कालस्य गुणान् अनु निरन्तरं सहमानौ आतपः साक्षात् रविरश्मितापः घर्म औष्ण्यम् यद्वा आतपः शारदस्य रवेः घर्मो नैदाघस्य किञ्च श्वासरोधः प्राणायामस्तेन प्रथमं सामान्यतो धूता नाशितास्ततो यावदुपलभ्यन्ते तावन्निःशेषेण धूतास्ततः स्वयमनुपलभ्यमानाया अपि सुक्ष्मतमवासनाया उच्छेदनेन विशेषेण निर्धूता मनसो मलाः कामादयो याभ्यां तौ एतेन यत्किञ्चित्त्वमध्यमत्वयावत्वक्रमेण तयोराग्रहाधिक्यं बोधितम् अत एव उपशान्तेन सुस्थिरेण किंवा मन्निष्ठेन शमो मन्निष्ठता बुद्धिरित्युक्ते इति शान्तिनिष्ठा मत्तः पुत्रभूतात् कामान् जनकभावोचितसुखानि प्रजासर्ग इत्युक्तत्वात् मादृशो वां वृतः सुत इति वक्ष्यमाणत्वाच्च॥ ३--३५॥ भद्रे ! हे परमभाग्यवतीति तत्र योग्यतोक्ता यद्वा भद्रवने माथुरक्षेत्र एवात्र मय्येव आत्मा चित्तं ययोरिति कामान्तरं निरस्तम् इत्युपरतिनिष्ठा॥३६॥

---

१. रुद्ध्ये–इति कस्यचित्। २. तोस्तीव्र–श्रीधर. वंशी. मक्त. ; तोर्भद्रे–गिरि.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

वै प्रसिद्धौ स्मरणे वा। ततस्तदानीमेवेति ब्रह्मादेशपालनपरतोक्ता। इन्द्रियग्रामं सर्व्वाण्येवेन्द्रियाणि सम्यक् नियम्येति च दान्ति निष्ठा; अतएव परमम्॥ ३३॥ तदेव दर्शयति—वर्षेति द्वाभ्याम्। वर्षादीन् कालस्य गुणान् स्वभावाननु निरन्तरं सहमानावतपः साक्षाद्रविरश्मितापो घर्म औष्ण्यम्। किञ्च, श्वासरोधः प्राणायामस्तेन विशेषेण सम्यक्तया निःशेषेण च समूलतया धूता नाशिता मनसो मलाः कामादयो याभ्यां तौ। अतएवोपशान्तेन सुस्थिरेण; किंवा, मन्निष्ठेन (भा० ११।१९।३६) 'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः' इति श्रीभगवदुक्तेरिति शान्तिनिष्ठाकामान् मत्पुत्रतावरान्—गौरवेण बहुत्वम्॥ ३४-३५॥ भद्रे! हे परमभाग्यवतीति तत्र योग्यतोक्ता; यद्वा, भद्रवने माथुरक्षेत्र एवात्र मय्येवात्मा चित्तं ययोरिति कामान्तरं निरस्तमित्युपरति-निष्ठा॥ ३६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सति यदा युवां ब्रह्मणा चतुर्मुखेन प्रजासर्गे निमित्ते चेत् आदिष्टावाज्ञप्तौ तत इन्द्रियग्राममन्तर्बाह्येन्द्रियगणं सम्यक् नियम्य निगृह्य परममुत्कृष्टं तपः तेपाथे चक्राथे पाकं पचतीतिवन्निर्देशः॥ ३३॥ तपसः परत्वमेव दर्शयितुं तौ विशिनष्टि—वर्षवातातपेत्यादि। वर्षादीन् कालगुणाय ऋतुधर्माननुक्रमेण प्राप्तान् सहमानौ घर्मातपजं स्वेदोदकं "घृ क्षरणे" इति धातुः श्वासनिरोधेन प्राणवायुनिरोधेन निर्धूतं मनसो मलं रजस्तमोभ्यामभिभवरूपं ययोर्जीर्णानि वृक्षेभ्यो गलितानि पर्णान्यनिलश्च आहारो ययोस्तथाभूतौ मत्सकाशात्कामानभीष्टार्थानभीप्सन्तौ उपशान्तेन रागादिभिरकलुषितेन चेतसा मदाराधनमीहतुः ईहाञ्चक्रान्ते कृतवन्तौ इत्यर्थः। आर्षत्वादिजादेरित्यामभावस्तङ्भावश्च अनुदात्तेत्वलक्षणात्मनेपदस्य चक्षिङ्ङित्करणादनित्यत्वाद्वाऽधिजिहीर्षिभवच्छब्दसामानाधिकरण्याभिप्रायकः प्रथमपुरुषप्रयोगः॥ ३४-३५॥ हे भद्रे! एवमित्थं परमदुष्करं च तपश्चरतोर्मय्येवात्मा मनो ययोस्तयोर्युवयोर्दिव्यादि न देवमानपरिमितानि वर्षाणि वर्षाणां वत्सराणां सहस्राणि द्वादश ईयुर्व्यतिक्रान्तानि बभूवुः॥ ३६॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रजासर्गे तादर्थ्ये सप्तमी ततस्तदा॥ ३३॥ अनुक्रमेण वर्षादिगुणान् सहमानौ श्वासरोधः प्राणायामस्तेन॥ ३४॥ शीर्णपर्णं वायुना पतितपत्रं कामान् पुत्रादिलक्षणान्॥ ३५॥ वां युवयोः॥ ३६-३७॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अनेकार्थस्य तपेः तपःकर्मकक्रुत्यर्थव्यक्तय एव तपःशब्दोऽनूद्यते आतपः शारदस्य रवेः घर्मो नैदाघस्य मत्तः पुत्रभूतात् कामान् जनकभावोचितसुखानि प्रजासर्ग इत्युक्तं मादृशो वां वृतस्सुत इत्यग्रतश्च वक्ष्यते॥ ३४-३६॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

आतपः सौरकिरणोत्थस्तापः घर्मो निदाघोत्थः॥ ३४-३५॥ मदात्मनोर्मच्चित्तयोः॥ ३६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

परमं ममाराधनात्मकं तपः तेपाथे कृतवन्तौ॥ ३३॥ वर्षादीन कालगुणान् सहमानौ तत्र घर्मशब्दः प्रस्वेदवाचकः "घृ क्षरणे" "स्वेदे घर्म्मः स्वेदने च" इति हैमः॥ ३४-३५॥ तपस्तप्यतोः आचरतोः ईयुर्गतानि॥ ३६॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

एवमिति। अत्र भद्रे इत्येकवचनं संबुद्धौ सत्यां वां तप्यतोरिति द्विवचनेन विरोधोऽत उच्यते मातापित्रोर्मध्ये मातुरपत्यकृते परमश्रमप्राप्त्या मातृदेवो भवेति श्रुतावपि मातुरेव पूर्वग्रहणाच्चात्रापि देवक्या एवाव्यवहितस्तुत्या वसुदेवस्य निर्व्यूहमानां निह्नविष्यसे चमूमित्युक्त्या भावाभावेन स्वयमेव सन्मुखत्वाद्देवक्यास्तु समुद्विजे भवेद्धेतोः कंसादहमधीरधीरित्युक्त्या स्त्रीजात्या च सभयत्वदर्शनात्। अतिकृपया देवक्या एव संबुध्या तामेव संमुखीकृत्योभौ प्रति भाषणं। अतो न विरोधः। यद्वा। भद्रे स्वकल्याणविषये परमं दुष्करं तपस्तप्यतोर्वां युवयोरिति योजना। अग्रेऽनघे इत्यत्रापि पापाभावे इत्यर्थो ज्ञेयः। अथवा। मातापित्रापरपर्यायतीर्थे शब्दविवक्षया भद्रे अनघे इति नपुंसकसंबुद्धिद्विवचनप्रयोगः। अतो न विरोधः॥ ३६-३७॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ब्रह्मणा विधिना प्रजासर्गे तदर्थमिन्द्रियग्राममिन्द्रिसमूहं सन्नियम्य परममुत्कटं तपस्तेपाते। ते पाथे इति पाङ्क्तः पाठः। प्राथमिके पाठे गतिर्वक्तव्या॥ ३३॥ वर्षवातातपहिमघर्मादयः कालगुणास्ताननुक्रमतः सहमानौ श्वासस्य निरोधेन विनिर्धूतं मनोमलं याभ्यां तौ॥ ३४॥ शीर्णपर्णानि चानिलो वायुश्चाहारो ययोस्तौ उपशान्तेनैव समाहितेन चेतसा मत्तः कामान्वि-

षयानभीप्सन्तौ मदाराधनकृतवन्तौ गतम् ॥ ३५ ॥ तप्यतोस्तपः कुर्वतोर्मदात्मनोर्मय्यात्मा मनो ययोरहमात्मा स्वामी ययोरिति वा दिव्यानि देहसम्बन्धीनि द्वादशवर्षसहस्राणीयुर्गतानि ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एतादृशौ पूर्वं स्थितौ तादृशौ प्रति ब्रह्मण आज्ञामाह **युवामिति, प्रजासर्गे ब्रह्मणादिष्टौ** तदा ततस्तदनन्तरमेव क्वचिद् देशविशेषे सन्नियम्येन्द्रियग्रामं ततः प्रभृति सम्बन्धमकृत्वा **परमं तपस्तेपाथे**, सर्वेन्द्रियनिरोधेन सर्वाहारपरिवर्जनेन वाय्वादिनिरोधे विहिते शरीरे सन्तापजननात् **तपो भवति, परममुत्कृष्टं** भगवद्विषयकत्वात्, एवं तस्मिन् जन्मनि कार्यमुक्तम् ॥ ३३ ॥

तस्य तपसः प्रकारमाह **वर्षवातेति**-वर्षवातयोः सहनं प्रावृट्कालेनावृतदेशेऽन्तरिक्षे स्थित्वा, **आतपसहनं** पञ्चाग्निप्रकारेण, हिमसहनं जलवासादिना, **घर्मः** कालान्तरीयोऽपि, **कालगुणा** अन्येऽपि शीतादयः साधारणाः, तेषामप्रतीकारेण स्थितिरेव सहनं, उभावपि **सहमानौ** न त्वेकस्तपः करोत्यपरस्तत्सेवामिति ॥ ३४ ॥

तादृशयोर्भगवत्सेवामाह **शीर्णेति**, कियत्कालतपसा चित्ते शुद्धे भगवत्सेवैव कार्या नान्यथेति ज्ञात्वा तपः कुर्वाणावेव परिचर्यां कृतवन्तौ सर्वथाहाराभावे बहिस्संवेदनाभावे चोभयोः परिचर्या न भवतीति यादृशेन तपसा परिचर्यां कृतवन्तौ स विशेष उच्यते, **शीर्णानि पर्णान्यनिलो** वायुश्चाहारो ययोः, **परमोपशान्तिः** शुद्धसात्त्विकगुणाविर्भावः, स एवोपशमः, सोऽपि चित्तस्य स्वभावत एव चेज्जातस्तदोपशान्तं चित्तं भवति, एवं **शमा नियमाश्चोक्ताः, मत्तो हरेरेव, कामान्** पुत्रादीनभीप्सन्तौ सकामो मदाराधनं मत्परिचर्यामीहतुः कृतवन्तौ ॥ ३५ ॥

एवं तिष्ठतोर्यावान् कालो जातस्तमाहैवमिति, **भद्रे** इतिसम्बोधनं स्त्रीपुम्भावेन स्थितयोः सौभाग्यबोधनार्थं, उत्तरोत्तर-तपोवृद्धौ परमदुष्करता, **द्वादश दिव्यवर्षसहस्राणि** चतुर्युगं, युगधर्मा अपि तयोर्बाधका न जाता इतिज्ञापनार्थं, तावत्कालं देहस्थितौ हेतुर्मदात्मनोरिति, अहमेवात्मनि ययोः ॥ ३६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

सुबोधिन्यामेवं वामित्यत्राहमेवात्मनि **ययोरित्यत्र सप्तमीविशेषणे** बहुव्रीहावितिज्ञापकाद् व्यधिकरणपदे बहुव्रीहौ गडवादेः परा सप्तमीति **परनिपातः 'पद्मनाभ'** इतिवत् ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

युवां वै ब्रह्मणेत्यत्र भगवद्विषयकत्वादिति, भगवन्तमुद्दिश्य कृतत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥ **वर्षवातेत्यत्रान्तरिक्षे स्थित्वेति**, वृक्षाद्युपरि स्थित्वा वातसहनमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूरित्यत्र **पूर्वस्थितिरित्यादि,**

पूर्वस्थितिस्तथाकार्यं प्रकारो भजनं हरेः । कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया सह ॥ १ ॥
अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च । त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत् ॥ २ ॥
रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत् ॥ २½ ॥

अत्र भगवदुक्तानां चतुर्दशश्लोकानां वाक्यार्थ उक्तस्तत्र 'त्वमेव पूर्वसर्गेऽभू'रितिप्रथमश्लोके नन्दयशोदयोः पूर्वजन्म-स्थितिरुक्ता, 'युवां वै ब्रह्मणादिष्टा' वित्यत्र तपोरूपं काय, 'वर्षवाते'त्यत्र तस्य तपसः प्रकारः, 'शीर्णपर्णे' त्यत्र हरेर्भजनं, 'एवं वां तप्यतोर्भद्रे, इत्यत्र दिव्यद्वादशसहस्रवर्षात्मकस्तपसः काल 'स्तदा वां परितुष्टोह'मितिभगवत्तोषः, 'प्रादुरासं वरदराडि'तिश्लोके भगवदाविर्भावो वरप्रार्थनया सहितः, 'अजुष्टग्राम्यविषया'वित्यत्र तयोरसद्बुद्धित्वमुक्तं मोक्षयाचनाभावात्, 'ग्राम्यान् भोगा'नित्यत्र भोगः, 'अदृष्ट्वे' त्यादित्रिभिर्भगवतो **जन्मत्रितयं** वारत्रयं, पुत्रत्वे हेतुं त्रिगुणमित्यादि, लौकिकमेकगुणं वैदिकं द्विगुणं भगवदीयं सत्यं त्रिगुणमिति, 'एतद् वां दर्शितं रूप'मितिश्लोके पूर्वजन्मस्मरणात्मकं रूपदर्शनकार्यं, चतुर्दशे 'युवां मां पुत्रभावे'नेत्यत्र स्नेहात्मकं महत् साधनमिति ॥ ३३ ॥

बुभुत्सुबोधिका

युवां वा इत्यत्र एतादृशावित्यादौ 'पुमान् स्त्रिये'त्यनेनैकशेषः । क्वचिदित्यादि न्यूनपूरणम् । सन्तापेति द्वितीयस्कन्ध-नवमाध्यायोक्तराद्धान्तीयसन्तापस्य वक्ष्यमाणकामस्फूर्त्यर्थं जननादित्यर्थः । भगवद्विषयकत्वादिति भगवन्तमुद्दिश्य कृतत्वात् ॥ ३३ ॥ वर्षवातेत्यत्र अन्तरिक्ष इति वृक्षाद्युपरि । पञ्चाग्नीति चत्वारः सर्वतः उपरि सूर्य इति पञ्चाद्यग्नयः । उभावपीति दम्पती ॥ ३४ ॥

शीर्णपर्णेत्यत्र 'सती' त्युक्तत्वाद् धर्मातिशयात् सेवा । द्वितीयत्वमात्रविवक्षयाऽपर इति पुंस्त्वम् । पूर्ववद्वा । भगवत्सेवामाहेति अखण्डब्रह्मज्ञानस्य वसुदेवं प्रत्युत्तरार्धे वक्तव्यत्वाज् ज्ञानाङ्गभगवत्सेवां 'भक्त्याग्राह्य भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति वेदाद् वेदरूपवसुदेवस्याहेत्यर्थः । कियत्कालतपसेति कर्मविशेषेण । यथाग्निना हेम्ना मले त्यक्ते ध्माते हेम्नि पुनः स्वं रूपं भजते तद्वत् शुद्धसात्त्विकगुणाविर्भावके चित्त इत्यर्थः । कार्यमिति भगवतः पुत्रत्वम् । सेवयैवेत्यत्रैवकारार्थमाहुः नान्यथेति । सेवां विना केवलतपस्त्वेन प्रकारेण । बहिःसंवेदनेति बहिर्ज्ञानाभावे । परिचर्येति तपसा भवति । स विशेष इति स तपोविशेषः । वसुदेवस्य स्वरूपलाभो जात इत्याहुः शुद्धसात्त्विकेति । यथा बुद्धिः सात्त्विकी गीतोक्ता तथा । स्वभावत इति अधिष्ठानकृतो विशेषः । अन्येषां साधनकृत उपशमः । 'शीर्णपर्णे'त्यनेन स्नानादयो यमा आराधनशब्देनाराधनादयो नियमा इत्याशयेनाहुः एवमिति । सकामाविति अनेन ज्ञानाङ्गभक्तिः सकामा 'अकामः सर्वकामो वे'ति वाक्यात् । न सगुणा भगवदधिष्ठानत्वात् । भगवदाविर्भावाच्च । सगुणत्वे भस्महोमप्रसङ्गः ॥ ३५ ॥

एवं वामित्यत्र दिव्यवर्षेति दिव्यं वर्षमस्मदादिषष्ठिवर्षाधिकत्रिशतं वर्षाणि, एतादृशां सहस्रसङ्ख्याकानि । चतुर्युगमिति कृतयुगप्रमाणं १७२८०००,त्रेतायुगप्रमाणं १२९६०००, द्वापरयुगप्रमाणं ८६४०००, कलियुगप्रमाणं ४३२०००, गतकलिप्रमाणं ४९४२ भोग्यकलिप्रमाणं ४२७८ । अहमेवात्मनीति अत्र सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहाविति ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदे बहुव्रीहौ गड्वादेः परा सप्तमीति परनिपातः पद्मनाभ इतिवत् । आत्मपदं देहवाचकम् । आत्मोपपदा । तथा च परिच्छिन्नदेहस्य व्यापकात्मत्वेन नित्यकस्य स्थितिस्तावत्कालमित्याश्चर्यम् । द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

पूर्व सर्ग में इसी प्रकार परम पतिव्रता श्री देवकीजी और काम क्रोध आदि कल्मषों से मुक्त ऐसे श्री वसुदेवजी थे दोनों पूर्व में दर्शित प्रकार की योग्यता से पूर्ण थे, उन दोनों की योग्यता देख कर उन दोनों के प्रति ब्रह्माजी की आज्ञा हुई, **"युवाम्"** आप दोनों प्रजा की सृष्टि के लिये सप्रयत्न बनें, तब ब्रह्माजी के आदेश पाते ही आप दोनों किसी विशेष स्थान पर रहकर इन्द्रियसमूह को वश में कर उस समय से लौकिक दाम्पत्य भोग सुख का त्याग कर परम तप करने लगे । आप दोनों ने सर्व इन्द्रियां के नियन्त्रण के साथ सर्व प्रकार के आहार का त्याग किया । आहार का त्याग कर देने के कारण वायु आदि के निरोध होने पर शरीर में सन्ताप के जन्म होने से तप स्वयं हो जाता है । श्री वसुदेव-देवकीजी ने यह तप भगवान् का उद्देश्य रूप में रखकर किया था अतः भगवद्विषयक होने से इस तप को **"तेपाथे परमं तपः"** अत्यन्त श्रेष्ठ या उत्कृष्ट कहा है । भगवान् ने बत्तीसवें श्लोक में श्री वसुदेव-देवकीजी के पूर्व जन्म की स्थिति दिखाई और इस श्लोक में इस प्रकार उस जन्म में जो दोनों ने तपश्चरण कार्य किया था उस कार्य का संकेत किया है ॥ ३३ ॥

तस्य तपसः प्रकारमाह—आचार्य चरण अब तपश्चर्या के प्रकार को **'वर्षवात'** इत्यादि श्लोक से कहते हैं । वर्षा ऋतु के समय पर अनावृत स्थान पर किसी वृक्ष आदि के ऊपर अन्तरिक्ष में बैठकर वर्षा और पवन का सहन करना यह वर्षा का तप है एवं पञ्चाग्नि प्रकार से चारों दिशाओं में अग्नि की धूनी धरवाकर स्थापित कर ऊपर से सूर्य के ताप को सहन करना ग्रीष्म का तप है । शीत काल में आकंठ शीत जल में निवास आदि के द्वारा हिमशीत का सहन करना शीत काल का तप है । पञ्चाग्नि ताप के काल से अतिरिक्त काल वाले घाम का भी सहन करना, एवं अन्यान्य तत्तत्समय के शीत आदि काल गुणों का सहन करना उन शीत आदि से बचने का उपाय न भी करना और उनमें ठहरे रहना ही उनका सहन है, इस प्रकार दोनों ही सहन करते रहते थे । यह बात नहीं थी कि एक तप करता हो और दूसरा उसकी सेवा करता हो ॥ ३४ ॥

तादृशयोर्भगवत्सेवामाह शीर्णेति—आचार्यचरण कहते हैं कि अब इस **"शीर्णपर्णानिराहारो"** श्लोक से तपस्या में निरत हुए उन दोनों के द्वारा सम्पन्न हुई भगवत्सेवा का निरूपण करते हैं । कुछ समय तपश्चर्या से चित्त की शुद्धि हो जाने पर भगवत्सेवा करनी चाहिये लेकिन बिना चित्त शुद्धि के सेवा करना उचित नहीं, ऐसा जानकर आप दोनों तपश्चर्या करते करते सेवा करने लगे । सर्वथा आहार न करने पर और बाह्य अनुसन्धान के न रहने पर भगवान् की सेवा नहीं हो पाती, इसलिये जिस प्रकार के तप के साथ सेवा की जाय उस प्रकार के विशेष को भगवान् कहते हैं कि माताजी ? झरे हुए पत्ते और पवन यह तो आप दोनों का आहार था, और आप का चित्त उपशान्त था । राजस, तामस, भावों से मुक्त शुद्ध सात्त्विक गुण भाव का चित्त में उदय होना ही परम उपशान्ति है, इसे ही उपशम कहते हैं । वह उपशम भी यदि चित्त का स्वतः सिद्ध स्वभाव हो जावें तब चित्त उपशान्त होता है । इस प्रकार भगवान् ने इन दोनों के यम नियमों का निरूपण किया । अब आगे भगवान् कहते हैं कि भक्त दुःख हारी मुझ हरि से ही पुत्र आदि अभीष्ट पदार्थों की कामना करते हुए सकाम भाव से आप ने मेरी आराधना और परिचर्या की ॥ ३५ ॥

एवं तिष्ठतोर्यावान् कालो जातस्तमाहैवमिति—अत्र आचार्यचरण इस श्लोक में दोनों का कितना काल बिता उस बात को कहते हैं, भद्रे यह सम्बोधन स्त्री पुरुष भाव से रहते हुए दोनों के सौभाग्य की सूचना देता है। उत्तरोत्तर क्रम से तप की वृद्धि होने पर तप की परम दुष्करता अधिक कठिनता बन जाती थी। ऐसे तप करते हुए बारह हजार दिव्य वर्ष बीत गये। देवताओं के १२००० वर्ष ही सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग, कलियुग, इन चारों युगों का कालमान है। भगवत् कृपा से तपश्चर्या में कलिकाल आदि के युगधर्मों ने भी बाधा नहीं पहुंचाई ऐसा बतलाने के लिये वैसा काल का निर्देश है। मदात्मनोः पद से—उतने समय तक देह की स्थिति रहने में कारण का निर्देश किया है कि मैं ही तुम दोनों की आत्मा या शरीर में उपस्थित था। आप दोनों ने मुझे ही हृदय में रखा था। इस श्लोक की व्याख्या में **'असकृत्'** और **'चिन्तयन्तौ'** इन दोनों पदों का उल्लेख नहीं मिलता है। उसका कारण चिन्त्य है, संभवतः श्री सुबोधिनी के प्रामाणिक आदर्श पुस्तक की अप्राप्ति और आगे कारिकाओं में चिन्तन का आकार एवं प्रकार को कहना है। इसलिए यहाँ पर उन पदों के व्याखयान को अनावश्यक समझा हो।

इस श्लोक में भद्रे! यह सम्बोधन श्री देवकी के प्रति ही प्रयुक्त हुआ है, अतः **"देवक्या सौभाग्यबोधनार्थम्"** इतना कहना ही पर्याप्त था फिर भी श्रीमदाचार्यचरणों की **"भद्रे इति संबोधनं स्त्रीपुंभावेन स्थितयोः सौभाग्यबोधनार्थं"** ऐसी पंक्ति इस आशय को व्यक्त कर रही हैं कि स्त्री पुरुष दोनों ही यदि स्वकर्तव्य परायण हो तब ही प्रत्येक का सौभाग्य सम्पन्न होता है अन्यथा उस सौभाग्य में अपूर्णता रहती है। पूर्ण सौभाग्यसूचक भद्रे यह सम्बोधन देवकी के सौभाग्य को बोध कराता हुआ दम्पती के सौभाग्य का बोधक है॥ ३६॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

वै इति। अत्र सन्देहो न कार्यः। युवां यदा ब्रह्मणा प्रजासर्गे निमित्ते आदिष्टौ ततः तदा इन्द्रियग्रामं सम्यक् नियम्य वशीकृत्य परममुग्रं तपस्तेपाथे कृतवन्तावित्यर्थः॥ ३३॥ तपसः परमत्वं दर्शयंस्तत्प्रकारमाह—वर्षेति। वर्षादीन् कालगुणान् ऋतुधर्माननुक्रमेण प्राप्तान् सहमानौ। घर्मः सूर्यकिरणसम्बन्धकृतस्तापः। आतपस्तु तत्सम्बन्धाभावेऽपि साधारणो ग्रीष्मऋतुजनमित्तोष्णतापश्चाग्निविधिनाग्निसम्बन्धकृतो वा। सहनं नाम तत्प्रतीकारोपायमुपेक्ष्य स्थितिः। श्वासः प्राणवायुस्तन्निरोधेन प्राणायामेन विनिर्धूता निवृत्ता मनोमलाः कामक्रोधादयो ययोस्तौ॥ ३४॥ शीर्णानि वृक्षेभ्यः स्वयं पतितानि शुष्काणि पर्णानि अनिलश्चाहारो ययोस्तौ, मत्तः सकाशात् कामानभीष्टानर्थानभीप्सन्तौ उपशान्तेन रागादिभिरकलुषितेन चेतसा मदाराधनमीहतुः। मम परिचर्यापूर्वकं ध्यानं कृतवन्तावित्यर्थः॥ ३५॥ हे भद्रे! मय्येवात्मा मनो ययोस्तयोर्वां युवयोरेवमुक्तप्रकारेण परमदुष्करमतितीव्रं तपस्तप्यतोः कुर्वतोः सतोर्दिव्यानां देवमानपरिमितानां वर्षाणां सहस्राणि द्वादशेयुरतिक्रान्तानि बभूवुः। एवं चतुर्युगव्यतीतेऽपि कलिकालादिधर्मास्तयोर्बाधका न जाता इति सूचितम्॥ ३६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

युवामिति॥ वै निश्चितम्। युवां यदा ब्रह्मणा प्रजासर्गे निमित्ते आदिष्टौ ततः तदा इन्द्रियग्रामं सम्यक् नियम्य वशीकृत्य परमं तपस्तेपाथे कृतवन्तावित्यर्थः। तपस्तपःकर्मकस्यैवेति कर्मकर्त्तरि लिट्॥ ३३॥ वर्षेति द्वयम्॥ वर्षं वृष्टिः वातः आतपः सूर्यकिरणतापः हिमं शैत्यं घर्मः ग्रीष्मज ऊष्मा एतान् कालगुणान् अनुक्रमेण निरन्तरं वा सहमानौ श्वासरोधेन प्राणायामेन विनिर्धूता मनोमलाः कामक्रोधादयो ययोस्तौ॥ ३४॥ शीर्णेति॥ शीर्णानि वृक्षेभ्यः स्वयं पतितानि शुष्काणि पर्णानि अनिलश्चाहारो ययोस्तौ मत्तः सकाशात्कामान् पितृभावोचितसुखानि अभीप्सन्तौ सन्तौ उपशांतेन रागादिभिरकलुषितेन चेतसा मदाराधनमीहतुः। आमृतङोरभाव आर्षः॥ ३५॥ एवमिति॥ हे भद्रे! मय्येवात्मा मनो ययोस्तयोर्वां युवयोरेवमुक्तप्रकारेण परमदुष्करमतितीव्रं तपस्तप्यतोः कुर्वतोः सतोः। कर्मकर्त्तरि लट् परस्मैपदमार्षम्। दिव्यानां देवमानपरिमितानां वर्षाणां द्वादशसहस्राणि ईयुर्गतानि॥३६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

युवामिति॥ युवां, ब्रह्मणा, प्रजासर्गे निमित्ते, यदा आदिष्टौ आज्ञप्तौ, ततः, इन्द्रियग्राममन्तर्बाह्येन्द्रियगणं, संनियम्य सम्यक् निगृह्य, परममुत्कृष्टं, तपः तेपाथे चक्राथे वै। पाकं पचतीतिवन्निर्देशः॥ ३३॥ तपसः परमत्वमेव दर्शयितुं तौ विशिनष्टि॥ वर्षेति॥ अन्वनुक्रमेण प्राप्तान्, वर्षश्च वातश्च आतपश्च हिमं च घर्मश्च ते ये कालगुणा ऋतुधर्मास्तान्, सहमानौ, तत्र घर्मः आतपजं स्वेदोदकं, 'घृ क्षरणे' इति धातोर्घर्म इति। श्वासनिरोधेन प्राणवायुनिरोधेन विनिर्धूतं मनसः मलं रजस्तमोभ्याममभिभवरूपं मानसं पापं ययोस्तौ, 'मलोऽस्त्री' इति मेदिनी॥ ३४॥ शीर्णेति॥ शीर्णानि वृक्षेभ्यो गलितानि पर्णानि पक्वपत्त्राणि अनिलो वातश्चाहारो भक्ष्यपदार्थो ययोस्तौ, मत्तः मत्सकाशात्, कामानभीष्टार्थान्, अभीप्सन्तौ प्राप्तुं वाञ्छन्तौ, भवन्तौ, उपशान्तेन रागादिभिरकलुषितेन, चेतसा चित्तेन, मदाराधनं मत्संतोषणं, ईहतुरीहांचक्राते कृतवन्तावित्यर्थः। आर्षत्वात् 'इजादेः'—इत्यामभावस्तङभावश्च। अनुदात्तेत्त्वलक्षणस्यात्मनेपदस्य चक्षिङो ङित्करणादनित्यत्वाद्वा अभिजिहीर्षितभवच्छन्दसामानाधि-

करण्याभिप्रायकः प्रथमपुरुषप्रयोगः। इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ ३५ ॥ एवमिति ॥ एवमित्थं, परममत्युत्तमं च तत् दुष्करमितरासाध्यं च तत्, अत एव, तीव्रमतितीक्ष्णं तपः, तप्यतोः चरतोः मय्येवात्मा मनो ययास्तयोः, वां युवयोः, द्वादश द्वादशसंख्याकानि, दिव्यानि देवमानपरिमितानि च तानि वर्षसहस्राणि च, यदा ईयुः, देवानां मानेन द्वादशवर्षसहस्राणि मानुषाणां मानेन विंशतिसहस्राधिकत्रिचत्वारिंशल्लक्षपरिमितानि वर्षाणि व्यतिक्रान्तानि बभूवुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

कृष्णप्रिया

हे माता ! ब्रह्माजी ने जब आप दोनों को प्रजा सृष्टि के निमित्त आदेश दिया, तब उस आदेश को प्राप्त करते ही आप दोनों ने इन्द्रिय वर्ग को वश कर परम तपश्चरण का आरम्भ कर दिया ॥ ३३ ॥ हे माताजी, आप दोनों वर्षा वायु, पञ्चाग्नि का ताप, शीत, एवं गर्मी आदि काल के गुणों को सहते रहते थे तथा प्राणायाम के द्वारा मन के मलों को संपूर्ण प्रकार से प्रक्षालित कर चुके थे ॥३४॥ वृक्षों के झरे हुए पत्तां का और कभी वायु का ही आहार कर लेते थे, और मुझ से पुत्र आदि कामनाओं को सिद्धि प्राप्त करने की चाहना रखते हुए शान्तचित्त से मेरे आराधन को करते थे, आप की आराधना पुत्रकाम की सकाम आराधना थी ॥ ३५ ॥ हे भद्रे ! इस प्रकार परम कठिन तप को करते हुए आप दोनों का देवताओं के बारह हजार वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत हो गया क्योंकि मैं तुम दोनों की आत्मा में स्थित था ॥ ३६ ॥

तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे । तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥ ३७ ॥
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया । व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः ॥ ३८ ॥
अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती । न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥ ३९ ॥
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् । ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः हे अनघे तदा वां तपसा च नित्यं श्रद्धया भक्त्या हृदि भावितः अहम् अमुना वपुषा परितुष्टः ॥ ३७ ॥ युवयोः कामदित्सया वरदराड् प्रादुरासम् व्रियतां वरः इति वाम् उक्ते मादृशः सुतः वृतः ॥ ३८ ॥ अजुष्टग्राम्यविषयौ अनपत्यौ च मम मायया मोहितौ दम्पती अपवर्गं वै न वव्राथे ॥ ३९ ॥ मयि गते युवाम् मत्सदृशं सुतम् वरम् लब्ध्वा प्राप्तमनोरथौ युवाम् ग्राम्यान् भोगान् अभुञ्जाथाम् ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अमुना वपुषा प्रादुर्भूतोऽस्मि ॥ ३७ ॥ वरदराट् वरदेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः। तेन सकृद्वरेण च वारंवारमाविर्भावे कारण-मुक्तम्। कामस्य दित्सया दातुमिच्छया। मादृशो मया सदृशः ॥ ३८ ॥ मे मत्तोऽपि युवामपवर्गं न वव्राथे न वृतवंतौ ॥ ३९ ॥ वरं दत्त्वा मयि गते ॥ ४०–४१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अमुना इदानीं दर्शितेन। वपुषा शरीरेण ॥ ३७ ॥ वरदेषु ब्रह्मादिषु राजत इति वरदराट् विष्णुरहम्। इत्यर्थ इति। आत्मप्रदत्वात्सर्ववरदोत्तम इति तात्पर्यम्। "सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य" इत्युक्तेः। तेन वरदश्रेष्ठत्वेन हेतुना। सकृद्वरेण च चोऽप्यर्थे। एकवारवरेणाऽपि यतोऽहं वरदश्रेष्ठस्तत एवैकवारवरेण वारंवारं प्रादुर्भूत इति। वां युवाभ्याम ॥ ३८ ॥ अजुष्टग्राम्यविषयौ अननुभूतमैथुनादिसुखौ। देवस्य मम मायया पुत्रस्नेहमय्या। "वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः" इत्युक्तेः। पुत्रस्नेहोपि मयाशब्देनोच्यते। मोहितौ तदास्वादानंदेन विचित्तीकृतौ। अत्रोत्तरश्लोकगतयुवामिति पदमन्वेत्यन्यथा तत्र पुनरुक्तिदोषा भविष्यतीति ॥ ३९–४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तदेति सार्द्धकम्। अनघे ! हे सर्वापराधरहिते ! इति तपोनिश्छिद्रता सूचिता अत एव वां युवयोः सम्बन्धेन युवां प्रतीत्यर्थः। परितः तुष्टः सन् परीतिकर्मप्रवचनीयं वा तच्च वीप्सायां वीप्सा च जन्मभेदेनेति तथैवार्थः। ननु, भक्त्यैव परितोष्यस्त्वं न तु तपसा सत्य पारम्परिकमेव कारणं तदित्याह, तपसा मत्सन्तोषार्थं प्रयुक्तेन जातायां नवधा साधनभक्तौ श्रद्धा तया जाता या तल्लक्षणा भक्तिस्तया नित्यं हृदि भावितः यत्नेन पापितः चकाराद्विनैव यत्नं च प्रेमलक्षणया प्रापितः पुत्रत्वभावनामय्येवेति ज्ञेयम्। अमुना एतेन श्रीकृष्णाख्येन वपुषेति परितोषादौ सर्वत्र योज्यम् अमुना वपुषा हृदि भावितः अत एव परि सर्वतो भावेन तुष्टोऽहम् अत एवामुनैव वपुषा प्रादुरासमिति वरदराडिति तैर्व्याख्यातम्। किञ्च तपसोऽधिकफलदाने तत्र चोत्तरोत्तराधिक्ये च कारणं ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

व्रियतामित्यर्द्धकम् वां युवाभ्यामित्यर्थः। तृतीयायाः षष्ठी मादृशः मत्सदृश एव वृतः न तु साक्षादहं लज्जादिना तथा वरणाशक्तेरिति भावः ॥ ३७ ॥ तादृशेन च मद्भावेन युवां केवलं विषयान्तरोत्पादनं नादृतवन्तौ अपि तु तदनादरेण मोक्षाय योग्यावपि मत्प्रसादनेन तं हस्तप्राप्तमपि नादृतवन्तावित्याह—अजुष्टेति। तत्राजुष्टग्राम्या विषयावित्यनेनाहङ्कारास्पददेहावेशो निरस्तः अनपत्यावित्यनेनापत्योपलक्षितममतास्पदाभाव उक्तः ततश्चापवर्गाचरणयोग्यता दर्शिता तदुक्तं "विनिर्द्धूतमनोमलौ" इति तत्रापि मे मत्त इति प्राप्तिभावना दृढीकृता तदुक्तं वरदराडिति तादृशावपि युवां तादृशादपि मत्तो न वव्राथ तत्र क्रमप्राप्तं हेतु निर्दिशति मोहितौ मम माययेति मम मदीयया मायया झटिति स्वविषयकपुत्रस्नेहसम्पादिकया मायया कृपया यद्वा, मद्विषयपुत्रोचितलालनेच्छामय्या कृपया तिरस्कृतान्यभावत्वादित्यर्थः। दृष्टान्तस्तु सालोक्यसार्ष्टीत्यादिषु प्रसिद्ध एवेति नोक्तः॥ ३९ ॥ अतः साधिते मयि मदेकार्थोद्वैराग्यादपि शिथिलौ जातौ उत्फुल्लमनस्त्वेन स्वस्य मल्लक्षणपुत्रसंपत्तियोग्यतेच्छया च विषयमभ्यर्जितवन्तावित्याह, गते मयीति। पश्चात् ग्राम्यान् भोगानपि युवां भुक्तवन्तौ यतो युवां प्राप्तमनोरथौ भूतौ युवां प्रतिगते इति वा अत्र टीकायां वरं दत्वेत्यध्याहृत्यैव व्याख्यातं दत्वेति पाठस्य कुत्राप्यदर्शनात् वरं मत्सदृशमित्यत्र च वरशब्दः कर्मसाधनः॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अनघे! हे सर्वापराधरहित इति तपोनिश्छिद्रता सूचिता। अतएव वां युवां प्रति परितस्तुष्टः सन्, अमुनैतेन दिव्येन। ननु भक्त्यैव परितोष्यस्त्वम्, न तु तपोमात्रेण? सत्यम्, तेनैव तदुत्पत्तेरित्याह—तपसा, श्रद्धा विश्वासस्तया, भक्तिः प्रेमलक्षणा, तया नित्यं हृदि भावितः प्रापितो ध्यातो वा सन्नमुना वपुषेत्यस्याप्यनुषंगः। विशेषणे तृतीया। अयं तेन रूपेण प्रादुर्भावे हेतुर्ज्ञेयः॥ ३७ ॥ वरदराडिति तैर्व्याख्यातमेव। किञ्च, तपसोऽधिकफलदाने तत्र चोत्तरोत्तराधिक्ये च कारणं ज्ञेयम्। वां युवाभ्यां मादृशो मत्सदृश एव वृतः, न तु साक्षादहं लज्जादिना साक्षात्तथा वरणेऽशक्तेरिति भावः॥ ३८ ॥ अपवर्गावरणे हेतुः—अजुष्टेत्यादि, विषयभोगाद्यभावेन वैराग्यानुत्पत्त्या मोक्षारुचेरित्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, च अपि, असेवितलौकिकविषयावपि, पुत्रकन्यादिरहितावपि युवाम्, तथापि मादृशः सुत एवैको युवाभ्यां वृतः, न तु विषयभोगो बहुलपुत्रकन्यापत्यानि वेत्यर्थः। अहो! मोक्षोऽपि न वृत इत्याह—अपवर्गमिति। तत्र सर्वत्र हेतुः—अमोहितावित्यनेन मोक्षस्यापि मायामोहितग्राह्यत्वमुक्तम्॥ ३९ ॥ वरमेव विवृणोति—मत्सदृशं सुतमिति। पश्चाद्ग्राम्यान् भोगानपि युवां भुक्तवन्तौ, यतो युवां प्राप्तमनोरथौ भूतौ पुत्रत्वेन मत्प्राप्त्या कुतश्चिदपि भयाभावात्; यद्वा, पुत्रोत्पत्त्युपकरणत्वेन तैल-ताम्बुल-शय्या-वस्त्राद्युपभोगस्यापेक्ष्यत्वात्॥४०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आत्ममायया स्वस्याश्चर्यशक्त्या सङ्कल्परूपज्ञानाद्वा॥ ३९–४८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततो हे अनघे! नित्यं भक्त्या हृदि भावितोऽनुध्यातः वां युवयोस्तपसाऽनशनादिरूपेण श्रद्धया च परितुष्टस्सन् वरदराडहं युवयोः कामदित्सया वरान् दातुमिच्छया अमुना चतुर्भुजादिमता वपुषा प्रादुरासं प्रादुर्भूतोऽस्मि प्रादुर्भूतोऽभवमित्यर्थः। ततः प्रादुर्भूतेन मया वरोऽभिमतोऽर्थः व्रीयतामित्युक्ते सति वां युवाभ्यां शेषषष्ठीयं मादृशः सुतः पुत्रो वृतः याचितः॥ ३७–३८ ॥ ननु, मुक्तिदं श्रीभगवन्तं भवन्तं साक्षात्कृत्य मुक्तिरेवाभ्यां किं न वृता? इत्यत्राह—अजुष्टेत्यादिना। अजुष्टाः असेविताः ग्राम्यविषयाः शब्दादयो याभ्यां न विद्यते अपत्यं ययोस्तौ दम्पती जायापती युवां मम मायया विमोहितावत एव मे मत्तः अपवर्गं मुक्तिं न वव्राथे अननुभूतविषयत्वादनपत्यत्वान्मन्मायामोहितत्वाच्च नापवर्गं वव्राथ इत्यर्थः॥ ३९ ॥ मत्सदृशं सुतमेव वरं लब्ध्वा युवां मयि गते सति प्राप्तो मनोरथो याभ्यां तौ तथाभूतौ युवां ग्राम्यान् भोगान् विषयान् अभुञ्जाथामन्वभूतम्॥ ४० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वरदराट् वरदराजः कामदित्सया अभीष्टदानेच्छया॥ ३८ ॥ अजुष्टग्राम्यविषयौ अननुभूतमैथुनादिविषयौ॥ ३९–४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

वा युवां परि प्रति तपसा मत्सन्तोषार्थं प्रयुक्तेन जाता साधनभक्तौ या श्रद्धा तया जाता तल्लक्षणा या भक्तिस्तया नित्यं हृदि भावितः प्रेमलक्षणया प्रापितः पुत्रभावना मय्येति ज्ञेयं वां हृदि युवाभ्यामित्यर्थः। चतुर्थ्यां षष्ठी तदा वामित्यादि॥ ३७–३८ ॥ अजुष्टेति मम मायया मद्गतपुत्रस्नेहमय्या कृपयेत्यर्थः। मद्विषयस्नेहस्यापवर्गसुखातिक्रमित्वादिति भावः॥ ३९ ॥ युवां गते प्राप्तवति मयि वरं लब्ध्वा अत उत्फुल्लमनस्त्वेन तादृशपुत्रार्हसम्पत्तियोग्यतेच्छया च विषयोपार्ज्जनं ज्ञेयम्॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

अथ भगवत्प्रत्युक्तिः । एतद्रूपं संहर्त्तव्यमेव, किन्तु पुरैतद्रूपेण भवतोरहं साक्षाद्भूतः, तदर्थमिदानीमपि तेनैव रूपेण भवतोः प्रत्ययार्थं प्रादुर्भूतः, वस्तुतस्तु द्विभुज एवास्मीत्याह– तदा वां परितुष्टोऽहमित्यादि बहुभिः । यदा पूर्वं भवद्भ्यां मत्सदृश-पुत्रकाम्यया दुश्चरं तपस्तप्तम् , तदेत्यर्थः । परितुष्टः सन्नमुना चतुर्भुजेन, न तु स्वरूपेण द्विभुजेन वपुषा, प्रादुरासम् । कीदृशोऽहम् ? तपसा श्रद्धया नित्यं हृदि भावितः । पुनः कीदृक् ? वरदराट् । किमर्थम् ? युवयोः कामदित्सया । काममाह—व्रियतामित्यादि । मादृशो मत्सदृशोऽहम् ।। ३७-३८ ।। तस्य कामस्य प्रशंसा व्यतिरेकेण दर्शयन्नाह—अजुष्टग्राम्यविषयावित्यादि । स्वभावत एव विरक्तौ भवन्तौ अजुष्टोऽसेवितो ग्राम्यविषयो ग्राम्यधर्मो याभ्याम् , अतएवानपत्यौ, तथापि मे मत्तः सकाशादपवर्गं न वव्राते मद्विषयकवात्सल्यरसात्तत्रारुच्या । कुतः ? मम माययाऽमोहितौ । मम मायामोहिता हि अपवर्गं वाञ्छन्ति, मायातरणार्थम् । ये तु मायया मोहिता न भवन्ति, तेषां किं तेनेति । ते तु मयि रतिमेव कुर्वन्तीति भावः ।। ३९ ।। मादृश एव सूतो भवद्भ्यां वृतः, न त्वहमिति कृत्वा पूर्वमंशेन वां सुतपःपृश्निभ्यां 'पृश्निगर्भः' इति पुत्रोऽभवम् । तदनु उपेन्द्र इति च कश्यपादितिभ्यां तथैवांश-रूपेण उपेन्द्रोऽप्यभवम् ; मत्सदृशस्याभावादंशेनैवाभवमिति भावः ।। ४०–४२ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

इदं रूपम् मे ईश्वरमैश्वर्यख्यापकम् द्विभुजन्तु सहजम् , संप्रति तदेवाविष्करिष्ये, किन्तु युवयोः प्रत्ययार्थमेवैतद्रूपमा-विष्कृतमिति भगवान् वदति—तदा वां परितुष्टोऽहमित्यादि । अमुना वपुषा चतुर्भुजेन विग्रहेण पुरं प्रादुरासम् , तत्स्मरणार्थमिदं प्रकटीकृतमित्यर्थः । युवाभ्यान्तु मादृशो मत्सदृशः पुत्रो वृतः, न त्वहं वृतः ।। ३७ ३८ ।। न वव्राथ इति । अपवर्गं न वव्राथे, मत्सदृशमेव पुत्रं वव्राथे । कुतः ? मम मायया अमोहितौ, मायामोहिता एवापवर्गं वृणुते ।। ३९–४२ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मदीयव्रततरूपतपःश्रद्धाभक्तिपूर्वकं निरन्तरं मद्ध्यानमेव मत्परितोषे कारणमित्याह–तदेति । अमुना अनेन चतुर्भुजेन अत्र भक्त्येति श्रद्धयेति नित्यमिति भावित इति पदत्रयाधिक्येन नेयं तपोयोगाङ्गभूता भक्तिर्व्याख्येया सा तु मदात्मनोरित्येतावन्मात्रेणैव सिद्धत्वादतस्तत्पृथग्भूता प्रेमहेतुभूतैव ततश्च तपोयोगावेवाधिकावनयोरैश्वर्यज्ञानहेतुज्ञेयाविति केचिदाहुरन्ये तु नित्यसिद्धयोर्देवकी-वसुदेवयोः प्रेमान्धैश्वर्यज्ञानमिश्रो नित्य एव तदंशयोः पृश्निसुतपसोर्ज्ञानयोगौ त्वंशिनोस्तयोरकिञ्चित्करावित्याहुः, अत्र चिन्तित इत्यनुक्त्वा भावितो भावविषयीकृत इत्यनेन रागभक्तिरवगम्यते ।। ३७ ३८ ।। मायया पुत्रस्नेहमय्या "वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः" इत्युपरिष्टादुक्तेः पुत्रस्नेहोऽपि मायाशब्देनोच्यते मोहितौ तदास्वादानन्देन विचित्रीकृतौ ।। ३९ ।। ग्राम्यान् भोगानिति तादृशपुत्रोत्पत्तीच्छयेति भावः । "व्यवायो ग्राम्यधर्मश्च" इत्यमरः । पृश्निगर्भ इति सोऽयं त्रेतायुगावतारो लक्ष्यते "विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः" इत्येकादशे तत्प्रासङ्गिकोक्तेः ।। ४०-४१ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वां युवयोः अमुना वपुषा प्रादुरासमित्यग्रिमेणान्वयः ।। ३७ ।। वरदराट् आत्मपर्यन्तदातृत्वेन वरदेषूत्तमः वां युवाभ्याम् मादृशः अर्थात्पुत्रो भवेति साक्षाद्वक्तुमशक्यत्वात् अहमेव सुततया वृत इत्यर्थः ।।३८।। नन्वावयोस्त्वां पुत्रत्वेन वरणे कोऽधिकारः ? इत्यत आह –अजुष्टग्राम्यविषयाविति । दम्पती सहचरावपि अजुष्टग्राम्यविषयौ असेवितलौकिकसुखौ ऐहिकसुखत्यागिनावित्यर्थः । अनपत्यौ अनुत्पादितपुत्रौ आमुष्मिकसुखसाधनपुत्रानुत्पादनेन आमुष्मिकसुखत्यागिनावित्यर्थः । एवंभूता अपि मुक्तिमिच्छन्ति तेभ्योपि श्रैष्ठ्यमाह– अपवर्गं मोक्षमपि न व्रतवन्तौ एवंभूतौ युवां परमोत्तमाधिकारिणौ मम विषयिकया मायया वयुनापर-पर्यायया हरिरावयोः सुतो भवत्विति वासनया मोहितौ सर्वपितरं पुत्रं कर्तुं प्रवृत्तावित्यर्थः । अहो युवयोर्मयि स्नेहातिशयः एतदेव वारंवारं सुतभावे हेतुः ।। ३९ ।। युवयोर्वाञ्छितं स्वीकृत्य मयि गते ।। ४०-४१ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तदा वां परिश्रद्धया तपसा तत्पूर्वकतपसा भक्त्याऽमुना वपुषा हृदि भावितोऽनघे । सम्बुद्ध्यन्तं चेन्द्रवती च भवांश्चेति विग्रहदशापन्नैकदेशोत्कीर्तनेनान्वयो ज्ञेयः । वरदरोऽट्यतेनेनेति वा दरेण स अटतीति वा । उपलक्षणया चक्रादिग्रहः । शङ्खचक्रगदा-पद्मश्रिया जुष्टमित्युक्तेः । अनेन भद्र इत्यपि व्याख्यातम् । अनघे हृदीति तु हृद्योऽन्वयः । वरदराट् वरदश्रेष्ठः । युवयोरिति पाठेऽप्येव-मेवान्वयो ज्ञेयः । कामदित्सयाऽमुना वपुषेत्यत्राप्यन्वेति । प्रादुरासं प्रादुर्भूतेन मया वरं व्रीयतामित्युक्ते मादृशः सुतो वां युवाभ्यां वृतः ।। ३८–३९ ।। अजुष्टग्राम्यविषयौ असेवितव्यवायादिविषयौ मम मायया मोहिताविति मे मत्तोऽपवर्गं मोक्षं न वव्राथे मत्सदृशं मामेव प्राप्तमनोरथाविति ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथां । युवां युवामिति पृथक् पृथगन्वयान्नातिरेकः । स्मरणार्थं भवान्भवान्गच्छतु अहमहमायात इतिवदुक्तिर्वा ।। ४० ।।

श्रीसुबोधिनी

एवं कृतेहं प्रसन्नो जात इत्याह तदेति, वां युवयोः परितस्तुष्टः सर्वभावेन, अहमिति, न मदंशो नाप्यहं तस्यांशः, परं वपुरिदं प्रदर्शितं, आकारोयं, वपुःपदेन पुत्रत्वं स्थापयति, अन्यथा तयोः परमस्नेहो न स्यात् अनघे इतिसम्बोधनं तादृशेपि रूप इच्छाभावार्थं, तदपि च बालरूपं, रूपस्य बलिष्ठत्वात् स्थानात् प्रच्युतिर्भवेदिति, तोषे त्रयं हेतुस्तपः श्रद्धा नित्यं परिचर्या च, एवमपि बहिर्मुखानां न परितुष्यतीति हृदि भावित इत्युक्तं, हृदयं सर्वदा मानसपूजादिना भावितश्चिन्तितः ॥ ३७ ॥

तदाहमाविर्भूतो जात इति वदन्नाविर्भावस्य फलनैकट्यनियमार्थं वरप्रार्थनामप्याह प्रादुरासमिति, वरान् ददत इति वरदा अन्ये ब्रह्मादयः, यावत्प्रार्थितमेव हि ते प्रयच्छन्ति, तेषां राजा वरदराट्, स तु ततो बहुगुणमलौकिकं च प्रयच्छति, अत एव मादृशसुतवरणेहमेव वारत्रयं सुतो जात इति वरदराजः, आविर्भावे हेतुमाह युवयोः कामदित्सयेति, युवयोरिति बहुकालतपस्तप्तौ निरूपितौ, ताभ्यां चाल्पमेव प्रार्थनीयं तपश्च बहु, यतो मन्निष्ठयोस्तपः स्वाभाविकादपि तपसोधिकफलमिति तद्दानार्थं वरदराडुक्तः, साधारण्येनैव व्रियतां वर इत्युक्तं, तावपि मां साधारणं ज्ञात्वा बालकसौन्दर्येण च सम्मुग्धौ त्वादृशः पुत्रो भूयादिति वृतवन्तावित्याह मादृश इति, वां युवाभ्यां, सुतः, भूयादित्यर्थात् ॥ ३८ ॥

मोक्षावरणे हेतुमाहाजुष्टेति, ग्राम्यविषयः स्त्रीसम्भोगो लौकिकः, प्रीतिः स्थितैव सेवा न वृत्तेति, न जुष्टो ग्राम्यविषयो याभ्यां, वैदिकेनापि लौकिकफलसिद्धिर्भवतीति तत्सम्भवेपि लौकिकसिद्धिरिति तन्निषेधार्थमाहानपत्याविति, न विद्यतेपत्यं ययोः, चकारादन्येपि स्त्रगादयो नानुभूता इति सूचितं, दम्पतीपदेनोभयोः सहभावो नियत उक्तः, अतोपि मोक्षस्यावरणं, रागस्यानिवृत्तत्वाद्दणानामनिवर्तितत्वाद् विरुद्धाश्रमनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्यावरण, सर्वतः शास्त्रार्थपरिज्ञानेपि यदेतत् त्रितयं तत्र हेतुर्मोहितौ मम माययेति, इय विशेषमाया भगवल्लीलासाधिका साधारणी तु शास्त्रान् निवर्तत एव, अपवर्गं न च वव्राथे, जन्ममरणानां समाप्तिरपवर्गः यदि साक्षादपवर्गमप्यप्रार्थयित्वा भक्तिं प्रार्थयेतं तथाप्यपवर्गो भवेत् सापि न प्रार्थितेति वै निश्चयेनापवर्गो न प्रार्थितः, म इतिपाठे मत्तो मत्सम्बन्धि वा, प्रमेयबलेनापवर्गं न प्रार्थितवन्तावित्यर्थः ॥ ३९ ॥

वरदानमर्थसिद्धमिति तदनुक्त्वा भगवन्निर्गमे जाते प्रथमतो रागनिवृत्त्यर्थं ग्राम्यभोगा भुक्ता इत्याह गते मयीति, मत्सदृशं सुतं वरत्वेन प्राप्य तन्निर्धारं कृत्वा ग्राम्यभोगेन च तत्र विघ्नो भविष्यतीतिशङ्कामकृत्वा ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां, यतो युवां प्राप्तमनोरथाविति भिन्नं वाक्यं नैश्चिन्त्ये हेतुत्वार्थमुक्तं, पुनर्युवामितिग्रहणं संस्कारोद्बोधे सम्मत्यर्थम् ॥ ४० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अजुष्टग्राम्येत्यत्र ननु प्रीतिसेवनार्थत्वाज्जुषेरनयोः प्रीतिसत्त्वादजुष्टत्वं कथमिति चेत्, सत्यं, तथापि द्वितीयमर्थमादाय तथोक्तमित्याहुः सेवा न वृत्तेतीति, नन्वजुष्टत्वेन पत्यत्वं प्राप्तमेवेति कथनं तस्य किम्प्रयोजनकमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुर्वैदिकेनापीति, अलौकिकप्रकारकतन्निषेधार्थकं तदित्यर्थः, अजुष्टेत्यादिविशेषणतात्पर्याणि रागस्येत्यादिना क्रमेणोक्तानि, ननु मोक्षाधिक्यविवक्षितलीलामृताब्धिफलके मोक्षवरणपूर्वकहरिसदृशपुत्रवरणे मायामोहस्य हेतुत्वोक्तिर्भक्तिमार्गविरुद्धा मोक्षस्य चैवमाधिक्यं भवेदित्यत आहुरियं विशेषमायेत्यादि, तर्हि मदनुग्रहात् तन्न वव्राथ इति वक्तुं युक्तं न त्वेवमिति चेद्, नानवबोधात्, प्रकटे भगवति ज्ञानशक्तेरपि प्रकटत्वेपि ब्रह्मत्वेन भगवत्त्वादिना च ज्ञानाभावो य स न मोहमृते, तथा ज्ञानं च लीलारसविरोधीति न तथा ज्ञापनं नन्वयमप्यनुग्रहादेवेतिचेन् ननु मोहोप्यनुग्रहादेवेति बुध्यस्व, तथाप्येवंविधेर्थे मोहोक्तिः कथं भक्तमनोरमा भवेत्? इत्थं, अचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवतो नियतकार्या हि ताः सर्वा लीला अप्यनेकविधाः, एवं सति यान्तरङ्गलीलायामेवाधिकृता सा तल्लीलास्थभक्तानां मध्ये यस्मिन् यादृशी लीला प्रभोश्चिकीर्षिता तस्मिंस्तदुपयोगिपदार्थेष्वासक्तिं तदतिरिक्तविस्मृतिं च करोतीत्येतन्मात्रसाधर्म्येणतच्छक्तिकार्येपि मोहत्वोक्तिः, प्रकटे प्रभौ सर्वशक्तिप्राकट्येपि स्वानुरूपातिरिक्तज्ञानाद्यभावात् प्रमाणमार्गात् प्रमेयमार्गोतिविलक्षणो बलिष्ठश्चेतिज्ञापनाय च, अत एव "न न्यवर्तन्त मोहिता" इति वक्ष्यते, न हि तत्रामोह उत्तम इति वक्तुं शक्यं निवृत्तिहेतुत्वात्, यथा यथैतन्मोहाधिक्यं तथा तथा पुष्टिमार्गे भावप्राचुर्यमिति ज्ञेयं, अत एव 'गोविन्दापहृतात्म' त्वेनैवानिवृत्तिसम्भवेपि मोहिता इत्युक्तं, अत एव भगवन्मायावाचकपदयोरसमासः, दास्यभावात् पितृत्वादिभावस्य न्यूनत्वात्, यद्वा "समो मशकेने" तिश्रुतेः भगवतः सर्वसमत्वेपि भगवत्समत्वं नान्यस्यास्तीति तादृक्पुत्रवरणं मोहकार्यमिति तथोक्तिः, वस्तुत 'स्त्वपवर्गं न वव्राथे' इत्येतावतैव चारितार्थ्येपि म इति यदुक्तं तेन पुरुषोत्तमसम्बन्धी भक्तिमार्गीयो दास्यरूपो योपवर्गः स उच्यते तस्य सर्वाधिकत्वात्, तदवरणं मोहादेवेति तथा, ननु तदवरणोक्तिप्रयोजनं न पश्यामस्तया विनापि प्रकृतार्थोपपत्तेः, उच्यते, भगवद्वचनैरुक्तप्रकारकस्वरूपदर्शनेन च सर्वार्थतत्त्वज्ञानमभूदित्येवम्भूतास्मत्क्लेशेनाविर्भूतो भगवान् दास्यमेव कुतो न दत्तवानित्याशङ्काभावायैतदुक्तं, अत्रायं भावः, कामदित्सयेतिवचनान्नियतेच्छयैवाविर्भाव इति भवदकामितं स्वतो न देयं, अपवर्गे च भवतोः कामो नाभूदिति तथेति ज्ञापयितुं तदुक्तिः, तथापि परमकृपालुरेवं कुतः कृतवानितिशङ्का 'त्वेवं सति यान्तरङ्गे' त्यादिना प्रागेव निरस्ता, एतेनैव कामदित्सयेतिवाक्या-

देवाकामितादानस्य प्राप्तेः कामाभावस्य च स्वतःसिद्धत्वात्तदनुवादः किमर्थ इत्याशङ्कापि निरस्ता ज्ञेया, कामाभावहेतोर्मोहस्यापि निरूपणात्, अन्यथा मोहनमेव कुतः कृतवानितिशङ्का तिष्ठेदेवेति ॥ ३९ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तदा वामित्यत्र स्थापयतीति, वं सुखं पुष्णातीतिव्युत्पत्त्या **स्थापयति, तदपि च बालरूपमिति, अमुनेत्यस्य पदस्य** तात्पर्यमिदं, **ईक्षणस्थले बालकमितिविशेषणस्य पूर्वमुक्तत्वात्** ॥ ३७ ॥

अजुष्टेत्यत्र टिप्पण्यां जुषधात्वर्थे किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाहुर्ननु प्रोतीत्यादि, पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वजुष्टेत्यादि, पुनः किञ्चिदुद्ग्रन्थमाशङ्क्य परिहरन्ति **ननु मोक्षे**त्यादि, **सर्वा** इति, शक्तयः, अत एवेति, लीलार्थं **मोहस्यावश्यकत्वादेव**, अत एव **भगवन्मायापदयोरिति, उक्तमोहादस्य मोहस्य न्यूनत्वादेव ममेमायेतिपदयोः**, अत्र प्रासङ्गिकानुप्रासङ्गिककथनं न प्रकृतोपयोगीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुर्वस्तुत इत्यादि, पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति ननु तदित्यादि तिष्ठेदेवेत्यन्तं, तथा चाप्रतिहतेच्छत्वात् सत्यसङ्कल्पत्वाच्च तथेति न कोपि शङ्कालेशः ॥ ३९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गते मयीत्यस्याभासे भोगा इति, 'अकर्तरि च कारके संज्ञाया' मित्यत्र प्रायिकत्वसिद्धान्तादत्रापि कर्मणि घञ्, व्याख्याने लाभस्य भावित्वाल् लब्ध्वेतिक्त्वाप्रत्ययासम्भवमाशङ्क्याहु**स्तन्निर्धारं कृत्वे**ति ॥ ४० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तदा वां परितुष्टोहमित्यस्य विवरणेनघेइतिपदविवरणं **तादृशेपि** इच्छाभावार्थमिति, रूपस्य कोटिकन्दर्पाधिकलावण्यवत्त्वेन तादृग्दर्शने कामभावानुदयो भवत्या महापतिव्रताया एव भवेदतोनघा निष्पापा भवसीत्यर्थः, तदपि च बालरूपमिति, **अमुना वपुषानघे**इतिवाक्यात् साम्प्रतमनुभूयमानरूपमेव देवकीवसुदेवयोः प्रदर्शितमिति ज्ञायते, साम्प्रतमनुभूयमानं तु बालरूपं 'तमद्भुतं बालक' मितिवाक्यात्, अतः पूर्वप्रदर्शितमपि बालकरूपमित्यर्थः, ननु बालरूपे कामभावोदयस्यासम्भावितत्वात् कथं तदभावेन देवकी स्तूयत इत्याशङ्क्याहु **रूपस्य बलिष्ठत्वात् स्थानात् प्रच्युतिर्भवेदिति**, रूपस्य कोटिकन्दर्पाधिकसुन्दरत्वाद् त्वद्भिन्नस्त्रीणां तु **स्थानात् मर्यादातश्च्युतिर्भवेत्** तव तु न च्युतिरिति पातिव्रत्यधर्मो भगवतानघापदेन श्लाघितः ॥ ३७ ॥

बुभुत्सुबोधिका

तदा वामित्यत्र स्थापयतीति वं सुखं पुष्णातीति वपुरिति व्युत्पत्त्या स्थापयति। अन्यथेति सुखपोषाभावे। पुत्रत्वस्थापनाभावे वा। परमेति स्नेहस्तु स्यादेवेत्यर्थः। इच्छेति काम इच्छा। तदपि च बालेति अमुनेत्यस्य पदस्य तात्पर्यमिदम्। 'तमद्भुतं बालकमित्यत्र 'बालक' मिति विशेषणस्य पूर्वमुक्तत्वात्। रूपस्येति उक्तेच्छापेक्षयेति बोध्यम्। तेन वात्सल्यरस उत्पन्नः। स्थानादिति करणल्युडन्तम्। पातिव्रत्यादित्यर्थः। चेति आधिदैविकाध्यात्मयोरैक्याच्छ्रद्धापरिचर्ये उक्ते, 'श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्यात्। बहिर्मुखानामिति बहिर्मुखास्तोषहेतुत्रयसहिताः तत्सम्बन्धी न परितुष्यति यथा मानसपूजादिना इति हेतोः। भावितः स्मृतः। अन्तर्मुखानामपि परितुष्यतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

प्रादुरासमित्यत्र पूर्वश्लोकोक्तभवसाधने तु हेतुत्रयमित्याशयेनाहुः चिन्तित इति। भावित इत्यस्यार्थो वा भावत्वेनाविर्भावत्वेन कार्यकारणभावः। फलनैकस्येति फलस्य नैकस्यनियमार्थम्। आविर्भावस्य फलस्येत्यन्वयः। चैत्रस्य गुरुकुलमित्यत्रेव। यावदिति तादृश्याः क्रीडेच्छाया नियामकत्वात्। वरदराज इति वरदराट् वरदराज इति प्रयोगद्वयं छन्दसि समासान्तविकल्पात्। ताभ्यामिति अजुष्टग्राम्यविषयाभ्याम्। बालकेति 'सोबिभेत् तस्मादेकाकी बिभेती'ति पुरुषविधब्राह्मणश्रुतेः। भयं बालकलिङ्गमिति भाष्यप्रकाशे। प्रथमज्ञप्तिरुत्पत्तिरिति वोत्पत्तिमत्त्वं बालकत्वम्। 'जन्म त्वात्मतया पुंसः शरीरस्वीकृतिं प्राहु'रिति शरीरस्वीकृतिमत्त्वं बालकत्वम्। त्वादृश इति चरणस्वरूपम्। तत्रापि सङ्क्षेप इत्याशयेन विवृण्वन्ति वां युवाभ्यामित्यादि। पदद्वयं विवृत्य वृतपदं विवृण्वन्ति भूयादिति। आशीरुक्ताहिताशंसा। ३८॥

अजुष्टग्राम्येत्यत्र प्रीतीति प्रतिनिधिः। भगवदधिष्ठानत्वब्रह्मविद्यात्वाभ्याम्। स्थितैवेति 'मदाराधनमीहतु' रिति वाक्यात्। सेवा न वा वृत्तेति जुष प्रीतिसेवनयोरित्यत्रार्थयोर्विकल्पेन सेवा न वृत्ता। प्रीत्या सेवायां 'प्रतिमुखस्य यथा मुख श्री' रिति सप्तमस्कन्धवाक्यान् न जुष्टा ग्राम्यविषयो याभ्यामिति अत्र टिप्पण्याम्। पाठान्तरं लौकिकप्रीतिः स्थितैव, सेवा न वृत्तेति। अजुष्टग्राम्यविषयो याभ्यामिति। द्वितीयमिति सेवनरूपम्। सुबोधिनी। तत्सम्भवेपि काम्यकर्मणां वैदिकेन ग्राम्यविषयजोषसम्भवेपि। तन्निषेवेति लौकिकसिद्धापत्यनिषेधार्थम्। अलौकिकप्रकारकापत्यनिषेधार्थकं वा अतोपीति विशेषणत्रयात्। अपिना चिक्रीडिषा। मोक्षस्यावरणं 'मोहिता' वित्यनेन मोह उक्तः। एवं स्पष्टेति न विवृता। तदिति अनपत्याविति विशेषणम्। रागस्येत्यादिसुबोधिनीं विवृण्वन्ति अजुष्टेत्यादीति। सु. ऋणादीति देवर्णपितृणंमनुष्यर्णेत्यृणत्रयम्। आदिना पूर्णता पुत्रकृता। अनपत्यौ द्वौ मदाराधनमिति पञ्चसु त्रयं

पुत्रधनेन स्त इति। विरुद्धेति मोक्षविरुद्धगृहस्थाश्रमनिष्ठत्वात्। मोक्षस्येति 'मोहिता' वित्युक्तमोहस्तस्य तमोधर्मत्वादवरणम्। सर्वत इति चतुर्भिः। शास्त्रार्थेति विशुद्धसत्त्वत्त्वाद् वेदत्वाच्च। शास्त्रं गीता 'सर्वेन्द्रियाणि संयम्ये'त्युपक्रम्य मिथ्याचारः स उच्यत' इति। शास्त्रं'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्ये'ति। शास्त्रं 'मनो मोक्षे निवेशये'दिति। त्रितयमिति विशेषणत्रयोक्तम्। इयं विशेषेति अत्र टिप्पणी आभासे मोक्षावरणेति मोहेन मोक्षावरणम्। एवमाधिक्यमिति भक्तिमार्गे मोहे मोक्षे मोहाभावादाधिक्यम्। तर्हीति मोक्षस्य लीलामृताब्धिफलकवरणानाधिक्यकाले। मदनुग्रहादिति अनुग्रहस्य दास्यरूपापवर्गे कारणत्वं, न तु साधारणापवर्ग इति। कारणमात्रोक्तिर्न तु साधारणापवर्गकारणोक्तिः। न त्वेवमिति मोक्षप्रतिबन्धकमायामोहितत्वेन 'न वव्राथे' इति। ज्ञानशक्तेरिति भगवत्सान्निध्याद् वसुदेवज्ञानशक्तेः। मोहमृते इति तथा च वसुदेवमोहोनूद्यते भगवता 'मोहिता' वित्यनेनेति भावः। तथेति ब्रह्मत्वेन भगवत्त्वफलत्वविराट्त्वैः। अयमिति ब्रह्मत्वादिना ज्ञानाभावः। अनुग्रहादिति भक्तिमार्गीयत्वादिति भावः। (द्वितीयं) एवेति 'वैष्णवीं व्यतनोन् मायां पुत्रस्नेहमयीं'मिति वाक्यात्। एवंविध इति मोक्षरूपेर्थे। भक्तेति शास्त्रीयभक्तेत्यादिः। सर्वा इति शक्तयः। एतच्छक्तीति विशेषमायाशक्तिकार्येर्थे मोहे मोहत्वोक्तिरित्यर्थः। सर्वशक्तीति सर्वाः शक्तयः। प्रमाणेति शास्त्रीयज्ञानमार्गात्। प्रमेयेति लीलारसाब्धिफलकवरणे विशेषमायामोहमार्गः। 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति काठकात्। 'आश्चर्यो वक्ते'तिकाठकः। बलिष्ठः स्वकार्यकरणात्। अत एवेति लीलार्थं मोहस्यावश्यकत्वादेव। अत एवेति विशुद्धज्ञानत्वादेव। अत एवेति अनिवृत्तौ कारणद्वयादेव। असमास इति समासशक्त्या निवृत्तावेककारणबोधकसमसनाभाव इत्यर्थः। दास्यभावादिति ज्ञानकृतात्। पितृत्वादिभावो विशेषमायाकृतः तस्य। न्यूनत्वं भक्तिवात्सल्यरसकृतमपि बोध्यम्। एवं मोक्षस्य लीलारसाब्ध्यपेक्षया मुख्यत्वमागतम्, मोहाभावादित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेति। तथोक्तिरिति 'मोहितौ मम मायये' त्युक्तिः। तथा च परम्परया ज्ञानकार्यत्वान्न साक्षाज्ज्ञानकार्यमोक्षस्याधिक्यमिति भावः। अधुना तु रूढ्यापवर्गपदार्थ उक्तः, अङ्गेन व्याकरणे योगोपस्थित्यार्थमाहुर्योगरूढ्या वस्तुत इति। म इतीति 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते' रित्यधिकरणोक्तः पुरुषोत्तमः। तत्र निःसम्बोधोपवर्गो व्याख्यातः प्रसिद्ध्या ससम्बोधोपवर्ग उच्यते तत्राक्षराधिकरणकावेयतासम्बन्धेन तत्र स्थितः पुरुषोत्तमोऽत्र गृह्यते, न त्वक्षराभिन्नः पुरुषोत्तमः। दास्यरूप इति 'स्वरूपलाभान्न परं विद्यत' इति श्रुतेः। 'य एवास्मि सन् यज' इति 'ब्रह्मदासा' इति श्रुतिभ्याम्। उच्यत इति योगरूढ्योच्यते। अप वर्जने। एजृ वर्जने उभाभ्यां वर्जनाभ्यां उत्कृष्टापवर्गो मायावर्जनरूपो यौगिकार्थः, स च दास्यरूपः। तथेति यथाश्रुतं मूलं तु 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय' इतिन्यायविरोधि मूलमित्यर्थः। श्लोकासङ्गतिं शङ्कते ननु तदेवेति। तदवरणेति दास्यावरणोक्तिप्रयोजनम्। उपपत्तेरिति अर्थादुपपत्तेः। एतदुक्तिरिति तद्दास्यवरणाभावोक्तिः। कुत इत्यत आहुः तया विनेति। दास्यावरणोक्त्या विना। दास्यरूपावर्गार्थेन विनापि प्रकृतो यः एतच्छ्लोकार्थस्तस्योपपत्तेर्भगवद्वचनैः। यथा 'तेपाथे परमं तप' इति वचनेना 'जुष्टग्राम्यविषया' वित्यस्यार्थस्योपपत्तिः। नियतेच्छयैवेति आविर्भावे कारणत्वेन नियतेच्छया न तु ब्रह्मणादिष्टप्रजासर्गेच्छया। न देयमिति अतो दास्यं परमं मोक्षरूपं न देयम्। काम्यत्वाभावादिति भावः। तथेति दास्यं न दत्तवानिति ज्ञापयितुं तदुक्तिः श्लोकोक्तिः। एवं कुत इति दास्यान्यलीलायामङ्गीकारम्। प्रागेवेति अत्रैव प्राक्। कामाभावस्येति दास्यकामाभावस्य। तदनुवाद इति 'न वव्राथेपवर्गं मे' इति कामाभावस्यानुवादः। न तु श्लोकोनुवादक इति चेच्छृणु। अनुवादस्योत्कृष्टार्थत्वबोधकत्वादस्यार्थस्य। अन्यथेति दास्यकामाभावहेतुत्वाभावे। कृतवानिति स्वाधिष्ठाने विशुद्धसत्त्वे। सुबोधिन्याम्। समाप्तिरिति चरमावयवकध्वंसः। स च दास्येपि। यद्वा समाप्तिरभावमात्रं प्रतियोगिनोरुक्तत्वात्। जन्ममरणप्रतियोगिकाभावः। अपवर्गस्य मायानाशरूपत्वेनाभेदसम्बन्धः। भक्तिमिति ज्ञानाङ्गम्। प्रमेयेति प्रमेयस्य भगवतो बलं साधनसत्त्वे तदकार्यं बलकृतम्। एवं 'वै' इत्यस्यापवर्गेणान्वयमुक्त्वा मुख्यापवर्गार्थे त्वाहुः म इति पाठ इति॥ ३९॥

गते मयीत्यत्र भोगा इति 'अकर्तरि च 'कारके संज्ञाया'मित्यत्र 'संज्ञाया'मित्यस्य प्रायिकत्वसिद्धान्तादत्रापि कर्मणि घञ्। लाभस्य भावित्वाल्लब्ध्वेति क्त्वाप्रत्ययासम्भवमाशङ्क्याहुः वरत्वेनेति। निर्धार्य कृत्वेति सादृश्यनिर्धारं कृत्वा। तत्रेति सदृशप्राप्तौ। अकृत्वेति किन्तु साक्षात्प्राप्तौ विघ्नशङ्केति भावः। 'युवा'मिति पुनरुक्तसार्थक्यायाहुः यत इत्यादि। एकतिङ्वाक्यम्। तथापि 'युवा'मित्यधिकं मत्वाहुः पुनरिति। अयमर्थः। 'वरं लब्ध्वे'त्यनेनैव प्राप्तमनोरथत्वं जातम्, पुनः स्मरणजनकसंस्कारस्योद्बोधे 'युवा' मुद्बुद्धसंस्कारौ इति। पूर्वं'युवा'मित्यस्य कृतनिर्धाराविर्त्यर्थः। सम्मत्यर्थः इति। यथा युवामुद्बुद्धसंस्कारौ तथाहमिति वसुदेवसम्मत्यर्थः। अन्यथा'ऽपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वत' इति न्यायेनात्रापि वसुदेवप्रश्नः स्यादिति॥ ४०॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

एवं कृतेऽहं प्रसन्नो जात इत्याह "तदा वां परितुष्टोहम्" अब आचार्यचरण इस श्लोक से भगवान् के प्रसन्नता का निरूपण करते हैं कि भगवान् ने कहा कि आप दोनों के कठिन तप से आप दोनों पर मैं सर्वथा सन्तुष्ट हो गया। यहाँ पर अहं पद से यह कहा कि जो मैं हूँ वही मैं तब भी था वह मेरा कोई अंश हो या मैं उसका अंश होऊँ ऐसी बात नहीं है। अधिक तो क्या शरीर भी यह ही था जो आप को दिखाया है, यही आकार था। वपुः पद के द्वारा भगवान् **वं अमृतं पुष्णाति** इस व्युत्पत्ति के आधार पर पुत्रभाव की स्थापना करते हैं; क्योंकि पुत्रभाव आनन्द का पोषक है। यदि पुत्रभाव की

स्थापना न की जावै तो उन दोनों का भगवान् में परम स्नेह होना सम्भावित नहीं। श्रीदेवकीजी को अनघे यह सम्बोधन कन्दर्प कोटि लावण्य पूर्ण उस प्रकार के सुन्दर स्वरूप में कामभाव के उदय न होने का सूचक है और अनघ पद परम पतिव्रता होने से उनके सर्वथा किसी भी प्रकार के पाप का अभाव का बोधन करता है। इस समय जैसा बालरूप है उस समय भी जो रूप था वह भी बालरूप था, यद्यपि बालरूप से कामोदय भी सम्भावना नहीं तो भी परम सुन्दर स्वरूप को देखकर अन्य स्त्रियों का अपने धैर्य आदि स्थान से च्युत हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि रूप मोहित करने में अतिशय बलवान है। श्रीदेवकी वसुदेवजी के तप, श्रद्धा और नित्य सेवा, यह तीन भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्नता और सन्तोष के कारण बन गये। तप-भक्ति आदि के रहने पर भी भगवान् बहिर्मुखों के ऊपर प्रसन्न नहीं होते इसलिये श्रीदेवकी वसुदेवजी की अन्तर्मुखता का निरूपण करने के लिये श्लोक में **हृदि भावितः** इस विशेषण का उल्लेख किया गया है। भगवान् कहते हैं कि मानस पूजा आदि के द्वारा हृदय में मेरी भावना की गई, अन्तर्देश में मेरे स्वरूप का चिन्तन सदैव चलता रहा, इसलिये मुझको सन्तुष्ट होना आवश्यक था ॥ ३७ ॥

''तदाहमाविर्भूतो जातः'' आचार्यचरण कहते हैं कि अब क्रमशः सप्तम श्लोक में ''प्रादुरासंवरदराट्'' इन पदों से भगवान् अपने प्रकट होने का फल निकट ही रहना है, और शीघ्र ही मिलता है। ऐसा बतलाने को प्रादुरासम् क्रियापद का प्रयोग करते हैं और इस श्लोक से वरदान को याचना भी करते हैं। वरदराट् पद का तात्पर्य बतलाते हैं कि अन्य ब्रह्मा आदि देवता वर देते हैं अतः वरद कहलाते हैं; वह देवतागण उपासना साधना करने वाले की प्रार्थना के परिमाण से ही वर प्रदान करते हैं। उन वरदायक ब्रह्मादिकों का मैं सम्राट् हूँ इसलिये प्रार्थना से कहीं अधिक बहुत कुछ देता हूँ और अलौकिक लोकोत्तर वस्तु को देता हूँ, इसी कारण मुझ जैसे पुत्र का वर माँगने पर स्वयं मैं ही तीन बार पुत्र हुआ, इस कारण मैं वरदराज हूँ। अब भगवान् प्रकट होने में कारण का निर्देश करते हैं कि **युवयोरिति बहुकालतस्तपस्तप्तौ** आप दोनों के अभीष्ट प्रदान करने की इच्छा से मैं प्रकट हुआ। चार युगों के सुदीर्घ काल पर्यन्त तपश्चर्या से तप्त हुए तापसों का युवयोः पद से उल्लेख किया है। उन तपोनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा जो भी मांगा गया अल्प ही था, और उनका तप अधिक था। मेरे स्वरूप में पूर्ण निष्ठा वाले उन दोनों का तप स्वाभाविक तप से कहीं अधिक फल सम्पन्न होने के योग्य है इसलिये उसके फल देने की योग्यता के सूचनार्थ वरदराट् पद का प्रयोग किया है। जब मैंने **व्रियतां वर** इति वर माँगिये ऐसा साधारणतया ही कहा था, उन दोनों ने भी मुझे साधारण समझकर बाल सौन्दर्य से सम्मुग्ध होने के कारण ''त्वादृशः'' आप समान पुत्र हो, ऐसा वर माँगा, इस बात का ,'मादृशः इति वां युवाभ्यां सुतः भूयादिति पदों से कहते हैं। यहाँ **युवाम्** वां पद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वृतःसुतः इन दो शब्दों के अर्थ से ''भूयात्'' इस क्रियापद के इस प्रार्थनाबोधक क्रियापद का अर्थ स्वतः प्राप्त है। सुत वरण किया अर्थात् सुत होवे ऐसा वर माँगा ॥ ३८ ॥

''**अजुष्टग्राम्यविषयौ**'' यह भगवान का आठवाँ श्लोक है इस श्लोक के रहस्य को आचार्यचरण ''**मोक्षावरणे हेतुमाह**'' इन सुबोधिनी जी के वाक्यों से कहते हैं, मोक्ष के वर न मांगने में हेतु का वर्णन करते हैं कि पृश्नि और सुतपाओं ने ग्राम्यविषय का सेवन नहीं किया था, ग्राम्यविषय स्त्री सम्भोग को कहते हैं, यह लौकिक सुख है, उस सुख में उन दोनों की प्रीति तो थी ही सेवन नहीं किया था, इस कारण मोक्ष नहीं मांगा। कोई सन्तान भी नहीं थी, यद्यपि स्त्रीसम्भोग के सेवन न करने से सन्तान का न होना अनुक्त सिद्ध है परन्तु ''**वैदिकेनापि लौकिकसिद्धिः**'' वैदिक यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा भी लौकिक पुत्रादि फल की सिद्धी होती है अतः वैदिक कर्म के सम्भव होने पर भी लौकिक सन्तान रूप फल की सिद्धी हो सकती थी उसके निषेध करने को '**अनपत्यौ**' विशेषण कहा है, उन दोनों के किसी प्रकार कोई सन्तान नहीं हुई थी, 'च' अव्यय अन्य लौकिक सुख सेवन के भी अभाव का सूचक है, उन्होंने अन्य लौकिक स्रक् चन्दन आदि सुखों का भी अनुभव नहीं किया था। 'दम्पती' पद से दोनों स्त्री पुरुषों का नियमतः साथ रहना कहा है, इस कारण से भी मोक्ष को नहीं मांग सके। ''**रागस्यानिवृत्तत्वा-दृणानामतिवर्तित्वाद्**'' लौकिक सुख भोग में राग की निवृत्ति न होने से, पुत्र के उत्पन्न होने के कारण पितृ आदि के ऋणों के भी निवृत्त न होने से एवं मोक्ष के विरुद्ध ग्रहस्थ आश्रम में निष्ठा होने से मोक्ष नहीं मांग सके, ''**सर्वतः शास्त्रार्थपरिज्ञानेपि**'' सर्व प्रकार से शास्त्र के अर्थ का परिमार्जित ज्ञान होते हुए भी पूर्वोक्त लौकिक सुख रागादि तीन कारण मोक्ष के वर रूप से स्वीकार करने में कैसे सफल हो सके, शास्त्रार्थ ज्ञान ने उन लौकिक रागादि को निवृत्त क्यों नहीं कर दिया, उसमें कारण बतलाते हैं कि '**मोहितो मम मायया**' मेरी माया से वह दोनों मोहित थे, यह विशेषण माया भगवान् की लीला के साधने में अनुकूल है, साधारण माया तो शास्त्र से निवृत्त हो जाती है, अपवर्ग को उन्होंने नहीं मांगा, जन्म और मरण की समाप्ति को अपवर्ग कहते हैं, यदि साक्षात् मोक्ष को न मांग कर भक्ति को ही मांग लेते तो भी मोक्ष हो जाता, उन्होंने भक्ति भी नहीं मांगी अतः निश्चयार्थक 'वै' शब्द का प्रयोग उपयुक्त है कि उन्होंने किसी भी प्रकार मोक्ष माँगा ही नहीं, न तो सीधा मोक्ष ही मांगा और न भक्ति के द्वारा ही उसकी इच्छा की। मूल श्लोक में जो ''**वै मोहितो**'' इस स्थान में जो ''वै'' अव्यय का पाठ है उसके स्थान पर '**मे**' ऐसा पाठ माने तब मुझसे मोक्ष नहीं मांगा अथवा मेरे सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला मोक्ष सुख नहीं मांगा यह अर्थ

निकलता है। 'प्रमेय बल से भगवदिच्छा से मोक्ष नहीं माँगा यह अर्थ सिद्ध हुआ। यदि यहाँ पर ऐसी कोई शंका करे कि श्री सुतपा और पृश्नि के मोक्ष के स्वीकार न करने में माया मोह को निमित्त कहना भक्तिमार्ग सिद्धान्त के अनुकूल नहीं क्योंकि **"दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः"** के अनुसार भक्ति मार्ग में तो भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ है मोक्ष का अधिक महत्त्व नहीं इस प्रकार की शङ्का का समाधान **"मे अपवर्गं न वव्राथे"** इस योजना से होता है कि भगवत्सम्बन्धि भक्तिमार्गीय मोक्ष का तो स्वीकार करना उचित था उसको स्वीकार नहीं किया इसमें चिकीर्षित लीला के रसानुभव कराने के लिये भगवदिच्छा ही कारण है, उसी को मम मायया इन शब्दों से कहा है ॥ ३९ ॥

भगवान् का यह नवम श्लोक है। आचार्यचरण कहते हैं कि भगवान् ने उन दम्पती को वर देने के लिये "तथास्तु" क्यों नहीं कहा। ऐसी शंका को अवसर नहीं, वर का दान तो अर्थसिद्ध है, बिना ही कथन किये आगे पीछे के वचनों से बुद्धिगम्य हो जाता है, इस कारण वरदान के प्रसङ्ग को शब्दों से न कहा पुनः भगवान् के पधारने पर उन दोनों ने प्रथम तो लौकिक विषयों से राग की निवृत्ति करने के लिये वैषयिक सुख भोगों को भोगा, इस बात को इस श्लोक से कहते हैं, कि **मयि गते युवां** मेरे चले जाने पर आप दोनों मेरे समान पुत्र को वर ग्रहण रूप से प्राप्त कर अवश्य ही ऐसा पुत्र होगा ऐसा निश्चय कर ग्राम्य सुख के भोग करने से उस वर प्राप्ति में विघ्न हो सकता है ऐसी शङ्का न कर ग्राम्य भोगों को भोगने लगे। क्योंकि आप दोनों अपने मनोरथ को तो प्राप्त कर ही चुके थे। **युवां प्राप्तमनोरथौ** यह वाक्य पृथक् है जो कि दोनों स्त्री पुरुषों की निश्चिन्तता प्रतिपादन करने को उसमें कारणता के उल्लेख के लिये कह दिया है। युवाम् पद की पुनरुक्ति दिख पड़ती है वह देवकी वसुदेव के जन्मान्तरीय संस्कारों के जागरित हो जाने में उनकी सम्मति की सूचना के लिये आवश्यक है अतः दोषावह नहीं ॥ ४० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

हे अनघे सकलदोषरहिते ! तदा युवयोः कामदित्सया वरदानेच्छया वरदराट् वरप्रदेषु श्रेष्ठोऽहममुना चतुर्भुजादिमता वपुषा प्रादुरासमिति द्वयोरन्वयः। प्रादुर्भावे हेतुमाह–वां युवयोः परितुष्ट इति। परितोषेऽपि हेतूनाह–तपसा शीर्णपर्णाहारादिना, श्रद्धया मद्विषयकविश्वासेन, नित्यं निरन्तरं भक्त्या प्रेम्णा स्वहृदि भावितः चिन्तितश्चेति ॥ ३७ ॥ तदा 'वरो व्रियताम्' इति मयोक्ते सति वां युवाभ्यां कर्तरि षष्ठी। मादृशः मत्सदृशः सुतो वृतः याचितः। वरदराडित्यनेन सकृदङ्गीकारेऽपि वारंवारमाविर्भावे कारणमुक्तम् ॥ ३८ ॥ यद्यपि मे मत्तो मोक्षदातुः सकाशात् संसारापवर्गो मोक्ष एव वरणयोग्यस्तथापि दम्पती युवामपवर्गं न वव्राथे। तत्र हेतुद्वयमाह—अजुष्टेति। न जुष्टाः न सेविताः ग्राम्यविषयाः गृहसम्बन्धिनः शब्दादयो याभ्यां तौ। तथा न विद्यते अपत्यं ययोस्तौ। तथा चाननुभूतगृहस्थदुःखत्वेन वैराग्याभावाद्विषयासक्तिसत्त्वाच्च पुत्रमेव वव्राथे, नापवर्गमिति भावः। ननु पूर्वं तु 'विनिर्धूतमनोमलौ' इत्युक्त्या विषयासक्त्यभाव एवोक्तः, इदानीं कथं पुनस्तदासक्तिर्जातेत्यत आह–मोहितौ मम माययेति। यद्यपि भगवत्प्रसादे संसारे हेतुभूताया मायाया निवृत्तिरेवोचिता, तथापि तयोस्तपआदिभिर्विशुद्धतया भगवदवतारयोग्यत्वात्तयोर्विमुक्तावतारादिलीलैव न सिद्ध्येदतस्तत्सिद्धये भगवदिच्छारूपया मायया तयोर्मोहः स्थित इति ज्ञेयः ॥ ३९ ॥ तथास्त्विति वरं दत्त्वा मयि गते सति युवां मत्सदृशं सुतं वरं लब्ध्वा तत्प्राप्तिनिश्चयं कृत्वा ग्राम्यान् भोगान् शब्दादिविषयान् अभुञ्जाथाम्। एवं च युवां प्राप्तमनोरथौ जाताविति वाक्यान्तरम्। शीलं चित्तकोमलता, औदार्यं दातृत्वम्, गुणाः करुणादयस्तैः समं स्वसदृशं लोकेऽन्यतममदृष्ट्वा अहमेव वां युवयोः सुतोऽभवम्। पृश्निसंज्ञायास्तव गर्भे भूतत्वात् 'पृश्निगर्भ' इति श्रुतः प्रसिद्धः। अस्य रूपस्योपासनं द्वापरे ज्ञेयम्, 'विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः' इति एकादशे तथैव वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ४० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तदेति सार्द्धम् ॥ हे अनघे ! तदा तपसा श्रद्धया भक्त्या च हृदि भावितश्चिन्तितः अतः वाम् युवयोः परितुष्टः वरदराट् वरप्रदेषु श्रेष्ठोऽहमपि एतच्च सकृद्वरेऽपि वारंवारं प्रादुर्भावे कारणं युवयोः कामस्य दित्सया दातुमिच्छया अमुना चतुर्भुजादिमता वपुषा प्रादुरासं प्रकटोऽभवम् ॥ ३७ ॥ व्रियतामित्यर्द्धम् ॥ तदा वरो व्रियतामिति मयोक्ते सति वां युवाभ्याम्। युवाभ्यामित्यर्थेऽव्ययं कर्त्तरि शेषे षष्ठी वा। मादृशः मत्सदृशः सुतो वृतः याचितः ॥ ३८ ॥ अजुष्टेति ॥ न जुष्टाः न सेविताः ग्राम्याः गृहसंबन्धिनः विषयाः याभ्यां तौ तथा न विद्यते अपत्यं ययोस्तौ दम्पती युवाम् अजुष्टेत्यादिविशेषणान् मोक्षयोग्यावपीत्याशयः। मम मायया लीलासम्पादिकया मदिच्छया देवमाययेत्यपि पाठः। मोहितौ सन्तौ मे मत्तः अपवर्गं मोक्षं न वव्राथे न वृतवन्तौ। संधिरार्षः ॥ ३९ ॥ गते इति ॥ तथाऽस्तु इति वरं दत्त्वा मयि गते सति युवां मत्सदृशं सुतं वरं लब्ध्वा तत्प्राप्तिनिश्चयं कृत्वा आप्तप्रायमनोरथौ सन्तौ मादृशपुत्रोत्पत्तीच्छया ग्राम्यान् भोगान् अभुञ्जाथाम् ॥ ४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदेति ॥ प्रादुरासमिति च ॥ तदा, हे अनघे, नित्यं भक्त्याऽनुरागविशेषेण, हृदि स्वान्ते, भावितोऽनुध्यातः, वां युवयोः, तपसाऽनशनादिरूपेण, श्रद्धयाऽऽदरातिशयेन च, परितुष्टः वरदराट् अहं, युवयोः कामदित्सया वरान् दातुमिच्छया, अमुना चतुर्भुजादिमता, वपुषा प्रादुरासं प्रादुर्भूतोऽस्मि। ततः प्रादुर्भूतेन मयेति शेषः। वरः अभिमतोऽर्थः, व्रियतां, इत्येवं, उक्ते सति, वां युवाभ्यां, कर्त्तरि षष्ठीयम्। मादृशः। सुतः, पुत्रः, वृतो याचितः। इति द्वयोरेकान्वयः ॥ ३७–३८ ॥ ननु मुक्तिदं भगवन्तं साक्षात्कृत्य मुक्तिरेवावाभ्यां किं न वृतेत्यत्राह ॥ अजुष्टेति ॥ अजुष्टा असेविताः ग्राम्यविषयाः शब्दादयो याभ्यां तौ, न विद्यतेऽपत्यं प्रजा ययोस्तौ च, दंपती जायापती युवां, मम मायया मोहितौ, अत एव, मे मत्तः, अपवर्गं मुक्तिं, न वव्राथे। अननुभूतविषयत्वादनपत्यत्वान्मन्मायामोहितत्वाच्च नापवर्गं वव्राथ इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ गत इति ॥ वरं दत्त्वेति शेषः। मयि गते सति, युवां मत्सदृशं सुतं, सुतोत्पादकमित्यर्थः। वरं लब्ध्वा, प्राप्तो मनोरथो याभ्यां तौ तथाभूतौ, युवां ग्राम्यान् भोगान् विषयान्, अभुञ्जाथामन्वभूतम् ॥ ४० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तदा वामिति : १०.३.३७.

यथा त्वरा मद्धृदये मदीयजनाखिलक्लेशविमोचनेषु। तदन्यकृत्ये न तथेत्यजेन वक्त्रा पितृभ्यां सह लब्धबोधि ॥ १०८ ॥

अदृष्ट्वेति : १०.३.३९.

त्वयि प्रसन्ने किमुतार्थनीयं संसारसौख्यं तु तथापि ताभ्याम्। तदार्थितं तत्र न किं त्वयोक्तं मायाबलं मे न च वोऽपराधः ॥ १०९ ॥

कृष्णप्रिया

हे निर्दोष जननि ! उस समय तुम दोनों के ऊपर मैं इसी अलौकिक शरीर से प्रसन्न हुआ था आप दोनों ने तपश्चर्या, श्रद्धा एवं नित्य भक्तिपूर्ण परिचर्या सेवा के द्वारा मानसी भावना से हृदय में मेरा चिन्तन किया था—तब आप दोनों के ऊपर मैं इसी अलौकिक विग्रह से प्रसन्न हो गया ॥ ३७ ॥ तुम दोनों को अभीष्ट वर देने की इच्छा से वरदायकों को राजा स्वयं मैं प्रकट हुआ और मैंने कहा 'वर माँगो' ऐसा कहने पर आप दोनों ने मुझ जैसा पुत्र माँग लिया ॥ ३८ ॥ हे माताजी, आप दानों लौकिक विषय सुख का सेवन नहीं कर पाये थे आप के घर अपत्य सन्तान भी नहीं हुई थी और मेरी माया से मोहित आप दोनों स्त्री-पुरुष मुझ से मोक्ष नहीं माँग सके ॥ ३९ ॥ भगवान् ने कहा अम्मा मेरे चले जाने पर आप दोनों मेरे समान पुत्र वरदान रूप में प्राप्त कर विषयभोग में रत हो गये क्योंकि आप दोनों को मनोरथ तो प्राप्त हो ही चुका था आप तो निश्चिन्त थे ॥ ४० ॥

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति [1]स्मृतः ॥ ४१ ॥

तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्। उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥ ४२ ॥

तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषा [2]युवाम्। जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥ ४३ ॥

एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे। [3]नान्यथा [4]मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन [5]जन्यते ॥ ४४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः शीलौदार्यगुणैः समम् अन्यतमम् अदृष्ट्वा पृश्निगर्भः इति स्मृतः अहं वां सुतः अभवम् ॥ ४१ ॥ पुनः तयोः एव अहम् कश्यपात् अदित्याम् आस (तदा) उपेन्द्रः इति विख्यातः च वामनत्वात् वामनः इति विख्यातः ॥ ४२ ॥ हे सति भूयः तृतीये अस्मिन् भवे तयोः एव युवाम् तेन एव वपुषा अहं वै जातः मे व्याहृतम् सत्यम् ॥ ४३ ॥ प्रागजन्मस्मरणाय मे एतद् रूपं वां दर्शितं अन्यथा मर्त्यलिङ्गेन मद्भवं ज्ञानं न जन्यते ॥ ४४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अदित्यां कश्यपाद्वामन आसेति यत्तदपि तद्रूपयोर्युवयोरहमेव पुनरासमित्यर्थः ॥ ४२–४३ ॥ प्राक्प्रथमं तावदेतद्रूपं मे जन्मेति स्मरणाय ज्ञानाय दर्शितम्। मद्भवं मद्विषयम्। अनंतरं त्वदिच्छया बालोऽपि भविष्यामीति भावः ॥ ४४ ॥

१. श्रुतः श्रीधर. वंशी. गिरि. ; स्मृतः–भक्त. । २. वपुषाथ वाम्–श्रीधर. वंशी. भक्त. ; वपुषा युवाम्–गिरि. । ३. अन्यथा–भक्त. । ४. मद्भवज्ञानं–वीर. । ५. जायते–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. शुक. ; जन्यते–गिरि. मर्त्यानां वो न जायते–भक्त. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अन्यतमं कमपि शीलं वृत्तम्। औदार्यं माहात्म्यम्। गुणा वात्सल्यादयः। वां युवयोः॥ ४१॥ तद्रूपयोः पृश्निसुतपोरूपयोरेवादितिकश्यपयोः। अहमेव यः पृश्निगर्भः स एवाहमित्यर्थः इति। यः पूर्वमवतीर्णः स एव पुनरप्यवतीर्णोऽस्मातिभावः। वामनत्वाद्ध्रस्वत्वात्सुंदरत्वाद्वा "वामनः सुंदरे खर्व हरावंकोटपादपे" इति धरणिः॥४२॥ अस्मिन्वर्तमानकालीने भवे जन्मनि। तेनैव शंखाब्जादियुतेन भूयः पुनस्तयोरेव पृश्निसुतपसोरेव नामांतरेण देवकीवसुदेवयोर्वां युवयोः। हे सति। व्याहृतं कथितम्॥४३॥ अन्यथा मदिच्छां विना। मर्त्यलिंगेन मनुष्यदेहेन। इति भाव इति। मदिच्छया भवद्भ्यां मद्दर्शनं जातं भक्तवत्सलत्वान्मम त्वदिच्छापि कार्यैवेति तात्पर्यम्॥ ४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहं तु भवद्भ्यां तदुक्तिचातुर्योच्छलित इव पश्चाद्विचार्य भवन्मनोगतमेव कृतवानित्याह—अदृष्ट्वेति। शीलं सच्चरित्रम् औदार्यं महत्त्वं गुणस्तयाः कारणं कारुण्यादिः तैरात्मनेव समं तुल्यं स्मृतः ख्यातः श्रुत इति पाठः क्वचित् साऽयमेव त्रेतायुगाधिष्ठाता बभूवेति लक्ष्यते "विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः" इत्यादिकं ह्येकादशे तत्प्रसङ्गतः श्रूयते॥ ४१॥ तयोरिति तैर्व्याख्यातं तत्र तदपीत्यादौ तदपि ममैव पुनरस्तित्वमित्यर्थः। वामन आसेति यदिति उपेन्द्र इति विख्यातो "वामनत्वाच्च वामनः" इति विख्यातो यः स आसेति यदित्यर्थः अस्तेलिटि रूपं भ्वादेशाभाव आर्षः। यद्वा, तथा तथा विख्यातः सन् यः कश्यपाददित्यामास बभूव सोऽहमेव तद्रूपयोर्युवयोरास बभूवेति॥ ४२॥ येन पुरा वराय प्रादुरासं तेनैवेति अत एव पृश्निगर्भादित्वे तेनैव वपुषेत्यनुक्तत्वात् न तु तदानीमधुनेव स्वयमेव किन्त्वंशेनैवेति "एते चांशकलाः पुंसः" इत्याद्युक्तः "पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः" इत्यत्राप्येतदेव गीर्देव्या सूचितमस्ति अत एव वै निश्चये अथ कार्त्स्न्ये तृतीय एव भवे तत्सदृशसुतप्राप्तिलक्षणवरस्य परमपूर्णत्वापेक्षया च सत्यं मे व्याहृतमित्युक्तम्॥ ४३॥ भवत्यस्मिन्निति भवो विषयः अहं विषयो यस्य तज्ज्ञानं निर्णयो मनुष्यरूपेण न स्यात् जन्यत इति चित्सुखपाठः यद्वा यच्चोक्तं रूपं चेदमित्यादि तत्राह एतच्चतुर्भुजाकारं यद्रूपं दर्शितं तत्तु वरदानमारभ्य प्राचीनतदाकारप्रादुर्भावत्रयस्मरणायैव न तु प्राधान्यापेक्षया नराकृतिपरब्रह्मत्वेनैव स्वयं भगवतो मम तत्र तत्र प्रतिपादनादित्यर्थः। किञ्च अन्यथा प्रकारान्तरेण मम भवो जन्म तत्प्रतीतिर्यत्र तज्ज्ञानं न जायते केनात्र प्रकारान्तरं तदेवाह—मर्त्यस्य द्विभुजत्वादिना प्राकृतमनुष्यस्येव लिङ्गं चिह्नं यत्र तेन गूढेन नराकृतिपरब्रह्मरूपेणेत्यर्थः। तस्माच्चतुर्भुजद्विभुजतया क्रीडतो मम मुख्योपि तदाकारः प्रथमं न दर्शित इति भावः। मुख्यत्वञ्चास्य दर्शितम् "एकोसि प्रथमम्" इत्यादि "तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते" इत्यन्तब्रह्मवाक्ये न चान्तर्न बहिर्यस्येत्यादि श्रीशुकवाक्ये "गोप्यस्तपः किमचरन्" इत्यादि श्रीशुकदेवेनापि स्वयमनुमोदमानेनानूदिते मथुरापुरस्त्रीवाक्ये "यन्मर्त्यलीलौपयिकम्" इत्यादिश्रीमदुद्धववाक्ये च॥ ४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

शीलं स्वभावः शान्तत्वादि, औदार्य्यं महत्त्वम्, जगदीशत्वादिगुणः कारुण्यादिस्तैरात्मना समं तुल्यं स्मृत इति तस्य तन्नाम्नैव व्याख्यातत्वात्॥४१॥ तयोरिति तैर्व्याख्यातम्। आसमिति वक्तव्ये आसेत्यार्षम्; किंवा, अहमासेति परोक्षप्रयोग आर्षः। वामनश्चेति विख्यातः॥ ४२॥ येन पुरा प्रादुरासम्, तेनैवेत्यधुना परिपूर्णतया पूर्व्वजन्मद्वये चांशतयेति बोधयति आत्मनोऽवतारित्वात्तयोश्चावतारत्वात्, (भा० १।३।२८) 'एते चांशकलाः पुंसः' इत्याद्युक्तेः। वै स्मरणे। अथानन्तर्य्ये मांगल्ये वा। वां युवयोस्तयोरेवेति जन्मभेदेष्वभेदं बोधयति। हे सतीत्येवं पातिव्रत्यादिधर्म्मतया मदुक्तेरपि सत्यतापेक्षत एवेति भावः॥ ४३॥ मम भवो जन्म यस्मिन् तत्। "अहं जातोऽस्मीति ज्ञानं मनुष्यरूपेण न स्याज्जन्मतः" इति चित्सुखः॥ ४४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदाऽहं रूपादिभिर्गुणैः समं मत्सदृशमन्यतममदृष्ट्वा "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते", "न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" इत्युक्तरीत्या मत्सदृशपुरुषान्तराभावं दृष्ट्वाऽहमेव वां युवयोः सतोऽभवं तदाऽहं पृश्निगर्भ इति स्मृतः पृश्नेस्तव गर्भभूतत्वात्तथा प्रसिद्धः॥ ४१॥ तयोः पृश्निसुतपसोरेवानन्तरजन्मनि कश्यपाऽदितिरूपेण जातयोर्वां युवयोरथ कश्यपादित्यामहमासं पुत्रोऽभवम् उपेन्द्र इति विख्यातः प्रसिद्धः इन्द्रानुजत्वादिति भावः। तथा वामनत्वाद्ध्रस्वमूर्तित्वाद्वामनश्चेति विख्यातोऽभवम्॥ ४२॥ एवं जन्मद्वयमुक्तमथ तृतीयं जन्मेदमेवेत्याह—अस्मिन् तृतीये भवे जन्मनि तयोरेवादितिकश्यपयोरेवैतद्रूपेण जातयोर्युवयोः तेनैव चतुर्भुजादिमता वपुषा भूयोऽहं जातः हे सति मे मम व्याहृतं भाषितं सत्यमेव हि॥ ४३॥ वां युवाभ्यामेतच्चतुर्भुजादिमद्रूपं दर्शितं किमर्थं ते तव प्राग्जन्मस्मरणाय पूर्वमप्यावयोरेष एवोत्पन्न इति ज्ञापनार्थमन्यथा प्रदर्शितरूपदर्शनाभावे च मद्भवज्ञानं मदवतारज्ञानं मर्त्यानां युष्माकं न जायते मद्भवमिति पाठे मद्विषयकं मदवतारः विषयकमिति यावत्॥ ४४॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शीलं वृत्तम् औदार्यं माहात्म्यम् ॥ ४१ ॥ वामनत्वात् सुन्दरत्वात् ह्रस्वत्वाद्वा ॥ ४२ ॥ तृतीये भवे जन्मनि ॥ ४३ ॥ मद्भवज्ञानं मज्जन्मविषयज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन मनुष्यशरीरेण ॥ ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अदृष्ट्वेति शीलं सच्चरित्रम् औदार्यं महत्त्वं गुणाः कारुण्यादयः तयोः कारणानि ॥ ४१ ॥ या तयाऽतिदुरत्यया अभवन् ता द्वारोऽपि श्रीवसुदेव आगते सति विवृता इति द्वयोरन्वयः तदंशस्येव तत् साम्यात् पृश्निगर्भादिरूपद्वयेन पूर्वमाविर्भावः तथाप्यपरितोषात् तृतीये स्वयमेव स्वयं तावदत्रैव तेनैव वपुषेत्युक्त्या गम्यते ॥ ४२-४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

तथापि भवतोस्तपसा ऋणीव पुनस्तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं परिपूर्ण एव प्रादुरासम्। तत्स्मरणार्थं तेनैव वपुषा चतुर्भुजेनेत्याह—तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै इत्यादि। वै इति प्रसिद्धौ। प्रसिद्धः परिपूर्णः सर्वेश्वरेश्वरः परात्परः, तेनैव वपुषा अहमित्यस्य समुचितेन वपुषा परिपूर्णसच्चिदानन्दरूपेण श्रीविग्रहेण न तु पृश्निगर्भादिवदंशकलया। भुजाधिक्यं तु यदिदम्, तत् प्राक्स्मृतय एव। यद्यपि मनुष्यलिङ्ग एवाहम्, तथापि चतुर्भुजाकारेणैव मामीश्वरमिति लोका जानन्ति, न तु मनुष्यलिङ्गेनेत्याह—नान्यथा मद्भवमित्यादि। मयि भवतीति मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेनान्यथा न जायते, चतुर्भुजाकारेण विना न जायते। अथवा, मद्भवं ज्ञानं यद्यपि मर्त्यलिङ्गेनापि अन्यथा न जायते, अन्यथा न भवति, तथापि एतच्चतुर्भुजं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय वां दर्शितमिति पूर्वोक्त एव भावः ॥ ४३–४४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मादृशत्वं लोके नास्त्येव युवाभ्यां तु स हि वृतः, अतो मया अंशेन पृश्निगर्भोपेन्द्ररूपाभ्यां द्वयोरेव भवयोरभवम्, तथापि युवयोस्तपसा नाहमनृणी तेन युवाभ्यामहमवृतोऽपि स्वयमेवास्मिन् भवे पुत्रोऽभवमित्याह—तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै इत्यादि। वै प्रसिद्धे प्रसिद्धः परिपूर्णः सर्वेश्वरेश्वरः परात्पर इति वै शब्दस्यार्थः। तेनैव वपुषा अहमित्यस्य समुचितेन परिपूर्णसच्चिदानन्दस्वरूपेण श्रीविग्रहेण सर्वनाम्नो बुद्धिस्थत्वादेवमधिगन्तव्यम्। न तु पृष्णिगर्भादिवदंशरूपेण प्रादुरासम्। अत एतदेव तदर्थितं यत्त्वया (२८ श० श्लो०) "मा प्रत्यक्षम्" इत्यादिना प्रत्यषेधि। भुजाधिक्यन्तु प्राक्स्मृतये, अन्यथा यद्यपि मर्त्यलिङ्ग एवाहं (भा० १।१०।४८) "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्यादिना तत्स्वरूपत्वेऽपि ऐश्वर्यप्रकाशकं चतुर्भुजरूपं झटिति मत्स्वरूपाज्ञानान्न द्विभुजत्वेन प्रादुरासमित्याह— नान्यथेत्यादि। इति वाक्यार्थः, इति सत्यमेव मे मया व्याहृतम् ॥ ४३–४४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अदित्यां कश्यपाद्वामन आसेति यत्तदपि तद्रूपयोर्युवयोरहमेव पुनरासमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ भवे जन्मनि तेनैव चतुर्भुजेन अहं जात इति प्रथमे जन्मन्यहं पृश्निगर्भः द्वितीयेऽहं वामनः तृतीयेऽस्मिन्नहमेवेत्यस्मच्छब्दमात्रवाच्यत्वेन ममैव पूर्णत्वं तयोः मदंशत्वमिति बोधितम् एवं त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निरिति न तु पृश्निरेव त्वमित्युक्त्या युवामिति पुत्रभावेन नराकृति परब्रह्म भावेन वा कृतस्नेहौ सकृदेव वा चिन्त्यन्तौ परां प्रकटलीलाम् उत्तरामप्रकटलीलां पृश्न्यादीनामंशत्वं देवकीवसुदेवयोरंशित्वं च सति हे कोविदे "सन् सुधीः कोविदो बुधः" इत्यमरः ॥ ४३ ॥ मयि भवतीति मद्भवं मद्विषयं मर्त्यलिङ्गेन मयेत्यहं तु स्वयं परिपूर्णस्वरूपो मर्त्यलिङ्गो द्विभुज एव नराकृतिपरब्रह्मत्वादिति भावः ॥ ४४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तयोः पृश्निसुतपसोः अदितिकश्यपरूपयोः युवयोः अदित्यां कश्यपात्पुनरहमासमिति शेषः। स च ममावतारः उपेन्द्र इति विख्यातः वामनत्वाद्ध्रस्वत्वाच्च वामनः आसेति योजना ॥ ४२ ॥ तयोः पृश्निसुतपसोः वां देवकीवसुदेवरूपयोः युवयोः ॥ ४३ ॥ एतद्रूपं वां युवयोरर्थे प्राग्जन्मस्मरणाय मे मया दर्शितम् प्रथमजन्मनि अयमेवापत्यतया वृतस्तथा प्राप्तश्च स एवाधुना प्राप्तः इति युवयोः स्मृत्युद्बोधनाय दर्शितमित्यर्थः। अन्यथा प्रभुत्वख्यापनाय न दर्शितम् येषां पुत्रतया भक्तिरसास्वादनाय प्रवृत्तोऽस्मि तेषु किं प्रभुत्वख्यापनेनेति भावः। नन्वयमावयोः पूर्वजन्मनि पुत्रोऽभूदिति प्राग्जन्मस्मृतिरपि भवद्दर्शने जातेपि न जाता किन्तु "त्वमेव पूर्वसर्गे भूः" इत्याद्युपदेशेनोत्पादितात्राह, मर्त्यलिङ्गे मनुष्यदेहे उपलक्षणमेतद्देवादीनां मनुष्यादिदेहेषु मद्भवं मद्विषयकं ज्ञानं न जायते उपदेशं विनेति शेषः ॥ ४४ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

तयोरिति । अत्र तयोर्वामित्यनयोरन्वयानुपपत्तिः । न चादितिकश्यपयोर्विशेषणत्वेन योजना । सप्तमीपंचमीभ्यां सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । नापि वां सकाशात् अहं पुनरेवासमिति योजना । अदितिकश्यपपदयोरसंगतत्वप्रसंगात् । तयोरेवैताभ्यां विवरणमिति चेन्न । तच्छब्देन पृश्निसुतपसोर्गृहीतत्वेनादित्यादेर्ग्रहणायोगात् । तयोरेव तद्रूपतांगीकारेऽहं कश्यपाददित्यामास युवामेवादितिकश्यपौ जाताविति भावः । सत्तार्थकास धातोः कर्तरि लिङुत्तमपुरुषैकवचनरूपं । ननु ब्रह्ममानसपुत्रमरीचिपुत्रत्वात्कश्यपस्य सृष्ट्याद्यभाग एव जन्मनः श्रुतत्वात्तत्काले सुतपसोः श्रुतत्वात्कथं सुतपसः कश्यपजन्म युज्यते इति चेन्न । पूर्वकल्पे यः सुतपा नामप्रजापतिः स एवास्मिन्कल्पे कश्यपो जात इत्यंगीकारात् । न च पूर्वकल्पेऽपि एवंविधः कश्यप आसीदेवेति वाच्यं । तत्पूर्वकल्पीयसुतपसोऽभ्युपगमात् । सृष्टेर्यथा पूर्वस्य श्रुतिसिद्धत्वात् । तस्मान्न क्षुद्रशंकावकाशः ॥ ४२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सदृशशब्दार्थं स्वयमेवाह । अदृष्ट्वेति । शीलं सौन्दर्यमौदार्यं च गुणा इतर आनन्दादयस्तैः सममन्यतमं स्वार्थेयं तमप् । अन्यं । यथोक्तं पुरुतमं पुरूणां छान्दसस्तमप्स्वार्थ इति ऋग्भाष्यटीकाटिप्पणेषु । तथा श्रेष्ठतमाय कर्मणे । अन्यतमो मुकुन्दादित्यत्र टीकायां तम् अभिकाङ्क्षायामित्यस्य कर्मणि रूपम् । पुरुभिस्तम्यत इत्युक्तेः । अन्यस्तमोभिकाङ्क्ष्यश्च तमिति वा । अदृष्ट्वा पृश्निगर्भ इति स्मृतोऽहं पृश्निसुतपसोः सुतोऽभवम् ॥ ४१ ॥ तयोरेव वां युवयोरुपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वात्सुन्दरत्वाद्ध्रस्वत्वाद्वा । स वामनः स भामनः शब्दादेव प्रमित इत्यादेः आस आसम् । तौ कौ तदानीमित्यत आह । अदित्यां कश्यपादिति । पृश्निरेवादितिः सुतपाश्च कश्यप इति तयोरासमित्यन्वयः ॥ ४२ ॥ अस्मिंस्तृतीये भवे जन्मनि तेनैव तदा प्रसन्नेन वपुषा तयोः पृश्नितपसोरदितिकयोर्देवकीवसुदेवयोर्भूयः पुनर्जातः । एतेन त्रिवारं जन्मार्थनमित्यर्थाद्ध्वनितमिति वदन्ति । मे व्याहृतं भाषणं सत्यम् ॥ ४३ ॥ एतच्चतुर्भुजत्वादियुतं रूपं वां युवयोः स्मरणाय अस्मद्रूपान्तरे दृष्टरूपाद्रूपान्तरे तादृशमिति स्मरणार्थं मे मया दर्शितं मर्त्यलिङ्गेन भुजद्वयादिचिह्नेन । अन्यथामद्भवज्ञानमिति पदमेकम् । मद्भवो मदुत्पत्तिः स चान्यथा लोकभवविलक्षण इत्यन्यथामद्भवस्तस्य ज्ञानं वाम इत्यस्माकं भवस्तस्मादन्यथेत्यन्यथामद्भवः स इति ज्ञानं वा । अन्यथा एवमप्रदर्शने मर्त्यलिङ्गेन मद्भवज्ञानं न जन्यत इति वां सन्दर्शित इति योज्यम् ॥ ४४ ॥

श्रीसुबोधिनी

यद्यपि युवाभ्यां भ्रमादेव याचितो वरस्तथाप्यविद्यमानं न देयं कृत्रिमं तु न सम्भवति सर्वभावेन स्वस्य द्वैरूप्ये श्रुतिविरोधो मर्यादाभङ्गश्च स्यात्, अदानेपि तथा, सादृश्यभेदसहिष्णुत्वेपि तयोराकार एव तात्पर्यमिति तात्पर्यविरोधाभावात् तात्पर्यज्ञापकं वचनमिति जीववाक्यत्वात् यथाश्रुतं वचनं बाधित्वाहमेव पुत्रो जात इत्याहादृष्ट्वेति ।

यद्यपि मत्तोन्ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टाः, तेषामपि मत्सत्तयैव सत्तेति सर्वात्मनान्यतमत्वं नास्ति, असतः सत्ता नाङ्गीक्रियत इति लोकेदृष्ट्वेत्युक्तं, यद्यपि कृत्रिमेपि रूपसाम्यं शक्यते कर्तुं तथापि **शीलौदार्यगुणा** आत्मान्तःकरणनिष्ठा अलौकिका नोत्पादनीया इति विशिष्टस्य मिलितस्य वा दर्शनमेव, अतोहं **सुतो वामभवं**, उभयोरपि क्रमेण प्रादुर्भूत इत्यर्थः, "स एकधा भवति दशधा भवती"त्यादिश्रुत्या तथा तस्य भवने न कोपि विरोधः, जन्मैव मुख्यमिति **पृश्निगर्भ** इतितन्नाम्नैव लोकप्रसिद्धिरुक्ता, **स्मृत** इति प्रमाणम् ॥ ४१ ॥

अपवर्गस्याप्रार्थितत्वात् पुनर्जन्मान्तरं जातं तस्मिन्नपि जन्मनि तयोस्तुल्यत्वात् पुनरहं पुत्रो जात इत्याह **तयोर्वामिति**, **तयो**रेव युवयोः पुनरेवाहं स्वसदृशमदृष्ट्वा पुनरेवाहं जातः, तयोर्जन्मान्तरेदितिकश्यपत्वं, तदाहा**दित्यामास कश्यपा**दिति, यद्यप्यत्रादितिगर्भ इति वक्तव्यं तथाप्युपेन्द्र इत्येव लोके **विख्यातः**, नामान्तरप्रसिद्धौ हेतुमाह **वामनत्वा**दिति, द्वितीये जन्मनि नामद्वयमुपेन्द्रो वामन इति ॥ ४२ ॥

पुनस्तृतीयं जन्म तयोर्जातं, तत्राप्यहमेव पुत्रो जात इत्याह तृतीयेस्मिन्निति, अयं परिदृश्यमानो **भवस्तृतीयो** भवति, अत्रापि नामद्वयं मुख्यं, तृतीयस्थाने बहूनि, देवकीनन्दन इति च मुख्यं, तदग्रे वक्ष्यामः, पूर्वयोर्भवयो रूपभेदोस्ति तृतीये तु जन्मनि **तेनैव प्रसन्नेनैव वपुषा तयोरेव भूयो जातः**, एवं वारत्रयभवने हेतुमाह **सत्यं मे व्याहृत**मिति, यदि कस्मिन्नपि जन्मनि वरानन्तरभाव्ये भगवान् पुत्रो न भवेत् तदा वाक्यमसत्यं स्यात्, पूर्वदेहस्य त्यक्तत्वात् तत्पुत्रो न पुत्रो भवति, व्यवहाराभावात् प्रमाणाभावाच्च, अतः पुनर्जन्मान्तरे पुत्रत्वेन भाव्यं, अग्रे तु जन्माभावात् पुत्रत्वाभावः, **सतो**तिसम्बोधनं सम्माननार्थं, सैव पतिव्रता भवति या कल्पादौ यं पतिं प्राप्नोति कल्पान्तपर्यन्तं सर्वजन्मसु तमेव चेत् प्राप्नोति, तस्याश्च पुनर्धर्मो अभिज्ञानं च शास्त्रे निरूपितं, "य प्रथमं न म्रियते मृते म्रियेत तादृशी । त्वमिति ज्ञापयति मोक्षार्थं, **व्यभिचारिण्याः स्त्रियास्तु न मुक्तिः**, अतः सर्वदोषपरिहारार्थं **सतो**तिसम्बोधनमन्ते निरूपितम् ॥ ४३ ॥

एवं पुत्रत्वे हेतुमुक्त्वा तादृग्रूपेणाविर्भावे हेतुमाहैतदिति, वां युवयोरर्थ एतत् पूर्वानुभूतं रूपं दर्शितं, सम्बन्धिदर्शने सम्बन्धिनः संस्कार उद्बुद्धो भवति, एतद्विषयको लुप्तोऽपि संस्कारश्चोद्बुद्धो भवति, सान्निध्यात् सर्वज्ञतायां तु वैराग्यं स्यात्, तदाश्रितहितभक्तिरसो नानुभूयेत, रूपेण तदुद्बोधने तु तत्कालमात्रस्यैव स्मरणं वाक्याज् ज्ञानं तु प्रत्यक्षाद् दुर्बलमिति न काप्यनुपपत्तिः, प्राग् जन्मनोः प्रथमजन्मन एव वा स्मरणाय, एतावता क्लेशेनायं भगवान् पुत्रो जात इति, केवलवाक्ये तु भगवतो माहात्म्यमुच्यमानं शास्त्रार्थपरं स्यात्, तदाह, अन्यथा रूपप्रदर्शनव्यतिरेके केवलमुच्यमाने मर्त्यलिङ्गे रूपे मानुषशरीरे मद्भवं ज्ञानं न जायते साक्षाद्भगवानयमिति, प्रदर्शिते तु रूप उच्यमानं ज्ञानमनुभवारूढं भवति ॥ ४४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

अदृष्ट्वेत्यत्र भ्रमादिति, भगवत्समोऽपि कश्चिदस्तीतिसम्भावनरूपादज्ञानात्, मर्यादाभङ्ग इति एक एवेश्वर इति मर्यादाया भङ्गः, तथेति 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन् भूयो नार्हति शोचितु'मित्युक्तमर्यादाभङ्गः, ननु स्वसदृशयाच्ञायां स्वदानेऽपि मर्यादाया भङ्गः स्यादेवेत्यत आहुः सादृश्येत्यादि, वचनं बाधित्वेति, अनेना 'जुष्टेत्येतट्टिप्पणीस्थ 'मत्रायम्भाव' इत्यादिनोक्तं दृढीकृतं ज्ञेयं, अन्यथा यथाश्रुताबाधेनापि तदाकारकदाने वरसिद्धेर्बोधनं वृथा स्यादिति, नोत्पादनीया इति, कृत्रिमस्यासत्त्वात् तत्र त उत्पादयितुं न शक्या इत्यर्थः, क्रमेणेति, 'आविवेशे'त्यत्रोक्तप्रकारकक्रमेणेत्यर्थः, ननु तथापि जन्म तादृशस्य न सङ्गच्छत एवेत्याशङ्कायामभवमितिपदतात्पर्यमाहुः स एकधेत्यादि, तथा तस्य भवन इति, सुतत्वेन भवने, अनेकप्रकारमध्ये तस्यापि सङ्ग्रहादिति ॥

तृतीयेऽस्मिन्नित्यत्र भव इति, वसुदेवदेवकीत्वेन भवः, अत्रापि नामद्वयं मुख्यमिति, अत्रापि प्रकटस्य कृष्णो वासुदेव इति नामद्वयं गर्गेण नामकरणान् मुख्यत्वेन विवक्षितमित्यर्थः, ननु प्रथम एकं द्वितीये द्वयमिति तृतीये त्रयमपेक्षितमित्यत आहुस्तृतीयस्थाने बहूनीति, लोकवद् बहुत्वस्य त्रित्वे पर्यवसानाभावाद् बहूनीत्यर्थः, पक्षान्तरमाहुर्देवकीत्यादि, यद्यपि कृष्ण इत्येव नाम मुख्यं 'कृषिर्भूवाचक' इति श्रुत्या ब्रह्मनामत्वबोधनाद् ब्रह्मवैवर्तोक्तनिरुक्तिभिश्च "नाम्नां मुख्यतरं नाम कृष्णाख्यं यत् परन्तपे"ति पुराणान्तराच्च तथाप्यवतारानन्तारानन्तर्यमपेक्ष्येतदुक्तं ज्ञेयम् ॥ ४३ ॥

एतद् वां दर्शितमित्यत्र ननु भगवत्सान्निध्यजनितसर्वज्ञतया लौकिकप्रत्यक्षसिद्धेः प्राग्जन्मादिविषयकमलौकिकं प्रत्यक्षमेव सेत्स्यतीत्येवं तत्स्मारणस्य किं प्रयोजनमत आहुः सान्निध्यादित्यादि, तथा च तस्य तत् फलं तथा वैराग्यमपीति नायं दोषः स्यादिति सर्वज्ञतां प्रतिबद्ध्यैतेन बालकरूपेण तत्स्मारणमित्यर्थः, तत्कालमात्रस्यैवेति, स कालो यस्य तत् तत्कालं तन्मात्रस्य तत्सामयिकमात्रस्यैवेति यावत्, अत एव स्तुतिः प्रार्थनाबीजभूतं भयं चेतिद्वयं सान्निध्यरूपप्रदर्शनस्य च क्रमिकं कार्यमत्र सङ्गच्छते, अन्यथा तु प्रार्थनाबीजस्य भयस्याघटमानतैव स्यात्, ननु वाक्येन भगवत्त्वज्ञाने पुनस्तद्दोषतादवस्थ्यमित्यत आहुर्वाक्यादित्यादि, न काप्यनुपपत्तिरिति, सान्निध्यस्य प्राधान्ये मोहकाभावात् तथा स्यात् भगवांस्तु यावत् स्वेच्छं च मोहं ज्ञानं च सम्पादयतीति न दोष इत्यर्थः, स्मारणफलमाहुरेतावतेत्यादि, ननु रूपमदर्शयित्वा केवलवाक्यमेव कुतो नोक्तवानित्यत आहुः केवलवाक्ये त्वित्यादि, केवलवाक्य इति, लौकिकरीतिकबालरूपेणोक्ते वाक्ये, तथा च शास्त्रानुभवयोः संवादार्थं प्रदर्शितवानित्यर्थः, उत्तरार्धस्याभासोऽयं उत्तरार्धं व्याकुर्वन्नन्यथेत्यादि, उच्यमान इति, वाक्ये उच्यमाने ॥ ४४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अदृष्ट्वान्यतममित्यत्र कृत्रिमेऽपीति, अंशेष्वपीत्यर्थः, रूपसाम्यमिति, चतुर्भुजाद्याकारश्यामरूपेण साम्यमित्यर्थः, आत्मान्तःकरणनिष्ठा इति, आत्मनः स्वस्य भगवतो यदन्तःकरणं तन्निष्ठा इत्यर्थः, अनुत्पादने हेतुरलौकिका इति, भगवदतिरिक्तेषु भवितुमयोग्या इत्यर्थः, विशिष्टस्येति, यावन्तः शीलौदार्यगुणा भगवति सन्ति लौकिकैरपि तावद्भिर्विशिष्टस्येत्यर्थः, मिलितस्य चेति, अलौकिकैरपि मिलितस्येत्यर्थः, तथा च मूले साम्यस्य भेदसहिष्णुत्वाद् भिन्नगवेषणायामन्यतममदृष्ट्वांशेषु च शीलौदार्यगुणैः सममदृष्ट्वेत्यन्वयः, अन्यतमस्य स्वरूपत एवासत्त्वात् तत्र शीलादय आपादयितुमेव न शक्यन्त इत्येवंव्याख्यानम् ॥ ४१ ॥

तयोर्वामित्यत्र पुनरेवाहमितिमूलस्थप्रतीकं स्वेत्यादिना तद्व्याख्यानमतो न पुनरुक्तिः ॥ ४२ ॥

तृतीयेऽस्मिन्नित्यत्र नामद्वयमिति, रामःकृष्णश्चेत्यवतारद्वयस्य नामद्वयमित्यर्थः, तृतीयस्थान इति, कृष्ण इत्यर्थः, कृष्ण एव मूलरूपत्वात् तृतीयस्थानत्वं, तस्यैव रूपान्तरं राम इति भावः, देवकीनन्दन इति च मुख्यमिति, अन्यानि नामान्यवतारान्तरेऽपि वक्तुं शक्यानि न तु देवकीनन्दनेति, अतो मुख्यमंशेभ्योऽपि व्यावर्तकमित्यर्थः, इदं गुणोपसंहारचरणे स्फुटं, कृष्णेत्यस्यापि मुख्यत्वमुक्तमिति चकारः तदग्र इति, देवक्यां पूर्णाविर्भावोतो न केनाप्यंशेन प्राकृतत्वमतो न दैवकेय इति भवतीत्यष्टमाध्याये वक्ष्याम इत्यर्थः, रूपभेद इति 'तमद्भुतमित्युक्तं रूपं पूर्वभवयोर्न प्रदर्शितमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

बुभुत्सुबोधिका

अदृष्ट्वान्यतममित्यत्र भ्रमादिति 'न तत्सम' इति श्रुत्या सदृशसुतवरणे भ्रमः असदृशे ससदृशत्वज्ञानात् । मर्यादेति 'एक एवेश्वर' इति मर्यादाभङ्गः । अदानेऽपीति वरादाने सत्यसङ्कल्पत्वमर्यादाभङ्गः । ननु स्वसदृशयाच्ञायां योगिवत् स्वदानेऽपि

मर्यादाया भङ्गः स्यादेव वक्ष्यमाणज्ञानाङ्गभक्तिमत्त्वात् वसुदेवस्येत्यत आहुः सादृश्येत्यादि । भगवतः सर्वभावेन सर्वैरंशैः सादृश्यं साम्यं तस्य भेदः तत्सहिष्णुत्वं योगिवत् स्वदाने स्वरूपं योगिवद् गृहीतं रूपं नेत्येवं छान्दोग्यीयरूपेषु फलप्रकरणोक्तेषु सप्तसु वर्तत इति । सप्तसु साम्यं नेति भेदसहिष्णुत्वं, तत्त्वेपि, धर्मधर्मिभावात् । आकार एवेति एकरस आकार एव विशुद्धसत्त्ववत्वा-देवकारः । अभिधा तु वेदस्य विद्यायाम् । आकारे तात्पर्यस्य तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपस्य ज्ञापकम् । वचनं त्वादृशः पुत्रो भूयादिति वचनम् । त्वमाकारः दृश्यते यत्र त्वादृशः योगरूढः शब्दः । जीवेति भ्रान्तजीववसुदेववाक्यत्वात् । बाधितत्वेति पूर्वतन्त्रे श्रुत्या स्मृतिबाधोक्तेः । अन्यतमं विशिंषन्ति यद्यपीति । नास्तीति शास्त्र इति ज्ञेयम् । तथापि लोकेऽसतो मरुमरीचिकादेर्दर्शनादाहुः असत इति । खपुष्पादिवदाकारस्य । कृत्रिम इति मिथ्यावासुदेवे । नोत्पादनीया इति कृत्रिमस्यासत्त्वात् तत्र ते उत्पादयितुमशक्या इत्यर्थः । विशिष्टस्येत्यादि व्यावहारिकसत्ताविशिष्टस्य, उत्कृष्टस्य वा । आन्तरालिकसदृशो मूलसदृशमिलितस्तस्य दर्शनं ज्ञान-वतोपि प्राप्तं तस्याभावोऽदर्शनमेव । अत्यन्तायोगवच्छेदक एवकारः । मानव इति प्रद्युम्नगर्भशब्दतात्पर्यार्थः । मनुरलौकिकः पुरुषविधब्राह्मणात् । क्रमेणेति जन्मत्रयक्रमेण । 'आविवेशे'त्यत्रोक्तक्रमेणेति वार्थः । ननु तथापि जन्म तादृशस्य न सङ्गच्छत एवेत्याशङ्कायामभव'मितिपदतात्पर्यमाहुः स एकधेति । तथा तस्य भवन इति सुतत्वेन भगवत्त्वेन भगवतो भवने । अनेकप्रकारे मध्ये तस्यापि सङ्ग्रहात् । जन्मैव मुख्यमिति उपक्रमोपसंहारयोः सञ्जातविरोधित्वेन प्रकरणार्थ एव मुख्य इत्यर्थः । अध्यायार्थत्वात् । उभयोरव्याप्तिर्वारिता । तन्नाम्ना पृश्निनाम्ना । स्मृत इति 'पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धि'मिति षष्ठे स्मृतः । शब्दरूपं प्रमाणम् ॥ ४१ ॥

तयोर्वामित्यत्र तुल्यत्वादिति पुत्रत्वकामेन तौल्यम्, जन्मना तौल्यं वा । पुनरेवाहमिति मूलस्थपदानि व्याख्येयानि ॥ ४२ ॥

तृतीयेस्मिन्नित्यत्र जात इति अहं जातः, अमःसुर्वा । भव इति वसुदेवदेवकीत्वेन भवः अहन्ताममता । अत्रेति तृतीये जन्मन्यपि । नामद्वयमिति रामकृष्णश्चेत्यवतारद्वयस्य पृश्निगर्भवामनरूपस्य नामद्वयम् । बहूनीति नामानि । चकाराद् रामः कृष्ण इति । शब्दार्थयोरैक्यात् । देवकीनन्दन इति अवतारान्तरे वक्तुमशक्यमिति मुख्यम् । तदग्र इति देवक्यां पूर्णाविर्भावोतो न केनाप्यंशेन प्राकृतत्वमतो न दैवकेय इति भवतीत्यष्टमाध्याये वक्ष्यामः । रूपभेद इति 'तमद्भुत'मित्युक्तं रूपं पूर्वभवयोर्नेति भेदः । प्रसन्नेनैवेति वृतेनैव एवकारः 'तदा वां परितुष्टोहममुना वपुषानघे'ति वाक्यात् । 'मया प्रसन्नेने'ति गीतैकवाक्यतया प्रसन्नपदम् । वाक्यमिति 'अहं सुतो वामभव'मिति वाक्यम् । अहं जात इत्यत्रास्मच्छब्दप्रयोगतात्पर्यार्थमाहुः पूर्वदेहस्येति 'आत्म-मायामृत' इति वाक्यान् मायिकदेहत्यागः । तत्पुत्र इति पूर्वदेहपुत्रः । कल्पादाविति कल्पो ब्रह्मणो दिनम् । शास्त्र इति स्त्रीशास्त्रे वात्स्यायनसूत्रे तत्र स्त्रीशास्त्रपदप्रयोगात् ॥ ४३ ॥

एतद् वां दर्शितमित्यत्र हेतुमिति 'सत्यं मे व्याहृत'मित्यनेन वाक्यं हेतुः । आविर्भावे हेतुमिति प्रथमज्ञप्तौ हेतुं विषयं रूपम् । आविर्भावो विद्वन्मण्डनोक्तो वा । तत्र हेतुं रूपमेव । अत्र प्रथमान्तविशेष्यको बोध इति सूच्यते । युवयोरर्थे इति अर्थे प्रयोजने मद्भवज्ञाने वैषयिकाधारे सप्तमी । मद्भवज्ञानविषयम् । भवतीति यथा हस्तिदर्शने हस्तिपकस्य संबंधिनः स्मरणजनकः संस्कार उद्बुद्धो भवति तथा । एतदिति समीपतरवर्तिरूपविषयकः । ननु भगवत्सान्निध्यजनितसर्वज्ञतयाऽलौकिकप्रत्यक्षसिद्धेः प्राग्जन्मादिविषयकमलौकिकमेव प्रत्यक्षं सेत्स्यतीत्येवं तत्स्मरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः सान्निध्यादित्यादि । तथा च यथा सान्निध्यस्य सर्वज्ञताद्वारा प्राग्जन्मस्मरणं फलं तथा वैराग्यमपीति वैराग्येणायमविहितभक्तिरसलीलानुभवप्रतिबन्धो दोषः स्यादिति सर्वज्ञतां प्रतिबद्ध्य तद्बालकरूपेणालौकिकप्रत्यक्षस्मरणमिति भावः । तदुद्बोधन इति 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधका' इत्युक्तसंस्कारोद्बोधे रूपं सदृशत्वेनोद्बोधकम् । तत् प्राक्कालजन्मनोः स्मरणजनकसंस्कारोद्बोधकम् । तथा च रूपप्रदर्शने । अदृष्टचिन्ताद्यैः संस्कारोद्बोधने तु, तुः सदृशस्य रूपस्योद्बोधनसाधनत्वं व्यावर्तयति । एवकारो रूपयोगव्य-वच्छेदको मात्रचोवधारणार्थकत्वं कात्स्न्यार्थव्यावर्तनेन निश्चिनोति । कालमात्रं स्मरणं यथा तदिदं जलं सेयं दीपमालिका सायंकाले दीपः इत्यादौ जलाद्यभावे कालमात्रस्मरणम् । जलादिसत्त्वे तूभयस्मरणम् । तद्वत् । ननु रूपप्रदर्शनाभावेपि 'एतद् वां' पूर्वं वरदानकाले'रूपं दर्शित'मिति वाक्याज् ज्ञानं शाब्दं रूपज्ञानम् । दुर्बलमित्युद्बोधकम् । न कापीति सान्निध्यस्य प्राधान्ये मोहका-भावाद् वाक्याज् ज्ञानं तथा भगवद्वाक्यत्वाद् वैदिकं प्रत्यक्षात् प्रबलं स्यात् । भगवांस्तु यावत् स्वेच्छया मोहं ज्ञानं च सम्पादयतीति न वैदिकज्ञानेपि प्रत्यक्षस्य दुर्बलत्वमिति वैदिकीया शाब्दात् प्रत्यक्षं दुर्बलमित्यनुपपत्तिर्नेत्यर्थः । कापीति शब्दाभ्यां 'अथवा शून्यवद् गाढं व्योमेव ब्रह्म तादृशं प्रकाशते लोकदृष्ट्या नान्यथा दृक् स्पृशेत् पर'मिति शास्त्रार्थनिबन्धोक्तापि शङ्का नेत्यर्थः । रूपं दृष्टं वसुदेवेन मायिकं भगवता स्वेच्छया रूपमाकाशशरीरं दर्शितमिति । स्मारणफलमाहुः एतावतेति । क्लेशेनेत्युक्तिस्तु द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्ततपोद्योतनार्थम् । ननु रूपमदर्शयित्वा केवलवाक्यमेव कुतो नोक्तवानित्यत आहुः केवलवाक्ये त्वित्यादि । लौकिकरीतिकबालकरूपेणोक्ते वाक्ये । उत्तरार्धस्याभासोयम् । शास्त्रेति शास्त्रं वेदः । तदर्थपरं स्यात् । उत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति अन्यथेत्यादिना । अनुभवेति सदृशेन स्मरणं यतः ॥ ४४ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

"अदृष्ट्वान्यतमं" यह भगवान् का दशम श्लोक है, आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि यहाँ से तीन श्लोकों में भगवान् तीन बार अवतार लेने की कथा माता को और पिताजी को कह रहे हैं **"यद्यपि मत्तोऽन्ये केचन सम्भवंति मायया सृष्टाः"** यद्यपि तुम दोनों ने मेरे समान कोई अन्य होगा इस प्रकार के भ्रम से मेरे सदृश पुत्र होने का वर मांगा था लेकिन जो वस्तु उपस्थित ही नहीं उसका दान तो सर्वथा संभावित नहीं है और मुझ सदृश किसी रूप को बनाया नहीं, जा सकता श्रुति भगवती ने सर्वथा भगवान के दो स्वरूपों के होने पर विरोध और मर्यादा का भङ्ग संभावित किया है। एकमेवाद्वितीयम् दो स्वरूप स्वीकारने से यह श्रौत सिद्धान्त एवं ईश्वर के एक होने की मर्यादा इन दोनों पर आपत्ति थी। वरके नहीं देने में भी मर्यादा नष्ट हो जाती, क्योंकि मेरे शरणागत जन को किसी प्रकार की चिन्ता करना योग्य नहीं इस मर्यादा की रक्षा न हो पाती। दूसरी बात यह है कि सादृश्य भेद की अपेक्षा करता है तो भी पृश्नि सुतपाओं का मेरे इस परम मनोहर आकार में ही तात्पर्य है कि ऐसे सुन्दर आकार वाला मनोहर पुत्र हो उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वह पुत्र स्वयं यह न होकर इससे कोई अन्य हो, ऐसे विचार से मेरे स्वयं पुत्र होने में उनके तात्पर्य का कोई विरोध न होने से मैं ही पुत्र हुआ। पृश्नि सुतपा जी का मुझ जैसे पुत्र की प्रार्थना का वचन जीव की उक्ति है। केवल अपने तात्पर्य बतलाने को शब्दों का प्रयोग मात्र है, इस दृष्टि से यथा श्रुत वचन का बाधकर अक्षरशः उस वचन के पालन की आवश्यकता न समझकर स्वयं मैं ही उनका पुत्र हुआ। इस विषय को अदृष्ट्वा-न्यत्तमं लोके इस श्लोक से कहते हैं कि लोक में स्व सदृश किसी अन्य को नहीं देख मैं ही तुम्हारा पुत्र हुआ। यद्यपि मुझसे भिन्न कोई हो भी सकते हैं माया से जिनको उत्पन्न किया जावे तो भी उनकी सत्ता तो मेरी सत्ता से ही है मेरी सत्ता के आधीन होने से उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं अतः सर्वथा सर्वांश में भिन्न नहीं, असत् की सत्ता मानी नहीं जाती, इस कारण लोक में अपने समान अन्य को न देखकर मैं ही स्वयं तुम्हारा सुत हुआ। यद्यपि रूप की समानता कृत्रिम वस्तु में की जा सकता है परन्तु शील, उदारता, आदि गुण तो उसमें उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तो आत्मा भगवान के अन्तःकरण में रहने वाले हैं, उन अलौकिक उदारतादि गुणों का उत्पादन नहीं हो सकता। इस लिये निज गुणों से सर्वथा विशिष्ट अथवा अंशतः समान किसी अन्य का दर्शन ही नहीं हुआ, तब मैं ही आप दोनों का पुत्र हुआ। दोनों में क्रम से प्रकट हुआ, प्रथम सुतपा के मन में तत्पश्चात् पृश्नि के हृदय में उदित हुआ। श्रुति ने स एकधा भवति स दशधा भवति इस वाक्य से परमात्मा के पुत्रादि भाव से प्रकट होने का प्रतिपादन किया है कि वह एक प्रकार से होता है, दश प्रकार से होता है, इन प्रकारों में पुत्र रूप से होना भी एक प्रकार है, अतः भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में कोई विरोध नहीं। जन्म की मुख्यता को लेकर ही पृश्नि गर्भ इस जन्म सूचक नाम से ही लोक में प्रसिद्धि बतलाई है। स्मृतः इस पद से इस प्रसङ्ग की प्रामाणिकता सूचित की है। लेखकार ने सुबोधिनीजी में जो कृत्रिम शब्द है उस कृत्रिम शब्द का अंश अर्थ माना है। अर्थात् भगवान् के अंशावतारों में चतुर्भुज आदि आकार एवं श्यामलत्वादि रूप का साम्य सम्भावित है।

श्री लेखकारजी ने श्रीसुबोधिनीजी के **"विशिष्टस्य मिलितस्य वाऽदर्शनमेव"** इस वाक्य में आये हुए विशिष्ट एवं मिलित इन दो पदों का विवेचन इस प्रकार किया है कि भगवान् के अलौकिक शील उदारतादि गुणों के समान लौकिक शील उदारता आदि गुणों से युक्त होना 'विशिष्ट' होना है, एवं भगवन्निष्ठ अलौकिक गुणों से भी युक्त होना 'मिलित होना' है।

इनके व्याख्यान का आशय यह है कि इस श्लोक में **'अन्यतमम्' 'अदृष्ट्वा'** यह पृथक् वाक्य है, और **'शीलौदार्य-गुणैः समम्'** अदृष्ट्वा, यह भिन्न वाक्य है क्योंकि जब अन्यतम 'भिन्न' कोई है ही नहीं तो उसमें शील उदारतादि से समानता का आपादान करना अशक्य है॥ ४१॥

"तयोर्वां पुनरेवाहम्" यह भगवान् का एकादश श्लोक है। आचार्यचरण कहते हैं कि भगवान इस श्लोक में मातापिता के द्वितीय जन्म और अपने द्वितीय अवतार की कथा कहते हैं कि **"अपवर्गस्याप्रार्थितत्वात् पुनर्जन्मान्तरं जातं"** मोक्ष के न माँगने के कारण उनका पुनः जन्मान्तर हुआ, उस जन्म में भी वह दोनों पूर्व समान ही थे इसलिये मैं ही उनका पुत्र हुआ इस बात को इस श्लोक से कहते हैं, उन्हीं तुम दोनों के फिर भी मैं ही हुआ, अपने सदृश को न देखकर फिर भी मैं ही हुआ। उन पृश्नि, सुतपा, ओं को जन्मान्तर में अदिति कश्यप इस नाम से कहा गया इस बात को कहते हैं कि अदिति में कश्यप से मैं उत्पन्न हुआ, यद्यपि इस जन्म में पृश्निगर्भ की तरह अदिति गर्भ ऐसा नाम आवश्यक है तो भी लोक में उपेन्द्र नाम से विख्यात हुआ, मेरा वामन बौने आकार के कारण मैं वामन नाम से विख्यात हुआ इस हेतु मेरे दूसरे जन्म में मेरे उपेन्द्र और वामन ये दो ही नाम थे॥ ४२॥

"तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वं" यह भगवान का द्वादश श्लोक है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि इस श्लोक में भगवान् अपने वर्तमान प्राकट्य की कथा कहते हैं कि **पुनस्तृतीयं जन्म तयोर्जातं** फिर आप का तृतीय जन्म हुआ, उस जन्म में भी मैं ही पुत्र हुआ यह दीखने वाला जन्म तृतीय जन्म है। इसमें कृष्ण और वासुदेव यह दोनों मुख्य है। यदि कहो कि तृतीय

जन्म में तीन नाम तो होने ही चाहिये अतः तृतीय नाम के स्थान पर मुख्य देवकीनन्दन यह नाम है उसे आगे बतलायेंगे, और भी बहुतेरे नाम तृतीय नाम के स्थान पर हैं। प्रथम दो जन्मों में रूप का भेद था इस तृतीय जन्म में तो उसी प्रसन्न श्रीविग्रह से उन्हीं माता पिताओं के पुनः प्रकट हुए। इस प्रकार तीन बार जन्म ग्रहण करने का कारण बतलाते हैं कि मेरा कथन सत्य है यदि वरदान के अनन्तर होने वाले किसी भी जन्म में भगवान् पुत्र नहीं होते तो उनका कथन मिथ्या हो जाता। कारण यह है कि पूर्व जन्म का शरीर तो छोड़ दिया था अतः पूर्व जन्म का पुत्र पुत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस प्रकार का व्यवहार भी नहीं है और उसमें प्रमाण भी नहीं है। पूर्व जन्म के पुत्र से पुत्रवान् कोई नहीं होता, अतः जन्मान्तर होने पर पुत्र रूप से प्रकट होना आवश्यक है। माताजी, अब इस जन्म के पश्चात् तो आप लोगों का जन्म नहीं होगा तो मेरा पुत्र रूप से प्राकट्य भी नहीं होगा। भगवान का माताजी को सति! सम्बोधन सम्मान का सूचक है। पतिव्रता वह ही होती है जो कल्प के प्रारम्भ में जिस पति को प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करती रहे। उक्त प्रकार की पतिव्रता के धर्मों को शास्त्र में इस प्रकार से बतलाया है, और उसकी पहचान भी कही है, कि जो पति से पूर्व मृत्यु को प्राप्त न करे उसके मरण होने पर ही मृत्यु को प्राप्त हो, वैसी पतिव्रता तुम हो ऐसा श्री देवकी को बतलाते हैं जिससे उनके मोक्ष की सूचना देते हैं। व्यभिचारिणी स्त्री की मुक्ति नहीं होती, अतः सर्व दोषों के परिहार करने को माताजी को सति! यह सम्बोधन अन्त में कहा ॥ ४३ ॥

"**एतद् वां दर्शितं रूपम्**" यह भगवान का अम्मा के प्रति त्रयोदश श्लोक है। आचार्यचरणों का कथन है कि इस श्लोक में इस प्रकार पुत्र होने में कारण का निर्देश कर चतुर्भुज आदि रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हैं, कि यह पूर्व में जिसका अनुभव आप लोगों को हो चुका है वह चतुर्भुज स्वरूप आप दोनों के लिये दिखलाया है। अम्मा, ऐसा स्वाभाविक नियम है कि किसी एक सम्बन्धी पदार्थ के देखने से उसके सम्बन्धी अन्य पदार्थ के विषय में संस्कार जाग उठता है, और इस दिखने वाले पदार्थ के विषय में लुप्त हुआ भी संस्कार पुनः जागरित हो जाता है। यद्यपि मेरे समीप होने मात्र से सर्वज्ञता होने पर भी पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष होना सम्भव था फिर भी उस सर्वज्ञता में तो सिर्फ वैराग्य की सम्भावना थी लेकिन वैराग्य होने पर भी अविहित पुष्टि भक्ति रस का अनुभव तो नहीं होता, और इस रूप के दर्शन से पूर्व जन्म के संस्कार को जागरित करने पर तो पूर्व काल में जैसा अनुभव हुआ है वैसा स्मरण आप लोगों को हो गया, इसमें भक्तिरस प्रतिबन्धक वैराग्य की कोई सम्भावना ही नहीं। वाक्य से माने शब्दों से यह भगवान् है ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है अतः कोई भी किसी प्रकार की आशङ्का नहीं रह जाती। उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् की दृष्टि से अपने इस स्वरूप के दर्शन से श्री देवकी वसुदेव को मोहित करना भी अभीष्ट है जिससे मातापिता को लालारस का अनुभव होता रहे। भगवान् के सान्निध्य से मातापिता का सर्वज्ञता होन के कारण भगवत्स्वरूप के मार्मिक परिचय पूर्ण स्तोत्र माता पिता ने किये फिर भी इन लोगों का भय निवृत्त नहीं हुआ पुनः भय की निवृत्ति के लिये मातापिता ने अन्त में प्रार्थना की ऐसी परिस्थिति में स्वीकार करना पड़ेगा कि भगवान् अपनी इच्छानुसार कभी मोह भी उत्पन्न करते हैं और कभी ज्ञान को भी प्रकाशित करते हैं, जिससे भगवान् विचारित लीला यथोचित रूप से सम्पन्न होती रहती है। भगवान् ने वर्तमान चतुर्भुज रूप का दर्शन प्रथम के दोनों जन्मों के अथवा प्रथम के एक ही जन्म के स्मरण दिलाने का भगवान् ने इन्हें कराया है। जिससे मातापिता का यह ज्ञात हो जावे कि इतने कड़े तप और परिश्रम से यह भगवान् मेरे घर पुत्र रूप से प्रकट हुए हैं। यदि केवल भगवान् वाक्य मात्र कहते तब तो भगवान् का माहात्म्य कहा हुआ भी अनुभव बिना शास्त्रवेद्य ही रहता। भगवान् कृपालु है वह शास्त्र और अनुभव दोनों के परस्पर में संवाद कराने का और उनका मेल मिलाने को चाहते हैं अतः स्वरूप दर्शन कराया है। इसी बात को अन्यथा "**रूपदर्शनव्यतिरेक**" इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं कि यदि रूपदर्शन न कराते और केवल मैं भगवान् हूँ इतना कहने पर मर्त्यलिङ्ग रूप में सर्व साधारण मनुष्य शरीर में यह साक्षात् भगवान् है। ऐसा करा देने पर तो कहा हुआ ज्ञान अनुभवारूढ हो जाता है हृदय से मिलान मिल जाती है ॥ ४४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तयोरेव वां युवयोः कश्यपादितिरूपाभ्यां स्थितयोर्यः कश्यपाददित्यामास जातः इन्द्रानुजत्वादुपेन्द्र इति, वामनत्वात् ह्रस्वाङ्गत्वाच्च वामन इति च विख्यातः प्रसिद्धः सोऽपि पुनरहमेवासमित्यन्वयः ॥ ४१-४२ ॥ तयोः कश्यपादित्योरेव युवां युवयोरस्मिंस्तृतीये भवे जन्मनि तेन प्राक् प्रदर्शितेनैव चतुर्भुजादिविशिष्टेन वपुषाऽहं भूयो जातः पुनः प्रादुर्भूतः। तस्यां स्वप्रादुर्भावयोग्यतां सूचयन् सम्बोधयति—हे सतीति। मे मम व्याहृतं 'युवयोर्मत्सदृशः पुत्रो भविष्यति' इति भाषितमेवं हे सति! सत्यमेव जातम् ॥ ४३ ॥ चतुर्भूजस्वरूपेण प्रादुर्भावे हेतुमाह—एतदिति। प्राक् प्रथमं मे मम भगवतो जन्मनः स्मरणाय ज्ञानाय एतच्चतुर्भूजादिविशिष्टं रूपं वां युवयोर्दर्शितम्। अन्यथा मर्त्यस्य लिङ्गेन शरीरेण मद्भवं मद्विषयकं ज्ञानं न जन्यते। अनन्तरं त्वदिच्छया बालरूपमपि गृहीष्यामीति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अदृष्ट्वेति ॥ शीलं सच्चरित्रम् औदार्यं महत्त्वं गुणाः करुणादयः तैः समं स्वसदृशं लोकेऽन्यतममदृष्ट्वा अहमेव पृश्निगर्भ इति श्रुतः प्रसिद्धः वां युवयोः सुतः अभवम् । अयमवतारस्त्रेतायां "विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भ" इति एकादशे त्रेताप्रसङ्गोक्तेः ॥ ४१ ॥ तयोरिति ॥ तयोरेव वां युवयोः कश्यपादितिरूपाभ्यां स्थितयोर्यः कश्यपाददित्यामास जातः इन्द्रानुजत्वादुपेन्द्र इति वामनत्वात् ह्रस्वाङ्गत्वाच्च वामन इति च विख्यातः प्रसिद्धः सोऽपि पुनरहमेवासम् । यद्वा । तयोरेव युवयोः पुनरहमेव सुतपोऽवतारात्कश्यपात् पृश्न्यवतारभूतायामदित्यामास जातः । स च उपेन्द्र इति वामनत्वाच्च वामन इति विख्यातः ॥ ४२ ॥ तृतीये इति ॥ हे सति कोविदे! तयोः कश्यपादित्योरेव युवां युवयोरस्मिंस्तृतीये भवे जन्मनि तेन प्राक्प्रदर्शितेनैव चतुर्भुजादिविशिष्टेन वपुषाऽहं भूयो जातः पुनः प्रादुर्भूतः । तेन मे व्याहृत सत्यमेव जातम् ॥ ४३ ॥ एतदिति ॥ प्राक् प्रथमं मे मम भगवतो जन्मनः स्मरणाय ज्ञानाय एतच्चतुर्भुजादिविशिष्टं रूपं वां युवयोर्दर्शितम् । अन्यथा मर्त्यस्य लिङ्गेन शरीरेण मयि भवतीति मद्भवं मद्विषयकं ज्ञानं न जायते अनन्तरं त्वदिच्छया बालरूपमपि ग्रहीष्यामीति भावः ॥ ४४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अदृष्ट्वेति । तदा अहं लोके, शीलं सद्वृत्तं च औदार्यं दातृत्वं महत्त्वं दाक्षिण्यं च गुणाः सत्यशौचादयश्च तैः समं मत्सदृशं, अन्यतममितरमित्यर्थः । अदृष्ट्वा, अहं एव, वां युवयोः, सुतः अभवम् । तदा, अहं पृश्निगर्भः इति, स्मृतः पृश्नेस्तव गर्भभूतत्वात्तथा प्रसिद्धः । ध्रुववरदरूपमेतच्चरित्रं लघुभागवतामृतादवगन्तव्यम् ॥ ४१ ॥ तयोरिति । तयोः पृश्निसुतपसोरेव, वां युवयोः अनन्तरजन्मनीति शेषः । पुनः, कश्यपात् अदित्यां कश्यपादितिरूपाभ्यां भवद्भ्यां सकाशादित्यर्थः । अहं एव, आस आसम् । तदा, उपेन्द्रः इति, वामनत्वाच्च वामनः इति, विख्यातः । अभवमिति शेषः ॥ ४२ ॥ एवं द्वयोर्जन्मोक्तिपूर्वं तयोः स्वजन्मनामनी उक्त्वाऽथ वां मम च तृतीयं जन्मेदमेवेत्याह । तृतीय इति । अथ, अस्मिन् तृतीये भवे जन्मनि, तयोः वां युवयोः, कश्यपादिती एव वां वसुदेवदेवकीरूपेण जातौ, तयोरेव युवयोरित्यर्थः । तेनैव चतुर्भुजादिमतैव, वपुषा भूयः अहं एव, जातः वै । हे सति, मे मम व्याहृतं सत्यं मया यदेतदुक्तं तत् सत्यमेवास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ एतदिति । किं च वां युवाभ्यां एतच्चतुर्भुजादिमत्, रूपं यत् दर्शितं, तत्तु, मे मम, प्राग्जन्मस्मरणाय, पूर्वमप्यावयोरेष एवोत्पन्न इति ज्ञापनार्थमित्यर्थः । अन्यथा प्रदर्शितरूपदर्शनाभावे, मद्भवं मज्जन्मसंबन्धि ज्ञानं, मर्त्यानां मनुष्यधर्मभाजां, वो युष्माकं, न जायते 'नान्यथा मर्त्यलिङ्गेन' इति पाठे, मर्त्यलिङ्गेन मनुष्यदेहेन, मद्भवं ज्ञानं न जायते । अत इदं रूपं दर्शितमनन्तरं त्वदिच्छया बालोऽपि भविष्यामीति भावः । केचित्तु मद्भवज्ञानमिति पठन्ति, तदपि चार्वेव।४४।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अदृष्ट्वेति : १०.३.४१.

पुत्रो मत्सदृशो वृतो वरगिरा दत्तस्तदा तत्तपः-सन्तुष्टेन मया परन्तु न तथाभूतोऽस्ति लोकत्रये ।
ज्ञात्वैवं त्र्यवतारभाक् किमभवत् कर्तुं वचोऽन्वर्थकं सादृश्यार्थकमन्यथाऽवतरणे त्रित्वं कुतोऽप्रार्थितम् ॥ ११० ॥
देयं यत्परिकल्पितं यदि च तद्दौर्लभ्यतो नार्पितं कल्प्यो देयतया तदा प्रतिनिधिस्तत्तुल्यवस्तुत्रयम् ।
इत्थं शास्त्रमनुस्मरन् प्रभुरपि प्रायः स्वतुल्यं सुतं मत्वा दुर्लभमेव तत्त्रिगुणितं तत्तुल्यमादान्निजम् ॥ १११ ॥

कृष्णप्रिया

शील उदारता आदि सद्गुणों से सम्पन्न अपने समान किसी अन्य को लोक में न देखकर मैं ही जो "पृश्निगर्भ" नाम से प्रसिद्ध था वह आप दोनों का पुत्र हुआ था ॥ ४१ ॥ फिर भी उनही आप दोनों कश्यप और अदिति के रूप में आये तब मैं कश्यप से अदिति में उपेन्द्र नाम से विख्यात हुआ और शरीर ठिगना होने के कारण वामन नाम से ख्यात हुआ ॥ ४२ ॥ हे सति, उसके अनन्तर तुम्हारे इस तीसरे जन्म में उस पूर्वदर्शित शरीर से ही मैं तुम दोनों में प्रकट हुआ हूँ, मेरा कहा हुआ वचन सत्य ही होता है ॥ ४३ ॥ भगवान कहते हैं अम्मा ! पूर्व जन्मों का स्मरण कराने के लिये मैंने यह रूप आप दोनों को दिखाया है, यदि ऐसा नहीं करता तो मनुष्य शरीर में मेरा ज्ञान न हो पाता ॥ ४४ ॥

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्[1]। चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥ ४५ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया । पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥ ४६ ॥

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाजनि नन्दजायया ॥ ४७ ॥
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वनु[2] शायितेष्वथ ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः[3] ॥ ४८ ॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त[4] यथा तमो रवेः[5] ।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ॥ ४९ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—युवां मां पुत्रभावेन च ब्रह्मभावेन असकृत् चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ परां मद्गतिं यास्येथे ॥ ४५ ॥ भगवान् हरिः इति उक्त्वा तूष्णीम् आसीत् आत्ममायया पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यः प्राकृतः शिशुः बभूव ॥ ४६ ॥ च ततः पश्चात् भगवत्प्रचोदितः सः शौरिः सूतिकागृहात् सुतं समादाय यदा बहिः गन्तुम् इयेष तर्हि नन्दजायया या अजा अजनि ॥ ४७ ॥ तथा द्वाःस्थेषु अथ पौरेषु हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु शायितेषु बृहत्कपाटआयसकीलशृङ्खलैः पिहिताः दुरत्ययाः सर्वाः ताः द्वारः तु कृष्णवाहे वसुदेवे आगते रवेः आगते यथा तमः स्वयं व्यवर्यन्त उपांशुगर्जितः पर्जन्यः ववर्ष फणैः वारि निवारयन् शेषः अन्वगात् ॥ ४८–४९ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु त्वयि प्रसन्नेऽपि कथमावयोः पुनः पुनर्जन्मेत्यतः परं न भविष्यतीत्याह । युवामिति ॥ ४५–४६ ॥ यदि कंसाद्बिभेषि तर्हि मां गोकुलं नय यशोदायाश्च तां कन्यां मन्मायामानयेति प्रथममेव भगवता प्रचोदितो वसुदेवो यदा गंतुमैच्छत्तदैवाजाऽपि या योगमाया सा नंदजायया निमित्तमात्रभूतया अजनि जाता ॥ ४७ ॥ हृताः प्रत्ययार्थाः सर्वा वृत्तयो येषाम् अथवा हृताः प्रत्यया अन्याश्च सर्वा वृत्तयो येषां जाग्रतामपि । तथाभूतेषु द्वारपालेषु सत्सु बृहत्सु कपाटेषु लोहकीलकयुक्तश्रृंखलैर्बृहद्भिः कपाटादिभि-र्दुरत्यया इति वा ॥ ४८ ॥ स्वयमेव व्यवर्यंत विवृता इत्यर्थः । व्यव्रियंतेति वक्तव्ये गुणश्छांदसः । रवेर्निमित्तात् ॥ ४९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

"तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां पतौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः" इत्याद्युक्तेरावयोर्जन्मावृत्तिः कथं जातेत्याशंकते—नन्विति । 'नहि वस्तुशक्तिर्बुद्धिमपेक्षते' इति न्यायेन पुत्रभावेनापि परां पुनरावृत्तिरहिताम् । यास्येथे आत्मने पदमार्षं यास्यथ इत्यर्थः । एवं स्वपितृत्वात्स्वमंत्रोपासनापटलोक्तवसुदेवादिध्यानपूजादीनां सार्वकालिकत्वप्रदर्शनमप्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं तयोर्नित्य-सिद्धत्वं संगोप्य प्रेमवर्द्धनार्थं साधकत्वं ख्यापयन् सिद्धिं प्रतिश्रुत्यानंदयति युवामिति । वस्तुतस्त्वयमर्थः—मम प्रथमा गतिरद्यतनी गोकुलं प्रति यात्वेकादशे वर्षे मथुरां प्रति तां परां मद्गतिं युवां यास्येथे । सांप्रतं तु मया सह युवयोर्विच्छेद एव भवतीति भावः ॥४५॥ यद्वा प्रलयेति कृतः प्राकृतः इह पृषोदरादित्वात्प्रलयस्य प्रा इत्यादेशः 'वटपत्रपुटे तोकं शयानम्' इत्युक्तेः । प्रकर्षेणाकृतः स्वतस्सिद्धः प्राकृतः । यद्वा—प्रकृतेः प्रवर्तकः प्राकृतिकोपि शिशुः शिशुवद्बभूवेति । यद्वा—प्राकृतः प्रकृतिश्च स्वरूपं च स्वभावश्चेति पर्यायात् "प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्" इति शिष्टप्रयोगाच्च । स्वभावसिद्ध इत्येवार्थः । अर्थांतरं तु 'न चांतर्न बहिर्यस्य' इत्यारभ्य 'बबंध प्राकृतं यथा' इत्यग्रिमवाक्ये दृष्टांतदार्ष्टांतिकाभ्यां निरसिष्यतीति ॥ ४६ ॥ अजनि प्रादुर्भूता किं च "गर्भकाले त्वसंपूर्णे ह्यष्टमे मासि ते स्त्रियौ । देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा" इति हरिवंशवाक्ये समं समकालं सुषुवात इत्यर्थावगमात् । अत्र तु देवकीप्रस-वोत्तरकाले एव यशोदाप्रसवदर्शनादुभयोरेव शास्त्रवाक्ययोः । प्रामाण्यादेवमवसीयते यदैव देवकी विष्णुं सुषुवे तदैव यशोदापि कृष्णं तदनंतरं योगमायां च सुषुव इति कालभेदेन तस्या द्विः प्रसव एवेत्यत एव 'अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा" इति वक्ष्यते किं तु यशोदाप्रसवस्य चतुर्भुजत्वाद्यनुक्तेर्नराकृतिपरब्रह्मत्वाच्च द्विभुजत्वमेव बुध्येत वक्ष्यति च "तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनंतमगाधबोधम्" इति ब्रह्मा "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगम्" इति च ॥४७॥ प्रत्ययार्थाः पदार्थप्रत्यायकाः बुद्ध्यादिवृत्तयः।

---

१. वा पुनः—इति कस्यचित्; वाऽसकृत्—मक्त. । २. पौरेष्वपि—श्रीधर. वंशी. गिरि. मक्त.; पौरेषु च—वीर. विज. ।
३. शृङ्खलाः—वीर. मक्त. । ४. व्यशीर्यन्त—वीर. विज.; विशीर्यन्त—इति कस्यचित् । ५. रवौ—इति कस्यचित् ।

क्लिष्टकल्पनयाऽरुचेरर्थांतरमाह अथवेति । प्रत्ययाः प्रतीतयो ज्ञानानीति यावत् । अन्याः सर्वा वृत्तयोऽध्यवसायाद्याः । यद्वा--प्रतीयंते पदार्था यैस्ते प्रत्ययाः चक्षुरादींद्रियाणि तेषां वृत्तयो रूपादिज्ञानहेतुका इति । तथाभूतेषु निर्वृत्तिकेषु सत्सु पूर्वसमासे कार्कश्यं दृष्ट्वा समासांतरमाह बृहद्भिरित्यादि ॥ ४८ ॥ कृष्णवाहे उत्संगीकृतकृष्णे । व्यवर्यंत व्यव्रियंतेति वक्तव्ये गुणः छांदसः । इत्यर्थ इति । न तु त्रुटिता इति भावः । उपांशुगर्जितोल्पगर्जितः । यद्वोपांशुरहसि शेषोन्वगादिति संबंधः ॥ ४९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

युवामिति । वाशब्द उपमार्थे विकल्पे वा स्वरूपेण गुणेन च बृहत्तमत्वान्मुख्यत्वेन भगवानेवात्र ब्रह्म तादृशभावेन कृतस्नेहौ सन्तौ मुहुश्चिन्तयन्तौ भावद्वयस्य तुल्यत्वं च विषयमाहात्म्यात् परां मद्गतिं परमवैकुण्ठं तद्गमनं च कश्यपादितिभ्यामेकीभूयाधिकारान्ते ज्ञयम् अन्यत्तैः तत्रावतारिकायाम् इति कथमित्यन्वयः अत इत्यादिस्तु सिद्धान्तः अथवा तदेवमपि युवां साधकाविति न मन्तव्यं न च पुनर्मत्प्राप्तौ शङ्का कार्या यतः "एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भाविनि" इत्यादि पाद्मकार्त्तिकमाहात्म्यवचनात् यथा "सौमित्रिभरतौ यथासङ्कर्षणादयः । तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया । पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत्पदं शाश्वतं परं । न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते" इति पाद्मोत्तरखण्डवचनात् मदीयतन्महामन्त्रमञ्जन्माष्टमीपूजादिपटलानुसाराच्च युवां नित्यमेवैतादृशौ तथाऽपि ममेव युवयोरपि मत् प्रेम्णैव मत्प्रेमविशेषमाराधनप्रचारार्थं तत्र तत्र स्वांशेन सम्प्रति स्वयमेव चावतरणं लीलामात्रम् एतदेवोक्तं "त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः" इत्यादि तत एवानन्तरमपि मत्प्राप्तौ न साधनवैशिष्ट्यसापेक्षत्वं किन्तु तदपि पूर्ववदेव मत्प्राप्तिस्तु स्वत एवेत्याह, युवामिति । पुत्रभावेनेति, भाववैशिष्ट्येन तथा मदाविर्भाववैशिष्ट्येन चेत्यर्थः । ब्रह्मभावेनेति भावसामान्येन भगवन्मन्त्रतयाविर्भावसामान्येन चेत्यर्थः । वेत्यनुकल्पे "पितरौ नान्वविन्देताम्" इत्यादिना "पितरावुपलब्धार्थौ" इत्यादिना "अहो भाग्यमहोभाग्यम्" इत्यादिरीत्या "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या इत्यादिरीत्या च तारतम्यात् पूर्वेण मुख्येनेतरेण गौणेन वा चिन्तयन्तौ तत्रापि सकृदपि चिन्तयन्तौ वा द्वयमपि सम्भवति तदापीत्यर्थः । पराम् अस्याः प्रपञ्चप्रकटलीलात उत्तरां तदप्रकटलीला रूपां मद्गति यास्येथ एव नाधुनिकसाधनयोग्यतायोग्यताभ्यां तत्रोपकार्यतापकार्यते इति भावः । तत्र हेतुः, कृतस्नेहौ कृतः स्वभावत एव सिद्धः स्नेहः पुत्रभावमयः प्रमा ययोस्तौ स्वभावसिद्धत्वमत्र "अयमात्माऽपहतपाप्मा" इति वत् यद्वा कृतस्नेहो चिन्तयन्तौ सकृदेव वा चिन्तयन्तौ अन्यत् समानम् ।।४५।। ततः किं जातमित्यपेक्षायामाह—इतीति इत्युक्त्वा हरिस्तचतुर्भुजं रूपमपहृत्य प्रवृत्तत्वेन च विख्यापिततन्नामाऽसौ तूष्णीमासीत् ततश्च पित्रोः सम्पश्यतोरेव नत्वन्यत्र दृत्तदृष्ट्योः सतोर्भगवान् स्वस्वरूपभूतषाड्गुण्यवान्सावात्ममायया "मायास्याच्छाम्बरीबुद्धयाः" इति त्रिकाण्डशेषात् "माया तु वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टोश्च स्वरूपभूतज्ञानशक्त्या बुद्धिसौष्ठवविशेषमयशक्त्येति यावत् यद्वा "आत्ममाया तदिच्छा स्यात् गुणमाया जडात्मिका" इति महासंहिता वचनादात्मेच्छया यद्वा "माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वकोशादात्मकृपया शिशुराविष्कृतशंशवो बभूव तत्र विशेषज्ञानार्थमाह, प्राकृत इति । गौण्या वृत्त्या प्राकृत इवेत्यर्थः । यद्वा न चागन्तुकाकारेण तादृग्बभूवेत्याह–प्राकृत इति "प्रकृतिश्च स्वरूपं च स्वभावश्च" इति पर्य्यायात् "प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्" इति प्रयोगाच्च स्वभावसिद्ध एवेत्यर्थः । अर्थान्तरं हि "न चान्तर्न बहिर्यस्य" इत्यारभ्य "बबन्ध प्राकृतं यथा" इति पूरिते वाक्ये दार्ष्टान्तिकदृष्टान्ताभ्यां निरसनीयं स्वाभीष्टलोलाक्रममेव प्रकटयतस्तस्य सर्वदा सर्वशक्तिनिधानत्वेन तत्तदुपासकाभीष्टलीलादर्शनाय युगपद्योग्यत्वात् सर्वमेव तत्र स्वभावसिद्धमिति भावः । वक्ष्यते च गर्गेण "बहूनि सन्ति रूपाणि नामानि च सुतस्य ते" इति ॥ ४६ ॥ भगवता प्रचोदित इत्यत्र व्यक्तोक्तिरेव तस्य श्रीहरिवंशे "वसुदेववचः श्रुत्वा रूपं संहरदच्युतः अनुज्ञाप्य पितृत्वेन नन्दगोपगृहं नय" इति अस्यार्थः संहरत् समहरत् किं कृत्वा ? नन्दगोपगृहं नयेति पितृत्वेन पितृस्नेहेनानुज्ञाप्येत्यर्थः । सम्यगादाय कोमलवस्त्रास्तृतपेटिकायां सुखं निधाय तां शिरस्याधाय किंवा सावधानं शनैः शनैः कराभ्याम् उत्थाप्य निजाङ्के निधाय बाहुभ्यामाश्लिष्यन्निव गृहीत्वा सः अनिर्वचनीयभाग्यवान् ततश्च पादनिगडः स्वयमेव भ्रष्ट इति ज्ञेयं तर्हीत्यत्र विशेषः श्रीहरिवंशे "नवम्यामेव सञ्जाता कृष्णपक्षस्य वै तिथौ" इति ॥ ४७ ॥ तयेति युग्मकं प्रत्ययः ज्ञानं द्वास्थाः द्वारस्थिता रक्षिणो द्वारपालाश्च तेषु तथा च श्रीविष्णुपुराणे "मोहिताश्चाभवं तत्र रक्षिणो योगनिद्रया । मथुराद्वारपालाश्च व्रजत्यानकदुन्दुभौ" इति मोहनादिकं च मायया एव योग्यमिति तथा । तदुक्तं प्रकाशनं तु श्रीभगवत एवेति तथैव तदाह- द्वारश्चेति । अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः । याः पिहिता मुद्रितास्ता द्वारोऽपि द्वास्थादीनां हृतप्रत्ययादित्वं लक्षणीकृत्य श्रीवसुदेव आगते सति स्वयमेव विवृता इत्यर्थः । ताश्च कथमप्युद्घाटयितुं न शक्यन्त इत्याह–बृहत् कपाटादिभिर्दुरत्ययाः ॥ ४८ ॥

कृष्णः "कृषिर्भू वाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' ॥

इत्यनुसारेण सर्वाकर्षकपरमानन्दघनमूर्त्तिस्तस्य वाहे वाहक इति वहनादिश्रमो निरस्तः प्रत्युत परमानन्द एव व्यञ्जितः तथा संसारबन्धमपि कर्षति हरतीति कृष्णस्तद्वाह इति स्वयं द्वाविवृतौ च हेतुः व्यवर्यतेति कर्मकर्त्तरि प्रयोगः कर्त्ता चार्थात् श्रीवासुदेव एव तमो यथोद्घटितं स्यादिति दृष्टान्तेन तदागमनात्पूर्वमेव क्रमेण सम्यग्विवृतिर्ध्वनिता पर्जन्यो गर्जन्मेघः उपांशु मन्दं मन्दं गर्जितं यस्य सः शेष इति समये निजसेवासिद्धये पार्षदप्रवरः श्रीमाननन्त एव शय्यासनपरीधानपादुकाच्छत्रचामरैः "किं नाभूस्तस्य कृष्णस्य मूर्त्तिभेदैश्च मूर्त्तिषु" इति ब्रह्माण्डवचनात् अन्वगात् श्रीवसुदेवस्य पश्चादगच्छत् तथा च श्रीविष्णुपुराणे "वर्षतां जलदानां च

तोयमत्युल्बणं निशि। सञ्छाद्यानुययौ शेषः फणैरानकदुन्दुभिम्" इति तच्च तेन स्वशिरसि महावृष्टिनिवारणं यत्किञ्चित् लक्षितमेव ज्ञेयं चिन्तया वर्द्धमाने वैयग्र्ये सद्यः सुखदचमत्कारहेतुत्वेन योग्यत्वात्॥ ४९॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ब्रह्मभावेनेति स्वस्मिन् पुत्रभाव-ब्रह्मभावयोस्तुल्यता बाधिता, विषयस्य माहात्म्यविशेषात्; अतएवासकृच्चिन्तयन्ताविति तत्तद्भाव उक्तः। यद्वा, वा-शब्द उपमार्थे,—ब्रह्मभावेनेव पुत्रभावेनासकृच्चिन्तयन्तौ। ब्रह्मभावेन वेति वा-शब्देन ब्रह्मभाव य तुच्छत्वमभिप्रेतम्। परां सर्वोत्कृष्टां मम गतिं गम्य स्थान—प्रपञ्चात तत्रावैकुण्ठलोकमित्यर्थः कृतस्नेहौ सन्तौ यास्यथः। यद्वा, मत् मत्तः सकाशादिति तत्प्राप्तावनायासः स्वकारुण्यविशेषश्चोक्तः। यद्वा, अप्यर्थे वा-शब्दः। किं वक्तव्यं, परमस्नेहरसमय-पुत्रभावेनेति नीरसब्रह्मभावेनापि सकृदपि चिन्तयन्तौ; कुतः? कृतस्नेहा मद्विषयकस्नेहेन युवयोः कथमपि मत्पदप्राप्तिविघातासम्भवात्। एवं युवामिति पूर्व्व-पूर्व्वजन्मतस्तयार्माहात्म्यञ्च दुःखितयोस्तयोः सान्त्वनार्थं प्रतिस्तुत्येव सूचितम्। यद्यप्यधिकारान्तेऽदिति-कश्यपयोः परमपदप्राप्त्यैव तदंशयोरनयोस्तत्प्राप्तिस्तथापि युवां यास्यथ इति जन्मान्तराभावमात्रे तात्पर्य्यम्। यद्वा, श्रीदेवकी-वसुदेवाविमावेव नित्यवैकुण्ठमुख्यपार्षदावेतयोरेवांशौ तौ; अतएवोक्तम् (भा० १०।३।३२) 'त्वमेव पूर्व्वसर्गेऽभूः पृश्निः' इत्यादि, अतोऽनयोरधुनैव निजपदप्राप्तिस्तयोश्चाधिकारान्ते तत्प्राप्तिरिति श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डोक्तानुसारेण ज्ञयम्। यद्वा, मद्गतिं पुत्रभाव-दार्ढ्ये न मामेव गतिम्॥ ४५॥ आत्मतुल्यया मायया सच्चिदानन्दशक्तिविशेषेणेत्यर्थः; यद्वा, निजसहजकृपया। प्रकृतिः स्वभावः, प्राकृतो लोकस्वाभाविकः, किंवा प्रकृष्टमाकृतमाकृतिराकारो द्विभुजत्वलक्षणं यस्य तथाभूतः शिशुर्लौकिकाभिनवजातबालकोऽतो मनोहरणाद्धरिर्भगवानिति च परमसौन्दर्याद्यभिप्रायेण। एवं दिव्यायुधाद्यन्तर्धापनं नाभिनालसाहित्यादिकञ्च द्रष्टव्यम्; अन्यथा गोकुलवासिषु महाविस्मयाद्युत्पत्तिस्तथा नाडी साहित्येनैवाशौचानापत्त्या श्रीनन्दस्य वक्ष्यमाणदानाद्यपपत्तेश्च पित्रोः संपश्यतोः सतोरित्यविलम्बतोक्ता; यद्वा, तन्मायायाः परमाद्भुता शक्तिर्दर्शिता। यद्वा, तयोर्दृष्ट्या तादृशो वृत्तस्ताभ्यां तादृशाः सर्व्वेऽस्निग्धतरा उपलक्ष्यन्ते; अन्यदृष्ट्या च दिव्यरूप एवेत्यर्थः। अतएवार्ज्जुननारदादयस्तं चतुर्भुजमेव पश्यन्ति; तच्च श्रीगीता-विश्वरूपाध्यायादौ व्यक्तमेव। यद्वा, संपश्यतोः प्राकृतशिशुत्वमेवापेक्षमाणयोः। केचिच्चैव व्यचक्षते—पूर्व्वं द्विभुजमनुष्यबालकरूपेणेव जातस्ततः पित्रोः स्वजन्मबोधनाय दिव्यरूपोऽभूदत एवोक्तम्—अद्भुतमिति; पश्चाच्च प्राकृतः स्वाभाविको यथा प्राग्जातस्तथैवाभूदिति॥४६॥

भगवता प्रचोदित इत्यत्र व्यक्तोक्तिरेव तस्य; यथा श्रीहरिवंशे (विष्णु पु० ४।२४) 'अनुज्ञाप्य पितृत्वेन नन्दगोपगृहं नय। वसुदेववचः श्रुत्वा रूपं संहरदच्युतः॥' इत्यस्यार्थः, संहरत् समहरत; किं कृत्वा? नन्दगोपगृहं नयेति पितृत्वेन पितृस्नेहेनानुज्ञाप्येत्यर्थः। सम्यगादाय कोमलवस्त्रास्तृतपेटिकायां सुखं निधाय ताञ्च शिरस्याधाय किंवा सावधानं शनैः शनैः कराभ्यामुत्थाप्य निजांके निधाय बाहुभ्यामाश्लिष्यन्निव गृहीत्वा सोऽनिर्वचनीयभाग्यवान्। ततश्च पादनिगडः स्वयमेव भ्रष्ट इति ज्ञेयम्। तर्हीत्यत्र विशेषः श्रीहरिवंशे (विष्णु-पु० २।३५)—'नवम्यामेव संजाता कृष्णपक्षस्य वै तिथौ' इति नन्दस्य जाययेति श्रीनन्दादीनां तया मोहनं सूचितम्॥ ४७॥

प्रत्ययो ज्ञानम्, द्वाःस्था द्वारस्थिता रक्षिणो द्वारपालाश्च, तेषु; तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।३।१६)—'मोहिताश्चाभवंस्तत्र रक्षिणो योगनिद्रया। मथुराद्वारपालाश्च व्रजत्यानकदुन्दुभौ॥' इति मोहनादिकं मायया एव योग्यमिति तथा तदुक्तम्; प्रकाशनन्तु श्रीभगवत एवेति तथैव तदाह—द्वारश्चेति। अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः; एवमस्य पूर्वेणान्वयः। 'च' अपि, पिहिता मुद्रिता अपि; ताश्च कथमप्युद्घाटयितुं न शक्यन्त इत्याह बृहत्कपाटादिभिर्दुरत्ययाः; यद्वा, स्वभावत एव दुरत्यया अपि रक्षार्थस्थापितसिंहव्याघ्रादिव्याप्तत्वात्; किञ्च, बृहत्कपाटादिभिः पिहिता। कृष्णः परमानन्दघनमूर्त्तिस्तस्य वाहे वाहक इति वहनादिश्रमो निरस्तः। यद्वा, संसारबन्धमपि कर्षति हरतीति कृष्णस्तद्वाह इति। स्वयं द्वार्विक्रृतौ हेतुः। तमो यथोद्घाटितं स्यादिति दृष्टान्तेन तदागमनात् पूर्वमेव क्रमेण सम्यग्विवृतिर्ध्वनिता। पर्जन्यो गर्जन्मेघोऽतएवोपांशु मन्दं मन्दं गर्जितं यस्य सः। शेष इति समये निजसेवासिद्धये पार्षदप्रवरः श्रीमाननन्त एव—'शय्यासनपरिधानपादुकाच्छत्रचामरैः। किं नाभूस्तस्य देवस्य मूर्तिभेदैश्च मूर्तिषु॥' इति ब्रह्माण्डवचनात्। अन्वगात् श्रीवसुदेवस्य पश्चादलक्षितं प्रत्यक्षं वागच्छत्; तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।३।१७)—'वर्षतां जलदानाञ्च तोयमत्युल्बणं निशि। संछाद्यानुययौ शेषः फणिरानकदुन्दुभिम्॥' इति॥ ४८-४९॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

उपांशुगर्जितम् उपांशुत्वं पौराणामप्रबोधाय वारि वर्षजलम्॥ ४९॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, एवमपि कथमावयोर्मुक्तिः स्यादित्यत्राह—युवामिति। असकृत्पुत्रभावेनापि सकृदपि वा ब्रह्मभावेन परब्रह्मत्वेन मां स्मरन्तौ युवां कृता मयि निबद्धः स्नेहो ययोस्तौ परामुत्कृष्टां मद्गतिं यास्यथे॥ ४५॥ इतीत्थमुक्त्वा हरिस्तूष्णीं बभूव ततः

पित्रोर्देवकीवसुदेवयोः संपश्यतोः सतोरेव सद्यः तदैव स्वाधीनमायया भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः प्राकृतः मानुषशिशुः बभूव बालरूपो बभूवेत्यर्थः ।। ४६ ।। ततः शिशुभावनानन्तरं भगवता शिशुरूपेण प्रचोदित आदिष्टः स शौरिर्वसुदेवः तं सुतमादाय सूतिकागृहाद् बहिर्यदा गन्तुमियेष ऐच्छत् तदा तर्हि व्रजे नन्दस्य जायया यशोदया अजा प्रकृत्यभिमानिनी योगमाया शक्तिरजनि जनिता जनेः कर्मणि चिणः परस्य तच्छब्दस्य लुक् ।। ४७ ।। तदा तया योगमायया हृताः प्रत्ययाः बुद्धयः सर्ववृत्तयः तत् पूर्वकसर्वेन्द्रिय-व्यापाराश्च येषां तेषु अत एव सर्वेषु द्वास्थेषु द्वारपालेषु पौरेषु जनेषु च शायितेषु निद्रितेषु सत्सु अथ बृहन्ति कपाटेषु आयसानि अयोमयानि कीलानि परस्परबन्धकशङ्कुविशेषात्मकानि शृङ्खलाश्च च यासु ताः तृतीयान्तपाठे बृहद्भिः कपाटैरायसकीलैः शृङ्खलैश्च पिहिताश्छादिताः बृहत्कपाटेषु आयसकीलशृङ्खलैः पिहिता इति वा अत एव दुरत्यया दुरतिक्रमाः या द्वारः द्वाराणि ।।४८।। ताः सर्वाः कृष्णवाहे कृष्णं वहतीति तथा अस्मिन् वसुदेवे आगते सति स्वयमेव व्यशीर्यन्त विवृता बभूवुः यथा रवौ सूर्ये उदिते सति तमोऽन्धकारो विशीर्यते तद्वत् रवेरिति पाठे रवेः सकाशात् तदा पर्जन्य उपांशुगर्जितः मन्दगर्जितः ववर्ष पौराणामप्रबोधार्थ-मिति भावः । शेषोऽनन्तः फणैर्वारि वर्षजलं निवारयन्नन्वगादनुययौ ।। ४९ ।।

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यास्येथे गमिष्यथः ।। ४५ ।। प्राकृतवत् न तु प्राकृतः ।। ४६ ।। इयेष गन्तुमैच्छत् नन्दजायया नन्दजायायां तर्हि तदा ।। ४७ ।। योगमायया हृताः प्रत्ययानां ज्ञानहेतूनां इन्द्रियाणाम् सर्वा वृत्तयो येषु ते तथा तेषु निद्रया मुग्धेष्वित्यर्थः । चशब्दात्पौरेषु निद्रां यापितेषु प्रापितेषु सत्सु मन्त्रौषधादिभिर्दुरत्ययाः सर्वा द्वारश्च बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः पिहिताः बृहद्भिः कपाटैः अयोमयैः अर्गलैः शृङ्खलैश्च ।। ४८ ।। कृष्णवाहे कृष्णं बिभ्राणे ताः कपाटद्वारः व्यशीर्यन्त विवृताः यथा तमः रवेरुदये उपांशु रहसि अन्वगात् पृष्ठत अयासीत् फणाशब्दः उभयलिङ्गः "फणाद्वयोः" इत्यमरः ।। ४९ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यास्यथः ।। ४५-५३ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

किन्तु नारायणरूपं दर्शितमिति भवद्भ्यां मयि ब्रह्मभावो न कार्य्यः, पुत्रभाव एव कार्य इत्याह युवां मामित्यादि । असकृत् सकृद् वा, 'च'कारो वार्थः । पुत्रभावेन कृतस्नेहौ सन्तौ मां चिन्तयन्तौ । ब्रह्मभावे सति परां परात्परां मद्गतिं मल्लोकाख्यां न यास्येथे । ब्रह्मभावे कैवल्यमेव भवति, न तु मल्लोकप्राप्तिः । येन पूर्वमपवर्गं न वव्राथे, तेनैवाधुनापि पुत्रभावमेव कुरुतम् । अथो नित्यतयैव मयि वात्सल्यवन्तौ भविष्यथ इति भावः ।। ४५ ।।

अथ कथं सुतपःपृश्न्योः कश्यपादित्योर्वा परिपूर्णभावेन भगवान् पुत्रो नाभूत् ? सत्यम् , भगवदवतारसम्बन्धादेव जन्म-द्वयेन पूर्णावतारावस्थानयोग्यतामापन्नौ तौ । यतः (भा० ९।२४।३०) वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्ति" इत्युक्तिः, (भा० ४।३।२३) "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवसंज्ञितम्" इति शुद्धसत्त्वता च, इति स्वयमेव तद्रूपमुपसंजिहीर्षुर्मात्रापि तथैवोक्तश्च प्रकृतं स्वकीयरूपं प्रादु-र्भावयामासेत्याह इत्युक्तासीदित्यादि । भगवान् श्रीकृष्ण आत्ममायया आत्मन ऐच्छिक्या प्रकाशिकया मायया संपश्यतोरेव पित्रोः प्राकृतो बभूव । प्रकृत एव प्राकृतः बान्धवादित्वादण् । कीदृशः शिशुः ? शिशुरिति प्रतीतिकृतत्वात् शिशुरित्युपचारः । अविकारि-त्वाद्भक्तवासनानुरूपं प्रकाश एवासौ, न तु विकृतिः । तथाविध शक्तिमत्त्वं हि ऐश्वर्यम् ; उक्तं हि - 'जुष्टं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः' इत्यादौ भगैरणिमादिभिः । तत्तज्जुष्टता च न विकृतिरपि त्वैश्वर्यविशेष एव ।। ४६ ।।

अथ (भा० १०।२।९) "अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे" इत्यादौ व्याख्यातं व्यत्ययार्थः सत्यीकर्तुं नन्दपुत्रतां प्रेप्सुस्तद्भगवान् प्रापणार्थमादिष्टेन पित्रा तत्रैव नीत इति प्रस्तवन्नाह—ततश्च शौरिरित्यादि । भगवत्प्रचोदितो भगवता चतुर्भुजा-कारेण पूर्वं प्रेरितः, पश्चात् शिशुर्यदाभूत्, तदा जननीस्तनपानानन्तरं नन्दभवनं प्रापयितुं समादाय बहिर्गन्तुमियेषेति । भगवत्प्र-चोदित इति भगवच्छब्दस्य सुतं समादायेति 'सुत' शब्दस्य च वैयधिकरण्येन निर्देशः । यदा बहिर्गन्तुमियेष तदैव लौहनिगडक-पाटकूटोद्घाटनादिकार्याय (भा० १०।१।२५) "कार्यार्थे संभविष्यति" इत्युपक्रान्तावतारहेतुर्योगमाया नन्दजायायामजनिष्ट, तदैवतत्प्रादुर्भावसमये लौहनिगडादिभङ्गस्तत्प्रभावेणैवाभूत् । भगवत इच्छाशक्तिः सैवेति तस्या एव तत्तत्कार्य्यहेतुत्वाद्भगवानपि तामपेक्ष्य पृथगिच्छाविलासं प्रकटितवानिति यदातदाशब्दयोरर्थः ।। ४७-४८ ।।

अथ भगवद्विजयसमये मेघा 'जय' शब्दं चक्रुरित्याह—ववर्ष पर्जन्य इत्यादि । उपांशुगर्जितत्वं कंसभयेनैव, 'जय कृष्ण, जय कृष्ण', इति गर्जनं बोद्धव्यम् । ववर्षेति आनन्दाश्रुक्षरणं शेषसौभाग्यप्रकटनार्थम् । अन्यथा शेषस्य छत्रता न स्यात् । यद्यपि वर्षातपवारणादिसेवागरुडस्यैव, तथापि शेषेनाग्रजत्वापराधक्षमापनार्थं हठात् परसेवा गृहीता । अन्वगादिति पश्चाद्गमनं छत्रधारिणः पार्श्वस्थत्वसम्भवेऽपि वसुदेवसङ्कोचख्यापनार्थम् ।। ४९ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

युवामित्यादि। पुत्रभावेन कृतस्नेहौ असकृद्वा सकृद्वा इति वा शब्दस्यार्थः। ब्रह्मभावे सति न परां गतिं मल्लोकं श्रीवृन्दावनम्, ब्रह्मभावे सति मोक्षमेव॥ ४५॥

सुतस्नेहस्वभावाद्बभूव प्राकृतः शिशुरिति—प्रकृत एव प्राकृतः 'बान्धवादित्वात् स्वार्थेऽण्', प्राकृतत्वं तु द्विभुजत्वम्, तथा च (भा॰ ६।८।२०) "गोविन्द आसङ्गव आत्तवेणुः" इति वेणुपाणित्वाद् द्विभुजत्वमेव प्राक्सिद्धम्, प्रागेव तथा व्याख्यातम्। किञ्च (भा॰ ३।१५।४०) वल्गु प्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे, विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्" इति तृतीयोक्तेस्तथैव व्याख्यानात्। प्रकृतः सन् शिशुर्बभूव शिशुरिति प्रतीतिकृत्, नत्वविकृतस्याखण्डकिशोरस्य शिशुत्वादि विकृतिः। ननु तर्हि किमेतत्, यतः स्तनन्धयाकारत्वेन प्राकट्यम्? सत्यम्, आत्ममायया आत्मसु भक्तेषु या मा शोभा तस्याः या प्राप्तिः, 'या प्रापणे क्विप्' तया येषु येषु भक्तेषु यथा शोभते तत्तदिच्छानुरूपत्वात् मातृरूपस्य भक्तस्य तथाविधेच्छया तथाविधं प्राकट्यं यथा चक्षुषोर्विप्रकृष्टत्वोपाधिकं ध्रुवादेर्ज्योतिषस्तथाविधसूक्ष्मत्वम्, न हि वस्तुतस्तत् सूक्ष्ममेव निकटवर्तिनां तु प्रकृतमेव तत् तथा भक्तेच्छोपाधिकमेव प्रकृतस्य किशोरस्य स्तोकाकारत्वम्, न तु विकृतिस्तस्यापीतिस्तोकाकारत्वमेव शिशुत्वम्, न तु ज्ञानादिसङ्कोचवत् चेत्तर्हि तस्यैव भक्तस्य समयान्तरे कथं किशोरत्वादि स्फूर्तिरिति को विशेषः। अत एव भक्तेच्छोपात्तविग्रह इति भक्तेच्छायामुपात्तो विविधो ग्रहो येनेति तत्र तत्र व्याख्या। वस्तुतस्तु नित्यकैशोर एवायम्, तथा च (भा॰ ३।२८।१७) "सन्तं वयसि कैशोरे" इति नित्यप्रवृत्ते वर्तमाने शतृङ् वस्तुतस्त्विदमत्र रहस्यम्—श्रीकृष्णविग्रहो हि ज्ञानमयः भक्तेच्छानाञ्च ज्ञानान्तर्भावात् ते यदा यद् यद् ज्ञानं कुर्वन्ति तत्तदेव तत्र तत्र प्रतिफलतीति, सर्वस्यैव ज्ञानस्य तत्र तत्र विद्यमानत्वान्न विकृतिः। ननु तर्हि नित्यलीलत्वं कथमास्ताम्? सत्यमेतत् नित्यलीलत्वं नाम किं तदेव विचार्यताम्—नित्या लीला नाम शक्तिर्यस्य स तथा, लीला तस्य श्रीरिव काचिन्मूर्तिमती शक्तिः (सीतोप॰ ८) श्रीर्भूर्लीला इत्यन्यत्र लिखितत्वात्, सा तु श्रीरिव नित्या, तस्यास्तु नानाविधा एव प्रपञ्चाः, पुरुमहिमत्वात्। तस्या नित्यत्वे तत्प्रपञ्चानामपि नित्यत्वेऽपि सर्वा एव लीला नित्यसिद्धा एव, किन्तु भक्तेच्छया कालवशादाविर्भावतिरोभावौ तासामिति रहस्यम्। अथ (४२ श-श्लो॰) "तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्" इति यदुक्तम्, तत्र द्वितीये भवे सुतपःपृश्न्योरेव कश्यपादितित्वमासीत्। "तृतीयेऽस्मिन्" इति तयोस्तत्तद्रूपेण वर्त्तमानयोः कथं वसुदेव-देवकीरूपेण पुनराविर्भावः सङ्गच्छताम्? सत्यम्, तयोः शुद्धसत्वांशावेव पृथग्भूय वसुदेव-देवकीरूपेणावतीर्णाविति मन्तव्यम्। अतः उक्तम् (भा॰ ४-३-२३) "सत्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्" इति वसुदेव-शब्द उपलक्षणः, देवकी चेति बोद्धव्यम्, सत्त्वं विशुद्धमिति कश्यपादित्योरिति तात्पर्यलभ्यम्॥ ४६॥

ततश्चेत्यादि। भवगता तेनैव 'मां नन्दगृहं प्रापय, मच्छक्तिर्योगमायाऽवतीर्णा, सा तेऽपत्यं भविष्यति, अहं यशोदाया अपत्यं भविष्यामि, अतो मां यशोदायां न्यस्य तामानय' इति प्रकारेण प्रचोदितः प्रेरितः। सुतं भगवन्तमादाय शौरिर्यदा बहिर्गन्तुमियेष, तदैव योगमाया नन्दजायया अजनि, यतः (भा॰ १०।१।२५) "कार्यार्थे संभविष्यति इति तत्क्षण एव सर्वेषामिन्द्रियवृत्तिलोप-कवाटकूटोद्घाटनादि कार्यमापतितम्। अतो मध्यरात्रे अष्टम्यां भगवदाविर्भावः तदनन्तरमविलम्बत एव नवम्यां योगमायाविर्भावः, एवम्विध एव योगो हि दुर्लभः प्रियभक्तानाम्॥ ४७–४८॥

ववर्ष पर्जन्य इत्यादि। उपांशुत्वं कंसभिया, कुतो मेघानां गर्जितैः कंसभयमित्याशङ्कायां गर्जितान्यत्र जय कृष्ण जय कृष्णेति स्तवनपराणीति ज्ञेयम्। वर्षणन्तु तेषामेवानन्दाश्रूणामिति शेषसौभाग्यार्थं च तथा सति तस्य छत्रसौभाग्यं भवति, लोकप्रचाराभावार्थञ्च। शेषोऽन्वगादित्यादि। यद्यपि वर्षातपवारणत्वेन गरुडस्यैवेयं सेवा तथापि शेषस्याग्रजत्वापराधसङ्कोचेन तदपजिहीर्षया हठेन परसेवाग्रहणम्॥ ४९–५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचितायां मञ्जूषाटीकायां
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः एवं चतुर्थोऽपि समाप्तः॥ ३–४॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवं स्वपितृत्वात् स्वमन्त्रोपासनापटलोक्तवसुदेवादिध्यानपूजादीनां सार्वकालिकत्वप्रदर्शनादप्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं तयोर्नित्यसिद्धत्वं सङ्गोप्य प्रेमवर्द्धनार्थं साधकत्वमेव ख्यापयन् सिद्धिं प्रतिश्रुत्य तावानन्दयति-युवामिति। वस्तुतश्चायमर्थः मम प्रथमा गतिरद्यतनी गोकुलं प्रतियात्वेकादशे वर्षे मथुरां प्रति पुनर्भाविनी तां परां मद्गतिं युवां यास्येथे यास्यथः प्राप्स्यथ इत्यर्थः साम्प्रतं तु मया सह युवयोर्विच्छेद एव भवतीत्यर्थः॥ ४५॥ आत्ममायया "आत्ममायातदिच्छास्यादुगुणमायाजडात्मिका" इति महासंहितावचनादात्मेच्छया प्राकृतः प्रकृतिश्च स्वरूपं च स्वभावश्चेति पर्य्यायात् प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनामिति शिष्टप्रयोगाच्च स्वभावसिद्धः इत्येवार्थः। अर्थान्तरस्य "न चान्तर्नबहिर्यस्य" इत्यारभ्य "बबन्ध प्राकृतं यथा" इति अग्रिमवाक्ये दार्ष्टान्तिकदृष्टान्ताभ्यां निरसनीयत्वात्॥ ४६॥ भगवता प्रचोदितः यदि बिभेषि तर्हि मां गोकुलं नय यशोदायाश्च तां कन्यां मन्मायामान-

चेत्यादिष्टः स वसुदेवः स्वपादनिगडं स्वयमेव स्रस्तं वीक्ष्य यदा गन्तुमैच्छेत् तदा सा नन्दजायया निमित्तभूतया अजनि जाता किञ्च—

"गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ । देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥

इति हरिवंशवाक्ये समं सह समकालमेव सुषुवात इति तत्रार्थावगमादत्र तु देवकीप्रसवोत्तरकाल एव यशोदाप्रसवदर्शना-दुभयोरेव शास्त्रवाक्ययोरतिप्रामाण्यादेवमवसीयते यदैव देवकी कृष्णं सुषुवे तदैव यशोदाऽपि कृष्णं सुषुवे तदनन्तरसमये योगमायां च सुषुवे इति कालभेदेन तस्याद्विः प्रसव एवेत्यत एव "अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा" इति वक्ष्यते किञ्च यशोदाप्रसूतस्य कृष्णस्य चतुर्भुजत्वाद्यनुक्तेर्नराकृतिपरब्रह्मत्वाच्च द्विभुजत्वमेव बुद्ध्यत इति ॥ ४७ ॥ तया योगमायया हृताः प्रत्ययस्य ज्ञानस्य सर्ववृत्तयो येषां तेषु द्वास्थेषु द्वारपालेषु शायितेषु सत्स्विति ज्ञानहरणं योगमायांशभूतायाः मायायाः कार्य्यं याः द्वारः पिहिताः ताः व्यवर्य्यन्त विवृता इत्यर्थः । बृहत्कवाटगतैरायसकीलशृङ्खलैर्दुरत्ययाः दुरतिक्रमाः रवेर्निमित्तात् उपांशु मन्दमन्दङ्गर्जितं यस्य सः फणैश्छत्रीकृतैरित्यर्थः । शय्यासनपरीधानपादुकाच्छत्रचामरैः "किन्नाभूस्तस्य कृष्णस्य मूर्त्तिभेदैश्च मूर्तिषु" इति ब्रह्माण्डपुराणात् ॥ ४८–४९ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

परां मद्गतिं तमसः परां मद्विभूतिं यास्येथे ॥ ४५ ॥ आत्ममायया स्वेच्छया शिशुः द्विभुजो बाल बभूव कथंभूतः प्राकृतः स्वाभाविकः ॥ ४६ ॥ भगवत्प्रचोदित इत्यनेन मां यशोदासमीपे स्थापय तत्कन्यामिहानयेति पूर्वमेव भगवता ऽऽज्ञप्त इति गम्यते या योगमायाऽऽख्या अजा भगवच्छक्तिर्नन्दजायया निमित्तभूतया अजनि जाता ४७ ॥ हृताः प्रत्ययाः येषां सर्वे वासुदेवे अन्तर्यामिणि वृत्तयो येषां ते च ते च ते तेषु ॥ ४८ ॥ व्यवर्य्यन्त गुणाश्छान्दसः व्यवृयन्त ॥ ४९ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

युवामिति । अत्र पुत्रभावेन चिंतयतो भगवद्गतिप्राप्तिरुक्ता । तन्न युज्यते । ममताज्ञानयोः सद्भावेन विरुद्धत्वादर्थांतरं । उपमायां विकल्पे वेत्यमरोक्त्या वा शब्दस्योपमार्थकत्वात् । सर्ववस्तुतः पुत्रस्याधिकप्रेमास्पदत्वात्पुत्रभावेनेव ब्रह्मभावेनासकृन्मां चिंतयंतौ युवां परां मद्गतिं यास्येथे गमिष्यतः । चिंतनमपि द्वेषभक्तिभ्यामसकृद्भवति । तत्र द्वेषाद्दैत्यानामिव मद्गतिप्राप्तिरिति सूचयितुं कृतस्नेहावित्युक्तं । अतो न कश्चिद्विरोधः ॥ ४६ ॥ पित्रोरिति । अत्र प्राकृत इत्युक्तस्य पुरुषः प्रकृतेः पर इत्यनेन विरोधोऽतोऽर्थांतरं । प्राच इव पूर्वबालमुकुंदवत् कृतं शयनकर्म यस्य तादृशः शिशुर्बालो बभूवेत्यर्थः । अथवा । अत्रोपमालोपेन प्राकृतवदित्यर्थः । अतो न विरोधः ॥ ४७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

पुत्रभावेन पुत्रत्वेन ब्रह्मभावेन नारायणत्वेन च । असकृच्चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ कृतभक्ती परां मद्भक्तिं यास्येथे ॥ ४५ ॥ हरिरित्युक्त्वा देवकीवसुदेवौ प्रति तूष्णीमासीद्भगवान् तथाऽऽसीनश्चात्ममायया स्वेच्छया पित्रोः । पिता मात्रेत्येकशेषः । मातापित्रोः सम्पश्यतोः सम्पश्यतीः च सम्पश्यंश्च । पुमांस्त्रियेत्येकशेषः । सद्यः प्राकृतः शिशुस्तद्वद्बभूव ॥ ४६ ॥ ततः सुतशिशुभवनानन्तरं भगवत्प्रचोदितो यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय । मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसम्भवामिति क्वचित् श्लोको दृश्यते तथाऽपि न सार्वत्रिकः । अन्तः प्रेरितः स शौरिः सूतिकागृहात्प्रसवनिवासात्सुतं समादाय यदा बहिर्गन्तुमियेषैच्छत्तर्हि तदा नन्दजायया निमित्तभूतयेति वा । तृतीया सप्तम्यर्थे । नन्दजायायां या योगमायाऽजा चित्प्रकृती रमाऽजनि जाता । ननु स्वस्य खलशृङ्खलाबन्धोऽन्धकारश्च बहिर्न हि न तद्घटकूटघटिततेति न हि । न च कीलाः किलद्वारः किं द्वारा सत्येवं वसुदेवो देवमन्यत्र नेतुमैच्छदित्यतः सर्वानुपपत्तिविच्छित्तकं हेतुमाह ॥ तयेत्यादिना । तयाऽपहृताः प्रत्ययो ज्ञानं च सर्वा वृत्तयश्चेष्टा येषां ते सर्वेन्द्रियवृत्तयो वा येषां तयाऽऽहृतः प्रापितः प्रत्ययो विश्वासो येषु सर्वेन्द्रियेषु तेषां वृत्तिर्व्यापारो येषु तेष्विति वा पश्यत्स्वप्यनिवारय-त्स्विति तात्पर्यम् । द्वाःस्थेषु द्वारपालेषु पौरेषु च यापितेषु । एतद्गतिमिति वा निद्रामिति वा शेषः । पौरयापनमुपनयनसमयप्रश्नार्थम् । सर्वद्वारः पिहिता बृहत्त्वं कपाटादित्रिके ज्ञेयम् । बृहन्ति च तानि कपाटान्यतराणि बृहन्त्यायसान्ययोविकृतानि कीलानि । शङ्कौ ज्वाले तु कीलवदिति विश्वः । शङ्कुविशेषा बृहन्ति शृङ्खलान्यन्दुकानि च तैर्दुरत्यया अत्येतुमशक्याः । तुस्तु मन्त्रौषधादिभिरत्येतुमशक्य-त्वविशेषसूचकाः ॥ ४७—४८ ॥ कृष्णं वहन्तीति कृष्णं बिभ्राणे वसुदेवे आगते स्वाः पतिताः कपाटघटिताः स्वयं व्यशीर्यन्त शीर्णा विवृता इति यावत् । रवेः सकाशाद्रवेरुदये वा यथा तमस्तथा उपांशु मन्दं यथा गर्जितं भावे क्तः । गर्जनं यस्य स पर्जन्यो मेघो ववर्ष मन्दगर्जनान्मन्दं ववर्षेति ध्वन्यते । अन्यथा रसाभासेन देवकोपास्पदता स्यादिति ज्ञेयम् । इदमपि तस्य तदङ्गच्छविसदृशता-यातसन्तोषेणेत ज्ञेयम् । शेषः फणैः फणा द्वयोरित्यमरात्स्वशिरोभिर्वारि मन्दं पतदुदकं निवारयन्भूस्पर्शतः प्रागस्पृश्यत्वात् । मदनन्तरमयमनन्तो जातो न सेवा ममैतर्हीदमपदेशेनेयते सा घटतामित्येवमाटीकत शेष इति ध्वनिः । अन्वगाद्वसुदेवमनुस-त्यागात् ॥ ४९ ॥

श्रीसुबोधिनी

अधुना तु अप्रार्थितेऽप्यपवर्गं मुक्तिर्भविष्यतीत्याह युवामिति, प्रमेयबलस्य प्रकटीकृतत्वाच्छास्त्रस्य गौणत्वादविहितस्नेहेन पुत्रभावेन विहितस्नेहेन ब्रह्मभावेन वा विषयस्य तुल्यत्वात् प्रकारस्याप्रयोजकत्वाद् यथाकथञ्चिन्मयि कृतस्नेहौ परां मद्गतिं व्यापिवैकुण्ठाख्यां यास्येथे 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेह'स्य तुल्यत्वात्, अत एव भगवान् गोपिकादीनामपि माहात्म्यज्ञानमुत्पादयिष्यति, अन्यथा बोधांशोधिकः स्यात् भक्तानां प्रपञ्चाभावस्य निरोधत्वात्, अत एव पूर्वस्कन्धे उत्पत्तिनिरूपणेन स्वरूपत एव भक्ता निरूपिताः, प्रेमज्ञानं निरोधश्च यथैव भवति तदत्रैव वक्ष्यते, आर्थिकमत्र नोच्यत इति 'मां गोकुले नय तत्र स्थापयित्वा तत्रत्यां कन्यामत्रानये'ति मुखतो नोक्त, एतदुक्त्वैव पश्चात् तूष्णीं जात इति ज्ञातव्यं, एभिर्वचनैर्भगवता वसुदेवदेवक्योः स्वावतारात् पूर्वं तदनन्तरं च दुःखप्राप्तौ हेतुरपि निरूपित इतिज्ञेयं, तथा हि 'भक्तः कामानभीप्सन्ता' वितिवाक्यात् तदर्थमेव भगवदाराधनं पूर्वं कृतं न तु भगवदर्थं, तस्य चानिष्फलत्वाद्धर्याविर्भावे सौन्दर्यं दृष्ट्वा तादृशः सुतो वृतो न तु स्नेहेनात्यौ प्रभुप्राकट्य वृतं, अत एव 'वरं मत्सदृश मित्यादिना स्वप्राप्त्यनन्तरमपि 'ग्राम्यभोग'भोजनमेवोक्तं, एवं सति स्वसाम्यमन्यत्रादृष्ट्वा स्वस्यैव तथाविर्भावने प्रभोर्निर्बन्धोभूत्, मुक्तानामपि दुरापस्य स्वरूपस्याल्पार्थे प्रकटीकरणमापतितं यतः, 'अदृष्ट्वान्यतम'मितिवाक्येनायमेवार्थो ज्ञापितः प्रभुणा, अतोधुना प्रभुप्राकट्यनिमित्तकः कंसकृतो निर्बन्धोभूत्, पुत्रत्वे निर्बन्धात् कीर्तिमदादिपुत्रनाशोपि, साम्ये निर्बन्धाद् गुणस्तत्सम्भवाद् गुणसमसङ्ख्यानां तेषां तथा, मर्यादारक्षायै तद्दण्ड इवायं प्रभुणा सम्पादितः, अद्भुतकर्मत्वाद् भगवत एतयोः स क्लेशः स्नेहातिशयहेतुरभूत्, क्लेशेन प्राप्तेर्थे तस्यावश्यकत्वात्,

> आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोभवत् । अग्रे लीलारसप्राप्तौ साधनं मृग्यमेव हि ॥ १ ॥
> भक्तिमार्गीयमित्यात्मवियोगमकरोद्धरिः । तदा तु स्वत एवासीद् भगवद्भावसन्ततिः ॥ २ ॥
> एतावन्ति दिनान्यासन्नेवं कुर्वन् भविष्यति । एतावन्मासिकश्चासीदेवमेवं करिष्यति ॥ ३ ॥
> एतावद्वार्षिकश्चासीत् तेन चैवंविधाः शुभाः । लीलाः कुर्वन् साग्रजः श्रीप्रभुस्तत्र भविष्यति ॥ ४ ॥
> कुशल्यास्ते साग्रजो नु कदा द्रक्ष्यामि तादृशम् । एवंविधानन्तभावैरत्यार्त्या दर्शने तयोः ॥ ५ ॥
> मिथस्तथालापतश्च सर्वथेन्द्रियवृत्तयः । सर्वा हरिपरा आसन् स एव सततं हृदि ॥ ६ ॥
> वियोगतापतस्त्वेभूत् तेनासां जीवनं तयोः । तेनैकादश वर्षाणि तथा कुर्वन् हरिर्विभौ ॥ ७ ॥
> 'युवां मा'मितिवाक्येन चेममेव वरं ददौ । अन्यथैतादृशो भावो न भवत्येव कुत्रचित् ॥ ८ ॥
> अतो माहात्म्यधीयुक्तस्नेहोभवदिति प्रभुम् । चिरात् प्राप्यापि पितरौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा रूपान्तरस्वीकरणं कृतवानित्याहेत्युक्त्वासीदिति, तूष्णींभावोनुक्तसिद्धोपि रूपवज् ज्ञानस्यापि तिरोभावप्रतिपादनार्थः, यथा रूपं प्राकृतं स्वीकृतवानेवं प्राकृतमेव ज्ञानं स्वीकृतवानिति, तथा सति रूपान्तरस्वीकरणं सम्यगुपपद्येत, नन्वेवं स्वविरुद्धधर्मं कथं स्वीकृतवानित्याह हरिरिति, यतः स सर्वदुःखहर्ता, स्वरूपमप्यन्यथा करिष्यतीत्याशङ्क्याह भगवानिति, रूपज्ञानकार्ययोरपि तदा प्राकट्यं न स्यादित्याशङ्क्याहात्ममाययेति, स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन तथा कृतवान्, ततः स्वेच्छया यदा तत्कार्यमायास्यतीति गीतोपदेशने भीष्ममुक्तौ च तथैव तदा प्रकटीभविष्यति, अन्यदा तु मातृप्रार्थनया रूपान्तरमेव प्रदर्शयिष्यतीतिभावः, यदैव तूष्णीं स्थितस्तदैव सद्यस्तत्क्षणमेव प्राकृतः शिशुर्बभूवाच्छिन्ननालोवस्थितः, नटानां रूपान्तरस्वीकारे दिदृक्षूणां परोक्षतापेक्ष्यतेत्र तु तन्नापेक्ष्यत इत्याह पित्रोः सम्पश्यतोरिति, लौकिकज्ञाननैपुण्यं मातुः परमार्थज्ञाननैपुण्यं पितुः, उभयमपि विद्यमानमेव न भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकम् ॥ ४६ ॥

एवं स्वीकृत्य रूपान्तरं तत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् स्वयं गमने रूपान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् तस्य चाज्ञानात् सर्वसमाधानार्थं ते बाधयित्वा तद्द्वारा स्वयं गोकुले गतवानित्याह ततश्चेति, प्राकृतभावानन्तरं शौरिश्चकारादाज्ञापनानन्तरं च सुतं भगवन्तं समादाय सम्यग् गृहीत्वात्तभपात्र व त्रं च प्रसार्य तदुपरि स्थापयित्वा स सूतिकागृहाद् यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्हि तस्मिन् समये नन्दजायया योगमायाजनि जनिता, शौरिरिति गमने भयाभावः, स इति भगवद्वाक्ये विश्वासः, सुतमिति, तस्यापि पुत्रत्वबुद्धिः प्राकृतेव जातेति ज्ञापितं, सूतिकागृहादिति, प्रसवधर्मास्तत्रापि गृह आविर्भूताः, देवक्या अपि सूतिकात्वं जातं, साधारणमोहस्य निवर्तकं साधारणं ज्ञानमिति गमनस्याच्छन्द्यं कपाटोद्घाटनं च, आत्मन इव देहस्यापि विस्मरणं यथा भवति तदर्थं तस्मिन्नेव समये योगमाया जाता, भगवत्समानकाले चेज् जाता भवेत् तदा देवकीवसुदेवयोरपि प्रस्वापः स्यात्, अनेन मुहूर्तानन्तरं सा जातेति ज्ञायते, नवम्यां च सा जाता, रोहिणी तु तुल्या, अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषाय, सप्तमीवेधस्तु दोषायैव, पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टम्यग्ध्युपोष्या, अन्तःस्थिते भगवति मायोद्गमो न भवतीति यदैव बहिर्गन्तुमियेष तदैव जातेत्युक्तं, सा हि योगार्थमेव माया, भगवतः कार्योपायार्थमेव लोकान् व्यामोहयतीति, मायायाः स्वतन्त्रज्ञानपक्षं व्यावर्तयितुं नन्दजायया जनितेत्युक्तं, न तु भगवानिव सा स्वत आविर्भूतेति ॥ ४७ ॥

तस्याः कार्यमाह तयेति, तया मायया हृताः प्रत्ययानां सर्ववृत्तयो येषु जाग्रत्स्वापयोः प्रत्ययानां ज्ञानानां वृत्तयः संशयादय उत्पद्यन्ते; मायामोहितास्तु मूर्च्छिता एव जाताः, जगति तस्यामुत्पन्नायां तत्प्रभावः, यशोदादयस्तु मुग्धा एव गोकुलवासिनश्च, ततः क्रमेण मथुरायां द्वास्थास्ततः पौराः, न केवलं पूर्ववद् बुद्धिरेव गृहीता किन्तु निद्रयातिरिक्तबुद्धिरपि सम्पादिता, यथा भूयान् कालो लोकान्तरं गतानामिव मुग्धतया गच्छति तथानुशायितेषु सुषुप्तिं प्रापितेषु सत्सु, इयं हि मायैतावत्कार्यमेव कृतवती, अन्यत् त्वन्यथा जातमिति वदन् प्रक्रमान्तरमाहाथेति, पूर्वं तैरेव द्वारपालकैः सर्वा एव द्वारो बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ्खलैः पिहिताः स्वभावतोपि दुरत्यया—

गजा व्याघ्राः क्वचित् सिंहा विषमाश्चैव भूमयः। दिवसेपि गतौ नित्यं सर्वथा भयहेतवः ॥ १ ॥

येषु द्वारेषु, गमनमात्रेपि साधारणानां बन्धो भवति, तत्रापि पिहिताः, बृहन्ति कपाटानि यत्र, आयसाः कीलाः श्रृङ्खलाश्च यासु, कीलसहिता वा श्रृङ्खला यासु, कुञ्चिकयैवोद्घाटयितुं शक्याः, कुञ्चिकापि विषमा, एतादृशा अपि कृष्णवाहे वसुदेवे समागते स्वयमेव व्यवयर्यन्त विशीर्णा जाताः, स्वयमेवोद्घाटितकपाटा जाताः, भगवतः सर्वमोक्षदातृत्वात् कपाटानामप्य-चेतनानाममितामसैर्बद्धानां मुक्तिः प्रदर्शिता, अनेनान्येषां मुक्तिर्व्याख्याता, यदि शुद्धसत्त्वं भगवद्ग्राहकं चेद् भवति, एतत्प्रदर्श-नार्थमेव कृष्णवाहे वसुदेव इत्युक्तं, अयमेवोपाय इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथा तमो रवेरिति, उपायसहस्रेणापि सर्वं तमो न गच्छति, उदिते तु सूर्ये स्वत एव गच्छति, तथा शुद्धसत्त्वे भगवत्सहिते सत्येव सर्वाविद्यानाशः, सर्वासाध्यानां स्वत एव सिद्धिर्नान्यथेति निरूपितं, अन्तर्द्वारेषु निर्गतेषु मायायाः प्रवेश उभयोः साम्मुख्ये यदासीत् तदाह ववर्षेति, वृष्टिरपि सर्वेषामनुत्थाने हेतुः, उपांशुर्गर्जितं चानुत्थाने शब्दान्तरप्रतिबन्धे च, अधिकगर्जने तेनैव प्रबोधः, एतावन्मायाकार्यं साधारण्येन प्रवृत्तं वसुदेव-स्यापि खेदहेतुर्भवति, अतस्तन्निवारणार्थं शेषोऽन्वगात्, पातालात् समागत्य फणैः पर्जन्यवारि निवारयन्नान्वगात्, पश्चाद्भागेन गतवान्, भगवत्सम्बन्धात् तत्कृतं तु भयं न भवति, अन्तरिक्षे निवारयन् गच्छतीत्येके, फणैरितिपदादन्वगादिति च पश्चादेव छत्रधारीव गच्छतीति ज्ञायते ॥ ४८-४९ ॥

इदं श्रीमत्कल्याणरायाणाम्

टिप्पण्याम् अचेतनकपाटादिविबन्धनिवृत्तौ च वसुदेवागमनस्यैव हेतुत्वम्, न तु साक्षाद्भगवतः, वृष्टिभयाद् वस्त्रपिहितत्वात् परं वसुदेवस्य तथा सामर्थ्ये कृष्णवाहत्वं हेतुरिति ज्ञापयितुं तथा विशेषणम्। अत एव भगवद्रहितस्य तस्यागमने पुनर्मुक्तानां बन्धो भविष्यति। न हि साक्षाद्भगवद्विमुक्तानां पुनर्बन्धो भवितुमर्हति। एवं सति रवेर्दृष्टान्तत्वमुपपद्यते, यतो रवावपि भगवद्रूपमदृश्यम-स्तीति ततस्तमोनिवृत्तिः, पुनरागतिश्च दृश्यते। तथा च कौमुतिकन्यायेन उभयत्र भगवन्माहात्म्यमेवेति भावः। निरूपितमित्यनन्तरं प्रभूणां स्वतन्त्रः ॥ ४९ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

युवां मामित्यत्र यदि भक्त्यङ्गत्वेन ज्ञानं नोच्येत किन्तु स्वातन्त्र्येण तदा यथाकथञ्चित् स्नेहमात्रेण निरोधपदार्थसिद्धेर-स्मिन् स्कन्धे ज्ञानमुच्यमानमेतदर्थासङ्गत्यात्र प्रवेशमलभमानं वाक्यभेदापादकं भवेदित्याहुरन्यथा बोधांश इत्यादि ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीमित्यत्रात्मपदेनेदमाकूतं, यथात्माविकृतो नित्यः शुद्धः सद्रूपस्तथेयं मायाप्युक्तगुणविशिष्टा, अत एव तादृशगुणविशिष्टलीलायाः प्रत्यायिका नासत्पदार्थस्य, संसारहेतुभूता माया यथा जीवस्य स्वरूपं विस्मारयित्वा प्रापञ्चिक-विषयासक्तिं जनयत्येवमियमपि भक्तानां स्वस्वरूपविस्मृतिं भगवदासक्तिं च जनयतीत्येतावद्धर्मसाम्येनास्यामपि मायाशब्दप्रयोगः, वस्तुतस्तु यथान्ये लीलोपयोगिनो गोपीगोपादय आनन्दरूपा एवमियमपीतिज्ञापनायात्मपदं, अन्यथा पुरुषोत्तमवाचिभगवत्पदाव्य-वहितोक्त्यैव मायाया भगवदीयत्वप्राप्तेरात्मपदं व्यर्थं स्यात् एवं सति "प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वा" दितिन्यायेन भगवद्रूपत्वादत्र कर्मधारयोप्यभिप्रेत इति ज्ञेयं, तथा चेदम्पदं सर्वत्रानुषज्यते, तथा हि, अत्र लीलार्थं भगवता तौ पितृत्वेनाङ्गीकृताविति भगवच्छक्त्यैव तयोस्तथाविर्भावः, अन्यथा निषेकजननाद्यभावेन तयोस्तथात्वमुच्यमानं बाधितं स्यात्, एतदेवाहात्ममायया पित्रोरिति, न "न्वेतद् वां दर्शितं रूप" मितिवाक्यात् पूर्वरूपदर्शन एव भगवदिच्छाया उक्तत्वाद् 'नान्यथा मद्भवं ज्ञान' मितिवाक्याद् दर्शनस्यानन्यलभ्य-त्वाच्चैतद्रूपदर्शनं कथमेतयोरत आहात्ममायया सम्पश्यतोरिति एतेन चक्षुस्सामर्थ्येनादृश्यत्वं सूचितं, अतिशयेनोपक्रान्तकार्योप-योगित्वं हि सम्यक्त्वं, तेन पूर्वमीश्वरत्वेन जानतोर्लीलोपयोगिमायाकरणकदर्शने सम्यक्त्वं स्वपुत्रत्वेनापि दर्शनं ज्ञेयं, तथैव लीलायाः करिष्यमाणत्वात् 'पित्रो' रितिवचनाच्च, यद्वा लौकिकभावे सत्येव लीलोपपत्तिरिति दर्शने लीलोपयोगिमायाकरणकत्वनिरूपणेन पितृत्वोक्त्या च पुत्रत्वज्ञानं प्राप्तमेव, तच्च न केवलं किन्त्वीश्वरत्वानुसन्धानसहितमिति तदेव सम्यक्त्वं, "युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चे" तिभगवद्वचनात्, अथवोक्तरूपमायाकरणकदर्शने तद्विरुद्धाविषयकत्वमेव सम्यक्त्वं, तथा च ब्रह्मभावस्य लीलाविरोधित्वेन तद्रहितं स्वस्मादुत्पन्न इत्येव ज्ञानं सम्यग्दर्शनं, एवं सति तया 'पश्यतोस्तयोः' परं 'प्राकृतः शिशुर्बभूवे' ति

तद्दर्शनप्रकारकथनं, वस्तुतस्तु भगवान् सद्गुणसम्पन्नः परमकाष्ठापन्नः शुद्धब्रह्मरूप एव यः शिशुः शिशुरूपः स सद्यस्तस्मिन्नेव क्षण आसीत्तद्दृष्टःप्रकटो वा जात इतियोजना, 'तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्र' इत्यत्रेवात्राप्यासीदितिपदस्य नोत्पत्तिरर्थः, जातो हि बालो रोदिति, तच्च द्वाःस्थजागरणहेतुरिति तूष्णीं तथासीत्, अपरोक्षत्वेप्यलौकिकत्वेन ज्ञानाभावात् सोंशः परोक्ष एवेति लिट्प्रयोगः, अपरं च, इह हि तत्तल्लक्षणसम्बन्धित्वेनोच्यमानापि सर्वा लीला तथाभूतैव शुद्धब्रह्मधर्मरूपा नित्यैवेति 'कृतागसं त'मितिश्लोकोक्तरूपवन् नालादिसहितशिशुरूपस्यापि शुद्धब्रह्मत्वाद् यथाश्रुतेपि न काप्यनुपपत्तिः, तच्छ्लोकोक्तरूपस्यैव 'न चान्त'रित्यादिना शुद्धब्रह्मत्वमग्रे शुकेनोक्तमिति न काचिच्छङ्कात्र, लीलाया निरोधार्थत्वाद् यथैव सम्भवति तथैव करोतीति न प्राकृतानुकरणलीलायां काचिन्न्यूनता प्रत्युत भक्तार्थ एवमपि करोतीत्यद्भुतमाहात्म्यख्यापकमित्येतत्सर्वं हृदि कृत्वा 'स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन तथा कृतवा'नित्याद्युक्तमिति ज्ञेयं, अत एव 'बबन्ध प्राकृतं यथे'तिप्राकृतदृष्टान्त उक्तोग्रे, अथवा शेष इदं सूत्रं, शेषाधिकारकाणप्रत्ययान्तोत्र प्रकृतिशब्दः, तेन यथा 'चक्षुषा ग्राह्यं रूपं चाक्षुष'मित्यादिशब्दास्तथायमपीति 'प्रकृत्या ग्राह्यः प्राकृत' इत्यर्थः सम्पद्यते, लौकिकालौकिकभेदेन हि द्विविधा जीवाः, तेषां प्रकृतिरपि तथा' तथा च 'मल्लानामशनि'रितिश्लोकोक्तरीतिवदलौकिकप्रकृतिभिरलौकिकत्वेन ग्राह्यो लौकिकप्रकृतिभिर्लौकिकत्वेनेत्येतादृशो वस्तुतस्त्वलौकिक एव शिशुर्बभूवेत्यर्थः सम्पद्यते, अत्र लौकिकव्यवहारोपयोगि ज्ञानं लौकिकं, तद्वन्तस्तथा, शास्त्रीयं ज्ञानमलौकिकं तद्वन्तस्तथेत्युच्यन्ते तेन नन्दादीनां लौकिकत्वेन भानेपि लीलाया अलौकिकत्वात्तन्मध्यपातित्वेन तज्ज्ञानादीनां न लौकिकत्वं, तेषां पुत्रत्वादित्वेन ज्ञानं शास्त्रेणानूद्यते परं न तु विधीयत इति शास्त्ररीतिमपेक्ष्य लौकिकत्वमुच्यते, नैतावता काचिन्न्यूनतात्र, लीलात्वेनालौकिकत्वमुक्तमेव, यद्वा प्रथमस्कन्धे भीष्मोक्तौ "प्रकृतिमगमन् किल यस्य गोपवध्व"इत्यत्रेवात्रापि प्रकृतिशब्दो भगवत्स्वरूपवाची, तथा च पूर्ववत् प्रकृत्या स्वरूपेणैव ग्राह्यस्तथा, 'न तत्र सूर्यो भाती' त्यादिश्रुतिभि'र्नाहं वेदै'रित्यादिस्मृतिभिश्चेतरसाधननिषेधाच्छ्रुत्यन्तरे च "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य"इत्यादिनेतरसाधननिषेधपूर्वकं "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इत्यादिना भगवतैव भगवाँल्लभ्य इति निरूप्यते, तथा चैतादृशशुद्धब्रह्मरूपो लोकवेदप्रसिद्धः पुरुषोत्तमः शिशुर्बभूवेत्यर्थः, पित्रोः सम्पश्यतोरित्यत्र तयोः सम्पश्यतोरेव तथाकरण उपपत्तिमाहुर्लौकिकज्ञानेत्यादिना, सामर्थ्यस्य सामर्थ्यप्रकटनस्येत्यर्थः, इदमत्राकूतं, अनेनैव रूपेणाधुनैव कंसं मारयित्वा सर्वसमाधानं कर्तुं सामर्थ्ये सत्यपि यद् रूपान्तरप्रकटनं तत् 'समुद्विजे भवद्धेतोरधीरधी'रित्यादिवाक्यैर्लौकिकरीत्यैव स्नेहातिशयो ज्ञायते येन भगवतः कंसाभिमुखत्वमात्रेपि प्राणापगमो भवेत्, लोकविद्वेषभिया रूपोपसंहारप्रार्थनेनापि लौकिकरीत्यैव स ज्ञाप्यते मातुः, पितुस्तु पूर्णमाहात्म्यज्ञानवत्त्वेनोक्तशङ्काभावेप्यनेनैव रूपेणाधुनैव कंसमारणे भक्तदुःखनिवृत्तौ सत्यां स्थितौ प्रयोजनाभावादस्माकं पुनर्दर्शनं न भविष्यति चेन्न प्राणस्थितिर्भविष्यतीत्यभिप्रायेण तद्वृत्तान्तकथनाद्देतद्रूपोपसंहारोन्यत्राधुना गमनमभिप्रेतमिति ज्ञायते, अन्यथा माहात्म्यज्ञानवत्त्वेन सर्वज्ञतामपि प्रभोर्जानातीति न तत् निवेदयेत्, तथा च तदा तद्दर्शनसत्त्वोक्त्या तज्ज्ञानस्योक्तरूपस्य हेतुत्वं सूच्यत इति युक्तं तथात्वमिति ॥ ४६ ॥

ततश्च शौरिरित्यत्र सर्वमोहनस्वभावायास्तस्या आविर्भावे वसुदेवे तथात्वं कुतो नेत्याशङ्क्य तन्निवारणाय भगवत्प्रचोदित इति पदतात्पर्यमाहुः साधारणमोहस्येति, भगवता गोकुले स्वनयनार्थं ततः कन्यायाश्चानयनार्थं स प्रेरित इत्येतावति कार्ये भगवज्ज्ञानशक्त्यैव व्याप्त इति योगमायाजनितसर्वसाधारणमोहस्य निवर्तकमुक्तरूपं ज्ञानमिति तथेत्यर्थः, यथान्यः कश्चिच्चौर्येण गच्छन् पद्भ्यां शनैश्च गच्छति स्वचातुर्येण तथैव वसुदेवोपीति ज्ञाने साधारणत्वं, अन्यथा गोपाला भाण्डीरमिवायमपि गोकुलं प्रापितः स्यात्, यद्वा भगवद्विषयकज्ञानतारतम्येन मोहापगमतारतम्यमिति भगवति लोकसाधारणं ज्ञानमधुनास्यास्तीति तादृङ् मोहोप्यपगत इति तथेत्यर्थः, तावान् बाह्योपि बन्धो निवर्तत इत्याहुः कपाटोद्घाटनं चेति, तदा देवकीत्यादि, दर्शनेन हि मोहाभावः, समानकालत्वे जन्मनो दर्शनलक्षणो मोह एव भवेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

॥ टिप्पण्यां समाप्तस्तृतीयोध्यायः ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

युवां मामित्यत्र ननु विषयैक्येपि विहितभक्त्योः प्रकारभेदस्य सत्त्वात् फले कथमैक्यमित्यत आहुर्माहात्म्येत्यादि, तथा च विशेष्यांशस्यैक्यात् फलैक्यमित्यर्थः, उक्तयुक्तेरप्रयोजकत्वपरिहारायाग्रिमग्रन्थसम्मतिमाहुरत एवेत्यादि, अत एवेति, गोपिकादिस्नेहस्य भक्तित्वादेव, नन्वत्र माहात्म्यज्ञानस्य स्नेहाङ्गत्वेन प्रतिपादने कावश्यकतेत्याकाङ्क्षायां तदावश्यकत्वे युक्तिं वदन्तीत्याशयेन टिप्पण्यामाहुर्यदीत्यादि, कथमधिकः स्यादित्याकाङ्क्षायां सुबोधिन्यामाहुर्भक्तानामित्यादि, व्यापाररूपस्य निरोधस्य प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपत्वात् करणरूपया लीलया तावन्मात्रसिद्धावपि भक्तानां प्रपञ्चाभावरूपस्य निरोधस्य तावतैव सिद्धेर्बोधांशप्रयोजनाभावेन सोंशो वाक्यभेदमापादयन्नधिकः स्यादित्यर्थः, अत्रैव युक्त्यन्तरमाहुरत एवेत्यादि, यस्माद् भक्तौ बोधांशस्यावश्यकतात एव हेतोः पूर्वस्कन्धे उत्पत्तीत्यादिप्रकारेण स्वरूपतो भक्ता भाववन्तो निरूपिताः, प्रेमाद्युत्पत्तिप्रकारस्त्वत्रैव वक्ष्यते, अन्यथा पूर्वस्कन्धस्यास्य चैकवाक्यता न स्यादतोपि सोंशो नाधिकं इत्यर्थः, ननु मातृप्रार्थनयान्यत्र गमनस्यावश्यकत्वेपि

तत्स्थलादिकमनुक्त्वा कथमत्र वाक्यं समापितमित्याकाङ्क्षायां समापनतात्पर्यमाहुरार्थिकमित्यादि, यदर्थात् छिद्रेतरत्वादिवत् सिध्यति तदत्र कण्ठतो नोच्यत इति हेतोर्वाक्यपरिसमाप्तिरित्यर्थः ।। ४५ ।।

इत्युक्त्वासीदित्यत्र रूपज्ञानेत्यादि, भगवत्त्वे तिरोधापिते प्राकृतरूपज्ञानयोर्ये कार्ये अविहितभक्तिरसानुभावादिर-सुरव्यामोहादिश्च तयोरपि प्राकट्यं न स्यात् तद्बाधकस्य भगवत्त्वस्योद्भूतत्वादित्याशङ्क्य तत्र समाधिमाहेत्यर्थः, तथा कृतवा-निति, एतट्टिप्पण्यां बहुधा स्फुटिष्यति, तत्कार्यमिति, स्वरूपकार्यं, ज्ञानप्राकट्येप्येवमेव ज्ञेयं, आत्ममायायापदे स्वस्य सर्वभवन-सामर्थ्यं यदाचार्यैर्व्याख्यातं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यां व्युत्पादयन्त्यत्रात्मपदेनेत्यादि, यद्यात्मतुल्या तदास्या मायात्वं कुत उक्तमित्यत आहुः संसारेत्यादि, तथा चैतत्कार्ये किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन तथोक्तं 'कौण्डपायिनामयनेऽग्निहोत्रशब्द'वदित्यर्थः, तद्यात्मपदस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तदाहुर्वस्तुत इत्यादि, एतमर्थं न्यायेनोपोद्बलयन्ति सतोत्यादि, एवं सतीत्यादि, एवं तस्यां भगवत्तादात्म्यसाधनस्य प्रयोजनमाहुस्तथा चेत्यादि, अनुषज्ज्यत इति, सयोगपृथक्त्वेनानुषज्यते, तद् व्युत्पादयन्ति तथा हीत्यादि, अनुपपत्त्यन्तरं व्युत्पादयन्ति नन्वेतावदित्यादि, सूचितमिति, रूपान्तरस्य सूचितं, दर्शनेऽन्यप्रकारतः सम्यक्त्वं व्युत्पादयन्त एव समर्थयन्त्यतिशयेनेत्यादि, एतेषां त्रयाणामपि सम्यक्त्वपक्षाणां समुच्चय एव न तु विकल्पः श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वात्, व्याख्याने वाशब्दस्तु वाक्यालङ्कारे, तेन सिद्ध-माहुरेवमित्यारभ्य तथासीदित्यन्तं, नन्वेवं सर्वेषु पदेष्वासीदितिक्रियायां सम्बद्धेषु सत्सु बभूवेतिक्रियान्तरं व्यर्थमसङ्गतं वा स्यादित्याकाङ्क्षायां तदवैयर्थ्यप्रकारमाहुरपरोक्षेत्यादि, सोंश इति, अप्राकृतत्वांशः, तथा च प्राकृतो बभूवेति भिन्नं वाक्यमतो न वैयर्थ्यादिदोष इत्यर्थः, यद्यप्यत्र पूर्वसमुच्चायकश्चकारोपेक्ष्यते तथापि परोक्षत्वायैव तदनुक्तिरित्यपि ज्ञेयं, प्राकृतो बभूवेत्यस्य तद्दर्शनप्रकारकथनत्वमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुरपरश्चेत्यादि, तथाभूतेनेति, अप्राकृतेन, ननु तर्हि नालच्छेदादेः कथमुत्पत्तिरित्यत आहुस्तच्छलार्थेत्यादि, नन्वनुक्तमिदं कथमङ्गीकर्तुं शक्यमित्यत आहुर्लीलाया इत्यादि, प्राकृतत्वप्रतीतेरौचित्ये युक्त्यन्तरमाहुरेत एवेत्यादि, ननु प्राकृतो बभूवेत्यस्य दर्शनप्रकारकथनत्वाङ्गीकारे भवनक्रियां प्रति प्राकृत इत्यस्य कर्तृत्वमसङ्गतं स्यादित्यतः पक्षान्तरमाहुरथ वेत्यादि मुक्तमेवेत्यन्तं, अस्मिन् पक्षे कल्पनाक्लेशादरुच्या पक्षान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि, अस्मिन् पक्षे तथाश्रुतमेव श्लोके वाक्यं ज्ञेयं, शेषं विवृण्वन्ति पित्रोरित्यादि, स्नेहातिशयो ज्ञायत इति, स्नेहातिशयरूपं ज्ञायत इत्यर्थः, मम तु 'स्नेहातिशयाज् ज्ञायत' इति पञ्चमीघटितः पाठः प्रतिभाति, स ज्ञाप्यत इति, स्नेहातिशयो ज्ञाप्यते ।। ४६ ।।

ततश्चेत्यत्र तस्य चेति, वसुदेवस्य च, भगवत्प्रचोदित इत्यादेस्तात्पर्यं तु टिप्पण्यामेव प्रकाशितमिति ततोऽवधेयं, तर्ह्येवे-त्यादिशब्दसूचितमर्थं सुबोधिन्यामाहुरनेनेत्यादि, यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमाया जनीत्यादिकथनेन भगवत्प्राकट्या-न्मुहूर्तानन्तर्यं लभ्यते, 'नवम्यां योगनिद्राया जन्माष्टम्यां हरेरतः नवमीसहितोऽष्या रोहिणी बुधसंयुते'ति भविष्योत्तरवाक्या-न्नवम्यां सा जातेति ज्ञायतेऽथ सर्वगुणोपेत' इत्यत्र 'यर्ह्येवाजनजन्मर्क्ष'मिति निशीथारम्भे रोहिण्यारम्भकथनाद्, रोहिणी तु भगवन्मायाजन्मनोस्तुल्या, अतो निशाथे रोहिण्यारम्भकथनात् रोहिण्याः कृत्तिकावेधा न दोषाय, तेन रामानुजमतीयैर्यत् कृत्तिका-विद्धा रोहिणी नाद्रियते तदसङ्गतमुक्तवाक्यविरुद्धत्वात्, सप्तमीवेधस्तु दोषायैवोक्तभविष्योत्तरवाक्यविरुद्धत्वात् 'सऋक्षापि न कर्तव्या सप्तमीसंयुताष्टमी अविद्धायां सऋक्षायां जातो देवकिनन्दन' इति ब्रह्मवैवर्तवाक्यविरुद्धत्वाच, 'अष्टमी सप्तमीविद्धा हन्ति पुण्यं पुराकृतं ब्रह्महत्याफलं दद्याद्धरिर्वैमुख्यकारणा'दिति गौतमीयतन्त्रवाक्ये दोषोक्तेश्च, पुत्रोत्सवादिकं च शुद्धनवम्यामेव जात मिति शुद्धाष्टम्यभाव उत्सवाधिकरणकालत्वमादाय 'स्वकालादुत्तरः कालो गौणः सर्वस्य कर्मण' इति गौणकालत्वं चादाय नवम्यु-पोष्या न तु तादृशस्थलेऽर्धरात्रवेधादिकमादरणीयमित्यर्थः, इदं यथा तथोत्सवनिर्णयान्तर्गतजन्माष्टमीनिर्णयविवरणे सम्यक् प्रपञ्चितमिति ततोऽवधेयं, ननु गृहाद् बहिर्गमनावसरे मायाजन्म कुत उक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुरन्तरित्यादि, तत्र हेतुमाहुः सा हीत्यादि, कार्योपायार्थमिति, कार्यसाधनार्थम् ।।४७।। ववर्षेत्यस्याभास उभयोः साम्मुख्येति, मायाभगवतोः साम्मुख्ये ।। ४९ ।।

(३) श्रीवल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

युवां मामित्यत्र व्यापीति, व्यापिवैकुण्ठेनाख्या प्रसिद्धिर्यस्यास्तादृशीं गतिं नित्यलीलाप्रवेशो भविष्यतीत्यर्थः । अत एवेति, ज्ञानस्य भक्त्यङ्गत्वादेवेत्यर्थः, पुत्रभावेपि माहात्म्यज्ञानं श्लोकव्याख्यानान्ते व्युत्पादयिष्यन्ति, व्याख्यानानन्तरमार्थिकमिति, गोकुलगमनाभावे 'रूपं यत् त'दितिश्लोकारम्भे सुबोधिन्यां विवृतं देवकीप्रार्थितं रक्षादित्रयं च न सिध्येदतोऽर्थापत्तिलभ्यं तदित्यर्थः, मुखतो नोक्तमिति, भगवत्प्रचोदित इत्युक्तत्वात् प्राकृतत्वानन्तरं मनस्येव प्रेरितमित्यर्थः, कारिकास्वेवविधानन्तभावैरिति, एभि-र्भावैरत्यार्तयोर्वसुदेवदेवक्योर्वियोगदशायामपि भगवद्दर्शने जाते सति तयोरेवं मिथस्तथाभावपूर्वकमालापतश्चकारादन्तःस्थित-भगवत्प्रभावत इन्द्रियाणामेकादशानां वृत्तयो हरिपरा आसन्नित्यर्थः, अत्यार्तौ भगवद्दर्शनं गुणप्रकरण ऐश्वर्याध्याये निबन्धे विवृतं, तादृशार्तावपि जीवन उपपत्तिमाहुः स एवेति, दर्शनं कदाचिद् हृदये स्थितिस्तु सततमित्यर्थः, तेनेति, इन्द्रियाणामेकादशत्वेन हेतुना, एकादशवर्षपर्यन्तं तथेन्द्रियाणां स्वपरत्वं कुर्वन्नितिसङ्ख्यातात्पर्यं, वर्षाणीति, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, इममेवेति, व्यापि-वैकुण्ठाख्यगतेः स्नेहं विनासम्भवेन स्नेहे च सति नियतत्वेन स्नेहदानमेव वाक्यार्थ इत्यवकारः, तथा चाभासे मुक्तिर्भविष्यति

स्नेहदानादितिशेषः, अन्यथेति, दानाभाव इत्यर्थः, स्वविरुद्धं धर्ममिति, प्राकृतत्वेन ज्ञानविषयत्वं स्वस्मात् स्वरूपाद् विरुद्धो धर्मस्तमित्यर्थः, सर्वदुःखेति, 'उपसंहर विश्वात्म'न्निति देवकीप्रार्थनया तथा कृतवानितिभावः, रूपस्य कार्यं भीष्मस्य प्रपत्तिर्ज्ञानस्य विश्वरूपदर्शनसम्पादितालौकिकत्वज्ञानविषयत्वस्य कार्यमर्जुनस्य प्रपत्तिः, टिप्पण्यां प्रथमं स्वतन्त्रव्याख्यानं तत्र 'मूल' 'इत्युक्त्वा हरिर्भगवान् तूष्णीं शिशुरासीत् प्रकट आत्ममायया पश्यतोः पित्रोः परं प्राकृतः प्राकृतत्वप्रकाशकः शिशुर्बभूवे'त्यन्वयः, 'अपरञ्च'-त्यारभ्य सुबोधिनीव्याख्यानं, तत्र यथाश्रुतमेवान्वयः, चतुर्थाध्याये तस्योत्पत्तिर्निरूपितेत्युक्तत्वादधुना न तत्स्वीकार इत्याशयेन एतद्व्याख्याने प्राकृतपदस्यार्थान्तराण्युक्तानि, भगवत्सामर्थ्यस्येति, अत्र सामर्थ्यपदेन कंसमारणसामर्थ्यं ज्ञेयं, तत्प्रकटनस्येदं ज्ञानद्वयं प्रतिबन्धकमतस्तदप्रकटयित्वा प्राकृतभावमेव स्वीकृतवानित्यर्थः ॥ ४५ ॥

ततश्चेत्यस्याभासे भगवत्प्रचोदितपदस्यार्थमाहुर्बोधयित्वेति, 'मां नय कन्यामानये'त्यादिप्रकारं, मनसेतिशेषः, गतवानित्याहेति; भगवत्प्रचोदितत्वकथनाद् भगवत एव मुख्यत्वात् स्वातन्त्र्यमितिभावः, तथा च भगवान् स्वयं गोकुले गतवानित्यनेन 'नन्दव्रजं शौरिरुपेत्ये'त्यन्तस्यार्थ उक्त इति हेतोः शुक आह, वसुदेवस्य बहिर्गमनं मायाजननं चेतिशेषः, अनेनैतद्वाक्यार्थ उक्तः, व्याख्याने नन्दगृहीयप्रादुर्भावोत्तरक्षण एव मायाजननमन्यथा नन्दगृहेपि भगवद्दर्शनं स्यादतस्तत इति पदस्य व्यवधानतात्पर्यकत्वशङ्कां व्यावर्तयितुमाहुः प्राकृतभावानन्तरमिति, तत्सामयिकप्रादुर्भावे गमकं जातं परमबुध्यते'ति सामान्यतो ज्ञानं भगवत्प्रादुर्भावाद् द्वितीये मायाजननक्षणे जातमेव विशेषतस्तु भगवत्प्रादुर्भावात् तृतीये मायाजननोत्तरक्षणे दर्शनं भवेत् तदैव मायाकार्यं जातमतो व्रजे न दर्शनं मथुरायां तु मुहूर्तपर्यन्तं दर्शनस्य जातत्वात् तत्प्रभावेणैव मायाकार्याभाव इति भावः, आज्ञापनानन्तरं चेति, 'युवां वा'मिति श्लोके पुत्रत्वेन ब्रह्मत्वेन चिन्तन कर्तव्यं तेनाग्रिमलीलारसानुभव इति कथनानन्तरमित्यर्थः, तथा च प्राकृतभावेतद्वाज्ञापनयोर्भगवद्ग्रहणे हेतुत्वसूचनाय तत इत्यनेन तदानन्तर्यमुक्तं न तु किञ्चिद् व्यवधानं सूचयितुमितिभावः, भगवत्प्रचोदितस्यार्थस्त्वाभास उक्त एव, समुपसर्गस्यार्थमाहुरुत्तममिति, भगद्वाक्य इति, एवं चिन्तनेनैव लीलारसप्राप्तिर्भविष्यतीतिवाक्य इत्यर्थः, प्राकृतेवेति अत्रेवार्थे च शब्दः, आत्मन एवेति, गोकुलस्थानां यथा स्वात्मनो विस्मरणं तथा पुत्रदेहस्यापि विस्मरणं पुत्रः पुत्री चेति संस्कारोद्बोधो न भवेदित्यर्थः, अनेनेति, पित्रोः प्रस्वापाभावकथनेनेत्यर्थः, तथापि मुहूर्तनियम उपपत्त्यन्तरमाहुर्नवम्यां चेति, पुराणान्तरसम्मत्येदमुक्तं, पित्रोः प्रस्वापाभावेन भगवद्दर्शने मायाजननाभावस्य हेतुत्वोक्त्या गोकुले भगवद्दर्शने तत्समकालमायाजननं हेतुरिति सूच्यतेतो व्रजे नवम्यां प्रादुर्भावो भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं मायाजनने तु प्राथमिकभगवद्दर्शनप्रभावेणैवाग्रेपि दर्शनं भवेन् मथुरायामिव, समकालं जनने भगवद्दर्शनमेव न सम्पद्येतातो न भगवद्दर्शनप्रभाव इति टिप्पण्यां स्फुटं, ननु यथा नन्दगृहीयप्रादुर्भावक्षण एव मथुरायां तद्दर्शनं तथा तस्मिन्नेव क्षणे व्रजेपि दर्शनं भवेन्मायाया उत्तरक्षणे जातत्वादिति चेत्, अत्रेदं ज्ञेयं, दर्शने हि प्रादुर्भावो हेतुः, तथा च प्रादुर्भावस्य हेतुत्वार्थं दर्शनात् पूर्ववर्तित्वं वाच्यमतः प्रादुर्भावोत्तरक्षणे 'जातं परमबुध्यते'ति सामान्यज्ञाने जाते तदुत्तरक्षणे भगवत्प्रादुर्भावात् तृतीये मायाजननाद् द्वितीये विशेषदर्शनं व्रजे भवेत् तावता स्तोत्रक्षणे मायाकार्यं जातमिति न दर्शनं, सामान्यतस्तु 'जातं परमबुध्यते'तिज्ञानं प्रादुर्भावाद् द्वितीये मायाजननक्षणे जातमेव, मथुरायां दर्शने पूर्वप्रादुर्भाव एव हेतुः, तस्यैव रूपस्यैतदन्तर्भूतत्वेनाधुनापि दर्शनात्, अतो मथुरायां नन्दगृहीयप्रादुर्भावक्षण एव दर्शनमिति, सप्तमीवेधस्त्विति, नवमीसाहित्ये सप्तमीवेधस्यासम्भावितत्वेन, सप्तमीविद्धायां जन्मतिथित्वाभावादितिभावः, दोषायेति, विद्धोपवासे जन्मतिथौ पारणप्राप्तेर्दोषः स्यादित्यर्थः, तिथिक्षये निर्णयमाहुः पुत्रोत्सवादिकमिति, नवमीसहिताष्टमी जन्मतिथिः, तथा चाष्टमी मुख्या नवमी तदङ्गं, एवं सति मुख्यालाभे तदङ्गे व्रतं कर्तव्यं न त्वजन्मतिथौ सप्तमीविद्धायामितिभावः, उक्तरीत्या नन्दगृहे प्रादुर्भावस्य नवम्यां निर्धारितत्वात्, पुत्रोत्सवावादिभूतौ यस्य, सर्वसम्पत्समृद्धिपूर्वकरमाक्रीडत्वस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, जात प्रादुर्भूतमित्यर्थः, स्वरूपवल्लीलाया अपि नित्यसिद्धाया एवाविर्भाव इति पुत्रोत्सवयोः समत्वं सूचयितुं द्वन्द्वः, आन्तःस्थित इति, यावद् भगवानन्तस्तिष्ठति न तावन्मायाया उद्गम, कार्यं पौरानुशायनादिकं न भवति प्रयोजनाभावादित्यर्थः, इदं विवृण्वन्ति सा हीति, कार्योपायार्थमिति, कार्ये गमन उपायः प्रतिबन्ध-भावस्तदर्थे लोकान् पौरादीन् व्यामोहयति शाययतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तया हृतेत्यत्रैतावत्कार्यमेवेति, प्रत्ययवृत्तिहरणमनुशायनं च कृतवतीत्यर्थः, तयेत्यस्यानुशायितेष्वित्यनेनाप्यन्वयः, अन्यास्त्विति, द्वारपिधानादिकं कंसाज्ञया पूर्वमेव जातं स्थितं तदुद्घाटनं तु भगवत्प्रभावादेव जातमित्यर्थः, शृङ्खलाश्च यास्विति पिहिता इत्यस्यार्थकथनं न तु बहुव्रीहिः ॥ ४८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदित इत्यस्य विवरणे मुहूर्तानन्तरं च सा जातेत्यादि, अनेन, वसुदेवबहिर्गमनेच्छासमानकालिकयोगमायाजन्मकथनेन, मुहूर्तानन्तरमिति वसुदेवगृहीयप्रादुर्भावकालान् मुहूर्तानन्तरमित्यर्थः, अत्रेदं तत्त्वं, 'अथ सर्वगुणोपेत' इति सन्दर्भे निरूपितस्याधिदैविककालात्मकपञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयरूपनिशीथस्यारम्भे मथुरायां पुरुषोत्तमजन्माभूत्, निशीथावसानसमये नन्दगृहे पुरुषोत्तमजन्म, एवं मथुरायां श्रीगोकुलेपि पुरुषोत्तमजन्मन एक एव निशीथकालोधिकरणं, तावत्येवाष्टमी तिथिः, तदनन्तरं नवमी प्रवृत्ता, तस्यां गोकुले मायाया जन्म भविष्ये 'नवम्यां योगनिद्राया जन्माष्टम्यां हरेस्ततः

नवमीसहितोपोष्या रोहिणी बुधसंयुते'त्यनेन विष्णुपुराणे पञ्चमेंशे प्रथमाध्याये 'प्रावृट्काले च नभसि कृष्णाष्टम्यां महानिशि उत्पत्स्यामि नवम्यां च प्रसूतिं त्वमवाप्स्यसी'त्यनेनैव नवम्यां मायाजन्मकथनात्, अत एव 'नवम्यां सा जाते'ति सुबोधिन्यामुक्तं, तथा सति वसुदेवगृहीयप्रादुर्भावकालान्मायाजन्मनो मुहूर्तानन्तरत्वमुपपन्नं, वसुदेवगृहे प्रादुर्भावानन्तरं पित्रोः स्तुतिर्भगवद्वाक्यानि प्राकृतानुकरणे स्वीकृतिर्वसुदेवकर्तृकमुत्तमपात्र उत्तमवस्त्रास्तरणयुक्तं भगवत्स्थापनं चेत्येतावत्कृतौ तावान् कालो व्यतीयायेति युक्तं मथुराप्राकट्यकालान् मायाजन्मनो मुहूर्तानन्तरत्वं पुरुषोत्तमप्राकट्यं वसुदेवगृहे नन्दगृहेष्टम्यां निशीथकाल एवेति न तिथिसुर्तभेदः किन्तु क्षणभेदमात्रं, अत एव जन्माष्टमीनिर्णयग्रन्थसमाप्ता'विति श्रीगोकुलाधीशप्रादुर्भावदिनव्रतमस्माभिर्निरणाय्येत'-दिति निरूपितं, अन्यथा नन्दगृहीयप्रादुर्भावस्य नवम्यधिकरणत्वे जन्माष्टम्यां 'गोकुलाधीशप्रादुर्भावदिन'त्वमेव न स्यात्, तथा सति 'श्रीगोकुलाधीशप्रादुर्भावदिन'त्वं न वदेयुः, किञ्च प्रादुर्भावसमये'थ सर्वगुणोपेत' इत्यादिकथिता गुणा अपेक्षितास्ते तु तस्मिन्नेव निशीथे वाच्यास्तत्रैवोक्तत्वात्, नवम्यां तु नोक्ता इति गोकुलीयप्राकट्यसमये तद्गुणानामप्रसक्तिः स्यादत उभयत्राप्यष्टम्यां निशीथ आविर्भाव इति सिद्धान्तः, नन्वेवं 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात' इति सहोक्तिर्विरुध्यत इति चेन् न, स्वल्पव्यवधाने 'सहोक्ते'रविरुद्धत्वात्, युग्मप्रसवे हि सर्वत्रस्वल्पकालभेदेनोत्पत्तौ 'सहैवोत्पन्नावेता'विति प्रयुञ्जते विद्वांसः, एवमिहापीति नास्वारस्यं किमपि, 'नन्दगृहीयपुरुषोत्तमप्राकट्यकालमायाजन्मकालयोः स्वल्पमेव व्यवधान'मित्युक्तं प्राक्, रोहिणी तु तुल्येति, वसुदेवगृहे नन्दगृहे भगवत्प्राकट्यं तत्प्रयुक्तो नन्दगृह उत्सवश्च रोहिण्यामेवेति प्राकट्योत्सवयोरुभयोरप्येकनक्षत्राधिकरणत्वमिति जन्मनस्तत्प्रयुक्तस्योत्सवस्य च रोहिणी तुल्येत्यर्थः, नैवमष्टमीतिथिः, किन्तु जन्ममात्रस्याधिकरणमिति तु शब्देनाष्टमी व्यावर्त्यते, अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषायेति, रोहिण्यारम्भे भगवज्जन्मनो जातत्वेन तत्प्रयुक्तोत्सवयोर्विद्यमाना रोहिण्युभयोस्तुल्येति कृत्तिकया विद्धैव जन्मनक्षत्रमतः कृत्तिकाविद्धरोहिण्यां व्रतादिकृतिर्न दोषायेत्यर्थः, कृत्तिकाविद्धरोहिणीनक्षत्रस्य जन्माधिकरणत्वादुत्सवाधिकरणत्वाच्च, इदमत्र तत्त्वं, निशीथकाले रोहिणीनक्षत्रारम्भे भगवज्जन्म 'यर्ह्येवाजनजन्मर्क्ष'मिति वाक्यात्, 'नक्षत्रारम्भे जन्मे'ति विवृतत्वाच्च, अतो रोहिणी नवम्यां सर्वस्मिन्नहनीति जन्मोत्सवो तदधिकरणावेव, सप्तमीवेधस्त्विति, व्रतकरणे दोषावह इत्यर्थः, नवमीयुताष्टम्यां कृष्णाविर्भावस्तत्र सप्तमीवेधोसम्भवपराहतः, अत एवोक्त'मविद्धायां सत्रृक्षायां जातो देवकिनन्दन' इति, अतः सप्तमीवेधो व्रतादौ त्याज्य एव, ननु नवमीसहिताष्टम्याः प्राकट्यकालत्वेन सप्तमीविद्धां पूर्वाष्टमीं त्यक्त्वा नवमीयुताष्टम्यां व्रतादि कार्यमिति तु युक्तं विद्धाक्षये तु विद्धैव ग्राह्या न तु केवला नवमी जन्मतिथित्वाभावादित्याशङ्क्याहुः पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टम्यभावे केवला नवम्युपोष्येति, व्रतकरणे हि भगवदाविर्भावस्तत्प्रयुक्त उत्सवश्च निमित्तमिति भक्तिमार्गमर्यादा प्रमाणसिद्धा, अत एवोक्तं निबन्धे 'भुक्त्वा चोत्सवो निषिद्धो भगवदावेशाभावा'दिति, तत्रोत्सवस्य प्राकट्यप्रयुक्तत्वेन प्राकट्यापेक्षया न्यूनबलतया प्राकट्यकाललाभे तत्रैव व्रताद्यनुष्ठेयं, तदलाभे तूत्सवकाले व्रतादि कार्यमितिनिष्कर्षः, अन्यत्रावतारे प्राकट्यकाल उत्सवकालश्चैक एव श्रीकृष्णावतारे त्वष्टमी जन्मकालो नवम्युत्सवकाल इति कालभेदः, वसुदेवकर्तृकमायानयनानन्तरं नन्दालये पुत्रज्ञाने नवम्युत्सवकरणात्, उत्सवस्य जन्मप्रयुक्तत्वेन जन्मापेक्षया गौणतया जन्मनो मुख्यतया जन्मकाललाभे तत्रैव व्रतं, तदलाभ उत्सवकालरूपकेवलनवम्यामुपोषणं युक्तमितितात्पर्यं, विद्धाक्षयेपि विद्धोपवासो न कार्यो वेधस्य सर्वथा निषिद्धत्वात्, उक्तप्रकारेण केवलनवम्यामप्युपवासादेर्युक्तत्वाच्च, अत एव 'जन्माष्टमीं पूर्वविद्धां सत्रृक्षां सकलामपि विहाय नवमीं शुद्धामुपोष्य व्रतमाचरेदि'त्यार्षवाक्यं वैष्णवग्रन्थेषूपलभ्यते, ननु पूर्वविद्धाष्टमीक्षये केवला नवम्युपोष्येत्युक्तं, तज् जन्माष्टमीनिर्णयग्रन्थेन विरुध्यते, तथा हि "केचित् तु 'जन्माष्टमीपूर्वविद्धां सत्रृक्षां सकलामपि विहाय नवमीं शुद्धामुपोष्य व्रतमाचरे'दिति व्यासवचनात् पूर्वविद्धायाः क्षये शुद्धैव नवम्युपोष्या वचनबलादेकादश्यां दशमीवेधे शुद्धद्वादशीवदिति वदन्ती"ति मतान्तरमुपन्यस्य 'तत्र यद्येतद् वचनं समूलकं तदा तथैव नो चेत् पूर्वोक्तरीतिरेवानुसर्तव्ये'ति प्रभुचरणैर्जन्माष्टमीनिर्णयग्रन्थे निरूपितं, एवं सति वचनस्य समूलत्वे सन्देहप्रदर्शनेन तत्प्रयुक्तव्रतेपि सन्देह एव प्रतिपादितो न तु निर्णय इति चेन्न, अनवबोधात्, तथा हि प्रभुचरणैर्हि तत्र 'यद्येतद् वचनं समूलकं तदा तथैव नो चेत् पूर्वोक्तरीतिरेवानुसर्तव्ये'तिनिर्णायकफक्किकोक्ता, तस्या अयमर्थः, यदि 'जन्माष्टमीं पूर्वविद्धा'मिति वचनं समूलकं तदा तथैव तद्वचनबलादेव केवला नवम्युपोष्या नो चेद् वचनस्य समूलत्वाभावे पूर्वोक्तरीतिरेकादश्यां दशमीवेधे शुद्धद्वादशीव'दितिरीतिरेवानुसर्तव्या, केवला नवम्युपोष्येत्यर्थः, तर्हि वचनमुपन्यस्तं 'शुद्धद्वादशीव'दितिरप्युक्ता, तत्र वचनस्य सन्दिग्धत्वेपि रीतेरसन्दिग्धत्वात् तद्रीत्या विद्धाक्षये शुद्धा नवम्येवोपोष्या, 'साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेदि'तिस्कान्दात्, अतो वचनस्य मूललाभे वचनं रीतिं चाश्रित्य केवला नवम्युपोष्या, वचनस्य मूलालाभे तु रीतिमेवाश्रित्य केवला नवम्युपोष्येतिफक्किकार्थः सिद्धः, एवं सति पूर्वविद्धाक्षये केवला नवम्येवोपोष्या न तु पूर्वविद्धेतिनिर्णयः सम्पन्नो न तु संशयो न वा विरुद्धनिर्णय इति निरवद्यः पन्था आर्याणां, ननु सिद्धान्ते जन्माष्टम्यां नन्दालये प्राकट्यं स्वीकृतं तन्न युक्तं 'व्यवहारविषयत्वं प्राकट्य'मिति लक्षणाप्रसङ्गात्, अष्टम्यां निशीथसमये गोकुले सर्वेषामेव भगवज्ज्ञानाभावात्, किञ्च 'जातं परमबुध्यत न तल्लिङ्गं परिश्रान्ते'ति वाक्यान् मायाया अपि सामान्यज्ञानं मातुरभून् न तु विशिष्टं, तत्र पुरुषोत्तमज्ञानस्य क्वावकाशः? अतो व्यवहारविषयत्वरूपः प्रादुर्भावो दुरुपपाद इति चेत्, सत्यं भगवत्प्रादुर्भावस्यावताररूपत्वव्यवहारविषयतारूपत्वाभ्यां द्वैधाङ्गीकारान्निशीथसमय आविर्भावस्त्ववताररूपो ज्ञेयः, 'अवतारो नाम व्यापिवैकुण्ठाद् भगवतः

प्रपञ्चे समागमन'मिति सुबोधिनीसिद्धलक्षणेन प्रपञ्चे समागमनमवतारः, स द्विभुजस्य पुरुषोत्तमस्याष्टम्यां निशीथसमये श्रीगोकुले जातः, द्वितीयो व्यवहारविषयत्वरूपः प्रादुर्भावस्तु नवम्यां नन्दगृहे जातः, देवकीवसुदेवकृतप्राकृतभावाङ्गीकारप्रार्थनानन्तरं नन्दालयेवतीर्णस्य द्विभुजस्य देवकीवसुदेवाभ्यां मथुरायां दर्शनं लेभे, तदुक्त टिप्पण्यां 'नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्यैव सर्वतःपाणिपादान्तत्वेन तदा कार्यमस्तीति वसुदेवगृहे प्रादुर्भाव इति ज्ञायते स एव 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यनेनोक्त' इति, तथा च सिद्धमेतत्, अवताररूपं व्यवहारविषयत्वरूपं चेति प्राकट्यं द्वेधा, तत्र द्विभुजपुरुषोत्तमस्यावताररूपं प्राकट्यमष्टम्यां निशीथसमये श्रीगोकुले, व्यवहारविषयत्वरूपं प्राकट्यं तु प्राकृतभावाङ्गीकारप्रार्थनानन्तरं देवकीवसुदेवयोरग्रे समभूत्, श्रीगोकुले व्यवहारविषयत्वरूपं द्विभुजस्य प्राकट्यं नवम्यामासीत् तत्प्रयुक्त उत्सवश्चेति न क्वापि दोषलेशः, इदमत्र तत्त्वं, अवताररूपं प्राकट्यं तु नियतदेशकालसङ्ख्यं व्यवहारविषयत्वरूपं तु यत्रैव भक्तेरुद्रेकस्तद्भक्तार्थं तत्रैव मायाजवनिकादूरीकरणेन भवतीत्यनियतदेशकालसङ्ख्यं, यथा रासे बह्वीनामर्थे बहुधा, अस्मिन् प्राकट्ये नोत्पत्तिभ्रमः, अवताररूपे प्राकट्ये तु माययोत्पत्तिभ्रमः कार्यतेज्ञानामिति विशेषो ज्ञेयः, ननु पुरुषोत्तमाविर्भावो मथुरायां श्रीगोकुले च स्वीकृतस्तत्र नन्दालये पुरुषोत्तमप्राकट्यं न सम्भवति मानाभावान्मथुराधिकरणाविर्भावेन चरितार्थत्वाच्चेति चेन्न, 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुत' इत्यादिश्रीशुकोक्तीनां मानत्वात्, गौतमीयतन्त्रादिषु 'वल्लवीनन्दनं वन्द' इत्यादिवाक्यैर्मन्त्रेष्वपि यशोदानन्दनत्वव्यवहाराच्च, न चेदं लोकप्रसिद्धिमात्रमूलकं भ्रान्तिप्रतिपन्नमनूदितमिति वक्तव्यं, भ्रान्तिप्रतिपन्नस्यासतो मन्त्रादौ व्यवहारे दोषाधिक्यस्मरणात्, 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'तिवाक्यात्, अन्यथा भ्रान्तिप्रतिपन्नं मनुष्यत्वादिकमपि कुत्रचिदनूदितं स्यात्, प्रत्युत 'मायामनुष्यस्य वदस्व विद्व'न्नित्यादिवाक्यैर्मनुष्यत्वादि भ्रान्तिप्रतिपन्नमपोह्यतेतो 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न'इत्यादिवाक्यबलान्नन्दालये पृथक् प्राकट्यमङ्गीकार्यं, न च 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानि'त्यादिभिर्यशोदानन्दनत्वं निषिद्धमिति वाच्यं, प्राकृतरीत्या प्राप्तस्यैव 'गोपिकानन्दनो भवानि'त्यादिभिर्यशोदानन्दनत्वं निषिद्धमिति वाच्यं, प्राकृतरीत्या प्राप्तस्यैव 'गोपिकानन्दन'त्वस्य निषेधात्, देवकीजन्मवाद' इत्यादिवाक्यैर्देवकीनन्दनत्वनिषेधवदत्रापि स्वीकारात्, अन्यथोक्तवाक्येन देवकीनन्दनत्वमपि बाध्येत, अपि च ब्रह्मादिप्रार्थनया भूम्युद्धारार्थं वसुदेवगृहे चतुर्भुजरूपेण पुरुषोत्तमोवतीर्णः, एवमक्षरात्मकव्यापिवैकुण्ठस्थाभिः श्रुतिभिश्चिरं स्तुत्या प्रसाद्य प्रार्थितो नित्यलीलास्थभक्तवृन्दविरचितरासमण्डलमण्डनो भवान् पुरुषोत्तमो द्विभुजरूपेण नन्दालयेवततार, अतो यादृश द्विभुजं नित्यलीलामध्यपाति गोपनितम्बिनीवृन्दवेष्टितं रासस्थं दृष्ट्वा समुत्पन्नरिरंसाभिः श्रुतिभिः प्रार्थनायां क्रियमाणायां 'पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डल' इति वरं दत्तवान्, तादृश 'द्विभुजरूपेणावतरणमपेक्षित'मिति नन्दालये पृथगेव द्विभुजावतारः, पुरुषोत्तमस्य चतुर्भुजत्वद्विभुजत्वयोः, प्रमाणसिद्धत्वात्, परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयं चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोकुले द्विभुजः स्वय'मिति ब्रह्मवैवर्तात्, न चोपसंहर विश्वात्म'न्निति देवकीप्रार्थनानन्तरं चतुर्भुजस्वरूपमेव भुजद्वयोपसंहारेण तथा प्रदर्शितवानिति वाच्यं, नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्य द्विभुजस्यैव मथुरायां प्राकृतभावाङ्गीकारात् प्रार्थनानन्तरं दर्शनमितिसिद्धान्तात्, अन्यथा चतुर्भुजस्य द्विभुजप्रदर्शनं मायिकं स्यात्, तथा सति तादृशद्विभुजरूपेण कृता लीला मायिकरूपपर्यवसिताः स्युः, तत् तु न सम्भवति, अनेकप्रमाणविरुद्धत्वात्, अतो 'गोकुले द्विभुजः स्वय'मित्यादिप्रमाणसिद्धं मायासम्बन्धरहितं द्विभुजं परमकाष्ठापन्नं पुरुषोत्तमस्वरूपं नन्दगृहाविर्भूतमेव प्राकृतभावस्वीकारप्रार्थनानन्तरं मथुरायां देवकीवसुदेवयोः प्रकटीकृतमित्यङ्गीकर्तव्यं, साहजिकद्विभुजस्वरूपस्य सिद्धत्वात्, प्रदर्शनार्थं चतुर्भुजस्यैव द्विभुजत्वकरणे तु द्विभुजत्वं कल्पनीयं स्यात्, तादृशकल्पिततद्द्विभुजरूपेणान्यासां लीलानामसम्भवात्, न हि श्रुतिभ्यो वरदानं कल्पितद्विभुजरूपेण कृतं किन्तु साहजिकद्विभुजरूपेण, अतः फलदानमपि साहजिकद्विभुजरूपेणैव भवितुमर्हति, तदर्थं द्विभुजस्य नन्दालयेवतारः पृथगेव स्वीकार्यः, 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' 'तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्तुवन्त्या'वित्यादिबहुवाक्यस्वारस्याच्च तस्यैव मथुरायां प्राकृतभावप्रार्थनानन्तरं पित्रोर्दर्शनमिति निर्दुष्टमखिलं 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यत्र प्राकृतपदार्थस्तु प्रभुचरणैष्टिप्पण्यामुपपादितः, स ततोवधेयः, 'प्राकृतत्वं द्विभुजत्व'मिति केचिदाहुस्तत्तु पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मवैवर्तादिविरुद्धं बृहद्वामनीयसन्दर्भविरुद्धं युक्तिविरुद्धं भक्तिमार्गविरुद्धं चेति नादर्तव्यं सुधीभिः ॥ ४७ ॥

॥ योजनायां तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या।

'युवां मां पुत्रभावेने'त्यत्र भगवतः श्रीगोकुल एकादशवर्षस्थितिप्रयोजनमाहु राविर्भाव इत्यादिना, "आविर्भावे इत्यारभ्य सततं हृदि" कारिकाणां व्याख्या—एवं विधानन्तभावैरिति, एवं भावैरत्यार्त्या तयोर्वसुदेवदेवक्योर्दर्शने जाते सति तयोरेव मिथस्तथा भावपूर्वकमालापत इन्द्रियाणामेकादशानां वृत्तयो हरिपरा आसन्नित्यर्थः ॥ १-६ ॥ वियोगतापेति कारिकाया व्याख्या—पूर्वकारिकान्त उत्तरस्य 'स एव सततं हृदी'त्यस्योत्तरेणान्वयः, वियोगतापतप्ते हृदि स एव हरिः स्थितोभूत् तेनैव तयोर्जीवनमासीदित्यर्थः, तेनेति, इन्द्रियाणामेकादशत्वेनैकादशवर्षपर्यन्तं तथा कुर्वन्निन्द्रियाणां स्वपरत्वं कुर्वन् हरिर्बभौ ॥ ७ ॥ युवामिति कारिकायां—अत इति अतो वरदानादेव माहात्म्यज्ञानयुतः स्नेहोभवदितिहेतोः कंसं मारयित्वा बन्धनान्मोचयित्वो-

पस्थितं प्रभुं चिरादेकादशवर्षोत्तरं प्राप्यापि माहात्म्यज्ञानेन शङ्कितौ पितरौ न सस्वजाते नालिङ्गितवन्तौ, तदुक्तमेकचत्वारिंशाध्याये 'देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ कृतसंवेदनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्किता'विति ॥ ८ ॥ ४५ ॥ तया हृतप्रत्ययेत्यत्र गजा इति कारिकाया व्याख्या – द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया इत्यत्र दुरत्यया इतिपदव्याख्यानमिदं स्पष्टमेव ॥ ४८ ॥

॥ इति श्री तृतीयाध्यायकारिकार्थः समाप्तः ॥

बुभुत्सुबोधिका

युवामित्यत्र अधुनेति वाक्यार्थानुसन्धाने । मुक्तिर्भवतीति 'दशपूर्वान् दशापरा'निति वाक्यात् । 'अनिच्छतोपि गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इति वाक्याच्च । ननु 'न वन्नाथेपवर्गं म' इति वाक्यादपवर्गे अप्रार्थितेप्येतच्छास्त्रस्य वेदरूपस्य मुख्यत्वात् कुतो मुक्तिरित्याशङ्कयाहुः प्रमेयेति । अप्रत्यक्षोपि प्रत्यक्ष इति प्रमेयबलम् । तस्य । शास्त्रस्येति 'दुर्दर्शोहं कुयोगिना'मिति प्रथमस्कन्धशास्त्रवद् 'युवयोः कामदित्सये'ति शास्त्रस्य । धर्म्यपेक्षया धर्मस्य गौणत्वात् । तुल्यत्वादिति विशेष्यांशे तुल्यत्वात् विहिताविहितत्वं विशेषणांशेऽतौल्यमिति फलैक्यम् । प्रकारस्येति ब्रह्मभावरूपस्य ब्रह्मत्वस्य पुत्रभावरूपपुत्रत्वस्य च । प्रकारस्यात् प्रयोजकत्वादिति पाठे वैदिका वेदे हलतकारं मध्ये पठन्ति । मद्गतिमिति मत्सम्बन्धिनीं गतिं फलम् । व्यापिवैकुण्ठाख्यामिति सालोक्यमुक्तिम् । अधिष्ठानलीलायामङ्गीकारात् । ज्ञानाङ्गभक्तिमत्त्वाच्च । ननु वक्ष्यमाण उत्तरार्धे वसुदेवस्य ब्रह्मभावे ब्रह्मभावपदस्मारिते सति 'परा'मिति विशेषणं न देयम्, ज्ञानमार्गीयत्वादित्याशङ्कय समाधानमाहुः माहात्म्यज्ञानेति । तुल्यत्वादिति ज्ञानमार्गे वक्ष्यमाणेत्रोक्तस्नेहे च तुल्यत्वात् । ज्ञानमार्गे ज्ञानाङ्गभक्त्या श्रवणादिरूपयाच्युतविषयिण्या 'यथा यथात्मा परिमृज्यत' इति वाक्योक्तया सूक्ष्मज्ञानविषयस्याधाराधेयसम्बन्धे माहात्म्यज्ञानं देवत्वज्ञानं तस्मिन् सति स्नेहः । 'ज्ञाते स्नेह' इति भाष्यादतस्तौल्यात् । ननु ब्रह्मभावाधिकारिणि वसुदेवे वेदे स्नेहाय माहात्म्यज्ञाननिविशे किं बीजमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत एवेति । माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहस्य मुख्यत्वादेव । तेन मुख्यत्वं बीजमुक्तम् । गोपिकादीनामिति ज्ञानकाण्डीयब्रह्मभाववतीनाम् । उत्पादयिष्यतीति पुनः, 'ते तु ब्रह्महृदं नीता' इति वाक्ये ब्रह्महृदनयनानन्तरं कृष्णोद्धारकथनात् । अन्यथेति पुनर्माहात्म्यज्ञानप्रवेशाभावे । अत्र टिप्पणी । ननु ज्ञान एव विषयतया माहात्म्यं प्रविष्टं भक्तिमार्गे पुनर्माहात्म्यज्ञानस्य स्नेहाङ्गत्वेन प्रतिपादने कावश्यकतेत्याकाङ्क्षायां तदावश्यकत्वे युक्तिं वदन्तीत्याशयेन टिप्पण्यामाहुः यदीति । स्वातन्त्र्येणेति उत्तरार्द्धे उपदेक्ष्यमाणज्ञानेन ज्ञानिनां ज्ञाने माहात्म्यस्यापि विषयतया निवेशात् ज्ञानिकोटिनिविष्टस्यानुवादेपि स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः । यथा कथञ्चिदिति विविधहरिभावेषु येन केनापि भावेन । अत्रेति निरोधस्कन्धार्थे । सुबोधिन्याम् । बोधांश इति पुनः क्रियमाणमाहात्म्यज्ञानांशः, वसुदेवज्ञानांशो वा । विविधभावेषु एको भावोधिक इत्यापाद्यते । ज्ञानोपदेशे यो निरोधः स्कन्धार्थे निविशते तं प्रतिपादयन्ति भक्तानां प्रपञ्चेति । 'संस्था दशमार्थ' इति द्वादशस्कन्धे । संस्था प्रलयः प्रपञ्चविस्मृतिः प्रपञ्चाभाव इति यावत् । स्मरणात्मकः प्रपञ्चः । नन्वापादितभावः क दृष्ट इति चेत्, तत्राहुः अत एवेति । यतो विविधभावेष्वस्यापि निवेशोत एव । अत एव 'पार्थिवानि विममे रजांसि न तु भगवद्गुणा'निति श्रुतिः । उत्पत्तीति यथा प्रथमाध्याये सुद्युम्ने ब्रह्मविष्णुशिवकृतस्त्रीत्वपुंस्त्वोभयत्वनिरूपणेन देवप्रसादयुक्तभक्तनिरूपणेन जीवस्वरूपतः । चतुर्विंशतिधा निरूपिताः । ननु तर्हि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिर्निरोध इति प्रसिद्धभावे भगवदासक्तिः कदा जायत इत्यत आहुः प्रेम ज्ञानमिति । प्रेम प्रपञ्चविस्मृतिमतामुत्पन्नानां भक्तानां भगवदासक्तिः । ज्ञानं माहात्म्यज्ञानमपि । निरोधो विविधहरिभावाः । अत्रैवेति कारिकासु, 'एवंविधानन्तभावै'रित्येवम् । ननु मातृप्रार्थनयान्यत्र गमनस्यावश्यकत्वेपि तत्स्थलादिकमनुक्त्वा कथमत्र भगवता वाक्यं समापितमित्याकाङ्क्षायां समापनतात्पर्यमाहुः आर्थिकमित्यादि । यदत्रार्थश्लिष्टेतरत्वादिवत् सिध्यति तदत्र कण्ठतो नोच्यत इति हेतोः भगवता वाक्यपरिसमाप्तिः कृतेत्यर्थः । आर्त्येति गीतोक्ताधिकाररूपया । अत एवेति अधिकाराभावादेव 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मितिसूत्रात् । अत इति प्राकट्यात्पूर्वम् । तदनन्तरं च दुःखात् । निर्वन्धोग्रे वक्तव्यः । अयमिति दण्डः । एवं स्मरणे स्नेहातिशयो दुर्लभ इत्याशङ्कयाहुः अद्भुतेत्यादि । विस्मयकर्मत्वात् । अत एव 'स विस्मयोत्फुल्लविलोचन' इति वाक्यम् । तस्येति स्नेहातिशयस्य । स्नेहातिशयं कारिकाभिराहुः आविर्भाव इत्यादि । पुत्रतयेति न तु पुरुषोत्तमत्वेन । तप इति द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये साध्यसाधनभावः स्पष्टः । आर्तिः सन्तापोधिकाररूपः । व्यापारेण व्यापारिणो नाथासिद्धत्वात् । मृग्यं साधनमाहुः भक्तिमार्गीयमिति । मार्गणे भगवत्सान्निध्यात् प्रमेयबले पुष्टिमार्गीयं भक्तिज्ञानम् । इत्यात्मेति इति हेतोः आत्मवियोगं स्वविप्रयोगं संयोगानन्तरं लीलारसप्राप्त्यर्थम् । संयोगविप्रयोगयोर्विप्रयोगस्य विविधभावजनकत्वेन मुख्यत्वात् । तदा त्विति प्राकृतशिशुकाले । 'संयोगे विप्रयोगभावनं प्रेमे'ति भक्तिसूत्रात् संयोगे विप्रयोगभावनाहुः एतावन्तीति । तत्रेति बृहद्वने । अत्यार्त्येत्यधिकाररूपया । तयोर्वसुदेवदेवक्योः । मिथस्तथेति तयोरेव मिथस्तथाभावपूर्वकमालापतश्चकारादन्तःस्थितभगवत्प्रभावतः इन्द्रियाणामेकादशानां वृत्तयो हरिपरा आसन्नित्यर्थः । अत्यार्तौ भगवद्दर्शनं गुणप्रकरणे ऐश्वर्याध्याये निबन्धे विवृतम् । तादृशार्तावपि जीवने उपपत्तिमाहुः स एवेति । दर्शनं कदाचित् । हृदये स्थितिस्तु सततमित्यर्थः । तेनैकादश वर्षाणीति तृतीयस्कन्धे 'एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोवस'दिति । दशमस्कन्धे द्विचत्वारिंशाध्याये एकादशवार्षिकस्योपनयनम् । 'अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत् । पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विजसंस्कृति'मिति वाक्यात् 'एकादशवर्षं क्षत्रियमुपनये'दिति गृह्यसूत्रादाविति तथा । ननु 'सर्वा हरिपरा आस'न्नित्युक्त्या सर्वात्मभावको भवति स च

प्रदानसाध्य इति किं प्रदानमिति चेत् तत्राहुः युवां मामिति। एवेति 'प्रदानव'दितिव्याससूत्रादेवकारः। सस्वजाते नेति कंसवधानन्तरम्। शङ्किताविति ब्रह्मत्वज्ञानात्। एवं स्नेहातिशयः प्रासङ्गिक उक्तः ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वेत्यत्र एवमुक्त्वेति निरोधस्कन्धत्वात् कारिकोक्तनिरोधवन्तौ प्रत्युक्त्वा कीर्तनभक्तित्वेन। रूपान्तरेति 'बभूवे'त्युत्पत्त्यर्थको धातुः घटो भवतीत्यनेन। उत्पत्तिर्जन्मप्रकरणात्। 'जन्म त्वात्मतया शरीरस्वीकृतिं प्राहु'रितिवाक्यात्। तादृशकृत्यनुकूलो व्यापारः। अत्र कृतिव्यापारयोर्भेदः। ज्ञानस्यापीति कीर्तनजनकाप्राकृतज्ञानस्यापि। जानातीच्छति यतत इति। ज्ञानसत्त्वे तत्कार्याभावः तूष्णीम्भावो न स्यात्। यद्वा ज्ञानं क्रियेतिपञ्चरात्राज्ज्ञानस्य क्रियायास्तिरोभावो बाले दृष्टः। सर्वदुःखेति विहिताविहितभक्तिमतां सर्वेषां दुःखानां हन्ता। स्वरूपमिति यथार्थज्ञानरूपं अन्यथा तिरोभावे सति ज्ञानस्य प्राकृतज्ञानस्वीकारात्। भगवानितीति ऐश्वर्येण तथा न करिष्यतीत्यर्थः। रूपज्ञानेति रूपं चतुर्भुजं ज्ञानमखण्डब्रह्मज्ञानादि। तयोः कार्ययोः चतुर्भुजोत्थापनमखण्डज्ञानोपदेशश्च। सर्वभवनेति उक्तैश्वर्येन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमुक्तम्। अत्र टिप्पण्यां यद्यात्मतुल्या तदास्या मायात्वं कुत उक्तमित्यत आहुः संसारेत्यादि। तथा चैतत्कार्ये किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन तथोक्तम्। कौण्डिपायिनामयनेऽग्निहोत्रशब्दवत्। तर्ह्यात्मशब्दस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तदाहुः वस्तुत इत्यादि। एतमर्थं न्यायेनोपोद्वलयन्ति एवं सतीत्यादि। कर्मधारय इति आत्मा चासौ मायेति तेन भगवत्पदाव्यवधानस्य मायाया भगवदीयत्वाप्रापकत्वेप्यक्षतिः। भगवच्छक्त्येति आत्ममायया। अनन्येति दर्शितरूपादनन्यलभ्यत्वात्। तद्विरुद्धेति लीलाविरुद्धाविषयकत्वं स्वस्य सर्वभवनेत्यादिप्रवर्त्तकस्यार्थे यदैव तूष्णीं स्थित इत्यादिसुबोधिन्या बालकत्वेद्भुतरसं स्मारयन्त आहुः वस्तुतस्त्वित्यादि योजनेत्यन्तम्। शिशुरूप इति प्रथमस्कन्धवाक्यसुबोधिन्यां भगवानेवैवमवस्था जात इतिसुबोधिन्याम्। नन्वेवं सति सर्वत्र पदेष्वासीदितिक्रियया सम्बद्धेषु सत्सु बभूवेति क्रियान्तरं व्यर्थमसङ्गतं वा स्यादित्याकाङ्क्षायां तद्वैयर्थ्यमाहुः अपरोक्षेत्यादे। सोंश इति अप्राकृतत्वांशः। तथा च 'प्राकृतो बभूवे'ति भिन्नं वाक्यमतो न वैयर्थ्यादिदोष इति भावः। लिडिति परोक्षार्थकलिट्प्रयोगः। प्राकृतो बभूवेति वेदविद्ययोर्दर्शनेपि प्रकारस्य कथनत्वमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुः अपरं चेत्यादि। इत्याद्युक्तमिति प्रवर्त्तकार्थत्वाल्लौकिकेत्यादिसुबोधिन्याष्टिप्पण्युक्तरीत्या लोकज्ञाने नैपुण्यं परमार्थस्य ब्रह्मणो ज्ञाने नैपुण्यं च ग्राह्यम्। 'युवां मा'मितिवाक्यात्। ननु 'प्राकृतो बभूवे'त्यस्य दर्शनप्रकारकथनत्वाङ्गीकारे भवनक्रियां प्रति प्राकृत इत्यस्य कर्तृत्वमसङ्गतं स्यादित्यतः पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यारभ्योक्तमेवेत्यन्तम्। 'युवां मा'मितिवाक्यादाहुः लौकिकालौकिकेति। अस्मिन् पक्षे कल्पनाक्लेशादरुच्या पक्षान्तरमाहुः यद्वेति। पूर्ववदिति 'अथवे'त्याद्युक्तपक्षवत्। चतुर्थाध्याये तस्योत्पत्तिर्निरूपितेत्युक्तत्वादधुना तत्स्वीकार इत्याशयेनैतद्व्याख्याने प्राकृतपदस्यार्थान्तराण्युक्तानि। (सुबोधिन्याम्।) लौकिकज्ञानेत्यादि। अत्र टिप्पणी। 'न भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धक'मिति सुबोधिनीपाठः। पूर्वव्याकृतष्टिप्पण्यविरोधेनाधुना तु भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकमिति नञ्रहितपाठमप्यङ्गीकृत्याहुः सामर्थ्यस्येत्यादिना। श्रीवल्लभलेखेप्ययं पाठः। लोकविद्वेषेति अलौकिकचतुर्भुजरूपे तथा। मातुरिति लोकविद्वेषभियेत्यादिनान्वेति। यथाश्रुत एवान्वयो वा। एतद्रूपेति चतुर्भुजरूपोपसंहारः। न तदिति न भयम्। 'अभिसरत्युदायुध' इतिवाक्यात्। उक्तरूपस्येति 'अत्रैव वसुदेवदेवक्योः सामर्थ्यस्ये'त्यादिग्रन्थेनोक्तरूपस्य भयहेतुत्वं सूच्यते न तु अभिधीयते अभिधावृत्तेः 'पित्रोः सम्पश्यतो'रित्यत्रोपक्षीणत्वात्। तथात्वमिति सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकत्वम्। सुबोधिन्याम्। उभयोरेकतरनैपुण्यस्य वक्ष्यमाणभगवल्लीलाप्रतिबन्धकत्वमित्याशयेनाहुः उभयमपीति। विद्यमानमिति 'ज्ञानं यथा न नश्येते'तिवाक्याज्ज्ञानमपि विद्यमानमेव मोक्षायेतिज्ञेयम्। भगवत्क्रीडाया मोक्षरूपायाः। 'लोकवत् तु लीलाकैवल्य'मिति व्याससूत्रादित्यर्थः ॥ ४६ ॥

ततश्च शौरिरित्यत्र स्वीकृत्य रूपान्तरमिति तेन 'हेतूद्यमकापट्यस्वीकरणैः प्रथमो महा'नितिकारिकायां बहुष्वनियमोसूचि। यथा हरिहरगुरवः गुरुहरिहराः इत्यत्र। तेन कापट्यं चतुर्थेध्याये। अयमपपाठो 'हेतूद्यमस्वीकरणकापट्यैः प्रथमो महा'नित्येव पाठः। तत्रेति मथुरायाम्। तस्य चाज्ञानादिति तच्छब्देन प्रधानरूपस्य शिशुभाविनः परामर्शः तस्य शिशोरज्ञानात्। तस्य रूपान्तरस्वीकारस्येति वा ज्ञानं यथा स्वप्ने। एवं स्वीकारवैयर्थ्यावैयर्थ्ये ज्ञानाज्ञाने सर्वं तस्य समाधानार्थम्। तं बोधयित्वेति वसुदेवं बोधयित्वा। मां नय कन्यामानयेत्यादिप्रकारं मनसा बोधयित्वेत्यर्थः। तूष्णीं भावस्योक्तत्वात्। 'भगवत्प्रचोदित' इतिपदस्यार्थः। अयमर्थः। वसुदेवो बुद्ध्वा तं बोधयित्वा मनसा मानसीनरूपेण व्यापकेन तस्य तूष्णींभावो नोक्तः। रूपान्तरस्वीकारज्ञानाज्ञानयोरेवम्। मूलनिष्ठज्ञानाज्ञानयोरप्येवम्। समुपसर्गस्यार्थमाहुः उत्तमेति। इयेषेति इषु इच्छायाम्। भयाभाव इति शूरस्य भयाभावः तत्सम्बन्धात् पुत्रस्यापि स इति प्रसिद्धो भगवदधिष्ठानम्। स इति भगवत्स्तोता भगवद्भाषणयोग्यश्चे'ति वार्थः। भगवद्वाक्य इति 'युवां मां पुत्रभावेने'तिवाक्ये। प्राकृते चेति च पुनः प्राकृते। प्राकृतेव जातेति श्रीवल्लभलेखे। वकार इवार्थे इति च। आत्ममायाकार्यम्। साधारणमायाकार्यं वा तामसत्वात्। अग्रेपि। साधारणमोहस्येति अत्र टिप्पण्यां तथेत्यर्थ इति साधारणेत्यादिः। साधारणत्वमिति चौरवसुदेवयोर्ज्ञाने साधारणत्वम्। मोह एव भवेदिति मोहाभावप्रतियोगी मोहः अन्यथा कस्याभावे भवेदित्येवकारः अन्यत् स्पष्टम्। सुबोधिन्याम्। भगवतः कार्योपायाः। योगमायाकृतानाहुः गमन स्वाच्छन्द्यमित्यादि। आत्मन इवेति मोहे दृष्टान्तः। आत्मानं माया मोहयतीति स्पष्टम्। प्रस्वाप इति योगमायेतिनामतः प्रमादालस्यनिद्रं तत्कार्यसाम्यम्। मुहूर्तानन्तरमिति 'नवम्यां योगनिद्राया जन्माष्टम्यां हरेरतः नवमीसहितोपोष्या रोहिणीबुधसंयुते'तिभविष्योत्तरवाक्यान् नवम्यां सा

जातेतिज्ञायते। किञ्च 'अथ सर्वगुणोपेत' इति सन्दर्भे निरूपितस्याधिदैविककालात्मकपञ्चचत्वारिंशच्छट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वय-रूपनिशीथस्यारम्भे मथुरायां पुरुषोत्तमजन्माभूत्, निशीथावसानसमये नन्दगृहे पुरुषोत्तमजन्म। एव मथुरायां श्रीगोकुले च पुरुषोत्तमजन्मनः एक एव निशीथकालः। तावत्येवाष्टमी तिथिः वक्ष्यमाणवाक्यात्, तदनन्तरं नवमी प्रवृत्ता। तस्यां गोकुले मायाजन्म। भविष्ये 'नवम्यां योगनिद्राया जन्माष्टम्यां हरेरतः नवमीसहितोपोष्या रोहिणीबुधसंयुते'त्यनेन, विष्णुपुराणे प्रथमाध्याये 'प्रावृट्काले च नभसि कृष्णाष्टम्यां महानिशि उत्पत्स्यामि नवम्यां च प्रसूतित्वमवाप्स्यसी'त्यनेन चाष्टम्यां पुरुषोत्तमजन्म नवम्यां मायाजन्मकथनात्। एवं चोक्तमुहूर्ते आद्यन्तयोः कृष्णजन्माष्टम्यां मुहूर्तानन्तरं नवम्यां माया जातेत्युप-पन्नम्। रोहिणीति 'अथ सर्वगुणोपेत' इत्यत्र 'यह्यॅवाजनजन्मर्क्ष'मितिनिशीथारम्भे रोहिण्यारम्भकथनाद् रोहिणी तु भगवन्माया-जन्मनोस्तुल्या। तेन रामानुजमतीयैर्यत् कृत्तिकाविद्धा रोहिणी नाद्रियते तदचारु उक्तवाक्यविरोधात्। दोषायैवेति 'सऋक्षापि न कर्तव्या सप्तमीसंयुताष्टमी अविद्धायां सरक्षायां जातो देवकीनन्दनः' इतिब्रह्मवैवर्तवाक्यात्। अन्तःस्थित इति कारागृहे स्थिते। न भवतीति ज्ञानरूपभगवता तमोरूपमायोद्गमो नाशान्न भवति। तह्यॅव जातेति गमनस्वाच्छन्द्यादिस्वकार्यकाल एव। योगार्थमित्यस्य व्याख्यानं कार्योपायार्थमिति। कार्ये गमने उपायः प्रतिबन्धकाभावः तदर्थम्। लोकान् पौरान् व्यामोहयति शाययतीत्यर्थः स्वतन्त्रेति कार्योपायं जानातीच्छति यतत इत्यत्र माया यत्ने स्वतन्त्रा कर्त्रीत्वात्। इमं पक्षम्। नन्दजाययेति स्वतन्त्रकर्त्र्या। 'स्वतन्त्रः कर्ते'तिसूत्रात्। भगवानिवेति 'विष्णुः सर्वगुहाशयः आविरासी'दित्युक्तस्वतन्त्र इव ॥ ४७ ॥

तया हृतेत्यत्र संशयादय इति आदिना विपर्यासनिश्चयस्मृतयः। आसुराभिभवमाशङ्क्य सर्वपदार्थं वदन्तोनूपसर्गार्थमाहुः मायेति। मुग्धाः स्वयं मायया स्वदेवतया मोहिताः मूर्छिताः मायाविशेषकार्यवन्तः। एवकारः 'मायेत्यसुरा'इतिवाक्यात्। अप्रभाव-वन्तोज्ञानवत्त्वाद् यशोदादयः। तानाहुः यशोदादय इति। तुः आसुरपक्षं व्यावर्तयति। क्रमेणेति अनुक्रमेण। द्वा स्था मुग्धाः असुराश्चेन् मूर्छिताः। पौरा इति पूर्ववत्। पूर्ववदिति कार्योपायार्थं लोकपौरव्यामोहवत् बुद्धिरेव गृहीताऽऽवृता। लोकान्तरमिति देशान्तरम्। कार्यमेवेति प्रत्ययवृत्तिहरणमनुशायनं च। भिन्नप्रक्रमार्थका'थ' शब्दादेवकारः। अन्यत्त्विति द्वारपिधानादिकं तु कंसाज्ञया पूर्वमेव जातं स्थितम्। व्याघ्रा दुर्गं। क्वचिदिति नगराद् बहिररण्ये। बन्ध इति द्वारपालकैः। 'बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ्खला' इतिपाठे आहुः बृहन्तीति। अयं न बहुव्रीहिः किन्तु पिहिता इत्यस्यार्थकथनमिति श्रीवल्लभाः। तेन तृतीयान्तः पाठः न प्रथमान्तं पाठान्तरम् ॥ ४८ ॥

ताः कृष्णावाह इत्यत्र जाता इति द्वार इत्येव भगवत्क्रीडोपयोगित्वप्रादुर्भावो निरूपितः। सर्वमोच्चेति स्वयमित्यस्यार्थः। अचेतनानामिति व्रजतीति व्रजः तत्सम्बन्धिकपाटानाम्। अचेतनानामिति भगवन्माहात्म्यार्थम्। अतितामसैरिति द्वास्थैः। आसुरैः। मुक्तिरिति सदानन्दतिरोभावनेन चित्प्राकट्यान् मुक्तिः। त्रयं वा प्रकटम्। अन्येषामिति चेतनानाम्। जडभेदवत्त्वात्। ननु मुक्तिः सायुज्यं कथं जातमित्यत आहुः यदीति। यदि शुद्धसत्त्वं जडान्यनिष्ठं भगवद्वाहकं विशुद्धसत्त्वं च यदि तदा विशुद्धसत्त्वस्य व्यापकत्वात् सायुज्यमित्यर्थः। सत्त्वरूपज्ञानानामपि सायुज्यम्। एतादेति विशुद्धसत्त्वे भगवद्वाहकत्वप्रदर्शनार्थम्। अयमेवेति कृष्णवाहवसुदेव एव। एवकारोऽक्षरज्ञानं व्यावर्तयति। योगमायात्वात्। स्वत एवेति पुरुषोत्तमादेव, तमःस्वभावादेवेति वार्थः। नान्यथेति अक्षरज्ञानेन न। निर्गतेष्विति वसुदेवेन निष्क्रान्ते तु। निष्क्रमणकर्मीकृतेषु। उभयोः साम्मुख्य इति मायाभगवतोः साम्मुख्ये। योगमायाकार्यमाहुः वृष्टिरपीति। पर्जन्यः क्रियाशक्तिर्वेदार्थः उपांशुगर्जितं आरण्यके विद्युच्छब्दः। शब्दार्थावुक्तौ भगव-त्साम्मुख्ये फलं वीर्यं फलमासीत्। द्वारां पृथ्वीत्वात् कृष्णस्य द्यौस्त्वात् आसीत्। अत्र मायासाम्मुख्यमप्याहुः एतावन्माययेति। आन्तरालिकसृष्टिरूपम्। प्रवृत्तमिति प्रमादालस्यनिद्रारूपम्। शेष इति शेषः शब्दो वैदिकः अन्वगमनं योगमायाकार्यम् तेनोभय-साम्मुख्यकार्यमुक्तम्। योगमायाकार्यं पाताले स्थितं शेषस्य भगवति योजनम्। फणैरिति मायिकैः। तत्कृतं शेषकृतम्। भगवत्साम्मु-ख्यकार्यमाहुः अन्तरिक्ष इति। अन्तरिक्षमाकाशः 'आकाशरीरं ब्रह्मे'तिश्रुतेः ॥ ४९ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

युवां मां पुत्रभावेन—यह भगवान् का चतुर्दश अन्तिम श्लोक है, भगवान् कहते हैं कि पूर्वजन्म में मोक्ष की कामना नहीं की थी लेकिन इस जन्म में मोक्ष के न माँगने पर भी मोक्ष होगा। क्योंकि आप दोनों स्नेह के द्वारा परभ गति को प्राप्त हो जाओगे, कारण यह है कि इस समय प्रमेय बल-प्रकट किया है वस्तुशक्ति को ही प्रधानता दी गई है, शास्त्र की इस समय गौणता अप्रधानता है, इस कारण शास्त्र में जिसका विधिरूप से कर्त्तव्यरूप से वर्णन नहीं उस अविहित भक्ति स्नेह के द्वारा पुत्र भाव से अथवा शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से विधिरूप से वर्णन है उस विहित भक्ति स्नेह के द्वारा ब्रह्म भाव से किसी भी प्रकार से मुझ में स्नेह करने पर व्यापि वैकुण्ठ नाम वाली मेरी परागति को प्राप्त हो जाओगे। बात यह है कि स्नेह का विषय तो समान ही रहेगा पुत्रभाव से स्नेह का विषय भी मैं ही रहूँगा और ब्रह्मभाव से भीस्नेह का विषय मैं ही रहूँगा। स्नेह के प्रकारों में अवश्य भेद है, एक प्रकार है पुत्रभाव प्रयुक्त स्नेह, अथवा दूसरा प्रकार है ब्रह्मभाव प्रयुक्त स्नेह परन्तु परम गतिरूप फल की सिद्धि के लिये अमुक भेद ही उपयुक्त है ऐसी बात नहीं है, **यथा कथञ्चित्** विहित मर्यादा भक्ति और

पुष्टि भक्ति से मुझ में स्नेह करना ही आवश्यक है उसके द्वारा परमगति प्राप्त हो ही जायगी। अभ्यर्थना किये विना ही मुक्ति हो ही जायगी। नित्य लीला प्रवेश ही यहाँ पर मुक्ति पदार्थ है। प्रकार भेद होते हुए भी स्नेह मात्र से समान फल या एक ही फल को सिद्धि इसलिये असम्भावित नहीं कि उक्त फल के प्रति जिस स्नेह को कारण बतलाया है वह **माहात्म्यज्ञानपूर्ववस्तु-सुदृढ़ः सर्वतोधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तयामुक्तिर्न चान्यथा॥** माहात्म्य ज्ञान पूर्वक एवं सबसे अधिक होना चाहिये उसमें ब्रह्मरूप से या पुत्र रूप से होने के प्रकार विशेष का निर्देश नहीं है। माहात्म्य ज्ञान आप लोगों को हो चुका है, अब तो स्नेह मात्र से ही कार्य सिद्धि है, वह स्नेह पुत्र भाव से हो या ब्रह्म भाव से हो, दोनों प्रकारों में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोऽधिक स्नेह तो तुल्य ही है। स्नेह में माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता है तभी तो श्रीगोपीजनों को भी माहात्म्य ज्ञान का उदय आगे कराया जायेगा। यदि स्नेह में माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित नहीं रहता तो इस दशम स्कन्ध में ज्ञान की चर्चा अनावश्यक समझी जाती क्योंकि इसमें तो निरोध प्रतिपाद्य है, और भक्तों के प्रपञ्च की निवृत्ति या अभाव ही निरोध कहलाता है। उक्त निरोध की सिद्धि भगवान् की मधुर लीलाओं से सम्पन्न हो सकती है फिर उद्धवजी के द्वारा ज्ञान का प्रसङ्ग दशम स्कन्ध-प्रतिपाद्य निरोध में समावेश पाने के योग्य न होकर अपनी अधिकता को या अनुपयुक्तता को झलकायेगा, या स्पष्ट बतलायेगा। भक्ति में निरोध अंश भी अपेक्षित है इसलिये दशम निरोध स्कन्ध से पूर्व नवम स्कन्ध में उत्पत्ति के निरूपण से भक्तों के स्वरूप का ही निरूपण किया है उन भक्तों को प्रेम, ज्ञान और निरोध जिस प्रक्रिया से होते हैं वह इस दशम स्कन्ध में ही कहेंगे, यदि **''कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुले नय''** यह पाठ आचार्यचरणों ने नहीं माना, इस विषय को कहते हैं कि जो बात विना कहे ही प्रतीत होती है उसके लिये शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, अतः हमको गोकुल ले चलिये वहाँ पधराकर वहाँ से कन्या को ले आईये, इस बात को मुख से नहीं कहा, **''यास्यथे मदगति पराम्''** इतना कहकर ही भगवान् ने मान लिया ऐसा समझना चाहिए। **एभिर्वचनैर्भगवता वसुदेवदेवक्योः स्वावतारात्पूव तदनन्तरञ्च**–भगवान् ने इन वचनों द्वारा अपने अवतरणके पूर्व और उसके अनन्तर भी श्रीदेवकी जी और वसुदेव की दुःखी प्राप्ति में हेतु का भी निरूपण किया है, ऐसा जानना आवश्यक है, जैसे कि देखिये **''तथाहि सत्तः कामानभीप्सन्तौ''** भगवान् ने कहा कि मेरी अभिलाषा को रखते हुवे आपने तप किया इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि प्रश्नि एवं सुतपाजी ने कामप्राप्ति के लिये भगवान् का आराधन किया था, भगवत्प्राप्ति के लिये नहीं। लेकिन सकाम भी आराधन तो भगवान् का था वह भगवान् का आराधन निष्फल नहीं होता अतः भगवान् श्रीहरि का आविर्भाव हुआ। आविर्भाव होने पर भगवान् की सुन्दरता को देखकर भगवान् जैसा पुत्र वरदान रूप से माँगा, स्नेह से आर्त होकर प्रभु के प्राकट्य की याचना नहीं किया था, स्नेह जनित आर्ति के अभाव में प्रभु प्राकट्य की इच्छा कैसे हो सकती थी, इसलिये **'वरं मत्सदृशं सुतम्'** इत्यादि वाक्य से अपनी अभीष्ट प्राप्ति होने के अनन्तर भी विषय सुखों का सेवन करते रहें, ऐसा कहा है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् ने अपने तुल्य को अन्यत्र नहीं देखकर अपने को ही पुत्र रूप से प्रकट करने का निश्चय किया। जिसके कारण मुक्तात्माओं के लिये भी दुर्लभ कठिनता से प्राप्त होने वाले अपने स्वरूप को थोड़े से कार्य के लिये प्रकट करना पड़ा, भगवान् ने स्वमुख से **'अदृष्ट्वाऽन्यतमम्'** इस वाक्य से यह ही आशय सूचित किया है। अतः इस समय प्रभु के प्राकट्य के निमित्त से श्रीदेवकीजी एवं श्रीवसुदेवजी को कंस के द्वारा किये गये बन्धन प्रयुक्त कष्ट का अनुभव उपस्थित हुआ। श्रीप्रश्नि एवं श्रीसुतपाजी का पुत्र रूप में आग्रह था अतः इनके कीर्त्तिमान् आदि पुत्रों का नाश भी हुआ, वह दुःख भी इन्हें भोगना पड़ा, एवं समानता में आग्रह था कि आप जैसा पुत्र हो और वह समानता तो भगवान् के ऐश्वर्य वीर्य यशः श्री· ज्ञान-वैराग्य नाम के षड्गुणों से ही सम्भावित है अतः षड्गुणों के समान संख्यावाले षट् ६ पुत्रों का ही नाश हुआ। भगवान् अद्भुतकर्मा हैं अतः उन्होंने ही मर्यादा की रक्षा के लिये इनको यह दण्ड जैसा विधान किया है, अद्भुतकर्मा भगवान् के एक कार्य में अनेक कार्य होते हैं अतः इनका वह क्लेश अधिक स्नेह का कारण बन गया क्योंकि क्लेश से प्राप्त हुई वस्तु में अधिक स्नेह आवश्यक है॥ ४५॥

कारिकार्थः—आविर्भावे इत्यतः······न शङ्कितौ इति कारिकाओं का अर्थ—श्रीमदाचरणों ने आगे श्रीसुबोधिनीजी में कहा कि स्नेह और आर्ति के अभाव में भगवान् कैसे पधारें, इसका स्वयं समाधान इन कारिका से करते हैं कि **''आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोभवत्''** श्रीमद्गोकुल में भगवान् के ११ वर्ष पर्यन्त रहने का प्रयोजन बतलाया है कि भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में श्री देवकीजी और वसुदेवजी का अगले जन्म का साधन तो तप हुआ, परन्तु आगे लीला रस की प्राप्ति और अनुभूति में भक्ति मार्गीय साधन तो विचारणीय ही है॥ १॥ पुष्टि भक्ति मार्गीय स्नेह मार्गीय श्रीहरि ने अपने वियोग को साधन रूप से उपस्थित किया तब तो श्रीदेवकीजी और श्रीवसुदेवजी की स्वतः ही भगवद्भाव पुष्टि होने लगी॥२॥ वह भगवद्भाव ऐसा था कि दोनों लालनकों को इतने दिन हो गये अब ऐसा करते होंगे, आज तो इतने मास के हो गये ऐसा ऐसा करते होंगे। इतने वर्ष के हो गये, उस कारण से इस प्रकार की शुभ लीलाओं को करते हुए बड़े भैया श्री रोहिणीनन्दन श्रीबलदाऊजी के साथ श्री लालन् वहाँ पर विराजते होंगे॥ ३–४॥ श्री बलभद्र के साथ आप प्रसन्न तो हैं कब मैं उनको सकुशल देखूँगा, इस

प्रकार के अनन्त भावों से अत्यन्त विरह जन्य वेदना के कारण श्री देवकीजी और श्री वसुदेवजी उन दोनों को भगवान् का दर्शन विप्रयोग दशा में कारावास में होता रहता था ॥ ५ ॥ विप्रयोग दशा में वह दोनों माता पिता परस्पर में पूर्वोक्त प्रकार से बातचीत करते रहते थे इसलिये माता-पिता के इन्द्रियों की वृत्तियाँ सर्वथा भगवत्परायण हो गई, वह भगवान् ही निरन्तर उनके हृदय में विराजमान रहते थे ॥ ६ ॥ भगवद्वियोग ताप सन्तप्त माता-पिता के हृदय में भगवान् का विराजना ही दोनों के जीवन का कारण था, इन्द्रियों को एकादश ११ संख्या होने के कारण एकादश वर्ष पर्यन्त भगवान् श्रीहरि माता-पिता की इन्द्रिय वृत्तियों को अपने स्वरूप परायण करते हुए व्रज में विराजे ॥ ७ ॥ **'युवां माम्'** इस वाक्य से भगवान् ने श्री देवकीजी और श्रीवसुदेवजी को यह ही वर दिया था कि आप दोनों पुत्र भाव से या ब्रह्मभाव से बार बार मेरा चिन्तन करते करते स्नेह द्वारा परम गति को प्राप्त करोगे यदि भगवान् ऐसा वर नहीं देते तो इस प्रकार के भाव की कहीं भी संभावना नहीं थी ॥ ८ ॥ अतः श्री देवकीजी और श्री वसुदेवजी को माहात्म्य ज्ञान सहित स्नेह हुआ तभी तो कंस बध के अनन्तर एकादश वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु को प्राप्त करके भी माहात्म्य ज्ञान से शङ्कित हुए माता पिताओं ने पुत्र वात्सल्य प्रयुक्त आलिङ्गन नहीं किया ऐसा आगे स्पष्ट उल्लेख है श्रीमदाचार्य चरणों ने **"युवां मां पुत्रभावेन"** श्लोक के **असकृत् चिन्तयन्तौ** इन पदों का इन कारिकाओं से विशद रूप से विवेचन किया है ॥ ९ ॥

श्री विठ्ठलेश प्रभुचरणजी ने **"आत्ममाया'** शब्द पर उत्तम मननीय अत्यन्त ही आदरणीय विमर्श किया है। श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि यहाँ आत्म शब्द के प्रयोग के विना **'भगवान्'** शब्द के रहने से ही भगवच्छक्ति रूप माया का बोध होते हुए भी **'आत्म'** शब्द का प्रयोग इस माया की विलक्षणता सूचित करता है कि यह माया भगवत् स्वरूपा है। जिस प्रकार आत्मा-भगवान् निर्विकार हैं शुद्ध है सत्य है और षडैश्वर्य सम्पन्न है वैसे यह माया भी वैसी ही है इस माया का विनियोग केवल भगवान् की निर्विकार विशुद्ध सत्य लीलाओं के अनुभव कराने में ही है। असत्य पदार्थ का अनुभव कराने वाली संसार की बीज रूप माया से यह सर्वथा विपरीत है। ऐसा होने पर भी इसको **'माया'** इसलिये कहा जाता है कि यह भक्तों को अपने स्वरूप का विस्मरण करा देती है और भगवान् में आसक्ति करा देती है। तात्पर्य यह है कि जैसे साधारण माया जीव के सहज आनंदांश स्वरूप का विस्मरण कराकर लौकिक विषयों में आसक्ति कराती है, वैसे यह माया भक्तों को अपने स्वरूप को भूलाकर भगवान् में आसक्ति करा देती है। यह आत्ममाया भगवान् का ही एक अन्यतम स्वरूप है। सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं उसी भाँति यह आत्ममाया भी आत्मरूपा भगवद्रूपा ही है। इसलिये आत्मा से, भगवान् से पृथक् नहीं है। इस आत्ममाया से ही श्री देवकी वसुदेव माता पिता हुए हैं अन्यथा गर्भाधान, प्रसव आदि के न होने पर भी इन्हें माता पिता कैसे कहा जा सकता है। इस आत्ममाया से ही श्रीदेवकीजी श्रीवसुदेवजी को इनका अच्छी रीति से दर्शन भी हो रहा है अन्यथा मानुष रूप में ईश्वर का भलि-भाँति ज्ञान असम्भव ही था इस स्वरूप का दर्शन नयनों के सामर्थ्य से नहीं किन्तु **'आत्ममाया'** के अनुग्रह से हुआ है। यहाँ पर **'प्राकृत'** शब्द का भी तात्पर्य यह है कि इस शिशु रूप भगवान् का स्वरूप सर्व को अपनी प्रकृति के अनुसार प्रतीत होता है जैसे रङ्गभूमि में मल्लों को वज्र, स्त्रियों को काम आदि रूप से प्रतीत होंगे। लौकिक प्रकृति के जीव भगवान् को लौकिक समझते हैं और अलौकिक प्रकृतिवालों को अलौकिक रूप से प्रतीत होते हैं। यहाँ पर प्राकृत शब्द का **'प्रकृत्या ग्राह्यम्' 'प्राकृतम्'** इस उत्पत्ति से उपरोक्त मर्म स्पष्ट किया है। इसी प्रकार के निगूढ आशयों से 'रूपान्तर स्वीकार का तृतीय अध्यायार्थ माना है' इसी रूपान्तर स्वीकार के समय ही श्रीमद्गोकुल में पुरुषोत्तम का का प्राकट्य है उसी का यहाँ पर दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है।

एवमुक्त्वा रूपान्तरस्वीकरणं कृत्वा—आचार्यचरण कहते हैं कि इस प्रकार कहकर भगवान् ने रूपान्तर का अङ्गीकार किया। यद्यपि इस श्लोक में भगवान का मौन होना नहीं कहा गया तो भी वह तो स्वतःसिद्ध ही है उस मौन के सूचन के लिये किसी शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं परन्तु इस मर्म की सूचना देने को आप के चुप होने का शब्दतः उल्लेख किया है कि जैसे भगवान् ने अलौकिक रूप को छुपाया वैसे अपने अलौकिक दिव्य ज्ञान को भी छुपा लिया। भगवान् ने जिस प्रकार प्राकृत रूप का स्वीकार किया उसी प्रकार प्रभु ने ज्ञान भी प्राकृत स्वीकार किया, क्योंकि वैसा करने पर रूपान्तर का स्वीकार सर्वथा सुसङ्गत होगा और सर्वांश में संघटित होगा। यदि कोई शङ्का करे कि प्रभुने इस प्रकार अपने स्वरूप से विरुद्ध धर्म का स्वीकार क्यों किया ? तब इस संशय की निवृत्ति **'हरि'** शब्द से होती है कि भगवान् हरि हैं सर्व दुःखों का हरण करने वाले हैं, रूपान्तर के स्वीकार किये बिना भक्तों का दुःख निवृत्त नहीं होता अतः कृपासिंधुने वैसा किया। कहीं भगवान् अपने मूल स्वरूप को भी आकार और ज्ञान की भाँति अन्यथा न करलें ! ऐसी कोई शङ्का करे तब इस शङ्का के निवारणार्थ **'भगवान्'** शब्द का उल्लेख किया है कि प्राकृत रूप में भी वह मूल स्वरूप भगवान् ही है। अब आचार्यचरण **'आत्ममायया'** पद का विवेचन करते हैं कि यदि भगवान् ही है तो प्राकृत रूप और प्राकृत ज्ञान के कार्य प्रकट नहीं हो सकते। यहाँ पर तो भगवान् के वात्सल्य माधुर्य आदि रस का अनुभव एवं आसुर व्यामोह, आदि भगवान् के कार्य क्रमशः प्राकृत, रूप

एवं प्राकृत ज्ञान के कार्य होते हैं, उनको सम्भव नहीं हो सकेगा, यदि ऐसी कोई शङ्का करे तब उसका समाधान करने को **'आत्ममायया'** इस पद का प्रयोग किया है। भगवान् ने अपनी सर्वभवनसामर्थ्य सब कुछ होने की शक्ति नाम की आत्ममाया से ही प्राकृत रूप एवं ज्ञान का स्वीकार किया है। इस कारण अपनी इच्छा से जब निज मूल रूप का कार्य करने का अवसर पड़ेगा तब अर्जुन के प्रति गीता के उपदेश और भीष्मपितामह के मुक्ति प्रसङ्ग पर दिव्य रूप एवं ज्ञान प्रदान आदि कार्य करेंगे। अब मूल रूप का कार्य नही होगा तब अन्य काल में तो माता श्री देवकी की प्रार्थना से प्राकृत रूप से ही दर्शन प्रदान करेंगे। भगवान ने जब ही मौन लिया उसी समय तत्काल ही प्राकृत बालक हो गये। नाभि के नालच्छेद की अवस्था से पूर्वा-वस्था में दर्शन देने लगे। साधारण नटों को रूप परिवर्तन करने में रंगभूमि के प्रेक्षकों की परोक्षता अपेक्षित है लेकिन भगवान् तो असाधारण नटवर है इससे प्रभु के सम्बन्ध में यह जवनिका-परदा अपेक्षित नहीं इस कारण कहते हैं कि माताजी एवं पिताजी के देखते देखते ही प्राकृत शिशु रूप बन गये, श्रीदेवकी माताजी लौकिक ज्ञान में निपुण है, और पिता पारमार्थिक अलौकिक ज्ञान में निपुण है, इससे दोनों की दोनों प्रकार की निपुणता उपस्थित होते हुए भी भगवान् के सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं कर सकीं, और स्वयं अद्भुत बालक प्रभु तो माता पिताजी के सन्मुख ही प्राकृत शिशु रूप में उपस्थित हो गये ॥ ४६ ॥

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि **"एवं स्वीकृत्य रूपान्तरं तत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात्"** भगवान् ने इस प्रकार रूपान्तर का स्वीकार कर लिया फिर वहां स्थित रहने में कोई प्रयोजन नहीं था, और स्वयं पधारने में रूपान्तर के स्वीकार की सार्थकता नहीं होती, तथा वसुदेवजी को यह कुछ ज्ञान नहीं था कि अब कहां भगवान बालमुकुन्द जो को पधरावें इन सब कारणों से सर्व प्रकार की समस्याओं के समाधान करने को वसुदेवजी को मानसिक प्रेरणा देकर श्रीवसुदेवजी के द्वारा स्वयं श्रीमद्गोकुल पधारे इस प्रसंग का निरूपण है, 'ततश्च' प्राकृत भाव होने के अनन्तर 'च' शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् की आज्ञा के भी अनन्तर 'शौरि' शूर नाम के राजा के तनय श्रीवसुदेवजी ने सुत रूप में भगवान् को श्रम न हो इस तरह उत्तम पात्र को लेकर उसमें उत्तम वस्त्र को बिछा कर और उस कोमल गद्दी ऊपर बालक को पधरा करके सूतिका सदन से जब बाहर पधारने का मनोरथ किया उसी समय श्री नन्दजाया श्री यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया। "शौरि" शब्द का तात्पर्य यह है कि वसुदेवजी को ऐसी विकट परिस्थिति में रात्रि के समय महावन के प्रति प्रस्थान करने में किसी प्रकार का भय नहीं था यह सूचित होता है। अब आचार्य चरण 'सः' पद का रहस्य कहते हैं कि 'स' शब्द पूर्व परामर्शक होने से भगवान् के वाक्य में विश्वास की सूचना करता है कि वसुदेवजी को भगवान् के साथ वार्तालाप होने के बाद भगवद् वाक्य में दृढ विश्वास हो चुका है। अब आचार्य श्री **'सुतम्'** पद का रहस्य कहते हैं कि यहाँ **'सुतम्'** शब्द से यह विदित किया जाता है कि वसुदेवजी को भगवान् के प्रति पुत्र बुद्धि प्राकृत जैसी हो गई थी। **'सूतिकागृहात्'** शब्द से यह भी स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रसव के धर्म उस गृह में भी प्रकट हुए थे और श्रीदेवकी के भी **'सूतिकात्वं'** प्रसववर्तीत्व प्रसव देने वाली माता के सर्व धर्म प्रकट हुए साधारण मोह की निवृत्ति साधारण ज्ञान से हो सकती है, इसलिये गोकुल जाने में स्वच्छन्दता का होना और द्वारों का खुल जाना उचित है। यहाँ पर जो **"साधारणमोहस्य निवर्तकं साधारणं ज्ञानम्"** जो सुबोधिनी जी के वाक्य हैं उन वाक्यों का तात्पर्य यह है कि भगवान् ने वसुदेवजी को अपने गोकुल पहुँचाने और नन्दालय से कन्या को लाने की प्रेरणा दी है, केवल इतने ही कार्य में वसुदेवजी भगवान् की ज्ञानशक्ति से सम्पन्न थे इस कारण वसुदेव जी को योगमाया से उत्पन्न होने वाला सर्व लोक साधारण मोह बाधक नहीं हुआ। उस साधारण मोह की निवृत्ति उस साधारण ज्ञान से हो गई। साधारण ज्ञान का मर्म यह है कि वसुदेवजी का वह भगवत्प्रेरणालभ्य साध्य था वह ज्ञान साधारण ही था अतः वसुदेव जी को गोकुल जाने में स्वच्छन्दता का भान होने से धीरे धीरे चरणों को रखते हुए जाना पड़ा क्योंकि उन्हें असाधारण ज्ञान तो था नहीं कि यह भगवत्कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा अतः वसुदेवजी को धीरे धीरे चरण विन्यास करने की चतुरता करनी पड़ी।

आत्मन इव देहस्यापि विस्मरणं यथा भवति तदर्थं तस्मिन्नेव समये योगमाया जाता— गोकुलवासी जिस प्रकार अपने आपको बिसर गये उसी प्रकार देह को भी विस्मृति हो जावे और कुमार हुआ या कुमारी ऐसा न समझ पावें इसलिये उसी समय योगमाया प्रकट हुई। भगवान् के प्राकट्यकाल में यदि प्रकट होती तो श्री देवकी जी और वसुदेव जी भी सो जाते, उनको भी योगमाया से नींद आ जाती, इससे विदित होता है कि भगवान् के प्राकट्य के बाद एक मुहूर्त पीछे योगमाया प्रकट हुई है और माया ने नवमी तीथि के आने पर जन्म ग्रहण किया है। भगवान और योगमाया के जन्म के समय रोहिणी नक्षत्र समान ही था, अतः व्रतोपवास करने में रोहिणी नक्षत्र का कृत्तिका नक्षत्र से वेध होना दोष जनक नहीं। सप्तमी तिथि का अष्टमी के साथ वेध तो दोषावह है ही। श्रीनन्दालय में नन्दलाल जी प्राकट्य महोत्सव आदि तो नवमी में ही हुआ था अतः शुद्ध अष्टमी के न मिलने पर केवल नवमी के दिन ही उपवास करना आवश्यक है। भगवान् के हृदय में विराजने पर माया का हृदय में प्रादुर्भाव नहीं हो सकता अतः जब ही बाहर जाने की इच्छा की उसी समय माया ने जन्म लिया ऐसा कहा है, वह माया योग के लिये ही उपयुक्त है, भगवान् के कार्यों में उपायों की सिद्धि के लिये लोगों को व्यामोहित करती है, प्रस्तुत में

भगवान् का गोकुल पधारना ही कार्य है उसमें विघ्न उपस्थित न होने के उपाय को सिद्ध करने के लिये नागरिक जनों को शयन करा देना ही मोहित कर देना है। अब आचार्य श्री "नन्दजायया" पद का रहस्य बतलाते हैं कि माया को स्वतन्त्र न समझा जावे इसलिये नन्दजायया श्रीनन्दरायजी की जाया पद से सूचित किया है कि यशोदा ने उसे जन्म दिया है, भगवान् की तरह वह स्वय ही प्रकट नहीं हुई जाया शब्द का अर्थ वह है कि जो संतान के जन्म देने वाली होती है और पत्नी शब्द का अर्थ यह है कि जो पति के साथ यज्ञ में बैठती है ॥ ४७ ॥

तस्याः कार्यमाह तयेति तया माययाहृताः— उस योगमाया का कार्य बतलाते हैं कि उस योगमाया ने द्वारपाल पुरुषों में रही हुई प्रत्यय ज्ञान विवेक वृत्तियों का हरण कर लिया, जिससे नागरिक और जागरुक जन के सर्वविध ज्ञानों की व्यापारात्मक वृत्तियाँ विलुप्त हो गई, उन्हें किसी भी प्रकार का भान नहीं रहा, जाग्रत एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओं में सर्व प्रत्यय या ज्ञानों की संशय आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, माया से मोहित हुए द्वारपाल लोग तो मूर्च्छित हो गये, जगत् में माया के उत्पन्न होने पर उसका प्रभाव पड़ा। श्री गोकुलवासी जन एवं श्री यशोदा आदि तो मुग्ध हो गये, उनकी सावधानता चली गई। तत्पश्चात् क्रम से मथुरा में द्वारपाल, तदनन्तर मथुरा के नागरिक लोग भी मुग्ध हो गये, माया ने केवल पूर्ववत् बुद्धि का हरण मात्र ही किया हो इतनी ही बात नहीं किन्तु निद्रा के द्वारा अतिरिक्त बुद्धि भी सम्पन्न करदी, जिस प्रकार अत्यन्त दीर्घ काल अन्य लोक के प्रति चले जाने वालों की भांति असावधानी से चला जाता है उस प्रकार माया ने लोगों को निद्राधीन किया सर्वको सुषुप्ति को प्राप्त करा दिया ऐसी परिस्थिति हो जाने पर द्वार स्वयं खुल गये, इस माया ने इतना ही कार्य किया कि लोगों की ज्ञान वृत्तियों का हरण किया और निद्रा से उनका अत्यन्त जड़ भाव सम्पादन किया बस इतना तो माया का कार्य हुआ और अन्य कार्य तो अन्य प्रकार से सम्पन्न हुआ यह बतलाने को अथ अव्यय का प्रयोग किया है, क्योंकि अथ अव्यय भिन्न प्रकार से क्रम के परिवर्तन का बोधक है, कपाटों के स्वयं खुलजाने में माया का प्रभाव कारण नहीं किन्तु भगवत्प्रभाव ही कारण है। अब दुरत्ययाः पद का तात्पर्य कहते हैं कि वह सब ही द्वार प्रथम से उन्हीं द्वार के द्वारपालों ने बड़े बड़े कपाटों से और लोहे की कील व जंजीरों से बन्द कर रखे थे, और स्वभाव से भो दुर्गम थे जिन्हें प्राप्त करना या उल्लंघन करना सर्वथा कठिन था। **"गजा व्याघ्राः"** जहां पर हाथी थे, व्याघ्र थे कहीं कहीं सिंह थे तथा ऊँची नीची विषम और विकट भूमि थी यह सब दिन में भी जाने में सर्वदा एवं सर्वथा भय के कारण उपस्थित रहते थे। जिन द्वारों पर साधारण लोग तो जाते ही कैद कर लिये जाते थे, उस पर भी उस रात्री के समय तो वह द्वार बद्ध थे जिनमें बड़े बड़े किवाड़ लगे थे, लोहे की कील व जंजीरें थीं, अथवा कील सहित जंजीरें थी, वह ताली से ही खोले जा सकते थे, उनके खोलने की ताली भी बड़ी विषम और विकट थी, ताली लगाने की रीति को जानने वाला ही काम में ला सकता था, ताली के हाथ में रहने पर भी सर्व साधारण के लिये उससे कपाटों का उद्घाटन नहीं हो सकता था ॥ ४८ ॥

श्रीमदाचार्य चरण कहते है कि **"एतादृशा अपि कृष्णवाहे वसुदेवे समागते स्वयमेव व्यवर्यन्त**—इस प्रकार के भी वह दुर्गम द्वार भगवान् कृष्ण को पधराकर वसुदेवजी के आने पर स्वयं ही खुल गये। वह सारे द्वार विशीर्ण हो गये, उनकी दृढता शीथिल हो गई उन द्वारों के कपाट पट भी स्वयं ही अलग अलग हो गये, इस वर्णन से यह बतलाना है कि भगवान् मोक्ष के दाता हैं अतः जड़ जातीय कपाट जिन्हें अत्यन्त तमोमय लोह कील श्रृङ्खलाओं ने बन्धन में डाल रखा था उनको भी मुक्त कर दिया, इस प्रकार तामस कर्मबद्ध मूढों को भी मुक्ति का सूचन कराया गया है, इससे अन्य ज्ञान शून्य व्यक्तियों की मुक्ति का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। अब **कृष्णवाहे वसुदेव आगते** इन पदों के मर्म को आचार्य चरण बतलाते है कि जड़ों की तामसों की मुक्ति हो गई तब यदि शुद्ध सत्त्व भगवान् को धारण करता हो तो मुक्ति होना अनिवार्य है यह सूचित करने के लिये **"कृष्णवाहे और वसुदेवे"** इन पदों का उल्लेख किया है **"सत्त्वं विशुद्ध वसुदेवशब्दितम्"** इस वाक्य के अनुसार, रजोगुण, तमोगुणों से अस्पृष्ट शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरण में यदि श्रीकृष्ण की धारणा सिद्ध हो जाय तो मोक्ष सहज सिद्ध है। मोक्ष प्राप्ति का यह ही उपाय है यह बतलाने को दृष्टान्त कहते हैं कि **"यथा तमो रवेः"** जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है, अन्यथा हजारों उपायों के करने पर भी सम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त नहीं होता, किन्तु सूर्य के उदय होते ही अंधकार स्वतः चला जाता है उसी प्रकार शुद्ध अन्तः करण के भगवद्भाव पूर्ण होने पर बन्धन करने वाली अविद्या का, माया का सर्वथा संपूर्णतः नाश हो जाता है।

सर्वासाध्यानां स्वत एव सिद्धिर्नान्यथेति निरूपितम्—यहां भगवान की सामर्थ्य से समग्र असाध्य कार्यों की सिद्धि स्वतः हो जाती है जो अन्य प्रकार से नहीं हो पाती, इस विषय का यहां निरूपण किया है, श्री बाल मुकुन्द जी को लेकर वसुदेव जी के अन्तर्द्वारों के निकल जाने पर, नगरी के भीतरी दरवाजों के पारकर जाने पर, माया का प्रवेश हुआ है। **उभयोः साम्मुख्ये** भगवान् और माया इन दोनों के सम्मुख होने पर जो दृश्य उपस्थित हुआ उसे अब कहते हैं कि वृष्टि होने लगी, वृष्टी भी सब लोगों के न उठने में कारण हुई वर्षा के कारण सब लोग पड़े ही रहे, मेघों का उपांशु मन्द मन्द गर्जन भी

लोगों की सुखमय नींद में का कारण बना तथा अन्य शब्दों के कर्णगत न होने में भी कारण बना, मेघ की मन्द गर्जना के कारण अन्य कोई किसी के आने जाने का शब्द कर्णगोचर नहीं होता था, अधिक गर्जना होती तब तो सब लोग उस गर्जना से ही जाग उठते इसलिये मन्द गर्जना लोगों के न जागने में कारण सिद्ध हुई, केवल वर्षा मात्र ही माया का कार्य सर्व साधारण रूप से प्रवृत्त हुआ और वर्षा कार्य वसुदेवजी को भी खेद का जनक हुआ अतः उस खेद की निवृत्ति के लिये शेष जी पीछे पीछे चलने लगे। भगवान् शेष पाताल से आकर फणों के द्वारा मेघ के जल को रोकते हुवे अनुगमन करने लगे। श्री शेष जी वसुदेवजी के पीछे की ओर से चल रहे थे, क्यों शेष के सर्प रूप होने से भगवान् के सम्बन्ध में वसुदेवजी के मन में होने वाले भय का सम्भव नहीं रहा। कुछ विद्वानों का कहना है कि शेषजी अन्तरिक्ष प्रदेश आकाश में चल रहे थे जिससे भगवान् के निमित्त श्री वसुदेव जी को भय और चिन्ता न हो, यदि ऐसा माना जाय तब तो शेषजी के सारे शरीर के द्वारा भी वृष्टि का रोकना सम्भव था, यहां तो शेषान्वगात् वारि निवारयत् फणैः फणों से वारि जल का निवारण कहा है, एवं ऊपर चलना न कहकर अन्वगात् पद से अनुगत पीछे से चलना कहा है। अतः स्पष्ट होता है कि शेषजी वसुदेवजी के पीछे से ही छत्रधारी परिचारक की भांति चल रहे थे ॥ ४९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इदानीं तु ताभ्यामप्रार्थितमपि मोक्षं प्रयच्छति, लीलाकार्यस्य सिद्धत्वात्। युवामिति ॥ इदानीं तु पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् पुनःपुनर्मां चिन्तयन्तौ मयि कृतस्नेहौ च युवां परां सर्वत उत्कृष्टां मम लोकप्राप्तिरूपां गतिं मोक्षं यास्यथे ॥ ४५ ॥ इत्युक्त्वा हरिस्तूष्णीमासीत्। अत्र 'यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसम्भवाम्, इत्ययं श्लोकशेषो ज्ञेयः, 'भगवत्प्रचोदित' इति लिङ्गात्। ततश्च पित्रोर्देवकीवसुदेवयोः सम्पश्यतोरेव सतोर्भगवानात्ममायया स्वेच्छया सद्य एव प्राकृतः शिशुरिव बभूव। 'बबन्ध प्राकृतं यथा' इति वक्ष्यमाणत्वादत्रापि चेति शेषः ॥ ४६ ॥ ततश्च भगवता प्रचोदितः स शौरि वसुदेवः सुतं सम्यक् आदाय आस्तृतकोमलवस्त्रे पात्रे संस्थाप्य गृहीत्वा यदा सूतिकागृहाद्बहिर्गन्तुमियेष ऐच्छत् तर्ह्येव या अजाशब्द-वाच्यत्वेन प्रसिद्धा योगमाया, सा नन्दजायया यशोदया निमित्तभूतया अजनि जाता ॥४७॥ अथानन्तरमेव तया योगमायया हृताः प्रत्ययार्थाः ज्ञानहेतुभूताः सर्वा वृत्तयश्चक्षुरादिवृत्तयो येषां जाग्रतामपि तथाभूतेषु द्वारपालेषु सत्सु, तथा पौरेषु पुरवासिजनेष्वपि शायितेषु सत्सु या बृहद्भिः कपाटैः आयसैर्लोहमयैः कीलशृङ्खलैश्च पिहिता आच्छादिताः, अत एव दुरतिक्रमाः द्वारस्तु सर्वा वसुदेवे आगते स्वयं व्यवर्यन्त व्यशीर्यन्त विवृत्ता जाता इत्यन्वयः। 'व्यत्रियन्त' इति वक्तव्ये गुणश्छान्दसः। 'व्यशीर्यन्त' इति पाठान्तरम्। अनेनैव वसुदेवपादनिगडोऽपि स्वयमेव पतित इति ज्ञेयम्। तत्र हेतुं सूचयन् वसुदेवं विशिनष्टि कृष्णवाह इति। संसारबन्धमपि कर्षति निवर्तयति स कृष्णः, तस्य वाहे आगते द्वारविवृतौ किमाश्चर्यमित्याशयः। तत्र दृष्टान्तमाह यथा तमो रवेरिति। रवेः सूर्यस्या-गमने तमोऽन्धकारो यथा विशीर्यते तद्वदित्यर्थः। उपांशु मन्दं मन्दं गर्जितं यस्य, तथाभूतः पर्जन्यो मेघो ववर्ष। पूर्वं वर्षातो निवृत्तोऽपि तदा मार्गे जनसञ्चाराभावाय ववर्षेत्याशयः। तदा च फणैर्वारि निवारयन् शेषः अनन्त अन्वगात् वसुदेवस्य पृष्ठतो जगाम ॥४८-४९॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

युवामिति ॥ इदानीं तु पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् पुनः पुनर्मां चिन्तयन्तौ मयि कृतस्नेहौ च युवां परां सर्वत उत्कृष्टां मम लोकप्राप्तिरूपां गतिं मोक्षं यास्यथे। तङार्षः ॥ ४५ ॥ इतीति ॥ इत्युक्त्वा हरिस्तूष्णीमासीत्। अत्र "यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय ॥ मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसंभवाम् ॥" इत्ययं श्लोकः शेषो ज्ञेयः। भगवत्प्रचोदित इति लिङ्गात्। ततश्च पित्रोर्देवकीवसुदेवयोः संपश्यतोरेव सतोर्भगवानात्ममायया स्वेच्छया सद्य एव प्राकृतः शिशुरिव बभूव ॥ ४६ ॥ ततश्चेति ॥ ततश्च भगवता प्रचोदितः स शौरिः वसुदेवः स्वपादनिगडं स्रस्तं वीक्ष्य सुतं सम्यक् आदाय आस्तृतकोमलवस्त्रे पात्रे संस्थाप्य गृहीत्वा यदा सूतिकागृहाद्बहिर्गन्तुमियेष ऐच्छत् तर्ह्येव या अजाशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा योगमाया सा नन्दजायया यशोदया निमित्तभूतया अजनि जाता। अत्र हरिवंशे तु— "देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा।" इत्युक्तं तत उभयोरेकवाक्यतायै इदमवसीयते। यदैव देवकी कृष्णं सुषुवे तदैव यशोदाऽपि कृष्णं सुषुवे। तदनन्तरसमये योगमायां च सुषुवे इति कालभेदेन तस्याः द्विःप्रसव एवेति। अत एव "अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाऽष्टमहाभुजा।" इति वक्ष्यते। किंच यशोदाप्रसूतस्य कृष्णस्य चतुर्भुजत्वाद्यनुक्तेः। नराकृतिपरब्रह्मत्वाच्च द्विभुजत्वमेव बुद्ध्यत इति टीकान्तरम् ॥ ४७ ॥ तयेति द्वयम् ॥ अथान्तरमेव तया योगमायया हृताः प्रत्ययार्थाः ज्ञानहेतुभूताः सर्वा वृत्तयश्चक्षुरादिवृत्तयो येषां जाग्रतामपि तथाभूतेषु द्वाःस्थेषु द्वारपालेषु सत्सु तथा पौरेषु पुरवासि-जनेष्वपि शायितेषु सत्सु या बृहद्भिः कपाटैः आयसैर्लोहमयैः कीलशृङ्खलैश्च पिहिता आच्छादिता अत एव दुरत्यया बृहद्भिः कपाटादि-भिर्दुरत्यया इति वा। ताः द्वारस्तु सर्वाः कृष्णवाहे वसुदेवे आगते रवेः सूर्यस्यागमने तमोऽन्धकारो यथा विशिर्य्यते तथा स्वयं व्यवर्यन्त व्यत्रियन्त विवृता जाताः। गुण आर्षः कर्मकर्त्तरि लङ्। अनेनैव वसुदेवपादनिगडोऽपि स्वयमेव पतित इति ज्ञेयम्। उपांशु मन्दं मन्दं गर्जितं यस्य तथाभूतः पर्जन्यो मेघो ववर्ष। तदा च छत्रीकृतैः फणैर्वारि निवारयन् शेषः अनन्तः अन्वगात् वसुदेवस्य पृष्ठतो जगाम ॥ ४८-४९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु त्वयि परमेश्वरे प्रसन्न सत्यपि कथमावयोः पुनः पुनर्जन्मेति चेत्तस्य तथैव कारणमासीदितः परं तु न भविष्यतीत्याह। युवामिति ॥ असकृत्, पुत्रभावेन, असकृत् ब्रह्मभावेन वापि, मां चिन्तयन्तौ स्मरन्तौ, युवां मयि, कृतस्नेहौ सन्तौ, परां सर्वोत्तमां, मद्गतिं, यास्येथे गमिष्यथः। एतेनैतावत्कालपर्यन्तं पुत्रेषणयैव युवां मामस्मरतमतः पुनः पुनर्जन्माभूदतः परं तु स्नेहातिशयेन मच्चिन्तनात्तन्नैव स्यादिति सूचितमिति भावः ॥ ४५ ॥ इतीति ॥ हरिः, इतीत्थं उक्त्वा, तूष्णीं आसीत्। ततः, पित्रोर्वसुदेवदेवक्योः, संपश्यतोः सतोरेव, भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः सन्नेव, सद्यस्तदैव, आत्ममायया स्वाधीनया योगात्मकस्वशक्त्या, प्राकृतः मानुषः शिशुः बालः, बभूव ॥ ४६ ॥ तत इति ॥ ततः शिशुभवनानन्तरं, भगवत्प्रणोदितः शिशुरूपेण भगवताऽऽदिष्टः, हे शौरे, त्वं मामित आदाय गोकुलं गत्वा तत्र नन्दगृहे यशोदाशयने मामवस्थाप्य, यशोदाप्रसूतकन्यामादाय, तामत्र देवकीशयने निवेहीति संदिष्ट इत्यर्थः। सः शौरिर्वसुदेवः, चकारस्त्वर्थः। सुतं समादाय गृहीत्वा, सूतिकागृहात्, वहिः यदा गन्तुं इयेष ऐच्छत्, तर्हि, नन्दजायया यशोदया, अजा प्रकृत्यभिमानिनी, या योगमाया शक्तिः, अजनि जज्ञे केचित्त्वस्मात् श्लोकात्पूर्वं यः श्लोकस्तत्पूर्वं यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसंभवाम्, इति श्लोकं पठन्ति, तत्रापि वक्तव्यार्थापूर्णत्वात्क्षिप्तप्रायत्वाच्च परित्यक्तः ॥४७॥ तयेति तदा, तया योगमायया, हृताः प्रत्यया बुद्धयः सर्ववृत्तयः तत्पूर्वकसर्वेन्द्रियव्यापाराश्च येषां तेषु, द्वाःस्थेषु, सर्वेषु द्वारपालेषु, अथ पौरषु पुरवासिजनेषु अपि, शायितेषु निद्रितेषु सत्सु, बृहत्सु कपाटेषु आयसानि लोहमयानि कीलानि परस्परबन्धकशङ्कुविशेषात्मकानि शृङ्खलानि च यासु ताः, अत एव, दुरत्ययाः दुरतिक्रमणीयाः, पिहिताः सर्वाः, द्वारः तु द्वाराण्यपि, ता इत्युत्तरेण संबन्धः। पाठान्तरे बृहद्भिः कपाटैः आयसैः कीलैः शृङ्खलैश्च, सर्वा द्वारः, पिहिताः आसन् ॥४८॥ ता इति ॥ ताः सर्वा द्वारः, कृष्णं वहतीति कृष्णवाहस्तस्मिन्, वसुदेवे आगते सति, रवेः उदये सति, तमः यथा, स्वयं एव व्यवर्यन्त। स्वयमेव विवृता इत्यर्थः। व्यव्रियन्तेति वक्तव्ये गुणश्छान्दसः। रवाविति पाठे, रवौ उदिते इति शेषो बोध्यः। तदा पर्जन्यः उपांशुगर्जितः मन्दगर्जितः सन्, ववर्ष। पथि इति शेषः। पौराणामप्रबोधार्थमिति भावः। शेषोऽनन्तः, फणैः, वारि वर्षजलं, निवारयन् सन्, अन्वगादनुययौ ॥ ४९ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इत्युक्त्वेतिः १९ ३.४६.

यावद् गोकुलवर्तिनी न भविता माया जगन्मोहिनी तावन्मां सुजनाश्चतुर्भुजमिमे पश्यन्त्यनायासतः।
जाते तत्प्रतनूदये त्वहमलं गोप्ता स्वरूपं क्षणादित्यर्थं ननु बोधयन् प्रभुरुरीचक्रेऽर्भकत्वं तदा ॥११२॥

ततश्चेतिः १०.३.४७

यद्गोकुलं गोवलये प्रकामं यशोदयाऽलङ्कृतमस्ति तत्र। आविर्भवामीति च वाचमीशस्तातं नितान्तं सरसामुवाच ॥११३॥

तया हृतेतिः १०.३ ४८.

महान्तोऽपि निशाग्रस्तमनसो यद्विमोहिताः। जायन्ते कंसशास्यानां क्षुद्राणां तत्र का कथा ॥ ११४ ॥
पूर्वं येनारिवर्गोपरतिरिह कृता यत्नतस्तस्य पुंसः पश्चादात्माऽपरोक्षं स्फुटमिति सुधियः केऽपि कामं वदन्तु।
सत्यध्यक्ते त्वयीशे योगपदरिचयो लीनवृत्ति प्रचारः स्यादर्थादेव काराप्रकटनमिह ते तत्र दृष्टान्तयामः ॥ ११५ ॥
यद्विष्णोः पदमर्चितं निजकरैः सूर्याश्रयः पर्वसु यत्तारोल्लसिता स्थितिश्च सततं यद्देवतापोषणम्।
तत्सर्वं फलितं यदद्य समभूच्छ्रीशोऽन्ववाये ममेत्यानन्दादुदितो बभूव विविधा गा अर्पयंश्चन्द्रमाः ॥ ११६॥
अस्मिन् पर्वणि सत्योऽहं न पुरा हरिणाश्रितः। इति वक्तुं जनानिन्दुरुच्चैर्गिरिसमाश्रितः ॥ ११७ ॥
राजाऽस्मि यद्यपि जने भजेऽद्यान्वर्थतामहम्। इति किं समभूदिन्दुर्भूभृन्मौलिपदस्तदा ॥ ११८ ॥
अर्धं पत्नीति सा प्रेम्णा पश्यत्येव सुताननम्। ध्रुवं तद्दर्शनोत्कण्ठः स्वयं स्वार्धात्मना ययौ ॥ ११९ ॥
साक्षादेष रमापतिः प्रभुरभूदस्यान्वयालङ्कृतिरित्यानन्दवताऽब्धिना वहुसुतप्रेम्णा समालिङ्गितः।
चन्द्रः सोऽपि निजान्वयोदित-हरिप्रेक्षा-समुन्मानसो यज्जातो ह्यवभासते जनदृशा तेनायमर्धाकृतिः ॥ १२० ॥

ताः कृष्णेतिः १० ३.४९.

यन्नामश्रुति-चेतसोऽपि पुरुषस्यासंख्यजन्मार्जितस्नेहस्निह्यदशीर्ण–पूर्णगुणयुक्–प्रारब्धबन्धच्युतिः।
वक्षोऽलङ्करणं स यस्य भगवानद्धा बभूवास्य किं जीर्णायाकृत-पादबन्धनमभूद् विश्लिष्टमत्राद्भुतम् ॥ १२१ ॥
हृदयपद्मकपाटविघाटनं भवति योगकलाभिरितीरितम्। त्वदनुयोगकलाभियुजः पितुस्तदुचितं तु कपाटविमोचनम् ॥१२२॥
यथा वारिदोहं तथावाऽरिदोऽयं प्रभुस्तन्मदीयस्वरूपानुकारी। क्षितिं मद्वदेषोऽपि कर्ता सपङ्ककबन्धामुवाचेति किं गर्जितेन ॥१२३॥

धन्योऽस्मि लोके यदितः कवीन्द्रा मामीशरूपोपममावदेयुः । स्ववृत्तिदं नीरनिधिं प्रवक्तुं हर्षादितीवाम्बुधरो जगर्ज ॥१२४॥

त्वयार्पितं यद्वसु तन्मयापि वितीर्णमीशार्पणसंविदैव । पयोधिमूचे स किमम्बुवाहस्तदीयदानोत्सुकताभिवृद्धौ ॥१२५॥

अस्माभिस्तु समर्पितं वसु यथाशक्त्यच्युतायाऽम्बुधे ! जामाता यदसौ तवास्ति च ततो दित्सास्ति चेच्चेतसि ।
देयं तद्वयमद्य तस्य सविधं नीत्वाऽर्पयामोऽचिरादित्यब्दाः किमवोचुराहितरवाः सन्मार्गमत्याश्रिताः ॥ १२६ ॥

तिष्ठत्यनन्त शरणागत दीनबधुस्त्वय्यच्युतस्तदनुजा च तथैव देवी ।
स्वावासभूमिमिह मामचिरात् प्रकर्त्रीत्यब्दः श्रुतं किमिति गर्जनतो ह्यपृच्छत् ॥१२७॥

जडोद्धारे दीक्षाग्रहणमवतारे त्विह विभोः समाकर्ण्याम्भोदः प्रमुदितमनाः स्वां जडगतिम् ।
ध्रुवं वृष्टिव्याजात्सपदि भुवि कृष्णाङ्घ्रिकमलप्रणामार्थं नम्रामकृतगिरमुच्चार्य कृपणाम् ॥ १२८ ॥

पक्षक्षयेण धृतशाद्वलकाननेभ्यो भूभृद्वरेभ्य इह मा तमतेति भूयः ।
आश्वासनं वसुधरो वसुदानपूर्वं दृष्ट्वेशजन्मसुखकृद् ध्वनितो ददौ किम् ॥ १२९ ॥

प्राप्तं यद्वसु धीमता विधिवशादीशार्पणं चेत्कृतं तद्भूयादिह भूरिकीर्तिजनकं लोके प्रतिष्ठावहम् ।
सोऽपि प्रोन्नतिमेत्य चान्यवसुमत्तेजस्तिरस्कारकः स्यात्स्याज्जीवनरोऽपि सर्वजगतामब्दोऽत्र दृष्टान्तभूः ॥१३०॥

मालिन्यभाग् बहुजडोऽप्यनिशं निशासु सञ्चार्यपीह यदि मत्पदवृत्तिशाली ।
तद्दत्तभक्तिरसशीतलिताखिलाङ्गः सद्यो भवेयमिति बोधितमम्बुधृत्या ॥ १३१ ॥

कं संप्राप्ता प्राप्नुयाल्लोपमृद्धिः कं संप्राप्ता नेति किं ज्ञापनाय । कं संप्राप्तं पङ्कतामानिनाय कं संप्राप्तं किञ्चिदङ्गे दधार ॥१३२॥

न गोकुलव्यवहृतिर्वसुसंग्रहमन्तरा । रम्या भवेदितीशोऽपि तदर्थं तदुपाददे ॥ १३३ ॥

शेषोऽन्वगादिति

विधायानुकम्पामकम्पामनेन स्वकीयाग्रजत्वं मयि न्यस्तमस्ति । तथाप्यस्य सेवैव मे मुख्यधर्मः किमागादहीशोऽम्बुपातापहृत्यै ॥१३४॥

अतिसन्निहितेऽपि सेवके यत् प्रभुणा वारिकृतान्वभावि पीडा । तदवद्यपदः स सेवकोऽस्मिन् भवतीति स्वशिरः पुरश्चकार ॥१३५॥

त्यक्त्वा रसामुपरि यत्त्वमुपागतोऽसि नागेन्द्र नैतदुचितं कृतोमत्यहीशः ।
गर्ह्यं त्वमच्युतकृतं परिहर्तुमम्बुधृत्या रसाश्रितफणः किमसौ बभूव ॥ १३६ ॥

वृत्तिर्यस्य निसर्गतोऽन्यवनिताभोगोत्सुका वर्तते द्रव्यं चेदनुकूलतामुपगतं किं तस्य वाच्यं ततः ।
आलोच्यैवमुदञ्चदुज्ज्वलरसोल्लासो भुजङ्गाधिपो युक्तं तन्निजवासिने वसु मनाग् दत्वा यदन्वग्रहीत् ॥ १३७ ॥

यद्द्रव्यं भवतीह विष्णुपदसंस्पृष्टं समुत्पद्यते तत्र स्वत्वमुपासकस्य यदतो ग्राह्यं च तेनैव तत् ।
जानन्नेव विधिं विधिस्तुतयशाः शेषोऽप्यशेषं तथा सम्प्राप्तं वसु यच्छिरोभिरवहत्तत्साधु मन्यामहे ॥ १३८ ॥

विष्णुपदामृतममृतान्धोभिरपि स्पृह्यमानमतिपूतम् । युक्तं दधार शिरसा ह्यशेषवैष्णवशिरोमणिः शेषः ॥ १३९ ॥

कृष्णत्विट्कृतनिर्जयां निजरुचिं दृष्ट्वाऽम्बुदोऽतिक्रुधा निःशङ्कं शरवृष्टिमेवमकरोन्मन्येऽर्धचन्द्रोत्कटाम् ।
दृष्ट्वा च प्रभुपादसेवनरतिः शेषोऽपि तामागतामीशे युक्तमपाकरोदनलसश्चक्रीकृताङ्गस्थितिः ॥ १४० ॥

यो यस्य धर्मस्तेनाऽसौ कृतश्चेत् किमु विस्मयः । युक्तं चकार तच्छेषा विषभृद् विषधारणम् ॥ १४१ ॥

जडात्मानो विष्णोः पदविगलिताः पङ्कजनकाः पुनस्तेषामेषां नहि परपदप्राप्तिरुचिता ।
इति ज्ञात्वा शेषो नयनिपुणबुद्धिर्निजफणैरधोगानां तेषामकृत किमु दूरापसरणम् ॥ १४२ ॥

अपि स्थिता विष्णुपदे सहन्ते परोपकारार्थमधःस्वपातम् । कथं न ते वा बलिवत् सुवन्द्याः शिरोभिरित्येष दधार शेषः ॥ १४३ ॥

अनन्तवसुभृत् समर्पितवसौ प्रजेशस्तुते गजेन्द्रसुमनोहरे जगति चामरश्रीयुते ।
अनेकमणिमण्डितं फणसितातपत्रं प्रभौ श्रियः प्रियतमे दधावुचितमेतदुर्वीधरः ॥ १४४ ॥

यो यत्कृते श्रममहर्निशमेव भुङ्क्ते यो यच्छिरः स्थितरसावनबद्धकक्षः ।
तस्मिन् हि गोकुलसुखानुभवाभिलाषे साहाय्यकं स कृतवानिति युक्तमेव ॥ १४५ ॥

जडोद्धारणसामर्थ्यं श्रीशवच्छ्रीशसेवके । अस्तीत्यबोधयच्छेषः कृत्वाऽऽत्मानमुदाहृतिम् ॥ १४६ ॥

माभूदस्य कदाचिदप्यरिकृता बाधाऽल्परोमस्वपीत्यम्भोदः सहसा निजामृतरसैरासीत् तदा वृष्टिकृत् ।
त्रैलोक्येष्वमृतप्रदः प्रभुरयं नित्यामृतात्मा च यत् किं वाऽनेन विषाभिधामृतरसेनाऽस्येत्यपोऽवारयत् ॥ १४७ ॥

कृष्णप्रिया

हे अम्मा ! आप दोनों पुत्र भाव से अथवा ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते हुवे स्नेह करने से मेरी परागति को, व्यापि वैकुण्ठ को प्राप्त करोगे ॥ ४५ ॥ श्रीशुकाचार्यजीने कहा कि (राजन्) इस प्रकार कहकर भगवान् श्री हरिने मौन ले लिया और आत्ममाया से माता पिताओं के देखते देखते तत्क्षण ही प्राकृत साधारण शिशु रूप हो गये ॥ ४६ ॥ और राजन्

परीक्षित् भगवान्‌ने प्राकृत स्वरूप को स्वीकार के अनन्तर भगवान् की आज्ञा से प्रेरित होकर श्री वसुदेवजी जब प्रसूति मन्दिर से पुत्र को लेकर बाहर पधारने लगे उसी समय श्री नन्दजाया श्री यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया जो 'अजा' भी कहलाती है ॥ ४७ ॥ योगमाया ने द्वार रक्षक पुरुषों की एवं नगर निवासियों की भी समस्त ज्ञान वृत्तियों का हरण कर लिया और सबको निद्रा के आधीन भी कर दिया, और द्वार तो सर्व प्रथम में ही उन द्वार रक्षकों ने बड़े बड़े किवाड़ और लोहे की जञ्जीरों से बन्द कर दिये थे और जहाँ से निकलना बड़ा कठिन था। वे बड़े बड़े द्वार श्रीकृष्ण के शिर पर धारण करनेवाले श्रीवसुदेवजीके आते ही सूर्य से अन्धकार के हट जाने की भाँति स्वयं ही खुल गये, मन्द मन्द गर्जना के साथ मेघ वर्षा करने लगा, वर्षा से बालमुकुन्दजी भींग न जाय, इसलिये भगवान् श्री शेषजी फणों के द्वारा जल का निवारण करते पीछे से चल रहे थे ॥४८-४९॥

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥ ५० ॥
नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।
[1]शिशुं यशोदाशयने निधाय [2]तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥ ५१ ॥
देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् । प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥ ५२ ॥
यशोदा नन्दपत्नी च जातं [3]परमबुध्यत । न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [4]श्रीकृष्णजन्म नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—असकृत् मघोनि वर्षति गभीरतोयौघजवोर्मिफेनिला भयानकावर्तशतकुला नदी यमानुजा श्रियः पतेः सिन्धुः इव मार्गं ददौ ॥ ५० ॥ शौरिः नन्दव्रजम् उपेत्य तत्र तान् गोपान् निद्रया प्रसुप्तान् उपलभ्य यशोदाशयने शिशुं निधाय तत् सुताम् उपादाय पुनः गृहान् अगात् ॥ ५१ ॥ अथ वसुदेवः देवक्याः शयने दारिकाम् न्यस्य पदोः लोहम् प्रतिमुच्य पूर्ववत् आवृतः आस्ते ॥५२॥ नन्दपत्नी यशोदा च जातं अबुध्यत परं परिश्रान्ता निद्रया अपगतस्मृतिः तल्लिङ्गं न अबुध्यत ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यमानुजा । गंभीरो यस्तोयौघस्तस्य जवेन ये ऊर्मयस्तैः फेनिला फेनव्याप्ता । भयानकैरावर्तशतैर्व्याप्ताऽपि । श्रियः पतेः सीतापतेः ॥ ५० ॥ निद्रया अजया ॥ ५१ ॥ पदोः पादयोः लोहं निगडं प्रतिमुच्य बद्धा आस्ते स्म ॥ ५२ ॥ जातं किंचिदिति परं केवलमबुध्यत न तु पुत्रः कन्या वेति तल्लिंगम् । यतो योगनिद्रया चापगतस्मृतिः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यमानुजा यमुना ॥ ५० ॥ तत्र नंदव्रजे । तान् नंदप्रभृतीन् । किञ्च—यदा वसुदेवः स्वपुत्रं गृहीत्वा नंदालयमितस्तदा तेन यशोदासूनुर्भगवद्योगमायापिहितदृष्टिना तत्र स्थितो नावलोकितोऽपि तु तदुपरि स्वसुतं न्यधापयत्स च तदा तस्मिन्नेवांतर्हितोऽभूदिति तदाह—सुतमिति । यशोदया सह यशोदायां वा प्रादुर्भावात्प्राक् शेते इति यशोदाशयनः गोलोकेशः परतमो द्विभुजाकृतिः श्रीकृष्णस्तस्मिन्निधाय वसुदेवनंदनस्तु वैकुंठेशो विष्णुस्तस्य गोलोकेशेन्तर्धानं प्रपंचितं श्रीगर्गाचार्यैर्गोलोकखंड इति । किं च यावदक्रूरागमनं तावत्स तत्रैवांतर्हितस्तस्थावक्रूरेण साकन्तु वसुदेवनंदन एव ययौ 'तां संप्रविष्टौ वसुदेवनंदनौ' इति वक्ष्यमाणत्वात् नन्दनन्दनस्तु तत्रैव तस्थौ "वृंदावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति" इत्युक्तेर्गोपीनां तद्वियोगस्तु द्वारकास्थपट्टराज्ञीवत्प्रातिभासिक एव न तु वास्तव इति ध्येयम् । तत्सुतां यशोदासुताम् किं च कंसात्स्वपुत्ररक्षणार्थं मित्रपुत्र्यावधानार्थं जानतोऽपि परमधार्मिकस्यापि वसुदेवस्यायमन्यायो न दूषणं प्रत्युत भूषणमेव पुत्रीभूते भगवति वर्द्धिष्णुस्नेहेनैव तादृशविवेकापहारात् । तथा चकारेति भावः । अत्र गृहं भार्या 'गृहिण्येव गृहं प्रोक्तम्' इत्युक्तेः बहुत्वं तस्या मुहुश्चिंतनात् । कंसकारागृहस्य वसुदेवगृहाभावात् ॥ ५१ ॥ दारिकां कन्याम् ॥ ५२ ॥ नंदपत्नी चेति चकारोनुक्तसमुच्चायकः । यथा वसुदेवपत्नी तथा नंदपत्नी च जातं स्वगर्भादुत्पन्नमपत्यं परं सर्वोत्कृष्टमबुध्यत तन्माधुर्य्यास्वादशक्त्यैव तद्दत्तया तदीयस्वरूपभूतानंदमनुभवगोचरी चकारेत्यर्थः । किं तु तस्य लिंगं परमेश्वरोऽय-

१. सुतं–श्रीधर. वंशी. वीर. गिरि. भक्त. च. पु. । २. सुतां समादाय–इति कस्यचित् । ३. पुत्रम्–इति कस्यचित् । ४. पूर्वार्धे कृष्णजन्मनि–श्रीधर. ; कृष्णावतारे तृतीयो.–इति कस्यचित् ।

मेवेति विशेषं नावुध्यतेति भेदः। ननु तस्या गर्भजः कृष्ण इति न प्रसिद्धं तत्राह—यशोदेति। तद्यशो ददाति देवक्यै सखीभावात्। "द्वे नाम्नी नंदभार्याया यशोदा देवकीति च। अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया॥" इत्यादि पुराणादिति व्याख्यातं भागवतामृतवैष्णवतोषिण्यानन्दवृन्दावनचम्प्वादिसंततयैवेति नोपेक्षणीयम्। परिश्रांताऽतिसौकुमार्यात्प्रसवोत्थश्रमयुता प्रसवांते चानंदेन श्रमोपशांत्या निद्रयेत्याहेति वा॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

मघोनि शक्रे स्वयमेव वर्षतीति सत्यपि मायामोहितजनत्वे तदज्ञानादसौ श्रीवसुदेवादर्शनाद्यर्थमेव वृष्टिमकरोत् या खलु जलभूम्योरेकतापादनेन तस्य सहसा यमुनावगाहेऽपि हेतुरभूत् तत्रासक्तत्वं च तत् क्लेशशङ्कया मध्ये मध्ये विच्छेदनात् स च विच्छेदो निर्जनदेश इति ज्ञेयं यमानुजेति तदानीं परमभीषणत्वाद्यभिप्रायेण तदेवाभिव्यञ्जयति—गम्भीरेत्यादिविशेषणाभ्याम् अत एव नदीति महाशब्दयुक्त त्वं च श्लेषेणोक्तं तथापि यथा सीतापतेः समुद्रस्तथा सा श्रीवसुदेवस्य मार्गं ददौ परावृत्तावपि तस्यैव तदानात् अत एव तैरपि सीतापतेरित्येव व्याख्यातं तथा च श्रीविष्णुपुराणे "यमुनां चातिगम्भीरां नानावर्तशताकुलाम्। वसुदेवो वहन् विष्णुं जानुमात्रवहां ययौ" इति॥ ५०॥ उपेत्य समीपे गत्वेपि वर्त्मादिकमजानतोऽपि तस्य दैवसाहाय्यं सूचित द्वारबन्धादिविमोकस्तु पूर्ववत् तदानीं श्रीयशोदासमीपे समभिव्यक्तशैशवमाधुर्येण श्रीवसुदेवस्य स्वस्य चाकृष्टचित्तत्वाच्छिशुमित्युक्तं सुतमिति क्वचित् पाठः निधाय निधिमिव गूढं न्यस्य तस्याः सुताम् उपादाय मायात्वेन कन्यात्वेन च कंसवचनार्थमुपादेयत्वेन च गृहीत्वा एष च श्रीभगवति स्नेहभर एव यदर्थं मायात्वेन ज्ञाताया अपि स्वीकारः तथा मित्रपुत्रीत्वेन प्रतीयमानाया अपि कंसकार्यवधदोषानपेक्षणं गृहानिति चिन्ताव्याकुलस्य श्रीदेवकीलक्षणस्य निजगृहस्य ततो मुहुः स्फुरितत्वेन बहुत्वनिर्देशः॥ ५१॥ दारिकां बालिकां शयने न्यस्येति तस्या उदर्कशोकवृद्धिशङ्कया अनादरेणैव शयन एव न्यस्य न पुनरङ्क इत्यर्थः। पूर्ववदावृतः कपाटादिभिर्निरुद्धः॥ ५२॥ यशोदेति। तादृशपुत्रोत्पत्त्या श्रीनन्दस्य व्रजस्य च कीर्त्तिविस्ताराभिप्रायेण तथा नन्दयति पुत्रोत्पत्त्या जगदिति नन्दत्वात्तस्यापि तदानन्दता सूचिता तस्य पत्नीति तस्या अपि जगदानन्दकत्वं तथा तत्पतित्वेन तस्यापि यशोविस्तारणं सूचितं परिश्रान्ता प्रसन्नस्वभावेन जाताऽत्यन्तश्रमा निद्रया योगनिद्रया अतः सुतरां तत्परिजनानामपि तादृशत्वमूह्या तथा च श्रीविष्णुपुराणे "तस्मिन् काले यशोदाऽपि मोहिता योगनिद्रया। तामेव कन्यां मैत्रेय प्रसूता मोहिते जने" इति पश्चात्पुत्रदर्शनेन परमहृष्टाऽभूदिति च ज्ञेयं तथा च तत्रैव "ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्। नीलोत्पलदलश्यामं ततोत्यर्थं मुदं ययौ" इति॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिवैष्णवतोषिण्यां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

मघोनि शक्रे स्वयमेव वर्षतीति लोकस्य कस्यचिदपि वहिर्निःसरणार्थमन्धकाराधिक्येन श्रीवसुदेवादर्शनाद्यर्थञ्च वृष्टेर्बाहुल्यं सूचितम्। यमानुजेति तदानीं परमभीषणत्वाद्यभिप्रायेण; तदेवाभिव्यञ्जयति–गम्भीरेत्यादि विशेषणाभ्याम्, अत एव नदीति महाशब्दयुक्तत्वञ्च श्लेषेणोक्तम्, तथापि यथा सीतापतेः समुद्रस्तथा श्रीवसुदेवस्य मार्गं ददौ। तथा च तत्रैव (वि० पु० ५।३।१८) 'यमुनां चातिगम्भीरां नानावर्त्तशताकुलाम्। वसुदेवो वहन् विष्णुं जानुमात्रवहां नदीम्' इति॥ ५०॥

नन्दस्य व्रजं प्रायो गवावासमिति तत्र द्वारबन्धादिशंका निरस्ता। उपेत्य समीपे प्राप्येति सद्यस्तत्र गमनं बोधयति; यद्वा, उपायेन गत्वेति प्रयत्नविशेषम्; श्रीव्रजेश्वराज्ञया सर्वतो निखातकष्टकावरणादिना दुष्प्रवेशत्वात्; तान् श्रीनन्दादीन्, निद्रया स्वाभाविक्या; किं वा तान् जागरणशीलानपि योगमायया हेतुना प्रकर्षेण निःसंज्ञतया सुप्तानुपलभ्य दृष्ट्वेत्यर्थः। शिशुमिति प्राकृततया स्नेहभरोदयेन श्रीवसुदेवस्य निजबालकाभिमानात्; यद्वा, अशिशुमपि शिशुत्वं प्राप्तमिति श्रीबादरायणेर्भक्तिभरोक्तिः। एवमन्यदप्यूह्यम्। तस्याः सुतामुपायेनोपकारार्थं वा आदायेति श्रीवसुदेवस्य श्रीभगवति स्नेहभरो दर्शितस्तदर्थं मायाया अपि स्वीकारात्, तथा मित्रपुत्र्याः कंसकार्य्यवधदोषानपेक्षणाच्चेति; गृहान् निजबन्धनागारम्॥ ५१॥

दारिकां बालिकां तां पूर्ववदावृतो निरुद्ध इति तदागमनानन्तरं पुनर्द्वारबन्धादि-निष्पत्तेः॥ ५२॥

यशोदेति सत्पुत्रोत्पत्त्या श्रीनन्दस्य व्रजस्य च तथा स्वगर्भतो जननेन योगमायायाश्च कीर्त्तिविस्तारणाभिप्रायेण। किञ्च, नन्दयति जगदिति नन्दस्तस्य पत्नीति तस्या अपि तत्पुत्रोत्पत्त्या जगदानन्दकत्वं तथा तत्पतित्वेन नन्दस्यापि योगमायादि यशोविस्तारणञ्च सूचितम्। अप्यर्थे चकारः, व्रजेश्वरीत्वेन बहुलपरिजनवृतापीत्यर्थः। परिश्रान्ता प्रसवस्वभावेन जातात्यन्तश्रमा; अपगता स्मृतिरनुसन्धानं यस्याः सा, तत्परिजनानामपि तादृशत्वमूह्यम् तथा च तत्रैव (वि० पु० ५।३।२०)—'तस्मिन् काले यशोदापि मोहिता योगनिद्रया। तामेव कन्यां मैत्रेय प्रसूता मोहिते जने॥' इति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम् यद्वा, ततश्च परमुत्तमं पुत्रं जातमबुध्यते, तस्य कान्तिविशेषप्रसरादिदर्शनात् तस्य श्रीवसुदेवकृतपुत्रपरिवर्त्तनादेर्लिंगं लक्षणम् अन्यत् समानम्। पश्चात्

पुत्रदर्शनेन परमहृष्टाऽभूदिति ज्ञेयम् तथा च तत्रैव (वि० पु० ५।३।२२) 'ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्। नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ ॥' इति ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रील-सनातन-गोस्वामि-पादकृतायां श्रीवृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशमटिप्पण्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

यमानुजा यमुना श्रियःपतेः सीतापतेः ॥ ५०–५१ ॥ शौरिर्वसुदेवः लोहनिगडम् आवृतः कवाटपिहितद्वारः ॥५२–५३॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

असकृन्मेघे नितरां वर्षति सति गम्भीरस्य जलपूरस्य जवेन ये ऊर्मयः तैः फेनिलाः फेनान्यस्यासन्तीति तथा भयङ्कराणामावर्तानां शतैराकुला व्याप्तापि यमानुजा यमुना नदी मार्गं वसुदेवाय ददौ यथा सिन्धुः समुद्रः श्रियः पतेः सीतायाः पतेः श्रीरामचन्द्रस्य ददौ तद्वदित्यर्थः ॥ ५० ॥ ततः शौरिर्वसुदेवः नन्दव्रजमुपेत्य तत्र योगमायया हेतुभूतया नितरां सुप्तान् तान्नन्दादीन् गोपानुपलभ्य ज्ञात्वा यशोदायाः शयने शय्यायां स्वसुतं निधाय तस्या यशोदायाः सुतां मायात्मिकामादाय पुनर्गृहान् स्वनिवासभवनान्यगात् ॥ ५१ ॥ ततस्तां दारिकां पुत्रीं देवक्याः शयने न्यस्य निधाय पूर्ववच्छृङ्खलां पादयोः कृत्वा आबध्याऽऽवृतः पिहितकवाटः सन्नास्तेपूर्ववदवर्त्तत प्रतिमुच्य पदोर्लौहमिति पाठे लौहः लोहमयं निगडं पदोः पादयोः प्रतिमुच्य पुनर्धृत्वेत्यर्थः ॥ ५२ ॥ नन्दस्य पत्नी यशोदा तु जातमपत्यं पुत्रं परमबुद्ध्यत तत्पुरुषमात्रमबुद्ध्यत न तु तल्लिङ्गं तद्गतचिह्नानि तत्र हेतुः परिश्रान्ता तत्रापि हेतुर्निद्रया मायाशक्त्युपबृंहितया निद्रयाऽपगता स्मृतिर्यस्याः तथा यद्वा जातमपत्यं न सुतं नापि कन्यां चाबुद्ध्यत किन्तु जातमात्रमबुद्ध्यत तत्र हेतुः तल्लिङ्गे स्त्रीपुंसान्यतरचिह्नपरामर्शे परिश्रान्ता तत्र हेतुर्निद्रया अपगतस्मृतिः पूर्ववदर्थः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्य्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मघोनि इन्द्रे यमानुजा यमुना तोयौघजवः जलप्रवाहवेगस्तद्युक्ता ऊर्मयो यस्यां सा तथा फेनिला फेनवती गम्भीरा च तोयौघजवोर्मिश्च फेनिला च सा तथेति भयानका भयङ्करा आवर्ताः पयसां भ्रमास्तेषां शतैराकुला श्रियः पतेर्दशरथरामस्य सिन्धुः समुद्र इव। ५० ॥ नन्दव्रजं नन्दगोकुलम् उपलभ्य दृष्ट्वा निद्रया दुर्गाया सुषुप्तान् गृहानिति बहुवचने पुल्लिङ्गः "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव" इत्यमरः गृहशब्दस्य भार्यावाचित्वेन नपुंसकत्वं तद्व्यावृत्त्यर्थं बहुवचनम्। ५१ ॥ दारिकां कन्यकाम् ॥ ५२ ॥ परं केवलं जातमबुध्यत तस्य जातस्य लिङ्गं स्त्रीपुरुषविवेकलक्षणं नाज्ञासीत् तत्र निमित्तमाह—परिश्रान्तेति। प्रसूतिवेदनयेति शेषः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(विजयध्वजतीर्थपाठेन चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

तदा मथुरातो महावनागमने मध्यवर्त्तिनी यमुना च स्वयमेव पन्थानं ददावित्याह—मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः। सिन्धुरिव गभीरत्वाद् दुस्तरापि सा यमुना श्रियः पतेस्तस्य मार्गं ददौ ॥ ५१–५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीवृहत्क्रमसन्दर्भे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः एवं चतुर्थोऽपि समाप्तः ॥ ३–४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तोयौघस्तोयसमूहः श्रियः पतेः सीतापतेः ॥ ५० ॥ तत्सुतामुपादायेति कंसात्स्वपुत्रस्य रक्षणं मित्रपुत्र्या वधं जानतोऽपि परमधार्मिकस्यापि वसुदेवस्यायमन्यायो न दूषणं प्रत्युत भूषणमेव पुत्रीभूते भगवति वर्द्धिष्णुस्नेहेनैव तादृशविवेकापहारात् ॥५१॥ प्रतिमुच्य बद्ध्वा पादयोर्लौहं निगडम् आवृतः आस्ते स्म ॥ ५२ ॥ परं केवलं जातमबुद्ध्यत न तु पुत्रः कन्या वेति तस्य जातस्य चिह्नं तत्र हेतुः परिश्रान्ता अतिसौकुमार्य्यात् प्रसवोत्थश्रमयुता प्रसवान्ते चानन्देन श्रमोपशान्त्या च निद्रयेति किञ्चात्र चकार उक्तसमुच्चये यथा वसुदेवपत्नी तथा नन्दपत्नी च जातं स्वगर्भादुत्पन्नमपत्यं परं सर्वोत्कृष्टम् अबुद्ध्यत तन्माधुर्य्यास्वादशक्त्यैव तद्वत्तया तदीयस्वरूपभूतानन्दमनुभवगोचरी चकारेत्यर्थः। किन्तु तस्य लिङ्गं परमेश्वरोऽयमेवेति लिङ्गविशेषं न अबुद्ध्यतेति भेदः। ननु, तस्याः गर्भजः कृष्ण इति यशो न प्रसिद्धं तत्राह यशोदा तद्यशो ददाति देवक्यै सखीभावात् द्वे नाम्नी नन्दभार्या या यशोदा देवकीति च अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजाययेत्यादिपुराणवचनावगतादित्यर्थः। व्याख्यानमिदं भागवतामृतवैष्णवतोषिण्यानन्दवृन्दवनादि सम्मत्यैवेति नोपेक्षिणीयम् ॥ ५३ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। तृतीयो दशमस्कन्धे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

गम्भीरतोयौघजवेन ये ऊर्मयस्तैः फेनिला फेनव्याप्ता ॥ ५० ॥ निद्रया योगनिद्रया ॥ ५१ ॥ पदोः पादयोर्लोहं निगडं स्वयं प्रतिमुच्य बद्ध्वा आस्ते स्म ॥ ५२ ॥ यशोदा चकारात्तत्रत्यजनता परं केवलं जातमबुध्यत न तु लिङ्गं स्त्रीपुंसोरेकतरलक्षणमबुध्यत निद्रया योगनिद्रया ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे तृतीयाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ ३ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

मार्गं ददौ सिंधुरिव श्रियः पतेः। अत्र श्रियःपतिशब्देन दाशरथेर्ग्रहणं न संभवति। श्रीशब्दस्य सीतावाचकत्वेऽनुशासनाभावात्। न च श्रीसीतयोश्चैतन्याभेदेन युक्तता। कीर्त्यादीनामपि तदभेदाद्धामनादीनामपि ग्रहणापातात्। नापि समुद्रेण मार्गदानं तत्रैव युज्यत इति। विप्रगुरुपुत्रानयनवेलायां कृष्णायापि समुद्रेण मार्गदानात्। तस्माद्रामार्थकत्वे श्रियःपतिशब्दस्य न निश्चय इत्यत उच्यते। त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्मैथिली तस्य दारा इति नाटकेऽनुशासनसद्भावात् श्रीः सीतेति युज्यते। यद्वा। पतेरित्यावृत्त्या योज्यं। समुद्रस्य सरित्पतित्वेन यमुनापतित्वे सिद्धेऽपि। पतेः। स्वपतेः। अनुसारेणेति शेषः। श्रियः स्वकन्यायाः लक्ष्म्याः। पतेः भगवतः। पारिबर्हरूपं स्वयमनुस्मृत्य मार्गं ददाविति समुद्रेण स्वकन्यायां दत्तायां तदनुस्मृत्येदानीं पारिबर्हरूपमार्गदानं यमुनया कृतमिति भावः। अथवा। कालिंदीति समाख्याता वसामि यमुनाजल इति कालिंद्युक्तेः। पू पूरेण सिंधुरिव वर्तमानाऽपि यमुना स्वाश्रितत्वाच्छ्रीनाम्न्याः स्वानुजायाः कालिंद्याः पतेः भविष्यभर्तुर्लज्जयेति शेषः। मार्गं ददौ। स्त्रीजातिमत्याः स्वशालागमने स्वोद्धत्यप्रदर्शनं न न्यायमिति मत्वा लज्जया संकुचितत्वेन मार्गदानमर्थसिद्धमिति भावः। शालकत्वस्य भविष्यकत्वेनार्थवैलक्षण्यद्योतनायैव पतेरिति वैलक्षण्यप्रयोगः कृतः। अन्यथा पत्युरिति युक्तं स्यात्। सा सूर्यपुत्री यमुनानुजाता तपश्चरंती कृष्णपत्नीत्वकामेति हि तात्पर्यनिर्णये ॥ ५१ ॥

इति श्रीभागवते चतुर्थोऽध्यायः ॥ १०-४ ॥ (अस्मत्क्रमे तृतीयोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

मघोनीन्द्रेऽसकृद्देववसुदेवोपरि मन्दं तदितरत्रासकृद्बहुलं वर्षति सति गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला गम्भीरतोयौघस्य प्रवाहस्य वेगस्तज्जाता ऊर्मयस्तरङ्गास्तैः फेनिला फेनवती। अनेन मम यमसयमनी पुर्यसुरैः पूरिता भवतीति सन्तोषेणेति ध्वन्यते। भयानका भयप्रापका आवर्ता अम्भोभ्रमास्तेषां शतैराकुला व्याप्ता यमानुजा नदी यमुना श्रियः पतिस्तस्य। षष्ठ्या अलुकि समासे श्रियः पतेरिति सम्भवतीत्येके पतिरित्याख्यातः पतिः। पदभेदं पदशब्दो भिन्न इत्यन्ये। सखिना वानरेन्द्रेण पतिते पतौ सीतायाः पतये नम इत्यादिकं निदर्शयन्तो वदन् श्रियः पतेः रघुपतेः सिन्धुः समुद्र इव श्रियः पतेः कृष्णस्य मार्गं ददौ जानुदघ्नजलाऽभवदिति भावः। रामस्येव कृष्णस्येति विशेषनामाभाषमाणः साधारण्येन श्रीपतेरितीरयंस्तयोर्न तिलतुलविशेष इति ध्वनयामासेति ज्ञेयम् ॥ ५० ॥ नन्दव्रजं नन्दगोकुलमुपेत्य प्राप्य निद्रया श्रीहरिमायारूपिण्या तान्गोपान्प्रसुप्तान्प्रस्वापितानुपलभ्य दृष्ट्वा शिशुं स्वदारकं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहान्। गृहाः पुंसि च भूम्न्येवेत्यमरः। स्वगृहमगात्। यथोक्तम् हरिवंशे। स यत्र गर्भवसतिं वसत्यात्मेच्छया हरिः। यशोदाऽपि समाधत्त गर्भं तदहरेव तु। विष्णोः शरीरजां निद्रां विष्णुनिर्देशकारिणीं। यामेव रजनीं कृष्णो जज्ञे विष्णुकुले प्रभुः। तामेव रजनीं कन्यां यशोदाऽपि व्यजायत। अनुज्ञाप्य पितृत्वेन नन्दगोपगृहं नय। वसुदेवस्तु सङ्गृह्य दारकं क्षिप्रमेव तु। प्रगृह्य दारिकां चैव देवकीशयने न्यसत्। यशोदाया गृहं रात्रौ विवेश सुतवत्सलः। यशोदया त्वविज्ञातस्तत्र निक्षिप्य दारकं। परिवर्ते कृते ताभ्यां गर्भाभ्यां भयविह्वलः। वसुदेवः कृतार्थो वै निर्जगाम निवेशनात्। उग्रसेनसुतस्याथ कंसस्यानकदुन्दुभिः। निवेदयामास तदा तां कन्यां वरवर्णिनीमिति ॥ ५१ ॥ अथ तत्र पुत्रं प्रस्थाप्य गमनानन्तरं दारिकामानीतां देवक्याः स्वभार्यायाः शयने न्यस्य निधाय पदोर्लोहं तन्मयशृङ्खलां प्रतिमुच्य स्थापयित्वा पूर्ववदावृतोऽप्रकाशितार्थो गुप्तो वाऽऽस्ते। स्मे क्रियाप्रबन्धे लट् ॥ ५२ ॥ नन्दपत्नी यशोदा परं केवलं जातमबुद्ध्यताज्ञासीत्। तल्लिङ्गं स्त्रीपुरुषभेदकं चिह्नं नावबुद्ध्यत। तत्र तन्त्रं परिश्रान्तेति। प्रसववेदनातो निद्रया भगवदङ्गजदुर्गयाऽपगतस्मृतिस्तद्विवेकहेतुस्मृतिरहिता ॥ ५३ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ १०-४ ॥ (अस्मत्क्रमे तृतीयोऽध्यायः)

श्रीसुबोधिनी

यथा यथा गोकुलनिकटे गमनं तथा तथा मायासान्निध्याद् गमने क्लेशाधिक्यं भगवत् सान्निध्याच्च तदभाव इति ज्ञापयितुं यमुनोत्तरणे प्रकारमाह मघोनि वर्षतीति, भगवज्जन्मसमये सर्वतो निवृत्ता अपि मेघा मायाजन्मनि सर्वे समागताः, इन्द्रोपि मायामोहितो मेघप्रेरको जातः, केवलाश्चेद् भगवति गच्छति निवृत्ता अपि भवेयुः, अल्पानां मोहितानामल्पधैर्यवत्त्वेन

महति विरोधासम्भवात् , अत आह **मघोनीन्द्रे सकृद् वर्षति** सति, स्वभावतोपि **यमुना** क्रूरेत्याह **यमानुजेति**, अत एव **गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला, गम्भीरो** भयानको गाधो **यस्तोयौघस्तस्य जवेन** वायुवशाच्च य ऊर्मयस्तत्सहिता फेनिला च, त्रिविधोपि दोषस्तस्या निरूपितः, अतिवेगो राजसः, फेनादिस्तामसः, एवं कालकृतं दोषमुक्त्वा स्वाभाविकं दोषमाह **भयानकावर्तशताकुलेति, भयानका** भयजनका ये **आवर्ता** भ्रमरास्तेषां **शतैराकुला,** समप्रवाहरहिता व्यग्रा वा, आवर्तास्तामसाः, वैयग्र्यं राजसं, एवं स्वाभाविका अपि त्रयो दोषाः, **एव दुष्टापि भयान् मार्गं ददौ,** सर्वा नद्यः समुद्रपत्न्यः, रामावतारे समुद्रोपि मार्गमप्रयच्छन् शोषितः किं पुनस्तस्याल्पसत्त्वा भार्या ? अतः स्वरूपादेव प्रच्युता भविष्यामीति **सिन्धुरिव मार्गं ददौ,** किञ्च यमुनाजलेग्रे लक्ष्मीभिः सह क्रीडां करिष्यति, अतः सन्तोषादपि ददौ, यथा लक्ष्मीपतेर्जामातुः श्वशुरः समुद्रः कदाचित् स्वगृहे नयन् मार्गं प्रयच्छति, अथवा श्रीः सीतेव, तस्या एकस्याः कामुकश्चेत् समुद्रशोषं कृतवान् बहूनां गोपिकानां कामुकः कथं न कुर्यात् ? ॥५०॥ एवं मार्गवन्नदीमुत्तीर्य गोकुले गतस्य कृत्यमाह **नन्दव्रजमिति शौरिरित्यभये** नन्दस्य च मित्रत्वात् , व्रजे च गवामपि कदाचिच्छब्दो भवत्यतः पुरुषगमनशब्देनापि न तत्रत्यानां जागरणं, उपेत्य समीपे गत्वा, अनेन शनैर्गमनं सूचितं, तत्र च **तान् सर्वदा** जागरणयुक्तानपि तदा **प्रसुप्तानुपलभ्य,** केवलमपि शयनं सम्भवतीति निद्रयत्युक्तं, **शिशुं** बालकं भगवन्तं भगवत्त्वज्ञानेन पुत्रत्वस्य वक्तुमशक्यत्वान्नामान्तराणामकृतत्वाद् भगवत्त्वे स्थापनस्यायुक्तत्वाच्छिशुमित्युक्तं, **शयने** शय्यायां, अयुक्तमित्याशङ्क्य **शयनपदं** दत्तं, **यशोदायाः शयने** सति यशोदायाः शयनं यत्रेति **निधाय** नितरां स्थापयित्वा **तत्सुतां** मायामुपादाय पुनस्तेनैव **मार्गेण स्वगृहानगात्** ॥ ५१ ॥ ततो **देवक्याः शयने** तस्या अपि शय्यास्थानं कृत्वा तां स्थापयित्वा, अथेति भिन्नप्रक्रमे, **यशोदाशयने तूष्णीं शनैरज्ञापयन्** , अत्र तु तदभावः, **दारिकां** कन्यां, अनादरे दारिका, स्वयमेव **पदोः** पादयोर्लोहं प्रतिमुच्य **पूर्ववदेव** यदा भगवज्जन्म न जातं तदा यथा ॥ ५२ ॥ अत्र यशोदायाः शयनं न सम्भवति, प्रसवे लोके ज्ञानासम्भवादित्याशङ्क्याह **यशोदेति,** यशो ददातीति प्रसवे ज्ञाते भर्तुः सुखं भवतीति, **नन्दस्य पत्नोति,** तादृशे समयेन्यदापि जागरणं जातकर्माद्यावश्यकत्वात् **पत्नी** भूत्वापि सावधानापि, **जातमेव परमबुध्यत** न तु जातस्य लिङ्गं पुत्रः पुत्री वेति, यतः **परिश्रान्ता** प्रसवार्थं वेदना महती जाता, पश्चाच्छ्रान्ता यदा तदैव प्रसवो जात इति प्रसवेन सह निद्रापि जाता, तया कृत्वापगता **स्मृतिर्यस्याः,** मम प्रसवो जात इति पूर्वानुसन्धानं स्मृतिः, अतः पूर्वं वसुदेवकृतं सुस्थम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥ ३ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

यमानुजेत्यत्र कालकृतदोषमध्ये गाम्भीर्यं सात्त्विकं **फेना**दिरित्यादिपदेन ऊर्मयो मकरादयो जीवाः, स्वाभाविकदोषनिरूपणे **समप्रवाहराहित्यं सात्त्विकं** सात्त्विकस्य स्तम्भहेतुत्वात् ॥ ५०–५३ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥ ३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

मघोनीत्यत्र **गम्भीरतोयौघजवसहिता ऊर्मयो यत्रे**त्यन्तं बहुव्रीह्यन्तं पदं विधाय **फेनिले**त्यनेन **कर्मधारयो ज्ञेयः, अतिवेग** इति, तथा च गम्भीरत्वाद् भयानकत्वं सात्त्विको दोषो ज्ञेयः अग्रिमविशेषणेपि तथा ॥ ५० ॥

॥ लेखे तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥

बुभुत्सुबोधिका

मघोनि वर्षतीत्यत्र निवृत्ता इति सर्वगुणोपेतः काल उक्तः, 'अथ सर्वगुणोपेत' इति श्लोक उक्तः । 'मेघच्छन्नेह्नि दुर्दिन'मितिकोशः । समागता इति अविद्यागर्भत्वात् । दुर्दिनं जातम् । महतीति भगवति । महत्परिमाणेनोपादानं विरोधस्य दुर्दिनस्यासम्भवे हेतुत्वार्थम् । अतिवेग इति तेन वेगः सात्त्विक इत्युक्तम् । राजस इति कर्मबाहुल्यात् । तामस इति निन्दितत्वात् । तामसा इति अधो नीत्वा मज्जनसामर्थ्यात् । राजसमिति चित्तविक्षेपरूपत्वात् । त्रय इति समप्रवाहः सात्त्विकः समप्रवाहराहित्यं वा । सात्त्विकस्य स्तम्भहेतुत्वात् । अग्र इति फलप्रकरणे जलक्रीडायाम् । लक्ष्मीभिरिति लक्ष्मीरूपाभिर्गोपीभिः । जामातुरिति लक्ष्मीः समुद्रपुत्री यतः । बहूनामिति बह्वश्च बह्व्यश्च बहवः तेषाम् । गोपिकाकदम्बानां फलप्रकरणषष्ठाध्यायलीलायां स्वीकृतानाम् । यद्वा श्रुतिरूपाः भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणपुंस्त्ववन्त इति वेदाः । कुमारिका (ऋषिरूपा) णां वृन्दम् । कामपुरुषार्थवत्त्वेन मोक्षपुरुषार्थाभावान् नपुंसकतौल्यात् । नित्यसिद्धायूथः । यमुनाजितां यूथ इति सामान्ये नपुंसकं वा विशेषणम् । कामुक इति काम इच्छा प्रेमेतियावत् । प्रेमवान् । कुमारिकाणां कामुकः । नित्यसिद्धानां यमुनाजितां च कामधर्मवान् । तत्र स्थापितलक्ष्म्याम् अर्थकामुकः ॥५०॥

नन्दव्रजमित्यत्र शौरिरिति शूरस्यापत्यमिति। नन्दभयं नास्तीत्याहुः नन्दस्येति। अयं नन्दो न वसुदेवपुत्रः नवमस्कन्धोक्तः किन्तु भ्राता। 'दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस' इति पञ्चमाध्यायवाक्यात्। अत आहुः। यद्वा पुत्रः तत्सम्बोधनं च वाक्य इत्यत आहुः मित्रत्वादिति। द्वितीयपक्षे पुत्रे राजधर्मे पितुर्वचनं भ्रातुरित्युपपद्यते। ननु द्वितीयपक्षे 'प्रवयस' इति पुत्रेनुपपन्नं पदमिति चेन्न प्रवयसः लघुकाले वलीपलितयुक्तस्येत्यर्थात्। अत इति शब्दस्य जागरणहेतुत्वाभावात्। जागरणेति प्राहरिकान्। भगवत्त्व इति व्यापकत्वात् स्थापनस्य। स्वगृहानिति भगवत्प्रादुर्भावस्थानत्वेन मान्यत्वाद् वहुवचनम्॥ ५१॥

देवक्या इत्यत्र अत्र त्विति देवकीशयने। अनादर इति भगवन्तमिवास्थापयित्वा॥ ५२॥

यशोदेत्यत्र पत्नीशब्दः 'पत्युर्नो यज्ञसंयोग' इतिसूत्रान्निष्पन्न इति यज्ञसंयोगमाहुः तादृशे समय इत्यादि। तादृशसमयः कालः जागरणं निद्राविरुद्धं ज्ञानकम्। अयं यज्ञः। नन्दस्य पत्नीत्यनेनोक्तः। नन्द आभीरः वेदाधिकारी। त्रैवर्णिकत्वात्। अतः पूर्वमिति अपगतस्मृतित्वात् पूर्वश्लोकोक्तम्। सुस्थमिति स्त्रीस्वभावकृतकार्याभावादविघ्नमित्यर्थः। इति श्रीति कृष्णजन्मेति त्रिभिर्व्यूहैः कृष्णजन्म। चतुर्थाध्याये धर्मनिरुद्धः चतुर्थव्यूहः॥ ५३॥

इति श्रीमद्वल्लभचरणैकतानश्रीगोपेश्वरविरचितायां शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिकायां तृतीयाध्यायव्याख्यानम्॥ ३॥

श्रीमातृपितृतोषिणी—श्रीसुबोधिनीजी—

"यथा यथा गोकुलनिकटे गमनं तथा तथा मायासान्निध्यात्" आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान को शिर पर धारण करके श्रीवसुदेवजी का जैसे जैसे गोकुल के निकट पहुँचना तैसे तैसे माया के समीप होने के कारण पहुँचने में क्लेश का अधिक होना, एवं भगवान् के सन्निधान से उन क्लेशों का अभाव हो जाना यह बतलाने को यमुना के पार करने के प्रकार को कहते हैं कि मघोनि इन्द्र के वृष्टि करते रहने पर यमुना का प्रवाह भयावह था परन्तु भगवान् के सान्निध्य के कारण कोई क्लेश उपस्थित नहीं हुआ। भगवान् के जन्म समय में मेघ सब ओर निवृत्त हो गये थे तो भी माया के जन्म के समय में सब वापिस आ गये, इन्द्र भी माया से मोहित होने के कारण मेघों को प्रेरणा देने लगा। यदि मेघों को इन्द्र की प्रेरणा न होती, केवल मेघ ही होते तब तो भगवान् के गोकुल पधारने के अवसर पर मेघ निवृत्त हो भी जाते क्योंकि अल्प योग्यता वाले साधारण मायामोहित लोगों का धैर्य अल्प ही होता है अतः वह महान् पुरुषों के प्रति विरोध नहीं करते। यहाँ क्षुद्रजातीय मेघों का भगवान् से विरोध करने की सम्भावना नहीं है यह बतलाना है, परन्तु इन मेघों को तो राजा इन्द्र से प्रेरणा मिल रही थी अतः वे वर्षा बरसाते रहे, रूके नहीं इसलिये कहा कि **"मघोनि वर्षति"** यहाँ मेघ वर्षते नहीं थे किन्तु स्वयं मघवा इन्द्र के बार बार वर्षा करने पर वैसी परिस्थिति हो गई। मायामोहित इन्द्र की आज्ञा को पाकर परवश मेघ वर्षते ही रहे जिससे यमुना का प्रवाह भयावह हो गया। आचार्यचरण **"यमानुजा"** पद का रहस्य समझाते हैं कि **यमस्य अनुजा** यमराज की भगिनी होने के कारण भाई यमराजा का जैसे स्वाभाविक कठोर स्वभाव है वैसे बहिन यमुना के स्वभाव की क्रूरता बतलाई है। यह क्रूरता भयङ्कर परिस्थिति के वर्णन में अनुकूल है अत एव गम्भीर जल प्रवाह के वेग से एवं उमंग की तरंगों से तथा फेन से युक्त बतलाया गया है। श्री यमुना का प्रवाह गम्भीर था और जल की अगाधता-गहराई भयानक थी, और प्रवाह वेग से तथा वायु के कारण उठती हुई हजारों लहरों से युक्त थी तथा फेन से परिपूर्ण थी। यहाँ पर यमुना के तीन प्रकार के दोष का कथन इस विशेषण से हुआ है, अत्यन्त वेग से राजस दोष है, फेन बुद् बुदे झाग बबुला आदि तामस दोष है, और गहराई सात्त्विक दोष है। इस प्रकार वर्षा कालजनित दोषों को कहकर तीन प्रकार के स्वाभाविक दोष बतलाते हैं कि सैकड़ों भयङ्कर भवरों से आकुल थी, जल प्रवाह सम नहीं था वह ऊँचा नीचा विषम रूप से बहता था, अथवा तो उन भंवरों से व्यग्र थीं, और निजी घबड़ाहट बतला रही थी। यहाँ पर आवर्त भंवर तामस दोष है, व्यग्रता राजस दोष है, और समान प्रवाह का न होना सात्त्विक दोष है इस प्रकार स्वाभाविक तीनों दोषों का भी निरूपण किया है। इस प्रकार स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषों के रहने पर भी-भय के कारण मार्ग देने में अनुकूल हो गई और मार्ग दे दिया, भगवत्सेवा में विघ्न नहीं किया। सब ही नदी समुद्र की पत्नी होती हैं। रामावतार में समुद्र भी भगवान् को मार्ग न देने के कारण शुष्क कर दिया था, तब उस समुद्र की अल्प सामर्थ्य वाली एक पत्नी की तो बात ही क्या है। यमुना ने विचार किया यदि विरोध करूँगी तब तो स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाऊँगी इस भय से समुद्र की भाँति मार्ग दे दिया, अथवा भगवान् आगे लक्ष्मी श्री गोपीयों से रास में जल क्रीड़ा करेंगे इस अवसर पर जल रास के कारण मुझे भगवान का संग हो जायगा मेरा भी सौभाग्य सिद्ध होगा इस संतोष से श्री यमुना ने मार्ग दे दिया, जिस प्रकार लक्ष्मीपति अपने दामाद भगवान् श्रीराम को श्वसुर समुद्र कभी उन्हें अपने घर में ले जाने को मार्ग देता है वैसे मार्ग दे दिया। अथवा श्री शब्द से सीताजी का ही ग्रहण अभीष्ट है एक सीता के अभिलाषुक श्री रघुनाथ जी ने विलंब करने वाले समुद्र को यदि सुखा दिया था तब बहुत सी गोपिकाओं के अभिलाषुक भगवान कृष्ण मुझे क्यों न सुखा देंगे इस भय से यमुना जी ने मार्ग दे दिया॥ ५०॥

एवं मार्गवन्नदीमुत्तीर्य गोकुले गतस्य कृत्यमाह—अब श्री आचार्यचरण कहते हैं कि इस प्रकार मार्ग की तरह नदी को पारकर गोकुल में पहुँचे हुए श्री वसुदेवजी का कार्य बतलाते हैं कि **शौरिः**—शूरनन्दन श्री वसुदेव जी वहाँ जाकर गोपों को सोया हुआ पाकर सुकुमार शिशु को वहाँ श्री यशोदा की शय्या पर पधराकर गृह के प्रति लौट आये। यहाँ पर "शौरि" शब्द का प्रयोग श्री वसुदेवजी के अभय का सूचक है, और नन्दव्रजं श्रीनन्दराय जी के व्रज में जाने में हर्ष प्रकर्ष का होना स्वाभाविक है क्योंकि श्री नन्दराय जी श्री वसुदेवजी के मित्र हैं अतः निर्भयता पूर्वक प्रसन्नता से व्रज पहुंचे। 'व्रज' गौओं के निवास स्थान को कहते हैं वहाँ कभी कभी गौआं का शब्द होता ही रहता है अतः मनुष्य के चलने की आहट से भी व्रजवासीजन का जाग जाना सम्भव नहीं। 'उपेत्य' शब्द 'समीप में जाकर' इस अर्थ का वाचक है, इससे श्री वसुदेवजी के धीरे धीरे जाने की सूचना मिलती है तात्पर्य यह है कि वसुदेवजी चुपके से चरण रखते हुए व्रज गये जिससे कोई जाग न जावे और वहाँ पर उन सदा जागने वाले गोपों को भी उस समय मायागमन से सोता हुआ पाया। शयन का अर्थ तो निद्रा के बिना केवल बिछौने पर पड़े रहने को भी कह देते हैं अतः 'निद्रया' शब्द का प्रयोग करके कहा कि वह लोग निद्रा से सो रहे थे। यहाँ पर बालक-रूप भगवान् के प्रति 'शिशु' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वसुदेवजी को उनके भगवान् होने का ज्ञान है इस दृष्टि से 'पुत्र' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं था। अन्य नामों का अभी आविर्भाव हुआ नहीं है, और 'भगवान्' शब्द का प्रयोग करना भी स्थानान्तर के अवसर पर सुसंगत नहीं क्योंकि भगवान् होने पर उनका भय से अन्यत्र स्थापन युक्तियुक्त नहीं, अतः 'शिशु' शब्द ही उपयुक्त होने से प्रयुक्त किया है, **"यशोदाशयने"** शयन शब्दार्थ की चर्चा करते हुवे आचार्यचरण कहते हैं कि "शयन" यद्यपि शय्या को कहते हैं परन्तु यहाँ शय्यापद का प्रयोग अयुक्त है सज्जनों के लिये परस्त्री की शय्या का स्पर्श निषिद्ध है अतः श्लोक में शय्या पद का प्रयोग न करते हुए, शय्या पद के स्थान में "शयन" शब्द का प्रयोग किया है। और शयन का अर्थ शय्या-बिछाना अर्थ न करना किन्तु दूसरा अर्थ लेना है इसलिये "शयन" पद की व्याख्या करते हैं कि अथवा श्री यशोदा के शयन करने पर उनके सो जाने पर, या श्री यशोदा जिस स्थान पर शयन करती थी उस स्थान पर शिशु को स्थापित कर भली भाँति पधराकर श्री यशोदा की सूता माया को लेकर पुनः उसी मार्ग से अपने गृह आ पहुँचे॥ ५१॥

आचार्यचरण कहते हैं कि **ततो देवक्याः शयने तस्या अपि** इसके पश्चात् देवकी की शय्या पर उस कन्या को शयन करने का स्थान सिद्ध कर उसे वहाँ स्थापित कर वसुदेवजी पूर्व की भाँति बद्ध हो गये। यहाँ पर अथ शब्द भिन्न प्रकार की प्रक्रिया का सूचक है, श्री वसुदेवजी ने पूर्व में श्रीयशोदा की शय्या पर चुपचाप धीरे धीरे शिशु का स्थापन किया था क्योंकि वहाँ किसी को विदित न हो, यह आशङ्का थी, लेकिन यहाँ उस प्रक्रिया को बदल दिया है क्योंकि यहाँ उस प्रकार की कोई शङ्का नहीं है। दारिका शब्द से उसके अनादर की सूचना है, कि उस परम मनोहर पुत्र की स्मृति क्या इससे शान्त होगी, वसुदेवजी स्वयं ही अपने पैरों में लोह की बेड़ियों को डालकर भगवान् के जन्म से पूर्व स्थिति की भाँति आबद्ध हो गये॥५२॥

अत्र यशोदायाः शयनं न संभवति—आचार्यचरण इस श्लोक के उत्थान में कहते हैं कि प्रसव के काल में श्री यशोदा का शयन तो असम्भावित है क्योंकि लोक में प्रसव अवस्था के होने पर प्रसव ज्ञान तो होता है फिर अज्ञान कैसे ? उक्त शङ्का की निवृत्ति करते हुए शुकदेवजी कहते हैं, कि नन्दपत्नी यशोदा इतना ही समझ सकी कि कुछ प्रसव हुआ परन्तु वह पुत्र है या पुत्री है ऐसा नहीं जाना। इस श्लोक में यशोदाशब्द के द्वारा एवं उसके विशेषण "नन्दपत्नी" शब्द के द्वारा नन्द और यशोदाजी के नाम की सार्थकता बतलाई है। यशोदा शब्द का मर्म यह है कि प्रसव के ज्ञात होते ही पति को यश देती है कि आप बड़भागी हो आप की उपासना आज सिद्ध हुई, नाथ मेरा आप के द्वारा पाणिग्रहण सार्थक हुआ, चिरकाल तक लोक में नाम चलेगा इत्यादि सुमङ्गल, सुमधुर वचनों से नन्दरायजो को यश देती है इसलिये यशोदा नाम सार्थक है। और नन्दराय को भी प्रसव के ज्ञात होते ही सुख एवं अपार आनन्द होता है कि मेरा भर्ता होना आज सार्थक हुआ और अब इस भार्या के भरण करने में मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, इत्यादि भावनाओं से सुख होने के कारण उन्हें 'नन्द' पदवी प्राप्त होती है। अन्य अवसरों पर भी वैसे समय में बालक के जात कर्म आदि संस्कार आवश्यक कर्म होते हैं। अतः जागना ही होता है, शयन का सम्भव नहीं। 'नन्द-पत्नी' पद के अन्तर्गत जो 'पत्नी' शब्द का प्रयोग किया है वह स्त्री की एक विशिष्ट योग्यता का सूचक है उस योग्यता के आधार पर उसे पति के साथ पारलौकिक स्वर्ग आदि फलदायक यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है। अतः पत्नी को प्रसवकालीन जात कर्मादि संस्कारों के लिये स्वरूपस्थ न रहना आवश्यक है। श्री यशोदा श्री नन्द की पत्नी होकर भी सावधान होते हुए भी केवल इतना ही जान सकी कि जन्म हुआ, कोई बालक प्रकट हुआ, प्रकट हुए बालक का चिह्नविशेष कि यह पुत्र है या पुत्री है ऐसा नहीं जान सकी, क्योंकि यशोदा 'परिश्रान्त थी' प्रसव के निमित्त वेदना अधिक हो चुकी थी, पीछे जिस समय परिश्रान्त हुई उसी समय प्रसव हुआ कि उसके साथ ही निद्रा भी आ गई, उस निद्रा से उसकी स्मृति लुप्त हो गई, मेरे प्रसव हुआ है इस प्रकार के पूर्व वृत्तान्त के अनुसन्धानात्मक स्मरण भी न रहा ऐसी अभान दशा में वसुदेवजी का किया हुआ सब कुछ शिशु का स्थापन कन्या का उत्थापन आदि सुन्दर और सरल

प्रकार से सम्पन्न हुआ। भगवान् श्री कृष्ण की जयन्ती तिथि को जन्माष्टमी कहते हैं इस तिथि की यह संज्ञा श्री कृष्ण की परब्रह्मता का परिचय देती है। 'रामनवमी' 'नृसिंहचतुर्दशी' "वामनद्वादशी" आदि जयन्तियों को 'जन्म नवमी' या 'जन्म चतुर्दशी' अथवा जन्म द्वादशी नहीं कहा जाता, जब प्रभु प्राकट्य तिथि को जन्माष्टमी कहा जाता है इस आकस्मिक शब्द प्रवृत्ति से यदि इस प्रकार स्वीकार किया जावै कि जन्म प्रयुक्त विशेषता को लेकर उक्त जन्माष्टमी संज्ञा प्रचलित हुई है तो वह विशेषता अजन्मा परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण के जन्म से ही तो सम्बन्धित है। श्री यशोदा भी **'जातं परमबुध्यत, न तल्लिङ्गम्;** धन्य श्री यशोदे ! उस परब्रह्म की कोई पहिचान नहीं, आपने उसके जन्म को जान लिया या उसकी जन्मतिथि का नामकरण कर दिया। कोटि कोटि नति तति श्रीयशोदोत्सङ्ग लालित लालन को और लालन जननी को ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध निरोध लीलाजन्मप्रकरण के अन्तर्गत रूपान्तर स्वीकार संज्ञक तृतीय अध्याय
श्रीसुबोधिनीजी अनुवाद मातृपितृतोषिणी टीका समाप्त। इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

मघोनि इन्द्रे असकृत् पुनः पुनः वर्षति सति गम्भीरोऽगाधो यस्तोयौघो जलपूरस्तस्य जवेन वेगेन ये ऊर्मयस्तरङ्गास्तैः फेनिला फेनव्याप्ता, आवर्ता भ्रमाः तेषां शतैराकुला व्याप्ता, अतएव भयानका अपि यमानुजा यमुनानदी वसुदेवाय मार्गं ददौ जानुमात्रजला जाता। यथोक्तं विष्णुपुराणे—"यमुनां चातिगम्भीरां नानावर्तशताकुलाम्। वसुदेवो वहन् विष्णुं जानुमात्रवहां ययौ" इति। मार्गदाने दृष्टान्तमाह—सिंधुरिवेति। श्रियः पतेः 'राघवत्वेऽभवत्सीता' इति वाक्यात् सीतापतेः श्रीरामस्य समुद्रो यथा मार्गं ददौ तथेत्यर्थः ॥ ५० ॥ शौरिर्वसुदेवः नन्दव्रजमुपेत्य सम्प्राप्य तत्र निद्रया योगमायया तान् नन्दादीन् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य दृष्ट्वा तं सुतं यशोदायाः शयने शय्यायां निधाय संस्थाप्य तस्याः सुतामुपादाय गृहीत्वा स्वगृहान् पुनरगात्। द्वारविवृतिरत्रापि बोध्या ॥ ५१ ॥ ततस्तां दारिकां कन्यां देवक्याः शयने शय्यायां न्यस्य निधाय अथानन्तरं पदोः पादयोः लोहं निगडं प्रतिमुच्य बद्ध्वा आवृतः पिहितकपाटः सन् पूर्ववदास्ते स्म ॥ ५२ ॥ नन्दस्य पत्नी यशोदा तु परं केवलं मयि किञ्चिज्जातमित्येवाबुध्यत, तस्य लिङ्गं कन्या पुत्रो वेति तु नाबुध्यत। तत्र हेतुद्वयमाह—प्रसवपीडया परिश्रान्तेति। निद्रया योगमायया अपगता स्मृतिः विवेको यस्याः सा ॥ ५३ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र हरेर्जन्मनिरूपणे। तृतीयो विवृतोऽध्यायः प्रादुर्भावनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मघोनीति ॥ मघोनि इन्द्रे असकृत्पुनः पुनः वर्षति सति अत्र वर्षणं लोकानां वसुदेवदर्शनं मा भूदिति असकृत्त्वं च तत् क्लेशशङ्कया मध्ये मध्ये विच्छेदात् गम्भीरोऽगाधो यस्तोयौघो जलपूरस्तस्य वेगेन ये ऊर्मयस्तरङ्गास्तैः फेनिला फेनव्याप्ता आवर्ता भ्रमाः तेषां शतैराकुला व्याप्ता अत एव भयानका अपि यमानुजा यमुना नदी श्रियः पतेः सीतापतेः श्रीरामस्य समुद्र इव वसुदेवाय मार्गं ददौ। तदा जानुमात्रजला जाता इत्यर्थः ॥ ५० ॥ नन्दव्रजमिति ॥ शौरिर्वसुदेवः नन्दव्रजमुपेत्य संप्राप्य तत्र निद्रया योगमायया तान् नन्दादीन् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य दृष्ट्वा तं सुतं यशोदायाः शयने शय्यायां निधाय संस्थाप्य तस्याः सुतामुपादाय गृहीत्वा स्वगृहान् पुनरगात्। द्वारविवृतिरत्रापि बोध्या। कंसात्स्वपुत्ररक्षणे मित्रपुत्र्या वधं जानता धार्मिकेणापि वसुदेवेन भगवन्मायामोहितेनैवेदं कृतमिति न वसुदेवस्य दोष इति ॥ ५१ ॥ देवक्या इति ॥ वसुदेवः ततस्तां दारिकां कन्यां देवक्याः शयने शय्यायां न्यस्य निधाय अथानन्तरं पदोः पादयोः लोहं निगडं प्रतिमुच्य बद्ध्वा आवृतः पिहितकपाटः सन् पूर्ववदास्ते स्म ॥ ५२ ॥ यशोदेति ॥ नन्दस्य पत्नी यशोदा तु पूर्वं प्रसवपीडया परिश्रान्ता प्रसवानन्तरं तु निद्रया योगमायया अपगता स्मृतिः विवेको यस्याः सा तथा सती परं केवलं मयि किंचिज्जातमित्येवाबुध्यत तस्य लिङ्गं कन्या पुत्रो वेति तु नाबुध्यत। परिजना अपि मायामोहिता वसुदेवागमनं न विदुरिति ज्ञेयम्। किं च व्याख्यान्तरम्। चकारः समुच्चये यथा वसुदेवपत्नी तथा नन्दपत्नी च जातं स्वगर्भादुत्पन्नं यत्परं सर्वोत्कृष्टम् अबुध्यत न तु परमेश्वरोऽयमिति तल्लिङ्गमबुध्यत। यशोदा इति नन्दपत्नी-विशेषणम्। तद्यशो ददाति देवक्यै सखीभावात्। "द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च ॥ अतः सख्यमभूत्तस्य देवक्या शौरिजायया ॥" इत्यादिपुराणवचनादिति शेषं समानम् ॥ ३ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् ॥ गङ्गासहायो निरमाद्दशमस्य तृतीयके ॥
इति भागवते दशमे पूर्वार्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मेघ इति। असकृत् पुनः पुनः, मेघे वारिवाहे, अत्यतितरां, वर्षति सति, मघोनीति पाठे, मघोनीन्द्रे, वर्षति प्रसिद्ध-त्वान्नोक्तमपि जलमिति कर्म ज्ञेयम्। गम्भीरस्य गभीरतावतस्तोयौघस्य जलपूरस्य जवो वेगस्तेन ये ऊर्मयस्तरङ्गास्तैः फेनिला

संजातबह्वब्धिकफा, भयानकानां भयंकराणामावर्त्तानामम्भोभ्रमाणां शतैराकुला व्याप्ता, यमानुजा यमुना, नदी, वसुदेवायेति शेषः। सिन्धुः समुद्रः, श्रियः पतेः संप्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। सीतापतये रामचन्द्राय इव, मार्गं पन्थानं, ददौ ॥ ५० ॥ नन्दव्रजमिति। ततः, शौरिर्वसुदेवः, नन्दव्रजं उपेत्य, तत्र व्रजे, निद्रया योगमायोद्भावितनिद्रया हेतुभूतया, प्रसुप्तान् नितरां सुप्तान्, तान् व्रजवासित्वेन प्रसिद्धान्, गोपान्नन्दादीन्, उपलभ्य ज्ञात्वा, यशोदाशयने नन्दपत्न्याः शय्यायां, सुतं स्वपुत्रं, निधाय संस्थाप्य, तत्सुतां तस्या मायात्मिकां पुत्रीं, उपादाय, पुनः गृहान् निजभवनं, अगात्। गृहशब्दस्य पुंसि बहुवचनान्तत्वात् गृहमिति वक्तव्ये गृहानित्युक्तम् ॥ ५१ ॥ देवक्या इति। अथानन्तरं, वसुदेवः, दारिकां तां कन्यां, देवक्याः शयने शय्यायां, न्यस्यास्थाप्य, पदोः लोहं निगडं, प्रतिमुच्याबद्ध्य, पूर्ववत् आवृतः पिहितकपाटादिः सन्, आस्ते स्म ॥ ५२ ॥ यशोदेति। नन्दपत्नी यशोदा चापि परं केवलं, जातं मया किंचित् प्रसूतं, इति अबुद्ध्यत। न तु तल्लिङ्गं पुत्रः कन्या वेति, यतः परिश्रान्ता, निद्रया, अपगता स्मृतिर्यस्याः सा, अतो नाबुद्ध्यतेति संबन्धः ॥ ५३ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थविबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मघोनीति : १०.३.५०.

सन्मानसे लसति यत्पदपद्मरेणुः सोऽयं स्वयं प्रभुरुपैति ममाद्य तीरे।
सूर्यात्मजेत्यतितरां मुदमुद्वहन्ती साऽऽनन्द-बाष्पलहरीभिरभूदपारा ॥ १४८ ॥
लोकोत्तरं सुखमनङ्गरसं दिशन्त्याः श्रीतोऽपि चास्यरतिरस्तु मयि प्रकामम्।
इत्युल्लसद्हृदयमूर्भुवनाधिकश्रीः स्पष्टीचकार कमलाधिकभावमङ्के ॥ १४९ ॥
निर्वेलवारिवहनान्मिहिरात्मजा सा वासीत्तदा भगवदध्वनि रोधकर्त्री।
कोऽप्यप्रगल्भमतिरेवमिह ब्रवीतु रोधस्थितिः क्षयकरीत्यवभासते नः ॥ १५० ॥
यमस्वसेयं यमधर्मकर्त्री प्रायो भवेदेवमधोक्षजेन। न जातुचिच्छङ्क्यमिति स्रवन्ती चक्रे तदानीं भुवनप्रसारम् ॥ १५१ ॥
शौरिर्भवत्ययमहं भुवि शूरजाता तद्युक्तमस्य पुरतो मम शौर्यमित्थम्।
सञ्चिन्त्य तस्य चरणे बहुधा कबन्धराशीनदर्शयदलं किल वाहिनी सा ॥ १५२ ॥
गोपालनायेव सनातनोऽसौ व्रजं प्रयातीत्यवलोक्य सा किम्। आवर्तलक्षा मुखलोलपेनाश्चक्रे तदग्रे निजगाः समग्राः ॥१५३॥
एको मय्युपविश्य तिष्ठति बलात् त्रासप्रदोऽहिः परोप्यायातोऽयमिति क्रुधा शतधनुर्ज्याभागभाजो जवात्।
शेषं श्रीधरमस्तकोद्यतफणं वीक्ष्याऽऽपगा शूरजा चक्रे तद्विनिवृत्तये शरभरान् विष्वक्प्रसारानसौ ॥१५४॥
अनन्तशम्वरोल्लासि हृदयं सदयं सदा। तवैवेश ममाप्यस्तीत्यापगा किमबोधयत् ॥ १५५ ॥
अगाधे जलेऽस्या कथं वाम्बुकेलिर्मयाऽग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमार्ष्टुम्।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना क्वचित्कण्ठदघ्ना च सार्कि तदाऽऽसीत् ॥ १५६ ॥

मार्गं ददाविति :

लोके दयालुमवलोक्य परं तदग्रे दुःखी विदीर्णहृदयो भवतीति कृष्णा।
स्वान्तस्थकालियभवव्यसना निरीक्ष्य कृष्णं विदीर्णहृदया किमभूत्तदा सा ॥ १५७ ॥
दृष्ट्वा मदीयमिदमप्रभनीरसत्वं माभूदसौ मयि निकाममुदासितात्मा।
सर्वांशिकी सरिदितीव निजां तरङ्गराजद्रसां वसतिमीशमदर्शयत् किम् ॥ १५८ ॥
अग्रे भाव्यमिहास्ति चास्य गृहिणीस्थाने मया मूर्तया मय्यस्याधुनिकं निरीक्ष्य चरितं मा भूदुदासीनता।
इत्युच्छङ्खलतां विहाय चतुरा सूर्यात्मजा दर्शयन्त्यध्वानं विनयादखण्डयदुदासीनत्वमीशाङ्घ्रिगम् ॥ १५९ ॥
यन्मेघजीवनमिदं भुवि पूर्वमासीदयाऽच्युतस्य पददर्शनतः प्रयातम्।
इत्यापगा किमु तदा विशदान्तरङ्गशोभामदर्शयदसौ द्विजराजलोकान् ॥ १६० ॥
अस्याऽऽवासो विलसति पितुर्भर्तुरन्तर्गृहे यद्बाह्यां दृष्ट्वोत्पथगतिमिमां स्यात् प्रवक्ता तदग्रे।
तस्माद् भूयादुभयकुलयोर्वाच्यता मे वृथैवेत्यध्वव्याजाद् हृदयमनघं दर्शयामास वाऽसौ ॥ १६१ ॥
भूत्वा सूर्यकुले पुरा हरिरयं मार्गप्रदानालसं तातं चन्द्रमसो विलोक्य जलधिं क्रोधादबध्नाद् यथा।
एवं सूर्यजयाऽधुनापि च मया मार्गो न दीयेत चेद्बध्नीयाद्विधुवंशजोऽयमिति किं भीत्या द्विभागाऽभवत् ॥ १६२ ॥
मत्सखीजनक एष आगतो मद्गृहेऽद्य किल सुष्ठु दिष्टतः। इत्थमुत्सुकमनास्तदा नदी स्वान्तरालयमदर्शयत् किमु ॥ १६३ ॥
भगवत्यन्तरोद्भासिन्यद्भुतं सुखमीरितम्। मुनिभिस्तत्स्वयं भोक्तुं साऽभूत्स्वान्तरमापतिः ॥ १६४ ॥

साधारणस्य हृदयेऽपि जगन्निवासस्फूर्तिर्लसत्यविकला सुजनस्य लोके।
बाह्येऽन्तरेऽपि मयि कृष्णरसैकमय्यामस्फूर्तिरस्य कथमित्यभवत् तथा सा॥ १६५॥
या स्यात् स्वतातसदृशी दुहिताऽभ्युपैति लोके प्रगल्भपदवीमिति जानती सा।
नारायणोल्लसितमध्य रवेः सुता सा श्रीशं स्वमध्यमनयत्किमु वाऽध्वदानात्॥ १६६॥
अत्यन्तपूतभगवत्पदपद्मयोर्न स्पर्शो भवत्विह कबन्धततेरितीव।
कृत्वा द्विभागमुदकं निजमापगा सन्मार्गं ददौ भगवते किंमु सा पवित्रम्॥ १६७॥

दृष्ट्वा मां बलभद्ररञ्जितपदां कोपोऽस्य मा भूत् पुरः पापस्पर्शनमन्यसङ्गजनितं मा भूत् तथेत्याशयात्।
सा सूर्यात्मभवा लसद्हृदयभूर्मध्येऽध्वदानच्छलाद्योगो नैव हरेरदर्शयदरं देहद्वयावस्थितिम्॥ १६८॥
एकः श्रुत्युदितोऽस्ति यद्यपि रसो यस्त्वत्स्वरूपस्तथाप्याराद् गोकुलवासिसङ्गतिवशाद् द्वित्वं प्रयाति प्रभो।
द्वैताद्वैतपदस्थितिं श्रुतिमयोद्भूतेदृशीं दर्शयन्त्यासीद् गोकुलवासकामुकमसौ कृष्णं द्विभागा किमु॥ १६९॥

जडनिधिरपि भक्तिं प्रापितो गोप्रवाहैः श्रुतिमयतनुभूत्या नित्यमेवं स्वकीर्तिः।
भजतु विकलतां नेत्याशयोल्लासितात्मा निजहृदि यमुना सा भक्तिमाविश्चकार॥ १७०॥

सिद्ध एव हि सर्वेषामुदरेऽग्निरसंशयम्। किमत्र चित्रं यत्कृष्णवर्त्माऽऽसीद्यामुनोदरे॥ १७१॥

यः प्रेम्णा हृदि मां दधात्यविकलं स्यात्तस्य बन्धच्युतिर्मुक्तिद्वारकवाटमुक्तिरपि तद्रोधिद्विषां लीनता।
धीपीयूषकरोदयो भवनदी गुल्फप्रमाणोदका लुप्यद्वृत्ति च गोकुलं करगता मायाऽपि तत्र स्थिता॥ १७२॥

श्रीशेनैवं व्रजभुवमनुप्रस्थितं स्वीयतातं लक्ष्मीकृत्य त्रिजगति समुद्घोषितः स्वाशयो यः।
तं जानन्तोऽप्यहह मनुजा व्यासवाग्देशिकास्याद् भूयोभूयस्तदपि च भवे चित्रमत्र भ्रमन्ति॥ १७३॥

नन्दव्रजमिति : १०.३.५१.

उपसंहृतस्वरूपा स्ववशाऽपि च भवति खलु सतां माया। अद्भुतचरिताऽप्यविकलमिह मानं गोकुले स वसुदेवः॥ १७४॥
हित्वा चिन्तामणिमनुशयो ग्रहीतुश्च योऽल्पकाचालिम्। सोऽभूद् वसुदेवस्य स्वसुतत्यागाच्च तत्सुताऽऽदानात्॥ १७५॥
अतिलङ्घ्य भवाटवीं बलाद् विषयागाधनदीं तथा प्रतीर्य। यदि गोकुलवृत्तरेव भूयात् स वृतः स्यादिह माययेति युक्तम्॥१७६॥

मायात्यागः श्रीशलाभः प्रयत्नात् साध्यो भक्त्या चेत्यलं केवला वाक्।
व्यत्यस्तार्थो देवकीजानीरासीत् तस्माद्दैवं देवता वाऽत्र हेतुः॥ १७७॥

वसुदेवहृदयविलसद्विभवामालोक्य तां महामायाम्। वसुमत्सुता पुरेव प्रादाद् वसुदानपूर्वकं वर्त्म॥ १७८॥
अघटितघटने शक्तिर्मायावत्येव भाति परमेशे। अयमपि तथास्ति किं वा कुर्यादधुनेति तादृगजनि भिया॥ १७९॥

याः कुर्वन्त्यपरोक्षवत् प्रियजने भर्तुः परोक्षेऽत्यलं चित्तेनाजडवृत्तिना प्रतिपदं सेवामपापाः स्त्रियः।
ता एवात्र भवन्ति भर्तुरतुलप्रेमर्द्धिभाजः सदेत्यालोच्येव पुरेव तद्रतिकृते साऽभूदपापाऽन्तरा॥ १८०॥

त्वं तातभर्तृपदवासिनमीशमेवं वीक्ष्यागतं झटिति मार्गमदाः सहर्षम्।
मन्मातरं नहि कुतो यमुने ददासीत्यासीत् पुरेव हि हठाज्जडजातमेव॥ १८१॥

देवक्या इति : १०.३.५२.

यत्क्लेशलेशकलितः पुरुषोऽरिरुद्धोबद्धः प्रपञ्चनिगडैर्भवतीति तस्याः।
किं चित्रमत्र कलनाद् वसुदेव एष प्राप स्थितिं बत पुनः प्रथमानुभुक्ताम्॥ १८२॥
लब्धेशदर्शनसुखः खलु दैवयोगान् मायावृतोऽपि मनुजो न स दुःखमेति।
कन्यायुतावपि च तौ भृशमन्तरे यदानन्दमापतुरुदीक्षितकृष्णरूपौ॥ १८३॥

यशोदेति : १०.३.५३.

निद्राद्यक्षणजनिबोधवन्नगम्यो मायापाकृतिसमयोदित स्वबोधः।
योगीन्द्रैरपि विदितागमाङ्गसारैर्न ज्ञातः किमिह यशोदयेति चित्रम्॥ १८४॥

यस्मात्सौख्यमतीव यत्र विहृतिः स्यात् साधुवृन्दावनक्रीडाहेतुरनन्तचित्रचरितख्यातिश्च यस्याऽऽश्रयात्।
क्षुद्रं लोकदृशाऽतिलध्वपि तदेवात्यादरादाश्रयेद्धीमानित्युपपादितं भगवता प्राप्तेन गोष्ठं स्वतः॥ १८५॥
सिद्धा बल्लवजातिरेव भुवने मुग्धस्वभावात्तथा सिद्धं गोकुलमप्यनन्तविषयं योषाविशेषप्रियम्।
एवं सत्यपि यद्धरिः शुकमुखब्रह्मर्षिहर्षप्रदः प्राप्तस्तत्र रिरंसुरत्र न परो हेतुर्विना स्वावनम्॥ १८६॥

केचित् कंसभयाद्वदन्तु कतिचित् पित्रोर्विमोहात् परे पुण्यानन्दयशोदयोः कति परे गोपीष्टदिष्टादिति ।
यद्गोष्ठागमनं तवेश तदभूत् सज्जातिवृन्दावनक्रीडाभ्यासमनन्ययोगसुलभं कर्तुं त्वहं वच्म्यहो ॥ १८७ ॥
पल्लीलाश्रयणं विधाय सुधियो ये संसृतिव्याप्रतास्तेषामस्मि यथा तथा न सुलभो विद्वद्वराणामपि ।
इत्थं स्वाशयमच्युतो विशदयन्नेवागतो गोकुलं मन्ये यद्धि तदेव भाति भुवने पल्लीलयाऽलङ्कृतम् ॥ १८८ ॥
गोपा गोपपतिस्तथा तदबलास्तद्गोकुलं वा कियत् वर्ण्यं वर्णविवर्णनिर्णयविधावालब्धवर्णैरपि ।
नित्यानन्दपदप्रदानरसिकस्याप्यच्युतस्याऽच्युताऽऽनन्दावाप्तिरनन्तयोगकलिता जाता हि यत्रोज्ज्वला ॥ १८९ ॥

निवेक्ष्य निजगोकुले सदयमिन्दिरेशं ततः प्रकृत्यपसृतिं व्यधात् स वसुदेव इष्टार्थधीः ।
सुगूढमिति भाति मे यदिह तत्प्रभृत्यस्य हि सतीमतिरनन्तभागभयदा सदानन्ददा ॥ १९० ॥
दीनत्राणपरायणस्य तमिनं जन्मोत्सवं श्रीपतेरस्मिन् सत्त्वसुखाकरं सुरगणैरावृष्टपुष्पोत्करम् ।
आलोच्यैव विविक्तवृत्तिसरणी वाणी ममाप्युत्सवादासीत् स्विष्टसुवर्णपुष्पभगवत्कीर्तिस्रजाऽलङ्कृता ॥ १९१ ॥

श्रीशकल्प तरुक्रीडा० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासिकविवरहरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

कृष्णप्रिया

इन्द्र के सतत धारा से बार बार वर्षा बरसाने के कारण गम्भीर जल राशि के प्रवाह से बहती लहरियों से लहराती, झागों से झगड़ती और भयानक हजारों भंवरों से आकुल व्याकुल रूप से बहती महारानी श्री यमुना नदी ने वसुदेवजी को उस प्रकार मार्ग दे दिया जिस प्रकार सीतापति श्री रामचन्द्रजी को लङ्का जाने के अवसर पर सिन्धु ने मार्ग दिया था ॥ ५० ॥ श्री शौरि वसुदेवजी श्रीनन्दरायजी के व्रज में पहुँचकर वहाँ उन गोपों को निद्रा के कारण सोया हुआ पाकर श्री यशोदा की शय्या पर बाल शिशु को स्थापित कर उनकी सुता को उठाकर फिर अपने घर लौट आये ॥ ५१ ॥ इसके अनन्तर श्री वसुदेवजी श्री देवकी की शय्या पर कन्या को रखकर अपने पैरों में लोहे की जंजीरों को डाल कर पहले की तरह बद्ध हो गये ॥ ५२ ॥ श्री नन्दपत्नी श्रीयशोदा ने इतना ही जान पाया कि कुछ हुआ है, पुत्र या पुत्री का कोई चिह्न नहीं पहिचान सकी क्योंकि प्रसववेदना से अत्यन्त थक चुकी थी और निद्रा ने उनकी स्मृति का अपहरण कर लिया था ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवतमहापुराणे दशमस्कन्धे जन्मप्रकरणे श्लोकार्थे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

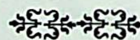

ॐ नमः श्रीकृष्णाय

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्रीराधादिभिरात्मशक्तिनिकरैरुद्वीक्षमाणक्षणः श्रीरूपादिमधुव्रताश्रितपदद्वन्द्वारविन्दासवः ।
गोविन्दः स्फुरदिन्दुसुन्दरमुखः सद्रक्षणैकव्रती पूर्णब्रह्मतयोदितः श्रुतिगणैः श्रीमान् स जीयात् प्रभुः ॥ १ ॥
नीलाभ्रप्रतिमः कृपार्द्रहृदयो गोविन्दलीलासुधा-वृष्टिं यस्तृषिते परीक्षिति विभुर्भूभृत्यनल्पां व्यधात् ।
सद्भक्ताटविभाववल्लरिसमुल्लासैकहेतुः सदा तद्गन्धैरपि संनियोजयतु मां श्रीमान् स वैयासकिः ॥ २ ॥
श्रीमद्यशोदासुतकेलिसिन्धुं विगाहमानस्य ममाल्पशक्तेः । सनातनश्रीधरविश्वनाथ दयालवः सम्प्रतिशक्तिराशिः ॥ ३ ॥
अत्र श्रीदशमे कृष्णो नवलक्षणलक्षितः । आश्रयो वर्ण्यते दुष्टनिरोधस्त्वनुषङ्गतः ॥ ४ ॥
औरस्यो नन्दराजस्य वसुदेवस्य चाच्युतः । निगूढागूढभावेन शुकेनोक्तस्तदिच्छया ॥ ५ ॥
गोकुलादित्रिधामत्वाल्लीला तस्य त्रिधा भवेत् । नवत्या मुनिनाध्यायैः साश्चर्यं या प्रकीर्त्तिता ॥ ६ ॥
आद्यैः पञ्चभिरध्यायैः सप्रसङ्गं हरेर्जनिः । भूमारहृतये देवैरर्थितस्य निरूप्यते ॥ ७ ॥
ततो नवभिराख्याता बाल्यलीलाः परेशितुः । षड्भिः गौगण्डलीलास्ताः कैशोररसभाविताः ॥ ८ ॥
ततः कैशोरलीलानां भवन्त्वेकोनविंशतिः । अक्रूरस्तुतिरेकेन यमुनाम्भसि दर्शिता ॥ ९ ॥
प्रोक्तैकादशभिर्लीला मथुरायां जगत्पतेः । अवशिष्टैः कुशस्थल्यामित्थं नवतिरीरिताः ॥ १० ॥
दशमस्यादिमे श्रोतृवक्त्रोर्वाङ्माधुरी मिथः । देवाज्ञाकाशवाक्कंसात् शौरेः षट्तनया हताः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णावतारकथापीयूषसिन्धुनिर्वृतः परीक्षिद्वाचयितव्येष्वर्थेषु वक्तुरुत्साहं वर्द्धयन्नौत्सुक्यात् प्रोक्तानुवादपूर्वकं पृच्छति, -कथित इति सार्द्धकम्, एवमग्रेऽपि। 'इहान्वितानां वाक्यानामस्का बोध्या विचक्षणैः। सूर्योत्सोमस्य पूर्वनिपातः। विरिञ्चिप्रपौत्रात्तस्मात्तस्य तत् पौत्रत्त्वेन तदंशत्वेन मनोऽधिष्ठातृत्वेन स्वयं भगवत्स्वीकृतकुलत्वेन चाभ्यर्हितत्वात्। उभयवंश्यानां सोमसूर्यवंशजातानां राज्ञां परमाद्भुतं दिग्विजयादि चरितं कथितम्। यद्यपि स्वायम्भुवस्य तद्वंश्यानाञ्च तृतीयादिष्वद्भुतानि चरितानि कथितानि तथापि तद्वंशो नावसानरम्यः, सोमसूर्य्ययोर्वंशस्तु श्रीयदुनाथरघुनाथचरितान्तिमत्वादवसानरम्यः इति तयोरुत्कर्षणोल्लेखः। यदोश्च चरितं कथितं, तस्य पित्राज्ञोल्लङ्घिनोऽपि हरिभक्तिमत्वान्नितरां धर्मशीलत्वं भक्तिस्तस्य नवमे प्रसिद्धा तथैकादशे च ॥ १ ॥ तत्रेत्यर्द्धकम्। तत्र यदोर्वंशेऽन्शेन बलभद्रेण सहावतीर्णस्य विष्णोर्व्यापकस्य पूर्णस्य कृष्णस्य वीर्य्याणि नोऽस्मान् प्रति शंस स्तुतिवद्वर्णयेत्यर्थः, अंशेन सहेति बलभद्रवीर्य्यश्रवणेऽपि तृष्णा द्योतिता। न इति बहुवचनं तच्छ्रश्रूषयात्मनो बहुत्वमननात्स्वसङ्गिनोऽपेक्षया वा, यद्वा तत्रावतीर्णस्य कीदृशस्य अंशेन विष्णोः यस्यांशो विष्णुस्तस्य पूर्णस्य स्वयं भगवत इत्यर्थः ॥ २ ॥ ननु "जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थ" इत्यादिना तद्वीर्य्याण्युक्तानीति चेत्तत्राहावतीर्य्येति। तेन मत्प्रेरभावाद्विस्तरेण वदेति। भूतानि भावयति प्रेमार्द्राणि करोतीति प्रयोजनमुक्तं "नृलोकं रमयामास मूर्त्त्या सर्व्वाङ्गरम्यया" "अवितृप्तदृशां नृणां" "स्वमूर्त्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्तये" त्यादिभ्यस्तथैव प्रत्ययात्। विश्वानि सर्वाणि जनानां चक्षुरादीनि करणान्यतति व्याप्नोति सौन्दर्य्यादिभिरिति सः ॥ ३ ॥ ननु कृष्णचरितान्यसकृद्वर्णितानि पुनः किं पृच्छसि तत्राह,—उत्तमश्लोकस्य कृष्णस्य गुणानुवादात् को विरज्येत न कोऽपीत्यर्थः। कीदृशात् ? । निवृत्त्या तर्षो विषयतृष्णा येषां तैराविर्भूतस्वात्मानन्दैरात्मारामैरुपाधिक्येन गीयमानात्। मुमुक्षूणां भवौषधात् संसाररोगनिवर्त्तकात् मुक्तानां शब्दार्थमाधुरीभ्यां श्रोत्रमनसोरभिरामात्। मुमुक्षुजीवन्मुक्तमुक्तनिषेव्यादिति पुमर्थरूपत्वं व्यक्तम्। पशुघ्नाद्विनेति पश्यत्यविशेषेणेति पशुः कृष्णतदन्यचरितयोः साम्यदर्शी विमुखस्तथाभूतमात्मानं सम्पाद्य हन्तत्यधः पातयतीति तस्मादेना। यद्वा पशुघ्नः स्वर्गार्थी कर्मठस्तस्माद्विना "त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हारिमेधसः। कथाया "मित्युक्तेः पशुघ्नो व्याधस्तस्माद्विनेति वा। स खलु सन्ततहिंसानुविद्धबुद्धिर्लोकद्वयसुखस्पृहावर्जित इत्यर्थः। अस्त्वागर्भात् तेनैव पालितः संप्रति मुमुर्षुस्तच्चरितान्येव विशेषत उपजीवामीति ॥ ४ ॥

मत्कुलदैवतत्वात् कृष्णस्य चरितानि मम श्रोतव्यानीति भाववानाह,—पितेति। अमरान् इन्द्रादीन् जयन्तीति तैः। देवव्रतो भीष्मस्तदाद्यैरतिरथैस्तिमिङ्गिलसदृशैः। दुरत्ययं दुष्पारमपि कौरवसैन्यसागरं वत्सपदमिव कृत्वा मे पितामहा अतरन्। यतो यत्प्लवाः कृष्णनौकाः सन्तः। तस्य वीर्य्याणि वदस्वेति तृतीयेन सम्बन्धः ॥ ५ ॥ मदेकरक्षकत्वाच्च तच्चरितानि मे श्रोतव्यानीत्याह,—द्रौण्यस्त्रेण विप्लुष्टं दग्धं मदङ्गम्, इदमिति तर्ज्जन्या वक्षः स्पृश्यति। आत्तचक्रोधृतसुदर्शनः। प्रथमस्कन्धसंवादाद्गदया तदस्त्रं निरस्य जुगोप। चान्मातुरङ्गञ्च ॥ ६ ॥ सर्वगतिप्रदत्वाच्च श्रव्याणीत्याऽऽह—अखिलानां देहभाजां प्राणिनां मध्ये येऽन्तरन्तर्मुखा भक्तास्तेभ्यः पुरुषरूपैर्द्विभुजचतुर्भुजपुरुषाकारैरमृतं परमानन्दं, ये च बहिर्वहिर्मुखा भक्तविद्रोहिणस्तेभ्यः "कालोऽयमिति विह्वल" इत्यादिवाक्यात् कालरूपैर्म्मारकतया विभातैर्मृत्युमुतानन्तरममृतञ्च प्रयच्छतः कृष्णस्य वीर्य्याणि वदस्व गोपान्यपि प्रकाशय। "भासनोपसम्भाषे"त्यादिसूत्राद्वदेस्तङ्। यद्वा, हे स्व मदेकबन्धो श्रीमुनीन्द्र! अतो मद्धितायावश्यं ब्रूहीति, भावः। पित्तदूषितरसनेषु सितापानकस्य तिक्तत्ववत्तेष्वानन्दमूर्त्तेरपि दारुणतयावभासः। कीदृशस्य तस्येत्याह,—मायेति। "माया वयुनं ज्ञानमिति" निघण्टुकोषाद्विज्ञानरूपमनुष्यस्येत्यर्थः। तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहमिति श्रवणात्। न हि मनुष्याकारं स्वर्णपिण्डो मनुष्य इति भावः मायया मनुष्या यस्येति वा यन्मायया मनुष्यसृष्टिरित्यर्थः ॥ ७ ॥ विशेषं पृच्छति रोहिण्या इति चतुर्भिः। नवमे सङ्कर्षणो रामस्तस्या रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तः स एव देवकीपुत्रेष्वपि गणितः, देहान्तरं विना तद्गर्भसम्बन्धः कथं घटते ? ॥ ८ ॥

पितृर्वसुदेवस्य गेहाद्व्रजं बृहद्वनं कस्माद्धेतोर्गतः। तद्गतोऽपि "नन्दः स्वपुत्रमादाये" त्युक्तेः पितुर्नन्दस्य गेहाद्बृहद्वनात् क्व किं विशिष्टे स्थाने ज्ञातिभिर्गोपैः सार्द्धं वासं कृतवान्। "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम" इति गोपान् ज्ञातीन् वक्ष्यति ॥ ९ ॥ मदूनां पूर्य्यां श्रीमथुरायां द्वार्व्वत्याञ्च। मातुर्भ्रातरं कंसं कस्मादवधीत्। मातुलत्वाद्धा तदहणं वधायोग्यम् ॥ १० ॥ देहं श्रीविग्रहं मनुष्यसन्निवेशितवान्मनुष्यचेष्टाप्राचुर्य्याच्च मानुषमाश्रितं चक्षुराश्रित्य रूपे स्थित इत्यादिवत् प्रकाशेत्यर्थः। मधुपूर्य्यां कति वर्षाण्यवासीत् मनुष्यसन्निवेशित्वं तस्य स्वरूपलक्षणं "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्ग" मिति नारदः। पराशरश्च, "यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृती"त्यभाणीत्। यो यच्चेष्टाप्रचुरः स तत्तथा व्यपदिश्यते; यथा मनुष्योऽपि राजा देववत् सिंहवच्च विचेष्टनान्नृदेवो नृसिंहश्चेति। मानुषं भौतिकं देहमाश्रित्य गृहीत्वेत्यर्थस्तु दुर्धीविजृम्भित एव। "तत्त्वं परं योगिना"मिति तद्देहस्य परतत्त्वत्वेनोक्तेः ॥ ११ ॥ अनभिज्ञेन मया ते विशेषाः कति प्रष्टव्याः ? स्वयमेव सर्वज्ञेन भवता सर्व्वे ते कथ्यन्तामिति भावेनाह सर्व्वमिति ॥ १२ ॥

न च क्षुत्तृड्व्याकुलस्त्वं क्षणं विरमेति वाच्यमित्याह नैषेति ॥ १३ ॥ हे भृगुनन्दन शौनक! भागवता भक्ता एव मान्यतया प्रधानानि यस्य स वैयासकिः ॥ १४ ॥ व्याहर्त्तुमारभतेत्युक्तमपि पुनः श्रीशुक उवाचेत्युक्तिस्तस्य शुकवन्मधुरभाषित्वबोधनाय। "व्यास! त्वदीयतनयः शुकवन्मनोज्ञं ब्रूते वचो भवतु तच्छूक एव नाम्ने"ति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णोक्तेः। हे राजर्षिसत्तम!

तव बुद्धिः सम्यग् व्यवसितं निश्चयो यस्यास्तादृशी। यद्यतो बुद्धेः ॥ १५ ॥ तत्कथाप्रश्नं स्तौति वासुदेवेति। तत्पादसलिलं श्रीगङ्गा यथा त्रीन् लोकान् पुनाति तथा तत्कृतस्तत्कथाप्रश्ने वक्त्र्यादीन् पुरुषानिति त्वयाहं मुनयश्च तदकथनतदश्रवणादिहेतुमालिन्यात् पाविता, इति भावः। यथापूर्वमत्र श्रैष्ठ्याम् ॥ १६ ॥

तत्र तावद्भगवदवतारे प्रसिद्धं हेतुमाह भूमिरिति। दृप्तनृपव्याजादितिवंशोद्भवत्वाभावेऽपि ये कर्मणैव दैत्यान्तेषामनीकशतायुतैरसंख्यातैः सैन्यैस्तत् पापपुञ्जैर्यो भूरिभारस्तेनाक्रान्ता भूमिः सुमेरुशिखरस्थं ब्रह्माणं शरणं ययौ प्राप्ता ॥ १७ ॥ गौर्धेनुर्भूत्वेति दयोत्पादनाय व्यसनं दुःखम् ॥ १८ ॥ ब्रह्मा तद्व्यसनमुपधार्य निशम्य अथेत्यधिकत्वादिदं लक्ष्यते। सृष्टिर्मत्कर्म-रक्षणन्तु विष्णोरतस्तं क्षीरधिनिलयं प्राप्येदं निवेद्यमिति विमर्शं ततः सुमेरुशिखरात् क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगाम। तया भूम्या सह ॥ १९ ॥ जगन्नाथमिति तत्र गमनस्य न्याय्यत्वम्। देवदेवमिति तन्निवेदनश्रवणार्हत्वम्। वर्षति वाञ्छितमाकम्पयति दुःखमिति प्रयोजनसंपादकत्वम्। पुरुषसूक्तेनोपतस्थे तुष्टाव समाहित एकाग्रचित्तः सन् ॥ २० ॥

तदाज्ञां ब्रह्मा देवानवोचदित्याह,—गिरमिति। समाधौ तत्रापि गगने समीरितामदृष्टवक्तृकामित्यर्थः। गां वाणीम्। पौरुषीं पौरुषेणोक्ताम्। अत्रांशांशस्य क्षीराब्धिपतेर्ब्रह्मादिदुर्लभदर्शनत्वेन महैश्वर्य्येण तत्परमांशिनः कृष्णस्यैश्वर्यं महानतिशयो व्यज्यते। तथापि देवमानवादिनिखिललोकलक्षतया तच्चरिताभिधानं तत्कृपातिशयहेतुकम्। तद्धि निगूढपारमैश्वर्यं चरितं फलकाधरमुकुरवन्मनोहरं भवति ॥ २१ ॥ पौरुषीं वाणीमनुवदति,—पुरैवेति चतुर्भिः। धराया भूमेर्ज्वरः भवद्भिर्ज्ञापनात् पूर्वमेव पुंसा श्रीकृष्णेनावधृतो ज्ञातः। तावद्भवद्भिर्यदुषु तदंशैरुद्धवादिभिः संभूय तत्पुत्र-पौत्ररूपेणोपजन्यताम्। तावत् कियदित्याह,—स यावत् स्व-कालशक्त्या भूमेर्भरं क्षपयितुं भुवि चरेत् प्रकटः स्यादिति सत्वरं खवद्भिर्भाव्यम्। कीदृशः स ? इत्याह,—ईश्वराणामस्मदादीनामीश्वरः स्वयं भगवानित्यर्थः ॥ २२ ॥ एतदेवाह,– वसुदेवस्य विशुद्धसत्त्वावतारस्य नन्दनृपस्य शौरेश्च गेहे। "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृत" इति चतुर्थे रुद्रोक्तेः, पुरुषो जनिष्यते न त्वहं जनिष्ये इत्यनुक्तेः स किं गर्भोदशयः नेत्याह,—पर इति। तर्हि किं कारणोदशयः ? नेत्याह,—भगवानिति। तर्हि किं परव्योमाधिपतिः ? नेत्याह,—साक्षादिति। अनन्यापेक्षिरूपः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इत्यर्थः। तत्प्रियार्थं श्रीराधिकारुक्मिण्यादीनां सख्यार्थं, सुरस्त्रियस्तदशभूता उपेन्द्राजितादिमन्वन्तरावतारस्त्रियः। पूर्वाचरिततद्भजनबलात् पृथग्भूताः सम्भवन्तु जायन्तामित्यर्थः ॥ २३ ॥ स्वेन भ्रात्रा कृष्णेन सह राजते स्वराट्। हरिर्भर्तृहरिरितिवद्देवो बलदेवः। अग्रतः पूर्वमेव भविष्यति। य एवांशेन सहस्रवदनोऽनन्तः। "यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते"—रिति वक्ष्यमाणात्, –यो वासुदेवस्य कृष्णस्य कला भागः। हरेः प्रियेति। मयि ज्येष्ठे सति नैश्चिन्त्येनायं लीलायिष्यते इति भावः ॥ २४ ॥

अपिच। विष्णोर्माया च सम्भविष्यति। प्रकटिष्यति। प्रभुणा तेनैवादिष्टा सती। कीदृशीत्याह—भगवती। पराख्या योगाख्या च येश्वरीत्युच्यते। परायां मायाशब्दः, "स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः"। "अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातन"मिति श्रवणात्। यथांशेन स्वप्रतिच्छविभूतेन प्रधानेन त्रिगुणेन जगन्मोहितम्। तथा च त्रिगुणया सह परा सम्भविष्यतीत्यर्थः। किमर्थं ? तत्राह—कार्यार्थे इति, देवकी-सप्तमगर्भ-समाकर्षण-यशोदास्वापनादिसम्पादनाय। त्वच्छत्रुः कात्यभूदिति कंस-वञ्चनादिसम्पादनाय चेत्यर्थः। आद्यं परया सम्पाद्यते, न हि तत्र त्रिगुणा प्रभवेत्। द्वितीयं तु त्रिगुणया, तादृशदुष्टेषु तस्या एव प्रभावात् पराख्यस्वरूपशक्तेरंशस्त्रिगुणेति दृष्टं नारदपञ्चरात्रे,—जानात्येका परा कान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका। या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी। यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मानं मुहूर्त्ताद्देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा। एकेयं प्रेमसर्वस्वरूपा श्री--कुलेश्वरी। अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः। अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वे देहाभिमानिन इति। एकेत्येकानंशाभिधानेत्यर्थः ॥२५॥ इतीति–विष्णुज्ञानुवादप्रकरणेन। परमं स्वधाम सत्यलोकम् ॥२६॥ वसुदेवगृहे हरेर्जन्म कथयिष्यंस्तदुपयोगिनीं कथामाह— पुरेति, विषयान् देशान् ॥ २७ ॥ राजधानी नृपनिवासः यत्र "नित्यं मन्निहित" इत्यनेन तस्याश्च नित्यत्वमुक्तम् "नित्यां मे मथुरां, विद्धि नित्यं वृन्दावनं तथे"तिपद्मोक्तेश्च। किञ्च; सर्वादिकल्पेऽवतरिष्यन् कृष्णस्स्वयं तत्परिकरांश्च प्रागाविर्भाव्य तस्यामवतरति, विहृत्य तस्यामेवान्तर्धत्ते, पुनः समये सत्येवं यावत् प्राकृतिकः, प्रलयो न स्यात् न तु प्रतिसमयं, कुतश्चिद्वैकुण्ठादागत्यावतरतीति सूच्यते। किञ्च तदवतारसमये परव्योमादिभ्यो धामभ्यस्तदधीशांशास्तस्मिन् सम्भवन्ति, तल्लीलावसाने स्वस्वधामानि गच्छन्ति, परावरेशो महदंशयुक्तोह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्नि"रिति तृतीयवचनात्। तैरेव तस्य तत्तल्लीलास्तस्यां भवन्ति। प्राकृतिके प्रलये तु प्रकाशद्वयमेकतां नीत्वोपरितने स्वलोके विराजतीति तत्त्वविदः ॥ २८ ॥

सूर्यया नवोढया, प्रयाणे उद्वाहोत्तरवासरे स्व-गृहं प्रयातुम्। एतदुद्वाहे द्रोणपर्वणि विशेषः—"यदोरभूदन्ववाये देवमीढ इति श्रुतः। यादवस्तस्य तु सुतः शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः। शूरस्य शौरिर्नृवरो वसुदेवो महायशाः। धनुष्यनवरः शूरः कार्तवीर्यसमो युधि ॥" तद्वीर्यश्चैव तत्रैव कुले शिनिरभून्नृपः (प!)। एतस्मिन्नेव काले तु देवकस्य महात्मनः ॥ दुहितुः स्वयम्वरे राजन्! सर्वक्षत्रसमागमे। तत्रैव देवकीं देवीं वसुदेवार्थमाशु वै ॥ निर्जित्य पार्थिवान् सर्वान् रथमारोपयच्छिनिः ॥ तां दृष्ट्वा देवकीं शौरेरथस्थां पुरुषर्षभः। नामृष्यत महातेजाः सोमदत्तः शिनेर्नृपे"त्यादिना ॥ २५ ॥ स्वसुर्भगिन्या देवक्याः, रश्मीन् प्रग्रहान्; स्वयं सारथ्यमकरोदित्यर्थः ॥ ३० ॥ चतुरिति द्विकम्। पारिबर्हमुपस्करं, हेम्नां मालाः सन्तोषाम्। त्रिषट् शतं—

तत्तत्प्रकारभेदेन समवर्गत्रयात्मकमष्टादशशतमित्यर्थः। सुकुमारीणां नवयौवनानां समलङ्कृते तदुत्सवोपयोगिविचित्रोत्तमवस्त्रभूषणादिभिर्यथाविध्यलङ्कृते। प्रकर्षेण श्रद्धयादात्॥ ३१-३२॥

प्रग्रहिणं गृहीताश्वरश्मिं कंसमाभाष्य—"अरे कंसे"ति सम्बोध्य गर्भपदोक्तिः—अष्टम्यां कन्यायां दृष्टायामपि तस्यासन्देहाय। यां वहसे रथेन भर्तृ-गृहं प्रापयसि। हे अबुधेति—शत्रुजनयित्रीवहनात् स्वमरणाज्ञानाच्च, स्वमातरि स्निग्धं कंसं हरिः कथं हन्यादिति तत्प्राकस्यशैथिल्यशङ्कयातिव्यग्राणां देवानां तस्यां तस्यापराधोत्थापनार्थमदृष्टशरीराणां तेषामियं वाणी। हरिमातरं हन्तुं नायं शक्नुयादिति निश्चयश्च तेषां विज्ञेयः॥ ३३॥ इत्युक्त एव नतु विचारिततदर्थः। भगिनीं हन्तुमारब्धः सद्य एव प्रवृत्तः। आदिकर्मणि कर्त्तरि चेति क्तः। खड्गपाणिः सन् कचेऽग्रहीत्। यतः खलः, योऽतिस्नेहाद्भगिन्याः सारथ्यमकरोत् स तदैव त्यक्तरश्मिप्रतोदो गृहीततत्केशः खड्गेन तां हन्तुं प्रवृत्त इति खलस्नेहस्येयं रीतिः। पापं पापमूर्त्तित्वान्न कुतश्चित् पापाच्छङ्कमानः। कुलपान् वंशधरानंसति कुलपांसनः कुलदूषण इत्यर्थः। अंस समाघाते॥ ३४॥ नृशंसं क्रूरम्। ननु ? तादृशः स कथं तन्-सान्त्वनं शृणुयात्तत्राह— महाभाग इति। भाग्यवतः प्रतिकूलतां व्याघ्रादयोऽपि न कुर्वन्तीति भावः। परिसान्त्वयन् - साम्नायुक्तिभिर्भेदेन स्नेहोत्पादनेन च क्रमेण प्रबोधयन्॥ ३५॥ सम्बन्धलाभावुपकृत्यभेदौ गुणकीर्त्तनम्। साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वच" इति साम्नः पाञ्चविध्यं भेदस्य द्वैविध्यं वर्ण्यते। तत्रादौ साम्ना प्रबोधयति श्लाघनीयेति। स्त्रियं तत्रापि भगिनीं तत्रापि तदुद्वाहपर्वणीति, अपि तु नैव तां हन्तुमर्हतीति, अन्यथा शौर्ययशसोर्हानिः। तत्र श्लाघनीयेति गुणकीर्तनम्, भोजेति सम्बन्धः, भगिनीमित्यभेदः, कथं हन्यादिति शत्रुजनन्याः स्त्रिया वधाद्विनिवृत्त्या यशोलाभः, उद्वाहेति मम पत्नीप्राप्त्या परोपकृतिश्च। स्त्रिया भगिन्या उद्वाहपर्वणि इति तद्हनने यशस्विनस्तव ऐहिकं दुर्यशः, पारत्रिकं नरकं चेति दृष्टादृष्टभयलक्षणेन द्विविधेन भेदेन च प्रबोधनमुक्तम्। गीर्देवी त्वेवं व्यनक्ति; श्लाघ्येषु मध्ये गुणो न्यूनः, भोजो कलहित्वेन ख्यातास्तेषां यशः कलहाधिक्यं तत्करः स कथं भगिनीमेकां हन्यादपि तु निखिलं कुलमिति॥ ३६॥

मृत्युभयेनैनां हन्मीति चेत्तत्राह--हे वीर जन्मवतां लब्धजन्मनां देहेन सहैव मृत्युर्जायते; प्रतिक्षणं परिणामस्य दर्शनात्। वीरेति; तत्र वीरत्वं न स्यादिति भावः। तथापि कालविलम्बार्थं हन्मीति-चेत्तत्राह—अद्यवेति। वा शब्दाभ्यामुभयोः पक्षयोः प्राधान्य बोध्यते। तथा चावश्यके मृत्यौ सति विलम्बमात्रार्थमीदृशपापार्जनं न युक्तमिति; अनुपार्जितपापस्य पुनर्जन्मनि सुखभोगा भविष्यत्येवेति भावः॥ ३७॥ भावं स्फुटयन्नाह—देहे इति। देहे पञ्चत्वं मरणमापन्ने सति, आदि कर्मणि क्तः। देही जीवो देहान्तरं प्राप्यानुपश्चात् प्राक्तनं वपुस्त्यजति। कर्मानुग इति—कर्मरचिते परदेहे भोगः स्यादेवेति; भोगसाधनत्वबुद्ध्या वर्तमानदेहरक्षायै पापाचरणं नोचितमितिभावः। अवश इति तद्रक्षणेऽपि नायं समर्थ इत्यर्थः॥ ३८॥ परदेहलाभानन्तरमेव पूर्वदेहत्यागे दृष्टान्तः,— व्रजन् पुरुषो यथैकेन पुरोधृतेन पदा तिष्ठन् पश्चादन्येन पूर्वदेशादुत्पाट्याग्रे निहितेन गच्छति, न चोभाभ्यां पादाभ्यां युगपत् पूर्वदेशं परित्यज्य परदेशं गच्छति। अत्र प्राप्तित्यागावेकस्या भूमेरेवेत्यसन्तोषादन्यं दृष्टान्तमाह—यथेति, तृणजलौका खलु तृणान्तरमवष्टभ्यैव पूर्वं तृणं त्यजतीति। एवं कर्ममार्गे वर्त्तमानोऽन्योऽपीति॥ ४०॥

नन्वेष देह एवात्मा, ताम्बूलरागन्यायेन ज्ञानं तस्य धर्मः, न खल्वेतद्देहादन्यस्मिन्नात्मनि मानमस्ति तस्माद्देहस्यात्मनो रक्षां कार्येति शङ्का-निरासाय देहात्मनोर्भेदमाह त्रिभिः। स्वप्ने यथेदृशं जाग्रद्देहसदृशं प्रेमास्पदं देहं पश्यति, जाग्रदपि मनोरथेन चरन् कोऽपि राजा इन्द्रश्च भवति; तं तं देहं पश्यतीत्यर्थः। तस्मिन् देहे दृष्टे अभिनिविष्टचेतनो लब्धात्माभिमानो भवति। तत्र साधनमाह—दृष्टं राजादि, श्रुतमिन्द्रादि ताभ्यामाहितसंस्कारेण मनसानुचिन्तयन् भावयन्निति। अपस्मृतिविस्मृतजागरदेहः सन् तत् किमपि स्वप्नादिशरीरं प्रपद्यते, एतद्देहस्यात्मत्वे तद्धर्मश्चेतनान्यत्र न संक्रमते। तथा च नानादेहानुगतात्मानुभवाद्देहादन्य आत्मेति न च ज्ञानं देहस्य धर्मस्तस्मिन् मृते तस्याप्रत्ययात्॥ ४१॥ मृत्युसमये दैवेन फलाभिमुखेन कर्मणा चोदितं प्रेरितं मनो यतो यतो यं यं विकारात्मकं देवमानवादिदेहं धावति, धावत् सत् आप लभते स्म। असौ देही पञ्चसु गुणेषु भूतेषु हरिमायया देहादिरूपेण चरितेषु तेन मनसा सह जायते। प्रपद्यमानः "पुत्रे पुष्टे अहमेव पुष्टः" इति वन्मनोधर्ममभिनिवेशं तस्मिन् प्राप्नुवन्निति बहुदेहानुगस्यैकस्यात्मनस्तेभ्यो भेदः सिद्धः॥ ४२॥ एवं देहात्मनोर्भेदं प्रतिपाद्य देहधर्मानुत्पत्त्यादीन् देही स्वस्मिन् मन्यते, इत्यत्र दृष्टान्तमाह ज्योतिरिति। अदश्चन्द्रादिप्रतिबिम्बज्योतिर्यथोदकपूरितेषु पार्थिवेषु पात्रेषु समीरवेगमनुगतं सत् सकम्पं विभाव्यते—वायुहेतुकोदकम्पस्तत्र प्रतीयत इत्यर्थः। एवमसौ पुमान् जीवः स्वतो निर्विकारोऽपि स्वाधिकारिण्या परेशमायया चरितेषु गुणेषु देहेन्द्रियादिषु रागेण मनोधर्मेणानुगतो विमुह्यति—आत्मनि देहाभिमानं मोहं विन्दतीत्यर्थः। तथा चात्माजन्मादिविकारशून्यो देहस्तु तद्वानिति तादृशस्य रक्षायै नरकनिपातहेतुः स्त्रीवधो न विधेयः। आकाशवागुद्दिष्टान्मृत्योश्चेद्भयं, तर्हि तस्याः प्रामाण्याद्देवकीजन्मान्तरपुत्रात् स स्यादेव, चिरं चेत्तद्रक्षामपेक्षसे, तर्हि मार्कण्डेयादिवत् सत्कर्मैवानुतिष्ठेति॥ ४३॥ सामोपायं विधाय पुनर्भेदमाह यस्माद्द्रोग्धुः पुरुषस्य परतो यमादितः सकाशाद्दुर्निवारं भयं तस्मात्तथाविधा विनाशिदेहः कस्यचिज्जनस्य द्रोहं नाचरेत्॥ ४४॥

पुनरनिवृत्तं वीक्ष्य दयां लज्जाञ्च जनयन् साम्नाहैषेति पुत्रिकोपमा दयनीयपुत्रीसमा पुत्तलिकावद्भयेन चैतन्यहीनां वा। कल्याणीं निर्दोषां यतस्त्वं दीनवत्सलः गीर्देवीत्येवं सूचयति दीनादपि राजकरत्वेन वत्समपि लासि गृह्णासीति ॥ ४५ ॥ चोद्यमानः प्रबोध्यमानः पुरुषादान् दैत्यान् ॥ ४६ ॥ आनकदुन्दुभिरित्यस्यायंभावः,—यस्य जन्मसमये देवैरतिहृष्टैर्दुन्दुभिर्वादितस्तस्य मे नेदृशममङ्गलं भावीति विचिन्त्य प्राप्तं कालं मृत्युं प्रतिवोढुं वञ्चयितुं तत्र तदेदमन्वपद्यत विनिश्चितवान् ॥४७॥ अपोह्यः प्रतिकार्यः। यावान् बुद्धिबलस्योदयो यत्र तद्यथास्यात्तथा, तथापि यद्यसौ मृत्युर्न निवर्त्तेत तदोपेक्षाहेतुकोऽपराधः यापनः ॥ ४८ ॥

तत्रैवम्विधास्यामीति स्वगतमाह— द्वयेन, मृत्यवे कंसाय। नन्वेतदप्ययोग्यमित्याशङ्कयाह सुता इति। यदि मे सुता न जायेरन् तर्हि न काचिच्चिन्ता, यदि जायेरन् तावतापि कालेन मृत्युः कंसो न म्रियेत तदात्वयोग्यमेव स्यात् सम्प्रति देवकी तु जीवेत् कंसे मृते तु नैश्चिन्त्यमेव भावि ॥ ४९ ॥ विपर्ययो वेति। समर्पितो मत्पुत्रस्तं हन्याद्वा, ननु बालात् त्वत्पुत्रात् प्रौढस्य तस्य वधः कथं तत्राह —गतिरिति अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्तेति वक्तुर्धातुर्गतिर्दुरत्यया दुर्लङ्घ्या एवञ्च सति कंसहस्तादुपस्थितो देवकीमृत्यु निवर्त्तेत तथा प्रपुत्रार्पणरूपमत्प्रतिज्ञया निवृत्तोऽपि कंसस्य मृत्युः पुनरापतेदागतः स्यात् ॥ ५० ॥ मद्विचिन्तितमिदं नासम्भवं यतः प्राणिनामदृष्टमवितर्क्यमिति सदृष्टान्तमाह – अग्निरिति—अग्निः कचिदन्तिकस्थं तरुं न दहति दूरस्थं चोत्प्लुत्य दहति एवं वनं दहतोऽग्नेर्यौ दारुणौ वियोगयोगौ तयोरदृष्टतोऽन्यन्निमित्तं नास्ति तरूणां सुखदुःखादृष्टमेव तत्र हेतुः एवमेव जन्तोः प्राणिनः शरीरसंयोगवियोगयोर्हेतुर्दुर्विभाव्यो दृष्टविशेष एव ॥ ५१ ॥ शौरिर्वसुदेवः यावत् यत्प्रमाणमात्मना बुद्ध्या निदर्शनं ज्ञानं यत्र तद्यथास्यादेवं विमृश्य तं पापं कंसं पूजयामास वहिस्तुष्टाव ॥ ५२ ॥

तद्रक्षणाय प्रसन्नमुखोऽन्तःसन्तप्यमानः ॥ ५३ ॥ हे सौम्य! अस्या देवक्याः सकाशात्ते भयं नास्ति किन्त्वष्टमात् पुत्रादिति सा अशरीरवाग् यद्यथाह—अतोऽष्टापि पुत्रांस्ते समर्पयिष्यामि यतः पुत्रात्ते भयमुत्थितः स एव त्वया वध्यतामष्टावेव वा परम्परापेक्षया सर्वेषामष्टमत्वादित्यतिविस्रम्भो दर्शितः ॥ ५४ ॥ तस्य वसुदेवस्य वाक्ये यः सारो युक्तिस्तद्वित्। प्रशस्य धर्मिष्ठोऽसीति संस्तूय ॥ ५५ ॥ काले सन्तानोदयसमये उपावृत्ते प्राप्ते सति सर्वेषां ब्रह्मादीनामपि देवता भगवन्मातृत्वात् पूज्या। अनुवत्सरमिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, अष्टसु वर्षेष्वष्टौ पुत्रान् प्रसुषुवे कन्यां चैकां सुभद्राम् ॥ ५६ ॥

कृच्छ्रेण कष्टेन अनृताद्भीतः ॥ ५७ ॥ ननु वसुदेवोऽनृताद्विभेतु नाम स्वसमक्षं पुत्रवधः कथं तेन सोढव्यस्तत्राह— किमिति साधूनां सत्यसन्धानाम्। ननु विनापि कंसाज्ञां पुत्रमात्रसमर्पणं कथं प्रतिज्ञातं तत्राह—विदुषां किमिति परतत्त्वविदां पुत्रैः किमिति भावः। ननु सत्यसन्धस्य तस्य स्वयमेव वधायानीतं बालं कंसो जातदयः सन्न हन्यात्तत्राह—किमकार्यमिति कदर्य्याणामतिपापिनाम्। ननु देवकी कथं पुत्रान् तत्याज तत्राह —दुस्त्यजं किमिति धृतो हृद्यात्मा हरियैस्तेषामिति यद्गर्भादाविर्भूय हरिः कंसं सगणं निहत्यानन्दान् वर्षिष्यतीति तदाशया तत्पूर्वपुत्रार्पणं सर्वदुखञ्च तया सोढमिति भावः ॥ ५८ ॥ समत्वं पुत्रेष्वपि ममत्वविरहात् सर्वत्र साम्यम् ॥ ५९-६१ ॥

एतन्नारदोऽभ्येत्य कंसायाहेत्युत्तरेण सम्बन्धः। एतत् किं तत्राह—नन्दाद्या ये इति युग्मकं याश्चामीषां योषितो यशोदादयः। वसुदेवाद्या वृष्णय इति यदूनामुपलक्षणं च शब्दात्तद्भृत्याश्च परश्च शब्दोऽप्यर्थे ते च ताश्चेत्यर्थः। उभयोर्नन्दवसुदेवकुलयोः। देवताप्राय इति यदुषु केषाञ्चिदसुरत्वात्। ये च कंसं प्रत्यनुव्रता भक्तायमाना ज्ञातयः सपिण्डाः बन्धवः सम्बन्धिनः सुहृदो मित्राणि ॥ ६२ ॥ भगवान् सर्वज्ञः कंसस्य शान्त्या हरेरवतारे विलम्बः स्यात् तेन देवाश्च भक्ताश्च पितरो व भूमिश्चानन्दभाजो न स्युरिति जानन्नित्यर्थः। कंसकर्त्तृकेन सतां विद्रोहेण कंसं घातयितुं मिथ्यासौहार्दाविष्कारेणैतत् शशंस दैत्यानां वधोद्यमं देवैः कृतं सुमेरुशिखरे देवसमाजे साक्षाच्छ्रुतं शशंसेति योज्यम् ॥ ६३ ॥ ऋषेरिति युग्मकम्। नारदस्य विनिर्गमे यदून् नन्दादीन् वसुदेवादींश्च सुरान् मत्वा, स्ववधं प्रति विष्णुञ्च मत्वा, पूर्वशत्रुविष्णुर्देवक्यामाविर्भूय त्वां हनिष्यतीति नारदादवगत्येत्यर्थः। अजनो विष्णुस्तच्छङ्कया ॥ ६४ ॥

कंसस्य दौर्जन्यान्नैतच्चित्रमित्याह—मातरमिति यथापूर्वं गौरवाधिक्यम् ॥ ६५ ॥ जानन्नारदवाक्यात् ॥६६॥ शूरसेनानिति माथुराणां तदन्तर्गतत्वाद्ग्रहणम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

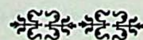

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्रापय्य गर्भं देवक्या रोहिण्यां योगया प्रभुः। तस्याः कुक्षिं गतः कृष्णो द्वितीये स्तूयते सुरैः ॥

यदुभिः स व्यरुध्यतेत्युक्तं विरोधः वर्णयति प्रलम्बेति ? द्विकम्। महाशनोऽघासुरः। अरिष्टो वृषाकृतिर्दानवः। मागधसंश्रयो जरासन्ध-सहायः ॥ १-२ ॥ कुर्वादीन् देशान्निविविशुः ॥ ३ ॥ एके इत्यर्थकम् अक्रूरादयस्तं कंसमनुरुद्धानास्तदाज्ञावहाः श्रीकृष्णावतारदिदृक्षयेति बोध्यम् ॥ ४ ॥

हतेष्विति सार्द्धकम्। देवक्याः सप्तमो गर्भो बभूव; यं गर्भमनन्तं प्रचक्षते। कीदृशं? वैष्णवं धाम विष्णोर्व्यापिनः कृष्णस्यांशमित्यर्थः। परमानन्दस्यादरगतत्वाद्धर्षः, कंसः कदनं करिष्यतीति विमर्शाच्छोकः, तयोर्विवर्द्धनः॥ ५॥ नारदोपजापस्य फलं त्वरया हरेरवतरणं दर्शयति भगवानपीति। यदूनां भयं विदित्वा योगमायां विमलादीनां नवानां परांशानां पञ्चमीं समादिशत्॥ ६॥ गच्छेति सार्द्धकम्। अलङ्कृतमिति स्वाभाविकसम्पत्तिमत्त्वम्। नन्दगोकुले इति षड्गर्भवधोत्तरं तस्या गर्भं सम्भाव्य वसुदेवेनैव तत्राप्तद्वारा प्रेषितेति बोध्यं न केवलं सैवैका किन्त्वन्याश्च तस्य भार्याः विवरेषु गमनस्थानेषु तेन प्रेषिता निवसन्ति॥७॥ जठरे सन्तं गर्भं भ्रूणम्। कीदृशमित्याह—शेषाख्यमंशेनेति बोध्यम्। मामकं धाम स्वरूपमाश्रयश्च तस्याधारशक्तिरूपत्वात्। सम्यक् सुखपूर्वकमलक्षितम् नितराम् कृष्ट्वा, तस्य नित्यरोहिणीमातृकत्वेऽपि पूर्वं देवक्याः गर्भे प्रवेशो मन्निवासशय्यादिरूपशेषांशस्थापनायेति रहस्यः, पत्युः सकाशात् सगर्भेयमिहागतेति गोकुले ख्यातिर्बोध्या॥ ८॥

किमर्थमेवं कार्यं तत्राह —अथेत्यनन्तरमेव तेन बलदेवस्याल्पकालाग्रजत्वं व्यज्यते। अंशभागेनाहं देवक्याः शौरिपत्न्याः वक्ष्यमाणार्थान्नन्दपत्न्याश्च पुत्रतां प्राप्स्यामि। अंशानां भागो भजनमनुवृत्तिर्यत्र तेनेति वा। अंशैर्ज्ञानबलादिभिर्भोगो भक्तेष्वनुवृत्तिर्यस्य तेनेति वा। अंशानां ब्रह्मादीनां भागेन भागधेयेनेति वा परिपूर्णेनेत्यर्थः। अत्राहुः अंशभागेनांशांशेन देवक्याः पुत्रतामिति तस्या मयि पारमैश्वर्यप्रधानत्वात् पुत्रभावो गौणः। श्रीयशोदायास्तु मयि तद्भावो माधुर्यप्रधानत्वान्मुख्यो भावी। त्वं यशोदायां भविष्यसीति सा त्वां न वेत्स्यति। अलक्ष्यविग्रहैव व्रजे स्थास्यसीति भावः॥ ९॥ त्वदाभासशक्तिं मायां वसुदेवेनानेष्यमाणां वञ्चितकंसां विन्ध्याचलादिस्थानेषु राजमानां मनुष्याः पूजयिष्यन्तीत्याह—त्रिभिः। यतः सर्वकामानां निखिलवस्तु वाञ्छतां लोकानां वरामीश्वरीम्। नामेति युग्मकम्। कुर्वन्ति करिष्यन्ति। माधवस्य भगिनी माधवी॥ १०--१२॥

रामेत्यत्र सहसुपेति समासः॥ १३॥ तथेति पुनरोमिति परमादरेण हरेर्वचः प्रतिगृह्य गां पृथिवीं गता सा। तत्तदनन्तरम्॥ १४॥ विस्रंसितः कंसेनैव मन्त्रजपादिना पातित इति देवक्यां स्निग्धा जना विचुक्रुशुर्विलेपुर्न तु तद्विदुः॥ १५॥ भगवानपि कृष्णः अंशेन स्वविलासपरव्योमाधीशाद्यंशसमूहेन भागेनैश्वर्यादिभागसमूहेन च सहानकदुन्दुभेर्मन आविवेश "परावरेशो महदंशयुक्त" इत्यादि तृतीयात् तादृशः सन् तन्मनस्याविरासीत्॥ १६॥

पौरुषं पुरुषस्य कृष्णस्य धाम मूर्त्तिं बिभ्रत्। "धाम देहे गृहे रश्मा" विति विश्वः। दुरासदो राजकीयैः सन्निधातुमशक्यः। दुर्द्धर्षः कंसेनाप्यभिभवितुमशक्यः॥ १७॥ अथ देवकीदेहं प्राविशदित्याह—ततो वसुदेवमनसः सकाशात् तत्पौरुषं धाम देवी परात्मा देवकी मनस्तो मनसि दधार। कीदृशं? जगतो मूर्त्तिमन्मङ्गलम्। न च्युत एकोऽप्यंशो यस्य तं निखिलांशपूर्णमित्यर्थः। शूरसुतेन वसुदेवेन वैधदीक्षयाकाण्वाम्नायख्यातया समाहितमर्पितमिति हरेस्तदौरसत्वं व्यक्तम्। सर्वेषां भक्तानां सर्वस्य शिवस्य चात्मनो मनसः कं सुखं यस्मात्तम् आत्मना स्वयमेवाविर्भूतं ननु योगिवद्यत्नेन धारणया मनस्यानीतमित्यर्थः। अनुरूपं दृष्टान्तमाह—काष्ठा प्राची दिक् यथानन्दकरं चन्द्रमिति। तदुत्तरं कुक्षौ च दधारेति बोध्यम्। "दिष्ट्याम्ब ! ते कुक्षिगतः परः पुमा"निति देववाक्यात्। अयं भावः, वसुदेवदेवक्योर्देहसम्बन्धेन हरेर्नापुरुषार्थो जीवस्येव स्वमातापित्रोर्देहसम्बन्धेन भवेत्। "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दित" मित्यादि चतुर्थवाक्येन "त्वं परा प्रकृतिः सूक्ष्मे"ति वैष्णवोक्तदेवकीस्तोत्रेण च तयोः परावतारत्वोक्तेः। न खलु सौरभिणी रत्नमन्दिरे तिष्ठन्नृपतिरपुमर्थभाक् प्रतीत इति॥ १८॥ स परात्मा देवकी सर्वजगन्निवासस्य कृष्णस्य निवासभूतापि स्वयं तदनुभवेन जातात्यानन्दापि सती नितरां निखिलजनानन्दकतया न रेजे, किन्तु स्वपार्श्वस्थद्वित्रान्तरङ्गजनसहितस्वानन्दकतयैवेत्यर्थः। यतो भोजेन्द्रस्य कंसस्य गृहे रुद्धा। यथा घटाद्यवरुद्धा दीपशिखा गृहं न प्रकाशयति। यथा सरस्वती ज्ञानखले विद्यावञ्चके रुद्धा परोपकाराय न भवति। दीपशिखा यथा प्रबला सती स्वरोधकस्य गृहं निर्दहेत्, सरस्वती च स्वरोधकं पापातिशयेन विनाशयेत् तथा स्वापराधेन कंसं स्वरोधकं सेति व्यज्यते॥ १९॥ अजितान्तरां कुक्षिगताजितां, प्रभया भुवनं विरोचयन्तीं तां देवकीं वीक्ष्य कंसः स्वगतमाह—मे मत्तकरीन्द्रस्य हरिः सिंहः गुहां कुक्षिं गत इयं पूर्वमीदृशी नासीत्॥ २०॥

स्फुटमाह—तस्मिन् पूर्वमद्वैरिणि विष्णौ मयाद्य किमाशु कार्यं गर्भस्य एवैष न हन्तव्यः यतोऽर्थतन्त्रः स्वार्थपरोऽपि लोको विक्रमं न हन्ति गर्भस्थवधे मे विक्रमहानिरित्यर्थः। न केवलं तद्धानिरेव धर्मादिहानिश्चेत्याह—स्त्रिया इति। गुरुमत्या गर्भिण्याः अनुक्षणं तत्क्षणमेव॥ २१॥ भ्रूणहत्यया जीवनं निन्द्यमित्याह—स इति—अत्यन्तनृशंसितेन तद्धत्यालक्षणेनातिक्रौर्येण जीवद्देहात्तस्मात् भीता मनुजा मनसैव शपन्ति तद्देहे मृते तु सति अरे महापापिन् कुम्भीपाके निपतेति साक्षेपमुच्चैराक्रोशन्ति। ततश्च तनुमानिनः प्राणिहत्ययापि स्वतनुं मानयतो लालयतो जनस्य यदन्धं तमस्तदेव ध्रुवं सङ्गता गमिष्यतीति। तस्माद् गर्भस्थोऽयं न हन्तव्यः किन्तु जातस्तरुणो हन्तव्यस्तेन मे विक्रमस्थितिरिति भयहेतुकोऽपि स्वदौर्जन्यस्तम्भो विवेकहेतुकतयैव तेन कल्पित इति बोध्यम्॥ २२॥ स्वयमभिमानी प्रभुरुपायज्ञः॥ २३॥ वैरानुबन्धहेतुकं कंसस्य चित्तावेशमाह—आसीन इति। संविशन् शयानः हृषीकेशं निखिलेन्द्रियविषयीभूतं चिन्तयन् जगत्तन्मयं तत्प्रधानमपश्यत्। प्रेम्णा तन्मयत्वदर्शनमानन्दकरं भयेन तु दुःखकरमिति विवेच्यम्॥ २४॥

वृषणं लीलामृतवर्षिणं कृष्णबलाहकमैडयन् तुष्टुवुः। तत्र ब्रह्मा चतुर्दशभुवनमहाक्षेत्रकर्षक इव, भवश्चोल्लासितसत्पक्षो नृत्यन्नीलकण्ठ इव, नारदादिभिस्तदेकजीवातुभिश्चातकैरिव, देवैश्च कंसादिदावाग्निपरिवृतैर्गजेन्द्रैरिव साकमिति सूच्यते ॥ २५ ॥ स्वभक्तरक्षणैकव्रतत्वात् कूटस्थत्वाच्च प्रपत्तियोग्यस्त्वमिति तावदाहुः—हे भगवन् त्वां वयं शरणं प्रपन्ना इत्यन्वयः। कीदृशमित्याह—सत्यमबाधितं त्वाश्रितत्राणरूपं व्रतं यस्य तं, कौन्तेय! प्रतिजानाहि न मे भक्तः प्रणश्यती''ति त्वदुक्तेः। सत्येभ्यो जीवप्रधानकालेभ्यः परं श्रेष्ठं तिस्रो ज्ञानबलक्रियाः सत्या यस्य तं "परास्य शक्ति''रित्यादौ "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे''ति श्रवणात्। सत्यस्य विश्वस्य योनिं कारणं याथाथ्र्यतोऽर्थान् व्यदधादितिश्रवणात्। "ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः, सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जग''दिति स्मरणाच्च। सत्ये परमव्योम्नि तदुपरि श्रीगोकुलादौ च निहितं स्थितम्। सत्यस्य जीवात्मवृन्दस्य सत्यं तदपेक्षयाप्यतिसत्यम्। "प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्य''मिति श्रवणात्। जीवात्मनां ज्ञानसङ्कोचविकासरूपपरिणामाभासस्तद्विरहात् परमसत्यमित्यर्थः। ऋतं सुनृता वाणी सत्यं च समदर्शनं तयोर्नेत्रं स्वाश्रितेषु प्रापकं सत्य आत्मा श्रीविग्रहो यस्य तं सत्यात्मकं नित्यमूर्तिमित्यर्थः ॥ २६ ॥ ननु विग्रहगुणधामविशिष्टोऽहं च प्रपञ्चश्च यदि सत्यस्तर्हि मत्तः सकाशान्न किञ्चित् प्रपञ्चे वैलक्षण्यमिति चेत् कालच्छेद्यत्वेन तत्र तदस्तीत्याहैकायन इति। असौ समष्टिव्यष्टिलक्षणः प्रपञ्चः प्रथमतः प्रवृत्तत्वादादिः कालेन वृश्च्यत इति वृक्षः, एका प्रकृतिरयनमाश्रयो यस्य, द्वे सुखदुःखे फले यस्य, त्रीणि सत्त्वरजस्तमांसि मूलानि यस्य, चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा रसा यस्य, पञ्च श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि विधा ज्ञानप्रकारा यस्य, षट् शोकमोहजरामृत्युक्षुत् पिपासा ऊर्म्मय आत्मानः स्वभावा यस्य, सप्त त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिवसाशुक्राणि धातवस्त्वचो यस्य, पृथिव्यादयः पञ्च मनोबुद्ध्यहङ्काराश्चेत्यष्टौ विटपाः शाखा यस्य, नवद्वाराण्यक्षाच्छिद्राणि यस्य, दशप्राणाश्छदाः पत्राणि सन्ति यस्य, द्वावीशजीवौ खगौ पक्षिणौ यत्र सः, ईदृशो वृक्षो यमाश्रितस्तं त्वामिति पूर्वेण सम्बन्धः उभयोऽसत्यत्वेऽपि नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां वैलक्षण्यमस्तीति त्वमेव नित्यत्वात् प्रयत्तव्यः ॥२७॥ ननु 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ताः, एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' इति ब्रह्मरुद्रयोश्च जगत् कर्त्तृत्वश्रवणान्ममैव तत्कर्त्तृत्वं कुतो ब्रूथेति चेत्तत्राहुस्त्वमिति अस्य सतः सत्यस्य जगत एक एव त्वं प्रसूतिः प्रकर्षेण सूतिरुत्पत्तिर्यस्मात् स स्वतन्त्रतन्त्रकर्तेत्यर्थः। सम्यक् निधीयतेऽत्रेति संनिधानं लयाधारः अनुगृह्णाति पालयतीत्यनुग्रहः पालकश्च, ये त्वन्मायया संवृतचेतसस्ते ब्रह्मादिरूपेण त्वां नाना पश्यन्ति, ये विपश्चितः श्रुतितात्पर्यज्ञास्ते खलु त्वामेव तत्तद्रूपं पश्यन्तीति "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्ते''रिति निर्णयात्त्वमेव ब्रह्मा रुद्रश्च भवसि "यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माण'मिति श्रुत्यर्थनिर्णयेन तत्तदन्तःस्थस्त्वमेव तथेति न कोऽपि सन्देहगन्धः ॥ २८ ॥

अवतारान्तरैरप्यन्यदापि त्वं विश्वरक्षां कृतवानसीत्याह बिभर्षीति। अवबोधश्चिदेकरस आत्मा विभुस्त्वं रूपाणि मत्स्यकूर्मवराहादीनि बिभर्षि प्रकटयसि किमर्थं? लोकस्य क्षेमाय रक्षणाय। कीदृशानि? सत्त्वेन निरतिशयेन वलेनोपपन्नानि। सतां सुखावहानि। खलानामभद्राणि दुःखावहानीति अधुनापि तथा कुर्विति भावः ॥ २९ ॥ सतां सुखावहानीत्येतद्विवृणोति त्वयीति। अखिलसत्त्वानां देवमानवादिसमस्तप्राणिनां धाम्नाश्रये त्वयि समाधिना त्वद्दिव्यचरितादिनिदिध्यासनेनावेशितं यच्चेतस्तेन हेतुना लब्धेन त्वत्पादपोतेनैके वैष्णवा अग्रे भवाब्धिं गोवत्सपदं तद्वर्तिजलचुलूकमिव कुर्वन्ति तदस्तित्वं न जानन्तीति भावः। महत्कृतेन महद्भिस्तत्तया सम्पादितेन ॥ ३० ॥ ननु महान्तस्तत्पादपोतेन तरन्ति स कथमन्यैर्लभ्यस्तत्राह—स्वयमिति। हे द्युमन्! विज्ञानघनमूर्त्ते! उपायान्तरैः सुदुस्तरं भीमं भवार्णवं ते स्वयं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहरूपां नावमत्र सम्प्रदायरूपेण निधाय तत्पारं त्वद्धाम याताः यतस्तेऽदभ्रं बहुसौहृदं भूतेषु दया येषां तादृशाः, ननु नाविकं विना कथं नावश्चालनं तत्राह, सत्स्वनुग्रहो यस्य स भवान त्वमेव, सद्भिः सम्प्रदायः चालयेदिति भावः ॥ ३१ ॥ अनीदृशास्तु विद्वांसोऽपि संसरन्तीत्याह येऽन्ये इति। हे अरविन्दाक्ष ये त्वदनुगृहीतेभ्यः सद्भ्योऽन्ये य "आत्मोपहतयास्मेति प्रजापत्युक्तमष्टगुणं स्वात्मानं विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेदे''त्यादिश्रुतिनिखिलफलदत्वेन जानन्तस्य समाधिना कृष्णेन परं पदं तदात्मवस्त्वारुह्य साक्षात्कृत्य विमुक्तिमानिनो जातास्माकं विमुक्तिरिति सगर्वाः सन्तो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः किमनेन साकारत्वादनित्येनेति त्वच्चरणौ नाद्रियन्ते ते त्वयि सर्वस्वामिन्यस्तभावात् भावत्यागाद्वैमुख्यादविशुद्धबुद्धयो विषयरागकलुषितधियः सन्तः ततः पदात् कृच्छ्रारूढादधः पतन्ति "जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिन" इत्यादि स्मृतिभ्यः तथा च परब्रह्मविग्रहस्त्वं त्वां तथा जानन्तो मूर्खा एव जैवस्वरूपसाक्षात्कारोऽपि त्वदुक्तिसाचिव्यादेव "युक्त आसीत् मत्पर" इत्यादि श्रीगीताभ्यः ॥ ३२ ॥

ननु मां भजन्तोऽपि केचिद्भ्रष्टा दृष्टाः किमिति त एव तथोच्यन्ते, तत्राह तथा नेति यथा त्वदङ्घ्र्यवज्ञातारो भ्रश्यन्ति तथा तावका नेति व्यतिरेको दृष्टान्तः मार्गादपि न किमुत मृग्यात्त्वत्त इत्यर्थः चेत् कदाचिद् भ्रश्यन्ति तदापि त्वयि बद्धसौहृदा एव तिष्ठन्ति "क्षिप्रं भवति धर्मात्मे''त्यादित्वदुक्तेरेव भरतचित्रकेत्वादीनां त्वदुक्तानां विभ्रंशेऽपि त्वयि सौहृदवृद्धेः प्रत्ययादिति भावः। त्वयाभिगुप्ताः सन्तो विनायकानीकपानां विघ्नवृन्दसेनापतीनां मूर्द्धसु विचरन्ति त्वत्पक्षपातान्निर्भयाः सन्तो विघ्नान् विजित्य त्वां संभवन्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ भक्तिप्रचाराय त्वद्रूपस्य प्राकट्यमित्याह, विशुद्धं सत्त्वं वपुः श्रीविग्रहं भवान् श्रयते प्रकाशयति चक्षुः श्रयन् रूपे स्थित इत्यत्र श्रयतिः प्रकाशार्थः किमर्थं तत्राह शरीरिणां जीवानां स्थितौ त्वयि चित्तस्थैर्याय स्वभक्तिप्रचारफलको भवान्

भक्तियोगविधानार्थमिति कुन्तीवाक्यात्, कीदृशं तत् श्रेयसां पुमर्थानामुपायनं परमाश्रयं फलमत उपपत्तेरिति न्यायाच्च येन वपुषालम्बनेन जनः सत्प्रसङ्गी वेदादिभिश्चतुराश्रमधर्मैश्चतुर्भिः सार्द्धं तवार्हणमर्चां समीहते करोति ।। ३४ ।। ननु मद्वपुः किं जडं सत्त्वं नेथ तत्राह, सत्त्वमिति हे धातः इदं सत्त्व वपुश्चेन्निजं विज्ञानं स्वप्रकाशसंविच्छक्तिरूपं न भवेत्, कीदृशं? अज्ञानभिदा या विविधा ज्ञानस्य मार्जनं विनाशकं तर्हि गुणस्य सत्त्वस्य प्रकाशैर्भवानमुमीयेतैव, नतु साक्षात्क्रियेतेत्यर्थः । ननु कथं ममानुमानं तैः स्यात्तत्राह—यस्य गुणः प्रकाशते येन वा गुणः प्रकाशत इति । प्राकृतस्य सत्त्वस्य त्वदव्यभिचारिसम्बन्धित्वमात्रेण वा त्वदेकप्रकाश्यतामात्रेण वा तल्लिङ्गमिति यथारुणोदयस्य सूर्योदयसन्निधिलिङ्गत्वं यथा च धूमस्याग्निलिङ्गत्वं तथा च विज्ञानरूपं सत्त्वं संविच्छक्तिभूतं त्वद्वपुर्न तु रजस्तमःसंपृक्तं मायिकं सत्त्वं तस्य विज्ञानशब्दितत्वाभावात् "अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिन" इत्यादिस्मृत्या मायिकसत्त्वस्य तत् संपृक्तत्वाभिधानाच्च यद्यप्यात्मनो वपुर्न भिन्नः तथापि विशेषाद्भेदभानं सत्ता सतीत्यादिवत् ।। ३५ ।। भक्तानुग्रहखलनिग्रहायाविर्भावितानि रूपाणि नामानि च भाव्यान्येव तेषामियत्ताालाभाय न प्रयतनीयमतर्क्यत्वादानन्त्याच्चेत्याशयेनाह—न नामेति साक्षिणस्तस्य तव गुणादिभिः सह नामरूपे निरूपयितव्यः साकल्येन निर्णतुः शक्ये न भवतः "जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग ! सहस्रशः । न शक्यन्ते नु सङ्ख्यातुमनन्तत्वान्मयापि ही"ति वक्ष्यमाणात् । तत्र गुणाः सार्वज्ञसार्वैश्वर्यभक्तवात्सल्यादयः, जन्म नन्दात्मजवसुदेवसुतेत्यादि, कर्म-पूतनावधगोवर्द्धनोद्धारादि, नाम गोविन्द कृष्णेत्यादि, रूपं-श्यामसुन्दरेत्यादि एतानि सामस्त्येन निरूप्याणि नेत्यर्थः । तथापि क्रियायां श्रवणस्मरणादिविशुद्धसत्त्वभक्तौ सत्यां त्वदुक्तास्तैः सह ते प्रतियन्त्यनुभवन्तीत्यर्थः । तदियत्ता तु न लभ्येति भावः । तव कीदृशस्येत्याह, मनसा वचसा चानुमेयं वर्त्म यस्य तार्किकास्त्वां जगत्कर्तारमनुभवन्ति भक्ताश्च साक्षात् कुर्वन्तीत्यर्थः ।। ३६ ।।

किञ्च नामरूपयोरुच्चारणस्मरणाभ्यास एव कार्यो नतु तयोरियत्तालाभाय यत्न इत्याह—क्रियासु लौकिकीष्वपि स्थितो जनो भवाय न कल्पते किन्तु मुच्यते एवेत्यर्थः ।। ३७ ।। भूमेर्भारोऽवश्यमपनेय इति भङ्ग्या निवेदयन्ति भवतः पदः "पद्भ्यां भूमि"मिति श्रुतेः पादोद्भूतया भूमेर्भारापनीत इति दिष्ट्या भद्रमेतत् अद्यैव कंसादीन् हतान् जानीम इति भावः । त्वत्पदकैः सुकोमलैर्ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नसुशोभनैर्गां भूमिं द्यां स्वर्गं चाङ्कितां इक्ष्यामः ।। ३८ ।। अस्मदभ्यर्थनयास्मदादिरक्षार्थमवतीर्णोऽसीत्यस्माकमभिमान एव केवलं वस्तुतस्तु स्वतन्त्रस्य तवानन्दरूपा क्रीडैवेयमित्याह—न ते इति । हे ईश ! ते भवस्य देवक्यामाविर्भावस्य कारणं वयं न च तर्कयामहे किन्तु विनोदं विनेति जगत्सर्गादौ लीलैव कारणं न त्वन्यत् किमपीत्याह—सूत्रकारः "लोकवत्तु लीलाकैवल्य"मिति । कीदृशस्येत्याह—अभवस्येति अपूर्वदेहयोगो भवस्तद्रहितस्य पूर्वसिद्धदेहस्यैव प्राच्यामिन्दोरिव देवक्यां प्रादुर्भवत इत्यर्थः । यत आश्रयात्मनि त्वयि त्वामाश्रित्य विद्यमानया अविद्यया मायया भवादयो जीवानां कृताः हे अभय भयनिवर्त्तक ! यद्विचिन्तनादेव कालभयमपि निवर्तते तत्र त्वयि कः कंसो वराक इति भावः ।। ३९ ।। तथाप्यधीराणामस्माकं विज्ञापनमवधारयेत्याह—मत्स्येति, अश्वेषु हयग्रीवः, राजन्येषु रामचन्द्रः, विप्रेषु परशुरामः, विबुधेषु वामनः, त्वं न स्त्रिभुवनपतीन् त्रिभुवनञ्च यथा सर्वदा पासि तथाधुना भुवो भारं हरेति पूर्णस्य ते नतिरेव पूजेत्याह-वंदनं ते इति वदन्तः शिरोभिः प्रणेमुः ।।४०।।

हरिमातरं स्तुवन्त आश्वासयन्ति दिष्ट्येति । योंऽशेन परः पुमान् कारणोदशयः स साक्षाद्भगवान् स्वयं प्रभुरित्यर्थः । भवाय भूत्यै ।। ४१ ।। यस्य रूपमनिदं प्रपञ्चातीतं विज्ञानानन्दमयमित्यर्थः । ब्रह्मेशानौ पुरोधायेति,—अस्मान् वञ्चयित्वा किमप्यद्भुतमेतौ ईक्ष्यत इति मन्वानास्तावग्रे कृत्वेत्यर्थः ।। ४२ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ।।

मङ्गले कालदेशादावुभय व्रजनिर्हरेः । स्तुतिः पितृभ्यां प्राप्तिश्च नन्दगेहे तृतीयके ।।

अथेति मङ्गलार्थः । यर्ह्येवाजनस्यापूर्वदेहयोगलक्षणजन्मशून्यस्य हरेर्जन्मर्क्षमभूत्तदैव सर्वगुणोपेतः कालोऽभूदित्यनुषङ्गः "जन्मर्क्षं न प्रकाशये"दिति वचनात् श्लेषेण तन्नाम च निर्दिष्टं अजनान्नारायणाज्जन्म यस्य तस्याजनजन्मनो ब्रह्मणो नक्षत्रं रोहिणी नामकं यदैवाभूदित्यर्थः । तत् कीदृक्? शान्तानि ऋक्षाणि अश्विन्यादीनि ग्रहाश्च यत्र तत् ।। १ ।। कालस्य सर्वगुणोपेततामाह—दिश इति वर्षायां शरद्गुणः स्वच्छत्वमुक्तम् । पञ्चभूतानां प्रसादमाह - गगनमित्याकाशस्योर्द्ध्वस्थस्य महीत्यधस्थाया भूमेः ।।२।। मध्यगतानां त्रयाणामाह- द्वाभ्यां नद्यः प्रसन्नेति वर्षायां शरद्गुणः ह्रदा जलरुहेति निशि वा शरद्गुणः । द्विजालिकुलानां सन्नादा धवनयस्तबकाः पुष्पगुच्छाश्च यास्विति वर्षायां वसन्तगुणः ।। ३ ।। सुखस्पर्शेति शैत्यं पुण्येति सौगन्ध्यं पुण्यो मनोहरः "पुण्यन्तु चार्वपी"त्यमरोक्तेः । शुचिरिति मान्द्यं धूल्याद्यसंसर्गकृतेन विमलत्वेन तद्व्यञ्जनात् । द्विजातीनां त्रैवर्णिकानामग्नयः शान्ता निर्वाणतां गच्छन्तोऽपि सम्यग्दक्षिणावर्ततयेन्धत दीप्ता बभूवुरिति द्वापरेऽपि त्रेतागुण अड्भाव आर्षः ।। ४ ।।

असुरकर्तृको द्रोहो येभ्यस्तेषां साधूनां मनांसीति पूर्वं तत्कर्तृकेन द्रोहेण तन्मनःस्वप्रसादोऽभूदिति भावः । जायमाने आसन्नप्रसवे सति अजने श्रीकृष्णे ।। ५-६ ।। सुमनांसि पुष्पाणि अनुकृतः साम्यं नीतः सागरो येन तद्यथा स्यात्तथेति गाम्भीर्यं गर्जनस्योक्तम् । एवं समयादिशोभामभिधायोभयत्र हरेराविर्भावमाह—सार्द्धकेन निशीथेऽर्द्धरात्रेऽकस्मान्मेघमालोद्गमात्—

तमसोत्कर्षेण भूते व्याप्ते सति "भू प्राप्ता" वित्यस्य रूपं, देवक्यां व्रजनाथपत्न्यां जनार्दने हरौ जायमाने प्रादुर्भवति सति देवक्यां शौरिपत्न्यां विष्णुः स एव जनार्दन आविरासीत्। यथा यथावत् पूर्वसिद्धेनैव रूपेणेत्यर्थः। कीदृश्यामित्याह—देवस्य यद्रूपं विज्ञानघनं तद्यस्या वर्तत इति तद्गर्भसम्बन्धस्तस्य न दोषावह इति भावः। भावे सप्तम्या युगपदेवोभयत्र जन्म बोध्यते। "गर्भकाले त्वसंप्राप्ते अष्टमे मासि ते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च संपुवाते समं तदे"ति श्रीहरिवंशाच्च। तदनन्तरमेव दुर्गायाश्च यशोदायां जन्म "ततश्च शौरिर्भगवत् प्रचोदित" इति वक्ष्यमाणवाक्यार्थात् तस्याः कृष्णानुजात्वोक्तेश्च; तथा च किञ्चित् पूर्वोत्तर-भावेन यशोदायाः पुत्रकन्यारूपमपत्यद्वयं तच्च क्रमाद्वसुदेवयशोदाभ्यामदृष्टमिति बोध्यम्; देवकीशब्देनात्र यशोदा चोक्ता "द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च। अतः सौख्यमभूत्तस्या देवक्याः शौरिजायये"त्यादि पुराणवचनात्। स च शब्द उभयान्वयी, मध्ये पाठसामर्थ्येन देहलीप्रदीपन्यायलाभात्। कीदृशः स इत्याह—सर्वासु गुहासु तद्वदगम्यासु परव्योमगत-तत्तद्धामसु जीवहृदयदरीषु च तत्तद्रूपेण यः शेत इति स्वयं रूप इत्यर्थः। एतमर्थं दृष्टान्तेनाह—पुष्कल इन्दुरिवेति एतेन लौकिक-बालवत् प्राकट्यं नेति वस्तु व्यज्यते जातपत्रं चैवं दैवज्ञेरलेखि, "उच्चस्थाः शनि-भौम-चान्द्रि-शनयो लग्नं वृषो लाभगो, जीवः सिंहतुला वियुक्तमवशात् पूषो शनौ राहवः। नैशीथः समयोऽष्टमो बुध दिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणा श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणमभूदाविः-परं ब्रह्म त"दिति। इदमत्र बोध्यम् "आविवेषांशभागेने"त्यादितो यथा वसुदेवे हरेरावेशस्तथा "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" "नन्दः स्वपुत्रमादाय" "पशुपाङ्गजाये"ति लिङ्गेभ्यो नन्दे च तस्यावेशः, तं यथा वसुदेवो देवक्यां तथा नन्दो यशोदायां दधार गुरुरिव शिष्यः; दुर्गा तु भगवन्निदेशात् यशोदा गर्भमाविवेश, रोहिणीगर्भमिव संकर्षणः "देवक्या जठरे गर्भमि"त्यादि वाक्याभ्यां तथा च देवक्या इव यशोदायाश्च हरिरौरसः "यशोदा नन्दपत्नी चे"त्यादिना स्फुटीभावात्। नन्दगोपगृहे पुत्रो यशोदागर्भसंभव" इत्यसन्देहवचनाच्चादिपुराणे इत्थञ्च "नन्दस्त्वात्मज" इत्यादीनि वाक्यानि मुख्यार्थानि भवेयुः अन्यार्थस्य सुगोप्यत्वात् भगव-त्तन्त्रो मुनिरपि निगूढभावेन तमुपादिशत् यशोदासुतेन सह देवकीसुतस्यैक्यात् तदेकस्य मथुरादावन्तरान्तरा व्रजे कुरुक्षेत्रे चागमात् तत् सुगोप्यतापि भज्यते॥ ७-८॥

तमिति युग्मकम्। तमद्भुतं बालकं वसुदेव ईक्षतेत्युत्तरेण सम्बन्धः। अद्भुतत्वबोधकानि विशेषणान्यम्बुजेक्षणमित्या-दीनीति परिकरोऽलङ्कारः न हि लोके गर्भान्निर्गतस्येदृशत्वं श्रुतं गलेन कण्ठेन शोभते तादृशः कौस्तुभो यत्र तं महार्हमनर्घं यद्वैदूर्यं नीलपीतरक्तच्छविकं रत्नं तद्विशिष्टं किरीटं च कुन्तले च तेषां त्विषा परिष्वक्ताः स्फुरन्तः सहस्रमपरिमिताः कुन्तला यस्य तम्॥ १०-११॥ विविधास्त्रभूषणादिविशिष्टतयैव जातस्य दर्शनेन यो विस्मयस्तेनोत्फुल्ले लोचने यस्य सः। कृष्णस्य पुत्र-स्यावतारे जन्मनि कमुत्सवमहं करोमीति जातसंश्रयः मुदाहर्षेणाप्लुतः स्नातः सन् गवामयुतमस्पृशत् मनसा ददौ कंसकारागार-स्थितस्य साक्षाद्दानासंभवात् स्पृशिर्दानार्थः "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादन"मित्यमरोक्तेः॥ १२॥ अथेति पुरुषमवधार्य परेशोऽयमस्मदादिपुत्र इति विज्ञाय गतभीर्निवृत्तपूर्वपुत्रकदनवीक्षणजातभयः यतः प्रभाववित् तत्पराक्रमज्ञः कृतधीस्तस्मिन्नेव कृता निवेशिता पारमैश्वर्यप्रधानापुत्रबुद्धिर्येन सः॥ १३॥ गतभीरस्मीति निवेदयन् स्तौति हे भगवन्! मया त्वं विदितोऽसि कीदृशत्वेनेति चेत्तत्राह, त्वं साक्षादनन्यापेक्षिवपुः यः प्रकृतेः परः पुरुषस्तद्वीक्षकस्तन्नियन्ता स भवान् यः सर्वबुद्धिदृक् निखि-लान्तर्यामी गर्भोदशयः क्षीरोदशयश्च स भवान् तत्तदंशोपेतः भगवानित्यर्थः। ननु किं धातुरहं तत्राह केवलो विशुद्धो योऽनुभ-वस्तदभिन्नो य आनन्दस्तत् स्वरूप इति देहदेहिभेदशून्यो विज्ञानसुखस्वरूप इत्यर्थः॥ १४॥ ननु त्वद्गृहे प्रविष्टं परिच्छिन्नं मां किमेवं स्तौषि तत्राह, स उक्तलक्षण एव त्वं स्वमाययेदं त्रिगुणात्मकं जगत् सृष्ट्वा तदनु सर्गानन्तरमप्रविष्ट इव प्रविष्ट इव च भाव्यसे निर्णीयसे जगतोऽनुरूपलम्भादप्रविष्ट इव बहिरप्युपलम्भात् प्रविष्ट इव॥ १५॥

अत्र दृष्टान्तो यथेति युग्मम्। इमेऽविकृता भावा महदादयो यथा तथैव त्वमिति दृष्टान्तं विवृणोति, अविकृतास्ते विकृतैः षोडशभिः सह सन्निपत्य मिलित्वा विराजं ब्रह्माण्डं जनयन्ति सन्निपतने हेतुः—यतः पृथग्भूताः सन्तो नानावीर्याः विराडुत्पादन-क्षमा न भवन्ति अतः सन्निपत्येति ततश्च विराजं समुत्पाद्यानुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते न तु प्रविष्टाः, कुतः? उत्पत्तेः प्रागेव कारण-तया विद्यमानत्वात् अतस्तेषामिह सृष्टकार्य्ये पश्चात् सम्भवः प्रवेशो नेत्यर्थः॥ १६-१७॥ दार्ष्टान्तिके योजयति एवं भवानिति। ननु सर्वगतश्चेदहं तर्हि रूपादीन् गृह्णन्तश्चक्षुरादयो मां कुतो न गृह्णन्ति, तत्राह—बुद्ध्या रूपादिज्ञानेनानुमेयानि लक्षणानि स्वरूपाणि येषां तैर्गुणैरिन्द्रियैः कर्तृभिः ग्राह्यरूपादिभिः सह सन्नपि स्थितोऽपि भवान् तद्गुणाग्रहस्तैर्गुणै रूपादिभिः सह न गृह्यते यथाकाशः सर्वत्र स्थितोऽप्ययोगात्वाच्चक्षुरादिभिर्न गृह्यते तद्वत्, तर्हि जगति प्रविष्टस्य मे ततो बहिः सत्त्वं न स्यात्तत्राह—ते बहिरन्तरं नास्ति, कुतः? अनावृतत्वाद्विभुत्वात् बहिरन्तर्भूतञ्च वस्तुत्वशक्त्या त्वमेवेत्याह सर्वस्येति। तर्हि किञ्चिज्जडवपुरहं तत्राह—सर्वात्मन इति सर्वम् अतति व्याप्नोतीति तस्य तदन्तःस्थस्येत्यर्थः। तर्हि किमाकाशवत्ताटस्थ्यं तत्राहात्मवस्तुनश्चेतनस्य धीपूर्वकं निखिलं व्याप्नुवत इत्यर्थः वक्ष्यति चैवमुपरि "न चान्तर्न बहिर्यस्ये"त्यादिना तथा च विभोस्तवाचिन्त्यशक्त्या मद्गृहे व्यक्तित्वेन प्रवेश इति महन्मे भाग्यम्॥ १८॥ ननु कर्मजडः कश्चित् कर्मैव श्रौतं निखिलपुमर्थहेतुं स्रक्चन्दनवनितादिकं स्वर्गशब्दितं तत् सिद्धं पुमर्थं मन्यते न तु मामुक्तविधमिति चेत्तत्राह, यः कर्मजड आत्मनः स्वस्य दृश्येषु गुणेषु विषयेषु मध्ये स्रक्चन्दनादिरर्थः सन्नूत्तमो नित्य इति व्यवस्यते निश्चिनोति तल्लाभाय कर्म करोति न तु त्वां सर्वेशं सर्वकर्त्तारं सर्वफलदञ्च मन्यते स पुमानबुधः श्रुत्यर्थज्ञानशून्यः,

कुतः ? स्वव्यतिरेकतः स्वस्मिंस्तस्य सर्वदा संयोगाभावादनित्यत्वाच्चेत्यर्थः, ननु स मनीषिणमात्मानं मन्यते कथमबुधस्तत्राह विनेति नु निश्चितं वादं कलहं विना तन्मनीषितं पाण्डित्यं सम्यक् न भवति वेदान्तनिष्ठैर्निरस्तत्वादिति शेषः। यतो विवेकिभिर्घृणास्पदतया त्यक्तमेवार्थमुपाददद्वर्त्तते ॥ १९ ॥ उक्तजगत्कर्त्तृतां दर्शयति- त्वत्तोऽस्येति, अस्य विश्वस्य वदन्ति यतो वा इमानीत्याद्याः श्रुतयः। ननु वर्द्धकेरिव कार्यमीहमानस्य हर्षविषादादिर्विकारश्च श्रमचिन्तादिः स्यात्तत्राह-अनीहादित्यादि, सङ्कल्पेनैव करणान्न-वर्द्धकिवदीहा ततो न श्रमादिर्विकारः मायागुणशून्यत्वाच्च न हर्षविषादमोहा इत्यर्थः। नन्वनीहोऽरिकृतः करोति सर्वमिति कथं सम्भवेत्तत्राह ईश्वरे मायाकालयोर्नियन्तरि ब्रह्मणि सत्यसंकल्पादि बृहद्गुणके त्वयि तन्न विरुध्यते ननु क्वचिद्गुणाः कर्त्तारः कथ्यन्ते तत्राह तवैककर्त्तृत्वं गुणैः करणैरुपचर्यते कर्त्तारमीशमिति श्रुतेर्गुणेषु तद्भक्तिमित्यर्थः। एवं कुतस्तत्राह तदाश्रयत्वादिति त्वदीक्षया तेषु चैतन्यागमादित्यर्थः। अयःपिण्डस्य दग्धृत्वं वह्नेरेव तत् संयोगहेतुकत्वात् तथा च जगत्कर्त्ता त्वं जगतोऽन्य उपास्य इति ॥२०॥

संकर्षणरूपेणैतदण्डं निर्माय तद्गर्भोदे प्रद्युम्नरूपेण शयानो विष्ण्वादिभिरवतारैः सदैव जगत्कार्याणि करोषीत्याह स त्वमिति। स प्रसिद्धस्त्वं स्वया मायया पराख्यया शक्त्या शुक्लं शुद्धमित्यर्थः। जगत्पालकस्य विष्णोरतसीकुसुमप्रभत्वादिति भावः। रक्तं कृष्णं चेति न ब्रह्मरुद्रयोरूपे तयोः कनकचन्द्रप्रभत्वात् तस्मात्तेशब्दात् तत्तद्गुणधर्मेषु लाक्षणिकाः रजसोपबृंहित-मित्यादिवत् सत्त्वेनोपबृंहितमित्यनुक्तेर्विष्णोर्दूरत एव सत्त्वप्रवर्त्तकत्वं ब्रह्माद्योस्तु रजादिभ्यामावरणमित्युक्तम् ॥ २१ ॥ ननु, पितः ! त्वं विज्ञाततत्त्वोऽसि अधुना त्वद्गृहे मत्प्राकट्यस्य प्रयोजनं ब्रूहीति चेत्तत्राह त्वमिति। अस्य लोकस्येमं लोकं राजन्य-संज्ञैरसुरकोटियूथपैर्निव्यूह्यमाना इतस्ततश्चालयमानाश्चमूः सेनाः सद्रक्षणाय निहनिष्यसि ॥ २२ ॥ ज्ञातपुत्रैश्वर्योऽपि वात्सल्यो-दयात्तत्स्वभावात् कंसाद्भिभ्यदाह अयमिति,—असभ्यः खलः तव जन्म नौ गृहे नारदात् श्रुत्वा तेऽग्रजान् न्यवधीत् स खलस्तेऽ-वतारं पुरुषैर्द्वारपालैः समर्पितं निवेदितं श्रुत्वाभिसरत्यायाति वर्त्तमानसामिप्ये वर्त्तमानवत् यद्यपि युधि कार्तवीर्यसम्मोहस्त्वं निहन्तुं समर्थस्तथापि तन्मुक्तेरासन्नत्वात्तस्याश्च त्वदेकसाध्यत्वान्नाहं तमहतं यावत्तदवसरो न स्यात्तावत्समाधानं रच्यतामितिभावः ॥ २३ ॥ उपाधावत्तुष्टाव वात्सल्योदयात् कंसाद्भीता ॥ २४ ॥

भीताप्यहं निर्भयं त्वां वीक्ष्य प्राणिमीति निवेदयति रूपमिति चतुर्भिः। यत्तत् किमप्यलौकिकं रूपं वस्तु प्राहुर्वेदान्ताः स त्वमित्यन्वयः तद्वस्तु किं तत्राहाव्यक्तमिति तत्र हेतुराद्यमिति कारणमित्यर्थः। तर्हि किं नैयायिकानामिव परमाणुवृन्दं तत्राह ब्रह्मेति बृहदित्यर्थः। तर्हि किं साङ्ख्यानामिव प्रधानं तत्राह ज्योतिरिति चेतनमित्यर्थः। तर्हि किं वैशेषिकानामिव ज्ञानगुणकं जडं तत्राह निर्गुणमिति। गुणान्निर्गतं ज्ञानस्वरूपमेव विशेषाऽज्ञानगुणकतया विभातमित्यर्थः। तर्हि किं विज्ञानवादिबौद्धानामिव ज्ञानपरिणामि तत्राह निर्विकारमिति परिणामशून्यमित्यर्थः। ननु स्याद्वादिनां जैनानामिवानियतसत्ताकं तत् स्यात्तत्राह सत्तेति। सत्तया मीयते परिच्छिद्यत इति सत्तामात्रं नियतसत्ताकमित्यर्थः। ननु द्वैतिनां सतां जगच्चेदृक् तत्राह निर्विशेषमिति निश्चितो विशेषो जगन्नियन्तृत्वलक्षण आधिक्यं यत्र तत् "निर्निश्चयनिषेधयो"रित्यमरः। नन्वस्त्वीदृशं किं तेन प्राणिना तत्राह निरीह-मिति। नितरामीहयति स्वस्मिन् सन्मुखान् जनानभिलाषयतीत्यतिस्निग्धं स्वपर्यन्तसर्वपुमर्थप्रदमित्यर्थः। ननु साम्मुख्यमेव कथं तत्राहाध्यायेति। अध्यात्मं स्वविषयकं ज्ञानं तस्य दीप इति सद्भिः स्वज्ञानं प्रदाय साम्मुख्यञ्च करोतीत्यर्थः। ईदृशस्य ते न भयगन्धशङ्केति ॥ २५ ॥ अथ महाप्रलये स्थितस्य तव कुतो भयशङ्केत्याह नष्टे इति। महाभूतेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसुखयोनिमादि-भूतमहङ्कारं गतेषु सत्सु व्यक्ते चाहं महद्रूपे स्थूले कालवेगेनाव्यक्तं प्रधानं गते सति द्विपरार्द्धस्य ब्रह्मायुषोऽवसाने लोके ब्रह्माण्डे नष्टे सति भवानेवैकः शिष्यते हतः शेषसंज्ञः ॥ २६ ॥ कालवेगेनेति विदितस्योतन्त्रात् कालात् कदाचिद्भयं स्यात्तत्राह योऽयमिति। हे अव्यक्तबन्धो ! प्रकृतिस्वामिन् ! योऽयं सर्वसंहारकः कालः प्रलये वर्त्तेत तं तव चेष्टां प्रकृतिमाहुः। येन त्वच्चेष्टारूपेण कालेनेदं विश्वं चेष्टते स क इत्याह निमेषादिरिति महीयानिति वत्सरावृत्याद्विपरार्द्धवपुरित्यर्थः। तं त्वां प्रपद्ये। कीदृशं ? कालस्य प्रधानस्य चेशं नियन्तारं ज्ञः कालकालः प्रधानक्षेत्रज्ञपतिरितिश्रवणात् क्षेमस्याभयस्य धामाश्रयं स्वरूपं वेत्यर्थः ॥ २७ ॥ त्वच्चरणप्रपन्नो निर्भयः स्यात् किं पुनस्त्वमित्याह मर्त्त्य इति। सर्वान् विरिञ्चिस्थानपर्यन्तान् लोकान् प्रति पलायन् धावन् निर्भयं भयाभावं मर्त्त्यो नाध्यगच्छत्, यदृच्छया यादृच्छिकसत्सङ्गलब्धया भक्त्या त्वत्पादरूपमब्जं चन्वन्तरिं प्राप्य स्वस्थो निर्भयः शेते "अब्जोऽस्त्री शङ्केनानिचुले ···· च हिमकिरणे इति मेदिनी तथा च त्वदुक्तायास्त्वन्मातुश्च मम कंसात्तुच्छाद्भयमिदं चित्रमिति भावः ॥२८॥

अभयमिच्छन्त्याह स त्वमिति। यतो भृत्येति। ननु कंसादिदुष्टवधायावतीर्णोऽहमागतं कंसमधुनैव हन्मीति वदन्तः पुत्रमाशङ्क्य वात्सल्योदयादाह—रूपं चेदमिति। पौरुषमैश्वरं ध्यानस्य धिष्ण्यमास्पदं मां सदृशां मनुष्याणां प्रत्यक्षं मा कृपीष्ठा मा कुरु अद्यैव युद्धक्लेशो माभूदन्यदपि दुःखमावां सहैव समये हनिष्यसीति ॥ २९ ॥ जन्मेति मा विद्यान्न जानातु कुत एवं वदसि तत्राह भवदिति। भवतः कल्याणमिच्छन्ती कंसादहं समुद्विजे यद्यपि मधुसूदनत्वात् कंसमागतं हन्यास्तथापि जननीत्वाद-हमधीरधीरस्मीति मत्प्रत्यक्षं युद्धकष्टं माभूदिति भावः ॥ ३० ॥ नन्वागतः कंसो मद्रूपं पश्येदे भवेदेव तेन साकं मे युद्धमिति चेत्तत्राहोपसंहरेति अलौकिकमिति। लौकिकनरबालकतुल्यो भव यथा त्वां क्वचिद् गोपितुं शक्नुयामिति वात्सल्यभयाद्भयो-दयः ॥ ३१ ॥ ननु मातः कथमिदमैश्वरं रूपमुपसंहार्यं तवानेन कीर्तिर्भवेत् परेशस्य जननी देवकीति चेत्तत्राह विश्वमिति। निशान्ते मन्दिरे "निशान्तवस्त्यसदनभवनागारमन्दिर" मित्यमरः। परः पुरुषो भवानेतद्विश्वं यथावकाशमसङ्कोचतः स्वतनु-

मन्दिरे विभर्त्ति सोऽयं विभुः परिमितायां मम गर्भगोऽभूदिति नृलोककर्त्तृकं मे विडम्बनमनादरणं तथा च नाहं कीर्त्तिमिच्छामि किन्तु त्वत्कल्याणमेवेति, रूपमिदमुपसंहर कंसेऽष्टमगर्भोवेदनन्तु मायान्तरेण भावीति अत्र वसुदेवदेवक्योर्भयादिकं न मायिकं किन्तु पराख्यशक्तिविलासभूतमेव वात्सल्यमयमिति विष्णोर्माया भगवतीति पद्यटिप्पण्यां निर्णीतम् ।। ३२ ।।

भो मातः ! किमेवं दैन्यं मन्यसे, न त्वं प्राकृती मानुषी किन्तु परांशभूतैव यदहं बहुकृत्वस्त्वत्पुत्रोऽस्मीत्याह त्वमेवेति चतुर्दशभिः हे सति ! स्वायम्भुवे मन्वन्तरे त्वमेव पृश्निः अयं वसुदेवः सुतपाः ।। ३३–३४ ।। वर्षेति युग्मकम् । वर्षादीन् कालगुणान् सहमानौ श्वासरोधः प्राणायामः मनोमलोरागादिः उपशान्तेन रागादिशून्येन ।। ३५–३६ ।।

मदात्मनोर्मैदेकमनसोः ।। ३७ ।। भावितो भावविषयतां नीतः ।। ३८–३९ ।। अपवर्गं सुखैश्वर्यप्रधानं मोक्षं मायया पुत्रस्नेहलक्षणया परया मोहितौ तदनुभवेन विचित्रतां गतौ "वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभु"रिति वक्ष्यति ।। ४० ।।

ग्राम्यान् भोगान् मादृशपुत्रोत्पत्तीच्छया व्यवायान् "व्यवायो ग्राम्यधर्मश्च" त्यमरः ।। ४१ ।। पृश्निगर्भो यो ध्रुवाय वरमदात् त्रेतावतारोऽयं विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भ इति तत्प्रासङ्गिकोक्तेरेकादशे ।। ४२ ।। अदित्यं कश्यपाद्वा मन आसेति यत्तदपि तद्रूपयोर्युवयोरहमेव पुनरासमित्यर्थः ।। ४३ ।। तृतीये भवे जन्मनि अत्राहं पृश्निगर्भोऽहं वामन इति कृष्णांशत्वं तयोरुक्तं त्वमेव पृश्निरभूदिति पृश्न्यदित्योर्देवक्यांशत्वं तदायं सुतपा इति सुतपःकश्यपयोर्वसुदेवांशत्वं चाभिमतं हे सति कोविदे ! "सन् सुधीः कोविद बुधः" इत्यमरः ।। ४४ ।।

एतच्चतुर्भुजं रूपं वां युवयोर्दर्शितं किमर्थं तत्राह प्राग्जन्मेति वरदानमारभ्य प्राचीनतदाकारप्रादुर्भावत्रयस्मरणायैव न तु प्राधान्यापेक्षया नराकृति परब्रह्मणो मे प्राधान्यात् अन्यथा मर्त्यलिङ्गेन रूपेण परिपूर्णेनापि मद्भवं ज्ञानं न जायते भवत्यस्मिन् भवो विषयः अहं प्राचीनतदाकारो युष्मद्दृष्टो विषयो यस्य तत् ।। ४५ ।। श्रीगोकुलं यास्यन् स्वप्राप्तिविश्रम्भेण पितरौ हर्षयति युवामिति पुत्रभावेनोपसर्जनीभूतपारमैश्वर्येण ब्रह्मभावेनोपसर्जनीभूतपुत्रभावेन परां गतिमिति अद्य गोकुलं प्रति मे गतिः पूर्वा एकादशे वर्षे मथुरां प्रति या भाविनी सा परा तां युवां यास्येथे प्राप्स्यथः सम्प्रति विच्छेदो मया सह भवेदितिखिन्नता माभूदिति, न च परां गतिं मोक्षलक्षणां मद्भक्त्या प्राप्स्यथः यां मायामोहिताभ्यां युवाभ्यां प्राक् न वृतेति व्याख्येयं "एते हि यादवः सर्वे मद्गणा एव भाविनो"त्यादिवाक्यव्याकोपात् किञ्च विशुद्धसत्त्वस्य वसुदेवः पराख्याशक्तेस्तु देवक्यवतार इति द्वयोर्नित्य-मुक्तत्वमेव तथाप्यन्यथा चेष्टितं हरेरिव जनसंग्रहायेति प्राहुः ।। ४६ ।। आत्ममायया निजेच्छया आत्ममाया तदिच्छा स्याद्-गुणमाया "जडात्मिके"ति महासंहितावचनात् प्राकृतः प्रकृत्या स्वरूपेणैव व्यक्तः शेषिकोणसंसिद्धिप्रकृतीत्विमे स्वरूपञ्च स्वभावश्च निसर्गश्चेत्यमरः स्वभावः प्रकृतिशीलमिति निधनं जयश्च तस्य शिशोर्गोकुले गतस्य परब्रह्मत्वाद्यभिमानात् ।। ४७ ।। ततश्चेति त्रिकम् । बिभेषि चेन्मां यशोदावेश्मनि निधाय तत्कन्यामानीय कंसाय देहीति भगवता प्रचोदितः शौरिः स्वपादौ निगडौ वीक्ष्य सुतं हरिं समादाय सूतिकागृहाद्बहिर्गन्तुं यदेयेष तर्हि तस्मिन्नेव समये नन्दजायया निमित्तेन या योगमाया विष्णोर्माया भगवतीत्यत्रोक्ताऽजनि जाता तया कर्त्र्या त्रिगुणया स्वांशेन हृताः प्रत्ययस्य ज्ञानस्य सर्वा वृत्तयो येषां तेषु द्वाःस्थेषु शायितेषु सत्सु या द्वारः कपाटैः पिहितास्ताः कृष्णवाहे वसुदेवे आगते सति स्वयमेव व्यवर्यन्त विवृता उद्घाटितकपाटा बभूवुः मृदुवस्त्रा-स्तृतायां पेटिकायां निहितं कृष्णं परानन्दं शिरसि वहतीति कृष्णवाहस्तस्मिन् कीदृश्यस्ता इत्याह—बृहद्भिः कपाटैस्तद्गतैराय-सकीलैः शृङ्खलैश्च दुरत्यया दुर्लङ्घ्याः रवेर्निमित्तात् उपांशु मन्दं गर्जितं यस्य स पर्जन्यो मेघः फणैच्छत्रीकृतः "शय्यासनपरीधान-पादुकाछत्रचामरैः । किं नाभूस्तस्य देवस्य मूर्तिभेदैश्च मूर्तिष्वि"ति ब्रह्माण्डवचनात् ।। ४८–५० ।।

मघोनीन्द्रे असकृद्वर्षति सति यमानुजा नदी यमुना मार्गं ददौ जानुदघ्नजला बभूव, कीदृशी ? गम्भीरा चासौ तोयौघ-जवेन वारिप्रवाहवेगेनोर्मयो यस्यां सा च फेनिला चेति भयानका भयङ्करा ये आवर्त्ता जलभ्रमास्तेषां शतैराकुला व्याप्ता श्रियः पतेः श्रीरामस्य लङ्कां जिगमिषोः सिन्धुरिव ।। ५१ ।। नन्देति । अत्रापि नन्दनृपद्वारपालानां गोपानां प्रस्वापो योगनिद्रया परांश-भूतया बभूव, द्वारश्च सर्वा मुक्तकपाटाः स्वयमासन् , यशोदा च तयैव स्वापं प्राप, तत्पुत्रं वसुदेवो नापश्यत् स्वपुत्रं तत्र निधाय तत्कन्यां नीत्वा अगात् । द्वौ डिम्भौ मेघखण्डाविवैकतां गताविति बोध्यम् । सा कन्या कंसेन हन्तुमशक्येति ज्ञानसत्वाद्-वसुदेवस्य न छद्मित्वं दोषः ।। ५२ ।। पदोः पादयोः लोहं निगडं प्रतिमुच्य बद्ध्वा आवृतः कारानिरुद्धः ।। ५३ ।। निशीथे इत्यादिना हरेर्मथुरायां गोकुले च जन्मोक्त्या पूर्वत्र पितृभ्यां तस्य स्तुतिः सम्भाषणं चोक्ते उत्तरत्र किमभूत्तदाह—यशोदेति; वसुदेवपत्नीव नन्दपत्नी च स्वगर्भाज्जातं परं परेशमबुध्यत तत्करचरणगतानि चिह्नानि वीक्ष्यानादिमत् पुत्रोऽयं परेशोमां प्रमोदयन्नवातर-दित्यवैदित्यर्थः । ननु देवकीव तुष्टाव पुत्रभावेन तदैश्वर्यधियोऽन्यग्भूतत्वात् जातां कन्यां तु नापश्यदिति बोध्यम् । ननु तत्र वसुदेवोऽप्यागत्य कन्यां नीत्वा गतवानिति कुतो नाबुध्यत तत्राह—न तदिति तस्य वसुदेवागमादेर्लिङ्गं चिह्नं नाबुध्यत । "लिङ्गं चिह्ने तु मानेऽपी"ति विश्वः न तद्वेदेति केचित् पठन्ति । तद् वसुदेवागमनं न वेदेति तत्र हेतुर्निद्रयेति रहस्यरक्षिण्या योगमाययेत्यर्थः ।। ५४ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

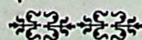

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	वंशस्थ	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
४७	४६	१	८	१५२०	४४	३६	१६०३	५०	३

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः । ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥ १ ॥
ते तु [1]तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् । आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥ २ ॥
स तल्पात् तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः । सूतीगृहमगात् [2]शीघ्रं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः ॥ ३ ॥
तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती । स्नुषेयं तव कल्याणं[3] स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—बहिः अन्तः सर्वाः पुरद्वारः पूर्ववत् आवृताः ततः बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥ १ ॥ ते तु तूर्णम् उपव्रज्य देवक्याः तत् गर्भजन्म भोजराजाय आचख्युः यद् उद्विग्नः प्रचक्षते ॥ २ ॥ सः तूर्णम् तल्पात् उत्थाय अयम् कालः इति विह्वलः मुक्तमूर्धजः प्रस्खलन् शीघ्रं सूतीगृहम् अगात् ॥ ३ ॥ कृपणा करुणं सती देवी तम् भ्रातरम् आह हे कल्याण ! इयम् तव स्नुषा स्त्रियम् हन्तुम् मा अर्हसि ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे चंडिकावाक्यमाकर्ण्यातिभयाकुलः । दुर्मंत्रिभिर्हितं मेने कंसो बालादिहिंसनम् ॥ १ ॥

तदष्टमं जन्म ॥ २ ॥ कालो मृत्युः ॥ ३–५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

दुर्मंत्रिभिरहितोपदेष्टृत्वात्कुमंत्रिभिः । आदिपदेन गोविप्रादयो ग्राह्याः (१) । ततो द्वारावृत्यनंतरम् । बालध्वनिं रोदनशब्दम् । गृहपाला इति श्लेषेण श्वान इव । यथा श्वानः किञ्चिच्छब्दादि श्रुत्वा भषंते तद्वत्तेऽपीति भावः । 'श्वस्वामिनौ सद्मपालौ' इति वरतंतुः ॥ १ ॥ यदष्टमम् । उद्विग्नस्त्रस्तः । प्रतीक्षते कदोत्पत्स्यत इत्येवं मृशति ॥ २ ॥ यद्वा बालकं हंतुमयं कालः समयः । कालांतरे किं भविष्यतीति विह्वल आकुलः । प्रस्खलन्नित्यपशकुनं कालांतरे तत एव तन्मृत्युसूचकमिति ॥ ३ ॥ स्वपुत्रस्य गोपितत्वादन्तर्द्योतमाना सख्याः कन्येयमपि जीवत्विति कृपणा सती तत्प्रतारणे कोविदा 'सन् सुधी कोविदो बुधः' इत्यमरात् । स्नुषा तव भाविनः पुत्रस्य वधूरियं भविष्यतीति बुद्ध्या तदपि बलादाच्छिद्य । जिघृक्षंतमाह—स्त्रियं पश्येयमबला । हे कल्याणेति । स्त्रीवधोत्थपापेन तवाकल्याणं मा भवत्विति भावः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

आवृताः लग्ना बभूवुः स्वयमेव ततस्तदनन्तरमेव बालस्य बालजातेर्ध्वनिं जातमात्रस्य स्वभावतो रोदनशब्दम् अतः सामान्यतो न स्त्रीत्वं गृहपाला रक्षिणः श्लेषेण कुक्कुरा इव सम्यक सावधानमुद्यतास्तत्रयोत्थिताः ॥ १ ॥ उपव्रज्य तत्र तेषामनधिकारेऽपि समीपे गत्वा भोजराजाय तं विज्ञापयितुम् ॥ २ ॥ कालः हन्तुं समयोऽयं किं वा साक्षान्मृत्युरयमागत इति विह्वलो भयव्याकुलः अत एव प्रस्खलन् इतस्ततो निपतन् उत्तरार्द्धे शीघ्रं तूर्णमिति वा पाठः ॥ ३ ॥ भ्रातरमिति तं प्रति तादृशोक्तौ योग्यता तस्य तु दुरात्मतोक्ता करुणं यथा स्यात् सतोति तस्या वैक्लव्येन तस्य सानुगस्याचिरादेव नाशः समुचित एवेति भावः। देवी स्वपुत्रस्य गोपनं द्विष्ट्यैव मया कृतम् इत्यन्तर्द्योतमाना प्रियसख्या यशोदायाः कन्यकावधशङ्कया कृपणा दुःखिता च सती तव स्नुषा पुत्रवधूर्भविष्यतीति प्रथमं तावल्लोभं जनयति - तदवज्ञाय अष्टमगर्भतामाशङ्क्य च तामाच्छेत्तुमुद्यतं प्रत्याह—स्त्रियमिति । असमर्थामवध्यां चेत्यर्थः । तच्च तव युक्तमेवेत्याह—कल्याण, हे धार्मिकेति यद्वा हे आयुष्मन् ! इति मृत्युभयं निवर्त्तयति अष्टमे गर्भेऽस्मिन्नबलाया एवोत्पत्तेः इति मृत्युभयं निवर्त्तयति ॥ ४ ॥

---

१. शीघ्रमुप-इति कस्यचित् । २. तूर्णं—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त । ३ कल्याणी—इति कस्यचित् ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

आवृता लग्ना बभूवुः स्वयमेव; ततश्च तदनन्तरमेव बालस्य ध्वनिं जातमात्रस्वभावतो रोदनशब्दम्, सामान्यतः पुंस्त्वम् गृहपालैः पुत्रतयैव निश्चयाद्वा; किं वा, बालो जात इति श्रीवसुदेवकृतध्वनिम्, किं वा बालमत्यल्पं सद्योजातशिशोरिव ध्वनिम्, गृहपालाः रक्षिणः, श्लेषेण कुक्कुरा इव सम्यक् सावधानमुद्यतास्तत्रयोस्थिताः ॥ १ ॥ उपव्रज्य समीपे गत्वा ॥ २ ॥ कालो हन्तुं समयोऽयम्, किंवा साक्षान्मृत्युरयमागत इति विह्वलः सम्भ्रान्तोऽतिभीतो वा, अत एव प्रस्खलन् इतस्ततो निपतन् ॥ ३ ॥ भ्रातरमिति तं प्रति तादृशोक्तौ योग्यतोक्ता । करुणं यथा स्यात्तथाह—सती साध्वी भर्त्तुर्मतानुसरणात्, देवी स्वपुत्रस्य गोपनादन्तर्द्योतमाना, अतोऽकृपणापि कंसवञ्चनार्थं दीना सती; यद्वा, प्रियसख्या यशोदायाः कन्यका भावि-वधेन दुःखितैव सती स्नुषा पुत्रवधूर्भविष्यतीति लोभं जनयति ननु पितृष्वसृकन्या-परिणयोऽत्रायुक्त इति चेत्तथापि स्त्रीत्वादेव हननानर्हेत्याह–स्त्रियमिति । तच्च तव युक्तमेवेत्याह—कल्याण ! हे धार्म्मिकेति; यद्वा, हे आयुष्मन्निति मृत्युभयं निवर्त्तयति ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

॥ १–६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं भगवदवतारं सप्रपञ्चं प्रस्तुत्य अथ ततःप्रभृति कंसोद्योगं प्रस्तौति—बहिरिति । यदा वसुदेवः पूर्ववदास्त तदा बहिरन्तश्च सर्वाः पुरद्वारः द्वाराणि पूर्ववदेवावृताः पिहिताः ततो बालध्वनिं शिशुरोदनमाकर्ण्य गृहपालाः वसुदेवाधिष्ठितकारागृहपालाः समुत्थिता बभूवुः ॥ १ ॥ ते चातितूर्णमुपव्रज्य कंससमीपमेत्य देवक्या गर्भजन्म गर्भस्थशिशूत्पत्तिं भोजराजाय कंसायाचख्युः कथम्भूतं यद्गर्भजन्मनैव समुद्विग्नो मृत्युभयभीतः कंसः प्रतीक्षते तथाभूतमित्यर्थः ॥ २ ॥ स भोजराजः कालोऽयमित्ययमेव तद्वधकालः अन्यथा प्रवर्द्धितो मामेव हन्यादिति बुद्ध्या तूर्णं तल्पाच्छयनादुत्थितो विह्वलः कातरोऽनवहित इति यावत् अत एव प्रस्खलन् विक्षिप्तगतिः मुक्ता विक्षिप्ताः मूर्द्धजाः केशा यस्य तथाभूतः शीघ्रं सूतिकागृहमगात् ययौ ॥ ३ ॥ तमागतं भ्रातरं कंसं देवी देवकी कृपणा दीना करुणं यथातथोवाच, तदेवाह—स्नुषेयमिति सार्द्धद्वयेन । हे कल्याण ! तवेयं स्नुषा भगिनी सुता एनां स्त्रियं हन्तुं त्वं नार्हसि ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवानां देवस्वभावोऽसुराणामासुरस्वभावो मध्यमानां मिश्रस्वभावो दुस्त्यज इत्येतदर्थकं प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये, तत्र कंसादिषु सन्तोऽसन्त इति द्विजीवाः सन्ति तदुक्तम्—

"पूतनाकंसनरकशिशुपालादिषु द्विधा । जीवाः सन्तस्त्वसन्तश्च तत्र बन्ध्वादिरूपिणः ॥
विष्णोः सन्त इति ज्ञेया असन्तः शत्रुरूपिणः । शुभजीवप्रकाशेन कदाचिच्छुभबुद्धयः" ॥ इत्यादि ।

तत्रासतां स्वभावं दर्शयितुमुपक्रमते—बहिरन्त इति । बालध्वनिं रोदनम् ॥ १ ॥ यस्माद्गर्भात् उद्विग्नः भीतः ॥ २ ॥ सूतीगृहमितिदीर्घश्छान्दसः वैलक्षण्यद्योतको वा ॥ ३ ॥ करुणं दयाजनकं वचनमिति शेषः स्नुषा पुत्रभार्या ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसंदर्भः

वालस्य वालकजातेर्ध्वनिः ॥ १–२ ॥ मम कालोऽयं जात इति स्नुषाभविष्यत् पुत्रस्य वधूर्भविष्यति तदेव जानन्तमाह–स्त्रियमिति । दीनदीनवदिति दृष्टान्तः न तु गौणतोक्तिः श्रीयशोदाया निजसखीत्वात् समुद्विजे भवद्धेतारित्यादिवत् स्नेहलस्वभावत्वाच्च ॥ ३–६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मायावाक्येन कंसस्याऽनुतापो देवकीक्षमा । दुर्मन्त्रिभिर्मन्त्रणा च चतुर्थे वर्ण्यते कथा ॥

बालध्वनिर्ज्ञातमात्रबालकरोदनशब्दं गृहपालाः श्वान इव ॥ १ ॥ तदष्टमं गर्भजन्म ॥ २ ॥ कालः बालकं हन्तुमयमेव समय इति यद्वा मन्मृत्युरिति भयेन ॥ ३ ॥ देवीस्वपुत्रस्य गोपितत्वादन्तर्द्योतमाना सख्याः कन्येयमपि जीवत्विति कृपणा सती तत्प्रतारणे कोविदा स्नुषा तव भाविनः पुत्रस्येयं वधूर्भविष्यतीति बुद्ध्या तदपि बलादाच्छिद्य जिघृक्षन्तं तमाह स्त्रियं पश्येयमबला हे कल्याणेति स्त्रीवधोत्थपापेन तवाकल्याणं मा भवत्विति भावः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदनन्तरं किं वृतमित्याकांक्षायां सूचीकटाहन्यायेन कन्यकावृतप्रतिपादनाय चतुर्थोऽध्याय आरभ्यते–बहिरन्त इति ॥१॥ ते तु तूर्णं त्वरितम् उपव्रज्य निकटं गत्वा यत्प्रतीक्षते तदष्टमं जन्म ॥ २ ॥ अयमष्टमो गर्भः कालः मम विनाशहेतुः ॥ ३ ॥ स्नुषेयं तव त्वत्पुत्राय दास्यामीति भावः ॥ ४–५ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

देवीवाक्येनानुतापो भगिनी मामयोः क्षमा । दुर्भन्त्रिभिर्मन्त्रणञ्च कंसस्यासीच्चतुर्थके ॥

बहिरन्तःपुरयोर्या द्वारस्ताः सर्वाः पूर्ववदावृताः कपाटपिहिता बभूवुः, बालध्वनिं जातमात्रबालरोदनशब्दं, गृहपालाः श्वान इव ॥ १ ॥ तदष्टमं गर्भजन्म यस्मादुद्विग्नः सन् प्रतीक्षते ॥ २ ॥ कालो मे मृत्युरयमिति भयेन विह्वलः ॥ ३ ॥ देवी स्वात्मजस्य गोपितत्वात् स्वसख्याः कन्यापि नानेन मरिष्यतीति ज्ञानसत्वाच्चान्तर्द्योतमाना बहिः कृपणा धृतदैन्या करुणं दयोत्पादनं यथा स्यात्तथाह सती तद्वच्चने कोविदा हे कल्याण! तवेयं कन्या स्नुषा भावित्वात् पुत्रवधूर्भविष्यति स्त्रियमिति स्त्रीवधपापं माभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

वसुदेवस्यैवं निवासवासानन्तरं का कथा प्रवृत्तेत्यतस्तद्वृत्तान्तमाह ॥ बहिरन्तरिति । बहिर्द्वाराऽन्तःपुरद्वारश्चेत्यन्वयः । सर्वाः पूर्ववत् । आवृता आच्छादितास्ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः कंसस्थापिता उत्थिता ध्वनितः सारांशस्तु न किञ्चिदप्येतत्कृत्यमत्ययहेतुरिति सारमेयोपमा एवेति गृहपालेत्यालपतेति ज्ञेयम् ॥ १ ॥ गर्भजन्म तज्जननं यदुद्विग्नो यद्गर्भाद्भीतः प्रतीक्ष्यते कदोत्पत्तिर्भवेदिति तदाचख्युः ॥ २ ॥ तल्पाच्छय्यातस्तल्पात् । ल्यब्लोपनिमित्तयं पञ्चमी । तल्पं कलत्रं परित्यज्य शय्येति पदशय्यां विहायैवं वचनवृत्त्याऽमुमर्थं सूचयामासेति ज्ञेयम् । तल्पमट्टकलत्रयोरिति विश्वः । कालोऽयमयमेव समयो मम संहारकोऽयमिति वा सूतीगृहं सूतिकागारम् । सूतिः संवीतसन्तत्योरवि विश्वः । सूतेव सूतकेति भानुः । ततश्च सूतागृहमिति सुपठम् । प्रस्खलन्निद्रया भ्रान्त्या वा मुक्तभूर्धजो मुक्ता मूर्धजा यस्य येन स वा केशवोत्पत्तिरिति मिमितो नावकाशोऽभूत्केशबन्धन इति तावती त्वरा ज्ञेया । पद्मनाभमुक्तो मूर्धजः कृष्णः केशकाल इति विह्वल इति कवयितुर्हृदयं मन्तव्यमित्येके ॥ ३ ॥ देवी कृपणा सती करुणं यथा भवेत्तथा तं स्वभ्रातरमाह प्राह हे कल्याण मङ्गलपुरुष । आन्तरङ्गिको भावस्तु कालनेमिविवक्षया कलिना आ सम्यक् अणते प्रर्यत इति कल्याणेति सम्बोधितवतीति ज्ञेयम् । स्नुषा भगिनीपुत्रीति स्त्रियं हन्तुं माऽर्हसि । मायं तव स्पष्टमप्रतिभानमत इत्याह । तमेति । तमातत्स्वपि गीयत इति रात्रेर्नाम ह शोके ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते । अन्यथा भगवत्कार्यं न भवेदनिमित्ततः ॥ १ ॥
ज्ञापने दुःखसुखदे ततोपि ज्ञापने तथा । कंसस्य सहभृत्यस्य धर्मबाधो न चान्यथा ॥ २ ॥
तामसप्रभुके राज्ये कृतो धर्मस्तु तद्गतः । अतः पूर्वस्य नाशो वै कर्तव्यं तामसाश्च ते ॥ ३ ॥
ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः । कालस्तथाविधो यस्मात् पश्चाज्जातस्तु सात्त्विकः ॥४॥

भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्यम् इति ज्ञापयितुमुद्घाटितकपाटानां द्वाराणां पुनः पिधानमाह **बहिरन्तरिति, पुरो बहिर्द्वाराण्यवान्तरद्वाराणि** च **सर्वाः पूर्ववदेवावृताः**, वैलक्षण्ये रक्षकाणां ज्ञानसम्भवाज् ज्ञानं भवेदिति पुनर्बन्धनं मायाकार्यमुक्त्वा पूर्वं वसुदेवदेवक्योर्निवृत्तस्यापि भयस्य जननार्थं रोदनमपि कृतवती, तेन रोदनेन सर्वेषां जागरणं जातमित्याह **तत** इति, बालस्योत्पन्नस्य **ध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः** सूतीगृहरक्षकाः **सम्यगुत्थिताः** ॥ १ ॥

तेषां कृत्यमाह **ते त्विति**, देवक्यादिभिः प्रार्थिता अपि तत्प्रार्थनां न कृतवन्त इति ज्ञापनार्थस्तुशब्दः, **तूर्णमिति** मध्ये कृत्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं, दूरात् कथने निलायनादिकं सम्भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थमुपब्रज्येत्युक्तं, **देवक्या गर्भस्य जन्म**, न तु पुत्रः कन्यका वेतिभेदः, **तदिति**, सिद्धमष्टमं, अकथनेनिष्टं करिष्यतीतिज्ञापनार्थं **भोजराजायेत्युक्तं, यज् जन्म प्रतीक्षत** एव कदा भविष्यतीति, अर्थादेतादृशाय, प्रतीक्षायां हेतुमाहोद्विग्न इति ॥ २ ॥

ततः कंसस्य कृत्यमाह, **सोपि** शय्यायां पतित एव स्थितः **स** महानपि **तल्पाच्** छय्यातस्तूर्णमविचारेण प्रथमत **उत्थितः** पश्चात् **कालोयमिति विह्वलः**, अतः परं जीवसम्भावना नास्तीतिनिश्चयात्, **अयं** भगवानेव **कालो** मृत्युदः, **विह्वलः** सर्वावयवविकलः, **सूतोगृहं** प्रसूतिस्थानं, **शीघ्रमिति** सर्वकार्यपरित्यागे सर्वसाधनाननुसन्धाने हेतुः, **प्रस्खलन्निति** मार्गाज्ञानं, **मुक्तमूर्धज** इति देहाज्ञानम् ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा लिङ्गमज्ञात्वा पुत्रबुद्ध्यैवमारणार्थं प्रवृत्तौ यशोदायाः कन्याया मारणं स्वपुत्रमारणादप्यधिकदुःखदं जातमिति ज्ञापयितुं तस्या वाक्यमाह **तमाहेति** त्रिभिः,

त्वदीया कन्यका चेयमतो मह्यं प्रदीयताम् । भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः ॥ १ ॥

तं कंसं भ्रातरमाह, यतो देवी सात्त्विक्यपि स्त्री, ज्ञात्वा वा दैन्यप्रदर्शनार्थं तथा कृतवतीति, असत्यमपि प्राणसङ्कटे परार्थं वक्तव्यमितिज्ञापनार्थं वा **कृपणा**नालोचितयाचिका, 'कृपणः स तु विज्ञेयो योनालोचितयाचक' इति वाक्यात्, **करुणं** यथा

भवति तथा तमाहेतिसम्बन्धः, **सतीति** कालज्ञानात् याचनं, सर्वात्मकत्वाद् भगवतस्तथा करिष्यति, भर्तुर्दोषनिवृत्त्यर्थं वा **सतीति**, अन्यथा स्वपुत्रं स्थापयित्वा परकन्यामारणे दोषः स्यात्, **स्नुषेति**, मातुलकन्यापरिणयनपक्षे पितृष्वसुरपि कन्या परिणेया यथा मित्रविन्दा, यदा कंसस्य पुत्रो देवकीकन्यामुद्वहेत् तदेयं स्नुषा भवति, अनेन तस्याः स्वकन्यात्वं सहजमित्युक्तं, ननु पुत्र एव नास्ति कथमियं स्नुषेति चेत् तत्राह **कल्याणेति**, त्वं पुत्रजननसमर्थः, **मदपत्यरक्षणेन** तवापि पुत्रो भविष्यतीति, अथवा **मास्तु स्नुषा स्त्रियं हन्तुं माऽर्हसि**, अन्यथाहमेव कथं न हता ? 'स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं'मिति यतस्त्वयैव निरूपितम् ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

चतुर्थाध्यायेऽनिमित्तत इति, भक्तदुःखाभावादित्यर्थः, **ज्ञापने** इति, मायाकृतरोदनेन स्वज्ञापनं ततो गृहपालकृतबालजन्मज्ञापनं च कंसे, एते उभे अपि तथेत्यर्थः, **ततोपीति**, एतदुभयज्ञापनानन्तरं 'यत्र क वा जात' इति मायाकृतं भगवज्जन्मज्ञापनं कंसकृततज्ज्ञापनं च मन्त्रिषु, एते उभे अपि दुःखसुखदे इत्यर्थः, **न चान्यथेति**, मायामोहं विना नेत्यर्थः, ननु धर्मस्थापनहेतोर्भगवदवतारस्य तन्नाशहेतुत्वं कथमुच्यते 'जातः खलु तवान्तकृद् यत्र क वे'तिवाक्यश्रवणेनैवा'निर्दशान्निर्दशां'श्चेत्यादिमन्त्रणस्य जातत्वादित्यत आहुस्**तामसप्रभुक** इति, **तामसाश्च त** इति, तद्धताः पश्चादय इत्यर्थः, एवमपि कण्टकन्यायेन धर्मप्रतिपक्षदूरीकरणं युक्तमितिभावः, **पश्चादिति**, तमः कार्यनिवृत्तेः पश्चाज्जातो धर्मस्तथेत्यर्थः ॥ १ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथ चतुर्थाध्यायं विवरिषवो जन्मप्रकरणार्थस्य हेतूद्यमरूपान्तरस्वीकरणकापट्याख्यार्थचतुष्टयघटितत्वात् **तत्र स्वीकरणस्यैव मुख्यत्वात्** तत्पूर्वाङ्गयोर्हेतूद्यमयोः पूर्वाध्यायद्वय उक्तत्वात् तत्स्वीकरणोत्तरमत्रोत्तराङ्गभूत कापट्यं वक्तव्यं, तदत्रावसरसङ्गत्या निरूपयति, यद्वा कापट्यं विना रूपान्तरस्वीकरणं न सम्भवतीति प्रकृतवटकोपोद्घातसङ्गत्येदं निरूपयतीत्याशयेनाहुर्**मायायाः कार्यमित्यादि**, तच्च कपाटावरणादिसर्वधर्मनाशान्तं ज्ञेयं, नन्वेतन्निरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुर्**अन्यथेत्यादि**, यदि कापट्यरूपं **मायाकार्यं न भवेत् तदानिमित्ततो भगवत्कार्यं न भवेत्**, **अनिमित्तत** इत्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहुरनिमित्तत इत्यादि, तथा च मायाकार्याभावे भक्तदुःखाभावात् तत्सुखदानरूपं **भगवत्कार्यं न भवेत्**, अतस्तदर्थं तत्प्रयोजकं **मायाकार्यमत्रावश्यं** निरूपणीयमिति प्रथमकारिकार्थः, यद्वा ननु **मायाकार्यं पूर्वाध्याये** निरूपितमित्यधुनेतिकथनं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह **चतुर्थेति**, यद्यपि पूर्वाध्याये निरूपितं तथापि तन्न भगवत्प्राकट्यकार्योपयोगि किन्तु नाट्योपयोगि, अधुना तु **चतुर्थे** चतुर्थस्यानिरुद्धस्य प्राकट्यं निरूप्य तन्निमित्तं निरूप्यत इति न दोषः, तद् विशदयन्त्यन्यथेति, **मायाकार्याभावेनिरुद्धप्राकट्याभावेन भगवत्कार्यं** सर्वधर्मरक्षा देवक्यादिबन्धननिवृत्तिश्च न स्यादित्यर्थः, यद्वा पूर्वनिरूपितमपि **मायाकार्यं निरूप्यते**, तदनिरूपणे संवादाद्यभावे कंसेनापराधाद्यकरणे भक्तदुःखाभावात् पूर्वोक्तं **भगवत्कार्यं** नाट्यं देवक्यादिबन्धनिवृत्तिर्गोकुलीयलीला च तथेत्यर्थः, एवं सङ्क्षेपेणाध्यायार्थं तत्प्रयोजनं चोक्त्वा तदवान्तरार्थानग्रे कारिकात्रयेणाहुर्**ज्ञापने** इत्यादि, तदेतट्टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **ज्ञापने** इत्यादि, **ज्ञापने** इति पदं प्रथमाद्विवचनान्तं ज्ञेयं, 'मायामोहं विना ने'ति, इद 'मिति प्रभाष्ये'त्यस्य सुबोधिन्यां स्फुटिष्यति ॥ १ ॥

ते तु तूर्णमित्यत्र **निलायनादिकमिति**, बालकस्य **निलायनं**, **आदिपदेन** शब्दान्तरेण प्रतिबन्धश्च ॥ २ ॥

तमाहेत्यत्र सात्त्विक्यपि स्त्रीति, यद्यपि ज्ञानयुक्ता तथापि स्त्रीस्वभाव्यादाहेत्यर्थः, **अनालोचितयाचिकेति**, न विचारितं कन्यायाचने कंसस्य स्वरूपं यया तादृशीत्यर्थः, **कृपणशब्दस्य** तादृशार्थवाचकत्वे प्रमाणमाहुः **कृपण** इत्यादि, **कालज्ञानादित्यादि**, अयं याचनस्य काल इति ज्ञानाद **याचनं कृतवती**, तथा च याचनया कन्यादाने भगवान् **सर्वात्मक** इति भगवतस्तथात्वात् तं दातुं प्रेरयिष्यति तदा तदपराधक्षमामपि **करिष्यति** तदा कदाप्यनिष्ट न भविष्यतीतिज्ञापनाय **सती**पदमित्यर्थः, प्रयोजनान्तरमाहुर्**भर्तु**रित्यादि, **अन्यथेति**, अयाचने सति कन्यामारणे ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

चतुर्थाध्याये मायायाः कार्यमिति, 'अनिर्दशनिर्दश'शिशुहननादि मायाकार्यं भगवत्कार्यसिद्ध्यर्थं निरूप्यते, अध्यायार्थस्तु **निबन्धोक्तमनिरुद्धकार्यमेवेतिभावः**, **ज्ञापने** इति टिप्पण्यां विवृतं, ज्ञापनद्वयमपि वसुदेवादीनां दुःखदं कंसस्य सुखदमित्यर्थः, ननु शिशुहननादेः कथं मायाकार्यत्वं मायाया अनुक्तत्वादित्याशङ्क्ये'ति प्रभाष्ये'तिश्लोके व्याख्यास्यमानसंवादानन्तरमपि जातमस्तीत्याशयेनाहुः **कंसस्येति**, मायामोहं विना तथा करणं न सम्भवतीति तस्यापि मायोक्तत्वान् **मायाकार्यत्वमित्यर्थः** ॥ १ ॥

ते त्वित्यत्र प्रार्थनां न कृतवन्त इति, व्याजान्तरमुक्त्वा ततो निर्गता **भोजराजाय** निवेदितवन्त इत्यर्थः, **निलायनादिकमिति**, दूरादुक्ते देवक्यपि शृणुयात् ततो बालस्य निलायनं कुर्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

तमाहेत्यत्र कालज्ञानादिति, क्षत्रियस्य याचनानौचित्येऽप्यापत्काले तदुचितमेवेति **तादृशकालज्ञानादित्यर्थः**, **तथा करिष्यतीति**, भगवानितिशेषः, याचनानुरूपं तस्या मोचनं भगवान् सम्पादयिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

चतुर्थाध्याये तमाह भ्रातरमित्यत्र यतो देवी सात्त्विक्यपि स्त्रीत्यादि, देवत्वात् सात्त्विकत्वं देवशब्दार्थः स्त्रीत्वं तु ङीबर्थः, तथा च देवत्वाद् दयया परकन्यामोचनार्थं करुणा कृता स्त्रीत्वेन तामसत्वा'दङ्गमां चरमां प्रजा'मितिमूलोक्तमित्यपिशब्दार्थः, तदुक्तं सात्त्विक्यपि स्त्रीति, ज्ञात्वा वेति, देवीत्वात् सर्वोपायवित्त्वमतोयं दुष्टः कंसो,त्युग्रं स्तुतिभि'रितन्यायेन दैन्येनैव सन्तोषणीय इति ज्ञात्वा दैन्यं कृतवतीतिभावः, ननु देवत्वादनृतभाषित्वं न सङ्गच्छते'नृतं वै मनुष्याणा'मितिश्रुतेरतः कथं मृषोक्तवतीति चेत् तत्राहुरसत्यमपीत्यादि, 'वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज् जुगुप्सित'मितवाक्यात् परकन्याप्राणपालनमसत्यवाक्येनापि युक्तमेव ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामकेन दीक्षितबालकृष्णेन विरचितायां दशमस्कन्धसुबोधिनीयोजनायां जन्मप्रकरणसुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

चतुर्थाध्याये मायाया इत्यादि ।

अधुना **चतुर्थेऽध्याये मायायाः कार्यं** सर्वेषां दुःखदानं धर्मनाशश्च निरूप्यते, **अन्यथा** मायाकार्याभावेनिमित्तत भक्तदुःखात्मकनिमित्ताभावाद् **भगवत्कार्यं** देवक्यादीनां बन्धनिवृत्तिः सर्वेषां सुखदानं धर्मरक्षादिकं **च न भवे**दित्यर्थः ॥ १ ॥ **ज्ञापने** इति प्रथमाद्विवचनान्तं, मायाकृतेन रोदनेन स्वज्ञापनं (ततो गृहपालकृतबालजन्मज्ञापनं च कंसे), एते उभे अपि **ज्ञापने दुःखसुखदे** इत्यर्थः, वसुदेवादीनां दुःखदे कंसस्य सुखदे इति भावः, ततोपीति, एतदुभयज्ञापनानन्तरं 'यत्र क्व वा जात'मिति मायाकृतभगवज्जन्मज्ञापनं कंसे कसकृतज्ञापनं च मन्त्रिषु एते उभे अपि **ज्ञापने तथा दुःखसुखदे** इत्यर्थः, **न चान्यथेति**, **अन्यथा** मायामोहं विना **भृत्यसहितस्य कंसस्य धर्मबाधो न** स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥ ननु धर्मस्थापनहेतोर्भगवदवतारस्य धर्मनाशहेतुत्वं कथमुच्यत इत्याशङ्क्याहुस्**तामसप्रभुक** इति, तामसाश्च **त** इति, कंसेन हता पश्वादयोपि तामसा इत्यर्थः, अतस्**तामसप्रभुके** राज्ये यज्ञाङ्गानां पश्वादीनां तामसत्वात् तत्र कृतो यज्ञादिधर्मस्तामस एवेति **पूर्वस्य धर्मस्य नाशः कर्तव्य** एवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ अन्येषामपि धर्माङ्गानां तामसत्वादेव नाश इत्याशयेनाहुर्**ब्राह्मणा** इत्यादि, **पश्चा**दिति, तमःकार्यनिवृत्तेः **पश्चाज्जातो धर्मस्तु सात्त्विक** इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तमाह भ्रातर देवीत्यादिश्लोकत्रयप्रतिपाद्यानार्थानाहुस्त्वदीयेति,

त्वदीया कन्यका चेयमतो मह्यं प्रदीयताम् । भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः ॥ १ ॥

फलकार्यहेतुनिरूपकैस्त्रिभिः श्लोकैः कारिकोक्तानर्थानाहेत्यर्थः, तत्र **त्वदीया कन्यका चे**तिफलनिरूपणं प्रथमश्लोकार्थः, **अतो मह्यं प्रदीयता**मितिदानलक्षणकार्यनिरूपणं द्वितीयश्लोकार्थः, **भगिनी दानपात्रं** हीतिहेतुनिरूपणं तृतीयश्लोकार्थः, मूले प्रथमतः फलनिर्देशः कंसप्ररोचनार्थः, कारिकायां हेत्वादिक्रमेण निर्देशो लोके हेतुकार्यफलानां पौर्वापर्यप्रसिद्धिमादायेति प्रतिभाति ॥ ४ ॥

बुभुत्सुबोधिका

अथ चतुर्थाध्यायं विवरिषवो जन्मप्रकरणार्थस्य हेतूद्यमस्वीकरणकापट्याख्यार्थचतुष्टयघटितत्वात् तत्पूर्वाङ्गयोर्हेतूद्यमयोः पूर्वाध्यायद्वय उक्तत्वात् स्वीकरणोत्तरमत्रोत्तराङ्गभूतं कापट्यं वक्तव्यं तदत्रावसरसङ्गत्या निरूपयतीत्याशयेनाहुः । यद्वा कापट्यं विना रूपान्तरस्वीकरणं न सम्भवतीति प्रकृतघटकोपोद्घातसङ्गत्येदं निरूपयतीत्याशयेनाहुः मायायाः कार्यमित्यादि । तच्च कपाटावरणादिसर्वधर्मनाशान्तं ज्ञेयम् । माया कापट्यम् । 'दासवद् यदमायये'त्यत्रा 'मायये'त्यस्याकापट्येनेत्यर्थात् । अध्यायार्थस्तु निबन्धोक्तमनिरुद्धकार्यमिति भावः । एतयोः परस्परमन्वयस्तु कारिकोक्त एव । भगवत्कार्यमनिरुद्धकार्यं तस्य भवनार्थं मायायाः कार्यं निरूप्यत इति कार्यकारणभावेन । नन्वेतन्निरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः अन्यथेत्यादि । यदि कपटरूपं मायाकार्यं न भवेत् तदाऽनिमित्ततो भगवत्कार्यं न भवेत् । अतस्तदर्थं तत्प्रयोजकं मायाकार्यमत्रावश्यं निरूपणीयमित्यर्थः । अनिमित्तत इति अत्र टिप्पणी स्पष्टार्था । यद्वा । ननु मायाकार्यं पूर्वाध्याये निरूपितमित्यधुने'ति कथनं न सम्भवतीत्याशङ्क्याहुः चतुर्थ इति । यद्यपि पूर्वाध्याये निरूपितं तथापि तन्न भगवत्प्राकट्यकार्योपयोगि किन्तु नाट्योपयोगि, अधुना तु चतुर्थे च चतुर्थस्यानिरुद्धस्य प्राकट्यनिमित्तं निरूप्यत इत्यदोषः तद्विशदयन्ति अन्यथेति । मायाकार्याभावेऽनिरुद्धप्राकट्याभावेन भगवत्कार्यं सर्वधर्मरक्षा देवक्यादिबन्धननिवृत्तिश्च न स्यादित्यर्थः । अध्यायावान्तरार्थान् कारिकाभिराहुः ज्ञापनेत्यादि अत्र टिप्पणी । तत्र स्वज्ञापनमिति बालज्ञापनं गृहपालेषु । तथेत्यर्थ इति दुःखसुखदे इत्यर्थः । पितृभ्यामितिबोध्यम् । दुःखसुखदे इति वसुदेवादीनां दुःखदं कंसस्य सुखदमिति वा । सुबोधिनी । कंसस्य ह प्रसिद्धभृत्यस्य स प्रसिद्धः धर्मबाधः गोब्राह्मणहिंसनहितमाननरूप इत्येवं स्पष्टार्थेति तां विहाय न चान्यथेति कारिकांशं व्याकुर्वन्ति स्म मायामोहमिति । इदं 'इति प्रभाष्ये'त्यस्य सुबोधिन्यां स्फुटम् । भगवदवेति अनिरुद्धस्य । वाक्यश्रवणे-

नैवेति वाक्यश्रवणस्य तन्नाशहेतुत्वमित्युक्तम्। एवकारो भगवदवतारस्य तन्नाशायोगहेतुत्वयोगं व्यवच्छिनत्ति। तामसप्रभुक इति निन्दितकरणात् कंसस्तामसः भृत्यैः कुतोऽधर्मः तद्गतो राजगतः कालपाशावृतत्वरूपो धर्मः अन्यथा भृत्याः कालपाशावृताः स्युः। अत इति तथा चावतारस्य तामसराज्यकतामसधर्मैर्धर्मनाशकैर्निरोधकत्वात्, पूर्वस्य प्रतियोगिनो धर्मस्य नाशो वै निश्चयेन कर्तव्यः धर्मरक्षकेनानिरुद्धावतारेणेत्यर्थः। तामसाश्च त इत्यत्र तद्धताः पश्वादय इति पशूनां हननकर्मत्वाधिकार उक्तः। कण्टकेति 'कण्टकं कण्टकेनैवे'ति वाक्ये कण्टकन्यायस्तेन। धर्मेति धर्मप्रतिपक्षः तामसधर्मपदेनापि शून्यः। तस्य दूरीकरणम्। सुबोधिनी। नित्य-क्रीडास्थस्य ज्ञानवतः कंसस्य सर्वश्रेयोहनने कर्मणि प्रवृत्तिनैरपेक्ष्यमाशङ्क्योपपत्तिमाहुः ब्राह्मणा इत्यादि। तद्देश इति तामसराज-कस्य देशे। स्वभावादिति चिक्रीडिषया स्वभावस्तस्मात्। तथाविध इति भगवत्सेवार्थमागत बालकाकाङ्क्षानुकूलत्वात् तामसः। तम काङ्क्षायाम्। यस्मादिति बालेच्छावशात् इत्येवं स्फुटार्थेति न व्याख्याता। पश्चादित्यादिकारिकां विवृण्वन्ति तमःकार्य-निवृत्तेरिति। पश्चात् सात्त्विकप्रकरणं जातः। तथेति सात्त्विकः॥ १॥

ते त्वित्यत्र ननु पक्षव्यावर्तनार्थकतुशब्दप्रयोगे व्यावर्त्यपक्षः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः देवक्यादिभिरिति। तुशब्द इति पक्षव्यावर्तकः। निलायनादिकमिति दूरादुक्ते देवक्यपि शृणुयात् ततो बालस्य निलायनं कुर्यात्। आदिना शब्दान्तरेण प्रतिबन्धश्च कंसश्रवणे। वस्तुतस्त्वतद्गुणसंविज्ञानः निगडगृहीतानां निलायनासम्भवात्। एतादृशायेति प्रतीक्षमाणाय। उद्विग्न इतीति ओविजी भयचलनयोः। क्तप्रत्ययः 'ओदितश्चे'ति नत्वम्॥ २॥

स तल्पादित्यत्र महानिति ससेवकः। उत्थित इति भयात्। 'भयात् कंस' इति वाक्यात्। भयाज्जीवन्मुक्तो वा तदा जातः। उत्थितोऽणुरूपेणाङ्गुष्ठमात्रेण सदेहः। देहस्य विद्यमानत्वाज् जीवन्मुक्तत्वेपि॥ ३॥

तमाहेत्यत्र हननेऽदर्शनं लिङ्गज्ञानं च कारणं सर्वावयवविकलस्य मार्गाज्ञानवतो देहाज्ञानवतश्चापि। तेन हननजन्य-भयमपि तस्य भगवद्धर्मेशः। 'स्त्रिय'मितिविशेषणाभिप्रायमाहुः पुत्रबुद्ध्य्वेति। ननु 'मा हंतु'मिति हनननिषेधो कंसस्य मारणार्थं प्रवृत्तौ सम्भवत्यत आर्थिकार्थमाहुः मारणार्थमिति। दृष्टेवेत्यादि। अधिकेति। तस्या देवक्या एव। त्वदीयेति पापस्य तव सम्बन्धिनी। कन्येव कन्यका इवार्थे कन्। भ्रातृत्वात्। हेतुकार्यफलैरिति प्रतिलोमक्रमः। दाने स्नुषात्वं फलम्। अष्टममारणं कार्यं हतपुत्रेषु। अवरजात्वादि हेतुः। त्रिषु श्लोकेषु। सात्त्विक्यपि स्त्रीति यद्यपि ब्रह्मविद्यात्वाज्ज्ञानयुक्ता तथापि स्त्रीस्वाभाव्यादाहेत्यर्थः। देवीत्यत्र दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकांतिगतिष्वितिधातोरर्थानाहुः ज्ञात्वेत्यादि। द्युतिरर्थो दिवेः। कृतवतीति पचाद्यच् प्रत्ययार्थः। दिवेर्व्यवहारार्थमाहुः असत्यमपीति। अनेन क्रीडार्थोप्युक्तः। 'प्राणसंकटे नानृतं स्याज्जुगुप्सित'मिति वाक्यात्। अनालोचितेति न विचारितं कन्यायाचकस्य कंसस्य स्वरूपं यया तादृशी। अनालो-चितेति अनालोचितो याचको येन। अनालोचितस्य याचकोनालोचितयाचकः इति वा। कालज्ञानादिति क्षत्रियस्य त्रिकर्म-त्वाद्याचनानौचित्येपि आपत्काले तदुचितमेवेति तादृशकालज्ञानात् तथेति भगवान् तथायाचनानुरूपं तस्या मोचनं करिष्यति कंसक्रियायाः भगवदीयत्वात्। दाने प्रतारकत्वदोषनिवृत्त्यर्थमिति नार्थः। कन्यानैकत्र्याभावादित्याशयेनाहुः अन्यथेति। अयाचने, कन्यामारणे। मातुलेति मातुर्भ्राता मातुलः। अयं पक्षः क्वचित् वर्तते 'त्यक्त्वा चांद्रायणं चरे'दिति वाक्ये तादृशवाक्ये क्वचिन्मा-तुलकन्यापरिणयनपक्षाभावे तत्त्यागो नोपपद्येत। पितोग्रसेनो यथा तथा देवकोपि पितृभ्रातृत्वात्। तस्य कन्या देवकी कंसस्य स्वसा भगिनी। तस्याः कन्या तव सुतेन परिणेया। यथा माता तद्भ्राता तयोः सम्बन्धस्तुल्यः तथा पिता कंसस्तत्स्वसा देवकीति कंसपुत्रसम्बन्धस्तुल्यः। तत्र दृष्टान्तः यथेति। 'राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविंदां पितृष्वसुः प्रसह्य हृतवान् कृष्णः राजन् राज्ञां प्रपश्यता'मिति वाक्यात्। पितृष्वसुः वसुदेवभगिन्याः तनयामित्यर्थः। स्नुषा भवतीति स्नु प्रस्रवणे। स्नु व्रश्चिकृत्युषिभ्यः किदिति सः। षत्वम् 'समाः स्नुषाजनीवध्व' इतिकोशात्। त्रीणि पुत्रभार्योया इति व्याख्यानम्। तथापि 'समा' इति पदस्यान्यत्रापि शक्तिमाहुः अनेनेति। स्नुषेति पुत्रीपुत्रभार्यासमपदृदानेन समतया भ्रातृभगिन्योः पुत्रिकेतिवक्ष्यमाणत्वात्। पुत्रिकेतिवक्ष्यमाणपदे तवपदव्यव-हितस्य देवीपदस्य नान्वय इति यशोदादेवकीकंसानां समा पुत्रिकेयमिति सहजमिति कन्यया सह प्रादुर्भूतम्। पुत्र एवेति नवम-स्कन्धेऽनुक्तेरेवकारः। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेराहुः त्वं पुत्रजननेति। तवापि पुत्रो भविष्यतीति पुत्रिकाधर्मेणापि॥ ४॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

श्रीमद्भागवतजी के दशम स्कन्ध के जन्मप्रकरण के चार अध्यायों में से प्रथम तीन अध्यायों में क्रमशः (१) हेतु (२) उद्यम (३) रूपान्तर स्वीकरण ये तीन विषय आयें। प्रथम अध्याय में भगवान के भूतल पर पधारने के कारणरूप भक्तजन के दुःखों का निरूपण किया है। द्वितीयाध्याय में चतुर्भुज से द्विभुजरूप को स्वीकार करना यह रूपान्तर स्वीकरण है इसका वर्णन तृतीयाध्याय में है। अब इस चतुर्थाध्याय में माया के कार्य का निरूपण होने से "कापट्य" नाम का चतुर्थ विषय का निरूपण किया जा रहा है और धर्मरक्षार्थ अनिरुद्धव्यूह का प्राकट्य भी इसी अध्याय में कहा गया है। किसी से जिसका अवरोध नहीं किया जावे वही अनिरुद्ध है और जो किसी से अवरुद्ध नहीं होता वही धर्म की रक्षा कर पाता

है। परन्तु धर्मरक्षण की तभी आवश्यकता पड़ती है जब माया अधर्म का प्रसार करे। इसी अन्तिम बात का निरूपण नीचे की कारिका से किया जा रहा है।

कारिकार्थ :— प्रथम कारिका—**मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते**—अब आचार्यचरण प्रथम कारिका में आज्ञा करते हैं कि इस चतुर्थ अध्याय में सब को दुःख देना, धर्म को नष्ट करना आदि जो माया के कार्य हैं उनका निरूपण करते हैं। यदि माया ऐसा कार्य नहीं करती तो माता देवकी जी को बन्धन से छुड़ाना, सबको सुख देना, तथा धर्मरक्षा आदि कार्यों के करने के लिये भगवान् के पधारने की आवश्यकता नहीं होती। अतः भगवान् के इन सर्व कार्यों में "भक्तों को दुःख देना आदि माया के कार्य ही" कारण हैं माया यदि कंस द्वारा भक्तों को दुःख दिलाना आदि कार्य न करती तो भगवान् के उपरोक्त कार्य भी नहीं होते ॥ १ ॥

द्वितीय कारिका—**ज्ञापने दुःखसुखदे ततोऽपि ज्ञापने तथा**—अब आचार्य द्वितीय कारिका में जताते है कि माया ने रुदन कर के द्वारपालों को यह बताया कि मैं उत्पन्न हो गई हूं (१) इस के पश्चात् गृहरक्षकों ने भी कंस को बालक का जन्म होना बताया (२) ये दोनों बातें दूसरी कारिका के प्रारभ में आये प्रथमा द्विवचनान्त "ज्ञापने" पद से बताई गई है। यह "ज्ञापने" प्रथमा विभक्ति का द्विवचनान्त पद है। अत एव माया का अपने आप को बताना और कंस को रक्षकों द्वारा सूचित कराना, ये दो कार्य माया के कहे गये हैं। कारिका के द्वितीय पाद में आया हुआ ज्ञापने पद का तात्पर्य यह है कि माया के ये कार्य वसुदेवादि को दुःख देने वाले और कंस को सुख देने वाले हुए। बाद में माया ने **जातः खलु तवान्तकृत्** "तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है" ऐसा कहा (१) और इसी बात को कंस ने अपने मन्त्रियों को बताया। (२) यह दो बात कारिका में आये दूसरे "**ज्ञापने**" पद से कही है। ये दोनों कार्य भी भक्तों को दुःख देने वाले और कंसादि को सुख देने वाले हुए। यदि माया यह कार्य नहीं करती तो कंस और कंस के सेवक धर्मनाश के लिये प्रयत्नशील नहीं होते ॥ २ ॥

तामसप्रभुक्ते राज्ये कृतो धर्मस्तु तद्गतः—अब आचार्यचरण तृतीय कारिका में कहते हैं कि भगवान् का अवतार तो धर्मरक्षा के लिये होता है तो यह अवतार धर्मनाश में कारण कैसे बना ? क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के भय से ही कंस ने ये सब पाप किये इस लिये भगवान् का प्राकट्य ही इस अधर्म में कारण हुआ किन्तु यह भग ान के कारण होना उचित नहीं था यदि ऐसी आशंका करें तो इस पर कहते हैं कि कंस तामसवृत्ति का राजा था अतः उसके राज्य में पशु आदि तथा उनसे होने वाले यज्ञादि धर्म सब ही तामस थे। इस कारण उनका नाश कराना आवश्यक था ॥ ३ ॥

ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः—अब आचार्यचरण चतुर्थ कारिका में जताते हैं कि यज्ञादि धर्म-संपादन में अंगभूत जो ब्राह्मण थे वे भी उस प्रदेश में स्वभावतः तामसवृत्ति के थे एवं वह समय भी तामस था। इसलिये कंस के द्वारा निवृत्ति कराने के अनन्तर जो धर्म स्थापित किया गया वह सात्त्विक धर्म हुआ ॥ ४ ॥

भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्यम् इति ज्ञापयितुमुद्घाटितकपाटानां द्वाराणां पुनः पिधानमाह।

भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्यम् भगवान् का कार्य आवरणों को दूर करना एवं बन्धन से मुक्त करना है इसलिये भगवान् के पधारने पर सब द्वार खुल गये और श्री वसुदेवजी बन्धन से मुक्त हो गये। लेकिन माया का कार्य भगवान् के कार्य से विपरीत प्रकार का होता है, माया धर्म का नाश करती है और जीवों को बन्धन में डालती हैं तथा आवरण को पैदा करती है। इसी लिये माया के आने से आवरणरूप बाहर भीतर के द्वारों के किंवाड बन्ध हो गये और वसुदेवजी पहिले की भांति बन्धन में पड़ गये। इस विषय को नीचे के श्लोक में कहते हैं।

बहिरन्तरिति पुरो बहिर्द्वाराण्यवान्तरद्वाराणि च आचार्यचरण कहते हैं कि माया के आने पर मथुरा नगरी के बाहर एवं भीतर के सभी दरवाजे पहिले की तरह बन्द हो गये। यदि गृहपालों के जागने तक दरवाजे खुले ही रहते और श्री वसुदेवजी बन्धनमुक्त पाये जाते तो द्वारपालों को विलक्षणता मालूम पड़ती और वे यह समझ जाते कि वसुदेवजी ने ही गुप्त-रूप में कुछ गडबडी की है इसलिये माया ने पुनः पहिले की स्थिति पैदा कर दी। भगवान् के प्राकट्य से, पूर्व में भगवान् के दर्शन और वचनामृतों से वसुदेवजी देवकीजी के निवृत्त हुए भय की पुनः उत्पत्ति करने के लिये ही मायाने रोदन किया, बालिका के रोदन से सब प्रसूतिगृह के रक्षक द्वारपाल जाग गये, यह प्रसङ्ग श्लोक में आये हुए "ततः" पद से कहा है। यहां "ततः" पद का "इसके अनन्तर" यह अर्थ नहीं है किन्तु "उस रोदन से" ऐसा अर्थ है अर्थात् उत्पन्न हुए बालक के रोदन से प्रसूतिगृह के रक्षक ठीक रूप से जाग गये ॥ १ ॥

तेषां कृत्यमाह तेत्विति देवक्यादिभिः प्रार्थिता अपि— आचार्यचरण कहते हैं कि व्यास महर्षि "ते तु" श्लोक से द्वारपालों के कार्य को कहते हैं। उस समय उन रक्षकों को देवकी आदि ने प्रार्थना की कि तुम जाकर राजा-कंस को बालक जन्मकी कथा न कहो परन्तु उन्होंने उनकी प्रार्थना को न माना और कंस को कह ही दिया; यह आशय श्लोक में आये "तु

अव्यय'' से कहा गया है श्लोक में आये ''तूर्णं'' पद का यह अभिप्राय है कि रक्षकों ने बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया और शीघ्रता से जाकर कहा कि देवकी के गर्भ का जन्म हो गया है। रक्षकों ने विचार किया कि यदि हम दूर से ही कहेंगे तो वसुदेवजी व देवकी अपने बालक को संभव है छिपा दें, इसलिये कंस के समीप में जाकर उन्होंने कहा। रक्षकों ने कन्या या बालक का विशेष निर्देश नहीं करते हुए यही कहा कि देवकी के सन्तान हो गया। इस श्लोक में आया हुआ ''तत्'' पद प्रसिद्धार्थक है, उसका अर्थ यह है कि देवकी के गर्भ से-''प्रसिद्ध आठवें सन्तान ने जन्म ले लिया'' है यह बात कंस को कही। श्लोक में आये ''भोजराजाय'' पद का अभिप्राय यह है कि वह कंस भोजवंशियों का राजा है। राजा की आज्ञा का पूरा पालन नहा किया जाय तो वह दण्ड देता हैं। इस लिये रक्षकों ने सोचा कि यदि हमने राजा को सूचना नहीं दी तो कंस, राजा होने से हमें दण्ड देगा। इसी भय के कारण बालक के जन्म की सूचना कंस को दे दिया जो राजा कंस इस संवाद की प्रतीक्षा ही में था, प्रतीक्षा का कारण यह था कि वह उस गर्भ से उद्विग्न था ॥ २ ॥

ततः कंसस्य कृत्यमाह–आचार्यचरण कहते हैं कि रक्षकों से सूचना प्राप्त होने के बाद कंस का कार्य 'स तल्पात्तूर्णम्' इत्यादि श्लोक से कहते हैं कि वह कंस शय्या पर पड़ा हुआ ही था, वह महान बलवान कंस भी तत्काल शय्या से शीघ्र बिना कुछ विचार के प्रथम उठ बैठा, बाद में 'यह मेरा काल है' यह विचार कर ववड़ाया, कि अब आगे मेरे जीवित रहने की सम्भावना नहीं, यह अष्टम बालक भगवान् ही मेरा मृत्युदायी है, उस समय के बाद सब अङ्ग विकल हो गये, वह बेचैन हो गया, शीघ्रता के कारण अन्य सब कार्य छोड़कर किसी भी साधन के अनुसन्धान को न कर सका, मार्ग भी उसे ज्ञात न रहा, ठोकर खाता हुआ, बिखरे हुए केश, देहानुसन्धान रहित वह प्रसवस्थान को पहुँचा ॥ ३ ॥

कारिकाः—त्वदीया कन्यका चेयमतो मह्यं प्रदीयताम्—अब श्रीमदाचार्यचरण चतुर्थ श्लोक के विवेचन के पूर्व में ''त्वदीया कन्यका'' इस कारिका से हेतु-कार्य-फल इन तीन विषयों का आगे के तीन श्लोकों में निरूपण किया जायगा ऐसी आज्ञा करते हैं। देवकी पहिले श्लोक में यह कहती है कि तेरी यह कन्या है यदि दैवसंकेत से भविष्य में तेरे लड़के की स्त्री होने से तेरी यह कन्या के समान है इसलिये इसे तू मुझे दे दे क्योंकि बहिन दान का पात्र है अतः मुझे उसे देना ही चाहिये। यह विषय यहां क्रमशः तीन श्लोकों में कहा है। इन तीन श्लोकों में से प्रथम श्लोक में ''तमाह भ्रातरं देवी'' से तुझे पुत्रवधू रूप फल प्राप्त होगा; ''पुत्रिकैका प्रदीयताम्'' इस दूसरे श्लोक के अंश से दान रूप कार्य का निरूपण और ''नन्वहं ते ह्यवरजा'' से हेतु का निरूपण किया है। शंका होती है कि पहिले के श्लोक में फल का निरूपण है, दूसरे श्लोक में दान रूप कार्य का और तीसरे श्लोक में हेतु का निरूपण है तो कारिका में भी उसी प्रकार से फल, कार्य और हेतु का निर्देश होना चाहिये, फिर हेतु-कार्य-फल ऐसा उलटा उल्लेख क्यों किया गया? इसका समाधान यह किया है कि लोक में देखा गया है कि पहिले कारण होता है फिर कार्य और तत्पश्चात् फल। बस, इसी प्रसिद्धि को लेकर कारिका में ''हेतुकार्यफलैः'' ऐसा कहा है। उस प्रसिद्ध, क्रूर अपने भाई कंस को देवकी जी ने कहा। देवकी यद्यपि देवी रूप है अर्थात् देवता रूप है, देवता सात्त्विक होते हैं, सत्त्वगुण से ''सत्त्वात् संजायते ज्ञानं'' के अनुसार ज्ञान होता है इसलिये देवकी ज्ञानवती भी है परन्तु स्त्रीस्वभाववश, उसने कन्या को कंस से मांगा। शङ्का होती है कि ज्ञान जिसमें होता है उसमें वैराग्य भी होता है तो फिर देवकी जी का उस कन्या में इतना मोह क्यों है? तो कहते हैं कि स्त्री स्वभाव वश देवकी जी ने ऐसा किया क्योंकि ''स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'' जो जीव का स्वभाव है वह सबके शिर पर रहता है अतः स्त्रीस्वभाव के अधीन होकर ऐसा किया। स्त्री में स्वभावतः अधिक मोह होता है। देवकी देवी है इसलिये उसे प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये सब उपायों का ज्ञान है, वह यह समझती है कि कंस अत्यन्त उग्र है इसलिये ''उग्रं स्तुतिभिः'' उग्र व्यक्ति को प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस न्याय के अनुसार दीनता दिखाते हुए इसे प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस विचार से जानबूझ कर भी उस देवकी ने कन्या को छुड़ाने के लिये अपनी दीनता दिखाई। यहां यह शंका होती है कि देवकी देवी होने से देवता थी उसे तो मिथ्या नहीं बोलना चाहिये था क्योंकि ''सत्यं देवेषु'' देवताओं में सत्य की स्थिति है ऐसा श्रुति भगवती ने कहा है। ऐसी दशा में देवकी ने ''यह मेरी अन्तिम सन्तान है'' यह मिथ्या कैसे कहा तो कहते हैं ''स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे'' इस शास्त्र वचन के अनुसार किसी के प्राणों पर संकट हो तो मिथ्या बोलना निन्दित नहीं है। इसलिये देवकी जी ने मिथ्या कहा सो शास्त्रसंमत कार्य किया। श्लोक में जो देवकी के लिये ''कृपणा'' पद का विशेषण दिया है उस पद का अर्थ बिना विचारे मांगने वाली है, जैसा कि कृपण का लक्षण कहा है ''कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचितयाचकः'' कृपण वह होता है जो यह नहीं समझता कि किससे याचना करनी चाहिये और किससे नहीं। देवकी ने कंस के स्वरूप को न समझ याचना की इसलिये वह कृपणा हुई। इस प्रकार कंस के स्वरूप को न जानने वाली वह देवकी करुण याने कृपण हो जैसे कंस से बोली। देवकी सती थी इस लिये उसे यह ज्ञान था कि मैं क्षत्रिया हूँ, क्षत्रिय की याचना नहीं करनी चाहिये तो भी यह याचना का समय है इस लिये मुझे याचना करनी ही चाहिये, यदि मेरा याचना पर भगवान् के सर्वात्मक होने से कदाचित् भगवान् कंस को कन्या देने के लिये प्रेरित करदे तो कंस का अनिष्ट कभी भी नहीं

होगा। अथवा सती पद का दूसरा यह भी अभिप्राय है कि देवकी सन्नारी है। जैसे सत्पुरुष अनिष्ट करने वाले का भी हित चाहते हैं वैसे ही देवकी सत्स्त्री होने से सोचती है कि यदि कंस को भगवान् कन्या देने के लिये प्रेरित कर दें तो कंस का भी अनिष्ट न हो कन्या का भी रक्षण हो जाय। यहां "सती" पद का यह भी अभिप्राय है कि सती स्त्री सदा पति का इष्ट ही चिन्तन करती है इस लिये उसने विचार किया कि यदि मैं कंस से कन्या को छुड़ाने का आग्रह नहीं करूँगी तो लोग मेरे पति वसुदेवजी को यह दोष लगायेंगे कि वसुदेवजी कैसे व्यक्ति हैं जो अपने पुत्र को तो रख आये और मारने के लिये दूसरे की कन्या को ले आये। देवकी ने आग्रह पूर्वक जब कन्या को छुड़ाने का प्रयत्न किया तो वसुदेवजी को उक्त दोष नहीं लगा क्योंकि ऐसी स्थिति में विवशता मालूम पड़ी। यहां "स्नुषा" पद का तात्पर्य यह है कि मामा की लड़की के साथ जैसे विवाह करने का पक्ष है वैसे ही पितृस्वसा बूआ की लड़की के साथ विवाह करने का पक्ष है। जैसे भगवान् ने मित्रविन्दा के साथ विवाह किया परन्तु यह सब कुछ तब ही हो सकता है जब कंस का पुत्र देवकी की कन्या के साथ विवाह करे। परंतु कंस के पुत्र नहीं है तो ऐसा सम्बन्ध न बनने से देवकी की कन्या कंस की स्नुषा पुत्रवधू कैसे होगी तो देवकी कहती है कि हे भाई! हे कल्याण! तू कल्याण-रूप है अतः पुत्र पैदा करने में समर्थ है क्योंकि कल्याण रूप होने से तेरे पुत्र अवश्य होगा और एक बात यह भी है कि मेरी सन्तान की यदि तू रक्षा करेगा तो तेरे भी पुत्र अवश्य होगा। यदि तू समझे कि यह मेरी पुत्रवधू नहीं होगी तब भी यह स्त्री जाति की होने से मारने योग्य नहीं है। भैया ऐसा तुझे विवेक है भी; यदि ऐसा विवेक न होता तो मुझे ही तू ने क्यों न मार दिया। तू ने स्वयं कहा है कि "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम" सबसे प्रथम स्त्री जाति को ही मारना उचित नहीं है फिर सगर्भा स्त्री उसमें भी छोटी भगिनी का वध कैसे किया जाय! भैया यदि तेरे हो यह वचन है तो यह भी कन्या है तो मत मार मुझे दे दे तेरा भला होगा॥ ४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

मायावाक्यं समाकर्ण्य कंसो भीतोऽथ मन्त्रिभिः। मन्त्रं समर्थयामास चतुर्थे तन्निरूप्यते॥ १॥

एवं सप्रपञ्चं भगवदवतारं निरूप्याथ तदग्रिमं वृत्तं निरूपयति—बहिरिति। बहिर्द्वारः पुरद्वारः अन्तःपुरद्वारश्च सर्वाः पूर्ववदेवावृताः मायाप्रभावेण स्वयमेव पिहिता जाताः। तावत् सा कन्याऽपि न रुरोद। ततस्तदनन्तरं च बालध्वनिं कन्यारोदनं श्रुत्वा वसुदेवाधिष्ठितगृहपालाः समुत्थिताः॥ १॥ ते गृहपालाः तूर्णं शीघ्रमुपव्रज्य कंससमीपं गत्वा यत् गर्भजन्म उद्विग्नो भीतः सन् प्रतीक्षते तत् देवक्या अष्टमगर्भजन्म भोजराजाय कंसाय आचख्युः॥ २॥ स कंसः श्रुत्वा तूर्णमेव तल्पादुत्थाय तूर्णमेव सूतीगृहमगादित्यन्वयः। तत्र हेतुमाह—कालोऽयमिति। तद्वधसमयोऽयमित्यर्थः। मृत्युरयमिति वार्थः। इति कृत्वा विह्वलः व्याकुल इति। व्याकुलतालिङ्गमाह—प्रस्खलन् विक्षिप्तगतिः सन्, तथा मुक्ता विक्षिप्ता मूर्धजाः केशा यस्य स इति। अनेन तस्य प्रस्थान एवापशकुनं जातमिति सूचितम्। अत एवाग्रे कन्यामारणरूपेष्टाप्राप्तिः शोकरूपानिष्टप्राप्तिश्चेति ज्ञेयम्॥ ३॥ तं भ्रातरं देवी देवकी करुणं दैन्यं यथा स्यात्तथाऽऽहेत्यन्वयः। तत्र हेतुमाह - कृपणेति। पूर्वबालकवधस्मरणेन दीनेत्यर्थः। हेत्वन्तरमाह — सतीति। धर्मबुद्धिरित्यर्थः। "स्वपुत्रं सङ्गोप्य तत्प्रतिनिधितया मारणार्थं परकीयकन्याप्रदाने महानधर्म" इति ज्ञात्वा तन्मा भूदित्याशयवतीत्याशयः। तद्वाक्यमाह—स्नुषेयमिति सार्द्धद्वयेन। प्रसादित एव त्यक्ष्यतीत्याशयेन दुष्टमपि सुजनत्वेन सम्बोधयति - कल्याणेति। स्त्रियं हन्तुं नार्हसीति स्त्रियाः सकाशात्तव भयाभावात्, एतद्वधे दोषाधिक्याच्चेत्याशयः। दीना चेयमित्याह—स्नुषेयं तवेति। स्नुषावत्त्वया पालनयोग्येत्यर्थः॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तुर्ये चण्डीगिरो भीतः कंसो बालादिहिंसनम्। दुर्मन्त्र्युक्तं हितं मेने श्लोकास्तत्राद्रिवार्द्धयः (४७)॥

चत्वार्युवाचेति सार्द्धाः सप्तवेदा (४७) अनुष्टुभः॥ ४॥ बहिरिति द्वयम्॥ बहिर्द्वारः पुरद्वारः अन्तःपुरद्वारश्च सर्वाः पूर्ववदेवावृता मायाप्रभावेण स्वयमेव पिहिता जाताः। ततो बालध्वनिं कन्यारोदनं श्रुत्वा समुत्थिताः वसुदेवाधिष्ठितगृहपालाः तूर्णं शीघ्रमुपव्रज्य कंससमीपं गत्वा यद्गर्भजन्म उद्विग्नो भीतः सन् प्रतीक्षते तत् देवक्या अष्टमगर्भजन्म भोजराजाय कंसाय आचख्युः॥ १-२॥ स तल्पादिति॥ स कंसः तल्पात् शयनात् तूर्णमुत्थाय बालं हन्तुमयमेव काल इति। यद्वा। अयं बालः मम कालो मृत्युरस्तीति एवं विह्वलो व्याकुलः प्रस्खलन् विक्षिप्तगतिः सन् मुक्ताः विक्षिप्ता मूर्द्धजाः केशा यस्य स तादृशः सन् तूर्णमेव सूतीगृहमगात्॥ ३॥ तमाहेति॥ कृपणा दीना सती सद्बुद्धिः देवी देवकी तं भ्रातरं करुणं दैन्यसहितं यथा स्यात्तथा आह स्म। हे कल्याण! अष्टमगर्भे कन्योत्पत्त्या कल्याण इयं तव स्नुषा पुत्रवधूर्भविष्यति स्नुषावत् पाल्या वा अतः श्रियम् असमर्थामवध्यां चेत्यर्थः। एतां हन्तुं मा अर्हसि॥ ४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चण्डिकावाक्यमाकर्ण्य चतुर्थेऽतिमयाकुलः । बालादेर्हिसनं कंसो दुर्मन्त्र्युक्तमवैद्धितम् ॥ १ ॥

एवं भगवतारं सप्रपञ्चं प्रस्तुत्याथेतः प्रभृति कंसोद्योगं प्रस्तौति । बहिरिति । यदा वसुदेवः पूर्ववदास्ते तदेति शेषः । बहिः अन्तश्च, सर्वाः पुरद्वारः, पूर्ववत् आवृताः । ततः, बालध्वनिं शिशुरोदनं, श्रुत्वा आकर्ण्य, गृहपालाः वसुदेवाधिष्ठितकारागृहपालाः, समुत्थिताः बभूवुः ॥ १ ॥ ते त्विति । ते तु ते गृहपाला अपि, तूर्णं शीघ्रं, उपव्रज्य कंससमीपमेत्य, देवक्याः, तत् गर्भजन्म गर्भस्थशिशूत्पत्तिं, भोजराजाय कंसाय, आचख्युः । कथंभूतं गर्भजन्म, यद्गर्भजन्म एव, कंसः उद्विग्नः मृत्युभयभीतः सन्, प्रतीक्षते तथाभूतमित्यर्थः ॥ २ ॥ स इति । स भोजराजः, कालः अयं, मम मृत्युरेवायं जात इति बुद्ध्येत्यर्थः । यद्वा, अयमेव काल एव एवैतद्वधकालोऽस्मिन् काले एतद्वधेऽविहितेऽसावेव मां हन्यादिति बुद्ध्येत्यर्थः । तूर्णं तत्क्षणमेव, तल्पाच्छयनात्, उत्थाय, विह्वलः कातरः अनवहित इति यावत् । अत एव, प्रस्खलन् विक्षिप्तगतिः, मुक्ता विक्षिप्ता मूर्द्धजाः केशा यस्य स तथाभूतः सन्, तूर्णं शीघ्रं, सूतीगृहं सूतिकागृहं, अगात्प्राप्तवान् ॥ ३ ॥ तमिति । तमुक्तप्रकारेणागतं, भ्रातरं कंसं, देवी देवकी, कृपणा दीना सती, करुणं यथा तथा, आहोवाच । तदेवाह । स्नुषेयमिति सार्द्धद्वयेन । हे कल्याण, तव इयं स्नुषा पुत्रभार्या, तव पुत्रेण विवाहयिष्यामीत्यर्थः । अतः, एनां स्त्रियं, त्वं हन्तुं, मा अर्हसि योग्यो न भवसि ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वहिरन्त इति : १०.४ १.

स्वशक्तिमैशीमपि शक्तिमैशी विबोधयन्त्यात्मनि सा तदानीम् । चक्रेऽखिलद्वारपिधानयोगं तद्द्वास्थनिद्राऽपगमं च युक्तम् ॥ १ ॥

तमाहेति : १०.४.४.

स्वकार्यमात्रार्पितदृक्परस्य विनाशयेदिष्टमसौ कृतघ्नः । भवत्यतो युक्तमधात् प्रयत्नं सती यशोदा तनयावनार्थम् ॥ २ ॥
स्वापत्यादप्यलं रक्ष्यं स्वाप्तापत्यमितीरितम् । सल्लक्षणं सदा सद्भिरिति साऽऽसीत्प्रयत्नभाक् ॥ ३ ॥
पश्यन्त्या अपि रूपमैशमुदभून्मायाश्रितायास्तदा देवक्या हृदये ममत्वमिति यत् तद्युक्तमेतत् पुनः ।
चित्रं भूर्यविवेकिनोऽपि ममतामायासमालम्बिनः कंसस्याविरभून्न चेतसि मनागज्ञाततत्त्वस्थितेः ॥ ४ ॥

कृष्णप्रिया

श्री शुकदेवजी ने कहा कि राजन् जब श्री वसुदेवजी लौट आये तब मथुरा नगर के बाहर तथा भीतर के सभी दरवाजे पहिले की तरह बन्द हो गये । पुनः बालक के रोने की ध्वनि को सुनकर उसमें प्रसूतिगृह के रक्षक ठीकरूप से जाग गये ॥ १ ॥ वे द्वारपाल शीघ्र भोजराज कंस के पास पहुँचे और आठवें गर्भ ने जन्म ले लिया यह कहा । कंस यही प्रतीक्षा कर रहा था कि बालक का जन्म कब होगा प्रतीक्षा में कारण यह था कि वह उससे उद्विग्न आकुल व्याकुल था ॥ २ ॥ द्वारपालों की बात सुनते ही शीघ्रता से कंस शय्या से उठ खड़ा हुआ और "मेरा काल पैदा हो गया" इस विचार से विह्वल होकर लड़खड़ाता हुआ केश बिखरे हुए ही प्रसूतिगृह की ओर वेग से पहुँच गया ॥ ३ ॥ उस कंस से विना विचार किये ही मांगने वाली वह देवकी देवी करुण की तरह अपने भाई से बोली कि हे भाई ! यह कन्या तेरी पुत्रवधु होगी इसलिये, और स्त्री जाति की होने से तुझे इसे मारना ठीक नहीं है ॥ ४ ॥

बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः । त्वया दैवविसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥
नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो । दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥ ६ ॥

उपगुह्यात्मजामेवं रुदन्त्या[१] दीनदीनवत् । याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ॥ ७ ॥
तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् । अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भ्रातः पावकोपमाः बहवः शिशवः दैवविसृष्टेन त्वया हिंसिताः एका कन्या (त्वया) प्रदीयताम् ॥ ५ ॥ प्रभो ! अहम् हतसुता दीना ते हि अवरजा हे अङ्ग । मन्दायाः इमाम् चरमां प्रजाम् दातुम् अर्हसि ॥ ६ ॥ आत्मजाम् इति उपगुह्य दीनदीनवत् रुदन्त्या एवं याचितः विनिर्भर्त्स्य खलः हस्तात् ताम् आचिच्छिदे ॥७॥ जातमात्राम् तां स्वसुः सुताम् चरणयोः गृहीत्वा स्वार्थोन्मूलितसौहृदः अथ शिलापृष्ठे अपोथयत् ॥ ८ ॥

१. श्रीशुक उवाच-श्रीधर. वंशी. गिरि भक्त. । २. रुदतया-श्रीधर. वंशी. ; रुदन्त्या-गिरि. भक्त ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अंग हे भ्रातः ॥ ६ ॥ दीनदीनवत् दीनादपि दीनवन्न तु तथा। पुत्रस्यान्यत्र नीतत्वात्सा च योगमायेति ज्ञातत्वात्। याचितोऽप्याचिच्छिदे हस्तादाकृष्य जग्राह ॥ ७ ॥ अपोथयद्बलेन चिक्षेप ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

बह्व इति निर्दयत्वमुक्त्वा शंकमानाह—दैवेति। ममैवैतद्दुर्दिष्टं तव को दोष इति भावः। प्रदीयतामिति। त्वमपि मां शून्यक्रोडां मा कुर्वित्यर्थः ॥ ५ ॥ चरमाम्। इतोग्रे मम संतत्याशा नेति भावः ॥ ६ ॥ बलाद्ग्रहणे हेतुः—खल इति ॥ ७ ॥ 'अर्थी दोषं न पश्यति' इति न्यायमाश्रित्याह—स्वार्थेति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भ्रातरिति स्नेहं जनयति, पावकवत् तेजस्विनः बह्व इति निर्दयत्वमुक्त्वा शङ्कमानाह—दैवेति। एकेति गूढोपालम्भं दैन्यं कार्पण्यात् ॥ ५ ॥ स्नेहमुत्पादयन्ती पुनरपि तथैव प्रार्थयते—नन्विति। निश्चये हि यतः दीना बन्धनागारवासादिना प्रभो हे अदेयदानेऽपि समर्थ ! मन्दायै पुत्रभाग्यहीनायै मे मह्यं इमामिति पाठे इमामपोत्यर्थः। सद्योजातां किञ्चिदपि कर्त्तुमक्षमां नतु अष्टमगर्भत्वादियं कन्याऽवश्यहन्तव्या यतः चरमां वार्द्धक्येन त्वद्भयेनाप्यन्यापत्योत्पत्तिसम्भावनानिवृत्तेः ॥ ६ ॥ आत्मजामिति। श्रीयशोदया सहाख्याः साख्येनाभिन्नमन्यत्वविवक्षया अत एव दीनदीनवदिति दीनदीनो यो जनस्तद्वत् कर्मधारयवदुत्तरपदेष्वित्यधिकारस्थेन "प्रकारे गुणवचनस्य" (८।१।१२) इति सूत्रेण द्विरुक्त्या हि दीनदीनः सिद्ध्यति "भीतभीत इव शीतमयूखः" इतिवत् मायादित्वज्ञानेऽपि स्नेहलस्वभावेन "क्रूरे नीचेऽधमे खलः" इति विश्वः ॥ ७ ॥ खलत्वमेव दर्शयति—तामिति। जातमात्रां गर्भजलादिक्लिन्नामित्यर्थः। तथा च श्रीहरिवंशे "सा गर्भशयनक्लिष्टा गर्भाम्बुक्लिन्नमूर्द्धजा" इति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भ्रातरिति स्नेहं जनयति। पावकोपमास्तेजसा जाज्वल्यमाना इत्यर्थः। दैवम् तेषामेव तादृगदृष्टं तेनैव प्रेरितेनेति तत्र तव दोषो नास्तीति भावः; तत्त्ववस्तु परमनिर्दयत्वमुक्तम्, तादृश-बहुल-बालक-हननात्। एकेति पश्चादन्यपुत्रजन्माभावात्; अतएव वक्ष्यति—चरमामिति ॥ ५ ॥ कार्पण्यात् स्नेहमुत्पादयन्ती पुनरपि तथैव प्रार्थयते— नन्विति निश्चये; हि यतो दीना बन्धनागारवासादिना; प्रभो ! हे अदेयदानेऽपि समर्थ ! मन्दायाः पुत्रभाग्यहीनाया मे—चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। 'इमाम्' इति पाठे सद्योजातां किञ्चिदपि कर्त्तुमक्षमाम् नन्वष्टमत्वादियमवश्यं हन्तव्या, अन्या जनिष्यमाणा दातव्या ? तत्राह—चरमामिति, वार्द्धक्येन त्वद्भयेनाप्यन्यापत्योत्पत्ति–सम्भावना–निवृत्तेः। प्रजामपत्यम् श्लेषेण राज्ञस्तत्र प्रजावत् परिपाल्यामित्यर्थः ॥ ६ ॥ आत्मजमिति स्वपुत्रपरिवृत्त्या नीतत्वात्, किंवा सरत्येन श्रीयशोदया महाभेदात्। दीनेति तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, दीनादपि दीनः परमदुःखितो जना यथा, तथैव रुदत्या निजपुत्राणां मारणादपि श्रीयशोदाकन्या–मारणे दुःखविशेषात् ॥ ७ ॥ खलत्वमेव दर्शयति—तामिति। जातमात्रां गर्भजलादिक्लिन्नामित्यर्थः; तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु०-प० ४।३४)—'सा गर्भशयनक्लिष्टा गर्भाम्बुक्लिन्नमुर्द्धजा' इति। स्वसुः सुतामित्यवध्यत्वं बोधयति। स्वार्थं स्वदेहमात्ररक्षार्थमुन्मूलितं सौहृदं येन सः ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आचिच्छिदे हृतवान् ॥ ७ ॥ अपोथयत् अताडयत् स्वार्थोन्मीलितसौहृदः स्वप्रयोजनार्थं त्यक्तस्नेहः ॥ ८–१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दैवनिसृष्टेन दैवप्रेरितेन दैवेन मत्पुत्रमृत्युतया कल्पितेनेत्यर्थः। त्वया बहवः पावकवत्प्रकाशमाना मम शिशवो हताः हे भ्रातः ! इयमेका पुत्रिका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥ ननु, हे भ्रातः ! अहं तवावरजा कनीयसी दीना च हताः सुताः यस्यास्तथाभूता चातो हे प्रभो अङ्ग हे भ्रातः मन्दभाग्यायाः ममैकां चरमामन्त्यां प्रजां कन्यां दातुमर्हसीति ॥ ६ ॥ इत्थमात्मजामुपगुह्योरसि बाहुभ्यां संवेष्ट्य दीनदीनवत् दीनादपि दीनस्तद्वन्नितरां दीनवदित्यर्थः। वत्करणेन स्वसुतस्यान्यत्र स्थितत्वाद्वस्तुतो दैन्याभावः सूच्यते रुदन्त्या तया याचितोऽपि खलो दुरात्मा कंसस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे हृतवान् ॥ ७ ॥ तां जातमात्रामेव न तु कृतनालच्छेदाम् इत्यर्थः। भगिन्याः सुतां चरणयोर्गृहीत्वा स्वप्रयोजनार्थं त्यक्तभगिनीसत्सुतास्नेहः शिलापृष्ठेऽपोथयदताडयत् ॥८॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

दैवेन निसृष्टेन प्रेरितेन ॥ ५ ॥ चरमां प्रजाम् अवरसन्ततिम् ॥ ६ ॥ आचिच्छिदे आकृष्टवान् ॥ ७ ॥ अपोथयत् अताडयत् स्वार्थेन स्वप्रयोजनेन उन्मूलितम् उत्पादितं सौहृदं स्नेहलक्षणं यस्य स तथा ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आत्मजामिति भिन्नात्मतयैवोक्तम् ॥ ७-८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

बह्व इति निर्दयत्वमुक्त्वा शङ्कमानाऽऽह—दैवेति। ममैवैतद्दुरदृष्टं तव को दोष इति भावः। प्रदीयतामित्यनेन त्वयापि मां शून्यक्रोडां मा कुर्विति दैन्यम् ॥ ५ ॥ अङ्ग, हे भ्रातः ! ॥ ६ ॥ एवमनेन प्रकारेणात्मजां स्वकन्यामेवेत्यर्थः। दीनदीनवत् दीनादपि दीनजन इव न तु तथा तस्याः स्वापत्यत्वाभावात् तां देवकीम् आचिच्छिदे आकृष्य जग्राह ॥ ७ ॥ अपोथयत् बलेन चिक्षेप ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे अङ्ग हे भ्रातः ॥ ६ ॥ आत्मजामुपगुह्य दीनादपि दीनवद्रुदन्त्याः हस्तात् एवमुक्तप्रकारेण याचितोपि त्वामष्टमो गर्भो हन्तेति सामान्योक्त्या कन्यामपि वाम् आचिच्छिदे आकृष्य जग्राह आत्मजामिति आत्मजशब्दः औरसे यौगिकोपि पुत्रत्वेन परिगृहीते तु रूढः जनकात्मजेत्यादिवत् मृगं प्रति पञ्चमे आत्मजविश्लेषेति भरतोक्तेश्च तथा च पुत्रो यशोदायाः पुत्रिकादेवक्या-स्तयोर्विनिमयात् अत एव नन्दस्त्वात्मजे इत्यादियोगाः सङ्गच्छन्ते ॥ ७ ॥ अपोथयत् प्रक्षाल्यवस्त्रमिव बलेन चिक्षेप ॥८-११॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

बह्व इति निर्दयतामभिधाय शङ्किता आह दैवेनेति मद्दृष्टं तत्र हेतुः तव न किञ्चिद्दूषणमिति भावः ॥ ५ ॥ अवरजा कनिष्ठा भगिनी मन्दाया भाग्यहीनायाः, अङ्ग हे भ्रातः ! इमां चरमां प्रजां दातुमर्हसीति अनयापि शून्यक्रोडां मा कुरु ॥ ६ ॥ आत्मजां कंसवञ्चनाय प्रकाशितात्मजाभावां तां देवीमुपगुह्य एवं पूर्वोक्तवचनायाः दीनदीनवददतिदीनजनवद्रुदन्त्या देवक्या हस्तादाचिच्छिदे आकृष्य जग्राह दीनदीनवदिति वस्तुतो न तथा भगवताश्वासितत्वात् कन्येयं देवीति ज्ञानाच्च याचितः चरमामिमां प्रजां देहीत्यर्थितोऽपि तां देवकीं निर्भर्त्स्य त्वं कपटिनी मयि मिथ्यास्नेहं करोषि अष्टमादस्माद्गर्भान्मन्मृत्युमिच्छसीति तिरस्कृ-त्येत्यर्थः ॥ ७ ॥ अपोथयत् उच्चैश्चिक्षेप यथा चूर्णितावयवा स्यात् ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे भ्रातः पावकोपमाः शिशवो बहवो हिंसिताः। त्वयेत्युक्त्वा पुनः क्षमापयन्त्याह। दैवनिसृष्टेनेति। अनेन न त्वदुपरि शब्द इत्युक्तवतीति ध्वन्यते। एकेयं पुत्रिका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥ अङ्ग भ्रातरहं तेऽवरजा भगिनी ननु हतसुतेति मन्दायै मह्यमिमां चरमाम्। उभयोर्वृद्धतया भविष्यत्ताकाशा केति तात्कालिकतत्कोपोपशमनाय चरमामित्युक्तिः। प्रजां दातुमर्हसि। दीनेति च मन्दाया इति चान्वये रमां प्रजामिति कटाक्षित आन्तरङ्गिको भावोऽवसेयः। चर गृहं प्रतीति शेषः। मां रमारूपिणीप्रजामिति वा चरमामवरसन्ततिमिति व्याकुर्वते ॥ ६ ॥ किं कंसोऽसौ भगिन्या गिरं श्रुत्वा निववृत उत स्वजीवनाशतोपकृतः प्रववृते तद्विनाश इत्यत आह। उपगूह्येति। दीनदीनवत्। तत्र तस्येवेति षष्ठ्यन्ताद्वतिः। तस्या इव। आत्मजामुपगूह्यालिङ्ग्यैवं याचितोऽपि रुदन्त्या देवक्या हस्तात्तां देवकीं निर्भर्त्सयित्वाऽऽचिच्छिदे आचकर्ष। सर्वसम्भावकमाह। खल इति ॥ ७ ॥ तां स्वसुः सुतां जातमात्रां सद्यो जातां चरणयोः पादयोः। अनेन तदन्तर्गतभृगोश्चरणस्पर्शयोग्यतावत्त्वात्तदनुयानं ध्वन्यते। मुख्यकर्मत्वं तच्छब्दार्थस्य ग्रहणाधिकरणतावोधकतयोपपद्यते चरणयोरिति। महाभाष्येगोज्ञायशांसक्थिनि कर्णे वा गृहीत्वाऽऽन्तर्दयतीवत्तत्त्वनिर्णयटीकायां च शृङ्गे कर्णे वा गृहीत्वा गामिव नागमो नारायणं गमयतीत्युक्तेः। गृहीत्वा शिलापृष्ठेऽपोथयत्तताड। स्वजीवनार्थमेवोन्मूलितं सौहृदं स्नेहो यस्य स्वार्थात्स्वनाशादेप्यत उन्मूलितं सौहृदं येनेति वा। अर्थोऽभिधेयैरवस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वित्यमरः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

अष्टमो मारणीय इति चेत् तत्राह बहवो हिंसिता भ्रातरिति, स्त्रिया मारकत्वं शास्त्रे न सिद्धं, पुत्रास्तु हता एव, यद्यप्येक एव मारणीयस्तत्स्थाने बहवो हताः, भ्रातरितिसम्बोधनं दयार्थम्, आकृत्या पराक्रमोपि तेषु सम्भाव्यत इति तदर्थमाह पावकोपमा इति, स्नेहे त्यक्ष्यतीति तस्य दोषाभावमाह त्वया दैवनिसृष्टेनेति, 'अनुरक्तो गुणान् व्रत' इतिवाक्याद् दैवेन भगवदिच्छया प्रेरितेन भवता पुत्रा हताः, एषा त्ववध्येति दैवेन न प्रेर्यत इतिभावः, एकेयं पुत्रिकाभ्रात्रमतीतीमामप्यन्ततो गत्वा पुत्रिकाधर्मेण दत्त्वा ससन्ताना भविष्यामीति ज्ञापयत्येकेति, यद्यपरोत्पत्स्यते तदा मारणीयेति ज्ञापितं, प्रकर्षेण दीयतामिति कालान्तरेप्यमारणीया ॥५॥ अवश्यदाने हेतुमाह नन्वहमिति, अवश्यं दानमेव फलं, नन्वितिसम्बोधनं युक्तिग्रहणार्थं अहं ते ह्यवरजेति, अवरजत्व उभया-नुभवः प्रमाणम्, अवरजा दयापात्रं, दीना दुःखिता शोकादिना, तत्र हेतुर्हतसुतेति, प्रभो इतिसम्बोधनं दानसामर्थ्यद्योतनार्थम्,

अत एव दातुमर्हसि, मन्दाया इत्यतः परं रजोभावः सूचितः, अतश्चरमां प्रजामिमामिति, अन्या कन्यात्वेन न देयेयमेव देयेति ॥६॥ तथापि न त्यक्तवानित्याहोपगूह्येति, एवमात्मजामुपगूह्य विलापनपूर्वकं रुदन्त्या हस्तात् तां बालामाचिच्छिदे देवकीं विनिर्भर्त्स्य, विनिर्भर्त्सने हेतुस्तां याचितः सन्, आत्मजामिति, आत्मनो भगवतः सकाशाज्जातां, 'व्यवहारे शब्दाः परमार्था एवे'तिन्यायाद् देहादावात्मशब्दवदात्मजशब्दोपि पुत्रत्वेन परिग्रहमात्रत्वेपि वक्तुं शक्यते, एवमितिपदादेतानीदृशानि वाक्यानि बहुवारमुक्तानीति ज्ञापितं, रोदनं यशोदाकन्यकेति, दीनादपि दीना यथा दैवहता पुत्रभर्त्रादिरहिता व्याधिग्रस्तापि भवति सा दीनदीना तथेयं स्वपुत्रनाशं दृष्टवती परापत्यनाशमपि पश्यतीति, हस्तादिति, एकेन हस्तेन तस्या एकं हस्तं धृत्वा द्वितीयेन तस्या द्वितीयहस्तादाचिच्छिदे, एवङ्करणे हेतुः खल इति ॥ ७ ॥ गृहीत्वा यत् कृतवांस्तदाह तां गृहीत्वेति, चरणयोरिति, मारणार्थमेव विपरीततया ग्रहणमात्रेणैव तस्या नाशः सूचितः, जातमात्रामिति, नालादिसहितां, अतिकोमलत्वप्रदर्शनेन तस्य 'खल'त्वं समर्थितं, स्वसुः सुतामिति सर्वथा विरुद्धकर्तृत्वमुक्तम्, अपोथयत् प्रक्षाल्यमानवस्त्रमिव प्रक्षिप्तवान्, शिलाङ्गणस्था यथा स्नानार्था भवति, ननु सौहार्दमुभयविषयकं कथं त्यक्तवानित्याह स्वार्थोन्मूलितसौहृद इति, स्वार्थमुन्मूलितं सौहृदं येन ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

नन्वहमित्यत्र फलमिति, याचनफलम् ॥ ६ ॥ उपगूह्येत्यत्र ननु कन्यायां श्रीदेवक्या आत्मजत्वप्रतीतेरभावात् तत्र सर्वज्ञत्वेन शुकस्यापि तदभावाच्छुकेनात्मजापदं किमित्युक्तमित्यत आहुरात्मन इत्यादि, न व्यवहार इत्यादि, यथा नामपङ्क्त्यां भाषायां कथमर्थे केनचित् सङ्केतितादपि केवलशब्दात् तज्ज्ञानं कथमस्येव बोध इतरेषां तु नेतिवदत्र शुकेरात्मजाशब्द उक्त इत्यर्थः, शुकस्यैवङ्कथने प्रयोजनाभाव इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुर्देहेत्यादि ॥ ७ ॥

बुभुत्सुबोधिका

बहव इत्यत्र लोकाख्यायिकायां क्वचित्स्त्रियाः हंत्रीत्वमत आहुः शास्त्र इति । हता इति तत्र मंडलेष्टानां कृतेष्टमोपि हत इतिभावः । बहव इति कंससंतोषार्थम् । पराक्रमोपीति कंसस्य सः । तस्येति कंसस्य । आहेति दैवसृष्टेनेति विशेषणेनाहेत्यर्थः । अभ्रातृमतीति दाने हेतुः । भ्रातृमती तु न देया । दत्वेति कंसपुत्रायापि ॥ ५ ॥ नन्वहमित्यत्र हेतुमिति कारिकोक्तफलकार्ये पूर्वश्लोकाभ्यामुक्ते इति भावः । अधुना तु हेतुकार्यफलैरितिकारिकांशमानुलोम्यक्रमेणाहुः अवश्येति । फलमिति याचनफलम् । तेन पूर्वश्लोके दानपात्रकार्यं याचनम् । ततः पूर्वश्लोके दानपात्रे हेतुरित्यपि बोध्यम् । उभयेति कंसदेवक्योरनुभवः । सूचित इति मंदशब्दार्थोः विश्वकोशे 'मंदः खले मंदरवे मूर्खेऽल्परोगिणि अभाग्येपि च पातंगिगजजातिप्रभेदयो'रिति । अयं तु सूचितार्थ इत्यर्थः । मंदाल्परोगिणीत्यर्थः । अत इति रजःशुक्रमिश्रणाभावात् ॥ ६ ॥ उपगूह्येत्यत्र यशोदात्मजात्वेन स्वात्मजत्वाभावाच्छुकोक्तात्मजपदाभिधौ वार्थमाहुः आत्मन इत्यादि । 'अहं बीजप्रदः पिते'तिवाक्यात् । नन्वेवं शुकस्य परमार्थोक्तिः कुत इत्यत आहुः व्यवहार इत्यादि । यतो घटपटादिशब्दा अन्येपभ्रंशशब्दाः । गवाक्ष इत्यादयो भवंति तत्र 'गोख' इत्यादयः ः अन्ये भिन्नाः यथा नामपङ्क्त्यां भाषायां कथमर्थे केनचित्संकेतितादपि केशवशब्दात् तत् ज्ञानं कथमर्थस्येव बोध इतरेषां तु नेतिवदत्र शुकेरात्मजाशब्द उक्त इत्यर्थः । देहादाविति भाषायां तथाप्रयोग आत्मोपनिषदुक्तपरमार्थानामेव । अपीति अपिनात्मजाशब्दः । 'हस्ता'दित्यत्रैकत्वं विवक्षितमित्याशयेनाहुः एकेनेति । हेतुरिति स्नेहसूचनेन संचयकरणाद्देवक्याः खलत्वं संचायकत्वं हेतुः । खल संचय इति धातुपाठात् । सकलदोषनिधानत्वं खलत्वं तु नास्ति । 'जिघांसंतं जिघांसीया'दितिमनुवचनात् । सौहृदोन्मूलनस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सति सौहृदे तन्मूलनस्य युक्तत्वात् ॥ ७ ॥ तां गृहीत्वेत्यत्र खलत्वमिति यद्ययं निरभिमानः स्वमरणे तिष्ठेत् तदा भगवान् कंसं न मारयेदतः खलत्वं सकलदोषनिधानत्वं व्यंजनया समर्थितम् । उभयेति भगिनीतत्पुत्रीविषयकम् । स्वार्थमिति स्वजीवनार्थम् । अत्र कंसस्य देवक्यां स्नेहो गत इत्याहुः उन्मूलितमिति । सौहृदं स्नेहः ॥ ८ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी-श्रीसुबोधिनीजी-

आचार्यचरण आगे की बात को समझाते है कि **'अष्टमो मारणीय इति चेत्'** तब माता देवकीजी ने कहा कि यह अष्टम बालक है इसलिये मारना आवश्यक है इस पक्ष का निरूपण करते हुए कहा है कि **'बहवो हिंसिता भ्रातः'** इत्यादि । स्त्री का मारना शास्त्र में सिद्ध नहीं, पुत्रों को तो मार ही दिया है, यद्यपि एक को ही मारना था, उसकी जगह बहुतों को मार दिया है **'भ्रातः'** यह सम्बोधन कंस को दया के लिये किया है, उन मारे गये शिशुओं की आकृति से उनमें पराक्रम की भी सम्भावना की जा सकती है, अतः **'पावकोपमाः'** कहा कि वह अग्नितुल्य थे, स्नेह के होने पर छोड़ देगा, अतः कंस के दोष का अभाव कहा है कि **'त्वया दैवनिसृष्टेन' 'अनुरक्तोगुणान्ब्रूते'** स्नेही गुणों को कहता है—इस वाक्य के अनुसार यह कहा गया है कि दैव या भगवदिच्छा प्रेरित हुए तुमने उन पुत्रों को मारा, उसमें तुम्हारा दोष नहीं, यह कन्या तो वध के योग्य नहीं—अतः दैव की प्रेरणा इसके बध के लिये नहीं हैं, यह भाव है, एक यह पुत्री है, इसको बिना भ्राता नहीं होने के कारण आखिर में पुत्री का धर्म से या इसमें उत्पन्न पुत्र को अपना पुत्र बनाने की प्रतिज्ञा से किसी को देकर मैं सन्तान वाली हो

जाऊँगी। यह 'एका' पद से सूचित किया है। यदि अन्य पुत्री उत्पन्न होगी तो वह मार दी जावै, यह भी सूचित हुआ है। **'प्रदीयताम्'** पद में **'प्र'** उपसर्ग प्रकर्षार्थक है, अतः प्रकर्ष से देने की प्रार्थना का तात्पर्य यह है कि इस कन्या को भैया ! भविष्य में भी मत मारना ॥ ५ ॥

अवश्यदाने हेतुमाह—आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि अब इस 'नन्वहन्ते' श्लोक से अवश्य देने में देवकीमाता **'हेतु'** का निरूपण करती है भैया इस कन्या का दान अवश्य ही मुझे देना चाहिये क्योंकि यह ही मेरे मागने का फल है **'ननु'** यह अव्यय अपनी युक्ति के स्वीकारार्थ किया है, यद्यपि ननु सम्बोधनार्थक पद है फिर भी **'ननु'** पद वहाँ आता है जहाँ युक्ति दिखानी होती है। ननु का अर्थ निश्चय होता है। भैया, निश्चय है कि मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, भैया तेरा और मेरा दोनों का अनुभव प्रमाण है; कि मैं देवकी तुमसे छोटी हूँ। छोटी बहिन दया का पात्र होती है। **'भैया दीना'** शोकादि से मैं दुःखित हूँ, क्योंकि **'हतसुता'** मेरे पुत्र नष्ट किये जा चुके हैं; **'प्रभो !'** यह सम्बोधन दान सामर्थ्य की सूचना करने के लिये किया है कि भैया आप सर्व करने के लिये समर्थ हो, अतः देने योग्य है तू। भैया मैं मन्दभागिनी हूँ क्योंकि मेरा मासिक धर्म निवृत्त हो चुका है यह भाव **'मन्दायाः'** पद से देवकी माता ने सूचित किया है। अतः अन्तिम इस प्रजा सन्तति को दे—यह कहा है, **'इमां'** पद से कहा है कि किसी अन्य लड़की को मुझे कन्या रूप से देना उचित नहीं इसी को देना उचित है ॥ ६ ॥

श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि **"तथापि न त्यक्तवान्"** श्रीदेवकीजी ने दीनता से इतना कहा फिर भी खल कंस ने नहीं माना यह बात अब इस श्लोक से कही जायगी, इस प्रकार लड़की को छिपा कर विलाप करती हुई देवकी को झिड़क कर कंस ने उसके हाथ से कन्या को छीन लिया। झिड़का इसलिये कि देवकी ने माँगा था। इस श्लोक में आये **"आत्मजा"** पद का अर्थ अपने से पैदा हुई लड़की ऐसा होता है परन्तु यहाँ शंका होती है कि देवकी यह नहीं समझती थी कि यह मेरी लड़की है और श्री शुकदेवजी सर्वज्ञ थे इसलिये वे भी इसे देवकी की कन्या नहीं समझते थे तो फिर श्लोक में **"आत्मजा"** यह शब्द कैसे कहा। इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आत्मजा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् से उत्पन्न हुई इस कन्या को आत्मजा कहा ऐसा यहाँ **"आत्मजा"** पद का अर्थ है। आत्मन् शब्द से यहाँ भगवान् अर्थ समझा जाता है जैसा कि कहा है **"व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव"** व्यवहार में आने वाले शब्द अपने मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं करते। "आत्मा" शब्द का मुख्य अर्थ भगवान् है इसलिये यहाँ आत्मजा शब्द का अर्थ "भगवान् से उत्पन्न हुई कन्या" है। यहाँ कहते हैं कि श्रीशुकाचार्य का ऐसा अर्थ करने में कोई तात्पर्य नहीं था इसलिये ऐसा अर्थ मानना उचित नहीं है तो दूसरे पक्ष को लेकर कहते हैं कि जैसे देह इन्द्रिय आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग लोग करते हैं ऐसे ही पुत्र मान लेने पर तथा दत्तक लेने पर आत्मजत्व न होने पर भी आत्मज शब्द का प्रयोग होता है, श्रीदेवकी माताजी ने निज पुत्र के स्थान में लाई गई इस बालिका के अपने पुत्र की तरह मानी थी इसलिये ही यहाँ आत्मजा शब्द का प्रयोग हुआ है। श्लोक में आये **"एवं"** अव्यय से यह सूचित किया कि देवकी ने इस प्रकार के वाक्य अनेक बार कहे। रोदन इसलिये किया कि यह यशोदाजी की कन्या मेरे कारण मारी जा रही है। कंस को कहने के समय देवकी दीनातिदीन थी। जैसे कोई भाग्यहीन होने से पुत्रादि मर जाय तो दीन होती है और वही रोगग्रस्त हो जाने पर अतिदीन बन जाती है, इसी प्रकार अपने पुत्रों के मर जाने से देवकी दीन तो थी ही उस पर भी जब दूसरे की सन्तान को मारता देखा तो वह अत्यन्त दीन हो गई। **हस्ताद्–आचिच्छिदे खलः**— कंस ने एक हाथ से देवकी के एक हाथ को पकड़ा और दूसरे हाथ से कन्या को देवकी के हाथ से छीना। कंस ने ऐसा क्यों किया तो कहते हैं कि वह **"खलः"** दुर्जन था। खल को बुरे कार्य का कोई ख़याल नहीं होता ॥ ७ ॥

गृहीत्वा यत् कृतवान् तदाह—आचार्यचरण कहते हैं कि खल कंस ने देवकीजी के हाथ से कन्या को छीन कर जो कुछ किया सो अब इस **'तां गृहीत्वा'** इत्यादि श्लोक से कहा है। **'चरणयोः'** इस पद से मारने ही के लिये उसे पैरों में उलटी पकड़ने से ही उसका नाश सूचित किया है। **'जातमात्राम्'** इस पद से कहा कि तात्कालिक जन्मवाली जिसका नाभिगत नाल आदि भी अलग नहीं हो पाया है, यह पद कन्या की अत्यन्त कोमलता को दिखलाकर कंस की खलता का समर्थन करता है। इस श्लोक में **'स्वसुः सुताम्'** पद बहिन की लड़की को मारना, कंस के विरूद्ध आचरणपरता के लिये कहा है। **'अपोथयत्'** पद का तात्पर्य धोने के कपड़े की तरह उसे पछाड़ दिया जो आँगन में एक शिला पड़ी थी जैसे स्नान के लिये पड़ी रहती है। बहिन, बहनोई दोनों के विषय में कंस ने प्रीति का त्याग कैसे किया। इस पर कहा है कि **'स्वार्थोन्मूलितसौहृदः'** अपने लिये कंस ने सौहृद प्रीति को उखाड़ कर फेंक दिया है ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'मयि तव क्रौर्यमयुक्तम्' इत्याशयेन सम्बोधयति—भ्रातरिति। एकस्यैव हन्तव्यत्वेपि त्वया बहवः शिशवो हताः। 'न च ते हिंसनयोग्या, निरपराधित्वाच्छोभातिशयवत्त्वाच्च' इत्याशयेनाह—पावकोपमा इति। त्वया हिंसिता इत्युक्ते तद्वैमनस्यमाशङ्क्य तत्प्रसादार्थमाह—दैवनिसृष्टेनेति। अस्मत्प्रारब्धप्रेरितेन त्वया निमित्तमात्रेण हिंसितास्तेन न तव कोऽप्यपराध इत्यर्थः। इयमेका

पुत्रिका प्रदीयतामिति। यदि किञ्चिदन्यदपत्यं जायेत तदा तद्धन्तव्यमित्येकपदेन सूचितम् ॥ ५ ॥ स्वदैन्यं दर्शयन्त्युक्तमेव स्पष्टयति–नन्विति। मयि तव कृपैव युक्तेत्याशयेन सम्बोधयति-हे अङ्गेति। तत्र हेतुमाह– ते तवावरजा कनीयसी भगिनी। 'अत्र तु तवापि न सन्देहः' इत्याशयेनाह-हीति। तत्रापि दीनेति। तत्र हेतुमाह–हतसुतेति। 'अत्रापि न सन्देह' इत्याह-नन्विति। त्वं च मत्प्रार्थित-दाने समर्थोऽसीत्याशयेन सम्बोधयति–हे प्रभो इति। मन्दायै मन्दभाग्यायै मह्यमिमां प्रजां कन्यां दातुमर्हसि। 'इतोऽग्रे को वेदापत्यान्तरं भविष्यति न वा' इत्याशयेनाह—चरमामिति ॥ ६ ॥ एवं तया याचितोऽपि कंसस्तां विनिर्भर्त्स्य वचसा तिरस्कृत्य आत्मजां कन्यामुपगुह्य उरसि बाहुभ्यां संवेष्ट्य दीनादपि दीनवद्रुदन्त्यास्तस्या हस्तात्तामाचिच्छिदे आकृष्य जग्राह। 'तस्यैवं क्रौर्यं नाश्चर्यम् स्वभावत्वात्' इत्याशयेनाह—खल इति। 'क्रूरे नीचेऽधमे खलः' इति विश्वकोशः। वस्तुतस्तु न दीना, 'पुत्रस्यान्यत्र नीतत्वात्' इति वतिप्रयोगः ॥ ७ ॥ तां कन्यां चरणोर्विपरीततया गृहीत्वा अङ्गणे स्नानाद्यर्थं स्थापितायाः शिलायाः पृष्ठे उपरि अपोथयत् बलात् प्रक्षिप्तवान्। निर्दयत्वेन खलत्वं समर्थयन्नाह—जातमात्रामिति। अतिकोमलामित्यर्थः। सर्वथा विरुद्धकर्तृत्वं सूचयन्नाह—स्वसुः सुतामिति। एवं विरुद्धाचरणे हेतुमाह– स्वार्थेति। स्वप्रयोजनमुद्दिश्योन्मूलितं त्यक्तं सौहृदं स्नेहो येन सः ॥८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

बहव इति। हे भ्रातः! दैवनिसृष्टेन अस्मत्प्रारब्धप्रेरितेन अत्र तत्रापि दोषो नास्तीत्यनुनयार्थम्। त्वया पावकोपमाः बह्निवदुज्ज्वलवर्णा बहवः शिशवो हिंसिताः। अतः इयमेका पुत्रिका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥ नन्वहमिति। अङ्ग हे भ्रातः! हे प्रभो! ननु हेतौ यतः अहं ते अवरजा कनिष्ठा भगिनी हतसुता अत एव दीना तस्मात् मन्दायै मन्दभाग्यायै मह्यम् इमां चरमामन्तिमां प्रजां दातुमर्हसि वार्द्धकस्य जातत्वात्। इतोऽग्रे सन्तानोत्पत्त्याशाया अभावात् ॥ ६ ॥ उपगुह्येति। एवं देवक्या याचितोऽपि खलः क्रूरः कंसस्तां विनिर्भर्त्स्य वचसा तिरस्कृत्य आत्मजां कन्यामुपगुह्य उरसि बाहुभ्यां संवेष्ट्य दीनादपि दीनवद्रुदन्त्याः। नुमार्षः। वत्प्रयोगात्र तथा रोदनं पुत्रस्यान्यत्र प्रेषितत्वात्। तस्याश्च योगमायात्वेन ज्ञातत्वात् मायात्वेन ज्ञातत्वेऽपि स्नेहस्वभावाद्वा रोदनम्। दीनसदृशवदिति वा। "प्रकारे गुणवचनस्य" इति द्वित्वम्। तस्या हस्तात्तामाचिच्छिदे बलादाकृष्य जग्राह ॥ ७ ॥ तां गृहीत्वेति ॥ स्वार्थं स्वप्रयोजनमुद्दिश्योन्मूलितं त्यक्तं सौहृदं स्नेहो येन सः कंसः जातमात्रां "गर्भाम्बुक्लिन्नमूर्धजाम्" इति हरि-वंशोक्तेः। स्वसुः सुतां तां कन्यां चरणयोर्विपरीततया गृहित्वा अङ्गणे स्नानाद्यर्थं स्थापितायाः शिलायाः पृष्ठे उपरि अपोथयत् बलात्प्रक्षिप्तवान् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

बहव इति। हे भ्रातः, दैवनिसृष्टेन दैवप्रेरितेन, दैवेन मृत्युतया कल्पितेनेत्यर्थः। त्वया मम पावकोपमाः पावकवत् प्रकाशमानाः, बहवः शिशवः, हिंसिताः हताः। एका इयं, पुत्रिका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥ नन्विति। अङ्ग हे भ्रातः, हे प्रभो, अहं ते तव, अवरजा कनीयसी, दीना हताः सुता यस्याः सा तथाभूता चास्मि ननु। अतः, मन्दाया मन्दभाग्यायाः, इमां चरमामन्त्यां, प्रजां कन्यां, दातुम् अर्हसि हि। 'अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल। सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही' इति नवमस्कन्धे उक्तत्वात्, चरमामित्यस्यान्त्यामित्यर्थे विरोधापाताच्चरैर्मनुष्यैर्मीयते प्रमाणीक्रियते इति चरमा इत्यर्थोऽत्र बोद्धव्यः ॥६॥ उपगुह्येति। एवमित्थं उक्त्वा, आत्मजां, उपगुह्य उरसि धृत्वा, बाहुभ्यां संवेष्ट्य, दीनदीनवद्दीनापि दीनवत् नितरां दीनवदित्यर्थः। वत्करणेन स्वसुतस्यान्यत्र स्थितत्वाद्वस्तुतो दैन्याभावः सूच्यते। रुदन्त्या तया, याचितोऽपि, खलो दुष्टात्मा कंसः, तां देवकीं विनिर्भर्त्स्य, हस्ताद्देवक्याः पाणितः, आचिच्छिदे हृतवान् ॥ ७ ॥ तामिति। जातमात्रामेव न तु कृतनाभिनालच्छेदां, स्वसुर्भगिन्याः, तां सुतां, चरणयोः गृहीत्वा, स्वार्थोन्मूलितं स्वार्थेन मूलत उत्पाटितं सौहृदं यस्य सः, स्वप्रयोजनार्थं त्यक्तभगिनातत्सुतास्नेहः कंस इत्यर्थः। शिलापृष्ठे तत्र पूर्वत एव निपतितायाः शिलायास्तले, अपोथयदताडयत् ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

उपगुह्येति : १०.४.७

जहाति नित्यं हृदि भावितेशान् सदा वृणोत्यच्युतभक्तशत्रून्। सा चित्रकृत्या प्रकृतिस्तदा तद्धस्तात्करं तस्य गतेति युक्तम् ॥ ५ ॥

तां गृहीत्वेति : १०.४.८

निर्विघ्नं निजदीर्घजीवितसुखप्रेप्सू रजःसंश्रयात् तद्धिंसाभिनिवेशधर्षितमतिः स्पष्टं तमःसंश्रयात्।
त्राह्ये नामिनि तद्गिरोऽपि च तिरस्कारादसत्त्वाश्रितः तद्युक्तं त्रिपदां दधार पदयोस्तां तादृशो निर्घृणः ॥ ६ ॥

यदियं पृष्ठतो याता ततो मद्धतिभागभून्। इति किं ध्वनयन् हिंस्रः शिलापृष्ठे व्यपोथयत् ॥ ७ ॥

कृष्णप्रिया

मेरे भैया! मेरे अग्नि के समान तेजस्वी बहुत पुत्रों को तू ने भगवदिच्छा से प्रेरित होकर मार दिया, अब यह एक कन्या जिसके कोई भाई नहीं, ऐसी शेष रही है इसे मुझे दे दे भैया इसे न मार ॥ ५ ॥ हे समर्थ भाई! मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, मेरे बालक नष्ट किये गये हैं इसलिये मैं दीन हूँ अब रजोधर्म नहीं आयगा इसलिये मैं मन्दभागिनी हूँ इसलिये प्यारे भैया इस अन्तिम सन्तान को दे दे ॥ ६ ॥ इस प्रकार बालिका को हृदय से चिपकाकर अत्यन्त दीन की तरह विलाप करती हुई देवकी को भिड़ककर कंस ने उसके हाथ से कन्या को छीन लिया, भिड़का इसलिये कि उसने याचना की थी ॥ ७ ॥ नाल आदि से युक्त ऐसी नवजात अपनी भानजी के पैर पकड़ कर कंस ने उसे शिला पर पटक दिया क्योंकि कंस ने स्वार्थवश सौहार्द को सर्वथा निर्मूल कर दिया था ॥ ८ ॥

सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता । अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९ ॥
दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता । धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा ॥ १० ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः । उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

देव्युवाच[1]

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् । यत्र क्वचित्[2] पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां[3] वृथा ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यः अम्बरं गता विष्णोः अनुजा सा देवी सायुधाष्टमहाभुजा अदृश्यत ॥ ९ ॥ दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता धनुःशूलेषुचर्मासिशंखचक्रगदाधरा उपहृतोरुबलिभिः सिद्धचारणगन्धर्वैः अप्सरःकिन्नरोरगैः स्तूयमाना इदम् अब्रवीत् ॥ १०-११ ॥ मन्द मया हतया किम्! तव अन्तकृत् पूर्वशत्रुः यत्र क्वचित् जातः खलु कृपणां वृथा मा हिंसीः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सद्य एव देवी भूत्वा ॥ ९-११ ॥ कृपणानिति अन्यान्छिशून्हनिष्यतीति ज्ञात्वा वारयति । पाठांतरे मा मां कृपणां वृथाऽहिंसीर्हिंसितवानसीति ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सा कन्या जनैरदृश्यतेति । समुत्पत्याधःक्षिप्यमाणापि बलादुत्प्लुत्य । "कंसासुरस्योत्तमांगे पादं दत्त्वा गता दिवम्" इति भविष्योत्तरे । अनुजा विष्णोरिति कृष्णस्यापि यशोदागर्भजत्वं सूचयति सायुधाष्टेति तस्य भीषणार्थं स्ववाचि विश्वासोत्पत्यर्थञ्च ॥ ९-१० ॥ उपाहृता उपानीता उरवो वलयः पूजा यैस्ते तथा ॥ ११ ॥ पाठांतरे 'कृपणाम्' इति पाठे । यद्यहं हता स्यां तदापि मया हतया किं तव मरणस्यावश्यंभावित्वादित्याह—जात इति । यत्र क वेति वक्तुमनर्हदेशे तद्देशकथनेन देवकीवसुदेववधेऽस्य प्रवृत्तिरधुना मा भूदिति भावः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सा तद्धस्तादिति । सद्यः समुत्पत्य अधः क्षिप्यमाणापि बलादूर्द्ध्वमुत्प्लुत्य अत्र विशेषो भविष्योत्तरे "कंसासुरस्योत्तमांगे पादं दत्वा गता दिवम्" इति देवी दिव्यरूपा सती अदृश्यत कंसादिभिः सर्वैः तच्च निजोक्तौ कंसस्य विश्वासार्थं महाभुजत्वेन महाकायत्वं च विभीषिकार्थं श्रीविष्णोः श्रीदेवकीयशोदयोर्मनसि युगपत्प्रविष्टस्येति तस्यास्तदनुजात्वं साधितम् अनुजेति तत्रापि श्रीयशोदादि दंपतीद्वयस्यैकात्मतां बोधयति एवमात्मजामप्युक्तम् ॥ ९-१० ॥ सिद्धेत्याद्युपलक्षणम् ॥ ११ ॥ मन्द हे अल्पबुद्धे! मया हतया इति यद्यहं हताऽप्यभविष्यमित्यर्थः । यस्तवान्तं करिष्यति स यत्र क्वचिन्निश्चित्य वक्तुमनर्हे देशे जात इत्यतो मयाद्य त्वं न हन्यस इत्यर्थः । स तावत्कः ? इत्यपेक्षायामाह—पूर्वशत्रुः पूर्वजन्मनि यस्त्वां हतवानित्यर्थः । कृपणां देवकीं बन्धनादिना मा हिंसीः पतिसहितामेनां बन्धनान्मोचय धनादिकं च प्रत्यर्पयेत्यर्थः । कृपणानिति पाठे तद्धर्मेणान्यान् बालकान् तौ तत्सम्बन्धिनश्चेत्यर्थः ॥ १२ ॥

१. देव्युवाच इति अन्यत्र न दृश्यते । २. क्व वा—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. ; क्वचिदा—इति कस्यचित् । ३. कृपणान्—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अदृश्यत कंसादिभिः सर्वैर्वक्ष्यमाणनिजोक्तौ कंसस्य विश्वासार्थमत एव तादृशरूपादिप्रकाशनञ्च ज्ञेयम्। विष्णोः श्रीदेवकीगर्भादौ प्रवेशनशीलस्य भगवतोऽनुजा; श्रीयशोदागर्भजातत्वादयं सर्वत्रैव हेतुर्द्रष्टव्यः। आलेपोऽनुलेपः ॥ ९–१० ॥ उपहृतास्तस्यै आनीय समर्पिता उरवो महान्तो बलयो मधुदुग्धाद्युपहारा यैस्तैः ॥ ११ ॥ मन्द ! हे अल्पबुद्धे ! अन्तकृदिति नाशं करिष्यति यः, स यत्र क्वचिद्देशे जातोऽतो मयाद्य न त्वं हन्यस इति भावः। स भावत्क इत्यपेक्षायामाह—पूर्वशत्रुः पूर्वजन्मनि यस्त्वां हतवानित्यर्थः। कृपणां देवकीं मां हिंसीर्बन्धनादिनास्या हिंसां मा कुरु - बन्धनान्मोचय, धनादिकञ्च तदीयं प्रत्यर्पयेत्यर्थः। श्रीदेवक्या गर्भसम्बन्धेनैव श्रीवसुदेवस्य बन्धनात्तस्या मोचनेन तस्यापि स्वतस्तत् सिद्धेः पृथङ्नोक्तम्। 'कृपणान्' इति पाठे देवकीं वसुदेवं तत्सम्बन्धिनश्चेत्यर्थः। वृथेति तद्वधे प्रयोजनाभावात् ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सा विष्णोरनुजा कन्या तस्य कंसस्य हस्तात् समुत्पत्य ऊर्द्ध्वमुत्पत्य सद्य एव देवी स्वरूपं बिभ्रती सत्यम्बरमाकाशं गताऽधिष्ठिता अदृश्यत कंसादिभिर्दृष्टा बभूव कीदृश्यायुधैः सहिताश्च अष्टौ महान्तो भुजा यस्याः ॥ ९ ॥ दिव्यस्रगादिभिः भूषिता अम्बरं वस्त्रम् आयुधान्येव दर्शयन् विशिनष्टि–धनुरादीन् बिभर्तीति तथा ॥ १० ॥ तत उपाहृता समर्पिताः बलय उपायनानि यैस्तैः सिद्धादिभिः स्तूयमानेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ११ ॥ तदेवाह - किमिति। हतयापि मया तव किं प्रयोजनं न किञ्चिदपि हे मन्द ! तवान्तकृत् नाशकृत्पूर्वशत्रुरशरीरवाण्या पूर्वमुक्तः शत्रुः यत्र क्वचित्प्रदेशे जात एव खलु इत ऊर्ध्वं जनिष्यमाणानपि शिशून् हन्यादिति सम्भाव्य वारयति कृपणान् शिशून् वृथा मा हिंसीः ॥ १२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अदृश्यत जनेनेति शेषः ॥ ९–१० ॥ उरवः बलयः पूजा यैस्ते तथा तैः ॥ ११ ॥ त्वया हतया मृतया तव कोऽर्थ इति शेषः, कुत इत्यत्राह, जात इति खलु विचारशून्यस्त्वम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विष्णोरनुजेति च ॥ ९–११ ॥ हतया यद्यहं हताप्यभविष्यमित्यर्थः ॥ १२–१७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

समुत्पत्य अधः क्षिप्यमाणापि बलादुत्प्लुत्य "कंसासुरस्योत्तमाङ्गे पादं दत्वा गता दिवम्" इति भविष्योत्तरम् अनुजा विष्णोरित्यनेन कृष्णस्य यशोदागर्भजत्वं सूचयति—सायुधाष्टेत्यादि कंसस्य भीषणार्थं स्ववाचि विश्वासोत्पत्त्यर्थं च ॥ ९-११ ॥ मया हतया किमिति यद्यहं हताप्यभविष्यमित्यर्थः। यत्र। क्वचित् वक्तुमनर्हे देश इत्यर्थः। कृपणां देवकीं कृपणानिति पाठे अन्यान् शिशून् ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कृपणां गुप्तप्रभावां मात्रङ्कगतां मा माम् अहिंसीः हिंसितवानसि ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

समुत्पत्येति अधःक्षिप्यमानाप्यतिबलादुत्प्लुत्य कंसशिरसि पादप्रहारं कृत्वेत्यर्थः "कंसासुरस्योत्तमाङ्गे पादं दत्त्वा गता दिव"मिति भविष्योत्तरवचनात् विष्णोरनुजेति कृष्णस्य यशोदागर्भजत्वं द्योत्यते, सायुधाष्टेत्यादिकं कंसस्य भयोत्पादनार्थं स्ववाचि तत्प्रत्ययार्थञ्च ॥९ ११॥ किं मया हतयेति यद्यहं हतापि स्यां तथापि ते मृत्युर्न निवर्त्तेतेति भावः। यत्र क्व वा वक्तुमनर्हे तवाप्यगम्ये देशे इत्यर्थः। कृपणान् दीनान् बालान् ॥ १२ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

मां हिंसीः कृपणां वृथेत्यस्य कृपणामिव वृथा मा मामहिंसीरित्यर्थः। ममावध्यत्वात्त्वदीयहननव्यापारो व्यर्थ इति भावः। एतेन कंसेन शिलापृष्ठे पाथने कृतेऽपि तद्धस्तात्समुत्प्लुत्यांबरगतत्वेनावध्यत्वस्य कार्पण्याभावस्य च नित्यत्वात्। कृपणां मां वृथा माहिंसीरिति प्रार्थनं व्यर्थमिति चोद्यं पराकृतम्। कृपणामित्यतः परमिवेत्यस्य शेषमंगीकृत्वा मेत्यस्मच्छब्दद्वितीयैकवचनांतत्वं चाभ्युपगम्याहिंसीरिति पदच्छेदं च स्वीकृत्य कृपणामिव वृथा मा मामहिंसीरित्यर्थस्योक्तत्वात् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सा विष्णोरनुजा देवी तद्धस्तात्कंसहस्तात्समुत्प्लुत्याम्बरे आकाशे गता सती सायुधाष्टभुजाऽदृश्यत ॥ ९ ॥ दिवि भवानि दिव्यानि मनोहराण्यष्टौ। तदायुधाभिधानान्यभिधत्ते। धनुरित्यादिना। ननु काली पीताम्बरधरा गजकुम्भोपमस्तनी। चक्र-

विस्तीर्णजघना चन्द्रवक्त्रा चतुर्भुजेति हरिवंशे शंसनाद्भुजाष्टकोक्तिरेतद्विरुद्धेति चेन्न। भागवतस्य तदुत्तरत्वेन भुजाष्टकतद्गता-युधाष्टकप्रतिपादकतया निरवकाशत्वेन चतुर्भुजेति तदुक्तेरेकभागवतभुजमात्रकथकतया सावकाशताप्रकाशनसम्भवात्। आवृत्त्याऽ-न्वयनेनाष्टकलाभो वा ज्ञेयः। पञ्चमतात्पर्ये। यथा भागवते तूक्तं भौवनं कोशलक्षणम्। तस्याविरोधतो योऽयं सर्वग्रन्थान्तरे स्थितम्। मण्डोदे पूरणं चैव व्यत्यासं क्षीरसागरे। राहुसोमरवीणां च मण्डलाद्द्विगुणाक्तिताम्। विनैतत्सर्वमुन्नेयमित्याद्युक्तेराचार्याभ्यनु-ज्ञानमेतदादौ ज्ञायते। प्रथमे च स्वमोयमतो नेषीकाविरोध इत्याद्युक्तेरेवं व्याकरणं सम्भवि। चित्रैर्कौलिख्यते भित्तौ मन्त्रशास्त्रेषु वर्ण्यत इति निरवकाशं भागवतम्॥ १०॥ उपाहृता उरवो बलयो यैस्तं तैः स्तूयमाना॥ ११॥ किं मया हतया मन्देत्यारभ्य भुवि भौमानोति पर्यन्तश्लोकैः कथ्यमानानि बन्धुत्वं तथा शत्रुत्वं दैवाधीनाः सहासत इति सर्वस्य भगवदधीनत्वचेदनं च कंसस्या-सुरस्य कथमित्यतः प्रमाणेन तत्तात्पर्यमाह। पूतनेति। यद्यपि पुराणे पूतनादिमूलं कंस इति स एवादौ ग्राह्यस्तथाऽपि सर्वापेक्षया पूर्वं पूतनात्रजत्रजनादीति कंससंसारपीठकारूपिणीति तन्निरूपणमदावििति ज्ञेयम्। द्विधा प्रकारप्रकारिणोरभेदादेव मुक्तिरिति वा। द्विधा व्यया तृतीयाया लोपे प्रकारद्वयेन जीवा ज्ञेयाः। एकस्मिंस्तदुभयघटनप्रकारमाह॥ शुभेति। शुभजीवानामूर्वश्यादीनां प्रकाशेन तदावेशविशेषेण कदाचिदेव शुभबुद्ध्योऽसुरप्रवेशे विपर्यये। अन्यथा चाशुभबुद्धयस्तत्र शुभा इतो गता हरिं ययुरसुराश्च घोरं तमो ययुः। यदि तत्र शरीरे मध्यमा अभिमानिनः स्युस्ते मध्यमां गतिमेवापुः। एकदेहगता अपीत्यधिकारिसामान्यान्वयीति ज्ञेयः॥ ततश्चायं श्लोकसप्तकार्थः॥ हे मन्द अज्ञ मया हतया तव किं किं प्रयोजनम्। अष्टमो गर्भो योषित्पुरुषो वेत्यनिर्धार्योभिधानात्त्वमेव मम मृत्युरिति त्वद्जीवनं मज्जीवनकारणमिति तव नाशा भवन्त्वित्याह। तवान्तको मृत्युर्यत्र कचिज्जात इति खलु। देवादिनिवेदिता-सृगाद्यास्वादनं कुर्वन्ती नृत्यन्ती च हसन्ती च विपरीतेन भास्वती। विहायसा गता रौद्रा पिबन्ती पानमुत्तमम्। जहास च महाहासं कंसं च रुषिताऽब्रवीदिति हरिवंशशंसनात्। खलु स्याद्वाक्यभूषायां जिह्वास्वादे च सान्त्वन इति विश्वः। कृपणानुत्तरत्र भविष्य-तस्तोकान्मा हिंसीर्न हिंसय। कृपणामिति पाठे मा मां कृपणां वृथा त्वमहिंसीर्हतवान्। मत्सामर्थ्येनाहं विहायेन देहं विहायसा गता तत्र तु स्त्रीहत्यादोष आयात एवेत्यायताक्ष्यास्तात्पर्यम्। कृपणां मन्मातरं देवकीं वृथा मा हिंसीर्नोपद्रुतां कुर्वित्यपि व्याकुर्वते। कृपणान्पूर्वजान्मां च वृथा हिंसीरिति वाऽन्वयो ज्ञेयः। स जातः पोतः प्राक् त्वद्घातक इत्याह॥ पूर्वशत्रुरिति। पूर्वं त्वामशातयदिति शत्रुः॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

ततो यज्जातं तदाह **सा तद्धस्तादिति**, यदैव पाषाणं प्रति प्रक्षिप्तवांस्तदैव हस्तात् सम्यगुत्पत्योत्पतनं कृत्वा सद्य एव सा देवतारूपा जाता, ततोऽम्बरं **गता**, आकाशे श्येनवत् स्थिता कंसादिभिः सर्वैरेव तथादृश्यत, तस्यास्तथात्वे सामर्थ्यं विष्णोरनुजेति यशोदा देवकी परस्परविचारेणैवैव, पश्चाच्च जाता, यदि वा भगवान् यशोदासुतो यदि वा देवक्या उभयथापि **सानुजा** लोक-प्रसिद्धेः, विष्णोरनुजात्वेन तथा सामर्थ्यं ज्ञापितं, द्विगुणं रूपमाह **सायुधाष्टमहाभुजेति**, भगवत्कार्यं स्वकार्यं च करिष्यतीत्यष्ट-भुजत्वं, भगवत्कार्यं देवक्यादीनां बन्धनिवृत्तिः, स्वकार्यं सर्वेषां दुःखदानं धर्मनाशश्च, भगवत्कृतिसिद्ध्यर्थमायुधसहिता अष्टौ महाभुजा यस्याः, यथा भगवानाविर्भावे विपरीतं रूपं प्रदर्शितवानेवमियमपि॥ ९॥

आविर्भावादिदानीं रूपान्तरं गृहीतवतीति तस्याः सामग्रीमाह **दिव्येति**, दिव्याः स्रजो मालाः, अम्बराणि वस्त्राणि दिव्यान्येव, आलेपश्चन्दनादि, रत्नयुक्तान्याभरणानि च, एवमलङ्करणचतुष्टयसहिता, दर्शनकृतोयं क्रमः, प्रथमतो गन्धादृष्टाया अपि स्रजः प्रतीतिः, ततो वस्त्राणां, ततश्चन्दनाभरणानामिति, आयुधानि गणयति **धनुरिति**, धनुर्वामभागहस्ते, शूलमिषुश्च दक्षिणयोः चर्म वामे, असिर्दक्षिणे, शङ्खो वामे, चक्रं दक्षिणे, गदा वाम इति गदान्तानि बिभर्तीति **गदाधरः**॥ १०॥

तस्याः स्वरूपं भगवत इव सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह **सिद्धचारणेति**, सिद्धचारणगन्धर्वास्त्रिगुणाः, अन्ये च, अप्सरै-रिति 'बहुलं छन्दसी'त्यनेन, ऐकपद्यं तु सुगमं, अस्याः षड्गुणोपजीवका एते कंसदर्शन एव, उपाहृता उरुबलयः पूजासाधनानि यैः, बलिशब्दो जयजयादिशब्दानामप्युपलक्षकः, अतस्तैः स्तूयमाना कंसवधं कर्तुं शक्ताहमिति ज्ञापयन्तीदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥ ११॥

द्वयमत्र वक्तव्यं कथं न हन्यते कथं वा रक्षार्थं न स्थीयत इत्युभयसमाधानं तदाह **किं मयेति**, **मया हतया किम्?** अहं तु हननेप्यपकारं न करोमि, किं पुनरहता? अत एतद्वृत्तान्ताज्ञानात् त्वं **मन्दः**, अवधे हेतुर्जातः खलु तवान्तकृदिति, यस्तु तवान्तं नाशं करिष्यति स तु जात एव क्वचित्, यत्र क्वचिदितिविशेषाकथनं देवगुह्यं, ननु शत्रुत्वाविशेषेपि सामर्थ्ये विद्यमानेपि यद् भगवतैव हन्यते न त्वयेति को विशेष इति चेत् तत्राह **पूर्वशत्रुरिति**, मम त्विदानीं भवाञ्छत्रुः तदप्यन्यबुद्ध्या, भगवांस्तु भवतः **पूर्वशत्रु**रतस्तेनैव हन्तव्यः, आकाशवाण्यापि तथैवोक्तं, अतः **कृपणां देवकीं मा हिंसीः**, तस्या वधे न कोपि पुरुषार्थः सिध्येत्, अतो **वृथैव मा हिंसीः**॥ १२॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः।

सा तद्धस्तादित्यत्रानुजात्वं हि न भगवज्जन्मोत्तरकालिकजन्मताप्रयुक्तमतिप्रसङ्गात् प्रकृते च समातृकत्वसपितृकत्वयोर-भावाच्छुकेन कथमस्यामनुजात्वमुक्तमित्यत आहुर्यशोदेत्यादि, कृष्णोपनिषदि 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी'ति

श्रावितं, तथा 'देवकी ब्रह्मविद्या सा या वेदैरुपगीयते निगमो वसुदेवोय'मिति च श्रावितं, तत्र ज्ञेयस्य ज्ञानरूपलाभहेतुत्वमर्थस्य च शब्दप्रयोगहेतुत्वं लोकेपि स्पष्टं, एवं सति श्रीयशोदाया मुक्तिरूपत्वेन श्रीदेवकीरूपब्रह्मविद्याविषयतयाधिदैविकत्वमिति सेयं च परस्परविचारेणैकैव, आधिदैविकाध्यात्मिकयोस्तथात्वात्, भगवज्जन्मनः पश्चान्माया जाता, एवं तयोरैक्यत्वात् पश्चाज्जातत्वे सिद्धे यदि भगवानाधिदैविक्याः सुतो यदि वाध्यात्मिकया उभयथापि सानुजा, तत्र हेतुर्लोकसिद्धेरिति, लोकप्रसिद्धिरैतिह्यं तस्मात्, 'श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्य'मितिश्रुतौ भगवद्वाक्ये च तस्य प्रमाणत्वेनाङ्गीकारादित्यर्थः ॥ ९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सा तद्धस्तादित्यत्रानुजात्वं साधयन्ति यशोदेति, वसुदेवनन्दयोर्धर्मभ्रातृत्वं, तथा च भ्रातृपुत्रयोरप्यन्योन्यं भ्रातृभगिनी-व्यवहारस्य लोकसिद्धत्वात् तत्तत्पत्नी भ्रात्रोः परस्परविचारेणैकैव, अन्योन्यं भ्रातृत्वविशिष्टसुताः पञ्चापि पाण्डवाः परीक्षितः पितामहा भीष्मश्चैषां तत्र यथा प्रपितामहपुत्रत्वेन तेषामैक्यमादाय पितामहत्वं तथात्र भर्त्रोर्भ्रातृत्वेनैक्यात् तत्पत्न्योश्चैक्यमादाय तत्पुत्र्योर्भ्रातृभगिनीव्यवहार इति तयोरैक्यमितिभावः, ननु भगवतो यशोदासुतत्वपक्षे भगवत्प्रादुर्भावोत्तरक्षणे मायाजननाल्लोके च सहजातयोर्मध्येनन्तरोत्पन्नस्य ज्येष्ठत्वव्यवहारात् कथमस्या अनुजात्वमित्यत आहुः पश्चाच्चेति, यशोदासुतत्वपक्षेप्यनु पश्चाज्जातेति-यौगिकार्थमादाय तथेत्यर्थः, फलितमाहुर्यदि वेति, भगवत्कार्यमिति, निबन्धोक्तप्रकारेणानिरुद्धकार्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

किं मयेत्यस्याभासे न हन्यत इति, कंस इति शेषः, रक्षार्थमिति, देवक्यादीनामितिशेषः, अहं न त्वदपकारकव्यर्यतो मया देवक्या रक्षा कर्तुं न शक्यते इति प्रथमचरण उक्तं, तवान्तकृदन्योस्त्यतो मया त्वं न हन्यस इत्युक्तं, अग्रे वाक्यं त्विति, भगवता सह वाच्यवाचकभावसम्बन्धयुक्तं मायया तु वाच्यवक्तृत्वसम्बन्धयुक्तं अष्टमगर्भरूपा माया तु वक्त्री हन्ता त्वन्य एवेत्यर्थः, तथा चाकाशवाण्या विरुद्धवाक्यमाकर्ण्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

बुभुत्सुबोधिका

सा तद्धस्तादित्यत्र अनुजात्वं हि न भगवज्जन्मोत्तरकालिकजन्मता । तत्कालजातेष्वतिप्रसंगात् । प्रकृते च सममातृक-त्वस्य विष्णुमाययोरभावाच्छुकेन कथमस्यामनुजात्वमुक्तमित्यत आहुः यशोदेत्यादि । एकैवेति यशोदामुक्तिरैक्यरूपा देवकीरूप-ब्रह्मविद्यासाध्या । अतः साधनफले एकीकृत्य निरूपिते । यथा भाष्ये फलाध्याये तथा च श्रुतौ । कृष्णोपनिषदि । 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी'ति । तथा 'देवकी ब्रह्मविद्या सा या वेदैरुपगीयत' इति । पश्चाच्च जातेति अनुजापदस्यार्थः । देवक्यां विष्णुः यशोदायां माया विष्णोः पश्चाज्जाता । लोकप्रसिद्धेरिति ऐतिह्यरूपायाः । 'श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्य'मितिश्रुतौ प्रमाणत्वेनाङ्गीकारात् । भगवत्कार्यमिति ,निबन्धोक्तप्रकारेणानिरुद्धकार्यम् । विपरीतमिति बालरूपमलौकिकरूपाद् विपरीतम् । इयं तु लौकिकरूपं कृत्वा तद्विपरीतमलौकिकं रूपं प्रदर्शितवती । अतो भगवत्कृतिसिद्धिः । तस्या मायाया निवृत्तिर्ज्ञानसाध्यायाः सर्वेष्टत्वात् । 'बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयम' इति निरोधेयं मोक्षो भवति । एवमियमपीत्यस्य गृहीतवतीत्यनेन ग्रन्थेन नान्वयः, किन्तु 'प्रदर्शितवती'त्यन्वयः । विष्णोरनुजा देवी प्रसादकैर्दृश्यतेत्यन्वयः ॥ ९ ॥

दिव्यस्रगित्यत्र तस्याः सामग्रीमाहेत्याभासो न किन्त्वाविर्भावादित्यादिग्रन्थ आभासः । पोथानन्तरं मृतकमदृष्ट्वा रूपान्तरमलौकिकमम्बरं गताम्बररूपं आविर्भावाद्धेतोः गृहीतवतीतिहेतोस्तस्याः रूपान्तरेण भिन्नायास्तच्छब्दवाच्यायास्तच्छब्दार्थ-धर्मरूपायाः सामग्रीं कारणकलापमाहेत्यर्थः । दिव्याः स्रजइति 'आकाशस्तल्लिङ्गा'दितिव्याससूत्रादनुजात्वेनाकाशशरीरिण्या आकाश आकाशः शरीरिणि शरीरिणी लीना । मुक्ता जाता । तस्या आविर्भावात् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति शारीरब्राह्मणोक्ता न सामग्री किन्तु सायुधाष्टमहाभुजाया अदृष्टायाः शाब्दप्रतीतिविषयायाः । दिव्याः स्रजः सामग्री आविर्भावकारणम् । दिवि देवी दिवि भवा दिव्या स्रजः वर्तमानस्य वस्तुनो दर्शनविषयत्वयोग्यतारूपाविर्भावकारणम् । दर्शनं तु देवीप्रसादकानाम् । एवमम्बराणीत्यादि अलङ्करणेति जातेष्टेरावश्यकत्वात् सङ्ख्यातात्पर्यम् । अलङ्करणचतुष्टयसाहित्येन चतुष्पाद्ब्रह्मणैनां समयतीति फलम् । देव्या अदर्शनं सामग्र्या दर्शनमत आहुः दर्शनेति । गन्धादिति खपुष्पाभावात्, यथा 'सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद् गन्धो वातो'तिश्रुते'र्वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक'इत्युक्तपुरुषस्य पुष्पाणां गन्धात् । तान्युद्दामानि । सूत्रप्रोतानि वा । अदृष्टाया मायायाः स्रजां कर्णकरकण्ठसम्बन्धिनीनां प्रतीतिरनुपासकानामपि । धनुर्वामेति स्त्रीणामङ्गस्फुरणं वामे श्रेष्ठमिति वामपरावृत्तायुधधारणम् । धनुषो धनुर्वेदोक्तस्य देहसम्बन्धित्वं यजुर्वेदोपवेदत्वात् । यजुर्वेदस्तु मानुष'इति मनुस्मृतेः अतः प्राथम्यम् । वामप्रथमहस्ते । शूलं सप्तमे दक्षिणहस्ते । इषु पञ्चमे दक्षिणहस्ते । चर्म वामे चतुर्थे । असि-र्दक्षिणेऽष्टमे । शङ्खो वामे द्वितीयहस्ते । चक्रं दक्षिणे षष्ठे हस्ते । गदा वामे तृतीये करे । गदाधरा । भगवदायुधानां ज्ञानरूपाणां शङ्खचक्रगदाशूलानामावरकैर्धनुरिषुचर्मासिभिरावरणमित्येवमायुधक्रमः । भूम्नः शूलस्थाने पद्मम् ॥ १० ॥

सिद्धेत्यत्र भगवत इवेति 'देवी भगवती'तिवाक्यात् । त्रिगुणा इति तया सृष्टाः सत्त्वगुणः सिद्धाः । रजोगुणश्चारणाः । तमोगुणो गन्धर्वाः । रजस्तमसो व्युत्क्रमो वा । चारणानां तमोगुणत्वम् । अन्ये चेति अप्सरआदयः । अप्सराः सत्त्वगुणः ।

किन्नरा रजोगुणः। उरगस्तमोगुणः प्रसिद्धः। ऐकपद्यमिति 'अप्सरःकिन्नरोरगै'रित्येवमैकपद्यम्। षड्गुणेति षड्गुणैः सत्त्वादिभिरुपजीवनं सिद्धया वंशशंसनेन गानेन नृत्येन किञ्चिन्नरत्वेन उरगत्वजातया च भगवद्धर्मैश्वर्याद्यावरकैः कुर्वन्ति। कंसदर्शन इति सतिसप्तमी। कंसदर्शनकालसमानाधिकरणाः। कंसदर्शनकाल इत्यर्थः। कंसवधमिति स्तवनेन स्त्रीस्वाभाव्यात् तथा, भगवदावेशेन मृत्यौ कंसस्य निरभिमानत्वाभावाद् वा ॥ ११ ॥

किं मयेत्यत्र न हन्यत इति कंसः। रक्षार्थमिति देवक्यादीनाम्। तदाहेति उभयसमाधानमाह। न करोमीति समर्थोपि सङ्कर्षणकार्यत्वेन स्वाकार्यत्वात्। मन्द इति अज्ञानी मम कर्तृत्वस्य। प्रथमचरणेन द्वितीयं समाधानमुक्तं 'हतये'त्यस्यासत्ययेत्यर्थात्। प्रथमसमाधानं पादद्वयेनाहुः अवधे हेतुरित्यादिना देवगुह्यमिति देवगोप्यं प्रियम्। 'अस्याः त्वामष्टमो गर्भ' इतिवाक्ये गर्भपदोपादानात् 'देवाः प्रत्यक्षद्विषो' यतः। भगवानिति भवान् कालः। अबुद्धयेति अहं तु हननेप्यपकारं न करोमीतिवृत्तान्ताज्ञानेन। पूर्वशत्रुरिति पूर्वस्य कालनेमेः शत्रुः। तथैवेति गर्भ इत्यत्र पुंस्त्वविवक्षणात्। अत इति यत्र क्वचिदष्टमगर्भस्य जातत्वात्। न कोपीति पुत्रान्तरेऽष्टमत्वाभावान्न कोपि शत्रुहननरूपः ॥ १२ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी-श्रीसुबोधिनीजी-

आचार्यचरण कहते हैं कि—"**ततो यज्जातं तदाह**"—फिर क्या हुआ वह '**सा तद्धस्ताद्**' श्लोक से कहा है। **यदैव-पाषाणं प्रतिप्रक्षिप्तवान्**—कंस ने जब ही कन्या को पाषाण की ओर फेंका तब ही कंस के हाथ से बड़ी तेजी से उछलकर शीघ्र ही वह देवता रूप हो गई, बाद में आकाश में बाज पक्षी की तरह खड़ी हो गई, कंस आदि सब लोगों ने ही उसी तरह उसे देखा, उसके उस प्रकार सामर्थ्य होने में कारण यह है कि वह '**विष्णोरनुजा**' भगवान की छोटी बहिन है, क्योंकि यशोदा व देवकी परस्पर के विचार से एक ही हैं, भिन्न नहीं, और बाद में प्रकट हुई है। चाहे भगवान यशोदा के सुत हो, चाहे देवकी के, दोनों प्रकार से वह उनकी छोटी बहिन है। क्योंकि लीला में वैसी ही प्रसिद्धि[1] है, भगवान की अनुजा होने से उसका वैसा सामर्थ्य बतलाया गया है, भगवान से दुगुना उसका रूप बतलाया है कि '**सायुधाष्टमहाभुजा**' आयुध सहित आठ भुजा वाली वह है, भगवान तो चतुर्भुज ही प्रकटे हैं। भगवत्कार्य व अपना कार्य वह करेगी अतः ८ आठ भुजा वाली हुई हैं। देवकी आदि के बंधन की निवृत्ति भगवत्कार्य हैं, व सबको दुःख देना व धर्म का नाश उसका अपना कार्य है, भगवान की कृति को सिद्ध करने के लिये, आयुधों के सहित, अष्ट भुजायें उसकी हैं, जैसे भगवान ने प्रकट होने में विपरीत रूप दिखलाया, ऐसे इसने भी दिखलाया है ॥ ९ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि—"**आविर्भावादिदानीं रूपान्तरं गृहीतवती इति तस्याः सामग्रीमाह**"—श्रीदेवी ने जन्म से इस समय अन्य रूप का स्वीकार किया है, अतः अन्य रूपवती की सामग्री को '**दिव्यस्रग्**' श्लोक से कहते हैं।

कि दिव्य मालाये, व वस्त्र, एवं चन्दनादि आलेप व रत्नजटित आभूषण, इन चार प्रकार के शोभाजनक पदार्थों के सहित वह रूप था, दर्शनकृत क्रम यह कहा गया है, प्रथम तो सुगन्ध से ही विना देखे हुए भी माला की प्रतीति हो जाती हैं, उसके बाद वस्त्रों की, व उसके बाद चन्दन, व आभूषणों की, आयुधों की गणना करते हैं कि 'धनुः शूल' इत्यादि। वाम भाग के हस्त में धनुष, शूल व बाण दक्षिण हस्तों में, ढाल वाम हस्त में, तलवार दक्षिण में शङ्ख वाम में, चक्र दक्षिण में, गदा वाम हस्त में, गदा पर्यन्त आठ आयुधों को धारण किये हैं ॥ १० ॥

तस्याः स्वरूपं भगवत इव सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह—आचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि, उस देवी का स्वरूप भगवान् की तरह सर्वजन प्रसिद्ध है, यह बतलाने को 'सिद्धचारण' यह श्लोक कहा है कि सिद्ध, चारण, गन्धर्व, इन सत्त्वादि तीन गुण वालों द्वारा, व अन्य, अप्सरा, किन्नर, उरग, इन गुणत्रयात्मकों द्वारा, उसकी स्तुति की जा रही हैं। निर्दिष्ट यह सिद्ध आदि छ हैं, देवी के ऐश्वर्य आदि षड्गुणों के आश्रित हैं, कंस के देखने में ही यह सब दीख रहे थे। देवी के अर्चन के लिये वह सब पुष्कल भेंट ला रहे थे, 'अप्सरैः' यह पाठ भी छान्दस होने से सङ्गत ही हैं, यदि एक पद है तब तो सुगम ही है आचार्य-चरणों को अप्सरैः और अप्सरःकिन्नरोरगैः दोनों पाठ अभिप्रेत ऐसा जान पड़ता है बलि शब्द पूजा सामिग्री का वाचक होते

---

१ यहां इस प्रसङ्ग पर श्री लेखकार का यह आशय है कि श्री वसुदेवजी एवं नन्दरायजी धर्म के भाई थे अतः इन दोनों भाईयों के होने वाली सन्तान भाई बहिन हो सकती है, जैसे नन्दरायजी एवं वसुदेवजी धर्म के भाई होने से एक समझे जाते हैं वैसे ही उनकी दोनों पत्नियां भी एक ही समझी जायगी, अतः एव अलग २ माता से उत्पन्न हुए सभी पाण्डव परीक्षित् के पितामह कहलाये क्योंकि पाण्डु के होने से कुन्ती एवं माद्री एक ही समझी गई।

श्रद्धेयशील श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि निबन्ध की रीति से यह माया "अनिरुद्ध" का कार्य करने आई है।

लोकप्रसिद्धि इतिहासरूप से प्रमाण है, और कृष्णोपनिषत् में नन्द को परमानन्द व यशोदा को मुक्ति कहा है, एवं वसुदेव को वेद, व देवकी को ब्रह्मविद्या कहा है अतः देवकी व यशोदा का व वसुदेव और नन्द का आध्यात्मिक, आधिदैविक भाव से ऐक्य हैं।

हुए 'जय जय' 'नमो नमः' आदि शब्दों का भी उपलक्षक है, अतः उनसे स्तुति जिसकी की जा रही हैं वह देवी 'मैं कंस वध कर सकती हूँ' ऐसा ज्ञात कराती हुई आगे कहे जाने वाले इस वचन को बोली ॥ ११ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि "**द्वयमत्र वक्तव्यं कथं न हन्यते कथं वा रक्षार्थं न स्थीयत इत्युभयसमाधानमाह**—यहाँ देवी की उक्ति में दो बातें कहना आवश्यक है कि कंस क्यों नहीं मेरे से मारा जा रहा है, व देवकी आदि की रक्षा के लिये क्यों नहीं मेरे से ठहरा जा रहा है, इन दोनों का समाधान '**किं मया हतया मन्द**' इस श्लोक से कहा जाता है। भगवती ने कहा कि हे मन्द '**मया हतया किम्**' मैं तो मारने पर भी मारने वाले का अपकार नहीं करती हूँ, फिर बिना मारे तो अपकार करने की चर्चा ही क्या, अतः देवकी आदि की रक्षा के लिये मैं नहीं ठहरती क्योंकि तेरे अपकार करनेवाली मैं नहीं हूँ। तुझे इस बात का ज्ञान नहीं अतः तू मन्द है, मूर्ख है, और जो तेरा अन्त करने वाला है, वह तो जहाँ कहीं प्रकट हो ही गया है, अतः मैं तूझे नहीं मारती हूँ। भगवान श्रीकृष्णजी का विशेष रूप से प्रकट होने का स्थान नहीं कहा, क्योंकि देवकार्य गोपनीय होता है, यह शंका की जा सकती है, कि शत्रुता तो कंस से देवी की भी है हा क्योंकि अभी मारने को शिला पर फेंकी ही थी, व सामर्थ्य भी उसमें उसे मारने का है ही तब भगवान् ही कंस को मारे तू 'देवी' न मारे इसमें क्या विशेष बात है, उस शङ्का पर कहा हैं कि '**पूर्वशत्रुः**' मेरा तो तू 'कंस' अभी का ही शत्रु है, सो भी अन्य समझकर शत्रुता की है, परन्तु भगवान् तो तेरा पूर्वकाल से शत्रु है, अतः भगवान से ही तू मारा जावे, यह ही उचित है, आकाशवाणी ने भी वैसा ही कहा था, अतः तू दीन इस बेचारी देवकी को न मार, उसके मारने में कोई पुरुषार्थ सिद्ध न होगा, अतः वृथा ही मत मारे ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सा तस्य हस्तान्न शिलापृष्ठे पतिता, किंतूत्पत्य ऊर्ध्वं गत्वा सद्य एव देवी सती अम्बरं आकाशे गता। तत्र स्थिता सती सायुधो आयुधैः सहिताः अष्टौ महान्तो भुजा यस्याः, तथाविधा कंसादिभिः सर्वैरदृश्यत। न च तस्या इदमत्याश्चर्यमित्याशयेनाह-विष्णोरनुजेति विष्णोराज्ञया एवंविधानेककार्यार्थं तत्पश्चाज्जाता योगमायेत्यर्थः॥९॥ तां वर्णयति—दिव्यस्रगादिभिर्भूषिता। स्रजो मालाः, अम्बराणि वस्त्राणि,आलेपश्चन्दनादिः, रत्नयुक्तान्याभरणानि च। आयुधानि दर्शयन् विशिनष्टि-धनुरादिगदान्तानि धारयतीति तथा॥१०॥ उपाहृताः समर्पिता उरवो बलयः पूजासाधनानि यैस्तैः सिद्धादिभिः स्तूयमानेदं वक्ष्यमाणं कंसं प्रत्यब्रवीत् ॥ ११ ॥ तद्वाक्यमाह—किमिति। मन्द हे मन्दबुद्धे! हतयाऽपि मया तव किं प्रयोजनं सिद्ध्यति ? न किमपि तत्र हेतुमाह—जात इति। खलुशब्दोऽवधारणे। तवान्तकृत् नाशकर्ता पूर्वशत्रुः पूर्वजन्मनि त्वां हतवान् स यत्र क्व वा प्रदेशे जात एव। अतः कृपणान् दीनानन्यान् वृथा प्रयोजनं विना मा हिंसीः। 'कृपणाम्' इति पाठे तु देवकीं वृथा मा हिंसीः, यद्वा मा मां कृपणां वृथा हिंसीः हिंसितवानसीति ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सा ॥ तद्धस्तादिति ॥ विष्णोरनुजा सा कन्या नीचैः क्षिप्यमाणाऽपि तस्य हस्तान्न शिलापृष्ठे पतिता किंतूत्पत्य ऊर्ध्वं गत्वा कंसशिरसि पादं दत्त्वा "कंसासुरस्योत्तमाङ्गे पादं दत्त्वा गता दिवम्।" इति भविष्योत्तरम्। सद्य एव देवी भूत्वा अम्बरम् आकाशं गत्वा तत्र स्थिता सती कंसभयार्थं स्ववचोविश्वासार्थं च सायुधा आयुधैः सहिताः अष्टौ महान्तो भुजा यस्याः तथाविधा कंसादिभिः सर्वैरदृश्यत ॥ ९ ॥ दिव्येति ॥ दिव्याः स्रजो मालाः अम्बराणि वस्त्राणि आलेपश्चन्दनादिः रत्नयुक्तान्याभरणानि च तैर्भूषिता धनुः शूलम् इषुर्बाणः चर्म फलकम् असिः शङ्खः चक्रं गदा एषां धरा धारिका ॥ १० ॥ सिद्धेति ॥ उपाहृताः समर्पिता उरवो बलयः पूजासाधनानि यैस्तैः सिद्धचारणादिभिः स्तूयमाना सा इदं वक्ष्यमाणं वचनं कंसं प्रत्यब्रवीत् ॥ ११ ॥ किं मयेति ॥ मन्द हे मन्दबुद्धे! हतयाऽपि मया यद्यहं हताऽप्यभविष्यं तदापि तव किं प्रयोजनं सिद्ध्यति न किमपि। खलु हेतौ। यतः तवान्तकृत् नाशकर्त्ता पूर्वशत्रुः पूर्वजन्मनि यस्त्वं हतवान् स यत्र क्व वा वक्तुमनर्हे प्रदेशे जात एव। अतः कृपणान् दीनानन्यान्वृथा प्रयोजनं विना मा हिंसीः मा जहीति अन्यशिशून् न हनिष्यति। इति वारयति। कृपणामित्येकवचनपाठे मा मां वृथा अहिंसीः हिंसितवानसीति ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सेति। विष्णोः अनुजा, सा कन्या, तस्य कंसस्य हस्तस्तस्मात्, समुत्पत्य उड्डीय, सद्यस्तत्क्षणमेव, देवी द्योतमाना दिव्यं स्वरूपं बिभ्रतीति यावत्। अम्बरमाकाशं, गता अधिष्ठिता, आयुधैः सहिता अष्टौ महाभुजा यस्याः सा एवंभूता सती, अदृश्यत। कंसादीनां नयनविषया बभूवेत्यर्थः॥ ९ ॥ तां विशिनष्टि चतुरक्षरन्यूनद्वाभ्याम्। दिव्येति। दिव्याः स्रजश्चाम्बराणि वस्त्राणि चालेपः शरीरे सुगन्धिचन्दनालेपनं च रत्नाभरणानि रत्ननिचितालंकाराश्च तैर्भूषिता, धनुश्चापं च शूलं त्रिशूलं च इषुर्बाणश्च चर्म फलकं च असिः खड्गश्च शङ्खः कम्बुश्च चक्रं रथाङ्गं च गदा च ताः धरति बिभर्त्तीति तथाभूता॥ १० ॥ सिद्धेति। उपाहृताः समर्पिता उरवो बहवः बलय उपायनानि यैस्तैः, सिद्धाश्च चारणाश्च गन्धर्वाश्च तैः, अप्सरसश्च किन्नराश्च उरगाश्च तैः, स्तूयमाना

सती, इदम्, अब्रवीत्। इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ ११ ॥ तदेवाह। किमिति। हे मन्द मन्दबुद्धे कंस, हतयाऽपि, मया किं, तव कस्य प्रयोजनस्य सिद्धिः, न किंचिदपि। तव, अन्तकृन्नाशकृत्, पूर्वशत्रुः, अशरीरवाण्युक्तस्तव पूर्ववैरिपुरित्यर्थः। यत्र क्व वा, यस्मिन् कस्मिंश्चित्प्रदेशे, जातः खलु। इत ऊर्ध्वं जनिष्यमाणानपि शिशून् हन्यादिति संभाव्य वारयति। कृपणान् शिशून्, वृथा मा हिंसीः। पाठान्तरे, कृपणां, मा मां, वृथा अहिंसीः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सा तद्धस्तादिति : १०. ४. ९.

प्रक्षल्यमानाम्बरवच्छिलायामयं खलो मां क्षिपतीत्यवेक्ष्य। न मूर्ख तादृग्यहमम्बराङ्गा किं त्वीदृगूचे इति तद्व्रतेन ॥ ८ ॥
तामष्टबाहुं प्रसमीक्ष्य सिद्धादयः परेशाद्द्विगुणस्वभावाम्। निश्चित्य सन्तर्प्य बलिं च तुष्टां संतुष्टुवुर्युक्तमभीष्टवाचा ॥ ९ ॥
स्वरूपाप्तौ स एवैको हेतुर्विष्णुपदाश्रयः। व्यञ्जयन्तीव साकाशं गत्वा स्वं रूपमाप यत् ॥ १० ॥

किं मयेति : १०. ४. १२.

यदा चिदाकाशपदोदिता भवेत्तदैति माया गुणसृष्टिचातुरीम्। यत्सा तदाकाशमवाप्य तादृशं रजस्तमःसत्त्वयुतं वचोऽब्रवीत् ॥१०॥
नोक्तं मया यदधुनाऽच्युतजन्मजातं तन्मोचयेन्न कृपणौ पितरौ नृशंसः।
नाधर्मधीश्च भवितेति विचिन्त्य देवी पित्रात्मसौख्यदमुवाच वचः क्षमं तत् ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

वह कन्या उस कंस के हाथ उछल कर सद्यः देवतारूप बन गई और आकाश में स्थित हो गई। सर्वत्र व्यापक श्रीकृष्ण की छोटी बहिन थी। पुनः आयुध धारण किये हुए आठ भुजाओं सहित आकाश में स्थित हुई, कंस आदि को दिख पड़ी ॥ ९ ॥ वह देवी दिव्य माला, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन, एवं रत्नजडित आभरणों से विभूषित तथा धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शङ्ख, चक्र, गदायुक्त हाथ वाली दिखायी पड़ी ॥१०॥ कर कमलों में बहुत सामग्री को लेकर जिनके श्री चरणों में अर्पित करते हुए सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगणों ने स्तुति की, वह देवी कंस से इस प्रकार बोली ॥ ११ ॥ आकाशगत श्री देवकीजी ने कहा कि हे मूर्ख, मुझे मारने से तुझे क्या लाभ है, तेरा मारने वाला, जो तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है वह जहाँ कहीं पैदा हो गया है अतः इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच[1]

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि। बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥ १३ ॥
[2]तयाकथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः। देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥

कंस उवाच[3]

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना। पुरुषाद इवाभ्येत्य[4] [5]बहवो हिंसिताः सुताः ॥ १५ ॥
स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः। [6]काँल्लोकान् [7]सङ्गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः– इति तम् प्रभाष्य भगवती माया देवी भुवि बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥ १३ ॥ तया कथितम् आकर्ण्य परमविस्मितः कंसः देवकीम् च वसुदेवम् विमुच्य प्रश्रितः अब्रवीत् ॥ १४ ॥ अहो भगिनि अहो भाम बत मया पाप्मना पुरुषाद इव अभ्येत्य वां बहवः सुताः हिंसिताः ॥ १५ ॥ त्यक्तकारुण्यः त्यक्तज्ञातिसुहृद् खलः सः तु अहम् ब्रह्महा इव श्वसन् मृतः कान् लोकान् सङ्गमिष्यामि ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

बहुनामनिकेतेषु वाराणस्यादिस्थानेषु ॥ १३ ॥ परमविस्मितः कथं दैवी वागनृता जातेति ॥१४॥ भाम हे भगिनीभर्त्तः। पुरुषादो राक्षसो यथा स्वापत्यमेव हिनस्ति तद्वत् ॥ १५–१७ ॥

१. अन्यग्रन्थेषु श्रीशुक उवाच पाठो नास्ति। २. तयाभिहित–श्रीधर. वंशी. वीर. विश्व. गिरि. मक्त.। ३. अन्यप्रत्यां "कंस उवाच" पाठो न दृश्यते। ४. पत्यं–श्रीधर. वंशी. जीव. गिरि ; इवोपेत्य–वीर. विज. मक्त.। ५. सुहृदो–इति कस्यचित्। ६. हा कान् लोकान्–विज.। ७ वै गमिष्यामि–श्रीधर. वंशी. गिरि. मक्त.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

इति एवं "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु" इति यादवोक्तेरिति अत्र प्रकारे ॥ १३ ॥ दैवी वागाकाशवाणीरूपा ॥ १४ ॥ "भामस्तु भगिनीभर्ता" इत्यमरः ॥ १५ ॥ ब्रह्महा ब्राह्मणहंता । मृतः श्वसन् । जीवन्मृतः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रभाष्य आदिश्य भगवती पूर्वोद्दिष्टभगवत्प्रसादेनाधिकैश्वर्ययुक्ता सती बहुनामेति नानानामसु निकेतेषु नानानामत्वेन पूज्याभूदित्यर्थः ह हर्षे ॥ १३ ॥ विमुच्य कारागारान्निःसार्य विशब्देन रक्षिसङ्कोचाच्च निगडान्मोचनमग्रे वक्ष्यति देवक्याः प्राग्विमोचनं स्त्रीणामेव तद्युक्तेः विशेषतो भगिनीत्वात् तस्या दुःखविशेषाच्च अन्यत्तैः यद्वा तया अभिहितमाकर्ण्य तां तं च विमुच्य नम्रः सन्नब्रवीत् कीदृशो भूत्वा कन्याया आकस्मिकवैभवादि तादृशवाक्यैश्चात्यन्तविस्मितोऽभूत्वेति ॥ १४ ॥ अहो द्वयमार्त्तिसम्बोधने बत खेदे पुरुषादा हि पुरा स्वापत्यादा आसन् तत्रैकां राक्षसीं स्वापत्यमदन्तीं दृष्ट्वा देव्या कृपयोक्तम् इतः प्रभृतिराक्षसबालाः जन्मत एव प्रवृद्धा भवन्त्विति ॥ १५ ॥ त्यक्तकारुण्यः बालानां भागिनेयानां निर्दोषाणां बहूनां वृथा मारणात् इति धर्मो नापेक्षित एव ल.कश्च नापेक्षित इत्याह, त्यक्ता ज्ञातयो देवकादयः सुहृदश्च बन्धवो भवदादयो येन सः अत एव खलः नु वितर्के कांल्लोकान् वै इति पाठे वै निश्चये मृतः सन् कान् लोकान् गमिष्यामि व्यतिरेके दृष्टान्तोऽयं ब्रह्महा यथा कांश्चिल्लोकान् न गच्छति तद्वच्च कांल्लोकान् गमिष्यामि न कानपि तस्य प्रसिद्धैर्महारौरवादिभिः प्रायश्चित्तपर्याप्तिर्न तु ममेति मम त्वन्यास्तेभ्योऽपि दुर्गतय इत्यर्थः । हे स्वसरिति दैन्यात् श्वसन्निति पाठे इह लोकेऽपि जीवन्मृत इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्रभाष्यादिश्य, भगवती पूर्व्वोद्दिष्ट-श्रीभगवत्प्रसादेन सर्व्वैश्वर्य्ययुक्ता सती; बहुनामेति कस्मिंश्चित् स्थाने किमपि नामेत्येवं श्रीमथुरायामन्यत्रापि काशी-कामरूपादिबहुलस्थानेषु दुर्गा-कामाख्येत्यादिभिर्बहुलसंज्ञाभिः पूज्याभूदित्यर्थः । ह हर्षे ॥१३॥ विस्मितः कन्या-वैभव-रूपादिभिः; विमुच्य कारागारान्निःसार्य्य, वि-शब्देन रक्षिसंकोचाच्च । निगडान्मोचनमग्रे वक्ष्यति । देवक्याः प्राग्विमोचनम्,—भगिनीत्वात्तस्यास्तस्या दुःखविशेषाद्वा; किंवा वसुदेव-प्रीत्यर्थम् ॥ १४ ॥ अहो—द्वयमार्त्तिसम्बोधने; बत खेदे; पाप्माना 'पापं पापानुबन्धि स्यात्' इति न्यायतः पूर्व्वपापेन हेतुना पापस्वरूपेण मयेति वा ॥ १५ ॥ त्यक्तकारुण्यो बालानां भागिनेयानां निर्दोषाणां बहूनां वृथा मारणादिति धर्म्मो नापेक्षित इत्याह—त्यक्ता ज्ञातयो देवकादयः सुहृदश्च बन्धवो भवदादयो येन सः; अत एव खलो दुष्टः । नु वितर्के । मृतः सन् कान् लोकान् गमिष्यामि, तन्न जाने; यद्वा, न कानपीत्यर्थः । नरकभोगस्यापि नियतकालतया मत्पापस्य चानन्त्येन शुद्ध्यर्थपापभोगायोग्यस्य नरकस्याप्यभावादित्थं परमशोकोक्तिः । ब्रह्महेत्यप्रायश्चित्तत्वं प्राणत्यागपर्य्यन्त-प्रायश्चित्तत्वं वा सूचयति । हे स्वसरिति दैन्यात् 'श्वसन्' इति पाठे इह लोकेऽपि जीवन्मृत इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

बहुनामनिकेतेषु नानासञ्ज्ञेषु ॥ १४ ॥ भामः भगनीपतिः पाप्मना पापवता सुताः वामित्यन्वयः ॥ १५ ॥ मृतः श्वसन् जीवन्मृतः ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इतीत्थं तं कंसं प्रभाष्य सा भगवती पूज्या माया देवी भुवि बहुनामनिकेतेषु नानासंज्ञकस्थानेषु बहूनि पूर्वं भगवदुक्तानि दुर्गादीनि नामानि यस्यास्तथाभूता बभूव हेत्याश्चर्ये ॥ १३ ॥ ततस्तया माययाऽभिहितमाकर्ण्य कंसः सुतरां विस्मितः देवकीं वसुदेवं च विमुच्य निगडान्निर्मोच्य विनीत इदमब्रवीत् ॥ १४ ॥ तदेवाऽऽह—अहो इति सार्द्धैरष्टभिः । भगिनीपतिर्भावः पुरुषाद इव राक्षस इव राक्षसेनेवेत्यर्थः । विभक्तिव्यत्यय आर्षः । उपेत्य समीपमेत्य मया पाप्मना पापात्मना वां युवयोः बहवः सुताः हिंसिताः बतेति खेदे ॥ १५ ॥ स तु त्वत्पुत्रहन्ताऽहं तु त्यक्तं कारुण्यं येन त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदश्च येन तथाभूत अत एव खलोऽत एव कांस्तु लोकान् प्राप्स्यामि नरकानपि न गमिष्यामि केवलं स्थावरतां गमिष्यामीति भावः । अत एव ब्रह्महेव श्वसन् जीवन्नपि मृतः मृततुल्यः ॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"माया भगवती दुर्गा" इति शब्द आदिवचनः इत्यादीत्यर्थः "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" इति यादवः ॥ १३ ॥ सतां स्वभावं दर्शयति—तयाभिहितामिति ॥ १४ ॥ बत खेदे बहवो राक्षसाः यत्क्रूरकर्म कुर्वन्ति सम्भूय तन्मयैकेन कृतमित्यतः पुरुषादैरिति बहुवचनम् ॥ १५ ॥ ब्रह्महा ब्राह्मणं हतवान् मृतः श्वसन् जीवन्मृतः ॥ १६–१७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

बहुनामनिकेतेषु वाराणस्यादिस्थलेषु ॥ १३ ॥ परमविस्मितः कथं मानुष्या देवक्या गर्भे दुर्गा देवी जाता कथं वा दैवी वागनृताभूदिति ॥ १४–१६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

बहुनामनिकेतेषु अनेकनामसु स्थानेषु ॥ १३ ॥ परमविस्मितः परमं दुस्तरं विस्मयं संशयं प्राप्तः ॥१४॥ अहो इत्याश्चर्यपूर्वकसंबोधने अहो भाम हे भगिनीभर्तः बत इति खेदे वां युवयोः ॥ १५–१७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

बहूनामनिकेतेषु वाराणस्यादिस्थानेषु ॥ १३ ॥ परमविस्मितः मानुष्या गर्भात् दुर्गा देवी कथमभूत् कथं वा आकाशवाक् मिथ्येति जातविस्मयः ॥ १४ ॥ हे भाम भगिनीपते! पुरुषादो राक्षसो यथा स्वापत्यं हिनस्ति तद्वत् ॥ १५ ॥ श्वसन्नपि मृतोऽहम् ॥ १६–१७ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

इतीति। अत्र बहुनामेति पाठः साधु। तस्य स्त्रियां ङीपोऽपेक्षिततत्वात्। अतोविरोधस्तस्मादुच्यते। बहून् अनेकान्नामयति प्रह्वीकरोतीति बहुनामा तस्याभिधानार्थकत्वे ङीपोऽपेक्षिततत्वेऽपि प्रह्वीभावार्थकत्वे टापोऽपि युक्तत्वात् न बहुनाम्नीति पाठस्यावश्यकत्वमित्यर्थः। यद्वा। बहुनामेति क्रियाविशेषणम्। बहूनाम यथास्यात्तथा आबभूवेत्यर्थः अथवा। बहुना दुर्गाभद्राकालीत्याद्यनेकनामविशेषेण। अमा सह। बभूव। अमा सह समीपे चेत्यमरः। बहुमाने सह वा। अपि वा। मः शिवो मा रमायां चेति विश्वात्। मा रमा बहुनामा निकेतेषु बहूनि त्रीणि नंदभीष्मसत्राजिदिति नामानि येषां तेषां निकेतेषु गृहेषु दारेषु वा बहुना योगनिद्रा रुक्मिणी सत्यभामेत्यादिरूपत्रयेण। अपर्यवसितबहुत्वस्य त्रित्वेपर्यवसानमिति न्यायात्। पूर्णरूपेण वा। बहुः पूर्णतायामित्युक्तेः। भुवि बभूव। श्री भूदुर्गेति त्रीणि रूपिणो रमा त्रिरूपैर्भगवत्सेवार्थमवतीर्णा बभूवेति भावः। कृष्णजन्मकाले रुक्मिणीसत्यभामयोरवताराभावेन लिटोऽनुपपत्तिरिति चेन्न। वक्तुः शुकस्य कथनसमयात्पूर्वमेव तिसृणामप्यवतीर्णत्वात्। तस्मान्न प्रयोगासाधुत्वम् ॥ १३ ॥ अत्र केचित् पुरुषाद इवापत्यमिति पाठं कल्पयति। तदयुक्तम्। कर्त्रोर्वैयधिकरण्यापातात्। न चात्रापि वचनासाम्यम्। तस्यान्वयानुपपत्त्यभावेनादोषत्वात् ॥ १५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

बहुनामवत्सु निकेतेषु काश्यादिसदनेषु बहुनामा बहूनि नामानि यस्याः सा। डाबुभाभ्यामिति डाबन्तानान्तो वाऽयं शब्दः। स्थानानि च नरा भुवि दुर्गेति भद्रकालीत्यारभ्याम्बिके चेत्यन्तसार्धश्लोकेन भगवदुक्तप्रकारबहुनामा बभूव। हेति प्रसिद्धिसूचकम्। वसुदेवदेवकीदृश्या त्वन्येषां तल्पे बालरूपिण्यवात्सीदित्यर्थसूचको वा हशब्दः। यथोक्तमाचार्यैः। पुनर्न देवकीतल्पे शयद्बालरूपैव दुर्गा नाज्ञासिषुस्तामथ केचन। ऋते हि मातापितरौ गुणाढ्यामिति ॥ १३ ॥ आकर्ण्य श्रुत्वा प्रश्रितः प्रह्वः ॥ १४ ॥ भामभगिनीभर्तो वां युवयोः पाप्मना तद्वता मया पुरुषादैरिव बहुराक्षसकार्यं कृतमेकलेन किल मयेति बहुवचनं स्वापत्यमित्यनवेक्षण च तद्धर्म इति तन्निदर्शनमिति मन्तव्यम्। सुता हिंसिताः। शात्रवं चेत्पुत्रादिहिंसा कंसविहितेत्यत आह। सुहृदोरिति ॥ १५ ॥ स्वभावाङ्कूरणमित्यूह्यम्। स्वं निन्दति। श्वसन्मृत इति। सोऽहं तु ब्रह्महेव कान् लोकान्गमिष्यामीत्यन्वयः। त्यक्तकारुण्य इत्यादिकं सुलोकदौर्लभ्यहेतुः ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमुक्त्वा गतेत्याह इतीति, प्रकर्षेण भाषित्वा स्पष्टतया निरूप्य, अनेन संवादान्तरमपि कंसेन सह कृतवतीति लक्ष्यते, अन्यथा ब्राह्मणैः सह विरोधं न कुर्यात्, तेन सह संवादेनैव कार्यं सर्वं सिद्धमिति ज्ञातवतीत्यत्र हेतुमाह देवीति, यद्यन्याप्यागत्य स्पष्टमन्यथा वदेत् तथापि तया मोहितः कंसो नान्यदङ्गीकुर्यादित्यत्र हेतुमाह भगवतीति, सा हि भगवद्भावप्राकट्यं कृत्वा लोके पूजां प्राप्स्यतीति भगवद्वाक्यानुसारेण **बहुनामनिकेतेषु भूमौ** यावन्ति स्थानानि यन्नामानि तत्र सर्वत्रैव स्थिता बहूनि रूपाणि कृत्वा **बहुनामा बभूव**, दुर्गादिमूर्तिषु रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्, देवकीवसुदेवयोर्निर्बन्धो व्यर्थः ॥ १३ ॥

शत्रुस्तु 'जात' इति मायावचनं श्रुत्वा कंसः किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह तयेति, वाक्यं तु भगवत्सम्बन्धि तया तु परं केवलमभिहितं, तदाकर्ण्य **परमं विस्मयं प्राप्तवान्**, यदीयं देवता ज्ञायेत भृत्यैव स्थाप्येत, तद्वाक्यविश्वासाद् **देवकीं वसुदेवं च विमुच्य** श्रृङ्खलां दूरीकृत्य देवीवाक्यादुत्पन्नशुद्धभावः, **प्रश्रितो** विनीतो**ऽब्रवीत्**, कायिकं मानसं च शुद्धभावं प्रदर्श्य वाचिकं प्रदर्शितवानित्यर्थः ॥ १४ ॥

तस्य वाक्यान्याहाहो इत्यष्टभिः ।

स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम् । भ्रमाच्चैवापराधोयं शोकदूरीकृतिस्तथा ॥ १ ॥
एवं चतुर्भिर्लोकोक्त्या शोकाभावो निरूपितः । तत्त्वावबोधनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम् ॥ २ ॥
आत्मनो न हि शोकोस्ति ज्ञानदृष्टेश्च नश्यति । अतः शोको न कर्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः ॥ ३ ॥

प्रथमतः स्वापराधकीर्तनेन क्षमापयति, अहो इत्याश्चर्येण सम्बोधनं, आश्चर्याविष्टस्तथैवागत्य देवकीं वसुदेवं च पृथक् प्रार्थयते, अहो इति पृथग्वचनं, 'भामस्तु भगिनीपतिः', सम्बन्धेन सम्बोधनं स्नेहार्थं, वां युवयोः, पापस्य स्वस्य च भेदाभावं वदन्नाह पाप्मनेति, बतेति खेदे, पश्चात्तापेन वदामीति ज्ञापयति, न त्विदं प्रतारणार्थं, पुरुषादो राक्षसः, स हि भक्षणार्थं बालकान् नयति, तथा मया स्वदेहरक्षाभ्रमाद् युवयोर्बहवः सुता विहिंसिताः, राक्षसानां सम्बन्धाद्यपेक्षा शास्त्रापेक्षा च नास्ति किन्तु प्राणरक्षार्थमेव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसाधकान्यपत्यानि भक्षयन्ति तथा मया मारिता इति तुल्यता, ततोपि विशेषस्तु बहव इत्यनेन ज्ञापितः ॥ १५ ॥

एवमपराधस्य फलमपि सम्भावयति स त्वहमिति, दैत्यावेशात् कृतं स्वतस्त्वं समीचीन इति न तव नरकसम्भावनेत्याशङ्क्य तु शब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति, मया कृतमिति य एव मन्यते स एव तत्फलं प्राप्नोतीति यतः सोहं, 'जिघांसन्तं जिघांसीया'दिति वाक्यात् तत्र को दोष इति चेत् तत्राह त्यक्तकारुण्य इति, प्रथमतो ये हतास्ते तु न जिघांसवो भवन्ति तथा त्वं वा, यदा ते मारयितुमायान्ति समर्था वा तदैव वध्या न तु बालका दीनाः, अतो येषु कारुण्यं कर्तव्यं बालकेषु भागिनेयेषु तेषु न कृतमिति त्यक्तकारुण्यः, ननु सम्भावनयापि शत्रवो मार्यन्ते शत्रुपुत्राश्चातो राज्ञां सम्भवनयापि वधो न दोषायेति चेत् तत्राह त्यक्तज्ञातिसुहृदिति, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदो मित्राणि च येन, नन्वात्मघातकाः सर्व एव वध्या 'भ्रातापि भ्रातरं हन्या'दिति तत्राह खल इति, मयैव परं ते मारिता न तु तैरहं, अतोहमेव खलो वृथैव परघातकः, अतो दुष्टकर्मणः कृतत्वात् कान् लोकान् सङ्गमिष्यामि ? ननु सिद्धा एव तामिस्रादयो घातकानां ये तत्राह ब्रह्महेवेति, ननु 'ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जित' इति वाक्यात् कः सन्देह इति चेन्न, प्रायश्चित्तस्य करिष्यमाणत्वाद् वधजनितो दोषो न भविष्यति परं महतामपचारात् प्रायश्चित्तं दुर्बलं न वेति सन्देहादेवं वचनं, ननु प्रायश्चित्ते नास्त्येव नरकः कथं सन्देह इति चेत् तत्राह मृतः श्वसन्निति, अयं पुरुषः श्वसन्नेव मृतः, अपकीर्तेर्जातत्वात्, अतो ज्ञायते यदि पापं गच्छेत् तदा तदभावः सर्वजनीनः स्यात् सर्वात्मकत्वाद् भगवतः, अतो मृतः श्वसन् यतो वर्ते, प्रायश्चित्तशास्त्रस्य च प्रामाण्यात् सन्देहकथनम् ॥ १६ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या ।

अहो भगिनीत्याद्यष्टश्लोकानां वाक्यार्थानाहुः स्वापराधस्य कथनमित्यादिना ।

बुभुत्सुबोधिका

इति प्रभाष्येत्यत्र गतेति निकेतेषु स्वप्रतिमासु गता । अनेनेति प्रोपसर्गेणोक्तस्य निरूपणस्य परपक्षनिराकरणपूर्वकस्वपक्षस्थापनरूपत्वेन । संवादान्तं पूर्वपक्षनिराकरणरूपमित्यर्थः । अहं तु हननेप्यपकारं न करोमीति स्वपक्षस्थापनात् । अन्यथेति सर्वस्य मायाकार्यत्वाज्ञाने । न कुर्यादिति कंसः । ब्राह्मत्वादिति भावः । तेनेति कंसेन । सर्वमिति अर्चनकर्मत्वादिकं स्वस्य । देवीति तेन दिवेर्द्युतिर्ज्ञानमत्रार्थः । स्वरूपमुक्त्वा तस्या मोहरूपं कार्यमाहुः यद्यन्य इति । अन्यथा चरेदिति मायावादविरुद्धं चरेत् । चदेदितिपाठे चद याचने भ्वा० उभ० से० । भगवद्भावेति भगवतीत्वप्राकट्यम् । भगवद्वाक्येति 'अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वा'मिति भगवद्वाक्यानुसारेण । रूपभेदस्येति द्विभुजचतुर्भुजत्वादिरूपभेदस्य ॥ १३ ॥

तया कथितमित्यत्र वाक्यं त्विति भगवता सह वाच्यवाचकसम्बन्धोस्यास्तीति वाच्यवाचकसम्बन्धि तस्य भावस्तत्ता । तया । तस्या असत्त्वात् । विस्मयमाहुः यदीयमिति । मारिताप्यनपकारकर्त्री । धृत्वेवेति ज्ञानसाधनाद्धृदि धृत्वा स्थाप्येत । मायासिद्धान्तस्योक्तत्वात् । शृङ्खलां दूरीकृत्येति तेन विभागानुक्तफलो व्यापारो मुञ्चतेरर्थः । शुद्धभाव इति मानसः । प्रश्रित इति कायिकशुद्धभावः । वाचिकमिति 'अब्रवी'दित्यनेन वाचिकं शुद्धभावम् ॥ १४ ॥

अहो इत्यत्र फलस्येति स्वापराधफलस्य मृत इव श्वासस्य । भ्रमाच्चैवेति मारकपुत्रभ्रमाद् वृथैव शिशुहननरूपः शोकदूरीकरणं 'मा शोचतं' इत्यत्र स्पष्टः । आत्मनो न हीति भावार्थः । ज्ञानाद् दृष्टश्चेति मायिको दृष्टः आत्मभेदः । मायासिद्धान्तस्योक्तत्वात् । शोको न कर्तव्य इति 'मानुशोचत' इतिपदेन स्पष्टः । 'यावद्धतोस्मी'त्यत्र स्पष्टः । कर्माज्ञानेति कर्माज्ञानयोर्वशः । तथैवेति आश्चर्येणैव । प्राणरक्षार्थमिति राक्षसाः भक्षणाभावे म्रियन्ते । सर्वोपि । तत इति राक्षसेभ्यः ॥ १५ ॥

स त्वहमित्यत्र दैत्यावेशादिति इदमाविष्टदैत्ये दोषजनकम् । त्वं स्वतः समीचीनः । तं पक्षमिति आविष्टे दोषपक्षम् । करिष्यमाणत्वादिति ज्ञानोक्त्या ज्ञानयज्ञस्य करिष्यमाणत्वात् । तदभाव इति अपकीर्त्यभावः । सर्वजनीनत्वं व्युत्पादयन्ति स्म सर्वात्मकत्वादिति । भगवत इति भयात् प्राप्तस्य जीवन्मुक्तताकारणस्य । अत्रापराधफलं मृतश्वास उक्तः ॥ १६ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि **एवमुक्त्वा गता इत्याह**—प्रकट हुई यह अष्टभुजा देवी ऐसा कह कर चली गई, यह बात **'इति प्रभाष्य'** इस श्लोक से कही है कि इस तरह वह स्पष्ट रूप से कह कर चली गई। 'प्रभाष्य' पद में आये प्र उपसर्ग से स्पष्ट कथन कहा है, तात्पर्य है कि इससे ऐसा ज्ञात होता है कि कंस के साथ कुछ अन्य संवाद भी देवी ने किया था। अन्यथा ब्राह्मणों के साथ कंस विरोध न करता, कंस के साथ किये गये संवाद से ही वह समझ गई कि कार्य सिद्ध हो गया, ऐसा समझने में हेतु यह है कि वह 'देवी' है, देवता को कार्यसिद्धि का ज्ञान युक्त ही है, यदि अन्य कोई देवता भा आकर स्पष्ट इसके संवाद के विरुद्ध कुछ कहे तो भो उस देवी से मोहित हुआ कंस अन्य कथन का स्वीकार नहीं कर सकता, यह आशय **'माया'** शब्द से स्पष्ट किया गया है। **'भगवती'** शब्द से कहा है कि वह भगवद्भाव को प्रकट कर लोक में पूजा ग्रहण करेगी, भगवान् के वाक्यों के अनुसार वह **'बहु ामनिकेतेषु'** भूमि में विभिन्न नामवाले अनेक स्थानों में स्थित हुई, बहुत से रूपों को धारण कर बहुत नामवाली हो गई, 'ह' शब्द से दुर्गा आदि मूर्तियों में रूपभेद की स्पष्टता बतलाई है ॥ १३ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि "**शत्रुस्तु जातं इति माया वचनं श्रुत्वा कंसः किं कृतवान् इत्याकांक्षायामाह**—श्रीदेवकी वसुदेवजी का बन्धन व वध व्यर्थ है तेरा शत्रु तो प्रकट जहाँ कहीं हो गया है इस प्रकार माया देवी के वचन को सुनकर कंस ने क्या किया, इस जिज्ञासा के समाधानार्थ **'तया कथितम्'** इस श्लोक को कहते हैं उस देवी ने तो केवल कथनमात्र किया है, वास्तव में वह वाक्य तो भगवान् का ही है, भगवान् ने अपना वक्तव्य देवी के द्वारा दिया है। उसे सुनकर कंस अत्यन्त आश्चर्य को प्राप्त हुआ, यदि यह देवता ज्ञात हो जाती तो कंस उसे पकड़ कर रख लेता, उसके वाक्य पर, विश्वास के कारण कंस ने देवकी व वसुदेव को बन्धन से मुक्त कर दिया, और कंस को देवी के वाक्य से शुद्ध भाव उत्पन्न हुआ है, अतः **'प्रश्रितः'** विनीत होकर बोला। राजा कंस ने दोनों को बेड़ियों से छुड़वा कर दोनों के प्रति कायिक व मानसिक शुद्ध भाव दिखलाकर वाचिक शुद्ध भाव दिखलाया यह प्रश्रित शब्द का आशय है ॥ १४ ॥

श्रीमदाचार्यचरण "राजा कंस के मुख से निकले हुए" **अहो भगिन्यहो भाम**—इत्यादि श्लोक १५ से २२ श्लोक पर्यन्त के श्लोकों के वाक्यार्थ को तीन कारिकाओं से स्पष्ट करते हैं। इन तीन कारिकाओं में यह प्रथम कारिका है **'स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम्। भ्रमाश्चैवापराधोयं शोकदूरीकृतिस्तथा ॥'** राजा कंसने (१) **'अहो भगिन्यहो भाम'** हे बहिन और हे बहनोई मैंने आपके अनेक पुत्रों का वध किया, ऐसा १५ वें श्लोक में **'स्वापराधस्य कथनं'** अपराध को स्वीकार किया। (२) **'स त्वहं त्यक्तकारुण्यः'** इस १६वें श्लोक से मैं मेरे इन पाप कर्मों से किन लोकों को प्राप्त करूँगा ऐसा, **'फलस्यापि कीर्तनम्'** अपने पाप कर्मों का फल कहा। (३) **'दैवमप्यनृतं वक्ति'** इस १७वें श्लोक से मैंने देव वाक्य श्रवण से **'भ्रमाच्चैवापराधोयं'** भ्रम वश मैंने अपराध किया। (४) **'मा शोचत महाभागौ'** इस १८वें श्लोक से हे देवकी एवं वसुदेवजी **'शोकदूरिकृतिः'** शोक न करे ऐसा शोकदूरीकरण किया। प्रथम कारिका के चार चरणों में चार श्लोकों के वाक्यार्थ को समझाया।

दूसरी कारिका—**एवं चतुर्भिर्लोकोक्त्या शोकाभावो निरूपितः। तत्त्वावबाधेनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम् ॥** अब द्वितीय कारिका में आचार्यचरण कहते हैं कि इस प्रकार राजा कंस ने श्रीवसुदेव और श्रीदेवकीजी को जैसे लोक में समझाया जाता है वैसे लौकिक रीति से इन चार श्लोकों से समझाया। अब आगे के १९ से २२ श्लोक पर्यन्त के चार श्लोकों में तत्त्वज्ञान को समझा कर श्रीदेवकीजी एवं श्रीवसुदेवजी के शोक की निवृत्ति के लिये प्रयत्न किया है।

तीसरी कारिका—**'आत्मनो नहि शोकोऽस्ति ज्ञानदृष्टेश्च नश्यति। अतः शोको न कर्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः ॥'** अब राजा कंस **'भुवि भौमानि भूतानि'** इस १९वें श्लोक में दोनों के तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कहता है कि (१) **'आत्मनो नहि शोकोऽस्ति'** भूतल पर केवल भौतिक देह का जन्म-नाश होता है आत्मा का नाश नहीं होता इसलिये शोक न करें। पुनः **'यथा नेवंविधो भेदः'** इस २०वें श्लोक से (२) **'ज्ञानदृष्टेश्च नश्यति'** आत्म ज्ञान से शोक निवृत्त होता है यह कहा। पुनः **'तस्माद् भद्रे स्वतनयान्'** इस २१वें श्लोक से और **यावद् हतोऽस्मि हन्तास्मि'** इस २२वें श्लोक से अतः **'शोको न कर्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः'** कहा कि (३) जीव कर्म फल विवेश होकर एवं (४) अज्ञान वश हो अपना अशुभ फल भोगता है। अत एव आप दोनों से मेरा निवेदन है कि विवेक सम्पादन करके शोक न करें।

आचार्यचरण कहते हैं कि **प्रथमतः स्वापराधकीर्तनेन क्षमापयति** अब इस श्लोक में प्रथम तो कंस अपने अपराध को कहकर क्षमा कराता है। 'अहो' यह आश्चर्य द्योतक सम्बोधन किया गया है। आश्चर्यचकित वह कंस समीप में आ करके देवकी व वसुदेवजी से पृथक् पृथक् प्रार्थना करता है। श्लोक में 'अहो' शब्द का कथन पृथक् पृथक् पुनरावर्तन है। 'भाम' शब्दकोष में भगिनी के पति का वाचक शब्द है, सम्बन्ध सूचक सम्बोधन से स्नेह प्रकट किया है। 'वां' तुम दोनों

बहिन बहनोइयों के पुत्रों को मैंने मारा है, 'पाप्मना' में पाप स्वरूप हूँ, पाप में व मुझ में भेद नहीं 'बत' बड़ा ही खेद है। पश्चाताप से मैं जला जा रहा हूँ, मैं आप से जो प्रार्थना कर रहा हूँ, उसमें कुछ भी वञ्चना या दिखावट नहीं, पुरुषाद राक्षस जैसे अपने भक्षण या खाने को बच्चों को ले जाता है, उस तरह मैंने अपने शरीर की रक्षा के भ्रम से तुम्हारे बहुत बच्चे मार दिये, राक्षसों को सम्बन्ध आदि की अपेक्षा नहीं होती और न उनको शास्त्र की अपेक्षा होती है। किन्तु वह अपने प्राणों की रक्षा के लिये सवही के सब पुरुषार्थ साधक सन्तानों को खा जाते हैं। वैसे ही मैंने उन्हें मार दिये हैं, मैं राक्षस तुल्य तो हूँ ही, उससे भी अधिक यह है कि एक दो नहीं बहुत बच्चों को मारा है, यह 'बहवः' शब्द का भाव है ॥ १५ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि—'स त्वहं त्यक्तकारुण्यः' इस श्लोक से कंस अपने किये अपराध के फल की भी सम्भावना को व्यक्त करता है कि मैं निर्दय किस गति को प्राप्त करूँगा। यदि कंस से यह कहा जाय कि वह अपराध तो कालनेमि नामक दैत्य के आवेश के कारण हुआ है, स्वतः तो तू भला है अतः तुझको नरक की सम्भावना नहीं, ऐसो आशङ्का करके कंस 'तु' शब्द से उस पक्ष को निरस्त करता है कि मैंने किया है, ऐसा जो मानता है, वह ही उस किये गये कर्म का फल पाता है, अतः कहता है कि 'स तु अहम्' मारने वाला वह अपराधी तो मैं हूँ, यदि कहा जाय कि 'जिघांसन्त' जिघांसीयात्' मारना चाहने वाले के मारने की इच्छा करना उचित है, तो तेरा क्या दोष है? तो वह भी संगत नहीं, क्योंकि मैं तो 'त्यक्तकारुण्य' हूँ, करुणा को छोड़कर बैठा हूँ, पहले तो बात यह है कि जिनको मैंने मारा है, वह तो मारने के इच्छुक नहीं हो सकते, उनका मारने की इच्छा से युक्त होना तो तब सम्भव है, जब वह मारने को आते हों, वे समर्थ हों, वैसी दशा में उनका वध उचित हो सकता है, न कि बालक दीन असमर्थ वध योग्य हो सकते हैं। अतः मुझे जिन पर करुणा करनी चाहिये उन बच्चों पर बहिन के लड़कों पर करुणा नहीं की, मैं निर्दय हूँ, यदि यह कहा जाय कि सम्भावना ही से शत्रुओं का वध किया जाता है, व शत्रु के पुत्रों का भी वध किया जाता है, अतः राजा लोग सम्भावना से भी मार डालते हैं, उनका ऐसा करना दोषजनक नहीं होता, तो यहाँ पर वैसी बात नहीं है, यह तो शत्रु नहीं बान्धव हैं, मैं ही 'त्यक्तज्ञातिसुहृत्' हूँ। अपने बान्धव व मित्रों का त्याग मैंने ही किया है। यद्यपि अपने मारने वाले कोई भी हों, उनको मारना ही उचित है, कहा भी गया है कि 'भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्' भाई भी भाई को मार दे, परन्तु वह कथन यहाँ उपर्युक्त नहीं, क्योंकि मैंने ही केवल उनको मारा है, उनने तो मुझे नहीं मारा अतः मैं ही 'खलः' खल हूँ वृथा ही पर घात करने वाला हूँ, अतः दुष्ट कर्म करने से मैं किन लोकों में जाऊँगा, हत्यारों को तामिस्र आदि नरक लोक यद्यपि प्रसिद्ध है, किन्तु यह हत्या साधारण हत्या नहीं यह तो ब्रह्महत्या के समान है। 'ब्रह्महेव' ब्रह्म हत्या करने वाले की तरह मुझे किन नरकों में जाना पड़ेगा, यद्यपि 'ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जिते' पुनरावृत्ति रहित घोर नरक में ब्रह्म हत्यारा को यातना मिलती है, इस वचन से संदेह करना उचित नहीं, परन्तु कंस प्रायश्चित्त करेगा अतः हत्याकृत दोष तो निवृत्त हो जायगा, तो भी महान् पुरुष के अपकार से प्रायश्चित दुर्बल हैं, या नहीं इस संदेह से कंस का इस तरह संदेह वचन है, यदि प्रायश्चित करने पर नरक नहीं होता, अतः संदेह नहीं होना चाहिये, वहाँ कहता है कि 'मृतः श्वसन्' अपकीर्ति होने से, यह पुरुष जीवित होता हुआ भी मरा हुआ ही है, यदि पाप नष्ट हो जाता तो पाप निवृत्ति को सब ही लोग मान लेते क्योंकि भगवान् सर्वात्मक है, परन्तु वैसा नहीं हुआ, मैं स्वयं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरा जीवन मरण ही है, जीवन नहीं अतः अपकीर्ति से पाप की अनिवृत्ति, प्रायश्चित शास्त्र के प्रमाण होने से पाप की निवृत्ति, यह दोनों विरुद्ध ज्ञान कंस को हो रहे हैं, अतः उसका संदेहात्मक वचन है कि 'काँल्लोकान्' मैं किन लोकों में जाऊँगा ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इत्येवं तं कंसं प्रभाष्य सा भगवती माया भुवि बहुनामनिकेतेषु नानासंज्ञकस्थानेषु बहूनि दुर्गासङ्कटादीनि नामानि यस्यास्तथाभूता देवी पूज्या बभूव तत्प्रसिद्धिं द्योतयति-हेति ॥ १३ ॥ तया माययाऽभिहितं कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः 'कथं देववाणी अन्यथा जाता' इत्याश्चर्ययुक्तः शत्रोरन्यत्र जातत्वाद्देवकीवसुदेवयोर्निबन्धस्य व्यर्थत्वं मत्वा तौ विमुच्य प्रश्रितो विनीतः सन्नब्रवीत् ॥ १४ ॥ तदाह-अहो इति सार्धैरष्टभिः। अहो भगिनि! अहो भाम हे भगिनीपते! पाप्मना पापीयसा मया वां युवयोर्बहवः सुता हिंसिताः। बतेति खेदे। तत्त्वययुक्तं कृतम्। तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—पुरुषान् अत्तीति पुरुषादो राक्षसः, स यथा स्वापत्यमेव हिनस्ति तद्वदिति ॥ १५ ॥ स त्वहं त्वत्पुत्रहन्ता कान् नरकादिलोकान् गमिष्यामि ?। लोकनिर्धाराभावेऽपि यातनालोकगमने तु निश्चय एवेत्याशयेनाह- वै इति। तत्र हेतुमाह-त्यक्तकारुण्य इति। करुणापात्रभगिनीपुत्रवधादित्याशयः। तत्र दृष्टान्तमाह—ब्रह्महेवेति। स यथा त्यक्तकारुण्यान्नरकं गच्छति तथेत्यर्थः। अयं लोकोऽपि न मम सुखद इत्याशयेनाह-श्वसन् जीवन्नप्यहं मृततुल्य एवेति। तत्र हेतुमाह त्यक्तेतित्यक्तास्तदननुमता चरणोनोपेक्षिता ज्ञातयः, सुहृदो मित्राणि च येन सः। अतस्तैर्धिक्कृतत्वादित्याशयः। तथाकरणे मम क्रूरतैव हेतुरित्याह- खल इति ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति ॥ इत्येवं तं कंसं प्रभाष्य सा भगवती माया भुवि बहुनामनिकेतेषु नानासंज्ञकस्थानेषु वाराणसीविन्ध्यादिषु बहूनि दुर्गासङ्कटादीनि नामानि यस्यास्तथाभूता देवी स्तुत्या बभूव । ह स्फुटार्थे ॥ १३ ॥ तयेति ॥ तया माययाऽभिहितं कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः कथं देवकीगर्भे दुर्गा देवी जाता कथं वा देववाण्यन्यथा जातेत्याश्चर्ययुक्तः अभूत् । शत्रोरन्यत्र जातत्वाद्देवकीवसुदेवयोर्निबन्धस्य व्यर्थत्वं मत्वा तौ विमुच्य प्रश्रितो विनीतः सन्नब्रवीत् ॥ १४॥ अहो इति अहो हे भगिनि ! अहो हे भाम भगिनीभर्त्तः ! पुरुषान् अत्तीति पुरुषादो राक्षसः स यथा स्वापत्यमेव हिनस्ति तद्वत् पाप्मना पापरूपेण मया वां युवयोः बहवः सुताः हिंसिताः । राक्षसा हि पुरास्वापत्यादा आसन् । तत्रैकां राक्षसीं स्वापत्यादां दृष्ट्वा देव्या कृपयोक्तं "बाला स्युर्जन्मतो वृद्धा इतः प्रभृति रक्षसाम् ।" इति । ततः प्रभृति स्वापत्यान् खादितुं न शक्नुवन्ति ॥ १५ ॥ स त्वहमिति ॥ त्यक्तं कारुण्यं दया येन त्यक्ता उपेक्षिता ज्ञातयः सुहृदश्च येन श्वसन् जीवन्नपि मृतः सोऽहं खलः ब्रह्महा इव कान् अतिदुःखकरान् लोकान् गमिष्यामीति न वेद्मि ॥ १६ ॥

भगवत्सादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इतीति । इतीत्थं, तं कंसं, प्रभाष्य, भगवती पूज्या, माया देवी, भुवि, बहुनामनिकेतेषु नानासंज्ञकस्थानेषु, बहूनि नामानि यस्याः सा, प्राग्भगवदुक्तदुर्गादिबहुनामभागित्यर्थः । बभूव । हेत्याश्चर्ये ॥१३॥ तयेति । तया मायया, अभिहितम् आकर्ण्य, तया तदुक्तं तच्छ्रुत्वेत्यर्थः । कंसः, परमविस्मितः सुतरां विस्मययुक्तः सन्, देवकीं वसुदेवं च, विमुच्य, निगडान्निर्मुच्येत्यर्थः । प्रश्रितः विनीतवदित्यर्थः । अब्रवीत् ॥ १४ ॥ तदेवाह । अहो इति । अहो हे भगिनि, अहो हे भाम भगिनीभर्त्तः, पुरुषादः इव, राक्षसवदित्यर्थः । उपेत्य भवदन्तिकं प्राप्य, पाप्मना पापरूपेण, मया, बतेति खेदे । वां युवयोः, बहवः षट् सुताः, हिंसिताः । राक्षसः स्वापत्यमपि हिनस्ति तद्वन्मया भागिनेया हिंसिता इत्यर्थः ॥ १५ ॥ स इति । सः त्वत्पुत्रहन्तृत्वेन प्रसिद्धतां प्राप्तः, अहं तु, त्यक्तं कारुण्यं येन सः, त्यक्ताः ज्ञातयः सुहृदश्च येन सः, अत एव, खलः एवंभूतोऽत एव, मृतः सन्, ब्रह्महा इव, श्वसन् जीवन्संश्च, यद्वा, श्वसन् जीवन्नपि, मृतो मृततुल्योऽहमित्यर्थः । कान् लोकान्, गमिष्यामि वै । केवलं स्थावरतां गमिष्यामीति भावः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अहो इति : १०.४.१५.

माया यतः समपयाति स कीदृशोऽपि सञ्जायते भुवि विवेकविशुद्धबुद्धिः ।
तत्सान्त्वनं निखिलरात्र्यतिलङ्घनं वा नो चेच्चकार हि कथं स दुरध्वचेताः ॥ १३ ॥
शत्रुत्वं श्रीशमैत्रीं वा त्वन्मायैव सृजत्यहो । यौ हन्तुं योजितः कंसस्तौ स्तोतुं योजितः पुनः ॥ १४ ॥

कृष्णप्रिया

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार स्पष्टतया अनेक बातें कहकर वह माया भगवती देवी पृथिवी के अनेक स्थानों में स्थित होती हुई बहुत नामवाली हुई ॥ १३ ॥ भगवती देवी द्वारा कहे गये वाक्यों को सुनकर कंस बहुत विस्मित हुआ और देवी के कथन में विश्वास कर श्री देवकी और श्री वसुदेवजी की बेड़ी को तोड़कर विनम्र होता हुआ कहने लगा ॥ १४ ॥ कंस परिताप करता हुआ आश्चर्य के साथ कहने लगा कि हे बहिन ! अजी बहिनोईजी ! मुझ पापी ने मनुष्यभक्षी राक्षस के समान जबरदस्ती आप दोनों के अनेक पुत्रों का वध किया, मुझे इसका बड़ा दुःख है ॥ १५ ॥ जिसने दया छोड़ दी है और ज्ञाति एवं मित्रों को भी छोड़ दिया है ऐसा दुष्ट मैं ब्रह्महत्या करने वाले की भाँति किन लोकों को प्राप्त करूँगा; मैं तो जीवित ही मृत हूँ॥१६॥

दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् । यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून् ॥ १७ ॥
मा शोचतं महाभागावात्मजान् [1]स्वकृतम्भुजः । जन्तवो न सदैकत्र [2]दैवाधीनाः सदा सते ॥ १८ ॥
भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च । नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥ १९ ॥
[3]यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः । देहयोगवियोगौ[4] च संसृतिर्न निवर्तते ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मर्त्या एव केवलम् अनृतं न वक्ति दैवम् अपि अनृतं वक्ति यद् विश्रम्भात् अहं पापः स्वसुः शिशून् हतवान् ॥ १७ ॥ हे महाभागौ ! स्वकृतम्भुजः आत्मजान् मा शोचतम् दैवाधीनाः जन्तवः सदा एकत्र न समासते ॥ १८ ॥ भुवि

---

१. सुकृतं—इति कस्यचित् । २. धीनास्तदाऽऽसते—श्रीधर. वंशी. ; धीनाः समासते—गिरि. ; धीना ; सहासते—जीव. भक्त. । ३. यदानैवंविधो—भक्त. ; यदानैवंविदाम्—केषां चित् । ४. वियोगैश्च—वीर. भक्त. ।

भौमानि भूतानि यथा यान्ति च अपयान्ति यथा भूः एव न विपर्येति तथा एतेषु अयम् आत्मा न एव विपर्येति ॥ १९ ॥ "यथा न एवं विदः" यतः आत्मविपर्ययः भेदः देहयोगवियोगौ च संसृतिः त निवर्तते ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

हे महाभागौ स्वकृतंभुजः स्वारब्धकर्मभोक्तॄन् स्वात्मजान्मा शोचतम्। किं च जतवः प्राणिनः सदा नासते किं त्वल्पकालमेव तदाऽप्येकत्र नासते किं तु वियुज्यंते यतो दैवाधीनाः ॥ १८ ॥ सदा नासत इत्यनेन यदुक्तं जन्ममरणादि। तदपि देहानामेव नात्मन इत्याह। भुवीति। भूतानि देहा एव यांत्यपयांति च। भवंति न भवंति चेत्यर्थः। यथा भुवि भौमानि घटादीनि तद्वत्। एतेषु भूतेषु जन्मादिभिर्विक्रियमाणेष्वयमपरोक्षतया प्रत्यभिज्ञायमानो न विपर्यति विपर्ययं न प्राप्नोति। एकरूप एव वर्तत इत्यर्थः। भौमेषु विक्रियमाणेषु यथा भूस्तथेति॥ एवं विचार्यमाणे सति न शोकाद्यवकाशः ॥ १९ ॥ अज्ञानतस्तु न निवर्तत इत्याह। यथेति। यथा यथावदनेवंविद एवमजानत आत्मविपर्ययो देहात्मबुद्धिर्भवति यतो विपर्ययाद्भेदो भवति। देहाहंकारेण ह्यात्मनि परिच्छिन्ने सतीदंकारास्पदं भिन्नं भवति यतो भेदात्पुत्रादिदेहैर्योगो वियोगश्च ततः संसृतिः सुखदुःखे इति यावदज्ञानं न विवर्तत इत्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

दैवं देववचः। यद्वा—देवानां हेतुः कारणं परब्रह्म 'तन्मूला देवताः सर्वाः' इत्युक्तेः। 'नभोलिंगमलिंगमीश्वरम्' इत्युक्तेश्च। विस्मित आह—शुद्धसत्त्वस्वभावा देवा अपि तमोधर्ममनृतं वदंतीत्याश्चर्यम्। यद्विस्रंभात्। यद्विश्वासात् ॥ १७ ॥ कृतेप्यपराधे महात्मानोऽपराधिनं नोपालभंत इत्यभिप्रायेणाह-हे महाभागाविति। स्वकर्मभुजामपि नैकत्र स्थितिरित्याह—किञ्चेति। दैवाधीना दिष्टायत्ताः। दुर्गादेव्येवावयोरात्मजाभूक्किमन्यैः सुतैः स्वकृतभुग्भिरिति विमर्शेनापि मा शोचतमिति भावः ॥ १८ ॥ दृष्टांतादिनाह—भुवीति। इत्यर्थ इति। न हि भूतशब्देनाकाशादयोऽत्र ग्राह्यास्तेषामाप्रलयस्थितेरिति भावः। भौमेषु भूविकारेषु। घटशरावादिषु विक्रियमाणेषूत्पन्नविनष्टेषु यथाभूर्न विक्रियते यथेति ॥ १९ ॥ यावदज्ञानं यावत्कालपर्यंतमज्ञानं तिष्ठति तावत्संसृतिर्न निवर्तत इत्यर्थस्येत्युक्तं देहैरेव पुत्रादिभिर्योगः। सुखकारणं वियोगो दुःखकारणमियमेव संसृतिरिति भावः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत। वैष्णवतोषिणी

न केवलमत्र ममैव दोषः किन्तु मूलं देवानामेवेत्याह—दैवमिति देवता "सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः" इति श्रुतिविरोधोपि जात इत्यर्थः। एवेति लोकोक्त्या नाधिकं पाप इति कथमन्यथा तद्विस्रम्भः ? स्यादिति भावः ॥ १७ ॥ महाभागौ, हे परमविवेकिनौ ! जन्तवः सर्व एव जीवाः न तु केचिदित्यर्थः। एकत्र एकस्मिन् स्थाने नासते तत्रापि सह सम्भूय परस्परमासज्य नासते किन्तु पृथक्पृथक् स्वस्वकर्मार्जितलोकादौ तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ अपयान्ति नश्यन्ति भुवीति तत्र यानि सर्वाण्येवेत्यर्थः। यद्वा भुवि वर्त्तमानानीति भौमानां जन्मनाशयोः सर्वप्रत्यक्षतोक्ता एवं दार्ष्टान्तिकेपि ज्ञेयं न विपर्येति जन्मादिविक्रियां नाप्नोति अत्र श्रीवैष्णवमते भुव आश्रयत्वांश एव दृष्टान्तत्वं न कारणत्वांशेपीति ज्ञेयम् ईश्वरेऽपि मात्सर्येण कंसादीनां त्वद्वैतवादाश्रयत्वादंश इति वा तत्रैव जीवात्मनो व्यापकत्वांशे वा तदा च आयान्तीत्यादिकं यथा धात्वर्थमेव विपर्येति भ्रमतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ आत्मन एवं देहाद्वैलक्षण्यमजानतां देहयोगवियोगोपि इति पाठो बहुत्र स च सर्वोपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवतीति न्यायेन "ऊकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७) इतिवत् अद्वैतमते पूर्वोक्तप्रकारेणात्मज्ञानान्यथात्वं ततो भेदकल्पनं ततोभिन्नेऽध्यासः ततो देहयोगवियोगौ ततः संसृतिश्च न निवर्त्तत इति च स्यात् अनेवंविदामिति बहुवचनपाठ एव सर्वसम्मतः अत्र टीकायाम् इति एतत्पूर्वोक्तं सर्वं यावदज्ञानं तावन्न निवर्त्तत इति व्याख्येयम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

न केवलमत्र ममैव दोषः, किन्तु देवानामपीत्याशयेनाह—दैवमिति देवता, न केवलं मर्त्त्या एवानृतं वदन्तीति 'मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितम्' इत्यादिवचनतस्तेषु तत्सम्भवात्; पापः पापकृत् क्रूरो वा सन् ॥ १७ ॥ महाभागौ हे परमविवेकिनौ जन्तवः सर्व एव जीवाः, न तु केचिदित्यर्थः। एकत्र एकस्मिन् स्थाने नासते, तत्रापि सह सम्भूय नासते, किन्तु पृथक् स्वस्वकर्म्मोज्जितलोकादौ तिष्ठन्तीत्यर्थः। यद्वा, स्वकृतं भुज इति लोकान्तरे स्वकर्म्मभोगार्थं गमनान्मरणे वियुज्यन्ते एवेत्युक्तम्, जीवनेऽपि वियुज्यन्त इति ॥ १८ ॥ तत्र दृष्टान्तो यथा भुवि भूतानि जातानि भौमानि रजांसि तृणादीनि वा वातवशादायान्त्यपयान्ति च, न चैकत्र सदा सहासते, तद्वदित्यर्थः। ते च देहा एव, न त्वात्मा, ब्रह्मांशत्वेन नित्यत्वादित्याह—नायमिति, एतेषु देहेषु स्थितोऽप्यात्मा तथा देहवन्न विपर्य्येति, निजस्वभावाद्वैपरीत्यं न याति, किन्तु तिष्ठतीत्यर्थः। अतो नश्वराणामवश्यं वियोगापत्त्याऽनश्वरस्य च सदा सत्तासिद्ध्या शोकेनालमिति भावः। अपयान्ति नश्यन्ति भुवि यानि तानि सर्वाण्येवेत्यर्थः, यद्वा, भुवि वर्त्तमानानीति भौमानां जन्मनाशयोः सर्वप्रत्यक्षतोक्ता एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि ज्ञेयम्, न विपर्य्येति जन्मादिविक्रियां नाप्नोति ॥१९॥ एवं देहानामेव

जन्मादिविकारः, न त्वात्मन इत्येतद्विदां सामान्यापेक्षया बहुवचनपाठ एव सर्वसम्मतः। नन्वीदृशज्ञानवतामपि शोको नाम दृश्यते ? सत्यम्, ज्ञाननिष्ठाराहित्यादित्याह—यथेति यथावत् सम्यक् निष्ठया, एवमुक्तप्रकारं तत्त्वमजानतामेव भेदोऽयमहं मत्पुत्रोऽयमित्यादिलक्षणो भवति, यतो भेदाद्विपर्य्ययोऽहं भोक्ताहं कर्त्ता, सुखी दुःखी चेत्यादिलक्षणमात्मतत्त्ववैपरीत्यं भवति; ततश्च पुत्रादिदेहैर्योगो वियोगश्चेत्यर्थः। मम पुत्रोऽयं जातोऽयञ्च मृत इत्यादिबुद्धिर्भवतीत्यर्थः। अमूर्त्तस्यात्मनो योगवियोगासम्भवाद्देहशब्दप्रयोगः ततश्च शोकदुःखलक्षणा संसृतिर्नैव निवर्त्तते ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

स्वकृतंभुजः स्वकृतकर्म फलभोक्तॄन् ॥ १८ ॥ भौमानि भूतानि पार्थिवरजांसि सदा सहावस्थानभावे दृष्टान्ताः एतेषु शरीरेषु न विपर्येति नापयाति अनित्यशरीरसन्तानेष्टात्मनोऽनुवृत्ते दृष्टान्तमाह–यथेव भूरिति। यथा पृथिवीत्वजातिः पार्थिवरजस्सु अनुवर्त्तते तथा पूर्वपरदेहे स्वात्मानुवर्त्तत इत्यर्थः ॥ १९ ॥ अनेवम्विदः आत्मनोनुवृत्तत्वे न देहातिरेकमजानतः पुरुषस्य भेदः बाध्यबाधकतारूपभेदः स्यात् अत आत्मविपर्ययः अद्वेष्यता विषयभूतोऽभवदित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पूर्वं तु "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता" इति दैवमुवाचेदानीन्तु यत्र क्वचित्तव मृत्युर्जात एवेति श्रुतमतो मानुषवद्दैवमप्यनृतं वक्त्येव यस्यैव वचने विश्वासादहं भगिनीसुतान् हतवानिदमतिजुगुप्सितं कर्म कृतवानस्मि किल ॥ १७ ॥ अथापि महाभागौ विवेकिनौ पुत्रानात्मजान् प्रति माऽशाचतं शोकं माकार्ष्टं तेषामशोच्यत्वं सूचयितुं विशिनष्टि स्वकृतम्भुजः स्वकृतकर्मफलभोक्तॄन् जन्तवः दैवाधीनाः स्वस्वकृतकर्मानुगुणप्रवृत्तदैववश्याः अत एव सदैकत्र नासते नावतिष्ठन्ते किन्तु तत्तत्कर्मानुगुणजन्ममरणादिभाजो भ्रमन्ति ॥ १८ ॥ सदा सहानवस्थाने दृष्टान्तमाह यथा भुवि भौमानि रजांसि यान्त्यपयान्ति अपगच्छन्ति तद्वद्भूतान्यपि कर्मवशात्कचित्संयुज्य पुनर्वियुज्यन्ते भौमानां गमनागमनाद्यवस्थावत्वेपि यथा न भुवः तथात्वं तथा शरीरेषु जन्ममरणादिविकारवत्स्वपि तद्धारकतयावस्थित आत्मा जीवः न विपर्येति विपर्ययं न प्राप्नोति नान्यथाभावं गच्छति किन्त्वेकरूपतया नित्यतया चावतिष्ठत इत्यर्थः। जन्ममरणाद्यवस्थावत्त्वस्वाभाव्याद्देहा न शोच्या नाप्यात्मा विक्रियाभावान्नित्यत्वाच्चेति भावः ॥ १९ ॥ ननु, जातोऽहं मृतोऽहं हतोऽहम् अहमस्मि इत्येवमात्मनोऽपि जननमरणहन्तृहन्तव्यभावप्रतीतेः कथं न स विपर्येतीत्यत्र सा प्रतीतिर्देहात्मभ्रान्तिमूला सैव च तस्य देहसंयोगवियोगरूपसंसृतिहेतुश्चेत्याह—यदेति। यदेवंविधो भेदः देहात्मनोर्वैधर्म्यरूपो भेदः न स्यादनुष्ठानपर्यन्तत्वेन नाध्यवसितः स्यात् यतः अनध्यवसितादेव भेदादात्मनि विपर्ययः देहधर्मप्रतीतिर्भवति तावत् देहसंयोगवियोगैरुपलक्षिता संसृतिर्न निवर्तते तत्संयोगादिरूपा संसृतिर्न निवर्त्तते चशब्दाद्धन्तृहन्तव्यप्रतीतिरपि न निवर्तत इत्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वकृतंभुजः स्वकृतादृष्टभुज इति यत्तन्माशोचेथाम् इतोपि शोको न कर्त्तव्य इत्याह - जन्तव इति। कीटादिप्राणिनः ॥ १८ ॥ नन्वेवं तर्हि देहस्थस्य परमात्मनोप्यागमनापायौ स्यातामिति तत्राह भुवीति यथा भुवि भौमानि पार्थिवानि भूतानि चतुर्विधान्यायान्त्यपयान्ति च तथैतेषु भूतेषु स्थितोऽयमात्मा परमात्मा न विपर्येति आगमापायौ न प्राप्नोति कथं यथा भूरागमनापायौ नाप्नोति तथेत्यर्थः। यथा भूतानि उद्भूतानि भौमानि रजांसि आयान्त्यपयान्ति वायुनेति शेषः। अयमात्मा तथा न अनन्याधीनत्वात् अन्वयदृष्टान्तमाह यथा भूः पृथ्व्या कठिनत्वेन स्थिरत्वादिति शेषः ॥ १९ ॥ जन्त्वागमागमवत् पुत्रादिकं विपर्येति भुव आगमापायाभाववत् परमात्मा न विपर्येतीति यदि तर्हीदं ज्ञानं कस्मान्नोदेत्त्याशंक्य भगवन्मायया मुग्धचेतस्त्वेन परमात्मविषयाभेदज्ञानबाहुल्याद् अनेन संसारानिवृत्तिस्तमःप्राप्तिश्च स्यातामित्याह, यत इति। अस्वपरविवेकबुद्ध्युत्पत्तिप्रभृतिपरमात्मविषयोऽभेदोऽनेकविधोऽहं ब्रह्मास्मीत्यादिको जीवस्य प्रतीयत इति यतस्तेन विपरीतज्ञानेन देहयोगादिलक्षणा वास्तवी यथार्था संसृतिर्न निवर्तत इति यतः आत्मविपर्ययः स्वस्य तम आद्यनर्थप्राप्तिश्च यतस्तस्मादात्मानि स्थितिं कृत्वा मानुशोचेत्यन्वयः "अहं ब्रह्मास्मि देवोस्मि नास्मि केवलमानुषः" इत्यादि सिद्धोयमर्थः अभेदप्रतीतिः असुरजातेरेव "तल्लक्षणैर्विहीनः सन् ब्रह्म देवोस्मि वापि तु" इत्यादेः सर्वः स्वकृतमदृष्टं भुंक्त इति यस्मात्तस्मात् ब्रह्मास्मीत्यादि चिन्तनं तर्हि कस्येत्यतः स्वयोग्यानामेव तदुक्तं "परब्रह्मण एकस्य ब्रह्मास्मीति विचिन्तनम्" इत्यादेः सर्वः परमात्मा स्वकृतं पूर्णं स्वमानन्दं विन्दते यतोऽवशः अवगतपरमानन्दः "सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुः" इति च सर्वः देवादिश्च स्वकृतं देवोस्मीत्यादि यथार्थज्ञानफलं भुंक्ते अवशो विष्ण्वधीनः ॥ २०–२१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसंदर्भः

जन्तवः सदा नासते तत्राप्येकस्मिन् स्थाने नासते सह संभूयापि नासत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ भूवीति दृश्यमानानीत्यर्थः। जीवात्मन आश्रय एव भुवो दृष्टान्तम् ॥ १९ ॥ न तु कारणत्वेऽपि यथा येन हेतुना एवमात्मतत्वमजानता भेदस्तस्मादन्यत्र तदुपाधौ दृष्टिर्भवति यतो हेतोस्तत्रैवात्मभावना भवतीत्यादि यत इति यतश्चेत्यर्थः ॥ २०–२१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हे भाम, हे भगिनीपते ! पुरुषादो राक्षसो यथा स्वापत्यं हिनस्ति तद्वत् ॥१७॥ भुज इति क्विन्नन्तं स्वकृतमिति षष्ठ्यभाव आर्षः महाभागाविति दुर्गादेव्येव आवयोरात्मजाभूत् किमन्यैः सुतैः स्वकृतभुग्भिरिति विमर्शेन मा ऽशोचतं किञ्च विमर्शान्तरमप्याह, जन्तव इत्यादि ॥ १८ ॥ आत्मानात्मविवेकेनापि मा शोचतमित्याह—भुवि भूमौ आश्रितानि भौमानि घटादीनि आयान्ति जायन्ते अपयान्ति नश्यन्ति च यथा तथैव भूतानि देहा एव जायन्ते नश्यन्ति च तथैव तेषु भूतेषु देहेषु विपरियत्सु जन्माद्यनेकविकारं प्राप्नुवत्स्वपि अयमपरोक्षतया ज्ञायमान आत्मा न विपर्य्येति जन्मादिविकाररूपं विपर्य्ययं नाप्नोति एकरूपमेव वर्त्तत इत्यर्थः । यथैव भूर्न विपर्य्येति भौमेषु घटादिष्वनेकविपर्य्ययं प्राप्नुवत्स्वपीत्यर्थः ॥ १९ ॥ अनेवंविद एवमात्मतत्त्वमजानतः शरीरमात्मत्वेन जानत इत्यर्थः । यथा यथावदेव प्रथमं भेदो भवति पृथक् शरीराण्येव पृथक् पृथगात्मान इति भेदज्ञानं भवतीत्यर्थः । यतो भेदादेव आत्मनो विपर्य्ययः जन्मादिविकाररूपविपर्य्ययप्राप्तिः देहजन्ममरणाभ्यामेवात्मा जातो मृत इति ज्ञानं भवतीत्यर्थः । ततश्च देहैरेव पुत्रादिभिर्योगः सुखकारणं वियोगो दुःखकारणं चेयमेव संसृतिः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

जन्तवः प्राणिनः सदा एकत्र नासते यतो दैवाधीनाः स्वकृतकर्मतन्त्राः अतः स्वकृतंभुजः स्वकृतकर्मफलभोक्तॄन् माशोचतम् ॥ १८ ॥ देहानामेव जन्ममरणे नात्मन इत्याह—भुवीति । भुवि भौमानि भूतानि स्थावराणि वृक्षादीनि यान्त्युत्पद्यन्ते अपयान्ति विनश्यन्ति यथा तथैतेषु तादृशोत्पत्तिविनाशशालिषु देहेषु देवमनुष्यादिषु कर्मवशाद्भ्रममाणोऽपि अयं जीवात्मा न विपर्येति उत्पत्तिविनाशौ न प्राप्नोति । किञ्च देहानामपि कारणरूपेण नित्यताप्यस्तीत्याह—यथैव भूरिति । भौमानां मूलभूता भूर्यथा नित्या तद्वद्देहानामपि कारणं नित्यमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ यथानैवंविदः यथावदेवमजानतः आत्मविपर्ययः अनात्मन्यात्माभिमानो भवति यत आत्मविपर्ययादेव देवोऽहं मनुष्योऽहं बालोऽहं तरुणोऽहमित्येवंविधश्च भेदो भवति देहयोगवियोगौ च भवतः संसृतिर्देहयोगवियोगनिबन्धनसुखदुःखप्रवाहरूपा न निवर्तते ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

हे महाभागाविति दुर्गा देवी ययोरात्मजा तयोः स्वकृतभुग्भिः सुतैः किमिति विमृश्य माशोचतं, विमर्श्यान्तरमाह जन्तव इति ॥ १८ ॥ देहात्मविवेकेन शोको निवर्त्तनीय इत्याह—भुवीति । यथा भौमानि घटादीनि भुवि यान्त्योत्पद्यन्ते अपयान्ति नश्यन्ति च तथैतेषु भूतेषु देहेषु विपरीतेषूत्पत्तिनाशलक्षणं विकारं गच्छत्स्वप्ययं सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायमान आत्मा न विपर्येति तं विकारं न गच्छति यथैव भूरिति भौमेषु घटादिषु विकारं गच्छत्स्वपि भूर्यथा न विपर्येति तद्वत् तथा च पुत्रदेहानामेव नाशो न तु तदात्मनामिति शोको माभूदिति "स्वप्ने यथे"त्यादौ देहात्मवादोऽप्यनेनाभिमतः तदिदमसुराणामनिश्चितबुद्धित्वादेव ॥ १९ ॥ यथा यथावदनेवम्विदो देहादन्यमात्मानमज्ञानतो जनन्याभेदो देहात्मा भेदबुद्धिर्भवति यतो बुद्धेरात्मनो विपर्ययो जन्ममरणादिव्यवहारः देहयोगवियोगरूपजन्ममरणलक्षणा संसृतिर्न निवर्तते देहादन्यस्मिन्नात्मनि निवर्तते तु न संसृतिस्तस्य तद्द्वयाभादित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

क्षमध्वमिति । अत्रैतत्पद्यपूर्वार्धे देवकीवसुदेवयोः क्षमापनांगीकारे तयोर्द्वित्वेन क्षमध्वमित्यादिबहुवचनानुपपत्तिः । न च तयोर्बहुमानार्थं तदिति वाच्यम् । मा शोचतं महाभागावित्यत्र तदभावेनात्रैव तदंगीकारस्य नियामकाभावात् । किंच स्त्रीपुंसयोरुच्चारणे स्त्रीपूर्वकस्यैव दृष्टत्वात् । श्यालशब्दस्य चानल्पमात्रकत्वात् श्यालस्वस्रोरिति कथम् अपि च । श्यालशब्दस्य भार्याभ्रातृवाचकत्वेन भगिनीभर्तुर्भामशब्दवाच्यत्वेन च वसुदेवस्य च भार्याभ्रातृत्वाभावेऽपि कथं श्यालशब्दवाच्यत्वम् । अतोऽनेकविधविरोधोऽत उच्यते । ननु आवयोस्त्वद्दुरात्मतासहनेन शोकाभावेऽपि बाधकस्य दुःखमजानतस्तव बाध्यानामस्मत्पुत्राणां षण्णां मृतिजन्यदुःखप्रापकत्वात्कथं ते तव दुरात्मतां सहेयुरिति चेत् ॥ १७–२० ॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

किं मया हतया मंद जातः खलु तवांतकः । यत्र क्वचित्पूर्वशत्रुरित्यादिना हरेः कंसशत्रुत्वमुक्तम् । दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ' यद्विश्रंभादहं पापः स्वसुर्निहतवान्सुतानित्यनेन कंसस्य हरेर्मातुलरूपबंधुत्वं चोच्यते । तत्र लोकवदेकस्यैव कंसशरीरस्थजीवस्य हरिं प्रति बंधुत्वं शत्रुत्वं चेत्यन्यथा प्रतीयते । तथा मा शोचेथां महाभागावित्युत्तरश्लोके देवाधीनाः सहासत इत्यनेन प्रतीयमानं यत्सर्वस्य भगवदधीनत्वज्ञानं तदसुरकंसस्यैवेति चान्यथा प्रतीयतेऽतस्तन्निरासाय प्रमाणेनैव तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ पूतनाकंसनरकेति । अनेनात्रैव स्थलांतरे यत्पूतनादीनां बंधुत्वादिकं शुभज्ञानं चोक्तं तस्यापि तात्पर्यार्थ उक्तो

भवति । शुभजीवप्रकाशेन सज्जीवस्य शरीरेऽभिमानप्रकाशेन । विपर्ययेऽसज्जीवस्य शरीराभिमानाविर्भावे सति । अन्यथा चाशुद्धबुद्धयश्च स्युरित्यर्थः । तत्रैव तस्मिन्नेव शरीरं मध्यमाभिमानिनः स्युः । तर्हीति शेषः ॥ १ ॥ भुवि भौमानित्यादि श्लोकद्वये यथा भूतान्यायांत्यपयांति तथैतेषु शरीरेषु स्थितो ना पुरुषरूप्ययमात्मा जीवो विपर्येति नित्यचैतन्यस्वरूपाद्विपरीतनित्य-दुःखादिकं प्राप्नोति । तत्र हेतुर्यतो नैकविध इति । यतो जीवे नेकविधभेदो भेदबुद्धिरत आत्मनि जीवे विपर्ययो यत आत्मनि विपर्ययोऽतो देहयोगवियोगश्च देहयोगवियोगादिरूपा संसृतिर्न निवर्तत इति जीवेश्वरादिभेदज्ञानस्य संसारहेतुत्वमुच्यत इति भ्रांति-निरासाय तत्तात्पर्यार्थमाह । अयमात्मेत्यादिना । अनेन यत इति भागवतस्थयच्छब्दद्वयस्य परमात्मवाचित्वं तथा यतः परमात्म-नोऽनेकविधभेदो यतः परमात्मन आत्मा विपर्ययः । प्रथमा तृतीयार्थे । आत्मविपरीतज्ञानेन देहयोगवियोगश्च देहयोगवियोगादि-रूपः संसारो न निवर्तते स एवायमात्मा परमात्मा न विपर्येतीति श्लोकयोजना चोक्ता भवति । आत्मविपर्यय इति भागवतपद-मात्मविपरीतज्ञानेनेत्येकप्रकारेण व्याख्याय स एवेत्येवकारव्यावृत्त्यर्थकत्वेन व्याचष्टे ॥ पुत्रादिकं त्विति । तुरवधारणे । अनेना-त्मशब्दः पुत्राद्यर्थक ईश्वरातिरिक्तपुत्रादेरेव विपर्यय इति चोक्तं भवति ॥ १९-२० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

देव्या मोहनायोक्तं विश्वस्यास्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेऽबुधेति दैवी वागप्यन्यथा जातेति मत्वा स्वं कुत्सयति ॥ दैवमिति । अहं स्वसुः शोभना असवो यस्याः सा भगिनीति मत्वेति च ॥ १७ ॥ स्वकृतं स्वकर्मफलं भुञ्जत इति भुजस्ताञ्जन्तवः प्राणिनः सदैकत्र सह नासते । तत्र तन्त्रं देवाधीना इति ॥ १८ ॥ भुवि भौमानीत्यादिश्लोकद्विके भूतान्यायान्त्यपयान्ति तथैव तच्छरीरस्थो ना पुमानात्मा जीवो विपर्येति चैतन्यात्मा दुःखादिमान्भवति । केनेत्यत आह ॥ यतोऽनेकविधो भेद इति । भेदस्तद्-भ्रमस्तद्विपर्ययेण च देहयोगवियोगाद्यात्मा संसारो न निवर्तत इति भेदज्ञानं संसारसाधनमुच्यते इत्यन्यथाप्रतीतिप्रतीकारं तत्तात्पर्य-वर्णनेन करोति ॥ अयमात्मेति । नात्मशब्दो जीवपरः किन्तु परमात्मपरः । भुवि यथा भौमानि भूतानि यान्त्यपयान्ति यथाऽय-मात्मेषु भूतेष्वागतेषु न विपर्येति । भूरि वाव तिष्ठत इत्यात्मा च जीव इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायात्मपदार्थमाहेत्यवतारयन्ति । यतो द्वयवाच्यः परमात्मेव यतः परमात्मनः सकाशादेवानेकविधमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी । आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मयेत्याद्यनेकविधमैक्यं यतश्च तस्मादेवं विपर्ययो विपरीतोऽयोऽयतेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानमर्थस्ततश्च विपर्ययो विपरीतज्ञानमिति लभ्यते । तृतीयान्तविवरणेन विपर्यये इत्यस्य तृतीयान्ततया विपरिणामो यत इत्यस्यावृत्त्या विपर्ययो भवति यतश्चेति सार्वविभक्तिकस्तसिरिति तृतीयान्तत्वेनेति विपरिणतस्य विपरीतज्ञानेन करणेन यतश्च परमात्मानं संसृतिर्देहयोगवियोग-रूपिणी न विपर्येति । स एव भगवान्न निवर्तते । तर्हि को निवर्तत इत्यत आह ॥ पुत्रादिकं त्विति । आत्मशब्दः पुत्रादिपरोऽपीति दर्शयति । विपर्येतीत्यावृत्त्याऽन्वेतव्यमित्याह ॥ विपर्यतीति ॥ अथ मूलार्थः ॥ देहस्यागमापगमयोः सतोरन्तःस्थस्य भगवतोऽपि तौ स्यातामित्यतस्तात्कालिकापायविधुरां धरां स्थूलदृश्यविवक्षया दृष्टान्तीकृत्य भगवतस्तावित्याह ॥ भुवीति । यथा भौमानि भूतानि पार्थिवान्युत्पत्तिकाले आयान्ति लयकालेऽपयान्ति च । न च भूरागमापायवती यथा तथाऽयमात्मा परमात्मा भूतेषु विपर्ययवत्सु सत्स्वपि न विपर्येति । यतः परमात्मनः सकाशादनेकविधोऽभेदो मानने वक्ष्यति तदनेकविधा ताम् । अभेदो यतः परात्मन एवात्म-विपर्ययो मिथ्याज्ञानेन । प्रथमा तृतीयार्थे । यतो येन विपरीतज्ञानेन प्राप्तो देहयोगवियोगश्चेति संसृतिर्न निवर्तते । आत्मविपर्यय आत्मनः पुत्रादेर्विपर्ययेऽपि यतो भवतीत्यावृत्त्याऽन्वयः । आत्मविपर्यय आत्मनः स्वदेहस्य विपर्ययः पुत्रोभवनं तदात्मविपर्ययः पितृत्वादिकं च भवतीत्यन्वेतव्यम् ॥ १९-२० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं सम्भावनया फलं निरूप्यायं मम सहजदोषो न भवतीति स्वदोषपरिहारं वदन्निवाह **दैवमप्यनृतं वक्ति**ति, आकाश-वाणी दैव'मेस्यास्त्वामष्टमो गर्भ' इति वाक्यं, दुर्गापि देवता एकं तु प्रत्यक्षसंवादि, आकाशवाण्यास्तु वाक्यं विसंवादि, देवगुह्या-ज्ञानादेवंवचनं, 'मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठित'मिति वाक्यान्मनुष्याणामनृतं देवेषु सत्यं, तदत्र विपरीतं, न केवलं मर्त्या एवानृतवादिनः, किन्तु **देवमप्यनृतं वक्ति**, अतो यद्विश्रम्भाद् यद्वाक्यविश्वासात् स्वसुः सुतान् वृथैव निहतवान्, ननु 'सन्देहे प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तय' इति तद्हृदये कथं भातमिति चेत् तत्राहाहं पाप इति, महतां हि हृदयं प्रमाणं न तु पापनिष्ठानां शिशूनिति वयःसख्ये विरुद्धे निरूपिते, अष्टम एक एव हन्तेति सामर्थ्यप्रतिपादकवाक्यात् ॥ १७ ॥

नन्वतः परं किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह **मा शोचत**मिति, महतां शोके हेतुभूतः प्रायश्चित्तेष्यनधिकारी भवतीति मत्कृपया शोको न कर्तव्यः, नन्वपकारिणि कथं कृपेति चेत् तत्राह महाभागाविविसम्बोधनं, महतां शत्रुमित्रोदासीनभावो नास्ति, ननु महत्त्वादेव शोकाभावे सिद्धे कथं शोकाभावो बोध्यत इति चेत् तत्राह स्वात्मजानिति, न हि स्वाकृतार्थत्वेन शोकः किन्तु बाला अकृतार्था गता इति, तेषां शोकाविषयत्वे हेतुमाह **स्वकृतभुज** इति, यद्यपि मरीचिपुत्रा एवं जाता इति न जानाति तथापि कार्यादनु-मिनोति, अतस्तैरपि तादृशं **कर्म** कृतमस्ति येन बाला एव हताः, ननु न वयं तान्शोचामो नात्मानं किन्त्वेकत्रोभयेषां स्थितिर्नो-

भूदिति शोचाम इति चेत् तत्राह जन्तव इति, ये हि निरन्तरं जायन्ते 'जायस्व म्रियस्वे'तिमार्गवर्तिनस्ते सदैवैकत्र नासते यतो भगवदिच्छा तथैव तेषु, तदाह दैवाधीना इति, यदापि तिष्ठन्ति तदापि पूर्ववासनया शत्रुमित्रोदासीनत्वस्य नित्यत्वान्न सम्यगासते सहासत इति वा पाठः ॥ १८ ॥

एवं लौकिकन्यायेन स्वापराधाभावं प्रार्थयञ्छोकापनोदनं कृतवान् पुनः शास्त्रानुसारेणापि शोकापनोदनमाह चतुर्भिः, भुवीति, पूर्वं ते म्रियन्त इत्यङ्गीकृत्य शोकापनोद उक्त इदानीं ते न म्रियन्त एवेत्युच्यते, आत्मा 'नित्यः सर्वगतः स्थाणु'रिति वाक्याद् व्यापको गमनागमनादिशून्यः कूटस्थः, साङ्ख्यानामेवमेव मतं दैत्यानां हृदये समायातीति तदेवोच्यते, देहास्त्वाकाशेऽभ्रतमःप्रकाशा इवोच्चावचाः समायान्ति गच्छन्ति च न त्वाकाशे कश्चन विकार उत्पद्यते तथा पुत्राणामप्यात्मत्वात् तेषां देहे गते न काचित् क्षतिः, स्पष्टतया व्यवहार्यत्वाद् भूमिदृष्टान्तो बुध्यत इति तमाह यथा भौमानि भूविकाराणि भूतानि कृमिकीटादीनि वृक्षादीनि वा यथा यान्ति भूमेः सकाशादुत्पद्यन्ते पृथग् भवन्त्यपयान्ति च भूमावेव लयं प्राप्नुवन्ति तेषूद्गतेषु लीनेषु वा भूमिस्तु न विक्रियते तथात्मन्यपि देहा यान्त्यपयान्ति चात्मोपार्जितकर्मवशादेवोत्पद्यन्ते लीयन्ते च तथाप्यात्मा न वोत्पद्यते न वा लीयत इत्यर्थः, यथा भूस्तथा देहानामपि भौतिकत्वान्न पृथङ्निरूपणं, भुवि भौमानि भित्त्यादीनीत्येव सम्बध्यते भूतानीति त्वात्मनीति वा, भूतानि जातानि वा, तेष्वेव भूतेषु विद्यमान आत्मा न तथेति वक्तुं दृष्टान्त एव प्रवेश उक्तः, यथा बहिस्थिता पृथिवी न विक्रियत एवमन्तःस्थित आत्मापि तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं, एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियत इति, उक्तेषु मनुष्यादिदेहेषु भूम्यविकारः प्रत्यक्षसिद्धः, वर्षाकालोद्भवेषु तृणादिषु चात्माविकारश्च प्रत्यक्षसिद्धः, अन्यथात्मानन्त्यकल्पना प्रसज्ज्येत, यथा देहे लोमानि न पृथगात्माधिष्ठितानि तथा भूमावप्येक एवात्मा तत्सम्बन्धात् कोटिशस्तृणादीन्युत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, अधिष्ठात्र्यो देवतास्तु भिन्नाः१९

नन्वेवमैकात्म्ये कथं लोके भेदव्यवहार इति चेत् तत्राह यथेति, यथा यथावदनेवंविदो भेदो न त्वेवंविदः, आपातत एवंवित्त्वेपि भेदप्रतीतिर्न गच्छतीति यथेत्युक्तं, यथानेवंविद इत्येकं पदं, समासान्तस्त्वनित्यः, भेदस्तु द्वित्वसाध्यः, न ह्येकस्मिन् भेदबुद्धिर्भवति, द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यं, अतो द्वित्वं न वस्तुनिष्ठं किन्तु बुद्धिस्थविषयकमेव, बुद्ध्या बहिर्विषयोत्पादनासम्भवात् अतोऽज्ञानकृत एव भेदो भवति, अपेक्षाविषयाणामभावात्, निरपेक्षेष्वपेक्षाबुद्धिरज्ञानकृतैव ननु 'भेदः पारमार्थिकः श्रुतिस्मृतिव्यवहारोपयोगित्वादात्मव'दित्यनुमानाद् भेदः पारमार्थिक एवेति चेत् तत्राह यत आत्मविपर्यय इति, यदि भेदः पारमार्थिकः स्यात् तत्कृतेन व्यवहारेणात्मविपर्ययो न स्यात्, अज्ञानस्य भेदोत्पादकत्वेनैवान्यथाबुद्धिहेतुत्वात्, अन्यथा सुषुप्तावज्ञानस्य विद्यमानत्वादन्यथाबुद्धिर्भवेत्, किञ्च न केवलं विपर्ययमात्रजनकत्वं किन्तु देहयोगवियोगावपि भेदकृतावेव, यथा देवदत्तस्य यज्ञदत्तदेहे जाते गते वा स्वस्य न कापि विक्रियोत्पद्यत एवं स्वस्याप्यात्मन एकत्वे ज्ञाते नोत्पद्येत, चकारस्तु सर्वव्यवहारसमुच्चयार्थः, किञ्च भेदस्त्वपारमार्थिक इति कार्यान्तरादप्यवसीयते, तदाह संसृतिर्न निवर्तत इति, भेदज्ञाने विद्यमाने जन्ममरणयोर्विद्यमानत्वात् संसारो न निवर्ततेत आत्मनोविकृतत्वं ज्ञातव्यं तदविकृतत्वमपरिच्छेदकूटस्थत्वव्यतिरेकेण न सिध्यतीति कूटस्थो व्यापकोविकृत आत्मा ज्ञातो भवति, तस्मिन् ज्ञाते शोको न सम्भवति ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

ननु भुवि भौमानि यथा यान्त्यपयान्ति तथात्मा न याति नापयातीत्येतावतैव वाच्योर्थः सम्पद्यत इत्यन्यानि पदानि व्यर्थानि किञ्च यथा भूर्न विक्रियत इतिद्वितीयो दृष्टान्तो बाधितो भौमानां भूविकारत्वादित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुर्भुवि भौमानि भित्त्यादीनीत्यादि, भुवि भौमानि भित्त्यादीनि यथा यान्त्यपयान्ति च भूतान्यवादीनि च यान्त्यपयान्त्यात्मा त्वेतेषु भूतेषु विद्यमान एव न तथा, न याति नापयातीत्यर्थः, एतेन भूतानीतिपदस्यात्मनि सम्बन्धे प्रकार उक्तः, यद्यप्येवमपि भूतपदमेतेष्वित्यादिपदानि च न सार्थकानि भवन्ति तथापि तेषु विद्यमानस्यापि तद्धर्मासम्बन्धकथनात् तथात्वं, अन्यथैतदर्थाप्राप्तेः, दृष्टान्त एवेति, दृष्टान्तनिरूपकवाक्ये भूतपदस्यापि प्रवेश उक्त इत्यर्थः, अतः परं यथा भूरितिदृष्टान्तं विवृण्वन्ति यथा बहिरित्यादिना, भौमानि यदा विक्रियन्ते तदा तेभ्यो बहिःस्थिता स्थूला भूर्न विक्रियते तथैतेष्वन्तःस्थित आत्मापि तथा, एवं सति न तथैतेष्वित्यस्यावृत्तिः कार्या, तदेतदुक्तं तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यमित्यनेन, अस्मिन्नेव पक्षे एतेष्वित्यादिपदानि प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्त्येतेषु मनुष्यदेहेष्वपीत्यादिना, यथा बहिःस्थिता भूर्मनुष्यदेहेषूत्पद्यमानेषु न विक्रियते तथात्मापीत्यर्थः, अग्रे तूक्तेर्थे प्रमाणमुक्तमुक्तेष्वित्यादिना, अथ प्रकारान्तरेणार्थमाहुर्वर्षाकालेत्यादिना, एतेषु तृणादिषूत्पद्यमानेषु यथा भूर्विक्रियते न तदन्तर्गत आत्मेत्यर्थः, व्यतिरेकेत्र दृष्टान्तः, 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवी मन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीर'मितिश्रुतेः पृथिव्यन्तर्गतोभिमान्यात्मास्तीति मन्तव्यं, विपक्षे बाधकमाहुरन्यथेति, एकतृणरूपेणैकस्यात्मनो विकृतौ सत्यां निरवयवत्वेनांशभेदस्य वक्तुमशक्यत्वाद् द्वितीयादिषु तेषु भिन्नो भिन्न आत्माङ्गीकार्यः स्यादित्येकस्मिन् पृथिवीलक्षणशरीरेनन्ता आत्मानः कल्पनीयाः स्युरित्यर्थः, अधिष्ठात्र्य इति, त्वगादिगोलकेषु लोमादीनामिंद्रियाणामोषध्यादयो देवताः शरीराभिमान्यात्मनः सकाशाद् भिन्ना इत्यर्थः ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितायां श्रीटिप्पण्यां चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

मा शोचतमित्यत्र मत्कृपयेति, मयि कृपां कृत्वेत्यर्थः ॥ १८ ॥ **भुवि भौमानी**त्यत्रैतच्छ्लोकं व्याख्याय प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **भुवि भौमानीति**, अस्मिन् पक्षे पूर्वार्धे दार्ष्टान्तिकवाक्यं भिन्नं कथनीयं, तथा च यथा **भौमानी**तिपदं **भुवी**त्यनेन सम्बध्यते तथा **भूतानी**तिपदमध्याहृतेनात्मनीतिपदेन सम्बध्यते, शेषाणि पदान्यावर्तन्ते, अस्मिन् पक्ष आत्मपदाध्याहारदोषात् पक्षान्तरमाहुर्भूतानि जातानि वेति, यथा भुवि भौमानि यथा भुव्येव **भूता**न्यबादीनीत्यर्थः, भूस्त्वधिकरणत्वेनैव वर्तत इति तत्र विद्यमानभूतान्याकाशातिरिक्तान्यबादीन्येवेति तान्येव **जात**पदेनोक्तानीति ज्ञातव्यं, **अस्मिन् पक्षे** चकारेण दृष्टान्तान्तरस्य समुच्चयान्न पदावृत्तिदोषः, **ननु भौमानि भित्त्यादीनीति** यद् द्वितीयं व्याख्यानं तस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां तदुक्त्वा व्याकुर्वन्ति **ननु भुवीत्यादि**, जातानीत्यस्यार्थो**ऽबादीनी**त्यादि, अस्मिन् पक्षे दार्ष्टान्तिकाकाङ्क्षा भवति तां व्याख्यानेन पूरयन्त्यात्मेत्यादि, **एतेनेति**, दार्ष्टान्तिकवाक्यव्याख्यानेन, **प्रकार इति**, वैपरीत्यरूपः, **एवमपीति**, उक्तयोजनायामपि, **न सार्थकानि भवन्तीति**, **नायमात्मा** तथेत्येतावतैव चारितार्थ्यात् तथा, **तथात्वमिति**, सार्थकत्वं, **मूल एवमेव** पदसार्थकत्वं विवक्षितमित्यत्र गमकं सुबोधिन्यामाहुस्तेष्वि-त्यादि, तदेतट्टिप्पण्यां व्याकुर्वन्ति **दृष्टान्त एवेत्यादि**, **एवं सतीति**, **न तथैते**तिपदानां पूर्वार्धेऽन्वये सति, **विपक्ष इति** आत्मनोऽप्युत्प-त्त्यादिविकाराङ्गीकारे ॥ १९ ॥ **यथानेवंविद इत्यत्रैकं पदमिति**, 'वेदनं वित्, भावे क्विप्, तत **एवमित्यनेन** केवलसमासस्ततो **नैवंविदनेवंविदितितत्पुरुषः**, ततो यथावदनेवंविद् **यस्येति**बहुव्रीहिः, तत्र 'शेषाद् विभाषे'ति कप्रत्ययः प्राप्तः स त्वनित्यो वैकल्पिक इत्यर्थं'इति श्रीवल्लभः, तन् ममापि सम्मतमितिदिक्, ननु भेदस्यानेवंविद्विषयत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां तस्य तथात्वमुपपादयन्ति **भेदस्त्वित्यादि**, ननु द्वित्वमेव भेदसाध्यं कुतो न भवतीत्यत आहुर्न **हीत्यादि**, तथाप्यैकस्मिन् **दृष्ट एक एवेतिबुद्धिर्भवति न त्वभिन्न इत्यतो** द्वित्वसाध्य एव भेदो न तु भेदसाध्यं द्वित्वमित्यर्थः, नन्वपेक्षाबुद्धेर्भ्रान्तत्वे भेदस्याज्ञानकृतत्वं स्यात् तस्यास्तथात्वमेव कथमित्याकाङ्क्षा-यामपेक्षाबुद्धेरज्ञानकृतत्वे हेतुमाहु**रपेक्षाविषयाणामभावादित्यादि**, भावप्रधानो निर्देशः, अपेक्षाविषया ह्यात्मानो वाच्यास्ते च स्वाहंवित्तिवेद्या एव न परस्य विषयाः, अतस्तेषां तथात्वाभावात् **तथे**वेत्यर्थः, भेदस्य पारमार्थिकत्वमनुमानेनाशङ्कन्ते **ननु भेद इत्यादि**, **भेद इति**, आत्मनां परस्परं भेदः, एवमनुमानं बाधकतर्केण दूषयन्त्या**त्मविपर्ययो न स्यादिति**बाधकतर्कप्रणयनं, तच्चात्मा नाशोत्पत्तिशाली प्रतिशरीरं भिन्न इत्याकारकमन्यथाज्ञानं तादृशविपर्ययस्त्वात्मनः स्तनपानादिक्रियाजनकसंस्कारशालितया नित्यत्वे सर्वशरीरगत-चैतन्योपलम्भेन व्यापकत्वे चानुमितेपि भेदकृतव्यवहारेण जायते, अन्यथा तदुत्पत्तिनाशाभ्यां स्वस्यान्यस्य च हर्षशोकादिकं न स्यात्, तथा च 'भेदो न पारमार्थिकः संसारहेतुत्वाद् यद्यत् संसारहेतुस्तत्तन्न पारमार्थिकमन्यथाबुद्धिव'दिति च प्रतिपक्षसद्भावान् पूर्वोक्तानुमानेनात्मभेदसिद्धिर्न चात्मन उत्पादविनाशशालित्वसिद्धिरित्यर्थः, नन्वात्मविपर्ययोऽज्ञानेन न तु भेदेनेत्यत आहु**रन्यथेति**, तथा चैवमङ्गीकारेप्यज्ञानस्य नाज्ञानत्वेनात्मविषयकान्यथाबुद्धिजनकत्वं किन्तु भेदजनकत्वेनेति **भेदादेवात्मविपर्यय** इत्यर्थः, भेद-स्यैव कार्यान्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादि, **एकत्वे ज्ञात इति**, नित्यत्वेन पूर्वापरदेहयोरेकत्वे ज्ञाते **सर्वव्यवहारेति**, श्यामोहं गौरोहमित्यादि-व्यवहारेत्यर्थः, भेदस्यैव पुनः कार्यान्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादि ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

भुवि भौमानीत्यत्र प्रथमपक्षे **विपर्येती**त्यनेनोक्तो विकार उत्पन्नेनोक्तो विकार उत्पत्तिलयरूपः स एव **यान्ती**त्यनेनोक्तः, द्वितीयपक्षे **यान्त्यपयान्ती**त्यनेन गमनागमने उक्ते, **विपर्येती**त्यनेन विकारोऽन्यथाभावरूप उच्यते, तत्रैवमन्वयः, यथा भुवि भित्त्या-दीनि यान्त्यपयान्ति तथैवात्मनि भूतान्यबादीनि जातानि वा यान्त्यपयान्ति, एतेषु विद्यमान एवात्मा न तथा न याति नापयातीतिदृष्टा-न्तेनात्मनो गमनागमने निषिद्धे, द्वितीयदृष्टान्तेन विकारं निषेधति **न तथैतेष्विति**, पदत्रयस्यावृत्तिं कृत्वा यथा **भूमिर्बहिः** स्थिता न विपर्येति तथैतेषु भूतेष्वन्तर्विद्यमान आत्मापि न विपर्येतीति, अत्रैव पक्षे भूमेर्विकारोपलब्धेररुचिं मत्वा **यथा भूरि**त्यत्र नकारमसं-योज्य यथा भूर्विक्रियते तथात्मा न विक्रियत इतिव्यतिरेकदृष्टान्तपक्ष उक्तः ॥ १९ ॥ **यथानेवंविद इत्यत्रैकं पदमिति**, वेदनं वित्, भावे क्विप्, तत **एवमित्यनेन** केवलसमासस्ततो नैवंविदनेवंविदितितत्पुरुषः, ततो यथावदनेवंविद् यस्येतिबहुव्रीहिः, तत्र 'शेषाद्वि-भाषेति कप्रत्ययः प्राप्तः, **स त्वनित्यो** वैकल्पिक इत्यर्थः, **अपेक्षाबुद्धिजन्यमिति**, यज्ञदत्ताद् देवदत्तो द्वितीय इति यज्ञदत्तापेक्षाजन्य-मित्यर्थः, **बुद्धीति**,, **बुद्धिस्थो** यज्ञदत्तादिरूपो **विषयः** कं स्थानं यस्येत्यर्थः, **यत आत्मविपर्यय** इति, आत्मनो विपर्ययो देहत्वेन ज्ञानविषयत्वमित्यर्थः, **अन्यथाबुद्धिरिति**, यज्ञदत्तरूपदेहोहमिति बुद्धिरित्यर्थः ॥ २० ॥

बुभुत्सुबोधिका

दैवमित्यत्र न भवतीति किन्तु **भ्रमाच्चैवापराधोयमिति** स्वदोषपरिहारमित्यादि। स्वदोषपरिहारो न वाच्यार्थ इतीव-शब्दप्रयोगः। दुर्गायां त्वनृतवक्त्रीत्वाभावाद्दैवपदार्थमाहुः आकाशेति। वाक्यमिति अनृतम्। दुर्गेति विष्णोरनुजा। अपिना माया साधारिणी। आकाशवाणी वा 'दुर्गा देवता पर्वतेराध्यास'मितिश्रुतेः देवतास्मरणम्। एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायात्। प्रत्यक्षेवि 'यत्र कचित् पूर्वशत्रु'रित्यादि। विसंवादीति अष्टमो गर्भो हतः न तु हन्तेति विसंवादि। ननु न विसंवादि

कृष्णो हनिष्यतीति चेत् तत्राहुः देवगुह्येति। देवरूपदेवगुह्यस्य गोप्यस्य प्रियस्याज्ञानात् कंसस्येत्यर्थः। विपरीतमिति सत्यविपरीतमनृतम्। यद्वेति वाक्यात् यद्वा विश्वासात्। सुतानिति सुताश्च सुता च सुताः तान्। वृथैवेति दुर्गापि देवतेति विश्वासाद् वृथा। सन्देह इति देववाक्यात् सन्देहः। यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्हतो वापूर्वशत्रुर्वेति। प्रकृतय इति हृदि धृत्वा स्थापिताः माया देवदुर्गाः। भगवत्य इति प्रमाणम्। 'अत्र प्रमाणं भगवा'नितिवाक्यात्। अन्तःकरणप्रवृत्तय इति पाठे अन्तःकरणस्य प्रवृत्तयो याभिरिति पूर्वोक्त एवार्थः। हृदयमिति हृदेव हृदयम्। हरतेः अयं च हृक् च। वयः प्रसिद्धं विरुद्धं हनने। विरुद्धां सङ्ख्यामाहुः अष्टम एक इति। सामर्थ्येति शब्दसामर्थ्यमष्टमो गर्भो हन्तेतिवाक्येऽष्टमपदैकसङ्ख्यासामर्थ्यं 'कपिञ्जलानालभेते'त्यत्र त्रित्वे बहुत्वपर्यवसानवत्। हन्तायमिति सप्तसु ज्ञानं नास्ति किन्त्वष्टम एवेत्येकत्वे शब्दसामर्थ्यम्॥ १७॥

मा शोचतमित्यत्र कर्तव्यमाहुः महतामित्यादिना। महतां देवकसम्बन्धिनामखण्डब्रह्मज्ञानाधिकारिणा शोके शोकनिमित्तं शाकफलाय। प्रायश्चित्तेऽप्यनधिकारी ब्रह्मवित्, 'एतं ह वाव न तपती'तिश्रुतेः। एतं ब्रह्मविदं साधुकर्म असाधुकर्म वा न तपतीति श्रुत्यर्थः। शोके हेतुभूतो न भवतीत्यर्थः। भवतोति नञ्रहितपाठेऽविद्यया वियोपमर्दात् प्रायश्चित्तेऽनधिकार्यपि शोके हेतुभूतो भवतीत्यर्थः। अनधिकारी वसुदेवोऽत्र। मत्कृपयेति मयि कंसे कृपया। भागोऽत्र शत्रुमित्रोदासीनभावाभाव इत्याहुः महतां शत्रुमित्रेत्यादि। स्वाकृतार्थत्वेनेति न कृतोऽर्थः लोकजयलक्षणः पुत्रोत्पादनेन येन सोऽकृतार्थः। मरीचिपुत्रा इति उत्तरार्धे षट्त्रिंशाध्याये भगवद्वाक्यानि 'आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमान्तरे। देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम्। तेनासुरीमगन् योनिमधुनावद्यकर्मणा। हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया। देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिता' इति बलिं प्रति। तेन एवं जाता इत्यस्याः देवकीपुत्रा जाताः। न जानातीति 'आत्मजा'निति पदात्। कार्योदिति 'स्वकृतंभुज' इत्यत्र स्वकृतपदार्थः। अनुमिनोतीति स्वकृतंभुजः तादृशकर्मकर्तृत्वात्। अस्मदादिवदिति अनुमानं करोति। तैरिति हिरण्यकशिपोर्जातैः। हता इति पूर्वं द्वितीयाध्याये षट् पुत्रा ऐश्वर्यादिरूपा वेदान्तानुसारेणोक्ताः। उत्तरार्धे तु वेदमार्गानुसारेण मरीचिपुत्रा भगवतोक्ताः। वेदान्ते पुरुषोत्तमोऽर्थात्मकः वेदे पुरुषोत्तमोत्तमः शब्दात्मकः वेदोऽपि शब्दः। जायस्वेति अयं तृतीयकर्ममार्गश्छान्दोग्ये। दैवाधीना इतीति फलबलकल्प्या हि भगवदिच्छोक्ता। न सम्यगिति नैकरूपतया। 'समासत' इति पाठमङ्गीकृत्योक्तम्। अत्र शोकदूरीकरणं कारिकोक्तं स्पष्टम्॥ १८॥

भुवि भौमानीत्यत्र म्रियन्त इति 'जायस्व म्रियस्वे'ति तृतीयकर्ममार्गः। न कदाचिदनीदृशं जगदिति जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञः। कूटस्थो निर्लेपः। ननु मायादेवदुर्गाधृतवतः कंसस्य वेदवेदान्तप्रकारः कथमित्यत आहुः साङ्ख्यानामित्यादि। प्रकृतिः कर्त्री पुरुषः पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति साङ्ख्यसूत्रम्। भूमावेव लयमिति कार्याणां स्वस्वकारणे लयनियमात् तथा। भूमित्वेन भूमिः दृष्टाविरोधेन लयस्थानम्। न चाप्सु लय इति वाच्यम्। अत्रिवृत्कृतभूविषयत्वा'दद्भिः पृथिवी'तिश्रुतेः। एतेन श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिः प्रबलेति श्रुतिकृतबाधः प्रत्युक्तः। आत्मोपेति मायादिहृदयः विद्यापूर्वप्रज्ञे न मन्यते। चतुर्थस्कन्धे 'माया मनः सृजति कर्ममय'मित्युक्तेः। अत एवेवकारः। भुवि भौमानीति अत्र टिप्पणी तेषु विद्यमानस्येति तेषु भूतेषु विद्यमानस्यात्मनः। तद्धर्मेति विकृतत्वभूतधर्मेत्यर्थः। तथात्वमिति सार्थकत्वम्। सुबोधिनी। आत्मपदमावृत्त्य सप्तम्यन्तं परिणमय्य भूतानीत्यनेनान्वितकरणे गौरवमालोच्य पक्षान्तरमाहुः भूतानि जातानि वेति। एवं स्पष्टार्थेति तां त्यक्त्वा दृष्टान्त एवेति सुबोधिनीं व्याकुर्वन्ति स्म दृष्टान्तनिरूपकेति। भिन्नं वाक्यमिति एकतिङ्वाक्यमिति तिङन्तरग्रहणेन तथा। अग्रे त्विति उक्तेषु मनुष्यादिदेहेष्विति ग्रन्थे। उक्तेष्वेतेष्विति टिप्पण्यां पाठः। सुबोधिन्याम्। तथा चैवमन्वयः। प्रथमपक्षे 'विपर्येती'त्यनेनोक्तो विकार उत्पत्तिलयरूपः, स एव 'यान्त्यपयान्ती'त्यनेनोक्तः। द्वितीयपक्षे 'यान्त्यपयान्ती'त्यनेन गमनागमने उक्ते। 'विपर्येती'त्यनेन विकारोऽन्यथाभावरूप उच्यते। तत्रैवमन्वयः। 'भुवि भौमानि भित्त्यादीनीत्येव सम्बध्यत' इति सुबोधिन्यामेवकारेण 'भौमानि'भूविकाराणि 'भूतानि' कृमिकीटादीनि वृक्षादीनि वेति सहैवान्वयस्य व्यवच्छेदकेनेवकारेण। यथा भुवि भित्त्यादीनि यान्त्यपयान्ति तथैवात्मनि भूतान्यवादीनि जातानि वा यान्त्यपयान्ति। एतेषु विद्यमान एवात्मा 'न तथा' न याति नापयातीति। दृष्टान्तेनात्मनो गमनागमने निषिद्धे। द्वितीयदृष्टान्तेन विकारं निषेधति। न तथैतेष्वितिपदत्रयस्यावृत्तिं कृत्वा यथा भूमिर्बहिः स्थिता न विपर्येति तथैतेषु भूतेष्वन्तर्विद्यमान आत्मापि न विपर्येतीति। अत्रैव पक्षे भूमेर्विकारोपलब्धेररुचिं मत्वा यथा भूरित्यत्र नकारमसंयोज्य यथा भूर्विक्रियेत तथात्मा न विक्रियत इति व्यतिरेकदृष्टान्तपक्ष उक्तः। तेनात्मनो न हि शोकोऽस्तीति कारिकोक्तशोकाभाव इति भावः॥ १९॥

यथा नैवमित्यत्र ऐकात्म्य इति देहेषु भिन्नेष्वात्मा एक एव तस्य भावः। आहेति ज्ञानाद् दृष्टो भेदो नश्यतीत्याहेत्यर्थः। यथेत्युक्तमिति यथावदर्थकयथेत्युक्तम्। एकं पदमिति वेदनं वित् भावे क्विप्। तत् एवमित्यनेन केवलसमासः। ततो न एवंविदनेवंविदिति नञ्तत्पुरुषः। ततो यथावदनेवंवित् यस्येति बहुव्रीहिः। समासान्त इति शेषाद् 'विभाषे'तिसूत्रेण कप् प्राप्तः। स त्वनित्यो वैकल्पिक इत्यर्थः। ननु भेदस्यानेवंविद्विषयत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां भेदस्यानेवंविद्विषयत्वमुपपादयन्ति स्म भेदस्त्वित्यादि। इमौ द्वौ घटपटौ अयमस्माद् भिद्यत इति। भेदप्रत्यक्षे प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम्। ननु द्वित्वमेव भेदसाध्यं कुतो नेत्यत आहुः न ह्येकस्मिन्निति। तथा चैकस्मिन् दृष्टे एक एवेति बुद्धिर्भवति न तु भिन्न इत्यतो द्वित्वसाध्य एव भेदो न तु भेदसाध्यं द्वित्वमित्यर्थः।

अपेक्षाबुद्धीति अयमेकोयमेक इमौ द्वावित्यपेक्षाबुद्धिः। वस्त्विति आत्मनिष्ठम्। अतस्तत्साध्यो भेदोपि नात्मनिष्ठः। बुद्धिस्थेति यथावदनेवंविद्बुद्धिः अपेक्षाबुद्धिः, आत्मा तत्स्थं विशेषेण सिनोति बध्नाति यद् द्वित्वं तद्बुद्धिस्थविषयं स्वार्थे कः। यथावदने-वंविद्बुद्धिस्थ आत्मा विषयो यस्य द्वित्वस्येति बहुव्रीहौ कव्वा। एकरसश्रुतेरेवकारः। नन्वान्तरं द्वित्वाभाववति द्वित्वप्रकारकं ज्ञानं भ्रमः स न युज्यतेन्यत्र स्थितस्यान्यत्रारोपाङ्गीकारात्। तस्माद् बहिर्द्वित्वं (द्वित्वसाध्यो भेदः) बुद्ध्याकाशादौ घटपटनिष्ठे उत्पाद्यते तदनन्तरात्मन्यध्यस्यते इति पक्षं निराकुर्वन्ति बुद्ध्येति। यथा यन्मायया बहिःक्षिप्ता ख्यायते बुद्धिरर्थवच्छुक्तिरजतादौ तथा विषयोत्पादनासम्भवात्। तेन किमत आहुः अत इति। अज्ञानं यथावदनेवंवित्त्वं तत्कृत एव भेदो द्वित्वसाध्यः, न तु बुद्धिकृत इत्यर्थः। नन्वात्मन इदमित्थतया ज्ञानाविषयत्वं भाष्य उक्तमिति यथा कथञ्चिद् भेदोपि द्वित्वसाध्यः बुद्धिकृत इति चेत् तत्राहुः अपेक्षेति। पदस्य पदान्तराभावप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमपेक्षा। तत्र विषयतया प्रविष्टानां द्वित्वसाध्यभेदानां परमार्थेऽभावात्। आत्मरूपे तु भवतु मा वेत्यन्यदेतत्। निरपेक्षेष्विति घटः पटः कुड्यं कुसूल इत्यादिशब्देषु। उक्तापेक्षा तद्विषयिणी बुद्धिरित्यर्थः।

अज्ञानेन तमसा कृता तामसी। अतत्त्ववति तत्त्वप्रकारकज्ञानरूपत्वादेवकारो नैयायिकमतेनापि। भेद इति आत्मनां परस्परं भेदः। एतदनुमानं बाधकतर्केण दूषयन्ति आत्मविपर्ययो न स्यादिति। बाधकतर्कप्रणयनं तच्च व्याप्तिरोधकमन्यथाज्ञानम्। तथा चात्मभेदः अपारमार्थिकः स्वकृतव्यवहारेणात्मविपर्ययादन्यथाज्ञानवदिति प्रत्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षत्वं पूर्वानुमानस्येति भावः। आत्मविपर्यय इति आत्मविकारः यथा शरावादिरूपेण भिन्ना भूर्भेदेन विकृता। अन्यथाबुद्धीति अभेदवति आत्मनि भेद (विकृतत्व) प्रकारकबुद्धिहेतुत्वात्। नन्वात्मविपर्ययोऽज्ञानेन न तु भेदेनेत्यत आहुः अन्यथेति। नोत्पद्यतेति विक्रिया नोत्पद्येत। भिन्नयोर्देवदत्तयज्ञदत्तदेहयोर्विक्रिया षड् भावविकारा भवन्त्येव। प्रत्याहारन्यायेन देहयोगवियोगाभ्यां षड् भावविकाराः प्राप्ताः चकारस्य कोर्थ इत्याकाङ्क्षायामाहुः चकार इति। सर्वव्यवहारेति भेदकृतगौरोहं श्यामोहमिति सर्वव्यवहारसमुच्चयार्थः। संसार इह प्रपञ्चोहन्ताममतात्मको वेत्याशयेनाहुः भेदज्ञान इत्यादि। मायाकार्ये भेदज्ञाने विद्यमाने। 'भिदा मायामात्र'मितिवाक्यात्। जन्ममरणयोरिति तमोऽविद्याकार्ययोरन्यथाज्ञानाभावरूपयोर्विद्यमानत्वं भेदमायाकार्यत्वात्। माया तत्कार्यान्यतरसत्त्वे संसारः प्रपञ्चोहन्ताममतात्मको वा न निवर्तते। 'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थसम्बन्ध' इति वाक्यात्। 'अर्थ-सम्बन्धो' देहसम्बन्धः। अत इति जन्ममरणोपलक्षितषड्भावविकाराणां विद्यमानत्वात्। कूटस्थ इति मायादैवदेवतानां हृत्स्थत्वात कंसस्य कूटस्थः मायिकस्थः। न तु सर्वोपनिषदुक्तः कूटस्थः, उपनिषत्तु 'ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिरष्टविशिष्टतयोपलभ्य-मानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यत' इति। शोको न सम्भवतीति ज्ञानाद् दृष्टो भेदो नश्यतीति शोको न सम्भवति द्वितीयाभावात्॥ २०॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

आचार्यचरण इस श्लोक के आभास में आज्ञा करते हैं कि—**एवं संभावनया फलं निरूप्य अयं मम सहजदोषो न भवतीति स्वदोषपरिहारं वदन्निवाह**— इस प्रकार पाप की संभावना से अपने को मिलने वाले फल का निरूपण कर; यह मेरा सहज दोष नहीं, ऐसे स्वदोष के परिहार को कहता हुआ कंस आगे कहता है कि **'दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्'**।

देवता भी असत्य बोलता है, आकाशवाणी देवता है **'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः'** इस देवकी का आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा–यह उसका कहा हुआ वाक्य है, दुर्गा भी देवता ही है; एक तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय होने से यथार्थ है, दुर्गा का वचन तो अनुभव से अविरुद्ध है, परन्तु आकाशवाणी का वचन, अनुभव विरुद्ध है, अयथार्थ है, कंस को देव कार्य के गुह्य होने का ज्ञान नहीं, अतः ऐसा कह रहा है **'मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितम्'** मनुष्यों में असत्य प्रतिष्ठित है इस वाक्य से असत्य मनुष्यों में बतलाया गया है, देवताओं में सत्य कहा है, वह यहाँ पर विपरीत है, केवल मनुष्य ही असत्यवादी होते हैं, यह बात नहीं, किन्तु देवता भी असत्य बोलता है जिस देवता के वाक्य पर विश्वास करके मैंने बहिन के बच्चों को मारा है, वृथा ही उनको मार दिया, सन्देह में तो अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को प्रमाण कहा है, अतः आकाशवाणी का कथन हृदय में प्रतीतिकर कैसे हो गया, अतः कहा है कि 'अहं पापः' महापुरुषों का हृदय प्रमाण होता है न कि मुझ जैसे पापीओं का, मैं तो पापी नहीं खूद पापरूप हूँ, **'शिशून्'** शब्द से अवस्था तथा संख्या को विरुद्ध कहा गया है क्योंकि एक अष्टम ही मारने वाला होगा, इस प्रकार मारने के सामर्थ्य वाली प्रौढ़ अवस्था का व एकत्व संख्या का प्रतिपादन उस वाक्य से हुआ है॥ १७॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में आज्ञा करते हैं कि—**नन्वतः परं किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह**— तो फिर आगे क्या करना उचित है, ऐसी आशङ्का करके कंस आगे का श्लोक कहता है **'मां शोचतं महाभागौ'**।

महान पुरुषों के शोक में जो कारणरूप बनता है वह पुरुष तो प्रायश्चित करने का भी अधिकारी नहीं होता। यदि आप महानुभाव शोक करेंगे तो मैं प्रायश्चित्त का अधिकारी नहीं बनूँगा और प्रायश्चित्त के बिना शुद्धि न होने से मुझे नरक भोगना पड़ेगा अतः मुझ पर कृपा करके शोक न करें। यदि अपकारी पर कृपा कैसे की जाय, यह कहें, तो वह कहना आप को

शोभा नहीं देता। आप **'महाभागो'** महाभाग वाले हैं, इस सम्बोधन से सूचित करता है कि महान पुरुषों को शत्रु, मित्र, उदासीन, ऐसा भेदभाव नहीं होता, जब महान् होने के कारण शोक नहीं, यह सिद्ध है, तो शोक न करने का बोध कैसे किया जा रहा है, तहाँ कहता है कि **'स्वात्मजान्'** आप को अपने अकृतार्थता के कारण शोक नहीं हैं, किन्तु बालक बिना कृतार्थ हुये ही चले गये, यह शोक है, उनका शोक न करें, क्योंकि **'स्वकृतम्भुजः'** अपने कृतकर्मों का फल मनुष्य भोगते हैं, यद्यपि मरीचि महर्षि की पत्नी ऊर्णा के षट् पुत्र इस प्रकार उत्पन्न हुए ऐसा कंस नहीं जानता, तो भी कार्य से कारण का अनुमान करता है, कि इस तरह मारे जाने से सिद्ध होता है, कि उनने भी वैसा कर्म किया है, जिससे बालक ही वह मार दिये गये। यदि आप यह कहें कि हमको न अपना शोक है न बच्चों का किन्तु एक स्थान पर हमारी और उनकी स्थिति न हो सकी, हम और वह दोनों साथ न रह सके, अतः शोक होता है, तो यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि **'जन्तवः'** जो निरन्तर जन्म लेते रहते हैं, **'जायस्व म्रियस्व'** इस पुनः पुनः जन्म मरण वाले मार्ग पर चलते रहते हैं, वह सदा ही एक स्थान पर नहीं ठहरते हैं, क्योंकि उनके विषय में वैसी ही भगवान को इच्छा होती है, अतः कहा है कि **'दैवाधीनाः'** वह सब भगवदिच्छा के अधीन हैं। जब साथ साथ रहते हैं, तब भी पूर्व वासना से शत्रु मित्र उदासीन, ता के भाव नित्य बने रहते हैं, अतः सुख शांति से अच्छी तरह नहीं रह पाते, **'समासते'** पाठ के अनुसार उक्त व्याख्या है, अथवा **'सहासते'** ऐसा पाठ है, व्याख्या स्पष्ट है॥ १८॥

इस प्रकार लौकिक रीति से कंस ने अपने अपराध के न होने की प्रार्थना करते हुये देवकी वसुदेवों के शोक का निवारण किया है, अब पुनः शास्त्र के अनुसार भी शोक निवारण करना **'भुवि भौमानि'** इत्यादि ४ श्लोकों से कहा है, पूर्व तो यह मान कर शोक निवारण किया था कि वह शरीर मरते हैं, अब वह मरते ही नहीं, यह कहा जाता है, दैत्यों के हृदय में साङ्ख्य वालों का ऐसा ही मत, अच्छी तरह से आ जाता है, कि **'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'** इस वाक्य के अनुसार आत्मा व्यापक है, आता जाता नहीं है, निश्चल या कूटस्थ है, दैत्यरूप कंस उसी मत को कहता है, कि देह तो आकाश में मेघ, अन्धकार, व प्रकाश की तरह, ऊँच, नीच अनेक प्रकार के आते जाते रहते हैं, परन्तु आकाश में कोई भी विकार नहीं होता, इसी तरह वह पुत्र भी आत्मा है, अतः उनके देह के जाने पर कोई हानि नहीं। स्पष्टरूप से व्यवहार का विषय होने के कारण भूमि का दृष्टान्त समझा जा सकता है, अतः यहाँ आकाश का दृष्टान्त न कह कर भूमि का ही दृष्टान्त कहा है, कि जैसे भूमि में भूमि के विकार छोटे बड़े कोड़े, या वृक्ष आदि प्राणी भूमि से उत्पन्न होते हैं, उससे पृथक् होते हैं, और उसमें ही लीन भी हो जाते हैं, उनके उत्पन्न होने पर, या लीन होने पर भूमि तो विकार रहित ही रहती हैं, वैसे आत्मा में भी देह आत्मकृत कर्म के वश ही उत्पन्न और लीन होते रहते हैं, तो भी आत्मा न उत्पन्न होता है, न वह लीन होता है, जैसे पृथिवी वैसा आत्मा ज्ञातव्य है देहादि भी भौतिक ही होते हैं, अतः उनका श्लोक में नामतः पृथक् उल्लेख नहीं किया है, [1]वह अनुक्त सिद्ध ही हैं। अथवा भौम शब्द से गृहादि की भित्ति आदि विवक्षित है, जैसे भूमि में गृहादि की भित्तियाँ, बनती बिगड़ती रहती हैं, उसी प्रकार से ही 'भुवि' व 'भौमानि' पदों का सम्बन्ध है, 'भूतानि' पद का सम्बन्ध तो अध्याहृत 'आत्मनि' पद के साथ विवक्षित है, कि उसी तरह आत्मा में भूत पञ्चभूतात्मक शरीर बनते बिगड़ते रहते हैं।

[2]अथवा भूत शब्द प्रकट होने वाले जल आदि भूतों का वाचक है जैसे भूमि में भौम भित्ति आदि व उसमें प्रकट होने वाले जलादि भूत आते जाते रहते हैं यह अर्थ है।

यद्यपि भूत शब्द का दृष्टान्त वाक्य में प्रवेश अनावश्य प्रतीत होता है, परन्तु जिन भूतों का भूमि में आना जाना होता है, उन भूतों में ही विद्यमान आत्मा का वह आना जाना नहीं होता, यह स्पष्ट करने को 'भूतानि' पद का प्रवेश दृष्टान्त वाक्य में कहा है।

कि जैसे भूतों से बाह्यस्थित भूमि भूतों के विकृत होने से विकृत नहीं होती, ऐसे ही भूतों के अन्तःस्थित आत्मा भी विकृत नहीं होती।

उत्तरार्ध में प्रयुक्त **'तथैतेषु'** वाक्य जब पूर्वार्ध प्रयुक्त **'भूतानि'** पद से सम्बन्धित है, यह मानकर 'भूतों के अन्तः स्थित आत्मा विकृत नहीं' इस प्रकार व्याख्या की है। तब **'तथैतेषु'** उस वाक्य की आवृत्ति कर उसे भिन्न जानना चाहिये।

इस व्याख्या के पक्ष में ही **'तथैतेषु'** इत्यादि भिन्न वाक्य की अन्य प्रकार से भी व्याख्या अपेक्षित है, क्योंकि आवृत्ति की गई है।

अपेक्षित वह व्याख्या यह है कि **'एतेषु'** इन मनुष्य आदि शरीरों में भी आत्मा विकार रहित ही है, जैसे बाह्य भूमि मनुष्यादि देहों के उत्पन्न होने पर विकृत नहीं होती वैसे आत्मा भी विकृत नहीं होती, उक्त इन मनुष्य आदि देहों में भूमि के विकार का अभाव प्रत्यक्षसिद्ध ही है।

---

१. इस व्याख्यान में दो अरुचियां प्रतीत होती है, एक तो भूतानि व एतेषु इत्यादि पदों की व्यर्थता, दूसरी भूमि की निर्विकारता, अतः भिन्न प्रकार से आगे व्याख्या नहीं। २. उस व्याख्या में अध्याहार दोष अरुचिकर है, अतः पुनः पक्षान्तर से व्याख्या की है।

व्यतिरेक मुखेन यह दृष्टान्त भूमि के विकार पक्ष में भी इस प्रकार जानना चाहिये, कि वर्षाकाल में उत्पन्न होने वाले तृण आदि में भूमि का विकार जैसे प्रत्यक्षसिद्ध है, वैसे तृणादिगत आत्मा का विकाराभाव भी प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति से पृथ्वी के अन्तर्गत अभिमानी आत्मा तृणादि रूप पृथिवी में एक ही है, यह मानना तो अनिवार्य ही है, वह विकृत नहीं होता, अन्यथा यदि एक तृणरूप से एक आत्मा को विकृत मानेंगे तो आत्मा के अवयवरहित होने के कारण अंश भेद तो कहा नहीं जा सकता, अतः अन्य अन्य तृणों में भिन्न भिन्न आत्मा मानना पड़ेगा, तब तो एक ही पृथिवी रूप शरीर में अनन्त आत्माओं को कल्पना करनी पड़ेगी।

जिस प्रकार देह में कोटिशः रोम होते हैं, वह सब पृथक् पृथक भिन्न आत्मा से अधिष्ठित नहीं होते, एक देहाभिमानी आत्मा ही उन रोमों का अधिष्ठाता होता, उसी प्रकार भूमि में भी एक ही आत्मा है, उसके सम्बन्ध से कोटिशः तृण आदि भूमि में उत्पन्न व विलीन होते रहते हैं। शरीर के रोम रूप इन्द्रियों के अधिष्ठान त्वचा में घ्राणादि इन्द्रियों के अधिष्ठान नासिका आदि में जैसे अधिष्ठाता देवता शरीराभिमानी आत्मा से भिन्न होते हैं, वैसे ही रोमों के भी अधिष्ठाता औषधि रूप देवता भिन्न होते हैं, शरीराभिमानी तो अधिष्ठातृ देवताओं से भिन्न एक ही हैं'[1] ॥ १९ ॥

आचार्य चरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि "नन्वेवमैकात्म्ये कथं लोके भेदव्यवहार इति चेत् तत्राह— यहाँ पर ऐसी शंका होती है कि जब एक ही आत्मा है तो लोक में देवदत्त की आत्मा भिन्न है और यज्ञदत्त क आत्मा भिन्न है ऐसा व्यवहार कैसे होता है अथवा देवोऽहं मनुष्योऽहं आदि भेद व्यवहार कैसे होता है तो कहते हैं कि 'यथानेवंविदो भेदः'।

कि यथावत् इस प्रकार के ऐकात्म्य ज्ञान से रहित पुरुष को ही भेद प्रतीत होता है, न कि इस प्रकार ज्ञान वाले को भेद प्रतीत होता है। साधारणतया ऐसा ज्ञान होने पर भी भेदप्रतीति नहीं हटती है, अतः वैसा ज्ञान यथावत् अपेक्षित है, अतः 'यथानेवंविद' इस पद में यथा शब्द कहा गया है, यह एक ही समस्त बहुव्रीहि पद है। यथा—(यथावत्) न (नास्ति) एवं (ऐकात्म्यप्रकारिका) विद् (ज्ञानं) यस्य इस विग्रह वाले इस बहुव्रीहि में समासान्त 'कप्' प्रत्यय अनित्यता के कारण नहीं है। तात्पर्य यह है यहां समासान्त क प्रत्यय इसलिये नहीं हुआ कि "शेषाद्विभाषा" वार्तिक में विभाषा पद है उससे विकल्प से "क" प्रत्यय होता है विभाषा का अर्थ है विकल्प।

भेदप्रतीति ऐकात्म्य ज्ञान हीन व्यक्ति को इसलिये होती है कि भेद द्वित्व संख्या से सिद्ध किया जाता है, क्योंकि विना द्वित्व संख्या के एक वस्तु में भेद बुद्धि नहीं हो सकती, द्वित्व संख्या तो "अपेक्षाबुद्धि" का कार्य, हैं, जैसे 'इस व्यक्ति से वह व्यक्ति द्वितीय है' ऐसा कहने में व्यक्ति की अपेक्षा बुद्धि से ही द्वितीयता रूप द्वित्व पैदा होता हुआ प्रतीत होता है।

अतः द्वित्व संख्या वस्तुगत नहीं किन्तु बुद्धिस्थविषयगत ही है, बुद्धि से बाहर विषयों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है अतः भेद अज्ञानकृत ही होता है, क्योंकि जब भेद का मूल द्वित्व संख्या व द्वित्व संख्या का भी मूल अपेक्षात्मक बुद्धि हैं, वह बुद्धि स्वगत विषयों में या काल्पनिक विषयों में ही द्वित्व संख्या के द्वारा भेदजनक होती है, वास्तव में अपेक्षात्मक बुद्धि के विषय आत्मा नहीं हो सकते, आत्माओं में अपेक्षा बुद्धि अज्ञानकृत ही है तो भेद के अज्ञानकृत होने में कोई संशय हो नहीं।

यदि भेद को वास्तविक मानने के लिये अनुमान किया जाय कि भेद तो वास्तविक ही होना चाहिये, क्योंकि वह भेद तो उसी प्रकार, श्रुति, स्मृति, व्यवहारों से सिद्ध हैं, जिस प्रकार आत्मा श्रुति आदि से सिद्ध हैं, तो यह अनुमान सङ्गत नहीं, तर्क से बाधित ही है, अतः कहा है कि 'यत आत्मविपर्ययः' यदि भेद वास्तविक हो, तो भेदकृत व्यवहार से अन्यथा ज्ञाना-त्मविपर्यय नहीं होना चाहिये, अभिप्राय यह है कि यद्यपि बालक के स्तनपानादि क्रियाजनक संस्कार आदि से, आत्मा की नित्यता का अनुमान होता है, और शरीरगत चैतन्य के अनुभव से आत्मा की व्यापकता का भी अनुमान होता है तो भी, भेदकृत व्यवहार से अन्यथा ज्ञान होता रहता है कि आत्मा उत्पन्न होता है व मरता है, आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है, यदि

---

१. इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री वल्लभजी महाराज आज्ञा करते हैं कि पृथ्वी से कृमि कीट आदि उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। यह अर्थ "यान्ति" इत्यादि पदों से लिया गया है। देह और आत्मा के पक्ष में "यान्ति अपयान्ति" का अर्थ यह है कि देह आते जाते रहते हैं परन्तु आत्मा में यह बात नहीं है। यहां विकार से अन्यथाभाव अर्थ लेना। श्री वल्लभजी महाराज श्लोक का अन्वय इस प्रकार करते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी में भित्ति आदि बनते हैं और बिगड़ते हैं, उसी प्रकार जल आदि महाभूत जो पैदा हुए हैं वे आते हैं और जाते हैं परन्तु इनमें विद्यमान आत्मा न जाता है और न आता है। इस दृष्टान्त से आत्मा के आने जाने का निषेध किया है। दूसरे दृष्टान्त से आत्मा में विकार नहीं होता यह "न" तथा "एतेषु" इन पदों की आवृत्ति कर यह अर्थ किया कि जैसे बाहिर रही हुइ पृथ्वी विकृत नहीं होती वैसे ही इन पञ्च महाभूतों में रहने वाला आत्मा भी विकृत नहीं होता। परन्तु पृथ्वी में तो विकार देखा गया है इसलिये उक्त कथन में अरुचि आई तो श्री वल्लभजी कहते हैं कि "यथा भूः "के साथ" "न" कार का सम्बन्ध न कर व्यतिरेक दृष्टान्त से यह कहा कि जैसे पृथ्वी में विकार होता है वैसे आत्मा में विकार नहीं होता।

ऐसा अन्यथा ज्ञान न होता हो तो लोगों को जन्म व मरण से हर्ष शोक आदि भी न होना चाहिये; अतः यह सिद्ध हो जाता है, कि अज्ञान भेद को उत्पन्न करके ही, अन्यथा ज्ञान को उत्पन्न करता हैं, यदि भेद को उत्पन्न किये बिना ही अज्ञान से अन्यथा ज्ञान उत्पन्न होता हो तो सुषुप्ति अवस्था में भी अज्ञान के विद्यमान रहने से अन्यथा ज्ञान होना चाहिये, ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि भेद अज्ञान जनित होने से, पारमार्थिक नहीं।

और वह अज्ञानकृत भेद केवल विपर्यय या अन्यथा ज्ञान का ही जनक नहीं, किन्तु देह के संयोग वियोग भी भेदकृत ही हैं, जैसे देवदत्त नाम वाले पुरुष को, यज्ञदत्त नामक पुरुष के देह के उत्पन्न व नष्ट होने पर, अपना कोई भी विकार उत्पन्न नहीं होता, ऐसे अपने भी देह के संयोग वियोगो में भी आत्मा के एक होने के, ज्ञान होने पर कोई विकार न उत्पन्न होना चाहिये, क्योंकि नित्य होने से आत्मा पूर्व देह व अन्य देह में एक ही है, ऐसा होते हुए भी देह संयोग वियोगों में जो अपने को विकार उत्पन्न होता है, उसका कारण अज्ञानकृत भेद ही है, 'च' शब्द से तो 'मैं श्याम वर्ण हूँ, गौर वर्ण हूँ, स्थूल या कृश हूँ' इत्यादि सर्व व्यवहार भी भेद कृत ही है, यह सूचित किया है।

और भी भेद तो अवास्तविक है, ऐसा अन्य कार्य से भी निश्चित होता है, उसे कहता है कि 'संसृतिर्न निवर्त्तते' भेद ज्ञान के रहते जन्म मरणों के रहने से संसार निवृत्त नहीं होता, अतः आत्मा की निर्विकारता का ज्ञान आवश्यक है वह निर्विकारता आत्मा के देश कालादि परिच्छेदरहित, कूटस्थता या निश्चलता के बिना सिद्ध नहीं होती, अतः कूटस्थ, व्यापक, अविकृत आत्मा ज्ञात होता है, उसके ज्ञान होने परशोक नहीं हो सकता ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

न केवलमत्र ममैव दोषः, 'किन्तु देवेषु सत्यं मनुष्येष्वनृतम्, इति शास्त्रोयनियमविपर्ययादप्यकार्यं कृतमित्याह- दैवमिति। यद्विश्रम्भादिति। यस्य 'अस्या अष्टमो गर्भस्त्वां हन्ता' इति वचनस्य विश्वासादहं स्वसुर्भगिन्याः शिशून् मुग्धान् पुत्रान् निहतवान्। ननु 'तवापि तत्र विश्वासः कथं जातः ?' इत्यपेक्षायां 'पापवशात्, इत्याशयेनाह-पाप इति ॥ १७ ॥ "शोकस्तु दुष्कृतिनामविवेकिनामेव भवति,युवां तु सुकृतिनावतो विवेकेन शोको न युक्त" इति सूचयन् सम्बोधयति-हे महाभागाविति। युवामात्मजान् प्रति मा शोचतम्। तत्र हेतुमाह—स्वकृतंभुज इति। स्वप्रारब्धफलभोक्तृनित्यर्थः। तैरपि पूर्वं तादृशमेव कृतम्, येन बाला एव मद्धस्तान्मृता इत्याशयः। शोकस्तैः सह संवासेन सुखानुभवार्थमेव, स च जीवानां सर्वेषामपि दुर्लभ एवेत्याह जन्तव इति। जन्तवो जीवाः सदैकत्र नैवासते, एकत्र वासेऽपि सम्यक् सुखपूर्वं तु नैवासते। तत्र हेतुमाह – दैवाधीना इति। प्रारब्धकर्माधीना इत्यर्थः। तथाच प्रारब्धकर्मणो विचित्रत्वात् कर्माधीनानां मध्ये केनचित् पुरुषेण प्रारब्धवशात् सुखं भोक्तव्यम्, केनचिच्च प्रारब्धानुसारेण दुःखं भोक्तव्यम्। तद्भोगयोः परस्परविरुद्धतया स्नेहपूर्वकसहसंवसतामसम्भवात् तद्भोगसिद्ध्यर्थं जीवा वियुज्यन्ते विरुद्ध्यन्तेवेति भावः। 'सहासत' इति पाठान्तरम् ॥ १८ ॥ 'जन्तवः सदा नासते' इत्यनेन यज्जन्ममरणादिकमुक्तं तदपि देहानामेव नात्मन इति सदृष्टान्तमाह- भुवीति। यथा भुवि आधारभूतायां भौमानि घटादीनि आयान्ति अपयान्ति च भवन्ति न भवन्ति च तथात्मन्याधारभूते भूतानि देहा एवायान्ति अपयान्ति च। यथा चैतेषु भौमेषु विक्रियमाणेष्वपि नूनं विक्रियते तथैव देहेषु जन्ममरणादिभिर्विक्रियमाणेष्वप्ययमपरोक्षतया प्रत्यभिज्ञायमान आत्मा जीवो न विपर्येति जन्मादिविकारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१९॥ 'एवं निर्विकारैकात्मज्ञाने सति न शोकाद्यवकाशः। अज्ञानतस्तु कदापि संसारदुःखं न निवर्तते' इत्याह-यथेति। यथा यथावत् अनेवंविदः एवं निर्विकारैकात्मतत्त्वमजानतः आत्मविपर्ययः देहेन्द्रियान्तःकरणादावात्मबुद्धिर्भवति, यत आत्मविपर्ययाद्भेदः 'अहं भिन्नोऽयं भिन्न, इदं मदीयमिदं परकीयम् इति भेदबुद्धिर्भवति, ततस्तदनुरूपं कर्म, तदनुरूपेण देहेन योगवियोगौ भवतः। अतः संसृतिः जन्ममरणादिदुःखं न निवर्तते ॥२०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

दैवमिति ॥ केवलं मर्त्या मनुष्या एव अनृतं न वदन्ति किन्तु दैवं देवसमूहोऽपि अनृतं वक्ति। अत एवाकाशवाक् मिथ्याभूता। यस्य अष्टमो गर्भस्त्वा हन्तेति वचनस्य विश्रम्भात् विश्वासात् पापोऽहं स्वसुः शिशून् निहतवान् ॥ १७ ॥ मा शोचतमिति ॥ हे महाभागौ ! स्वकृतं स्वप्रारब्धफलं भुजः भोक्तृन् स्वात्मजान् मा शोचतम्। भुज इति क्विबन्तम्। स्वकृतमिति कृद्योगे षष्ठ्यभाव आर्षः। तदर्हमिति ज्ञापकाद्वा। क्वचित् "धायैरामोदमुत्तमम्" इति भट्टिः। यतो हेतोः दैवाधीनाः जन्तवः सदा न आसते तत्रापि एकत्र नासते तत्रापि सह संभूय नासते। समासत इत्यपि पाठः ॥ १८ ॥ भुवीति ॥ यथा भुवि आधारभूतायां भौमानि घटादीनि आयान्ति अपयान्ति च भवन्ति न भवन्ति च तथात्मन्याधारभूते भूतानि देहा एवायान्ति अपयान्ति च। यथा चैतेषु भौमेषु विक्रियमाणेष्वपि भूर्न विक्रियते। तथैव देहेषु जन्ममरणादिभिर्विक्रियमाणेष्वप्ययमपरोक्षतया प्रत्यभिज्ञायमान आत्मा जीवो न विपर्येति एकरूप एव वर्त्तते। जन्मादिविकारं न प्राप्नोतीत्यर्थः। देहानामेव जन्मादिकं न त्वात्मन इत्यर्थः। एवं विचार्यमाणे न शोकावकाशः ॥ १९ ॥ अज्ञानिनस्तु न निवर्त्तत इत्याह—यथेति ॥ यथा यथावत् अनेवंविदः एवमजानतः आत्मविपर्ययः देहादावात्मबुद्धिर्भवति यतो विपर्ययाद्भेदो भवति। देहाहङ्कारेण ह्यात्मनि परिच्छिन्ने सति इदमहङ्कारास्पदं भिन्नं भवति। यतो भेदान् पुत्रादिदेहैर्योगो वियोगश्च भवति। ततः संसृतिः सुखदुःखे इति यावदज्ञानं न निवर्त्तते ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दैवमिति ।। पूर्वं तु 'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता' इति दैवमुवाचेदानीमियं देवी तु 'यत्र क्व च तव मृत्युर्जात' इत्युवाचेति श्रुतं, तत्र वक्ति दैवमिति । दैवम् अपि, अनृतं वक्ति, केवलं, मर्त्याः एव न वदन्ति, अतः मानुषवत् दैवमपि यदाऽनृतं वक्त्येव, तदा न कोऽपि विश्वसनीयवचन इति भावः । यद्विश्रम्भाद्यस्य दैववचसो विश्वासात्, पापः पापरूप एव, अहं स्वसुः शिशून् निहतवान् । इदमतिजुगुप्सितं कर्म कृतवानस्मि किलेति भावः ।। १७ ।। मा शोचतमिति ।। अथापि, महाभागौ विवेकिनौ युवां, स्वकृतंभुजः स्वकृतकर्मफलभाक्तन् , आत्मजान् प्रति, मा शोचतं शोकं मा कार्ष्टम् । तथा हि । जन्तवः प्राणिनः, दैवाधीनाः स्वकृतकर्मानुगुणप्रवृत्तदैववश्याः, भवन्ति । अत एव, सदा एकत्र सह, न आसते । नावतिष्ठन्ते इत्यर्थः । किं तु तत्तत्कर्मानुगुण-जन्ममरणादिभाजो भ्रमन्ति ।।१८।। सदा सहानवस्थाने दृष्टान्तमाह । भुवीति । यथा भुवि भौमानि भूमेरेव संभूतानि रजांसि, यान्ति कस्माच्चन प्रदेशाद्वायुवशात् उड्डीय प्रदेशान्तरं प्रति आयान्ति अपयान्ति । पुनस्तान्येव तथैव ततः प्रदेशान्तरं प्रति गच्छन्ति च । भूस्तद्धरा भूमिस्तु, यथा एव, यथाविधा वर्त्तते, तथैव तिष्ठतीत्यर्थः । तथा भूतानि शराराणि अपि, कर्मवशात् यान्ति, अपयान्ति । कर्मवशतः क्वचित् संयुज्यन्ते पुनर्वियुज्यन्ते च । एतेषु भूतेषु, विपर्ययं प्राप्तवत्सु सत्स्वपि, अयं आत्मा, न विपर्येति विपर्ययं न प्राप्नोति । भौमानां रजसां गमनागमनाद्यवस्थावत्त्वेऽपि, यथा न भुवस्तथात्वं, तथा शरीरेषु जन्समरणादिविकारवत्स्वपि तद्धारकतयाऽवस्थितः अयं आत्मा अन्यथाभावं न गच्छति, किं त्वेकरूपतया एवावतिष्ठते इति भावः । अस्यायं निगूढोऽभिप्रायः । जन्ममरणाद्यवस्थावत्त्वस्वाभाव्याद्देहा न शोच्या नाप्यात्मा विक्रियाभावान्नित्यत्वाच्चेति ।। १९ ।। ननु जातोऽहं मृतोऽहं हतोऽमहं हन्मीत्येवमात्मनोऽपि जन्ममरणहन्तृहन्तव्यभावप्रतीतेः कथं न स विपर्येतोत्युच्यते, इति चेत्, सा प्रतीतिर्देहात्मभ्रान्तिमूला, सैव तस्य देहसंयोगवियोगरूपसंसृतिहेतुश्चेत्याह ।। यदेति ।। यदा, एवविधः उक्तप्रकारः, भेदः देहात्मनोर्भेदेन ज्ञानं, न स्यात्, तदाऽयं देहात्माभिमान्येव जातः । यतः यावत्, आत्मविपर्ययः आत्मनि देहधर्मप्रतीतिमान्, तावत्, देहयोगवियोगैः उपलक्षिता, संसृतिश्च संसरणमपि, न निवर्त्तते । यद्वा चशब्दाद्धन्तृहन्तव्यप्रतोतिरपि न निवर्त्तते इत्यर्थः । 'यथाऽनेवंविदो भेद' इति पाठे, यथा यथावत्, अनेवंविदः एवमजानतः पुंसः, आत्मविपर्ययः देहात्मबुद्धिः भवति, यतो विपर्ययात्, भेदः, भवति, भेदात्, पुत्रादिदेहैर्योगवियोगौ भवतः, ततः संसृतिः सुखदुःखे इत्यर्थः । यावदज्ञानं न निवर्त्तते ।। २० ।।

कृष्णप्रिया

केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, किन्तु देवता भी झूठ बोलते हैं । देवता के विश्वास पर ही मुझ पापी ने अपनी बहिन के बहुत बालकों को मार दिया ।। १७ ।। हे परम श्रेष्ठ भाग्यशाली देवकी वसुदेवजी ! अपने पुत्रों का शोक न करो क्योंकि उन्होंने अपने किये हुए कर्मों का फल भोगा है, भगवदिच्छा से जो जन्म एवं मरण के मार्ग में हैं वे सदा एक साथ नहीं रहते ।। १८ ।। जैसे मृत्तिका से घट आदि उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु मृत्तिका में विकार नहीं होता वैसे ही शरीर बनते बिगड़ते रहते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता अथवा यों कहिये कि जैसे घट तृण भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं परन्तु पृथिवी में स्थित अन्तर्यामी रूप परमात्मा में कोई विकार नहीं होता वैसे ही देह के उत्पन्न एवं नष्ट होने पर आत्मा में कोई विकार नहीं होता ।। १९ ।। जिसे ठीक रूप से यह ज्ञात नहीं कि आत्मा एक है उसे भेद प्रतीति होती है और उसी भेद प्रतीति से आत्मा की अनित्यता, भिन्नता तथा देह के संयोग वियोग मालूम पड़ते हैं, और संसार भी उसी के कारण निवृत्त नहीं होता ।। २० ।।

तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि । मानुशोच[1] यतः सर्वः स्वकृतं [2]भुञ्जतेऽवशः ।। २१ ।।
यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्[3] । तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ।। २२ ।।
क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो [4]दीनवत्सलाः । [5]श्रीशुक उवाच इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् ।। २३ ।।
मोचयामास[6] निगडान्[7] विस्रब्धः[8] कन्यकागिरा । देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ।। २४ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भद्रे ? तस्मात् मया व्यापादितान् अपि स्वतनयान् मा अनुशोच यतः सर्वः अवशः स्वकृतं भुञ्जते ।। २१ ।। यावद् हतः अस्मि हन्ता अस्मि इति अस्वदृक् आत्मानं मन्यते तावद् तद् अभिमानी अज्ञः बाध्यबाधकताम् इयात् ।। २२ ।। मम दौरात्म्यम् क्षमध्वम् साधवः दीनवत्सलाः इति उक्त्वा अश्रुमुखः श्यालः अथ स्वस्रोः पादौ अग्रहीत् ।। २३ ।। कन्यकागिरा विस्रब्धः आत्मसौहृदम् दर्शयन् देवकीं च वसुदेवम् निगडान् मोचयामास ।। २४ ।।

---

१. मानुशोचयत—वीर. । २. विन्दते—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. गिरि. मक्त. । ३. सुदृक्—इति कस्यचित् ; स्वदृक्—जीव. मक्त. । ४ बन्धुवत्सलाः—जीव. वीर. मक्त. । ५. अन्यत्रत्यां श्रीशुक उवाच पाठो न दृश्यते । ६. मोक्षयामास-इति कस्यचित् । ७. निगडाद्—श्रीधर. वंशी. जीव. गिरि. मक्त. । ८. विश्रब्धः—श्रीधर. वंशी. गिरि. मक्त. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एवमुक्तप्रकारेण नैते तव तनया अहं तु तावन्न घातितवांस्तथाप्यज्ञानदृष्ट्या स्वतनयान्मया व्यापादितानपि माऽनुशोचेति सांत्वयति। तस्मादिति। अज्ञानाश्रयमेव कर्मवादमाह। यत इति ॥ २१ ॥ कथं तर्हि ब्राह्मणादिहंतुस्तद्वध्यस्य च प्रायश्चित्तश्रवणमज्ञानमूलमेवेत्याह। यावदिति। अस्वदृक् देहाभिमानी। तावत्तदभिमानी तस्य देहस्य हननमात्मन्यभिमन्यमान इत्यर्थः २२ श्यालः कंसः। स्वस्रोरिति। स्वसृशब्देन द्विवचनानुपपत्त्या मिथुनगणनद्वारा मिथुनीलक्षणया स्वसृतत्पत्योरभिधानम्। लिंगसमवायन्यायेन प्राणभृत उपदधातीतिवद्देवकीवसुदेवयोः प्रत्येकं पादमग्रहीदित्यर्थः। श्यालशब्देन वा कथंचिद्वसुदेवाभिधानम्।२३। आत्मसौहृदं प्रियवादादिना दर्शयन् ॥ २४-२६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवमुक्तप्रकारेण देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानेन। एते ये मृता यद्यपि ते तनया न तथाप्यज्ञानदृष्ट्या देहादिष्वात्मबुद्ध्या व्यापादितान्मारितान्। सांत्वयति साम्ना बोधयति। यत इति हेतौ सर्वः प्राणिमात्रम्। यद्वा 'सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुः' इति सर्वपदस्य शिवपर्यायत्वेपीन्द्रादिदेवपरत्वमेवोपलक्षणत्वेन ज्ञेयम्। श्रीशिवस्य परमेश्वरतया कर्मानधीनत्वात्तत्परत्वेन नेयम्। अवशः कर्मवशः हरिवशो वा देवादिरपि स्वकृतं भुंक्तेऽन्येषां तु का कथेति भावः ॥ २१ ॥ यदि देहादावात्मबुद्धिर्विपर्ययज्ञानमस्ति तर्हि ब्राह्मणादिदेहहंतुर्द्वादशब्दादिप्रायश्चित्तश्रवणमनर्थकं स्यादित्याशंकते कथमिति। तद्वधस्य ब्राह्मणादिवधस्य। इत्यर्थ इति। अज्ञत्वात्सविपर्ययज्ञानवशेन बाध्यबाधकतां नाश्यनाशकतां यातीति भावः ॥ २२ ॥ मयि पुत्रहंतृत्वमारोप्याधिना रोदिषि चेत्तर्हि सत्यमहं दुष्ट एव बुद्धिपूर्वकं, पापमकरवमेव तत्रापि निष्कृतिर्युष्मत्कृपयेवेत्याह—क्षमध्वमिति। स्वसृशब्देन स्वसृतत्पत्योर्भगिनीभामयोरभिधानं कथनं द्विवचनानुपपत्त्या एकत्र द्विवचनप्रयोगायोग्यतया मिथुनगुणं द्वारा द्वित्वसंख्यां द्वारीकृत्य मिथुने द्वये लक्षणया वृत्त्या लिंगसमवायेन "लिङ्गसमवायात्" इति जैमिनिसूत्रेण प्राणभृत उपदधातीतिवदिति दृष्टांतः। लिंगं वाच्योर्थस्तस्य समवायः समुदाये प्रवेशस्तेन। यथा छत्रिणो यांतीति एकस्मिन्नपि समुदाये छत्रिणि सति सर्वेषु यथा छत्रिपदं प्रयुज्यते तद्वदेकस्यामेव स्वसृपदवाच्यायामत्र सत्यामपि द्वयोस्तत्प्रयोग इति। एकस्वसृशब्देन स्वसृपतिर्लक्ष्यते इत्येकः स्वसृशब्दो लक्षकोऽन्यो वाचकस्तयोरेकशेषात् वसुदेवदेवक्योः प्रत्येकं पादावग्रहीदित्यर्थः। प्राणभृत इत्यस्य विवरणमाह—प्रयांतरसंमत्या। "सृष्टिवत्प्राणभृत्तत्र सादृश्यं लिंगभूमतः। अत्रैकमंत्रगो लिंगसमवायो विशिष्यत" इति (१) प्राणभृतं उपदधातीत्यत्रापि सृष्टिन्यायेन सृष्टिप्रतिपादकसूत्रेण मंत्रविधिरिति पूर्वः पक्षः। लिंगप्रकरणप्राप्तमंत्रानुवादेनेष्टकोपधानविधिः एतस्यैव प्राणान्दधातीत्यस्य वक्ष्यमाणार्थवादस्योपपत्तये प्राणभृच्छब्देन मंत्रानुवादः। पूर्वत्र सृष्टिन्याये द्वितीयादिमंत्रेषु सृष्टिलिंगानां बाहुल्यमस्ति इह तु प्रथमं मंत्रम् एव प्राणभृल्लिंगमाम्नायते "अयं पुरोभुवस्तस्य प्राणो भौवायन" इत्येकस्यैव मंत्रस्य प्राणभृत्त्वेपि छत्रिणो यांतीतिवत्तत्सहचरिताः सर्वे मंत्रा प्राणभृच्छब्देनोच्यंते तद्वदत्रापीति ध्येयम्। तदेवाह—देवकीत्यादि। इत्यर्थ इति। न द्वयोरेकैकं पादं गृहीत्वा द्वौ पादावग्रहीदिति वाच्यम्। कथंचित् कयापि रीत्या श्यालस्वस्रोरित्येकं पदं कृत्वा। लोके हि भामसमीपे पृष्टः श्यालोऽयं ते क इति श्यालोऽयं ममेत्युत्तरं ददातीति लोकरीत्या वसुदेव एव श्यालपदेन ग्राह्य इत्यर्थाश्रयणेन्यायाश्रयणश्रमो नास्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥ निगडाद्बंधनशृंखलातः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भद्रे, हे सद्बुद्धिमतीति तामधिकशोकां विशेषतः सम्बोधयति, यतश्च विन्दते भुङ्क्ते अवशः अनिच्छन्नपीत्यर्थः ॥२१॥ अज्ञः तत्त्वज्ञानहीनः अयं सर्वत्रैव हेतुः अन्यत्तैः। यद्वा ननु, एवं जानन्नपि त्वं किमिति मरणाद्बिभेषि ? किंवा तान् हतवानसि ? स्वानुभवाभावादित्याह—यावदिति। स्वदृक् शास्त्रदृष्ट्या आत्मतत्त्वज्ञोऽपि हतप्रायोऽस्मि अत एव तान् हनिष्यामीत्येवमभिमानं कुरुते यतो अज्ञः स्वानुभवरहितः ॥ २२ ॥ ननु, अस्माकमपि स्वानुभवो नास्तीति चेत् तथापि मदपराधः क्षन्तव्य इत्याह—क्षमध्वमिति। बहुत्वं देवकाद्यपेक्षया यतो यूयं साधवो बन्धुवत्सलाश्च दीनेति पाठे क्षमार्थमात्मदैन्यं सूचयति साधवो दीनवत्सला भवन्तीत्यर्थः। अथ अनन्तरं सद्यः वदन्नेवाग्रहीत् इत्यर्थः। अन्यत्तैः तत्र मिथुनगणनो मातापितृप्रभृतिकः प्राणाभृच्छब्देन तन्मन्त्रसंस्कृतेष्टकोच्यते बहुत्वानुपपत्त्या च तद्गणपातिन्योऽपि गृह्यन्त इति "वा शरि" (८।३।३६) इत्यस्य सकारपक्षमाश्रित्याजहल्लक्षणया व्याख्यातम् "अनचि च" (८।४।४७) इत्यस्य द्वित्वपक्षमाश्रित्य जहल्लक्षणया व्याचष्टे—स्यालेति। एवमध्यात्मज्ञानादिकमपि श्रीभगवद्विमुखानां प्रत्युत क्रूरतापोषायैव भवतीति प्रकरणतात्पर्यम् ॥२३॥ निगडात् लोहशृङ्खलात् तदा तं कर्त्तयामासेत्यर्थः ॥२४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भद्रे ! हे सुबुद्धिमतीति शोकाधिक्येन तान् विशेषतः सम्बोधयति। विन्दते भुङ्क्ते। अवशोऽनिच्छन्नित्यर्थः, कर्म्माधीनत्वात्। ननु वसुदेवस्येदृग् ज्ञानमस्त्येव; तच्च त्वया पूर्व्वं ज्ञायत एव। स्त्रियाश्च मम तादृशं कथं सम्भवेदिति चेत्तथापि सर्व्वेषामेव

साक्षात् कर्म्माधीनतानुभवात्तन्न्यायेनापि शोकं त्यजेत्याह—तस्मादिति। यद्वा, नन्वावयोरेतज्ज्ञानमस्त्येवेत्यनुतापो न कार्य्य एव, किन्तु बालानां तेषां जातमात्राणामेव मरणात् किञ्चित् सत्कर्म्माद्यनुत्पत्त्या का गतिः स्यादिति तान् प्रति शोचामि ? तत्राह—तस्मादिति। तेषामिह स्वकर्म्मवशेन बाल्ये मरणपुत्रायामपि त्वयि स्वकर्म्मानुरूपं फल भावि, तत्र तव शोकेन किं स्यादिति भावः। मयापि निजपूर्व्वदुष्कृतजनितस्यास्य पापस्य फलमचिराद्भोक्तव्यमेवेति निश्चिन्ता भवेति भावि-दैवसूचनम् ॥ २१ ॥ नन्वेवं जानन्नपि त्वं किमिति मरणाद्बिभेषि ? किंवा तान् हतवानसि स्वानुभवाभावादित्याह—यावदिति। स्वदृक् शास्त्रदृष्ट्यात्मतत्त्वज्ञो 'हतप्रायोऽस्मि, अतएव तान् हनिष्यामि' इत्येवमभिमानं कुरुते; यतोऽज्ञो ज्ञाननिष्ठारहितस्तत्त्वज्ञानहीनो वा, अयं सर्व्वत्रैव हेतुः, अन्यत् सर्व्वं तैर्व्याख्यातम् ॥ २२ ॥ नन्वस्माकमपि ज्ञाननिष्ठा नास्तीति चेत्तथापि मदपराधः क्षन्तव्य इत्याह—क्षमध्वमिति। बहुत्वं देवकग्राद्यपेक्षया, यतः साधवो बन्धुषु दुष्टेष्वपि वत्सला भवन्ति। दीनेति पाठे क्षमार्थमात्मदैन्यं सूचयति। अथानन्तरं सद्यो वदन्नेवाग्रहीदित्यर्थः। अन्यत्तैः ॥ २३ ॥ निगडाल्लौहश्रृंखलात्। तदातं कर्त्तयामासेत्यर्थः। आत्मनः सौहृदं हृदयाकौटिल्यं दर्शयन् निगडान्मोक्षणेन वाक्यसम्वादि-व्यवहारात्। यद्वा, बन्धुत्वमभिव्यञ्जयन्निति गृहीतं तदीयं द्रव्यमन्यच्च परितोषार्थं किञ्चिददादित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सर्वश्चेतनवर्गः ॥ २१ ॥ तदभिमानी देहाभिमानी आत्मनो विनाशानर्हत्वात् तस्मिन् बाध्यबाधकत्वाबुद्धिभ्रमः स च देहात्माभिमानावधि इत्यर्थः ॥ २२ ॥ स्यालो वसुदेवः स्वसा देवकी ॥ २३-२४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तस्माद्देहात्मनोर्विलक्षणस्वभावत्वादत एवाशोच्यत्वाच्च हे भद्रे मया व्यापादितानपि व्यापत्तिं प्रापितानपि हतानपीति यावत् स्वसुतान् प्रति युवां मानुशोचयतं णिजर्थस्त्वविवक्षितः। यतः सर्वोऽपि जन्तुरवशोऽस्वतन्त्रः कर्मवश्यः स्वकृतं स्वकृतकर्म-फलरूपं जन्ममरणादिकं विन्दते लभते ॥ २१ ॥ किञ्च यावदस्वदृक् देहविलक्षणात्मयाथात्म्यदर्शी सन् हतोऽस्मि हननविषयोऽस्मि हन्ताऽस्मि हननकर्तास्मीत्यात्मानमभिमन्यते देहात्मभ्रान्त्या देहगतं हन्तृहन्तव्यभावमात्मन्यनुसन्धत्ते तावदेव तदभिमानी तन्मूलक-हन्तृहन्तव्यभावाभिमानी चात एवाज्ञस्सन् बाध्यबाधकतां बध्यघातुकभावमिति यावत् प्राप्नुयात् तत्प्रयुक्तशोकमायादिकं प्राप्नु-यादित्यर्थः ॥ २२ ॥ अतः साधवो बन्धुवत्सलाश्च यूयं मम दौरात्म्यं क्षमध्वम् इत्युक्त्वाऽश्राश्रूणि मुखे यस्य तथाभूतः स्यालः स्वस्रोर्देवकीवसुदेवयोः पादावग्रहीत् पत्नीभ्रातृवाचितया प्रसिद्धापि स्यालशब्दोऽत एव प्रयोगाद्भगिनीभर्तर्यपि वर्तते ॥ २३ ॥ ततः कन्यकाया गिरा विस्रब्धः एतौ निर्दुष्टौ इति विश्वस्तः स्वस्य सौहृदं दर्शयन् देवकीं वसुदेवञ्च निगडान्मोचयामास पूर्वोक्तमेव मोचनं सप्रञ्चं स्मारितमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तर्ह्यस्य कियन्तं कालं संसारानुवृत्तिरिति तत्राह—यावदिति। अस्वदृगनात्मानं देहम् आत्मत्वेन पश्यतीति तदभिमानी देहाभिमानी ॥ २२-२५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कथं तर्हि तव मोहस्तत्राह—यावदिति। तर्हि नास्माकं कथं भवेत् ॥ २२ ॥ तत्राह—क्षमध्वमिति। बन्धुवत्सलाः तेषामप-राधग्राहका इत्यर्थः। दीनेति पाठः सुगमः ॥२३॥ निगडात् लौहश्रृङ्खलतः तं कर्त्तयित्वापीत्यर्थः। पूर्वं बन्धनागारान्मोचनं ज्ञेयम् २४

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तनयान् देहानामनात्मत्वात् तनयबुद्ध्या तान् वहिर्दृष्ट्या मया हतानपि मानुशोचेत्यर्थः। मया पञ्चभूतात्मका देहा एव हता इत्यतो मय्यपि दोषदृष्टिर्न कार्य्येति भावः। ममैवमात्मतत्त्वज्ञानं नास्तीति चेत् तदपि मानुशोचेत्याह—यत इत्यादि, अज्ञानाश्रये कर्मवादेऽप्येवं विचारेण न शोकाऽवकाश इति भावः ॥ २१ ॥ मम तु त्वत्पुत्रहन्तृत्वमेव तावन्नास्ति ज्ञानित्वादित्याह—यावदिति। अस्वदृक् न स्वमात्मानं पश्यति किन्तु देहमेव पश्यत्यतोऽज्ञः तेन मम देहाभिमानाभावात् "हत्वापि स इमान् लोकान्न हन्ति न निबध्यते" इति वचनान्न त्वत्पुत्रहन्तृत्वं नापि बन्ध इति भावः ॥ २२ ॥ तदपि मयि पुत्रहन्तृत्वमारोप्याधिकं चेद्रोदिषि तर्हि सत्यमहं दुष्ट एव बुद्धिपूर्वकं पापमकरवमेव तत्र निष्कृतिर्युष्मनकृपैवेत्याह—क्षमध्वमिति। श्यालः कंसः स्वस्रोरिति द्विवचनानुपपत्या स्वसृशब्देन स्वसृपतिर्लक्ष्यते इत्येकः स्वसृशब्दो लक्षकः अन्योन्ययाचकः तयोरेकशेषात् स्वस्रोर्वसुदेवदेवक्योः पादौ प्रत्येकं पादम-ग्रहीदित्यर्थः ॥ २३ ॥ निगडात् लोहश्रृङ्खलात् ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वसुदेवः स्वयमेतज्जानातीति मत्वा देवकीं प्रत्याह–तस्मादिति। यद्यपि ते तनयाः स्वकृतकर्मविपाकभोक्तृत्वेनान्यनिरपेक्ष-जन्ममरणाः स्वरूपतोऽविनाशिनश्च देहानामपि कारणदृष्ट्या मरणं नास्ति तथापि मयैव व्यापादितान् मन्यसे चेत्तदापि अहमभद्रः त्वं भद्रा साधुस्वभावा एतन्ममाभद्रत्वं तव भद्रत्वं दैवतन्त्रम्। सर्वोभयप्रकारो जनोऽवशः दैवतन्त्रः स्वकृतं भुञ्जते यतस्तस्मात् हे भद्रे! स्वतनयान्मानुशोचेत्यर्थः॥ २१॥ सुखदुःखरूपा संसृतिर्न निवर्तते इत्युक्तं तस्या अवधिमाह, यावदिति। अस्वदृक् देहात्मबुद्धिः॥ २२॥ स्यालस्वस्रारिति देवकीवसुदेवयोः स्यालशब्देन कथञ्चित् वसुदेवस्य ग्रहणं स्यालः इति विसर्गान्तपाठे तु स्यालः कंसः स्वस्रोः स्वसृभामयोः पादौ प्रत्येकमग्रहीदेकशेषस्त्वार्षः॥ २३॥ कन्यकागिरा विस्रब्धः नत्वासुराद्भावान्निवृत्तः आत्मसौहृदं दर्शयन्नेव केवलं न च तदस्तीति भावः॥ २४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तस्माद्देहानामनात्मत्वात् स्वतनयान् तनयबुद्ध्या गृहीतान् तद्देहान् मया व्यापादितान्मारितानपि विनाशित्वबुद्ध्या मानुशोचतम्, ननु देहादन्य आत्मेति सत्यं तथापि मज्जातदेहयोगेन ते मत्पुत्रा यदानन्दकरा देहविनाशान्मदानन्दक्षतिरिति चेत्तत्राह यतः सर्व इति तेषां कर्मैवेदृशमासीद् येन मत्करान्मृत्युरिति मयि च दोषदृष्टिर्माभूत्॥ २१॥ वस्तुविचारे तु त्वत्पुत्रहन्ता नाहमित्याह–यावदिति नित्यमेवात्मानमनित्यदेहाभेदधिया हतोऽस्मि हननकर्मास्मीति कालरूपेश्वराधीनोऽपि हन्तास्मि रिपुदेहहनने स्वतन्त्रोऽस्मीति च यावन्मन्यते कालाधीनं सर्वमिति, वलिराह "कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति। कालेन विहितं सर्वं माकृथाः शत्रु पौरुष"मिति मोक्षधर्मेऽस्वदृक् आत्मयाथात्म्यानभिज्ञः अज्ञः कालस्वातन्त्र्यानभिज्ञः तावद्बाध्यबाधकतां हतहन्तृता-लक्षणाम् संसृतिमियात् तस्मात्त्वत्पुत्रदेहाः कालेनैव नाशिता न मयेति भावः॥ २२॥ तथापि चेन्मयि पुत्रहन्तृत्वमारोप्याधिकं खिद्यथेव तर्हि सत्यमहं दुष्टोऽस्मि मद्दोषनिष्कृतिस्तु युष्मत्कृपयैव भवेदित्याह—क्षमध्वमिति, श्यालः कंसः स्वस्रोर्भगिनीतत्पत्योः प्रत्येकं पादावग्रहीत् स्वसा च स्वसा चेत्येकशेषात् स्वस्रोः पूर्वोवाचकः परस्तु लाक्षणिको बोध्यः॥ २३॥ निगडाल्लोहश्रृङ्खलात्, आत्मसौहृदं प्रियभाषणादिना दर्शयन् भ्रातुः कंसस्य दोषं क्षान्त्वा रोषं शोकञ्च व्यसृजत्॥ २४-२५॥

श्रीवंधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

तानेव क्षमापयामीत्याशयेन तान्स्वमनस्यभिमुखीकृत्याह॥ क्षमध्वमिति। हे साधवः। परदुःखमसहमानाः। अत एव दीनवत्सलाः हे देवकि पुत्रा मम दौरात्म्यं क्षमध्वम्! यतोऽहमिति शेषेणाश्रुमुख इति योज्यम्। पूर्वजन्मकालिकः पितेत्यर्थः। पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः। त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिता इति ब्राह्मोक्तेः। अतोऽनेन तेषां क्षमापनेन स्वपितृ-त्वमेव हेतुरुक्तो भवति। तदुक्तम्। मरीचिजाः षण्मुनयो बभूवुस्ते देवलं प्राहसन्कार्श्यहेतोः। तच्छापतः कालनेमिः प्रसूतावध्यतार्थं तप एव चक्रुः। धाता प्रादाद्वरमेषां तथैव शशाप तान्क्ष्मातले संभवध्वम्। तत्र स्वतातो भवतां निहंतेत्यात्मान्यतो वरलिप्सून्हिरण्यः। इति तात्पर्यनिर्णये। श्यालः वसुदेवभार्याभ्राता कंसः। इत्युक्तप्रकारेण पुत्रप्रकारेण क्षमापनमुक्त्वा वसुदेवं समाधत्ते॥ स्वस्रोरिति। अत्र श्यालस्वस्रोरित्युक्तम्। तदसाधु। पुंस्त्रीद्वंद्वे स्त्रीवाचकशब्दस्य पूर्वनिपातनियमात्। स्वसृशब्दापेक्षया श्यालशब्दस्य मात्राधिक्याच्च न च स्वसुः सकाशात् श्यालस्य पुरुषत्वेनाभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः। सर्वत्र पुरुषस्याभ्यर्हितत्वेन कुत्रापि स्त्रियाः पूर्वनिपातायोगात्। तस्माद्विरुद्धमत उच्यते। प्रथमांतश्यालशब्देन कंसः कर्तोच्यते। स्वस्रोः स्वां भगिनीं सरणशीलत्वेन स्यस्रुर्वसुदेवः स्वा आत्मसंबंधि-त्वाद्भगिनी। सृ गतौ ताच्छील्यार्थादुनस्तथेत्यनुव्याख्याने। यद्वा। स्वात्मानं स्रावयति अधःपातयति स तथा। अत्रांतर्णिच्। तस्य वसुदेवस्य। पादावग्रहीदित्यन्वयः। भगिन्यर्थकस्वसृशब्दांगीकारे एषा तवानुजा वालेति वसुदेवोक्त्या देवक्याः कंसानुजत्वसिध्या तत्पादग्रहणे महान्विरोधः प्रसज्येत। किंच श्यालस्वस्रोरिति द्विवचनांगीकारे पादाविति द्विवचनमयुक्तम्। उभयोश्चतुष्पादसिद्धेः। यद्वा। पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः। त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिता इति ब्राह्मोक्त्या स्वपित्रादीनामश्रुमुखसंज्ञयाऽत्राश्रुमुख इत्येकचनेन पितुरेव ग्रहणसिद्धेः। अश्रुमुख इति प्रथमाया सप्तसु प्रथमेति सूत्रेण षष्ठ्यर्थकत्वात्पितुः स्वसृत्वेन स्वस्य च स्वसृत्वेन पितृष्वसा च स्वस्वसा च स्वसारौ तयोरित्युभयस्वसृविवक्षया एकस्यैव द्विवचनोपपत्त्या देवक्या इत्येवार्थः। तदुक्तम्। बभूव गंधर्वमुनिस्तु देवकनामास्य तस्मादजनिस्म देवकी। अन्याश्च या कश्यपस्य भार्या ज्येष्ठां तु तामाहुक आत्मपुत्रीं। चकार तस्माद्धि पितृष्वसा। स्वसा च कंसस्य बभूव देवकीति तात्पर्यनिर्णये। किंच अहो भगिन्यहो भामेत्युक्त्या भगिनीभर्तुर्भामशब्दप्रयोगेणैव स्त्रीभ्रातुः श्यालशब्दप्रयोगसिद्धेः। अत्र श्यालः कंस इत्यर्थः। तथा च। श्यालः कंसः। अश्रुमुखः स्वपितुः स्वसृत्वान् द्विवचनविषया एव स्वस्रोर्देवक्याः पादावग्रहीत्। पितृष्वसृत्वसंबंधेन पादग्रहणे दोषाभाव एव। अतो न किंचन शब्दप्रयोगासाधुत्वम्॥ २३॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

तस्माद्भद्रे स्वतनयानिति श्लोके यतः सर्वो जनोऽवशः सन् स्वकृतं विंदते तस्मात्स्वतनयान्माऽनुशोचयत इति देवक्या-स्तनयशोकाकरणे तनयानां कर्मफलप्राप्तिर्हेतुरुच्यते। साऽसंगतैवाभाति। न हि तनयानां कर्मफलप्राप्तिर्देवक्यास्तनयविषयशोकाकरणे

हेतुर्भवितुमर्हति । व्याप्त्यभावादित्यतः पूर्वश्लोकोक्तमर्थं तस्मादित्यनेन परामृश्य कर्मफलप्राप्तेर्हेतुत्वं घटयति ॥ तस्मात्तस्मिन्नेवेति । तस्मात्परमात्मनोऽविपर्ययात्तस्मिन्नेव परमात्मन्येव स्थितिं निष्ठां कृत्वा परमात्मा सर्वोत्तमः सर्वनियामकस्त्वत्तनयादिसर्वजगतः कर्मानुसारेण हननादिकर्तेति ज्ञात्वेत्यर्थः । अनेन यतः परमात्मा स्वाधीनतत्तत्कर्मानुसारेण त्वत्तनयादिसर्वजगतो हननादिकं करोत्यतः शोके कृतेऽपि हननादेरपरिहार्यत्वाच्छोको व्यर्थस्तस्माच्छोको न कार्य इति हेतुहेतुमद्भावः संघटितो भवति । तथाऽवशो अकारवाच्यविष्णुवश इति भागवतपदं च व्याख्यातं भवति । तथा यो व्यर्थः स प्रेक्षावद्भिर्न क्रियत इति व्याप्तिश्च प्रदर्शिता भवति । एवं भुवि भौमानि भूतानीत्यादिश्लोकत्रयं स्ववचनेन व्याख्यायानेकविधोऽभेद इति यदभेदस्यानेकविधत्वमुक्तं तत्प्रमाणेनैव दर्शयंस्तेनैव प्रमाणेन स्वोक्तार्थं च द्रढयति ॥ अहं ब्रह्मास्मि देवोऽस्मीत्यादिना । इत्यादिकेत्यादिशब्देनेंद्रियरहितोऽहमित्यभेदबुद्धिर्ग्राह्या । देहादिष्वित्यादिशब्देनेंद्रियाधिष्ठानगोलकं ग्राह्यम् । अधममध्यमेऽधमयुक्तो मध्यमोऽधममध्यमस्तस्मिन् । अधमे मध्यमे च जीवे देहादिष्वहं जातोऽस्म्यहं वर्धे वर्धयाम्यहं धनवान् अहं म्रियेऽहमिंद्रियरहित इत्यादिका । देहादिना सहाभिधाय यन्मायया जातान्मोहात्सदा दृश्यते । देवेष्वहं देवोऽस्मीति देवेन सहाभिदा । परे ब्रह्मणि चाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मणा सहाभिदा । यन्मायया जातान्मोहान्नित्यं संदृश्यते । अधमस्य मध्यमस्य जीवस्य स्वस्मिन्नहं जातोऽस्मि वर्धे म्रिय इत्यादिका देहादिप्रतियोगिकाभेदबुद्धिरहं देवोऽस्मीति प्रतियोगिकाभेदबुद्धिरहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मप्रतियोगिकाभेदबुद्धिर्यन्मायया जातान्मोहाद्भवति स ईशो न विपर्येतीत्यर्थः । अनेनाभेदस्य देहाद्यनेकप्रतियोगिकत्वेनानेकविधत्वमुक्तं भवति । यतः पूर्वं पुत्रादिरेव पश्चात्पित्रादिर्भवत्यतः पुत्रादिकं विपर्येतीत्यन्वयः । पुत्र एव स्वस्यापत्योत्पत्त्यनंतरं पिता भवति स एवापत्यस्यापत्योत्पत्त्यनंतरं पितामहः प्रपितामहश्च भवति । अतः पुत्रादिकं विपर्येति । पुत्रादेः पुत्रत्वादिकं नैकप्रकारेण तिष्ठतीति भावः । ननु यदहं ब्रह्मास्मि देवोऽस्मीत्याद्यभेदबुद्धेर्मोहजनकत्वमुक्तम् । तदयुक्तम् । तथात्वे परब्रह्मणो ब्रह्मास्मीति ब्रह्माभेदबुद्धेस्तथा देवानामहं देवोऽस्मीति देवाभेदबुद्धेरपि मोहजनकत्वं स्यात् । नचैवम् । प्रमाणबाधितत्वादित्याशंकां तथाऽधममध्यम इत्यधमेन सहोक्त्याऽधममध्यमस्याहं ब्रह्मास्मि देवोऽस्मीति ब्रह्माभेददेवाभेदबुद्धिर्भवतीति भ्रांतिं च प्रमाणेनैव परिहरति ॥ तल्लक्षणैर्विहिन इति । तुशब्दोऽसुरेभ्यो मानुषजनस्य विशेषसूचकः । असुरा ब्रह्मास्मि देवोऽस्मीति च प्रतिपद्यंते ज्ञानवंतो भवंति । मानुषा जना जन्मादिरहं जातोऽस्मि वर्धयामि म्रिय इति जन्मादियुक्तदेहाद्यैक्यं प्रतिपद्यंत इत्यन्वयः । अत्र तल्लक्षणैर्विहीनः सन्नित्यनेन तल्लक्षणरहितानां तदभेदबुद्धिरेव मोहजा न तु तल्लक्षणवतां तदभेदबुद्धिः अतः परब्रह्मादेर्ब्रह्मास्मीत्याद्यभेदबुद्धिर्न मोहजा । परब्रह्मादेर्ब्रह्मादिलक्षणयुक्तत्वादिति पूर्वशंका परिहृता भवति । तल्लक्षणैर्विहीनः सन्नित्युक्तमेव स्पष्टयन्नैक्यबुद्धिनां फलं च दर्शयति ॥ परब्रह्मण एकस्येति । एकस्य परब्रह्मण एवाहं ब्रह्मास्मीति चिंतनं विधीयते । वेदादाविति शेषः । किं तदित्यत आह ॥ परब्रह्मेति । जन्माद्यस्य इत्यादिनोक्तपरब्रह्मलक्षणैः रामाद्येव परब्रह्मेत्यवधारयेत् । आदिपदेन कृष्णाद्यनंतरूपाणि ग्राह्याणि । चोऽवधारणे । देवानामेव देवोऽस्मीति चिंतनमपि विहितं स्यात् । न च तथास्त्विति । तस्यानिष्टसाधनत्वोक्तेरित्यत आह ॥ तच्चेति चोऽवधारणे । स्वलक्षणैरित्यनेन संबध्यते । तद्देवोऽस्मि चतुर्मुखोऽस्मीत्यादिचिंतनं स्वलक्षणैर्देवचतुर्मुखादिस्वरूपभूतलक्षणसदृशलक्षणैर्युक्तानामेव ऋज्वादीनां विहितं ज्ञेयं न तु तत्स्वलक्षणरहितानामित्यर्थः । एवं मर्त्यानां स्वलक्षणैर्युक्तानामेव जीवानां मानुषोऽस्मीति प्रतिपत्तिर्विधीयते न तु तल्लक्षणरहितानामित्यर्थः । कुत एतदित्यतो विपक्षे बाधकमाह ॥ अन्यथेति । प्रतिपत्त्या चेति चस्त्वर्थः । तमश्चेति चोऽवधारणे । यांतीत्यनेन संबध्यते ॥ २०-२१ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तस्माद्भद्रे स्वतनयानिति श्लोकेऽवशः स्वकृतं विन्दते सर्वो जन इति कर्मस्वातन्त्र्यं प्रतीयते । तनयानां कर्माधीनमृतिज्ञानेन देवक्या शोकोऽकर्तव्यश्च कथमित्यतस्तस्यापि यः प्रेरकस्तस्मिन्स्थिरमतिश्चेत्सर्वं सुघटमित्याह ॥ तस्मादिति । तस्मात्परमात्मनो विपर्यासात्तस्मिन्नविपर्ययस्ते भगवति स्थितिं स एव तत्तत्कर्मानुसारेण हननादिकर्तेति निष्ठां कृत्वा माऽनुशोच न शोकं कुरु ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ हे भद्रे सप्तमी तादर्थ्ये वा । मङ्गलार्थं मया स्थूलदृष्ट्या व्यापादितान्संहृतान्स्वतनयानपि ततो माऽनुशोच नानुशोच । अवशो विष्णुवशः सर्वो जनो यतः स्वकृतं विन्दते भद्रे नित्यमङ्गलमूर्तौ । अपिना स्थितिं कृत्वा माऽनुशोचेति वा भद्रे भगवत्यनेकविधो लोकदृष्ट्या रामोऽहं सुख्यहं स्वतन्त्रोऽहमित्यादिरभेदोऽने प्राणे तदुपलक्षितऋजुगणेकविधोऽभेदो ब्रह्माहं स्यामित्यादिरूपः । एवं सर्वः शर्व एवं सर्वस्तत्तत्पदयोग्यस्तत्तत्पदमाकाङ्क्षन्स्वकृतं सु अकृतं क्लृप्तमित्यकृतं तत्परं विन्दत इत्यतस्तात्पर्यानुसारेणार्थोऽवधेयः । तस्मादपरिहार्यार्थे न त्वं शोचितुमर्हसीति तात्पर्यं ज्ञेयम् । मया व्यापादिताः स्वतनया मत्पुत्रा एवेति माऽनुशोच इत्ययं ग्रन्थकृदान्तरङ्गिक उत्तरार्धे वक्ष्यमाणरीत्या भावोऽवसेयः ॥ २१ ॥ स्वयं श्लोकत्रिकव्याकृत्यानेकविधतामभेदस्य दर्शयन्मानेन तेनैव स्वोक्तार्थं द्रढयति ॥ अहं ब्रह्मास्मीत्यादिना । अहं ब्रह्मास्मीत्येकविधमैक्यं देवोऽस्मीत्यैक्यमेकं केवलमानुषो यादृशतादृशमानुषो नास्म्यपि तु मनुष्योत्तम इत्येकविधं जातो वर्धे धनवान्म्रिये इत्येकविधम् । आदिपदादहङ्कारादेर्ग्रहणम् । यद्यप्यहं ब्रह्मास्मीत्याद्यनुरोधेन परब्रह्मणि देवेषु देहादिष्विति वक्तव्यं तथा देहे जातोऽस्मीत्याद्यभेदाकारबाहुविध्योपपादनात्तदनुपदमेव देहादिष्विति निरूपणं युक्तमिति व्युत्क्रमोक्तिर्यथायोग्यमन्वयः । अहं ब्रह्मास्मि देवोऽस्मीति परब्रह्मणि देवेषु तद्विषयेऽभिदाऽभेदधीर्देहादिषु च साऽनुमानागमाभासजन्या देहे तद्धर्मेषु न प्रात्यक्षिकी सा । यथोक्तं भक्तिपादीयानुव्याख्यानसुधयोः । क्वचित्प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुभागमबाधितं देहात्मत्वं

यदि न तत्प्राप्तं प्रत्यक्षतः क्वचित्। मम देह इति ह्येव न देहोऽहमिति प्रमा। उपचारतश्च कृष्णोऽहमिति कर्दमलेपने। वस्त्रस्य यद्वदेवं स्यादित्यादीकृत्य क्षमा इत्यन्तेन ग्रन्थेन। देहात्मत्वं प्रत्यक्षप्राप्तमेव न भवति। अतः प्रत्यक्षतः प्राप्तस्यानुमानाबाध इत्यत्र नेदमुदाहरणम्। अयमभिसन्धिः। नास्त्येव देहात्मत्वप्रतीतिर्योऽनुमानादिना बाध्येत। येषां चास्ति नास्तिकादीनां तेषामपि नेन्द्रियजा किन्त्वनुमानागमाभासजन्यैवेति। भा भूत्पण्डितरूपाणां देहात्मत्वप्रतीतिः पामराणामस्त्येव सैवास्माकमुदाहरणं भविष्यतीत्यतः क्वचिदित्युक्तम्। तदुपपादयति॥ ममेति। सर्वस्यापि जन्तोर्मम देह इत्येव हि प्रमाप्रतीतिर्न तु कस्यापि देहोऽहमिति। यद्वा यस्मात्सर्वेषां मम देह इत्येव प्रमा सम्यक्प्रतीतिः सदाऽनुवर्तते तस्माद्देहोऽहमिति प्रतीतिर्नावकाशमासादयतीति। देहात्मप्रतीत्यभावेऽपि देहधर्माणां कार्ष्ण्यादीनामात्मनिष्ठत्वप्रतीतिस्तावदस्त्येव कृष्णोऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनात्। सा च लिङ्गाद्यनपेक्ष्यैव जायमाना प्रत्यक्षजन्यैव। बाध्यते चानुमानादिनेति सैवोदाहरणं भविष्यतीत्यत आह॥ उपचारतश्चेति। कृष्णोऽहमिति प्रतीतिर्नास्तीत्यनुवर्तते। कथं तर्हि व्यवहारः कृष्णोऽहमिति व्यवहारस्तूपचार एवेति योजनेत्यादिना। तदेवं स्वभावतः प्रबलेन प्रत्यक्षेण विरुद्धावनुमानागमाभासावेवेत्यन्तेन ग्रन्थेन। अधमश्च मध्यमश्च। सर्वो द्वन्द्व इत्येकवद्भावः। अधमेन सहितो मध्यमस्तस्मिन्निति वा यन्मायया यस्य भगवत इच्छया तत्कृतो यो मोहस्तस्मादधममध्यमे दृश्येते। अनुमानागमाभासैः सः स्वेच्छानिमित्तकमोहादभिदामतिदाता कदाचन स्वयं न विपर्येति। ईश इत्यतिप्रसक्तं जीवादेरपि प्रभुर्हि जीवो जडमपेक्ष्य सोऽपि स्वतनुभवनादेरीष्ट इत्यादेरित्यतो मानं स्वगतमीशपदं वक्त्येतादृशेशस्त्वमिति स्वयमेव व्याकरोति॥ सर्वेशत्वादिति। यद्यपि मध्यमाधम इति वक्तव्यम्। तथाऽपि ते च बहवोऽसुरा बहुला यस्मादित्यादेर्मध्यमा न्यूना इति च द्योतयितुमेवमुक्तिरिति मन्तव्यम्। आत्मविपर्ययपदस्यार्थान्तरमाह॥ पुत्रादिकं विपर्येतीति। तद्विवृणोति॥ पुत्रादिश्च यतो भवेदिति। पुत्रस्य पुत्रे जाते पित भवति तस्य च पुनरपत्योत्पत्तौ पितामह इत्यादिप्रकारेण पुत्रादिकं विपर्येति व्यवस्थां न भजत इति। अहं ब्रह्माऽहं देव इत्यादिनाऽभेदधियो यन्मोहजत्वमुक्तं तदयुक्तम्। ब्रह्मणो ब्रह्माऽहं देवस्य देवोऽहमिति मतिरपि मोहजा जायेत। इदं च मानावमानितम्। किञ्चाधमेन सह द्वन्द्वनिर्दिष्टमध्यमस्याधमसमता स्यात्सा चानुपपन्नेत्यतः प्रमाणेन तदर्थमाह॥ तल्लक्षणैरिति। तुरधमासुरादेर्मध्यमस्याहं ब्रह्मास्मीत्याद्यभिदामतिफलतमोयोग्यत्वाभावविशेषद्योतकः। तल्लक्षणैर्ब्रह्मदेवादिलक्षणैर्विहीनः सन्नपि ब्रह्मा देवो वाऽस्मीत्यसुराः प्रतिपद्यन्ते। प्रातिस्विकं पृथक् पृथक् प्रतिपत्तिरित्येकवचनं विहिनः सन्निति। ते सर्वेऽप्येकफलका इति द्योतयितुमसुरा इति बहुवचनमिति ज्ञेयम्। एवमुत्तरत्रापि। मानुषा जना जन्मादिं जातोऽस्मि वर्धे धनवानित्यादिं प्रतिपद्यन्ते। अनेनातल्लक्षणः स्वयं संस्तत्त्वेन प्रतिपत्ता मोहवांस्तल्लक्षणयुतास्तत्त्वेनात्मानं प्रतिपत्तारस्तु तत्त्वज्ञा इति तच्छङ्कापरास आसेति ज्ञेयम्। एतमर्थं स्पष्टं दर्शयन्मानमाह॥ परब्रह्मण इति। एकमेवाद्वितीयमित्यादेरेकस्य परब्रह्मणो ब्रह्माऽस्मीति विचिन्तनं न मोहजं लक्षणलक्षितत्वात्तानि चैवं ज्ञेयानीत्याह॥ परं ब्रह्मेति। रामादिं भगवदवतारं लक्षणैस्तदसाधारणैश्चिन्हैस्तृणाग्नीकरणविश्वरूपप्रदर्शनादिभिः परब्रह्मेति आगमिकजन्मादिलक्षणैर्वा। अवधारयेत्। आदिपदेन वासुदेवादयो ग्राह्याः। स्वलक्षणैः शास्त्रशंसिततल्लक्षणैर्युतानां देवानां देवोऽस्मीति विचिन्तनं न दोषावहम्। स्वलक्षणैर्ब्रह्मादिपदयोग्यलक्षणैर्युतानामृज्वादीनां ब्रह्मादिरस्मीति विचिन्तनमिति वा। एवं मर्त्यानां मानुषोऽस्मीति प्रतिपत्तिर्विधीयते। आद्यकाक्ष्यायाः फलमाह॥ अन्यथेति। अब्रह्मलक्षणकेषु स्वेषु तत्त्वप्रतिपत्त्या विनिश्चयात्तमो यान्ति। तानपि निर्धारयितुं पुनराह॥ अन्यथेति। असुरजना इत्यन्वयः। ज्ञानात्सम्यग्ज्ञानात्परं परमात्मानं सुरा यथा तथा नियतं प्रतिपद्यन्ते नियतं तमश्च घोरं यान्ति अत्र केचित्प्रमाणान्तरेण स्पष्टयन्नैक्यबुद्धीनां च फलं दर्शयति। परब्रह्मण एकस्येत्यवतारयन्नुपसंहरत्यन्यथेतीति केचित्। पृथगभिधानानभिधानाद्ब्रह्मपुराणभागविशेषगतमिति चेत्यन्तवाक्यद्वन्द्वमित्यद्वन्द्वोध्वा॥ अथ मूलार्थः॥ कंसः संसारानुवृत्तिः कियत्पर्यन्तमित्यतः शंसति॥ यावदिति। अस्वदृगस्वं वस्तुतो देहादिकं स्वं पश्यतीति तदभिमानी निन्दिताभिमानवान्यावदहं हन्ताऽस्मि अहं हतोऽस्मीत्यात्मानं मन्यते तावदज्ञोऽयं बाध्यबाधकतां बाध्यत्वं बाधकत्वं चेयात्प्राप्नुयात्। परमार्थस्तु नाहं हन्ता ते तनयाश्च न मया व्यापादिता अतस्त्वया न शोकः कार्य इति कंसवचसो ज्ञेयः। सु अत्यन्ताज्ञ इति वा॥ २२॥ साधवो बन्धुवत्सला इति निकटनिविष्टजनानभिलक्ष्य मम दौरात्म्यमियता समयेनानुष्ठितं मध्वमित्युक्तिर्वा तयोरेव संमाननार्थं बहुत्वारोपेणोक्तिर्वा। शालस्वस्रोरिति पाङ्क्तः पाठोऽनेकेषु कोशेषु दर्शनात्। शालश्च स्वसा चेति तयोः। ननु श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्या इत्यमरात्कथमयं शालो वसुदेव इति चेत्तर्हि भिन्नपदतायां भिन्नोदरजः कंसोऽपि कथं भगिनीभ्रातेति त्वयाऽपि वाच्यम्। न च वाच्यं पितृव्यतनयाऽपि नयतो भगिनीति। भगिनीभ्राता कंसो भवतीति शङ्कितं नातङ्कितमिति तु भाक्तं कंसस्य भगिनीभ्रातृत्वं स्वीकुर्वतां युष्माभिः कंसभार्याऽपि वसुदेवभगिनी जातेति तद्भ्रातृत्वं वसुदेवस्योररीकृतप्रायमिति भारोऽवतारितोऽस्मच्छिरस इत्यवेहि। भिन्नं पदमेकत्र दृष्ट्वा स्वस्रोरिति घटयितुं बहुगहननिविष्टा नाद्यापि पारङ्गताः। पादाविति शालस्य स्वसुश्चेति पृथगन्वयनाद्युज्यते। ग्रन्थकृत्कंसोऽङ्गस्मरणविकल इति चरणौ जग्राह। देवकीतो ज्यैष्ठ्यात्तद्ग्रहणं न मया कण्ठतो वाच्यमिति पदानीत्यनुदाजहारेति ध्वनिः॥ २३॥ कन्यकागिरा मायावाण्या विस्रब्धो विश्वासमाप्तो देवकीं वसुदेवं च निगडान्मोक्षयामास। मुच्धातुर्मोचयामासेत्यपि पठन्ति। आत्मसौहृदं स्वसुहृद्भावं दर्शयन्मोचयामासेत्यन्वयः॥ २४॥

श्रीसुबोधिनी

तत् तु भवद्भ्यां ज्ञायत एवेति शोको न कर्तव्य एवेत्याह तस्मादिति, वसुदेवस्तु शोकं न करिष्यतीति देवकीसम्बोधनं **भद्रे** इति, अतः परं तव कल्याणमपत्यं च भविष्यतीति ज्ञापितं, **स्वतनयान्** देवकीतनयान् **मानुशोच**, प्रथमत आत्मानं शोचति ततः पुत्रमित्यनुपदं, यद्यपि ते स्वकर्मवशादेव मृता न तु मया व्यापादितास्तत्कर्मैव मां च प्रेरितवद्यथापि बहिर्दृष्ट्या मयैव **व्यापादिता** इत्यङ्गीक्रियते तथापि मा शोचेत्याह **मया व्यापादितानपीति**, अननुशोके बहिर्मुखानामप्येकास्त्युपपत्तिस्तामाह **यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेवश** इति, अनिच्छन्नपि परवश एव कर्माधीनो भूत्वा सर्वोपि स्वकृतं भुङ्क्ते, अस्य मते न सृष्टेश्चातुर्विध्यं, भुञ्जत इति बहुवचनप्रयोग एकवचने देहभेदेन भोगेन नानात्वप्रतीतेः सिद्धत्वज्ञापनाय, अनेन मयापि बहिर्मुखत्वेन कृतं कर्म भोक्तव्यमित्यविचारितोपि दण्डो भविष्यतीति दण्डाभावेनापि चिन्ता न कर्तव्या ॥ २१ ॥

ननु त्वया ज्ञानमुपदिष्टमुपदेष्टुर्दृढं ज्ञानं भवतीति न तव दण्डसम्भावनेति चेत् तत्राह यावदिति यावदयं जीवः शास्त्रोत्पन्नज्ञानोपि हतोस्मि हन्तास्मीत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं वा **मन्यते तावद् बाध्यबाधकतामियादेव**, कर्मत्वे बाधकत्वमिति, अक्रिय आत्मनि यथैव क्रियां मन्यते तथैव क्रियां प्राप्नोतीत्यर्थः, नन्वविद्यमानधर्मप्रतीतौ को हेतुस्तत्राहास्वदृगिति, न स्वस्मिन् दृष्टिर्यस्य, शास्त्रज्ञानं शास्त्रीयत्वेनैव जानाति न तु स्वविषयत्वेन, ततोपि किमत आह **तावत् तदभिमानी** भवतीति, स्वरूपे ज्ञाते देहाद्यध्यासो न भवति, अध्यासे पुनः स्वरूपाज्ञानमिति तदभिमान्यज्ञ एव भवति, अतो **बाध्यबाधकभावः** ॥ २२ ॥

एवं भवद्बालकानामस्माकं च कर्मवशात् सर्वं जातं भविष्यति चातः शोको दण्डो वा न चिन्तनीयः परमतिक्रमदोषो मदीयः सोढव्य इति वदन् क्षमापनार्थं नमस्कार करोति क्षमध्वमिति, **मम दौरात्म्य क्षमध्वं**, अविचारेणान्यायकर्ता दुरात्मा, अत आज्ञोल्लङ्घनं पुत्रमारणादिकं च यत् कृतं तत् सर्वं महतां **हृदयेनुशये स्थिते शोको भूयान् भवति**, क्षमापनार्थं न किञ्चिद् दातव्यं, यतः **साधवो दीनेषु वत्सलाः**, मम च दीनत्वमपकीर्तिनरकभाक्त्वेन, स्वस्य दैन्यं न केवलं वचनेन निरूपितं किन्तु रूपेणापि तदभिव्यक्तिं कृतवानित्याहेत्युक्त्वाश्रुतमुखो जात इति, अश्रूणि मुखे यस्य, विकलत्वात् प्रोञ्छनमपि न करोति यद्ययमकर्तव्यमपि कनिष्ठभगिन्याः पादग्रहणं करोति तदान्यत् किं न कुर्यात् गृहीतधनादिदानं वातिरिक्तदानं वा ? **स्वसृशब्दे** नव स्वसृतत्पती अभिधीयेते इति तत्सम्बन्धादेव वसुदेवस्य मान्यत्वात् साक्षात् तं प्रति नमस्कारेपि दोषाभावादेकस्या एव पादौ द्विवद् **गृहीतवानिति** ज्ञापयितुमेकशेषः, एकशेषशास्त्रे 'पुमान् स्त्रिये'त्यादिसूत्रेषु चतुर्षु तृतीया ज्ञापय'त्यप्रधानं न शिष्यत' इति, अन्यथा **'स्त्रीपुरुषाभ्या'**मितिप्रयोगो न स्यात् **'स्त्रीपुम्भ्या'**मिति च, अत्रापि तद्भर्त्रा सहिता स्वसैवावशिष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमो दैत्यावेशस्य राजसभावस्य च त्यागार्थः ॥ २३ ॥

निरोधं च दूरीकृतवानित्याह **मोचयामासेति**, निगडौ स्तम्भवद्धावतो **निगडान् मोचयामासेत्युक्तं**, अर्थादुभावपि, तत् तु बन्धनागारं भवतीति न निगडदूरीकरणं, नन्वेतावच्छुत्वावाकाशवाणी च प्रमाणमत एताभ्यामेव किञ्चित् कापट्यं कृतमस्तीति कथं न विचारितवांस्तत्राह **विस्रब्धः कन्यकागिरेति**, कन्यकाया माया तस्या वचनमसत्यमपि सम्भाव्यते तथापि तत्रैव विश्वासं कृतवान्, 'यत्र क्वचि'दिति 'कृपणा'मितिलिङ्गवचने देवक्या दोषाभावसूचके, वसुदेवेनैव तथा कृतत्वात्, अन्यथास्फूर्तिकर्तृत्वं तु मायायाः सिद्धमेव, प्रथमतो देवकीं पश्चाद् वसुदेवं चकारात् तत्सम्बन्धिनश्च स्वयं परिचर्यां कुर्वन्नात्मनः **सौहृदं च दर्शयन्** जातः ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

तस्मादित्यत्रास्य मत इत्यादि, दैत्यमते सृष्टेः, पुष्टिप्रवाहमर्यादाचर्षणोभेदेन चातुर्विध्यं न ॥ २१ ॥ **यावदित्यत्राक्रिय** इति, **कर्मत्वपक्षे** क्रियाजन्यफलशालिनीत्यर्थः, **कर्तृत्वपक्षे** क्रियानुकूलकृत्यनाश्रय इत्यर्थो बोध्यः ॥ २२ ॥

क्षमध्वमित्यत्र **श्यालः कंसः**, स्वसृशब्दे नेत्यत्र न तृतीया किन्तु नेति भिन्नं पदं, स्वस्त्रोरितिद्विवचनं साधयितुं श्रीधरमतं दूषयति, श्रीधरीये 'स्वस्त्रोरिति स्वसृशब्देन द्विवचनानुपपत्त्या मिथुनगणनद्वारा मिश्रितलक्षणया स्वसृतत्पत्योरभिधानं लिङ्गसमवायेन 'प्राणभृत उपदधातीतिव'दित्युक्तं, तदयुक्तं, स्वसृशब्दस्य तत्पतावभिधाया अभावात् तदभावे 'चाभिधान'मितिप्रयोगस्य वक्तुमशक्यत्वात्, न च स्वस्त्रोरितिप्रयोगान्यथानुपपत्त्या लक्षकस्याप्यभिधायकत्वमङ्गीक्रियत इति वाच्यं, तथा सति लक्षणोच्छेदापत्तेः, न च मास्त्वभिधायकत्वं तथापि प्रयोगसिद्ध्यर्थं वाचकलक्षकयोरपि शब्दसारूप्यमङ्गीकृत्य कथञ्चिदेकशेषः समर्थ्यत इति वाच्यं, वाचकलक्षकयोरेकशेषस्य क्वाप्यदर्शनात्, न च 'प्राणभृत उपदधाती'त्यत्र दृश्यत इति वाच्यं, तत्र लैङ्गिकसादृश्यस्य सूत्रकाराभिमतत्वात्, अन्यथा 'तद्वानासामुपधानो मन्त्र' इति सूत्र 'आसा'मितिपदं न वदेत्, न चायं न्यायोत्र वक्तुं शक्यः, तादृशस्यात्र प्रमाणभावेनाङ्गीकर्तुमशक्यत्वात्, तदेतत् सर्वमभिसन्धाय **स्वसृशब्दे नेवाभिधीयेते** इत्याचार्यैरुक्तं, ननु भामस्वस्त्रोरित्येवमुक्तेपि भामशब्दमहिम्नैवार्थात् कंसस्य श्यालत्वप्राप्तावपि यत् स्वस्त्रोरिति प्रयुक्तं तेन पूर्वोक्त एव व्यासाशय इत्याशङ्कायामाहुस्तत्सम्बन्धादित्यादि, तथाचैतज् ज्ञापयितुमेवम्प्रयोग इत्यर्थः, ननु भवत्वेवं तथापि सरूपैकशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात् स्वसृतत्पत्यो-

विरूपैकशेषस्य च पाणिनीयानामननुशिष्टत्वात् कथं प्रयोगसिद्धिरित्यत आहुरेकशेषेत्यादि, तथा सति स्वसा च तत्पतिश्च **स्वसारौ,** तत्र यद्यपि साक्षात्पाणिनीयमेकशेषानुशासनं नास्ति तथापि सूत्रचतुष्टयोक्त्या तृतीययाप्रधानं न शिष्यत' इत्येव ज्ञाप्यत इति ज्ञापकसिद्धोत्र विरूपैकशेष इति सुखेन प्रयोगसिद्धिरित्यर्थः, ननु तृतीययेदमेव ज्ञाप्यत इत्यत्र किं मानमत आहुरन्यथेत्यादि, यदि हि स्त्रिया सहोक्तौ पुमानेवावशिष्यत इति विरूपैकशेषनियमः स्यात् तदा द्वन्द्वघटिते स्त्रीपुरुषशब्देपि द्वित्वविवक्षायामेकशेषे प्राप्ते तत्र सरूपस्य स्त्रीपुरुषशब्दान्तरस्याविवक्षितत्वात् सरूपसूत्राप्राप्तौ 'पुमान् स्त्रिये'तिसूत्रेण विरूपैकशेषे पुरुषयोः 'पुमांसा'वित्येव प्रयोगः स्यात्, स तु न दृश्यते, अतस्तत्र तृतीयाप्रधानं न शिष्यत इत्येवं ज्ञापयतीति मन्तव्यं, एवं 'स्त्रीपुंसौ' 'मातापितरा'वित्यादि-प्रयोगान्यथानुपपत्तिबलाद् यत्रोभयप्राधान्यं विवक्षितं तत्र न विरूपैकशेषो यत्र त्वप्राधान्यं विवक्षितं तत्रैव स इति प्राप्त्या प्रकृते भर्तुरप्राधान्यस्य विवक्षितत्वादत्रापि **तद्भर्त्रा सहिता स्वसैवावशिष्यत** इति न पाणिनीयविरोधः, लक्ष्यैकचक्षुष्कतापक्षस्यैव महाभाष्यकृताङ्गीकारेण वैयाकरणानां प्रयोगशरणत्वादितिदिक् ॥ २३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्माद् भद्र इत्यत्र **चातुर्विध्यमिति, कालकर्मस्वभावभगवदिच्छाभिः** सृष्टिर्जायत इति प्रकारोस्य मते नास्तीत्यर्थः ॥२१॥ **यावदित्यत्राध्यास** इति, अध्यासश्चेज् जातस्तदा **स्वरूपाज्ञानं** सिद्धमेव कार्येण कारणानुमानमित्यर्थः ॥ २२ ॥ **क्षमध्वमित्यत्रानुशय** इति, अनुचिन्तने स्थिते महतां हृदये शोको **भूयान्** भवत्यतो महतः पूर्वापराधमविचार्य क्षमैवोचितेतिभावः, ननु यद्यपि साधवो धनादिकमनपेक्ष्य स्वत एव दीनवत्सलास्तथापि स्वस्य धनादिदानमुचितमित्यत आहुर्यद्यपीति, अयुक्तमपि चेत् करोति तदा युक्तं तु पूर्वगृहीतस्य धनादेर्दानमतिरिक्तस्य वा धनादेर्दानं कैमुत्येनैव प्राप्तमित्यर्थः ॥ २३ ॥

बुभुत्सुबोधिका

तस्माद् भद्र इत्यत्र शोको न कर्तव्य इति कारिकोक्तः। न करिष्यतीति शुद्धसत्त्वत्वात् न करिष्यति। अपत्यमिति नवमस्कन्धे 'बलं गदं सारणं चे'त्यष्टकथनं क्रीडोपयोगिनाम्। 'स्नुषेयं तव कल्याणे'तिवाक्यसत्यत्वार्थम्। मानुशोचेति मूले शोचेति यत इति च भिन्नं पदद्वयमिति ज्ञापितम्। 'माङि लुङ् सर्वलकारापवादः' 'लोट् चे'ति सूत्राभ्याम्। व्यापादिता इति मृता इति रूढोर्थः। यौगिकार्थस्तु, तनयाः षण्मरीचिपुत्राः, अकृतार्थगतत्वात्, यन्नैव तन्नैवम्, देवदत्तवदित्येवमनुमाने यदि मरीचितनया न स्युः अकृतार्था न गच्छेयुरित्येवं मारितषट्पुत्रेषु मरीचितनयत्वमापाद्यते। अतो मया व्यापादिताः षट्। अनुशोक इति कर्माननुसन्धानरूपान्तर्मुखानामननुशोके उपपत्तिर्युक्तिः। अनुपपत्तिः कर्मानुसन्धाननिषेधरूपा। कर्मानुसन्धानं पदार्थसम्भावनार्थ-कापेरर्थः तदभावो द्योत्यः। एवं बहिर्मुखानां मय्यविशेषेणेत्यर्थः। एवं अनुशोके बहिर्मुखानामप्येकानुपपत्तिः तामाहेति पाठेर्थ उक्तः। अथ पाठान्तरम्। अननुशोके बहिर्मुखानामस्त्युपपत्तिः तामाहेति। यतः सर्व इति प्रतीकसर्वपदार्थमाहुः बहिर्मुखानामपीति। तथा च बहिर्मुखान्तर्मुखरूपः सर्वः। भुञ्जत इत्यत्र विन्दत इत्यपि पाठः। भुङ्क्त इति तेन 'भुञ्जत' इति बहुवचनं छान्दसं मूले। ततः प्रेरककर्माननुसन्धानमिति भावः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। यतः कर्मणः सर्वोवशः स्वकृतं कर्मफलं भुङ्क्त, ततः कर्मणः प्रेरक-कर्माननुसन्धानमितिपदद्वयरहितोत्तरार्धार्थः। अस्य मत इति दैत्यमते सृष्टेः पुष्टिप्रवाहमर्यादाचर्षणीभेदेन चातुर्विध्यं न। आत्मा एक उक्तः। तस्य नानात्वप्रतीतावुपाधिभेदः कारणं, तेन तथा प्रतीतिमाहुः भुञ्जत इतीति। 'उपाधिर्भिद्यते न तद्वा'नितिसाङ्ख्य-प्रवचनीयसूत्रोक्तसिद्धान्त उक्तः। मयेति कंसेन। दण्डाभावेनेति निमित्तेन। अयिना देवक्याः ॥ २१ ॥

यावदित्यत्र कर्मत्वमिति हत इत्यत्र कर्मणि क्तप्रत्ययात्। कर्तृत्वमिति हन्तेत्यत्र कर्तरि तृचः। नन्वेवकारो न देयः हतत्वहन्तृत्वयोरुपाधिदेहधर्मत्वादित्यत आहुः कर्मत्व इत्यादि। अनेन कर्माज्ञानवश इति कारिकोक्तं कर्मोक्तम्। तदुपपादयन्ति स्म अक्रिय इति। मन्यत इति अभिमन्यते। प्राप्नोतीति प्रकृतिस्थामात्मनि दैवेभिमानेन प्राप्नोति। आत्मा दैवं बाध्यो बाधको वेति। दृष्टिः प्रत्यक्षम्। जानातीति शाब्दज्ञानविषयं करोति। एवकारव्यावर्त्यमाहुः न त्विति। जानातीति सम्बध्यते, न तु प्रत्यक्ष-ज्ञानविषयं करोतीत्यर्थः। देहाद्यध्यास इति देहोहं स्थूलोहमित्यादिरित्यन्यत्रान्यावभासः। स्वरूपेति दैवत्वेन मायात्वेन देवतात्वेन वा स्वरूपस्याज्ञानं देहत्वेन स्थूलत्वेन वान्यधर्मेण ज्ञानम्। तदभिमानी बाध्यबाधकत्वरूपदेहधर्माभिमानी। अज्ञ इति दैवत्वादिना स्वरूपं जानातीति ज्ञः, तद्भिन्नोज्ञः। तेन कारिकोक्तमज्ञानमुक्तम्। एवेति एवकारो यथारूपत्वेन घटादिज्ञानवानज्ञः तथेति ॥ २२ ॥

क्षमध्वमित्यत्र हृदय इति हृदि अनुशये पश्चात्तापे 'भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयो'रिति विश्वः। भूयानिति मनसः करणत्वात् यावदात्मानं न गृह्णाति तावत् शोको भूयान् भवति। 'तरति शोकमात्मवि'दिति श्रुतेः। अतो महतां पूर्वापराधमविचार्य क्षमैवोचितेति भावः। पादग्रहणमिति क्रियाविशेषणम्। अकर्तव्यमपि करोति चेत् कर्तव्यं तु कुर्यादेवेत्याहुः गृहीतेति। इदं कैमुत्य-न्यायेनोक्तम्। स्वस्रोरिति द्विवचनं साधयितुं श्रीधरमतं दूषयन्ति स्म स्वसृशब्देनेत्यादिना। अभिधीयेते इति एकयोक्त्याभिधीयेते यथा पुष्पवच्छब्देन दिवाकरनिशाकरौ ह्यभिधीयेते। इति न स्वसृपदे श्रीधरोक्तमिश्रलक्षणा। 'लक्षणां नैव वक्ष्या'मीति प्रतिज्ञातत्वात्। तदुक्तम्। महाभाष्ये 'साधूनेव प्रयुञ्जीते'ति। तथा च स्वसा च स्वसा च स्वसारौ तयोः स्वस्रोः। 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति श्रुतेरेकं

स्वसृपदं तत्पतिवाचकम्। यथैकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ। स्वसृपदेन तत्पतिग्रहणे हेतु (युक्ति) माहुः तत्सम्बन्धादेवेति स्वसृसम्बन्धादेव। अन्यथा ज्ञातिरिव मान्यः स्यात्। तथा च मान्यत्वद्योतनाय वसुदेवे स्वसृपदप्रयोगः। तं प्रतीति वसुदेवं प्रति। एकशेषे लुप्तस्य स्वसुः पादाभ्यां नान्वय इत्याहुः लुग्विधानसामर्थ्यात् सति बाधके। एकस्या एवेति एवकारो वसुदेवयोगं व्यवच्छिनत्ति। द्विवदिति 'पादा'वित्यत्र द्वित्वसमर्थनम्। द्वितीयान्ताद्वतिः। राजकर्तृकपादग्रहणकर्मत्वस्यैकपादे पर्यवसानम्। कपिञ्जलबहुत्वस्य त्रित्वे पर्यवसानवत्। एकशेषे लुप्तस्य पादस्याग्रहीदित्यत्रानन्वयाच्च लुग्विधानसामर्थ्यात् सति बाधके भवति अन्यथा लोपं लुक्स्थाने वदेत् सूत्रे। 'न लुमताङ्गस्ये'तिपाणिनिसूत्रात्। एवं 'स्वस्रो'रित्यत्रापि द्वित्वसमर्थनम्। अथ'कशेषे'-त्यादि'रिति चे'त्यन्तो ग्रन्थोनतिप्रयोजनः काकपाददानात्। तथापि व्याक्रियते ग्रन्थस्थत्वात्। ननु स्वरूपैकशेषस्य स्वसा तत्पतिश्चेति द्वन्द्वे वक्तुमशक्यत्वाद्विरूपैकशेषस्य पाणिनिनाननुशिष्टत्वात्। कथं स्वस्रोरिति प्रयोगसिद्धिरित्यत आहुः एकशेषेत्यादि। तृतीयेति 'स्त्रीपुंसयोः पुमा'निति सूत्रयितव्ये तृतीयाघटितसूत्रेष्वप्रधाने तृतीयेत्यर्थः। न च शरीरगौरवमिति वाच्यम्। अकारस्य विष्णुवाचकस्य सत्त्वेन विष्णुसहस्रादिस्तोत्रापलापप्रसङ्गात्। न चाहष्टोत्पत्तिः सूत्रपाठे स्यादिति वाच्यम्। महाभाष्ये 'भीत्रार्थानां भयहेतु'रित्यादिसूत्राणां प्रत्याख्यानात्। ननु यथाव्याख्यानं तृतीयास्तु किं ज्ञापनेनेत्यत आहुः अन्यथेति। पुरुषयोरित्येव स्यात्। पुम्भ्यामिति च प्रयोगः स्यात्। उभयोः प्राधान्ये त्वेवं प्रयोगः स्यादेव। अतिप्रयोजनानतिप्रयोजनग्रन्थसाधारण्येनाहुः अत्रापीति। स्वसैवेति तत्पत्युः स्वसृसम्बन्धेन मान्यत्वात् स्वसुः प्राधान्यात्। एवकारस्तु श्रीभागवतप्रामाण्यात्। भिन्नप्रक्रम इति दैत्यावेशस्याऽगेमृतमिव जातत्वेन राजसभावस्य च त्यागात्॥ २३॥

मोचयामासेत्यत्र दैत्यावेशस्येति अयं ग्रन्थः पूर्वान्वय्यप्यत्र श्लोकाभासेपि पुस्तके वर्ततेत्यणिजनुभावेनाथेत्यनुवर्त्य तदर्थत्वेन व्याख्येयः, स्वकृतिभिन्नेन भृत्यप्रेरणप्रक्रमेण स प्रक्रमः दैत्यावेशस्येत्याद्यर्थः। निरोधं चेति निगडम्। तामसं निरोधं प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपं च स्वस्येतः परं 'भयात् कंस' इति वाक्यात् भयेन निरोधो नावेशदशायाम्। 'निगडौ मोचयामासे'त्यनुक्त्वा पञ्चम्युक्तेस्तात्पर्यमाहुः निगडाविति। निगडेति तेन न निगडौ मोचयामास भृत्यद्वारेति णिजन्तप्रयोगः। अश्रुव्धाविति 'यत्र क्वचिज्जातस्तवात्मज' इति वसुदेवगृहे निषेधसूचनात् हृष्टौ। एताभ्यामिति वसुदेवदेवकीभ्याम्। विचारितवानिति वसुदेवदेवकी हर्षेण विचारितवान् अनुमितवान् तौ कापश्च्यवन्तौ तादृशवाक्येन हर्षात्। तादृशास्मदादिवदिति। असत्यमपीति तमोरूपत्वेन मायाया भ्रान्तिविषयवाक्यमसत्यम्। अपीति सत्यं विष्णोरनुजातत्वात्। लिङ्गवचने इति विश्वासहेतोर्वचने। वसुदेवेनैवेति एवकारो देवकीयोगव्यवच्छेदकः। तथाकृतत्वादिति यत्र क्वचिज्जातत्वेन कृतत्वात्। ननु कृष्णेन यत्र क्वचिज्जातत्वं न देवक्याः कृपणात्वमिति मायायाः कंसेऽन्यथाबुद्धिकर्तृत्वमत आहुः अन्यथेति। सिद्धमेवेति माया च तमोरूपेति नृसिंहतापिनीये सिद्धमेव। असिद्धत्वयोगव्यवच्छेदकैवकारः। पाठक्रमेणाहुः प्रथमत इति। स्वयं परिचर्यामिति सौहृदं स्नेहवाचकम्। स्नेहेन परिचर्येत्यवैधभक्तौ सिद्धम्। स्वयमिति च भयकार्यम्। सौहृदं स्नेहम्॥ २४॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

अब श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में आज्ञा करते हैं कि **"तत्तु भवद्भ्यां ज्ञायते एवेति शोको न कर्तव्य एवेत्याह**—अब इस श्लोक से कंस श्री देवकीजी और वसुदेवजी को कहता है कि आत्मा का निर्विकार रूप तो आप दोनों जानते ही हैं, अतः शोक करना उचित ही नहीं, **'तस्माद भद्रे'** इसलिये हे बहिन! आप दोनों को उचित है कि शोक न करें।

कंस का मन्तव्य है कि विवेकविद् श्रीवसुदेव जी तो शोक न करेंगे। माता देवकी अवश्य करेगी इसलिये श्री देवकी को ही सम्बोधन किया है कि 'हे भद्रे' इससे आगे तेरा कल्याण ही होगा व सन्तान भी होगी, ऐसा ज्ञात कराया गया है। तू अपने पुत्रों का शोक न कर 'अनुशोच' इस 'अनु' पद के प्रयोग से व्यक्त होता है, कि देवकी प्रथम तो अपना शोक करती है कि मैं कैसी दुर्दशाग्रस्त हूँ, बाद में वह पुत्रों का शोक करती है, कि कैसे निर्दयता से मारे गये हैं, यद्यपि वह अपने कर्मों के वश से मरे हैं, मैंने तो मारे नहीं, उनके कर्म ने हो मुझे उनके मारने को प्रेरणा की थी, तो भी बाह्य दृष्टि से मैंने ही मारे—ऐसा स्वीकार किया जाता है, फिर भी तू शोक न कर अतः कहा है कि 'मया व्यापादितानपि'। बहिर्मुख लोगों की भी शोक न करने में जो युक्ति है, उस युक्ति को कहता है कि 'यतः सर्वः' इत्यादि। इच्छा न करता हुआ भी परवश ही कर्माधीन होकर सब ही प्राणी स्वकृत कर्म फल को भोगता है, कंस के मत में दैत्य मत कहा है, इस मत में पुष्टि, प्रवाह मर्यादा व चर्षणी इस प्रकार से सृष्टि के चार भेद नहीं है अतः सबको ही कर्माधीन कहा है। कर्ता के एक वचन होने पर 'भुञ्जते' यह बहुवचन का प्रयोग सूचित करता है कि देहों के भेद से भोग के द्वारा एक आत्मा का नानात्व प्रतीति सिद्ध है, इस कथन से यह व्यक्त किया गया है कि मैंने भी बहिर्मुखता से जो कर्म किया है, उसका फल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा, अतः बिना विचार किये ही मुझे दण्ड होगा, इसलिये मुझे दण्ड न होने से भी तुझे चिन्ता करना उचित नहीं॥ २१॥

अब आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि देवकी जी कंस को यदि ऐसा कहे कि **"ननु त्वया ज्ञानमुपदिष्टं उपदेष्टुर्दृढं ज्ञानं भवतीति न तव दण्डसंभावना चेत्तत्राह**-भैया तुम तो ज्ञान का उपदेश करते हो तो सुना है कि

उपदेशक को सुदृढ ज्ञान होता है इसलिये तेरे में सुदृढ ज्ञान होने के नाते तू दण्डभागी नहीं बनेगा तब इसके उत्तर में कंस **"यावद्धतोऽस्मि"** श्लोक को कहता है।

बहिनजी, बात तो ठीक है लेकिन जबतक यह जीव शास्त्रजनित ज्ञानवान् होता हुआ भी 'मैं मरा हूँ मैं मारने वाला हूँ', इस प्रकार अपने को मारे जाने वाला, मारने वाला मानता है, तब तक वह वध्य मरने वाला घातक मारनेवाले धर्म को प्राप्त होता ही है। मारणक्रिया का यदि फल अपने में मानता है, तो वध्यता को प्राप्त होता है, और यदि मारण क्रिया को अपने में मानता है, तो घातकता को प्राप्त होता है। वास्तव में आत्मा तो क्रियारहित है, उस अक्रिय आत्मा में, जिस प्रकार क्रिया को फल रूप से या क्रिया रूप से अपने में मानता है, उसी प्रकार क्रिया को फल रूप से प्राप्त करता है।

यह शङ्का हो सकती है कि आत्मा में, जब क्रिया रूप धर्म विद्यमान ही नहीं है, तो उसकी प्रतीति में क्या कारण है ? उक्त शङ्का पर कहा है कि 'अस्वदृक्' जिस जीव की दृष्टि आत्मा पर नहीं है, शास्त्र के ज्ञान को, शास्त्रसम्बन्धीरूप से ही जानता है न कि अपने आत्मस्वरूप विषयकरूप से, उस ज्ञान को धारण करता है। उससे भी क्या ? अतः कहा है कि 'तावद्' इत्यादि, जब तक शास्त्रीय ज्ञान के आत्मविषयक रूप से धारण न करने तक वह देहाभिमानी रहता है, आत्मस्वरूप के ज्ञात होने पर देहाध्यास नहीं होता, परन्तु देहाध्यास के होते हुए आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं अतः देहाभिमानी अज्ञानी हो है, अज्ञानी होने से उसे बाध्य-बाधकता भाव प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि कंस श्रीदेवकीजी को उपरोक्त बात कहकर अब आगे कहना चाहता है कि **"एवं भवद्बालकानामस्माकञ्च कर्मवशात् सर्वं जातं भविष्यति च अतः शोको दण्डो वा न चिन्तनीयः परमतिक्रमदोषो मदीयः सोढव्यः इति वदन् क्षमापनार्थं नमस्करोति"**—आप दोनोंको इस प्रकार आप के बालकों को कर्मवश फल मिला है और मुझे भी फल मिलेगा। अतः आप पुत्रों का शोक न करें और मेरे लिये दण्ड का भी विचार न करें क्योंकि मुझे भी मेरे कर्मों से दण्ड मिलेगा ही लेकिन मैंने जो आप का अतिक्रमण-अपराध किया है उसे सहन करें। ऐसा कहता हुआ कंस क्षमा चाहने के लिए देवकीजी वसुदेवजी को नमस्कार करता है कि **'क्षमध्वं मम दौरात्म्यम्'** मेरी दुष्टता को, मुझ दुष्ट को क्षमा करें।

जो बिना विचारे अन्याय करने वाला है वह दुरात्मा कहा जाता है, अतः आज्ञा का उल्लङ्घन व पुत्रों का मारण जो कुछ मैंने किया वह सब कुछ मुझ दुरात्मा का दुष्कर्म क्षमा करदें, महान् पुरुषों के हृदय में अपराधी के अपराध का अनुचिन्तन यदि बना रहता है, तो महान् शोक होता है। अतः पूर्वकृत अपराध का विचार न कर क्षमा करना ही उचित है, क्षमा कराने को कुछ देना नहीं है क्योंकि आप जैसे साधु पुरुष तो मुझ जैसे दीन जनों पर वात्सल्य रखते हैं। अपकीर्ति व नरक का भाजन होने से मेरी दीनता स्पष्ट ही है। कंसने अपनी दीनता केवल वचन से ही प्रकट नहीं की किन्तु अपने स्वरूप से भी दीनता प्रकट की **अश्रुमुखः विकलत्वात् प्रोञ्छनमपि न करोति** वह ऐसा कहकर रोने लगा, उसके इतने आँसू बह रहे थे, मुख पर आँसू आ रहे थे, वह विकल होने से उन आँसुओं को पोछता भी नहीं था। जब कंस ने छोटी बहिन के पैरों को पकड़ लिया जो कि बड़े भाई को उचित नहीं तब उसने अन्य उचित कार्य भी क्यों न किये होंगे !। जैसे उनके छीने हुए धन को लौटा देना, व अतिरिक्त अधिक धन आदि को देना, वह सब भी उसने अवश्य ही किया था। यहाँ **'श्यालः'** पद से कंस को वसुदेव का साला बतलाया गया है, व **'स्वस्रोः'** इस द्विवचनान्त पद से श्रीदेवकी और वसुदेवजी को बहिन, बहनोई कहा गया है। यहाँ **'स्वसा च स्वसृपतिश्चेति तयोः स्वस्रोः'** इस प्रकार 'एकशेष समास है। एक शेष में एक शब्द तो शेष रहता है, शब्दान्तर का लोप हो जाता है। प्रधानवाचक यहाँ स्वसृ शब्द है। अतः वह शेष रहा है, अप्रधानवाचक स्वसृ पति का लोप हुआ है। जो शब्द शेष रहता है वह लुप्त हुए शब्द के अर्थ का भी वाचक होता है, अतः स्वसृ शब्द से ही स्वसा भगिनी व उसका पति, यह दोनों कहे गये हैं, यद्यपि शुकदेव **'अहो भगिन्यहो भाम'** इस पूर्वोक्त कंसोक्ति के अनुसार यहाँ **'भामस्वस्रोरथाग्रहीत्'** इस प्रकार कह सकते थे, श्याल शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि भाम शब्द के सामर्थ्य से ही अर्थतः कंस का श्यालत्व प्राप्त ही था, तो भी **'भामस्वस्रोः'** ऐसा द्वन्द्व समास का प्रयोग न कर **'स्वस्रोः'** यह विरूप शब्दों का एकशेष उन्होंने किया, उससे शुकदेवजी यह बतलाते हैं कि बहिन देवकी के सम्बन्ध से ही वसुदेव कंस के मान्य है, स्वतः नहीं, अतः वसुदेव के प्रति स्पष्ट रूप से साक्षात् कंस नहीं भी झुके, तो भी कोई दोष नहीं, इस कारण कंस ने एक देवकी के ही दोनों चरणों को दोनों देवकी वसुदेवों के चरणों की भाँति पकड़ा था, एकशेष शास्त्र में पठित 'पुमान् स्त्रिया 'व अन्य चार सूत्रों' में प्रयुक्त 'स्त्रिया' इत्यादि तृतीया विभक्ति से ज्ञात कराया गया है कि अप्रधान शेष नहीं रहता, प्रधान ही शेष रहता है, अतः यहाँ कंस की मान्यता में अप्रधान होने से स्वसृपति का शेष नहीं किन्तु प्रधान होने से स्वसृशब्द का ही

१. पाणिनीय व्याकरण में कुछ सूत्रों की रचना करते हुए भी पाणिनि ने 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' लिङ्गमशिष्यम्' ऐसा कहा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एकशेष को अशिष्य कहा है, अतः प्रयोगानुसार ही व्यवस्था अभिमत है।

शेष रहा है, अन्यथा यदि स्त्री के साथ कहने पर पुरुष का ही शेष हो ऐसा नियम विरूप शब्द स्थल में माना जाय तब तो 'स्त्री-पुरुषाभ्यां' 'स्त्रीपुम्भ्याम्' इत्यादि प्रयोग न हो सकेगा, क्योंकि 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र से पुरुष वाचक का शेष व स्त्री वाचक का लोप करने पर 'पुरुषाभ्यां' 'पुम्भ्याम्' ऐसा ही प्रयोग रहेगा, अतः जहाँ दोनों की प्रधानता बतलाता हो वहाँ वह द्वन्द्व समास में 'स्त्रीपुरुषौ' आदि प्रयुक्त हों जहाँ पुरुष की प्रधानता बतलाना हों वहाँ 'पुरुषौ' आदि एकशेष का प्रयोग हो यह व्यवस्था है। यहाँ भी प्रधानता भगिनी की है उसका पति तो उसके साथ होने से अप्रधान ही है, अतः स्वसा ही अवशिष्ट रही है[१]। 'अथाग्रहीत्' इस 'अथ' शब्द से प्रक्रम का भेद बतलाया है, जिससे यह सूचित किया है कि कंस का दैत्यावेश व राजस भाव निवृत्त हुआ ॥ २३ ॥

अब आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि "निरोधं च दूरीकृतवानित्याह" कंस ने श्रीदेवकीजी और श्रीवसुदेवजी के निरोध कैद शृङ्खला को दूर किया, यह प्रसङ्ग "मोचयामास निगडान्" इस श्लोक से कहा जायगा कैदखाने में दो शृङ्खलायें पृथक् पृथक् बन्धनस्तम्भों में बँधी है, अतः शृङ्खला से देवकी को व वसुदेव को दोनों को मुक्त कर दिया। वह स्थान तो बन्धन गृह होता है, अतः शृङ्खला तो वहाँ बँधी ही रहती है उनको स्तम्भ से अलग नहीं किया।

कंस ने यह विचार क्यों नहीं किया कि इन दोनों को किसी प्रकार का चित्त में क्षोभ या विकार नहीं हो रहा है, व आकाशवाणी तो प्रमाण ही है, अतः इन दोनों ने ही कुछ छल या कपट किया होगा, उक्त शंङ्का पर कहा है। 'विश्रब्धः कन्यकागिरा' आकाश में सुनी हुई कन्यका माया के वचनों पर कंस विश्वस्त था। वह कन्या यद्यपि माया है, उसका वचन असत्य भी हो सकता है, तो भी उस पर कंस ने विश्वास किया, अतः वह वैसा विचार नहीं कर सकता। योगमाया ने अपने शब्दों में 'यत्र क्वचन' जहाँ कहीं शत्रु का पैदा होना कहा था और यत्र क्वचित्पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा" इस पंक्ति में 'कृपणां' पद का स्त्रीलिङ्ग व एकवचन का प्रयोग कर देवकी को दोषरहित सूचित किया था, क्योंकि बालक को अन्यत्र ले जाने का कार्य वसुदेव ने ही किया था। इसलिये यदि दोषित है तो वसुदेवजी ही हैं देवकीजी नहीं।

अन्यथा स्फूर्ति करना तो माया का प्रसिद्ध कार्य ही है, प्रथम तो देवकी को पश्चात् वसुदेव को मुक्त किया। देवकीं वसुदेवं च यहाँ 'च' कार अव्यय से उनके सम्बन्धी जनों की भी बन्धनमुक्ति एवं परिचर्या स्वयं करता हुआ अपना सौहार्द दिखाने लगा ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

उक्तमेवोपसंहरति—तस्मादिति। यतः सर्वोऽपि प्राणी अवशः सन् स्वकृतं स्वकृतकर्मफलं जन्ममरणसुखदुःखादिकं विन्दते लभते। तस्मात् हे भद्रे! मया व्यापादितानपि स्वतनयान् माऽनुशोचेत्यन्वयः। वसुदेवापेक्षया व्याकुलताधिक्यात् स्नेहाधिक्याच्च सुबुद्धित्वेन सान्त्वयन् देवकीं सम्बोधयति– भद्रे इति। अपिशब्दो यद्यप्येवं परमार्थविचारे मम दोषो नास्ति, तथाप्यज्ञव्यवहारे तथेति सूचनार्थः॥ २१ ॥ ननु "यदि सर्वः स्वकृतमेव विन्दते, तर्हि कथं हन्तुः प्रायश्चित्तविधानं तद्विना नरकादिश्रवणं च सङ्गच्छत" इत्याशङ्क्याह–यावदिति। यावत् 'हतोस्मि, हन्तास्मि, इत्यात्मानं मन्यते देहगतमेव हननस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं चात्मगतं मन्यते तावत् बाध्यबाधकतामियात् तज्जनितं पापं तत्फलं दुःखं च प्राप्नुयात्। विहितनिषिद्धसर्वकर्मणामुपलक्षण-

---

१. श्रीधर स्वामी ने यहां कहा है कि मिश्रित लक्षणा से स्वसृ शब्द से पति का भी अभिधान है अर्थात् अभिधा वृत्ति से स्वसृ-शब्द से पति भी लिया गया है परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधा वृत्ति से पति का बोध नहीं हो सकता क्योंकि "स्वसृ" शब्द का पति अर्थ अभिधेय नहीं है किन्तु बहिन अर्थ ही अभिधेय (वाच्य) है। यदि कहें कि द्वित्व विवक्षा में स्वसृ-स्वसृ-औ ऐसे मानने पर एक स्वसृशब्द अभिधा से बहिन को कहेगा और दूसरा स्वसृ शब्द लक्षणा से पति अर्थ को कहेगा तो कहते हैं कि ऐसी स्थिति में एकशेष हो ही नहीं सकता क्योंकि वाचक और लक्षक का कहीं भी एकशेष नहीं देखा गया है। उपर्युक्त सब भाव को लेकर श्रीसुबोधिनीजी में "नैव अभिधीयेते" ऐसा कहा है।

शङ्का होती है कि "श्यालस्वस्रोः" के स्थान पर "भामस्वस्रोः" ऐसा पाठ मानने से भाम पद से बहिनोई लिये जाने से श्याला अर्थ अपने आप ले लिया जायेगा तो न एकशेष का झगड़ा रहेगा और न श्याला अर्थ लेने में ही अड़चन आयेगी तो फिर उपर्युक्त पाठ न मान कर "श्यालस्वस्रोः" पाठ मानने में व्यासजी का क्या आशय है तो कहते हैं कि यहां स्वसृ शब्द से ली गई बहिन प्रधान है, उससे बहिनोई भी ले लिये जायंगे। इसी आशय से व्यासजी ने ऐसा कहा है।

शंका होती है कि समानरूप हो तो "सरूपाणां" सूत्र से एकशेष हो सकता है परन्तु स्वसृ और पति शब्द का सारूप्य न होने से एकशेष कैसे होगा तो कहते हैं कि यहां "स्वसा च पतिश्च स्वसारौ" ऐसा विग्रह मानना चाहिये। और पुमान् स्त्रिया आदि चार सूत्रों में आदि तृतीया से ज्ञापन करना चाहिये कि विरूप के एक शेष में जो अप्रधान विवक्षित हो वह नहीं रहता। ऐसा मानने पर उपर्युक्त विग्रह करने पर दोष नहीं आता।

मिदम्। तत्र हेतुमाह–तदभिमानी इति। देहात्माभिमानीत्यर्थः। तत्रापि हेतुमाह–अज्ञ इति। अज्ञत्वमेव स्पष्टयति--अस्वदृगिति। न स्वरूपभूतमात्मानं पश्यतीति तथा सः॥ २२॥ ननु "त्वमपि देहात्माभिमान्येव, नात्मज्ञः, देहाभिमानं विना शत्रुत्वादिकल्पनासम्भवात्। त्वं च शत्रुत्वं प्रकल्प्य मत्पुत्रान् हतवान्। अतस्तद्दोषात् कथं तव "निस्तार" इत्याशङ्क्य 'युष्मत्क्षमया' इत्यभिप्रेत्याह–क्षमध्वमिति। मम दौरात्म्यं पुत्रहननरूपं दुष्टत्वं यूयं क्षमध्वम्, यतो भवादृशाः साधवो दीनवत्सलाः मादृशेषु स्वपराधवशेन नरकादिदुःखस्यावश्यंभावित्वाद्दीनेष्वपि प्रीतियुक्ता भवन्ति। महत्त्वद्योतनाय बहुवचनम्। इत्येवमुक्त्वा अथानन्तरमेवं वदन्नेव अश्रूणि मुखे यस्य तथाभूतः श्यालो वसुदेवस्य पत्नीभ्राता कंसः स्वस्रोर्वसुदेवदेवक्योः पादावग्रहीत् पादग्रहणपूर्वकं प्रणामं कृतवान्। 'स्वस्रोः' इति द्विवचनानुपपत्त्या अजहत्स्वार्थलक्षणया एकेन स्वसृशब्देन तत्पतेर्वसुदेवस्य ग्रहणम्। यथा प्राणशब्दलिङ्गवन्मन्त्रोपधेयेष्टकया सम्बन्धेन प्राणभृत उपदधातीत्यत्र बहुत्वानुपपत्त्या तद्गणनयान्यानेकेष्टकाग्रहणम्॥ २३॥ उक्तमेव विमोचनमुपसंहरति–मोचयामासेति। एवमात्मनः सौहृदं प्रेम पादग्रहणादिना दर्शयन् देवकीं वसुदेवं च निगडात् पादबन्धनभूतात् लोहशृङ्खलान्मोचयामासेत्यन्वयः। तत्र हेतुमाह- कन्यकागिरा विश्रब्ध इति। 'एतौ निर्दुष्टाविति कृतविश्वास' इत्यर्थः॥ २४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्मादिति॥ हे भद्रे! यतः सर्वोऽपि प्राणी अवशः सन् स्वकृतं स्वकृतकर्मफलं जन्ममरणादि विन्दते। तस्मात् यद्यप्येवं परमार्थतो नैते तव पुत्राः नाप्यहं तान् घातितवान्। तथापि हे भद्रे! अज्ञानदृष्ट्या मया व्यापादितानपि स्वतनयान्मानुशोच॥२१॥ कथं तर्हि ब्रह्मणादिहन्तुः प्रायश्चित्तमिति चेत् तदप्यज्ञानमूलकमेवेत्याह—यावदिति॥ अस्वदृक् न स्वरूपभूतमात्मानं पश्यति स तदभिमानी देहात्माभिमानी अज्ञः यावद्धतोऽस्मि हन्ताऽस्मीत्यात्मानं मन्यते। देहगतमेव हननस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं चात्मगतं मन्यते तावत् बाध्यबाधकतामियात् तज्जनितं पापं तत्फलं दुःखं च प्राप्नुयात्॥ २२॥ क्षमध्वमिति॥ मम दौरात्म्यं पुत्रहननरूपं दुष्टत्वं यूयं क्षमध्वं यतो भवादृशाः साधवो दीनवत्सलाः नरकदुःखभागितया दानेषु मादृशेषु वत्सलाः प्रीतियुक्ता भवंति। इत्येवमुक्त्वा अथानन्तरमेवं वदन्नेव अश्रूणि मुखे यस्य तथाभूतः श्यालो वसुदेवस्य पत्नीभ्राता कंसः स्वस्रोर्वसुदेवदेवक्योः प्रत्येकं पादावग्रहीत् पादग्रहणपूर्वकं प्रणामं कृतवान्। स्वस्रोरिति द्विवचनान्यथानुपपत्त्या एकः स्वसृशब्दः स्वसृपत्युर्लक्षकः अन्यः स्वसुर्वाचकः तयोरेकशेषः इति सुगमः पन्थाः। एवमध्यात्मज्ञानादिकमपि कंसस्येव भगवद्विमुखानां क्रूरतापोषायेव भवतीति प्रकरणतात्पर्यम्॥ २३॥ मोचयामासेति॥ कन्यकाया योगमायाया गिरा विश्रब्ध एतौ निर्दोषाविति जातविश्वासः कंसः आत्मनः सौहृदे प्रेम पादग्रहणादिना दर्शयन् देवकीं वसुदेवं च निगडात् लोहशृङ्खलात् मोचयामास॥ २४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तस्मादिति। तस्माद्देहात्मनोर्विलक्षणतयाऽशोच्यत्वादित्यर्थः। हे भद्रे, मया व्यापादितान् अपि हतानपि, स्वतनयान्, मा अनुशोच। यतः, सर्वः जन्तुः, अवशोऽस्वतन्त्रः सन्, स्वकृतं कर्म, विन्दते। स्वकृतकर्मफलरूपं जन्ममरणादिकं विशेषतो लभते इत्यर्थः॥ २१॥ यावदिति। किं च पुमान्, यावत् अस्वदृक् देहविलक्षणात्मयाथात्म्यादर्शी सन्, हतः अस्मि हननविषयोऽस्मि हन्ता हननकर्त्ताऽस्मि, इति, आत्मानं मन्यते अभिमन्यते। देहात्मभ्रान्त्या देहगतं देहहन्तृहन्तव्यभावमात्मन्यनुसंधत्ते इत्यर्थः। तावत्, तदभिमानी देहात्माभिमानी तन्मूलहन्तृहन्तव्याभिमानी च, अत एव, अज्ञः सन्, बाध्यबाधकतां वध्यवधकभावं, इयात् प्राप्नुयात्। तत्प्रयुक्तशोकपापादिकं प्राप्नुयादित्यर्थः॥ २२॥ क्षमध्वमिति। अथाऽतः, साधवः, बन्धुवत्सलाश्च यूयं, मम दौरात्म्यं, क्षमध्वम्। इतीत्थं, उक्त्वा, अश्रूणि मुखे यस्य तथाभूतः, श्यालः वसुदेवश्यालकः कंसः, स्वस्रोर्देवकीवसुदेवयोः, पादौ अग्रहीत्। स्वसृशब्दे द्विवचनानुपपत्त्या मिथुनगणनद्वारा मिथुनलक्षणया स्वसृतत्पत्योरभिधानं लिङ्गसमवायन्यायेन। 'प्राणभृत उपदधाति' इति वत्। 'लिङ्गसमवायः' इति पूर्वमीमांसासूत्रम्। प्राणभृच्छब्देन मन्त्रसंस्कृता इष्टिका बोध्या। तत्संस्करणमन्त्रस्तु 'अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनः' इत्यादि। प्राणभृत् संज्ञिका मन्त्रसंस्कृतेष्टिका एका एव तत् संबन्धेनान्यासामपि तत्संज्ञाभाक्त्वेन 'प्राणभृत उपदधाति' इति बहुवचनं यथा, तथाऽत्र द्वितीयस्वसृशब्देन तत्पत्युरेव ग्रहणम्। एवं सति देवकीवसुदेवयोः प्रत्येकं पादावग्रहीदित्यर्थः। सिद्धः। श्यालशब्दस्तालव्यादिर्दन्त्यादिश्च। 'श्यां मधुपर्कं लाति' इति तन्निरुक्तिरपि॥ २३॥ मोचयामासेति॥ ततः, कन्यकागिरा विश्रब्धः, एतौ निर्दोषौ स्त इत्येवं विश्वस्तः कंसः, आत्मसौहृदं, दर्शयन् सन्, देवकीं वसुदेवं च, निगडात्, मोचयामास। पूर्वोक्तमेव मोचनं सप्रपञ्चं स्मारितमिति न पौनरुक्त्यम्॥ २४॥

कृष्णप्रिया

हे कल्याणमयी! बहिन देवकी! मेरे द्वारा मारे गये अपने पुत्रों का तथा स्वयं का शोक न कर क्योंकि सर्वजीव अपने अपने कर्मों के अनुसार विवश होकर फल भोगते हैं॥ २१॥ शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी जब तक देहाध्यासवश यह मानता है कि मैं इससे मारा गया और मैं इसे मारने वाला हूँ तब तक वह मरने वाला और मारने वाला होता ही है क्योंकि

उसने ज्ञान को अपने में क्रियान्वित नहीं किया है ।। २२ ।। पुनः कंस ने कहा कि मैंने जो विना विचारे अन्याय किया है उसे क्षमा करें क्योंकि आप साधुजन है । साधुजन दीनों से प्रेम करने वाले हैं । श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार कह कर वह कंस, जिसके मुख तक आंसू आ रहे हैं, अपनी बहिन और बहनोई के पैरों में गिर गया ।। २३ ।। अपना सौहार्द दिखाते हुए उस कंस ने योगमाया के वाक्य पर विश्वास कर अर्थात् देवकी वसुदेवजी निर्दुष्ट हैं ऐसा समझकर देवकी वसुदेवजी को लोह को शृङ्खला से छुड़ा दिया ।। २४ ।।

भ्रातुः समनुतप्तस्य[1] क्षान्त्वा[2] रोषं च देवकी । व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ।। २५ ।।

वसुदेव उवाच[3]

एवमेतन्महाराज[4] यथा वदसि देहिनाम् । अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ।। २६ ।।
शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः । मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ।। २७ ।।

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां [5]विशुद्धं [6]परिभाषितः । देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद् गृहम् ।। २८ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—समनुतप्तस्य भ्रातुः च रोषं देवकी क्षान्त्वा वसुदेवः च (रोषं) व्यसृजत् प्रहस्य तम् उवाच ह ।।२५।। महाराज यथा वदसि एतद् एवम् एव देहिनाम् अज्ञानप्रभवा स्वपरा इति अहंधीः यतः भिदा ।। २६ ।। शोकहर्षभयद्वेषलोभमोह-मदान्विताः पृथग्दृशः भावैः भावं मिथः घ्नन्तं न पश्यन्ति ।। २७ ।। एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः देवकीवसुदेवाभ्याम् अनुज्ञातः कंसः गृहम् अविशत् ।। २८ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स्वपरभेददर्शने किं भवति तदाह । शोकहर्षेति । भावैरेव निमित्तभूतैर्मिथो भावान् घ्नंतं भावमीश्वरं पृथग्दृशस्ते न पश्यंति किं त्वहमेव हंता हतश्चेति मन्यंत इत्यर्थः ।। २७ ।। विशुद्धं यथा भवति ।। २८–२९ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

समनुतप्तस्याहो मया वृथैव भागिनेया हताः केवलं पापमेवोपार्जितमित्येवं पश्चातापं कृतवतः कंसस्य सतः क्षांतो रोषो यस्याः सा तं व्यसृजद्विसर्जयामास । 'क्षांता रोषं च देवकी' इति पाठस्तु विजयध्वजसंमतस्स च सुगम एव ।। २५ ।। हे महाराजेति शास्त्रज्ञानं त्वयि घटेतैवेति भावः । पक्षेन राजत इत्यराजा महांश्चासावराजश्चेति । हे अत्यंतशोभमान मृत्युसान्निध्यादिति भावः । महाभागेति पाठे परमदुर्भगेत्यर्थः । एतत्त्वदुक्तम् । "भुवि भौमानि भूतानि" इत्यादिरूपम् । एवमित्थमेव नान्यथेत्यर्थः । यतः ययाऽहंधिया ।। २६ ।। तदाह-यद्भवति तद्ब्रूते भावैरेव नृपरोगव्याघ्रादिरूपैर्भावान्मनुष्यगवादिकान् । 'भावः सत्तात्मजन्मसु' इति कोशाद्भाव ईश्वरः । इत्यर्थ इति । ईशकृतं स्वस्मिन्नारोपयंतीति भावः । हंतुं साक्षादवतीर्णमपि तं त्वद्विधा न पश्यंतीति श्लेषार्थः ।। २७ ।। अनुज्ञातो विसृष्टः ।। २८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भ्रातुः तत्र च सम्यगनुतप्तस्य क्षान्त्वा दौरात्म्यं सोढा रोषं चकाराच्छोकं च तत्याज वसुदेवस्तु ह स्फुटमुवाच प्रहस्येति । तस्यापि तादृशोक्तेः ।। २५ ।। एवमेतदिति मयेदं पूर्वमेवोक्तं भवतैव न मन्यत इति भावः । हे महाराजेति शास्त्रज्ञानं त्वयि घटेतैवेति व्यञ्जितं महाभागेति पाठे तथैवार्थः । पक्षे न राजत इत्यराजः हे महाराज ! हे अत्यन्ताशोभमान ! अमङ्गलसान्निध्यादिति भावः । तथा महानभागः अभाग्यं यस्य हे परमदुर्भग ! इति देहिनामहन्धीः तत्राहं भोक्ता कर्त्तेत्यादिमतिरज्ञानप्रभवा यतः अहन्धियः ।।२६।। भावैर्भूतैः पृथग्दृशः बहिर्दृष्टयः अन्यत्त्वैः तत्र वस्तुत ईश्वर एव हन्ता न देहो नात्मा व हतश्च देह एव नात्मेत्यर्थः । मिथो निमित्त-भूतैरिति योज्यं मिथोघ्नन्तमिति त्वद्विधान् हन्तुं साक्षादवतीर्णमपि तं त्वद्विधा न पश्यन्तीति श्लेषार्थश्च ।। २७ ।। एवं तद्वाक्यानु-मोदनेन स्वसिद्धान्तनिरूपणेन च विस्रब्धं कंसस्य विश्वासजनकं यथा स्यात् विशुद्धमिति पाठे अकपटं यथा स्यात्तथा प्रतिभाषितः अनुज्ञातश्च सन् ।। २८ ।।

---

१. वचनमाश्रित्य–विज. । २. क्षान्तरोषा–श्रीधर. वंशी. । ३. अन्यप्रत्यां 'वसुदेव उवाच' पाठो न दृश्यते । ४. महाभाग–श्रीधर. वंशी. वीर. गिरि. मक्त. । ५. विस्रब्धं–वीर. जीव. विजय. । ६. प्रतिभाषितः–श्रीधर. वंशी. जीव. गिरि. मक्त. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भ्रातुस्तत्र च सम्यगनुतप्तस्यात एव क्षांत्वा तं प्रति क्षमां कृत्वा, किंवा अपराधं क्षान्त्वा रोषम्, चकाराच्छोकञ्च तत्याज 'च' तु वसुदेवस्तु, ह स्फुटमुवाच। प्रहस्येति तस्यापि तादृशोक्तेः; किंवा तद्वचनसिद्धये निजचित्तप्रसादबोधनार्थम् ॥ २५ ॥ हे महाराजेति शास्त्रार्थज्ञानं त्वयि घटेतैवेति भावः। महाभागेति पाठेऽपि तथैवार्थः। इदमपि पूर्ववदेव देहिनामहं धीरहं भाक्ता कर्त्तेत्यादिमतिरज्ञानप्रभवा, स्वः पर इतीति वक्तव्ये स्व-परेतीत्यार्षम्; यतोऽहंधीयः ॥ २६ ॥ भावैर्भूतैः, पृथग्दृशो भेददृष्टयः, शोकादीनामीश्वरादर्शने यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्। तत्रानुतापलक्षणाच्छोकाद्विषयभोगलक्षणस्य सुखस्य श्रैष्ठ्यम्, दुःखेन कदाचिदीश्वर-ज्ञानसम्भवाद्धर्षादपि मरणभयस्य श्रेष्ठ्यम्, भयेन चित्तव्याकुलताधिक्यात्। अन्यत् स्पष्टम्। मिथो घ्नन्तमिति यादवैर्जरासन्ध-बलानि पाण्डवादिभिश्च दुर्योधनादीन् हन्तुं साक्षादवतीर्णमपि भगवन्तं तद्विमुखा न पश्यन्त'ति श्लेषार्थः ॥ २७ ॥ एवं तद्वाक्या-नुमोदनेन स्वसिद्धान्तनिरूपणेन च विश्रब्धं कंसस्य विश्वासजनकं यथा स्यात्तथा, 'विशुद्धम्' इति पाठे अकपटं यथा स्यात्तथा प्रतिभाषितोऽनुज्ञातश्च सन् कंसस्य तादृशज्ञानञ्च पूर्वोक्तश्रीवसुदेवोपदेशेन तत्र च मरणभयादविरत-श्रीभगवत्स्मरणस्वभावादे-वोत्पन्नमिति ज्ञेयम्। एवं दैत्यानामपि कर्म्मवश्यत्वात्मतत्त्वयोर्ज्ञानं स्यादेव, न तु कदाचिदपि भक्तिरिति तस्य ज्ञानस्य तुच्छत्वमपि सूचितम् ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा रोषं व्यसृजत् ॥ २५ ॥ अज्ञानप्रभवा स्वपरसुताहतिः देहात्माभिमानकृतशत्रुमित्रवैषम्यबुद्धिरेव भ्रान्तिः आत्मनाशहेतुः न तु कश्चिद्धन्ति अशक्यत्वादित्यर्थः ॥ २६ ॥ पृथग्दृशः आत्मव्यतिरिक्तदेहविषयबुद्धिमन्तः भावैश्चेतनैः खड्गादिभिः भावमचित्पदार्थं घ्नन्तमीश्वरं न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २७–३० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं भ्रातुः कंसस्य समनुतप्तस्य सतः देवकी क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा रोषं व्यसृजत् तथा वसुदेवोपि क्षान्त्वा प्रहस्य तं कंसम् उवाच ॥ २५ ॥ तदेवाह–एवमिति द्वाभ्याम्। हे महाभाग ! त्वं यथा वदसि तदेवमेव तथैव किं मयोक्तं यदनुमन्यसे इत्यत्राह— देहिनामहन्धीरहन्ताऽहं हत इत्येवंरूपा धीरज्ञानप्रभवा देहात्मभ्रमजा यद्वाऽहन्धीर्देहात्मधीरज्ञानप्रभवाऽऽत्मयाथात्म्यानवभासमूला, अहन्धियं विशिनष्टि यतोऽहन्धियः स्वपरेतिभिदा शत्रुमित्रभिदा भवति ॥ २६ ॥ एतदेवोपपादयति—शोकेति। पृथग्दृशः आत्मनः पृथग्भूते देहे दृगात्माभिमानो येषां तथाभूताः अत एव शोकादिभिरन्विताः भावैश्चेतनैः खड्गादिभिर्भावमचित्पदार्थं घ्नन्तमीश्वरं न पश्यन्ति किन्तु केवलं स्वपरभेदमेव पश्यन्तीति भावः। तत्तत्कर्मानुगुणप्रवृत्तस्येश्वरस्यैव जन्ममरणादिहेतुत्वान्न केनाप्यपराद्धमिति भावः ॥ २७ ॥ इत्थं विस्रब्धं विश्वासयुक्तं यथा भवति तथा आभाषितः कंसः प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातः स्वगृहं प्राविशत् ॥ २८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

परमात्मा न विपर्येति पुत्रादिकं विपर्येतीति जीवपरभेदज्ञानं मुक्तिसाधनमन्यत्तमःसाधनं यथा वदसि एतदेव सत्यम् एतदेव दृढयति—देहिनामिति। देवोऽहं मानुषो वेति विशेषं तत्र वापित्वित्यादेः यातनाशब्दमध्याहृत्य व्याख्येयम् अहं देवाद्यन्यतमः परमात्मा मदादिजीवराशेः सत्तादिप्रदत्वेनात्यन्तं प्रेष्ठ इति या भिदा तज्ज्ञानं देहिनामज्ञानप्रभवा यातना हन्तीति यत इत्यन्वयः। ननूत्तरश्लोके पृथग्दृश इति भेदज्ञाननिन्दावचनादत्रापि स एवार्थः किं न स्यात् ? उच्यते-पृथग्दृश इति। पृथक्शब्दप्रयोगबलाद-न्योऽर्थस्तस्य तर्हि स क इत्युच्यते भगवद्दर्शनविरोधि यद्दर्शनं तत् पृथग्दर्शनं "भगवद्दर्शनाद्यस्य विरोधाद्दर्शनं पृथक्" इत्यादेः—

स्वरूपभेदो हि परजीवयोर्जीवगो मिथः। परस्परेण वस्तूनां विशेषः शास्त्रदर्शितः ॥ इत्यादेः।

उक्त एवार्थ इति सन्तोष्टव्यम् ॥ २६–३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसंदर्भः

क्षान्त्वा क्षमामवलम्ब्य ॥ २५–२६ ॥ भावैर्भूतैर्मिथो निमित्तभूतैः पृथग्दृशो बहिर्दृष्टयः ॥ २७–३५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भ्रातुरपराधं क्षान्त्वा रोषं शोकं च ॥ २५ ॥ यतोऽहन्धिय एव हेतोरयं स्वः अयं पर इति भिदा "सह सुपा" (२।१।४) इति समासः ॥ २६ ॥ मिथः परस्परं भावैर्नृपव्याघ्ररोगादिभिर्भावं मनुष्यगवाश्वादिकं घ्नन्तमीश्वरमिति शेषः। पृथग्दृशो बहिः-दृष्टयः ॥ २७ ॥ विशुद्धमकपटं यथा स्यात् विस्रब्धमिति पाठे सविश्वासम् ॥ २८–२९ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तौ च तस्मिन्नसाधुस्वभावेऽपि साधुस्वभावावित्याह—भ्रातुरिति ॥ २५ ॥ अहन्धीः देहे अहम्बुद्धिः यतो बुद्धेः पाञ्चभौतिके साधारणे देहे भिदा इदं मम इदमन्यस्येति पृथग्दृष्टिः भवति ॥ २६ ॥ अत एव पृथग्दृशस्ते भावैरज्ञानमूलैरहङ्कारैः शोकाद्यन्विताः मिथोऽन्योन्यं तैरेवाहङ्कारैर्घ्नन्तं भावमात्मानं पश्यन्ति तेऽन्योन्यमात्मघ्ना इत्यर्थः ॥ २७ ॥ एवं विशुद्धाभ्यां यथा स्यात्तथा भाषितः ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवमिति देहात्मनोर्भेदस्य परेशस्वातन्त्र्यस्य च यदज्ञानं तत्प्रभवाद्देहादहं धीर्भवति यतो धियो हेतोर्गेहधनादौ स्वस्येदं परस्य चेदमिति भिदा जायते ततः संसृतिः वस्तुतो गेहादीनां परेशाधीनत्वात् स्वकीयं स्वस्वातन्त्र्यञ्च नास्तीति भावः ॥ २६ ॥ स्वकीयस्व-स्वस्वातन्त्र्यज्ञानस्य फलमाह शोकेतिशोकादिभिरन्विताः पृथग्दृशः बहिर्दृष्टयः पामराः भावैः शत्रुशस्त्राग्निजलादिभिः पदार्थैर्निमित्तमात्रैर्भावान् घ्नन्तं मारयन्तं स्वतन्त्रप्रदेशं न पश्यन्ति न जानन्ति किन्तु स्वतन्त्रोऽहमेनं हन्मीति मन्यन्त इत्यर्थः ॥२७॥ विशुद्धमकपटं यथा स्यात्तथा ॥ २८—२९ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

शोकादियुक्ता मिथो घ्नंतो भावैः शोकादिधर्मैर्निमित्तैर्भवान् जीवेश्वरभेदादिधर्मान्न पश्यंति किंतु पृथग्दृशो भगवद्दर्शनविषयजीवेश्वरभेदादि विरुद्धजीवेश्वराभेदादि विषयज्ञानवंतो भवंतीति। एतेन भावैरित्येतद्व्यर्थमिति चोद्यं निराकृतम्। शोकादीनां मिथो हनन एव निमित्तत्वमितिभ्रमं परिहर्तुं मिथो हनने जीवेश्वरभेदादि ज्ञानाभावे च निमित्तत्वमिति वक्तुं भावैरित्युक्तमिति स्वीकारात्। पृथग्दृश इत्यस्योक्तार्थे भगवद्दर्शनाद्यस्य विरोधाद्दर्शनमित्यादि ॥ ता० अर्थः ॥ भगवद्दर्शनाद्भगवत्कर्तृकजीवेश्वरभेदादिदर्शनात्। विरोधाद्विरोधेन विशिष्टं यद्दर्शनम्। जीवेश्वराभेदादि दर्शनमिति यावत्। तत्पृथग्दर्शनम्। यस्य पुरुषस्य स पुरुषः पृथग्दृष्टिरिति विज्ञेयः। सद्भेददर्शनोऽबाधितजीवेश्वरभेदादिदर्शनः पृथग्दृष्टिर्न तु नैवेति ॥ २७ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां पंचमोऽध्यायः ॥ १०—५ ॥ (अस्मत्पक्षे चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

भ्रातुरिति। अत्र देवकीवसुदेवश्चेति कर्तृसमुच्चयपक्षे ल्यबंतक्रिययोरेककर्तृकत्वनियमात् भ्रातुर्वचनमाश्रित्येत्यनेन वसुदेवस्यापि कंसभ्रातृत्वापातोऽत उच्यते। देवकी। भ्रातुः कंसस्य। वचनमाश्रित्य। क्षांत्वा क्षमां कृत्वा। रोषं व्यसृजदित्येकोऽन्वयः। अन्यस्तु। वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच हेति। यद्वा। देवकीति षष्ठ्यर्थे। वसुदेवः क्षांत्वा देवक्या भ्रातुर्वचनमाश्रित्य रोषं व्यसृजत् प्रहस्य तमुवाचेत्येक एवान्वयः॥ २५ ॥ कंस इति। अत्र कंसो देवकीवसुदेवाभ्यां विशुद्धं पतिभावितः सन्निति योजनायां भ्रातुर्वचनमाश्रित्येति श्लोके एकवसुदेवभाषणांगीकारेण विरोधोऽत उच्यते। एवं विशुद्धं प्रतिभाषितः कसः प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातः सन् गृहमाविशदित्यन्वयः। देवक्यादितृतीयान्वयस्तु अनुज्ञातपदेन प्रतिभाषितपदे तत्र वसुदेवेति शेषः। अतो न विरोधः ॥ २८ ॥

श्रीछलारीनारायणाचार्यविरचिता श्रीभागवततात्पर्यटिप्पणी

एवमेतन्महाराजेति श्लोके यतोऽज्ञानप्रभवा अज्ञानकल्पिता स्वपरेति भिदा स्वो जीवो भिन्नः परः परमात्मा भिन्न इति भिदा भेदज्ञानं देहिनां हंति दुःखादिरूपं नाशं करोति। अतो जीवेश्वरादिभेदज्ञानं न संपादनीयमिति त्वं यथा वदसि यद्वदसि एतदेवमेव सत्यमेवेति जीवेश्वरादिभेदस्य मिथ्यात्वं तज्ज्ञानस्यानिष्टसाधनत्वं चोच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायापेक्षिताऽध्याहारेण तत्तात्पर्यार्थमाह ॥ देहिनामिति। अनेनाज्ञानप्रभवा इति। भागवतपदं द्वितीयाबहुवचनांतमध्याहृतस्य यातना इत्यस्य विशेषणमित्युक्तं भवति। स्वोक्तार्थं प्रमाणेन स्पष्टयति ॥ देवोऽहं मानुषो वेति। अहं देवोऽहं मानुष इति विशेषमहं मानुषोऽहं देव इति च विशेषं यः सम्यग्भेदेनात्यंतभेदेन पश्येत्तथा तत्र देवेषु मानुषेषु च परस्परं विशेषं तथैव तु विशेषेण परमात्मानमपि ब्रह्मजीवयोर्विशेषं च स्वातंत्र्यपारतंत्र्यादिविशेषं च यः सम्यग्भेदेन पश्येत्स तत्प्रसादाद्ब्रह्मप्रसादादज्ञानप्रभवा यातना हंति परमात्मानं च गच्छतीति योजना ॥ २६ ॥ ननु यद्येवं जीवेश्वरादिभेदज्ञानस्य परमात्मप्राप्तिरूपमोक्षसाधनत्वं स्यात्तर्हि शोकहर्षभयद्वेषेति श्लोके पृथग्दृशो जीवेश्वरादिभेदज्ञानिनः शोकाद्यन्वितोक्तिरयुक्ता स्यादित्यतः प्रमाणेनैव पृथग्दृश इति पदं व्याचष्टे॥ भगवद्दर्शनादिति। यस्य दर्शनं ज्ञानं भगवद्दर्शनात्पृथक् स एव पृथग्दृष्टिरिति ज्ञेयं न तु सद्भेददर्शन पृथग्दृष्टिरिति ज्ञेयम् इति योजना। ननु सद्भेददर्शनस्यापि दर्शनं भगवद्दर्शनात्पृथगेव। अन्यथाऽपसिद्धांतः स्यादतः कथं सद्भेददर्शनो न पृथग्दृष्टिरित्युच्यत इत्यत उक्तम् ॥ विरोधादिति। विरोधात्पृथगुच्यत इत्यन्वयः। अत्र भगवद्दर्शनापृथक्त्वं नाम भिन्नत्वं न विवक्षितं किंतु भगवद्दर्शनविरुद्धत्वमेव। तच्च सद्भेददर्शनज्ञानस्य नास्त्यतः सद्भेददर्शनो न पृथग्दृष्टिरित्युक्तं

युक्तमेवेति भावः। ननु सद्भेददर्शन इति सद्भेदज्ञानिनः पृथग्दृष्टित्वाभाव उक्तः। तत्र सद्भेदः क इत्यतः प्रमाणेनैव सद्भेदं दर्शयंस्तत्प्रसंगादसद्भेददर्शनं च दर्शयंस्तज्ज्ञानाज्ञानफलं च दर्शयति ॥ स्वरूपभेदो हीत्यादिना। हीति स्वोक्तार्थे प्रमाणं दर्शयति। यः शास्त्रदर्शितः परजीवयोः स्वरूपभेदो मिथः परजीवगः परस्परवस्तूनां विशेषः सोऽयं सद्भेदः समुद्दिष्ट इति योजना। शत्रुमित्रादिभेदिता विष्णोरित्यनुवर्तते। लोकवद्विष्णोः स्वनिष्ठदोषगुणाभ्यां लोकं प्रति शत्रुत्वमित्रत्वादिभेदवत्त्वं शास्त्रविद्दिष्टं शास्त्रेण वेदादिना विशेषेण द्विष्टं द्वेषि। विरुद्धमिति यावत्। इतरादसद्भेददर्शनादित्यर्थः ॥ २७ ॥

इति श्रीभागवततात्पर्यटिप्पण्यां पंचमोऽध्यायः ॥ १०-५ ॥ (अस्मत्पक्षे चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भ्रातुः कंसस्य वचनं भुवि भौमानीत्यादिवचनमाश्रित्य क्षान्त्वासमाधानं प्राप्य देवकी वसुदेवश्च तद्वचनमाश्रित्य रोषं व्यसृजत्। अनन्तरं प्रहस्य तं प्रत्युवाच। अविश्वसनीयोऽयमिति ह शोके ॥ २५ ॥ एवमेतन्महाराजेति श्लोके यतोऽज्ञानप्रभवाऽज्ञानजाता पर इति स्व इति च भिदा भेदज्ञानं देहिनां हन्ति देहिनोऽनर्थं दत्वा नाशयतीति यद्वदसि तत्तथैवेति कंसशंसितमनुमेने वसुदेव इत्यपार्थं ब्रह्माण्डवचनोक्तप्रकारेण किञ्चिदव्याहृत्य ते तदज्ञानप्रभवा इति द्वितीयाबहुवचनं सदन्वेतीति वदंस्तं पराकरोति ॥ देहिनामिति। स्वपरेति भिदा कर्त्री तज्ज्ञानमिति यावत् देहाभिमानवतामज्ञानप्रभवा यातनाः प्राप्य तीव्रवेदना हन्ति। देवो देवोऽहं मानुषोऽहं मानुष इति विशेषं वैपरीत्येन वा तत्रापि विशेषं तरतमभावरूपम्। तथैवात्मानं सर्वस्वामिनं परं सर्वोत्तमं ब्रह्मजीवयोश्चतुर्मुखतदितरजीवयोः परमात्मानं पश्येत् ब्रह्मजीवयोः परमात्मजीवयोरिति वा। सम्यग्भेदेन। विशेषमित्येवोक्तौ भेदाभावेऽपि विशेषस्तत्प्रतिनिधिरङ्गीकृतो भगवद्रूपगुणादाविति तमादाय पुनरुक्तशङ्कोत्तेजनं स्यादिति सम्यग्भेदेनेत्युक्तिः। यः पश्येत्सोऽज्ञानसम्भवा यातना हन्ति तत्प्रसादादेवं ज्ञातभगवत्प्रसादात्। न केवलं यातनाघातोऽपि तु परमात्मानं गच्छति प्राप्नोति ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ परमात्मा न विपर्येति पुत्रादिकं विपर्येति मा शुच इत्यादि देहिनामज्ञानप्रभवा यातनाः स्वपरेति भिदा भेदमतिर्यता हन्ति ततो यथा वदसि त्वमेवमेतदिति योजना ॥ २६ ॥ शोकेति श्लोके पृथग्दृश इति भेददृशो निन्दनात्कथं तदभिनन्दनमित्यतः प्रमाणेनैव पृथक् पदं व्याचष्टे ॥ भगवद्दर्शनादिति। यस्य भगवद्दर्शनाद्विरोधद्वैपरीत्याद्दर्शनं तदेव पृथग्दर्शनं तद्वान्पृथग्दृष्टिरिति विज्ञेयः संश्चासौ भेदश्च तं पश्यतीति स वा सद्भेददर्शनं यस्य स वा न पृथग्दृष्टिर्विज्ञेय इत्यर्थः। स च सद्भेदः किमन्तर्भेदोऽसंश्च भेदः कतिविधः। तयोः फलं च किमित्यतः प्रसङ्गप्राप्तमिदं सर्वं मानेनाह ॥ स्वरूपभेद इति। परजीवयोः परमात्मनो जीवसर्गस्य च तथा मिथो जीवगः परस्परेण वस्तूनां विशेषो मानमपि स्वं जीवेश्वरभिदा चैवेत्यादिमूलसहितमाह ॥ शास्त्रदर्शितो विशेष इति। अयं सद्भेदः समुद्दिष्टो मे मत्तः शृणु स्वरूपाणां मत्स्यादीनां गुणानां ज्ञानादीनां विष्णोश्च भेदस्तथा परस्परादृपस्यावतारूपस्यावतारान्तरेति परस्परादभेदो सन्विष्णवतन्त्रत्वं अ विष्णवधीनस्त्वं विष्णोः शत्रुमित्रादिभेदता शत्रुरयमिदं मित्रमिति भेदवता। भेदितेति प्रचुरपाठ उभयत्राप्यर्थः समः। शास्त्रविद्दिष्टं शास्त्र भेदादिकं तेन वि उपक्रमाद्यानुकूल्यविशेषाद्द्विष्टं द्वेषवन्निषिद्धं यच्चान्यत्सोऽसद्भेद ईरित इत्यन्वयः। सद्भेददर्शनान्मोक्षो भविष्यति। न केवलमसद्भेदाज्ज्ञाता तमो व्रजेत्किन्तु सद्भेदादर्शनाच्च तमो व्रजेत्। इतरात्स्वरूपाणामित्यादिना निरूपितासद्भेददर्शनं तेन गम्यत इति कर्मणि क्विपि वा। तेन अतनं यस्येति भावे सम्पदादिक्विपि वा रूपं मोक्षविशेषणम्। इतरस्मादिति वक्तव्यमिति शङ्काऽनेन निरस्तेति ज्ञेयम्। कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमिति द्वित्वे परेण परेणेत्यादित्वेन स्थितौ पूर्वपदस्थटादेः सुप्त्वेऽस्य विसर्जनीये कुत्वोः कः पौ चेति अपवादेन कस्कादित्वे परस्परेणेत्यादिसिद्धिर्ज्ञेया। दलद्वये टाबभावः क्लीबादड्विरहः स्वमोः समासे सोरलुक्चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम्। अदृष्टपरस्परैरित्यादौ सोर्लुक्च प्राप्तः सर्वं बाहुलकबलेन समाधेयम्। स्त्रियामिति सूत्रेऽन्योन्यसंश्रयत्वे तदिति भाष्यं च तत्र प्रमाणमिति कौमुद्युक्तेः। परस्परामर्पितहस्ततालं तात्कालमालीभिरहस्य तालम्। परस्परेण छुरितामलच्छवीति तृतीयसर्गे नैषधप्रथमसर्गमाघाद्युक्तेः परस्परात्परस्परेणेत्युपपन्नेति ज्ञेयम्। शोकादिभिर्युता मिथः परस्परं घ्नतः संहरन्तः पृथग्दृशो भगवद्दर्शनविरोधिदर्शनवन्तो भावैर्ब्रह्मत्वदेवत्वप्रकारैर्भावांस्तद्युक्तान्धर्मिणस्तथा न पश्यन्ति न जानते ये न पश्यन्ति तेऽपृथग्दृश इत्यन्वयो वा ॥ २७ ॥ प्रतिभाषित एवमेतन्महाराजेत्यारभ्य पृथग्दृशेत्यन्तेनोत्तरितार्थः कंस एवं प्रसन्नाभ्यां वसुदेवदेवकीभ्यामनुज्ञात आज्ञप्तो विश्रब्धो गृहमाविशत् ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

प्रसादे प्रार्थिते ताभ्यां प्रसादः कृत इत्याह **भ्रातुरिति सम्यगनुतप्तस्य** पश्चात्तापेन तप्तस्य तत्रापि **भ्रातुः** सम्बन्धि**रोषं क्षान्त्वा** क्षमित्वा, **क्षान्तरोषा** वा, तत्कृतं पूर्वापराधं **व्यसृजद् रोषं** वा, पाठभेदात् तदीयो **रोषः** सोढः स्वकीयं तु त्यक्तवती, कृतकार्यस्य तद्रोषस्य **सहनं**, अकृतकार्यस्य स्वकीयस्य **परित्यागः**, एवं **वसुदेवश्च**, चकारादन्येपि, रोषमपराधं च क्षान्त्वा, यतो **देवकी** देवतारूपा, वसुदेवोपि तथा तस्यास्तु शोकाभावो मुखप्रसादेनैव ज्ञातः, वसुदेवस्तु गूढहृदय इति कदाचिदप्रसन्नो भवेदित्याशङ्क्य हास्यं वचनं चाह **प्रहस्य तमुवाचेति**, हेत्याश्चर्यं पुत्रमारकस्त्वसंभाष्य इति ॥ २५ ॥

तदुक्तं ज्ञानं तस्यैव हृदयारूढं भवत्विति तस्यानुमोदनं करोत्येवमेतदिति **महाराजेति**सम्बोधनं मारणस्यादोषज्ञापनार्थं यत् त्वमात्थैव**मेतत्**, तन्निष्पिण्डितमनुवदति **देहिनामज्ञानप्रभवाहन्धीरिति**, देहादावहम्बुद्धिरज्ञानादेव जायते, तस्मात् **स्वपरेतिभिदा**

स्वः पर इति, एतन्मूलक एव सर्वोपि व्यवहारः, देहिनामिति देहाध्यासवतां, अहङ्कारस्याज्ञानजनितत्वे देहाध्यासः प्रयोजक इत्यधिकारत्वेन निरूपितः, अन्यथा ज्ञानमहम्बुद्धिः, तदज्ञानकृतं, अन्यथा स्वरूपे भासमाने अन्यत्र भायात् ॥ २६ ॥

एवं तदुक्तं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकोपयोगित्वेन निरूप्य स्वसिद्धान्तसिद्धं ज्ञानं कृपयोपदिशति शोकेति, अत्र वस्तुतः स्वयं न मारयतीतिसत्यं, अस्वतन्त्रत्वात्, किन्तु केनचित् प्रेरितो मारयति, इतोपि मुख्यः सिद्धान्तो भगवानेव सर्वत्र प्रविष्टो मारयतीतिशास्त्रं, तस्य ज्ञाने जीवानां षड् धर्मा बाधका भगवत्प्रतिपक्षाः, शोक ऐश्वर्यस्य, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः तत्कृतेर्थे कथं शोकः ? अन्यथा, अपेक्षितं स्वांशानामन्यो न नाशयेत्, हर्षश्च प्राप्तौ भवति, तद् भगवतो वीर्ये कालरूपे ज्ञाते न भवेत्, भयं च न भवेद् यदि भगवतो यशो जानीयात्, स ह्ययुक्तं न करिष्यति, अन्यथा यशो न स्यात्, द्वेषश्च न भवेल् लोभश्च यदि भगवदीयां श्रियं जानीयात्, द्वेषश्च स्त्रीकृतो भवति लोभश्च धनकृतः, तदुभयं भगवत एवेति न स्वस्य तथा कर्तुमुचितं ज्ञाने भगवदीये ज्ञाते मोहाभावः प्रसिद्धः, मदस्तु वैराग्याभावात्, सर्वथैवाविरक्तो मत्तो भवति, अतोन्योन्यं मारयन्तमपि जना न पश्यन्ति, अन्यथैक एव घातकः स्यात्, नन्वैकात्म्ये कथं वध्यघातकभावो भगवच्छास्त्रे उपपद्यत इति चेत् तत्राह भावैर्भावमिति, भवन्तीति भावा धर्माः, बाधकैर्धर्मैर्बाध्या धर्मा एवापोह्यन्ते न तु धर्मी, ये हि भवन्ति ते नश्यन्तीति, यथैकस्मिन् वस्त्रे शुक्लादयो धर्मा रञ्जकद्रव्यसम्बन्धादुत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परं बलीयस्त्वं नियामकं, यद्बाधार्थमेव यस्मिन् भावे भगवान् निविशति स तं भावं दूरीकरोतीति भवदादीनां करणत्वमेव न तु कर्तृत्वं, न हि करणं क्वचिदुपालभ्यते स्तूयते वा, अदर्शने हेतुः पृथग्दृश इति, करणे सम्बद्ध एव कर्ता करणाच् चेत् पृथग् ज्ञायते करणं वा ततस्तदैवम्बुद्धिर्भवति न तु सर्वत्राविष्टं भगवन्तं ज्ञातवतः, अतो मत्पुत्रा अपि भगवतैव मारितास्त्वमपि मारणीय इति त्वयापि शोको न कर्तव्य इति भावः ॥ २७ ॥

एवं मायाकृतं ज्ञापनं सकार्यं निरूप्योपसंहरति कंस इति, एवं प्रसन्नाभ्यां स्वसिद्धान्तकथनेन सम्यक् प्रसादो लक्षितः, विशुद्धं परिभाषित इति, राजन्निति सम्बोधनेन तदुक्तानुवादेन च निरूपितौ, एकस्यैव वचनं निरूपितमिति देवक्या अप्रसादशङ्कां वारयितुमुभयोर्ग्रहणं, अतस्ताभ्यामनुज्ञातः प्रतीकारमकृत्वा गृहमेवाविशत् ॥ २८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

एवमेतदित्यत्रान्यथेति, एतस्यैव व्याख्यानं स्वरूप इत्यादि ॥ २६ ॥ शोकहर्षेत्यत्र तस्य ज्ञान इति, सिद्धान्तशास्त्रस्य ज्ञाने, शोकस्यैश्वर्यप्रतिपक्षत्वं व्युत्पादयन्ति स हीत्यादि, तथा च स हि ज्ञात्वैव करोतीति तदज्ञानादेव शोकः, भगवद्विचारात् प्रकारान्तरेण यदपेक्षितं स्वांशानां जीवानां तदन्यो न नाशयेत् सामर्थ्याभावाद् दण्डप्राप्तेश्च, किन्तु भगवानेव नाशयतीतिज्ञानाजननादैश्वर्यविरुद्धः शोक इत्यर्थः, हर्षभययोर्वीर्यप्रतिपक्षत्वं व्युत्पादयन्ति हर्षश्चेत्यादि, तथा च हर्षभये वीर्यविरुद्धे, द्वेषस्य यशोविरुद्धत्वं व्युत्पादयन्ति यदीत्यादि, यशसो ज्ञाने लोभस्य श्रियः प्रतिपक्षत्वमाहुर्लोभश्चेत्यादि, न भवेदिति शेषः, तत्र हेतुमाहुर्द्वेषश्चेत्यादि, तथेति लोभद्वेषादिकं, मोहस्य ज्ञानप्रतिपक्षत्वमाहुर्ज्ञान इत्यादि, तथा च वध्यत्वात् प्रतिपक्ष इत्यर्थः, अत इति, शोकाद्युत्पत्तिसद्भावात्, अन्यथेति, यदि पश्येयुः, एवञ्च नोपलभ्यतेतो जना न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥ अग्रिमे निरूपिताविति, प्रसन्नाविति शेषः ॥ २८ ॥

(३) श्रीवल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवमेतदित्यस्याभासे तस्यैवेति, तदुक्तमतस्यासुरत्वात् स्वस्य हृदये मायात्विति वसुदेवाशयं सूचयितुमेवकारः ॥ २६ ॥ शोकहर्षेत्यत्रान्यथैक एवेति, घातको ज्ञात इति शेषः, मारयितुर्भगवतो दर्शने स एव घातको ज्ञातो भवेदित्यर्थः, भावैर्भावमित्यत्र करणे सम्बद्ध एवेति, करण इन्द्रियादौ सम्बद्धो जीव एव कर्ता भवति भगवांस्तु करणात् पृथक् करणासम्बद्ध इति चेज् ज्ञायते तदा जीव एव कर्ता न भगवानितिबुद्धिर्भवतीत्यर्थः, करणं वेति, करणं ततो भगवतः पृथग् भगवन्निरूपितसम्बन्धयुक्तं नेत्यर्थः ॥२७॥ कंस इत्यत्र निरूपिताविति, विशुद्धप्रसादौ निरूपितावित्यर्थः ॥ २८ ॥

बुभुत्सुबोधिका

भ्रातुरित्यत्र प्रसाद इति स्नेहेन परिचर्याफलं प्रसादः । 'यद्वृत्त्या तुष्यते हरि'रितिवाक्यात् । 'जातो भवे'दिति पूर्वसुबोधिन्यां 'जात' इत्यत्र सुबुत्पत्त्यै क्रियापदस्य विवक्षणात् प्रार्थनायां लिङतः प्रार्थिते । 'क्षान्त्वा रोषे'त्यत्र 'क्षान्त्वा रोष'मिति पाठं मत्वाहुः रोषं क्षान्त्वा क्षमित्वेति । क्षमूष् सहने । भ्वा० आ० सेड्वा । तस्य रूपमिति द्योतितं व्याख्यानेन । क्त्वोविचारे विशेषो नात्र । तेन नात्र क्षनू बन्धे इत्यस्य तनादेरुदितः सेटो रूपमिति बन्धित्वा बध्वेति वा व्याख्यानं छान्दसमिडभावं कृत्वा न भवतीति भावः । पाठभेदादिति 'क्षान्त्वा रोष'मिति पाठभेदात् । 'रोषं क्षान्त्वे'ति वा पाठः । अतो रोषं वा व्यसृजदित्यत्र कर्म । सोढ इति क्षान्तः सोढो रोषः पूर्वापराधो यया । तथा स्वकीयं रोषं तु व्यसृजत् त्यक्तवतीत्यर्थः । कृतकार्यस्येति कृतं कार्यं मायाहननं येन कंसरोषेण तस्य । अकृतेति न कृतं कार्यं ब्रह्मविद्यया येन स्वकीयेन रोषेण तस्य । गूढहृदय इति गूढं प्रसादज्ञापने गुप्तं हृदयं ह्रद्यस्येति तथोक्तः ॥ २५ ॥

एवमेतदित्यत्र तस्यैवेति मायाप्रधानकंसस्य। एवकारो ब्राह्मयोगव्यवच्छेदकः, न तु ब्राह्मस्येति। अज्ञानादिति देहादि-प्रविविक्तात्माज्ञानात्। एवकारो ज्ञानयोगव्यवच्छेदकः। मायामुक्त्वा तत्सृष्टिं भेदरूपामाहुः तस्मात् स्वपरेति। देहाध्यासेति देहोह-मित्यध्यासवताम्। संयोगः सम्बन्धो देहिनामित्यत्र। अहङ्कारस्येति अहं देहोहं स्थूल इत्यहङ्कारस्यात्मानात्माविवेकरूपाज्ञानजनितत्वे देहाध्यासः प्रयोजक इति देहाध्यासी अहङ्कारीति अधिकारत्वेनाध्यासो 'यत' इतिपदेन मूले निरूपितः। न च यतः अहंधियः स्वपरेति भिदेति योजनया न पूर्वोक्तमिति वाच्यम्। अहंधियः स्वपरभिदारूपमायाकारणत्वाभावात्। एवं चाज्ञानप्रभवा, यतोध्यासात् प्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यस्याम्। अहंधीरित्यत्राहं स्वं विषयः तत्सम्बन्धिपरोपि विषयः स्वं पर इति भिदा स्वनिष्ठा परनिष्ठा चेति सापि विषयः। तथा च यत इत्यस्याध्यासादित्यर्थः। तथा सत्यन्वयमाहुः अन्यथेति। अज्ञानप्रभवा पुनर्देहाध्यासात् प्रयोजककारणाच्चाहंधीरित्यर्थः। तदिति अन्यथाज्ञानम्, अज्ञानं माया तत्कृतम्। 'अज्ञानप्रभवे'तिपदस्यार्थः। अन्यथेति स्वरूपे स्थौल्येन देहोहमिति प्रत्ययेऽस्मदर्थे भासमाने। अन्यत्र भावः स्थौल्यस्येति बोध्यम्। अन्यत्र भावादिति पाठः। अन्यत्र मायादिति पाठान्तरम्। अन्यत्र आत्मनि स्थौल्यं मायादित्यर्थः। 'यत' इत्यस्याहंधियः अहं स्थूल इत्यध्यासरूपाया इत्यर्थः। यद्यप्यहंधीरि-त्यत्राहं स्थूल इत्यप्रत्ययः अहंधीरित्यस्य तु नाध्यासरूपत्वम्। अस्मदर्थस्य धियाऽभेदात् 'ज्ञानमात्रपरं ब्रह्मे'त्युक्तेः। धीरपि मनोवृत्तिः 'स मानसी न आत्मे'ति मनोवृत्तिरात्मापि, तथापि धर्मज्ञानस्य धर्मिज्ञानेध्यास एव ॥ २६ ॥

शोकहर्षेत्यत्र तदुक्तमिति कंसोक्तम्। नित्यानित्येति नित्य आत्माऽनित्यो देहः। यथा 'भुवि भौमानी'त्यनेनाविकृत आत्मा भूर्विकृता नित्याऽनित्या च। कृपयेति साधुत्वदीनवत्सलत्वाभ्यां कृपा। 'साधवो दीनवत्सला' इतिवाक्यात्। न मारयतीति 'यावद्धतोस्मि हन्तास्मी'तिवाक्ये। स्वसिद्धान्तं स्वीयवेदान्तसिद्धान्तमाह किन्तु केनेति। अन्तर्यामिणा अन्तरो यमयतीत्यन्तर्यामि-ब्राह्मणात्। प्रविष्ट इति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दितिश्रुतेः। मारयतीति 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा'दित्यधिकरणे 'जीवीयकर्तृत्वं परा'दित्युक्तत्वात्। शास्त्रं भाष्यं वेदान्तं वा। बाधका इति भगवतो ज्ञानं धर्मैस्तादृशाज्ञानरूपधर्माणां तामसत्वान् मायाकृतधर्माः बाधकाः आवरकाः। 'परोपि मनुतेनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यत' इतिवाक्यात्। भगवदिति ज्ञानप्रतिपक्षाः अज्ञानरूपाः। स हीति ईश्वरो हि। तत्कृतेर्थे जीवेंशतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सामर्थ्यस्य सत्त्वात् साक्षात्सृष्टौ। कथं शोक इति जगत आनन्दत्वेन शोकाभावः। आनन्दावरकत्वेनानन्दाभावः शोकः कथमिति प्रश्नः। मायासत्त्वात् स्वरूपे शोकाभावेपि जीवे शोकः 'मायां च तदपाश्रयां यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकं परोपि मनुत' इति प्रश्न एव शास्त्रपरिसमाप्तिः। परन्तु समाधिभाषावासनावतां पुंसाम्। परस्य जीवस्य मायासम्बन्धं तत्कृतं शोकं चाह। शरीरसम्बन्धे मायाशरीरसम्बन्धानन्तरं शोको मायागुणः। आनन्दरूपे जगति शोके युक्तिमाहुः अन्यथेति। शोकाभावे अन्यथापेक्षितं भगवद्विचारात् प्रकारान्तरेण यदपेक्षितं शोकजनकं नाशप्रतियोगि स्वांशानां जीवानां तत् अन्यो भगवदंशः परः न नाशयेत्। आनन्दजनकस्य नाशयोग्यत्वाभावात् प्रतियोगित्वाभावात्। अन्यस्य सामर्थ्याभावात्। दण्डप्राप्तेश्च भगवानेव नाशयतीति ज्ञानाभावादैश्वर्यविरुद्धः शोक इत्यर्थः। हर्षभययोः वीर्यविरुद्धत्वं व्युत्पादयन्ति स्म हर्षश्चे'त्यादि। कालरूपवीर्यकृते स्वांशानामपेक्षितनाशेर्थे कथं हर्षो भयं चेति प्रश्नः पूर्ववत्। तदिति अव्ययम्। हर्षः। न भवेदिति पाठः। भगवतो वीर्यं कालः प्राप्तिविरुद्धः इति ज्ञाते प्राप्तिजन्यो हर्षो न भवेदित्यर्थः। भयविरुद्धवीर्यरूपकालश्चेद् भयं न भवेदित्यर्थः। द्वेषस्य यशोविरुद्धत्वं व्युत्पादयन्ति स्म न भवेदिति। तत्कृतेर्थे यशोविरुद्धो द्वेषश्च न भवेदित्यर्थः। द्वेषशब्दो मूर्धन्यान्तः। यथा स्त्र्युपाधिको दोषस्तथा धनोपाधिको लोभ इत्याहुः द्वेषश्चे'ति। तदुभयमिति 'कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यान्तं फलोदया'दित्युक्त्वा 'लोभस्यान्तं न विद्यत' इति सप्तमस्कन्धात्। त्रित्वसामर्थ्येन स्वरूपलक्षणगतेन भगवत एव। एवकारव्याव-र्त्यमाहुः न स्वस्येति। वसुदेवस्य मायाया वा। भगवता तथा कर्तुमुचितम्। द्वेषस्यापकारित्वात् लोभस्य भक्तिविरोधात्। प्रसिद्ध इति ज्ञानस्य भगवद्धर्मत्वात् मोहस्य मायाधर्मत्वात् प्रसिद्धः। ज्ञानस्य तमोनाशकत्वात्। ज्ञानविरुद्धो मोहः। मदस्त्विति वैराग्य-विरुद्धो मद इति भावः। अत इति साधनाभावात्। मारयन्तमिति भगवन्तं न पश्यन्ति। अन्यथेति यदि पश्येयुः। एको भगवान् घातकः ज्ञातः स्यात्। भगवच्छास्त्र इति श्रीभागवते वेदान्ते वा। 'भावैर्भाव'मित्यस्य 'भावैः' कंसवाश्यादिभिर्विषयैर्मिथो घ्नन्तं 'भावं' भगवन्तमविषयं न पश्यन्ति चक्षुरादिकरणस्य भावेपूपक्षयात्। न पश्यन्तीत्यन्वयेपि भावानां बाधकानां करणत्वं बाध्ये भगवद्रूपे भावेऽभावाद् बाध्याकाङ्क्षायामाहुः बाध्या इति। एवकारव्यावर्त्यमाहुः न तु धर्मीति। 'भाव'मितिपदेनोक्तो भावः। कुत इत्यत आहुः ये हीति। बलीयस्त्वमिति उत्पादने विलये च, बलहीनास्तु नोत्पद्यन्ते, न विलीयन्ते च, तत्तत्सत्तावत्। वक्ष्यमाणस्य करणे सम्बन्धस्य वक्तुं बाध्यं भावं धर्मिणो भावात् पृथक्कर्तुं क्रीडेच्छया प्रवेशमाहुः यद्बाधार्थमिति। एवकारोत्राबाध्ययोगं व्यवच्छिनत्ति। भाव इति बाधके भावे। निविशतीति अनुदात्ते तामात्मनेपदानित्यत्वम्। स तमिति स भगवान् निविष्टद्वारा तं बाध्यम्। भवदादीनामिति कंसादीनाम्। आदिना वाश्यादि। करणमिति कंसवाश्यादि। उपालभ्यते स्तूयते वेति त्वं कुण्ठितधारं त्वं तीक्ष्णधारम् इति। कुण्ठितधारं तीक्ष्णधारमिति तूपालभ्यते स्तूयते च। सम्बन्ध एवेति पाठे दृशा करणे कंसवाश्यादौ सम्बन्धो न त्वेकात्मनि। सम्बद्ध इति पाठे कर्तेत्यनेन सम्बध्यते। कर्तेति आत्मा देवदत्तादिश्च। करणं वेति करणं वा कर्तुः पृथक् ज्ञायत इत्यर्थः। तत इत्यादि तदनन्तरम्। एवंबुद्धिरिति वध्यघातकभावबुद्धिः। त्वमिति कंसः। न कर्तव्य इति अस्मद्वत् ॥ २७ ॥

कंस एवमित्यत्र सकार्यमिति कंसवसुदेवज्ञानसहितम्। 'परिभाषित' इत्यत्र परिशब्दार्थमाहुः राजन्निति। 'एवमेतन् महाभागे'त्यत्र 'महाराजे'ति सुबोधिनीपाठाद् राजसभावस्य ज्ञानकथनेन गतत्वान् महत्पदरहितं सम्बोधनमुक्तम्। 'एवमेत'दिति कंसकृतानुवादस्तेन निरूपितौ विशुद्धिप्रसादौ निरूपितौ, प्रसन्नौ कंसवसुदेवौ निरूपिताविति या। 'प्रतिभाषित' इतिपाठे प्रतिनिधिज्ञानेन भाषित इत्यर्थः। देवकीवसुदेवाभ्यामित्यस्य तात्पर्यमाहुः एकस्येति। वसुदेवस्यैव एवकारो देवकीयोगव्यवच्छेदकः। प्रतीकाररूपकर्मणोनुक्तौ न्यूनं पूरयन्ति स्म प्रतीकारमकृत्वेति गृहातिरिक्तकर्मयोगव्यवच्छेदार्थक एवकारः ॥ २८ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **'प्रसादे प्रार्थिते ताभ्यां प्रसादः कृत इत्याह'** श्रीवसुदेव और देवकीजी की प्रसन्नता की कामना और क्षमा की भी याचना करने पर देवकी वसुदेव ने प्रसन्नता व्यक्त की यह **'भ्रातुः समनुतप्तस्य'** श्लोक में कहा जायगा। अब राजा कंस पश्चाताप से तप्त हो रहा है, उस पर भी वह निज भ्राता है इस दृष्टि से श्रीदेवकीजी ने कंस के किये रोष या क्रोध को क्षमा कर उसके पूर्वापराध को छोड़ दिया, अपने हृदय से उसके प्रति रोष व अपराध को निकाल दिया।

आचार्यचरण कहते हैं कि इस श्लोक में पाठभेद है **'क्षान्त्वारोषं'** व **'क्षान्तरोषा'** ऐसे ऐसे दो पाठ मिलते हैं अतः क्षान्तरोष पद का अर्थ यह भी होगा कि देवकीजी ने कंस के रोष को सहन किया, और अपने रोष का त्याग किया, यह अर्थ पाठान्तर के अनुसार है। कंस का रोष तो बालहत्या रूप कार्य को कर चुका था, अभी श्री देवकीजी के रोष ने शाप प्रदान या कटु शब्द आदि कुछ नहीं किया था। उस अपने रोष का श्रीदेवकीजी ने त्याग दिया। इसी तरह श्रीवसुदेवजी ने 'च' कार से अन्य सम्बन्धियों ने भी उसके रोष व अपराध को सहन किया, क्योंकि देवकी देवता रूप है, और वसुदेव भी देव रूप ही है। देवकी को शोक नहीं रहा यह तो देवकी के मुख की प्रसन्नता से ही ज्ञात हो गया, परन्तु वसुदेव का हृदय गूढ़ है, अतः वह कदाचित् अप्रसन्न हो, इस आशङ्का के निवारणार्थ उनके हास्य व वचन को कहा गया है कि **'प्रहस्य तमुवाच'** वह हँसकर कंस से बोले। 'ह' शब्द आश्चर्यसूचक है, क्योंकि पुत्रमारक तो सम्भाषण योग्य नहीं होता ॥ २५ ॥

श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में **'तदुक्तं ज्ञानं तस्यैव हृदयारूढं भवत्विति तस्यानुमोदनं करोति'** कंस का कहा हुआ ज्ञान कंस के ही हृदय में आरूढ़ रहे, उसका आसुर सिद्धान्त अपने हृदय में न आ जाय, इस दृष्टि से श्रीवसुदेवजी **'एवमेतन्महाराज'** इस श्लोक के वाक्यों से कंस का अनुमोदन या मनःसमाधान करते हैं। श्रीवसुदेवजी का राजा कंस के प्रति किया गया 'महाराज' सम्बोधन, मारने के दोष का अभाव सूचित करने के लिये है, जो आप कहते हैं, यह ऐसे ही है, उसके कथन का गोल अर्थ में अनुवाद करते हैं कि देहाभिमानियों के अज्ञानजनित देहादि में अहंबुद्धि होती है, उससे अपने पराये का भेद होता है, इस भेद के कारण से, सारा व्यवहार है। **'देहिनाम्'** पद से बतलाया गया है कि देहाध्यासवान् लोगों का भेदबुद्धि में अधिकार है, उनको ही भेदबुद्धि होती है, अहङ्कार के अज्ञानजनित होने में देहाध्यास ही प्रयोजक या हेतु होता है, अतः अध्यास का अधिकार रूप से निरूपण उक्त पद द्वारा किया गया है। अहम्बुद्धि या अहङ्कार अन्यथा ज्ञान है, अन्यथा ज्ञान अज्ञान से होता है, यदि अज्ञान नहीं तो वास्तव में स्वरूप का भान होते हुए अन्य का भान नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में **'एवं तदुक्तं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकोपयोगित्वेन' 'निरूप्य स्वसिद्धान्तसिद्धं ज्ञानं कृपयोपदिशति'** इस प्रकार कंस कथित ज्ञान का, नित्य, अनित्य, वस्तुओं के विवेक में उपयुक्त होने से निरूपण करके श्रीवसुदेवजी स्वसिद्धान्तसिद्ध ज्ञान का उपदेश कृपावश **'शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः'** श्लोक के पदों से करते हैं।

यहाँ कंसोक्ति में जो कहा गया था कि आत्मा स्वयं नहीं मारता है, यह तो सत्य ही है, क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं, परन्तु किसी की प्रेरणा से प्रेरित वह मारता है, इससे भी उत्तम मुख्य सिद्धान्त यह है कि सर्वत्र प्रविष्ट हुए भगवान् ही मारते हैं, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त शास्त्र के ज्ञान होने में जीवों के ६ षड् धर्म बाधक है। वह शोक-हर्ष भय-द्वेष-लोभ-मोह-मद, आदि जीव धर्म भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्मों के प्रतिकूल होते हैं। (१) शोक ऐश्वर्य के प्रतिकूल है, क्योंकि भगवान् सब कुछ करने को, व सब कुछ न होने देने को व सब कुछ बदल देने को समर्थ हैं। भगवान् के किए हुए में कैसे शोक उचित हो सकता है, भगवान् के विचार से अन्यथा जो भगवदंश जीवों को अपेक्षित होता है, उस अन्यथा अपेक्षित विषय का नाश कोई अन्य तो कर नहीं सकता, भगवान् ही उसका नाश करते हैं, परन्तु शोक भगवत्कृति के ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता है अतः वह शोक भगवदैश्वर्य से विरुद्ध है। (२) हर्ष तो अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति होने पर होता है, यदि भगवान् के कालस्वरूप वीर्य का ज्ञान हो कि अपेक्षित के लाभालाभ तो कामाधीन है तो हर्ष नहीं हो सकता, अतः हर्ष भगवद्वीर्य विरुद्ध है। भगवान् में वीर्य है,

वे सभी विपत्तियों को मिटा सकते हैं, यदि ऐसा जान लें तब तो किसी से भय की सम्भावना ही नहीं है लेकिन जीव में भगवान् के वीर्य के विरुद्ध भय है इसलिये समझा जाता है कि वह भगवान् के वीर्य को नहीं जानता। इस प्रकार श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज ने भय को वीर्य के विरुद्ध और द्वेष को यश के विरुद्ध कहा है। (३) यदि भगवान् के यश का ज्ञान हो तो भय नहीं हो सकता, क्योंकि भय किसी के अनुचित व्यवहार से होता है जब भगवद्यश का ज्ञान हो कि भगवान् अनुचित नहीं करेंगे। वह तो उचित ही करते हैं, अन्यथा उनका यश समस्त जगत् में न होता, तब भय कहाँ रह सकता है।

(४) द्वेष तथा लोभ भी, भगवान् की श्री का यदि ज्ञान हो जाय तो नहीं हो सकते हैं। द्वेष स्त्री के कारण होता है, और लोभ धन के कारण होता है, वह स्त्री व धन तो भगवान् के ही हैं, अतः अपने को द्वेष या लोभ करना उचित नहीं। (५) मोह का नाश तो भगवद्धर्म ज्ञान के ज्ञात हो जाने पर तो प्रसिद्ध ही है। (६) मद तो वैराग्य के अभाव से होता है, सर्वथा ही वैराग्यरहित जन मदयुक्त होता है।

अतः शोकादि के उत्पन्न होने से लोग, परस्पर एक को अन्य से मरवाने वाले भी उस भगवान् को नहीं देखते हैं, अन्यथा यदि देख ले तो एक ही मारने वाला ज्ञात हो जाय।

जब कि एक ही आत्मतत्त्व है, तो भगवत्सम्बन्धो शास्त्र में एक का वध्य व अन्य का घातक होना कैसे सह्य हो सकता है ? इस शङ्का पर कहा है कि **'भावैर्भाव'**मित्यादि। भाव शब्द **'भवन्तीतिभावाः'** इस निरुक्ति से धर्म का वाचक है। बाधक धर्मों से बाध्य धर्मों को ही हटाया जाता है, धर्म तो नहीं हटाया जाता है, क्योंकि जो होते हैं वे ही नष्ट भी होते हैं, जैसे एक वस्त्र पर शुक्ल, पीत आदि धर्मरूप वर्ण रङ्ग के द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं व विलीन भी होते हैं, परन्तु जो रङ्ग या धर्म अधिक बलवान् होता है, वह अन्य धर्मों को दबा देता है, अतः जिसका नाश करने को ही भगवान् जिस भाव में निविष्ट होते हैं, वह भगवन्निविष्ट भाव उस नाशनीय भाव को दूर कर देता है, अतः आप लोग तो मारण में निमित्तमात्र ही है, कर्त्ता नहीं है, कहीं पर भी उपालम्भ या स्तुति बुराई या भलाई निमित्त या साधन भी नहीं की जाती, सर्वकर्ता भगवान् के न देखने में, कारण तो लोगों का पृथग्दर्शी होना है, अतः कहा है **'पृथग्दृशः'** करण या साधन में सम्बन्ध वाला कर्त्ता ही यदि उस कारण या साधन से पृथक् समझा जाता है, अथवा वह साधन कर्त्ता से पृथक् समझा जाता है, तो ही अन्य को अन्य मारता है, ऐसी भेदबुद्धि होती है। परन्तु जो सर्वत्र निविष्ट भगवान् को जान लेता है, उसकी ऐसी बुद्धि नहीं होती है। अतः मेरे पुत्र भी भगवान्ने ही मरवाये हैं, और तुझे भी उन्हें मरवाना है, अतः शोक करना उचित नहीं, यह श्रीवसुदेव का आशय है ॥ २७ ॥

श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में **एवं मायाकृतं सकार्यं निरूप्योपसंहरति**—इस प्रकार माया के किये हुए ज्ञापन, व ज्ञापन का कार्य, कंसानुतापादि सब कुछ कह कर **'कंस एवं' प्रसन्नाभ्यां** श्लोक से श्रीशुकाचार्य महाराज इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार **'प्रसन्नाभ्यां'** वसुदेव द्वारा स्वसिद्धान्त के कथन से देवकीजी और वसुदेवजी दोनों मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे करण मानते हैं नाश कर्त्ता नहीं मानते हैं, ऐसा कंस ने निश्चय किया, ऐसा लक्षित होता है। **'विशुद्धं परिभाषितः'** वसुदेवकृत 'महाराज !' इस सम्बोधन, व कंस के कथन के अनुवाद से देवकी वसुदेव का कंस से कथन विशुद्ध भाव से है यह लक्षित होता है, दोनों की प्रसन्नता सूचित हुई, एक वसुदेव का ही वचन कहा है, अतः देवकी प्रसन्न न हुई हो, इस शङ्का के निवारणार्थ दोनों का ग्रहण किया है, दोनों की अनुमति प्राप्त कर, वैरशुद्धि न कर वह अपने राजमहल में प्रविष्ट हुआ ॥ २८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

देवकी सम्यगनुतप्तस्य भ्रातुर्दौरात्म्यं क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा रोषं च व्यसृजत् तत्याज। वसुदेवश्च क्षमां कृत्वा भगवन्मायामाहात्म्यानुसन्धानेन प्रहस्य तं कंसमुवाच। तयोर्धैर्यस्याश्चर्यं सूचयति-हेति ॥ २५ ॥ हे महाभागेति सम्बोधनं प्रशंसार्थम्। पाठान्तरे 'महाराज' इति सम्बोधनं मारणस्यादोषज्ञापनार्थम्। यथा त्वं वदसि तदेतदेवमेव तथैव। तदेव स्पष्टयति–देहिनामात्माज्ञानप्रभवैव देहादावहंधीः। यतोऽहंधियः स्वपरेति भिदा भेददृष्टिर्भवति ॥ २६ ॥ भेददर्शने दोषमाह–शोकेति। पृथग्दृशः देवाद्यात्माध्यासेन भेददर्शिनः शोकादिभिरन्विताः युक्ताः सन्तो भावैर्देवदैत्यादिभिर्निमित्तभूतैर्भावं देवदैत्यादिरूपं मिथः परस्परं घ्नन्तमपि कालरूपं परमेश्वरं न पश्यन्ति, किन्त्वात्मानमेव तत्र कारणं मन्यन्ते, तेन च नरकादिदुःखमनुभवन्तीत्याशयः। शोके इष्टविघाते सन्तापः। हर्षः इष्टप्राप्तौ मोदः। इष्टविघातकाद्भयं तत्र द्वेषश्च। लोभ इष्टलाभेऽपि तदाधिक्येच्छा। मोहः कर्तव्याकर्तव्यानानुसन्धानम्। मदो विद्याधनाभिजनादिभिः गर्वः। एते सर्वे दोषा भेददर्शनादेव भवन्ति, नान्यथा ॥ २७ ॥ प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्यामेवं विशुद्धं निष्कपटं यथा स्यात्तथा प्रतिभाषितोऽनुज्ञातश्च कंसो गृहमविशत् ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

भ्रातुरिति ॥ देवकी सम्यगनुतप्तस्य भ्रातुर्दौरात्म्यं क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा रोषं च व्यसृजत् तत्याज । वसुदेवश्च क्षमां कृत्वा ह स्फुटं भगवन्मायामाहात्म्यस्मरणेन प्रहस्य त कंसमुवाच । क्षान्तरोषेति पाठे क्षान्तः रोषो यया सा देवकी व्यसृजत् शोकमिति शेषः । यद्वा वाचमिति शेषः । "कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः" इतिवक्ष्यमाणत्वात् । अयं च पाठष्टीका-कृतामसम्मत इति तोषणी ॥ २५ ॥ एवमिति ॥ हे महाभाग ! नञ्प्रश्लेषाद् दुर्भाग्येति वास्तवोऽर्थः । यथा त्वं वदसि तदेतत् एवमेव देहिनां देहादावात्मधीः अज्ञानप्रभवा एव । यतः अहंधियः स्यः पर इति भिदा भेददृष्टिर्भवति । स्वपरेति सुप्सुपेति समासः ॥ २६ ॥ शोकेति ॥ पृथग्दृशः भेददर्शिनो जना शोकहर्षादिभिरन्विताः सन्तः भावैर्दैवदैत्यादिभिर्निमित्तभूतैर्भावं देवदैत्यादिरूपं मिथः परस्परं घ्नन्तमपि कालरूपं परमेश्वरं न पश्यन्ति किंत्वहमेव ह हन्ता हतो वेत्यादि मन्यन्ते इत्यर्थः ॥ २७ ॥ कंस इति ॥ एवं प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्यां विशुद्धं निष्कपटं यथा स्यात्तथा । विश्रब्धमित्यपि पाठः । प्रतिभाषितोऽनुज्ञातश्च कंसो गृहमविशत् ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

भ्रातुरिति । इत्थं, भ्रातुः कंसस्य, समनुतप्तस्य सतः, देवकी, क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा, रोषं, व्यसृजत् । च तथा वसुदेवः चापि, क्षान्त्वा प्रहस्य च, तं कंसं, उवाच ह स्फुटम् ॥ २५ ॥ तदेवाह द्वाभ्याम् । एवमिति । हे महाभाग, त्वं यथा वदसि, एतत् एवं एव, किं मयोक्तं मन्यसे इत्यत्राह । देहिनां, अहंधीः अहं हन्ता एष मया हत इत्येवंरूपा धीः, अज्ञानप्रभवा देहात्मभ्रमजा । यद्वा, अहंधीर्देहात्मधीः अज्ञानप्रभवा आत्मयाथात्म्यानवभासमूला । अहंधियं विशिनष्टि । यतो यस्या अहंधियः सकाशात्, स्वपरेति भिदा शत्रुमित्रमननात्मको भेदः, भवति ॥ २६ ॥ एतदेवोपपादयति । शोकेति । पृथग् आत्मनः सकाशात् पृथग्भूते देहे दृक् आत्माभिमानो येषां तथाभूताः, अत एव, शोकश्च हर्षश्च भयं च द्वेषश्च लोभश्च मोहश्च मदश्च तैरन्विताः जनाः, भावैर-चेतनैः खड्गादिभिः, भावमचित्पदार्थं, मिथः परस्परं, घ्नन्तं घातयन्तं, अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र हन्तिः । ईश्वरं, न पश्यन्ति । किं तु स्वपरभेदं पश्यन्तीति भावः । तत्तत्कर्मानुगुणप्रवृत्तस्येश्वरस्यैव जन्ममरणादिहेतुत्वान्न केनाप्यपराद्धमिति भावः ॥ २७ ॥ कंस इति । एवं, विश्रब्धं विश्वासयुक्तं यथा तथा, प्रतिभाषितः कंसः, प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्यां, अनुज्ञातः सन्, गृहम् अविशत् स्वभवने प्राविशत् ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

भ्रातुरितिः १०.४.२५.

यद्यन्तरे निजसुखस्थितिरक्षताऽस्ति तर्हि द्विषत्स्वपि समन्तुषु दुर्जनेषु ।
कुर्यादनुग्रहमरोषतयेति नीतिनैपुण्यधीः स तमुवाच विहस्य युक्तम् ॥ १५ ॥
माया-कालनिशाविशालविषयध्वान्तैकविध्वंसकः प्रारब्धादुदितो यदेन्द्रियचरो दीपो विवेकात्मकः ।
रक्ष्योऽसावतियत्नतः सुमतिना दुःसङ्गतिस्पर्शनात् नैवं चेदचिरादनिष्टजनकः स्यात्तच्च कंसे स्फुटम् ॥ १६ ॥
असन्मार्गात् सद्भिः कथमपि परावर्तितमतिः, विवेकं प्राप्तोऽपि क्षणमथ खलः पूर्वचरितम् ।
चरत्येवाऽऽचारं पुनरपि यदम्बावचनतः स्तुवन् कंसो योऽसौ पुनरपि पुरेवाकरुणधीः ॥ १७ ॥
यन्नामाकृतमन्तुमप्यरिजनो गोविप्रभक्तादिसश्लोकं निन्दति यच्च पीडयति वा तत्रैकहेतुर्भवान् ।
ब्रूषे यद्यहमस्मि तत्कथमिति श्रीनाथ नाश्रावि किं मन्त्रो दैत्यनृशंस कंसरचितस्त्वद्वैरमात्रार्थकः ॥ १८ ॥

कृष्णप्रिया

भैया को अधिक पश्चात्ताप युक्त देखकर श्री देवकीजी ने उसके रोष को क्षमा कर दिया और अपने रोष को छोड़ दिया, वैसे ही वसुदेवजी एवं अन्य लोगों ने भी किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि पुनः श्री वसुदेवजी कंस राजा से हँसकर बोले ॥ २५ ॥ अत्र श्री वसुदेवजी कहते हैं कि हे महाराज कंस, जैसा तुम कहते हो वैसा ही है क्योंकि प्राणियों को देह आदि में अहंबुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसीसे यह अपना है यह दूसरे का है ऐसी भेददृष्टि होती है ॥ २६ ॥ श्री वसुदेवजी कहते हैं कि जो लोग शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं मद से युक्त हैं वे परस्पर में अर्थात् एक धर्म में प्रविष्ट होकर दूसरे धर्म को नष्ट कराते हुए भगवान् को नहीं देखते। कारण यह है कि वे भगवान् में इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं मानते। वे मानते हैं कि इन्द्रियवाला जीव ही कर्त्ता हो सकता है निरिन्द्रिय भगवान् कर्ता नहीं हो सकता ॥ २७ ॥ श्री शुकाचार्यचरण कहते हैं कि हे परीक्षित् ! इस प्रकार अपने सिद्धान्त के कहने से प्रसन्न दिखाई देने वाले वसुदेवजी ने जब विशुद्ध भाव से कंस को कहा तो कंस उनकी अनुमति लेकर अपने महल में चला गया ॥ २८ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः । तेभ्य आचष्ट तत् सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥ २९ ॥
आकर्ण्य [१]भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः । देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥ ३० ॥

[२]दैत्या ऊचुः

एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु । अनिर्दशान् निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् ॥ ३१ ॥
किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः । नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंसः मंत्रिणः आहूय योगनिद्रया यद् उक्तं तत् सर्वम् तेभ्यः आचष्ट ॥ २९ ॥ भर्तृगदितम् आकर्ण्य देवान् प्रति कृतामर्षाः न अतिकोविदाः देवशत्रवः दैतेयाः तम् ऊचुः ॥ ३० ॥ राजेन्द्र एवं चेत् तर्हि पुरग्रामव्रजादिषु अनिर्दशान् च निर्दशान् शिशून् वै अद्य हनिष्यामः ॥ ३१ ॥ नित्यम् तव ज्याघोषैः उद्विग्नमनसः समरभीरवः देवाः उद्यमैः किं करिष्यन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नातिकोविदा दृष्टमात्रमतयो न दीर्घदर्शनाः ॥ ३० ॥ न निर्गतानि दश दिनानि येषां तानन्यांश्च ॥ ३१-३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तेभ्यो मंत्रिभ्यः । यदुक्तम् । 'किं मयाहतया' इत्यादि ॥ २९ ॥ दृष्टमात्रमतयो धर्माधर्मविचारहीनाः ॥ ३० ॥ राजेंद्रेति । इंद्रतुल्यस्य सर्वे राजानोऽर्चका एव न कोप्युद्यतो भविष्यति । 'भोजेंद्र' इति पाठे । यादवाः सर्वे त्वत्तो भीता एव तेष्वपि न कोपि वारयितुं समर्थ इति भावः । आदिपदेन खेटखर्वटादयो ज्ञेयाः ॥ ३१ ॥ ज्याघोषैर्गुणशब्दैः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तज्ज्ञानमपि भगवद्विमुखानां तेषां हृदि सुस्थिरं न स्यादिति दर्शयन् कंसस्य स्वोक्तज्ञानविरुद्धव्यवहारमाह, तस्यामित्यादिना, यावत्समाप्ति । मन्त्रिणः प्रलम्बकेशिचाणूरादीन् ॥ २९ ॥ स्वभावत एव देवानां शत्रवः पुनः कृतामर्षाः सन्तः ॥ ३० ॥ हे राजेन्द्रेति सम्बोधनमिन्द्रस्पर्द्धया भोजेन्द्रेति पाठोऽपि तथैव वै एव अद्यैव ॥ ३१ ॥ ननु, तर्हि देवा युद्धार्थमुद्यमं करिष्यन्ति तत्राहुः—किमिति । ज्याघोषैः पूर्वं युद्धे कृतैः सदा लीलायामपि वा ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्तज्ज्ञानमपि दुष्टानां तेषां हृदि सुस्थिरं न स्यादिति दर्शयन् कंसस्य स्वोक्तज्ञानविरुद्धव्यवहारमाह तस्यामित्यादिना यावत् समाप्ति मन्त्रिणः प्रलम्बकेशिचाणुरादीन् ॥ २९ ॥ स्वभावत एव देवानां शत्रवः पुनः कृतक्रोधाः सन्तः ॥ ३० ॥ हे राजेन्द्रेति त्वया निर्जिताः सर्वे राजानोऽप्यस्माकं साहाय्यं करिष्यन्तीति भावः । भोजेन्द्रेति पाठेऽपि तथैवार्थः, श्लेषेण भवान् विषयभोगं कुर्वन् निश्चिन्तस्तिष्ठत्विति, वै एव, अद्यैव ॥ ३१ ॥ ननु तर्हि देवैर्युद्धार्थमुद्योगः कार्यः ? तत्राहुः—किमिति; ज्याघोषैः पूर्वं युद्धे कृतैरधुना वा लीलयान्यार्थं क्रियमाणैरपि नित्यमुद्विग्नमनसः पलायनपरा विमुखतया धावन्त इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अनिर्दशान् दशाहाऽनतीतान् ॥ ३१-४१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ प्रभाते मन्त्रिणः आहूय कंसस्तेभ्यो मन्त्रिभ्यः योगमायोक्तमाह ॥ २९ ॥ ततः कंसोक्तमाकर्ण्य ते देवानां शत्रवः दैतेयाः मन्त्रिणः देवान् प्रत्युद्दिश्य कृतोऽमर्षो यैस्तथाभूता नातिकोविदाः कार्याकार्यविवेकरहितास्तं कंसमूचुः ॥ ३० ॥ तदेवाह—एवमित्यादिनैवंदुर्मन्त्रिभिरित्यतः प्राक्तनेन । एवं चेत् माययैवमुक्तं चेत्तर्हि हे भोजेन्द्र ! पुरादिष्वनिर्दशाननतिक्रान्तदशदिनान्निर्दशांश्च शिशूनद्य हनिष्यामः ॥ ३१ ॥ एवं चेत्समरभीरवो देवाः किमस्मानुद्यमैः प्रयत्नैः करिष्यन्ति न किञ्चिदपि, किञ्च, ते तव धनुषो ज्याघोषैरेव नित्यमुद्विग्नं भीतं मनो येषां तथाभूताः ॥ ३२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अनिर्दशान् अनिर्गतानि दशाहानियैस्ते तथा ताननतिक्रान्तदशाहानित्यर्थः । निर्दशानतिक्रान्तदशाहान् ॥ ३१-३२ ॥

---

१. भर्तृगदितं—श्रीधर. वंशी. शुक. गिरि. ; भर्तृगदितं—भक्त. । २. अन्यप्रत्यां दैत्या ऊचुः पाठो न दृश्यते ।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नातिकोविदाः न कोविदा इत्यर्थः। अतीत्यनधिकारार्थम् ॥ ३० ॥ अनिर्दशान् दशादिनेभ्यो न निर्गतान् निर्गतांश्च ॥ ३१–३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

रात्र्यां विशेषत आसुरो भावः स्वकार्यं प्रतिवर्द्धते तं भावमधिगम्य तस्यां व्यतीतायां प्रभाते योगनिद्रया यदुक्तं शत्रुजन्मादिकं तत्तस्य सर्वं प्रतिकारं तेभ्य आचष्ट इत्यन्वयः ॥ २९ ॥ प्रथमतस्तु देवशत्रवः पुनश्च भर्तुर्गदितमाकर्ण्य देवान् प्रति कृतामर्षा जाताः तथाभूताः तं भर्तारमूचुः। ननु, बहूनामेकस्मिन् कार्ये प्रायो मतिः शुभैवोत्पद्यतेऽतः शुभमेव किञ्चिदुक्तवन्तः किन्नेत्याह—नातिकोविदा इति। आत्मविनाशायैव दुर्मन्त्रं प्रत्युक्तवन्त इति भावः ॥ ३० ॥ यत्र क्वचन तव शत्रुर्जातस्तर्हि देशतः कालतश्च तन्निश्चयाभावात्सर्वत्र पुरादिषु न निर्गतानि दशाहानि येषां तान् निर्दशांश्च स्वकुलेतरान् सर्वज्ञातिपूत्पन्नान् सामान्यतः शिशून् हनिष्यामः मारयिष्यामः ॥ ३१ ॥ तमप्यनर्थे प्रवर्तयितुं प्रोत्साहयन्ति—किमिति चतुर्भिः ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

नातिकोविदा मन्त्रेष्वकुशलाः अतीत्यनधिकार्थः ॥ ३० ॥ अनिर्दशान् दशदिवसेभ्यो न निर्गतान्निर्गतांश्च ॥ ३१ ॥ ननु देवैः कृतोऽयं मद्वधोद्यमस्तस्य कः प्रतीकारस्तत्राह किमुद्यमैरिति ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

इतो गत उत्तरत्र चकार किं कंस इत्यतः शंसति ॥ तस्यामित्यादिना। योगनिद्रया भगवद्भगिन्या यदुक्तं तत्सर्वं मन्त्रिभ्योऽमात्येभ्य आचष्ट ॥ २९ ॥ भर्तुर्गदितं वचनं देवसत्रवः प्रारारभ्य देवान्प्रति कृतामर्षा नातिकोविदा इति न समासोऽत्यकोविदा इति तदर्थः। तं कंसं प्रत्यूचुः ॥३०॥ अनिर्दशान्निर्गता दशभ्योऽहोभ्य इति निर्दशास्तेनेत्यनिर्दशाः। सङ्ख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यत इति वार्तिकाद्दच्। तानेवं निर्दशाननतिक्रान्तदशाहानतिक्रान्तदशाहांश्चेत्यर्थः। मृत्युरन्यत्र जात इति मायोक्तेस्त्र्यादिसन्देहावस्कन्दनाद्बालकानित्युक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥ सर्वान्सुपर्वाण आशङ्क्य तदसामर्थ्यं स्फोरयित्वा सर्वं सहाधिपं स्वस्वामिनं प्रोत्साहयन्ति ॥ किमिति। समरभीरवोऽमरा उद्यमैः स्वकृतैः किं करिष्यन्ति। धनुषो ज्याघोषैर्मौर्वीरवैरुद्विग्नं मनो येषां ते तथा येषां समरे भीरवो भयध्वनिस्ते किं करिष्यन्तीति वा ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं मायाकार्यं भगवत्प्रेरणया कृतं निरूप्य स्वतन्त्रतया तत्कृतं निरूपयितुमाह तस्यामिति यावदध्यायपरिसमाप्ति, यदीदं न कुर्यादवध्य एव स्यात्, तच्च देवानामनिष्टमिति देवतामाया तत्कार्यं कृतवती, असुराणां वा भगवद्रूपा तेषां मुक्त्यर्थं तान् स्वधर्मनिष्ठान् कृत्वा सर्वशास्त्राविरोधिमोक्षं सम्पादयतीति तथाकथा, राजधर्मो हि अनुल्लङ्घनीया यथा पूर्वमविचारेण कृतं तदन्यथा जातमतः परं विचारेण कर्तव्यमिति विचार्य मन्त्रिण आहूय विचारार्थं पूर्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह तस्यामिति, ज्ञानस्य जातत्वात् कार्यस्य विलम्बसहिष्णुत्वाच्च तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामित्युक्तं, मन्त्रिणोपि तामसस्य तामसा एवेति तन्नाम्ना ज्ञापितं, देवक्यादौ विनयो यः कृतः स तु नोक्तः, योगनिद्रया यदुक्तं तत्सर्वमाचष्ट यथा कंसो विवेकरहितस्तथा तन्मन्त्रिणोपि ॥ २९ ॥

तेषां दौरात्म्यमाहाकर्ण्येति, भर्तुः कंसस्य गदितमाकर्ण्य श्रुत्वा विचार्य च तं प्रत्यूचुः, एतेषां कंसरक्षायां न कापि बुद्धिः किन्तु देवद्वेषकरणेवसरो जात इति हृष्टा इत्याह देवशत्रव इति ॥ ३० ॥

प्रथमतः स्वबुद्ध्या निश्चितं प्रतीकारमाहुरेवञ्चेदिति, यदि क्वचिद् बालक एव जातः स तु मासमध्ये जातो भविष्यतीत्यनिश्चयेपि सर्वानेव बालकान् मारयिष्यामः, ते बालकाः पुरस्था ग्रामस्था व्रजस्था वा भवन्तु, तरतमभावनिरूपणार्थं त्रयाणां ग्रहणं, अस्माकं तु न विलम्बः, तदाहाद्येति, राजेन्द्रेतिसम्बोधनमाज्ञापनार्थं, न निर्गतानि दशाहानि येषां तेनिर्दशा अतिबालका निर्दशास्त्वतिक्रान्तदशाहाः उभयानपि विशेषाकारेण सर्व एव वयं हनिष्यामः, अत्र सन्देहो नास्तीति वैशब्दः, दैत्यगृहेष्वपि स्वसम्बन्धिष्वपि जाता हन्तव्या इति, राज्ञा चेद् भगिनीपुत्रा मारिता अन्यैरपि स्वकीया अपि मारणीया इति तैर्ज्ञातं, अन्यथा प्रभुर्न वदेदिति ॥ ३१ ॥

एवं स्वकृत्यमुक्त्वा तस्या भयाभावार्थं तं प्रोत्साहयन्ति किमुद्यमैरितिषड्भिः, तथा भगवतः षड् गुणास्तथा तव षड् गुणाः,

सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया यथा। शत्रूणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च ॥ १ ॥

यदि बालका हन्यन्तेन्यमुपायं करिष्यन्ति देवा इत्याशङ्क्याहुः किमुद्यमैरिति, उद्यममात्रं तेषां न तु क्रियासामर्थ्यं, यतः समरे भीरवः, सङ्ग्रामं दृष्ट्वैव बिभ्यति, तथा भये तेषां निमित्तमाह नित्यमुद्विग्नमनस इति, अयं हि दिग्विजये सर्वानेव मारि-

तवान्, इन्द्रोपि भीतः पलायितः, ब्रह्मादयोपि लीनाः, धृत्वा च देवान् यातनां प्रापयति, अतो यद्यन्यार्थमपि धनुष्टङ्कारं कुर्यात् तथापि देवा उद्विग्नमनसो भवन्तीति नित्यमुद्विग्नमनसः, तवेति सम्मत्यर्थं निरूपितम् ॥ ३२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

तस्यामित्यत्र तस्याः स्वतन्त्रतया कार्यकरणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुर्यदीत्यादि, ज्ञानस्येति, स्वशत्रूत्पत्तिज्ञानस्य ॥ २९ ॥ एवं चेदित्यत्रान्यैरपीति, त्वदीयैरितिशेषः, अन्यथेत्यादि, भगिनीपुत्रमारणाभावे प्रभू राजा न वदेत्, आज्ञामितिशेषः, अयमर्थः, स्वयं चेद् भगिनीपुत्रमारणं न कृतं न स्यात् तदा स्वकीया अशेषां मदुक्तिं न मंस्यन्त इति प्रभुरपि न वदेत्, अधर्मरूपत्वादेवमाज्ञायाः, स्वयं तथाकरणे तु 'यथा राजा तथा प्रजे'तिन्यायादाज्ञादाने निःशङ्कता स्यादिति तथा ॥ ३१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्यामित्यत्र नन्वसुरा बहवस्तेषां सर्वेषामैकमत्येन दौरात्म्यरूपस्वधर्मनिष्ठता कथमित्यत आहू राजधर्मा ह्योति, राजा यान् धर्मानास्थितस्ते धर्माः सर्वेषामनुल्लङ्घनीया भवन्त्यतः कंसस्य दुरात्मत्वात् सर्वेपि दुरात्मान इत्यर्थः ॥ २९ ॥ आकर्ण्येत्यत्र नातिकोविदा इत्यस्यार्थो यथा कंस इत्यादिनाभास उक्तः, तृतीयचरणस्यार्थो देवद्वेषकरण इत्यनेनानूदितः ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीचतुर्थाध्यायलेखः ॥

बुभुत्सुबोधिका

तस्यामित्यत्र भगवत्प्रेरणयेति 'गच्छ देवि व्रजं भद्र' इत्यत्र लोटा भगवत्प्रेरणा प्रतीयते तया । स्वतन्त्रतयेति भगवत्प्रेरणां विनापि स्वातन्त्र्येण । ननु तस्याः स्वतन्त्रतया कार्यकरणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः यदीति । अवध्य एवेति कंसोऽवध्य एव । मृत्यौ निरभिमानत्वात् । एवकारोऽक्लिष्टकर्मत्वाद् भगवतः । एवं च मायाया अस्वतन्त्रीत्वेपि भगवदिच्छया स्वातन्त्र्यमुक्तं तत्तत्पुराणसिद्धम् । दैवं देवता मायेति तिस्रः योगमायापदेन मूले व्यावर्त्यन्त इत्याहुः न च देवानामिति । अनिष्टमितीति इति हेतोः दैवं माया न तत्कार्यं क्षतवत् किन्तु देवतामायेत्यादिः । 'न चे'त्यन्वेति । सर्वशास्त्रेति अन्धं तमः । सम्पादयतीति 'न चे'त्यत्राप्यन्वेति । तथा कथेति योगमायात्वेन योगमायाकथनम् । राजधर्मा इति कनिष्ठत्वेन राजधर्मोदरः सूचितः । पूर्वमिति देवक्युद्वाहे । कृतमिति देवकीहननकम् । अन्यथेति शत्रुहननं न जातं प्रत्युतास्मद्धननकं प्राप्तमित्यन्यथा । पूर्वेति भगवच्छक्तियोगमायोक्तम् । ज्ञानस्येति आत्मज्ञानस्य स्वशत्रूत्पत्तिज्ञानस्येति वार्थः । कार्यस्येति यत्र कुत्र जातहननस्य । विलम्बसहिष्णुत्वादिति पाठः । विलम्बासहिष्णुत्वादित्यपि पाठः । तन्नाम्नेति कंसपदस्य पुनरुपादानप्रयोजनम् । स तु नोक्त इति 'यदुक्तं योगमायये'त्यस्य कर्मतया'चष्टे'त्यत्रान्वयादिति भावः । योगनिद्रापि योगमाया नाम तदाहुः योगनिद्रयेति । आचष्टेति चक्षिङ् व्यक्तवाचि । अदादिः आ० सेट् । लङ् ॥ २९ ॥

आकर्ण्य भर्त्रित्यत्र तेषामिति 'यथे'त्यादिनोक्तानां नातिकोविदानां दैतेयानाम् । अतिकोविदास्तु 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्याचार्योक्तविवेकवन्तः । देवद्वेषेत्यादिना 'देवान् प्रति कृतामर्षा' इत्यस्यार्थस्यानुवादः । अतः सुबोधिन्यामुत्तरार्धं न व्याख्यातम् ॥ ३० ॥

एवं चेदित्यत्र भविष्यतीति इतिनिश्चयसमाप्तौ । तरतमेति पृ पालनपूरणयोः । पचाद्यचि गुणः । पालयति विष्णुः सात्त्विक इति पुरस्थाः सात्त्विकाः । पुर अग्रगतौ वा । तु० प० से० । ग्रामस्थास्तामसाः । ग्रस अदने । ग्रसेरा चेति मन् आत्वम् । व्रजस्था राजसाः व्रजतीति व्रज इति कर्मप्रधानत्वात् । अतिक्रान्तेति अतिक्रान्तानि दशाहानि यैरिति विग्रहः । समासान्तः । विशेषाकारेण स्त्रीपुं विशेषाकारेणेत्यर्थः । दैत्यग्रहेष्विति उग्रग्रहेषु दैत्यसम्बन्धिष्वपि । हन्तव्या इति निश्चयाकारः । अन्यैरपीति त्वदीयैरिति ज्ञेयम् । न वदेदिति यदुक्तं योगमायया तन्न वदेन् मन्त्रिभ्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

किमुद्यमैरित्यत्र स्वकृत्यमिति दैत्यकृत्यम् । तस्येति कंसस्य । तं कंसम् । तवेति भयात् प्राप्तजीवन्मुक्तिकस्य । सामर्थ्यं चेति राज्ञो जीवन्मुक्तस्यैश्वर्यादिषड्गुणा अनाविष्टस्यैते । दीनत्वं यद्यपि तृतीयश्लोके भीतेषु तथापि 'यथा राजा तथा प्रजे'तिवाक्यात् कंसे राज्ञि कारिकोक्तं सामर्थ्यमुक्तम् ॥ ३२ ॥

श्रीमातृपितृतोषिणी–श्रीसुबोधिनीजी–

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि '**एवं मायाकार्यं भगवत्प्रेरणया निरूप्य स्वतंत्रतया निरूपयितुमाह तस्यामिति यावदध्यायपरिसमाप्ति**' इस प्रकार भगवत्प्रेरणा से किया गया माया का कार्य बतलाया, अब स्वतन्त्र रूप से मायाकृत कार्य का कथन '**तस्यां रात्र्यां**' २९ श्लोक से लेकर ४८ श्लोक पर्यन्त अध्याय समाप्ति तक करते हैं ।

यदि माया स्वतन्त्रता से कार्य न करती, तो कंस का बध नहीं होता वह अवध्य ही रहता, वह देवताओं को अभीष्ट नहीं था। अतः माया भी देवता है, उसने देवताओं की अभीष्ट सिद्धि के लिये स्वतन्त्र रूप से कार्य किया। अथवा माया असुरों को भगवद्रूप है, असुर माया के उपासक होते हैं, अतः माया ने असुरों की असुरोचित अन्धं तमः प्रवेश रूप मुक्ति करने को उन्हें असुर धर्म निष्ठ करके सर्वशास्त्र विरोधि असुर मोक्ष किया है, अतः उस प्रकार की कथा कही है।

राजा के धर्मों का उल्लंघन नहीं किया जाता है, मन्त्रियों से परामर्श राजधर्म है, पूर्व में तो कंस ने बिना ही कुछ विचार के कर डाला वह अन्याय ही हुआ, अब आगे विचारपूर्वक करना उचित है, यह सोचकर मन्त्रियों को बुलाकर विचारार्थ पूर्व वृत्तान्त उनसे कहा।

शत्रु के उत्पन्न होने का ज्ञान हो चुका था, जो कार्य करना है वह कुछ विलम्ब की अपेक्षा भी रखता है, अतः कहा है कि **'तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां'** उस रात्रि के बीत जाने पर मंत्रियों को बुलवाया, उस तामस पुष्ट कंस के मन्त्री भी कंस जैसे तामस ही थे, यह कंस नाम से सूचित किया है। कंस ने देवकी आदि के विषय में जो विनय किया था, वह तो कुछ नहीं कहा, योगनिद्रा ने जो कहा वो सब उसने कह दिया, जैसे कंस स्वयं विवेकहीन था वैसे ही उसके मंत्री भी विवेकशून्य ही थे ।।२९।।

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **'तेषां दौरात्म्यमाह'** उन मंत्रियों की दुष्टता **'आकर्ण्य भर्तृगदितं'** श्लोक से कही गई है कि राजा कंस के वह मन्त्री अपने भर्त्ता कंस का वचन सुनकर व समझकर, उस कंस से बोले, इन लोगो की मति कंस की रक्षा के निमित्त थोड़ी भी नहीं है, किन्तु देवताओं से द्वेष करने का अवसर मिल गया। हर्षित हो गये, इस कारण कहा है कि **'देवशत्रवः'** वे तो देवताओं के शत्रु थे ।। ३० ।।

श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **'प्रथमतः स्वबुद्ध्या निश्चितं प्रतीकारमाह'** पूर्व हो वह मन्त्री लोग अपनी बुद्धि से निश्चित किये हुए प्रतीकार को **'एवञ्चेत्तर्हि राजेन्द्र'** श्लोक में कहने लगे—अये राजेन्द्र कंस यदि कहीं पर बालक ही हुआ, वह तो एक महीने के अन्दर हुआ होगा, अतः स्थान के निश्चय के अभाव में हम सब ही बालकों को मार देंगे। **'ते बालकाः पुरस्था ग्रामस्था व्रजस्था वा भवन्तु'** वह बालक नगरस्थ हो या ग्रामस्थ हो या घोष आदि में स्थित हों, स्थानों को छोटा बड़ा बतलाने को **'पुरग्रामव्रजादिषु'** पद में पुर-ग्राम व्रज इन तीनों का ग्रहण हुआ है, हमको तो कुछ भी विलम्ब नहीं। **'अद्य'** आज ही मार देंगे। **'राजेन्द्र'** सम्बोधन कंस की आज्ञा प्राप्त करने को है। जिन बच्चों के दश दिन नहीं निकले उन बहुत ही छोटे, व उससे बड़े दश दिन से ऊपर वालों को दोनों प्रकार के बच्चों को विशेष आकार द्वारा सब ही हम मार डालेंगे। **'वै'** शब्द से सूचित करते हैं कि इसमें संदेह नहीं, दैत्यों के घर भी अपने सम्बन्धियों में भी जो उत्पन्न हुए हों वह सब मार देना चाहिये। उन मन्त्रियों ने यह समझा है कि जब राजा ने बहिन के बच्चे मार दिये तो अन्य हम लोगों को भी अपने सम्बन्धि बच्चों का मारना उचित है, अन्यथा भगिनी पुत्रों के न मारने पर राजा इस प्रकार की अधार्मिक आज्ञा को नहीं कहता ।। ३१ ।।

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में आज्ञा करते हैं कि **'एवं स्वकृत्यमुक्त्वा तस्य भयाभावार्थं तं प्रोत्साहयन्ति किमुद्यमैरिति षड्भिः, यथा भगवतः षड्गुणः तथा तव षड्गुणः सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया तथा। शत्रूणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च ।। १ ।। यदि बालकाः हन्यन्तेऽन्यमुपाय करिष्यन्ति देवा इत्याशंक्याहुः'** इस प्रकार वह मन्त्री लोग अपने कार्य को बतलाकर उस कंस के भय निवारणार्थ **'किमुद्यमैः'** इत्यादि ६ षड् श्लोकों से उसे प्रोत्साहित करते हैं। यहाँ षड् श्लोक संख्या का तात्पर्य यह है कि जैसे भगवान् के ऐश्वर्यादि षड् गुण है, वैसे तेरे भी षड् गुण है। इन ६ श्लोकों से प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह **'सामर्थ्यञ्च'** इत्यादि एक कारिका में किया है, प्रथम श्लोक से कंस का सामर्थ्य, द्वितीय श्लोक से कंस का जय कहा है, तृतीय श्लोक देवताओं की दीनता, चतुर्थ श्लोक से कंस की दया, पञ्चम श्लोक से शत्रुओं की न्यूनता कही गई है। व षष्ठ श्लोक से राजनीति का कथन हुआ है। यदि बालक मारे जाते हैं तो देवता कुछ अन्य उपाय करेंगे, इस आशङ्का पर **'किमुद्यमैः'** श्लोक कहा है कि उन देवताओं का तो केवल उद्यम ही उद्यम है, वह कुछ कर नहीं सकते, क्योंकि उनका प्रयत्न में क्रिया में सामर्थ्य नहीं और वह समर में भीरू हैं, सङ्ग्राम देखकर ही डर जाते हैं, उनके डरने में कारण यह है कि वह नित्य ही उद्विग्न मन रहते हैं। कंस ने दिग्विजय में सबको मारा था, इन्द्र भी डर गया था वह भाग गया, ब्रह्मा आदि भी छिप गये, कंस देवताओं को पकड़कर, उनको तीव्र वेदना पहुंचाता रहता है। **'तव'** शब्द के प्रयोग से कंस की सम्मति सूचित की है, कि यह सब तुम जानते ही हो, यदि अन्य शत्रुओं के लिये भी आप धनुष को टंकराते हैं तो भी देवता घबड़ा जाते हैं ।। ३२ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

जातमपि विवेकज्ञानं भगवद्विमुखानां हृदि सुस्थिरं न भवति' इति प्रदर्शयन्नाह-तस्यामिति। पूर्वमविचारेण स्वत एव नालहननादिकं यत् कृतं तत् सर्वमन्यथा जातम्, अतोऽतः परं यत्कर्तव्यं तद्विचारेण कर्तव्यमिति विचारार्थं मन्त्रिण आहूय

यद्योगनिद्रया यदन्यत्र शत्रुजन्मादिकमुक्तं तत् सर्वं तेभ्यः कंस आचष्ट कथितवानित्यन्वयः ॥ २९ ॥ भर्तुः कंसस्य गदितं वचनमाकर्ण्य दैतेयास्तं कंसं प्रत्यूचुरित्यन्वयः। 'भगवदवतारस्य देवपक्षपातित्वात् तच्छ्रवणेन तेषां देवान् प्रत्यमर्ष एव जात' इत्याह—देवानिति। तत्र हेतुमाह— देवशत्रव इति। 'ननु यदि भगवानेव देवपक्षपाती, तदा तेषामुपायविचारेऽपि किं स्यात्' इत्याशङ्क्याह -नातिकोविदा इति। केवलं शुष्कतर्कनिष्ठा, न परमार्थविचारे निपुणा इत्यर्थः ॥ ३० ॥ तदुक्तिमेव दर्शयति-एवमिति त्रयोदशभिः। आज्ञामात्रं त्वया कर्तव्यमिति सूचयन्तः सम्बोधयन्ति-भोजेन्द्रेति। एवं योगनिद्रयोक्तं चेत्तर्हि पुरग्रामादिषु वर्तमानान् अनिर्दशान् अनिर्गतदशदिनान्निर्दशान् निर्गतदशदिनांश्च शिशून् अद्य वै अविलम्बेनैव हनिष्याम इत्यन्वयः। तथाच यदि कश्चिज्जातोऽस्ति तदा बालेष्वेव भविष्यति। एवं च कुत्र क इति निश्चयाभावेऽपि बालेषु सर्वेषु हतेषु सत्सु सोऽपि हत एव स्यादिति भावः ॥ ३१ ॥ नन्वेवं बालवधे आरब्धे क्रुद्धा देवा अपि युद्धायुद्यमान् करिष्यन्तीत्याशङ्क्याहुः – किमिति। देवा उद्यमैः किं करिष्यन्ति ? तत्र हेतुमाहुः—समरभीरव इति। तत्रापि हेतुमाहुः– तव धनुषो ज्याघोषैर्नित्यमुद्विग्नं भीतं मनो येषां ते ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्यामिति। तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां सत्यां कंसः मन्त्रिण आहूय यद्योगनिद्रयाऽन्यत्र शत्रुजन्मादिकमुक्तं तत्सर्वं तेभ्य आचष्ट कथितवान् ॥ २९ ॥ आकर्ण्येति। देवानां शत्रवः अत एव देवान् प्रति कृतोऽमर्षो यैस्ते नातिकोविदाः विचारे नैपुण्यरहिता दुष्टमात्रमतयः दैतेयाः भर्त्तुः कंसस्य गदितं वचनमाकर्ण्य तं कंसं प्रत्यूचुः ॥ ३० ॥ एवं चेदिति। हे भोजेन्द्र ! राजेन्द्रेत्यपि पाठः। एवं योगनिद्रयोक्तं चेत्तर्हि पुरग्रामादिषु वर्त्तमानान् अनिर्दशान् अनिर्गतदशदिनान् निर्दशान् निर्गतदशदिनांश्च शिशून् अद्य वै अविलम्बेनैव हनिष्यामः। एवं च बालेषु सर्वेषु हतेषु सत्सु सोऽपि हत एव स्यादिति भावः ॥ ३१ ॥ किमुद्यमैरिति। समरे भीरवः अत एव तव धनुषो ज्याघोषैर्नित्यमुद्विग्नं भीतं मनो येषां ते देवाः उद्यमैः किं करिष्यन्ति ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तस्यामिति। तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां सत्यां, कंसः मन्त्रिणः आहूय, तेभ्यः यत् योगनिद्रया उक्तं, तत् सर्वम्, आचष्ट आह ॥ २९ ॥ आकर्ण्येति। भर्तृगदितं स्वभर्त्रा कंसेनोक्तम्, आकर्ण्य, ते देवशत्रवः, दैतेया मन्त्रिणो दैत्याः, देवान् प्रति, देवानुद्दिश्येत्यर्थः। कृतोऽमर्षो यैस्तथाभूताः, नाऽतिकोविदाः कार्याकार्यविवेकरहिताः सन्तः, तं कंसम्, ऊचुः ॥ ३० ॥ तदेवाह त्रयोदशभिः। एवं चेदिति। हे भोजेन्द्र, एवं चेत् माययैवं कथितं चेत्, तर्हि, पुराणि च ग्रामाश्च व्रजाश्च ते आदयो येषां तेषु, अनिर्दशान् अनतिक्रान्तदशदिनान्, निर्दशानतिक्रान्तदशाहांश्चापि, शिशून्, अद्य वै, हनिष्यामः ॥ ३१ ॥ नन्वेवं कृते देवकार्यविघातात्तेऽस्मान् हनिष्यन्तीत्याशङ्कां निराकुर्वन्त आहुः : किमुद्यमैरिति। हे राजन्, समरभीरवः देवाः, उद्यमैः प्रयत्नैः, अस्मान् किं करिष्यन्ति न किंचिदपि कर्त्तुं समर्थाः। किं च तव, धनुषः, ज्याघोषैः एव, नित्यम् उद्विग्नं भीतं मनो येषां तथाभूताः, वर्त्तन्ते ॥३२॥

कृष्णप्रिया

शुकमुनिने कहा महाराज ! उस रात्रि के बीत जाने पर कंस ने मन्त्रियों को बुलाया और जो योगमाया ने कहा था वह सब वृत्तान्त कंस ने उनको सुनाया ॥ २९ ॥ अपने स्वामी के वचनों को सुनकर देवताओं के शत्रु तथा देवताओं पर क्रोध करने वाले वे दैत्य जो पूर्णतया नीति में कुशल नहीं थे कंस से बोले ॥ ३० ॥ दैत्यों ने कहा कि हे राजाओं के स्वामी कंस। आज ही हम शहरों में, छोटे गांवों में, व्रज आदि में जन्म लिए हुए बालकों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा जो दश दिन के ऊपर के हैं मारेंगे ॥ ३१ ॥ दैत्यों ने कहा राजन् देवताओं के केवल उद्योग से क्या हो सकता है। युद्ध में डरने से वे क्रिया तो कर ही नहीं सकते। उन्हें भय होने में कारण यह है कि तुम्हारे धनुष के टङ्कार से वे उद्विग्न रहते हैं ॥ ३२ ॥

अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः। जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥ ३३ ॥
केचित् प्राञ्जलयो [1]भीता न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः। [2]मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताःस्म इति वादिनः ॥ ३४ ॥
न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् [3]भयसन्नतान्। हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः ॥ ३५ ॥
किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः। रहोजुषा [4]किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अस्यतः ते शरव्रातैः समन्ततः हन्यमानाः जिजीविषवः पलायनपराः उत्सृज्य ययुः ॥३३॥ केचित् न्यस्तशस्त्राः मुक्तकच्छशिखाः दिवौकसः भीताः प्राञ्जलयः (स्थिताः) केचित् भीताः स्म इति वादिनः (स्थिताः) ॥ ३४ ॥ त्वम् विस्मृतशस्त्र-

१. दीना-श्रीधर. वंशी जीव. ; भीता-वीर. विज. गिरि. भक्त. । २. मुक्तकक्ष्यशिखाः-विज. । ३. संवृतान्-श्रीधर. गिरि. वंशी. ; संन्नतान्-वीर. विज. भक्त. । ४. वा-इति कस्यचित् ।

अस्त्रान् विरथान् भयसन्नतान् अन्यासक्तविमुखान् भग्नचापान् अयुध्यतः न हंसि ॥ ३५ ॥ असंयुगविकत्थनैः क्षेमशूरैः विबुधैः किम् रहोजुषा हरिणा किम् वनौकसा शंभुना वा किम् ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अस्यतो विध्यतः सतः । उत्सृज्य रणं त्यक्त्वा ॥ ३३-३४ ॥ अन्यासक्तान्विमुखांश्चेति न हंसि न हिनस्सि ॥ ३५ ॥ क्षेमे निर्भयदेशे शूरैः संयुगादन्यत्र विकत्थनं प्रौढिवादो येषां तैः । ननु हरेर्बिभेमि शंभोश्चेति । चेत्तत्राहुः । रहोजुषेति सर्वस्याप्यंतःप्रविष्टेन क्वचिदपि बहिरदृष्टेनेत्यर्थः । पुरुषप्रवृत्तिरहितमिलावृतवनमोको यस्य तेन शंभुना वा ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अस्यत इत्यादिना सूचितः कदाचित्कंसकृतदेवगणजयो ज्ञेयस्तदुक्तं विष्णुपुराणे "किं न दृष्टोऽमरपतिर्मया संयुगमेत्य सः । पृष्ठेनैव वहन्बाणानपगच्छन्न वक्षसा ॥ मद्राष्ट्रे वारिता वृष्टिर्यदा शक्रेण किं तदा । मद्बाणभिन्नैर्जलदैर्नापो मुक्ता यथेप्सिताः" इति कंसवाक्यम् ॥ ३३ ॥ मुक्ते कच्छशिखे यैस्ते तथा कच्छं धौतवस्त्रस्य बंधनप्रदेशः । शिखा प्रसिद्धा ॥ ३४ ॥ विमुखान् अन्यत्र मुखान् ॥ ३५ ॥ प्रौढिवादो वृथावाग्वादः । देवेषु विष्णुशिवेंद्रब्रह्माण एव सबलास्तेभ्यो भयमाशंकते—नन्विति । इत्यर्थ इति । न हि संमुखमनागतस्य दर्शनागोचरस्य भयं दृष्टचरमिति भावः । यद्वा—यदि बलं स्यात्तर्हि किमिति प्रकटीभूय युद्ध्यते किमिति लोकानामंतःकरणे प्रविश्य निहूनूयत इति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अस्यत इत्यादिना सूचितः कदाचित् कंसस्य देवगणजयो ज्ञेयः तथा च श्रीविष्णुपुराणे तदुक्तौ "किन्न दृष्टो ऽमरपतिर्मया संयुगमेत्य सः । पृष्ठेनैव वहन् बाणानपगच्छन्न वक्षसा । मद्राष्ट्रे वारिता वृष्टिर्यदा शक्रेण किं तदा । मद्बाणभिन्नैर्जलदैर्नापो मुक्ता यथेप्सिताः" इति पलायनपरा विमुखतया धावन्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ प्रवद्धो मूर्द्धिन धृतोऽञ्जलिर्यैस्तादृशा बभूवुरिति शेषः । यतो दीनाः दुःखिता क्षीणचित्ताः वा भीता इति क्वचित्पाठः ॥ ३४ ॥ अहो तव धर्मपरिपालनेनैव देवा जीवन्तीत्याहुः-न त्वमिति । धृतान्यपि भयाकुलतया विस्मृतानि खड्गादीनि शरादीनि च यैस्तान् ॥ ३५ ॥ ननु, तथापि जीवन्तस्तेऽभिमानिनोऽवश्यं विक्रमं दर्शयिष्यन्ति तत्राहुः– किमिति सार्द्धकम् । असंयुगं स्त्रीपार्श्वादि अन्यत्तैः तत्र सर्वस्येत्यादिवास्तवार्थः दैत्यानामभिप्रेतस्तु क्षीरोदादौ त्वद्भयेन निहूनूत्य तिष्ठतीत्येव इति ताभ्यां तव रणसङ्घट्टे नागन्तव्यमेवेति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अस्यत इत्यादिना सूचितः कदाचित् कंसस्य देवगणजयोऽपि ज्ञेयः । तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।४।६-७) तदुक्तौ—

'किं न दृष्टोऽमरपतिर्मया संयोगमेत्य सः । पृष्ठेनैव वहन् बाणानपगच्छन्न वक्षसा ॥
मद्राष्ट्रे वारिता वृष्टिर्यदा शक्रेण किं तदा । मद्बाण-भिन्नैर्जलदैर्नापो मुक्ता यथेप्सिताः ॥" इति ।

प्रकृष्टो मूर्ध्नि निबद्धोऽञ्जलिर्यैस्ते, यतो दीना दुःखिताः क्षीणचित्ता वा; भीता इति पाठेऽप्यर्थः स एव ॥ ३४ ॥ अहो ! तव धर्म्मप्रतिपालनादेव देवा जीवन्तीत्याहुः न त्वमिति । विस्मृतानि केवलं धृतान्येव, न तु भयाकुलतया प्रयोक्तुं शक्तानि शस्त्राणि खड्गादीन्यस्त्राणि च परादीनि यैस्तान् । विशेषणानामेषां यथोत्तरं वध्यत्वे न्यूनत्वं कैमुतिकन्यायेन व्याख्येयम् ॥ ३५ ॥ ननु, तथापि जीवद्भिस्तैरभिमानिभिरवश्यं विक्रमो दर्शयितव्यः, तत्राहुः—किमिति । असंयुगं स्त्रीपार्श्वादि । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, रहोजुषा रहसि निर्ज्जने प्रीतेन; यद्वा, त्वद्भयेन निहूनूत्य निर्ज्जने तिष्ठता, वनौकसा तच्छंकया वने एव सदा तिष्ठतेति ताभ्यां तव संग्रामसंघट्टे नागन्तव्यमेवेति भावः । ननु तथापि देवेन्द्रोऽवश्यमागन्ता ? तत्राह –किमिति । ननु ब्रह्मा तत्सहायो भविता ? तत्राह—ब्रह्मणेति तपःपरत्वेन युद्धे साहाय्यं नैव कर्त्ता, किंवा विक्रमाभावात्तेन सहायेनापि सता किमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अस्यतः शरान् क्षिपतस्तव शरसङ्घैर्हन्यमानाः जीवितुमिच्छवः पलायनमेव परं रक्षणोपायो येषां तथाभूताः उत्सृज्य स्वस्थानानीति शेषः । समन्ततो ययुः ॥३३॥ केचिच्च दिवौकसो देवाः भीतास्त्वत्त इति शेषः । अत एव त्यक्तानि शस्त्राणि यैस्तथाभूताः केचिच्च मुक्ताः विश्लथाः कच्छाः शिखाश्च येषां मुक्तकक्ष्यशिखा इति पाठे मुक्तग्रन्थयः शिखा येषां तथाभूताः भीताः स्म इति वदन्तः प्राञ्जलयस्तस्थुरिति शेषः ॥ ३४ ॥ अथापि त्वं विस्मृतानि शस्त्राण्यस्त्राणि च यैः मन्त्रशक्त्युपबृंहितान्यस्त्राणीतराणि तु शस्त्राणि इति विवेकः । विगता रथा येषां तान् भयात् सन्नतान् कृतप्रणामान्न हंसि न हतवान् शरणागतरक्षकत्वादिति भावः । तथाऽन्यासक्तान् युद्धं विहाय प्रयोजनान्तरासक्तान् पराङ्मुखांश्च भग्नचापान् भग्नधनुष्कानत एवायुद्ध्यतश्च देवान्न हंसि ॥ ३५ ॥ क्षेमे स्वगृह एव शूरैः संयोगादितरत्र विकत्थनं प्रागल्भ्यं वचो येषां तैर्विबुधैः किं न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यमित्यर्थः । आस्तां तावत्सामान्य-

देवानां वार्ता, देवश्रेष्ठैर्हरिहरेन्द्रहिरण्यगर्भैरपि न किञ्चिदित्याहुः— रह इति। रहोजुषा त्वद्भयान्निर्जनदेशसेविना यद्यपि तैः किञ्चिदपि कर्तुं न शक्यं तथापि सापत्न्याच्छत्रुत्वाद्देवाः नोपेक्षणीया इति मन्यामहे ततस्तन्मूलखनने सपत्नमूलोन्मूलने निमित्तेऽनुव्रतान् भृत्यानस्मान्नियुङ्क्ष्वाज्ञापय ॥ ३६-३७ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्यतः क्षिपतः ॥ ३३ ॥ कक्ष्या काञ्ची "कक्ष्या करिवरत्रायां काञ्च्यां गेहे प्रकोष्ठके" इति यादवः ॥३४-३५॥ क्षेमशूरैः असंयुगविकत्थनैः रणादन्यत्र विविधजल्पैः रहोजुषा एकान्तसेविना वेदशिरःप्रतिपाद्येन वा वनौकसा कैलासशिखरकान्तारमन्दिरेण भासामाश्रयेण तेजोमूर्तिनेत्यर्थः। "ओकसी मन्दिराश्रयौ" इति यादवः "वनं भास्यप्सु कानने" इति च ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

रहोजुषा निलीयस्थितेनेति तेषां विवक्षितं टीकायान्तु वास्तवार्थ एव ॥ ३६-३७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अस्यतः विध्यतः सतः उत्सृज्य रणं त्यक्त्वा ॥ ३३-३४ ॥ तत्र धार्मिकत्वमेव तेषां वृद्धौ हेतुरित्याहुः—न त्वमिति, तेनातःपरं धार्मिकत्वं त्यज्यतां धर्मस्य नायं काल इति भावः ॥ ३५ ॥ वयं तु तेभ्यः कदापि न बिभीम इत्याहुः क्षेमे निर्भये देशे शूरैः संयुगादन्यत्रैव विकत्थनं प्रौढिवादो येषां तैः न च हरेः शम्भोर्वा भेतव्यं तयोरपि त्वत्तुल्यबलत्वाभावादित्याहुः रहोजुषेति। यदि बलं स्यात्तदा किमिति प्रकटीभूय न युद्ध्यते किमिति लोकानामन्तःकरणेषु प्रविश्य निह्नूयते इति भावः। वनौकसा पुरुषप्रवेशरहितमिलावृतवनमोको यस्य तेन ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अस्यतः बाणान् क्षिपतस्ते सतः शरव्रातैस्त्वन्निसृष्टैर्बाणसमूहैर्हन्यमानाः समरमुत्सृज्य पलायनपराः सन्तो ययुः अपगच्छेयुः ॥ ३३ ॥ तेषु केचिज्जीवनोपायज्ञाः सर्वत्र तव चक्रभयज्ञाः एवं करिष्यन्तीत्याहुः केचिदिति ॥ ३४ ॥ अन्यत्र कलत्रादावासक्ताश्च ते विमुखाश्च तान् युध्यतोऽपि न हंसि न हिनस्सि ॥ ३५ ॥ ननु, केचिदतिबलास्ते कथमपयास्यन्ति कथन्तरामञ्जलिकर्मादिपरा वा भविष्यन्तीत्यत आहुः—किमिति। क्षेमे निर्भये देशे काले च शूरैः असंयुगे असंग्रामे अजेया वयमित्यादिविकत्थनं येषां तैः विबुधैः किं न किमपि ननु विष्णवाद्याः न क्षेमशूराः न चासंयुगविकत्थना अत्राहुः रहोजुषेत्यादि ॥ ३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अस्यतो विध्यतः सतस्तव उत्सृज्य समरं विहाय कंसोऽतिपराक्रमी दिग्विजयोऽस्य हरिवंशोऽभिहितः ॥ ३३-३४ ॥ तव धार्मिकतैव तेषां वृद्धौ हेतुरित्याहुर्न त्वमिति। अन्यासक्तानन्यैः सह युध्यमानान् विमुखान् युद्धात् पलायमानान् न हंसीति महासुरोऽसीति भावः। इदानीं धार्मिकता हेया नायं तस्याः समय इति भावः ॥ ३५ ॥ वयन्तु देवेभ्यः कदाचिदपि न बिभीम इत्याह किमिति सार्द्धकं क्षेमे निर्भये देशे शूरैः संयुगादन्यत्र स्त्रीपार्श्वे विकत्थनैः स्वश्लाघिभिः, न च हरिहराभ्यां देवदेवाभ्यां भयमस्तीत्याह रहोजुषा हृद्वर्तिना क्वचिदपि बहिरदृष्टेनेत्यर्थः। वनौकसा पुंप्रवेशशून्यमिलावृतवनमोकः स्थानं यस्य तेनेत्यर्थः। बलं चेत्ततो बहिर्भूयास्माभिर्युध्यतैवेति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

रहोजुषेति। अत्र शंभुना वावनौकसेत्यनेन मंत्रिकृतं रुद्रहेलनं कथं श्रुतम्। कंसस्य तद्भक्तत्वात्। रुद्रपरमभक्तजरासंधजामातृत्वात्। विशंसतु पशून्मेध्यान्भूतराजाय मीढुषे इत्याज्ञापनाच्च। अतो विरोधस्तस्मादुच्यते ॥ रहोजुषेति। हरिहेलनं श्रुत्वा कंसः शङ्कते। न केवलं हरो रहोजुट् किंतु जलस्थोऽपि। महोदधिशयोंऽतक इत्युक्तेः। लोकरूढ्याऽस्माकं जले दृश्यत इति भावः। तत्र मंत्रिभिरनूद्योत्तरितम् ॥ वनौकसेति। यद्यपि जीवनं भुवनं वनमिति कोशाज्जलाश्रयत्वम्। तथापि शंभुनावेत्यनेन शंभुः नौः तरणसाधनं यस्य तेनेति। अनेनास्माकं प्रीतिकृत् शंभुस्तारयेन्नास्मदप्रियमिति सूचितम्। अतो जलस्थस्यापि हरेर्जलतरणे स्वातन्त्र्याभावात्तेन किं भयमस्माकमिति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अस्यतः क्षिपतः ॥ ३३ ॥ मुक्ताः कक्ष्याः काञ्च्यः शिखाश्च यैस्ते। कक्ष्या करिवरत्रायां काञ्च्यां गेहे प्रकोष्ठक इति यादवः। भीताः स्म इति वादिनः ॥ ३४ ॥ स्वस्वामिधर्मानाहुः। नेति ॥ ३५ ॥ क्षेमशूरैर्निर्भयस्थानगमने शूरैः क्षेमानां स्वपरिचारकाणां पुरस्तेषु वा शूरैः। क्षेमं स्यान्मङ्गले प्राप्तरक्षणे चारकेऽपि चेति विश्वः। असंयुगविकत्थनैः संयुगादन्यत्र तरुण्यादिपुरो

विकत्थनानि वृथा भाषणानि येषां ते तथा तै रहोजुषा रह एकान्तं जुषत इति रहोजुट् तेन हरिणा विष्णुना किम्। अन्तः समुद्रं शेते भीत इति तेन रुष्टेन तुष्टेन न किञ्चन भविष्यतीति भावः। वनोकसा कैलासवासिना शम्भुना रुद्रेण। इलावर्ते पुंमात्रगमन-शून्यवनौकसा ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

धनुष्टङ्कारमात्रेणैवोद्वेग। पूर्ववृत्तान्तं हेतुत्वेनाहास्यत इति, अस्यतः शरान् क्षिपतस्ते सतः सम्मुखमनागता अपि तैः क्षिप्तै-रेव शरव्रातैः सर्वतो हन्यमानाः सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गा जिजीविषवो भूत्वा धर्मं सङ्ग्रामं चोत्सृज्य पलायनपराः सन्तो ययुः, देशस्याविवक्षितत्वाद् यत्र क्वापि, ये तु दूरस्थास्ते पलायिताः ॥ ३३ ॥

येपि निकटस्थास्तेपि जिजीविषवो भूत्वा पलायनासम्भवादुपायान्तरं कृतवन्त इत्याहुः केचिदिति, प्राञ्जलय, स्तोतुमिव प्रवृत्तानां कायिकयवस्था प्रदर्शिता, भीता इत्यन्तःकरणस्य, त्यागे न हन्यत इति शास्त्रार्थपरिपालनाय न्यस्तशस्त्रा, तर्हि तेषां कथं स्वधर्मत्यागे स्वर्गो भविष्यतीत्याशङ्क्याहुर्दिवौकस इति, स्वर्ग ओको गृहमात्रं न तु स्वर्गभोग इत्यर्थः, ननु देवाः कथमयुक्तं कृतवन्त इत्याशङ्क्याहुर्मुक्तकच्छशिखा इति, मुक्ताः कच्छाः शिखाश्च येषां, परमापदा वैकल्यं तेषामुक्तं, आपदि स्वधर्मास्त्यक्तुं शक्यन्ते, येषां पुनर्दैवगत्या मुक्तकच्छशिखात्वं न जातं तेषां का गतिरितिचेत् तत्राह केचिद् भीताः स्म इति वादिन इति, शरीरे भीतकार्यस्यादर्शनान् मुखत एव भीता वयमित्याहुः ॥ ३४ ॥

ननु ये वध्यास्ते सर्वथैव वध्या इति वचनेपि किं स्यात् तत्राहुर्न त्वमिति, सङ्ग्रामधर्मस्त्वया न त्यज्यतेतो ये देवा विस्मृतशस्त्रास्त्रा भयात्, शस्त्राणि धृत्वा यैर्मार्यते, अस्त्राणि दूरात्, मन्त्रयुक्तानि वा, भयादुभयविधान्यपि विस्मृतानि, विगतो रथो येषां, सारथ्यादीनां वधात्, प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि'दितिवाक्याद् विरथोप्यवध्यः, भयेन सम्यङ्नताः शरणागताः, प्रसङ्गादन्यानप्याहान्यासक्तविमुखान् अन्यासक्ताश्च ते विमुखाश्चोभयविधा वा भग्नचापानयुध्यतः, निरीक्षकान् न हंसीति-सम्बन्धः, एते षड्विधाः सप्तविधा वा न हन्तव्याः, अतस्त्वया स्वधर्मे परिपाल्यमाने पूर्वन्यायेन देवा जीविता इति भावः ॥ ३५ ॥

एवं साधारणानामप्रयोजकत्वमुक्त्वा महतामप्याह किं क्षेमशूरैरिति, येपि वाय्वग्निवरुणादयः शूरा प्रसिद्धास्तेपि क्षेमशूरा एव, क्षेमे सति गृहे भार्यायां वा शूरा यत्राक्षेमशङ्कैव नास्ति, न हि भार्या पतिं मारयिष्यतीतिसम्भावना, यत्र पुनः सम्भावना मारयिष्यतीति तत्र पलायनमेव, एतदर्थपरिज्ञानादेव विबुधाः, एतच्छारीरशौर्यं तेषां निरूप्य वाचनिकं शौर्यं निरूपयन्त्यसंयुगविकत्थनैरिति, विकत्थनं स्वशौर्याविष्करणवाक्यं तदपि न संयुगे, केनापि सह यदा न युद्धसंयोगस्तदैव विकत्थनं एवं देवान् दूषयित्वा मुख्यांश्चतुर आहुः, अस्ति हरिः शूरः, परं कस्यापि स सम्मुखो न भवति, यस्त्वेकान्ते तदेकपरस्तिष्ठति हरिरपि तस्य सम्मुखो भवतीति स्तुतिपक्षे यथाश्रुतमेव, पक्षान्तरे स्त्रीतुल्यता निरूपिता, हरिणेति, सर्वदुःखनिवारकत्वं निरूपितं, यतो दुःखितेष्वेव शौर्यादिरहितेषु तस्याविर्भावो निरूपितः, अस्ति च त्रिपुरान्तकः शूरः, सोपि सर्वदा वनवासी तपस्वी, न हि वनस्थस्तपस्वी कस्यचिद् द्विष्टो भवति, असमत्वात् ॥ ३६ ॥

बुभुत्सुबोधिका

अस्यत इत्यत्र हन्यमान इति हननमत्र हन्यमाननिष्ठम्। तच्चेत् प्राणवियोगानुकूलव्यापारवद् भवेत् 'समन्तत' इत्याद्यग्रेतनश्लोकविरोध इति तदनुरोधेन हन्यमानपदार्थमाहुः संछिन्नेति। तथा च हन्यमाना इत्यत्र न हि सार्थकहन्तेः प्रयोगः। प्राणवियोगाभावात्। किन्तु हन्यमाना अस्त्रैर्गम्यमानाः सर्वाङ्गेष्विति गत्यर्थकहन्तेः प्रयोगः। चेति प्राणवियोगमिति चकारार्थः। 'जिजीविषव' इतिपदेन द्योत्यते। 'ययु'रित्यत्र कर्म किमित्याकाङ्क्षा तु देशस्याविवक्षणाद् यं कमपि देशमिति पूरणीया। कारिकोक्तजय उक्तः ॥ ३३ ॥

केचिदित्यत्र अन्तःकरणस्य त्याग इति युद्धे तथा जाते दयावता त्वया न हन्यते। 'भयसन्नता'निति वक्ष्यमाणवाक्यात्। अन्तःकरणस्य अवस्था प्रदर्शितेत्यन्वयो वा। युद्धत्यागे सति न हन्यत इति च। यद्वा त्यागे सति न हन्यत इति शास्त्रपरिपालनाय न्यस्तशस्त्रा इति। स्वधर्मेति युद्धत्यागे। स्वर्ग इत्यात्मसुखकम्। कार्यकारणभावात्। स्वर्गभोग इति स्वधर्मफलमित्यर्थः। केषाञ्चिदिति बोध्यम्। साधनतरतमभावात्। देवा इति स्वर्गक्रीडावन्तः। दिवु क्रीडाविजिगीषेति धातुपाठात्। येषामिति सुमनसाम्। परमापदाविति परमपदा औ इति छेदः। औ अव्ययमम्बुध्यर्थकम्। परमापदा औ अम्बुधिः तस्मिन्। तेषां धर्माणां शास्त्रे उक्तं विकल्पमुक्तवानित्यर्थः। एवं परमापदौ विकल्पं तेषामुक्तमिति पाठेर्थ उक्तः। परमापदा वैकल्यं तेषामुक्तमिति पाठेर्थः सुगमः। केचिदिति पुनरुक्तेरभिप्रायमाहुः येषां पुनरिति। कारिकोक्त दीनत्वमुक्तम्। 'यथा राजा तथा प्रजा' इति प्रजानिष्ठम् ॥ ३४ ॥

न त्वमित्यत्र वचनेपीति 'प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि'दिति वचने 'भीताः स्मे'ति वचने वा। विमुखाश्चेति कर्मधारयः। चकारः समुच्चयार्थकः। द्वन्द्वेनाहुः उभयेति। तथा चान्यासक्ताः विमुखाश्चेति विग्रहः। अत्र श्लोके कारिकोक्तदयोक्ता ॥ ३५ ॥

किं क्षेमशूरैरित्यत्र सप्तेति द्वन्द्वसमासे सप्तविधाः। पूर्वन्यायेनेति 'न हंसी'ति पूर्वश्लोकोक्तन्यायेनेत्यर्थः। साधारणानामिति देवानाम्। महतामिति वाय्वग्निवरुणादीनाम्। विबुधा इति विशेषेण परितो बुधाः। बुध ज्ञाने। 'इगुपधज्ञाप्रियकिरः क' इति सूत्रेण कः। वाचनिकमिति मानसिकमपि बोध्यम्। 'यन् मनसा ध्यायति तद्वाचा वदतो'तिश्रुतेः। यस्त्वेकान्त इति 'रहोजुषे'त्यत्र रहः'पदार्थः। 'जुषे'त्यस्यार्थमाहुः तदेकपर इति। एवं रहोजुषा सह वर्तमानेन हरिणेत्यर्थः। रहोजुषा हरिणेतिपक्षार्थमाहुः हरिरपीति। रहस्करं जुषतीत्यर्थः। पक्षान्तर इति अप्रयोजकत्वपक्षे स्त्रीतुल्यता प्रयोजकता। हर्यक्षरयोर्महानारायणे पर्यायता स्तूयते। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः स हरिः सेन्द्रः सोक्षर' इति। अतः स्त्री.तुल्यता। 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यह'मिति गीता। द्वितीयव्युत्पत्त्याहुः सर्वदुःखेति। निरूपित इति 'रहोजुषे'तिपदेन निरूपितः। असमत्वादिति वैराग्यातिशयेपि त्रिपुरान्तकत्वेनासमत्वात्। अत्र शत्रूणामल्पता कारिकोक्तोक्ता। शत्रूणामल्पता शौर्ये बोध्या। विशेष्यविशेषणभेदेनाभासोक्तं चतुष्टयम्। विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति हरिः सात्त्विकः। नीलमुत्पलमितिवद् विशेषणस्य व्यावर्तकत्वे राजससात्त्विकः। द्वौ भेदौ। विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति शम्भुः तामसः। नीलमुत्पलमितिवद् विशेषणस्य व्यावर्तकत्वे सात्त्विकतामसः। 'वने तु सात्त्विको वास' इतिवाक्यात्। एवं चत्वारः। सार्धश्लोकाभासो वा। तेन हरिशम्भ्विन्द्रब्रह्माणश्चत्वारः॥ ३६॥

मातृपितृतोषणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि "**धनुष्टङ्कारमार्गणेवोद्वेगे पूर्ववृत्तान्तं हेतुत्वेनाह**" धनुष के टङ्कार मात्र से घबड़ा जाने में कारण रूप से पूर्व वृत्तान्त को '**अस्यतस्ते' शरव्रातैः हन्यमानाः समन्ततः**—बाणों को चलाते हुए आपके सामने तो वह आते ही नहीं है फिर भी आपके चलाये गये बाण समूहों से सब ओर से घायल हुए वह देवता अपने जीवन की इच्छा से धर्म व सङ्ग्राम को छोड़कर भागते भागते जहाँ कहीं भी चले जाते है, और जो दूरवर्ती हैं वह तो भाग ही जाते हैं ॥ ३३ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि—"**येऽपि निकटस्थास्तेऽपि जिजीविषवो भूत्वा पलायमाना संभवादुपायान्तरं कृतवन्त इत्याहुः**" दैत्य कहते हैं कि राजन् जो समीपस्थ हैं वह भी जीवन की इच्छा से अन्य उपाय करते रहे हैं क्योंकि वह भागने में असमर्थ रहे, उनका भागना सम्भव नहीं। यह '**केचिद् प्राञ्जलयोभीताः न्यस्तशस्त्रास्त्रविग्रहाः**' श्लोक से कहा है। '**प्राञ्जलयः**' पद से स्तुति करने को जैसे प्रवृत्त हुए उन लोगों की हाथ जोड़ने की कायिक अवस्था दिखलाई गई है। '**भीताः**' पद से उनके अन्तःकरण की दशा दिखलाई है। अब **न्यस्तशस्त्राः**' पद का भाव कहते हैं कि शस्त्र त्याग करने पर नहीं मारे जाते हैं। इसलिये अपनी रक्षा के लिये वह शस्त्र त्याग कर देते हैं। यदि वे न्यस्तशस्त्र हैं तो फिर उनको धर्म त्याग करने पर स्वर्ग कैसे होगा? इस शङ्का पर कहा है कि '**दिवौकसः**' स्वर्ग तो उनका केवल रहने ही को गृहमात्र है। स्वर्ग सुख का भोग उन्हें नहीं प्राप्त होता, देवताओं ने अपने लिये अनुचित माना जाय वैसा धर्म त्याग कैसे किया? इस शङ्का पर कहा है कि '**मुक्तकच्छशिखाः**' वह आपत्ति से इतने विकल हो गये कि उनकी लंगोटी व चोटी भी खुल पड़ी थीं। आपत्ति में स्वधर्मों का त्याग किया जा सकता है, परन्तु दैवगति से जो मुक्त कच्छ शिख न हो पाये, वह अपने मुख से ही 'हम भयभीत हैं' ऐसा बोलते हैं। क्योंकि उनके शरीर पर तो कोई डरने का चिह्नरूप कार्य दीखता नहीं अतः उन्होंने अपने बचने के लिये मौखिक भीतता व्यक्त की ॥ ३४ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि '**ननु ये वध्यास्ते सर्वत्रैव वध्या इति वचनेऽपि किं स्यात् तत्राह**—कंस के मन्त्री आगे बढ़कर कहते हैं कि जो वध के योग्य हैं, वह तो सर्वथा वध के योग्य ही होते हैं, अतः उनके कहने पर भी क्या हो सकता है, उस पर समाधान के लिये '**न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्**' श्लोक कहा है। सङ्ग्राम धर्म को आप छोड़ते नहीं, अतः, जो देवता लोग भय से शस्त्र व अस्त्रों को भूल जाते हैं, शस्त्र वे कहलाते हैं जिनको पकड़ कर प्रहार किया जाता है, जैसे तलवार। अस्त्र वे होते हैं जो दूर से फेंके जाते हैं, जैसे बाण आदि, अथवा मन्त्रसहित जिनका प्रयोग होता है। भय से दोनों तरह के वह शस्त्र अस्त्रों को भूल जाते हैं, एवं सारथि आदि के मारे जाने से जिनका रथ नहीं रहता, '**प्रपन्नं विरथं भीतं**' इत्यादि वाक्य से रथहीन भी अवध्य है, और जो भय से अत्यन्त झुक जाते हैं, शरणागत हो जाते हैं। प्रसंगवश और भी कहे हैं कि '**अन्यासक्तविमुखान्**' जो अन्यत्र आसक्त होने से विमुख होते हैं अथवा जो अन्यासक्त है और विमुख हैं इन दोनों प्रकार के लोगों को आप नहीं मारते, तथा जिन लोगों के धनुष टूट गये हों, अथवा जो युद्ध न करते हों, युद्ध का निरीक्षण करते हों, उनको भी आप नहीं मारते हैं, उक्त यह छः या सात प्रकार के लोग मारने योग्य नहीं होते हैं, अतः आप धर्म का पालन करते हैं, ऐसी स्थिति में वह देवता पूर्व श्लोकोक्त प्रकार से जीवित हैं ॥ ३५ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि "**एवं साधारणानामप्रयोजकत्वमुक्त्वा महतामप्याह**"—कंस राजा के मन्त्री लोग इस प्रकार साधारण देवताओं की उपेक्षणीयता बतलाकर महान् देवों की भी उपेक्षणीयता '**किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः**' श्लोक से बतलाते हैं—उन देवताओं में जो भी वायु, अग्नि, वरुण आदि शूर प्रसिद्ध है, वह

भी क्षेम शूर ही हैं, क्षेम के रहते गृह में या भार्या में उनकी शूरता नियत है, जहाँ अक्षेम या अकुशल की संभावना ही नहीं, भार्या पति को मारेगी यह सम्भावना ही नहीं होती, जहां फिर सम्भावना होती है कि मारेगा, वहाँ तो भाग जाना ही होता है, इस बात को यह अच्छी तरह समझते हैं, अतः वह 'विबुधाः' विबुध कहलाते हैं, यह उनकी शारीरिक शूरता बतलाई गई है तदनन्तर वाचनिक शूरता को बतलाते हैं - 'असंयुगविकत्थनैः' अपनी शूरता को प्रकाशित करने वाला वचन भी वह लोग वहीं ही बोलते हैं, जहाँ किसी से युद्ध का संयोग नहीं होता, इस प्रकार देवताओं का बुराई करके उनमें मुख्य जो चार हैं, उनको भी बतलाते हैं कि उनमें हरि शूर है परन्तु वह तो किसी के सम्मुख नहीं होता है, वह तो एकान्तसेवी है, उससे क्या, हरि के विषय में कहे गये यह शब्द हरि की स्तुति के पक्ष में यथाश्रुत ही है। वास्तव में जो एकान्त में हरितत्पर होकर रहता है, उसके ही सम्मुख हरि भी होते हैं परन्तु दैत्योक्ति पक्ष में उन शब्दों से हरि की स्त्रीतुल्यता सूचित हुई है, हरि शब्द से सर्व दुःख निवारकता बतलाई है, क्योंकि दुखित जन, जो शूरता आदि से रहित होते हैं, उनमें ही वह प्रकट होते हैं, और त्रिपुर का नाशक शम्भु शूर है, वह भी सर्वदा वनवासी व तपस्वी है, वनस्थ तपस्वी किसी का द्वेषी नहीं होता, क्योंकि वह उनके समान नहीं रहता, अतः द्वेषका विषय ही नहीं रहता ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एतदेव स्पष्टयन्तस्तत्र हेतुमाहुः अस्यत इति। अस्यतो विध्यतस्ते तव शरव्रातैः शरसमूहैः समन्ततः हन्यमानाः अतो जिजीविषवो जीवितुमिच्छवः, अतएव पलायनं परं जीवनोपायं येषां तथाभूताः सन्तो रणभूमिमुत्सृज्य परित्यज्य ययुरित्यन्वयः ॥ ३३ ॥ एवं ये दूरस्थास्ते पलायिताः, ये तु निकटवर्तिनः पलायनेऽशक्तास्तेषामवस्थामाहुः केचिदिति। दीना भयेन प्रकम्पितगात्राः, अतएव न्यस्तानि त्यक्तानि शस्त्राणि यैस्तथाभूताः केचिद्दिवौकसो देवाः प्राञ्जलयः मूर्द्धनि बद्धाञ्जलिपुटा जाताः। केचिच्च मुक्ताः कच्छा शिखाश्च यैस्तथाभूताः सन्तो 'भीतास्म' इति वादिनो जाताः ॥३४॥ विस्मृतानि अस्त्राणि समन्त्राणि शस्त्राणि च यैस्तान्, विरथान् रथहीनान्, भयेन संवृतान् शरणागतान्, अन्यासक्तान् अन्येन युद्धकर्त्रा सहागतान्, विमुखान् युद्धात्पराङ्मुखान्, भग्नचापान् अयुध्यतः युद्धमकुर्वतश्च त्वं न हंसि। एवं स्वधर्मपालनमेव तेषां जीवनहेतुः, अन्यथा पूर्वमेव ते मृताः स्युरिति भावः ॥ ३५ ॥ यद्यप्येवं भीतानां देवादीनां तावद्युद्धम एव न सम्भवति, तथापि यदि करिष्यन्ति तदा तेषामुद्यमोऽस्मास्वकिञ्चित्कर एवेत्याहुः - किं क्षेमेति सार्द्धेन। विबुधैर्देवैः किं किमनिष्टं कर्तुं शक्यम्? न किमपीत्यर्थः। कुत इत्यपेक्षायां सामर्थ्याभावे हेतुं सूचयन्त आहुः - क्षेमे स्त्रीसन्निधानादिनिर्भयप्रदेशे शूरैरिति। "तत्र शूरत्वमेव कथं स्यात्? युद्धादावेव तत्प्रसिद्धिर्भवति' इत्याशङ्क्य 'आत्मश्लाघामात्रमेव तेषां शूरत्वम्' इत्यभिप्रेत्य शूरत्वमेव स्पष्टयन्ति असंयुगे संयुगादन्यत्रैव विकत्थनं प्रौढिवादो येषां तैः। तथा हरिणाऽपि किम्? न किञ्चिद्भयमित्यर्थः। तत्रापि सामर्थ्याभावे हेतुं सूचयन्त आहुः–रहोजुषेति। लोकातीतवैकुण्ठादिस्थानवासिनेत्यर्थः। तथा शम्भुना रुद्रेणापि किं भयम्?। तत्रापि सामर्थ्याभावे हेतुमाहुः–वनौकसेति। अल्पवीर्येणेन्द्रेणापि किम्? ब्रह्मणा वाऽपि किम्? तस्यापि दुर्बलत्वं सूचयन्त आहुः—तपस्यतेति। तपोनिष्ठेन ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अस्यत इति ॥ अस्यतो विध्यतस्ते तव शरव्रातैः शरसमूहैः समंततः हन्यमानाः अतो जिजीविषवो जीवितुमिच्छवः अत एव पलायनं परं जीवनोपायो येषां तथाभूताः सन्तो रणभूमिमुत्सृज्य परित्यज्य ययुरिति अनेन कदाचित्कंसस्य देवगणजयो विष्णुपुराणोक्तः सूचितः ॥ ३३ ॥ केचिदिति ॥ दीना भयेन प्रकम्पितगात्राः अत एव न्यस्तानि त्यक्तानि शस्त्राणि यैस्तथाभूताः केचिद्दिवौकसो देवाः प्राञ्जलयः मूर्द्धनि बद्धाञ्जलिपुटा जाताः। केचिच्च मुक्ताः कच्छाः वस्त्रग्रन्थयः शिखाश्च यैस्तथाभूताः सन्तो भीताः स्म इति वादिनो जाताः ॥ ३४ ॥ न त्वमिति ॥ विस्मृतानि शस्त्राणि अमन्त्राणि अस्त्राणि समन्त्राणि च यैस्तान् विरथान् रथहीनान् भयेन संनतान् शरणागतान्। संवृतानित्यपि पाठः। अन्यासक्तान् अन्येन युद्धकर्त्रा सहागतान् अन्येन सह युद्धमानान्वा अन्यत्र विषये व्यग्रान्वा विमुखान् युद्धात्पराङ्मुखान् भग्नचापान् अयुध्यतः युद्धमवाञ्छतः। न युद्धमिच्छन्तीति क्यच्। त्वं न हंसि ॥३५॥ किं क्षेमेति सार्द्धम् ॥ क्षेमे स्त्रीसंनिधानादिनिर्भयप्रदेशे शूरैः असंयुगे संयुगादन्यत्रैव विकत्थनं प्रौढिवादो येषां तैः विबुधैर्देवैः किं किमनिष्टं कर्त्तुं शक्यं न किमपीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि रहो गुप्तमन्तःकरणं जुषत इति क्षीरोदादि दूरं विजनं वा सेवमानेन हरिणा किं यदि बलमस्ति तदा किमिति प्रकटीभूय न युद्धयतेति भावः। गुप्तं सर्वजनहृदयं प्रविष्टेनेति वास्तवोऽर्थः। पुरुषप्रवेशहीनमिलावृतवनमोको यस्य तेन शम्भुना वा किं निर्वैरतया वने स्थितेनेति तत्त्वार्थः। अल्पवीर्येण इन्द्रेण वा तपस्यता तपोनिष्ठेन ब्रह्मणा वा किम्। सर्वक्षेमार्थं तपस्यतेति तत्त्वार्थः ॥ ३६ ॥

भगवत्सादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अस्यत इति ॥ अस्यतः शरान् क्षिपतः, ते तव, शरव्रातैः बाणसंघैः, हन्यमानाः, जिजीविषवः जीवितुमिच्छवः, पलायनमेव परो रक्षणोपायो येषां ते तथाभूताः सन्तः, उत्सृज्य स्वस्वस्थानानीति शेषः। समन्ततः, ययुः ॥ ३३ ॥ केचिदिति ॥ केचित्,

दिवौकसो देवाः, भीताः, त्वत्त इति शेषः। अत एव, न्यस्तानि त्यक्तानि शस्त्राणि यैस्तथाभूताः सन्तः, केचिच्च, मुक्ता विश्लथाः कच्छाः शिखाश्च येषां ते, मुक्तकक्ष्याः शिखाः' इति पाठे, मुक्ताः कक्ष्याः काञ्चयः शिखाश्च येषां ते, 'कक्ष्या करिवरत्रायां काञ्च्यां गेहप्रकोष्ठके' इति यादवः। भीताः स्मः, इति वादिनो वदन्तः, प्राञ्जलयः सन्तः, तस्थुरिति शेषः ॥ ३४ ॥ न त्वमिति ॥ अथापि, त्वं विस्मृतानि शस्त्राणि अस्त्राणि च यैस्तान्, मन्त्रशक्त्युपबृंहितान्यस्त्राणि। इतराणि तु शस्त्राणीति विवेकः विगता रथा येषां तान्, भयेन संनतास्तान्, 'भयसंवृतान्' इति पाठे भययुक्तान्, न हंसि। तव शरणागतरक्षकत्वादिति भावः। तथा, अन्यासक्तविमुखान् अन्यासक्तान् विमुखांश्च, भग्नचापान्, अयुद्ध्यतश्च, न हंसि। ततः, चेमे स्वगृहे एव शूराग्तैः, असंयुगे संयुगादन्यत्र विकत्थनं प्रागल्भ्यवचो येषां तैः, विबुधैर्देवैः, किं न किंचिदपि कर्त्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ आस्तां तावत् सामान्यदेवानां वार्त्ता, देवश्रेष्ठैर्हरिहरेन्द्रब्रह्मभिरपि न किंचिदित्याहुः ॥ रह इति ॥ रहोजुषा त्वद्भयात्समुद्रमध्यरूपनिर्जनदेशसेविना, हरिणा विष्णुना, किं, न किंचित्तेन त्वयि कर्त्तुं शक्यमिति भावः। वनौकसा हिमाद्रिकान्तारगतकैलासशिखरमन्दिरेण, शंभुना शिवेन वा, किम्। अल्पवीर्येण अल्पवीर्यत्वात्पार्ष्णिग्राहबलेन जयमिच्छतेति भावः। इन्द्रेण किं वा। तपस्यता पुष्करद्वीपे पद्मासनमधिष्ठाय तपश्चरता, ब्रह्मणा च किम् ॥ ३६ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् जब आप बाणवर्षा करते हैं तब बाणों के समूह से चारों ओर से मारे जाते हुए अपने जीवन रक्षा की कामना रखने वाले वे देवता लोग धर्म और युद्ध को छोड़कर भागने लगते हैं ॥ ३३ ॥ कुछ देवता जिन्होंने शस्त्र डाल दिये हैं, जो डरे हुए हैं और जिनकी चोटी एवं कच्छ खुल गये हैं हाथ जोड़ कर आपके सामने खड़े हैं और कुछ यह कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं हमारी रक्षा करो ॥ ३४ ॥ जो भय के मारे शस्त्र अस्त्र भूल गये हैं, रथहीन हैं, भय से शरणागत हैं, अन्य कार्य में आसक्त होकर युद्ध से विमुख हैं अथवा जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते ॥ ३५ ॥ देवता वहीं वीर बनते हैं जहां अपने अकल्याण की संभावना न हो। वे रण के बाहर बड़ी बड़ी डींग मारनेवाले हैं। उनसे तथा एकान्त में रहने वाले हरि भगवान् से, वनवासी शंकर से अपना क्या बिगाड़ हो सकता है ॥ ३६ ॥

किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता। तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ॥ ३७ ॥
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥ ३८ ॥

यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते ॥ ३९ ॥

मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः। तस्य च ब्रह्म गोविप्रास्तपो यज्ञाः सदक्षिणाः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अल्पवीर्येण इन्द्रेण किम् तपस्यता वा ब्रह्मणा किम् तथापि सापत्न्यात् देवाः न उपेक्ष्याः इति मन्महे ॥ ३७ ॥ ततः तन्मूलखनने अनुव्रतान् अस्मान् नियुंक्ष्व ॥ ३८ ॥ यथा अङ्गे समुपेक्षितः रूढपदः आमयः नृभिः चिकित्सितुम् न शक्यते यथा उपेक्षितः इन्द्रियग्रामः (न शक्यते) तथा बद्धबलः महान् रिपुः न चाल्यते ॥ ३९ ॥ देवानां मूलं हि विष्णुः यत्र सनातनः धर्मः तस्य च मूलं ब्रह्म गो विप्राः तपः सदक्षिणाः यज्ञाः मूलम् ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यद्यप्युद्यमैर्देवा न किंचिदपि कर्तुं समर्थास्तथापि नीतिरनुसर्तव्येत्याहुः तथापीति ॥ ३७ ॥ रूढपदो बद्धमूलः ॥ ३८ ॥ देवानां मूलं विष्णुः स च यत्र धर्मस्तत्राऽऽस्ते। तस्य धर्मस्य मूलं वेदादय इति ॥ ३ –४१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

नीती राजनीतिः। अनुसर्त्तव्याऽनुगंतव्या ॥ ३७ ॥ आमयो ज्वरादिः। चिकित्सितुमपनेतुम् ॥ ३८ ॥ यत्र सनातनो वेदविहितो धर्मस्तत्र देवानां मूलं विष्णुरास्ते इति शेषं कृत्वान्वयः। तस्य धर्मस्य ॥ ३९ ॥ सर्वात्मना सर्वप्रकारेण। हविर्दुघा यज्ञोपयोगिघृतादिदात्र्यः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, तथापि देवेन्द्रोऽवश्यमागन्ता तत्राह किमिति। ननु ब्रह्मा तत्सहायो भविता तत्राहुः—ब्रह्मणेति तपःपरत्वेन विक्रमाभावात् तपो व्ययभिया शापाप्रवृत्तेश्च तेन सहायेनापि सता किमित्यर्थः। मन्महे मन्यामहे ननु, देवा भीताः पलायिष्यन्त

एव तत्राहुः तत इति। तेषां देवानां मूलस्य बालकरूपेणावतीर्य्य स्थितस्य गुप्तस्य विष्णोः खनने हिंसनेऽस्मान् नियुंक्ष्व ।।३७।। ननु, गुप्तश्चेदसमर्थ एव स मम इति किङ्करिष्यति तत्राहुः—यथेति। कदाचिन्महौषधादिप्रभावेण तच्चिकित्सासम्भवमाशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाहुः—यथेन्द्रियेति। बद्धबलत्वादेव महान् विवृद्धः सन्न चाल्यते स्थानाद्भ्रंशयितुमपि न शक्यते किमुत हन्तुमित्यर्थः ।।३८।। अथ मूलस्य तस्य गुप्तस्यापि हननोपायं सार्द्धैश्चतुर्भिर्वदन्तौ मूलत्वमेव तद्रहस्यविदामृषीणां वचनानुवादेनापि सपरिकरं निर्दिशन्तस्तद्धननमेव दृढीकुर्वन्ति मूलमिति हि वेदे प्रसिद्धं सनातनः अनादिसिद्धो वेदप्रसिद्धः न तूपधर्मादिरित्यर्थः। धर्मः अपूर्वः तपः स्वधर्माचरणं नित्यनैमित्तिकलक्षणं यज्ञशब्देन काम्यकर्माण्युपलक्ष्यन्ते सदक्षिणा इति तथैव साङ्गतया धर्ममूलतासिद्धेः ।। ३९ ।। अथ तथापि तस्य विष्णोरहोजुट्त्वेपि तत्परिकरहननेनैव हननं स्यादित्याहुः—तस्मादिति। सर्वात्मना सर्वेणैव प्रयत्नेन हन्मः तेषां हननमेवास्माकं तद्धर्मोपमर्दकः परमो धर्म इति तान् हन्यामेवेत्यर्थः। हे राजन्निति तव प्रभावेणैव सुनरामेवेति भावः। ब्राह्मणहनने हेतवः ब्रह्मेत्यादि तन्नाशे स्वतो वेदादिनाशसिद्धेः गोहनने हेतुः हविर्दुघाः घृतादियज्ञीयद्रव्यप्रदाः ।। ४० ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तेषां मूलस्य खनने उत्पाटनेऽनुव्रतान् त्वदेकभक्तान् ।। ३७ ।। ननु, ते यदोद्यमं करिष्यन्ति, तदैव हन्तव्यास्तावदधुनोपेक्ष्यन्तम्? तत्राहुः—यथेति। नृभिरिति तेष्वेव प्रायोरोगोत्पत्तेस्तेषामेव तच्चिकित्साशक्तेश्च, कदाचिन्महौषधादिप्रभावेण तच्चिकित्सासम्भवमाशंक्य दृष्टान्तान्तरमाहुः—यथेति। बद्धबलत्वादेव महान् विवृद्धः सन् न चाल्यते निर्जेतुं न शक्यत इत्यर्थः ।।३८।। मूलखनने इत्युक्तम्, मूलमेवाहुः मूलमिति हि निश्चितम्; सनातनः स्थिर इत्यर्थः, इति फलाभिसन्धिराहित्यम्, किंवा अविच्छिन्नत्वमच्छिद्रत्वादिकञ्चाभिप्रेतम्; तपः स्वधर्म्माचरणं नित्यनैमित्तिकलक्षणम्; यज्ञशब्देन काम्यकर्म्माण्युपलक्ष्यन्ते; सदक्षिणा इत्यन्यथा यज्ञानां सांगत्वाभावेन धर्म्ममूलत्वासिद्धिः ।। ३९ ।। सर्वात्मनाशेषप्रकारेण विविधोपायैरित्यर्थः। ब्राह्मणहनने हेतवः ब्रह्मेत्यादिः; तद्वधेन स्वत एव वेदादिनाशसिद्धेरिति भावः। हे राजन्निति त्वत्प्रभावादेवेति भावः। गोहनने हेतुः—हविर्दुघा घृतादियज्ञीयद्रव्यप्रदा इति ।। ४० ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति—यथेति। यथाऽङ्गे शरीरे समुत्पन्न आमयो व्याधिस्तावन्नृभिर्यत्नं मूलोन्मूलने तूपेक्षितोऽत एव रूढमूलः तनश्चिकित्सितुं प्रतिकर्तुं न शक्यते यथा च तावद्योगिभिरुपेक्षितः इन्द्रियग्रामस्ततो दुर्निग्रहस्तथा रिपुरपि तावदुपेक्षितस्तता रूढबलश्चालयितुमपि न शक्यते तर्हि किं तत्सपत्नानां मूलं यद्विनाशितव्यम् इत्यत्राहुः— मूलम् इति। सनातनोऽनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायवेदोपवेदबोधितो धर्मः वर्णाश्रमानुगुणो यत्र विष्णौ यद्विष्णवधीनः स विष्णुर्देवानां मूलं रहस्सेवी स कथं छेत्तव्य इत्यत्राहुः तस्येति ब्रह्म वेदः गावश्च विप्राश्च गोविप्राः तप इति पृथक् पदं ब्रह्मादयस्तस्य विष्णोर्मूलम् इत्यनुषङ्गः ।। ३८-३९ ।। तस्मात् हे राजन्! सर्वात्मना नानोपायेन ब्रह्मवादित्वादिगुणयुक्तान् ब्राह्मणान् हविः सान्नाय्यं दुहन्तीति तथा ताश्च गाः हन्मः हनिष्यामः ।। ४० ।।

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तेषां मूलोत्पाटने ।। ३७ ।। अङ्गे शरीरे आमयः कुष्ठादिः रूढं पदं व्याप्तं स्थानं येन सः ।। ३८ ।। कः साक्षात् मूलमित्यत्राह—मूलमिति। तस्य विष्णोर्मूलम् ।। ३९ ।। हन्मः हनिष्यामः हविर्दुघाः यज्ञयोग्यं घृतं दुहन्तीः छन्दसि हकारस्थाने वकारः ।। ४०–४४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसंदर्भः

यथेति। बद्धबलत्वेन महान् विवृद्धः सन् ।। ३८ ।। धर्मोऽपूर्वः तपः स्वधर्मः यज्ञाः काम्यधर्माः ।। ३९ ।। सर्वात्मना सर्वेणैव प्रयत्नेन ।। ४० ४५ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तदपि क्षुद्रा अपि शत्रवो नोपेक्षणीया इति नीतिशास्त्ररीतिरनुसरणीयैवेत्याहुः—तथापीति ।। ३७ ।। रूढपदो बद्धमूलः ।। ३८ ।। धर्मः सनातन इति धर्म एव तं जीवयंस्तस्य मूलमित्यर्थः। तस्य धर्मस्य मूलं वेदादयः ।। ३९ ।। तेषामपि मध्ये ब्राह्मणवधेनैव सर्वे नङ्क्ष्यन्तीत्याहुः-तस्माद् इति। किञ्च यज्ञानां कारणं हविस्तस्य गाव इति ताश्च वध्या इत्याहुर्गाश्चेति ।। ४० ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तथापि शत्रूपेक्षा दोषावहा इत्याहुस्तथापीति ।। ३७ ।। रूढपदः बद्धमूलः सन् ।। ३८ ।। प्रथमतस्तु तव शत्रुः कन्यकावाक्याद्यत्र कचन जातस्तद्वधोपायस्तूक्त एव अथ मुख्यमिममुपायं शृण्वित्याहुः—मूलमिति। देवानां मूलं विष्णुः स च यत्र धर्मस्तत्र वसति तस्य धर्मस्य मूलं तु ब्रह्मगोविप्रादयः ब्रह्म वेदः ।। ३९–४४ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

यद्यप्यकिञ्चित्करा देवास्तथापि शत्रुत्वात्तेषामुपेक्षा न युक्तेत्याहुस्तथापीति एवन्नीतेरिति भावः ॥ ३७ ॥ दृष्टान्ताभ्यामनुपेक्षां पुष्यन्ति यथेति रूढपदे बद्धमूलः इन्द्रियग्रामो योगिभिरुपेक्षितो जेतुं न शक्यते ॥ ३८ ॥ देवानां मूलं विष्णुः स च यत्र धर्मस्तत्रास्ते तस्य धर्मस्य मूलं ब्रह्मादयः ब्रह्म वेदः ॥ ३९ ॥ तेषां मध्ये विप्राणां वधेनैव सर्वे ते नङ्क्ष्यन्तीत्याहुः तस्मादिति किञ्च यज्ञानां कारणं हविस्तस्य गावः त्यश्च वध्या इत्याहुर्गोश्चेति ॥ ४० ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

मूलमिति। अत्र तस्य चेत्यविना विष्णोर्ब्रह्मगवादिमूलकत्वमुक्तम्। तदयुक्तम्। सर्वकारणकारण इत्यनेन विरोधादत उच्यते। इदमसुरोक्तत्वादासुरं मतम्। यद्वा। तस्य विष्णोः। ब्रह्मगवादयः। चशब्दसंगृहीतमूलानि। वचनविपरिणामात्। मूलसंवरण इति धातोराच्छादका इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इति श्रीभागवते पंचमोऽध्यायः ॥ १०–५ ॥ (अस्मत्पक्षे चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण तपस्यता तपः कुर्वता ब्रह्मणा वा चतुराननेन किम्। तथाऽप्येवं सर्वदौर्बल्येऽनुभूतेऽपि सापत्न्याज्ज्ञातित्वाद्वैरित्वाद्वा ते नोपेक्ष्या इति वयं मन्महे जानीमस्तन्मूलखनने तेषां मूलोत्पाटनेऽनुव्रतानस्मान्नियुङ्क्ष्वाज्ञापय ॥ ३७ ॥ ननु सद्यो जातः पोतो भविष्यति तेन किं बलवान्भवतु तदा पश्याम इति न वद स्वामिन्निति सति सनिदर्शनं वदन्ति ॥ यथेति। अङ्गे शरीरे आमयो रोगो रूढपदो रूढं पदं स्थानं यस्य स सन्निरूढपदो रोगश्चिकित्सितुं नृभिरुपेक्षितो नृभिर्भिषग्भिर्न शक्यते रोगस्य पारक्यस्योपेक्षणं न विहितम्। विहितं च रक्षणं शरीरस्येतीरितं सत्यम्। परन्तु देवाः स्वकीयाः कथं कर्तव्यमित्यतो न च स्वकोऽप्युपेक्षणीयो विहितं इत्यत्र निदर्शनान्तरमाह। यथेन्द्रियग्राम इति। इन्द्रियसमूह उपेक्षितश्चेद्दुर्विषयेषु गच्छन्नच्छमपि तुच्छं करोति जनमित्युपेक्ष्यो यथा न तथा रिपुर्लब्धबलो महांश्चाल्यते न चलयितुमशक्य इतोदानीमेव तन्मूलविलयनं कर्तव्यमिति भावः। महालब्धबल इति पाठेऽपि नार्थभेदः ॥ ३८ ॥ मूलं किं कथं तन्मथनमित्यतः कथयन्ति। मूलमिति। हि यतो विष्णुर्देवानां मूलं मुख्यम्। स क्वेत्यत आहुः। यत्रेति। सनातनो धर्मो यत्र तत्र स आस्ते तस्य च धर्मस्यापि ब्रह्म च वेदो गावश्च विप्रास्तपः सदक्षिणा यज्ञाश्च मूलमित्यन्वयः ॥ ३९ ॥ ब्रह्मवादिनस्तपस्विनो यज्ञशोलान्ब्राह्मणांस्तस्मात्सर्वात्मना प्रकाशवर्त्मनोपायेन हन्मो हनिष्यामः। हविः क्षीरं दुहन्तीति हविर्दुघा गाश्च हनिष्यामः। एवं चेन्मूलसङ्क्षालनं भविष्यतीति भावः। दुहः प्रपूरणेऽस्माद्दुहः कप् घश्चेति कप्रत्ययो घश्चान्तादेशः कित्त्वान्न गुणः ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

देवेन्द्रस्तु यद्यपि वृत्रहा तथाप्यल्पवीर्यः, अन्यथा वज्रादिप्रार्थनां कथं कुर्यात्? ब्रह्मा यद्यपि महान् भवति तथापि ब्राह्मण एव तपस्वी, एवं यद्यपि सर्वे देवा अप्रयोजकास्तथापि राजनीतिविचारेण ते नोपेक्ष्या इत्याहुस्तथापीति, देवानां दैत्यानां च सापत्न्यमस्ति कश्यपदायादाः सर्वे भिन्नमातृजास्ते शत्रव एव परस्परं भवन्ति, अतः सहजद्वेषित्वाद् यदैव ते पुष्टा भविष्यन्ति तदैव मारयिष्यन्तीति नोपेक्ष्याः क्षीणदशायामेव मारणीयाः, अयमर्थो भवति न वेति विचारका जानन्ति वयं त्वेवं मन्महे ॥ ३७ ॥ एवं माहात्म्यं नीतिं चोक्त्वा किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुस्तत इति, यदेव देवानां मूलं भविष्यति तस्यैव खनने नियुङ्क्ष्वाज्ञापय, अनुव्रतानिति, योगेन रूढ्या च सर्वथा भवन्तमनुसृता वयं, मूलमग्रे वक्तव्यं खननं च मध्ये ॥ ३८ ॥

उपेक्षायां को दोष इति चेत् तत्राहुर्यथेति, आमयो रोगो ज्वरादिरङ्ग आविर्भूतस्तमनादृत्य यदि स्नानभोजनादिकं कुर्यात् तदा रूढपदः संश्चिकित्सितुं न शक्यते, अङ्गमेव नाशयति, सद्वैद्येनापि तज्जनिते सन्निपाते चिकित्साशक्या, अनेन सम्बन्धे विद्यमाने कथं मारणीया इति शङ्का निवारिता तेषां सर्वनाशकत्वादिति लौकिकबाधकत्वेन निरूपितं, वैदिकबाधकत्वेन दृष्टान्तान्तरमाह यथेन्द्रियग्राम उपेक्षित इति, योगिना परमपुरुषार्थे साध्य इन्द्रियसमूहो नोपेक्षणीयः, तेषामुपेक्षाया 'मिन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रितिन्यायेन सर्वनाशो भवति, प्रबलं चेदिन्द्रियं पश्चान्निवारयितुमशक्यं यथैहिकामुष्मिकनाश एताभ्यां तथा सर्वनाशो देवैर्दैत्यानां, तदाह रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यत इति, महान् स्वापेक्षयापि स्वरूपतः, ते चेत् सम्बद्धबला भवन्ति तदा चालयितुमप्यशक्या अतो नोपेक्षणीयाः ॥ ३९ ॥

मूलमाह मूलं विष्णुरिति, देवानां मूलं विष्णुः, विष्णुप्रभवा देवाः, सत्त्वगुणा देवाः, तस्याधिष्ठाता तु विष्णुः, इमां युक्तिं हि शब्द आह, प्रकारान्तरेणापि देवानां मूलं विष्णुरित्याह यत्र धर्मः सनातन इति, धर्मो यागादिः, स तु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः, स केवलं वेदोक्तः सनातनः, 'तानि धर्माणि प्रथमान्यास'न्निति श्रुतेः, यज्ञाभावे देवानां भक्ष्याभावाद् यज्ञो

देवानां मूलं, स च स्वदेवतानियम्यः, तस्य च देवता **विष्णुः**, 'यज्ञो वै विष्णु'रितिश्रुतेः, न केवलं तस्य नियामकत्वं किन्त्वाधारत्वमपि, तदाह यत्रेति, **यत्र** विष्णौ **सनातनो धर्मः**, 'धर्मस्य प्रभुरच्युत' इति वाक्यात्, तस्माल्लौकिकवैदिकदेवानां मूलं विष्णुः, तस्यापि मूलमाह तस्येति, चकाराद्देवानामपि, **ब्रह्म** वेदः, **गावो विप्राश्च तपो यज्ञाः सदक्षिणाः**, प्रमाणं वेदः, हविरेकत्र मन्त्राश्चैकत्र, द्विविधो हि धर्मः, प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकः, प्रवृत्त्यात्मको **यज्ञो** निवृत्त्यात्मकस्तपः, **सदक्षिणाः दक्षिणा** यज्ञस्य भार्या, अनेन प्रवृत्तिधर्मत्वं तस्योक्तं, पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपितः, अनेन द्वयं मूलत्वेनोक्तं **ब्राह्मणा गावश्च**, तत्र दुहन्त्यो गावो यज्ञकर्त्तारस्तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणाः ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तस्य चेत्यत्रानेनेति, दक्षिणाया भार्यात्वनिरूपणेन, तस्येति, यज्ञस्य, तथा च विष्णुदेवयोर्मूलं द्विविधो धर्म इति भावः, पक्षान्तरमाहुः पञ्चात्मको वेति, वेदात्मको यज्ञात्मको गवात्मको विप्रात्मकस्तप आत्मको विष्णुरेव वा देवानां मूलमित्यर्थः, प्रकारान्तरेण द्वयमेवमूलमित्याहुरनेनेति, मूलनिरूपकवाक्येनेत्यर्थः तत् किं द्वयम् ? अत्राहुर्ब्राह्मणा गावश्चेति, इयं व्याख्याग्रिमश्लोकस्वरससिद्धेति बोध्यम् ॥ ३९ ॥

बुभुत्सुबोधिका

किमिन्द्रेणेत्यत्र 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मण' इति विग्रहः गोपालतापिनीये प्रसिद्धः। तपस्वीति द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'अतप्यत स्माखिललोकतापनं तप' इति वाक्यात्। 'अतप्यते'ति तप ऐश्वर्ये इत्यस्य रूपं लङि। अयं दिवा० आत्म० अनि० तप इति तप सन्तापे भ्वा० प० अ० तस्य रूपम्। तथा च तपोनिष्ठैश्वर्यानुकूलभूतव्यापारवानिति ब्रह्मविशेषणम्। राजनीतीति कारिकोक्तः षष्ठो धर्मः कंसस्य। कश्यपेति 'पश्यकः कश्यप' इत्यारण्यकेस्ति। तस्य दायं भागमदन्ति ते कश्यपदायादाः। 'वयं मन्महे' इत्यनेनान्येषामपि ज्ञानं व्यज्यते तदाहुः अयमर्थ इति ॥ ३७ ॥

तत इत्यत्र योगेन रूढ्या चेति अनुवृत्तं येषामिति योगः, भृत्ये रूढिः। अग्र इति 'मूलं विष्णु'रिति श्लोके। मध्य इति 'तस्मा'दिति श्लोके दैत्यमतिदैत्यकृतयोर्मध्ये ॥ ३८ ॥

यथामय इत्यत्र उपेक्षायामिति 'उपेक्ष्या' इति पूर्वश्लोकोक्तायाम्। मारणीया इति सापत्न्याः। सर्वनाशेति आत्ममात्रद्वेषित्वे सति कुलद्वेषित्वात्। षडङ्गनाशकत्वमाहुः इन्द्रियैर्विषयेति। 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः। चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदा'दितिवाक्यम्। चालयितुमपीति सापत्न्या इतोन्यत्र गच्छन्त्विति चालयितुमपिना मारयितुं जेतुं वा ॥ ३९ ॥

मूलं विष्णुरित्यत्र स त्विति यागादिः। 'यथेन्द्राय स्वाहे'ति। इन्द्रमुद्दिश्य हविस्त्यागः। यज्ञो देवानां मूलमिति यज्ञस्य विष्णोः कार्यं पालनं भक्ष्यं मूलम्। पालनमित्यत्र करणे ल्युट्। मूलशब्दो विष्णौ तत्कार्ये चोक्तः। स चेति स च यज्ञः। 'यज्ञो वै विष्णु'रिति आधिदैविकाध्यात्मिकयोरभेदान्वयः 'तच्चक्षुर्देवहित'मिति श्रुत्यन्तरे यथा। पञ्चात्मकत्वं वक्तुमधिष्ठानकारणं वदत एव धर्मद्वैविध्यमावृत्त्याहुः न केवलमिति। आवृत्तेः फलं लौकिकदेवानां लौकिकधर्मो वैदिको धर्मः। अधिष्ठानकारणत्वं च। प्रभुरित्याधिदैविकः। 'मूल'माधार इत्युक्तम्। तस्मादिति धर्मद्वैविध्यादधिष्ठानकारणत्वाच्च। लौकिकेति लौकिकदेवा अक्षरमूलाः। वैदिकदेवाः शब्दमूलाः। 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्या'मितिसूत्रात्। मूलमधिष्ठानम्। तस्यापीति विष्णोः, अपिना तत्कार्यस्य पालनस्य यागस्य (भक्ष्यस्य)। मूलमाहेति विष्णोर्द्रव्यदेवतयोर्यागरूपयोश्च मूलमाधारमाहेत्यर्थः। ब्रह्म वेद इति वेदो देवानां मूलम्। 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवा'दितिव्याससूत्रात्। विष्णोर्मूलं कारणमपि वेदः। शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात्। 'औत्पत्तिकं नित्यं ब्रूम' इति शाबरभाष्यात्। विष्णुकार्ययाग (भक्ष्य) रूपपालनाधारौ 'गावो विप्राश्चे'त्युक्तौ। गोषु हविर्द्रव्यम्। विप्रेषु मन्त्राः 'मन्त्रमयी देवते'ति भाट्टदीपिकायाम्। तपोधिकारः। यज्ञाः साधनानि। परं सदक्षिणाः। एवं षड्गुणो यज्ञ उक्तः। तमाहुः प्रमाणं वेद इति। एकत्रेति गोषु। एकत्रेति विप्रेषु। भार्येति चतुर्थस्कन्धेस्ति। अनेनेति दक्षिणाया भार्यात्वनिरूपणेन गृहस्थाश्रमत्वसूचनेन। तस्येति यज्ञस्य। गृहस्थाधिकारात्। पक्षान्तरमाहुः पञ्चात्मको वेति। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्। शरीरवाङ्मनोभिर्यः कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः। तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान् न स पश्यति दुर्मति'रिति। प्रकारान्तरेण द्वयमेव मूलमित्याहुः अनेनेति। मूलनिरूपकवाक्येनेत्यर्थः। द्वयं किमित्युक्ते 'ब्राह्मणा गावश्चे'त्युत्तरश्लोकाभासोक्तमनुपज्यते ॥ ४० ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि अत्र दैत्यमंत्री इन्द्रादि की परिस्थिति को "किमेन्द्रेणाल्पवीर्येण" श्लोक में बतलाते हैं कि—देवराज इन्द्र तो यद्यपि वृत्रासुर को मारनेवाला है, तो भी अल्प पराक्रमी ही है, अन्यथा वज्र आदि की याचना क्यों करता ? ब्रह्मा यद्यपि महान् है, परन्तु ब्राह्मण तपस्वी ही तो है वह, इस प्रकार और सब ही देवता

यद्यपि कुछ भी नहीं कर सकते तो भी राजनीति के विचार से उनको उपेक्षा करना अनुचित ही है, देवता और दैत्यों का परस्पर सापत्न्य शत्रु भाव है, यह दोनों कश्यप के दायाद हैं, भिन्न भिन्न माताओं में प्रकट हुए यह कश्यप पुत्र परस्पर शत्रु ही हैं। अतः सहज शत्रु होने से वह जब ही पुष्ट होवेंगे तब ही मारेंगे, अतः उपेक्षा योग्य नहीं, क्षीण दशा में ही मार देना उचित है। यह कर्त्तव्य अर्थरूप है या अनर्थरूप है, यह तो विचारक लोग जानते हैं, परन्तु हम ऐसा मानते हैं ॥ ३७ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **एवं माहात्म्यं नीतिं चोक्त्वा किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—** मंत्रीलोग कंस राजा को इस श्लोक में इस प्रकार कंस का महान् पराक्रम व नीति, को कहकर, क्या करना चाहिये इस आकाङ्क्षा में कहते हैं कि **'ततस्तन्मूलखनने'** इत्यादि, जो ही देवताओं का मूल हो, उस मूल के ही खोदने में हमको नियुक्त करें, आज्ञा दें, 'अनुव्रतान्' हम लोग आपका अनुसरण करने वाले हैं, **'अनुकूलं व्रतं येषाम्'** इस योग से तथा रूढि से सर्वथा आपके अनुयायी हैं। मूल को आगे कहा जायेगा, मध्य में उसका खनन कहा जायगा ॥ ३८ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **"उपेक्षायां को दोष इति चेत्तत्राहुः"** उपेक्षा करने में दोष बतलाते हैं कि **'यथाऽऽमयोङ्गे'** जैसे ज्वर आदि रोग अङ्ग में पैदा हो गया हो, उसकी उपेक्षा करके यदि स्नान भोजन आदि करें तो उस रोग का जमाव जम जाता है, उसको चिकित्सा नहीं हो सकती, वह अङ्ग को ही नष्ट कर देता है, उत्तम वैद्य द्वारा भी उस रोगजन्य सन्निपात के होने पर चिकित्सा करना अशक्य हो जाता है, उक्त कथन से इस शङ्का का निवारण किया गया है, कि सम्बन्ध के रहते हुए कैसे मारे जाँय, क्योंकि वह सर्वनाश करने वाले हैं अतः मारना आवश्यक है, इस प्रकार लौकिक बाधकरूप से अन्य दृष्टान्त कहा है कि **'यथेन्द्रियग्रामः'** इत्यादि।

योगीजन को परम पुरुषार्थ सिद्ध करना हो तो इन्द्रियवर्ग को उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, उपेक्षा करने पर **'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः'** इत्यादि कथित प्रकार से योगियों का सर्वनाश हो जाता है, प्रबल होने पर बाद में इन्द्रियों का रोकना शक्य नहीं जैसे लौकिक पारलौकिक सुखनाश इन रोग व इन्द्रियों की उपेक्षाओं से होता है, वैसे दैत्यों का सर्वनाश देवताओं से उनकी उपेक्षा द्वारा हो सकता है, वह कहते हैं कि **'रिपुर्महान्'** इत्यादि,

अपने से भी अधिक महत्त्वशाली तो वह स्वरूपतः हैं ही, वह फिर यदि दृढ़बल हो जावें तो हिलाये भी न जा सकेंगे, अतः उपेक्षणीय नहीं ॥ ३९ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **"मूलमाह"** दैत्य लोक देवताओं के मूल को **'मूलं हि विष्णुः'** श्लोक से कहते हैं।

देवताओं का मूल विष्णु है, विष्णु से देवताओं का प्रभव है, क्योंकि सत्त्वगुणरूप देवता होते हैं, उस सत्त्वगुण का तो अधिष्ठाता विष्णु ही है 'हि' शब्द से उक्त युक्ति सूचित की है। अन्य प्रकार से भी देवताओं का मूल विष्णु है—यह बतलाते हैं कि **'यत्र धर्मः सनातनः'** सनातन धर्म विष्णु पर ही आधारित है। धर्म यागादिरूप होता है, और याग तो देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही है, वह केवल वेदोक्त है, अतः सनातन है। **'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** श्रुति से धर्मों की प्राथमिकता स्पष्ट है। यज्ञ के अभाव में देवताओं को मोक्ष नहीं मिल सकता, अतः यज्ञ देवताओं का मूल है और वह यज्ञ अपने नियामक देवतारूप विष्णु से नियम्य है—**'यज्ञो वै विष्णुः'** इस श्रुति से यज्ञ को विष्णु रूप कहा गया है, अतः विष्णु ही यज्ञ के नियामक देवता हैं, व यज्ञ के आधार भी विष्णु ही हैं, अतः 'यत्र' पद से आधारता कही है, कि जिस विष्णु में सनातन धर्म रहता है **'धर्मस्य प्रभुरच्युतः'** इस वाक्य से अच्युत प्रभु विष्णु को धर्म का आधार बतलाया गया है, अतः लौकिक दानादि व वैदिक यागादि धर्म व उसके उद्देश्य देवताओं का मूल विष्णु है, उस विष्णु के भी मूल को कहते हैं कि **'तस्य च'** इत्यादि, उस विष्णु का 'च' कार से देवताओं का भी मूल ब्रह्म अर्थात् वेद है, तथा गौ, ब्राह्मण, तप, एवं दक्षिणा सहित यज्ञ भी उनके मूल हैं। वेद धर्मादि का प्रमाण है, गौ में हवि घृत रहता है, ब्राह्मण में मंत्र रहते हैं, धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिरूप व निवृत्तिरूप, यज्ञ प्रवृत्ति धर्म है, तप निवृत्ति धर्म है। दक्षिणा यज्ञ की भार्या है, दक्षिणा के यज्ञ के भार्या होने के कथन से यज्ञ का प्रवृत्ति धर्मरूपता स्पष्ट की है। इस प्रकार विष्णु व देवताओं का मूल द्विविध धर्म बतलाया है, अथवा वेद, गौ, ब्राह्मण तप यज्ञ रूप पञ्चात्मक विष्णु को देवताओं का मूल बतलाया है, इस मूल प्रतिपादक वाक्य से प्रधानतया गौ और ब्राह्मण यह दो ही मूल बतलाये गये हैं, यह अग्रिम श्लोक से स्पष्ट हो जाता है, उन गौओं में व ब्राह्मणों में दूध देने वाली गौ व यज्ञकर्त्ता तपस्वी वेदज्ञ ब्राह्मण विवक्षित हैं ॥ ४० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं यद्यपि देवा न किमप्यनिष्टं कर्तुं शक्तास्तथापि, सापत्न्यात् शत्रुत्वात्ते नोपेक्ष्याः। अकिञ्चित्करत्वेन नोपेक्षणीया इति वयं मन्महे मन्यामहे। ततस्तस्मात्तेषां मूलखनने अनुव्रतान् स्वसेवकानस्मान् नियुंक्ष्व आज्ञापय ॥ ३७ ॥ उपेक्षायां को दोष

इत्यपेक्षायामाह—यथेति । यथा अङ्गे शरीरे उत्पन्नः आमयो ज्वरादिरोगो नृभिर्यथेष्टस्नानभोजनादि कुर्वद्भिः प्रथमं समुपेक्षितः अचिकित्सितः, अतएव यदा रूढपदः बद्धमूलस्तदा चिकित्सितुमौषधादिप्रयोगेण निवर्तयितुं न शक्यते । एवं लौकिकं दृष्टान्तमुक्त्वाऽलौकिकं दृष्टान्तमाह—यथा चेन्द्रियग्रामः इन्द्रियसमूहः प्रथमत उपेक्षितः असन्नियमितो यदा विषयासक्तो भवति तदा संयमितुं न शक्यते तथोपेक्षितो रिपुरपि यदा बद्धबलो महान् भवति, तदा न चाल्यते स्थानाच्चालयितुमपि न शक्यते । तद्धननं तु दूरत इत्यर्थः ।। ३८ ।। तर्हि किं तेषां मूलं यद्विनाशितव्यमित्यपेक्षायामाहुः—विष्णुरेव देवानां मूलमिति । हीत्यवधारणे । ननु "तस्य रहोजुटत्वोक्तेः कथं विनाशः सम्भवति" इत्यपेक्षायामाह—यत्रेति । यत्र सनातनः सनातनवेदप्रतिपादितो धर्मः पुण्यादृष्टापूर्वादिपदवाच्यस्तत्रैव स आविर्भवतीति शेषः । तर्ह्यपूर्वस्याप्यदृष्टत्वात् कथं तज्ज्ञानमित्यपेक्षायामाहुः—तस्येति । तस्य च धर्मस्य ब्रह्मादयो मूलमित्यनुषङ्गः । ब्रह्म वेदः उपायज्ञापकः, गावः हविर्हेतुभूताः, विप्रा उपदेष्टारः, तपः कृच्छ्रादि, सदक्षिणा यज्ञाश्चोपायभूताः ।। ३९ ।। तस्मात् विष्णोराविर्भावहेतुत्वात् हे राजन् ! ब्रह्मवादिनः वेदोपदेशकर्तॄन् ब्राह्मणान् तपस्विनश्च यज्ञशीलान् यज्ञायनुष्ठातॄन् हविर्दुघा गाश्च सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन वयं हन्म इत्यन्वयः । सम्बोधनेन तव प्रभावादिति सूचितम् ।। ४० ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

तथापीति ।। तथापि अकिञ्चित्करत्वेऽपि सापत्न्यात् शत्रुत्वाद्धेतोः देवाः न उपेक्ष्याः किन्तु शत्रुतया योद्धव्या इत्यर्थः । इति वयं मन्महे । ततः अनुव्रतान् स्वसेवकानस्मान् तेषां देवानां मूलखनने मूलभूतस्य बालकरूपगुप्तस्य विष्णोः हनने नियुङ्क्ष्व आज्ञापय ।। ३७ ।। यथेति ।। यथाऽङ्गे शरीरे उत्पन्नः आमयो ज्वरादिरोगो नृभिर्यथेष्टस्नानभोजनादि कुर्वद्भिः प्रथमं समुपेक्षितः अचिकित्सितः अत एव यदा रूढपदः बद्धमूलस्तदा चिकित्सितुमौषधादिप्रयोगेण निवर्तयितुं न शक्यते । यथा चेन्द्रियग्रामः इन्द्रियसमूहः प्रथमत उपेक्षितः असंनियमितो यदा विषयासक्तो भवति तदा संयमितुं न शक्यते तथा उपेक्षितो रिपुरपि यदा बद्धबलो महान् भवति तदा न चाल्यते स्थानाच्चालयितुमपि न शक्यते तद्धननं तु दूरत इत्यर्थः ।। ३८ ।। मूलमिति ।। हि निश्चये स विष्णुरेव देवानां मूलं स च यत्र सनातनो धर्मस्तत्र तिष्ठति तस्य धर्मस्य च ब्रह्म वेदः गावः विप्राः तपः सदक्षिणा यज्ञाश्च मूलम् ।। ३९ ।। तस्मादिति ।। तस्मात् विष्णोराविर्भावहेतुत्वात् हे राजन् ! ब्रह्मवादिनः वेदोपदेशकर्तॄन् ब्राह्मणान् तपस्विनश्च धर्मशीलान् यज्ञायनुष्ठातॄन् यज्ञशीलानित्यपि पाठः । हविर्दुघा होमसाधनघृतादिप्रदाः गाश्च सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन वयं हन्मः ।। ४० ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यद्यप्युद्यमैर्देवा न किंचिदपि कर्त्तुं समर्थास्तथापि नीतिरनुसर्त्तव्या इत्याहुः ।। तथापीति ।। तथापि तवाग्रे एतेषामकिंचित् करत्वेऽपि, सापत्न्याद्देवानामस्माकं च परस्परं शत्रुभावाद्धेतोः, देवाः, न उपेक्ष्याः नोपेक्षणीयाः, इति मन्महे मन्यामहे । ततः, 'समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः । ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत् कुतः सुखम्' इति नीतिवक्तृभिर्युक्तोक्तेश्च हेतोः, अनुव्रतांस्त्वद्भृत्यान्, अस्मान्, तन्मूलखनने सपत्नमूलोन्मूलने निमित्ते, नियुङ्क्ष्व आज्ञापय ।। ३७ ।। सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति ।। यथेति ।। यथा, अङ्गे शरीरे, आमयः समुत्पन्नो व्याधिः, नृभिः समुपेक्षितः प्रथमत एव नृभिरुपेक्षां गमितः, अत एव, रूढपदः निरूढमूलः, स्याच्चेत्तदा, चिकित्सितुं प्रतिकर्तुं, न शक्यते । यथा च, योगिभिः उपेक्षितः तावदेवोपेक्षां नीतः, इन्द्रियग्रामः, महान् दुर्जयः । तथा दृष्टान्तद्वयवत्, बद्धबलः रिपुरपि, न चाल्यते । चालयितुमल्पमात्रमपि न शक्यते इत्यर्थः ।। ३८ ।। तर्हि किं सपत्नानां मूलं यद्विनाशितव्यमित्यत्राहुः ।। मूलमिति ।। सनातनः अनादिनिधनाविच्छिन्नसंप्रदायवेदबोधितः, धर्मः वर्णाश्रमानुगुणो वृषः, यत्र विष्णौ तिष्ठति, स विष्णुः, देवानां, मूलं हि । तस्य विष्णोः चापि, मूलं, ब्रह्म वेदाश्च गावश्च विप्राश्च ते, तपः, सदक्षिणाः दक्षिणाभिः सहिताः, यज्ञाः ।। ३९ ।। तस्मादिति ।। हे राजन्, तस्माद्धेतोः, सर्वात्मना सर्वप्रकारेण, ब्रह्मवादिनः, तपस्विनः, धर्मशीलान्, ब्रह्मवादित्वादिगुणयुक्तानित्यर्थः । ब्राह्मणान्, हविः दुहन्तीति हविर्दुघाः, यज्ञयोग्यघृतादिदुहन्तीः, छन्दसि हकारस्य घकारः । गा धेनूश्च, हन्मः हनिष्यामः ।। ४० ।।

कृष्णप्रिया

यद्यपि अल्पवीर्य वाले इन्द्र से तथा तप करने वाले ब्रह्मा से कुछ भी नहीं बिगड़ सकता फिर भी शत्रुता के नाते देवता लोग उपेक्षणीय नहीं हैं ऐसा हम मानते हैं ।। ३७ ।। इसलिये उनके मूल को उखाड़ने के लिये हमें आज्ञा दीजिये क्योंकि हम सर्वथा आपका अनुसरण करने वाले हैं ।। ३८ ।। जैसे शरीर में होने वाले ज्वर आदि रोग की उपेक्षा की जाय तो वह अपनी जड़ जमा लेता है और फिर असाध्य हो जाता है, जैसे इन्द्रियों की उपेक्षा करने वाले योगी का उनके द्वारा सर्वनाश हो जाता है वैसे ही शत्रु की उपेक्षा की जाय तो उसके प्रबल होने पर उसका दबाना कठिन हो जाता है और उससे अपना सर्वनाश हो जाता है ।। ३९ ।। देवताओं का मूल विष्णु है जिसमें यज्ञादिरूप सनातन धर्म रहता है, उस विष्णु के तथा देवताओं के मूल-वेद गायें, ब्राह्मण, तप तथा दक्षिणा सहित यज्ञ हैं ।। ४० ।।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः । तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः ॥४१॥
विप्रा गावश्च [1]वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः । श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥४२॥
स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः । तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ॥४३॥
अयं हि तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ।

२

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः । [4]ब्रह्महिंसा हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥४४॥
संदिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् । कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥४५॥
ते वै रजःप्रकृतयस्तमसा [5]रूढचेतसः । सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥४६॥
आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिषः एव च । हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशकस्कन्धे [6]चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः — तस्म त् राजन् सर्वात्मना ब्रह्मविदः ब्राह्मणान् यज्ञशीलान् तपस्विनः च हविर्दुघाः गाः हन्मः ॥ ४१ ॥ विप्राः गावः वेदाः तपः सत्यं दमः च शमः श्रद्धा दया च तितिक्षा क्रतवः हरेः तनूः ॥ ४२ ॥ सः हि सर्वसुराध्यक्षः हि असुरद्विट् गुहाशयः सचतुर्मुखाः सेश्वराः सर्वाः देवताः तन्मूलाः अयं हि तद् वधोपायः ऋषीणां यद् विहिंसनम् ॥ ४३ ॥ कालपाशावृतः दुर्मतिः असुरः कंसः दुर्मंत्रिभिः सह सम्मन्त्र्य ब्रह्महिंसाम् हितम् मेने ॥ ४४ ॥ साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् कामरूपधरान् दानवान् दिक्षु सन्दिश्य गृहम् आविशत् ॥ ४५ ॥ रजःप्रकृतयः तमसारूढचेतसः आराद् आगतमृत्यवः ते वै सताम् विद्वेषम् आचेरुः ॥ ४६ ॥ पुंसः महद् अतिक्रमः आयुः श्रियम् यशः धर्मं लोकान् आशिषः च सर्वाणि श्रेयांसि हन्ति एव ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं च विप्रादयो हरेरेव तनवो मूलं च यस्मात्तस्मादयमेव तद्वधोपाय इत्याहुः । अयमिति ॥ ४२-४४ ॥ आरात्समीपमागतो मृत्युर्येषां ते ॥ ४५ ॥ सतां विद्वेषो न मृत्युमात्रहेतुः किं तु बह्वनर्थकारीत्याह । आयुः श्रियमिति ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे टीकायां कंसोद्यमनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तपः स्वधर्मः । तनूस्तनवः शरीराणि अंगानि वा ॥४१॥ स हि हरिः । तन्मूला विष्णुमूलाः । सेश्वराः सशिवाः ॥ ४२ ॥ अंगेषु नष्टेष्वंगी स्वत एव नश्यतीत्याह - किञ्चेति । अयं कस्तत्राह - यदिति । कार्यायतिमनालोच्य कर्तारो दुर्मंत्रिणस्ते चेह केश्यादयः । दुर्मन्त्रिसंग्रहात्स्वयमपि दुर्मतिः । हितं हितकरम् । कुतो मेने यतः कालपाशावृतः "गतश्रीर्गणकान्द्वेष्टि गतायुश्च चिकित्सकान् । गतश्रीश्च गतायुश्च ब्राह्मणान्द्वेष्टि भारत ।" इत्युक्तेः ॥४३॥ कदने कदननिमित्तम् 'कदनं मर्दपापयोः' इति मेदिनी । मर्दनार्थमिति यावत् । कदनप्रियान्पापप्रियान् । संदिश्याज्ञाप्य ॥ ४४ ॥ मूढचेतसः कर्त्तव्याकर्त्तव्यानुसंधानहीनाः ॥४५॥ ते तु मृत्युतोऽप्यधिकानर्थकरे कर्मणि प्रवृत्ता इत्याह महतामिति । महदतिक्रमः पूज्यापराधः । "किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते" इत्याद्युक्तेः । श्रियं संपदम् । धर्मं पूर्वकृतं पुण्यं लोकान्स्वर्गादीन् । आशिषो धनपुत्राद्यभिलाषान् । किं बहुना सर्वाणीति ऐहिकपारत्रिकश्रेयस्कराणि ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

न केवलं ते विष्णोः परिकरा अपि तु तनुनिर्विशेषाः अपीति पूर्ववदनुवदन्ति—विप्रा इति । "तपः स्वधर्माचरणं सत्यं यथार्थभाषणम्" इति साधारणधर्माः दमादयः प्रायो निवृत्तिधर्माः क्रतवश्च प्रायः प्रवृत्तिधर्मा इति विवेचनीयं पूर्वतोऽत्राधिक्येन दैत्यादीनामुक्तिस्तद्वतामप्यृषीणां जिघांसया तनूरित्येकत्वं समाहारप्राधान्येन तनुरिति ह्रस्वान्तपाठो न बहुत्र ॥ ४१ ॥ एवं तद्धनने

१. देवाश्च—इति कस्यचित् । २. वै-श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. । ३. श्रीशुक उवाच-श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त । ४. हितां—इति कस्यचित् । ५. मूढ—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. । ६. पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः—श्रीधर. ; असुरमन्त्रणं नाम चतुर्थोऽध्यायः—इति कस्यचित् ।

सति देवतान्तरहिंसा तु पिष्टपेषणमेवेत्याहुः—स हीति—स हि स एव तथा असुरद्विडपि स एव द्वितीयो हि शब्दः प्रसिद्धौ तर्हि कथमसौ साक्षादेव न हिंस्येत तत्राहुः गुहाशयः सदैवादृश्यवासत्वात्सम्पति पृथिव्यां जातत्वेऽपि गुप्तत्वादसौ न दृश्यते अन्यथा जीयतैवेति भावः। तस्मात् पूर्वयुक्तिमेव संक्षिप्योपसंहरन्ति—अयमित्यर्द्धकेन। गुप्तत्वाद्वात्यबालेष्वपि प्रायो नैव प्राप्यः गावस्त्वत्र दुग्धादिना राज्यजीविका अपि भवन्ति तेषां धर्ममूलत्वमप्येषामेव हिंसयाऽय गच्छेदित्यभिप्रेत्याहुः - ऋषीणामिति। ब्रह्मवादिप्रभृनोनामेव तद्वधोपाय इत्यस्य तु अयं भावः पूर्वं खलु धर्मस्य तज्जीविकात्वेनैव तदाश्रयत्वमुक्तं तस्य च वेदादयो मूलानि अतस्तत्तनुतुल्या एव ते तत्र च विप्रास्तेषामप्याश्रयाः ततस्तस्य दुर्गपतेरिव गुहाशयस्य तल्लक्षमूलजीविकास्थानहिंसयैव हिंसा स्यादिति ॥ ४२॥ स्वतो दुर्मतिः पुनश्च दुर्मन्त्रिभिः सह सम्मन्त्र्य हितमिति हितामिति वा पाठः ॥ ४३ ॥ कदने निमित्ते ॥ ४४ ॥ रजःस्वभावत्वात् कुपथगामिबुद्धयः उद्रिक्तेन तमसा च साधुदर्शितमपि सत्पथमपश्यन्तः विद्वेषफलमाह—आरादित्यादिना ॥ ४५ ॥ लोकान् धर्मसाध्यस्वर्गादीन् आशिषः निजवाञ्छितानि आयुरादीनां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यं किं पृथङ्निर्देशेन सर्वाण्यपि श्रेयांसि साध्यसाधनानि पुंसः साधिताशेषपुरुषार्थस्यापि जनस्य महतां तादृशां श्रीविष्णोरप्युपजीव्यशीलत्वेन प्रसिद्धानाम् अतिक्रमो याचनिकाद्यनादरोऽपि ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तपः—स्वधर्म्माचरणम्, सत्यञ्च यथार्थभाषणमिति साधारणधर्म्मः, शमादयः प्रायो निवृत्तिधर्म्माः; क्रतवश्च प्रायः प्रवृत्तिधर्म्मा इति विवेचनीयम्। पूर्व्वतोऽत्राधिक्येन शमादीनामुक्तिस्तद्वतामृषीणां जिघांसया, तनूरधिष्ठानम्, एकत्वमार्षम्; सर्व्वेषामपि प्रत्येकं पृथक् हरितनुत्वाभिप्रायेण वा ॥ ४१ ॥ हि एव—स एव; हि अपि, असुरद्विडपि, स एव। एवमग्रेऽपि। गुहाशय इति सदा निभृतादृश्यस्थानवासित्वादसौ न दृश्यते, अन्यथा तु जीवेतैवेति भावः। वै एव, अयमेव। ऋषीणामिव विप्रवर्य्याणां हिंसनेन यज्ञाप्रवृत्त्या गवामनादरेण स्वत एव गवां हिंसनम्; तथा यज्ञाभावेन देवानां स्वत एव तप आदीनां चेत्येवं सर्व्वासां तत्तनूनां हिंसनात्तद्वधः सिद्ध एवेति भावः ॥ ४२ ॥ स्वतो दुर्म्मतिः पुनश्च दुर्मन्त्रिभिः सह संमन्त्र्य। कदने निमित्ते कामरूपधरान् स्वेच्छया विविधरूपधारिणः ॥४३-४४॥ तमसा श्रीविष्णुवैष्णव-द्रोहोद्भूत-तमोगुणेन क्रोधेन वा। वै प्रसिद्धौ ॥४५॥ लोकान्—धर्म्मसाध्यस्वर्गादीन्; आशिषो निजवाञ्छितानि; आयुरादीनां यथोत्तरं श्रेष्ठ्यम्; किं पृथङ्निर्द्देशेन ? सर्व्वाण्यपि श्रेयांसि साध्यसाधनानि पुंसः साधिताशेषपुरुषार्थस्यापि जनस्य महतां श्रीवैष्णवानामतिक्रमोऽभिभवस्तेषु कश्चिदपराधोऽपीति वा ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्व्वार्द्धे श्री श्रीलसनातनगोस्वामिपाद-कृतायां
श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

गुहाशयः हृदयगुहानिगूढः ॥ ४२-४५ ॥ महदतिक्रमः महतामतिक्रमः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे शुकपक्षीये श्रीसुदर्शनसूरिकृते चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

विप्रादयो हरेस्तनूः शरीरम् ॥४१॥ स हि विष्णुः सुराणामध्यक्षोऽधिपतिः असुरान् द्वेष्टीति तथाभूतश्च हृदयगुहानिगूढः स विष्णुरेव मूलं यासां तथाभूताः सेश्वरा इन्द्रादिलोकपालैः सहिताः चतुर्मुखरुद्रसहिताश्च सर्वा देवताश्च एवं सत्ययमेव तस्य विष्णोर्वधोपायः, कोसौ ? यदृषीणां विहिंसनमित्येषः यद्वा तद्वधोपायः देववधोपायः ऋषिविहिंसनेन तच्छरीरे विष्णौ नष्टे सति तन्मूला देवाः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति भावः ॥ ४२ ॥ इत्थं दुर्मन्त्रिभिः सह सम्मन्त्र्य आलोच्य स दुर्मतिरसुरः कंसः कालपाशेन यमपाशेनावृतो ऽतएव ब्रह्महिंसामेव हितं मेने अमन्यत ॥ ४३ ॥ ततः साधुजनस्य कदन उपद्रवे निमित्ते तत् कदनमेव प्रियं येषां तान् कामरूपधरान् दानवान् दिक्ष्वाज्ञाप्य स्वयं गृहमाविवेश ॥ ४४ ॥ ततस्ते दानवाः रजसा विक्षिप्तस्वभावास्तमसा विमूढमावृतं चेता येषामत एव ते सतामेव विद्वेषणमपीति दुःखमिति यावत् चेरुश्चक्रुः, कथम्भूताः ? सन्निहितमृत्यवः सद्विद्वेषणस्य मृत्युसान्निध्यावहत्वादिति भावः ॥४५॥ न केवलं मृत्युमेवावहन्त्यापित्वायुरावादीन्यपि हन्तीत्याह—आयुरिति। महदतिक्रमः महद्विषयापचारः पुंसामपचरतामायुरादीनि सर्वाणि श्रेयांसि हन्ति नाशयति श्रीः सम्पत्तिः धर्मः पुण्यं लोकाः धर्मप्राप्यफलानि यद्वा देहानुबन्धिनो जनाः आशिषः कामाः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

आरात् समीपे ॥ ४५ ॥ विष्णवादिमहदतिक्रमफलमाह—आयुरिति ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अतिक्रमो वचसाऽपि ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत क्रमसन्दर्भे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ब्राह्मणवध एव तस्य शरीरपातो भावीत्याहुः—विप्रा इति ॥ ४१ ॥ ऋषीणां विहिंसनमिति सर्वमूलस्य विष्णोरपि मूलत्वादिति भावः ॥ ४२-४४ ॥ भीतं राजानमाश्वासयति- आरादित्यादिना ॥ ४५–४६ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । चतुर्थो दशमस्कन्धे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

आरादन्तिके आगतो मृत्युर्येषां ते आसन्नमृत्यव इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ न केवलं सद्विद्वेषस्य मरणमात्रं फलमपित्वायुरादीनां बहुपदार्थानां संक्षय इत्याह–आयुरिति ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे चतुर्थाध्यायार्थप्रकाशः ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

विप्रादयो हरेस्तनुः पूजार्थं प्रतिमाः पूजाक्षये दुर्बलो मरिष्यतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ सहीति सार्द्धेन सर्वभूतगुहाशयोऽपि सर्वसुराध्यक्षस्तत्पक्षपाती असुरध्रुक् सर्वासां देवतानां मूलम् अयमिति ऋषीणां विहिंसने तत्सम्प्रदायप्रवर्त्यभावादसुरानुगामिनः सर्वे स्युरिति भावः ॥ ४२ ॥ दुर्मन्त्रिभिः प्रलम्बादिभिः ॥ ४३–४४ ॥ आरान् समीपमागतः कृष्णरूपो मृत्युर्यपां ते ॥ ४५ ॥ सतां विद्वेषः सर्वश्रेयो विनाशीत्याह आयुरिति लोकान् स्वर्गादीन् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्वोक्तकर्मकर्तव्यतां द्रढयितुमुक्तानतुक्तैर्धर्मैः सह वदन्ति । विप्रा इति । सत्यं भूतहिताभिहतिर्हरेस्तनूस्तन्वस्तनूर्विद्धीति शेषो वा । तनूः शरीरमिति प्रथमैकवचनं वा । ऊकारान्तः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूरित्यमरः । स विष्णुः सर्वसुपर्वर्वर्योऽसुरद्विट् गुहाचरः सेश्वराः सेन्द्राः सचतुर्मुखाः सविधयः सर्वा देवतास्तन्मूलाः स मूलं येषां ते तथा ॥ ४२ ॥ फलितं लपन्ति । अयमिति । यदृषीणां हिंसनमयं तद्वधोपाय इत्यन्वयः । दुष्टाश्च ते मन्त्रा आलोचनानि च ते येषां सन्तीति ते तथा दुष्टाश्च ते मन्त्रिणश्चेति वा । दौष्ट्यं तु मन्त्रेषु यथायोग्यतयान्वेति । ते वदन्तु स्वयं विवेकी कथमिदमश्रृणोदित्यत आह । दुर्मतिरिति । सोऽपि तादृश इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ब्रह्महिंसां तदादिध्वंसं कंसः स्वस्मै हितं क्षेमङ्करं मेने । तन्मननसाधनमाह । कालपाशावृत इति । तदावृतता कुत इत्यत आह । असुर इति । साधुलोकस्य कदने कदनमेव प्रियं येषां ते तथा तान्सन्दिश्याज्ञाप्यकामरूपधरान्दानवान्दिक्षु स्वयं गृहमाविशन्निविविरो ॥४४॥ ते कंससन्दिष्टा रजःप्रकृतयो रजोगुणसर्जनमितमिति रजःप्रकृतयोऽसुरजातित्वात्तमसा रूढचेतसः सतां देवभूदेवादीनां विद्वेषमाचेरुरकुर्वन् । आरादागता मृत्युर्येषां ते तथा ॥ ४५ ॥ सामान्यत एवं कुर्वतामवमान्यतैवमित्याह । आयुरिति । लोकान्प्रशस्यान् आशिषोऽभिलाषविशेषान् । किमुत सर्वाणि श्रेयांसि महदतिक्रमो महदुल्लङ्घनं हन्ति नाशयति ॥ ४६ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ १०–५ ॥ (अस्मत्पक्षे चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीसुबोधिनी

तेषां खननमाह तस्मादिति, सर्वात्मना लौकिकवैदिकसाधनैः स्वतः परतः साक्षात् परम्परया च यथैव ते निवृत्ता भवन्ति, ब्राह्मणानां विशेषणं ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थविदः, उभयविधं च कुर्वन्तीति, तपस्विनो यज्ञशीलाश्च, हविर्दुघाः पयोदोग्ध्र्योगाः, हन्धातोर्लटि बहुवचनं हन्म इति ॥ ४१ ॥ एवं विष्णुमूलत्वेन ब्राह्मणगवां निराकरणं निरूप्य भगवच्छरीरत्वेनाप्येतान् निरूपयन्ति साक्षान्निराकरणाय विप्रा इति, विप्रा गावश्चकारादन्यान्योत्पन्नानि, वेदाः, चकारादङ्गानि व्रतानि वा, तपः सत्यं दमः शम इति ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्माः, तपः शारीरो धर्मः, सत्यं वाचः, दम इन्द्रियाणां शमोन्तःकरणस्य, श्रद्धा सर्वत्र, दया च सर्वेषु, तितिक्षातिक्रमसहनं, एवं दशविधो दशावतारः, क्रतवोसङ्ख्याता ज्योतिष्टोमादयः, एते सर्वे सर्वदुःखहर्तुर्भगवतस्तनूरतन्वः, तस्माद् विष्णौ प्रयत्नः प्रतिष्ठितः ॥ ४२ ॥

उपसंहरंस्तस्य मूलत्वमाह **स हीति**, 'मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय' इति न्यायाद् गौणानां देवानां निराकरणं व्यर्थं पूर्वोक्तन्यायेन **सर्वसुराणां** विष्णुरेवाध्यक्षः प्रभुः, किञ्चान्ये देवास्तथासुरान् न द्विषन्ति, कदाचित् सहभावोपि लक्ष्यते, हरिस्त्वसुरद्विडेव, **मारयितुमपि** न शक्यते साक्षाद् यतो **गुहाशयः**, गुप्तेन्तःकरणे वा तिष्ठतीति, अध्यक्षत्वं च न लौकिकप्रभुवत् किन्तु मूलभूतापीत्याह **तन्मूला** इति, स्त्रीलिङ्गप्रयोगोवगणनार्थः, महादेवस्य ब्रह्मणश्च स्वतन्त्रतामाशङ्क्याहुः **सेश्वराः सचतुर्मुखा** इति, अतो विष्णोः **प्रतीकारः** कर्तव्यः, प्रतीकारश्चर्षीणां निराकरणमेवेत्याहायमिति, **ऋषिपदेनैव** सर्वे धर्मा उक्ताः ॥ ४३ ॥ एवं तेषां वचनं श्रुत्वा किं कृतवानित्याशङ्क्याहैवमिति, नन्वयं क्षत्रियो ब्राह्मणरक्षकः कथं ब्रह्महिंसां हितत्वेन मेने ? तत्राह **दुर्मन्त्रिभिरिति**, एते दुष्टा मन्त्रिणः, पर्यवसानदोषदर्शनाभावात्, तैः सह सम्यङ् मन्त्रणं कृत्वा **दुर्मतिर्जातः**, बुद्ध्या हि सर्वनिर्णयः, बुद्धिनाशकस्तु दुःसङ्गस्तत्रापि **मन्त्रित्वेन गृहीतः**, अत एव **ब्रह्महिंसां स्वस्य हितत्वेन मेने**, ननु दुःसङ्गेपि कथं स्वाभाविको भावोन्यथा जात इति चेत् तत्राहासुरः **कालपाशेनावृतश्च**, **असुरत्वात्** स्वभावदुष्टः **कालपाशावृत** आपद्ग्रस्तः, आपदि सर्वबुद्धिनाशो भवति, तत्रापि **कालपाशपदाभ्यां** महत्यापदा निरूपिता ॥ ४४ ॥

एवं बुद्धिभ्रंशे जाते यत् कृतवांस्तदाह **सन्दिश्येति**, **साधुलोकस्य कदने** पीडायां **कदनप्रियान्** स्वतोपि कदनेच्छून् कदनकरणार्थं तत्तत्साधकनानारूपधारकान् **दशदिक्ष्वप्यादिश्य** स्वविषयेन्यविषये च **कामरूपधराणां** सर्वत्रैव सामर्थ्यसम्भवात्, **दानवानिति**, क्रूरान्, राक्षसमात्रे दानवप्रयोगः, **स्वगृहमाविशत्**, यथोपद्रवे कश्चित् प्रभोः स्थाने गतो दर्शनमेव न प्राप्नुयात्, एतदर्थं गृहे प्रवेशनम् ॥ ४५ ॥ ते च ततोप्यधिकं कृतवन्त इत्याह, **वै** निश्चयेन, ते स्वभावत एव **रजःप्रकृतयः**, **राजसाः क्रूरा** भवन्ति, आगन्तुकेन च पुनस्तमसारूढं चित्तं येषां, पूर्वसिद्धविवेकनाशार्थं तमः, **रजस्तमोभ्यां** व्याप्ताः सात्त्विकान् द्विषन्त्येव, अतः **सतां** विद्वेष विशेषेण द्वेषो यस्मात् तादृशमुपद्रवं धर्मधनादिनाशनमासमन्ताच्चेरुः कृतवन्तः, अनेन तेषां स्वरूपतोन्तःकरणनाशाद् धर्मतश्चोपद्रवं कृतवन्त इत्युक्तं भवति, ननु स्वाम्याज्ञाताधिकं किमर्थं कृतवन्तस्तत्राहारादागतमृत्यव इति, मृत्युग्रस्तास्तथा कृतवन्तः, विकलो ह्यन्यथा करोत्येव ॥ ४६ ॥ माययैवैतत् कारितं सर्वनाशार्थमिति ज्ञापयितुं महदतिक्रमस्य फलमाहायुः **श्रियमिति**, जीवानां षड् उत्तमा गुणाः, तदभावे प्राण्यकृतार्थः स्यात्, तत्र प्रथममायुः, जीवता हि सर्वं भवति, ततः श्रीः, स्पष्टस्तस्या उपकारः, ततो **यशः** कीर्तिः, ततोन्तरङ्गो धर्मः, तैः साध्या **लोकाः** स्वर्गादयः, तत्र लोके सर्वा एवाशिषः, चकारादैहिका अपि पुत्रादयः, एवकारेण सर्वेषामेवाशीष्ट्वं प्रदर्शितं, अतो यस्य यदभीष्टं तदेव नाशयतीत्युक्तं भवति, अन्यथा गणिताश्चेत् तस्याभीष्टा न भवेयुस्तदेष्टमेव चेष्टितमिति **महदतिक्रमः** किं कुर्यात् ? अतो यत्किञ्चिदेवाभीष्टं तदेव हन्ति, लोकसिद्धास्तु गणिताः, अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थं **सर्वाणीति**, **पुंस इति**, स्वतन्त्रस्यापि **महतो** भगवदीयस्यातिक्रम उल्लङ्घनं, **महत्त्वं** भगवत्सम्बन्धादेव, अन्यथाराग्रमात्रस्य कथं **महत्त्वं** स्यात् ? एवं भगवच्चरित्रसिद्ध्यर्थं मायाकार्यं निरूपितम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

तस्मात् सर्वात्मनेत्यत्रोभयविधमिति, कर्मज्ञानात्मकं वेदार्थं, **हन्धातोरित्यादि**, तथा च वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वे'त्यनुशासनान्मन्त्रकरणसमय एव तत्करणज्ञापनार्थो **हन्म** इति प्रयोग इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ **विप्रा** इत्यत्रान्यान्यप्यन्नानीति, हविःसाधनानि व्रीहियवादीनि, अन्नपदमुपलक्षकं, तथा च यावन्ति हविःसाधनानि तावन्ति ज्ञातव्यानि ॥ ४२ ॥ **स हीत्यत्र** गुहापदार्थमाहुर्गुप्त इत्यादि गुप्ते रक्षिते लक्ष्ये वा स्थाने 'गुहां प्रविष्टा'वितिश्रुत्यन्तःकरणे वा, तथा चान्तःकरणपक्षे यद्यपि समीपे वर्तते तथाप्यन्तःकरणस्याणुत्वेन नित्यत्वात् तन्मध्यवर्ती परमसूक्ष्मो दृश्यतरो नित्यतरश्च कथं प्रतीकार्यः ? यद्वा मारणार्थं विचारे क्रियमाणेन्तःकरणवृत्तित्वाद्विचारांशज्ञस्तिरोहितः स्यात्, यद्वा स्वदेहमारणं विना स्वान्तःकरणवर्ति मारणं न भवतीति यदा तं तथाकर्तुमुद्यतः स्यात् तदा पूर्वं स्वयं मृतः पश्चात् कं मारयेदिति सोप्रतीकार्य इत्यर्थः, **प्रतीकार** इति, इतोन्यः प्रतीकारः ॥ ४३ ॥ **एवमित्यत्र मन्त्रित्वेन** गृहीत इति, दुष्टो यदि दुष्टत्वेन गृहीतस्तदा तत्सङ्गस्तथा न बाधको मन्त्रित्वेन गृहीतस्य तु सर्वथा बाधक इत्यर्थः, **मन्त्रित्वेनेतिपाठेपि** तथैवार्थः, एकस्यैवेयं व्यवस्था बहूनां तथात्वे तु किं वक्तव्यमितिभावः ॥ ४४ ॥ **सन्दिश्येत्यत्र स्वविषय** इति, विषये देशे ॥ ४५ ॥ **ते वै रज** इत्यत्रानेनेत्यादि, अनेन श्लोकेन तेषां दुर्मन्त्रिणां स्वरूपतोन्तःकरणनाशात्, अन्तःकरणं हि वैकारिककार्यत्वाज् ज्ञानजनकत्वाच्च स्वरूपसात्त्विकं तत्स्वरूपनाशश्च रजोरूपत्वे सत्त्वरूपस्य तस्य धर्मो ज्ञानं तमसा ज्ञानमात्रनाशाद्धर्मतश्च नाश इति तथेतिभावः ॥ ४६ ॥ **आयुःश्रियमित्यस्याभासे सर्वनाशार्थमिति**, सर्वदैत्यनाशार्थं, समाप्तावेवमित्यादि, एवं प्रकारेण यन्मायाकार्यं सर्वदुःखात्मकं निरूपितं तद्भगवतोनिरुद्धस्य यच्चरित्रं सर्वधर्मरक्षारूपं तत्सिद्ध्यर्थं हेतुत्वेन **निरूपितमित्यर्थः** ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे चतुर्थाध्यायविवरणम् ।

बुभुत्सुबोधिका

तस्मादित्यत्र ब्राह्मणा गावश्चेति एतयोः पूर्वान्वय उक्तः। तत्रेति उभयोर्मध्येत्र श्लोके गावो दुहन्त्यो ग्राह्याः 'हविर्दुघा' इति विशेषणात्। प्रातिलोम्यक्रमेण। यज्ञकर्तारो मूले 'दानशील'पदेनोक्ताः। यजेर्दानार्थस्य ग्रहणात्। नञ् तपस्विन इति स्पष्टम्। अधिकारार्थत्वात्। ब्रह्मवादिनो वेदान्तविदः। वेदविदो 'ब्राह्मणा गाव'श्चेत्यत्र पूर्वमुक्ताः। विशेषणस्य व्यावर्तकत्वात्। खनन-मिति तेषां दर्शनाद्धन्म इत्यनेन खननं विखनःसृष्टित्वात्। खननमासुरभावत्याजनेन शुद्ध्या स्वकर्मयोग्यतासम्पादकं निराकरणम्। खन अवदारणे भ्वा० उ० से० सम्पादकमित्यन्तं अवोपसर्गार्थः क्रियारूपः। दारणं दृङ् अनादरे तु० आ० अ० इत्यस्य रूपं तस्यार्थो निराकरणम्। 'कामक्रोधादयो दैत्या' इति कृष्णोपनिषदः नित्यक्रीडास्थाः पूतनादयो बाहिर्मुख्येन्तर्दृष्टिसम्पादकाः। विखनसा कृतं वैखानसं मतम्। विखनःसृष्टिकृतमन्तर्दृष्टिसम्पादनं मतम्। 'दैतेया नातिकोविदा' इति वाक्यात्। वेदवेदार्थविद् इति ब्रह्मणोर्वादिनो ब्रह्मवादिना इति षष्ठीतत्पुरुषे वेदो ब्रह्म न च वेदादृते किञ्चिच्छास्त्रं ब्रह्माभिधायकमिति कौर्म्यात् ब्रह्मार्थ इति तथोक्ताः। वेदशब्देन वेदान्ता वा। उभयमिति कर्मज्ञानात्मकमिति लेखेर्थः। ब्रह्म कुर्वन्तीत्यर्थः। 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वन्ति ब्राह्मणा' इति बृहदारण्यकात्। ज्ञानात्मकं ब्रह्म कुर्वन्ति। 'प्रज्ञा' भावना वा। भावना ज्ञानं स्मरणं कर्म च, भू सत्तायाम्। क्रियावाचिनो भ्वादय इति च। उभयविधं च कुर्वन्तीति पाठः। यज्ञशीलाः। दानशीला नित्यत्रार्थत्रयमुपलक्षणीयमित्यर्थः। लटीति 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'तिसूत्रान् मन्त्रकरणसमीप एव ब्राह्मणादिनिराकरणज्ञापनार्थो 'हन्म' इति प्रयोग इति भावः ॥४१॥

विप्रा गाव इत्यत्र साक्षादिति साक्षाद्विष्णुनिराकरणाय तनुद्वारा। अन्यस्य साक्षात्त्वेपि निराकरणाविषयत्वात्। अन्यान्यप्यन्नानीति गोनिष्ठपयसोन्यानि हविःसाधनानि व्रीहियवादीनि उपलक्षणविधया। 'विप्रा गाव' इत्याभ्यां द्रव्यदेवात्मक-यागाधारावुक्तौ। तत्प्रतिपादका वेदाः। अङ्गानि शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षट्। वेदप्रतिपाद्यधर्मानाहुः तपः सत्यमित्यादि। क्रमेणाश्रमधर्माः कायिकवाचिकैन्द्रियकमानसधर्मा अध्येत इत्याहुः तपः शारीर इत्यादि। सर्वत्रेति आश्रम-धर्मेषु। मूलोक्ततनुपदसामर्थ्यादाहुः एवं दशेति। अवतरणं तनुषु हरेरवतारः। विप्रो वामनः गौः पृथिव्याधिदैविकी गन्धरूपापीति नासाग्रविवरप्राणरूपवराहेपि। सत्यं नवमोपदेशरूपं कृष्णः। दया बुध इत्येवं वा ज्ञेयम्। सङ्ख्यातात्पर्यं जन्मप्रकरणत्वात् सा। 'ब्रह्मवादिन' इत्यत्र वेदवेदान्तयोर्ब्रह्मपदेनोक्तत्वात् वेदान्त उक्त्वा वेद आहुः क्रतव इति। ज्योतिष्टोमादय इति आदिना कारीर्यादयः। सर्वदुःखेति हरेरित्यस्यार्थः। प्रयत्न इति साङ्ख्योक्तं प्रणिधानम्। उभयविधं च कुर्वन्तीत्युक्तं कर्म। प्रतिष्ठितः पर्यवसितः दैत्यानां वा विष्णौ प्रयत्नः प्रतिष्ठितः ॥ ४२ ॥

स हीत्यत्र उपसंहरन्निति दैत्यमन्त्रणम्। तस्येति विष्णोः। पूर्वोक्तेति मूलन्यायेन 'मूलं विष्णुर्हि देवाना'मिति श्लोकोक्तेन। सहभाव इति असुरैः सहभावो देवानाम्। एवकारोसुरसहभावयोगं व्यवच्छिनत्ति न त्वसुरसहभाववान्। न शक्यत इति सहभावे कदाचिद्धननशक्तिः तदभावान् न शक्यते विष्णुः सत्त्वोपाधिर्न गुहाशय इत्यत आहुः गुप्त इति। गुह संवरणे भावप्रत्ययः। गुपू रक्षणे भावे क्तः। रक्षणे गुहायां सत्त्वगुणे शेत इति। गुहा हृदयाकाश इत्यत्र वा सात्त्विके हृदि। अवगणनेति इन्द्रपरा-धीनत्वात् तथा। अयमित्यत्र एवेति साक्षात्प्रतीकारयोगव्यवच्छेदक एवकारः असुराद्विट्त्वात् गुहाशयत्वाच्च। ऋषेति ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। सर्व इति मन्त्रैः सर्वे धर्मा इति तथा ॥ ४३ ॥

एवमित्यत्र तेषामिति दैत्यानाम्। कृतवानिति कंसः। हितत्वेनेति मेने। पर्यवेति यद्ययं कंसः स्वमरणे निरभिमान-स्तिष्ठेदक्लिष्टकर्मा भगवान् न तं मारयेदतः साभिमानपर्यवसाने दोषः कंसमारणं तस्य दर्शनस्याभावात्। जात इति ब्राह्मणरक्षकत्व-स्वभावतिरोभावात्। दुर्मतित्वमुत्पन्नम्। तत्रापीति दुःसङ्गेपि। मन्त्रित्वेन गृहीत इति मन्त्रित्वेन गृहीतो मन्त्री दुष्टश्चेत् तदा तस्य सङ्गो दुःसङ्गः बाधकः। यदा तु दुष्टत्वेन गृहीतो मन्त्री तदा तत्सङ्गस्तथा न बाधक इत्यर्थः। मित्रत्वेनेति पाठेपि तथैवार्थः। अत एवेति दुष्टस्य मन्त्रित्वेन ग्रहणादेव न तु दुष्टत्वेनेत्यर्थः। भाव इति ब्राह्मणरक्षकत्वरूपः। अन्यथेति दुर्मतित्वेन परिणतः। आपद्-ग्रस्त इति 'कालपाश' आपत्। 'आवृतो' ग्रस्तः। तत्रापीति कालपाशेपि अथवा आपद्ग्रस्तत्वेपि। 'काल' आकाशवाणी शब्दभयं, 'पाशो' दुर्मन्त्रिणः ॥ ४४ ॥

सन्दिश्येति कदनेति कदनमन्यायपीडितम्। स्वविषय इति स्वदेशेन्यदेशे च। स्वविशय इति तालव्यमध्यपाठे तु कंससंशय इत्यर्थः। प्रवेशनमिति प्रवेश उक्तः ॥ ४५ ॥

ते वै रज इत्यत्र द्विषन्त्येवेत्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारः सात्त्विकविद्वेषसम्भावनायै। चेरुः कृतवन्त इति चर गतिभक्षणयोरस्य प्रकृत्यर्थः। 'विद्वेष'पदेनोक्त इति व्यापारमात्रार्थ उक्तः, कृतवन्त इत्यनेन। अनेनेति अनेन श्लोकेन। तेषां दुर्मन्त्रिणां स्वरूपतोन्तःकरणनाशात् अन्तःकरणं हि वैकारिककार्यत्वाज् ज्ञानजनकत्वाच्च स्वरूपतः सात्त्विकम्। तत्स्वरूपनाशश्च रजोरूपत्वे संशयेऽज्ञानस्यापि निवेशात्। तस्य धर्मो ज्ञानं तमसा ज्ञानमात्रनाशाद्धर्मतश्च नाश इति उपद्रवं कृतवन्त इत्युक्तं भवतीत्यर्थः। मृत्युग्रस्ता इति 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् मृत्युनैवावृतमासी'दिति बृहदारण्यकात् ॥ ४६ ॥

आयुः श्रियमित्यत्र विकल इति कलावतां कृष्णादिद्रोहासम्भवाद् विकलः। सर्वनाशार्थमिति सर्वदैत्यनाशार्थम्। महदतिक्रमस्येति सतां विद्वेषकृतमहदतिक्रमस्येत्यर्थः। महदतिक्रमत्वेनायुरादिहतित्वेन कार्यकारणभाव उक्तः। जीवा मुक्ता जीवन्मुक्ताः साधारणाश्च, तत्र मुक्तानां जीवानां भगवद्गुणाः स्पष्टाः। जीवन्मुक्तगुणाः कंसस्य 'सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया तथा। शत्रूणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव चे'तिकारिकया 'किमुद्यमै'रितिश्लोके पूर्वमुक्ताः। साधारणानां जीवानामाहुः जीवानामिति। उत्तमा इति आत्ममाययार्थसम्बन्धो जीवस्य द्वितीयस्य नवमाध्याय उक्तः। षड् मायागुणा निकृष्टाः। उक्ता मध्यमाः। एते उत्तमा इत्यर्थः। जीवन्मुक्तगुणसादृश्यात्। अकृतार्थ इति न कृतः ऐहिकः आमुष्मिकः अर्थः प्रयोजनं येन स तथोक्तः। अन्तरङ्ग इति यशसो हि श्र्यपेक्षा। धर्मस्य श्र्यपेक्षा। सन्तापात्मकार्त्यधिकारसत्त्वादधनिकस्यापि धर्मसिद्धेः स्वल्पापेक्षत्वलक्षणमन्तरङ्गत्वं वर्तत एव। पुत्रादय इति आदिशब्देन स्त्रीधनकर्माणि। पूर्णत्वं पञ्चानां सत्त्वे भवति। बृहदारण्यकात्। पूर्णत्वं प्रपञ्चस्य 'पूर्णमदः पूर्णमिद'मिति श्रुतेः। नन्वन्धंतमःप्रवेशे मुक्तौ मायिकायुरादिपञ्चहतिः प्रकृते इष्टैवेति दैत्यचेष्टितमिष्टमेवेति चेत् तत्राहुः एवकारेणेति। षड्गुणेषु प्रविष्टाप्याशीराशिष्ट्वेन पञ्चातिरिक्ताशिषं गृह्णानायुरादिनिष्ठाशीष्ट्वं न जहाति। 'आशिष एवे'त्यस्याशिषः द्वितीयाबहुवचनान्तं, 'एव' समान्, एवकारः साम्यार्थकः। सन्निहितत्वादाशीष्ट्वेन व्यापकधर्मेण समा सर्वानित्यर्थः। नाशयतीति महदतिक्रमः नाशयति। नन्वेवं गौरवेण व्याख्यानस्य किं प्रयोजनमिति चेत् तत्राहुः अन्यथेति। तस्येत्यनधिकारिणः। चेष्टितमिति दैत्यादिभिश्चेष्टितम्। किं कुर्यादिति किमनिष्टं कुर्यात्। गणिता इति षड्गुणाः। स्वतन्त्रस्येति अतिक्रमकर्तुः। 'स्वतन्त्रः कर्ते'त्यनुशासनात्। न विशेषेण भगवत्सम्बन्धेन महान् किन्तु भगवदीयत्वमात्रम्। तस्य। भगवत्सम्बन्धादिति आराम्रेति जीवस्य। 'तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थे तुर्य ईर्यते। न निबद्धो यतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः। धर्मरक्षार्थहेतूक्त्यै धर्मबाधश्च वर्ण्यते' इति चतुर्थाध्यायार्थ उक्तस्तमाहुः एवं भगवदिति। एवं प्रकारेण यन् मायाकार्यं सर्वदुःखात्मकं निरूपितं तद् भगवतोनिरुद्धस्य यच्चरित्रं सर्वधर्मरक्षारूपम्, तत्सिद्ध्यर्थं हेतुत्वेन निरूपितमित्यर्थः। तथा च सर्वविमोचन-धर्मबाधश्च यत्राग्रे कृतः सोनिरुद्धांश इति भावः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभचरणैकतानश्रीगोपेश्वरविरचितायां शास्त्ररीत्या बुभुत्सुबोधिकायां चतुर्थाध्यायव्याख्यानं जन्मप्रकरणं समाप्तम्।

श्रीमातृपितृतोषिणी-श्रीसुबोधिनोजी-

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि—"**तेषां सततमाह**"—दैत्य मंत्री लोग उन मूलों के खनन या विनाश के उपाय को '**तस्माद्**' '**सर्वात्मना**' राजन् श्लोक में कहते हैं कि लौकिक साधनों से व अभिचारादि वैदिक साधनों से भी स्वतः या परतः, साक्षात् या परम्परा से जैसे भी वे निविष्ट किये जा सकें, उन ब्रह्मवादी वेदार्थवेत्ता ब्राह्मणों को नष्ट करें, वह ब्राह्मण कर्म एवं ज्ञानरूप दोनों प्रकार के वेदार्थ का सम्पादन करते रहते हैं, वह तपस्वी एवं यज्ञशील याज्ञिक होते हैं। तथा गौ दुग्ध देतो रहती हैं, अतः उनको हमलोग अभी मारते हैं, विलम्ब न होगा '**हन्मः**' यह हन् धातु से लट् लकार में बहुवचन हैं, अतः मन्त्रणा समय में ही बध करने की सूचना करने को अति निकट भविष्य को वर्तमानवत् किया है ॥ ४१ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि—"**एवं विष्णुमूलत्वेन ब्राह्मणानां निराकरणं निरूप्य भगवच्छरीरत्वेनापि एतान् निरूपयति**" इस प्रकार विष्णु के मूलभूत होने के कारण ब्राह्मण व गौओं का निराकरण बतलाकर वह मन्त्री दैत्य लोग "**विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः**" इस श्लोक से गौ, ब्राह्मणों के साक्षात् निराकरणार्थ इन गौ, ब्राह्मणों का भगवान् के शरीर रूप से भी प्रतिपादन करते हैं, कि विप्र एवं गौ '**गावश्च**' इस चकार से अन्य भी हवि के साधन अन्न ब्रीहि यव आदि, वेद '**वेदाश्च**' इस चकार से वेदाङ्ग या व्रत, तप, सत्य, दम, शम यह ब्रह्मचर्यादि आश्रम धर्म तप शारीरिक धर्म है, सत्य वाणी का, दमन इन्द्रियों का व शमन अन्तःकरण का है। सर्व आदरणीयों में श्रद्धा, व सर्व जीवों पर दया तथा तिरस्कार का सहनरूप तितिक्षा, इस प्रकार से विप्रादि तितिक्षान्त यह दश विध दश अवतार वाला विष्णु कहा है। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ असङ्ख्यात होते हैं, अतः असङ्ख्य अवतार विष्णु के कहे गये हैं, यह सब सर्व दुःख हरणकर्त्ता भगवान् के शरीररूप हैं, उक्त कारण से विष्णु के विषय में हम लोगों का प्रयत्न करना स्थिर हुआ है ॥ ४२ ॥

अब आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि—"**उपसंहरंस्तस्य मूलत्वमाह**"—अब प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए मन्त्री उस विष्णु की मूल रूपता को '**स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विट् गुहाशयः**" इस श्लोक में '**गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः**' इस न्याय से गौण देवताओं का निराकरण व्यर्थ है, पूर्वोक्त रीति से सब देवताओं का विष्णु ही अध्यक्ष या स्वामी है, और अन्य देवता दैत्यों से वैसा द्वेष भी नहीं करते, कभी २ साथ होना भी उनका देखा जाता है, परन्तु हरि तो असुरद्वेषी ही है, वह साक्षात् मारा भी नहीं जा सकता क्योंकि गुहाशय है, गुप्त, सुरक्षित, अलक्ष्य स्थान में रहता है, '**गुहां प्रविष्टौ**' श्रुति के अनुसार अन्तःकरण में रहता है। लौकिक स्वामी के समान उसकी अध्यक्षता भी नहीं है, किन्तु वह उनका मूलभूत भी है, अतः कहते हैं '**तन्मूलाः**' इत्यादि। '**देवताः**' यह स्त्रीलिंग का प्रयोग देवगण की अवज्ञा का सूचक है, महादेव व ब्रह्मा की

स्वतन्त्रता की शङ्का कर कहते हैं कि 'सेश्वराः' इत्यादि। ईश्वर शिव, चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ सब ही देवताओं का मूल विष्णु है अतः विष्णु का प्रतीकार करना आवश्यक है और वह प्रतीकार वह है कि ऋषियों का निराकरण किया जाय, ऋषि पद से ही सर्व धर्म कहे हैं, धर्मनाश ही विष्णु के वध का उपाय है ॥ ४३ ॥

श्रीमदाचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि—**"एवं तेषां वचनं श्रुत्वा किं कृतवानित्याह"**—कंस ने ऐसे मन्त्रियों के वचन सुनकर क्या किया, इस आशङ्का के समाधानार्थ श्रीशुकाचार्यजी **"एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः"** श्लोक का प्रारंभ करते हैं कि –राजन् परीक्षित् राजा कंस तो क्षत्रिय है, अतः उसका कर्त्तव्य ब्राह्मण रक्षक होना चाहिये, जिसमें उसका हित है लेकिन उसने ब्रह्म हिंसा को हितकर कैसे माना, उस शङ्का पर कहा है **'दुर्मन्त्रिभिः'** यह मंत्री सब दुष्ट थे, क्योंकि परिणाम के दोष का विचार ही नहीं किया उनके साथ मन्त्रणा करने से कंस दुर्मति हो गया था, बुद्धि से ही सब निर्णय होता है, बुद्धि का नाशक तो दुष्ट सङ्ग ही होता है, उस पर भी मन्त्री के रूप से यदि दुष्ट का संग हो जाय तो बुद्धि का नाश अनिवार्य ही है। इसी कारण कंस ने ब्रह्महिंसा को अपने हितकर रूप से मारा, दुसङ्ग होने पर भी स्वाभाविक भाव अन्यथा कैसे हो गया ? इस शङ्का पर कहा है कि कंस असुर था व कालपाश से घिरा हुआ था। असुर होने से स्वभावतः दुष्ट था कालपाश बद्ध होने से वह आपद्ग्रस्त था, आपत्ति में बुद्धि का सर्वांश में नाश हो जाता है, उस पर भी काल, व पाश पदों द्वारा यहाँ महाआपत्ति कही गई है, अतः कंस का बुद्धिनाश सम्भव है ॥ ४४ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **"एवं बुद्धिभ्रंशे यत्कृतवांस्तदाह"**—ऐसे बुद्धि नाश होने पर जो कंस ने किया वह **"सन्दिश्य साधुलोकस्य"** श्लोक से कहा है।

कि साधु जन के पीडनार्थ उन स्वभावतः पीड़ा प्रिय, एवं पीड़ित करने के लिये विभिन्न प्रकार की पीड़ाओं के साधक नाना रूपों के धारण करने वाले दुष्टों को दशों दिशाओं में उपद्रव के लिये कंस ने आदेश किया, अपने देश में व अन्य देश में भी यथेच्छ रूप धारण करने वालों का सर्वत्र ही सामर्थ्य हो सकता है, अतः सर्वदिशाओं में उनको भेजा **'दानवान्'** दानव शब्द से उनकी क्रूरता या हत्याशीलता कही है। राक्षसमात्र में दानव शब्द का प्रयोग होता है, आदेश देकर वह कंस अपने घर में घुस गया, जैसे उपद्रव होने पर कोई राजा के स्थान पर पहुँचे तो उसे राजा का दर्शन ही प्राप्त न हो सके, इसलिये घर में उसका घुस जाना कहा है ॥ ४५ ॥

आचार्यचरण इस श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि **'ते च ततोऽप्यधिकं कृतवन्तः'** उन दैत्यों के तो पूर्व विचारित धर्मनाश से भी अधिक दुष्कर्म किया, यह प्रसङ्ग **'ते वै रजःप्रकृतयस्तमसारूढचेतसः'** श्लोक में कहा है कि वह स्वभाव से ही रजोगुण प्रकृति के हैं, यह निश्चित हैं, राजस, होते हैं वे क्रूर हाते हैं, और फिर वह आगन्तुक या अस्वाभाविक अतिथिवत् प्राप्त तमो गुण से आक्रान्त मनवाले हो गये, तमो गुण ने उनके पूर्व सिद्ध विवेक का नाश कर दिया, रजोगुण तमो गुण से व्याप्त हुए लोग सात्त्विकों से द्वेष करते ही हैं, अतः उन दैत्यों ने सत्पुरुषों का विद्वेष किया, विशेष रूप से धर्म, धन आदि का नाशक उपद्रव सब ओर से किया।

इस श्लोक से यह बतलाया है कि उन दैत्यों के अन्तःकरण का रजोगुण से 'स्वरूपतः नाश हुआ व तमोगुण से ज्ञान मात्र का नाश होने से उनके अन्तःकरण का धर्मतः नाश हुआ, अन्तःकरणहीन दैत्यों ने अत्याचारमय उपद्रव किया, उन्होंने स्वामी की आज्ञा से भी अधिक उपद्रव क्यों किया, तब कहा है कि **'आरादागतमृत्यवः'** मृत्युग्रस्त होने से वैसा किया, व्याकुल पुरुष तो अन्यथा करता ही है ॥ ४६ ॥

आचार्य चरण इस श्लोक में कहते हैं कि **"माययैवतत् कारितं सव नाशार्थमिति ज्ञापयितुं महदतिक्रमणस्य फलमाह**—यह सब माया ने हीं सर्व दैत्यों के नाशार्थ करवाया था, यह बतलाने को यहाँ पुरुषों के तिरस्कार का फल हैं **'आयुः श्रियं यशः धर्मं लोकानाशिष एव च'** इस श्लोक में कहते हैं—जीवों के छ गुण उत्तम हैं, उन गुणों के अभाव में प्राणी कृतार्थ नहीं हो सकता, उन गुणों में प्रथम गुण आयु है, जीवित रहने से ही सब हो सकता है। उसके बाद श्री है, लक्ष्मी का उपकार स्पष्ट ही है, उसके बाद यश या कीर्ति है, उससे धर्म अन्तरङ्ग है, उन आयु आदि व धर्म से सिद्ध किये जाने वाले स्वर्गादि लोक हैं, उस लोक में सभी आशी अभीष्ट पदार्थ होते हैं। **'एव च'** इस चकार से इस लोक के अभीष्ट पुत्र आदि का भी सङ्ग्रह है तथा एव शब्द से आयु श्री आदि सबका अभीष्टता दिखलाई गई है, अतः यह सूचित होता है कि जिसको जो अभीष्ट है उसी का नाशक महदतिक्रम होता है, अन्यथा यहाँ पर जिनकी गणना की गई है, वह आयु आदि यदि उपद्रव कर्त्ता के अभीष्ट न हो तो आयु आदि का नाश तो उसको अभीष्ट ही है, वह किया तो उससे कुछ अनिष्ट तो हुआ नहीं, महदतिक्रम ने क्या कर लिया ? यह आक्षेप हो सकता है, अतः जो कुछ अभीष्ट होता है उसी का नाशक है, लोकप्रसिद्ध अभीष्टों की गणना

१. अन्तः करण सात्विक अहङ्कार का कार्य होता है, अतः ऐसा कहा है।

तो की ही है, अन्य भी जो नहीं कहे गये वह सब ही 'सर्वाणि' पद से संङ्गृहीत हैं। 'पुंसः' पद से स्वतन्त्रता सूचित की है, कि स्वतन्त्र पुरुष के भी आयु आदि गुण महान पुरुष भगवदीय जन के अतिक्रम या उल्लङ्घन द्वारा नष्ट हो जाते हैं, जिनका महत्व भगवत्सम्बन्ध से ही है, अन्यथा आरा के अग्रभाग जसे अणु जीव का महत्व कैसे हो सकता है, ऐसे अनिरुद्ध व्यूह भगवान् के धर्म रक्षात्मक चरित्र की सिद्धि के लिये सर्व दुःखरूप माया कार्य बतलाया गया है ॥ ४७ ॥

पं० विदुर जी सवह्यकिशोरकृत भा० द० स्कन्ध चतुर्थ अध्याय के सुबोधिनी जी का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

उक्तमेव स्पष्टयन्ति—विप्रा इति। यतो विप्रादयो हरेस्तनूः तन्वः, अतस्तेषां वध एव तद्वध इत्याशयः ॥ ४१ ॥ हि-शब्दोऽवधारणे। द्वितीयो हिशब्दो हेतौ। हि यस्मात् स हरिरेवासुरद्विट, अतः स एव हन्तव्य इति शेषः। ननु "देवा अपि द्वेषिणः सन्त्येव, कथं स एवेत्यवधारणम् ?" तत्राहुः—सर्वेषां सुराणामध्यक्षः स्वामीति। "स्वामित्वमपि न लोकवत्, किन्तु तन्मूलतया" इत्याहुः—तन्मूला देवताः सर्वा इति। एवमुक्तेऽपि 'रुद्रस्य ब्रह्मणश्च स्वातन्त्र्यशङ्का माभूत्' इत्याशयेनाहुः—सेश्वराः सचतुर्मुखा इति। सर्वमूलत्वे हेतुमाहुः—गुहाशय इति। गुहा अन्तःकरणं तत्र शेतेऽनियामकतया तिष्ठतीति तथा "एवं विप्रादीनां हरि-तनुत्वेऽपि तेपु वेदज्ञा ऋषय एव मुख्या, उपदेष्टृत्वात्। अतस्तेषां हिंसनमेव तद्वधे मुख्य उपाय" इत्याहुः—अयमिति ॥ ४२ ॥ एवं दुष्टैर्मन्त्रिभिः सह कंसः सम्मन्त्र्य ब्रह्महिंसां हितं मेन इत्यन्वयः। ननु "क्षत्रियस्य ब्राह्मणरक्षणमेव युक्तम्, ब्राह्मणहिंसा तु सर्वथाऽनुचितैव, अनर्थहेतुत्वात्। इति मन्त्रिणं दुष्टत्वेऽपि तां कथं हितं मेने" इत्याशङ्क्याह—असुर इति। ननु 'असुरा अपि प्रह्लाद-बलिप्रभृतयो धर्मिष्ठाः श्रुता' इत्याशङ्क्याह—दुर्मतिरिति। तत्रापि हेतुमाह—कालपाशावृत इति। आसन्नमृत्युरित्यर्थः ॥ ४३ ॥ ततश्च सर्वदिक्षु साधुलोकस्य सदाचारनिष्ठब्राह्मणादिजनस्य कदने दुःखोत्पादने दानवान् सन्दिश्य आज्ञाप्य स्वयं गृहमाविशत्। 'दानवानामपि तदाज्ञया महानुत्सवो जात' इत्याशयेन विशिनष्टि—कदनप्रियानिति। कदनं परदुःखोत्पादनं प्रियं येषां तानि-त्यर्थः। तेषां सर्वत्र गमने सर्वोपद्रवे च सामर्थ्यं सूचयन्नाह—कामरूपधरानिति। यथेष्टवेषधारिण इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ ते कंसाज्ञप्ता दैत्या अपि सतां विद्वेषमुपद्रवमाचेरुः कृतवन्त इत्यन्वयः। तेषामपि असदाचरणेदुर्बुद्धित्वमेव हेतुमाह—रजःप्रकृतय इति। रजसा गुणेन विक्षिप्तस्वभावा इत्यर्थः। तमसा मूढमर्थानर्थविवेके असमर्थं चेतो येषां ते। एवं बुद्धिभ्रंशेऽपि हेतुमाह—आरात् समीप-मागतो मृत्युर्येषां ते इति ॥ ४५ ॥ न केवलं पुंसः आयुरेव महतामतिक्रमस्तिरस्कारो हन्ति, किन्त्वायुरादीनि सर्वाण्येव श्रेयांसि हन्तीत्यन्वयः। श्रेयांस्येव दर्शयति—श्रियं धनसम्पत्तिम्, यशः कीर्तिम्, धर्मं पुण्यम्, तत्प्राप्यान् स्वर्गादिलोकांश्च, आशिषः अन्यांश्चाकाङ्क्षितान् पुत्रादीन् ॥ ४६ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना ॥ श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये ॥ श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र हरेर्जन्मनिरूपणे ॥ चतुर्थो विवृतोऽध्यायः कंसोद्यमनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विप्रा इति ॥ विप्रा गावश्च वेदाश्चेत्यादयः हरेस्तनूः शरीरम् एकत्वं समुदायाभिप्रायमिति ऋजुः पन्थाः यद्वा एताः हरे-स्तनूर्हन्त्यः ॥ ४१ ॥ सहीति सार्द्धम् ॥ हि यस्मात् स एव असुरद्विट् गुहाशयः अन्तःकरस्थः अलक्षितः सर्वेषां सुराणामध्यक्षः स्वामी सेश्वराः सशिवाः स चतुर्मुखाश्च सर्वा देवताः स विष्णुरेव मूलं यासां तथाभूताः सन्ति। अतो देवतामूलं विष्णुस्तन्मूलं च ब्राह्मणादयस्तेष्वपि ब्राह्मणो मुख्यः अतः यत् ऋषीणां विहिंसनम् अयमेव मुख्यः तस्य विष्णोर्वधस्य उपायः ॥ ४२ ॥ एवमिति ॥ कालस्य पाशेनावृतः आसन्नमृत्युः असुरः सुरविरोधी स्वयं दुर्मतिः कंसः दुर्मन्त्रिभिः सहैव संमन्त्र्य ब्रह्मणां ब्राह्मणानां हिंसां हितं मेने। हितं हितमिति पाठद्वयम् ॥ ४३ ॥ संदिश्येति ॥ कदनं परदुःखोत्पादनं प्रियं येषां तान् कामरूपधरान् यथेष्टवेषधारिणः दान-वान् सर्वदिक्षु साधुलोकस्य सदाचारजनस्य कदने संदिश्य गृहमाविशत् ॥ ४४ ॥ ते वै इति ॥ रजःप्रकृतयः रजोगुणेन विक्षिप्त-स्वभावाः तमसा मूढचेतसः आरात्समीपमागतो मृत्युर्येषां ते दानवाः सतां विद्वेषमाचेरुः कृतवन्तः ॥ ४५ ॥ आयुरिति ॥ महतामति-क्रमोऽनादरः पुंस आयुः श्रियं यशः धर्मं लोकान् स्वर्गादीन् आशिषः कामितान् पुत्रादीन् किं बहुना सर्वाणि श्रेयांसि हन्ति। अतोऽसौ न मृत्युमात्रहेतुः किंतु बह्वनर्थकारी ॥ ४६ ॥

इति श्रीभागवते दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विप्रादयो न केवलं विष्णोर्मूलमात्रमपि तु हरेस्तनुरपीत्याहुः। विप्रा वेदविदादयो ब्राह्मणाः, गावो हविर्धान्यश्च, वेदा ऋगादयश्च, तपः कृच्छ्रचान्द्रायणाचरणादिरूपं, सत्यं यथार्थभाषणं, दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः, शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः, श्रद्धा,

सत्कर्माचरणविषया त्वरा, दया कारुण्यं, तितिक्षा क्षमा, क्रतवो यज्ञाश्च, हरेः तनूः शरीरम् ॥ ४१ ॥ स इति ॥ स हि स एव विष्णुः, सर्वसुराध्यक्षः सकलदेवानामधिपतिः, असुरान् द्वेष्टीति असुरद्विट् निराहः सन् देवपक्षपातं कृत्वा असुरैर्द्वेषमाचरति । एवं भूतः सन्नपि, गुहाशयः सर्वभूतहृदयगुहानिगूढः, हि । सेश्वराः सशिवाः, सचतुर्मुखा ब्रह्मणा सहिताः, सर्वाः देवताः, स विष्णुरेव मूलं येषां तथाभूताः, एवं देवानां तन्मूलत्वेऽपि स गुहाशयः कथं हन्तव्य इति चेद्विप्रादय एव हन्तव्या इत्याहुः । अयमिति । ऋषीणां विहिंसनं यत्, अयं वै एव, तद्वधोपायः, ऋषिविहिंसनेन तच्छरीरे विष्णौ नष्टे सति तन्मूला देवाः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति भावः ॥ ४२ ॥ एवमिति । एवमित्थं, दुर्मन्त्रिभिः सह, संमन्त्र्यालोच्य, दुर्मतिः, असुरः, कालपाशावृतः कंसः, ब्रह्महिंसामेव, हितं स्वहितकारिणीं, मेनेऽमन्यत ॥ ४३ ॥ संदिश्येति ॥ कंसः, कदनं प्राणिनां व्यसूकरणं प्रियं येषां तान्, कामरूपधरान् नानारूपधरान् दानवान्, साधुलोकस्य साधुगुणवतो ब्राह्मणजनस्य, कदनेऽर्दने कदननिमित्ते, दिक्षु संदिश्य दिशासु प्रयातुमाज्ञाप्य, गृहं स्वभवनं, आविशत् ॥ ४४ ॥ त इति ॥ ततः, आरादन्तिके, आगतमृत्यवो निकटागतमरणा इत्यर्थः । ते असुराः, रजःप्रकृतयः रजसा क्षिप्तस्वभावाः, तमसा, मूढामावृतं चेतो येषां ते तथाभूताः सन्तः, सतां वै, विद्वेषमप्रीतिं दुःखमिति यावत् । आचेरुः । 'सतां विद्वेषणं चेरुः' इत्यपि पाठः ॥ ४५ ॥ सतां विद्वेषो न केवलं मृत्युमात्रहेतुः, किं तु बह्वनर्थकारीत्याह । आयुरिति । महदतिक्रमः महद्विषयापचारः, पुंसामपचरतां पुरुषादीनां, आयुर्दीर्घकालजीवनम्, श्रियं संपत्तिं, यशः कीर्त्तिं, धर्मं पुण्यं, लोकान् धर्मप्राप्यफलानि, देहानुबन्धिनो जनान्वा । आशिषः विप्राद्याशिषा लब्धान् भोगान्, किं बहुना । सर्वाणि श्रेयांसि चापि, हन्ति विनाशयति एव ॥ ४६ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायां-मन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ते वै इति : १०.४ ४५.

योऽत्र गोद्विजमुनीश्वरसज्जनार्यान् विद्वेष्टि दुष्टमतिरिष्टविनष्टदृष्टिः ।
स्पष्टं स कष्टतरदिष्टदनष्टभावं याति स्वतो द्रुतमिहेत्यृषिणा प्रदिष्टम् ॥ १९ ॥

आयुः श्रियमिति : १० ४ ४६.

सर्वांशतोऽप्यभयदायिनि जागरूके सद्रक्षणाय सततं सति विश्वनाथे ।
सद्रोमलेशविकलीकरणाय नालं स्याद् दुष्ट इत्यकथि तेषु स शापवाचा ॥ २० ॥
कुर्वन्तु नाम विद्वेषं सतां सर्वत्र दुर्जनाः । ततो नहि भयं तेषामास्ते यद् गोकुले हरिः ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

कृष्णप्रिया

इसलिये अपने से, दूसरों से साक्षात् एवं परम्परा से जैसे भी लौकिक वैदिक साधन कर सकें वैसे हम वेद एवं वेदार्थ जाननेवाले, तपस्वी तथा जिनका यज्ञ करने का स्वभाव है ऐसे ब्राह्मणों का और हविष्य देनेवाली गायों का वध करेंगे ॥ ४१ ॥ वेदज्ञ विप्र लोग गायें, हविष्य के उपयोगी सभी अन्न, वेद एवं उनके अंग अथवा व्रत, तप, सत्य, इन्द्रियों का दमन, अन्तःकरण का शमन, श्रद्धा, दया, तितिक्षा तथा ज्योतिष्टोमादि याग ये सब हरि भगवान् के शरीर हैं ॥ ४२ ॥ वह विष्णु सर्व देवताओं के अध्यक्ष हैं दैत्यों के शत्रु हैं अन्तःकरण में गुप्तरूप से रहने वाले हैं तथा ब्रह्मा महादेव सहित सब देवताओं का मूल हैं, अतः उस के मारने का उपाय यही है कि ऋषियों को मारना ॥ ४३ ॥ इस प्रकार वह कंस दुष्ट मन्त्रियों से मन्त्रणाकर दुर्बुद्धिवाला हो गया और उसने ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हित माना क्योंकि वह असुर होने से स्वभाव से दुष्ट था और कालपाश से आवृत भी था ॥ ४४ ॥ स्वयं पीड़ा देने की इच्छा वाले एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन राक्षसों को सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशों दिशाओं में जाने का आदेश देकर वह कंस अपने महल में चला गया ॥ ४५ ॥ निश्चय कर के रजोगुण के स्वभाव वाले और आगन्तुक तमोगुण से व्याप्तचित्त वाले उन दैत्यों ने सत्पुरुषों के साथ द्वेष किया क्योंकि उनकी मृत्यु पास ही आ गई थी । जो आसन्नमृत्यु होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता ॥ ४६ ॥ आखिर अध्यायसमाप्ति में श्रीशुकाचार्यजी ने कहा कि राजन् ! जो लोग महापुरुषों का अतिक्रमण, उल्लंघन करते हैं उनका वह कुकृत्य आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म, एवं उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादिलोक, पुत्र आदि जो भी अभीष्ट हैं उनको और अन्य सब कल्याणों को नष्ट कर देता है ॥ ४७ ॥

इति चतुर्थाध्याय का अनुवाद समाप्त हुआ ।

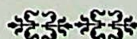

अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥

परिशिष्टम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः पूर्वार्धः

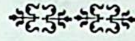

अथ प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः । राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

॥ श्रीसहजानंदाय हरिकृष्णाय भक्तिधर्मात्मजाय श्रीनीलकंठाय नमो नमः ॥

श्रीमंतं सहजानन्दं स्वभक्तानां सुखप्रदम् । गोपालानन्दनामाहं ध्यायामि हृदयाम्बुजे ॥ १ ॥

आविर्भूयात्र यो वै निजरुचिरपुरात् ब्रह्मधामाभिधानात् पाता धर्मं ससैन्यं बहुजनसुखदो धर्मसूनुर्दयालुः ।

यस्मिन्नासक्तचित्ता बहुजननिकरा ब्रह्मधाम प्रयांति तं वंदे मुक्तनाथं सकलगुणगणालंकृतं दिव्यमूर्तिम् ॥ १ ॥

हरिकृष्णं परं ब्रह्म नत्वा कुर्वे स्वदेशिकम् । दशमस्कंधव्याख्यानं निगूढार्थप्रकाशकम् ।

मिताक्षरैः सुललितं कृष्णमाहात्म्यबोधकम् ॥ २ ॥

नवमस्कंधे प्रोक्तयोः सूर्यचंद्रवंशयोर्मध्ये चंद्रवंशोत्पन्नस्य यदोः कुले अपरिमितैश्वर्ययुक्तस्वदिव्यमनोहरमूर्त्तिनिवासभूतादपरिमितकोटिसूर्यचंद्रसदृशप्रकाशवतो ब्रह्मपुरादनेकजनोद्धारणाय भूभारावतरणाय च मनुष्यभावेन प्रादुर्भूतस्याधर्मध्वांतनाशकभक्तजनपद्मविकाशकभास्करस्य । क्षितिभरभूतभूपायसज्जनतस्करसंकोचकभक्तजनविरहजसंतापनिवारकचंद्रस्य दिव्यभावमनुष्यभावमिश्रचरित्रकर्त्तुः श्रीवसुदेवनंदनस्य दशमस्कंधे नवतिभिरध्यायैर्व्रजमधुपुरद्वारिकासुकृतजनपावनातिविशुद्धसमाहात्म्यभक्तिबोधकदिव्यमानुष्यचरित्रवर्णनेन वैरप्रेमादिभिस्तदासक्तजनवृत्तीनां दुष्टानां च निरोधाभिधमष्टमं लक्षणं निरूपयति । तत्रादौ चतुर्भिरध्यायैर्भारपीडितभूमिप्रार्थितविधिप्रार्थनया कृष्णजन्म सविस्तरं निगद्यते । तत्र प्रथमे कंसो नभोगिरा प्रोक्तं देवकीतनयात्स्वमृत्युं श्रुत्वा देवकीपुत्रषट्कं न्यहन्निति वर्ण्यते । तत्रादौ स्वेष्टश्रीकृष्णलीलाश्रवणैकतानः परीक्षिद्राजा पृच्छति कथित इति । भवता चंद्रार्कयोः अन्वयस्य विस्तारः कथितो नवमस्कंधे प्रोक्तः तेन कथनेन च मया उभयवंश्यानां चंद्रार्कवंशोत्पन्नानां राज्ञां चरितं ज्ञातम् । यदोश्चेति । चकारात्तत्रोभयविधेष्वपि राजन्येषु नितरां धर्मशीलस्य धर्मिष्ठस्य चंद्रवंश्यस्य यदोश्चरितं परमाद्भुतम् अत्यंताश्चर्यजनकं तत्र हर्याविर्भावात् जातमिति भाव इत्युत्तरेण संबंधः ॥ १ ॥ तत्र यदुवंशे अंशेन स्वांशभूतेन संकर्षणेन सह अवतीर्णस्य विष्णोः बद्धमुक्तक्षेत्रज्ञनिकरेष्वंतर्यामिशक्त्या प्रवेशनशीलस्य श्रीकृष्णस्य वीर्याणि पराक्रमान् नोऽस्मभ्यं शंस कथय ॥ २ ॥ एवं संक्षेपतो वीर्याणि पृष्टानि सांप्रतं विस्तरतः सचरित्रपराक्रमान् पृच्छन्नाह अवतीर्येति । भूतानि स्थावरजंगमानि वा बद्धमुक्तक्षेत्रज्ञवृंदानि भावयति पालयतीति भूतभावनः अतएव विश्वात्मा सर्वांतर्यामी भगवान् भगं सर्वज्ञातृत्वादि उत्पत्तिं प्रलयं चैवेत्यादि ऐश्वर्यस्य समग्रस्येत्याद्यनेकविधमैश्वर्यषट्कं लोके प्रसिद्धमप्रसिद्धं चास्ति तद्वान् यानि सपराक्रमाणि चरित्राणि कृतवान् तानि नोऽस्मभ्यं विस्तरतो वद ॥ ३ ॥ ननु पुनः पुनः श्रवणे न किं स्यादित्याशंक्य अत्राजे स्थितानां मुक्तमुमुक्षुविषयिणां मध्येऽस्मिन्न कस्याप्यलंबुद्धिरिति वक्ति निवृत्ततर्षैरिति । विगततृष्णैर्विषयबंधमुक्तैः गीयमानात् भवबंधमुमुक्षूणां च तदौषधात् विषयिणां च श्रोत्रमनसोरभिरामात् आनंदजनकादित्यर्थः । उत्तमश्लोकस्य श्रेष्ठकीर्त्तेर्हरेर्गुणानाम् अनुवादात् पुनः पुनः कथनाच्छ्रवण च पशुघ्नात् विना अपगता शुक् शोको यस्मात्तं शोकरहितं मुक्तनरं हंतीत्यपशुघ्नस्तस्माद्विनेति वा को विरज्येत निवृत्तिं प्राप्नुयात् न कोपीत्यर्थः । यतः सर्वश्रवणीयचरित्रोऽसमत्कुलेज्यदेवश्च श्रीकृष्णोस्ति अतस्तस्यैव प्रतापेन वयं सुखिन इत्याशयेनाहपितामहाः अर्जुनप्रभृतयः पंच समरे युद्धे अमरान्देवान् जयंतीति तथोक्तैः देवव्रतो भीष्मस्तदाद्यैरतिथैः यथा तिमिंगिलैर्दुस्तरं तथा तिमिंगलसदृशैर्दुरत्ययं तत्र तेषां स्थितया नाशायोग्यं कौरवसैन्यरूपं सागरं समुद्रं वत्सपदं तत्तुल्यं कृत्वा यः श्रीकृष्ण एव प्लवो नौका येषां ते यत्प्लवाः संतः अतरन् । स्मेतिपादपूरणे । तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयश्लोकवाक्येनान्वयः ॥ ५ द्रौणीति । चो भिन्नोपक्रमे पांडवरक्षणादनंतरं यः श्रीकृष्णः शरणंगतायाः प्राप्तायाः । मे मातुरुत्तरायाः कुक्षिंगतस्तस्यां प्रविष्टः गदा च चक्रं तत् आत्तं येन स आत्तचक्रः गृहीतगदारथांगः सन्नित्यर्थः । अत्र विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वा वाच्य इत्यनेन पूर्वपदस्य लोपः । द्रौणेः

द्रोणपुत्रस्यास्त्रेण ब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं दग्धप्रायं कृतं यतः कुरुपांडवानां संततेर्बीजं कारणमस्ति अत इदं ममांगं वपुर्जुगोप ॥ ६ ॥ **वीर्याणीति** । पुनश्च पुरुषकालरूपैः अखिलदेहभाजां समग्रदेहिनाम् अंतःपुरुषरूपैः रामकृष्णाद्यवतारैर्दर्शनश्रवणादिद्वारा अंतःकरणे प्रविश्य अमृतं मोक्षं प्रयच्छतः प्रदातुः तेषां बहिश्च कालरूपैः संवत्सरादिपरिवृत्तैर्मृत्युमपि प्रदातुः मायया जनोपरि कृपया मनुष्यस्य मनुष्यभावं प्राप्तस्य तस्य परमदिव्यमनोहरमूर्त्तेः प्रत्यक्षश्रीकृष्णस्य वीर्याणि वदस्व । विद्वन्निति शुकस्य हरिस्वरूपस्वभावादीनां ज्ञानवत्त्वात्तत्संबोधनम् । पुनश्च वीर्यश्रवणाय प्रश्नान् पृच्छति **रोहिण्या इति** । त्वया नवमस्कंधे रोहिण्यास्तनयः सुतः तस्य नवमे प्रोक्तो देवक्या गर्भसंबंधः अन्यदेहं विना कथं घटते ॥ ८ ॥ कस्मादिति सत् श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म विद्यते एषु ते सत्वन्तः आर्षत्वात्साथिकाणलोपेन सत्वंत एव सात्वंतस्तेषां पतिः व्रजवासानंतरं क बाल्याद्यवस्थासु मध्ये कस्यामवस्थायां ज्ञातिभिः सार्द्धं यदुभिः सहवासं कृतवान् यद्वा कस्मिन्कस्मिन् स्थले युद्धाद्यर्थं ज्ञातिभिः यादवादिस्वसंबंधिभिः सहेति ॥ ९ ॥ यतो मातुर्भ्रातरं कंसं ततस्तस्य वधस्यानर्हमयोग्यम् अद्धा साक्षात् कुतो हतवान् ॥ १०–११ ॥

श्रद्दधानाय श्रवणे त्वरायुक्ताय । विस्तृतं सविस्तरम् ॥ १२ ॥ स्वश्रद्धां द्योतयन्नाह नैषेति । अतिदुःसहा सोढुमशक्या । एषा क्षुधा त्यक्तोदकमपि मां न बाधते न व्यथां करोति । यतस्तव मुखांभोजात् मुखचन्द्रात् च्युतं निःसृतं हरिकथारूपममृतं पिबन्तम् ॥१३॥ भृगुनंदन हे शौनक व्यासपुत्र एवं साधुवादं समीचीनवचनं निशम्य श्रुत्वा । अथ भागवतप्रधानो हरिभक्ताग्रणीः अतः भगवान् हरेः सकाशाल्लब्धैश्वर्यः । सः शुकः । विष्णुना उत्तराकुक्षिप्रविष्टेन श्रीकृष्णेन रातं द्रौण्यस्त्रात् रक्षणेन दत्तं परीक्षितं प्रत्यर्च्य प्रशंस्य । व्याहर्त्तुं व्याख्यातुम् आरभत ॥ १४ ॥ सम्यग्व्यवसिता समीचीननिश्चययुक्ता । यत् यस्या बुद्धेः ॥ १५ ॥ स्वेतरचेतनाचेतनेषु वसतीति वासुः स चासौ देवश्च वासुदेवस्तथाभूतो वसुदेवपुत्रः श्रीकृष्णस्तस्य कथायाः प्रश्नः । तस्य पादयोः सलिलं गंगोदकं वा चरणामृतं यथा पिबंतं श्रोतारं द्रष्टारं च तथा त्रीन्नरान् पुनाति ॥ १६ ॥ आदौ भगवदवतार-हेतुमाह भूमिरिति नवभिः । दृप्ता गर्विष्ठा नृपमिषा ये दैत्यास्तेषामनीकानि सैन्यानि तेषां शतायुतैः असंख्यातैः योऽतिशयभारस्तेन आक्रांता पीडिता । शरणं रक्षकम् ॥ १७ ॥ अश्रणि मुखे यस्याः सा । खिन्ना खेदं प्राप्ता । करुणं यथा क्रंदंती आक्रोशंती सती । विभोः विधेः । अंतिके समीपे उपस्थिता वर्त्तमाना क्षितिः । स्वं स्वकीयं दुःखम् ॥ १८ ॥ तदुपधार्य दुःखं श्रुत्वा । तया भूम्या । सहितः । स त्रिनयनः सशंकरः । क्षीरसमुद्रस्य तटम् ॥ १९ ॥

तत्र तीरे गत्वा समाहितः सावधानः सन् । वृषस्य धर्मस्य अकं दुःखं पिबंति तस्माद्रक्षणेन निर्वर्त्तयतीति वृषाकपिस्तं यद्वा वृषं न कंपयति स्थापनेन स्थिरीकरोतीति तं यद्वा वर्षति भक्तकामानिति वृषः आकंपयति भक्तशत्रूनिति आकपिः स चासौ स च तम् उपतस्थे चित्तैकाग्रेण स्तुतिमकरोत् ॥२०॥ एवं स्तुत्या जातसमाधिर्ब्रह्मा समाधौ श्रुतां हरिवाणीं समाधेः परावृत्य देवानुपदिशन्नाह गिरमिति । समाधौ जाते सति गगने चिदाकाशे हरिणा समीरितां प्रोक्तां गिरं निशम्य श्रुत्वा वेधाः विधिः त्रिभिरधिकानि दशवयो-वर्षाणि येषां ते त्रिदशाः नित्यं किशोरावस्थावंतो देवा इत्यर्थः । यद्वा तृतीया यौवनाख्या दशा सदा येषां ते त्रिदशाःनित्यं यौवनाव-स्थावंतो देवा इत्यर्थः । त्रिशब्दस्य तृतीयार्थता त्रिभागवत् । तानुवाच हे अमराः पुरुषस्य अन्नादिसिद्धदिव्यपुरुषाकारस्य आत्मै-वेदमग्र आसीत् पुरुषविध इति श्रुत्युक्तस्य नारायणमुनेरिमां पौरुषीं गां वाणीं मत्तः शृणु, पुनस्तथैव आशु शीघ्रं विधीयतां क्रियतां मा चिरं विलंबं मा कुरुत ॥ २१ ॥ अस्मद्विज्ञप्तेः पूर्वमेव हरिणा वृत्तांतं ज्ञातमिति निरूपयन्नाह पुरेति । पुंसा नारायणेन धरायाः ज्वरवत् पीडा । पुरैव अवधृतो ज्ञातः सः नारायणः स्वकालशक्त्या उर्व्या भूमेः भारं क्षपयन् निवारयन् सन् भुवि यावत् विचरेत् तावत्पर्यंतं भवद्भिः अंशैः कृत्वा यदुषूपजन्यतां जनित्वा स्थातव्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥ तत् प्रियार्थम् तस्य वासुदेवस्य प्रसन्नतार्थम् । पातिव्रत्यादिधर्मपालनेन प्रसादयितुमित्यर्थः ॥ २३ ॥ प्रियंकर्त्तुमिच्छया ॥ २४ ॥ प्रभुणा कार्यार्थे आदिष्टा आज्ञप्ता सती । अंशेन संभविष्यति कार्यं च देवकीगर्भमाकृष्य रोहिण्युदरप्रवेशनादि ॥ २५ ॥ इत्यादिश्य इत्थं पौरुषीं गां गदित्वा ॥ २६ ॥ हरेर्जन्म वर्णनाय कथाप्रसंगमाह विषयान् देशान् मथुरामावसन् उपान्वध्याङिति कर्मत्वम् ॥ २७ ॥ ततः शूरसेनोपभोगानंतरं सा मथुरा सर्वेषां यादवभूभुजां यदुकुलोत्पन्नभूपानां राजधानी राजानो धीयंतेऽस्यां तथाभूता अभूत् । यत्र यस्यां सन्निहित उपस्थितः ॥ २८ ॥ तस्यां मथुरायां शौरिः शूरपुत्रः कृतोद्वाहः सन् सूर्यया नवोढया प्रयाणे स्वगृहगमनार्थम् ॥ २९ ॥ स्वसुः देवक्यभिधपितृव्यपुत्र्या भगिन्याः प्रियं हितं कर्त्तुमिच्छया रौक्मैः सुवर्णरचितैः हयानां रश्मीन् बंधनरज्जूः जग्राह ॥ ३० ॥

पारिबर्हं विवाहे प्रदेयं वस्तुवृंदम् ॥ देवकः ॥ प्रादात् सार्द्धम् अयुतं पंचदशसहस्रं रथानां च त्रिरावृत्ता षट् त्रिषष्टं अष्टादशेत्यर्थः । संख्यया व्ययेत्यादिना सुजर्थे बहुव्रीहिः त्रिषट् च तत् शतं च त्रिषट्शतं अष्टादशशतम् पारिबर्हं देवकः प्रादादिति प्रत्येकं संबंधः ॥ ३१ ॥ दुहितरि पुत्र्यां वत्सलः स्नेहयुक्तो देवकः उग्रसेनभ्राता दुहित्रे सुतायै ॥ उक्तं पारिबर्हं प्रादात् ॥ ३२ ॥ समम् एककालावच्छिन्नं न नेदुः तेन नादेन तावत् प्रथमं प्रयाणस्य प्रक्रमे आरंभे तयोः सुमंगलम् अभूत् ॥३३॥ प्रग्रहिणं गृहीतरश्मिं कंसम् आभाष्य रे रे कंसेति संबोधनं कृत्वा अशरीरवाक् नभोवाणी आह–हे अबुध यां देवकीं त्वं वहसे अस्याः अष्टमो गर्भोऽपत्यं

त्वां हंता हनिष्यति ।। ३४ ।। पापः पापिष्ठः कुलपांसनः कुलदूषणः। आरब्धः उद्युक्तः खड्गपाणिः असिहस्तः सन्। कचे कबरे ।। ३५ ।। जुगुप्सितं निंदितं कर्म यस्य तम् ।। नृशंसं क्रूरं निरपत्रपं निर्लज्जं परिसांत्वयन् सामाद्युपायेनाश्वासयन् ।।३६।। श्लाघनीयाः स्तुत्या गुणा यस्य। भोजानां भोजकुलजानां कीर्त्तिकरः। उद्वाहस्य पर्वणि शुभदिने हननेन यशोहानिरित्य-भिप्रायः ।। ३७ ।। कीर्त्तिनाशादपि जीवनं श्रेष्ठमिति भीतस्य मरणावश्यकत्वं दर्शयन् भेदोपायेन भयं निवर्त्तयन्नाह मृत्युरिति। स्वप्रारब्धानुसारेण मरणस्यावश्यंभावित्वात् त्वया स्वसृवधादिपापं न कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ।। ३८ ।। ननु देहं विनाऽहं कथं स्थास्यामीति चेत्तत्राह देह इति। देहे पञ्चत्वं मरणकालं प्राप्ते सति कर्म अनु पश्चात् गच्छतीति कर्मानुगः अतोऽवशः पराधीनो देही जीवात्मा देहान्तरम् अन्यदेहं स्वकर्मानुसारेण प्राप्य पूर्वं वपुः देहं त्यजते देहे नष्टेऽपि न देहस्यावश्यंभावित्वाद्देहिनो मरणाभावाच्च मरणभयेन हिंसा न कार्येति भावः ।। ३९ ।। तदेव स्पष्टयति व्रजन्निति। यथा नरः व्रजन् गच्छन् सन् एकेन स्वाग्रभूम्यां धृतेन पादेन तिष्ठन् भूमिमवलंब्य देहं धारयन् सन् अवलंबितभूप्रदेशात् एकेन द्वितीयेन पदा एवान्यभूप्रदेशं गच्छति। द्वितीयो दृष्टांतः यथा तृणजलौका एकेन पदार्थतृणम् आलंब्य तिष्ठती सती आलंबिततृणात् द्वितीयेन पदा तृणान्तरं प्राप्नोति तथा देही जीवात्मा कर्मणो गतिं नानाविधसंसृतिं गतः सन् प्रारब्धकर्मणा एकं देहमालंब्य तिष्ठन् सन् आलंबितदेहात् देहांतरप्रापककर्मणा अन्यदेहं प्राप्नोति देहं विना जीवो न तिष्ठति अतो देहरक्षार्थं हिंसा न कार्येति भावः ।। ४० ।।

पुनश्च दृष्टांतद्वयेन देहत्यागाविष्कारौ दर्शयति स्वप्न इति। यथादृष्टश्रुताभ्यां दृष्टं धनिकराजादीनां दर्शनं श्रुतम् इन्द्रवरुणादि-श्रवणं च ताभ्यां प्राप्तसंस्कारेण मनसानुचिंतयन् दृष्टश्रुतौ देहौ स्मरन् सन् ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं किमपि कमपि तत्तं धनिकवरुणादि-रूपं देहं पुरुषः स्वप्ने पश्यति तदनंतरम् अभिनिविष्टचेतनः दृष्टश्रुतदेहे प्रविष्टमतिः सन् शीघ्रं तदेवाहमिति प्रपद्यते मन्यते ततश्चापगत-स्मृतिः जाग्रद्देहविस्मृतिमान् भवति। अन्यो दृष्टांतः मनोरथेन दृष्टं श्रुतं च चिंतयन् जाग्रत्यपि ईदृशं देहं पश्यति शेषं पूर्ववत्। यद्वा एक एव दृष्टांतः मनोरथेन दृष्टश्रुतवस्तुनि अभिनिविष्टचेतनः अत एवादृष्टश्रुताभ्यां प्राप्तसंस्कारेण मनसानुचिंतयन् स्वप्ने ईदृशं कमपि देहं पश्यति तदनंतरं शीघ्रं तदेवाहमिति मन्यते ततश्च जाग्रद्देहविस्मृतिमान् भवति तथा प्राक्तनं देहं त्यक्त्वा देहान्तरं प्राप्नोतीत्यर्थः।।४१।। कया रीत्या देहं प्राप्नोतीत्याशंक्य तत्प्रकारमाह यत इति। मायारचितेषु ईश्वरेण मायाया नानाविधदेवमनुष्याद्याकारेण कृतेषु पंचसु गुणेषु भूतेषु देहावसानसमये दैवेन कर्मफलप्रापकेश्वरेण नोदितं विकारात्मकं नानाविकाररूपं मनो यतोयतो यं देहं प्रतिधावति धावच्च सत्यमाप अत्यासक्त्या प्राप्नुयात्। तत्र देहेऽसौ जीवात्मा प्रपद्यमानः स एवाहमिति मन्यमानः तेन सह जायते तेनाकारेणो-त्पद्यते ।। ४२ ।। तथा पूर्वोक्ता विधाः प्रकारा यस्य सः द्रोग्धुर्जनद्रोहकर्त्तुः परतः ईश्वरादन्यपुरुषाच्च भयमस्ति ।।४३।। पुत्रिकोपमा भयेन काष्ठादीनां प्रतिमा सदृशी भवति अत इमां कल्याणीं शुभाम् ।। ४४ ।। सामभिः सामोपायैः। भेदैर्भेदोपायैः पुरुषान् अदंतीति तान् राक्षसान् अनुसृतः स्वयं दारुणः कौरव्य हे कुरुकुलोत्पन्न ।।४५।। निबधमिति। तस्य कंसस्य तं देवकीवधरूपं निर्बन्धमाग्रहं ज्ञात्वा तज्जन्मनि देवैः हर्षेण कृतात् आनकदुंदुभिघोषणान्नाम्ना आनकदुंदुभिः वसुदेवः कालं प्रतिव्योढुं वंचयितुं तत्र तत्क्षणे इदं वक्ष्यमाणमपत्यार्पणमन्वपद्यत अन्वबुध्यत ।।४६।। जनानां मरणप्राप्तिसमये धर्मिष्ठस्य करणीयमाह मृत्युरिति। तावत् जनस्य मृत्युः अपोह्यो निवारणीयः असौ मृत्युः देहिनः मृत्युनिवारकस्य ।। ४७ ।। बुद्धिबलोदयमाह पञ्चभिः—मृत्यवे यदि सुता जायेरन् तर्हि मृत्युः कंसो न म्रियेत वा किं न म्रियेत ।। ४८ ।। वा पक्षांतरे विपर्ययो मत्सुतात् कंसनिधनं किं न स्यात् कुतो धातुर्नभोवाणी वक्तुरीश्वरस्य गतिः देवक्यष्टमगर्भात् कंसमृत्युरूपः कर्त्तकंसाय प्रदाय दत्त्वा कृपणां दीनां ननु मारणाय पुत्रदाने हिंसा स्यादिति चेन्नेत्याह देवक्यां मे कृता मार्गा दुरत्ययाः अनिवार्या अतोऽपत्यार्पणप्रतिज्ञया उपस्थितो देवकीमृत्युः निवर्त्तेत निवृत्तो मृत्युः पुनः कालांतरे आपतेत् तत्पुत्रान् प्रत्यागच्छेत्तदा धातृगतेर्दुरत्ययत्वात् निवर्त्तेत ।। ४९ ।। जनानामदृष्टदुर्विभाव्यतां दृष्टांतेनाह अग्नेरिति। अग्नेः वनदाहकस्य वह्नेर्दारुवियोगः समीपस्थितकाष्ठवियोगश्च संयोगो दूरस्थकाष्ठसंयोगश्च तयोः अदृष्टतः अदृष्टं विना काष्ठस्थजंतुकर्मफलप्रदातारं विना अन्यत् निमित्तं कारणं यथा नास्ति एवं तथा जंतोः जीवस्यापि शरीरस्य संयोग उत्पत्तिश्च वियोगो नाशश्च तयोर्हेतुः कारणं दुर्विभाव्यो दुर्ज्ञेयः ।। ५० ।।

एवं यावदात्मनि दर्शनं स्वज्ञानावधि विमृश्य विचार्य शौरिर्वसुदेवः बहुमानः पुरस्सरो मुख्यो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तं पूजयामास ।। ५१ ।। तद्विश्वासार्थं प्रसन्नमुखपद्मः दूयमानेन परितप्यमानेन मनसा तं प्रति प्रहसन् इदं वक्ष्यमाणम् ।। ५२ ।। सौम्य हे सुन्दर सा अशरीरिणी वाक् यत् मरणभयमाह अस्या देवक्याः सकाशात् यद्भयं तव नास्ति यतो येभ्यः ते भयमुत्थितमुत्पन्नं तान् अस्याः पुत्रान् समर्पयिष्येऽहं दास्यामि ।। ५३ ।। वसुदेववाक्यसारज्ञः वधात् निवृत्तः तं कंसं प्रशस्य तत्प्रशंसां कृत्वा ।। ५४ ।। काले प्रसूतिसमये उपावृत्ते प्राप्ते सति सर्वा देवताः पुत्रभूता यस्याः सा स्वयमदितिरित्यर्थः। एका कन्या च अष्टपुत्राः ।। प्रोक्ता नवमे वसुदेवस्तु देवक्यामष्टपुत्रानजीजनत् कीर्त्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः। मृदुं संमर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम्। अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किलेति ।।५५।। अनृतात् असत्यवाक्यात् अतिविह्वलो व्याकुलः कृच्छ्रेण कष्टेन ।। ५६ ।। वसुदेवो वधार्थं स्वपुत्रं कथं दत्तवानित्याशंक्याह किमिति। साधूनां साधुस्वभावानां किं नु दुःसहं किमसह्यं दुःखमस्ति जनानामतिप्रियः पुत्रस्तेन कथं दत्त इत्याशंक्याह विदुषाम् आत्मपरमात्मस्वरूपविदां किमपेक्षितं प्राकृतवस्तु किमपि

नेष्टमस्ति भागिनेयो बालकः मातुलेन कथं वध्यः स्यादित्याशंक्याह कदर्याणां जीवनरूपधनलुब्धानां महापापादि किं न कार्यं ननु, देवक्या पुत्रः कथं त्यक्तस्तत्राह–धृत आत्मा परमात्मा यैस्ते धृतात्मानस्तेषां किं पुत्रादि दुस्त्यजम् ॥ ५७ ॥ तत् प्रसिद्धं समत्वं पुत्रोत्पत्तिनाशयोस्तुल्यत्वं सत्ये स्वप्रतिज्ञायां स्थितिम् ॥५८–५९॥ आदाय गृहीत्वा असतो दुर्जनस्य अविजितात्मनः अजितमनसः यद्वाक्यं तन्नाभ्यनंदत सत्यं न ज्ञातवान् ॥ ६० ॥

भूभारभूतानां दैत्यानां नाशाय देवा इहागता इति नारदोक्तिमाह त्रिभिः ॥ ६१ ॥ उभयोः गोपयदुकुलयोः ॥ ६२ ॥ वधोद्यमं क्षीरसारगमनादिभिर्देवकृतं हननोद्योगं च शशंस कथयामास ॥ ६३ ॥ स्ववधं प्रति स्ववधार्थं देवक्या गर्भे संभूतमुत्पन्नं विष्णुं मत्वा ॥ ६४ ॥ निगडैः श्रृंखलैः गृहे बंधनागारे निगृह्य निक्षिप्येत्यर्थः । अजनस्य विष्णोः शंकया ॥ ६५ ॥ असुतृपः प्राणेन्द्रियतृप्तिपराः प्रायशो बहुशः ॥ ६६ ॥ प्राक् देवदैत्यसंग्रामे विष्णुना हतं कालनेमिम् आत्मानं स्वम् इह उग्रसेनगृहे संजातं जानन् स कंसो यदुभिः सहावरुध्यत विरोधं कृतवान् ॥ ६७ ॥ यदुप्रभृतिकुलत्रयाधिपं निगृह्य कारागृहे निक्षिप्य शूरसेनान् देशान् स्वयं बुभुजे ॥ ६९ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकानन्तकोटिजनसंसारसमुद्रोद्धारकदर्शनभजनकर्तृजनब्रह्मपुरादिस्वधामदर्शकसज्जनपद्मविकाशना-धर्मध्वांतनाशकदिनमणिगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके पुराणार्क-श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने कृष्णावतारोपक्रमनामा प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

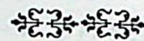

अथ द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः । मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयेऽध्याये कंसनाशाय देवकीगर्भागतः कृष्णो ब्रह्मादिदेवैः स्तुतस्तदनंतरं सा च तैः सांत्वितेति निगद्यते तत्रादावुक्तं विरोधमेव निरूपयति **प्रलंबेत्यादिचतुर्भिः** महाशनोऽघासुरः ॥ १ ॥ कदनं पीडनं बली बलवान् कंसः मागधसंश्रयः जरासंधसहायवान् ॥ २ ॥ कुर्वादीनष्टौ देशान् ॥ ३ ॥ तं कंसम् अनुरुंधानाः अनुसृताः एके केचित् उग्रसेनापत्येन ॥ ४ ॥ धामनि वासस्थानं हर्षशोकविवर्द्धनः गर्भलाभाद्धर्षः कंसभयाच्च शोकस्तयोर्विवर्द्धनः ॥ ५ ॥ समादिशत् आज्ञापयत् ॥ ६ ॥ तत्र नंदगोकुले व्रजे कंसेन संविग्ना उद्वेजिताः विवरेषु अज्ञेयस्थलेषु ॥ ७ ॥ जठरे उदरे धाम स्थानं तत्संनिवेशय आरोपय ॥ ८ ॥ नन्वेतावानुद्योगः किमर्थस्तत्राह **अथेति** । अंशाः मत्स्याद्यवतारा भागा लोकभजनीया यस्य तेन पूर्णस्वरूपेण अहं पुरुषोत्तमः पुत्रतां प्राप्स्यामि भजधातोर्बाहुलकादर्थेऽवच् अंशभागेनेत्यस्य कृतो योऽर्थस्तस्मादर्थांतरकल्पने सति अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति वचनव्याघातप्रसंगात् ॥ ९ ॥ तां प्रोत्साहयन्नाह त्रिभिः ॥ १०–१२ ॥

गर्भस्येव प्रलयकाले विश्वसंकर्षणात् यद्वा गर्भस्य देवक्युदरस्थस्य देव्या संकर्षणात् आकर्षणात् तं बलदेवं भुवि लोकाः संकर्षणं प्राहुः लोकान् रमयति क्रीडयति वा लोकेषु रमणात् क्रीडनात् वा लोकानारंभणात् श्रोत्रमनोऽभिरामेति तं संबोधयिष्यंति बलवद्रुःच्छ्रयाद्बलवद्भोजनेभ्य उच्छ्रयाद्बलाधिक्याद्बलम् ॥ १३ ॥ संदिष्टाज्ञप्ता सती तथेति पुनः पुनः परमादरेणाहं सत्यम् इति तस्य हरेर्वचः प्रतिगृह्य स्वीकृत्य तं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य च गां भूमिम् ॥ १४ ॥ रोहिणीं प्रणीते रोहिण्युदरं प्रापिते सति तस्याः गर्भो विस्रंसितो विध्वस्तः विचुक्रुशुः परस्परं प्रोचुः ॥ १५ ॥ भक्तानामसुरभयनिवर्त्तनाय हरेर्वसुदेवमनसि पूर्णस्वरूपेणाविर्भावमाह **भगवानिति** । मनः मनसि अंशभागेन पूर्णस्वरूपेण प्रविष्टः ॥ १६ ॥ पौरुषं धाम पुरुषोत्तमस्य पूर्णस्वरूपं भ्राजमानः प्रकाशमानः भूतानां दुरासदो दुःप्रापः अतिदुर्धर्षोऽपराभवनीयः न च न लोकाव्ययेति षष्ठीनिषेध इति वाच्यं माषाणामश्नीयादित्यादिवत्संबंधसामान्यविवक्षायां षष्ठीविधानात् ॥ १७ ॥ जगन्मंगलाय हरेः देवकीमनसि प्रवेशमाह **तत इति** । ततो वसुदेवमनस्याविर्भावानंतरं जगन्मंगलं जगत्कल्याणकारकं सर्वेषां चेतनानामात्मांतर्यामी सर्वात्मा स एव सर्वात्मकस्तम् अत आत्मभूतं वसुदेवस्यात्मनि क्षेत्रज्ञेऽपि वर्त्तमानं वसुदेवेनादौ मनसि धृतम् अच्युतांशम् अच्युताः च्युतिरहिता अंशा अवताराः सत्यशौचादयो गुणा वा यस्य तदुक्तं प्रथमे एते चान्ये च भगवान् नित्या यत्र महागुणाः प्रार्थ्यमहत्त्वमिच्छद्भिर्न वियंति स्म कर्हिचिदिति एवंभूतं पूर्णं हरिं देवी श्रवणकीर्त्तनादिनवविधभक्तिगुणैर्द्योतमाना देवकी मनस्तो मनसा दधार न त्वितरजीववद्वीर्यद्वारेणेत्यभिप्रायः । अत्र सदृशं दृष्टांतं निरूपयति यथा काष्ठा पूर्वदिशा आनंदकरं पूर्णेंदुं तथेति संबंधः ॥ १८ ॥ देवक्याः स्थितिं निरूपयति सर्वजगन्निवासस्य श्रीकृष्णस्य निवासभूताऽपि भोजेंद्रगेहे कंसनिर्मितबंधनालये रुद्धा सत नितराम् अत्यंतं न रेजे न शुशुभे । तत्र दृष्टांतौ कलशादिषु रुद्धाऽग्निशिखा दीपो यथा सती सरस्वती वेदपुराणादिसद्विद्या ज्ञानखले ज्ञानालंबनेन लोकवंचके

रुद्धा अन्येषामनुपकारेण स्थिता सती न शोभते यथा तद्वत् ॥ १९ ॥ तामिति अजितो हरिः अंतरा उदरमध्ये यस्यास्ताम् अत एव प्रभया भवनं कारागृहं विरोचयंतीं प्रकाशयंतीं तां वीक्ष्य आह एष प्रकाशमानो हरिः गुहाश्रितः देवकी कुक्षौ स्थितः ध्रुवं निश्चितं यत् यतः इयं पुरा ईदृशी प्रकाशमाना नाभूत् ॥ २० ॥

कंसः स्वकरणीयं विचारयन्नाह द्वाभ्यां **किमिति** । तस्मिन् देवकी कुक्षिगते हरौ मया अद्य किम् आशु शीघ्रं करणीयमस्ति नन्वियं देवकी एव हंतव्येत्याशंक्याह यद्यतः अर्थतंत्रः स्वकार्यप्रधानोपि पुमान् स्वं विक्रमं पराक्रमं न विहंति स्त्रीवधेन न नाशयति विक्रमादिनाशे हेतुमाह **गुरुमत्याः** गर्भवत्याः अयं वधः अनुकालं प्रतिक्षणं यश आदीन्येतानि हंति ॥ २१ ॥ यः अत्यंत-नृशंसितेन अतिक्रूरस्वभावेन वर्त्तेत सः जीवन् सन् संपरेतो मृतः मनुजास्तं शपंति शापप्रकारमाह तनुमानिनोऽस्य जीवस्य देहे मृते नष्टे सति अंधतमः घोरनरकं गंता गमिष्यति ध्रुवम् ॥ २२ ॥ सन्निवृत्तो निवृत्तिं प्राप्तः तस्य श्रीकृष्णस्य जन्म प्रतीक्षन् प्रतीक्षां कुर्वन् वैरानुबंधकृतवैराग्रहं कुर्वन् ॥ २३–२४ ॥ वृषणं स्वमनोरथवर्षिणं ऐडयन् तस्य स्तुतिं चक्रुः ॥ २५ ॥ श्रीकृष्णस्य सत्यप्रतिज्ञां दृष्ट्वा प्रसन्नाः संत आदौ सत्यत्वेन तं स्तुवंत ऊचुः **सत्यव्रतमिति** । सत्यव्रतं सत्यसंकल्पं सत्येभ्यो बद्धमुक्तक्षेत्रज्ञ-वृंदेभ्यः परं श्रेष्ठम् ॥ यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तम इत्युक्तेः । त्रिषु सृष्टेरादावंते मध्ये चेति त्रिकालेषु सत्यम् अविनाशि मूर्त्तिं सत्यस्यैकांतिकधर्मस्य वामुक्तभावस्य योनिं जीवेषूत्पादकं सत्ये अक्षरसंज्ञे ब्रह्मपुरे निहितं नित्यं स्थितं यद्वा सत्ये बद्धमुक्त-कोटिनिकरे निहितं व्याप्तं सत्यस्य चेतनवृंदस्य मध्ये सत्यमंतर्यामितया सतं यद्वा सत्यस्य बद्धमुक्तव्रातस्य सत्यं तेभ्योपि परम-सत्यमित्यर्थः । ऋतसत्यनेत्रं ऋतं भगवत्कथारूपा सुनृता वाणी च सत्यम् उत्कृष्टनिकृष्टप्राकृतविषयेषु समदर्शनं च तयोर्नेत्रं नेत्रवत् प्रकाशकं वक्तारमित्यर्थः । सत्यात्मकम् अनादिनित्यसिद्धदिव्यसुंदरविग्रहं त्वां शरणं शरणागतरक्षकं वयम् ॥ २६ ॥ हरेः सर्वकारणत्वप्रतिपादनाय विश्वं वृक्षत्वेन निरूपयंत आहुः **एकायन इति** ॥ एका एव प्रकृतिः अयनम् आधारो यस्य द्विफलः सुखदुःखरूपद्विफलवान् त्रिमूलः सत्वादयस्त्रयो गुणा मूलानि यस्य चतूरसः धर्मार्थकाममोक्षार्थरूपचतूरसवान् पंचविधः पंचेन्द्रियाणि विधा ज्ञानप्रकारा यस्य षडात्मा जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति इति षट् आत्मनः स्वभावा यस्य सप्तत्वक्सप्तधातुभिः त्वग्वान् अष्टविटपः पंचभूतानि मनोबुद्धिरहंकाराश्चेति अष्टशाखायुक्तः नवाक्षः नवद्वारवान् दशच्छदी प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजया इति दश प्राणाः छदाः पत्राणि संति यस्येति । द्विखगः द्वौ जीववैराजौ खगौ पत्रिणौ यस्मिन् असौ विश्वरूपः आदिवृक्षः ॥ २७ ॥ **त्वमिति** ॥ सतः कार्यभूतस्य अस्य विश्वतरोः त्वम् एक एव प्रसूतिः प्रकर्षेण सूतिर्जनिर्यस्मात् सः कारणमित्यर्थः । सम्यक् निधीयते यस्मिन्निति सन्निधानं प्रलयस्थानं त्वमेव अनुगृह्णाति गोपायती-त्यनुग्रहश्च त्वमेव नन्वेतत्कारकास्त्वन्ये ब्रह्मादयो देवाः संति नाहमिति चेत्तत्राहुः **त्वन्मायये**ति । संवृत्तचेतसः आच्छादितज्ञाना ये जनास्ते नाना ब्रह्मादिविविधकर्तॄन् पश्यंति ये विपश्चितस्त्वत्स्वरूपज्ञानवंतस्ते तु तान्न पश्यंति ब्रह्मादीनां सर्वेषां कर्त्तारं त्वामेव पश्यंति ॥ २८ ॥ भवद्भिर्देवकीपुत्रोहमेवं कथं वर्ण्यते इत्याशंकायामाहुः **बिभर्षीति** । अवबोधो ज्ञानघनमूर्त्तिः आत्मा परमात्मा त्वमेव सत्त्वोपपन्नानि सत्त्वधर्मज्ञानवैराग्यादिशुद्धसत्त्वगुणसंपत्तिस्तत्प्रकृत्यर्थमुपपन्नानि प्राप्तानि शाकपार्थिवादित्वादुत्तरपदलोपः यद्वा सत्त्वाय सत्त्वगुणसंपत्तिं प्रवर्त्तयितुं उपपन्नानि क्रियार्थोपपदस्येत्यादिना कर्मणि चतुर्थ्यन्ते समासः ॥ अत एव सतां धर्मसर्गयुक्तानां साधूनां सुखावहानि खलानाम् अधर्मसर्गवतामभद्राणि ध्वंसकानि ॥ रूपाणि अवतारान् मुहुः पुनः पुनः ॥ २९ ॥ **त्वयीति** । हे अंबुजाक्ष हे कमलनयन अखिलसत्त्वानां सर्वजीवेश्वराणां धाम्नि आधारभूते त्वयि वासुदेवे समाधिना आवेशितेन चेतसा अंतःकरणेन हेतुना एके साधवः महत्कृतेन महद्भिः शरणीकृतेन तव पादपोतेन अंघ्रिनौकया कृत्वा भवाब्धिं संसारसागरं गोवत्सपदं तत्तुल्यं कुर्वन्ति अनायासेनैव तरंतीति भावः ॥ ३० ॥

स्वयमिति । द्युमन् हे प्रकाशमूर्त्ते ते जनाः भीमं भयजनकं दुस्तरं दुर्लंघ्यं भवसागरं स्वयं समुत्तीर्य समुल्लंघ्य अदभ्रं भूरि सौहृदं येषां ते अदभ्रसौहृदाः जीवानामत्यंतहितकारकाः संत इत्यर्थः । त्वच्चरणकमलरूपां नौकाम् अत्र निधाय संस्थाप्य इह लोके एकं त्वच्चरणारविंदप्रापकमेकांतिकमत्पादकभक्तिमार्गं प्रवर्त्तयित्वेत्यर्थः । ये पारंयाताः तान् सतः साधून् अनुगृह्णातीति सदनुग्रहः तेषां स्वधाम्नि स्वसेवायां स्थापको भवानस्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ये तव चरणोपासका न भवंति ते विद्वांसोऽप्यधः पतन्तीत्याहुः **य इति** । हे अरविंदाक्ष विमुक्तमानिनः अहं ब्रह्मास्मीति मुक्तत्वाभिमानवंतः त्वयि प्रत्यच्चे अस्तो न प्राप्तो भावो भक्तिस्तस्मात् भक्तिहीनत्वाद्धेतोः न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते यद्वा त्वयि अस्तमाः इति पदच्छेदः । अस्तमतयः वादेष्वेव विशुद्धबुद्धयः अतो ये त्वद्भक्तेभ्योऽन्ये अनादृत-युष्मदंघ्रयः अन्याश्रितत्वच्चरणाः संतः कृच्छ्रेण बहुकालकृतसाधनरूपकष्टेन परं श्रेष्ठं पदं मोक्षोपयोगि ज्ञानवैराग्यतया श्रुताद्यर्हं ब्राह्मणकुलादिस्थानम् आरुह्य प्राप्य ततः अधः पतंति असज्जन्म प्राप्नुवंतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ मार्गात्तवैकांतिकभक्तिपथात् तावकाः न पतंति विनायकाः भक्तिमार्गविघ्नकर्त्तारस्तेषाम् अनीकानि वृंदानि यांति ये तेषां मूर्द्धसु मस्तकेषु निर्भयाः संतो विचरंति विघ्नान् पराभवंतीत्यर्थः ॥३३॥ पूर्वं बिभर्षि रूपाणीत्युक्तं तत्र विष्णुरूपं निरूपयंत आहुः **सत्त्वमिति** । शरीरिणां वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिः श्रेय उपायनं चतुर्वर्गप्रापकं विशुद्धं सत्त्वं शुद्धसत्त्वात्मकं वपुः विष्णुरूपं स्थितौ जगतः स्थितिनिमित्तं भवान् श्रयते येन वपुषा जनः तवार्हणं पूजनं समीहते करोति ॥ ३४ ॥ एवं जगत्स्थितिहेतुभूतं विष्णुरूपं स्तुत्वा इदानीं प्रत्यक्षमूर्त्तिं स्तुवंत आहुः **सत्त्वमिति ।**

हे धातः सतः परब्रह्मणो भावः सूचकः धर्मरूपः सत्त्वं परब्रह्मसूचकमित्यर्थः । इदं देवक्यामाविर्भूतं निजं तावकं सुंदरं वपुर्न भवेत् प्रत्यक्षं न स्याच्चेत्तर्हि अज्ञानभिदापमार्जनम् अज्ञानं त्वत्स्वरूपाऽवेदनं तस्य या भिदा हरिस्वरूपं साकारं वा निराकारं वा प्राकृतं वा अप्राकृतमिति भेदस्तस्या अपमार्ज्जनं नाशकं विज्ञानं स वै किलायं पुरुषः पुरातन इति श्लोकोक्तरीत्या योऽप्राकृतदिव्यपुरुषाकारो धामस्थः पुरुषोत्तमोस्ति स एवायं प्रत्यक्ष इति विशिष्टं ज्ञानं न भवेत् । यद्वा अज्ञानभित् विज्ञानं मार्ज्जनं नाशम् अप्राप्तमेव तर्हि किंचिदपि ज्ञानं न भवेदित्याशंक्याहुः बुद्धेः गुणानां गुणकार्याणामुत्पत्त्यादीनां जाग्रदाद्यवस्थानां च जीवकर्मफलानां च प्रकाशाः अंतर्यामिरूपेण प्रकाशनानि तैः भवाननुमीयते तेषां कर्त्ता साकारो वा निराकारो वा प्राकृतो वाऽप्राकृतो यः कश्चिदीश्वरोस्तीति तेषां बुधानां ज्ञानं भवेदित्यर्थः। पुनः पक्षांतरेण तदेवाह यस्य हरेः गुणउत्पत्त्यादीनां प्रकाशकसामर्थ्यं येन प्रकाशते स कश्चिदीश्वरोस्तीति वा अनुमीयते ॥ ३५ ॥ अप्रत्यक्षस्य तव स्वरूपादिनिरूपणमपि न भवेदित्याहुः ननामेति । हे देव हे दिव्यमूर्त्ते मनोवचोभ्याम् अनुमेयमार्गस्याऽप्रत्यक्षस्य साक्षिणो जीवशुभाशुभकर्मणां द्रष्टुः तस्य स्वधामस्थस्य तव गुणाः सत्यशौचादयश्च जन्मानि धर्मकश्यपवसुदेवादीनां गृहेषु जनूंषि च कर्माणि तत्तदवतारकृतानि च ते करणैः नाम गुणाद्यवलंबनेन कृतं नारायणवामनकृष्णादिनामवृंदं च ऋषिक्षत्रियादिरूपं च ते द्वे न निरूपितव्ये निरूपणयोग्ये न भवतः इहाविर्भूतस्य तव तु निरूपणयोग्ये भवतः अतो विज्ञानं भवेदिति संबंधः । अथापि अनुमेयमार्गे त्वयि सत्यपि एकांतिकभक्तास्तु त्वां क्रियायाम् उपासनायां प्रतियंति साक्षात् पश्यंति हि प्रसिद्धम् ॥ ३६ ॥ अतस्तव श्रवणकीर्त्तनादिभिरेव जनानां भवबंधनमोचनमस्तीत्याहुः शृण्वन्निति । ते इहाविर्भूतस्य तव नामादीनि स्मरणादिषु कुर्वन् अपरान्संस्मारयन् संज्ञापूर्त्तकविधेरनित्यत्वादार्षत्वाच्च वृद्ध्यभावः ॥ ३७ ॥ सांप्रतं देवक्याः सूनुमाधिक्येन स्तुवंति दिष्ट्येति । ईशितुस्तव जन्मना भवतः पदः वामनावतारे पादनिक्षेपणभूताया अस्या भुवो भारः अपनीतो गतः दिष्ट्या भद्रं जातः सुशोभनैः सुष्ठु ध्वजपद्मादिभिश्चिह्नैः शोभितैः त्वत्पदकैस्तव मृदुपदैः अंकितां गां भूमिं द्यां दिवं च तव त्वयानुकंपितां द्रक्ष्यामः ॥३८॥ ननु ममापि कर्माधीनजीववज्जन्मेति चेन्नेत्याहुः नेति । हे ईश कालमायादिनियामक अभवस्य नास्ति भवः कर्माधीनजीववज्जन्म यस्य जीवकल्याणार्थं स्वतंत्रजन्मेत्यर्थः । तस्य तव भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं क्रीडां विना न तर्कयामहे अभयस्य मोक्षस्य आश्रयः आधारः प्रापक इत्यर्थः । सत्संबुद्धिः अजस्य हरेर्जन्मविनोदं विना न संभवतीति यदुक्तं तद्धेतुना द्रढयति यतो हेतोः आत्मनि जीवात्मवृंदेऽपि भवादयः ते तवाधीनमायोत्पन्नया अविद्यया कृताः ते स्वतंत्रे त्वयि तु कुतः संभवन्ति ॥ ३९ ॥ राजन्या ऋषभपृथुरामादयः । विप्रा दत्तकपिलनारायणादयः विबुधा यज्ञवामनादयः एवं मत्स्यादिकृता अवतारा येन तथाभूतस्त्वं त्रिभुवनं नोऽस्मांश्च यथा पासि तथा हे ईश अधुना भुवो भारं हर हे यदूत्तम ते वंदनम् अस्तु ॥ ४० ॥

संप्रति देवकीमाश्वासयंत ऊचुः दिष्ट्येति । नोऽस्माकं भवाय उदयाय अंशेन संकर्षणेन सहपरः पुमान् वासुदेवः ते कुक्षिंगत आविर्भूतः ततो मुमूर्षोर्मरणेच्छोः भोजकुलपतेः कंसाद्भयं माभूत् ॥४१॥ यस्य हरेः रूपम् इदं प्रकृतिजन्यं न भवतीत्यनिदं दिव्यं यथा तथा पुरुषम् अनादिसिद्धनित्यदिव्यपुरुषाकारविग्रहं हरौ तयोरतिप्रीतिमत्त्वान्नो वंचयित्वोभावत्र स्थास्यत इति जानंतो देवाः ब्रह्मेशा नौ पुरोधाय अग्रतः कृत्वा ॥ ४२ ॥

इति श्री शुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्यदशमस्कंधव्याख्याने गर्भगतहरेर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिनाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

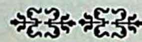

अथ तृतीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच—अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः । यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शांतर्क्षग्रहतारकम् ॥ १ ॥

इदानीं तृतीयेऽध्याये चतुर्भुजरूपेण श्रीकृष्णाऽऽविर्भूतः पितृभ्यां संस्तुतश्च पित्राकं समयेन व्रजं प्रापितश्चेतिवर्ण्यते । तत्रादौ भगवदाविर्भावसमयशोभां निरूपयति अथेति सप्तभिः । अथ देवगमनानंतरं यर्हि सर्वैर्गुणैरुपेतो युक्तः अत एव परमशोभनः परमं शोभनं मंगलं यस्मिन् एवंभूतः कालः समयः बभूव तर्हि देवरूपिण्याम् अदितिरूपायाम् देवक्यां विष्णुराविरासीदित्यष्टमश्लोकवाक्येन संबंधः कालस्य शोभनत्वं दर्शयति शांतर्क्षग्रहतारकं शांतानि अनुद्वेगकराणि रुक्षाण्यश्विन्यादीनि च तथाभूता ग्रहाश्च तारकाश्च यस्मिंस्तत् अजनान्नारायणाज्जन्म यस्य तस्य विधेः रुक्षं रोहिणीनक्षत्रं यर्हि बभूव यर्हीति सर्वत्र संबध्यते ॥ १ ॥ प्रसेदुः निर्मला बभूवुः उडुगणानामुदयो यस्मिंस्तत् गगनं मंगलभूयिष्ठाः शोभाबहुलाः पुरादयो यस्यां सा आकराः खन्यः ॥ २ ॥ निर्मलजलाः नद्यः जलरुहैः निर्मलपद्मैः श्रीर्येषां ते ह्रदाः द्विजालिकुलानां पक्षिभ्रमरवृंदानां सन्नादवंतः स्तवका यासु ताः वनवृक्षपंक्तयः ॥३॥ तत्र तर्हि समिंधत सम्यक् प्रज्वलिता अभूवन्नित्यर्थः । आर्षत्वादडागमाभावः ॥ ४ ॥ असुरद्रुहां देवानां च अजने श्रीकृष्णे जायमाने आसन्नप्रसवे सति तस्मिन् काले ॥ ५ ॥ समं सह ॥ ६ ॥ सुमनांसि पुष्पाणि सागरमनुसृत्य ॥ ७ ॥ तमद्भुतम् उत्कटम् अधिकं यस्मिन् तस्मिन् निशीथे मध्यरात्रौ सति तदनंतरं जनार्दने विरहिजनपीडके चंद्रे जायमाने उदयाभिमुखेति च प्राच्यां पूर्वस्य पुष्कलः

पूर्णः ॥ ८ ॥ वसुदेवोऽद्भुतमाश्चर्यजनकं बालकमैक्षतेत्युत्तरेण संबंधः । अन्यैर्हेतुगर्भैर्विशेषणैरद्भुतत्वं निरूपयति शंखश्च गदा च अरिश्चक्रं चोदायुः पद्मं च तानि धत्तेऽसौ तम् उदकम् आयुर्जीवनं यस्य उदायुः उदकस्योदः संज्ञायामिति उदकस्योदादेशः पृषोदरादित्वात्पलोपश्च श्रीवत्सचिह्नं गलेन कंठेन शोभते इति गलशोभी सः कौस्तुभो यस्मिन् तं पीतम् अंबरं वस्त्रं यस्य तं सांद्रपयोदो निविडमेघस्तद्वत् सौभगं सौंदर्यं यस्य तम् ॥९॥ महार्हवैडूर्याणां बहुमूल्यवैडूर्यमणिवतां मुकुटं कुंडलादीनां त्विषा प्रभया परिष्वक्ताः स्फुरंतः सहस्रकुंतलाः असंख्यकेशा यस्य यस्मिन्वातं उद्दामैर्मनोहरैः कांच्यादिभिर्युक्तः स्वतः प्रकाशमानं च ॥ १० ॥

विस्मयेन अद्भुतबालकदर्शनाश्चर्येण उत्फुल्लविलोचनः प्रफुल्लनेत्रः कृष्णावतारोत्सवे संभ्रम आनंदभरो यस्य सः आप्लुतः स्नातः गवामयुतं दशसहस्रं मुदा हर्षेणारगृशत् अंतःकरणेन दत्तवान् ॥११॥ अथेति । परं पुरुषम् अक्षरात्परतः पर इत्युक्तम् । सर्वोत्कृष्टमनादिसिद्धपुरुषविग्रहं परमेश्वरं ज्ञात्वा पुनः कथंभूतं हे भरतकुलोत्पन्न स्वकांत्या सूतिकागृहं प्रकाशयंतम् । प्रणतोत्तमांगःकृतधीः पवित्रमतिः प्रभावविन् । महत्त्वज्ञः अस्तौत् ॥ १२ ॥ तथाहि विदित इति । केवलौ शुद्धौ अनुभवानंदौ स्वरूपे मूर्त्तौ यस्य सः । ज्ञानानंदयुक्तमूर्तिमत्त्वात् । सर्वेषामक्षरपुरुषादीनां बुद्धीःपश्यतीति सर्वबुद्धिदृक् अत एव प्रकृतेः परः पुरुषः पुरुषोत्तमः साक्षाद्भगवान् अस्तीति त्वं मयादितोऽसि ॥ १३ ॥ ननु देवक्युदरागतबालकस्य ममैवं कथनमघटमानमस्तीत्यत्राह स इति । स एव त्वम् अग्रे सृष्टिसमये प्रकृत्या त्रिगुणात्मकदेवमनुष्यतिर्यगादिरूपम् इदं विश्वं सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टः स्वब्रह्मपुरधाम्नि दिव्यविग्रहेण स्थितः सन् त्वं प्रविष्ट इव । इवशब्दात् विकसितांतर्यामिशक्त्या नानाविधविश्वस्य न्यूनाधिककर्मफलप्रदानाय अन्वितः न तु स्वयमिति भाव्यसे अस्माभिर्ज्ञायसे ॥ १४ ॥ प्रवेशेऽप्रवेशे च दृष्टांतमाह यथेति । यथा इमे महदाद्याः भूम्यन्ताः अविकृता भावाः स्वस्वरूपेण पृथक् स्थिताः संतः विराडादिमनुजांतेषु देहेषु स्वस्वांशेन प्रविष्टाः तथा स्वधामस्थितः सन् अंतर्यामिशक्त्या प्रविष्टो भाव्यसे तदेव दृष्टांतं पुनः स्पष्टयति त इति। नानावीर्याः पृथक् पृथक् सामर्थ्यवंतः अत एव पृथग्भूता आदौ पृथक् तया स्थितास्ते महदाद्याः पश्चात् स्वस्वांशेन विकृतैः षोडशविकारैः सह सन्निपत्य मिलित्वा विराजं वैराजपुरुषदेहं जनयंति उत्पादयंति अविकृता विकृताश्च भावाः उक्ताः सांख्यकौमुद्यां मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडकश्च विकार इति उत्तरश्लोकस्थसन्निपत्येति यत् पदं तदत्रान्वेतव्यम् ॥१५॥ सन्निपत्येति । एवं समुत्पाद्य विराजम् उत्पादयित्वा ते अनुगताः प्रविष्टा इव दृश्यंते पुनर्न प्रविष्टाः कुत उत्पत्तेः प्रागेव सर्वत्र विद्यमानत्वात् तेषामिह उत्पन्ने कार्ये पुनर्न संभवो न प्रवेशो यथातथा सदा अंतर्यामिशक्त्या तव सर्वत्र विद्यमानत्वात् इह विश्वे देवक्युदरे च संभवः प्रवेशः उत्पत्तिश्च न घटते ॥ १६ ॥ पुनस्तदेव वदति एवमिति । एवं यथोक्तं तथा ननु सर्वत्र व्यापकतया इह प्रत्यक्षतया च वर्त्तमानस्य मम सर्वेण ग्रहणं स्याद्वा नेत्यत्राह बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः बुद्ध्या अनुमेयं यद्रूपादिग्राहकं तदिंद्रियमस्तीत्यनुमातुं योग्यं लक्षणं स्वरूपं येषां तैः गुणैः चक्षुरादीन्द्रियैः कृत्वा पुंसा गुणैः सह अग्रहः गुणाग्रहः तैः गुणाग्रहः तद्गुणाग्रहः त्वं तैः ग्रहीतुमर्हैः रूपादिभिः सह सन् वर्त्तमानोपि भवान् अयं प्रत्यक्षः परोक्षोंऽतर्यामी च गुणैः सह अग्रहः गुणाग्रहः तैः गुणाग्रहः त्वं पुंसा तैरिंद्रियैः कृत्वा गुणैः रूपादिभिः साकं न गृह्यस इत्यर्थः । यः प्रत्यक्षस्तु रूपादिवदिंद्रियग्राह्यतया वर्त्तमानोऽपि अयं पुरुषोत्तमो भगवानिति त्वम् अज्ञजनैश्चक्षुरादीन्द्रियैः कृत्वा न गृह्यसे परोक्षोंऽतर्यामी तु व्याप्येषु भूम्यादिचतुर्विंशतितत्त्वेष्वंतर्यामिरूपेण व्याप्तोऽपि त्वम् अयमंतर्यामीति जनैश्चक्षुरादीन्द्रियैः कृत्वा न गृह्यसे किंतु केवलं तैस्तद्रूपादीनामेव ग्रहणं स्यात् रूपादिवत्तव तु ग्रहणं नेति कुतः सर्वस्य अचेतनचतुर्विंशतितत्त्वात्मकविश्वस्य सर्वात्मनः स समग्रचेतनवर्गस्य च तयोः आत्मसु स्वरूपेषु वसति अंतर्यामितया तिष्ठतीत्यात्मवस्तु तस्य परब्रह्मणः प्रकृत्या तज्जन्यतत्त्वैश्च अनावृतत्वात् आवरणशून्यत्वात् बहिरंतरं न बाह्यत्वमाभ्यंतरत्वं च न वक्तुं शक्यते यथा सर्वव्यापकः सर्वाधार आकाशस्तस्य बाह्याभ्यंतरं त्वं नास्ति तद्वदित्यर्थः ॥ १७ ॥ सांप्रतं कालमायापुरुषादयः परमेश्वरान्वयं विना सृष्ट्यादिनिर्माणे समर्थाः संतीति जानन्तं निंदन्नाह य इति । आत्मनः परमात्मनस्तव दृश्यगुणेषु दृश्येषु कालमायापुरुषेषु गुणेषु महदादिषु च व्याप्येषु स्वव्यतिरेकतः त्वदन्वयं विना कश्चिदपि सृष्ट्यादिनिर्माणे समर्थः सन्नस्तीति यः व्यवस्यते निश्चितो सोऽबुधः तन्मनीषितं तस्य विचारितं च अनुवादं विना कथनमात्रं विना नास्ति कुतः यतो हेतोर्नोरदादिभिस्त्वदन्वयं विना सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽसमर्थत्वेन त्यक्तं कालमायापुरुषादिवस्तु यः पुमान् उपाददत् उपादत्तैः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे तत्स्वातंत्र्यमस्तीति स्वीकरोति अतः सोऽबुध इति संबंधः बाहुलकात्लटः स्थाने लङ् प्रयुक्तः ॥ १८ ॥ पुनस्तदेव स्पष्टीकरोति त्वत्त इति । अगुणात् सत्त्वादिप्राकृतगुणशून्यात् अनीहात् निवृत्तिधर्मरतात् अविक्रियात् कामक्रोधादिविकारशून्यात् अगुणादिविशेषेण विशिष्टे विश्वकर्तृत्वादि कथं घटेतेत्याशंक्याह ब्रह्मणि बृहत्त्वाद्यनेकगुणविशिष्टे ईश्वरे सर्वनियामके त्वयि कर्तृत्वादि न विरुध्यते ननु परमदयालौ मयि सृष्टिप्रलयादिघोरकर्मकर्तृत्वं कथं संभवेत्तत्राह त्वदाश्रयत्वात् तव रूपाणां संकर्षणादित्रयाणामाश्रयत्वात्कुर्वद्भिः गुणैः गुणाभिमानिभिर्ब्रह्मादित्रिभिः कृतं सृष्ट्यादिकार्यं सर्वनियामके त्वयि तत्कर्तृत्वमुपचर्यंते उपचारमात्रं निरूप्यते यथा भृत्यकृतं क्रूरं कार्यं परमदयालौ राज्ञि उपचर्यते तथा त्वयीतिभावः ॥ १९ ॥ पुरा त्वया विश्वपालनाद्यर्थं त्रिगुणात्मकसंकर्षणाद्यवतारा धृताः सांप्रतं तु त्वं स्वयमेव जनकल्याणार्थं भूभारावतरणाद्यर्थं चावतीर्ण इत्याह द्वाभ्यां सत्त्वमिति । स्वमायया स्वेच्छाशक्त्या स एवंभूतस्त्वं त्रिलोकस्थितये सत्त्वेन युक्तम् आत्मनः स्वस्य शुक्लं वर्णं प्रद्युम्नरूपं सर्गाय सृष्टिकरणार्थं रजोगुणयुक्तं रक्तम् अनिरुद्धरूपं तम सायुक्तं कृष्णं संकर्षणरूपं जनानाम् अत्यये नाशनिमित्तं बिभर्षि ॥ २० ॥

त्वमिति लोकं रिरक्षिपुः रक्षितुमिच्छुः राजन्यसंज्ञा येऽसुरकोटियूथपास्तैः निव्यूह्यमानाः यतस्ततश्चाल्यमानाः चमूः पृतनाः नाशयिष्यसि ॥ २१ ॥ तथापि त्वया सावधानतया स्थेयमित्याह **अयमिति** । असभ्यः सभायामसाधुः पापिष्टः तवाग्रजान् ज्येष्ठभ्रातॄन् न्यवधीत् हतवान् समर्पितम् उक्तं श्रुत्वा उदायुधः उद्युक्तास्त्रः अधुनैवाभिसरति आगच्छति ॥ २२ ॥ शुचिस्मिता शुद्धहास्या उपाधावत् अस्तौत् ॥ २३ ॥ इदानीं देवकीकृतस्तुतिं प्रपंचयत्यष्टभिः **रूपमिति** । प्राकृतैः करणैः न व्यज्यत इत्यव्यक्तम् आद्यं सर्वकारणं ब्रह्म बृहत्वादिगुणयुक्तं निर्गुणं प्राकृतगुणवर्जित ज्योतिः प्रकाशमानं ब्रह्मज्योतिरित्येकपदे तु ब्रह्मरूपं ज्योतिः प्रसृतं यस्मात्तद्दिव्यविग्रहमित्यर्थः । ततो निर्गुणमिति विशेषणं सत्तामात्रं सत्यस्वरूपं निर्विशेषं प्राकृतविशेषणशून्यमित्यर्थः । निरीहं निवृत्तिधर्मरतमित्यर्थः । यत् तत् किमपि रूपं स्वरूपं वेदाः प्राहुः सः अध्यात्मदीपः आत्मसु अक्षरपुरुषादिसमग्रचेतने-ष्वित्यध्यात्मं तत्र दीपवत्प्रकाशकः वा अध्यात्मशास्त्रप्रकाशकः विष्णुः व्यापनशीलो वासुदेवः साक्षात् मम दृष्टिगोचरस्त्वं जातोऽसि ॥२४॥ एवंभूतस्य तव भयशंका कदापि नास्तीत्याह **नष्ट इति** । परस्य ब्रह्मायुषोऽर्द्धं परार्धं द्वे परार्द्धे यस्मिं तत् द्विपरार्द्धं ब्रह्मायुस्तस्य अवसाने अंते लोके नष्टे सति महाभूतेषु भूम्यादिषु तेषामादिभूतम् अहंकारं गतेषु सत्सु कालवेगेनेति प्रतिवाक्यं संबंधनीयं व्यक्ते साहंकारे महत्तत्त्वे अव्यक्तं प्रधानं प्रतियाते सति एवं सर्वेषां नाशे सति अयं शेषोऽवशिष्ट इति संज्ञाकथनं यस्य ॥ २५ ॥ कोऽसौ काल इत्याशंक्याह **योयमिति** । अव्यक्तबंधो हे मायाप्रवर्त्तक निमेषादिः संवत्सरांतः अतिशयमहान् ब्रह्मायूरूपः योयं कालोऽस्ति तं तस्य तव चेष्टां क्रियामाहुः त्वा त्वाम् ईशानं क्षेमधाम अभयस्थानमहं प्रपद्ये ॥ २६ ॥ त्वच्चरणा-रविंदप्राप्तिरेवाभयस्थानमित्याह **मर्त्य इति** । मृत्युरेव व्यालः महासर्पस्तस्मात् भीतः मर्त्यः मरणधर्मा जनः लोकान् प्रतिपालयन् निर्भयस्थानं न प्राप्तवान् हे अज यदृच्छया केनापि भाग्योदयेन अस्मात् त्वदाश्रितजनात् अपैति परावर्त्तते ॥ २७ ॥ कर्त्तव्य-विज्ञप्तिं द्योतयति **स इति** ॥ घोरात् हिंसकात् कंसात् । त्रस्तान् भीतान् । नोऽस्मान् त्राहि । यतो भृत्यानां वित्रासहासि हंता त्वमसि । ध्यानधिष्ण्यं ध्यातणां ध्यानेन निवासस्थानं मांसदृशां चर्मचक्षुषाम् ॥ प्रत्यक्षं त्वं मा कृषीष्ठाः माकृथाः ॥ २८ ॥ कंसात् भवद्धेतोस्त्वदर्थं समुद्विजे बिभेमि अतोऽऽधीरमनाः ॥ २९ ॥ अदः सर्वदृष्ट्या गोचरम् उपसंहर । शंखादीनां श्रिया शोभया जुष्टं सेवितम् ॥ ३० ॥

स्तुत्युपसंहारमाह निशांते रात्रिप्रलयावसाने ॥ यथावकाशमसंकोचतः नृलोकस्य मध्ये महत् विडंबनं उपहास्यम् ॥३१॥ संप्रति निजस्वरूपदर्शनदाने यत् कारणं तद्धरिराह चतुर्दशभिः । पूर्वसर्गे आद्यजन्मनि ॥ प्रश्निर्नाम अभूः स्वायंभुवे मन्वंतरे अयं शौरिः ॥ ३२ ॥ आदिष्टौ आज्ञप्तौ तेपाथे तेपथुः ॥ ३३ ॥ वर्षादिकालगुणान् अनुसहमानौ श्वासरोधेन विनिर्धूतौ नाशितौ मनोमलौ याभ्यां तौ ॥ ३४ । शीर्णपर्णानां शुष्कपत्राणां अनिलस्य चाहारो ययोस्तौ ॥ ३५ ॥ मदात्मनोर्मन्मनसोस्तप्यतोराचरतोः वां युवयोः इयुः गतानि ॥ ३६ ॥ अमुना चतुर्भुजेन हृदि भावितः चिंतितः ॥ ३७ ॥ कामान् दातुमिच्छया वरः व्रियतामित्युक्ते सति वां युवाभ्यां मया सदृशः सुतो वृतः ॥ ३८ ॥ अजुष्टौ असेवितौ ग्राम्यौ ग्रामभवौ प्राकृतौ विषयौ याभ्यां तौ मे मत्तः अपवर्गं मोक्षं न वव्राथे न वृत्तवंतौ ॥ ३९ ॥ युवां युवाभ्यां वरं दत्त्वा मयि गते सति ॥ ४० ॥

मत्तोऽन्यतमम् अदृष्ट्वा ॥४१॥ **तयोरिति** । कश्यपात् अदित्यां वामन आस इति या वेदप्रसिद्धिरस्ति सापि तयोस्तद्रूपयोः अहमेव पुनरासमित्येतेषामस्माकमेवास्ति ॥ ४२ ॥ भवे जन्मनि तेनैव वपुषा तयैव मूर्त्या । हे सति । युवां प्रतिभूयो जातः तयोः पृश्निसुतपसोः व्याहृतमुक्तम् ॥ ४३ ॥ प्राक् आदौ तावदेतद्रूपं दर्शितं मे जन्मनः स्मरणाय ज्ञानाय अन्यथा मत्स्वरूपदर्शनं विना मद्भवं मत्संबंधि ज्ञानं मर्त्यलिंगेन मनुष्यदेहेन ॥ ४४ ॥ असकृत् वारंवारं पराम् उत्कृष्टां मद्गतिं मत्तो गतिं ब्रह्मपुर-प्राप्तिम् ॥ ४५-४६ ॥ तत इति दिव्यरूपदर्शनसमये भगवता प्रणोदितः मां गोकुलं प्रापय मन्मायां यशोदासुतामत्रानयेति प्रेरितः गंतुम् इयेष ऐच्छत् तर्ह्येव अजापि या योगमाया सा हरेराज्ञाधीना सती यशोदया अजनि प्रसूता ॥ ४७ ॥ **तयेति** । हृताः प्रत्यया ज्ञानरूपं सर्वा वृतयो येषां तेषु द्वाःस्थेषु पुरगृहद्वारपालेषु पौरेषु पुरजनेषु शायितेषु निद्रितेषु सत्सु द्वारा द्वाराणि पिहिताः आवृत्ताः बृहद्भिः कपाटादिभिः दुरत्ययाः यद्वा बृहत्सु कपाटेषु लोहकीलयुक्तश्रृंखलैः अनुलंघ्याः ॥ ४८ ॥ **ता इति** । ताः द्वारः व्यवर्यंत स्वयमेव विवृत्ताः व्यत्रियंतेति वक्तव्ये गुणश्छांदसः कर्मकर्त्तरि लङ् उपांशुगर्जितः मंदगर्जनायुक्तः वारिजलं वसुदेवमन्वगात् ॥ ४९ ॥ मघोनि इंद्रे गंभीरो यस्तोयौघो जलसमूहस्तस्य जवेन वेगेन ये उर्म्मयस्तरंगाः तैः फेनिला फेनव्याप्ता भयानकैः भीप्रदैः आवर्त्तानां जलभ्रमराणां शतैः आकुला व्याप्तापि यमानुजा यमुना श्रियःपतेः सीतापतेः ॥ ५० ॥

निद्रया मायया । प्रकर्षेण सुप्तान् उपलभ्य बुद्ध्वा ॥ ५१ ॥ दारिकां पुत्रीं । पदोः पादयोः लोहं निगडं प्रतिमुच्य बध्वा पूर्ववदावृतः आस्ते बभूव ॥ ५२ ॥ परं केवलम् अपत्यं जातमबुध्यत । न तस्य लिंगं स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा ज्ञातवती ॥ ५३ ॥

इति श्री शुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्थदशमस्कंधव्याख्याने श्रीकृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

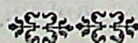

अथ चतुर्थोऽध्यायः

इदानीं चतुर्थेऽध्याये स्वहतभगिनीपुत्रीरूपदेव्युक्तां वाणीं श्रुत्वा भयातुरः कंसो मांत्ररूपदैत्यैः प्रोक्तां यज्ञबालादिहिंसां हितकारिणीं मेने इत्युच्यते बहिरिति । बहिःपुरद्वारः बाह्यानि गोपुराणि अन्तःपुरः अंतःपुरः राजगेहे स्वनिवासगृहद्वाराणि ॥ १ ॥ तदष्टमम् आचख्युः उक्तवंतः उद्विग्नः सन् यत् जन्म प्रतीक्षते यस्य प्रतीक्षां करोतीत्यर्थः ॥ २ ॥ तल्पात् शय्यायाः कालो मम मृत्युः मुक्तमूर्द्धजो विकीर्णकेशः ॥ ३ ॥ इयं कन्या तव स्नुषा पुत्रपत्नीं कर्त्तुं योग्या कल्याण हे सुंदर ॥ ४ ॥ पावकोपमा अग्नितुल्या दैवनिसृष्टेन स्वप्रारब्धकर्मप्रेरितेन ॥ ५ ॥ तेन अवरजा त्वत्तः पश्चादुत्पन्ना अंगेतिसंबुद्धिः चरमाम् अंतिमाम् ॥६॥ स्वसुतामुपगुह्य हृदयेनोपगोप्य दीनादपि दीनवत् याचितोपि हस्तात् आचिच्छिदे पाणेराकृष्य जग्राह ॥ ७ ॥ अपोथयत् बलेन प्रचिक्षेपकृतः स्वार्थेन उन्मूलितमुत्पाटितं सौहृदं येन ॥ ८ ॥ सा कन्या समुत्पत्य उड्डयित्वा सद्य एव देवी भूत्वा अंबरं गगनं गता सती अदृश्यत तेन दृष्टा ॥ ९–१० ॥ उपाहृता बहवो बलयनानि यैस्तैः सिद्धादिभिः ॥ ११ ॥ तवांतकृत् नाशकृत् यत्र क यत्रकुत्रस्थले पूर्वशत्रुः कालनेमिरूपस्य तव प्रथमारिः ॥ १२–१३ ॥ तया अभिहितम् उक्तं प्रश्रितो नम्रः ॥ १४ ॥ संप्रत्यसुराणां वक्तव्यं भिन्नं करणीयं च भिन्नमस्ति तदनुसारि ज्ञानमिश्रं वाक्यमाह सार्द्धाऽष्टभिः । अहो इति भाम हे स्वसृपते पाप्मना पापिष्ठेन पुरुषादो राक्षसः यथा स्वापत्यमेव हंति ॥ १५ ॥ त्यक्तं कारुण्यं दयालुत्वं येन ब्रह्महा विप्रहंता इति श्वसन् जीवन् सन् मृतः ॥ १६ ॥ दैवं देववाक्यम-शरीरवागपीति यावत् अनृतम् असत्यं वक्ति यस्य दैवस्य विश्रंभात् विश्वासात् ॥ १७ ॥ हे महाभागौ स्वकृतं भुजः स्वप्रारब्ध-कर्मभोक्तॄन् युवां मा शोचतं सदा एकस्मिन् स्थाने सह नासते न वसंति ॥ १८ ॥ इदानीं केवलम् आसुरं ज्ञानं प्रपंचयति भुवीत्यादिना । यथा भुवि पृथिव्यां भौमानि भूविकारघटादीनि यांति भवंति ॥ अपयांति नश्यंति च । तथा । भूतानि देहा उद्भवंति नश्यंति च यथा भौमेषूत्पन्नेषु नष्टेषु च भूः । विपर्येति तथा एतेषु देहेषूत्पन्नेषु नष्टेषु च अयमात्मा न विपर्ययं प्राप्नोति यथा घटादीनामुत्पत्त्यादौ भूर्विकृता भवति । तथा ॥ देहानामुद्भवादौ आत्मा विकृतो नास्ति अतएव वैधर्म्यदृष्टांतः आसुरज्ञानप्रसंगाद्बोतो-ज्ञातव्यः ॥ १९ ॥ एवमजानतः पुंसो न संसृतेनिवृत्तिरित्याह यथेति । यथा यथार्थम् । अनेवंविदः एवमज्ञातुर्नरस्य आत्मनो जीवात्मनो विपर्य्ययः देह एवात्मा तस्योत्पत्त्यादौ आत्मैवोत्पत्तिनाशौ प्राप्नोतीति विपरीतज्ञानमस्ति यतो विपर्य्ययाद्भेदः । अयं मम पुत्रः अस्याहं पिता अयं च स्वकीयाः अयं च परकीयः अयं च मम घातको रक्षकश्चेति भेदबुद्धिः यतो भेदाश्च पुत्रमित्रादिदेहैः संयोगवियोगौ भवतः ततः संसृतिः सुखदुःखरूपा न निवर्त्तते यावदेवं विपरीतज्ञानमस्ति तावदिति शेषः ॥ २० ॥

एवं नैते तव पुत्रास्तेषां नाहं घातक इत्युक्ते सत्यपि अनिवृत्तशोकांतामतिदेहाभिमानी सद्धर्मविरुद्धाचारः खलः सांत्वयन्नाह तस्मादिति । व्यापादितान् विहिंसितान् मोहाश्रितं कर्मवादमाह ॥ सर्वः समग्रो जनपराधीनः सन् लभते स्वखलत्वेन स्वकृतपापकर्मणां स्वस्मिन्निर्लेपत्वं द्योतयन् सद्धर्मविरुद्धवाक्यमाह यावदिति । अस्वदृक् आत्मदृष्टिहीनो यो नरः केनचिन्नरेणाहं हतोस्मि कस्यचिन्नरस्याहं हंतास्मि इति ॥ आत्मानं स्वं यावन्मन्यते तदभिमानी देहहननाभिमानवान् अज्ञः सः तावत् हननरूप-पापेन बाधितुं योग्यो बाध्यश्च कर्त्तारं बाधयति दूषितं करोतीति बाधकं पापकर्म च तयोर्भावस्तत्ताम् ॥ २२ ॥ श्यालः कंसः स्वस्रोः देवकीवसुदेवयोः स्वस्रोरिति द्विवचनानुपपत्त्या अजहल्लक्षणया स्वसृतत्पत्योर्ग्रहणम् ॥ २३ ॥ निगडात् पादयोर्लोहात्मकबंधनात् विश्रब्धो विश्वासं प्राप्तः आत्मसौहृदस्वस्नेहभावम् ॥२४॥ समनुतप्तस्य तप्यमानस्य भ्रातुरुपरि रोषं क्रोधं क्षांत्वा सहित्वा न्यसृजत् गृहं प्रति गंतुमाज्ञां ददौ वसुदेवश्च तमुवाच ॥२५॥ देहिनाम् अज्ञानात्प्रभव उत्पत्तिर्यस्याः सा अहंधीः देहेऽहंबुद्धिः यथा त्वं वदसि एतद्वाक्यं एवमस्ति यतोऽहंबुद्धेः स्वः अयं स्वकीयः परः अयं परकीय इतिभिदा भेदोस्ति स्वःपरो यस्यां सा ॥ २६ ॥ शोकादि-भिरन्विताः अतः पृथग्दृशः आत्मनः पृथग्भूते देहगेहादौ दृग्दृष्टिर्येषां ते ॥ भावैः व्याघ्रचौरसर्पादिभिः मिथः परस्परं जंतून् घ्नंतं भावं कालरूपमीश्वरं न पश्यंति ॥ २७ ॥ विशुद्धं यथा तथा प्रतिबोधितः अनुज्ञातो मनोऽनुकूलमाज्ञप्तः ॥ २८ ॥ व्यतीतायां गतायां सत्यां तेभ्यो मंत्रिभ्यः आचष्ट उक्तवान् ॥ २९ ॥ आकर्ण्य श्रुत्वा कृतामर्षः कृतकोपा नातिकोविदाः अदीर्घबुद्धयः ॥ ३० ॥ अनिर्दशान्निर्गतानि दश दिनानि येषां ते निर्दशास्ते न भवंतीत्यनिर्दशास्तान् निर्दशांश्च निर्गतदशदिवसान् । बहुव्रीहौ संख्येय

इति इच्प्रत्ययः ॥ ३१ ॥ समरभीरवः संग्रामे भयशीलाः ज्याघोषैः प्रत्यञ्चशब्दैः ॥ ३२ ॥ अस्यतः शरान् प्रक्षिपतः तव शराणां व्रातैः समूहैः उत्सृज्य युद्धं त्यक्त्वा ॥ ३३ ॥ न्यस्तशस्त्राः त्यक्तायुध्याः दिवं स्वर्गं ओकः स्थानं येषां ते ॥ ३४ ॥ न हंसि न हिनस्सि ॥ ३५ ॥ असंयुगे संग्रामहीनस्थाने वयं शूरा इति विकत्थनं आत्मश्लाघा येषां तैः क्षेमे भयवर्जिते देशे शूरैः ननु हरेर्बिभेमि शंभोश्चेत्याशंकायामाहुः रहो बदरिकाश्रमश्वेतद्वीपाद्येकांतस्थानं जुषते सेवते इति रहोजुस्तेन ॥ ३६ ॥ एवं सामर्थ्यहीना देवाः संति तथापि सापत्न्यात् शत्रुत्वात् सापत्न्या इति पाठे सापत्न्याः सापत्न्याः शत्रवः स्वार्थिकः ष्यञ्प्रत्ययः ततो हेतोरनुव्रतान् अनुसृतान् नियुंक्ष्व नियोजय ॥ ३७ ॥ अंगे देहे उत्पन्नः आमयो रोगो गद इति यावत् समुपेक्षितः आदावौषधैर्न निवारितः अत एव रूढपदः बद्धमूलः सन् नृभिश्चिकित्सितुं औषधैर्निवारितुं न शक्यते एवं द्वितीये दृष्टांते सिद्धान्ते च योजनीयम् ॥३८॥ देवानां मूलं विष्णुरस्ति यत्र विष्णौ सनातनः वेदोक्तः एकांतिको धर्मोस्ति अतो यत्र धर्मः तत्र विष्णुरास्ते तस्य धर्मस्य मूलं वेदादयः ।३९। हन्मो हंतारो भवामः ॥ ४०-४१ ॥ समग्रसुरश्रेष्ठः गुहाशयोंऽतर्यामी सेश्वराः ईश्वरैः शिवादिमुक्तभक्तैः सहिताः चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सहिताः ॥ ४२ ॥ संमंत्र्य विचार्य ॥ ४३ ॥ कदनप्रियान् हिंसाप्रियान् दिक्षु संदिश्य आज्ञाप्य ॥ ४४ ॥ राजसस्वभावाः मूढं विवेकशून्यं चेतोंतःकरणं येषां ते आरादागतमृत्यवः समीपप्राप्तमरणाः अतएव ॥ ४५ ॥ सतां द्वेषो न मृत्युमात्रस्य कारणं किंतु सर्वश्रेयोनाशक इत्याह आशिषः ईप्सितभोगान् महतामतिक्रमः अपराधः ॥ ४६ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्थ-
दशमस्कंधव्याख्याने कंसमंत्रो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

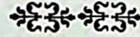

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीप्रभुप्राकट्ये विचारः

(श्रीगो० श्रीविठ्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतः)

ननु 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जात' इति वाक्यात् तस्याश्च **नवम्यां** जातत्वाद्भगवतस्तत्सहभावोक्तेस्तस्यामेव भगवतो जन्मेति प्रतिभाति । तत् किं तथैव, अहोस्विदन्यथेति शङ्कायां 'पुरुषोत्तमस्तु' इत्यारभ्य 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत' इत्यन्तग्रन्थो विचार्यते । ननु नवम्यामेवास्तु, को दोष इति चेत् । तत्त्वविचारितरमणीयम् । तथा हि । न हीदं 'पुरुषोत्तमस्तु' इतिवाक्यं नन्दगृहे पुरुषोत्तमाविर्भावसाधकम् , किन्तु 'देवकीजठरभू'रितिवत् 'तव सुत' इतिभक्तवाक्य 'तन्मातरा' वितिशुकवाक्यश्रुतार्थापत्तिः प्रमाणम् । तथा च नवम्यास्तत्र कुत्राप्यनुक्तत्वात्तदुपजीवकवाक्ये कथं सा समागच्छेत् । मायासाहित्यकथनादेवेति चेत्, अत्रापि तया सहभावः पुत्रीभूतया सह वाच्यः । तथा सति युग्मजन्मप्रसङ्गः । अस्तु तथेति चेत्, न, उभयजन्मनोः प्रधानत्वात् जन्मनि भगवत एव प्रधानत्वं विरुध्येत । लोकवत् पौर्वापर्येण क्षणभेदेन तथा कल्पनेपि विरोधो दुष्परिहर एव, साहित्याभावश्च । न च धर्मान्तरवत् पूर्वं शक्तित्वेनैवाविर्भाव इति वाच्यम् । 'भगवत्समानकाल' इत्यारभ्य, **'नवम्यां च सा जाते'** त्यन्तग्रन्थविरुद्धत्वात् । तथा हि, अत्र देवकीवसुदेवप्रस्वापाभिभवान्यथानुपपत्त्या मायाया भगवत्समानकालजन्माभावात् **मुहूर्तानन्तरं सा जातेति ज्ञायत इत्युक्तम्** । तत्र क्षणपादार्धपूर्णघटिकान्तरायेणापि भगवत्समानकालाभावो भवति, **तदन्तरमेव नवम्यां** सा जातेत्यनुक्त्वा मुहूर्तानन्तर्ये मानाभावात् मुहूर्तानन्तरमिति यदुक्तं तस्यायमाशयः । अत्र मुहूर्तानन्तरशब्देन घटिकाद्वयानन्तर्यं नोच्यते, किन्तु निशीथशब्दवाच्यमुहूर्तस्यानन्तर्यम् । तस्यैव भगवत्कालत्वात् । एवं सति यद्यपि 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दितिन्यायेन निशीथारम्भ एव भगवज्जन्मप्राप्तावपि **'अर्धरात्रं निशीथं पञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयमिति श्रीमदाचार्योक्तेरहोरात्रस्य समानत्वे सिद्धे चन्द्रोदयस्य अष्टम्यां पञ्चचत्वारिंशद्घटिकान्तर्भावित्वनियमेन विशेषेण इन्दुसंयुतायाम्**, अर्धरात्रे तु योगोयं तारापत्युदये तथा' इत्यादिवाक्योक्तचन्द्रोदयलक्षणविशेषस्य निशीथमध्य एव प्राप्त्या तत्रैव भगवत्प्रादुर्भावनिश्चयेन घटिकानन्तरमेव सा जातेति निष्कर्षः । अनुपदमेव **'नवम्यां च सा जाते'** त्युक्तत्वात्, **नवम्यपि तदैव जाता, तस्यां च पुनः सा जातेत्युक्तमिति ज्ञायते** । अग्रे यदा तर्हिपदान्ते एवकारेण सुतादानक्षणाव्यवहितोत्तरगमनेच्छाक्षण एव सा जातेत्युक्तेः क्षणाभावेन न शक्तित्वेनाप्याविर्भावः । अन्यच्च 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह' इत्येतट्टिप्पण्यां नन्दगृहप्रादुर्भावपूर्वपक्षानन्तरं समाधानकथने नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्येव वसुदेवगृहे 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यनेनाविर्भाव उक्तः । स न ह्याविर्भावो नवम्याम् । तथा च, प्रादुर्भूतस्येति भूतार्थप्रयोगात् नन्दगृहीयतन्मूलभूताविर्भावः कुतस्तरां नवमीं प्राप्नुयादित्यप्यनुसन्धेयम् । **इतोपि न तत्साहित्येन नवम्यामाविर्भाव इति सिद्धम्** ।

अष्टम्यामेवावरणशक्तित्वेन पूर्वमाविर्भाव इत्यपि न युक्तम् । निद्रयैवाज्ञानसंभवे तत्प्रयोजनाभावात् निद्रापि तत्कर्तृकेति चेत्, तदग्रे निराकरिष्यते । जननं तु पुत्रीभावेनैव । अन्यथैश्वर्यादिधर्मवदनुक्तसिद्धत्वेन पृथक् तज्जन्मकथनमनर्थकं स्यात् । ननु तर्हि मायया सह जात इति वाक्यमनुपपन्नमितिचेत्, न तदर्थानवबोधात् । तथाहि । नन्दगृहे प्रादुर्भावो न चतुर्विधकार्यार्थः, किन्तु केवललीलार्थः । तथा च, केवलतदेकसाधिका आत्ममायापदवाच्या परमानन्दरूपा या माया तामादायैव तत्राविर्भूतो भगवान् इति निश्चीयते । अन्यथा निषेकजननाद्यभावेन सुतत्वासंभवात् 'तव सुत' इति वाक्यं विरुध्येत । नन्दयशोदयोः लीलार्थं पितृत्वमुच्यमानमपि बाधितं स्यात् । 'इत्युक्त्वासी' दित्येतट्टिप्पण्यां वसुदेवदेवक्योः पितृत्वविषये 'यथात्ममायया पित्रो'रित्यनेनोक्तम् , तथैवात्रापीति ज्ञेयम् ।

मायानिद्राशब्दयोरर्थविचारः । 'आत्ममायये'तिपदं 'मायया सह जात' इत्येतस्य मूलम् । तस्यां मायापदप्रयोगस्तु भक्तानां लीलासंबन्धिपदार्थेष्वासक्तिजननात् स्वस्वरूपविस्मरणात् लौकिकानां च विस्मारणात् । वस्तुतस्तु स्वरूपभूतेवेति आत्ममाययेत्यत्र कर्मधारयेण टिप्पण्यां निरूपितम् । तथा चैतादृश्या न लोकव्यामोहकमायामोहवद्भगवदज्ञानसाधको मोहो, न वा लोकेषु । तन्मोहस्य पुष्टिमार्गे भावप्राचुर्यजनकत्वस्य 'इयं विशेषमाये' त्यादिग्रन्थस्य टिप्पण्यामुक्तत्वात् । एवं च सति व्रजे भगवदाविर्भावाज्ञानं न वैतत्कार्यम् , न वा तत्कार्यम् । तस्या भावित्वात् । एतस्याश्च भगवदज्ञानासाधकत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैः प्रसवार्थवेदनाजनितश्रम एव निद्रायां हेतुत्वेन व्याख्यातः । तयैवाज्ञानमिति दिक् ।

मायाकार्यत्वे तु श्रमस्य हेतुत्वेन कथनं नोपपद्येत । शुकोपि श्रान्तनिद्रापदे विहाय 'माययापगतस्मृति'रित्येव वदेत् । महती वेदनापि स्वाविर्भावार्थं भगवत्कृतैव, अन्यथातिश्रमाभावेन निद्राभावात् प्रसवज्ञानं भवेदेव । तस्मिन् सति प्राकृतशिशुभवनादिकार्याणि बाधितानि स्युः, सर्वचरित्राणामभिनिवेशोपि । जागरणे मुख्या यशोदा, सा चेन्न प्रबुद्धा तदा सर्वस्यापि व्रजस्य

सहजनिद्रायामप्रबोधो युक्त एव। अत एव व्रजस्यापि स्वापे मूले 'गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रये'ति निद्रैव हेतुरुक्ता। निद्रापदेन श्रीमदाचार्यैरपि निद्रैव व्याख्याता, न तु माया। अत एव 'कार्यार्थे सा भविष्यती'त्यस्य विवरणे यशोदायाः स्तन्यं संकर्षणं कंसादिव्यामोहो वसुदेवादिमोचनमित्येतावदेव कार्यमुक्तम्। न तु व्रजस्थानां निद्रापि। 'कंसादी'त्यनेन लीलाप्रतिबन्धकेषु तन्मोह इत्युक्तम्। तेन लीलाप्रतिबन्धकव्रजस्थेष्वपि तत्कृतः स इति सूचितम्। स एवोक्तः फलप्रकरणे 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'नित्यनेन। मूले 'गोपा'नितिपदेन स्वामिनीनां तु शीघ्रप्रियप्राकट्यार्तिजनितमुहुर्गतागतश्रान्तानां मातृचरणप्रसववेदनादर्शनासहिष्णुतया तत्र स्थातुमशक्तानां तादृक्समये निद्राया असंभवादतिचिन्तानिमग्नतया मूर्छयैवाप्रबोधः। कोपि न प्रबुद्ध इति तु भगवच्चरितम्। मायाविर्भावार्थं तु न वेदना। यद्यपि भगवतोप्याविर्भावे न सापेक्ष्यते, अलौकिकत्वात्, तथापि भगवतः स्वामिनीभावस्वरूपत्वाद्भावस्य च लोकसजातीयत्वेन तन्मनोरथपूर्त्यर्थं स्वस्मिन् यशोदासुतत्वप्रकटनपूर्वकं तथव लीलानां चिकीर्षितत्वात् लोकजन्मनस्तत्पूर्वं कृतत्वात् तथाभावपोषार्थं निद्रार्थं च अपेक्षितैव। यया सह भगवान् जातो न तस्या भगवदावरकत्वमिति तु पूर्वमेवोक्तम्। योगमायाजन्मनि तु तावन्मात्रार्थकत्वात् तस्यास्तथाभावेन भगवत इव लीलाऽभावाद्घटनघटनापटीयस्त्वात्तदभावः। न वा भगवदीयेषु भगवत्कार्यानुपयोगित्वात् तत्कृतपीडासंभवे मायाकार्यत्वकथने को हेतुरिति चेत्, तत्रोच्यते। बाललीलारसार्थमन्तःस्थितत्वालपोषणार्थं च स्तन्यमावश्यकम्। तथा च तद्भगवता तु न संभवति, यतो भगवता प्राकृतशिशुरूपे स्वस्मिन् नन्दयशोदयोः प्राकृतसुतबुद्धिरेव संपादिता, न तु स्वयं तथा जातः। ततश्च न तथाबुद्ध्यैव तदुत्पद्यते, किन्तु प्राकृतगर्भसंबन्धेन। प्राकृतगर्भभावस्तु मायायाः संभवतीति तदर्थं तामेवाज्ञापयद्भगवान् 'त्वं नन्दपत्न्यां भविष्यसी'ति। तदेव विवरणे विवृतं 'यशोदायाः स्तन्य'मिति। तत्तु प्राकृतमेव। भगवतस्तथोत्पत्तौ भगवान् तत्र न जात इति ताभिर्ज्ञातमि'त्यजनमुज्जगु'रित्येतस्य विवरणं विरुध्येत। आत्ममायया तु न तत् संभवति। तस्या अपि तथोत्पत्त्यसंभवात्। एवञ्च तद् भगवदुपभोगयोग्यं कथमित्यनुपपत्तिस्तन्निवारणार्थमुक्तं 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत इति सिद्धान्त' इति। सिद्धान्तपदेन चैतत् ज्ञापितम्। भगवदुपभोगान्यथानुपपत्त्यैव नन्दगृहे वासुदेवाविर्भावः स्तन्यशुद्ध्यर्थमेव मन्तव्य एव। पूतनादिमोक्षदानं तु मथुरायामाविर्भूय समागतेनापि भवेदिति। तच्छुद्धिसंपादनानन्तरं व्यापकत्वेनोभयत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् तस्यैव मथुरायां तुरीयव्यूहरूपेण तस्मिन्नेव समये दर्शनम्।

चतुर्व्यूहविचारः

भगवद्व्यूहानामाविर्भावः सप्रयोजनक एव। प्रयोजनानि तु 'देवक्यां विष्णुरूपिण्या'मित्यस्य विवरणे धर्मरक्षादीनि निरूपितानि। ततो 'जायमानेऽजने' 'जायमाने जनार्दने देवक्यां' 'विष्णुः सर्वगुहाशय' इति वाक्यत्रयेण विवरणेऽनिरुद्धसंकर्षणप्रद्युम्ना नियतकार्या निरूपिताः। तदानीं तत्कार्याणामावश्यकत्वात्। वासुदेवस्तु नोक्तः। तदानीं तत्कार्याभावात्। एवं सति चतुर्भुजदर्शनान्यथानुपपत्त्या तदानीमेव तस्याप्याविर्भावो मन्तव्यः। स कुत्रेत्याकांक्षायां 'नन्दगृहे वासुदेव' इति विवरणे पूर्वमुक्तम्।

जातः पुत्र एवायमिति नन्दस्य बुद्धिर्जाता।

ननु नन्दगृहे वासुदेव इति पूर्वमुक्तत्वात् 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इत्यस्य विवरणे 'आत्मनः सकाशात् जातः पुत्र एवायमिति नन्दस्य बुद्धि'रित्युक्तेरनुपदमेव 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत' इत्युक्तत्वात् सिद्धवत्कारेण 'आत्मज उत्पन्न' इति शुकोक्तेश्च भगवत उत्पत्तेरसंभवात् सुतत्वेन वासुदेव एवाविर्भूत इत्युक्तमिति ज्ञायते। तथा च देहस्थानीयवासुदेवोत्पत्त्या आत्मस्थानीयपुरुषोत्तमाविर्भावो निरूपितो, 'देवदत्तो जात' इतिवत्। तत्तु वसुदेवगृहाविर्भावावैशिष्ट्येन केवलाविर्भावबोधकवाक्यविरोधात् व्रजीयलीलानामपि वासुदेवकार्यत्वप्रसंगात् श्रीमत्स्वामिनीनां वासुदेवद्वारा पुरुषोत्तमसंबन्धे 'अन्यसंबन्धगन्धोपि कन्धरामेव बाधत' इति प्रभुवाक्योक्तशुद्धपुष्टिमार्गीयव्यवस्थाविरोधात् 'तव सुत' इति शुद्धपुरुषोत्तमाविर्भावसाधकप्रमाणवाक्ये लक्षणाप्रसङ्गेन पुरुषोत्तमाविर्भावे मानाभावप्रसङ्गाच्चेत्याद्यनेकहेतुभ्यो न साधीयः। तथा च तदर्थस्तु, पूर्वं 'यस्य यथा प्रतीतिः, तथैव शुकेनानूद्यत' इत्युक्तेर्भगवत आत्मजत्वे शुकस्य ताटस्थ्यमायातम्। एवं सति तस्या भ्रममूलकत्वस्यापि संभवेन तद्भावेन स्नेहातिशयेन भगवति प्रतिक्षणं क्रियमाणा उपचारा भ्रान्तिमूला एव भवेयुरिति तद्बुद्धेर्भगवत्कार्यत्वमुक्तं 'भगवतैव तथाबुद्धेः संपादना'दिति। भगवता स भावोंगीकृतश्चेत्, सा बुद्धिः सत्यैव, न तु भ्रमकार्यम्। ननूपचारास्तु भ्रमादभ्रमाद्वा भगवति क्रियन्त इति सत्या एव, तथा बुद्धिस्तु माययैव, अज्ञानमूलत्वाद्, भगवच्चरित्रत्वे मानाभावादित्याशंक्य, तथा बुद्धिसंपादनस्य भगवच्चरित्रत्वं साधयन्तः 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत' इत्यनेन 'सिद्धवत्कारेण च शुको न वदे'दित्यनेन च भगवत आत्मजत्वे सामान्यविशेषहेतू आहुः। तत्र स्तन्ययोग्यत्वकरणेनानुमानविधया पूर्वं सामान्यं हेतुमाहुः वासुदेवेति। भगवान् स्वयं सुतो जातश्चेत्, साक्षात्स्वस्यैव स्तन्यपानमावश्यकम्, तत् केवलमायाजन्यं पानयोग्यं नेति योग्यत्वकरणार्थं वासुदेवाविर्भावः। अन्यथा वासुदेवाविर्भावे प्रयोजनाभावात्। योग्यत्वकरणं तु, वासुदेवो मोक्षदाता, स हि सत्त्वेन प्राकृतभावं दूरीकृत्य ब्रह्मभावसंपादनेन भगवत्संबन्धयोग्यतां संपादयति। स आविर्भूत एव तथा करोति, न त्वनाविर्भूतः। अतो भगवता सहैव धर्मत्वेनाविर्भूय प्राकृतं स्तन्यं तत्त्वं दूरीकृत्य साक्षाद्ब्रह्मद्रवरूपं कृतवानिति। इदमेवैतज्जनितत्वमस्य, द्विजत्ववत्। अतः पुरुषोत्तमस्यैव साक्षादात्मजत्वे सामान्यहेतुरुक्तः। अन्यत्राप्याविर्भावेन चतुर्भुजदर्शनोपपत्तावपि स्तन्यं तथा न भवेदिति अत्रैवेत्युक्तम्।

ननु स्तन्यपानेनैव नात्मजत्वासिद्धिः, धात्र्यादावपि पानसंभवादिति, तत्र विशेषहेतुमाहुः 'सिद्धवत्कारेण च शुको न वदे'दिति। नन्दादीनां भ्रमः संभवेदपि, शुकस्तु ब्रह्मवित्तमो भगवज्ज्ञानवान्, अतस्तस्य भ्रमाभावात् सिद्धवत्कारेण तदुक्त्या तस्यापि भगवति नन्दात्मजत्वेनैव ज्ञाननिश्चयान्नन्दात्मजत्वं वास्तवमेवेति द्वितीयो विशेषहेतुरुक्तः। अतस्तथाबुद्धिसंपादनं भगवच्चरित्रमेवेति सर्वं सुस्थम्।

वासुदेवसाहात्यं कथम्

नन्वेवं वासुदेवसाहित्येन नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्य केवलत्वभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्, न। नात्र प्रद्युम्नमुख्यत्वेन वसुदेवगृह इव प्राकट्यम्, किन्तु केवलस्यैव। तथा च्चैश्वर्यादिधर्मवद्वासुदेवसाहित्येनापि न केवलत्वहानिः। विशेषतः यावद्वासुदेवाविर्भावकथन-प्रयोजनं तु पूर्वमेवोक्तम्। ननु स्तन्यस्य स्वोपभोगयोग्यता स्वेनैवास्तु, कृतं वासुदेवेनेति चेत्। न। स्वस्य फलरूपत्वात् पुष्टिकार्य-कर्तृत्वाच्च। न हि ब्रह्मभावसंपादनं पुष्टिकार्यम्, न वा फलं मर्यादाकार्ये सा धनतामापद्यते क्वचित्। अतो वासुदेवनियतकार्यमेव तत्।

निशीथे आविर्भावः

ननु निशीथे वासुदेवप्राकट्यमेवास्तु, भगवतस्तु नवम्यामिति चेत्, तदसंगतम्। न हि व्रजे केवलव्यूहस्य प्राकट्यं क्वचिदप्युक्तम्। तथा सति तस्यापि मुख्यता स्यात्। प्राकट्यत्रयं च कल्पनीयं भवेत्। भगवत्साहित्येन तत्कार्यसिद्धौ पृथक् तज्जन्म-कल्पनाया अन्याय्यत्वात्। तस्माद्वसुदेवगृहे चतुर्व्यूहदर्शनान्यथानुपपत्त्या नन्दगृहे निशीथ एवात्ममायावासुदेवसहितकेवल-भगवत्प्राकट्यमित्येव मन्तव्यम्।

श्रीव्रजभक्तानां कृतेऽयमाविर्भावः

एवं सति 'आविरासी'दित्यदग्रे 'दासीनां सर्वरक्षार्थ'मित्येतत्कारिकाकथनमपि संगच्छते। अर्थस्तु, अत्र दासीपदेन व्रज-सीमन्तिन्य एवोच्यन्ते। सर्वात्मभावेन दास्यं तास्वेव प्रतिष्ठितमिति। तासां सर्वभावेन रक्षा सर्वरक्षा तदर्थमित्यर्थः। सर्वभावेन रक्षा तु, पूर्वश्रुतीनां साक्षात्पुरुषोत्तमदर्शनेन पुष्टिमार्गीयभावोत्पत्त्यनन्तरभजनानन्दप्रार्थनया भगवदाज्ञा जाता, 'व्रजे गोप्यो भविष्यथे'ति। ततो गोपीभूतानां तासां देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणजीवात्मिका भगवद्भोग्या सामग्री भगवदाविर्भावविलम्बे कालेन विशकलिता भवेत्, अतस्तद्रक्षा सर्वभावेन रक्षा। यद्वा। शुद्धपुष्टिमार्गीयाणां भगवद्भोग्यसामग्र्या भगवदनुपयोगे महता क्लेशेन भगवद्विरहेण च स्वरूपान्यथाभावेन भजनानन्दानुभवाभावात् सर्वनाश एव भवेत्। तथा च तत्संबन्धिपदार्थानां सर्वेषां रक्षार्थमित्यर्थः। न हीदं लोकवेदप्रसिद्धपुरुषोत्तमस्य कार्यम्, किन्तु तदतीतस्यैव। तेन तदर्थमाविर्भूतस्य तदतीतत्वं बोधितम्। अन्यच्च। पुरुषोत्तमादिपदानि विहाय तत्र 'मम स्वामी'ति पदमुक्तम्, तेन स्वस्य शुद्धपुष्टिलीलान्तःपातित्वात् साक्षाद्दास्यरूपत्वाय अन्यत्र स्वामित्वाभिमानस्यानु-चितत्वात् लोकवेदातीतशुद्धपुरुषोत्तम एव श्रीमदाचार्यैस्तदभिमानो दर्शितः श्रीस्वामिनीभिरियं प्रथमतया श्रीमुखारविन्ददर्शनानु-पदमेव रक्षैव प्रार्थिता 'चिरं पाही'ति। सैवाविर्भावकार्यत्वेनात्र श्रीमदाचार्यैरुक्ता 'दासीनां सर्वरक्षार्थ'मिति। तेनेयं कारिकाष्टम्यधि-करणकव्रजीयाविर्भावस्यैव बोधिकेति निश्चयः। नवम्यामाविर्भावे 'त्वाविरासीद्यथे'त्येतदनुपदमेवैतत्कथनमनुपपन्नं स्यात्। अत एव तादृशप्राकट्ये हेतुरपि तादृश एवोक्तो 'निमित्तीकृत्य तादृश'मित्यनेन। तादृशपदेन भक्तदुःखमुच्यते। तथा च यादृशः स्वप्राकट्ये हेतुः तादृशं तं निमित्तीकृत्येत्यर्थः।

प्राकट्ये भक्तदुःखदूरीकरणं हेतुः

एतच्च प्रकरणादौ ज्ञापितम् 'यथायोग्यं दुःखमेषा'मित्यनेन। अर्थस्तु, एषां यथायोग्यं दुःखं यथायोग्याविर्भावहेतुरिति हेतोरत्र प्रथमाध्याय एव हेतुत्वेन तन्निरूप्यत इति हेतुत्वाच्छेदकभक्तदुःखत्वसामान्येन व्रजस्थानामनुक्तमपि तदाक्षिप्तं भवति। योग्यमनतिक्रम्य वर्तत इति यथायोग्यम्। भूमिमातृदुःखनिवारणयोग्ये हि चतुर्व्यूहावतारः। तथा च, तद्योगं कंसादिकृतं कालकृतं च तयोर्दुःखम्, तेन सव्यूहाविर्भावः। तथा केवलपुरुषोत्तम एव व्रजभक्तानां दुःखदूरीकरणयोग्यः, तत्प्राकट्ये च तेषां भगवान् कदा-विर्भविष्यतीत्यज्ञानजमार्तिरूपं दुःखं योग्यम्, तेनैव तदाविर्भावः। तत्तु भगवता वाक्यैर्निराकरणीयम्। 'वाक्यैरज्ञानसंभूत'मिति निबन्धवाक्यात्। तानि च 'यशोदायाः सुतो जात' इत्येवंरूपाणि तच्छ्रवणेनैव तेषां दुःखनिवृत्तिरिति 'गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता' इत्यत्र निरूपितम्। तानि वाक्यानि तद्दुःखदूरीकरणार्थं तत्तन्मुखेन भगवतैवोक्तानीति ज्ञायते। तत उक्तं 'तादृशं निमित्तीकृत्य प्रादुर्भूत' इति। तादृशमिति सामान्यपदोक्त्या स्वाविर्भावयोग्यलीलाकालाविर्भावार्थं भूभारहरणविषयकब्रह्मादिप्रार्थनया चतुर्भुजावतारं सर्वलोकप्रसिद्धं निमित्तत्वेन परिकल्य तादृशे साक्षात् स्वयं गुप्ततया व्रजे प्रादुर्भूत इत्यप्यर्थो ज्ञापितः। अत एव शुकैः स्वामिनी-हृदयान्तर्गतहेतुरपि प्रथमाध्याये स्फुटो नोक्तः। तेन तदानीं मुख्यकार्यार्थं मुख्यतया व्रज एवाविर्भाव इति फलितम्।

आविर्भावस्य रसदानार्थत्वेन गुप्तता ।

अयमाविर्भावो भक्त्यैवेति स्नेहभावानन्तरमेव 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्युक्तम् । तद्भवनानन्तरं वसुदेवस्य प्राकृतेव सुतबुद्धिः, देवक्याः प्रसवधर्माविर्भावश्च । एतत्सर्वमात्ममायाकृतमेव । तत्रापि सुतत्वेनैव लीलायाः करिष्यमाणत्वात् । योगमायाया जनिष्यमाणत्वाच्च । वसुदेवस्य मानुषत्वेन मानं तु योगमायोत्पत्त्यनन्तरं नवम्यामेव जातम् । तस्य तन्मात्रकार्यत्वेन तदुत्पत्त्यनन्तर-भावित्वात् । साधारणमोहस्येत्येतट्टिप्पण्यां वसुदेवस्य योगमायां गृहीत्वा पुनरागतिपर्यन्तं भगवज्ज्ञानशक्त्यैव व्याप्तत्वोक्तेः तावत्पर्यन्तं न योगमायाजनितमोहकृतं मानुषत्वेन भानम्, पश्चात्तु तज्जातमिति विमर्शः । तदैव नन्दस्यापि तथाभानम् । न च लीलामध्यपातिनां भगवति तत्कार्यं तथाभानं किमर्थमितिशङ्कनीयम् । यतः यत्र प्रभोर्देहसंबन्धित्वेन लीला चिकीर्षिता, तत्र जगद्व्यामोहकमायाकार्यं मानुषत्वेन भानं तथालीलापोषार्थमारादुपकारकम्, स्वामिनीषु तु नैव तत्प्रकारकं तत्कार्यम् । तत्र निरुपधिप्रियत्वेनैव लीलायाश्चिकीर्षितत्वात् । तथा प्रियस्त्वात्मैव । तत्त्वेन प्रिये तथाभानस्याप्रयोजकत्वात् । अत एव स्वामिनीवाक्यं 'तव सुत' इति 'तन्मातरा'विति शुकवाक्यं च श्रुतार्थापत्तिप्रमाणत्वेन श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, न तु नन्दस्य बुद्धिरपि । तत्र यत्किञ्चित्त-त्कार्यस्यापि संभवात् । स्वामिनीषु तदसंभवात् । अत एव 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृगि'ति तासां वाक्यमपि संगच्छते । पित्रोरपि भ्रमरगीते श्रीमदुद्धववाक्योपदेशानन्तरं सर्वथा प्राकृतभावनिवृत्तिपूर्वकं 'भगवान् मे सुतो जात' इति बुद्धिप्रयुक्तः स्नेह एव स्वकार्यत्वाद्भगवता स्थापितः । तत एवेदं 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया' इति 'रतिर्नः कृष्ण ईश्वर' इति च वाक्यद्वयमपि संगतम् । पूर्वतोप्यन्तरनुभूयमानो बाललीलारसोऽधिक एव जात 'इत्यन्तरं तु महाफल'मिति पूर्णो निरोधः फलित इति सर्वं सुस्थम् ।

अथ शुद्धाष्टमीविचारः

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धाष्टम्यामेव श्रीभागवतानुसारेण नन्दगृहीयाविर्भावः श्रीमदाचार्याभिमतः । अतस्तत्र प्राकट्य-तत्प्रयुक्तमानसोत्सवयोर्जातत्वाद्भगवदावेशार्थं पुष्टिमार्गीयैर्मुख्यतया सैवोपोष्या । विद्धायां तदुभयाभावात् तदर्थकोपवासनिषेधः । विद्धाक्षये तु पुत्रोत्सवादिकं तु शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टम्यभावे नवम्युपोष्येति उत्सवमात्रमादाय गौणतया नवम्यामुप-वासविधिः । शुद्धाशुद्धविवेकस्तु, सूर्योदयकालमारभ्येति शुद्धनवम्यामितिपदेन सूर्योदयकालवर्तिनवम्यां सर्वप्रकारेण पुत्रोत्सवादिकं प्रातरारभ्यैव जातम् । सूर्योदयावच्छागमनादिसंभ्रम एव सर्वेषामिति ज्ञायते । अतः शुद्धाष्टम्यभावे शुद्धैव नवम्युपोष्या ।

यत्तु 'पूर्वविद्धाष्टमी या च'ेति वाक्यात् पूर्वविद्धायाः परदिने मुहूर्तमपि सत्त्वे एव पूर्वविद्धायास्त्यागो, न त्वसत्त्वेऽपी-तीत्युक्तम्, तत्तु तस्यैव वचनस्य व्याख्यानान्तरत्वात् केचिन्मतपरम् । इतीतिप्रकारवचनम् । तथा च, पूर्वविद्धेत्येतस्यैव वचनस्य केचिदेवमर्थं वदन्तीतिपदस्य वदन्तीत्यग्रिमपदेनैव संबन्धः । एवञ्च, जन्माष्टमी विद्धायामेव कर्तव्या भवेत् शुद्धाभावे, तदर्थं तथावादिनं प्रति केचित्तु जन्माष्टमीं पूर्वविद्धामिति प्रतिवादिवाक्यमिति जानीमः । तत्र मुहूर्तमात्रसत्त्वे सोपोष्येति तु का वार्ता, विद्धात्यागावश्यकत्वात् 'तदभावेपि सोपोष्या' यतः । एवमाग्रहे व्यासवचनादिति प्रतिवादिवाक्यहेतुरुक्तः । तद्वचनस्य तथावचन-व्याख्यानानपनोद्यत्वज्ञापनाय द्वितीयोपि हेतुरुक्तो वचनबलादिति । तस्य साक्षात् नारायणावतारत्वेन सर्वोपजीव्यत्वात् । अन्यथा द्वितीयहेतुकथनं व्यर्थं स्यात् । यद्वा । वचनबलादित्यनेनैतस्य व्यासवचनत्वे मूलवचनानि बहूनि भवन्ति तेषां बलादित्यर्थः । तथा चैतादृशं वचनं प्रतिवादिना वचनबलस्य तद्वचन एव प्रतिष्ठितत्वात् समूलकत्वेनांगीक्रियते तदा सर्वोपजीव्यव्यासोक्तरीतिरेवास्मा-भिरनुसर्तव्या । निर्मूलकत्वेनांगीक्रियते चेत्, तदा तु तद्वचनपूर्वोक्ततदुक्त्यैवेति कटाक्षोक्तिः । तेन न वा तन्निर्मूलकम्, न वा प्रतिवाद्युक्तकरणमिति फलितम् । स्वस्य निर्णयकर्तृत्वात् स्वमताग्रहज्ञापनाय 'यदी'त्युक्तमिति वा । शेषं पूर्ववत् । तथा च 'शुद्धाष्टम्यभावे नवम्युपोष्ये'तिसुबोधिन्या सह न विरोध इति सर्वमनवद्यम् ।

हृदिस्थौ यत्सदा श्रीमद्वल्लभाधीशविट्ठलौ । निर्णयो मन्मुखाज्जातो जन्मसंदेहवारकः ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलरायात्मजश्रीवल्लभजीकृतः श्रीपुरुषोत्तमप्राकट्यनिर्णये शुद्धाष्टमीसिद्धान्तः ।

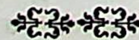

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	वसन्त.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
३२	३१	१	३	१०४८	१६	५०	१११७	३४॥	५

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः । [1]आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः ॥ १ ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै । कारयामास [2]विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥ २ ॥
धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते । तिलाद्रीन् सप्त [3]रत्नौघान् शातकौम्भाम्बरावृतान् ॥ ३ ॥
कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया । शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्माऽऽत्मविद्यया ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आत्मने उत्पन्ने (सति) जाताह्लादः महामनाः नन्दः देवज्ञान् विप्रान् आहूय स्नातः शुचिः अलङ्कृतः स्वस्त्ययनं वाचयित्वा आत्मजस्य जातकर्म तथा विधिवत् पितृदेवार्चनं कारयामास ॥ १-२ ॥ समलंकृते धेनूनां नियुते रत्नौघशातकौम्भावरावृतान् सप्त तिलाद्रीन् विप्रेभ्यः प्रादात् ॥ ३ ॥ कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैः तपसा इज्यया दानैः संतुष्ट्या द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति आत्मा आत्मविद्यया (एव शुद्ध्यति) ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पंचमे जातकं नंदः सूनोः कृत्वा महोत्सवम् । गत्वाऽथ मथुरां प्राप वासुदेवागमोत्सवम् ॥ १ ॥

महामना उदारचित्तः । १-२ ॥ नियुते द्वे लक्षे सप्त तिलपर्वतांश्च प्रादात् । कथंभूतान् । रत्नौघैः रत्नसमूहैः शातकौंभांबरैः सुवर्णरसाक्तैरंबरैश्चावृतान् ॥ ३ ॥ द्रव्याणां गोहिरण्यादीनां मध्ये केषांचिद्दानैरेव शुद्धिर्यथा तथाऽन्नदानादियुक्तजातकर्मादिसंस्कारैरेव गर्भाणां शुद्धिरिति दर्शयितुं प्रतिनियतानि शोधकानि दृष्टांतत्वेनोदाहरति । कालेनेति । कालेन भूम्यादि । स्नानेन देहादि । शौचेनामेध्यलिप्तादि । संस्कारैर्गर्भादि । तपसा इन्द्रियादि । इज्यया ब्राह्मणादि । दानैर्द्रव्याणि । संतुष्ट्या मनः । आत्मा त्वात्मविद्यया शुध्यति ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सूनोः पुत्रस्य । महोत्सवं जातकर्मादौ महद्दानादिरूपम् (१) । नंदस्त्विति युग्मम् । आत्मनो हृदयाज्जायत इत्यात्मजः "हृदयादभिजायते" इति श्रुतेः । आत्मजत्वं चेह पुत्रभावेनात्मनि प्रादुर्भूतत्वमेव नान्यद्ग्राह्यं तत्खलु "आविवेशांशभागेन मन आनकदुंदुभेः—ततो जगन्मंगलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी" इत्यादिवच्छ्रीनंदयशोदयोरपि गम्यते "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥" इति श्रुतेः । इत्याह—महामना इति "भक्तिःस्यान्नौ महादेवे" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्भक्त्या अत्यंततादात्म्यापत्त्या महच्छ्रीकृष्ण एव मनो यस्य सः । यद्वा—श्रीकृष्णधारणसामर्थ्येन महन्मनो यस्य । यद्वा—महान् श्रीकृष्णो मनसि यस्येति चंद्रशेखरवत्समासः । उपलक्षणं चैतच्छ्रीयशोदाया अपि । उत्पन्नत्वं नाम तथात्मनोर्बहिस्ताद्दशतत्प्राकट्यमेव तच्चानयोस्तन्निर्विशेषमेव । ननु 'नंदस्त्वात्मज उत्पन्ने' इह विनापि तुशब्दं पादपूर्त्तेस्तदर्थं तुकारकल्पना व्यर्थेति न च तुकारस्तर्हि व्यर्थ एव आत्मनो जात आत्मजस्तस्मिन् जनिधातुप्रयोगादेवाभीप्सितसिद्धेर्नतुशब्दो नंदगृहे उत्पत्तिं साधयतीति वाच्यम् । 'उपगुह्यात्मजामेवं' इहान्योत्पन्नेप्यात्मजप्रयोगात् । किं च नाडीछेदात्पूर्वमेव जातकर्मोपक्रमश्रवणात् नाडीछेदस्तु गर्भजत्वं विना कथं संभवेत् । किं च कृष्णस्य नंदपुत्रत्वे नैकद्वाः प्रयोगः । किं तु बहव एव न तु सर्वेऽमुख्यार्थी भवितुमर्हंति । तथाहि 'अदृश्यतानुजा विष्णोः' इति समर्थितं चैतद्ब्रह्मणापि 'पशुपांगजाय' इति देवर्ष्यवतारभूपतेर्गोपैरपि च "आद्याहतो महाव्यालो यशोदानंदसूनुना" इति गोपानां देवर्ष्यवतारत्वम् 'नैते सुरेशा ऋषयो न चैते' इति श्रीबलदेवोक्तेर्ज्ञेयम् । साक्षाच्छुत्यवतारैर्गोपीभिरप्ययमर्थ उपबृंहितोऽस्ति "नंदसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः" इति "नंदसूनुरनघे तव वत्सः" इति

---

१. आहूय विप्रान् दैवज्ञान–श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. ; वेदज्ञान–जीव. वीर. । २. विधिना–जीव. । ३. रत्नौघशात्–श्रीधर. वंशी. वीर. जीव. शुक. गिरि. भक्त. ।

"व्रजस्त्रियः पुत्र न तु स्त्रियो हि नूनं श्रुतीनामथ मूर्त्तयस्ताः। नाहं शिवो वा कमला कदाचित्समाश्च ताभिः कुत एव चान्ये ॥" इत्यादिपुराणे नारदं प्रति ब्रह्मवाक्येन गोपीनां श्रुतिरूपत्वं ध्येयम्। आगमेपि 'नंदगोपतनयो देवता' इति। गर्गेणापि सर्वज्ञमुनिना "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" इत्ययमर्थ आविष्कृतः। नीलकंठेनापि महाभारतटीकायामादिपर्वणि नंदनंदनोपासनमुक्तं मोक्षकारणम्। किञ्च तुकारेण वसुदेव आत्मज उत्पन्न जाताह्लादोपि कंसभयात्संकुंचितमना जातकर्मादि कर्त्तुं न प्राभून्नंदस्तु कारयामास। तुकारादेवैतन्मात्रे वसुदेवाद्भेदे प्राप्ते नंदगृहेपि श्रीकृष्णस्योत्पत्तिः। श्रीमन्मुनींद्राभिप्रेतावगम्यतेऽन्यथा 'नंदस्त्वात्मज आयाते' इत्येवं कथं न प्रावोचदिति। पुत्रेण सहाह्लादोऽपि जात इति सहोक्तिः। पुत्रव्याजेनाह्लाद एव जात इत्युत्प्रेक्षा च। शुचिरूर्ध्वपुंड्राचमनादिना पवित्रः। जातकर्म पुत्रोत्पत्तिकाले क्रियमाणं वैदिकं कर्मविशेषम्। तैराहूतैर्विप्रैः कारयामास तेषामेव तत्र कर्त्तृत्वविधानात्। तत्र च कर्मफलं प्रयोक्तरीति न्यायात्फलं तस्यैव यथाविधि स्वयमकरणे जाताह्लाद इत्यनेनानंदजाड्यमेव हेतुः। यद्वा—महे उत्सवे पुत्रोत्पत्तिकालिकहर्षे असमंतात्। मनो यस्य। यद्वा—महति परमेश्वरे वा मनो यस्येति महत आत्त्वमार्षम् ॥ १-२ ॥ तिलाद्रिप्रमाणं भविष्ये—"उत्तमो दशभिर्द्रोणैर्मध्यमः पञ्चभिर्मतः। त्रिभिः कनिष्ठो राजेन्द्र तिलशैलः प्रकीर्त्तितः ॥" इति द्रोणपरिमाणम्। "खारी द्रोणाढकप्रस्थाः कुडवं च पलं पिचु। शाणको माषकश्चेति यथापूर्वं चतुर्गुणाः" इति ॥ ३ ॥ अथ गर्भशुद्ध्युपोद्घातरूपामन्यपदार्थशुद्धिमाह—द्रव्याणामिति। प्रतिनियतानि प्रातिस्विकानि। येषां द्रव्याणां यानि शोधकानीति यावत्। भूम्यादि—आदिपदेन जलादयो ज्ञेयाः। यत्र भूमौ मलाद्युत्सृष्टं तत्र विनापि लेपादिना शोधकेन बहुकालेन स्वयमेव शुद्ध्यति सेत्यर्थः। तथा जलानामपि कालेन "कालं मेघोदकं ग्राह्यं वर्ज्यं तु त्र्यहमेव हि। अकाले दशरात्रं तु ततः शुद्धिः" इत्युक्तेः। देहादि आदिपदे वस्त्रादि। अमेध्यमशुचिद्रव्यं तेन लिप्तम् आदिना स्पृष्टम्। शौचेन मृज्जलादिना शोधनेन। संस्कारैः पुंसवनसीमंतजातकर्मादिभिः। आदिना देहादि। इज्यया देवार्चनयागादिना। "ब्राह्मणः सर्वदा शुद्धः पितृदेवार्चने रतः" इत्युक्तेः। आदिना क्षत्त्रियादि। "यतो दानं न जायेत तद्द्रव्यं मलवत्स्मृतम्" इति स्मृतेर्द्रव्याणामन्नादिरत्नांतानां दानेनैव शुद्धिर्नान्यथेति भावः। इन्द्रियाणि वागादीनि। तपसा मौनादिरूपेण। यद्वा—तपसैकादश्युपवासादिना आदिना देहपरिग्रहः। मनः संतुष्ट्या। 'संतोषेण मनः शुचि' इति वाक्यात्। आत्मा जीवः। आत्मविद्ययाऽध्यात्मविचारेण। शुद्धस्वरूपावाप्त्या जीवभावरूपामशुचितां जहातीत्यर्थः। दीपकोऽत्रालंकारः। "प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च तुल्यत्वे सति दीपकम्" इति तल्लक्षणात्। अत्र प्रस्तुतगर्भशुद्धेरप्रस्तुतानां भूम्यादीनामपि शुद्धेर्वर्णनादिति समन्वयः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

नन्दस्त्विति युग्मकम्। नन्दयति जगदिति श्रीनन्दस्य यथार्थसञ्ज्ञत्वं दर्शयन् तुशब्दोक्तमैश्वर्य्यज्ञानप्रधानात् श्रीवसुदेवादपि शुद्धवात्सल्यरीत्या सौभाग्यभरमभिव्यञ्जयति—आत्मजेत्यादिना, कुरूद्वहेत्यन्तेन। अतः श्लाघिष्यते च राज्ञा "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्नित्यादिभ्याम्" आत्मज इति। अत्रात्मजत्वमुत्पन्नत्वमात्मजत्वेनोत्पन्नत्वमित्यर्थत्रयं प्रत्येकान्वयाभ्यां व्यज्यते नीलोत्पलवत् तच्चान्यथाप्रतिपत्तिनिरासार्थं तत्रात्मजत्वं पुत्रभावेनात्मनि प्रादुर्भूतत्वमेव नान्यत् तत्खलु—"आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः"। "ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशम्" इत्यादिवच्छ्रीनन्दयशोदयोरपि गम्यते—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥

इत्यादेः "भक्तिरेवैनं गमयति भक्तिरेवैनं दर्शयति" इत्यादेश्च श्रुतेस्तु "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः" इति श्रीभगवदुक्तेश्चाराद्भविष्यते तादृशा प्रेमास्पदतया परमपुरुषार्थरूपाय तत्प्राकट्याय सततन्मनस्त्वलक्षणभक्तेरावश्यकत्वात् श्रीनारदपूर्वजन्मनि श्रीध्रुवप्रह्लादादिषु च दृष्टत्वात् तत् क्रतुन्यायेन "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति श्रीभगवदुपनिषत्प्रामाण्येन च तत्प्राकट्यविशेषाय तद्विशेषस्य चापेक्षितत्वात् अनयोरेतादृशभक्तिदिग्दर्शनं तु ब्रह्मवरे करिष्यते एतदेवाह—महामना इति। अत्यन्ततादात्म्यापत्त्या महान् श्रीकृष्ण एव मनो यस्य तद्धारणसामर्थ्येन महन्मनो यस्येति वा "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इत्युक्तानुसारेण महामनस्त्वं खल्वत्रैव मुख्यं यत्रौदार्यादयोऽपि गुणा अन्तर्भवन्तीति उपलक्षणञ्चैतत् श्रीयशोदाया अपि वक्ष्यते च "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्। यशोदा च महाभागा" इति तदेवमनयोस्तयोश्चात्मनि तस्य जातत्वे समानेऽपि फलेन फलकारणमनुमीयत इति न्यायेनास्ति विशेषः तयोश्चतुर्भुजत्वेन अनयोः द्विभुजत्वेनेति अथोत्पन्नत्वं नाम च बहिस्तादृशप्राकट्यमेव नतु जीववत् प्रकारान्तरं तच्चानयोस्तयोर्निर्विशेषमेव आत्मजत्वेन पुत्रतयोत्पन्नत्वे त्वस्ति विशेषोपि प्रेरणां विनैव पुत्रत्वव्यञ्जिकया ऽऽकृत्या प्रकृत्या चानयोः प्राकट्यात् तयोस्तु पुत्रत्वाप्रत्यायिकाया तथा तया च प्राकट्यात् तत्तु युक्तम् अनयोरेव प्रीतेः शुद्धपितृभावमयत्वादुत्कृष्टत्वाच्च तत्तु नन्दस्त्वित्यादिना शब्दव्यक्तवैशिष्ट्येन अत्र दर्श्यते परपरत्र च दर्शयिष्यते तयोस्त्वैश्वर्यज्ञानाच्छन्नमेव विदितोसीत्यादिना तद्दर्शितं तादृशभावं विना तु श्रीवराहदेवस्य न ब्रह्मपुत्रत्वेन श्रीकृष्णदेवस्य च नोत्तरा पुत्रत्वेन प्रसिद्धिः तयोस्तस्य तस्य नाभिमानोऽपि तस्मात् सर्वांशेन श्रीनन्दस्यात्मजत्वेनोत्पन्नेऽसौ क्रियया त्वन्यास्पृष्टतयैव वक्ष्यते आहूयेत्यादिग्रन्थेन अत एव श्रीमता गर्गेणात्रैव प्रधानता वक्ष्यते च "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातः तवात्मजः" इति [श्रीब्रह्मणाऽपि स्वपुरुषार्थता समर्थयिता "नौमीड्यते" इत्यादौ "पशुपाङ्गजाय" इति सर्वतो वैशिष्ट्येन भगवता श्रीशुकदेवेन च

"नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः" इति आगमविद्भिरपि "सकललोकमङ्गलो नन्दगोपतनयो देवता" इति तस्मात् "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इत्येवोक्तं नतु नन्दस्तमात्मजं मत्वेति अतोऽत्र मायाजन्म च श्रीवसुदेवादौ व्याजमात्रायैव तत्राप्यस्यैवान्तरङ्गत्वज्ञातं तस्या मातुरुदरान्तरे स्थितिरस्य तु हृदय इति तदेवं समानमातृकत्वेनैव विष्णोरनुजात्वेन सा प्रोक्ता तदेवं स्थिते यदा स्वाविर्भूतचतुर्भुजरूपाच्छादनाय श्रीदेवकीच्छा जायते तदा यशोदाहृदयस्थद्विभुजरूपस्य तद्रूपाच्छादनपूर्वकाविर्भावस्तत्रासीदिति गम्यते अत एव "प्रागयं वसुदेवस्य कचिज्जातस्तवात्मजः" इति स्वप्रोक्तलमाधानार्थं श्रीगर्गेण पुनर्वक्ष्यते "बहूनि सन्ति रूपाणि नामानि च सुतस्य ते" इति। अथ पूर्ववद्गर्गवाक्येन च श्रीनन्दयशोदयोरभिमत्या सिद्धान्तगतया च श्रीकृष्णे निजात्मजत्वं मुख्यत्वेनैव स्थापितं देव्यां तु तत्तदात्मनानुभूतं वृत्तं निश्चिन्वत्योः श्रीवसुदेवदेवक्योस्तत् तदभावात् उपगुह्यात्मजामित्यस्मिन्निव न गौणत्वेनेति विवेचनीयं तदेवं सिद्धान्ते स्थिते महोत्सवानुकूल्येन तदेव प्रथयिष्यामः। पुत्रे चोत्पन्ने जाताह्लाद इति न केवलं पुत्रो जातः किंत्वाह्लादोऽपि जात इति सहोक्तिः पुत्रव्याजेनाह्लाद एव जात इत्युत्प्रेक्षा स्वतः सम्भवियस्तुना व्यज्यते तेन च ह्लादस्य प्राचुर्यं ध्वनयत इत्यालङ्कारिकाः एतच्च महोत्सववैशिष्ट्ये हेतुः विशेषतः प्रान्ति पूरयन्ति कामानिति विप्रास्तान् तत्रापि वेदज्ञानजातकर्मादिवैदिकविधिसम्यग्विदः श्रोत्रियान् "यावतीर्वै देवताः सर्वास्ता वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" इति श्रुतेः। शुचिः वैष्णवतिलकाचमनादिना विशेषतः पवित्रः सन् जातकर्म "भूयास्त्वपि" इत्यादिमन्त्रैर्मेधाजननादिकर्ममयं वैदिककर्मविशेषं तैर्विप्रैः प्रयोज्यकर्तृभिः कारयामास तेषामेव तत्र कर्तृत्वाभिधानात् तत्र च "कर्मफलं प्रयोक्तरि" इति न्यायात् फलं तस्यैव वै इति पाठे तच्च प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। विधिना यथाविध्रीत्यर्थः। विचित्रवदिति कचित्पाठः अस्य यथापेक्षं पूर्वैः परैश्च सर्वैरन्वयः चार्थे तथापितृदेवार्चनं च नान्दीमुखश्राद्धेन कारयामासेत्यनेन स्वयमकरणमुक्तं तत्र च जाताह्लाद इत्यनेनानन्दजाड्यमेव हेतुरुक्तः यद्वा तथाप्यत्र तदाम्रेडितावष्टम्भेन चकारेत्यर्थः॥ १-२॥ नियुते विंशतिर्लक्षाणि एतच्च द्वादशाध्याये प्रकटीकरिष्यामः तत्र क्षीरस्वामिकारिकायां दिग्दर्शनं यथा 'एकं दशशतसहस्राण्ययुतं प्रयुताख्यलक्षमथ नियुतम्" इति सम्यगलङ्कृते यथोक्तरौप्यखुरस्वर्णशृङ्गादिभूषिते तिलाद्रिपरिमाणादिकमुक्तं भविष्योत्तरे—

"उत्तमो दशभिर्द्रोणैर्मध्यमः पञ्चभिर्मतः। त्रिभिः कनिष्ठो राजेन्द्र! तिलशैलः प्रकीर्तितः॥
पूर्ववच्चापरं सर्वं विष्कम्भं पर्वतादिकम्"॥

तच्चोक्तं तत्रैवादौ धान्याद्रिप्रसङ्गे "इत्थं निवेश्यामरशैलमग्र्यमतस्तु विष्कम्भगिरीन् क्रमेण। तुरीयभागेन चतुर्दिशं च संस्थापयेत्पुष्पविलेपनाढ्यान्" इत्यादि ते च मन्दरादयश्चत्वारः तथा तत्रैव "मेरुर्महान् व्रीहिमयस्तु मध्ये सुवर्णवृक्षत्रयसंयुतः स्यात्। पूर्वेण मुक्ताफलवज्रयुक्तो याम्येन गोमेदकपुष्परागैः। पश्चाच्च गारुत्मतनीलरत्नैः सौम्ये च वैडूर्यसरोजरागैः। ब्रह्माथ विष्णुर्भगवान् पुरारिर्दिवाकरोऽप्यत्र हिरण्मयः स्यात्। किञ्च "शुक्लाम्बराण्यम्बुधरावली स्यात् पूर्वेण कृष्णानि च दक्षिणेन। वासांसि पश्चादथ कर्बुराणि रक्तानि चैवोत्तरतो घनानि" इत्यादि द्रोणसंख्या चोक्ता "खारीद्रोणाढकप्रस्थाः कुडवं च पलं पिचुः। शाणको मासकश्चेति यथा पूर्वं चतुर्गुणाः' इति एवं पट्पञ्चाशदधिकपलशतद्वयेनैव द्रोणः स्यात् तदेवाभिव्यञ्जयंस्ततोपि वैशिष्ट्यमाह- रत्नौघेति। शातकौम्भाम्बरावृतत्वं सुमेरोर्वर्णस्यापि सादृश्याय ततः पूर्वेभ्योऽन्यान्येतानि तादृशानि सप्तबहुलरत्नादियुतान् प्रकर्षेण पादप्रक्षालनादिपूर्वकं निजजनैस्तत्तत् गृहेषु तत्तत्प्रस्थापनादिप्रकारेणादात्॥ ३॥ ननु, यद्यानन्दजडा ऽभूत्तर्हि स्वयं कर्त्तुं कालविलम्बं कथं न कृतवान्? उच्यते पुत्रप्रेम्णैवेत्याह—कालेनेति। तत्र दृष्टान्तैर्यथा कालं गर्भशुद्धेरावश्यकत्वमभिप्रेतम् अन्यत्तैः अत्र भूम्यादीत्यध्याहृतानि द्रव्याणि अर्थाः गर्भशुद्धेर्दार्ष्टान्तिकत्वं द्रव्यशुद्धेस्तु दृष्टान्तत्वं पूर्वस्यैव साध्यत्वात् अतस्तथाशब्देन पूर्वत्र यथेति गम्यते यथा तथेति पाठश्च कचित् भूमिशुद्ध्यादीना तूपादानं दृष्टान्तपोषणार्थमेवेति व्यञ्जितं यद्वा कालादिभिर्द्रव्याणि भूम्यादीनि शुद्ध्यन्त्येव आत्मा तु आत्मविद्यया स्वरूपज्ञानेनैव किंवा भगवद्भक्त्यैव न त्वन्यथा अत एव द्रव्याणीत्यनेन गृहीतस्याप्यात्मनः पृथङ्निर्देशः तस्य तु श्रीमन्नराकृतिपरब्रह्मणा स्वयं भगवता पुत्रतया जायमानेनैव सद्यो जगदपि शोधितं तथापि तेन परमप्रेम्णैव तत्कृतम् इति सर्वेषां मादृशां च महासुखदमिति भावः॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

नन्दयति हर्षयति जगदिति श्रीनन्दस्य यथार्थसंज्ञत्वं दर्शयन् तु—शब्दोक्तं श्रीवसुदेवतो वैशिष्ट्यमभिव्यञ्जयति—आत्मज इत्यादिना (१९) कुरूद्वहेत्यन्तेन। तत्र स्नेहविशेषबोधनार्थमात्मज उत्पन्ने इत्यन्यदीयपुत्रत्वादिशंका निरस्ता। तद्दाढ्यार्थमग्रेऽपि पुनस्तथैवोक्तिः। यद्यपि श्रीवसुदेवोऽपि प्राकृतशिशौ सति श्रीभगवति स्नेहभरातुरस्तद्रक्षार्थं परमव्यग्रः सन् तत्परिवर्तन मायामप्यानीतवान् तथापि तस्येश्वरज्ञानादिसम्बन्धेन विशुद्धभक्तिनिष्ठाच्छ्रीनन्दान्न्युनत्वमेव कल्पत इति। यद्वा, श्रीवसुदेवात्मजभावपरित्यागेन श्रीभगवता श्रीनन्दात्मजतयैवात्मनः सर्वथाववोधादात्मज इत्युक्तम्। वैष्णवाः केचिदेवं व्याचक्षते—श्रीवसुदेवगृहे श्रीभगवानेक एव जातः, श्रीनन्दगृहे तु मायया सहेति परमरहस्यत्वात्तत्प्रसंगः पूर्वं नोद्दिष्टः। तत्र तु श्रीवसुदेवेन मायापरिवर्त्तन विन्यस्तः पुत्रः श्रीनन्दात्मजेनैवैक्यं प्राप्त इति मुख्ययैव वृत्त्या तदात्मजत्वं घटत इति अत एव ब्रह्मणापि वक्ष्यते (भा० १०।१४।१)

'पशुपांगजाय' इति, अत एव रुद्रयामले-'कृष्णोऽन्या यदुसम्भूतो यः पूर्णं सोऽस्त्यतः परः। वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति ॥' इति। महामनाः प्रकृत्यैवोदारचित्तः, पुत्रे चोत्पन्ने जाताह्लाद इति जातकर्म्ममहोत्सवादिकरणे हेतुः। विशेषतः प्रान्ति पूरयन्ति कामानिति विप्रास्तान्, तत्रापि वेदज्ञान् जातकर्म्मादिवैदिकविधिविशेषविदः श्रोत्रियान्, (सह वै० १९) 'यावतीर्वै देवताः सर्वास्ता वेदविदि ब्राह्मणे सन्ति' इति श्रुतेः। शुचिर्वैष्णवतिलकाचमनादिना विशेषतः पवित्रः सन् तैर्विप्रैः। वै इति पाठे तच्च प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। विधिना यथाविधीत्यर्थः। अस्य यथापेक्षं पूर्वैः परैश्च सर्वैरन्वयः। चार्थे तथा पितृदेवार्चनञ्च नान्दी-मुखश्राद्धेन ॥ १-२ ॥

सम्यगलंकृते यथोक्त-रौप्यखुर-सौवर्णशृंगादिविभूषिते, तिलाद्रिपरिमाणादिकमुक्तं; भविष्योत्तरे उत्तमो दशभिर्द्रोणैर्मध्यमः पञ्चभिर्मतः। त्रिभिः कनिष्ठो राजेन्द्र तिलशैलः प्रकीर्त्तितः। पूर्ववच्चापरं सर्वं निष्कम्भपर्वतादिकम् ॥' तच्चोक्तं तत्रैवादौ धान्याद्रि-प्रसंगे 'इत्थं निवेश्यामरशैलमग्र्यमतस्तु निष्कम्भगिरीन् क्रमेण। तुरीयभागेन चतुर्दिशञ्च संस्थापयेत् पुष्पविलेपनाढ्यान् ॥' इत्यादि। ते च विष्कम्भगिरयो मन्दरादयश्चत्वारः। तथा च तत्रैव—'मेरुर्महान् व्रीहिमयस्तु मध्ये, सुवर्णवृक्षत्रयसंयुतः स्यात्। पूर्वेण मुक्ताफलवज्रमुक्तो, याम्ये च गोमेदकपुष्परागैः। पश्चाच्च गारुत्मतनीलरत्नैः, सौम्ये च वैदुर्य्यसरोजरागैः। ब्रह्माथ विष्णु-र्भगवान् पुरारिर्दिवाकरोऽप्यत्र हिरण्मयः स्यात् ।' किञ्च, शुक्लाम्बराण्यम्बुधरावली स्यात्, पूर्वेण कृष्णानि च दक्षिणेन। वासांसि पश्चादथ कर्बुराणि, रक्तानि चैवोत्तरतो घनानि ॥' इत्यादि। द्रोण-संख्या चोक्ता वैद्यके-'खारो द्रोणाढकप्रस्थाः कुडवञ्च पलं पिचु। शानको मापकश्चेति यथापूर्वं चतुर्गुणाः ॥' इति। एवं षट्पञ्चाशदधिकपलशतद्वयेनैको द्रोणः स्यात्। तदेवाभिव्यञ्जयति, किं वा ततोऽपि वैशिष्ट्यमाह-रत्नौघेति। शातकौम्भं स्वर्णसमूहः सौवर्णाभरणजातं वा, यद्वा, तिलाद्रिश्च व्रजेऽत्र सुप्रसिद्धश्रीगोवर्द्धनाद्रे-रुच्चतया तुल्यो ज्ञेयः, तादृशान् सप्तबहुलरत्नादियुतान् प्रकर्षेण पादप्रक्षालनादिपूर्वकं निजजनैस्तत्तद्गृहेषु तत्तत्प्रस्थापनादि-प्रकारेणादात् ॥ ३ ॥

ननु कुतस्तदानीमेव तथा तत्तत् कृतमित्यत्राह-कालेनेति; तत्तद्दृष्टान्तैर्यथाकालं जातकर्म्मदानयोरावश्यकत्वमभिप्रेतम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, कालादिभिर्द्रव्याणि शुद्धन्त्येव, आत्मा त्वात्मविद्यया स्वरूपज्ञानेनैव, किं वा भगवद्भक्त्यैव, न त्वन्यथा। अत एव द्रव्याणीत्यनेन गृहीतस्याप्यात्मनः पृथङ्निर्देशस्तस्य च गृहे साक्षात् परमात्मनः स्वयं गमनाच्छुद्धिमहिमा केन वर्ण्यः? यद्वा, कालादिषु मध्ये केनचित् कदाचित् कस्यापि शुद्धिः, श्रीभगवत्पुत्रत्वेन च तस्य युगपत् सर्वशुद्धिरेव सिद्धति किं वक्तव्यं ताभ्यां तत्तच्छुद्धिरिति भावः ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

॥ १-३ ॥ प्रसङ्गात् द्रव्यशुद्धिहेतूनाह—कालेनेति कालश्चोदित कालः ॥ ४-८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं "तस्यां रात्र्यां व्यतीतायाम्" इत्यादिना मथुरायां प्राभातिकवृत्तान्त उक्तः अथ व्रजे तद्वृत्तान्तमाह-नन्द इत्यादिना तत आरभ्येत्यतः प्राक्तनेन। आत्मजे उत्पन्ने सति जात आह्लादो यस्य महदौदार्यप्रवणं मनो यस्य तथाभूतो नन्दो वेदज्ञान् ब्राह्मणानाहूय स्वयं स्नातः शुचिरलङ्कृतश्च ॥ १ ॥ ततः स्वस्त्ययनं माङ्गलिकं सूक्तं वाचयित्वा यथाविधि जातकर्म कारयामास तथा पितॄणां देवानां चार्चनं कारयामास ॥ २ ॥ ततः सम्यगलङ्कृते द्वे धेनूनां नियुते लक्षे विप्रेभ्यः प्रायच्छत्तथा रत्नौघैः शातकौम्भाम्बरैः सुवर्णरजताङ्कवस्त्रैः सुवर्णनिष्कैरम्बरैर्वा दक्षिणार्थं निहितैरावृतान् सप्त तिलपर्वतान् प्रादात् ॥ ३ ॥ किमर्थमेवं स्नानादि कर्म अकरोत् कारयामास प्रादाच्च ? इत्यत्राह-कालेनेति। आत्मा आत्मविद्ययेति दृष्टान्तार्थं यथाऽऽत्मविद्यया परमात्मो-पासनया आत्मा प्रत्यगात्मा शुद्ध्यति हेयगन्धरहितो भवति तथा द्रव्याण्यपि कालादिभिरेव शुद्ध्यन्ति इत्यभिप्रायेण तद्विशुद्ध्यर्थम-करोदित्यर्थः। द्रव्यशब्दोऽत्रानुबन्धिगेहदेहापत्यदेवतापशुहिरण्यादिवित्तधान्येन्द्रियाभिप्रायकः तत्र कालेन दशदिनात्मकेन गेहस्य शुद्धिः स्नानशौचाभ्यां देहस्य जातकर्मादिसंस्कारैरपत्यस्य तपसा मन्त्रजापेनेज्यया च गृहदेवतायाः दानैः पशुहिरण्यधनधान्यानां सन्तुष्ट्या मनस इति विवेकः ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवदवतारहृष्टमनसो नन्दस्य भगवद्भक्त्यतिशयेन चित्तविश्रमणे सद्भक्तानां भगवद्भक्तिश्चन्द्रोदय इव समुद्रवृद्धिः स्वाभाविकीति प्रकाश्यतेऽस्मिन्नध्याये, जाताह्लादः प्रादुर्भूतानन्दः ॥ १ ॥ स्वस्त्ययनं माङ्गल्यवचनं तथापि पितृदेवगन्धर्वाद्यर्चनं कारयामास नन्दयामास ॥ २ ॥ शातकौम्भान्तरावृतान् गर्भीकृतशातकुम्भान् ॥ ३-४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आत्मज इति पुत्रीभूत इत्यत्र व्याख्यास्यते पूर्वमेव महामनाः श्रीकृष्णाविष्टचित्तः अधुना तु तस्मिन्नेव आत्मजे जाते जाताह्लाद इत्यादिभिः आविर्वेशांशभागेन मन इत्यादि साम्यं बोधयन्नपि भाववैशिष्ट्यं बोधयति—कारयामासेति। आनन्द-

जाड्यात् ।। १–२ ।। धेनूनामिति नियुतमत्र शतगुणितमयुतं ज्ञेयम् "एकं दश सहस्रमयुतं प्रयुताख्यलक्षमथ नियुतम्" इति क्षीरस्वाम्युक्तेः विलम्ब्य कथं स्वयं न कृतवान् उच्यते ।। ३ ।। पुत्रप्रेम्णेत्याह—कालेनेति । द्रव्याणि भूम्यादीनि तत्र भूमेः कालेनेत्यादि ज्ञेयम् ।। ४–९ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

अथ यशोदाङ्के कृष्णं निक्षिप्य तत्र स्थितां योगमायां गृहीत्वा वसुदेवे गतवति भगवान् श्रीकृष्णो नन्दयशोदे पितृमातृत्वेन स्वीचकार । नन्दो मे पिता यशोदा मे मातेति यत्, तदेव तद्गृहे जन्म । वस्तुतस्तु श्रीनन्दयशोदयोर्नित्यापत्यत्वेनायं स्थित एव । वसुदेव–देवक्योस्त्वागन्तुकापत्यत्वमस्य सम्प्रति तु वस्तुतः प्राकृतवन्न देवकीजठरे जन्म, न यशोदाजठरे च; अपि तु स्वरूपेणाविर्भावः, स त्वविशेषादुभयत्रैव तुल्यः । तेनायमन्य एवावतार एवेत्याह–नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न इत्यादि । आत्मज उत्पन्ने सति तनयादिशब्दमनुपादायात्मजशब्दोपादानेनायमर्थः प्रकाशितो भवति–आत्मना स्वयमेव जायते प्रादुर्भवतीति, तेनात्मजश्चात्मजश्चेत्येकशेषः । आत्मजत्वेन स्वयंप्रकाशत्वेन । आत्मजे पुत्र उत्पन्ने सतीत्यर्थः, जाताह्लादः आत्मजस्याह्लादात्मकत्वात्तद्धृदयेऽप्याह्लादरूपेणाविशदिति द्वयोः पितृमातृत्वेन स्वीकारः ।। १ ।। 'जातकर्मात्मजस्य वै' इति वै-शब्दोऽप्यर्थः । आत्मजस्य स्वप्रकाशस्यापि जातकर्मादि कारयामासेत्यर्थः ।। २ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

नन्दस्त्वात्मज इत्यादि । आत्मना जायते इत्यात्मजः स्वप्रकाशस्तस्मिन्नुत्पन्ने आविर्भूते ।। २ ।। जातकर्माजातस्येत्यादि वैशब्दोऽत्रापि स्वप्रकाशस्यापि । (३–१२)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कृष्णजन्मोत्सवो दातुं करं श्रीमथुरागमः । नन्दस्य वसुदेवेन संलापः पञ्चमेऽभवत् ।।

नन्दस्त्विति तुकारेण वसुदेव आत्मजे उत्पन्ने जाताह्लादोऽपि कंसभयात् सङ्कुचितमना जातकर्मादिकं कर्त्तुं न प्राभूत् । नन्दस्तु आत्मजे उत्पन्ने जाताह्लादो महामना अतिविस्मृतमनाः स्वस्तिवाचनपूर्वकं जातकर्म कारयामासेति तुकारादेवैतन्मात्रे वसुदेवाद्भेदे प्राप्ते नन्दगृहेऽपि कृष्णस्योत्पत्तिः श्रीमन्मुनीन्द्राभिप्रताऽवगम्यते "गर्भकाले त्वसम्पूर्णे" इति पूर्वोक्तेर्वैशम्पायनसम्मताऽपि न च तुकारोत्र पादपूर्णार्थ इति वाच्यं "नन्द आत्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः" इति विनापि तुकारेण पादपूर्त्तेः । न च तदपि तुकारोऽनर्थक एव आत्मनो जात आत्मजस्तस्मिन्निति जनिधातुप्रयोगादेवाभीप्सितसिद्धेरिति वाच्यम् "उपगुह्यात्मजामेवम्" इत्यत्रानौरसापत्येप्यात्मजशब्दप्रयोगात् किञ्च नाडीच्छेदात्पूर्वमेव जातकर्मोपक्रमश्रवणात् नाडीच्छेदश्च गर्भजत्वं विना कथं सम्भवेत् ? किञ्च कृष्णस्य नन्दपुत्रत्वे खलु नैकधा प्रयोगाः किन्तु बहव एव न ते सर्वे एवामुख्यार्थीभवितुमर्हन्ति तथाहि "अदृश्यतानुजाविष्णोः" इति "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" इति "नौमीड्य ! ते" इत्यादौ "पशुपाङ्गजाये"ति देहिनां गोपिकासुत" इति गौतमीये "वल्लवीनन्दनं वन्दे" इति क्रमदीपिकायामपि "देवतासकललोकमङ्गलो नन्दगोपतनयः समीरितः" इति । मन्त्रेऽपि "नन्दपुत्रपदं गेतुम्" इत्यादयः केचित्तु कृष्णस्य वसुदेवपुत्रत्वविजयसखत्वरुक्मिणीकान्तत्वादिभ्योऽपि प्रेममिश्रसम्बन्धमूलकेभ्यः सकाशात् नन्दपुत्रत्वसुबलसखत्वगोपीकान्तत्वानि प्रेमैकमूलकानि कृष्णस्य नन्दाद्यतिवश्यत्वव्यञ्जकान्यार्षवचनपरश्शतेन महानुभावसहस्रानुभवेन च परमोत्कृष्टानीत्यतस्तादृशभावतारतम्येनैव तत्तद्व्यपदेशतारतम्यमन्यथा वराहदेवस्य ब्रह्मपुत्रत्वं कृष्णस्य चोत्तरागर्भगतत्वेनोत्तरापुत्रत्वमपि प्रसिद्ध्येतेति ब्रुवाणा यशोदागर्भजत्वाभावमेव स्वाभीष्टसाधकं मन्यन्ते न च नन्दयशोदयोः कृष्णे स्वपुत्रत्वं बुद्ध्यैव तत्रापि सम्बन्धस्योपाधित्वं वाच्यं नहि वस्तुशक्तिर्बुद्ध्या पराहन्यत इति न्यायात् नहि निर्हेतुकः प्रेमाहेतुबुद्ध्यैव सहेतुको भवति न हीश्वरे जीवबुद्ध्यैवेश्वरो जीवो भवति किन्तु कृष्णस्य मृद्भक्षणादावनृतभाषणस्यापि सत्यत्वमिव कृष्णस्य प्रियपरिकराणामपि ज्ञानभाषणादेरनृतस्यापि सत्यत्वमात्मारामैरप्युपादेयत्वमुपास्यत्वं प्रेमपदत्वं चेति सिद्धान्तः । जाताह्लाद इति पुत्रेण सहाह्लादोपि जात इति सहोक्त्यलङ्कारः पुत्रव्याजेनाह्लाद एव जात इत्युत्प्रेक्षा च कारयामासेत्याह्लादोत्थजाड्येन स्वयङ्करणासामर्थ्यात् ।। १–२ ।। नियुते विंशतिलक्षाणि "एकं दशशतसहस्राण्ययुतं प्रयुताख्यलक्षमथ नियुतम्" इति क्षीरस्वामी । तिलाद्रिपरिमाणमुक्तं भविष्योत्तरे—

"उत्तमो दशभिर्द्रोणैर्मध्यमः पञ्चभिर्मतः । त्रिभिः कनिष्ठो राजेन्द्र ! तिलशैलः प्रकीर्तितः" ।।

द्रोणसङ्ख्या च—

खारीद्रोणाढकप्रस्थाः कुडवश्च पलम्पिचुः । शाणको मासकश्चेति यथापूर्वं चतुर्गुणाः" इति ।। ३ ।।

आवश्यकस्य विविधदानादियुक्तजातकर्मणो गर्भशोधकस्य प्राक् बालकस्य दृष्टान्तान् दीपकालङ्कारेणाह—कालेनेति । कालादिभिर्द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति तत्र कालेन वर्त्मादीनि स्नानेन देहादीनि शौचेनामेध्यलिप्ताङ्गादीनि संस्कारैर्गर्भादीनि तपसा इन्द्रियादीनि इज्यया ब्राह्मणादीनि दानैर्धनादीनि सन्तुष्ट्या मनः आत्माऽऽत्मविद्यया परमात्मनः स्वरूपानुभवेन जीवः ।। ४ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीनन्दं श्रीयशोदां च बालं वन्दे तयोर्मुदा। तत्प्रियां श्रीमतीं सर्वं गोपीर्गोपगवादिकम् ॥
चतुर्भिर्वर्णितं जन्म वसुदेवगृहे हरेः। अथान्यद्दुष्करं दिव्यं श्रीनन्दोत्सवपूर्वकम् ॥
संसारतापशान्त्यर्थं भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम्। सपञ्चत्रिंशताध्यायैर्व्रजे कर्मापि वर्ण्यते ॥
"जन्मकर्म च मे दिव्य"मित्युक्तं हरिणा स्वयम्। तद्द्वयं मोक्षमिच्छद्भिः श्रोतव्यं परमादरात् ॥

श्रीवसुदेवेन भगवदिच्छयैव सुज्ञाततत्त्वेन भगवत्स्वरूपगुणादिवर्णनमात्रतः पूजयित्वा श्रीनन्दगृहे भगवान् संस्थापितः इत्युक्तं श्रीनन्दस्तु पूर्वोक्तरहस्येन स्ववेश्मनि प्रविष्टं पुत्रवत्सलतयाऽऽराधितवानित्याह—नन्दस्त्विति। जातः आह्लादः दैहिकहर्षातिशयो यस्य सः महामनाः प्रफुल्लितान्तःकरणः स्नातः शुचिः कटककुण्डलादिभिरलङ्कृतः विप्रानाहूय स्वस्त्ययनं मङ्गलं सूक्तं वाचयित्वा आत्मजस्यापत्यस्य यथाविधि जातकर्म कारयामास पितृदेवाचनं तथा विधिवत् कारयामासेति द्वयोरन्वयः ॥१-२॥ धेनूनां नियुते लक्षे रत्नौघैः शातकौम्भाम्बरैः सुवर्णरसाक्तैरम्बरैश्चावृतान् सप्त तिलाद्रींश्च विप्रेभ्यः प्रादादित्यन्वयः ॥ ३ ॥ जातकर्मादिसंस्कारैरपत्यशुद्धिरिति दृष्टान्तैरुपपादयति—कालेनेति। अत्रापत्यमित्यध्याह्रियते द्रव्याणि यथाकालादिभिर्यथायथं शुद्ध्यन्ति तथा संस्कारैः जातकर्मसंस्कारैरपत्यं शुद्ध्यतीत्यन्वयः। तत्र कालेन भूम्यादिस्नानेन देहादिशौचेन प्रक्षालनसङ्घर्षणादिरूपेण अमेध्यलिप्तादि तपसेन्द्रियादि इज्यया ब्राह्मणादिदानैर्न्यायार्जितसुवर्णान्नवस्त्रादि सन्तुष्ट्या मनः आत्मा जीवः आत्मविद्यया परमात्मोपासनया ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सूनोर्जन्मोत्सवं कृत्वा व्रजेशो मथुरामगात्। शौरिणा तत्र संलापं व्यधादित्याह पञ्चमे ॥

स्वामिनः श्रीहरेरिच्छया यन्त्रितः श्रीशुको मुनिराजः श्रीनन्दराजमन्दिरे तस्य जन्म सुगोप्यभावेनाभिधाय तदुक्तेच्छया नियन्त्रितस्तत् प्रकटयंस्तदुत्सवं प्रदर्शयति नन्दस्त्विति युग्मं तु भिन्नोपक्रमार्थः। शौरिरात्मजे जाते सति जाताह्लादोऽपि कारानिरुद्धत्वात्तज्जातकोत्सवं कर्तुं नाशकत् मनसापि गवामयुतमेव प्रादात् नन्दस्तु महामना आत्मजे उत्पन्ने अन्तःपुरजनादुपश्रुते सति जाताह्लादः सन् वेदज्ञान् भागुरिप्रभृतीन् विप्रानाहूय वारां मुदाञ्च धारया स्नातः शुचिरूर्ध्वपुण्ड्रधारणाचमनादिना विशेषतः पवित्रः सन् अलङ्कृतो धृतानर्घ्यभूषणः विधिवदात्मजस्य जातकर्म कारयामास चकारेत्येतदंशेन भेदः आत्मजेन सहाह्लादो जात इति सहोक्तिस्तद्व्याजेन स एव जात इत्युत्प्रेक्षा च व्यज्यते अन्यत् स्फुटार्थं अत्रात्मजत्वस्याभ्यासाल्लिङ्गात् कृष्णस्य नन्दराजौरसत्वं स्फुटीकृतं यशोदायाः सुतोद्भवं आत्मजस्योदयाय च नन्दः स्वपुत्रमादायेत्यादिभिर्बहुकृत्वो भयसिष्यति ॥ १-२ ॥ तदानीमतिहृष्टस्य नन्दनृपस्य दानमाह धेनूनामिति। नियुते विंशतिलक्षाणि एकदशशतसहस्राण्ययुतं प्रयुतमाख्यलक्षमथ नियुतमिति क्षीरस्वामिवचनात् नियुतमेव भास्करेण प्रयुतमुच्यते समलङ्कृते इति एवमुक्तं हेमाद्रेर्दानखण्डे "दशसौवर्णिके शृङ्गे खुराः पञ्चपलान्विताः। पञ्चाशतपलिकं पृष्ठं पुच्छे मुक्ताविभूषिताम्। स्वर्णशृङ्गीं रौप्यखुरीं ताम्रपृष्ठविभूषिताम्। सवत्सां वस्त्रसहितां सघण्टां कांस्यदोहनीम्। उधस्वन्तीं रोगहीनां सुशृङ्गीञ्च मनोहराम्। एवं गां यो नरो दद्यात् स सुरैः सह मोदते" इति दानान्तरमाह तिलाद्रीनिति प्रत्यजिरं चरितानिति ज्ञेयं कीदृशानित्याह रत्नानामौघैराशिभिः शातकौम्भाम्बरैः सुवर्णरसाक्तैर्वस्त्रैश्चावृतान् तिलाद्रिपरिमाणमुक्तं भविष्योत्तरे उत्तमो दशभिर्द्रोणैर्मध्यमं पञ्चभिर्मतः। त्रिभिः कनिष्ठो राजेन्द्र तिलशैलः प्रकीर्त्तितः। पूर्ववच्चापरं सर्वं विष्कम्भपर्वतादिकं तच्चोक्तं तत्रैवादौ धान्याद्रिप्रसङ्गे "इत्थं निवेश्यामरशैलमग्र्यमतस्तविष्कम्भगिरीन् क्रमेण"। तुरीयभागेन चतुर्दिशश्च संस्थापयेत् पुष्पविलेपनाद्यानित्यादि ते च मन्दरादयश्चत्वारः तदुक्तं तत्रैव "मेरुर्महान् व्रीहिमयश्च मध्ये सुवर्णवृक्षत्रयसंयुतः स्यात्। पूर्वेण मुक्ताफलवज्रयुक्तो याम्येन गोमेदकपुष्परागैः। पश्चाच्च सारुत्मतनीलरत्नैः सौम्ये च वैदूर्यसरोजरागैः। ब्रह्माथ विष्णुर्भगवान् पुरारिर्दिवाकरोऽप्यत्र हिरण्मयः स्यात्। शुक्लाम्बराण्यं बुधरावली स्यात् पूर्वेण कृष्णानि च दक्षिणेन। वासांसि पश्चादथ कर्बुराणि रक्तानि चैवोत्तरतो घनानीत्यादि तिलादिपु शातकौम्भाम्बरावृतिर्मेरुसादृश्याय बोध्या द्रोणसंख्या चोक्ता खारीद्रोणाढकप्रस्थाः कुडवञ्च पलम्पिचु। शाणको मासकश्चेति यथा पूर्वञ्चतुर्गुणा इति ॥ ३ ॥ विविधदानादियुक्तजातकर्मणो गर्भशोधकस्य प्राकरणिकस्य दृष्टान्तान् दीपकालङ्कारेणाह कालेनेति। कालादिभिर्द्रव्याणि शुध्यन्ति तत्र कालेन दूषितभूम्यादि, स्नानेन देहादि, शौचेनामेध्यलिप्ताङ्गादि संस्कारैर्गर्भादि तपसेन्द्रियादि, इज्यया त्रैवर्णिकं, दानैः प्रतिगृहीतधान्यादि, सन्तुष्ट्या मनः आत्मविद्ययात्मा, जीवः तथा च गर्भशुद्धेः संस्कारहेतुकत्वात् कर्तव्यास्तत्संस्कारा इति ॥ ४ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ ॥ कालेन द्रव्याणि भूम्यादि द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति। स्नानशौचाभ्यां द्रव्याणि देहादिद्रव्याणि शुद्ध्यन्ति। संस्कारैर्द्रव्याणि गर्भादिद्रव्याणि शुद्ध्यन्ति। तपसा द्रव्याणीन्द्रियाणि शुद्ध्यन्ति। भगवज्ज्ञानानुकूल्यानि भवंति। इज्यया द्रव्याणि ब्राह्मणादि द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति। ब्राह्मणादिनिष्ठब्राह्मणादिकं स्थिरं भवतीति यावत्। संतुष्ट्या दानेन द्रव्याणि गवादि द्रव्याणि

शुद्ध्यंति। अभिवृद्धानि भवंति। आत्मविद्यया परमात्मविद्ययाऽऽत्मा जीवः शुद्ध्यति मुक्तो भवतीति विचार्य नियुतगवादिकं प्रादादिति। एतेन कालेनेति पद्यं पूर्वोत्तरपद्याभ्यामनन्वितमिति दूषणं निरस्तम्। आत्मविद्ययेत्यतः परमिति विचार्येति विशेषणमंगीकृत्य गवादिकं प्रादादिति पूर्वेणान्वय इत्यभ्युपगमात्। अत्र कालेनेत्यादि दृष्टांतार्थम्। एतेन नियुतगवादिकं कथं प्रादादित्याशंकापरिहारोपयोगित्वात्संतुष्ट्या दानैर्द्रव्याणि शुद्ध्यंतीत्येव वक्तव्यं न तु कालेन द्रव्याणि शुद्ध्यंतीत्यादि। एति चोद्यं परिहृतम्। कालादिना यथा द्रव्याणि शुद्ध्यंति। तथा संतुष्ट्या दानैर्द्रव्याणि शुद्ध्यंतीति दृष्टांतं वक्तुं कालेनेत्यादिकं प्रवृत्तमित्यूरीकरणात्॥ ४॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

॥ हरिः ॐ॥ कालेनेति। अत्र द्रव्याणीत्यनेनैवात्मलाभे पुनः पार्थक्येनात्मग्रहणमयुक्तमित्यत उच्यते। चेतनोऽचेतनश्चेति भावोऽपि द्विविधो मत इति द्रव्यद्वैविध्यविवक्षया पृथगात्मग्रहणेऽपि नायुक्तता। तथा च क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मन इति कारिकोक्तनवद्रव्याणामित्थं शुद्धिः शूद्रान्नं त्रिदिनैः शुध्येदित्यादिना कालेन पार्थिवभागस्य शुध्या। कालेन क्षितिः सतां स्नानेनापो हरंत्यघं तेंऽगसंगात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिरिति गंगां प्रति भगीरथोक्तेः शौचेन तापादिना संपादितशुध्या तेजोंऽशभूतं सुवर्णादि। तापादिना हेम मलं जहातीत्युक्तेः। संस्कारैः रेचनपूरणकुंभकाद्यैर्मरुत् प्राणरूपो वायुः। प्राणान्संशोध्य यत्नेन पूरककुंभकरेचकैरित्युक्तेः। तपसा। तप आलोचन इति धातोः। ध्यानरूपालोचनेन व्योमः हृदयाकाशः। हृदिस्थैध्ययननिष्ठयेत्युक्तेः। इज्यया। यजपूजादाविति धातोः पूजादिनाऽशौचसंपादकोपरागादिकालः। दानैः। दो अवखंडन इति धातोः। नामंतिकाहितखंडनैरित्यर्थः। दिशः प्राच्यादयः। संतुष्ट्या कामादिभिरनाविद्धं प्रशांताखिलवृत्ति यच्चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचिदिति वचनेन कामाद्यनुपहतप्रशांताखिलवृत्तित्वेन। ब्रह्मदर्शनसुखेनेत्यर्थः। मनो मानसम्। ननु पूर्वमात्मशुद्धिसाधनमुक्त्वा व्यवहितमनःशुद्धिसाधनमुक्तम्। अतो व्यत्ययः कथम्। अत्रोच्यते। अचेतनजातिमद्द्रव्याणां मध्ये एकस्यैव चेतनत्वेन द्विजातीयस्यात्मनो ग्रहणेऽस्वारस्यं मत्वा मनोनंतरमेवात्मग्रहणं युक्तमिति प्रदर्शनार्थमादौ मनःशुद्धिसाधनोक्तिरिति ज्ञेयम्। अध्यात्मविद्यानामिति। विभूतिकथनेन सर्वोत्तमात्मज्ञानार्थकात्मविद्याया आत्मा जीव एतानि द्रव्याण्येते शुध्यंतीत्यन्वयः। एतैः कैरित्याशंकायां कालेनेत्यादि विविच्य दर्शितम्॥ ४॥

पञ्चमाध्यायतो दशमाध्यायस्याष्टाविंशश्लोकपर्यन्तं श्रीछलारीकृतभागवततात्पर्यटीप्पणी नास्ति। (सं.)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ॥ कन्यामादाय विन्यस्य दायादं यथापूर्वमागत्य वसुदेव उदवसिते वसति सति व्रजे गोपव्रजे कथा का प्रवृत्तेत्यतस्तां कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ नन्दस्यानन्दतुन्दिलतया जातपोतजातकर्मादिप्रवर्तनं कथयति श्रीशुकः। तुशब्द आन्तरङ्गिकसर्वविशेषसूचकः। जात आह्लादो यस्य स महामना महन्मनो यस्य स मनस्वी वेदज्ञान्वेदज्ञानिना न प्रथाभात्रेण तदा करणं किन्तु यान्स्वयं ज्ञान् जानातीति ज्ञास्तान्वेद तान्विप्रान्नाहूयेति वाऽलङ्कृतस्तथा च याज्ञिकाः स्वयमलङ्कृत्येति वदन्ति॥ १॥ स्वस्त्ययनं पुण्याहवाचनं ॐ पुण्याहं ॐ पुण्याहमिति वदन्ति तद्वाचयित्वा तथा पितृदेवार्चनं पित्रोर्मातृदेवो भव पितृदेवेत्यादिनाऽर्घ्यमादिवृद्धपितृपितामहादीनां देवाद्यर्चनं विधिना कारयामास जातकर्म च कारयामास। वैशब्दोऽनन्तनामाऽप्यनन्तोऽनुनयेन स्वीचकार कारुणिक इति द्योतकः। वै अनुनयेऽपि चेति विश्वः॥२॥ नियुते द्वे लक्षे समलङ्कृते सुन्दरपादसुवर्णशृङ्गरूप्यखुरेत्याद्युक्तालङ्कारसहिते। समलङ्कृत इति पाठस्तु न सरलः। अनुपदं शुचिरलङ्कृत इत्युक्तेः। तथाऽपि वित्तवितरणे तस्य शक्ततां सम्यगलं पूर्णत्वेन कृत इति वा सम्यगलं फलपर्यवसायि कृतं कर्म यस्य स इति वा बाधयति तदिति ज्ञेयम्। अन्तरा मध्ये शातकुम्भानां सुवर्णराशीनां स्थापितानामावृतमावरणं स्वैर्येषां तान्सप्ततिलाद्रींस्तिलपर्वतान्पर्वताकारेण स्थापितांस्तिलानित्यर्थः। रत्नौघांस्तत्सङ्घान्विप्रेभ्यः प्रादात्॥ ३॥ स्नातशुचिरित्यादिप्रसङ्गसङ्गत्येयतां वस्तूनामियतां साधनेन शुद्धिरित्याह। कालेनेति। कालेन भूम्यादिकं देहादिस्नानेनास्पृश्याङ्गस्पर्शादिशौचेन गर्भादिकं संस्कारैस्तपसेन्द्रियादीज्यया यागेन ब्राह्मणादिदानैर्द्रव्याणि। बहुवचनेन शुद्ध्यर्थो अत्रोक्ता द्रव्यपदेनापि ग्राह्या इति सूचयति। सन्तुष्ट्या प्रतिग्रहीतृविप्रादिसन्तोषेणापि द्रव्यस्य शुद्धिर्ज्ञेयेति ज्ञेयम्। दातुरपि सन्तुष्ट्यर्थः। विना तोषं वितरणे न फलमिति भावः। आत्मा मन आत्मविद्यया भगवदवगमेनेति द्रव्याणि शुद्ध्यन्तीत्यकृतविवरणं नन्द इति भावः। आत्मविद्ययेत्युपसंहारेण तन्मुख्यतायां सत्यां तस्यां मुक्तसाधने सत्यसति च शुद्धिकाऽभिप्रेतीति च ज्ञेयम्॥ ४॥

श्रीसुबोधिनी

एवं चतुर्भिरध्यायैर्जन्म विष्णोर्निरूपितम्। हेतुद्यमोत्तराङ्गैश्च राजसादिगुणैर्युतम्॥ १॥
सप्तसप्ततिभिः कृत्यं हरेरत्र निरूप्यते। भगवान् स्वेन धर्मैश्च सप्तषंकादशेन्द्रियैः॥ २॥
कृत्यं चकार यस्माद्धि ततस्तावद्भिरुच्यते। त्रिविधानि च कर्माणि त्रिविधानां हिताय हि॥ ३॥
तत्त्वातिक्रमणे रोधस्तामसे राजसे भवेत्। कालातिक्रमणे शिष्टे कालस्तत्रैकविंशतिः॥ ४॥

"द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" इतिश्रुतेः
लौकिकेषु तु धर्मेषु यत्रैव हरिवेशनम्। निवर्तते तथैवात्र वह्निर्दारुमयं यथा ।। ५ ।।
स्वभावस्यान्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन । अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः ।। ६ ।।
लौकिकं तामसे मुख्यं कामान्ता च कृतिः स्फुटा । कामोद्भूते तथाप्रीतिस्तेनादौ तन् निरूप्यते ।। ७ ।।
बाललीला मध्यलीला प्रौढलीला तथैव च । कामलीलेति लोके वै चतस्रः सुखदाः स्मृताः ।। ८ ।।
एकं भागवतः कार्यं बह्वर्थानां च साधकम् । प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च वर्ण्यते ।। ९ ।।
येनैव त्रिविधा भक्ता न स्मरन्ति जगत् क्वचित् । कृष्णे च सन्नतात्मानस्तत् कार्यं भगवत्कृतम् ।।१०।।
बाललीला सप्तविधा प्रथमं सा निरूप्यते । बालभावरता ये हि तेषां रोधस्ततो भवेत् ।। ११ ।।
उत्सवाविष्टचित्ता ये येप्याश्चर्याभिवेशिनः । अलौकिकरता ये च य चोपद्रवणोत्सुकाः ।। १२ ।।
स्त्रीस्वभावरता ये वै ये च तत्त्वे च लौकिके । सर्वोद्योगपरा ये च तेषां रोधो निरूप्यते ।। १३ ।।
जन्मोत्सवो हरेरत्र पञ्चमे विनिरूप्यते । आवश्यकं परित्यज्य कृतं तदिति चोच्यते ।। १४ ।।
अन्यथाज्ञानशङ्का च तेनैव विनिवार्यते । उत्सवस्त्वन्यथा न स्यात् द्रव्यानयनमेव च ।। १५ ।।
आसक्तिबोधनार्थाय तस्यान्ते भयवर्णनम् ।। १५½ ।।

पूर्वं "यशोदाशयने सुतं निधाय तत्सुतामादाय गृहानगा"दित्युक्तं, "जातं परमबुध्यत" इति च, ततो मायायां निर्गतायां यशोदा प्रबुद्धा पुत्रं ज्ञातवती, ततः सर्वेषु यदासीत् तदाह **नन्दस्त्वात्मज** इति, पितुः पुत्रः, अतो नन्दो जातकर्म कारयामासेतिसम्बन्धः, तुशब्दः पूर्वकथां व्यावर्तयति शङ्कां च व्यावर्तयति, तदाह **आत्मज उत्पन्न** इति, यस्य यथा प्रतीतिस्तथैव शुकेनानूद्यते, भगवता तथैव तेषां बुद्धेः सम्पादनात्, अन्यथा तद् भगवच्चरित्रं न स्यात्, अत **आत्मनः** सकाशाज्जातः पुत्र एवायमिति नन्दस्य बुद्धिः, तदाह **आत्मज उत्पन्न** इति, वासुदेवोत्रैवाविर्भूत इति सिद्धान्तः, अन्यथा केवलमायाजनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत् सिद्धवत्कारेण च शुको न वदेत्, अन्तःकरणप्रतीत्यापि पुत्रोयमिति निश्चयार्थमाह **जाताह्लाद** इति, यद्यपि पुत्रजन्मज्ञान एवाह्लादस्तथाप्यन्यथाज्ञानमपि भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं जन्मैव निमित्तत्वेनोक्तं, रूपान्तरेपि स्त्रीकृतेनुभावो वर्जनीयो भवत्येव, अतः प्राकृतोपि **नन्दो महामना जातः**, प्राकृतानामल्पमेव मनो भवत्यल्पकार्यकारि, महत् महत्कार्यकारि मनो यस्य महान्तमुत्सवं करिष्यामीति, सोपि विधिपूर्वकं कर्तव्य इति ब्राह्मणाकारणं कृतवानित्याहाहूयेति, विशेषेण प्रान्तीति तेषां पूरकत्वमुक्तं, अन्यथार्थनाशकत्वेन ते निन्दिताः स्युः, उत्सवे तेषामाकारणे हेतुमाह वेदज्ञानमिति, "यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ती"ति श्रुतेः, सर्वदेवतासान्निध्ये हि महानुत्सवः, तत्र विहितानि कर्माण्याह **स्नात** इत्यादि, स्नानं नैमित्तिकं, सूतकसम्भावनायामाह **शुचिरिति**, अन्यामपि शुद्धिं सम्पादितवान्, **अलङ्कृत** इति, अलङ्करणं शुभसूचकं, विशिष्टालङ्कार उत्सवः सर्वजनीनो भवति ।। १ ।। सर्वकर्मस्वादौ **स्वस्तिवाचनं**, **जातकर्मेति** कर्मनामधेयं, क्षत्रियवैश्ययोरन्यद्वारा कारणं, विधिः पुरोहितशाखानुसारेण, **आत्मजस्येति** पुत्रे यो विधिः, भगवान् स्वस्मिन् पुत्रत्वं प्रकटितवानिति वैदिककर्मणां सार्थकत्वं गार्भिकबैजिकदोषाभावकीर्तनं च तथैव, नैमित्तिको वात्मसंस्कारपक्षः, भगवच्चरित्रमेवेदमितिसिद्धान्तः, **पितृदेवार्चनं** नान्दीश्राद्धं, तथा विधानपूर्वकं युगलेन संस्कारनिरूपणं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वाय ।। २ ।।

"महामना" इतिविशेषणस्य कृत्यमाह **धेनूनामिति**, **नियुतं** लक्षं लक्षद्वयमपि प्रत्येकमलङ्कृतं, भगवत्सान्निध्याद् द्रव्यक्रियाणां न परिक्षयः, **विप्रेभ्य** इति समुदायेन दानं, सङ्कल्पमात्रव्यावृत्त्यर्थमाह **प्रादादिति**, विशेषेण पूरकत्वान्नास्यापि परिक्षयः, **तिलाद्रीनिति** तिलपर्वतान्, **रत्नौघानिति** पृथक्, **रत्नानामोघः** समूहो येष्विति वा, **शातकौम्भेन** सुवर्णेनाम्बरैश्चावृतान्, अन्नेषु तिला मुख्याः, "गावो हिरण्यं वासांसि तिला रत्नानि चे"तिपञ्चानां दानं, **सर्वाण्येव** सर्वदैवत्यानि ।। ३ ।।
बहु दत्तमितिशङ्कां वारयितुं तस्य ततोपि बह्वस्तीति वदन् शुद्ध्यर्थमपि तेनैतावद् दातव्यं भवतीति वदन् समानैरन्यैः कालादिभिः सह द्रव्यं निरूपयति **कालेनेति**, कालादिना प्राणिनः सर्वे शुध्यन्ति, नव शोधकानि, तत्र कालो मुख्यः सर्वं कालोद्भवमिति, उत्पन्नः पुत्रः शतं वर्षाणि जीवति, तत्र दश दिनानि षट्त्रिंशच्छतानामेको भागो भवति, सम्पूर्णे काले तावान् कालस्त्वशुद्धः, एवं द्रव्याण्यपि ज्ञातव्यानि, जननादौ **कालेनैव** शुद्धिर्न स्नानादिना, वंशशुद्धिजनकः कालः, स्नानं सम्पूर्णदेहशोधकं, **शौचमेक**देशस्य, लौकिकव्यवहारार्थं त्रिधेयं शुद्धिः, अदृष्टायुत्पत्त्यर्थं त्रिधा शुद्धिमाह, **संस्कारैर्जातकर्मादिभिर्देहो** वैदिककर्मार्थं संस्कृतो भवति, एतेषां भूतसंस्कारकत्वमेव, **तपस्त्वन्तःकरणशोधकं**, अदृष्टोत्पत्तिद्वारेति केचित्, **इज्या** यागः, तेन भगवान् सन्तुष्यति, एवमाधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्याधिदैविकस्य संस्कारकर्माणि त्रीणि निरूपितानि, एवं षड्विधैरपि सर्वे शुध्यन्ति, बहिःशुद्धिमाह **दानैरिति**, **दानैर्द्रव्याणि शुध्यन्ति**, दानव्यतिरेकेण द्रव्याणां न शुद्धिः, वित्तानुसारेण च दानं, अतो लक्षद्वयदानं गवां शुद्ध्यर्थमेव, अल्पानि प्राप्तानि **सन्तुष्ट्या शुध्यन्ति**, अतो द्रव्यशुद्धौ द्वयमुक्तं, **आत्मा** तु जीवः, **आत्मविद्ययैव शुध्यति** "सोऽहमस्मी"त्यादिरूपया ।। ४ ।।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पञ्चमाध्याये प्रकरणार्थसन्दर्भे, स्वभावस्येति। भक्तस्वभावानुसरणे भगवतः परमदयालुत्वं भक्तिमार्गोत्कर्षश्च सिध्यति। तदन्यथाकरणे क्लिष्टकर्मत्वं स्यादनेकविधत्वं रसालता च लीलाया न स्यादिति भावः। सात्त्विकं 'विहायादावेव तामसप्रकरण-निरूपणेऽस्य तामसत्वेनोक्तौ च हेतुमाहुः **लौकिकं तामस** इति। इदमत्र आकूतम्। पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलं, नेतरदिति हि भक्तिमार्गे मुख्यः सिद्धान्तः, तत्सम्बन्धादेव अन्यत्र फलत्वोक्तिः। एवं सत्यत्र स्वभावान्यथाकृत्यभावेन सात्त्विकानां ज्ञानादि-विहितमार्गरुच्या राजसानां च विक्षेपतो लौकिकालौकिककर्मण्यासङ्गेन स्वरूपविस्मृतिसम्भवेन सम्यग्निरोधासिद्धिः, तामसानां तु मौढ्यात् यत्राग्रहः पतति तत्र स न गच्छति कथञ्चनेति लोके दृश्यते। व्रजवासिनां च भगवत्स्वरूपविषयकः स्नेहस्तादृशो जातो येन स्वरूपातिरिक्तस्य भगवदुक्तस्यापि धर्मस्यानङ्गीकारो भूत्वैवाग्रेतनज्ञानस्यापि। तेन सर्वात्मना निरोध एतेष्वेव फलित इत्येतद्धर्मसाम्येन पुष्टिमार्गस्य मर्यादातो विपरीता गतिरिति ज्ञापनाय च तामसत्वं प्रकरणस्योच्यते। वस्तुतस्तु निर्गुणमेव। 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यारभ्य 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति भगवद्वाक्यात् 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति वाक्यात्तत्साध्यमोक्षस्यापि नरकतुल्यत्वेन गणना, अतोपि भक्तिमार्गाद् ज्ञानमार्गस्य हीनत्वमिति भगवदेकनिष्ठविशुद्ध-भाववतां सर्वाधिकत्वं शास्त्रसिद्धमिति दिक्। एतदेव लौकिकत्वं तामसे मुख्यमिति पदेनोच्यते। व्यापकत्वेनात्मत्वेनान्तर्हृदि हरिरस्त्येवेति श्रवणेपि बहिर्लोके प्रकटं यद्रूपं तदेवोक्तरीत्या मुख्यमत्र, नान्तरात्मादिरूपमित्यर्थः। मर्यादामार्गतो वैलक्षण्यात् स्त्रियोऽत्र मुख्या इति ज्ञापयितुं तत्रापि मर्यादायां यो मुक्तिप्रतिबन्धकत्वेन सम्मतः कामः स एवात्र भगवत्प्रापक इति च ज्ञापयितुं काम एवान्तःफलं यस्यास्तादृशी सेत्यर्थः। अत्रासम्भावितत्वभानं न कार्यम्, यत एतादृश्येव कृतिरग्रे स्फुटा निरूपयिष्यत इत्यर्थः। किञ्च, मर्यादायां विहितभक्त्या भगवदाविर्भावः, अत्र तु कामवशादेव दैन्ये सति प्रकटे प्रभौ स्नेहः, सोपि तथा, तच्छास्त्रानुसारी, न तु विध्यनुसारीत्यर्थः। 'एका भ्रुकुटिमाबध्ये'त्यादिकथनात्। तथा चात्र निःसाधनेभ्यो ब्रह्मादीनामपि साधनैरप्यप्राप्यं भजनानन्दं तदधीनत्वमङ्गीकृत्य दत्तवानिति सर्वोत्कर्षवत्त्वेन तत्तथेत्यर्थः। यद्वा, अग्रे गजदृष्टान्तदानैर्भगवान् स्वयं कामवशाद्भक्तानां समीपमागच्छतीति ज्ञाप्यते। तथा चोक्तरीत्या कामेनोद्धते प्रिये स्नेह इत्यर्थः। न ह्येवमन्यत्र सम्भवतीति युक्तमादौ तत्कथनमिति भावः। लौकिकसारूप्येण चतुर्विधलीलाकरणे लौकिकत्वेन भगवति ज्ञानवतां निरोधासिद्धिरित्याशङ्क्याहुः **एकमिति।** यथैकेन पूतनास्तनपयःपानेन लोके वीर्यप्राकट्यं, तस्याश्च मुक्तिः, प्रमेयबलप्राकट्यं लोके वेदे च, पूर्वभक्षितानां बालानां कृतार्थता, अन्येषां च रक्षा, 'तोकेनामीलिताक्षेणे'तिवाक्यादग्रे व्रजवासिनां माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहस्तात्कालिकश्च विस्मयोन्येषां श्रवणादिफलं चेत्याद्य-नेककार्याणि जातानि, तथा सर्वापि लीलेत्यर्थः। एवं सति प्रतिपाद्याननुगममाशङ्क्य तदनुगमकं रूपमाहुः **प्रपञ्चे**ति। आसक्तिरत्र मुख्या, तद्विस्मृतिरङ्गम्, तया विना सर्वथासक्त्यसम्भवात्तथा च निरोधत्वमेव तथेत्यर्थः। नन्वत्र बलदेवादिकार्यमप्युच्यत इति न सर्वा भगवल्लीलेत्याशङ्क्याहुः **येनैवेति।** आविष्टचरित्रमिति भावः। अन्यथा निरोधः तेनापि न स्यात्। अत एव 'बलपार्थभीम-व्याजाह्वयेन हरिणेति ब्रह्मणोक्तम्। एवं सति प्रपञ्चविस्मृतिरित्यनेनैवास्य श्लोकस्य गतार्थतेति शङ्का निरस्ता ज्ञेया। पूर्वं प्रतिपाद्यत्वे-नात्र तु परिचायकत्वेन तदुक्तेः। उत्सवाविष्टेत्यादिना क्रमेणैतत्प्रकरणस्थाध्यायप्रतिपाद्यनिरोधाधिकारिण उक्ताः। समुच्चय एवास्य, न त्वेतन्मात्रत्वम्। भगवदासक्तानां तत्सम्बन्धमात्रेण सर्वासां लीलानां हृद्यत्वात्। आद्ये स्पष्टम्। तृतीये 'नन्दादयश्चाद्-भुतदर्शनाकुला' इति वाक्यात्। 'अहो बतात्यद्भुत'मिति 'मानयामास विस्मित इति च। 'आसीत् सुविस्मिते'ति च वाक्यैराश्चर्या-भिनिवेशिनो निरुद्धाः। तुरीयेध्याये शास्त्रे पुरुषोत्तमनामत्वेन प्रसिद्धानि कृष्णवासुदेवादिनामान्यत्र कृतानीत्यलौकिकम्। गर्गेण स्पष्टतयोक्तेपि नन्दाबोधोपि तथा। अलौकिकत्वेन ज्ञात्वा तेषु नामसु ये रतास्तेऽतः परमस्यैवेतानि नामानीति ज्ञात्वास्मिन्निरुद्धा भविष्यन्तीति च। रिङ्गणलीलाप्यलौकिकरीत्या दैत्यनाशनपूर्वकभक्तेष्टदेति तथा। लोके हीनत्वापादकत्वं चौर्यं भगवत्युत्कर्षाधायकं निरोधसाधकत्वादेवमपि भक्तमनीषितकरणाच्चालौकिकत्वम्, मृत्स्नाभक्षणं, तत आस्ये विश्वदर्शनं शरणागतिर्महदनुग्रहश्चे ति सर्वम-लौकिकमिति तादृशानामेतच्छ्रवणेन निरोधः सेत्स्यतीति तथा। पञ्चमे दधिभाण्डभेदनादिकं लोकदृष्ट्योपद्रावकमिति तथा। अग्रिमा लीला स्वभक्तोपद्राविका चेति। षष्ठे नलकूबरमणिग्रीवौ स्त्रीस्वभावरताविति तत्कथा तथा। स्त्रियश्च स्वभावश्च राजसतामसादिस्तयो-रता इत्यर्थः। नात्र क्रमो विवक्षित इति। अतःपरं द्वितीयाध्यायतात्पर्यमुच्यते। तत्रादौ हरिशरणगमनेनैव भयनिवृत्तिरिति तत्त्वम्। अनधिकारिमुक्त्युक्त्या प्रमेयबलतत्त्वं चोच्यते। रक्षाकरणेन स्वामिनीनां च तत्त्वमलौकिकत्वतादृक्स्नेहवत्त्वादिलक्षणम्। हरौ रक्षाकरणं लोकरीत्येति लौकिके तत्त्वे रतास्तथा। सप्तमे वृन्दावनावासपर्यन्तं महानेवोद्यमो निरूपितो 'गोपीभिः स्तोभित' इत्यादिना। अग्रे च लीलोद्यम उक्त इति तथा। अथवा। यथाक्रममेव निरूपणं ज्ञेयम्। तथाहि। पूतनाया आगमनप्रकारागमनभगवत्कर्मकग्रहण-पूतनाकर्मकमारणप्रकारतद्दोषानाक्रमणतन्मुक्तितत्सहजरूपतद्दाहगन्धादयः सर्वं आश्चर्यरूपा इति तादृशानां निरोधः। तृतीये स्वोत्सवार्थमपि लौकिकप्रवाहधर्मासक्त्या स्वविस्मृतौ प्रकारान्तरेणास्मरणे शकटं भङ्क्त्वा मातुर्निरोधकरणमलौकिकम्। तस्य वैपरीत्येन तथात्वमपि तथा। प्रवालमृद्वङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण तथाकृतिरपि तथा। अकस्माद्गुरुत्वप्रकटनमारभ्य कुशलेनागमनपर्यन्तं सर्वमलौकिकम्। जम्भालीलायां तथात्वं स्पष्टम्। उक्तत्रिविधलीलायामाश्चर्यरूपत्वमप्यस्तीति तादृशानामप्यत्र निरोध इति समुच्-

यार्थोपिशब्दः। तथाप्यलौकिकत्वं मुख्यमिति पृथक्त्वम्। चतुर्थे चौर्यादिलीलाया लोकप्रतीत्योपद्रावकत्वमिति तथा। नामरूपादेरलौकिकत्वेनोक्तनिरोधस्यापि समुच्चयार्थश्च। पञ्चम आवश्यकत्वज्ञानेन दास्याद्यभावे स्वयमपि कर्मकरणम्। पुत्रे च शिक्षार्थं तथा करणं स्त्रीस्वभावः। षष्ठे नारदोक्तिभिर्लौकिकतत्त्वम्। परमार्थतस्तत्त्वं स्तुत्येत्युभयत्र रतास्तथा। सप्तमे मन्त्रणपूर्वस्थानत्यागापूर्वतत्परिग्रहतत्रगमनाद्युद्यमोक्तेस्तादृशास्तथेति। अत्रोक्ताधिकारिणा यथासम्भवं लीलास्थास्तदन्ये च ज्ञेयाः। सप्तस्वप्यध्यायेषूक्तासु लीलासु सप्तविधा अपि यथासम्भवमधिकारिण इति ज्ञेयम्. आवश्यकमिति। तदनन्तरमेव शीघ्रं करदानार्थगमनोत्कयेति शेषः। यदि केनाप्यंशेन नन्दो वसुदेवागमनं जानाति तदाकाशवाणीवृत्तान्तज्ञत्वेन सञ्जातवृत्तान्तशङ्कया स्वपुत्रत्वे सन्दिहान एव वोत्सवं कृतवानिति कस्यचिच्छङ्का स्यात् सापि तदैव मथुरागमननाशक्तेत्याहुः अन्यथाज्ञानेति। उपपत्त्यन्तरमाहुः उत्सवस्त्विति। यथाकथञ्चिद्गमनसम्भवेऽप्युत्सववस्तु स्वपुत्रत्वनिश्चयं विना न स्यादित्यर्थः। नन्दः स्वपुत्रमादायेत्यत्रोदारधीरिति विशेषणसूचितं महार्हानेकविधभगवदुपयोगिद्रव्यानयनं चान्यथा न स्यादित्याहुः द्रव्येति। यद्यपि भ्रमप्रमासाधारणं तथाज्ञानमात्रमेवाह्लादहेतुस्तथापि महतामन्तःकरणमतथाभूतं वस्तु न गृह्णातीत्याशयेनाहुः अन्तःकरणमतीतश्चापीति।

अलङ्कृत इत्यस्याभासः। अन्यामपि शुद्धिमित्यादि। अत्रायं भावः। बाह्याभ्यन्तरभेदेन शुद्धिर्द्वेधा। एतत्तारतम्येन भगवदानन्दानुभवतारतम्यमिति मर्यादा। प्रकृते चोत्सवरसानुभावकमलङ्करणमिति तथात्वमिति॥ १॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथ पञ्चमाध्यायं विवरिषवः पूर्वप्रकरणस्य समाप्तत्वादुत्तरस्य प्रारप्स्यमाणत्वात् पूर्वप्रकरणसङ्गतिं वक्तुं प्रथमप्रकरणार्थमनुवदन्त्येवमित्यादि, एवमित्यग्रिमनिरूपणकारणत्वेन, तथा च हेतुत्वमत्र सङ्गतिरित्यर्थः; ननु जन्मनिरूपणं हि तृतीयाध्याय एव तथा चान्यत्रापि जन्मनिरूपितमितिकथनमयुक्तं तत्राहुर्हेतूद्यमेत्यादि युतमित्यनेनान्वेति, उत्तराङ्गं कापट्यं, तथा च हेतूद्यमौ जन्मनः पूर्वाङ्गं कापट्यं तूत्तराङ्गमितिप्रधानाङ्गाभ्यां जन्मैव तत्र निरूपितमिति न दोषः, यद्वा 'प्रद्युम्नश्चानिरुद्ध' इत्यादिपूर्वोक्तदिशा प्रत्यध्यायं जन्म निरूपितमेवेत्याहू राजसादीति, राजसपदेन राजसभक्ता आदिना तामसा सात्त्विकाश्च गुणा ऐश्वर्यादयः, तथा चाग्रे राजसादिभिर्गुणैर्युक्तं यद्यत् स्वरूपं निरूप्यं तत्तदेकैकस्मिन् भिन्नंभिन्नं जनितं निरूपितमिति चतुर्ष्वपि जन्मकथनमुपपद्यत इत्यर्थः, न चैवं सति पुरुषोत्तमजन्म कुत्रापि नोक्तमित्यायातीति वाच्यं 'जायमानेजने तस्मि'न्निति 'सिञ्चन्त्योजनमुज्जगु'रितिवाक्याच्च तज्जन्माभावस्येष्टत्वात्, न च जन्मानुपपत्ति 'रजायमानो बहुधा विजायत' इति श्रुत्या व्यूहजन्मनैव पुरुषोत्तमजन्मनोङ्गीकारादिति न काचिदनुपपत्तिरत एव कारिकायां विष्णोरित्युक्तं, एतेन प्रकरणचतुष्टयेप्युपजीव्यत्वात् तन्निरूपणं पूर्वमुचितमितिभावः, यद्यप्युपजीव्यं पूर्वं निरूप्यमेवेति न नियमस्तथापि राज्ञावतीर्णस्य वीर्याणि पृष्टानि तानि च नावतारनिरूपणात् प्राङ् निरूपयितुं शक्यत इति, अत्र तु नियम एवेत्यर्थः, एवं प्रकरणसङ्गत्यर्थं पूर्वप्रकरणार्थं निरूप्य प्रस्तूयमानस्य प्रकरणस्यार्थमाहुः **सप्तेत्यादि**, अत्रेति सप्तसप्तत्यात्मके महाप्रकरणे, **सप्तसप्ततिभिर्निरूपणे** किं बीजमत आहुर्**भगवानित्यादि**, गुणप्रकरणे तु धर्मैरेव लीलां कृतवानिति तत्र षडेवाध्याया इति भावः, ननु भवत्वेवं **सप्तसप्ततिभिस्तथापि** भगवान् निर्गुणः किमर्थं राजसादिभावेन लीलां कृतवानित्याकाङ्क्षायां सप्तसप्तत्यावान्तरप्रकरणानि विभक्तुमुपोद्घातेनाहुस्**त्रिविधानीत्यादि**, ननु यद्येवं तर्हि प्रत्यवान्तरप्रकरणं पञ्चविंशतिरञ्चविंशत्यध्याययोगे पञ्चसप्ततिर्भविष्यति न तु सप्तसप्ततिरित्याकाङ्क्षायामवान्तरप्रकरणेषु न समानः कर्मविभाग इति बोधयन्तः सप्रयोजनं तद्विभागप्रकारं पादत्रयेणाहुस्तत्त्वेत्यादि, **शिष्ट** इति सात्त्विके, तर्हि **कालातिक्रमणे** किमित्येक**विंशति**रित्याकाङ्क्षायां कालस्य तत्सङ्ख्याकत्वं सप्रमाणमाहुः **काल** इत्यादि, **तत्रेति** तस्मिन् प्रकरणे, तथा च भगवन्मते तत्त्वानामष्टाविंशतिसङ्ख्याकत्वाच् छ्रुतौ च कालस्यैक**विंशति**सङ्ख्याकत्वात् तत्तदतिक्रमे तेषां तेषां निरोधः सिध्यतीति तत्तत्प्रकरणे तावन्तस्तावन्तोध्यायास्तत्तदतिक्रमजनककर्मबोधका इत्यतः **सप्तसप्ततिरित्यर्थः**, ननु तत्त्वकालसङ्ख्याकाभिर्लीलाभिः कथं तत्तदतिक्रम इत्याकाङ्क्षायां तत्प्रकारमाहु**र्लौकिकेष्वित्यादि**, तथा च यथा काष्ठस्थितो वह्निर्न तद् दहति तत उद्गतस्तु पुनस्तत्र प्रविशंस्तद् दहत्येवं लौकिकेषु तत्त्वकालादिषु यत उद्गत्य **यत्रैव हरिप्रवेशनं तदेव स्वपूर्वरूपान् निवर्तते** भगवद्रूपं भवति भगवत्कार्यमेव करोतीत्ययं प्रकार इत्यर्थः, ननु भगवतो जीवस्वभावान्यथाकरणसामर्थ्ये सत्यपि **भगवान् निर्गुणो** भक्तानुरोधेन **त्रिविधानि कर्माणि** कुतः कृतवानित्याकाङ्क्षायामाहुः **स्वभावस्येत्यादि**, तदेतट् टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **स्वभावस्येत्यादि**, सुबोधिन्यां **तामसप्रकरणे** प्रमाणप्रमेयसाधनफलभेदेन प्रकरणचतुष्टयमस्तीति ज्ञापयितुं तत्प्रकरणप्रतिपाद्यानर्थानाहु**र्बाललीलेत्यादि**, अत्रैव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेन टिप्पण्यामाहु**र्लौकिकेत्यादि** **तदुक्तेरित्यन्तं**, सुबोधिन्यां बाललीलायाः सप्तभिर्निरूपणे प्रयोजनमाहु**र्बाललीलासप्तेत्यादि**, **बालभावरतानां** कथ **सप्तविधत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुरुत्सवेत्यादि**, तदाशयं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्त्युत्सवाविष्टेत्यादि, तत्तदध्यायावान्तरार्थानुरोधेन पक्षान्तरमाहुः **समुच्चय** इत्यादि, अत्र **क्रमो न विवक्षित** इति द्वितीयाध्यायार्थस्य वक्ष्यमाणत्वात् तमनुक्त्वा तृतीयाध्यायार्थमाहुस्तृतीय इत्यादि, यद्यप्यत्राध्यायावान्तरार्थानुरोधेनात्रैव समुच्चयकथनं युक्तं तथाप्याचार्योक्तः क्रमस्तु बाध्येतैवेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरथ वेत्यादि **ज्ञेयमित्यन्तं**, एवं सामान्यतः प्रमाणप्रकरणीयाध्यायार्थ उक्तो विशेषतस्तु तत्तदध्याये वक्तव्य इति प्रथमाध्यायार्थमाहुर्जन्मेत्यादि-

सार्धाभ्यां, अत्रेति प्रमाणप्रकरणीयप्रथमाध्याये, **पञ्चम** इति स्कन्धस्यादित इत्यर्थः, **आवश्यकमित्यारभ्य द्रव्यानयनमेव** चेत्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुरावश्यकमितीत्यादि, नन्वेतावता श्रीनन्दस्य मनसि तथाशङ्का नास्तीत्यागतं परं **वसुदेवः** कथं जानीयाच्छ्रीनन्दो मत्सुतं न जानातीति तत्राहुरासक्तीत्यादि, **श्रीनन्दस्य** स्वपुत्रत्वनिश्चयेन या **परमासक्तिस्तस्या** यद् बोधनं ज्ञानं **तेन योर्थो** निश्चिन्तता स्वकृत्यज्ञानरूपा वसुदेवस्य तन्निमित्तं **तस्यान्ते** संवादान्ते वा **भयवर्णनमित्यर्थः**, अयमाशयः, यद्ययं श्रीकृष्णे स्वपुत्रत्वेनैव ज्ञानवान् भविष्यति तदायं भयकथने झटिति गमिष्यत्यन्यथा तु नेति तदर्थं तथा, यद्य'प्येकावशिष्टे'ति वाक्ये श्रीनन्दैर्निःसन्दिग्धं निरूपितं तथापि स्थूणाखननन्यायेनेदमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥

नन्दस्त्वात्मज इत्यत्र **पितुःपुत्रेत्यादि**, श्रीनन्दो हि पितुः स्वपितुः पुन्नाम्नो नरकत्राणेन **पुत्रो** भवति तस्मात् त्राणं च पुत्रोत्पादनेनातः पुत्रोत्पादनात् तथेत्यर्थः, ननु शुकः 'सर्वज्ञो भगवन्तमजनं' जानातीति कथमत्रात्मजपदं प्रयुक्तवानितिशङ्काया-माहुर्यस्येत्यादि, तथा चाजनत्वं भगवतो जानन्नपि तद्बुद्ध्यनुरोधेन तस्याश्च भगवच्चरित्रत्वेन **शुकस्तथोक्तवानित्यर्थः**, ननु भवत्वेवं तथाप्यजनत्वं **जानन्नुत्पन्न** इति किमित्युक्तवानित्यत आहुर्वासुदेव इत्यादि तथा चात्र **वासुदेवप्राकट्यात्** तथोक्तवानि-त्यर्थः, यद्यपि निबन्धे वसुदेवहृदि **वासुदेवप्रादुर्भावः** प्रथमाध्यायार्थत्वेनोक्तस्तथाप्यत्र तु **बहिरितिविशेषः** तत्र गमकमाहुरन्यथे-त्यादि, न वदे **'दुत्पन्न'**। इति न **वदेत्**, तथा चैतदुभयान्यथानुपपत्त्या प्रादुर्भावेवश्यंवक्तव्ये स कस्येतिचिन्तायां वंशसम्बन्ध-स्यात्रादर्शनाच्छत्रुहननधर्मरक्षयोश्चात्र कादाचित्कत्वादत्र यस्यैकं मोक्षभक्त्योर्निरूपकं चरित्रं स **वासुदेवव्यूहोत्रेवाविर्भूत इति सिद्धान्त** इत्यर्थः, **टिप्पण्यां जाताह्लादपदाभासतात्पर्यं** वक्तुमाहुर्यद्यपीत्यादि, **सुबोधिन्यां ननु पुत्रस्ते जात** इत्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानोत्तरमेव लोक आह्लाददर्शनादत्रापि तज्जन्मज्ञानस्यैवाह्लादहेतुत्वं वक्तव्यं न तु जन्मन इत्याकाङ्क्षायामाहुर्यद्यपीत्यादि, तथा चाह्लादं प्रति ज्ञानस्य हेतुत्वेपि तस्य भ्रमत्ववारणाय तथोक्तमित्यर्थः, **प्राकृत** इति ग्रामीणः, तदुपपादयन्ति **प्राकृतानामित्यादि**, शुचिरिति सूतकस्य सम्भवेपि नालच्छेदात् पूर्वं जातके शुचित्वस्य स्मृत्या बोधनात् तथेत्यर्थः, टिप्पण्या**मन्यामपीति**वाक्यस्य **स्वरूपं** तात्पर्यं चाहुरत्रायमित्यादि ॥ १ ॥

सुबोधिन्यां **वाचयित्वेत्यत्र सार्थकत्वमिति**, अन्यथा तद्बोधकवेदस्य भगवत्परत्वाभावे "सर्वे वेदा यत्पद''मितिश्रुतिर्वि-रुध्येतातस्तथेत्यर्थः, **तथेवेति** भगवल्लीलया पुत्रत्वमेव, नन्वेवं भगवति **गार्भिकादिदोषसम्बन्धकथने** पूर्वग्रन्थविरोधः स्याच्छ्रवण-कटुत्वं च भासेतेति तदभावार्थं पक्षान्तरमाहुर्नैमित्तिक इत्यादि, ननु तथा सति तु **कर्मणां सार्थकता** न स्यादत आहुर्भगवदिति, **आत्ममायया सर्वं कृतवानिति** तथा, अन्यथा परमार्थरूपे भगवति का वा माया स्यादतो **भगवच्चरित्रमेवेदमुक्तम्** ॥ २ ॥

धेनूनामित्यत्र द्रव्यक्रियाणामिति द्रव्यस्य तज्जनितानामलङ्करणक्रियाणां, **अस्येति** दानस्य ॥ ३ ॥

कालेनेत्यत्र समानैरिति श्रीनन्दमाहात्म्यख्यापकत्वेन शोधकत्वेन च तुल्यैः, तथा च द्रव्यनिरूपणे शोधकान्तरसामाना-धिकरण्यं यत् तदेवागतद्रव्यशुद्ध्यर्थ**यद्दानस्य** लिङ्गमित्यर्थः, कालस्य प्रथममुक्तौ हेतुमाहुर्नवेत्यादि, **नवानां** शोधकत्वे प्रकारं वदन्तः **प्रथमं** कालस्याहुरुत्पन्न इत्यादि, तत्र शतवर्षमध्ये दश **दिनान्यशुद्धानि** यतः **षट्त्रिंशच्छतानां** दशवर्षात्मकानां दिनानां **समूहः** शतवर्षस्यैको **भागोंशो** भवति, तथा चैकैकस्मिन् भाग एकैकं दिनमशुद्धमिति तथा, यद्यप्येवं तत्तद्भागारम्भे तदीयतदीयप्रथमदिनस्या-शुद्धत्वमायातीति न प्रथममेव दशदिनानामशुद्धत्वं वक्तुं शक्यं तथापि तस्य दिनस्याशुद्धेर्दुर्ज्ञेयत्वाद्दषिभिस्तथैव व्यवस्था **कृतेति** प्रथममेव दशदिनानामशुद्धत्वमित्यर्थः, तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **सम्पूर्ण** इत्यादि, द्रव्यादिष्वप्यतिदिशन्त्येवं **द्रव्याण्यपीति**, **यथा** षट्त्रिंशच्छतदिनेष्वेकं दिनमशुद्धमेवं षट्त्रिंशच्छतमुद्रास्वेका मुद्राशुद्धा, तथा च यथा कालस्तावत्परिहृतः शेषकालशोधकस्तथा द्रव्यमपि तावत् परिहृतं शेषद्रव्यशोधकमित्यर्थः, **अपिशब्दाद् भूमिस्तत्र** सङ्ख्यापदैर्ज्ञातव्या, एवं चात्र श्रीनन्दैर्ये गवादयो **दत्ताः शुद्ध्यर्थं** एनयैव व्यवस्थयेति महासमृद्धिर्व्यज्यते, नवानां प्रयोजनमाहुर्वंशेत्यादि ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पञ्चमेध्याये पूर्वप्रकरणार्थमुक्तविवक्षितयोः सङ्गतिबोधनायानुवदन्ति **एवमिति**, हेतुः प्रथमाध्याये, **उद्यमो** द्वितीये, **उत्तराङ्गं** रूपान्तरस्वीकरणं तृतीये, तत्र रूपान्तरज्ञानार्थं पूर्वरूपमपि **निरूपितमिति चकारः**, इदं त्रयं साक्षाद्भगवता कृतमिति समासः, मायाद्वारा कृतं चतुर्थाध्याये निरूपितं, तदाहुः **राजसादीति**, राजसो गुणः आदिर्मुख्यो येषां सत्त्वरजस्तमसां **तैर्गुणैर्युतं** जन्मेत्यन्वयः, व्यामोहस्य रजःकार्यत्वाद् रजःप्रधानगुणतया कथनेन तत्कार्यं व्यामोहोध्यायार्थ **उक्तः**, चतुर्भिरध्यायार्थैः सह **विष्णोर्व्यापकस्य जन्म** एकदेशे प्राकट्यं प्रकरणार्थो निरूपित इत्यर्थः, लीलायाः प्राकट्यहेतुकत्वाद्धेतुतासङ्गत्या लीला निरूप्यते इत्याशयेनाहुः **सप्तेति**, **लौकिकेष्विति** लौकिकधर्मेष्वष्टाविंशतितत्त्वेषु मध्ये **यत्रैव** तत्त्वे हरेर्वेशनं सङ्गतिर्भवति **तदेव** तत्त्वं स्वरू-पतो **निवर्तते** एवं सर्वतत्त्वनिवृत्तावलौकिकदेहसिद्ध्या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विकासक्तिः सिद्धा भवतीत्यर्थः, सात्त्विकप्रकरणे **लौकिक-धर्मपदेन** कालावयवा ज्ञेयाः, दृष्टान्तो **वह्नेरिति**, दारुमयेषु मध्ये **यत्रैव** दारुपात्रे वह्निः स्थापितो भवति **तदेव** दारुमयं पात्रं **स्वरूपतो निवर्तते** अग्निरूपमेव भवति, तथा **यत्रैव** तत्त्वे भगवत्सङ्गतिस्तदेव तत्त्वं **स्वरूपतो निवर्तते** भगवद्रूपमेव भवति, तेनालौकिकदेह-सिद्ध्या सर्वात्मना रोधः सिद्धो भवतीत्यर्थः, **लौकिकमित्यत्र** प्रकरणस्य तामसत्वे हेतुराद्यचरणेनोक्तः, **आदौ** तत्कथने हेतुराद्येन

द्वितीयतृतीयाभ्यां चोक्त इति टिप्पण्यनुसारेण ज्ञेयं, **अन्यथाज्ञानेति** नन्दोऽन्यथाज्ञानयुक्त एवोत्सवं कृतवानित्याकारिका श्रोतुः शङ्केत्यर्थः ॥ १-१५३ ॥

नन्दस्त्वात्मज इत्यस्याभासे ननु तृतीयाध्याये सर्वेषां सुषुप्तिर्यशोदायाः पुत्रलिङ्गाज्ञानं चोक्तं तथा च तद्व्यवस्थामनुक्त्वा जातकर्मादिकथनं कथमित्यत आहुः **तत** इति, मायाकृतं हि तत् , तथा च मायानिर्गमकथनेन प्रबोधो ज्ञानं चोक्तमेवेतिभावः, व्याख्याने, ननु ब्रह्मणि प्राकट्यस्यैवोत्पत्तित्वेन पुत्रत्वाभावादत एव नन्दे पितृत्वाभावाच्च कथं जातकर्मादिकारणमित्याशङ्क्य**आत्मजे उत्पन्ने** इतिपदद्वयेन सूचितमर्थमाहुः **पितुः पुत्र** इति, अत्र हि न नृसिंहहंसादिवत् प्रकटः किन्तु आत्मजत्वेनोत्पन्नः पितुः पुत्रो जातः, नन्दे पितृत्वं स्वस्मिन् पुत्रत्वं च स्वीकृत्य प्रकट इत्यर्थः, तथा च भगवतैव तथाङ्गीकृतत्वाज् जातकर्म कारयामासेत्यर्थः, ननु तथापि यथा वसुदेवेन जातकर्माद्यकृत्वा स्तुतिरेव कृता तथात्रापि स्तुतिरेव भवेन् न तु जातकर्मणि प्रवृत्तिः, किञ्च भगवति लौकिके इवोत्पन्नधर्मासम्भवादलौकिकोयं बालक इति ज्ञाने वसुदेवागमनवृत्तान्तसम्भावनया स्वपुत्रत्वे शङ्का स्यादतोपि न जातकर्मणि प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याहुः **तुशब्द** इति, **पूर्वकथां** वसुदेववत् स्तुतिकथां **शङ्कां** कोदृशोयं बाल इतिशङ्कां व्यावर्तयतीत्यर्थः, **तदाहेति** तत् तुशब्दकृतमेव व्यावर्तनं हेतुपूर्वकमाहेत्यर्थः, 'एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे' इति वाक्यात् पूर्ववृत्तान्त-स्मरणार्थं वसुदेवगृहे तादृशरूपेण प्रकट इति तत्र स्तुतिः कृता, अत्र तु **आत्मजः** शिशुरूप एव प्रकटः अतः पूर्वकथाव्यावृत्तिः, **उत्पन्नः** लौकिकस्येव धर्मैर्नालादिभिः सहित एव प्रकटः, अतोऽलौकिकत्वशङ्काव्यावृत्तिरित्यर्थः, ननु तथाप्यात्मज उत्पन्ने इति पदद्वयं न वक्तव्यमवयवार्थासम्भवात् किन्तु 'पुत्रे प्रकटे' इत्यादि वाच्यमित्यत आहुः **यस्येति**, **तथैवेति** तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः, **अन्यथेति** तत्प्रकारकानुवादाभावे इत्यर्थः, **अत** इति एवम्प्रकारिका नन्दबुद्धिर्जाता अतो हेतोस्**तत्** तत्प्रकारानुवादकं **आत्मजे उत्पन्ने** इति पदद्वयमाहेत्यन्वयः, तथा च पूर्वं पदार्थ उक्तः अनेनावान्तरपदार्थः अक्षरार्थश्चोक्त इति ज्ञेयं, ननु तथापि वस्तुतो-वयवार्थाभावान् नन्दबुद्धेर्भ्रान्तत्वं स्यादित्याशङ्क्यावयवार्थमपि साधयितुमाहुः **वासुदेव** इति, मथुरायां कार्यत आविर्भावेपि स्वरूपतः स्तन्योत्पादनायात्रैव विर्भूतः वसुदेवाद् देवक्यां व्यूहत्रयविशिष्टो भगवानिव नन्दाद्यशोदायां जननावधि स्थित्वा प्रादुर्भूत इत्यर्थः, पुरुषोत्तमस्य तु सर्वात्मभाववद्भक्तहृदये एव निरावृतस्थितेरत्र मायावृतत्वेनैव स्थितिरतो न स्तन्योत्पादकत्वं, जननक्षणे वासुदेवावृतः सन् प्रकटो दर्शनयोग्यतां सम्पादितवांस्तया सामान्यतो ज्ञानं 'जातं परमबुध्यते'ति जातं, तदुत्तरक्षणे विशेषदर्शनं सम्पद्येत, तावन्माया जातेति सर्वेषां व्रजस्थानां व्यामोहाद् व्रजे कस्यापि न भगवद्दर्शनं, वसुदेवदेवक्योस्तु पूर्वप्रादुर्भावसमये एव योग्यतासम्पत्तेर्नन्दगृहोत्पत्तिक्षणे एव तस्यापि दर्शनमितिभावः, जननात् पूर्वमपि यशोदायां वासुदेवावृतत्वेन स्थितौ देवक्या इव यशोदाया अप्यलौकिकी प्रभा स्यात् जननक्षणेपि मायावृतत्वे मथुरायामपि दर्शनं न स्यादत एवं विवेकः, वासुदेवस्योभयत्राविर्भावे प्रयोजनाभावान् नन्दगृह एवाविर्भाव इत्येवकारः, अयमर्थः कण्ठतोनुक्तोपि पूर्वापरविचारेण साध्यते इति **सिद्धान्त** इत्युक्तं, **अन्यथेति** वासुदेवाविर्भावाभावे पुरुषोत्तमस्य मायावृतत्वेनैव स्थितेः **स्तन्यं केवलमायाजनितं** स्यात् तच् च **भगवान् न पिबेत्**, अत्रायं भावः, भगवतः स्तन्यपानं ह्यन्तःस्थितबालकपोषार्थमिति वक्ष्यते, तथा च केवलमायाजनितस्तन्यपाने ते व्यामुग्धा एव भवेयुः न तु लीलारसं प्राप्नुयुरतो मायादोषनिवर्तकवासुदेवसम्बन्धोपि वाच्यः, केवलवासुदेवसम्बन्धेपि लीलारसं नानुभवेयुः किन्तु मुक्ता एव भवेयुः, अतः उभयसम्बन्धबोधाय **केवलपदं**, **सिद्धवत्कारेणेति** तृतीयाध्याये व्यूहत्रयविशिष्टस्यैव प्राकट्योक्तेः सर्वांशविशिष्टे स्वरूपे उत्पन्ने इतिपदं **सिद्धवत्** सर्वप्राकट्यबोधकं **न वदेदि**त्यर्थः, तथा च पुरुषोत्तमे मायावृतत्वादवयवार्थाभावेपि वासुदेवस्य तथा स्थितत्वात् तस्याप्येतत्स्वरूपे एव स्थितत्वाद् वासुदेवमादायावयवार्थस्याप्युपपत्तेर्नन्दज्ञानं न भ्रान्तमितिभावः, "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे जात" इतिरूढार्थमादायोक्तं, **आत्मजपदयौगिकार्थज्ञानं पुरुषोत्तमे बुद्धिमात्रं** वासुदेवे तु सत्यमेव, **अन्तःकरणेति** मदन्तःकरणमतथाभूते नाह्लादयुक्तं भवेदितिस्वान्तःकरणविश्वासेनापीत्यर्थः, पूर्वं भगवन्निष्ठेनोत्पन्नत्वधर्मेण स्वपुत्रत्व-निश्चय उक्तः अधुना नन्दनिष्ठेनाह्लादधर्मेण स उच्यते इत्यपिशब्दः, **यद्यपीति** आत्मज उत्पन्ने इत्यनेन जातकर्मणि हेतुरुक्तः, आह्लादे तु ज्ञानस्य हेतुत्वात् ज्ञानबोधकं पुत्रोत्पत्तिं ज्ञात्वेत्यादिपदं वक्तव्यं, तथापि तथोक्ते सति ज्ञाने भ्रमत्वमपि शङ्क्येत तत् तु **महतामन्तःकरणमतथाभूतं वस्तु न गृह्णातीति** टिप्पण्युक्तदिशा नन्दे असम्भावितमत आह्लादहेतुत्वेनापीदमेव पदद्वयमुक्त-मितिभावः, तथा चात्मजत्वेनोत्पन्नस्तस्यैव चोत्पत्त्या नन्दो जाताह्लादो जातोतः शङ्कारहितः सन् **जातकर्म कारयामासे**त्यन्वयः, **प्राकृतोपीति** ग्रामवासी न तु नागर इत्यर्थः, **सम्पादित**वानिति सर्वेभ्यो बोधितवानित्यर्थः ॥ १ ॥

वाचयित्वेत्यत्र पुत्रे यो विधिरिति आत्मजे स्वपुत्रे न तु दत्तकविक्रीतादौ **यो विधि**रित्यर्थः, **गार्भिकेति** तथैव भगवत एव निर्दोषत्वात् तादृशपुत्रे एव सार्थकमित्यर्थः, ननु पूर्वमेव दोषस्याभावात् तदभावसम्पादनं किमर्थमित्याशङ्क्याहुः **नैमित्तिको वै** इति, अयमात्म**संस्कारपक्षो वै** निश्चयेन **नैमित्तिकः** पुत्रजन्मनि निमित्ते जाते वै निश्चयेन कर्तव्य एव न तु दोषसत्ताविचार-स्तत्रेति भावः, ननु तथापि वस्तुतस्तत्प्रयोजनं न सिद्धमित्यत आहुः **भगवच्चरित्रमिति**, इदं दोषाभावसम्पादनं भगवत्सम्बन्धि चरित्रं भगवत्सेवैव भगवत्कृतानुमोदनरूपत्वात् यथान्ये पुष्पादिसमर्पणाद्युपचारास्तथेदमपीत्यर्थः, इदं पूतनाप्रसङ्गे टिप्पण्यां व्युत्पादयिष्यते ॥ २ ॥

धेनूनामित्यत्र द्रव्यक्रियाणामिति सुवर्णादयस्तत्परिधापनक्रियाश्च नोपक्षीणाः, एकस्यां गवि सम्पादिता क्रिया सर्वत्र गोधने व्याप्तेत्यर्थः, अन्यथा तावतीनामलङ्करणे भूयान् कालो भवेदितिभावः, **नास्यापीति** गोधनस्यापीत्यर्थः ॥ ३ ॥

कालेनेत्यत्र तत्रेति षट्त्रिंशच्छतानां भागानां मध्ये **एको भागः** षट्त्रिंशच्छततमो भाग इत्यर्थः, **एवं द्रव्याण्यपीति** द्रव्यमपि किञ्चिदंशे अशुद्धं तावतो दानेवशिष्टं शुद्धं भवतीत्यर्थः, **एतेषामिति** संस्कारा देहशोधका एव न त्वन्तःकरणान्तर्यामिणोरित्येवकारः, तयोस्तु शोधिके तपइज्ये इतिभावः, अन्तर्यामिणः शुद्धिमाहुः इज्येति, शुद्धिस्वरूपमाहुः सन्तुष्यतीति "परमात्मा मे शुद्धयन्ता"मिति श्रुतावपीदमेव शुद्धिस्वरूपं ज्ञेयं, इदं च तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत' इत्यत्र विवृतम् ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

घोषाधीशपुराणपुण्यनिचयप्रोद्भूतकल्पद्रुम त्वं मज्जीवन जागृहीतिवचनं श्रुत्वा जनन्या मुहुः ।
त्यक्तस्वप्नदशस्य गोपरमणीदृग्वृष्टितुष्टात्मना निद्रालस्ययुतस्य गोकुलपतेः पातां प्रशस्याक्षिणी ॥ १ ॥

तामसप्रकरणारम्भे कारिकासु **हेतूद्यमोत्तराङ्गैरिति, हेतुरुद्यम उत्तराङ्ग** च हेतूद्यमोत्तराङ्गानि तैः, उत्तराङ्गशब्देन रूपान्तरस्वीकरणकापट्ये ज्ञेये, तथा च हेतूद्यमस्वीकरणकापट्यैः सहितं **विष्णोर्जन्म निरूपितमिति** पूर्वेणान्वयः, **राजसादिगुणैर्युतमिति राजसादिगुणैर्युतं हरेः कृत्यं सप्तसप्ततिभिर्निरूप्यते** इति परेणान्वयः, एवं प्रकारत्रयस्य सप्तसप्तत्यध्यायाः, तत्र तामसराजससात्त्विकानां निरोधोपयोगि भगवत्कृत्यं बाललीलादिरूपं निरूप्यते, तेषां निरोध्यभक्तानां राजसादिगुणयुक्तत्वात् तन्निरोधोपयोगि कृष्णचरित्रमपि राजसादिगुणयुक्तमित्यर्थः, यद्यपीह तामसराजससात्त्विकानां क्रमेण निरोधात् तामसादिगुणैर्युतमितिवक्तव्यं तथापि कारिकायां क्रमविवक्षामकृत्वा गुणेषु रजोगुणस्य प्राथम्याद् **राजसादिगुणैर्युतमित्युक्तं भगवान् स्वेन धर्मैश्चेति स्वेन स्वरूपेण धर्मैरैश्वर्यादिभिरेवं सप्तधेत्यर्थः, एकादशेन्द्रियैरिति** निरोध्यभक्तानामेकादशेन्द्रियैः सहेत्यर्थः, भगवान् भक्तानां चक्षुराद्येकादशेन्द्रियैः सह यां यां लीलां करोति सा सा लीला तामसादिप्रकरणत्रये निरूप्यते, तत्राप्यैश्वर्यादिगुणैः स्वस्वरूपेण च करोतीत्येकादशेन्द्रियैः सह क्रियमाणा एकादशविधलीला प्रत्येकं **सप्तधेति** सप्तसप्तत्यध्यायास्तामसादिप्रकरणत्रयस्य, इदं प्रकरणत्रयाध्यायानां सङ्ख्यातात्पर्यं, इहेदं तत्त्वं, भगवान् निरोध्यभक्तचक्षुर्विषयीभूय स्वानन्दं प्रयच्छन् **क्रीडति सा चक्षुषा लीला**, वेणुनादादिद्वारा व्रजसुन्दरीविरचितगुणगानदशायां वा श्रोत्रविषयीभूय स्वानन्दं ददत् परमानन्दयुक्तो विहरति सा श्रोत्रेण लीला, एवं समयविशेषे भावविशेषेण त्वगिन्द्रियविषयो भूत्वा विलसति सा त्वगिन्द्रियेण लीला, एवं सर्वत्रेति भक्तानामेकादशेन्द्रियैर्लीला ज्ञेया, 'अक्षण्वतां फलमिद'मिति व्रजसुन्दरीवाक्याद 'क्षण्वता'मिन्द्रियवतामितिविवरणाद् 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'तिवेणुगीताध्यायसुबोधिन्यां ता लीलाः स्फुटमभिहिताः, किञ्च भक्तानां चक्षुर्विषयीभूतैश्वर्यधर्मप्राधान्येन लीलां करोति सा चक्षुर्लीला ऐश्वर्येण, यत्र भक्तचक्षुर्विषयीभूय वीर्यप्राधान्येन कृतां लीलां प्रदर्शयति सा चक्षुर्लीला वीर्येण, यशःप्रधानलीलां कुर्वन् स्वरूपं प्रदर्शयति सा चक्षुर्लीला यशसा, श्रीप्रधानलीलां कुर्वाणमात्मानं यत्र प्रदर्शयति सा चक्षुर्लीला श्रिया, ज्ञानप्रधानलीलायुक्तं स्वरूपं यत्र प्रदर्शयति सा चक्षुर्लीला ज्ञानेन, वैराग्यप्रधानलीलायुतं स्वरूपं चक्षुर्विषयीकरोति सा चक्षुर्लीला वैराग्येण, यत्र सर्वगुणसमानभावयुक्तेन धर्मिणा स्वेन कृतां लीलां भक्तदृग्गोचरीकरोति चक्षुर्लीला धर्मिणा, एवमेका चक्षुर्लीला सप्तविधा, एवं भक्तश्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरपि प्रत्येकं लीला सप्तविधेति एकादशेन्द्रियैः सह सप्तसप्ततिप्रकारा लीला, तत्सूचनाय तामसादिप्रकरणस्य सप्तसप्तत्यध्याया इति भावः ।

नन्दस्त्वात्मज इत्यस्य विवृतौ **पितुः पुत्र इति** नेह मत्स्यकूर्मवराहनृसिंहवदाविर्भावः किन्तु नन्दपुत्रत्वेनाविर्भावः, तथा च श्रीनन्दस्य भगवत्पितृत्वाज् जातकर्मकरणं युक्तमत उक्तं पितुः पुत्र इत्यादि, आत्मज उत्पन्न इत्यस्य विवृतौ **यस्य यथा प्रतीतिस्तथैवेत्यादि**, ननु शुकस्य सर्वज्ञत्वाद् भगवत्स्वरूपाभिज्ञत्वेन भगवतस्तु जन्मादिराहित्येनाजत्वात् तादृशे आत्मजत्वकथनमयुक्तमित्याशङ्क्याहुः **यस्य यथा प्रतीतिस्तथैव शुकेनानूद्यत** इति, नन्दस्य भगवत्यात्मजत्वप्रतीतेस्तद्बुद्धिमनुसृत्य चात्मजत्वकथनं न तु शुकबुद्धिस्तादृशी अतो न भगवति जन्मादिधर्मवत्त्वमित्यर्थः, नन्वेवं नन्दबुद्धेर्भ्रान्तत्वात् तदनुवादे को वा गुण इत्याशङ्क्याहुः **भगवता तथेवेत्यादि**, स्वस्य पुत्रभावेन रमणार्थं श्रीनन्दहृदये तथा भगवता आनीतमतो भगवत्कृतत्वेन भगवल्लीलात्वाद् वर्णनमिति न दोषः, नन्वेवं पुत्रत्वबुद्धेरवास्तवत्वापत्त्या तल्लीलानामप्यवास्तवत्वं स्यादित्याशङ्क्याहुः **आत्मनः सकाशाज् जातः पुत्र एवायमितिनन्दस्य बुद्धिरिति**, न हि पुत्रत्वबुद्धिर्मायिकी पुत्रभावेन भगवतः प्रादुर्भावात्, तथा सति पुत्रभावकृतलीलापि न मायिकी किन्त्वात्मजत्वबुद्धिर्मायिकी, आत्मशब्दस्य देहवाचकत्वेन तज्जातत्वमादाय तादृग्बुद्धेः प्रवृत्तत्वात्, देहजातत्वं तु प्रभावसम्भावितं निषेकसम्भूतत्वाभावात्, अतस्तादृश्या आत्मजत्वबुद्धेर्भ्रान्तत्वमेवाङ्गीकार्यं, तदेवाचार्यवर्यैः स्फुटीकृतमात्मनः **सकाशाज् जातः पुत्र एवायमिति नन्दस्य बुद्धिरिति**, भ्रमात्मिकेत्यर्थः, ननु पुत्रत्वेनाविर्भावे किं मानमिति चेत् तत्राहुः **वासुदेवोत्रैवाविर्भूत इति सिद्धान्त** इति, तत्रान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयन्ति **अन्यथा केवलमायाजनितमित्यादिना, प्रद्युम्नानिरुद्धसङ्कर्षणानां वसुदेवगृहे प्राकट्यस्योपपादितत्वाच् चतुर्थस्य वासुदेवव्यूहस्य नन्दालये प्राकट्यं, यथा वसुदेवगृहे प्रद्युम्नव्यूहस्य पुत्रभावेन प्राकट्याद् गर्भ-**

सम्बन्धाद् भगवतो देवकीपुत्रत्वं वास्तवम् एवं वासुदेवव्यूहस्य पुत्रभावेन यशोदागर्भसम्बन्धेन नन्दसदने प्राकट्यात् पुरुषोत्तमस्य यशोदापुत्रत्वं वास्तवमेव, पुरुषोत्तमस्तु वसुदेहगृहे नन्दगृहे वालौकिकरीत्या प्रादुर्भूतो न तु गर्भसम्बन्धमङ्गीकृत्येतिज्ञेयं, किञ्च यदि नन्दालये पृथक् प्रादुर्भावो नाङ्गीक्रियेत तदा श्रीनन्देन जातकर्मकारणार्थमाकारिता ब्राह्मणा मिथ्याभूते पुत्रभावे वैदिकमन्त्राणां कर्मणश्च विनियोगं न कुर्युः, 'आहूय विप्रान् वेदज्ञा'निनिवाक्यात् तेषां वेदज्ञातृत्वेन परमधार्मिकत्वाद् भ्रान्तिकल्पितपुत्रे वेदमार्गप्रचारणासम्भवात्, अपि च 'यावतीर्वै देवतास्ता सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ता'तिश्रुतेस्तेषां सर्वदेवतामयत्वेन सर्ववृतान्ताभिज्ञत्वाद् देवानां च सत्यप्रधानत्वेन मिथ्याभूतपुत्रभावे हरौ जातकर्मकरणं न स्यात्, तेषु ब्राह्मणेषु भ्रान्तेर्वक्तुमशक्यत्वात्, अतः परब्रह्मणि श्रीकृष्णे नन्दपुत्रत्वज्ञानं प्रमारूपमेवेति गतदोषः पन्था आर्याणाम् ॥ १ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

पञ्चमेध्याये एवं चतुर्भिरिति का० १०१। एतत्कारिकोत्तरार्धं प्रकारभेदैर्विवृण्वन्ति व्याख्यातारः। भक्तदुःखात्मको भगवज्जन्महेतुः प्रथमाध्यायार्थः, मायाज्ञापनादिरूपो भगवदुद्यमो द्वितीयाध्यायः, एतद्द्वयं तृतीयाध्यायोक्तस्य जन्मनः पूर्वाङ्गम्, चतुर्थाध्यायोक्तं मायाकार्यं कापट्यं जन्मनः उत्तराङ्गम्, एवं हेतूद्यमोत्तराङ्गैः सहितं विष्णोर्जन्म पूर्वप्रकरणे निरूपितमित्यर्थः। राजसादिगुणैर्युतमित्यस्य का० $\frac{१}{४}$ सप्तसप्ततिभिः कृत्यं हरेस्तत्र निरूप्यते का० $\frac{२}{४}$ इत्युत्तरेणान्वयः। यद्यप्यत्र तामसप्रकरणस्य प्राथम्यात् तामसादिगुणैरितिवक्तव्यम्, तथापि रजःसत्त्वतमसां उत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणत्वात् तत्क्रमाभिप्रायेण "राजसादिगुण" रित्येवोक्तम्। भगवानित्यादि का० १$\frac{३}{४}$ एतेन तामसादिप्रकरणत्रयाध्यायसङ्ख्यातात्पर्यमुक्तम्, भगवानेकादशेन्द्रियैः प्रत्येकं स्वेन धर्मिणा षड्भिर्धर्मैश्च कृत्यं लीलां चकार ततः कारणात् ताबद्भिः सप्तसप्ततिभिरध्यायैरुच्यत इत्यर्थः। तामसादित्रिविधलीलाकरणे प्रयोजनमाहुः त्रिविधानीत्यादि का० २$\frac{१}{४}$। तामसादिप्रकरणत्रयस्य प्रत्येकमध्यायसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः तत्त्वेति का० ३$\frac{२}{४}$ अष्टाविंशतितत्त्वानां वक्ष्यमाणप्रकारेणातिक्रमे सति तामसभक्तनिरोध इति बोधयितुं तत्र तावन्तोध्यायाः, एवं राजसेपि, कालस्य एकविंशतिविधत्वात् शिष्टे अवशिष्टे सात्त्विकप्रकरणे तावन्तोध्यायाः। कालस्य एकविंशतिसङ्ख्याकत्वे प्रमाणमाहुः द्वादशमासाः पंचर्तवस्त्रय इमे लोकाः असावादित्य इति। हेमन्तशिशिरयोरैक्यविवक्षया पञ्च ऋतव इत्यन्यत्र विस्तरः। तत्त्वातिक्रमप्रकारमाहुः लौकिकेषु का० ४$\frac{१}{४}$ लौकिकेषु धर्मेषु देहेन्द्रियादिरूपेषु तत्त्वेषु मध्ये यत्रैव हरिनिवेशनं तदेव पूर्वस्वरूपान्निवर्तते भगवद्रूपं भवति, तत्र दृष्टान्तः वह्ने दारुमयं यथेति। ननु भगवतो जीवस्वभावान्यथाकरणसामर्थ्ये सत्यपि भगवान्निर्गुणो भक्तानुरोधेन त्रिविधानि कर्माणि कुतः कृतवानित्याकाङ्क्षायामाहुः स्वभावस्येति का० ५$\frac{१}{४}$। स्वभावान्यथाभावो जीवानां स्वकृतसाधनासाध्य एव भगवतोप्यक्लिष्टकर्मत्वाद् भक्तस्वभावान्यथाकरणमयोग्यमतो यादृशलीलया यादृशभक्तनिरोधो भवति तत्र तादृशीं लीलां करोतीत्यर्थः, तदुक्तं टिप्पण्यां भक्तस्वभावानुसरणे भगवतः परमदयालुत्वं भक्तिमार्गोत्कर्षश्च सिध्यतीति, सात्त्विकं विहायादावेव तामसप्रकरणनिरूपणेस्य तामसत्वेनोक्तौ हेतुमाहुर्लौकिक तामस इत्यादि का० ६$\frac{१}{४}$। लोके वहिः प्रकटं यद् रूपं तदेव तामसभक्तानां मुख्यं नान्तरात्मादिरूपमित्यर्थः, तथा च तामसानां कर्माद्यासक्त्यभावेन वहिःप्रकटे रूप एवाग्रहदार्ढ्यात् तामसत्वमुच्यते वस्तुतस्तु निर्गुणत्वमेव, कामान्ता च कृतिः स्फुटेति काम एव अन्तः फलं यस्याः सा कामान्ता तादृशी कृतिरित्यर्थः, किञ्च कामोद्भूते कामेनाविर्भूते प्रभौ प्रीतिः स्नेहः, सोपि तथा कामशास्त्रानुसारी न तु विध्यनुसारीत्यर्थः, तेन हेतुना तत् तामसप्रकरणमादौ निरूप्यते, प्रमाणादिप्रकरणचतुष्टयप्रतिपाद्या लीला आहुर्बाललीलेति का० ७$\frac{१}{४}$-९$\frac{१}{४}$। तेन बलदेवादिचरित्रमपि तदाविष्टपुरुषोत्तमचरित्रमेव ज्ञेयं, कृष्णे च सन्नतात्मान इति आसक्तात्मान इत्यर्थः, तथा च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपनिरोधजनकं भगवतश्चरित्रमित्यर्थः, बाललीलायाः सप्तभिरध्यायैर्निरूपणे प्रयोजनमाहुर्बाललीला सप्तविधेति का० १०$\frac{१}{४}$। प्रमाणप्रकरणस्थाध्यायसप्तकप्रतिपाद्यनिरोधाधिकारिण आहुरुत्सवाविष्टेत्यादिना का० ११$\frac{१}{४}$। अत्रोत्सवाविष्टचित्तादयः सप्तविधा अधिकारिणः प्रमाणप्रकरणीयप्रथमाध्यायमारभ्य सप्तस्वध्यायेषु प्रायशः क्रमेण सर्वथा वा क्रमेण प्रतिपाद्या इति व्याख्यातं बहुविस्तरेण टिप्पण्यां, स्त्रीस्वभावरता इत्यस्य प्रथमव्याख्याने प्रमाणप्रकरणीयषष्ठाध्यायोक्तनलकूवरमणिग्रीवकथाभिप्रायेण स्त्रियश्च स्वभावश्च राजसतामसादिस्तयो रता इत्यर्थः, द्वितीयव्याख्याने तु पञ्चमाध्यायोक्तकथानुसारेण स्त्रीस्वभावो यशोदास्वभाव इति स्फुटं, तत्रैव प्रथमाध्यायार्थमाहुर्जन्मोत्सव इति का० १३$\frac{१}{४}$। प्रमाणप्रकरणीयप्रथमेध्याय आदितः पञ्चमे जन्मोत्सवो निरूप्यते, ननु नन्दः स्वगृहे वसुदेवागमनं तत्र स्वपुत्रस्थापनं कन्यानयनं च जानाति न वा यदि जानाति चेत् तर्हि नन्दः स्वपुत्रत्वे सन्दिहान एव उत्सवं कृतवानिति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारायाहुः आवश्यकमिति, आवश्यक कार्यं कंसाय करदानात्मकं परित्यज्य तत् उत्सवलक्षणं कार्यं कृतमिति सूच्यते, उत्सवानन्तरं शीघ्रं करदानार्थगमनोक्त्या सूच्यत इतिभावः, तेन मथुरागमनेनैव अन्यथाज्ञानशङ्कापि निवार्यते, यदि वसुदेवपुत्रत्वं जानीयात् तदा मथुरायां न गच्छेदित्यर्थः, उपपत्यन्तरमाहुरुत्सवस्त्विति, स्वपुत्रत्वनिश्चयं विनोत्सवो न स्यादित्यर्थः, द्रव्यानयनं भगवदर्थमुत्तमवस्तूनामानयनं चान्यथा न स्यादित्यर्थः, यद्यपि मूले नन्दकर्तृकं द्रव्यानयनं नोक्तं तथापि 'नन्दः स्वपुत्रमादाये' त्यत्रो'दारधी'रिति विशेषणसूचितं तदितिज्ञेयं, ननु अध्यायान्ते 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुल' इत्यनेन नन्दस्य भयवर्णनं किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाहुरासक्तीति का० १४$\frac{१}{४}$। तस्य नन्दस्यान्तेध्यायान्ते ॥ १४$\frac{३}{४}$ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

कारिका—एवं चतुर्भिरध्यायैर्जन्म विष्णोर्निरूपितम् । हेतूद्यमोत्तराङ्गैश्च राजसादिगुणैर्युतम् ।। १ ।।

कारिकार्थ—एवं चतुर्भिरध्यायै :– अब श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि :—इस प्रकार दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध के प्रथम चार अध्यायों में हेतु, उद्यम और उत्तरांग से, राजसादि गुणों से युक्त, श्री विष्णु भगवान श्रीकृष्ण के जन्म का निरूपण किया गया ।। १ ।।

अब श्रीमदाचार्यचरण जन्म प्रकरण के चार अध्यायों का श्री सुबोधिनीजी द्वारा विवेचन करने के बाद दूसरा तामस प्रकरण का विवेचन का प्रारंभ करना चाहते हैं तब तामस प्रकरण के साथ जन्म प्रकरण क संगति सम्बन्ध बतलाने के लिये **'एव चतुर्भिः'** कारिका को लिखते हैं ।। १ ।।

प्रकाश – सबसे प्रथम तो यह संदेह होता है कि सिर्फ तृतीय अध्याय में प्रभुजी के प्राकट्य का निरुपण है तब फिर चारो अध्यायों की "जन्म प्रकरण संज्ञा कहना समुचित नहीं होता क्योंकि और तीन अध्यायों में तो अन्य कथाप्रसङ्ग ही है तब उसका समाधानार्थ कहते हैं कि यद्यपि भगवान् के प्राकट्य का निरूपण तीसरे अध्याय में है, तो भी शेष प्रथम द्वितीय तृतीय तीन अध्याय भी जन्म प्रकरण के हैं। क्योंकि प्रथम और द्वितीय अध्यायों में जन्म के कारण 'हेतु' एवं 'उद्यम' का कथन है और चतुर्थ अध्याय में माया का कापट्य कार्य भगवत्प्राकट्य में सहायक है; अतः 'हेतु' और 'उद्यम' ये दोनों जन्म के पूर्वाङ्ग है और माया का कार्य उत्तराङ्ग है। इसलिये पूर्वाङ्ग एवं उत्तराङ्ग सहित प्राकट्य का वर्णन एक ही प्रकरण का विषय होने से चारों अध्यायों की जन्म प्रकरण की संज्ञा को मानने में कोई आपत्ति अथवा अनौचित्य नहीं है यह श्रीप्रकाश कारजी का एक समाधान है।

फिर श्रीप्रकाशकारजी 'अथवा' कहकर दूसरे प्रकार से भी समाधान करते हैं कि महाप्रभुजी ने संगतिकारिका में 'राजसादि-गुणैः-युतं जन्म", इस चतुर्थ चरण में बताया है कि राजस, तामस और सात्त्विक भक्तों से लीला कारणार्थ स्वरूपभूत व्यूहों की आवश्यकता होगी और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध का क्रमशः एक एक अध्याय में पृथक् पृथक् वर्णन होने से चार अध्याय जन्म प्रकरण के हैं। इस प्रकार से भी जन्मप्रकरण संज्ञा सर्वथा संगत ही है। यहाँ पर ऐसी शंका को भी अवसर नहीं है कि चारों अध्यायों में वासुदेवादि चार स्वरूपों का प्राकट्य है इसलिये चार अध्याय जन्म प्रकरण के हैं तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्ण पुरुषोत्तम का जन्म हुआ ही नहीं? क्योंकि पुरुषोत्तम स्वरूप तो अजन्मा है किन्तु 'अजायमानो बहुधा विजायते' 'अजन्मा ब्रह्म अनेक प्रकार से प्रकट होता है' इस श्रुति के अनुसार वासुदेवादि व्यूहात्मक स्वरूपों के जन्म से ही 'पुरुषोत्तम' का जन्म माना जाता है। कारिका में 'विष्णोः जन्म' जिस व्यापक सर्वात्म स्वरूप में व्यूहादि स्वरूप भी स्थित हैं उस पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप का प्राकट्य हुआ है ऐसा स्पष्ट करने के लिये 'विष्णोः' यह पद लिया गया है।

आचार्यचरणों की इस संगति कारिका के हेतूद्यमोत्तराङ्गैः पद का स्वारस्य श्रीलेखकार बताते हैं कि पूर्वाङ्ग—भगवान् के जन्म का हेतु भक्त-दुःख है। यह पहले अध्याय का अर्थ है।

भगवान् के जन्म का हेतु उद्यम माया को आज्ञा देना संकर्षणजी को रोहिणीजी के उदर में स्थापित करना आदि कार्य जो "उद्यम" करना यह दूसरे अध्याय का अर्थ है।

चतुर्भुज भगवान् का रूपान्तर स्वीकरण द्विभुज बाल रूप होना यह तीसरे अध्याय का अर्थ है। कारिका में हेतूद्यमोत्तराङ्गैश्च इस चरण में जो "च" शब्द दिया है, इसका आशय यह है कि द्विभुज रूप में यह चतुर्भुज स्वरूप भी विराजमान है। उत्तराङ्ग—इस कारिका में 'हेतूद्यमोत्तराङ्गैः' यह समासान्त पद इसलिये दिया है कि ये तीनों कार्य साक्षात् भगवान् ने किये हैं। माया द्वारा किये हुए कार्यों का वर्णन चतुर्थ अध्याय में हैं।

अब कारिका के चतुर्थ चरण 'राजसादिगुणैः युतं जन्म' राजसादि गुणों के साथ जन्म हुआ इसका आशय लेखकार बताते हैं कि चतुर्थ अध्याय में माया के कार्य 'व्यामोह' को सिद्ध करने के लिये यह पंक्ति दी है क्योंकि 'व्यामोह' करना रजोगुण का कार्य है जो माया के द्वारा हुआ है। इसलिये 'माया का कार्य व्यामोह' चौथे अध्याय का अर्थ है।

अब इस कारिका में राजसादिगुणैर्युतम्" पद में प्रथम "राजस" शब्द क्यों लिया इसका विमर्श करते हैं कि दशम स्कन्ध में प्रथम तामस प्रकरणीय लीलाओं से प्रारम्भ होने के कारण यहाँ कारिका में 'तामसादिगुणैः' ऐसा पाठ कहना चाहिये था वह न कहकर आचार्यचरण ने 'राजसादिगुणैः' कहा है। उसका आशय यह है कि सृष्टि उत्पत्ति आदि लीला में प्रथम रजोगुण का कार्य-उत्पत्ति होता है। उस क्रम को लेकर 'राजसादिगुणैः' कहा है और प्रथम कारिका के चतुर्थ पद का द्वितीय कारिका के पहले आधे भाग के साथ अन्वय करते हैं कि 'अत्र राजसादिगुणैः युतं हरेः कृत्यं सप्तसप्ततिभिः निरूप्यते'। यहाँ निरोध लीला में सतहत्तर अध्यायों में राजसादि गुणों से युक्त हरि की लीलाओं का वर्णन किया जाता है।

श्रीमद्भागवतजी के निरोध लीला दशम स्कन्ध में नब्बे ९० अध्याय मिलते हैं फिर सत्तासी अध्यायों का निर्देश क्यों किया जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि दशम स्कन्ध में ९० अध्याय हैं उनमें तीन प्रक्षिप्त निकालने से शेष सत्तासी बचते हैं। छ अध्यायों में

कारिका—सप्त सप्ततिभिः कृत्यं हरेरत्र निरूप्यते । भगवान् स्वेन धर्मैश्च सप्तधैका दशेन्द्रियैः ।। २ ।।
कृत्यं चकार यस्माद्धि ततस्तावद्भिरुच्यते । त्रिविधानि च कर्माणि त्रिविधानां हिताय च ।। ३ ।।

कारिकार्थ—सप्त सप्ततिभिः—जन्म प्रकरण कह कर अब यहाँ भगवान् की निरोध लीला सतहत्तर अध्यायों में वर्णित की जाती है । धर्मी भगवान् ने अपने स्वरूप से एवं छ ऐश्वर्यादि धर्मों से सात प्रकार से भक्तों को एकादश इन्द्रियों से लीलाएँ कीं, इससे सतहत्तर अध्यायों से लीला का वर्णन किया जाता है ।

तामस, राजस और सात्त्विक तीन प्रकार के भक्त हैं उनके हित के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने तामसादि तीन प्रकार से लीलाएँ की हैं ।। २-३ ।।

इन कारिकाओं में श्री महाप्रभुजी ने सतहत्तर अध्यायों का कारण व भावार्थ बताया है कि भगवान् ने भक्तों की ग्यारह इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय से धर्मी भगवान् एवं छ धर्मों को मिलाकर सात प्रकार से लीला की है इसलिये ११ को ७ से गुणा करने से गुणनफल सतहत्तर अध्याय कहे गये हैं ।। २-३ ।।

कारिका—तत्त्वातिक्रमणे रोधः तामसे राजसे भवेत् । कालातिक्रमणे शिष्टे कालस्तत्रैकविंशतिः ।। ४ ।।

कारिकार्थ—तत्त्वातिक्रमणे :—अट्ठाईस तत्त्वों का अतिक्रमण करके भगवान ने तामस एवं राजस प्रकरण में, तामस तथा राजस भक्तों का निरोध किया है । इक्कीस प्रकार के काल का अतिक्रमण करके प्रभुने सात्त्विक प्रकरण में, सात्त्विक भक्तों का निरोध किया है ।। ४ ।।

तामस प्रकरण में निरोध करने योग्य तामस भक्तों का अट्ठाइस अध्यायों में की हुई लीलाओं द्वारा प्रपञ्च विस्मृति और भगवान में आसक्ति नाम का निरोध हुआ है । एक एक अध्याय की लीला से एक एक तत्त्व का अतिक्रमण भगवान् ने किया है, इस प्रकार अट्ठाईस तत्त्वों का अतिक्रमण अट्ठाईस अध्यायों में हो जाने से तामस भक्तों का निरोध सिद्ध किया है । "अतिक्रमण" का तात्पर्य यह है कि तत्वों एवं काल के धर्मों का लोप होना उसको आचार्यचरण अतिक्रमण कहते हैं । जैसे तामस प्रकरण में अट्ठाईस तत्त्वों के और काल के धर्मों का लोप कर तामस भक्तों का निरोध किया वैसे भगवान ने ही राजस प्रकरण के अट्ठाईस अध्यायों से राजस भक्तों का निरोध सिद्ध किया । भगवान ने सात्त्विक भक्तों का निरोध इक्कीस अध्यायों की लीला द्वारा किया । कारण यह है कि वहाँ श्रीकृष्ण भगवान् ने इक्कीस प्रकार के काल का इक्कीस अध्यायों में की हुई लीलाओं द्वारा अतिक्रमण किया है । कालातिक्रमण से सात्त्विक भक्तों का निरोध सिद्ध किया है । श्रुति भगवतीजीने काल के इक्कीस प्रकार बताये हैं आगे यह प्रसङ्ग आयेगा ।

सात्त्विक भक्तों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है । इसलिये इस सात्त्विक प्रकरण में प्रमेय के सात साधन के सात और फल के सात अध्याय हैं लेकिन प्रमाण के सात नहीं कहे हैं । तीनों मिलाकर समग्र सात्त्विक प्रकरण में इक्कीस अध्याय हैं ।। ४ ।।

कारिका—"द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" इति श्रुतेः ।
लौकिकेषु तु धर्मेषु यत्रैव हरिवेशनम् । निवर्तते तदेवात्र वह्नेर्दारुमयं यथा ।। ५ ।।

कारिकार्थ—द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोकाः—श्रुति कहती है कि बारहमास, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक, एक आदित्य ऐसे काल इक्कीस प्रकार का है जैसे कि लकड़ी में आग प्रवेश से लकड़ी का लकड़ीपन नष्ट हो जाता है और वह लकड़ी अग्निरूप बन जाती है वैसे, देह इन्द्रियादि रूप तत्वो में-लौकिक धर्मों में श्रीहरि भगवान लीलाओं द्वारा प्रवेश करते हैं वहाँ उन तत्त्वों का प्राकृत लौकिक धर्मपन चला जाता है और वे तत्त्व भगवद्रूप हो जाते हैं ।। ५ ।।

अब श्रीमदाचार्य चरण अट्ठाईश तत्त्वों एवं इक्कीस प्रकार के काल के अतिक्रमण का तात्पर्य यह कहते हैं कि उन तत्त्वों तथा काल के धर्म उनमें से लुप्त हो जावें और उनमें भगवद्धर्मों का प्रवेश हो जाता है जिससे भक्तों पर "तत्त्वों" एवं "काल" के लौकिक धर्मों का प्रभाव न ही होता । किन्तु भगवद्धर्म के सामर्थ्य से भक्तजनों की प्रपञ्च की आसक्ति छूट जाती है और

भगवान् ने केवल ऐश्वर्यादि छ गुणों से लीलाएँ की हैं, उन छ को एवं चार 'जन्म प्रकरण' के अध्यायों को पृथक् करने से शेष सतहत्तर रहते हैं । उनमें भगवान् ने उपर्युक्त प्रकार से लीलाएँ की है ।

योजनाकार श्रीलालूभट्टजी कहते हैं कि जब निरोध्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भक्त के नेत्रों का विषय स्वयं बन जाते हैं तब भक्त के नेत्रों में भगवान् का आनन्दमय स्वरूप एवं आनन्दमय लीलाओं का ही दर्शन होता रहता है जिससे वह भक्त प्रपञ्च भूल जाता है और उस आनन्द में लीन होकर आनन्दी हो जाता है । "रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति" श्रुति के अनुसार जीव अपने मूल रस स्वरूप को पाकर स्वयं भी आनन्द रूप हो जाता है । (१)

भगवदासक्ति ही बन जाती है। आचार्य चरण दृष्टान्त से समझाते हैं कि काष्ठ में अग्नि के प्रवेश से काष्ठ से काष्ठ के धर्म लुप्त होकर, अग्नि के धर्म काष्ठ में आ जाते हैं उस समय काष्ठ पर हाथ रखने से हाथ में उष्णता प्रवेश करती है। वैसे ही तत्व एवं काल में भगवद्धर्मों के प्रवेश से तत्व एवं काल भी भगवद्रूप होकर भक्तों के निरोध में सहायक होते हैं। फलितार्थ यह है कि भक्तों के तत्त्वरूप देहेन्द्रियादि में भगवान् के प्रवेश से भक्तों की लौकिकता निवृत्त होकर, उनमें अलौकिकत्त्व सिद्ध हो जाता है। जिससे प्रपञ्च विस्मृति हो कर अलौकिक भगवद्रूप में आसक्ति होती है। इसी प्रकार सात्त्विक प्रकरण में काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है। जिससे उन भक्तों का भी निरोध सिद्ध होता है॥ ५॥

कारिका—स्वभावस्यान्यथा भावो न वै शक्यः कथंचन। अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः॥ ६॥

कारिकार्थ—स्वभावस्यान्यथा– स्वभाव किसी भी प्रकार बदल नहीं सकता है, इसलिये तीन प्रकार के जीवों के साथ भगवान् ने तीन प्रकार से लीला की है॥ ६॥

स्व सामर्थ्य से जीव अपने स्वभाव बदल नहीं सकते हैं भगवान श्रीकृष्ण यदि भक्तों के स्वभाव को बदल कर लीला करते तो लीला तो हो सकती थी; किन्तु उसमें भगवान् को परिश्रम होता और लीला में रसालता न आती एवं वैविध्य भी न होता। अतः सर्वकरण समर्थ एवं निर्गुण स्वरूप होते हुए भगवान् ने भक्त के स्वभावानुकूल लीलाएँ कीं। जिससे इस कार्य में भगवान् की भक्तवत्सलता, परम दयालुता तथा भक्ति मार्ग की उत्तमता सिद्ध होती है।

इस जगत में गुणानुसार तीन प्रकार के जीव होते हैं—कोई सात्त्विक, कोई राजस तो कोई तामस। इसलिये उनके स्वभाव भी एक प्रकार के नहीं होते हैं। भगवान् श्रेष्ठ गुरु दयालु एवं उद्धारक हैं, इसलिये भक्त की भूमिका का विचार कर स्वयं भक्त स्वभावानुकूल बन, उस प्रकार की लीलाएँ कर सबका उद्धार करते हैं। भक्तिमार्ग में भगवान् श्रीकृष्ण ही परम फल है। भगवान् में स्नेह और भगवान् की सेवा को ही वेदों ने श्रेष्ठ और प्रधान फल बताया है।

कारिका—लौकिकं तामसे मुख्यं कामान्ता च कृतिः स्फुटा। कामोदभूते तथा प्रीतिस्तेनादौ तन्निरूप्यते॥ ७॥

कारिकार्थ—लौकिकं तामसे–तामस भक्तों में लौकिक मुख्य है। इसलिये इस तामस प्रकरण में काम लीला का स्पष्ट वर्णन है। तामस में जब काम उत्पन्न होता है तब ही प्रीति होती है। इसलिये तामस प्रकरण का पहले वर्णन किया है।

भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम स्वरूप की सेवा और स्नेह श्रेष्ठ एवं मुख्य फल है, अन्य मोक्षादि फल तो पुरुषोत्तम के सम्बन्ध से ही फल माने जाते हैं। भगवान् पूर्ण निरोध करना चाहते हैं, वह उन भक्तों में हो सकता है, जो दृढ़मति एवं दृढ आग्रही हों। तामस जीवों की बुद्धि ऐसी होती है कि वे एक बार जिसको अपना लेते हैं, उसका वे कदापि त्याग नहीं करते; अतः तामसमति कहते हैं। सात्त्विक बुद्धि वाले जीव शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुकूल चलते हैं, उनको जैसा कोई मार्ग बताता है, उसमें उनकी प्रवृत्ति हो जाती है, वे लोग प्रायः अस्थिर विचार वाले होते हैं। राजस गुण वाले विक्षिप्त चित्त वाले होते हैं, जिससे लौकिक तथा अलौकिक में आसक्त होने से उनको स्वरूप विस्मृति हो जाती है। अतः इन दोनों का पूर्ण निरोध तमोगुण वालों के समान नहीं होता है। तमोगुण वालों में लौकिक मुख्य है। व्रज भक्तों में तमोगुण के कारण आग्रहीपन था, इसलिये जिसमें भी उनका अनुराग हो गया उसे उन्होंने कभी छोड़ा नहीं। लौकिक में भी यही सर्वत्र देखा जाता है। व्रजवासियों का प्रकट पूर्णानन्द श्रीकृष्ण स्वरूप में ऐसा दृढ़ स्नेह हो गया था, जो वे उस स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते थे। उन्होंने भगवान के उपदिष्ट धर्म एवं उद्धव के द्वारा मिले हुए ब्रह्मज्ञान की भी तिलांजलि दे दी। इन कारणों से सर्वात्मभाव से पूर्ण निरोध इन व्रजभक्तों को ही सिद्ध हुआ है। इसलिये पुष्टिमार्ग की गति, मर्यादा मार्ग से विपरीत है। इसको समझाने के लिये ही इस प्रकरण को तामस प्रकरण कहते हैं। वास्तव में तो यह प्रकरण निर्गुण ही है।

मर्यादा मार्ग से इस पुष्टि भक्ति मार्ग की विशेषता यह है कि जो "काम" मर्यादा मार्ग में मुक्ति का प्रतिबन्धक है, वही "काम" यहाँ अगणित आनन्द रूप, अन्तिम फल का दाता है।

मर्यादा मार्ग में, मर्यादा, भक्ति अथवा ज्ञान से भगवान् का प्राकट्य होता है। पुष्टिभक्ति में, 'काम' से अर्थात् प्रभु प्राप्ति की आन्तरिक अखंड सतत कामना से भक्त में दीनता आती है, जिस दीनता से प्रभु प्रकट होते हैं। उस स्वयं प्रकट आनन्द स्वरूप में भक्त का सुदृढ़ स्नेह होता है न कि मर्यादानुसारी स्नेह होता है। इस प्रकरण में भगवान् ने निःसाधन दीन भक्तों को वह भजनानन्द दिया, जो साधनों से अप्राप्य एवं ब्रह्मादिको को भी दुर्लभ है। भगवान् ने व्रज-भक्तों की अधीनता स्वीकार की किन्तु आत्माराम स्वयं भगवान् में भी भक्तों के साथ रमण की कामना होती है। इसी प्रकार भक्त एवं भगवान् दोनों में परस्पर मिलने की इच्छा से दोनों में गाढ़ स्नेह उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न अलौकिक स्नेह से ही लीलाएँ हुई हैं।

कारिका—बाललीला मध्यलीला प्रौढलीला तथैव च। कामलीलेति लोके वै चतस्रः सुखदाः स्मृताः ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—बाललीला मध्यलीलाः—लोक में निश्चय से बाललीला, मध्यलीला प्रौढलीला और कामलीला ऐसी चार प्रकार की लीलाएँ सुख देने वाली होती हैं।

२८ अध्यायों के इस तामस प्रकरण में 'प्रमाण', 'प्रमेय', 'साधन' और 'फल' नाम के चार अवान्तर प्रकरण हैं। इस कारिका में जिस प्रकरण में जो जो लीला की है, वह बतलाते हैं। पहले प्रमाण प्रकरण में बाललीला की है। दूसरे प्रमेय प्रकरण में पाँच वर्ष से ग्यारह वर्ष पर्यन्त पौगण्ड मध्यलीला तीसरे साधन प्रकरण में प्रौढ़लीला और चौथे प्रकरण में रासलीला फलात्मक लीला की है। ये भगवान् की चारों लीलाएँ भक्तों को सुख देने वाली हैं।

कारिका -एकं भगवतः कार्यं बह्वर्थानां च साधकम्। प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च वर्ण्यते ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—एकं भगवतः कार्य—भगवान् की एक लीला बहुत अर्थों के प्रयोजनों को सिद्ध करती है। समग्र प्रपञ्च की विस्मृति और भगवान् में पूर्ण आसक्ति का वर्णन है।

यदि संशय हो कि भगवान ने उपर्युक्त बाल, मध्य, प्रौढ एवं कामलीला चारों लीलाएँ मनुष्यरूप तथा लौकिक रीति से दिखाई है तब भगवान् को मनुष्य समझने से उनका निरोध कैसे सिद्ध हुआ होगा? तब ऐसी शंका की निवृत्ति इस कारिका से करते हैं कि भगवान् की एक लीला अनेक कार्य सिद्ध करती है। जैसे कि भगवान् ने पूतना के दूध को पीते हुए उसके प्राण लेने की एक ही लीला से अनेक कार्य सिद्ध किये हैं।

(१) पूतना वध से अपना वीर्य प्रकट किया, (२) पूतना की मुक्ति, (३) लोक और वेद में अपने प्रमेय बल की विशेषता, (४) पूतनाभक्षित बालकों का उद्धार, (५) अवशिष्ट अन्य बालकों की रक्षा, (६) माहात्म्य ज्ञान से व्रज वासियों का श्रीकृष्ण में स्नेह होना, (७) पूतना मोक्षादि लीला श्रवण से विस्मय—इत्यादि अनेक कार्य हुए। वैसे ही अन्य लीलाओं से भी अनेक कार्य हुए।

कारिका—येनैव त्रिविधा भक्ता न स्मरन्ति जगत् क्वचित्। कृष्णे च सन्नतात्मानस्तत्कार्यं भगवत्कृतम् ॥ १० ॥

कारिकार्थ—येनैव त्रिविधा भक्ताः—प्रपञ्च की विस्मृति और भगवदासक्ति के कारण ही तीनों प्रकार के भक्त कभी भी जगत् का स्मरण नहीं करते हैं और सर्वदा कृष्ण में ही मन वाले होते हैं कि यह कार्य भगवान् ने किया है ॥ १० ॥

दशम स्कन्ध की निरोध लीलाओं में श्री बलदेवजी ने भी लीलाएँ की हैं तो इससे सब चरित्र श्रीकृष्ण चरित्र कैसे माना जाय? इसके उत्तर में कहते हैं कि फलितार्थ से जाना जाता है कि सम्पूर्ण लीलाएँ भगवान् की ही हुई हैं। इसलिये सब भक्त श्रीकृष्ण स्वरूप में ही नतात्मा अनुरक्त हैं। बलदेव चरित्र भी पुरुषोत्तम का ही चरित्र है। क्योंकि वे लीलाएँ श्रीकृष्ण स्वरूपाविष्ट बलदेवजी ने की हैं न कि केवल बलरामजी ने की हैं। इसलिये, मुख्य स्वरूप लीलाकर्ता, श्रीकृष्ण ही थे; अतः सर्व का निरोधादि श्रीकृष्ण में ही हुआ है। इसीलिये ब्रह्माजी ने २-७-३५ श्लोक में कहा है कि **'बलपार्थभीष्मव्याजाह्वयेन'** अर्थात् बलराम, अर्जुन, भीष्मादिक के तो केवल नाम मात्र हैं वास्तव में सब कुछ आपने ही किया है।

कारिका—बाललीला सप्तविधा प्रथमं सा निरूप्यते। बालभावरता ये हि तेषां रोधस्ततो भवेत् ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—बाललीलाः सप्तविधाः—सात प्रकार की बाललीला है। बालभाव के अनुरक्त भक्तों का बाललीला से निरोध होता है। इसलिये प्रथम उसका निरूपण है ॥ ११ ॥

२८ अध्यायों के तामस प्रकरण में बाललीला का वर्णन प्रथम अवान्तर प्रमाण प्रकरण के सात अध्यायों में किया गया है। सात अध्याय इसलिये हैं कि भगवान् ने बाललीला सात प्रकार से करके, जो जो भक्त जिस जिस बालभाव के प्रेमी थे उनका उन उन लीला द्वारा निरोध सिद्ध किया है।

कारिकाएँ—उत्सवाविष्टचित्ता ये ह्याश्चर्याभिनिवेशिनः। अलौकिकरता ये च ये चोपद्रवणोत्सुकाः ॥ १२ ॥
स्त्रीस्वभावरता ये वै ये च तत्त्वे च लौकिके। सर्वोद्योगपरा ये च तेषां रोधो निरूप्यते ॥ १३ ॥
जन्मोत्सवो हरेरत्र पञ्चमे विनिरूप्यते। आवश्यकं परित्यज्य कृतं तदिति चोच्यते ॥ १४ ॥
अन्यथा ज्ञानशङ्का च तेनैव विनिवार्यते। उत्सवस्त्वन्यथा न स्यात् द्रव्यानयनमेव च ॥ १५ ॥
आसक्तिबोधनार्थाय तस्यान्ते भयवर्णनम् ॥ १५½ ॥

कारिकार्थ—उत्सवाविष्टचित्ता ये:—अब आचार्यचरण इन कारिकाओं से सात प्रकार के भक्तों के भावों का स्पष्टीकरण करते हैं—(१) प्रथम तो जो उत्सव में आविष्ट चित्तवाले, (२) और अवश्य आश्चर्ययुक्त मन वाले, (३) अलौकिक

के अनुरागी, (४) उपद्रव देखने की इच्छा रखने वाले, (५) स्त्रीस्वभाव वाले, (६) लौकिकत्व के चाहने वाले, (७) सर्व प्रकार के उद्यमशील। इन सात प्रकार के भक्तों के निरोध का वर्णन प्रथम प्रमाण प्रकरण में किया है।

पाँचवे अध्याय में भगवान् के प्रकट होने के उत्सव का वर्णन किया गया है वह उत्सव नन्दरायजी ने आवश्यक कार्य छोड़ कर किया है।

अन्यथाज्ञान शंका :—इससे अर्थात् आवश्यक कार्य छोड़कर जन्मोत्सव करने से ही अन्यथा ज्ञान की शङ्का को मिटाया गया है यह बालक दूसरे का पुत्र है मेरा पुत्र नहीं ऐसे अन्यथा ज्ञान की सम्भावना ही नहीं है। यदि यह शंका न मिटी होती तो उत्सव होता ही नहीं और भगवान् के उत्सव के लिये इतने उत्तम द्रव्य सामान न मंगाये जाते और न दान में दिये जाते।

नन्दरायजी की आसक्ति को जताने के लिये राजा कंस को कर देने के बाद **''नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले''** ऐसा भयका वर्णन है।

अब श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि—तामस-राजस और सात्विक प्रकरण के अवान्तर प्रमाण प्रमेय-साधन-फल प्रकरणों के सात सात अध्याय हैं। भगवान धर्मी है और भगवान् के ऐश्वर्य-वीर्य-यशः-श्री-ज्ञान और वैराग्य छ धर्म हैं इन ऐश्वर्य आदि धर्मों का प्रत्येक अध्याय में क्रम से वर्णन है और धर्मी का वर्णन सातवे अध्याय में है इसलिये प्रमाण आदि प्रकरण के सात अध्याय है। तामस प्रकरण के प्रथम 'प्रमाण अवान्तर प्रकरण' में सात अध्याय में भगवान ने की हुई बाललीला के अधिकारी सात प्रकार के हैं। उन सात प्रकार के अधिकारियों के स्वभाव का वर्णन बारहवीं तथा तेरहवीं कारिका में आया है।

भगवान् में आसक्त चित्त वाले भक्तों के हृदय में भगवान् के सम्बन्ध मात्र से सकल लीलाएँ स्फुरित हो जाती हैं।

उत्सवाविष्टचित्ताः—पांचवे अध्याय में नन्दरायजी द्वारा किये हुए भगवान् श्रीकृष्ण के प्राकट्य के महोत्सव से 'उत्सव' में संमिलित आविष्ट चित्त वाले भक्तों का निरोध सिद्ध हुआ।

छठे अध्याय में '**हरिं जगाम शरणं**' हरि के शरण जाने से ही भय-निवृत्ति हो सकती है, ऐसा बताने वाली लीला ही तत्त्व है तथा **''पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना''** जैसा अनधिकारी जीव की मुक्ति से 'प्रमेय बल का तत्वपना बताया गया है। नारदोक्ति के द्वारा लोक तत्त्व जताया है इत्यादि। लौकिक एव परमार्थ तत्वों की लीला से शरणागतहीन तत्त्व से प्रेमी भक्तों का निरोध सिद्ध किया गया है।

आश्चर्याभिनिवेशिनः—सातवें अध्याय के '**शकटभञ्जनादि**' लीला से भगवान् ने आश्चर्ययुक्त मन वाले, भक्तों का निरोध सिद्ध किया है।

अलौकिकरताः—आठवें अध्याय में, अनुरक्त और श्री गर्गजी से कहे गए भगवान के कृष्ण वासुदेव आदि नामकरण लीला एवं रिंगण लीला भी, दैत्यनाशपूर्वक भक्तों का, इष्ट साधन वाली अलौकिक है। लोक में निन्दित नवनीत चौर्य, मृत्तिका-भक्षण, और मुखारविन्द में विश्वदर्शन आदि लीलाओं के अलौकिकत्व से आश्चर्य-चकित भक्तों का निरोध सिद्ध किया है।

नवम अध्याय में दधिभाण्डादि भंजन के उपद्रवों को भी अलौकिक समझने वाले उपद्रव-प्रिय भक्तों का निरोध सिद्ध किया है। दशवें अध्याय में नलकूबर, मणिग्रीव की लीला से, स्त्रीभाव राजस और तामस भाव में प्रेम वाले स्त्री स्वभाव-रत भक्तों का निरोध सिद्ध किया गया है।

सात प्रकार की लीलाओं से इस तरह सात अध्यायों में सात प्रकार के अधिकारियों का निरोध सिद्ध किया गया है।

आचार्यचरण आगे चतुर्थ अध्याय के अन्त में कहते है कि वसुदेवजी यशोदाजी की शय्या पर अपने पुत्र को विराजमान कर उनकी कन्या को लेकर घर गए। ऐसा कहा और पहले यशोदाजी ने जाना कि मेरे कुछ उत्पन्न हुआ है। पुनः माया के जाने पर यशोदा जागी और उनको पता चला कि मुझे पुत्र उत्पन्न हुआ है। ऐसा जानने पर जो सब कुछ हुआ वह **'नन्दस्त्वात्मज'** श्लोक से शुकदेवजी कहते हैं।

पुत्र वह है जो पिता से उत्पन्न होकर उसको 'पुन्नाम' नरक से बचावे। यह पुत्र नन्दजी से उत्पन्न हुआ है इसी से पुत्र होने के कारण नन्दजी उसका जात-कर्म संस्कार कराने लगे। मूल श्लोक में जो 'तु' अव्यय दिया है वह तु पद वसुदेवजीके गृह की भगवत् प्रादुर्भाव की कथा से उसका भेद दिखलाता है। इसीलिये यह कहा गया है कि **'नन्दस्त्वात्मज'** इति। यह बालक मेरी आत्मा से उत्पन्न होने से मेरा पुत्र है। जिसको जैसा अनुभव होता है शुकदेवजी वैसा ही कहते हैं; क्योंकि भगवान् ने उनकी बुद्धि वैसी ही बना दी है। यदि भगवान् ऐसी बुद्धि न बनाते, तो न भगवान् की लीला ही हो सकती थी और न भगवान् को, जो जो चरित्र करने थे, वे ही हो पाते, इसलिये यह पुत्र मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ऐसी नन्दजी

की बुद्धि हो गई। इसलिये कहा है, कि 'आत्मज उत्पन्न इति' पुत्र प्रकट हुआ। वासुदेव व्यूह का प्राकट्य यहाँ ही हुआ है, यह सिद्धांत है। यदि ऐसा न होता और केवल माया ही प्रकट होती तो, माया के लिये उत्पन्न हुए दूध को, भगवान् नहीं पीते और न निश्चयात्मक रूप से शुकदेवजी ही ऐसा कहते जाताह्लादः—अन्तःकरण की प्रतीति से भी यह मेरा पुत्र है-ऐसे निश्चय को बताने के लिये, नन्दरायजी को अपूर्व आह्लाद हुआ है, इसलिये श्रीशुकाचार्यजी ने कहा है कि 'जाताह्लाद इति'। श्रीनन्दरायजी के आह्लाद का कारण, पुत्र जन्म ही था। नन्दरायजी को अन्यथा ज्ञान नहीं था कि यह पुत्र और कहीं से आया है या किसी से सुना है कि तुम्हारे पुत्र हुआ है; किन्तु नन्दबाबा को सत्य एवं सुदृढ ज्ञान था कि मेरी आत्मा से ही यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस दृढ सत्य निश्चय के कारण, आह्लाद होते ही, प्राकृत जन-सामान्यजन श्री नन्दजी भी "महामना" परम उदार मन वाले हो गये। यद्यपि प्राकृतजन का मन सामान्य होता है, इसलिये वे सब कार्य सामान्य ही करते हैं, किन्तु श्री नन्दरायजी ने महत् मन से महोत्सव की तैयारी की। वह महोत्सव केवल लौकिक रीति से ही नहीं मनाया; किन्तु शास्त्रविधि के अनुसार कार्य करने के लिये वेदों को जानने वाले विप्रों को बुलाया, जिससे कार्य व्यर्थ और निन्दित न हो। श्रुति भगवती ने कहा है कि '**यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वाः वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति**' वेद जानने वाले ब्राह्मणों में सब देवता रहते हैं। सर्व देवताओं के सान्निध्य में ही महान् उत्सव होते हैं। श्री नन्दरायजी ने उत्सव में वेद और लोक के अनुसार सब कर्तव्य किये। '**स्वतः**' स्नान कर देह की शुद्धि की। जनना-शौच में वैदिक कर्म कैसे किया इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि वे 'शुचि' नालच्छेदन विधि के पूर्व में पवित्र थे किन्तु दूसरी भी शुद्धि करने लगे। उत्सवादि शुभ कार्यों में अलङ्कार अवश्य पहनने चाहिये, इसलिए 'अलंकृत' कहा है। यदि उत्सवकर्ता अलङ्कार न पहने तो उत्सव की शोभा ही न हो। इसलिये कहा है कि 'विशिष्टालङ्कार उत्सवः' जब वस्त्र आभूषणादिकों से सब सुसज्जित होते हैं तब वह उत्सव कहा जाता है या समझा जाता है।

प्रकाशकारः—पितुः पुत्रः—श्री प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तमजी, आचार्यचरणों के "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" श्लोक के विवरण में श्री सुबोधिनीजी में दिये हुए पितुः पुत्रः शब्दों पर प्रकाश डालते है कि पितुः पुत्रः का "श्रीनन्दरायजी" ऐसा भावार्थ है। क्योंकि अपने घर पुत्र की प्राप्ति होने से श्री नन्दरायजी ने पितृओं को "पुन्नाम" नाम के नरक से मुक्त किये इसलिये श्रीनन्दरायजी यथार्थ रूप में पिता के पुत्र बने अतः पितुः पुत्रः का श्रीनन्दः ऐसा तात्पर्य समझना। श्री नन्दरायजी भी भगवान् श्रीकृष्णजी को पुत्र स्वरूप से प्राप्त कर स्वयं भी मुक्त हुये और पितरों के ऋण से भी सर्वथा मुक्त बन गये ऐसा मन में समझने लगे कि अब मेरा भी उद्धार होगा।

आत्मज उत्पन्ने—यदि ऐसा संशय मन में आवे कि सर्वज्ञ श्रीशुकाचार्यजी ने अजन्मा भगवान् के लिये "आत्मज" पद का प्रयोग कैसे किया? तब श्री सुबोधिनीजी में उसका समाधान बताया कि शुकदेवजी आत्मवेत्ता भक्तों में श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ होने के कारण यह जानते थे कि भगवान की यह लीला है कि भगवान ने निज स्वरूप में नन्दजी की पुत्रमति करा दी है इसलिये श्री नन्दबाबा भगवान को निश्चिततया अपना पुत्र ही जानत थे और नन्दजी का ऐसी ही प्रतीति हो रही है। इस हेतु से सर्वज्ञ श्री शुकाचार्य जी ने "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इस श्लोक में "आत्मज" शब्द का प्रयोग किया है।

य द ऐसा संशय हो कि अजन्मा भगवान् के लिये "उत्पन्न" जन्म लिया ऐसा पद शुकदेवजी ने, क्यों कहा? इस संशय के निवारण के लिये श्री सुबोधिनी में उत्पन्न पद का भावार्थ कहा है कि यह शब्द 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूतः' वासुदेव व्यूह यहाँ श्री नन्दरायजी के गृह में हुआ अर्थात् शुकदेवजी ने जो 'उत्पन्न' शब्द श्लोक में कहा है वह अजन्मा पुरुषोत्तम के लिये नहीं दिया है, किन्तु वासुदेव व्यूह जो नन्दरायजी के घर में प्रकट हुआ है उसके लिये दिया है।

यहां पर एक संशय होगा कि आचार्यचरणों ने "निबन्ध" में वासुदेव का प्रादुर्भाव वसुदेवजी के हृदय में कहा है, और यहाँ श्री सुबोधिनी में नन्दरायजी के घर उसका प्राकट्य कैसे कहा गया?

तब इस संशय के निवारण के लिये श्री सुबोधिनीजी में कहते हैं कि यहाँ तो वासुदेव व्यूह से बाहर प्रकट हुए और यदि बाहर प्रकट न होते तो माया के लिये उत्पन्न दूध को भगवान् कैसे आरोगते? और वासुदेव के कार्य-मोक्ष, भक्ति, पद चरित्र जो व्रज में करने थे, वे कार्य कौन करता? इसलिये वासुदेव यहाँ ही प्रादुर्भूत हुए, यह सिद्धान्त है।

श्लोक में दिये हुए 'शुचिः' का रहस्य समझाते हैं कि नालच्छेदन के बाद "जनना" शौच लगता है। और जात-कर्म, नालच्छेदन से पहिले किया जाता है, इसलिये जात-कर्म करने के समय, 'जनना' शौच न होने से नन्दरायजी पवित्र थे उनको 'जनना' शौच नहीं था।

अब योजनाकार श्री लालू भट्टजी का इस विषय में अभिप्राय देखिये आप कहते है कि आचार्यचरणों ने 'पितुः पुत्रः' ऐसा जो सुबोधिनीजी में कहा है इसका आशय ऐसा कि यहाँ भगवान् का पधारना मत्स्य-कूर्म-वराह-नृसिंहके प्राकट्य के समान

नहीं है किन्तु श्री नन्दरायजी के पुत्र बनकर पधारना हुआ है इसलिये 'पितुः पुत्रः' का आशय कि नन्दजी को भगवान् के पिता होने के नाते उनका जात-कर्म कराना योग्य ही था इसलिये कहा है कि 'पितुः पुत्रः'।

यदि आप संशये करें कि भगवान् में नन्दजी की पुत्रत्वबुद्धि वास्तविक नहीं थी तो की हुई लीलाएँ भी वास्तविक नहीं होंगी ? तब समाधान सुनिए कि श्री नन्दजी की पुत्रत्वबुद्धि का आशय यह है कि उनकी पुत्रत्वबुद्धि, मायिकी नहीं थी और न लीलाएँ ही मायिकी थीं, किन्तु नन्दजी का यह समझना कि यह मेरा पुत्र मेरी देह से लौकिक पुत्रवत् उत्पन्न हुआ है, ऐसी जो नन्दजी की बुद्धि थी वह उचित नहीं थी। अवशिष्ट पुत्रत्वबुद्धि सत्य थी, क्योंकि भगवान् वहाँ अलौकिक रीति से प्रकट तो हुए ही थे और पुत्र भाव से, रमण के लिये स्वयं प्रभु ने श्री नन्दरायजी के हृदय में, अपने में पुत्रभाव की बुद्धि उत्पन्न कर दी थी।

अब श्रीलेखकार श्रीवल्लभ लालजी महाराज श्री श्रीसुबोधिनीजी की "नन्दस्त्वात्मज" श्लोक की भी सुबोधिनीजी की **"तुशब्दः पूर्वकथां व्यावर्तयति शङ्कां च व्यावर्तयति"** इस पंक्ति का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं कि कारागृह में भगवान् के प्राकट्य समय जैसे श्रीवसुदेवजी ने जातकर्म न कराके केवल स्तुति ही की थी वैसे यहाँ नन्दरायजी को भी स्तुति ही करनी चाहिये थी न कि जात-कर्म संस्कार कराना चाहिए एवं यह अलौकिक बालक है, वसुदेवजी के आने की सम्भावना से, यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसी शंका होती तो, जात-कर्म में नन्दजी की प्रवृत्ति नहीं होती।

इन दोनों विचारों के निवारण के लिये 'तु' शब्द की व्याख्या **'पूर्वकथां'—'वसुदेववत् स्तुतिकथां कीदृशोऽयं बाल इति शंकां व्यावर्तयति'**—वसुदेवजी के समान स्तुति कथा और यह कैसा अद्भुत रूप बालक है, इसका निवारण करते हैं। वसुदेवजी के वहाँ तो भगवान् ने पूर्व जन्म स्मरणार्थ चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये थे इसलिये वहाँ पर वसुदेवजी ने स्तुति की; परन्तु यहाँ नन्दालय में तो लौकिक बालवत् दर्शन देने से पूर्व कथा से इसकी पृथकता दिखा दी और नालसहित बालक रूप में दर्शन देने से अलौकिकता की शंका भी मिटा दी।

श्री लेखकारजी अब श्री सुबोधिनीजी का **'केवलं मायाजनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत'** इस पंक्ति का रहस्य बताते हैं कि—भगवान् श्रीकृष्णजी का यशोदाजी के स्तन्य पान का कारण अन्तःस्थित बालकों का पोषण है। यदि मात्र, मायाजनित स्तन्य होता तो, वे बालक मुग्ध होने से, लीला रस पान नहीं कर सकते थे इसलिये माया के दोष की निवृत्ति के लिये, 'वासुदेव' का सम्बन्ध यहाँ आवश्यक था। यदि मात्र 'वासुदेव' जनित स्तन्य होता तो, बालक मुक्त हो जाते, तो भी लीला रस ले नहीं सकते थे। इसलिये 'केवल' शब्द देकर समझाया है कि, 'माया' और 'वासुदेव' दोनों साथ थे, दोनों का प्राकट्य नन्दरायजी के यहाँ हुआ है। ऐसे स्तन्य पान से, बालक न मुग्ध हुए और न मुक्त हुए परन्तु स्तन्य से पुष्ट होकर लीला-रस पान करने लगे।

श्री पुरुषोत्तमजी महाराज द्वितीय श्लोक की श्री सुबोधिनीजी में दिये हुए 'सार्थकत्वं' पद का रहस्य बताते हैं कि—यदि भगवत्प्राकट्य पर, जात कर्म वेद विधि-पूर्वक न होता तो **'सर्वेवेदाः यत्पदम्'** यह श्रुति सार्थक न होती, और भगवती श्रुति कुपित होती इसलिये नन्दजी ने कर्म द्वारा श्रुति की सार्थकता सिद्ध की। यों तो अजन्मा भगवान् किसी के आत्मज नहीं होते हैं किन्तु लीला के कारण ही, भगवान् ने नन्दरायजी के मन में, अपने में, पुत्र की भावना को उत्पन्न किया है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि यदि भगवान् में, गर्भ और बीजादि, दोषनिवृत्तिनिमित्त जात कर्म किया गया ऐसा मानेंगे तो, प्रथम जो भगवान का अलौकिक स्वरूप और प्राकट्य माना गया है, उसका विरोध होगा और भगवान् में गर्भादि दोष मानना, ये शब्द कर्णकटु लगते हैं। ऐसी शंका की निवृत्ति के लिये **'नैमित्तिकः'** शब्द श्रीसुबोधिनीजी में दिया है, उसका तात्पर्य, श्री पुरुषोत्तमजी बताते हैं कि यह जात-कर्म संस्कार गर्भादि दोषों की निवृत्ति के लिये नहीं किया गया था, किन्तु प्राकट्य के निमित्त किया गया था। भगवान् में तो गर्भादि दोष लेश मात्र भी नहीं है। केवल नन्दरायजी को पुत्र भाव स्थिर कराने के लिये ऐसी प्रतीति हुई है।

कोई कहे कि आप के कथन के अनुसार माना जायगा तब तो भगवान के लिये भी कर्मों की आवश्यकता माननी पड़ेगी तब उसका समाधान करते हैं कि यह सब भगवच्चरित्र है। यह सब भगवान् ने अपनी इच्छा से किया है। नहीं तो परमार्थ स्वरूप भगवान् में वैदिक मर्यादादि की कौनसी आवश्यकता है ?

लेखकार द्वितीय श्लोक में श्री सुबोधिनीजी के 'भगवच्चरित्र' में **'वेदमिति सिद्धान्तः'** इसका भाव बताते हैं कि यद्यपि भगवान् में गर्भ और बीज से होने वाले कोई दोष नहीं जन्म निमित्त हि जात-कर्म संस्कार हुआ, किन्तु उन दोषों के न होते हुए भी उन गार्भिकादि दोषों के अभाव के लिये किया हुआ संस्कार भी, एक प्रकार से भगवत्सेवा ही है। ऐसा करने से बालमुकुन्द भगवान् को प्रसन्नता होगी। जैसे भगवान् को पुष्पादि समर्पण आदि उपचारों से आनन्द आता है वैसे ही जात-कर्म से भी आनन्द प्राप्त हुआ। इस विषय का विशेष विश्लेषण पूतना प्रसंग को टिपणीमें देखिये ॥ २ ॥

श्री लेखकार तृतीय श्लोक की श्री सुबोधिनीजी में निर्दिष्ट **'द्रव्यक्रियाणां'** इसका तात्पर्य बताते हुए लिखते हैं कि 'द्रव्य' सुवर्णादि पदार्थ और गौओं के सजाने की क्रिया में कमी आई नहीं। एक ही गौ को सजाने में सब गौ सज गई अन्यथा अलग-अलग सजाने में समय बहुत लगता।

सर्व वैदिक कर्मों में पहले **'स्वस्तिपुण्याहवाचन'** किया जाता है। अतः नन्दरायजी ने भी पहले स्वस्तिवाचन पढ़वाया। जन्म के समय किये जाने वाले, वैदिक संस्कार का नाम—'जात कर्म संस्कार' है तथा क्षत्रिय व वैश्यों का यह वैदिक कर्म ब्राह्मण द्वारा होता है। कर्म की विधि यजमान के पुरोहित की शाखानुसार होती है। उत्पन्न हुए पुत्र का विधि अनुसार संस्कार हुआ क्योंकि भगवान् ने अपने में पुत्र भाव प्रकट किया था, इसलिये वैदिक कर्म की सार्थकता एवं गर्भ के बीजसम्बन्ध के दोषों का भी, अभाव हुआ। यह जात कर्म संस्कार, नैमित्तिक था। वास्तव में यह सब भगवान् की लीला ही थी। यह सिद्धान्त है कि पितृदेवार्चन का तात्पर्य "नान्दी" श्राद्ध है। नन्दरायजी एवं यशोदाजी ने मिलकर शास्त्रानुसार यह जात कर्म संस्कार वैदिक मार्ग में अपनी निष्ठा दिखाने के लिये किया ॥ २ ॥

शुकाचार्यजी श्री नन्दरायजी को महामना कहते हैं उसका भाव आचार्यचरण बताते हैं कि परमोदार श्री नन्दरायजी ने अलंकृत दो लाख गौ देने का केवल सङ्कल्प नहीं किया, किन्तु दे दी। इसे बताने के लिये श्लोक में 'प्रादात्' पद दिया है। भगवत् सान्निध्य होने के कारण द्रव्य एवं क्रियाओं में कमी नहीं हुई। विप्र का अर्थ विशेष रीति से पूरक होने के कारण गोधन की भी कमी न हुई। गौ के अतिरिक्त रत्नों के समूह, सोने और वस्त्रों से आवृत तिल के पर्वतों का दान किया। अन्नों में तिल मुख्य है। 'गौ, हिरण्य, वस्त्र, तिल, रत्न' इन पाँचों पदार्थों का दान किया। ये सब प्रकार के दान देवसम्बन्धी हैं ॥ ३ ॥

बहुदत्तमिति—यदि ऐसा मनमें विचार आया कि श्रीनन्दरायजीने बहुत दान दिया तब समाधान करते हैं कि इतना देने पर भी श्रीनन्द बाबा के पास अभी बहुत है यह बात स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि **"शुद्ध्यर्थम्"** द्रव्यों की शुद्धि के लिये भी श्रीनन्दरायजी को इतना दान देना चाहिये यह बताते हुए दूसरों के समान कालादि के साथ नव द्रव्यों का निरूपण करते हैं कि **कालेनेति**—कालादि से प्राणी और सर्व पदार्थ शुद्ध होते हैं। नव प्रकार के द्रव्य शुद्धि करने वाले हैं, उनमें काल मुख्य है कारण कि सर्व पदार्थ काल द्वारा उत्पन्न होते है। **उत्पन्नः पुत्रः शतं** – उत्पन्न हुआ पुत्र सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ऐसा वेद भगवान ने कहा है। इन सौ वर्ष के दस दशक बनते हैं उन प्रत्येक दशक के छत्तीस सौ दिनों का एक भाग अर्थात् दस दशक का एक दिवस अशुचि माना गया है। इस प्रकार सारी आयु के दस दशक के दस दिवस का काल अशुचि गिना जाता है। इसलिये संतान के जन्म के समय दस दिनों का आशौच शास्त्र ने बताया है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य का भाग भी अशुद्ध होता है। इन सब की अशुचिता कैसे निवृत्त हो सके उसको अब सूचित करते हैं। **"कालेन"** पद से कहते हैं कि जननाशौच की शुद्धि केवल स्नान से नहीं होती किन्तु दस दिन के काल से वैदिक कर्मों के लिये और सोलह दिन के काल से पुष्टिमार्गीय सेवादि कार्यों के लिये शुद्धि होगी। उसी तरह दस दिन का या सोलह दिन का काल वंश की शुद्धि करता है। शौच से देह का एक भाग शुद्ध होता है और स्नान से सर्वाङ्गशुद्धि होती है। लौकिक व्यवहार के लिए "काल-स्नान-शौच" यह तीन प्रकार की शुद्धि बताई। अब अदृष्ट आदि निमित्तों से बनी हुई अशुद्धि भी तीन प्रकार से निवृत्त होती है यह बताते हैं (१) **"संस्कारैः"**—बालक के जन्म समय किये जाने वाले "जातकर्मादि" संस्कारों से गर्भादि दोषों से संयुक्त 'देह' शुद्ध बन कर वैदिक यज्ञ यागादि वैदिक कर्मों के लिये अधिकारी बनता है। इनको पञ्चभूत संस्कारत्व ही कहते हैं। (२) **"तपसा"** तपश्चर्या करने से अन्तःकरण की पवित्रता होगी। कितने महानुभाव अदृष्ट की उत्पत्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं। (३) **'इज्या'** इज्या का अर्थ याग होता है, याग से भगवान् प्रसन्न होते हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि इसी प्रकार संस्कारों से आधिभौतिक के, तप से आध्यात्मिक के और यज्ञ से आधिदैविक के तीन संस्कार अर्थात् तीन प्रकार की शुद्धि बतायी। इसी प्रकार काल-स्नान-शौच-संस्कार-तप-यज्ञ आदि छह प्रकार के संस्कारों से सर्व अन्तः शुद्ध होते हैं।

बहिः शुद्धिमाह—अब बाहर की शुद्धि कहते हैं—**'शुध्यन्ति दानैः'** दान से ही द्रव्यों की शुद्धि होगी। तात्पर्य यह कि दान के बिना और किसी प्रकार से द्रव्य शुद्धि नहीं होती। दान में भी अपने वित्त के अनुसार ही दान करना चाहिये। श्रीनन्दबाबा नेद्रव्य की शुद्धि के निमित्त ही दो लाख गोप्रदान किया। दान देने मात्र से द्रव्य की शुद्धि नहीं मानी गयी लेकिन यदि अल्प द्रव्य प्राप्त हो तो उसकी शुद्धि सन्तोष से होगी। तात्पर्य यह है कि दान और सन्तोष दोनों को द्रव्य शुद्धि के हेतु बताये। 'सोहमस्मि' मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार के ज्ञान से याने आत्मविद्या से जीवात्मा शुद्ध होता है। आत्मविद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर स्वरूप को समझ अपने कर्त्तव्य के योग्य बनता है।

महामना नन्दरायजी ने आनन्दविभोर बनकर परम उत्साह से पुत्रजन्म महोत्सव मनाया उसके बाद अन्य आवश्यक सर्व कार्य छोड़ कर, शीघ्र ही कंस को वार्षिक कर देने के लिये मथुराजी गये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि श्रीनन्दजी के मन में दृढ़ निश्चय था कि यह बालक मुझसे उत्पन्न हुआ है और मेरा ही पुत्र है। यदि नन्दरायजी के मन में स्वल्प भी शंका

होती, तो इस प्रकार उदार होकर, पुत्र के लिये अमूल्य वस्तुएँ न मंगाते और न पुत्र को प्यार से उठाकर गोदी में लेते। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि नन्दजी की निश्चित बुद्धि थी कि यह मेरा ही पुत्र है। महान् पुरुषों का ऐसा निर्मल मन होता है जो कभी पराई चीजों को अपनी कभी भी नहीं समझते हैं यह प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

अब प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी श्री सुबोधिनीजी में कहा हुआ "समानैः" पद का रहस्य खोलते हैं कि यह दान श्री नन्दरायजी के माहात्म्य का ख्यापक और शोधक होने से उचित है और वैसे ही अन्य शोधकों के सामान्याधिकरण (समान भाव) बताता है कि, यह इस द्रव्य का शोधक है, किन्तु आने वाले द्रव्य की शुद्धि के लिये दान का चिह्न है।

अब पुरुषोत्तमजी सौ वर्ष की आयु में दस दिन अशुद्ध हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि शत वर्ष का एक दसवां भाग दस वर्ष का होता है। प्रत्येक दस वर्ष का प्रथम एक दिन अशुद्ध है, इसी से एक साथ तो दस दिन अशुद्ध नहीं होते हैं तो जन्म के समय एक साथ दस दिन अशुद्ध क्यों मानते हो ? इस प्रकार के संशय का समाधान करते हैं कि दस दस वर्ष में पहला एक दिन, साधारण मनुष्य नहीं गिन सकेगा और वैसे नियम से अव्यवस्था हो जायगी और कोई वह आशौच पालन नहीं कर सकेगा, अतः सब की सुविधा के लिये ऋषियों ने जन्म समय के साथ में ही दस दिन के आशौच की व्यवस्था की, जिससे सबको सुविधा हो गई। इसी प्रकार द्रव्य की भी व्यवस्था समझना, तात्पर्य कि छत्तीस सौ रुपये पर एक रुपया अशुद्ध समझना चाहिये, उसकी शुद्धि स्नान से नहीं किन्तु दान से होती है।

नन्दरायजी ने गौएँ और द्रव्य का इतना महादान किया, जिससे पता चलता है कि श्री नन्दरायजी के पास भी बड़ी समृद्धि थी।

श्री लेखकारजी आचार्यचरणों के **'एतेषां भूतसंस्कारस्त्वमेव'** का स्पष्टीकरण करते हैं कि जातकर्मादि संस्कार से देह की शुद्धि होती है, न कि अन्तःकरण और अन्तर्यामी की शुद्धि होती है। परंतु तप से अन्तःकरण की शुद्धि और यज्ञ से अन्तर्यामी की शुद्धि होती है। अन्तर्यामी की शुद्धि का तात्पर्य है कि, यज्ञ करने से, अन्तर्यामी प्रसन्न होता है।

'परमात्मा मे शुद्धयन्ताम् (१) इससे जाना जाता है कि श्रुति में भी, यही शुद्धि का स्वरूप है। इसका विस्तार तृतीय स्कन्ध के पाँचवे अध्याय में **'हृदिस्थितो यच्छति भक्तिपूते'** इस श्लोक की टीका में किया गया है।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं चतुर्भिरध्यायैः कृष्णजन्म निरूपितम्। अष्टाविंशतिभी रोधस्तामसानां निरूप्यते ॥ १ ॥

पञ्चमे जातकं कृत्वा नन्दो दातुं करं गतः। मथुरां वसुदेवेन सङ्गतश्चेति वर्ण्यते ॥ २ ॥

एवं 'तस्यां रात्र्यां व्यतीतायाम्' इत्यादिना कंसकृत उद्योगो निरूपितः। अथ व्रजे भगवज्जन्ममहोत्सवं निरूपयति–नन्दस्त्वित्यादिना। तुशब्देन वसुदेवान्नन्दे विशेषं सूचयति–भगवत्प्राकट्ये वसुदेवो जाताह्लादोऽपि कंसभिया सङ्कुचितमनाः, अत एव जातकर्मादिकं कर्तुं नाशक्नोत्। नन्दस्त्वात्मजे उत्पन्ने श्रीकृष्णे पुत्ररूपेण प्रादुर्भूते सति जाताह्लादः, अत एव महामनाः अतिविस्तृतमनाः दानादावत्युदारचित्तो दैवज्ञान् ज्योतिर्विदो विप्रान् आहूय स्वयं स्नातः, अत एव शुचिः। ततोऽलङ्कृतश्च सन्। 'वेदज्ञान्' इति पाठे तु "यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" इति श्रुतेः सर्वदेवतासान्निध्यार्थं वेदविदामाह्वानं ज्ञेयम् ॥ १ ॥ ब्राह्मणैः स्वस्त्ययनं माङ्गलिकं सूक्तं वाचयित्वा आत्मजस्य पुत्रस्य जातकर्माख्यं संस्कारविशेषं विधिवत् कारयामास। वै इति संन्देहाभावाय। तथा विधिवत् पितृदेवार्चनं नान्दीश्राद्धादिकं च कारयामास। विधिवदित्यस्याग्रेऽपि यथोचितं सम्बन्धः ॥२॥ सम्यगलङ्कृते धेनूनां नवप्रसूतानां गवां नियुते द्वे लक्षे। तथा रत्नौघैः रत्नसमूहैः शातकौम्भेन सुवर्णेन अम्बरैः उत्तमवस्त्रैश्चावृतान् सप्तसङ्ख्याकान् तिलाद्रींश्च विप्रेभ्यः प्रादादित्यन्वयः। अद्रिपरिमाणं तु भविष्योत्तरे उक्तम्—'उत्तमो दशभिर्द्रोणैर्मध्यमः पञ्चभिर्मतः ॥ त्रिभिः कनिष्ठो राजेन्द्र तिलशैलः प्रकीर्तितः" ॥ द्रोणसङ्ख्या च—"खारी द्रोणाढकप्रस्था कुडवं च पलं पिचु। शाणको मासकश्चेति यथापूर्वं चतुर्गुणा" इति ॥ ३ ॥ ननु 'किमर्थं जातकर्मादिकरणम्' इत्यपेक्षायामाह—कालेनेति। यतः कालादिभिर्द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति, यतश्चात्मविद्यया 'अहं ब्रह्मास्मि' इति साक्षात्कारेण भगवदुपासनया वा आत्मा जीवः शुद्ध्यति, अतो जातस्य पुत्रस्य विशुद्ध्यर्थं तत् सर्वं कृतवानित्याशयः। विशुद्ध्यर्थमित्युपलक्षणं भगवत्प्रसादादेः, 'विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च' इति वक्ष्यमाणत्वात्। तत्र कालेन भूमिपाषाणादीनां जन्ममरणादिप्रयुक्ताशौचवतां च शुद्धिः, स्नानेन देहस्य, शौचेन प्रक्षालनेन हस्तपादादिदेहावयवानां वस्त्रपात्रादीनां चामेध्यस्पृष्टानाम्, संस्कारैर्जातकर्माभिषेकादिभिः बालस्य राजादेश्च, तपसेज्यया च इन्द्रियाणां मनसश्च, दानैर्व्यवहारोपार्जितधान्यादिद्रव्याणाम्, मनसश्च, सन्तुष्ट्याऽपि मनस इति विवेकः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पञ्चमे तूत्सवं सूनोर्नन्दः कृत्वा प्रसन्नधीः ॥ मथुरां गतवांस्तत्र श्लोका द्वात्रिंशदीरिताः (३२) ॥
चत्वार्युवाचेति (४) पादहीना देवा (३२ ।॥) अनुष्टुभः ॥ ५ ॥

नन्दस्त्विवति द्वयम् ॥ आत्मजे उत्पन्ने श्रीकृष्णे पुत्ररूपेण प्रादुर्भूते सति जाताह्लादः अत एव महामनाः दानादावत्युदारचित्तो नन्दस्तु दैवज्ञान् ज्योतिर्विदो विप्रान् आहूय स्वयं स्नातः अत एव शुचिः ततोऽलंकृतश्च सन् ब्राह्मणैः स्वस्त्ययनं वाचयित्वा स्वस्तिवाचनं कारयित्वा आत्मजस्य पुत्रस्य जातकर्माख्यं संस्कारविशेषं विधिवत्कारयामास । तथा ततः पूर्वं विधिवत् पितृदेवार्चनं नान्दीश्राद्धादिकं च कारयामास । अर्थक्रमेण पाठक्रमत्यागात् विधिवदित्यस्य अग्रेऽपि यथोचितं संबन्धः । अत्र प्रेमभक्ताः । यशोदाया द्विभुजः श्रीकृष्णः प्रादुर्भूतः स एव वासुदेवावतारः अत एवात्र आत्मज उत्पन्न इत्युक्तम् अन्यथा "नन्दस्तमात्मजं मत्वा" इति ब्रूयात् एवं स्थिते चतुर्भुजरूपाच्छादनाय देवक्या प्रार्थिते यशोदाहृदयस्थद्विभुजस्य तद्रूपाच्छादनपूर्वकं तत्रैवाविर्भाव आसीत् । स एवानीय वसुदेवेन पुनर्यशोदाशयने निहितः स एव व्रजादौ मधुपुर्यादौ च विजहार देवकीहृदयस्थचतुर्भुजरूपस्य तु तत्प्रार्थनयाऽन्तर्धानमेवासीत् । कृष्णस्य यशोदानन्दपुत्रत्वे खलु नैकद्वाः प्रयोगाः किंतु बहव एव । न ते सर्व एवामुख्यार्था भवितुमर्हन्ति । तथाहि "अदृश्यतानुजा विष्णोः" इति । "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः ।" इति नौमीड्य त इत्यादौ पशुपाङ्गजायेति "देहिनां गोपिकासुतः" इति । गौतमीये "बल्लवीनन्दनं वन्दे" इति क्रमदीपिकायामपि देवतासकललोकमङ्गलो नन्दगोपतनयः समीरित इति मन्त्रेपि नन्दपुत्रत्वसुबलसखत्वगोपीकान्तत्वादीनि परःसहस्राणि वचनानीति प्राहुः ॥ १-२ ॥ धेनूनामिति ॥ सम्यगलंकृते धेनूनां नवप्रसूतानां गवां नियुते द्वे लक्षे नियुतं दशलक्षमिति मते विंशतिर्लक्षाणि तथा रत्नौघैः रत्नसमूहैः शातकौम्भैः सुवर्णरसाक्तैः अम्बरैश्चावृतान् इदं च मेरुसाम्याय सप्तसंख्याकान् तिलाद्रींश्च विप्रेभ्यः प्रादात् । उत्तमस्तिलाद्रिर्दशद्रोण इत्यादि ज्ञेयम् ॥ ३ ॥ संस्कारैरेव गर्भशुद्धिरित्यत्र दृष्टान्तानाह—कालेनेति ॥ कालेन भूम्यादिनूतनजलादिद्रव्याणि स्नानेन देहादिशौचेन क्षालनेन वस्त्रादिसंस्कारैर्गर्भादि तपसेन्द्रियादि इज्यया ब्राह्मणादि दानैर्धनधान्यादि सन्तुष्ट्या मनो द्रव्यम् एवमेतानि द्रव्याणि कालादिभिः शुद्ध्यन्ति आत्मा तु आत्मविद्ययैव ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं पंचमे नंदस्य पुत्रजातकर्म मथुरागमनं वसुदेवसमागमश्चोच्यते नंद इति अत्रात्मजशब्दप्रयोगस्तु नंदस्वकीयपुत्रत्वप्रतीतेः न तु तदात्मजः कुतो भगवत्प्रणोदितेन वसुदेवेन नंदगृहं प्रापितत्वात् ॥१॥ तैः ज्योतिर्विद्भिर्विप्रैः ॥ २ ॥ नियुते द्वे लक्षे सप्ततिलगिरींश्च प्रादात् कथंभूतान् रत्नव्रातैः शातकौंभं सुवर्णं तत्तं तु युक्तैरंबरैर्वस्त्रैश्चावृत्तान् ॥ ३ ॥ गर्भादीनां शुद्धिप्रकारमाह कालेनेति । कालादिभिः द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति कालेन वसुधादिद्रव्यं स्नानेन शरीरादि शौचेन प्रक्षालनेनामेध्यलेपादि संस्कारैर्गर्भादि तपसा इन्द्रियाणि इज्यया यज्ञेन ब्राह्मणादिदानैर्धनानि संतुष्ट्यासंतोषेण मनः आत्मविद्यया परमात्मोपासनेन जीवात्मज्ञानेन चात्मा एतैर्द्रव्याणां यथा शुद्धिस्तथा दानादि पुत्रजातकर्मादि संस्कारैरेव गर्भाणां शुद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्दो महोत्सवं कृत्वा जातकं पञ्चमे शिशोः । मथुरामथ गत्वाऽऽप वसुदेवेक्षणोत्सवम् ॥ १ ॥

एवं 'तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां' इत्यादिना मथुरायां जातः प्राभातिकवृत्तान्त उक्तोऽथ व्रजे जातं वृत्तान्तमाह । नन्द इत्यादिना तत आरभ्येत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । नन्द इति । आत्मजे पुत्रे, उत्पन्ने सति, जातः आह्लाद आनन्दो यस्य सः । महदौदार्यप्रवणं मनो यस्य सः, नन्दः तु, दैवज्ञान् विप्रान् आहूय, स्नातस्तदुक्तप्रकारेण कृताप्लवः, अत एव, शुचिर्दानाधिकारतां प्राप्तः, अलंकृतश्च, आसीत् ॥ १ ॥ वाचयित्वेति । ततः, स्वस्त्ययनं माङ्गलिकं सूक्तं, वाचयित्वा, विधिवद्यथाविधि, आत्मजस्य जातकर्म कारयामास । तथा, पितरश्च देवाश्च तेषामर्चनं, कारयामास वै ॥ २ ॥ धेनूनामिति । ततः, समलंकृते वस्त्राभरणादिना सम्यगलंकृते, धेनूनां नियुते द्वे लक्षे, विप्रेभ्यः, प्रादात् प्रायच्छत् । तथा, रत्नौघा रत्नसंघाश्च शातकौम्भाम्बराणि सुवर्णरजताङ्कवस्त्राणि च तैरावृतास्तान्, सप्त, तिलाद्रीन् तिलपर्वतान् अपि, प्रादात् । अत्र तिलग्रहणं सप्त ग्रान्योपलक्षणमत एव सप्तेत्युक्तम् । एतेषां सप्त धान्यकृतसप्ताद्रीणां विरचनप्रकारस्तु सत्सङ्गिजीवनीयतृतीयप्रकरणगतजयाकृततद्दानप्रकरणतोऽवगन्तव्यः ॥ ३ ॥ हिरण्यादिद्रव्याणां मध्ये केषांचिद्दानादिभिरेव यथा शुद्धिस्तथाऽन्नदानादियुक्तजातकर्मादिसंस्कारैरेव गर्भाणां शुद्धिरिति दर्शयितुं प्रतिनियतानि शोधकानि दृष्टान्तत्वेनोदाहरति । कालेनेति । यथा, कालेन दशदिनात्मकेन, गेहभूम्यादिः शुद्ध्यति, स्नानं च शौचं च ताभ्यां, तत्र स्नानेन देहादिः शुद्ध्यति । शौचेनामेध्यलिप्तादिः शुद्ध्यति । तपसा इन्द्रियादिः शुद्ध्यति । ईज्यया ब्राह्मणादिः शुद्ध्यति । दानैः द्रव्याणि शुद्ध्यन्ति । संतुष्ट्या मनः शुद्ध्यति । आत्मा आत्मविद्यया परमात्मोपासनया शुद्ध्यति । तथा संस्कारैर्जातकर्मादिभिः, गर्भादेः शुद्धिः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

धेनूनामिति : १०.५.३.

हरौ प्राप्ते साक्षादतनुफलदानादिमगुरौ किमाश्चर्यं पश्चादतनुत स नन्दो वितरणम्।
यदीयप्राप्त्याशा हृदि समुदिता यस्य कुरुते स चाप्यस्मिन् लोके तदधिकमुदारो वितरणम् ॥ १ ॥
यदङ्घ्र्यब्जं संसृत्युदधितरणिर्यस्य नयनं तमस्तोमध्वंसी तरणिरिह तस्मिंस्त्वयि गृहे।
उपेत्याराजन्दः स च वितरणित्वं यदुपते सुखाब्धौ मग्नोऽभूच्चरितमिति चित्रं तव विभो ॥ २ ॥

कृष्णप्रिया

श्री शुकाचार्यजी ने कहा राजन् श्री नन्दरायजी तो पुत्र जन्म होने पर अत्यन्त प्रसन्न हुए स्वयं परम उदार मना वनकर वेदों वेद जानने वाले विप्रों को वाहन भेजकर निमंत्रित किये पुनः नैमित्तिक कर्माङ्ग स्नान किया, आभूषण पहन कर तैयार हुए और स्वयं पवित्र ऐसे श्री नन्दरायजी ने स्वस्ति पुण्याहवाचन पढ़वा कर पुत्र का जातकर्म संस्कार तथा पितृओं और देवताओं का विधिपूर्वक अर्चन कराया ॥ १-२ ॥ अच्छी तरह से अलंकृत दो लाख गो एवं रत्न समूह सहित जरी के वस्त्रों से वेष्टित सात तिलों के पर्वत विप्रवरों को दान में दिये ॥ ३ ॥ काल, स्नान, शौच, संस्कार, तप और यज्ञ से प्राणी शुद्ध होते हैं, दान से द्रव्य शुद्ध होता है, और संतोष से अन्तःकरण की तथा आत्मविद्या से आत्मा की शुद्धि होती है ॥ ४ ॥

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः। गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥ ५ ॥
व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः। चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥
गावो [१]वृषाश्च वत्साश्च हरिद्रातैलरूषिताः। विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥ ७ ॥
महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः। गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ॥ ८ ॥
गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्। आत्मानं भूषयांचक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥ ९ ॥
नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः। बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १० ॥
गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यश्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजुर्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११ ॥
ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं [२]पाहीति [३]बालके। हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विप्राः सूतमागधवन्दिनः सौमङ्गल्यगिरः गायकाः च जगुः, भेर्यः दुन्दुभयः मुहुः नेदुः ॥ ५ ॥ सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः व्रजः (अभवत्) चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः (व्रजः समलङ्कृतः) ॥ ६ ॥ हरिद्रातैलरूषिताः विचित्रधातुबर्हस्रकवस्त्रकांचनमालिनः गावः वृषाः च वत्साः च (सुशोभिताः) ॥७॥ राजन् महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीपभूषिताः नानोपायनपाणयः गोपाः समाययुः ॥ ८ ॥ यशोदायाः सुतोद्भवम् आकर्ण्य गोप्यः च (तत्रागन्तुकाः) मुदिताः वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः आत्मानं भूषयांचक्रुः ॥९॥ नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपंकजभूतयः पृथुश्रोण्यः चलत् कुचाः बलिभिस्त्वरितं जग्मुः ॥१०॥ सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यः च चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः सवलयाः नन्दालयं व्रजतीः गोप्यः विरेजुः ॥ ११॥ ताः चिरं पाहि इति बालके आशिषः प्रयुञ्जानाः हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यः जनम् उज्जगुः ॥१२॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सौमंगल्यगिरः स्वस्तिवाचका विप्रादयो बभूवुः। तत्र "सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः॥ वंदिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः॥" इति ॥ ५ ॥ संमृष्टानि संसिक्तानि च द्वारादिकानि यस्मिन्सः। तत्र अजिराण्यंगणानि गृहांतराणि गृहमध्यानि च यस्मिन्स तथा। चित्रध्वजेषु पताकानां स्रजश्च चैलपल्लवतोरणानि च तैर्भूषितः॥ ६ ॥ हरिद्रातैलै रूषिता लिप्ताः। विचित्रा धातवश्च बर्हस्रजश्च वस्त्राणि च कांचनमालाश्चालंकारतया विद्यंते येषां ते। तथाभूता गवादयो बभूवुरित्यर्थः॥ ७-८ ॥ आकल्पा अलंकाराः ॥ ९ ॥ नवकुंकुमकिंजल्कैर्मुखपंकजेषु भूतिः श्रीर्यासां ताः॥ १० ॥ सुमृष्टान्युज्ज्वलितानि मणिमयानि

---

१. वृषा वत्सतरा–श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त; वृषाः सवत्साश्च हरि–इति कस्यचित्। २. जीवेति–इति कस्यचित्। ३. पालके–इति कस्यचित्।

कुंडलानि यासां ताः । निष्काः पदकानि कंठेषु यासां ताश्च । शिखाभ्यश्च्युतानि माल्यवर्षाणि यासां ताः नंदालयं व्रजतीर्व्रजंत्यः पथि विरेजुः । सवलयाः कंकणभूषिताः । व्यालोलैः कुंडलादिभिः शोभा यासां ताः ॥ ११ ॥ जनं सिंचंत्यः अजनमुज्ज- गुरिति वा ॥ १२–१४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्वकृतस्तुतिपाठकाः सूताः । परकृतस्तुतिजीविनो मागधाः । प्रबंधस्तुतिपाठिनो वंदिन इति ॥५॥ संमृष्टानि संमार्जितानि । तोरणं द्वारबहिर्भागः 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । पताकानां स्रजः पंक्तयः । भूषित इति शेषः ॥ ६ ॥ बर्हस्रजः शिखि- पिच्छमालाः । इत्यर्थ इति । क्रियाशेषेणान्वयः कार्य इति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥ कंचुकं चोलकं शिरो विहाय सर्वांगावरकं वस्त्रम् "कंचुको वारबाणे स्यान्निर्मोके करभेपि च । वर्द्धायकगृहीतांगस्थितवस्त्रे च चोलके" इति मेदिनी । उष्णीषं शिरोवेष्टनवस्त्रम "उष्णीषं तु शिरोवेष्टे किरीटे लक्षणांतरे" इति च ॥ ८ ॥ "आकल्पः कल्पने वेशेऽलंकारे शक्तिमन्नरे" इति धरणिः । आदिना चंदनादिग्रहः ॥ ९ ॥ नवकुंकुमकिंजल्काः नूतनकेशरपत्राणि । बलिभिः स्वर्णरत्नादिभिर्युताः पृथुश्रोण्यो विशालकटितटाः अपि हर्षौत्सुक्याद्वेगेन जग्मुरिति भावः ॥ १० ॥ वणिता अपि गोपीर्भक्तिभरेणातृप्त्या वर्णयति व्रजतीः प्रथमार्थे द्वितीया ॥ ११ ॥ किमुज्जगुरित्यपेक्षानिवृत्तयेऽजनं श्रीकृष्णमित्यर्थांतरम् । ता गोप्यो बालके इत्याशिषं प्रयुंजाना इति किम् । राजपुत्रत्वाद्राजा भूत्वा चिरं पाहीति । परस्येष्टार्थप्रशंसनमाशीः' इति लक्षणात् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भेर्य आनकभेदाः सुषिरभेदाश्च दुन्दुभयश्च आनकभेदाश्च युग्मत एव हस्ताभ्यां काष्ठीद्वयेन वाद्यन्ते ते नेदुः स्वयमेव मुहुरित्यस्य सर्वैरन्वयः हर्षभरेण तेषां तत्र तत्राऽतृप्तेः ॥ ५ ॥ संशब्दाभ्यामन्यदिनतो विशेषो बोध्यते चैलानि खण्डितवस्त्राणि अन्यत्तैः तत्र पताकानां स्रजो मालाकारेण सन्निवेशाः भूषित इत्यध्याहारात् यद्वा स्रजः पुष्पमालाः चित्राणि विविधानि यानि ध्वजादीनि तैः सममन्यत् ॥ ६ ॥ चकारौ पूर्वकैमुत्यप्रतिपादिकौ तेन महिष्यादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते वृषा वत्सतरा इति पाठः क्वचित् ॥७॥ तदेवं सर्वस्यैव गोकुलस्य श्रीनन्दयशोदे प्रति परममनुरागं दर्शितवान् दर्शयति च—महार्हेति सप्तभिः । सम्यगाययुरिति स्वस्वगृहे तत्तन्मङ्गलरचनां प्रवर्त्यैवाययुरित्यर्थः व्रजः संमृष्टेत्युक्तत्वात् सम्यक्त्वमेव दर्शयति परमहर्षव्यञ्जकाभ्यां महदित्यादिविशेषणाभ्यां महार्हैर्बहुमूल्यैर्निधिवत् गृहान्तः सुरक्षितैरपि वस्त्रादिभिर्भूषिताः सन्तः यान्येव परमोल्लासेन दास्यन्ते च नानोपायनैर्महार्हरत्नादि- भिर्युक्ताः पाणयो येषां ते राजन्निति श्लेषेण हे प्रेम्णाविराजमान यद्वा राजदित्युपायनविशेषणं गोपा इति गवासक्त्या तत्स्वभावमा- पन्नया जात्यैव सुस्निग्धचित्ता इति भावः । श्लेषेण तत्र च तादृशतत्प्रेम्णा गां पृथ्वीमपि पान्तीति एवमग्रेपि ॥८॥ गोप्यः श्रीयशोदाया मातृभूतयः चशब्द उक्तसमुच्चये ततो गोपा आकर्ण्येति पूर्वेणाप्यन्वयः आसां पश्चाद्भावोऽन्तःपुरवासात् मुदिता इत्यनेन तेभ्योऽपि मोदविशेषं दर्शयति—यशोदायाः व्रजयशःप्रदाया अनपत्यायाः श्रीव्रजेश्वर्य्योः सुतस्य उद्भवमुत्पत्तिमाकर्ण्यैव मुदिताः तस्यां तस्मिंश्च नित्यसहजप्रेमसद्भावात् अत एव वस्त्रादिभिः आत्मानमभूषयन् ॥ ९ ॥ नवकुङ्कुमाकिञ्जल्कादपि मुखपङ्कजानां भूतिः शोभा यासामिति तदानीमनुरागावेशेन मुखशोभातिशय उक्तः किञ्च बलिभिः महारत्नादिमयैरक्षतपात्राद्युपहारैः सह तान् गृहीत्वेत्यर्थः मोदविशेषमेवाह–त्वरितमित्यादिना । पृथुश्रोण्योऽपि त्वरितं जग्मुः तत्र चलत्कुचा इत्यतिशयस्य लक्षणं सर्वं चोत्कण्ठातिशयस्येति ज्ञेयम् ॥ १० ॥ भक्तिविशेषेण पुनस्ता एव वर्णयति–गोप्य इति । शिखाः धम्मिल्लाग्राणि नन्दालयं व्रजन्त्य एव विशेषतो रेजुरिति तासां देहादिशोभाशतसम्पत्तौ सत्यामपि श्रीनन्दनन्दनप्रेमसम्बन्धेनैव विशेषतः शोभेति भावः ॥ ११ ॥ चिरं पाहीति तासामत्युल्ला- सोक्तिः तया च तस्य सार्वदिकीं सर्वसम्पत्तिमात्मना सङ्गतिमात्मनि प्रीतिं चाशासत अल्पार्थे कः अत्यन्तबाल्यात् बालक इति तदानीं तस्मिन् तदेवोचितमिति भावः । यद्वा बालकेऽपि ततश्च प्रेमस्वभावादेवेति अजनं भगवन्तमुज्जगुः उच्चैर्मङ्गलगीतप्रबन्धेन बालक- मङ्गलार्थं तमकीर्त्तयन् जीवेति पाठस्तु तासामतिकारुण्योक्तिः उपलक्षणं चैतत्सर्वेषाम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भेर्य्य आनकभेदाः शुषिरभेदाश्च । दुन्दुभयश्च आनकभेदा युग्मतयैव हस्ताभ्यां कोषद्वयेन वाद्यन्ते; ते नेदुः स्वयमेव; मुहुरित्यस्य सर्वैरन्वयः,—हर्षभरेण तेषां तत्र तत्रातृप्तेः ॥ ५ ॥

सं—शब्दाभ्यामन्यदिनतो विशेषेण सम्मार्ज्जनादिकं बोध्यते । चैलानि खण्डितवस्त्राणि । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । तत्र भूपित इत्याध्याहारात् , किंवा विशेषणे तृतीया; यद्वा, स्रजः पुष्पमालाश्चित्राणि विविधानि ध्वजादीनि तैः । सममन्यत् ॥ ६ ॥

च—कारयोरेक उक्तस्य समुच्चये, अन्योऽनुक्तस्य; तेन महिष्यादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते ॥ ७ ॥

सम्यगाययुरिति सनाक्त्वमेव दर्शयति–महार्हेत्यादिविशेषणाभ्याम्—महार्हैर्बहुमूल्यैरुत्सवार्थं गृहान्तःसुरक्षितैर्वस्त्रादिभि- र्भूषिताः सन्तः । हे राजन्निति राजगृहोत्सवे प्रजागमनप्रकारवृत्तं भवता ज्ञायत एवेति किं तद्विवरणेनेति भावः । यद्वा, राजन्ति शोभमानानि नानाविधोपायनानि पाणिषु येषां ते । गोपा इति प्रकृत्यैव सुस्निग्धचित्ताः, श्लेषेण गां पृथ्वीं पान्ति भगवद्भक्ति- विस्तारणेन रक्षन्तीति गोपाः । अतस्तादृश-सद्देशादिना भगवन्महोत्सवे सम्यगागमनं युक्तमेवेति भावः । एवमग्रेऽपि ॥ ८ ॥

च शब्दस्त्वर्थे पूर्वतो वैशिष्ट्याय; तदेव दर्शयति यशोदाया व्रजयशःप्रदाया अनपत्याया व्रजेश्वर्याः सुतस्योद्भवमुत्पत्तिमाकर्ण्यैव मुदितास्तस्मिन् नित्यसहजप्रेमसद्भावादत एव वस्त्रादिभिरात्मानमभूषयन्। आदि-शब्दान्माल्यानुलेपादयः। आत्मशब्दप्रयोगस्तासां सच्चिदानन्दविग्रहत्वेन तत्त्वतो देहस्य देहितुल्यत्वेन भेदाभावाभिप्रायेण ॥ ९ ॥

'किञ्च, नवेति तैर्व्याख्यातम्' तत्र नवकुंकुमकिञ्जल्कैर्भूषितमुखपंकजाः सत्य इत्यर्थ इति। यद्वा, नवकुंकुमकिञ्जल्कस्येव मुखपंकजानां भूतिः शोभा यासामिति गौरांगीणामप्यनुरागावेशेन मुखपद्मानां रागोत्पत्त्या शोभातिशय उक्तः। किञ्च, बलिभिर्वलवद्भिः परिजनैः सहायैरिति त्वरितगमनसाधनम्; बलिभिर्वलित्रयेण विशिष्टा इति वा। यद्वा, अक्षतपात्राद्युपहारैः सह तान् गृहीत्वेत्यर्थः। पृथुश्रोण्योऽपि चलत्कुचाः सत्य इति त्वरितगमनलक्षणम्; यद्वा, कुचानामपि पृथुत्वात्त्वरितगमनासामर्थ्येऽपि त्वरित जग्मुरित्यर्थः ॥ १० ॥

भक्तिविशेषेण पुनस्ता एव वर्णयन्ति-गोप्य इति। शिखा धम्मिल्लाग्राणि अन्यत्तैर्व्याख्यातम् यद्वा, पथि शिखाभ्यश्च्युतमाल्यवर्षाः, त्वरितगमनात् किञ्च, व्यालोलेति व्यालोलैः कुण्डलैः पयोधरवर्त्तिभिर्हारैश्च शोभा यासाम्; नन्दालयं व्रजन्त्य एव विशेषतो रेजुरशोभन्तेति तासां देहादिशोभागतसम्पत्तौ सत्यामपि श्रीनन्दनन्दनप्रेमसम्बन्धेनैव विशेषतः शोभेते भावः ॥ ११ ॥

चिरं पाहीत्युक्तिः पाहीत्युक्तिचातुर्य्येण तस्य दीर्घायुष्ट्वमात्मविषयक-कारुण्यादिकञ्च प्रार्थयन्ते। अल्पार्थे कः अत्यन्तबाल्यादुबालक इति तदानीं तस्मिन् तदेवोचितमिति भावः। यद्वा, बालकेऽपि ततश्च बन्धुस्वभावादेवेति; वस्तुतस्तु बालः 'कः' ब्रह्मापि यस्येति परमेश्वरत्वात्। सदास्मान् रक्ष, कदापि न परित्यजेति। अजनं भगवन्तमुज्जगुरुच्चैर्गाथा बन्धेन तन्नामान्यकीर्त्तयन् भगवद्गीतान्यगायन्निति वा, अजनामेति लौकिकजन्माभावेऽपि श्रीयशोदायामुद्भवेन तासामुद्गान-प्रीतिभरहेतुः सूचितः। जीवेति पाठे काश्चित् पितृव्यपत्न्याद्या वृद्धाश्च 'चिरं जीव' इत्याशिषः प्रयुञ्जाना बभूवुः अन्याश्चोज्जगुरिति ज्ञेयम् ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आकल्पो भूषणम् ॥ ९–१० ॥ कुण्डलं कर्णभूषणं निष्कं कण्ठाभरणं सवलयः सोपहाराः ॥ ११–१९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदा विप्राः सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिपाठका बभूवुः सूतादयो गायकाश्च जगुः पुराणादीनीति शेषः। तत्र सूताः पौराणिका मागधाः वंशावलीपाठकाः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः भेर्यो दुन्दुभयश्च मुहुर्मुहुर्नेदुः ॥ ५ ॥ संमृष्टानि सम्मार्जिन्या शोधितानि संसिक्तानि चन्दनोदकादिभिः सम्यक् स्नापितानि द्वाराजिराण्यङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिन् तथाभूतो व्रजो बभूव तथा विचित्रध्वजादिभिरलङ्कृत इति शेषः। ध्वजादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वः चित्रपदं प्रत्येकान्वयि द्वन्द्वादौ श्रुतत्वात् ॥६॥ गवादयो हरिद्रातैलाभ्यां रूषिताः उपलिप्ताः विचित्राः गैरिकादिधात्वादयः एषां सन्तीति तथाभूता बभूवुः तत्र बर्हस्रजो मयूरपिञ्छमालाः महार्हाण्यनर्घाणि वस्त्रादीन्येव भूषणान्यलङ्कारा येषां भूषिता इति पाठे तैर्भूषिता अलङ्कृताः उपायनानि पाणिषु येषां तथाभूता गोपाः हे राजन् समाययुराजग्मुः ॥ ७–८ ॥ तथा गोपानां स्त्रियोऽपि यशोदायाः सुतोद्भवमाकर्ण्य मुदिता हृष्टाः वस्त्रादिभिरात्मानमलञ्चक्रुः आकल्पा भूषणानि आदिशब्देन चन्दनलेपादिसङ्ग्रहः ॥ ९ ॥ नवाः कुङ्कुमकिञ्जल्का येषु तेषां मुखपङ्कजानां भूतिः श्रीः शोभा यासां ताः कुङ्कुमानां किञ्जल्कत्वरूपणेन मुखानां पङ्कजत्वरूपणं पुष्कलं पृथुश्रोण्यः पृथुजघनाः चलन्तौ कुचौ यासां ता बलिभिरुपायनैः सहिताः त्वरितं यथा तथा जग्मुः ॥ १० ॥ संमृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिकुण्डलानि यासां ताश्च निष्काः पदकाख्यभूषणानि कण्ठं यासां ता इति बहुव्रीहिद्वयगर्भकर्मधारयः चित्राण्यम्बराणि यासां पथि शिखाभ्यः च्युतानां गलितानां माल्यानां पुष्पाणां वृष्टयो यासां व्यालोलानां गतिरभसेन चलतां कुण्डलादीनां शोभा यासां ताः वलयैः सहिताः नन्दस्याऽऽलयं प्रति व्रजतीर्व्रजंत्यः विरेजुः ॥ ११ ॥ ता गोप्यः पाहीत्यस्मानिति शेषः। बालके आशिषः प्रयुञ्जानाः हरिद्रातैलचूर्णैः हरिद्रायास्तैलमिश्रचूर्णैरद्भिश्च यद्वा हरिद्रया तलेन चूर्णैः सुधाख्यद्रव्यचूर्णैरद्भिर्दधिमिश्रोदकैश्च परस्परं जनं सिञ्चंत्य उज्जगुः ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वकृतस्तुति पाठकाः सूताः परकृतस्तुतिजीविनो मागधाः प्रबन्धस्तुतिपाठका वन्दिनः ॥ ५ ॥ द्वारञ्च अजिरं च गृहान्तरञ्च द्वाराजिरगृहान्तराणि संमृष्टानि संशोधितानि संसिक्तानि चन्दनजलादिना प्रोक्षितानि द्वारादीनि यासां तास्तथा चित्रध्वजपताकया स्रक्चैलपल्लवैश्चैव युतास्तोरणा यासां तास्तथा ॥ ६ ॥ विचित्रधातवः बर्हस्रजः पिञ्छमालावस्त्राणि कांचनमालाश्च येषां सन्तीति विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः॥७॥महार्हाणि महायोग्यानि वस्त्राणि आभरणानि कञ्चुकानि कवचानि उष्णीषाणि शिरोवेष्टनवस्त्राणि भूषणानि येषां ते तथा ॥ ८ ॥ आकल्प आभरणम् ॥ ९ ॥ नवकुङ्कुमकिञ्जल्कानि अभिनवकुंकुमकेसराणीव मुखपङ्कजभूतयः मुखकमलश्रियो यासां तास्तथा बलिभिर्युताः पृथुश्रोण्यः विशालकटितटाः ॥ १० ॥ व्रजतीः व्रजन्त्यः लोलत्वं कुण्डलादीनां गमनविशेषेण सवलयाः सकटकाः सापाङ्गनयनाः ॥ ११ ॥ हरिद्रातैलचूर्णाद्भिर्जनं सिञ्चंत्यः अजनं कृष्णमिति केचित् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नवेति अत्युल्लासात् नवकुङ्कुमकिञ्जल्कादपि मुखपङ्कजभूतिः यासां बलिभिरुपहारैः सह ॥ १०–११ ॥ पाहीत्युल्लासेनाशीः जीवेति पाठस्त्वतिकारुण्येन अजनं श्रीविष्णुं मङ्गलार्थम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तदा विप्राः सौमङ्गल्यगिरः सौमङ्गल्यं गीर्षु येषां ते शुभाशीर्वादका बभूवुः सूतादयो जगुः—

"सूताः पौराणिका प्रोक्ताः मागधाः वंशशंसकाः । वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः" ॥ ५ ॥

आदौ सम्यक् मृष्टानि पश्चात् चन्दनपुष्पादिरसैः संसिक्तानि द्वाराण्यजिराण्यङ्गणानि गृहमध्यानि च यस्मिन् सः चित्रध्वजपताकाभ्यां तथा चित्राणां स्रजां चैलानां चैलखण्डानां पल्लवानां चेति त्रिविधैस्तोरणैर्विभूषितोऽभूदिति शेषः ॥ ६ ॥ रूषिता लिप्ताः ॥ ७–८ ॥ गोप्यः श्रीयशोदाया यातृप्रभृतयः ॥ ९ ॥ नवकुङ्कुमकिञ्जल्कादपि मुखपङ्कजे भूतिः शोभा यासां ता बलिभिः स्वर्णमुद्रारत्नहारानर्घवस्त्रनारिकेलादिफलाक्षतदूर्वाचन्दनपुष्पमालाद्यैः स्वर्णपात्रस्थैः स्वर्णरसरञ्जितवस्त्राच्छादितैर्वामपाणिगृहीतैः सहिता इत्यर्थः । पृथुश्रोण्योऽपि त्वरितं जग्मुः हर्षौत्सुक्यवेगवशात् ॥ १० ॥ वनिता अपि ताः पुनर्भक्तिभरेणातृप्त्या वर्णयति–गोप्य इति । शिखा धम्मिल्लाग्राणि व्रजतीर्व्रजन्त्यः ॥ ११ ॥ सूतिकान्तर्गृहं प्रविश्य चिरं पाहीति राजपुत्रत्वेन राजाभूत्वेति भावः । जीवेति पाठे वात्सल्यकामरूपोदयः ततो बहिर्निस्सृत्य हरिद्रादिभिः परस्परं जनं सिञ्चन्त्य उच्चैर्जगुः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदा विप्रादयः सौमङ्गल्यगिरो बभूवुः गायकाश्च जगुः भेर्यो दुन्दुभयश्च नेदुः मुहुरिति सर्वत्रान्वेति ॥ ५ ॥ किञ्च सम्मृष्टानि मार्ज्जन्यादिभिः शोधितानि संसिक्तानि सुगन्धोदकैस्स्नापितानि च द्वाराणि अजिराण्यङ्गणानि अन्तराणि गृहान्तराणि च यस्मिन् तथा चित्रैः ध्वजादिभिर्भूषित इति शेषः व्रजो बभूव ॥ ६ ॥ हरिद्रातैलाभ्यां रूषिताः उपलिप्ताः विचित्राः नानावर्णाः धातवः गैरिकादयः बर्हस्रजः मयूरपिञ्छमालाश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्च विद्यन्ते येषां ते तथाभूता बभूवुः ॥ ७ ॥ महार्हैर्बहुशुल्कैर्वस्त्रादिभिर्भूषिताः अलङ्कृताः नानाविधानि उपायनानि पाणिषु येषां ते ॥ ८ ॥ आकल्पाः अलङ्काराः आदिना ताम्बूलसुगन्धादिसङ्ग्रहः ॥ ९ ॥ नवकुङ्कुमकिञ्जल्कैः मुखपङ्कजेषु भूतिः श्रीर्यासां ताः बलिभिरुपायनैः सहिताः त्वरितं जग्मुः ॥ १० ॥ सुमृष्टमणिकुण्डलाश्च ताः निष्ककण्ठ्यश्च शिखाभ्यश्च्युतं माल्यवर्षं यासां ताः वलयैः कङ्कणैः सहिताः व्यालोलैः कुण्डलादिभिः शोभा यासां ताः नन्दालयं व्रजतीः व्रजन्त्यः पथि विरेजुः ॥ ११ ॥ हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः परस्परं सिञ्चन्त्यः बालके श्रीनन्दनन्दने आशिषः प्रयुञ्जानाः अजनं विष्णुमुज्जगुः ॥ १२–१४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तदा विप्राः सौमङ्गल्यगिरः आशीर्वादका बभूवुः सूतादयश्च जगुः नन्दनृपसिंहद्वारि चन्द्रशालायां भेर्यो दुन्दुभयश्च मुहुर्नेदुर्महोत्सवावसरत्वात् ॥ ५ ॥ आदौ संमृष्टानि पश्चाच्चन्दनोशीरपन्नीरनीरैः सिक्तानि द्वाराण्यजिराणि चत्वराणि गृहान्तराणि भवनमध्यानि च यस्मिन् स व्रजः चित्राभ्यां ध्वजपताकाभ्यां तथा चित्राणां स्रजां चैलानां वस्त्रखण्डानां पल्लवानां च तोरणैः चन्दनमालाभिर्विभूषितो बभूवेति शेषः ॥ ६ ॥ गवादीनां शोभामाह गाव इति । हरिद्रामिश्रतेन तैलेन रूषिताः शृङ्गेषु लिप्ता विचित्रा धातवश्च बर्हस्रजः पिञ्छमालाश्च विचित्राणि वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्च विद्यन्ते अलङ्कारतया येषां तादृशा गवादयो बभूवुरित्यर्थः ॥ ७ ॥ महार्हैर्बहुमूल्यैर्वस्त्रादिभिर्भूषिताः सन्तः गोपाः श्रीनन्दराजसमकक्षाः प्रभया सुरपतिमप्यूनयन्तः नानाविधान्युपायनानि महार्हरत्नादीनि प्राणिषु येषां ते गृहीतोचितवलय इत्यर्थः ॥ ८ ॥ गोप्यः श्रीव्रजेश्वरीसमकक्षास्तद्यातृप्रभृतयः वस्त्रादिभिरात्मानं भूषयाञ्चक्रुः परिहितविचित्रचीनवसनाः धृतमणिकुन्तलहारवलयनूपुराः पृथुमुक्ताढ्यविशोभमाननासाग्रा कज्जलरेखारञ्जितनेत्राः प्रभान्यग्भावितशचीकास्ता इत्यर्थः ॥ ९ ॥ नवात् कुङ्कुमात् किञ्जल्कात् पद्मकेसरादपि मुखपङ्कजेषु भूतिः शोभा यासां ताः बलिभिरुपायनैः स्वर्णमुद्रारत्नहारार्घ्यवस्त्रनारिकेलफलाक्षतदूर्वाचन्दनपुष्पस्रगादिभिः कनकपात्रस्थैश्चित्रवस्त्राच्छादितैर्वामपाणिधृतैः सहिता आजग्मुः त्वरयागमनेन चलत्कुचाः ॥ १० ॥ वर्णिता अपि ता भक्तिभरेण वितृप्तेः पुनर्वर्णयति गोप्य इति । सुमृष्टमणिकुन्तलाश्च निष्ककण्ठ्यश्च रत्नपदकशोभितवक्षस इत्यर्थः । शिखाधम्मिलाग्राणि तेभ्यश्च्युतानि माल्यानि वर्षन्तीति ताः गतिप्रसन्नाः शिखाः पादेभ्यो माल्यानि ददुरित्युत्प्रेक्ष्यते व्रजतीर्व्रजन्त्यः नन्दस्यालयमिति आलीयते पश्यताम् मनोऽस्मिन्निति योगार्थात् वैदूर्यादिमणिनिर्मितस्तम्भं कनकरचितनीव्रव्रजं वज्रादिमणिघटितजालकूलं स्फटिकविस्फुरच्चन्द्रशालं बृहद्वलयकुलशोभितं कपिशिरोवृन्दसुन्दरप्राकारं बहुभूमत्वाच्चन्द्रविम्बं स्पृशद्बहुचत्वरं विलसद्विचित्रपताकं सुनिष्कुटं रत्नकूपवत् रम्यजनताकुलं यमुनातटनिविष्टं गोपमुख्यभवनैर्विधरमित्यर्थः । राजभवनत्वाद्भगवन्निवासत्वात् "चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्त"मिति ब्रह्मोक्तेश्च ॥ ११ ॥ ताः सूतिकागृहं प्रविश्य राजपुत्रत्वात् युवराजो भूत्वा नश्चिरं पाहीत्याशिषः प्रयुञ्जानाः ततो बहिर्निर्गम्य हरिद्राचूर्णसुगन्धितैलसम्पृक्ताभिरद्भिर्मिथो जनं सिञ्चन्त्य उच्चैर्मङ्गलानि जगुः अजनं हरिमुज्जगुरित्यन्ये ॥ १२ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

ता इति। अत्र चिरं पाहीत्यसंगतम्। कं प्रति को वक्तेत्यस्याज्ञानात्। किं च गोप्यः किमज्ञा वा सुज्ञाः। नाद्यः। भगवद्दर्शनप्रसङ्गात्। द्वितीये भगवद्रक्षणविषयेऽन्यप्रार्थनायोगात्। अतोऽपि विरोधः। अत उच्यते। हे बालके इति जीवंतिकाख्यप्रसूतिदेवतां प्रति गोप्युक्तिः। बालाः शिशवः काः ब्रह्माणः यस्यास्तादृशभगवन्नामिके देवतेत्यर्थः। अत एव जीवंतिकेत्याख्या जीवंति सप्राणा भवंति काः ब्रह्माणो ययेति विग्रहेण समानार्थकत्वात्। यद्वा। व शब्दस्य सुखार्थकत्वात्। वाः सुखरूपाः अलकाः केशा यस्य इति हृषीकेशाख्यत्वात् वस्य सुखात्मकमूलरूपस्य केशरूपे कृष्णे इति सप्तमी वा। तथा च त्वम्। इममिति शेषः। चिरं पाहीति बहुकालं रक्षेति आशिषः प्रयुंजानाः सत्य इत्यन्वयः। अथवा। हे बालकाख्यभगवद्देवते। न इति शेषः। चिरं पातुः चिरंजीवनान्यथाऽनुपपत्त्या सिष्यास्ताश्चिरंजीवनामका आशिषः प्रयुंजानाः। अपि वा। ता गोप्यः। बालके कृष्णे। चिरं पाहि चिरंजीवेति। आशिषः प्रयुंजानाः। अनेकार्था हि धातव इति भागुर्युक्तेः॥ ११॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सौमङ्गल्याः सुमङ्गलताविषयिण्यो गिरो येषां ते तथा। शुभमस्त्वित्यादिवादिनः सूताः स्वयं प्रबन्धं बद्ध्वा वक्तारो मागधा अन्यकृततत्पाठका वन्दिनः कृतकर्मनिरूपका गायका गतम्। भेर्यो वादयितृसङ्केततो मन्द्रं ध्वनन्त्योदुन्दुभयः पुंभेर्यः पृथुध्वनिर्मितोऽत एव नेदुरित्येकक्रियान्वयः। दुन्दुभिर्दितिजे भेर्यामक्षबिन्दुत्रिकद्वय इति विश्वः। दुन्दुभिः पुमानित्यमरः। दुन्दुभिरक्षेष्विति लिङ्गानुशासनम्। अक्षेषु किम्। अयं दुन्दुभिर्वाद्यविशेष इति तट्टीकोक्तेश्च। भेर्यो मानुष्यो दुन्दुभयो नाभसा इति वा मुहुः पुनः पुनः॥ ५॥ सम्मृष्टानि शोधितानि प्राक्संसिक्तानि मलयजजलादिना प्रोक्षितानि द्वाराण्यजिराण्यङ्गणानि गृहान्तराणि याभिस्ताः प्रजाश्चित्रा ध्वजा एकजिह्वाः पताका द्विजिह्वा विपर्ययो वा तां स्रजस्तत्र तत्र याभिस्ताश्च ताश्चैलपल्लवैर्युतानि तोरणानि बहिर्द्वाराणि याभिस्ताश्च ताश्च वासःखण्डकिसलयमण्डिततोरणा इत्यर्थः। व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरश्चैलपल्लवतोरण इति पठन्ति। अजिरशिशिरेति निपातितः शब्दः॥ ६॥ हरिद्रामिश्रतैलरूषिता विचित्रधातवो गैरिकाद्यास्तैश्चिता बर्हाणां पिच्छानां स्रजो येषां ते च वस्त्राणि च काञ्चनमाला येषां सन्तीति पुंशेषः॥ ७॥ महदर्हं मूल्यं येषां तानि च तानि वस्त्राण्याभरणानि कञ्चुकाः कवचानि च। कञ्चुको वारबाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि चेति विश्वः। उष्णीषाणि शिरोवेष्टनानि किरीटानि वा। उष्णीषं तु शिरोवेष्टे किरीटे लक्षणान्तर इति विश्वः। तैर्भूषिता गोपा नानोपायनानि मङ्गलसमये राजपुरतः स्थापनीयानि पाणिषु येषां ते सन्तः समाययुः। राजन् हे परीक्षित् राजन्ति प्रकाशमानानि नानोपायनानि पाणिष्वेषामिति वा॥ ८॥ यशोदायाः सुतोद्भवं पुत्रोत्पत्तिमाकर्ण्य श्रुत्वा मुदिता गोप्य आत्मानं वस्त्राण्याकल्पा भूषणान्यञ्जनानि कज्जलानि चादयो येषां तैर्हारादिभिर्भूषयाञ्चक्रुरिति द्वे पदे। अभूषयन्। आकल्पो भूषण इति विश्वः। नवानि कुङ्कुमान्येव। कुक आदानेऽस्मात्कुक्यते कामिनीभिरिति कुमः किप्रत्यये आच्छीनद्योरिति योगविभागान्नुमि रूपम्। अथ कुङ्कुममित्यमरः। काश्मीरजन्मेत्यादिः। स एव किञ्जल्काः केसराणि येषु तानि च तानि मुखपङ्कजानि तेषां भूतयः शोभा यासां ताः पृथवः श्रोण्यो नितम्बबिम्बा यासां ताश्च ताश्चलन्तः कुचा यासां ताः॥ ९-१०॥ सम्मृष्टत्वं कुण्डलेषु निष्केष्वपि ज्ञेयमिव मण्यात्मकता च द्वयोर्ज्ञेया। सुमृष्टानि मणिमयानि कुण्डलानि मणिमयानि निष्काणि कण्ठाभरणानि च कण्ठेषु यासां ताः। कुण्डलं वलये पाशे कुण्डलं कर्णभूषणे। निष्कं दीनारकर्षयोर्वक्षोऽलङ्करण इति विश्वौ। चित्राण्यम्बराणि यासां ताः पथि तीव्रव्रजनसमये मार्गे शिखाभ्यश्च्युतानि माल्यानि मालया वा। माल्यं मालाप्रसूनयोरिति विश्वः। तेषां वर्षं यासां ताः। यूषकरीषविमिश्रवर्षाणि नपुंसके चेति लिङ्गानुशासनात्। वृष्टिर्वर्षमित्यमरः सवलयाः कङ्कणहस्ता व्रजतीत्र जन्त्यः कुण्डलवत्कनकगिरिवद्विद्यमानौ च तौ पयोधरौ स्तनौ च तयोर्हारास्तदुपरि परिपतन्मुक्तामाला व्यालोलाश्च ते कुण्डलपयोधराश्च तैः शोभाः यासां ताः। कुण्डलं कर्णभूषणे गुडूच्यां काञ्चनाद्रौ चेति विश्वः। पूर्वं मणिः कुण्डलेति तद्ग्रहणेऽपि लोलतया पृथगुक्तिरिति केचित्। वर्तुलतया कुण्डलौपम्यमिति चापरे॥ ११॥ ता वनिता बालके आशिषः प्रयुञ्जानाः स्वाभिलाषान्विज्ञापयन्त्य इत्यर्थः। चिरं पाहीत्याशिषः प्रयुञ्जाना इति पातनिकम्। तद्वृद्धय युयुजुरित्यर्थः। स्वयमेव चिरं पाहीत्यनेन ग्रन्थकृत्पराचकारेति ज्ञेयम्। हरिद्राचूर्णतैलसहितोदकैः। ऋक्पूरबिति समासान्तविधेरनित्यत्वान्नप्रत्ययः। जनं संचिन्त्य उज्जगुर्गानं चक्रुः। अजनं लोकजनिरहितं बालमुज्जगुरिति वा। अजनमुदिति स्वरूपसुखमदेति जगुरिति॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

एवं प्रसङ्गान्नन्दस्य माहात्म्यमुक्त्वाग्रे वक्ष्यमाणमुत्सवमुपपत्त्या निरूप्योत्सवमनेकप्रकारमाह **सौमङ्गल्येति**दशभिः, विद्याकृतो यावानुत्सवः स प्रथमं निरूप्यते, सौमङ्गल्यं सुमङ्गलता, यैर्वेदैः पौराणैर्वाक्यैर्मङ्गलं भवति तच्च निरन्तरं पठन्तीति **सौमङ्गल्यप्रतिपादिका गिरो** येषामित्युक्तं, गिरां वैयर्थ्याभावो विप्रपदेनोक्तः, **सूताः** पौराणिकाः, **मागधा** वंशशंसकाः, **वन्दिनो** वैतालिकाः, तेपि **सौमङ्गल्यगिरो** जाताः, **गायका** अन्ये केवला नृत्यादिसहिताश्च, **स्त्रियश्च** वाद्यवादकाश्च **नेदुः**, **भेर्य** उत्सवसूचिकाः, **दुन्दुभयो** मङ्गलवाद्यानि शुभकर्ममात्रे प्रवृत्तानि, **मुहुः** श्रमपर्यंतं वादयित्वा पुनर्निवृत्ता वादयन्तीति, एतद् वाद्यमपि

सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धं, अतो विद्याकार्यं सर्वमुक्तम् ॥ ५ ॥ भूसंस्कारानेकविधानाह **व्रज** इति, **सम्यङ् मृष्टा** रजोदूरीकरणेनोज्ज्वलीकृतास्ततः **सम्यक् सिक्ता गन्धोदै**र्द्वारादयो यस्मिन्, द्वाराणि बाह्यानि, अन्तराणि च, **अजिरमङ्गणं, गृहान्तरं** गृहमध्यं, गृहा अन्तराणि च तदुपरिभागानामपि मार्जनं भवति, एतादृशो **व्रजो** जातः, **चित्रध्वजा**दिभिरपि युक्तो जातः, एते बहिःशोभाजनकाः, गरुडादिचिह्निता **ध्वजाः**, जयपत्राङ्किताः **पताकाः**, उभये विचित्राः, **स्रजो** मालाः पुष्पनिर्मिताः, **चैलैः पल्लवै**श्च कृतास्तोरणा इति वस्त्रादिभिर्यावानलङ्कारो भवति स सर्वोऽपि तत्र कृत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ गवां शोभामाह **गाव** इति, **गावो** बलीवर्दा धेनवश्च, **वृषाश्च** स्थूलककुदो महान्तः, चकारादवान्तरभावापन्ना वृद्धाश्च, **वत्सा** वत्सतर्यश्च, **सर्वे हरिद्रा**युक्त**तैले**न रूषिताः, **विचित्रा** गरिकादिधातवः, **बर्हाणि** मयूरपिच्छानि, **वस्त्राणि** काञ्चनमालाश्च वर्तन्ते येषां, हरिद्रा**तैलं** मङ्गलार्थं, धात्वादयः शोभार्थाः ॥ ७ ॥ गोपानां शोभामाह **महार्हे**ति, अमूल्यानि **वस्त्रा**णि यानि स्थापितानि तान्यपि तस्मिन् परिहितानीति ज्ञापयितुमाह **महार्हे**ति, अमूल्यानि **वस्त्राणि** परिधेया**न्याभरणा**न्यपि तथा, बहिः **कञ्चुकोष्णीषैर्भूषिताः** कटिबन्धनैरपि, तेषामकथनमुत्सवासक्तिख्यापनार्थं, **गोपा** व्रजान्तरस्थिता अपि यावन्तो नन्दपरिचिताः सर्वे **सम्ययायुः, राजन्नि**तिसम्बोधनमुत्सववर्णनायां सम्मत्यर्थं, **नानाविधान्युपायनानि** वस्त्राभरणदुग्धदध्यादीनि, रिक्तहस्तगमनाभावार्थमेतदुक्तं न तु नन्दस्य तैः काचित् समृद्धिः ॥ ८ ॥ गोपीनामप्युत्सवमाह चतुर्भिः, गोप्यश्चतुर्विधाः सम्बद्धा असम्बद्धाश्चोभयविधा अपि सङ्गता असङ्गताश्च, **गोप्य** इति, चकारादन्या अपि तत्र तत्र निलीनास्तथाविधा भूत्वा गता इति निरूप्यते, ब्राह्मणस्त्रियोऽन्याश्च, तासां नन्दप्राधान्याभावात्, **यशोदाया** अपत्योत्पत्तिसम्भावनारहितायाः **सुतस्याकस्मादुद्भवं श्रुत्वा** श्रवणेनैवान्तःसन्तोषस्तासां जातः, चतुर्विधपुरुषार्थस्तासां विशेषाकारेण सेत्स्यतीत्याकर्ण्यैव **मुदिता** न तु निश्चयमप्यपेक्षन्ते, तासां निवेदनीय आत्मैवेत्यात्मानमेव **भूषयाञ्चक्रुः**, आत्मपदप्रयोगश्च **शरीरादीनामप्यविकृतत्वाय,** सशरीराणामेव ब्रह्मानन्दानुभवात्, उत्तमानि वस्त्राणि परिधाय तथाकल्पान्याभरणान्यपि, **अञ्जनं** कज्जलं, आदिशब्देन तिलकमाल्यादीनि ॥ ९ ॥ श्रवणादि गमनपर्यन्तमात्मालङ्कारो यावता भवति तावत् कृत्वा गता इत्याह **नवे**ति, ताः सर्वा देवतारूपा भगवत्सम्मुखे गच्छन्त्यो विकसितवदना जाताः सोऽलौकिको विकास इति तं वर्णयति, चर्विततताम्बूलाः सुलक्षणवशाद् वारक्तरेखायुक्ता मुखभागास्तासां, नूतनं **कुङ्कुमं** काश्मीरं तस्य ये किञ्जल्का उत्तमा आरक्तास्त एव योजितास्तिलकादौ पिष्टा वा रेखाकाराः कृतास्तत्सदृशा वा **किञ्जल्काः,** एतादृशानि **मुखपङ्कजानि** तैर्भूतिर्यासां,

गन्धो रूपं तथा स्पर्शः कटाक्षभ्रमरोक्तयः । ताभिश्चतुष्टयं ज्ञेयं रसं ज्ञास्यति माधवः ॥ १ ॥

बलिः पूजासाधनानि स्रगादीनि, यद्यपि सर्वस्वमेव नेयं तथापि **त्वरितं जग्मुः,** त्वरागमनं तासामत्यशक्यं, यतः **पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः,** अत्युच्चतया कुचयोश्चलनं गमनप्रतिबन्धकं भवति, यत्राशक्यं ताः सम्पादयन्ति तत्र शक्ये कः सन्देह इतिभावः, अत एव माल्यानां बन्धनं शिथिलं, त्वरया यथाकथञ्चिद्बन्धनात्, तेन मार्गे च्युतिरग्रिमवाक्ये कथयिष्यते ॥ १० ॥ एवं गच्छन्तीनां स्वरूपमुक्त्वा नन्दगृहे प्रविशन्तीनां स्वरूपमाह **गोप्य** इति, दूरादागत्य यथाकथञ्चिद् यदा ता निकटे समागतास्तदा सर्वशोभानां प्राकट्याद् विरेजुरिति ता वर्णयति, **गोप्य** इतिपुनर्ग्रहणमग्रपश्चाद्भावेन समागतानां सम्भूय गमनार्थं, **नन्दालयं व्रजतीर्विरेजु**र्विशेषेण रेजुः, पूर्वं पिहिताभरणा अपि प्रकटाभरणा जाताः, तथा प्रकटवस्त्राः, **माल्यानां** पुष्पाणां **शिखातश्च्युतानां** गतिसूचिका **वृष्टिरिव** मार्गे जाता, **वलयाना**मपि शब्दतो रूपतश्च प्राकट्यं, **व्यालोलाः कुण्डले पयोधरौ हाराश्च,** तैः **शोभा** यासां,तद्गता राजसास्तामसाः सात्त्विकाश्च लोला जाताः, अनेन तासामुत्सवासक्तिरुक्ता, सुष्ठु **मृष्टे** उज्ज्वले मणियुक्ते **कुण्डले** यासां, **निष्कयुक्तः कण्ठो** यासामस्ति ता **निष्कण्ठ्यः,** पूर्वोक्ताश्च ता निष्ककण्ठ्यश्च, **विचित्राण्यम्बराणि** यासां, **पथि शिखातश्च्युतानां माल्यानां वर्षा** यासां ताः, **नन्दालयं** नन्दगृहं, **सवलया** वलयसहिताः, **व्यालोलकुण्डलपयोधरहाराणां शोभा** याभिः ॥ ११ ॥ तत्रागतानां कृत्यमाह **ता आशिष** इति, **ता** गोप्य एवमुत्कण्ठतया समागता **आशिषः प्रयुञ्जाना** जाताः, तासां भगवदावेशात् सत्या एवाशिषो निर्गता इत्याह **चिरं पाहीति बालके,** आशिषो न परोक्षतया निरूपयन्ति किन्तु प्रत्यक्षतयेति **पाही**तिमध्यमपुरुषप्रयोगः, तासां सर्वभावेन पालनमल्पकाल एवेति ज्ञात्वा बहुकालरक्षार्थं प्रार्थना, एतदपि प्रत्येकं वचनं, तासां प्रत्येकं भगवत्स्फुरणात्, **एवमाशिषः प्रयुञ्जाना** भगवद्भावेनात्यन्तं सक्ता **हरिद्राचूर्णतैल**जलान्येकीकृत्य परस्परं **सिञ्चन्त्यो जनं** भगवन्त**मुज्जगुः,** हरिद्राचूर्णयोर्मेलन आरक्तो भवति, **तैले**न च सम्पृक्तं न कदापि त्यजति बहुकालमिममर्थं ज्ञापयति, जले योजितं प्रसृतं भवति, ननु कुलस्त्रीणां कथमेवम्भावस्तत्राहाजनमुज्जगुरिति, भगवद्भावस्य ज्ञापकमजनपदं, स हि भगवांस्तत्र जात इति ताभिर्ज्ञातं, अतो भगवति प्राप्ते सर्वापेक्षाभावात् तथा **सिञ्चन्त्य उच्चैर्जगुः** ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

मूलस्थपाणिपदतात्पर्यमाहुः **रिक्ते**त्यादि ॥ ८ ॥ **सम्बद्धा** इति कुलदेहसम्बन्धयुक्ता इत्यर्थः ॥ ९ ॥ **नवकुङ्कुमे**त्यत्र, मुखेषु तादृक्पङ्कजत्वोक्त्या व्यञ्जितमर्थमाहुः **गन्ध** इत्यादिना । भावज्ञापकत्वसाम्येन कटाक्षोक्त्योरैक्यविवक्षया चतुष्टयत्वमुक्तम् । कटाक्षयुक्तास्ता इति वा । तथा च गन्धादिवक्रोक्तिगानपर्यन्तं ताभिर्ज्ञापितं ज्ञास्यति । यतस्तच्चतुष्टयं ज्ञेयम् । लोभात्मकं रसं तु स्वत एव

ज्ञास्यतीति योजना । एतेन भगवतस्तु रूपादिपञ्चविधविषया ये भोग्यास्ते एता एवेति सूचितम् । तेनैतासु भगवत आसक्तिः सूचिता भवति, मिथश्चित्तव्यतिषङ्गोपि । चतुष्टयज्ञेयपदे रसस्यैव वा विशेषणं ॥ १० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सौमङ्गल्येत्यस्याभास **उपपत्त्ये**ति यत्र पूर्वोक्तरीतिकं दानबाहुल्यं तत्रोत्सवो भवत्येवेत्युपपत्तिस्तयेत्यर्थः ॥ ५ ॥ **गोपा** इत्यत्र **रिक्ते**त्यादिना सुबोधिन्या यदुक्तं तट् टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **मूले**त्यादि । **गोप्य** इत्यत्र **सम्बद्धा** इति सुबोधिन्यां यदुक्तं तद् विवृण्वन्ति टिप्पण्यां **सम्बद्धा** इत्यादि ॥ ८ ॥ **नवकुङ्कुमे**त्यस्याभासे **श्रवणादि गमनपर्यन्तमिति,** श्रवणे कर्णे तदारभ्य गम्यत आभ्यामिति **गमने** पादौ **तत्पर्यन्तं** यावता ताटङ्कहंसकनूपुरादिनेत्यर्थः, यद्यपि शिरोभूषणमेव प्रथमं वक्तव्यं तथापि कर्णावेव पूर्वं भगवज्ज्ञापकौ जातावित्यभ्यर्हितत्वात् ताभिस्तावेव पूर्वं भूषितावित्याचार्यैरपि तथोक्तं, यद्वा ननु गमने विलम्बं कुतः कृतवत्य इत्याशङ्क्याहु**रात्मालङ्कार** इत्यात्मन एव समर्पणीयत्वात् **तदलङ्कारो** यावता कालेन भवति तावद्विलम्बमावश्यकत्वात् कृत्वेत्यर्थः, विवृतौ ननु शुकस्य किं प्रयोजनं यदेवं वर्णयतीत्याकाङ्क्षायामाहु**स्ता** इत्यादि, **अर्थस्तु स्पष्टः, टिप्पण्यां गन्ध** इत्यादिकारिकाप्रयोजनं वर्णयन्ति **नवे**त्यादि ॥ ९ ॥ **ता आशिष** इत्यत्र नन्वाशिषि प्रयोक्तव्यायां "चिरं जीवे"त्येवं वक्तव्यं "पाही"तिप्रार्थनासम्मिलिततत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहु**स्तासामि**त्यादि, मथुरागमने सर्वभावेन पालनं न भविष्यति **बहुकालमिति** तदभावार्थं तथेत्यर्थः, यद्वा भगवतः सदात्र स्थितिमत्त्वेपि तासां रात्रिरमितकाल एव सर्वभावेन रक्षणमिति तदभावाय तथेत्यर्थः, अस्मिन् व्याख्याने 'स्त्रीपु रेमे ह्यहर्निशं' मितिवक्ष्यमाणरीत्याशिषां सत्यता स्यान् न तु पूर्वव्याख्यायामिति ज्ञेयं, तर्हि सदेत्येव कुतो नोक्तवत्य इति चेत् किञ्चित्कालविच्छेदाभावस्य रसाननुभावकत्वादिति बुध्यस्व, एतेन मथुरागमनशङ्कापास्तान्यथा सर्वज्ञत्वेन सदेत्येव वदेयुः, यद्वा रात्रावपि त्यक्त्वा न गन्तव्यमिति सूचयन्ति, एवं वाचा भगवन्तं प्रार्थयित्वा तमर्थं क्रिययापि सूचयन्तीत्याशयेनाहु**र्हरिद्रे**त्यादि, अयं भावः, यथा हरिद्राचूर्णसंयोगेन जातः शोणिमा तैलयुक्ते पटे समवेतः कदापि पटं न त्यजत्येवमुभयसंयोगेन जातोनुरागोयुतसिद्धत्वात् स्नेहयुक्तं कदापि न त्यक्ष्यतीति तथाकृतवत्यः, **बहुकालमि**त्यत्रापि पूर्वोक्त एवार्थः, यथा वा जले पतितं तैलं बहुरूपं भवति तथास्माकमुपरि पतितस्तथेत्यर्थः, **भगवद्भावस्ये**ति भगवतो यो भावः स्वस्मिन् विद्यमानता ब्रह्मभाव इतियावत् तस्य ज्ञापकम**जनपद**मन्यथा जन्मोत्सवे वक्तव्ये **जनपदं** शुको न वदेदतस्तथेत्यर्थः, तद् विशदयन्ति **स हा**त्यादि, हि यतो हेतोः **सोस्मद्वरदाता भगवान्** षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नोक्षर एव विद्यमानस्तत्र भूमौ न जातः किन्त्वक्षरं प्रकटीकृत्य तत्रैवाविर्भूत **इति ताभिर्ज्ञातमतस्तथे**त्यर्थः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सौमङ्गल्येत्यस्याभासे **माहात्म्यमुक्त्वे**ति, महानात्मान्तःकरणं यस्य तादृशत्वं पूर्वोक्तं महामनस्त्वमित्यर्थः, तथा च 'धेनूनां मितिश्लोकस्याभासे उक्तोर्थोऽनेनोपसंहृत इति ज्ञेयं, व्याख्याने, **सुमङ्गल**ेति सुष्ठु मङ्गलं येषां तत्ता मङ्गलमित्यर्थः, **तच्चे**ति मङ्गलजनकं वाक्यमित्यर्थः, तथा च मङ्गलप्रतिपादिका गिरो वाक्यानि येषामित्यर्थः, **गायका अन्ये** इति सूतादिभ्योऽन्ये न तु तन्मध्यस्था एव केचनेत्यर्थः, तेषां द्वैविध्यमाहुः **केवला नृत्यादिसहिताश्चे**ति, आदिपदेन वीणायां केचन गायन्ति तेपि, **गायकाश्चे**ति चकारस्यार्थमाहुः **स्त्रियश्च वाद्यवादकाश्चे**ति, वाद्यानां मृदङ्गादीनां वादकास्तेपि जगुरित्यर्थः ॥ ५ ॥ **महार्हे**त्यस्याभासे **गोपानामाहे**ति शोभामितिपूर्वाभासानुवृत्तिः, व्याख्याने, **परिधेयानी**ति अन्तरीयरूपाणि धौतवस्त्राणीत्यर्थः, कञ्चुकोष्णीषयोः पृथगुक्तेरितिभावः ॥ ८ ॥ **गोप्यश्चे**त्यस्याभासे **सङ्गता** इति भगवति सङ्गता भगवद्योग्या इत्यर्थः, इदं सङ्ख्यातात्पर्यमुक्तं न तु प्रत्येकं श्लोकेषु तथाविभागः, व्याख्याने, प्रथमश्लोके नन्दसुतत्वमुक्तमत्र यशोदासुतत्वमुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः **तासामिति, चतुर्विधेति** 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव च । कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुव'मितिरूप इत्यर्थः, **आकर्ण्ये**त्यत्राङ् ईषदर्थत्वमभिप्रेत्याहुर्न **तु निश्चयमिति,** पूर्वेषां गृहाद्यलङ्करणमुक्तमेतासामात्मालङ्करणमुच्यते तत्तात्पर्यमाहुः **तासां निवेदनीय** इति, गृहादिकं तु त्याज्यमत **आत्मैवे**त्येवकारः, **आत्मा** स्वस्वरूपमित्यर्थः, एतद्देहादीनामविकृतत्वे विनिगमकमाहुः **सशरीराणामि**ति, ब्रह्मानन्दानुभवो हि देहेन्द्रियादीनां विकृतत्वात् तन्नाशे सति जायते, अत्र तु सशरीराणामेव वक्तव्यः, अतो ज्ञायते एतासां शरीरेन्द्रियादीन्यविकृतान्यात्मरूपाण्येवेति, गोपानामप्यलौकिकदेहसम्पादनानन्तरमेव ब्रह्मानन्दानुभवः, परं तेषामग्रे लीलया तत् सम्पादनीयमेतासां तु सिद्धमेवास्तीतिविशेषः, एतत्श्लोकवाक्यार्थ आभासेनुक्त इत्युपसंहारव्याजेनानुवदन्ति **तावत् कृत्वे**ति ॥९॥ **नवे**त्यत्र **देवतारूपा** इति शरीरादीनामात्मत्वस्योक्तत्वाद् देवतात्मकमविकृतं रूपं देहादिकं यासामित्यर्थः, किञ्जल्कसाहित्यकथनेन सूचितमर्थं गौणवाक्यार्थत्वेनाहुः **विकसितवदना जाता** इति, पङ्कजे किञ्जल्कदर्शनं विकासे सत्येव भवतीतिभावः, **अलौकिक** इति लोकैरवेद्यो भगवदेकवेद्य इत्यर्थः, तथा च विकसितवदना जाता इति स्फुटं विकासो वाच्यो भवति परन्त्वलौकिकत्वाद् **वर्णयति** ध्वनिनैव बोधयतीत्यर्थः, **तत्सदृशा** वेति वक्ष्यमाणपक्षे मुखेषु किञ्जल्कपदार्थं बोधयितुमाहुः **आरक्तरेखायुक्ता** इति, लोमस्थितरेखा एव किञ्जल्का इतिभावः, **तत्सदृशा वा किञ्जल्का** इति येष्विति शेषः, तथा च नवकुङ्कुमसदृशाः किञ्जल्का येष्विति बहुव्रीहिः, **प्रथमपक्षे** नवकुङ्कुमस्य किञ्जल्का येष्विति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः, तादृशैर्मुखपङ्कजैर्भूतिर्यासामिति पुनर्बहुव्रीहिः, **गन्धो रूप**मित्यत्र **भ्रमरोक्त्यो** भ्रमरस्येवोक्तयः पङ्कजे भ्रमरोक्तयस्तत्स्थानीया मुखे वक्रोक्तय इत्यर्थः, टिप्पण्यां **तादृक्पङ्कजत्वोक्त्ये**।

सकिञ्जल्कपङ्कजत्वोक्त्येत्यर्थः, विकसिते एव किञ्जल्के दर्शनं भवतीति किञ्जल्कसाहित्यकथनेन विकसितत्वं सूच्यते, तथा च विकसितपङ्कजस्य यथा गन्धादिचतुष्टयानुभावकत्वं न तु रसानुभावकत्वं तथात्रापि सूचितं भवतीत्याशयेनाहुः गन्ध इति, **रसं स्वत एव ज्ञास्यतीति** भ्रमरशब्देन शब्दानुभावकत्वं पङ्कजस्य ज्ञेयं, चतुष्टयपदस्य रसविशेषणत्वे चतुर्विधमित्यर्थः, 'सुरतवर्धनं शोकनाशन'मिति श्लोकोक्तं चातुर्विध्यं ज्ञेयम् ॥ १० ॥ **स्वरूपमुक्त्वेति** 'विकसितवदना' इत्युक्तगौणवाक्यार्थस्यानुवादोयं, **गोप्यः सुमृष्टे**-त्यत्र पूर्वश्लोके गमनं मुख्यत्वेनोक्तं, तेन द्वितीयश्लोके प्रवेशस्य मुख्यत्वे वक्तव्येपि तस्य गौणत्वमुक्त्वा शोभाया मुख्यत्वमुक्तं, तत्तात्पर्यमाहुः **दूरादागत्येति**, 'कुण्डलहारशोभा' इत्यस्य तेषां शोभा याभिस्तैः शोभा यासामितिविग्रहद्वयमप्यभिप्रेतामिति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥ **ता आशिष** इत्यत्र **भगवद्भावस्येति** एतासां पुरुषोत्तमे भावो न तु वासुदेवव्यूहे, तथा च वासुदेवव्यूहमादायैवात्मजपदावयवार्थस्य समाहितत्वादेतासां भगवान् पुत्रत्वं स्वस्मिन् नन्दे च पितृत्वं स्वीकृत्य प्रकटो न तु नन्दात्मनः सकाशाज् जात इतिभाव इत्यर्थः, तथा च **भगवद्भावेत्यस्य** पुरुषोत्तमभावेत्यर्थः, नन्दस्य त्वात्मनः सकाशाज् जात इतिबुद्धिरतस्तद्भावो वासुदेवपर्यवसायीतिभावः, अयमेवांशो 'न माता न पिता तस्ये'त्यादिनोद्धवेन निवारणीय इति ज्ञेयं, **स हीति** पुरुषोत्तम इत्यर्थः, पुरुषोत्तमस्याजनत्वमेवोचितमिति हिशब्दः, **भगवति प्राप्ते** इति पुरुषोत्तमे इत्यर्थः, **सर्वापेक्षेति** पुरुषोत्तमप्राप्तौ लोकवेदापेक्षाभावस्य 'न बिभेति कुतश्चन' 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरव'मिति श्रुतिसिद्धत्वादितिभावः ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गोप्यश्चाकर्ण्येत्यत्र सम्बद्धा इत्यादि **सम्बद्धाः** कुलदेहसम्बन्धयुक्ता इत्यर्थ इति श्रीमत्प्रभुचरणैर्व्याख्यातं, **असम्बद्धाः** कुलदेहसम्बन्धरहिता ज्ञातीया इत्यर्थः, **सङ्गताः** परिचर्यादिकृतौ विनियुक्ताः **असङ्गताः** समानकक्षापन्ना अनाश्रिता इत्यर्थः ॥ ९ ॥ **गन्धो रूपं तथा स्पर्श** इत्यादि **नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतय** इत्यनेन गोपवधूपु गन्धरूपस्पर्शशब्दरसा भगवतो भोग्याः पञ्च विषया सर्वोत्कृष्टा विद्यन्त इति सूचितं, तदेतद् कारिकया विवृण्वन्ति **गन्धो रूपमित्यादिना**, तत्र नवकुङ्कुमपदेन सुगन्ध उक्तः, किञ्जल्कपदेन सौन्दर्ययुक्तं रूपं, **मुखपङ्कजेत्यनेन सुस्पर्शसुशब्दसुरसाः** सूचिताः, पङ्कजस्य सुस्पर्शत्वात् भ्रमरगुञ्जितेन सुशब्दत्वात् मकरन्दवत्त्वेन सुरसत्वाच् च, एवं भगवतो नासिकानयनादीनां भोग्याः पञ्च विषया एतासामेवाङ्गेषु विराजन्त इति तात्पर्यं सिद्धं, तत्र सुगन्धसुरूपसुस्पर्शाः प्रत्ययत्रयेष्वेतासां भगवद्भोग्याः, सुशब्दो द्वेधा, भाषणात्मकः किङ्किणीनूपुरादिरवात्मकश्च रसो लोभात्मकावयवे स्थित इति ज्ञेयम् ॥ १० ॥

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नवकुङ्कुमेत्यत्र मुखेषु 'किञ्जल्कपङ्कज'त्वोक्त्या व्यञ्जितमर्थमाहुर्गन्ध इति का० १५½। अत्र टिप्पण्युक्ते प्रथमव्याख्याने कटाक्षाश्च भ्रमरोक्तयश्चेति द्वन्द्वः, कटाक्षभ्रमरोक्तयोर्भावज्ञापकत्वसाम्येनैक्यविवक्षया चतुष्टयत्वमुक्तं, भ्रमरशब्देन पङ्कजस्य शब्दानुभावकत्वं ज्ञेयं, भ्रमरोक्तिस्थानीया मुखे वक्रोक्तयः, द्वितीयव्याख्याने तु **कटाक्षयुक्ता** वक्रोक्तय इति मध्यमपदलोपी समासः, तथा च **ज्ञेयं गन्धादिचतुष्टयं ताभिर्ज्ञापितं ज्ञास्यति माधवः, रसं तु स्वत एव ज्ञास्यतीति** योजना, चतुष्टयज्ञेयपदयो रसविशेषणत्वपक्षे 'सुरतवर्धन'मिति श्लोकोक्तप्रकारेण चतुर्विधं **ज्ञेयं रसं स्वत एव ज्ञास्यतीत्यन्वयः**, तथा च यथा विकसितपङ्कजस्य गन्धादिचतुष्टयानुभावकत्वमेव रसं तु मधुपः स्वयमेव भुङ्क्ते तथात्रापीतिभावः ॥ का० १५½।

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)—

"एवं प्रसङ्गान्नन्दस्य" एवं प्रसङ्गप्राप्त नन्दरायजी का माहात्म्य कहकर आगे कहे जाने वाले उत्सव को 'उत्पत्ति' से निरूपण करके उत्सव के विविध प्रकार बताते हैं। विविध प्रकारों में प्रथम **'सौमङ्गल्य'** आदि दस श्लोकों में विद्या से हुए उत्सव का वर्णन किया जाता है। **"सौमङ्गल्यम्"** सर्वमङ्गलकारक वेदवाणी को विप्र, पुराणगाथा गाने वाले सूतवृन्द, वंशमहिमा का गान करने वाले मागध-भाटगण, वर्तमान राजा के यशोगान करने वाले वन्दीजन, ये सब मङ्गलमय वाक्यों का उच्चार करने लगे। इन सब की वाक्यावली श्रुति गान करने वाले विप्रर्षिओं के संसर्ग से मङ्गलमयी बनी और सफल भी हुई। एवं विप्रों के सम्पर्क से सूत, मागध और वैतालिकों को भी वाक्यावली मङ्गलमय हुई। आचार्यचरण कहते हैं कि मागध बन्दीगण से पृथक् दो प्रकार के गायक थे: एक—केवल गान करने वाले और दूसरे—नाच आदि के साथ गानकर्ता। गाने वालों में स्त्री गायिकाएँ थीं। मृदङ्गादि वाद्य बजाने वाले भी थे। भेरियाँ उत्सव की सूचक थीं और दुन्दुभि मंगल वाद्य शुभ कर्म में ही बजाये जाते हैं। भेरी और दुन्दुभि बजाते २ थक जाते तो कुछ विश्राम कर फिर बजाते। यह वाद्य भी संगीतशास्त्र में प्रसिद्ध है। इससे विद्या का सब कार्य बताया।

श्री लेखकारजी—**'नन्दस्य माहात्म्यं'** का भावार्थ बताते हैं कि नन्दरायजी का **'धेनूनाम्'** इस दो लाख गौ आदि पदार्थों के दान बाहुल्य से बताया हुआ महामनस्त्व ही उनका माहात्म्य सूचक है।

आचार्यचरण के "उत्सवमुपपत्त्या" सुबोधिनीजी के पद का भाव बताते हैं कि जहाँ उपर्युक्त रीति से दान की बाहुलता बताई गई है, वहाँ अवश्य विशेष उत्सव हुवा होगा।

"भूसंस्काराननेकविधानाह" श्रीशुकाचार्यजी महाराज इस श्लोक में अनेक प्रकार से किये हुए भूमि के संस्कारों का वर्णन करते हैं 'व्रज इति' सारे व्रज में पहले रास्तों के एवं गृह के ऊपर भाग आदि, बाहर के और भीतर के द्वार, आंगन, इनके भीतरी भाग की धूलि को दूर कर स्वच्छ किया, पुनः सुगन्धित जल से सिञ्चन किया। गरुड़ादि चिह्नों वाली ध्वजाओं से, जय पत्रों से अंकित पताकाओं से, ध्वजा पताकाएँ विचित्र बनी हुई थीं। पुष्पों की मालाओं से एवं वस्त्र और पत्तों के तोरणों से, सारी व्रजभूमि सुसज्जित की गई थी। वस्त्रों से जितनी भी नाना प्रकार की सजाने वाली वस्तुएँ बन सकती हैं, वे सब वहाँ बनाई गई थी जिससे अभूतपूर्व शोभा वाला व्रज हो गया था॥ ६॥

"गवां शोभामाह" श्री शुकमुनि इस श्लोक में गौओं की शोभा का वर्णन करते हैं। 'गाव' शब्द से गौ और बैल 'वत्सा' से बछड़े और 'च' कार से बहुत छोटी बछड़ियां भी थीं। आचार्यचरणों का कहना है कि "वृष" शब्द से बड़े कंधे और बड़े शरीर वाले बैल कहे गये हैं और "च" अव्यय से बूढ़े बैल भी सजाये गये थे। ये सब हल्दीमिश्रित तैल से रंगे गये थे, रंग बिरंगे गेरू आदि धातुएँ उन पर लगाई थीं एवं मोर पंख, झूलें और सुवर्ण की मालाएँ पहनाई गई थीं। हल्दी से मिलाया तैल मंगलसूचक और शोभावर्धक है। गेरू आदि धातुएँ सुषमा के लिये लगाई गई थीं॥ ७॥

"गोपानां शोभामाह" श्री आचार्यचरण कहते हैं कि श्री शुकाचार्यजी इस श्लोक से गोपों की शोभा का वर्णन करते हैं—'महार्हेति' बहुत मूल्य वाले सुन्दर वस्त्र जो जो गोपों ने अपने यहाँ रक्खे थे, वे प्रभु प्राकट्य के दिन पहने क्योंकि आज ऐसे आनन्दमय महोत्सव में तो ऐसे ही अमूल्य एवं उत्तम कपड़े और आभूषण पहनने चाहिये। शिर पर पगड़ी तथा अंगों में अंगरखे पहने और कटिबन्ध कमर में बांधे। "कटिबन्धैरपि" पदों से आचार्यचरण का सूचन है कि श्री शुकाचार्यजी नन्दमहोत्सव के अलौकिक रस में डूब गये कि गोपों के कमर में बँधे हुए कटिबन्ध का वर्णन करना भूल गये। इसी प्रकार व्रज के भीतर तथा बाहर रहने वाले भी गोप विविध प्रकार की सामग्री भेंट भूषण वस्त्र दूध दही आदि लेकर आए। इन भेंटों के लाने का कारण यह था कि मन्दिर में, जन्म आदि उत्सव में खाली हाथ नहीं लेकिन भेंट ले जाना चाहिये। इसलिये नहीं कि नन्दजी के यहाँ कोई कमी थी। इन भेंटों से नन्दजी की कोई समृद्धि नहीं हुई॥ ८॥

"गोपीनामुत्सवमाह चतुर्भि." श्री शुकाचार्यजी अब चार श्लोकों से गोपियों के उत्सव का वर्णन करते हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि सम्बद्ध गोपियाँ चार प्रकार की थीं और असम्बद्ध भी चार प्रकार की थीं। श्री टिप्पणीकारजी "श्री नन्दबाबा के देह और कुल से सम्बन्ध वाली गोपियों को" सम्बद्ध गोपी कहते हैं। योजना में नन्दरायजी के कुल और देह के सम्बन्ध से रहित गोपीजन को असम्बद्ध कहा है। दोनों प्रकार को सम्बद्ध एवं असम्बद्ध गोपियाँ संगत और असंगत होने से दो प्रकार की थीं। श्री लेखकार जी "सङ्गताः का अर्थ करते हैं भगवद्योग्याः" जिन गोपियों को भगवत्सेवा में अङ्गीकार किया है। श्री योजनाकारजी "सङ्गताः" का अर्थ करते हैं कि भगवान का सेवा में विशेष प्रकार से जिनकी नियुक्ति की गई है और "असङ्गताः" का यह भाव है कि जो समान कक्षावाली और अनाश्रित गोपी है। 'च' अव्यय का आशय बताते हुए कहते हैं कि जहाँ तहाँ छिपी हुई गोपियों के अतिरिक्त ब्राह्मणों की स्त्रियाँ तथा दूसरों की स्त्रियाँ भी आई, जिनके ऊपर नन्दजी का कोई अधिकार नहीं था। जिस यशोदा के यहाँ सन्तानउत्पत्ति की आशा नहीं थी, ऐसी यशोदा को अचानक पुत्र उत्पन्न हुआ जानकर गोपियों के अन्तःकरण में भी सन्तोष हुआ। क्योंकि अब गोपियों का चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध होगा; इससे सुनते ही उनके मन में परमानन्द हुआ। पहले, जन्म प्रकरण में श्रीकृष्ण भगवान् का वसुदेव-पुत्र कहा, यहाँ यशोदापुत्र कहा, उसका भाव बताने के लिये लिखते हैं कि, 'चतुर्विधपुरुषार्थस्तासां विशेषाकारेण सेत्स्यति' गोपियों के चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धि, विशेष रूप से, यहाँ ही होगी। इसलिये यशोदापुत्र कहकर जताया कि यह सिद्धि इस स्वरूप से ही होगी। **पुष्टिमार्गीय चतुर्विध पुरुषार्थ,** 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि। कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्यले ध्रुवम्।' 'आकर्ण्य' पद में 'आ' उपसर्ग अल्प अर्थ में है, न कि, निश्चयार्थ में जिससे गोपियों ने पुत्र प्राकट्य के निश्चय की भी अपेक्षा नहीं की और आत्मा को अलंकृत करने लगीं। आत्मा को इसीलिये विभूषित करने लगीं कि उन्हें आत्मा ही भगवान को अर्पण करनी थी। 'आत्मा' शब्द के प्रयोग से यह बताया कि इनके शरीर आदि सर्व अलौकिक एवं अविकारी है। ऐसे अविकारी शरीरों से ब्रह्मानन्द का अनुभव किया जाता है न कि पुरुषोत्तम के भजनानन्द का। उन्होंने उत्तम वस्त्र पहन कर तथा आभूषणों से सुसज्जित हो, कज्जल लगा के, पुष्पमालाएँ गले में डाल, और भाल में सुन्दर तिलक की बिन्दी लगा कर अपने आप को अलंकृत किया॥ ९॥

'श्रवणादिगमनपर्यन्तमात्मा' आचार्यचरण कहते हैं कि व्रजनारी अपने कानों से लेकर चरणों तक यथा शक्य अपनी आत्मा को विभूषित कर नन्दजी के घर गई। इसका वर्णन शुकाचार्यजी 'नवकुङ्कुम' श्लोक से करते हैं।

वे सब गोपियाँ देवता रूप थीं इसलिये भगवान् के सम्मुख पधारने के अवसर पर प्रफुल्लित मुखवाली हो गई। गोपीजनो के इस अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते हैं कि जैसे तांबूल भक्षण से लाल मुखवाली अथवा पद्मिनी आदि सुलक्षण होने के कारण, आरक्त रेखायुक्त मुखवाली अथवा नवीन केसर की उत्तम लाल केसराओं को तिलक आदि से मिला दिया है अथवा केसर की केसराओं को पीस कर उनसे मुख पर रेखा करली है अथवा तो नवीन केसर को केसराएं ओष्ठ पर स्वाभाविक लाल रेखाओं के सदृश शोभित हो रही हैं वैसी गोपियाँ कृष्णदर्शनको चली। नव कुकुंम केसराओं से सुशोभित मुखारविन्द से विभूति वाली गोपियों को प्रभु के समीप जाने के समय सर्वस्व लेजाना था, किन्तु शीघ्रता के कारण केवल पूजा की सामग्री, पुष्पादि लेकर गई। यद्यपि शीघ्र जाने में गोपियों के स्थूल नितम्ब एवं अति उन्नत चलायमान स्तन प्रतिबन्धक होते थे तो भी शीघ्र गई। वे जहाँ अशक्य को शक्य कर सकती हैं वहाँ शक्य को शक्य करने में कौनसा संदेह है। शीघ्रता से जाने के कारण वेणियों में जैसे तैसे बांधी हुई मालाओं के बन्धन शिथिल होने से पुष्प रास्ते में गिरने लगे इसका वर्णन आगे के श्लोक में शुकाचार्यजी करेंगे।

कारिका—गन्धो रूपं तथा स्पर्शः कटाक्षभ्रमरोक्तयः। ताभिश्चतुष्टयं ज्ञेयं रसं ज्ञास्यति माधवः॥ ११॥

कारिकार्थ—गन्ध, रूप, स्पर्श, शब्द और रस इन पांचों में से गन्ध, रूप, स्पर्श और शब्द—याने कटाक्ष और भ्रमर की गुंजार ये चार उन गोपी जनों के द्वारा जाने जाएँगे, रस तो माधव प्रभु आप ही जानेंगे।

श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश टीका में सुबोधिनी में दिये हुए '**आत्मालंकारो यावता**' का भावार्थ दो प्रकार से है। यावता पद से '**ताटंक हंस नूपुरादिना**' नूपुर आदि से जितना बन सका उतना आत्मा को सजाया। यावता कालेन जन्म सुनते ही आनन्दित हुई तो जाने में विलम्ब क्यों? इस पर कहा है कि आत्मा सुशोभित करने में जितना समय लगा उतना आवश्यक विलम्ब हुआ। "**ताः सर्वदेवताः**" वाक्य का प्रकाशकारजी रहस्य बताते हैं कि शुकदेवजी ने गोपियों का इस तरह वर्णन क्यों किया? इसलिये सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने कहा कि गोपियाँ साधारण स्त्रियां नहीं थी किन्तु 'ताः सर्वदेवताः' ये देवताओं की स्त्रियां थी, इसलिये श्री शुकदेवजी ने इस प्रकार वर्णन किया।

श्री लेखकारजी श्री आचार्यचरण के '**ताः सर्वा देवतारूपाः**' का भावार्थ बताते हैं कि गोपियों के देह को आत्मा शब्द से कहा गया है, इससे वह देह अविकृत होने से अलौकिक थीं, इसलिये गोपियों को देवतारूप कहा है। नवकिञ्जल्क आदि से उनकी शोभा या उत्तमता का वर्णन गौण है। मुख्य ता उनकी शोभा, मुखारविन्द का विकास आदि अलौकिक था। इसलिये अलौकिक विकासादि को भगवान् ही जानते थे। अलौकिकता के कारण उसका ज्ञान ध्वनि से ही मालूम होता है। '**आरक्त-रेखायुक्ता**' का आशय कहते हैं कि '**अधरस्थित रेखाएँ** ही किञ्जल्क हैं अथवा किञ्जल्क अधर के समान हैं, और इसी प्रकार नवीन केसर के समान किञ्जल्क जिनमें नवीन केसर की किञ्जल्क जिनमें ऐसे सुन्दर विकसित मुखकमलों से शोभावाली गोपिकाएँ प्रभुदर्शनार्थ पधारी॥ १०॥

श्री योजनाकार का आशय यह है कि—'नवकिञ्जल्क' श्लोक से शुकदेवजी ने यह बताया है कि गोपियों में गन्ध रूप, स्पर्श, शब्द एवं रस ये सबसे उत्तम और अलौकिक पाँचों विषय भगवद्भोग्य हैं इसका स्पष्टीकरण आचार्यश्री ने "**गन्धो रूप**" कारिका में किया है। मूल श्लोक के 'नवकुङ्कुम पद से सुगन्ध', 'किञ्जल्क पद से' रूप 'मुखपंकज' पद से स्पर्श शब्द एवं रस बताये हैं। पंकज का स्पर्श सुखकारक है इससे इनके स्पर्श की आनन्दप्रदता सूचित की। कमल पर भ्रमर गुंजार करते ही हैं इससे गोपियों में 'मुख' शब्द बताया। कमल में मकरन्द रहता है इससे गोपियों को रसवती कही। यों कहने का भाव यह है कि भगवान् के नासिका नयनादि से भोग्य पांचों विषय गोपियों के अलौकिक अंगों में विराजते हैं।

इस प्रकार आगे नवमें एवं दसवें श्लोक में मार्ग में जाती हुई गोपियों के स्वरूप का वर्णन किया गया अब नन्दालय में प्रवेश करती हुई गोपियों के स्वरूप का वर्णन करते हैं "**गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डल इति**"—दूर सुदूर गावों से आई हुई गोपियाँ जैसे तैसे किसी प्रकार नंदालय के समीप आकर जब वे आपस में मिलीं तब उन सब के साथ मिलने से शोभा विशेष बढ़ी। "**गोप्य**" इति पुनर्ग्रहणं पद से आचार्यचरणों का कहना है कि नवम श्लोक में "**गोप्यश्चाकण्य**" पद से गोपीजनों का उल्लेख किया है फिर यहां पुनः "**गोप्य**" इसलिये कहा है कि गोपियाँ सब एक स्थान से नहीं आई थीं, किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर सब नन्दालय के निकट मिलकर इकट्ठी हुई और नन्दालय में, साथ ही प्रविष्ट हुई।

यद्यपि व्रजनारियाँ आभूषणादि तो, पहले से ही पहने हुए थीं, किन्तु सर्व आभूषण वस्त्रों के भीतर ढके हुए थे, अब अलंकारों की शोभा घर में आने पर, खुले होने से दिखाई देने लगी, जिससे सभों ने जाना कि इन्होंने सर्वांग में विविध आभूषण धारण किये हैं। ऐसे ही वस्त्रों की शोभा भी नन्दालय में आने पर ज्ञात हुई। रास्ते में केशकला से गिरते हुए पुष्पों की वर्षा गोपियों की त्वरित गति एवं जाने के मार्ग की सूचना दे रही थी। कंकणों ने भी रूप और शब्द से अपना स्वरूप

बताया कि दूसरे आभूषणों के समान हम भी हैं। गोपियाँ हिलते हुए कुण्डल, पयोधर और हारों से सुशोभित देखने में आई। 'तद्गताः' ? इन कुण्डल पयोधर और हारों में से, आभूषणों में कुण्डल राजस पयोधर तामस और हार सात्विकता के प्रतीक थे। कुण्डल, पयोधर और हारों में चंचलता आ जाने के कारण सर्व प्रकार की गोपियों की उत्सव में आसक्ति बताई। कानों में उज्ज्वल मणियुक्त कुण्डल वाली, कण्ठ में पदकों के हार और विविध रङ्ग के उत्तम अम्बर वस्त्र वाली और मालाओं के फूलों को रास्ते में वर्षा करने वाली गोपियों ने नन्दमहल में प्रवेश किया। जिस प्रकार गोपियां आभूषणों से सुशोभित थीं उसी प्रकार कंकण सहित चलायमान कुण्डल, स्तन और हार भी गोपियों के कारण सुशोभित हो रहे थे।

श्री लेखकार जी का कथन है कि यदि अग्रिम दशम श्लोक में श्री व्रजवनिताओं का श्री नन्दालय में 'गमन' का मुख्य रूप से वर्णन किया गया तब इस ग्यारहवें श्लोक में 'प्रवेश' का मुख्य रूप से वर्णन करना चाहिये, फिर शोभा की मुख्यता का वर्णन क्यों किया ? ऐसे संदेह का निवारण करने के लिये आचार्यचरणों ने कहा है कि 'दूरादागत्य' दूर दूर से आकर एक स्थान पर सब गोपियां मिलीं तब गोपियों की आभूषणों से और आभूषणों की गोपियों से परस्पर शोभा बनी। इसलिये 'व्यालोल-कुण्डल-पयोधर-हार-शोभा' इस संस्कृत पद के दो प्रकार के विग्रह करके दो भाव बताये हैं। इसलिये प्रवेश की मुख्यता न बताकर शोभा की मुख्यता बताई गई है ॥ ११ ॥

श्री आचार्यचरण कहते हैं "तत्रागतानां कृत्य" नन्दगृह में आई हुई गोपियों के इस प्रकार बहुत स्नेह से आशिष देने लगी। उनके आशीर्वाद सत्य थे क्योंकि गोपियों में भगवदावेश था। इसलिये उन्होंने कहा कि 'चिरं पाहि' बहुत समय तक हमारी रक्षा करो। यह आशीर्वाद भी भगवान् को परोक्ष समझ कर नहीं दिया किन्तु प्रत्यक्ष नयन गोचर हो रहे हैं, ऐसा समझकर 'पाहि' ऐसा मध्यम पुरुष का रूप दिया। गोपियों का सर्वभाव से भगवान् पालन थोड़े समय तक ही करेंगे। यह जान कर ही बहुत काल तक रक्षा के लिये प्रार्थना की। यह प्रार्थना केवल एक गोपी ने नहीं की किन्तु प्रत्येक गोपी जनने स्वतन्त्र अपने मुख से अपने लिये प्रार्थना करते 'चिरं पाहि' का उच्चारण किया, क्योंकि प्रत्येक गोपी में भगवत्स्फूर्ति थी। इस प्रकार आशिष प्रदान करती हुई भगवद्भाव से अत्यन्त विभोर बन गई और प्रेमाविष्ट हो गई। प्रेममग्नता के कारण तो हल्दी, चूना, तैल और पानी मिलाकर आपस में छिड़कती हुई भगवान् के गीत गाने लगीं, हल्दी में चूना मिलाने से लाल रंग हो जाता है, फिर उसमें तैल मिला कर किसी को लगाने से वह रंग मिटता नहीं, बहुत समय तक लगा रहता है और जल में मिलने से वह रंग फैल जाता है। ऐसा करने का आशय यह है कि भगवान् के प्रति हमारा प्रेम चिरंतन रहे और वृद्धिंगत बने, मिटे नहीं। यदि शंका की जाय कि कुलीन स्त्रियों में ऐसा भाव पर पुरुष में कैसे हुआ ? तब कहते हैं कि ये तो पर पुरुष नहीं परंतु अजन पूर्ण पुरुष भगवान है। अजन भगवदावेश से गोपियों न यह जान लिया था कि नन्दजी के यहाँ साधारण मानव का जन्म नहीं हुआ है, किन्तु अजन्मा भगवान् स्वयं पधारे हैं। इसलिये भगवान् के मिलने पर अन्य सबकी अपेक्षा जाती रहती है उनके मन में भगवत्प्रेम के अतिरिक्त लौकिक आदि का उद्भाव हीं नहीं होता। इससे प्रेममत्त हो सिञ्चन करती हुई वे गोपियाँ भगवान् का जोर जोर से यशोगान करने लगीं।

श्रीप्रकाशकारजी "चिरं पाहि" पदकी समालोचना करते हुए कहते हैं कि प्रसिद्ध प्रकार से गोपी जनों को आशीर्वाद में तो 'चिरंजीव' इतना कहना था साथ में 'पाहि' हमारी रक्षा करो ऐसा क्यों कहा ? इसका भाव बताते हुए सुबोधिनी में 'तासां भगवदावेशात् सत्या एवाशिषः' कहा है कि गोपियों में भगवान का आवेश होने से यह कहना सत्य है। वे जानती थीं कि भगवान् श्रीमथुरा पधारेंगे और अल्प समय तक ही हमारी रक्षा करेंगे। इसलिये चिरं पाहि ये दो पद साथ में कहे। अब दूसरा भाव बताते हैं कि भगवान् मथुराजी भी जायं तो भी रात्रि के समय तो हमारी रक्षा करेंगे, दिन को नहीं करेंगे, इसलिये दिन के समय भी रक्षा करें इसलिये 'चिरं पाहि' बहुत समय तक 'दिन रात्रि' में हमारी रक्षा करो इस प्रकार कहा यह आशिष सत्य हुई क्योंकि 'स्त्रीषु रेमेह्यर्निशं' कहा है भगवान् गोपीजनों में निरंतर रमण करते थे। यदि ऐसी ही इच्छा थी तो 'चिरं' अव्यय का प्रयोग न कहकर 'सदा' रक्षा करो कहना चाहिये तब कहते हैं कि 'सदा' इसलिये गोपियों ने नहीं कहा कि वे जानती थीं कि यदि हम सदा रक्षण की प्रार्थना करेंगी तो प्राप्त रस का अनुभव न कर सकेंगी। इसलिए 'सदा' न कह कर 'चिरं' कहा।

प्रकाशकारजी "हरिद्राचूर्ण" पदों का मर्म बताते हैं कि इस प्रकार वाणी से प्रार्थना कर क्रिया से भी उस आशय को बताती हैं। हल्दी में चूर्ण तैल जल आदि मिलाकर सिंचन करने से यह कहा कि जैसे लाल रंग व्यापक होकर मिटता नहीं है वैसे ही आपका और हमारा प्रेम ऐसा सुदृढ और व्यापक हो किन्तु कदापि क्षीण न हो।

आगे चलकर प्रकाशकारजी "अजन" पद पर कहते कि गोपियों ने ऐसे भाव जो प्रकट किये उसका कारण यह था कि गोपियों में भगवान् कृष्ण के लिए मनुष्यभाव नहीं था किन्तु ब्रह्मभाव था। वे जानती थी यह प्रकट बाल स्वरूप भगवान् है।

अब प्रकाशकारजी कहते हैं कि 'स हि' पदों में सः पद और हि अव्यय के निर्देश से सुबोधिनी में बताया गया है कि गोपियों ने जान लिया हैं कि ये वे ही भगवान् है जिन्होंने हमको वरदान दिया था। वे भगवान् षड्गुणैश्वर्य संयुक्त अक्षर में ही

विराजमान हैं। अन्य बालक की तरह भूतल पर इनका जन्म नहीं हुआ है किन्तु अक्षर को प्रकट कर उसमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है। गोपियों ने भगवदावेश होने से ऐसा समझा था।

श्रीलेखकारजी सुबोधिनीजी के "अतो भगवति प्राप्ते" पदों के भाव प्रकट करते है कि यहाँ भगवान् शब्द से पुरुषोत्तम समझना चाहिये। पुरुषोत्तम जिनको मिले हैं उनको लोकवेद की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'न बिभेति' ब्रह्मज्ञानी किसी से डरता नहीं ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

विप्रादयः सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिवाचका बभूवुः। तत्र "सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः। वंदिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः" इति भेदः। मुहुरित्यस्य सर्वत्रान्वयः। अन्ये च गायका जगुः, भेर्यो दुन्दुभयश्च नेदुः ॥ ५ ॥ सम्यक् मृष्टानि निःसारितरजस्कानि ततश्चन्दनपुष्पादिजलैः संसिक्तानि च द्वाराणि अजिराणि अङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिंस्तथाभूतो व्रजश्चित्रध्वजादिभिर्भूषितो जात इति शेषः चित्रेति प्रत्येकविशेषणम्, गरुडादिचिह्निता ध्वजाः, जययन्त्राङ्किताः पताकाः। स्रजां पुष्पमालानां, चैलानां वस्त्रखण्डानां, पल्लवानां च त्रिविधानि तोरणानि च तैः ॥ ६ ॥ हरिद्रायुक्ततैलेन रूषिता लिप्ताः, विचित्रा धातवो गैरिकादयश्च बर्हाणि मयूरपिच्छानि च स्रजः पुष्पमालाश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्चालङ्कारतया विद्यन्ते येषां तथाभूता गवादयो बभूवुरिति शेषः ॥ ७ ॥ "राज्ञामेवमुत्सवो भवति, तं त्वं जानास्येव" इति सूचयन् सम्बोधयति—राजन्निति। महार्हाणि अमूल्यानि यानि वस्त्रादीनि तैर्भूषिताः नानाविधान्युपायनानि प्रदेयानि वस्त्राभरणादीनि पाणौ येषां ते गोपाः सम्यक् सादरा हृष्टाः आययुः ॥ ८ ॥ यशोदायाः सुतोद्भवमाकर्ण्य प्रमुदिताः प्रहृष्टा गोप्यश्चात्मानं वस्त्रादिभिर्भूषयाञ्चक्रुरित्यन्वयः। आकल्पा अलङ्काराः आदिपदेन चन्दनमालादिसङ्ग्रहः ॥ ९ ॥ नवकुङ्कुमकिञ्जल्कैर्मुखपङ्कजेषु भूतिः शोभा यासां ताः। बलिभिः स्वर्णमुद्रारत्नहारानर्घ्यवस्त्रनारिकेलादिफलाक्षतदूर्वाचन्दनपुष्पमालाद्यैः पाणिभिर्गृहीतैः सह त्वरितं यथा स्यात्तथा नन्दगृहं जग्मुरित्यन्वयः। यद्यपि स्थूलश्रोणिकुचत्वात् तासां बलिं गृहीत्वा त्वरितगमनमसम्भावितमेव, तथाप्यत्यौत्सुक्यवशात्तथा जग्मुरित्याशयेनाह–पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचा इति ॥१०॥ ताश्च गोप्यो नन्दालयं नन्दगृहं प्रति व्रजतीर्व्रजन्त्यः पथि मार्गे विशेषतो रेजुरित्यन्वयः। शोभातिशयं प्रदर्शयंस्ता विशिनष्टि—सुमृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिमयानि कुण्डलानि यासां ताश्च, निष्काः पदकाख्यभूषणानि कण्ठे यासां ताश्च, चित्राणि अम्बराणि वस्त्राणि यासां ताः। शिखाभ्यश्च्युतानि गलितानि माल्यानि, तेषां वर्षाणि वृष्टयो यासु ताः। वलयैः कङ्कणैः सहिता भूषिता इति सवलयाः। व्यालोलैर्गतिवशेन प्रचलद्भिः कुण्डलपयोधरहारैः शोभा यासां ताः ॥ ११ ॥ तत्रागतानां कृत्यमाह—ता इति। ता गोप्यो बालके श्रीकृष्णे चिरं पाहीत्येवमाशिषः प्रयुञ्जानाः सत्यो हरिद्राचूर्णतैलाद्भिर्मिलितैर्जनं सिञ्चन्त्यश्च उच्चैर्जगुरित्यन्वयः। चिरं पाहीत्यनेन लोके हि बालके 'त्वं चिरं जीव' इत्येवमेवाशिषः प्रयोगो भवति, स तु भगवत्यनुचित एवेति तासां तत्र स्नेहाधिक्यात् तत्कृपया यथोचितमेव प्रयोगो जातः। एवमपि चिरजीवनं तु फलत्येवेति ज्ञेयम्। यद्वा 'भो परमेश्वर! एनं चिरं पाहि' इत्याशिषः प्रयुञ्जानाः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सौमङ्गल्येति। तदा विप्राः सूतमागधवन्दिनश्च मुहुः सुमङ्गलमेव सौमङ्गल्यं तद्बोधिका गिरो येषां ते सौमङ्गल्यगिरो बभूवुः। गायकाश्च मुहुर्जगुः भेर्यः दुन्दुभयश्च मुहुः नेदुः। "सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः। वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः।" ॥ ५ ॥ व्रज इति। पूर्वं सम्यक् मृष्टानि मार्जन्यादिभिर्मार्जितानि ततः चन्दनादिजलैः संसिक्तानि च द्वाराणि अजिराणि अङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिंस्तथाभूतो व्रजः चित्राभ्यां ध्वजपताकाभ्यां तथा चित्राणां स्रजां चैलानां चैलखण्डानां पल्लवानां चेति त्रिविधैस्तोरणैर्विभूषितोऽभूदिति शेषः। यद्वा। चित्रध्वजेषु पताकानां स्रजश्चैलपल्लवतोरणानि च तैर्भूषितः ॥ ६ ॥ गाव इति। गावः वृषा वत्सतराः त्रिहायना वत्साः वृषाश्च। वत्साश्चेति पाठे चकारो महिष्यादिग्रहणार्थौ एते हरिद्रायुक्ततैलेन रूषिताः लिप्ता विचित्रा धातवो गैरिकादयश्च बर्हाणि मयूरपिच्छानि च स्रजः पुष्पमालाश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्चालंकारतया विद्यन्ते येषां तथा गवादयो बभूवुः ॥ ७ ॥ महार्हेति। हे राजन्! महम् उत्सवम् अर्हन्ति महार्हाणि वस्त्राणि आभरणानि कञ्चुकाः उष्णीषाः शिरोवेष्टनानि तैर्विभूषिताः नानाविधान्युपायनानि प्रदेयानि वस्त्राभरणादीनि पाणौ येषां ते गोपाः सम्यक् सादरा हृष्टाः स्वगृहे ध्वजादि मङ्गलं प्रवर्त्य आययुः ॥ ८ ॥ गोप्य इति। यशोदायाः सुतोद्भवमाकर्ण्य प्रमुदिताः प्रहृष्टा गोप्यश्चात्मानं वस्त्राणि आकल्पाः अलंकारा अञ्जनानि तैः आदिना मालादिभिश्च भूषयांचक्रुः ॥९॥ नवकुङ्कुमेति। नवकुङ्कुमस्य किञ्जल्कात् केसरादपि नवकुङ्कुमकिञ्जल्कैर्वा मुखपङ्कजेषु भूतिः शोभा यासां ताः पृथुश्रोण्योऽपि कबभाव आर्षः। हर्षवेगवशात् चलत्कुचाः ता गोप्यः बलिभिः स्वर्णमुद्रारत्नहारवस्त्रफलदूर्वाद्यैः सह त्वरितं यथा स्यात्तथा नन्दगृहं जग्मुः ॥ १० ॥ पुनर्भक्तिवशाद्गोपीर्वर्णयति—गोप्य इति। सुमृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिमयानि कुण्डलानि यासां ताश्च निष्का पदकाख्यभूषणानि कण्ठेषु यासां ताः चित्राण्यम्बराणि यासां ताः शिखाभ्यो धम्मिल्लाग्रेभ्यश्च्युतानि पतितानि माल्यानि तेषां वर्षाणि वृष्टयो यासु ताः

वलयैः कङ्कणैः सहिता भूषिता इति सवलयाः व्यालोलगतिवशेन प्रचलद्भिःकुण्डलैश्च पयोधरेषु हारैश्च शोभा यासां ताः इति चलत्कुचा इत्यनेन न पौनरुक्त्यम्। गोप्यः नन्दालयं प्रतिव्रजतीः व्रजन्त्यः पथि विशेषतो रेजुः। व्रजतीरिति नुमभावः पूर्वसवर्णदीर्घश्चार्षः॥ ११॥ ता आशिष इति। ता गोप्यो बालके श्रीकृष्णे चिरं पाहि हे परमेश्वर! एवं बालं चिरं पाहि इत्येवं राजपुत्रत्वेन युवराजो भूत्वाऽस्मान्पाहीति वा आशिषः प्रयुञ्जानाः सत्यः। चिरं जीवेत्यपि पाठः। हरिद्राचूर्णतैलाद्भिर्मिलितैर्जनं सिञ्चन्त्यश्च उच्चैर्जगुः। अद्भिरिति समासान्ताभाव आर्षः। मिथः सिञ्चन्त्यः अजनं हरिमुज्जगुरिति वा॥ १२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सुमङ्गलमाचष्टे इति। सुमङ्गलयतीति सुमङ्गलिः सैव सौमङ्गल्या सुमङ्गलवाचिका गीर्येषां ते तत्करोति तदाचष्टे इति णिच् तदंतात् अच इरिति इप्रत्ययस्तदंतात् स्वार्थे ष्यञ्॥५॥ व्रज इति संमृष्टानि संमार्जितानि संसिक्तानि च द्वाराणि अजिराणि अंगणानि च गृहान्तराणि गेहमध्यानि च यस्मिन्सः चित्रध्वजेषु चित्रितध्वजदण्डेषु पताकानां स्रजः पंक्तयश्च चेलानां वस्त्राणां पल्लवानां नवांकुराणां च तोरणानि तैः विभूषित इति शेषः॥ ६॥ वत्सतराः नवीनवत्साः हरिद्रतैलैः रूषिता लिप्ताः विचित्रा धातवो गैरिकादयश्च बर्हस्रजश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्च एतानि भूषणतया संति येषाम् एवं गवादयो अलंकृता इत्यर्थः॥ ७॥ उष्णीषं मस्तकवेष्टनम्॥ ८॥ सुतोद्भवं पुत्रजन्म आकल्पा आभरणानि॥ ९॥ नवकुंकुमानां किंजल्कैः परागैः मुखपद्मेषु भूतिः श्रीर्यासां ताः॥ १०॥ सुमृष्टानि उज्ज्वलानि मणियुक्तानि कुंडलानि यासां ताः। निष्काः कण्ठाभरणानि कंठे यासां ताः। ताश्च तास्ताश्च शिखाभ्यः कबरेभ्यः च्युतानि पुष्पवर्षाणि यासां ताः सवलयाः सकंकणाः व्यालोलैश्चलद्भिः कुंडलादिभिः शोभा यासां ताः। नंदगेहं व्रजतीः व्रजंत्यः गोप्यः पथि विरेजुः॥ ११॥ ताः गाप्यः हे बालक नोऽस्मान् चिरं जीवन् सन् पाहि इति बालके आशिषः आशीर्वादान् प्रयुंजानाः कथयंत्यः परस्परं सिंचिंत्यः अजनं हरिम् उज्जगुः॥ १२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सौमङ्गल्येति। तदा विप्राः, सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिपाठकाः, बभूवुः। सूतमागधवन्दिनः; गायकाश्च, जगुः। तत्र सूताः पौराणिकाः पुराणवार्त्ता जगुः। मागधा वंशावलीपाठकाः वंशावलीर्जगुः, बन्दिनः स्तुतिपाठकाः, स्तुतीर्जगुः, गायकास्तालस्वरपूर्वं पद्यानि जगुः, भेर्यः, दुन्दुभयश्च, मुहुः नेदुः॥ ५॥ व्रज इति। तदा, व्रजः, संमृष्टानि संमार्जन्या संशोधितानि संसिक्तानि चन्दनोदकादिभिः स्नापितानि द्वाराणि प्रतीहाराः अजिराण्यङ्गणानि गृहान्तराणि गृहाणां मध्यप्रदेशाश्च यस्मिन् स तथाभूतः। ध्वजाश्च पताकाश्च स्रजश्च चेलपल्लवतोरणानि च चित्राणि यानि ध्वजादीनि तैः, अलंकृतश्च, बभूव। ध्वजादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वत्वाच्चित्रशब्दस्य द्वन्द्वादौ श्रुतत्वाच्चित्रपदं प्रत्येकान्वयि॥ ६॥ गाव इति। गावो धेनवः, वृषा वृषभाः, वत्सतराः स्पष्टतारुण्या वत्साः, हरिद्रा च तैलं च ताभ्यां रूषिता उपलिप्ताः, विचित्रा ये धातवस्ते च बर्हस्रजो मयूरपिच्छमालाश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्च अलंकारतया विद्यन्ते येषां तथाभूताश्च, बभूवुः। भूषिता इति पाठे, तैर्भूषिता अलंकृताः॥ ७॥ महार्हेति। हे राजन्, महार्हाणि महामूल्ययोग्यानि च तानि वस्त्राणि च आभरणानि च कञ्चुकानि च उष्णीषाणि च तैर्भूषिताः, गोपाः, नानोपायनानि पाणिषु येषां तथाभूताः सन्तः, समाययुः॥ ८॥ गोप्य इति। गोप्यश्च गोप्योऽपि, यशोदायाः सुतोद्भवं, आकर्ण्य, मुदिताः सत्यः, वस्त्राणि च आकल्पा अलंकाराश्च अञ्जनानि च तान्यादयो येषां चन्दनलेपादीनां तैः, आत्मानं, भूषयांचक्रुः॥ ९॥ नवेति। नवाः कुङ्कुमकिञ्जल्का येषु तेषां मुखपङ्कजानां भूतयः शोभा यासां ताः, पृथुश्रोण्यः पृथुजघनाः, चलन्तौ कुचौ यासां ताः, बलिभिरुपायनैः सहिताः सत्यः, त्वरितं यथा तथा, जग्मुः। नन्दालयं प्रतीति शेषः॥ १०॥ गोप्य इति। सुमृष्टानि उज्ज्वलानि मणिमयानि कुण्डालानि यासां ताः, निष्काः पदकानि कण्ठेषु यासां ताश्च ताः, ताश्च, बहुव्रीहिद्वयगर्भः कर्मधारयः। चित्राण्यम्बराणि यासां ताः, पथि मार्गे, शिखाभ्यश्च्युतानि माल्यवर्षाणि यासां ताः, वलयैः करकङ्कणैः सहिताः सवलयाः, व्यालोलानां गतिरभसेन चलतां कुण्डलपयोधरहाराणां शोभा यासां ताः, गोप्यः, नन्दालयं प्रति, व्रजतीर्व्रजन्त्यः सत्यः, विरेजुः॥ ११॥ ता इति। ताः गाप्यः, चिरं पाहि, अस्मानिति शेषः। इत्येवं, बालके, आशिषः प्रयुञ्जानाः, हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः हरिद्रायास्तैलमिश्रैश्चूर्णैरद्भिश्च, जनं सिञ्चन्त्यः सत्यः, उज्जगुः। यद्वा। परस्परं सिञ्चन्त्यः सत्यः, अजनं भगवन्तं, उज्जगुरुच्चस्वरेणागायन्॥ १२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

महार्हेति : १०.५८.

लसत्स्रग्वासोऽलङ्कृतिधृतिवहे गोपनिवहे न रोषो वा दोषो बत विषयितायाः प्रणिहितः।
कचिद्वस्त्रालङ्कृत्यभिरुचिरुदाताः यदि तदा सरोषं यद् ब्रूषे वद किमु सखाऽसौ रिपुरहम्॥ ३॥

कृष्णप्रिया

विप्र, सूत, मागध, बंदी, ये सब मांगलिक वचन कहने लगे, गायक-नर्तक और स्त्रीवृन्द नृत्य गान करने लगे और भेरिया तथा दुंदुभि भी बारंबार मांगलिक ध्वनि करने लगी॥ ५॥ सम्पूर्ण व्रज में सबके द्वार, आंगन, गृहों के भीतर के

मार्ग और गली राजमार्ग आदि सब झाड़े, स्वच्छ किये और छिड़के गए। चित्र विचित्र ध्वजाओं एवं पताकाओं की मालाएँ एवं वस्त्र और पल्लवों की बन्दनवारों से द्वार और मार्ग सुशोभित किये गए ॥ ६ ॥ गाय, बैल बूढे बैल और बछड़ों को हल्दी-युत तैल से रंगे, विचित्र धातु गेरू, आदि लगाये, मोरपंख लगाई, झूलें ओढ़ाई और सुवर्ण की मालाएँ पहनाई इससे गौओं की शोभा और बढ़ी ॥ ७ ॥ हे राजन्! अतिशय अणमोल और श्रेष्ठ वस्त्र एवं आभूषण पहन, अंगरखे, पगड़ी आदि से भूषित होकर सब गोप जन विविध प्रकार की भेटें करकमलों में लेकर नन्दालय में आए ॥ ८ ॥ श्रीयशोदा के यहाँ लालन का प्राकट्य सुनकर, प्रसन्नमन गोपियों ने वस्त्र आभूषण और अंजन आदि से अपनी आत्मा को अलंकृत किया ॥ ९ ॥ पिसी हुई नवीन केसर के तिलक एवं बिंदियों से सुशोभित मुखकमल एवं पुष्ट नितम्ब वाली और चलने से चलायमान स्तन वाली व्रज-नारी करकमला में सामग्री भेटें लेकर शीघ्र ही भगवान् के दर्शन के लिये नन्दरायजी के घर जाने लगी ॥ १० ॥ गोपियां कानों में उज्ज्वल मणियों से जडित कुण्डल पहिने हैं, गले में पदकों के हार धारण किये हैं, हाथों की कलाइयों में कंकण पहिने हैं एवं विविध, विचित्र वस्त्र पहिने हैं, जिनकी वेणियों में से मार्ग में फूलों की वृष्टि हो रही है और जिनके स्तन, कुण्डल और हार हिल रहे हैं, ऐसी शोभामयी गोपियों की श्री नन्दालय में प्रवेश करते समय विशेष शोभा हुई ॥ ११ ॥ गोपियां बालक भगवान को आशीर्वाद प्रदान करती हुई तथा यह कहती हुई कि आप हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, हल्दी, चूना, तैल और पानी मिला के परस्पर एक दूसरे पर सिंचन करती हुई उस अजन भगवान् का जोर से यशोगान करने लगीं ॥ १२ ॥

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे । कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते [1]नन्दस्य व्रजमागते ॥ १३ ॥
गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः । आसिञ्चन्तो [2]विलिपन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥ १४ ॥
नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगो[3]धनम् ।[4] सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥ १५ ॥
तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् । विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥ १६ ॥
रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता । व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥ १७ ॥
तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥ १८ ॥
गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः । नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥ १९ ॥
वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् । ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः— नन्दस्य व्रजम् विश्वेश्वरे अनन्ते कृष्णे आगते (सति) महोत्सवे विचित्राणि वादित्राणि अवादन्त ॥ १३ ॥ हृष्टाः गोपाः दधि-क्षीर-घृत-अम्बुभिः परस्परं आसिञ्चन्तः विलिम्पन्तः ॥ १४ ॥ महामनाः नन्दः सूतमागधवन्दिभ्यः ये अन्ये विद्योपजीविनः तेभ्यः वासः-अलंकार-गोधनम् प्रादात् ॥ १५ ॥ अदीनात्मा विष्णोः आराधनाय च स्वपुत्रस्य उदयाय तैः तैः कामैः यथा उचितम् अपूजयत् ॥ १६ ॥ नन्दगोपाभिनन्दिता महाभागा रोहिणी च (अन्याः) दिव्य-वास-स्रक्-कण्ठ-आभरण-भूषिता व्यचरद् ॥ १७ ॥ नृप ततः नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् हरेः निवास-आत्मगुणैः रमाक्रीडम् अभूत् ॥ १८ ॥ कुरुनन्दन ? गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं मथुरां गतः ॥ १९ ॥ वसुदेवः भ्रातरम् नन्दम् आगतम् उपश्रुत्य राज्ञे दत्तकरम् ज्ञात्वा तद् अवमोचनम् ययौ ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तेभ्यः प्रादात् ॥ १५ ॥ यथोचितमन्यानप्यपूजयत् ॥ १६-१७ ॥ हरेर्निवासेन ये आत्मनि व्रजे गुणाः सर्वप्रियत्वादय आसंस्तै रमाया आक्रीडं विहारस्थानम् ॥ १८ ॥ वार्षिक्यं प्रतिवर्षदेयम् ॥ १९ ॥ भ्रातरं सखायम् । तदवमोचनं तस्य नंदस्य वसतिस्थानम् ॥ २०-२३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

आगते प्राप्ते ॥ १३ ॥ हृष्टा गोपाः परस्परं विचिक्षिपुरिति संबंधः । यद्वा—क्षीरादिभिरासिञ्चंतो नवनीतैर्विलिम्पंतो दधि चिक्षिपुः यद्वा—नीतैर्गृहीतैर्दध्यादिभिर्नवशब्दोपलक्षितान्नवनदांस्तत्संबंधिनश्च विचिक्षिपुरित्यर्थः ॥ १४ ॥ तेभ्यः गोपेभ्यः सूतादिभ्यश्च । विद्यास्तु चतुर्दशधा धर्ममीमांसादिरूपास्ताभिरुपजीवंतीति तथा ॥ १५ ॥ तैस्तैर्यान्या न याचतेत्यर्थः । यथोचितं

१. नन्द व्रजमुपेयुषि—वीर. विज जीव. । २. विलिम्पन्तो—श्रीधर. वंशी. जीव. गिरि. ; विलिप्यन्त—वीर. भक्त. । ३. गोधनैः—इति कस्यचित् । ४. ददौ प्रीतमनास्तत्र पुत्रजन्मसुखैधितः—इति क्वचिदधिकः पाठः ।

विद्यागौरवमनतिक्रम्येत्यर्थः। आराधनार्थाय संतोषाय। अनेन दानादिना विष्णुः प्रसीदतु तत्प्रसादेन मत्पुत्रः कुशल्यस्त्विति संकल्पयन्नित्यर्थः। चकारान्नवग्रहदिक्पालादिप्रसादोऽपि ध्येयः॥ १६॥ महाभागा वसुदेवपत्नीभ्यस्सर्वाभ्योऽपि श्रीकृष्णबाल्यलीलोत्सवलाभादिति भावः। नंदगोपेन नंदराजेन 'गोपो भूपेपि' इत्यमरः। यद्वा–नंदशब्देन नवनंदा ग्राह्यास्तेषां राज्ञा "नवलक्षमिता गावो यद्गृहे संति सर्वदा। स नंदो नंदराजस्तु ज्ञेयोऽसंख्यगवाधिपः।" इति गर्गोक्तेः। अभिनंदिता त्वदागमनादेव मत्पुत्रोऽयं जात इति श्लाघिता व्यचरत्समागतस्त्रीजनसंभाननार्थमितस्ततश्चचार। दिव्यवासादिभिश्श्रीयशोदानंदाभ्यां दत्तैर्भूषिता पत्युर्बंधनादिदुःखं स्वस्य च तद्विच्छेदादिदुःख कृष्णजन्मोत्सवानंदेन विस्मृत्यैवेत्यर्थः॥ १७॥ नन्वभिमतपूरणं तु धनदेनाप्यशक्यं कथं नंदेन कृतम्। तत्राह–तत इति। गुणाः सर्वपालनादयः। रमायाः सर्वसंपत्तेः 'रमा श्रीसर्वसंपदोः' इति यादवः। यदा सर्वसंपत्तिरेव क्रीडितुमारेभे तदा कस्य देयवस्तुनस्तत्राभाव इति भावः। यद्वा–'नायं श्रियः' इत्याद्युक्तरीत्या वकुंठश्रीतोऽपि व्रजदेवीनामेव परमरमात्वोक्तेस्तासामपि परमरमा श्रीराधा तस्या अपि तदानीमाविर्भावात्तस्याश्च क्रीडास्थानं तदारभ्याभूदिति। किञ्च चिंतामणिसद्मादीनामपि निगूढनित्यक्रीडायां श्रवणात्तद्रमाक्रीडमेवेति तत्त्वम्। तदुक्तं "चिंतामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्। लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानं गोविंदमादिपुरुषं तमहं भजामि। इति ब्रह्मसंहितायाम्॥ १८॥ चिरात्सर्वमनोहरपुत्रोत्पत्त्या प्राप्तमहानिधिरिव 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति विमृश्य आनंदराजो यथा पितृदिक्पालग्रहादीन्पूजादिभिः प्रसादयामास तथा देशाध्यक्षं दुष्टनृपं कंसमपि स्वर्णमुद्राद्युपहारेण प्रसादयितुं वार्षिककरदानमिषेण। तत्समीपं गंतुं न विललंब इत्याह–गोपानिति। हे कुरूद्वहेति। यथा कुरुकुलसंतानैकहेतोस्तव रक्षार्थं श्रीयुधिष्ठिरादयो व्यग्रास्तथेति संबुद्ध्यभिप्रायः॥ १९॥ भ्रातरं वैश्यकन्यायां शूरवमात्रेयभ्रातुर्जातत्वादिति भारततात्पर्ये श्रीमध्वाचार्यैरुक्तं ब्रह्मवाक्यम्। "तस्मै मया स वरः संनिसृष्टः स चास नंदाख्य उतास्य भार्या। नाम्ना यशोदा स च शूरतातसुतस्य वैश्याप्रभवोथ गोपः।" इति वैश्याप्रभव इति पितामह्यास्तज्जातित्वात्। अत एव "यादवानां हितार्थाय धृतो गिरिवरो मया" इति भगवद्वाक्यम् "यादवेषु च सर्वेषु भवंतो मम वल्लभाः" इति तद्भ्रातॄन्प्रति बलदेववाक्यम्। "भ्राता सहोदरे मित्रे पितृव्यादिसुतेऽपि च" इति धरणिः। अत्र समंतान्मुच्यते शकटादिकं यत्र तत्कृतावासस्थानमित्यर्थः। 'त्यागे स्थाने ऽवमोचनम्' इति च। यद्वा–'मार्गवासोऽवमोचनम्' इति कोशाच्छिबिर–(डेरा) मित्यर्थः॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अवाद्यन्त वादकैरिति शेषः। विचित्राणि "ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकं वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्" इति चतुर्विधानि एकैकस्यावान्तरवैचित्र्यावादनवैचित्र्या च विचित्राणि किंवा अवाद्यन्त व्रजवादित्रेषु वाद्यमानेषु जगति यानि वादित्राणि तान्यपि स्वयं जनैश्च वादितानि बभूवुरित्यर्थः। तत्र हेतुः महोत्सवे यावदुत्सवे यावदुत्सवोपरि विराजमाने तन्महसि तत्राऽपि हेतवः कृष्णो जगच्चित्ताकर्षकमाहात्म्यतया स्वयमवतीर्णे भगवति विश्वेश्वरे सर्वप्रभौ अनन्ते स्वरूपैश्वर्यमाधुर्यैरपरिच्छिन्ने नन्दस्य व्रजं परमप्रेमानन्दामृतसमुद्रतया परमं निजोचितपदम् ईयुषि तस्मिन्नुदयतीत्यर्थः। आगत इति क्वचित्पाठः॥१३॥ हृष्टाः सन्तो दध्यादिभिः परस्परम् आ सम्यक् सिञ्चन्तः नवनीतैश्च परस्परं विशेषेण लिम्पन्तः परस्परं चिक्षिपुः बलेन प्रच्छन्नतया वा पिच्छिलपङ्के स्खलयामासुः॥ १४॥ नन्द इति युग्मकम्। तेभ्यो गोपीभ्यो गोपेभ्यश्च तथा सुतादिभ्यश्च ये चान्ये विद्योपजीविनः गायकवादकादयः तेभ्योऽपि वास आदिकं प्रादादिति शेषः। तत्र धनं स्वर्णरूप्यादि यथोचितमित्युत्तरपद्यपदेनात्राप्यन्वयः। स्वत एवाऽदीनात्मा उदारचित्तः सम्प्रति तु महामना इति पुनरुक्तिः पूर्ववत् श्रीकृष्णमनस्त्वेन तत्रौदार्यविज्ञत्वादिगुणानां मुहुरतिशयिताभिप्रायेण न केवलं तावता तृप्तवान् किञ्च तैस्तैरिति तैस्तैः कामैः सह पुनश्च ये ये स्वैरं प्रार्थितास्तत्तत्कामदानपूर्वकं सर्वांस्तान् यथोचितं जातिवयोविद्याऽनुरूपम् अपूजयत् स्रक्चन्दनताम्बूलप्रोत्साहनादिभिः सम्मानितवांश्च दानादेरुद्देश्यमाह विष्णोराराधनस्य योऽर्थः फलं तत्सन्तोषः तस्मै परमवैष्णवत्वात् कामितार्थानन्यकामत्वाच्च तत्त्वपूर्वमात्राय तथा स्वपुत्रस्याभ्युदयाय च अनेन कर्मणा श्रीविष्णुः सन्तुष्यतु तत्प्रसादेन च मम पुत्रस्याभ्युदयो भवत्विति सङ्कल्पयन्नित्यर्थः। अथ च विष्णोराराधनस्य यत्फलं तद्रूपाय तदभ्युदयाय तद्गृहे रूपगुणलीलैश्वर्यप्रकाशनायेति पदश्लेषेण यदेव मननप्राप्तं तच्च तस्य रागप्राप्तत्वात् परममहदिति प्रकरणार्थेन च मुनीन्द्रः सिद्धान्तमपि विन्यास्थदिति ज्ञेयम् अत्र चशब्दोऽप्यर्थे स च दुर्लभत्वं सूचयति "नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन्" इत्यादेः "नेमं विरिञ्चः" इत्यादेः "युवां श्लाघ्यतमा" इत्यादेश्च॥ १५–१६॥ रोहिणी रोहयति जनयति व्रजसुखं तच्छीलेति रोहिणी अद्यैव स्वनामनिरुक्तिसाफल्यपरमोत्कर्षं प्राप्तेति भावः। सा च महाभागा तादृशस्वीयपुत्रोदयेन तस्यापि परमाश्रयस्य निजप्राणासहचर्य्याः श्रीयशोदायास्तनयस्याप्युदयेन च तत्तद्बाल्यादिलीलामाधुर्यलाभेन च अन्याभ्यः श्रीवसुदेवपत्नीभ्यः श्रीदेवकीतश्च भाग्यविशेषवती त्वदागमनमात्रेण मङ्गलेनैवायं मम पुत्रो जात इति श्रीमन्नन्दाभिधगोकुलराजेनाभिनन्दिता सती "गोपो भूपेऽपि" इत्यमरः। श्रीमन्नन्देन गोपैश्चाभिनन्दिता सतीति वा यदुल्लासेनैव तद्दत्तानि दिव्यानि मर्त्यदुर्लभानि यानि वास आदीनि स्वयमपि तदुल्लासेनैव सर्वं दुःखं विस्मृत्य तैर्मण्डिता सती व्यचरत् महोत्सवे तस्मिन् प्रीत्या विविधव्यापारेण इतस्ततो बभ्रामेत्यर्थः। एतदर्थमेव स्वगृहान्तः शायितस्य तदीयाभिनवबालकस्यात्रानुक्तिरिति ज्ञेयम्॥ १७॥ ननु, सद्य एव धेनुनियुतद्वयस्य सम्यगलङ्कारसम्पादनं सप्ततिलाद्र्यादि-

साधनं व्रजासङ्ख्येयधेनुवृषाद्यलङ्करणं बहुलवस्त्रालङ्कारादिदानं च कथं सिद्धम् ?" इत्यपेक्षायामाह–तत इति । प्राक् स्वत एव "मथुरा भगवान् यत्र" इत्यादिन्यायेन "योऽसौ गोपेषु तिष्ठति" इति तापनीश्रुत्या "जयति जननिवासः" इति "श्रीयान्न इन्द्रो गवाम्" इति "भगवान् गोकुलेश्वरः" इति श्रीशुकोक्त्या च हरेर्निवासभूतो य आत्मा तस्य स्वस्यैव ये गुणास्तैः सर्वसमृद्धिमान् व्रजः तत इति तत् तस्य जन्मारभ्य तु रमाक्रीडंबभूव "चिन्तामणिप्रकारसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् । लक्ष्मी-सहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" इति ब्रह्मसंहितानुसारेण तत्तन्मन्त्रादौ स्वयं भगवन्नित्यप्रेयसी तया सेव्यत्वेन "नायं श्रियः" इत्यादौ वैकुण्ठश्रीविजयेन तासु स्वयोषिदादिसर्वान्ययोषित्वपरिहारेण च व्रजदेवीनामेव परमरमारूपाणां तासामपि परमरमायाः श्रीराधायाश्च तदानीमेवाविर्भावाद्विहारस्थानमपि बभूवेत्यर्थः । यदि च तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धि-मान् सन् हरेर्निवासात्मगुणैरमाक्रीडं यथा स्यात्तथा ऽभूदिति सरलान्वयः क्रियते तदपि पूर्ववदेवार्थः प्रसज्जते तदारभ्य तस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमानासीदिति मात्रं किं वक्तव्यं यः खलु हरिनिवासलक्षणस्य स्वरूपस्य गुणैरमाणां तासामप्याक्रीडतयाऽऽसीदिति ततो जगल्लक्ष्मीमात्रदृष्ट्याप्याकस्मिकसर्वसम्पत्तिसम्भवात्तदानीं तत्र किमिवासम्भवं यत्र चिन्तामणिमन्दिरादयोऽपि निगूढलीलायां सन्तीति भावः । तां चाष्टाविंशाध्यायादौ प्रतिपादयिष्यामः तदेवं प्रसङ्गतः श्रीव्रजदेवीनामपि भगवद्वत् प्राकट्यमात्रं जन्म सूचितं रमाक्रीडशब्देन च सर्वसमृद्धिमत्त्वे वाच्ये पौनरुक्त्यं स्यात् रमान्तराक्रीडत्वे वाच्ये प्रसिद्धिविच्युतिर्भवति "हरेर्निवासात्मगुणै" इत्येतावता विवक्षितसिद्धेरात्मपदवैयर्थ्यं जायते तस्मादविचारप्रतीतमर्थान्तरं नादृतम् ॥ १८ ॥ पूर्वमपुत्रत्वेन धनादौ ममत्वा-भावतः श्रीनन्दस्य कंसाद्भयमकिञ्चनस्येव नासीत् अधुना तु पुत्रमहारत्नप्राप्त्या सर्वतः शङ्कोत्पत्त्या तद्रक्षार्थं व्यग्रस्सन् दुष्टतरभयसमाधानार्थं राजधानीं शीघ्रं स्वयमेव गत इत्याह—गोपानिति । निरूप्य नियुज्य वार्षिक्यं श्रावणस्य वर्षान्तरारम्भ-कत्वात्तदैव देयं हे कुरूद्वहेति यथा कुरुकुलसन्तानैकहेतोस्तव रक्षार्थं श्रीयुधिष्ठिरादयो व्यग्रास्तथैति भावः ॥ १९ ॥ उपश्रुत्य जनपरम्परया श्रुत्वा श्रीवल्लवेन्द्रस्य सर्वजनादृतत्वात् ततश्चरद्वारा राज्ञे कंसाय दत्तकरं च ज्ञात्वा अन्यथा व्यग्रचित्ततया सुखगोष्ठ्य-सम्भवात् भ्रातरं वैश्यकन्यायां शूरवैमात्रेयभ्रातुर्जातत्वादिति श्रीमध्वाचार्याः तथोक्तं ब्रह्मवाक्ये "तस्मै मया सवरः सन्निसृष्टः स चास नन्दाख्य उतास्य भार्या । नाम्ना यशोदा स च शूरतातसुतस्य वैश्याप्रभवोथ गोपः" इति वैश्याप्रभव इति पितामह्यास्तज्जाति-त्वात् अत एव स्कान्दे "यादवानां हितार्थाय धृतो गिरिवरो मया" इति । श्रीभगवद्वाक्यं "यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभाः" इति हरिवंशे तद्भ्रातॄन् प्रति श्रीरामवाक्यं च तस्य अवमोचनं शकटादिकम् अवसमन्तात् यत्र तत्कृतवासस्थानं तस्य पूर्वं गमनं पुत्रवार्तोत्कण्ठया तद्रक्षणाय झटिति प्रस्थापयितुमिच्छया च ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अवाद्यन्त वादित्राणि वादकैर्वादयश्चक्रिरे; विचित्राणि—'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकन्तु शुषिरं कांस्यं तालादिकं घनम् ॥' इति चतुर्विधानि; यद्वा, एकैकस्य वादनवैचित्र्या विचित्राणि; किंवा अवाद्यन्त स्वयमेव वादितानि बभूवुस्तत्र हेतुः—महोत्सव इति; तत्रापि हेतुः – अनन्तेऽपरिच्छिन्ने विश्वस्येश्वरे नियन्तरि कृष्णे जगच्चित्ताकर्षकमाहात्म्यतया स्वयमवतीर्णे भगवति; यद्वा, कृष्णे परब्रह्मणि परमेश्वरे सौन्दर्य्यमाधुर्य्यादिना परिच्छिन्ने निजाशेषभगवत्ताप्रकटनार्थावतीर्णत्वात् । नन्दव्रजं निजोचितपदं प्राप्ते सतीति ॥ १३ ॥ हृष्टाः सन्तो दध्यादिभिः परस्परम् आ सम्यक् सिञ्चन्तो नवनीतैश्च परस्परं विशेषतो लिम्पन्तश्चिक्षिपुर्वलादितस्ततोऽन्योऽन्यमेव दध्यादीनि वा प्रक्षिप्तवन्तः ॥ १४ ॥ तेभ्यो गोपेभ्यो गोपीजनेभ्यश्च तथा सूतादिभ्यश्च । ये चान्ये विद्योपजीविनो गायकवादकादयस्तेभ्योऽपि वास-आदिकं प्रादादिति शेषः । तत्र धनं साक्षात् स्वर्णरूप्यादि । महामना इति पुनरुक्तिः परमौदार्य्यस्य सर्वाभीष्टविज्ञानस्य चाभिप्रायेण । तैस्तैरिति यस्य यानि कामितानि, तैः; यद्वा, सुप्रसिद्धरुत्तमो-पभोगः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, ये विद्योपजीविनोऽन्ये च ये दीनास्तेभ्योऽपि न केवलं तत्तद्दानमात्रमपि तु बहुधा सम्माननं चाकरोदित्याह—तैरिति । विप्रादीन् सर्वानपूजयच्च; तत्र च यथोचितं जाति-विद्याद्यनुसारेण तत्तन्मनोरथपरिपूरणेनेत्यर्थः; यतोऽ-दीनत्वादुदारस्वभावः । यद्वा, तैस्तैरनिर्वचनीयैरात्मारामाद्यगोचरैरात्मना पुत्रभार्य्यादिना च भगवद्वशीकरणमित्यर्थः । भगवद्वशी-करणार्थैः कामैर्हेतुभिर्न तु ज्ञानपरवन्निष्कामतयेत्यर्थः, तादृशकामानां निष्कामतायाः शिरोधार्य्यत्वात्—बहुत्वं बाहुल्यस्य गौरवस्य वापेक्षया । तानेवाह—विष्णोरिति, सहजवैष्णवप्रवरत्वेन श्रीविष्णुसन्तोषार्थं स्नेहविशेषेण स्वपुत्रस्योदयाय चैत्यैहिका-मुष्मिक-मंगलायेत्यर्थः । यद्वा, विष्णोराराधनरूपो योऽर्थः पुरुषार्थस्तदर्थञ्च स्वपुत्रस्योदय उत्कर्षस्तदर्थं परमैकान्तित्वात्; तत्त्वतस्तु विष्णोराराधनस्यार्थः फलम्, तद्रूपाय स्वपुत्रोदयायेत्यर्थः ॥ १५–१६ ॥ श्रीरोहिणी श्रीवसुदेवविरहदुःखित्वादधिकं सम्मानितेत्याह—रोहिणीति । महाभागेति श्रीभगवदाविर्भावानुभवात् सर्वत्र कृष्णेनाविच्छेदाच्च श्रीनन्दव्रजे वसतेश्च । अतो नन्दो यो गोपो गां पृथ्वीं पातीति महाराजस्तेन; यद्वा, नन्देन गोपैश्च; यद्वा, महाभागा परमभाग्यवती श्रीयशोदा; किंवा, महाभागाः श्रीयशोदाद्याः सर्वगोप्यस्ताभिर्नन्दनगोपैश्चाभिनन्दिता सम्मानिताभितो हर्षिता वा । अतो विरहिणीत्वादनिच्छन्त्यपि तैर्दिव्यवास-आदिभिर्भूषिता । एषामेवोक्तिर्मुख्यत्वादन्यान्यप्याभरणानि ज्ञेयानि । दिव्येति श्रीयशोदादिभिर्निजवस्त्रादिभ्योऽप्यु-त्तमवस्त्रादि-दानात् । व्यचरत् महोत्सवे तस्मिन् प्रीत्या विविधव्यापारैर्णेतस्ततो बभ्रामेत्यर्थः । एतदर्थमेव स्वगृहान्तःशायितस्य

तदीयाभिनव-बालकस्यात्रानुक्तिः ॥ १७ ॥ ननु, सद्य एव धेनुलक्षद्वयस्य सम्यगलंकारसम्पादनं सप्ततिलाद्रयापि-साधनं व्रजासंख्येयधेनुवृषाद्यलंकरणं बहुलवस्त्रालंकारादि दानं च कथं सिद्धमित्यपेक्षायामाह—तत इति । प्राक् स्वत एव सर्व्वसमृद्धिमान् विशेषतस्ततः श्रीभगवज्जन्मन आरभ्य व्रजः सर्वघोषो रमाक्रीडं महालक्ष्म्या आक्रीडत्वेन वैकुण्ठादप्यधिकोऽभूत् । तत्र हेतुः—हरेरिति । स्वीयेषु सर्वगुणप्राप्यस्य भगवतो नितरां वासेनात्मशब्देन श्रीनन्दो व्रजो वा, गुणाः परमौदार्य्यादयो भक्तिलक्षणा वा तैरतस्तत्र चिन्तामणिमन्दिरकल्पद्रुम-कामधेन्वादयोऽपि सम्भाव्याः; किं पुनस्तत्तदिति भावः । हे नृपेति महाराजस्य भवादृशोऽपि तत् सुदुर्लभमिति भावः । आश्चर्य्येण वा सम्बोधनम् ॥ १८ ॥ पूर्वमपुत्रेण धनादौ ममत्वाभावतः श्रीनन्दस्य कंसाद्भयमकिञ्चनस्येव राज्ञो नासीत्; अधुना तु पुत्रमहारत्न-प्राप्त्या सर्वतः शंकोत्पत्त्या तद्रक्षार्थं व्यग्रः सन् दुष्टतर-भयसमाधानार्थं राजधानीं स्वयमेव गत इत्याह—गोपानिति । निरूप्य नियुज्य वार्षिक्यं (प्रतिवर्षारम्भे) वर्षाकाले देयम् । हे कुरूद्वहेति यथा कुरुकुलसन्तानैकहेतोस्तव रक्षार्थं श्रीयुधिष्ठिरादयो व्यग्रास्तथेति भावः ॥ १९ ॥ उपश्रुत्य समीप एव श्रुत्वा श्रीवल्लवेन्द्रागमनवार्त्तायाः सर्वत्रैव प्रचाराद्राज्ञे कंसाय च दत्तकरं च ज्ञात्वा, अन्यथा व्यग्रचित्ततया सुखगोष्ठ्यसम्भवः, यद्वा, उपश्रवणे हेतुः—राज्ञे दत्त करमिति बहुल-गोरसादि-कर-दानेन सुप्रसिद्धिप्राप्तेस्तस्य नन्दस्यावमोचनं शकटोत्तारस्थानम्, श्रीनन्दस्य श्रीवसुदेवेन सह समागमार्थं तत्सद्मान्यगमनं कंसभयात् । किंवा, यावदयं याति, तावदेव पुत्रस्नेहव्यग्रतया त्वरया श्रीवसुदेवस्यैव तत्रागमनात् ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तदवमोचनं यत्र समवहारा मुच्यते तदवमोचनं प्रयाणे निवासस्थानम् ॥ २०–२३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अंशेन बलरामेण सह विश्वेश्वरे श्रीकृष्णे नन्दव्रजमुपेयुषि सति तस्मिन् महोत्सवे विचित्राणि वाद्यान्यवाद्यन्त ॥ १३ ॥ गोपास्तु हृष्टाः दध्यादिभिः परस्परमासिञ्चन्तः नवनीतैर्विलिम्पन्तश्च ते चिक्षिपुः ॥ १४ ॥ नन्दस्तु विपुलकीर्तिरत एव तेभ्यः सूतादिभ्योऽन्ये च ये विद्योपजीविनः भरतशास्त्रादिविद्योपजीवन्तीति तथाभूतेभ्यश्च वस्त्रादिकं ददौ ॥ १५ ॥ तैस्तैस्तेषामभीष्टैरुच्चावचैः कामैर्यथोचितमदीनात्मोदारमनाः नन्दः सम्यगपूजयद्विष्णोर्गृहदैवतस्याराधनार्थं स्वपुत्रस्याभ्युदयार्थं च ॥ १६ ॥ दिव्यैर्वासःप्रभृतिभिर्भूषिता सती महाभाग्यवती रोहिणी नन्देनान्यैर्गोपैश्चाभिनन्दिता व्यचरत् ॥ १७ ॥ अथ नन्दवसुदेवयोः याहच्छिककसमागमं विवक्षुस्तावद्व्रजस्य सर्वसम्पत्समृद्धत्वमाह–तत इति । तत आरभ्य भगवतः प्रवेशादारभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वाः समृद्धयः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धयोऽस्य सन्तीति तथा हरेर्निवासेन हेतुना ये आत्मगुणाः महोत्सवादयः तैः रमाक्रीडं लक्ष्मीविहारस्थानंचाभूत् । हे नृप ! आक्रीडम् इति नपुंसकत्वमार्षं सामान्ये नपुंसकं वा क्रियाविशेषणं वा ॥ १८ ॥ एवं सति कदाचिन्नंदो गोकुलरक्षायां निमित्ते व्रजरक्षार्थं गोपान्निरूप्यादिश्य कंसस्य वार्षिक्यं वर्षे देयं करं स्वामिग्राह्यं भागं दातुं हे कुरूद्वह ! मथुरां गतः ॥ १९ ॥ तदा वसुदेवोऽपि भ्रातरमागतं नन्दमाकर्ण्य राज्ञे कंसाय दत्तः करो येन तं च ज्ञात्वा तस्य नन्दस्यावमोचनं निवेशस्थानं ययौ अपमुच्यन्ते गमनोपयुक्तपरिकरबन्धा यत्रेति तदवमोचनमवतरणस्थानम् ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उपेयुषि प्राप्तवति ॥ १३–१४ ॥ तैभ्यो गोपेभ्यः यथोचितं दत्वा अपूजयत् ये अन्ये विद्योपजीविनः तेभ्यश्च यथोचितं दत्वा ॥ १५ ॥ किं फलमुद्दिश्येति तत्राह–विष्णोरिति ॥ १६–१७ ॥ रमाक्रीडं लक्ष्मीविहारस्थानं क्रियाविशेषणं वा ॥ १८ ॥ वार्षिक्यं प्रतिवत्सरं देयम् ॥ १९ ॥ तदवलोकतः तस्य नन्दस्य दर्शनेच्छुः ॥ २०–२२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अवाद्यन्त त्रैलोक्ये तत्र हेतुः कृष्णेत्यादि नन्दस्य व्रजं पराकाष्ठापन्नप्रेमत्वात्तदभीष्टलीलायोग्यमित्यर्थः । परस्परं चिक्षिपुः स्खलयामासुः ॥ १३–१५ ॥ तैरिति विष्णोराराधनस्य योऽर्थः फलं तत्सन्तोषः तदर्थं स्वपुत्राभ्युदयार्थञ्च अनेन कर्मणा विष्णुः सन्तुष्यतु तेन च मत्पुत्रस्य श्रेयो भवत्विति सङ्कल्पयन्नित्यर्थः । तदागमनेन जाताभीष्टत्वान्नन्दगोपाभिनन्दिता व्यचरन्महोत्सवकर्मार्थं ततः ॥ १६–१८ ॥ स्वबालके जाते पूतनादिदुष्टगणात् कंसात् भीत्या शीघ्रमेव करं दातुम् ॥ १९ ॥ उपश्रुत्य परम्परया श्रुत्वा पश्चाद्दूतमुखात् दत्तकरं ज्ञात्वा अस्य पूर्वं गमनं पुत्रसम्बन्धेनोत्कण्ठाविशेषात् भ्रातरं पितृव्यजं तदेतच्चतुर्थसन्दर्भे पञ्चदशोत्तरशततमवाक्ये द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसंदर्भः

व्यापकोऽपि भगवान् परिच्छिन्नत्वेन स्थित इत्याह–कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमीयुषि । अनन्ते व्यापकेऽपि विश्वेश्वरेऽपि नन्दव्रज एव स्थित इत्यर्थः ॥ १४–३२ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अवाद्यन्तेति त्रिलोक्यामेव यतः कृष्णे विश्वस्यैवेश्वरे तानि वाद्यान्यनन्तान्येव यतोऽनन्ते इति ॥ १३ ॥ चिक्षिपुः प्रयासार्थं बलेन प्रच्छन्नतया पिच्छलपङ्के स्खलयामासुः ॥ १४ ॥ महामना महोदारमनाः प्रादात् येऽन्ये तेभ्योऽपि विद्याः नृत्यगीतवाद्यशस्त्रशास्त्राद्याः तैस्तैरिति यान् यान् अयाचन्तेत्यर्थः। यथोचितं विद्यागौरवादिकमनतिक्रम्येत्यर्थः। दानादेः फलमाह— विष्णोराराधनस्यार्थः विष्णुसन्तोषस्तस्मै तस्यापि फलं स्वपुत्रस्याभ्युदयः अनेन दानादिकर्मणा विष्णुः प्रसीदतु विष्णोः प्रसादेन मत्पुत्रः कुशली भवत्विति सङ्कल्पयन्नित्यर्थः। चकारेण नवग्रहदिक्पालादीनामपि स्वपुत्रं प्रतिप्रसादार्थम् ॥ १५-१६ ॥ महाभागा वसुदेवपत्नीभ्यः सर्वाभ्योपि श्रीकृष्णबाल्यलीलोत्सवलाभादिति भावः। नन्दगोपेन नन्दराजेन "गोपो भूपेऽपि" इत्यमरः। अभिनन्दिता त्वदागमनमङ्गलेनैव मत्पुत्रोऽयमभूदिति व्यचरत् समागतस्त्रीजनसम्माननार्थमित्यर्थः। दिव्यवास आदिभिः श्रीयशोदानन्दाभ्यां दत्तैर्भूषिता पत्युर्बन्धनादि दुःखं स्वस्य च तद्विच्छेदादिदुःखं श्रीकृष्णजन्मोत्सवानन्देन विस्मृतैवेति भावः ॥१७॥ ननु, कुवेरेणाप्यशक्यं नराणां कामितपूरणं श्रीनन्दराजेन कथं कृतमित्यत आह—तत इति। हरेर्निवासभूतस्य आत्मनो गुणैर्व्रजः सर्वसमृद्धिमानेव सर्वदा तत आरभ्य तु रमायाः सर्वसम्पत्तराक्रीडं क्रीडास्पदमभूत् यदि सर्वसम्पत्तिरेव नन्दभवने क्रीडितुमारेमे तदा कस्य देयवस्तु नस्तत्राभाव इति भावः ॥ १८ ॥ चिरात् सर्वमनोहरपुत्रोत्पत्या प्राप्तमहानिधिरिव "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इति विमृश्य श्रीनन्दराजो यथा देवपितृदिक्पालग्रहादीन् पूजादिभिः प्रसादयामास तथा देशाध्यक्षं दुष्टनृपं कंसमपि स्वर्णमुद्रारत्नवस्त्राद्युपहारेण प्रसादयितुं वार्षिककरदानमिषेण तत्समीपङ्गन्तुं न विलम्बे इत्याह गोपानिति ॥ १९ ॥ भ्रातरं वैश्यकन्यायां शूरवैमात्रेयभ्रातुर्जातत्वादिति भारततात्पर्य्ये श्रीमध्वाचार्य्यचरणैरुक्तं ब्रह्मवाक्यं "तस्मै मया स वरः सन्निसृष्टः स चास नन्दाख्य उतास्य भार्य्या नाम्ना यशोदा स च शूरतातसुतस्य वैश्याप्रभवोऽथ गोपः" इति वैश्याप्रभव इति पितामह्यास्तज्जातित्वात् अत एव स्कान्दे "यादवानां हितार्थाय धृतो गोवर्द्धनो मया" इति भगवद्वाक्यं "यादवेषु च सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभाः" इति तद्भ्रातृन् प्रति रामवाक्यं च तदवमोचनं तस्य वसतिस्थानम् ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तेभ्यो गोपेभ्यः सूतादिभ्यश्च प्रादात् ॥ १५ ॥ विष्णोः परम्परागतस्योपास्यस्याराधनार्थाय तस्यैव स्वपुत्रस्योदयाय च यथोचितमपूजयत् पूजार्हानिति शेषः ॥ १६-१७ ॥ ततः श्रीनन्दगृहे भगवत्प्रवेशादारभ्य हरेर्निवासाद्धेतोर्थे आत्मनि गुणाः सर्वसमृद्धिमत्वादयस्तैः रमायाः आक्रीडं क्रीडास्थानम् ॥ १८ ॥ निरूप्य आदिश्य वार्षिक्यं प्रतिवर्षे देयम् ॥ १९ ॥ तस्य नन्दस्य अवमोचनं निवेशस्थानम् ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अवाद्यन्तेति विश्वस्मिन्नेव यतः कृष्णे विश्वेश्वरे तानि चानन्तान्येव यतोऽनन्ते तानि च विचित्राणि तत्सुरघनानन्दरूपाणि सुरपतेरपि दुर्ल्लभानीत्यर्थः ॥ १३ ॥ चिक्षिपुरिति प्रहासाय दधिनवनीतपङ्के बलेन प्रच्छन्नतया लयञ्चक्रुरित्यर्थः ॥ १४ ॥ नन्द इति युग्मकं रत्नमयमहासभा वेश्मनि दिव्यासनस्थितो ज्ञातिभिर्बन्धुभिश्च मण्डितपार्श्वः सुरपतिरिव विभ्राजमानो महामनाः नन्दः तेभ्यो गोपेभ्यः सूतादिभ्यश्च प्रादात् येतेभ्योऽन्ये विद्योपजीविनो नृत्यगीतवादित्रकुशलाः पाठितशुकशारिका विद्रसत्कराः शिक्षितकोकिलबर्हिबकसारसाः कपिक्रीडातिपठवो हासपण्डिताः कृष्णजन्मोत्सवे नानादेशेभ्यः समागतास्तेभ्योपीत्यर्थः। तैस्तैरिति यैर्यानि याचितानि तेभ्यस्तानीत्यर्थः। यथोचितमिति विद्यागौरवादिकमनतिक्रम्य यद्वा पूज्येभ्यः स्वहस्ताभ्यामितरेभ्यस्ते सेवकैर्द्वारेत्यर्थः। अपूजयत् सत्कृतवान् अदीनात्मात्युदारचित्त इति पुनरुक्त्यावसाने तु मुक्तकोशकपाटो बन्धुभिः सार्द्धकोशलुण्ठनं पश्यन् विहसन्तस्थावित्युच्यते दानादेः फलमाह विष्णोरिति। विष्णोराराधनस्यार्थः फलं तत्परितोषः स्वपुत्रस्य हरेरुदयाय कल्याणाय चेतिवात्सल्यभवोदयात् ॥ १५-१६ ॥ महाभागा सर्वाभ्यः शौरपत्नीभ्योऽतिभाग्यवती सङ्कर्षण स्वपुत्रकृष्णजन्मोत्सवलाभादितिभावः। नन्दगोपेन नन्दराजेनाभिनन्दिता गोपो भूपेपीत्यमर त्वदागममङ्गलेनैव मे पुत्रोयं ज्ञात इति प्रहर्षितेत्यर्थः। श्रीयशोदयार्पितैर्दिव्यवास आदिभिर्भूषिता सती समाजतन्त्रीजनसम्माननाय व्यचरत् हरिजन्मोत्सवेन पतिनिरोधतद्विरहक्लेशं व्यस्मरदिति भावः ॥ १७ ॥ व्रजे श्रीनन्दराजात् कृष्णस्य भगवतो जन्म निगूढतयैवोक्तं तत्प्रेयसीनां श्रीराधादीनाञ्च श्रीवृषभान्वादिभ्यस्तस्मिन् जन्माभूदिति तथैवाह तत इति हरेर्निवासभूतो य आत्मा स्वरूपं तस्यैव गुणैः सर्वसमृद्धिमान् सर्वदैव कुवेरादिदुर्लभनिखिलसम्पत्तिविशिष्टो नन्दस्य व्रजस्ततः श्रीकृष्णजन्मन आरभ्य रमाणां श्रीराधादीनामाक्रीडं विहारास्पदमभूत् तज्जन्मानन्तरं तासाञ्च जन्माभूदित्यर्थः। तासां रमात्वन्तु श्रिय एकान्तवल्लभमित्युपरिष्टाद्वक्ष्यति —

"चिन्तामणिप्रकारसद्मसुकल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

इति ब्रह्मसंहिता वाक्याच्च तासु श्रीराधादेव्या प्राधान्यान्महारमात्वमिति पञ्चाध्यायीमधिवदिष्यामः सरलान्वयेपि नोक्तार्थहानिः हरेर्निवासस्यात्मनो गुणैरमाणामाक्रीडमित्यस्य तत्समर्पकत्वात् व्रजस्य हरिनिवासत्वञ्च 'योऽसौ गोपेषु तिष्ठति' त्यादिश्रुतेः 'पायान्न इन्द्रो गवाम्' 'भगवान् गोकुलेश्वरः।' जयति जननिवास' इत्यादि श्रीशुकोक्तेश्च एतेनैव धेनुनियुतद्वयस्य समलङ्कृतस्य तिलाद्रिसप्तकस्य च दानमसङ्ख्येयधेनुवृषाद्यलङ्करणञ्च जनानां वाञ्छितपूरणञ्च कथं नन्दनृपे न सिद्धमिति शङ्कितं निरस्तं कथमल्पे स्थाने कोटिसंख्यानां गवां समावेश इति च हरेर्निवासात्मगुणैरित्यनेन परिहृतं भगवद्विग्रहस्येव व्रजस्याचिन्त्यवस्तुत्वात् ॥ १८ ॥ एवं सर्वोत्तमपुत्रजन्मना तदुत्सवेन च महतात्यानन्दितो नन्दनृपतिर्यद्यपि कंसाऽस्मद्विद्रोहं कर्तुमक्षमः, शक्तश्च विद्वद्व्रजस्मत्सामन्तैर्निरसितुं, तथापि हरिभक्तानां नः किं कलहेन, किन्तु दुष्टाऽपि ज्येष्ठस्थानस्थितत्वात् किञ्चित् सत्कार्य इति विमृश्य तत्सम्मानाय भ्रातुः संलापानन्दाय च मथुरां जगामेत्याह गोपानिति गां भूमिं पान्तीति गोपाः स्वभूमिरक्षणक्षमा महावीरा यद्भयात् कंसः तद्वीराश्च व्रजे नाभ्यपतन येषां बलमत्तता मल्लयुद्धञ्च कंसमर्हैरुक्ते नित्यं प्रमुदिता गोपा इत्यादिना तान् गोकुलरक्षायां निरूप्य नियोज्य वार्षिक्यं वर्षदेयं करं किञ्चित् सुवर्णमुद्रादि ॥ १९ ॥ भ्रातरमिति देवमीढस्य यदुश्रेष्ठस्य क्षत्रिया वैश्या चेति द्वे पत्न्यौ बभूवतुश्च क्षत्रियायां शूरः शूराद्वसुदेवः वैश्यायां पर्जन्यः यो मातृकुलवृत्तिधरो महागुणो यदुभिरुग्रसेनादिभिर्व्रजराज्येऽभिषिक्त इति ख्यातं पर्जन्यान्नन्द इति। एवञ्च ब्रह्मवाक्यं मध्वमुनिनोक्त 'तस्मै वरः स मया सन्निसृष्टः, स चासौ नन्दाख्य उतास्य भार्या। नाम्ना यशोदा स च शूरतातसुतस्य वैश्याप्रभवोथ गोपः ॥' इति शूरतातसुतस्येति शूरसपत्नीमातृजस्य पर्जन्यस्य सकाशाज्जात इत्यर्थः। वैश्याप्रभव इति पितामह्यास्तज्जातित्वात् एवञ्च नन्दराजन्ययादवत्वमुक्तं यादवानां हितार्थाय धृतो गिरिवरो मयेति स्कान्दे भगवद्वाक्यं यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभा इति श्रीहरिवंशे तद्भ्रातृन् प्रति श्रीबलदेववाक्यञ्चार्थवत् राज्ञे दत्तकरं ज्ञात्वेति नान्यथा सुखगोष्ठी सम्भवेदिति भावः। तस्य नन्दस्यावमोचनं अत्रमुच्यते रथादिकमत्रेति तदीयं स्थानमित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

गोपा हृष्टाः संतो दधिक्षीरघृतांबुभिः परस्परमासिचंतो दधिक्षीरघृतांबुभिर्नवनीतैश्च परस्परं विलिंपंतो नवनीतानि परस्परं विचिक्षिपुरिति। एतेन नवनीतानि चिक्षिपुरिति वक्तव्यं नवनीतैश्चिक्षिपुरिति वचनमयुक्तमिति चोद्यं निरस्तम्। नवनीतैरिति तृतीयाबहुवचनस्य नवनीतानीति द्वितीयाबहुवचनांततयाऽर्थवशाद्विपरिणाममंगीकृत्य नवनीतानि चिक्षिपुरित्यर्थस्योक्तत्वात् ॥१३॥ महामना नंदस्तेभ्यो गोपेभ्यो सूतमागधवंदिभ्यश्च वासोलंकारगोधनान्यदात्। अदीनात्मोत्कृष्टांतःकरणो नंदो येऽन्ये विद्योपजीविनस्तान्वासोऽलंकारगोधनैस्तैस्तैः कामैस्तत्तदपेक्षितपदार्थैश्च यथोचितं भवति तथाऽपूजयत्। एतेन तानपूजयदिति वक्तव्यम्। तेभ्योऽपूजयदिति कथनमनुपपन्नमिति दूषणं निरस्तम्। तेभ्य इत्यस्यापूजयदित्यनेनान्वयमनंगीकृत्यादादित्यध्याहृतेनान्वयोस्योक्तत्वात्। एतेनैव वासोऽलंकारगोधनानीति वक्तव्यम्। वासोलंकारगोधनैरिति कथनमयुक्तमिति चोद्यं निरस्तम्। वासोऽलंकारगोधनैरिति तृतीयाबहुवचनांतस्य वासोऽलंकारगोधनानीति द्वितीयाबहुवचनांततयाऽर्थवशाद्विपरिणाम इत्यंगीकारात् ॥ १४ ॥

श्रीपांवरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

वसुदेव इति। अत्र नंदवसुदेवयोः वैश्यक्षत्रियत्वेन भातृत्वमयुक्तमित्यत उच्यते। तस्मै वरः समया संन्निसृष्टः स चासौ नंदाख्य उतास्य भार्या। नाम्ना यशोदा स च शूरजातः सुतश्च वैश्याप्रभवोऽथ गोप इति तात्पर्यनिर्णयोक्तेर्भ्रातृत्वं युक्तमेवातो न विरोधः ॥ १९ ॥

इति श्रीभागवते षष्ठोऽध्यायः (पञ्चमोऽध्यायः) ॥ ५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

विश्वेश्वरे जगदधिपे नन्दव्रजमुपेयुषि प्राप्तवति ॥ १३ ॥ नवनीतैर्विलिम्पन्तश्च तानि परस्परं चिक्षिपुः ॥ ४१ ॥ महामनाः स्तवनीयमनस्क उदारचेतास्तेभ्यो गोपेभ्यो यथोचितं दत्वा सूतमागधबन्दिभ्यश्च दत्वा वासोऽलङ्कारगोधनैर्येऽन्ये विद्योपजीविनो विद्यावन्तस्तान्सर्वांस्तैस्तैः कामैः काम्यैर्विषयैरपूजयत्। तेभ्यः सूतमागधबन्दिभ्य इति पञ्चम्यौ। गोपेभ्यः सकाशात् वासोऽलङ्कारगोधनैरुपायनत्वेनोपनीतैः सूतमागधबन्दिभ्यो या विद्या तया च महामनाः सन् येऽन्ये च स्वोपजीविन इत्यादिजनमुचितं तत्तत्सत्कारयोग्यं तैस्तैः कामैर्यथा सम्यगपूजयत्। यथा दीनात्मा भवेत्तथाऽपूजयदित्यपि योजयन्ति। शसस्तृतीयादेशः। तानि दत्वेत्यपि वर्णयन्ति। कुतोऽयमेवमपूपुजयज्जनं नन्द इत्यत आह विष्णोरिति। आराधनरूपप्रयोजनमुद्दिश्य स्वपुत्रस्य मङ्गलाय चापूजयदित्यन्वयः। ग्रन्थकृद्धदयं तु षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यमाराधनाभ्युदयसमुच्चये च इति। हृदयेऽपि हृदयं सु अपुत्रस्येति मन्तव्यम् ॥१५-१६॥ रोहिणी च नन्दगोपाभिनन्दिता भ्रातृवसुदेवपत्नीत्वाद्वयचरत्सुवासिनीसत्कारादौ ॥१७॥ निवासमनुसृत्याप्ता ये गुणास्तै रमाक्रीडं लक्ष्मीविहारं यथा भवति तथा। तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमानभूदित्यन्वयः। रमाक्रीडं स्थानमित्यप्याहुः। क्वचिद्रमाक्रीड अभून्नृपेति पाठस्तत्र शक्य अहमेवंविध इत्यादिवद्विवक्षाभावादभावः सन्वेरिति भावोऽवसेयः ॥१८॥

वार्षिक्यं ष्यञ् स्वार्थे प्रतिवर्षं देयं वार्षिक्यम् ॥ १९ ॥ तदवलोकनस्तस्यावलोकनेच्छुर्नयतीति नः। नो नेतेति विश्वः। तस्यावलोकं नयत्यात्मानमिति स वा। तदवमोचनमिति पठित्वाऽवमोचनमावासस्थानमिति वदन्ति। दत्तकरं च ज्ञात्वेत्यनेन वा स्थानकृत्यं गच्छेत्स इति त्वरा द्योत्यते ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं विद्यावतां भूमेर्गवां गोपानां गोपीनां चालङ्कारा निरूपिताः, लौकिकवाद्यकृतमुत्सवमाह-वाद्यन्तेति, स्वभावतो दशविधानि वाद्यानि विचित्राणि ततोऽप्यनन्तानि महोत्सवे भगवतो जन्मोत्सवे वादका वादयामासुः, महोत्सवे निमित्तमाह कृष्णे विश्वेश्वर इति, कृष्ण इति, सञ्ज्ञा नामकरणानन्तरमेव भवतीति भगवति नियमाभावात् पूर्वसञ्ज्ञानामेव गर्गेणोक्तत्वात् "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक" इतिवाक्यात् कृष्णः सदानन्दः, आनन्दे चावश्यं वादित्राणि, किञ्च विश्वेश्वरे विश्वस्यैव नियन्तरि, महति समागतेन्ततो गत्वा वादित्राण्यपि वादनीयानि, बालके बालकान्तरवच्छङ्का नास्तीति सर्वथा महोत्सवः कर्तव्य इत्याहीनन्त इति, न विद्यतेन्तो यस्य, अनन्तः कालो वा, अन्यथा स मारयेदिति, तत्रापि नन्दस्यालयस्य तत्रापि व्रजेलपगृहे महति समागते महोत्सवः कर्तव्य एव, अन्यथा महानपकुर्यात, किञ्च "द्रोणो वसूना"मित्यारभ्य "ततो भक्तिर्भगवति" "कृष्णो ब्रह्मण आदेश" मित्यन्तैर्वाक्यैः परमभक्तत्वेन नन्दस्य तदा वादित्रवादनमुचिततरम् ॥ १३ ॥ गोपिकानां भगवत्स्मरणेनैव भगवदावेशो जातो गोपानां तु भगवत्सन्निधाने भगवद्धर्मप्राकट्य आवेश इति भगवदाविष्टानां गोपानामुत्सवप्राकट्यमाह गोपा इति, दधिक्षीरघृताम्बुभिर्मिलितैः परस्परमासिञ्चन्तो दध्यादि मुखेषु विलिम्पन्तो नवनीतैः पिण्डैश्चक्षिपुरन्योन्यस्योपरि प्रक्षिप्तवन्तः, अथवा यस्य यत्प्राप्तिः केचिद् दध्ना केचित् क्षीरेण केचिद् घृतेनाम्बुभिश्च, आसिञ्चनं तुल्यतया, लिम्पनमाधिक्ये, अति, रसाविष्टे नवनीतैः क्षेपोतिमत्ततया, एवं सर्वेषां महानुत्सव उक्तः ॥ १४ ॥

एवं सर्वकृत उत्सवे सर्वेभ्यो दानरूपं नन्दस्योत्सवमाह नन्दो महामना इति त्रिभिः, विद्यावतामन्येषां च स्त्रीणां च सर्वाभीष्टदानं, तत्र विद्यावतां प्रथमतो दानमाह महामना इति, विद्यातारतम्येन दानं, तत्रैक एव बहुविधो भवति तथा सति बहुदानं तत्र कर्तव्यं भवति तत्राल्पसत्त्वस्य लोभः स्यात् तन्निवृत्त्यर्थमाह, तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यः, वासांस्यलङ्करणानि गावो धनं च गोधनं गोष्ठं वा, अनेन ब्राह्मणेभ्य एव वस्त्रालङ्कारपूर्वमेकैकस्मा एकमेकं गोष्ठं दत्तवानिति लक्ष्यते, अन्येषामनुवादाच्चान्येभ्यो यथायोग्यं दत्तवानित्याह सूतेति, एतेभ्यो दानं कीर्त्यर्थं, ये चान्ये गायका वैद्या ज्योतिर्विदश्च, अन्येऽपि शाकुनिकाः स्त्रियश्च तेभ्यः सर्वेभ्य एव वासोलङ्कारगोधनानि दत्तवानितिसम्बन्धः ॥ १५ ॥ अन्येभ्यो दानमाह तैस्तैरिति, येषां येषां ये ये कामा अभिलषितास्तैस्तैः कामैर्विष्णुबुद्ध्या तानपूजयत्, अदीनात्मेति, न दीनोलुब्ध आत्मान्तःकरणं यस्य, ननु यद्यदेयं प्रार्थयेत् कश्चिद्देयो वा तदा किं कुर्यात् तत्राह यथोचितमिति, उचितमनतिक्रम्य देये सम्प्रदाने, नोचितत्वम्, एवं सर्वेषां पूजनप्रयोजनमाह विष्णोराराधनार्थायेति, विष्णुप्रीत्यर्थं, स्वपुत्रस्याभ्युदयार्थं च, तस्य ज्ञानानुरोधाद् भिन्नतया कथनं चकाराद् ग्रहादिप्रार्थनार्थम् ॥ १६ ॥

स्त्रीभ्यो दाने रोहिण्यै दत्तं भयादप्रकटं भवेदिति भगवदावेशाद् दातुः प्रतिग्रहीतुश्च भयाभावं ज्ञापयितुं रोहिणीचरित्रं निरूपयति रोहिणी चेति। भगवदागमनव्यतिरेकेणापि बलभद्रोत्पत्त्यैव सा कृतार्थेत्याह महाभागेति, यद्यपि देवकीव्यतिरिक्ता अन्या अपि वसुदेवस्त्रियो भाग्यवत्यस्तथापीयं बाललीलादि द्रक्ष्यतीति महाभागेति वा, चकारात् सर्वा एव स्त्रियः, स्त्रिष्वेव गुप्ततया प्रचारं वारयति नन्दगोपाभिनन्दितेति, प्रचारार्थं निर्भयस्थित्यर्थं च, अत एव दिव्यानि वासांसि स्रजः कण्ठाभरणानि तैर्भूषिता, त्रिविधानि हि स्त्रीणामलङ्करणानि भवन्ति वस्त्रमयानि सुवर्णमयानि पुष्पमयानि च, तत् त्रयं निरुक्तं, चरणहस्तयोः स्वभावतोपि भवन्ति, कण्ठाभरणानि तु पदकहारादीनि वैशेषिकाणि, अतस्तेषां ग्रहणं, विशेषेणाचरत्, गृहिणीव सर्वकार्यकर्त्री जाता, अनेन रोहिणीसम्बन्धादयं कृष्ण इतिज्ञानकृतं भयमपि निवारितम् ॥ १७ ॥

एवं सर्वैः प्रकारैः सर्वस्वे व्ययिते नन्दस्य सर्वसमृद्ध्यभावमाशंक्य भगवन्निवासात् तस्य महती समृद्धिर्जातेत्याह तत आरभ्येति, यदा पूर्वोक्तदानानि दत्तवांस्ततःप्रभृति विष्णुबुद्ध्या पूजितत्वात् तस्याप्यानुषङ्गिकमेव तत् फलं, सर्वा धनपशुज्ञानादिसमृद्धयो न केवलं नन्दस्य किन्तु सर्वेषामित्याह व्रज इति, न केवलं समृद्धिमात्रं किन्तु वैकुण्ठवत् कान्तिविशेषोपि जात इत्याह हरेरिति, गोकुले गवां सम्मर्दात् स्थानं कुश्लिष्टमेव भवत्यतस्तदभावार्थमेतद् वक्तव्यं, कान्तिश्चाधिदैविका सर्वोत्तमा, सा लक्ष्मीनिवासादेव भवतीति तदाह रमाक्रीडमभूदिति रमाया आसमन्तात् क्रीडा यस्मिंस्तद् रमाक्रीडं वैकुण्ठस्थानं तदभूत्, हरेर्निवासात्मगुणैरिति, स हि सर्वदुःखहर्ता भक्तानां वैकुण्ठपर्यन्तं गमनमप्यसमानं इहैव वैकुण्ठं समानीतवानित्यर्थः, आनीतेपि वैकुण्ठे यदि भगवान् न तिष्ठेत् तत्रापि त्रिभुवसुन्दररूपेण तत्राप्यैश्वर्यादिष्वसर्वगुणप्राकट्ये न तदा वैकुण्ठेति शोभा न स्यात् तदाह पदत्रयेण निवासात्मगुणैरिति, निवासः स्थानं गृहं स्थितिर्वा, आत्मा देहः परमानन्दरूपः, गुणा ऐश्वर्यादयः, तैः कृत्वा रमायाः क्रीडनं, स्थितौ स्थितिः परमानन्दविग्रहेण रमणं गुणैरासमन्ताद् रमणमिति, नृपेतिसम्बोधनं यत्रैव राजा तिष्ठति सैव राजधानी भवतीतिज्ञापनं सम्मत्यर्थम् ॥ १८ ॥

एवमुत्सवं निरूप्य तस्य स्थानस्य वैकुण्ठत्वं चाकृत्रिमोत्सवार्थं निरूप्योत्सवसिद्धिपर्यन्तमत्यावश्यकमपि न कृतवानिति ज्ञापयितुं जात उत्सवेन्तरासक्तिज्ञापनार्थं भगवदर्थमुत्तमवस्तूनामानयनार्थं च मथुरां प्रति गतवानित्याह गोपानिति, अथवा देवकी-वसुदेवयोरपि स्नेहातिशयाद् गोकुले भगवन्नयनं कोपि जानाति न वेतिसंशये मनसि खेदो भवतीति श्रीनन्दसंवादेन तन्निराकरण-पूर्वकं तयोरप्युत्सवः सम्पत्स्यत इत्युत्सवानन्तरमव्यवधानेनैव व्रजेन्द्रस्य मथुरागमनमुच्यते, एवं सत्युत्सवलक्षणोध्यायार्थोध्यान्तः सङ्गच्छत इति तमाह गोपानिति, एतेन वसुदेवकृतस्थितिनिषेधानन्तरं व्रजेन्द्रस्य पुनर्मथुरायामनागमनाद् व्रज एव कंसनैरपेक्ष्येण यथासुखं स्थितया भगवदैश्वर्यमपि निरूपितं भविष्यति, पूर्वं रक्षायामनादरः स्थितः, इदानीमादरेण गोकुलरक्षार्थं गोपानन्तरङ्गा-नादिश्य स्वयं मथुरां गतः, करो हि सर्वाभिः प्रजाभिर्दीयते, इदानीमपि तस्मिन् देशे श्रावण्यनन्तरमेव करप्रवृत्तिः, वर्षपर्यन्तं यद् देयं तदेकदा दीयते महद्भिः, नन्दस्तु महान् भवतीति तन्नामग्रहणं, कुरुद्वहेतिसम्बोधनं राजधर्मज्ञापनार्थं, यद्यप्यासक्तिज्ञापनार्थं पश्चात् करदानं निरूपितं तथापीश्वरे भगवति विद्यमानेन्येभ्यः करदानमनुचितमिति ततःप्रभृति तन्निवृत्त्यर्थम् ॥ १९ ॥

वसुदेवपुत्रो भविष्यतीतिशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्सवाधिक्यस्य ज्ञातत्वात् कंसकृतोपद्रवाभावार्थं कंसमन्त्रणस्य श्रुतत्वाद् विशेषरक्षार्थं च शीघ्रं नन्दं ततः प्रेषयितुं वसुदेवसमागमनवार्ता निरूप्यते, चतुर्णां मध्ये एकस्याप्यभावे नोत्सवः सिध्येदिति, तत्र प्रथमं वसुदेवसमागमनमाह वसुदेव इति, मायाकृतस्य ज्ञापनं भगवत्कार्यमिति भगवच्चरित्रता, वसुदेवस्य नन्दस्य च धर्मभ्रातृत्वं यस्मिन् कल्पे वस्वादिदेवा ब्रह्मण एव जाताः कश्यपोपि भवति ब्रह्मण एव तदा भ्रातृत्वं सिद्धमेव, ततः पूर्वजन्मनि तथैवेति जन्मान्तरेपि धर्मभ्रातृत्वं, तदाह भ्रातरमिति, आगमनात्पूर्वं चेच्छृणुयान्निवारयेदेव, करदानात् पूर्वमपि चेज्जानीयात् तदा न दापयेत्, दानपर्यन्तं च राजकीयास्तदवमोचने समायान्ति, तेषामज्ञानार्थं ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञ इति चोक्तं, अवमोचनमुत्तरणस्थानं, शकटादिकमवमुच्य यत्र स्थीयते ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

कृष्णे विश्वेश्वर इत्यत्र सञ्ज्ञेत्यादि । ननु विश्वेश्वरादिपदसामानाधिकरण्यात्तद्वत् कृष्णपदमप्यानन्दहेतुत्वेनोक्तम्, न तु नामत्वेनेति सञ्ज्ञेत्यादिकथनं न घटते । अस्तु वा, तथापि व्रजवास्युक्तिः परं न घटते । शुकस्तु जानात्येवेति युक्तं तदिति कथमेवमिति चेत्, सत्यम् । यदा यादृशी लीला भवति तत्कालीनां तादृशीमेव तां शुको वदति । यथा 'चिरं पाहीति बालक' इति । तथा च तदा लोके तन्नामप्राकट्यं भगवता न कृतमिति तत्कथनमयुक्तमित्याशयेन तदुक्तम् । यत्तु नामत्वेन नोक्तमित्युक्तम्, तत्राप्युच्यते । पुरुषोत्तमस्वरूपं सदानन्दात्मकमिति केवलस्वरूपवाचित्वेन कृष्णपदमेव मुख्यं नाम । न त्वीश्वरादिपदवद्धर्मपुरःसर-त्वमिति तत्सामानाधिकरण्येप्यस्य नामत्वेनैवोपस्थितिः । यथान्यशब्दानां धर्मपुरःसरं धर्मिवाचकत्वेपि सत्ताशब्दस्य न तथात्वम्, तथात्रापीति । मारयेदिति । बादकानिति शेषः । महानपकुर्यादिति । पूज्यपूजाव्यतिक्रमजन्यदोषप्रयोजको भवेदित्यर्थः ॥ १३ ॥ तत आरभ्येत्यत्र, यदा पूर्वोक्तेत्यादि । अत्रायं भावः । रमाक्रीडत्वोक्त्यैव सर्वसमृद्धिमत्त्वस्य प्राप्तावपि पृथक् तन्निरूपणाद्धरेर्नि-वासेत्यनेनैव हेतुकथनेपि तत आरभ्येति पार्थक्येन पूर्वावधिकथनाच्च पश्चादिसमृद्धौ विष्णवाराधनस्यैव नैकट्यात् हेतुत्वमवगम्यते । तादर्थ्यचतुर्थ्याराधनस्यैव मुख्यफलत्वेनानुपङ्गिकत्वमत्रेति ॥ १४-१८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रतीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कृष्णे विश्वेश्वर इत्यत्र टिप्पण्यां संज्ञेत्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यं निश्चाययितुं शङ्कन्ते नन्वित्यादि, अस्तु वेति, अस्तु वा कृष्णपदस्य संज्ञात्वं, कथमेवमिति शुकोक्तित्वेन तत्र शङ्कानुदयात् संज्ञेत्यादिनोक्तं समाधानं किमाशयगर्भमित्यर्थः, अत्र समादधते सत्यमित्यादि, अयुक्तमिति शुकस्याप्ययुक्तम् अवान्तराशङ्कामनूद्य समादधते यत् त्वित्यादि, तथात्रापीत्यन्तं, तथा च कृष्णशब्दस्य सदानन्दवाचकत्वमौत्सर्गिकं न तु सङ्कुचितमितिज्ञापनाय स ग्रन्थ इत्यर्थः, अत्राग्रिमं स्फुटं, सुबोधिन्यामलङ्कारा इति सद्वाणी-संस्कारवेशगानरूपाः ॥ १३ ॥ नन्द इत्यत्र वासोलङ्कारगोधनमित्यस्य श्लिष्टप्रयोगं ज्ञापयन्तः किञ्चिद्विशेषं बोधयितुं "गोकुलं तु गोधनं स्याद् गवां व्रज" इतिकोशात् पक्षान्तरमाहुर्गोधनं गोष्ठं वेति; तथा च वासोलङ्कारेतिपदं पुनरप्यावर्तते तस्मिन् पक्षे वासःपदस्य पूर्वत्वं त्वभ्यर्हितत्वविशेषाद् बोध्यं, तेभ्य इति तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वं च 'विप्रसूतमागधवन्दिना'मुक्तत्वात् सर्वेभ्यः समानमेव दानं समायाति न तु ब्राह्मणेभ्योधिकं तथा सति हीनसम्प्रदानकत्वेनांशतस्तस्य दानस्य तामसत्वमापद्येत किञ्चास्मिन् छलोके दानवाचकपदाभावादग्रिमश्लोकद्वयेपि तदभावाद् दानव्याख्यानमेवायुक्तमिति तन्निवृत्त्यर्थमाहुरनेनेत्यादि, वासोलङ्कारत्वमभिव्याहारकथनेन कर्मत्वयोग्यद्वितीयानुपपत्त्या च ब्राह्मणेभ्यो दत्तवानिति लक्ष्यतेतो नांशतस्तामसत्वमायाति-रित्यर्थः, ननु तादृशदानस्य तामसत्वं वैधत्व एव न तूत्सवनिमित्तकत्वेन्यथा तूत्सव एव न स्यादतस्तेभ्य इत्यस्य ब्राह्मणपरत्वं न युक्तमित्यत आहुरन्येषामित्यादि, प्रथमपक्षमनुसृत्यान्येषां दानप्रकारमाहुरन्येभ्य इत्यादि सम्बन्ध इत्यन्तं, तथा चानुवादभेदाद् दानेपि प्रकारभेदो लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥ तैस्तैरित्यत्र तस्य ज्ञानानुरोधादिति तस्य नन्दस्य भगवति यत् स्वपुत्रत्वेन ज्ञानं तदनुरोधेन, अभ्युदयार्थमिति भिन्नतया शुकेनोक्तमित्यर्थः ॥ १६ ॥ रोहिणीत्यत्र महाभागेत्यस्यार्थान्तरमाहुर्यद्यपीत्यादि,

भाग्यवत्य इत्यग्रिमलीलादर्शनात् तथा रोहिणी तूभयं द्रक्ष्यतीति तथेतिभावः, अनेनेत्यादि रोहिणीविचारणेन, रोहिणीसम्बन्धादयं कृष्णो वसुदेवपुत्र इतिकंसज्ञानकृतं भयं निवारितं, यदि हि श्रीरोहिणी न प्रचरेत् तदा रोहिण्या एव पुत्रो जातो मिथ्यैव नन्दस्य जात इति वदन्तीति कंसो जानीयात् प्रचारे तु तादृशज्ञानाभावात् तत्कृतं भयमनेन श्लोकेन निवारितमित्यर्थः ॥ १७ ॥ तत आरभ्येत्यत्र टिप्पण्यां यदा पूर्वोक्तेत्यादिफक्किकायास्तात्पर्यमाहुरत्रेत्यादि, तन्निरूपणादिति सर्वसमृद्धिनिरूपणात्, चतुर्थीसूचितमर्थमाहुस्तादर्थ्येत्यादि, तथा चैवं हेतुचतुष्टयं विष्ण्वाराधनस्यैव फलमित्यर्थः ॥ १८ ॥ गोपानित्यत्रायमैश्वर्याध्याय इति ज्ञापयितुमाहुरेतेनेत्यादि, एवमग्रेपि तत्तदध्यायेषु वीर्यादिनिरूपणमर्थबलेन ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥ वसुदेव इत्यत्राभासे वसुदेवपुत्रो भविष्यतीतिशङ्कानिवृत्त्यर्थमिति नन्दस्य या वसुदेवपुत्रो भविष्यतीतिशङ्का तन्निवृत्तिज्ञापनार्थं, नन्वेतावत्कार्यार्थं वसुदेवागमनमित्युक्तौ किं बीजमत आहुश्चतुर्णामित्यादि, नोत्सवः सिध्येदिति, उदर्काभावान्नन्दवसुदेवयोरन्येषां वा न सिध्येदित्यर्थः, तथा चाध्यायार्थोप्यन्यथा भवेदित्याशयः, तत्रेति निमित्तसप्तमी, तथा चोत्सवनिमित्तमित्यर्थः, श्लोकविवरणे ननु वसुदेवागमनसंवादादिकं न भगवत्कृतमिति न दशमस्कन्धमध्यपातित्वमेतावता ग्रन्थस्य वक्तुं शक्यमत आहुर्मायाकृतस्य ज्ञापनमिति, मायावेशकृतस्य कंसमन्त्रणस्य श्रीनन्दे ज्ञापनं तद् भगवत्कारितत्वाद् भगवत्कार्यमिति तस्यापि भगवच्चरित्रतेति सुखेन वसुदेवागमनादेः स्कन्धमध्यपातित्वं वक्तुं शक्यत इत्यर्थः, यद्वा स्वयं कापट्येन यत् कृतं तस्य ज्ञापनेपि श्रीनन्दज्ञानं तथेति तथा, एतच्च सामान्यत उक्तं विशिष्य त्वग्रे निरूप्यम् ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अवाद्यन्त इत्यत्र दशविधानीति "मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभिभिस्तदे"ति प्रथमस्कन्धोक्तानि ज्ञेयानि, एतेषां स्वत एव वादनं न सम्भवतीत्याक्षेपलभ्यं विधिमाहुः वादका वादयामासुरिति, अनन्तः कालो वेति 'अथ सर्वगुणोपेत' इत्यत्रोक्तो लीलाकालो भगवद्रूप इति 'तमद्भुत'मितिश्लोके विवृतत्वात् तद्रूप इत्यर्थः, अन्यथेति लीलाकाले प्रादुर्भूते सेवकैस्तदनुरूपसेवाऽकरणे स कालस्तान् सेवकान् वादकान् दण्डयेदिति टिप्पण्यनुसारेणार्थः ॥ १३ ॥ गोपा इत्यत्र लिम्पनमिति लिम्पतीति लिम्पः, अनुपसर्गाल् लिम्पविन्देत्यादिना शप्रत्ययः, तत आचारक्विबन्ताद् भावे ल्युट् ॥ १४ ॥ नन्दो महामना इत्यत्र श्लोकत्रयस्यार्थमाहुः विद्यावतामित्यादिपदत्रयेण, अनेनेति विद्यातारतम्येन दानकथनेनेत्यर्थः, दत्तवानिति सम्बन्ध इति तेभ्य इति तच्छब्देन 'धेनूनां नियुते प्रादा'दिति श्लोकोक्ता विप्रा उच्यन्ते, तथा च तत्सहचारेण 'प्रादा'दितिपदोक्तं दानमप्यनुवर्तनीयं तेन सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ १५ ॥ तैस्तैरित्यत्र विष्णुबुद्ध्येति मूलार्थानुरोधाद् विष्णुः प्रीयतामितिबुद्ध्येत्यर्थः॥१६॥ तत आरभ्येत्यत्र टिप्पण्यां विष्ण्वाराधनस्यैवेति आराध्यतेनेनेतिकरणव्युत्पत्त्या विष्ण्वाराधनार्थकबुद्ध्या कृतस्य दानादेरित्यर्थः, सुबोधिन्यां, तस्यापीति विष्णुबुद्धिकृतपूजनस्यापीत्यर्थः, सर्वा इति धनं पशवश्च पूर्वकाण्डप्रतिपादितं फलं ज्ञानमुत्तरकाण्डप्रतिपादितं, विष्ण्वाराधनबुद्ध्या कृतं कर्मतत्समृद्धिमप्यवान्तरफलं साधयतीतिभावः, भक्तानां वैकुण्ठपर्यन्तं गमनमिति भक्तानां तावत्साधनक्लेशमसहमान इहैवाधिभौतिके लोकसिद्धे व्रज एव वैकुण्ठं 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमाधिदैविकं व्रजं नित्यसिद्धं समानीतवान् प्रकटितवानित्यर्थः ॥ १८ ॥ गोपानित्यस्याभासे अकृत्रिमोत्सवार्थमिति भगवत उत्सवलीलाया नित्यत्वाद् वैकुण्ठ एव सा तिष्ठति, अन्यत्राविर्भाविता कृतिमैव भवति, अतः स्थानस्य वैकुण्ठत्वं निरूपितं, तेनोत्सवस्याकृत्रिमत्वं ज्ञापित भवति, तथा चाकृत्रिमोत्सवत्वार्थमित्यर्थः ॥ १९ ॥ वसुदेव इत्यत्र मायाकृतस्येति तथा कंसमन्त्रणं मायाकार्यमिति चतुर्थाध्याये कारिकायां निरूपितत्वाद् दैत्यकृता उत्पाता मायाकृतास्तेषां 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' इत्यनेन ज्ञापनमित्यर्थः ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तैस्तैरित्यत्र विष्णोराराधनार्थायेत्यस्य व्याख्याने, ननु 'विष्णोराराधनार्थाये'त्युक्त्वा 'स्वपुत्रस्ये'तिभिन्नतया कथनं न युक्तं स्वपुत्रस्यैव विष्णुत्वाद् विष्णुशब्दस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वादित्याशङ्क्याहुः तस्य ज्ञानानुरोधाद् भिन्नतया कथनमिति, तस्य श्रीनन्दस्येत्यर्थः, ज्ञानानुरोधात् पुत्रत्वज्ञानानुरोधादित्यर्थः, न हि नन्दस्य श्रीकृष्णे विष्णुबुद्धिः अतो नन्दबुद्धिमादाय नन्दपुत्रविष्णोर्भेद उक्तः ॥ १६ ॥ तत आरभ्येत्यत्र हरेर्निवासात्मगुणैरित्यस्य व्याख्यान आत्मा देहः परमानन्दरूप इति 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इतिश्रुतेः कृष्णः सदानन्दः परं ब्रह्मेतिनिर्विवादं, तत्र स्वरूपात्मक एव देहो न त्वात्मातिरिक्तः स्वरूपस्यानन्दरूपत्वाद् देहस्य परमानन्दरूपत्वमुक्तं, अत एव "सच्चिदानन्दविग्रह"मित्यादिश्रुतिषु विग्रहस्य सच्चिदानन्दरूपतोक्ता 'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे' इति गोपालतापनीयेपि तथैवोक्तं, 'आनन्दरूपममृतं यद् विभातो'ति श्वेताश्वतरोपनिषत्स्वप्युक्तं, नन्दव्रजजनानन्दी सच्चिदानन्दविग्रह' इति ब्रह्माण्डपुराणे धरणीशेषसंवादे श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रे उक्तमतः श्रुतिपुराणसिद्धत्वात् सच्चिदानन्दविग्रहः श्रीकृष्ण इति ज्ञेयम् ॥ १८ ॥ वसुदेव उपश्रुत्येत्यस्य व्याख्याने मायाकृतस्य ज्ञापनमिति कंसं प्रति माययोक्तं 'जातः खलु तवान्तकृत् यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथे'ति, इह तव शत्रुरन्यत्र जातो न तु मथुरायामित्युक्त्या अन्यत्रोपद्रवः कर्तव्य इति बोधितं, अत एव "कृपणां देवकीं वृथा मा हिंसी"रित्युक्तं,

तथा च ये ये दैत्याः कंसेन श्रीगोकुले प्रेषणीयास्ते सर्वे मायया बोधनात् प्रेषिता इति तदागमनादेर्मायाकृतत्वमेव तद् वसुदेवेन श्रीनन्दं प्रति ज्ञापितं 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुल' इत्यनेन, तत् ज्ञापनं भगवत्कार्यं, यतः श्रीनन्दो वसुदेववचः श्रुत्वैव सावधानो भूत्वा भगवद्रक्षातत्परोऽभूदत इदं भगवत्कार्यं, तन्निरूपणं भगवच्चरित्रनिरूपणमेवेत्यर्थः ॥ २० ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

आचार्यचरण कहते हैं कि 'एवं विद्यावतां' आगे के ५ से १२ पर्यन्त आठ श्लोकों में वेद पुराण आदि विद्याओं के जानने वाले के, व्रज भूमि के, गाय, गोप और गोपियों के अलङ्कारों का वर्णन किया। अब 'अवाद्यन्त' श्लोक में लौकिक बाजों के बजने से हुए उत्सव का वर्णन करते हैं।

"स्वभावतो दशविधानि" स्वभाव से मृदङ्ग-शंख-भेरी-वीणा-पणव-गोमुख-धुन्धुरी-आनक-घण्टा और दुन्दुभि आदि दश प्रकार के वाद्य होते हैं परन्तु भगवान् श्रीकृष्णजी के प्रादुर्भाव के समय हर्षान्वित होकर वादकोंने और भी अनेकविध बाजे बजाये। यह बाजित्र हस्तिनापुर से द्वारिका की ओर प्रस्थान के अवसर पर बिना बजाये स्वयं बजने लगे थे, लेकिन यहाँ बजाने वालों ने आनन्दमग्न होकर वादित्र बजायें। महोत्सव करने का निमित्त कारण, विश्व के नियामक कृष्ण का प्राकट्य है। यदि कोई कहे कि अभी तो बालक का जन्म हुआ है; नामकरण तो हुआ ही नहीं, तो कृष्ण नाम शुकदेवजी ने कैसे कहा? तब आचार्यचरण कहते हैं कि **'भगवति नियमाभावात्'** नामकरण संस्कार में नाम तो लौकिक बालकों का धरा जाता है इसलिये लौकिक बालक के नाम का ज्ञान, नामकरण होने पर होता है। भगवान् के लिये यह नियम लागू नहीं होता है क्योंकि भगवान् जसे वे नित्य हैं वैसे ही उनके नाम सदैव नित्य है। यदि ऐसा है तो गर्गाचार्यजी ने नामकरण संस्कार में नाम क्यों धरे? ऐसे प्रश्न के समाधान में कहते हैं कि **'पूर्वसंज्ञानामेव गर्गेणोक्तत्वात्'** गर्गजी ने नये नाम नहीं धरे थे किन्तु वेदख्यात ही नाम कह सुनाये थे। जैसे **"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः' 'तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'**— गोपालतापिनीयोपनिषद् में कहा है कि सत्तावाचक कृष शब्द आनन्द वाचक ण शब्द है। इन दोनों शब्दों के ऐक्य से 'कृष्ण' बना है, उन कृष्ण को परब्रह्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि "कृष्ण" सदानन्द स्वरूप हैं यह नाम किसी नक्षत्र में जन्म के कारण नहीं है। आनन्द होने पर सामान्यतया बाजित्र अवश्य बजने चाहिये जिस पर यहाँ तो विश्वनियन्ता का प्राकट्य हुआ है इसलिये विश्वेश्वर के पधारने पर स्वयं उसके पास जाकर बाजे भी अधिक बजाने चाहिये। यह तो दूसरे बालकों जैसा ही बालक है, ऐसा विचार भी मन में नहीं लाना चाहिये क्योंकि श्रीशुकाचार्यजी ने इनको 'अनन्त' कहा है इसलिये यह लौकिक बालक जैसा साधारण बालक नहीं है किन्तु जिनका कोई अन्त नहीं है ऐसे महान् है, अथवा तो अनन्त काल रूप हैं इसलिये यदि अन्यथा किया जायगा और महोत्सव नहीं मनाया जाएगा तो कालरूप होने से वे नष्ट कर देंगे। इसके अतिरिक्त नन्दजी छोटे हैं और उनका व्रज भी छोटा घर है, वहाँ विश्व के 'ईश्वर' 'सदानन्द' 'अनन्त' पधारे हैं। अल्प के अल्प ग्रह में यदि महान आ जाए तो उनके आगमन पर अवश्य महोत्सव मनाना चाहिये। इससे पधारने वाले का स्वागत सम्मान होता है, नहीं तो उसका अपमान होता है। जिससे अप्रसन्न होकर वह कुछ हानि भी करे। इन सब विचारों के साथ साथ नन्दजी द्रोण हैं और भगवद्भक्त हैं। तथा भगवान् कृष्ण ब्रह्माजी के वचन सत्य करने के लिये, व्रज में पधारे हैं। इसलिये महामना नन्दरायजी ने आह्लाद में जो बाजे बजाने का महोत्सव किया सो बहुत उचित था।

श्रीटिप्पणीकारजी कहते हैं कि कई महानुभावों का मन्तव्य है कि तेरवें श्लोक में निर्दिष्ट 'कृष्ण' शब्द 'विश्वेश्वर' और 'अनन्त' शब्द के समान भगवान् का सदानन्द स्वरूप बताने के लिये कहा गया है न कि कृष्ण का नाम है। ऐसी अवस्था में यह शंका करनी ही व्यर्थ है कि नामकरण से पहले शुकदेवजीने 'कृष्ण' नाम कैसे दिया। लेकिन यह कथन समुचित नहीं है क्योंकि 'विश्वेश्वर' और 'अनन्त' आदि शब्द पहले धर्म बता कर, धर्मी का ज्ञान कराते हैं, किन्तु 'कृष्ण' शब्द धर्म कहकर धर्मी का ज्ञान नहीं कराता है वह तो स्वयं आनन्द की सत्तारूप है, इसलिये यह 'कृष्ण' नाम है न कि किसी का धर्म बताने वाला शब्द है। अतः यह संशय वास्तविक होने से ऐसा समाधान किया गया है कि पुरुषोत्तम का स्वरूप सदानन्दात्मक है, 'कृष्ण' पद केवल सदानन्दात्मक स्वरूप का वाचक होने से 'मुख्य नाम' हैं। इसलिये शुकदेवजी ने यहाँ 'कृष्ण' पद नामवाचक ही दिया है।

श्रीसुबोधिनीजी में काल के लिये लिखा है कि **'अनन्तः कालो वा"** इसका भाव श्रीलेखकारजी बताते हैं कि यह काल भी भगवद्रूप है जैसा कि **'अथ सर्वगुणोपेतः'** श्लोक में कहा है और **'तमद्भुतं'** श्लोक में भगवान् का विशेष विवरण है। इसलिये यह 'काल' साधारण काल नहीं, किन्तु भगवद्रूप है। भगवान् के लीला काल के प्रादुर्भाव होते हुए यदि सेवक पूर्णतया सेवा न करे, तो सेवकों का अहित ही होता है। इसलिये भगवद्रूप काल का आगमन के कारण, सब सेवक सेवा करने लगे। अन्यथा दण्डपात्र होते हैं। 'कालः' यह लीलाकाल **"अनन्तः"** भगवद्रूप है, इसलिये लीला काल के समय, यदि सेवक सेवा न करें, तो वह कालरूप भगवान्, उन सेवकों को दण्ड देंगे ॥ १३ ॥

"गोपिकानां भगवत्स्मरणेनैव" गोपिकाओं में भगवान् का आवेश भगवत्स्मरण से हुआ और गोपों में तो भगवान् के सन्निधान में भगवद्धर्मों के प्राकट्य के कारण, भगवान् का आवेश हुआ। भगवदावेश होने पर, हर्ष से प्रफुल्लित गोपों के, मनाये हुए उत्सव का वर्णन श्रीशुकाचार्यजी "गोपाः" श्लोक से करते हैं।

दधि, दूध, घी एवं जल को मिला कर आपस में सिंचन करने लगे; दही आदि एक दूसरे के मुखों पर लेपन करते हुए परस्पर मक्खन के गोले फेंकने लगे। अथवा जिसको जो वस्तु हाथ लगी जैसे किसी को दही हाथ लगा तो वह दही से दूसरे के मुख पर लेप करने लगा, यदि किसी को दूध या जल हाथ लगा तो वह दूध या जल उडेलने लगा। इसी प्रकार घृत एवं जल से सिञ्चनादि किये। दधि-घृत-जल आदि का सिञ्चन, समान आनन्द वाले और अधिक आनन्द वाले करते थे और विशेष रस में मत्त होने पर नवनीत के गोलों की वर्षा करते थे। इसी प्रकार देव किन्नर मनुष्य आदि सबों के उत्सव का वर्णन किया है॥ १४॥

"एवं सर्वकृत उत्सवे" इस प्रकार सबों के आनन्द से उत्सव मनाने का वर्णन कर, अब नन्दरायजी के दानरूप उत्सव मनाने का वर्णन श्रीशुकाचार्यजी **"नन्दो मनाः"** श्लोक से करते हैं कि—आनन्दनिमग्न श्री नन्द बाबा ने विद्याभ्यासंगी विप्रों को, दूसरों को और स्त्रीजनों के मनचाहा दान दिया। दान प्रकार के क्रम में प्रथम विद्योपासकों के दान का वर्णन करते हैं। यदि ज्ञान के तारतम्य से न्यूनाधिक प्रमाण में दान दिया जाय तब तो अधिक विद्या वालों को अधिक मिलता और अल्पविद्या वालों को अल्प मिलता तब अल्पदान पाने वालों के चित्त में क्षोभ होता और यह कामना होती कि नन्दबाबा हमको भी इतना देते तो हम प्रसन्न होते इस प्रकार के लोभ का विचार किसी को न हो, इसलिये प्रत्येक ब्राह्मण को सर्व समान वस्त्र, अलंकार गौएँ और धन अथवा गौओं का एक एक गोष्ठ दान में दिया। सूत आदि को अनुवाद प्रथित कथन करने से ब्राह्मणों के समान न देकर योग्यतानुसार दिया। सूतों को यश के लिये दिया, दूसरे गाने वाले, वैद्य, ज्योतिषी, शकुन जानने वाले और स्त्रियाँ आदि जो उत्सव में आई थीं उन सबको शिरोपाव में वस्त्र अलंकारादि दिये।

श्रीलेखकारजी कहते हैं कि पन्द्रहवे श्लोक में प्रादात् क्रियापद अनुकर्ष न्याय से ५वें श्लोक से आता है। १५वें श्लोक में सूत मागध आदि पदों से भिन्न और अन्य पद से दूसरों का पृथक् विवरण देने के कारण दूसरों के दान में भी भेद है उन्हें ब्राह्मणों जैसा दान न मिला किन्तु अपनी योग्यतानुसार ही उन्हें दान मिला॥ १५॥

आचार्यचरण कहते हैं कि श्रीशुक भगवान् **'तैः तैः कामैः'** श्लोक से दूसरों को भी दान दिया उसका वर्णन करते हैं। नन्दरायजी का अन्तःकरण परम उदार था और निर्लोभी था। परमोदार नन्दजी ने जिसके मन में जो जो पाने की इच्छा थी उस इच्छा के अनुसार उनका भी विष्णुबुद्धि से आदर सत्कार किया। यदि कोई आसुरस्वभाव वालों ने कुछ माँगा तब भी नन्दबाबाने उनकी योग्यता अनुसार अर्चन किया, और जिसकी जैसी योग्यता थी उसको उतना दिया और जो कुछ देने योग्य था वही दिया क्योंकि देने और दान में, योग्यता आवश्यक है। इस प्रकार सर्वसमर्चन करने का प्रयोजन यह था कि विष्णु की प्रसन्नता हो और अपने पुत्र की उन्नति हो इसलिये सूत मागधादि सर्व का आदर किया। इस श्लोक में **"उदयाय च"** पद में दिये हुए **"च"** अव्यय का यह आशय है कि ग्रहादि की पूजा भी की गई। इस श्लोक में **"विष्णोराराधनार्थाय"** श्रीविष्णु की प्रसन्नता और **"स्वपुत्रस्योदयाय"** श्रीनन्दलालजी की उन्नति के लिये अर्चन किया ऐसा उल्लेख किया गया है उसका सुबोधिनीजी में अर्थ बताया कि **"तस्य ज्ञानानुरोधाद् भिन्नतया कथनम्"** इस वाक्य का श्रायोजनाकारजी तात्पर्य कहते हैं कि नन्दरायजी श्रीकृष्णजी को, अपने पुत्र को विष्णु से पृथक् अपने पुत्ररूप समझा था। श्रीशुकदेवजी ने श्रीनन्दरायजी की यह बुद्धि के अनुसार ऐसा उल्लेख किया है। **'च'** का आशय कहकर महाप्रभुजी ने वैष्णवों को कहा है कि पुत्र-जन्म आदि के समय, वैदिक कर्म ग्रहादि पूजन भी वैष्णवों को करना चाहिये। तदनुसार गोस्वामी बालक एवं वैष्णव समुदाय वैदिक मर्यादा अनुसार सर्व संस्कार अनासक्ति से करते हैं। संस्कारादि के समय अन्य देव ग्रहादि के पूजन से अनन्यता का नाश नहीं होता क्योंकि सर्व देव श्रीकृष्ण के ही अंग हैं। अङ्ग और अङ्गी का अभेद है। इसलिये आचार्यचरण ने श्रुति गीता के १७वें श्लोक में आज्ञा की है कि **'भगवत्त्वेन देवतान्तरभजने न कोऽपि दोषः'**॥ १६॥

'स्त्रीभ्यो दाने' आचार्यचरण कहते हैं कि स्त्री वर्ग के दान में, रोहिणीजी को कंस के भय के कारण गुप्तरूप से दिया होगा। ऐसा नहीं है क्योंकि प्रत्येक के हृदय में भगवदावेश होने से दान करने वाले एवं लेने वाले को कोई भय नहीं था। इसलिये नन्दरायजी ने, जो रोहिणीजी का सत्कार छिपकर नहीं और न रोहिणीजी ने भय से गुप्त रहकर लिया ऐसी रोहिणीजी की निर्भयता दिखाने के लिये रोहिणीजी के चरित्र का वर्णन करते हैं कि **'रोहिणी च महाभागा'** रोहिणीजी **'महाभागा'** बड़भागिनी थीं कि भगवान् कृष्ण के पधारने से पहले ही रोहिणीजी से बलरामजी प्रकट हो गये थे। यद्यपि देवकी के अतिरिक्त वसुदेवजी की सब पत्नियाँ भी भाग्यशालिनी थीं, किन्तु बाललीला आदि सब लीलाएँ रोहिणीजी देखेंगी, दूसरी पत्नियाँ बाललीला नहीं देखेंगी, इसलिये यह बड़भागिनी है। श्रीरोहिणीजी नन्दरायजी से अभिनन्दित होने के कारण केवल स्त्री-वर्ग में ही नहीं घूमती थीं, किन्तु सब जगह घूमती हुई सारा गृह-कार्य करती थीं और गृहिणी के समान देख-भाल

करती थीं । श्रीरोहिणीजी लालन के प्राकट्य की बधाई देने के लिये और निर्भयता दिखाने के लिये सुन्दर वस्त्र, मालाएँ तथा कण्ठाभरणों से अलंकृत हुई थीं । 'च' अक्षर से बताते हैं कि अन्य स्त्रियाँ भी दिव्य वस्त्र मालाएँ, कण्ठाभरण पहनकर सुशोभित हुई थीं । स्त्रियों के वस्त्रों के, पुष्पों के और सुवर्ण के तीन आभूषण होते हैं । इससे उन्होंने तीन प्रकार के आभूषण धारण किये थे । पैर और हाथों के आभूषण तो यों ही स्त्रियों के नित्य रहते हैं, लेकिन कण्ठाभरण पदकहार आदि तो विशेष उत्सवों पर पहने जाते हैं । इसलिये कण्ठाभरणादि का यहाँ वर्णन किया गया है । इससे रोहिणीजी के सम्बन्ध के कारण यह कृष्ण वसुदेवजी के पुत्र यहाँ आये हैं यह भय भी मिटा दिया । रोहिणीजी को बड़भागिनी इसलिये कहा है कि वह 'कृष्ण' की व्रज की बालादि लीलाएँ और दूसरी भी लीलाएँ देखेंगी । वसुदेवजी की दूसरी पत्नियाँ कृष्ण की बाललीलाएँ नहीं देखेंगी । कंस के मरने के बाद जो लीलाएँ होंगी वे ही देखेंगी इसलिय वे स्त्रियाँ केवल भाग्यवतियाँ थीं । रोहिणीजी पूर्ण शृङ्गार से सुसज्जित होकर चारों ओर घूम रही थी इससे 'कृष्ण' वसुदेवजी के पुत्र हैं यह शंका कंस के मन में भी न होगी । इसी प्रकार कंस के भय का भी निवारण हुआ ॥ १७ ॥

महोत्सव में इस प्रकार, सर्वस्व देने पर भी स्वयं भगवान् के निवास स्थल होने से नन्दरायजी के पास पहले से भी अधिक समृद्धि हुई इसका वर्णन शुकाचार्य 'तत आरभ्य' श्लोक से करते हैं । 'यदा पूर्वोक्तदानानि' नन्दरायजी के पहले कहे हुए दान देने और विष्णु बुद्धि से पूजन करने के कारण उस दिन से धन, पशु, ज्ञान आदि सर्वप्रकार की समृद्धियाँ केवल नन्दजी के पास ही नहीं, किन्तु समग्र व्रज में हो गईं, पर यह विष्णुप्रसन्नता की बुद्धि से किये हुए दान का गौण फल है । न केवल समृद्धियाँ ही हुई किन्तु व्रज की वैकुण्ठ जैसी विशेष शोभा हुई, क्योंकि व्रज भगवान् का निवास बन गया, उसमें अपनी आत्मा श्रीविग्रह और षड्गुणों सहित आप विराजमान् हुए । यों तो व्रज में गौएँ अधिक रहने से वह स्थान गोमयादि के कारण असुन्दर होता है, किन्तु वहाँ तो आधिदैविकी कान्ति सब से उत्तम हुई, वह तो लक्ष्मीजी के निवास से ही होती है, इसलिये कहते हैं कि वह व्रज रमा के विहार स्थल वैकुण्ठ बन गया । गोमयादि से असुन्दरता मिट गई और उनमें आधि-दैविकता आने से सर्वत्र अलौकिक सुन्दरता आ गई ।

भक्तों को वैकुण्ठ में जाने का परिश्रम भी न हो, अतः सर्वदुःखहारी श्रीहरि भगवान् यहाँ पर ही वैकुण्ठ को लाए । यदि लाए हुए वैकुण्ठ में भी भगवान् न हों, तो वह वैकुण्ठ भी भक्तों को आनन्ददायी नहीं होता । इसलिये भक्तेच्छापूरक भगवान् ने भक्तों की अभिलषित कामनाओं की पूर्ति के लिये, अपनी आत्मा श्रीविग्रह तथा षड्गुणसहित व्रज को अपना निवास बनाया । भगवान् उनकी आनन्दमय आत्मा तथा षड्गुण के वहाँ विराजने से स्वयं रमा की विहारस्थली वैकुण्ठ हो गया । परमानन्द स्वरूप का लीला स्थान होने से व्रज अत्युत्तम स्थान हुआ । हे नृप ! यह सम्बोधन से यह भाव बताया कि, जहाँ राजा रहता है, वह 'राजधानी' होती है । और राजधानी में लक्ष्मी रहती है । आप राजा हो. आपको तो यह अनुभव है ही । जब भगवान् स्वयं व्रज में रहे तो, वह व्रज भगवान् का धाम, वैकुण्ठ बन ही गया, इसमें कोई आश्चर्य का अवकाश नहीं । टिप्पणी कार कहते हैं कि प्रथम दान करने से नन्दरायजी को समृद्धि मिली और मुख्य फल विष्णु का आराधन मिला, जिससे नन्दजी ने सबका विष्णुबुद्धि से पूजन किया । दान का गौण फल है ।

विष्णुबुद्धि से पूजन करने से वेद के दोनों काण्डों में से पूर्व काण्ड का फल धन, पशु और उत्तर काण्ड का फल ज्ञान मिला ।

श्री लेखकारजी, कहते हैं कि **'यत्र गावो भूरिशृङ्गा'** इस श्रुति में आधिदैविक नित्यसिद्ध, लोक में प्रसिद्ध व्रज को वैकुण्ठ कहा गया है । आधिभौतिक व्रज में वैकुण्ठ को लाए ।

श्री योजनाकारजी कहते है कि **'हरेर्निवासात्मगुणैः'** पदों से शुकमुनि ने देह और षड्गुणों सहित भगवान् का व्रज में निवास बताया है यहाँ देह शब्द से भगवान् की मनुष्यवत्, लौकिक भौतिक देह नहीं है क्योंकि श्रुति ने भी कहा है कि भगवान् और भगवान् की देह भिन्न नहीं हैं, वह भगवद्रूप ही है, इसलिये देह के स्थान में 'आत्म' शब्द दिया है । शास्त्रों में भी, भगवान् के श्रीविग्रह को आनन्द रूप कहा है । 'कृषिर्भूवाचक' पद से कृष्ण को सदानन्द स्वरूप कहा गया है । 'सच्चिदानन्दरूपाय' गोपालतापिनी उपनिषद् में सच्चिदानन्द रूप कहा है । 'अनन्दरूपममृतं यद् विभाति' श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'आनन्द रूप अमृत कहा गया है । 'सच्चिदानन्दविग्रह' नन्दव्रज जनानन्दी ब्रह्माण्ड पुराण में नन्द के व्रज को आनन्ददाता सच्चिदानन्दशरीरधारी कहा है । इत्यादि प्रमाणों से कृष्ण आनन्दस्वरूप है, उनकी देह उनसे भिन्न नहीं होती और वह देह आनन्दात्मक ही है ।

लेखकारजी कहते हैं कि लौकिक कृत्रिम उत्सव नहीं था । भगवान् को अकृत्रिम उत्सव की लीला तो नित्य वैकुण्ठ में ही होती है । भूतल पर तो, जो लीला होती है वह कृत्रिम लौकिक ही होगी, आप कसे कहते हो कि लीला, अकृत्रिम थी इस संशय को हटाने के लिये ही भगवान् ने गोकुल को वैकुण्ठ बना दिया था । इससे सिद्ध होता है कि उत्सव अलौकिक था ॥१८॥

आचार्यचरण १९ वें श्लोक के अवतरण में कहते है कि अग्रिम श्लोक पर्यन्त श्री शुकदेवजी ने इस प्रकार जन्मोत्सव का वर्णन किया, जिसमें यह दिखाया कि यह उत्सव कृत्रिम लौकिक नहीं था, क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के कारण उत्सव मनाया गया था, यद्यपि नन्दजी की बुद्धि भगवान है ऐसी नहीं थी तो भी वास्तव में तो, आनन्दरूप भगवान् के प्राकट्य के कारण सब के मन में उल्लास का आविर्भाव हुआ, जिससे इतना महान् महोत्सव मनाया गया और वह स्थान वैकुण्ठ बन गया। ऐसे महोत्सव में लगने के कारण, नन्दजी दूसरे आवश्यक कार्य भी न कर पाए, लेकिन उत्सव पूर्ण होते ही, अन्तरासक्ति होने पर भी भगवान् के लिये सुन्दर वस्तु लाने को मथुरा गए ऐसा 'गोपान्' श्लोक से शुकजी वर्णन करते हैं। दूसरा हेतु यह भी है कि वसुदेवजी और देवकीजी का भी भगवान् में अति अनुराग होने से भगवान् को हम गोकुल में रख आए हैं इसका ज्ञान किसी को हुआ भी है या नहीं, इस संशय से उनके मन में खेद होता था। नन्दरायजी से मिलने पर श्री वसुदेव जी का संशय और क्लेश दूर होकर मनकी प्रसन्नता होगी। इस कारण से भी नन्दरायजी उत्सवपूर्ति होते ही बिना विलम्ब मथुरा जी पधारे जिसका वर्णन अब करते हैं। ऐसा करने से इस अध्याय का अर्थ उत्सव है, इसकी भी सिद्धि हो जाती है। मथुरागमन का वर्णन 'गोपानिति' इस श्लोक से करते हैं।

आचार्यचरण इस अध्याय की कथा को ऐश्वर्य लीला कहते हैं क्योंकि अब राजाधिराज भगवान गोकुल पधारे हैं फिर कंसको क्यों कर देना ! इसलिये वसुदेवजी नन्दरायजी को मथुरा में रहने का निवेदन करेंगे, फलतः नन्दजी व्रज में लौट कर पुनः मथुरा नहीं जाएँगे। भगवत्सान्निध्य से कंस की चिन्ता न कर व्रज में ही निश्चिन्त रूप से सुखपूर्वक निवास करेंगे। श्रीनन्दराय जी की निर्भयता से भगवान् के ऐश्वर्य गुण का दिग्दर्शन हुआ। भगवत्प्राकट्य के पूर्व गोकुल की रक्षा में नन्दजी का इतना आदर न था अब तो अत्यन्त आदर से गोकुल की रक्षा के लिये, अन्तरंग गोपों को आदेश देकर कर देने के लिये मथुरा गए। कारण कि सारी प्रजा 'कर' देती है। अभी भी इस देश में श्रावणी पूर्णिमा के अनन्तर कर देने की पद्धति है। सारे वर्ष में जो कर देना हो वह एक ही दिन बड़े साहूकार और व्यापारी दे देते हैं। नन्दजी तो महान् व्रज के नरेश है इसलिये उनका नाम करदाताओं में अग्रगण्य है। श्रीशुकाचार्यजी ने परीक्षित को कुरुद्वह ! सम्बोधन राजधर्मज्ञापन के लिये दिया है। श्री पुरुषोत्तमजी आज्ञा करते हैं कि 'गोपान्' इस श्लोक से सिद्ध करते हैं कि यह पाँचवा अध्याय "ऐश्वर्याध्याय" है। क्योंकि नन्दरायजी वसुदेवजी के निषेध करने के बाद फिर मथुरा में नहीं आवेंगे, व्रज में ही रहेंगे। कंस की थोड़ी सी भी चिन्ता न कर, निश्चिन्त वहाँ सुख पूर्वक समय बिताएँगे ॥ १९ ॥

श्रीनन्दरायजी कीं उत्सव में आसक्ति को सूचित कर, यद्यपि यह जताया है कि अब 'कर' नहीं देना चाहिये ऐसा निरूपण किया है, किन्तु तत्त्वदृष्टि से भगवान् के विद्यमान होते हुए, अन्य को 'कर' देना उचित नहीं। यह समझाने के लिये वसुदेवजी का नन्दजी से मिलना आवश्यक है, जिसका वर्णन शुकमुनि **'वसुदेव उपश्रुत्य'** श्लोक से करते हैं। इस श्लोक के रहस्य को स्पष्ट करते हुए श्री आचार्यचरण श्रीनन्दरायजी से वसुदेवजी के मिलन में चार आशय बताते हैं कि—श्रीनन्दरायजी ने बड़े चाव से नन्दलाल प्राकट्य महोत्सव मनाया है वह श्रीकृष्ण श्रीवसुदेवजी के पुत्र होंगे ॥ १९ ॥

श्रीनन्दरायजी ने बड़े चाव से श्रीकृष्ण जन्म का उत्सव मनाया है या नहीं ? वसुदेवजी के इस संशय की निवृत्ति के लिये, वसुदेवजी का नंदजी से मिलना आवश्यक था।

दूसरा आशय कंस को महान् उत्सव का पूर्णतया ज्ञान न हो जाय अन्यथा वह बहुत उपद्रव करेगा। यह कहने के लिये वसुदेवजी का नंदजी से मिलना आवश्यक था।

तृतीय हेतु कंस ने मंत्रणा कर दूतों को गोकुल आदि स्थानों में बालकों का नाश करने के लिये भेज दिये हैं, यह बात वसुदेवजी जानते थे उसकी सूचना नंदजी को देनी थी इसलिये उन दोनों का मिलना आवश्यक था।

चतुर्थ लक्ष्य यह था कि श्रीनन्दरायजी गोकुल शीघ्र लौटें और वहाँ पर ही रहें एवं बालकों की रक्षा करें यह सूचित करना था। इसलिये वसुदेव नन्दराय मिलना आवश्यक था।

उपर जताये हुए चारों में से एक का भी यदि अभाव रहा, तो उत्सव की सिद्धि नहीं होगी। अब प्रथम वसुदेव नन्दराय मिलन का वर्णन करते हैं। माया के कार्य का कथन भी भगवत्कार्य होने से भगवत् चरित्र ही है। वसुदेवजी और नंदरायजी दोनों धर्मभ्राता थे। जिस कल्प में वसु आदि अष्ट देव, ब्रह्मा के पुत्र थे; उसी कल्प में कश्यप भी ब्रह्माजी के पुत्र थे। इस प्रकार पूर्व जन्म में ये दोनों भ्राता थे। इस दूसरे जन्म में भी पूर्व संस्कार से धर्मभाई हुए हैं, इसलिये शुकदेवजी ने नंदजी को **'भ्रातरं'** कहकर सिद्ध किया कि ये दोनों भाई हैं। यदि वसुदेवजी जानते कि नंदजी कर देने के लिये मथुरा आ रहे हैं तो वे नंदजी को यहाँ आने से ही रोक देते तथा यहाँ आने पर भी कर देने के लिये निषेध करके कर देना बंद करवा देते। मथुराजी आने पर जब तक नंदजी कर नहीं देंगे तब तक राज कर्मचारी डेरे पर आते रहेंगे, अतः वसुदेवजी ने जब

जाना कि नंदजी ने कर दे दिया है, अब कोई भी राज-कर्मचारी नंदजी के पास नहीं आएगा और इनसे मेरे मिलने का पता कंस को नहीं होगा, ऐसा समझ कर अब नंदजी के डेरे पर मिलने आए। श्रीप्रकाशकारजी कहते हैं कि चारों में से एक के भी अभाव से नन्दजी एवं वसुदेवजी तथा अन्यों का उत्सव भी अपूर्ण रहता। जिससे अध्याय का अर्थ 'उत्सव' भी सिद्ध न होता।

नन्दजी के डेरे पर मिले हुए वसुदेवजी और नन्दजी का संवाद भगवत्चरित्र न होने के कारण दशम स्कन्ध में यह प्रसंग नहीं देना चाहिए। ऐसा न विचारें क्योंकि सुबोधिनीजी में 'मायाकृतस्य ज्ञापनं भगवत्कार्यमिति' भगवच्चरित्रता इन पदों से कहा है कि माया वेशधारी कंस ने जो मंत्रणा की, वह वसुदेवजी ने नन्दजी को सुनाई। अतः यह भी भगवत्कार्य था, इसलिये यह भगवत्चरित्र होने से दशम स्कन्ध में सन्निवेश किया है ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

श्रीकृष्णे नन्दस्य व्रजं प्रत्यागते अवतीर्णे सति यो महानुत्सवस्तस्मिन् विचित्राणि नानाविधानि वादित्राणि अवाद्यन्त इत्यन्वयः। 'श्रीकृष्णावतारो दुर्लभ' इति सूचयन्नाह—विश्वेश्वर इति। तत्र हेतुं सूचयन्नाह—अनन्ते इति। देशकालवस्तुपरिच्छेद-रहिते इत्यर्थः ॥ १३ ॥ हृष्टा गोपाश्च दध्यादिभिः परस्परमासिञ्चन्तो, नवनीतैर्मुखं विकिम्पन्तश्च चिक्षिपुः। परिहासार्थं दध्यादि-पङ्के पातयामासुरित्यर्थः ॥ १४ महामना अत्युदारचित्तो नन्दश्च तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो गोपेभ्यो गोपीभ्यश्च, सूतादिभ्यस्तथा येऽन्ये च विद्योपजीविनो गायकाः, वादकाः, वैद्याः, ज्योतिर्विदो, नर्तकाः शाकुनिकाश्च तेभ्यश्च वासोऽलङ्कारगोधनं दत्तवानिति शेषेणान्वयः ॥ १५ ॥ न केवलमेतावन्मात्रमेव दत्तवान्, किन्तु ये यान् यान् कामान् अयाचन्त तान् तैस्तैः कामैः पदार्थैः अदीनात्मा उदारचित्ततया प्रहृष्टचित्तो यथोचितं जातिविद्याद्यनुरूपं यथा स्यात्तथा अपूजयत्, स तत्तत्प्रदानेन सत्कृतवानित्यर्थः। एवं दानादेः प्रयोजनमाह—विष्णोरिति। आराधनं सन्तोषस्तदर्थमित्यर्थः। तस्यापि प्रयोजनमाह—स्वपुत्रस्योदयाय, समृद्धये इत्यर्थः। चकारान्नवग्रहदिक्पालादीनपि तदर्थमपूजयदिति ज्ञेयम् ॥ १६ ॥ यद्यपि कंसभयाद्व्रजे स्थिताया रोहिण्या उत्साहो न सम्भवति, तथापि भगवत्प्राकट्यप्रभावात्तस्या अप्युत्साहोऽभूत्तमाह—रोहिणी चेति। नन्दगोपेनाभिनन्दिता 'त्वदागमनमङ्गलेनैव मम पुत्रो जातः। यशोदायाः पुत्रजन्मना कार्ये निरोधात् तदतिरिक्तस्त्यभावाच्च त्वयैव सर्वं कार्यं कर्तव्यम्' इति प्रोत्साहिता दिव्यवस्त्रादिभि-र्भूषिता च सती रोहिणी विशेषेण श्रीकृष्णजन्मोत्सवानन्देन गृहिणीवाचरत्। समागतस्त्रीजन्मसन्मानादिकर्त्री जातेत्यन्वयः। श्रीकृष्णबलदेवयोर्जन्ममहोत्सवबालचरित्राद्यानन्दानुभवात् तद्भाग्यमाहात्म्यातिशयमाह—महाभागेति। देवक्यादीनामेतदननुभवात् ताभ्यो महाभाग्यवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ ननु 'एवं सर्वेषां वाञ्छितप्रदानं नन्देन कथं सम्भवति? यथाकथंचित् सर्वस्वदानेन वाञ्छापूरणेऽपि नन्दस्य समृद्ध्यभावः स्यात्' इत्याशङ्क्याह-तत इति। ततो भगवत्प्रादुर्भावादारभ्य नन्दस्य व्रजो धनपुत्रपश्वादि-सर्वसमृद्धिमान् जातः। अतो नन्दस्य समृद्धौ किं वक्तव्यम्? तत्र हेतुमाह—हरेरिति। हरेर्निवासेन हेतुना ये आत्मनो व्रजस्य गुणाः सर्वप्रियत्वादयस्तैः रमायाः आक्रीडं विहारस्थानमभूत्। 'यत्रैव राजा तिष्ठति तत्रैव सर्वोऽपि समृद्धिरिति तु तव विदितमेव' इत्याशयेन सम्बोधयति—नृपेति ॥ १८ ॥ राज्ञे द्रव्यदानमप्यावश्यकमिति तु तवापि सम्मतमित्याशयेन सम्बोधयति—कुरूद्वह इति। एवं श्रीकृष्णजन्ममहोत्सवं कृत्वा गोकुलरक्षायां गोपान्निरूप्य आदिश्य कंसस्य वार्षिक्यं प्रतिवर्षं देयं करं स्वामिग्राह्यं भागं दातुं नन्दो मथुरां गत इत्यन्वयः ॥ १९ ॥ ततश्च वसुदेवो भ्रातरं सन्मित्रं नन्दमागतमुपश्रुत्य तस्य नन्दस्यावमोचनम्, अवमुच्यते शकटादि यत्र 'तद्वसतिस्थानं' ययावित्यन्वयः। 'करदानात् पूर्वं तु तत्र राजभृत्यानामागमनसम्भवात्तदग्रे प्रश्नादिकरणे नन्दे मैत्री प्रकटा स्यात् तच्छ्रवणात् कंसः किं कुर्यात्' इति भयात् पूर्वं न गतः। राज्ञे दत्तः करो येन तथाभूतं ज्ञात्वा तु ययौ ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अवाद्यन्तेति। विश्वस्य सर्वस्येश्वरे अनन्ते श्रीकृष्णे नन्दस्य व्रजं प्रत्यागते अवतीर्णे सति यो महानुत्सवस्तस्मिन्विचित्राणि नानाविधानि वादित्राणि सर्वत्र त्रैलोक्ये अवाद्यन्त ॥ ३ ॥ गोपा इति। हृष्टाः गोपाः दधिक्षीरघृताम्बुभिः परस्परमासिञ्चन्तः नवनीतैर्मुखं विलिम्पन्तश्च चिक्षिपुः। परिहासार्थं दध्यादि पङ्के पातयामासुरित्यर्थः ॥ १४ ॥ नन्द इति द्वयम्। महामनाः अत्यु-दारचित्तः अदीनात्मा प्रहृष्टचित्तः नन्दश्च विष्णोः आराधनस्यार्थो विष्णुतोषः तस्मै तथा स्वपुत्रस्य उदयाय समृद्धये च तेभ्यो गोपेभ्यः गोपीभ्यः सूतमागधबन्दिभ्यश्च वासोऽलंकारगोधनं दत्तवान् इति शेषः। तथा येऽन्ये च विद्योपजीविनो गायकाः वाद्यकाः वैद्याः ज्योतिविदो नर्त्तकाः शाकुनिकाश्च ते यान् यान् कामान् अयाचन्त तांस्तैस्तैः कामैः पदार्थैः यथोचितं जातिविद्याद्यनुरूपं यथा स्यात्तथा अपूजयत्। स तत्तत्प्रदानेन स्रक्चन्दनादिभिश्च सत्कृतवान् इत्यर्थः ॥ १५-१६ ॥ रोहिणीति। महाभागा सर्वाभ्यो वसुदेवपत्नीभ्योऽप्यधिकभाग्या श्रीकृष्णबाललीलोत्सवलाभात् तथा नन्दगोपेन नन्देन गोपैश्चेति वा। अभिनन्दिता त्वदागमन-मङ्गलेनैव पुत्रो जात इत्यादिना प्रोत्साहिता दिव्यैः वासःस्रक्कण्ठाभरणैः भूषिता रोहिणी विशेषेण श्रीकृष्णजन्मोत्सवानन्देन पत्युर्बन्धनादिदुःखं विस्मृत्येव गृहस्वामिनीवाचरत् समागतस्त्रीजनसम्मानादिकर्त्री जाता ॥ १७ ॥ तत इति। हे नृप! ततो भगवत्प्रादुर्भावादारभ्य नन्दस्य व्रजो धनपुत्रपश्वादिसर्वसमृद्धिमान् जातः। यतः हरेर्निवासेन हेतुना ये आत्मनो व्रजस्य गुणाः

सर्वप्रियत्वादयस्तैः रमायाः आक्रीडं विहारस्थानमभूत् ॥ १८ ॥ गोपान् इति । हे कुरूद्वह ! नन्दः एवं श्रीकृष्णजन्ममहोत्सवं कृत्वा गोकुलरक्षायां गोपान् निरूप्य आदिश्य कंसस्य वार्षिक्यं प्रतिवर्षं देयं करं स्वामिग्राह्यं भागं वार्षिकं तत्र साधुरत्नाद्युपायनयुक्तं दातु मथुरां गतः ॥ १९ ॥ वसुदेव इति । वसुदेवः भ्रातरं सन्मित्रं नन्दम् आगतमुपश्रुत्य राज्ञे दत्तः करो येन तथाभूत ज्ञात्वा च तस्य नन्दस्यावमोचनम् अवमुच्यते शकटादि यत्र तत् स्थानं ययौ । भ्रातरमित्यत्र वैश्यकन्यायां शूरपत्नीभ्रातृजातत्वेन मातुलपुत्रत्वात् । अत एवाग्रे भ्रातरिति मुहुरुक्तिः । मध्वाचार्यैश्च वैश्यकन्यायां शूरवैमात्रेयभ्रातुर्जातत्वादिति ब्रह्मवाक्यं च । "तस्मै मया स वरः सन्निसृष्टः स चास नन्दाख्य उतास्य भार्या । नाम्ना यशोदा स च शूरतातसुतस्य वैश्याप्रभवोऽथ गोपः ।" इति प्राहुः । एवमन्येऽपि गोपा यादवविशेषा एव वैश्यकन्योद्भवत्वात् परं वैश्यत्वम् । अत एव स्कान्दे मथुराखण्डे । "रक्षिता यादवाः सर्वे इन्द्रवृष्टिनिवारणात् ।" इति । "यादवानां हितार्थाय धृतो गोवर्द्धनो मया ।" इति च हरिवंशेऽपि । "यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम बान्धवाः ।" इति रामवाक्यम् ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

दध्यादीनि परस्परं विलिंपंतः संतः दध्यादीनि चिक्षिपुः ॥ १४ ॥ सूतादिभ्यो येऽन्ये तेभ्योपि प्रादादिति शेषः ॥ १५ ॥ अदीनात्मा उदारचित्तः तैः तैः वस्त्रादिभिः यथोचितं यथार्हमितरानपि आर्चत् ॥ १६ ॥ अभिनंदिता प्रशंसिता ॥१७॥ हरेर्निवासेन ये आत्मनि गुणाः रमणीयत्वादयस्तैः रमाया लक्ष्म्याः आक्रीडं रमणस्थानं चाभूत् ॥ १८ ॥ वार्षिक्यं प्रतिवर्षं देयम् ॥ १९ ॥ तस्य नंदस्य अवमोचनं प्रतिवर्षमागमने निवासस्थानम् ॥ २० ॥

श्रीभगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अवाद्यन्तेति ॥ अनन्ते बलभद्रे, विश्वेश्वरे कृष्णे च, नन्दस्य व्रजं आगते 'विश्वेश्वरेंऽशेन' इति पाठेऽपि, अंशेन बलरामेण सहेत्यर्थो बोध्यः । महोत्सवे तस्मिन् महामहे, विचित्राणि वादित्राणि, अवाद्यन्त ॥ १३ ॥ गोपा इति ॥ हृष्टाः प्रसन्नतां प्राप्ताः, गोपाश्चापि, परस्परं, दधिक्षीरघृताम्बुभिः, आसिञ्चन्तः, नवनीतैः विलिम्पन्तः सन्तश्च, चिक्षिपुस्तैरेव प्रजह्रुः ॥ १४ ॥ नन्द इति ॥ महामना विपुलकीर्त्तिः, नन्दस्तु, वासोऽलंकारगोधनं, तेभ्यः, सूतमागधवन्दिभ्यः, ये अन्ये विद्योपजीविनस्तेभ्यश्च, ददौ ॥ १५ ॥ न केवलं तेभ्यो वास आदिकमेव ददौ किं तु तत्तदभीष्टकामैरपि तानपूजयदित्याह ॥ तैस्तैरिति ॥ अदीनात्मा उदारमना नन्दः, विष्णोः आराधनार्थाय, स्वपुत्रस्य उदयाय च, तैः तैः कामैः, याचकजनानां यथाविधाः कामास्तैस्तैस्तत् कामैरित्यर्थः । यथोचितं, अपूजयत् ॥ १६ ॥ रोहिणीति ॥ महाभागा रोहिणी चापि, नन्दगोपाभिनन्दिता, नन्देन गोपैश्चाभिनन्दिता सती, दिव्यवासांसि च स्रजश्च कण्ठाभरणानि च तैर्भूषिता सती, व्यचरत् ॥ १७ ॥ अथ नन्दवसुदेवयोर्यादृच्छिकसमागमं विवक्षुस्तावद्व्रजस्य सर्वसंपत् समृद्धत्वमाह ॥ तत इति ॥ हे नृप, ततः भगवतः प्रवेशात् आरभ्य, नन्दस्य व्रजः, सर्वाः समृद्धयोऽस्य सन्तीति तथाभूतः, अभूत् । हरेः निवासेन हेतुना ये आत्मगुणा महोत्सवादयः सर्वप्रियत्वादयो वा तैः, रमाक्रीडं लक्ष्मीविहारस्थानं च, अभूत् । आक्रीडमिति नपुंसकत्वमार्षम् । 'पुमानाक्रीड उद्यानम्' इत्यमरेऽस्य नियतपुंस्त्वदर्शनात् । यद्वा 'ज्ञेयमाक्रीडमुद्यानम्' इत्यन्यकोशं चालक्ष्याऽऽक्रीडशब्दस्य क्लीबत्वेऽपि न बाधः । हरेरप्रकटरूपस्य नित्यं निवासभूतो य आत्मा स्वयं तस्य स्वस्यैव ये गुणास्तैरिति केचित् ॥ १८ ॥ गोपानिति ॥ हे कुरूद्वह, एवं सति कदाचित् नन्दः, गोकुलरक्षायां, गोपान् निरूप्यादिश्य, कंसस्य, वार्षिक्यं वर्षे देयं करं, स्वामिग्राह्यभागमित्यर्थः । दातुं, मथुरां गतः ॥ १९ ॥ वसुदेव इति ॥ तदा वसुदेवः, भ्रातरं नन्दम् आगतं, उपश्रुत्याकर्ण्य, राज्ञे कंसाय, दत्तः करो येन तं च ज्ञात्वा, तदवमोचनं नन्दस्य शकटोत्तारस्थानमवतरणस्थानमित्यर्थः । ययौ भ्रातरमिति यदुक्तं तत्तु शूरसेनपत्न्याः भ्रात्रा काचिद्गोरक्षणात्मकवैश्यवृत्त्या जीवतो गोपस्य कन्योपभोगार्थं रक्षिता, तस्यां नन्दस्तत उत्पन्नः, स च शूरसूतस्य वसुदेवस्य मातुलपुत्रः, यो मातुलपुत्रः स भ्राता एवेत्यभिप्रायेणोक्तमिति तोषणीसाराख्यभागवतटीकायामुक्तमस्ति ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तत आरभ्येति : १०.५.१८.

यस्य प्रातिः स्फुरति भुवि मे स्यादसावर्थहीनः श्रीनाथेदं वितथकथनं व्यर्थभीतिप्रदं नः ।
प्राप्तः श्रीमान् यदहनि भवान् गोकुलं तद्दिनादि प्राप्तोत्कर्षं समजनि यतः सर्वसंपत्समृद्धम् ॥ ४ ॥

गोपानिति : १०.५.१९.

स्यादिष्टदिष्टवशतः क्वचिदीश्वराप्तिः प्राग्वासना निरसनं तु तथाप्यसाध्यम् ।
मन्ये यतो लसति सद्मनि वासुदेवे नन्दो जगाम नृपमुद्गतवार्षिकेच्छः ॥ ५ ॥

जाते श्रीधरदर्शने मतिमता प्राग्वृत्तिनिर्वाहकृत् सत्कार्यः सकृदेव पूर्ववदलं जीवस्तदिष्टार्पणात् ।
पश्चात्तेन कृतोऽप्युपद्रवचयो बाधां न धत्ते मनाक् शुभ्रेनाप्यसुरेष्टवृत्तिकलितेनापीति सञ्ज्ञप्तये ॥ ६ ॥

रहस्यमृषिणा वेदसिद्धमाविष्कृतं ध्रुवम् । मन्ये तादृङ् नन्दकृतसकृत्तद्वार्षिकार्पणात् ॥ ७ ॥ (युग्मम्)
पूर्णानन्दतिरस्कारकार्येकं नृपशासनम् । सिद्धमित्यभवत् स्पष्टं नन्दे कंसभयावहे ॥ ८ ॥
दुर्नृपप्रीतिजामोदोऽधिकोऽखिलसुखादपि । यन्नन्दो दृष्टपुत्रास्यस्तत्प्रीत्या मोदमादधे ॥ ९ ॥

वसुदेव इति : १०.५.२०.

गन्तव्यं वसुदेवसद्मनि यदि स्थातुं मया संप्रति स्थातव्यं बहुकालमेव हि ततस्तत्सौख्यकृद्वाग्जुषा ।
आचिन्त्यैवमुपात्तकार्यधिषणो वासं चकारान्यतः स्वप्राणप्रिय-पुत्रदर्शन-सुखप्रेप्सुस्तदेतत् क्षमम् ॥ १० ॥
यस्मिन् येन निजेष्टवस्तु निहितं पुंसातिगूढं यदि तत्तद्गुप्तिकृते न तेन बहु संवासो विधेयो बहिः ।
नीतिज्ञो वसुदेव एवमनिशं कंसात्तभीः स्वात्मजा स्पष्टाकारमतिस्तदा स्वसुहृदं नन्दं गृहं नानयत् ॥ ११ ॥
धीरान्तरोऽस्मि यदतो भगवच्चरित्रं गूढं न यद्यपि वदामि तथापि वक्त्री ।
योषास्वभावसुलभा यदि देवकी स्यात् तत्स्यादनिष्टकृदिति स्वत एनमागात् ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

श्री नन्दरायजी के व्रज में जगत् के नाथ अनन्त श्रीकृष्ण भगवान के प्रकट होने के कारण प्राकट्य महोत्सव में विचित्र बाजे बजने लगे ॥१३॥ हर्षविभोर गोपगण दही, दूध, घृत और जल एक दूसरे पर सिंचन करने लगे और दही आदि से मुख लेपन करते हुए माखन फेंकने लगे ॥ १४ ॥ परमोदार श्री नन्दरायजी ने उन सूत, मागध और वन्दीजनों को, अन्य विद्योपजीवियों को एवं और सर्व को वस्त्र अलंकार और गौएँ दीं ॥ १५ ॥ अदीन, निर्लोभी (महान्) आत्मा (मन) वाले नन्दरायजी ने आये हुए का कामनानुसार विष्णु की प्रसन्नता के लिये और अपने पुत्र के उदय के लिए यथायोग्य पूजन किया ॥ १६ ॥ नन्दरायजी द्वारा अति सम्मानित बड़भागिनी श्रीरोहिणीजी सुन्दर वस्त्र, माला और कण्ठाभरणों से विभूषित हो नन्द महोत्सव में घूम रही थीं ॥ १७ ॥ हे राजन् परीक्षित् ! कृष्णप्राकट्य दिन से श्री नन्दरायजी का सारा व्रज सम्पूर्ण समृद्धिवाला हुआ । भगवान् के निवास से एवं भगवान की आत्मा विग्रह तथा ऐश्वर्यादि छः गुणों के निवास से वह व्रज लक्ष्मी का क्रीड़ा भवन हो गया ॥ १८ ॥ हे कुरुनन्दन ! नन्दरायजी गोकुल की रक्षा के लिये गोपों को नियुक्त कर, स्वयं श्रीनन्दराय राजा कंस को वार्षिक 'कर' देने के लिए मथुरा गए ॥ १९ ॥ निज भ्राता नन्दरायजी का आगमन सुना और राजा कंस को कर दिया, यह जानकर श्री वसुदेवजी नन्दराय के डेरे पर गए ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् । प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥ २१ ॥
पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः[1] । प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते ॥ २२ ॥

वसुदेव उवाच[2]

दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते । प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत ॥ २३ ॥
दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः । [3]उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥ २४ ॥
नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् । ओघेन [4]व्युह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥ २५ ॥
कच्चित् पशव्यं [5]विरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् । बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥ २६ ॥
भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे । तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥ २७ ॥
पुंसस्त्रिवर्गोऽभिहितः[6] सुहृदो ह्यनुभावितः । न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तं दृष्ट्वा सहसा उत्थाय देहः आगतम् प्राणम् इव प्रीतः प्रेमविह्वलः दोर्भ्याम् प्रियतमम् सस्वजे ॥ २१ ॥ पूजितः सुखम् आसीनः अनामयम् पृष्ट्वा आदृतः स्वात्मजयोः प्रसक्तधीः इदम् आह विशाम्पते ॥ २२ ॥ भ्रातः प्रवयसः इदानीम् अप्रजस्य प्रजाशायाः निवृत्तस्य ते यत् प्रजा सम् अपद्यत दिष्ट्या ॥ २३ ॥ दिष्ट्या अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमानः पुनर्भवः अद्य भवान् उपलब्धः प्रियदर्शनम् दुर्लभम् ॥ २४ ॥ स्रोतसः ओघेन व्युह्यमानानां प्लवानां यथा (तथा) चित्रकर्मणां सुहृदाम् एकत्र

---

१. मातमनः–इति कस्यचित् । २. वसुदेव उवाच–गिरि. । ३. उपालब्धा–इति कस्यचित् । ४. व्युह्यमानानां–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. गिरि. । ५. निरुजं–श्रीधर. वंशी. सुदर्शन. वीर. विजय. जीव. विश्व. शुक. गिरि. भक्त. । ६. विहितः–श्रीधर. वंशी. वीर. विश्व. शुक. गिरि. भक्त. ।

संवासः न ॥ २५ ॥ सुहृद्वृत्तः अधुना यत्र त्वम् आस्से तद् बृहद्वनं कच्चिद् पशव्यं विरजं भूरि अम्बु तृणवीरुधम् कच्चित् ॥२६॥ भ्रातः! भवन्तम् तातम् मन्वानः भवद्भ्याम् उपलालितः मम सुतः भवद्व्रजे मात्रा सह कच्चित् कुशली ? ॥ २७ ॥ पुंसः त्रिवर्गः अभिहितः सुहृदः हि अनुभावितः अर्थाय कल्पते तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गः अर्थाय न कल्पते ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पुनर्भवः पुनर्जात इव । तत्र हेतुगर्भं विशेषणं संसारचक्रे वर्तमान इति दुर्लभमिति च ॥ २४ ॥ दुर्लभत्वमेवाह । नैकत्रेति । प्रियश्चासौ संवासश्च प्रियसंवासः हे प्रियेति वा स्रोतस ओघेन नीयमानानां प्लवंतीति प्लवास्तृणकाष्ठादयस्तेषां यथैकत्र स्थितिर्नास्ति तद्वत् ॥ २५ ॥ कच्चिदिति । पशव्यादिरूपे तस्मिन्वने निर्दोषगोपयोदध्यादिप्रभूतगोपिकास्तन्यादिना पुत्रक्षेमजिज्ञासया पृच्छति । 'प्रसक्तधीः स्वात्मजयोः' इत्युक्तत्वात् ॥ २६ ॥ भवद्भ्यामुपलालितः सन्कच्चिद्वर्तत इति शेषः ॥ २७ ॥ पुत्रादर्शन-क्लेशानाह । पुंस इति । सुहृदो बंधून्प्रत्यनुभावितः तदर्थं संपादितो यस्त्रिवर्गः स हि पुंसो विहितो युक्तः शास्त्रेण वा प्रोक्तो न स्वमात्रपर्यवसितः । अतस्तेषु क्लिश्यमानेषु स त्रिवर्गोऽर्थाय न कल्पते सुखाय भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

प्रियतमं प्रियतरपुत्ररक्षकत्वात् । पुत्रस्मृतिजप्रेम्णा विवशः पूजितः पाद्यादिना नंदेनार्चितः स्वस्थानागतत्वात् ॥ २१ ॥ वर्णज्येष्ठस्यापि वसुदेवस्य श्रीनंदेनाकृतनमस्कारत्वाद्वयसाऽनुजत्वं गम्यते । अनामयं कुशलं नंदेनादृतः कृतादरः । तत्कुशलप्रश्न-मिषेण निजात्मजयोस्तत्पृच्छतीत्याह—स्वात्मजयोरिति ॥ २२ ॥ प्रगतं वयो यस्य स प्रवया वृद्धस्तस्य 'प्रवयाः स्थविरो समौ' इत्यमरः । इतः पूर्वमप्रजस्य निःसंतानस्य पुत्रो जात इत्युक्ते मिथ्योक्तिः कन्येत्युक्ते नंदस्याप्रतीतिरिति हेतोर्मत्पुत्रन्यासं स्वकन्याचौर्यं कथंचिन्नंदो जानाति न वेति शंकयापि प्रजाशब्दप्रयोगेणाह—प्रजेति ॥ २३ ॥ बंधनादिक्लिष्टस्य मम पुनर्भवो वर्तमानोऽयं पुनर्जन्मैवाभूदित्यर्थः । यतो भवानुपलब्ध इत्येतावत्कालपर्यंतमहं भवदनुपलंभान्मृत इवेति भावः ॥ २४ ॥ संवास इह समुपसर्गेणैव वासे प्रियत्वावगतेः पुनः प्रियशब्दे न समासो न श्रेष्ठ्याधायक इति हेतोराह—हे प्रियेति वा । तद्वत्सुहृदामपीत्यर्थः ॥ २५ ॥ गूढाभिसंध्या पृच्छति । कच्चिदिति । बृहद्वनं महावनम् । पशव्यं पशुभ्यो हितम् । निर्गता रुक् गोगोपीभ्यो यत्र तत्तथा समासांतोऽच्प्रत्ययः । यद्वा—भागुरिमतेन टापि निर्गता रुजेति व्याख्येयम् । भूरयोऽधिका अंबुतृण-वीरुधो यत्रेति ॥ २६ ॥ मम सुत इत्येकत्वेऽपि ममेति पदं द्वित्वमेव सूचयतीति मात्रा रोहिण्या ॥ २७ ॥ त्रिवर्गः धर्मकामार्थरूपः युक्त उचितः । औचित्यं कथमित्याकांक्षायामाह—शास्त्रेण । इत्यर्थ इति । लोकगर्हाहेतुत्वादिति भावः । तदुक्तम् "येन जीवेन जीवंति विप्रा मित्राणि बांधवाः । सफलं जीवितं तस्य स्वात्मार्थं को न जीवति ॥" इति । तोषिण्यां तु मित्रपुत्रादीनामपि पालनादिना भवतः परमकृतार्थता वृत्तैव अहं त्वधुना धनादिमानपि पुत्रकलत्रमित्रादिदुःखेनाकृतार्थ एवेत्याह वसुदेवः—पुंसः पुंमात्रस्य श्लेषेण तदेव पौरुषमिति भावः । हि एव अनुभावित एव निष्पादित एव । क्लिश्यमानेषु क्लेशं प्राप्तवत्सु । अर्थाय सुखाय न कल्पते किंतु दुःखायैवेति भावः । तेषां दुःखे सति धर्मस्याप्यनादरणीयत्वात् । "वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्यौ मनुरब्रवीत् ॥" इति स्मृतेः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तद्दृष्ट्वेत्यादौ नन्द इत्यध्याहार्यं ततश्च कंसभयादिना तस्यागमनासम्भवेऽपि सहसैवागतं तं श्रीनन्दं दृष्ट्वा यद्वा सहसा सपद्येवोत्थाय प्रीतः लब्धः परमानन्दः ततश्च प्रेम्णा विह्वलः कम्पादिविकारैराकुलः सन् यतः प्रियतमं यद्वा ततः प्रेमविवशश्च क्षणं बभूव । तत्र श्रीनन्दस्तमागतमित्येतावत्यंशे देहः प्राणमिवेति दृष्टान्तः न तु दृष्ट्वेत्याद्यंशेपि तत्रासम्भवेनाव्याप्तेः ततश्च तं दृष्ट्वेत्यादिकं सर्वं योजयित्वा पश्चात् कः किमिवागतमित्युदक्यं योजनीयं देहः प्राणमिवेति वर्णज्येष्ठस्यापि श्रीवसुदेवस्य श्रीमन्नन्देन नमस्कृतत्वाद्वयनमऽनुजत्वं लक्ष्यते तच्च पुनर्जनिष्यमाणापत्यस्य वचसा व्यक्तीभविष्यति "दिष्ट्या भ्रातः प्रवयसः" इत्यादिना ॥ २१ ॥ ततश्चार्थात् श्रीनन्देन पाद्यादिना पूजितः श्रीवसुदेवः तच्च स्ववासागतत्वात् अनामयं कुशलमित्यर्थः । सविनय-वचनादिना आदृतश्च सन् इदं वक्ष्यमाणमाह—प्रसक्तधीरिति । वक्ष्यमाणस्य सर्वस्यापि पुत्रार्थकत्वात् स्वशब्देन तदानीं तत्सङ्गस्वभावेन तस्य भगवद्बुद्धिमिश्रत्वेऽपि वात्सल्यमेवासीदिति भावः । तत्र श्रीशुकेन र ानुमोदनं च व्यञ्जितं विशाम्पते प्रजानाथ ॥ २२ ॥ दिष्ट्येति । अनेन रहस्यं दूतप्रस्थापनं गम्यते बहुलयज्ञादिप्रयासैरप्यनुत्पत्तेः प्रजामात्रस्याशाया निवृत्तस्यापि इदानीं यत्प्रजा समपद्यत परमोत्तमपुत्रत्वेन सम्पन्नतया जातेत्यर्थः । एतद्दिष्ट्या सोऽयं सिद्धान्तसरस्वतीसंवादः स्वमते तु छलेनैव तथोक्तं सम्यगप्राप्यतेत्येवार्थः प्रजेत्येव वा छलोक्तिः सन्ततिमात्रार्थत्वात् अत्रैवं विवेचनीयम् अनेन तदभिप्राया-ज्ञानादेव प्रजामात्राशा तस्य दर्शिता तस्य तु तादृशप्रजनाया एवाऽऽशा प्रागासीत् फलेन फलकारणानुमानात् अत एव दुर्लभत्व-ज्ञापनाय विलम्बोप्यभूत् तथा तस्य प्रवयस्त्वादिकमपि तत् ज्ञापनं तु पुत्रतापन्ने श्रीभगवति स्नेहभरोद्दीपनार्थं लोके हि वयोधि-कस्यानपत्यस्य बहुप्रयत्नेनाप्यप्राप्तापत्यस्य अत एव निराशस्याकस्मादुत्पन्ने पुत्रोत्तमे अत्यन्तस्नेहो दृश्यत इति ॥ २३ ॥ अद्य

दिष्ट्या भवानुपलब्धः यतः प्रियदर्शनं दुर्लभं ननु मम तु त्वद्वशस्य न दुर्लभत्वं तत्राह पुनर्जात इव भवानिति तच्च कुतः संसारचक्रे वर्तमानः क्षणे क्षणे मृत्युसम्भावनादित्यर्थः। एतच्चानिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानीत्यत उक्तमिति तेषामभिप्रायः। यद्वा संसारचक्रे वर्त्तमानो भवानस्मिन्नेव जन्मनि पुत्ररूपेण पुनर्जात इव दिष्ट्योपलब्धः यतः प्रियमात्रस्य दर्शनं दुर्लभं किमुतैतादृशानन्दयुक्तस्येत्यर्थः। यद्वा दिष्ट्या भद्रं कथम् अस्मिन् संसारचक्रे अद्य पुनर्भवो जन्मैव वर्त्तमानः ममेत्यर्थात् यतो भवानद्योपलब्धो दृष्ट इति तत्र हेतुः दुर्लभमिति ॥ २४ ॥ एकत्र संवासः सदास्थितिर्न स्यात् तत्र हेतुः चित्रेति व्यूह्यमानानां विविधं नीयमानानां "वह प्रापणे" ॥ २५ ॥ निरुजं नीरुजं ह्रस्वत्वं छन्दोनुरोधात् रुजाशब्दश्चायं टाबन्तः अधुना यत्रास्स इति पशूनां सुखानुसारेण श्रीमथुरामण्डले कदाचित् कस्मिंश्चिद्वने स्थितेः यद्वा अधुनेत्यस्य पूर्वार्द्धे सर्वैरपि पदैरन्वयः। विशेषतस्तदानीं तत्तदपेक्षया सुहृद्भिर्वृत इति तत्रापि तत्तद्गुणानां बहुदेशव्यापितापेक्ष्य इति भावः ॥ २६ ॥ उपलालितः निजपुत्रवल्लालितो यः स कच्चित् कुशली वर्त्तत इत्यर्थः। अन्यत्तैः। यद्वा किं भवन्तं तातं मन्वानो भवति इति स्नेहं बर्द्धयति वस्तुतस्तु जातमात्रस्य तद्भावो न सम्भवेत् मम सुत इति पुरैव श्रीवसुदेवेन तज्जन्मनोपि श्रवणात् तथा च श्रीहरिवंशे "प्रागेव वसुदेवस्तु व्रजे शुश्राव रोहिणीम्। प्रजातां पुत्रमेवाग्रे चन्द्रात्कान्ततराननम्" इति अस्यार्थः प्रजातां जनितवतीम् अग्रे श्रीनन्दनन्दनजन्मनः पूर्वमिति तयोर्जन्म च प्रायः समकालमेव ज्ञेयं तथा च तत्रैव तदानीं श्रीवसुदेवोक्तौ "वर्द्धमानावुभावेतौ समानवयसौ यथा। शोभेतां गोव्रजे तस्मिन् नन्दगोप! तथा कुरु" इति। अत एव तयोर्युगपद्रिङ्गणादिलीला वक्ष्यते श्रीपुरुषोत्तम द्वारिति तज्जन्मनक्षत्रे क्रियते तच्च श्रीकृष्णस्याष्टमासिकत्वात् तस्य तु द्वादशमासिकत्वादुपपद्यत इति ॥ २७ ॥ एवं मित्रपुत्रादीनामपि पालनादिना भवतः परमकृतार्थता वृत्तैव अहं त्वधुना धनादिमानपि पुत्रकलत्रमित्रादिदुःखेनाकृतार्थ एवेत्याह—पुंस इति। पुम्मात्रस्य तोषेण तदेव पौरुषमिति भावः। हि एव अनुभावित एव क्लिश्यमानेषु क्लेशं प्राप्नुवत्सु अर्थाय सुखाय न कल्पते किन्तु दुःखायैवेत्यर्थः। तेषां क्लेशे सति धर्मस्याप्यनादरणीयत्वात् "वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्" इति स्मृतेः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तं श्रीवसुदेवं सहसाकस्मादेव श्रीनन्दो दृष्ट्वा सहसेति कंसभयादिना तस्य तत्र गमनासम्भवात्। यद्वा, सहसा सपद्येवोत्थाय; तत्र दृष्टान्तः—देह इति। प्रीतत्वादेव प्रेम्णा विह्वलः कम्पादि-विकारैराकुलः सन्, यतः प्रियतममिति प्राणेभ्योऽप्याधिक्यं सूचितम्। यद्वा, ततः प्रेमविवशश्च क्षणं बभूव, श्रीवैष्णवप्रवरसंगमस्वभावात् ॥ २१ ॥ ततः श्रीनन्देन पूजितः पादप्रक्षालनादिनानामयमारोग्यं पृष्ट्वेदं वक्ष्यमाणमाह श्रीवसुदेवः, स्वात्मजयोः प्रसक्तधीरिति वक्ष्यमाणस्य सर्व्वस्यापि पुत्रार्थकत्वात्। स्वशब्देन भगवद्बुद्धिर्निरस्ता, अतएव सामान्येन द्वित्वम्। यद्वा, सुशोभनयोरात्मजयोरत एव स्नेहभरेण प्रसक्तधीः। विशाम्पते प्रजानाथ ॥ २२ ॥ प्रजाशाया निवृत्तस्यापीति बहुलयज्ञादि-प्रयासैरप्यनुत्पत्तेः, प्रजा पुत्र इदानीं वार्द्धक्ये यत् समपद्यत सम्पन्ना, एतद्दिष्ट्या भद्रमभूत्। समपद्यतेति प्रजायाः परमोत्तमत्वात्, तज्ज्ञानञ्च तत्कृतमहोत्सवेन लोकविख्यातत्वात्, पाठान्तरे सम्यगजायतेति स्वकृत-परिवर्त्तनादि-संगोपनार्थम्,—अत्रापि संशब्देन परमोत्तमतोक्तैव। श्रीनन्दस्य प्रवयस्त्वादिकं श्रीभगवदेकस्नेहभरार्थम्—लोके हि वयोऽधिकस्यानपत्यस्य, अतएव निराशस्याकस्मादुत्पन्ने पुत्रोत्तमे अत्यन्तस्नेहोत्पत्तेः ॥ २३ ॥ संसारचक्रे वर्त्तमान इति सदा मृत्युग्रस्तप्रायत्वमुक्तम्; तच्च 'अनिष्टाशंकीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति' इत्यादिन्यायात्' अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, अस्मिन् सहसा मरणादिधर्म्मण्यपुत्रत्वादिदुःखमये संसारचक्रे वर्त्तमानोऽपि भवान् पुनर्भवः पुत्रादिरूपेण पुनर्जात इव यदुपलब्धो मया,—एतद्दिष्ट्या महाभाग्येनेत्यर्थः; यतः प्रियस्य दर्शनं दुर्लभम्। यद्वा, संसारचक्रे वर्त्तमानो भवानद्य पुनर्भवः पुनर्जात इव यदेतद्दिष्ट्या; यतः प्रवयस्त्वेन दुर्लभमपि प्रियस्य पुत्रस्य दर्शनं भवानद्य वार्द्धक्ये उपनिकटे वार्द्धक्यागम-मात्रे लब्ध इति। यद्वा, संसारचक्रे वर्त्तमानोऽप्यहं दिष्ट्या पुनर्जात इव, यतो भवान् मत्प्रियतमो दुर्लभं प्रियस्य पुत्रस्य दर्शनमुपलब्ध इति ॥ २४ ॥ संवासः सदा स्थितिर्न स्यात्, तत्र हेतुः—चित्रेति। तत्तद्भोगार्थं तत्र तत्र नयनेन स्वेच्छाभंगात्, व्यूह्यमानानामिति पाठे 'वह'—प्रापण इति स एवार्थः ॥ २५ ॥ निरुजं नीरुजम्—ह्रस्वश्छन्दोऽनुरोधात्। अधुना यत्रास्स इति पशूनां सुखानुसारेण श्रीमथुरा-मण्डले कदाचित् कस्मिंश्चिद्वने स्थितिः; यद्वा, अधुनेत्यस्य पूर्व्वार्द्धे सर्व्वैरपि पदैरन्वयः। विशेषतस्तदानीं तत्तदपेक्षया; सुहृद्भिर्वृत इति तैः सह तस्य तेषामन्योऽन्यश्च स्नेहापेक्षया ॥२६॥ मात्रा रोहिण्यो सहितो निजपुत्रादनुलालितः, विनयोक्तिरियम्; अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, किं भवन्तं तातं मन्यमानो भवतीति स्नेहं जनयति; यद्वा, भवद्व्रजे किमास्ते - किं कंसभयादिनान्यत्र न गतोऽस्तीत्यर्थः। मम सुत इति पुरैव श्रीवसुदेवेन तज्जन्मश्रवणात्; तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु. प. ५।१)—'प्रागेव वसुदेवस्तु व्रजे शुश्राव रोहिणीम्। प्रजातां पुत्रमेवाग्रे चन्द्रात् कान्ततराननम्।।' इति। अस्यार्थः प्रजातां जनितवतीमग्रे श्रीनन्दनन्दनजन्मनः पूर्व्वमिति तयोर्जन्म च प्रायः समकालमेव ज्ञेयम्। तथा च तत्रैव (हरिवंशे, विष्णु. प. ५।९) तदानीं श्रीवसुदेवोक्तौ—'वर्द्धमानावुभावेतौ समानवयसौ यथा। शोभेतां गोव्रजे तस्मिन्नन्दगोप तथा कुरु।।' इति; अतएव तयोर्युगपद्रिंगणादिलीला वक्ष्यत इति दिक् ॥ २७ ॥ एवं मित्रपुत्रादीनामपि पालनादिना भरतः परमकृतार्थता वृत्तैवाहं त्वधुनाद्यनादिमानपि पुत्रकलत्र-मित्रादिदुःखेनाकृतार्थ एवेत्याह—पुंस इति पुंमात्रस्य, श्लेषेण तदेव पौरुषमिति भावः। हि एव, अनुभावित एव; क्लिश्यमानेषु क्लेशं प्राप्नवत्सु

सत्सु सुखाय न कल्पते, न भवति, किन्तु दुःखायैवेत्यर्थः। धर्म्मस्यापि प्रायोऽर्थकामफलकस्य सुहृत्क्लेशेन, दुःखात्मतायामेव पर्य्यवसानात्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, विहितः कृतोऽपि सुहृद प्रत्यनुभावित एव सन् अर्थाय फलाय कल्पते समर्थो भवति, न च तेषु क्लिश्यमानेषु सुहृदामुपयोगेनैव सम्यक् फलसिद्धेः। अन्यत् समानम्॥ २८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पुनर्भवः पुत्ररूपेणोत्पत्तिः दक्षिणा भवति॥ २४॥ चित्रकर्मणां विविधकर्मणा प्लवशब्दः काष्ठपरः॥ २५॥ पशव्यं पशुहितं निरुजमरोगम् आस्से वससि॥ २६–२७॥ अर्थाय प्रयोजनाय॥ २८–२९॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तमागतं वसुदेवं दृष्ट्वा प्राणं प्रति देह इव यथाप्राण आगते सति देह उत्तिष्ठति तद्वदनेन प्राणवन्निरतिशयप्रीतिविषयत्वं सूचितं सहसाऽऽशु उत्थाय नितरां प्रीतः प्रेम्णा विह्वलश्च प्रियतमं वसुदेवं दोर्भ्यां सस्वजे आलिङ्गितवान्॥ २१॥ ततस्तेन पूजितो वसुदेवः सुखं यथा तथा आसीनमुपविष्टं नन्दमनामयमारोग्यमाधिव्याधिराहित्यमादरयुक्तः पृष्ट्वा हे विशाम्पते! आत्मजयोः प्रसक्तधीरासक्तचित्तः इदं वक्ष्यमाणमाह॥ २२॥ तदेवाह–दिष्ट्येति षड्भिः। हे भ्रातः! अप्रजस्यानपत्यस्य सतः प्रवयसो वृद्धस्य अतएव प्रजाशायाः सन्तानवाञ्छायाः निवृत्तस्य तवाधुना प्रजा पुत्रः समपद्यत जात इति यदेतद्दिष्ट्या दिष्ट्येत्यानन्दद्योतकमव्ययमस्माकं महानानन्दो जात इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि॥ २३॥ अस्मिन् संसारचक्रे वर्त्तमानः पुमान् पुनर्भवः पुत्ररूपेणोत्पन्नः इत्येतद्दिष्ट्या तदद्य भवान् मयोपलब्धो दृष्ट इत्येतत् दिष्ट्या तत्र हेतुः दुर्लभं हि प्रियस्य दर्शनमिति यद्वा अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमान एवाहं पुनर्भवः पुनर्जातः कथञ्चित्कंसभयान्निवृत्तः पुनर्जातप्राय इत्यर्थः। यद्वा अस्मिन्नेव जन्मनि मया पुनर्जातप्रायेण त्वमुपलब्ध इत्येतत् दिष्ट्या शृङ्खलितस्य मम प्रियतमभवद्दर्शनं दुर्लभं हीत्यर्थः॥२४॥ दुर्लभत्वमेवाह–नैकत्रेति। सुहृदाम् एकत्र प्रियसंवासः प्रियश्चासौ सम्वासश्च प्रियेण प्रियगोष्ठिपूर्वकं सहवास इति वा हे प्रियेति वा न सुलभः किन्तु दुर्लभ इत्यर्थः। यथा स्रोतसः प्रवाहस्यौघेन पूरेण व्यूह्यमानानामितस्ततो विविधं नीयमानानामत एव चित्रकर्मणां विविधधर्मोणां प्लवानां प्लवन्तीति तथा प्लवानामुत्प्लुत्य प्लवन्ति उत्प्लुत्य गच्छन्तीति तथा तेषां प्लवानां काष्ठादीनामेकत्र वासो दुर्लभस्तद्वत्॥ २५॥ यत्पशव्यं पशुभ्यो हितं निरुजं नीरोगं भूरि बहुलमम्बु जलं तृणानि वीरुधो गुल्मानि च यस्मिन् त्वं सुहृद्भिर्युक्तः आस्से तद्वनमधुना कच्चिदास्ते कच्चिदितीष्टप्रश्नद्योतकमव्ययं कुशलमास्ते किं तदस्माकमिष्टमित्यर्थः॥ २६॥ तथा हे भ्रातः! मम सुतो बलरामः मात्रा रोहिण्या सह भवतो व्रजे कच्चित्, कथम्भूतः? भवन्तमेव तातं पितरं मन्वानः भवद्भ्यां दम्पतीभ्यां पुत्रवदुपलालितः॥ २७॥ अथ सत्यपि सन्ताने तद्दर्शनस्पर्शनोपलालनाद्यभावान्निर्विण्णः किञ्चिल्लोकपरिपाट्याऽऽह–पुंस इति। त्रिवर्गस्त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गः स यदि सुहृदो देहानुबन्धिनः प्रत्यनुभावितोनुभवप्रापितः तर्हि स पुंसो युक्तः यद्वा विहितः शास्त्रानुमतः अन्यथा त्रिवर्गे स्वानुभवमात्रपर्यवसिते सत्यत एव हेतोः सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु च सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय प्रयोजनाय न कल्पते व्यर्थ इत्यर्थः॥ २८॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रवयसः वृद्धस्य इदानीं प्रजा समजायतेति यत् अतो दिष्ट्या॥ २३॥ इदञ्चैकं मङ्गलमभूदित्याह—दिष्ट्येति। पुनः पुनर्भवतीति पुनर्भवः तस्मिन् किञ्चोद्यमिति? तत्राह–दुर्लभमिति॥ २४॥ दुर्लभत्वमुपपादयति–नैकत्रेति। प्रियसंवासः हर्षेण निवासः प्रियैः सवासो वा चित्रकर्मणां नानाविधपुण्यपापवतां स्रोतसो नद्याः ओघेन प्रवाहेण व्यूह्यमानानां विविधं नीयमानानां प्लवानां काष्ठादीनां पोतानां वा॥ २५॥ कच्चिदिति साऽनुनयप्रश्नः पशव्यं पशुहितं निरुजं नीरोगकरम्॥ २६॥ नन्दस्य कृष्णो मम सुत इति भ्रान्तिं निवारयति–भ्रातरिति॥ २७॥ त्रिवर्गो धर्मादिः पुंसः विहितो वेदे इति शेषः। स सुहृदामनिमित्तबन्धूनां जनानामनुभावतः प्रभावान्निश्चयाद्वा भवति हि यस्मात्तस्मात् तेषु सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु सत्सु त्रिवर्गः अर्थाय प्रयोजनाय न कल्पते समर्थो न भवति॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

दृष्ट्वा प्रीतः सस्वजे तदङ्गसङ्गाच्च प्रेमविवशो जातः॥ २१॥ अत्र वर्णकनिष्ठेनापि श्रीनन्देनानमस्कृतत्वात्तस्य ज्येष्ठत्वं गम्यते आदृतो विनयवाक्यादिना स्वात्मजयोरिति, तस्य वात्सल्यं सूचितम्। तत्र तस्य प्रजाया आशा न साधारण्याः किन्तु तादृश्या एव अन्यथा तदप्राप्तेः॥ २२–२३॥ पुनर्भवो जन्म वर्त्तमानोऽभूत् ममेत्यर्थात् तत्र हेतुः उपेति संसारचक्रेऽस्मिन् प्रियदर्शनं दुर्लभमिति॥ २४॥ सम्वासः सदास्थितिः॥ २५॥ निरुजं नीरुजं रुजा रोगः अधुनेत्यन्यत्र पूर्वमासीदिति ज्ञापितम्॥२६–२७॥ सम्प्रति कंसान्मुक्तस्य नानास्थानमतस्वजनस्य तद्भयेन तदपालस्य सर्वं व्यर्थमित्याह, पुंस इति॥ २८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तं वसुदेवं सस्वजे नन्दः न तु नमश्चकार वयसा ततो ज्येष्ठत्वात्॥ २१॥ आह वसुदेवः॥ २२॥ प्रवयसो वृद्धस्य पुत्रो जात इत्युक्ते मिथ्योक्तिः कन्येत्युक्ते नन्दस्याप्रतीतिरतः प्रजेत्यपत्यवाचकशब्दप्रयोगः मत्पुत्रन्यासं स्वकन्याचौर्य्यं च कथञ्चिन्नन्दो

जानाति न वेति शङ्कयापि तच्छब्दप्रयोगः ॥ २३ ॥ दिष्ट्येति बन्धनादिक्लिष्टस्य मम पुनर्भवो वर्तमानोयं पुनर्जन्मैवाद्या-भूदित्यर्थः। यतो भवानुपलब्ध इत्येतावत्कालपर्य्यन्तमहं भवदनुपलम्भान्मृत इवासमिति भावः ॥ २४ ॥ नन्वेवञ्चेदावामेकत्रैव वसावस्तत्राह—नैकत्रेति। हे प्रिय ! ओघेन स्रोतसो वेगेन व्यूह्यमानानां विविधं नीयमानानां प्लवन्तीति प्लवास्तृणकाष्ठा-दयस्तेषाम् ॥ २५ ॥ पशुभ्यो हितं पशव्यं निरुजं ह्रस्वत्वं छन्दोनुरोधात् रुजाटावन्तः ॥ २६ ॥ मम सुतः सुखं वर्तत इति शेषः। मन्वान इति वर्तमानसामीप्यान्मंस्यमान इत्यर्थः ॥ २७ ॥ मम तु गृहाश्रमो विफल एवेत्याह—पुंसः सुहृदः स्त्रीपुत्रादीननु-लक्ष्यीकृत्य त्रिवर्गः शास्त्रेण विहितो भावितः स्वकर्मभिः निष्पादितः तेषु सुहृत्स्विति स्त्रीपुत्रयोर्मद्विच्छेदात् मम च पुत्रलालनादि सुखानवाप्त्या न अर्थाय न प्रयोजनाय ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तं श्रीवसुदेवं पूजितः श्रीनन्द इति शेषः ॥ २१-२२ ॥ दिष्ट्या भद्रम् ॥ २३ ॥ पुनर्भवः पुनर्जातो यथा भवानुपलब्धः मयेति शेषः ॥ २४-२५ ॥ यत्र त्वमधुनास्ते तद्बृहद्वनं कच्चित्किंपशुभ्यो हितम्। निरुजं निर्गतरोगम् ॥ २६ ॥ मम सुतः रौहिणेयः भवद्भ्यां दम्पतीभ्यामुपलालितः सन् भवद्व्रजे वर्तते इति शेषः ॥ २७ ॥ यत्र तत्र कंसभयाद्वर्तमानानि बहुकलत्राणि रौहिणेयं च संस्मृत्य तत्कारुण्यवशादाह-पुंस इति। सुहृदः स्वकीयान् प्रति अनुभावितः सम्पादितस्त्रिवर्गः अर्थधर्मकामसमूहः पुंसो विहितः शास्त्रेण सार्थकतया प्रोक्तः तेषु क्लिश्यमानेषु तु अर्थाय न कल्पते किन्तु निरर्थो भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तं वसुदेवं दृष्ट्वा नन्द उत्थाय सस्वजे तस्माद्वयसा ज्येष्ठत्वात् नमस्कारं न चकारेति भावः ॥२१॥ आह वसुदेवः ॥२२॥ बहुयज्ञानुष्ठानेनापि प्रजानुदयात्तदाशाया निवृत्तस्य ते प्रजावदिति स्वरहस्यरक्षार्थमुक्तम् ॥ २३ ॥ दिष्ट्येति कारानिरोधादपरि-क्लिष्टस्य मम पुनर्भवो जन्मैवाभूत् यतो भवानुपलब्ध इति एतावत्कालं भवदनुपलम्भादमृतकल्पोऽहमासमिति भावः ॥ २४ ॥ नन्वेवञ्चेदेकत्रैव निवसावस्तत्राह-नैकत्रेति। हे प्रिय ! ओघेनाम्बुप्रवाहेन व्यूह्यमानानां विविधं नीयमानानां प्लवानां तृण-काष्ठादीनां प्लवन्त इति व्युत्पत्तेः। चित्रकर्मणामिति लोकरीत्योक्तम् एवं नूनमित्यादौ बोध्यम् ॥ २५ ॥ पशुभ्यो हितं पशव्यं तस्मै हितमित्यर्थे (उ) गवादिभ्यो यदिति यत् रुजा यानि गतनिरुजं ह्रस्वत्वमार्षम् ॥ २६ ॥ मम सुतः सुखमस्तीति शेषः तातं भवन्त-मिति स्नेहं वर्द्धयितुं अतिबालस्य तद्भावासम्भवात् श्रावण्यां बलः भाद्रकृष्णाष्टम्यां कृष्णो बभूवेति प्रसिद्धेः ॥ २७ ॥ मम गृहाश्रमो व्यर्थ इत्याह सुहृदः स्त्रीपुत्रादीननु लक्ष्यीकृत्य पुंसस्त्रिवर्गः शास्त्रेण विहितः भावितः स्वकर्मभिर्निष्पादितः तेषु सुहृत्सु अर्थाय फलाय मम स्त्रीपुत्रयोर्विच्छेदान्न गृहाश्रमः फलवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

नंदः प्रियतममागतं वसुदेवं दृष्ट्वा प्रेमविह्वलः सन् प्राणं प्राप्य देह इव सहसोत्थाय प्रीतः सन् दोर्भ्यां सस्वज इति। एतेन देहस्य प्राणदर्शनाभावात्। प्राणं दृष्ट्वा देह इवेति कथनमनुपपन्नमिति दूषणं परास्तं प्राणमित्यस्य दृष्ट्वेत्यनेनान्वयमनंगीकृत्या-ध्याहृतेन प्राप्येत्यनेनान्वयमंगीकृत्य प्राणं प्राप्य देहो यथोत्थितो भवति। तथा सहसोत्थायेत्यर्थस्योक्तत्वात् ॥ २१ ॥ पुनर्भवे पुनर्भवतीति पुनर्भवं तस्मिन्संसारचक्रेवर्तमानानां प्रियदर्शनं प्रियाणां दर्शनं दुर्लभमतः संसारचक्रे वर्तमानो भवानद्य मयोपलब्धः संसारचक्रेवर्तमानोऽहं त्वयोपलब्ध इति च यद्दिष्ट्याऽदृष्टप्रेरकेश्वरानुग्रहेणेति ॥ २४ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ (पञ्चमोऽध्यायः)।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तं वसुदेवं दृष्ट्वा प्रीतः प्रेम्णा चञ्चलश्च नन्दः सहसोत्थाय देह आगतं स्वं प्राप्तप्राणं यथा स्वजते तथा सस्वजे आलिलिङ्गे। देहस्य प्राणं जनं च सर्वेन्द्रियचेष्टात्मकं ज्ञेयम्। देहस्य प्राणदर्शनासम्भवाद्दृष्ट्वेत्यन्वयनमनुपपन्नमिति निरस्तमनेनेति ज्ञेयम् ॥ २१ ॥ अनामयं नीरोगं क्षेममिति यावत् स्वात्मजयो रामकृष्णयोर्विषये प्रसक्तधीस्तत्कुशलप्रश्नविषयिणीति प्रसक्ता धीर्यस्य स तथा ॥ २२ ॥ हे भ्रातर्नन्द प्रवयसः प्रगतं वयो यौवनं यस्य तस्य प्रजाशाया निवृत्तस्य प्राक् चाप्रजस्य प्रजावर्जितस्य गतम्। यत्प्रजा समजायत तद्दिष्ट्या सुखम्। प्रजेति वदता स्त्र्यपत्यमिति हृदयं विभावनीयम् ॥ २३ ॥ पुनर्भवेऽनुः पुनः पुनर्भव उत्पत्तिर्यस्मिंस्तत्तस्मिन्संसारचक्रे तत्समूहे तदाख्ये चक्रे भ्रमद्रथाङ्गे वा। चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोरिति विश्वः। चक्र-वज्रान्धकारसारवारक्षोरतोमरशृङ्गारभृंगारमन्दारोशीरतिमिरशिशिराणि नपुंसके चेति लिङ्गानुशासनोक्तेश्चक्रश्चक्रं वा। वर्तमानो भवानद्योपलब्ध इति दिष्ट्या सुखम् ! किं कारणमिदमद्भुतमित्यत आह ॥ दुर्लभं प्रियदर्शनमिति। दिष्ट्या शमित्यादिरव्ययमिति विश्वः। दिष्ट्यं दिष्टिस्तया दैवेनेति वा ॥ २४ ॥ तद्दुर्लभता चैतन्निमित्तेति तदाह ॥ नैकत्रेति। सुहृदां सन्मनसां सतां सम्बन्धिनां

च प्रियश्चासौ संवासश्च स एकत्र न भवति। तत्र तन्त्रं चित्रकर्मणामिति। तत्र दृष्टान्तमाचष्टे। स्रोतसो ओघेन वेगेन वेति व्यूह्यमानं वहतेः सम्प्रसारणे रूपम्। दीर्घपाठस्तु लेखककरकृतः। ऊहतेरुपसर्गादृस्व ऊहतेरिति ह्रस्वतायामपि तस्य वितर्कणार्थत्वात्। प्रकृते च तदसङ्गतेः। प्लवानां दारूणां नौकानां वा संवासो यथा तथेति। प्लवः कारण्डवे भेके कुलके फलके कपौ। प्लवङ्गमे कैवर्ते मुस्तकेऽपि च। काष्ठे नावि प्लव इति विश्वमेदिन्यौ ॥ २५ ॥ पशव्यं पशुभ्यो हितं नि न रुजो रोगो यस्मिंस्तत्। निखिलसाक्षिको निरयमतो न दीर्घः। नीरोगमिति यावत्। बृहद्वनं भूर्य्यम्बुतृणवीरुधं भूरीति त्रिकान्वयि। अयमपि वीरुधाशब्दः। भूरीण्यम्बूनि तृणानि भूरिण्यो वीरुधाश्च यस्मिंस्तत्। कच्चिदिति कुशलप्रश्न। अस्मदावासो न तत्रेत्येतदादेः। सत्त्वेऽसत्त्वं वा किं तवेत्यत आह ॥ त्वम्। सुहृद्वृतो यत्रास्त इति। उपविशसि वसतीति यावत्। आस्त इति पाठे पुरुषव्यत्ययेन वा रेतस्त्वजायां कविरादवेऽज इत्यादिवन्न तन्नियम इति ऋग्भाष्यटीकायुक्तेस्तन्मध्यमतानियमाभावेन वा समाधिरवधेयः। विस्तृतं प्रागनुसन्धेयम् ॥ २६ ॥ कंसस्य देवक्यर्भकभ्रंशाय गर्भभ्रंशोरोहिणीति रोहिणी पुरा मधुरापुरात्प्रेषिता किल तया सह नन्दनो मम मुख्यास्ते किमिति वसुदेवः पृच्छति। भ्रातरिति। मात्रा रोहिण्या सह भवद्व्रजे त्वद्गोष्ठे भवन्तं तातं मन्वानो मत्वेन तत्रैवोत्पत्तेस्त्वामेव जानन् भवद्भार्यामुपलालितो मम सुतो बल आस्ते कच्चित् सुखेन वर्तते किमित्यर्थः। न कृष्णप्रश्नविषयोऽयं श्लोकः। तथा व्याकरणे नन्दगोपमनोरसा भासतेव मात्रा सहेत्युक्तेरयुक्तत्वेनेव अहो ते देवकि पुत्राः कंसेन बहवो हताः। एकावशिष्टाऽवरजा कन्या साऽपि दिवं गतेत्युत्तरत्रत्यनन्दगोपानुयोग इव न शक्यं च परिहर्तुं हरिवंशविरोधापत्तिरिति च न विद्म तदभिप्रायम्। तथा हि स तत्रेमौ दारकौ गत्वा जातकर्मादिभिर्गुणैः। योजयित्वा व्रजे तात संवर्धय यथासुखम्। रोहिणेयं च मे पुत्रं परिरक्ष शिशुं व्रजे। अहं वाच्यो भविष्यामि पितृपक्षेपु पुत्रिणाम्। योऽहमेकस्य पुत्रस्य न पश्यामि शिशोर्मुखम्। ह्रियते हि बला प्राप्स्यामि यतो मम। अस्माद्धि मे भयात्कंसान्निर्घृणाच्च शिशोर्वधे। तद्यथा रोहिणेयं त्वं नन्दगोप ममात्मजम्। गोपायसि तथा तथा कुरु विघ्ना हि बहवो लोके बालानुत्त्रासयन्ति हि। स च पुत्रो मम ज्येष्ठः कनीयांस्तव चात्मजः। उभावपि समं साम्ना निरीक्षस्व यथातथमिति ॥ २७ ॥ कुत एतर्हीयान्कुशलानुनय इत्यत आह ॥ पुंस इति। त्रिवर्गो धर्मादिः पुंसो विहितो यः स सुहृदामनिमित्तबन्धूनां त्वदादिसुमनसां वाऽनुभावतः प्रभावादर्थाय प्राप्तप्रयोजनाय तत्सम्पत्तये कल्पते समर्थो भवति हि यतस्तेपु सुहृत्सु विलिश्यमानेपु क्लेशिषु सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय न कल्पतेऽतस्तव मम सुहृत्त्वात्तवाक्लेशे च त्रिवर्गसम्पत्तिः सैव मत्सम्पत्तिरिति ममैतावाननुयोग इति भावः ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

भ्रातृत्वज्ञापनार्थं नन्दस्य सन्मानमाह तं दृष्ट्वेति सहसोत्थानमत्यादरज्ञापकं, लोकव्यवहारादपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **देहः प्राणमिवागतमिति**, मूर्छितो देहः प्राणे समागते शीघ्रमुत्तिष्ठति तेजोविशेषं च प्राप्नोति यथायःपिण्डोऽग्निसम्बन्धे तथा सर्वदेवतामये वसुदेवे निकटे समागते तेजो ज्ञानं सर्वं च सद्गुणा वसुदेवनिष्ठा अत्र समागता वसुदेवाधिदैविकं रूपं च, तदाह **प्राणे समागते देह इवेति**, इदं तु भगवच्चरित्रमेव, अत एवात्यन्तं प्रीतः, आगमनेन सर्वस्वप्राप्त्या चात्यन्तं प्रीतः, प्रियतमस्तु व्यवहारे स्निग्धो भवति परमार्थश्च मायां दूरीकृत्य भगवन्तं दत्तवानिति, नह्येतादृशादधिकः प्रियो भवति, इदानीं च सर्वस्वं दत्तवान्, च्लेमालिङ्गनमाह **दोर्भ्यां सस्वज इति**, अन्यत् तु कृत्यमालिङ्गनत्यागं च न कृतवानित्यत्र हेतुमाह **प्रेमविह्वल इति**, प्रेम्णोद्गतेन विवशो जातः, एतादृशोपि पुनः स्थानस्थितोग्रिमकार्यं कृतवानिति भगवच्चरित्रम् ॥ २१ ॥

लौकिकमाह पूजित इति, अन्यथा देवगुह्यमुच्यमानमस्मिन् न स्थिरीभवेत्, आदौ **पूजितस्ततः** सङ्कोचाभावेन सुखमुपविष्टः स्वयमप्यनामयमारोग्यं **पृष्ट्वा** "वैश्यं पृच्छेदनामय"मिति वाक्यादादृतो नन्देन परमादरेण गृहीतः देवगुह्यकथनार्थं हेतुमाह **प्रसक्तधीः, स्वात्मजयोरिति**, एकः पुत्रो नन्देनापि ज्ञायते परस्तु न ज्ञायत इति साक्षादुभयोः कुशलं प्रष्टुमशक्यमतः साधारणं प्रष्टव्यमिति तस्य प्रकृतानुपयोगित्वमाशङ्क्य हेत्वर्थमाह **प्रकर्षेण सक्ता धीर्यस्येति**, इदं वक्ष्यमाणं, साधारणं रूपमाह **विशां पत इति**, देशानां राजेतिसम्बोधनं गूढवचनज्ञानार्थम् ॥ २२ ॥

आदौ तं पुत्रवत्त्वेन प्रोत्साहयति **दिष्ट्येति**, हे भ्रातः प्रवयसो वृद्धस्य ते प्रजाशायां निवृत्तायां प्रजाशायाः स्वयमपि **निवृत्तस्य प्रजा समपद्यतेति** यद् **दिष्ट्या** परमभाग्येन, इदानीमप्यप्रजस्येति, यद्यपि स्पष्टतया निरूपितः प्रजाभावस्तथाप्यन्वये भ्रमो भगवत्कृतो निरूपितः, **अप्रजस्येति**, कृत्रिमप्रजापि न सम्पादितेति ज्ञापितं, वृद्धत्वात् स्वरूपायोग्यता निरूपिता, आशाया **निवृत्तत्वात्** प्रयत्नो निवारितः, इच्छाया अपि निवृत्तत्वात् पुरोहितादिद्वारापि प्रयत्नो निवारितः, प्रजाशब्दोपत्यमात्रवाची, अतो नानृतं, **समपद्यतेत्य**कस्मादागमनं, मायायामपि रेतोजनितत्वाभावाय वृद्धत्वादिकीर्तनं, तं प्रति भगवत्यपि तथात्वज्ञापनायोभयं भगवदिच्छयातो दिष्ट्येत्युक्तं, अनेन सामान्यतस्तस्य स्वरूपमप्युक्तं, अन्यथा भ्रातृवञ्चने दोषः स्यात् ॥ २३ ॥

आगमने जातं दर्शनं चाभिनन्दति **दिष्ट्येति**, **अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमानः पुनर्भवः** पुनरुत्पन्नो **मयोपलब्ध** इति यदेतदपि **दिष्ट्या, संसारो** हि चक्रभ्रमात्मकः, भ्रमणे पतितोत एवाधो गच्छेत्, दूरे स्थितस्तु परिभ्रमेत्, चक्रे वर्तमानस्तु

पुनर्न दृश्यत एव, चक्र एव वर्तमाने उभयोरन्यतरस्य वा मज्जनसम्भवात्, मग्नश्चेत् पुनरुत्तिष्ठति तस्य पुनर्भव एव, तथा सर्वमारकस्य कालस्य संवत्सरात्मकस्य वशं गताः पुनर्वत्सरान्ते चेत् तिष्ठन्ति तदा पुनर्भूता एव, संवत्सरः प्रजापतिर्जातो जनकत्वात्, अन्यथा कालो भवेत, तत्रापि पुत्रादिसौख्यं चेत् प्राप्नुयात् तदा पुनरुत्पन्नः पुत्ररूपेणालौकिकः स्यात्, एतद् भाग्यव्यतिरेकेण न भवतीति दिष्ट्या, अतः संसारचक्रे स्थितिरपि दिष्ट्या, पुनर्भवोऽपि दिष्ट्या, मयोपलब्धोऽपि दिष्ट्या, मृत्युरस्मिन्निकटे सदा वर्तत इति, भवानिति स्नेहः, अत्यन्तालभ्यलाभः, एतस्य केवलमदृष्टसाध्यत्वे हेतुमाहुर्दुर्लभं प्रियदर्शनमिति, संसारे सर्वमप्रियं दुःखदत्वात्, तत्र प्रियदर्शनं दुर्लभमेव, प्रियस्य प्रीतिजनकस्य ॥ २४ ॥

एवं खेदेनैव स्थातव्यमितिशङ्कां परिहरन्ननागमनदोषं च परिहरन् दर्शनस्य दुर्लभत्वमुपपादयति नैकत्रेति, प्रिययोरेकत्र सवासो न सम्भवति, तत्रापि सुहृदां बन्धूनां मध्ये प्रिययोः, तत्र हेतुश्चित्रकर्मणामिति, यद्येकं कर्म भवेदेकत्रोत्पन्ना भवेयुः प्रपायामेकदा सह समागता इव, तत्राप्यनियमः, तदैव मिलितानां चित्रं कर्म येषां कर्माधीनाः कर्मणैवोत्क्रान्तिगत्यागतिमन्तो भवन्ति, न केवलं कर्माधीना एव, तत्रापि कालो महान् बाधक इति दृष्टान्तेन कालस्य बाधकत्वमाहौघेनेति, प्रवाहेण यथा विशेषत उह्यमानाः क्षणं मिलिताः पुनर्वियुक्ता भवन्ति, तत्रापि प्लवा नौकारूपाः, तत्रोभयोः प्रवर्तकत्वं जलस्य कर्णधारस्य च, प्रवाहस्य सहजत्वख्यापनाय स्रोतस इत्युक्त, अनेन प्लवानां गमनागमनमध्ये सङ्गतिः क्षणमात्रमेव भवतीति निरूपितं पारंगतस्यापि दर्शनाभावश्च ॥ २५ ॥ एवं दर्शनं नन्दं चाभिनन्द्य देवगुह्यप्रकारेणाह कच्चिदिति, कच्चित् सम्भावनाप्रश्ने, बृहद्वनं पशव्यं कच्चित् ? पशूनां हितं पशव्यं, यत्र पशवो रमन्ते परम्परया पशुस्थान आधिदैविकपशुसद्भावे वा पशूनां रमणं, तत्रापि विरुजं, क्वचिद् देशविशेषे पशूनां रोगा भवन्ति यत्रैवाकाले पशुनाशः, सर्वथा रोगाभावस्तु भगवत्सान्निध्यादिति सामान्याभावेन भगवत्त्वं ज्ञापितं, पशूनां भक्ष्यादिसम्पत्तिं च पृच्छति, भूरीण्यस्मिन् तृणादीनि वीरुधो लताश्च यस्मिन्, जलानां बहुत्वं सरसताख्यापकं, तेन दुग्धसम्पत्तिरपि निरूपिता, तृणानां बहुत्वं पशूनामभिवृद्धिहेतुः, वीरुधामाधिक्यं घृताधिक्यजनकं सौगन्ध्यजनकं च, सम्भावनायां हेतुमाह बृहद्वनमिति, अर्थात् शकटश्च बृहद्वनं, शकटो धर्महेतुश्चोक्तः, तदिति प्रसिद्धं, अधुना यत्रास्स इति, सर्वदास्थितिस्थानं तु प्रष्टव्यं न स्यात्, कदाचित् तस्य स्थितिर्गोष्ठेष्वपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सुहृद्वृत इति, बन्धुभिः कुटुम्बेनापि सहितो यत्र वर्तस इत्यर्थः ॥ २६ ॥ एवं देशकुशलतां पृष्ट्वा बालकयोः कुशलं पृच्छति भ्रातरिति, अन्यत्र भार्यापुत्रयोः स्थापनमनुचितमिति भ्रातरित्युक्तं, मम सुत इति स्वानुभवः, मात्रा सह भवद्व्रजे कुशली कच्चित्? रक्षामात्रमेव तत्र कर्तव्यं, बालकशुश्रूषा त्वन्यत एव सिद्धा, भाराधिक्यं वा, तातं भवन्तं मन्वान इतिदीनत्वं, पालनादिकं लौकिकं न प्रष्टव्यमेव यतो भवद्भ्यां नन्दयशोदाभ्यासुपलालितः, पालनप्रीणनानन्तरसुखलालनमतस्ते च निरूपिते, भगवांस्तु न प्रष्टव्य एव, प्रकारान्तरेण तु पृष्ट एव ॥ २७ ॥ नन्विदानीं तवापि सर्वा समृद्धिरस्त्यतः कथं दैन्यं भापस इत्याशङ्क्याह पुंस इति, पुंसस्त्रिवर्गो धर्मार्थकामाख्यः शास्त्रेभिहितः कर्तव्यत्वेन समीचीनत्वेन च परं सुहृदः सम्बन्धी चेत्, एकाकिना तु मोक्षः किल सम्पादनीयो न धर्मादित्रयं, हि युक्तश्चायमर्थः, एकाकिनस्त्रिवर्गविषयभावात् प्रयोजनाभावाच्च, सुहृत्पदेन चेतनविषयमात्रत्वमुक्तं, तेन यत्र क्वापि त्रिवर्गफले सुहृदो भवन्त्येव, किञ्च न सुहृत्सम्बन्धमात्रेण त्रिवर्गस्योपयोगः किन्तु सुहृद्दैवानुभावितः, पुष्टः सह संवर्धित इत्यर्थः, ततः किमत आह न तेष्विति, तेषु क्लिश्यमानेषु सुहृत्सु सत्सु त्रिवर्गः पुरुषार्थाय न कल्पते पुरुषार्थरूपो न भवति, तेषां तत्र मुख्यत्वात्, यथात्मनः कंसस्य पुत्रमारकत्वान्नाकारणं देवकीपुत्रत्वं सम्भाव्येतेति, अतो दीनत्वमुचितमेव ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

दिष्ट्या भ्रातरित्यत्र इदानीमित्यादि । वसुदेवबुद्धिमनुसृत्येदमुक्तमिति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु प्रजाशब्दोपत्यमात्रवाचीत्यग्रे वचनादिदानीमप्रजस्त्वोक्तिः कन्याभिप्रायेण तस्या गतत्वात्तथात्वम् । प्रजा यत्समपद्येति तु भगवदभिप्रायेण । अन्यथेदानीमप्रजस्य प्रजा समपद्यतेति विरुद्धं वाक्यं स्यात् ॥ २३ ॥ न तेष्वित्यत्र,यथात्मन इत्यादि । नन्दस्यातिप्रियत्वात् तत्तोषार्थं स्वगृहे नन्दाकारणमुचितं यद्यपि, तथापि तथाकृते भगवति देवकीपुत्रत्वं कंसः सम्भाव्य नन्दानिष्टं कुर्यात्तदा सुहृन्नन्दः क्लिष्टो भवेदतो नाकारणम् । इदमप्येकं दुःखमेतदुक्त्या ज्ञाप्यते, तेन यथात्मनो नन्दस्य स्वगृहे नाकारणमिति सम्बन्धः शेषं हेतुत्वेनोक्तम् ॥२८॥

निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुले । अतो वयं सुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत एव हि ॥ १ ॥

इति पञ्चमोध्यायः ॥ ५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तं दृष्ट्वेत्यत्र वसुदेवाधिदैविकं रूपमिति निगमात्मकस्य वसुदेवस्य यदाधिदैविकं रूपं "यो नन्दः परमानन्द" इतिश्रुत्युक्तं तदिदानीं वस्ववताररूपे श्रीनन्दे समागतमित्यर्थः, इदं त्वित्यन्याधिदैविकस्यान्यत्रस्थापनम् ॥ २१ ॥ पूजित इत्यत्रान्यथेति वसुदेवपूजनाभावे 'पूज्यपूजाव्यतिक्रम'जन्यदोषभावत्वेनेत्यर्थः, तस्येत्यादि साधारणप्रश्नस्य विशेषप्रश्नानुपयोगित्वमाशङ्क्य प्रश्नमात्रे हेत्वर्थमुभयत्रासक्तिमुक्तवानित्यर्थः ॥ २२ ॥ दिष्ट्या भ्रातरित्यत्रेदानीमित्यादि, अन्वय इति लौकिकरीतिकप्रजान्वये,

टिप्पण्यां श्रीनन्दगृहे भगवत्प्रादुर्भावस्य पूर्वमुपपादितत्वादत्र 'प्रज'पदस्यैवं व्याख्यानं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुर्वसुदेव इत्यादि, पक्षान्तरमाहुर्वस्तुत इत्यादि, अस्य वसुदेववाक्यत्वात् तद्बुद्ध्यनुसरणस्य युक्तत्वेपि यत् पक्षान्तरकथनादिकं तत् सरस्वतीसत्यत्वसमर्थनाय ज्ञेयं "वाचालं बालिश" मित्यादिवत्, सुबोधिन्यामुभयमिति रेतोजनितादिरूपः प्रजाभावः प्रजासम्पत्तिश्चेत्युभयमित्यर्थः, अनेनेति दिष्ट्येतिपदाद् भगवदिच्छाबोधनेन ॥ २३ ॥ नंकत्रेत्यत्रानागमनदोषमित्येतावदवधि मिलनार्थमनागमने दोषम्, तत्रापीति प्रपायामप्यागमनस्येत्यर्थः, तदैवेति धर्मसमयेपीत्यर्थः, दार्ष्टान्तिके कालस्य प्रवाहत्वं कर्मणः कर्णधारत्वं ज्ञेयम् ॥ २५ ॥ परम्परयेति पारम्पर्येणेत्यर्थः। सामान्याभावेनेति रोगप्रतियोगिकेनेत्यर्थः, बृहद्वनमित्यत्र बृहद्वनशब्दतो धर्महेतुश्चोक्त इतिबृहद्वनरूपो देशो बृहत्त्वादक्षररूपत्वात् तथेत्यर्थः ॥ २६ ॥ चेतनविषयमात्रत्वमिति स्त्रीपुम्प्रभृतिसर्वचेतनविषयत्वं, तथा च सुहृत्पदेन न केवलं पूर्वसिद्धकुटुम्बिन एव ग्राह्याः किन्तु यथाकथञ्चित्सम्बन्धि स्त्र्यादिमात्रं ग्राह्यमितिभावः, तदेवाहुस्तेनेत्यादिना, टिप्पण्यां यथात्मन इतिफक्किकायाः प्रयोजनमर्थं चाहुर्यथेत्यादि ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तं दृष्ट्वेत्यत्र अत एवेति स्वस्मिन् भगवच्चरित्रस्य सिद्धत्वादित्यर्थः, अत्यन्तप्रीत इति प्रियतमपदेतिशयितप्रीतेरनुवादादत्रापि प्रीत इति पदेनातिशयिता प्रीतिरुक्तेतिभावः, आलिङ्गनत्यागं चेति वसुदेवाधिदैविकं रूपं तत्रैव स्थितमित्यालिङ्गित एव स्थित इति भावः, तथा चान्यत् कृत्यं नमस्कारादिकं तु पुनरालिङ्गनत्यागं च प्रेमविह्वलत्वान् न कृतवानित्यर्थः ॥ २१ ॥ पूजित इत्यत्र अन्यथेति नन्दकृतवसुदेवपूजाभावे इत्यर्थः, वसुदेवस्य देवगुह्यत्वकृत्येन गुरुस्थानीयत्वादितिभावः ॥ २२ ॥ दिष्ट्या भ्रातरित्यत्र प्रजाशात इति इच्छाया अपीत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् प्रजेच्छात इत्यर्थः, आशाया इति "तमाशात्रवी"दित्यत्रोक्ता देवतारूपा आशा एतस्मान् निवृत्ता तिरोहिता, अतो वैदिकः प्रयत्न आशायै चरुनिर्वापरूपो निवारितो देवतायास्तिरोहितत्वादित्यर्थः, अत्र पाठद्वयमप्यभिप्रेत्य प्रजाशायां निवृत्तायामिति पाठानुसारेणेदमुक्तं, प्रजाशाया निवृत्तस्येति पाठे आशापदमिच्छावाचकमित्याशयेनाहुः इच्छाया अपीति, "किं प्रजया करिष्याम" इति शास्त्रपर्यालोचनादिति भावः ॥ २३ ॥ दिष्ट्येत्यस्याभासे स्वदर्शनं चेति पूर्वश्लोकाभासमादाय चकारः, प्रोत्साहयति दर्शनं चाभिनन्दतीत्यन्वाचयः, व्याख्याने, चक्रभ्रमात्मक इति चक्राकारभ्रमात्मक इत्यर्थः, भ्रमस्वरूपमाहुर्भ्रमणे इति, अत एवेति भ्रमणादेवेत्यर्थः, चक्रस्वरूपमाहुः चक्रे इति, चक्र एवेति एतादृशेन आवर्तनेनेत्यर्थः, अलौकिकः स्यादिति पुत्ररूपेण स्वस्यैवोत्पत्तिः "आत्मा वै पुत्रनामासी"ति श्रुतिगम्या न तु लौकिकप्रमाणगम्या, तथा च लौकिकप्रमाणागम्यः स्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥ कच्चिदित्यस्याभासे देवगुह्ये इति द्वितीयाद्विवचनान्तमिदं, व्याख्याने आधिदैविकेति वैकुण्ठागमनवत् 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास' इत्यादिश्रुत्युक्तनित्यलीलास्थपशूनामागमने इत्यर्थः, सामान्याभावेनेति रोगाणां सामान्यत एवाभावेनेत्यर्थः, शब्दत इति बृहत् ब्रह्मरूपं वनमितिव्युत्पत्तेः शब्दतो धर्मे तद्वनं हेतुरुक्तः, 'अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शन'मितिस्मृतेः, तथा च तत्र गोचारणरूपो धर्मः सम्यक् सेत्स्यतीति भावः ॥ २६ ॥ भ्रातरित्यस्याभासे देशकुशलतामिति देशकुशलप्रश्नो भगवत्कुशलतापूर्वक इत्युक्तत्वाद् देशेन कुशलं ययोस्तत्तां बालकयोः प्रष्टेत्यन्वयः, कुशलमिति बलस्येति शेषः ॥२७॥ पुंस इत्यत्र ननु कामे सुहृदामुपयोगः स्पष्टः धर्मार्थयोः कोपयोग इत्यत आहुः चेतनेति, चेतनो विषयः सर्वोपि सुहृत्पदवाच्यः, तथा च धर्मे तत्साधका ऋत्विगादयोर्थे च तत्साधकाः सेवकादयः सुहृद इत्याहुः यत्र क्वापीति, न तेष्वित्यत्र ननु भयात् स्वगृहेऽनाकारणेपि उपढौकनीयं तावत् द्रव्यमत्रैव देयमित्याशङ्क्याहुः द्रव्यादिदानं त्विति ॥ २८ ॥

(४) श्रीमदीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तं दृष्ट्वेत्यत्र "देहः प्राणमिवागत"मित्यस्य व्याख्याने, वसुदेवाधिदैविकं रूपं चेति वसुदेवाधिदैविकं रूपं नन्दे समागतमित्यर्थः, एतत्समागमनस्य प्रयोजनं तु मथुरायां भगवतो गमनानन्तरं वसुदेवपुत्रत्वे ज्ञातेपि श्रीनन्दस्य भगवति स्वपुत्रभावदार्ढ्यं अन्यथा वसुदेवगृहे पुत्रत्वेन भगवत्स्थितिज्ञाने रुक्मिणीविवाहादिज्ञाने स्वपुत्रत्वबुद्धिनिवृत्तौ पुत्रस्नेहो निवर्तेत, तथा सति कृतो निरोधोप्यकृतो भवेत्, अतः श्रीनन्दे वसुदेवाधिदैविकस्वरूपस्य समागमनं कारितं प्रभुणा, तथा सति वसुदेवपुत्रत्वज्ञानेपि स्वपुत्रत्वबुद्धिः स्थिरैव ॥ २१ ॥ पूजितः सुखमासीन इत्यस्य विवरणे अन्यथा देवगुह्यमित्यादि यदि नन्दो वसुदेवं सत्कारादिना न पूजयेत् तदा वसुदेवेनोपदिश्यमानं भगवत्सम्बन्धिज्ञानं व्रजराजे स्थैर्यं न प्राप्नुयात् ज्ञानस्थैर्यस्य गुरुपूजासाध्यत्वात् वसुदेवस्य गुरुत्वात्, अतो गुरुपूजाया आवश्यकत्वात् पूजित इत्युक्तम् ॥ २२ ॥ प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत इत्यस्य व्याख्याने प्रजाशब्द अपत्यमात्रवाची, अतोनानृतमिति मायारूपकन्यात्मकप्रजाया जातत्वात् 'प्रजा यत् समपद्यते'ति वचो नानृतमित्यर्थः, तं प्रति भगवत्यपीति श्रीनन्दं प्रति पुत्रे श्रीकृष्णे रेतोजनितत्वाभावज्ञापनाय प्रवयस इति पदेन वृद्धत्वादिकीर्तनमित्यर्थः, उभयं भगवदिच्छयेति भगवदाविर्भावो मायाजन्म चेत्युभयं भगवदिच्छयैव केवलया न तु स्त्रीपुरुषसंयोगादिकं कारणमस्ति उभयोर्मायाभगवतोः शुक्रजन्यत्वाभावात्, अनेन सामान्यतस्तस्य स्वरूपमप्युक्तमिति तस्य श्रीव्रजराजसमीपे भगवतो ह्यजत्वादिरूपं स्वरूपमप्युक्तमित्यर्थः ॥ २३ ॥ संवत्सरः प्रजापतिर्जात इति "संवत्सरो वै प्रजापति"रिति श्रुतेः संवत्सरस्य प्रजा-

पतित्वं, तत्त्वं च पदार्थोत्पादकत्वं, एवं सति यदा संवत्सरे नाशो न जातस्तदा तेन संवत्सरेणैवायमुत्पादितः, अतः **प्रजापति-**रित्यर्थः, अन्यथा काल इत्यादि यदा संवत्सरो मारयेत् तदा न संवत्सरस्य प्रजापतित्वं किन्तु कालत्वं मृत्युरूपतेत्यर्थः, संवत्सरस्य मृत्युरूपताया अपि प्रमाणसिद्धत्वात् ॥ २४ ॥ **कच्चित् पशव्यं निरुजमित्यस्य** विवृतौ **आधिदैविकपशुसद्भावे** वेति 'गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासन' इति कृष्णोपनिषत्सु या गावो निरूपितास्तेषां सद्भावे इत्यर्थः ॥ २६ ॥ **न तेषु क्लिश्यमानेष्वित्यस्य** विवृतौ **यथात्मनः कंसस्य पुत्रमारकत्वान् नाकारणमिति** आत्मनः नाकरणमित्यन्वयः, **आत्मनो** वसुदेवस्य व्रजराजेन स्वगृहे पुत्रोत्सवसमये **नाकारणमित्यर्थः**, तत्र हेतुः **कंसस्य पुत्रमारकत्वादिति**, तत्रापि हेतुर्देवकीपुत्रत्वमिति, नन्दपुत्रे **देवकीपुत्रत्वं** सम्भाव्येतातो वसुदेवस्य नाकारणं, एवं सति यदा तादृङ्मित्रस्यापि नाकारणं तदा कुतोऽप्युत्सवस्तादृगानन्दं न जनयेदतः सुहृदां सान्निध्ये सुहृदां क्लेशाभाव एव त्रिवर्गस्य पुरुषार्थत्वं नान्यथेति वसुदेवाशयः ॥ २८ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

आचार्यचरण कहते हैं कि अब '**तद्दृष्ट्वा**' श्लोक से वसुदेवजी के साथ '**भ्रातृपन**' बताने के लिये नंदरायकृत सम्मान का वर्णन करते हैं। 'यकायक उठना' विशेष आदर का सूचक है। लोक व्यवहार में भी आप्तजन के घर आने पर उठकर आदर किया जाता है, लेकिन यहाँ तो लोक व्यवहार नहीं था, इसलिये शुकदेवजी ने '**देहः प्राणमिवागतम्**' कहा है, इसका मधुर भाव यह है कि जैसे मूर्छित देह में प्राण आते ही, देह शीघ्र उठ कर खड़ी हो जाती है तथा शरीर में तेजस्विता आ जाती है, जैसे लोहे का गोला अग्निप्रवेश से विशेष तेजोमय लगता है। वैसे ही सर्वदेवतारूप, वसुदेवजी के समीप आने से वसुदेवजी के ज्ञान और सब सद्गुण और वसुदेवजी का आधिदैविक स्वरूप ये सब नन्दजी में प्रविष्ट हुए इसलिये कहा है कि प्राण आने पर, देह की तरह नन्दजी भी सब गुणों से सम्पन्न बने, स्फूर्तिमान् हो गए। यह सब भगवान् की लीला है इस कारण से नन्दजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। वसुदेवजी का समागम और प्राणों की तरह सर्वस्व दान दोनों विशेष प्रसन्नता के कारण बने। विशेष प्रियतम तो स्वभाव से दयालु एवं मनोहर होता है। वसुदेवजी ने भी नन्दजी से माया लेकर भगवान् का दान किया। ऐसे दयालु भ्राता से विशेष प्रिय कौन होगा ? इस समय वसुदेवजी ने तो तेज, ज्ञान एवं आधिदैविक रूप आदि सर्व दे दिया। फलतः नन्दजी ऐसे प्रेमविवश हुए कि प्रेम से वसुदेवजी का दोनों भुजाओं से गाढ़ आलिंगन किया और छोड़ नहीं सके। वस्तुतः नंदजी और वसुदेवजी एकरूप हो गये। ऐसे प्रेममग्न एकरूप होते हुए भी स्थान पर ही आगे के कार्य करने लगे यह भी भगवल्लीला है।

प्रकाशकारजी कहते हैं कि वसुदेवजी का '**नन्दः परमानन्दः**' इस श्रुति में जो आधिदैविक स्वरूप वर्णन किया है वह नन्दजी में प्रविष्ट हुआ। आधिदैविक वसुदेवजी को नमस्कारादि कार्य न दिये किन्तु आलिङ्गन किया। श्रीयोजनाकारजी वसुदेवजी के आधिदैविक रूप का नन्दजी में प्रवेश का तात्पर्य कहते हैं कि श्रीनन्दनन्दन का व्रज से मथुरा में पधारने के बाद नन्दजी को ज्ञात होगा कि वे वसुदेवजी के पुत्र हैं तो भी नन्दजी का जो उनमें उत्कट वात्सल्य भाव था, वह कम न हुआ और निरंतर श्रीकृष्ण को वे अपना पुत्र ही समझते रहे। यदि वसुदेवजी के आधिदैविक स्वरूप का प्रवेश नन्दजी में न होता तो भगवान् की वसुदेवजी के घर में पुत्र की तरह स्थिति और रुक्मिणी से विवाहादि का ज्ञान होने पर 'मेरा पुत्र है' यह बुद्धि मिट जाती और पुत्रस्नेह भी नष्ट हो जाता एवं नन्दजी का निरोध भी न रहता। ऐसा न होकर नन्दजी की वही बुद्धि बनी रहे, इसलिये भगवान् ने वसुदेवजी के आधिदैविक स्वरूप का नंदजी में प्रवेश कराया। जिससे वसुदेवजी के पुत्र का ज्ञान होने पर भी 'स्वपुत्रबुद्धि' मेरा पुत्र है यह बुद्धि स्थिर ही रही ॥ २१ ॥

आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि श्रीशुकमुनिजी इस श्लोक में लौकिक प्रकार कहते हैं कि श्रीनन्दराय ने वसुदेवजो का पूजन किया यदि वसुदेवजी नंदजी द्वारा पूजादि से आदर न पाते तो वसुदेवजी, जो देवगुह्य कथा नंदजी को सुनाते, वह नंदरायजी के हृदय में स्थिर न होती इसलिये नन्दजी ने पहले वसुदेवजो का पूजन किया। पूजन होने से वसुदेवजी के हृदय से बैठने आदि का संकोच निकल गया और सुखपूर्वक बैठे। पुनः वसुदेवजी ने भी '**वैश्यं पृच्छेत् अनामयम्**' वैश्य से मिले तब आरोग्य पूछे ऐसे शास्त्र वचनानुसार नन्दजी से पहले आरोग्य पूछा फिर नंदजी का आदर किया। वसुदेवजी ने नंदजी से देवगुह्य वार्ता क्यों सुनाई तो कहते हैं कि, '**प्रसक्तधीः**' वसुदेवजो अपने पुत्रों में अत्यन्त आसक्त बुद्धि वाले थे, इस कारण से वसुदेवजी देवगुह्य बातें भी नंदरायजी से छिपा नहीं सके ! यद्यपि नंदजी को एक पुत्र बलदाऊ का तो ज्ञान था कि यह वसुदेवजी का पुत्र है किन्तु दूसरे श्रीकृष्ण का ज्ञान नहीं था कि यह मेरा पुत्र भी वसुदेवजी का ही पुत्र है। श्रीकृष्ण को तो वे अपना ही पुत्र समझते थे, इसलिये दोनों की कुशलता स्पष्ट पूछना कठिन था, इसलिए साधारण रीति से पूछना चाहिये। यह अवसर इसके पूछने का नहीं है तो भी 'आसक्तधी' होने से साधारण रूप से पूछेंगे इसलिये कहा '**विशाम्पते**' हे देशों के राजा ! यह सम्बोधन नन्दजी को गूढ़ वचनों का ज्ञान कराने के लिए है। श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि मनुस्मृति आदि

शास्त्र में कहा है कि **'पूज्यपूजाव्यतिक्रम'** पूजनीय की पूजा न करने से 'दोष' लगता है इसलिए यदि नन्दजी वसुदेवजी का पूजन न करते तो दोष के भागी होते। इस दोष से बचने के लिये शास्त्रवचनानुसार नन्दजी ने वसुदेवजी का पूजन किया। इससे देवगुह्य भी नन्दजी के चित्त में स्थिर हुआ। यहाँ पर योजनाकार लालूभट्टजी कहते हैं कि गुरु की पूजा से ही ज्ञान स्थिर होता है। वसुदेवजी ने उपदेश दिया इससे नन्दजी के गुरु हैं और गुरु का पूजन आवश्यक होने से नन्दजी ने वसुदेवजी का अर्चन किया, यों गुरुपूजन करने से वसुदेवजी का उपदेश नन्दजी के हृदय में स्थिर हुआ। और सलाह मान कर त्वरित गोकुल गये ॥ २२ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि श्री वसुदेवजी नन्दजी को प्रथम पुत्र वाले बता कर फिर 'दिष्ट्या' इस श्लोक से प्रोत्साहित करते हैं—हे मेरे भैया ! वृद्धावस्था के कारण प्रजा होने की आशा छूट गई थी एवं आपने भी प्रजा की आशा त्याग दी थी, किन्तु बड़े भाग्य से बिना प्रजा वाले भी आपको प्रजा प्राप्त हुई, इसकी आपको बधाई है कि वृद्धावस्था में भी बिना प्रजावाले आपको प्रजा हुई यह वसुदेवजी ने स्पष्ट कह दिया। श्लोक में 'अप्रजस्य' शब्द के साथ में 'इदानीं' शब्द दिया है इससे इदानीं शब्द को 'अप्रजस्य' के साथ लाने पर अर्थ होता है कि अभी भी आप प्रजा वाले नहीं हो। तात्पर्य कि संकेत से वसुदेवजी ने ऐसा बता दिया कि यह कृष्ण मेरा पुत्र है। यदि 'इदानीं' शब्द इसके साथ न लिया जाय तो अर्थ होगा कि आप पहले बिना प्रजावान् थे 'इदानीं' अभी आपको संतान हो गई है। इस तरह अन्वय में भ्रम भगवत् इच्छा से हुआ। जिससे वसुदेवजी का झूठापन भी मिट जाता है और कंस को भी यह ज्ञान न हो कि वह वसुदेवजी का पुत्र है। 'अप्रजस्य' बिना प्रजावाले आपको इस शब्द से यह भी संकेत कर दिया कि आपके दत्तक आदि सन्तान भी नहीं है। 'वृद्ध' कहने से सन्तान उत्पन्न करनेवाले स्वरूप की अक्षमता बताई। आशा न रही, इससे प्रयत्न को भी आवश्यकता न रही, इच्छा ही न रही, इसलिये पुरोहितों द्वारा भी प्रयत्न न कराये। प्रजा शब्द अपत्यवाचक प्रजा शब्द कहने से वसुदेवजी ने झूठ भी नहीं कहा। श्लोक में 'समपद्यत' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि अचानक भगवदिच्छा से कोई आजावे यह अर्थ है, इसलिये आपके यहाँ किसी का जन्म नहीं मात्र अचानक भगवानका आना हुआ है। 'माया' भी वीर्य से उत्पन्न न हुई थी इसी तरह भगवान् भी स्वयं पधारे हैं वीर्य से नहीं। फिर भैया आप वृद्ध तो हो ही, तो यह सब जो कुछ हुआ है वह केवल भगवद् इच्छा से ही हुआ है इससे प्रसन्नता है। यों कहने से सामान्य रीति से सारी बात का सच्चा स्वरूप, बता दिया और भगवान् का स्वरूप भी कह दिया। यदि यों नहीं कहते तो भ्रातृवञ्चना के अपराध से वसुदेवजी को दोष लगता।

श्री गुसांईजी टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि—शुकाचार्यजी ने नन्दबाबा को 'इदानीं अप्रजस्य' कहा उसका भावार्थ है कि एक कन्या हुई थी वह भी आपके पास रही नहीं, इसलिये आप अब अप्रज सन्तान रहित हो। 'प्रजा समपद्यत' का भाव बताते हैं जो कि पहली कन्या रही नहीं अब तो पुत्र सन्तति आ गई। यह भगवान् के यहाँ पधारने से वसुदेवजी ने कहा। यह सब वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार कहा गया है। यदि इस तरह अभिप्राय न हो तो 'बिना प्रजावाले' आपको प्रजा हुई इन दोनों में परस्पर विरुद्ध वाक्य की संगति नहीं होती।

श्रीपुरुषोत्तमजी श्री सुबोधिनीजी के "तथाऽप्यन्वये भ्रमः" वाक्य में जो "अन्वयः" शब्द आया है उसका आशय बताते हैं कि—लौकिक रीति से उत्पन्न प्रजा को अन्वय माने वंश कहा जाता है। यहाँ लौकिक रीति से प्रजा नहीं हुई है इसलिये **'अप्रजस्य'** कहना सत्य है। अर्थात् इस समय आपके प्रजा नहीं है। टिप्पणीकार प्रभुचरण ने पहिले नन्दगृह में भगवान् का प्राकट्य कहकर, अब 'अप्रजस्य' का भाव बिना प्रजावाला कैसे बताया। इसका समाधान करते हैं कि यह कहना वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार है। नन्द के गृह में प्रकट स्वरूप का ज्ञान वसुदेवजी को नहीं है, वसुदेवजी को तो अपने यहाँ प्रकट भगवान् एवं नन्दजी के यहाँ प्रकट हुई माया रूप कन्या का ज्ञान था। कन्या को आप ले गए और भगवान् को वहाँ विराजमान कर गए। इस ज्ञान के कारण वसुदेवजी ने जो कहा उसका अनुवादमात्र यहाँ किया गया है, अर्थात् वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार वर्णन किया गया है। सुबोधिनीजी में दो प्रकार बताये हैं—प्रथम प्रकार माया और भगवान् - दोनों लौकिक रीति, वीर्यादि से उत्पन्न नहीं हुए, इसलिये प्रजा का अभाव। दूसरा प्रकार भगवान् प्रकट हुए इसलिये प्रजा सम्पत्ति वाले नन्दजी हैं।

श्री योजनाकारजी का कहना है कि—प्रजाशब्द अपत्य पुत्र वा पुत्री हो उसको कहा जाता है। इसलिये माया रूप कन्या का जन्म हुआ। इसलिये वसुदेवजी का कहना असत्य नहीं ॥ २३ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि अब इस श्लोक में श्रीशुकाचार्यजी कहते हैं कि श्रीवसुदेवजी ने अग्रिम श्लोक में नन्दजी को बधाई दी अब इस श्लोक से श्री नन्दरायजी के दर्शन का अभिनन्दन करते हैं—कि भैया ? संसार भंवर में भटकते हुए आपको आज मैंने पाया है यह भी हमारा आपका नया जन्म है इसलिये हर्ष की बात है। संसार घूमते हुए जल के भँवर के समान है उस चक्कर में जो पड़ा नीचे चला जाता है, दूर रहने वाला चक्कर काटता है और चक्कर में गिर जाने पर तो अदृश्य ही हो जाता है। वसुदेवजी नन्दजी से कहने लगे कि बाबा इस भवसागर में हम दोनों ही डूब जाते अथवा कोई एक

डूब जाता और जो डूब कर बाहर निकलता और बच जाता तो उसका पुनर्जन्म ही कहा जाता है। सर्व नाशकारी संवत्सररूपी काल के आधीन होने पर भी यदि कोई व्यक्ति संवत्सर पार कर जीवित रहता है तो उसका जन्म नया ही समझना चाहिये। संवत्सर काल रूप होते हुए भी प्रजापतिरूप कहलाता है कि वह किसी किसी को अपने संवत्सर के पश्चात् दूसरे संवत्सर में नया जन्म देता है। यदि ऐसा न करे तो प्रजापति नाम अन्वर्थ न होता और केवल काल रूप ही रहता। इसमें भी जो कदाचित् संवत्सर पूर्ण होने के अनन्तर सन्तानादि सुख की भी प्राप्ति हो गई हो, तो पुत्र रूप से फिर उत्पन्न होना तो अलौकिक श्रुतिसंमत "आत्मा वै पुत्रनामासि" वेदसंमानित ही है। यह भाग्य के अतिरिक्त नहीं होता है, इसलिये बधाई है।

भैया नन्दराय आपका संसारचक्र में रहना भी परम हर्ष का विषय है। नया जन्म भी महाभाग्य है। मुझे मिले यह भी महान् उत्सव है। मृत्यु तो अपने पास ही सदा रहती है। नन्दजी के लिये कहा गया 'भवान्' शब्द स्नेह का प्रतीक है। भवान् शब्द से निश्चित रूप से अपना स्नेह सिद्ध होता है। "अद्य" शब्द से यह भाव निकलता है कि मुझे एवं आपको दुर्लभ लाभ मिला है। इसका मिलना केवल प्रारब्ध से ही है, कहा है कि 'दुर्लभं प्रियदर्शनम्' प्रिय का दर्शन सर्वथा दुर्लभ है। संसार में बहुत करके पदार्थ दुःख देने वाले होते हैं, आनंद देने वाला मात्र प्रियतम भ्राता ही है, जिसका मिलना दुर्लभ है, सो आज मिला है॥ २४॥

आचार्यचरण कहते हैं कि नन्दबाबा को मिलकर वार्ता करते हुए वसुदेवजी के मन में दो विचार आये कि प्रथम यह विचार आया कि क्या नन्दरायजी के मन में यह शंका हुई हो कि मैं लौटकर शीघ्र ही गोकुल जाऊँगा तो वसुदेवजी को खेद होगा कि दो दिन भी न रहे इसलिये यहाँ हो रह जाऊँ। दूसरा विचार यह आया कि मेरे दुःख के दिन में इतने दिन नहीं आया इससे वसुदेवजी अप्रसन्न हुए होंगे। नन्दरायजी के खेद की शंका और देरी से आने के दोष को मिटाने के लिये श्रीवसुदेवजी ने 'नैकत्र' इस श्लोक से कहा कि नन्दरायजी मेरे दुःख के दिनों में आप न आ सके उसमें आपका दोष नहीं है और आपको यहाँ रहने की शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि प्रेमियों का एक स्थान पर निवास नहीं होता है। उसमें भी जो सुहृद् और सम्बन्धियों में जो प्रिय हैं उनका सहवास सर्वथा दुर्लभ है। कारण कि प्रत्येक पथिक के कर्म भिन्न भिन्न होते हैं। एक ही कर्म यदि हो तो प्याऊँ में एक बार मिले हुए के समान सब का एकत्र जन्म होता। इसमें भी कोई निश्चित नियम नहीं है कि प्याऊँ में मिले हुए भी जैसे जल के प्रवाह से इधर उधर हो जाते हैं वैसे ही एक गृह परिवार में उत्पन्न होते हुए भी किन्हीं कारणों से बिछुड़ जाते हैं। इसलिये प्राणीमात्र का कर्म से ही परलोक गमन तथा इहलोक में आगमन आदि होता है। जीव न केवल कर्म के अधीन है किन्तु वहाँ भी काल महान् बाधक है। अब दृष्टान्त से काल की बाधकता दिखाते है कि जैसे 'ओघेन व्युह्यमानानां' प्रवाह से नदी में थोड़ी देर मिले हुए पदार्थ फिर प्रवाह से अलग हो जाते हैं जैसे नावें भी नदी में परस्पर मिलती हैं इनको मिलाने वाले मुख्य जल और नाविक होते हैं। यहाँ प्रकाशकारजी का कहना है कि काल प्रवाहरूप है और कर्म नाविक रूप है। प्रवाह को सहज कारण होने से 'नदी' कहा है, इससे समझ में आता है कि नावों का आने जाने के समय मिलाप जैसे क्षणिक है वैसे ही जीवमात्र का भी मिलाप क्षण मात्र ही होता है। पार पहुंचने पर जैसे नाव देखने में नहीं आती है वैसे ही वियोग के बाद प्रिय सम्बन्धियों, मित्रों आदि के भी दर्शन नहीं होते हैं॥ २५॥

आचार्यचरण कहते हैं कि **एवंदर्शनं नन्दं चाभिनन्द्य**—इस प्रकार नन्दजी और उनके दर्शन का अभिनन्दन कर, देवगुह्य प्रकार से भाषा में 'कच्चित्पशव्यं' श्लोक से प्रश्न करते हैं। कच्चित् अव्यय का संभावना अर्थ में प्रश्न करने पर उपयोग किया जाता है जैसे कहा जाता है कि ऐसा है न? तो यहाँ वसुदेवजी भी महावन के विषय में इसी प्रकार से पूछते हैं कि **'कच्चित् पशव्यं बृहद्वनं'** महावन पशुओं का हितकारी है न? और महावन में पशु आनन्द से रमण करते हैं न? यहाँ परम्परा से गोचर भूमि है यहाँ के पशु आधिदैविक अलौकिक है इसलिये पशुओं का रमण होता है न?। यह स्थान भी आधिदैविक है इसलिये 'विरुजं' रोग रहित है न? कोई देश ऐसे भी है जहाँ पशु रोगी होते हैं और अकाल में ही मर जाते हैं। गोष्ठ में कुछ भी रोग न हो यह तो भगवान् के बिराजने पर होता है। सामान्य रीति से रोग का अभाव दिखा कर यह बता दिया है कि यहाँ भगवान् बिराजते हैं।

पशूनां भक्ष्यादिसम्पत्तिं च पृच्छति—पीने के लिये पानी भी पुष्कल है न? तृण लताएँ आदि से भी तो वन हरा-भरा है न? जल की बहुलता से वन सरस हरा होता है तो दूध भी वहाँ विशेष उत्पन्न होता है और दूध की समृद्धि का भी इससे पता चलता है। घास की विशेषता पशुओं के वृद्धि का कारण है। वीरुध अधिक हो तो घृतविशेष उत्पन्न होता है और वन सुगन्धित रहता है। वसुदेवजी ऐसी सम्भावना इसलिये करते हैं कि इसको 'बृहद् वनं' महावन कहा है, महावन नाम के अर्थानुसार जल घास लता आदि पदार्थों का इसमें अधिक होना स्वाभाविक है। **'बृहद्वनं'** शब्द से यह भी जाना जाता है कि यह 'वन' धर्म का भी हेतु है। श्लोक में जो 'तत्' पद है इससे महावन की प्रसिद्धि सूचित की गई है। श्लोक में **'अधुना यत्र आस्ते'** अभी जहाँ रहते हो इस प्रश्न से सर्वदा रहने का तो पूछना ही नहीं था क्योंकि कभी ता आप गोष्ठों में भी रहते हैं। इन

गोष्ठों में रहना भी सर्वदा नहीं, इसलिये पूछते हैं कि बन्धुजन और सम्बन्धियों के साथ जहाँ रहते हो वहाँ तो सब प्रकार से कुशल है न ? आचार्यचरणों ने **'आधिदैविकपशुसद्भावे'** जो कहा उसका लेखकारजी भाव कहते हैं कि भगवान् जैसे 'गोकुल' में वैकुण्ठ लाये वैसे ही वहाँ के गौ आदि पशु भी आये। इसलिये श्रुति में **'यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा'** लिखा है। जिस वैकुण्ठरूप गोकुल में बड़े बड़े श्रृङ्ग वाली गौएँ हैं अतः वे आधिदैविक हैं। इन गौओं में रोगादि भी नहीं।

श्रीलालूभट्टजी का कहना है कि कृष्णोपनिषद् में **'गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः'**। इसमें गोओं और गोपियों को श्रुतिरूपा कहा है ऐसी ये गौएँ आधिदैविक हैं।

प्रकाशकारजी का कहना है कि **'बृहद्वनं'** बृहत् शब्द से वन को धर्म का हेतु और अक्षर रूप बताया गया है।

श्रीलेखकारजी कहते हैं कि **'बृहद्वनं'** पद का तात्पर्य यह है कि भगवान् के यहाँ गोचारण रूप धर्म कीसिद्धि होगी।२६।

"एवं देशकुशलतां पृष्ट्वा" इस प्रकार देश का कुशल पूछकर अब वसुदेवजी बालकों का कुशल पूछते हैं कि **भ्रातर्मम सुतः**—श्रीनन्दजी को 'भ्रातः' कहने का यह भाव है कि किसी के पास स्त्री व पुत्र छोड़ना अयोग्य है, लेकिन मैंने दूसरे के पास नहीं छोड़े हैं, ये तो मेरे भाई हैं, मैंने तो मेरे भाई के पास भेजे हैं ये दूसरे नहीं। **'मम सुतः'** का भाव यह है कि वसुदेवजी को अपना स्पष्ट अनुभव था कि मेरा पुत्र है। माता के साथ कुशल से तो हैं न ? मेरे भैया ! बालक के साथ है वह और अन्य यशोदा आदि लालन के लालन पालन पोषण तो करेंगे लेकिन रक्षा तो हे भाई ! आप को ही करनी है। **'तातं भवन्तं मन्वानः'** भाव यह है कि आपको पिता मानकर बालक दीनता प्रकट करता है। भैया ! पालनादि तो लौकिक हैं, उसके पूछने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नन्द, यशोदा आप दोनों पालन, पोषण और प्रीणन के अनन्तर उपलालन--ये सब प्रेम से करते ही हो। भगवान् के लिये तो पूछना ही नहीं किन्तु दूसरी रीति से तो पूछ ही लिया है।

लेखकारजी कहते हैं कि २६ वें श्लोक में देशकुशलता के पूछने का आन्तरिक आशय तो भगवान् की अथवा दोनों बालकों की कुशलता पूछने का था। यदि देश में घृत, धान्य, आरोग्य आदि हैं तो हमारा पुत्र भी सुखपूर्वक आनन्द में होगा। श्री वसुदेवजी इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बलभद्रजी की कुशलता पूछते हैं परन्तु सामान्य प्रश्न से दोनों बालकों की कुशलता पूछ ली है॥ २७॥

'नन्विदानीं तवापि' नन्दजी के मन में यह शङ्का हो कि भैया आप के पास भी सर्व समृद्धि है फिर क्यों दीनता दिखा रहे हो ? ऐसी शङ्का हो तब कहते हैं कि **पुंसस्त्रिवर्गोऽभिहितः**–यद्यपि शास्त्रों में पुरुष के लिये त्रिवर्ग सिद्ध करने का विधान है, किन्तु उस त्रिवर्ग से सुहृदों को भी लाभ हो, न कि प्राप्त करने वाले अकेले को ही लाभ हो। अकेले के लिये तो, त्रिवर्ग सिद्ध करने का शास्त्रविधान नहीं है। अकेला तो चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को ही सिद्ध करे। श्लोक में 'हि' शब्द इसी अर्थ में दिया है कि निश्चयपूर्वक अकेले को मोक्ष ही सिद्ध करना चाहिये। सुहृद् पद से चेतन मात्र का ग्रहण करना इससे कहीं न कहीं त्रिवर्ग के फल में सुहृद मिल ही जाते हैं। सुहृदों के सम्बन्ध मात्र से, त्रिवर्ग का उपयोग नहीं है, किन्तु सुहृदों द्वारा रस पुष्ट हुआ त्रिवर्ग सार्थक होता है; ऐसा हो तो क्या ? इसका उत्तर देते हैं कि उस त्रिवर्ग सुहृदों को यदि लाभदायी न हो और सुहृदों को कष्ट हो, तो त्रिवर्ग सिद्धि पुरुषार्थ रूप और सार्थक नहीं है। त्रिवर्ग भोग में सुहृद् ही मुख्य हैं, जैसे वसुदेवजी के पास त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम सिद्ध भी थे किन्तु वसुदेवजी नन्दजी को अपने घर बुला नहीं सकते हैं क्योंकि नन्दजी को बुलाने से वसुदेवजी के पुत्रों का नाश करने वाले कंस को यह निश्चय होगा कि नन्दजी के यहाँ जो बालक श्रीकृष्ण है वह वसुदेवजी का पुत्र है इसलिये वसुदेवजी नन्दजी को अपने पास नहीं बुलाते हैं। जिससे वसुदेवजी का त्रिवर्ग सुहृदों के उपयोग न आने से व्यर्थ ही है। इस कारण से वसुदेव को दीनता दिखाना योग्य ही है।

श्रीवल्लभलालजी लेख में स्पष्ट करते हैं कि सुहृद् शब्द से मात्र सम्बन्धी न समझे किन्तु चेतनमात्र को समझे यद्यपि तीन पुरुषार्थों में से काम पुरुषार्थ में तो सम्बन्धियों का स्पष्ट उपयोग होता है किन्तु धर्म और अर्थ में दूसरों का भी उपयोग होता है जैसे यज्ञादिक धर्म कार्य में ऋत्विक् एवं व्यापारादि अर्थ कार्य में काम करने वाले सेवक आदि का उपयोग होता है। अतः **'सुहृद्'** शब्द से चेतनमात्र का ग्रहण करना चाहिये।

श्रीलालूभट्टजी योजनाकार **'आत्मनः कंसस्य पुत्रमारकत्वान्नाकारणं देवकी पुत्रत्वं संभाव्येत'** के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हैं कि नन्दजी ने वसुदेवजी को नन्द महोत्सव में नहीं बुलाया कारण कि कंस वसुदेवजी के पुत्रों का विनाशक है एवं उनके बुलाने से कंस समझेगा कि यह देवकीजी के पुत्र हैं तो अनर्थ होगा इसलिये नन्दजी ने मुझे बुलाया नहीं किन्तु सुहृदों के न होने से उत्सव में आनन्द नहीं हुआ। अतः नन्दजी के त्रिवर्ग की भी मेरी तरह सार्थकता नहीं हुई। इस पंक्ति के कहने से वसुदेवजी का यह आशय प्रकट होता है।

श्रीविट्ठलनाथजी का मन्तव्य है कि 'आत्मनः कंसस्य' वसुदेवजी के नन्दजी अतिप्रिय थे इसलिये नन्दजी को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अपने घर पर बुलाना उचित था। तो भी वसुदेवजी ने इसलिये नहीं बुलाया कि इससे कंस समझेगा कि यह देवकी का पुत्र है तो नन्दजी का अनिष्ट करेगा। जिससे मेरे प्रिय नन्दजी दुःखी होंगे इसलिये नहीं बुलाया। इस तरह दोनों का सम्बन्ध बताया। साधन बल का त्याग जिन्होंने भगवदाश्रय ही लिया है उनका फलरूप भगवान् गोकुल में प्रकट हुआ है इसलिये हम सब तरह से निश्चिन्त हुए हैं ॥ २८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तं प्रियतममागतं वसुदेवं दृष्ट्वा प्रीतः प्रसन्नचित्तः प्रेम्णा विह्वलो व्याकुलश्च नन्दः सहसा झटिति उत्थाय दोर्भ्यां भुजाभ्यां सस्वजे आलिङ्गितवानित्यन्वयः। उत्थाने दृष्टान्तमाह—देह इति। मूर्च्छितो देहो यथा प्राणे समागते शीघ्रमेवोत्तिष्ठति तथेत्यर्थः ॥ २१ ॥ ततश्च नन्देन पूजितः पाद्यासनादिना सत्कृतः अनामयं कुशलं पृष्ट्वा आदृतश्च। अतः सुखं यथा स्यात्तथा आसीन उपविष्टो वसुदेवो नन्दं प्रतीदं वक्ष्यमाणमाहेत्यन्वयः। एवमागत्य प्रश्ने हेतुं सूचयन्नाह-प्रसक्तेति। आत्मजयो रामकृष्णयोः प्रसक्ता धीर्यस्य सः ! तद्वृत्तान्तज्ञानार्थं भङ्ग्यन्तरेण पृष्टवानित्याशयः। 'तद्र ढप्रश्नाभिप्रायज्ञाने त्वं समर्थोऽसि, बहुदेशाधिपतित्वात्' इत्याशयेन सम्बोधयति—विशां देशानां पते इति ॥ २२ ॥ तद्वाक्यान्येवाह—दिष्ट्येति षड्भिः। हे भ्रातः ! अप्रजस्य अपत्यरहितस्य ते तव इदानीं यत् प्रजा समपद्यत प्राप्ता तत् दिष्ट्येत्यन्वयः। 'दिष्ट्या' इति आनन्दद्योतकमव्ययम्। तेनास्माकं महानानन्दो जात इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। आनन्दाधिक्ये हेतुमाह-प्रजाया आशाया निवृत्तस्येति। तत्रासामर्थ्ये हेतुमाह—प्रवयस इति। वृद्धस्येत्यर्थः। न च "अग्रे मथुरावासिनां वृद्धानामपि भगवद्दर्शनादिना यौवनप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वान्नन्दादीनां सा कुतो न" इति शङ्कनीयम्, वृद्धस्याभिनवबालके स्नेहाधिक्यस्य तद्बालचरित्रानुभवसुखाधिक्यस्य च प्रसिद्धत्वात्तदर्थं भगवदिच्छयैव तेषां वृद्धत्वस्थितिः। पुत्रपदोपादानेऽनृतवादः स्यात्, कन्येत्युक्तौ च नन्दस्य भ्रमः प्रश्नादिकं च स्यात्, अत उभयं विहाय उभयसाधारणस्य प्रजापदस्योपादानमिति बोद्धव्यम् ॥ २३ ॥ अद्य भवान् पुनर्भवः पुनर्जात इव उपलब्धो दृष्ट इत्यपि दिष्ट्येत्यन्वयः। तत्र हेतुमाह—संसारेति। "यथा चक्रे स्थितानां पिपीलिकादीनां तत्र स्थितिरपि दुर्लभा, परस्परं दर्शनं मेलनं त्वशक्यमेव, यदि कदाचिद्दर्शनादिकं भवति तदा पुनर्जातस्येव भवति, तथा संसारेऽपि" इति सूचयितुं चक्रपदम्। तत्रापि दुखहेतुपापानां बाहुल्याच्चद्वशाच्छत्रूणां दर्शनं सम्भवत्यपि प्रियाणां मित्राणां दर्शनं तु दुर्लभमेव, सुखहेतुपुण्यानां दुर्लभत्वादित्याशयः ॥ २४ ॥ उक्तमेव स्पष्टयति-नेति। हे प्रिय ! सुहृदां मित्राणां सम्यक् सुखपूर्वकमेकत्र वासो नैव भवति। तत्र हेतुमाह—चित्रकर्मणामिति। कर्मणां विचित्रत्वात्तद्वशवर्तिनां मध्ये कस्यचित् पुण्यवशात् सुख भोक्तव्यम्, कस्यचित् पापवशाद्दुःखं भोक्तव्यम्, तथा चोभयविधभोगयोः परस्परविरोधेन परस्परप्रीतिपूर्वकमेकत्र स्थितानामसम्भवात्तद्वशाद्वियुज्यन्ते इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—ओघेनेति। प्लवन्तीति प्लवाः तृण काष्ठादयः, तेषां स्रोतसो नद्या ओघेन प्रवाहेण व्यूह्यमानानां नीयमानानां क्षणमात्रं मिलितानामपि यथा एकत्र स्थितिर्न भवति तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ॥ पुत्रयोः प्रसक्तबुद्धित्वात् पशव्यादिरूपे तस्मिन् वने निर्दोषगोपयोदध्यादिप्रभूतगोपिकास्तन्यादिना पुत्रक्षेमविवित्सया पृच्छति—कच्चिदिति। यत्र त्वमास्से, तद्बृहद्वनं कच्चित् पशव्यं पशूनां हितमस्तीत्यन्वयः। कच्चिदितीष्टपरिप्रश्ने, तेन तदस्माकमित्यर्थः। पशव्यत्वमेव स्पष्टयति—निरुजं रोगरहितम्। भूरीणि अम्बूनि तृणानि वीरुधो लताश्च यस्मिंस्तत्। कालान्तरनिवासस्थानप्रश्नस्यानुपयोगादाह—अधुनेति। अधुनाऽप्येकाकी कदाचित् कार्यार्थमन्यत्रापि तिष्ठति तत्प्रश्नोऽप्ययुक्तोऽत आह—सुहृद्भिः बंधुभिर्वृत इति ॥ २६ ॥ हे भ्रातः ! मात्रा सह मम सुतो भवन्तं तातं पितरं मन्वानो भवद्भ्यां दम्पतिभ्यामुपलालितो भवद्व्रजे कच्चित् कुशलमास्ते इति शेषेणान्वयः ॥ २७ ॥ एवं पुत्रयोः कुशलं पृष्ट्वा "त्वमस्माकं सुहृदामुपकारेण कृतार्थ एव, यशोधर्मादिलाभात्। मम तु कंसभयात् पुत्रादीनां स्थानेषु निलीयस्थितत्वात्तत्पालने सामर्थ्याभावेन धनादिकं सर्वं व्यर्थमेव" इत्याशयेन सामान्यतो लोकमर्यादामाह—पुंस इति। हि यस्मात्। पुंसस्त्रिवर्गो धर्मार्थकामाख्यः सुहृदो भ्रातृपुत्रादिबन्धून् प्रति अनुभावितः सम्पादित एव विहितो वृद्धैरनुज्ञातोऽतस्तेषु सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय न कल्पते सुखाय न भवति ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तं दृष्ट्वेति ॥ तं प्रियतममागतं वसुदेवं दृष्ट्वा प्रीतः प्रसन्नचित्तः प्रेम्णा विह्वलो व्याकुलश्च नन्दः देहो मूर्छितो यथा प्राणे समागते शीघ्रमेवोत्तिष्ठति तथेत्यर्थः। सहसा झटिति उत्थाय दोर्भ्यां भुजाभ्यां सस्वजे आलिङ्गितवान्। ननु नमश्चकार वयसा ज्येष्ठत्वात्। प्रेमवैवश्याद्वा ॥ २१ ॥ पूजित इति ॥ हे विशांपते राजन् ! ततश्च नन्देन स्ववासे समागतत्वात् पूजितः पाद्यासनादिना सत्कृतः अनामयं कुशलं पृष्ट्वा आदृतश्च अतः सुखं यथा स्यात्तथा आसने आसीनः उपविष्टः आत्मजयो रामकृष्णयोः प्रसक्ता धीर्यस्य सः वसुदेवो नन्दं प्रतीदं वक्ष्यमाणमाह स्म ॥२२॥ दिष्ट्येति ॥ हे भ्रातः ! अप्रजस्य सन्तानरहितस्य असिजभाव आर्षः। प्रवयसः वृद्धस्य प्रजाया आशाया निवृत्तस्य च ते तवेदानीं यत्प्रजा समपद्यत प्राप्ता तत् दिष्ट्या भद्रं जातम्। पुत्रो जात इत्युक्ते मिथ्योक्तिः। कन्येत्युक्ते नन्दस्याप्रीतिः। अतः प्रजेति सामान्यापत्यवाचकशब्दप्रयोगः। मत्पुत्रन्यासं स्वकन्याचौर्यं च नन्दो जानाति न वेति शङ्कया वा प्रजाशब्दप्रयोगः। नन्दस्य प्रवयस्त्वादिकं पुत्रे स्नेहाधिक्यसूचनार्थम् ॥ २३ ॥ दिष्ट्येति ॥ अस्मिन् संसारचक्रे वर्त्तमानः

भवान् अद्य पुनर्भवः पुनर्जात इव उपलब्धो दृष्टः इत्यपि दिष्ट्या। यतः प्रियदर्शनं दुर्लभं यद्वा बन्धनादिक्लिष्टस्य मम पुनर्भवो जन्मैव वर्त्तमानः पुनर्जन्मैवाद्याभूदित्यर्थः। यतो भवानुपलब्ध इत्येतावत्कालपर्यन्तमहं भवदनुपलम्भान्मृत इवासमिति भावः ॥२४॥ नैकत्रेति। हे प्रिय! चित्रकर्मणां नानाविधकर्मवशवर्तिनां सुहृदां स्रोतसो नद्या ओघेन प्रवाहेण व्यूह्यमानानां नीयमानानां प्लवन्ते प्लवाः तृणकाष्ठादयस्तेषां क्षणमात्रं मिलितानामपि यथैकत्र स्थितिर्न भवति तद्वत् एकत्र संवासो न भवति। प्रियश्चासौ संवास इत्येकं पदं वा ॥ २५ ॥ कच्चिदिति ॥ यत्र सुहृद्भिर्वृतः त्वम् अधुना आस्से तत् बृहद्वनं कच्चित् इति प्रश्ने। पशव्यं पशूनां हितं निरुजं नीरोगम्। ह्रस्वत्वं छन्दोनुरोधात्। रुजा टाबन्तः। भूरीणि अम्बूनि तृणानि वीरुधो लताश्च यस्मिंस्तादृशमस्ति। अत्र पशव्यादिरूपे तस्मिन्वने निर्दोषगोपयोदध्यादिप्रभूतगोपिकास्तन्यादिना स्वपुत्रक्षेमजिज्ञासया प्रश्नः। "प्रसक्तधीः स्वात्मजयोः" इत्युक्तत्वात् ॥ २६ ॥ भ्रातरिति ॥ हे भ्रातः! मात्रा सह मम सुनो भवंतं तातं पितरं मन्वान इति वर्त्तमानसामीप्यान्मंस्यमान इत्यर्थः। भवद्भ्यां दम्पतिभ्यामुपलालितो भवद्व्रजे कच्चित्कुशलमास्त इति रामकृष्णयोर्जन्माप्यल्पकालान्तरमेव। अत एवैतयोर्युगपद्रिङ्गणादि वक्ष्यते ॥ २७ ॥ पुत्रादर्शनक्लेशानाह पुंस इति ॥ हि यस्मात् पुंसस्त्रिवर्गो धर्मार्थकामाख्यः सुहृदो भ्रातृपुत्रादिबन्धून् प्रत्यनुभावितः संपादित एव विहितो युक्तः वृद्धैः शास्त्रेण चानुज्ञातो वा नतु स्वमात्रपर्यवसितः। अतस्तेषु सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय न कल्पते सुखाय न भवति ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सस्वजे मिलितवान् ॥ २१ ॥ अनामयं कुशलं विशांपते हे मनुष्याणां पते ॥ २१ ॥ हे भ्रातः प्रवयसो वृद्धस्य प्रजा संततिः समपद्यत जाता इति यत् तद्दिष्ट्याभद्रम् ॥ २३ ॥ अस्मिन् संसारचक्रे वर्त्तमानः पुनर्भवः मम पुनर्जन्म इव मया अद्य उपलब्धः प्राप्तः कुतः यतः प्रियदर्शनं दुर्लभं जनानां पुनर्जन्मतुल्यं भवति ॥ २४ ॥ हे प्रिय सुहृदामतिस्नेहवतां एकत्र संवासो न स्यात् तेषां विचित्रकर्मत्वात् स्रोतसो जलप्रवाहस्य समूहेन प्लवानां तृणकाष्ठादीनां यथा एकत्र स्थितिर्न स्यात् तद्वत् ॥ २५ ॥ पशोर्हि जनकं पशव्यं भूरीणि अम्ब्वादीनि यस्मिन् निरुजं कुशलं कच्चित् रुजेरिगुपधलक्षणः कप्रत्ययः यत्र वने त्वं आसे स्थितोऽसि ॥ २६ ॥ मम सुतः रामः मात्रा रोहिण्या सह दंपतिभ्यामुपलालितः सन विरुजः कच्चिदस्ति ॥ २७ ॥ सुतादर्शनखेदेनाह पुंस इति सुहृदः आसन्नसंबंधि पुत्रादीन् प्रतिप्रापतः धर्मार्थकामरूपः यः त्रिवर्गः स हि पुंसो नरस्य विहितो योग्यः महद्भिः प्रोक्तो वा ततः तेषु क्लिश्यमानेषु सत्सु सोऽर्थाय न कल्पते सार्थको न भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति ॥ नन्दः, आगतं स्वावमोचने समायातं, तं स्वभ्रातरं वसुदेवं, दृष्ट्वा, आगतं प्राणं प्रति, देहः इव, सहसा उत्थाय प्रीतः, प्रेमविह्वलश्च सन्, प्रियतममतिप्रेमास्पदं वसुदेवं, दोर्भ्यां, सस्वजे समालिङ्गितवान्। अनेन निरतिशयप्रीतिविषयत्वं सूचितम् ॥ २१ ॥ पूजित इति ॥ ततः पूजितः नन्देन कृतपूजनो वसुदेवः, सुखं यथा तथा, आसीनमुपविष्टं नन्दं, आदृत आदरयुक्तः सन्, अनामयमारोग्यमाधिव्याधिराहित्यमिति यावत्। पृष्ट्वा, हे विशां पते, स्वात्मजयोः स्वीयद्वयोरपि पुत्रयोः प्रसक्तधीरासक्तचित्तः सन्, इद वक्ष्यमाणं, आह ॥ २२ ॥ तदेवाह षड्भिः ॥ दिष्ट्येति ॥ हे भ्रातः, अप्रजस्यानपत्यस्य सतः प्रवयसः वृद्धस्य, अत एव, प्रजाशायाः संतानवाञ्छायाः, निवृत्तपुत्राशस्येत्यर्थः। ते तव, इदानीमधुना, प्रजा पुत्रः, समपद्यत जातः। इति यत्, एतत्, दिष्ट्या। दिष्ट्येत्यानन्दद्योतकमव्ययम्। अयमस्माकं महानानन्दो जात इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि ॥२३॥ दिष्ट्येति। अस्मिन् संसारचक्रे, वर्त्तमानः भवान्, पुनः भवतीति पुनर्भवः पुत्ररूपेण पुनरुत्पन्नः, एतत् दिष्ट्या। तथा अद्य भवान्, मया उपलब्धो दृष्टः इत्येतदपि, दिष्ट्या। तत्र हेतुः। प्रियदर्शनं दुर्लभम्। यद्वा, अस्मिन् संसारचक्रे वर्त्तमानः एव अहं पुनर्भवः, कंसभयस्य कथंचिन्निवृत्तत्वात् पुनर्जातप्राय एवेत्यर्थः। एवंभूतेन मया, अद्य भवान् उपलब्ध इति। अन्यत्पूर्ववत्। यद्वा। पूर्वार्द्धं पूर्ववत्। अद्यास्मिन्नेव जन्मनि, भवान् उपलब्धः संप्राप्तः, एतद्दिष्ट्या प्राक् शृङ्खलितस्य मम, प्रियदर्शनं प्रियतमस्य भवतो दर्शनं, दुर्लभम् ॥२४॥ दुर्लभत्वमेवाह। नैकत्रेति। हे प्रिय प्रेमास्पदीभूत नन्द, चित्राणि नानाविधानि कर्माणि येषां तेषां, सुहृदां, एकत्र एकस्मिन्नेव स्थाने, संवासः, न भवति, कथमिव। स्रोतसः प्रवाहस्य, ओघेन पूरेण, व्यूह्यमानानामितस्ततो विविधं नीयमानानां, प्लवन्त्युत्प्लुत्य गच्छन्तीति प्लवास्तृणकाष्ठादयस्तेषां, यथा एकत्र वासो दुर्लभस्तद्वत्। प्रियश्चासौ संवासश्च प्रियेण सह संवास इति वा। चित्रकर्मणामिति प्लवानामपि विशेषणम् ॥ २५ ॥ पशव्यादिरूपे तन्निवासभूतवने निर्दोषगोपयोदध्यादिना प्रभूतगोपिकास्तन्यादिना पुत्रक्षेमजिज्ञासया पृच्छति। कच्चिदिति। हे भ्रातः, यत्र बृहद्वने, त्वं सुहृद्वृतः स्वसुहृज्जनसहितः, अधुना, आस्से निवससीत्यर्थः। तत् बृहद्वनं, पशव्यं पशुभ्यो हितकरं, निरुजं निरोगकरं, अम्बु जलं च तृणानि घासाश्च वीरुधो गुल्मानि च भूर्यो जलादयो यस्मिन् तथाविधं, कच्चित्। कच्चिदितीष्टप्रश्नद्योतकमव्ययम्। सर्वथा कुशलमास्ते किमित्यर्थः ॥ २६ ॥ भ्रातरिति। हे भ्रातः; भवन्तमेव, तातं पितरं मन्वानः, मम सुतः रोहिण्यास्तनय इत्यर्थः। मात्रा स्वजनन्या सह, भवद्व्रजे, भवद्भ्यां, उपलालितः उपलालनतां गमितः, कच्चित्। कुशल्यास्ते किमित्यर्थः ॥ २७ ॥ अथ सत्यपि संताने तद्दर्शनस्पर्शनोपलालनाद्यभावान्निर्विण्णः किंचिल्लोकपरिपाट्याह। पुंस इति। त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः, सः यदि, सुहृदः देहानुबन्धिनः प्रति, अनुभावितोऽनुभवं प्रापितः, तर्हि

तु पुंसः, सः विहितः युक्तः। अन्यथा तु नेत्याह। तेपु सुहृत्सु, क्लिश्यमानेपु सत्सु, त्रिवर्गः, अर्थाय प्रयोजनाय, न कल्पते हि। गृहिणां स्वाश्रमे धर्माद्यनुसेवनमेव परमसुखरूपं तच्च पुत्रादिसुहृद्भिः सह संसेवितं स्यात्तदा तु तत्तथाविधमेव, सुहृदादीन्विहाय यदा संशीलितं तदा तन्न सुखावहमिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पूजित इति १०. ५. २२.

जानन् जगत्पतिरयं खलनाशकश्च श्रीकान्त इत्यनुभवादपि तत्त्वदृष्ट्या।
आनर्द यत्तदवनाय स नन्दमस्मात् मन्ये ममत्वसरणिर्भुवि दुर्विलङ्घ्या ॥ १३ ॥

कृष्णप्रिया

जैसे देह में प्राण संचार होने पर, देह उठ खड़ी हो जाती है वैसे ही नन्दजी भी वसुदेवजी को देखकर सहसा उठ खड़े हो गये, प्रसन्न हुए और प्रेम से व्याकुल हो दोनों भुजाओं से प्रियतम से आलिङ्गन किया ॥ २१ ॥ नन्दरायजी से सुपूजित, सुख से विराजमान, कुशल प्रश्नों से समादर पाये हुए अपने पुत्रों में आसक्त बुद्धि वाले वसुदेवजी यह कहने लगे कि हे वैश्यों के स्वामी! हे नन्दराय! हे व्रजराज ॥ २२ ॥ हे भाई! आप तो अत्यन्त वृद्ध हो गये आपको न कोई सन्तान थी भैया! आप संतान की आशा भी छोड़ चुके थे। यह बड़े आनन्द की बात है कि अग्रज तुम्हें अब संतान प्राप्त हुई ॥ २३ ॥ परम हर्ष की बात है कि इस संसार चक्र में चक्कर काटते हुए मैंने नया जन्म पाया है कि आज मुझे मिले हो। यह सद्भाग्य से हुआ है क्योंकि प्रियतम के दर्शन दुर्लभ होते हैं ॥ २४ ॥ जल के प्रवाह से बहती हुई नौका, तृण और काष्ठ आदि का निवास जैसे एक स्थान पर नहीं होता, वैसे ही विचित्र प्रारब्धवाले सम्बन्धियों का सुख देनेवाला निवास एक स्थान पर संभवित नहीं ॥ २५ ॥ प्यारे भैया! आप आज जिस महावन में अपने बन्धु बान्धवों के साथ विराजमान हो वह महावन तुम्हारे पशुओं के रमण युक्त है न! फिर तुम्हारे पशु, रोग आदि रहित तो है न! और वहाँ जल, घास और लता आदि की विपुलता तो है न!॥२६॥ मेरे भैया! मेरा पुत्र जो आपको पिता करके मानता है एवं आप दोनों प्रेम के साथ जिसका लालन पालन करते हो, वह लालन निज माता के साथ आप के गोकुल व्रज में कुशल है न!॥ २७ ॥ पुरुष के लिए वही (धर्म, अर्थ, काम नामका त्रिवर्ग शास्त्रविहित है जिससे बन्धु बान्धवों का भी अभ्युदय हो यदि निज बन्धु बान्धव क्लेशों को भोग रहे हैं तो वह त्रिवर्ग श्रेयस्कर नहीं है ॥ २८ ॥

[१]

अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः। एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता ॥ २९ ॥
नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः। अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥ ३० ॥

वसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे[२] दृष्टा वयं च वः। नेह स्थेयं बहुतिथं[३] सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥ ३१ ॥

[४]

इति नन्दादयो गोपा[५] प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः। अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य[६] गोकुलम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[७] नन्दवसुदेवसङ्गमो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अहो ते बहवः देवकीपुत्राः कंसेन हताः एका अवरजा कन्या अवशिष्टा सा अपि दिवं गता ॥ २९ ॥ नूनम् अयम् जनः अदृष्टनिष्ठः अदृष्टपरमः आत्मनः तत्वम् अदृष्टम् (एवं) यः वेद स न मुह्यति ॥ ३० ॥ वार्षिकः करः राज्ञे वै दत्तः च वयं वः दृष्टाः इह बहुतिथं न स्थेयं च गोकुले उत्पाताः सन्ति ॥ ३१ ॥ शौरिणा इति प्रोक्ताः नन्दादयः गोपाः तम् अनुज्ञाप्य अनुडुद्युक्तैः अनोभिः गोकुलं ययुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

१. नन्द उवाच—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त.। २. राज्ञो—इति कस्यचित्। ३. बहुदिनम्—वीर. विजय.। ४. शुक उवाच—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त.। ५. गोपाः श्रीधरः वंशी. वीर. गिरि. भक्त.। ६. अनुज्ञाय—वीर.। ७ पूर्वार्धे श्रीधर. ; नन्दवसुदेवसमागमः पञ्चमो श्रीधर.।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नंदो वसुदेवं सांत्वयन्नाह। अहो इति॥ २९॥ अदृष्टे एव निष्ठा समाप्तिर्यस्य सः यदैव पुत्रादिसुखप्रदमदृष्टं हीयते तदैव ते पुत्रादयो न भवंतीत्यर्थः। तथा अदृष्टपरमः अदृष्टमेव परमं यस्य सः। यद्यपि पुत्रादयो वियुक्तास्तथाऽपि तानदृष्टमेव पुनः संगमयतीत्यर्थः। एवमदृष्टमात्मनस्तत्त्वमव्यभिचारिकारणं सुखदुःखयोर्यो वेद स न मुह्यति तस्मादिदानीं त्वया न दुःखं भावनीयं मृतानामपि वियुक्तानामपि च कालांतरे दर्शनयोगयोः संभवात्। अस्मदादिभिरपि कालांतरे तद्वियोगे सत्यतप्यत एव न दुःखं संभावनीयमिति नंदस्य दैवी वागेषा भावि सूचिका॥ ३०॥ तां बुद्ध्वा वसुदेवो दुःखं त्यक्त्वा नंदमाह। करो वै इति। वो युष्माभिः॥ ३१-३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० टीकायां पंचमोऽध्यायः॥ ५॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

नंद इति श्रुत्वा। सांत्वमाह त्वत्पृष्टं मद्व्रजे क्षेममहं किं ब्रवीमि यदहं त्वद्दुःखेनैव महादुःखीत्याह—अहो इति। किञ्च मत्पुत्रन्यासादिकमस्य न विदितमिति ज्ञात्वा वसुदेवो गताशंकोन्तरानंदितो बभूवेत्यपि ज्ञेयञ्चात्र॥ २९॥ इत्यर्थ इति। अदृष्टाधीनमेव दुःखादीत्यर्थः। अदृष्टं प्राचीनं कर्म। इत्यर्थ इति। संयोगवियोगावप्यदृष्टाधीनाविति भावः। मृतानामपीति जमदग्निसत्यवदादौ तथा दृष्टत्वादिति भावः। अस्मदादिभिरपि तद्वियोगे रामकृष्णवियोगे। कालांतरे आगामिनि समये। न दुःखं विभावनीयमिति संबंधः। यद्वा—न मृषेति हेतोर्हरिं मनोहरं स्वसुतं पथि विशेषतो न जाने तत्र किं वृत्तमिति चिंतयन् शरणं निजगृहं जगाम। दैवी देवोच्चारिता। एषाऽस्मदादिभिरपीत्यादिरूपा। भाविसूचिका भविष्यद्बोधिका॥ ३०॥ तां नंदप्रोक्तां वाचम्। इह मथुरायाम्। बहुतिथं चिरकालं पूरणप्रत्यये डटि तिथुगागमः "बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्" इति सूत्रेणेति। उत्पाता अनर्थसूचका उपद्रवाः॥ ३१॥ अनोभिः शकटैः "अनः स्याद्वासुदेवान्ये जनन्यां शकटेऽपि च" इति धरणिः। अनड्‌द्युक्तैर्वृषयुक्तैः॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भवता यद्व्रजक्षेमं पृष्टं तदस्त्येव वयं तु त्वद्दुःखेन तदपि कथयितुं न शक्नुम इति व्यञ्जयंस्तमेवानुशोचति—अहो इति खेदे॥ २९॥ सान्त्वयति–नूनं निश्चये हि एव अदृष्टनिष्ठ एव न मुह्यति मोहेन शोकं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अन्यत्तैः। तत्र न भवन्ति दर्शनं न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। मृतानामपीति जमदग्निसत्यवदादौ दृष्टत्वादिति भावः। तस्मादित्यादिकं स्वस्यैव मत्यनुसारेण नतु श्रीमन्नन्दस्येति न रसभङ्गः सत्यपीत्यस्य दर्शनयोगयोः सम्भवादित्यनेनैव सम्बन्धः यद्वा अदृष्टादेव निष्ठा मरणं यस्येति तव तत्पुत्राणां च तादृशादृष्टत्वात्ते मृता इत्यर्थः। ननु, तर्हि जन्मैव वरं तत्राह, अदृष्टमेव परमं जन्मकारणं यस्येति एवं च परस्पर-संवादो मनुष्यलीलयैवेति ज्ञेयम्॥ ३०॥ अहो ते देवकीपुत्रा इत्यादि श्रीनन्दोक्त्या लोकेषु पुत्रपरिवर्तनज्ञानादिशङ्कानिवृत्तेः परमहृष्टः श्रीवसुदेवस्तं प्रति समागममूलमुपदिशति—कर इति। वो युष्माभिः करो दत्त एव वयं च दृष्टा एव तस्माद्वो युष्माभि-र्महाधनित्वेन विख्यातैरिह लुब्धस्यास्य समीपे बहुतिथं चिरकालं न स्थेयम् अत एव व इति पौनरुक्त्यं व इति बहुत्वं गौरवात् तत्सङ्गिसङ्ग्रहाद्वा वयमिति च तद्दर्शनेनात्मनो बहुमानात् व इति पौनरुक्त्यं भिन्नवाक्यत्वाददोषः। यद्वा वो युस्मदीयाः वयं त्वत्स्नेहेन दिनकतिपयतिष्ठासुन्तं प्रत्याह, बहुतिथम् अत्र राजधान्यां न स्थेयं तथा च श्रीविष्णुपुराणे "दत्तो हि वार्षिकः सर्वो भवद्भिर्नृपतेः करः। यदर्थमागतास्तस्मान्नात्र स्थेयं महाधनैः" इति करो वै इति क्वचित्पाठः बहुतिथमिति पूरणप्रत्यये झटिति थुगागमात् "बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्" (५।२।५२) इत्यनेन ततो बहुतिथं यथा स्यात्तथा न स्थेयमिति लब्धे बहूनां पूरणीया स्थितिः सा नानुष्ठेयेत्यर्थे चिरकालं न स्थेयम् इत्येव विवक्षितं तथापि निजसङ्गसुखापेक्षया शीघ्रमजिगमिषुमिवालक्ष्य भाषयति सन्तीति॥ ३१॥ प्रकर्षेण न्यायदर्शनादिनोक्ताः अनड्वाहः अनोवहनसमर्थाः महावृषभास्तद्युक्तैरिति शीघ्रगमनार्थं तमनुज्ञाप्य तदनुज्ञामादाय गोकुलं ययुः प्रतस्थिरे॥॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां पञ्चमोऽध्यायः। ५॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इत्थं दुःखशोकपरं श्रीवसुदेवमालक्ष्य तेन पृष्टमपि निजक्षेमवृत्तं विनयेन साक्षादनिरूप्याप्रत्युत्तरेणैव सर्वमनुमोद्य तं सान्त्वयति-अहो इति खेदे॥ २९॥ नूनं निश्चये, 'हि' एव, अदृष्टनिष्ठः एव; न मुह्यति मोहेन शोकं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अन्यत्तै-र्व्याख्यातम्। यद्वा, अदृष्टादेव निष्ठा मरणं यस्येति तव त्वत्पुत्राणाञ्चैतादृशादृष्टत्वात्ते मृता इत्यर्थः। ननु तर्हि जन्मैव वरम्? तत्राह

अदृष्टमेव परमं जन्मकारणं यस्येति ॥ ३० ॥ अहो ! ते देवकीपुत्रा इत्यादि श्रीनन्दोक्त्या लोकेषु पुत्रपरिवर्तनज्ञानादि शंका-निवृत्तेः परमहृष्टः श्रीवसुदेवस्तं प्रति समागममूलमुपदिशति–कर इति। 'वः' इति बहुत्वं गौरवात्तत्सन्धि-संग्रहाद्वा, वयमिति च तद्द्रष्टृत्वेनात्मनो बहुमानात्। व इत्यस्य पुनरुक्तिर्भिन्नवाक्यत्वाददोषः। यद्वा, वो युष्माकं देयः सर्वोऽपि करः, वो युष्मदीया वयमिति वा, किंवा वो युष्माभिर्महाधनिभिरित्यर्थः। बहुतिथं चिरकालमिह राजधान्यां न स्थेयम्, तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।५।३) 'दत्तो हि वार्षिकसर्वो भवद्भिर्नृपतेः करः। यदर्थमागतास्तस्मान्नात्र स्थेयं महाधनैः॥' इति, तथापि निजसंगसुखा-पेक्षया शीघ्रमजिगमिषुमालक्ष्य भावयति–संगीति। एतदपि सर्वं (२२ श श्लो०) स्वात्मजप्रसक्तधीत्वोक्तौ पर्य्यवस्यति, उत्पाता-शंकया श्रीनन्दस्य पुत्रार्थं गोकुलत्यागनिवारणात्तथा विविधप्रयत्नेन तदासक्तिविवर्द्धनाच्च यद्यपि यथा कथञ्चिद्भगवत्सम्बन्ध-मात्रेणाशेषोत्पातानामभावः कुतः साक्षात्तन्निवासवरे श्रीनन्दगोकुले तत्सम्भावनापि, तथापि निखिललोकानन्दकश्रीभगवन्मा-हात्म्यविहारविशेषसम्पत्त्यर्थम, तथा तदुत्पातशंकटतः श्रीभगवति तत्रत्यानां स्नेहभरवृद्धये च तदिच्छयैव ते स्युरिति ज्ञेयम्। तच्चाग्रे तत्र तत्र व्यक्तं भाति ॥ ३१ ॥ प्रकर्षेण न्यायप्रदर्शनादिनोक्ताः। अनड्वाहो महावृषभास्तद्युक्तैरिति शीघ्रगमनार्थं तमनु-ज्ञाप्य तदनुज्ञामादाय गोकुलं ययुस्तत्र प्रस्थानं चक्रुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातनगोस्वामिपादकृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अदृष्टमात्मन इति आत्मनोपेक्षितं दृष्टान्तत्वेन यो वेदेत्यर्थः ॥ ३०–३१ ॥ शौरिणा वसुदेवेन अनोभिः शकटैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे शुकपक्षीये श्रीसुदर्शनसूरिकृते पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वसुदेवं सान्त्वयन्नाह नन्दः—अहो इति द्वाभ्याम्। अहो इति खेदे क्षेत्रजत्वशङ्काव्यावृत्तये ते इत्युक्तम् ॥ २९ ॥ एवमनुशोच्याथ तत्त्वबोधेन समाधत्ते—नूनमिति। अयं परिदृश्यमानो जनो नूनं ध्रुवम् अदृष्टनिष्ठ अदृष्ट एव निष्ठा समाप्तिर्यस्य सः अदृष्टसमाप्त्यनुसमाप्तसुखदुःखादिक इत्यर्थः। पुत्रोत्पत्तिविपत्तिप्रयुक्तसुखदुःखकारणभूतादृष्टानुरोधित्वात्तदुत्पत्तिविपत्तिप्रयुक्ते सुखदुःखे न नियते इत्यर्थः—

"यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ !। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते" ॥

इत्युक्तरीत्या सुखदुःखयोरनियतत्वात्तन्न सामान्येन भवितव्यमिति भावः। अत एवादृष्टपरमः अदृष्टमेव परमं प्रभुः वशी यस्य स अदृष्टायत इत्यर्थः। एवमात्मनः स्वस्य तत्त्वं तस्य सुखदुःखादिमतो भावस्तत्त्वं सुखदुःखादिमत्त्वमदृष्टमदृष्टमूलकं यः पुमान् वेद स न मुह्यति समसुखदुःखो भवतीत्यर्थः। यद्वा सुखदुःखादिकमदृष्टायत्त मत्वाऽदृष्टमतीन्द्रियं स्वसंवेद्यमात्मनस्तत्त्वं याथात्म्यं यो वेद देहविलक्षणात्मयाथात्म्यानुभवपरो भवेत्स न मुह्यति देहतदनुबन्धि प्रयुक्तसुखदुःखवैचित्र्यं न प्राप्नो-तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ एवं विवेकोद्बोधकं नन्दवचो निशम्य नन्दं प्रति प्रकृत वक्तव्यमाह वसुदेवः—कर इति। राज्ञे कंसाय वार्षिकः करो दत्तः अतः प्रयोजनं नावशेषितमिति भावः। ते त्वया वयं दृष्टाश्चातोऽत्र त्वया बहुदिनं बहूनां दिनानां समूहः तन्न स्थेयम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया बहुदिनमिति चो हेत्वर्थः यतः गोकुले बहव उत्पाताः सन्त्यतो नात्र स्थेयमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ इत्थं शोरिणा वसुदेवेन प्रोक्तास्ते नन्दादयो गोपास्तं वसुदेवमनुज्ञायापृच्छ्य तं कंसं वाऽनडुद्भिर्वृषभैर्युक्तैर्नोभिः शकटैर्गोकुलं ययुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सुतास्तेऽपि सुखिनः कच्चिदिति शेषः ॥ २९ ॥ वसुदेवस्य स्वस्य तत्त्वज्ञानमस्तीति सूचयति—नूनमिति। नूनं प्रायः अयं जनः दृष्टे प्रत्यक्षे कार्ये निष्ठा नितरां स्थितिर्यस्य स तथा हि एवम् अदृष्टपरमो न दृष्टमेव जानाति नादृष्टमित्यर्थः। अत्र य आत्मनः अदृष्टमव्यक्तं तत्त्वं वेद स पुमान् न मुह्यति विपरीतज्ञानी न भवति यथातत्त्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३० ॥ नूनमिदानीमस्मिन् काले च उत्पाता अनर्थसूचकाः ॥ ३१ ॥ अनडुद्युक्तैः वृषभयुक्तैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(विजयध्वजतीर्थरीत्या षष्ठः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यद्यपि त्वत्पृष्टं व्रजकुशलं विद्यते तथापि तद्विज्ञापयितुं त्वद्दुःखमेव न शक्नुम इति व्यञ्जयंस्तमेवानुशोचति—अहो इति ॥ २९–३० ॥ करु इति च करादत्र दण्डभयञ्च तथा वैष्णवे तद्वाक्यं नात्र स्थेयं महाधनैरिति बहुतिथमिति पूरणप्रत्ययान्तं बहुकालपर्य्यन्तं व्याप्येत्यर्थः ॥ ३१ ॥ अनडुद्युक्तैरिति शीघ्रगमनार्थप्रसिद्धमेवोक्तम् अनडुद्विशेषव्यञ्जनया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

त्वत्पृष्टं मद्व्रजक्षेममस्तीति किं ब्रवीमि यदहं त्वद्दुःखेनैव महादुःखीत्याह—अहो इति । ततश्च मत्पुत्रन्यासादिकमस्य न विदितमिति ज्ञात्वा वसुदेवो गताशङ्कोऽन्तरा नन्दितो बभूवेति ज्ञेयम् ॥ २९ ॥ भो भ्रातः ! अयन्दुष्पारोपि विपत्सिन्धुर्विवेकपोतेनैव तीर्य्यतामित्याह—नूनमिति । अदृष्ट एव निष्ठा समाप्तिर्यस्य सः यदैव पुत्रादिसुखप्रदमदृष्टं हीयते तदैव पुत्रादयो न भवन्तीत्यर्थः । अदृष्टमेव परमं मृतवियुक्तपुत्रादीनामपि सङ्गमकारणं यस्य सः एवमदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेदेति त्वत्तुल्यः कोऽन्यो विवेकीति तव माऽस्तु मोह इति भावः ॥ ३० ॥ ज्ञाततत्त्वो वसुदेवो यद्वक्तुमागतस्तदाह—करु इति । वै निश्चितं वो युष्माभिः बहुतिथं चिरकालम् ॥ ३१–३२ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमे पञ्चमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीनन्दस्तु नैतावन्मात्रं तव दुःखमन्यदपीत्याह—अहो इति ॥ २९ ॥ सर्वं भगवदायत्तमतस्तत्प्रावण्यं सर्वदुःखनिवृत्तिहेतुरित्याह—नूनमिति । अदृष्टे अतीन्द्रिये भगवति निष्ठा स्थितिर्यस्य सः अदृष्टः परमः प्रवृत्त्यादिहेतुर्यस्य सः भगवदायत्तस्थितिप्रवृत्त्यादिमानयं सर्वोऽपि जन इत्यर्थः । "यदासीत्तदधीनमेवासीत्" इति श्रुतेः—

"सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाऽभयमेव च । अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।

इति श्रीमुखोक्तेश्च, यस्तु अदृष्टमेव आत्मनः स्वस्य तत्त्वं मूलं वेद सन् मुह्यति मोहं न प्राप्नोति संसाराद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति श्रुतेः "ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" इति श्रीमुखोक्तेश्च ॥ ३० ॥ भगवतः प्रभावं श्रुत्वा प्रसन्नधीस्तल्लीलादर्शनार्थं श्रीनन्दं प्रवर्तयति—करु इति वो युष्माभिः ॥ ३१ ॥ अनडुद्युक्तैरनोभिः शकटैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे पञ्चमाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ ५ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

यद्व्रजे क्षेममेवास्ति तद्वक्तुं नाहं प्रभवामि त्वत्क्लेशेन क्लिष्टत्वादितिभावेनाह अहो ते इति । एकावशिष्टेति ततश्च मत्पुत्रन्यासतत्कन्यानयने नन्दो न वेदेति प्रजायदितिरहस्यरक्षणवचनमबाधमिति शौरेर्निःशङ्कताभूदितिबोध्यं यद्यपि नन्दः शौरिश्च ज्ञानित्वात् तत्तत्सर्वं जानीयादेव तथापि पराशक्तिस्तद्रहस्यरक्षिणो कदाचित् किञ्चित् ज्ञानमावृणुयादितिबोध्यम् ॥ २९ ॥ भ्रातः क्लेशनदीं विवेकपोतेन तीर्यतामित्याह नूनमिति । निश्चयेनायं जनोऽदृष्टनिष्ठः अदृष्टे निष्ठा समाप्तिर्यस्य स यदैव पुत्रादिसुखदमदृष्टं क्षीयते तदैव ते पुत्रादयो न भवन्तीत्यर्थः । अदृष्टमेव परमं मृतवियुक्तपुत्रादीनां संयोगहेतुर्यस्य सः योऽदृष्टमेवात्मनस्तत्त्वं दुःखसुखयोर्निमित्तं वेद स न विमुह्यतीति विवेकेन मोहं जहीति भावः ॥ ३० ॥ भ्रातुः स्वस्य च हितमिच्छन्नाह करो वै इति बहुतिथं चिरकालम् ॥ ३१ ॥ अनोभिः स्यन्दनैः "अनः शाता शकटः स्यन्दनः कथ्यते रथः" इति हलायुधः न च रथयानसम्पत्तिर्नास्तीति शक्यं युक्तं व्रजः सर्वसमृद्धिमानिति व्याकोपात् गोप्यो रूढरथा इति तत्प्रजानां तत्सम्पत्त्यभिधानाच्च तस्य कैमुत्येन तत्सिद्धेः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

एवं वसुदेवाभिनन्दितो नन्दः किमाहेत्यत आह ॥ नन्द इति । देवकीपुत्रास्तज्जातपोताः कंसेन बहवो हता एका कन्याऽवरजा चरमकुमारी सापि दिवं गतेति । अवशिष्टा उर्वरिताः देवकीपुत्रा इत्यनेनार्थादन्यासां पुत्राः सन्तीत्यायातम् । ते सुताः सुखिनः कच्चिदिति शेष इति व्यातन्वते ॥२९॥ वसुदेवोपदिष्टतत्त्वो नन्दः स्वस्यापि तत्त्वसंविद्वर्तत इति दर्शयति नूनमिति । अयं जनो दृष्टनिष्ठो दृष्टे प्रात्यक्षिकेऽर्थे निष्ठा स्थितिर्यस्य स नूनं प्रायो हि यतस्ततोऽदृष्टं परमो दैवं वा वासुदेवो वा यथा कारयति तथा

भविष्यतीत्यदृष्टं हर्यादिकं परमं यस्य स तथा स न अतो मुह्यति संसारादौ मोहयुक्तो भवति। आत्मनस्तत्त्वं फलोपलम्भकं वेद स जनो न मुह्यति। त्वं चादृष्टपरमेष्वेक इति मया किं वक्तव्यमिति तात्पर्यम्। तत् त्वमिति वा पदे। तददृष्टत्वं जगदन्यद्धर्याख्यं वसु स भवान्वेदेति न मुह्यतीति योजना वा ॥ ३० ॥ वयं वो युष्माभिर्दृष्टा यो युष्मांश्च द्वयं दृष्टवन्त इत्यन्वेतव्यमिति सूचयति। स्वस्यैष्यज्ञतां दर्शयति ॥ नेह स्थेयमित्यादिना ॥ ३१ ॥ अनडुद्भिर्वृषभैर्युक्तैरनोभिः शकटैः। वृषोऽनड्वान् क्लीबे न शकटोऽस्त्रीत्युभयत्रामरः। तं वसुदेवमनुज्ञाप्य गोकुलं ययुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ १०-६ ॥ ५ ॥

श्रीसुबोधिनी

दृव्यादिदानं तु भेदजनकं, एतत् पृष्टमवचनेनैवाङ्गीकृत्य वसुदेवस्य सम्भावनामाह नन्द अहो इति, लोकरीत्या तस्य दुःखे निरुक्ते दुःखाभावो भवति, परमार्थज्ञाने च वसुदेवस्य सुखं भवति, वृत्तान्तकथनेन स्वस्यैतदन्वेषणं सर्वदेति ज्ञापितं, यद्यपि वसुदेवस्य बह्व्यः स्त्रियस्तासां पुत्राश्च कुशलिनोपि देवकीपुत्राः कंसेन बहव एव षड् हताः, सत्रैव भगवद्गुणैः सह तस्य द्रोहः सिद्धः, अत एव अहो इत्याश्चर्यं, एको हि मारणीयः, एका त्ववशिष्टावरजा, सर्वान्ते जाता, एतद् भगवच्चरित्रं, अन्यथान्यवचनानां निरूपणमत्र नोपयुज्येत, सापि चेद्वत्यादिकमुत्पाद्य विवाहानन्तरं गच्छेत् तथापि देवक्याः कृते वंशस्तिष्ठेत् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह कन्येति, सापि सिद्धापि देवतारूपापि पुत्राभावखेदनिवर्तिकापि दिवं गता स्वयमेवोड्डीय सशरीरं गता, अनेन न केवलं कंसस्यैव दोषो भाग्यमेव तादृशमिति ज्ञापितं, अन्यथा पश्चात् सा समागच्छेत् ॥ २९ ॥ कंसकृतं तु भयं तस्या नास्तीति तस्मादेतादृशेर्थेदृष्टमेव प्रयोजकमित्याह नूनमिति, सर्वस्यापि पुरुषस्यादृष्टे निष्ठा, अयं तु कर्मप्रधानः, यत् किञ्चित् करोतु पर्यवसानमदृष्टाधीनमित्यर्थः, प्रारम्भोप्यदृष्टाधीन एवेत्याहादृष्टपरम इति, अदृष्टमेव परमं नियामकं प्रवर्तकं यस्य, अदृष्टादेव प्रवर्तते, अदृष्टानुसारेणैव फलं च प्राप्नोतीत्युक्तं, अत्र हेतुर्जन इति, यस्तु जायते स कर्मवशादेव, कर्मवादिनां तथैव सिद्धान्तः, अतः कर्माधीनं सर्वं ज्ञात्वा यस्तिष्ठति तस्य शोको न भवतीत्याहादृष्टमिति, आत्मनस्तत्त्वं यथार्थरूपं प्रवर्तकनिवर्तकं यथा ब्रह्मवादिनां ब्रह्म यथा भगवांस्तथा कर्मात्मतत्त्वमिति यो मन्यते स न मुह्यति, पक्षान्तरेपूपालम्भोपि कश्चित् स्यात्, कर्मपक्षे स्वकृतत्वान्न कोप्युपालम्भो न प्रार्थनीयः, पक्षान्तरे तु प्रकारान्तरेण मोहः स्यात्, एवं शोकापनोदनार्थं कर्मतत्त्वमुपदिष्टम् ॥ ३० ॥

एवं सम्भाषणेन कियत्कालं स्थित्वा ततो नन्दं प्रेषयितुं वसुदेवस्तस्य भयमुत्पादयति कर इति, तत्कृतमनूद्यते कृतकार्यत्वज्ञापनाय, वार्षिकः करो राज्ञे दत्तो वयं च सुहृदो दृष्टा अतः कौतुकार्थं नेह बहुतिथं स्थेयं, तत्र हेतुर्गोकुले चकारादन्यत्राप्युत्पाताः सन्ति, तथामन्त्रणस्य श्रुतत्वात् ॥ ३१ ॥ एतावच्छ्रवणमात्रेणैव नन्दादयस्ततः शीघ्रं निर्गता इत्याहेतीति, निर्गमने प्रधानगुणभावस्य विस्मृतत्वान् नन्दादय इति, निर्गमने सर्व एवोक्ताः, इत्येवं शौरिणोक्ताः न त्वधिका काचित् सम्भावना जाता, स्वतस्तेषां गमनेपि सामर्थ्यं न जातमिति साधनानां पुरस्कारमाहानोभिरिति, अनडुद्युक्तैर्योजितबलीवर्दैः, तमनुज्ञाप्य तमपि ततः स्वगृहं प्रेषयित्वा लोके यथा स्नेहोभिव्यक्तो न भवति तथा कृत्वा गोकुलं ययुः, मध्ये कंसाद्युपद्रवमप्राप्य सुखेन गोकुलं प्रविष्टा इत्यर्थः।

गोकुलोत्सवमीशानं गोपगोपीगवां हितम्। ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहम् ॥ १ ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरप्रमाणप्रकरण ऐश्वर्यनिरूपकप्रथमाध्यायस्य स्कन्धादितः पञ्चमाध्यायस्य विवरणम्

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अहो ते इत्यत्रैतदित्युत्यवरजात्वज्ञानं, नन्ववरजात्वं न लोकरीत्योक्तं किन्त्वन्यप्रजोत्पत्तिसम्भवाभावेनेत्यत आहुरन्यथेत्यादि, अग्रे प्रजोत्पत्तिसम्भावनायां नूनमित्यादिकं न वदेदित्यर्थः ॥ २९ ॥ नूनमित्यत्र यथा भगवानिति भक्तानामितिशेषः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे पञ्चमाध्यायविवरणम् ॥ ५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अहो इत्यत्र एतच्छ्लोकतात्पर्यमाहुः लोकरीत्येति, अग्रिमश्लोकतात्पर्यमाहुः परमार्थज्ञाने चेति ॥ नूनं हीत्यत्र यथा भगवानिति भगवदीयानामिति शेषः। ब्रह्मपदेनोत्तरकाण्डप्रतिपाद्या ज्ञानशक्तिः कर्मपदेन पूर्वकाण्डप्रतिपाद्या क्रियाशक्तिः भगवत्पदेन भागवतप्रतिपाद्यो ज्ञानक्रियाशक्तिमानिति विभेदः, पक्षान्तरेष्विति ब्रह्मपक्षे भगवत्पक्षे कालपक्षे स्वभावपक्षे चेत्यर्थः, प्रकारान्तरेणेति उपालम्भे प्रार्थनायां वा तदनुरूपफलादाने शोकः स्यादित्यर्थः ॥ ३० ॥ अध्यायार्थप्रकरणार्थौ कारिकया निरूपयन्तो

नमस्यन्ति गोकुलोत्सवमिति, आद्यविशेषणाभ्यां लक्ष्यलक्षणभेदेनोत्सव ऐश्वर्यं चाध्यायार्थो निरूपितः, उत्सवो लक्षणमैश्वर्यं लक्ष्यमितिनिबन्धे निरूपितम "न्यत्रापि गतः कृष्ण" इत्यनेन, प्रकरणार्थमाहुः गोपेति, तामसानां गोपगोपीगवां ज्ञानतः कर्मतश्च हितं गुणज्ञानकार्यं, भगवान पुष्टिमार्गीयज्ञानवान् अतो गुणान् गापयतीत्यर्थः, एतेन उत्तरदलानुभवो निरूपितः, पूर्वदलानुभवमाहुः कर्मत इति, भगवत्क्रिययैव व्याप्ता यथोचितं भजनं कुर्वन्ति, तदुक्तं "गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं" इतिश्लोकविवरणे "भग क्रियाशक्त्यैव व्याप्ता न तु स्वक्रिया काचि"दिति । एवं दलद्वयानुभव उक्तः, इदं निरूपितं निबन्धे "ज्ञानं तु गुणगानं ही"ति कारिकाद्वयेन, तथाच एवं हितं दलद्वयानुभावनेन निरोधस्थैर्यसम्पादकमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गोकुलोत्सवमीशानं गोपगोपीगवां हितम् । ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहम् ॥ इति, गोकुलोत्सवपदेनोत्सवोध्यायार्थत्वेन निरूपितः, ईशानपदेन प्रमाणप्रकरणप्रथमाध्याये क्रमप्राप्तं ऐश्वर्यं निरूप्यत इतीश्वरत्वेन भगवान् निरूपितः, गोपगोपीगवां हितमिति तामसानां गोपगोपीगवां ज्ञानतः कर्मतश्च हितं, इह वियोगावस्थायां यो भगवतोन्तःस्थित्यनुभवः स ज्ञानशब्देनोच्यते, तथा च स्ववियोगावस्थायामन्तः प्रकटीभूय हितकारकमित्यर्थो भवति, संयोगावस्थायां यो लीलया नानाविधविहारः स कर्मशब्देनाभिधीयते, तथा च तादृशविहारेण संयोगावस्थायां परमानन्ददानेन हितकर्तृत्वमेव नोक्तं, एवं वियोगसंयोगावस्थाभेदेन दलद्वयानुभवानन्दमनुभावयित्वा सर्वदा व्रजस्थितान् परमानन्दयुक्तान् यः करोति तमहं नमामीतितामसप्रकरणस्यार्थो निरूपितः, वियोगावस्थाया ज्ञानरूपतोक्तिः संयोगावस्थायाः कर्मरूपत्वोक्तिः परोक्षवादेन ज्ञेया, यतो ज्ञानमार्गे अन्तरेव भगवत्स्फूर्तिरेवं वियोगेपि तथेति ज्ञानरूपतोचिता, एवं कर्ममार्गे सर्वोपि बहिर्व्यापार एव मुख्य एवं संयोगेपीति संयोगस्य कर्मत्वकथनमुचितं, अस्यां कारिकायां यत् सर्वदा गोकुलवासिनां हितकारकत्वमुक्तं तत् केन प्रकारेणेतिप्रकारविशेषजिज्ञासायां श्रीमत्प्रभुकृतं श्रीगोकुलाष्टकमनुसन्धेयं, "श्रीमद्गोकुलसर्वस्वं श्रीमद्गोकुलमण्डन" मित्यादिनाम्नामर्थस्तात्पर्यं च सम्यक्तया भावनीयं, श्रीगोकुलाष्टके हि "श्रीमद्गोकुलसर्वस्व"मित्यादिनामसु कस्मिंश्चिन् नाम्नि संयोगावस्था कुत्रचिद् वियोगावस्था निरूपितेति गोकुलाष्टकमेतत्कारिकाविवरणरूपमिति तदाश्रितैराकलनीयम् ॥ ३२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

गोकुलोत्सवमिति का० १६३ । तामसानां गोपगोपीगवां ज्ञानतः कर्मतश्च हितं गोकुलोत्सवमीशानं नमामीति, एतेन अध्यायप्रकरणार्थौ निरूपितौ, गोकुलोत्सवमीशानमितिपदद्वयेन लक्ष्यलक्षणभेदेन उत्सव ऐश्वर्यं च अध्यायार्थो निरूपितः, लक्ष्यमैश्वर्यं लक्षणमुत्सवः, प्रकरणार्थमाहुर्गोपेति, ज्ञानं गुणगानकार्यं, एतेन उत्तरदलानुभवो निरूपितः, कर्मत इत्यनेन सेवात्मककर्मरूपपूर्वदलानुभवो निरूपितः ॥ का० १६३ ॥

इति पञ्चमोध्यायः ।

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

द्रव्यादिदानं तु भेदजनकं—वसुदेवजी नन्दजी को कंस के डर से निज निवास न ले गये तो द्रव्य भेंट देकर नन्दजी का सत्कार क्यों न किया तब कहते हैं कि 'द्रव्यादिदानं तु भेदजनकं' सुहृद संबन्धियों को द्रव्य देना भेद का जनक है। बन्धुजन को द्रव्य देने से बन्धुत्व न रहेगा और भेद भाव देखने में आएगा। लोकरीति से, दुःखी वसुदेवजी के दुःख का वर्णन करने से उनका दुःख कम होगा और वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने से वसुदेवजी को सुख की प्राप्ति होगी। वार्तालाप में सारी घटना कही जाय तो वसुदेवजी को निश्चय होगा कि सचमुच नन्दजी मेरे हैं, जो मेरी सब बातों का ध्यान सदा रखते हैं। वसुदेवजी को तो बहुत स्त्रियाँ हैं, उनके पुत्र भी हैं और कुशल भी हैं। कंस ने देवकी के छः पुत्र मारे। वे भगवान् के छः गुणरूप थे इससे कंस ने इनको मार कर भगवद्गुणों से विद्रोह किया। नन्दजी आश्चर्यकर अहो अव्यय से बताते हैं कि मारना तो एक को था तो भी छः पुत्र मार दिये। अन्त में उत्पन्न एक कन्या बची थी, यह सब भगवान् की चरित्रलीला है, नहीं तो दूसरे प्रसङ्गों का यहाँ कहना योग्य नहीं था। श्लोक में दिये हुए 'कन्या' पद का आशय यह है कि, वह बची हुई कन्या भी, यदि विवाह कर पुत्रादि उत्पन्न कर बाद में चली जाती तो भी देवकी का वंश तो रह जाता, वह भी न हुवा यह 'कन्या' पद से कहा। वह भी साधारण कन्या नहीं थी, किन्तु सिद्धा, देवतारूपा होते हुए भी तथा पुत्र न होने के दुःख की निवारिका होकर भी स्वयं ही उड़ कर शरीर सहित आकाश में चली गई। इससे ज्ञात होता है कि मात्र कंस का ही दोष नहीं, किन्तु वसुदेवजी के भाग्य का भी दोष है। वसुदेवजी का प्रारब्ध मन्द न होता तो वह कन्या ऐसी थी जो लौटकर आ जाती लेकिन आई नहीं। कन्या को कंस का भय तो था ही नहीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसमें प्रारब्ध ही मूल नियामक है, यह बात अब 'नूनं' इस श्लोक से बताते हैं ॥ २९ ॥

"सर्वस्यापि पुरुषस्य" प्रत्येक पुरुष अदृष्ट के अधीन है यह सिद्धान्त कर्म को ही आत्मा और प्रवर्त्तक मानने वालों का है। जो कर्म का आरंभ, कर्म की प्रवृत्ति, कर्म की समाप्ति ये प्रारब्ध के अधीन है यह बात श्लोक में कही कि 'अदृष्टपरमः जनः' जीव प्रारब्ध के अधीन है प्रवृत्ति भी प्रारब्ध कराता है तथा फल भी उसके अनुसार ही देता है। शास्त्रों में मनुष्य के लिये 'जन' शब्द आया है, वह भी इसलिये कि वह कर्म के अनुसार जन्म लेता है। यह कर्मवादियों का सिद्धान्त है। जो मनुष्य ने समझ लिया सब कुछ कर्माधीन है फिर उनको शोक नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यों को जब कुछ भी सुख-दुःख होता है तो वे कहते हैं कि यह हमारा भाग्य है तदनुसार उनका सिद्धान्त दिखाते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि इस आशय से श्लोक में भी 'अदृष्टं' पद दिया है। 'आत्मनस्तत्त्वं' मूल में जो कहा कि आत्मा का तत्त्व अदृष्ट है उसका यह तात्पर्य है कि कर्ममार्ग में आत्मतत्त्व का सच्चा स्वरूप यह है कि कर्म में प्रवर्तक और कर्म से निवर्तक अदृष्ट है ऐसा जानने से मोह नहीं होगा। ब्रह्मवादियों का आत्मतत्त्व जैसे ब्रह्म है और भक्तों का भगवान् है, वैसे ही कर्मवादियों का आत्मतत्त्व कर्म है। इस प्रकार जो समझ लेता है वह मोहित नहीं होता है। दूसरे सिद्धान्तों में किसी को उलहना भी दिया जा सकता है किन्तु कर्म सिद्धान्त में स्वयं कर्म करने वाला है, इससे किसी का न तो उलहना दे सकता है न किसी की प्रार्थना करनी पड़ती है। दूसरे पक्षों में दूसरे प्रकार से मोह भी होता है। इस प्रकार नन्दरायजी ने शोक मिटाने के लिये वसुदेवजी को कर्मतत्त्व का उपदेश दिया।

श्री प्रकाशकार जी "आत्मनस्तत्वं" का तीन प्रकार से तात्पर्य बताते हैं कि—भक्तों का आत्मतत्त्व 'भगवान्' है। वेद के पूर्व काण्ड में 'कर्म' नाम द्वारा ब्रह्म की क्रिया शक्ति का वर्णन है, उत्तर काण्ड में 'ज्ञान' नाम द्वारा ब्रह्म की ज्ञान शक्ति का वर्णन है और भागवत में ज्ञान और क्रियाशक्तियुक्त ब्रह्म का भगवान् नाम से वर्णन है, वह भक्तों का शेष हैं अर्थात् ब्रह्मवादी ज्ञानी एक ज्ञानशक्ति को ही आत्मतत्त्व मानते हैं कर्मवादी क्रियाशक्ति को ही आत्मतत्त्व मानते हैं किन्तु भक्त, भगवान् (ज्ञान और क्रिया शक्तिरूप पूर्ण ब्रह्म) को आत्मतत्त्व मानते हैं ॥ ३० ॥

इस प्रकार नन्दजी और वसुदेवजी ने कुछ समय वार्तालाप किया पुनः श्री वसुदेवजी नन्दजी को शीघ्र ही गोकुल लौटने के लिये 'करो वै' इस श्लोक से उनके मन में भय उत्पन्न करते हैं।

नन्दबाबा ने कर प्रदानादि कार्य पूर्ण किये थे इसी बात की सूचना वसुदेवजी को नन्दजी कहने के लिये उनके किये हुए कार्यों को दोहराते हैं कि राजन् आपने कंस राजा को वार्षिक कर दे दिया, तथा हम परस्पर सुहृद मिले। अब कुतूहल के कारण विशेष समय यहाँ न ठहरें कारण कि गोकुल में उपद्रव हो रहे हैं। श्लोक में 'च' अव्यय है उसका आशय कहते हैं कि राजन् केवल गोकुल में ही नहीं किन्तु अन्यत्र व्रज में भी उपद्रव हो रहे हैं। मैंने सुना है कि कंस ने अपने मंत्रियों से मन्त्रणा करके उपद्रव करने का निश्चय किया है, इसलिए अब आप यहाँ न ठहरते शीघ्र गोकुल पधारते ॥ ३१ ॥

एतावच्छ्रवण—इतना सुनते ही नन्दजी आदि वहाँ से शीघ्र जाने के लिये तैयार हुए। जाने की शीघ्रता में आगे सेवक पीछे सेवक बीच में राजा आदि छोटे बड़े के क्रम का ध्यान न रखकर 'नन्दादयः' नन्दादिक एक साथ कह दिया। सभी ने साथ में ही मथुरा से प्रस्थान किया। श्री वसुदेव जी ने भी इसी प्रकार से जाने के लिये शीघ्रता की थी, इससे अधिक और कोई सम्भावना नहीं थी। पैदल जाने का भी साहस नहीं था। इसलिये जाने के साधन बैल गाड़ी की तैयारी की। उसी समय वसुदेवजी से आज्ञा लेकर उनको भी अपने घर शीघ्र भेज दिये कि परस्पर प्रेम का लोक में प्रकाश न हो। इस प्रकार सब कार्य समाप्त करके, नन्दरायजी गोकुल गये। श्लोक में दिये 'ययुः' क्रिया का आशय यह हैं कि मार्ग में कंसादिक का कोई उपद्रव न हुआ तथा वे सब सुखपूर्वक गोकुल पहुँच गये।

कारिका—गोकुलोत्सवमीशानं गोपगोपीगवां हितम्। ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहम् ॥ १ ॥ १७३ ॥

कारिकार्थ—तामस भक्त गोप, गोपी और गौओं के ज्ञान तथा कर्म द्वारा कल्याण करने वाले गोकुलोत्सव प्रभु को प्रणाम करता हूं।

श्रीवल्लभलालजी महाराज लेख में स्पष्ट करते हैं कि "ज्ञान" शब्द का भाव बताते हुए कहा है कि जैसे वेद के उत्तरकाण्ड में निरूपित "ज्ञान" द्वारा ज्ञानियों को अनुभवानन्द होता है वैसे ही तामस भक्तों को गुणगान द्वारा अनुभवानन्द करा कर "ज्ञान" से उनका हित किया और जैसे वेद के पूर्व काण्ड में कही हुई क्रियाशक्ति द्वारा कर्मात्मा का भजन कर, कर्म परायण उपासक आनन्दानुभव करते हैं वैसे ही गोपीजनों को अच्युत भगवान्, कान्त रूप से, रमण क्रिया में लीन कर, आपने उनका कर्म द्वारा हित किया। इसी प्रकार दोनों दलों द्वारा अनुभव करा कर निरोध को स्थिर किया।

आचार्यचरणों ने कारिका में 'गोकुलोत्सव' और 'ईशान' पद दिये हैं एवं 'ज्ञानतः' और 'कर्मतः' पद दिये हैं उनका तात्पर्य श्रीयोजनाकारजी बताते हैं कि यहाँ 'गोकुलोत्सव' पद द्वारा 'उत्सव' पञ्चमाध्याय का अर्थ कहा और "ईशान' पद द्वारा

भगवान् के ईश्वरत्व को कहा। वियोगावस्था में जो भगवान् की अन्तःस्थिति का अनुभव होता है उसको यहाँ ज्ञान नाम से कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान ने व्रजभक्तों को जो विरहावस्था में, अन्तःकरण में प्रकट होकर आनन्दानुभव कराया वह अनुभव उत्तरकाण्डस्थ ज्ञान के समान होने से यहाँ ज्ञान नाम से कहा गया है। संयोगावस्था में जो लीलाओं द्वारा अनेक प्रकार का विहार होता है वह विहार यहाँ 'कर्म' नाम से कहा गया है। भगवान् स्वयं प्रकट होकर, भक्तों के साथ साक्षात् स्वरूप से लीलाएँ करते हैं इन लीलाओं से तामस भक्तों को आनन्दानुभूति होती है वह पूर्वकाण्डनिर्दिष्ट यज्ञात्मक कर्मात्मक की क्रियाशक्ति होने से इसको 'कर्म' संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म से तामस भक्तों के हितकारी हुए। भगवान् तामस भक्तों को संयोग वियोग दोनों अवस्थाओं द्वारा आनन्दानुभव कराकर, सदा व्रजभक्तों को परमानन्दसंयुक्त करते हैं। यह तामस प्रकरण का अर्थ है।

वियोगावस्था को ज्ञानरूपता और संयोगावस्था को कर्मरूपता दी। ज्ञानमार्ग में अन्तःकरण के भीतर ही भगवत्-स्फूर्ति होती है तथा वियोगावस्था में भी अन्तःकरण में ही भगवत्स्फूर्ति होती है। इसलिये वियोगावस्था को ज्ञानरूपता कहा वह योग्य ही है। जैसे कर्म मार्ग में सारी क्रिया बाहर होती है वैसे ही संयोगावस्था में सब क्रियाएँ साक्षात् होती हैं। इससे संयोगावस्था को 'कर्म' कहना उचित है। इस कारिका में गोकुलवासियों को सर्वदा सर्वथा भगवान् कैसे हितकारक हैं ऐसी जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हो तो श्रीप्रभुचरणकृत श्रीगोकुलाष्टक पढ़ कर अनुभव करना चाहिये। गोकुलाष्टक इस कारिका की टीका है।

इस कारिका द्वारा इस अध्याय के दो अर्थ 'गोकुलोत्सव' विशेषण से उत्सव और 'ईशान' विशेषण से ऐश्वर्य बताये हैं। निबन्ध में उत्सव को लक्षण और ऐश्वर्य को लक्ष्य कहा है। ज्ञान और कर्म द्वारा तामस गोप, गोपी तथा गौओं का जो हित किया है वह प्रकरणार्थ है॥ ३२॥

श्रीमद्भागवत पुराण दशम स्कंध पूर्वार्ध पञ्चम अध्याय सुबोधिनीजी की मातृपितृतोषिणी समाप्त ॥ ५॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं वसुदेवेन पृष्टो नन्दः 'त्वत्पृष्टं मद्व्रजपशव्यादिकमस्त्येव, तत् किं वक्तव्यम्? तव दैन्यानुभवेन ममापि सुखं नास्ति' इत्याशयेनाह—अहो इति। 'धर्मात्मनोऽपि दुःखमाश्चर्यमेव' इत्याह—अहो इति। देववाणीप्रामाण्याद्यदि शत्रुत्वेन मारणीयस्तदाऽष्टम एक एव मारणीयः, कंसेन तु दुष्टतया ते तव भार्याया देवक्याः पुत्रा बहवो हताः। एका अवरजा पश्चाज्जाता कन्याऽवशिष्टा तन्मारणादुर्वरिता, साऽपि दिवं स्वर्गं गता॥ २९॥ "यदि साप्यत्र तिष्ठेत्तदा तत्पुत्राद्द्वारापि देवकीवंशः प्रवर्तेत। तदपि नाभूदिति न केवलं कंसस्यैवायं दोषः, किन्तु स्वभाग्यमपि तादृशम्। अन्यथा तस्या देवतात्वेन कंसकृतभयाभावादत्रैव तिष्ठेत्" इति सूचयन् एतादृशेऽर्थे सर्वत्रादृष्टमेव प्रयोजकमिति सामान्यत आह—नूनमिति। निश्चितमयं जनः अदृष्टनिष्ठः, अदृष्ट एव निष्ठा स्थितिर्यस्य तथाविधः। अदृष्टशब्दवाच्यपुण्यपापाधीनमेवास्य जन्ममरणयोगवियोगसुखदुःखादिकं सर्वमित्याशयः। तथाऽदृष्टपरमः, अदृष्टमेव परमं नियामकं यस्य सः लौकिकालौकिकव्यापारे प्रवृत्तिरप्यस्य पूर्वादृष्टाधीनेत्यर्थः। हि यस्मादेवमतोऽदृष्टमेवात्मनः स्वस्य तत्त्वं संयोगवियोगदुःखसुखादिकारणं यो वेद जानाति स न मुह्यति। तथाच त्वयाऽपि मोहो न कार्य इत्याशयः॥ ३०॥ एवं प्रश्नोत्तराभ्यां स्वपुत्रयोःकौशल्यं नन्दस्य स्वकर्तृकपुत्रप्रस्थापनकन्यानयनज्ञानाभावं च निश्चित्य कंसकृतमन्त्रश्रवणेन उपद्रवशङ्काकुलचित्तो नन्दं भयमुत्पादयन् व्रजं प्रेषयति कर इति। वो युष्माभिर्वार्षिकः करो राज्ञे दत्तो, वयं च दृष्टाः। अतः कार्यस्य जातत्वादिह स्थाने बहुतिथं बहुकालं न स्थेयम्। तत्र हेतुमाह—गोकुले उत्पाताः सन्तीति। चकारो 'धनिनां राजसन्निधाने चिरं स्थितौ ततोऽपि भयं स्यात्' इति सूचनाय। वैष्णवे स्पष्टं तथोक्तेः॥ ३१॥ शौरिणा वसुदेवेन इत्येवं प्रोक्ता नन्दादयो गोपास्तं वसुदेवमनुज्ञाप्य पृष्ट्वा अनडुद्युक्तैर्वृषयोजितैरनोभिः शकटैर्गोकुलं ययुरित्यन्वयः॥ ३२॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा॥ १॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी॥ २॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने पञ्चमो विवृतोऽध्यायो जन्मोत्सवनिरूपकः॥ ३॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मम व्रजादिकुशलं किं ब्रवीमि अहं तव दुःखेनैव दुःखितोऽस्मीत्याह अहो इति। अहो इति खेदे। कंसेन दुष्टतया ते तव भार्याया देवक्याः पुत्रा बहवो हताः। एका अवरजा पश्चाज्जाता कन्याऽवशिष्टा तन्मारणादुर्वरिता साऽपि दिवं स्वर्गं गता। ततश्च मत्पुत्रन्यासादिकमस्य न विदितमिति ज्ञात्वा वसुदेवोऽन्तरानन्दितो बभूवेति ज्ञेयम्॥ २९॥ नूनमिति। निश्चितमयं जनः अदृष्टनिष्ठः अदृष्टे प्राक्तनपुण्यपापकर्मणि एव निष्ठा स्थितिर्यस्य तथाविधः अदृष्टाधीन इत्यर्थः। तथा अदृष्टपरमः अदृष्टमेव परमं

नियामकं यस्य सः यदैव सुतादिप्रदमदृष्टं हीयते तदैव पुत्रादयो न भवन्ति। वियुक्तानपि चादृष्टमेव संगमयति। अतः अदृष्टमेव आत्मनः स्वस्य तत्त्वं वियोगसंयोगदुःखसुखादिष्वव्यभिचारिकारणं यो वेद जानाति स न मुह्यति तस्मादिदानीं दुःखं न भावनीयम्। मृतानां वियुक्तानां चापि कालान्तरे मेलसम्भवात् अस्माकमपि मेलो यथा जातस्तथा इति नन्दस्य दैवी वागेषा भाविसूचिका॥ ३०॥ कर इति। वो युष्माकं युष्माभिः। शेते षष्ठी। वार्षिकः करो राज्ञे दत्तः वयं च दृष्टाः। अतः कार्यस्य जातत्वादिह स्थाने लोभिनः कंसस्य समीपे भवद्भिर्धनिकत्वेन ख्यातैः बहुतिथं बहुकालं न स्थेयम्। यतः गोकुलेऽपि उत्पाताः सन्ति। चोऽप्यर्थे॥ ३१॥ इतीति। शौरिणा वसुदेवेनेत्येवं प्रोक्ताः नन्दादयो गोपास्तं वसुदेवमनुज्ञाप्य पृष्ट्वा अनड्युक्तैर्वृषयोजितैरनोभिः शकटैर्गोकुलं ययुः॥ ३२॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम्। गङ्गासहायो दशमपञ्चमे निरमादिमाम्।

इति श्रीभागवते दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ते तव देवकी नाम स्त्रीस्तस्याः पुत्राः अवरजा सर्वपुत्रेभ्यः कनिष्ठा॥ २९॥ एवं दुःखमुद्भाव्य पुनस्तस्य शांतिमाह अदृष्टे ईश्वरप्रेरितस्वप्रारब्धकर्मणि निष्ठा स्थितिर्यस्य सः अदृष्टनिष्ठः देहधनपुत्रादिसुखदं अदृष्टं यावदस्ति तावद्देहादयो भवंतीत्यर्थः। अत एव अदृष्टमेव परमं प्रधानं यस्य सः पुत्रादयः अदृष्टेनैवोत्पद्यंते अदृष्टेनैव नश्यन्ति चेत्यर्थः। एवंभूतम् अदृष्टम् आत्मनो जीवात्मनः तत्त्वं सुखदुःखप्राप्तौ कारणं यो वेद स न मुह्यति॥ ३०॥ राज्ञे कंसाय वार्षिकः प्रतिवर्षदेयः। वो युस्माभिः बहुतिथं बहवः, तिथयो यस्मिन् यथा तथा बहुदिनं न स्थेयम्॥ ३१॥ अनुज्ञाप्य अनड्युक्तैः बलीवर्दयुक्तैः। अनोभिः शकटैः॥ ३२॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने नंदवसुदेवसंगमो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथ नन्दो वसुदेवं सान्त्वयन्नाह द्वाभ्याम्। अहो इति खेदे। हे वसुदेव, ते तव देवकीपुत्राः देवक्यां जाताः सुताः, कंसेन बहवः हताः। क्षेत्रजत्वशङ्काव्यावृत्तये ते इत्युक्तम्। एका, अवरजा पुत्रेभ्यः पश्चाज्जाता, कन्या स्वयं अवशिष्टा। सापि, दिवं गता॥ २९॥ एवमनुशोच्याथ तत्त्वबोधेन समाधत्ते। नूनमिति। यः अयं परिदृश्यमानः जनः, नूनं ध्रुवं, अदृष्टे एव निष्ठा समाप्तिर्यस्य सः, अदृष्टसमाप्तेरनुसमाप्तसुखदुःखादिक इत्यर्थः। अदृष्टमेव परमं यस्य सः, अदृष्टायत्तः सन्नित्यर्थः। अदृष्टम् एव, आत्मनः तत्त्वं वेद। सुखदुःखादिमत्त्वमदृष्टमूलकमिति यो वेत्तीत्यर्थः। सः, न मुह्यति। जीवकृतशुभाशुभकर्मानुगुणमन्तस्थः सन्, सुखदुःखादिरूपं फलं यः प्रयच्छति, सोऽन्तरात्मेहादृष्टशब्देन बोध्यः। न तु कर्मकालादिकं, कर्मादीनां तदन्तराऽकिंचित्करत्वादिति रहस्यम्॥ ३०॥ एवं विवेकोद्बोधकं नन्दवचो निशम्य नन्दं प्रति प्रकृतवक्तव्यमाह। कर इति। हे नन्द, राज्ञे कंसाय, वार्षिकः प्रतिवर्षं देयः करः, दत्तः। प्रयोजनं नावशेषितमस्तीति भावः। वयं च दृष्टाः, अथेह, वो युष्माभिः, बहुतिथं बहुदिनं, न स्थेयम्। चो हेत्वर्थः। यत इत्यर्थः। गोकुले, बहवः उत्पाताः, सन्तिः॥ ३१॥ इतीति। इतीत्थं, शौरिणा वसुदेवेन, प्रोक्ताः, ते नन्दादयः गोपाः, तं वसुदेवं, अनुज्ञाप्यापृच्छ्य, तं कंसं वा, अनड्भिर्वृषभैर्युक्तान्यनड्युक्तानि तैः, अनोभिः शकटैः, गोकुलं प्रति, ययुर्जग्मुः॥ ३२॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थविबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

करो वा इति : १०.५.३१.

सत्कर्मस्वखिलेष्वपि प्रभवति प्रायोऽन्तरायोदयः तत्रापीशपदापरोक्षफलके योगे त्वसौ निश्चितः।
तस्माद्गोकुलरक्षणं मतिमताऽरिभ्यो विधेयं सदेत्यालोच्यानकदुन्दुभिर्लघु पुनर्यानाय नन्दं जगौ॥ १४॥
सह्यं दुःखं तदचिरलयं बुद्धिमद्भिर्नयज्ञैः, यस्मादग्रे प्रभवति सुखं स्थास्नु लोकोत्तरं च।
पुत्रत्राणोदितहितदृशा देवकीजानिना तद्युक्तोऽकारि प्रियविरहजक्लेशितानादरोऽसौ॥ १५॥

श्रीशकल्प०॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

कृष्णप्रिया

अहो ! बड़े खेद एवं आश्चर्य की बात है कि देवकीजी से उत्पन्न आपके बहुत से पुत्र कंस ने मार दिये । अन्त में उत्पन्न हुई एक कन्या ही शेष थी वह भी स्वयमेव स्वर्गलोक को चली गई ॥ २९ ॥ निश्चय ही मनुष्यों की निष्ठा अदृष्ट में ही है। अथवा जीवमात्र अदृष्टवश है । अदृष्ट ही सब जीवों का परम नियामक है । आत्मा का तत्त्व अदृष्ट ही है । जो इस कर्मरूप आत्मतत्त्व को जानता है वह मोह में नहीं फँसता लेकिन उसका मोह नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥ श्री नन्दजीने कहा भैया वसुदेव ! आपने राजा को कर तो दे दिया । हम एक दूसरे से मिल भी लिये अब आपको मथुरा में बहुत समय ठहरना नहीं चाहिये, क्योंकि गोकुल में उपद्रव हो रहे हैं ॥ ३१ ॥ वसुदेवजी के वचन सुनकर नन्दजी आदि गोपों ने बैलों के गाडे जोड़े और वसुदेव जी से आज्ञा लेकर गोकुल गये ॥ ३२ ॥

इति पञ्चमाध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त ।

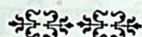

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	उप.	वंशस्थ	इन्द्रवंशा	वसंत	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
४४	३३	७	१	१	२	२	१६००	१२	३७	१६४९	५१।	१

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन् । हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥
कंसेन [1]प्रेषिता घोरा पूतना बालघातिनी । शिशूंश्चचार निघ्नन्ती [2]पुरग्रामव्रजादिषु ॥ २ ॥
न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु । कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च[3] तत्र हि ॥ ३ ॥
सा खेचर्येकदोपेत्य[4] पूतना नन्दगोकुलम् । [5]योषित्वा माययाऽऽत्मानं प्राविशत् कामचारिणी ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नन्दः पथि शौरेः वचः न मृषा इति चिन्तयन् उत्पातागमशङ्कितः हरिं शरणं जगाम ॥ १ ॥ कंसेन प्रेषिता घोरा बालघातिनी पूतना पुरग्रामव्रजादिषु शिशून् निघ्नन्ती चचार ॥ २ ॥ यत्र स्वकर्मसु रक्षोघ्नानि सात्वतां भर्तुः श्रवणादीनि न कुर्वन्ति तत्र हि यातुधान्यः च ॥ ३ ॥ कामचारिणी खेचरी सा एकदा मायया आत्मानं योषित्वा नन्दगोकुलं प्राविशत् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे सख्युर्गिरां नंदो व्रजं गच्छन्मृतां पथि ॥ दृष्ट्वा तु राक्षसीं तस्या मृत्युं श्रुत्वाऽथ विस्मितः ॥ १ ॥

कृष्णविषये शंकमानं राजानं प्रत्यविषये प्रवृत्ता सैव मरिष्यतीति सूचयन्नाह । न यत्रेति । यत्र श्रीकृष्णस्य श्रवणादीनि न संति तत्रैव तासां शक्तिः ॥ साक्षात्तस्मिन्नेव सति का शंकेति भावः ॥ १–३ ॥ योषित्वा वेषतो वरां नारीमिवात्मानं विधाय । ननु निर्लज्जा निर्विशंका च सती कथं परसद्मनि प्रविष्टेत्यत आह । कामचारिणीति । नहि कामचारिणीष्विदं चित्रमित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सख्युर्वसुदेवस्य । तस्या राक्षस्याः (१) शौरेर्वसुदेवस्य । हरिं शरणं जगाम । हे हरे मम गृहे कश्चिदुत्पातो न भवेद्यदि भवेत्तर्हि त्वमेवास्माकं रक्षक इति प्रार्थयामासेत्यर्थः ॥ तव तुल्यः कोऽत्र विवेक्यस्ति । अतो मोहो नोचित इति भावः ॥ १ ॥ प्रहिता प्रेषिता निघ्नंती मारयंती । तदुक्तं वैष्णवे "यस्मै यस्मै स्तनं रात्रौ पूतना संप्रयच्छति । तस्य तस्य क्षणेनांगं बालकस्योपहन्यते ॥" इति । आदिना सार्थादिग्रहः ॥२॥ तत्प्रेषणे राजशंकामपानुदति अविषये मारणाद्यगोचरे । सैव पूतनैव । बाहुभ्यां समुद्रं तरन्निवेति दृष्टांतोऽत्र ध्येयः । यत्र यस्मिन्स्थाने । तत्रैव श्रीकृष्णश्रवणादिवर्जितस्थान एव । तासां यातुधानीनाम् । तस्मिन्नेव श्रीकृष्ण एव । इति भाव इति । दृष्टादृष्टकर्मण्यपि वर्त्तमाना जना यत्र श्रवणादीनि कुर्वंति तत्रैव प्रभवंति किमुत यत्र प्राधान्येन कुर्वंति तत्र न प्रभवंतीति किमुततरां यत्र कैवल्येन कुर्वंति किमुततमां साक्षादेव यत्र स प्रादुर्भूयास्त इति तात्पर्यम् । यातुधानीपदमत्रोपलक्षणम् "न तत्र दानवाः संति न पिशाचा न राक्षसाः । यक्षकिन्नरवेतालभूतप्रेतविनायकाः ॥ यत्र देवो गृहे विष्णुः कीर्त्यते हि सदा सताम्" इति रामायणात् । यत्र स्वकर्मसु यज्ञादिषु । सात्वतां भर्तुर्हरेः । श्रवणादीनि नरा न कुर्वंति तत्र हि यातुधान्यः संतीत्यन्वयः । किंभूतानि रक्षोघ्नानि रक्षआदिनिवर्तकानि । यद्वा—स्वित्यव्ययं शोभनेर्थे पृथगेव पदं यत्र रक्षोघ्नानि सात्वतां भर्त्तुः श्रवणादीनि न तत्रैव यातुधान्यः स्वकर्म मारणादिरूपम् । सुशोभनं कुर्वंतीत्यन्वयः ॥ ३ ॥ सा या प्रेषिता खेचरी वक्री । "अहो वकीयं किल कालकूटम्" इत्यत्र श्रवणात् नारीणां हि परगृहप्रवेशे लज्जाशंके भवतस्तस्यास्ते कथं नेति शंकते—नन्विति । कामेनेच्छया चरितुं शीलमस्या इति कामचारिणी । स्वेच्छानुरूपवपुःकरणसमर्था । योषित्वा योषयित्वा णिङ्लोपस्त्वार्षः । निजसौंदर्येण सर्वजनान्मोहयित्वा गृहांतःपुरादिषु सहसा प्रवेष्टुमिति भावः । यद्यपि जगन्मोहिनी मायापि तत् सिद्धभक्तान्मोहयितुं न क्षमा तथापि कृष्णलीलाशोभासिद्ध्यर्थमैंद्रजालिकमायेन तानपि पूतनादिमाया भगवदिच्छया मोहयतीति भावः । इत्यर्थ इति स्वच्छंदेष्विदमेवोचितमिति भावः । 'गोपित्वा' इति पाठे विधायेत्यर्थः ॥ ४ ॥

---

१. प्रहिता–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. गिरि. भक्त. । २. पुरग्रामाकरादिषु–इति कस्यचित् । ३. धानाश्च–इति कस्यचित् । ४. दोत्पत्य–जीव. विश्व. । ५. गोपित्वा–इति क्वचित् ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पथि विचिन्तयन् हरिं सर्वभयहरं निजेष्टदेवत्वेन सर्वशरणमपि विशेषतः स्वपुत्रमङ्गलार्थं मनसा शरणं जगाम। यद्वा न मृषेत्यतो हेतोर्हरिं मनोहरं स्वसुतं पथि विशेषतश्चिन्तयन् न जाने तत्र किं वृत्तमस्तीति तत्र चिन्तां कुर्वन् शरणं निजगृहं जगाम गच्छन्नभून् ॥ १ ॥ अथ व्रजवृत्तमाह—तत्र च यद्यपि पूर्वं तन्मन्त्रिभिर्ऋषीणामेव हिंसा निश्चिता तथाप्यतिभीतेन कंसेन तु परम्परयैवोपायोऽयमिति प्रथमं तामनङ्गीकृत्य साक्षाद्बालहिंसैवानुमतेत्यभिप्रेत्याह, कंसेनेति। प्रहिता प्रागेव नियुक्ता यतो घोरा बालघातिनी च अत एव नितरां घ्नन्ती घ्नती दुर्विषस्तनदानेन सद्यो मारयन्ती तथा च श्रीविष्णुपुराणे "यस्मै यस्मै स्तनं रात्रौ पूतना सम्प्रयच्छति। तस्य तस्य क्षणेनाङ्गं बालकस्योपहन्यते" इति। आकरः रत्नाद्युत्पत्तिस्थानं ग्रामं व्रजेति वा पाठः आदिशब्दात् सार्थादयश्च ॥ २ ॥ शिशून् निघ्नन्ती पुरादिषु चचार इत्युक्तम्। ननु, तर्हि श्रीनन्दव्रजबालानां हन्त का वार्त्ता इत्यपेक्षायामाह—नेति। स्वकर्म्मसु यज्ञादिषु तत्साद्गुण्यार्थान्यपि यत्र श्रवणादीनि न कुर्वन्ति किम्पुनः स्वप्रधानानीत्यर्थः। सात्वतानां भक्तानां भर्तुरिति तेषामपि श्रवणादिभिस्ता नश्यन्ति किम्पुनस्तस्येत्यर्थः। त्वर्थे चकारोऽनुक्तसमुच्चये वा अन्ये च दुष्टा हि एव तत्रैव प्रभवन्तीति शेषः। यद्वा किन्तदानींतनाः सर्वे शिशवस्तया बत हताः तत्राह, नेति। पूर्ववदर्थः अन्ये च भगवद्विमुखाः कंसपक्षीयाः ये तेषां बालाः श्रीभगवता तद्द्वारैव भातिता इति भावः। इति कंसस्य मौढ्यं दर्शितम्। तदेवं तेन साक्षादधिष्ठितेऽपि तादृशदुष्टागमनं निखिललोकानन्दक–श्रीभगवल्लीलाविशेषसम्पत्त्यर्थं तथा तादृशहेतुकोत्पातश्च तज्जनन्यादीनां तद्विषयकप्रेमविशेषवर्द्धनार्थं तदोयस्वरसानुसारिलोलाशक्त्यैव सम्पाद्यत इति भावः। लीलानाम्नी शक्तिश्च श्रीभूलीलेति मुख्यशक्तित्रये श्रीवैकुण्ठे पाद्मोत्तरखण्डादिप्रसिद्धा सैव पाद्मकार्तिकमाहात्म्यादौ तुलसीत्वेन वृन्दात्वेन च वर्ण्यत इति श्रीकृष्णलीलायां वृन्दारूपैव सा ज्ञेया यदधिष्ठानं वृन्दावनमिति ॥ ३ ॥ एकदा रात्राविति पराशरवैशम्पायनौ, उत्पत्याकाशमार्गेणागत्य उपेत्येति पाठः क्वचित् यतः खेचरी सा घोरात्वादेव योषित्वेति अत्र योषितं करोतीति णिचि टिलोपे क्त्वाप्रत्यये योषायित्वेति वक्तव्ये णिचो लोप आर्षः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पथि विचिन्तयन् हरिं सर्व्वभयहरं भगवन्तं शरणं जगाम। भगवन्! रक्ष रक्षेत्यार्त्या जगाद, हृदा प्रार्थयामासेति वा,–नित्यं श्रीकृष्णप्रियत्वेन सदा तन्मयत्वेन। सदा तन्मयस्यापि तस्य विशेषतस्तदानीं तदर्थं भागवतवर्य्यत्वात्तच्छरणगमनमुत्पातनिवृत्तये वैष्णवा भगवन्तमेव शरणं गच्छेयुर्न चान्यत् किमपि कुर्य्युरिति साधुवर्गशिक्षणार्थमिव, वस्तुतस्तु स्नेहभरस्य स्वभावत एवेति। यद्वा, न मृषेत्यतो हेतोर्हरिं मनोहरं स्वसुतं पथि विशेषतश्चिन्तयन्—न जाने तत्र किं वृत्तमस्तीत्यादिचिन्तां तदर्थं कुर्व्वन् शरणं निजगृहं जगाम गच्छन्नभूत ॥ १ ॥ प्रहिता प्रागेव नियुक्ता, यतो घोरा बालघातिनी च, अतएव नितरां घ्नन्ती घ्नती दुर्व्विषस्तनदानेन सद्यो मारयन्ती। तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।५।८)—'यस्मै यस्मै स्तनं रात्रौ पूतना संप्रयच्छति। तस्य तस्य क्षणेनांगं बालकस्येह हन्यते ॥' इति। आकरो रत्नाद्युत्पत्तिस्थानम्, आदिशब्दात् सार्थादयः, पुरादीनां यथोत्तरं गृहादिसत्तापेक्षया न्यूनत्वम्; पाठान्तरेऽपि तथैवार्थः ॥ २ ॥ शिशुन्निघ्नन्ती पुरादिषु चचारेत्युक्तम्। ननु तर्हि श्रीनन्दव्रजबालानां हन्त! का वार्त्तेत्यपेक्षायामाह—नेति। आदिशब्दात् कीर्त्तन-स्मरणादीनि स्वकर्म्मस्वपि साद्गुण्यार्थं तेषु तेषामवश्यापेक्ष्यत्वात्। सात्वतां भक्तानां भर्त्तुः पत्युरिति श्रवणादिपराणां रक्षा तस्यावश्यं कृत्वेति; यद्वा, सात्वतानां यादवानां निजाशेषैश्वर्य्यप्रकटनार्थं यदुकुलेऽवतीर्णस्य तस्य श्रवणादिस्थाने दुष्टप्रवेशो न सम्भवतीति भावः। त्वर्थे चकारोऽनुक्तसमुच्चये वा; अन्ये च दुष्टाः। हि—एव, तत्रैव। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तर्हि किं तदानीन्तनाः सर्व्वे शिशवस्तया बत हताः? तत्राह—नेति। भगवच्छ्रवणादिस्थानवर्त्तिनो बालकाः सर्व्वे कुशलिन इत्यर्थः। तदर्थं तदानीं श्रीभगवदवतारेण सर्व्वत्र तच्छ्रवणादिभक्तिप्रवृत्त्या तत्कालीनबालककुलहननाशक्तेस्ततश्च निघ्नन्तीति निहन्तमित्यर्थः। अथवा, यत्र भगवतः श्रवणादीनि वर्त्तन्ते, तत्रापि राक्षस्यो न सन्ति; श्रीनन्दगोकुले च साक्षाद्वर्त्तमाने तस्मिन् यत्तस्यास्तत्रागमनम्, तत् केनापि भाग्योदयेन श्रीभगवन्माहात्म्यविशेषकृतेनैवेति भावः। अतएवाग्रे वक्ष्यते (७ म श्लो०) यदृच्छयेति ॥ ३ ॥ एकदा षष्ठदिन इति लोकप्रसिद्धेस्तत्रापि रात्राविति श्रीपराशरवैशम्पायनौ। उत्पत्याकाशमार्गेणागत्योपेत्येति पाठः क्वचित्, यतः खेचरी सा घोरात्वादेव योषित्वा ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सात्वताम् एकान्तिनां भर्त्तुः भगवतः ॥ १–३ ॥ गोपित्वा तिरोधाय योषित्वेति पाठे योषित्वं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४–५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ व्रजं प्रति नन्दगमनात्पूर्वमेव तत्र वसुदेवसूचितोत्पातं भगवता तन्निर्हरणप्रकारं निर्हृतवतस्तस्य रक्षाविधानप्रकारञ्चाह–नन्द इत्यादिना। तावन्नन्दादय इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन, यदा नन्द इति, यदा नन्दः पथि गतः न तु व्रजङ्गतः तदा स

शौरेर्वसुदेवस्य वचो न मृषा किन्तु तथ्यमेव स्यादिति चिन्तयन्नुत्पातागममुत्पातोपनिपातसंभावनामाशङ्कितः। यद्वा पथ्युत्पातागमाद्वा पक्षिचलनादिरूपात् व्रजे कञ्चिदुपद्रवं संभाव्य हरिं स्वाराध्यदेवं शरणं जगाम रक्षणोपायत्वेनाध्यवस्यत् ॥ १ ॥ तदा नन्दागमनात्पूर्वमेव कंसेन प्रहिता प्रेषिता बालघातिनी पूतनाख्या राक्षसी तत्र पुरादिषु शिशून् निघ्नन्ती सती चचार ॥ २ ॥ कृष्णेऽपि तत्कृतः कश्चिदुपद्रवो बभूव किम् ? इत्याशङ्कां तावन्निराह नेति। सात्वतामेकान्तिनां भक्तानां भर्तुर्भगवतः श्रवणादीनि गुणश्रवणकीर्तनादीनि कथम्भूतानि रक्षोघ्नानि यत्र देशे स्वकर्मसु स्वस्वव्यापारेषु सत्स्वपि न कुर्वन्ति जनास्तत्रैव हि यातुधान्यः राक्षस्यः न श्रवणादिकर्तृजनाधिष्ठितदेशे किं पुनस्साक्षाद्भगवदधिष्ठितदेश इति भावः ॥ ३ ॥ सा पूतना खेचरी कदाचिद्गोकुलसमीपमेत्य मायया आश्चर्यवेषेणात्मानं गोपित्वा स्वासाधारणरूपं तिरोभाव्य तत्सामर्थ्यं सूचयन्विशिनष्टि—कामं यथेष्टरूपपरिग्रहेण चरतीति तथा प्राविशत् गोकुलं प्राविशत् योषित्वेति पाठे माययाभिमतरूपपरिग्रहोपयुक्तैश्वर्यशक्त्यात्मानं योषित्वा योषिद्रूपं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गुणश्रवणवत् पराक्रमश्रवणमपि ज्ञानसाधनमिति प्रतिपादयति–पूतनावधलक्षणं तच्चरित्रमस्मिन्नध्याये तत्रोत्पातपरिहारो नारायणशरणप्राप्त्या भवतीत्याशयेनाह–नन्द इति ॥१॥ प्रहिता प्रेषिता पुरं राजमन्दिरं नानाजनाधिवासो ग्रामः व्रजो गोकुलम् ॥२॥ यातुधान्यः राक्षस्यः सात्वतां भर्तुः श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि इतरेषामिति शेषः। न सन्ति साक्षात्कृष्णो यत्र वसति तत्र का शङ्केति भावः ॥ ३ ॥ गोपित्वा विधाय ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

न यत्रेति। ततो यथा कथञ्चिद्भगवत्सम्बन्धविनाभूतानां दैत्यस्वभावानामेव बालं घ्नती भगवतस्तादृशलीलेच्छयैव श्रीगोकुले प्रवेशसमर्थाऽभूदित्यागतं तत एव वल्गुस्मितापाङ्गेत्यादि च योषित्वेति तत्करोतीति णिचि क्विरूपं टेर्ल्लोपात् ॥ ३ ॥ एतत्तु गोपप्रयुज्यमानदिव्यबालभियेति ज्ञेयं कामचारिणो अव्याहतगमनापि ॥ ४–५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ योगमायामुखतः (भा० १०।४।१२) "किं मया हतया मन्द जातः क्वापि तवान्तकः" इति श्रुत्वा नवबालकवधार्थं पूतना नाम राक्षसी कंसेन प्रहितेति तत्प्रस्तावमाह—कंसेन प्रहितेत्यादि। बालघातिनीति ताच्छीलिको णिनिः। शिशून् निघ्नन्तीति तुमर्थे शतृप्रत्ययः, शिशून् हन्तुमित्यर्थः। पुरग्रामादिषु–चचारेति तादृशानां शिशूनामन्वेषणाय, न तु क्वापि शिशून् जघान। अन्यथा भगवत्कृते निरपराधानां बालानां हननं भगवतो निर्दयत्वाभिव्यञ्जकं स्यात्, सर्वान्तर्यामिना तेन तथा न कारितम्, वस्तुतस्तु तदानीं श्रीकृष्णे प्रादुर्भूते सर्वत्रैव श्रीकृष्णवार्तारूपं मङ्गलं सञ्चरितमिति ॥ १–२ ॥ कुत्रापि तस्याः प्रागल्भ्यं नाभूदिति बोधयितुमाह,—न यत्र श्रवणादीनीत्यादि। सात्वतां भर्त्तुः श्रीकृष्णस्य श्रवणादीनि न यत्र तत्रैव यातुधान्य इति पूर्वार्थपरिपोषः ॥ ४–६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

शिशूंश्चचार निघ्नन्तीत्यादि। शिशून् निघ्नन्तीति ताच्छील्यार्थे शतृ, शिशुहननशीलेति भावः। पुरग्रामाकरादिषु चचार, तादृशशिशूनामन्वेषणेनेत्यर्थः। अन्यथा भगवत्कृते निरपराधानां शिशूनां निरर्थकं हननं भगवतः करुणाव्यञ्जकं न स्यात्। यद्वा, शिशून् निघ्नन्तीति निहनिष्यती पुरग्रामादिषु चचार ॥ १–२ ॥ तेषां विशेषमाह—न यत्र श्रवणादीनि, यत्र पुरग्रामादिषु श्रवणादीनि न सन्ति, तत्र विचचारेत्यर्थः। यत्र च स्वयमेवावतीर्णः, तत्र चरणे मरणमेवाभूदिति भावः ॥ ४–६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

"षष्ठे सौरूप्यकारूप्ये जीवन्मृततनोरिह। निर्वर्ण्योक्तः पूतनायाः दाहो नन्दस्य चागमः" ॥

श्रीकृष्णविषये शङ्कमानं राजानम्प्रति विषये प्रवृत्ता सैव मरिष्यतीति सूचयन्नाह—नेति। यत्र पुरादिषु सात्वतां भर्तुः श्रवणादीनि दृष्टादृष्टफलेषु स्वकर्मस्वपि वर्तमाना जना न कुर्वन्ति तत्रैव यातुधान्यः प्रभवन्तीति शेषः। किमुत यत्र प्राधान्येन कुर्वन्ति तत्र न प्रभवन्तीति किमुततरां यत्र कैवल्येन कुर्वन्ति किमुततमां साक्षादेव यत्र स प्रादुर्भूयास्त इति भावः ॥ १–३ ॥ तदपि पूतनावधलीलाया आवश्यकत्वाल्लीलाशक्तिप्रेरणवशादेव मृत्युना निमन्त्र्यमाणेव मर्त्तुं गोकुलं जगामेत्याह—सेति। एकदा रात्रौ आकाशमुत्पत्य गोकुलं प्रविश्य माययात्मानं योषित्वा योषितं कृत्वा णिज्लोप आर्षः। सौन्दर्य्येण सर्वजनान् मोहयित्वा गृहान्तःपुरादिषु सहसा प्रवेष्टुमिति भावः। यद्यपि जगन्मोहिनी भगवन्मायापि तान् सिद्धभक्तान्मोहयितुं नोत्सहते तदपि कृष्णलीलाशोभासिद्ध्यर्थम् ऐन्द्रजालिकमायेव तानपि पूतनादिमाया मोहयति—भगवदिच्छावशादिति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

षष्ठाध्याये यन्निमित्ताद्युक्तं नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले इति तत्र पूतनावधादिकमुच्यते नन्द इति ।। १-२ ।। नन्दगोकुले विघ्नं कर्तुं प्रवृत्ताया अपि तस्या न किञ्चिच्छामर्थ्यमित्याह—यत्र सात्वतां भर्तुः श्रीकृष्णस्य रक्षोघ्नानि श्रवणादीनि श्रवणकीर्तनस्मरणादीनि न सन्ति तत्र यातुधान्यः स्वकर्मसु कुर्वन्ति ।। ३ ।। अतो नन्दगोकुलं प्राप्य तया न किञ्चिदपकृतं किन्तु स्वयमेव विनष्टेत्याह—सेत्यादिना । आत्मानं मायया स्वविचित्रविद्यया योपित्वा वकीरूपमन्तर्धाय वरनारीरूपं कृत्वा ।। ४ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ॐ नमः । षष्ठे शौरेर्गिरा नन्दो व्रजं गच्छन् मृतां पथि । विलोक्य पूतनां तस्या मृत्युं श्रुत्वा च विस्मितः ।।

शौरेर्वचो न मृषेति तस्य राजर्षित्वादितिभावः । हरिं स्वसेवां नारायणम् ।।१-२।। नन्दबाले जातशङ्कं परीक्षितं प्रत्यविपये प्रवृत्ता सैव विनङ्क्ष्यतीति द्योतयन्नाह न यत्रेति । यत्र पुरादिषु सात्वतां भर्तुः कृष्णस्य श्रवणादीनि दृष्टादृष्टफलेषु कर्मसु वर्त्तमाना जना न कुर्वन्ति तत्रैव यातुधान्यः प्रभवन्ति कीदृशानीत्याह रक्षोघ्नानीति नन्दगृहे स एव साक्षाद्वर्तते तत्र किं तच्छङ्कयेति ।। ३ ।। यद्यपि व्रजे तस्या न प्रभावस्तथापि तद्वधलीलायाः कार्यत्वाल्लीलाशक्तिप्रवर्त्तनान्मृत्युना निमन्त्रितेव सा मर्तुं तत्र प्रापेत्याह सेति । सा पूतना एकदा निशि खमुत्पत्य नन्दगोकुलमुपेत्य माययात्मानं योषित्वा वरां स्त्रियं विधाय भवनमध्यं प्राविशत् तादृशतां विना तत्र प्रवेशो न स्यादिति भावः । नन्वेवं कर्तुं कथं शक्नोति तत्राह कामचारिणी अतिमायाविनीत्यर्थः ।। ४ ।।

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

।। हरिः ॐ ।। अत्रोपगमप्रवेशार्थकयोर्ल्यवंतक्रिययोर्गोकुलैककर्मत्वांगीकारे उपगमं विना प्रवेशानुपपत्त्याऽर्थतस्तत्सिद्धौ पुनस्तद्ग्रहणस्य व्यर्थत्वमतोऽर्थांतरमुच्यते । कंसेन प्रहिता घोरा पूतनेत्यादिना पूतनायाः प्रकृतत्वेन ग्राह्यत्वेऽपि परोक्षतया तच्छब्देन वचनात् । या पूर्वं तुंबुरोः संगता कुबेराच्छापं प्राप्ता सोर्वशीत्यर्थः । खेचरी स्वर्वेश्या उर्वशीमुखा इत्युक्तांतरिक्षचारिणी । यद्वा । 'आत्मन आकाशः संभूत' इति श्रुत्या आत्माख्य नरजातत्वान्नारशब्दः खवाची स आकाशोऽयनं मार्गो यस्य स नारायणः खेचरशब्दवाच्यः । तत्संबंधित्वात्खेचरी उर्वशी तत्पुत्रीत्वेन प्रसिद्धेः एकदा कुबेरशापावाप्त्यनंतरकाले । पूतनानंदगोकुलमित्येकं पदम् । पूतनायाः पूर्वताटकायाः । आनंदाः । आनंदनाम ते लोका इति श्रुतेः । दुःखकारकाः । या गावः इन्द्रियाणि । तासाम् । कुं आश्रयं । लाति स्वीकरोतीति । तं पूतनादेहम् । गौः स्वर्गे इत्यारभ्य भूगवादिषु योषितीति विश्वः । गोत्रा कुः पृथिवीत्यमरः । ला आदाने इति धातुश्च ।। उपेत्य । आविश्य ।। आत्मानम् । आदत्तं पूतनादेहम् ।। मायया । मोहकशक्त्या ।। गोपित्वा । आच्छाद्य ।। कामचारिणी । कामं गोपानां मन्मथं चारयति प्रवर्तयत्यात्मनीति तथाभूता सती प्राविशत् । प्रायेण यमुनातटे वस्त्रनिर्मितं गृहमिति शेषः । तदुक्तं । सा ताटकाचोर्वशीं संप्रविष्टा कृष्णावज्ञानान्निरयं संजगाम । सा तूर्वशी कृष्णभुक्तस्तनेन पूता स्वर्गं प्रययौ तत्क्षणेन । सा तुंबुरोः संगत आविवेश रक्षस्तनुं शापतो वित्तपस्य । कृष्णस्पर्शाच्छुद्धरूपा पुनर्दिवं ययौ । तुष्टे किमलभ्यं रमेशे । इति तात्पर्यनिर्णये । विवेश नंदस्य गृहं बृहद्वनं प्रांते हि मार्गे रचितं प्रयाणे । तीरे भगिन्यास्तु यमस्य वस्त्रगृहे शयानं पुरुषोत्तमं तमिति च ।। ४ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ ।। यदर्थमत्यर्थमर्थितः प्रादुरभूद्भगवान्भुवि तं पराक्रममङ्कूरयामास कुमारः पूतनामारणेनेतीरयंस्तत्रोत्पातपातो न नारायणशरणयानं विना भविष्यति वसुदेवश्च न वितथकथन इति तं मनसा स्मरन्परमपुरुषं जगाम व्रजमित्यादौ वदति । नन्द इति । उत्पातानामागम एष्यंस्तेन शङ्कितो हरिं सर्वारिष्टहरं शरणं जगाम । शरणं यातः सञ्छरणं स्वगोकुलगृहं च जगामेत्यावृत्त्याऽन्वयः ।। १ ।। प्रहिता प्रेषिता पुराणि राजावासस्थानानि ग्रामो बहुजनाकीर्णो व्रजो गोकुलमेतदादिषु । बालघातिनीति नोपलक्षणमित्याचष्टे । शिशूञ्जिघ्नन्ती चचारेति ।। २ ।। शङ्का तत्रासम्भाविता किमुतेति भावेनाह । नेति । सात्त्वतां भागवतानां यादवानां वा भर्तुः स्वामिनः कृष्णस्य तत्कथाया रक्षोघ्नानि रक्षांसि घ्नन्तीति तानि स्वकर्मसु श्रवणादीनि न कुर्वन्ति । तत्र यातुधान्यः स्वकर्मस्वित्यावर्तते प्रवर्तन्त इति शेषः । कुर्वन्ति स्वकार्यमिति वा शेषः । यच्चरितचरितश्रवणास्तत्र तत्पीडा यदा तदा साक्षाच्छ्रीवासावासे प्रादुर्भूतानि कथं भवेयुरायातानि तन्मारकतया स्वस्थत्ये तेनैवानीतानीति कर्तुं किं शक्तानि नक्तं चर्यादीनीवि तात्पर्यम् ।। ३ ।। खेचरी राक्षस्यात्मानं मायया गोपित्वाऽऽच्छाद्य कामचारिणी कामं चरतीति सा तथा नन्दगोकुलं प्राविशत् । आनन्द गोकुलमिति पदद्वयम् । मायया करणेन गवां तत्रत्यजननेत्राणां कुलं समूहं याऽऽनन्दं बबन्ध सा प्राविशदित्यप्यन्वयः । अत एव सेति सुलभम् ।। ४ ।।

श्रीसुबोधिनी

चरित्रमद्भुतं शास्त्रे लोकेपि भगवत्कृतम् । पूततासुपयःपानं षष्ठे रक्षा निरूप्यते ॥ १ ॥
एकं कार्यं भगवतो बह्वर्थानां तु साधकम् । अतो दुष्टवधो रक्षा बालकानां ततः कृता ॥ २ ॥
वीर्यं भगवतो वर्ण्यं मायया भगवत्कृतम् । दुःखं तस्मात् तु मुक्तेर्हि निरोधोक्तेर्न दूषणम् ॥ ३ ॥
भयं निवर्त्यं वीर्येण द्विविधं बाह्यमान्तरम् । आन्तरं शब्दजं बाह्यं पूतनाजनितं तथा ॥ ४ ॥

प्रथमं वाक्यादुत्पन्नमन्तर्भयं भगवत्स्मरणेन नाश्यत इत्याह नन्द इति, श्रवणमात्रेणैव भयान्निर्गता मध्ये गन्तुमप्यशक्ता वाक्यं विचारितवन्तः किमस्माकं भयं कंसकृतं भविष्यतीति ततो निर्गमनार्थमुक्तमाहोस्विद् यथाश्रुतमेव गोकुले भयमस्तीति तद्वाक्यं विचार्यान्यार्थमपि बाधितार्थं वदन्ननृतीभवतीति निश्चित्य निर्णयमाह शौरेर्वचो मृषा न भवतीतीममर्थं विशेषेण चिन्तयन् पथि कार्यान्तराभावान्निश्चिन्ततया तमेवार्थं विचारयन् हृदयेनापि संवादं प्राप्य भयनिवृत्त्यर्थं हरिं शरणं जगाम, 'सन्ती'तिवचनं न विचारितं, अन्यथा जीवनमेव न स्यात् , किन्तु शङ्कामात्रं जातं, तदप्युत्पातागमनस्य, कदाचिदुत्पात आगच्छेदिति न त्वागत इति नापि निश्चयस्तदाहोत्पातागमशङ्कित इति, उत्पातागमार्थं शङ्कां प्राप्तः, एवंसन्देहकरणं भगवच्चरित्रं वस्तुतस्तु यदा वसुदेव आह तदैव पूतना गोकुले समागता ॥ १ ॥

एवमान्तरं भयं निवर्त्य बाह्यं भगवान् निवर्तयतीति प्रथमतो भयप्राप्तिमाह कंसेनेति सार्धैरष्टभिः, प्रथमतः सामान्यतस्तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वमाह यतो मारणायेति, कंसेन प्रेषिता शिशून् निघ्नन्ती चचारेतिसम्बन्धः, ईश्वरप्रेषितायाः कार्यमावश्यकं स्त्रिया बालेषु स्नेहो भवतीति कथं प्रेषणमितिचेत् तत्राह घोरेति, जन्मादिसंस्कारेण संस्कृतान् वैदिककर्मणा सम्बद्धांस्तत्तदधिष्ठातृदेवतादिरक्षितान् कथं मारयतीत्यत आह पूतनेति, पूतानपि नयतीति पूतना, पुरुषानप्युत नयतीति वा, अतोतिबलिष्ठा, सर्वानेव मारयितुं शक्ता, ननूक्तं देवादीनां रक्षकत्वं तत्राह बालघातिनीति, यथा देवानां रक्षणसामर्थ्यं तथा तस्या बालघातकत्वं, भगवता तथैव निष्पादिता, अत एव शिशूंस्त्रिवर्षपूर्वान् निघ्नन्ती चचार, यदि भक्षयेत् तदाल्पेनापि निवृत्ता भवेत् , किन्तु बालकानां प्राणान् पीत्वा पीत्वा गच्छति, त्रिगुणेष्वपि स्थानेषु तस्या अप्रतिघात इति पुरेषु सात्त्विकेषु ग्रामेषु राजसेषु व्रजेषु तामसेषु च विद्यमानान् शिशून् मारयन्ती तदेकप्रयोजना चचार, आदिशब्देन खेटखर्वटवाटीष्वपि ॥ २ ॥ नन्वेवं सति पूर्वमपि कोपि बालकस्तदापि न जीवेदत आह न यत्रेति, यत्र सात्वतां भर्तुर्भगवतो देवादिपोषकस्य श्रवणादीनि नवविधानि षड्विधानि वा तत्रापि रक्षोघ्नानि वा यैर्गुणै राक्षसा एव हन्यन्ते यथा रघुनाथचरित्राणि ताटकादिमारणरूपाणि, स्वकर्मसु रक्षककर्मसु स्वधर्मेषु वा 'स्वशब्देनाधर्मशाखाः सर्वा एव निवारिताः, तत्र तु भवन्त्येव यातुधान्यः, तदीया वा ते, "यस्य स्मृत्या चे"तिवाक्यात् स्वधर्मा भगवच्छ्रवणाद्यभावे पूर्णा एव न भवन्ति, रक्षांसि सर्वत्र देशादिषु तिष्ठन्ति, अत एवा"पहता असुरा" इत्यादिमन्त्राः, अत एव रक्षसां पूर्वं तत्र सम्बन्धात् तत्सम्बन्धेन यातुधान्यः समायान्ति, यातुधानसम्बन्धी यत्रकुत्रचिदिति सर्वत्र तत्तत्स्वामिनिराकरणसमर्थाः, युक्तश्चायमर्थः, भर्तृषु विद्यमानेषु स्त्रीणां गतिरबाधिता भवतीति, रक्षोमारकैरेव रक्षोनिवृत्तिर्यथा वायुवशाद् दीपे गच्छति तैलेन न प्रतीकारस्तथा रक्षोघ्नव्यतिरिक्तैर्न प्रतीकारः, मंत्राणां तु स्वाध्यायपोषितानामेवापहतपाप्मत्वाद् "अग्निं वै जात"मित्युपाख्यानेपहतपाप्मत्वं तस्यैव निरूपितं, मर्यादायामाधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकेषूत्तरमुत्तरं बलीयः सापेक्षसामर्थ्याच्च तदधिष्ठातृदेवताप्रेरणेन परस्मिन् फलजननसामर्थ्यात् , भगवांस्तु सर्वगतः, भक्तिमार्गश्च स्वप्राकट्यार्थं विशेषेण हेतुः कृतः, अतः सात्वतामेव भर्तुः श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि भवन्ति, आगन्तुकैरागन्तुकानामेव निवारकत्वं न तु सहजानां, एवं प्रबलदुर्बलभावे बाध्यबाधकभाव उचितः, अनेनाग्रे श्रोतुः शङ्कापि निवारिता, वर्णाश्रमधर्मवत्त्वेन स्वमात्रसम्बन्धिषु न तु भगवदर्थकेषु कर्मसु यत्र भगवन्नामश्रवणेनैव रक्षोनिवृत्तिस्तत्र साक्षाद्भगवति विद्यमाने का चिन्तेति, एतदर्थमेव स्वपदम् ॥ ३ ॥ एवं तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वं सूपपत्तिकमुपपाद्य गोकुलेपि तस्यां समागमनमाह सा खेचरीति, एकदेति यस्मिन् काले देवादीनां न सम्बन्धः, आश्लेषानक्षत्रे विषघटिकायां मृत्युयोगे भूमिष्ठे भगवति, भूमिः सर्वदेवरक्षितेति कथं तस्या आगमनमित्याशङ्क्याह खेचरीति, तद्धर्मवत्त्वेन प्रतिपादितं वैकुण्ठादेरागतस्य मर्यादानाशकत्वबोधनार्थं, नन्दस्य गोकुलमिति, नन्दे विद्यमाने गोषु वागन्तुं न शक्नुयात् , उभयोरपि तत्राभावात् समागतेति, आदौ निकटे समागत्य यत्र स्थिता माया प्रवेशं कृतवती तत्र स्थित्वा ततोग्रे गमनासामर्थ्यात् स्वस्येष्टदेवतां मायारूपं भगवन्तं ध्यातवती तदा भगवान् मायारूपस्तां स्त्रीरूपां यशोदादितुल्यां कृतवान् "मायेत्यसुरा" इति श्रुतेः "तद्ध्यैनान् भूत्वावती"ति च, तदाहोपेत्यात्मानं मायया योषित्वेति, आत्मानं योषितं कृत्वेत्यर्थः, तदाप्राविशत् , ननु तथाप्यज्ञाता स्त्री कथं प्रवेशं प्राप्तवतीति तत्राह कामचारिणीति, कामं यथेच्छं चरतीति तथा, प्रवेशे तरुणीरूपं कृतवतीति पुरुषा न निवारयिष्यन्तीतिनिश्चयः, यत्रयत्र कामप्रवेशस्तत्रतत्र प्रवेष्टुं शक्तेति, अतो यथा मूर्तिमति काम उद्रिक्ते वा प्राणिनामन्धत्वमेवं तस्यामपीत्युक्तम् ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

षष्ठेऽध्याये वीर्ये वर्णनीये भक्तदुःखोक्तिरनुपपन्ने त्याशङ्कयाह **मायये**ति। 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेरसुराणां तद्रूप एवोपास्य इति तत्सम्पादितपूतनारूपं मायारूपमिति तया करणभूतया कृत्वा भगवतैव कृतं दुःखमित्यर्थः। अत एव स्वामिनीनां श्रीत्वभानम्, अन्यथा ताभिरेव सा निवर्त्येत। अत एव तदभावाय मुक्तिदानं च। अन्यथान्यत्र प्रविश्य पुनर्दुःखदानसम्भवेन सर्वात्मना तन्निवृत्तिर्न स्यात्। तर्हि सुतरां दुःखमनुपपन्नमित्याशङ्क्य भगवति भक्तचित्तवृत्तिनिरोधहेतुत्वेन पुरुषार्थरूपं तद्दुःखमिति नेदं भक्तिमार्गे दूषणमित्याहुः **निरोधोक्ते**रिति। एतेन निरोधमार्गो मर्यादाभक्तिमार्गाद्विलक्षण इति सूचितम्। यद्वा। ईश्वरे रक्षाकरणं नोचितमित्याशङ्क्य तदुक्तम्॥ १–४॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

षष्ठाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तो यथा पूर्वाध्यायोक्तलीलायां स्वरूपप्राकट्यमात्रेण निरोधं कृतवांस्तथा नात्रे किन्तु लीलयापीति वक्तुं किञ्च पूर्वाध्याये यथोत्सवकृतिर्निरोधबोधिका तथात्र रक्षाकृतिरिति बोधयितुमत्रेदं **चरित्रं रक्षा** च प्रसङ्गसङ्गत्या **निरूप्यते,** एतस्य **चरित्रस्य शास्त्रे**ऽद्भुतत्वं तु 'तोकेन जीवहरण'मितिद्वितीयस्कन्धवाक्याद् दुष्टभाववत्याः शास्त्रीयसाधनरहिताया मुक्तिदानाच्च ज्ञेयमित्यर्थः, यद्वा "**पूतनासुपयःपानं रक्षे**"तिरूपकं तथा सत्येकमेवात्र निरूप्यं, ननु **पूतनासुपयःपानस्य रक्षा**त्वं कुत इत्यत आहुरेकमित्यादि, एतस्य **वीर्या**ध्यायत्वं वक्तुं तत्प्रकारमाहु**र्वीर्य**मित्यादि, तदकस्मान्न प्रकटीभवतीति तदाविर्भावे हेतुमाहु**र्मायये**त्यादि, **टिप्पण्यां** तत् स्फुटीकुर्वन्ति दुःखमिति वीर्याविर्भावे हेतुभूतमित्यर्थः, **अत एवे**ति मायात्वाभावादेव, **अत एवे**त्यादि स्वामिन्यनिवर्त्यत्वादेव दुःखाभावाय तस्या मुक्तिदानं **चे**त्यर्थः, **तर्हि सुतरा**मिति दुःखस्य सर्वथानिवर्त्यत्वे "प्रक्षालनपङ्क"न्यायेन तदुक्तमिति **निरोधोक्ते**रित्याद्युक्तं, **सुबोधिन्यां शब्दज**मिति शब्दः श्रीवसुदेववाक्यमाप्तवाक्यत्वात् तज्जनितमित्यर्थः। **नन्द** इत्यत्र **नापि निश्चय इत्युत्पातागमस्य निश्चयः**॥ १॥ **कंसेने**त्यत्र **पूतना**शब्दे "न्येभ्योपि दृश्यन्त" इति डो डित्वाट्टिलोपष्टाप, द्वितीयपक्षे 'सध्र्यगा'दिशब्दव 'दुत' शब्देन समासः, 'राम' शब्दव्युत्पत्तिश्रुतौ 'रा' इत्येकदेशस्य राक्षसवाचकत्ववदत्र 'पु' इत्येकदेशस्य पुरुषवाचकत्वं बोध्यम्॥ २॥ **न यत्रे**वंत्यत्रेवं **सती**ति पूतनायाः सर्वदा तदेकप्रयोजनकत्वे **सति, षड्विधानि वे**ति "यत्कीर्तनं यच्छ्रवण"मितिद्वितीयस्कन्धोक्तरीत्या **षड्विधानि** दास्यादीनां दुर्लभत्वादसार्वत्रिकत्वात् ततः पूर्वाणीति वा, **तत्रापी**ति श्रवणादिष्वपि, **वे**ति **वा**शब्दो वाक्यालङ्कारे, **अधर्मशाखा** इति "विधर्मो"दिरूपाः पञ्च त इत्यधर्माः, ननु **स्वधर्मे**षु रक्षोनिराकरणस्य किं प्रयोजनमत आहू **रक्षांसी**त्यादि, **निराकरणसमर्था** इति **रक्षो**घ्नाः श्रवणादय इति शेषः, ननु मन्त्रैरेव **यातुधानी**निवृत्तिसम्भवे श्रवणादीनां किं प्रयोजनमत आहु**र्मन्त्राणा**मित्यादि, **तस्ये**ति स्वाध्यायस्य, नन्वेवं सति स्वाध्यायापोषितैरेतैर्निवृत्तिरस्त्विति चेत् तत्राप्याहु**र्मर्यादाया**मित्यादि, तथा च तादृशमन्त्रापेक्षयाधिभौतिक्यास्तस्या बलिष्ठत्वान्न निवृत्तिरित्यर्थः, अत एवेल्वलादिवधोपि युज्यतेन्यथर्षिभिरेव मार्येत, मन्त्राणां निर्बलत्वे हेत्वन्तरमप्याहुः **सापेक्षे**त्यादि, यद्वा ननु तर्हि वेदोक्तं रक्षोघ्नत्वं मन्त्राणां भज्येतेति व्यवस्थयोभयेषामपि तथात्वमित्याहु**र्मर्यादाया**मित्यादि **भवन्ती**त्यन्तं, तत्र **सामर्थ्या**दित्यन्तं **म**र्यादामार्गीया व्यवस्था **भगवांस्त्वि**त्यारभ्य **भक्तिमार्गस्ये**ति बोध्यं, नन्वेवमुभयो रक्षोघ्नत्वेपि न मार्गभेदादेव व्यवस्था किन्तु हन्तव्यभेदादपीत्याहु**रागन्तुकै**रिति, **निवारकत्व**मिति निवारणमित्यर्थो घटवत्त्वं घट इति वत्, तथा चागन्तुकीनां यातुधानीनामागन्तुकैर्मन्त्रैर्निवृत्तिर्भगवदीयैस्तु सहजानां रक्षसामित्यर्थः, तदेव विशदयन्त्य**ेवमि**त्यादि, **उचित** इति द्विविधोप्यु**चित** इत्यर्थः, वस्तुतस्तु **मन्त्राणा**मपि भगवच्छ्रवणाद्यभावे फलसाधकत्वाभावादसार्वत्रिकत्वाच्च भगवच्छ्रवणादीनामेव तथात्वमित्यभिप्रायेत एव मूलेपि न मन्त्रनामग्रहणं, उक्तस्य प्रबलदुर्बलभावस्य फलान्तरमाहु**रनेने**त्यादि, यत्र भगवच्छ्रवणादिभिरेव यातुधान्यादिनिवृत्तिस्तत्र भगवति विद्यमाने सा कथं समागतेति **श्रोतुः** शङ्कापि **प्रबलदुर्बलभावनिरूपणेन निवारिता,** तथा च **तस्यास्तदानीं** तेभ्योपि बलीयस्त्वमतः सा समागतेत्यर्थः, **स्वकर्म**स्वित्यत्रोक्तस्य **स्व**पदस्य तात्पर्यमाहु**र्वर्णे**त्यादि॥ ३॥ **सा** खेचरीत्यत्राश्लेषानक्षत्र इत्यत्राश्लेषानक्षत्रे पूतनाया **आगमनकथनेन** पूतनामारणावसरे भगवान् **षड्दिन** इति ज्ञायते, उक्तं च **पाद्मोत्तरखण्डे** "भाद्रासितचतुर्दश्यां नन्दजः पूतनामह"न्निति, हरिवंशे त्वियं शकुनीशब्देनोच्यते, न च हरिवंशोक्तरीत्यनुरोधेन तदा षाण्मासिक एवाङ्गीकर्तव्य **आश्लेषा**यास्तदापि सम्भवादत्र तु विशेषस्यानुक्तत्वादिति वाच्यं, उत्सवोत्तरं तदैव करदानार्थगतव्रजेन्द्रवसुदेवसंवादसमय एव पूतनागमनस्योक्तत्वात् "तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्त" इति द्वितीयस्कन्धोक्तब्रह्मवाक्येपि शकटासुरमारणसमये त्रैमासिकत्वकथनेन तत्पूर्वकालीनलीलायां न षाण्मासिकत्वं वक्तुं शक्यमतस्तत् कल्पान्तरीयमितिदिक्, **तद्धर्मवत्त्वेने**त्यादि भूचरत्वे **मर्यादानाशनसामर्थ्यं** यथा खेचर्यास्तथागतस्य **वैकुण्ठादे**रमाक्रीडत्वरूपमर्यादानाशकत्वबोधनार्थमस्याः खेचरीत्वेनान्यथा कालातीतस्य कालादिदोषसम्बन्धोक्तिरपि विरुध्येतेत्यर्थः, **मायाप्रवेश**मिति मायया प्रतिपादनं, **प्रकृष्टं वेशम्**॥ ४॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

षष्ठाध्याये चरित्रमिति पूतनासुपयःपानं ततो बालरक्षा च चरित्रं षष्ठे निरूप्यत इत्यन्वयः। ननु तन्मारणे तद्देहान्तर्गतबालानामपि मरणमेव सम्पद्येत स्त्रिया मृतौ तद्गर्भस्येवेति कथं बालानां रक्षेत्यत आहुः एकमिति। नन्द इत्यस्याभास इत्याहेति। इति हेतोः स्मरणसूचकं शरणगमनमाहेत्यर्थः, उत्पातागमार्थमित्यत्रार्थशब्दो निवृत्तिवाची, मशकार्थे धूममितिवत्, तथा चोत्पातनिष्ठो आगम आगत्यनुकूलो व्यापारस्तं निवर्तयितुमित्यर्थः, विग्रहस्तत्पातागमस्य शङ्कित इति पूर्वं व्याख्यात एव ॥ १ ॥ कंसेनेत्यत्र ईश्वरप्रेषिताया इति तस्या ईश्वरः कंसस्तेन प्रेषिताया इत्यर्थः, ननूक्तमिति संस्कृतनयनं पूतनापदनिरुक्त्या साधितं, अधिष्ठातृदेवादीनां रक्षकत्वं यदुक्तं तद्रक्षाभावः कथं साधनीय इत्यर्थः ॥ २ ॥ न यत्रेत्यत्र श्रवणादीनां नवानामप्युक्तौ रक्षोघ्नानीतिपदं दास्यादिषु रक्षःसम्बन्धशङ्काभावादकथनीयं स्यादित्यत आहुः षड्विधानीति, दास्यादित्रये रक्षःसम्बन्धशङ्काभावादितिभावः, तथापि प्रयोजनं रक्षोघ्नपदस्य स्वरूपबोधकत्वे न सिध्यतीत्यरुच्या व्यावर्तकत्वमाहुस्तत्रापीति तत्र त्विति। श्रवणादिरहितेषु रक्षककर्मसु स्वधर्मेषु वा यातुधान्यो भवन्त्येव, तैः कर्मभिर्न निवर्तन्त इत्यर्थः, यैर्गुणै राक्षसा एव हन्यन्ते तेषां श्रवणादीनीतिशेषः, अस्मिन् पक्षे श्रवणादिपदं त्रिविधवाचकमेव सम्भवतीतिज्ञेयं तदीया वेति ते श्रवणादिरहिता धर्मास्तदीया रक्षःसम्बन्धिनो भवन्त्यतो राक्षस्यः समागच्छन्तीति भावः, अस्मिन् पक्षे यातुधान्यो भवन्ति समागच्छन्तीत्यर्थः, उभयत्रापि हेतुमाहुः यस्येति, प्रथमपक्षे कर्मणः पूर्णत्वाभावान् न तन्निवृत्तिः, द्वितीयपक्षे 'यदस्य कर्मणोत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकर'मितिश्रुतौ न्यूनकर्मणः पापत्वकथनेनासुरत्वसूचनाद् राक्षसीनामागमनमित्यर्थः, नन्वपूर्तिमात्रेणासुरत्वं कथं भवेदित्याशङ्क्य मूले हिशब्देन सूचितां युक्तिं विवृण्वन्ति रक्षांसीति, यातुधानसम्बन्धा इति यातुधानैः सम्बन्धो यासां तादृश्य इत्यर्थः, मूले तत्रेतिपदस्यार्थमाहुर्यत्र कुत्रचिदिति सर्वत्रेति, तत्तत्स्वामिनिराकरणसमर्था इति तस्य कर्मण आसुरत्वात् स्वयं प्रबलास्तत्तन्मन्त्रस्वामिनां देवानां निराकरणे समर्था भवन्तीत्यर्थः, रक्षोघ्नानीतिपदस्य तात्पर्यमाहुः रक्षोमारकैरेवेति, कर्मणः पूर्णतया आसुरत्वासम्पादनेन स्वरूपसम्पादकत्वं चरित्रमात्रश्रवणादेर्न त्वागन्तुकविघातकनिवर्तकत्वं, तादृशत्वं तु रक्षोघ्नचरित्रश्रवणादेरेवेत्यर्थः, रक्षोघ्नव्यतिरिक्तैस्तेषां प्रतीकारो निवृत्तिर्न भवतीति दृष्टान्तेन साधयन्ति यथेति, तैलं दीपस्वरूपसम्पादकं न तु विघातकनिवर्तकं तथेत्यर्थः, ननु 'रक्षोहनोवोवलगहन' इत्यादिमन्त्रा अपि रक्षोघ्ना उक्तास्तान् विहाय श्रवणादिकमेव रक्षोनिवर्तकं कथमुच्यते इत्याशङ्क्य तत्र स्वनिर्वाहे कुण्ठितत्वारुचिं स्फुटीकुर्वन्ति मन्त्राणां त्विति, अपहताः पाप्मानो यैस्तादृशत्वं रक्षोनिवर्तकत्वमित्यर्थः, सुष्ठु आ समन्तादध्यायोऽध्ययनं शोभनं नियमैर्युतं आ सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते इत्युक्तप्रकारकमध्ययनं तेन पोषितानामित्यर्थः, तस्यैवेति स्वाध्यायस्यैवेत्यर्थः, तथा च मन्त्रा अपि रक्षोनिवर्तकास्तथापि स्वनिर्वाहकसापेक्षा इतिभावः, तत्र हेतुद्वयमाहुर्मर्यादायामिति, आधिदैविका गायत्र्यादिमन्त्रजपादयः आध्यात्मिका न्यासादयः, आधिभौतिकाः स्नानादयः, तथा च रक्षःसम्बन्धादाधिभौतिकदेहादिशुद्ध्यभावे मन्त्रस्वरूपमेव न सिद्ध्येदितिभावः, इदं दोषद्वयं प्रकृते नास्तीत्याहुर्भगवांस्त्विति, आगन्तुकैरिति स्वाध्यायेन पोषितत्वादागन्तुकैर्मन्त्रैः करणैरागन्तुकानामेव रक्षसां निवारकत्वं, रक्षकस्य पुरुषस्येतिशेषः, एतदर्थमेवेति कैमुत्यसूचनार्थमेवेत्यर्थः, श्लोकद्वयार्थमनुवदन्ति एकमिति, उपपत्तिकथनं "न यत्रे"ति श्लोकस्यार्थः, सूपपत्तिकं सुष्ठु उपपत्तिर्यत्र तादृशमित्यर्थः ॥ ३ ॥ सा खेचरीत्यत्र वैकुण्ठादेरिति वैकुण्ठेष्वादिर्मुख्यो व्यापिवैकुण्ठस्तस्येत्यर्थः, नन्दे विद्यमाने इति नन्दे विशुद्धसत्त्वस्थापनस्योक्तत्वाद् गवां च धर्महेतुत्वाद् रक्षोनिवर्तकत्वं, अत एव तद्दोषनिवारणाय गोमूत्रेण स्नापनं नन्देन च वात्सप्रेण सूक्तेनाघ्राणं वक्ष्यति, नन्दो मथुरां गतो गावश्चरणार्थं गता वहि सम्स्थानमात्रमस्तीत्यर्थः, गवां कुलं यत्र तादृशं स्थानमिति विग्रहः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

षष्ठेध्याये कारि कहते हैं कि ालकानां ततः कृतेति दुष्टायाः पूतनाया मारणेन व्रजस्थानां रक्षा जाता अन्यथा नन्दगृहागमनात् पूर्वं यथा पूतन र की शरण ास्तथा पुनरपि मारयेत्, आन्तरं शब्दजमिति अन्तः हृदये उद्भूतं आन्तरं वसुदेवोक्तिश्रवणानन्तरं श्रीनन्दस्य न्दादि गोप त्पन्नं तदनंतरं वसुदेवोक्तशब्दश्रवणजन्यत्वात् शब्दजमित्यर्थः। उत्पातागमशङ्कित इत्यस्य व्याख्याने, एवं सन्देहकरे और वसुदे रित्रमिति अत्र वसुदेवस्य परमाप्तत्वात् तेन च 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुल' इत्यनेनोत्पातनिश्चयस्यैवोक्तत्वादुत्पाताः सर्वथा श्रीगोकुले भवन्तीत्येव नन्दमनसि ज्ञानमुचितं, तथाप्युत्पातो भवेन् न वेत्येवोभयकोट्यवगाहि संशयात्मकं ज्ञानं व्रजराजस्याभून् तत् तु भगवत्कृतमेवेतिभावः, अन्यथोत्पातनिश्चये भगवद्विषयकस्नेहस्य प्राबल्याज् जीवनमेव न स्यात्, अतः संशय एव भगवतोत्पादितः, तदेतन् मूले उक्तं उत्पातागमशङ्कित इति, सन्देहकरणं भगवच्चरित्रमिति व्याख्यातं च ॥ १ ॥ पूतना बालघातिनीत्यस्य व्याख्याने पूतनाशब्दनिरुक्तौ पूतानपि नयतीति पुरुषानप्युतन यतीति वेति व्युत्पत्तिद्वयमपीदं न व्याकरणसाध्यमपि तु निरुक्तसाध्यमितिज्ञेयं, 'अप्यक्षरसाम्येन निर्ब्रूयान् न संस्कारमाद्रियेते'ति निरुक्तानुशासनात, अत एव 'भाति सर्वेषु भूतेषु रतिः सर्वत्र जन्तु' ष्वित्यादिभारतशब्दस्य निरुक्तिर्दृश्यते पुरि शेत इति पुरुष इत्यादि च ॥ २ ॥ न यत्र श्रवणादीनीत्यस्य व्याख्याने, मन्त्राणां तु स्वाध्यायपोषितानामित्यारभ्योत्तरमुत्तरं बलीय इत्यन्तं, ननु वेदमन्त्रैरेव राक्षसादीनां निवृत्तौ सिद्धायां किं भगवच्छ्रवणकीर्तनादिभिरित्याशङ्क्याहुः मन्त्राणां त्वित्यादि, नियमादिपूर्वकाध्ययन-

पोषितानां मन्त्राणामेव फलसाधकत्वं, तादृशनियमादीनां दुष्करत्वेन मन्त्रैः कार्यासिद्धिं ज्ञात्वा भगवच्छ्रवणकीर्तनादयो दुष्टनिवारकत्वेन निरूपिताः यतो भगवच्छ्रवणकीर्तनादीनां नियमादिराहित्येपि फलसाधकत्वेन स्वतन्त्रत्वं, अतोत्र त एवोक्ताः, वेदमन्त्राणां फलसाधकत्वं तदा स्याद् यदा देशकालादिसर्वसाधनसौष्ठवं भवेत्, तस्य दुर्लभत्वाद् देशादिसाधनानपेक्षाः फलं साधयितुं समर्थाः श्रवणादय एव पुरस्कृताः, वेदमन्त्राणां फलसाधकत्वे दौर्लभ्यमाहुः **मर्यादायामिति**, वेदमार्ग इत्यर्थः, **आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकेष्विति** त्रिविधेषु साधनेष्वित्यर्थः, तत्र भौतिकं देहशोधकं स्नानादिरूपं, आध्यात्मिकं श्रद्धारूपं, आधिदैविकं वैदिकमन्त्रात्मकं रक्षोघ्नादिरूपं, एवं त्रिषु साधनेष्वाधिदैविकस्य वेदमन्त्रस्य फलदातृत्वं श्रद्धाधीनं, न हि श्रद्धां विना पठिता मन्त्राः फलदा भवन्तीत्यत आध्यात्मिकस्य श्रद्धारूपसाधनस्याधिदैविकमन्त्रात्मकसाधनापेक्षया बलीयस्त्वं, एवमाध्यात्मिकश्रद्धारूपसाधनस्य फलदत्वं स्नानादिशुद्ध्यधीनं, न हि स्नानादिरहितस्य श्रद्धामात्रेण फलं भवत्यत आधिभौतिकस्य स्नानादेराध्यात्मिकश्रद्धारूपसाधनाद् बलिष्ठत्वं, अतः सुष्ठुक्तमा**धिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकेषूत्तरोत्तरं बलीय** इति, **सापेक्षसामर्थ्याच्चे**ति आधिदैविकस्य भौतिकसापेक्षसामर्थ्यादित्यर्थः, देवता हि फलं प्रयच्छन्त्यो भौतिकद्वारैव प्रयच्छन्ति, यथाधिदैविकी गङ्गा प्रवाहरूपभौतिकसम्बन्धेनैव शुद्ध्यादिरूपं फलं ददाति, अत आधिदैविकस्य भौतिकसापेक्षसामर्थ्यत्वं, **तदधिष्ठातृदेवते**त्यादि आधिदैविकब्राह्मणाधिदैविकसुरभ्यादिदेवताप्रेरणेन परस्मिन् आधिभौतिकब्राह्मणे आधिभौतिक्यां गवि च फलजननसामर्थ्यं यतो जायते, तत्प्रेरणेन भौतिका एव फलं प्रयच्छन्ति, अत आधिदैविकानामपि फलदाने भौतिकापेक्षास्तीति भौतिकानां बलवत्त्वं, तथा च सिद्धमेतत् भौतिकापेक्षा आधिदैविकानां, भौतिका देशकालादयो ह्यशुद्ध्यादिदोषवशाद् दुर्बला इति देशादिषट्कशुद्धिनिरपेक्षाः श्रवणकीर्तनादय एव सर्वदा सर्वफलसाधका इति त एव राक्षसादिनिवारणार्थमुक्ता इतिभावः, तदेतदाहुः **भगवांस्तु सर्वगत** इति, तु शब्देन वेदो न सर्वगत इत्युक्तं, वेदस्य त्रैवर्णिकमात्रविषयत्वाद् देशादिशुद्धिसापेक्षत्वेन स्वनिर्वाहे कुण्ठितसामर्थ्यवत्त्वाच्च, **भगवांस्त्विति** श्रवणकीर्तनस्मरणादिना सेव्यमानो भगवांस्त्वित्यर्थः, **सर्वगत** इति श्रवणादेः सर्वाधिकारकत्वेन श्रवणादिविषयीभूतस्य भगवतः सर्वगतत्वं, तेन न श्रवणादेः कुत्रापि कुण्ठितशक्तितेतिभावः ॥ ३ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

षष्ठाध्याये **चरित्रमद्भुतं शास्त्र** इति का० १७३। पूतनाया असुभिः सहितस्य पयसः **पानं रक्षा** पूर्वभक्षितबालानां कृतार्थतान्येषां च रक्षेत्यर्थः, **एकमिति** का० १८३। एकस्य कार्यस्य बह्वर्थसाधकत्वं टिप्पण्यां पञ्चमाध्याये कारिकाव्याख्याने स्फुटीकृतं, **वीर्यमिति** का० १९३। "मायेत्यसुरा" इति श्रुतेरसुराणां मायारूप एव भगवानुपास्य इति मायासम्पादितपूतनारूपं मायारूपमिति तया करणभूतया कृत्वा भगवतैव **कृतं दुःखमि**त्यर्थः, **तस्मात्** करणाद् दुःखाभावाय पूतनायाः मुक्तिदानं, ननु भक्तदुःखाभावाय पूतनामारणे पूर्वमपि भक्तदुःखमनुपपन्नमित्याशङ्क्याहुर्निरोधोक्तेर्न **दूषणमिति**, तादृशदुःखस्य भगवति चित्तवृत्तिनिरोधहेतुत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाद् भक्तिमार्गे न दूषणमित्यर्थः, तथा चैवमन्वयः, अत्राध्याये **भगवतो वीर्यं** पूतनामारणरूपं **वर्ण्यं**, तत्र हेतुर्**मायया भगवत्कृतं दुःखं, तस्मान् मुक्तिः** पूतनायाः, **निरोधोक्तेर्निरोध**साधकत्वात् तद् दुःख न **दूषणमिति**, **भयमिति** का०२०३। **शब्दजमिति** "सन्त्युत्पाताश्च गोकुल" इति वसुदेववाक्यजन्यमित्यर्थः ॥ २०३ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

कारिकाः - चरित्रमद्भुतं शास्त्रे लोकेऽपि भगवत्कृतम्। पूतनासुपयःपानं षष्ठे रक्षा निरूप्यते ॥ १ ॥

एकं कार्यं भगवतो बह्वर्थानां तु साधकम्। अतो दुष्टवधो रक्षा ब्रः, वस्तुतस्ततः कृता ॥ २ ॥

वीर्यं भगवतो वर्ण्यं मायया भगवत्कृतम्। दुःखं तस्मात् तु मुक्तिर्हि त एव मूलेपि दूषणम् ॥ ३ ॥

भयं निवर्त्यं वीर्येण द्विविधं बाह्यमान्तरम्। आन्तरं शब्दजं बाह्[illegible] तथा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—पूतना के स्तन्य एवं प्राण और पूतना में रहे हुए बालकों के प्राण [illegible] ना और बालकों की रक्षा करना ये भगवान् के चरित्र लोक और भागवत शास्त्र में भी अद्भुत कहे और समझे जाते हैं इनका अत्र छठे अध्याय में निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥ यद्यपि भगवान् की एक लीला होती है लेकिन वह अनेक अर्थों को सिद्ध करती है—जैसे पूतना-वध की लीला से दुष्टों का नाश, पूतना द्वारा प्रथम मारे हुए बालकों का हित, एवं पूतनावध से भविष्य में दूसरे बालकों का मरने से रक्षण करना आदि कार्य सिद्ध हुए ॥ २ ॥ इस अध्याय में भगवान् के वीर्य गुण का वर्णन करना है। भगवान् ने माया द्वारा दुःख दिलाकर. फिर उस दुःख से व्रज को मुक्त किया, ऐसा करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है; क्योंकि यह दुःख निरोध सिद्धि के लिये दिलाया था ॥ ३ ॥ वीर्य द्वारा भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार का भय मिटाना है। भीतरी भय शब्द द्वारा पैदा हुआ है और बाहरी भय पूतना द्वारा हुआ है। श्रीवसुदेवजीने श्रीनन्दरायजी को मथुराजी में कहा था कि आप शीघ्र व्रज पधारिये व्रज में उपद्रव हो रहे हैं यह भय "शब्दज" भय था ॥ ४ ॥

श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाश में कारिकाओं का विवेचन करते हैं कि पाँचवें अध्याय की लीलाओं में निज रसमय श्रीविग्रह प्रकट करके भगवान् ने भक्तों का निरोध किया है अब आगे की लीलाओं में मात्र स्वरूप से ही नहीं, किन्तु स्वरूप एवं लीलाओं द्वारा भक्तों का निरोध करेंगे। जैसे 'पंचम अध्याय में भगवान् के प्राकट्य अवसर पर किया हुआ नन्दमहोत्सव निरोध सिद्ध करने वाला था। वैसे ही छठे अध्याय में पूतना से बालकों की रक्षालीला, निरोध बतलाने वाली है। इसे समझाने के लिये इस चरित्र और रक्षा प्रसंग की संगति बताई जाती है। इस पूतनाचरित्र का भागवत शास्त्र में २-७-२७वें **'तोकेन जीवहरणं'** श्लोक में ३-२-२३ वें **'अहो बकीयं'** श्लोक में एवं २०-६-४४ वें श्लोक में अद्भुत इसलिए कहा गया है कि दुष्ट स्वभाव वाली शास्त्रीय साधन रहित पूतनाने मुक्ति के लिए शास्त्रविहित कोई भी साधन नहीं किया। ऐसी को भी मुक्ति दे दी। भगवान् का इससे विशेष अनूठा चरित्र क्या होगा? अथवा पूतना के प्राण रूपी स्तन्य के पान द्वारा बालकों की रक्षा की इस कार्य को रूपक मान ले तो इस अध्याय में एक ही लीला बताई गई है। लेकिन भागवत शास्त्र में रूपक कथा नहीं है।

पंडितप्रवर निर्भयराम भट्टजी कारिकार्थ में जताते हैं कि—भगवान् ने पूतना के प्राणों के साथ दूध पीकर, जो बालकों की रक्षा की, उस रक्षा में पूतना द्वारा प्रथम मारे हुए और पूतना के उदर में रहे हुए बालकों को भगवानने अपने श्रीअङ्ग में स्थापित कर बालकों को कृतार्थ किए और अन्य बालकों की पूतना के मरजाने के कारण रक्षा हुई।

श्रीलालूभट्टजी योजना में **'अतो दुष्टवधो रक्षा बालकानां ततः कृता'** इसका अर्थ बताते हैं कि दुष्ट पूतना के वध द्वारा व्रजस्थों की रक्षा की। नहीं तो नन्दजी जब तक नहीं पहुंचे थे, तब तक जैसे बालकों को पूतना ने मारा था वैसे ही नन्दजी के पहुंचने पर भी मारती। इसलिये पूतना-वध से बालकों की रक्षा हुई और साथ ही नन्दजी का अन्तर्भय भी, जो वसुदेवजी के शब्द सुनने से हुआ था, वह कम हुआ॥ २॥

श्रीवल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि पूतना के वध से, पूतना द्वारा मारे गये बालक, पूतना के उदर में थे वे भी पूतना के साथ मर गये होंगे; क्योंकि गर्भवती माता के मरने पर जो बालक उदर में होता है वह भी मर जाता है, वैसे ही वे भी मरे होंगे, इस शङ्का को इस कारिका द्वारा मिटाया गया है।

श्रीविट्ठलनाथजी आज्ञा करते हैं कि यदि कोई कहे कि छठे अध्याय में वीर्य का वर्णन करते हुए भक्तों के दुःखों का वर्णन करना उचित नहीं तब इसका समाधान करते हैं कि **'मायया'** भगवान् ने माया द्वारा भक्तों को दुःख दिया और उस माया रूपी पूतना को मार कर, भक्तों का दुःख मिटा कर निरोध किया। यह सब भगवान् की वीर्यलीला होने के कारण, इस अध्याय में भक्तों के दुःख का वर्णन है, इस कारण से भक्तिमार्ग में यह दोष नहीं है। श्रुति में कहा गया है कि **'मायेत्यसुराः'** असुर लोगों का भगवान् माया है—इसका तात्पर्य कि असुर लोग, मायारूपी भगवान् के सेवक हैं उसकी सेवा करते हैं। माया रूप पूतना का यह स्वरूप मायारूप भगवान् ने ही भक्तों को दुःख देने के लिये तैय्यार करवाया था। इसलिये भगवान् ने ही पूतना को साधन रूप बना कर भक्तों को दुःख दिया था। इसलिये उस पूतना में व्रज-भक्तों का लक्ष्मी भाव हुआ था, नहीं तो वे ही उसको निकाल देते। दूसरे बालकों को अब कष्ट न हो, इसलिये भगवान् ने पूतना को मुक्ति-प्रदान किया। यदि पूतना मुक्त न होती तो फिर दूसरे किसी में प्रवेश कर दुःख देती। अब वह सम्भावना सदा के लिए मिट गई। इस कारण से निरोध मार्ग मर्यादा भक्ति-मार्ग से विलक्षण है। ईश्वर की रक्षा करने योग्य न थी, इसका समाधान भी यही है कि प्रेमलक्षण निरोध मार्ग मर्यादा मार्ग से अनूठा है; क्योंकि उसमें स्नेह ही मुख्य है।

आचार्यचरण कहते हैं कि **'प्रथमं वाक्यादुत्पन्नं'** अब श्रीशुकाचार्यजी प्रथम श्रीवसुदेवजी के वचनों के श्रवण से पैदा हुआ भीतरी भय ईश्वर की शरण में जाने से नष्ट होगा, इसका वर्णन **'नन्दः पथि'** श्लोक से करते हैं। श्रीवसुदेवजी के वचनमात्र सुनते ही नन्दादि गोप भयभीत होकर मथुरा से निकले, मार्ग में भय के मारे चलने के लिये भी क्षीणशक्ति हो गये थे चल नहीं पाते थे और वसुदेवजी के वाक्यों को विचारते थे, क्या हमको कंस द्वारा भय होगा? इसलिये मथुरा से जाने के लिये वसुदेवजी ने सूचन किया, अथवा जैसे उनसे सुने गए शब्द हैं कि गोकुल में उत्पात हैं इस कारण वसुदेवजी का विचार हमको मथुरा से निकालने का था, इसलिए शब्द कहे। नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। श्रीवसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोलते। उत्पात का केवल निमित्त बताया ऐसा कहें तो असत्यवादी हो जाँय।" इससे यह निश्चय किया कि वसुदेवजी ने जो कुछ कहा वह कदाचित् सत्य भी हो जाय। इस प्रकार शंकितचित्त और भीतर भय वाले नन्दरायजी गोकुल चले।

ऐसा विचार करते हुए मार्ग में किसी भी प्रकार का कार्य न होने से निश्चिन्त हो कर वसुदेवकथित भय को मिटाने के लिये नन्दजी ने श्रीहरि की शरण ली। 'गोकुल में उत्पात है', ऐसे वसुदेवजी के वाक्य पर नन्दजी ने ध्यान न दिया लेकिन स्मरण करने लगे। यदि इन वचनों पर ध्यान देते तो नन्दजी के प्राण भी निकल जाते। नन्दजी के मनमें केवल उपद्रवों की शंका हुई, वह भी उपद्रवों के आने की शङ्का हुई कि कदाचित् उपद्रव होंगे; परंतु अब हो रहे हैं, यह निश्चय

नन्दजी को नहीं हुआ। शुकाचार्यजी ने श्लोक में यह कहा है कि उत्पात आने की शङ्का वाले नन्दजी थे। नन्दजी के मन में इस प्रकार का संदेह ही रहा, यह भी भगवान् का चरित्र है, सचमुच तो जिस समय वसुदेवजी ने नन्दरायजी को 'गोकुल में उपद्रव हैं' कहा था उस समय ही 'पूतना' गोकुलमें पहुंच गई थी।

योजनाकार श्रीलाल्लूभट्टजी **'उत्पातागमशंकितः'** वाक्य का मर्म कहते हैं कि जब कि नन्दराय को निश्चय था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता हैं, उन्होंने जो कहा वह सत्य ही है। वसुदेवजी ने स्पष्टतया कह दिया था कि गोकुल में उत्पात हो रहे हैं, फिर भी नन्दजी के मन में जो सन्देह हो रहा था, उसका कारण भगवान् का चरित्र है स्वयं भगवान् चाहते हैं कि नन्दरायजी को इस विषय में सन्देह ही हो, नहीं तो, भगवान् में विशेष वात्सल्य स्नेह होने से, नन्दजी के प्राण निकल जाते, इससे भगवान् ने ही नन्दजी के मन में सन्देह कराया, निश्चय होने नहीं दिया। इसलिये सुबोधिनी में यह सन्देह उत्पन्न कराना भगवच्चरित्र है, इस प्रकार व्याख्या की है ॥ १ ॥

आचार्य श्री कहते हैं कि **"एवमान्तरं भयं निवर्त्य"** इस प्रकार आन्तर भय दूरकर बाहरी भय भगवान् मिटाते हैं। इसलिये पहिले बाहरी भय का वर्णन **'कंसेन'** इस श्लोक से लेकर **"तस्मै रतनं दुर्जर"** श्लोक पर्यन्त ८॥ श्लोकों में करते हैं।

पूतना सब जगह सब उपद्रव करने वाली है, इस लिये यह मारने योग्य है इसको प्रथम सामान्य ढंग से वर्णन करते हैं।

कंस की भेजी हुई घोर पूतना, बच्चों को मारती हुई, सब जगह घूम रही थी। पूतना का शासक (स्वामी) कंस था, शासकने जिस कार्य के लिये भेजा, वह कार्य अवश्य करना चाहिये लेकिन पूतना स्त्री थी स्त्री-जाति का बालकों में सहज स्नेह होता है इसलिये वे बच्चों से प्यार करेगी मारेगी नहीं; ऐसा जानते हुए भी कंस ने स्त्री को क्यों भेजा ? इसका समाधान करते हुए शुकदेवजी कहते हैं कि यह पूतना अन्य स्त्रियों के समान कोमलहृदय नहीं है किन्तु घोरा क्रूरा है इसलिये कंस ने बच्चों को मारने के लिये भेजा। जात-कर्म आदि संस्कारों से पवित्र, वैदिक कर्मों से सम्बन्धित कर्मों की अधिष्ठात्री देवताओं आदि द्वारा सुरक्षित बालकों को किस प्रकार मारेगी ? इस पर शुकदेवजी समाधान करते हैं कि वह 'पूतना' है; उसके ऐसे घोर कर्मों के करने के कारण उसका 'पूतना' नाम धरा गया है। **'पूतान् नयति इति पूतना'** पवित्रों को भी जो ले जाती है उसको पूतना कहा जाता है। यह केवल बच्चों को ही ले जाती है, ऐसा नहीं अपितु पुरुषों को भी ले जाती है, इसलिये इसका नाम पूतना है। पुरुषान् अपि उन्नयति' इस व्युत्पत्ति से पुरुषों को भी ले जाने वाली पूतना को ऐसी घोर स्त्री समझ कंस ने इसको भेजा है। इन कारणों से यह बहुत बलवाली है, सबको मारने की शक्ति रखती है। संस्कारों के करने के कारण, जब देवता रक्षक हैं तब उन्हें यह कैसे मारती है ? तब कहते हैं कि **'बालघातिनी'** जैसे देवताओं में रक्षा करने की शक्ति है, वैसे पूतना में बालकों को मारने की शक्ति है। भगवान् ने ऐसी ही शक्ति उसको दी है। इससे ही तीन वर्ष से छोटे बच्चों को मारती हुई घूमती रहती थी। जो बच्चों को खा जावे, तो थोड़ों से ही पेट भर जाने के कारण मारना छोड़ दे, लेकिन बालकों के प्राण मात्र चूस चूस कर चली जाती है। तीनों गुणों वाले स्थानों में जाने की इसको रुकावट न थी, इससे सात्विक गुणी नगरों में, राजसगुणी गांवों में और तामसगुणी गोष्ठों में रहने वाले बालकों को मारती हुई, इस कार्यमात्र के लिये वहाँ घूमती हुई इधर उधर चक्कर काटती थी। श्लोक में 'आदि' शब्द है उसका भाव है कि वह केवल नगर, गाँव और गोष्ठों में ही नहीं किन्तु **'खेटखर्वटवाटीषु अपि'** खिड़कों और वाड़ियों में भी घूम घूम कर बच्चों के प्राण चूसती थी ॥ २ ॥

अब आचार्य श्री अग्रिम श्लोक के अवतरण में कहते हैं कि जो पहले भी इस प्रकार पूतना का बालकों को मारना ही केवल प्रयोजन होता तो उस समय भी कोई बालक जीवित न रहता। इस शङ्का को **'न यत्र'** श्लोक से मिटाते हैं कि—

जहाँ मनुष्य, अपने रक्षार्थ किये हुए कर्मों में और स्व शब्द कहकर स्व का अर्थ अपने धार्मिक कर्मों में, अधर्म को शाखाओं को हटाने या रोकने में, देवादिकों के पोषण करने वाले वैष्णवों के पति भगवान् के, सप्तम स्कंध में प्रह्लादोक्त नव प्रकार के अथवा श्री शुकाचार्य कथित २-४-१५ श्लोक में निर्दिष्ट छः प्रकार के श्रवणादि भजन और इसी प्रकार जिन भगवद् गुणों के गान से राक्षसों का नाश होता है जैसे कि ताटकादि राक्षसों के नाश करने वाले श्री रघुनाथजी के चरित्र गान वगेरे पवित्र कर्म जहाँ नहीं होते हैं, वहाँ राक्षसियाँ होती ही हैं और आकर उपद्रव करती ही हैं क्योंकि वे कर्म श्रवणादि न करने से राक्षसों के सम्बन्धवाले हो जाते हैं।

वैदिक शास्त्रोक्त कर्म की समाप्ति के समय **"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्"** इस विधि वाक्य में कहा है कि भगवान् के श्रवणादि के अभाव में सर्व कर्म अपूर्ण ही रहते हैं, भगवान् के स्मरण एवं नाम ग्रहण से ही पूर्ण हो जाते हैं। राक्षस तो सब जगह होते ही है इस कारण से ही उनके नाश के लिये **'अपहतासुराः'** ये मन्त्र पढ़े जाते हैं। इससे जाना जाता है कि राक्षसों का तो वहाँ जहाँ भगवत्स्मरण आदि नहीं है पहले से

ही सम्बन्ध है इसलिये राक्षसों से सम्बन्ध वाली राक्षसियाँ भी जहाँ तहाँ आ और जा सकती है एवं पृथक् पृथक् मन्त्रों के स्वामियों का निराकरण भी कर सकती हैं। यह अर्थ योग्य है कारण कि पतियों की उपस्थिति में स्त्रियाँ प्रवल होने से कहीं भी जा सकती हैं कोई उनको रोक नहीं सकता। इससे राक्षसों का नाश करने के लिये 'रक्षोघ्न' मन्त्र जप पाठ आवश्यक है उन मंत्रों के पठन विना उपद्रव नष्ट नहीं होंगे। राक्षसों के नाश हो जाने पर राक्षसियाँ कुछ नहीं कर सकेंगी। जैसे प्रबल वायु से दीपक बुझ जाता है और उसमें रहा हुआ तेल दीपक को बुझने से बचा नहीं सकता; इसी प्रकार राक्षसों के नाश होने से राक्षसियाँ बेकार बन जाती हैं। इसलिये उपद्रवों का प्रतीकार सामना एकमात्र 'रक्षोघ्न' नाशक मन्त्रों के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। पूर्ण शुद्ध विधि से पढ़े हुए मन्त्र ही पापों का नाशक होते हैं। 'अग्नि वै जातं' इस उपाख्यान में ऐसे ही मन्त्रों से पाप-नाश होना कहा गया है। मर्यादा मार्ग में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक; इन तीनों को उत्तरोत्तर प्रवल बताया गया है। परस्पर सामर्थ्य की अपेक्षा होने से, उसके अधिष्ठाता देवता की प्रेरणा से दूसरे में फल पैदा करने की शक्ति आती है।

भगवान् तो सब जगह विद्यमान् हैं और भगवान् के प्राकट्य का विशेष कारण 'भक्तिमार्ग' को बनाया है। भक्ति से भगवान् का प्राकट्य और सकल विघ्न, दोषां आदि का नाश भी हो जाता है। इसलिये वैष्णवों के पति परमात्मा के श्रवणादि भक्ति द्वारा 'रक्षोघ्न' मन्त्रों का फल राक्षस नाश है।

अब आचार्यचरण 'स्वकर्मसु' पद में रहा हुआ "स्व" शब्द का स्पष्टार्थ करते हैं कि आगन्तुकानां यकायक राक्षसादि द्वारा आने वाले दुःखों का एवं राक्षसों का निवारण मन्त्रों द्वारा ही हो सकता है। किन्तु सहज पैदा हुए दोनों का निवारण मन्त्रों द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रबल और दुर्बल भाव होने पर, बाध्य बाधक भाव होना उचित ही है। जहाँ एक बलवान् हो, दूसरा निर्बल हो, तो वहां यदि एक बाधक और दूसरा बाध्य हो जाय, तो वह योग्य ही है। इससे आगे श्रवण करने वाले की शङ्का भी मिटाई गई। वर्णाश्रम धर्म वाले जो कर्म करते हैं वे देह-मात्र से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं तथा उन कर्मों का सम्बन्ध भगवान् से कुछ नहीं होता। जहाँ भगवान् के नाम सुनने से ही राक्षस भाग जाते हैं, वहाँ स्वयं भगवान् की उपस्थिति में राक्षसों की चिन्ता कैसी? इसलिये ही 'कर्मसु' के पहले 'स्व' शब्द दिया है।

श्री वल्लभ जी महाराज का मन्तव्य है कि श्रवणादि नव प्रकार की भक्ति कहकर, फिर छः प्रकार की भक्ति का भी विधान किया इसका कारण है कि दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इन तीन प्रकार की भक्तियों से राक्षसों के सम्बन्ध की शङ्का हो नहीं है। इससे राक्षसों के नाशक रघुनाथजी के चरित्र गाने के लिये कहना नहीं चाहिये, इसलिये कहते हैं अथवा छः प्रकार की भक्ति जहां होती है वहाँ राक्षसियाँ का प्रवेश नहीं होता॥ ३॥

"एवं तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वं' इस प्रकार पूतना का सब प्रकार के उपद्रव करने के स्वरूप को हेतुओं से सिद्ध कर अब उसका गोकुल में आने का 'सा खेचरी' श्लोक से वर्णन करते हैं—पूतना जिस समय देवादिकों का सम्बन्ध न था एवं आश्लेषा नक्षत्र, विष घटिका, मृत्यु योग था एवं भगवान् पृथ्वी पर विराजमान थे उस समय एक बार गोकुल में आ पहुंची। श्लोक में 'खेचरी' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि भूमि की सर्व देव लोग रक्षा करते हैं इसलिये वह भूमि पर आ नहीं सकती थी, इससे वह पक्षी की तरह आकाश में उड़ती हुई गोकुल में आई। यों तो गोकुल मर्यादा धर्म वाला है, किन्तु वैकुण्ठ से पधार कर आये हुए भगवान् जहाँ बिराजें वहाँ मर्यादा धर्म न ही रह पाता इसलिये गोकुल न कहकर श्रीशुकाचार्य-जी ने प्रययौ 'नंदगोकुल' कहा है। पूतना नंदगोकुल में आ नहीं सकती, किन्तु जिस समय नंदजी एवं गौ दोनों गोकुल में नहीं थे, उस समय वह आ गई।

पूतना गोकुल के समीप तो आ गई लेकिन भीतर जाने की शक्ति न थी, तब पूतना ने अपने इष्ट, माया रूप भगवान् का ध्यान धरा तब माया रूप भगवान् ने उसको यशोदा आदि स्त्रियों के समान, सौन्दर्य पूर्ण स्त्री रूप का दान दिया श्रुति में कहा है कि 'मायेत्यसुरा' 'तद्धैनान् भूत्वाऽवती'ति 'च' माया असुर है वे प्रकट हो इनकी रक्षा करते हैं। इसलिये श्लोक में कहा है कि 'उपेत्यात्मानं मायया योषित्वा' गोकुल आकर माया से अपना रूप स्त्री जैसा बनाकर, गोकुल में प्रवेश किया। श्लोक में दिये हुए "कामचारिणी" पद का भाव यह है कि अजान स्त्री होते हुए भी प्रवेश कर सकी क्योंकि वह स्व इच्छा से वहाँ भी प्रवेश कर सकने की शक्ति रखती थी, एवं उसने युवती स्त्री का रूप भी इस निश्चय से लिया था कि मैं गोकुल में प्रवेश करूं तो मेरे रूप को देख कर कोई पुरुष भी मुझे रोके नहीं। जहाँ-जहाँ काम का प्रवेश था, वहाँ-वहाँ ही प्रवेश कर सकी। जैसे साक्षात् काम हो वा विशेष काम का वेग हो तो वहाँ प्राणी अन्धे हो जाते हैं।

श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाश से प्रकाश डालते हैं कि भगवान् का प्राकट्य रोहिणी नक्षत्र में हुआ और छठे दिन आश्लेषा नक्षत्र में पूतना आई। इससे जाना जाता है कि भगवान् ने पूतना को मारा तब भगवान् 'छः' दिन के ही थे। पद्मपुराण में लिखा है कि श्रीकृष्ण ने भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी को पूतना के प्राण लिये। इससे भगवान् श्रीकृष्ण उस समय 'छः' दिन के ही थे हरिवंश में लिखा है कि छः मास के भगवान् ने पूतना को मारा, यह कथा दूसरे कल्प की है।

लेखकार श्रीवल्लभजी का मानना है कि जहाँ सत्त्वगुण और धर्म होता है, वहाँ राक्षसादि प्रवेश नहीं पा सकते हैं, इसलिए कहा कि पूतना उस समय आई जिस समय गोकुल में सत्त्वगुण रूप नन्दजी नहीं थे एवं धर्म रूप गौ भी नहीं थीं ॥४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

षष्ठे तु पूतनामोक्षः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः । लीला रक्षा च गोपीभिराश्चर्यं च निरूप्यते ।. १ ॥

'शौरेर्वसुदेवस्य वचो न मृषा' इति विचिन्तयन् उत्पातागमशङ्कायुक्तो नन्दः पथि मार्गे एव हरिं शरणागतदुःखहारिणं भगवन्तं शरणं जगामेत्यन्वयः ॥ १ ॥ कंसेन प्रहिता प्रेषिता पूतना पुरग्रामादिषु शिशून्निघ्नन्ती चचारेत्यन्वयः । 'न केवलं कंसप्रेरणयैव बालान् हन्ति, किन्तु तस्या अपि तत्राग्रहः' इत्याशयेनाह—बालघातिनीति । ननु "स्त्रीणां बालेषु स्नेहाधिक्यात् कथं तया बालहननं सङ्गच्छते ?" तत्राह—घोरेति । क्रूरस्वभावेत्यर्थः ॥ २ ॥ ननु "यदि तस्याः स्वभावत एव बालघातकत्वं, तदा कथं बालकानां जीवनम् ? व्रजेऽपि बालास्तया मारिताः स्युः" इत्यपेक्षायामाह—नेति । यत्र पुरादिषु स्वकर्मसु दृष्टादृष्टफलकेषु लौकिकालौकिकव्यापारेषु वर्तमाना जनाः सात्त्वतां भक्तानां भर्तुः पालकस्य भगवतः श्रवणादीनि न कुर्वन्ति, तत्रैव यातुधान्यो राक्षस्यः, चकारादन्येऽपि विघ्नकर्तारो विघ्नान् कुर्वन्ति इति शेषेणान्वयः । तत्र हेतुमाह – रक्षोघ्नानीति । श्रवणादिनवभक्तीनां रक्षोविनाशकत्वात् तदन्यतरसत्त्वे विनाशभिया तेषां तत्र गमनाभावान्न तत्रत्यबालविनाशो, व्रजे तु साक्षाद्भगवतो विद्यमानत्वान्न तत्रत्यानां बालकानां विनाशः ॥ ३ ॥ यद्यपि जगन्मोहकारणभूतमायाधिपतेर्भगवतो विद्यमानत्वान्न तत्र पूतनाया आगमनं मायाप्रभावश्च सम्भवति, तथाप्यद्भुतकर्मणः स्वलीलासिद्ध्यच्छावशात् तत्रागमनादिकं जातं तन्निरूपयति—सेति । सा खेचरी आकाशचारिणी पूतना एकदात्मानं योषित्त्वा वरां नारीमिव कृत्वा नन्दगोकुलमुपेत्यागत्य गृहं प्राविशदित्यन्वयः । आकाशचारित्वे निःशङ्कतया परगृहप्रवेशादौ च तत्सामर्थ्यमाह—कामचारिणीति । यथेष्टरूपधारणान्तर्धानगमनादौ समर्थेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

षष्ठे कृष्णेन निहता पूतना स्तनपानतः ॥ गोपीभिः कृष्णरक्षा च श्लोका वेदकृता (४४) इह ॥
अनुष्टुभस्तु पञ्चाशद् (५०) द्वे (२) उवाचेति कीर्तिते ॥ ६ ॥

नन्द इति ॥ शौरेर्वसुदेवस्य वचो न मृषेति विचिन्तयन् उत्पातागमेन शङ्कितः शङ्कायुक्तो नन्दः पथि मार्गे एव हरिं शरणं जगाम ॥ १ ॥ कंसेनेति ॥ कंसेन प्रहिता प्रेषिता घोरा भीषणा बालघातिनी पूतना पुरग्रामव्रजादिषु शिशून् निघ्नन्ती चचार । नुमार्षः ॥ २ ॥ अविषये प्रवृत्ता सैव मरिष्यतीति सूचयति—न यत्रेति ॥ यत्र पुरादिषु स्वकर्मसु दृष्टादृष्टफलकेषु वर्तमाना जनाः रक्षोघ्नानि सात्वतां भक्तानां भर्तुः पालकस्य भगवतः श्रवणादीनि न कुर्वन्ति तत्रैव यातुधान्यो राक्षस्यः चकारादन्येऽपि विघ्नकर्तारः प्रभवन्ति विघ्नान् कुर्वन्ति च । यत्र साक्षादेव भगवान् विद्यते तत्र तासां कुतो बलमिति ॥ ३ ॥ सा खेचरीति ॥ कामचारिणी यथेष्टरूपधारणादौ समर्था अनिवार्यगृहप्रवेशा खेचरी आकाशचारिणी सा पूतना एकदा रात्रौ इति पराशरवैशम्पायनादिति तोषणी । मायया आत्मानं योषित्वा वरां नारीं कृत्वा । योषिच्छब्दाद्योषाशब्दाद्वा तत्करोतीति णिजन्तात् क्त्वा इटि णिलोप आर्षः । आकाशमार्गेण नन्दगोकुलमुपेत्यागत्य । उत्पत्येत्यपि पाठः । गृहं प्राविशत् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं षष्ठेऽध्याये गोकुले पूतनागमनं तस्या मरणं च नंदादीनां पथि पतितपूतनादेहदर्शनं च तन्मरणश्रुत्या विस्मयश्च वर्ण्यते नंद इति ॥ १-२ ॥ श्रीकृष्णे मृत्युभयशंकाप्राप्तस्य राज्ञस्तां निवारयन्नाह न यत्रेति । यत्र स्थानेषु स्वकर्मसु च जनाः रक्षोघ्नानि सात्वतां भर्त्तुः श्रवणादीनि नवविधभजनानि न कुर्वंति तत्र तत्र यातुधान्यो राक्षस्यः चकाराद् भूतप्रेतादयोपि वसंतीति शेषः ॥३॥ खेचरी राक्षसी आत्मानं देहं मायायोषित्ववेषेण सुंदरं स्त्रीरूपं कृत्वा कामं यथेच्छं चरति गच्छतीति कामचारिणी ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्दः सख्युर्गिरा षष्ठे व्रजं गच्छंस्तु राक्षसीम् । दृष्ट्वा मार्गे मृतां तस्याः श्रुत्वा मृत्युं हि विस्मितः ॥ १ ॥

अथ व्रजं प्रति नन्दागमनात्पूर्वमेव तत्र वसुदेवसूचितोत्पातं भगवता कृतं तन्निर्हरणप्रकारं निर्हृतवतस्तस्य रक्षाविधानप्रकारं चाह नन्द इत्यादिना तावन्नन्दादय इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ नन्द इति ॥ नन्दः, पथि गच्छन् , शौरेः वसुदेवस्य, वचः मृषा न, इति विचिन्तयन् , अत एव, उत्पातागमशङ्कितः सन् , हरिं शरणं जगाम । रक्षणोपायत्वेनाध्यवस्यात् ॥ १ ॥ कंसेनेति ॥ तदा नन्दगमनात् पूर्वमेवेति शेषः । कंसेन प्रहिता प्रेषिता, घोराऽतिक्रूरा, बालघातिनी, पूतना पूतनाख्या राक्षसी, पुरग्रामव्रजादिषु, शिशून् निघ्नन्ती सती, चचार ॥ २ ॥ कृष्णेऽपि तत्कृतः कश्चिदुपद्रवो बभूव किमित्याशङ्कां तावन्निराकुर्वन्नाह ॥ नेति ॥ सात्त्वतामेकान्तिकानां भक्तानां, भर्त्तुः भगवतः, रक्षोघ्नानि, श्रवणादीनि गुणश्रवणकीर्त्तनादीनि, यत्र देशे, स्वकर्मसु स्वव्यापारेषु, जनाः न कुर्वन्ति । तत्र हि तत्रैव, यातुधान्यो राक्षस्यः, स्युः । न तु श्रवणादिकर्तृजनाधिष्ठिते देशे इति भावः । यद्वा । यत्र

सात्त्वतां भर्त्तुः रक्षोघ्नानि श्रवणादीनि, न सन्ति, तत्र यातुधान्यः चोऽप्यर्थे। स्वकर्म हननादिस्वक्रियां कुर्वन्ति सुतरां सुखेन वा कुर्वन्तीत्यर्थः। हि ॥ ३ ॥ सेति ॥ खेचरी आकाशचारिणी, सा पूतना, एकदा कदाचित्, नन्दगोकुल, नन्दगोपगोकुलसमीपमित्यर्थः। उपेत्य, मायया राक्षससंबन्धिन्याश्चर्यवेषधारणात्मिकया स्वमाययेत्यर्थः। आत्मानं स्वदेहं, योषित्त्वा नवयौवनयोषितः समानाकारं कृत्वेत्यर्थः। कामचारिणी स्वच्छन्दचारिणी सती, प्राविशत् गोकुलं प्रविष्टवती ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नन्द इति : १०.६ १.

गोपान्नियोजितविनिद्रसमग्रकार्यान् कृत्वा गतोऽपि मथुरां जगदीशनन्दः।
किञ्चिन्निशम्य शरणं मनसा जगाम त्वामेव निश्चितमतस्त्वमिहार्तिहन्ता ॥ १ ॥

जातश्चेदिह कश्चनापि भगवत्सेवानुरक्तेन्द्रियो विघ्नस्तत्र वराङ्गना प्रथमतः प्रादुर्भवत्युत्कटः।
तन्निष्ठात्मनि चेद् दृढाऽतुलदयरतं विघ्नमुत्सारयत्यावोधोति च पूतनागमनतस्तन्नाशतो गोकुले ॥ २ ॥

कंसेनेति : १० ६.२

लोकत्रयातिशयशूरगणोत्करस्य यो वैरभावमवलम्ब्य ममाप्युदीतः।
नापूत एष भवितेत्यवलोक्य जालमस्तन्नामदृक् प्रहितवान् किमु पूतनां सः ॥ ३ ॥

न यत्रेति : १०.६ ३.

रक्षोघ्नता स्फुटतरा भुवि मन्त्रजाते यन्नामशोभि-पदसङ्कुलिते विभाति।
अद्धा स यत्र लसति प्रभुरिन्दिरायास्तद्गोकुलं त्वभयमत्र न कापि शङ्का ॥ ४ ॥

सा खेचरीति : १०.६ ४.

खेचर्यस्म्येव तन्मे का क्षतिर्गोकुलयानतः। इति मत्त्वा ययौ मूर्खा सा तदा नन्दगोकुलम् ॥ ५ ॥
तद्गोकुलनच्युतवलशाल्यपि मत्त्वाऽखिलावला कलितम्। नन्दादि गोपयानाद्ययौ व्रजं युक्तमेव हि बकी सा ॥ ६ ॥
हेमाङ्गने एव विमोहनैकतात्पर्यहेतू खलु गोकुलस्य। सा मन्यमानैवमुरीचकार रूपं सुवर्णाङ्गनायाः ॥ ७ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकाचार्यजी ने कहा कि श्रीवसुदेवजी के वचन झूठे नहीं होंगे, ऐसा मार्ग में विचार करते हुए, उपद्रव होने की शंका से युक्त श्रीनन्दरायजी भगवान की शरण में आये ॥ १ ॥ कंस की भेजी हुई बालकों को मारने वाली घोर पूतना नगर, गांव और व्रज में बालकों को मारती हुई घूमती थी ॥ २ ॥ जहाँ मनुष्य, अपने कर्मों में, राक्षसों के नाश करने वाले वैष्णवों के भर्ता, भगवान् के श्रवणादि, कुछ नहीं करते हैं, वहाँ ही राक्षसियाँ अपना काम (मारना, दुःख देना) करती हैं ॥ ३ ॥ आकाश में विचरण करने वाली, उस पूतना ने एक बार नन्दजी के गोकुल के समीप पहुंचकर और कपट से अपना सुन्दर स्त्री का रूप बना कर स्वच्छन्द घूमती हुई गोकुल में प्रवेश किया ॥ ४ ॥

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम्[1] ॥ ५ ॥
वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैर्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥
बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून् यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम्।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥
विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः।[2]
[3]तमङ्कमारोपयदनन्तकान्तकं[4] यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥ ८ ॥

१. भूषिताननाम्—इति क्वचित् पाठः।

२. **महिसुरत्वेऽपि च बालभावं विभावयत् किञ्चिदुवाच न प्रभुः। अजानमानाऽथ निशाचरी हरिं निसर्गविज्ञातजगद्विचेष्टितम्॥**
अयम् अधिक पाठः वीर. विज. मतेन।
महेश्वरत्वे सति बालभावं विभावयामास चराचरप्रभुः। अज्ञावमज्ञाय निशाचरी हरिं निसर्गविज्ञातजगद्विचेष्टितम् ॥
अयं भक्त. अधिको पाठो दृश्यते।

३. अनन्त—श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व. शुक. गिरि. भक्त.। ४. दङ्कमन्तकं—श्रीधर. वंशी गिरि. भक्त.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—केशाचन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमां सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननम् ॥ ५ ॥ वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैः व्रजौकसां मनः हरन्तीं रूपिणीं वनितां गोप्यः अम्भोजकरेण पतिम् द्रष्टुम् आगतां श्रियम् इव अमन्यत ॥ ५-६ ॥ बालग्रहः तत्र शिशून् विचिन्वती यदृच्छया नन्दगृहे तल्पे प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसम् असदन्तकं बालं भसि आहितम् अग्निम् इव ददर्श ॥ ७ ॥ चराचरात्मा सः तां बालकमारिकागृहं विबुध्य निमीलितेक्षणः (संवृत्तः) अबुद्धिरज्जुधीः सुप्तम् उरगं यथा (तथा) अन्तकान्तक तम् अङ्कम् आरोपयत् ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तां वनितां पतिं द्रष्टुमागतामतिरूपवतीं श्रियमिव गोप्योऽमंसतेत्युत्तरश्लोकस्थेनान्वयः। श्रीसाम्यार्थानि विशेषणानि। केशबंधव्यतिषक्तमल्लिकां धम्मिल्लसंसक्तमल्लिकाकुसुमाम्। बृहता नितंबेन स्तनाभ्यां चोभयत आक्रांतमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यममुदरं यस्यास्ताम्। सुवाससं शोभने रमणीये वाससी यस्यास्ताम्। कंपितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषोल्लसद्भिः कुंतलैर्मंडितमाननं यस्यास्ताम् ॥ ५ ॥ वल्गुस्मितापांगविसर्गवीक्षितैः वल्गु रम्यं स्मितं येषु ते तथाभूता अपांगविसर्गा येषु तैर्वीक्षितैर्व्रजौकसां मनो हरंतीम्। अतो गोपाह्वानमनस्त्वेन तां न निवारितवंत इत्युक्तं भवति। गोप्यश्च श्रियमिव मत्वा तूष्णीमासन्। अतः केनाप्यनिवारिता सती प्रविवेशेति भावः ॥ ६ ॥ बालग्रहः पूतना असदंतकं बालं ददर्श। असतामंतकं दृष्ट्वा कथं न बिभेति तत्राह। प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं बालनाट्येन प्रतिच्छन्नं तिरोहितं निजमुरु तेजो येन तम्। कमिव। भसि भस्मन्या हितमग्निमिवेति ॥ ७ ॥ चराचरात्मत्वादेव तां विबुध्य निमीलितेक्षण आस स्वयमनंतं दुष्टानामंतकं बालं मत्वा एवमपि सांकमारोपयत्। यथोरगं सुप्तमबुद्धिश्चासौ रज्जुधीश्च सोऽज्ञानतो रज्जुबुद्ध्या गृह्णाति तद्वदिति ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तां स्वेच्छारूपं कृत्वा गताम्। श्रीसाम्यार्थानि श्रीतुल्यताबोधकानि। उभयतः पार्श्वद्वयतः। आक्रांतं भेदशंकयेव निरुद्धम् ॥ ५ ॥ श्रियं मूर्त्तिमतीं रत्नादिधनसमृत्तिमित्यंभोजकरेणोपलक्षितां पतिं श्रीव्रजेंद्रस्येष्टदेवं नारायणं द्रष्टुमिवागताममंसत वनितामत्यनुरागवतीम्। "वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति" इत्यमरः। अहो रूपमहो अनुराग इति व्रजौकसां मनो हरंतीम्। इति भाव इति। सुरूपवस्त्रालंकारयुतनिवारणम्। गृहे विशतो भाग्यवच्छंकया न केनचिदपि क्रियते किं तु विरूपालंकारवस्त्रहीनस्येव तस्क्रियते इति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥ पूतनारेवतीज्येष्ठाकोटराभीषणस्याशुष्कानंदादिभेदैः षोडश बालग्रहा बालतंत्रे प्रोक्ताः। बालग्रहः—पुंस्त्वमाविष्टलिंगत्वात् ॥ ७ ॥ निमीलितेक्षणः संमीलितलोचनः। अत्रायं भावः येन नेत्रयोगो भवेत्पुनस्तस्या निष्टं नोत्पादनीयम्। 'प्रीतिनयनयोगतः' इत्युक्तेर्मित्रद्रोहता मयि मा भवेदित्यालोच्य नेत्रनिमीलनं कृतवान्। यद्वा—विषप्रभावो यथा शिवे न जातस्तथा मय्यपि मा भूदिति नेत्रमीलनेन शिवं दध्यौ विषजर्जरतात्रय इति। यद्वा—बालघ्न्या दुष्टाया दर्शनमन्याय्यमिति। यद्वा—स्वस्यात्यंतबालत्वभीरुत्वज्ञापनाय। यद्वा—मद्दृष्टिस्वभावत एवैतद्विधभयजनिका भीतेयं मा निवर्ततामिति। यद्वा—मातृभावदर्शिकायास्तस्याः स्वकर्तृकवधे लज्जानुत्पत्त्यै चेति विश्वनाथः। ततश्चानंतं तमंकमारोपयत् अंतकं स्वस्येति संहारशक्तेः सेवावसरोऽत्र यस्य देशतः कालतश्चांतो नास्ति तमनंतमप्यंकमारोपयदत्र विरोधेनाद्भुतरसो व्यंजितः। अंतकमनंतमिति शब्दविरोधः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तामिति युग्मकम्, व्यतीति मल्लिकानां मिथो योजनया बहुधा सौष्ठवं बोध्यते कर्णभूषणयोः कम्पितत्वं लीलागत्यादिना अत एव सर्वतः प्रसरन्त्या तयोस्त्विषा उल्लसद्भिरलकैर्मण्डिताननां मनोहरन्तीं मनोहरवदाचरतीं वनितां जनितात्यर्थानुरागां स्त्रियम् अम्भोजयुक्तकरेण लक्षणेन रूपिणीं श्रियमेवागताममंसत श्रीरत्र जगत्सम्पत्तिः किं कर्तुमिव ? पतिं द्रष्टुमन्वेष्टुमिव कञ्चित्पुण्यलक्षणं जनं निजाश्रयत्वेन वरीतुमिव तादृशलक्षणां तु सर्वोपरि श्रीव्रजेन्द्रतनय एव दृश्यत इत्याशयास्ततो न निवारितवत्य इति भावः। अत्र पतिशब्दस्य धववाचित्वं तेषामपि न मतम्, अग्रे च जननीभावस्यैव दर्शयिष्यमाणत्वात्। अन्यत्तैः। तत्र आक्रान्तमिव आक्रान्तत्वादिवेत्यर्थः। कृच्छ्रं कृशमिति कार्यकारणयोरभेदोपचारेण तदाक्रमाद्यद्दुःखं जातं तस्मादिव कृशमित्यर्थः। तथा अतिमनोहरणाद्धेतोर्यद्धृतमनस्त्वं तेनेति कर्तृधर्मकर्मधर्मयोर्भेदादपौनरुक्त्यम् ॥ ५-६ ॥ सेति प्रकरणवशाल्लभ्यते बालग्रह इति तद्विशेषणमेव अजहल्लिङ्गत्वान्न स्त्रीत्वं तत्र गोकुले शिशून् विचिन्वती मृगयमाणा ततश्च यदृच्छया स्वैरितया भगवत एव तादृशलीलाशक्तिप्रेरणेनानुसन्धानं विनापीत्यर्थः। सहसा श्रीनन्दगृह एवाऽऽगत्य विचिन्वती तमेव तल्पे ददर्श "यदृच्छास्वैरिता" इत्यमरः। असदन्तकमपि बालं बाल्यमाधुरीमाविष्कुर्वन्तम् अत एव तल्पे आहितं सन्तं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं तदाभिमुख्येन छन्ननिजमहाप्रभावं ददर्श। तत्र दृष्टान्तः अग्निमिति यथा कश्चिद्भस्मन्याहितमग्निं तादृशं पश्यति तद्वदित्यर्थः। व्रजौकसां मनोहरन्तीमित्यादिकमपि लीलाशक्तिकौतुकमेव ॥ ७ ॥ बालकमारिकासञ्ज्ञं ग्रहं चराचरस्यात्मा परमात्मा बाल्यलीलया सर्वभावग्रहणात्

मुद्रितनेत्राब्जो बभूव तच्च तस्यां निजात्यन्तबालत्वभीरुत्वबोधनाय तादृशदुष्टदर्शनाभावाय स्वदृष्टिस्वाभाविकतद्विधधर्षणाभावाय तद्धितार्थावश्यककृत्येऽपि वधे सर्वसद्गुणनिधेः स्वस्य साक्षाल्लज्जाच्छादनाय मरणे तद्वैकल्यदर्शनाभावाय च स्वयमनन्तं तादृशानामन्तकं अबुद्धिविपरीतज्ञानपूर्वकं यथा स्यात्तथाऽऽरोपयत् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

व्यतिशब्देन मल्लिकानां बहुधा बन्धनसौष्ठवं बोध्यते। कर्णभूषणयोः कम्पितत्वं लीलागत्यादिना। अत एव सर्वतः प्रसरन्त्या तयोस्त्विषा उच्चैर्लसद्भिः शोभमानैः कुन्तलैरलकैर्मण्डिताननाम्, वनितां जनितात्यर्थरागां स्त्रियम्; अम्भोजयुक्तकरेण हेतुना रूपिणीमत्यन्तसौन्दर्य्यवतीम्, तेन विशिष्टां वा श्रियम्; अनेन पूतनाकरेऽपि सौन्दर्य्यविशेषार्थं लीलाकमलमुह्यम्; यद्वा, अम्भोजेति पूतनाया एव विशेषणम्; अतो गोप्यः श्रियममंसत ताम् ननु कुतस्तत्र श्रीर्घटेत ? तत्राह—पतिं निजभर्तारं द्रष्टुमिवागतामिति; इवेत्युत्प्रेक्षायाम्, तत्त्वतस्तदर्थतदागमनाभावात्; यद्वा, श्रियमिव पतिं तासां पालकं श्रीव्रजेश्वरपुत्रत्वात्। यद्वा, पतिं श्रीनारायणं द्रष्टुं निजलोकादागतां श्रियमिव तां वनितां गोप्योऽमंसत। तादृशाद्भुतसौन्दर्य्यवेषसौष्ठवादतिशयेन तत्तया भानस्य सम्भवात् ॥ ५-६ ॥ तत्र गोकुले शिशून् विचिन्वन्ती मृगयमाना तल्पे बालशय्यायां आहितं शायितमसदन्तकमपि बालं बाल्यलीलां कुर्वन्तं ददर्श। यद्वा, असदन्तकमिति श्रीरोहिण्यो व्यावर्तितः, तस्य कदाचिदप्युपेक्षणात्। एवं तदानीं तस्य स्थितिः श्रीरोहिणी गृहान्तर्ज्ञेया। बालमिति सहजतदीयबाल्यलीलापेक्षयैव, किंवा भक्तिविशेषेण श्रीबादरायणे कौतुकोक्तः एवमग्रेऽप्यूह्यम्। कथम्भूतम् ? प्रतिच्छन्नं विनष्टं निजं पूतनाया उर्वपि तेजो यस्मात्तमिति परमतेजस्वितोक्ता। तत्र दृष्टान्तः—भसि अगारे निहितमग्निमिव। तत्र ह्यग्नेस्तीक्ष्णतेजःस्फूर्तिः। ननु कथं तर्हि भयेन न भग्ना, कुतो वा दुष्टाया असदन्तकदर्शनम् ? तत्राह—यदृच्छया श्रीभगवन्महिम्ना केनापि भाग्योदयेनेति। अयं हेतुरग्रेऽपि द्रष्टव्यः। तथा तस्या गाप-मनोहर-तादृशवेषे श्रीगोपीभिर्लक्ष्मीमनने च; अन्यथा गोपगोपीभिस्तन्निवारणापत्तेः बालकानां मारिका मारी तस्या ग्रहम्, आविष्टलिंगत्वात् पुंस्त्वम्; निमीलितेक्षणो मुद्रितनेत्राब्ज आस बभूव; तच्च तस्यामत्यन्तबालत्व भीरुत्वबोधनार्थम्; किंवा साक्षाद्दृष्टौ तया ग्रहणाशक्तेः; किंवा तद्धितार्थावश्यकृत्येऽपि वधे सर्वसद्गुणनिधेः साक्षाल्लज्जाद्युत्पत्तेः, श्रीरोहिणेयस्य मातृवेषत्वात् मरणे तद्वैकल्यदर्शनाशोक्तेर्वा ॥ ७-८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अपाङ्गविसर्गः सपाङ्गमोक्षः अमंसत अमन्यन्त ॥ ६ ॥ भसि भस्मनि ॥ ७—८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

योषिद्रूपधरां तां वर्णयति—तामिति। तां गोप्यः श्रियमिवामंसत इत्युत्तरेणान्वयः। केशबन्धे व्यतिषक्ताः संसक्ता मल्लिकाः तत्कुसुमानि यस्या बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां स्तनाभ्यां च कृच्छ्रः कष्टः भज्यमान इवावस्थितः इति यावत् सूक्ष्मत्वादिति भावः। स मध्यमः कटिप्रदेशो यस्याः शोभनं वासो यस्याः चलितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा उल्लसद्भिः कुन्तलैः केशैर्मण्डितमलङ्कृतमाननं यस्याः ॥ ५ ॥ वल्गु सुन्दरं स्मितं येषां तैस्तत्सहितैरित्यर्थः। तथाभूतैरपाङ्गयोर्नेत्रान्तयोर्विसर्गः प्रसारो येषां तैश्च वीक्षितैः कटाक्षैः व्रजौकसां व्रज ओकः स्थानं येषां तेषां गोपानां मनो हरन्तीम् अम्भोजकरेण पद्मयुक्तपाणिना उपलक्षितां रूपिणीं प्रशस्तरूपवतीं पतिं श्रीकृष्णं द्रष्टुमागतां लक्ष्मीम् इव तां वनितां गोप्योऽमंसतामन्यन्त ॥ ६ ॥ स योषिद्रूपो बालग्रहः तत्र तत्र व्रजस्थान् शिशून्विचिन्वती अन्वेषयन्ती यदृच्छया नन्दगृहे बालं ददर्श स्वसौन्दर्यावलोकनपरवशाभिर्गोपीभिरनिवारिता ददर्शेत्यर्थः। कथम्भूतम् ? असतामन्तकं मृत्युं तर्हि निर्भया कथं ददर्श ? इत्यतो विशिनष्टि—प्रतिच्छन्नं तिरोधापितं निजं स्वासाधारणं उर्वधिकं तेजो येन भसि भस्मन्याहितं तिरोहितमग्निमिव स्थितम् ॥ ७ ॥ तथा स चराचरात्मा सर्वबुद्धिदृग्भगवान् अत एव तां बालकमारिकाग्रहं बालघ्नग्रहं बुद्ध्वा निमीलिते ईक्षणे येन तथाभूतः स्वयमीश्वरत्वे सत्यपि प्रभुरपि स्वसङ्कल्पमात्रेणैव हन्तुं समर्थोऽपि बालभावं बालत्वं विभावयन्ननुकुर्वन्न किञ्चिदुवाच तूष्णींमास्तेत्यर्थः। अथ सा निशाचरी तं बालं हरिं दुष्टप्राणहरं निसर्गतः स्वभावतो विज्ञातं जगतो विचेष्टितं येन तं निसर्गत इति पदेन तस्य सर्वबुद्धिद्रष्टृत्वं स्वाभाविकमेव ननु कर्माद्यत्तमित्यभिप्रेतम् अन्तकमात्मनो मृत्युभूतमज्ञात्वाऽनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितमथापि मनुष्यचेष्टानुकरणेन परिच्छिन्नतां प्राप्तमिव स्थितमिति भावः। अत एवाङ्कमारोपयदङ्के निदधे इत्यर्थः। यथाऽबुद्धिर्मूढा ऽत एव रज्जुरिति धीर्यस्य सा सुप्तमुरगमङ्के निदधाति तद्वत् ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

केशपाशे केशभारे व्यतिषक्ता निगूढा मल्लिका यस्यां सा तथा बृहन्नितम्बेन कलशस्तनाभ्यां च कृच्छ्रो भग्नो मध्यमो यस्याः सा तथा ताम् ॥ ५ ॥ अपाङ्गविसर्गः कटाक्षमोक्षः वनितां संभाजनीयां व्रजौकसो गोपाः व्रजौकसामिति पाठे मनो हरन्तीमिति सम्बन्धः श्रियमिव न तु श्रियम् अमंसत मेनिरे ॥ ६ ॥ बालग्रही बालकमारिका असदन्तकं भसि भस्मनि विचिन्वती मृगयन्ती ॥ ७ ॥ बालकमारिकाग्रहं बालानां मृत्युभूतग्रहं सुरत्वे पूर्णैश्वर्ये देवदेवत्वे वा "सुरैश्वर्ये" इति धातुः मही अतिप्रश-

स्तोत्सवः मह्यामपीश्वरत्वेऽपि वा ईश्वरत्वाप्रकटने वचनाभावे च बालभावप्रकाशनहेतुः ॥ ० ॥ अथ सात्त्विकस्त्रियः स्वभावप्रकटनानन्तरम्। यद्वा राक्षस्याः स्वभावः प्रारभ्यते। यद्वा यतो निशाचरी अथ तस्मादजानमाना "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इति "अथातोनन्तरार्थविकल्पारम्भमङ्गले" इत्यमरयादवौ। हरेः पूतनावृत्तचेष्टिताज्ञानं नास्तीत्याशयेनोक्तं निसर्गेति ज्ञानाविर्भावतिरोभावौ न स्त इति द्योतनाय निसर्गेति पदं देवदत्तज्ञानवत्कतिपयं पदार्थज्ञानविषयं नेश्वरज्ञानमित्यतो जगदिति हरिशब्दस्य अनेकार्थत्वे नात्र किञ्चिद्विवक्षितमित्यत उक्तम् अनन्तमिव एककुण्डलोऽनन्त इत्यस्यापि सन्दिग्धार्थत्वमित्यत उक्तम् अन्तकमिति रुद्रो माविशान्तकवचनात् उक्तशङ्काऽनिस्तारादित्यतो निसर्गेति इदं लक्षणं नारायणस्यैव नान्यस्य "अहं रुद्राय धनुरातनोमि, यः सर्वज्ञः" इत्यादेः पूतनाऽनन्तं बालमङ्कमारोपयदित्यन्वयः। हन्तुमिति शेषः। न केवलं हरिमजानमानाऽपि तु तमात्मनोऽन्तकम् अजानमाना परिमिताङ्कारोपणं च तमनन्तमपरिच्छिन्नं मरणशून्यं वा तमजानमाना चेत्यर्थः। कथमित्यत्र दृष्टान्तमाह-अबुद्ध्या अज्ञानेन रज्जुरियमिति। धीर्ज्ञानं यस्याः सा तथा सुप्तमुरगम् अङ्कमारोपयति अबुद्धिश्च रज्जुधीश्चेति विग्रहः तथा चाबुद्धिरज्ञानी यथा सुप्तमन्तकमङ्कमारोपयति रज्जुधीः सुप्तमुरगमिति विभागः केचिद्दुष्टान्तकं सुप्तं नाम्नानन्तमुरगमित्युरगविशेषो वा काचिन्निशाचरी उलूपिका सुप्तं हरिं सिंहं शिवाबुद्ध्येति शेषः। "ध्वाङ्क्षारातिनिशाटनः" इत्यमरः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

स तदित्यस्यावतारिकाप्रघट्टके वल्गु अम्भोजकरेण लक्षणेन रूपिणीं श्रियम् अमंसत पतिं द्रष्टुं कञ्चित् शुभलक्षणभाजं जनं निजाश्रयत्वेन वरीतुमिति तस्य श्रीकृष्ण एव पर्यवसानं वितर्क्य ताभिर्न निवारिता इत्यर्थः ॥ ६ ॥ बालग्रह इति विशेषणमेव सति विशेष्यं प्रकरणवशात् यदृच्छया भगवतः स्वैरलीलेच्छया सहसा नन्दगृह एवागत्य इति शेषः। प्रति तदाभिमुख्येन भसि भस्माभ्यन्तरे दृष्टान्तोऽयम् ॥ ७ ॥ छन्नतां संग्रहम् आत्मा परमात्मा स्वयमनन्तं तादृशामन्तकम् अत एव अबुद्धि यथा स्यात्तथाऽऽरोपयत् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु यत्र तस्य श्रवणादीनि, तत्रैव यातुधान्यो न भवन्ति; यत्र तु स्वयमेवासौ, तत्र कथं नन्दगृहे जगामेत्याह—बालग्रहस्तत्रेत्यादि। वधयोग्यान् शिशून् विचिन्वती अन्वेषयन्तीति पूर्वं कृतबालान्तरानुसन्धानेति मन्तव्यम्। यदृच्छया निजमृत्युयोगेन नन्दगृहे गता सती बालं ददर्श। कीदृशम्? असदन्तकमसतामन्तकम्। बालत्वे लिङ्गम्-प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसम्। ऐच्छिकया प्रकाशिकया मायया बालत्वेन प्रतिच्छन्नं निजमुरु नित्यकिशोरत्वेन महत्तेजः प्रकाशो येन, तथापि अग्निमिव असदन्तकत्वेन असन्तं प्रति वह्निमिव दहन्तम्। अथवा, प्रतिच्छन्न-निजोरुतेजसमग्निमिव बालं ददर्शेत्यन्वयः। बालत्वान्निशिखमग्निमिव। कीदृशं बालम्? तल्पे आहितम्। तल्पे कीदृशे? भसि, भसभर्त्सनदीप्त्योरिति बभस्तीति क्विप्। तत् तस्मिन् दीप्तिमतीत्यर्थः ॥ ७-१३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

विचिन्वती शिशून् वधयोग्यान् शिशून् विचिन्वती विचारयन्तीति, अतः स्वच्छन्दहननं नाभूदेव, यदृच्छया नन्दगृहे गत्वा सती असदन्तकं बालं बालकाकारत्वेन प्रतीयमानं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं तल्पे आहितं निहितम्। कमिव? अग्निमिव दहन्तं ददर्श। तल्पे कथम्भूते? भसि बभस्तीति भस् तस्मिन्, भस भर्त्सनदीप्त्योः क्विपि सिद्धम् ॥ ७-१३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तां श्रियं रूपिणीं मूर्तिमतीं रत्नादिधनसम्पत्तिमिव अम्भोजकरेण उपलक्षितां पतिं श्रीव्रजराजेष्टदेवं श्रीनारायणं द्रष्टुमिव आगताम् अमंसतेत्युत्तरेणान्वयः। बृहता नितम्बेन स्तनाभ्यां च उभयत आक्रान्तमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यममुदरं यस्यास्तां वनितामत्यनुरागवतीं "वनिताजनितात्यर्थानुरागायां च योषिति" इत्यमरः अहोरूपमहोऽनुराग इति व्रजौकसां मनो हरन्तीमत एवैते सहसाऽन्तःपुरं प्रविशन्तीमपि न निवारयामासुरिति भावः ॥ ६ ॥ बालग्रहः पूतना असदन्तकं स्वहन्तारमपि स्ववध्यत्वेन प्रतीयमानं बालं ददर्श यतः प्रतिच्छन्नेति भसि भस्मन्याहितमन्तरर्पितं भस्माच्छादितमग्निमिवेत्यर्थः ॥७॥ चराचरात्मेति दुष्टागमनकाले सर्वज्ञताशक्तेः सेवावसरो दर्शितः तां विबुद्ध्य बाल्यस्य भावेनैव निमीलितेक्षण आसदिदीपे निजात्यन्तबालत्वभीरुत्वज्ञापनाय च तादृशामङ्गलदर्शनाभावाय च स्वदृष्टिस्वाभाविकतद्विधधर्षणाभावाय च मातृभावदर्शिकायास्तस्याः स्वकर्तृकवधे लज्जाऽनुत्पत्त्यैव तन्मरणवैकल्यदर्शनाभावाय च मुद्रितनेत्रत्वं ततश्चानन्तं तम् अङ्कमारोपयत् अन्तकं स्वस्येति संहारिकाशक्तेः सेवावसरः यस्य देशतः कालतश्च अन्तो नास्ति तमनन्तमपि अङ्कमारोपयदित्यर्थविरोधेनाऽद्भुतरसो व्यञ्जितः। अन्तकमनन्तमिति शब्दविरोधः यथा सुप्तमुरगं अबुद्ध्या अल्पबुद्ध्या हेतुना रज्जुधीर्जनो गृह्णाति तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तां गोप्यः रूपिणीं श्रियमिवामंसतेत्यग्रिमेनान्वयः। केशबन्धे व्यतिषक्ताः मल्लिकाः यस्यास्तां बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां स्तनाभ्यां च कृच्छ्रं भज्यमानामिव मध्यमुदरं यस्यास्तां सुवाससं शोभने वाससी यस्यास्तां कम्पितयोः कर्णभूषणयोः त्विषा प्रभया उल्लसद्भिः कुन्तलैः केशैर्मण्डितमाननं यस्यास्ताम् ॥ ५ ॥ वल्गुस्मिताः सुन्दरस्मितयुताः अपाङ्गविसर्गाः येषु तैर्वीक्षितैर्व्रजौकसां मनो हरन्तीम् अतः गोपैर्न निवारितेति सूचितम्। गोप्यस्तु अम्भोजकरेण जलजयुक्तेन पाणिनोपलक्षितां रूपिणीं श्रीकृष्णानुरूपसुभगरूपवतीं पतिं श्रीपुरुषोत्तमं द्रष्टुमागतां श्रियमिवामंसतामन्यन्त अतः केनापि न निवारितेति भावः ॥ ६ ॥ तत्र श्रीमन्नन्दगोकुले बालग्रहः पूतना शिशून् बालान् विचिन्वती अन्वेषयन्ती यदृच्छया नन्दगृहे तल्पे बालं ददर्श कथम्भूतमसदन्तकम्। नन्वसती स्वघातकं कुतो नावुध्यदत आह, प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसमिति। प्रतिच्छन्नं सर्वैर्दुर्लक्ष्यं निजं स्वासाधारणमुर्वधिकं निःसमानातिशयं तेजो यस्य तं निजरूपेण संस्थितोऽपि श्रीकृष्णः स्वानुग्रहभाजनैरेव ज्ञायते नान्यैरित्यर्थः। "नाहं प्रकाश सर्वस्य" इति श्रीमन्मुखवचनात् ॥ ७ ॥ बालकमारिकाग्रहं विबुध्यापि निमीलितेक्षण एवास कपटेनापि अङ्कारोपणादिना स्नेहं कर्तुं प्रवृत्तां चक्षुषाऽन्यथा नापश्यदित्यर्थः। सा तु अनन्तं अङ्कम् आरोपयत् कपटयुक्तेनापि आराधितस्तद्वरयो भवतीति सूचितम्। एतादृशभक्तानामनिष्टदेहादेर्निवारकतया प्रतिकूल इवाभाति भगवानिति सूचयति दृष्टान्तेन, यथा अबुद्धिश्चासौ रज्जुधीश्च उरगं गृह्णाति तद्वदन्तकं स्वदुष्टशरीरविनाशकमारोपयत् दुर्लक्ष्यत्वे दृष्टान्तोऽग्निमिवाहितं भसीति भसि भस्मनि ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तामिति युग्मकम्। गोप्यस्तां रूपिणीं मूर्तां श्रियं सम्पदधिष्ठात्रीममंसत अम्भोजकरेणोपलक्षितां पतिं व्रजनाथपूजितं नारायणं द्रष्टुमिवागतां केशबन्धे वेण्यां व्यतिषक्ता ग्रथिता मल्लिका यस्यास्तां बृहता नितम्बेन बृहद्भ्यां स्तनाभ्यां चोभयत आक्रान्तमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यं यस्यास्तां कम्पितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा उल्लसद्भिः कुन्तलैर्भूषितमाननं यस्यास्तां वल्गु चारु स्मितं येषु तादृशा अपाङ्गविसर्गा येषु तैर्वीक्षितैर्व्रजौकसां मनोहरन्तीम् अतो गोपैर्गोपीभिश्चानिवारिता प्राविशदितिभावः। पूतना मायया व्रजौकसां मोहस्तद्वधलीलाकर्तुरिच्छयैवेति बोध्यम्। वस्तुतस्तु मनोहरेवाचरन्तीति न विमोहः ॥ ५-६ ॥ बालग्रहः पूतना तत्र नन्दगोकुले शिशून् विचिन्वती यदृच्छया नन्दगृहे असतामन्तकं स्वहन्तारमपि स्ववध्यत्वेन विदितं बालं तल्पे ददर्श यतः प्रतिच्छन्नेति भसि भस्मन्याहितं भस्माच्छादितमग्निमिव ॥ ७ ॥ चराचरात्मा निखिलान्तर्यामी स नन्दबालस्तां बालकमारिकाग्रहं विबुध्य बालस्वभावेनैव निमीलितेक्षणः सन्नास दिदीपे धात्रीवेषधारिण्यास्तस्याः स्वकर्तृके वधे त्रपानुदयाय तन्मृत्युक्लेशादर्शनाय च मुद्रितनेत्रोऽभूदिति भावः। ततश्च सातमनन्तमन्तकं स्वमारकमङ्कमारोपयत् प्रसूरस्य लालने निपुणा न भवेदतोऽहमेनं लालयानीति बोधयन्तीवेतिशेषः। यथा रज्जुधीः पुमान् सुप्तमुरगम् अबुद्धि यथा स्यात्तथा ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

गोपादिविस्मापकं गोपनमङ्गस्यैवमित्याह। तामिति। केशबन्धे केशपाशे व्यतिषक्ता सम्बद्धा मल्लिकास्तृणशून्यानि यस्यां सा तां बृहन्तौ नितम्बौ कटितटौ बृहन्तौ स्तनौ च तैः कृच्छ्रमार्भीलं कष्टं यस्य समध्यमो मध्यदेशो यस्याः सा तां सुवासो वस्त्रं यस्याः सा ताम्। उल्लसन्तः कुन्तलास्तैर्मण्डितमलङ्कृतमाननं यस्याः सा ताम्। तत्र तन्त्रं कर्णभूषणयोः कर्णधृतकुण्डलयोस्त्विषा कान्त्या। त्विषेत्याकारान्ततापक्षे त्विषयोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननामिति पदमेकं वा ॥ ५ ॥ अपाङ्गविसर्गः कटाक्षमोक्षो वल्गुस्मितं चापाङ्गविसर्गसहितानि वीक्षितानि च तैरपाङ्गस्थानङ्गस्योद्रेको यैस्तानि च तानि तैरिति वा। व्रजौकसां मनोहरन्तीं वनितां वन सम्भक्तौ बाहुलकादितच्। सम्भजनीयां रूपिणीमेतदाकारवतीमम्भोजकरेण तद्युक्तहस्तेन तन्मुखचिह्नत्वात् पतिं द्रष्टुमिहागतां श्रियं गोपाश्च बहिरन्तश्च गोप्योऽमंसत व्यजानन्। व्रजौकस इति पाठे गोपा इत्यर्थो गतम् ॥ ६ ॥ बालग्रही कुमारमारिका शिशूंस्तत्र विचिन्वती यदृच्छया स्वमारकहरीच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकं दुर्जनभर्जनकरं स सहिंसकश्चेन्न तस्यास्माद्भीतिस्तदरणगमने मरणगमनं स्यादित्यतो वाऽऽह। असदन्तकमिति। असन्न विद्यमानोऽन्तको यस्य स इति। स तनु तनुमानिति वाऽऽह ॥ असदन्तकमिति। दन्तैः सहितः पोतो हि सदन्तको न सदन्तकोऽसदन्तक इति। भसि भस्मन्याहितं गृहितमग्निमिव प्रतिच्छन्नं निजं स्वाभाविकमुरूत्कृष्टं तेजः सामर्थ्यं विलक्षणप्रकाशश्च यस्य तं तल्पे शय्यायां बालं ददर्श ॥७॥ त्रैलोक्येशो विलोक्य किं चकारेत्यत इमां घाटीमाटीकतेत्याह ॥ विबुध्येति। चराचरात्मा जगत्स्वामी सर्वव्यापी वा स कृष्णस्तां बालकमारिकाग्रहं विबुध्य ज्ञात्वाऽपि मह्युत्सवं दर्शयितुकाम इत्युत्सववान्सुरत्वेऽपि देवत्वेऽपि बालभावं बालत्वं विभावयन्निमीलितेक्षणः सन् प्रभुर्न किञ्चिदुवाच। सुरस्वे सुरवर्गे प्रभुः। उतामृतत्वस्येशान इत्यादिवत्। स्वसूदनामायातां मधुसूदनः कुत उपेक्षितवानित्यतो वाऽऽह ॥ चराचरात्मेति। यश्चात्ति विषयानिहेत्यादेः। गृहान्भक्षयतः पुंसः कपाटं पर्पटायत इति वत्। सर्वभक्षकस्य का क्षपाचरीभीरिति भावः। मही किञ्चित्स्वभारावतारणादिरूपमुवाचेति न प्रभुरसमर्थ इव निमीलितेक्षण आसेत्यपि योजना। मह्या रमया सह सु सम्यग्रमत इति महीसुरो रमारमणस्तत्त्वेऽपोति वा ॥ अन्तर उपपत्तेः। अन्तःस्थित्वा रमणकृदित्यादेः। रमेर्न्मन्ताड्ड इति डः। चुट्ट इतोत्संज्ञायां तस्य लोपे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे

र इति रूपम् । विस्तरस्त्वन्तराधिकरणसुधावाक्यार्थचन्द्रिकादितोऽवसेयः । यथोक्तम् । मह्या अदितय इत्यृग्भाष्यटीकयोः । स चादितिर्महती तन्मही च । मह्या अदितय इत्यादित्वराविषयमुक्तं तत्केन निर्वचनेनेत्यत आह ।। श्रीर्वेति वाशब्दश्चशब्दार्थे । श्रीश्चानेनैव निर्वचनेन महीत्युक्तेत्यादि । मही चासौ सुरश्च तस्य भावस्तत्त्वं तस्मिन्नपीति वा ।। ८ ।।

श्रीसुबोधिनी

सर्वव्यामोहनार्थं भगवत्कृतं तस्या रूपं वर्णयति तां **केशे**तिद्वाभ्यां **स्वरूपचेष्टा**भेदेन, मायाकृतमेव रूपमिति हिरण्याभरणाम्बरादिभिरेव तस्या मोहकत्वमुच्यते, **केशबन्धे व्यतिषक्ता मल्लिका** यस्यां, दूराद् दर्शनेन गन्धेन च व्यामोह उक्तः, बन्धे मल्लिकास्तु न पतन्ति, **मल्लिका** तत्कालपुष्पोपलक्षिका, सौन्दर्यं गन्धश्च तत्रैव प्रतिष्ठितौ, **स्थूलनितम्बस्तनै**रल्पमध्येन च सर्वबन्धसहितसम्भोगयोग्यता निरूपिता, वस्त्रं चोत्तमं रसजनकं, **कम्पिते ये कर्णभूषणे** कुण्डले तयोस्त्विषोल्लसन्ति यानि **कुन्तलानि तैर्मण्डितमानन**मिति, मुखे सौन्दर्यं मोहार्थे निरूपितं, **कर्णभूषण**मुपरिभागस्थं वा, तेन कुण्डलयोरपि कान्तिः, भूषणस्य सर्वोत्तमत्वं निरूपयति ।। ५ ।। तस्याश्चेष्टामाह **वल्गुस्मिते**ति, सहजस्मिताभावाय **वल्गुस्मित**मित्युक्तं, तत्सहितं **अपाङ्ग**निरीक्षणं कटाक्षदर्शनं तदप्यनेकविधमलसवलितादिरूपं तदाह बहुवचनेन, अपाङ्गानां विशेषेण **सर्गा** यत्र वीक्षितेषु, अतो **व्रजौकसां मनो हरन्तीं, व्रज**स्थिता विवेकरहिता भवन्ति, अनेनैव गोपैर्निवारणं प्रतिषिद्धं, **मन** इत्येकवचनं सर्वेषामेकरूपत्वबोधनाय, अत एव गोपैः सा सम्यग् दृष्टापि न गोपिभिरेव परं दृष्टा, तास्तु पूर्णज्ञानवत्योपि भगवत्कृतं तद्रूपं मत्वा भगवच्चरित्रत्वाद् घातकत्वमबुद्ध्वा स्वभोगार्थं लक्ष्मीमेवाकारितवानिति ज्ञातवत्यः, न हि लक्ष्म्यां दासीनां वैमनस्यं सम्भवति, तदाह **गोप्यो द्रष्टुमागतां तां श्रियमेवामंसत,** तथैव च भगवान् रूपं सम्पादितवानिति, लक्ष्म्या असाधारणं चिह्नमाह**ाम्भोजकरेणो**पलक्षितेति, लीलाकमलयुक्तेन **करेण,** अनेन रिक्तहस्ततापि निवारिता, **रूपिणी**मिति स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपां, तत्रापि **पतिं द्रष्टुकामा** न केनापि निवार्या, अतो गोप्यः पुरस्कारमेव कृतवत्य इति न तासां बाधकत्वम् ।। ६ ।। सा गोकुलेपि बालकान्वेषणार्थमेव प्रवृत्ता न तु साक्षाद्भगवन्निकटे स्वतो गतेत्याह **बालग्रह** इति, बालान् गृह्णातीति **बालग्रहः,** भगवांस्तु न बाल इति तत्र तस्या नाग्रहः, **तत्र गोकुले शिशून् विचिन्वती चचार,** विचयन एव प्रवृत्ता जाता, न तु कञ्चिन्मारितवती भगवतो रक्षकत्वात्, तदा भगवान् स्वनिकट एव तामानीतवानित्याह **यदृच्छया नन्दगृहे बालं ददर्श**ति, भगवदिच्छाव्यतिरेकेण सर्वैरेवोपायैस्तत्र गमनमशक्यं नन्वेषा कृत्रिमा दुष्टा कथं भगवन्तं दृष्टवतीत्याशङ्क्याह**ासदन्तक**मिति, **असतामन्तको** मारकः, तांश्च दृष्ट्वैव मारयति, अतो मारणीयानामपि दर्शनं न बाधितं **नन्दगृहे**ष्यसन्तो भगवता निवारणीयाः, तस्या बालाविष्टचित्तायास्तत्र विचारो न जात इति सूचनार्थमाह **बाल**मिति, तथाप्यलौकिककान्त्या कथं न विचारो जात इत्यत आह **प्रतिच्छन्ननिजो**रुतेजसमिति, **प्रतिच्छन्नं** स्वेनैवाच्छन्नं प्रतिकूलार्थं वाच्छन्नं **निजं यदुरु तेजः,** वैष्णवतेजसि प्रकटे सुरघातकं तदिति दन्दह्यमाना निवर्तेत, सर्वथा कान्तितिरोधाने यशोदादीनां भयं स्यादत आहोर्विति, यावता तस्या आगमनं सम्भवति तावत् तिरोधानं, भगवतः क्रियाज्ञानशक्ती अतिरोहिते सर्वदा प्रकृतेपि च तदुपयोगात्, ततः कथं ताभ्यां न निवारितेत्याशङ्क्याह **तल्प** इति **तल्पे** शयानो बालकः क्रियारहितो भवति, अवस्थया क्रियाशक्तेस्तिरोभावः, तत उत्थाने चलनेन सह क्रियाविर्भविष्यति, ज्ञानशक्तेः प्रकाशः सहजो यतो ब्रह्मविदामपि ज्ञाने सति तद् भवति स कथं न बाधक इत्याशङ्क्या**हाग्निमिवाहितं भसी**ति, यथाग्निहोत्रिणा भस्मनाग्निस्तिरोहितः क्रियते काले प्रादुर्भावार्थं तत्तजोन्यन् नाशयेन्न तु स्वजनितं, अतो ज्ञानशक्त्या जानता येच्छा तया तिरोहितं प्रवृत्तिपर्यन्तं न बाधकं भवति ।। ७ ।। स्वतो ज्ञानशक्तेर्बोधकत्वमाशङ्क्य तस्या अपि तिरोधानमाह **विबुध्ये**ति, ज्ञानशक्तेः स्वरूपमेतत् कीर्तितं, न तु बोध उत्कर्षार्थमुक्तः, पुरोवर्तीन्द्रियसन्निकर्षे सङ्केतितस्य स्मरणमिव तस्या दर्शनेन तदीया गुणा उद्भूता इत्येतदर्थमाह तां **बालकमारिका**ग्रहमिति, प्रसिद्धिप्रेरणादिकं तच्छब्देनोक्तं, मुख्यं दोषमनुवदति **बालकानां मारिका** बालघातिनो, तथाभूता सती ग्रहरूपा च, **गृह्णन्ती**ति ग्रहाः, मारयितुं चेन्न शक्नुवन्ति शीघ्रं गृहीत्वापि तावत् तिष्ठन्ति तथा प्रतीकारेपि, ननु तद्युत्थाय कथं न मारितवांस्तत्राह **चराचरात्मे**ति, स्थावरजङ्गमानामयमात्मा यदि मर्यादां त्यजेत् तदा जीवजडयोर्विलय एव स्यात्, अस्तु विलय इति चेत् तत्राह **स** इति, **स** मूलभूतो जगत्कर्ता, ज्ञानमतिरोहितमेव भवतीति तस्य तिरोधानार्थं यत्न कृतवानित्याह **निमीलितेक्षणो जात** इति, एवं सर्वांशेनाबावे जाते सा समागत्य भगवन्तं गृहीतवतीत्याह**ानन्त**मिति, ग्रहणे शङ्काभावार्थमनन्तपदं, अनेनान्यदपि सूचितमक्लिष्टकर्मा भगवान् स्वतो न कञ्चिन्मारयति तथैव परं स्वतः कालो गृहीत इति निकट उपविश्य **तमङ्के समारोपयत्,** कालो हि घातकानां हितकारीतिशङ्काव्युदासार्थमा**हान्तक**मिति, स हि सर्वमारकः, नन्वारोपणे क्रियाशक्तिः प्रबुद्धा कथं न बाधिका जातेत्याह **यथोरगं सुप्त**मिति सर्पाणामातितामसत्वात् तेषामत्यन्तं निद्रा, अतो मारणपर्यन्तं न क्रिया तेषु, तथा भगवतोपि क्रिया सर्वथा नाविर्भूता, ननु स्पर्शेन ज्ञानशक्तिस्तेजः कथं नाविर्भूतमिति चेत् तत्राहा**बुद्धिरज्जुधी**रिति, **अबुद्ध्या**ज्ञानेन सर्पे **रज्जुधी**र्यस्य, रज्जुर्बन्धिका, सर्पो मारकः, स्नेहेन स्तने दत्ते मय्ययमनुरक्तो भविष्यतीत्यापाततो बुद्धिर्न तु मारकत्वं जानाति यथा रज्जुबुद्ध्या गृहीतः **सर्पः** स्वस्पर्शेपि न ज्ञानं जनयति, अतो भगवज्ज्ञानं तेजोपि स्पर्शेन नाविर्भूतमित्यर्थः ।। ८ ।।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

श्रमंसताम्भोजकरेणेत्यत्र, स्वातन्त्र्येण सम्बन्धमत्रालभमाना गोपीद्वारा सम्बन्धेऽपेक्षया तत्राविशतीत्याशयेनाहुः **स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपामिति** ॥ ६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

वल्गुस्मितेत्यत्र 'श्रियममंसते'त्येतावतैव चारितार्थ्येपि **यद्रूपिणीमित्युक्तं** तत् कुत इत्याकाङ्क्षायां तदाशयं **स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपामित्यनेन** वदन्तीति टिप्पण्यामाहुः **स्वातन्त्र्येणे**त्यादि, **तत्रे**ति गोपीषु, तथा च **स्वस्मिन्** गोपीजनात्मनि य **आवेशस्तस्मादतिरिक्तं रूपं** यस्यास्तामित्यर्थः, यद्वा **स्वस्मिन्** स्वात्मनि य **आवेशो** लक्ष्म्या भगवत्स्त्रीत्वाभिमानस्तदतिरिक्तं गोपीदास्यात्मकं रूपं यस्या इति गूढाभिसन्धिर्वा टिप्पणीस्थो ज्ञेयः ॥ ६ ॥ **बालग्रह** इत्यत्र नन्दगृहेप्यसन्त इत्यन्यावेशादय इत्यर्थः ॥ ७ ॥ **विबुध्ये**त्यस्याभासः **स्वत** इत्यादि, मास्तु ज्ञानशक्तिप्रकाशस्य बाधकत्वं तथापि प्रकाशाधारभूताया ज्ञानशक्तेरग्निवद् विद्यमानत्वात् **स्वतः** स्वरूपतो बाधकत्वमित्याशङ्क्याहेत्यनेन श्लोकार्धेनाहेत्यर्थः, **कीर्तितमिति विबुध्येतिपदेन** कीर्तितमित्यर्थः, **न** हित्यादि **'चराचरात्मे'**त्यनेन महोत्कर्षस्य वक्ष्यमाणत्वादनेन नोक्त इत्यर्थः, **गुणा उद्भूता** इति मायाकृता **गुणा** भगवद्ज्ञानशक्तिविषयीभूता जाता उच्चैर्निवृत्ता इति वा, **अनेने**ति न विद्यतेन्तो यस्मादितिनिर्वचनेन, **यथोरगमित्यत्र तथा भगवत** इति स्वेच्छया ज्ञानशक्तेरत्यन्ततिरोधानेनेत्यर्थः; **नाविर्भूतमिति** पूतनाबुद्धिगोचरं **न** जातमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तां केशेत्यत्र मल्लिका वसन्ततौवेव भवन्तीत्यधुना प्रावृषि तदसम्भवादाहुर्मल्लिकेति; मल्लिकापदं प्रावृट्कालीनपुष्पाणामुपलक्षकं ज्ञापकमित्यर्थः, तथा च मल्लीसदृशी मल्लिका इवार्थे कप्रत्ययः मालत्यादिरित्यर्थः । सादृश्यसम्पादकं धर्मद्वयमाहुः **सौन्दर्यं** गन्धश्चे ति, **कुण्डलमण्डिताननामितिपाठमभिप्रेत्य** कर्णभूषणमन्यमाहुः **उपरिभागस्थं** वेति ॥ ५ ॥ **बालग्रह** इत्यस्याभासे इत्याहेति **इति** हेतोर्यदृच्छया भगवदिच्छया दर्शनमाहेत्यर्थः, बालग्रह इति पुस्त्वमजन्तस्य तथानुशासनात्, **आनीतवानित्याहेति यदृच्छयेतिपद**कथनाद् भगवत्कर्तृकमानयनं विवृतावुक्तं, तत्पपदस्याभासे **तत** इति भगवतः सकाशादित्यर्थः । **ज्ञानशक्तेरिति ज्ञानशक्तेः प्रकाशो लौकिकं** तेज इत्यर्थः, **तद् भवतीति** अलौकिकं तेजो भवतीत्यर्थः॥७॥ **विबुध्ये**त्यस्याभासे **स्वत** इति, पूर्वं धर्मरूपज्ञानस्य शक्तिरलौकिक तेज उक्तमत एव तत्र ब्रह्मविदो दृष्टान्तार्थमुक्ताः, अत्र ज्ञानस्वरूपमुच्यत इति विभेदः, तथा च ज्ञानरूपा या शक्तिस्तस्याः स्वतः स्वरूपत इत्यर्थः, **तिरोधानमाह** अक्षिनिमीलनेनेतिशेषः, व्याख्याने, **गुणा उद्भूता** इति भगवन्मनसीतिशेषः, तेजसस्तिरोभावः पूर्वश्लोके दृष्टान्तेनोक्तः स्वरूपतस्तिरोभावार्थं भगवत्कृतो यत्नो निरूप्यते, तत्र हेतुमाहु**र्ज्ञानमतिरोहितमेवेति**, उत्तरार्धस्याभासमाहु**रेवं सर्वांशे**नेति, पूर्वमाभासः पूर्वार्धस्यैवोक्त इति ज्ञेयं सहेतुकभगवद्ग्रहणं विशिष्टवाक्यार्थः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

विबुद्ध्या तामित्यस्य विवृतौ **ज्ञानशक्तेः स्वरूपमेतत् कीर्तितं न तु बोध उत्कर्षार्थमुक्त** इति तस्याः **पूतनायाः सर्वदुष्टप्रकारविशिष्टस्वरूपज्ञानं** भगवतो यदभूत् तत्र भगवतः प्रतिष्ठाजनकं सर्वपदार्थविषयकापरोक्षज्ञानवत्त्वात्, तर्हि **किमर्थं शुकेनोक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः ज्ञानशक्तेः स्वरूपमित्यादि** ॥ ८ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि **"सर्वव्यामोहनार्थं भगवत्कृतं"** सबको मोहित करने के लिये भगवान् द्वारा बनाये हुए पूतना के रूप का शुकाचार्यजी दो श्लोको में वर्णन करते हैं। उनमें ५वें श्लोक में रूप का एवं ६ठे में चेष्टाओं का वर्णन है।

पूतना का यह रूप, माया रूप भगवान् ने किया है। पूतना की रूप मोहकता सोने के आभूषण एवं सुन्दर वस्त्रों के कारण थी। उसके केश कलाप में गूंथे हुए मोगरों के कुसुम वेणी से गिरते नहीं थे। श्लोक में 'मल्लिका' उपलक्षण है, लेकिन वेणी में उस ऋतु के विविध फूल गूंथे हुए थे कुसुमों में सौन्दर्य और सुगन्धि थी। बड़े स्तन तथा नितम्ब एवं पतली कमर के कारण, सब प्रकार के आसनों द्वारा, भोग करने योग्य थी, उत्तम वस्त्र रसजनक थे, हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से झलकते केशों से सुशोभित मुख की सुन्दरता का मोह के लिये ही निरूपण है। अथवा कानों के ऊपर के भाग में पहने हुए आभूषणों से ही कुण्डलों जैसी कान्ति होती थीं, प्रायः कुण्डल धारण नहीं किये थे, तो भी, उन आभूषणों से कुण्डलों की कान्ति का भान होता था। इससे उन भूषणों की सर्वोत्तमता बताई गई। गो श्रीवल्लभजी महाराज का कहना है कि —पूतना के आने के समय वर्षा ऋतु थी उस काल में मोगरे होते नहीं, लेकिन वर्षा ऋतु के पुष्पों में मोगरे जैसी शोभा एवं सुगन्ध होने से 'मल्लिका' पुष्प का उल्लेख किया है। इसलिये आचार्य श्री ने **"मल्लिका तत्कालपुष्पोपलक्षिका"** ऐसा अर्थ किया है ॥ ५ ॥

छठे श्लोक में पूतना की चेष्टा का वर्णन करते हैं। पूतना में स्वाभाविक स्मित नहीं था, इसलिये श्लोक में 'स्मित' को 'वल्गु' विशेषण दिया, जिसका आशय है कि पूतना का हास्य कृत्रिम था। ऐसे कृत्रिम स्मित से और अलस विलास से लपेटे हुए कटाक्षों को विविध प्रकार से दिखाती, व्रजवासियों के मन को हरण करती, बिना रोक-टोक के गोकुल में आ गई। व्रजवासी सरल, भले होते हैं, इससे पूतना के कृत्रिम हास्य एवं कटाक्षादि को पहचान न सके और मोहित हो गये और उसको रोक नहीं सके। गोप बहुत थे, तो भी 'मन' एक वचन इसलिये दिया कि सब गोपों का मन एक सरीखे विवेकरहित सरल थे। इससे गोपों पूतना को पूर्ण रीति से जान न सके। गोपों ने अच्छी तरह से देखा भी किन्तु गोपियों की तरह नहीं देखा। गोपियों ने तो पूरी तरह से देखा, वे तो पूर्ण ज्ञानवाली थीं, वे जान गई कि इसका रूप भगवान् का बनाया हुआ है। लेकिन भगवान् की लीला से उसकी घातकता न समझ सकीं, पुनः यों समझा कि अपने रमण के लिये भगवान् ने लक्ष्मीजी को बुलाया है। लक्ष्मी भगवान् की पत्नी है। उससे दासियों का वैमनस्य या वैर नहीं होता है; इसलिये श्लोक में कहा है कि गोपियों ने दर्शन के लिये आई हुई उसको लक्ष्मी ही समझा। भगवान् ने वैसा ही रूप बनाया है इसलिये उसके हाथ में लीला कमल था। यही लक्ष्मी रूप से पहचान का असाधारण कारण था और खाली हाथ से दर्शन न होना इसका भी समाधान हुआ वह अपने में आवेश से बढ़े हुए स्वरूप के कारण सुन्दर रूपवती हुई थी। पति-दर्शन के लिये आई हुई जानकर, किसी ने उसको रोका नहीं। गोपियों ने तो उसका समादर किया, इसलिये गोपियों का न रोकना गोपियों के लिये बाधक नहीं।

श्रीप्रभुचरण का कथन है कि पूतना स्वतन्त्रता से स्वयं गोकुल में आ नहीं सकती थी इसलिये आचार्यचरणों ने श्रो सुबोधिनीजी में कहा है कि **'स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपां'** गोपियों के सम्बन्ध की इच्छा से वहाँ पूतना ने प्रवेश किया।

श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि जब वल्गुस्मित एवं श्रियममंसत से ही उसकी शोभा चेष्टा और रूप का वर्णन हो गया फिर श्लोक में 'रूपिणी' क्यों कहा? इसका भावार्थ समझने के लिये श्रीसुबोधिनीजी में **'स्वस्मिन्नावेशितातिरिक्त-रूपां'** कहा। इस सुबोधिनीजी की पंक्ति को श्री प्रभुचरण ने टिप्पणी में समझाया कि पूतना अपने आप गोकुल में नहीं आ सकती थी इसलिये गोपियों के सम्बन्ध की इच्छा से गोपियाँ जहाँ थी वहाँ प्रवेश किया। इस टिप्पणी एवं सुबोधिनी के संस्कृत **'स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपां'** को विशेष स्पष्ट समझाते हैं कि **"स्वस्मिन्"**—गोपीजनों में जो आवेश था, उससे पूतना का भी रूप विशेष सुन्दर हो गया, अथवा स्वस्मिन्—पूतना में जो लक्ष्मी के आवेश से अभिमान था; इससे भी सुन्दर रूपवती देखने में आई और गोपीदास्यात्मक आवेश से भी सुन्दर रूपिणी हुई। इन्हीं सब कारणों से श्लोक में 'रूपिणी' कहा गया है।६।

आचार्यचरण कहते हैं कि **"सा गोकुलेऽपि बालकान्वेषणार्थम्"** वह पूतना गोकुल में भी बालकों के ढूढ़ने में ही प्रवृत्त रही, न कि भगवान् के निकट आप ही गई। यह बात **'बालग्रह'** श्लोक से शुकाचार्यजी कहते हैं—जो बालकों को पकड़े, उसे 'बालग्रह' कहते हैं। पूतना बालकों को पकड़ ले जाती, इसलिये पूतना को 'बालग्रह' कहा गया है। बालकों के पकड़ने में, आग्रह वाली थी भगवान् बालक नहीं किन्तु भगवान् थे। इसलिये भगवान् के समीप न गई किन्तु गोकुल में बालकों को ढूंढती फिरने लगी। वह ढूंढने में ही लगी रही, न कि, किसी को भी मारा, कारण कि भगवान् उनके रक्षक थे। जब वह बालकों को ढूंढती रही, भगवान् के पास न गई, तब भगवान् ने निज इच्छा से उसको अपने पास बुलाया, इसलिये श्लोक में **'यदृच्छया'** पद दिया है। भगवान् की इच्छा के बिना पूतना का सकल उपायों से भी नन्दगृह में आना अशक्य था। कृत्रिम सुन्दर रूप वाली और दुष्टा स्त्री पूतना को भगवान् के दर्शन कैसे हुए? तब कहते हैं कि **'असदन्तकं'** भगवान् दुष्टों का काल है इसलिये जिन दुष्टों को मारना है उसको देखकर ही मारते हैं इस कारण से मारने वालों को भी दर्शन होने में कोई विरोध नहीं। भगवान् को नन्दगृह में दुष्टों के आने को भी रोकना था। बालकों के हरण में ही चित्त वाली उसको यह विचार ही न आया कि यह भगवान् है और दुष्ट असुरों के नाशक हैं। पूतना ने भगवान् को साधारण बालक के रूप में देखा, इसलिये श्लोक में **'बालं'** पद दिया है। यद्यपि बालक रूप था तो भी बालक की अलौकिक कान्ति से यह विचार क्यों नहीं आया कि यह 'भगवान्' है? तब श्लोक में कहते हैं कि **'प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं'** भगवान् ने अपना अधिक अलौकिक तेज छिपा लिया था। यदि प्रभु तेज को न छिपाते तो उस तेज से असुर जलने के कारण दूर से ही भाग जाते तो मरते नहीं। यदि प्रभु बिल्कुल तेज छिपा लेते तो यशोदादि व्रजवासियों को असुरों से डर होता। इसलिए **'उरु'** शब्द से बताया कि अधिक तेज छिपा लिया। भगवान् की ज्ञान और क्रिया-शक्ति तो सर्वत्र सदैव रहती ही है, किन्तु लीलार्थ तिरोहित सी दीखती है। अतः जब तक पूतना भगवान् के पास पहुंची, तब तक उस तेज को कुछ छिपाने जैसा कर लिया, कारण कि भगवान् उस समय पर्यङ्क पर पौढ़े थे पौढ़ने के समय क्रिया-शक्ति कार्य नहीं करती है। बाल्यादि अवस्था अथवा निद्रादि काल से क्रिया-शक्ति का तिरोभाव होता है। निद्रा से उठकर चलने-फिरने से वह क्रिया-शक्ति आविर्भाव पाती है। ज्ञान-शक्ति का प्रकाश तो स्वाभाविक है, जिससे ब्रह्मज्ञानियों को भी ज्ञान होने पर उनमें प्रकाश आ जाता है। वह ज्ञान-शक्ति का प्रकाश पूतना के लिये क्यों न बाधक हुआ? तब श्लोक में कहते हैं कि **'अग्निमिवाहितं'** जैसे अग्निहोत्री अग्नि को भस्म से ढांक

देते हैं, फिर हवन के समय भस्म को हटाने पर, वह अग्नि अपना तेज दिखाती है, वह अग्नि दूसरों को तो जलाती है किन्तु अपने में से पैदा हुई भस्म को नहीं जलाती है, वैसे ही ज्ञान-शक्ति से उत्पन्न इच्छा, उस इच्छा से तिरोहित प्रकाश रूप शक्ति प्रवृत्ति होने तक बाधक नहीं होती है ॥ ७ ॥

आचार्यश्री कहते हैं कि **स्वतो ज्ञानशक्तेर्बाधकत्वमाशङ्क्य'** ज्ञान-शक्ति अपने आप उसके आने में रुकावट करदे तो, इस शङ्का के समाधान में श्रीशुकदेवजी इस श्लोक में कहते हैं कि **'विबुध्यतां बालकमारिकाग्रहं'** उस पूतना को बालकों को मारने वाला ग्रह समझ कर, यह पंक्ति कह कर, भगवान् के ज्ञान होने का उत्कर्ष नहीं बताया है, किन्तु ज्ञान-शक्ति का केवल स्वरूप बताया है। भगवान् की ज्ञान-शक्ति ऐसी है कि कोई किसी भी रूप में आवे, तो भी उसके आन्तर स्वरूप को पहचान लेती है। **'विबुध्यतां मारिकाग्रहं'** यह पंक्ति इसलिए भी कही कि जैसे इन्द्रियों का सन्मुख आने वाले पदार्थ से सम्बन्ध होते ही, संकेतित के स्मरण की तरह, उसके गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही उस पूतना के देखने से, उसके भी गुण प्रकट दिखाई देने लगे। यहाँ पूतना को देखने मात्र से भगवान् का भी उसके गुण प्रत्यक्ष दीखने लगे। आचार्य श्री **'तां'** शब्द का रहस्य बताते हैं कि इस **'तत्पद्'** से पूतना की प्रसिद्धि और कंस को प्रेरणा भी कहदी और साथ साथ पूतना का मुख्य दोष बालकों को मारना और पकड़ कर ले जाना भी बता दिया। ग्रहशब्द का अर्थ यह है कि जो पकड़ लेते हैं, उनको 'ग्रह' कहा जाता है। उनमें मारने की शक्ति नहीं हो तो भी वे शीघ्र पकड़ कर, जब तक शक्ति चलती है तब तक पकड़ रखते हैं, कभी कभी प्रतीकार होने पर भी पकड़ रखते हैं। जब पूरे प्रतीकार से शक्ति नष्ट हो जाती है, तब छोड़ते हैं। इसलिये पूतना को ग्रह कह कर यह बताया है कि जब तक प्रतीकार से इसकी शक्ति नष्ट न होगी, तब तक यह इस कार्य को छोड़ेगी नहीं। यदि ऐसा है तो भगवान् ने उठकर क्यों नहीं पूतना का नाश किया? तब कहते हैं कि चराचरात्मा भगवान् यदि स्वयं ही मर्यादा छोड़ दे, तो जीव, जड़ दोनों का नाश हो जाय। यदि कोई कहदे कि भले प्रलय हो जाय, इस पर कहते हैं कि श्रीशुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि **'सः'** यह बालक साधारण बालक नहीं है, किन्तु यह वह मूलरूप जगत्कर्ता है। इसलिये वह मर्यादा तोड़, अब प्रलय कैसे करे? मूलभूत की ज्ञान-शक्ति, तो सदैव रहती है। उसके छिपाने के लिये यह प्रयत्न किया कि आंखें मूंद लीं।

इस प्रकार सब तरह के प्रतिबन्ध निवृत्त होने पर पूतना ने आकर अनन्त भगवान् को उठा लिया।

उठाने में उसको किसी प्रकार की शंका न हुई, क्योंकि भगवान् अनन्त रूप थे। 'अनन्त' पद का दूसरा यह भी आशय है कि जगत्कर्ता भगवान् किसी को स्वयं मारते नहीं, क्योंकि आप अक्लिष्टकर्मा है। यहाँ पूतना ने खुद ही काल को पकड़ लिया। उसके समीप बैठ गोद में बैठाया। काल तो हत्यारों का हितकारी है ऐसा कोई कहे तब समाधान के लिये **'अन्तक'** विशेषण दिया है कि वह अनन्त सब को मारने वाला है।

अब आचार्यचरण श्लोक में दिये गये **'यथोरगं सुप्तम्'** पदों का भावार्थ बताते हैं कि यदि कोई शंका करे कि बालरूप भगवान् को गोद में लेने पर, भगवान् की क्रियाशक्ति तो प्रकट हुई होगी तो उसको ऐसा करने में क्यों न बाधा डाली? इसपर कहा है कि जैसे निद्राधीन सर्प अति तामस प्रकृति वाला होने के कारण गाढ नींद लेता है। इससे जब तक उसको प्रहार न किया जाय तब तक वह कोई क्रिया नहीं करता है। और उसमें किसी प्रकार की चलनक्रिया नहीं होती है वैसे ही भगवान् की भी क्रिया-शक्ति का कोई भी कार्य प्रकट न हुआ।

अच्छा, आप का कथन ठीक है कि क्रिया-शक्ति का कोई कार्य न हुआ; किन्तु ज्ञान-शक्ति का तेज तो प्रकट होना चाहिये था, वह क्यों न प्रकट हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि अबुद्धिरज्जुधीः' जैसे सर्प को रस्सी समझने वाला बेसमझी से सर्प को पकड़ता है तो उस पकड़ने वाले को सर्प अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं कराता है कि मैं तुझे मार डालूंगा। रस्सी तो बन्धन करने वाली है, लेकिन सर्प तो मारने वाला है। पूतना ने भी बेसमझी से समझा था कि स्नेह से स्तन्य पान कराने के कारण मुझ पर प्रसन्न ही होंगे। पूतना ने यह न समझा कि यह मेरा अंत करने वाला काल है। जैसे रस्सी समझ सर्प को पकड़ने वाला नहीं जानता है कि यह मुझे काटेगा, वैसे ही पूतना भी इसको साधारण बालक समझ, गोद में ले स्तन्यपान कराने लगी। इस कारण से भगवान् का ज्ञान, तेज, वा प्रकाश भी स्पर्श से प्रकट न हुआ।

श्री लेखकार जी इस श्लोक के विवरण में लिखते हैं कि ७ वें श्लोक में धर्म-रूप ज्ञान का तिरोधान होने के कारण ब्रह्मविद् का दृष्टान्त दिया था। अब ८ वें श्लोक में ज्ञान-शक्ति के धर्मी स्वरूप का तिरोधान हुआ है इतना भेद है। यद्यपि भगवान् की कोई भी शक्ति तिरोहित होती ही नहीं है, सदैव प्रकट ही रहती है; किन्तु लीलार्थ भगवान् कभी ऐसा दिखावा देते हैं, अतः यहाँ पूतना आ सके, इसलिये आँखे मूंद कर ज्ञान-शक्ति को स्वरूपतः तिरोहित सा कर दिया। ज्ञान-शक्ति प्रकट न हुई और पूतना की बुद्धि को यह मालूम न पड़ा कि यह भगवान् हैं।

अब प्रकाशकारजी आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने अपनी इच्छा से ज्ञान-शक्ति का अत्यन्त तिरोधान कर लिया था। भगवान् का महान् उत्कर्ष 'चराचरात्मा' पद से बताया है इसलिये पूतना के दोषों के ज्ञान से उत्कर्ष नहीं बताया है।

श्री योजनाकार आज्ञा करते हैं कि इस श्लोक में शुकदेवजी ने ज्ञान-शक्ति का स्वरूप ही बताया है, क्योंकि भगवान् तो अपरोक्ष ज्ञान वाले होने से सब छिपे हुए पदार्थों को भी जानते ही हैं, इससे पूतना के सर्वदोषों के ज्ञान से, भगवान् का कुछ भी उत्कर्ष प्रकट नहीं किया। इसलिये प्रथम ७ वें श्लोक में तिरोधान में ब्रह्मविद् का दृष्टान्त दिया यहाँ भगवान् ने आँखें मूंदना रूप यत्न किया है ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'तां प्रविशन्तीं व्रजवासिनः कुतो न वारितवन्तः?' तत्राह—तामिति। तां राक्षसीं गोप्यो वनितां वरस्त्रियममंसतेत्युत्तरेणान्वयः। तथाच न वारितवत्यः। तत्सौन्दर्यातिशयं दर्शयन् दृष्टान्तमाह—अम्भोजेति। अम्भोजयुक्तेन करेण हेतुना पतिं भगवन्तं द्रष्टुमागतां रूपिणीं सुन्दरीं श्रियं लक्ष्मीमिवेत्यन्वयः। सौन्दर्यमेव स्पष्टयंस्तां विशिनष्टि—केशबन्धे धम्मिल्ले संसक्ता मल्लिका कुसुमानि यस्यास्ताम्। बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां स्तनाभ्यां च बृहद्भ्यामुभयत आक्रान्तमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यमुदरं यस्यास्ताम्। सुवाससं सुष्ठु रमणीये वाससी यस्यास्ताम्। कम्पितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा दीप्त्या उल्लसद्भिः कुन्तलैर्मण्डितमाननं यस्यास्ताम् ॥५॥ वल्गु रम्यं स्मितं येषु तथाभूताः अपाङ्गविसर्गाः कटाक्षमोक्षा येषु तैर्वीक्षितैर्व्रजौकसां मनो हरन्तीम्, अतो गोपा अपि हृतमनस्त्वेन तां न वारितवन्तः। तथाच केनाप्यनिवारिता सती नन्दगृहं प्रविवेशेत्याशयः ॥ ६ ॥ तत्र नन्दगृहे यदृच्छया स्वमरणहेतुप्रारब्धेन प्रविष्टा तल्पे शय्यायां शयानमसतां दुष्टानामन्तकं मारकं बालकं श्रीकृष्णं ददर्शेत्यन्वयः। ननु "नन्दगृहे वैभवातिशयस्य सत्त्वात् तत् कुतो न दृष्टवती?" इत्याशङ्क्य 'बालान्वेषणपरायास्तस्याऽन्यत्रासक्त्यभावात्' इत्याशयेनाह-शिशून् विचिन्वतीति। तत्र हेतुमाह—बालग्रह इति। बालान् मारयितुं गृह्णातीति, तथा दृष्ट्वा च तमङ्कमारोपयत्। ननु 'स्वयमप्यसतामन्तकं दृष्ट्वा कुतो न बिभियात्' इत्यत आह—प्रतिच्छन्नेति। बालनाट्येन प्रतिच्छन्नं तिरोहितं निजमुरु अधिकं तेजो येन तमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—अग्निमिवेति। भसि भस्मन्याहितं स्थापितमग्निमिवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ तेजस आच्छादनप्रकारमेव विशेषतो दर्शयति—विबुध्येति। तां पूतनां बालकमारिकाग्रहं विबुध्य ज्ञात्वा स भगवान्निमीलितेक्षणो जातः। तथा ज्ञाने हेतुमाह—चराचराणामात्मा, अन्तःकरणसाक्षीत्यर्थः। ननु 'असदन्तकत्वेऽपि कदाचित्तस्याप्यन्तः स्यात्' इत्याशङ्क्याह—अनन्तमिति। भ्रान्त्या तस्याङ्कारोपणे दृष्टान्तमाह—यथेति। अबुद्धिश्चासौ रज्जुधिश्च स, यथा कश्चिदज्ञानतो रज्जुबुद्ध्या सुप्तमुरगं गृह्णाति तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तामिति द्वयम् ॥ केशबन्धे धम्मिल्ले व्यतिषक्ता संसक्ता मल्लिका तत्कुसुमानि यस्यास्तां बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां च बृहद्भ्यामुभयत आक्रान्तमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यमुदरं यस्यास्तां सुवाससं सुष्ठु रमणीये वाससी यस्यास्तां कम्पितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा दीप्त्या उल्लसद्भिः कुन्तलैर्मण्डितमाननं यस्यास्तां वल्गु रम्यं स्मितं येषु तथाभूताः अपाङ्गविसर्गाः कटाक्षमोक्षा येषु तैर्वीक्षितैर्व्रजौकसां मनो हरन्तीं पदद्वयं मनोहरवदाचरन्तीमिति वा। आचारे क्विप्। अतोऽन्तःपुरं प्रविशत्यपि गोपैरपि न वारिता। तां वनितां जनितानुरागां स्त्रियम् "वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति" इत्यमरः। पतिं स्वामिनं महाधनवन्तं द्रष्टुमागताम् अम्भोजयुक्तकरेण उपलक्षितां रूपिणीं श्रियं मूर्तिमतीं रत्नादिधनसम्पत्तिमिव अमंसत। अतो गोप्यः श्रियं मत्वा न वारितवत्यः। पतिं द्रष्टुमागतां श्रियम् इव वरस्त्रियममंसत इत्यपि कश्चित्। पतिशब्दः स्वामिपर्यायः धवपर्यायस्तु अत्र न। वक्ष्यमाणमातृभावविरोधात् ॥ ५–६ ॥ बालग्रह इति ॥ शिशून् विचिन्वती बालग्रहः सा पूतना अजहल्लिङ्गं विशेषणम्। विशेष्यं तु पूतनैव अतो विचिन्वतीति स्त्रीत्वम्। तत्र नन्दगृहे यदृच्छया स्वमरणहेतुप्रारब्धेन प्रविष्टा तल्पे शय्यायां शयानमसतां दुष्टानामन्तकं मारकं बालनाट्येन प्रतिच्छन्नं तिरोधापितं निजमुरु अधिकं तेजो येन तं बालकं श्रीकृष्णं भसि भस्मन्याहितं स्थापितं भस्माच्छन्नमग्निमिव ददर्श ॥ ७ ॥ विबुद्ध्येति ॥ चराचराणाम् आत्मा साक्षी भगवान् तां बालकानां मारिका मारणं तत्कर्तारं ग्रहं विबुद्ध्य बालनाट्येन निमीलितक्षणः आस दिदीपे। निजात्यन्तबालत्वभीरुत्वज्ञापनाय तादृशामङ्गदर्शनाभावाय मातृभावदर्शिकायास्तस्याः स्वकर्तृकवधे लज्जानुत्पत्त्यै च नेत्रनिमीलनम्। ततः सा अबुद्धिश्चासौ रज्जुधीश्च सः यथा कश्चिदज्ञानतो रज्जुबुद्ध्या सुप्तमुरगं गृह्णाति तद्वत् अन्तकं कालरूपम् अनन्तम् अपरिच्छिन्नमपि अङ्कम् आरोपयत्। इति शाब्दो विरोधः ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

द्वयोः सहान्वयमाह केशबंधः केशपाशो धम्मिल्ल इति यावत् तस्मिन् व्यतिषक्तानि संलग्नानि मल्लिकापुष्पाणि यस्यास्तां बृहता नितंबेन कटिपश्चाद्भागेन स्तनाभ्यां च उभयतः आक्रांतमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यमम् उदरं यस्यास्तां सुवाससं सुंदरवस्त्रां कंपितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा उल्लसद्भिः शोभमानैः कुंतलैः केशैः भूषितं मंडितम् आननं यस्यास्ताम् ॥ ५ ॥ वल्गु सुंदरं स्मितं

हास्यं येषु ते भूताः अपांगानां कटाक्षाणां विसर्गाः येषु तैः वीक्षितैः व्रजौकसां मनो हरंती मनः कर्षती तां वनितां पतिं द्रष्टुमागताम् अंभोजकरेण कमलयुक्तकरेण पद्मतुल्यकरेण वा रूपिणीम् अतिरूपवतीं श्रियमिव गोप्योऽमंसतेत्युत्तरश्लोकस्य पद्येन संबंधः ॥ ६ ॥ तत्र गोकुले विचिन्वती मार्गयंती बालग्रहः पूतना नंदगृहे बालं यद्दृच्छया स्वभावेन ददर्श कथभूतम् असताम् दुर्जनानामंतकं नाशकं ननु नाशकदर्शनेन कथं न भीता तत्राह प्रतिछन्ननिजोरुतेजसं बालत्वाचरणेन प्रतिछन्नम् आछादितं निजं स्वकीयम् उरु तेजो येन तं कमिव भसि भस्मनि आहितं स्थितमग्निमिव तल्पे स्थितं ददर्शेति संबंधः ॥७॥ बालकानां मारिकासंज्ञं ग्रहं तां विबुध्य निमीलिते ईक्षणे येन सः आस तदनंतरं सा अनंतं स्वयं नाशहीनं दुर्जनानामंतकं बालं मरवेति शेषः ॥ अंकम् उत्संगमारोपयत् यथा अबुद्धिश्चासौ रज्जुधीश्चाज्ञानतो रज्जुबुध्या सुप्तम् उरगं सर्पं गृह्णाति तद्वत् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

योषिद्रूपधरां तां वर्णयति द्वाभ्याम् ॥ तामिति ॥ केशबन्धे केशोच्चये व्यतिषक्ताः मल्लिकास्तत्कुसुमानि यस्यास्ताम्, बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां स्तनाभ्यां च कृच्छ्रः सूक्ष्मत्वाद्भज्यमान इव स्थितः मध्यमः कटिप्रदेशो यस्यास्ताम्, शोभनं वासो वस्त्रं यस्यास्ताम्, कम्पिते चलिते ये कर्णभूषणे तयोस्त्विट् दीप्तिस्तया, उल्लसन्तोऽधिकं शोभमाना ये कुन्तलाः केशास्तैर्मण्डितमलंकृतमाननं मुखं यस्यास्ताम् ॥ ५ ॥ वल्गिवति ॥ वल्गु रम्यं येषु तथाभूता अपाङ्गविसर्गा येषु तथाभूतानि यानि वीक्षितानि तैः, व्रज ओकः स्थानं येषां तेषां, व्रजवासिगोपजनानामित्यर्थः। मनः, हरन्तीं, अम्भोजं पद्मं तेन युक्तो यः करो हस्तस्तेन, पद्मयुक्तपाणिनेत्यर्थः। उपलक्षितां, रूपिणीं प्रशस्तरूपवतीं, पतिं श्रीकृष्णं द्रष्टुं, आगतां उपागतां श्रियं लक्ष्मीम् इव, तां वनितां गोप्यः, अमंसत अमन्यन्त ॥ ६ ॥ बालग्रहः स्वयं बालग्रहरूपा सत्यपि, धृतदिव्यस्त्रीस्वरूपा पूतनेत्यर्थः। तत्र व्रजे, शिशून् व्रजस्थान्बालकान्, विचिन्वती गवेषयन्ती सती, यदृच्छया नन्दगृहे, असतामसत्पुरुषाणां अन्तकं मृत्युरूपं, तथापि प्रतिच्छन्नं तिरोहितं निजं स्वासाधारणमुर्वधिकं तेजो येन तं, अतः भसि भस्मनि, आहितं, अग्नि इव, तल्पे शय्यायां, स्थितं बालं, ददर्श। स्वसौन्दर्यावलोकनपरवशाभिर्गोपीभिरनिवारिता सत्यपश्यदित्यर्थः ॥ ७ ॥ विबुद्ध्येति ॥ चराचरात्मा, सर्वबुद्धिदृक् स्वयं भगवानित्यर्थः। तां पूतनां, बालकमारिकाग्रहं विबुद्ध्य, निमीलिते ईक्षणे नयने येन तथाभूतः, आस बभूव। महेश्वरत्वे स्वस्य परमेश्वरभावे सत्यपि, चराचरप्रभुः अपि, स्वसंकल्पमात्रेणैव तां हन्तुं समर्थः। सन्नपीत्यर्थः। बालभावं निजबालत्वं, विभावयामास। बालभावानुकृतत्वात्तूर्ष्णीभावं स्वीकुर्वन्न किंचिदप्युवाचेत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वल्गुस्मितेति : १०.६.६.

सुमनोवरहरणं मम कार्यमिहाग्रेऽपि सा विचिन्त्यैवम्। अकृत तदभ्यसनार्थं किमवेक्षणतः पुरा मनोहरणम् ॥ ८ ॥

अनङ्गसङ्गसन्तोषा योषा पतिमुपैति हि। युक्तेयमुपमा तस्मात्तस्यास्तादृग्विपाकतः ॥ ९ ॥

सा त्वमङ्गलवृत्त्या यत्सद्रूपं तादृगादधे। भावि तत्तत्र भव्यार्थं श्रीसमद्युतितः स्फुटम् ॥ १० ॥

साक्षाच्छ्रियं तदनु नव्यनराधिपं वा द्रष्टुं नरा न चतुरा यदलं भवन्ति।
तत्साधु कृत्रिमतरादृततत्स्वरूपतद्दर्शनस्तिमितदृक् स बभूव लोकः ॥ ११ ॥

विधिमेव पुरस्कृत्य गता सा व्रजमङ्गना। युक्तं नैवाशृणोत्तत्र निषेधं तत्कृतं क्वचित् ॥ १२ ॥
नेति नेति निषेधोऽस्ति सदा श्रुतिसमन्वितः। चित्रं तदा निषेधोऽसौ नासीत्तच्छ्रुतिगोचरः ॥ १३ ॥

बालग्रह इति : १०.६.७.

प्रतापिनो हव्यजुषोऽनलस्य प्रभावतोऽग्र बत योग्यता का। विषस्य वा दुर्विषयस्य वास्तीत्यवोचि युक्ताऽग्न्युपमेन्दिरेशे ॥ १४ ॥

विबुध्येति : १०.६.८.

सुप्तानुकारिणि मयीह भवत्यनार्ये स्वैरप्रवृत्तिरघदा किल नान्यथेति।
तत्तादृशस्थितितया प्रभुणा व्यबोधि तत्स्वैरसंविहरणेष्वपि सर्ववेत्रा ॥ १५ ॥

ह्यस्तनेऽपि न दृष्टेयं श्वस्तने तु न जात्विति। स्वस्तनात्तविषां योषां नापश्यद् युक्तमच्युतः ॥ १६ ॥
कार्यं स्वावनमेव केवलमितः किं वा त्रिकालोदितत्रैलोक्याखिलबालपालनमपीत्यन्तर्दृशा वीक्षितुम्।
दीनत्राणपरायणोऽतुलकृपो बालैकफल्याणदृग् दुष्टध्वंसनदीक्षितः किमु विभुस्ताद्दृक्तयाऽऽसीत्तदा ॥ १७ ॥

एषा स्वकामैकदृगस्ति यस्मात् तद्युक्तमस्यास्त्वहमस्मि विद्वान्। द्रक्ष्याम्यमुं मातृपदं कथं नु पत्नीस्वरूपादिति किं तथासीत् ॥१८॥
ऐहिकं तु नहि साधनमस्या दृश्यतेऽथापि पुरातनमस्ति। किं नवेति भगवान् ध्रुवमन्तश्चिन्तनाय कृतनेत्रपिधानः ॥ १९ ॥

अनायत्या प्राप्तः क्वचिदपि पुरा यो न विहितः प्रसङ्गश्चेत्तस्या वहनमिह कार्यं मतिमता ।
निमील्याक्षीत्येवं जनसरणिमालोच्य किमसौ तथा चक्रे कर्तुं तदघकरसंस्पर्शवहनम् ॥ २० ॥
महानिष्टनिवृत्तावप्यलं योग इति प्रभुः । क्षुद्रदृष्टिनिवृत्त्यर्थं तन्निमायोगभागभूत् ॥ २१ ॥
दातुं स्तन्यमिषा द्विषं किल धृतोद्योगे यमास्ते यतः पीतं चेत्प्रभुणा पुरो बत गतिः का वाऽस्मदीया भवेत् ।
इत्थं व्याकुलितान्निजोदरगतानालोक्य लोकान् प्रभुर्वक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं च क्रेऽक्षिसम्मीलनम् ॥ २२ ॥
या स्त्री बहिर्मृदुपदा निजमातृभावं लोके प्रदर्श्य विषवद् हृदये नृशंसा ।
कार्यं न तन्मुखनिरीक्षणमित्यनन्तः सम्बोधयन् स निजनेत्रपिधानमाधात् ॥ २३ ॥
दृष्टा चेत् करुणाद्दृशेयमनघास्याद्योग्रया भस्मसादेवं चेदवशिष्यते ह्युभयथा तद्भावनासंस्कृतिः ।
एतस्या हृदये तया च भविता जन्मान्तराप्तिः पुनः सा माभूदिति दीर्घदृष्टिरकरोदीशः स्वदृङ्मीलनम् ॥ २४ ॥
अस्ये दुष्टान्तरायै रिपुहितमतये कामपीशो नु दद्यान्निम्नं वा प्रोन्नतं वा गतिमिह यदसौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः ।
आवाभ्यां स्वात्ममार्गो मुनिसुजनतुतो दीयते नेति मन्ये श्रेशं चक्रेऽक्षियुग्मं रविविधुलसितं पक्ष्मसद्द्वारगुप्तिम् ॥ २५ ॥
यो हिंस्रबुद्धिजनवर्धितमुख्यशोभः स्त्रीयोऽप्यसौ सुकृतिना न निरीक्षणीयः ।
तत्पूतनाक्षियुगवीक्षणवर्जनार्थं युक्तं तदक्षियुगमैशमभूत्तदैवम् ॥ २६ ॥
चराचरात्मा यदयं ततोऽन्तर्दृशा भृशं पश्यतु दुर्मनस्काम् । बहिर्दृशा नार्हनिरीक्षणेति कृतं तथा तन्निमिनाऽक्षियुग्मम् ॥ २७ ॥
सूर्याश्रितश्च द्विजराजयुक्तः स्पष्टं यदि स्यां तदियं तमोभूः । नक्तञ्चरी व्यक्तगतिर्मुमुक्षुश्च भवेद् द्रुतं नेति तदा तथासीत् ॥ २८ ॥
अनर्हवीक्षाऽनुत्कण्ठा प्रसिद्धैव महात्मनाम् । ईशाक्षिराजहंसाभ्यां युक्तं नैक्षि बकीमुखम् ॥ २९ ॥
चन्द्रो यथा तद्वदियं निशाचरी स्तन्यार्पणान्मे भुवि वन्द्यतापदम् । तद्रूपिणीं कर्तुमतः पुरैव किं कृपाब्धिना सा हरिणाङ्कमाश्रिता ॥ ३० ॥

कृष्णप्रिया

केशों के जूड़ों में वेणीमें गूंथे हुए मोगरों के पुष्प वाली, बड़े नितम्ब, स्तन और पतली कटिवाली, सुन्दर वस्त्रों वाली, हिलते कुण्डलों की कान्ति से झलकते केशों से मण्डित मुखवाली, मनोहर मुस्कान भरे कटाक्षों के निक्षेप वाली दृष्टि से व्रजवासियों के मन को हरने वाली उस रूप वती स्त्री को गोपियों ने हाथ में कमल धारण करने के कारण समझा कि लक्ष्मी अपने स्वामी के दर्शन के लिये आ रही है ॥ ५-६ ॥ बालकों के लिए ग्रह स्वरूप वह पूतना गोकुल में बालकों को ढ़ूँढती हुई भगवदिच्छा से नन्दजी के घर आई। वहाँ पूतना ने शय्या पर सोये हुए दुष्टों के काल समान लेकिन भस्माच्छादित अग्नि के समान अपने प्रचण्ड तेज को छिपा कर रहे हुए बालक कृष्णजी का दर्शन किया ॥ ७ ॥ चल और अचल के आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने उस पूतना को बालहत्याकारी ग्रह जानकर नेत्र मूंद लिये। अबुध मनुष्य जैसे सोते सांप को रज्जु समझ कर उठा ले वैसे ही पूतना ने अनन्त काल रूप भगवान् को साधारण बालक समझ गोद में ले लिया ॥ ८ ॥

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् ।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥ ९ ॥
[१]तस्मै[२] स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत् प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥ १० ॥
सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः[३] प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥ ११ ॥
तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा ।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे[४] जनाः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अन्तरा कोशपरिच्छदासिवत् अतिवामचेष्टितां तीक्ष्णचित्तां वरस्त्रियं तां वीक्ष्य तत् प्रभया धर्षिते च निरीक्षमाणे जननी हि अतिष्ठताम् ॥ ९ ॥ अथ घोरा शिशोः अङ्कम् आदाय दुर्जरवीर्यम् उल्बणम् तस्मै स्तनम् ददौ ॥ ९३ ॥

---

१. अथ-इति क्वचित् पाठः । २. तस्मिन्-श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. गिरि. भक्त. । ३. मुहुर्निस्विन्नगात्रा-शुक. गिरि. भक्त. । ४. प्रतिनेदिरे-श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. शुक. गिरि. भक्त. ।

भगवान् रोषसमन्वितः कराभ्यां तत् गाढं प्रपीड्य प्राणैः समं तत् अपिबत् ॥ १० ॥ अखिलजीवमर्मणि निष्पीड्यमाना सा मुञ्च मुञ्च अलम् इति प्रभाषिणी नेत्रे विवृत्य मुहुः चरणौ भुजौ क्षिपती प्रस्विन्नगात्रा ह रुरोद ॥ ११ ॥ तस्याः अतिगभीररंहसा स्वनेन साद्रिः मही च सग्रहा द्यौः चचाल रसाः च दिशः प्रतिभेदिरे वज्रनिपातशंकया जनाः क्षितौ पेतुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु यशोदारोहिण्यौ तां कथं न न्यवारयेतां तत्राह। तामिति। वामं वल्गु जनन्या इव चेष्टितं यस्यास्तां वरस्त्रियं च सहसैवांतरा गृहमध्ये वीक्ष्य। अंतस्तैक्ष्ण्ये बहिर्मार्दवे च दृष्टांतः कोशपरिच्छदासिवत्। मृदुचित्रचर्ममयः कोशः परिच्छद आवरणं यस्यासेः खड्गस्य तद्वत्। तत्प्रभया च धर्षिते अभिभूते। अहमस्य जननीयं वेति मोहिते च सत्यौ जननी जनन्यौ निरीक्षमाणे एव केवलमतिष्ठतां न तु निवारितवत्यौ ॥ ९ ॥ तस्मिन्स्थाने दुर्जरं वीर्यं विषं यस्मिंस्तं स्तनं श्रीकृष्णमंकमादाय सा घोरा तस्मै शिशवे ददौ। अथानंतरमेव प्रपीड्य केवलं विषमपथ्यमिति मत्वेव तस्याः प्राणैः सहापिबत् ॥ १० ॥ चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः क्षिपंती। प्रस्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि यस्याः सा ॥ ११ ॥ रसाः रसातलानि च ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कृष्णमातरौ कुत्र गते तदेत्यभिप्रेत्याह—नन्विति। तां पूतनाम् 'वामः क्रूरे मनोहरे' इति यादवः। जननीति द्विवचनम् "कृदिकारादक्तिनः" इति ङीबभावपक्षेऽयं प्रयोगः। यद्वा—आर्षत्वादेकत्वम्। "कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्यखड्गपिधानके। जातिकोपेऽर्थसंघाते पेश्यां शब्दादिसंग्रहे ॥" इति मेदिनी। 'परिच्छद आवरणे संविधाने विवस्त्रके' इति धरणिः ॥ ९ ॥ शिशोरिति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। तत आह शिशवे। "अहिफेनं रामठेन युक्तं त्वविषवद्भवेत्" इत्यादिवाक्यैः केवलं विषमपथ्यमिति रोषसमन्वित इति रोषः मदीयव्रजबालकानपीयं जिघांसतीति रोषमयी दुष्टसंहारिका भगवच्छक्तिः तस्या अपिबित्रान्प्राणानपिबत् न तु सः कुठारसमन्वितो वृक्षमच्छिनदितिवत् ॥ १० ॥ अखिलजीवमर्मणि सर्वस्मिन् जीवस्थाने "यस्मिन्कृत्ते मर्दिते च जीवो नश्यति देहतः। तदंगं मर्म विज्ञेयं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमेव तत् ॥" इति वाक्यात्। कंठवृषणादीनि मर्माणि। नेत्रे विवृत्य प्रसार्य। मुंचमुंचेतिवदलमित्यपि वारणेऽत्र वीप्साया अभावस्तु वक्तुमशक्यत्वादेव ॥ ११ ॥ वज्रनिपातो विद्युत्पातः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ कात्स्न्र्ये काकाक्षिन्यायेनोभयत्राप्यन्वयः। अतीति चित्सुखपाठः वामचेष्टितत्वेन दुःखप्रदता निरस्ता तत्रान्तरा वीक्ष्येत्यन्तर्दुष्टतानुमितिश्च खण्डिता अन्तर्दुष्टजनस्य सहसा परगृहान्तःप्रवेशे सहसासामर्थ्यात् तत्रापि वरस्त्रियमित्यविश्वसनीयता च निराकृता विशेषतश्च तत्प्रभया मातृवत् स्नेहप्राकट्यप्रतिभयाधर्षिते जननी इति प्रथमाद्विवचनस्य पूर्वसवर्णश्छान्दसः "सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णा" (७।१।३९) इत्यादिना ॥ ९ ॥ तस्मिन्नेव स्थाने इति धाष्टर्यमुक्तं उल्वणं स्पर्शेनापि मारकमित्यर्थः। अत एव वीर्यं तद्विषरूपमेवेति तथा तैर्व्याख्यातम् आदाय आकृष्य अतो द्विकर्मकत्वमपि तत्तं स्तनं व्रजबालकानामपि वधार्थमागतत्वेन रोषसमन्वितः सन् प्राणैः समम् अपिबत् यतो दम्भिन्यां तस्यां दम्भेनैव प्राणापहारो योग्य इति भावः। रोषसमन्वितत्वं च तत्स्तन्यप्राणपानार्थमेवोक्तं ततश्च रोषरूपं तत्तेज एव तान् दुष्टभावमयान् अपवित्रानपिबत् अशोषयदित्यर्थः। कुठारसमन्वितो वृक्षमच्छिनदिति वत् स्वयं तु तदनुकरणमात्रं कृतवानित्यर्थः। फलं तु तदनुकरणमात्रादपि स्यादिति सर्वत्रैवेत्थं व्याख्येयं रोषश्चायमापातत एव परिणामतस्तु परमकृपामेवाकरोदित्याह-भगवानिति। कारुण्यादिस्वगुणाव्यभिचार्य्येव सन्नित्यर्थः। एतच्चाग्रे व्यङ्ग्यम्। किञ्चेदं बाल्यलीलावेशेऽपि तादृशशक्तौ हेतुः तदावेशेऽपि सर्वासां शक्तीनां स्वसमयप्रतीक्षकत्वाल्लीलानुरूपा प्रवृत्तिः स्यादेवेति भावः। अन्यत्तैः। तत्र अपथ्यमिति मत्वेवेत्यन्ते विषमयजन्तोः प्राणा हि तद्विषव्याप्त्या न भवन्ति ततस्तदात्मतापादनाय तत्प्राणानेव स्वप्राणेषु मिभयामीति च गत्वैवेति भावः ॥ १० ॥ मुञ्च मुञ्चेति वदलमित्यपि निवारणे अत्र तु वीप्साया अभावः पुनर्वक्तुमशक्तत्वात् अखिले जीवमर्मणि जीवनाश्रये रुरोद उच्चैः सरोदनमार्त्तनादं चकार ह हर्षे ॥ ११ ॥ रसाश्चेलुः प्रतिनेदुश्च दिशस्तु प्रतिनेदुरेवेत्यर्थः। वज्रेति लोके तदूद्र्ध्वशब्दस्याऽप्रसिद्धेः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथापि; तां वरस्त्रियमपि। वामं वक्रं चेष्टितं यस्यास्तथाभूतां तथा तीक्ष्णचित्ताम्, तत्र च अन्तरा सहसा गृहमध्ये पुत्रान्तिके वीक्ष्यापि जनन्यौ निरीक्षमाणे एवातिष्ठताम्, न तु न्यवारयेताम्। तत्र हेतुः– तस्याः प्रभया शोभया मातृवत् स्नेहप्रकटनप्रतिभया वा अवधर्षिते विस्मयेन मोहिते सत्यौ। यद्वा, तस्य प्राणसहित–पूतनास्तनपानेच्छोर्भगवतस्तेजसाभिभूत, अन्यथा ताभ्यां निवारणे कृते तया स्वांके तद्ग्रहणाशक्तेः। अथवा, तीक्ष्णचित्तामपि तां वामं मातृवल्लालनादिवल्गुचेष्टितं यस्यास्तथाभूताम्, वीक्ष्येत्यन्तर्दुष्टता निरस्ता; दुष्टजनस्य हि सहसान्यगृहान्तःप्रवेशाशक्तेस्तत्रापि वरस्त्रियमित्यविश्वसनीयता च। विशेषतश्च तत्प्रभयावधर्षिते निरीक्ष्यमाणे केवलमतिष्ठताम्, न तु किञ्चित् कृतवत्यौ। निजकार्य्याक्षमत्वे दृष्टान्तः—कोशेति ॥ ९ ॥

तस्मिन् स्थानेऽवसरे वा। घोरात्वं दर्शयति—दुर्जरेति; अतएवोल्वणमतितीक्ष्णं स्पर्शमात्रेणापि मारकमित्यर्थः । अंकं प्रति प्रकर्षेणातिशयेन पीडयित्वा स्तनं भगवान् कारुण्यादिसद्गुणयुक्तोऽपि प्राग्वहुलबालकवधेन परमक्रुद्धः सन्; यद्वा, रोपसमन्वित इव प्राणैः सह पानात्; वस्तुतस्तु परमकृपामेवाकरोदित्याह—भगवानिति। एतच्चाग्रे व्यक्तं भावि ॥ १० ॥ अलमत्यर्थम्, प्रभाषिणी उच्चैर्भासमाना, अखिले जीवस्य मर्म्मणि निवासस्थाने रुरोदोच्चैरार्त्तनादं चकार, ह हर्षे ॥ ११ ॥ रसाश्च चेलुः; किंवा विवरमयत्वात् प्रतिनेदुरेव, जना इति लोकाः ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

वामं प्रतिकूलं कोशपरिच्छदासिवत् कोशपरिच्छन्नखड्गवत् अन्तः क्रूरतरेत्यभिप्रायः (जननीवत्) ॥ ९—११ ॥ रसा पाताल निजरूपं पूर्वरूपम् ॥ १२—१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

रोहिणीयशोदे अपि तां न न्यवारयेतामित्याह—तामिति। कोशपरिच्छदासिवन्मृदुलचर्मनिर्मितं कोशपरिच्छदमावरणम् पिधानं यस्य तमसिं खड्गमिवान्तस्तीक्ष्णचित्तां क्रूरतरामपि वहिर्वामचेष्टितां शोभनचेष्टितामनुकूलचेष्टितामिति यावत्तां वरस्त्रियं श्रेष्ठस्त्रियमिव स्थितां परस्त्रियमिति पाठे परस्यान्यस्य कस्यचित्पुंसः स्थितां वीक्ष्य तस्याः प्रभया धर्षिते अभिभूते जननी जनन्यौ पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः। निरीक्षमाणे अपि अतिष्ठतां तूष्णीमासातां न तु न्यवारयतामित्यर्थः ॥९॥ अथ घोरा घोरचेष्टिता पूतना तं शिशुं श्रीकृष्णमादाय शिशोस्तस्मिन्मुखे स्तनं ददौ कथम्भूतं दुर्जरवीर्यं दुःखेनापि जरयितुं जीर्णयितुमशक्यं वीर्यं विषरूपं यस्मिन् अत एवोल्वणं दुःसहं वीर्यस्य उल्वणत्वादुल्वणम् अथ श्रीभगवान्। रोषसमन्वितः प्रपीड्य स्तनमित्यनुषङ्गः प्राणैः समं सह तत्स्तन्यमपिवत्तस्याः प्राणैः सह स्तनमपिबदिति वा ॥ १० ॥ तदा साखिलजीवमर्मसु सर्वप्राणमर्मसु पीड्यमानाऽलम् एतावताऽलम् आशु मुञ्च मुञ्च इति प्रभाषिणी नेत्रे विवृत्य परिभ्रम्य चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः प्रक्षिपति स्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राण्यङ्गानि यस्या सा रुराव जुघोष हेत्याश्चर्यम् ॥ ११ ॥ अति गभीरं रभसो वेगो वा यस्य तेन तस्याः स्वनेन सपर्वता मही भूः सग्रहा द्यौश्च चचाल रसातलं दिशश्च प्रतिनेदिरे प्रतिदध्वनुः वज्रनिपातशङ्कया जनाः अशनिनिपातशङ्कया क्षितौ निपेतुः ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अतिवामचेष्टिताम् अधिकक्रूरव्यापाराम् "अति स्यादधिकार्थोक्तौ प्रशंसायामतिक्रमे" इति यादवः "वामः क्रूरे मनोहरे" इति च अन्तरा मध्ये कोश एव परिच्छदः परिकरभूषणलक्षणो यस्य सोऽन्तराकोशपरिच्छदः स एवासिरन्तराकोशपरिच्छदासिः स इव गूढाकारबाह्याभ्यन्तरकोशालङ्कृतखड्गवत्स्थितेत्यन्वयः। अन्तराकोशपरिच्छदः वर्जितकोशलक्षणालङ्कारोऽसिर्यथा तथा वामचेष्टितामिति वा तस्याः पूतनायाः प्रभया वरोद्भूतलक्षणया धर्षिता विह्वलिता तस्य कृष्णप्रभया वा इदानीमेव पूतनाप्राणवियोगसूचनाय जननी अतिष्ठदिति सन्धिकार्याकरणवैदिकप्रयोगानुकरणं वा ॥ ९ ॥ तस्मिन् काले दुर्जरवीर्यं जीर्णीकर्तुमशक्यं वीर्यं यस्य स तथा अत एवोल्वणं दुःसहक्रौर्योपेतम् अथशब्दो विकल्पार्थः। अथ स्तनं ददाविति विषमिति तस्याः प्राणैः ॥१०॥ अखिलजीवमर्मिणी समस्तप्राणापहारिणी रुराव रोदनमकरोत् हिशब्दो हेतौ श्रोतॄणामनुकम्पाजनकः ॥११॥ रसा पातालं प्रतिनेदिरे प्रतिशब्दं चक्रुः ॥१२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कपटमातृस्नेहमस्या तत्प्रभया तस्मिन् प्रसङ्गे सति ॥ ९ ॥ दुर्ज्जरेत्यादिभ्यां विषमयत्वं गम्यते आदाय आकृष्य अतो द्विकर्मकत्वं तमिति शेषः। प्रपीड्य स्तनमिति पूर्वेणैवान्वयः। रोषसमन्वितत्वं तत्स्तन्यपानार्थमुक्तम् ॥ १० ॥ ततश्च रोषद्वारापिबदनाशयदिति रोषरूपं तत्तेज एव तानपिबत् न स्वयमित्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, यशोदारोहिण्यौ कथं तां न न्यवारयेतां? तत्राह—तामिति। वामं वल्गु जनन्या इव चेष्टितं यस्यास्ताम् अन्तरा गृहमध्य एव वीक्ष्य अन्तस्तैक्ष्ण्ये बहिर्मार्दवे च दृष्टान्तः मृदुचर्ममयः कोशः परिच्छद आवरणं यस्य तथाभूतमसिमिवेति तस्याः प्रभयाऽवधर्षिते अभिभूते मत्पुत्रस्याभ्युदयाय किमियमम्बिका किमियमिन्द्राणी मूर्त्तिमती त्रैलोक्यसम्पत्तिर्वा वात्सल्येन स्तन्यं पाययती मोहिते सत्यौ जननी जनन्यौ निरीक्षमाणे एव केवलमतिष्ठतां न तु निवारितवत्यौ ॥ ९ ॥ तस्मिन्नेव स्थाने दुर्ज्जरं विषरूपं वीर्यं यस्य तत् घोरा पूतना शिशोः शिशवे गाढं प्रपीड्येति तया त्याजयितुमशक्यः सन्निति भावः। रोषसमन्वित इति मदीयं व्रजबालकानपीयं जिघांसतीतिरोषमयी दुष्टसंहारिका शक्तिरेवाऽपवित्रान् प्राणान् स्तनं च अपिबदशोषयत्। न तु स इति कुठारसमन्वितो वृक्षमच्छिनदितिवत् ॥ १० ॥ निष्पीड्यमाना अर्थाद् बालकेन चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुर्निक्षिपती ॥११॥ रसा रसातलानि च॥१२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

गोपैर्गोपीभिश्चोक्तप्रकारेणानिवारिता नन्दगृहे बालं ददर्शेत्युक्तम् । अथ यशोदारोहिण्यावपि तां न न्यवारयेतामित्याह—तामिति, कोशपरिच्छदासिवत् मृदुचर्ममयः कोशः परिच्छदमावरणं यस्य स चासावसिश्च तद्वत् तीक्ष्णचित्ताम् अन्तरतितीक्ष्ण-स्वभावामतिवामचेष्टितां बहिरतिवाममत्यन्तं मृदुचेष्टितं यस्यास्ताम् वरस्त्रियमन्तरागृहमध्ये वीक्ष्य तत्प्रभया च धर्षितेऽभिभूते जननी जनन्यौ निरीक्षमाणे एव केवलमतिष्ठतामासाताम् ॥ ९ ॥ घोरा क्रूरा पूतना अङ्कमादाय बालमिति शेषः । उल्बणं दुःखेनापि जरयितुमशक्यं दुर्जरं वीर्यं विषं यस्मिन् तं स्तनं शिशोरतस्मिन् श्रीमन्मुखे ददौ । अथानन्तरं भगवान् रोषसमन्वितः तदनुग्रहार्थं तत्क्रौर्यानुरूपः स्तनं गाढं प्रपीड्य प्राणैः समं सह तत् स्तन्यमपिबत् ॥ १० ॥ निःस्विन्नानि निःशेषतः स्वेदयुक्तानि गात्राणि यस्याः सा चरणौ भुजौ च मुहुः क्षिपती ह स्फुटं रुरोद ॥ ११ ॥ अतिगभीररंहसाऽतिगभीरवेगेन रसाः रसातलानि ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु यशोदारोहिणीभ्यां बालैकचित्ताभ्यां कुतः सा न निवारिता ? तत्राह तामिति, वामं मनोज्ञं जनन्या इव चेष्टितं यस्यास्तां वरस्त्रियमन्तरासुवनमध्येऽपि वीक्ष्य अन्तस्तैक्ष्ण्ये बहिर्मृदुत्वे च दृष्टान्तः कोशो मृदुचित्रचर्ममयः परिच्छद आवरणं यस्य तादृशमसिमिवेति तस्य प्रभया प्रधर्षिते अभिभूते सत्पुत्रस्याभ्युदयार्थिनी किमियमिन्द्राणी रुद्राणी वा स्नेहेन स्तन्यं पाययतीति मोहिते जननी मातरौ "सुपां सुलुक्" (३-७-३९) इत्यौकार विभक्तेर्लुक् निरीक्ष्यमाणे एवातिष्ठतां न तु निवारितवत्यौ ॥ ९ ॥ तस्मिन् स्थाने घोरा सा पूतना कृष्णमङ्कमादाय शिशोस्तस्य सम्बन्धे स्तनं ददौ तन्मुखेऽर्पयामास कीदृशं दुर्जरं विषरूपं वीर्यं यस्मिन् अतः उल्बणं स्पर्शेनापि मारकं भगवान् स बालः स्तनं गाढं प्रपीड्य तया त्याजयितुमशक्यः सन् रोषसमन्वितस्तत् प्राणैः सममपिबत् मद्वयस्यान् व्रजडिम्भानपि पापिष्ठेयं जिघांसतीति रोषोदयः दुष्टसंहारिणी तत्रोपशक्तिरेव सप्राणं स्तनमशोषयदिति भावः । कुठारसमन्वितस्तरुमच्छिनदितिवत् ॥ १० ॥ अखिले जीवमर्मणि निपीड्यमाना सा नेत्रे विवृत्य बहिर्निष्कास्य चरणौ भुजौ च मुहुर्भुवि निक्षिपन्ती निस्विन्नानि स्वेदवन्ति गात्राणि यस्याः सा रुरोद ह हेति बालकस्तनपानमात्रेण तस्या एवं पीडा जातेति आश्चर्यं सूचयति ॥ ११ ॥ रसा इति रसातलानि प्रतिनेदिरे प्रतिध्वनिं चक्रुः ॥ १२ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

हरिः ॐ गिरेत्यस्य गिरमित्यर्थः । एतेन भाषणक्रियां प्रति गिरःकर्मत्वात् । गिरं प्रभाषिणीति वक्तव्यं गिराप्रभाषिणीत्य-युक्तामिति चोद्यं परिहृतम् । गिरेति तृतीया द्वितीयादेश इति स्वीकृत्य गिरेत्यस्य गिरमित्यर्थ इत्युक्तत्वात् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अथ बालभावविभावनानन्तरं विसर्गविज्ञातजगच्चेष्टितं निसर्गेण स्वभावतोऽनन्याधीनालोचनत इति यावत् विज्ञातं जगच्चेष्टितं येन तं निसर्ग उत्पत्तिरहितश्चासौ जगद्विचेष्टितश्चेति वा निसर्ग इति विज्ञातश्चासौ जगतो विचेष्टितं चेष्टा तदभावो वा येन स चासौ स च तमनन्तं न विद्यतेऽन्तो नाशो यस्य तमन्तकं स्वनाशकं च हरिं चाजानमाना निशाचर्यङ्कमुत्सङ्गमारोपयदा-रोपयामास । तत्र निदर्शनमाह ॥ यथेति । सुप्तमुरगमबुद्धिरज्जुधीर्न विद्यते बुद्धिस्तज्ज्ञानं यस्य स चासौ रज्जुरिति धीर्यस्य स च यश्चानन्तमारः सौन्दर्ये तदुपम इति भावः । अपयदङ्कोऽपयन्नपगतोऽङ्कः कलङ्को यस्य तं वा । अनन्ताबद्धा च सा मा च तस्या आरोपमारोहमेतीति यत्सोऽङ्क उत्सङ्गो यस्य तं । उपयदङ्कमुपयंश्चाङ्कः स्वोत्सङ्गो यस्य तं । अनन्तं आरेति वा । अबुद्धिः सर्वथा मतिरहितं बालापत्यं यथा च रज्जुधीर्भ्रान्तः पुमानिति वा । अनन्ता या मायाऽऽरोप उरसि यस्य यच्च तच्च तन् । अन्तर्बहिर्व्याप्त-ब्रह्मरूपमिति वा । यदित्यङ्कं चिह्नमसाधारणं यस्य तमिति वा । यथोक्तं बृहद्भाष्ये । यथा वाह्ये तथैवान्तस्ततो यदिति चोच्यत इति । नायं मृत्युः परिहार्य इत्यप्याह ॥ अजानमानेति । अजेन ब्रह्मणाऽनानां प्राणानां मानं परिमाणमवसानमिति यावत् तद्यस्या इति । मानं ज्ञानं लयश्चैव मर्यादा चेत्यादेः ॥ ९ ॥ ननु यशोदारोहिण्यौ किं चक्रतुर्न चक्रपाणिपाणिग्रहनिग्रहमित्यत आह ॥ तामिति । तीक्ष्णं चित्तं यस्याः सा तां बहिर्वामं चेष्टितं यस्याः सा तामन्तरागारमध्ये कोशपरिच्छदासिवत्तमिव चित्रमृदुचर्मनिर्मितकोशः परिच्छद आवरणं यस्य स चासावसिः खड्गश्च तमिव बहिर्वामचेष्टितामन्तस्तीक्ष्णचित्तां वरस्त्रियं वीक्ष्य दृष्ट्वाऽपि तस्याः प्रभया मायिक्या धर्षिते वशीकृते निरीक्षमाणे केवलमवलोकयन्त्यौ जननी जनन्यौ । सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्ण ईदूदे इति प्रगृह्यसंज्ञायां रूपं । अतिष्ठतां प्रथमैकवचनपाठे जननी यशोदा तत्प्रभया च धर्षिता निरीक्षमाणाऽतिष्ठत् । मातुरसन्धिः पीतस्येति सूचयितुम-सन्धिनिर्देश इति ज्ञेयं ॥ १० ॥ तस्मिन्काले दुर्जरस्य जरयितुमशक्यस्य विषस्य वीर्यं सामर्थ्यं यस्मिंस्ते उल्बणमितरेषां घोरा राक्षस्यङ्कं प्रत्यादाय स्तनं शिशोः ददौ । अथ तद्दानानन्तरं भगवान्कराभ्यां गाढं प्रपीड्य मर्दयित्वा तत्प्राणैस्तस्याः प्राणाः पञ्च तैः समं साकं रोषसमन्वित एकस्या राक्षस्या रोषः स्वमारणकारणं तेन समन्वितः सफलीकर्तव्यत्वेन तत्समन्वित एकस्या ऊर्वश्या उपरि दुःसहवासविघटकक्षमापर्यायस्तेन रोषेण समन्वित इत्यर्थः । यथोक्तं बृहद्भाष्ये । क्रोधः क्षमात्मको यस्य चिदानन्दात्मकः

सदेति। यत्र यत्र कोपः श्रूयते तत्र तत्रेयं गतिर्ज्ञेया। अपिबत्पपौ ॥ ११ ॥ सा पूतना मुञ्च मुञ्च त्यज त्यजेति गिरा प्रभाषिणीति गिरा यस्याः सा। इति गिरा टाबन्तता च मेरुर्गिरायां गुरुरित्यादेः मुञ्चालमिति पाठेऽलमितोऽलं पर्याप्तं। मुञ्चेत्यन्वयः अखिलजीवमर्माणीति पाठः समर्मकः। जीवस्थमर्मापायस्थानमखिलं च तज्जीवमर्म च तस्मिन्। निष्पीडयमानाऽखिलजीवमर्षिणीति पाठेऽपि सुमर्षणीयः। अखिलाञ्जीवान्मर्षयति हिनस्तीति धात्वनैकार्थ्यात्। सा नेत्रे विवृत्य चरणौ भुजौ च मुहुर्विक्षिपती विक्लिन्नगात्रा खेदोदकक्लन्नं गात्रं यस्याः सा सती रुराव रोदनमकरोत् ह खेदे। नेत्रे नियन्त्रे मुञ्च मुञ्चेति प्रभाषमाणेति वा। अमुञ्च श्रीकृष्णं प्रति मुहुर्मुञ्चेति प्रभाषिणीति वा योजना ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु यशोदारोहिणीभ्यां कथं सा न निवारितेत्याह **तां तीक्ष्णचित्ता**मिति, **तां** निरीक्ष्य **तत्प्रभया धर्षिते जननी** जनन्या**वतिष्ठतां** निवारयितुं वाशक्ते जाते **यशोदारोहिण्यो**र्मोहाभावात्, भगवत्समीपे मायाया विलयात्, तद्गता धर्मा सर्वे भाता इत्याह **ता**मित्यादिपदैः, **तच्छब्देन** तद्गताः **पूर्वधर्माः** सर्वे निरुक्ताः, पूर्वं प्रवेशार्थं व्यग्रचित्ता मोहनाभिनिविष्टा च, इदानीं तु तदुभयाभावात् चित्तक्रौर्यं प्रकटीभूतं ताभ्यां ज्ञातं निरूपयति **तीक्ष्णचित्ता**मिति तस्या अन्तर्गतो दोषो निरूपितः, बहिर्गतान् निरूपयत्य**तिवामचेष्टिता**मिति, अत्यन्तं **वामं** वक्रं कठिनस्पर्शादिरूपं **चेष्टितं** यस्याः, एवमन्तर्बहिस्तस्या दोषं दृष्ट्वापि स्वतो निवारणेऽशक्तावपि रक्षकेभ्यो निवेदनाभावे हेतुमाहा**न्तराकोशपरिच्छदासिवदि**ति **अन्तरा** गृहमध्येतन्त्र्यो महतां, तत्रागमनमयुक्तं मध्यस्थितानां चाप्रयोजकत्वं ज्ञातं, किञ्च **कोश** एव **परिच्छदो** वेष्टनसाधनं यस्यैतादृशोऽसिः खड्गः, **आ**समन्तात् **कोश** इति, वा अतिधनयुक्तः परिच्छदो वा यस्य, अनेन बहिर्मुखलोका अन्तर्गतं दूषणं तद्गतं येनकेनचिदुच्यमानं न गृह्णन्त्येव, अत एवं ज्ञात्वा ताभ्यां न कश्चिज्ज्ञापितः, तथाभूतं प्रकृते विशेषणमाह **वरस्त्रिय**मिति, **वरणीया स्त्री** परमसुन्दरी, अतः पुरुषमात्रेणैव वरणीयेति न कोप्येनां मारयिष्यतीतिभावः, स्त्रीणां स्वसामर्थ्यमेव, तथापि भगवत्स्नेहात् प्रयत्न एव कर्तुमुचितो न त्वौदासीन्यमिति चेत् तत्राह **तत्प्रभया च धर्षिते** इति, तस्याः **प्रभा** भगवत्कृता, राक्षसो भावो मानुषभावोपमर्दकः, अतस्तस्याः **प्रभयोभे** अपि धर्षिते, चकाराद् भगवदिच्छया च, अत एव **निरीक्षमाणे एवातिष्ठतां, अजननी**त्यपि, जनने हि सहजो भावो भवति, **जनन्या**वपीति वा ॥ ९ ॥ एवमप्रतिबन्धे यत् कृतवती तदाह **तस्मा** इति, तस्मै सम्भृतसर्वधर्माय भ वते स्तनं ददौ, अन्यथा दातुमेव न शक्नुयात्, **स्तनसेकं,** ननु दत्ते स्तने तस्याः कः पुरुषार्थ इति चेत् तत्राह **दुर्जरवीर्य**मिति, **दुर्जरं वीर्यं** यस्य स्तन्यस्य, स्तने स्तन्यं तिष्ठतीति स्तन्यदानमप्रत्यक्षमिति **स्तन**पदप्रयोगः, न केवलं परिणामाहितकर्तृत्वं किन्तू**लबणं** क्रूरं, ग्रहणदशायामप्यनिष्टजनकं, नन्वेवं भगवति कथं कृतवती तत्राह **घोरे**ति, कदाचित् स्तनं न पिबेदिति लालनार्थं शिशोर**ङ्कमादाय** बालकस्याङ्कस्थानं स्पृशन्त्युत्तोलयन्ती ततो भगवतः पृष्ठभाग ऊरुणा परिगृहीतः, दक्षिणहस्तेन स्तनं निःपीडयन्ती वामहस्तेन भगवतोङ्कस्थानमुत्तोलयन्ती स्तनं ददावित्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ तस्याः क्रियासमाप्त्यनन्तरं भिन्नप्रक्रमेण भगवान् स्तन्यमपिबदित्याह **गाढ**मिति, यथा निर्बन्धेन पाययिस्यामीतियत्नं कृतवती तथा भगवान् स्तन्यमप्यदत्वा पलायिष्यतीति निग्रहस्यावश्यकर्तव्यत्वात् **कराभ्यां गाढं स्तनं प्रपीड्यापिब**दितिसम्बन्धः, एवं निर्भयतया स्तनपानप्रवृत्तौ हेतुमाह **भगवा**निति, ईश्वरत्वात् स्त्रीमारणदोषः परिहृतः, "पुमान् योषिदुत क्लीब" इतिवाक्याद् वीर्यवत्त्वाज् जीरणादिसामर्थ्यं द्योतितं, यशोवत्त्वादलौकिकचरित्रकरणं, श्रीयुक्तत्वान्न प्रकारान्तरेण मारणं तादृशशोभानाशप्रसङ्गात्, ज्ञानित्वात् तस्या दोषपरिज्ञानेन मारणावश्यकत्वं, वैराग्ययुक्तत्वाद् दैत्यपक्षवधो न बाधकः, एवं तस्या मारणे हेतुषट्कं, गुणैर्धर्मिणा च मोक्षदानं, अन्यथा न पिबेत्, अत एव तस्याः सर्वप्रायश्चित्तार्थं **प्राणैः सममपिबत्**, प्राणरक्षार्थं हि तया सर्वं कृतं, प्राणे तु भक्षिते सर्वं भगवदर्पणं भवति, शिशूनां प्राणा अप्यत्र सन्तीति तेषामपि मुक्तिः सूचिता, बहुवचनेन च **प्राण**पदेनेन्द्रियाण्यपि गृह्यन्ते, ततः सर्वैव सामग्री तदीया पीता भवति, ननु निन्दितपदार्थं **भगवान्** कथं गृहीतवानपहतपाप्मा हि स तत्राह **रोषसमन्वित** इति, **रोषेण सम्यगन्वितः**, यथा तदीयोंशो दुष्टो भगवति **सम्बद्धो न** भवति यथा वा स सर्वोप्यंशो दग्धो भवति, भगवान् सर्व**समन्वित**-इति क्रोध**समन्वितत्वे**पि न दोषः, पूर्वं रोषसम्बन्धो नास्तीति वक्तुं **प्राणैः समं रोषसमन्वित** इत्युक्तं, सर्वात्मकत्वात् नासङ्गत्वक्षतिः, न तु तस्या मारणार्थं रोषोपेक्ष्यते, वीर्यस्योक्तत्वात् स्तनद्वारापि प्राणपानं न विरुध्यते, साधनफलरूपा तदीया क्रिया नाशितेति ज्ञापयितुं **कराभ्या**मित्युक्तम् ॥ १० ॥

अतो भगवता पेपीयमाने स्तने तत्र स्थितो भगवान् मायारूपोपि भगवत्येव प्रविष्टः, तत्सङ्ग आधिदैविकी पूतनापि भगवति प्रविष्टा, आध्यात्मिक्यास्तु कृत्यमाह **सा मुञ्चमुञ्चे**ति, **सा** पूर्वमेवं निर्बन्धयुक्तापि भगवता निःपीडिता तदानीमपि भगवत्स्वरूपमज्ञात्वा वचनत्रयमुक्तवती **मुञ्चमुञ्चाल**मिति, यथा प्राकृते बालके पेपीयमाने च स्तनव्यथायां मुञ्चेत्युच्यते, अतिव्यथायां पुनः, पुनर्बालकस्य क्षुन्निवृत्तेति ज्ञात्वा**लमित्याह, बालो** हि स्वबुद्ध्या पूर्णतां न जानात्यन्योक्तं च गृह्णात्यत आह, अन्तःस्थितो दुष्टभावो गतः, तेन **लौकिकभाषोक्ता,** मात्रोश्च परिज्ञानार्थं गतेपि प्राणे भगवत्सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् प्राणवत्या एव तस्या-श्चेष्टामाहे**तिप्रभाषिणीति,** "भगवान् कराभ्यां प्रपीड्ये"ति यदुक्तं तद् बालकेन स्तने मर्दनं पीडाजनकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याहा-**खिलजीवमर्मणि निष्पीड्यमानेति,** जीवस्य **मर्म**स्थानानि बहूनि यत्र प्रहारेण जीवो गच्छति, **अखिल** एव **जीवमर्मणि** मर्मस्थाने

नितरां पीड्यमाने सति, निष्पीड्यमाना वा, वस्तुतस्त्वखिलेत्युक्त्वा मर्मणीत्येकवचनं यदुक्तं तेनाखिलपदं जीवविशेषणमेव, तथा च तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोर्थः, बालकद्रोहाज्ञायां भगवानेव निमित्तमिति तादृशानां स्वस्मिन्नानयनमावश्यकमिति तथा, अत एव बाललीलारसं तानानुभावयन् मृत्स्नामप्यनुभावितवानत एव "नाहं भक्षितवानि"तिवचनं सत्यं, अत एव तस्या उरसो भगवत्क्रीडायोग्यतापि भक्तानां तत्र स्थितिरास यतः, एत एव व्रतप्रसङ्गे च "वयस्यै"रितिपदेन वक्ष्यन्ते, तदातिव्यथया निवृत्तवाक् नेत्रे विवृत्य विपरीततया प्रसार्य चरणौ भुजौ चेतस्ततः क्षिपन्ती नितरां स्विन्नं सम्पूर्णं गात्रं यस्यास्तादृशी सती रुरोद, उच्चैःशब्दं कृतवती अतिबालकस्पर्श एवम्भाव आश्चर्यजनको भवतीति हेत्युक्तं, अनेनान्तःपीडा महती तस्याः सूचिता भगवतश्च पराक्रमः, आकर्षणात्मकत्वायौ प्रविष्ट एवं कृतवानिति वीर्यं निरूपितं, सात्त्विके नेत्रे हस्तपादौ राजसौ गात्रं तामसमिति त्रिगुणपीडा निरूपिता, रजो मध्यस्थमुभयसङ्गतं भवतीति द्वयं निरूपितं, निर्गमनसमये प्राणस्य महान् घोषो रोदनं तेनाकृष्ट एव प्राणो भगवताकृष्ट इति ज्ञापितम् ॥ ११ ॥

भगवतो माहात्म्यं शृङ्गग्राहिकया प्रदर्शयिष्यन् भगवदाकृष्यमाणप्राणकृतस्वनस्य माहात्म्यमाह तस्याः स्वनेनेति, शब्दस्त्वमूर्तो मूर्तकार्यं चेन् कुर्यात् तदालौकिकं भवति, चरणाद्याघातेन हि कम्पो भवति, शब्देनैव तथा जातमित्याह मही द्यौश्च चचालेति, तत्तदधिष्ठातृदेवतानां भीतत्वात् कम्प इति केचित् , पुरुषोत्तमस्य वीर्यमवताराणामपि वीर्यादधिकमिति ज्ञापयितुं ब्रह्माण्डविग्रहस्य पुरुषस्यापि स्वनेन कम्पो जात इत्युच्यते, एकदेव सर्वत्र कम्पजनने हेतुरतिगभीररंहसेति, अत्यन्तगभीरमधस्तलविदारणसमर्थमुपरिस्थितमज्जनसमर्थं च रंहो वेगो यस्य तेन, पर्वतसहिता पृथिवी ग्रहनक्षत्रादिसहिता द्यौः, चकारात् तदुपरितना लोकाः, पर्वतानां महत्त्वात् स्थिरत्वात् कम्पाभावमाशङ्क्य द्रिसहितेत्युक्तं, ग्रहाणां भचक्रे ध्रुवे प्रतिष्ठितानां चलनाभावमाशङ्क्य सग्रहेति, उभयोरुभयं वरप्राप्तं च "नक्षत्रविहिताहं चित्रविहिताहं"मितिश्रुतेः, पातालदिशामसम्बन्धाद् दूरस्थितत्वाच्चलनाभावमाशङ्क्याह रसा दिशश्चेति, तासामपि चलनं प्रतिस्वनजननं चाधिकं, तत्रत्यानां तु न किञ्चिदवशिष्टमित्याह जनाः पेतुः क्षिताविति, ननु कम्प उपपत्तिरुक्ता देवताभयात् पुरुषभयाद्वेति जनानां विवेकधैर्यादियुक्तानां पाते को हेतुरितिचेत् तत्राह वज्रनिपातशङ्कयेति, वज्र एव पतितः क्वचित् पतिष्यति वा तेन भयादेव पातः, विवेकेनापि पातः सम्भवति, उच्चैःस्थिते तस्य तेजोसहमानो वज्रस्त मारयेदिति ॥ १२ ॥

(१) श्री प्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

रसा दिशश्चेत्यत्र, तासामपि चलनमिति। तद्देवतानामित्यर्थः। प्राणैः समपानोक्त्यैव व्यसुत्वे प्राप्तेपि पुनस्तदुक्तिराध्यात्मिकादिभेदविवक्षयेत्याशयेनात्र तद्भेदा उक्ताः। अत एव जीवमर्मोक्तिरपि मूले ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तां तीक्ष्णचित्तामित्यत्र मोहाभावादिति, गोपानां कामो मोहजनकः स्वामिनीनां त्वस्यां स्वभावानुरोधाल्लक्ष्मीत्वप्रत्यय एतयोस्तु तदुभयाभावेन **मोहाभावात्, अन्तरेतिपदस्य वीक्ष्येत्यनेनान्वयमभिप्रेत्य** तस्यार्थमाहुरन्तरेत्यादि, **अन्तरा गृहमध्येन्तर्वा महतामिति,** अत्र द्वितीयः पक्षोग्रे गोष्ठे निजरूपस्थानकथनानुरोधाज् ज्ञेयः तत्र द्वितीयपक्ष **आसमन्तात् कोश** इति व्याख्यानं ज्ञेयं, **धर्षिते** इतीतिकर्तव्यतामूढे, धृष प्रसहने प्रसहनमितिकर्तव्यतामोहादिरूपेण **प्रकर्षेण सहनमिति** तथा, पराहते इति वा ॥ ९ ॥ **तस्मा** इत्यत्र तच्छब्दार्थमाहुः **सम्भृतसर्वधर्मायेति, सम्यग् भृता** यज्ञसम्भारवद् गुप्ततया स्थापिता स्वकीयाः क्रियास्मज्ञानादिरूपा धर्मा येन तादृशाय, अन्यथेति धर्माणां प्रकटतया स्थापने, **आधिदैविकी पूतनेति** श्रवणाद्यनाश्या भगवदेकनाश्या सेत्यर्थः ॥ १० ॥ **सा मुञ्चेत्यत्रालमित्युक्तेः** प्रयोजनमाहुर्**बालोहीत्यादि, लौकिकभाषेति, लौकिकसमानं** तस्या **भाषणं, परिज्ञानार्थमिति** पूतनामरणपरिज्ञानार्थं, अत्र **वस्तुत** इत्यारभ्य **वक्ष्यन्त** इत्यन्ते ग्रन्थेयमाशयः, भगवज्जन्मानन्तरं द्वितीयदिने कंसमन्त्रनिश्चयोत्तरमन्यदुर्मन्त्रिवत् पूतनाऽपि 'पुरग्रामव्रजादिषु बालान् निघ्नन्ती' षष्ठे दिवसे श्रीनन्दव्रजे समागता तथा सति तावत्पर्यन्तं हतानां बालानां ये प्राणास्ते सजीवास्तस्यां समागताः, न च तेषां जीवानां सलिङ्गानां यमगतिः शङ्क्या साधनाध्यायप्रथमपादे रंहत्याद्यधिकरणेष्वर्चिरादिगतीनामपि विचारितत्वात् तत्र च जननात् पूर्वं वृष्ट्यन्नरेतोभावोपि सलिङ्गानां जीवानामुक्तः स एव न्यायोन्यत्राप्यवगन्तव्यः, एवं सति यथा ते जीवा आहुतिद्वारा वान्यकर्मद्वारा वा वृष्ट्यादौ प्रविशन्ति तथात्र भगवल्लीलाचिकीर्षारूपमूलकारणवशात् केनचिद् द्वारेण पूतनायामेव प्रविष्टा इत्यखिलपदमत्र जीवविशेषणमेव, पूतना चाधिदैविकी तान् स्वजीवमर्मणि स्थापितवतीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तथा कृतवानित्यभिप्रेतोर्थः, ननु भगवतः किमावश्यकं येनैवं कृतवानित्यत आहुर्बालकेत्यादि, किमत्र गमकमित्यत **आहुरत एवेति स्वस्मिन्नानयनादेव,** तथा च भगवतः सत्यवाक्त्वाद् वक्ष्यमाणवाक्यार्थापत्तिरेव गमकमित्यर्थः, ननु भगवतः सर्वात्मकत्वाद् वाक्यमन्यथाप्युपपद्यत इत्याशङ्क्य गमकान्तरमाहुरत एव तस्या इत्यादि, तेषां बहिःप्राकट्येपि वाक्यान्तरार्थापत्तिं प्रमाणयन्त्यत एवेति, **वक्ष्यन्त** इति साक्षित्वेन **वक्ष्यन्ते, रज मध्यस्थमिति** रजोगुणस्य पूर्वापरगुणसङ्गतत्वेन द्विरूपत्वात् तत्स्थानीयं नेत्रं गात्रं चेतिद्वयम् ॥ ११ ॥ **तस्याः स्वनेनेत्यत्रोभयं** उभयमित्यादि, महीदिवोः सम्बन्धि यदुभयं पर्वतग्रहात्मकं च, चोप्यर्थे, 'नक्षत्रे'त्यादिवक्ष्यमाणश्रुत्या ताभ्यां वरप्राप्तमपि चचालेतिफलितोर्थः, वरप्राप्तस्य चलनाभावमाशङ्क्यैतदुक्तं, श्रुतिस्तु

तैत्तिरीयसंहिताद्वितीयाष्टकपञ्चमाख्यायद्वितीयानुवाके 'ते अब्रूतां द्यावापृथिवी **मा** प्रहारावयोर्वै श्रित इति ते अब्रूतां वरं वृणावहै नक्षत्रविहिताहमसानीत्यसावब्रवीच्चित्रविहिताह'मिति, अर्थस्तु द्यावापृथिव्याविन्द्राद् वरं याचितवत्यौ नक्षत्रैर्विहितालङ्कृतासानि स्यामिति दिवो वरः, चित्रेण मनुष्यपशुवृक्षनगनदीसमुद्रादिरूपेण विहितालङ्कृतेति पृथिव्या वरः, दिशाममूर्तत्वेनाकाशतुल्यतया वरणाभावमाशङ्क्य तासामपीत्यादिना यत् सुबोधिन्यामुक्तं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुस्तासामपीत्यादि, सुबोधिन्यां देवताभयात् **पुरुषभयाद्** वेत्यधिष्ठातृदेवतानिष्ठाद् भयाद् ब्रह्माण्डपुरुषनिष्ठाद् भयाद् वेत्यर्थः, विवेकेन पातं व्युत्पादयन्त्युच्चैरित्यादि, **उच्चैः-स्थिते पुरुषे तस्योच्चैः** स्थितस्य यत् तेजो निर्भयत्वं तदसहमानस्तथेत्यर्थः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

"तां तत्क्षणे"त्यस्याभासे **इत्याहेति, इतिशङ्कातो** हेतोरग्रिमं श्लोकमाहेत्यर्थः, व्याख्याने, **प्रभा** भगवत्कृतेति तदुपास्य-मायारूपेण भगवता कृतेत्यर्थः, **सहजो भाव** इति लौकिकः पुत्रत्वभाव इत्यर्थः, अत्र तु भगवत्सम्पादितोऽलौकिक एव भावः, स च भगवदिच्छानुरूप एव भवतीति भगवदिच्छया धर्षितत्वे तथा स्थितिरितिभावः ॥ ९ ॥ तस्मै स्तनमित्यत्र सम्भृतसर्वधर्मायेति **सम्भृता** बहिरप्रकटिताः सर्वे धर्मा येनेतित्रिरदत्वान् नातिच, **न बाधक** इति स्तनपाने प्रवृत्तौ न बाधक इत्यर्थः, ततः **सर्वं सामग्रीति** आधिदैविकोतिशेषः ॥ १० ॥ **तत्सङ्गे आधिदैविकीति** लीलोपयोगिदेहेन्द्रियादिविशिष्टा भगवति प्रविष्टा मुक्ता, यदा पुनः कृष्णावतारो भविष्यति तदा सा पूतनापि पुनस्तथैवाविर्भविष्यति 'सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दा''दितितत्त्वसूत्रन्यायादितिभावः, **आध्यात्मिक्या** इति लौकिकेन्द्रियप्राणान्तःकरणरूपाया इत्यर्थः, लौकिकदेहरूपा आधिभौतिकी तस्याः पातोग्रे वक्ष्यते, इहायमभि-सन्धिः, लीलापदार्थास्तदुपयोगिदेहेन्द्रियादिविशिष्टा नित्या भगवति तिष्ठन्ति, यदा भगवानवतरति तदा तेप्यवतरन्ति, स्वकार्यान्ते पुनर्भगवत्येव प्रविशन्तीति, येषां मुक्तिर्नोक्ता ते प्रकृतौ तिष्ठन्ति। **सा मुञ्च मुञ्चे**त्यत्र गतेपि **प्राणे** इति आधिदैविके इतिशेषः, प्राणस्य वागादिषु सामर्थ्यजनकत्वं बृहदारण्यके छान्दोग्ये कौषीतक्यां च प्राणविद्यायां व्युत्पादितं, तत्राधिदैविक एव प्राणो ज्ञेयः, 'द्वया ह प्राजापत्या' इतिप्रसङ्गे तस्यैवापहतपाप्मत्वस्य वेधाद्यर्थभेदादिततार्तीयाधिकरणे निर्णीतत्वेन तदभावे एव शरीरस्य पापिष्ठत्वसम्भवात्, वायुरूपभौतिकप्राणविद्यया "यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज् जायेरन्नेवास्मिञ् छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानी"ति छान्दोग्योक्तफलासम्भवाच्च, तथा चाधिदैविकप्राणस्य भगवति प्रविष्टत्वाद् भाषणादिकं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्य तदुक्तं, **निष्पीड्य-माने**त्यत्र, सप्तम्यन्तः प्रथमान्तश्चेतिपाठद्वयमभिप्रेत्य व्याख्यानद्वयमुक्तं, चरणयोर्भुजयोश्च विवर्तनं विवृण्वन्ति **इतस्ततः** क्षिपन्तीति, **आकर्षणात्मकेति** भगवता तत्प्राण **आकृष्टः**, तत् भगवत्कृतमाकर्षणमात्मा स्वरूपभूता शक्तिर्यस्य क्रियाया वायुशक्तित्वादितिभावः, तादृशे **वायावन्तः प्रविष्टे** सति **एवं कृतवान्**, आध्यात्मिको गुण इति शेषः, राजसकथने चरणौ भुजौ चेतिद्वयमुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः, **रजो मध्यस्थं** भवत्यत **उभयत्र** सात्त्विके तामसे च **सङ्गतं भवतीति**हेतोर्द्वयमुक्तमित्यर्थः, आध्यात्मिकपूतनाया मरणमुक्तमित्यग्रे वक्ष्यते, अतो मरणमेतच्छ्लोके वाक्यार्थस्तं व्युत्पादयन्ति **निर्गमने**ति, मृङ् प्राणत्यागे इतिपाठान् मरणं प्राणत्यागः, अत्र **रुरोदे**ति-पदेन निर्गच्छतः **प्राणस्य घोष** उच्यते, तथा च कार्यपुरःसरं मरणं प्राणत्याग एवोक्तः इतिभावः, **तेने**ति यदा तया स्वस्मिन् **प्राण आकृष्टस्तदा भगवता स्वस्मिन्नाकृष्ट इति तेन** महाघोषकथनेन **ज्ञापितं**, अन्यथा तादृशघोषो न स्यादितिभावः ॥ ११ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

रोषसमन्वित इत्यस्य विवृत्तौ **सर्वात्मकत्वान् नासङ्गत्वक्षतिरि**ति नन्व 'सङ्गो ह्ययं पुरुष' इति श्रुतेः **कथं** भगवतः समन्वय इत्याशङ्क्याहुः **सर्वात्मकत्वादि**त्यादि, 'पुरुष एवेदं सर्व'मितिश्रुतेः सर्वस्य भगवदभेदात् स्वरूप एव स्वसमन्वय इति नासङ्गत्वबाध इत्यर्थः ॥१०॥ **तत्सङ्गे आधिदैविकी पूतनापी**ति 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेरसुरोपास्येन मायारूपेण भगवता विनिर्मिता श्रीलक्ष्मीभ्रमोत्पादिकाधिदैविकीत्युच्यते, सा भगवदुत्पन्नत्वाद् भगवति तिरोहितेत्यर्थः, **तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवा** इत्यारभ्य **"वयस्यै"**रितिपदेन **वक्ष्यन्त** इति, अत्रेदं ज्ञेयं, ये श्रीरामावतारे दण्डकारण्यवासिन ऋषयस्तेषां भगवद्रूपयौवनसौन्दर्य-वशात् स्त्रीरूपेण रिरंसाभूत्तो गौडदेशे कुमारिकारूपेणाजनिषत, तेषां ये पुम्भावास्ते बालकरूपेण गोकुले उत्पन्नास्ते पूतनया **भक्षिताः पूतनाजीवमर्मस्थाने स्थापितास्ते** पूतनासुपयःपाने भगवता **स्वस्मिन्नानीतास्तेषां** पुम्भावरूपाणां योन्तरङ्गलीलासम्बन्धे **प्रतिबन्धकीभूतो** दोषः पुंस्त्वाख्यः स तु पूतनासम्बन्धेन नाशितः सद्वैद्यशोधितविषोपयसम्बन्धे महारोग इव, यश्च पुम्भावे स्वतन्त्रताप्रागल्भ्यादिरूपो **गुणः** स रमणौपयिकत्वाद् रक्षितः, एवं शुद्धान् तान् पुम्भावरूपान् जीवान् लौकिकविग्रहान् विधाय **भक्तिरूपचरणालोडितमृद्भक्षणेन** व्रजवरवधूसदनस्थचौर्यगृहीतदधिदुग्धादिरूपस्वोच्छिष्टमहाप्रसादभक्षणेन तादृशलीलाधिकारं **सम्पाद्य वस्त्रदानसमये कुमारिकासु** तत्तत्पुम्भावरूपान् तासु तासु योजयिष्यति भगवान्, ततश्च गुप्तलीलौपयिकप्रागल्भ्यस्वातन्त्र्यादि-**गुणरूपपुम्भावयुक्ताः कुमारिका** रासोत्सवे भगवता सह पुम्भावेनापि रंस्यन्त इति श्रीकृष्णहार्दविदां श्रीमदाचार्यश्रीविठ्ठलेश्वराणां निगूढ आशयो भाग्यवद्भिर्बोध्यः, ननु पुम्भावस्य मनोधर्मत्वात् कथं बालकत्वं कथं वा विग्रहप्राप्तिरिति चेत्, शृणु, तृतीयस्कन्धे "क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे धिया निगृह्यमाणोपि भ्रुवोर्मध्यात् प्रजापतेः सद्योजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहित"

इत्यनेन मनोधर्मस्य क्रोधस्य कुमाररूपतोक्ता, एवमत्रापि ज्ञेयं, किञ्च "येऽहीयन्ताऽमुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे" इत्यनेन कमलासनकेशानामहिरूपजीवत्वं विग्रहवत्त्वं चोक्तमेवमिहापि, "वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिवृष्ठ" इत्यत्र शब्दरूपाणां वेदानां विग्रहवत्त्वं वर्णितं तद्वदिहापि, न च कमलासनस्य देवोत्तमत्वात् तद्धर्मस्य क्रोधस्य भवतु कुमारत्वमिह तु दण्डकारण्यवासिनामृषीणां पुम्भावस्य कथं बालकरूपेणावतरणं सम्भवति तेषामृषीणां लौकिकत्वादितिवाच्यं, "गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासन" इति कृष्णोपनिषद्भ्यस्तासां गौडदेशोद्भवानां कुमारिकाणां वेदरूपत्वेनात्यलौकिकत्वात्, यत्र भगवत्सेवकस्य कमलासनमनोधर्मस्य क्रोधस्य कुमाररूपत्वं तत्र भगवद्भोग्यानां कुमारीणां मनोधर्मस्य पुम्भावस्य विग्रहवत्त्वे किमाश्चर्यमितिदिक्, अत एव नवमस्कन्धे अम्बरीषप्रसङ्गे दुर्वाससा क्षिप्ताया जटाया अपि विग्रहवत्त्वमलौकिकत्वात्, 'तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुव'मितिवाक्यात्, अतो ह्यलौकिकप्रमेये ह्यलौकिकी रीतिरेव श्रुतिपुराणेषु सर्वत्र दृश्यत इति न युक्तिविरोधो दोषसम्पादक इति ज्ञेयं, न च कमलासनमनोधर्मक्रोधस्य कुमारत्वनिरूपणं तु तस्य क्रोधस्याधिदैविकत्वात् युक्तमिह तु कथं विग्रहवत्त्वमितिवाच्यं, एतत्पुम्भावस्याप्याधिदैविकत्वात्, **निःस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद** हेत्यस्य व्याख्याने **तेनाकृष्ट एव प्राण** इति तेन पूतनाकृतरोदनेन **इति ज्ञापित**मित्यन्वयः, किं ज्ञापितं, तदाहुः **आकृष्ट एव प्राणो भगवताकृष्ट** इति, तया स्वदेहे प्राणस्थापनार्थं बहुधा स्वप्राणाकर्षणं कृतं बहुधा स्वबलेन यत्नः कृतस्तथापि भगवता तत्प्राणाकर्षणे कृते पूतनाकृतयत्नवैयर्थ्यं जात**मिति** रोदनेन **ज्ञापित**मितिभावः ॥ ११ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

"ननु यशोदा रोहिणीभ्याम्" अब कहते हैं कि यशोदा तथा रोहिणी ने पूतना को घर में प्रवेश करने पर क्यों नहीं रोका ? तब कहते हैं कि तां तीक्ष्णचित्तां बहुत तेज वाली उस पूतना को देखकर उसके तेज से दबी हुई दोनों माताएँ रोकने में असमर्थ हो गई ! इसलिये देखती ही रह गई और यशोदा रोहिणी को इतना मोह आसक्ति भी न थी, जो कि जननी प्रसव देने वाली में होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों अजननी थी। अजननी पद का रहस्य यह हैं कि श्री यशोदा माता भगवान की लौकिक पुत्र के प्रसव देने वाली जननी जैसी जननी नहीं है लेकिन अलौकिक पुत्र भगवान् की जननी-माता है वैसे रोहिणी जी में भी अलौकिक वात्सल्य भाव था इस बात की स्पष्टता "सहज भाव" पद से बतायी है। तो अलौकिक भाव था; वह भगवान् की इच्छानुसार ही होता है। भगवान् की इच्छा थी की पूतना को कोई रोके नहीं, भले ही वह आवे, मैं इसका उद्धार करूँगा, इसलिये वे दोनों उसके तेज से दब गई और कुछ न किया। 'ता' शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् जहाँ बिराजते हैं वहाँ माया अपने कार्य करने में असमर्थ होती है इससे माया के कारण जो पूतना के चित्त की क्रूरता आदि 'धर्म छिप गये वे अब भगवान् की इच्छा से प्रकट हो गये। 'अति तीक्ष्ण चित्ता' बहुत तेज चित्त वाली कह कर, उसके भीतर के दोष जताये और 'अति वाम चेष्टिता' कहकर उसके बाहर के दोष बताये जब इस प्रकार दोनों माताएँ ये दोष प्रत्यक्ष देख कर समझ गई थीं, तब उसको यदि स्वयं रोकने में असमर्थ थीं, तो अन्य गोपजनों को क्यों न कहा ? माता गोपों को कहतीं, तो वे उसको रोकते। ऐसा संदेह समाधान 'अन्तराकोशपरिच्छदासिवत्' पद से करते हैं 'अन्तरा' शब्द से यह बताया है कि वह घर के भीतर आ गई, जहाँ पुरुषों का आना योग्य नहीं। और 'कोशपरिच्छदासिवत्' पद से यह बताया है कि जैसे म्यान में छिपी तलवार अथवा कोश में छिपे हुए धन को बाहर का बेसमझ आदमी पहचान नहीं सकता है, वैसे ही इसके छिपे हुए दोष बहिर्मुख लोग समझ नहीं सकेंगे, इसलिये पुरुषों को कहना व्यर्थ है। विशेष में यह पूतना "वरस्त्री" सौन्दर्य मयी स्त्री थी तब माता (यशोदा और रोहिणी ने समझा कि यह रूपवती सब पुरुषों के वरण मोहित करने वाली है, इससे इसको कोई पुरुष मारेगा नहीं। इस कारण से भी गोपों को न बताया और न कहा। स्वयं मारने व भगाने में असमर्थ थीं, तो भी भगवान् के प्रेम के कारण प्रयत्न तो करना ही चाहिये था और इस प्रकार उदासीन होना अच्छा नहीं था तब कहते हैं कि वे दोनों स्वयं उसके तेज से दब गई थीं भगवान् ने ही उसमें इतना तेज किया था।

मनुष्यभाव राक्षसभाव के प्रभाव से दब जाता है इस कारण से उस राक्षसी की प्रभा से ये दोनों दब गई। तथा श्लोक में दिए हुए 'च' का आशय है कि भगवान् की इच्छा ऐसी थी। इससे वे खड़ी–खड़ी देखती ही रहीं।

इस पर प्रकाशकार प्रकाश डालते हैं कि गोपों के न रोकने का कारण था कि पूतना अत्यन्त रूपवती बनकर आई थी। उसको देख कर, कामोत्पत्ति के कारण वे मोहित हो गये थे । गोपियों ने इसलिये न रोका कि उसके स्वरूप में उनको लक्ष्मीजी का भाव हुआ, इन दोनों माताओं में ये दोनों कारण न होने से उनमें मोह का अभाव था, किन्तु केवल भगवदिच्छा से ये दोनों उसके तेज से दब गई इसलिये वे रोक न सकी।

एवं प्रतिवन्धे यत्कृतवती—इस प्रकार पूतना को रोकने के लिये जब कोई प्रतिबन्धक न रहा तब पूतना ने भीतर सब धर्म धारण करने वाले उस बाल रूप भगवान् को अपना स्तन दूध पिलाने के लिये मुख में दिया। यदि भगवान् ने अपने धर्म भीतर न छिपाये होते तो पूतना भगवान् के मुख में स्तन दे न सकती, एक स्तन दिया।

स्तन देने में उसका कौनसा अर्थ था ? इसका उत्तर देते हैं कि उसके स्तन में दुर्जर पचने में कठिन वीर्य वाला उग्र भाव का स्तन्य था उस दूध को पीने से शरीर अस्वस्थ रहे। 'तस्यै स्तन'—स्तन्य शब्द न कहकर स्तन शब्द इसलिये कहा कि दूध पिलाने का कार्य किसी को मालूम न हो। यह स्तन्य-पूतना का दूध ऐसे वीर्य वाला उग्र था, जो केवल परिणाम में ही हानि नहीं पहुंचाता किन्तु उल्बणं होनेके कारण अत्यन्त क्रूर भी है इसलिये लेने के समय में ही हानि करने वाला है। घोराः- पूतना ने ऐसा अनर्थ का कार्य भगवान् के साथ क्यों किया ? तो कहा है कि वह 'घोरा' क्रूर भयानक थी। पूतना के मन में यह शंका आई कि कदाचित् कृष्ण स्वयं दूध न पीए तो इसलिये उसने लाड़ करने के लिये अपने उत्संग में ले, बांये हाथ से भगवान् को पिठ को पकड़ करडुलाती हिलाती और दाहिने हाथ से दूध निकालने के लिये स्तन को दबाती पूतना भगवान् के मुख में देने लगी ॥ ९३ ॥

अथ तस्याः क्रियासमाप्त्यनन्तरं—अब पूतना की भगवान को दूध पिलाने की क्रिया पूर्ण हो गई तब भगवान् दूसरे प्रकार से उसके दूध को पीने लगे इसका निरूपण 'गाढं' इस श्लोक में करते हैं—

पूतना आग्रहपूर्वक दूध पिलाने का प्रयत्न करने लगी। भगवान् ने सोचा कि इसको मारना आवश्यक है ऐसा न हो कि दूध पिलाये विना ही शायद मारा जाये, इसलिये दोनों करों से दृढ़तापूर्वक स्तन को पकड़ कर और दबा कर दूध पीने लगे। छोटे बालक के लिये ऐसा व्यवहार संगत नहीं लेकिन इस प्रकार निर्भय होकर स्तन पान में प्रवृत्त होना केवल भगवान के लिये संभवित है। ईश्वर होने से आपको स्त्री को मारने का दोष भी लगता नहीं है 'पुमान् स्त्री पंड' यह वाक्य ईश्वर होने से लागू नहीं। इससे भगवान् ने ऐश्वर्य धर्म दिखाया।

पूतना का दूध दुर्धर विष वाला और उल्बण पीते ही प्राण लेने वाला एवं अपच था, उसको भी पीकर, आपने अपना वीर्य धर्म प्रकट किया। अलौकिक चरित्र कर यशोधर्म प्रकट किया पूतना ने दूध पिलाकर भगवान् को जिस प्रकार मारना चाहा, उसी प्रकार भगवान ने भी, दूध पीते ही पूतना के प्राण ले लिये। प्रभु यदि दूसरे प्रकार से मारते तो शोभा नहीं होती इसलिये आपने इस चरित्र से, श्रीधर्म प्रकट किया। पूतना में छिपे हुए दोषों के ज्ञान से, उसको मारना हीं आवश्यक जाना, इससे अपना ज्ञानधर्म प्रकट किया। दैन्य पक्ष भी उसके (पूतना के) नाश करने में बाधक हुआ, इससे वैराग्य धर्म दिखलाया। इस प्रकार छः गुणों को प्रकट करने में छः हेतु दिखलाते हुए पूतना को मारा और धर्मी स्वरूप से उसको मोक्ष दान दिया। जो भगवान् को यदि पूतना के पापों के प्रायश्चित और मोक्ष दान लीला न करनी होती तो स्तन्य पान न करते। भगवान ने उसके पापों का सर्व प्रायश्चित्त कराने के लिये ही प्राणों के साथ दूध पिया।

पूतना ने अब तक बालवध बालहरण आदि जो कुछ किया वह सर्व अपने प्राणों की रक्षा के लिये किया, इसलिये उसके प्राण लेने से, पूतना का सब कुछ भगवान् को समर्पित हुआ। पूतना में हरण किये हुए बालकों के प्राण भी थे, इससे उनकी भी मुक्ति हो गई।

श्लोक में 'प्राणैः' बहुवचन दिया है, उसका आशय है कि भगवान् ने न केवल प्राणों को पिया, किन्तु इन्द्रियों को भी, इस कारण से उसका जो कुछ था, सबका भगवान् ने अंगीकार किया।

"अपहतपाप्मा" पापरहित इसके समाधान के लिये भगवान् ने निन्दित पदार्थों को स्वीकार कैसे किया ? श्लोक में कहा कि 'रोषसमन्वितः'। भगवान् इस लीला के समय रोषसंयुक्त थे। जिससे उसके दुष्ट अंश का भगवान् से सम्बन्ध न हुआ अथवा वह दुष्ट भाग क्रोध स्पर्श से जल कर भस्म हो गया। भगवान् का तो सर्व सम्बन्ध है कोई वस्तु भगवान् के सम्बन्ध से रहित नहीं है। अतः भगवान् को क्रोध समन्वित होने का कोई दोष नहीं है। भगवान् में पहले रोष सम्बन्ध नहीं था, इसलिये श्लोक में **'प्राणैः समं रोषसमन्वितः'** अर्थात् प्राण पान के समय रोष वाले हुए ऐसा कहा है।

जैसे **'असंगोऽह्ययं पुरुषः'** इस श्रुति में भगवाम् को असंग कहा गया है तो भी भगवान् सर्वात्मक होने से सर्व के संग वाले हैं वैसे रोषयुक्त होने में कोई हानि नहीं है। पूतना को मारने के लिये भी रोष की अपेक्षा न थी, किन्तु लीला के कारण रोष का नाटक किया। क्योंकि आपने वीर्य गुण प्रकट किया था। अतः स्तन द्वारा प्राणपान करने में कोई विरोध नहीं।

श्लोक में **'कराभ्यां'** द्विवचन दिया है कि भगवान् ने पूतना के स्तन को दोनों हाथों से दबाया इसका आशय यह हैं कि, भगवान ने पूतना की साधन रूप एवं फल रूप दोनों क्रियाओं का नाश किया ॥ १० ॥

"अतो भगवता पेपीयमाने स्तने" आचार्यचरण कहते हैं कि अगले श्लोक में भगवान् ने पूतना के स्तन पान के साथ, पूतना में स्थित माया रूप भगवान्, एवं उसके साथ आधिदैविक पूतना को भी अपने में प्रविष्ट कर लिया। अब इस श्लोक में आध्यात्मिक पूतना के कार्य का वर्णन करते हैं कि पूतना प्रथम से ही दुराग्रह से दूध पिलाती थी, परन्तु जब भगवान् से पीड़ित हुई, तब भी भगवान के स्वरूप को पहचान न सकी। इससे तीन वचन मुञ्च मुञ्च अलम् छोड़दे, छोड़दे, अब बस

बोलने लगी। जैसे कोई लौकिक बालक माता का जोर से दूध पीता है तब स्तन में पीड़ा होने के कारण माता बालक को कहती है छोड़दे वह छोड़ता नहीं तो विशेष पीड़ा होने पर फिर भी कहती है कि भैया छोड़दे पर वह छोड़ता नहीं तब माता बच्चे को तृप्त समझ कहती है कि अरे अब बस कर भैया। बालक स्वयं नहीं समझता कि मेरा पेट भर गया है किन्तु माता का कहना मानता है। अब पूतना के भीतर रहा हुआ दुष्ट भाव नष्ट हुआ तब पूतना ने लौकिक प्रकार की भाषा से मुंच मुंच अलं छोड़दे-छोड़दे बस कहा एवं इसलिये भी कहा कि माताओं को भी ज्ञात हो जाय। यदि कोई संदेह करे कि बृहदारण्यकादि उपनिषदों में कहा है कि वाणी आदि इन्द्रियां में बोलने आदि व्यवहार का सामर्थ्य प्राणों से ही प्राप्त होता है, पूतना प्राण जाने पर भी बोलती थी, यह क्यों ? तब समाधान करते हैं कि आधिदैविक प्राण, भगवान् में स्थित थे, और भगवान का स्पर्श पूतना से था, इस स्पर्श के कारण ही पूतना बोलना आदि क्रिया कर सकती थी इसलिये श्लोक में कहा है कि 'प्रभाषिणो' बोलने वाली थी। **'भगवान् कराभ्यां प्रपीडय'** भगवान् के दोनों हाथों से दबाने से कुछ भी पीड़ा न होनी चाहिए क्योंकि यह भगवान् बालक है तो ऐसा न समझे इसलिये कहा है कि **'अखिलजीवमर्मणि निष्पीडयमाना'** पूतना प्रत्येक मर्म स्थान में पीड़ित थी, क्योंकि पूतना ने जिन बालकों के प्राण हरण किये थे, वे प्राण, पूतना के मर्म में रहे हुए थे। भगवान् को उन सब बालकों के प्राण अपने में प्रविष्ट करने थे इसलिये सर्व मर्म स्थानों का मर्दन होने से, सर्व मर्म स्थानों में पीड़ा हुई। यहाँ पर अखिल शब्द, जीव शब्द का विशेषण है।

बालकों से द्रोह करने की आज्ञा पूतना को कंस ने दी थी परन्तु इसमें मूलकारण भगवान् ही हैं, इसलिये बालकों को अपने में प्रवेश कराना आवश्यक था। बालकों को अपने में रख कर उनको मृत्स्ना भक्षण आदि बाललीला रस का अनुभव कराने के लिये ही प्रभुने अपने मुख द्वारा उनको मिट्टी खिलाई। इसलिये अपनी माता को कहा कि **'नाहं भक्षितवानम्ब'** यह आपका कहना सत्य हुआ। इस प्रकार पूतना से मारे हुए भक्त बालक, पूतना के हृदय में थे, इसलिये ही पूतना का वक्षःस्थल भगवान् के क्रीड़ास्थल योग्य बना। इन ही बालकों का व्रतचर्य्या के प्रसंग में 'वयस्यैः' पद से वर्णन करेंगे। तब अत्यन्त पीड़ित होने से कुछ बाल न सकी। आंखे फाड़कर, हाथ पैर उलटे-सुलटे, जहाँ-तहाँ फैलाकर, पसीने से भींगे हुए शरीर वाली रोने लगी। जोर से रोने का शब्द करने लगी। श्लोकस्थ 'ह' अव्यय से भगवान् का माहात्म्य बताया है, जैसे कि छोटे बालक के खेल से उसके भीतर कठोर पीड़ा होना असम्भव है, परन्तु यह भगवान् का पराक्रम एवं माहात्म्य है। आकर्षण शक्ति वाले, वायु में प्रवेश कर ही भगवान् ने यह लीला की, इससे वीर्य दिखलाया। नेत्र सात्विक थे, हाथ पैर राजस थे और शरीर तामस था यों तीन गुणों से दी हुई पीड़ा का निरूपण किया है। रजोगुण दोनों दो स्थानों से गुणों के बीच में आने के कारण दोनों से मिला हुआ है इससे उसका हाथ पैर सम्बन्ध बताया है। निकलने के समय प्राणों की कठोर ध्वनि हुई उससे आकृष्ट ही प्राण भगवान् ने खींच लिये यह जताया ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि शुकाचार्यजी **"तस्याः स्वनेन"** इस श्लोक से भगवतो **माहात्म्यं शृङ्गग्राहिकया प्रदर्शयिष्यन्**—सींग के समान ग्रहण कराने वाली ध्वनि से, भगवान् का माहात्म्य दिखाते हुए, भगवान् द्वारा खींचे हुए पूतना के प्राणों से उठे हुए शब्दों का माहात्म्य, वर्णन करते हैं।

अमूर्त शब्द, जब मूर्त के समान कार्य करे, तब वह अलौकिक शब्द होता है चरण आदि के चोट से ही कम्पन होता है, वह कम्पन, यहाँ, शब्द से हुआ बताने के लिये, श्लोक में पर्वतों सहित पृथ्वी और ग्रहों सहित आकाश में, कम्पन होने का वर्णन किया है। किसी का कहना है कि पर्वत आदिकों के अधिष्ठाता देवों के भयभीत होने के कारण इन्हों में कम्पन हुआ है। ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुष को भी, इस शब्द से कम्पन हुआ, इससे यह बताया कि धर्मी पुरुषोत्तम का वीर्य, अंशावतारों के वीर्य से विशेष है। एक ही समय में सब ठिकाने, कम्प का कारण बताने के लिये ही कहा कि पूतना का शब्द अति गंभीर वेग वाला था। ऐसा होने के कारण, उसमें इतनी शक्ति थी, जो अति गंभीर होने से पृथ्वी पर्वत आदि निम्न भाग के टुकड़े करने में समर्थ था एवं वेग वाले होने से आकाश तारागण आदि उपर के प्रदेश को डुबाने में समर्थ था। श्लोकस्थ 'च' अव्यय से इसके ऊपर के लोक में भी कम्पादि हुआ। पर्वत बड़े और स्थिर होने से, उनमें कम्प कैसे हुआ होगा। इसलिये श्लोक में पृथ्वी सहित पर्वतों में कम्प हुआ कहा है। इसी प्रकार ग्रहों का चक्र ध्रुव में स्थित होने से, उनमें भी कम्प कैसे हुआ होगा। इसलिये कहा कि, ग्रहों सहित आकाश चलायमान हुआ। पर्वतों सहित पृथ्वी, ग्रहों सहित आकाश चलायमान क्यों हुआ उनका प्रमाण देकर स्पष्टीकरण करते हैं कि दोनों ने वर प्राप्त किये हैं जैसा कि **'नक्षत्रविहिताऽहं चित्रविहिताऽहं'** तैत्तरीय. सं. अ. २ प्रपा. ५ अनु. २ इस श्रुति में कहा है कि आकाश ने यह वर प्राप्त किया है, कि मैं सदैव तारागणों से समृद्ध रहूँ और पृथ्वी ने भी वर लिया है कि मैं सदैव अनेक प्रकार के पदार्थों से सुसमृद्ध रहूँ। इस कारण इनका कम्प साथ में ही हुआ लिखा है। पाताल और दिशाओं का सम्बन्ध न होने से और दूर होने से उनमें कम्प तो हुवा होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि श्लोक में पाताल और दिशाओं का 'च' देकर भिन्नता बता कर, यह जताया है कि उनमें भिन्न कम्प हुआ एवं दूर होने के कारण उनमें

कम्प शब्द की प्रतिध्वनि से हुआ। सबमें कम्प हुआ कोई शेष नहीं रहा। शेष मनुष्यों के लिये कहा कि वे पृथ्वी पर गिर पड़े। यहाँ शङ्का करते हैं कि दूसरों में कम्प तो देवता भय से वा पुरुष भय से हुआ, किन्तु विवेक और धैर्य वाले मनुष्य पृथ्वी पर क्यों गिरे ? इस शङ्का के उत्तर में श्लोक में कहा है कि मनुष्य इसलिये गिरे, कि उनको वज्र के गिरने का भय हुआ, उस भय से मनुष्य गिरे। भय के विचार से भी पात हुआ क्योंकि वे ऊँचे स्थित थे, उन्होंने विचारा कि वज्र गिरेगा तो उसका तेज हम सहन न कर सकेंगे तो हमारी मृत्यु होगी, इससे भी वे गिरे ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'यशोदारोहिण्यौ तां कथं न न्यवारयेताम्, तत्राह—तामिति। तीक्ष्णं क्रूरं चित्तं यस्यास्ताम्, अतिशयेन वामं मनोहरं चेष्टितं यस्यास्ताम्, वरस्त्रियं सहसैव अन्तरा गृहमध्ये वीक्ष्य तस्याः प्रभावाद्भगवदिच्छया च धर्षिते अभिभूते मोहिते सत्यौ जननीजनन्यौ निरीक्षमाणे एव व्यतिष्ठताम्, नतु निवारितवत्यावित्यन्वयः। अन्तरतैक्ष्ण्ये बहिर्मार्दवे दृष्टान्तमाह—कोशपरिच्छदासिवदिति। मृदुचित्रचर्ममयः कोशः परिच्छदः आवरणं यस्य असेः खड्गस्य तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं सर्वथा प्रतिबन्धाभावे सति यत् कृतवतो तदाह—तस्मिन्निति। सा घोराऽतिक्रूरस्वभावा तमङ्कमादाय तस्मिन् शिशोर्मुखे इति शेषः। दुर्जरं वीर्यं यस्य, तथाभूतं विषं यस्मिंस्तम्। अत एव उल्बलं प्राणहरत्वेन भयङ्करं स्तनं ददौ ॥ अथानन्तरमेव रोषसमन्वितो भगवान् गाढं दृढं यथा भवति तथा कराभ्यां तत्तस्याः स्तनं प्रपीड्य अप्रसूतायास्तस्मिन् स्तन्याभावात् केवलं विषमपथ्यं मत्वा प्राणैः समं सह अपिवत् ॥ १० ॥ बालरूपेणापि भगवता तथाग्रहणेन स्तनपानेन तस्या महती पीडा जाता तामाह—सेति। सा पूतना भगवतो ग्रहणेन स्तनपानेन चाखिलं यज्जीवस्य मर्म, यस्मिन् किञ्चिदपि प्रहारमात्रेण जीवो देहं त्यजति, तस्मिन्निष्पीड्यमाना अत एव 'मुञ्च मुञ्च, अलम्' इति प्रभाषिणी, नेत्रे विवृत्य चरणौ भुजौ च मुहुः पुनः पुनः क्षिपती चालयन्ती, निःस्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि यस्यास्तथाभूता च सती रुरोद आर्तनादं चकार। 'ह' इत्याश्चर्ये। 'बालग्रहणमात्रेणापि तस्या एवं पीडा जाता' इत्याश्चर्यम् ॥ ११ ॥ एवं प्रभावाऽपि सा भगवता स्तनद्वारा प्राणाकर्षणमात्रेण मारितेति भगवन्माहात्म्यं प्रदर्शयिष्यन् तदाकृष्यमाणप्राणकृतशब्दमाहात्म्यमाह—तस्या इति। तस्याः पूतनायाः अतिगभीररंहसा महावेगवता स्वनेन साद्रिः पर्वतसहिता मही, सग्रहा आदित्यादिग्रहसहिता द्यौश्च चचाल। रसातलानि अधोलोका दिशश्च प्रतिनेदिरे। वज्रनिपातशङ्कया भयेन जनाश्च क्षितौ निपेतुरित्यन्वयः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तामिति ॥ तीक्ष्णं क्रूरं चित्तं यस्यास्तामतिशयेन वामं जनन्या इव मनोहरं चेष्टितं यस्यास्ताम्। अयं चित्सुखसम्मतः पाठः। वल्गुचेष्टितामिति वा पाठः। वरस्त्रियं सहसैव कोशपरिच्छदासिवदिति मृदुचित्रचर्ममयः कोशः परिच्छदः आवरणं यस्य स चासौ असिः खड्गः तद्वत् इति अन्तस्तैक्ष्ण्ये बहिर्मार्दवे दृष्टान्तः। अन्तरा गृहमध्ये एव वीक्ष्य तस्याः प्रभया धर्षिते अभिभूते मत्पुत्रस्याभ्युदयाय स्वयमिंद्राणीसम्पत्तिर्वा वात्सल्येन स्तनं पाययतीति मोहिते सत्यौ जननी जनन्यौ निरीक्षमाणे हि एव अतिष्ठताम् नतु निवारितवत्यौ। जननी इति पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः ॥ ९ ॥ तस्मिन्निति ॥ सा घोराऽतिक्रूरस्वभावा श्रीकृष्णमङ्कमादाय तस्मिन् स्थाने शिशोर्मुखे इति शेषः। दुर्जरं विषरूपं वीर्यं यस्य तथाभूतम् अत एव उल्बणं प्राणहरत्वेन भयंकरं स्तनं ददौ। अथानन्तरमेव मदीयव्रजबालकानियं जिघांसतीति रोषसमन्वितो भगवान्गाढं दृढं तया त्याजयितुमशक्यं यथा भवति तथा कराभ्यां तत् तं तस्याः स्तनं प्रपीड्य अप्रसूतायास्तस्यास्तस्मिन् स्तन्याभावात् केवलं विषमपथ्यं मत्वा प्राणैः समं सह अपिवत्। अत्र रोषमयी दुष्टसंहारिका शक्तिरेव तस्याः अपवित्रान् प्राणानशोषयत्। न तु सः कुठारसमन्वितो वृक्षमच्छिनदितिवत् ॥ १० ॥ सा मुञ्च मुञ्चेति ॥ सा पूतना भगवतो ग्रहणेन स्तनपानेन चाखिलं यज्जीवस्य मर्म यस्मिन् किंचिदपि किंचिदपि प्रहारमात्रेण जीवो देहं त्यजति। तस्मिन्निष्पीड्यमाना अतएव मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी नेत्रे विवृत्य चरणौ भुजौ च मुहुः पुनः पुनः क्षिपती चालयन्ती निःस्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि यस्यास्तथाभूता च सती रुरोद आर्तनादं चकार ॥ ११ ॥ तस्या इति ॥ तस्याः पूतनायाः अतिगभीररंहसा महावेगवता स्वनेन साद्रिः पर्वतसहिता मही सग्रहा आदित्यादिग्रहसहिता द्यौश्च चचाल। रसाः रसातलानि अधोलोकाश्चेलुः प्रतिनेदिरे च दिशश्च प्रतिनेदिरे एव। कर्मव्यतिहारे तङ् आर्षो वा। वज्रनिपातशङ्कया भयेन जनाश्च क्षितौ पेतुः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नन्वंकारोपणसमये यशोदारोहिण्यां न ग्राह्योयमिति कथं नोक्तं तत्राहतामिति अथ अनंतरं मृदुः चित्रितचर्ममयः कोश एव परिच्छदः आवरको यस्य सः असिः खड्गस्तद्वत् आभ्यंतरे तीक्ष्णचित्तां क्रूरमानसीं उपरि वामं सुन्दरं मातुरिव चेष्टितं यस्यां ताम् अंतरा गृहमध्ये वीक्ष्य तूभयाधर्षिते पराभूते जननीजनन्यौ पुंस्त्वमत्र छांदसम् निरीक्ष्यमाणे सत्यावेवातिष्ठतां न तु निवारितवत्यौ ॥ ९ ॥ तस्मिन्निति। घोरा क्रूरा पूतना तस्मिन् स्थाने हरिमंकमादाय दुर्जरं वीर्यं विषरूपं यस्मिन् तं उल्बणं

भयानकं स्तनं तस्मै ददौ । अथ अनंतरं भगवान् कराभ्यां गाढं यथातथाऽत्यंतं प्रपीड्य तस्याः प्राणैः समं स्तनमपिबत् ।। १० ।। सेति ।। अखिलः समग्रश्चासौ जीवश्च तस्य स्तनरूपे मर्मणि मर्मस्थाने निष्पीड्यमाना मुंच मुंच अलं जातमिति प्रतिभाषिणी निःखिन्न-गात्रा स्वेदयुक्तांगा सा नेत्रे विवृत्य उद्घाट्य चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः क्षिपति सती रुरोद ।। ११ ।। अतिगभीरः अतिदीर्घो रंहो वेगो यस्य तेन साद्रिः सपर्वता समग्रहा सतारका द्यौः स्वर्गश्च रसाः अधोलोकाः प्रतिनेदिरे क्षितौ भूम्याम् ।। १२ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अज्ञातमिति ।। निशाचरी पूतना, अन्तकमात्मनो मृत्युभूतं, अज्ञाय अज्ञात्वा, अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितं, अज्ञात-विदितस्वरूपं, निसर्गेण स्वभावत एव विज्ञातं जगतो विचेष्टितं येन तं, हरिं दुष्कृतप्राणहरं भगवन्तं, अबुद्धिर्मूढोऽत एव रज्जुरिति धीर्यस्य तथाभूतो जनः, सुप्तं उरगं यथा, प्रसुप्तं सर्पमिवेत्यर्थः । अङ्कं, आरोपयत् ।। ९ ।। ननु यशोदारोहिण्यौ तां कथं न न्यवारयेतां तत्राह ।। तामिति ।। कोशः मृदुचर्मनिर्मितं पिधानं परिच्छदो भूषणवच्छोभाकरो यस्य स चासावसिस्तेन तुल्यं तद्वत् । अन्तराऽभ्यन्तरप्रदेशे, तीक्ष्णाचित्तां, बहिः अतिवामान्यतिशोभमानानि चेष्टितानि यस्याः सा तां, वरस्त्रियं श्रेष्ठां स्त्रियमिव स्थितां च, तां पूतनां वीक्ष्य, गृहान्तःप्रविष्टां दृष्ट्वा, तत्प्रभया, धर्षिते अभिभूते, जननी जनन्यौ, निरीक्षमाणे सत्यौ, ह्येव, अतिष्ठताम् । न तु निवारितवन्त्यौ । पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः ।। १० ।। तस्मिन्निति ।। अथ, तस्मिन् समये, घोरा घोरचेष्टिता पूतना, आदाय, शिशुमिति शेषः । अङ्कं स्वोत्सङ्गं नीत्वा, शिशोः आस्ये इति शेषः । दुर्जरं दुःखेनापि जरयितुमशक्यं वीर्यं विषरूपं यस्मिंस्तथाभूतं, अत एव उल्बणं दुःसहक्रौर्योपेतं स्तनं, ददौ । भगवान्, कराभ्यां, तमिति शेषः । गाढं यथा तथा, प्रपीड्य, रोषसमन्वितः क्रोधयुक्तः सन्, तत्प्राणैस्तस्या असुभिः, समं साकं, अपिबत् ।। ११ ।। सेति ।। तदा अखिलजीवमर्मसु सर्वप्राण-मर्मसु, निष्पीड्यमाना, सा पूतना, अलमेतावता पूर्णम् । मुञ्च मुञ्च इति, प्रभाषिणी सती, नेत्रे विवृत्य परिभ्राम्य, चरणौ भुजौ च, मुहुः क्षिपती, निःस्विन्नगात्राऽतिप्रस्वेदयुक्तशरीरा सती च, ह अतिस्फुटं यथा तथा, रुराव जघोष । रुरोदेत्यपि पाठः ।। १२ ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तां तीक्ष्णेति : १०.६.९.

गोपैर्न तद् युवतिभिर्न च वा जनन्या त्वत्सन्निधौ बत बकी समुपागताऽपि ।
प्रोत्सारितेत्यनुभवन्नपि मां ब्रवीषि त्वत्सङ्कटं हरतु ते कथमाप्तवर्गः ।। ३१ ।।

तस्मिन् स्तनमिति : १०.६.१०.

कलशपयोधर–निर्गतमधायि बाह्यं हरेण विषमखिलम् । अन्तर्गतमहमधुना पिबेयमित्याशयात् पपौ तत्किम् ।। ३२ ।।
तार्क्ष्यशेषपरिचारकृतो मे कोऽयमल्पगरलाशनभीतिः । चिन्तयन्निति पपौ तदशङ्कं श्रीधरः स हि विषाशनवन्द्यः ।। ३३ ।।
विषसम्भृत एव वारिदः सुषमामावहतीति केशवः । रुचिमस्य लषन् स्वयं तदा किमु जग्राह विषं पयोधिजम् ।। ३४ ।।
श्रीधरस्त्वेक एवाहमिममर्थं समर्थयन् । स्वीचकार श्रियं श्रीशस्तदा तत्र पयोधिजाम् ।। ३५ ।।
विषाकर्षस्तथाकार्यो नशिष्टं स्यादितो मनाक् । इति स्वकरसम्मर्दपूर्वमेवापिबत् प्रभुः ।। ३६ ।।
यावज्जगज्जीवनहेतुभूतोऽप्येष स्तनः सम्प्रति दुष्टसङ्गात् । काकोलदानोद्यत इत्यवेक्ष्य युक्तं कराभ्यामदयं ममर्द ।। ३७ ।।
सविषां तां समालक्ष्य सरोषोऽसाविति क्षमम् । यत्सुरोचितता तस्य तद्रूपे च विकारिता ।। ३८ ।।

जलनिधिविषपानं कुर्वतः पार्वतीशा दतिशयितमशेषान् दर्शयन् स्वीयमोजः ।
यदुपतिरतितोषात् तद्विषं प्राश्य तस्यै जडतरगतयेऽदात् स्वामृतं तत्क्षणे किम् ।। ३९ ।।
यस्मादुल्बणवीर्यवगरमलं निर्वीर्यमेतद् हृदि कृत्वा भूरि निरामयस्थितितया तिष्ठन्त्यशेषासवः ।
तस्मात्साधनमेतदेव यदि मे काकोलवीर्यच्छिदः संग्राह्याः प्रकृते मयेति सह तत्प्राणैः पपौ तद्विषम् ।। ४० ।।
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् स्तनं तदीयं प्रभुरेतदुक्तौ । रोषोऽखिलासूनपिबत्स्वयं पयो भात्यर्थ ईदृग् विबुधैर्विलोक्यः ।। ४१ ।।
स्यात्काकोलमपि स्तनेऽमृतमयं मातृस्वभावादिति प्रेक्ष्याधाय्य विशङ्कमेव हि मया तत्पुत्रभावात्मना ।
मातृघ्नत्वमितो न युक्तमिति सञ्चिन्त्याच्युतोऽभूत्तदा सक्रोधः स हि तद्गतासुहृतये विज्ञातरुड्विक्रमः ।। ४२ ।।
विषमितं किल यद्धृदयं भुनक्त्यनुपदं त्वनुरूपमसौ फलम् । अभवदेव बकीचरिते स्फुटं तदुभयोरपि तत्र निदर्शनम् ।। ४३ ।।

दुर्वर्त्मगोऽस्तु यदि वा विषमस्वभावो मां चेद्धिया हृदि दधाति यया कयापि ।
तं मोचयामि भवबन्धनतस्तदेवेत्येतत् स्फुटीकृतमिहेश्वर पूतनायाम् ।। ४४ ।।
कश्चित्प्राणापहारावधि दुरपकृतिं दुर्जनः सञ्चिकीर्षुः प्राप्तश्चेद्दैवमुष्मिन्नुपकृतिनिरतेनैव भाव्यज्ञनेन ।
श्रीखण्डेनेवसाधूनिति किल भवता हृत्स्थितं ज्ञापयित्रा पापिन्यां पूतनायामुपकृतमपरं नैव बीजं प्रतीमः ।। ४५ ।।

कृष्णप्रिया

म्यान में छिपी हुई तलवार के समान खूब तीक्ष्ण-निर्दय चित्तवाली और बुरे काम करने वाली घर में आई हुई उत्तम रूप वाली उस पूतना को कान्ति से दबी हुई दोनों माताएँ केवल उसका देखती हो रहीं ॥ ९ ॥ अब पूतना भीतर आई और उस दुष्टा ने बालक को गोदी में लेकर, दुर्धर जहर से भरा हुआ गाढ कठोर स्तन उस बाल मुकुन्द के मुख में दिया ॥९½॥ जब पूतना ने इस प्रकार स्तन भगवान के मुख में दिया तब भगवान् रोष सहित दोनों हाथों से स्तन को जोर से दबाते हुए, प्राणों के साथ स्तन्य पीने लगे ॥ १० ॥ अपने प्रत्येक मर्म स्थान में पीड़ित हुई पूतना बाबा 'छोड़दे छोड़दे अब बस' ऐसा कहती हुई आँखें फाड़ कर, बार बार हाथ पैर पछाड़ती पसीने से भरे अङ्ग वाली जोर से रोने लगी ॥ ११ ॥ उस पूतना के अत्यंत गंभीर वेग वाले शब्द से पर्वतों सहित पृथ्वी और ग्रहों सहित आकाश चलित हुआ। रसातल एवं दिशाओं में प्रतिध्वनि उठने लगी वज्रपात होने की शंका से मनुष्य पृथ्वी पर गिर गये ॥ १२ ॥

निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसुर्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि ।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १३ ॥
पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् । चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत् तदद्भुतम् ॥ १४ ॥
ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् । गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥ १५ ॥
अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् । बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नृप इत्थं व्यथितस्तना निशाचरी व्यसुः निजरूपम् आस्थिता गोष्ठे केशान् चरणौ अपि भुजौ प्रसार्य वज्राहतः वृत्र इव अपतत् ॥१३॥ राजेन्द्र ! पतमानः अपि तद् देहः त्रिगव्यूति अन्तरद्रुमान् चूर्णयामास तद् महद् अद्भुतम् आसीत् ॥१४॥ इषामात्रंग्रदंष्ट्रआस्यं गिरिकन्दरनासिकं गण्डशैलस्ततं रौद्रं प्रकोर्णरुणमूधजम् ॥ १५ ॥ अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणं बद्धसेतुभुजोर्वरुङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम् ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

व्यादाय मुखं विवृत्य केशादीन्प्रसार्य । निजरूपमास्थिता । मरणसमये कपटमयुक्तमिति भावः । वृत्रो वज्राहत इव ॥ १३ ॥ पतन्नपि तस्या देहः षट्क्रोशमध्यवर्तिनो द्रुमांश्चूर्णीचकार ॥ १४ ॥ ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं ईषा लांगलदंडस्तत्प्रमाणोग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तत्तथाभूतमास्यं यस्मिंस्तत्तस्याः कलेवरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च संतत्रसुः । संत्रासहेतुत्वेन पुनरष्टभिः पदैर्विशिनष्टि। गिरिकंदरवन्नासिके यस्मिंस्तत् । गिरेश्च्युतौ स्थूलोपलौ गण्डशैलौ ताविव स्तनौ यस्मिंस्तत् । रौद्रं घोरम् । प्रकीर्णा अरुणा मूर्द्धजा यस्मिंस्तत् ॥ १५ ॥ अंधकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिंस्तत् । पुलिनवदारोहौ जघने ताभ्यां भीषणम् । बद्धाः सेतव इव भुजौ ऊरू अंघ्री च यस्मिंस्तत् । शून्यतोयह्रद इवोदरं यस्मिंस्तत् ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

निजरूपमुलूकिकारूपम् । गोष्ठे लक्षणया तत्समीपदेशे गोदोहार्थावरोधनस्थले न तु जनवासे च न तु द्रुमाणामेव चूर्णितत्वेनोक्तत्वात् । चरणयोः पक्षात्मकभुजयोश्च विक्षेपणोत्पातात् "सा खेचर्येकदोपेत्य" इति पूर्वोक्तेः एतादृशकथोद्बोधनेन त्वं नृपासीति संबुद्ध्यभिप्रायः । निजरूपाश्रयणं तु मृत्युपीडितायास्तस्या मायाया नष्टत्वात्तद्रूपस्य च 'योषित्वा माययात्मानम्' इत्युक्तेर्मायिकत्वात्कारणाभावे कार्यं स्वयमेव नश्यतीति भावः । व्यसुः सत्यपतत् ॥ १३ ॥ पतमानः पीडावैयग्र्यवशादन्तः पुरात्तस्मादुत्प्लुत्य ग्राममप्युल्लंघ्य तद्बहिःप्रदेशेऽपतन्नित्यर्थः । अपिकारेण न केवलं जीवंत्येव सा जीवान् जघानापि तु मृतापीति भावः । षट्क्रोशमध्यवर्त्तिनो द्रुमान् । तावतां द्रुमाणां चूर्णनं द्रुममात्रचूर्णनं ग्रामोल्लंघनं च भगवल्लीलाशक्तेरेव महिमेत्यवगमयितुं स्तौति— हे राजेंद्रेति । हे भक्तिराजमानमुख्येत्यभिप्रायः । द्रुमाश्च ते कंसारामस्थास्तद्भोग्यफला एवेति विश्वनाथः । गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः ॥ १४ ॥ ईषा लांगलदंडो रथावयवोपि । "गंडशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः" इत्यमरः ॥ १५ ॥ गभीरे निम्ने 'निम्नं गभीरं गंभीरम्' इत्यमरः । शून्यं तोयं यत्र स चासौ ह्रदश्च ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

निजरूपम् उलूकीस्वरूपं गोष्ठे लक्षणया गोष्ठसमीपदेशे गोदोहार्थावरोधनस्थाने न तु जनवासे द्रुमाणामेव चूर्णितत्वेन कथ्यमानत्वात् चरणयोः पक्षात्मकभुजयोश्च विक्षेपेणोत्पतनात् सा खेचर्येकदोत्पत्येति पूर्वदर्शितत्वाच्च हे नृप ! एतादृशकथोद्-

बोधनेन नून् पासीति भावः ।। १३ ।। तत्रान्यदाश्चर्यमाह––पतेति । न केवलं जीवन्नेव जीवान् जघान म्रियमाणोऽप्यतितरा-मित्यपि शब्दार्थः तदेव षट्क्रोशीद्रुमचूर्णित्वं तत्रापि तन्मात्रचूर्णित्वं च यत्तदद्भुतं महद्देवासीत् स एव च तस्याः श्रीभगवल्लीला-शक्तेरेव महिमा इत्यवगमयितुं स्तौति, राजेन्द्रेति ।। १४ ।। इषेति त्रिकम् । रौद्रत्वमेव दर्शयति––ईषेत्याद्यष्टविशेषणैः । तथा च भीषणमिति पुनरुक्तिर्जघनयोरतिभयङ्करत्वाभिप्रायेण तस्या निष्ठुरतरनादेन अधुना च तद्बालहरणमजानन्तो गोपा गोप्यश्च तादृग्देहदर्शनेन सम्यक् त्रस्ता बभूवुरित्यर्थः । स्म प्रसिद्धौ एतद्व्यक्तमेवेत्यर्थः ।। १५-१६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

व्यथितस्तनेनेति व्यसुत्वे स्तनव्यथाया एव मुख्यहेतुत्वात्; यद्वा, व्यथितः सत्यथो व्यथितस्येव स्वनो नादो यस्याः सा, वृत्र इवेति शरीरस्य बृहत्तरत्वात्, अन्ते सद्गतिप्राप्तेश्च । हे नृपेति प्रहर्षात्; यथा भवादृक् दुष्टेभ्यो नून् पाति तथा श्रीकृष्णोऽपि पूतना–देहाद्व्रजवासिनो रक्षिता इति भावः ।।१३।। तदेवाह––पतमान इति । पूर्वं जीवेन प्राणिनो मारयामास, अधुना मरणेऽपि बहून् जीवान् जघानेत्यपिशब्दार्थः यद्वा, पतन्नपीति परमार्त्ततया, किं वा, तद्देहोऽपीति बृहत्तरतया सर्वमारकता सम्भाविता; तथापि षट्क्रोशीमध्यवर्त्तिनो द्रुमानेव चूर्णयामास, न त्वन्यानत एव परमविस्मयेन सम्बोधयति राजेन्द्रेति, राजेन्द्रत्वात्तवैवात्र विश्वासः, न त्वन्यस्यादिति भावः ।। १४ ।। रौद्रत्वमेव दर्शयति–ईषेत्यष्टविशेषणैः । तत्र च भीषणमिति पुनरुक्तिर्जघनयोरति-भयंकरत्वाभिप्रायेण; पूर्वं तस्या निष्ठुरतरनादेनाधुना च तादृग्देहदर्शनेन दैत्यज्ञानतः श्रीकृष्णार्थं स्नेहभरेण सम्यक् त्रस्ता बभूवुरित्यर्थः । स्म प्रसिद्धौ—एतद्व्यक्तमेवेत्यर्थः ।। १८–१७ ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

गव्यूतिः क्रोशद्वयं त्रिगव्यूत्यन्तरं सार्द्धयोजनावकाशम् ।। १४ ।। ईषा युगाग्रयष्टिः गण्डशैलः पर्वताद् गलितस्थूल-पाषाणः ।। १५–२१ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

व्यथितौ पीडितौ स्तनौ यस्याः सा निशाचरी व्यादाय मुखं विवृत्य केशादीन् प्रसार्य गोष्ठे व्रजे निजरूपमास्थितामरणस्य स्वासाधारणरूपगतत्वादिति भावः । हे नृप ! वज्रेण हतो वृत्रासुर इवापतत् ।। १३ ।। तस्या देहः पतमानोऽपि षट्क्रोशवर्त्तिनो द्रुमांश्चूर्णीचकार हे राजेन्द्र ! तच्छरीरं महदद्भुतमासीत् ।। १४ ।। अद्भुतत्वमेव दर्शयितुं तद्रूपं विशिषन् तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च अबिभयुरित्याह—ईषेति त्रिभिः । ईषा लाङ्गलदण्डः तत्प्रमाणाग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तदास्यं यस्मिन् गिरिकन्दरे इव नासिके यस्मिन् गण्डशैलवदुन्नतौ पृथू च स्तनौ यस्मिन्रौद्रं भीमं प्रकीर्णा अरुणाश्च मूर्द्धजाः केशा यस्मिन् ।। १५ ।। अन्धकूपाविव गभीरेऽक्षिणी यस्मिन् पुलिनवदारोहो जघने ताभ्यां भीषणं बद्धाः सेतव इव भुजावूरू अङ्घ्री च यस्मिन् शून्यं तोयं यस्मिंस्तथा-भूतो ह्रद इव उदरं यस्मिन् ।। १६ ।।

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

व्यसुः विगतप्राणाः ।। १३ ।। त्रिगव्यूत्यन्तरे षट्क्रोशमध्ये ये द्रुमाः वृक्षाः तान् "गव्यूतिः स्यात् क्रोशयुगम्" इत्यमरः ।। १४ ।। ईषा रथदारुविशेषः कन्दरो गुहा रोगविशेषव्यावृत्त्यर्थं गिरीति विशेषणं गण्डशैल स्थूलपाषाणः ।। १५ ।। आरोहो नितम्बः बद्धसेतुवत् स्थिरा भुजोर्वङ्घ्रयो यस्य तत्तथा भुजौ उरू च अङ्घ्री च भुजोर्वङ्घ्रयः शून्यं तोयं यस्मिन् शून्यतोयः स ह्रद इव उदरं यस्य तत्तथा ।। १६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

वस्तुतस्तु भगवान् रोषेऽपि कारुण्यादिगुणाव्यभिचारी गोष्ठे गोदोहार्थगवावरोधनस्थले न तु गवाद्यावासे द्रुमाणामेव चूर्णितत्वेन कथ्यत्वात् ।। १३ ।। पतेति, अत्र तावत् द्रुमचूर्णयितृत्वं तथापि न मनुष्यगवादिवर्जित्वं चेत्युभयमत्राद्भुतं तच्च भगवच्छक्तिव्यञ्जकमेव ।। १४–१६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ स्तन्येन सह पीतप्राणायास्तस्याः पूतनाया देहो यदा न्यपतत्, तदाह––पतमानोऽपीत्यादि । त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् पातयामासेति कथं संगच्छताम् ? वस्तुतस्तु गृहमध्ये गत्वा स्तनं ददौ, तत्रैव ममार च । तत्रैव चेत् शरीरवृद्धया सह मरणम्, तदा गृहादि-भङ्ग-प्रसङ्गः; तदन्यथाभावे गृहाद्बहिर्भूय कियद्दूरं गत्वा स्तनं ददौ, न तदपि संगच्छते । तेन स्तनं पिबतैव तेन तामादाय विनिर्गच्छता पुराद्विदूरे निक्षिप्ता । तदासङ्गेन परितो द्वादश-दण्ड-परिमितभूभागे ये द्रुमाः स्थितास्ते चूर्णा बभूवुरिति सन्दर्भः ।। १५–२४ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमानित्यनेन श्रीकृष्णमादाय गृहाद् बहिर्भूतायास्तस्या देह इति मन्तव्यम्। अन्यथा गृहादिभङ्गप्रसङ्गोऽपि स्यात्। अथवा, स्तनं पीत्वा अब्धिरिव तत्तनुस्तेनैव दूरे निक्षिप्ता ॥ १५–२४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

निजरूपमास्थिता मृत्युपीडितया तया निजमायया रक्षितुमशक्यत्वात् ॥ १३ ॥ पतमानः पीडावैयग्र्यवशादन्तःपुरान्तस्मादुत्पत्य ग्राममप्युल्लङ्घ्य तद्बहिःप्रदेशे पतन्नित्यर्थः। अपिकारेण न केवलं जीवन्त्येव सा जीवान् जवान अपि तु मृता अपीति भावः। षट् क्रोशमध्यवर्त्तिनो द्रुमान् तावतां द्रुमाणां चूर्णनं द्रुममात्रचूर्णनं ग्रामोल्लङ्घनं चेत्यद्भुतं द्रुमाश्च ते कंसारामस्थास्तद्भोग्यफला इति वैष्णवतोषिणी ॥ १४ ॥ तस्याः कलेवरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च तत्रसुः। ईषा लाङ्गलदण्डस्तत्प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तदास्यं यस्य पुलिनवदारोहो जघनं तेन भीषणं बद्धाः सेतव इव भुजावूरू अङ्घ्री च यस्मिन् तत् शून्यतोयह्रद इव उदरं यस्मिन् तत् पूर्वं तु तस्याः शब्देन भिन्नानि विदीर्णानि ह्रदादीनि येषां ते ताश्च ॥ १५–१७ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

व्यादाय मुखं विवृत्य ॥ १३–१४ ईषा हलीषा तत्प्रमाणाः उग्राः दंष्ट्राः यस्मिन् तदास्यं यस्मिन् तत् गिरिकन्दरेव नासिका यस्मिन् तत् गण्डशैलाविव गिरिच्युत्तस्थूलोपलाविव स्तनौ यस्मिन् तत् ॥ १५ ॥ अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिन् तत् पुलिनाकाराभ्यां जघनाभ्यां भीषणं बद्धसेतव इव भुजोर्वङ्घ्रयो यस्मिन् तत् शून्यतोयह्रदवदुदरं यस्मिन् तत् ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

व्यादाय मुखं प्रसार्य निजरूपमास्थितेति रक्षसां प्राणसङ्कटे स्वमायाया रक्षितुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥ पतमानः पीडातिशयादन्तः पुरादुत्प्लुत्य नगराद्बहिः प्रदेशे पतत् त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् क्रोश पट्कमध्यवर्तिनो वृक्षान् दिव्यस्वादुफलपूर्णान् चूर्णयामास दुष्टेन कंसेन नन्दनृपभूम्यां हठेन निर्मितानारामानिति बोध्यं तेन तद्बुद्ध्ये प्रवृत्तापि तत् क्षतिं व्यधादिति सूच्यते मृतापि प्राणिद्रोहिणीत्यपिशब्दात् तदिदं पुराद्बहिः तस्याः पतनं कंसारामद्रुममात्रचूर्णनं च हरेः कर्माद्भुतमासीत् ॥ १४ ॥ ईषेति त्रिकं गोपा गोप्यश्च तत्कलेवरं वीक्ष्य सन्तत्रसुरित्यन्वयः। ईषा लाङ्गलदण्डस्तन्मात्रयस्तत् प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तादृशमास्यं यत्र तत् रौद्रं घोरं पुलिनतुल्याभ्यामारोहाभ्यां जघनाभ्यां भीषणं भयङ्करं बद्धाः सेतव इव भुजावूरू अङ्घ्री च यत्र तत् शून्यतोयः शुष्को ह्रदस्तत्तुल्यमुदरं यत्र तत् पूर्वमेव तन्निस्वनितेन घोर-शब्देन भिन्नानि विदीर्णप्रायाणि ह्रदादीनि येषां यासाञ्च तथा ॥१५–१७॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

पतमान इति अत्र षट्क्रोशपर्यंतं द्रुमादिचूर्णीभाव उक्तः। तदा व्रजस्य कथं सत्त्वेन स्थितिरित्यतोविरोधोऽत उच्यते। दुर्गाजन्मन प्राक् कंसाय करं दातुं व्रजान्निर्गतस्य नंदस्यानुवृत्त्या गताया यशोदाया मार्गमध्ये यमुनातीरे पटवेश्मनि प्रसवे जाते तत्र चतुर्मासं वसतौ कृतायां पूतनावधस्य तत्रैव संभवाद्बृहद्वनास्थितव्रजस्य न चूर्णीभावः। तदुक्तं। पूर्वं हि नंदः स करं हि दातुमित्यारभ्य पपात सा व्याप्यवनं समस्तमित्यंतं तात्पर्यनिर्णये। अत एवाद्भुतामिवेत्युक्तं। अस्याल्पद्रष्टृणामद्भुततत्वेऽपि बहुद्रष्टृणामद्भुतमिवाभवत्। न त्वद्भुतमिति भावः। नन्वेवं चेत्प्रजाः संभ्रमसंसिक्तेत्यादिना गोपीमोदवर्णनेन च विरोध इति चेन्न। गोपाः समाययू राजन्निति बलिभिस्त्वरितं जग्मुः। पृथुश्रोण्य इति च कथनेन बृहद्वनस्थव्रजमलंकृत्य जन्मोत्सवदर्शनार्थं गमनलाभात्। रोहिण्या अपि तथैवागमनांगीकारात्। वासांचिद्गोपीनां व्रजं त्यक्त्वा सूतिकासंनिधौ स्थित्यभ्युपगमेन च न कश्चिद्विरोधः ॥ १५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अतिगम्भीरं रंहो यस्य स तेन रंहो वेगः स्वनेन साद्रिः सपर्वतः पर्वतावृता मही भूर्द्यौरन्तरिक्षं सा च सग्रहा नवग्रहसहिता रसा रसातलादिसप्तकं चचाल दिशः खं चेत्येतानि प्रतिनेदिरे प्रतिध्वनिं चक्रुः। वज्रनिपातशङ्कयाऽऽकस्मिक्या क्षितौ जनाः पेतुः ॥ १३ ॥ इत्थं प्राग्व्यथिता निशाचरी क्षितौ चरणौ भुजावपि प्रसार्य केशान्विकीर्य व्यसुर्विगता असवो यस्याः सा निजरूपं पुरातनपूतनाकारमास्थिता सती वज्रहतो वृत्रासुर इवापतत् ॥ १४ ॥ तद्देहस्तस्याः पूतनाया देहः पतमानः पतंस्त्रिगव्युत्यन्तरं द्रुमान्। गव्यूतिस्त्रीकोशयुतमित्यमरः। त्रिगव्युत्यन्तरे मध्ये विद्यमानाश्च ते द्रुमाश्च तांश्चूर्णयामासेति यत्तन्महदद्भुतमासीत् ॥ १५ ॥ ईषामात्रे लाङ्गलदण्डप्रमाणे। ईषा लाङ्गलदण्डः स्यादित्यमरः। उग्रे दंष्ट्रे यस्य तच्च तदास्यं वक्त्रं यस्य तद्गिरिकंदरवन्नासिका यस्य तद्गण्डशैलाविव स्तनौ यस्य तत्। शैलो भूभृतीत्यमरः। रौद्रं भीषणं प्रकीर्णा अरुणमूर्धजा यस्य तत् ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं स्वनकृतकार्येण वीर्यमाहात्म्यमुक्त्वा भगवदावृष्टानां प्राणानां पुनरावृत्तिमाशङ्क्य तत् परिहरन् पूतनायाः सर्वजनीनं मरणमाह निशाचरीति, इत्थं व्यथितस्तना व्यसुर्भूत्वापतत्, निशाचरीति कठिनप्राणत्वं निरूपितं, तादृश्याः शीघ्रं प्राणपरित्यागः

आश्चर्यहेतुर्भवति, रक्षसा व्यथां महतीमपि सहन्ते, तादृश्यपीत्थं **व्यथितस्तना** जाता, येन साङ्गे सम्पूर्ण एव शरीरे महान् क्षोभो जातः, ततः प्राणानपि त्यक्तवती, प्राणत्यागेपि वैकल्यात्, तदाह **व्यादाय मुखं केशांश्चरणौ भुजावपि प्रसार्य गोष्ठेवीरवद्भूमावपि** कृत्रिमरूपग्रहणकारणाभावाद् भगवत्सम्बन्धेन कृतार्थत्वा**न्निजरूपमास्थितापतत्**, तस्याः स्वरूपमत्यन्तं स्थूलं सर्वोपद्रवकारीति दृष्टान्तेनाह **वृत्र इवेति**, **वृत्र** स्वेच्छयापि पतति ततः पुनरुत्थानं भवेदिति **वज्राहत** इत्युक्तं **नृपे**तिसम्बोधनं महत्त्वेन विश्वासार्थं, मुखव्यादानादिकं प्राणोत्क्रमणार्थं न भवति किन्तु न हीनां वायुवशादाकर्षे तथा सर्वचेष्टा, मुखव्यादानेनैव देहक्लेशो निरूपितः, आदिमध्यावसानेषु क्लेशो जात इति वक्तुं **केशचरणभुजानां** ग्रहणं, **प्रसारणं** सत्त्वपरित्यागेन मुक्तिसूचकं, **निजरूपं** राक्षसं रूपं, यथा **वृत्रे** हते त्रयो लोकाः स्वस्थास्तथापूतनावधे जाता इति, एवमाध्यात्मिकपूतनाया मरणमुक्तं, आधिभौतिक्या भूमौ पातः ॥ १३ ॥

साधारणस्थितिर्लोके पूर्वाध्याये निवारिता । अविद्यापूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता ॥ १ ॥
अतः परं निरोधस्तु **गोकुले** सुगमो भवेत् । प्रपञ्चविस्मृतिः सा हि कृष्णासक्तिसमन्विता ॥ २ ॥

एवं पूतनाया वधमुक्त्वा काचित् स्त्र्यप्रयोजिका मारितेतिशङ्कां दूरीकर्तुं तस्या देहस्य मृतस्यापि महत्त्वमाह **पतमानोपीति**, अपिशब्देन कृत्रिमसामर्थ्ये ततोपि महद् रूपं भवतीति सूचितं, **त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान्** क्रोशषट्कमध्यस्थितवृक्षांश्चू**र्णयामास**तिभार-थौल्यमुक्तं लम्बतापयुक्ता, भगवद्वीर्यस्य स्पष्टत्वात्, लोके तदेव **महदद्भुतमासीत्**, अलौकिकात्मनेपदप्रयोगेण तद्देहदाह एव तानि काष्ठान्युपयोक्ष्यन्त इति ज्ञाप्यत एवञ्च भगवदिच्छयेति च, गोकुलवासिनां गव्यूतिरेव प्रसिद्धा, त्रिगव्यूत्यधिको देशस्तैर्न दृष्ट इति तावदेवोक्तं, **राजेन्द्रे**ति, इन्द्रेण वृत्रवधः कृत इति तन्नाम्ना सम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥१४॥ तद्रूपमवयवशो वर्णयतीषेतिद्वाभ्यां, **ईषा** लाङ्गलदण्डश्चतुर्हस्तः **ईषामात्रोग्रा दंष्ट्रा** यस्मिन्नास्ये, **अनेन** तत्र कृषीवलानां दण्डस्थानीया एव दंष्ट्रा जातेत्युक्तं, **तादृशमास्यं** यस्मिन् रूपे, **गिरेः कन्दर**प्राया **नासिका** यस्य, क्रीडास्थानं तज्जातमिति, **गण्डशैलाः** पर्वताच्च्युताः स्थूलाः पाषाणाः, **गण्डशैलाविव स्तनौ** यस्य, **प्रकीर्णा अरुणवर्णा मूर्धजा** यस्य ॥ १५ ॥ **अन्धकूपवद् गभीरे अक्षिणी** यस्य, **पुलिनवन्** नदीसैकतप्रदेशवदारोहस्थानं जघनभागस्तद् **गुह्येन भीषणं** भयानकं, **बद्धाः सेतव इव भुजावूरू अङ्घ्रो** यस्य, **शून्यं तोयं** यस्मिन् तादृश**ह्रदवदुदरं** यस्य, नव विशेषणानि प्राकृतगुणानां सर्वेषां समवायार्थानि, अविद्या हि नवधा भीषिका ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

ननु भगवत्यागते गोकुले सर्वोत्कर्षवर्णनमेवोचितम्, न त्वेतादृशोपद्रवस्येत्याशङ्क्य पूतनावधोक्त्याऽलौकिकेभ्य उत्कर्ष उक्त इति वक्तुमुत्कर्षस्य च लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधत्वाल्लौकिकः स पूर्वाध्यायेनोक्त इत्याहुः **साधारणस्थितिरिति** ॥१३॥ तादृगुत्सवेन तत आरभ्येति वाक्येन गोकुल इति पदात्तदतिरिक्ते तदभावः सूचित इति तत्रैवोत्पातोक्त्या च लोकसाधारणी स्थितिर्गोकुलस्य तथेत्यर्थः । तेन लौकिकेभ्य उत्कर्ष उक्तो भवति । अलौकिकेभ्य उत्कर्षमाहुः **अविद्येति** । अत्रायं भावः । सा हि स्वरूपाज्ञानदेहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासलक्षणपञ्चपर्वात्मिका । तत्र 'तत्प्रभया धर्षिते निरीक्ष्यमाणे अतिष्ठता'मित्युक्त्या जनन्यो-स्तत्कृतस्वस्वरूपविस्मृतिरुक्ता । ततो नष्टायां तस्यां सर्ववृत्तान्तानुभवे सत्यसमत्तूष्णींस्थित्यैतादृशमभवत्कार्यमित्यतः परं सावधानतया भगवद्रक्षा कार्या, अन्या काप्यत्र न प्रवेशनीयेत्यवधृतिरभूदिति । तयोर्जननीत्वधर्मो यादृशस्तादृशो ह्यागत इति निरोधरूपस्मृति-रुक्ता भवति । गोपानां च रक्षकत्वेन स्थापितानां तद्रूपजमोहेनोक्तस्वरूपविस्मृतिरभूत । ततश्च जननीवदेतेषामपि भावो ज्ञेयः । एतेषां स्त्रीरूपेण मोहाद्धि तदनिवारणम् । तत्र च पुंस्त्वमेव हेतुरिति देहाध्यासस्य तदनिवारणे हेतुत्वमायाति । तस्यां सौन्दर्य-मल्लिकादिसत्त्वेन रूपगन्धादिभिर्मनोहरणे चेन्द्रियाध्यासस्तथा । वज्रनिपातशङ्कायां भगवानधुना क्वास्ति कथमस्ति इति विचार एवोचितस्तमकृत्वा स्वप्राणरक्षार्थं क्षितौ पातस्तदध्यासहेतुकः । व्रजसीमन्तिनीनामन्तःकरणे भगवत्सम्बन्धसत्त्वेन तस्यैवात्रापि स्फुरणेन तदवारणमभूदित्यन्तःकरणाध्यासस्य तद्धेतुत्वम् । तथाचैवं तूष्णींभावस्य तन्मारणानन्तरं भगवद्नामिस्वानिष्टपर्यवसा-यित्वं दृष्ट्वा यथाकथञ्चित् कुशलिनं प्रियं प्राप्य पश्चात्तापयुक्ताः सन्तोऽतः परं नैवं स्थेयं, किन्तु तत्परतयैवेति ज्ञानमभूदिति सुष्ठू-क्त'मविद्या पूतना नष्टा,' 'अतःपरं निरोधः सुगम' इति च । अत एव व्रजौकसां साधारणानां गोपीनां जनन्योश्च भावा उक्ताः । अत एवाग्रे 'सन्तत्रसु'रित्युक्त्वा 'गोप्यस्तूर्णं जगृहु'रित्युक्तम् । कृष्णासक्तिसमन्विता प्रपञ्चविस्मृतिः । सा निरोधरूपेत्यर्थः ॥ १४ ॥ **ईषामात्रे**त्यत्र, **अनेने**ति । हस्तादिमानं हित्वेषामात्रत्वकथनेनेत्यर्थः । कन्दराद्युपमाने हेतुमाहुः **क्रीडे**ति । तत् तस्याः शरीरम् । 'तस्या उरसि क्रीडन्त'मिति वाक्यात्तथाजातमिति क्रीडायोग्यस्थानैरुपमीयत इत्यर्थः । तज्ज्ञानेन्द्रियं दुष्टमिति तथोपमा ॥ १५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

निशाचरीत्यत्र**साङ्ग** इति प्रत्यङ्गपीडाबोधनार्थः, मूले **व्यादाये**त्यादिना तथोक्तत्वात्, ननु मूले गोष्ठ उत्पातादिकथ-नस्य किं प्रयोजनमित्यत आहु**र्गोष्ठ** इत्यादि, **अवीरवद्भूमौ** गवां वृषाणां वत्सानां च चरणार्थं वने गतत्वात् तैः सह गोपिकापति-पुत्राणामपि चारणार्थं गतत्वा**दवीरवती** पतिपुत्ररहिता भूमिर्यस्मिंस्तादृशे गोष्ठे कृत्रिमरूपग्रहणस्य **कारणं** मायारूपो भगवांस्तस्या-भावात् तत्रापि हेतुर्भगवत्सम्बन्धेनाधिदैविकरूपायाः कृतार्थत्वान् निजं राक्षसरूपमास्थिता सत्यपतत्, तथा च तद्देहस्य पाते

कस्यापि चेतनस्य जङ्गमस्य क्लेशो न जात इतिबोधनार्थं **गोष्ठपद**कथनं, किञ्चान्तः सूतिगृह एव निजरूपास्थाने तत्र तस्य मातुमशक्यतया गृहावरणादिभङ्गप्रसक्तिरिति तदनुक्त्या व्यथितस्तना सा भगवत्सहितैव ततो बहिरन्तर्गोष्ठे **निजरूपमास्थिता** जातेतिबोधनार्थं च तत्कथनमित्यर्थः, तदेव व्युत्पादयन्ति **तस्या** इत्यादि, **व्यादाना**द्युक्तिप्रयोजनमाहुर्**मुख**इत्यादि, न भवतीति स्तन्यद्वारैव भगवता प्राणानां ग्रहणान् **न भवति, सत्त्वपरित्यागे**नेति **सत्त्वं** देहे प्राणानां विद्यमानता तत्परित्यागेन, एवमाध्यात्मिकेत्यादि यदुक्तं तदाशयं टिप्पण्यामाहुः **प्राणै**रित्यादि, **तद्भेदा** इत्याध्यात्मिकादि**भेदाः**, तथा **चाधिदैविकी** भगवत्येव प्रविष्टा, आध्यात्मिकी तु 'सलिङ्गा सा व्यसुरभूत्' प्राणा इन्द्रियाणि च भगवति लीनानि शेषापतदिति बोध्यम्, **अत एवे**त्याध्यात्मि**कया** मारणा**देव**, **मर्म**शब्दस्य 'मृङ् प्राणत्याग' इत्यतो निष्पत्तेः सर्वजीवप्राणत्यागस्थलोक्तिरित्यर्थः, **'चरित्रमद्भुतं शास्त्र'** इत्यादिना यदुक्तं तदिदानीं **कारिका**द्वयेन व्युत्पादयन्तीत्याशयेनाहु**र्नन्वि**त्यादि, **तथे**ति वारिता, प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाहुरलौकिकेभ्य इत्यादि, **अलौकिकेभ्य** इतिशुकसनकादिभ्यः, तथा चैतेन चरित्रेणालौकिक**साधारण्य**पि **गोकुलस्थिति**र्वार्यत इत्यर्थः, नन्वविद्यायाः पञ्चपर्वसु विविक्तजीवस्वरूपस्य यदज्ञानं तत् स्वरूपाज्ञानं देहादिषु या आत्मत्वेन बुद्धयस्ताः पर्वान्तराणीति हि शास्त्रे स्थितं तत्पञ्चकं तु गोकुलस्थेषु दृश्यत एवेति कस्तस्या नाशःकथं चैतेषामुत्कर्ष इत्याकाङ्क्षायामाहु**रत्रायं भाव** इत्यादि, मूलाविद्या ह्युक्तपञ्चपर्वात्मिका सात्र नष्टात्वेन नाभिप्रेता किन्तु तूलाविद्या शुक्तिरजतादिस्थले यत् शुक्त्याद्यज्ञानरजताद्यध्यासश्च तद्यथा तस्याः कार्यं तथा स्वदेहादावपि भयकामादिना मोहे स्वात्माज्ञानाद्यपि तत्कार्यमिति द्रष्टव्यम्, एवं सति प्रकृते मातृचरणप्रभृतीनां ये स्वरूपाज्ञानादय उक्तास्ते तस्या एव कार्याणि पर्वरूपाणि पूतनानाशे च ते सर्वे निःशेषं निवृत्ताः, यद्यपि ते भिन्नभिन्ननिष्ठा उक्तास्तथाप्युपलक्षणविधया सार्वत्रिका एव ज्ञेया इति ज्ञातव्यम्, एवं स्वविवक्षितरूपे स्वरूपज्ञानादौ जाते निरोधस्तेषां जातः, तदेतदाहुस्**ततश्च जननीवदेतेषामपि भावो ज्ञेय** इति गोपानामपि सावधानत्वेन **रक्षाकर्तृभावो ज्ञेय** इत्यर्थः, **तदध्यासहेतुक** इति प्राणाध्यासहेतुकः, एवं तस्याः पर्वाणि तेषां निवृत्तिं चोक्त्वा निगमयन्ति **तथा** चेत्यादि **ज्ञानमभू**दित्यन्तं, तदेतत् सुबोधिन्यां निगमयन्ति सुष्ठूक्तमित्यादि, तथा चायं **कारिका**र्थः, पूर्वं "जायमाने जनार्दन"इत्यत्र सर्वाविद्यानाशकस्य प्रादुर्भाव उक्तस्तत्कार्यमविद्यानाश इति साविद्या पूतनानेन चरित्रेण नष्टा सती "कटधूमस्ये"त्यत्र वक्ष्यमाणेन **गन्धमात्रेणावशेषिता** स्थापिता, **अतः परं** तन्नाशनगन्धस्थापनयोरनन्तरं गोकुले **निरोधः सुगमो भवे**दिति, **अत एवे**ति तस्या अविद्यात्वा**देव**, **उक्ता** इति सुबोधिन्यामुक्ताः, **अत एवा**ग्र इति निरोधसौगम्या**देव**, **कारिका**शेषं व्याकुर्वन्ति **कृष्णे**त्यादि, हिर्हेतौ, तथा च यतो हेतोर्निरोधरूपा सा तथातोहेतोरलौकिकसनका**दिसाधारणी स्थितिर्गोकुलस्यानेन** चरित्रेणात्र वारिता शुकादीनामेवं निरोधस्य क्वाप्यनुक्तत्वादितिभावः, न चास्यां नष्टायामपि मूलाविद्यापर्वणां देहाध्यासादीनां व्रजस्थेषु दर्शनात् कथं तन्नाशोवगन्तुं शक्य इति शङ्क्यम्, अस्या मूलाविद्याया अपि भिन्नत्वात् तृतीयस्कन्धे विंशाध्याये "ससर्जच्छाययाविद्या"मित्यत्र तस्याः पूर्वाविद्याभिन्नत्वेनोक्तत्वात् तत्**सु**बोधिन्यां तस्या लीलोपयोगित्वस्य दिङ्मात्रेणोक्तत्वाच्च, अतः **साधारणी ने**ति न किञ्चिदनुपपन्नमितिदिक् ॥ १३ ॥ **पतमानोपी**त्यत्र **कृत्रिमसामर्थ्ये ततोपी**ति कृत्रिमरूपकरण**सामर्थ्ये** सति साहजिकादपि यथा म्रियमाणेन घटोत्कचेनाक्षौहिणीपरिमितसैन्यनाशकं शरीरमाकाशे गत्वा कृतं तद्वत्, **अलौकिकात्मनेपदप्रयोगे**णेति **पतमान** इति**प्रयोगेण**, **अत्रायं भावः**, कर्तृगामिनि क्रियाफले सत्यात्मनेपदं भवति नष्टेयं तु लीलार्थं वर्तमानाविद्या तत्कार्याविद्यापर्वनाशः, तथा चात्रा**लौकिकात्मनेपदप्रयोगेण** पतनक्रियाफलं देहे महत्त्वमात्रं स्यात्, एवं तु पतनक्रियाजन्यशकलीभावशालिवृक्षजवह्निजन्यफलं दाहरूपं देहे ज्ञापितं भवतीति तथोक्तमित्यर्थः । **अलौकिकप्रयोगे** ह्यंशद्वयं तेन किञ्चित् फलं परस्मै किञ्चिदात्मन इति तथा, **प्रसिद्धे**त्यत्र हेतुमाहु**स्त्रिगव्यूती**त्यादि ॥ १४ ॥ ईषेत्यत्रानेनेत्यारभ्या**क्षिणो यस्ये**त्यन्तस्य तात्पर्यमाहुष्टिप्पण्या**मनेने**त्यादि **तथोपमे**त्यन्तं **तथोपमे**त्यन्धकूपोपमा, सुबोधिन्यां **सर्वेषा**मित्यादि सत्त्वरजस्तमःकामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणामविद्यागुणानां प्रतिजीवं भिन्नानां यः समवाय एकत्रस्थितिस्तत्प्रयोजनकानि, नन्वेवं विशेषणतात्पर्योक्तौ किं कारणमत आहु**रविद्या ही**त्यादि ॥ १५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

निशाचरीत्यस्याभासे **पूतनाया** इति आधिभौतिक्या इतिशेषः, सर्वजनीनं मरणं भूमौ पात इत्यर्थः, उपसंहारे तथोक्तत्वात्, व्याख्याने, **साङ्गे** इति नेत्रचरणभुजसहिते इत्यर्थः, अयं सर्वोपि पूर्वानुवादो **मूले आ**स्थितेत्यन्तेनोक्तः, एतद्वाक्यार्थस्तु पात उक्तः, **मुखव्यादानादिक**मिति प्राणोत्क्रमस्तु स्तनद्वारैव जात इतिभावः, **सत्त्वपरित्यागे**नेति सत्त्वे सति परित्यागः प्राणानामिति शेषः, सत्त्वावस्थायां प्राणपरित्यागे **मुक्तिर्भ**वति, "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था" इतिवाक्यात्, प्रसारणमवयवानां यथास्थानां स्थितिः **सत्त्वावस्था**, "यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत सत्त्वं विद्धि मत्पद"मितिवाक्यात् ॥१३॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अविद्या पूतना नष्टेतिकारिका, तत्र पूतनाया अविद्यात्वं कृष्णोपनिषत्सूक्तं, तथा च श्रुतिः "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णावतारे ये दैत्या हतास्ते सर्वे लोभादिष्वन्यतररूपा इत्यर्थः, दैत्यपदेन पूतनापि ग्राह्या, दैत्योत्पन्नत्वात्, अत एव

बकभगिनीत्वं, तत्र यस्मिन् दैत्ये यस्य दोषस्य सादृश्यमायाति स तद्दोषात्मक इतिनिर्णयः, तत्र पूतनाया अविद्यासादृश्याद्विद्यारूपतोक्ता, अविद्यासादृश्यं श्रीमत्प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां विवृतं, अतो ह्यविद्यारूपोक्तिः सूपपन्नैव, **पतमानोपि तद्देह** इत्यस्य विवृतौ, अलौकिकात्मनेपदप्रयोगेणेति पत्लृ गतौ इति धातोः परस्मैपदित्वात् **पतमान** इति प्रयोगो लोके न भवति, शानचः आत्मनेपदत्वात् , अतोयमलौकिकः प्रयोग इति तेन आत्मगामि फलमपेक्षितं, तदाहुः तद्देहदाह **एव तानि काष्ठान्युपयोक्ष्यन्त इति** ज्ञाप्यत इति ।। १४ ।।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

निशाचरीत्थमित्यत्र साधारणस्थितिरिति का० ।। २१¾ ।। तादृगुत्सवेन "तत आरभ्य नन्दस्ये"ति वाक्येन श्रीगोकुलस्योत्कर्षोक्त्या तत्रैव "सन्त्युत्पाताश्च गोकुल" इत्युत्पातोक्त्या च **गोकुलस्य लोकसाधारणी स्थितिर्वारिता, अविद्येति** गोकुलस्थानामविद्यारूपा **पूतना नष्टा, गन्धमात्रेति** "कटधूमस्य सौरभ्य"मितिवक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः, तेन भक्तेष्वपि सेवोपयोगिसंसारः स्थापित इतिभावः, **अतः परमिति** का० ।। २२¾ ।। **अतः परं** पूतना नाशोत्तरं **सेति** निरोधरूपेत्यर्थः ।। २२¾ ।।

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

आचार्यचरण कहते हैं कि **एवं स्वेन कार्येण**—इस प्रकार पूतना की भारी आवाज से हुए कार्य से भगवान् के वीर्य ऐश्वर्य का माहात्म्य कह कर भगवान् ने खींचे हुए पूतना के प्राणों के पूतना में पुनः प्रवेश की शंका का निवारण करने के लिये सम्पूर्ण मरण का वर्णन, 'निशाचरी श्लोक से करते हैं ।

इस तरह, स्तनों की व्यथा से व्याकुल पूतना प्राण रहित हो गिर गई । राक्षसी शब्द से बताया कि राक्षसों के प्राण कठिन होने से शीघ्र नहीं निकलते हैं परन्तु राक्षसी होते हुए भी उसके प्राण शीघ्र निकलना आश्चर्यजनक है । राक्षस तो घोर पीड़ा भी सहन कर सकते हैं, किन्तु भगवान् द्वारा स्तन पकड़ने से, भारी पीड़ा हुई कि वह राक्षसी होते हुए भी स्तन पीड़ा पीड़ित होने से शरीर के प्रत्येक अंग में घबराहट हुई, जिससे उसने प्राणों को भी छोड़ दिया । घबराहट के कारण, प्राण छोड़ने से मुख खुल गया, बाल बिखर गये और हाथ पैर फैल गये । मायारूप भगवान् न होने से, कृत्रिम रूप न रहा; भगवान् के सम्बन्ध से कृतार्थ हो उसने असली रूप पाया । वीरों के समान अवीर भूमि गोष्ठ में गिर गई । श्रीपुरुषोत्तमजी 'अभूमि' बिना वीरों की भूमि का तात्पर्य कहते हैं कि व्रज के बाल प्रौढ आदि सब गोप गौ और वत्सों को चराने बन में गये थे इसलिए पुरुष लोग वहाँ नहीं थे इस हेतु को लक्ष्य में लेकर 'अवीर भूमि' ऐसा सुबोधिनीजी में उल्लेख किया है । इसका स्वरूप असीमित स्थूल सबको उपद्रव हानि करने वाला है, यहाँ वृत्रासुर का दृष्टान्त देकर यह समझाया है कि वृत्र अपनी इच्छा से गिरकर, फिर उठता था इसलिये वज्र से मारे हुए वृत्र का दृष्टान्त देकर यह बताया कि यह भी वैसे ही गिरी जैसे वज्र से मारा हुवा वृत्र गिर कर फिर न उठ सका, तैसे इसमें फिर प्राण न आये । 'नृप' शब्द का रहस्य है कि राजन् आप श्रद्धालु और महान् हो, इसलिये इस चरित्र को सद्रूप से समझोगे ।

प्राणों के उत्क्रमण के अवसर मुख खुलना, काया में कम्प होना आदि क्रियाएँ न हुई थी, किन्तु वायु द्वारा नाड़ियों के आकर्षण के कारण यह सब चेष्टा हुई थी । मुख खुल जाने से ही देह क्लेश होना बताया । केश, चरण और भुजाओं के स्वरूप के वर्णन से यह बताया कि पूतना को प्रथम, मध्य और अन्त के तीनों कालों में क्लेश हुआ । प्रसार्य पद से सत्त्वगुण से प्राण परित्याग बता कर, मुक्ति का सूचन किया । निज राक्षस रूप छोड़ जैसे वृत्र के मरने पर तीनों लोक सुखी हुए तैसे ही पूतना के मरने से भी सब प्रसन्न हुए । भगवान् में प्रविष्ट होना वही आध्यात्मिक पूतना के मरण का वर्णन यहाँ किया । आधिभौतिक पूतना पृथ्वी पर गिरी । इस विषय में प्रकाशकारजी स्पष्टता करते हैं कि आधिदैविक पूतना का भगवान में प्रवेश प्रथम कहा गया है यहाँ आध्यात्मिक पूतना के लिंग देह सहित प्राण और इन्द्रियादिक का भगवान में प्रवेश बताया है, और आधिभौतिक रूप शेष पूतना का शरीर धरणी पर गिरा ।। १३ ।।

कारिकाः—**साधारणस्थितिर्लोके पूर्वाध्याये निवारिता । अविद्यापूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता ।। १ ।।**
अतः परं निरोधस्तु गोकुले सुगमो भवेत् । प्रपञ्चविस्मृतिः सा हि कृष्णासक्तिसमन्विता ।। २ ।।

कारिकार्थ—पंचम अध्याय में यह बताया है कि लोक में गोकुल को स्थिति साधारण नहीं थी, लेकिन गोकुल का कुछ महत्त्व था कारण कि वहाँ नन्द-महोत्सव से हर्ष था और उत्पात से खेद था, अविद्या रूप पूतना का नाश हुआ किन्तु केवल उसकी गन्ध रही ।। १ ।। अब पूतना के नाश के बाद गोकुल में रहने वालों का निरोध सरल रीति से होगा । कारण कि अब व्रजवासियों को भगवान् कृष्ण में आसक्ति संयुक्त प्रपञ्चविस्मृति होने लगी है ।। २ ।।

श्री टिप्पणीकारजी कहते हैं कि आनन्दकन्द श्री कृष्ण चन्द्रजी के पधारने पर तो गोकुल में सर्व प्रकार से उत्कृष्टता का वर्णन करना चाहिये था न कि उपद्रवों का । फिर क्यों उपद्रवों का वर्णन किया ? तब कहते हैं कि उत्कर्ष दो प्रकार का

होता है—एक लौकिक दूसरा अलौकिक। लौकिक उत्कर्ष पांचवे अध्याय में नन्दमहोत्सव से बताया है कि ऐसा उत्सवानंद दूसरे स्थान में नहीं हुआ एवं वहाँ उत्पात होने के कारण ही गोकुल की साधारण स्थिति कही गई है। इससे लौकिक उत्कर्ष कहा गया। अब अविद्या पूतना से गोकुल का अलौकिक उत्कर्ष बताते हैं। वह पूतना "स्वरूपविस्मृति-देहाध्यास-इन्द्रियाध्यास-प्राणाध्यास-अन्तःकरणाध्यास" रूप पांच पर्वात्मिका अविद्या है। उसके प्रत्येक पर्व के सामर्थ्य का निर्देश किया जाता है:—

१. स्वरूपविस्मृति—श्री यशोदा जी और श्री रोहिणीजी पूतना के तेज से प्रभावित हो गई निज मातृस्वरूप को विसर गई इससे पूतना को रोका नहीं और नन्दलाल को गोद में लेने दिया। जब प्रभुने पूतना का नाश किया तब दोनों माताओं को अपने स्वरूप का अनुसंधान हुआ उन्हें ज्ञात हुआ कि हमारे मौन रहने से इस पूतना राक्षसी ने ऐसे ऐसे कार्य किये इसलिये अब हम लालन की रक्षा में सावधान रहेंगी जिससे दूसरी कोई भी ऐसी स्त्री यहाँ न आ सके, ऐसा दृढ़ विचार किया और यथार्थ मातृत्व धर्म हृदय में प्रगट हुआ। भगवान् ने अविद्यारूप पूतना का नाश कर माताओं का निरोध किया और रूप 'स्वरूपस्मृति' कराई।

२. देहाध्यास—भगवान् की रक्षा के लिए नियुक्त गोप भी, पूतना के सौन्दर्यपूर्ण स्त्रीरूप पर मोहित हो गये और अपने देहाध्यास के कारण अपना रक्षक स्वरूप को भूल गये, उन्होंने पूतना को आने से रोका नहीं। जब प्रभुने पूतना का नाश किया तब गोप अपनी भूल समझने लगे और भगवान् की रक्षा में तत्पर रहने लगे। इस प्रकार गोपों की भी स्वरूप स्मृति रूप निरोध सिद्ध हुआ।

३. इन्द्रियाध्यास—पूतना का सौन्दर्य एवं वेनी में गूँथे हुए मल्लिकादि पुष्पों की सुगन्ध से गोपगण मुग्ध हो गया यह इन्द्रियाध्यास गोपों का हुआ जिससे भी पूतना को रोकने की क्रिया न कर सके।

४. प्राणाध्यास—गोपों को जब भूतल पर वज्र के गिरने का संदेह हुआ, तब उनका कर्त्तव्य था कि नन्द लाल की खोज करनी चाहिये कि श्रीकृष्ण कहाँ है? किस स्थिति में है? ऐसा न कर अपने प्राणों के रक्षण में लग गये, गोपों ने यह कार्य **प्राणाध्यास** के कारण किया। पूतना की दृष्टि द्वारा अविद्या उनके भीतर घुस कर, उनमें 'प्राणाध्यास' उत्पन्न किया, जिससे वे कृष्ण की चिन्ता न कर, अपने प्राणों की चिन्ता करने लगे।

५. अन्तःकरणाध्यास—गोपिकाओं के अन्तःकरण में भगवत्सम्बन्ध होते हुए भी पूतना के रूप को लक्ष्मी रूप समझा, जो न रोका, उसका कारण अन्तःकरणाध्यास था।

एवं पूतनाया इस प्रकार पूतना के वध का वर्णन कर, अब यदि किसी के हृदय में ऐसी शंका उत्पन्न हो जाय कि भगवान् ने विना प्रयोजन एक स्त्री को मार दिया, तो उस संदेह के समाधान के लिये आगे **'पतमानोऽपि'** श्लोक से कहते हैं कि उस मरी हुई पूतना की देह भी कैसी भयंकर थी! श्लोक में **पतमानोऽपि** वाक्य में **अपि** शब्द से इस शङ्का का निवारण करते हैं कि पूतना साधारण स्त्री न थी, किन्तु सामर्थ्यवता एवं भयंकर तथा बालहत्यारिणी थी। वह इतनी तो समर्थ थी जो प्रथम कृत्रिम रूप बनाया और मृत्यु के समय भारी वजनदार रूप बना दिया, जिससे छः कोस के पेड़ चूर्ण हो गये। यहाँ प्रकाशकार कहते हैं कि पूतना निजी शक्ति से कृत्रिम आकृति बना सकती थी गोकुल आने के समय लक्ष्मीजी के समान रूप लिया, मरने के समय भी घटोत्कच के समान बड़ा रूप धारण किया। जैसे घटोत्कच ने मरते समय आकाश में जाकर एक अक्षौहिणी सेना का चूर्ण करने योग्य महत् रूप बनाया था, वैसे ही पूतना ने भी मरते समय छः कोस का रूप बना लिया। जिसने देखे वे अचंभे में डूब गये तथा भयवश कहने लगे कि यह जीती तो अन्य बालकों को दुःख देती। इसलिये पूतनावध व्यर्थ नहीं किया गया किंतु अन्य बालकों की रक्षा के लिये आवश्यक था।

छः कोस के घेरे के वृक्षों के चूर्ण हो जाने से, पूतना के देह की स्थूलता लम्बाई और भार का परिज्ञान हो जाता है। इस महान् अद्भुत लीलाकार्य से, भगवान् के द्वितीय धर्म वीर्य गुण का महत्व स्पष्ट समझ में आ जाता है। **'चूर्णयामास'** इस अलौकिक आत्मनेपद की क्रिया के प्रयोग का तात्पर्य यों समझ में आता है कि पूतना की देह के जलाने में ही ये काष्ठ काम आएँगे। श्री पुरुषोत्तमजी **'अलौकिक आत्मनेपद'** का तात्पर्य कहते हैं कि यों तो आत्मनेपद तब दिया जाता है जब क्रिया का फल करने वाले को मिले, लेकिन यहाँ क्रिया का फल करने वाले को और दूसरों को भी मिला है। भाव यह है कि गिरने की क्रिया हुई उसका फल वृक्षों को मिला वे चूर चूर हो गये और पूतना को भी मिला कि उन चूर्ण हुई लकड़ियों से वह जलाई गई। इसलिये श्रीआचार्यचरणों ने कहा है कि यह आत्मनेपद अलौकिक है। यह सब भगवान् की इच्छा से हुआ। गोकुल-वासियों ने छः कोस से विशेष देश देखा ही नहीं है उनमें 'गव्यूति' शब्द ही प्रसिद्ध है इसलिये इतना ही कहा गया है। राजा को शुकदेवजी ने इस श्लोक में 'राजेन्द्र' यह सम्बोधन, विश्वास के लिये दिया है कि इन्द्र ने वृत्र का वध किया आप भी राजाओं में इन्द्र हो इससे आप भी विश्वास रक्खो॥ १४॥

तद्रूपमवयवशो वर्णयति—श्रीशुकाचार्यजी दो श्लोकों में पूतना के रूप का वर्णन करते हैं। उसके मुंह में चतुर्हस्त लम्बी किसानों के हल के दण्डे के समान भयानक दाढ़ें थीं, पर्वत की गुफा के समान नाक थी, पर्वत से गिरे बड़े पाषाणों के समान स्तन थे, बिखरे हुए लाल केश थे, जलशून्य गहरे कूप जसे नेत्र थे, नदी के रेतीले करारों के समान जघन भाग उसके गुह्यभाग के कारण भयंकर था, पुल के बाँध जैसे बाहु, जांघ और पाँव थे, और जलरहित तालाव सदृश पेट था। यहाँ पर पूतना के शरीर के वर्णन में नव विशेषणों से प्राकृत नव गुणों का समावेश बताया और नव विशेषण का तात्पर्य बताते हैं कि अविद्या नव प्रकार से डराती है। श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि सत्त्व-रज-तम काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य ये नव पूतना के नव प्राकृत दोष हैं। पूतना अविद्या है इसलिए यह पूतना भी नव अवयवों से डराने वाली हुई॥ १५-१६॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

आकृष्टानां प्राणानां पुनरावृत्तिमाशङ्क्य सर्वजनीनं तस्या मरणमाह—निशाचरीत्थमिति। इत्थं प्रपीडनेन व्यथितस्तना प्राणाकर्षणेन नाडीनामप्याकर्षणात् मुखं व्यादाय उद्वाल्य मृत्युपीडया स्वमायाधारणायां सामर्थ्याभावान्निजरूपं राक्षसीरूपमास्थिता व्यसुःप्राणविहीना केशान् चरणौ भुजावपि प्रसार्य वज्रेणाहतो वृत्रासुर इव गोष्ठे व्रजे अपतत्। नृपेति सम्बोधनं विश्वासार्थम्॥ १३॥ तस्या अल्पत्वशङ्कानिरासार्थं देहस्य महत्त्वमाह—पतमानोऽपीति। पतन्नपि तस्या देहः त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् षट्क्रोशमध्यवर्तिनो वृक्षान् चूर्णयामास। अपिशब्देन कृत्रिमसारूप्यदशायां तु ततोऽपि महान् भवितुमर्हतीति सूचितम्। यद्वा न केवलं जीवन्नेव जीवान् जघान, किंतु पतन्नपीति सूचितम्। तद्रोमनुष्यादीन् विहाय द्रुममात्रं चूर्णीकरणं महदद्भुतमाश्चर्यमासीत्॥ १४॥ रौद्रं भयंकरं तत् कलेवरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च तत्रसुरिति तृतीयेनान्वयः। रुद्रत्वहेतुभूतानि विशेषणान्याह—ईषालाङ्गलदण्डः, तत्प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तदास्यं यस्मिंस्तत्। गण्डशैलौ गिरेश्च्युतौ स्थूलोपलौ, ताविव स्तनौ यस्मिंस्तत्। प्रकीर्णा अरुणा मूर्धजाः केशा यस्मिंस्तत्॥ १५॥ अन्धकूपाविव गम्भीरे अक्षिणी यस्मिंस्तत्। पुलिनवदारोहौ जघने, ताभ्यां भीषणम्। बद्धाः सेतव इव भुजौ ऊरू अङ्घ्री च यस्मिंस्तत्। शून्यतोयह्रद इव उदरं यस्मिंस्तत्॥ १६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

निशाचरीति॥ हे नृप! इत्थं प्रपीडनेन व्यथितस्तना निशाचरी पूतना मुखं व्यादाय उद्वाल्य निजरूपम् उलूकपक्षिणीरूपं राक्षसीरूपं वा आस्थिता मृत्युसमये पीडितया तया स्वमायां रक्षितुमशक्यत्वात् व्यसुः प्राणविहीना केशान् चरणौ भुजावपि प्रसार्य वज्रेण हतो वृत्रासुर इव गोष्ठे व्रजे तत्समीपदेशे अपतत्॥ १३॥ पतमानोऽपीति॥ हे राजेन्द्र! पतमानः पीडावेशाद् ग्राममप्युल्लङ्घ्य तद्बहिः पतन्नपि। आर्षः शानच् चानश् वा। तस्या देहः त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् षट्क्रोशमध्यवर्तिनो वृक्षान् चूर्णयामास! तत् चूर्णनं महत् अद्भुतम् आश्चर्यमासीत्। द्रुमाश्च ते कंसारामस्थास्तद्भोग्यफला इति तोषणी। दुष्टः स्वयं म्रियमाणोऽपि परान् मारयति इति सूच्यते॥ १४॥ ईषामात्रेति त्रयम्॥ ईषा लाङ्गलदण्डस्तत्प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तदास्यं यस्मिंस्तत् गिरेः कन्दरे इव नासिके यत्र तत् गण्डशैलौ गिरेश्च्युतौ स्थूलोपलौ ताविव स्तनौ यस्मिंस्तत् प्रकीर्णा अरुणा मूर्धजाः केशा यस्मिंस्तत्। उलूकपक्षिणीपक्षे केशस्तनादिमत्त्वम् उलूकस्य प्रायो नरसाम्यात्स्यात्स्यादिति काशीनाथोपाध्यायः। अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिंस्तत् पुलिनवदारोहौ जघने ताभ्यां भीषणं बद्धाः सेतव इव भुजौ ऊरू अङ्घ्री च यस्मिंस्तत् शून्यतोयह्रद इव उदरं यस्मिंस्तत् रौद्रम् उग्रं तत्कलेवरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च तत्रसुः। पूर्वं तु तस्याः निःस्वनितेन शब्देन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि येषां तादृशा अभूवन्। पूर्वं तु तन्निष्ठुरनादेन तत्रसुरधुना च बालवृत्ताज्ञानेन तादृक् देहवीक्षणेन च सम्यक् त्रस्ता इत्यर्थः। स्म प्रसिद्धौ॥ १५-१७॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

निशाचरी राक्षसी व्यसुः गतप्राणा व्यादाय वदनं विवृत्य निजरूपं राक्षसीरूपम् आस्थिता आश्रिता सती वज्रेण इन्द्रशस्त्रेण आहतो वृत्रासुर इव गोष्ठ गोकुले अपतत्॥ १३॥ पतमानः पतन्नपि तस्या देहः त्रिगव्यूत्यंतरद्रुमान् षट्क्रोशमध्यस्थान् वृक्षान् गव्यूतिः क्रोशयुगलम्॥ १४॥ ईषामात्रा लांगलदंडप्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिन्नेवंभूतं आस्यं मुखं यस्मिंस्तत् इत्यादि नवविशेषणविशिष्टं तस्याः कलेवरं देहं वीक्ष्य गोपादयः संतत्रसुरिति तृतीयश्लोकेन संबंधः। गिरेः कंदरा गुहा तत्तुल्ये नासिके नासाविवरे यस्मिंस्तत् गंडशैलौ गिरेश्च्युतौ स्थूलपाषाणखंडौ तत्तुल्यौ स्तनौ यस्मिंस्तत् रौद्रं भयानकं प्रकीर्णा अरुणा मूर्धजाः केशा यस्मिंस्तत्॥ १५॥ यौ अंधकूपौ तत्तुल्ये गभीरे अक्षिणी यस्मिंस्तत् पुलिनतुल्यौ आरोहौ जघने ताभ्यां भीषणं बद्धाः सेतव इव भुजौ च ऊरू च अंघ्री च यस्मिंस्तत् शून्यतोयह्रदोदरं जलवर्जितह्रदतुल्यम् उदरं यस्मिंस्तत्॥ १६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तस्या इति॥ अतिगभीरमत्यन्तं गभीरं रंहो वेगो यस्य तेन, तस्याः स्वनेन, साद्रिः सपर्वता, मही भूमिः, सग्रहा ग्रहैः सह वर्त्तमाना, द्यौर्दुर्लोकश्च, चचाल। रसा रसातलानि, दिशश्च प्रतिनेदिरे प्रतिदध्वनुः। जनाः, वज्रनिपातशङ्कया, क्षितौ पेतुर्न्य-

पतन् ॥ १३ ॥ निशाचरीति ॥ इत्थमुक्तप्रकारेण, व्यथितौ पीडितौ स्तनौ यस्याः सा, निशाचरी पूतना, व्यादाय मुखं वितत्य, केशान् शिरोरुहान्, चरणौ, भुजौ अपि, गोष्ठे व्रजे, प्रसार्य, निजरूपम् आस्थिता, व्यसुः गतप्राणा सती, हे नृप, वज्राहतः वज्रेण प्रहृतः, वृत्रो वृत्रासुर इव, अपतत् ॥ १४ ॥ पतमान इति ॥ तद्देहस्तस्याः पूतनायाः, देहः कलेवरं, पतमानः पतन् सन्नपि, त्रि-गव्यूत्यन्तरद्रुमान् षट्क्रोशवर्त्तिनो भूरुहान्, चूर्णयामास चूर्णीचकार। हे राजेन्द्र, तच्छरीरं, महदद्भुतं, आसीत् ॥१५॥ अद्भुत-त्वमेव दर्शयितुं तद्रूपं विशिंषन्, तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च विभियुरित्याहेषेति त्रिभिः ॥ ईषेति ॥ ईषा लाङ्गलदण्डः तत्प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तदास्यं यस्मिन् तत्, गिरिकन्दरे इव नासिके यस्मिन् तत्, गण्डशैलवदुन्नतौ पृथू च स्तनौ यस्मिन् तत्, रौद्रं भीमं, प्रकीर्णा अरुणाश्च मूर्द्धजाः केशा यस्मिन् तत् ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पतमान इति : १०. ६. १४.

निर्विषां तां यथा चक्रे प्रभुर्निर्विषयामपि। देहोऽतिविषयस्थोऽभूत् तद्धेतुः पूर्वसंस्कृतिः ॥ ४६ ॥
नाप्रत्यक्षं प्रमाणं न च जगति परः कोऽपि देहातिरिक्तः स्वात्मा देहोऽयमित्थं भ्रमितमतिमतान्येव षट् तत्स्वरूपः।
देहोऽर्वाक् पूतनायास्तदनु निपतितः पूर्वरूपावलम्बी षट्क्रोशेष्वेव भङ्क्त्वा विमतमततरून् स्पष्टदृष्टेशरूपः ॥ ४७ ॥

कृष्णप्रिया

राजन्, इस प्रकार स्तनों की व्यथा से पीड़ित राक्षसी मरने के अवसर अपना गोकुल में अपने असली रूप पाकर, केश—चरण एवं हाथों को फैलाकर वज्र से मरे हुए वृत्रासुर के समान, गिर गई और उसका मुंह भी फट गया ॥ १३ ॥ राजेन्द्र परीक्षित ! गिरते गिरते पूतना के शरीर ने छः कोस के घेरे में आये हुए वृक्षों को चूर्ण कर दिया, यह बड़ा आश्चर्यकर कार्य हुआ ॥ १४ ॥ प्रथम तो पूतना के (गिरने और रोने के) कठोर शब्द से गोप और गोपियाँ के हृदय कर्ण—और मस्तक विदीर्ण हो गये और उसके मुंह में हल के समान लम्बी और भयानक दाढें, पर्वत की गुफा के समान नाक, पर्वत से गिरी बड़ी बड़ी शिलाओं समान स्तन बिखरे हुए लाल केश, जल रहित अन्ध कूप जैसे गहन नेत्र, नदी के करारों के समान भीषण जंघाएं, बद्ध पुल के समान भुज घुटने और पांव, जल रहित शुष्क तालाब समान पेट से ॥ १५-१६ ॥

संतत्रसुः स्म तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम्। पूर्वं तु [1]तन्निस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥ १७ ॥
बालं च तस्या [2]उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम्। गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः ॥ १८ ॥
यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य [3]सर्वतः। रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छ[4]भ्रमणादिभिः ॥ १९ ॥
गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरज[5]साभकम्। रक्षां [6]चक्रुःसशकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोपाः गोप्यः पूर्वं तु तत् निस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः तत् कलेवरं वीक्ष्य सन्तत्रसुः स्म ॥ १७ ॥ जातसम्भ्रमाः गोप्यः तूर्णं समभ्येत्य तस्याः उरसि क्रीडन्तं च अकुतोभयम् बालं जगृहुः ॥ १८ ॥ ताः यशोदारोहिणीभ्यां समं बालस्य सर्वतः गोपुच्छभ्रामणादिभिः सम्यक् रक्षां विदधिरे ॥ १९ ॥ गोमूत्रेण पुनः गोरजसा अर्भकं स्नापयित्वा द्वादशाङ्गेषु सशकृता नामभिः रक्षां चक्रुः ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पूर्वमेव तस्याः शब्देन भीताः पुनर्दर्शनेनातितत्रसुरित्याह। पूर्वं त्विति। तस्या निःस्वनितं शब्दस्तेन निर्भिन्नानि हृत्कर्ण-मस्तकानि येषां ते ॥ १७-१९ ॥ द्वादशांगेषु ललाटादिषु केशवादिद्वादशनामभिः ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्कलेवरं वीक्ष्येति संबंधः ॥ १७ ॥ तूर्णं शीघ्रम्। जातसंभ्रमाः जातसंवेगाः "संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि" इति मेदिनी। क्रीडंतं हस्तपादनर्त्तनादिना क्रीडां कुर्वंतम्। गोप्यः श्रीयशोदा सवयस्का यशोदारोहिण्यौ मोहव्याप्ते परित्यज्य

---

१. तन्निः स्वनित—श्रीधर. गिरि. भक्त ; तन्निःश्वसित—वीर. ; तन्निस्वनित—वंशी.। २. उपरि—इति कस्यचित्। ३. सर्वशः—जीव. विश्व.। ४. भ्रामणादिभिः—इति कस्यचित् पाठः। ५. सा सुतम्—इति कस्यचित्। ६. चक्रुश्च शकृता—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व. गिरि. भक्त.।

मातृवत्स्नेहाकुला मृतपूतनादेहात्कृष्णमुत्तार्य गृहमानिन्युः ॥ १८ ॥ समं सार्द्धम्। सर्वशः सर्वप्रकारेण। रक्षाविधाने यशोदारोहिण्योरप्राधान्यं तु शोकाविष्टत्वात्तयोस्तत्राशक्तेरिति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥ आदिना सर्षपनिर्मञ्छनसूर्पस्पर्शादिग्रहः। प्रकारमेवाह—गोमूत्रेणेत्यादि। गोशकृता गोमयेन। 'शकृते' इति पाठे गोरिति शेषः। द्वादशांगेषु द्वादशतिलकस्थानेषु। नामभिस्तत्तत्तिलकविहितैः। तथाहि "ललाटे केशवः पातु नाभौ नारायणोऽवतु। माधवः पातु हृदये गोविंदः कंठतस्त्वधः। दक्षकुक्षौ तथा विष्णुस्तद्भुजे मधुसूदनः। त्रिविक्रमस्तु तत्कंठे वामकुक्षौ तु वामनः। श्रीधरो वामबाहौ च हृषीकेशस्तु तद्गले। कट्यां वै पद्मनाभस्तु ककुद्दामोदरोऽवतु" इति ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ बालहरणवृत्तं जानन्त्यः श्रीयशोदानिकटस्था गोप्यस्तु मोहव्याप्ते श्रीयशोदारोहिण्यौ परित्यज्य विद्रुतास्तन्मृतकदेहात्तं बालं गृहीत्वा गृहमानीतवत्य इत्याह—बालं चेति। तत्र बालमिति तथापि तल्लीलामात्राविष्कारेण तासां तद्बुद्ध्या च स्नेहवृद्धिः सूचिता बालत्वादेवाकुतोभयं वस्तुतस्तु न कुतोऽपि भयमन्येषामपि यस्मात्तम् अत एव तस्या उरसि क्रीडन्तं सहसावलोकपूर्वकश्रीहस्तपादनर्त्तनादिना क्रीडां कुर्वन्तम् अत एव जातः सम्भ्रमो विस्मयो हर्षावेगो वा यासां तथाभूताः सत्यः साक्षात् पतितपूतनामहोच्चदेहारोहणेऽप्यतिर्यक्तयाऽभिमुखं गत्वा जगृहुः यतो गोप्यः श्रीकृष्णे सहजस्नेहाकुलत्वेन प्रसिद्धाः तेनैव सर्वशक्तिमत्यश्चेत्यर्थः। तथैव न्यासादितत्त्वज्ञानमपि वक्ष्यते एता हि प्रायः श्रीव्रजेश्वरीसवयस्का ज्ञेयाः मातृवत् स्नेहेन रक्षाद्याचरणात् ॥ १७-१८ ॥ बालस्येति, स्नेहभरेण तादृशरक्षायोग्यत्वं बोधयति। एवमग्रेऽपि यशोदारोहिणीभ्यां सममिति तयोः प्राक्पुत्रारिष्टशङ्कयाऽतिव्याकुलत्वेन किञ्चित्कर्त्तुमशक्तेस्तत्राप्राधान्यात् साहित्यञ्च तयोः सम्यक् शोकोपशमनार्थं ज्ञेयं सर्वश इति बह्वर्थात् कारकात् माङ्गलिकार्थोऽयं शस्प्रत्ययः बाह्याभ्यन्तरादिभेदेन सर्वत्रैवेत्यर्थः। सम्यगुत्तमप्रकारं यथा स्यात् आदिशब्देन सर्षपनिर्मञ्छनसूर्पकोणस्पर्शनादीनि ॥ १९ ॥ सम्यक्त्वमेव दर्शयति—गोमूत्रेणेति। ललाटादिद्वादशाङ्गेषु केशवादिद्वादशनामभिः शकृता गोमयेन रक्षां चक्रुः तानि च विविच्योक्तानि पाद्मोत्तरखण्डे तिलकनिर्माणविधौ—

"ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे। वक्षःस्थले माधवं तु गोविन्दं कण्ठकूपके ॥
विष्णुं च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम्। त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥
श्रीधरं वामबाहौ तु हृषीकेशं तु कन्धरे। पृष्ठे तु पद्मनाभं च कट्यां दामोदरं न्यसेत्" ॥ इति

एवं सहजपरमवैष्णवतया श्रीभगवन्नामभिरेव रक्षाविधिः कृत इति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

बालमिति तस्मिन् बालबुद्ध्या तासां स्नेहभरः सूचितः। न कुतोऽपि भयमन्येषामपि यस्मात्तम्, अत एव तस्या उरसि क्रीडन्तं सहासावलोकपूर्वकश्रीहस्तपादनर्त्तनादिना क्रीडां कुर्वन्तम्; यद्वा, न जातं कुतोऽपि तन्महानादादेर्भयं यस्य तथाभूतञ्च, अत एव जातः सम्भ्रमो विस्मयो हर्षावेगो वा यासां तथाभूताः सत्यः सम्यक् पतितपूतना महोच्चदेहारोहणेऽप्यतिर्य्यक्तयाभिमुखं गत्वा जगृहुर्यतो गोप्यः सहजस्नेहाकुलाः सर्वशक्तिमत्यश्चेत्यर्थः। एता हि प्रायः श्रीव्रजेश्वरीसख्यो ज्ञेयाः, मातृवत् स्नेहेन रक्षाद्याचरणात् ॥ १८ ॥ बालस्येति स्नेहभरेण तादृशरक्षायोग्यत्वं बोधयति; एवमग्रेऽपि। यशोदारोहिणीभ्यां सममिति तयोः प्राक्पुत्रानिष्टशंकयातिव्याकुलत्वेन किञ्चित् कर्त्तुमशक्तेस्तत्राप्राधान्यात्, साहित्यञ्च तयोः सम्यक् शोकोपशमनार्थं ज्ञेयम्। सर्वश इति द्रव्यभेदेन बाह्यान्तरादिभेदेन च सम्यगुत्तमप्रकारं यथा स्यात्। आदिशब्देन सर्षपनिर्म्मञ्छनपूर्वकोणस्पर्शनादीनि ॥ १९ ॥ सम्यक्त्वमेवाह—गोमूत्रेणेति ललाटादिद्वादशांगेषु केशवादिद्वादशनामभिः शकृता गोमयेन रक्षां चक्रुः। तानि च विविच्योक्तानि पाद्मोत्तरखण्डे तिलकनिर्म्माणविधौ —

'ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे। वक्षस्थले माधवन्तु गोविन्दं कण्ठकूपके ॥
विष्णुञ्च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम्। त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥
श्रीधरं वामबाहौ तु हृषीकेशन्तु कन्धरे। पृष्ठे च पद्मनाभञ्च कट्यां दामोदरं न्यसेत् ॥' इति।

एते च क्रमेण मार्गादिद्वादशमासाधिपाः। यद्यपि बह्वोऽन्ये रक्षाविधयः सन्ति, तथापि सहजपरमवैष्णवतया श्रीभगवन्नामरक्षाविधिरेव ताभ्यो रोचत इति तथैव रक्षाञ्चक्रुः ॥ २० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत्कलेवरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च सन्तत्रसुः, कथम्भूताः ? पूर्वं पूतनात्पूर्वं तस्याः निश्वसितं शब्दः निश्वासमारुतो वा तेन भिन्नानि हृदादीनि येषां तथाभूताः ॥ १७ ॥ तथा तस्य उपरि क्रीडन्तं न कुतोऽपि भयं यस्य तं बालं च वीक्ष्येति पूर्वेणान्वयः जगृहुरित्युत्तरेण वा तूर्णं यथा तथा समभ्येत्य जातः तस्या मरणाद्बालस्य जीवनाच्च जातः सम्भ्रमो यासां ता गोप्यः जगृहु-

राददुः ॥ १८ ॥ ततस्ता गोप्यो यशोदारोहिणीभ्यां सह बालस्येश्वरस्य श्रीकृष्णस्य गोपुच्छभ्रमणादिभिरुपायै रक्षां चक्रुः ॥ १९ ॥ तदेव प्रपञ्चयति गोमूत्रेणेत्यादिना । आदिशब्दग्राह्यान्वा दर्शयति—गोमूत्रेणेति । तावच्छिशुं गोमूत्रेण स्नापयित्वा ततो गोरजसा च स्नापयित्वा गोशकृता गोमयेन द्वादशस्वङ्गेषु द्वादशपुण्ड्रस्थानेषु ललाटादिषु केशवादिभिर्द्वादशनामभिः रक्षाञ्चक्रुः ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सन्तत्रसुः भीता अभूवन् तस्याः निःस्वनितेन अशनिवत् क्रूरशब्देन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि यासां तास्तथा ॥ १७ ॥ तूर्णं शीघ्रम् ॥ १८–१९ ॥ गोरजसा गोरेणुना गोशकृता गोमयसहितेन केशवादिनामभिः ललाटादिद्वादशावयवेषु ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

श्रीयशोदाद्योरप्राधान्यं शोकवैवश्येन ॥ १७–२० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उरसि पर्वतवदुत्तुङ्गे क्रीडन्तं प्रवेष्टुं सूतिकागारमनीशानां वनौकसां दिदृक्षापूर्तय इव निष्क्रान्तं स्वपुराद्बहिः ॥ १८ ॥ रक्षाविधाने यशोदारोहिण्योरप्राधान्यं तयोः शोकोत्थवैयग्र्यातिशयेन सर्वशः सर्वेष्वङ्गेषु आदिशब्देन सर्षपनिर्मञ्छनसूर्पकोण-स्पर्शादीनि ॥ १९ ॥ शकृता गोमयेन द्वादशाङ्गेषु ललाटादिषु नामभिः केशवाद्यैः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्तस्याः कलेवरं शरीरं तत्तस्याः निःश्वसितेन शब्देन निर्भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि येषां ते ॥ १७–१८ ॥ समं सहिताः ॥ १९ ॥ नामभिः केशवादिभिः द्वादशाङ्गेषु ललाटादिषु ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवमुद्विग्नानां व्रजौकसां स नन्दबालः सद्यः प्रमोदकृद्बभूवेत्याह—बालमिति । उरसि शैलवदुत्तुङ्गे सूतिकासदनं प्रवेष्टुमनीशानां व्रजौकसां दिदृक्षितदृशां प्रमोदाय हरेः पुराद्बहिर्निर्गमस्तेन कंसमन्त्रिण्या महाबलायाः पूतनायास्तथैव तदारामस्य च विनाशस्तस्याचोटितश्चेति प्रकरणस्य भावः ॥ १८ ॥ शोकवैयग्र्येण यशोदाद्यो रक्षाविधावप्राधान्यात्तृतीया "सहयुक्तेऽप्रधाने" (२।३।१९) इति पाणिनिः आदिशब्दात् सर्षपनिर्मञ्छनसूर्पकोणस्पर्शनादीनि ॥ १९ ॥ शकृता गोमयेन द्वादशस्वङ्गेषु ललाटादिषु केशवाद्यैर्दामोदरान्तैर्द्वादशभिर्नामभिः तानि च पाद्मे तिलकविधावुक्तानि—

"ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे । वक्षस्थले माधवन्तु गोविन्दं कण्ठकूबरे ॥
विष्णुञ्च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम् । त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥
श्रीधरं वामबाहौ तु हृषीकेशन्तु कन्धरे । पृष्ठे च पद्मनाभञ्च कट्यां दामोदरं न्यसेत् ॥"

इति भगवन्नामभिरेव रक्षाविधानाच्छुद्धं वैष्णवत्वं व्यक्तम् ॥ २० ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

गोप्य इति । अत्र बीजन्यासमित्यत्र व्याख्यातृभिरस्पष्टाक्षरन्यासमिति व्याख्यातम् । अष्टाक्षरस्य वैदिकत्वेन स्त्र्यनधि-कारिकत्वाद्गोपीनां च कर्तृत्वाद्विरोधोऽत उच्यते । प्राहुरप्युत्तमस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके इत्युक्तेः । देवस्त्रीणां गोपीरूपत्वेनावतीर्ण-त्वादुत्तमत्वेनाधिकारसद्भावात् । वस्तुतस्तु गोप्यः ॥ १७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अन्धकूपवद्गभीरे अक्षिणी यस्य तत्पुलिने इव विद्यमानौ च तावारोहौ नितम्बौ च ताभ्यां भीषणमारोहो दैर्घ्यमानयोः । आरोहणे नितम्बे चेति विश्वः । बद्धा ये सेतवस्तद्वद्विद्यमाना भुजौ चोरू चाङ्घ्री यस्य तच्छून्यं तोयं यस्मिन्स चासौ ह्रदश्च तद्वद्विद्यमानमुदरं यस्य तत् ॥ १७ ॥ गोपा गोप्यश्च तत्कलेवरं वीक्ष्य सन्तत्रसुः स्म । अनिन्दंश्च मनसा । स्म पादपूरणेऽतीते सामिनिन्दार्थयोर्मतमिति विश्वः । स्मातीतं गतप्राणमिति वा । पूर्वं तु पूर्वमेव तस्या निःश्वसितेन शब्देन भिन्नं हृत्कर्णमस्तकं याश्च ये चेति येषां ते तथा ॥ १८ ॥ बलवतामियं दशा चेत्का बालकास्येयत आह । बालं चेति । तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयं न विद्यते कुतोऽपि भयं यस्य सोऽकुतोभयः । मयूरव्यंसकादिः समासः । जातसम्भ्रमा मुहुः उः उत्कृष्टोऽसीति जातसम्भ्रमा जगृहुर्जातादरास्तूर्णं समभ्येत्य बालं जगृहुः ॥ १९ ॥ गोपुच्छभ्रमणं भ्रामणमादिर्येषां तैः क्रियाविशेषैः ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

अत एव तादृशावयवैर्बिभीषिका जातेत्याह सन्तत्रसुरिति सम्यक् तत्रसुर्भीताः स्मेति प्रसिद्धे, भगवत्सान्निध्याद् भयाभावमाशङ्क्य प्रमाणं कथयन्नाह संवीक्ष्येति, प्रथमत अज्ञानान्न तथा भयं सम्यग्दर्शने तु भयं जातमिति, गोपा गोप्य इति, तेषां

मुग्धभावेन सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्निरूपिता, **कलेवरं मृतशरीरं**, नन्वेतावत्कालमदर्शनं कुतस्तत्राह पूर्वमिति, तस्या **निस्वनितेन रोदनेन भिन्नानि हृदयकर्णमस्तकानि येषां**, तामसभूयिष्ठत्वात् त्रिविधावयवाः सर्वत्र निरूप्यन्ते ॥ १७ ॥ एवं तस्या रूपं सकार्यं निरूप्य स्वापेक्षया भगवन्तमुत्कृष्ट दृष्टवन्त इति वक्तुं भगवन्तं पूतनाहृदये स्थितं वर्णयति **बालमिति**, एतावतीं **पूतनां** मारयिष्यन्नपि न स्थूलरूपं कृतवान् , अत एव कृष्णावतारचरित्रमत्यलौकिकं, अवस्थासाधनविरुद्धकार्यत्वात् चकाराद् **बालं** ददृशुः **पूतनां च** चस्त्वर्थे वा स्वसमानधर्मव्यावृत्त्यर्थं, **तस्या उरसि क्रीडन्तमिति** सर्वेषां हृदयेन्तर्बहिरपि क्रीडतीति सूचितं, न हि तद्बाकदृष्ट्या क्रीडास्थानं भवति नापि मुग्धभावेन क्रीडा तथा सत्यपरिचितदर्शने भयाविष्कारं कुर्यात् , तत् तु नास्तीत्याहाकुतोभयमिति, "संवीक्ष्य तत्रसुरिति" पूर्वेणैव सम्बन्धः, दृष्ट्वेत्येव वा, त्रासस्य भिन्नविषयत्वापत्तेः, कलेवरदर्शने त्रासः स्वविषयकः, भगवद्दर्शने तु भगवद्विषयकः ।१७३।

इत्येवं दृष्ट्वा यत् कृतवत्यस्तदाह **गोप्य** इति, गोपापेक्षया गोपीनां स्नेहः **साहसं** वाधिकमिति ता एव ग्रहीतुं प्रवृत्ताः, अत एवाविचारेण **तूर्णमभ्येत्य जगृहुः**, भगवद्ग्रहणानन्तरं **जातसम्भ्रमा** जाताः पूतनादेहं दृष्ट्वा भगवत्सम्बन्धं च महानयमुत्पात इति मनसि सञ्जातभया जाताः ॥ १८ ॥ ततः स्वातन्त्र्येण किञ्चित् कर्तुमशक्ता यशोदारोहिणीभ्यां सहिता जाताः, यशोदारोहिण्योः स्त्रीप्रकृतिकत्वाद् **गोपी**नामग्निकुमारत्वेनर्षित्वाद् **गोपा**नां तत्तदभिमानिदेवत्वात् , तत्रापि केवलभगवदुपासकानां गोपसम्बन्धरहितत्वादुपायमन्त्रदृष्टृत्वेन प्रसिद्धा इति **ता** इत्युक्तं, **यशोदारोहिणीभ्यां समं बालस्येति** वा सम्बन्धः, सहार्थे **सम**शब्दः, **सम**मित्यव्ययं, ननु भगवानयमिति ज्ञात्वा कथं रक्षां चक्रुस्तत्राह **बालस्येति**, यतो भगवान् **बालभावं** प्राप्तः, अतो यथान्य उपचारास्तथैतदपि कर्तव्यमित्यर्थः, **सर्वत** इति, अन्तर्बहिः केनाप्यंशेन यथानिष्टसम्बन्धो न भवति तथा, **रक्षां** कर्मविशेषं मन्त्राभिमन्त्रणरूपं, **विदधिरे** कृतवत्यः, **सम्यगि**त्याधिदैविकप्रकारेण तत्तद्दैवतं तत्रतत्र स्थापितवत्य इत्यर्थः, आदौ स्थितस्य दैत्यसम्बन्धस्य परितो वा विद्यमानस्याधिभौतिकादित्रितयस्य निवृत्तिं **गोपुच्छभ्रामणादिभिः** कृतवत्यः, आधिभौतिकमनिष्टं तीर्थस्नानादिना गच्छति, **गवां पुच्छेषु तीर्थानि सन्ति,** तेषां भ्रामणे मन्त्रेण तत्रत्यानि तीर्थानि परितः स्थापितानि भवन्ति, **आदि**शब्देन मन्त्रध्याने अपरयोर्निवर्तके ॥ १९ ॥ एवमेकप्रकारेण बाह्यतो रक्षा कृता लोकसिद्धा परम्परया प्राप्ता, आर्षज्ञानेनापि सिद्धां रक्षामाह **गोमूत्रेणेति**, बालकं तथैव **गोमूत्रेण स्नापयित्वा** पुनर्गवामागतानां सम्मुखं खुरोद्धरजसा **स्नापयित्वा,** आर्द्रे शरीरे रजः सर्वत्र सम्बद्धं भवतीति **पुनःस्नानं,** ननु कथं भगवति संस्काराः क्रियन्त इत्याशङ्क्याहार्भकमिति, पूर्वं केवलमन्त्रेण कृता रक्षा, इदानीं सद्रव्येणेति रक्षायां विशेषः, **सशकृता गोरजसेति** गोमयेन सहिता गोखुरमृत्तिका पुनरङ्गेषु स्थापिता, द्वादशाङ्गानि भवन्ति **पुरुषे "द्वे सक्थ्या"** वित्यादिश्रुतेः, स्मार्तानि वा, "ललाटं बाहुमूले च हृदयं नाभिपार्श्वकं कण्ठः स्कन्धौ कटिर्मूर्धा स्तनौ चेति विदुर्बुधाः", **नामभिः केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधसूदनत्रिविक्रमवामनश्रीधरहृषीकेशपद्मनाभदामोदरेति** ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

ननु **पूर्वमात्मभूषणकर्त्रीभिः** प्रियतमे गोमूत्रसम्बन्धः कथं कारितस्तत्राह **अर्भकमिति**। प्रिये दुष्टसम्बन्धज्ञानेनातिकातर्येण सर्वविस्मृतिर्यथाकथञ्चिदिमंगलानि वृत्त्याशंसा च स्नेहस्वाभाव्यादवश्यं सदैव भवितुमुचिता, किं पुनरर्भकभावापन्न इति ज्ञापयितुमर्भकपदम्। मूले अयमेवार्थो 'ननु कथ'मित्यादिना **पितृचरणै**रुक्त इति ज्ञेयम्। नन्वितरार्भकवत्तत्कालोचितरूपदर्शनाभिप्रायेण तदुक्तमिति शङ्कनीयम्। क्रीडन्तमकुतोभयमिति पदेन **पूर्व**मेव तन्निरासात्। ननु स्नेहवशाद्रक्षाकृतिरिति सत्यम्, परन्तु तस्या उपयोग क्वेति विचारणीयम्। न च दोषाभावे, तेषामेवाभावात्। न च तदारोपाभावे, भ्रममूलकत्वापत्त्या रक्षाया अप्रामाणिकत्वापत्तेः। एवं सति भक्तिमार्गीयभजनमात्रस्य तथात्वापत्त्या महानेवानर्थश्च स्यात्। स्नेहस्य भ्रमजनकत्वेन दोषापत्तिश्च। न चैवमपि वक्तुं शक्यम्, सर्वप्रमाणविरोधात्। न च प्रमाणानामन्यपरत्वम्। स्नेहस्यैव भक्तिपदार्थत्वेन विवृतत्वात् सर्वत्र। नन्वत्र यथाकथञ्चिन्निरोध एव साध्यः। रक्षाकृत्या चासक्तिविशेषरूपः स सिद्ध इति न किञ्चिदनुपपन्नमिति **चेत्**, एवं सति देहाद्यध्यासरूपाज्ञानमूलकत्वेन स्रक्चन्दनादिसुखस्य हेयत्वं यथा, तथा लीलारसस्याप्यज्ञानमूलकत्वेन तथात्वं स्यात्। मोक्षादप्याधिक्यं भक्तौ तत्र तत्र निरूप्यत इति न तथा वक्तुं शक्यं चेत्युभयतः पाशारज्जुरिति चेत्। अत्रेदं प्रतिभाति। माहात्म्यज्ञानदशायामपि स्नेहजो भावो दृश्यत इति नाज्ञानमूलकत्वं वक्तुं शक्यम्। तदुक्तं देवकीस्तुतौ, 'रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां त्वं कृषीष्ठा' इत्युपक्रम्य 'समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधी'रित्यादि। एवं सति ज्ञानभक्त्योर्युगपत्सत्त्वेपि स्नेहकार्यस्यैव सम्भवेन स्नेहस्य ज्ञानमार्गीयज्ञानाद्बलिष्ठत्वं ज्ञायते। तथा च 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर' इत्यादिश्रुतिभ्यः शास्त्रीयज्ञानपूर्वकभगवत्साक्षात्कारवति भ्रमसम्भावनापि न कर्तुं शक्या, अतः स्नेहजभावस्य न भ्रमत्वमिति सर्वथा मन्तव्यम्। तथा सति विषयाबाधश्च वाच्यः। प्रकृतेऽपि 'पतिं द्रष्टुमागतां श्रियममंसते'ति वाक्याद्भगवत्त्वेन ज्ञानवतीभिरेव रक्षा कृतेति ज्ञायते। एवं सति यथैकस्मिन्नेव पुरुषे पुत्रत्वभाववत्याः स्त्रियास्तद्दर्शने वात्सल्योत्पत्तिः स्वपोषणपुष्टत्वपोष्यत्वादिज्ञानस्य च, पतिभाववत्या विनयविशेषपूर्वकरसभावो ममैहिकपारलौकिकनिर्वाहक इति च भाव उत्पद्यते। जारभाववत्यास्तु तत्प्रत्यङ्गेषु स्वरसपोषकत्वज्ञानेन प्रौढिपूर्वकविविधरसभावविशेषोत्पत्तिस्तदनुरूपभावाः पुंस्यप्युत्पद्यन्ते। न ह्युक्तभावविषया धर्माः पुंस्यसन्त इति वक्तुं शक्यम्, अनुभवविरोधात्। तथा च तत्र विद्यमाना अपि धर्मास्तत्तद्भावैकगम्यत्वेन

तत्तद्भाववतीनामेव विषयास्तथा स्नेहभावे सत्येव ये धर्मा भगवन्निष्ठाः स्फुरन्ति ते तत्र सन्त एव तादृगेकवेद्या एव तथेति न भ्रमत्वशङ्कापि। यथा 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'ति श्लोकोक्तधर्मवत एव दाम्नावच्छिन्नत्वम्, तथा लोकविलक्षणत्वेन माहात्म्यज्ञानजनकत्वेन ज्ञानप्रकरणोक्तधर्मविपरीतधर्मा लीलारूपा अपि प्रभौ सन्तीति नानुपपत्तिः काचित्। अत एव 'अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययौ'वित्युक्तं शुकैः, अन्यथा 'न चान्त'रित्यादिधर्मवतः स्तन्येन तृप्तिस्तदप्राप्त्या चातृप्तिर्विरुद्धा नोक्ता स्यात्। किञ्च। शास्त्रं हि यथाधिकारं ब्रह्मस्वरूपं निरूपयति। ज्ञानमार्गीयेभ्यो भक्तिरसादानान्मोक्षमात्रदानाच्च रसात्मकब्रह्मधर्मबोधने प्रयोजनाभावान्नैतान् धर्मान् ज्ञानमार्गे निरूपयति। नह्येतावता तदतिरिक्तधर्माभावः सिध्यति। येषु तज्ज्ञापनप्रयोजनमस्ति तान् ज्ञापयतीति व्रजसीमन्तिन्यादिषु तदज्ञापनम्। ते च ब्रह्मधर्माः स्नेहे जाते स्वत एवानुभूयन्त इति फलरूपत्वेन साधनमार्गे तदकथनं युक्तं च। ज्ञानकर्मादीनां विहितत्वेन साधनमार्गीयत्वात्। ननु ज्ञानमार्गस्याक्षरविषयत्वेन तथात्वस्य युक्तत्वेपि भक्तिमार्गीयेष्वपि केषाञ्चिन्मुमुक्षूणामुक्तधर्मास्फूर्तिः स्नेहवतां तु तत्स्फूर्तिः, तत्रापि तारतम्यमिति कथमिति शङ्का 'यथैकस्मिन्नेव पुरुष' इत्यादिना निरस्ता ज्ञेया। यथा प्रत्यासत्तिसाम्येपि न चक्षुषा गन्धादिग्रहोऽयोग्यत्वात्तथात्रापीति ज्ञेयम्। किञ्च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या लीलायाः स्वरूपात्मकत्वान्नानुपपत्तिः काचित्। यथैतत्तथा **विद्वन्मण्डने** प्रपञ्चितमस्माभिः। यद्वा। 'तेन ब्रह्मविदो वयं पूतं ब्रह्म पुनीमह' इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मणः पावनं श्रूयते। तच्च ब्रह्मात्मकातिशयविशेषप्राकट्यमेव। प्रकृते च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या भगवतो रसात्मकत्वात्तस्य च भावात्मकत्वाद्रक्षाकृत्या स्वामिनीभावविशेषरूपातिशयप्राकट्यमभूदिति तत्रैवोपयोगो रक्षाकृतेः। सौन्दर्यविशेषाभिव्यक्तौ मण्डनकृतेरिव। अत एवाधुनापि स्वक्षुत्पिपासादि ज्ञापयति भक्ते हरिः। पूतनातः स्वस्मिन्नानीतानां बालकानामग्रे विनियोगयोग्यतासिद्ध्यर्थं राक्षसीस्पर्शजदोषोऽवश्यं निवारणीय इति स्वामिनीकृतरक्षायास्तन्निवारणमप्येकं प्रयोजनं भगवदभिमतमिति ज्ञेयम्। एकस्या भगवल्लीलाया अनेककार्यसाधकत्वात्॥ २०॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सन्तत्रसुरित्यस्याभासे**त एवे**त्यादि, **अत एव** नवधाविभीषिकत्वादेतन्नवकत्वेनाविद्यात्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः, यद्वा यतस्तादृशावयवैः सर्वेषां भक्तानां **विभीषिका** भगवद्विषयकभयजनिका, **मृतशरीर**मिति यद्यपि कलेवरपदं शरीरमात्रबोधकं तथापि प्रकरणान् मृतत्वेन विशेषितं ज्ञेयं, **तामसे**त्यादि रोदनस्य सात्त्विकोपद्रवकारित्वेन **तामसभूयिष्ठत्वात्** सात्त्विकाश्चिविधावयवाः सर्वत्र भयेषु दुःखित्वेन निरूप्यन्त इत्यर्थः॥ १७॥ **बाल**मित्यत्रोत्**कृष्ट**मिति निर्भयं, **बालश्चे**त्येर्धस्योत्तरेण सम्बन्धमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुर्**दृष्ट्वेत्येव वे**ति, तथा च **दृष्ट्वे**त्यस्याध्याहारो वा **संवीक्ष्ये**त्यस्यानुषङ्गो वा, एवं व्याख्याने हेतुमाहुस्**त्रासस्ये**त्यादि, तद् व्युत्पादयन्ति **कलेवरे**त्यादि, तथा चैवं विषयभेदलाभादयं पक्ष उत्तम इत्यर्थः॥ १८॥ **यशोदे**त्यस्याभासे ततः **स्वातन्त्र्ये**-**णे**त्यादि, ननु मात्रोर्गोपानां च विद्यमानत्वेपि गोपीभिरेव कुतो रक्षाकरणमित्याकाङ्क्षायां मूलस्थस्य ता इतिपदस्य तात्पर्यमाहु**र्यशोदारोहिण्यो**रित्यादि, तथा च मात्रोस्तथान्यादेव तासां **चर्षित्वाद गोपानां चाभिमानित्वेन** प्रेरकत्वात् कासाञ्चिन् सम्बन्धराहित्याद् विवक्षितमन्त्रद्रष्टृत्वं तास्वेवातस्तथेत्यर्थः, कृष्णोपनिषच्छ्रुतौ 'गोपान नः स्त्रीश्च नो कु'र्विति भगवन्तं प्रति देवप्रार्थनाश्रावणाद् गोपा गोप्यश्च देवा एव 'गोप्यो गाव ऋचस्तस्ये'ति च तत्रैव श्रावणात् काश्चिदृग्रूपा अपि बृहद्वामनपुराणे तु सामान्यतः 'श्रुतय' इत्युक्त"मग्निपुत्रा महात्मान"इति वाक्य ऋषिरूपत्वमप्युक्तमेवं नानारूपत्वे सत्यग्निपुत्रेषु गोपसम्बन्धित्वं तदसम्बन्धित्वं चेत्युभयमपि कल्पयितुं शक्यं केषाञ्चित् स्त्रीत्वमात्रमेव केषाञ्चिद् भगवद्भर्तृकस्त्रीत्वमित्युभयरूपत्वान्न विरोध इति सुस्थं. **अपरयो**रित्याध्यात्मिकाधिदैविकयोरनिष्टयोरित्यर्थः॥ १९॥ **गोमूत्रेणे**त्यत्रार्षज्ञान**सिद्धाया** रक्षायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्रोपपत्तिं वदन्तीत्याशयेन **टिप्पण्यामाहुर्ननु पूर्व**मित्यादि, **अन्यपरत्व**मिति भक्तिपरत्वं, रक्षाया निरोधपरत्वमाशङ्कन्ते **नन्वि**त्यादि, तां परिहरन्त्**येवं सती**त्यादि, **लीलारसस्ये**ति लीलया कृतस्य भक्तिरूपस्य **रसस्ये**त्यर्थः, **सिद्धान्तेन** समादधते**त्रे**त्यादि, **अत** इति स्नेहस्य ज्ञानापेक्षयाधिक्यात्, **विषयाबाध** इति रक्षा**विषयस्य** बालभावानरूपस्य **धर्मस्ये**त्यर्थः, "वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिव"दितिसूत्रमनुसृत्य समादधते **किञ्च शास्त्र**मित्यादि, सूत्रार्थस्तु भाष्यादवगन्तव्यः॥ २०॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

बालं चेत्यस्याभासे **सकार्य**मिति रूपस्य कार्यं त्रासस्तत्सहितमित्यर्थः, **उत्कृष्ट**मिति भयरहितमित्यर्थः, व्याख्याने, **चकारादि**त्यस्य **पूतनां चे**त्यनेनान्वयः, **संवीक्ष्य तत्रसु**रिति पूर्वेण सम्बन्धोग्रे व्युत्पादितस्तत्र **संवीक्ष्ये**ति गौणक्रिया ददृशरित्यनेनात्र विवृतेतिज्ञेयं, तुशब्दार्थकत्वपक्षे चशब्दकथनस्य प्रयोजनमाहुः **स्वसमाने**ति, स्वस्य समानो धर्मस्त्रासः, भगवति तदभावस्त्यर्थमित्यर्थः, **दृष्ट्वेत्येव वे**ति **तत्रसु**रितिपर्यन्तं नान्वयः किन्तु **संवीक्ष्ये**त्यनेनैवान्वयः, तथा च **संवीक्ष्य तर्णं** समभ्येत्य जगृहुरित्यग्रिमेणान्वयः, तत्र **हेतुमाहुस्त्रासस्ये**ति, दृश्यमानविषयकस्त्रासो न सम्भवतीति, यथा तत्कलेवरदर्शने स्वविषयकस्त्रासस्तथा भगवद्दर्शनेपि भगवद्भिन्नविषयकः स्यान्न न तु **भगवद्विषयक** इत्यर्थः, विवक्षितस्तु तत्रैव स्वविषयकोत्र तु भगवद्विषयक इत्याहुः **कलेवरे**ति॥ १८॥ **यशोदारोहिणीभ्यां ता** इत्यत्र पूर्ववाक्यस्थस्य गोप्य इतिपदस्य तच्छब्दं विनापि सान्निध्यादेवानुवृत्ति-

सम्भवात् पूर्वपरामर्शार्थकत्वे ता इतिपदमप्रयोजनकं स्यादतः प्रसिद्ध्यर्थकत्वमित्यभिप्रेत्य तां प्रसिद्धिं विवृण्वन्ति **यशोदारोहिण्यो-**रिति, एतयोरप्राधान्ये हेतुमाहुः **स्त्रीप्रकृतिकत्वादिति**, गोपसम्बन्धेन प्रसिद्धिबोधकं गोपीपदं विहाय प्रसिद्ध्यन्तरबोधकतच्छब्द-कथने हेतुमाहुर्**गोपीनामिति**, अत्र कर्मणि गोप्यो द्विविधाः, कुमारिकाः श्रुतिरूपाश्च, तत्र कुमारिकाणामग्निकुमारत्वेन पतित्वान् न गोपसम्बन्धः, श्रुतिरूपाणामपि तथेत्याहुः **गोपानामिति**, एतेषां **तत्तदभिमानयुक्तदेवत्वमेव** न तु वस्तुतः सम्बन्धः, अत एव "केमाः स्त्रिय" इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने पुत्रोत्पत्त्यादिकं तु सर्वभवनसमर्थादलौकिकप्रकाराद् भगवत एवेत्यादि वक्ष्यते, **तत्रापीति** श्रुतिरूपास्वपि काश्चिदनन्यपूर्वास्तासां त्वाभिमानिकोपि सम्बन्धो नास्ति, अतः सर्वास्वपि वस्तुतो गोपसम्बन्धाभावान् मान्त्रिक-रक्षाकर्मणि च यथार्थप्रसिद्धैरेव वक्तव्यत्वाद् रक्षोपायभूतमन्त्रत्वेन श्रुतिरूपाणां तद्द्रष्टृत्वेनाग्निकुमाराणां प्रसिद्धिं वक्तुं **ता** इतिपदमुक्तवानित्यर्थः, गोपीनां मध्ये कासुचिदग्निकुमारत्वेनपतित्वादन्यासु च गोपानां तत्तदभिमानिदेवत्वादित्यन्वयः, **उपायेति** उपायमन्त्रत्वेन द्रष्टृत्वेन चेत्यर्थः, अत्र टिप्पण्यां ननु पूर्वमात्मभूषणकर्त्रीभिः प्रियतमे गोमूत्रसम्बन्धः कथं कारित इत्युक्तत्वा-च्छ्रुतिरूपा अपि सन्तीतिज्ञेयं, श्रुतिरूपाणां मध्ये मन्त्रभागे येषां येषां मन्त्राणां ये ये देवास्ते ते तासां तासामत्र पतयः, तत्र तत्तन्मन्त्रेपु तेषां तेषामभिमान एव, वस्तुतस्त्वखिलमन्त्राधिपतिर्भगवानेव, ब्राह्मणभागे देवाभावात् तद्रूपा अत्र केवलभगवदुपासका उक्ता इति ज्ञेयं, मात्रोः स्त्रीप्रकृतिकत्वेपि मातृत्वाद् रक्षाकर्मण्यप्राधान्यं नोचितमित्याशयेन पक्षान्तरमाहुर्**यशोदेति इति वा सम्बन्ध** इति, **अपरयोर्निवर्तके** इति आध्यात्मिकाधिदैविकदैत्यसम्बन्धयोरित्यर्थः ।। १९ ।।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

बालं च तस्येत्यस्य विवृतौ **पूर्वेणैव सम्बन्ध** इति **बालं च संवीक्ष्य** तत्रसुरिति पूर्वेण सम्बन्ध इत्यर्थः, दृष्ट्वेत्येव **वेति** दृष्ट्वेति **संवीक्ष्ये**त्यस्य पर्याय उक्तो न तु दृष्ट्वेतिपदं मूलेस्ति न वाध्याहार्यं किन्तु संवीक्ष्येतिपूर्वं पदमस्ति तेनैवान्वयः, **अस्मिन्** पक्षे **तत्रसुरितिपदपर्यन्तं** नान्वयः किन्तु **बालं च तस्या उरसि संवीक्ष्य गोप्यो** जगृहुरित्युत्तरक्रिययान्वयः ।। १७-१८ ।। **यशोदा-रोहिणीभ्यां ता** इत्यस्य विवृतौ **गोपीनामग्निकुमारत्वेने**ति **गोपीनां** मध्ये कासाञ्चिदग्निकुमारत्वेनेत्यर्थः, **गोपानां तत्तदभि-मानिदेवतात्वादिति** श्रुतिरूपगोपिकानां ये पतित्वेन प्रसिद्धास्ते तु न पतयः किन्तु श्रुतिमन्त्ररूपा एता गोप्यस्तन्मन्त्राभिमानिदेवरूपा एते गोपाः, पतिस्तु भगवानेव, अत एव टिप्पण्यां 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'नितिवाक्यात् स्वपार्श्वस्थाभिमानमात्रं यथा रासोत्सव-समये गोपानां तथा सर्वदैवभोगाद्यभिमानमात्रं न तु वस्तुतो गोपानां स्वपत्नीषु भोगस्तासां भगवदेकभोग्यत्वादितिसिद्धान्तितं सप्तदशाध्यायप्रसङ्गे, तर्हि पुत्राद्युत्पत्तिः कथमिति चेत्, भगवत एवालौकिकप्रकारेणेतिबोध्यं, तर्हि किमर्थं पतित्वेन स्वीकार इति चेत्, परकीयतारसपोषार्थमिति ज्ञेयं, **तत्रापि केवलभगवदुपासकानामिति** अनन्यपूर्वाणामग्निकुमाराणामित्यर्थः, केचित् तु श्रुतिरूपास्वपि काश्चिदनन्यपूर्वाः सन्ति ताः केवलभगवदुपासका इत्याहुः, तथा च सिद्धमेतत्, अनन्यपूर्वाणामृषिरूपाणां **गोप-सम्बन्धराहित्यं** स्फुटमेव, श्रुतिरूपाणामन्यपूर्वात्वेप्यभिमानमात्रमिति न गोपसम्बन्धः, श्रुतिरूपास्वपि कासाञ्चिदनन्यपूर्वात्वे सुतरां गोपसम्बन्धाभावः, एवं सर्वत्र गोपसम्बन्धाभावसूचनार्थं "यशोदारोहिणीभ्यां ता" इतिश्लोके तच्छब्द उक्तः, अन्यथा न वदेत्, "गोप्यस्तूर्णं"मिति पूर्वपठितेन गोपीपदेनाकाङ्क्षापूर्तेः ।। १९ ।।

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

आगे के श्लोक में इस वस्तु का वर्णन करते हैं **'सन्तत्रसुः'** इति-श्लोक में 'स्म' पद से जताया कि गोप गोपीजन भय-ग्रस्त हो गये । अब यह प्रश्न उठता है कि यदि भगवान समीप में विराजते थे तो फिर व्रजजन को भय क्यों ? तब कहते हैं कि **'संवीक्ष्य'** उस पूतना को अच्छी तरह से देखने से डरे । पहले जब तक पूतना के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं था तब तक तो निर्भय थे, लेकिन उसके इस विचित्र भयानक रूप को देखकर डर गये । वास्तविकता का ज्ञान होने पर पूतना के सम्यक् दर्शन का निरूपण किया । अब यह संदेह होगा कि अब तक कलेवर क्यों न देखा ? तब समाधान करते हैं कि 'पूर्वं' पहले तो इसके रोने के शब्द से उन गोप गोपियों के हृदय, कान और मस्तक फट गये थे, कुछ समय तक तो वे निकम्मे जैसे हो गये थे इसलिये कलेवर की तरफ उनका ध्यान न गया । पूतना का रोदन विशेष तामस होने के कारण तीन प्रकार के अवयवों का सर्वत्र निरूपण किया है । यहाँ पर श्री प्रकाश कारजी का मन्तव्य है कि पूतना का रुदन अतिशय तामस था इससे भक्तजनों के मस्तक हृदय कान इन तीन सात्त्विक अङ्गो को दुःख हुआ ।। १७ ।।

"एवं तस्या रूपं सकार्यं निरूप्य" आचार्य चरण कहते हैं कि इस प्रकार उस पूतना का कार्य सहित रूप का निरूपण कर, अब आगे शुकाचार्य जी कहते है कि गोप गोपियों ने भगवान् को अपने से भी निर्भय देखा । क्योंकि भगवान् ने 'बालं' बालरूप से ही पूतना का वध किया, अपना रूप बड़ा न किया । इसी से निश्चय होता है कि कृष्णावतार के चरित्र अलौकिक हैं । यह स्पष्ट है कि भगवान् कृष्ण के कार्य, आयुष्य एवं साधनों से बालसामर्थ्य से विरुद्ध हैं; बाल सामर्थ्य से पूतना को मारने के लिये सुदृढ युवोचित बड़ी देह से बड़ी आयु और शस्त्रादि साधन होने चाहियें, वे भी नहीं, इन सबके अभाव में बालक रूप से, पूतना जैसे

राक्षसी को मारना, यह चरित्र लौकिक हो नहीं सकता अतः श्री कृष्णचरित्र अलौकिक है। 'च' अव्यय बालक और पूतना दोनों को देखने के लिये दिया गया है अथवा 'च' का भाव यह है कि जैसा भय उनको देखकर गोपियों को हुआ, वैसा भय बालक श्रीकृष्ण जी को न था। श्रीकृष्ण जी तो उसके हृदय पर खेल रहे थे। इससे यह भी स्पष्ट किया कि वह बालक है, बालक का स्वभाव खेलना ही होता है और यह बालक तो सदा सबके हृदय के भीतर बाहर खेलता ही है। इसको सूचित करने के लिये ही पूतना के हृदय पर भी खेलते हुए दर्शन दिये। पूतना का वक्षःस्थल लौकिक दृष्टि से क्रीडास्थान तो नहीं हो सकता था और न मुग्धभाव की क्रीड़ा थी। यदि मुग्ध भाव से होती तो अपरिचित के दर्शन से भय होता परन्तु यहाँ भय तो कुछ नहीं था इसलिये 'अकुतोभयम्' सर्वथा निर्भय होकर खेल रहा था ऐसा कहा इधर गोप गोपी डर गये, इनको दो डर हुए एक तो पूतना को देखकर स्वयं को डर हुआ और दूसरे भगवान् को देखकर उनके लिये डर हुआ, न जाने अब बालमुकुन्द का क्या होगा? ऐसा सोचने लगे। पूतना के हृदय पर खेलते हुए श्री बालकृष्ण को देखकर गोपी जनने जो कुछ किया उसका वर्णन इस १८ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से करते हैं। गोपों से भी गोपियों में स्नेह और साहस अधिक है इसलिये वे ही कृष्ण को लाने के लिये प्रवृत्त हुईं, कुछ भी विचार न किया और त्वरित जाकर बालकृष्ण को ले आईं। भगवान् के ले आने पर गोपियों के मन में विशेष विचार आया कि पूतना की ऐसी भयानक भारी देह से इस छोटे बालक का सम्बन्ध अतिशय उत्पात अमंगल है इससे भय उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥

ततः स्वातन्त्र्येण किञ्चित्कर्त्तुमशक्ताः—अब श्री आचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि-गोपीजन लालन को अतिशीघ्र ले आये किन्तु स्वतंत्र रूप से कुछ कर नहीं पाये किन्तु स्वतन्त्रता से तब माता यशोदाजी एवं रोहिणीजी को साथ में लिया। यशोदा एवं रोहिणी दोनों स्त्री प्रकृति वाली थीं, अग्निकुमारत्व से गोपियाँ ऋषिरूपा थीं, गोप तत् तत् मन्त्रों के अभिमानी देव थे, इसलिये उस अवसर पर भी, जो गोप सम्बन्ध रहित होने से केवल भगवान् की उपासिकाएँ थीं एवं रक्षा के उपाय तथा मन्त्र द्रष्टा रूप से उनकी प्रसिद्धि थी उन गोपियों के ग्रहण के लिये शुकाचार्य जी ने श्लोक में "ताः" पद का संकेत किया। अब दूसरे प्रकार से अर्थ करते हैं कि श्री यशोदा जी, श्री रोहिणी जी, एवं गोपीजन ने सब साथ मिलकर बालक की रक्षा की। श्लोक में दिये 'समं' अव्यय 'सह' अर्थ में लिया गया है इससे सब साथ मिलकर रक्षा करने लगे।

'ननु भगवानयमिति ज्ञात्वा' अब कहते हैं कि श्रीकृष्ण प्रभु तो भगवान् है ऐसा जानकर भी रक्षा क्यों की? तब समाधान करते हैं कि श्लोक में **'बालस्य'** पद का प्रयोग है उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् होते हुए भी, लोक की तरह लीला करने के लिये, बाल भाव से प्रकट हुए हैं, इसलिए जैसे अन्य जात कर्म आदि उपचार किये जाते हैं वैसे ही यह रक्षा भी कर्त्तव्य है। अब **'सर्वतः'** पद का तात्पर्य बताते हैं कि अन्दर, बाहर किसी भी तरह अल्प भी अनिष्ट न हो इस प्रकार मन्त्रों आदि द्वारा रक्षा करने लगीं। अब 'सम्यक्' का रहस्य बताते हैं कि आधिदैविक प्रकार से उस देवता को वहाँ स्थापित कर रक्षा की। पहले दैत्य सम्बन्ध से, चारों तरफ रहने वाले आधिभौतिकादि तीन अमङ्गल गौ पूँछ आदि घूमाने से दूर किये। आधिभौतिक अनिष्ट तीर्थ स्नानादि से नष्ट होते हैं। अतः गोपुच्छ घुमाये, क्योंकि शास्त्रों में वचन हैं कि **'गवां पुच्छेषु तीर्थानि सन्ति'** गौओं की पुच्छों में तीर्थ रहते हैं। उनके घूमाए हुए मन्त्र से, पुच्छ स्थित तीर्थ, बालक के चारों ओर शरीर में प्रविष्ट होते हैं जिससे आधिभौतिक अनिष्ट निवृत्त हो जाते हैं। आदि शब्द से, मन्त्र और ध्यान आध्यात्मिक और आधिदैविक अनिष्ट की भी निवृत्ति कर देते हैं ॥ १९ ॥

एवमेकप्रकारेण बाह्यतो रक्षा—अब श्रीवल्लभमहाप्रभुजी ने कहा कि गोपीजनने प्रथम लोकरीति से चली आई पद्धति से बाहर की रक्षा की। अब आर्ष ज्ञान से सिद्ध प्रकार से की हुई रक्षा का वर्णन श्रीशुकाचार्यजी **'गोमूत्रेण'** इस श्लोक से कहते हैं।

गोपियों ने प्रथम श्री लालन को गोमूत्र से नहलाया पुनः वन से आती हुई गौओं के खुरों से उड़ी हुई रज से नहलाया तब लालन के आर्द्र श्री अङ्ग पर वह रज चिपक गई, इसलिए पुनः जल से लालन को स्नान कराया। अब प्रश्न होगा कि लालन भगवान है फिर भगवान के संस्कार क्यों! तब कहा कि यहाँ भगवान के लिए 'अर्भकं' पद दिया है इससे यह नन्हा सा वा मुग्ध बालक है ऐसा जताया। प्रथम रक्षा की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि पहले केवल मन्त्रों से रक्षा की गई अब द्रव्यों सहित रक्षा की जाती है। इस प्रकार गोमूत्र एवं गोरज आदि से स्नान कराके अनन्तर गोबर के साथ गौ के खुरों की मृत्तिका लालन के श्री अंगों पर लगाई। पूर्ण पुरुष भगवान् के बारह अंग होते हैं। 'द्वे सक्थी' वितिश्रुतेः 'दो जांघ' आदि यों श्रुति में कहा है। स्मृति में भी कुछ प्रकार भेद से ललाट, दो बाहुमूल, हृदय, नाभि के पास का भाग, कण्ठ, दो कन्धे, कमर, मस्तक, दो स्तन ये प्रकार बताये हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इन द्वादश अंगों की भगवान् के १-केशव, २-नारायण, ३-माधव, ४-गोविन्द, ५-विष्णु, ६-मधूसूदन, ७-त्रिविक्रम, ८-वामन, ९-श्रीधर, १०-हृषीकेश, ११-पद्मनाभ, १२-दामोदर, इन बारह नामों से रक्षा की। यहाँ श्रीटिप्पणीकारजी कहते हैं कि जिन गोपियों ने प्रभु के

प्राकट्य का श्रवण कर, अपनी आत्मा को भूषित किया उन गोपियों ने अपने प्रियतम प्रभु को गोमूत्र से कैसे स्नान कराया यदि ऐसा संशय हो तो समाधान करते हैं कि अपने प्रिय का दुष्ट राक्षसी के सम्बन्ध से कुछ भी अनिष्ट न हो जाय, इससे स्नान कराया। भगवत् प्राकट्य के माहात्म्य की सब बातें सहज स्नेह के कारण भूल गई, ओर मनमें यही भावना रही कि हमारे प्रिय बालक स्वरूप की, कैसे भी हम रक्षा करें। इसलिए प्रभु को गोमूत्र से नहलाने में भी संकोच न किया। भगवान् की रक्षा भी स्नेहवश होकर ही की है। भक्तों को भगवान् के माहात्म्य ज्ञान को दशा में भी भगवान में सहज स्नेह रहता है जिससे भक्त ज्ञान को गौण बना कर, स्नेह से सब कुछ करता है। यही ज्ञान से भक्ति की विशेषता है। इससे कहा जाता है कि ज्ञान से भक्ति बलवती है ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'पूर्वं तु तस्याः शब्देनापि भीता' इत्याह—पूर्वं त्विति। तस्याः निस्वनितेन शब्देन भिन्नानि हृदादीनि येषां ते। एतच्चरितं शास्त्रान्तरप्रसिद्धमिति सूचयति—स्मेति ॥ १७ ॥ तस्याः पूतनायाः उरसि अकुतोभयं निर्भयं यथा स्यात्तथा क्रीडन्तं हस्तपादादि चालयन्तं बालं च वीक्ष्य जातः सम्भ्रमः स्नेहौत्कण्ठ्येन त्वराविशेषो यासां ता गोप्यस्तूर्णमेव समभ्येत्य समीपं गत्वा जगृहुरित्यन्वयः। अनेन गोपापेक्षया गोपीनां तस्मिन् स्नेहाधिक्यं साहसं च सूचितम् ॥ १८ ॥ ताः गोप्यो यशोदारोहिणीभ्यां समं सह बालस्य सर्वशः सर्वेष्वङ्गेषु गोपुच्छभ्रमणादिभिः सम्यग् रक्षां विदधिरे इत्यन्वयः। अत्र यशोदारोहिण्योः शोकातिशयेन वैयग्र्याद्प्राधान्यं बोध्यम् ॥ १९ ॥ आदिशब्दोक्तानि रक्षासाधनान्तराणि प्रदर्शयन् उक्तां रक्षामेव विवृणोति—गोमूत्रेणेति। अर्भकं बालं गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोखुररजसा च स्नापयित्वा शकृता गोमयेन केशवादिभगवन्नामभिश्च द्वादशाङ्गेषु तिलकस्थानेषु रक्षां चक्रुरित्यन्वयः। तानि नामानि स्थानानि चोक्तानि पद्मोत्तरखण्डे—'ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे। वक्षःस्थले माधवं तु गोविन्दं कण्ठकूबरे ॥ विष्णुं च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम्। त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥ श्रीधरं वामबाहौ तु हृषीकेशं तु कन्धरे। पृष्ठे च पद्मनाभं च कट्यां दामोदरं न्यसेत्' इति ॥ एवं भगवन्नामभी रक्षाकरणेन तासां सहजं वैष्णवत्वं बोधितम् ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

बालं चेति ॥ तस्याः पूतनायाः उरसि अकुतोभयं निर्भयं यथा स्यात्तथा क्रीडन्तं हस्तपादादि चालयन्तम्। प्रवेष्टुं सूतिकागारमनीशानां वनौकसां दिदृक्षापूर्त्यै इव विनिष्क्रान्तं पुराद्बहिः बालं च वीक्ष्य यशोदारोहिण्यौ च विह्वले दृष्ट्वा जातः सम्भ्रमः स्नेहौत्कण्ठ्येन त्वराविशेषो यासां ता गोप्यस्तूर्णमेव समभ्येत्य समीपं गत्वा जगृहुः ॥ १८ ॥ यशोदेति ॥ ताः गोप्यो यशोदारोहिणीभ्यां समं सह बालस्य सर्वशः सर्वेष्वङ्गेषु बह्वर्थान्। मङ्गलार्थे शस्। इति तोषिणी। बहिरन्तश्चेति गोपुच्छभ्रमणादिभिः आदिना सर्षपनिर्मञ्छनशूर्पकोणस्पर्शनादिभिः सम्यक् रक्षां विदधिरे। अत्र यशोदारोहिण्योः शोकव्यग्रतया प्राधान्याभावः ॥ १९ ॥ गोमूत्रेणेति ॥ अर्भकं बालं गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोखुररजसा च स्नापयित्वा शकृता गोमयेन केशवादिभगवन्नामभिश्च द्वादशाङ्गेषु तिलकस्थानेषु रक्षां चक्रुः। केशवादिनामानि च पाद्मे "ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे। वक्षःस्थले माधवं तु गोविन्दं कण्ठकूबरे ॥ विष्णुं च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम्। त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥ श्रीधरं वामबाहौ तु हृषीकेशं तु कन्धरे। पृष्ठे च पद्मनाभं च कट्यां दामोदरं न्यसेत् ॥" इति। एतेन गोपीनां वैष्णवत्वं बोधितम् ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पूर्वं तु तस्याः निस्स्वनितेन शब्देन भिन्नानि उत्कर्णमस्तकानि येषां ते ॥ १७ ॥ उरसि हृदये जातः संभ्रम आनंदभरो यासां ताः तूर्णं शीघ्रम् ॥ १८ ॥ समं ताभ्यां सह सर्वशः सर्वाः ताः गोप्यः बालस्य रक्षाम् ॥ १९ ॥ शकृता गोमयेनेत्यादित्रिभिः तं स्नापयित्वा द्वादशांगेषु पादादिषु अजादिनामभिः रक्षां चक्रुः ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अन्धकूपेति ॥ अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिन् तत् पुलिनवदारोहौ जघने ताभ्यां भीषणं तत्, बद्धा सेतव इव भुजौ ऊरू अङ्घ्री च यस्मिन् तत्, शून्यं तोयं यस्मिंस्तथाभूतो ह्रद इवोदरं यस्मिन् तत् ॥ १७ ॥ संतत्रसुरिति ॥ तदुक्तप्रकारं, कलेवरं पूतनादेहं, गोपाः गोप्यश्च, वीक्ष्य, संतत्रसुः। कथंभूता गोपगोप्यः। पूर्वं पतनात् प्रथमतस्तु, तस्याः निःस्वनितमशनिवत् क्रूरशब्दस्तेन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि येषां तथाभूताः, पाठान्तरे तस्या निःश्वासमारुतेन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि येषां तथाभूताः ॥ १८ ॥ ॥ बालमिति ॥ तस्या उक्तविधायाः पूतनायाः, उरसि उरःप्रदेशे, क्रीडन्तं, न कुतोऽपि भयं यस्य तं, बालं च, वीक्ष्येति शेषः। गोप्यः, तूर्णं यथा तथा, समभ्येत्य, जातः तस्याः मरणाद्बालस्य जीवनाच्च संजातः संभ्रमो यासां ताः एवंभूताः सत्यः, जगृहुराददुः ॥ १९ ॥ यशोदेति ॥ ततः, ता गोप्यः, यशोदारोहिणीभ्यां, समं सह, बालस्येश्वरस्य, गोपुच्छभ्रमणादिभिः, सम्यक्, सर्वतः, रक्षां विदधिरे चक्रुः ॥ २० ॥

कृष्णप्रिया

उक्त भयंकर कलेवर को देखकर अतिशय भयग्रस्त हो गये ॥ १७ ॥ सम्भ्रमयुक्त गोपियां पूतना के वक्षस्थल पर निर्भय और खेलते हुए लालन श्री बालकृष्ण को शीघ्रता से समीप जाकर उठा आई ॥ १८ ॥ श्री गोपीजन ने यशोदा जी एवं रोहिणा जी के साथ मिलकर गौ की पूँछ घुमाने आदि द्वारा सर्व प्रकार से अच्छी तरह बालक की रक्षा की । प्रथम लालन को गोपियों ने गो-मूत्र से नहलाया पुनः गोरज से नहला के गोबर और गौ के खुरों की रज से भगवान् के द्वादश नाम लेते हुए द्वादश अंगों की रक्षा की ॥ २० ॥

गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् । न्यस्यात्मन्यथ बालस्य [1]बीजैर्न्यासमकुर्वत ॥ २१ ॥
अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू [2]यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः ।
हृत् [3]केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥ २२ ॥
चक्र्यग्रतः [4]सहगदो हरिरस्तु पश्चात् त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ॥ २३ ॥
इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु । श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोप्यः संस्पृष्टसलिलाः (प्रथमं) पृथक् अङ्गेषु (पुनः) करयोः आत्मनि न्यस्य अथ बालस्य पृथक् अङ्गेषु करयोः बीजैः न्यासं अकुर्वत ॥ २१ ॥ अजः अङ्घ्रिम् अणिमान् तव जानू अथ यज्ञः उरू अच्युतः कटितटं हयास्यः जठरं केशवः हृत् ईशः उरः इनः तु कण्ठं विष्णुः भुजम् उरुक्रमः मुखम् ईश्वरः कम् अव्यात् ॥ २२ ॥ चक्री अग्रतः सहगदः हरिः पश्चात् धनुरसी मधुहा च अजनः त्वत् पार्श्वयोः शङ्खः उरुगायः कोणेषु उपेन्द्रः तार्क्ष्यः उपरि हलधरः क्षितौ पुरुषः समन्तात् अस्तु ॥२३॥ हृषीकेशः इन्द्रियाणि अवतु नारायणः प्राणान् अवतु, श्वेतद्वीपपतिः चित्तं अवतु, योगेश्वरः मनः अवतु ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनाचांता एव प्रथममतिसंभ्रमेणैवं रक्षां कृत्वा किंचिल्लब्धश्वासाः पुनस्तात्पर्येण बीजन्यासमकुर्वतेत्याह । गोप्य इति । संस्पृष्टसलिला आचांताः आत्मनि प्रथममंगेषु करयोश्च पृथक् अजाद्येकादशबीजानां मध्ये करशुद्धौ त्रीणि करयोः संधिषु चत्वारि चत्वारि तथा अंव्यादावेकैकस्मिन्नंगे अजाद्ये एकैकं बीजं न्यस्य बालस्याप्यंगेषु तथैवाकुर्वत ॥ २१ ॥ अंघ्रिम् अंघ्री । जानु जानुनी । भुजं भुजौ । कं शिरः ॥२२॥ तथा दिक्षु रक्षामकुर्वन्नित्याह ॥ चक्र्यग्रत इति । चक्रसहितो हरिस्तवाग्रतोऽस्तु । सहगदो गदासहितो हरिस्तव पश्चादस्तु । त्वत्पार्श्वयोर्धनुर्धरो मधुहाऽसिधरोऽजनश्च तावास्ताम् । शंखधर ऊरुगायश्चतुष्कोणेषु । क्षिताबधस्तादित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवं बही रक्षां कृत्वांतरंगामकुर्वन्नित्याह । इंद्रियाणीति ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

संभ्रमेण कृत्वापि पुनरसंभ्रमेण चक्रुरित्याह–अनाचांता एवातिसंभ्रमेणैव रक्षां कृतवत्यो गोप्यः पुनर्यथाविधानमेव रक्षां चक्रुः । बीजन्यासमजादीनामाद्यक्षरस्य सानुस्वारनमोंतस्य न्यासं तेन अंनमोऽजस्तवांघ्री अव्यात् । मं नमः मणिमांस्तव जानुनी अव्यादित्येवमणिमान्नामा भगवतः प्रादुर्भावविशेष इति विश्वनाथः । हृत् जीवाधारपद्मम् । त्रीणि अजो मणिमान्यज्ञश्च मे करौ शोधयंत्विति वाच्यम् । अच्युतहयास्यकेशवेशा मे दक्षिणकरसंधीन् शोधयंतु । इनविष्णूरुक्रमेश्वरा मे वामकरसंधीन् शोधयंत्विति ॥ २१ ॥ अज इति "न जातोऽहं न जायेयं न जनिष्ये कदाचन । क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥" इति महाभारते । मणिमान्कौस्तुभधरः 'मणिधरः क्वचिदागणयन्गाः' इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्वा । गोगणनार्थं तुलस्यादिमणिधर इति कल्पांतरीयानुपूर्व्या भाविनामसूचनम् । "यज्ञो वै विष्णु"रिति श्रुतेर्यज्ञावतार आकृतिसूनुः । इज्यते मखेषु तत्तद्देवतारूपेणेति व्युत्पत्तेः । सर्वदेवरूपो वा । अच्युतः यास्कोक्तषड्भावविकारहीनः । "शाश्वतं शिवमच्युतम्" इति श्रुतेः । जठरमुदरम् । हयास्यो हयग्रीवः । केशसंज्ञिताः सूर्यादिसंक्रांता अंशवस्तद्वत्तया केशवः । "अंशवो ये प्रकाशंते ममैते केशसंज्ञिताः । सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ॥" इति भारते । ब्रह्मविष्णुरुद्राख्याः शक्तयः केशसंज्ञितास्तद्वत्तया वा केशवः । "को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवां तवांशसंभूतस्ततः केशवनामवान् ॥" इति हरिवंशे । कश्च ईशश्च केशौ तौ वेति जनयति 'वी गतिव्याप्तिप्रजने' इत्याद्यर्थकधातोः प्रयोगः । त्वदुरस्तव वक्षः । ईष्टे इतीशः सर्वाधिपः एष सर्वेश्वरः । इनः सूर्यरूपः "स्यादिनः स्वामिसूर्ययोः" इति वैजयंती । "ध्येयः

१. बीजन्यास–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. गिरि. भक्त. । २. जङ्घे–विश्व. । ३. हृत्केशवस्त्युदर–वीर. । ४. सहदरो– सु. च. पु. ।

सदा सवितृमंडलमध्यवर्ती नारायणः" इति भविष्ये। वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः "विष्लृ-व्याप्तौ" नुक् प्रत्ययः। वेति दीव्यतीति वीगत्यादौ कांत्यर्थाद्वेतेः ष्णुप्रत्ययो धातोर्ह्रस्वश्च। विशेषेण क्रामतीति विपूर्वात्क्रमेः ष्णप्रत्ययो धातुलोपश्च पृषोदरादित्वादिति। तदुक्तं महाभारते—"व्याप्ते मे रोदसी पार्थ कांतिश्चाप्यधिका स्थिता। क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः॥" इति। उरु अधिकमेकैकपादेनैकैकं भुवनं क्रामति प्रमातीत्युरुक्रमो वामनः। "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" इति श्रुतेः। ईश्वरः सर्वशक्तिमान् "एषोऽनंतशक्तिः" इति श्रुतेः॥ २२॥ यथांगेषु रक्षां गोप्योऽकुर्वंस्तथा दिक्ष्वप्यकुर्वन्नित्यर्थः। धनुरसिशब्दौ तद्वति लाक्षणिकौ शंखोऽस्यास्तीति शंखः मत्वर्थीयोच्। विजयध्वजस्तु—मदुहादयश्चत्वारश्चतुःकोणेष्विति जगाद उपरिदेशे "ममोपरि यथेंद्रस्त्वं स्थापितो गोभिरीश्वरः। उपेंद्र इति कृष्ण त्वां गास्यंति भुवि देवताः" इति हरिवंशे॥ २३॥ अंतरंगां शरीरांतर्देशेष्वित्यर्थः। इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि 'सूर्याचंद्रमसौ शश्वदंशुभिः केशसंज्ञितैः। बोधयन्स्वापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक्॥ बोधनात्स्वापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत्। अग्निषोमकृतैरेवं कर्मभिः पांडुनंदन॥ हृषीकेशो हृषीशानो वरदो लोकभावनः॥" इति भारते। नरः परमात्मा ततो जातानि। आकाशादीनि नाराणि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादिश्रुतेः। तान्ययते कारणात्मना व्याप्नोतीति नारायणः। "यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥" इति मंत्रात्। श्वेतद्वीपपतिरनिरुद्धः। योगेश्वरः कपिलः॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ रक्षानन्तरं गोप्य इति श्रीयशोदारोहिण्यौ व्यावर्तयति पूर्ववत् अत एव वक्ष्यतेऽपि गोपीभिरिति, मातेति च, ताभ्यः पृथक्त्वेन ताभ्यास्तत्र वक्ष्यमाणरीत्या अजादीश्वरान्तैकादशबीजानि सानुस्वारतत्तदाद्यक्षररूपाणि नमःशब्दान्तानि ज्ञेयानि॥२१॥ ततश्च पद्यैरेतैरक्षां चक्रुरित्याह-अव्यादिति। अङ्घ्रिजान्वित्यनयोः 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इत्यादि छान्दससूत्रेण सुब्लुक् भुजमित्यत्र 'सुपांसुपः' इति औटस्थाने अमादेशः अजाद्याः केशवादिवत्तत्तन्नामप्रधाना मूर्तिभेदाः मणिमानित्यपि तन्नामा भगवत्प्रादुर्भावविशेषः हृत् जीवाधारपद्मम् उरो वक्षः॥ २२॥ तार्क्ष्यसहित उपेन्द्रः पुरुषः पुरुषोत्तमः॥ २३॥ इन्द्रियाणीति सार्द्धकम्। अवत्विति पुनरुक्तिः रक्षणेऽत्यन्तवैयग्र्यात् एवमग्रे पात्वित्याद्यपि परो भगवान् यः स्वयं भगवानित्यर्थः। सरस्वती-संवादश्चायं तेषां तदंशत्वेन ममतास्पदत्वात् स्वस्य स्वयं भगवत्त्वेनवाहन्तास्पदत्वाच्च अंशेनांशस्य रक्षा भवतु स्वयं च स्वस्येति प्रार्थयामह इत्यर्थः। अतस्तत्तदङ्गावतारास्तदावरणरूपाश्च ते इति ज्ञेयम्॥ २४–२५॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथ रक्षानन्तरं गोप्य इति श्रीयशोदारोहिण्यौ व्यावर्त्तयति, तयोः पुत्रस्नेहाकुलतया न्यासादिना रक्षाविधिविशेषासक्तेः। अतएव वक्ष्यते (३० श.—श्लो.)—गोपीभिरिति, मातेति च; ताभ्यः पृथक्त्वेन न्यस्याजादीश्वरान्तैकादशबीजानि तेषामेव न्यासं चक्रुः॥ २१॥ तदेव विविच्याह—अव्यादिति। अजादीनां प्रायो नाममात्रत्वे तात्पर्य्यम्। मणिमान् कौस्तुभी, यद्यपि साम्येन सर्व्वेषामेव नाम्नां सर्व्वत्रोपयोगस्तच्च श्रीभगवन्नामकौमुदीकारादिभिर्विवृतमेव, तथापि तत्तद्वचनानां मन्त्रात्मकतया तथा तथैव तत्तच्छक्तेर्द्रु ताविर्भावाभिप्रायेण; किंवा, श्रीविष्णुधर्म्मोद्युक्तानुसारेण प्रयोजनविशेषापेक्षया तरत तस्य नाम्नस्तत्र तत्र विनि-योगः, हृदुरसोरधऊर्द्ध्वभागभेदेन भेदः॥ २२॥ पुरुषः—पुरुषोत्तमः॥ २३॥ अवत्विति पुनरुक्ती रक्षणेऽत्यन्तवैयग्र्यात्। एवमग्रे 'पातु' इत्याद्यपि। परो भगवान् श्रीवासुदेवः॥ २४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अजशब्दवाच्यतत्त्वद्वयनियन्ता सर्वजगत्कारणं श्रीमन्नारायण इति तासां परतत्त्वज्ञानित्वमनेनोच्यते उत्तरतन्नामसु तदेवतत्त्वं विख्याप्यत इति भावः॥ २२-३४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमनाचान्ता एव तावत्सम्भ्रमेण रक्षां विधायाथ लब्धश्वासा आचान्ताः विशेषतो रक्षां चक्रुरित्याह—गोप्य इति। संस्पृष्टसलिला आचान्ताः गोप्यः आत्मनि स्वशरीरे करयोरितरेष्वङ्गेषु पृथगेकैकशो न्यस्य अकारादिक्षकारान्तानि मातृकाबीजानि विन्यस्याथ बालस्यात्मनि करयोरङ्गेषु च बीजन्यासमकुर्वत अकुर्वन् चिकीर्षिताजादिभगवन्नामघटितविष्णुकवचपठनयोग्यतायै तत्स्थबीजस्फूर्तये च तावत्स्वाङ्गेषु बीजन्यासं विधायाथ तत्कवचमन्त्रजापपूर्वकरक्षाप्रार्थनायाः सुप्रतिष्ठितत्वाय बालस्याङ्गेषु बीजन्यासं चक्रुरित्यर्थः॥ २१॥ अथ कवचमन्त्रजपपूर्वकरक्षाविधानं दर्शयति-अव्यादित्यादिना, प्रणयेत्यतः प्राक्तनेन। अजादि-शब्दाभ्यां योगरूढिभ्यां भगवदसाधारणाः अजः कर्मायत्तोत्पत्तिरहितः भगवानङ्घ्रिं तत्रात्तोऽङ्घ्री अव्यात्रक्षतु जानु जानुनी अणिमा अणोर्जीवस्याप्यन्तरात्मतया प्रवेशयोग्यः पातु ऊरू यज्ञः यज्ञाराध्यो यज्ञभुक्ततत्फलदश्च कटितटमच्युतः आश्रितान्न च्यावयतीत्यच्युतः हयास्यो हयग्रीवः जठरमव्यात् हृच्च केशाश्च तेषां समाहारस्तदीशः पातु वस्ति मूत्रकोशः स्त्रत्युदरहृत्केशमिति क्रमोऽत्र विवक्षितः।

अव्यादजोऽङ्घ्रिमीश्वरः कमित्युपक्रमोपसंहाराभ्यां पादादिशिरःपर्यन्तावयवक्रमस्यात्र विवक्षितत्वप्रतीतेः जठरं नाभेरुपरि भागः तत उपरिभाग उदरमिति विवेकः, केशशब्दोऽत्र लोमपरः कण्ठमिनः सर्वव्यापकः "इण् गतौ" इति धातुः । यद्वा गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः सर्वज्ञः अत एव विष्णुरित्यनेन न पौनरुक्त्यं विष्णुर्व्यापकः "विष्लृव्याप्तौ" इति धातुः मुखम् उरवखिलोकसङ्ग्रहकाः क्रमाः पादविक्षेपा यस्य सः कं मूर्द्धानमीश्वरः सर्वान्तरात्मा ईशः सर्वाधिपतिरिति न पौनरुक्त्यं विष्णुशब्देन व्याप्तिमात्रम् ईश्वरशब्देन तु प्रशासनपूर्वकव्याप्त्याधारकत्वम् ॥ २२ ॥ एवं पादादिशिरःपर्यन्तं रक्षां विधायाथ दिक्षु रक्षां विदधुः चक्री अग्रतः पुरतश्चक्रधरः पश्चात्पृष्ठतः सहगदो गदासहितो हरिराश्रितार्तिहरः पार्श्वयोस्तु धनुरसी धनुःखड्गौ विभ्रताविति शेषः । मधुहाऽजितश्च धनुर्द्धरो मधुहाऽसिधरोऽजितश्चेत्यर्थः । कोणेष्वाग्नेयादिषु शङ्खः शङ्खोऽस्यास्तीति अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् उपर्यूर्ध्वायां दिश्युपेन्द्रः क्षितावधस्ताद्धलधरः सङ्कर्षणः समन्तात्सर्वतोऽनुक्ता दिशः काश्चित्सन्ति चेत्तत्र सर्वत्र पुरुषः सर्वप्राणिहृदयगुहावस्थितः ॥ २३ ॥ एवं बहिरङ्गरक्षां सम्प्रार्थ्याथान्तरङ्गरक्षां प्रार्थयामासुः—इन्द्रियाणीति । हृषीकाणाम् इन्द्रियाणाम् ईशोऽन्तःप्रविश्य नियन्ता योगेश्वरो यागनिर्वाहकः ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

संस्पृष्टसलिलाः आचान्ताः अङ्गेषु न्यस्य पृथक्करयोश्च न्यस्य आत्मनि मध्ये देहे च न्यस्य अथानन्तरं मङ्गलकरं वा बालस्य बीजन्यासम् अष्टाक्षरन्यासम् अकुर्वत ॥ २१ ॥ अत्राजादयो मूर्तिविशेषाः अङ्घ्रिम् अङ्घ्री जानु जानुनी अङ्घ्रिमित्यन्वयः अणिमान् गरिमानित्यर्थः ॥ २२ ॥ मधुसूदनादयश्चत्वारः चतुर्षु कोणेषु ॥ २३-२४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

बीजम् अजादीनां प्रथमाक्षरं सानुस्वारम् ॥ २१ ॥ अङ्घ्रिजान्विति "सुपां सुलुक्" (७।१।३९) इत्यादिना सुलुक् ॥ २२ ॥ तार्क्ष्यसहित उपेन्द्रः पुरुषः प्रकृतिद्रष्टा ॥ २३-२४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रथममनाचान्ता एवातिसम्भ्रमेणैव रक्षां कृत्वा पश्चाल्लब्धश्वासा यथाविधानमेव रक्षां चक्रुरित्याह—गोप्य इति। संस्पृष्टसलिला आचान्ता आत्मनि आत्मनः अङ्गेषु करयोश्च न्यस्य अङ्गन्यासकरन्यासौ कृत्वेत्यर्थः । अथ अनन्तरं बालस्याङ्गेष्वङ्घ्र्यादिषु बीजस्याजादिनामाद्यैकैकाक्षरस्य सानुस्वारस्य नमःशब्दान्तस्य न्यासं तेन अंनमोऽजस्तवाङ्घ्री अव्यात् मं नमो मणिमांस्तव जानुनी अव्यादित्येवं प्रयोगः ॥ २१ ॥ ततश्च पद्यैरेतै रक्षां चक्रुरित्याह—अव्यादिति। अङ्घ्रि अङ्घ्री मणिमान् तन्नामा भगवत्प्रादुर्भावविशेषः जानु जानुनी जङ्घेऽच्युत इति सन्धिरार्षः यज्ञोऽच्युत इति च पाठः हृज्जीवाधारपद्मम् उरो वक्षः ॥ २२ ॥ तथा दिक्षु रक्षामकुर्वन्नित्याह—चक्र्यग्रत इति। चक्रसहितो हरिस्तवाग्रतोऽस्तु सहगदो गदासहितो हरिस्तव पश्चादस्तु त्वत्पार्श्वयोर्धनुर्धरो मधुहा असिधरोऽजनश्चास्तु कोणेषु शङ्खधर उरुगायोऽस्तु उपर्युपेन्द्रोऽस्तु तार्क्ष्यः क्षितावधःस्तादस्तु हलधरः पुरुषः समन्तादस्तु ॥ २३-२६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सम्भ्रमापन्नत्वेनानवहिताभिर्गोपीभिर्यत्कृतं तदुक्तमथ किञ्चित् स्वास्थ्यं प्राप्य ताभिर्यत्कृतं तदाह—गोप्य इति नवभिः। संस्पृष्टसलिलाः आचान्ताः प्रथममात्मनि स्वदेहे अङ्गेषु अङ्घ्र्यादिषु करयोश्च पृथक् पृथक् अजाद्येकादशबीजानां मध्ये करशुद्धौ त्रीणि करयोः सन्धिषु चत्वारि चत्वारि अङ्घ्र्याद्यङ्गेषु च वक्ष्यमाणक्रमेण बीजानि न्यस्य बालस्याप्यङ्गेषु तथैवाकुर्वत ॥ २१ ॥ अजः कर्मायत्तजन्मशून्यः श्रीवासुदेवः तव अङ्घ्रि अङ्घ्री अव्यात् रक्षतु मणिमान् कौस्तुभी जानुनी इनः सर्वगः "इण् गतौ" ॥ २२ ॥ दिक्षु रक्षामप्यकुर्वन्नित्याह—चक्रीति। पार्श्वयोः धनुरसी धनुर्द्धरः असिधरश्च भगवदीयानामायुधानां केवलानामपि सर्वसामर्थ्यसूचनाय धनुरसीत्युक्तम् कोणेषु चतुष्कोणेषु मधुहा अजनः शङ्खः शङ्खधरः उरुगायश्च अस्तु क्षितौ अधस्तात् ॥ २३ ॥ अन्तरङ्गां रक्षामप्युपकुर्वन्नित्याह—इन्द्रियाणीति ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

आदावतिसम्भ्रमादनाचान्ता एव रक्षां कृत्वा पश्चाद्रक्षसानाविष्टं कुशलिनं बालं विज्ञायाश्वस्ता विधिनैव रक्षां चक्रुरित्याह—गोप्य इति । संस्पृष्टसलिलाः कृताचमनाः साधकेन स्वदेहे रक्षां कृत्वा साध्यरक्षा कार्येति पूर्वमात्मनि स्वदेहे अङ्गेषु करयोश्च पृथक् पृथक् अजाद्येकादशबीजानां मध्ये करशुद्धौ त्रीणि करयोः सन्धिषु चत्वारि चत्वारि तथैवाङ्घ्र्यादावेकैकस्मिन्नङ्गे अजाद्येकैकबीजं न्यस्याथ बालस्याङ्गेषु तथैवाकुर्वत तानि चाजादीनीश्वरान्तान्येकादशबीजानि सानुस्वारतत्तदाद्यक्षररूपाणि नमोन्तानि अंनमो अजस्तवाङ्घ्री अव्यात् मं नमो मणिमांस्तवजानुनी अव्यादित्येवमादिरूपाणि बोध्यानि ॥ २१ ॥ ततश्च पद्यैरेतैस्ता रक्षां चक्रुरित्याह

अव्यादिति । अङ्घ्रिजजान् इत्यनयोः "सुपां सुलु"गिति सुपोलुक् अङ्घ्री जानुनी इत्यर्थः । भुजमित्यत्र "व्यत्ययोर्बहुल"मित्योकार-विभक्तेरम् कंशिरः ॥ २२ ॥ अथ दिक्षु रक्षामाह चक्रीति स चक्री हरिस्तवाग्रतोस्तु सगदस्तु तव पश्चादस्तु त्वत्पार्श्वयोर्धनुर्धरो मधुहा असिधरोऽजनश्चास्तु कोणेषु शङ्खधर उरुगायोस्तु उपर्युपेन्द्रोस्तु तार्क्ष्यः क्षिताबधस्तादस्तु हलधरः पुरुषः समन्तादस्तु ॥२३॥ अथान्तरङ्गां रक्षामकुर्वन्नित्याह—इन्द्रियाणीति सार्द्धेन ॥ २४ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

संस्पृष्टसलिला । उपस्पृष्टोदकाः । सत्यः ॥ करयोः । करांगुलीष्वित्यर्थः ॥ अंगेषु । हृच्छिरः शिखादिपंचांगेषु । पृथक् । कर्णबीजपार्थक्येन । न्यस्य । भूरग्नयात्मनेऽनिरुद्धायेत्यादि सत्यं सत्यात्मने नारायणायेत्यंतानां न्यासं कृत्वा ॥ अथ । उभये-न्यासानंतरं । बालस्य ॥ आत्मनि । शिर आदिजीवविंबरूपांतस्थानेष्वित्यर्थः ॥ बीजन्यासं । अं अजायनम् इत्यादि क्षं नृसिंहाय नम इत्यंतं मातृकान्यासं ॥ अकुर्वत । चक्रुः । यद्वा । आत्मनि शिरोहृत्पादरूपांगेष्वित्यर्थः । बालस्य बालकृष्णस्य । बीजन्यासं क्लीमिति बीजन्यासं अकुर्वत । केचिदाबालयोरुभयोर्न्यासकरणं व्याचक्षते । तच्चिंत्यं । तथात्वे न्यस्यात्मनोऽथ बालस्येति न्यस्यात्मन्यथ वा बालस्येति पाठः स्यात् । षष्ठीसप्तम्योस्तु पृथग्विभक्तिप्रदर्शने कारणाभावात् । अयमप्यर्थो व्याख्यातृहृदं वरवर्ती । अविरुद्धत्वात्प्रादर्शयिष्यमाणत्वाच्च ॥ २२ ॥ अव्यादिति । अत्र पादादिशिरोंऽतन्यासोक्त्या लयन्यासस्सिद्धेः । तन्न्यासस्य च यत्याधिकारिकत्वात्कृष्णे च तदाश्रयाभावात्कथमयं न्यासो युज्यतेऽत उच्यते । नायं न्यासः किंतु इयसंगरक्षाऽतो न विरोधः । तथांऽगीकारपक्षे व्याख्यातृभिः पूर्वं द्वादशांगेषु नामभिरित्यत्र द्वादशांगेषु ललाटादिद्वादशावयवेष्विति व्याख्यानात् । आत्मानं भगवान्पर इत्यत्रात्मानं मध्यश्चिति व्याख्यास्यमानत्वात् पूर्वश्लोके न्यस्यात्मन्यथेत्यत्रात्मशब्दस्य मध्यार्थकत्वात् । तेन च सृष्टिलय-योर्मध्यस्थत्वेन स्थितिन्यासस्सिद्धेश्च । अत्र च लयन्यासोक्त्या त्रयाणामप्याश्रमाणां स्वावयवेभ्यो जनकस्य कृष्णस्योपनयनाभावेन पृथगेकैककरणायोगात् त्रयाणामपि न्यासानां युक्तत्वं बोद्धव्यम् ॥ २३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

गोमूत्रेण स्नापयित्वा । मित्वस्य ग्लास्नेति वैकल्पिकत्वाद्दीर्घः । गोरजसा तत्पदधूल्या पुनः स्नापयित्वा गोशकृता द्वादशाङ्गेषु ललाटादिषु नामभिः केशवाद्यभिधानै रक्षां दिग्बन्धादिपूर्वं चक्रुः । मत्सङ्गो रमाया एवेतीश्वरः किञ्चित्तं योषितामेवं प्रेरणया तत्सङ्गमङ्गलमेव सम्पादयामासेति तात्पर्यं ज्ञेयम् । यथोक्तं शान्तिपर्वणि गोलक्ष्मीसंवादे । चञ्चलेत्यादिप्रकारेण ताभिर्निषिद्धा रमा वक्ति । माननामहमिच्छामि भवत्यः सततं शिवाः । अप्येकाङ्गेऽथो वस्तुमिच्छामि च सुकुत्सिते । अवश्यं मानना कार्या युष्माभिर्यशस्विनि । शकृन्मूत्रे वस त्वं च पुण्यमेतद्धि नः शुभे । श्रीः । दृष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृता मेऽनुग्र-हात्मकः । एवं भवतु भद्रं वः पूजितोऽस्मि सुखप्रदाः । एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत । पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तर-धीयत । एवं गोशकृतः पुत्रमाहात्म्यं तेऽनुवर्णितमिति ॥२१॥ गोप्यः संस्पृष्टसलिलाः पादधावनाचमनाद्युपयुक्तोदकाः सत्य आत्मनि स्वस्मिन्नादावङ्गेषु विशिष्टावयवेषु करयोरिति पृथक् पृथक् न्यस्य बीजाक्षराणि । अथानन्तरं बालस्याङ्गेषु करयोरिति पृथक् पृथक् च बीजन्यासमष्टाक्षरादिन्यासमकुर्वत ॥ २२ ॥ अजादयश्च भगवन्मूर्तिविशेषाः क्वचिदेवार्थानुगमोऽजो न जायत इति । अज गतिक्षेपणयोरिति स्मरणात् एरजित्यच् प्रत्यये बहुलं तणीति वीभावाभावः । अजा विष्णुहरच्छागा इत्यमराद्विष्णुः । अङ्घ्रिमवय-वादीनां परस्परमभेदादेकवचननिर्देशो निर्देशः । क्वचिदूरू इति च विशेषतो व्यवहारविशेष इति सूचक इति ज्ञेयम् । अधिरपि गत्यर्थो गतिमानिति गतिसाधनं पादमव्यादित्यर्थः । अणिमानणिरस्यास्तीति स स चास्थिविशेषो दृढतरकः । अणिराणिवदक्षाग्रकीले स्यादसीमयोरिति विश्वः । जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटो हयास्यो जठरं केशवो हृत्त्वदुर ईश इनः कण्ठं विष्णुर्भुजमुरुक्र-मश्चिविक्रमो मुखमीश्वरः कं शिरोऽव्यादित्यन्वयः । अणिर्गतरस्यास्तीत्यणिमान्वा । गतेश्चाङ्घ्रिजानुसाध्यत्वाद्द्विवारमुक्तिरिति केऽपि ॥ २३ ॥ अग्रतोऽग्रे चक्री चक्रधरो हरिरेवं सहगदौ गदया सहितो सगदः । वोपसर्जनस्येत्युक्तेः सहगद इति सम्भवति । हरिः पश्चात्पृष्ठभागेऽस्त्विति विपरिणतं यथायथमन्वेति । त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी तद्धरौ रूपविशेषौ धरणीयौ । एवमुत्तरत्रापि । मधुहा मधुसूदनोऽजनो जनार्दनः शङ्ख उरुगायश्चेत्येते चत्वारश्चतुर्षु कोणेषु । एकदेशेषु । याम्यादिः कोणेऽप्येकदेश इति विश्वः । उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्यो गरुडध्वजः सोऽप्युपरि क्षितौ तदधो हलधरः शेषान्तर्गतसङ्कर्षणः । तस्य पातालतलालयत्वात् । गरुडशेषौ वा । तार्क्ष्यहलधरपदयोरसाक्षाद्धोक्षजप्रतीतिजनकत्वेन संविधानसापेक्षार्थकत्वेऽपि प्रस्तुतस्तनपीतविषविषमताभ्रान्त्युपशान्त्यै तदुक्तिरिति मन्तव्यम् । एकस्य तु तत्परिहारकतयैकस्य विषस्वामित्वेन विघ्नेशवत्तत्स्मरणेन तन्नाश इति द्वयोर्महो युक्तियुक्त इति सन्तोष्टव्यम् । पुरुष-परमपुरुषः समन्तात्सर्वत्र ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमियं द्वितीया रक्षा निरूपिताध्यात्मिकी, आधिदैविकीमाह गोप्य इति, पूर्वं कर्तृकर्मणोरसंस्कारः, कर्मण एव मध्यमे, कर्तुरपि तृतीये, प्रथममात्मसंस्कारो द्विविधो निरूप्यते संस्पृष्टसलिला इति, बहिः स्नानमन्तराचमनं चोक्तं, ततो बीजमन्त्राने-

कादशात्मनि न्यासं कृतवत्यः, स्वस्मिन्नागतायां देवतायामन्यस्मिन् स्थापनमनुभवसाक्षिकं भवति, ततस्त्याजित आधिदैविको दोषः स्वात्मानं वा गृह्णीयाद् बलिष्ठदोषस्य त्याजकग्राहकत्वाद्, "अग्निं वै जात"मित्यत्र तथोक्तेः, आत्मन्यपि द्विगुणा रक्षा कृता करण-कर्तृभेदेन, साक्षात्करणे कर्तरि च दोषसम्बन्धसम्भवात्, तदाहाङ्गेषु वक्ष्यमाणेषूक्तेषु वा तैरेव नामभिः, करयोरिति, करतलकर-पृष्ठाभ्यां सह दशाङ्गुलीषु दक्षिणाङ्गुष्ठमारभ्य वामाङ्गुष्ठपर्यन्तासु, पृथगिति करयोरेव वा सम्बध्यते, तेनाङ्गुलिचतुष्टये पर्वत्रये न्यासो भवति, "अङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वस्वि" तिवचनात्, पृथगिति दशन्यासा वा निरूपिता मातृकान्यासादयः, एवमात्मनि न्यस्य सर्वदेवताधारभूताः सत्योथ भिन्नप्रकारेण देवताः सर्वाः बहिः स्थिता विधाय बालस्य भगवतोङ्गेषु बीजैरेकादशभिर्न्यासमकुर्वत कृतवत्यः ॥ २१ ॥ बीजानि स्थानानि च गोप्यानीति भङ्ग्यन्तरेण देवताप्रार्थनरूपेण रक्षां स्तोत्ररूपां वदन्नाहाव्यादिति, भगवत एकादश रूपाणि मूलतः प्रसिद्धानि वैष्णवतन्त्रे, अन्यानि तु न समर्थान्युपढौकनेनारोपितसामर्थ्यानि वा भवन्ति, तत्र प्रथममजो न जायत इत्यविकृतो मूलभूत इति यावत्, सोक्षरात्मको भवति, सोक्षरात्माजो भगवतोङ्घ्रिमव्यात्, अङ्घ्रिरयमाध्यात्मिकः, स त्वाधिदैविक इ"त्यन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्ये"तिनिरूपणात्, ततः स एव सर्वोपास्यरूपो भवन् दुर्ज्ञेयत्वादणिमान् भवति, बीजरूपाण्येतानि नामान्यविकृताति भवन्ति, जानुद्वयं सोव्यात् स्थूलादग्रे सूक्ष्मभावात्, एतद् द्वयं प्रमेयबलेन रूपद्वयेन निरूपितं, प्रमाणबलेन पुनः पृथङ् निरूपयत्यथेति, अनेन भक्तिमार्गो ज्ञानमार्गश्च प्रमेयबलादेव सिध्यतीति ज्ञापितं, यज्ञ ऊरू अव्यात्, स हि प्रजननात्मकः, अच्युतो यज्ञस्यैवाधिदैविकं रूपं कटितटमव्यात्, स हि रक्षको न केनापि प्रकारेण च्युत इति, वेदानां यज्ञानां च नित्यताप्युक्ता, हयास्यो जठरमव्यात्, नष्टेषु वेदेषु रक्षणार्थमवतीर्णः, उदरं सर्वमेव जगत्, तच्च कर्मणा परिपाल्यत इति यज्ञे प्रादुर्भूत उक्तः, हृद् हृदयं केशवोव्यात्, कश्च ईशश्च केशौ तयोर्वं सुखं यस्मादिति, ब्रह्मशिवयोर्बुद्ध्यहङ्कारनियामकयोरपि सुखदा-तान्तर्यामो हृदयपरिपालको भूयात्, हृदयं स्तनयोर्मध्ये निम्नस्थानं, उरस्तूच्चस्थानं, स्तनादुपरि कण्ठादधस्त्वदुर ईशोव्यात्, यास्त्वाधिदैविककालरूपो येन प्रकृतेर्गुणाः क्षुब्धा भवन्ति, त्वदुर इति, उरसि लक्ष्मीरपि वर्तते, अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं त्वत्पदं, इनस्तु कण्ठं, तुशब्दो ब्रह्माण्डमध्यस्थितं वक्तुं बहिःस्थिताद् व्यावृत्तिमाह, इनः सूर्यान्तःस्थितो नारायणः स कण्ठमव्यात्, सरस्वतीस्थानं तत्, त्रयीमयात्मकश्च सः ततो जगद्रक्षायां स्थितः क्रियाशक्तिर्विष्णुर्भुजमव्यात् क्रिया भुजयोरेव प्रतिष्ठितेति, ततो भक्तबाधकत्वेन दैत्येषु समागतेषु तन्निवृत्त्यर्थं समागतो बलिबन्धनकर्तोरुक्रमो वामनो मुखमव्यात्, ततः कं शिर ईश्वरोव्यात्, यस्तु सङ्कर्षणरूपो "यस्य केशौ सितकृष्णौ" स शिरः प्रधानभूत इति शिरःपालनं युक्तमेव ॥ २२ ॥ एवं पादादिशिरोन्तानां रक्षा प्रार्थनया निरूपिता, बाह्यतः परितो रक्षामाह चक्र्यग्रत इति, पुरुषस्य यावन्तो भागा बहिर्भवन्ति तेषु तत्र तत्र प्रयोजको रक्षत्विति प्रार्थयन्ति, चक्री चक्र-पाणिश्चक्रं गृहीत्वाग्रे रक्षतु पूर्वभागं परिपालयतु, सहगदो गदाधरो गदासहितः पश्चादव्यात् पृष्ठभागं परिपालयतु, ननु महतः कथं पृष्ठभागपरिपालनमुच्यते तत्र प्रार्थनया हेतुमाह हरिरस्त्विति, स हि सर्वदुःखहर्ता, यथा वा प्रार्थनया गजेन्द्रमागत्योद्धृतवान् न तु वैमनस्यं विचारितवान्, अत इदानीमपि प्रार्थनया पश्चाद्धरिः स्वयमस्तु स्थितः सन् पालयत्वित्यर्थः, त्वत्पार्श्वयोर्दक्षिण-वामयोर्धनुर्धरोसिधरश्च मधुसूदनोजनश्चाव्यात्, दक्षिणपार्श्वे धनुर्गृहीत्वा राक्षसांस्तत्रत्यान् दूरादेव (मधुहा) मारयतु, अजन उत्तरपार्श्वे सर्वज्ञानिसेव्यः सर्वेषां जन्मादिसर्वदुःखनाशकोसिं गृहीत्वाविद्याछेदकोव्यात्, आयुधयोरपि स्वतःसामर्थ्यं द्योतयितुं भिन्नतया निरूपणं, चकारादुत्तरभागस्थिता हरिवर्षादिमूर्तयोपि पालयन्त्वित्युक्तं, कोणेषु चतुर्षु विदिक्षु शङ्खं गृहीत्वोरुगायश्चावतु, शब्दो हि स सर्वेषां दैत्यानां दर्पहन्ता "विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्ये"ति वाक्यात्, अत एव प्रत्येकं कोणेषु भिन्ना निरुक्ताः, सोप्यु-रुगाय उरुभिर्नारदादिभिर्गीयत इति, अत एकेनैव सर्वत्र रक्षा सम्भवति, उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्योव्यात्, गरुडारूढो मन्वन्तरावताररूपः, गरुडस्यापि रक्षकत्वं, उभावप्युपर्येव भवतः, क्षितौ हलधरो हलं गृहीत्वा सङ्कर्षणोधोभागे पालयतु, एवं प्रत्येकं रक्षामुक्त्वा सामान्यत आहुः पुरुषः समन्तादिति, पुरुषो नारायणः समन्तात् पालयतु, यस्योदरे सर्वे वर्तन्त इति स हि सर्वत्र तिष्ठति ॥ २३ ॥ एवं बाह्यरक्षामुक्त्वाध्यात्मिकांशभूतानां प्राणादीनां रक्षामाहुरिन्द्रियाणीति, हृषीकाणामिन्द्रियाणामेव नियामकत्वेन स्थितः, 'अव्यादि'ति पूर्वेण सम्बन्धः, इन्द्रियाणि दश, चक्षुषश्चक्षूरूपत्वाद् भगवतः प्राणान् नारायणोवतु, प्राणापानादयो दश प्राणाः, नारं जीवसमूहस्तदयति प्रेरयति प्रविशतीति वा, प्राणमूलकं हि सर्वमतो नारायणात् प्राणरक्षा, अन्तःकरणचतुष्टयस्य रक्षामाह श्वेत-द्वीपपतिर्वासुदेवः, श्वेतद्वीपस्य शुद्धसत्त्वरूपत्वाच्चित्तरक्षकश्च स भवत्येव, अनिरुद्धो योगिभिः संराध्यः, अतो योगेश्वरो मनोव्यात्, योगशास्त्रं च मनोमूलकमेव ॥ २४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अङ्गानि करणानि आत्मा कर्ता । तदाहुः करणकर्तृभेदेनेति । अव्यादज इत्यत्र, अङ्घ्रिरयमित्यादि । अयं अवनीयत्वे-नोच्यमान इत्यर्थः । परिदृश्यमान एवाधिदैविकोऽजपदेनोच्यते । स स्वाधिष्ठानभूतमाध्यात्मिकं स्वस्मिन्विद्यमानमेव वाक्या-दिति प्रार्थनेति भावः ॥ २१–२२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

गोप्यः संस्पृष्टेत्यत्राधिदैविक्यां रक्षायां विशेषं वक्तुं पूर्वं कर्तृकर्मणोरसंस्कार इति प्रथमरक्षायां रक्षाकर्तुः स्वस्य रक्षाकर्मणो भगवतश्च **न संस्कारो मध्यमे** भगवत एव संस्कारस्तृतीये तु द्वयोरित्यर्थः, **बीजमन्त्राण्य**'ष्या'दिनिश्लोके वक्ष्यमाणानि, **करणकर्तृभेदेनेत्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुरङ्गानीत्यादि सुबोधिन्यां द्वैगुण्यप्रयोजनमाहुः साक्षादित्यादि, साक्षात्करण** इत्यव्यवधानेन रक्षा**करणे**, वक्ष्यमाणपक्षे **बीजानामेव न्यास** उक्तपक्षे **केशवादिनामभिरि**ति ज्ञेयं, नाम्नां विनियोगान्तरमाहुः **करतलेत्या**दि, प्रकारान्तरमाहुः **करयो**रित्यादि, तथा सति द्वादशनाम्नामङ्गुलिचतुष्कपर्वस्वेव न्यासः, एवं करन्यासे प्रकारद्वयं, अथाङ्गन्यासादौ प्रकारान्तरमाहुः **पृथगित्यादि मातृकान्यासा**देरिति ॥ २१ ॥ **अव्यादित्यत्र टिप्पण्यां** मूलरूपविचारेऽवताररूपविचारे 'चाक्षरस्य'पादत्वात् तस्य चाविक्रान्तत्वेनात्रोक्तत्वा**दवनीया**ङ्घ्रिः क इत्याकाङ्क्षायां तं विवेचयन्तीत्याशयेना**ङ्घ्रिरयमित्या**द्यर्थमाहु**रयमि**त्यादि, ननु तस्यै**वाधिदैविकत्वमित्यवनीयत्वं** कस्येत्यत आहुः **परी**त्यादि, तथा च स्वस्मिन् विद्यमानस्यैवावनीयत्वमित्यर्थः, **सुबोधिन्यां स्थूलामग्रे सूक्ष्मभावादिति स्थूला**दक्षरभावाग्रेनन्तरं **सर्वोपास्यतायां सूक्ष्मभावाद् दुर्ज्ञेयत्वात्** तस्योपरि तत्राङ्गरक्षकत्वप्रार्थने**तिभावः, एतद् द्वय**मित्यादि, "**नैतन्मनो** विशती"तिवाक्येनाक्षरस्य प्रमाणातीतत्वात् स्वरूपबलेन रूपद्वयेन रक्षाद्वयं निरूपितमित्यर्थः, **अनेनेत्यङ्घ्रिजानुनोः पूर्वं** रक्षानिरूपणेन मानान्मेयसिद्धिरिति**न्याय**मुल्लङ्घ्यापि पूर्वं प्रमेयबलनिरूपणेन च जानुनोर्ज्ञा**नमार्गत्वं** भक्तिकर्मसन्दंशाज् ज्ञेयं, **यज्ञस्य कर्मरूपत्वादिति भक्तिमार्गो ज्ञानमार्गश्च** भगवदक्षरयोः प्रत्यक्षहेतुत्वात् प्रमाणम् ॥ २२ ॥ **चक्री**त्यत्र **वैमनस्य**मितिविविधलिङ्गभिदाभिमानानां ब्रह्मादीनां **वैमनस्यम्** ॥ २३ ॥ **इन्द्रियाणीत्यत्राध्यात्मिकांशभूताना**मित्यक्षरांशभूतानामित्यर्थः, **हृषीकेशस्य** स्वरूपं विवृण्वन्ति **चक्षुषश्चक्षु**रित्यादिना, **तदयती**ति'**वी** गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादने'ष्वित्यत्र प्रश्लिष्ट**स्यायते** रूपम् ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गोप्यः संस्पृष्टेत्यत्र न्यस्येतिपदं विवृण्वन्ति **ततो बीजमन्त्रानेकादशे**ति, अग्रिमश्लोकोक्तान् नमोन्तान् स्वाङ्गेषु स्थापितवत्य इतिशेषः, **आत्म**नाति एवमितिशेषः, **अङ्गेषु वक्ष्यमाणेष्वि**ति एतत्पक्षे तेषामेकादशत्वाद् बीजमन्त्रानेकादशेत्युक्त एव **प्रकारः**, **उक्ते**ष्वितिपक्षे पूर्वश्लोकोक्ताङ्गानां द्वादशत्वात् तत्रोक्तैरेव केशवादिद्वादशनामभिरित्यर्थः, पूर्वश्लोके भगवदङ्गेषु न्यास उक्तः, अत्र स्वाङ्गेष्वितिविभेदः ॥ २१ ॥ **अव्यादज** इत्यस्याभासे **भङ्ग्यन्तरेणे**ति तत्तद् दैवतं तत्र तत्र तिष्ठत्वितिवक्तव्यं तथात्र नोक्तमित्यर्थः, भङ्ग्यन्तरस्यैव विवरणं **देवते**ति, **वदन्नाहे**ति शुकस्तत्कृतां रक्षां **वदन्नाह** अग्रिमवाक्यानीतिशेषः, एतेनावान्तरप्रकरणार्थ उक्तः, एतद्वाक्यार्थस्तु एतच्छ्लोकोपसंहारे **एवं पादादी**त्यनेन सूचयिष्यते, **अव्यादज** इत्यत्र **अणिमा**नित्यस्य **दुर्ज्ञेय**त्वार्थकत्वेऽणिष्ट इतिस्यादित्याशङ्क्या**हुर्नामान्यविकृतानी**ति, अतो नातीवाग्रहः कर्तव्यः इति भावः, **अनेने**ति चरणरक्षाप्रार्थनायां प्रमेयबलकथनेनेत्यर्थः, जान्वोरपि चरणत्वमभिप्रत्येदमुक्तं 'विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य चे'ति द्वितीयस्कन्धवाक्याच्च चरणस्य **भक्ति**रूपत्वमक्षरात्मकत्वाज् **ज्ञान**रूपत्वं, **प्रजननात्मक** इति प्रजननमात्मनि स्वरूपे यस्येत्यर्थः, 'अग्निहोत्रं जुहोति, यदेवं किञ्च यजमानस्य स्वं तस्यैव तद्रेतः सिञ्चति प्रजननं' इति श्रुतिसम्मतिसूचनाय हिशब्दः, **वेदाना**मिति वेदप्रतिपाद्यस्य यज्ञाधिदैविकस्य च्युतिराहित्यकथनादुभयोर्नित्य**तोक्ते**त्यर्थः, **उक्त** इति रक्षकत्वेनेतिशेषः ॥ २२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गोप्यः संस्पृष्टसलिला इत्यस्य विवृतौ **पूर्वं कर्तृकर्मणोरसंस्कार** इति गोपुच्छभ्रामणादिभिरित्यनेन पूर्वं भौतिकी **रक्षोक्ता**, तत्र रक्षा**कर्त्रीणां** रक्षा**कर्म**रूपस्य भगवतो**ऽप्यसंस्कार** इत्यर्थः । **कर्मण एव मध्यम** इति **मध्यमे** रक्षणे **गोमूत्रेण स्नापयित्वे**त्यनेन रक्षाकर्मणो हरेः संस्कार इत्यर्थः, **कर्तुरपि तृतीय** इति **अपि**शब्दात् मर्मरूपस्य भगवतः संस्कारः, एवं तृतीये रक्षणे **गोप्यः संस्पृष्टसलिला** इत्युक्ते कर्तृकर्मणोर्गोपीभगवतोरुभयोरपि संस्कार इत्यर्थः ॥ २१ ॥ **अव्यादजोऽङ्घ्रमणिमांस्तव**ेत्यस्य विवृतौ **सः अक्षरात्माजः** भगवतः **अङ्घ्रि अव्या**दित्यादि इह भगवदङ्घ्रिरक्षणमक्षरात्मकेन भगवता कर्तव्यमित्यत्राङ्घ्रिरयमाध्यात्मिकः स त्वाधिदैविक इत्यादिनोपपत्तिरुच्यते, व्यासचरणानामभिप्रेतेव, यतो 'जले रक्षतु वाराहः स्थले रक्षतु वामनः । अटव्यां नारसिंहश्च सर्वतः पातु केशव' इत्यादिभिरुपपत्तिपूर्वकमेव रक्षाया उक्तत्वाज् जले वराहरूपस्य प्रवेशसामर्थ्यात्, अत एवारण्ये **नृसिंहस्य** रक्षकत्वमुक्तं, अतो ज्ञायते तत्तन्नामभिस्तत्तद्रक्षा निरूप्यते, सोपपत्तिपूर्विकैवेति, अतः श्रीमदाचार्यैः सर्वत्रोपपत्तयो निरूपिताः, **अनेन भक्तिमार्गो ज्ञानमार्गश्चे**ति अनेन अक्षरस्य भक्तिमार्गरूपाधिदैविकचरणारविन्दरूपत्वकथनेनेत्यर्थः, **अक्षरस्य हि रूपद्वयेन स्थलद्वयरक्षोक्ता**, तत्र अजत्वरूपेण चरणरक्षोक्ता, तेन भक्तिमार्ग उक्तः, चरणस्य भक्तिरूपत्वात्, अणिमत्पदेन दुर्ज्ञेयत्वकथनात् ज्ञानमार्ग उक्तः, ज्ञानमार्गे प्रमेयस्य दुर्ज्ञेयत्वकथनात् "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष" दित्यादिषु दुर्ज्ञेयत्वोक्तेः, **स हि प्रजननात्मक** इति यज्ञस्य प्रजननात्मकत्वं "यज्ञाद् भवति पर्जन्य" इति गीतावाक्येन्नाद्युत्पादकस्य पर्जन्यस्यापि यत उत्पादको यज्ञ उक्तोतो ज्ञेयं, उरुरपि प्रजननात्मकः "यदा हि नग्न उरुर्भवती"ति श्रुतौ उरोः प्रजनने प्रयोजकत्वात्, **अच्युतः कटितटमव्यादित्युक्तं तत्रोपपत्तिमाहुः अच्युतो**

यज्ञस्यैवाधिदैविकं रूपं इति, यतो यज्ञरूपता अच्युतस्यातः पृथ्वीरूपायाः कटेः रक्षा युक्तैव, पृथिव्याः कर्मक्षेत्रत्वेनोपजीव्यत्वात् उपजीव्यरक्षा युक्तैव ॥ २२ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

एवमियं द्वितीया रक्षा निरूपिता ध्यात्मिकी—अब आचार्यवर विहंगावलोकन करते हुए कुछ स्पष्टीकरण करते हैं कि "रक्षां विदधिरे सम्यक्" इस श्लोक में श्री लालन की आधिभौतिक रक्षा की गई थी, किन्तु उसमें 'कर्ता' गोपीवृन्द एवं 'कर्म' की शुद्धि न हुई तथा गोमूत्रेण स्नापयित्वा श्लोक में आध्यात्मिक रक्षा की, तब केवल कर्म की शुद्धि की गई। अब इस आधिदैविक रक्षा के समय में, कर्ता की भी शुद्धि की गई है।

प्रथममात्मसंस्कारः—प्रथम गोपीजन ने अपना संस्कार दो प्रकार से किया स्नान कर देह का बहिरंग संस्कार किया, और आचमन लेकर आत्मा का अन्तरंग संस्कार किया। इस विधि के बाद ग्यारह बीज मन्त्रों का अपने में स्थापन किया। गोपीजनने इन बीज मन्त्रों द्वारा अपने में देवताओं को प्रविष्ट किया अथवा देवता स्वयं प्रविष्ट हो गए जिससे जिन अनुभव के आधार पर अपने में आए हुए देवता का दूसरे में भी स्थापना कर सकने का निश्चय होता है।

यदि संशय हुआ कि गोपियों ने बीज मन्त्रों द्वारा अपने में देवताओं का स्थापन क्यों किया? तब समाधान करते हैं कि अग्नि वै 'जातं' इस मन्त्र में कहा है कि दोष यदि विपक्ष में बलवान् रहा तब वह छुड़ाने वाले में जाकर बैठते हैं ऐसा नियम होने से गोपियों ने समझा कि हम भगवान् में स्थित दोषों का भगवान में देवता स्थापित कर निकालेंगे तब दोष हममें प्रवेश करेंगे इसलिये गोपियों ने पहले अपना संस्कार किया पुनः अपने में देवता स्थापित किए। गोपियों ने अपनी दुगुणी रक्षा की, क्योंकि गोपियाँ कर्ता और करण—साधन दोनों थीं। इससे जो साक्षात् करण-होता है एवं कर्ता होता है, उससे ही दोष का सम्बन्ध होता है। अब रक्षा के प्रकार का वर्णन करते हैं कि निर्दिष्ट बारह अंगों में भगवान् के बारह नामों से, दाहिने अंगूठे से बायें अंगूठे तक दस अंगुलियां में और हाथ के तल एवं पृष्ठ में न्यास किया, अथवा प्रकारान्तर से हाथ की बला है कि चारों अंगुलियों के तीन तीन पर्वों में न्यास किया। जैसे कहा है कि "अंगुल्यंगुष्ठपर्वसु" 'इति वचनात्' अङ्गुठे से अंगुलियों के पर्वों में न्यास करें। पृथक् वा दूसरा आशय बताते हैं कि मातृका के स्थापन में भिन्न-भिन्न दश प्रकार के न्यास कहे हैं। इस प्रकार गोपियां बीज न्यास द्वारा सर्व देवता की आधारभूत हुई, अनन्तर देवताओं को बाहर स्थापित कर, भगवान् के अङ्गों में ग्यारह बीजों से देवता स्थापित किए ॥ २१ ॥

'बीजानि स्थानानि च' अब अगले श्लोक 'अव्यादजो' में मन्त्रों के बीज और देवों के स्थान गुप्त रखने योग्य हैं इसलिये दूसरे प्रकार से होने के कारण रक्षा के लिये स्तोत्र से देवता की प्रार्थना करते हैं।

भगवत एकादश रूपाणि वैष्णव तन्त्र में, भगवान् के ग्यारह रूप आरम्भ से प्रसिद्ध हैं, इन ग्यारह रूपों से जो अतिरिक्त रूप है वे शक्ति सम्पन्न नहीं है, उनमें शक्तिसंचार करने से वे आरोपित शक्ति वाले होते हैं।

उसमें प्रथम जो जन्मरहित, अविकारी, मूल रूप अज है, वह अक्षरात्मा होता है, वह अक्षर रूप आध्यात्मिक अज भगवान् चरणों की रक्षा करे। यह चरण जिसकी रक्षा की जाती है, आध्यात्मिक है क्योंकि अन्तर्यामी आदि अवतार, चरण रूप माने आध्यात्मिक रूप होते हैं। ऐसा शास्त्रों में निरूपण है। वह श्रीकृष्ण अज फलरूप तो आधिदैविक है।

वह ही अज सर्व का उपास्य रूप कठिनाई से जानने योग्य होने से 'अणिमान्' कहा जाता है। ये भगवान् के नाम बीजरूप होने से अविकारी हैं, स्थूल से सूक्ष्म भाव वाला 'अणिमान्' दो घुटनों की रक्षा करे। प्रमेय बल वाले अज और अणिमान् इन दोनों रूपां से चरण और घुटनों इन दोनों की रक्षा का निरूपण हुआ।

इस श्लोक में दिये 'अथ' अव्यय का प्रयोजन बताते हैं कि पूर्व में प्रमेय बल वाले अज रूपों और अणिमान् रूपो से रक्षा बताई अब अथ अव्यय से प्रमाण बल वाले रूपों के कार्य का पृथक् वर्णन करते हैं। इससे यह बताया कि भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग की सिद्धि प्रमेय बल से ही होती है।

'यज्ञ' जङ्घाओं की रक्षा करे। कारण कि वह यज्ञ प्रजनन, वीर्य रूप, उत्पन्न करने वाला रूप है।

यज्ञ का आधिदैविक रूप अच्युत 'कमर' की रक्षा करे। वह (अच्युत) रक्षक किसी प्रकार से भी च्युत नहीं होता है। इससे यज्ञ एवं वेद की नित्यता कही।

१. योजनाकार श्री लालूभट्टजी का मन्तव्य है कि श्री आचार्यचरणों ने जिस जिस नाम द्वारा जिस जिस अंग की रक्षा की प्रार्थना की है, वह सब युक्ति पूर्वक युक्ति युक्त है। जैसे यहाँ अज भगवान् 'चरणों की' रक्षा करें इसको स्पष्ट समझाने के लिये श्री आचार्यचरण कहते हैं कि 'अज' के दो रूप हैं—एक आध्यात्मिक दूसरा आधिदैविक एवं चरण भी आध्यात्मिक है।

इसलिये आध्यात्मिक चरण की रक्षा की। प्रार्थना आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरात्मा अजकी की गई है। भगवान् श्री कृष्ण जो नन्दाङ्गण में प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हैं वह तो मूलरूप अज है अतः आधिदैविक है। आधिदैवक स्वरूप श्रीकृष्ण में विराजमान आध्यात्मिक स्वरूप ही आध्यात्मिक चरणारविन्द की रक्षा करें।

श्री आचार्य चरण जैसे उपपत्ति में मानते हैं वैसे व्यास जी उपपत्ति में मानते हैं जैसे कि व्यासजी ने भी नारायण कवच में कहा कि जलेषु मां रक्षतु आदि में उपपत्ति पूर्वक रक्षा का वर्णन किया है।

योजना—अक्षर के दो रूप हैं—एक 'अज' दूसरा 'अणिमान्'। अज रूप से चरण रक्षा बताई। इससे यह सिद्ध हुआ कि अक्षर अज रूप से आधिदैविक रूप का चरणारविन्द होने से भक्ति रूप है, इसलिये यह भक्ति मार्ग है। 'अणिमान्' (सूक्ष्म) रूप से दो घुटनों की रक्षा बताई। सूक्ष्म रूप दुर्ज्ञेय होने से ज्ञान मार्ग कह कर, उस दुर्ज्ञेयता का वर्णन किया जैसे कि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को ज्ञान द्वारा देखता है।

'अणिमान्' शब्द का अर्थ बहुत सूक्ष्म जो कठिनाई से जानने में आवे करने पर 'अणिष्ठ' होना चाहिये। इस शंका का समाधान सुबोधिनीजी में महाप्रभुजी ने भगवान् के नाम, बीज रूप होने से अविकारी हैं। दूसरे शब्द व्याकरणानुसार बनते और बदलते हैं। नाम तो बने हुए ही हैं।

यज्ञ उत्पत्ति करने वाला है, जैसा कि गीता में कहा है यज्ञ से मेघ, मेघों से पर्जन्य द्वारा अन्नादि उत्पन्न होते हैं। इसलिये यज्ञ प्रजनन पैदा करने वाला रूप है श्रुति में जंघाओं को भी पैदा करने में प्रयोजक कहा है अतः प्रजनन रूप यज्ञ भगवान् पैदा करने में प्रयोजक जंघाओं की भी रक्षा करें यह शक्ति कहा।

अच्युत यज्ञ का आधिदैविक स्वरूप है। कटि पृथ्वी रूप है। पृथ्वी अन्नादिकों के उत्पत्ति का स्थान पैदा करने वाली है। इसलिये आधिदैविक यज्ञ स्वरूप अच्युत पृथ्वी रूप कटि की रक्षा करे। यह कहना भी उपपत्तिपूर्वक समझाया।

जठरं हयास्यः—भगवान् 'हयग्रीव' पेट की रक्षा करे। सम्पूर्ण जगत् भगवान् का उदर है उसकी रक्षा यज्ञ कर्म से होती है, इसलिये भगवान् वैयदिक ज्ञादि कर्मों की रक्षा के लिये हयग्रीव रूप से यज्ञ में प्रकट हुए।

हृत् केशवः—भगवान् 'केशव' हृदय की रक्षा करे। 'केशव' शब्द में 'क' 'ईश' और 'व' ये तीन अक्षर हैं। 'क' का अर्थ ब्रह्मा, 'ईश' शब्द शिव और 'व' का अर्थ अमृत है। इसलिये व्याकरणानुसार विग्रह करने से 'केशव' शब्द में द्वन्द्व और बहुव्रीहि दो समास हैं जैसे कि कश्च इशश्च इति केशौ द्वन्द्व समास हुआ। जिसका अर्थ हुआ, ब्रह्मा और महादेव। अब केशयोः वं यस्मात् सः केशवः यह बहुव्रीहि समास हुआ। जिसका अर्थ ब्रह्मा और महादेव को आनन्द देने वाली है वह केशव है। बुद्धि एवं अहंकार के नियामक ब्रह्मा और शिव को अमृत देने वाला अन्तर्यामी केशव हृदय का परिपालन करे ऐसी आशा करती हैं। दोनों स्तनों के मध्य ढाल वाले स्थल को 'हृदय' कहा जाता है।

त्वदुर 'ईशः' प्रकृति के गुण को उत्तेजित करने वाला आधिदैविक काल रूप ईश भगवान् तुम्हारे वक्षः स्थल की रक्षा करे। यहाँ 'तुम्हारी' शब्द देने का रहस्य हैं कि केवल वक्षःस्थल की ही रक्षा के लिये प्रार्थना करती हैं न कि वक्षःस्थल पर विराजमान लक्ष्मीजी की रक्षा के लिये भी प्रार्थना है।

इनस्तु कण्ठ इन सूर्य के अन्दर विराजमान नारायण, कण्ठ की रक्षा करे। श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द का तात्पर्य हैं कि यहाँ ब्रह्माण्ड मध्यस्थित को प्रार्थना करती हैं न कि ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित की प्रार्थना करती हैं। इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में 'तु' शब्द दिया है। 'कण्ठ' सरस्वती का स्थान होने से तीन वेदों का रूप है।

विष्णुर्भुजं 'विष्णु' भुजाओं की रक्षा करें। भुजाओं का कारण बताते है, कि 'क्रियाशक्ति' भुजाओं में ही रहती हैं।

मुखमुरुक्रमः—उरु क्रम श्री वामन भगवान् मुख की रक्षा करे। 'उरुक्रम' का तात्पर्य यह है कि जब दैत्यों द्वारा भक्तों को दुःख मिलते हैं तब आप पधारकर भक्तों को किसी प्रकार से भी दुःखों से बचाते हैं। जैसे बलि के हित के लिये बलि का बन्धन वामन रूप से किया, जिससे आप 'उरुक्रम' कहलाते हैं।

ईश्वरः कम्—सित कृष्ण केश सफेद और काले बाल वाला सङ्कर्षण ईश्वर भगवान् मस्तक की रक्षा करे। वह मुख्य होने के कारण 'शिर' की रक्षा करे यह प्रार्थना योग्य ही है॥ २२॥

एवं यावदिशिरोन्तानां रक्षा—अग्रिम श्लोक में इस प्रकार चरणों से लेकर शिरः पर्यन्त रक्षण की प्रार्थना की गई अब इस श्लोक में पुरुष के जिस जिस बाहर के भागों के प्रेरक देव है वे देव उन भागों की रक्षा करें ऐसी प्रार्थना की जायेगी।

चक्री भगवान् चक्र लेकर लालन के अग्र भाग का पालन करें, और गदाधर हरि गदा लेकर पृष्ठ भाग की रक्षा करें। पृष्ठ भाग की रक्षा के लिये महान् को कैसे कहा जाय? इस संशय के समाधान में श्रीशुकदेवजी ने गदाधर को पृष्ट भाग की रक्षा की प्रार्थना की है, जैसे गजेन्द्र के प्रार्थना करने पर, वैमनस्य का विचार न कर, शीघ्र ही आकर उनकी रक्षा की; क्योंकि

भगवान् हरि 'सर्वदुःखहर्ता' हैं वैसे ही अब भी, प्रार्थना से स्वयं हरि यहाँ, पीछे स्थित होकर पालन करें। हे लालन, आप की बायें और दाहिने दोनों पसलियों की धनुर्धारी मधुसूदन और असिधारी अजन भगवान् रक्षा करें। हे लालन आप के दक्षिण पार्श्व की धनुष लेकर वहाँ स्थित राक्षसों को दूर से ही मधुसूदन भगवान् मारें। लालन आप के वाम पार्श्व में सब ज्ञानियों के सेव्य, सब के जन्मादि, सब प्रकार के दुःखों के नाशक, असिधारी अजन भगवान् अविद्या नाश करता हुआ रक्षा करे। प्रत्येक आयुध की सामर्थ्य दिखाने के लिये ही हर एक आयुध का भिन्न भिन्न नाम दिया है। श्लोक में अजनश्च पद में च अव्यय का उल्लेख किया, उसका तात्पर्य यह है कि गोपियों ने उत्तर की ओर स्थित हरिवर्य आदि स्वरूपों की ही रक्षा के लिये प्रार्थना की है।

शंख सहित उरुगाय भगवान् चारों कोनों में आप की रक्षा करें, भगवान् के शङ्ख की ध्वनि सब दैत्यों के अभिमान की विनाशिका है। निष्णोर्मुखोत्थनिलपूरितस्य" इत्यादि वाक्यों से शास्त्रकारों ने प्रत्येक कोने में भिन्न-भिन्न शंखों का विधान किया हैं। शास्त्र में कहा है कि विष्णु भगवान् के मुख से निकले वायु से भरे हुए शङ्ख का वायु प्रत्येक कोने में रहने वाले दैत्य का नाश करता है, इसलिये इसी एक से ही सब जगह रक्षा होती है। ऊपर के भाग में गरुड़ पर विराजमान मन्वन्तर का अवतार रूप उपेन्द्र और रक्षक होने से गरुड़ भी रक्षा करे। इस प्रकार हर एक की रक्षा की प्रार्थना कह कर अब सामान्य प्रकार से कहती हैं कि पुरुष नारायण सब जगह रक्षा करे क्योंकि उसके उदर में सब निवास करते हैं और वह सर्वत्र है ॥ २३ ॥

आचार्यचरण कहते हैं कि पूर्व श्लोक में बाह्य भाग की रक्षा को कह कर अब इस श्लोक में आध्यात्मिक के अंशरूप प्राण की रक्षा का विधान करते हैं श्रीप्रकाशकारजी स्पष्ट करते हैं कि आध्यात्मिक के अंशरूप का अर्थ अक्षर ब्रह्म के अंशरूप ऐसा करना। यहाँ श्रीलेखकारजी स्पष्टता करते हैं कि इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण का संघात आध्यात्मिक है और प्राण अन्तःकरण अलग अलग उसके अंश कहलाते हैं। यहाँ प्राण शब्द से इन्द्रियाँ समझना क्योंकि "तथा प्राण" इस ब्रह्म सूत्र में और श्रुति में प्राण शब्द इन्द्रियों का उपलक्ष्यक माना गया है। इन्द्रियों का ईश हृषीकेश भगवान् नेत्रों का भी नेत्र होने से दश इन्द्रियों की रक्षा करे। बालकरूप भगवान् के प्राणापानादि दश प्राणों की जीव समूह को प्रेरणा करने वाला व उसमें प्रवेश करने वाला नारायण भगवान् रक्षा करे क्योंकि सब के प्राणों के मूल आप हैं एवं सबके जीवन का आधार भी प्राण हैं इसलिये नारायण से प्राण रक्षा होती है। श्वेत द्वीप शुद्ध सत्त्वरूप है इसलिए शुद्ध सत्त्व का स्वामी ही मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त अन्तःकरण चतुष्टय की रक्षा करें, वासुदेव ही चित्त रक्षक है। योगियों के सेव्य योगीश्वर अनिरुद्ध भगवान् मनकी रक्षा करें। योगशास्त्र का मुख्य विषय मन आदि की स्थिरता होने से योगशास्त्र को मनोमूलक कहा गया है। यहाँ आचार्य चरणों को मूल श्लोक में "योगीश्वर" पाठ अभीष्ट होगा ऐसा सुबोधिनीजी को देखने से लगता है ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं प्रथममतिसंभ्रमेणानाचान्ता एव रक्षां कृत्वा किञ्चिल्लब्धाश्वासा यथाविधानं रक्षां चक्रुरित्याह—गोप्य इति। संस्पृष्टसलिलाः आचान्ताः आत्मनीति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। प्रथममात्मन स्वस्याङ्गेषु करयोश्च पृथगजाद्येकादशबीजानि न्यस्याथानन्तरं बालस्याङ्गेषु तथैव बीजन्यासमकुर्वतेत्यन्वयः। तत्राजाद्येकादशबीजानां मध्ये करशुद्धौ त्रीणि, करयोः सन्धिषु चत्वारिचत्वारि, तथ ङ्घ्र्यादावेकैकस्मिन्नङ्गे एकैकमिति विवेकः ॥ २१ ॥ बालेङ्गे कृतां रक्षां दर्शयति—अव्यादिति। अजः कर्माधीनजन्मरहितो भगवान् अङ्घ्रिमङ्घ्री अव्यात् रक्षतु। तवेत्यस्य सर्वत्रान्वयः। तव जानु जानुनी अणिमान् दुर्ज्ञेयो भगवानव्यात्। अथ ऊरू यज्ञोऽव्यात्। कटितटमच्युतोऽव्यात्। जठरं नाभेरुपरिभागं हयास्यः श्रीहयग्रीवोऽव्यात्। हृत् हृदयं केशवोऽव्यात्। त्वदुरः तव वक्षः ईशः सर्वनियन्ताऽव्यात्। कण्ठमिनः सूर्यान्तःस्थितो नारायणोऽव्यात्। भुजं भुजौ विष्णुरव्यात्। उरुक्रमो वामनो मुखमव्यात्। ईश्वरः कं शिरोऽव्यात् ॥ २२ ॥ एवमङ्गेषु रक्षां कृत्वा बाह्यतोपि सर्वतो रक्षां कृतवत्यस्तामाहुः— चक्रीति। चक्री चक्रधरो हरिस्त्वदग्रतोऽस्तु रक्षतु। सहगदो गदाधरो हरिस्तव पश्चात् पृष्ठतो रक्षतु। धनुरसी धनुर्धरः असिधरश्च। धनुर्धरो मधुहा मधुदैत्यनिहन्ता भगवांस्तवैकपार्श्वतो रक्षतु। खड्गधरः अजनः कर्माद्यधीनजन्मरहितः स्वतन्त्रो भगवानेकपार्श्वतो रक्षतु। शङ्खधरः उरुगायो विपुलकीर्तिर्भगवान् कोणेषु उक्तावशिष्टशरीरचतुर्भागेषु रक्षतु। उपेन्द्रो वामनः उपरि रक्षतु। तार्क्ष्यः गरुडारूढः क्षितौ रक्षतु। हलधरः सङ्कर्षणः क्षितावधस्तादक्षतु। पुरुषः सर्वान्तर्यामी समन्तात् चराचरेभ्यः सर्वतो रक्षतु ॥ २३ ॥ एवं बही रक्षां कृत्वाऽन्तरङ्गां रक्षामकुर्वंस्तामाहुः—इन्द्रियाणीति। हृषीकाणि इन्द्रियाणि, तेषामीशः तवेन्द्रियाणि अवतु। नारं जीवसमूहमयते प्रेरयति प्रविशति वा स नारायणः तव प्राणान् प्राणापानसमानव्यानोदानादीन् जीवनहेतुभूतान् वायुविशेषान् अवतु। अन्तःकरण-चतुष्टयरक्षामाहुः—श्वेतद्वीपपतिः वासुदेवश्चित्तमवतु। योगेश्वरो योगिभिः संराध्योऽनिरुद्धो मनोऽवतु ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गोप्य इति ॥ प्रथममतिसंभ्रमेण अनाचान्ता एव रक्षां कृत्वा ततः किञ्चिदाश्वस्ताः संस्पृष्टसलिलाः आचान्ताः। आत्मनीति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। प्रथमं स्वयोग्यत्वार्थमात्मनः स्वस्याङ्गेषु करयोश्च पृथगजाद्येकादश बीजानि न्यस्य अथ अनन्तरं बालस्याङ्गेषु

तथैव बीजन्यासमकुर्वत । तत्र अजादिनाम्नाम् आद्याक्षराणि सानुस्वाराणि नमोन्तानि न्यास्थन् । तद्येत्थम् । अं नमो दक्षिणकरतले । अं नमो वामकरतले । एवं यं उभयोः करपृष्ठयोः । अं दक्षिणाङ्गुलिसन्धौ । हं दक्षिणमणिबन्धे । कं दक्षिणकूर्परे । इं दक्षिण-बाहुमूले । इं वामांगुलिसन्धौ । विं वाममणिबन्धे । उं वामकर्पूरे । इं वामबाहुमूले । एवं अं पादयोः अं जानुनोः । यं ऊर्वोः । अं कट्योः । हं उदरे । कं हृदये । इं उरसि । इं कण्ठे । विं भुजयोः । उं मुखे । इं मूर्ध्नीति । यद्वा । अङ्गेषु करयोश्च न्यस्य अङ्गन्यासकरन्यासौ कृत्वेत्यर्थः । अथ अनन्तरं बालस्याङ्गेष्वङ्घ्र्यादिषु बीजस्याजादिनामाद्यैकैकाक्षरस्य सानुस्वारस्य । नमः शब्दान्तस्य न्यासम् अकुर्वत तेन अं नमोऽजस्तवाङ्घ्री अव्यात् । अं नमः अणिमांस्तव जानुनी अव्यादित्येवं प्रयोगः इत्येके ॥२१॥ ततो वक्ष्यमाणैः पद्यै रक्षामकुर्वन्नित्याह—अव्यादिति ॥ अजः भगवान् ते तव अङ्घ्रिम् अङ्घ्री अव्यात् रक्षतु । तवेत्यस्य अव्यादित्यस्य च सर्वत्रान्वयः । तव जानु जानुनी अणिमान् तन्नामा व्यक्तिविशेषो भगवान् अव्यात् । अथ ऊरू यज्ञः कटितटमच्युतः जङ्घेऽच्युत इति पाठे सन्धिरार्षः । जठरं नाभेरुपरिभागं हयास्यः हयग्रीवः हृत् हृदयं जीवाधारपद्मं केशवः त्वदुरः तव वक्षः ईशः कण्ठमिनः सूर्यान्तःस्थितो नारायणः भुजं भुजौ विष्णुः मुखम् उरुक्रमो वामनः कं शिरः ईश्वरोऽव्यात् । अङ्घ्रिजानिति सुपो लुक् । भुजमित्यत्र "सुपां सुप" इति औङः अम् इति तोषणी तन्मते मणिमानित्येव नत्वणिमान् ॥ २२ ॥ चक्रीति ॥ चक्री चक्रधरो हरिस्त्वदग्रतोऽस्तु रक्षतु । सहगदो गदाधरो हरिस्तव पश्चात् रक्षतु । धनुरसी बिभ्रदिति शेषः । तेन धनुर्धरः असिधरश्चेति तेन धनुर्धरो मधुहा मधुदैत्यनिहन्ता भगवांस्तवैकपार्श्वतो रक्षतु । असिधरः अजनः भगवानन्यपार्श्वतो रक्षतु । शखधरः उरुगायो विपुलकीर्तिर्भगवान् कोणेषु उक्तावशिष्टशरीरचतुर्दिग्भागेषु रक्षतु । उपेन्द्रो वामनः उपरि रक्षतु । तार्क्ष्यः गरुडारूढः क्षितौ रक्षतु । हलधरः संकर्षणः क्षितावधस्ताद्रक्षतु । पुरुषः सर्वान्तर्यामी समन्तात् चराचरेभ्यः सर्वतो रक्षतु ॥ २३ ॥ बही रक्षां कृत्वाऽन्तरङ्ग-रक्षामाह—इन्द्रियाणीति ॥ हृषीकाणि इन्द्रियाणि तेषामीशः तवेन्द्रियाणि अवतु । नारायणस्तव प्राणापानादीन् अवतु । अन्तः-करणचतुष्टयरक्षामाहुः । श्वेतद्वीपपतिः वासुदेवश्चित्तमवतु । योगेश्वरो योगिभिः संराध्योऽनिरुद्धो मनोऽवतु ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इत्थं संभ्रमेण सूक्ष्मरक्षां कृत्वा इदानीं विस्तरतो रक्षां कुर्वतीत्याह गोप्य इति ।संस्पृष्टसलिलाः कृताचमनाः आत्मनि स्वस्मिन् प्रथमं अंगेषु करयोश्च पृथक् पृथक् न्यस्य बीजन्यासं कृत्वा अथ च बालस्यांगेषु बीजन्यासम् अकुर्वत ॥ २१ ॥ अंघ्रिपादौ जानु जानुनी जठरम् उदरं हृत् हृदयं तव उरः वक्षस्थलं भुजं भुजौ कं मस्तकम् ॥ २२ ॥ तथा दिक्षु रक्षणं व्यदधन्नित्याह चक्रीति । चक्री चक्रधरः धनुः धनुर्धरो मधुहा असिधरोऽजनश्च शखभृत् उरुगायः चतुष्कोणेषु त्वां रक्षत्वित्यध्याहृत्य प्रतिवाक्यं योज्यं क्षितौ अधस्तात् ॥ २३-२५ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

रक्षाप्रकारमेव प्रपञ्चयति तत्रापि गोपुच्छभ्रमणादिभिरित्यत्रादिशब्दोपात्तान्पदार्थान् दर्शयति । गोमूत्रेणेति । तावत्, अर्भकं शिशुं, गोमूत्रेण स्नापयित्वा, पुनः ततः, गोरजसा गोपादस्पृष्टरजसा च, स्नापयित्वा, ततः, शकृता गोमयेन, द्वादशाङ्गेषु ललाटादिद्वादशाङ्गेषु, नामभि. केशवादिभिर्द्वादशनामभिः, रक्षां चक्रुः ॥ २१ ॥ एवमनाचान्ता एव तावत् संभ्रमेण रक्षां विधायाथ लब्धश्वासा आचान्ता विशेषतो रक्षां चक्रुरित्याह । गोप्य इति । संस्पृष्टसलिला आचान्ताः, गोप्यः, आत्मनि स्वशरीरे, करयोः, अङ्गेषु इतरेष्वङ्गेषु च, पृथगेकैकशः, न्यस्य बीजानि विन्यस्य, अथ, बालस्य, आत्मनि करयोः, अङ्गेषु च, बीजन्यासम् , अकुर्वत व्यकुर्वन् । अत्रोत्तरश्लोकोक्तानामजादिशब्दानामाद्यमाद्यमक्षरमुपर्यर्द्धानुस्वारोपेतं भण्यते चेत्तर्हि तस्य तद्बीजत्वं बोध्यम् । तत्र करशुद्धौ त्रीणि बीजानि, करयोः संधिषु चत्वारि चत्वारि, अङ्घ्र्यादावेकैकस्मिन्नङ्गे अजाद्येकैकबीजं न्यस्य बालस्याप्यङ्गेषु तथैवाकुर्वतेति । अपरे अष्टाक्षरन्यासमकुर्वतेत्याहुः । इतरे तु बीजन्यासमकुर्वनेति सामान्यत एवाहुः ॥ २२ ॥ अथ रक्षाविधानं दर्शयति । अव्यादिति । अजादिशब्दा योगरूढिभ्यां भगवदसाधारणाः । अजः कर्मायत्तोत्पत्तिरहितो भगवान् , तव, अङ्घ्रिमङ्घ्री, अव्याद्रक्षतु । अणिमानणोर्जीवस्याप्यन्तरात्मतया प्रवेशयोग्यः, जानु जानुनी, अव्यात् । अथ यज्ञः यज्ञाराध्यः, यज्ञभुक् तत्फलदश्च, ऊरू, अव्यात् । अच्युतः, स्वस्याच्युतत्वात् स्वाश्रितान्न च्यावयतीति तथाभूतो भगवान् , कटितटम् , अव्यात् । हयास्यो हयग्रीवो भगवान् , जठरमुदरम् , अव्यात् । प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्येति केशवः भगवान् , हृत् हृदयम् , अव्यात् । ईशः सर्वेशानो भगवान् , त्वदुरस्त्वद्वक्षः, अव्यात् । इनः सर्वज्ञः भगवांस्तु, 'इण् गतौ' गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः । कण्ठम् , अव्यात् । विष्णुर्व्यापको भगवान् , भुजं भुजावित्यर्थः । अव्यात् । उरवस्त्रिलोकीसंग्राहकाः क्रमाः पादविक्षेपा यस्य वामनो भगवान् , मुखम् , अव्यात् । ईश्वरः सर्वशास्ता भगवान् , कं मूर्द्धानं, अव्यात् । 'कं वारिसुखमूर्द्धसु' इति विश्वः ॥ २३ ॥ एवं पादादिशिरःपर्यन्तं रक्षां विधायाथ दिक्षु रक्षां विदधुः ॥ चक्रीति ॥ चक्री चक्रधरो भगवान् , अग्रतः पुरतः, अस्तु । सहगदः गदासहितः हरिः, पश्चात् पृष्ठतः, अस्तु । धनुरसी धनुर्धरः खड्गधरश्चेत्यर्थः । मधुहा अजनश्च, अजितः इत्यपि पाठः । त्वत्पार्श्वयोः, अस्तु । धनुर्धरो मधुसूदनो दक्षिणपार्श्वे खड्गधरोऽजनो वामपार्श्वेऽस्त्वित्यर्थः । शङ्खोऽस्यास्तीति अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् । शङ्खधर इत्यर्थः । उरुगायश्च भगवान् ,

कोणेषु आग्नेयादिषु, अस्तु। उपेन्द्रः भगवान्, उपर्यूर्द्ध्वाया दिशि, अस्तु। तार्क्ष्यः गरुडवाहः भगवान्, क्षितावधस्तात्, अस्तु। हलधरः संकर्षणः पुरुषो भगवान्, समन्तात् अस्तु। समन्ततस्त्वां रक्षत्वित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अव्यादज इति : १०. ६. २२.

भगवंस्त्वदपेक्ष्यापि शक्तिस्तवनाम्नि प्रबलेति मन्महे। त्रिजगत्कृतरक्षणस्य तेऽपि यदभूद्रक्षणकारि गोकुले ॥ ४८ ॥

कृष्णप्रिया

प्रथम गोपियों ने जल का स्पर्श कर, पहले अपने शरीर के पृथक् पृथक् अङ्गों में तथा करों में न्यास किया, पुनः बालक के अङ्गों एवं करों में न्यास किया ॥ २१ ॥ प्यारे लालन आज भगवान् आप के पैरों की, अनिमान घुटनों की, यज्ञ जङ्घाओं की, अच्युत कमर की, हयग्रीव उदर की, केशव हृदय की, ईश छाती की, इन सूर्यान्तर्गत नारायण कण्ठ की, विष्णु बाहु की, उरुक्रम मुख की, ईश्वर मस्तक की रक्षा करे ॥ २२ ॥ हे नन्दलाल! चक्री भगवान् आगे, गदाधर हरि भगवान् पीछे, धनुषधारी मधुसूदन भगवान् और खड्गधारी अजन भगवान् दोनों पार्श्वो में, शखधर उरुगाय भगवान् कोनों में, उपेन्द्र गरुड़ भगवान् ऊपर, हलधर भगवान् पृथ्वी पर और पुरुष भगवान् चारों तरफ रक्षा करें ॥ २३ ॥ हृषीकेश भगवान् इन्द्रियों की, नारायण प्राणों की, श्वेतद्वीप के पति चित्त की और योगेश्वर अथवा योगीश्वर मन की रक्षा करें ॥ २४ ॥

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः। क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु [2]माधवः ॥ २५ ॥
व्रजन्तमव्याद् वैकुण्ठ [3]आसीनं त्वां श्रियः पतिः। भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः ॥ २६ ॥
डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः। भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥ २७ ॥
कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः। उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पृश्निगर्भः तु ते बुद्धिं पातु परः भगवान् आत्मानं पातु, गोविन्दः क्रीडन्तं पातु माधवः शयानं पातु ॥ २५ ॥ वैकुण्ठः व्रजन्तम् अव्यात्, श्रियःपतिः आसीनं त्वाम् अव्यात् यज्ञभुक् सर्वग्रहभयंकरः भुञ्जानं पातु ॥२६॥ डाकिन्यः यातुधान्यः च कूष्माण्डाः ये अर्भकग्रहाः च भूतप्रेतपिशाचाः ये यक्षरक्षोविनायकाः ॥ २७ ॥ कोटरारेवतीज्येष्ठापूतनामातृकादयः, ये उन्मादाः हि अपस्माराः ये हि देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥ २९ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

आत्मानमहंकारम् ॥ २५-२८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

आत्मानमहंकारम्। परः पुरुषः '"पुरुषान्न परं किञ्चित्"' इति श्रुतेः। आत्मानं स्वम्। परो भगवान्स्वयं भगवानित्यर्थः। सरस्वतीसंवादश्चायं तेषां तदंशत्वेन ममतास्पदत्वात्स्वस्य स्वयं भगवत्त्वेनैवाहंतास्पदत्वाच्चांशेनांशस्य रक्षा भवतु स्वयं च स्वस्येति प्रार्थयामहे इत्यर्थः। अतस्तत्तदंगावतारास्तदावरणरूपाश्च ते ते इति भाव इति विश्वनाथसंदर्भौ। "नष्टां वै धरणीं पूर्वमविदं यद्गुहागताम्। गोविंद इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः॥" इति मोक्षधर्मे। "अहं किलेंद्रो देवानां त्वं गवामिंद्रतां गतः। गोविंद इति लोकास्त्वां स्तोष्यंति भुवि शाश्वतम्॥" इति। यद्वा—"गौरेषा भवतो वाणी तां च वेद यतो भवान्। गोविंदस्तु ततो देव मुनिभिः कथ्यते सदा॥" इति हरिवंशे। "मा विद्या च हरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्। तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति कीर्त्तितः॥" इत्यपि तत्रैव ॥ २५ ॥ विगता कुंठा नाशो यस्य तद्विकुंठं ज्ञानं स्थानं वा तद्विद्यते स्वरूपत्वेनाश्रयत्वेन वास्येति वैकुंठः। ज्योत्स्नादित्वादण् यद्वा—जगदारंभे विश्लिष्टानि भूतानि संश्लेषयंस्तेषां गतिं प्रत्यबध्नादिति वैकुंठः। "मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना। वायुश्च तेजसा सार्द्धं वैकुंठत्वं ततो मम॥" इति शांतिपर्वणि। यज्ञं भुनक्ति ब्रह्मरूपेण पालयतीति यज्ञभुक् "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोभिरक्षति" इति श्रुतेः। सर्वे गृह्णंति स्वायत्तं कुर्वंत्यनवधानमिति ग्रहा ब्रह्मराक्षसादयः सर्वे च ते ग्रहास्तेषां भयंकरः नरसिंहः ॥ २६ ॥ डाकिनी कालखंडं मन्त्रबलेन निष्काष्य भक्षति या सा भवतीति। कौ पृथिव्यामूष्मा यस्मात्तदंडं येषां ते कूष्माण्डास्ते चोपद्रवविशेषाः विनायका नायकहीना विघ्नविशेषाः

१. र्भस्ततो–इति कस्यचित्। २. केशवः–इति कस्यचित्। ३. आसीनं–श्री. वंशी. गिरि. भक्त.।

"विनायकस्तु हेरंबे तार्क्ष्ये विघ्ने जिने गुरौ" इति कोशात् । डाकिन्यादयो मातृकान्ता येर्भकग्रहा बालग्रहाः अर्भकरूपेण ये प्राणिनो गृह्णंति तेऽर्भकग्रहाः पिशाचभेदा इति केचिदाहुः 'अर्भकः कथितो बाले मूर्खेऽपि च' इति मेदिनी । ये उन्मादा देहस्मृतिविघातका अपस्माराः ये च देहादिनाशकाः महोत्पाता धूमकेतूदयादयस्तद्वद्भयसूचका ये स्वप्नदृष्टा गर्दभयानकर्दमपातादयः । वृद्धा ये बालग्रहाः वृद्धा विद्यंते ग्राह्यत्वेन येषां ते मत्वर्थीयोऽच् । कासश्वासादयो रोगविशेषास्ते सर्वे नामग्रहणेनैव भीरवो भीताः संतो नश्यंत्विति द्वयोः संबंधः ॥ २७-२९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

क्रीडन्तमिति च सार्द्धकम् । गोविन्द इत्यादिकं तु तत्तत्क्रीडानुरूपेण तत्र गोविन्दो गोमध्ये क्रीडापरः कश्चिद्देव इति तासां भानं माधवः लक्ष्मीसंवाह्यमानचरणः शेषशायी वैकुण्ठो विकुण्ठासुतो जयविजयसनकादिसमाधानार्थं कृपया स्वयं पादत्रजयैव बहिर्निर्गतो यः स इत्यर्थः । श्रियः पतिः परमव्योमसिंहासनस्थो महानारायणः यज्ञभुक् स्पष्ट एवेति सर्वग्रहभयङ्कर इत्यस्य सर्वत्रान्वयः । क्रीडादिषु ग्रहदोषेभ्योऽपि रक्षार्थम् ॥२६॥ डाकिन्य इति त्रिकम् । आदिशब्दाद्बकीज्वालामुखाद्या देव्या गणाः बालग्रहा इति पुनरुक्तिर्बालके तेभ्यो भयाधिक्यात् केचिदाहुः अर्भकरूपेण ये प्राणिनो गृह्णंति तेऽर्भकग्रहाः पिशाचभेदा इति ॥२८-२९॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सर्व्वग्रहाणां भयंकर इत्यस्य सर्व्वान्ते निर्द्देशात् सर्व्वैरप्यन्वयः । क्रीडादिषु निजनिजसमये कदाचिदशुभानामपि ग्रहाणां तत्तन्नाम विशेषेण दोषनिवर्त्तनार्थम् । आदिशब्दाच्च बकी ज्वालामुख्याद्या देव्या गणाः; बालग्रहा इति पुनरुक्तिस्तदानीं तस्य बाल्यापेक्षया । केचिदाहुः—'अर्भकरूपेण ये प्राणिनो गृह्णन्ति, तेऽर्भकग्रहाः पिशाचभेदाः' इति ॥ २५-२९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पृश्नेर्गर्भत्वादपत्यत्वात्पृश्निगर्भः भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः परः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः आत्मानम् इत्यनेन चित्ताहङ्कारौ विवक्षितौ ॥ २५ ॥ सर्वग्रहभयङ्कर इति एतद् यज्ञभुग्विशेषणम् ॥ २६ ॥ कूष्माण्डादयो ग्रहा वान्तरविशेषाः ॥ २७ ॥ देहादीनि द्रुह्यन्तीति तथा ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

आत्मानं मध्यम् ॥ २५-२६ ॥ अर्भकग्रहाः बालग्रहाः ॥ २७-२९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

परो भवान् स्वयं भगवानित्यर्थः । सरस्वतीसंवादश्चायं "अतस्ते विष्णोः" इति च वक्ष्यते तेषां तदंशत्वेन ममतास्पदत्वात् स्वस्य स्वयं भगवत्त्वेनैवाहन्तास्पदत्वाच्च अंशेनांशरक्षा भवतु स्वयञ्च स्वस्य इति प्रार्थयामह इत्यर्थः ॥ २५-२६ ॥ अतस्तत्तदङ्गावतारास्तदावरणरूपाश्च ते त इति ज्ञेयम् अर्भकबालग्रहयोरैकार्थ्येन पुनरुक्तिर्बालकेभ्यो भयाधिक्यात् ॥ २७-३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तथाविधमहोपद्रवे श्रीव्रजेश्वरीप्रभृतिभिः पुरपुरन्ध्रीभिस्तन्नामभिरेवैतद्रक्षा व्यधायीति वंचित्रयार्थं प्रदर्शयति-क्रीडन्तं पातु गोविन्द इत्यादि । गोविन्दादीनि नामानि नित्यसिद्धान्येव, गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः' इत्याद्युक्तेः । तेन गोविन्दाभिषेक एव तन्नामोत्पत्तिरिति न मन्तव्यम् ॥ २६-३४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

'क्रीडन्तं पातु गोविन्दः' इत्यनेन गोविन्दादीनि नित्यसिद्धान्येव, न तु गोविन्दाभिषेकत एव (भा. ६।८।२०) "गोविन्द आसङ्गव" इत्युक्तेश्च ॥ (२६-३४)

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

आत्मानमहङ्कारं परः सर्वमूर्तिः स्वयं पदार्थः ॥ २५-२९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथान्तरङ्गां रक्षामकुर्वन्नित्याह-इन्द्रियाणीति सार्द्धेन ॥ २४ ॥ आत्मानमहङ्कारं कर्म सुस्थितस्य रक्षामकुर्वन्नित्याह क्रीडन्तमिति सार्द्धेन ॥ २५ ॥ २६ ॥ डाकिन्य इति त्रिकम् ॥ २७ ॥ २९ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

बही रक्षामेवं विधायान्तर्लक्ष्मीकान्तकायरक्षां तन्वङ्ग्यस्तन्वत इत्याह ।। इन्द्रियाणीति । हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुरित्यादे-रिन्द्रियस्वामी हृषीकेश इन्द्रियाण्यवतु नारायणः प्राणान् श्वेतद्वीपपतिस्तत्पतिः । एकैकदिगवस्थितरूपविवक्षयैकवचनम् । वासुदेवादिः । यथोक्तं वराहपुराणे । श्वेतद्वीपे चतुर्दिक्षु चतस्रो मम मूर्तयः । पूज्यन्ते दैवतैः सर्वैर्वासुदेवादिकाः सदेति । चित्तं योगेश्वरः कपिलादिः । वृत्तिभेदाच्चित्तं मन इत्याद्युक्तिः ।। २५ ।। पृश्निगर्भस्त्वत्पूर्वरूपी । आत्मानमेवं स्वाभिन्नं भगवान्परः । ॐ पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॐ । यथा ह वै मनः पञ्चधा व्यपदिश्यते मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेतनेत्यादेरात्मानमहङ्कारं वा पातु क्रीडन्तं गोविन्दः ।। २६ ।। सर्वग्रहभयङ्कर इति वैकुण्ठाद्यन्वयि ।। २७ ।। डाकिन्याद्या गणा अर्भका ग्रहा विनायकास्तेऽपि विघ्नप्रदा गणाः ।। २८ ।।

श्रीसुबोधिनी

बुद्धिं प्रद्युम्नः सर्ववंशकर्ता प्रथमं पृश्निगर्भो जात इति स एवावतु, आत्मानमहङ्कारं भगवान् सङ्कर्षणोवतु, स चास्मात् परश्चतुर्मूर्तावुक्तः, आत्मानं जीवरूपं च परः पुरुषोत्तमोऽव्यात्, देहं च भगवान् सर्वनियामकोऽव्यादात्मानमेव वा भगवान-व्यादिति, कृत्रिमभगवत्त्वव्यावृत्त्यर्थं पर इति, सर्वावस्थासु रक्षां प्रार्थयन्ति क्रीडन्तं बालकलीलया शृङ्गव्यग्रादिष्वपि गच्छन्तं गोविन्दः पातु, यस्तु सदा गवामिन्द्रो गुप्ततया रक्षकः, शयानं माधवः पातु, लक्ष्म्यास्तत्र प्रयोजकत्वात् ।। २५ ।। व्रजन्तं शनैर्बाललीलया गच्छन्तं वैकुण्ठः पातु, स हि गतिदानार्थमेव वैकुण्ठं निर्माय स्थितः, अनेन सर्वत्र पदस्थापने कोमलत्वादिसुखदो भवत्विति प्रार्थितं, आसीनमुपविष्टं त्वां लक्ष्मीपतिरवतु, स हि लक्ष्मीविवाहसमय उपविष्टो लक्ष्म्या वृतः, तादृशभावापन्नः सर्वसौभाग्ययुक्तो लक्ष्मीपतिरासीनमवतु, सर्वमेव जगद् भगवत्युपविश्य तिष्ठतीति, तदर्थमाह त्वामिति, एवं देहावस्थाचतुष्टयमुक्त्वा क्रियावस्थायामाह भुञ्जानमिति, स्तन्यं दुग्धादिकं वा स्वतश्चौर्यादिना वा, यज्ञभोक्ता विष्णुः पातु, भोजने क्रियायां कालफलनियामका ग्रहाः सन्ति, तैरवश्यं स्वकालोद्भवं फलं देयमित्याशङ्क्याह सर्वग्रहभयङ्कर इति, सर्वेषां ग्रहाणां कालक्रियाद्रव्यादिनियामकानां नवग्रहाणां भयजनको भवति, अन्यथा यज्ञादीनां फलदातृत्वं न स्यात् तत्तत्कालफलमेव तेषां स्यात्, अतो यदा यज्ञभोक्ता फलं प्रयच्छति तदा ग्रहा निवृत्ता भवन्ति, निवृत्तिरपि न वचनादिना किन्तु रूपमेव दृष्ट्वा भीता निवृत्ता भवन्ति, तत उक्तं भयङ्कर इति ।। २६ ।। एवं सहदोषाणां निवर्तकैर्निवृत्तिं प्रार्थयित्वागन्तुकान् दोषान् गणयन्त्यः स्वत एव तेषां भगवन्नामोच्चारणेन निवृत्तमाहुर्डाकिन्य इतित्रिभिः, एके महादेवसम्बन्धिनो दोषाः स्थूला अन्य आध्यात्मिका मध्यमास्ततोऽप्याधिभौतिका निकृष्टाः, स्वप्नादिष्वेव तेषां भयजनकत्वं, डाकिन्यः स्त्रिय एव दुष्टा दास्य इव पतिरहिताः सेनारूपाः, यातुधान्यो यक्षादिस्त्रियः, चकारात् तदेवान्तरभेदाः, कूष्माण्डादयः पुरुषाः, कुत्सितो य ऊष्मा तत्कृता अण्डा इव ये भवन्ति, कूष्माण्डशब्दो यौगिको दुष्टमहादेवगण-वाचकः, प्रलये तेषां विनियोगः, रूढो लौकिकः, नैमित्तिको वैदिकः, अतो दोषगणनायां तदुभयव्यावृत्त्यर्थं य इत्युक्तं, अर्भकग्रहा अर्भकरूपा ग्रहाः, तेपि पिशाचविशेषाः, बालका एव भूत्वा सर्वान् गृह्णन्ति, भूतप्रेतपिशाचाः प्रसिद्धा यक्षरक्षांसि च, विनायका विघ्नकर्तारः, ते सच्छिन्नभिन्ना भवन्तीति तेषामधिपतिर्विनायक उक्तः, स तु न क्वापि स्वत आयातीति तन्निवृत्त्यर्थं य इत्यत्राप्यनुसन्धेयम् ।। २७ ।। ततो हीनाः स्वतन्त्रस्त्रीरूपाः, कोटरा पर्वदेशे "कुठारे"ति प्रसिद्धा, तथा रेवती, रेणुकेति केचित्, ज्येष्ठा दक्षिणदेशे प्रसिद्धा, पूतनेयमेव, अज्ञानात् कीर्तनं, वस्तुतस्त्वेते मन्त्रास्ते च यादृशास्तादृशा एव कीर्तनीयाः, अन्यथा "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वे"तिवाक्यान्मन्त्रस्यान्यथात्वेन रक्षोपयोगित्वं न स्यात्, तेन तथाकीर्तनं तज्ज्ञानेपि, अत एवाप्रस्तु-तस्यापि वृद्धग्रहस्य कीर्तनं, मातृकाः षोडश प्रसिद्धाः, आदिशब्देन सर्वा एव ग्रामदेवताः, एतावत्यः स्त्रियः, उन्मादादयः पुरुषाः, उद्गतो मादो यैः, यतः प्राणिन उन्मत्ता भवन्ति, य इतियोगव्यावृत्त्यर्थं, अपस्मारा अपि बुद्धिभ्रंशहेतवः, यतो रोगरूपा अपि भवन्तीति य इति तेष्वपि ग्रहणं, उभयेषामुभयत्वं लोकसिद्धमिति तद्व्यावृत्तिर्यत्नेव, त्रिविधानन्यानाह देहप्राणेन्द्रियद्रुह इति, केचिद् देहद्रोहं कुर्वन्ति येन देहे निरन्तरं पीडा भवति तथा प्राणेषु येन क्षुधादिर्न भवतीन्द्रियाणां च स्वाववाधियोदि ।। २८ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पृश्निगर्भ इत्यत्र भगवत्पदेन सङ्कर्षणोक्तौ हेतुमाहुः स चेत्यादि, स सङ्कर्षणः, अस्मात् प्रद्युम्नात् परोऽग्रिमः, यतश्चतुर्मू-र्तिनिरूपण उक्तोतस्तथेत्यर्थः, आत्मानमित्यादेरर्थान्तरद्वयमाहुरात्मानं जीवरूपमित्यादि, क्रीडन्तमित्यत्र गुप्ततया रक्षक इति गोवर्ध-नोद्धरणव्याजेनालौकिकसामर्थ्यदातृत्वादितिभावः, लक्ष्म्यास्तत्रेति शयन इत्यर्थः ।। २५ ।। भुञ्जानमित्यत्र यज्ञभुजः सर्वग्रहभय-ङ्करत्व उपपत्तिमाहुरन्यथेत्यादि, यदि ग्रहाणामेव नियामकत्वं स्यात् तदा यज्ञैर्हि यत् फलं दीयते तत् पूर्वकर्मानुरूपग्रहादिप्रतिकूलं, तथा च तद्भयङ्करत्वाभावे तदुपमर्देन स्वतन्त्रतया फलदानसामर्थ्यं यज्ञानां न स्यात् किन्तु ग्रहैः कृत्वा तत्तत्कालफलमेव स्यादतो यज्ञैः फलदाने ग्रहनिवृत्तेरवश्यमपेक्षेत्यतस्तथेत्यर्थः ।। २५ ।। डाकिन्य इत्यत्र रूढ इति फलविशेषवाचकः नैमित्तिक इत्युपवीतादौ सूतकसम्भावनायां निमित्ते यो होमस्तत्र नैमित्तिकः कूष्माण्डशब्दो वैदिके कर्मणि प्रसिद्धः, स त्विति विघ्नकर्तृणामधिपतिर्गणेश इत्यर्थः ।। २७ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

चङ्क्रमत इत्यत्र अविद्याच्छेदक इति न जना अविद्या यस्मादिति व्युत्पत्तेरितिभावः, शब्दो हि स इति चतुर्थस्कन्धे ध्रुवस्य शङ्खस्पर्शेन वाक्सञ्जीवनतात्पर्यकथने निबन्धे 'अपां तत्त्वे स्वतृप्त्यर्थमासन्यो वर्तते हरे'रित्युक्तं तत्सम्मतिसूचनाय हि शब्दः, सोपीति गृहीतशङ्खोपीत्यर्थः ॥ २३ ॥ इन्द्रियाणीत्यस्याभासे आध्यात्मिकांशेति इन्द्रियप्राणान्तःकरणसङ्घात आध्यात्मिकः तदंशभूताः प्रत्येकमेते इत्यर्थः, प्राणादीनामिति अत्र प्राणपदेनेन्द्रियाणि तदादीनामित्यर्थः, इन्द्रियाणां प्राणपदवाच्यत्वं "तथा प्राण" इति सूत्रे श्रुतौ बहुशो व्युत्पादितं, व्याख्याने, चित्तरक्षकश्चे'ति 'यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन् महदात्मक'मित्यस्य सम्मतिः सूचिता ॥ २४ ॥ पृश्निगर्भस्तु इत्यत्र स चास्मादिति स चतुर्मूर्तावुक्तः सङ्कर्षणश्चकारात् पूर्वश्लोकोक्तहलधरश्चास्माद् बलदेवात् परः वासुदेवाविष्टसङ्कर्षणात्रिष्टशेषरूपो बल इति प्रथमाध्याये निरूपितमतस्तस्मात् परस्तत्राविश्य स्थित उत्कृष्टस्तन्नियामक इत्यर्थः, तं परिचाययन्ति चतुर्मूर्तावुक्त इति अन्तःकरणचतुष्टयमध्येऽहङ्कारदेवतात्वेनोक्त इत्यर्थः, 'हलककुदि कृतसुभगासुन्दरभुज' इति पञ्चमस्कन्धोक्तो हलधरो ज्ञेयः, एतयोर्वस्तुत ऐक्यमेवेति भिन्नतया कथनारुच्या आत्मपदस्य परपदस्य चार्थान्तरमप्याहुः आत्मानं जीवरूपं चेति, समुच्चयोयं न तु विकल्प इति चकारः, प्रयोजकत्वादिति प्रयोजनं फलं शयने तत्सम्पादिका लक्ष्मीरित्यर्थः ॥ २५ ॥ व्रजन्तमित्यत्र क्रियावस्थायामाहेति रक्षणमितिशेषः, अत्र यज्ञभुक्कृतरक्षाप्रार्थनात् तस्य च क्रियाप्रधानत्वादुपलक्षणविधया क्रियामात्रावस्थायां रक्षा प्रार्थितेति भावः, तथा च विशेषतश्चतुष्टयमुक्त्वा क्रियासामान्यावस्थायां यज्ञभुक्कृतरक्षण तत्प्रार्थितं शुक आहेत्यर्थः ॥ २६ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

सब के वंश को बढ़ाने वाला, पहले पृश्नि के गर्भ से प्रकट हुआ वंशप्रवर्तक प्रद्युम्न ही बुद्धि की रक्षा करे (१) आत्मा अहंकार की भगवान् संकर्षण रक्षा करे। यह संकर्षण उस प्रद्युम्न से पर अर्थात् श्रेष्ठ है। यहाँ श्रीप्रकाशकारजी 'पर' शब्द का तात्पर्य कहते हैं कि चतुर्व्यूह श्रीवासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध में क्रमशः प्रद्युम्न प्रथम संकर्षणजी आये हैं इसलिए 'पर' शब्द का अर्थ आचार्य प्रद्युम्न से पर ऐसा करते हैं। (यहाँ सुबोधिनीजी में 'च' अव्यय का ग्रहण किया है, इसलिए आत्मा के अन्तःकरण जीव और देह ऐसे तीन अर्थ लिए जाएंगे)। जीव रूप आत्मा की परः पुरुषोत्तम रक्षा करे, (३) देहरूप आत्मा की, सब का नियमन करने वाला भगवान् रक्षा करे, अथवा भगवान् आत्मा की रक्षा करे। यहाँ पर कृत्रिम भगवान् की निवृत्ति के लिए "परः" सब से श्रेष्ठ पद का प्रयोग किया है। अब हर अवस्था में रक्षा की प्रार्थना करती है कि बालक्रीडा करते समय पर्वत, अग्नि आदि जहाँ की ओर जावे, वहाँ भी गुप्त रीति से स्थिति कर रक्षा करने वाले गोविन्द रक्षा करें। सोते हुए की लक्ष्मीपति माधव रक्षा करे। शयन समये सेवानिष्ठ लक्ष्मीजी का प्रयोजन होने से 'माधव' कहा है ॥ २५ ॥

व्रजन्तं शनैर्बाललीलया—बाललीला करते हुए धीरे-धीरे जाते हुए लालन की वैकुण्ठ रक्षा करे क्योंकि वैकुंठ भगवान चलने में वेग देने के लिए ही वैकुण्ठ बनाकर स्थित है। इस प्रकार वैकुण्ठ भगवान् की प्रार्थना करने का आशय यह है कि जहाँ भी बालक चरण धरे, वह पृथ्वी कोमल गुणवाली होकर, वैकुण्ठ के समान सुखदायिनी बने बैठे हुए तुम्हारी लक्ष्मीपति रक्षा करे। वह लक्ष्मीपति लक्ष्मी के विवाह के समय, लक्ष्मी के साथ जिस भाव से बैठे थे। उस भाव को प्राप्त, सर्व सौभाग्य पूर्ण लक्ष्मीपति, बैठे हुए की रक्षा करे। सारा जगत् भगवान् में ही स्थित होकर रहता है इसलिए "त्वां" पद का उल्लेख किया है।

"क्रीडन्तं पातु से लेकर आसीनं त्वां" पर्यन्त देह की चारों अवस्थाओं को बताकर, अब क्रिया की अवस्था कहते हैं कि सहज रीति से चौसीदि से प्राप्त मातृ स्तन्य, दुग्ध, आदि भोज्य पदार्थ की यज्ञ भोक्ता विष्णु रक्षा करे। भोजन में और क्रिया में काल और फल के नियामक ग्रह हैं। ग्रह ही कालानुसार भोजनादि क्रिया के फल दाता हैं इसलिए वे ग्रह अवश्य फल देंगे। इस भय को मिटाने के लिए ही गोपियों ने भोजनादि में रक्षा करने के लिए यज्ञभोक्ता विष्णु की प्रार्थना की है, क्योंकि काल, क्रिया, द्रव्य आदि के नियामक नव ग्रह भगवान् विष्णु से डरते हैं। यदि वे ग्रह, विष्णु से डरते न होते तो, यज्ञादि का फल ही न होता। ग्रहों के अनुसार फल होता किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे जब यज्ञभोक्ता फल देता है तब ग्रह निवृत्त हो जाते हैं। ग्रहों की निवृत्ति वचनों से नहीं किन्तु विष्णु के केवल स्वरूप देखने से ही डरकर निवृत्त होते हैं। इसलिए कहा है कि 'सर्वग्रहभयङ्करः' विष्णु यज्ञभोक्ता, सर्व ग्रहों के लिए भयङ्कर है। सारांश यह है कि जिनकी वे रक्षा करते हैं वहाँ वे ग्रह कुछ नहीं कर सकते हैं ॥ २६ ॥

एवं सहजदोषाणां इस प्रकार सहज स्वाभाविक दोषों को निवृत्त करने वालों की प्रार्थना कर, अब आगन्तुक आने वाले दोषों की तीन श्लोकों से गणना करती हुई कहती है कि भगवान् का नाम उच्चारण करने से ही वे दोष स्वयं मिट जायेंगे।

कितने ही महादेव सम्बन्धी स्थूल दोष हैं, दूसरे आध्यात्मिक मध्यम दोष हैं, तीसरे स्वप्न में डरानेवाले आधिभौतिक क्षुद्र दोष हैं। डाकिन्य-डाकिनी दासियों की तरह पतिरहित दुष्ट स्त्री जाति सेना सदृश हैं। यातुधान्यः राक्षसियाँ यक्षों की

स्त्रियाँ हैं। श्लोक में दिये हुए 'च' का आशय है कि यातुधानियाँ अन्य प्रकार की भी होती हैं। 'कूष्मांड' महादेव के गणों में दुष्टगण पुरुष रूप हैं। कूष्मांड शब्द को कुत्सितोय उष्मा ऐसा यौगिक अर्थ कर, उनकी उत्पत्ति एवं आकृति बताते हैं कि बुरे, गरमी से पैदा हुए अंडों के समान आकृति वाले पुरुष रूप को कूष्मांड कहते हैं। प्रलय के समय इनसे काम लिया जाता है। 'कूष्मांड' यह लौकिक रूढ नाम है। 'कूष्माण्ड' यह नैमित्तिक क्रिया का नाम होने से, 'वैदिक' भी है। वैदिक कूष्माण्ड विधि से पृथक् दोष वाला 'कूष्मांड' अन्य है, यह बताने के लिये श्लोक में 'ये' पद दिया है, श्रीपुरुषोत्तमजी स्पष्टता करते हैं कि धार्मिक संस्कार के समय, अशौच की संभावना होती है, उन धार्मिक संस्कारों में अशौच से रुकावट न हों, इसलिए वैदिक मन्त्रों से 'होम' किया जाता है, उस होम को 'कूष्मांड' कहते हैं इसलिए 'कूष्मांड' यह शब्द वैदिक भी है। जो कूष्मांड' दोष वाले, दुष्टगण हैं उनका यहाँ निरूपण है, फल वाचक लौकिक और वैदिकों का ग्रहण किया नहीं। 'अर्भकग्रहा' अर्भक रूप ग्रह पिशाच जाति के हैं वे बालरूप धारण कर सब को पकड़ते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस और विनायक विघ्न करने वाले प्रसिद्ध हैं। वे छेद वाले छिन्न भिन्न होते हैं उनका अधिपति विनायक कहा है। वह तो स्वयं कहीं भी नहीं आता है, यहाँ 'विनायक' नाम से कोई गणेशजी को न समझें, इसलिए श्लोक में दिये 'ये' पद का यहाँ भी उपयोग करना। 'ये' पद से यह बताया कि यहाँ दिये हुवे 'विनायक' शब्द से गणेश न समझना क्योंकि यह विनायक तो विघ्न करने वाला है और वह विनायक गणेशजी तो विघ्नविनाशक है ॥ २७ ॥

ततो हीनाः स्वतन्त्रस्त्रीरूपाः—२७ वें श्लोक में कहे हुये ये क्षुद्र और स्वच्छन्द स्त्रीरूप कोटरा नामक हैं जिनको पूर्वीय लोक कुठारे नाम से जानते हैं। तैसे 'रेवती' कोई उनको रेणुका कहते हैं, 'ज्येष्ठा' दक्षिण देश में प्रसिद्ध है 'पूतना' तो यही है किन्तु गोपियों ने अनजान में इसका भी नाम कह दिया है।

यथार्थ में तो ये मन्त्र हैं, इसलिये जैसे हैं वैसे ही पढ़ने चाहिये, नहीं तो उनका फल नहीं मिलेगा, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि यदि स्वर का वर्ण आदि से न पढ़ा जाएगा तो वह मन्त्र व्यर्थ होगा, और इससे कोई लाभ न होगा। इसलिए मन्त्र का जो रूप हो उस प्रकार ही उसका कीर्तन ज्ञान सहित करना चाहिये।

पूतना की तरह, वृद्ध ग्रहों का कीर्तन भी सम्बन्ध बिना किया है। सोलह मातृकाएँ तो प्रसिद्ध हैं किन्तु श्लोक में दिये हुए आदि शब्द से सब ग्रामदेवियाँ समझना, ये सब स्त्रियाँ हैं। उन्मादि पुरुष हैं। ये पुरुषों को पागल बना देते हैं। 'अपस्मार' भी समझ नाशकर मिरगी आदि अचेतना के रोग करते हैं। वे दोनों ही, दोष और रोगरूप हैं इनको हटा देना आवश्यक है। अन्य भी तीन तरह के—देह, प्राण और इन्द्रियों को दुःख देने वाले हैं। इनसे देव में सदैव पीड़ा रहती है, प्राणों में व्याकुलता से भूख नहीं लगती है और इन्द्रियाँ निर्बल होती जाती हैं जिससे बधिरता आदि होती है ॥ २८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्रश्निगर्भः प्रद्युम्नस्तु ते बुद्धिमवतु। परः सर्वसहर्ता सङ्कर्षणः भगवानात्मानमहङ्कारमवतु। क्रीडन्तं त्वां गोविन्दः पातु। शयानं त्वां माधवो लक्ष्मीपतिः पातु। नच "भगवन्नामभिरेव तस्य भगवतो रक्षा कथ सङ्गच्छते" इति शङ्क्यम्, तासाम् 'अयमेव भगवान्' इति ज्ञानाभावात्। नच "तदानीं कथं गोविन्दनामप्रसिद्धिः? इन्द्रेणाग्रे तस्य करिष्यमाणत्वात्" इति शङ्कनीयम्, भगवतो लीलानां नाम्नां मन्त्राणां चानादिशास्त्रसिद्धत्वात्॥ २५ ॥ व्रजन्तं बाललीलया गच्छन्तं त्वां वैकुण्ठाख्यो भगवानव्यात्। आसीनं त्वां श्रियो लक्ष्म्याः पतिरव्यात्। यज्ञभुक् यज्ञभोक्ता विष्णुर्भुज्ञानं त्वां पातु। तस्य पालने सामर्थ्यमाहुः–सर्वेति। सर्वे ये दुःखप्रदा ग्रहास्तेषां भयङ्करः, 'यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयाद्' इति वाक्यात्॥२६॥ तथा ये डाकिन्यादयो देहप्राणेन्द्रिय-द्रुहस्ते सर्वे नश्यन्त्विति तृतीयेणान्वयः। डाकिन्यो दुष्टाः स्त्रिय एव। यातुधान्यः यक्षराक्षसादिभिः। कूष्माण्डादयो रुद्रगणे प्रसिद्धाः। केचिदर्भकानेव गृह्णन्तीति तथा॥ २७ ॥ नच "पूतना तु मृतैव, कथं पुनस्तन्नाशप्रार्थना?" इति शङ्कनीयम्, तासां तदज्ञानात्। अनादिसिद्धमन्त्रकथनमात्रमेतत्। हीति प्रसिद्धौ। उन्मादा अपस्माराश्च चित्तभ्रान्तिकर्तारो ग्रहविशेषाः॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पृश्निगर्भ इति॥ पृश्निगर्भः प्रद्युम्नस्तु ते बुद्धिमवतु। परः सर्वसंहर्ता संकर्षणो भगवानात्मानमहङ्कारमवतु। क्रीडन्तं त्वां गोविन्दः गोषु क्रीडापरः पातु। शयानं त्वां माधवो लक्ष्मीसंवाहितपादः शेषशायी पातु॥ २५ ॥ व्रजन्तमिति॥ बाललीलया व्रजन्तं गच्छन्तं त्वां वैकुण्ठः वैकुण्ठवासी सनकाद्यर्थं पादत्रव्ययया धावन् भगवानव्यात्। आसीनं त्वां श्रियो लक्ष्म्याः पतिः सिंहासनस्थो नारायणः अव्यात्। सर्वे ये दुःखप्रदा ग्रहास्तेषां भयङ्करः यज्ञभुक् यज्ञभोक्ता विष्णुर्भुज्ञानं त्वां पातु॥ २६ ॥ डाकिन्य इति त्रयम्॥ डाकिन्यो दुष्टाः स्त्रिय एव तथा यातुधान्यः यक्षराक्षसादिस्त्रियः कूष्माण्डाश्च। ये तु अर्भकानेव गृह्णन्ति ते अर्भकग्रहाः। यद्वा। अर्भकरूपा ग्रहाः तेन बालग्रहा इति न पुनरुक्तिः। भूताः प्रेताद्याः कोटराद्या बालग्रहाः उन्मादाः

अपस्माराश्च चित्तभ्रान्तिकर्तारो ग्रहविशेषाः स्वप्ने दृष्टा महोत्पाताः भाविदुःखमहोत्पातादिसूचकाः। तथा ये वृद्धग्रहाः बालग्रहाश्च ये डाकिन्यादयो देहप्राणेन्द्रियद्रुहः विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ते सर्वे नश्यन्तु । पूतना मृताऽपि ताभिः पूतनात्वेनाज्ञानादेव मुक्तिः ॥ २७–२९॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

आसीनम् उपविष्टम् ॥ २६ ॥ दुःखदानाय अर्भकं बालं गृह्णंतीत्यर्भकग्रहाः विनायकाः विघ्नकर्तारो दुर्देवाः ॥ २७ ॥ उन्मादा उन्मत्तकारकाः अपस्माराः स्मृतिविभ्रंशकाः ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं बहिरङ्गरक्षां संप्रार्थ्याथान्तरङ्गरक्षां प्रार्थयामासुः ॥ इन्द्रियाणीति ॥ हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशोऽन्तः प्रविश्य नियन्ता भगवान्, तव इन्द्रियाणि, अवतु रक्षतु। नारायणः प्राणान्, अवतु। श्वेतद्वीपपतिः, चित्तं, योगेश्वरो योगनिर्वाहकः, मनः, अवतु ॥ २५ ॥ पृश्नीति ॥ पृश्निगर्भत्वात् पृश्निगर्भाख्यः भगवान् तु, ते तव, बुद्धिं, पातु रक्षतु। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः, परः परमात्मा, तव आत्मानमहंकारं, पातु। गोविन्दः भगवान्, क्रीडन्तं, त्वां पातु। माधवः भगवान्, शयानं कृतशयनं त्वां, पातु॥ २६ ॥ व्रजन्तमिति। वैकुण्ठ भगवान्, व्रजन्तं पथि गच्छन्तं, त्वां, अव्यात्। श्रियः पतिः लक्ष्मीकान्तः भगवान्, आसीनमुपविष्टं, त्वां अव्यात्। सर्वेषां ग्रहाणां भयंकरः सर्वग्रहभयंकरः यज्ञभुक् भगवान्, भुञ्जानं, त्वां पातु॥ २७ ॥ डाकिन्य इति ॥ डाकिन्यः, यातुधान्यः, कूष्माण्डाः, ये अर्भकाः ग्रहाः भूतप्रेतपिशाचाः, यक्षाश्च रक्षांसि च विनायकाश्च ते च ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

पृश्निगर्भ प्रद्युम्न आप की बुद्धि की, पर संकर्षण भगवान आप के आत्मा अहंकार को खेलते समय गोविन्द रक्षा करे और सोते समय माधव रक्षा करे ॥ २५ ॥ डाकिनी, राक्षसियाँ, कूष्मांड, बालग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना मातृका आदि उन्माद, अपस्मार, अन्य जो देह, प्राण एवं इन्द्रियों के द्रोही हैं ॥ २७–२८ ॥

स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये। सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम्। पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम् ॥ ३० ॥

तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः। विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥ ३१ ॥

नूनं बतर्षिः संजातो योगेशो वा समास सः। स एव दृष्टो ह्युत्पातो [1]यथाहानकदुन्दुभिः ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः--ये स्वप्नदृष्टाः महोत्पाताः ये च वृद्ध बालग्रहाः ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ते सर्वे नश्यन्तु ॥२९॥ इतिप्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् आत्मजम् माता स्तनं पाययित्वा सन्न्यवेशयत् ॥ ३० ॥ तावत् नन्दादयः गोपाः मथुरायाः व्रजं गताः पूतनादेहं विलोक्य अतिविस्मिताः बभूवुः ॥ ३१ ॥ नूनं सः बत ऋषिः सञ्जातः वा योगेशः समास आनकदुन्दुभिः यथा आह हि स एव उत्पातो दृष्टः ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

संन्यवेशयत् छादयामास ॥ ३०–३१ ॥ विस्मयमेवाह। नूनमिति। बत विस्मये। सांप्रतं स वसुदेव ऋषिस्तपःप्रभाववान् योगेशो ज्ञानी वा सम्यगास। यतः यत् यं आह स एवोत्पातो दृष्ट इति ॥ ३२–३३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्तनशब्दोऽत्र स्तन्ये लाक्षणिकः प्रणयरशनया बद्धाभिः। स्तनपानेनैवार्भकस्वास्थ्यज्ञानात्तदपाययदित्यर्थः ॥ ३० ॥ यावन्माता संन्यवेशयत्तावन्नंदादय इति संबंधः ॥ ३१ ॥ विस्मयमभिनयति—इह यमिति तच्छब्दश्रुतेर्ज्ञेयम्। विस्मयमाह—किं शक्रेण भ्रमादच्छिन्नपक्षः कोपि पर्वतो नभोव्यापिनोप्यत्रत्यान्द्रुमांश्चूर्णयित्वा पपात। किं वा—वयमेव साहजिकया भ्रान्त्या

---

१. यदा–श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. ; यथा–जीव.।

कयापि योगिन्या वा देशांतरं प्रापिताः स्मः। किं वा–कस्याप्यैन्द्रजालिकस्येदं कर्मेति संदिहाना इत्यर्थः। व्रजं व्रजदर्शनयोग्यं देशं प्राप्ता अन्यान्यमूचुः वसुदेवः प्रागेतादृशो नासीदधुना ऋषिरास ऋषिवाक्यस्यैव प्रामाण्यात्सर्वज्ञत्वादनुमीयते योगेशो वा आस दीप्यते स्म 'आस दीप्तौ' ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

इति एवं कृतं रक्षणं रक्षा यस्य तं तत्र हेतुः प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिः वशीकृताभिः इति श्रीयशोदागृहे बद्धवत्तासां धात्री तया सदावस्थितिः तथा च श्रीभगवदर्थं परमव्यग्रतया विविधव्यापारपरता च ज्ञेया स्तनं पाययित्वेति मातुः स्नेहस्वभावतः तथा लोके स्तनपानेन बालस्य स्वास्थ्यज्ञानाच्च ॥ ३० ॥ तावदिति गमने शैघ्र्यमुक्तं मथुरापुर्याः सकाशात् व्रजं व्रजदर्शनयोग्यदेशं प्राप्ताः विलोक्य दूरतो विविधकल्पनया नभोव्यापिपर्वताकारत्वेन दूरत एव दर्शनासम्भवात् तत्र च श्रीवसुदेवोक्तसम्वादेनात्यन्त-विस्मिता इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ अतिविस्मितानां तेषामन्योन्योक्तिमाह—नूनमिति। वितर्के स प्राहानकदुन्दुभिः प्रागेतादृशो नासीत् अधुना च ऋषिः सम्यक् ज्ञातो वृत्तः ऋषिवाक्यस्यैव प्रामाण्यात्। ननु ऋषित्वचिह्नं किमपि न दृष्टम् इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह-योगेश इति। अन्तः उपासनानिष्ठः संशब्दाभ्यां तत्तन्निष्ठा बोध्यये। तत्र हेतुः स एवेति आनकदुन्दुभिरिति। तादृशजन्मत्वेन योग्यताम्बोधयन्ति, अन्यत्तैः। यद्वा कोऽपि यः पूर्वजन्मनि ऋषिर्योगेशो वा समास अत्र सन्देह एव विकल्पः स एवानक-दुन्दुभिः सन् सञ्जातः अन्यत्समानम् एवं सर्वज्ञत्वादेव सोऽवददिति तैर्मतम् अत एव सुविस्मिताः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इत्येवं कृतं रक्षणं रक्षा यस्य तम्। तत्र हेतुः,—प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिर्वशीकृताभिरिति श्रीयशोदागृहे बद्धवत्तासां सदावस्थितिस्तथा श्रीभगवदर्थं परमव्यग्रतया विविधव्यापारपरता च ज्ञेया। स्तनं पाययित्वेति मातृस्नेहस्वभावतस्तथा लोके स्तनपानेन बालस्य स्वास्थ्यज्ञानाच्च ॥ ३० ॥ तावदिति गमने शैघ्र्यमुक्तम्। मथुरापुर्याः सकाशाद्व्रजं व्रजान्तिकं प्राप्ता विलोक्य वर्त्मन्येव दूरप्रदेशव्यापित्वादतिविस्मिता इत्यकस्मात् मृतकस्य शतनादुच्चबृहत्तरत्वाच्च विस्मितास्तत्र च श्रीवसुदेवोक्त-सम्वादेनात्यन्तं विस्मिता इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ अतिविस्मितानां तेषामन्योऽन्योक्तिमाह—नूनमिति वितर्के। स आनकदुन्दुभिः प्रागेतादृशो नासीदधुना च ऋषिः सम्यक् जातो वृत्तः,—ऋषिवाक्यस्यैव प्रामाण्यात्। ननु, ऋषित्वमात्रेण तादृग्ज्ञानं न स्यादित्याशंकायां पक्षान्तरमाह—योगेश इति। सम्यगास बभूव। 'सँ–शब्दाभ्यां तत्तन्निष्ठा बोध्यते। तत्र हेतुः—स एवेत्यानक-दुन्दुभिरिति तस्य जन्मनि देवैरानकादिवादनेनार्थवितर्कं प्रमाणयन्ति; किंवा तस्य तादृशोक्तौ योग्यतां बोधयन्ति। अन्यत्तैर्व्या-ख्यातम्। यद्वा, कोऽपि यः पूर्वजन्मनि ऋषिर्योगेशो वा समासस्स एवानकदुन्दुभिः सन् सञ्जातः। अन्यत् समानम्। एवं सर्व्वज्ञत्वादेव सोऽवदिति तैर्गोपैर्मतम्, अतएव सुविस्मिताः, न तु कंसदुर्मन्त्रणज्ञानमित्यन्यथा कंसदुर्मन्त्रणकारणदेवीवाक्यज्ञाने सति 'जातः खलु तवान्तकृत्' इति तदुक्त्या स्वपुत्रे भगवत्त्वादिशंकायाः सम्भवः। सा चैवं निरस्ता, अत एव श्रीवसुदेवेनापि (भा० १०।५।३१) 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' इति निर्विशेषमुक्तमित्येवमग्रेऽप्युह्यम् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वृद्धग्रहाः बालग्रहाश्च ते सर्वे विष्णोर्नामानि गृह्णन्तीति तथा तेभ्यो भीरवः भीता नश्यन्तु ॥ २९ ॥ इत्थं प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिर्यन्त्रिताभिर्गोपीभिः कृतं रक्षणं यस्य तमात्मजं माता यशोदा स्तनं दुग्धं पाययित्वा सन्न्यवेशयत् शाययामास ॥ ३० ॥ तावत् तदा नन्दादयो गोपा मथुरायाः सकाशात् व्रजमागताः सन्तः पूतनाया देहमवलोक्यातीव विस्मिता बभूवुः ॥ ३१ ॥ वसुदेवोक्तं यथार्थमेवाभूदिति सोदाहरणं विस्मयन्ते–नूनमिति। आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः समागतो यमुत्पातम् आह स एवोत्पातो ऽधुनाऽस्मा-भिर्दृष्टः अतः स आनकदुन्दुभिः ऋषिर्योगी वा पूर्वजन्मनि सन्नधुनेवंरूपेण नूनं सञ्जातः बतेति विस्मये ऋषित्वमुत्पत्तिसिद्धा-तीन्द्रियार्थदर्शित्वं योगित्वं तपःप्रभावकृतं तद्दर्शित्वम् इति विवेकः। स यद्गत इति पाठे स वसुदेवः ऋषिर्योगीशो वा सन् अधुनैवं सञ्जातः कुतः यत् यतः गतः समागतः आनकदुन्दुभिः यमुत्पातमाह—सोऽधुना अस्माभिर्दृष्ट एवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रणयबद्धाभिः बद्धस्नेहाभिः संन्यवीविशत् संवेशं निद्रामकारयत् ॥ ३०–३१ ॥ वसुदेवः ऋषिः त्रिकालदर्शी योगेशः कपिलान्यतमः समासतः संक्षेपतः सङ्कोचं कृत्वा जातदृष्ट अस्माभिरिति शेषः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तावदिति विलोक्य ज्ञात्वा तच्च दूरतोऽपि दर्शनेन यत् किञ्चिच्छ्रवणेन चेति ज्ञेयं ये नीचजातयो व्रजौकसस्त एवेत्यर्थः ॥ ३१–३२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रणयरशनया यशोदागृहे एव बद्धाभिः पाययित्वेति स्तनपानमेव बालानां स्वास्थ्यलक्षणमिति भावः। सन्निवेशयत् शाययामास ॥ ३० ॥ अतिविस्मिताः किं शक्रेण भ्रमादच्छिन्नपक्षः कोऽपि पर्वतो नभोव्यापिनोऽप्ययत्रपतन् महीरुहांश्चूर्णयित्वा पपात किम्वा वयमेव साहजिक्या भ्रान्त्या कयापि योगिन्या वा देशान्तरं प्रापिताः स्मः किम्वा कस्याप्यैन्द्रजालिकस्येदं कर्मेति सन्दिहाना इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र श्रीव्रजराजस्तु निश्चिनोति—नूनं निश्चितमेव ऋषिरस्मत्कुले वसुदेवः सर्वज्ञत्वादनुमीयते योगेशोऽष्टाङ्गयोगाभ्यासी योगजनेत्रेण भाविवृत्तदर्शित्वात् समास सम्यग्दीप्यते स्म "अस दीप्तौ" ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

संन्यवेशयत् सम्यक् शाययामास ॥ ३०-३१ ॥ बतेति विस्मये सः वसुदेवः यदाह स एवोत्पातः दृष्टः हि हेतौ नूनमिति निश्चये पूर्वम् ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा योगेशः विष्णुध्याननिष्ठो वा सम्यगास इदानीं सञ्जातः अत एव आनकदुन्दुभिरिति हेतुगर्भं विशेषणम्। सामान्यस्य जन्मनि आनकादिना नादं देवा न कुर्वन्तीति भावः ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गोपीभिः कृतरक्षणमिति रक्षाविधिरयं तासां सर्वशास्त्रज्ञानं स्वभावसिद्धं बोधयति। तच्च न चित्रं तन्नित्यपार्षदत्वात् आसां कृष्णविषयकं स्वयं प्रभुत्वज्ञानं सदपि तद्विषयकवात्सल्ये लीनं बोध्यं कृष्णस्यैश्वर्यं माधुर्यं च व्रजौकसां ज्ञानं गृह्णात्यतः पूर्णप्रज्ञास्ते पूर्वविषयकमल्पं पदविषयकं तु भूरीत्यतस्तन्निगिरतीति सर्वत्र भाव्यं प्राययित्वेति स्तन्ये पीते बालस्य स्वास्थ्यं निश्चितमितिभावः। माता व्रजेश्वरी सन्न्यवेशायत् शाययामास ॥ ३० ॥ अतिविस्मिता इति। किं वयं केनचिद् योगबलेन देशान्तरमानीताः किम्वा देवराजेनाच्छिन्नपक्षो महाशैलोऽत्र पातितोऽस्तीन्द्रजालविद्या वा काचिदियमिति सन्दिहाना बभूवुरित्यर्थः॥३१॥ अथ व्रजेश्वरो निश्चित्याह—नूनमिति। वसुदेवोऽस्मत्कुले ऋषिस्तपोनिष्ठो योगीवाऽनुष्ठिताष्टाङ्गयोगः समास सम्यग् दिदीपे तपोयोगमहिम्ना विज्ञातभाविवृत्तः स एवोत्पातो दृष्टः ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

मातृकादय इति पृथग्वा कोटरादिमातृकादय इति समस्तं वा। उन्मादा उन्मादका अपस्मारास्तस्करा देहप्राणेन्द्रियक्षणो देहश्च प्राणाश्चेन्द्रियाणि च तेभ्यो द्रुह्यन्तीति ते ये ॥ २९ ॥ स्वप्नदृष्टा दुष्फलसूचकमहोत्पातास्ते सर्वे विष्णोर्नामग्रहणं तदुच्चारस्तस्माद् रवो नश्यन्तु। ते विष्णोरिति सामानाधिकरण्येनाप्यन्वयः ॥ ३० ॥ प्रणयेन स्वतनयप्रेमविशेषेण बद्धा ग्रहादिगमनमनिच्छन्त्य इति बद्धयद्वियमानास्ताभिर्गोपीभिर्वृद्धसुवासिनीभिः कृतरक्षणमात्मजं माता स्तनं पाययित्वा। उभयोरेकदा पेयत्वादेकवचनं। सन्न्यवीविशदुपवेशयामास शाययामास वा ॥ ३१ ॥ तावत्। यावत्तावत्परिच्छेदे कार्त्स्न्ये मानेऽवधारण इति विश्वः। तावति समये नन्दादयो गोपा मथुरायाः सकाशात्पतितं पूतनादेहं विलोक्यातिविस्मिता बह्वाश्चर्ययुक्ता बभूवुः ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

भौतिकानाह, स्वप्नदृष्टाः स्वप्न एव भयपलायनशिरश्छेदादिदर्शनहेतवो महोत्पाताश्च, तेषां लक्षणं स्वप्नाध्याये भवति, वृद्धबालग्रहाश्च भवन्ति, नियतास्ते भगवदीयं भ्रामयन्त्येव, अतः पिशाचवद् भ्रान्तवद् वृद्धो बालश्च तिष्ठति, अत्रापि कालरोगव्यावृत्त्यर्थं य इति, एवं सर्वाननूद्य विनियोगमाहुः सर्व इति, उक्ता अनुक्ताश्च ते सर्वेऽस्मद्वाक्यात् स्वत एव नश्यन्तु पलायन्तां, तेषां निवृत्तौ नाधिकः प्रयास इति विशेषणमाह नामग्रहणमात्रेणैव भीरव इति, विष्णोस्ते तवैव नामग्रहणेन न ते तिष्ठन्ति कुतः पुनस्त्वत्समाप इत्यतोऽस्माभिर्वचनादेव निराक्रियन्ते ॥ २९ ॥ एवं सर्वप्रकारेण त्रिविधामपि रक्षां कृत्वा स्थितास्ततो यज्जातं तदाहेतीति, प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिर्न तु लौकिकन्यायेन बद्धपदान्न प्रेरणया नापि निवारितास्तिष्ठन्तीति ज्ञापितं, गोपीभिरितिपुनर्वचनं मध्ये ब्राह्मणादिशिक्षया कृतमितिव्यावृत्त्यर्थं, कृतं रक्षणं यस्य, रक्षाबन्धनादिकमपि कृतमिति ज्ञायते, पूतनास्तनपानेनाजीर्णशङ्कां व्यावर्तयति पाययित्वा स्तनमिति, माता यशोदा, गोपिकादीनां भाव्यर्थज्ञानात् स्तनादानं, अनुपद्रवज्ञापकं च स्तनपानं, आत्मजं पुत्रं, सन्न्यवेशयत् सम्यक् पल्यङ्के न्यवेशयच्छाययितवती ॥ ३० ॥ एवं बुद्ध्युत्पादन देतद् भगवच्चरित्रं निरोधरूपं च स्पष्टमेव, एवं पूतनावधं कृत्वाग्रिमलीलासिद्ध्यर्थंगज्ञानशेषं चाभिमन्त्रणादिना सम्यग् जातमिति स्थापयित्वा पूतनाया मोक्षो जात इति ज्ञापनार्थमग्रिमचरित्रमारभते तावदध्यायसमाप्ति, देहसौरभ्येण हि मुक्तेति ज्ञातव्यं, रूपदर्शनाद् भयं जायत इति गन्धाग्रहश्च, तत् दाहे स्पष्टं भवति, तदाहश्च प्रभुसा यः, अतो नन्दागमनमाह तावदिति, यावद् गोप्य एतावत् कृतवत्यस्तावत्काले जाते मथुरायां गता नन्दादयः पूर्वोक्तगोपिकानां पतये गोपिकाप्राधान्यात् प्राधान्ये नोक्ताः मथुरायाः सकाशाद् व्रजं गताः, शुकस्तत्रैव भगवति स्थित्वा वदतीति गता इत्युक्तवान् , तादृशं पूतनादेहं विलोक्यातिविस्मिता जाता लौकिकं न स्मृतवन्तः, अन्यथा तेषां निरोधो न

स्यात्, बालक्रीडायां तेषामासक्तिर्न वक्तव्येति तदर्थं व्यापारान्तरं कर्तव्यमिति ॥ ३१ ॥ तेषामत्र प्रमाणपरतामाह नूनमिति, बतेति खेदे, वसुदेवो नूनं ऋषिरेव सञ्जातः, पूर्वं क्षत्रियः स्थित इदानीमृषिर्जातः, ऋषिवाक्यमेव हि प्रमाणं, ननु लौकिके ऋषिर-प्रयोजकोऽन्यथा मन्त्राणां लौकिकत्वं स्यादत आह योगेशो वा स सम्यगासेति, योगेश्वराः सर्वं जानन्ति योगचक्षुषा, समिति सभायामपि ज्ञानात्, स वसुदेवः प्रसिद्धत्वात्, तस्य तदुचितमिति नासम्भावना, तस्य वाक्यस्य संवादमनुवदन्ति स्वज्ञान-दार्ढ्याय यमुत्पातमानकदुन्दुभिराह स एवास्माभिर्दृष्ट इति, हीति युक्तश्चायमर्थः, "तदुदितः स हि यो यदनन्तर" इतिन्यायाद् यादृच्छिकसंवादित्वं परिहरन्नाहानकदुन्दुभिरिति, आनका दुन्दुभयश्च तस्य जन्मनि नेदुरतः प्रामाणिकमेव तस्य ज्ञानम् ॥ ३२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तावदित्यत्रागता इति वक्तव्ये यद् गता इत्युक्तवांस्तत्र हेतुमाहुस्तत्रैव भगवति स्थित्वा वदतीति परीक्षितः समीप एव स्थित्वा भगवद्विषये वदतीति पारोक्ष्येणोक्तवानित्यर्थः ॥ ३१ ॥ नूनमित्यत्र लौकिक इत्यादि लौकिके वाक्य ऋषिरप्रयोजकः प्रामाण्यप्रयोजनको न भवत्यन्यथा यदि तत्रापि प्रयोजकः स्यात् तदा तथा स्यादित्यर्थः, स्वज्ञानदार्ढ्यायेति यद् वसुदेवोक्तप्रामाणिक-त्वज्ञानं तद्दार्ढ्याय ॥ ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इति प्रणयबद्धाभिरित्यत्र निरोधरूपं चेति शक्तिभिः सहानुशयनरूपमित्यर्थः ॥ ३० ॥ तावदित्यस्याभासे ज्ञापनार्थमित्य-स्यानन्तरं भगवता कृतमितिशेषः, चरित्रमित्यस्यानन्तरं वक्तमितिशेषः, तथा चेदं कृत्वा इति स्थापयित्वा इति ज्ञापनार्थं भगवता कृतमग्रिमं चरित्रं वक्तुं शुक आरभत इत्यन्वयः। अज्ञानशेषं चेति 'गन्धमात्रावशेषिते'त्युक्तत्वादभिमन्त्रणादिना सम्यग्ज्ञातमभि-मानशेषं इत्येवं प्रकारेण स्थापयित्वेत्यर्थः, तावदित्यत्र रूपेति सौरभ्यज्ञानं विना मुक्तिज्ञानं न भवति, सौरभ्यं च भयाद् ग्रहीतुं न शक्यते, तत् तस्माद्धेतोर्दाहे सति देहदर्शनकृतभयाभावात् सौरभ्यं स्पष्टं भविष्यतीत्यर्थः, पूर्वोक्तेति 'यशोदारोहिणीभ्यां ता' इत्यत्रोक्तानां मध्ये अन्यपूर्वाणामित्यर्थः, गमने 'गोपान् गोकुलरक्षाया'मित्यत्र नन्दस्यैव प्राधान्यमुक्तमत्रागमने 'नन्दादयो गोपा' इत्यनेन सर्वेषां प्राधान्यमुच्यते, तत्र हेतुमाहुः गोपिकेति, अत्र रक्षायां यशोदाया अपि गौणत्वमुक्त्वा गोपिकानामेव प्राधान्य-मुक्तमतस्तत्सम्बन्धात् तत्पतीनामपि प्राधान्यमित्यर्थः, तत्रैवेति मथुरास्थिते वसुदेवनन्दयोस्तथा संवादसम्पादके भगवति भावनया स्थित्वेत्यर्थः, एतत्संवादस्य भगवच्चरित्रत्वं तत्रैव विवरणे स्फुटम् ॥ ३१ ॥ नूनमित्यस्याभासे बालक्रीडायामिति गोपानामासक्तिः प्रमेयप्रकरणे मध्यलीलायां वक्तव्येतिभावः, तदर्थमिति गोपानामासक्तिसिद्ध्यर्थं, आध्यात्मिकाऽविद्यानिवर्तनरूपव्यापारान्तरं प्रमेयप्रकरणे वक्तव्यमित्यर्थः, प्रमाणपरतामाहेति तात्पर्य इति शेषः, नूनमित्यत्र तदुदित इति कंसमन्त्रणानन्तरं जात उत्पातः कंसमन्त्रणोदित एवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

भौतिकानाहः—अब भौतिक दुःखों को कहते हैं—स्वप्न में देखे गए जैसे डर, भागना, शिरच्छेद और महान् उत्पात आदि दुःख। इनके लक्षण स्वप्नाध्याय में कहे गए हैं। वृद्धग्रह और बालग्रह अभक्तों को भ्रमित करते हैं वे पिशाच के समान तथा भ्रान्त के समान वृद्ध और बाल रूप होकर फिरते हैं। यहाँ भी जो श्लोक में 'ये' पद दिया है उसका आशय यह है कि ऊपर कहे हुए काल, रोग करने वाले नहीं है। इस प्रकार सब का वर्णन कर फिर सर्वे शब्द देने का तात्पर्य है कि जो कहे गये अथवा जो नहीं कहे गये हैं वे सब हमारे वचनों से आप ही निवृत्त हो जाओ, भाग जाओ। उन्ही के लिए अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि केवल विष्णु भगवान् के नाम ग्रहण से ही वे डर जाते हैं। कारण कि आप विष्णु सर्वत्र व्यापक हो। जब कि नाम लेने से ही डर कर भाग जाते हैं तो आपके विराजते हुए आपके सामीप्य में कैसे ठहरेंगे। इस कारण से हम उनका अपने वचनों से ही निराकरण करती हैं ॥ २९ ॥

एवं सर्वप्रकारेणः—इस तरह सब प्रकार से गोपियों ने तीन तरह की रक्षा की। इसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस श्लोक में शुकदेवजी करते हैं। गोपियों ने लौकिक न्याय से सहज स्वाभाविक स्नेह से बद्ध होकर रक्षा की थी। इसलिये किन्हीं के हटाने से भी वे हटने वाली नहीं थी। यद्यपि १८वें श्लोक में कहा गया है कि यह रक्षा, गोपियों ने ही की, पुनः इस श्लोक में, 'गोपीभिः' पद देने का तात्पर्य यह हैं कि गोपियाँ तो स्वयं रक्षा कर रही थी, किन्तु कोई यों न समझे कि बीच में विप्रों ने उनको शिक्षा दी होगी कि रक्षा करो, इस शङ्का को मिटाने के लिए, यहाँ फिर 'गोपीभिः' पद दिया है। गोपियों ने न केवल वाणी से रक्षा की, किन्तु हाथों से रक्षा बन्धन आदि भी किया था, यों समझा जाता है। माता यशोदा ने स्तन पान कराके यह बताया कि पूतना के पयःपान से मेरे लाला को अजीर्ण आदि कुछ दुःख नहीं हुआ है। गोपिकाओं को भावी अर्थ का ज्ञान था, इसलिए उन्होंने स्तनपान स्वयं न कराया क्योंकि माता का स्तनपान शान्ति को जताने वाला था। फिर माताजी ने पुत्र को पलङ्ग पर अच्छे प्रकार से सुला दिया ॥ ३० ॥

एवं बुद्ध्युत्पादनादेतद्—इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने से यह भगवान् का चरित्र स्पष्ट निरोध चरित्र है। ऐसे पूतना वध कर आगे की लीला की सिद्धि के लिए अभिमन्त्रण से भलीभाँति बचे हुए अज्ञानशेष को स्थापन कर, पूतना के मोक्ष का ज्ञान कराने के लिए, इस श्लोक से अध्याय समाप्ति पर्यन्त आगे के चरित्र को कहते हैं।

पूतना की आकृति को देखने से तो, भय उत्पन्न होता है और ऐसा समझ में आता है कि पूतना का मोक्ष नहीं हुआ है, इस शङ्का की निवृत्ति के लिए, पूतना के देह के जलने से उत्पन्न हुए गन्ध से, उसके मोक्ष का ज्ञान होगा, इसलिए उसका उल्लेख किया जाता है। पूतना के जलाने पर सब को स्पष्ट सुगन्ध मिलेगी। लेकिन पूतना को जलाना सामान्य मनुष्य का काम नहीं था। ऐसी विशाल देह को जलाने वाला कोई बलवान होना चाहिये जिससे यह जलाई जाए। जब तक गोपियों ने यह सब कृत्य किया तब तक तो नन्दादिक मथुरा में रहे। यहाँ गोकुल में कार्य करने में गोपियाँ प्राधान्य थीं, इसलिए मथुरा से लौटते समय गोपियों के पतियों के नाम प्रधानता में न देकर नन्द का ही दिया है। शुकदेवजी वहाँ मथुरा में ही भगवान् में स्थित होकर कथा प्रसंग कह रहे थे, इसलिए 'व्रजम् आगताः' 'व्रज में आये' न कहकर 'व्रजं गताः' 'व्रज को गये' कहा है। नन्दादिक, पूतना के ऐसे रूप को देखकर, अचम्भे में पड़ गये। उस समय सब लौकिक भूल गये। यदि लौकिक स्मृति रहती तो निरोध न होता ॥ ३१ ॥

तेषां निरोधो न स्यात्—उन गोपों का इस बालक्रीड़ा में निरोध न कहना चाहिये अथवा निरोध न हो उनके लिये दूसरे प्रकार का व्यापार कहना चाहिये। क्योंकि वे प्रमाणपरायण हैं इसलिये प्रमाण के अधिकारी हैं इसका निरूपण अग्रिम श्लोक में करते हैं।

तेषामत्र प्रमाणपरतामाहः—उन गोपों की प्रमाणपरायणता का वर्णन करते हैं। 'बत' शब्द से खेद दिखाया है। वसुदेवजी प्रथम मात्र क्षत्रिय थे अब तो निश्चय रूप से वे ऋषि भी हो गए। ऋषियों का वचन ही प्रमाण माना जाता है। लौकिक में तो ऋषि अप्रयोजक हैं क्योंकि लौकिक का निर्णय लौकिक प्रमाण से होगा लेकिन जो अलौकिक विषय है वहाँ तो मन्त्रद्रष्टा-भविष्यद्रष्टा ऋषि ही प्रयोजक होते हैं यदि लौकिक में प्रयोजक मानेंगे तब मन्त्र भी लौकिक हो जाएँगे तो उनकी प्रामाणिकता में संशय रहेगा। इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि न केवल ऋषि हुए किन्तु पूरे पूरे योगेश भी हुए हैं। योगेश्वर योग रूप नेत्र से सब देख लेते हैं। सभा आदि में जो कुछ होता है उसका ज्ञान उनको हो ही जाता है। वसुदेवजी के कहने में किसी प्रकार की असम्भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वसुदेवजी साधारण मनुष्य नहीं हैं किन्तु प्रसिद्ध विभूति है। हमने जैसा वसुदेवजी का स्वरूप समझा है वह सत्य है इस समझ की दृढ़ता के लिए वसुदेवजी के कहे हुए वाक्य की पुनरावृत्ति करते हैं कि जिस उत्पात के लिये वसुदेवजी ने कहा था वह उत्पात हमने देखा। श्लोक में 'हि' शब्द का भी यह ही आशय है कि वसुदेवजी का कहना सत्य है। **'तदुदितः स हि यो यदन्तर'** जो जिसके पीछे होता है वह उसमें होता ही है। इस न्याय के अनुसार भी यह कहना सत्य है। विशेष में कहते हैं कि उसका कहना प्रामाणिक इसलिये भी है कि वसुदेवजी के जन्म के समय आनक और दुन्दुभि बजे थे। जिससे उनकी आप्तता प्रकट है आप्त का अर्थ है यथार्थ वक्ता ॥३२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

स्वप्ने दृष्टा महोत्पाता भाविदुःखमहोत्पातादिसूचकाः। तथा ये वृद्धग्रहा बालग्रहाश्च। ननु "कथमेवं प्रार्थनामात्रेण तेषां विनाशः सम्भवति ?" तत्राह—विष्णोर्नामग्रहणभीरव इति। अस्मत्कृतभगवन्नामग्रहणमात्रेण भयादपसरन्त्विति भावः ॥ २९ ॥ इत्येवं कृष्णे प्रणयेन प्रेमातिशयेन बद्धोभिर्गोपीभिः कृतं रक्षणं यस्य तमात्मजं माता यशोदा स्तनं पाययित्वा 'स्तनपानं हि बालानां स्वास्थ्यज्ञापकम्' अतस्तस्य तद्दृष्ट्वा स्वास्थ्यं ज्ञात्वा स्वयमपि स्वस्थचित्ता संन्यवेशयत् शनैः शाययामास ॥ ३० ॥ तावत्कालेन नन्दादयो गोपाः मथुरायाः सकाशाद्व्रजमागताः सन्तः पूतनायाः देहं विलोक्यातिविस्मिता बभूवुरित्यन्वयः ॥ ३१ ॥ विस्मितानां वाक्यमाह—नूनमिति। 'बत' इति विस्मये। नूनं निश्चितं आनकदुन्दुभिः पूर्वजन्मनि ऋषिः तपस्वी सन् इह सञ्जातः अथवा पूर्वजन्मनि योगेशोऽष्टाङ्गयोगवान् समास बभूव। कुतः ? हि यस्मात् वसुदेवः सः 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' इति यदाह स एवोत्पातो दृष्ट इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति। इत्येवं कृष्णे प्रणयेन प्रेमातिशयेन बद्धाभिर्यशोदागृह एव स्थिताभिः गोपीभिः कृतं रक्षणं यस्य तमात्मजं माता यशोदा स्तनं पाययित्वा स्तनपानेन स्वास्थ्यं ज्ञात्वा स्वयमपि स्वस्थचित्ता सती संन्यवेशयत् शनैः शाययामास ॥ ३० ॥ तावदिति ॥ तावत्कालेन नन्दादयो गोपाः मथुरायाः सकाशाद्व्रजं व्रजदर्शनयोग्यं देशमागताः सन्तः पूतनाया देहं विलोक्यातिविस्मिता बभूवुः ॥ ३१ ॥ नूनमिति ॥ बतेति विस्मये। नूनं निश्चितम् आनकदुंदुभिः पूर्वजन्मनि ऋषिः तपस्वी सन्निह सञ्जातः अथवा पूर्वजन्मनि योगेशोऽष्टाङ्गयोगवान् समास सम्यग्दीप्यते स्म। कुतः हि यस्मात् स वसुदेवः "सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" इति यदाह स एवोत्पातो दृष्टः इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ते सर्वे ।। २९ ।। प्रणयबद्धाभिः प्रेमबद्धाभिः संन्यवेशयत् स्वापयामास ।। ३०-३१ ।। ऋषिः संजातः उत्पन्नः कुतः स एव दृष्टः ।। ३२ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कोटरेति ।। कोटरा च रेवती च ज्येष्ठा च पूतना च मातृकाश्च ता आद्यो यासां ताः, देहप्राणेन्द्रियाणि द्रुह्यन्तीति तथा, ये उन्मादाः, अपस्माराः, ते हि ।। २९ ।। स्वप्नेति ।। ये स्वप्नदृष्टाः महोत्पाताः, वृद्धाश्च बालाश्च तेषां ग्रहाः, वृद्धग्रहाः बालग्रहाश्च, ते सर्वेऽपि, विष्णोर्नामानि गृह्णन्तीति तेभ्यो भीरवः भीताः सन्तः, नश्यन्तु । इति त्रयाणामेकसंबन्धः ।। ३० ।। इतीति ।। इतीत्थं, प्रणयेन स्नेहेन बद्धा यन्त्रितास्ताभिः, गोपीभिः, कृतं रक्षणं यस्य तं, आत्मजं पुत्रं, माता यशोदा, स्तनं स्तन्यं पय इत्यर्थः । पाययित्वा, संन्यवेशयत् शाययामास ।। ३१ ।। तावदिति ।। तावत्तदा, नन्दादयः गोपाः, मथुरायाः सकाशात्, व्रजं गताः प्राप्ताः सन्तः, पूतनादेहं पूतनाकलेवरं, वीक्ष्य, अतिविस्मिताः, बभूवुः ।। ३२ ।।

कृष्णप्रिया

तथा स्वप्न में देखे हुए महान् उत्पात, वृद्ध और बालकों के ग्रह, वे सब विष्णु के नाम से डरने वाले होने के कारण, विष्णु के केवल नाम लेने से ही भाग जावें ।। २९ ।। इस प्रकार स्नेहबद्ध गोपियों द्वारा रक्षा किये हुए पुत्र नन्दलाल को माता यशोदा ने स्तन पान कराके शयन कराया ।। ३० ।। इतने में मथुरा से व्रज में पहुँचे हुए नन्दादिक गोप, पूतना की देह को देख के अति आश्चर्य में पड़े ।। ३१ ।। अहा ! निश्चय रूप से श्रीवसुदेवजी तो ऋषि हो गए हैं अथवा तो वे योगेश्वर बन गए हैं क्योंकि जैसा उन्होंने कहा वैसा ही उत्पात देखा ।। ३२ ।।

कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा 'ते तु व्रजौकसः । दूरे क्षिप्त्वावयवशो ²ददहुः काष्ठवेष्टितम्³ ।। ३३ ।।
दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः । उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ।। ३४ ।।
पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना । जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम् ।। ३५ ।।
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने । यच्छन् प्रियतमं ⁴लोके रक्तास्तन्मातरो यथा ।। ३६ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ते तु व्रजौकसः कलेवरं परशुभिः छित्वा अवयवशः दूरे क्षिप्त्वा काष्ठवेष्टितं कृत्वा ददहुः ।। ३३ ।। कृष्णनिर्भुक्तसपदि आहतपाप्मनः दह्यमानस्य देहस्य अगरुसौरभः च धूमः उत्थितः ।। ३४ ।। लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना पूतना जिघांसया हरये स्तनं दत्त्वा सद्गतिं आप ।। ३५ ।। पुनः श्रद्धया भक्त्या रक्ताः तन्मातरः यथा परमात्मने कृष्णाय लोके प्रियतमं यच्छत् (तत्कृते) किम् वक्तव्यम् ।। ३६ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विस्मयांतरमाह । दह्यमानस्येति । कृष्णेन निर्भुक्तोऽत एव सपद्याहतः पाप्मा यस्य ।। ३४ ।। प्रसंगात्कैमुत्यन्यायेन भक्तिवैभवमाह । पूतनेति ।। ३५ ।। श्रद्धया आस्तिक्येन । भक्त्या प्रेम्णा । रक्ताः स्निग्धाः । तन्मातर इति वत्साहरणलीलाभिप्रायेण बहुवचनम् । तत्र हि गोगोपिकास्तदा तन्मातरोऽभवन्निति ।। ३६-४३ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत् षड्योजनगम् । अवयवशस्तत्तत्पादहस्ताद्यवयवं पृथक् पृथक् अत्राधेरकारलोपश्छान्दसः व्रजौकस उपनंदाद्यादिष्टा अत्यंता निश्शेषेण देहं पुनर्जीवनशंकया विषधरजीवानां दाहेनैवोपशांतेः ।। ३३ ।। अन्यदप्यद्भुतमाह-निर्भुक्तः पानसंबंधेन भोगविषयीकृतः ।। ३४ ।। भक्तिवैभवं भक्त्युत्कर्षम् ।। ३५ ।। जिघांसयापि किमतौदासीन्येन किमुततरां श्रद्धया किमुततमां श्रद्धया भक्त्येत्यर्थः । हरये भगवत्प्रादुर्भावमात्राय किमुत कृष्णाय परमात्मने सर्वपरमस्वरूपायावतारिणे विषस्तनमपि किमुत विषेतरवस्तु किमुततरां प्रियं किमुततमां प्रियतरं किमुतातितमां प्रियतमम् । पूतनानाम्नी राक्षस्यपि किमुत मानुष्यः किमुततरां भक्ताः किमुततमां रक्ता अनुरागयुक्ताः तत्रापि किमुततमां तन्मातरोऽतिवत्सला वत्साहरणलीलागतास्तास्वप्यतितमा अनिर्वाच्यत्वाच्छ्रीयशोदा तु

१. तत्ते-श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. । २. न्यदहन् काष्ठधिष्ठितम्-श्रीधर. गिरि. ; प्रत्ययसो जिर्देहुः काष्ठवेष्टितम्-ददहुः काष्ठवेष्टितम्-विश्व. वीर. । ३. न्यदहन् काष्ठवेष्ठितम्-वंशी भक्त. । ४. किं नु-श्रीधर. वंशी. जीव. गिरि. ; किंचित्-भक्त. ।

दूरत एव प्रणतिपात्रीकृत्यैव स्थापिता न तु लिखितेति करणसंप्रदानकर्मकर्तृपदेषु कैमुत्यमंडलीयम्। प्रियतमं पायसादि यच्छन् ददत्। किन्तु किञ्चित्। विजयध्वजस्तु–किञ्चित्प्रियतमम् इत्येव पपाठ लोकवंदितैर्ब्रह्मादिभिः। यस्याः पूतनायाः। सा पूतना। जननीगति मातृयोग्यां गतिं अपिना तस्यास्तदयोग्यत्वं सूच्यते । नहि पापकृतां रक्षसां स्वर्गो लब्धुं योग्य इति भावः। द्वयोरन्वयः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं यावच्छ्रीनन्दादयो निकटमायान्ति तावत्तैः गोकुलरक्षायां स्थितैः श्रीमदुपनन्दादिभिर्नियुक्तास्तदुचिता व्रजौकसो व्रजाश्रिताः कनिष्ठजातयो नितरामदहन् पुनर्जीवनशङ्कया निर्देहुरिति पाठः क्वचित् ॥ ३३ ॥ अगरुतोऽपि सौरभं यस्य सः धूमश्चेति चकारेण पूतनाया देहोऽपि कृष्णनिर्भुक्तत्वादगरुसौरभोऽभूत्तद्वक्त्रसम्बन्धादिसोप्युच्यते तत्र हेतुः कृष्णेन सौगन्ध्य-सौरूप्यादिनिजाशेषोत्कर्षव्यञ्जकेन भगवता निःशेषेण भुक्तः प्राणैः सह स्तनपानात् अत एव सपदि धूमघ्राणसमय एव आ सम्यक् हतो नाशितः पाप्मा धूमसेविनामपि सर्वेषां येन स चासौ स च तस्य एवं भगवदुच्छिष्टस्य महिमा दर्शितः पवित्रं वस्तु भक्त्या समर्पितं किमुतेति वक्ष्यते च पूतनेत्यादिना ॥ ३४ ॥ पूतनेति युग्मकम्। जात्या राक्षसो तत्रापि लोकबालघ्नी तत्रापि रुधिराशना हरय इति तत्तद्दोषहरणाभिप्रायेण परमात्मने मृतप्रायेष्वन्तर्बहिरिन्द्रियेषु ज्ञानक्रियाशक्तिप्रदत्वेन सामान्यतस्ता-वद्धिताय कृष्णाय विशेषतः पूतनादीनामपि तादृशहितकारित्वरूपो यो गुणैकदेशस्तदादिगुणगणप्रकटनेन सर्वचित्तानां स्वभावत एव स्वस्मिन्नाकर्षकाय तस्मै तद्विद्विषाभावेन यच्छन् सद्गतिं सतां गतिं श्रीकृष्णमेव प्राप्नोतीति ॥ ३५ ॥ किंपुनः किमुतेत्यर्थः। तत्रापि श्रद्धया विश्वासेन किमुत तत्रापि भक्त्या आदरेण किमुत प्रियतममित्युक्तेः क्रमप्राप्त्या चायमर्थो लभ्यते तत्रापि प्रीत्या स्वस्य श्रीकृष्णस्य वा प्रियं यच्छन् किमुत तत्रापि प्रीत्यतिशयेन प्रियतरं यच्छन् किमुतेत्येवार्थः तत्राप्यतिप्रीत्यतिशयेन प्रियतमं यच्छन् किमुत इति किञ्च तत्रापि रक्तास्तदेकजीवनास्तत्सुखेकसुखाश्च यथा यच्छन्ति तथा यच्छन् किन्तु किमुतेत्येवार्थः पुनरुक्तिः कैमुत्येऽपि वैशिष्ट्याय तत्रापि तन्मातरो यथा यच्छन्ति तथा किमुतेति अत एव मातरः सर्वदृष्टान्तत्वेन सर्वोपरि पृथगेव स्थापिताः भोजनविषये मातृणामेव सर्वाधिकरागात्प्रेयस्यादयोपि न दृष्टान्तिता इति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ते गोकुलरक्षायां श्रीनन्दनियुक्ता गोपाः, किं वा, पूतनादेहदर्शनादिना सन्त्रस्ताः सर्वेऽपि व्रजवासिनो निःशेषेणादहन् पुनर्जीवनशंकया ॥ ३३ ॥ अगुरुतोऽप्युत्कृष्टं सौरभं यस्य सः। कृष्णेन निजाशेषोत्कर्षाभिव्यञ्जकेन भगवता निःशेषेण भुक्तः प्राणैः सह स्तनपानादत एव सपदि धूमाघ्राण समय एव आ सम्यग्हतो नाशितः प्राप्तो धूमसेविनाम्रपि सर्वेषां येन स चासौ स च तस्य, एवं सपद्याहतप्राप्ना, तस्येत्येव लेखस्तेषां ज्ञेयोऽन्यथा निर्भुक्त इति प्रथमान्ततया असंगतिः। एतदुक्तं भवति–यथा मुमुक्षु-भिरर्पितं श्रीभगवदुपभुक्तं सद्विषय–महाविषमपि संसारमहा–रोगहरं परमामृतं स्यात्तथा तदुपभुक्तं पूतनादेहमपि परमनिर्दोषं महापावनञ्च जातमिति तद्धूमसौरभ्यं युक्तमेवेति ॥ ३४ ॥ सतीमुत्तमाम्; यद्वा, सतां मुमुक्षुभक्तानामिव गतिं मोक्षावाप्त्या जन्ममरणादिदुःखनिवृत्त्या भक्तप्राप्यसाम्यापत्तेः। तच्च स्तनं दत्त्वेति स्तनदानफलमित्यत्रोक्तम्। राक्षसी, तत्रापि लोकबालघ्नी, तत्रापि रुधिराशना हरय इति तत्तद्दोषहरणाभिप्रायेण परमात्मने, आत्मनोऽप्यधिकप्रियायेत्यर्थः। अत एव श्रद्धया विश्वासेन भक्त्या च प्रेम्णा, किं तु किमप्युत्तमं द्रव्यम्? तत्रापि कृष्णस्यात्मनो वा प्रियतमं यच्छन् सन् कृष्णानुरक्ततन्मातर इव सद्भक्तिं प्राप्स्यन्तीति किं वक्तव्यमित्यर्थः। यच्छन्निति वर्तमानया तद्देहे एव तत्समये एवेति बोध्यते। यद्वा, किं पुनर्वक्तव्यम्–श्रद्धयास्तिक्येन भक्त्यादरेण प्रियतमं यथा यच्छन् सद्गतिमाप्नोतीत्यतश्च किं वक्तव्यम्–रक्ताः स्निग्धास्तन्मातरः प्राप्स्यन्तीत्यर्थः। किं वा रक्ताः स्वभावतोऽनुरक्ता जना यथा मातरस्तथा प्राप्नुवन्तीति ॥ ३६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सद्गतिमगमत् प्राणापहारकथनेन बुद्धिदोषस्य प्रायश्चित्तं कृतम् अतः पापीयस्या अपि भगवत्सम्बन्धात् सुगतिलाभो युक्तः ॥ ३५–३९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततस्ते व्रजौकसस्तत्पूतनाकलेवरमवयवशः परशुभिश्छित्त्वा दूरे क्षिप्त्वा काष्ठैर्वेष्टितं कृत्वा ददहुः ॥ ३३ ॥ विस्मया-न्तरमाह—दह्यमानस्येति। दह्यमानस्य देहस्य सम्बन्धी यो धूमः सोऽगरुसन्निभः कृष्णागरुतुल्यगन्धः समुत्थितः यः समुत्थितः सोऽगरुसन्निभो बभूवेति शेषेण वाऽन्वयः अगरुसौरभ इति पाठे अगरोः सौरभ इव सौरभः यस्य सः इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् देहं विशिनष्टि—कृष्णेति। श्रीकृष्णस्य भगवतो निर्भक्त्या हेतुभूतया सपद्येव कार्त्स्न्येन आहतं पापं यस्य तस्य कृष्णनिर्मुक्तेति पाठान्तरं तदा कृष्णेन भगवता हेतुना निर्भुक्त्या हेतुभूतयेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ यतो हतपाप्माऽत एव मुक्तिमनर्हापि प्रापेत्याह—

पूतनेति । अपिशब्दस्य लोकबालघ्न्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः जिघांसया हन्तुमिच्छया हरये स्तनं दत्त्वापि सद्गतिं सतां प्राप्यां गतिं मुक्तिमवाप ॥ ३५ ॥ यतोऽप्रियं गरलं यच्छन्ती मुक्त्यनर्हापि केनचिद्भगवत्सम्बन्धमात्रेणैव सद्गतिमवाप किंपुनर्भगवद्भक्त्या सद्गतिं प्राप्नुवन्तीत्याह—किंपुनरिति । श्रद्धया भगवत्प्रियाचरणोपयुक्तया त्वरया भक्त्या श्रद्धया च परमात्मने श्रीकृष्णाय किञ्चित्प्रियतमं यच्छन् समर्पयन् सद्गतिं प्राप्नोतीति किंपुनर्वक्तव्यमित्यर्थः । प्रियं यच्छन् सद्गतिं प्राप्नोतीत्यत्र दृष्टान्तः रक्तास्तन्मातरो यथेति रक्ता अनुरक्ताः तस्य श्रीकृष्णस्य मातरो यशोदादयो यथा प्रियतमं यच्छन्त्यः सद्गतिं प्रापुस्तद्वत् ॥ ३६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पूतनाविष्टोर्वशी सद्गतिं स्वर्गं पूतना त्वसद्गतिं नरकं "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" इति धातुः ॥ ३५ ॥ रक्ता अनुरक्ताः ॥ ३६–३७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्णनिर्भुक्तेति तत्सौगन्ध्याधानमपि व्यञ्जितम् ॥ ३४ ॥ राक्षसी लोकबालघ्नी रुधिराशनेति क्रमशोऽधमताधिक्यम् ॥ ३५ ॥ परमात्मने ज्ञानक्रियाशक्तिप्रदत्वेन तत्सामान्यतन्तावद्धिताय कृष्णाय विशेषपूतनादीनामपि तादृशहितकारिता रूपो यो गुणैकदेशस्तदादिगुणगणप्रकटनेन सर्वचित्तानां स्वभावतः स्वस्मिन्नाकर्षकाय तस्मै तद्वद्द्वेषमात्राभावेन यथाकथञ्चित् किञ्चिदपि यच्छन् किं पुनः किमुतेत्यर्थः । तत्रापि श्रद्धया विश्वासेन किमुत तत्रापि भक्त्या आदरेण किमुत तत्रापि स्वस्य श्रीकृष्णस्य वा प्रियतरं यच्छन् प्रीत्येत्यर्थात् अत्रापि प्रीत्या प्रियं प्रीतिविशेषेण प्रियतरमिति क्रमः कार्यः अतः प्रीतिविशेषतररूपेण प्रेम्णा प्रियतममित्यद्यापि गम्यं तत्रापि रक्तास्तदेकजीवनास्तत्सुखैकसुखा यथा यच्छन्ति तथा यच्छन् किन्तु किमुतेत्येवार्थः पुनरुक्तिः किमुत्येऽपि वैशिष्ट्याय तत्रापि त मातरो तथा यच्छन्ति तथा किमुतेति ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

जिघांसयापि स्तनप्रदानेन सा जननीगतिमेव प्रापेति भगवत्कारुण्यं प्रदर्शयन्नाह—पूतना लोकबालघ्नीत्यादि सद्गतिं सती माता तस्या गतिम् ॥ ३५–३७ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

स्तनं पीत्वा दत्त्वाप सद्गतिमित्यादि । सती माता तस्या गतिम् ॥ ३५–३७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

व्रजौकसोऽन्त्यजा उपनन्दाद्यादिष्टाः निःशेषेण देहुः पुनर्जीवनशङ्कया विषधरजीवानां दाहेनैवोपशान्तेः ॥ ३३ ॥ तद्देहस्य कृष्णमुखस्पर्शोत्थं महिमानमाह—दह्यमानस्येति । कृष्णनिर्भुक्तेन कृष्णकृतस्तन्यपानेन सपद्याहतः पाप्मा यस्य तस्य ॥३४॥ प्रसङ्गात् कैमुत्यन्यायेन भक्तेर्महिमानमाह—पूतनेति । जिघांसयापि किमुतौदासीन्येन किमुततरां श्रद्धया किमुततमां श्रद्धया भक्त्येत्यर्थः । हरये भगवत्प्रादुर्भावमात्राय किमुत कृष्णाय परमात्मने सर्वपरमस्वरूपावतारिणे विषस्तनमपि किमुत विषेतरद्वस्तु किमुततरां प्रियं किमुततमां प्रियतरं किमुतातितमां प्रियतमं पूतनानाम्ना प्रसिद्धा राक्षस्यपि किंमुत मानुष्यः किमुततरां भक्ताः किमुततमां रक्ताः अनुरागयुक्ताः तत्रापि किमुततमां तन्मातरोऽतिवत्सलाः वत्साहरणलीलागतास्तास्वप्यतितमामनिर्वाच्यत्वात् श्रीयशोदा तु दूरत एव प्रणतिपात्री कृत्यैव स्थापिता नतूल्लिखितेतिकरणसम्प्रदानकर्मकर्तृपदेषु कैमुत्यमण्डली ॥ ३५–३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

प्रथमं श्रीकृष्णसंस्पर्शादेव सपद्याहतः पाप्मा यस्य पुनः गोपैर्भगवदीयैर्दह्यमानस्य अगरुसौरभवत् सौरभो यस्य सः उत्थितः सन् कृष्णेन निर्भुक्तोऽभूत् ॥ ३४ ॥ अतः सोऽपि कृतार्थोऽभूदित्याह—पूतनेति । सद्गतिं मातृगतिम् ॥ ३५ ॥ यदा पूतना जिघांसया दुर्जरवीर्यमुल्बणं स्तनं देहधूमसौरभं च श्रीकृष्णाय दत्वा मातृगतिमाप तदा रक्ताः भक्ता भागवताः श्रद्धया भक्त्या च किञ्चिदपि प्रियतमं पत्रपुष्पादिकं कृष्णाय परमात्मने यच्छन् तन्मातरः यशोदादेवकीरोहिण्याद्याः यथा तथा गतिं प्राप्नुवन्तीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३६–३९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तस्याः कलेवरं व्रजौकसोऽन्त्यजा उपनन्दादिभिरादिष्टानिर्देहुः पुनः कथञ्चिदियं जीवेदिति शङ्कया निःशेषेण दग्धं चक्रुः एवं यावच्छ्रीनन्दादयो निकटमायान्ति तावत्ते गोकुलरक्षायां स्थितैः श्रीमदुपनन्दादिभिर्नियुक्तास्तदुचिता व्रजौकसो व्रजमाश्रिताः कनिष्ठजातयो नितरामदहन् ॥ ३३ ॥ विस्मयान्तरमाह दह्यमानस्येति कृष्णेन यन्निर्भुक्तं स्तन्यपानं तेन सपद्याहतः प्रणष्टः पाप्मा यस्येति तन्मुखस्पर्शस्य महिमा दर्शितः ॥ ३४ ॥ प्रसङ्गात् कैमुत्येन भक्तेर्महिमानं कथयन् हतारिगतिप्रदत्वं कृष्णस्य गुणमाह

पूतनेति सतां विदुषां गतिं लिङ्गदेहछेदरूपां मुक्तिमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ श्रद्धालुर्भक्तः प्रियतमं स्वातिप्रियं वस्तु यच्छन् सद्गतिमेवापेति किं वक्तव्यं किन्तु तद्वशीकारमेव प्राप्नुयादिति वक्तव्यमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तो रक्तास्तन्मातर इति बहुत्वं वत्सहरण-चरिताभिप्रायेण ॥ ३६ ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

पूतनेति। अत्र पूतनाया जिघांसया स्तनदानेन सद्गतिरुक्ता। तदयुक्तं। तं तथा यथोपासते तदेव भवति। ये यथा मां पप्रद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहमिति श्रुतिविरोधापातात्। अत उच्यते। राक्षसी ॥ पूतना। पूतिं दुर्गंधं नयति प्रवर्तयतीति सा तथा॥ जिघांसया। वधेच्छया। निमित्तेन ॥ रुधिराशना। रुध्या निरोधे नरः अग्निवीजतया दाहो यस्मिंस्तत्तमः अश्नाति प्राप्नोतीति सा तथा। अभूदिति शेषः। अशु प्राप्ताविति धातोः। या ॥ आलोकबालघ्नी। आलोकेन अवलोकनेन बालान् विषयाभिमुखत्वेन बालिशान् हंति अनर्थं प्रापयती सा तथा॥ पूतना। पूतः तपसा पवित्रः विश्वामित्रादिना पुरुषो यस्याः सा। पूतान्नयति स्ववशमिति वा। नृशब्दात् स्त्रियां ङीपोऽपेक्षितत्वेऽपि टाप्सुनानेति सूत्रोक्तदिशा ध्येयः। तादृगुर्वश्यपीत्यर्थः। हरये स्तनं दत्वा॥ सद्गतिं। अप्सरस्स्वरूपां गतिं। आपेति न कोऽपि विरोधः॥ ३६॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ऋषिस्त्रिकालदर्शी कश्चित्सञ्जातः कश्चिद्योगेशो वा समासनः स्वस्वरूपमप्रकटयन्निति सङ्कोचतः सञ्जातो बत हर्षे नूनं निश्चयः। तद्विनिगमकमाह॥ यथेति। आनकदुन्दुभिर्यथाऽऽह स एव तादृशोत्पातो दृष्टो हीति॥ ३३॥ व्रजौकसो दूरे तत्कलेवरं क्षिप्त्वा तत्रैवावयवशः परशुभिश्छित्वा काष्ठवेष्टितं देहुः॥ ३४॥ अगुरोः शिंशुपायाः। पिच्छला गुरुशिंशुपेत्यमरः। सौरभमिव सौरभं यस्य तत्कृष्णस्य निर्भुक्तं स्तनपानरूपं भोजनं। भावे क्तः। तेन सपदि झटित्याहतः पाप्मा पापं यस्य तस्य देहस्य धूम उत्थितस्तदङ्गसङ्गमाहात्म्येनेयान्गन्ध उद्गत इति भावः। पुमान्पाप्मा पापमित्यमरः॥ ३५॥ पूतना राक्षसी लोकबालघ्नी जिघां-सया हरये स्तनं दत्वाऽपि सद्गतिमापेति बाह्यार्थविवक्षया। कैमुत्यमुत्तरत्रत्यम्। तथा याऽऽलोकबालघ्नी पूतना तदन्तर्गतोर्वशी हरये स्तनं दत्वाऽपिना सत्सहवासेऽपि सद्गतिमाप किमुतेति कैमुत्यं च ज्ञेयम्। सद्गतिमवसादनसाधननरकगतिम्। इतरत्र समीचीनां गतिमित्यर्थः॥ ३६॥

श्रीसुबोधिनी

ततः सर्व एव व्यवहारसिद्ध्यर्थं तस्याः **कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा** छित्त्वावयवशो **दूरे क्षिप्त्वा** राशीकृत्य गन्धादिव्या-वृत्त्यर्थं **काष्ठवेष्टितं** कृत्वा **निर्दहन्** (निरदहन्), जले क्षिप्ते राक्षसानां गतिर्दुर्ज्ञेयेति पुनर्जीवेत्, अदाहे वा खण्डशो नयेयुः पश्चाद् योजयेयुः, अतो दाह एवोचित इति तेषां बुद्धिस्तस्या मुक्तिज्ञापनाय भगवता तथा सम्पादितं, भस्मान्त एव मुक्तिरिति श्रुत्यभिप्रायः॥ ३३॥ तस्या मुक्तिलक्षणमाह **दह्यमानस्य देहस्य** सम्बन्धी **धूमः**, काष्ठभ्रमव्यावृत्त्यर्थं तथोक्तं, चकारादङ्गारा अपि सोज्ज्वला देहोपि घृतवज् ज्वलतीति ज्ञातव्यं, अगरुजनितधूमवत् सौरभ्यं यस्य **सोगरुसौरभः सर्वजनीनार्थमुत्थित** ऊर्ध्वंगतः, ऊर्ध्वगमनमप्युत्तमगतिज्ञापकं, ननु दुष्टाया देहस्य कथं तथात्वमित्याशङ्क्य हेतुमाह **कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मन** इति, यदैव **कृष्णेन नितरां भुक्तं** तस्याः स्तन्यं प्राणाश्च **कृष्णभुक्त** एव **सपदि** तस्मिन् कृष्णभुक्तक्षण इत्यर्थः, **सपदी**त्यव्ययं, कृष्णभुक्तस्य **सपद्य**प्यवहितः क्षणस्तस्मिन्नेव**ासमन्ताद् हतं** नष्टं **पाप्म** यस्य देहस्य, आहतपाप्मा देहः॥ ३४॥ ॥ ३५ ४०॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कलेवरमित्यत्र निर्दहन्नितिपाठेडभावश्छान्दसः, श्रीधरीये **न्यदहन्नि**तिपाठः॥ ३३॥ "पूतना लोकबालघ्नी"त्यादिषण्णां श्लोकानामव्याख्याने हेतुमाहु**रत्रे**त्यादि, **विगीता** इति क्षेपकाः, तेष्वेव श्लोकेषु **तन्मातर** इति पदस्यार्थमाहु**स्तन्मातर** इत्यादि, **व्याख्यातार** इति श्रीधरादयः, उपेक्षाबीजं तु **तन्मातृ**पदस्य वसुदेवस्त्रीपरत्वेन व्याख्याने बीजाभावः, अत्र तत्प्रसङ्गस्याभावादग्रिम-श्लोके 'किमु गावो नु मातर' इति गोसमभिव्याहारेण वसुदेवस्त्रीणां ग्रहीतुमशक्यत्वं चेत्यादिबोध्यं, **भगवदनुभावस्यान्तःप्रवेश** इति **भगवतो योनुभावः** पूतनायां स्वसम्बन्धेन सुगन्ध**प्रवेशनरूपस्तस्य** व्रजस्थानामन्त**ःप्रवेश**श्चोक्त इत्यर्थः, तस्य **प्रयोजनमाहुर्येने**-त्यादि, **अन्तःस्थित** इति वासनारूपः, नन्व**नुभावद्वारेवङ्करणस्य** किं **प्रयोजनमत** आहु**स्तामस** इत्यादि, तथा च सजातीयस्य सजातीयनाशकत्वं तु गन्धतैलादौ दृष्टमतोत्र तामस्यामविद्यारूपायां पूतनायां स्वगन्धं सङ्क्रामयित्वा तां **'गन्धमत्रावशेषितां'** कृत्वा तया गन्धमात्रावशेषित आन्तरस्तामस आविद्यकः **प्रपञ्चो** नाशित इति नाशनसौकर्यमेव प्रयोजनमित्यर्थः॥ ३६॥

(३) श्रीमद्वल्लमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कलेवरमित्यत्र गन्धादीति मृतदेहस्य ज्वालने दौर्गन्ध्यं स्यात्, तद्व्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः, तेषां **बुद्धिमनुसृत्यैवमुक्तम्**॥ ३३॥ **दह्यमानस्येत्यत्र सोज्ज्वला** इति उज्ज्वलवर्णसहिता इत्यर्थः, **सर्वजनीनार्थ**मिति सर्वजनप्रसिद्धगन्धार्थमित्यर्थः॥ ३४॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

ततः सर्व एव व्यवहारसिद्ध्यर्थः—इसके पश्चात् सब ग्वालों ने व्यवहार की सिद्धि के लिये, उस पूतना के शरीर को कुल्हाड़ां से काट के अवयवों को दूर फेंक कर ढेर किया। उसकी बदबू न आवे इसलिये उस ढेर को काष्ठ पेष्टित कर जला दिया। जल में इसलिये नहीं फेंका कि राक्षसों की दुष्टता समझ में नहीं आती है, कदाचित् जल में फेंकने पर, वह फिर जीवित हो जाय, यह ठीक नहीं इसलिये जलाना ही अच्छा समझा। जलावे भी नहीं और पानी में भी न डालें, यों ही खंड खंड कर भूमि पर छोड़ दिये जाँय यों करने से कदाचित् राक्षस उन भागों को लेकर जोड़ दें तब वह फिर जीवित हो जावे, इस प्रकार सब विचार कर उसको जलाना ही उचित समझा। उनकी ऐसी बुद्धि भगवान् ने इसलिये की, कि इसके जलाने से सुगन्धि निकलेगी, तो ये समझेंगे कि इसकी मुक्ति हो गई और श्रुति भी कहती है कि, इस शरीर को भस्म होने के बाद मुक्ति होती है ॥ ३३ ॥

जलते समय जो धुम निकला, वह काष्ठधूम नहीं था, यह सूचित करने के लिये मूल श्लोक में **'दह्यमानस्य देहस्य धूमः'** पद दिये हैं जिसका अर्थ है कि जलती देह का धूम लकड़ियों का नहीं है। श्लोक में दिये 'च' अव्यय का आशय बताते हैं कि 'अंगार' भी उजले थे और देह भी घृत के समान जलती थी। अगर के जलने के धूम जैसी, उसके देह के जलने की धूम की सुगन्धि, धुएँ के साथ ऊपर जाने लगी। धुएँ का ऊपर जाना, सारी जनता को बताता है कि इसकी ऊर्ध्व गति हुई है। शंका होती है कि इस दुष्टा की उच्च गति क्यों हुई ? इसके मिटाने के लिये कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने स्तन्य पान कर, इसके सब पाप क्षणमात्र में नाशकर दिये थे, जिससे यह अब दुष्टा पापिनी नहीं रही, इसलिये इसकी ऊर्ध्व गति हुई, जिसका प्रमाण है कि उसकी पवित्र हुई देह से, अगर जैसी सुगन्धि निकल कर ऊंची जा रही थी ॥ ३४ ॥

आचार्यचरण पूतना लोकबालघ्नी ३५ श्लोक से तासामविरतं कृष्णे श्लोक ४० पर्यन्त के छ श्लोकों की कथा को कल्पान्तरीय मानते हैं इसलिये इन श्लोकों पर विवेचन करते नहीं है।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ततस्ते नन्दादयो व्रजौकसस्तत्पूतनाकलेवरम् अवयवशः परशुभिश्छित्त्वा दुर्गन्धभयात् दूरे क्षिप्त्वा काष्ठधिष्ठितं काष्ठाधिष्ठितं काष्ठैर्वेष्टितं च कृत्वा न्यदहन्नित्यन्वयः ॥ ३३ ॥ विस्मयान्तरमाह—दह्यमानस्येति। दह्यमानस्य देहस्य सम्बन्धी अगुरुसौरभवत् सौरभं यस्य तथाभूतो धूम उत्थितः। तत्र हेतुमाह—कृष्णेति। कृष्णेन निर्भुक्तः स्तनः प्राणाश्च यस्य स कृष्णनिर्भुक्तः, अतः सपदि भोगसमय एव आसमन्तात् आहतः पाप्मा यस्य तस्य देहस्येति। भगवत्सम्बन्धादेव दुर्गन्धहेतुशवसम्बन्ध्यपि धूमः सुगन्धिर्जातः ॥ ३४ ॥ अत्र यद्यपि 'दह्यमानस्य देहस्य' इत्यस्य श्लोकस्य 'कटधूमस्य' इत्यनेनासङ्गतेः स्पष्टत्वात्तन्मध्ये षट् श्लोकाः प्रक्षिप्ता इत्याहुः श्रीमदाचार्यास्तथापि, सर्वपुस्तकेषु दर्शनात्तेऽपि व्याख्यायन्ते। प्रसङ्गात् कैमुत्यन्यायेन भक्तेर्महिमानमाह—पूतनेति षड्भिः। लोकबालघ्नी क्रूरस्वभावा पूतनाऽपि कृष्णाय स्तनं दत्त्वा यदि सद्गतिमाप, तदा सुशीलो दयालुः सद्गतिमाप्नुयात् अत्र किं पुनर्वक्तव्यमित्यन्वयः। स्तनं दत्त्वेत्यस्य विषं दत्त्वेत्यर्थः, पूर्वं दुर्जरवीर्यत्वोक्तेः। 'अहो स्वकीयं स्तनकालकूटम्' इति तृतीये उद्धवोक्तेश्च। यदि विषं दत्त्वाऽपि सद्गतिमाप, तदा प्रियतमं नवनीतादि दत्त्वा सद्गतिमाप्नुयादत्र किं पुनर्वक्तव्यम् ?। राक्षसी जातितो दुष्टाऽपि यदि सद्गतिमाप, तदा उत्तमो ब्राह्मणादिस्तामाप्नुयादिति किं वक्तव्यम् ?। रुधिरमशनं यस्याः सा आहारादिव्यवहारतोऽपि दुष्टा यदि सद्गतिमाप, तदा व्रतादिसदाचारनिष्ठस्तामाप्नुयादत्र किमसम्भावितम् ?। जिघांसया तद्धननेच्छया दत्त्वाऽपि यदि सद्गतिमवाप, तदा श्रद्धया आस्तिक्येन भक्त्या प्रेम्णा च यच्छंस्तामाप्नुयादत्र किं वक्तव्यम् ?। प्रेमवत्त्वे दृष्टान्तमाह—अनुरक्ताः प्रीत्यतिशययुक्तास्तस्य कृष्णस्य मातरो यथा प्रियतमं वस्तु तस्मै प्रयच्छन्ति स्म तथेति। एवं दुष्टेभ्योऽपि सद्गतिप्रदाने हेतुं सूचयन्नाह—हरय इति। दुःखहरणशीलत्वादित्याशयः। तत्र हेतुमाह—परमात्मन इति। परमात्मानुग्रहं विना दुष्टानामुद्धारासम्भवात् इत्याशयः ॥ ३५-३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कलेवरमिति। यावन्नंदादयो निकटमायान्ति तावदेव हीनजातयः तादृशकर्मणि प्रसिद्धा उपनन्दादिभिरादिष्टाः व्रजौकसस्तत्पूतनाकलेवरम् अवयवशः परशुभिश्छित्त्वा दुर्गन्धभयात् दूरे क्षिप्त्वा काष्ठाधिष्ठितं काष्ठैर्वेष्टितं च कृत्वा न्यदहन्। पुनर्विषसंचारभयान्निःशेषेणादहन्। ददुहुरिति पाठे एत्वाभ्यासलोपाभाव आर्षः ॥ ३३ ॥ दह्यमानस्येति ॥ कृष्णेन निर्भुक्तः स्तनः प्राणाश्च यस्य स कृष्णनिर्भुक्तः अतः सपदि भोगसमय एव आसमन्तात् हतः पाप्मा यस्य तस्य दह्यमानस्य देहस्य संबन्धी अगरुः इव सौरभं यस्य तथाभूतो धूम उत्थितः। भगवत्संबंधादेव शवधूमः सुगंधिर्जातः ॥ ३४ ॥ पूतनेत्यादिषट्श्लोकीं केचित् प्रक्षिप्तामाहुः। लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना पूतना जिघांसया अपि हरये स्तनं दत्त्वा सद्गतिम् आप ॥ ३५ ॥ किमिति ॥ पुनस्तदा

श्रद्धया भक्त्या परमात्मने कृष्णाय अनुरक्ताः प्रीत्यतिशययुक्तास्तस्य कृष्णस्य मातरो यथा प्रियतमं वस्तु तस्मै प्रयच्छन्ति स्म तथा किंचित् प्रियतमं वस्तु दत्त्वा सद्गतिम् आप्नुयात्। इत्यत्र किं नु वक्तव्यम्। अत्र जिघांसया किमुतौदासीन्येन किमुततरां श्रद्धया भक्त्या चेत्यर्थः। हरये भगवत्प्रादुर्भावमात्राय किमुत कृष्णाय परमात्मने सर्वपरमस्वरूपायावतारिणे विपस्तनमपि किमुत विषेतर-द्वस्तु किमुततरां प्रियं किमुतातितमां प्रियतमं पूतनानाम्ना प्रसिद्धा राक्षस्यपि किमुत मानुषः किमुततरां भक्ताः किमुततमां रक्ताः अनुरागयुक्ताः। तत्रापि किमुततमां त मातरोऽतिवत्सलाः वत्साहरणलीलागतास्तास्त्वत्यतितमामनिर्वाच्यत्वात्। श्रीयशोदा तु दूरत एव प्रणतिं पात्रीकृत्यैव स्थापिता न तूल्लिखितेति करणसंप्रदानकर्मकर्तृपदेषु कैमुत्यमण्डलीमातर इति बहुत्वं वत्साहरणाभिप्रायमिति स्वामिपादाः। एतेन द्वादशाद्यध्यायत्रयी न स्वामिसम्मतेति परास्तम् ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ते नंदादयो गोपाः परशुभिः कुठारैः तद्वपुः अवयवशः अवयवैः दूरे क्षिप्त्वा काष्ठवेष्टितं काष्ठारोपितं न्यदहन् निर्देहुः ॥३३॥ आश्चर्योत्तरमाह दह्यमानस्येति कृष्णेन निर्भुक्तः पीतदुग्धः अत एव सपदि आहतो नष्टः पाप्मा पापं यस्य ॥३४-३५॥ श्रद्धया विश्वासपूर्वकत्वरया भक्त्या स्नेहेन नरः प्रियतमं वस्तु तस्मै यच्छन् सन् सद्गतिं प्राप्नुयात् तत्र किं पुनर्वाच्यं रक्ताः स्नेहयुक्ताः तस्य गोपरूपैर्वत्सरूपैर्वत्साहरणे वर्त्तमानस्य कृष्णस्य मातरः गावो गोप्यश्च ताः यथावत्सद्गतिं प्राप्नुयुस्तत्र किंनु का शंका ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

वसुदेवोक्तं यथार्थमेवाभूदिति विस्मयमानो नन्दो यदाह तदाह ॥ नूनमिति ॥ आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः, समागतः सन्, यद्यमुत्पातं आह, सः एव, उत्पातः दृष्ट अस्माभिः साक्षाद्वीक्षितः। हि अतः, स आनकदुन्दुभिः, बतेति विस्मये। पूर्वजन्मनीति शेषः। ऋषिः कश्चिन्महान्मुनिः, वा अथवा, योगेशः सन्, अधुना एवंरूपेण, समागतः संजातः, नूनम्। ऋषित्वमुत्पत्तिसिद्धा-तीन्द्रियार्थदर्शित्वं, योगित्वं तपःप्रभावकृतमतीन्द्रियार्थदर्शित्वमिति विवेक ॥ ३३ ॥ कलेवरमिति ॥ ततः, ते ये नन्देन पूतना-देहदाहाय प्रेषितास्ते इत्यर्थः। व्रजौकसः, तत्पूतनासंबन्धि, कलेवरं, अवयवशः, परशुभिः कुठारैः, छित्त्वा, दूरे क्षिप्त्वा, काष्ठवेष्टितं कृत्वा, न्यदहन् ॥ ३४ ॥ तदानीमपि जातं विस्मयान्तरमाह ॥ दह्यमानस्येति ॥ कृष्णेन निर्भुक्तः स्पृष्टः अत एव सपदि तत्क्षणमेव आ समन्तात् हतः पाप्मा यस्य तस्य, दह्यमानस्य देहस्य संबन्धी, यः धूमः, उत्थितः, सः, अगुरोः सौरभ इति सौरभः सुगन्धो यस्य तथाभूतः, उत्थितः ॥ ३५ ॥ पूतनेति ॥ लोकबालघ्नी, रुधिराशना, राक्षसी, पूतना, जिघांसया हन्तुमिच्छयाऽपि, हरये स्तनं, दत्त्वा, सद्गतिं सत्प्राप्यां मुक्तिमित्यर्थः। आप प्राप ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दह्यमानस्येति : १०. ६. ३४.

अस्या भूर्यनिवार्यकिल्बिषपुषो वर्ष्मांशसंशीलनात् क्लिष्टोऽहं बहुकालमासमधुना तत्क्लेशतो मोचितः।
श्रीकान्तेन कृपाब्धिनेति जनितानन्देन मन्ये निजो भूभागेन शरीरगेण सुरभिस्तस्या गुणो व्यञ्जितः ॥ ४९ ॥
यः साक्षादभिमर्शितो भगवता हस्तेन यत्र स्थितं हृत्वा स्तन्यमिषादशेषकलुषं योऽकारि निष्कल्मषः।
तद्देहस्य सुगन्धिधूमजनने तत्सङ्गिकाष्ठस्य वा का शङ्का किमु चित्रमत्र किमु वा तच्छृण्वतां विस्मयः ॥ ५० ॥
प्राप्तः सत्पदसङ्गोऽसतोऽपि धन्यान् करोति किमु सुजनात्। यत्पूतनाऽऽप रूपं परमात्मन एव पूतपदयोगात् ॥ ५१ ॥

पूतना लोकबालघ्नीति : १०. ६. ३५.

प्राक् कृत्यमालोच्य जना वदन्त्विदं सा पूतनाऽनाचरणप्रगल्भा।
मन्येऽहमीशेन यदुद्धृता स्वयं सा पूतनानाचरणप्रगल्भा ॥ ५२ ॥

आलोच्य पूतनां यावद् दुर्मत्यादिम-भूमिकाम्। श्रीशेनापि तदुद्धारात् कृपासीमा प्रदर्शिता ॥ ५३ ॥

श्रीशकल्पतरु० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

कृष्णप्रिया

पुनः उन ग्वालों ने पूतना के शरीर को कुल्हाड़ों से काट के सब अवयव दूर दूर फेंक कर ढेर बनाकर उनको लकड़ियों से आच्छादित कर जला दिया ॥३३॥ भगवान् श्रीकृष्ण के अति उपभोग करने से, तुरन्त पाप नष्ट होने वाली पूतना की जलती देह से अगर के समान निकला हुआ धूम ऊपर जाने लगा। ॥ ३४ ॥ लोगों के बालकों को मारने वाली और रुधिर पीने वाली पूतना, मारने की इच्छा से भी भगवान् को दूध पिलाने से मुक्त हो गई ॥ ३५ ॥ भला तब श्रद्धा तथा भक्ति से, श्रीकृष्ण को प्रिय वस्तु अर्पण करने वाली स्नेहमयी माताओं को मोक्ष प्राप्त हो, तो क्या आश्चर्य है ॥ ३६ ॥

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः । अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥ ३७ ॥
यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्[1] । कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः ॥ ३८ ॥
पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् । भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः[2] ॥ ३९ ॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् । न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—लोकवन्दितैः वन्द्याभ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां पद्भ्यां यस्याः अङ्गं समाक्रम्य भगवान् स्तनम् अपिबत् सा यातुधानी अपि जननी गतिं स्वर्गम् अवाप (तर्हि) कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु मातरः किमु नु गावः ॥ ३७-३८ ॥ कैवल्याद्यखिलार्थदः देवकीपुत्रः भगवान् यासां पुत्रस्नेहस्नुतानि पयांसि अलम् अपिबत् कृष्णे अविरतं सुतेक्षणं कुर्वतीनां तासां अज्ञानसंभवः संसारः हे राजन् पुनः न कल्प्यते ॥ ३९-४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कृष्णेन भुक्तं पीतं स्तनक्षीरं यासां तास्तथा स्तनपदेन गवादिपयोनिवृत्तिः । भगवतो निष्कारणकृपादत्तं पूतनासौभाग्यं पश्यतेत्याह—पद्भ्यामिति द्वाभ्याम् । भक्तहृदिस्थाभ्यामिति पूतना न भक्ता नाप्यभक्ता किं तु वैरिणीति । ब्रह्मरुद्रादिभिरपि वंद्याभ्यामिति । पूतनया तु पादौ न वंदितौ नाप्यवंदितौ किं तु मरणसमये स्वहृदयान्निष्कासयितुमशक्नुवत्या स्वपाणिभ्यां यथाबलं ताडिताविवेति भावः । स्वर्गं वैकुंठं "ब्रह्मादयो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकांक्षिणः" इतिवत् 'पूतनापि सकुला त्वामेव देवापित' इति ब्रह्मोक्तेश्च । तदपि जनन्याः यशोदायाः प्रकाशभेदेन गतिर्यत्र तमिति गोलोकमेव न तु जननीसंबंधिनीं गतिमिति । 'रक्तास्तन्मातरो यथा' इति पूर्वत्र 'किमु गावो नु मातरः' इत्युत्तरत्र चोक्तेस्तन्मातृणामन्यासामपि तत आधिक्यप्रतिपादनात् । 'लेभे गतिं धात्र्युचिताम्' इत्युद्धवोक्तेश्च जननीपदेनात्र धात्र्येव ग्राह्येति ॥ ३७-३८ ॥ पुनर्द्वाभ्याम्—यासां गवां गोपीनाम् । देवकीयशोदा वसुदेवभार्या वा द्वयोर्देवकीनामवत्त्वात् । चतुर्वर्गांतत्वेपि कैवल्यस्य प्रेमपारवश्यात्कैवल्यादीत्युक्तं महामुनिना । यद्वा—कैवल्यमादि प्रधानं यत्र ते कैवल्यादयस्ते च तेऽखिलास्तत्प्रदः । कैवल्यस्यादिकारणं धर्मस्ततोऽखिला अर्थकाममोक्षास्तत्प्रदः ॥ ३९ ॥ अविरतं सततम् । 'संतताविरतानिशम्' इत्यमरः । सुतेक्षणं पुत्रदृष्टिम् । निरंतरं सुतदृष्ट्या भगवत्स्मृतेरज्ञानस्य नष्टत्वात्तत्कृतसंसारः कथं भवेदिति भावः । देवक्याः सकाशादपि तासामाधिक्यं ध्वनितं देवकीपुत्रोपि तासां स्तनमपिबन्न तु तस्या इति न च तासां संसारध्वंसरूपं फलं दातव्यमिति वाच्यं संसारो हि देहगेहपतिपुत्राद्यासक्तिलक्षणस्तत्रासां देहसंबंधि स्तन्यामृतं कृष्णः पिबति । गेहे कृष्णः खेलति पतिः कृष्णस्य पिता पुत्रः स्वयं कृष्ण एवेति तदाद्यासक्तेः संसारत्वं न घटतेति । अज्ञानसंभव इति ज्ञानिनां ब्रह्मानुभव एव संसारित्वाभावकरः । ब्रह्मानुभवतोऽपि ब्रह्मतया भगवदनुभवः श्रेष्ठ इति ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, यद्येवं दुष्टा तर्हि कथं सद्गतिमाप ? उच्यते तन्महिमदृष्ट्या नाश्चर्यं तदपीति वदंस्तस्यास्तामेव सद्गतिं पुनराश्चर्यविशेषात परमविशेषतो दर्शयति—पद्भ्यामिति युग्मकेन । भक्तानामेव नान्येषां हृद्येव स्थिताभ्यां ननु साक्षात् कर्तुं शक्याभ्यां ये सर्वैरपि लोकैर्वन्दिता श्रीब्रह्मशिवादयोऽपि महाभक्तास्तैरप्युद्देशमात्रेण वन्दितुं योग्याभ्यां नतु साक्षात्सेव्याभ्यां सम्यगाक्रम्य न तु यथा कथञ्चित् स्पृष्ट्वा यस्याः स्तनमप्यपिबत् तथाभूता सती सद्गतिमापेति किमाश्चर्यमित्यर्थः । तत्र च मातृवेषभावानुकरणकारणात्तत्करुणैव कारणमिति भावः तदुक्तं "सद्वेषादिव पूतना" इति "कंवा दयालु शरणं व्रजेम" इति च "ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्गासम्मेभिकाङ्क्षिणः" इतिवत् स्वर्गं परमसुखानुभवस्थानं "य एतत्पूतनामोक्षम्" इति वक्ष्यमाणरीत्या प्रपञ्चातीतं "पूतनापि सकुलात्वामेव देवापिता" इति रीत्या "गोकुलं वनवैकुण्ठम्" इति श्रीकृष्णोपनिषद्रीत्या "गोकुलाख्यं महत्पदम्" इति श्रीब्रह्मसंहितारीत्या च श्रीगोकुलस्यैव प्रापञ्चिकलोकानभिव्यक्तत्वं "चिन्तामणिप्रकरसद्म" इत्यादिब्रह्मसंहितावर्णितप्रकारविशेषं गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" इति तत्र प्रसिद्ध्या श्रीगोलोकाख्यं श्रीकृष्णलोकमेव अत एव जननीगतिं तत्रापि जनन्या श्रीयशोदाया इव गतिं निजलालनाद्यधिकृतधात्रीवर्गप्रवेशमित्यर्थः । निपेत्स्यते च जननीनामन्यगतिरिति भावः । तदुक्तं "त्वामेव देवापिता" इति 'लेभे गतिं धात्र्युचिताम्' इति च । ननु, तस्या दृष्टान्तत्वेन मातृणामपि तथैव गतिरभिप्रेयते नेत्याह— कृष्णेति । तस्मादेव गावो मातरश्च जननीगतिमवापुरिति किमु वक्तव्यं गावस्तास्तदीया गाव एव मातरश्च मातर एव नित्यमित्यर्थः । अप्रस्तुतानां गवां प्रयोगो मातृषु कैमुत्याय अनुमातर इति वा छेदः । यद्वा किमु गावः यतस्ता अनुमातरः मातृसदृश्य एव अतः श्रीयशोदा तु सर्वमूर्द्धमणिवदेव दूरे रक्षितेति ज्ञेयम् अत्र क्षीरपदाधिक्यात् पूतनायां तदनुकरणमित्येव च सिद्धम् ॥ ३७-३८ ॥ तस्याः स्वर्गं विशेष्टुं तद्विशेषणं जननीगतिं विशिनष्टि—पयांसीति, युग्मकेन । अयमर्थः

---

१. जगतीपतिम्—वीर. भक्त. । २. खिलप्रदः—श्रीधर. वंशी. विश्व. गिरि. भक्त. ; खिलार्थदः—वीर. जीव. ।

कैवल्याद्यखिलार्थदः कामिनां धर्मादिमात्रार्थदः नतु स्वस्वरूपव्यञ्जकः मुमुक्षूणां तु कैवल्यदो निर्विशेषब्रह्माख्यस्वस्वरूपतादात्म्यमात्रप्रापकः नतु सविशेषभगवदाख्यस्वस्वरूपोपलम्भकः तथा भगवान् भक्तानामपि भगवत्स्वरूपमात्रेण नतु ममताविशेषमयप्रेमविशेषप्रदेन पुत्रादिरूपेण तत्प्रापक इत्यर्थः। तथा श्रीदेवकीपुत्रः श्रीदेवक्या अपि जन्मनैव पुत्रः नतु पितरौ नन्वविन्देतामित्यादिना श्लाघिष्यमाणताद्दशभावमयलालनेनापीत्यर्थः। स एष यासां गवां मातॄणां च अलमर्थं पुत्रस्नेहस्नुतं अलमर्थमेवापिबत् परस्परं तद्भावस्य गाढत्वेनाधिक्येन च सर्वोत्तमत्वं दर्शितम् एतच्च "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादिवज्ज्ञेयम् अतस्तासामज्ञानसम्भवः संसारः संसारित्वं न पुनर्नतु कल्पते घटते ज्ञानादुपर्य्युपरि समारूढत्वात् संसारिकेषु "मुक्तानामपि सिद्धानाम्" इत्यादिन्यायेन शुद्धभक्तस्याप्येकस्य परमदुर्लभत्वात्तद्विधानामसम्भव इति ॥ ३९ ॥ तदेव व्यञ्जयति—अविरतं नित्यमेव श्रीकृष्णे सुतेक्षणं सुतभावं कुर्वतीनामेव सतीनां यत्र श्रीकृष्णस्तत्र नित्यमेवैताद्दशीनामेवेत्यर्थः। हे राजन्! भगवत्तत्त्वज्ञाने विराजमानेति सिद्धान्ते सावधानं करोति अतः स्वर्गस्य जननीगतिमिति विशेषणेनाप्राप्ञ्चिकत्वमेव सुतरामिति चागतम् ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्र च ताद्दश्या अपि तस्यास्ताद्दशसद्गतिप्राप्त्यातिविस्मितत्वात् पुनरपि तदेव प्रस्तुवन् मातुरिव श्रीभगवता तस्या अंकमाक्रम्य स्तनपानान्मातृवद्गतिप्राप्तिमाह—पद्भ्यामिति सार्द्धेन। भक्तानां हृदिस्थाभ्यां सदा ध्यायमानाभ्यामित्यर्थः। लोकवन्दितैः श्रीब्रह्मादिभिर्वन्द्याभ्यामुद्देशमात्रेण वन्दितुं योग्याभ्याम्, तेषां तद्ध्यानेऽप्यशक्तेः। सम्यगाक्रम्यांके ग्रहणाज्जनन्याः श्रीदेवक्या वा, वत्सवत्सपरूपधारणे स्तन्यपानेन मातृताप्राप्तानामिव गतिं प्राप्यम्। तथा चोक्तमुद्धवेन (भा० ३।२।२३) 'लेभे गतिं धात्र्युचिताम्' इति। ननु, तर्हि किं वैकुण्ठलोकादिकम्? नेत्याह—स्वर्गम्; तथा च वक्ष्यते—'यत्र तत् पूतनामोक्षम्' इति। यद्वा, जनन्या गतिम्; तामेवाभिव्यञ्जयति—स्वर्गमिति श्रीविष्णुलोकविशेषम्; तथा चाग्रे श्रीब्रह्मस्तुतौ (भा० १ ।१४।३५)—'सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता' इति त्वां त्वत्सम्बन्धिसुखमित्यर्थः। एवमन्यदैत्येभ्यस्तस्या गतौ विशेष उक्तः। अतश्च कृष्णेन भुक्तानि स्तनक्षीराणि यासां ता गावः, नु समुच्चये, मातरश्च स्वर्गमवाप्स्यन्तीति किं वक्तव्यमित्यर्थः। पुनस्तथैवोक्तिः सर्व्वसन्देहनिरसनार्थम्। एवं ताद्दशानेकदोषवत्याजिघांसयैव स्तनमात्रं दत्तवत्यास्ताद्दशगत्यवाप्तौ मरणसमये ताद्दशश्रीमत्पादाब्जस्पर्शसौभाग्यमपि कारणान्तरं ज्ञेयम्; वस्तुतस्तु तस्या मरणं महादुःखदर्शनादिना परदुःखकातरस्य श्रीभगवतः कारुण्यभरोदयादेव सद्गतिप्राप्तिः। तथा चोक्तमुद्धवेन तत्तत्त्वज्ञेन (भा० ३।२।२३)—'ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम' इति। तत्र च जननीवद्गतिर्मातृवत्स्तनदानेन लालनादि वल्गुचेष्टितेन चेति तत्त्वं, सिद्धान्तस्तु लिखित एव। अथवा, यातुधान्यपि स्वर्गमवाप, अतो गावो जननीगतिमवाप्स्यन्तीति किं वक्तव्यम्? नु वितर्के। यतस्ता मातर एव; यद्वा, अनुमातर उपमातरस्तत् कुतः? कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः। अन्यत् समानम् ॥ ३७–३८ ॥ अतः कथमपि तन्मातॄणां किञ्चिदपि दुःखं नैव घटते, किन्तु सर्व्वथा परमसुखमेवेति प्रसंगादाह—पयांसीति द्वाभ्याम्। यासां पयांसि स्तन्यानि; देवकी-पुत्र इति—कः प्रजापतिर्दक्षः श्रीनन्द एव—'नन्दः प्रजापतिर्दक्षः' इति भविष्योत्तरेऽभिधानात्; कस्य पत्नी देवकी, चासौ की च देवकी यशोदा, तस्याः साक्षादेव पुत्र इति गो गोपीभ्यस्तदुत्कर्षः सूचितः। तासां न कल्पते निजस्वभावं दर्शयितुं समर्थो न भवति; तत्र हेतुः—अज्ञानेन सम्भवो यस्य स इति श्रीभगवद्भक्तिविशेषेण तासामशेषज्ञानसिद्धेः। पुनरिति वाक्यालंकारे, त्वर्थे वा पूर्व्वतो विशेषापेक्षया। किञ्च, कैवल्यं मोक्षः प्रेमा वा, तदादिकमखिलमर्थं भक्तेभ्यो ददातीति तथा सः। अलमपिबत्; पाने हेतुः—पुत्त्रस्नेहेन स्नुतानि स्वयं क्षरितानि, तत्रापि हेतुः—सुतेक्षणं मम सुतोऽयमिति दृष्टिमविरतं कुर्व्वतीनाम्। हे राजन्निति नरश्रेष्ठेन सर्व्वत्र प्रकाशमानेन वा त्वया तत्तत्त्वं बुध्यत एवेति भावः। यद्वा, राजमानः सर्व्वत्र स्फुटं वर्त्तमानोऽपि संसारोऽथवातः कथञ्चिदपि तासां मोक्षो न युज्यते, किन्तु श्रीवैकुण्ठलोक एवेत्याह—पयांसीति। सं सम्यक्सारश्चतुः पुरुषार्थश्रेष्ठो मोक्षो न कल्पते न योग्यो भवति। तत्र हेतुः—ज्ञानादपि सम्भव उदयो यस्य। परमभक्तिमतीनां तासां ज्ञानप्राप्यस्यार्थस्यायोग्यत्वात्। परमभक्तिमेव दर्शयति—अविरतमिति। अतो भगवानपि ताभ्यो मोक्षादिकं तुच्छमर्थं न ददातीत्याह—कैवल्यं मोक्ष आद्यं श्रेष्ठं येषु तानखिलानन्यूनान् श्रीवैकुण्ठलोकस्य ताद्दशस्नेहभरस्य वापेक्षयातितुच्छानर्थान् द्यत्यवखण्डयतीति तथा सः। यद्वा, ननु पूतनापि चेत् संसारध्वंसेन नित्यं सुखविशेषं प्राप्ता, ततो जननीनां कथं संसारो दृश्यते? तत्राह—तासामिति संसारो न कल्पते, न युज्यते, नास्त्येवेत्यर्थः, नित्यमुक्तत्वात्। अन्यत् समानम् ॥ ३९–४० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सुतेक्षणं सुतबुद्धिं "न पुनः कल्पते राजन्! संसारः" इति अस्मिन्नवतारे ईश्वरत्वस्य प्रकटत्वात् ईश्वरः पुत्रत्वं गत इति ज्ञातत्वान्मोक्षो युज्यते ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, मातॄणां सद्गतिप्राप्तिरसिद्धेति कथं दृष्टान्ततेत्याशंकायां तामपि कैमुत्यन्यायेन सिद्धवत्करोति– पद्भ्यामिति सार्द्धैश्चतुर्भिः। लोकैर्वन्दिता ये ब्रह्मादयस्तैरपि वन्द्याभ्यां भक्तानां हृदयकमलस्थाभ्यां पद्भ्यां भगवान् यस्याः पूतनाया अङ्गं समाक्रम्य

स्तनं विषपूर्णं स्तनमिहापिबत् ॥ ३७ ॥ सा यातुधानी पूतनापि स्वर्गं निरतिशयानन्दरूपं जगतीपतिं हरिमवाप किमुत कृष्णेन भुक्तं स्तनयोः क्षीरं यासां ता मातरः जगतीपतिमवापुरिति वक्तव्यमित्यर्थः। पौरवी भद्रा मदिरादिमात्रन्तराभिप्रायकं बहुवचनम् अनुशब्दोऽत्र यथा शब्दार्थकः यथा गावस्तद्वदित्यर्थः ॥ ३८ ॥ तासामपि मुक्तिरसिद्धेति दृष्टान्तानुपपत्तेरित्यतस्तां विशिनष्टि—यासां गवां पुत्रस्नेहेनैव स्नुतानि पयांस्यलं नितरां भगवानपिबत्, कथम्भूतः? देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मुक्तिरिति यावत् तत्प्रभृतिपुरुषार्थचतुष्टयप्रदः कैवल्यादिपुरुषार्थप्रदानाय देवकीपुत्रत्वेनावतीर्ण इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ कृष्णेऽविरतमविच्छेदं यथा तथा सुतेक्षणं सुतबुद्धिं कुर्वतीनां तासां मातॄणां हे राजन्! अज्ञानसंभवः संसारः पुनर्न कल्पते न प्रवर्त्तत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अपि स्वर्गं गर्हितं स्वर्गं नरकमित्यर्थः। "अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु" (१।४।९६) इति पाणिनिः जने ये नीचास्तैर्गम्यत इति जननीगतिः स्पष्टोऽन्योऽर्थः यद्वा जनन्या इ गतिं विचित्रगतिं योग्यतानुसृतगतिमित्यर्थः "इर्विचित्रे स्मरे पुमान्" इति यादवः। अनेनापि पूतनाया नरकगतिः उर्वश्याः स्वर्गगतिरिति सूचितम्। नु सविकल्पां गतिं योग्यतयेतिशेषः। यद्वा अनु योग्यतासदृशीं "नु पृच्छायां विकल्पे च पश्चात्सादृश्ययोरनु" इत्यमरः ॥ ३८-३९ ॥ सुतेक्षणं पुत्रदर्शनम् ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तन्महिमदृष्ट्या तु नाश्चर्यं तदपीत्याह—पद्भ्यामिति। तथाभूता सती सा सद्गतिमापेति किमाश्चर्यमित्यर्थः। तत्र च मातृवेषभावानुकरणकारणा तत्करुणैव कारणमिति भावः। तदुक्तं "सद्वेषादिव पूतना" अपीति "कं वा दयालुं शरणं व्रजेम" इति च ॥ ३७ ॥ एवं तस्याः सामान्यतः सद्गतिमुक्त्वा पुनराश्चर्यविशेषाय परमं विशेषतो दर्शयति—यात्वित्यर्द्धेन। स्वर्गं ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकांक्षिण इतिवत् परमसुखानुभवस्थानम् "य एतत् पूतनामोक्षम्" इति वक्ष्यमाणरीत्या च श्रीगोकुलस्यैव प्रापञ्चिकलोकानभिव्यक्त "चिन्तामणिप्रकरं सद्म" इत्यादि ब्रह्मसंहितावर्णितं प्रकाशविशेषं गोकुल एव निवसतीत्यादि तत्रैव प्रसिद्धं श्रीगोलोकाख्यं श्रीकृष्णलोकमेव अत एव जननीगतिं तत्रापि जनन्या अपि श्रीयशोदाया इव गतिं निजलालनाद्यधिकृतधात्रीवर्गप्रवेशमित्यर्थः। तदुक्तं त्वामेव देवापितेति लेभे गतिं धात्र्युचितामिति च ननु, तस्या दृष्टान्तत्वेन मातॄणामिति तथा गतिरभिप्रेयते नेत्याह—कृष्णेति। तस्मादेव गावो मातरश्च जननीगतिमवापेति किमु वक्तव्यं गावस्तास्तदीया मातरश्च मातर एवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ तस्याः स्वर्गं विशेषयितुं जननीगतिमपि विशिनष्टि पयांसीति द्वाभ्याम् "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादिवच्चायमर्थः। यः कैवल्याद्यखिलार्थदः कामिनां धर्मादिमात्रार्थदः न तु स्वरूपमात्रव्यञ्जकः मुमुक्षूणाञ्च कैवल्यदो निर्विशेषब्रह्माख्यस्वस्वरूपतादात्म्यमात्रप्रापकः नतु सविशेषभगवदाख्यस्वस्वरूपोपलम्भकः तथा भगवान् भक्तानामपि भगवत् स्वरूपमात्रेण नतु ममताविशेषमयप्रेमविशेषप्रदेन पुत्रादिरूपेण तत् प्रापक इत्यर्थः। तथा देवकीपुत्रः श्रीदेवक्या अपि जन्मनैव पुत्रः नतु तादृशभावमयेन लालनेना पीत्यर्थः। स एव यासां गवां मातॄणाञ्च अलमत्यर्थं पुत्रस्नेहस्नुतम् अलमत्यर्थमेवापिबत् इति परस्परं तद्भावासक्तिर्दर्शिता तस्याः सर्वोत्तमता च अतस्ता सामज्ञानसम्भवः संसारः संसारित्वं न पुनर्नतु कल्पते युज्यते ज्ञानादुपर्युपरि समारूढत्वात् सांसारिकेषु "मुक्तानामपि सिद्धानाम्" इत्यादिन्यायेन शुद्धभक्तस्याप्येकस्याप्येकस्य परमदुर्लभत्वात् तद्विधामप्यसम्भवाच्च किमुत तासां तदेव व्यञ्जयति अविरतं नित्यमेव श्रीकृष्णे सुतभावं कुर्वतीनामेव सतीनां यत्र श्रीकृष्णस्तत्र नित्यमेव तादृशीमेवेत्यर्थः ॥ ३९-४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अत आह—यातुधान्यपि या स्वर्गमवाप जननीगतिम्। सा पूतना स्वर्गं स्वः स्वर्गेषु ब्रह्मलोकपर्यन्तेषु गीयत इति स्वर्गं भगवल्लोकस्यावान्तरप्रदेशविशेषम्। कीदृशं। जननीगतिम् जननीलोकं नित्यसिद्धम्। एतेन भगवदवतारेषु या या जनन्यो ये ये वा जनकास्तासां तेषाञ्च पृथक् पृथक् लोकोऽस्तीति मन्तव्यम् ॥ ३९-४४ ॥

इति श्रीदशमे बृहत्क्रमसन्दर्भे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एतदेव दूरे विवृणोति। यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप, जननीगतिं जननीलोकमवाप, कर्मलभ्यां गतिमित्यर्थः। एतेन जनकजनन्यादीनां पृथक् पृथक् लोकोऽस्तीति मन्तव्यम् ॥ ३९-४४ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भगवतो निष्कारणककृपाप्रापितं पूतनायाः सौभाग्यं तावत् पश्येत्याह—पद्भ्यामिति द्वाभ्याम्। भक्तहृदिस्थाभ्यामिति पूतना न भक्ता नाप्यभक्ता किन्तु तस्य वैरिणीति भावः। लोकवन्दिताः ब्रह्मरुद्रादिभिरपि वन्द्याभ्यामिति पूतनया तु पादौ न वन्दितौ नाप्यवन्दितौ मरणसमये स्वह्रदयात् सकाशात् निष्कासयितुं यतमानयाप्यशक्नुवत्या स्वपाणिभ्यां यावद्बलं ताडितावेवेति भावः।

सम्यगाक्रम्य न तु यथाकथञ्चित्स्पृष्ट्वा स्वर्गं "ब्रह्मादयो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकांक्षिणः" इतिवत् पूतनापि सकुला त्वामेव देवार्पितेति ब्रह्मोक्तेर्वैकुण्ठमेव न तु नश्वरं स्वर्गं तमपि कीदृशं जनन्याः श्रीयशोदायाः प्रकाशभेदेन गतिर्यत्र तमिति श्रीगोलो मेव तस्येह स्वर्गपदेनोक्त्या सुखैश्वर्योत्तरं सालोक्यमवाप न तु प्रेमसेवोत्तरमिति बुद्ध्यते जनन्याः सम्बन्धिनीं गतिमिति तु न व्याख्येयं रक्तास्तन्मातरो यथेति पूर्वत्र "कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावोऽनुमातरः" इत्युत्तरत्र च ततः सकाशात्तन्मातॄणामप्यन्यासामप्याधिक्यप्रतिपादनात् वैरित्वेन कंसादिसाम्येपि यस्या वेषभावानुकरणकारणादेवैतावत्कृपापात्री बभूव पूतना तस्याः श्रीयशोदाया गतिं प्राप्तुं योग्यतां सा कथं धत्ताम् ? इत्यत एव "लेभे गतिं धात्र्युचिताम्" इत्युद्धवेनोक्तम् अत एवात्रापि जननाशब्देन धात्र्येव व्याख्येयेति केचित् तत्रापि धात्र्युचितेति शब्देन धात्रीसम्बन्धिनी गतिर्न लभ्यते महाराजोचिता सम्पदस्येत्युक्ते महाराजतुल्यैव सम्पत् प्रतीयते नतु महाराजसम्बन्धिनीति तस्मात्सुखैश्वर्योत्तरे गोलोके धात्री सारूप्यं पूतना प्रापेति सिद्धान्तः ॥ ३७ ॥ ननु किमु गावोऽनुमातर इति कैमुत्येन मातॄणामपि वैकुण्ठप्राप्तिरेव यद्यभिप्रेयते तर्हि वैरभाववात्सल्यभावयोस्तुल्यत्वापत्तिः सा च भगवत्यविवेचकत्वलक्षणं दोषमेव समर्पयेद्यदि च यातुधान्यपि सा वैकुण्ठमवाप किमुतानुरक्ताः परमवत्सलाः मातरो गावश्च किन्तु तास्ततोऽप्युत्तमं फलं लभन्ते इत्येत्यभिप्रेयते तर्हि तदेवाभिव्यज्यतां किन्तदित्यपेक्षायामाह—पयांसीति । अन्येभ्यः कैवल्याद्यखिलप्रदोऽपि यासां पयांसि अलम् अतिशयेन दुर्लभबुद्ध्या अपिबत् "स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा" इति ब्रह्मोक्तेश्च तेन ताभ्यः किमयं वाञ्छितं दास्यति प्रत्युत ता एवास्मै वाञ्छितं ददतीति स्ववाञ्छितपूरणयोग्यतालक्षणं फलङ्गोगोपीभ्यः कृष्णो ददावित्यर्थः आयातः ततश्च वैकुण्ठस्थितेः गोलोकस्थितेः सकाशात्तद्रूपैव स्थितिस्तासां सर्वोत्कृष्टेति सिद्धान्तो ऽवगतः देवक्याः पुत्रोऽपि तासां पयांस्यपिबत् नतु तस्या इति ततोऽपि तासामुत्कर्षो ध्वनितः न च तासां संसारध्वंसं लक्षणं फलमेव दातव्यमस्तीति वाच्यं संसारो हि देहगेहपतिपुत्राद्यासक्तिरूपस्तत्र तासां देहसम्बन्धिस्तन्यामृतं कृष्णः पिबति गेहे कृष्णः खेलति पतिः कृष्णस्य पिता पुत्रः स्वयं कृष्ण एवेति तदाद्यासक्तेः संसारत्वं न घटते इत्याह—तासामिति । सुतेक्षणं सुतभावं न तु कल्पते न घटते अज्ञानसंभव इति ज्ञानिनां ब्रह्मानुभव एव तावत् संसारित्वाभावप्रतिपादकः ब्रह्मानुभवादपि शान्तभक्तानां ब्रह्मतया भगवदनुभवः श्रेष्ठः ततोऽपि दास्यभावतां भगवतः प्रभुत्वेनानुभवो भगवद्वशीकारकत्वात् श्रेष्ठः ततोऽपि सख्यभाववतां सखित्वेन भगवद्वशीकारातिशयात् ततोऽपि वात्सल्यवतां सुतत्वेनानुभवः श्रेष्ठः इति संसाराभावेपि किमुत्यं भक्तिरसामृतसिन्धोरवगन्तव्यम् ॥ ३८–४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अविरतं निरन्तरम् ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उक्तमर्थमद्भुतत्वात् पुनराह—पद्भ्यामितियुग्मकम् । लोकवन्दितैर्ब्रह्मादिभिः तादृशाभ्यामपि पद्भ्यां यस्य भक्तिहीना या प्रत्युत शत्रुतामाचरन्त्या अङ्गं समाक्रम्य न तु स्पृष्ट्वैव भगवान् पूर्णषडैश्वर्यो नन्दबालः स्तनमपिबत् सा यातुधान्यपि स्वर्गं वैकुण्ठोर्ध्वस्थं गोलोकमवाप तत्र सुखैश्वर्यप्रधानं धात्रीपदमगादित्यर्थः । ब्रह्मादयो लोकपालाः स्वर्वासम्मेऽभिकाङ्क्षिणः इतिवत् स्वः शब्दोऽत्र तद्वाची जनन्याः श्रीयशोदायाः प्रकाशभेदेन गतिर्यत्रेति धात्रीवेषमात्रेणायमसाधारणः परितोषः कृष्णस्य महिमा यदि तादृश्याश्चैवं प्रसादस्तर्हि कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा मातरो गावश्च तद्वशीकारलक्षणं प्रसादं प्रापुरिति किम्वाच्यमित्यर्थः ॥३७–३८॥ ननु परमहंसानामेव लक्षणस्तत्प्रसादो भवेत्—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः" ॥

इति कुन्तीवाक्यात् गोपीनान्तु संसारदर्शनात् स न घटेत्तत्राह पयांसीति युग्मं शत्रुभ्योऽपि स्वमारितेभ्यः कैवल्याद्यखिलार्थदो देवकीपुत्रो यशोदात्मजो भगवान् यासां पुत्रस्नेहेन तत्परमसामुख्येन स्नुतानि पयांस्यपिबत् स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदेति ब्रह्मोक्तेस्तानि पीत्वात्यानन्दमलभतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥ तासां पूर्णायापि वाञ्छितानि यच्छन्तीनामज्ञानसम्भवस्तद्वैमुख्यहेतुकः ससारो न पुनर्नैव कल्पते घटते स्युरेवं न पुनर्वैचेत्यवधारणवाचका इत्यमरः न च पुनरप्रथमे भेदे विश्वकोषात्तासां द्वितीयः संसारो न स्यादिति व्याख्येयं नित्यतत्परिकरत्वश्रुतिस्मृतिव्याकोपात् तथैव व्यञ्जयन् विशिनष्टि अविरतमिति कृष्णो हतारेर्मोक्षप्रदे परब्रह्मणि भक्तैकवत्सलेऽविरतं सर्वदा सुतेक्षणं पुत्रबुद्धिं कुर्वतीनामिति तत्परमसांमुख्यभाजामित्यर्थः । यासां परब्रह्मसाक्षात्कारः सार्वदिकस्तासां संसारं कः शक्नुयाद्वक्तुं तथा च ये यथा मामित्यादितद्वाक्यात्तत्पुत्रभावेन सर्वदा तद्वश्यः स वर्ततेति ततश्च तद्व्यवहारश्चिद्विलास एव भक्तिभिदान्तरिते ज्ञाने विचित्रो विभाति का च भिदान्तरिते चक्षुषि रूपराशिरिव कर्बुरे इत्यवसीयते ॥ ४० ॥

श्रीपांधरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

किं पुनरिति । पूर्वश्लोके उर्वश्याः स्तनदानेन सद्गतिप्राप्त्युक्तौ किं पुनः शब्दासंगतिः । जिघांसयाऽपि स्तनदानेन सद्गतिप्राप्तौ श्रद्धया दातुरेव कैमुत्यकथनस्यौचित्यात् । अत उच्यते । जिघांसया युक्ता पूतना देहस्थितायास्तद्वारा स्तनदानेन

सद्गतिप्राप्तौ तत्संघविहीनाः पृश्न्यदितिदेवकीयशोदाख्या रक्ता भक्ता मातरो यथा सद्गतिमाप्नुयुस्तथा ।। श्रद्धया । विश्वासयुक्तया ।। भक्त्या । माहात्म्यज्ञानपूर्वकातिस्नेहेन । कृष्णाय ।। किंचित् । किमपि । प्रियतमं ।। यच्छन् । ददन् । सद्गतिं प्राप्नुयादिति किं पुनर्वक्तव्यमित्यंगीकारे नासंगतिदोषः । अयमर्थोऽग्रिमश्लोके व्यक्तो भविष्यतीति । ।। ३७ ।। पद्भ्यामिति । उर्वश्याः पूतनासंसृष्टत्वं कैमुत्यसिध्यर्थमुक्तं स्पष्टयति ।। पद्भ्यामिति द्वाभ्यां ।। अंगं पूतनाशरीरं समाक्रम्य । स्थिताया इति शेषः ।। यस्याः । उर्वश्याः । स्तनं भगवानपिबत् ।। ३८ ।। यातुधान्यपीति । सा ।। यातुधानी । यातु पूतनाख्यं रक्षः तस्मिन्धीयत इति यातुधानी पूतनाविष्टाऽप्यूर्वशीत्यर्थः । जनन्याः यशोदायाः । गतिर्यत्र तं स्वर्गमवाप । कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा अत एव । अनुमातरो हितापेक्षया मातृसमाना गावो जननीगतिमवापुरिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । ।। ३९ ।।

इति श्रीभागवते सप्तमोऽध्यायः ।। १०-७ ।। (षष्ठोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

श्रद्धाऽस्तीश्वर इति मतिर्भक्तिः प्रेमप्रवाहः । श्रद्धा सा कीदृशीत्यत आह ।। आभवत्येति । आ स्वस्वरूपानुरूप्येण भक्तिर्यस्याः सा तया किञ्चित्प्रियतमं कृष्णाय परमात्मने यच्छन् रक्ता अनुरक्तास्तन्मातरो यथा सद्गतिं गच्छन्ति तथा सद्गतिं गच्छेदिति किं वक्तव्यम् । पूर्वं पूतनेति स्त्रीप्रसक्तौ प्रसक्तौ चोत्तरस्मिन्नपि तस्या अन्तरा यच्छन्निति पुंनिर्देशो न तत्रापि पयोधरपानादित्याशयः किन्तु लोकानुकरणमित्युभयत्राप्यविशेष इति ज्ञापयितुमिति ज्ञेयम् ।। ३७ ।। भक्तानां हृदि तिष्ठत इति ताभ्याम् । सप्तम्या हृद्युभ्यामित्यलुक् । भक्तानां हृत्तस्मिन् । इना कामेन तिष्ठत इति भक्तहृदिस्थाभ्यां वा । इष्टदानात्तथेन्द्व इत्यृग्भाष्यटीकोदाहरणपूर्वकं प्राक् स्कन्धान्तरविवरणे विस्तृत्योक्तमनुसन्धेयम् । इतरप्रागुक्तद्विजीवपरतया योजनीयम् ।।३८।। यातुधान्यप्यस्वर्गं नरकमवाप । हे अव पालकान्तरशून्य मामवेति या स्तनमदात्साऽपि जननीनां या गतिस्तां स्वयोग्यतानुसारिसुगतिमवाप सा स्वर्गं तद्रूपां गतिमवाप । यः कृष्णोऽपजनन्यपजनना जननरहिता मुक्तास्ते सन्ति सेवकतयाऽस्य सोपजननी भगवानिति पूर्वत्रान्वयः । अपजनिना युक्ता च सा इ अद्भुता च सा गतिस्तामिति वा । इ विचित्रे पुमानिति यादवः । नु एवमधिकारिवैकल्यानुसारे गतिवैकल्यद्योतने । अनु स्वयोग्यतामनुसृत्येति वा । नु पृच्छायां विकल्पे च पश्चात्सादृश्ययोरन्वित्यमरः । नु प्रश्ने च विकल्पार्थे । अनु हीने सहार्थे च पश्चात्सादृश्ययोरन्विति विश्वः । हीनां गतिमिति वा । कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा इत्युभयान्वयि । गावो मातरश्च वसुदेवयुवतीनां बहुत्वाद्बहुवचनम् । राजगेहे उपमातॄणां स्तनदानां सतीनां बहुत्वं सम्प्रदायसिद्धमिति बहुवचनं वा । सद्गतिमाप्स्यन्तीति किमु ।। ३९ ।। यासां पयांसि पुत्रस्नेहो नरकादित्रातेति प्रेमा । तेन श्रुतानि भगवान्देवकीपुत्रः । उक्तार्थं सुततौपचारिकीति द्योतयितुम् । कैवल्याद्यखिलार्थद इति ।। ४० ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं सामान्यतो भक्तानां सद्गतौ कैमुत्यन्यायं प्रदर्श्य व्रजभक्तानामपि सद्गतौ तमाह—पद्भ्यामिति द्वाभ्याम् । भगवान् श्रीकृष्णः पद्भ्यां यस्याः पूतनाया अङ्गं देहं समाक्रम्य स्तनमपिबत् सा यातुधानी राक्षस्यपि यदि जनन्योर्देवकीयशोदयोरुचितां गतिं स्वर्गमवाप, तदा कृष्णेन भुक्तं स्तनक्षीरं यासां ता गावो मातरश्च तां गतिमनुप्राप्ता इति किमु वक्तव्यमिति द्वयोरन्वयः। स्वर्गपदमत्र वैकुण्ठाख्यभगवद्धामपरम् , न तु देवलोकपरम् । "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्' इति श्रुतेः । 'ब्रह्मादयो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः' इति वैकुण्ठेऽपि स्वर्गपदप्रयोगदर्शनात् , 'पूतनापि त्वामेव देवापिता' इति भगवत्प्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् , 'जननीगतिम्' इत्युक्त्या देवलोकस्य नश्वरत्वेन जननीगतित्वासम्भवाच्च । "न केवलं स्तनपानमात्रमेव मोक्षहेतुः, किन्तु चरणसम्बन्धोऽपि" इति सूचयितुं 'पद्भ्यामङ्गं समाक्रम्य' इत्युक्तम् । तदेव स्पष्टयन्नाह—भक्तहृदिस्थाभ्यामिति । चरणसम्बन्धस्य मोक्षहेतुत्वज्ञापकमाह—लोकवन्दितैर्ब्रह्मादिभिरपि वन्द्याभ्यामिति । वत्साहरणलीलायां गोपवत्सरूपेण वर्तमानस्य ता गोप्यो गावश्च सर्वा एव मातरोऽभवन्निति बहुवचनम् ।। ३७-३८ ।। तासां पुनः संसारासम्भवमेवाह— पयांसीति द्वयेन । देवकीपुत्रः श्रीकृष्णः पुत्रस्नेहेन पुत्रदृष्ट्या यः स्नेहस्तेन स्नुतानि अवगलितानि यासां गवां गोपीनां पयांस्यलं सन्तोषपूर्वकमपिबत् तासामविरतं निरन्तरं कृष्णे सुतक्षणं पुत्रदृष्ट्या स्नेहं कुर्वतीनां पुनः संसारो न कल्पते न योग्यो भवतीति द्वयोरन्वयः । तत्र हेतुमाह—अज्ञानेन सम्यग्भवतीति । तथेति भगवत्प्रेमवत्वेनाज्ञाननिवृत्तेरावश्यकत्वादिति भावः । तत्र हेतुमाह—कैवल्याद्यखिलप्रद इति । यतो मोक्षादिचतुर्विधपुरुषार्थप्रद इत्यर्थः । तत्र सामर्थ्यमाह—भगवानिति । 'राजन् ! ' इति सम्बोधनेन बुद्धिमत्त्वेन भगवत्प्रभावज्ञत्वान्नात्र किञ्चिदन्यथा मन्तव्यमिति सूचयति ।। ३९-४० ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

पद्भ्यामिति ।। भगवान् श्रीकृष्णः भक्तहृदिस्थाभ्यां लोकवन्दितैर्ब्रह्मादिभिरपि वन्द्याभ्यां पद्भ्यां यस्याः पूतनाया अङ्गं देहं समाक्रम्य स्तनमपिबत् ।। ३७ ।। सेति ।। सा यातुधानी राक्षसी वैरिण्यपि यदि जनन्योर्देवकीयशोदयोरुचितां गतिं स्वर्गं वैकुण्ठाख्यम् अवाप स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिण इति वैकुण्ठेऽपि स्वर्गपदप्रयोगदर्शनात् । जनन्याः श्रीयशोदायाः प्रकाशभेदेन गति-

यत्र इति जननीगतिम् इत्यपि व्याख्यान्तरम्। तदा कृष्णेन भुक्तं स्तनक्षीरं यासां ताः गावो मातरश्च तां गतिमनुप्राप्ता इति किमु वक्तव्यम्॥ ३८॥ पयांसीति॥ हे राजन्! देवकीपुत्रः कैवल्यादिकम् अखिलं पुरुषार्थजातं प्रददाति सः भगवान् पुत्रस्नेहेन पुत्रदृष्ट्या य स्नेहस्तेन स्नुतानि अवगलितानि यासां गवां गोपीनां च पयांस्यलं सन्तोषपूर्वकमपिबत्॥ ३९॥ तासामिति॥ तासामविरतं निरन्तरं कृष्णे सुते क्षणं पुत्रदृष्ट्या स्नेहं कुर्वतीनां पुनः अज्ञानेन सम्यक् भवतीति अज्ञानसभवः संसारः न कल्पते न योग्यो भवति॥ ४०॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

लोकवंदितैः शिवादिभिः वंद्याभ्यां पद्भ्यां समाक्रम्य संमर्द्य॥ ३७॥ स्वर्गं स्वःदेवालये गीतं यद्धरीस्थानं तदवाप॥३८॥ पुत्रस्नेहेन स्नुता निप्रस्नविता पयांसि क्षीराणि कैवल्यादिमुक्तीनां अखिलानां धर्मादित्रिवर्गाणां च प्रदः॥ ३९॥ अविरतं निरंतरं सुतेक्षणं सुतत्वेनाऽवलोकनम्॥ ४०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यतोऽप्रियं गरलं यच्छन्तीति मुक्त्यनर्हापि केनचित्पूर्वभवीयसत्कर्मजातेन भगवत्संबन्धमात्रेणैव सद्गतिं यदाऽवाप, तदा भगवद्भक्त्या सद्गतिं प्राप्नुवन्ति तत्र किं पुनर्वक्तव्यमित्याह॥ किं पुनरिति॥ यथा, रक्ताः भगवत्यतिस्निग्धाः, तन्मातरः श्रीकृष्णजनन्यः भगवते प्रियतमं स्तन्यं यच्छन्त्यः सत्यः, सद्गतिं प्राप्नुयुः। तथा, श्रद्धया आस्तिक्येन, भक्त्या प्रम्णा, परमात्मने कृष्णाय, किंचित् प्रियतमं, यच्छन् ददज्जनः, सद्गतिं आप्नुयात्। तत्र किं पुनः, किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः। मातर इति बहुवचनं वत्साहरणलीलाभिप्रायेण, यतो गोगोपिकास्तदा तन्मातरोऽभवन्॥ ३७॥ ननु मातॄणां सद्गतिप्राप्तिस्तदानीमसिद्धेति कथं दृष्टान्तितेत्याशङ्कायां तामपि कमुत्यन्यायेन सिद्धवत्करोति पद्भ्यामिति सार्द्धश्चतुर्भिः॥ पद्भ्यामिति॥ लोकवन्दिता ये ब्रह्मादयस्तैरपि, वन्द्याभ्यां, भक्तहृदिस्थाभ्यां स्वभक्तजनहृदयकमलस्थिताभ्यां, पद्भ्यां, भगवान्, यस्याः पूतनायाः, अङ्गं, समाक्रम्य, स्तनं विषपूर्णमपि पयोधरं, अपिबत्॥ ३८॥ यातुधानीति॥ यातुधानी राक्षस्यपि, सा पूतना, जगतीपतिं, स्वः गीयतेऽसा स्वर्गः श्रीहरिस्तं, जगदेकनाथं भगवन्तमित्यर्थः। जननीगतिमिति पाठे मातृप्राप्यं भगवन्तमित्यर्थः। अवाप। तर्हि, कृष्णेन भुक्तं स्तनक्षीरं यासां ताः मातरस्तन्मातरः, गावश्च, तमवापुरित्यत्र किमु नु वक्तव्यम्॥ ३९॥ एवं सत्यपि तासां मुक्तिरसिद्धवदेवेति दृष्टान्तानुपपत्तिरित्यतस्ता विशिनष्टि॥ पयांसीति॥ यासां मातॄणां गवां च, पुत्रस्नेहस्नुतानि पयांसि, अलं नितरां, देवकीपुत्रः, कैवल्याद्यखिलप्रदः कैवल्यं प्रकृतिसंबन्धराहित्यं तत्प्रभृतिपुरुषार्थचतुष्टयप्रद इत्यर्थः। भगवान्, अपिबत्। कैवल्यादिपुरुषार्थप्रदानाय देवकीपुत्रत्वेनावतीर्णत्वाद्धाव्यापि तद्गतिः सिद्धवदेव बोध्येति भावः॥ ४०॥

कृष्णप्रिया

भक्तों के हृदय में स्थित, लोकवन्दित देवताओं से भी पूजनीय चरणों से जिसके अंग को दबा के भगवान ने जिसके स्तन का पान किया, वह राक्षसी भी माता जैसी गति को प्राप्त हुई तो जिन गौ और माताओं का कृष्ण ने दूध पिया, उनकी मुक्ति हो जाय तब उसमें कहना ही क्या? मोक्ष आदि सर्व पुरुषार्थों को देने वाले भगवान् देवकी पुत्र ने, जिन माताओं के सुत-स्नेह से टपकते हुए दूध को पिया और जो माताएँ निरन्तर कृष्ण को पुत्र भावना से देखती हैं, हे राजन्! उनको अज्ञान से उत्पन्न संसार फिर नहीं आता है॥ ३७-४०॥

कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः। किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः॥ ४१॥
ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम्। श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशो[1]रासन् सुविस्मिताः॥ ४२॥
नन्दः स्वपुत्रमादाय [2]प्रोष्यागत उदारधीः। [3]मूर्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह॥ ४३॥
य एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम्। [4]शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते गतिम्[5]॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[6] षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—व्रजौकसः कटधूमस्य सौरभ्यम् अवघ्राय इदं किं कुतः एव इति वदन्तः व्रजम् आययुः॥ ४१॥ ते तत्र गोपैः वर्णितं पूतनागमनादिकम् तन्निधनम् शिशोः स्वस्ति श्रुत्वा सुविस्मिताः आसन्॥ ४२॥ कुरूद्वह! प्रोष्य आगतः उदारधीः

---

१. आसन्—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. गिरि. भक्त.। २. प्रेत्यागतमुदारधीः-श्रीधर. वंशी.; प्रोष्यागत उदारधीः—जीव. वीर. विज. विश्व. गिरि. भक्त.। ३. मूर्ध्न्युपा—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त.; मूर्ध्न्यवघ्राय—जीव. वीर.। ४. निशम्य श्रद्धया—वीर.; निशम्य श्रद्धया युक्तो—भक्त.। ५. रतिम्—श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व.; गतिम्—वीर. गिरि. भक्त.। ६. पूर्वार्धे—श्रीधर.; पूतनामोक्ष—इति कस्यचित्।

नन्दः स्वपुत्रं आदाय मूर्ध्नि अवघ्राय परमां मुदं लेभे ॥ ४३ ॥ यः मर्त्यः एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्य अद्भुतम् अर्भकं श्रद्धया शृणुयात् गोविन्दे गतिं लभते ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एतदार्भकचरितम् । किं तत् । पूतनामोक्षमिति ॥ ४४ ॥

अत्तुं दैत्यकुलानीशः पूतनायाः शिशुच्छलात् ॥ स्तन्यापोशनतः प्राणैः प्राणाहुतिमकल्पयत् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवते म० दशमस्कंधे पूर्वार्धे टीकायां पूतनामोक्षो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कटधूमस्य शवधूमस्य "शवे श्रोणौ किलिंजे च गजगंडे भृशे कटे" इति शाश्वतः । किमिदमिति । किमेतावानगुरुधूम इन्द्रपुरान्निस्सृत्य भूतलमपि भित्वा सुतलं प्रवेष्टुमुत्सहते किं वा बलिसद्मनो निर्गत्यामरावतीमधिरोहति । किं वा कुबेरपुराद्वरुणपुराद्वेति बहुधा संदिहानाः धन्यो वसुदेव इत्येवं वदतोऽहो विना विष्णुं कोऽय बालरक्षां कुर्यादिति च वदंत आययुः ॥ ४१ ॥ ते नंदादयः । तत्र व्रजे तन्निधनं पूतनामरणम् ॥ ४२ ॥ प्रोष्य प्रवासं कृत्वा ॥ ४३ ॥ अद्भुतमतीव बालेनातिविस्तृतदेहपातनस्य दुर्घटत्वादाश्चर्यकरम् ॥ ४४ ॥ इति । शिशुच्छलात् बालच्छद्मना ईशः दैत्यकुलान्यत्तुं भाक्तुमादौ स्तन्यापोशानतो राक्षस्या दुग्धरूपापोशानेन पूतनायाः प्राणैः पंचभिः प्राणाहुतिं पंचप्राणाहुतिमकल्पयदकरोदित्यर्थः । आपोशानप्राणहुतीर्विना भोजननिषेधात् । तदुक्तम् "आपोशान विना भुंक्ते यो भुंक्त दक्षिणामुखः । प्राणहुत्या विना चैव स भुंक्ते केवलं मलम् ॥" इति स्मृतेः । पूतनावधे श्रुतिः-"हेति पक्षिणी न दभ्नात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने शन्नो गोभ्यः पुरुषेभ्यश्चास्तु मानो हिंसीदिह देवाः कपोतः" इति । अर्थस्तु हेतिरायुधवद्वधकारिणी पक्षिणी पूतना बकीरूपा अस्मान् व्रजस्थान् न दभ्नाति नाभिभवति प्रत्युताग्निधाने जाठराग्नेर्धाने निमित्ते शिशोर्जाठरमग्निं स्तनदानेन तर्पयति । आष्ट्र्याम् 'अस गतिदीप्तयादानेषु' आसयति परलोकं गमयति मृत्युना ग्राहयति वा देहं दापयतीति वा आष्ट्री कृष्णतनुस्तस्यां पदं स्थानं कृणुते कृष्णं पाययितुं स्वमृत्युरूपां तां तनुं स्पृशति स्मेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कटः श्मशानमिति क्षीरस्वामी व्रजौकसः ये तद्वृत्तान्तात् पूर्वमन्यत्र गतास्ते तथा ॥ ४१ ॥ ते पूर्वोक्ताः श्रीमन्नन्दादयश्च सम्प्रत्यागताः गोपैः श्रीगोकुलरक्षानियुक्तादिभिः तत्र व्रजे पूतनागमनादिकं विशेषतः श्रुत्वा आदिशब्दात् स्तनदानमहार्तनादादि शिशोश्च स्वस्ति श्रुत्वेति तेन सुविस्मयेन वात्सल्यपोषणं ध्वनितम् ॥ ४२ ॥ तेष्वपि नन्दस्य वैशिष्ट्यमाह-नन्द इति । सम्भ्रमे गते सति परमां मुदं लेभे तत्र हेतवः नाम्नैव तावच्छ्रीनन्दः तत्राप्युदारधीः दयादिगुणगणार्णवमानसः तत्रापि स्वपुत्रमादाय अङ्के कृत्वा प्रोष्यागतः तत्रापि मूर्द्ध्न्यवघ्रायेति किन्तु प्रोष्यागत इति हन्त मत्प्रवासादेतावाननर्थो जात इति पश्चात्तापवानपीति गम्यते कुरूद्वहेति पूर्ववत् एतदारभ्य च श्रीकृष्णस्याधोक्षजेत्याख्या व्रजजनैः कृता यथा च श्रीहरिवंशे वासुदेवमाहात्म्ये—

"अधोऽनेन शयानेन शकटान्तरचारिणा । राक्षसी निहता रौद्रा शकुनीवेषधारिणो ॥
पूतना नाम घोरा सा महाकाया महाबला । विषदग्धं स्तनं क्षुद्रा प्रयच्छन्ती जनार्दने ॥
ददृशुर्निहतां तत्र राक्षसीं वनगोचराः । पुनर्जातोऽयमित्याहुरुक्तस्तस्मादधोक्षजः ॥ इति ॥ ४३ ॥

अहो पूतनायाः साक्षात्सम्बन्धादिना तादृश्याङ्गतौ किमाश्चर्यं तद्वार्ताश्रवणेनापि सर्वोऽपि तस्मिन् रतिमपि लभत इत्याह—य इति । यो मर्त्यो मरणधर्मा यः कश्चिदेतच्छ्रीकृष्णस्याद्भुतार्भकचरितं शृणुयात् स गोविन्दे गोकुलेन्द्रे भगवति रतिं लभते इत्यर्थानुसन्धानमप्यनपेक्ष्य नामादिवद्वस्तुशक्तिरेव ख्यापिता तथाप्यर्थानुसन्धाने सति कारुण्यविशेषालोचनात्फलस्य शैघ्र्यवैशिष्ट्ये गम्येते कीदृशं पूतनाया अपि मोक्षः संसारात्तच्छफलान्तराच्च निर्गमो येन तत् अत एवाद्भुतम् अर्भकभावापरित्यागेऽपि तादृशमारणमोक्षणादिना विस्मयकौतुकावहं निशम्येति पाठे यस्तस्मिन्निशम्य भवति स श्रद्धया सह रतिं लभते पाठस्त्वयं तेषामसम्मतः असङ्गतस्याप्यस्याव्याख्यानात्—

अविद्यायाः क्षयादेव लभ्योऽहमिति तन्मयीम् । प्रागहन् पूतनां कृष्णो राघवस्ताडकामिव ॥

किञ्च—

आरम्भादेव लीलाया बकीधात्रीगतिप्रदः । कृष्णः स्वगुणमाधुर्ये तृष्णयामास वैष्णवान् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कटधूमस्य शवधूमस्य, व्रजौकसो व्रजवासिनः श्री नन्दादय एव ॥ ४१ ॥ गोपैर्गोकुलरक्षार्थं नियुक्तैरन्यैश्च गोकुल-स्थितैरग्रेऽभिगतैः । तत्र व्रजे पूतनागमनादिकम् आदि-शब्दात् (पूतनायाः) स्तनदान-महार्त्तनादादि ॥४२॥ तादृश-महाविस्मयेऽपि श्रीनन्दस्यानन्दभरोऽभूदित्याह नन्द इति । परमां मुदं लेभे तत्र हेतवः-स्वस्य पुत्रमादाय अंके गृहीत्वा; स्वशब्देन श्रीवसुदेव साकूतोक्त्यापि स्वकीयपुत्रज्ञानानपगमात्, तथा कस्मात् पूतना-पात-जनित-महाविस्मयानुमेयैश्वर्यज्ञानानुदयात् स्नेहविवृद्धेः । किञ्चोदारधीर्महाशयस्तादृशविस्मयेनाप्यक्षोभितचित्तत्वात्, किंवा, सहजश्रीभगवत्स्नेहार्द्रहृदयत्वात् । किञ्च, मूर्द्ध्नि पुत्र याव-घ्राय तदाघ्राणमादाय; एतच्च स्नेहविशेषलक्षणम् । एषां परममुदामुपलब्धिहेतुत्वेन यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम् । कुरूद्वहेति कुरुकुल-सन्तानबीजस्य परमभागवतस्य तव दर्शनादिना श्रीयुधिष्ठिरादयो यथा परमानन्दं प्रापुरिति, किंवा श्रीनन्दस्य महाभाग्यानु-सन्धानेन प्रहर्षात् सम्बोधयति ॥ ४३ ॥ अहो किं वक्तव्यम्-स्तनपानादिना श्रीकृष्णप्रभावात् पूतनामोक्षादिकम् ? तद्वार्त्ता-श्रवणेनापि तस्मिन् प्रेमापि सर्वो विन्दतीत्याह—य इति, यो मर्त्यः शृणुयादित्यधिकार पेक्षा निरस्ता; मर्त्य इति प्रायस्तस्यैव श्रद्धया तच्छ्रवणादिसम्पत्तेः, स गोविन्दे श्रीगोकुलेन्द्रे भगवति इति लभते,-तादृशदुष्टपूतनाया अपि सद्गतिदानतस्तदीयकारुण्य-महिमालोचनेन स्वतो भक्तिसम्पत्तेः । निशम्येति पाठे-स एव श्रद्धायुक्तो मनुष्यः; यद्वा, यः श्रद्धया विशिष्टो भवति, स रतिं लभते स एव मर्त्यं अकारप्रश्लेषेणामर्त्यो वा-मरणलक्षणसंसारधर्मातीत इत्यर्थः । पाठस्त्वयं तेषामसम्मतोऽसंगतस्याप्यस्या-व्याख्यानात् ॥ ४४ ॥

अविद्यायाः क्षयादेव लभ्योऽहमिति तन्मयीम् । प्रागहन् पूतनां कृष्णो राघवस्ताडकामिव ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रील-सनातनगोस्वामिपादकृतायां
श्री बृहद्वैष्णवतोषण्यां श्रीदशमटिप्पण्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

कटधूमस्य शवधूमस्य ॥ ४१ ॥ शिशोः स्वस्ति सुखेनावस्थानम् ॥ ४२-४४ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

व्रजौकसः कटधूमस्य शवधूमस्य सौरभ्यमाघ्राय किमिदमत्याश्चर्यमिदं कुतो वाऽस्य सौरभ्यमागतमित्येवं वदन्तः व्रजं जग्मुः ॥ ४१ ॥ ते मथुराया आगता नन्दादयः गोपैर्व्रजस्थैर्वर्णितं पूतनाया आगमनादिप्रकारं तन्निधनं मरणं शिशोः श्रीकृष्णस्य स्वस्ति सुखेनावस्थानं च श्रुत्वा सुनितरां विस्मिता बभूवुः ॥ ४२ ॥ प्रोष्य देशान्तरं गत्वा पुनरागतो नन्दः उदारधीर्विपुलानन्द-युक्तबुद्धिः स्वपुत्रमादाय मूर्द्धन्यवघ्राय हे कुरूद्वह परमां मुदं प्राप ॥ ४३ ॥ प्रकृतपूतनावृत्तान्तादिश्रवणफलमाह—य इति । किं यः पुमानेतत्पूतनामोक्षम् एतदिति सामान्याभिप्रायकं क्लीबत्वं यच्च श्रीकृष्णस्याद्भुतं कर्म चेष्टितं तच्च युक्तः समाहितचित्तो निशम्या-कर्ण्य गोविन्दे गतिं लभते गत्यार्था बुद्ध्यर्थाः रतिं ज्ञानं भक्तिमिति यावत् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां षष्ठोऽध्याय. ॥ ६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कटधूमस्य शवधूमस्य अन्ये व्रजौकसः ॥ ४-४२ ॥ प्रोष्य प्रवासं कृत्वा ॥ ४३ ॥ फलमाह—य इति ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(विजयध्वजतीर्थरीत्या सप्तम)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कटेति । व्रजौकसः तत्वृत्तान्तात् पूर्वमन्येऽपि व्रजान्निर्गताः ते सम्प्रत्यागताः पूर्वमागताश्च विशेषतः श्रुत्वा ॥ ४१ ४३ ॥ य इति पूतनायाः मोक्षः संसारात् आसांसारिकात्तन्मूलफलान्तराच्च निर्गमो यत्र तत् केवलमार्भकस्य श्रवणेन तदवस्थ एव तस्मिन् अपि तु अर्भकपौगण्डकैशोरात्मके सर्वावस्थेपि गोविन्दे गोकुलाधिष्ठातरि तस्मिन्नित्यर्थः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रासङ्गिकं सिद्धान्तं समाप्य प्रस्तुतमाह—कटधूमस्येति । "कटः श्मशानम्" इति श्रीस्वामी, कुतः किमिदमिति विभेतादानगरधूप धूम इन्द्रपुरान्निरसृत्य भूतलमपि भित्वा सुतलं प्रवेष्टुमुत्सहते किंवा बलिसद्मतो निःसृत्यामरावतीमधिरोहति

किमु दिव्यात् कुबेरपुरात् किं वा प्रतीच्याद्वरुणालयादित्येवं बहुधा सन्दिहाना इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ सुविस्मिता इति धन्यो वसुदेवः सत्यमाह—ईदृश्यामपि विपत्तौ शिशोः स्वस्ति नारायणं विना कः कुर्यादित्याद्युक्तवन्तः ॥ ४२ ॥ प्रोष्यागत इति हन्त मत्प्रवासादेतावाननर्थो जात इति किमहं मथुरामगच्छमिति पश्चात्तताप उदारधीरिति हन्त निर्बुद्धयो द्वारपालाः अपि केऽपि तां पुरं प्रवेष्टुं न न्यषिध्यन्निति सर्वेषां धियो निनिन्द ॥ ४३ ॥ य एतत् आर्भकम् अर्भकचरितं पूतनाया अपि मोक्षो यत्र तत् अत एवाद्भुतं शृणुयात् स रतिं लभते निशम्य पाठे तुष्येत् तिष्ठेदिति वाऽध्याहार्यम् । यद्वा यः श्रद्धया निशम्य लभते स गोविन्दे गोविन्दविषयकरतिमान् भवेदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । षष्ठोऽध्यायोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कटधूमस्य शवधूमस्य ॥ ४१-४३ ॥ आर्भकम् अर्भकचरितम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे षष्ठाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ ६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवं प्रासङ्गिकं भक्तेर्महिमानमुक्त्वा प्रस्तुतमाह कटधूमस्येति । कटः श्मशानमिति क्षीरः किमिदं कुत एवेति किमगरुधूम इन्द्रभवनात् पातालं प्रवेष्टुं प्रसर्पति बलिभवनाद्वा स्वर्गमधिरोढुमिति सन्दिग्धवचनाः सन्त इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ सुविस्मिता इति वसुदेवः सिद्धस्तच्छुभध्यानादेव शिशोः कुशलमिति वदन्त इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ प्रोष्यागत इति मयि मथुरां गते अनर्थोऽयमुदस्थात् किमर्थमहं तत्र गत इत्यनुतापमविन्दत् उदारधीरिति निर्बुद्धयो मे द्वारपालाः केऽपि प्रविशन्तीं तां न न्यषेधन्निति सर्वेषां धियः समाक्षिपदिति भावः । ननु नन्दादीनां यशोदादीनाञ्च सर्वशास्त्रविदां नारायणे स्वपूज्यबुद्धिः कृष्णे तु तदंशिन्यपि न तद्बुद्धिः किन्तु पुत्रबुद्धिरेवेत्येतत् कथमितिचेत् सत्यं एतद्रहस्यन्तु मृद्भक्षणाध्याये वदिष्यामः ॥ ४३ ॥ पूतनाया मोक्षो यत्र तत् आर्भकं शैशवं गोविन्दे नन्दसूनौ—

अविद्यायाः क्षयादेव लभ्योऽहमिति तन्मयीम् । प्रागहन् पूतनां कृष्णो राघवस्ताडकामिव ॥

किञ्च—

आरम्भादेव लीलाया बकीधात्रीगतिप्रदः । कृष्णः स्वगुणमाधुर्ये तृष्णयामास वैष्णवान् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

कृष्णस्यार्भकचेष्टितमित्यस्यार्भकस्य कृष्णस्य चेष्टितमित्यर्थः । तेनार्भकस्येति वक्तव्यमिति दूषणस्यानवकाशः । अर्भकस्येति षष्ठ्याः सुपांसुलुगित्यनेन लुगित्यंगीकारात् ॥ ४५ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सप्तमोऽध्यायः ॥ १०-७ ॥ (षष्ठोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सुते कृष्णे तद्रूपे साक्षाद्धरौ । अविरतं क्षणं तद्विषयं नित्योत्सवं कुर्वन्तीनामज्ञानसम्भवस्तद्धेतुकः संसारः पुनर्न कल्पते । स्फुट इतरोऽर्थ इतरस्मात् ॥ ४१ ॥ कटधूमस्य शवधूमस्य व्रजौकसो मधुरां गताः ॥ ४२ ॥ तन्निधनं पूतनावधं स्वस्ति च श्रुत्वा ॥ ४३ ॥ प्रोष्य प्रवासं कृत्वा ॥ ४४ ॥ पूतनाया एकत्र मोक्षो नाशो यस्मिन्नन्यस्मिंश्च मोक्षः सुगतिश्च येन तदेतत्कृष्णस्यार्भकचेष्टितं जयाङ्कुररूपं प्राथमिकं चेष्टितमिति यावत् गोदातरङ्गालिमरुत्कुमारा इति विद्याधीशविजयोक्तेरिवार्भकेति चेष्टितविशेषणतामेति । श्रद्धया निशम्य स्थितो मर्त्यो गोविन्दे रतिं लभते ॥ ४५ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ १०-७ ॥ (षष्ठोऽध्यायः)

श्रीसुबोधिनी

एवं देहधूमे निर्गते यदासीत् तदाह कटधूमस्येति, अत्र षट् श्लोका विगीताः सर्वत्र दृश्यन्ते तेऽप्यध्यायत्रयवद् व्याख्येयाः, स्पष्टत्वाद् वोपेक्ष्यन्ते, तन्मातरो 'वसुदेवस्त्रिय' इति व्याख्यातारः, कटस्य प्रेतदाहस्थानस्य चितायाः सम्बन्धिधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसो गोरक्षणार्थं कार्यान्तरार्थं वा दूरे गताः किमिदमाश्चर्यमिति व्याकुलाः समीचीनं गन्धमाघ्रायागरुर्ज्वलतीति ज्ञात्वा कुत एवेतिवदन्तस्तत्तत्कार्यं परित्यज्य व्रजमेवाययुः, अनेन व्रजस्थानां सर्वेषामेव प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता भगवत्नुभावस्यान्तःप्रवेशश्च, येनान्तःस्थितः प्रपञ्चो निवर्तिष्यते, तामसः प्रपञ्चस्तामसी च पूतना, अतो युक्तं गन्धस्य प्रपञ्चनाशकत्वम् ॥४१॥

तेषामपि निदानपरिज्ञाने विस्मय एव जात इत्याह **ते तत्रेति**, तत्र गोकुले **गोपैर्वर्णितं** **पूतनागमनादिकं श्रुत्वा**, **आदिशब्देन** स्तनदानादिप्रकारं **तन्निधनं** पूतनामरणं च **शिशोः स्वस्ति** कल्याणं त्रयं श्रुत्वा, **अत्यन्तविस्मिता** जाताः, सर्वेषामग्र आगमनमेवाश्चर्यं, अकस्मान्मरणं ततोपि तस्या महत्या भक्षको मृत्युर्बालं त्यक्तवानिति सुतरां विस्मयः ॥ ४२ ॥ नन्दस्य प्रोषितस्य पुत्राघ्राणं विहितमित्याजन्मदुर्लभं तदिदानीं कृतवानित्याह **नन्द इति**, **आश्चर्ये** जिज्ञासोत्पद्यते नटविद्यायां तथादर्शनात्, **स्वपुत्रं** बलभद्रव्यावृत्यर्थं, विहितत्वाद**दाय** हस्ते गृहीत्वा, तथाकरणे हेतुः **प्रोष्यागत इति**, नूतनमिदं कर्म कृत्वा बहु देयमिति मनसि कृतवान्, भगवते च नानाविधान्याभरणानि कृत्वा समानीतवांस्तदाहो**दारधीरिति**, उदारा धीर्यस्य तदानीमुपपन्ना, सर्वापि बुद्धिरुदारा नन्दस्यापि मोक्षदात्री, तस्य तामवस्थां ये च भावयन्ति, मूर्ध्न्युपघ्राणं विहितं वात्सप्रेण सूक्तेन "दिवस्परी"त्यादिना, गन्धेन प्रपञ्चस्य नाशितत्वाद् भगवदाघ्राणे परमानन्दो हृदि जात इत्याह **परमां मुदमिति**, **कुरूद्वहेति** सम्बोधनं समस्तोपाख्यानविश्वासार्थम् ॥४३॥ पूतनाया मोक्षं स्थापयितुं कैमुतिकन्यायेन तच्चरित्रश्रोतृणामपि मोक्षादप्यधिकफलां भक्तिं फलत्वेनाह **य एतदिति**, **एतत्** **पूतनामोक्षं** **कृष्णस्यार्भकं** बाल्यसम्बन्धि चरित्रमद्भुतं लौकिकोपपत्तिरहितं, अनिष्टार्थं मारणमिष्टजनकमिति वा **निशम्य श्रद्धया** युक्तो भवति, **अमर्त्यो** वा भवति, देवभावं प्राप्नोति, देवा हि सत्ये प्रतिष्ठिताः, सर्वथेदं सत्यमिति मन्यते, स **गोविन्दे गतिं** मोक्षं **रतिं** वा **लभते**, इदमपि 'विगीत'मिति केचित् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरप्रमाणप्रकरणे वीर्यापरनामधर्मनिरूपकद्वितीयाध्यायस्य स्कन्धादितः षष्ठाध्यायस्य विवरणम् ।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

य एतदित्यत्र । इष्टजनकं मोक्षजनकमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नन्द इत्यत्र ननु श्रीनन्दानां बालकेन स्तने गृहीते सा मृतेतिश्रवणानन्तरं जिज्ञासा कथं नोत्पन्ना बालकोऽयं कथं राक्षसीं मारितवानित्युत कथं वा मृतेति तत्राहु**राश्चर्य** इत्यादि, **आश्चर्य** इति सतिसप्तमी, ननु श्रीनन्दानामुत्पातागमस्य सन्देहः स्थित एव तथा च 'तस्याः स्वनेने'तिश्लोकोक्तधर्मविशिष्टस्वनश्रवण उत्पातनिश्चये प्राणस्थितिः कथं जातेतिशङ्का "तूत्पातागमशङ्कित" इत्यत्रैव श्रीमदाचार्यैर्निरस्तेतिदिक् ॥ ४३ ॥ **य एतदित्यत्रेष्टजनक**पदस्यार्थ**ष्टिप्पणी**तोवगन्तव्यः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे षष्ठाध्यायविवरणम् ॥ ६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

य एतदित्यत्र आर्भकमिति पदच्छेदमभिप्रेत्याहुः **बाल्यसम्बन्धीति**, भावप्रधानादर्भकशब्दाच्छैषिकोऽण्, गतिं रतिमिति पाठद्वयमित्यभिप्रेत्य व्याख्यानं द्विधोक्तम् ॥ ४४ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

मातृपितृतोषिणी (श्रीसुबोधिनीजी)

एवं देहधूमे निर्गते—इस प्रकार देह के धूम निकलते हुए जो कुछ हुआ उसका वर्णन अब इस श्लोक से करते हैं।

चिता सम्बन्धी धुम की सुगन्ध को सूंघकर व्रजवासी गौओं को चराने के लिए वा खेल आदि कार्य के लिए दूर चले गये थे सुगन्ध से अचम्भे में पड़कर व्याकुल होकर कहने लगे कि यह अगर जल रहा है यों समझ, यह सुगन्ध कहाँ से आती है। ये शब्द कहते हुए उस कार्य को छोड़ कर व्रज में आ गये। इससे सब व्रजवासियों की प्रपञ्च विस्मृति बताई और भगवान् का प्रभाव उनके अन्तर प्रविष्ट हुआ, जिससे भीतर का प्रपञ्च भी नाश होगा। प्रपञ्च तमोगुणी है, पूतना भी तमोगुणी है इससे तामस द्वारा तामस का नाश होना योग्य ही है॥ ४१ ॥

तेषामपि निदानपरिज्ञाने—उन गोपों को भी कारण जानने पर आश्चर्य हुआ। इसका वर्णन इस श्लोक में किया जाता है।

वे मथुराजी से, खेत से, बन से आये हुए वे नन्द प्रभृति गोप गोकुल में गोपों से पूतना का आगमन और आदि अव्यय से गोपों ने स्तन पिलाने का ढंग भी बताया, फिर उसका मरण और बालक का कल्याण, ये तीनों सुनकर बहुत आश्चर्य चकित हो गये; सब गोप गोपियों के वहाँ होते हुए पूतना का नंदालय में आगमन ही आश्चर्य में डालने वाला कार्य था, ऐसे उसका यकायक मरण भी आश्चर्य का कारण था, इससे भी विशेष विस्मय इसका हुआ कि इस बलवान् पूतना को मारने वाले काल ने बालक को छोड़ दिया॥ ४२ ॥

नन्दस्य प्रोषितस्य पुत्राघ्राणं विहितम्—वेद में कहा है कि विदेश से लौटा हुआ पिता पुत्र के मस्तक को सूंघे। विदेश से लौटे हुए नन्दजी को इस वृद्धावस्था तक दुर्लभ, यह आनन्द, अब मिला, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

नटविद्या में उल्लेख है कि जिस बात को सुनकर आश्चर्य होता है, उस बात को जानने की इच्छा पैदा होती है। श्लोक में 'पुत्रं' न कह कर जो 'स्वपुत्रं' कहा उसका आशय, आचार्य श्री बताते हैं कि यदि केवल 'पुत्र' कहते तो, उससे कोई बलदेवजी को समझ ले, इस संशय को मिटाने के लिये 'स्वपुत्रः' पद का प्रयोग किया है वेद में ऐसी आज्ञा होने से नन्दजी ने हाथ से श्रीकृष्ण को अपने निकट करके मस्तक सूंघा क्योंकि देशान्तर से आए थे। नन्दजी ने यह नवीन कार्य कर प्रभु को बहुत दूँगा ऐसा मन में विचार किया ।

भगवान् के लिये, अनेक प्रकार के आभूषण बना करके ले आए थे, क्योंकि नन्दजी उदार बुद्धि वाले थे। नन्दजी की सम्पूर्णतया ऐसी उदार बुद्धि थी, जो नन्दजी को भी मोक्ष देने वाली तो थी ही, किन्तु नन्दजी जैसी उदारता की भावना करने वालों को भी मोक्ष देने वाली है।

'वात्सप्रसूक्त' में **'दिवस्परि'** इत्यादि से मस्तक को सूंघने का विधान है। गन्ध से प्रपञ्च नाश हो जाने के कारण भगवान् के मस्तक को सूंघने से नन्दजी के हृदय में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हुआ। इसलिये मूल में **'परमां मुदं'** पद दिया है जिसका अर्थ है परम आल्हाद। परीक्षित् को इस श्लोक में **'कुरूद्वह'** सम्बोधन देने का भाव यह है कि परीक्षित् का इस सम्पूर्ण चरित्र में विश्वास हो अथवा परीक्षित् को यह संकेत शुकदेवजी कराते हैं कि तूँ कुरु के कुल में उत्पन्न हुआ है। इसलिए तुझे इस चरित्र में विश्वास करना चाहिये ।। ४३ ।।

पूतनाया मोक्षं स्थापयितुं—पूतना के मोक्ष को **'कैमुतिक'** न्याय से सिद्ध करने के लिये निम्न श्लोक में कहते हैं कि जो मनुष्य इस पूतना मोक्ष के चरित्र को सुनेंगे, उनको मोक्ष से भी विशेष, भगवान् में भक्ति रूप फल की प्राप्ति होगी।

यह पूतना को मोक्ष देने वाला, श्रीकृष्ण की बाललीला सम्बन्धी चरित्र, जो कि लौकिक उपपत्ति रहित विलक्षण चरित्र है कि जो लौकिक युक्तियों से समझ में ही नहीं आ सकता है। अनिष्ट अर्थ को जिससे संसार उत्पन्न होता है ऐसे अर्थ, अविद्या को नाश करने वाला है। इस मोक्ष को देने वाले चरित्र को सुनकर श्रद्धावाला अमर्त्य भाव देवभाव को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वह इस चरित्र को सर्वथा, सत्य मानता है, क्योंकि देवता सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं। इस चरित्र के सुनने से मनुष्य में देवभाव आ जाता है तथा उसकी भी सत्य में प्रतिष्ठा होती है। अतः उस मनुष्य को इस चरित्र के सूनने से गोविन्द भगवान् में मोक्ष अथवा रति होती है। कितने ही इस श्लोक को भी प्रक्षिप्त कहते हैं ।। ४४ ।।

श्रीमद्भागवतजी के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध तामस प्रकरण के अवान्तर प्रमाण प्रकरण के द्वितीय अध्याय की श्रीसुबोधिनीजी का मातृपितृतोषिणी हिन्दी भाषान्तर समाप्त ।। ६ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुतमाह कटधूमस्येति। कटस्य श्मशानस्य चितायां सम्बन्धिनो धूमस्य सौरभ्यमगुरुधूमसुगन्धतुल्यसुगन्धं ये पतनागमनात् पूर्वमेव गोचारणाद्यर्थं दूरं गतास्ते व्रजौकसो व्रजवासिनो ऽवघ्राय'किमिदमाश्चर्यम ? कुतो वा गन्ध आयाति ?, इति वदन्तो व्रजमाययुः ।। ४१ ।। ते आगता गोपास्तत्र स्थितैर्गोपैर्वर्णितं पूतनागमनम , आदिपदेन तत्स्वरूपचेष्टादिकं, तस्या निधनं मरणं, शिशोः कृष्णस्य स्वस्ति सुखेन स्थितिं च श्रुत्वा सुविस्मिता आसन्निति ।। ४२ ।। प्रोष्य मथुरायामुषित्वा आगतो नन्दः स्वपुत्रं श्रीकृष्णमादायाङ्कमारोप्य मूर्धन्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे। तन्निर्मुक्तिनिमित्तं दानोत्सवादिकं च कृतवानिति सूचयन्नाह—उदारधीरिति। 'यथा त्वत्कुशलेन युधिष्ठिरादीनां परमानन्दोऽभूत्तथा' इति सूचयन् सम्बोधयति—कुरूद्वहेति ।। ४३ ।। एतच्छ्रवणादिफलमाह—य इति। कृष्णस्य सदानन्दस्वरूपस्य भगवतोऽद्भुतमार्भकं बालचरितमेतत् पूतनामोक्षाख्यं यो मर्त्यो मनुष्यो श्रद्धया आदरेण शृणुयात् श्रवणकीर्तनादिना धारयेत स गोविन्दे तस्मिन्नेव रतिं लभत इत्यन्वयः। अद्भुतत्वं ह्येकस्यापि बह्वर्थकत्वं तथा ह्यनेन कर्मणा कंसस्य तिरस्कारः। नन्दादीनां स्वरक्षायां सावधानता। स्त्रीवधेऽपि स्वस्य निर्दोषता। बालरूपेणैव तस्या वधे कृते स्ववीर्यप्राकट्यं तस्यास्तत्कुलस्य तद्भक्षितबालानां च मोक्षः। तेनासाधारणस्वयशसः प्रकटीकरणम्। असाधारणं हि यशोऽसाधारणे कर्मणि कृते सत्येव भवति, यदि स्नेहवत्स्वेव भक्तिं दद्यात्तदा सर्वसाधारणेनासाधारणं यशो न स्यात्। भयद्वेषादिमत्स्वपि स्नेहादिमत्समानफलदानेन त्वसाधारणेनासाधारणं यशो भवति। तच्छ्रवणादिपराणां माहात्म्यत्वात्तत्पूर्वकसर्वतोऽधिकस्नेहरूपा भक्तिः। स्वसम्बन्धमात्रेण तस्यां सुगन्धाधाने व्रजौकसामाश्चर्यं, दुष्टाया राक्षस्यास्तन्यपानं निन्दितं कृतमिति कुतो भगवत्त्वमित्यज्ञानां मोहश्च। एवं सर्वत्रैकस्यापि भगवत्कर्मणोऽनेकार्थकत्वं बोध्यम् ।। ४४ ।।

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ।। १ ।।
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ।। २ ।।
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने। षष्ठोऽध्यायो गतो वृत्तिं पूतनामोक्षबोधकः ।। ३ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

कटधूमस्येति ॥ कटस्य श्मशानस्य चितायाः संबन्धिनो धूमस्य सौरभ्यमगरुधूमसुगन्धतुल्यसुगन्धं ये पूतनागमनात् पूर्वमेव गोचरणाद्यर्थं दूरं गतास्ते व्रजौकसो व्रजवासिनो नन्दादयोऽन्ये च अवघ्राय किमिदमाश्चर्यं कुतो वा गन्ध आयातीति वदन्तो व्रजमाययुः ॥ ४१ ॥ ते तत्रेति ॥ ते आगताः गोपास्तत्र स्थितैर्गोपैर्वर्णितं पूतनागमनमादिपदेन तत्स्वरूपचेष्टादिकं तस्या निधनं मरणं शिशोः कृष्णस्य स्वस्ति सुखेन स्थितिं च श्रुत्वा सुविस्मिता आसन् ॥ ४२ ॥ नन्द इति ॥ हे कुरुद्वह ! प्रोष्य मथुरायामुषित्वा आगतः उदारधीः नन्दः पाठान्तरे प्रेत्य मृत्वा पुनरागतमिव स्वपुत्रं श्रीकृष्णमादायाङ्कमारोप्य मूर्धन्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे। एतदारभ्यैव व्रजे भगवतोऽधोक्षजाख्याऽभूदिति हरिवंशे। अघः अघशब्दोपलक्षितकटगतेन पूतनामारणात् ततश्च गोपैः पुनर्जातोऽयमित्युक्तेश्चेति ॥ ४३ ॥ य एतदिति ॥ कृष्णस्य भगवतोऽद्भुतमार्भकं बालचरितं तत्पूतनामोक्षाख्यं यो मर्त्यो मनुष्यः श्रद्धया आदरेण शृणुयात् श्रवणकीर्तनादिना धारयेत् स गोविन्दे तस्मिन्नेव रतिं लभते ॥ ४४ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कटस्य शवधूमस्तस्य सौरभ्यं सुगंधि कटः श्रोणौ क्रियाकरे कलिंजेऽतिशये शवे इति विश्वः ॥ ४१ ॥ ते नंदादयः अन्यैः गोपैः तस्याः निधनं च शिशोः स्वास्तिकुशलं च श्रुत्वा ॥ ४२ ॥ प्रेत्यागत प्रेत्यमरणं प्राप्य पुनरागतं प्रोष्यागतमिति पाठे देशांतरे उषित्वा आगतं मूर्द्धिन मस्तके ॥ ४३ ॥ आर्भकं बालचरित्रम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्थदशमस्कंधव्याख्याने पूतनामोक्षो नाम षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तासामिति ॥ कृष्णे, अविरतं सुतेक्षणं कुर्वन्तीनां तासां मातॄणां, हे राजन्, अज्ञानसंभवः संसारः, पुनः न कल्पते न वर्त्तत एवेत्यर्थः। पञ्चत्रिंशं श्लोकमारभ्य श्लोकषट्कमिदं क्षेपकमपि रसातिशयत्वतो व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४१ ॥ एवं मात्रादिमुक्तिं सिद्धवत् संपाद्य प्रकृतमाह। कटेति। व्रजौकसः, कटधूमस्य शवधूमस्य सौरभ्यं, अवघ्राय, किमिदं कुत एवेदं सौरभ्यं कुत आगतं, इत्येवं वदन्तः सन्तः, व्रजम् आययुराजग्मुः ॥ ४२ ॥ त इति। ते मथुराया आगता नन्दादयः, तत्र व्रजे, गोपैर्व्रजस्थैर्गोपालैः, वर्णितं पूतनागमनादिकं तन्निधनं पूतनामरणं, शिशोः, स्वस्ति आरोग्यं च, सुखेनावस्थानमित्यर्थः। श्रुत्वा सुविस्मिता अतिविस्मययुक्ताः, आसन् ॥ ४३ ॥ नन्द इति ॥ प्रोष्य परदेशं गत्वा, महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः' इति स्मृतेर्मथुरागोकुलयोर्यमुनाख्यमहानद्यन्तरत्वाद्गोकुलात् मथुरा परदेशः। पुनः, आगतः, उदारधीर्महाबुद्धिः, नन्दः, स्वपुत्रम् आदाय, मूर्ध्नि उपाघ्राय, हे कुरूद्वह, परमां मुदं, लेभे प्राप ॥ ४४ ॥ प्रकृतपूतनावृत्तान्तादिश्रवणफलमाह। य इति। यः पुमान्, श्रद्धया युक्तः सन्, एतत् पूतनामोक्षं, एतदिति सामान्याभिप्रायं क्लीबत्वम्। यत् कृष्णस्य श्रीकृष्णभगवतः, अद्भुतं आर्भकमर्भभावकृतं चरित्रं, तत् निशम्याकर्ण्य, वर्त्तत, सः गोविन्दे भगवति, गतिं ज्ञानं भक्तिमिति यावत्। गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। लभते ॥ ४५ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

कृष्णप्रिया

व्रजनिवासी लोक चिता के स्थान से आये धूम की सुगन्ध सूंघकर कहने लगे कि यह क्या है, कहाँ से आ रही है ? यों कहते हुए व्रज में आ गये ॥ ४१ ॥ वे नन्दादि गोप गोपों द्वारा पूतना का व्रज में आगमन आदि और उसकी मृत्यु एवं बालक की कुशलता सुनके अत्यन्त आश्चर्ययुक्त हुए ॥ ४२ ॥ हे कुरु के वंश में उत्पन्न ! परीक्षित् राजन् ! देशान्तर से आये हुए उदारबुद्धि श्री नन्दजी ने अपने पुत्र को समीप में ले मस्तक सूंघ कर परम आनन्द को प्राप्त किया ॥ ४३ ॥ जो मनुष्य इस पूतना को मोक्ष देने वाले, श्रीकृष्ण के अद्भुत बाल-चरित्र को श्रद्धा से, यह सत्य है, ऐसा समझ के सुनेगा, वह गोविन्द की कृपा से मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवतमहापुराणे दशमस्कन्धे जन्मप्रकरणे श्लोकार्थे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

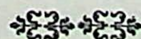

अथ सप्तमोऽध्यायः

अनु.	उप.	इ. वं.	उ. व.	इ. व.	पुष्पि.	सं. श्लो.	उ. श्लो.	अ. उ.	अ. अ.	अ. सं.	अ. सं.	श्लो. अ.	अक्ष.
२४	६	१	१	२	२	३९	२	१३८३	११	४७	१४४१	४०	१

[1]

[2]श्री राजोवाच

येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः । करोति कर्णरम्याणि[3] चरितानि च नः प्रभो ॥ १ ॥
यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥
अथान्यदपि कृष्णस्य [4]तोकाचरितमद्भुतम् । मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥ ३ ॥[5]

श्रीशुक उवाच

कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रभो ! हरिः ईश्वरः भगवान् येन येन अवतारेण चरितानि करोति (तानि) च नः कर्णरम्याणि (सन्ति) यत् शृण्वतः अरतिः अपैति वितृष्णा अपैति च पुंसः अचिरेण सत्त्वं शुध्यति हरौ भक्तिः च तत्पुरुषे सख्यं भवति तदेव हारं मन्यसे चेत् वद ॥ २ ॥ अथ मानुषं लोकम् आसाद्य तज्जातिम् अनुरुन्धतः कृष्णस्य अन्यद् अपि तोकाचरितं (वद) ॥ ३ ॥ कदाचित् औत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् सती वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैः सूनोः अभिषेचनं चकार ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

उत्क्षिपञ्छकटं व्योम्नि तृणावर्तमधः क्षिपन् । दर्शयन्विश्वमास्ये च कृष्णः क्रीडति सप्तमे ॥ १ ॥
कृष्णार्भकसुधासिंधुसंप्लवानंदनिर्भरः । भूयस्तदेव संप्रष्टुं राजाऽन्यदभिनंदति ॥ २ ॥

येन येनेति । येन येन मत्स्याद्यवतारेणापि यानि यानि कर्माणि करोति तानि नः कर्णसुखावहानि मनःप्रीतिकराणि च भवंत्येव ॥ १ ॥ तथापि यच्छृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्यारतिर्मनोग्लानिस्तन्मूलभूता त्रिविधा तृष्णा चापगच्छति । तथा सत्त्वशुद्धि-हरिभक्तिहरिदाससख्यानि च भवंति तदेव हारं हरेश्चरितं मनोहरं वा वद । मन्यसे चेत् अनुग्रहं यदि करोषीति ॥२॥ अत्यौत्सुक्येन पुनर्विशिनष्टि । अथेति । अनुरुंधतोऽनुकुर्वतः ॥ ३ ॥ उत्थानं शिशोरंगपरिवर्तनं तत्र करणीये कौतुकाप्लवे उत्सवाभिषेके तथा तस्मिन्नेव दिने जन्मर्क्षस्यापि योगेऽतिमहोत्सवे समवेतयोषितां मिलितपुरंध्रीणां मध्ये वादित्रादिभिः शोभितमभिषेचनं सती यशोदा चकार ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

उत्क्षिपन्नूर्ध्वं क्षिपन् (१) । कृष्णार्भक एव सुधासिंधुरमृताब्धिस्तत्र संप्लवः स्नानं तेनानंदनिर्भरमानंदाधिक्यं यस्य स तथा । तदेव कृष्णार्भकमेव । अन्यान्यावतारचरितमभिनंदति श्लाघते (२) । कर्णरम्याणि श्रोत्रसुखावहानि । क्वचित्कर्ण-रम्याणीति पाठस्तस्याप्ययमेवार्थः ॥ १ ॥ तथापि कर्णमनोरम्यत्वेपि । यच्चरितं शृण्वतस्तदेवेति हरचरितभ्रांतिवारणाय पक्षांतरं

---

१. "एवं बहूनि कर्माणि गोपानां शंस योषिताम् । नन्दस्य गेहे ववृधे कुर्वन् विष्णुर्जनार्दनः ।"—इत्यधिकः पठयते वीर. ।
एवं स ववृधे विष्णुर्नन्दगेहे जनार्दनः । कुर्वन्ननिशमानन्दं गोपालानां सयोषिताम् ।।—इत्यधिकं विजयध्वजपाठे ।
श्रीशुक उवाच—एवंविधानि चान्यानि गोपालानां सयोषिताम् । आनन्दमनिशं कुर्वन् ववृधे नन्दगोकुले ।—इत्यधिकः पठ्यते भक्त. ।
२. राजोवाच—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. । ३. रम्याणि मनोज्ञानि—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. । ४. लोकाचरितम्—वीर. ।
५. विस्तरेणेह कारुण्यात् सर्वपापप्रणाशनम् । वक्तुमर्हसि धर्मज्ञ ! दयालुस्त्वमिति प्रभो ।।—इत्यधिकः विजयध्वजपाठे ।

मनोहरम्। स्वेति। मनोग्लानिश्चित्तवैकल्यम्। यद्वाऽरतिर्वासुदेवप्रीतिर्भवति। सत्त्वमंतःकरणम्। श्लेषेण हारं हारमिव हृदये धार्यम्। यद्यपि भगवच्चरितमात्रस्यारत्यादिनिवृत्त्या प्रेमांतवस्तुप्रापणं सामर्थ्यमस्ति तथापि श्रीकृष्णबाल्यादिचरितमचिरेणैव तत्तत्प्रापयतीति मन्यसे चेत् यदि तवैतत्संमतं स्यादिति भावः॥ २॥ अत्यौत्सुक्येनात्युत्कंठया। तोकेन बालेन। आचरितं कृतम्। तज्जातिं गोपजातिम्॥ ३॥ मंत्रान्ब्रुवन्तीति मंत्रवाचकाः। "ब्रुवो वचिः"। द्विजेषु मंत्रवाचका द्विजमंत्रवाचकाः। पुनर्वा-दित्रादिभिर्द्वंद्वः॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

येनेति युग्मकम्। तत्र च "गोविन्दे लभते रतिम्" इत्युक्त्या श्रवणकीर्तनाद्यशेषसाधनानां परमफलरूपायाः श्रीभगवद्रतेः सिद्धिं बालचरितारम्भादेव श्रुत्वा स्वस्यापि तदुद्दीपनमनुभूय जातपरमानन्दः सन् परमौत्सुक्येन कदाचित् कथान्तरापातशङ्कया तादृशतच्चरितान्तरमेव प्रष्टुमादौ तदीयाशेषावतारचरितान्यभिनन्दति—येनेति। भगवानित्यादिपदत्रयेण तत्कर्मणामपि क्रमेण सर्वैश्वर्ययुक्तत्वं तथा अशेषदोषदुःखहरत्वमन्तर्बहिरिन्द्रियहरत्वं च तथावश्यसेव्यत्वमन्यथा दण्डकर्तृत्वमप्यभिप्रेतम्। कर्णरम्यत्वेन शब्दस्यैव तादृशमाधुरीमयत्वं ध्वनितं मनोज्ञत्वेनार्थस्य चेति प्रभो! हे सर्वशक्तियुक्त! इति सर्वमस्माकमिन्द्रियवृत्तिवृत्तं त्वया ज्ञायत एवेति भावः॥ १॥ विवक्षितमाह—यच्छृण्वत इति। अरतिः श्रवणादौ मनोऽप्रवृत्तिः प्रवृत्तौ च सत्यां विविधा तृष्णा सत्त्वं चित्तं शुद्ध्यति दुर्वासनाक्षयेण नैर्मल्यात् रसग्रहणसमर्थं भवति अचिरेणेत्यस्य सर्वैरप्यन्वयः। अन्यैश्चिरेणैव तत्तत्सिद्धेः हरौ व्रजस्य मम तव च मनोहरे भगवति भक्तिः प्रेमा तस्य पुरुषे जने भक्ते इत्यर्थः। अन्यत्तैः। एतच्चाल्पबुद्धिरहं मन्ये किन्तु तत्र ममापि दृढता तव महाबुद्धेरभ्युपगमादेव स्यादित्याह—यदि त्वं तथा मन्यसे तदा वद परमविनयोक्तिरियं यद्वा यदि पुनरधुनापि गुप्तं न करोषीत्यर्थः। सविनयनर्मोक्तिरियम्॥ २॥ कीदृशं तत्तव चित्तस्थं हारं तत्राह—अथेति। अथ अनन्तरमेव न तूपोद्घातादिनापि व्यवधानेन श्रीकृष्णस्य लीलामाधुरीभिश्चित्ताकर्षकस्य तोकाचरितमेव वदेति पूर्वेणैवान्वयः। तदेवं स्वचमत्कारे हेतुमाह—अद्भुतं रूपगुणविलासलीलाचातुरीभिः क्वचित्तद्तनुगतदुरूहैश्वर्यमिलनेन च विस्मयावहं तच्चास्मान् मनुष्यानेव कृपयितुं प्रकटितमित्याह—मानुषं लोकमासाद्य मर्त्यलोकेऽवतीर्य तज्जातिमपि स्वलीलयाऽऽत्मसात्कुर्वतः स्वाभेदेन व्यवहरत इत्यर्थः॥ ३॥ श्रीशुकदेवोऽपि तदुक्तमेवानुमोदमानः क्रमप्राप्तां बाल्यलीलामेव कथयति—कदाचिदित्यादिना। कदाचित् मासत्रय एव वयः प्राकट्यसमये "त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः" इति द्वितीयोक्तेः तत्रैव जन्मर्क्षयोगे इति नाक्षत्रमासोऽभिप्रेतः तत्रैव च देवादौत्थानिकं यत्कौतुकं वृत्तं तस्याप्लवे सर्वतो व्याप्तौ सत्याम् औत्थानिकं बहिर्निष्क्रमणमिति केचित् तत्तु चिन्त्यम् "चतुर्थे मासि निष्क्रामः" इति स्मृतेः। तत्र च सावनमासग्रहणात् सूनोरिति। तदेकपुत्रायास्तस्याः स्नेहभरेण तन्महोत्सवे परमासक्तिं बोधयति सती सर्वकर्मस्वेवोत्तमेत्यर्थः। स्त्रीप्रधानकर्मत्वादस्या एव कर्तृत्वमुक्तं न तु प्राग्वच्छ्रीनन्दस्य॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

(भा० १०।६।४४) 'गोविन्दे लभते रतिम्' इत्युक्त्या श्रवणकीर्त्तनाद्यशेषसाधनानां परमफलरूपायाः श्रीभगवद्रतेः पूतनामोचन–तच्चरितादेव सिद्धेरन्यन्न कथयितव्यमित्याशंक्य तादृशचरितान्तरं प्रष्टुमादौ तदीयाशेषचरितान्यभिनन्दति–येनेति। भगवानित्यादिपदत्रयेण तत्कर्म्मणामपि क्रमेण सर्व्वैश्वर्य्ययुक्तत्वम्, तथाशेषदोषदुःखहरत्वं मनोहरत्वञ्च, तथावश्यसेव्यत्वमन्यथा दत्तकर्त्तृत्वमपि सूचितम्। एतदेवाभिव्यञ्जयति—कर्णेत्यादिपदद्वयेन। 'नः' इति बहुत्वम्—तादृशभगवच्चरितश्रवणेनात्मनो बहुमानात्, यद्वा, सर्व्वेषां श्रोतॄणामपेक्षया, सा च निजौद्धत्यपरिहारार्थम्, तच्चरितमाहात्म्यार्थं वा, प्रभो हे सर्व्वशक्तियुक्तेति सर्व्वमस्माकमिन्द्रियवृत्तिवृत्तं त्वया ज्ञायत एवेति भावः। शृण्वत इति वर्त्तमानतया श्रवणे प्रवृत्तमात्रस्येत्यर्थः। अरतिः श्रवणादौ मनोऽप्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ च सत्यां विविधा तृष्णा, कामो लोभो वा; सत्त्वं चित्तं शुध्यति दुर्व्वासनाक्षयेण नैर्म्मल्याद्रसग्रहणसमर्थं भवति, अचिरेणेत्यस्य सर्व्वैरप्यन्वयः; अन्यैश्चिरेणापि तत्तदासिद्धेः। हरौ व्रजस्य मम तव वा मनोहरे भगवति भक्तिः, प्रेमा, तस्य पुरुषे जने भक्त इत्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, एतच्चाल्पबुद्धिरहं मन्ये, किन्तु तत्र सत्यता ममापि दृढता तव महाबुद्धेर्मननादेव स्यादित्याह—यदि त्वं तथा मन्यसे, तदा वद, परमविनयोक्तिरियम्॥ १-२॥ तादृशन्तु श्रीकृष्णबाल्यचरित-मेवेत्याशयेनाह—अथेति। अथो हेतोः कृष्णस्य साक्षाद्भगवतोऽन्यत् पूतनावधादितरदपि तोकाचरितं बाल्यलीलामद्भुतमलौकिकं बाल्यलीलायामपि मधुरपरमैश्वर्य्यप्रदर्शनेन परमविस्मयावहमित्यर्थः। तत्र हेतुः–मानुषं लोकमासाद्य मर्त्त्यलोकेऽवतीर्य्य मनुष्याकारं वा प्रकटीकृत्य, तत्रापि तां परमरसमयत्वादिनानिर्व्वचनीयां गोपलक्षणां जातिं प्राप्नुवतो बहुमन्यमानस्य वा; यद्वा, तज्जातिं सर्व्वानेव गोपगोपीगणानित्यर्थः; प्रेमविस्तारणेन वशीकुर्व्वतः परमेश्वरस्यापि तादृशबाल्यचरितात्, किंवा बाल्यलीला-मयमपि पारमैश्वर्य्यप्रकटाददद्भुतमेवेत्यर्थः। अथवा, कृष्णस्य सर्व्वतश्चित्तकर्षकलीलस्य, अत एवाद्भुतं परममनोहरम्; अन्यत् समानम्॥ ३॥ श्रीबादरायणिरपि तदुक्तमेवानुमन्यमानः क्रमप्राप्तां बाल्यलीलामेव कथयति—कदाचिदित्यादिना; कदाचित् मासत्रयवयः प्राकट्ये (भा० २।७।२७)—'त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः इति द्वितीयस्कन्धोक्तेः। औत्थानिकं बहिर्नि-ष्क्रमणमिति केचित्। सूनोरिति तदेकपुत्रायास्तस्याः स्नेहभरेण तन्महोत्सवे परमासक्तिं बोधयति। सती सर्व्वकर्म्मस्वेवोत्तमेत्यर्थः।

अतः कलशस्थापनपूर्व्वकं ब्राह्मणक्रियमाणमन्त्रवत् प्रोक्षणादिनाऽभिषेकमकरोदिति ज्ञेयम् । श्रीनन्दस्य मुख्यत्वेऽपि तस्या एवात्र निर्देशस्तादृशकर्म्मसु पुरन्ध्रीणां प्राधान्यात् ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

येनेति येन केनापीत्यर्थः । कर्णरस्यानि कर्णरसावहानि ॥ १ ॥ अपैति अपगच्छति अरतिर्बुद्धेरस्वास्थ्यं यस्मिन् सति सुखहेतवोऽपि न सुखाय भवन्ति वितृष्णा विविधा तृष्णा हारं मनोहारि चेष्टितम् ॥ २–३ ॥ उत्थापनकौतुकाप्लवे उत्थापनं गृहाद्बहिःप्रवेशः निष्क्रमणं तत्र कौतुके यत् स्नानकार्यं तस्मिन् तद्योगकाले इत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तावत्पूतनानिर्हरणतन्मुक्तिप्रदानादिरूपं भगवद्बालचेष्टितमभिधायाथ चेष्टितान्तराणि विवक्षुस्तावद्राज्ञस्तत्पिपृच्छिषामुत्पादयति—एवमिति । एवंविधानि दुष्टनिर्हरणतन्मुक्तिप्रदानादिरूपाणि अन्यान्यपि बहूनि बालचेष्टितानि सयोषितां सस्त्रीकाणां गोपानां शम् आनन्दं च कुर्वन् विष्णुर्जनार्दनो भगवान्नन्दस्य गेहे ववृधे एधाम्बभूव ॥०॥ तर्हि तानि वद यानि भगवानकरोदिति पिपृच्छिषुस्तावदितरावतारचेष्टि भ्यः श्रीकृष्णावतारचेष्टितानां वैलक्षण्यं वदन् पृच्छति राजा—येनेति । भगवान् हरिरीश्वरो येन येन मत्स्याद्यवतारेण यानि यानि कर्माणि करोति चकार तानि नोऽस्माकं श्रोत्रसुखावहानि तथा हे प्रभो ! मनोज्ञानि मनःप्रीतिकराणि च भवन्त्येवेत्यर्थः ॥ १ ॥ तथापि यत्कृष्णचेष्टितं शृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्यारतिर्मनोग्लानिर्बुद्धेरस्वास्थ्यं वा यस्मिन् सति सुखहेतवोऽपि न सुखाय भवन्ति तथाविधं तद्विविधा तृष्णा शब्दादिविषयस्पृहा चापैत्यपगच्छति अचिरेण सत्वमन्तःकरणञ्च शुद्ध्यति हरौ भगवति रतिरनुरागस्तत्पुरुषेषु भगवद्भक्तेषु सख्यं च भवति तदेव चरिते भूयः पुनः भूयो विपुलं यथा तथा वद तदेव हारम् इति पाठे हारं मनोहारि चेष्टितमित्यर्थः । मन्यसे चेत् वक्तुमिष्टं मन्यसे चेद्वद स्वतन्त्रस्त्वमहं नियोक्तुमप्रभुरिति भावः ॥ २ ॥ किं तदित्यत्राह—मानुषं लोकमासाद्य मानुषावतारं प्राप्य तज्जातिं मानुषजातिमनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः कृष्णस्य यदन्यदपि पूतनानिर्हरणरूपबालचेष्टितादन्यदद्भूतं लोकाचरितं बालचेष्टितं तदेत्यनुषङ्गः ॥ ३ ॥ एवमापृष्टोऽन्यान्यपि बालचेष्टितानि विवक्षुस्तावच्छकटासुरवधात्मक चेष्टितं वर्णयति—कदाचिदित्यादिना एकदा इत्यतः प्राक्तनेन । औत्थानिककौतुकाप्लवे गृहाद्बहिः शिशोर्निष्क्रमणं तत्सबन्धयौत्थानिकं तस्मिन् कौतुके उत्सवे य आप्लवः स्नानं यस्मिन् तस्मिन् दिने जन्मर्क्षेण रोहिणानक्षत्रेणापि योगे सति महोत्सवे समवेतानां समुदितानां योषितां मध्य वादित्रादिभिः शोभितमभिषेचनं सूनोः सती यशोदा चकार ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवति भक्तिकरणार्थम् अनन्यसाध्यमाहात्म्यं वर्ण्यतेऽस्मिन्नध्याये; तत्र शुकः परिक्षितः प्रश्नबीजमुत्थापयन् वृत्तानुवादसूचनपूर्वकं कृष्णकथामाह–एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण जनार्दनः दुष्टजनानर्दयति हिनस्तीति "अर्द हिंसायाम्" इति धातुः ॥ कर्णरम्याणि श्रोत्रसुखजनकानि मनोज्ञानि मनःप्रीतिजनकानि ॥ १ ॥ अरतिस्तत्र वितृष्णा विशिष्टतृष्णा विषयेषु रागबुद्ध्यभावो वा सत्त्वमन्तःकरणम् ॥ २ ॥ तोकाचरितं बालचरितम् ॥ ३ ॥ ननु वक्रं मह्यं किं ददासीति तत्राह—दयालुरिति ॥ उत्थापनकौतुकाप्लवे बहिर्निष्क्रमणोत्सवसम्भ्रमणे उत्सवहेतुकः प्लव इतस्ततः प्लुतिर्यस्मिन् स तथा तस्मिन् जन्मर्क्षयोगे कृष्णस्य जन्मनक्षत्रसंयोगो यस्मिन् तस्मिन् दिवसे इति शेषः कासां प्लव इति तत्राह—समवेतेति । सम्मीलितस्त्रीणां "क्रमनिम्नमहीभागे कपिप्लुतिखगप्लवाः" इति यादवः स्त्रीणां मध्ये सती प्रशस्तकर्मा ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

बाल्यलीलारम्भत एव रतिफलं श्रुत्वा स्वस्यापि तदुद्दीपनमनुभूय जातपरमानन्दस्तदेव भूयः पृच्छति—येनेति त्रिभिः ॥१॥ वदेत्यनेन यद्यपि तथापि यत्तदन्यदपीति शृङ्खलया त्रयाणां किञ्चिदध्याहारेणान्वयः । कर्णेति पदद्वयं शब्दार्थयोः पृथङ्माधुर्यानुभवेन हारं हारवत् स्पृहया हृदि धार्यं चेन्मन्यसे पूर्ववत् तृप्तं न करोषीत्यर्थः । तत्तादृशमन्यदपि तोकाचरितमेव वदेदित्यन्वयः ॥ २–३ ॥ अभिषेचनं कुशाग्रेणेति ज्ञेयं चकार कारयामास ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

पूतनाया वधं श्रुत्वा विस्मितमानसो राजा आत्मानं प्रति 'किमिदमतिचित्रमन्यदन्यदितोऽप्यतिविचित्रं तदप्याकर्णयामि' इत्याशयेनाह–अथान्यदपीत्यादि । मानुषं लोकमासाद्य भूतलं प्राप्य तज्जातिं तत्स्वभावं मानुषभावम् अनु अनुक्षणं रुन्धत आवृण्वतः, अप्रकाशयत इत्यर्थः । अतिमर्त्यां चेष्टां कुर्वतो लोकवदाचरितम् अतएवाद्भुतम् ॥ १–१८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अथान्यदपीत्यादि । मानुषं लोकं भूतलमासाद्य तज्जातिमनु लक्ष्यीकृत्य रुन्धत आवृण्वतो मानुषलोकेऽपि मानुषभावमप्रकाशयतः ॥ १–१८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्नातः सुप्तोत्थितः कृष्णः सप्तमेऽन उदक्षिपत् । तृणावर्त्तमहन्नास्ये विश्वं मातरमैक्षयत् ॥
रदच्छदबलं व्यक्तं पूतनास्तनचूषणे । शकटेऽङ्घ्रिबलं पाण्योस्तृणावर्तवधे बलम् ॥
विश्वरूपद्वये तावदैश्वर्यं निजमातरि । एवमादिममैश्वर्य्ययुग्मे बाल्ये प्रदर्शितम् ॥

अहो भगवदवतारान्तरलीलामात्रस्याप्यस्मन्मनोहरत्वेऽपि श्रीकृष्णबाल्यलीला मामतिलोभयत्यतस्तामेव ब्रहीत्याशयेनाह–येन येन मत्स्याद्यवतारेणापि यानि कर्माणि करोति तान्यपि नः कर्णाभ्यां रस्यान्यास्वाद्यानि मनोज्ञानि मनोऽप्यानन्दयितुं जानन्त्येव किन्तु तेष्वपि मध्ये यत् शृण्वन्तः पुंसः पुम्मात्रस्यापि अरतिः श्रवणादावप्रवृत्तिरपैति नश्यति अनर्थनिवृत्या निष्ठोत्पद्यत इत्यर्थः । ततश्च वितृष्णा तत्र तृष्णाभावः अपैति रुच्युत्पत्त्या आकाङ्क्षा जायत इत्यर्थः । ततश्च सत्त्वं चित्तं शुद्ध्यति दुर्वासनानिवृत्या भक्तिरसास्वादसामर्थ्यं भवति यथा पैत्तिकरोगनिवृत्या रसनासितामाधुर्य्यग्रहणसमर्था स्यात् आसक्त्युत्पत्त्या रतिर्जायत इत्यर्थः । अचिरेणेति सर्वत्र योज्यं ततश्च भक्तिप्रेमा स्यात् तत् पुरुषे वैष्णवे सख्यमिति यद्यपि भक्त्यारम्भत एव वैष्णवे सख्यं विहितं तदपि प्रेम्णि सत्येवं वैष्णवमात्रे निरुपाधिकं भवेदित्यत्रैवोक्तं हारं हरेश्चरितं श्लेषेण हारमिव हृदये धार्य्यं यद्यपि भगवच्चरितमात्रस्याप्यरतिनिवृत्त्यादिप्रेमान्तर्वस्तुप्रापणे सामर्थ्यमस्त्येव तदपि श्रीकृष्णबाल्यादिचरितमचिरेणैव तत्तत् प्रापयतीत्यत्रैवोक्त मन्यसे चेदिति यदि तवैतत् सम्मतं स्यादिति भावः ॥ १-२ ॥ अत्यौत्सुक्येन तदेव पुनः स्पष्टयति–अथेति । तज्जातिं मानुषजातिमनुरुन्धत इति मानुषजात्यनुरोधेनैव भूर्लोके प्राकट्यं न तु देवादिजात्यनुरोधेन देवादिलोक इति देवादिभ्योऽपि मनुषाणां सौभाग्यं द्योतितम् ॥ ३ ॥ कदाचिन्मासत्रयवयसि सति "त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्तः" इति द्वितीयोक्तेः मासत्रयस्य चरणावुदगित्यत्र मासास्त्रयः परिच्छेदका यस्येति व्याख्येयम् उत्थानमुत्तानशायिनः शिशोस्तिर्यक् शयनसामर्थ्योद्गमः तत्र भवे कौतुकाप्लवे तद्द्रष्टुं व्रजवासिनां कुतूहलसमुद्रनिमज्जने सतीत्यर्थः । तस्मिन्नेव दिने जन्मर्क्षस्यापि योगे सति समवेतयोषितां मिलितपुरन्ध्रीणां मध्ये वादित्रादिभिः शोभितमभिषेचनं यशोदा चकार ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

मत्स्याद्यवतारचरितमप्यस्माकमतिप्रियं भवति किं पुनः साक्षाद्धरेश्चरितमतस्तच्चरितं नो वदेत्याह–येनेति द्वाभ्याम् । येन येन मत्स्याद्यवतारेण यानि यानि चरितानि करोति तानि नोऽस्माकं कर्णरम्याणि श्रोत्रसुखावहानि मनोज्ञानि मनःप्रियाणि सन्ति ॥ १ ॥ तथापि यत् श्रीकृष्णचरितं शृण्वतः पुंस इत्युपलक्षणं श्रोत्रवतां सर्वेषाम् प्राणिनाम् अरतिः श्रीकृष्णपराङ्मुखत्वं वितृष्णा विविधा तृष्णा संसारप्रापिका च अपैति अपगच्छति येन सत्त्वं शुद्ध्यति हरिभक्तिर्हरिभक्तसख्यं च भवति तदेव हारं हरेश्चरितं वद अनुग्रहं यदि करोषि ॥ २ ॥ मानुषं लोकमासाद्य प्राप्य तज्जातिमनुरुन्धतः मानुषजात्यनुरोधेन वर्तमानस्यापि कृष्णस्य सदानन्दस्वरूपस्य अद्भूतमत्याश्चर्यमयं तोकाचरितं वदेत्यनुषङ्गः ॥ ३ ॥ एवं पृष्टः शकटोत्पाटनतृणावर्तनिष्पेषणादि-भगवच्चरितं वर्णयति–कदाचिदित्यादिना । कदाचित् उत्थानं शिशोरङ्गपरिवर्तनं तत्र करणीयः औत्थानिकः कौतुकाप्लवः उत्सवयुक्तः आटलवः महास्नानं यस्मिन् जन्मर्क्षस्य रोहिण्याश्च योगो यस्मिन् तस्मिन् दिने समवेतयोषितां मध्ये वादित्रादिभिः शोभितम् सूनोरभिषेचनं महास्नानं सती यशोदा चकार ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

औत्थानिकं स्नानमनोविभङ्गं कृष्णस्तृणावर्त्तवधं व्यधत्त । अदर्शयन्मातरमास्यविश्वे विश्वं शिशुः सप्तमके परेशः ॥

श्रीकृष्णचरितातितृष्णो राजा पृच्छति—येनेति । यद्यपि सर्वाणि भगवदवतारचरितानि नः कर्णरम्याणि मनोहराणि च भवन्त्येव ॥ १ ॥ तथापि तेषु मध्ये यच्चरितं शृण्वतः पुंसोऽनादिर्वमुखलक्षणाऽरतिरपैति—विषयेषु वितृष्णा विरक्तिर्भवति ततः सत्त्वं चित्तञ्च शुध्यति ततो भक्तिर्नैष्ठिकी जायते तत्पुरुषे भक्तजने सख्यञ्च भवति अचिरेणेति सर्वत्र योज्यं तदेव हारं हरेश्चरितं हारवद्धृदये धार्यं वा वद मन्यसे चेदिति यदि तव सम्मतं भवेदितिभावः । यद्यपि सर्वाणि भगवच्चरितान्यरतिनिवृत्त्यादिकराण्येव तथापि श्रीकृष्णचरितानि सद्यस्तत्कराणीति तेषु माधुर्यातिशयः ॥ २ ॥ स्वाभिमतं स्फुटयति—अथान्यदिति । वदेति सम्बन्धः तज्जातिमिति मनुष्यजात्यनुरोधेन चरितं प्रकटयत इत्यर्थः । मनुष्यरीतिच्छन्नं पारमैश्वर्यगर्भतत्कर्मचिन्ताधरमुकुरवदतिमनोहर-मित्युक्तम् ॥ ३ ॥ कदाचिदिति मासत्रयवयसि सति त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्त इति द्वितीये व्रह्मोक्तेः उत्थानमुत्तानशायिनः शिशोरितिर्यक् शयनं तत्र भवे कौतुकाप्लवे तद्वीक्षणाय व्रजौकसां विनोदसरोनिमज्जने सति तस्मिन्नेव दिवसे जन्मर्क्षस्यापि रोहिण्या योगे महामहोत्सवे सतीत्यर्थः । समवेतानां मिलितानां योषितां पुरस्त्रीणां मध्ये सती विज्ञा यशोदा वादित्रादिभिः सूनोर्मङ्गलमभिषेचनं चकार ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ अधुना मधुनाथकथाकथनमानसः शुको नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादित्यादेः परीक्षिच्चेतसि शङ्कामङ्कुरयन्निव किञ्चित्सङ्कोचेवात्मानमेतद्विषय इति दर्शयन्नुपसंहरन्निवेरयतीति समीरयति । श्रीशुक इति । स योषितां गोपालनामानन्दं तोषमानन्दनमारभ्येति चानिशं निरन्तरम् । अनिशं निशं शमभावस्तन्न भवतीत्यनिशं सुसुखमिति द्वितीयपक्षेऽर्थः । कुर्वन्नन्दगेहे जनार्दनो विष्णुः सः साररूपी गुणाभावः साक्षाद्वृद्धिमन्तृगुणाभावसूचकः । अविभक्तिको वा निर्देशो यः कुर्वन्स इति वाऽन्वयः । ववृधेऽवर्धत तां वृद्धिं जनार्दन इतीरयन्नुपनहास । ततश्चापेक्ष्य लोकस्य हि मन्ददृष्टिमिति सिध्यतीति मन्तव्यम् ॥ १ ॥ येनयेनेति पदमेकम् । येनेत्येकपदस्य स्थाने समुदितादेशः । विस्तृतं चैतत्सर्वस्य द्वेसूत्रशेखरतत्त्वसुबोधिन्योर्बोध्यम् । कर्णरम्याणि श्रोत्रश्रोतृसुखकराणि । नीतिगाथादीनि तथा भवन्तीत्यत आह । मनोज्ञानीति । मनःप्रीतिसम्पादकान्यपि न सर्वाधिकारिसाधारण्येन तत्रादर इति कर्णरम्याणीति यानि यानि भगवान्हरिरीश्वरः कर्माणि सत्यव्रतादिरक्षणादीनि तानि तान्यपि नः श्रोतृणामुक्तरूपाणि भवन्ति । यद्भगवत्कर्म शृण्वतः पुंसोऽरतिः खेदोऽपैति गच्छति वितृष्णाऽन्यविषयस्पृहाभावपति । अरतिर्वितृष्णा विविधा तृष्णाऽऽकाङ्क्षा यस्याः सा मानसग्लानिरपैतीति वा सत्त्वं मनो हरौ च भक्तिर्भवति तत्पुरुषे च सख्यं तद्दासेषु मैत्री । एकैकं निमित्तीकृत्य तं लोके ख्यातिं विधातुं प्रायोऽवतरति हरिरिति तत्पुरुष इत्युक्तिरिति वाऽलमेक एव स्वसहवासेनोद्धर्तुं किं बहुना बह्व इति सूचयितुमिति वा ज्ञेयम् । तत्राप्यान्तरङ्गिको राज्ञो भावस्तु तत्पुरुषे शिवात्मके त्वयीतीत्यानुपूर्व्योदाहर्तुरिति । तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि । महेश महितोऽसि तत्पुरुषपूरुषाग्र्यो भवानित्यादेः । तदेव कर्म सारं घनं श्रेष्ठं घने सारं वरेण्यवत्सारमुदाहरन्तीति विश्वः । वद मन्यसे चेन्मां दयनीयमिति शेषः । तत्पुरुषे त्वयि सख्यं मम मन्यसे चेदित्यन्वयने नाध्याहारायास इति मन्तव्यम् । यस्सत्त्वं साधुत्वं वचनप्रयोजकं तत्पुरुषे मयि मन्यसे चेदिति वा । एतेन मन्यसे चेदिति वचनत आविर्भविष्यच्छुकदुश्चित्तता च्याविवेति सन्तोष्टव्यम् ॥ २-३ ॥ फलितमभिलपति । मानुषं तद्वद्विद्धिदितमासाद्य प्राप्य तज्जातिं गोपालजातिमनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः कारुण्याद्भक्तकृपापारवश्येन कृष्णस्य तोकाचरितं गतम् । अन्यदपि यत्सर्वं पापप्रणाशनं विस्तरेण वक्तुमर्हसि योग्यो भव । तत्र तत्र प्रभो त्वं दयालुरसीति । स्याद्दयालुः कारुणिक इत्यमरः । स्पृहिगृहिपतिदयीत्यालुच् ॥ ४-५ ॥

श्रीसुबोधिनी

पूतनासुपयःपानं भगवत्त्वाय यत् कृतम् । अलौकिकत्वज्ञानाय तत् षष्ठे विनिरूपितम् ॥ १ ॥
ततोप्यलौकिकं लोके विशेषासक्तिबोधकम् । सप्तमे त्रिविधं प्राह शकटोत्पाटनादिकम् ॥ २ ॥
उत्क्षेपणमवक्षेपः प्रसारणमितीर्यते । राजसानां तामसानां सात्त्विकानां च सङ्ग्रहे ॥ ३ ॥
सुप्तं चित्तमथोल्लास्य त्याजयित्वा च लौकिकान् । स्वासक्तिसिद्धये प्रीतया दुःखं च कृतवान् क्वचित् ॥ ४ ॥
यशो हि सर्वगं चेत् स्यात् स्वासक्त्यैव च तद् भवेत् । यशोदानन्दयोरत्र निःप्रपञ्चो विधीयते ॥ ५ ॥
आनुषङ्गिकमन्येषां गोपानां सर्वदेहिनाम् । गोपीनामिति अत्राद्यं यशोदाया वितन्यते ॥ ६ ॥

पूर्वाध्याय आश्चर्योत्पादनेन प्रपञ्चविस्मृतिं कारयित्वा विशेषाकारेण यशोदायाः स्वासक्तिं वक्तुं मतान्तरे प्रपञ्चविस्मृतिमात्रस्यैव पुरुषार्थत्वात् तदासक्तिं न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य **राजा पृच्छति येनयेनेति** त्रयेण,

सर्वं चरित्रं हितकृद् गुणकृच्च ततोधिकम् । तत्रापि स्नेहजनकं तद् वक्तव्यमितिस्थितिः ॥ १ ॥

आदौ सर्वमेव चरित्रं भगवतः सर्वोत्तममित्याह, **येनयेन** मत्स्यकूर्मादिमध्ये यानियानि **चरितानि करोति** तानि **नः कर्णरम्याणी**तिसम्बन्धः, कृष्णावतारचरित्र एव कस्यचित् प्रीतिपक्षे तद्रतो भेदो द्वेषापरपर्यायः सिध्येदिति तन्निवृत्त्यर्थमेतद् वक्तव्यं **येनैवावतारेण करोतीति**, अवतारपरत्वे लौकिकबुद्धिर्भगवति भविष्यतीति तत्रानादरश्च वक्तव्यः, तदाह वीप्सया, वस्तुतस्तु **भगवान करोति**, कृतौ प्रयोजनं **हरिरिति**, तथाविभाव उपपत्तिरीश्वर इति, इदानीन्तनानामस्माकं तथाभाग्याभावाद् दर्शनाभावेपि भवदादिप्रसादात् **कर्ण्यरम्याणि** भवन्ति, लोक उपनिबन्धनाभावशङ्कापि नास्तीत्याह **चरितानीति**, उपनिबद्धं कृत्यं **चरित्रं**, **चकारात्** महतां मुखादकस्मादप्युक्तं, **न** इति श्रोतृणां सर्वेषां, **प्रभो** इतिसम्बोधनमन्तःकरणज्ञानार्थमन्यथाकथने दण्डकरणे सामर्थ्यार्थं च ॥ १ ॥ यद्यपि साभिप्राये ज्ञाते सर्वमेव चरित्रमेतादृशगुणजनकं भवति तथाप्यापाततोपि यच्चरित्रं सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सर्वगुणदायकं भवति तद् वक्तव्यमित्याह **यच्छृण्वत** इति, यच्चरित्रं शृण्वतः पुरुषस्य भगवच्चरित्रविषयिणी या **रतिः सापैति** माहात्म्ये स्वोपकारे च ज्ञाते तथात्वं विशेषेण संसारविषयिणी **तृष्णा चापैति** संसारस्य बाधकत्वे ज्ञाते, गुणदोषाभावरूपावेतौ साधारणौ दोषाभावरूपौ वा, गुणानाह **सत्त्वं च शुध्यति**, **अचिरेण** शीघ्रमेव, **पुंसः** स्वतन्त्रस्य, सत्त्वमन्तःकरणं शुध्यति कामक्रोधादिवासनारहितं भवति, ज्ञानात्मनः संसारातीतचरित्रे श्रुते यथा भगवतो मुखारविन्दे त्रैलोक्यवर्णनं, किञ्च भक्तिर्हरौ यथोलूखलबन्धने, **तत्पुरुषे** भगवत्सेवके **सख्यं** यथा यमलार्जुनभञ्जने, चकारात् तत्सेवकसेवकेपि, **तदेव हारं** मनोहारि यथा भवति **तथा वदे**तिप्रार्थना, **यदि मन्यस** इति, तादृशं फलमस्य सिध्यत्विति यदि तव कृपा, यथाधिकारेण बोधने मनोहारि भवति,

एवं पञ्चविधं चरित्रं पृष्टं, तद् वक्ष्यति क्रमेण तृणावर्तवधादि, आश्चर्यरूपस्तृणावर्तवध इत्यरतिर्गच्छति, तृष्णा च संसारेण गच्छति, भगवति सर्वसत्त्वात् , अन्तःकरणं देहेन्द्रियादिकमपि शुध्यति, भगवतो नामधेयादिश्रवणेन, उलूखलबन्धने भक्तिर्यमलार्जुनभङ्गे सख्यमिति ॥ २ ॥ एतत्पञ्चविधात् पूर्वमपरमेकं कृष्णासक्तिजनकं साधारण्येन वक्तव्यमित्याहाथान्यदपीति अथेति भिन्नप्रक्रमे, आदावेव वक्तव्यं, अनन्तरं शीघ्रमेव वक्तव्यं, अन्यदपि यथा बाल्ये पूतनावधः, तथापि बाल्ये यच्चरित्रं, कृष्णस्येति, अवतारान्तरबाल्यचरित्रव्युदासः, बाल्ये चरित्रसम्भवार्थं वा भगवतो नाम, तोकाचरितं तोकेनाचरितं, तोक उत्थानासमर्थः, तदप्यद्भुतमलौकिकं, लोके हेतुकल्पनारहितं तत्रापि लौकिकभावेन कृतमित्याह मानुषं लोकमासाद्येति, मनुष्यलोकं भूमि मानुषभावं चासाद्य स्वीकृत्य, तज्जाति शिशोर्जातिलीलामनुरुन्धतो जातिलीलामनतिक्रम्य यथा गोपालशिशोः, तादृशं पूतनावधतुल्यमेकं वक्तव्यमितिप्रार्थना ॥ ३ ॥ शुकस्तादृशमेव शकटभङ्गलक्षणं चरित्रमाह कदाचिदितिचतुर्दशभिः सर्वेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रीतिजनकं, आदावुत्सवमाह कदाचिदिति, औत्थानिकं कर्म निष्क्रमणात्मकं "चतुर्थे मासि निष्क्रम" इति, तस्मिन्नेव दिवसे रोहिणीनक्षत्रं, औत्थानिकं कर्म कृत्वा तत्र कौतुकाविष्टे चित्ते जातउत्सवेन तत् कर्म कर्तव्यमिति विचिन्त्य तस्मिन् दिवसे जन्मर्क्षस्यापि योगे सति समवेतानां योषितां सर्वस्त्रीणां मध्ये तूर्यादिवादित्रैर्नानाविधगीतैः स्त्रीकर्तृकैः पुरुषकर्तृकैश्च द्विजानां ब्राह्मणानां मन्त्रवाचकैः सह सूनोः पुत्रस्याभिषेचनं कलशस्थापनपूर्वकं ब्राह्मणैः क्रियमाणं मन्त्रवत्प्रोक्षणरूपं चकार, मङ्गलस्नानादिकं तु पूर्वमेव कृतमस्ति, प्रोक्षणसंस्कारेऽभ्युदयो भवति, यतः सा सती पतिव्रता पत्युस्तथेच्छेति, अन्यत्रोत्सवकरणाभावार्थं वा ॥४॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

सप्तमाध्यायप्रकरणार्थोक्तौ, सङ्ग्रह इति। अग्रे स्वोपयोगं ज्ञात्वोत्तमानामतादृशानां च स्वीयत्वेन स्थापनं हि लोके सङ्ग्रह इत्युच्यते। सोऽत्राधुनिकनिरोध एव। तथा च सङ्ग्रहनिमित्तमीर्यत इति सम्बन्धः। सर्वेषां दुःखोक्तेस्तात्पर्यमाहुः यश इति। सर्वगमिति। चरित्रमिति शेषः। दुःखमिति वा। एवं सति तन्निवारके सर्वेषामासक्त्या चरित्रगानेन यशस्सिद्धिरित्यर्थः। आद्यपक्षे चरित्रस्य सर्वगत्वे हेतुमाहुः स्वासक्तेति। सर्वेषां तदा गानसम्भवेन तथेत्यर्थः। तस्मिन्नेव दिवसे रोहिणीनक्षत्रमिति वाक्यमनतिप्रयोजनमपि स्वरूपकीर्तनपरमिति ज्ञेयम् , न तु व्याख्यानमिति ॥ १-४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथ सप्तमाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वक्तुं पूर्वाध्यायार्थमनुवदन्ति, पूतनासुपयःपानं यत् तद् भगवत्त्वाय वीर्यप्राकट्याय निरूपितमित्यग्रिमेण सम्बन्धः, यत्कृतं पूतनासुपयःपानकृतं गन्धादिकमलौकिकत्वज्ञानाय चरित्रे लोकवैलक्षण्यज्ञानाय, तदेतदुभयं षष्ठे निरूपितमित्यर्थः, एवं पूर्वाध्यायार्थसप्रयोजनचरित्रादप्यलौकिकः, तत्र हि मर्मपीडया प्राणनाशः सम्भवत्यपि कदाचिद् बालचरणोत्क्षेपणादिना शकटादिभङ्गस्तु न सम्भावयितुमपि लोके शक्य इति तथा, तच्च त्रिविधं चरित्रं शकटोत्पाटनादिकं भगवद्विषयकविशेषासक्तिबोधकं सप्तमे राजप्रश्नाच्छुक आह, तथा च पूर्वस्मादप्यलौकिकबोधनात् प्रसङ्गः सङ्गतिः, किञ्चालौकिकज्ञानस्य विशेषासक्तिं प्रति हेतुत्वात् तत्कृतोपि प्रसङ्गस्तथेत्यर्थः, एवं सङ्गतिबोधनायाध्यायार्थमुक्त्वा विशेषतो वक्तुं चरित्रस्य त्रैविध्यं प्रकटयन्त्युत्क्षेपणमित्यादि, त्रैविध्यप्रयोजनमाहू राजसानामित्यादि, टिप्पण्यां सङ्ग्रहशब्दार्थं तत्प्रयोजनं चाहुरग्र इत्यादि, आधुनिकनिरोध एवेत्याधुनिकानां सप्तमाध्यायोक्तानां तत्सजातीयभाववतां च निरोध एव, सङ्ग्रह इति तदर्थं, त्रिविधं चरित्रमीर्यत इत्यर्थः, सुबोधिन्यां कथं विशेषासक्तिरूपं सङ्ग्रहं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाहुः सुप्तमित्यादि, अथेतिभिन्नप्रक्रमे पूतनामारणोत्तरं सुप्तं मासत्रयपर्यन्तं विशेषासक्त्यनुत्पत्त्या सामान्यासक्तिमत्त्वात्तानां चित्तमुल्लास्य विशेषासक्त्यनुकूलं कृत्वानुकूल्येन चित्तस्य जागरणेन स्फुरितान् लौकिकान् विषयादीनपि त्याजयित्वा तेषां विशेषतः स्वासक्तिसिद्धये प्रीत्या भक्तविषयकस्नेहेन क्वचित् तृणावर्तभङ्गलीलायां दुःखमपि कृतवान् , तथा चैवं चित्तोल्लासादिभिः सङ्ग्रहं कृतवानित्यर्थः, अत्र लौकिकरीत्या स्वासक्तिकरणं प्रथमलीलया प्रीत्या दुःखादिकरणं च द्वितीयलीलयासम्भावनानिवृत्तिर्या प्रकृतसहकारिणी सा तृतीयलीलयेति ज्ञेयं, ननु सम्बन्धाधिक्येनैवासक्तिर्भविष्यतीति भक्तेषु दुःखदानस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहुः सर्वेषामित्यादि, तथा च भाविनां भक्तानां कृतार्थत्वाय यशोपेक्ष्यते तच्च गानेन प्रसरति तदपि भगवदासक्त्यैव चेत् तदा फलतीत्येतत् सर्वं विचार्य यशःप्रकटनार्थं तथा कृतवानित्यर्थः। एवं दुःखोत्पादनतात्पर्यमुक्त्वा निरोधाधिकारिणो विभजन्ते सुबोधिन्यां यशोदेत्यादि, अत्रास्मिन्नध्याये यशोदानन्दयोर्निःप्रपञ्चो निर्गतो विस्मृतः प्रपञ्चो यस्मात् तादृशो निरोधो भगवता विधीयतेऽन्येषां गोपानामानुषङ्गिकं प्रपञ्चविस्मृत्यादि विधीयत इति पूर्वेणैवान्वयः, अत्र सर्वदेहिपदेन गोपगोपीनामनुचरा बोध्याः, एवमधिकारिणो विभज्याद्ये चरित्रे यस्या निरोधस्तामाहुस्तत्राद्य इत्यादि, वितन्यत इति मुख्यत्वेन विस्तार्यत इत्यर्थः, ननु भवत्वेवं तथापि "व्रजे वसन् किमकरो"दिति राज्ञा प्रथममेव पृष्टत्वाच्छुकश्चरित्रान्तरमपि वक्ष्यत्येवेति पुनः प्रश्नान्तरस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनमाहुः पूर्वेत्यादि, तथा चोक्तविशेषज्ञापनार्थं प्रश्न इत्यर्थः, श्लोकत्रयतात्पर्यं कारिकयाहुः सर्वमित्यादि, इतिस्थितिरिति, एषा स्नेहजननार्था मर्यादा, ननु कृष्णावतारचरित्रे प्रष्टव्ये सामान्यतश्चरित्रप्रशंसा कुत्रोपयुज्यत

इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः कृष्णेत्यादि, तद्गतश्चरित्रान्तरगतः, तर्हि येनैवेति वक्तव्यं वीप्सायाः किं प्रयोजनमत आहुरवतारेत्यादि, प्रश्नस्यावतारत्वेवतारस्यालौकिकतेजः सङ्क्रमणरूपत्वात् तथा च वीप्सया प्रश्नमाहेत्यर्थः, भगवान् करोतीत्यत्रावतारस्य करणत्वात् तथा ॥ १ ॥ यच्छृण्वत इत्यत्रैताविति भगवच्चरित्रविषयकोरत्यभावः संसारवैतृष्ण्यं च क्रमेण गुणदोषाभावरूपौ, अरती रत्यभावस्तदभावो रतिरेवेति गुणत्वं तदभावाभावस्य तद्रूपत्वात्, अस्मिन् पक्षे सत्त्वशुद्धेराधिक्यमायातीति तदभावाभावस्यातिरिक्तत्वमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहुः साधारणौ दोषाभावरूपौ वेति, संसारातीतेति संसारमत्ययति नाशयतीति तादृशे चरित्रे, तृष्णा चेत्यादि सत्त्वमित्यन्तेन विश्वप्रदर्शनतात्पर्यमुक्तम् ॥ २ ॥ अथेत्यत्र व्युदासपक्षेनादर इवायातीतिपक्षान्तरमाहुर्बाल्य इत्यादि ॥३॥ कदाचिदित्यत्र निष्क्रमणात्मकमिति तत्स्वरूपं तु 'बालकं मङ्गलेन स्नापयित्वेष्टदेवतापूजां विधायो'द्धातेवे'त्यादिमन्त्रैः कुमारमलङ्कृत्य मङ्गलतूर्यनिर्घोषैः सह देवालयगङ्गादिनदीतीरे प्रशस्तारामबन्धुगृहाणामन्यतमस्थानं गत्वा बन्ध्वादिदत्तं पारिबर्हं गृहीत्वा पुनर्गृहं आगत्य पुण्याहवाचनादिकं कृत्वारात्तिकदक्षिणादिना महोत्सवकरणं, तस्मिन्नेवेतिफक्किकायास्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुरस्मिन्नित्यादि, स्वरूपकीर्तनपरमिति रोहिणीनक्षत्रं चतुर्थ पर्यावेष्टोत्तरशतदिवसे समायाति तथा सति "त्रैमासिकस्ये"तिवाक्यानुरोधाच्चतुर्थमासस्याष्टादशे दिवसे मार्गशीर्षशुक्लैकादश्यादिदिनादन्तरा न भवतीति तत्स्वरूपमात्रकथनपरमित्यर्थः, अग्रिमे व्याख्यानवाक्ये तदुल्लेखदर्शनात् तथेत्यर्थः, सुबोधिन्यां सतिपदस्य तात्पर्यान्तरमाहुरन्यत्रेत्यादि, अन्यत्रेति पत्यसन्निधाने ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सप्तमेध्याये कारिकासु उत्क्षेपणमिति उत्क्षेपणं शकटस्यावक्षेपस्तृणावर्तस्य प्रसारणं जृम्भालीलाया मुखस्येत्यर्थः, सुप्तमिति विशेषतः पदार्थग्रहणाक्षमं मूढं यशोदायाश्चित्तमौत्थानिकोत्सवप्रेरणेनोल्लास्य ततो लौकिकान् धर्मान् समागतगोपपूजनादीन् यशोदातस्त्याजयित्वा प्रपञ्चविस्मृतिं कारयित्वा ततोग्रिमप्रकरणे स्वासक्तिसिद्धये तथा कृतवानितिप्रकरणद्वयार्थः, स्वासक्त्यंवेति चरित्रपक्षार्थस्तु टिप्पण्यामुक्त एव, दुःखपक्षेपि स्वासक्त्यैव सर्वगं दुःखं भवेत्, आसक्त्यभावे दुःखं न स्यादिति भावः, निःप्रपञ्च इति निर्गतः प्रपञ्चो यस्मात् तादृशो भावोत्र प्रमाणप्रकरणे इत्यर्थः, आनुषङ्गिकमिति प्रपञ्चाभावसम्पादनमिति शेषः, तत्राद्ये इति आद्ये शकटप्रकरणे केवलं यशोदायाः, आनुषङ्गिकत्वेनान्येषां नेत्यर्थः ॥ कारयित्वेति एतदनन्तरं भगवता सम्पादितामितिशेषो ज्ञेयः, तथा च पूर्वाध्याये आश्चर्योत्पादनेन प्रपञ्चविस्मृतिं कारयित्वा भगवता सम्पादितां स्वासक्तिं विशेषाकारेण वक्तुमाद्ये प्रकरणे पुनर्यशोदाया निःप्रपञ्चो वितन्यते इति पूर्वेणान्वयः। येन येनेत्यस्याभासे मतान्तरे इति तदपि ऋषीणां बहुधा विवादात् केषाञ्चिन् मते अविद्यानिवृत्तेरेव मोक्षत्वादिति भावः ॥ १ ॥ यच्छृण्वत इत्यत्र ज्ञानात्मन इति "यशोदाभयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषते"त्यत्र विवृतं ज्ञानमात्मनि स्वरूपे यस्येत्यर्थः ॥ २ ॥ अथान्यदपीत्यत्र अथशब्दस्यार्थद्वयमपीत्यभिप्रेत्यानन्तर्यमत्यर्थमाहुः आदावेवेति, पञ्चविधचरित्रादादौ, न अन्तरं यत्र प्रश्नाव्यवधानेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥ कदाचिदित्यत्र सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः सर्वेन्द्रियाणामिति इन्द्रियाणि दश अन्तःकरणचतुष्टयमेवं चतुर्दशेत्यर्थः, अन्यत्रोत्सवेति स्वपित्रादिगृहे उत्सवं न कृतवती सतीत्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

सप्तमाध्याये कारिकासूत्क्षेपणमवक्षेपः प्रसारणमिति उत्क्षेपः शकटस्यावक्षेपस्तृणावर्तस्य प्रसारणं जम्भालीलायां मुखस्येति ज्ञेयम् ॥ सर्वं चरित्रं हितकृदित्यादि हितकृद्गुणकृत्स्नेहजनकानि चरित्राणि क्रमेण येन येनावतारेणेत्यादित्रिभिः श्लोकैः पृष्टानि ॥ १ ॥ कदाचिदित्यस्याभासे कदाचिदिति चतुर्दशभिरिति सर्वेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रीतिजनकमिति मनःसहितानीन्द्रियाण्येकादश बुद्धिचित्ताहङ्कारा अन्तःकरणत्रयरूपा एवं चतुर्दश ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

सप्तमाध्याये सङ्गतिं वक्तुं पूर्वाध्यायार्थमनुवदन्ति पूर्वेनेति का० २३३। भगवत्त्वाय भगवत्त्वबोधनाय, तत इति का० २४३। आदिपदेन तृणावर्तवधो जृम्भालीला चेति, उत्क्षेपणमिति का० २५३। उत्क्षेपणं शकटस्य, अवक्षेपस्तृणावर्तस्य, प्रसारणं जृम्भालीलायां मुखस्येत्यर्थः, त्रैविध्यप्रयोजनमाहुः राजसानामिति, अत्र सङ्ग्रहपदार्थो राजसादिभक्तानां निरोध एव, तथा च सङ्ग्रहनिमित्तमीर्यत इति सम्बन्धः, अत्र क्रमो न विवक्षित इति प्रतिभाति निबन्धानुरोधात, उक्तं हि दशमस्कन्धनिबन्धे "शकटं तामसं प्रोक्तं तृणावर्तस्तु राजसः। लालनं पुत्रभावेन सात्त्विकं मोहनं तथे"ति, तथा च शकटभङ्गादिभिस्त्रिभिश्चरित्रैः तामसराजससात्त्विकानां निरोधो ज्ञेयः, सुप्तमिति का० २६३। सुप्तं विशेषासक्तिरहितं यशोदादीनां चित्तं उल्लास्य विशेषासक्त्यनुकूलं कृत्वा लौकिकात् त्याजयित्वा स्वासक्तिसिद्धये प्रीत्या भक्तविषयकस्नेहेन क्वचित् तृणावर्तभङ्गादिलीलायां दुःखं कृतवान्, सर्वेषां दुःखोक्तेस्तात्पर्यमाहुर्यश इति का० २७३। यशस्तद्वच सिध्येद् यदि चरित्रं दुःखं वा सर्वगं स्यात्, दुःखपक्षे दुःखनिवारके भगवति सर्वेषामासक्त्या गानसम्भवेन यशःसिद्धिरित्यर्थः, आद्यपक्षे चरित्रस्य सर्वगत्वे हेतुमाहुः स्वासक्तेति, सर्वेषां तदा गानसम्भवेन यशः सर्वगं भवेदित्यर्थः, एवं यशोदानन्दयोर्निःप्रपञ्चो निर्गतः प्रपञ्चो यस्मात् तादृशो निरोधो

निरूप्यत इत्यर्थः, **आनुषङ्गिकमिति** का० २८३। यशोदानन्दव्यतिरिक्तानां सर्वेषां निःप्रपञ्चसम्पादनमानुषङ्गिकं, **तत्राद्ये शकटकरणे यशोदाया** एव निःप्रपञ्चो विधीयत इत्यर्थः॥ **येन येनेत्यत्र, सर्वमिति** का० २५३। **हितकृद्गुणकृत्स्नेहजनकानि चरित्राणि क्रमेण** "येन येनावतारेण"त्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैः पृष्टानि, अत्र हितशब्देन कर्णरसजननादयश्चरित्रश्रवणफलात्मकाः साधारणा गुणा विवक्षिताः, तादृशहितकृच्चरित्रं प्रथमश्लोकेन पृष्टं, गुणकृदिति गुणपदेन सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसत्त्वशुद्ध्यादयो गुणा ज्ञेयाः, तादृशगुणकृच्चरित्रं प्रथमश्लोकोक्तचरित्रादधिकं "यच्छृण्वत" इति द्वितीयश्लोकेन पृष्टं, तत्रापि विशेषतो भक्तिजनकं शकटभङ्गलक्षणं चरित्रम "थान्यदपि कृष्णस्य"ति तृतीयश्लोकेन पृष्टं, तच्चरित्रं विशेषतो वक्तव्यमितिस्थितिर्मर्यादेत्यर्थः॥१॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सप्तमे शकटोत्क्षेपस्तृणावर्तविमर्दनम्। मुखे विश्वप्रकाशश्च कृष्णलीला निरूप्यते॥ १॥

एवं श्रीकृष्णस्य बालचरितश्रवणेन निर्वृतः पुनस्तदेव प्रष्टुं प्रथमं तस्यान्यावतारचरितान्यभिनन्दति—येनयेनेति। अन्तःकरणवृत्तिज्ञानेऽन्यथाकथने दण्डे च सामर्थ्यं तवास्तीति सूचयन् सम्बोधयति—प्रभो इति। यद्यपि येन येन मत्स्याद्यवतारेण भगवान् यानि यानि कर्माणि करोति तानि नोऽस्माकं श्रोतॄणां कर्णयोः रम्याणि 'रस्यानि' इति पाठान्तरम्। शब्दत एव सुखावहानि तथा मनोज्ञानि अर्थतो मनसो हर्षकराणि च भवन्त्येव, तथापि यच्छृण्वतः पुंसः श्रवणाधिकारिप्राणिमात्रस्याचिरेण शीघ्रमेव हरौ भक्तिः प्रेमातिशयः तत्पुरुषे भगवद्भक्ते सख्यं च भवति, तदेव हरेश्चरितं वदेति द्वयोरन्वयः। 'त्वां प्रार्थये, न त्वाज्ञापयामि' इत्याह—मन्यसे चेदिति। 'मद्भृत्योऽयम्, श्रवणेन कृतार्थो भवतु' इति यदि मन्यसे तर्हि वदेत्यर्थः। अवतारेण कर्मकरणे प्रयाजनं तु भक्तदुःखहरणमेव इत्याशयेनाह—हरिरिति। तत्र सामर्थ्यं सूचयन्नाह—ईश्वर इति। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ इत्यर्थः॥ १॥ ननु 'मनोग्लानेः सत्त्वात् कथं हरौ भक्तिः स्यात्?' तत्राह—अरतिरपैतीति। अरतिर्मनोग्लानिरपैति अपगच्छति। ननु 'ग्लानिकारणस्य तृष्णायाः सत्त्वे कथं सा न स्यात्?' तत्राह—वितृषा तृष्णा चापैतीति। अन्तःकरणाशुद्धौ तृष्णापगमोऽपि कथम्? यमित्यत आह—सत्त्वमन्तःकरणं च शुद्ध्यतीति। कामक्रोधादिहेतुभूतदुरितरहितं भवतीत्यर्थः॥ २॥ 'यच्छब्देन कीदृशं चरितं तव श्रोतव्येनाभिप्रेतम्' इत्यपेक्षायां सहेतुकं तत् स्पष्टयति—अथेति। यस्मान्महाफलमथ तस्मात् पूर्वोक्तादन्यदप्यद्भुतमाश्चर्यजनकं कृष्णस्य तोकाचरितं बालचरितं वदेति पूर्वस्यानुषङ्गः। 'अवतारान्तरकृतमपि चरितं कृष्णचरितमेव, तस्यावतारित्वात् इत्याशङ्क्याह—मानुषमिति। मानुषं लोकं भूलोकमासाद्य प्राप्य तज्जातिं मानुषजातिमनुरुन्धत अनुकुर्वत इत्यर्थः॥ ३॥ एवं सम्प्रार्थित आह—कदाचिदिति। 'त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्त' इति ज्ञापकात् तादृशस्यैवोत्थानसम्भवाच्च मासत्रयवयसि सति उत्थानं नामोत्तानशायिनः शिशोस्तिर्यक्शयनसामर्थ्योद्गमः, तस्मिन् सति करणीये कौतुकाप्लवे उत्सवाभिषेके तस्मिन्नेव दिने जन्मर्क्षस्य रोहिणीनक्षत्रस्य योगे च सति महोत्सवे समवेतानां मिलितानां पुरस्त्रीणां मध्ये वादित्रैर्गीतैः ब्राह्मणानां मन्त्रवाचकैश्च सह ब्राह्मणैः क्रियमाणं प्रोक्षणरूपं सूनोरभिषेचनं सती यशोदा चकार इत्यन्वयः॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सप्तमे शकटोत्क्षेपस्तृणावर्त्तवधस्तथा। मुखे विश्वेक्षणं तत्र श्लोकाः सिन्धुह्लयः (३८)॥
उवाचयुग्म (२) च चतुश्चत्वारिंशदनुष्टुभः (४४)॥ ७॥

बालचरितसमापनमिवाशङ्क्य पुनः प्रेरयति–येन येनेति द्वयम्॥ हे प्रभो! यद्यपि भगवान् ईश्वरः हरिः येन येन मत्स्याद्यवतारेण यानि यानि कर्माणि करोति तानि नोऽस्माकं श्रोतॄणां कर्णयोः रम्याणि शब्दत एव सुखावहानि तथा मनोज्ञानि अर्थतो मनसो हर्षकराणि च भवन्त्येव। तथापि मन्यसे चेत् मद्भृत्योऽयं श्रवणेन कृतार्थो भवतु इति यदि मन्यसे तर्हि यच्छृण्वतः पुंसः पुंमात्रस्य अरतिर्मनोग्लानिः वितृष्णा विविधा तृष्णा च अपैति अपगच्छति। यद्वा। वितृष्णाया तृष्णाया अभावः अपैति रुचिरुत्पद्यत इति। सत्त्वम् अन्तःकरणं च शुद्ध्यति हरौ भक्तिः प्रेमातिशयः तत्पुरुषे भगवद्भक्ते सख्यं चेति सर्वमचिरेणैव युगपत् भवति तदेव हारं हरेश्चरितं मनोहरं हारवद्धृदये धार्यं वा वद। यद्वा। येन येनावतारेण हरिर्यानि यानि कर्माणि करोति तानि सर्वाण्यपि मनोज्ञान्येव। किंच यत्किंचिदपि हरिचरितं शृण्वतः पुंसः अरतिनिवृत्त्यादिफलं भवत्येव तथापि बालचरितमल्पमेव कथितमतः पुनरपि तदेव बाल्ये कृतमेव हारं हरेश्चरितं वदेति। शेषं प्राग्वत्॥ १–२॥ अथेति॥ अथ तस्मात् मानुषं लोकं भूलोकमासाद्य तज्जातिं मनुष्यजातिम् अनुरुन्धतः श्रीकृष्णस्य पूर्वोक्तात् अन्यत् अपि अद्भुतमाश्चर्यजनकं तोकाचरितं बालचरितं वद॥ ३॥ कदाचिदिति॥ त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्त इति ज्ञापकात्तादृशस्यैवोत्थानसंभवाच्च कदाचित् मासत्रयवयसि सति "मास्यस्य चरणावुदक्" इत्यत्र तु मासा परिच्छेदका यस्येति व्याख्येयम्। उत्थानं शिशोरङ्गपरिवर्त्तनमिति स्वामिपादाः। उत्तानशायिनः शिशोस्तिर्यक्शयनसामर्थ्योद्गम इति चक्रवर्ती बहिर्निष्क्रमणमित्यन्ये। तस्मिन्सति करणीये औत्थानिके कौतुकाप्लवे उत्सवाभिषेके तस्मिन्नेव दिने जन्मर्क्षस्य रोहिणीनक्षत्रस्य योगे च सति नाक्षत्रमासारम्भे इति तोषणी। महोत्सवे समवेतानां मिलितानां

योषितां व्रजस्त्रीणां मध्ये सती यशोदा वादित्रैर्गीतैः द्विजानां ब्राह्मणानां मन्त्रवाचकैश्च सह ब्राह्मणैः क्रियमाणं प्रोक्षणरूपं सूनोरभिषेचनं चकार ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं सप्तमेऽध्याये शकटविपरीतकरणं तृणावर्त्तहननं स्वमुखे मातुर्विश्वदर्शनं एतानि हरिचरित्राणि कथ्यंते तत्रादौ राजा पृच्छति येनेति। येन येन वराहाद्यवतारेण यानि यानि करोति तानि तानि कर्माणि नः कर्णरम्याणि श्रोतृकमनीयानि मनोहराण्येव च संति ॥ १ ॥ यदिति यत् हरिचरित्रं शृण्वतः श्रूयमाणस्य पुंसो नरसात्तस्य अरतिः श्रवणे अत्रेतिः अपैति गच्छति विषयभोगे विविधा तृष्णा चापैति शीघ्रं सत्त्वं अंतःकरणं च शुद्ध्यति हरौ भक्तिः तस्य हरेः संबंधिनि पुरुषे भक्तसमूहे सख्यं च भवेत् तदेव हारं हरेः कर्मवरिष्ठं मन्यसे चेत्तर्हि वद ॥ २ ॥ आसाद्य प्राप्य तज्जातिं मनुष्यजातिं अनुरुंधतः स्वापरिमितमैश्वर्यं प्रकाशं च संकुच्य तदनुसारेण वर्त्तमानस्य अन्यदपि चरित्रं वद ॥ ३ ॥ तत्प्रश्नोत्तरं कुर्वन् श्रीशुक उवाच कदेति कदाचित् कस्मिन्श्चित् समये उत्थानं बालस्यांगपरिवर्त्तनं तत्र कर्त्तव्ये औत्थानिके कौतुकाप्लवे उत्सवाभिषेके तथा तस्मिन्नेवाहिजन्मर्क्षस्य जनिनक्षत्रस्यापि योगे संयोगे अतिमहाकौतुके समवेतयोषितां मिलितव्रजवनितानां मध्ये सती यशोदा वादित्राणि च गीतानि च मंत्रवाचका मंत्रोच्चारकार्ये द्विजाश्च वादित्रगीतद्विजमंत्रवाचकाः राजदंतादित्वात्पूर्वप्रयोगर्हस्य मंत्रवाचकशब्दस्य परप्रयोगः तैः शोभमानं अभिषेचनं मंत्रैः जलप्रोक्षणं चकार ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अनः समुत्क्षिपन् व्योम्नि तृणावर्त्तं क्षिपन्नधः । स्वास्ये प्रदर्शयन् विश्वं सप्तमेऽक्रीडदीश्वरः ॥ १ ॥

एवं पूतनानिर्हरणमुक्तिप्रदानादिरूपं भगवदार्भकचेष्टितमभिधायाथ चेष्टितान्तराणि विवक्षुस्तावद्राज्ञः पिपृच्छिषामुत्पादयति । एवमिति । एवंविधानि दुष्टनिर्हरणतन्मुक्तिप्रदानादिरूपाणि, अन्यान्यपि, बहूनि बालचेष्टितानि कृत्वेति शेषः। सयोषितां सस्त्रीकाणां गोपालानां, अनिशं प्रतिदिनं, आनन्दं च कुर्वन्, भगवानिति शेषः। नन्दगोकुले, वव्रते ॥ १ ॥ तर्हि तानि वद यानि भगवानकरोदिति पिपृच्छिषुस्तावदितरावतारचेष्टितेभ्यः श्रीकृष्णावतारचेष्टितानां वैलक्षण्यं वदन् पृच्छति राजा । येनेति । भगवान् ईश्वरः, हरिः, येन येन, अवतारेण मत्स्यादिप्रादुर्भावेण, यानि यानि कर्माणीति शेषः। करोति चकारेत्यर्थः। हे प्रभो, तानि नोऽस्माकं, कर्णरम्याणि श्रोत्रसुखावहानि, तथा मनोज्ञानि मनःप्रीतिकराणि च, भवन्तीति शेषः ॥ २ ॥ यदिति । तथापि, यत् कृष्णचेष्टितं, शृण्वतः पुंसः पुरुषमतस्य, अरतिर्मनोग्लानिः, बुद्धेरस्वास्थ्यं वा, अपैति अपगच्छति । तथा, वितृष्णा विविधा शब्दादिविषयस्पृहा च, अपैति । अचिरेण सद्यः श्रवणसमकालमेवेत्यर्थः। सत्त्वमन्तःकरणं च, शुद्ध्यति । हरौ भगवति, भक्तिरनुरागविशेषः, तत्पुरुषेषु भगवद्भक्तेषु, सख्यं च भवति । अतः, तदेव, भूयः पुनः, विपुलं यथा तथा वा, मन्यसे चेत् वक्तुमिष्टं मन्यसे चेदित्यर्थः। तर्हि, वद । हारमिति पाठे मनोहारि चेष्टितमित्यर्थः। सारमिति पाठे साररूपं चेष्टितमित्यर्थः ॥ ३ ॥ किं तदित्यत्राह । अथेति । मानुषं लोकं आसाद्य, मानुषाकारं प्राप्येत्यर्थः। तज्जातिं मानुषजातिं, अनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः कृष्णस्य, अन्यत् अपि, पूतनानिर्हरणादिबालचेष्टितादितरदित्यर्थः। अद्भुतमाश्चर्यकारकं, तोकाचरितं बालचेष्टितं, स्यात्। तद्वदेति शेषः। अथ साकल्येन, वदेत्यनुषङ्गः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

येन येनेति : १०.७.१.

सर्वं यद्यपि पापहारि चरितं श्रैशं तथाप्यादराद् गायेद्वा शृणुयात्तदेव सुजनो यत्कर्णचित्तप्रियम्।
शृङ्गाराद्भुतवीरहास्यजनकं भक्तिप्रधानं च यत् स्यादेवं बहुधाऽऽशयोऽवनिपतेः प्रश्नाक्तितो दृश्यते ॥ १ ॥

कृष्णप्रिया

हे प्रभो ! हरि, ईश्वर, भगवान् जिन जिन अवतारों से जिन जिन चरित्रों को करते हैं वे चरित्र महापुरुषों के मुख से श्रवण करने से हमारे कर्णन्द्रिय को रसान्वित करने वाले हैं ॥ १ ॥ भगवान् में भक्ति और भगवान् के भक्तों में मैत्री पैदा होती है। जो आप चरित्रों को ऐसा मनोहर समझो तो कहो, अथवा ऐसे चरित्रों को आप योग्य समझो तो ऐसे प्रकार से वर्णन करो जैसे वे मनोहर हों ॥ २ ॥ भगवन् इन पाँच प्रश्नों के उत्तर के पूर्व में भगवान् श्रीकृष्ण का कोई दूसरा अद्भुत बाल-चरित्र कहिए, जो बाल-चरित्र मनुष्य लोक में आकर उन्होंने बाल जाति के अनुकूल किया हो ॥ ३ ॥ तीन मास की वय में पगों को उठाकर गाड़ी उलट देने से सब को आश्चर्य चकित करते हुए लाल बाल के जन्मनक्षत्र के दिन सब गोपियों के साथ माता यशोदा वाद्यगीत द्वारा ब्राह्मणो द्वारा वेद मन्त्रों द्वारा बालगोपाल का अभिषेक करने लगी ॥ ४ ॥

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ।
[1]अन्नाज्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः संजातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥
औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान् पूजयती व्रजौकसः ।
नैवाशृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥
[2]अधः शयानस्य [3]शिशोरनोऽल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय[4] औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कृतमज्जनादिकम् अन्नाद्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः सुपूजितैः विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सञ्जातनिद्राक्षं (तं बालं) नन्दस्य पत्नी शनैः अशीशयत् ॥ ५ ॥ औत्थानिकौत्सुक्यमनाः मनस्विनी सा समागतान् व्रजौकसः पूजयती सुतस्य रुदितं न एव अशृणोत् वै स्तनार्थं रुदन् चरणौ उदक्षिपत् ॥ ६ ॥ अधः शयानस्य शिशोः अल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् अनः व्यवर्तत ॥ ७ ॥ यशोदाप्रमुखाः याः औत्थानिके कर्मणि समागताः व्रजस्त्रियः नन्दादयः च शकटं दृष्ट्वा अद्भुतदर्शनाकुलाः (सन्तः) स्वयं कथं विपर्यगात् इति ब्रुवन्तः अतिविषादमोहिताः जनाः आर्तवत् समन्तात् परिवव्रुः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अन्नादिभिः सुपूजितैर्विप्रैः कृतमंगलम् । संजातनिद्रे अक्षिणी यस्य तमशीशयच्छायितवती । शकटस्याधस्तात्प्रेंखे ॥ ५ ॥ उदक्षिपदूर्ध्वं चालितवान् ॥ ६ ॥ तदधःशयानस्य शिशोरल्पकश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योंघ्रिस्तेन हतमनः शकटं तदाकारोऽसुरः व्यवर्तत विपरीतमपतत् । कथम् । विध्वस्तानि नानारसवंति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतातिरिक्तकांस्यादिमयानि भाजनानि यथा भवंति तथा । चक्रे च अक्षश्च चक्राक्षः व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन् विभिन्नः कूबरो युगंधरो यस्य तच्च तच्च यथा भवति तथा व्यवर्ततेति ॥७॥ अद्भुतदर्शनेनाकुला बभूवुः । तदेवाह । कथमिति । विपर्यगाद्विपरीतमपतदिति ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कृतस्वस्त्ययनं कृतमांगल्यवचनम् । शकटस्याधस्तात्प्रेंखे इत्ययमर्थः स्वामिचरणैरक्षरैर्न गृहीतः किन्तु "कथं स्वयं वै शकटं व्यपर्यगात्" इत्युक्तेरिति ज्ञेयम् । शनैरिति । निद्राभंगशंकया क्रोडे निस्पंदं धृत्वैव स्वयमपि शायित्वाऽशीशयत् । प्रेंखे आंदोलनयंत्रे ॥ ५ ॥ औत्थानिके औत्सुक्यं मनो यस्याः सा तथा ॥ ६ ॥ तदधः शकटाधोदेशे । कुप्यम् । 'ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः । ताभ्यां हेमरूप्याभ्याम् । यद्वा—द्वीपांतरीयमृद्रचितानि पात्राणि कुप्यानि । अक्षश्चक्रप्रोतो लोहादिरचितो दंडः । 'अनः शयानस्य' इति पाठं तु विजयध्वजो व्याचख्यौ । क्वचित्तु 'शिशोरनोल्पके' इति पाठः । बहुषु पुस्तकेषु 'शिशोरथाल्पके' इति पाठस्तत्रान इति शेषः । शकटं व्यपर्यगादिति वक्ष्यमाणत्वाद्वा ज्ञेयम् । 'शकटासुरभंजनः' इति ब्रह्मांडोक्तेः शकटस्यासुराविष्टत्वेन भूप्रविष्टचक्रत्वमलक्ष्य तं पादाग्रेणाहन् अंतर्द्धाने नाविष्टमंतर्द्धानेनैवाहन् बाललीलायामपि निजैश्वर्यदर्शनाच्छ्रीकृष्णमहिमाऽद्भुततम एव तदुक्तं विष्णुधर्मेऽर्जुनेन "तालोच्छ्रिताग्रगुरुभारसारभायामविस्तारवदद्य जातः । पादाग्रविक्षेपविभिन्नभांडः चिक्षेपः कोन्यः शकटं यथा त्वम् ॥" इति ॥ ७ ॥ अद्भुतदर्शनाकुला आश्चर्यदर्शने त्रस्ताः । तदेवाद्भुतमेव । इतोऽग्रेऽर्द्धश्लोकोऽधिकोस्ति बहुषु पुस्तकेष्वनुपलंभादिति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

नन्दस्य पत्नीति तद्वदौदार्यं तत्र तस्यानुमतिः साहचर्य्यञ्च सूचितं कृतं तया गोपीभिश्च मज्जनादिकं यस्य तम् आदि-शब्दाद्गोरोचनातिलकवेशादिपूर्वोक्ताभिषेकोत्पत्त्यन्तर्भाव्यते स्वस्त्ययनं स्वस्तिवाचनादि मङ्गलकर्म अन्नाद्यम् अन्नं तदुपकरणञ्च आज्यमिति केचित् स्रक् रत्नादिमाला अभीष्टम् आत्मनो विप्राणां वा यस्य यत्प्रियं द्रव्यं धेनुविशेषणं वा शनैरिति सुकुमारतया निद्राभङ्गशङ्कया च ॥ ५ ॥ अश्रवणे हेतुः, मनस्विनी परमोदारचित्तेत्यभ्यागतपूजायां श्रद्धा दक्षता सावधानता चोक्ता तथा

१. अन्नादिवासः—वीर. । २. अनः—विज. । ३. शिशोरनल्पक—वीर. ; शिशोरथाल्पक—विज. । ४. स्त्रियो ह्यौत्थानिके—वीर. ।

औत्थानिके परमोल्लासमयपुत्रोत्सवविशेषे औत्सुक्यं कर्मसाङ्गतार्थमुत्कण्ठा वैयग्र्यं यस्य तथाभूतं मनो यस्याः तथाभूता च सती समागतान् सर्वानेव व्रजवासिनो जनान् गन्धमाल्याभरणादिभिः पूजयन्तीति अतो ये च वक्ष्यमाणा बालास्तत्रासंस्ते तथा पुत्रपार्श्वे रक्षिता एव प्रायशो भवेयुरिति ज्ञेयम्। एवकारेण किञ्चिदपि तच्छ्रवणं प्रत्याख्यातं वै निश्चये तेन च सत्यमेतदिति सशपथं तदेव दृढीकृतम् अन्यथा शेषकृत्यपरित्यागेनाप्यवश्यमागता स्यादिति भावः। स च रोदनेनापि मातरमप्राप्य स्तनार्थी रुदन्नेव चरणावूर्ध्वं मुहुरुत्क्षिप्तवानिति बाल्यलीलासौष्ठवमुक्तम् "शकटासुरभञ्जनः" इति ब्रह्माण्डपुराणोक्तानुसारेण शकटाविष्टस्य दैत्यस्य वधार्थमिति लभ्यते तच्चानुषङ्गिकमेव भवतु श्रीभगवच्चरितस्य स्वभावत एव सर्वसमाधानशक्तिमयत्वात् रोदनं च मातुः स्तन्यपानार्थं स्तनार्थीत्युक्तेः अस्य तन्मनःस्थितभावस्य मुनीन्द्रेणानुस्मरणाद्यथार्थमेव चेदं तच्च तद्वात्सल्यवश्यतामयबाल्यलीलावशेन ज्ञेयम् भक्तभाववश्यत्वात् "लोकवत्तुलीलाकैवल्यात्" इति सिद्धान्तः ॥ ६ ॥ अधः गृहाद्बहिर्महाशकटस्याऽधस्ताद्बालपर्यङ्किकायां शयानस्य अल्पकेन अत्यल्पप्रमाणन प्रवालतोऽपि मृदुना च अङ्घ्रिणैकेन हतं हननमुद्रया स्पृष्टमात्रमित्यर्थः। यद्वा हन्तेर्गत्यर्थत्वात् गतं प्राप्तमित्यर्थः। तच्च असुराविष्टत्वाच्छकटस्वस्योच्चस्यापि भूमिप्रविशच्चक्रत्वान्निकटप्राप्तत्वेन भगवद्विग्रहस्य विभुतास्वभावेन वा सम्भाव्यम् असुरस्त्वन्तर्द्धानेन तदाविष्ट इत्यन्तर्द्धानेनैव विलयं प्रापित इति ज्ञेयम् एवं बाल्यलीलायामेव तदव्यभिचारेण निजैश्वर्यविशेषाविर्भावाच्छ्रीकृष्णस्य सर्वतो विशिष्टो महिमा दर्शितः यतः स्वयं श्रीविष्णुरूपेण नृसिंहाद्यवतारेण चासुरघातादिकं विग्रहाद्याटोपविक्रमविशेषेणैव श्रीरघुनाथाद्यवतारेण च बाल्ये केवलं लौकिकलीलैव अत्र तु विचित्रमधुरलौकिकबाल्यलीलानुगतमेवैश्वर्य्यमिति परमाद्भुतभगवत्ता माधुरी सिद्धा श्रीविष्णुधर्मेपि तदुक्तं श्रीमदर्जुनेन—

"तालोच्छ्रिताग्रं गुरुभारसारमायामविस्तारवदद्य जातः। पदाग्रविक्षेपविभिन्नभाण्डं विक्षेप कोऽन्यः शकटं यथा त्वम्" ॥

इति अत्र तालशब्देन षष्टिहस्तप्रमाणपरिणततालवृक्ष एवोच्यते बृहत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात् तथा श्रीब्रह्मणा द्वितीयस्कन्धे

"तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायाः त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथाऽर्जुनयोर्न भाव्यम्" ॥ इति

अस्यार्थः तोकेन बालेन सता उलूकिकायाः पूतनायाम् अन्तरगतेन अर्जुनयोरेव मध्यप्राप्तेन कृष्णेन इतरथा श्रीकृष्णस्य भगवत्ताविशेषप्रकटनं विना न सम्भाव्यं न सम्भवेदित्यर्थः। अतः शकटस्यातिबृहत्तमत्वात् मातापि तदधः पुत्रं शायितवतीति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ याः श्रीयशोदाप्रमुखाः याश्च व्रजस्त्रियः औत्थानिके पर्वणि समागताः ये च नन्दादयस्ते सर्वे दृष्ट्वा शकटविपर्ययं वीक्ष्य तस्याद्भुतस्य उत्पाततया शङ्कितस्य दर्शनेन व्याकुलचित्ताः सन्तः कथं शकटं विपर्ययगादित्यूचुरिति शेषः। पर्वणीत्यत्र कर्मणीति क्वचित्पाठः वै विस्मये ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

नन्दस्य पत्नीति तत्र तस्यानुमतिः साहाय्यञ्च तथा तस्या अपि तद्वदैश्वर्य्यं सर्व्वानन्दकत्वञ्च सूचितम्। कृतं तया गोपीभिश्च मज्जनादिकं यस्य तम्; आदि-शब्दाद्गोरोचनातिलकसौवर्णाभरणवेषादि। तथा च वाराहे गोपीतीर्थप्रसंगे एतल्लीलानन्तरमेव—'गोपीमंगलपाठेन स्नापितो हेमकुण्डलः' इति स्वस्त्ययनं रक्षाबन्धनादिमंगलकर्म्म। अन्नाद्ययोर्भक्ष्यभोज्यभेदेन वा भेदः। आज्यमिति केचित्, ततश्च घृतम्; सुगुरत्नादिमाला, अभीष्टमात्मनो विप्राणां वा यस्य यत् प्रियं द्रव्यम्, धेनुविशेषणं वा। संजातनिद्रे अक्षिणी यस्येति निद्रां प्रति श्रीभगवता स्वनेत्रयोर्वासप्रदानात्। तच्च भविष्योत्तरं शयनप्रसंगे व्यक्तमेव। यद्वा, शकटभञ्जनाय तदधः शयनार्थं निद्रयेवाक्षिमुद्रणात्। शनैरिति सुकुमारतया निद्राभंगशंकया वा ॥ ५ ॥ मनस्विनी परमोदारचित्तेत्यभ्यागतपूजायां श्रद्धा दक्षता चोक्ता; यद्वा, सर्व्वानुसन्धाननिपुणापि, किंवा, श्रीकृष्णसंलग्नचित्तापि नैवाश्रृणात्। कुतः? औत्थानिके पुत्त्रार्थोत्सवविशेषे औत्सुक्यं वैयग्र्यमुत्कण्ठा वा यस्य तथाभूतं मनो यस्याः सा; अतः समागतान् सर्व्वानेव व्रजवासिनो जनान् गन्धपुष्पादिभिः पूजयन्त्यतो निजदासबालकानेव पुत्त्रपार्श्वे रक्षितवतीति ज्ञेयम्। एवकारेण कथञ्चित् किञ्चिदपि तच्छ्रवणं नाभूदिति बोधितम्। वै प्रसिद्धम्, सत्यं वेति सशपथं तदेव दृढ़ीकृतमन्यथाशेषकृत्यपरित्यागेनाप्यवश्यमागता स्यात्। स च रोदनेनापि मातरमप्राप्य स्तनार्थी सन् रुदन्नेव चरणावूर्ध्वं प्रसारयामासेति बाल्यलीलासौष्ठवमुक्तम्। केचित्तु 'शकटासुरभञ्जन' इति ब्रह्माण्डपुराणोक्तानुसारेण शकटाविष्टस्य दैत्यस्य वधार्थमित्याचक्षते—(कृष्णस्य) रोदनञ्च मातुः प्रेमवश्यतया, बुभुक्षया वा मातुः स्तन्यपानार्थम्,—स्तनार्थीत्युक्तेः; निजैश्वर्य्याच्छादनार्थं तथा सर्व्वेषां तत्रत्यानां स्नेहभरवृद्धये चेति। इत्थं श्रीभगवतश्चरितमेकमपि बहु प्रयोजनकरम्; तच्च जगतः क्षेमायैवेत्युक्तमेव ॥ ६ ॥ अधः शकटासुरखण्डनेच्छया गृहाद्बहिर्महाशकटस्याधस्ताद्बालपर्य्यंकिकायां शयानस्याल्पकेन बाल्याविष्कारादत्यल्पप्रमाणेन, अतएव प्रवालतोऽपि मृदुनाङ्घ्रिणैकेन हतं प्रहतम्। यद्वा, हन्तेर्गत्यर्थाद्गतं प्राप्तं स्पृष्टमित्यर्थः। विध्वस्तेत्यादि तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, कथम्भूतम्? सदित्येवं तस्यैव विशेषणम्, तस्य च महाशकटस्यासुराविष्टस्यापि विध्वस्तेत्यादि सूचितम्। महावेगेन विपरीतपतनं श्रीभगवतो विचित्रलीलाविष्कारं बोधयति। एवं बाल्यलीलायामेव तदव्यभिचारेण निजैश्वर्य्यविशेषाविर्भावाच्छ्रीकृष्णस्य सर्व्वतो विशिष्टो महिमा दर्शितः, यतः स्वयं

श्रीविष्णुरूपेण श्रीनृसिंहाद्यवतारेण चासुरघातादिकं युद्धाटोपविक्रमविशेषेणैव, श्रीरघुनाथाद्यवतारेण च बाल्ये केवलं लौकिकलीलैव । अत्र च विचित्रम्, मधुरलौकिकबाल्यलीलासद्मनि तमेवैश्वर्यविशेषप्रकटनमिति समग्रभगवत्ता माधुरी सिद्धा, अत एवोक्तं श्रीब्रह्मणा द्वितीयस्कन्धे (भा० २।७।२७)—'तोकेन जीवहरणं यदुलुकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः । यद्रिंगतान्तरगतेन दिविस्पृशोन, उन्मुलनन्त्वितरथाऽर्जुनयोर्न भाव्यम् ।।' इत्यस्यार्थः—तोकेन बालेन सता, उलुकिकायाः पूतनाया अन्तर्गतेनाऽर्जुनयोरेव मध्यप्राप्तेन कृष्णेनेतरथा श्रीकृष्णस्य भगवत्ताविशेषप्रकटनं विना न भाव्यं न सम्भाव्यम् । भाविकथनाद्भविष्यन्निर्देशो न सम्भवेदित्यर्थः । अतएव तत्रैवादौ (भा० २।७।२६)—'भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः, क्लेशव्ययाय कलयासितकृष्णकेशः । जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः, कर्म्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ।।' इत्यस्यार्थः,—सुरेतरा असुरांशोद्भूता राजानस्तेषां सैन्यैर्विमर्दिताया भारेण पीडितायाः, कलया श्रीबलदेवेन सह सिता वेणात्रयाबद्धाः कृष्णाः केशा येन सः । अनेन सौन्दर्य्यं सदा दुग्धवधोद्यतत्वञ्चोपलक्षितम् । यद्वा, कलयांशेन यः सितकृष्णकेशो नारायणोऽपि यस्यांशः स इत्यर्थः । जनैर्जीवैरुपलक्षयितुमप्यशक्यो मार्गोऽपि यस्य सोऽपि जातः सन् आत्ममहिमा साधारणनिजमाहात्म्यभगवत्तालक्षणं तदुपनिबन्धनानि तदभिव्यञ्जनार्थानि कर्म्माणीति ।। ७ ।। दृष्ट्वा तथाभूतं शकटम्; दृष्ट्वेति स्वदृष्टिगोचरे शायितत्वादतएव शकटस्याधः, न तु गृहान्तरिति तत्त्वम् । याः समागतास्ताः सर्व्वा एवेत्यर्थः । यद्वा, याश्चान्याः समागता अद्भुतस्याकस्मान्महाशकटनिवर्त्तनस्य दर्शनेनाकुला उत्पातशंक्या व्याकुलचित्ताः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, परमाश्चर्यस्य श्रीकृष्णस्य तद्बाल्यचरितस्य वा सदा दर्शनेन प्रेमविवशाः, अतः कारणनिर्द्धाराशक्त्या शकटं स्वयं वृषाद्याघातं विना कथं विपर्य्यगादित्यूचुरिति परेणान्वयः । वै विस्मये ।। ८ ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अशीशयत् शायितवती ।। ५ ।। औत्थानिकम् उत्थापनमङ्गलम् ।। ६ ।। अनः शकटं व्यवर्त्तत विपर्यस्तमभवत् रसानां कुप्यानां भाजनं रसकुप्यभाजनं हेमव्यतिरिक्तं वस्तु कुप्यं स्थापितं शकटमिति शेषः ।। ७-१३ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अन्नाद्यैरन्यैर्वासोभिः स्रग्भिरन्यैश्च स्वाभीष्टैर्धेनुभिश्च सुपूजितैः विप्रैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य कृतं मज्जनादिकं यस्य आदिशब्देनाङ्गरक्षादिकं विवक्षितं सञ्जातनिद्रे अक्षणी यस्य तं सुतं नन्दस्य पत्नी यशोदापि तं शनैः निद्राभङ्गभयादिति भावः । अशीशयत् शाययामास ।। ४-५ ।। औत्थानिके उत्सवे एवौत्सुक्ययुक्तं मनो यस्यास्तथाभूता मनस्विनि औदार्यप्रवणमनाः सा यशोदा समागतान् व्रजौकसः पूजयन्ती सुतस्य रुदितं नाशृणोन्न शुश्राव स हि स्तनार्थी रुदन् चरणावुदक्षिपदूर्ध्वमचालयत् ।। ६ ।। तदाऽधः व्योम्नि आपततोऽसुरात्मकस्य शकटस्याधोलम्बमानप्रेङ्ख इत्यर्थः । शयानस्य शिशोः श्रीकृष्णस्याल्पकश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतम् अनः शकटं व्यवर्तत विपरीतमवर्तत, तदेव दर्शयितुं विशिनष्टि–विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतव्यतिरिक्तकांस्यादिमयानि पात्राणि यस्मिन् व्यत्यस्ते चक्रेऽक्षश्चक्राधारदारुविशेषश्च यस्मिन् कूबरो युगन्धरो यस्मिंस्तच्च ।। ७ ।। दृष्टेति यशोदाप्रभृतयो व्रजस्त्रियो याश्चौत्थानिके कर्मणि समागतास्ताः नन्दादयो गोपाश्च दृष्ट्वाऽद्भुतदर्शनेनाकुलाः सम्भ्रान्ताः कथमेतच्छकटं स्वयमेव विपर्यगाद्विपरीतमभूत् ।। ८ ।।

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अन्नाद्यवास आदयो येषां ते तथा तैः विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं माङ्गल्यवचनं यस्य स तथा सञ्जाता निद्रा ययोस्ते तथा ते अक्षिणी यस्य स तथा तम् अशीशयत् शायितवती शयनगतमकारयदित्यर्थः ।। ५ ।। कदा तु उत्थानकम् उत्सुकयति पश्यतीति उत्थानकौत्सुक्यं स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः तादृशं मनो यस्याः सा तथा मनस्विनी प्रशस्तमनाः उदक्षिपत् क्षिप्रवान् ।। ६ ।। अथ उत्क्षेपानन्तरम् अनः शकटं व्यवर्त्तत विपरीतमधोमुखमपतन् अल्पकौ अगुनरौ प्रवालवन्मृदू अङ्घ्री अल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रो ताभ्यां हतं पीडितं ध्वस्तानि इतस्ततो विक्षिप्तानि नानारसपूर्णकुप्यात्मभाजनानि यस्मिन् तत्तथा कुप्यानि द्वीपान्तरस्थमृद्विशेषरचितातिचक्रं रथाङ्गं वृत्तदारु अक्षो नाम चक्रप्रोतदारुविशेषः कूबरो युगन्धरः व्यत्यस्तौ न्यञ्चितौ चक्राक्षौ विभिन्नो विशीर्णः कूबरश्च यस्य तत्तथा ।। ७ ।। तद्विपर्यगात् विपरीतं गतम् ।। ८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अन्नाद्यम् अन्नं तदुपकरणञ्च ।। ५ ।। स्तनार्थीति बाल्यलीलावेशो दर्शितः ।। ६ ।। अध इति शकटासुरभञ्जन इति । ब्रह्माण्डपुराणात् असुरावेशेनैव भूमौ प्रविशच्चक्रत्वादुच्चस्यापि शकटस्याल्पकेन चरणेन स्पर्शो ज्ञेयः ।। ७-९ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अन्नादिभिरन्नादिदानेन सुष्ठुपूजितैर्विप्रैः कृतमङ्गलं सञ्जातनिद्रे अक्षणी यस्य तं बालं कृष्णं शनैरिति निद्राभङ्गशङ्कया क्रोडे निष्पन्दं धृत्वैव स्वयमपि शयित्वा अशीशयत् बृहत्प्राङ्गणैकदेशस्थस्य शकटस्याधः स्थिते पल्यङ्के निश्चलं निःशब्दं च

शाययामास। ततश्च निद्रापूर्तिं ज्ञात्वैव स्वयमुत्तस्थाविति शनैः पदेनैव द्योतितं ज्ञेयम् ॥ ५ ॥ औत्थानिके उत्सवे औत्सुक्ययुक्तं मनो यस्याः सा मनस्विनी वस्त्रालङ्कारमाल्यगन्धचन्दनतैलसिन्दूरादिकं ददाना व्रजौकसो महोत्सवागतनारीः नैवेति व्रजस्त्रीजनसम्माननवचनप्रतिवचनाद्यावेशवशादित्यर्थः। स्तनार्थीति निद्रान्त एव क्षुधोद्गमादिति भावः। मदीयरोदनशब्देन नावदधासि तिष्ठ त्वद्गृहशकटस्फोटनशब्देनैव त्वामवधापयानीति मात्रे कुप्यन्निव शकटभङ्गार्थमेव चरणौ उच्चिक्षेपेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ ६ ॥ अल्पकश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतमिति तेन वामनावतारस्य कटाहभेदार्थमिव शकटभङ्गार्थं तच्चरणयुगं न वर्द्धितं नापि नृसिंहावतारस्य कठोरहिरण्यकशिपुविदारणार्थमिव जात्यैवातिकठिनमिति भावः। बाल्यादिलीलामाधुर्य्याविरोध्यतिसुदुर्घटम् ऐश्वर्य्यमेतत् कृष्णस्य पूर्णत्वप्रतिपादकं व्यवर्तत विपर्य्यस्तीभूयापतत् विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतातिरिक्तकांस्यादिमयानि पात्राणि यत्र यद्यथा स्यात्तथा व्यत्यस्तानि विपर्य्यस्तानि चक्रे च अक्षाश्च चक्राक्षाः व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन् विदीर्णः कूबरो युगन्धरश्च यत्र तद्यथास्यात्तथा शकटासुरभञ्जन इति ब्रह्माण्डपुराणात् असुरावेशेनैव भूमौ प्रविशच्चक्रत्वादुच्चस्यापि शकटस्य निकटे प्रान्तत्वेनाल्पकेन चरणेन स्पर्शो ज्ञेय इति वैष्णवतोषिणी ॥ ७ ॥ यशोदाप्रमुखाः याश्च व्रजस्त्रियः पर्वणि कर्मणीति च पाठः विपर्य्ययात् विपर्य्यस्तं सदपतदित्यूचुरिति शेषः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य तं शकटस्याधः अशीशयत् शायितवती ॥ ५ ॥ औत्थानिके कर्मणि औत्सुक्ययुक्तं मनो यस्याः सा उदक्षिपत् उद्ध्वर्ममचालयत् ॥ ६ ॥ तदा अल्पकश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतम् अनः शकटं व्यवर्त्तत विपरीतमपतत् तस्मिन् शकटे प्रविष्टः शकटासुरोपि नष्टो ज्ञेयः "शकटासुरविनाशीच" इति वचनात् तदेवाह—विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतव्यतिरिक्तानि कांस्यादिमयानि भाजनानि पात्राणि यथा भवन्ति तथा व्यत्यस्ते चक्रे अक्षश्च यस्मिन् विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्मिन् तच्च तच्च यथा भवति तथा व्यवर्त्तत ॥ ७ ॥ अद्भुतत्वोऽप्यत्याश्चर्यरूपस्य अकस्मात् शकटविपरीतपतनस्य दर्शनेन आकुला बभूवुः, तदाह—कथमिति। विपर्ययाद्विपरीतमपतत् ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अन्नाद्यैस्तद्दामैः सुपूजितैर्विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सञ्जातनिद्राक्षं बालं बृहत्प्राङ्गणैकदेशस्थितस्य शकटस्याधःस्थिते चित्रपर्यङ्के शनैरशीशयत् निद्राभङ्गशङ्कितातियत्नाच्छाययामासेत्यर्थः ॥ ५ ॥ औत्थानिके तस्मिन्नुत्सवे औत्सुक्यं तत्साङ्गतार्थोद्योगस्तद्युक्तं मनो यस्याः सा समागतान् तन्महोत्सवागतान् व्रजजनान् वस्त्रालङ्कारमाल्यगन्धादिभिः पूजयन्ती नन्दस्य पत्नी तत्पूजनावेशात् विनिद्रस्य सुतस्य रुदितं नैवाशृणोत् मनस्विनी महोदारचित्ताऽभ्यागतपूजने श्रद्धादक्षतावधानवतीत्यर्थः। तदा स सुतः स्तनार्थी सन् रुदन् चरणावुदक्षिपत् क्षुधितस्य मे क्रन्दनशब्दं न शृणोषि तिष्ठ गृहस्थितबृहच्छकटभङ्गं श्रोष्यसीति तस्यै कुप्यन्निव तद्भङ्गाय पादावुद्ध्वं चालितवानिति भावः। अत्र स्तनार्थीत्युक्तं तां स्तन्यकाम इति वक्ष्यते तेन तत्पाने तात्पर्यमुक्तं बोध्यम् ॥ ६ ॥ शिशोस्तस्याल्पकाभ्यां प्रवालमृदुभ्यामङ्घ्रिभ्यां हतं ताडितं सदनः शकटं व्यावर्त्तत उत्तानमपतत् विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि कांस्यादिपात्राणि तद्यथा स्यात्तथा स्वर्णरजताभ्यामन्यत् कुप्यमुच्यते व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा विदीर्णः कूबरो युगन्धरश्च यत्र तद्यथा स्यात्तथा व्यवर्त्तत शकटोऽयं रसपूर्णपात्रनिधानार्थो महानन्तः पुरचत्वरस्थस्तं कश्चित् कंसभृत्योऽन्तर्द्धानेनैवाविश्य स्थितस्तः क्रमाद्भूमिं प्रविशच्चक्रत्वेनोच्चस्यापि शकटस्य तदङ्घ्रिभ्यां स्पर्शः सोप्यन्तर्द्धानेनैव भयं प्रापित इति तन्नामस्तोत्रात् ॥ ७ ॥ शकटं कथं विपर्ययादित्यूचुरिति शेषः ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

औत्थानिककौतुकाप्लवे उत्थानं शिशोरङ्गपरिवर्तनं तत्कालिकं कौतुकं कुलपरम्परागतमङ्गलं तन्निमित्तको य आप्लवः स्नपनं तस्मिन्कर्तव्ये। कौतुकं चाभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः। परम्परा समायातमङ्गले च कुतुहले। विवाहसूत्रगीतादिभोगकामेषु च स्मृतमिति विश्वाद्योग्यार्थोऽपि ज्ञेयः। तत्रापि जन्मर्क्षं रोहिणीनक्षत्रं तद्योगेऽपि जाते सति समवेतयोषितां मिलितललनानां मध्ये सती स्वयं विद्यमाना नन्दस्य पत्नी वादित्रगीतैः सहिताश्च ते द्विजेषु ये मन्त्रवाचकास्तैर्द्विजाश्च ते मन्त्रवाचकाश्चेति वा तैः सह सूनोरभिषेचनं चकार तैः कारयामासेति वा। समवेतयोषितामुत्थापनकौतुकाप्लव इति च पाठः। कदाचिद्दिने आप्लव इतस्ततः प्लुतिस्तस्मिन्निति वा। क्रमनिम्नमहीभागकविप्लुतिखगाः प्लव इति यादवः। इति व्याकर्तारः ॥ ६ ॥ कृतमज्जनादिकमन्नाद्यधिवासः स्रगभीष्टधेनुभिः। अभीष्टेति काकाक्षिन्यायेन स्रग्धेनुपदाभ्यामभीष्टाः स्रजश्चाभीष्टा धेनवश्चेत्यन्वेति। अन्नमाद्यं येषां तैश्च वासो वस्त्रं च तेन स्रगभीष्टधेनुभिश्च सुपूजितैर्विप्रैः। आद्यं भक्षयितुं योग्यं समीचीनमिति यावत् तच्च तदन्नं। विशेषणस्य परनिपातः। ऋहलोर्ण्यदिति ण्यत्। तच्च स्रगभीष्टधेनुश्च ताभिरिति वा। कृतस्वस्त्ययनं सञ्जातनिद्राक्षं सञ्जाता प्रादुर्भूता निद्रा ययोस्ते अक्षिणी लोचने यस्य तं शनैर्निद्राभङ्गभीत्या मन्दमशीशयत् शाययामास शनैः स्वैरं स्वेच्छमिति यावत्। शनैः शनैश्चरे स्वैर इति विश्वः। अनोऽधस्तनभाग इति शेषः ॥ ७ ॥ औत्थानिकौत्सुक्यमना औत्थानिके प्रारब्धाङ्गपरिवर्तनव्यापारे औत्सुक्यमुत्सुकता यस्य

तत्तन्मनो यस्याः सा। शान्ता मनस्विनी प्रशस्तचित्ता समागतान्व्रजौकसः स्त्रीपुंसः पूजयती सभाजयन्ती सा सुतस्य रुदितं रोदनं नैवाशृणोन्नैव शुश्राव यदा तदा स्तनार्थी रुदंश्चरणावुदक्षिपदुद्धृत्याक्षिपत्। अनुनये कर्तव्ये सतीत्यपि सूचयति वैकारः। यस्य सुतस्य वैरुदितं विगतं रुदितं रोदनं यस्य स विरुदितस्तस्य भावो वैरुदितं कदाऽप्यरोदमानो तातस्य रुदितं न वै अशृणो-दित्यपि योजयन्ति ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं महोत्सवमुक्त्वा बालकविस्मरणार्थं बालकस्य पल्यङ्के स्थापनमाह नन्दस्य पत्नीति, नन्दस्य पत्नी नन्दकार्यमवश्यं करोति, अन्यथा तदभावे ज्ञातीनां वैमनस्यं स्यात्, अतः कृतमज्जनादिकं भगवन्तं सञ्जातनिद्राक्षं शयनं कारितवतीतिसम्बन्धः, आदौ स्त्रीणामाकारणं कृत्वा स्नानस्थानमलङ्कृत्य नानाविधगीतैस्तैलेन नानाविधसुगन्धद्रव्यैः स्नानं कारयित्वाभरणानि परिधाप्य कस्तूरीगोरोचनादितिलकं दत्वा धूपादिना चार्द्रतां दूरीकृत्य सर्वाभरणभूषितं विधाय तदनन्तरं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं कृतं रक्षा-बन्धनादिकं यस्य तादृशं, तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहु दत्वा सन्तुष्टानामाशिषं गृहीत्वा श्रान्ताभिनयने कृते सञ्जातनिद्राक्षं मन्यमाना शयनं कारितवती, अन्नमोदनः, आज्यं घृतं, स्रङ् माला, वासो वस्त्राणि, अभीष्टं प्रार्थितं, धेनवश्च, तैः सर्वैरेव पूजिता ब्राह्मणाः, तेषां ब्राह्मणानां ज्ञानशक्तिसङ्कोचार्थं सञ्जातनिद्राक्षता, अन्यथाशिषो न प्रयुञ्जीरन्, शनैरिति, यथा निद्राभङ्गो न भवति तथा हस्ततलाघवेन, ब्राह्मणानां प्रीतिश्चतुर्विधा भवति, आदौ साज्यभोजनेन, पश्चाद् वस्त्रैः, उभाभ्यां स्वयं पूर्णा भूत्वैहिके यावदपेक्षितं तत् प्रार्थयन्ति, ततो वैदिककर्मसिद्ध्यर्थं धेनवश्च, एवं चतुर्भिः पूजिताः, लौकिकख्यापनार्थं मालया च, पूजिता अन्तःकरणपूर्वकं स्वस्त्ययनं कुर्वन्ति, तेषां यथा परमार्थसर्वदृष्टिस्तिरोहिता भवति तथा सम्यङ् निद्रा ॥ ५ ॥ एवं कृते प्रसङ्गात् सर्वेषामेव बहिर्मुखता जातेत्याहौत्थानिकौत्सुक्यमना इति, ब्राह्मणार्थे निमीलने कृते भगवतो ज्ञानशक्तेर्निमीलितत्वाल्लौकिकप्राबल्यं, अथापि प्रपञ्चात् पूर्वाध्यायाभ्यां निरोधस्योक्तत्वान्नात्यन्तं लौकिके यशोदाया बुद्धिः किन्तु भगवत्सम्बन्धिलौकिके, तदाहौत्थानिके कर्मणि शोभार्थं यदौत्सुक्यमुत्सुकता लौकिकाभिनिवेशस्तत्रैव मनो यस्या इति, भगवत्सम्बन्धस्य गौणत्वात् प्रवाहस्य बलिष्ठत्वाद् भगवद्दर्शनमपि परित्यज्य लौकिकसम्भावनार्थमभिमानवती च जातेत्याह मनस्विनीति, एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन तस्या बहिर्मुखत्वं जातं, स्वकार्यमपि कृतवतीत्याह समागतान् पूजयतीति, ये लौकिकव्यवहारेण सम्यगागतास्तान् पूजयती (पूजयन्ती), मालाकुङ्कुमोपहारैर्बालाः पुरुषाः स्त्रियश्च सर्वे पूजिता इति पुल्लिङ्गनिर्देशः, ते चेत् सन्तो भवेयुः सर्वथा भगवदीयास्तथापि न दोषः स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह व्रजौकस इति, व्रज एव तामसः ओकः स्थानं येषामिति तामसभूयिष्ठ एव स्थिता न तां पदवीमारोढुमर्हन्ति, भगवांस्तु निरोधार्थमेव समागत इति लौकिकप्रकारेणैव प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं स्वासक्तिं करिष्यन् रोदनं कृतवान् मदीया अप्येवं बहिर्मुखा जायन्त इति च ज्ञापयितुं, कल्पान्तरे ज्ञानशक्तितिरोभावे तस्मिन् शकटे दैत्यः कश्चिदाविष्टः स नेतुं समागत इति तन्निवृत्त्यर्थं रोदनं शकटाक्षे-पश्चेत्याहुः, अत एव ब्रह्माण्डपुराणे "शकटासुरखण्डन" इति भगवन्नाम, अत्र तु शकटमात्रं तद्धर्माभिनिवेशो वा, साधारण-धर्माणां परित्यागासम्भवात्, एवं सर्वभावेन बहिर्मुखत्वे भगवता प्रबोध्यमानापि प्रकारं न गृहीतवतीत्याह नैवाशृणोदिति, एवकारेण श्रवणसम्भावनापि निवारिता, ननु श्रुत्वैव कार्यव्यग्रोपेक्षां कृतवतीति कथं न कल्प्यते तत्राह वै निश्चयेन, अन्यथा चित्तमर्धमप्यत्रागतं भवेत् तदाधिकरोदनेनापि समागच्छेत्, अतस्तन्निषेध एव, सुतस्य रुदितं श्रुतं न निलम्बं सम्पादयति, तत्रापि सा महता कष्टेन प्राप्तपुत्रा, अश्रवणे वा हेतुः पूर्वोक्तन्यायेन बहिर्मुखेति, तदा भगवान् रोदनमात्रेण कार्यासिद्धिं ज्ञात्वा रुदन्नेव स्तनार्थी सन् चरणावूर्ध्वमुदक्षिपत्, यथा बालकाश्चरणावूर्ध्ववर्षणेन प्रसारयन्ति, वाक्यापेक्षया कृतेः प्रबलत्वात् तथाकरणं, अनेन भगवान् मनसैव निरोधं कथं न कृतवानिति परिहृतं, केवलक्रियायां क्रियाबुद्धिः स्यात्, शकटभङ्गेऽप्यक्लिष्टकारित्वं न स्यात्, एवं कृते स्वानुषङ्गिकं जातमिति न क्लिष्टं, पूर्वं रोदनं यशोदाया बहिर्मुखत्वज्ञापनायान्यथा मनसैव कथं न कुर्यात्? अयं च निरोधः स्वार्थः, अन्यथा पञ्चानां परार्थानामग्रे वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चपर्वाया तेनैव नाश्यत इति व्यर्थमेतत् स्यात्, तच्च स्वप्रयोजनं स्तनार्थित्वं, स्वार्थमुत्पन्नस्य स्वनियोगावश्यकत्वज्ञापनाय स्तनमेवापेक्षते न तु पानं, तदग्रे वक्ष्यति स्वयमेव "नाहं भक्षितवा"निति मृत्प्रसङ्गे, अतः पूतनास्तनपानसमये यावन्तो बालास्तद्भक्षिता अत्र समागतास्तेषामन्नार्थमवश्यं स्तनापेक्षा, दुष्टत्वं पूतनासम्बन्धिक्रोधेनैव नाशितं, तान् स्वसमानत्वेन सम्पादयितुं स्वभोग्यगोपिकादर्शनदोषाभावार्थं तानेव तासु समारोपयितुं ज्ञानं चोपदेष्टुं प्रथमं स्वकीयमेव सर्वथा निर्दुष्टं तेभ्यो ददाति ते च बहवः पीडिता भवन्ति, अतः स्तनेर्थित्वं, भक्त्यैव तेषां निस्तारो जात इति ख्यापयितुं चरणयोर्व्यापार उक्तः, अवतारविषयिणी भक्तिरतिपुष्टेति ज्ञापयितुं द्विवचनम् ॥ ६ ॥ एवं कृते यज्जातं तदाहाधः शयानस्येति, अधस्तादवलम्बे शकटस्य पृष्ठभागाधः पल्यङ्के शायिता भगवान् छायार्थं, यदि निरोधो नाङ्गीक्रियते तर्हि भवत्कृता छायापि मास्त्विति ज्ञापयितुं शकटाक्षेप इति ज्ञापयत्यधःशयानस्येति, शिशोरित्युत्थानासमर्थस्य, तथाबुद्धिः सम्पादितेति नान्यथा करणं, भगवतो भिन्नतया सम्बन्धित्वेन निरूपणं चरणस्यैव माहात्म्यज्ञापनार्थं, अनः शकटं, अल्पकप्रवाल-मृदङ्घ्रिहतं सद् व्यवर्तत विपरीततया पतितं, तद्गतानां कार्याणां नाशस्त्वग्रे वक्ष्यते, सकार्यस्यानसो भङ्गो जातः, पूतनायां तु भगवत ओष्ठद्वयसम्बन्धो हस्तद्वयसम्बन्धश्च जात इति तदपेक्षयाधिकमाहात्म्यज्ञापनार्थमल्पसम्बन्धो वक्तव्यः, अत एव विचार-

क्रमेणैतानि चरित्राणि गृहीतानि, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धविवरणे, अत्यन्तमल्पाल्पकौ प्रवालापेक्षयापि मृदू, अल्पको वा प्रवालो नूतनाम्रपत्रमत्यारक्तं तदपेक्षयापि मृदु भगवच्चरणारविन्दं तथैवारक्तमूर्ध्वरेखायुक्तं च, तादृशाङ्घ्रिभ्यामङ्घ्रिणा वा हतमल्पं ताडितं सच् चलनेप्ययोग्यं विपरीततया पतितं, मारणसमये चरणस्य महत्त्वं जातं भविष्यतीतिशङ्काव्युदासाय प्रवालतुल्यतया वर्णितं, मृदुत्वमात्रे दृष्टान्तो मा भवत्वित्याकृतावपि समानमिति वक्तुमल्पकता निरूपिता, तदपेक्षयापि मृदुत्वकथनं शकटादेः प्रत्युत सुखजनकमिति ज्ञापयितुं "पदा शकटोपवृत्त" इति विचार एकमेव पदं गृहीतमत्र तु चरणावित्युक्तं, समासे सन्दिग्धत्वात् करणतैकस्यैव युक्तेत्यङ्घ्रिणा हतमितिसमासः, अतोवस्थासाधनवैपरीत्यं कार्ये निरूपितं, भाराक्रान्तमनो बालयितुं न शक्यमिति ख्यापयितुं विशेषणद्वयमाह बाह्याभ्यन्तरभेदेन विध्वस्तेति, विशेषेण ध्वस्तान्यधःपतितानि नानाविधरसयुक्तानि घृतमधुगुड-दधिनवनीतादियुक्तानि कुप्यभाजनानि चर्मणा निर्मितानि रसस्थापनार्थं, कुप्यानि तस्मिन् देशे प्रसिद्धानि, अनेन तेषां स्थापनमपि भगवतो न सम्मतं सर्वनिर्वेर्भगवत एव विद्यमानत्वात्, भाजनादेन तान्येव व्यवहारपात्राणीति ज्ञापितं, एवं शकट-स्थितानां सर्वेषामधःपात उक्तः, न हि भगवदुपरि रसान्तरं स्थातुं शक्नोति, अता भक्तेरल्पांशेनापि ते सर्वे निराकृताः, भिन्नरसवान् भगवदुपरि स्थितः स्वरूपतोपि नष्ट इत्याह व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरमिति, व्यत्यस्ते इतस्ततः पतिते चक्रे तन्मध्ये स्थितोक्षोपि लोहमय इतस्ततः पतितो यस्य विशेषेण भिन्नकूबरमग्रिमभागो लम्बो यस्य, व्यत्यस्तचक्राक्षं च तद् विभिन्नकूबरं च, संसार-कालचक्रे उभयसङ्ग्राहकश्चाहङ्कारो विशेषेणात्यन्तमस्तं गतो भवति, भक्त्येकदेशेनापि क्रियाशक्तेर्महत्त्वात् तथात्वमुचितमेव, कूबरमुच्चस्थानमप्यस्तीति कूबरं तद् विशेषेण कालात्मकेन भिन्नं भवत्येव, स्वभावत उच्चा अपि भगवद्विरुद्धधर्मा भक्त्यंशेन नश्यन्तीति, अनेन भगवांस्तद्गृहमेव दूरीकृतवानित्युक्तम् ॥ ७ ॥ तदा लौकिकनाशात् तन्नाशद्वारा तत्कर्तरि भगवत्यभिनिविष्टा इति वक्तुं प्रथमतस्सर्वेषां तन्नाशचित्तत्वमाह दृष्ट्वेति, दूरे पतितमन एव दृष्ट्वा न तु भगवन्तं तत्सम्बन्धं वा, स्त्रीपु यशोदा मुख्या पुरुषेषु नन्दः, गापिकानां ज्ञानं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह व्रजस्त्रिय इति, तथापि "मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय" इतिन्यायेन गोपिका एव व्रजस्त्रियो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याहौत्थानिके कर्मणि याः समागता इति, यशोदायाः साधारण्ये प्रवेशान्मुख्या अपि साधारणा एवाभिनिविष्टा नन्दादयोप्यौत्थानिकं कर्मेति कृत्वा गृह एव स्थिताः, अन्यतोपि समागता अन्ये चकारेणोक्ताः, स्त्रीणाम-पेक्षयाद्भुतदर्शनेनाकुला जाताः, किं जातं किं भविष्यतीति शकटपाते सर्वे हेतुं विचारयन्तीत्याह कथमिति, स्वयमेव बलीवर्दाद्या-घातव्यतिरेकेणैव वै निश्चयेन स्वयमेव शकटं विपर्यगात् विपर्ययं प्राप्तवद् विपरीततया परितश्च भिन्नतया शकलतश्चागाद् कथं तावद्दूरे पतितमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नन्दव्रजस्थानां भगवदीयत्वात्तत्पूजनं चेत्स्याद्रुदिताश्रवणं न स्यात्। किन्त्वन्यव्रजस्थानां तत्रापि केवलं भिक्षुकाणां तेन तथेत्याशयेन ते चेत्सन्त इत्याद्युक्तम् ॥ ६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नन्दस्य पत्नीत्यत्रान्यथेत्यादि, ज्ञानशक्तिसङ्कोचाभावे भगवन्तं ज्ञात्वा स्तुत्यादिकमेव कुर्वीरन्निति भावः ॥ ५ ॥ औत्थानिकेत्यत्रैवं कृत इति भगवता नेत्रनिमीलने कृते, ते चेत् सन्त इत्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्नन्दव्रजेत्यादि, सुबोधिन्यामाहुरेति श्रीधरव्यतिरिक्ताष्टीकाकाराः, एतत्कल्पव्यवस्थामाहुरत्रस्वित्यादि, नाशितमितिशेषः, तर्हि नाशनस्य किं प्रयोजनमत आहुस्तद्धर्मेत्यादि, तेषामसुराणां सम्बन्धिनो धर्मा येषु ते लौकिकपदार्थास्तेषु योभिनिवेशो यशोदादीनां स एव शकटभङ्गेन नाशित इति शकटेन शकटद्वारासुरखण्डन इति व्युत्पत्त्या शकटासुरखण्डन इति नामसम्भवादासुरनाशनमेव प्रयोजनमित्यर्थः, ननु 'पूतनासुपयःपान' चरित्रेण मूलाविद्या पूर्वाध्याय एव नाशितेति मातृचरणानां कुत आसुराभिनिवेश इत्यत आहुः साधारणेत्यादि, लालोपयोगिन्याः अविद्याया मूलाविद्यायाश्च ये साधारणा धर्मास्तेषां त्यागासम्भवात्, यथा निमन्त्रितेषु भोजनार्थमागतेषु तत्सङ्ग सजातीयस्यान्य-स्यागमने सोपि भोज्यते न तु त्यज्यते तद्वत् त्यागासम्भवात् तथा च साधारणबलेनासुराभिनिवेश इत्यर्थः, सेति तच्छब्दस्य तात्पर्यान्तरमाहुरश्रवण इत्यादि, अनेनेति चरणोत्क्षेपणेन, परिहृतमिति क्रियैकसाध्ये कार्ये मनसः प्रयोजकमात्रत्वेन प्रवेशात् परिहृतमित्यर्थः, स्वार्थ इति स्वस्यार्थः प्रयोजनं यत्र तादृश इत्यर्थः, स्वार्थत्वे गमकमाहुरन्यथेत्यादि, परार्थानामिति निरोध्यानां, प्रयोजनं स्फुटीकुर्वन्ति तच्चेत्यादि, ननु यथा भगवद्भक्तस्थित्या पूतनाहृदयस्य भगवत्क्रीडास्थानत्वं तथा पूतनासम्बन्धेन तद्गृहीतानां बालानां दुष्टत्वमपि सम्भाव्यत इति किं तेषामनादरेणेत्यत आहुर्दुष्टत्वमित्यादि, मास्तु दुष्टत्वं तथापि पोषणस्य किं प्रयोजनमत आहुस्तानित्यादि, शेषं स्पष्टं, इदं शकटभङ्गचरित्रं पद्मपुराण आश्विनशुक्लदशम्यामुक्तं, तथा सति भगवान् सार्धमासो भवति तदत्र नाभिप्रेतं 'त्रैमासिकस्ये'तिवाक्यविरोधादतस्तत् कल्पान्तरीयमिति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अधः शयानस्येत्यत्र पल्यङ्के शायित इतीदं विष्णुपुराण उक्तं न तु 'प्रेङ्खपर्यङ्क' इति ज्ञातव्यं, तथाबुद्धिरित्यादि भगवता स्वस्मिन् शिशुत्वबुद्धिः सम्पादितेति न तद्विरुद्धकरण-मित्यर्थः, भगवत्कृतेः केवललौकिकत्वासम्भवात् समभिव्याहारलभ्यं परमार्थं व्याकुर्वन्ति संसारकालचक्रेत्यादि, भक्त्येकदेशेनापि प्रत्येकेन श्रवणादिनापि संसारशकटकालचक्रोभयसङ्ग्राहकश्चाक्षस्थानीयोहङ्कारस्तथा भवति, तत्र हेतुमाहुः क्रियाशक्तेरित्यादि

क्रियाशक्तेर्भगवद्भजनस्य "साङ्केत्यं पारिहास्यं वे"तिवाक्येन महत्त्वात् तथात्वं सर्वोपमर्दकत्वमुचितमेवेत्यर्थः, कूबर उच्चस्थानमित्यादि, कूबरः, पुनः 'कुञ्जे युगन्धरे रम्य' इतिहैमकोशात् कूबरपदं कुञ्जवाचकं, रम्यत्वाद्यवस्थानमपि सङ्गृह्णाति ततो मत्वर्थीयो 'र्श आदिभ्यो'जिति सूत्रेणाच्प्रत्यये तेषामाकृतिस्तत् कूबरं विना कालेन भिन्नं यस्य तद् विभिन्नकूबरं भवत्येव, तत्र प्रकारमाहुः स्वभावत इत्यादि, सिद्धमाहुरनेनेत्यादि शकटभङ्गचरित्रेण, तद्गृहमविद्याकृतसंसारजनकं लौकिकं गृहमेव दूरीकृतवानित्यर्थः, तथा च शकटं न नाशितं किन्तु तल्लौकिकमेव नाशितमित्यनया रीत्यापि 'शकटासुरखण्डन इति नाम सङ्गच्छत इत्यभिप्रायो बोध्यः ॥ ७ ॥ द्रष्ट्वेत्यत्र गोपिकानामिति स्वामिनीनां, तथा च स्वामिन्यो नात्रेदानीं समागता इति बोध्यं, मुख्या इति श्रोरोहिणीप्रमुखाः ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नन्दस्येत्यत्र **अत** इति कार्यस्यावश्यकत्वाद्धेतोस्तत्करणार्थं, शयनं कारितवतीत्यन्वयः, **आदाविति** वैदिकमन्त्रैर्मङ्गलस्नानं निष्क्रमणात् पूर्वं प्रातरेव कृतं, अधुना मन्त्रैः प्रोक्षणमात्रं विधाय स्नानं लौकिकोत्सवपुरःसरमभिप्रेत्य सर्वोप्युत्सवप्रकार उक्त इति ज्ञेयम्, **आभरणानीति** बाललीलायामावश्यकानि सर्वदा परिधेयानि नूपुरादीनीत्यर्थः, **परमार्थसर्वदृष्टिरिति** निद्रायास्तात्पर्यं पूर्वमुक्तमत्र समुपसर्गस्यार्थ उच्यते, भगवन्मातृकृतपूजा न योग्येत्यपि दृष्टिर्न जाता, तथा च परमार्थविषयिणी सर्वा भगवदीयस्वरूपविषयिण्यपि दृष्टिस्तिरोहितेत्यर्थः ॥ ५ ॥ **औत्थानिकौत्सुक्येत्यत्र** **मनस्विनीति** मत्वर्थीयोतिशायने इत्यभिप्रेत्याहुः **अभिमानवती चेति** मनोबुद्धिश्चित्तमहङ्कार इतिक्रमान्मनसश्चतुर्थी अवस्था अहङ्कार इत्याशयः। भूयिष्ठतामसस्थित्या व्रजस्य तामसत्वमित्याशयेनाहुः **तामसभूयिष्ठे एवेति**, तामसा भूयिष्ठा यत्रेति, केचनान्येपि सन्तीति भूयिष्ठपदं, **तां पदवीमिति** भगवन्मातृकृतपूजामित्यर्थः, **शकटमात्रत्वे** तथा न कुर्यादित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **तद्धर्मानीति**, तद् व्युत्पादयन्ति **साधारणेति**, आसुरधर्माभिनिवेशाभावे **साधारणानां धर्माणां** शकटनिष्ठचक्राक्षादीनां **परित्यागं** वृथैव भगवान् न कुर्यादित्यर्थः, **पूर्वं रोदनमिति** शकटभङ्गात् पूर्वमित्यर्थः, **अन्यथेति** बहिर्मुखत्वाभावे **मनसैव कथं न कुर्यात्**, निरोधमिति शेषः, किमिति रोदनं कुर्यादित्यर्थः, मनसैव निरोधाकरणे हेत्वन्तरमप्याहुः **अयं चेति**, स्वस्य स्तनसम्बन्धरूपार्थो यस्मात् तादृशोयं निरोधः, तथा च मनसैव निरोधकरणे स्तनपानं न सिद्ध्येदतस्तत्सिद्ध्यर्थं रोदनेन निरोधकरणं न मनसेत्यर्थः, **स्वविनियोगेति** स्वेषु स्वकीयेषु विनियोग इत्यर्थः, **तेषामन्नार्थमिति** तेषामन्नसिद्ध्यर्थं भगवतः स्तनापेक्षा स्वस्य तु तदपेक्षाभावस्योक्तत्वात् पूर्वोक्तमेव प्रयोजनमिति स्तनमात्रार्थित्वमुक्तमितिभावः, **ज्ञानं चोपदेष्टुमिति** रमणोपयोगि ज्ञानं सम्पादयितुमित्यर्थः, इदं समारोपणकालिकमेवेति पूर्वोक्तेन समुच्चयबोधनाय चकारोत्र, तादृशज्ञानयुक्तानां तेषां तासु स्थापने तासामपि तावज्ज्ञानसम्पत्तिरन्यथा तासामप्रौढत्वेन तावत्प्रकारज्ञानाभावात् पूर्णरसदानं न भवेत्, शुद्धान्नसम्बन्धे तादृशज्ञानाधिकारो भवति, अधिकारं विना च तत् ज्ञानं तेषां पुंस्त्वादनर्थपर्यवसायि स्यादितिभावः, **सर्वथा निर्दुष्टमिति** मोक्षदातृवासुदेवव्यूहजनितत्वादितिभावः, **अवतारेति** अनवतारदशायां "सर्वतः पाणिपादान्तत्वा"दितिभावः, **अतिपुष्टा** निरोधलीलास्थानामितिशेषः ॥ ६ ॥ **अधःशयानस्येत्यत्र** **तद्गतानामिति** अङ्घ्रिणा शकटस्यैव नाशो न तु कुप्यादिष्वप्यङ्घ्रिसम्बन्धः, तथा च शकटनाशादग्रे तेनैव तेषां **नाश उत्तरार्धे वक्ष्यते** इत्यर्थः, **विशेषेणेति** मूले विना भिन्नमितिविग्रहः, अत्र विपदं कालवाचकं, तथा च कालात्मको विशेषो भगवच्चेष्टारूपो धर्मस्तेन भिन्नमित्यर्थः ॥ ७ ॥ **द्रष्ट्वेत्यत्र** **गोपिकानामिति** एतासां तु लीलाज्ञानं भविष्यत्यत एव 'तोकायित्वा रुदन्त्यन्ये'तिप्रकारकानुकरणं करिष्यन्ति इति हेतोर्गोपिकाव्यावृत्त्यर्थं **व्रजमात्रस्य स्त्रिय इत्याहेत्यर्थः** ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकमित्यस्य विवृतौ आदौ स्त्रीणामाकारणं कृत्वेत्यारभ्य सर्वाभरणभूषितं विधायेत्यन्तं मूले कृतमज्जनादिकमित्यत्र आदिशब्द उक्तस्तस्येदं विवरणं ज्ञेयं, सञ्जातनिद्राक्षमित्यस्य व्याख्याने, अन्यथा आशिष इति यदि ज्ञानशक्तेः सङ्कोचो न स्यात् तर्हि भगवन्तं पूर्णब्रह्म ज्ञात्वा आशीर्वादं न कुर्युस्तथा सति बाललीलारसानुभवो न स्यादतः सञ्जातनिद्राक्षतया ज्ञानशक्तेः सङ्कोच इत्यर्थः, तद्धर्माभिनिवेश इति शकटे आसुरधर्माभिनिवेश इत्यर्थः, आसुरधर्माभिनिवेशे प्रमाणमाहुः साधारणधर्माणामित्यादि, यदि आसुरधर्माभिनिवेशस्तत्र न स्यात् तदा तेषां शकटधर्माणां चक्राक्षादीनां त्यागं भगवान् न कुर्यादतस्त्यागान्यथानुपपत्त्यैव शकटधर्मेषु चक्राक्षादिष्वासुरधर्माभिनिवेशः कल्पनीय इत्यर्थः, एवं कृते स्वानुषङ्गिकं जातमिति न क्लिष्टमिति स्तनार्थित्वेन बाललीलया चरणोत्क्षेपे शकटभङ्गो जातो न तु तदुद्देशेन चरणोत्क्षेपः, अतो भगवतः कर्म अक्लिष्टमेव, अनेन "कृष्णमक्लिष्टकारिण"मित्यादिवचांसि समर्थितानि ॥ ५ ॥ अधःशयानस्येत्यस्य विवृतौ तथाबुद्धिः सम्पादितेति नान्यथाकरणमिति अयं नन्दनन्दन उत्थानासमर्थः शिशुत्वादित्याकारिका बुद्धिर्भगवतैव सम्पादितातो नान्यथाकरणं भगवता उत्थाय न किञ्चित् क्रियत इत्यर्थः, अङ्घ्रिणा हतमितिसमास इति "त्रैमासिकस्य च पदा शकटापवृत्त" इति द्वितीयस्कन्धे परमेष्ठिवाक्ये एकेन पदाघात उक्तः, अतोत्राप्यङ्घ्रिणा हतमित्येकवचनान्तेन समासे कृते उभयत्राविरोधः सिद्धः, विभिन्नकूबरमित्यस्य विवृतौ तद्

विशेषेण कालात्मकेन भिन्नं भवत्येवेति विशब्दस्य कालवाचकत्वात्, "योयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहु"रितिदेवकीवाक्याद्भगवच्चेष्टायाः कालात्मकत्वात् कालात्मिकया भगवच्चरणचेष्टया भिन्नं भवतीत्यर्थः ।। ७ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्नादिभिः सुपूजितैः सत्कृतैर्विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं कृतरक्षाबन्धनादिकं सञ्जातनिद्राक्षं सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य तं बालं नन्दस्य पत्नी यशोदा शनैर्निद्राभङ्गो यथा न स्यात्तथा आशीशयत् शकटस्याधस्तात् प्रेङ्खे शायितवतीत्यर्थः । 'नन्दस्य पत्नी' इत्यनेन, उत्सवे समागतानां सन्माननमवश्यतया कर्तव्यम्, अन्यथा तेषां वैमनस्यं स्यात् इति सूचितम् । 'कृतमज्जनादिकम्' इत्यादिशब्देन वस्त्राभरणादि परिधाप्य कस्तूरीगोरोचनतिलकादिकरणं गृह्यते । अन्नं च आद्यंतदुपकरणं च । 'अन्नाज्य' इति पाठे तु अन्नं च आज्यं च घृतं च वासांसि च स्रक्माला च अन्यच्चाभीष्टं प्रार्थितं धेनवश्च तैः ।। ५ ।। औत्थानिके उत्थानोत्सवे औत्सुक्यमुत्साहयुक्तं मनो यस्याः सा । तत्र हेतुमाह—मनस्विनीति । उदारचित्ता सा यशोदा समागतान् व्रजौकसो वस्त्रालङ्कारादिभिः पूजयती सती सुतस्य रुदितं निश्चयेन नैवाशृणोत् । नच श्रुत्वाऽपि कार्यव्यग्रतयोपेक्षितवती । भगवांस्तु स्तनार्थी सन् रुदन् चरणावुदक्षिपत् ऊर्ध्वं चालितवान् ।। ६ ।। तदा शकटस्याधः शयानस्य शिशोरल्पकः अल्पप्रमाणश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतम्, अत एवातिध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतातिरिक्तकांस्यादिमयानि पात्राणि यथा भवन्ति तथा । तथा चक्रे च अक्षश्च चक्राक्षाः, व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन् विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्मिंस्तच्च तच्च यथा भवति तथा च अनः शकटं व्यवर्तत विपरीतमपतत् ।। ७ ।। यशोदा प्रमुखा यासां ता या औत्थानिके कर्मणि समागता व्रजस्त्रियः नन्दादयो गोपाश्च सर्वेऽपि जनाः तत् पतितं शकटं दृष्ट्वा तत्पतनमद्भुतमाश्चर्यजनकम्, अतस्तस्य दर्शनेनाकुलाः सम्भ्रान्ताः तथोत्पातशङ्कयाऽतिविषादेन दुःखेन मोहिताश्च सन्तः "कथं वै शकटं स्वयमेव विपर्यगात् विपरीतमपतत्" इति ब्रुवन्तः शकटं बालं च समन्तात् सर्वतः आर्तवत् परिवव्रुः परिवेष्टितवन्त इति सार्धोन्वयः । क्वचित् 'इति ब्रुवन्त' इति श्लोकार्द्धं नास्ति । तत्र विपर्यगात् इत्यूचुरिति क्रियाविशेषेणान्वयः ।। ८ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

नन्दस्येति ।। कृतं मज्जनादि स्नानादि यस्य तम् आदिशब्देन वस्त्राभरणकस्तूरीतिलकादि गृह्यते । अन्नं च आद्यम् अदनीयं तदुपकरणं च । अन्नाज्येति पाठे तु अन्नं च आज्यं घृतं च वासांसि च स्रक् माला च अन्यच्चाभीष्टं प्रार्थितं धेनवश्च तैः अन्नादिभिः सुपूजितैः सत्कृतैर्विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं कृतरक्षाबन्धनादिकं सञ्जातनिद्राक्षं सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य तं बालं नन्दस्य पत्नी यशोदा शनैर्निद्राभङ्गो यथा न स्यात्तथा अशीशयत् शकटस्याधस्तात्प्रेङ्खे पर्यङ्के वा शायितवती ।। ५ ।। औत्थानिकेति ।। औत्थानिके उत्थानोत्सवे औत्सुक्यमुत्साहस्तद्युक्तं मनो यस्याः मनस्विनी उदारचित्ता सा यशोदा बालान् स्वपुत्रपार्श्वे संस्थाप्येति ज्ञेयम् । समागतान् व्रजौकसो वस्त्रालङ्कारादिना पूजयती सती । नुमभाव आर्षः । तद्व्यापारासक्ता सुतस्य रुदितं नैवाशृणोत् । भगवांस्तु स्तनार्थी सन् रुदन् चरणावुदक्षिपत् ऊर्ध्वं चालितवान् । यदि मद्रोदनशब्देन नावदधासि तर्हि शकटस्फोटनशब्देनावधापयामि इति कुप्यन्निव शकटं भङ्क्तुं तथा कृतवान् ।। ६ ।। अधः इति ।। तदा शकटस्याधः शयानस्य शिशोरल्पकः अल्पप्रमाणश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतमत एव विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतातिरिक्तकांस्यादिमयानि पात्राणि यथा भवन्ति तथा । चक्रे च अक्षश्च चक्राक्षाः व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन् विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्मिंस्तच्च तच्च यथा भवति तथा अनः शकटं व्यवर्तत विपरीतमपतत् । शकटासुरभञ्जन इति ब्रह्माण्डपुराणगतभगवन्नामशतकस्तोत्रवचनात् । असुरावेशेनैव भूमौ प्रविशच्चक्रत्वादुच्चस्यापि शकटस्याल्पकेन चरणेन स्पर्शः दैत्यश्चान्तर्हित एव ममारेति ।। ७ ।। दृष्ट्वेति यशोदा प्रमुखा यासां ताः या औत्थानिके कर्मणि समागताः । पर्वणीत्यपि पाठः । व्रजस्त्रियः नन्दादयो गोपाश्च सर्वेऽपि जनाः तत्पतितं शकटं दृष्ट्वा तत्पतनमद्भुतमाश्चर्यजनकमतस्तस्य दर्शनेनाकुलाः संभ्रान्ताः तथोत्पातशङ्कयाऽतिविषादेन दुःखेन मोहिताश्च सन्तः कथं वै शकटं स्वयमेव विपर्यगात् विपरीतमपतदिति ब्रुवन्तः शकटं बालं च समन्तात् सर्वतः आर्तवत्परिवव्रुः परिवेष्टितवन्त इति सार्धोन्वयः । क्वचिदिति ब्रुवन्त इति श्लोकार्द्धं नास्ति । तत्र विपर्ययात् इत्यूचुरिति क्रियाशेषेणान्वयः ।। ८ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पत्नी यशोदा कृतस्नानादिकम् अन्नम् अपक्वान्नम् अद्यं पक्वान्नं च तत्प्रभृतिभक्ष्यादिभिः वासोमुख्यैश्च सुपूजितैः विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं कृतमङ्गलं संजातनिद्रे नेत्रे यस्य तं बालकं शकटस्याधोधृते प्रेंखे अशीशयत् ।। ५ ।। औत्थानिके अंगपरिवर्त्तनकर्मकरणीये उत्सवे उत्सुक्यमनाः आनंदभरव्यासमनाः सा यशोदा सुतस्य रुदितं नैवाशृणोत् स्तनपानार्थी सुतः रुदन् सन् चरणौ उदक्षिपत् ऊद्ध्वं चिक्षेप ।। ६ ।। शकटस्याधः शयानस्य बालस्य अल्पको यः प्रवालवत् नवांकुरवत् मृदुश्चासावंघ्रिश्च तेन हतम् अनः शकटं व्यवर्त्तत विपरीतम् अपतत् कथं विपरीतं पतितं विध्वस्तानि भग्नानि नानारसवंति कुप्यभाजनानि कनकरजतेतरकांस्यादिमयानि यथा भवंति तथा चक्रे द्वे रथांगे च अक्षश्च चक्राक्षाः व्यत्यस्ता विपरीताश्चक्राक्षा यस्मिन् विभिन्नः कूबरो युगंधरो यस्य तच्च

तच्च यथा भवति तथा व्यवर्त्तत ॥ ७ ॥ औत्थानिके अंगपरिवर्त्तनोत्सवरूपे अत्याश्चर्यदर्शनेनाकुलाव्याकुलचिता अभूवन् कथं विपर्ययात् विपरीतं ययातेति जगृहुः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं राज्ञा पृष्टो मुनिरन्यान्यपि तद्बालचेष्टितानि विवक्षुस्तावच्छकटासुरवधात्मकं चेष्टितं वर्णयति कदाचिदित्यादिनैकदेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ कदाचिदिति ॥ कदाचित्, उत्थानं गृहाद्बहिः शिशोर्निष्क्रमणं तत्संबन्ध्यौत्थानिकं यत् कौतुकमुत्सवस्तेन हेतुना आप्लवः शिशोः स्नानविधापनं यस्मिंस्तस्मिन्, जन्मर्क्षस्य रोहिणीनक्षत्रस्यापि योगो यस्मिंस्तस्मिन्, महोत्सवे इति शेषः। समवेतयोषितां समुदितानामङ्गनानां मध्ये, सती यशोदा, वादित्रवादनानि च गीतानि पद्यगीताचरणानि च द्विजमन्त्रवाचकानि ब्राह्मणविहितमन्त्रोच्चारणानि च तैः, शोभितं, सूनोः, अभिषेचनं संस्नापनं, चकार ॥ ५ ॥ नन्दस्येति ॥ अन्नानि भोज्यानि च अद्यानि भक्षणीयानि च वासांसि वस्त्राणि च स्रजो मुक्तादिमालाश्च अभीष्टानि तत्तदभीष्टवस्तूनि च धेनवो गावश्च ताभिः, सुपूजितैः सुतरामर्चितैः, विप्रैः, कृतस्वस्त्ययनं कृतमाङ्गल्यवचनं, कृतं मज्जनादिकं यस्य तं, आदिशब्देनाङ्गरक्षादिकं विवक्षितम्। संजातनिद्रे अक्षिणी यस्य तं सुतं, नन्दस्य पत्नी यशोदा, शनैः निद्राभङ्गभयादिति भावः। अशीशयत् शकटाधोवर्त्तिन्यां पर्यङ्किकायां शाययामास ॥ ६ ॥ औत्थानिकेति ॥ औत्थानिकं शिशोरभ्युत्थाननिमित्तो महोत्सवस्तस्मिन्नौत्सुक्यमुत्साहयुक्तं मनो यस्याः तथाभूता, मनस्विनी औदार्यप्रवणमनाः, सा यशोदा, समागतान् व्रजौकसः, पूजयती सती, सुतस्य रुदितं, न एव अशृणोत् नैव शुश्राव। स्तनार्थी स्तनपानकामः, अत एव, रुदन् बालकृष्णः, चरणौ द्वावप्यङ्घ्री, उदक्षिपदूर्ध्वमचालयत् वै ॥ ७ ॥ अध इति ॥ अधःशयानस्य असुराविष्टशकटाधोलम्बमानप्रेङ्खे शायितस्येत्यर्थः। शिशोः श्रीकृष्णस्य, अल्पकश्चासौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतं, अनः शकटं, व्यवर्त्तत विपरीतमपतत्। अन्तःप्रविष्टासुरभाराद्भूमौ चक्रप्रवेशपूर्वं तन्निकटप्राप्तिं संभाव्य भगवान् स्तनार्थीव रुदन् सन् तत् लत्तया प्रहृत्योत्पातयामास। अतस्तदनोऽदृश्यभावापन्नासुरं यथा तथाऽपतदिति भावः। शकटासुरभञ्जन इति ब्रह्माण्डपुराणोक्तेरेवं व्याख्यातम्। तद्यथाभूतं सद्व्यवर्त्तत तदेव दर्शयितुं तद्विशिनष्टि। विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतव्यतिरिक्तकांस्यादिमयानि पात्राणि यथा भवन्ति तथा, चक्रे च अक्षश्च चक्राक्षाः व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन् विभिन्नः कूबरो युगंधरो यस्य तच्च तच्च यथा भवति तथा, व्यवर्त्तत ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नन्दस्येति : १०. ७. ५.

शिष्टाचार इतीदृगित्युपगतप्रज्ञो जनो मामयं स्नेहार्द्रं कुरुतेऽथवाऽनुपधिकं प्रेमधिकामो मयि।
आस्ते इत्यपहाय कार्यमपरं पश्यामि तूष्णीं किमित्यासीन्मीलितदृक् शयालुरिव तत्सत्यावगत्यै प्रभुः ॥ २ ॥

श्रीनायकौत्थानिकमङ्गलेऽस्मिन् प्राप्ताः समग्रा अपि गोपवध्वः।
ग्राह्यं सुखं तन्न कथं मयेति निद्राशनैरीशदृशं किमागात् ॥ ३ ॥

औत्थानिकेति : १०. ७. ६.

उच्चस्थितं शत्रुमनोविभङ्क्तुं जिगीषुणोत्थानविधिर्विधेयः।
इतीव तादृक् चरितं चिकीर्षुरुत्थानलीलां श्रितवान् पुरेशः ॥ ४ ॥

अनुभूय सुखं यान्तीं निद्रामालक्ष्य माधवः। रोदनच्छलतो मन्ये वसुना सत्कृतां व्यधात् ॥ ५ ॥

अनिवेद्य मां यदि कृतो मदुत्सवो न स तोषकृद्भवति मे त्विति प्रभुः।
भुवि बोधयन् स्वहितमार्गदर्शकः किमभूत्तदा स्तनजपानसस्पृहः ॥ ६ ॥

विभाव्य शूद्रनैपुण्यमनसः सदसत्कृतौ। युक्तं तत्राच्युतश्चक्रे तद्धेतुस्वाङ्घ्रियोजनम् ॥ ७ ॥
युष्मत्कन्याऽवनं कर्तुं मम साहाय्यवर्तनम्। भवतोर्युक्तमित्यङ्घ्री सूचयंस्तावुदक्षिपत् ॥ ८ ॥

अधः शयानस्येति : १०. ७. ७.

अव्ययमपि शंकटयति यः स पुरो मे समुच्छ्रितोऽस्ति कथम्।
इति शुभवितरणशीलः सरुषाऽहिंसीत् पदेन किमु शकटम् ॥ ९ ॥

किमर्थमग्रे ह्यल्पस्य समग्रबलदर्शनम्। कार्यमित्यच्युतस्तत्र पादेनैव जघान तम् ॥ १० ॥

अहर्निशमसज्जनखरप्रखरदत्तपीडा भुजां सतामतनुसङ्कुलन् नयनबाष्पवृष्टिच्छिदम्।
सुरार्यशुभसूचकं भुवि शनैश्चरेणाङ्घ्रिणा प्रभुः किमु स रोहिणीशकटभेदमद्धा करोत् ॥ ११ ॥

कृत्वाऽग्निसाद् वल्लवमल्लतल्लजैर्वैकीकटं यच्छमितं प्रसह्य ।
पुनस्तदेवेदमिहोच्छ्रितं किमित्यद्धाऽकरोत्तच्छकटं विभिन्नम् ॥ १२ ॥

स्वीकृत्याधःस्थितिं पूर्वं ततश्चरणयोगतः । अधःपातं नयेच्छत्रुं क्षणादित्यकरोत्स्फुटम् ॥ १३ ॥

दुःखोद्रेकात्कृतमपि साधोः कर्मारिभञ्जनायैव । भवतीत्यबोधि हरिणा स्वपदध्वस्तानसा क्षुधार्तेन॥१४॥

अस्मिन् साधुसमुत्सवेऽद्य शकटस्याधः स्थितिर्मेऽधुना भव्या नेति विभाव्य तेन तदधःस्थं यत्कृतं साधु तत् ।
युक्तं चैतदपि प्रभंजनपदं नीतं तदानीं ततः चित्रं जातमधोगमव्यलमनो योग्यूर्ध्वधामस्थितम् ॥ १५ ॥

यश्चिन्तयत्यतिखलस्त्वदनिष्टमस्य सिद्धैव दुर्गतिरधोगतितः पृथिव्याम् ।
व्यक्तं तदेतदखिलं भगवन् यदुक्तं त्वद्द्वेषकृच्छकटमेव तदा तथासीत् ॥ १६ ॥

रिपुजातमनो विभङ्गमाशु स्वजनव्रातमनः सुखस्थितिं च ।
युगपन्नयताऽच्युतेन दिष्टं नयवर्त्म द्वितयार्थिनी क्रियैका ॥ १७ ॥

कृष्णप्रिया

नन्दरानी यशोदाजी ने ब्राह्मणों का खूब पूजन-सम्मान किया । उन्हें अन्न, वस्त्र, माला, गाय आदि मुँहमाँगी वस्तुएँ दीं । जब यशोदा ने उन ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर स्वयं बालक के नहलाने आदि का कार्य सम्पन्न कर लिया, तब यह देखकर कि मेरे लल्ला के नेत्रों में नींद आ रही है, अपने पुत्रको धीरे से शय्या पर सुला दिया ॥ ५ ॥ थोड़ी देर में श्यामसुन्दर की आँखें खुलीं, तो वे स्तन-पान के लिये रोने लगे । उस समय मनस्विनी यशोदाजी उत्सव में आये हुए व्रजवासियों के स्वागत सत्कार में बहुत ही तन्मय हो रही थीं । इसलिये उन्हें श्रीकृष्ण का रोना सुनायी नहीं पड़ा । तब श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने पाँव उछालने लगे ॥ ६ ॥ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़े के निचे सोये हुए थे । उनके पाँव अभी लाल-लाल कोपलों के समान बड़े ही कोमल और नन्हे-नन्हे थे । परन्तु वह नन्हा सा पाँव लगते ही विशाल छकड़ा उलट गया । उस छकड़ेपर दूध-दही आदि अनेक रसों से भरी हुई मटकियाँ और दूसरे बर्तन रक्खे हुए थे । वे सब के सब फूटफाट गये और छकड़े के पहिये तथा धुरे अस्त व्यस्त हो गये, उसका जूआ फट गया ॥ ७ ॥ करवट बदलने के उत्सव में जितनी भी स्त्रियाँ आयी हुई थीं, वे सब, और यशोदा, रोहिणी, नन्दबाबा और गोपगण इस विचित्र घटना को देखकर व्याकुल हो गये । वे आपस में कहने लगे—'अरे, यह क्या हो गया ? यह छकड़ा अपने-आप कैसे उलट गया ?' ॥ ८ ॥

[1]ऊचुर[2]व्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः । रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत । [3]अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न [4]ते विदुः ॥ १० ॥

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता । कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥

पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् । विप्रा हुत्वार्चयांचक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीः च बालकाः रुदता अनेन पादेन एतत् क्षिप्तं न संशयः (इति) ऊचुः ॥ ९ ॥ बालभाषितम् इत्युत ते गोपाः न श्रद्दधिरे ते तस्य बालकस्य अप्रमेयं बलं न विदुः ॥ १० ॥ ग्रहशङ्किता यशोदा रुदन्तं सुतम् आदाय विप्रैः सूक्तैः कृतस्वस्त्ययनं स्तनम् अपाययत् ॥ ११ ॥ बलिभिः गोपैः पूर्ववत्स्थापितं सपरिच्छदम् विप्राः हुत्वा दध्यक्षत-कुशाम्बुभिः अर्चयाञ्चक्रुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अव्यवसितमतीननिश्चितमतीन्संशयारूढानित्यर्थः ॥ ९ ॥ न श्रद्दधिरे विश्वासं न जग्मुः । उत अपि । बालस्येतन्न संभवति एते च बालाः किं जानंतीति ॥ १० ॥ रक्षोघ्नैः सूक्तैः कृत्वा ॥ ११ ॥ भगवत्प्रभावानभिज्ञविप्रचेष्टितं विडंबयन्नाह पूर्ववदित्यादिना । बलिभिः शक्तैः । यद्वा अष्टदिक्षु बलिभिः सहितं सपरिकरं यथा पूर्वं स्थापितं विप्राः दध्यादिभिरर्चयामासुः । हुत्वा ग्रहादिहोमं विधाय ॥ १२ ॥

---

१. इति ब्रुवन्तोऽतिविषादमोहिता जनाः समन्तात्परिवव्रुरार्तवत्—वीर. विज. पाठे इदमर्धमधिकम् । २. तदोचुरव्यक्तमतीन्—वीर. ; ऊचुस्तदव्यक्तमतीन्—विज. । ३. अनन्तस्याप्रमेयस्य बलं तस्य—विज. । ४. न वै विदुः—वीर. विज. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अव्यवसितमतीन् अनिश्चितबुद्धीन्। अनेन शकटाधःस्थप्रेंखस्थेन ॥ ९॥ एतच्छकटपातनम्। अप्रमेयं प्रमातुमशक्यमिदमिति ज्ञातुमशक्यम्। तस्य कृष्णस्य। ते गोपाः॥ १०॥ ग्रहशंकिताः केनचिद्ग्रहेण रक्ष आदिनेदं पातितमिति शंकाकुलाः। रक्षोघ्नैः "कृणुष्वपाज—" इत्यादिमंत्रैः "रक्षोहणम्वलगहनम्" इत्यादिभिश्च॥ ११॥ बहुवस्तु निर्बला अपि महत् कार्यं कुर्वंति 'वर्वटतृणहस्तिबंधनन्यायेन' पुनर्बहुभिरिति बहुत्वस्य चमत्कृत्यनाधायकत्वादर्थांतरमाह—यद्वेति॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अद्भुतदर्शनाकुलत्वादेव अव्यवसिता किं दैत्येन ग्रहादिना वेत्यादि विवर्त्तनकरणोन्नयने निश्चयमगता मतिर्येषां तान् बालकांस्तन्माधुरीकृष्टचित्तत्वेन तदेकदृष्टयः एतच्छकटम् अनेनेति एतदिति च प्रत्यक्षत्वं तत्कालीनत्वञ्च सूचयति अत एवाहुः संशयोऽप्यत्र नास्ति किमुताप्रतीतिरित्यर्थः॥ ९॥ ते परमभगवत्प्रियत्वेन सर्वज्ञानयोग्या अपीत्यर्थः। अप्रमेयं भगवत्तया विशेषतस्तु बाललीलाविष्कारेण तर्कागोचरं बलं न विदुः ततो न श्रद्दधिरे च तत्र पुनस्ते इति हेत्वन्तरं पुत्रभावमयतत्प्रेमानन्दमत्ता इत्यर्थः। तादृशतत्प्रेम्णः सर्वाच्छादकत्वादिति भावः—

"श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्। कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः॥
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः। त्वरितः कुण्डिनं प्रागात् गजाश्वरथपत्तिभिः॥"

इति श्रीबलदेवस्यापि तथात्वश्रवणात् "नेमं विरिञ्च" इत्यादौ तस्य स्तुतेश्च ननु, तादृशप्रेमवैवश्येन स्वतोऽनुसन्धानं नाम मास्तु अन्येषामुक्त्या सम्भवेदित्याशङ्क्य हेत्वन्तरमाह—उत अपि बालभाषितमित्यतोपीति गोपा अपि न श्रद्दधिरे किमुत गोप्य इत्यर्थः॥ १०॥ अत एव विशेषतः श्रीयशोदायाः स्नेहभरेण चेष्टितमाह—रुदन्तमिति। ग्रहेभ्यो बालग्रहादिभ्यः विप्रैः कर्तृभिः सूक्तैः रक्षोघ्नादिभिः करणैः "रक्षोहणो वलगहनः" इत्यादिभिः पश्चादाश्वस्ता स्तनमपाययत्॥११॥ श्रीनन्दानुवर्त्तिनां विप्राणामपि तादृश एव भाव इति दर्शयन्नाह-पूर्ववदिति। बलिभिर्बलवद्भिरित्यादिना शकटस्य परमगुरुत्वं बृहत्वञ्च दर्शितं तदुक्तं "तलोच्छ्रिताग्रम्" इत्यादि अतस्तदधोनिस्सङ्कोचं माता पुत्रं शायितवती हुत्वा आदावनिष्टनिवृत्यर्थम् आज्येन व्याहृतिभिः सामान्यतो ग्रहहोमं विधाय पश्चाद्दधिमिश्रैरक्षतैः कुशसहितप्रोक्षणजलैश्च शकटमर्चयामासुः गोपजातीनां तदाश्रयप्रधानत्वात्॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अद्भुतदर्शनाकुलत्वादेवाव्यवसिता किं वृषैर्वात्यया दैत्येन गृहदोषेण वेत्यादि-विवर्तन-कारणोन्नयने निश्चयमगता मतिर्येषां तान्। एतत् शकटम्। अनेनेत्येतेन च प्रत्यक्षत्वं तात्कालिकत्वञ्च सूचयन्ति, अत एवाहुः-संशयोऽत्र नास्तीति॥ ९॥ ते गोपा नन्दादयस्तस्य बालकस्याप्यप्रमेयं बलं न विदुः किम्? काका, विदन्त्येवेत्यर्थः, भक्तौ सर्वज्ञानसम्भवात्; तथापि न श्रद्दधिरे, बालोक्तौ विश्वासं न चक्रुः। कुतः? ते श्रीभगवत्प्रेमविवशा इत्यर्थः ननु, तादृशप्रेमवैवश्येन स्वतोऽनुसन्धानं नाम मास्तु, अन्येषामुक्त्या तु सम्भवेदित्याशंक्य हेत्वन्तरमाह-उतापि, बालभाषितमित्यतोऽपीति गोपा अपि न श्रद्धिरे, किमुत गोप्य इत्यर्थः॥ १०॥ अत एव विशेषतः श्रीयशोदायाः स्नेहभरेण चेष्टितमाह-रुदन्तमिति, स्नेहविवृद्धय ईश्वरज्ञानानुदयार्थमेव तदानीमपि रोदनपरम्, अतो ग्रहेभ्यः शनैश्चरादिदृष्टितो बालग्रहादिभ्यो वा, किंवा, आग्रहो रोदनपरत्वम्, तेन शंकिता भीता सती, अतो विप्रैः कर्तृभिः सूक्ते रक्षोघ्नैर्मन्त्रविशेषैः कृत्वा; किंवा सुशोभनमुक्तमाशीर्वाद-क्षेम-प्रतिपादनादिलक्षणं येषां तैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य तथाभूतं सन्तं पश्चादाश्वस्तास्तनमपाययत्॥ ११॥ श्रीनन्दानुवर्त्तिनां विप्राणामपि तादृश एव भाव इति दर्शयन्नाह-पूर्ववदिति। बलिभिर्बलवद्भिरित्यादिना शकटस्य परमं गुरुत्वं बृहत्त्वञ्च बोधितम्, अतस्तदधो निःशंकं माता पुत्रं शायितवती, अत एवाकस्माद्विवर्त्तनेन सर्वे व्याकुला बभूवुरित्युचितमेव। हुत्वा आदावनिष्ट-निवृत्त्यर्थमाज्येन व्याहृतिभिः सामान्यतो ग्रहहोमं विधाय पश्चाद्दधिमिश्रितैरक्षतैः कुशसहितप्रोक्षणजलैश्च शकटमर्चयामासुः॥ १२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्येवं ब्रुवन्तः ब्रुवन्तश्च ब्रुवन्त्यश्च ब्रुवन्तः "पुमान्स्त्रिया" (१।२।६९) इत्येकशेषः अतीवविषादेन दुःखेन मोहिताः जना यशोदादयः आर्त्तवत् समन्तात् सर्वतः परिवव्रुः परिवेष्टिरे तदा अव्यक्ता शकटागमनतद्विपर्ययाद्यगोचरा मतिर्येषां तान् गोपान् गोपीश्च प्रति बालकाः श्रीकृष्णस्य समन्ततः क्रीडन्तो बालकाः ऊचुः, किमिति? एतच्छकटमनेन बालकेन कर्त्रा पादेन निक्षिप्तं विपर्ययं प्रापितमत्र न संशयः कार्य इति॥ ९॥ ते नन्दादयो गोपा न श्रद्धिरे विश्वासं न जग्मुः बालस्यैतन्न संभवत्येते च बालकाः किं जानन्तीति बालकस्याप्रमेयमपारं बलं च न वै विदुः॥१०॥ ततो रुदन्तं सुतमादाय यशोदा बालग्रहशङ्किता कर्त्तरि क्तः बालग्रहमाशङ्कमाना ऽत एव विप्रैः कर्तृभिः सूक्तैः रक्षोघ्नमन्त्रैः करणैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य तं कृतानिष्टपरिहारककर्माणं शिशुस्तनमपाययत्॥ ११॥ ततो बलिभिः शक्तैरथवाऽष्टदिक्षु बलिभिर्गृहशान्तिकारिभिः पूजात्मकैः सहितं सपरिकरं यथा पूर्वं स्थापितं विप्रा दध्यादिभिरर्चयामासुः हुत्वा ग्रहादिहोमं विप्रायार्चयाञ्चक्रुरित्यर्थः॥ १२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अव्यक्तमतीननिश्चितबुद्धीन् न व्यक्ता मतिर्येषां तेऽव्यक्तमतयः तान् कुलवृद्धान् ।। ९ ।। बालभाषितवत् बालभाषितमिति विकल्प्य संशय्य "उताप्यर्थविकल्पयोः" इत्यमरः ।। १०–११ ।। स्थापितमन इति शेषः बलिभिः प्राणशक्तिमद्भिः सपरिच्छदं सपरिकरम् ।। १२ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ते वात्सल्यपूर्णचित्ताः ।। १०–१५ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अव्यवसिता किन्दैत्यादेः किम्वा ग्रहादेः कर्मेदमित्यनिश्चिता मतिर्येषां तान् ।। ९ ।। न श्रद्दधिरे न विश्वसन्ति स्म ।।१०।। सूक्तैरक्षोघ्नमन्त्रैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य तम् ।। ११ ।। बलिभिर्बलवद्भिर्गोपैः पूर्ववदेव शकटं स्थापितमिति तस्य बृहत्त्वं व्यञ्जितम अर्चयाञ्चक्रुरिति गोपजातीनां तदाश्रयप्रधानत्वात् सञ्चितधनास्पदत्वेन लक्ष्म्या अधिष्ठानत्वाच्च ।। १२ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अव्यवसितमतीन् अलब्धशकटपतननिमित्तमतीन् ।। ९–१० ।। रक्षोघ्नैर्मन्त्रैः कृतं स्वस्त्ययनं मङ्गलं यस्य तम् ।। ११ ।। कर्मठविप्रस्वभावं प्रसङ्गात्सूचयति । बलिभिर्गोपैः सपरिच्छदं पूर्ववत्स्थापितं शकटं विप्राः हुत्वा ग्रहादिहोमं विधाय दध्यादिभिरर्चयाञ्चक्रुः ।। १२ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अव्यवसिता किं दैत्यानां किं वा ग्रहाणां कर्मेदमिति निश्चयशून्या मतिर्येषां तान् बालका ये मात्रा रक्षिण स्थापितास्ते बोध्याः ।। ९ ।। न श्रद्धिरे न विश्वसितवन्तः सर्वज्ञानयोग्या अपि बाल्याच्छन्नैश्वर्यज्ञानास्तस्याप्रमेयं बलं न विदुः ।। १० ।। सूक्तै रक्षोघ्नमन्त्रैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य तम् ।। ११ ।। बलिभिः शक्तैर्गोपैः पूर्ववत्तच्छकटं स्थापितमिति तस्य महत्त्वं दर्शितं विप्रा हुत्वा ग्रहादिहोमं विधाय दध्यादिभिस्तदर्चयामासुः ।। १२ ।।

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

हरिः ॐ ते गोपा इति रुदितानेन पादेन क्षिप्तमिति यद्बालभाषितं बालानां वाक्यं तन्नोत नैव श्रद्धिर इति । एतेन बालभाषितमित्यस्य हेतुगर्भत्वात् । बालभाषितं न श्रद्दधिर इत्यनेनैव बालभाषितत्वान्न श्रद्दधिर इत्यर्थस्य लाभादिति शब्दो व्यर्थ इति दूषणं पराकृतम् । इति शब्दस्य हेत्वर्थकमनंगीकृत्य पूर्वोक्तवचनपरामर्शार्थकत्वांगीकारात् । एतेनैवोतशब्दो व्यर्थ इति दूषणं परास्तम् । उत शब्दस्यैवार्थकत्वांगीकारात् ।। ९–१२ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

शयानस्य स्वाधस्ताच्छिशोः । अल्पकावत्यण । प्रवालो वल्लकी दण्डे विद्रुमे वनपल्लव इति विश्वान्नवपल्लववन्मृदू वा । प्रवालवद्विद्रुमवद्रक्तौ च तौ मृदू चेति वा । तौ च तावङ्घ्री ताभ्यां हतं ताडितं । अनो विध्वस्तानि नाना नानाविधरसा येषु कुप्येषु तदितरभाजनेष्विति विध्वस्तानि नानारसकुप्यभाजनानि यस्मिंस्तत् । व्यत्यस्तौ चक्रं चाक्षश्च शकटसम्बन्धी दारुविशेषः स यस्य तत् । विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्य तत् । व्यत्यस्तचक्राक्षं च तद्विभिन्नकूबरं च तत्सत् । व्यवर्तत विपर्यस्तमभूत् । राजसूयादिनिपातितः कुप्यशब्दः । ताभ्यां यदन्यत्कुप्यम् । कूबरस्तु युगन्धर इत्युभयश्चामरः । अनः समाविश्य दितेः सुतोऽसौ स्थितः प्रतीपाय हरेः सुपापः क्षित्यो नसिस्थः शकटाक्षनामा स विष्णुं नीत्वा सहितः पपात । ममार चाश्वित्यादि श्रीमदुक्तेर्विशेषोऽवसेयः ।। ९ ।। यशोदा प्रमुखं मुख्या यासां ता अस्वाङ्गत्वान्न ङीप् । व्रजस्त्रिय औत्थानिके कर्मणि याः समागता एतदन्या एता वा नन्दादयः पुमांसश्च दृष्ट्वा शकटमनः कथं स्वयं पातयित्रभावेऽपि विपर्यगाद्विपरीतं पपातेति । अद्भुतदर्शनेनाकुलाश्चञ्चलचित्ताः सन्तोऽब्रुवन् । इति ब्रुवन्त आर्तवदार्ता विषादमोहिता जनाः परिवव्रुः ।। १० ।। तदव्यक्तमतींस्तस्मिन्ननो व्यत्यस्तोभवनकर्मण्यव्यक्ता निश्चयमनाप्नुवाना मतिर्यासामेषां च तान्गोपीर्गोपांश्च बालकास्तत्रत्या रुदताऽनेन बालेन कर्त्रा पादेन करणेनैतदनः क्षिप्तं संशयो न नास्तीत्यूचुः । अनेन पादेनेत्यनेन प्राक् चरणाम्बुदक्षेपादिर्बालभावे स्वभावोऽयमित्यावेदयितुम् । वस्तुतस्तु तद्विपर्यास एकेनैवासेति द्योतयन्तीति मन्तव्यं । हस्तोऽपि क्षि- : किमिति कश्चिदविपश्चिच्छङ्केत तदवकाशपदान्तरं यत्र करावकारः कथमित्यपि कथयन्तीति कथयति ।। नेति । संशयः कोमलशयः पाणिर्न विनिक्षिप्त इत्यूचुः । पञ्चशाखः शयः पाणिरित्यमरः । सन्देहादिपदमसन्दानिता संशयपदं निबन्धान इदं योजनमसूचयत् ।। ११ ।। अनन्तस्य नाशरहितस्याप्रमेयस्य साकल्येन प्रमातुमशक्यस्य ते बलं न विदुर्वै यतस्तत इदं बालभाषितमित्युत तदन्तरं ते न श्रद्दधिरे न विश्वासं चक्रुः । उत भवेदथवा नेति विकल्पं कृत्वेति वा । उताप्यर्थविकल्पयोरित्यमरविश्वौ ।। १२ ।।

श्रीसुबोधिनी

भगवत्यत्यन्तमसम्भावना तेनान्योक्तेपि निमित्ते तेषां विश्वासो न जात इत्याह द्वाभ्यामूचुरिति, ननु विपरीतभावनायुक्तेभ्यो न वक्तव्यमितिसिद्धान्तात् कथमुक्तवन्त इत्याशङ्क्याह बालका इति, ज्ञानवन्तोपि विवेकरहिताः परस्वभावाधिकारादिकं न विचारितवन्तः, तर्हि कथं ज्ञानवत्त्वमित्याशङ्क्य तेषां श्रोतॄणां विपरीतज्ञानं स्वभावदोषश्च नास्तीत्याहाव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्चेति, न व्यवसिता निश्चयं प्राप्ता मतिर्येषां, उपायान्वेषणपरा एव न तु विपरीततया किञ्चिन्निश्चितवन्तस्तथा सति न वक्तव्याः स्युः, गोपा गोप्य इति स्वभावतो दोषाभावो गोरक्षणधर्मपातिव्रत्यधर्मश्चोक्तः, चकारात् तादृशा एव ब्राह्मणाः, अन्येपि, उपायान्वेषणेपृष्टेनापि वक्तव्यमित्यनेन बालकेन रुदतैतदनः पादेन क्षिप्तं नास्त्यत्र संशयः, न हि दृष्टेनुपपन्नं नाम व्याघातात्, दृष्टानुसारिण्येव कल्पना च कर्तव्या, अतः संशयाभाव इति बालाभिप्रायः, रोदनं निमित्तमिति नाप्यपि दोषः, कर्तृकरणयोरसम्भावनया नाङ्गीकृतवन्तः ॥ ९ ॥ प्रत्यक्षमेतत् प्रत्यक्षमूलकं च वाक्यं तर्कविरुद्धं नाङ्गीकर्तव्यमिति, तदाह न ते श्रद्दधिरे गोपा इति, गोप्यस्तु मध्यस्था जाताः, त इति बहिर्मुखाः, ज्ञानं तु ज तं, अत्यन्तासत्यप्यर्थे शब्दाज् ज्ञानोत्पत्तिसम्भवात्, अतो ज्ञ तवन्तो न तु श्रद्दधिरे, यतो गोपा अलौकिकज्ञानरहिताः, हेत्वन्तरमप्याह बालभाषितमप्युतेति, बाला भ्रमाददृष्टमपि वदन्ति, भूतादिना तथा कृते क्षिप्तोपि पादोन्यथासिद्धः करणत्वेन ज्ञात इति, बालास्तु भगवत्परा भगवत्सामर्थ्यं भूताद्यभावं च दृष्टवन्तः, अन्येस्तु तद्दर्शनाभावात् स्वप्रतीतिसिद्धमेवाङ्गीक्रियत इति, अश्रद्धायां हेतुमाहाप्रमेयमिति, बालकस्य बलं न ते विदुः, यद्यपि बलं न प्रत्यक्षं तथापि कार्येणानुमीयते, स्वस्मिन् कार्यकरणभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, यद्ययं बलिष्ठः स्यात् स्वयमप्यनत उत्तिष्ठेत् कार्यान्तरं वा कुर्याद् रोदनं च न कुर्यात्, अतो नैयायिकवदिदानीन्तनमीमांसकवद् वा भ्रान्ता बलं न विदुरित्यर्थः, तत्र हेतुरप्रमेयमिति, न तेषां दोषो नापि तर्कस्य, किन्तु तस्य बालकस्य बलमेवाप्रमेयं प्रमातुमयोग्य "मलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजय"-दिति तु न तेषां बुद्धिः, अलौकिकत्वनिश्चयाभावात् सन्देहस्त्वनेन जातः, जिज्ञासोत्पादिका तु पूतना, वसुदेववाक्यपूतने च सन्देहोत्पादिके, यद्यपि बालका अलौकिकं जानन्तीत्यपि न जानन्ति तथापि मुख्येनैव चरितार्थत्वादेकमेवोक्तम् ॥ १० ॥ ततोत्यन्तमविचार्य लौकिक एव प्रवृत्त इत्याह रुदन्तमित्यादिसप्तभिः, चतुष्टयमत्र कर्तव्यमुत्पातोयमिति रोदनप्रतीकारो ग्रहकृतोपद्रवस्य बालकानिष्टस्य निवृत्तिः शकटास्थापनं शकटसम्बन्ध्युत्पातपरिहारश्च, वस्तुतस्तु द्वयमेव कर्तव्यं रोदनप्रतिकारः शकटस्थापनं च, तथा सति लौकिकबुद्धिर्दृढा भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थं भगवदिच्छयोत्पन्नभ्रमस्य वर्णनं भगवच्चरित्रत्वाय, तत्रादौ भगवद्विषयकं द्वयमाहतेषामज्ञानस्थापनार्थं भगेपि शकटे रोदनं, ग्रहसम्भावनायामपि सुतत्वाद् ग्रहणं, यशोदेति लौकिकबुद्धिनिपुणेति ग्रहशङ्कासम्भावना, कश्चिद् बालग्रहादिस्तत्र प्रविष्टो रोदनं कारयतीतिसम्भावना, अतः शीघ्रं स्तनं न दत्तवती किन्त्वभिज्ञैर्ब्राह्मणैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य रक्षाबन्धनाभिमन्त्रादिकं स्वस्त्ययनं सुष्टुक्तं येषां वचनं प्रमाणमतस्ते रक्षां कृत्वा तद्गतदोषादर्शनात् सुष्टुक्तवन्तः, ततः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥ एवं भगवति द्वयमुक्त्वा शंकते द्वयमाह पड्भिर्भगवद्गुणैरेवानिष्टनिवृत्तेः, पूर्ववदिति, यथा तस्यानसः संस्थानं पूर्वमासीद् यथा वा कुव्यस्थितिस्तदाह पूर्ववदेव गोपैः स्थापितमिति, बलिभिरिति तस्य महत्त्वमुक्तं, परिच्छदादिसहितं, तस्य परितो भागा एव परिच्छदाः, अथवा पूजार्थं परिच्छदं वा सम्पादितवन्तः, तादृशं शकटमेव शकटाधिष्ठात्री देवतां तत्रावाह्य विप्रास्तदभिज्ञा विशेषेण रिक्तपूरणसमर्थाः, प्रथमतोनिष्टनिवृत्त्यर्थं सामान्यतो होमं कृत्वाज्येन व्याहृतिभिः सर्वत्र निवृत्ते सामान्यहोमः पश्चात् तच्छकटमर्चयाञ्चक्रुर्दधिमिश्रिता अक्षतास्तस्य परितः स्थापिताः कुङ्कुमाक्षता इव कुशसहितानि प्रोक्षणजलानि च, ब्राह्मणैः क्रियमाणं समन्त्रकमेव भवति ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अप्रमेयं बलमित्यत्र । यद्यप्यत्र संशयो न कण्ठोक्तस्तथापि बालोक्ते श्रद्धाभावोक्त्या तन्निश्चयाभाव एवायाति, न तु विपरीतनिश्चयोपीति संशयप्राप्तिरित्याशयेनाहुः सन्देहस्त्वनेनेत्यादि ॥ १० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

ऊचुरित्यत्र दृष्टानुसारिणीत्यादि, शकटक्षेपो यथा जातो येन वा कृतस्तद् भवद्भिर्न दृष्टमस्माभिस्तु दृष्टमिति भवद्भिः शकटनाशे या या कल्पना कर्तव्या साप्यस्मद्वाक्यविरुद्धा न प्रामाणिक्यतोस्मद्वाक्यविश्वासान्न सन्देहः कर्तव्य इति बालाभिप्रायः ॥ ९ ॥ न ते श्रद्दधिर इत्यत्र बहिर्मुखा इति लौकिकासक्तिभाजः, ननु मूले बालवाक्ये श्रद्धाभावमात्रमुक्तमितिसन्देहः कथं व्याख्यायत इत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहुर्यद्यपीत्यादि, तन्निश्चयाभाव इति हेतुनिश्चयाभावः, सुबोधिन्यामनेनेति बालवाक्येन निश्चयाभावेनेति वा, ननु बालवाक्यस्य तर्कविरुद्धत्वाद् विपरीततयैव किञ्चित् कुतो न निश्चितवन्त इत्याकाङ्क्षायां ससामग्रीकं सन्देहबीजमाहुर्जिज्ञासेत्यादि, यद्ययं बलिष्ठो न स्यात् पूतनां कथं मारयेद् यद्यनेन सा मारिता न स्यान् "मुञ्च मुञ्चाल"मिति कथं वदेदितिबलिष्ठप्रतिपक्षतर्कसद्भावात् पूतना जिज्ञासोत्पादिका, न च तथा सति निश्चय एव कुतो न जात इति शङ्क्यं, "सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" इति वसुदेववाक्यं "मुञ्च मुञ्चे"तिभाषिणी पूतना चेत्युभे कोटिद्वयमुपस्थापयत इति सन्देहोत्पादिके, तथा

च वसुदेवेनोक्त"मुत्पाताः सन्ती"त्युत्पातेनैव शकटं पातितमुत पूर्ववद् बालकेनेतिसन्देहजनिके इत्यर्थः, ननु तथाप्याप्तवाक्यस्यात्र सहकारित्वान्निश्चयो भवितुमुचित इत्याशङ्क्य बालानामाप्तत्वमेव तैर्न ज्ञातमिति न दोष इति वक्तुं पूतनावधेनापि भगवद्बलं तैर्न ज्ञातमिति कुतो **बालभाषितं** प्रमाणयिष्यन्तीत्याहु**र्यद्यपी**त्यादि, मुख्येन बालाज्ञानेनैव **चरितार्थत्वाद्** द्वितीयकोटिप्रतिघाता-देकमश्रद्धानमेवोक्तमित्यर्थः ॥ १० ॥ **रुदन्त**मित्यत्र ग्रहकृतोपद्रवसम्भावनया स्वस्त्ययनादिकृतेः **शकटसम्बन्ध्युत्पातपरिहार-कृतेश्च** भ्रान्तिमूलकत्वाद् द्वयस्यैव कर्तव्यत्वमित्यभिप्रेत्याहु**र्वस्तुतस्त्वि**त्यादि, **तथा सती**ति चतुष्टयकर्तव्यत्वे **सति, लौकिकबुद्धि-**रिति सामान्यबालकबुद्धिः, **भ्रमस्ये**ति ग्रहशङ्कारूपस्य **भ्रमस्य**, भगवच्चरित्रत्वायेत्यन्यथा तावतो ग्रन्थस्य **भगवच्चरित्र**प्रति-पादकत्वं न स्यादित्यर्थः, **द्वयमाहे**ति भ्रमप्रमाप्रतिपन्नं कर्तव्य**द्वयं**, एवमग्रेपि ज्ञेयं, **ज्ञानस्थापनार्थ**मिति **बालकेनैव** शकटं क्षिप्त-मितिज्ञानाभावस्य **स्थापनार्थं**, तथा सति पूर्णमाहात्म्यज्ञाने लीला न सिध्येदिति भावः, कर्तव्य**द्वयमेव** स्फुटीकुर्वन्ति **भग्न** इत्यादि ॥ ११ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

रुदन्तमित्यत्र **तथा सती**ति चतुष्टये कृते **सती**त्यर्थः, **तन्निवृत्त्यर्थ**मिति ग्रहकृतोपद्रवशकटसम्बन्ध्युत्पातयोर्निवृत्त्य**र्थ-**मित्यर्थः, **यशोदेती**ति "यशोदाप्रमुखा" इत्यनेन लौकि व्रजस्त्रीषु मुख्यत्वकथनात् तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥ **पूर्ववदि**त्यत्र **परिच्छदं वे**ति अत्र **वा**शब्द एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

न ते श्रद्दधिरे इत्यस्य विवृतौ **ज्ञानं तु जात**मिति यद् बालकैरुक्तं "रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेत"दिति श्रुत्वा शाब्दबोधे जाते तत्र भगवत्यसम्भावनाया बलिष्ठत्वात् तदनङ्गीकारो जातः, **अत्यन्तसत्यप्यर्थ** इति वन्ध्यापुत्रः शशशृङ्गं गगनकुसुममित्यादौ शब्देन ज्ञानस्य सर्वानुभवसिद्धत्वाज् ज्ञानमप्यत्राभूदित्यर्थः ॥ १० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा अव्यवसिता 'किं कश्चिदुत्पातः, किंवा स्वाभाविकमस्य पतनम्' इत्यत्र अनिश्चिता मतिर्येषां तान् गोपान् तथाभूता गोपीश्च 'प्रतिरुदता अनेन बालेन पादेनैतच्छकटमाक्षिप्तं पातितम्, अत्र संशयो नास्ति' इति तत्र क्रीडन्तो बालका ऊचुरित्य-न्वयः ॥ ९ ॥ ते एवमुक्ता नन्दादयो गोपाः बालभाषितमिति कृत्वा न श्रद्दधिरे तद्वाक्ये विश्वासं न जग्मुः । 'उत' इति वितर्के । "बालेन कथमेतस्य महतः पातनं सम्भवति ? एते तु बालाः किं जानन्ति ?" इति तर्कितवन्त इत्याशयः । 'कुत एवं विपरीतं तर्कितं' तत्राह—अप्रमेयमिति । यस्मादप्रमेयममितं बुद्ध्यगोचरं बलं यत् तस्य बालकस्यास्ति तत् ते न विदुः' अतो विपरीततर्केण श्रद्दधिरे इति ॥ १० ॥ 'अतो लौकिकीं रीतिमेव कृतवन्त' इत्याह—रुदन्तमिति । ग्रहशङ्किता 'यस्मिन् प्रविष्टः कश्चित् ग्रहो रोदनं कारयति' इति शङ्कायुक्ता यशोदा रुदन्तं सुतमादाय प्रथमं स्तनं न दत्तवती, किंतु प्रथमं सूक्तै राक्षोघ्नैर्मन्त्रैः कृत्वा विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं कृतरक्षाबन्धनादिकं सन्तं स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥ भगवत्प्रभावानभिज्ञविप्रचेष्टितमाह—पूर्ववदिति । बलिभिर्बलवद्भिर्गोपैः । यद्वा अष्टदिक्षु स्थापितैर्दध्यादिभिः सहितं सपरिकरं परिकरास्तदवयवत्वात्, तत्सहितं गोपैः पूर्ववत् स्थापितं शकटं विप्रा हुत्वा ग्रहादि-शान्त्यर्थं होमं विधाय दध्यादिभिरर्चयाञ्चक्रुः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ऊचुरिति ॥ तदा अव्यवसिता किं कश्चिदुत्पातः किंवा स्वाभाविकमस्य पतनमित्यत्रानिश्चिता मतिर्येषां तान् गोपान् तथा-भूता गोपोश्च प्रति रुदता अनेन बालेन पादेनैतच्छकटमाक्षिप्तं पातितमत्र संशयो नास्तीति तत्र क्रीडन्तो बाला ऊचुः ॥ ९ ॥ न ते इति ॥ ते एवमुक्ता नन्दादयो गोपाः बालभाषितमिति कृत्वा । उत इति वितर्के । एतत् न संभवति एते बालाः किं जानन्ति इति तर्कयन्तः न श्रद्दधिरे तद्वाक्ये विश्वासं न जग्मुः । यस्मादप्रमेयममितमतर्क्यं बलं यत्तस्य बालकस्यास्ति तत् ते न विदुः ॥ १० ॥ रुदन्तमिति ॥ ग्रहशङ्किता अस्मिन्प्रविष्टः कश्चित् ग्रहो रोदनं कारयतीति शङ्कायुक्ता यशोदा रुदन्तं सुतमादाय प्रथमं स्तनं न दत्तवती। किंतु प्रथमं सूक्तै रक्षोघ्नैर्मन्त्रैः कृत्वा विप्रैः कृतरक्षाबन्धनादिकं सन्तं स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥ पूर्ववदिति ॥ बलिभिर्बलवद्भिर्गोपैः । यद्वा । अष्टसु दिक्षु स्थापितैर्दध्यादिबलिभिः सहितं सपरिच्छदं अवयवाः तत्सहितं गोपैः पूर्ववत्स्थापितं महान्तं शकटं विप्राः हुत्वा ग्रहादिशान्त्यर्थं होमं विधाय दध्यक्षतकुशाम्बुभिरर्चयांचक्रुः । स्वाश्रयधनत्वात् लक्ष्म्यधिष्ठानत्वाच्च शकटस्य पूजनम् ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अव्यवसितमतीन् अनिश्चितमतीन् अनेन बालेन क्षिप्तं पातितम् ॥ ९ ॥ न श्रद्दधिरे विश्वासं न प्रापुः ॥ १० ॥ बालग्रहघ्नैः सूक्तैः कृत्वा ॥ ११ ॥ बलिभिः समर्थैः सपरिछदं सामग्रीसहितं पूर्ववत् स्थापितं यद्वा दिक्षु दत्तैः बलिभिः सहितं शकटं विप्राः आदौ हुत्वा होमं कृत्वा ततो दध्यादिभिः अर्चयांचक्रुः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दृष्ट्वेति ॥ यशोदाप्रमुखाः यशोदाप्रभृतयः, व्रजस्त्रियः, याश्च, औत्थानिके कर्मणि, समागताः ताश्च स्त्रियः, नन्दादयो गोपाश्च, तेऽपि, दृष्ट्वा विपरीतभावापन्नशकटमवलोक्य, शकटमेतदनः, स्वयं वै स्वत एव, कथं विपर्ययात् विपरीतमभूत्। इत्येवं अद्भुतस्याश्चर्यस्य दर्शनं तेनाकुला भ्रान्ताः, बभूवुः ॥ ९ ॥ ऊचुरिति ॥ तदा, अव्यवसिता अनोविपर्ययाद्यगोचरा मतिर्येषां तान्, गोपान् गोपीश्च प्रति, बालकाः श्रीकृष्णस्य समन्ततः क्रीडन्तो बालाः, एतच्छकटं, रुदता अनेन बालकेन कर्त्रा, पादेन करणेन, क्षिप्तं विपर्ययं प्रापितम्। न संशयः। अत्र संशयो न कर्त्तव्य इत्यर्थः। इति ऊचुः ॥ १० ॥ न त इति। ते नन्दादयः गोपाः, बालभाषितं बालैर्यथार्थतया कथितमपि, न श्रद्दधिरे तद्वचसि विश्वासं न जग्मुः। उत यतः, ते नन्दादयः, तस्य, बालकस्य, बल अप्रमेयमपारं, भवति इति, न विदुः। बालैर्यथार्थमभिहितेऽपि बालकृष्णाप्रमेयबलाज्ञानान्न तद्वचसि विश्वासं ययुरित्यर्थः ॥ ११ ॥ रुदन्तमिति ॥ यशोदा, रुदन्तं सुतं आदाय, ग्रहशङ्किता, कर्त्तरि क्तः। बालग्रहं शङ्कमाना सतीत्यर्थः। विप्रैः कर्त्तृभिः, सूक्तैः रक्षोघ्नमन्त्रैः करणैः, कृतस्वस्त्ययनं कृतानिष्टपरिहारकर्माण बालं, स्तनं अपाययत् ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

न ते श्रद्दधिर इति : १०.७.१०.

अबलालङ्कृतस्यास्य कथमेवंविधं बलम्। इत्यर्भकगिरि श्रद्धां न दधुर्युक्तमेव ते ॥ १८ ॥

कृष्णप्रिया

वे इसका कोई कारण निश्चित न कर सके। वहाँ खेलते हुए बालकों ने गोपों और गोपियों से कहा कि 'इस कृष्ण ने ही तो रोते-रोते अपने पाँव की ठोकर से इसे उलट दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं' ॥ ९ ॥ परन्तु गोपोंने उसे 'बालकों की बात' मानकर उसपर विश्वास नहीं किया। ठीक ही है, वे गोप उस बालक के अनन्त बल को नहीं जानते थे ॥ १० ॥ यशोदाजी ने समझा यह किसी ग्रह आदि का उत्पात है, उन्होंने अपने रोते हुए लाड़ले लालको गोद में लेकर ब्राह्मणों से वेदमन्त्रों के द्वारा शान्तिपाठ कराया और फिर वे उसे स्तन पिलाने लगीं ॥ ११ ॥ बलवान् गोपों ने छकड़े को फिर सीधा कर दिया। उसपर पहले की तरह सारी सामग्री रख दी गयी। ब्राह्मणों ने हवन किया और दही, अक्षत, कुश तथा जल के द्वारा भगवान् और उस छकड़ेकी पूजा की ॥ १२ ॥

येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः। न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः ॥ १३ ॥
इति बालकमादाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः। जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः। हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥ १५ ॥
गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रग्रुक्ममालिनीः। आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते चान्वयुञ्जत ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ये असूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः तेषां सत्यशीलानाम् कृताः आशिषः विफलाः न (भवन्ति) ॥१३॥ इति समाहितः नन्दगोपः बालकम् आदाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः पवित्रौषधिभिः जलैः द्विजोत्तमैः अभिषिच्य स्वस्त्ययनं वाचयित्वा अग्निं हुत्वा महागुणम् अन्नं प्रादात् ॥ १४–१५ ॥ सर्वगुणोपेताः वासःस्रग्रुक्ममालिनीः गावः आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात् च ते (आशिषः) अन्वयुञ्जत ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। ईर्ष्या अक्षान्तिः। तेषामाशिषः कृतास्तैः प्रयुक्ताः ॥ १३ ॥ इत्येवमभिप्रेत्य सामर्ग्यजुर्भिरुपाकृतैरभिमन्त्रितैः। पवित्रा ओषधयो येषु जलेषु तैः कृत्वा द्विजोत्तमैः कर्तृभिरभिषिच्याभिषेकं कारयित्वा ॥ १४ ॥ हुत्वा हावयित्वा ॥ १५ ॥ गावो गाश्च प्रादात्। अन्वयुञ्जत आशिषो युयुजुः ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अनृतमसत्यभाषणम्। दंभो लोकवंचनार्थं मिथ्यानुष्ठानम्। हिंसा प्राणवियोगानुकूलव्यापारः। मानमभिमतिः ॥ १३ ॥ उपाकृतैः संस्कृतैः। ओषधयः विष्णुक्रांतादिबीजानि। प्रादादिति द्वयोः संबंधः ॥ १४ ॥ महागुणमनेकरसवत् ॥१५॥ सर्वगुणोपेताः अल्पाशनातिमिष्टाधिकदुग्धदानक्षमीपागताताडनदोहनानभिज्ञदोहप्रदानादिरूपबहुविधगुणयुक्ताः गाः। अभ्युदयः समृद्धिः कल्याणमिति यावत् ॥ १६ ॥

१. मादाय–श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अधुनाऽन्येभ्यो विशेषतः श्रीवल्लवेन्द्रस्य श्रीयशोदावचेष्टितमाह—य इति चतुर्भिः। तत्र य इति त्रिकम्, तत्रैवेकेन तेषां ब्राह्मणानां सर्वोत्तमत्वमाह, य इति। असूयादिचतुष्कविवर्जनेन प्रायो धर्मपरत्वं हिंसामानविवर्जनेन च मोक्षपरत्वं "सत्यञ्च समदर्शनम्" इति—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥ इति च॥

एकवाक्यतया सत्यशीलत्वेन परमवैष्णवत्वं चोक्तम् अत एव सर्वश्रैष्ठ्य नास्यान्ते पृथगुक्तिः॥ १३॥ इतीति त्रिकालान्त-र्युग्मकं सामर्ग्यजूंषि तत्तद्वेदमन्त्राः पवित्रौषधयः सर्वौषधयो महौषधयश्च॥ १४॥ महागुणं रसामोदादि विशिष्टम्॥ १५॥ गाव इति सार्द्धकम्। अभ्युदयः सर्वोपद्रवशान्तिपूर्वकं वैभवं स एव निजपुरुषार्थः स्नेहभरात्तं साधयितुं ते च विप्राः अनु अन्नभोजना-द्यनन्तरं अयुञ्जत प्रयुक्तवन्तः आशिष इत्युत्तरस्वारस्यात्॥ १६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अधुनान्येभ्यो विशेषतः श्रीवल्लवेन्द्रस्य श्रीयशोदावच्चेष्टितमाह—य इति चतुर्भिः। 'असूया' अदुष्टेषु दोषारोपणम्, 'अनृतम्' असत्यभाषणम्,—एतौ वाक्प्राधान्याद्वाचिकौ दोषौ; 'दम्भः' पर-वञ्चनार्थ चेष्टा,—प्रायोऽयं कायिक एव, 'ईर्ष्या' अक्षान्तिः, कस्यचिन्मते परोत्कर्षासहनम्,—अयं मानसः, 'हिंसा' परपीड़ा, 'मानः' अहंकारः,— एतौ सर्व्वसम्भवौ। समुच्चितौ; यद्यपि कामक्रोधादयोऽन्येऽपि सम्भवन्ति, तथाप्यसूयादिविवर्ज्जनेन तेषामपि स्वत एव वर्ज्जनसिद्धेः; किंवा, हिंसायामन्तर्भावात् पृथङ्नोक्ताः। तत्रासूयादि-चतुष्क-विवर्ज्जनेन प्रायो धर्म्मपरत्वम्, हिंसा-मान-विवर्ज्जनेन च मोक्षपरत्वम्। सत्यस्य भगवत इव; यद्वा, सत्यं तद्भजनमेव शीलं स्वभावो येषां तेषां परमवैष्णवत्वं चोक्तम्, अतएव सर्व्वतः श्रैष्ठ्य नास्यान्ते पृथगुक्तिः। सामर्ग्यजुंषि तत्तद्वेदमन्त्राः। पवित्रोषधयः सर्वोधयो महोषधयश्च; ताश्च प्रतिष्ठाप्रसगे श्रीहयशीर्षपञ्चरात्राद्युक्ता ज्ञेयाः; यथा—

'मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम्। शटी चम्पकमुस्तञ्च सर्व्वोषधिगणः स्मृतः॥
सहदेवी वचा व्याघ्री वला चातिवला तथा।
शङ्खपुष्पी तथा सिंही सूर्य्यावर्त्ता तथाष्टमी। महौषध्यष्टकं ह्येतन्महास्नाने नियोजयेत्॥ इति।

द्विजोत्तमैरेव स्वस्त्ययनञ्च वाचयित्वा पुण्याहवाचनादिकं कृत्वा। नन्दश्चासौ गोपश्च, महाराज इति महागौरवात्, एवमग्रेऽपि। किञ्चानेन तस्य तत्र तत्र परमाभिज्ञता समर्थता च, समाहित इति सर्व्वत्राच्छिद्रता श्रद्धा च बोधिता। अग्निं हुत्वा—वैश्यात्तमत्वात् स्वयमेव विप्रसन्निधाने होमं कृत्वा महागुणं रसामोदादि-विशिष्टमन्नं प्रादादभोजयदित्यर्थः॥ १३-१५॥ दक्षिणात्वेन सर्व्वालंकारयुक्ता उत्तमा गावो दत्ता इत्याह—गाव इति। सर्व्वैर्गुणैर्बहुलदुग्ध—नववयस्त्वादिलक्षणैर्युक्ताः। आत्मजस्याभ्युदयो देहबलादिवृद्धिरेव। धर्म्मादिस्तस्मै, द्वन्द्वैक्यम्, यद्वा, अभ्युदयो वैभवम्; स एव निजसर्व्व-पुरुषार्थः; स्नेहभरात्तदर्थमनु अन्नभोजनाद्यनन्तरम्॥ १६॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सामर्ग्यजुरुपाकृतैः तन्मन्त्रसंस्कृतैः "शतमन्वपुः लेभिरे"॥ १३—१६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततो येऽसूयादिदोषविवर्जितास्तेषां सत्यशीलानामननृतवादशीलानामाशिषः कदाचिदपि विफला न भवन्तीति बुद्ध्वा बालकमादायेत्यन्वयः। तत्र असूया गुणेषु सत्स्वपि दोषाविष्करणम् अनृतं मिथ्याभाषणं दम्भो वञ्चनम् ईर्ष्यात्वक्षमा हिंसा भूतद्रोहः मानः अहङ्कारः॥ १३॥ द्विजोत्तमैः कर्तृभिः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैरुपाकृतैः संस्कृतैः पवित्रा ओषधयो येषु तैर्जलैरभिषिच्य स्नापयित्वा॥ १४॥ स्वस्त्ययनं वाचयित्वा च नन्दाख्यो गोपस्समाहितचित्तः हुत्वाऽग्निं हावयित्वा महागुणं षड्रसोपेतमन्नं द्विजातिभ्यः प्रादात् प्रायच्छत्॥ १५॥ साधुत्वबहुक्षीरत्वादिभिः सर्वैर्गुणैर्युक्ताः वासांसि स्रजः हेममालाश्चासां सन्तीति तथा ताः गाश्चात्मजस्याभ्युदयार्थं द्विजातिभ्यः प्रायच्छत् ते च मन्त्रविदो युक्ताः समाहिताः द्विजातयोऽन्वयुञ्जत प्रयुयुजिरे आशिष इति शेषः॥ १६॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इति कृत्वा स्थिता एव विप्राः सत्याशिष इत्याह—य इति॥ १३॥ उपाकृतैः संस्कृतैः॥ १४-१५॥ पुत्रस्याभ्युदयार्थाय अभ्युदयप्रयोजनाय जातेः प्राक्सङ्कल्पिता इति शेषः। प्राग्जातेरग्रजस्य बलभद्रस्य वा॥ १६-२०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ते च विप्रा आशिषोऽन्वयुञ्जतेत्यन्वयः॥ १६॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

श्रीनन्दस्तु ब्राह्मणाशीर्भिरेव मे बालकः कुशलीति जानाति स्मेत्याह—य इति। मानो गर्वः तेषां तैः कृताः आशिषो न विफलाः इति विश्वस्येति शेषः ॥ १३ ॥ उपाकृतैः संस्कृतैः पवित्रा ओषधयः सर्वौषधिमहौषध्यादयो यत्र तैर्जलैः करणैर्द्विजोत्तमैः कर्तृभिरभिषिच्य अभिषेकं कारयित्वा हुत्वा हावयित्वा महागुणमतिस्वादामोदयुक्तम् ॥ १४–१५ ॥ गावः गाः गुणाः बहुपयस्स्वादयः ते विप्रा अनु अनन्तरम् अयुञ्जत स्वीचक्रुः ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीनन्दस्तु वेदोक्तकर्मनिष्ठैर्द्विजोत्तमैर्बालाभिषेकादिकं कारयित्वा तेभ्यः स्वपुत्राभ्युदयार्थाय भोजनं बहुगुणवत्यः गावश्च प्रादादित्याह—य इति चतुर्भिः। तेषां तैः कृताः प्रयुक्ताः आशिषः विफला न भवन्ति ॥ १३ ॥ इति एवं विश्वासेन द्विजोत्तमैः वेदोक्तक्रियाकारयितृभिः सामादिसंस्कृतैः पवित्राः ओषधयो येषु तैर्जलैः अभिषिच्य स्नापयित्वा ॥ १४ ॥ हुत्वा हावयित्वा ॥ १५ ॥ ते द्विजातयः अन्वयुञ्जत आशिषो युयुजुः ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गुणेषु दोषारोपोऽसूया, मिथ्याभाषणमनृतं, दम्भः स्वख्यातये धर्माचारः, ईर्ष्याऽक्षमा, हिंसा कायादिभिः प्राणिपीडा, मानो गर्वस्तैर्विवर्जिता ये भवन्ति तेषां सत्यशीलानां कृतास्तैः प्रयुक्ता आशिषो विफला न भवन्ति, तत्फलानां मत्पुत्रे परिदृष्टत्वात् ॥१३॥ इतीति युग्मकं इति विजानन्नन्दगोपो व्रजनाथो बालकं कृष्णमादाय द्विजोत्तमैः कर्तृभिर्जलैः करणैरभिषिच्याभिषेकं कारयित्वा जलैः कीदृशैः सामादिमन्त्रैरुपाकृतैः संस्कृतैः पवित्रा औषधयो येषु तैः हुत्वा हावयित्वा द्विजातिभ्योऽन्नं प्रादात् महागुणं कोमलत्वमधुरत्वसौरभ्यविशिष्टम् ॥ १४–१५ ॥ गावो गाः सर्वैर्गुणैर्बहुपयस्त्वादिभिरुपेताः ते विप्राः आशिषोऽन्वयुन्त ददुः ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ग्रहो मारिकाग्रहो विप्रैः सूक्तैः कृतस्वस्त्ययनं स्तनमपाययत् ॥ १३ ॥ पूर्ववत्स्थापितमनो बलिभिर्गृहशान्त्यर्थं प्रक्षिप्तान्नादिभिः सपरिकरं सपरिच्छदं विप्रा हुत्वा दध्यक्षतकुशाम्बुभिरर्चयाञ्चक्रुः ॥ १४ ॥ असूया सत्सु गुणेषु दोषाविष्कृतिर्न मद्वशोऽसाविति चित्ततोदमात्सर्यमार्यो इत्याद्युक्तमात्सर्यं वा ईर्ष्याऽक्षमा वा दम्भोऽविद्यमानगुणप्रदर्शनं हिंसा परद्रोहादिर्मानो गर्व एतदादिविकला ये तेषां सत्यशीलानां। सत्यशब्दोऽनसूयादिसर्वोपलक्षकः। सत्यं ब्रह्म तन्निष्ठानामिति वा आशिषः क्वचिदपि विफला न भविष्यन्ति ॥ १५ ॥ इति हेतोः साम च ऋचश्च यजुश्च तैरुपाकृतैः संस्कृतैर्जलैः पवित्रौषधिभिः पृथग्वा जलमिलितैः सितसर्षपादिभिर्वा द्विजोत्तमैरभिषिच्य ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं सामान्यत उभयोः प्रतीकार उक्तः, यशोदाप्रेरणयैवैतदुभयं जातं, नन्दस्तु विशेषाकारेण द्वयमेकत्र स्थापयित्वा शान्तिं कृतवानित्याह येसूयानृतेतिचतुर्भिः, नन्दस्यादौ ब्राह्मणेषु वैशिष्ट्यबुद्धिस्ततः शकटे समारोप्याभिषेकस्तवः स्वस्तिवाचनादिपूर्वकं होमो दानं च, एवं कृतस्य वैयर्थ्याभावसाधनं च पञ्चमे वक्ष्यति, तत्रादौ ब्राह्मणेषु महत्त्वबुद्धिर्जातेत्याह य इति, ब्राह्मणे चेदलौकिकी बुद्धिस्तद्वाक्याद्भगवत्यप्यग्रे भविष्यतीति सूचितं, ब्राह्मणाः स्वभावत उत्तमा अविकृतब्रह्मस्वरूपा दोषषट्केन तु ते प्राकृता भवन्ति, भगवति तु षड् गुणा अधिकाः, निर्दुष्टो ब्राह्मणो धर्मी भगवांश्चैकस्तुल्यो वा, अतो यथा भगवद्विचारितं सत्यमेव भवति यथा ब्राह्मणोक्तमपि सत्यं भवति कृतं तु सर्वेषां पूर्वाविरोधि, तत्र ब्राह्मणेषु षड् दोषास्तत्सामर्थ्यप्रतिबन्धकास्तद्रहितास्तु निर्दुष्टास्तान् दोषान् वर्जनार्थं गणयति, कामक्रोधलोभा दोषा अव्यवस्थाविषयभेदेनैव दोषा भवन्तीति ते न गणिताः, तत्कार्यभूता एव सर्वावस्थासु सर्वविषया ये दोषास्ते दोषा इति षड् गण्यन्ते, असूया मुख्यो दोषः, अदुष्टे दोषारोपणात्, अयं बाह्यविषयको दोषः, अनृतं वाचनिको मिथ्याभाषणरूपः, दम्भः परस्य स्वोत्कर्षख्यापकचेष्टादिः, "निमित्ताभावे तु नैमित्तिकाभाव"श्चेत् तदा दम्भः, ईर्ष्या परगुणानामसहनेन दोषचिन्तनं मानसं, ततो हिंसा मारणं, तस्मिन्नपि सम्पन्ने मानोभिमानः, एवमेकेनैव त्रिदोषेण प्राणी नष्टो भवति किम्पुनर्द्वयेन ? असूयानृते दम्भहिंसे ईर्ष्यामानौ वाक्कायमनसामेत एव दोषाः, एतद्विवर्जिताश्चेत् तेषामाशिषो न विफलाः कृता भवन्ति, विफलकर्तारस्तु निवृत्ता इति, ननु प्रकृतिसम्बन्धो वर्तत इति कायवाङ्मनोदोषनिवृत्तावपि स्वभावदोषस्य विद्यमानत्वात् कथं निर्दुष्टतेत्याशङ्क्याह सत्यशीलानामिति, सत्यमेव शीलं स्वाभाविको धर्मो येषां, यद् भगवतः सत्यरूपमुक्तं तदेव तेषां स्वभावः सत्यव्रतादिः, एतादृशा ब्राह्मणा ब्रह्मविदः, तेषामिति पुनरनुसन्धानं वाक्यसमये दोषाभावस्त्वज्ञापनार्थम् ॥ १३ ॥ अत उत्पातेषु सत्स्वपि तेषां वाक्यान्निवृत्ता भविष्यन्तीति ज्ञात्वा बालकं शकटे समारोप्याभिषेकं कारितवानित्याहेतीति, स्वयं यशोदा हस्ताद्

गृहीत्वा तत्र शकटनिकटे समानीय वेदत्रयविद्भिर्ब्राह्मणैः सामर्ग्यजुस्त्रिविधैरपि मन्त्रैरुपाकृतैरुप समीप आसमन्तात् कृतैर्मन्त्रैरलौकिकत्वेनोत्पादितजलैः पवित्रा ओषधयो येषु शतावर्यादयस्तादृशैः, पवित्रैरनुपहतैर्जलैरभिषिच्य स्नानं कारयित्वा मार्जयित्वा च ॥ १४ ॥ ततो भगवन्तमलङ्कृत्य स्वस्तिपुण्याहवाचनादिकं कारयित्वा स्वयं नन्दगोप उपविश्य स्वयमपि समाहितः सावधानो भूत्वा ब्राह्मणसन्निधाने होमं कृत्वा ब्राह्मणाग्नावपि होमं कृतवांस्तदाह द्विजातिभ्यः प्रादादन्नमिति, महागुणं बहुव्यञ्जनसहितं भोजितवानित्यर्थः ॥ १५ ॥ तदा दक्षिणा गावः सर्वगुणोपेता बहुदोग्ध्र्यः सुन्दर्यः साध्व्यश्च, गवामलङ्कारार्थं वासः स्रङ् माला रुक्ममयाः सुवर्णमय्यो मालाश्च, सर्वालङ्करणयुक्ता गावो दत्ता इत्यर्थः, प्रयोजनमाहात्मजाभ्युदयार्थायेति, आत्मजस्य भगवतोऽभ्युदयोऽभिवृद्धिः स एव तस्यार्थः प्रयोजनं, अयमर्थशब्दोऽर्थान्तरव्युदासार्थः, ते चान्वयुञ्जत, अनु पश्चात् प्राप्त्यनन्तरमाशिषोऽयुञ्जत योजितवन्तः, न केवलमुक्तवन्तः ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

येऽसूयेत्यत्र । विप्रवाच एव सत्यत्वमुक्तम्, न कृतेरपीति यत्तत्तात्पर्यमाहुः कृतं तु सर्वेषामिति । सर्वेषां भगवतो विप्राणां च निर्दोषाणां कृतमपि सत्यमेव, परन्तु तद्वचनाविरोध्येव, न तु स्वच्छन्दचरितमपीत्यर्थः । स्वकर्तव्यजातीयत्वेन ग्रहविषयत्वाभाव एव कृतौ सत्यत्वाभावो ज्ञेयः ।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

येऽसूयेत्यस्याभासे स्वस्त्ययनग्रहशान्त्योः पूर्वं कृतत्वेन पुनस्तत्करणं कुत इत्याकाङ्क्षायां मूलोक्तं हेतुद्वयं द्वितीये प्रकारविशेषं च स्फुटीकर्तुमाहुर्यशोदेत्यादि, द्वयमिति भगवन्तं शकटञ्चेत्यर्थः, विवृतौ पञ्चम इति श्लोके, ब्राह्मणवाक्यसत्यत्व उपपत्तिम् हुर्ब्राह्मणा इत्यादि, एकस्तुल्यो वेति सत्यरूपत्वादेकांशत्वाद् भगवत्तुल्यो वा, तथा च तद्रूपत्वे तुल्यत्वे वा भगवद्धर्मवत्त्वं जातमिति तथेतिभावः, ननु मूले ब्राह्मणोक्तानामाशिषामेव सत्यत्वमुक्तं कृतेः कुतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहुर्विप्रेत्यादि, तथा 'चेश्वराणां वचस्तथ्य'मितिशुकवाक्यात् तथेतिभावः, सुबोधिन्यां पूर्वाविरोधीति यद् वाक्याविरोधि तत् सत्यमित्यर्थः, तर्हि कृतविचारस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुष्टिप्पण्यां स्वकर्तव्येत्यादि, स्वस्य कर्तव्यं यच्छान्तिकर्म तत् पापभ्रमेण कृतप्रायश्चित्तवत् तस्य ग्रहशान्तिकर्मसजातीयत्वेन ग्रहविषयत्वाभाव एव सत्यत्वाभाव इति फलतोऽसत्यत्वज्ञापनमेव प्रयोजनमित्यर्थः, एवं दम्भस्वरूपकथने साहजिकतया चेष्टाया अपि दम्भत्वं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं तज्ज्ञापकमाहुः सुबोधिन्यां निमित्तेत्यादि ॥ १३ ॥ इतीत्यस्याभासे बालकं शकटे समारोप्येति, ननु मूले शकटारोपणवाचकपदाभावात् कं हेतुमभिसन्धाय श्रीमदाचार्यैरिदमुक्तमितिचेदत्रेदं प्रतिभाति, यथा श्रीमातृचरणैरुभयत्र रक्षा कृता सामान्यतस्तथैव श्रीनन्दैरपि विशेषेण कृतेति ज्ञायतेऽन्यथा श्रीनन्दकर्तृकबालकानयनं 'समाहित'पदोक्तं समवधानत्वं च व्यर्थं स्यादत आनयनेऽधिकरणाकाङ्क्षापूर्त्यर्थं 'समाहित' त्वोक्त्युपपत्त्यर्थं च शकटारोपणरूपो विशेष आचार्यैरुक्त इति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

येऽसूयानृतेत्यत्र अनृतवर्जनकथने सत्यवचनं प्राप्तमेवेति सत्यशीलपदे सत्यपदार्थान्यमाहुः यद् भगवत इति, वाक्यसमये इति तथा चानृतादयः कादाचित्का भवन्त्वपि, सत्यव्रतत्वादिकं तु सार्वदिकमपेक्षितमित्यर्थः ॥ १३ ॥ इतीत्यत्र मार्जयित्वेति अलङ्कृत्येति इदं द्वयं स्नानकथने अर्थात्सिद्धं, ब्राह्मणाग्नाविति तथा च पूर्वोक्तो वाक्यार्थो होम एव सिद्ध इति भावः ॥ १५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

येऽसूयेत्यत्र पञ्चमे वक्ष्यतीति······निमित्ताभावे तु नैमित्तिकाभावश्चेत् तदा दम्भ इति ये हि शमदमादिज्ञापिकां भजनादिज्ञापिकां चेष्टां कञ्चिद्धनादिदातारमवलोक्य कुर्वन्ति तदा तस्यां क्रियायां धनाशाया निमित्तत्वं, तथा च यदा धनादिप्राप्तिरसम्भाविता तदा न कुर्वन्तीति निमित्तस्य धनाशाया अभावे नैमित्तिकस्य शमदमादिभजनादिज्ञापकचेष्टितस्याभावो भवति तच्चेष्टितं दम्भरूपं बोध्यमित्यर्थः, असूयाअनृते दम्भहिंसे ईर्ष्यामानाविति असूयानृतयोर्वाक्‌दोषत्वं असूयाया गुणेषु दोषारोपरूपत्वात् अनृतस्य मृषाभाषणरूपत्वात्, दम्भहिंसयोः कायदोषत्वं दम्भस्य स्वोत्कर्षख्यापकपरप्रतारणचेष्टारूपत्वात् हिंसायाः परप्राणहरणचेष्टारूपत्वात्, ईर्ष्यामानयोर्मानसदोषत्वं स्फुटमेव ॥ १३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

भगवत्प्रभावानभिज्ञस्य नन्दस्याभिप्रायं चेष्टितं चाह—ये इति चतुर्भिः । 'ये ब्राह्मणा असूयादिदोषविवर्जितास्तेषाम्, सत्ये यथार्थभाषणे शीलं येषां तेषां कृताः प्रयुक्ता आशिषो विफला न भवन्ति' इति समाहितः कृतनिश्चयो नन्दगोपो द्विजोत्तमैर्बालस्याभिषेकादिकं कारयित्वा द्विजातिभ्योऽन्नादिकं प्रादात्, ते च अनु अनन्तरमेव आशिष अयुञ्जत योजितवन्त इति

चतुर्णामन्वयः । असूया परगुणे दोषाविष्करणम् । अनृतं मिथ्याभाषणम् । दम्भः परं प्रति स्वोत्कर्षख्यापनम् । ईर्ष्या परगुणासहनम् । हिंसा परपीडनम् एवं कायवाङ्मनोदोषराहित्यमित्युक्तम् ॥ १३ ॥ बालकमानीय सामर्ग्यजुभिर्मन्त्रैः उपाकृतैः अभिमन्त्रितैः पवित्राः सर्वारिष्टनिवर्तकाः ओषधयो येषु तैर्जलैः साधनभूतैर्द्विजैः कर्तृभिरभिषिच्याभिषेकं कारयित्वा ॥ १४ ॥ द्विजैः स्वस्त्ययनं पुण्याहं वाचयित्वा अग्निं हुत्वा ग्रहादिशान्त्यर्थं हावयित्वा महागुणं षड्रससुगन्धादियुक्तमन्नं द्विजातिभ्यः प्रादात्, भोजितवानित्यर्थः ॥ १५ ॥ सर्वगुणोपेता बहुदोग्ध्रीः सुन्दरीः साध्वीश्च अलङ्कारार्थं वासः स्रक् पुष्पमाला, रुक्ममयी माला च विद्यते यासां ता गावश्च गाः प्रादात् । दानप्रयोजनमाह—आत्मजस्याभ्युदयः 'सर्वोपद्रवशान्तिपूर्विकाऽभिवृद्धिः' स एवार्थः प्रयोजनं तदर्थमिति ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

येऽसूयेति ॥ ये ब्राह्मणाः असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम् अनृतं मिथ्याभाषणं दम्भः परवञ्चनाय धर्मानु ानम् ईर्ष्या परगुणासहनं हिंसा परपीडनं मानः अभिमान एतैर्दोषैर्विवर्जितास्तेषां सत्ये यथार्थभाषणे शीलं येषां तेषां कृताः तैः प्रयुक्ताः । शेषे षष्ठी । आशिषो विफला न भवन्तीति ॥ १३ ॥ इतीति द्वयम् ॥ इति एवं समाहितः कृतनिश्चयो नन्दगोपो बालकमादाय सामर्ग्यजुर्भिर्मन्त्रैः उपाकृतैः अभिमन्त्रितैः पवित्राः सर्वारिष्टनिवर्तकाः ओषधयो येषु तैर्जलैः साधनभूतैः द्विजोत्तमैः कर्तृभिः अभिषिच्य अभिषेकं कारयित्वा द्विजैः स्वस्त्ययनं पुण्याहं वाचयित्वा अग्निं हुत्वा ग्रहादिशान्त्यर्थं हावयित्वा आत्मजस्याभ्युदयः सर्वोपद्रवशान्तिपूर्विकाभिवृद्धिः स एवार्थः प्रयोजनं तदर्थं महागुणं षड्रससुगन्धादियुक्तमन्नं द्विजातिभ्यः प्रादात्तान्भोजितवानित्यर्थः । अभिषिच्य हुत्वा इत्यन्तर्भावितण्यर्थौ ॥ १४–१५ ॥ गाव इति ॥ तथा सर्वगुणोपेता बहुदोग्ध्रं: सुन्दरीः साध्वीश्च अलङ्कारार्थं वासः स्रक् पुष्पमाला रुक्ममयी माला च विद्यते यासां ता गावः गाश्च प्रादात् । ते च द्विजातयः अनु अनन्तरमेव आशिषः अयुञ्जत योजितवन्तः । गाव इति प्रथमा आर्षी ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

असूया गुणेषु दोषारोपः ईर्षा स्वतुल्योत्कर्षे अक्षांतिः आशिषः आशीर्वादाः तेषां कृताः तैः प्रयुक्ताः न विफलाः ॥ १३ ॥ सामरुग्यजुषां मंत्रैः कृत्वा उपाकृतैः संस्कृतैः पवित्रौषधियुक्तैः जलैः कृत्वा द्विजोत्तमैः कर्तृभिः अभिषिच्य अभिषेचनं कारयित्वा॥१४॥ अग्निं हुत्वाविप्रैः हावयित्वा ॥१५॥ सर्वगुणोपेतासु स्वभावारुक्मं सुवर्णं अभ्युदयोवृद्धिस्तदर्थं द्विजेभ्यः गावः गाः प्रादात् ते द्विजाः आशीर्वादान् अन्वयुंज ततैः प्रोक्ताया आशिषस्तास्तथैव अभवन् ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पूर्ववदिति । ततः बलिभिः शक्तैः, गोपैः सपरिच्छदं सपरिकरं, अन्न इति शेषः । पूर्ववत्, यथापूर्वमित्यर्थः । स्थापितम् । ततः विप्राः, हुत्वा ग्रहादिहोमं विधाय, दध्यक्षतकुशाम्बुभिः, अर्चयांचक्रुः तत्र पूज्यदेवार्चनं चक्रुः ॥ १३ ॥ य इति । ततः, असूया च अनृतं च दम्भश्च ईर्ष्या च हिंसा च मानश्च तैर्विवर्जिताः, ये विप्रादयः सन्ति । सत्यशीलानां तेषां कृताः, तैः प्रयुक्ता इत्यर्थः । आशिषः, विफलाः कदाचिदपि निष्फलाः, न भवन्ति । तत्र असूया गुणेषु सत्स्वपि दोषाविष्करणम् । अनृतं मिथ्याभाषणम् । दम्भो वञ्चनम् । ईर्ष्या अक्षमा । हिंसा भूतद्रोहः । मानोऽहंकारः ॥ १४ ॥ इतीति । इत्येवंविधया बुद्धया, बालकं, आदाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः, सामर्ग्यजुर्मन्त्रैः संस्कृतैः, पवित्रा ओषधयो येषु तैः, जलैः, अभिषिच्य स्नापयित्वा, द्विजोत्तमैः ॥ १५ ॥ वाचयित्वेति ॥ स्वस्त्ययनं वाचयित्वा च नन्दगोपः, समाहित एकाग्रचित्तः, अग्निं हुत्वा हावयित्वा च, द्विजातिभ्यः महागुणं षड्रसोपेतं अन्नं, प्रादात् प्रायच्छत् । इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ १६ ॥

कृष्णप्रिया

जो किसी के गुणों में दोष नहीं निकालते, झूठ नहीं बोलते, दम्भ, ईर्ष्या और हिंसा नहीं करते तथा अभिमान से रहित हैं—उन सत्यशील ब्राह्मणों का आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता ॥ १३ ॥ यह सोचकर नन्दबाबा ने बालक को गोद में उठा लिया और ब्राह्मणों से साम, ऋक् और यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा संस्कृत एवं पवित्र औषधियों से युक्त जल से अभिषेक कराया ॥ १४ ॥ उन्होंने बड़ी एकाग्रता से स्वस्त्ययनपाठ और हवन कराकर ब्राह्मणों को अति उत्तम अन्न का भोजन कराया ॥ १५ ॥ इसके बाद नन्दबाबा ने अपने पुत्र की उन्नति और अभिवृद्धि की कामना से ब्राह्मणों को सर्वगुणसम्पन्न बहुत-सी गौएँ दीं । वे गौएँ वस्त्र, पुष्पमाला और सोने के हारों से सजो हुई थीं । ब्राह्मणों ने उन्हें आशीर्वाद दिया ॥ १६ ॥

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः । ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ॥ १७ ॥
एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती । गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥ १८ ॥
भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता । महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥ १९ ॥
दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः [1]प्रणोदितः । चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ते विप्राः मन्त्रविदः तैः याः आशिषः प्रोक्ताः ताः कदाचित् अपि निष्फलाः न भविष्यन्ति इति स्फुटम् ॥१७॥ एकदा आरोहम् आरूढम् सुतं लालयन्ती सती गिरिकूटवत् शिशोः गरिमाणं वोढुं न सेहे ॥ १८ ॥ भारपीडिता विस्मिता गोपी तं भूमौ निधाय जगतां महापुरुषं आदध्यौ कर्मसु आस ॥ १९ ॥ कंसभृत्यः प्रणोदितः नाम्ना तृणावर्तः दैत्यः चक्रवातस्वरूपेण आसीनम् अर्भकम् जहार ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तास्तथैव बभूवुरित्यर्थः ॥ १७ ॥ उत्क्षिप्य मृदुपादेन शकटं व्योम्नि लीलया ॥ तृणावर्तं पदाऽऽपीड्य भुव्यपातयदर्भकः ॥ आरोहमुत्संगम् ॥ १८ ॥ तृणावर्तोत्स्वमृत्युपरिहाराय कृष्णेनैवात्मन उत्संगादुत्ताराय कृतं भारमजानत्युत्पातशंकया महापुरुषमादध्यौ । श्रीकृष्णोदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता विस्मिता च सती । यद्वा जगतां मध्ये कर्मसु आस बभूव । न तु जगदुदरं तं वेदेत्यर्थः ॥ १९-२० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

मंत्रविदोऽधीतवेदाः । युक्ताः संयताः । ता आशिषः यथा प्रोक्तास्तथेत्यर्थः । अथ शकटपातने श्रुतिः—"पृथु रथो दक्षिणाया अयोजितं देवासो अमृतासो अस्थुः कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्संती मानुषाय क्षयाय" इति । अस्या अर्थः-पृथुर्महान् । रथः शकटं दक्षिणाया दिशः संबंधी मृत्युकर इत्यर्थः । अयोजि योजितः । शत्रुभिरित्यर्थाल्लभ्यते तमेनं रथं देवासो देवाः । अमृतासोऽमृताः । आसमंतात् अस्थुः परिवार्य स्थितवंतः । एतस्मिन्नंतरे स रथः कृष्णात्कृष्णं प्राप्य तत्प्रेरणेन उदस्थात् उत्थितः । विहायाः आकाशाश्रितः विशेषेण हयते गच्छतीति वा यंत्रोत्सृष्टगोलकवदाकाशमार्गेणोत्थाय पतितः सन्नष्ट इत्यर्थः । ततश्च अर्या ईश्वरी स्वामिनी माता तत्रत्यप्रजा वा चिकित्संती संशयवती मानुषाय मानुषस्य क्षयाय नाशाय । एतेन पतता रथेनालं बालकः कथं न नाशित इत्यत्र कारणविशेषमपश्यंती माता संदिहानैवातिष्ठन्न त्वीश्वरकृत्यमेतदित्यवेदीदित्यर्थः ॥ १७ ॥ अर्भको नंदबालः (१) गिरिकूटवदद्रिश्रृंगवत् । "कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ लोहमुद्गरदंभयोः । मायाद्रिश्रृंगयोस्तुच्छे सीरावयवयंत्रयोः । अनृते च" इति मेदिनी । गरिमाणं गुरुत्वम् ॥ १८ ॥ महापुरुषं भगवंतम् । योगमायया मोहिता तदंतस्थविश्वमजानंती । कर्मसु गृहकृत्येष्वास । जगतां भारेणेत्युक्तेः सर्वलोकभारस्य यशोदाकर्तृकधारणासंभवं मत्वार्थांतरमाह—जगतां संसारिणां मध्ये कर्मसु संसारप्रदेषु यज्ञादिष्वेवास न तु ज्ञानमार्ग इति भावः । इत्यर्थ इति । जगदुदरभगवद्वेदने तु स्वप्नेऽपि जगत्कर्मणि प्रीतिर्नोदियत इति तात्पर्य्यम् ॥ १९ ॥ चक्रवातश्चक्राकार उद्धूतबहुधूलिर्वायुस्तेन स्वरूपेण जहार उत्थाप्य जगाम ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कीदृशास्ते ? वेदविदः वेदार्थाभिज्ञाः मन्त्रविद इति पाठो बहुत्र तथापि तदुपलक्षणत्वेन स एवार्थः । अतो युक्ता भगवद्भक्ता इत्यर्थः । "भगवान् ब्रह्मकात्स्न्र्येन" इत्यादेः "श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" इति श्रीभगवद्गीतातः अतस्तैर्या आशिषः प्रोक्तास्तास्तथैव बभूवुः । तदिच्छानुसारेण यथावसरं ताः श्रीभगवति व्यक्ता बभूवुरित्यर्थः ॥ १७ ॥

व्रजे विराजमानोऽहं काञ्चिदर्हामि नावृतिम् । इति चिक्षेप भगवान् उपरिस्थमनः स्फुटम् ॥

एकदा एकाब्दवयः प्राकट्ये "एकहायन आसीनम्" इत्यग्रे षड्विंशाध्यायोक्तेः लालयन्ती मुखचुम्बनं स्तनपानञ्च तथा कदाचिल्लीलया कराभ्यां उत्तोलनं चेत्यादिलालनं कुर्वन्ती सती परमाभिज्ञेत्यर्थः । इति लालने सौष्ठवमभिप्रेतं वोढुं स्वबलेन पर्याप्यितुम् अत्रास्या एकाकिनीत्ववर्णनम् "एक । गृहदासीषु" इत्यादि वक्ष्यमाणप्रकारान्तरेण मन्तव्यम् ॥ १८ ॥ भूमौ निधायेति तैर्व्याख्यातं तत्र स्वसृत्वित्यत्र स्वशब्देन सैवोच्यते मृत्युशब्देन च पराभव एव तदसम्भवात् कृतं प्रकाशितमित्यर्थः । अतः श्रीकृष्णोदरवर्त्तिनामिति विभुत्वेन तदुदरवर्तिनामिवेति व्याख्येयम् परिच्छिन्नत्वेपि विभुत्वन्तु दामोदरलीलायां स्थापयितव्यं विग्रहरूपत्वेपि विभुत्वं विभुत्वेऽपि अन्या स्पृष्टत्वमग्रिमाग्रिमलीलायां स्थापयितव्यम् , यद्वा, भूमाविति सम्भ्रमेण खट्वादेर्भारा-

---

१. प्रचोदित—वंशी. वीर. जीव. गिरि. ।

सहनत्त्वाभिप्रायेण चेति भावः भारपीडितेति तादृशप्रसङ्गे तादृशशक्त्युदयादिति भावः। जगतां महापुरुषमीश्वरमित्यर्थः। कर्मसु स्वस्त्ययनादिरूपतद्वात्सल्यमयेषु "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यनेन तस्यां कैमुत्यात्॥ १९॥ दैत्य इति युग्मकम्। वात्यारूपदैत्यत्वेन दुर्वृत्तत्वम्महाबलिष्ठत्वम् अप्रतिकार्यत्वं चोक्तं कंसभृत्य इति परमदुष्टत्वं तत्र च प्रचोदितः पूर्वं बालघातित्वेन पूतनैव सामान्यतस्तावत् प्रस्थापिता तस्याश्च छद्मभयमूर्त्तेरपि मरणाच्छङ्काकुलसन्नमूर्त्त्येव शकटासुरः प्रस्थापितः तस्य च विलायनादन्तर्भीतः सन् मूर्त्तामूर्त्तधर्मो बलवत्तरो दुर्ग्रहरूपो महावायुरेव प्रकृष्टतया प्रस्थापित इत्यर्थः। स च मूले निष्पीड्य गृहीत इति भाविकौतुकसूचनं चात्र आसीनं तत्र मातृदृष्टिपथ एवेति तस्या विस्मयो दुःखातिशयो दर्शितः, अर्भकं प्रकटितबाल्यं संवृतगौरवमित्यर्थ॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ताश्च सद्यःफला इत्याह—विप्रा इति, वेदार्थाभिज्ञाः, अतो युक्ता भगवद्भक्ता इत्यर्थः; (गी० ६।४७) 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' इति श्रीभगवद्गीताद्यनुसारतः॥ १७॥

व्रजे विराजमानोऽहं काञ्चिदर्हामि नावृत्तिम्। इति चित्तेप भगवानुपरिष्टादनः स्थितम्॥

एकदेकाब्दवयः प्राकट्ये (भा० १०।२६।६)—'एकहायन आसीनः' इत्यग्रे षड्विंशाध्यायोक्तेः। यद्यपि सदाशेष-भगवत्ता-प्रकटनपरस्य श्रीकृष्णस्य तद्वर्षमध्येऽन्यत्रापि विचित्राणि पराण्यद्भुतान्याचरितानि सम्भवन्ति, तथा कंसप्रहित-श्रीधराख्यछद्मविप्राभिभवचातुरीमयादीन्यपि श्रीमाथुरलोकप्रसिद्धानि सन्ति, तथापि सर्वत्राप्रसिद्धत्वात्, किं वा श्रोतुः श्रीपरीक्षितः सप्ताहावधिजीवितत्वेन स्वल्पकाले तत्तद्देशोपकथनासिद्धेर्मुख्यान्येव श्रीशुकदेवोऽकथयदित्यूह्यम्, किञ्चैकाब्दे शिशोः प्रायो लोके पादचंक्रमणं दृश्यते। तत्र च बलिष्ठस्य तन्मध्येऽपि घटते, तथापि रिंगणलीलायाः प्रागस्याः कथनमद्भुतलीला-प्रसंगात्, किं वा तत्तल्लीलानामुत्तरोत्तरं माधुर्य्यातिशयापेक्षया। यश्च क्वचित्तद्व्यभिचारः, स केवलमानन्तर्य्यापेक्षया। एवं प्रायोऽत्र लीलाक्रमो नापेक्ष्यः। तच्च ग्रे तत्र तत्र व्यक्तं भावि। ल लयन्ती मुखचुम्बनं स्तनपायनं तथा कदाचिल्लालया कराभ्या-मुत्तोलनं चेत्यादि—लालनं कुर्वती सती परमाभिज्ञेत्यर्थः। इति लालने सौष्ठवमभिप्रेतम्। गिरेरन्नकूटस्य किं वा सुमेरोः कूटं स्वर्णादिमयश्रृंगम्; यद्वा, गिरीणां कूटः समूहस्तद्वद्गरिमाणं न सेहे न शशाक। यद्यपि विश्वम्भरं तं स्नेहभरेण सदा वहन्त्या-स्तस्यास्तादृशोऽपि भावः कियान्? यद्वा, स्वभावेनागण्यब्रह्माण्डभारस्यापि निजनिजभक्तजने लघुरूपत्वमेव तस्य, तथापि नभसि तृणावर्त्तवधाय श्रीभगवता लालनासक्तमातृक्रोडादवतारेतुमपूर्वोऽधिकं स प्रकाशित इति; किं वा तस्या वहनशक्तिः क्षणमपह्नुतेति ज्ञेयम्॥ १८॥ अतएव भारेण पीड़िता सती भूमौ निधाय। विस्मिता उत्पातशंकया विगतसहजन्मिता; यद्वा, अकस्माद्भारभरेण विस्मयं प्राप्ता सती। जगतां महापुरुषं परमात्मानं स्वपुत्रक्षेमार्थम्, किं वा भारविशेषेण मनस्यागतं विश्वम्भरं श्रीनारायणमादध्यौ सम्यक् सस्मार, यतो गोपी सहजस्नेहार्द्रचित्तेत्यर्थ.। ततश्च क्षणात् स्वस्था कर्म्मस्वास, पुत्रार्थं गृहकृत्यव्यापृताभूदित्यर्थः॥ १९॥ तृणमिवावर्त्तयति विपरीतं जगत् पातयति, यद्वा, गतिवेगेन तृणान्यावर्त्तयति परिभ्रमयतीति तृणावर्त्त इति महाबलिष्ठत्वमुक्तम्। कंसभृत्य इति परमदुष्टत्वम्; तत्र च प्रचोदितः कंसेन पूर्वमसुरमंत्रणे, सम्प्रति वा पूतनावधादिश्रवणेन हिंसार्थं प्रेरितोऽत एव जहार, आसीनं कुत्रापि गमनाशंका—निवृत्तये मातुः प्रीत्यर्थम्, किं वा, निःशंकं तृणावर्त्तेन हरणार्थमुपविष्टमर्भकं प्रकटितबाल्यं सम्वृतगौरवमित्यर्थः, अन्यथा हरणाशक्तेः॥ २०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

या आशिषः प्रोक्तास्तास्तथेत्यर्थः॥ १७॥ गिरिकूटवदिति भाविकार्योपयोगाय गुरुत्वापत्तिः॥ १८॥ जगतां भारेण पीडिता महापुरुषम् आदध्यौ कर्मसु गृहकृत्येषु आस अवर्त्तत॥ १९–२४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदभिप्रायेणाशिषोन्वयूयुजन् ताश्च तथैव बभूवुरित्याह—तर्विप्रैर्या आशिषस्तदा प्रोक्तास्ताः कदाचिदपि स्फुटं नूनं निष्फला न भविष्यन्ति॥ १७॥ अथ तृणावर्तासुरवधात्मकमन्यदपि भगवतो बालचेष्टितं विवक्षुस्तावत्तदुपोद्घातरूपं चेष्टितमाह—एकदेति द्वाभ्याम्। कदाचित् सती यशोदा आरोहमुत्सङ्गमारूढं सुतं श्रीकृष्णं लालयन्तीति गिरिकूटवत् गिरिश्रृङ्गस्येव शिशोर्गरि-माणं भारं वोढुं न सेहे नासहत तृणावर्त्तान्मातुरपमृत्युपरिहाराय चिकीर्षितकार्योपयोगाय च तदङ्कादवरोढुं च भगवता कृतं भारं न सहे इति भावः॥ १८॥ कदाचिदप्यस्य शिशोरेवंविधा गरिमा न दृष्टा इति विस्मिता भारेण पीडिता च शिशुं भूमौ निधायो-त्पातशङ्कया महापुरुषं भगवन्तमादध्यौ ध्यातवती ततो जगतां कर्मसु गार्हीग्रकर्मसु आस प्रवृत्ता बभूव। यद्वा श्रीकृष्णोदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता सती यद्वा जगतां मध्ये कर्मस्वास न तु जगदुदरं तं भगवन्तं वेदेत्यर्थः॥ १९॥ तदा तृणावर्त्ताख्यो दैत्यः कंसस्य भृत्यः तेन च प्रचोदितः चक्रवातस्वरूपेणागत्यासीनं यशोदया त्यक्तमर्भकं श्रीकृष्णं जहार गृहीतवान्॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ताश्च आशिषस्तैः प्रोक्तास्तत्तथैव बभूवुरिति शेषः। ब्रह्मण्यदेवत्वेन तत्तत् प्रकाशानामङ्गीकारादिति भावः ॥ १७–१८ ॥ जगतां महापुरुषम् ईश्वरमित्यर्थः। कर्मसु स्वस्त्ययनादिरूपतद्वात्सल्यमयेषु "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यनेन कैमुत्यात् पूतनादिना कार्यादिसिद्धेः कंसेन स्वमृत्युरेव प्रकटतया प्रेरित इत्यर्थः ॥ १९–२० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तृणावर्त्तनामा महावात्यारूपी कश्चिद्दैत्यः समागमिष्यति, मातुः क्रोडस्थं मां मात्रा सह यद्युद्धुनोति, तदा माता न जीविष्यतीति मातृवत्सलः सर्वज्ञशिरोमणिस्तथागरिमाणं स्वीचकार, यथा माता वोढुमशक्ता सती भूमौ स्थापयतीति पूर्वोक्तं तोकाचरितमद्भुतमित्यद्भुततत्त्वं प्रदर्शयन्नाह—भूमौ निधायेत्यादि। महापुरुषमादध्यौ महापुरुषोऽयमिति चिन्तयामास। जगता सह कर्मसु मा आस, जगति नास, कर्मस्वपि नास, जगद्विस्मृतिः कर्मविस्मृतिश्चासीत्। तेन विस्मयवशादज्ञैव बभूव। अन्यथा तं बहिर्निधाय गृहकर्मकरणेन तं प्रत्यनादरः स्यादिति ॥ १९ ॥ चक्रवातस्वरूपेणेत्यादि। आसीनमिति मात्रा यत्र विन्यस्तस्ततोऽन्यत्र क्वापि गत्वा आसीनमित्यर्थः ॥ २०–३७ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

भूमौ निधायेत्यादि। महापुरुषमादध्यौ गरिमाणं शिशोर्वोढुं नाशकदित्यादि—पूर्वोक्तभारपीडया तं भूमौ निधाय जगतां मध्ये महापुरुष एवायमित्यादध्यौ। तदनु कर्मसु गृहकृत्येषु आस बभूव। यद्वा, महापुरुषमादध्यौ महापुरुष एवायमिति चिन्तितवती, जगता सह कर्मसु मा आस, जगद्विस्मृतिः कर्मविस्मृतिश्च तस्या बभूव, केवलं तन्महिमस्मरणेनैव जाताह्लादा सती किमपि न सस्मार। अतएव तदा गृहे तनयमपि विस्मृतम् ॥ १९ ॥ जहारासीनमर्भकमिति। आसीनं मात्रा यथाविन्य तस्तथैव आसीनस्तम् ॥ २०–३७ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ये विप्रा युक्ताः योगिनस्तैर्या आशिषः प्रोक्तास्तास्तथा बभूवुरिति शेषः ॥ १७ ॥ राजत्यखिलसम्पत्तौ मय्यपि सञ्चितैः किमेभिर्वस्तुभिरिति स्वमनोऽभिनदीश्वरः एकदा एकाब्दवयसि वृत्ते सति "एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा" इत्यग्रेतनोक्तेः आरोहमुत्सङ्गमारूढं तं लालयन्ती भुजाभ्यामुत्तोलनान्दोलनादिभिरुल्लसन्ती गिरिकूटवत् गिरिशृङ्गस्येव शिशोर्गरिमाणं वोढुं न सेहे आगमिष्यन्तं तृणावर्त्तं समातृकमेवामुं हरिष्यन्तमालक्ष्य मातुर्यशोदायाः क्लेशो मा भूदित्यैश्वर्यैव शक्त्या तदुत्ताराय भारः कल्पयामासेति ज्ञेयं किञ्चिदप्युपरि तोलयान्व मां व्योम्नि खलितुमनायत्तोऽस्म्यहम् इत्थममुष्य किल सत्यकामतैवानयत्तृणाविवर्त्तनासुरम् ॥ १८ ॥ भूमाविति। सम्भ्रमेण विस्मितेति मच्छिशोरयमाकस्मिको भारः कुतस्त्यो न जाने कस्यचिद्बालग्रहस्यावेशजनितो वेति शङ्कया जगतां महापुरुषं श्रीनारायणमादध्यौ वैकुण्ठदिशमूर्द्धमालोक्य भगवंस्त्वयैव दत्तोयं सुत त्वयैव पालनीय इति ध्यानेनोवाचेत्यर्थः। ततश्च व्यग्रा तत्स्वस्त्ययनाद्यर्थं कर्मसु विप्राह्वानादिषु आस बभूव ॥ १९–२० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तादृशद्विजोत्तमप्रयुक्ताः आशिषः सर्वदा सत्या भवन्तीत्याह विप्रा इति ॥ १७ ॥ आरोहमुत्सङ्गं तृणावर्तान्मातृरक्षार्थं श्रीभगवतैवाविष्कृतं गरिमाणं भारम् ॥ १८ ॥ भारपीडिता तं भूमौ निधाय किमिदमिति विस्मिता स्वशिशुकुशलार्थं महापुरुषमादध्यौ तं च कुशलिनं दृष्ट्वा जगतां प्राणिनामावश्यकानि यानि कर्माणि तेषु आस प्रवृत्ता बभूव ॥ १९–२० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

युक्ताः योगिनः न कदाचिदपीति कृष्णे तत्फलानां सार्वदिकत्वादिति भावः ॥ १७ ॥ चरितान्तरमाहैकदेति। एकाब्दवयसि एकहायन आसीन इत्यादि वक्ष्यमाणात् आरोहमङ्कमारूढं सुतं कृष्णं लालयन्ती भुजाभ्यामुत्तोलनान्दोलनादिभिरुल्लासयन्तीत्यर्थः। शिशोस्तस्य गिरिकूटवत् शैलशृङ्गस्येव गरिमानं वोढुं न सेहे मातृभुजान्दोलाभ्युदितवियत् क्रीडेच्छेत्यूर्द्ध्वस्थित्यास्वक्रीडास्थानानि दिदृक्षौ च तस्मिन् सति तत् संपादकतृणावर्त्तागमः। तेन मे समातृकस्योन्नयने मातुः क्लेशः स्यादतस्तदङ्कात् पृथक् स्यामिति वाञ्छति सति गरिमोदयात् तदङ्कादवततार स्वोन्नयने तु लघिमोदयश्चेति बोध्यम् ॥ १८ ॥ गोपी राज्ञी यशोदा भारपीड़िता संभ्रमेण तं भूमौ निधाय शिशोरस्य कुतोऽयं भार इति विस्मिता बालग्रहनिमित्तो भवेदिति शङ्कमाना तच्छान्तये जगतां महापुरुषं नारायणमादध्यौ कर्मसु शान्तिकरब्राह्मणाकारणादिष्वास बभूव ॥ १९ ॥ प्रचोदितः कंसेन प्रेषितः ॥ २० ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

प्राग्जातेश्चान्वयुंजतेत्यस्य प्राग्जातेः प्राग्जातयः प्राक् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वं जातिरुत्पत्तिर्येषां ते प्राग्जातयो ब्राह्मणश्चाशिषोऽन्वयुंजत सम्यग्यजुरित्यर्थः । एतेन प्राग्जातयश्चाशिषोऽन्वयुंजतेति वक्तव्यं प्राग्जातेश्चान्वयुंजतेति कथनमनुपपन्नमिति शंका परिहृता । प्राग्जातेरिति षष्ठ्येकवचनं प्रथमाबहुवचनादेशः । आशिष इत्यस्य शेष इति च स्वीकृत्य प्राग्जातयश्चाशिषोऽन्वयुंजतेत्यर्थस्योक्तत्वात् ॥ १८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्वस्त्ययनं च वाचयित्वाऽग्निं हुत्वा हावयित्वा महागुणं षड्रसोपेतमन्नं प्रादात् ॥ १७ ॥ गावः सर्वगुणोपेता इत्येव पाङ्क्तः पाठः । गावो गा इति केचिद् । वस्तुतस्तु गाः व इति पदद्वन्द्वं । इयं वो न ममेति सङ्कल्पपूर्वकं प्रादादित्यर्थः । एवमेव तदभिप्रायः प्राय इति । जित्वा वयं नेष्यति चाद्य गाव इति विराटपर्वोक्तेर्ज्ञायत इत्युत्तरत्रेत्थमनुसन्धेयं । पुत्रस्याभ्युदयार्थाय जातेः प्रागुत्पत्तेः पूर्वं सङ्कल्पिता प्राग्जातेः प्रथमवर्णभ्य इति वा ब्राह्मणसङ्घस्येति वा सर्वगुणोपेता अनसूयादिसर्वगुणसहितास्ते विप्रा आशिषोऽन्वयुञ्जत युयुजुरित्यन्वयः ॥ १८ ॥ ननु तैर्दत्ता नान्यथा भवन्तीति कुत इत्यत आह ॥ विप्रा इति । युक्ता एकैकेनोक्ता न निष्फलाः किमुत मिलितैरिति युक्ता इत्यनेन ध्वनयति । तैर्याः सुताशिष इति क्वचित्पाठः प्रस्तुतमात्रसङ्गतस्तथाऽऽशिष इति सर्वसरलः । ताः कदाचिदपि निष्फला न भविष्यन्ति । स्फुटं कदाचिदपीति शपथपूर्वकं तदवैपरीत्यं द्योतयति । श्लोकद्विकस्याखण्ड न्वयो वा । प्राग्जातेः पुत्रस्येत्यन्वयः । प्राग्जो ह्याद्यो ब्रह्मा तस्यातिः सम्यगानन्दो यस्मात्स तस्य पुत्रस्य येभ्योऽसर्वगुणोपेता वासःस्रग्रुक्ममालिनीर्गाश्च व इति प्रादात् । ते च विप्रा युक्ता आशिषोऽन्वयुञ्जत यास्ता विफलाः कदाचिदपि न भविष्यन्तीति ये मन्त्रविदो वेदज्ञास्तैः प्रोक्तास्तेऽपि नोपर्यवोक्तवन्त इत्याह ॥ स्फुटमिति । अतो नाविश्वसनीयतेति भावः । प्रागेव जो जेता चातिः पूर्णानन्दश्च तस्य पुत्रस्येति वा । जो जेता चेति विश्वः । प्राग्जातेर्वलभद्रस्यापीत्यर्थः ॥ १९ ॥ आरोहमङ्कं गिरिकूटस्येव तत्समूहस्येव । कूटं राशाविति विश्वः । गुरोर्भावो गरिमा तमिमनिजन्तः ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु कथमेवं ज्ञायते तत्राह विप्रा इति, प्रथमतो विप्रा विशेषण पूरका निर्दुष्टास्तदेव तेषां विशेषपूरकत्वं भवति, तत्रापि मन्त्रविद ऋषयस्तत्रापि युक्ताः सत्कर्मकर्तारः, एवं गुणत्रययुक्तैर्या **आशिषः प्रोक्तास्ताः कदाचिदपि निष्फला न भविष्यन्ति,** स्फुटं सत्यं, अतस्तैर्योजनं युक्तमेव ॥ १७ ॥ एवमेकं चरित्रं यशोदानन्दयोः भगवत्परतासाधकं निरूप्य पृष्टानां पञ्चानां मध्ये प्रथमस्योत्तरत्वेनोपाख्यानमारभत एकदेत्यष्टादशभिः ।

> वाचिकं कायिकं चोक्तं मानसं तूच्यतेधुना । अन्यथाज्ञानतः सर्वं करोतीति भविष्यति ॥ १ ॥
> लौकिकेनापि भावेन यावत् कृष्णैकतानता । तावन्नूतनकृत्यानि न करोति हरिः स्वयम् ॥ २ ॥
> वर्षेण तु परावृत्तिर्धर्माणां भवतीति हि । अतो वर्षान्तरे कृत्यं तृणावर्तगतं कृतम् ॥ ३ ॥
> देहबुद्धिर्भगवति निवृत्ता चेन्निवर्तते । तत्पराणां देहमतिः सजातीयाविशेषतः ॥ ४ ॥

अष्टादशविद्यास्वपि भगवतो देहो नास्तीति ज्ञापयितुमेकदैव गुरुत्वं लघुत्वं चोच्यते,

> पूतनावधमारभ्य कंसो जानाति गोकुले । हरिरस्ति जगद्वन्द्यो मम हन्तेति सर्वथा ॥ ५ ॥
> तमानेतुं तृणावर्तं ततः प्रेषितवान् स्वयम् । त्रयो ह्यत्यन्तबलिनः सर्वकार्यविचक्षणाः ॥ ६ ॥
> तृणावर्तो बकः केशी तत्राप्याद्यो महान् स्मृतः । तृणवत् सकलं विश्वमावर्तयति सर्वथा ॥ ७ ॥
> तृणावर्तस्ततः प्रोक्तस्तमादौ प्राहिणोत् ततः ॥ ७½ ॥

भगवान् सर्वज्ञः, तृणावर्तं मथुरातः प्रचलितं ज्ञात्वा गुरुपदार्थं जनयतीति स्वयमेव गुरुर्जातः, तत्र यशोदाया गुरुत्वज्ञानं भवत्विति तस्यास्ततो व्युदासार्थं च तस्या अङ्क उपविष्टः स्तनं पिबन्नेव गुरुर्जातस्तद् भगवतः सहजं गुरुत्वं तदानीमाविर्भूतं, तद् गुरुत्वं यशोदा ज्ञातवतीत्याहैकदेति, कालविशेषस्तत्राज्ञातोनिमित्तश्च, रोहमङ्कमारूढमारुह्योपविष्टं, स्वयमेव लालयन्ती कुन्तलानि प्रसारयन्ती मुखचुम्बनादिना भगवतो हासं जनयन्ती जाता, **सुते** हि तत् कर्तव्यं, **सतीति** तस्यास्तथाभाग्ये हेतुभूतो धर्म उक्तः, लौकिकभावेनैव स्नेहादि करोतीति तन्निवृत्त्यर्थं गुरौ जाते **शिशोर्गरिमाणं वोढुं न सेहे न शक्ता, गिरिकूटवद्** गिरिसमूहमिव यथा भूमिरप्येकत्र पर्वतकोटीनां समुदायं न सहते, इयमप्यदितिराधिदैविकरूपापि **न सेह** इति वक्तुं दृष्टान्तः, अन्यथायुक्तो दृष्टान्तो नोक्तः स्यात् , क्रमेण भगवान् गुरुर्जात इति न तस्या भङ्गः ॥ १८ ॥ अत एव यावच्छक्यं गृहीत्वाशक्ये भूमौ स्थापितवतीत्याह **भूमौ निधायेति, तं** भगवन्तं, भूमौ स्थापने हेतुभूतस्याविवेकस्य निधानमाह **गोपीति** यद्यपि महती तथापि गोपभार्या, स्थापनानन्तरं भारं **स्मृत्वा विस्मृता,** ननु पुत्रगुरुत्वं मातुः सुखदं भवतीति कथं विस्मय इति चेत् तत्राह **भारपीडितेति,** भारेण पीडिता,

अलौकिकोयं भारः पोडाजनकत्वाद्, अतो **विस्मिता,** अग्रे भीतापि भविष्यतीति क्रमेण माहात्म्यज्ञानात्, तदा किं कर्तव्यमिति विचार्योत्पातशङ्कया **महापुरुषं** पुरुषोत्तमं **दध्यौ** ध्यातवती, सर्वानिष्टनिवृत्त्यर्थं **महापुरुष** एवायमिति वा ध्यातवती **जगतां** ब्रह्माण्डकोटीनामपि मध्ये स्वामिनं, अयं सर्वजगतां **महापुरुष** इति, **सती**तिपदाद् गुरुत्वेन पुरुषान्तरं ज्ञात्वा व्रतक्षतिभयभीतेव **परमपुरुषं** सर्वेषामेव भर्तारं ज्ञातवती, आसमन्ताद् **दध्या**विति भवत्ययं न वेति ध्यानं प्रतीत्यर्थं, ततो भगवन्तं ज्ञात्वा तस्य परिचर्यार्थं **स्नानादिकर्मस्वास,** तत्तत्कार्याणि कर्तुमारब्धवतीत्यर्थः, अन्यथा क्षणवियोगे प्राणा एव गच्छेयुः समागतस्तु मोहयिष्यतीति न काप्यनुपपत्तिः, लालनफलमानुषङ्गिकं ज्ञानमिति च, अज्ञानाद् वा जगतो भर्तारं भगवन्तं ध्यात्वा गृह**कर्मसु** गतेति, उभयोरोदः साधीयान् ॥ १९ ॥ एवं मातरि निर्गतायां तृणावर्तः समागत इत्याह, **दैत्या** इति जात्यैव क्रूर उक्तो **नाम्नैव तृणावर्त** इतिमाहात्म्यमप्रतीकारे हेतुः, **कंसभृत्य** इत्यवश्यानिष्टकर्तृत्वज्ञापकं, **प्रणोदित** इति तेनैव कंसेन प्रकर्षेण प्रेरितः, एवं चतुर्भिर्धर्मैस्तस्य महत्त्वमुक्तं तन्निराकरणे भगवन्माहात्म्यज्ञापनार्थं, दैत्यत्वेन देवविरोधित्वं **नाम्ना** महाबलत्वं भृत्यत्वेन स्वधर्मो वचनं ततोऽप्यावश्यकं, सत्त्वरजस्तमोगुणानां प्रत्येकसमुदायभेदेन विरोधित्वं चोक्तं तं तृणवद् भगवान् निराकरिष्यतीति चतुर्विधपुरुषार्थबाधकत्वेनोक्तस्तादृशः सर्ववञ्चनार्थं कृत्रिमवेषं कृत्वा **जहारे**त्याह **चक्रवातस्वरूपेणे**ति, **चक्र**स्वरूपो वातश्चक्रवातः, चक्रवाते स्वरूपं यस्य, परितश्चक्रवातं कृत्वा वायुरायातीति **भ्रम**मुत्पाद्य तत्सङ्ग एव लघुदेह उपविष्टं भगवन्तं निधिमिव **जहार,** ननु महत्त्वात् कथं जहारेत्याशङ्क्याहा**र्भक**मिति, वेगवशान्महाबलः स्वोपास्यभगवद्बलाद् भगवन्तं **जहार,** सहजबले उत्थातुमेव न शक्नुयात्, अत एव भगवानक्लिष्टकर्मा ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

एकदेत्यत्र, वाचिकमित्यादि । पूतनावधे रक्षाकरणे वाङ्नियुक्तेति तन्निरोध उक्तः । शकटभङ्गे भगवदर्थः कायिको व्यापार उक्त इति तथा । तृणावर्तप्रसङ्गे भगवन्निमित्तकं दुःखं वक्ष्यते **मानस**मिति । मानसो निरोधस्तथा । प्रकरणान्निरोध एव विशेष्य इति लिङ्गमविवक्षितमत्रेति ज्ञेयम् । उक्तत्रयसम्बन्धिनिरोधकरणं वा विशेष्यम् । रक्षाविधानशान्त्यादेर्भगवल्लीलात्व उपपत्तिमाहुः **अन्यथे**ति । एतस्य निमित्तत्वाल्ल्यब्लोपे पञ्चमी ज्ञेया । तथा च तत्प्राप्य तद्विषयत्वं प्राप्येति यावत् । ज्ञानहेतुषु स्वरूपतद्धर्मेषु सत्स्वपि स्वलीलार्थं तेषामन्यथाज्ञानं स्वस्मिन् प्राकृततुल्यत्वेन ज्ञानमुत्पाद्य स्वयमेव सर्वं करोतीत्यर्थः । तेन रक्षाविधानादिना पूर्वस्माद्वैलक्षण्यभानं यथा लोके तथा स्वस्मिन्नपि प्रकटयतीति ज्ञेयम् । तथा ज्ञानाभावे तूक्तप्रकारको निरोधो न स्यादिति भावः । अन्यथाज्ञाने सति कायवाङ्मनोनिरोधकथनाच्छास्त्रत्यद्भुतत्वं चरित्रेऽस्मिन् ज्ञापितं भवति । किञ्च । एकस्मिन् बाले सर्वेषां सहजस्नेहो लोके न सम्भवतीति तथात्वं यदत्र तद्भगवत्कृतमेवेति ज्ञायते । यद्वा । मानसिकनिरोधस्यावश्यकतामाहुः **अन्यथे**ति । अत्र गुरुत्वात्मकस्वधर्मज्ञापनपूर्विका लीलोत्पद्यत इत्येतत्कथनाभावे जीवसहजाज्ञानतो हेतोर्नन्दयशोदादिः सर्वं करोतीति ज्ञानं सर्वेषां भविष्यतीति तदभावायैतदुच्यत इत्यर्थः । **अनिमित्तश्चे**ति । अङ्कारोहे कालो न निमित्तमिति न विद्यते कालो निमित्तं यस्य तादृगारोह इति च न तत्कथनमित्यर्थः । **महापुरुषमादध्या**वित्यत्र, **आगतस्त्वि**त्यादि । उक्तविधासक्तौ मातृत्वेन परानुरोधाभावाद्गोचारणरात्रिलीलादिकं सर्वं प्रतिबद्धं तया स्यादुक्तज्ञाने सार्वदिके वा लीलारसानुभवो न भविष्यतीत्याशङ्क्य गोकुले समागमनं सर्वसुखदानार्थमिति यथैव तद्भविष्यति तथैव सम्पादयिष्यतीति न काप्यनुपपत्तिरित्युक्तमेतेन । किञ्च । **लालने**त्यादि । आनुषङ्गिकफलस्यासार्वदिकत्वादपि ज्ञानमिदं न स्थास्यतीति भावः । मुख्यं फलं तदेव स्वयं, निरोधी वा तत्कृतः ।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एकदेत्यत्र पृष्टानामित्यादि, यद्यपि 'यच्छृण्वत' इति राज्ञो वाक्य एकवचनात् पञ्चकार्यजनकमेकमेव चरित्रं पृष्टमिति ज्ञायते चरित्रं च सर्वमेव तादृशं तथापि यशोध्यायत्वाद् भगवतः प्रत्येकमेकैककार्यकरत्वमेवात्राभिप्रेतं चरित्र इति ज्ञात्वा शुकः **पृष्टानां पञ्चानां मध्ये** तथारभत इत्यर्थः, **वाचिक**मित्यादिकारिकाणां तात्पर्यं **टिप्पण्यामाहुः पूतने**त्यादि, **तथे**त्यधु**नोच्यते, तथाज्ञानाभाव** इति वैलक्षण्यभानाभावे, **उक्तप्रकारक** इति रक्षाविधानादिरूपः, **अन्यथाज्ञाने सती**ति प्राकृतबालज्ञाने सति, **रक्षाविधानशान्त्यादेर्भग**वच्चरित्रत्वमुत्सवाध्यायो**क्तदिशापि** ज्ञातुं शक्यत इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि, अर्थस्तु स्पष्टः, **सुबोधिन्यां** ननु शकटभङ्गश्चतुर्थे मासि तृणावर्तवधस्तु **वर्षान्तर "एकाहायन आसीन"** इतिवाक्यात् तथा सति नाडीवर्धापनं षष्ठिकापूजनं सूतीस्नानं चन्द्रसूर्यदर्शनं कर्णवेधोऽन्नप्राशनं मुण्डनं चूडाकर्म चेत्यादि नवमासकृत्यं मार्कण्डेयपूजा च कुतो नोक्ता ? न च कुत्रापि पुराणे नोक्तातोऽपि नोक्तेति शङ्क्यं, 'नाडीवर्धापनं षष्ठी नामादेः करणं ममे'तिजन्माष्टमीपूजाविधौ वाक्यदर्शनेन पुराणान्तरसिद्धत्वात् कर्णवेधस्य च श्रीगोकुल इदानीमपि दर्शनात् नवमासपर्यन्तस्य लीला कुतो नोक्तेत्याकाङ्क्षायामाहु**र्लौकिके**नेत्यादिकारिकाद्वयं, **कृत**मिति मारणं कृतं, तथा च नाडीवर्धापनादिषु केषाञ्चित् परकृतत्वात् सर्वेषां कृष्णैकतानतासाधकत्वेन निरोधाननुकूलत्वात् तन्नोक्तं, राज्ञा प्रथमप्रश्नेत्र च द्वितीयप्रश्ने भगवत्कृतानामेव पृष्टत्वादिति, ननु पूतनानाशेन यद्यप्यविद्यापर्वाणि नष्टानि तथापि तूलाविद्याया एव नष्टानि न तु मूलाविद्याया इति सा पुनः व्रजवासिनः संसारे पातयेदिति तन्निवृत्त्यर्थं **प्रथमं गुरुत्वप्रकटनलीलया स्वस्मिन्** देहबुद्धिं निवर्तयतीत्याहुर्देहबुद्धिरित्यादि, **सजातीयाविशेषत** इति सजातीयत्वादित्यर्थः,

भगवतो देहाभावे प्रमाणमाहुरष्टादशेत्यादि, ताश्च "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश" तियाज्ञवल्क्येनोक्ताश्चतुर्दश चत्वारश्चोपवेदा इत्येवमष्टादशसु तथेत्यर्थः, ननु यथा पूतना पुरग्रामादिषु पूर्वं निघ्नन्ती पश्चात् गोकुले समागता तृणावर्तस्तु पूर्वमेव गोकुले समागतस्तत्र को हेतुः ? अत्राहुः पूतनेत्यादि, पूतनावधमित्यारभ्य गुरुर्जात इत्यन्तं यदुक्तं तत् सर्वमादिपुराणे वृन्दावनमाहात्म्ये द्वादशाध्याये कण्ठत उक्तमिति ज्ञेयं, अनिमित्त इत्यस्यार्थमाहुष्टिप्पण्यामकारो हेत्यादि ॥ १८ ॥ महापुरुषमादध्याविव्यत्र सतीतिपक्षादिति पूर्वश्लोकोक्तात् पदात्, टिप्पण्यां समागत इत्यादेरर्थमाहुरागत इत्यादि ॥ १९ ॥ दैत्य इत्यत्र चतुर्विधपुरुषार्थबाधकत्वेनोक्त इति भक्तानां तथात्वेनोक्त इत्यर्थः, अत एवेति सहजबलाप्रकटनादेव ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एकदा रोहमित्यत्र टिप्पण्यां, पूर्वाध्यायचरित्रस्य शास्त्रलोकयोरद्भुतत्वं तत्कारिकायां निरूपितं तथात्रापीत्याशयेन शास्त्रेऽद्भुतत्वं निरूप्य लोकेऽद्भुतत्वमाहुः किञ्चेति, तत् तृणावर्तप्रसङ्गोक्तं सर्वेषामेकबालकविषयकसहजस्नेहवत्वं भगवत्कृतमेवेत्यर्थः, सुबोधिन्यां, पूतनाप्रसङ्गे शकटप्रसङ्गे च कार्यमेव तथा कृतवान् न तु स्वधर्मं ज्ञापितवान्, अत्र तु स्वधर्मगुरुत्वज्ञापनपूर्वकं लीलां कृतवांस्तत्तात्पर्यमाहुः लौकिकेनापीति, कृष्णैकतानता न भवतीतिशेषः, पूर्वमन्यचित्तता स्थिता, अत्र तु लालनाद् भगवत्परता जातेत्यर्थः । नूतनकृत्यानि गुरुत्वधर्मज्ञापनपूर्वकलीलेत्यर्थः, वर्षेणेति प्रपञ्चविस्मृतौ सत्यामपि वर्षस्यैकायूरूपत्वेनैककालत्वात् प्रपञ्चविस्मृतिशङ्का स्यादतो वर्षान्तरे द्वितीयायूरूपे तथा कृतमित्यर्थः, द्वितीयस्कन्धे 'आयुर्हरती'त्यत्र श्लोके उत्तमश्लोकवार्तानीतक्षणकायुषो हरणाभावकथनेनैकायुषि सिद्धस्य धर्मस्य तदायुःपर्यन्तमनुवृत्तिः सूचितेति सम्मतिसूचनाय हिशब्दः, गुरुत्वज्ञापने हेत्वन्तरमप्याहुः देहबुद्धिरिति, तत्र हेतुमाहुः सजातीयेति, यत इतिशेषः, भगवति निर्दोषबुद्धिः सामान्यतः स्वदोषनिवर्तिका परं सजातीया विशेषतो निवर्तयतीत्यर्थः, प्रकरणीयश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः अष्टादशेति, लघुत्व'मादाय मात्रे' इत्यत्र प्रतिपादितं, गुरुपदार्थमिति गुरुत्वाभावे मथुरायां नयेदितिभावः, यावतोच्चैर्गमनं भवति तिर्यग्गन्तुं च न शक्नोति तावदेव गुरुत्वं प्रकटितवानितिज्ञेयं, लालनं विवृण्वन्ति कुन्तलानिति ॥ १८ ॥ भूमौ निधायेत्यत्र अविवेकस्येति विवेके सति अकस्मादयं तथा गुरुर्जातः अतोयं भगवानेवेतिज्ञानेन स्वदेहविस्मरणमेव भवेन् न तु स्वदेहभङ्गशङ्कया भूमौ स्थापनमितिभावः, अग्रे इति जृम्भालीलायामित्यर्थः, मूले कर्मस्विति सामान्यत उक्तं, तस्य भगवत्परिचर्यार्थकत्वेन व्याख्यानेर्थापत्तिमाहुः अन्यथेति, कार्यान्तरकृतौ जानातीच्छति यतत इति नियमात् तत्तद्विषयकं ज्ञानं शङ्कितं स्यात्, तथा च भगवदसम्बन्धिकार्यविषयकज्ञानक्षणे भगवत्सम्बन्धाभावात् तद्वियोगे सत्यधुना भगवत्त्वे ज्ञानस्य जातत्वात् स्थितिर्न भवेदित्यर्थः ॥ १९ ॥ दैत्यो नाम्नेत्यत्र सत्त्वेति आद्येन देवविरोधकथनात् सत्त्वविरोधित्वं, द्वितीयेन रजःकार्यस्य विश्वस्य तृणवदावर्तकथनाद् रजोविरोधित्वं, तृतीयेन स्वधर्मनि[illegible]त्वकथनात् तमोविरोधित्वं, चतुर्थेन समुदायविरोधित्वमित्यर्थः, चतुर्विधपुरुषार्थेति सङ्ख्यातात्पर्यमुक्तं, चक्रवाते स्वरूपं यस्येति चक्रवाते स्वरूपं यस्य देहस्य तेन देहेनेत्यर्थः, अत एवेति आसीनस्य हरणकथनादित्यर्थः, तस्यैव पूर्वमपराध इति भावः ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एकदा रोहमारूढमित्याद्यष्टादशश्लोकसङ्ख्यातात्पर्योक्तौ भगवतो देहो नास्तीति ज्ञापयितुमिति "आनन्दरूपममृतं यत् विभाति" "सच्चिदानन्दविग्रहं" "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे" इत्याद्युपनिषद्भ्यां "आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घताप" मित्यादिपुराणादा"नन्दमात्रकरपादमुखोदरादि"रित्यादितन्त्राच्च आनन्दविग्रहे सिद्धे प्राकृतदेहो नास्तीति ज्ञापयितुमित्यर्थः, प्राकृतस्यैव देहस्य देहपदवाच्यत्वात्, दिह उपचय इतिधातुना उपचयरूपभावविकारस्याक्तत्वात् ब्रह्मणस्तु षड्भावविकाररा हित्येन न देहवत्त्वं, गिरिकूटवदित्यस्य व्याख्याने, इयमप्यदितिरिति इयं यशोदा देवकीरूपत्वाददितिरूपेत्यर्थः, यदा वसुदेवः स्वाधिदैविकं वसुदेवं नन्दे स्थापितवांस्तदा ह्याधिदैविकी देवकी श्रीयशोदायां समागतेतिभावः, आधिदैविकवसुदेवदेवक्योर्नन्दयशोदयोः समागमनस्योपयोगस्तु भगवतो रासलीलायां वसुदेवनन्दनत्वे नन्दयशोदाभ्यां ज्ञातेपि स्वपुत्रभावदार्ढ्यस्थितौ ज्ञेयः, वसुदेवपुत्रत्वे ज्ञातेपि स्वपुत्रत्वज्ञानं नन्दस्य न निवृत्तं, स्वस्य वसुदेवत्वात्, एवं श्रीयशोदाया अपि भगवति देवकीपुत्रत्वज्ञानेपि स्वपुत्रत्वबुद्धिर्न गता स्वस्याः श्रीदेवकीरूपत्वात्, अन्यथा परपुत्रत्वे ज्ञाते स्नेहो न तिष्ठेत्, तथा सति कृतोपि निरोधो व्यर्थः स्यात्, अतः श्रीनन्दे आधिदैविकवसुदेवस्थापनं श्रीयशोदायामाधिदैविकदेवकीस्थापनमिति ज्ञेयम् ॥ १८ ॥ दैत्यो नाम्ना तृणावर्त इत्यस्य व्याख्याने, दैत्यतृणावर्तकंसभृत्यप्रचोदितेतिपदैश्चतुर्भिश्चतुर्विधपुमर्थबाधकतोक्तेतिसङ्ख्यातात्पर्यमुक्तम् ॥ २० ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एकदा रोहमारूढमित्यत्र वाचिकमित्यादि का० ३०३ । पूतनावधे रक्षाकरणे वाङ्नियुक्तेति वाचनिको निरोधः उक्तः, शकटभङ्गे भगवदर्थः कायिको व्यापार उक्त इति कायिको निरोध उक्तः, तृणावर्तप्रसङ्गे भगवन्निमित्तकं दुःखं वक्ष्यते मानसमिति,

मानसो निरोध उच्यते इत्यर्थः, **प्रकरणान्** निरोध एव विशेष्य इति नपुंसकलिङ्गमविवक्षितमत्रेति ज्ञेयं, निरोधकरणं वा विशेष्यं, **अन्यथाज्ञानत** इतिपदं टिप्पण्यां प्रकारद्वयेन व्याख्यातं, तत्राद्यपक्षे **अन्यथाज्ञानत** इति नञ्प्रश्लेषरहितमेकमेव पदं, तद्यथा, ननु रक्षाविधानशान्त्यादेः कथं भगवल्लीलात्वमित्याशङ्क्याहुरन्यथेति, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तथा च **अन्यथाज्ञानं** प्राप्य अन्यथाज्ञान-विषयत्वं प्राप्येति यावत्, लीलार्थं तेषामन्यथाज्ञानं स्वस्मिन् प्राकृततुल्यत्वेन ज्ञानमुत्पाद्य स्वयमेव **सर्वं करोती**त्यर्थः, अथ टिप्पण्युक्ते द्वितीयव्याख्यानेऽन्यथा **अज्ञानत** इतिपदच्छेदः, तथा च **अन्यथा** मानसनिरोधकथनाभावे अज्ञानाद्धेतोर्नन्दयशोदादिः **सर्वं करोतीति** ज्ञानं सर्वेषां **भविष्यतीति** तदभावाय **मानसनिरोधकरणमुच्यत** इत्यर्थः, एतदेवोक्तं टिप्पण्यां यद्वेत्यादिना, ननु शकटभङ्गश्चतुर्थे मासि, तृणावर्तवधस्तु द्वितीयवर्षे, "एकहायन आसीन" इतिवाक्यात्, तथा च तावत्पर्यन्तं तादृशीं नूतनलीलां कुतो न कृतवानित्याशङ्क्याहुर्लौकिकेनेति, का० ३१३ द्वितीयवर्षे नूतनलीलाकरणे हेतुमाहुर्वर्षेणेति का० ३२३ । गुरुत्वज्ञापने हेतुमाहुर्देहबुद्धिरिति, का० ३३३ । **भगवति लौकिकदेहवत्त्वबुद्धिर्निवृत्ता चेत्** तदा **तत्पराणां** भगवत्पराणां **देहमतिं** देहात्ममतिं **निवर्तयेत्**, यद्यपि भगवति सर्वैव दोषाभावबुद्धिः सर्वदोषनिवर्तिका तथापि **सजातीया** बुद्धिर्विशेषतो निवर्तयेदित्यर्थः, यथा भगवति निःकामत्वबुद्धिः स्वस्य कामदोषनिवर्तिका तथा भगवति लौकिकदेहाभावबुद्धिः स्वस्य देहात्ममतिरूपसजातीयदोषस्य विशेषतो निवर्तिकेत्यर्थः, अत्रैवाग्रे **पूतनावध**मित्यादि का० ३४३-३७३ ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ते च विप्रा मन्त्रविदो युक्ताः 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति वचनात् भगवदुपासकाः, अतस्तैर्या आशिषः प्रोक्तास्तास्तस्मिन् कदाचिदपि निष्फला अन्यथा न भविष्यन्ति, किंतु तथैव जाता इति स्फुटं निश्चितमेवैतत् ॥ १७ ॥ चरितान्तरमाह—एकदेति । 'एकहायन आसीन' इति षड्विंशाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् एकाब्दवयसि सति आरोहमुत्सङ्गमारूढं सुतं लालयन्ती भुजाभ्यामुत्तोलनान्दोलनमुखचुम्बनादिभिरुल्लासयन्ती सती यशोदा गिरिकूटवत् गिरिसमूहवत् शिशोर्गरिमाणं भारं न सेहे अत्र यदि भगवान् गुरुर्न स्यात्तदाऽनवतारे सति तृणावर्तेन यशोदा मारिता स्यात्, एकदैव एवं गुरुत्वे च स्वक्रान्ता सा स्वेनैव सञ्चूर्णिता स्यात्, अतो मामुत्सङ्गादुत्तारयत्विति एतदर्थं तृणावर्तमायान्तं ज्ञात्वा स्वयमेव भगवान् क्रमेण गुरुर्जात इति बोध्यम् ॥ १८ ॥ एवं भारेण पीडिता, अत एव 'कथमकस्माच्छिशोरलौकिको भारो जात' इति विस्मिता च सती गोपी यशोदा तं बालं भूमौ निधाय उत्पातशङ्कया जगतां महापुरुषं सर्वारिष्टनिवारकं भगवन्तमादध्यौ 'त्वया दत्तः पुत्रस्त्वयैव संरक्षणीय' इति प्रार्थितवती । ततश्च गृहकर्मसु आस बभूव ॥ १९ ॥ तदा चासीनमर्भकं चक्रवातस्वरूपेण तृणावर्तो दैत्यो जहारेत्यन्वयः । 'दैत्य' इति तस्य भगवतो दुर्वृत्तत्वमुक्तम् । तृणवत् सकलं विश्वमावर्तयतीति व्युत्पत्त्या नाम्ना 'तृणावर्त' इति तस्य बलिष्ठत्वमुक्तम् । 'कंसभृत्य' इति शत्रुत्वमुक्तम् । 'तेन प्रचोदित' इत्यनेन "पूतनावधात् मत्प्राणहरो हरिरयमेव गोकुले स्यात्" इति कंसस्य सम्भावना जातेति सूचितम् । 'चक्रवातो' वातमण्डली, तेन स्वरूपेणाप्रतिकार्यत्वमुक्तम् । हरणसमये च भगवान् पुनर्लघुर्जातः, अन्यथा सोऽपि तं हर्तुं न शक्नुयादिति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विप्रा इति ॥ ते च विप्राः मन्त्रविदो युक्ताः योग्याश्च अतस्तैर्या आशिषः प्रोक्तास्तास्तस्मिन्कदाचिदपि निष्फला अन्यथा न भविष्यन्ति किन्तु तथैव जाता इति स्फुटं निश्चितमेवैतत् ॥ १७ ॥ एकदेति ॥ एकहायन आसीन इति षड्विंशाध्याये वक्ष्यमाण-त्वात् एकदा एकाब्दवयसि सति आरोहमुत्सङ्गमारूढं सुतं लालयन्ती सती यशोदा गिरिकूटवत् गिरिसमूहवत् गिरिशिखरवद्वा शिशोर्गरिमाणं भारं वोढुं न सेहे । अत्रास्या एकाकित्वं दासीनां कर्मान्तरनियुक्तत्वम् । अत्र यदि यशोदा कृष्णं नावतारयेत् तदा यशोदया सह तृणावर्तः कृष्णं नयेत् । अतः उत्सङ्गादुत्तारणार्थं भगवान् गुरुर्बभूव इति ज्ञेयम् ॥ १८ ॥ भूमौ इति ॥ एवं भारेण पीडिता विस्मिता च सती गोपी यशोदा पर्यङ्के स्थापने पर्यङ्कभङ्गभयात् तं बालं सास्तरणायां भूमौ निधाय उत्पातशङ्कया जगतां महापुरुषं भगवन्तमादध्यौ । त्वया दत्तः पुत्रस्त्वयैव संरक्षणीय इति प्रार्थितवती । ततश्च तत्स्वस्त्ययनाद्यर्थं कर्मसु ब्राह्मणाह्वानादिषु आस बभूव । भगवदुदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता वाऽन्वयः ॥ १९ ॥ दैत्य इति द्वयम् ॥ कंसस्य भृत्यः प्रणोदितः कंसेन प्रेषितः नाम्ना तृणावर्तः तृणवत् सकलं विश्वमावर्तयति इति व्युत्पत्त्यातिदुष्टः दैत्यः रेणुभिः गोकुलं सर्वमावृण्वन् जनानां चक्षूंषि च मुष्णन् दर्शनायोग्यानि कुर्वन् महाघोरेण शब्देन प्रदिशः दिशश्च ईरयन् निनादयन् चक्रवातो वातमण्डली तेन स्वरूपेण आसीनम् अर्भकं जहार । हरणसमये च भगवान् पुनर्लघुर्जातोऽन्यथा सोऽपि तं हर्तुं न शक्नुयादिति ज्ञेयम् ॥ २०-२१ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

आरोहं अंकं प्रति आरूढं आस्थितं शिशोः गरिमाणं अतिभारवत्त्वं गिरिमाणं सुतमिति पाठे तु भारवत्त्वे गिरिर्मानं प्रमाणं यस्य तं गिरीणां कूटः समूहस्तद्वत् वोढुं न सेहे ॥ १७ ॥ तृणावर्तहनननिमित्तं यशोदोत्संगादुत्तरणाय भारवान् जातस्तं अजानती जगतां कर्मसु गृहादीनां कृतेषु आसस्थिताऽभूत् ॥ १८ ॥ तेन प्रणोदितः प्रेरितः आसीनं भूस्थितम् ॥ १९ ॥ आवृण्वन् आच्छादयन् रेणुभिः रजोभिः मुष्णन् चोरयन् प्रदिशो विदिशः ईरयन् निनादयन् ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गाव इति । विप्रा इति । ततः, सर्वगुणोपेताः साधुत्वबहुक्षीरत्वादिभिः सर्वैः गुणैः युक्ताः, वासांसि च स्रजः पुष्पमालाश्च रुक्ममालाः हेममालाश्च आसां सन्तीति तथाविधाः, गावो गाश्च, आत्मजस्य अभ्युदयार्थाय, द्विजातिभ्य इति शेषः । प्रादात् प्रायच्छत् । मन्त्रविदः युक्ताः समाहिताः, ते विप्राः, अन्वयुञ्जत प्रयुयुजुः । आशिष इति शेषः । तदा तैः विप्रैः, याः आशिषः प्रोक्ताः, ताः तथा सत्या बभूवुः कदाचिदपि, स्फुटं नूनं, निष्फलाः, न भविष्यन्ति । नाभवन्नित्यर्थः । ते यदभिप्रायेणाशिषोऽन्वयुञ्जंस्ताश्च तथैव बभूवुरित्यर्थः । इति द्वयोरेकान्वयः ॥ १७-१८ ॥ अथ तृणावर्त्तासुरवधात्मकम यदपि भगवतो बालचरितं विवक्षुस्तावत्तदुपोद्घातरूपं चेष्टितमाह द्वाभ्याम् । एकदेति । एकदा कदाचित्, सती यशोदा, आरोहमुत्सङ्गं, आरूढं सुतं श्रीकृष्णं, लालयन्ती सती, शिशोः स्वबालस्य, गिरिकूटवत् गिरिशृङ्गस्येव, गरिमाणं गौरवं, वोढुं न सेहे । तृणावर्त्तान्मातुर्मृत्युपरिहाराय चिकीर्षितकार्योपयोगाय च तदङ्कादवरोढुं च भगवता कृतं भारं न सेहे इति भावः ॥ १९ ॥ भूमाविति । विस्मिता कदाचिदप्यस्य शिशोरेवंविधो गरिमा न दृष्ट इदानीं कथमित्येवं विस्मययुता, भारपीडिता, गोपी यशोदा, तं शिशुं, भूमौ निधाय, महापुरुषं भगवन्तं, आदध्यौ ध्यातवती सती, जगतां कर्मसु गार्हीयक्रियासु, आस प्रवृत्ता बभूव । न तु भारानुमानेन जगदन्तरं तं शिशुं भगवन्तं वेदेत्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एकदेति : १०.७.१८.

यात्येव गुरुतां मात्राश्रितः सर्वत्र यल्लघुः । तदाश्रितस्य सा युक्ता लघोस्तस्याक्षरात्मनः ॥ १९ ॥

वाय्वस्त्रीर्यप्रतिरोधिशास्त्रे प्रोक्तं धरेशैरचलास्त्रमेव । जानन् प्रभुस्तं धृतचक्रवातस्वरूपमासीदचलस्वरूपः ॥ २० ॥

विश्वोदये श्रुतिलसद्गिरि मेऽधिवासः प्रोक्तोऽचलो यदिह कूटवदित्यवेक्ष्य ।
तादृग् जगद्गुरुरभूत् विभुरेतदीडयमीडया च तादृगुपमा च पुरस्तदर्थो ॥ २१ ॥

भूमाविति : १०.७.१९.

अहमिवेयमपि प्रकृते धरा भवति धात्र्यपि सर्वजनावनी । तदिह बालकवृत्त्यवनक्षमेत्यलमवेक्ष्य भुवीशमधादसौ ॥ २२ ॥

नीतोऽनेन सहानयाऽहमधुना दुष्टेन चेदम्बरे तज्जायेय यशोदया विलसितो भक्तैकयोग्येक्षणः ।
तस्मादस्य खलस्य नैव हननं भूयादतस्तत्क्षणे तन्नाशाय यशोदया विरहितः श्री रोऽभवत्तन्मिषात् ॥ २३ ॥

सर्वेभ्योऽपि विशिष्य मातृविहिता रक्षाऽधिका बालके कुण्ठाऽसावपि यत्र कर्मणि निजाचिन्त्यप्रकारे प्रभो ।
त्राता तत्र च यत्त्वमेव भवसीत्येतत्स्फुटं त्वत्प्रसूस्त्वद्भव्यार्थमचिन्तयद् विभुमतस्त्वं रक्षकः सर्वतः ॥ २४ ॥

अपत्याऽनतोऽप्यस्मिन् प्रपञ्चासक्तिरुत्कटा । स्त्रीणां स्वभाव इत्यासीद् यशोदाकृत्यतः स्फुटम् ॥ २५ ॥

दैत्यो नाम्नेति : १०.७ २०.

वन्योऽप्यहं यदधिरोहणतो भजामि ग्रामस्थितिं सकलगोकुल-तृप्तिहेतुम् ।
तस्यानसो हतिरनेन कृताऽर्भकेणेत्यागात्तदुत्तरमसौ तृणनामधेयः ॥ २६ ॥

मन्नाम्ना यदहो तृणेन निखिलं सन्तोषितं गोकुलं देहस्यार्पणतोऽपि तत्प्रतिदिनं मद्वैरिणं सेवते ।
का चिन्ता तदिहाधुनैव विधुनोमीत्याप्तरोषस्तृणः सत्रं गोकुलमावृणोदुपलतो मन्येऽन्यथैतत् कुतः ॥ २७ ॥

आयातो यदि दुर्जनोऽपि सहसा स्वीयालये साधुना प्राक् प्रत्युद्गमनेन सत्कृतिपदं नेयस्ततस्तेन चेत् ।
स्वं दुष्टत्वमदर्शि तत्क्षणमसौ हन्तव्य एवेति किं व्याख्यातं हरिणा न चेद् गिरिगुरुः क्लेशः क्व चासौ तृणः ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

यह बात स्पष्ट है कि जो वेदवेत्ता और सदाचारी ब्राह्मण होते हैं, उनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता ॥१७॥ एक दिन की बात है, सती यशोदाजी अपने प्यारे लल्ला को गोद में लेकर दुलार रही थीं। सहसा श्रीकृष्ण चट्टान के समान भारी बन गये । वे उनका भार न सह सकीं ॥ १८ ॥ उन्होंने भार से पीड़ित होकर श्रीकृष्ण को पृथ्वी पर बैठा दिया। इस नयी घटना से वे अत्यन्त चकित हो रही थीं। इसके बाद उन्होंने भगवान् पुरुषोत्तम का स्मरण किया और घर के काम में लग गयीं ॥ १९ ॥ तृणावर्त नाम का एक दैत्य था। वह कंस का निजी सेवक था। कंस की प्रेरणा से ही बवंडर के रूप में वह गोकुल में आया और बैठे हुए बालक श्रीकृष्ण को उड़ाकर आकाश में ले गया ॥ २० ॥

गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः । [1]पूरयन् सुमहा[2]घोरं शब्देन प्रदिशो दिशः[3] ।। २१ ।।
मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतम् । सुतं यशोदा नापश्यत्तस्वयं[4] न्यस्तवती यतः ।। २२ ।।
नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः । तृणावर्तवि[5]सृष्टाभिः [6]शर्कराभिरुपद्रुतः ।। २३ ।।
इति खरपवनचक्रपांशु[7]वर्षे सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद् भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः ।। २४ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—(स दैत्यः) सर्वं गोकुलं रेणुभिः आवृण्वन् चक्षुंषि च मुष्णन् प्रदिशः दिशः सुमहाघोरशब्देन ईरयन् गोष्टं मुहूर्तमात्रं रजसा तमसा आवृतम् अभवत् यशोदा यतः सूतं न्यस्तवती तस्मिन् न अपश्यत् ।। २१-२२ ।। तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिः उपद्रुतः विमोहितः कश्चन आत्मानं परं च न अपश्यत् ।। २३ ।। इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे (सति) सुतपदवीम् अविलक्ष्य अबला माता अतिकरुणम् अनुस्मरन्ती अशोचत् यथा मृतवत्सका गौः (सा) भुवि पतिता ।। २४ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ईरयन्निनादयन्नित्यर्थः ।। २१ ।। यतो यत्र न्यस्तवती तस्मिन्स्थाने नापश्यत् ।। २२-२३ ।। खरपवनचक्रात्पांसुवर्षे सति ।। २४ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

मुष्णन् हरन् । प्रदिशो विदिश आग्नेय्यादयः । दिशः प्राच्यादयः । ईरयन् सशब्दाः कुर्वन्नित्यर्थः ।। २१ ।। न्यस्तवती स्थापितवती ।। २२ ।। शर्कराभिः अतिसूक्ष्मपाषाणखंडैः ।। २३ ।। खरपवनश्चंडवायुस्तस्य चक्रात् । यद्वा—खरपवने चक्रपांसवो मंडलीकृतरजांसि तेषां वर्षे समूहे । सततमनुस्मरंती निरंतरं चिंतयंती ।। २४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अन्यथा हरणाशक्तेः रेणुभिरावृण्वन् अत एव तत्रत्यानां चक्षूंषि तज्ज्योतींषि च मुष्णन् प्रदिशः विदिशः दिशश्च ।।२१।। रजसा तत्कृततमसा च श्रीभगवद्दर्शनविनाशकाभ्यां रजस्तमोगुणाभ्यामावृतं प्रथमं योगिनां हृदयमिवासीदिति श्लेषेणोपमा च तस्मिन् तत्रैव स्वपार्श्वे न्यस्तवत्यपि यतो यस्माद्व्रज आदेर्हेतोर्नापश्यत् तस्मिन्नित्यत्र स्वयमिति क्वचित्पाठः ।। २२ ।। परम् अन्यमात्मानमपि नापश्यत् चकारात् किञ्चिन्नाश्रृणोच्च विमोहितः किञ्चिदनुसन्धातुमप्यशक्त इत्यर्थः ।। २३ ।। एवमत्यन्तगौरवप्रकाशनेनात्मनोऽनन्यशक्यनयनं श्रीभगवता तल्लीलाशक्त्यैव वात्सल्येन बोधितापि पुत्रादर्शनमात्रेणैवात्याकुला सती किञ्चिदनुसन्धातुमक्षमा बहु विललापेत्याह—इतीति । पूर्वोक्तप्रकारखरपवनचक्रसम्बन्धपांसुवर्षे सति सुतस्य पदवीं मार्गं केनापि लक्षणेनानधिगम्यैव अबला किञ्चित्कर्त्तु मनुसन्धातुं चाशक्ता केवलं भुवि पतिता सती अतिकरुणं काष्ठपाषाणवज्रसारादीनामपि भेदकं यथा स्यात्तथाऽनुस्मरन्ती अशोचत् तदर्थं विलापं चक्रे यद्वा, प्रागशोचत् पश्चात् मोहेन भुवि पतिता यतो माता हि खेदनिश्चये स्नेहभरेणानुसन्धानाभावे परमार्त्तत्वे च दृष्टान्तः मृतेति अदर्शनमात्रेण महानिष्टशङ्कोत्पत्तेः ।। २४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

रेणुभिरावृण्वन्, अतएव चक्षूंषि तत्रत्यानां मुष्णन् नितरां मुद्रयन्नित्यर्थः । यद्वा, गोकुलं तमसाच्छादयन् चक्षूंषि रेणुभिर्मुष्णन् । एतच्च श्रीयशोदा-दृष्टिवञ्चनाय । प्रदिशो विदिशो दिशश्च सुमहाघोरशब्दश्च शिशोः क्रन्दनाशंकया तदश्रवणार्थमत एव तस्य वात्यारूपत्वम् । रजसेति जातावेकत्वम्, रजोभिस्तत्कृत-तमसा च; यद्वा, रजसा यत्तमस्तेन श्रीभगवद्दर्शनं विना रजस्तमोगुणाभ्यामिवावृतमासीदिति श्लेषार्थः । तस्मिन् तत्रैव स्वपार्श्वे न्यस्तवत्यपि, यतो यस्मात्तमसो हेतोर्नापश्यदिति हरणादर्शनं बोधितम् ।। २१-२२ ।। किञ्च, महादैत्योपद्रवेण तत्रत्याः सर्व्वेऽपि किञ्चिदपि नाविदन्नित्याह—नेति । परमन्यमात्मानमपि नापश्यत् । चकारान्न किञ्चिदश्रृणोच्च । परं परमेश्वरं श्रीकृष्णमपीति वा । विमोहितः किञ्चिदनुसन्धातुमप्यशक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुः—तृणेति ।

---

१. ईरयन्—श्रीधर. वंशी. विज. विश्व. शुक. गिरि. ; पूरयन्—वीर भक्त. । २. सुमहाघोर-श्रीधर वंशी. गिरि. ; महता घोरशब्देन—भक्त । ३. दश—वीर. गिरि. । ४. नापश्यत्तस्मिन्—श्रीधर वंशी. जीव. विज. विश्व. गिरि. ; नापश्य स्वयं—इति कस्यचित् ; नापश्यत्स्वयं—भक्त. । ५. निसृष्टाभिः—श्रीधर. वंशी. गिरि. भक्त. ; विसृष्टाभिः—वीर. । ६. सिकताभिरुपद्रुतः—भक्त. । ७. पांसुवर्षे—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. गिरि. भक्त. ; पांशुवर्षे—शुक. ।

तृणावर्त्तेन विसृष्टाभिः प्रक्षिप्ताभिः । एतत् सर्व्वं श्रीकृष्णस्य नभोजिगमिषयैवेति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ एवमत्यन्तगौरवप्रकाशनेनात्मनोऽनन्यशक्यनयनं श्रीभगवता तल्लीलाशक्त्यैव वा । छलेन बोधितापि पुत्त्रादर्शनमात्रेणैवात्याकुला सती किञ्चिदनुसन्धातुमक्षमा बहु विललापेत्याह—इतीति । सुतस्य पदवीं स्थितिमवस्थितिं स्थानं वा विलक्ष्य सौरभ्यादिलक्षणेनानधिगम्यैवाबला किञ्चित् कर्त्तु मनुसन्धातुञ्चाशक्ता भुवि पतिता सत्यति करुणतरं काष्ठपाषाणवज्रसारादीनामपि भेदकं यथा स्यात्तथा सुतमशोचत्, तदर्थं विलापं चक्रे । यद्वा, प्रागशोचत् पश्चान्मोहेन भुवि पतिता, यतो माता । अहो खेदे । पाठान्तरे—अनुस्मरन्ती सुतमिति शेषः, सुतपदवीमेव वा । स्नेहभरेणानुसन्धानाभावे परमार्त्तत्वे च दृष्टान्तः—मृतेति, अदर्शनमात्रेण महानिष्टशंकोत्पत्तेः ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कथम्भूतस्सन् ? कृत्स्नं गोकुलं चक्रवातरूपेणावृण्वन् व्याप्नुवन् रेणुभिर्व्रजौकसां चक्षूंषि मुष्णन् पिधापयन् महता घोरेण च शब्देन दश च दिशः पूरयन् ईरयन्निति पाठे नादयन् ॥२१॥ तथा गोष्टं मुहूर्त्तं रजसा तमसा च परागान्धकाराभ्यामावृतमभूत् तथा च यशोदा यतो यत्र न्यस्तवती निहितवती तत्र देशे सुतं नापश्यन्न ददर्श ॥ २२ ॥ तथा कोऽपि जनः परमन्यमात्मानं च नापश्यत, कुतः ? यतो विमोहितः तत्र हेतुः तृणावर्त्तेन विसृष्टाभिः प्रयुक्ताभिः शर्कराभिः सिकताभिरुपद्रुतः । २३ ॥ इतीत्थं खरात्कठिनात्पवनचक्रात्पांसुवर्षे सति सुतपदवीमविलक्ष्यादृष्ट्वाऽवला माता यशोदाऽतिकरुणं यथातथाऽनुस्मरन्ती भुवि पतिता यथा मृतवत्सा गौस्तद्वच्छुशोच ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ईरयन् शब्दयुक्ताः कुर्वन्नित्यर्थः ॥ २१ ॥ यतो यत्र न्यस्तवती तस्मिन् स्थले ॥२२॥ शर्कराभिः अणुतरशिलाभिः ॥२३॥ इति शब्दः प्रकारवचनः आदिवचनो वा "इति हेतुप्रकारादिसमाप्तिषु" इत्यमरः । खरश्चण्डः पवनो वायुः तेन चक्रपांसवः मण्डलीकृतरजांसि तेषां वर्षे समूहे सुतपदवीम् अविचक्षमाणा विगतदर्शना अपश्यन्तीत्यर्थः । पुत्रमनुस्मरन्तो निरन्तरसञ्चिन्तनोपेता अत एव भुवि पतिता अबला अतिकरुणमशोचदित्यन्वयः ॥ २४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तावदेव दैत्यो जहारेति तद्धरणकाले ऐश्वर्य्यैव शक्त्या भारलाघवं कृतमिति ज्ञेयं दिशो विदिशश्च ईरयन् प्रतिध्वनयन् यतो यत्र न्यस्तवती तस्मिन् स्थले ॥ २२–२३ ॥ खरपवनचक्रान् पांसुवर्षे सति अविलक्ष्य अदृष्ट्वा ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

आवृण्वन् प्राप्नुवन् प्रदिशो दिशः ईरयन् निनादयन् ॥ २२–२३ ॥ इति एवं खरपवनचक्रात् कर्कषवातचक्रात् पांशुवर्षे सति ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

प्रदिशो विदिशः दश दिशः कंपयन् प्रतिनादयन् वेत्यर्थः । वात्यारूपदैत्यत्वेन दुर्वृत्तत्वं महाबलिष्ठत्वं अपतिकार्यत्वञ्चोक्तं कंसभृत्य इति परमद्वेष्टृत्वं तत्र च प्रचोदितः पूर्वं बालघातित्वेन पूतनैव सामान्यतस्तावत् प्रस्थापिता तस्याश्च द्वयमयमूर्त्तेरपि मरणाच्छङ्काकुलः सन्तमूर्त्त्यैव शकटासुरः प्रस्थापितः तस्य च विलापनावर्तभीतः सन्मूर्त्तामूर्त्ते धर्मो बलवत्तरो दुर्गाह्यत्तपोमहावायुरेव प्रकृष्टतया प्रस्थापित इत्यर्थः ॥ २१ ॥ यतो यत्र स्थाने ॥ २२–२३ ॥ खरात् पवनचक्रात् पांसुवर्षे धूलिविक्षेपे सति अविलक्ष्य अदृष्ट्वा ॥ २४ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

यशोदा एनं कृष्णं महापुरुषं नारायणमादध्यौ व्यजानात् । कर्मस्विति सप्तमी तादर्थ्ये । गृहकर्मार्थमाशु जगाम चेति । अयं भावः । यशोदाऽयं कृष्णः साक्षान्नारायण एवेति निश्चित्य शंकां परित्यज्य गृहकार्यार्थं जगामेति । एतेन ग्रहादिशंकया भगवद्ध्यानं कृतं चेद्ग्रहादिशंकापरिहारार्थं पूर्ववद्बहुप्रयत्नः कर्तव्यः । पुत्रं परित्यज्य गृहकार्यार्थं शीघ्रगमनमनुपपन्नमिति चोद्यं निरस्तं । ग्रहादिशंकापरिहारार्थं भगवद्ध्यानं कृतमित्युच्यत इत्यंगीकारात् ॥ २१ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भारपीडिता दुर्भरदितिसुतादिभिस्तस्यां भूमौ तं निधाय गोपी विस्मिताऽऽपीतोऽप्येवं कुत इत्याश्चर्ययुता महापुरुषमादध्यौ एतन्न जाने जाने पालय बालमिममिति माधवं दध्यौ ध्यातवती । इममेव बालं महापुरुषं तदात्मकमादध्याविति वा । कर्मसु स्वगृहकृत्येषु तानि कर्तुमिति यावत् जगाम ॥ २१ ॥ कंसभृत्यो नाम्ना तृणावर्तो दैत्यः प्रचोदितो मृत्युना प्रेरितश्चक्रवातो मण्डलवायुस्तत्स्वरूपेणासीनमुपविष्टमर्भकं जहार ॥ २२ ॥ रेणुभिः शर्कराभिरावृण्वन्नाच्छादयन्मुष्णन्नपहरन्दिशः प्रदिशश्च

महाघोरशब्देनेरयन् शब्दापयञ्जहारेत्यन्वयः ॥ २३ ॥ **गोष्ठं** । गोष्ठं गोस्थानके मतमिति विश्वः । **रजसा** तन्निमित्तकतमसा चावृतं **मुहूर्तमभवत्** । यशोदा यतो यत्र स्थले सुतं न्यस्तवती तस्मिन्नापश्यत् ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

तस्य तृणावर्तस्योपासितमायारूपस्य भगवन्माहात्म्यमाह **पञ्चभिः**, अविद्यारूपस्तेषामिति,

अयोग्यतादर्शने हि हरेश्चादर्शनं ततः । सर्वाज्ञानं ततः स्वस्मिन् यशोदास्नेह एव च ॥ १ ॥
गोपिकानां तथा स्नेहः पञ्चपर्वाणि लौकिकात् ॥

प्रथमतो ज्ञानं तत्कृतं वक्तव्यं, ज्ञानेंशत्रयं वेद्यांश इन्द्रियांशोन्तःकरणांशश्चेति त्रयाणामपि तत्कृतदोषसम्बन्धमाह, स हि **न तूष्णीं** जहार किन्तु **गोकुलं सर्वमावृण्वन्नन्धकारेण वेष्टयन्**, **तमोगुणकार्यमेतत्**, रजोगुणकार्यमाह **मुष्णन् चक्षूंषि रेणुभिरिति**, **सर्वेषां दृष्टिः** पांसुभिः कृत्वा हृता, देवतात्वात् सा दृष्टिस्तेन च गृहीता स पश्यति ते न पश्यन्तीति, न तु केवलं तिरोहिता, **अन्तःकरणे** वैयग्र्यं चोत्पादयतीत्याह **पूरयन्निति**, **सुमहाघोरं** यथा भवति तथा **शब्देन** दश **दिशः** पूरयन् यथा कुसूले धान्यं निर्बन्धेनापि पूर्यंत एवं यथा सर्वदिक्षु भयमुत्पद्येत तथा शब्दं पूरितवान्, आधिदैविकादित्रयस्यापि भयमुत्पादयितुं पदत्रयं **सुमहाघोरमिति**, **प्रदिश** इति प्रकृष्टा दिशो देवसम्बन्धिन्यः, अनेन देवपक्षपातिनामेव भयं न दैत्यपक्षपातिनामित्युक्तम् ॥ २१ ॥ ततो भगवद्दर्शनमाह **मुहूर्तमिति**, बहिःस्थितानां **गोकुलदर्शनमपि** न जातं, बहिर्मुखानां भगवद्दर्शनं कथं भविष्यतीति वदन् दृष्टान्तपूर्वकमाह, **मुहूर्तं** घटिकाद्वयं, **गोष्ठं** सर्वमेव **गोकुलं रजसा** पांसुना **तमसा** तमोरूपेण रजोजनिततमसा वावृतमासीत्, ततोन्तःस्थितं भगवन्तं **यशोदापि नापश्यत्**, **सुतबुद्धिश्च** जाता, ननु भगवद्दर्शनं सर्वेषामेव दुर्लभं किमाश्चर्यं यशोदा नापश्यदिति तत्राह **स्वयं न्यस्तवती यतः**, यतः स्वयमेव तत्र **न्यस्तवती** स्थापितवती, स्वस्थापितं स्वयं द्रष्टुमुचितमेव तथाप्यदर्शनमाश्चर्यं, **यत** इति सप्तम्यर्थे वा, **स्वयं न्यस्तवतीति** भ्रमाभावः ॥ २२ ॥ यथा भगवति विदिते सर्वं विदितं भवत्येवं भगवत्यविदिते सर्वमेवाविदितं जातमित्याह **नापश्यदिति**, **कोप्यात्मानं** स्वदेहं **परं** परदेहं च **नापश्यत्**, चकाराद् घटपटादिकं च, शब्दादिनापि प्रतीतिर्न जातेत्याह **विमोहित** इति, विशेषेण मोहितः, किञ्चाज्ञानकार्यमपि प्राप्तवानित्याह, **तृणावर्तेन** विशेषेण **सृष्टाभिः शर्कराभिर्विशेषेणोपद्रुतः** पीडितः, तामसपीडैवाज्ञानकार्यम् ॥ २३ ॥ एवमज्ञानं सकार्यं निरूप्य तदपगमार्थं **यशोदाया गोपिकानां** च भगवति प्रेमातिशयमाह भिन्नवृत्तेन द्वाभ्यां, तत्र **गोपिकायां** भगवति पुत्रत्वेन स्नेहातिशयमाहेतीति, एवं **तृणावर्तकृत** उपद्रवे जात इत्येतावति सति, **खरः पवनो** यस्य चक्रस्य स **खरपवनचक्रस्तृणावर्तस्तस्य पांशुवृष्टिभिः** कृत्वा वर्षासु मार्गानिव **सुतपदवीं** पुत्रमार्गमितस्ततः पर्यटन्त्यप्यविलक्ष्य ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजचिह्नैरपि चिह्नितां भूमिमदृष्ट्वा **माता** सर्वथा स्नेहाधिकरणं क्वचिद् भगवानात्मानं विहाय गत इति भगवतः कृपोत्पादनार्थम**तिकरुणं** यथा भवति तथानु**स्मरन्त्यशोचद्**दात्मानं शोचितवत्यकृतार्थाहमिति, ततो भगवद्विरहा**द् भुवि पतिता** जाता, क्रियाशक्तिर्लुप्ता, ज्ञानशक्तिरपि लुप्तेति वदन् मूर्छिता जातेति दृष्टान्तेनाह **मृतवत्सका यथा गौरिति**, **गौरज्ञानजन्तुस्तत्रापि** वत्से गतेतिविवेकाभावान्मूर्छिता भवत्येव, **अमृतवत्सकेति** मृतवत्सका तु मृतमाघ्राय निवृत्तैव भवति, **नष्टवत्सेव** तथा भवति ॥ २४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गोकुलं सर्वमावृण्वन्नित्यादि प्रकरणार्थनिरूपणेऽविद्यापर्वपञ्चककथनं तच्चानुपपन्नम् । यशोदादिस्नेहे तथात्वस्यायोगादत **आहुः लौकिकादिति** । प्राकृतबालके तादृक्समये लोकानां यथा शङ्का तथात्रापि सात्ययुक्तेत्ययमंशो लौकिकः स तत्पर्वरूप उच्यते । **न तु स्नेहदुःखादिरपि** । अलौकिकत्वात् । एतदेवाहुः **लौकिकादिति** । लौकिकसजातीयत्वादुक्तभावस्य पर्वत्वमुच्यत इत्यर्थः ॥२१॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

गोकुलमित्यत्र ननु पूर्वाध्याये पूतनानाश एव तूलाविद्यापञ्चपर्वणां नाशस्योक्तत्वादत्र पुनस्तत्कथनस्य किं प्रियोजनमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामुपपादयाहु**र्गोकुलमित्यादि**, तथा च साधारणधर्माणां परित्यागासम्भवस्य शकटप्रसङ्ग उक्तत्वात् तेत्र **तिष्ठन्तीति** सोत्रोक्त इत्यर्थः, **देवतात्वादिति** तृणावर्तोपास्यस्येतिशेषः, **'देवतासत्त्वा'दितिपाठे** तु तृणावर्तोपास्य**देवतायाः सत्त्वादि**त्यर्थः ॥ २१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्य तृणावर्तस्येति तादृशभगवत्कृतं **तृणावर्तस्य माहात्म्यमाहे**त्यर्थः, सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **अविद्यारूप** इति तदुपासित**मायारूपो भगवांस्तेषां गोकुलस्थानामविद्यानिरूपको** जात इति मायायाः कार्यं विद्यारूपं गोकुले प्रकटमितिभावः, **प्रथमतोऽज्ञानमिति** न ज्ञायतेऽनेनेतिकरणव्युत्पत्त्या **दर्शनायोग्यतेत्यर्थः**, **देवतात्वादिति** दृष्टेरितिशेषः, अन्यथा अमूर्तस्येन्द्रियस्य हरणं न सम्भवतीतिभावः । **मुहूर्तमित्यत्र** दृष्टान्तेति वाक्यार्थो भगवददर्शनमेव, पूर्वार्धं तु दृष्टान्तार्थमुक्तं, रजस्तमोवृतत्वाद् गोकुलदर्शनं

बहिःस्थितानां न जातं तथा सुतदर्शनं यशोदाया न जातमिति बिम्बप्रतिबिम्बभावेन **दृष्टान्तालङ्कारपूर्वकमा**हेत्यर्थः, **बहिर्मुखत्वाद्** रजसा दृष्टिप्रतिरोधो जात इति भावः ॥ २२ ॥ **नापश्यदित्यत्र तदपगमार्थमिति** एतयोः प्रेमातिशयेन भगवांस्तं मारयित्वा समायास्यति तदा सकार्यस्याज्ञानस्यापगमो भविष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥ **इतीत्यत्र यस्य चक्रस्येति यस्य** तृणावर्तस्य यत् चक्रं तस्येत्यर्थकथनं, विग्रहस्तु खरः पवनो यस्य तादृशं चक्रं यस्येति पुनर्व्रहुव्रीहिः ॥ २४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अविद्यारूपस्तेषामितीति अविद्यां स्वोपास्यमायां कार्यद्वारा रूपयति प्रकाशयतीत्यविद्यारूपः, तत्कार्याणि तु **अयोग्यता दर्शने** हीत्यादिकारिकाभिः स्फुटीकृतानि, तत्र यशोदास्नेहगोपिकास्नेहयोरविद्याकार्यत्वकथने दोषः प्राप्ताः स तु श्रीमत्प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां परिहृतः ॥ २१ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

गोकुलं सर्वमावृण्वन्नित्यादिश्लोकपञ्चकप्रतिपाद्यानर्थानाहु**रयोग्यतेति** का० ३८१३–२ । "गोकुलं सर्वमावृण्व" न्निति श्लोकेन हरिदर्शने **अयोग्यतोक्ता,** "मुहूर्तमभवद्गोष्ठ" मित्यनेन हरेरदर्शनमुक्तं, "नापश्यत् कश्चनात्मान" **मित्यनेन सर्व**पदार्थाज्ञानं, "इतिखरपवन" इत्यत्र भगवति **यशोदायाः स्नेहः,** "रुदितमनुनिशम्ये" त्यत्र **गोपिकानां स्नेहः,** इमान्यविद्यायाः पञ्च पर्वाणि ज्ञेयानि, ननु यशोदादिस्नेहेऽविद्यापर्वत्वोक्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्याहु**र्लौकिकादि**ति, प्राकृतबालके तादृक्समये लोकानां यथा शङ्का तथा भगवत्यपि आशङ्काऽप्ययुक्तेत्ययमंशो लौकिकः, स अविद्यापर्वरूप उच्यते न तु स्नेहदुःखादिरपि, अलौकिकत्वात् एतदेवा**हुर्लौकिकादि**ति, लौकिकसजातीयत्वादुक्तभावस्याविद्यापर्वत्वमुच्यत इत्यर्थः ॥ ३८१३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तद्धरणार्थं यदुपायं कृतवांस्तदाह—गोकुलमिति । रेणुभिर्गोकुलं सर्वमावृण्वन् जनानां चक्षूंषि च मुष्णन् दर्शनायोग्यानि कुर्वन् महाघोरेण भयङ्करेण शब्देन दश दिश ईरयन् निनादयंस्तं जहारेति पूर्वेणान्वयः । 'प्रदिशो दिश' इति पाठान्तरम् ॥ २१ ॥ गोष्ठं व्रजं मुहूर्तमात्रं रजसा रेणुना तमसा अन्धकारेण चावृतमभवत् । यशोदा यतो यत्र सुतं न्यस्तवती स्थापितवती, तस्मिन् स्थाने तं नापश्यदित्यन्वयः ॥ २२ ॥ कश्चनापि जनः आत्मानं परं चकारात् घटपटादिकं च नापश्यत् । तत्र हेतुमाह–मोहित इति । व्याकुलचित्त इत्यर्थः । तत्रापि हेतुमाह—तृणावर्तेति । तृणावर्तेन निसृष्टाभिः प्रक्षिप्ताभिः शर्कराभिः सिकताभिरुपद्रुत इति ॥ २३ ॥ इत्येवं खरात्तीक्ष्णात् पवनचक्रात् पांसुवर्षे सति सुतस्य पदवीं मार्गमविलक्ष्य अदृष्ट्वा अबला 'तद्दर्शनोपाये असमर्था' माता यशोदा अतिकरुणमतिदैन्यं यथा भवति तथा तमनुस्मरन्ती 'अकृतार्थोऽहम्' इत्यात्मानमशोचत्, अथ भुवि पतिता च । शोकेन व्याकुलतायां दृष्टान्तमाह—मृतवत्सका यथा गौरिति ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मुहूर्तमिति । गोष्ठं व्रजं मुहूर्त्तमात्रं रजसा रेणुना तमसा अन्धकारेण चावृतमभवत् । यशोदा यतो यत्र सुतं न्यस्तवती स्थापितवती तस्मिन् स्थाने तं नापश्यत् ॥ २२ ॥ नापश्यदिति । तृणावर्तेन निसृष्टाभिः प्रक्षिप्ताभिः शर्करादिभिः सिकताभिरुपद्रुतः अतो मोहितः व्याकुलचित्तः कश्चनापि जनः आत्मानं परं चकारात् घटपटादिकं च नापश्यत् । चान्नाश्रृणोच्च ॥ २३ ॥ इति खरेति । इत्येवं खरात्तीक्ष्णात् पवनचक्रात् पांसुवर्षे सति सुतस्य पदवीं मार्गमविलक्ष्य अदृष्ट्वा अबला तद्दर्शनोपाये असमर्था माता यशोदा अतिकरुणमतिदैन्यं यथा भवति तथा तमनुस्मरन्ती अकृतार्थोऽहमित्यात्मानमशोचत् । तथा मृतवत्सका गौर्यथा भुवि पतिता ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

मुहूर्त्तं द्विघटिकापर्यंतं यतो यत्र न्यस्तवती स्थापितवती । तत्र स्थलेनापश्यत् ॥ २१ ॥ कश्चन जनः आत्मानं स्वं शर्कराभिरतिक्षुद्रपाषाणशकलैः उपद्रुतः पीडितः ॥ २२ ॥ खरस्य कठिनस्य पवनस्य चक्रात् पांसूनां रेणूनां वर्षणे सति सुतस्य पदवीं मार्गम् अविलक्ष्याज्ञात्वा मृतवत्सका गौर्यथा अनुस्मरंती भुवि पतितासती अतिकरुणं यथा तथा अशोचत् अरुदत् ॥ २३ ॥ उपारतो विरतः पांसुवर्षणस्य वेगो यस्मिन् एवंभूते पवने सति तत्र तस्या यशोदायाः रुदितं श्रुत्वा अश्रुभिः पूर्णं मुखं यासां ता गोप्यः नंदसूनुं अनुपलभ्य अप्राप्य रुरुदुः ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दैत्य इति ॥ तदा नाम्ना तृणावर्त्तः, तृणावर्त्ताख्य इत्यर्थः । दैत्यः, कंसस्य भृत्यः, अत एव प्रणोदितः भृत्यत्वात् कंसेनैव प्रणोदितः सन् , चक्रवातस्वरूपेण मण्डलीभूतवायुरूपेण, आगत्य, आसीनं यशोदया स्वोत्सङ्गादवतार्य यत्रोपवेशितस्तत्रैवोपविष्टमित्यर्थः । अर्भकं, जहार गृहीतवान् ॥ २१ ॥ कथंभूतः सन् गृहीतवांस्तत्राह ॥ गोकुलमिति ॥ वात्यारूपेण, सर्वं सकलं,

गोकुलं आवृण्वन्, रेणुभिः चक्षूंषि, मुष्णन्नपिधापयन्, महताऽपिदीर्घेण, घोरशब्देन अतिभयंकरनादेन, प्रदिशः आग्नेयादि-कोणान्, दिशः पूर्वादिकाः, पूरयन् ईरयन्, सुमहाघोरेति पाठे सुतरां महता घोरनादेन, ईरयन्निनादयन् ॥ २२ ॥ मुहूर्त्तमिति ॥ तथा गोष्ठं, रजसा तमसा च, रजोऽन्धकाराभ्यामित्यर्थः। मुहूर्त्तं घटिकाद्वयपर्यन्तं, आवृतं अभवत्। तथा, यशोदा सुतं स्वनयनं, यतः यत्र, न्यस्तवती निहितवती अभूत्, तत्र स्वयं न अपश्यत् ॥ २३ ॥ नापश्यदिति ॥ तृणावर्त्तनिसृष्टाभिः, सिकताभिर्धूलिभिः, शर्कराभिरिति पाठेऽप्ययमेवार्थः। उपद्रुतः उपद्रवं प्राप्तः, अत एव विमोहितः विशेषतो मोहं प्राप्तः, कश्चनापि जनः, परमन्यं, आत्मानं स्वं च, न अपश्यत् ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मुहूर्तमिति : १०.७२२.

यदात्मानीक्षणं धर्मो गोकुलस्य निसर्गजः। रजस्तमोभ्यां युक्तं चेत् किं वाच्यं तस्य तत्पुनः ॥ २९ ॥

कृष्णप्रिया

उसने व्रजरज से सारे गोकुल को ढक दिया और लोगों की देखने की शक्ति हर ली। उसके अत्यन्त भयङ्कर शब्द से दसों दिशाएँ काँप उठीं ॥ २१ ॥ सारा व्रज दो घड़ी तक रज और तम से ढका रहा। यशोदाजीने अपने पुत्र को जहाँ बैठा दिया था, वहाँ जाकर देखा तो श्रीकृष्ण वहाँ नहीं थे ॥ २२ ॥ उस समय तृणावर्त ने बवंडर रूप से इतनी बालू उड़ा रक्खी थी कि सभी लोग अत्यन्त उद्विग्न और बेसुध हो गये थे। उनको अपना-पराया कुछ भी नहीं सूझ रहा था ॥ २३ ॥ उस जोर की आँधी और धूल की वर्षा में अपने पुत्र का पता न पाकर यशोदा को बड़ा शोक हुआ। वे अपने पुत्र की याद करके बहुत ही दीन हो गयीं और बछड़े के मर जाने पर गाय की जो दशा हो जाती है, वही दशा उनकी हो गयी। वे पृथ्वी पर गिर पड़ीं ॥ २४ ॥

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनु[१]तप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांसुवर्षवेगे ॥ २५ ॥
तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन्। कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत् ॥ २६ ॥
[२]तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया। गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥ २७ ॥
गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः। अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पवने उपारतपांसुवर्षवेगे (सति) अनुरुदितं निशम्य तत्र नन्दसूनुम् अनुपलभ्य भृशम् अनुतप्तधियः अश्रुपूर्णमुख्यः गोप्यः रुरुदुः ॥ २५ ॥ वात्यारूपधरः तृणावर्तः कृष्णं हरन् नभोगत भूरिभारभृत् शान्तरयः (अग्रे) गन्तुं न अशक्नोत् ॥ २६ ॥ आत्मनः गुरुमत्तया तम् अद्भुतार्भकम् अश्मानं मन्यमानः गले गृहीतः उत्स्रष्टुं न अशक्नोत् ॥ २७ ॥ गलग्रहणनिश्चेष्टः निर्गतलोचनः दैत्यः व्रजे सहबालः न्यपतत् ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

उपारतः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते पवने सति तत्र तस्या रुदितमनुनिशम्य गोप्यो रुरुदुः ॥ २५ ॥ वात्या चक्रवातस्तद्रूपधरः कृष्णं हरन् शांतरयः कथंचिन्नभोगतस्ततः परं गंतुं नाशक्नोदित्यर्थः ॥ २६ ॥ गुरुमत्तयाऽतिगौरवेण तं तथा अश्मानमश्मवंतं पर्वतप्रायं मन्यमानस्तेनैवात्मनो गले गृहीतो धृतस्तं त्यक्तुमिच्छन्नपि नाशक्नोदित्यर्थः ॥ २७–२९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र नंदगृहे। तस्या यशोदायाः ॥ २५ ॥ ततो नभोगमनात्परम्। उपरिष्टाद्गंतुं कंससमीपं वा इत्यर्थ इति भावः ॥ २६ ॥ अश्मशब्दो लक्षणया तद्वत्परोत्रात आह—अश्मवंतमिति ॥ विश्वनाथस्तु—'अश्मन्तम्' इति पाठं मत्वा अश्मवन्तम् इति व्याचख्यौ तत्र वर्णलोपश्छान्दसः। आत्मनः स्वस्य। तं कृष्णम्। इत्यर्थ इति। न ह्यतिगुरुमद्गृहीतोऽजगरग्रस्तमंडूकवदात्मानं मोक्तुं प्रभवतीति भावः ॥ २७ ॥ निर्गतलोचनो बहिरागतनेत्रमांसपिंडः। अव्यक्तरावः वचनावृत्तिवर्जितः ॥ २८ ॥

१. अनुरक्तधियः—इति कस्यचित्। २. तमश्मन्तं—जीव. विश्व.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पवने उपारत पांसुवर्षवेगे सति गोप्यः प्रतिवेशिन्यः तत्र च श्रीव्रजेश्वरीगृहे रुदितम् अनुनिशम्य वीप्सया श्रुत्वा तत्र च श्रीनन्दसूनुमनुपलभ्य गत्वाप्यदृष्ट्वा भृशमनुतप्तधियः सत्यस्तत एवाश्रुपूर्णमुख्यः सत्यो रुरुदुः अनुरक्तेति पाठे श्रीनन्दपत्न्यां श्रीनन्दसूनौ च अनुरक्ता धीर्यासां ताः नन्दसूनुमिति श्रीनन्दस्य तदनुगतत्वात् श्रीव्रजवासिनां च सर्वेषां रोदनं सूचयति ॥ २५ ॥ ततश्च तेषामार्तिरोदनेन नभोगमनलीलां विहाय दैत्यं हन्तुमुद्यत इत्याह—तृणेति। तृणावर्त्तो वात्याया रूपधरः कृष्णं हरन् नभोगतो भूत्वा तत्र तेनाविष्कृतभारेण भूरिभारवान् तत एव च शान्तरयः सन् गन्तुं नाशक्नोत् ॥ २६ ॥ अश्मन्तम् अश्मवन्तं नीलमणिपर्वतं न तु नन्दसूनुं तं मन्यमानः अतो हरणाशक्त्या च मोक्तुमिच्छन्नपि नाशकत् यतस्तेनैव गले गृहीतः अत एवाद्भुतं लोकातीतं कौतुकावहं वा अर्भकं अश्मन्तमिति युवोरनाकाविति ज्ञापकाच्छान्दसो वलोपः किन्तु पाठोयं क्वचिदेव अश्मानमिति पाठस्तु बहुत्र अत्र च मतुप्लोपः छान्दसः अश्मार्णमिति पाठश्च बहुत्र टीका च तत्र तत्र तत्तत्प्रकारैव अत्रार्णशब्देन वर्ण उच्यते आगमादौ तथा दृष्टत्वात् वर्णशब्देन चाभा भण्यते अश्मशब्देन कथञ्चित् पर्वत इति अत्र च यथाहि केनचिदुच्चैर्नीयमानो बालको भयाद्गलं गृह्णाति तद्वत् बालग्रहणादिना लौकिकबाल्यलीला च ॥ २७ ॥ बालग्रहणेनैव निश्चेष्टः हस्तपादप्रक्षेपणादावशक्त इत्यर्थः। गलग्रहणादेव निर्गतेव बहिर्निस्सृते लोचने यस्य सः किञ्च न व्यक्तः किमुक्तमिति वोद्धुमशक्यः रावः आर्तनादो यस्य सः सहबालः श्रीबालगोपालसहितः व्यसुर्मृतो व्रजमध्ये नितरां पृष्ठतः सर्वाङ्गपातमपतत् पूर्वं पूतनायाः पादादिविक्षेपेण महार्त्तनादेन च व्रजवासिनां महाभयं वृत्तमासीत् तदधुना माभूदिति गलग्रहणेन नभस्येव मारणम् अत एव नभसि गमनार्थं तृणावर्त्तेन स्वस्य हारणमपीति तत्त्वम् ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्र निरन्तरपरमानन्दमये स्थाने रुदितमनुनिशम्य वात्या-सुमहाघोरशब्दोपरमात् पश्चाच्छ्रुत्वा भृशमत्यर्थमनुतप्तधियोऽत एवाश्रुपूर्णमुख्यः। यद्वा, यत्र रुदितं तत्र गत्वेति शेषः। उपारत-पांशुवर्षवेगेऽपि पवने सति नन्दस्य पुत्रद्वारा व्रजानन्दकरस्य वल्लवेन्द्रस्य सूनुमनुपलभ्य श्रीयशोदान्तिकेऽदृष्ट्वाप्राप्य वा, गोप्यः सर्वा एव रुरुदुः। अनुरक्तेति पाठे यतो यशोदायां नन्दसूनौ वानुरक्ताधीर्यासां ताः। नन्दसूनुमिति नन्दस्य व्रजवासिनाञ्च सर्वेषां रोदनमपि सूचयति ॥ २५ ॥ ततश्च तेषामार्त्तिरोदनेन नभोगमनलीलां विहाय दैत्यं हन्तुमुद्यत इत्याह—तृणेति। भूरि अतिदूरे आनयनार्थमीषद्गौरवाविष्कारात् स्वभावादेव वा महान् यो भारस्तम्; यद्वा, भूरिभारो यस्य तं बिभर्त्तीति तथा सः, आत्मनोऽपि सकाशाद्गुरुमत्तया हेतुनाश्मन्तमश्मवन्तं नीलमणिपर्वतम्, न तु नन्दसूनुं तं मन्यमानोऽतो हरणाशक्त्या च माक्तुमिच्छन्नपि नाशक्नोत्; यतस्तेनैव गले गृहीताः अत एवाद्भुतं लोकातीतं कौतुकावहं वार्भकम्। अश्मानमिति पाठः कचित्; तद्व्याख्या च काचित्की। अत्र च, यथा हि केनचिदुच्चैर्नीयमानो बालको-भयात्तद्गलं गृह्णाति, तद्गलग्रहणादिना लौकिकबाल्यलीला तथा तस्य महादैत्यस्याप्यसह्यभारेण निजगलमोचनाशक्त्या च तथा तेन प्रकारेण मारणादिना चैश्वर्य्यं प्रकटमेवेति दिक् ॥ २६-२७ ॥ गलग्रहणेनैव निश्चेष्टोहस्तपादप्रक्षेपणादावशक्त इत्यर्थः। गल-ग्रहणादेव निर्गते वहिर्निःसृते लोचने यस्य सः। किञ्च, न व्यक्तो न स्पष्टो न वक्तुं शक्यो राव आर्त्तनादो यस्य येन वा सः, सहबालः श्रीभगवत्सहितः, यद्वा, स महाबलिष्ठत्वादिना प्रसिद्धो दैत्यो बालो मूर्खोऽयोग्येऽशक्ये च कर्मणि प्रवृत्तेः, अत एव व्यसुमृतो व्रजमध्ये नितरां पृष्ठतः सर्वांगपातमपतत्। हर्षे। पूर्वं पूतनायाः पादादिविक्षेपेण महार्त्तनादेन च व्रजवासिनां महाभयं वृत्तमासीत्, तदधुना मा भूदिति गलग्रहणेन नभस्येव मारणमत एव नभसि गमनार्थं तृणावर्त्तेन हरणमपीति तत्त्वम् ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पवन इति सप्तमी स्पृशि स्प्रष्टुमशक्यम् ॥ २५-२७ ॥ व्यसुः गतप्राणः ॥ २८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततस्तस्य रुदितमाकर्ण्य भृशं नितरामनुतप्ताः धियो मनांसि यासामश्रूणि मुखे यासां तथाभूताः गोप्यः तत्रागत्य नन्दसूनुं श्रीकृष्णमनुपलभ्याहृष्ट्वा रुरुदुः उपारतः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते पवने सति तत्र तस्या रुदितमनुनिशम्येत्यन्वयः ॥ २५ ॥ वात्या चक्रवातः तद्रूपधरस्तृणावर्तः श्रीकृष्णं हरन् शान्तवेगः कथञ्चिन्नभोगतः ततः परं नभो गन्तुं नाशक्नोत्तत्र हेतुः भूरिभारभृदिति ॥ २६ ॥ तं बालं गुरुमत्तया आत्मनः स्वास्याश्मानं कूपे पिपतिषोः कण्ठलग्नपाषाणतुल्यं मन्यमानः यद्वा आत्मनः स्वस्मादपि गुरुमत्तयाऽश्मानं बालव्याजं परं मन्यमानस्तेन दृढं गले गृहीतः तमुत्सृष्टं त्याजयितुं नाशक्नोत् ॥ २७ ॥ गले ग्रहणेनैव निश्चेष्टो निर्गते उद्गते लोचने यस्य स दैत्यः अव्यक्तमस्पष्टं वाक्यं वचो यस्य तथाभूतः निर्बद्धगलत्वादिति भावः। बालेन श्रीकृष्णेन सहितो व्यसुर्गतप्राणो व्रजे न्यपतत् ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उपारतः उपरतः शान्तः पांसुवर्षवेगो यस्य पवनस्य स तथा तस्मिन् सत्यपि कृष्णस्य अन्तरिक्षगमनात् भुव्यदर्शनम् उपरि चक्षुर्दौर्बल्यादित्यर्थः ॥ २५ ॥ ननु, मूर्त्तद्रव्यादर्शनं देशान्तरसंयोगाद्देशान्तरप्रवेशलक्षणसंयोगावत्युभयथा सम्भाव्यते अत्र कथमिति स्त्रीणां शङ्कामपनेतुमुपक्रमते; तृणावर्त इति, शान्तरयः निवृत्तवेगः ॥ २६ ॥ अश्मानं श्वेतपाषाणम् ॥ २७ ॥ निर्गतलोचनः निष्क्रान्तनेत्रमांसपिण्डः अव्यक्तवाक्यः वचनावृत्तिरहितः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अश्मन्तमिति वलोपश्छान्दसः ॥ २७-३० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उपारतः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते पवने सति तत्र व्रजेश्वर्य्यो रुदितं निशम्य अनु पुरान्तरादपि गोप्य आगत्य तत्र रुरुदुः ॥ २५ ॥ प्रथमं कृष्णं बालकान्तरमिव हरन्नभः अत्यूर्द्ध्वं गतः ततश्च भूरिभारभृदिति तत्र ऊर्द्ध्वप्रदेशे महाभारं तं प्रतियन् शान्तरयः ततश्च वोढुमसमर्थ एव ततो गन्तुं नाशक्नोत् ॥ २६-२८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

उपारतः पांसुवर्षवेगो यस्मिन् एवम्भूते पवने सति यशोदायाः रुदितमनुनिशम्य तत्र गत्वेति शेषः। नन्दसूनुमनुपलभ्य गोप्यो रुरुदुः ॥ २५ ॥ पूतनाग्राह्यरूपेण नन्दव्रजं प्राप्य विनष्टाऽतो वात्यारूपधरः वात्या चक्रवातस्तद्रूपधरः कृष्णं हरन् शान्तरयः मन्थरवेगोऽभूत् तथाभूतोपि कथंचिन्नभोगतस्ततः परं गन्तुं नाशक्नोत् यतो भूरिभारभृत् ॥२६॥ अद्भुतार्भकं दुर्ज्ञेयाचिन्त्यशक्ति बालकम् आत्मनः स्वस्माद्गुरुमत्तयाऽतिगुरुत्वेन अश्मानं गिरिकूटं मन्यमानः तमुत्स्रष्टुं नाशक्नोत् तत्र हेतुं दर्शयति गले गृहीतः तेन इति शेषः। २७-२८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उपारतः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिन् तथाभूते पवने सति तत्र गोकुले तस्या रुदितं निशम्य गोपास्तत्रागत्य नन्दसूनुमनुपलभ्य भृशमनुतप्तहृदयास्तद्रुदितमनुरुरुदुः ॥ २५ ॥ तृणावर्त्तः कृष्णं बालकान्तरमिव हरन्नभोगतस्तत्र भूरिभारभृदतिभारस्तं विजानन् शान्तरयः ततो वोढुमसमर्थ एव ततः परं गन्तुं नाशक्नोत् ॥ २६ ॥ ततश्च सिद्धवियद्विहारेच्छोर्दृष्टः स्वक्रीडास्थानः साधितदेववनितानन्दः स यशोदार्भकस्तं दैत्यं हन्तुमारेभे इत्याह तमिति। आत्मनः सकाशादपि गुरुमत्तयातिगौरववत्त्वेन हेतुना तमश्मानम् एकपाषाणवपुषं शैलं मन्यमानः त्यक्तुमिच्छन्नपि उत्स्रष्टुं त्यक्तुं नाशक्नोत् यतस्तेन गले गृहीतः बाल्यलीलावेशेन स्वपतनभयादिवेति भावः ॥ २७ ॥ गलग्रहणेनैव निश्चेष्टः अव्यक्तो एव आर्त्तनादो यस्य सः पूतनार्त्तनादेन व्रजौकसां त्रासो वृत्तः सोऽधुना माभूदिति कण्ठं निष्पीड्य नभस्येव मारित इति भावः। यतो व्यसुः प्राणहीनः ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

शर्कराभिः क्षुद्रपाषाणैः ॥ २५ ॥ इत्येवं प्रकारेण खरश्चण्डः पवनोऽनिलस्तत्सम्बन्धिनः पांसवो धूलयस्तेषां वर्षे। क्वचित्तालव्यपाठः। तत्र तालव्याश्चैव दन्त्याश्च शम्बसूकरपांसव इत्यादिमूलं। सुतपदवीं तस्य सृतिं। मार्गाः पन्थानः पदवी सृतिरित्यमरः। अविचक्षमाणा पश्यन्ती अबला मृतवत्सका। सुपः परत्वान्नप्रत्ययत्वं स्यादिति। गौर्यथा तथाऽनुस्मरन्ती भुवि पातिता सत्यतिकरुणं यथा स्यात्तथाऽशोचच्छुशोच। भुवि पतितेत्यनेन त्वदधीनः सूनुः कृतस्तं हे धरे श्रीधरं क यापितवतीति तदुपरि पात उचितो रचितोऽनयेति ध्वन्यत इति त्वद्भारापहाराय प्रादुर्भूतं दुर्भूतमुखे स्थापितवत्यसीति अहं तं मम पातेनापि करोमीति पपातेति ध्वन्यत इति वोत्प्रेक्षयन्ति। मृतवत्सकेति निदर्शनदर्शनेन न पुनस्तनयदर्शनं भविष्यतीत्याशा लोकदृशा यशोदाया इति सूचयति॥२६॥ तत्र तदानीं गोप्यो रुदितं यशोदाया इति शेषः। श्रुत्वा निशम्यानुतप्तानां धीरेव धीर्यासां तास्तथाऽश्रुभिः स्रवदुदकैः पूर्णं व्याप्तं मुखं यासां ताः स्वाङ्गाल्लीषू। उपारतपांसुवर्षवेगे उपारतः पांसुवर्षस्त वेगो यस्मिंस्तस्मिन्पवने सत्यपि नन्दसूनुमनुपलभ्याद्दृष्ट्वा स्वयमपि रुरुदुः ॥ २७ ॥ मृत्या वाऽदर्शनं नीत्या केनचिदनीत्या वा मूर्तमूर्तेरत्र तु कथमिति शङ्कामुत्तमां वरोरूणामङ्गनानामपनेतुं यतते तृणावर्त इति वात्याया वातसमूहस्य पाशादिभ्यो य इति यो यद्रूपं यस्तस्य धरः कृष्णं हरन्भूरि भारं बिभर्तीति सः शान्तरयः सन्नभोगतो गन्तुं पुरतो नाशक्नोत् ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं यशोदायाः परमस्नेहेन मूर्छापर्यन्तमवस्था निरूपिता, गोपिकानामाह रुदितमिति,, अनुनिशम्येति, गोप्यः स्वयमेव ज्ञानसम्पन्ना भगवति नीयमाने रोदनं कुर्वन्त्यः स्वरोदनं शृण्वन्त्योन्यरोदनमपि श्रुतवत्य इत्यनुनिशम्येत्युक्तं, तत्र भगवद्गृहे, गोप्यो भगवदीयाः, भृशमत्यर्थमनुतप्ता धीर्यासामस्माभिस्तत्र भगवन्तं गृहीत्वा कथं न स्थितमित्यनुतापयुक्ताः स्वबुद्धिदोषं

स्मरन्त्यो भृशं तप्ता अश्रुप्रोञ्छनेप्यशक्ता **अश्रुपूर्णमुख्यो** जाताः; अश्रुभिः पूर्णं मुखं यासामिति, स्वयं तत्र गृहे गत्वा **नन्दसूनुमनुपलभ्य** रोदनेपि लौकिकदोषनिवृत्त्यर्थं प्रभुपुत्रमनुपलभ्य सर्वाः संहत्य रुरुदुः, एवं रोदने क्रियमाणे दैवतान्तर्हिता, तस्यामन्तर्हितायां **पवनोप्युपारत** पांशुवर्षस्य **वेगो** यस्य तादृशो जातस्तस्मिन् ॥ २५ ॥ तथा जाते तृणावर्तोपि शान्तवेगो जात इत्याह **तृणावर्त** इति, प्राप्ते भगवति नयन एव सामर्थ्यस्य व्यापृतत्वात् पूर्वं **वात्यायां रूपधरो** भूत्वा **हरन्नाकाशं** गतः **कृष्णं हरन् गन्तुं नाशक्नोत्**, उच्चैर्गमन एव दैवतावशाद् बलं जातं न तिर्यग्गमने, तत्र हेतुर्भू **रिभारभृदिति**, स्वसामर्थ्यापेक्षयाप्यधिकं भारं बिभ्रत् ॥ २६ ॥ ततोशक्तौ यत् कृतवांस्तदाह **तमश्मानमिति**, तं भगवन्तं बालकं सूक्ष्मरूपमतिगरिष्ठमश्मानं हीरकं नीलमणिं वा मन्यमानो जातस्तत्र हेतुरात्मनो **गुरुमत्तयेति**, **आत्मनोप्यतिवलिष्ठस्यापि गुरुमत्तयाशक्यगौरवेण कृत्वाश्मानं मन्यमानो** जातः, तत उत्स्रक्ष्यामीति विचार्य भगवता **गले** गृहीतस्सन्नुत्स्रष्टुमपि **नाशक्नोत्**, । ननु हस्तौ मोचयित्वा कथं न त्यक्तवानित्याहाभ्**दुतार्भकमिति**, अद्भुतोलौकिकः, त्याजने क्रियमाणे सम्बन्धो भवति, विपरीता हि भगवल्लीला, प्राप्तव्य इत्युक्ते न प्राप्नोति त्यज्यत इत्युक्ते न त्यक्तो भवति ॥ २७ ॥ तदा भगवान् यत् कृतवांस्तदाह **गलग्रहणेति**, उच्चस्थाने बालकस्वभावव्यापक इव गलं गृह्णाति भगवान्, देहेन प्राणैः सह त्यक्तव्यः, तत्प्रियत्वस्यैव देहादौ समारोपणात्, तस्मिन् विद्यमाने भगवान् न त्यक्तो भवति, हस्ते गृहीत्वा त्यजन्निव तदा **गलग्रहणे निश्चेष्टो** जात इति, तदा भगवान् दयया त्यक्ष्यतीत्याशङ्क्याह **दैत्य** इति, अत एवातिनिःपीडनेन **निर्गते लोचने** यस्य, शब्देनापि भयं जनयिष्यामीति विचार्य ततोपि पीडितो **व्यक्तरावो** जातः, **न व्यक्तो रावः** शब्दो यस्य, तदा विवशः सन् हृदयस्थितबा**लक एव व्रजमध्ये न्यपतत्**, न हि गोकुलसर्वस्वं कश्चिदन्यत्र नेतुं शक्तः **नितरामपतदिति** सर्वाङ्गे भूमिसम्बन्ध उक्तः ॥ २८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तमश्मानमित्यत्र गुरुशब्दस्य धर्मवाचकत्वेपि गुरुपाषाण इत्यादौ धर्मिण्यपि प्रयोगात् प्रकृते धर्मिभिन्नधर्मोभिप्रेत इत्याशयेनाहुरशक्यगौरवेणेति सोढुं न शक्तो भवति ॥ २७ ॥ **गलग्रहण** इत्यत्र भगवान् गलग्रहणं कुतः कृतवानित्याकाङ्क्षायां तदभिप्रायमाहुर्देहेनेत्यादि, अयं देहेन प्राणैः सह भगवता त्यक्तव्यो न तु पूतनावत् केवलदेहेन, तत्त्यागश्च तदा भवति यदायं प्रियत्वधर्मं त्यजति 'प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयो यत्सम्बन्धात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रिय' इति यज्ञपत्नीः प्रति भगवद्वाक्ये प्रियत्वस्य भगवद्धर्मत्वेन सिद्धत्वात् तस्यैव देहादावारोपणस्यापि सिद्धत्वाद् देहादिविषयेपि तस्मिन् भगवद्धर्मे विद्यमाने भगवान्न त्यक्तो भवत्यतो गृहीतवानित्यर्थः, इयं **फक्किका पूर्वश्लोकस्यैवेति** प्रतिभात्येतदग्रे **तदा भगवानित्याभासोपेक्ष्यत** इति च, नन्वेवं भगवत्त्यागाभावे बहिर्मुखानामपि भगवत्सम्बन्धापत्तिरिति चेदस्तु न च मुक्त्याद्यापत्तिः साधनाभावात् कृपाभावाच्च तदभावे व्यापकत्वकृतस्य सम्बन्धस्येवास्याप्यप्रयोजनकत्वाच्च, या पुनः पुराणान्तरे तृणावर्तस्य मुक्तिरुक्ता तत्र पूर्वजन्मीनं साधनं स्वरूपसम्बन्धश्चेति हेतू स्फुटावेति न कोपि शङ्कालेशः, तदग्रे कथं त्यक्तव्य इत्यत आहुर्**हस्त** इत्यादि, तथा च निश्चेष्टायां व्यसुत्वे प्रियत्वस्य निवृत्तत्वात् तस्मिन् गते त्यक्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तृणावर्त इत्यत्र अधुना **शान्तरयत्वे** हेतुमाहुः **प्राप्ते** इति ॥ २६ ॥ **तमश्मान**मित्यत्र **गुरुमत्तयेति** 'वस्तुनो लघुकाठिन्यमृदुगुर्वोष्णशीतता'मित्यत्र द्वितीयस्कन्धदशमाध्याये लघ्वादिशब्दा धर्मवाचकत्वेन व्याख्याता अतोत्रापि गुरुशब्दो धर्मवाचकस्तथा च **गुरुमत्ता** गौरवमित्यर्थः, अतिशायने मतुबित्यभिप्रेत्य अशक्यं यद् गौरवं तेनेतिव्याख्यातं, अद्भुतत्वं विवृण्वन्ति **विपरीता हीति** इदमवतारकालिकं ज्ञेयम् ॥ २७ ॥ **यत् कृतवांस्तदाहेति** अत्र सर्वत्र प्रायशो गौणवाक्यार्थ एवाभासेषूक्तः, **गलग्रहणेत्यत्र** भगवता तस्य गलग्रहणे उपपत्तिं विचारयन्ति **देहेनेति**, प्राणसहभूतेन **देहेन** कर्त्रा भगवांस्त्यक्तव्यः स्यात्, तथा तु भगवान् न त्यक्तो भवति, तत्र हेतुस्तत्**प्रियत्वस्यैवेत्यारभ्य विद्यमाने** इत्यन्तेन, **प्रियत्वस्य** भगवद्धर्मस्य तेन **देहादौ समारोपणात् तस्मिन्** प्रियत्वधर्मे देहादौ **विद्यमाने भगवांस्त्यक्तो न भवत्यतो** गलं गृह्णातीत्यर्थः, भगवदसम्बद्धे देहे आरोपितं जीवनिष्ठं प्रियत्वं भवति भगवत्सम्बद्धे तु देहादावारोपितं भगवद्धर्मरूपमेव भवति तस्य महत्त्वादितिभावः ॥ २८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गलग्रहणनिश्चेष्ट इत्यस्य विवृतौ त**त्प्रियत्वस्यैव** देहादौ समारोपणादिति "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रिय" इति तृतीयस्कन्धे ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यात् जीवानां वस्तुतः प्रियो भगवानात्मत्वात्, तदज्ञानात् देहादावात्मबुद्धिं कृत्वा प्रियत्वमारोपितं, तदारोपितप्रियत्वाधिकरणदेहप्राणयोस्त्यागे वस्तुतः प्रियत्वाधिकरणरूपो भगवांस्त्यक्तो भवति, यदि वस्तुत आत्मरूपो भगवांस्त्यज्यते तर्हि आत्मत्वेन अभिमतौ देहप्राणावपि कुतो न त्याज्याविति भावः ॥२८॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं यशोदायाः परमस्नेहेन मूर्च्छापर्यंतावस्था निरूपिता । अथ गोपिकानामवस्थामाह—रुदितमिति । यावत्तृणावर्तो वात्यारूपेण वेगवानासीत्तावद्यशोदारोदनं गोपीभिर्न श्रुतम् । अनु पश्चात् उपारतो निवृत्तः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते पवने सति तस्या रुदितं निशम्य तत्रागत्य नन्दसूनुमनुपलभ्य भृशमनुतप्ता धीर्यासां ताः, अतएवाश्रूणि मुखे यासां ता गोप्यो रुरुदुरित्यन्वयः ॥ २५ ॥ तृणावर्तोऽपि श्रीकृष्णं हरन् कियत्पर्यन्तं नभोगतः, ततोऽग्रे गन्तुं नाशक्नोदित्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—शान्तरय इति । निवृत्तवेग इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—भूरिभारभृदिति । भगवता तस्य मारणाय पुनर्गुरुत्वं प्रकटितम्, अतस्तद्द्वारेण पीडित इत्यर्थः ॥ २६ ॥ गुरुमत्तया अनया अतिगौरवेण तं कृष्णमश्मानं नीलमणिं पर्वतप्रायं मन्यमान अत उत्सृष्टुं त्यक्तुमिच्छन्नपि नाशक्नोदित्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—आत्मनो गले गृहीत इति । अनेन तेन वात्यारूपं परित्यज्य दैत्यरूप गृहीतमिति ज्ञेयम् । ननु 'बालस्य तस्य हस्तौ गृहीत्वा कण्ठं मोचयित्वा कथं न त्यक्तवान् ?' तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह —अद्भुतार्भकमिति । महाबलत्वात् यं गृह्णाति तं नैव त्यजति, किन्तु संसारान्मोचयत्येवेति स्वभावत्वाच्चेत्यद्भुतत्वम् ॥ २७ ॥ गलग्रहणेनैव निश्चेष्टः, अत एव निर्गते लोचने यस्य सः, अव्यक्तः 'किं वक्तीति बोधायोग्यो' रावः शब्दो यस्य सः, व्यसुः प्राणरहितो दैत्यस्तृणावर्तो बालेन सह व्रजे, तत्रापि 'अत्रोपविश्य सर्वदोहानुसन्धानं कर्तव्यम्' इत्यर्थे स्थापितायां महत्यां शिलायां न्यपतदित्यन्वयः । 'पूतनायाः पादादिचालनेन भयङ्करशब्देन च व्रजवासिनां महाभयं जातम्, तदधुना माभूत्' इति तद्गलग्रहणेन नभस्येव मारणमिति ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

रुदितमिति । तृणावर्तवात्याशब्दे यशोदारोदनं गोपीभिर्न श्रुतम् । अनु पश्चात् उपारतो निवृत्तः पांशुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते पवने सति तस्या रुदितं निशम्य तत्रागत्य नन्दसूनुमनुपलभ्य अदृष्ट्वा भृशमनुतप्ता धीर्यासां ताः अत एवाश्रुभिः पूर्णानि मुखानि यासां ता गोप्यो रुरुदुः ॥ २५ ॥ तृणावर्त इति । वात्यारूपधरः तृणावर्तः प्रथमं बालकान्तरमिव कृष्णं हरन् नभः अत्यूर्ध्वं गतः ततस्तस्य मारणाय पुनर्भगवता धृतं भूरि भारं बिभर्त्तीति तादृशः । अत एव भारवशाच्छान्तरयो निवृत्तवेगोऽभूत् । ततश्च वोढुमशक्तस्ततोऽग्रे गन्तुं नाशक्नोत् ॥ २६ ॥ तमश्मानमिति । आत्मनो गुरुमत्तया अतिगौरवेण तमद्भुतार्भकं श्रीकृष्णम् अश्मानं नीलपर्वतप्रायं मन्यमानस्त्यक्तवात्यारूपः कृष्णेन बाललीलया गले गृहीतः बालो हि पतनभयाज्जनं गाढं गले गृह्णाति तद्वत् अत उत्स्रष्टुं त्यक्तुमिच्छन्नपि नाशक्नोत् । अश्मानम् अश्मन्तमश्माणमिति पाठाः । पूर्वयोः क्रमान्मतुब्लोपवलोपौ छान्दसौ । अन्ते च अर्णशब्देन वर्णार्थेन प्रभोच्यते अश्मपदेन लक्षणादिना पर्वतः । यद्वा । अश्माणं शिलासमुद्रमिव इति टीकाकृतः ॥ २७ ॥ गलग्रहणेति । गलग्रहणेनैव निश्चेष्टोऽत एव निर्गते लोचने यस्य सः अव्यक्तः बोधायोग्यो रावः शब्दो यस्य स. व्यसुः प्राणहीनः दैत्यस्तृणावर्तः व्रजे दोहानुसन्धानायोपवेशार्थं स्थापितायां महत्यां शिलायां न्यपतत् नितरां प्रभुतः सर्वाङ्गपातापतत् । पूतनाशब्दादिभिरिव व्रजवासिनां भयं मा भूदिति गलग्रहणेन नभस्येव मारणम् । २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

वात्या चक्रवातः तद्रूपधारकः कृष्णं हरन् तद्वारेण शांतरयः केनचित् प्रकारेण नभोगतः खं प्राप्तः भूरिभारभृत् सन् ततः परं गंतुं नाशक्नोत् ॥२५॥ स्वस्य गुरुमत्तया अतिभारवत्त्वेन तं श्रीकृष्णं अश्मानपर्वततुल्यं मन्यमानः तेनैव आत्मनः स्वस्य गले कंठे गृहीतः सन् तमुत्स्रष्टुं तं त्यक्तुं कामयन् अपि नाशक्नोत् ॥ २६ ॥ निश्चेष्टो गतेहः निर्गते बहिरागते लोचने यस्य सः अव्यक्तरावः अव्यक्तशब्दवान् व्यसुः गतप्राणः ॥ २७ ॥ शिलायां स्थूलपर्वतशकले विशीर्णाः सर्वेऽवयवा अंगानि यस्य तं करालं भयानकं समेताः मिलिताः ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इतीत्थि ॥ इतीत्थं, खरः कठिनश्चासौ पवनश्च तस्य चक्रं मण्डलं तस्माद्यः पांसुवर्षो धूलिवर्षणं तस्मिन् सति, सुतपदवीं, अविलक्ष्य अदृष्ट्वा, अबला माता यशोदा, अतिकरुणं यथा तथा, अनुस्मरन्ती सती, मृतवत्सका गौः, यथा, तथा, भुवि, पतिता अशोचत् ॥ २५ ॥ रुदितेति । ततः तस्याः रुदितं, अनुनिशम्य श्रुत्वा, भृशं नितरां, अनुतप्ता धियो मनांसि यासां ताः, अश्रुभिः पूर्णानि मुखानि यासां ताः, गोप्यः, उपारतः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते, पवने सति, तत्र यशोदान्तिके आगत्य, नन्दसूनुं, अनुपलभ्य अदृष्ट्वा, रुरुदुः ॥ २६ ॥ तृणावर्त्तेति ॥ वात्या चक्रवातस्तद्रूपधरः, तृणावर्त्तः कृष्णं हरन्, शान्तरयः संशान्तवेगः, कथंचित् नभः गतः, परं तु यतः भूरिभारभृत्, ततः अतः परं गन्तुं, न अशक्नोत् ॥ २७ ॥ तमिति ॥ गुरुमत्तया अतिगौरवेण, अतिभारवत्त्वेनेति यावत् । तं श्रीकृष्णं, अश्मानमश्ममयाद्रिप्रायं, मन्यमानस्तृणावर्त्तः, गले गृहीतस्तेन बालेन गले उपात्तः, इति हेतोः, अद्भुतार्भकं तं बालकृष्णं, आत्मनः गलादिति शेषः । उत्स्रष्टुं त्यक्तुं, न अशक्नोत् । स्वकण्ठमोचनं विधापयितुमिच्छन्नपि समर्थो नाभूदित्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तमश्मानमिति : १०.७.२७.

जडेऽहं जडश्चेतने चेतनश्च भवाम्यत्र तादृक् तदीयप्रतीत्या।
इति व्यक्तमाधातुमीशोऽश्मरूपो जडस्यास्य कण्ठेऽभवत् तत्प्रतीत्या॥ ३०॥

गलग्रहणेति : १०.७.२८.

हिंस्रः कोऽपि रजस्तमोव्यतिकराद् यद्यर्दयेद् गोकुलं मन्मात्राश्रयिणां सतामविकलं सत्त्वोल्लसद्वृत्तिकम्।
भूत्वा तद्गलधृत्तदैव तरसा कृत्वा व्यसुं पातयाम्येतत्कृष्णनिरूपितं ननु तृणावर्तोऽसुनाशच्छलात्॥ ३१॥

कृष्णप्रिया

बवंडर के शान्त होने पर जब धूल की वर्षा का वेग कम हो गया, तब यशोदाजी के रोने का शब्द सुनकर दूसरी गोपियाँ वहाँ दौड़ आयीं। नन्दनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण को न देखकर उनके हृदय में भी बड़ा संताप हुआ, आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। वे फूट-फूटकर रोने लगीं॥ २५॥ इधर तृणावर्त बवंडर रूप से जब भगवान् श्रीकृष्ण को आकाश में उठा ले गया, तब उनके भारी बोझ को न सम्हाल सकने के कारण उसका वेग शान्त हो गया। वह अधिक चल न सका॥२६॥ तृणावर्त अपने से भी भारी होने के कारण श्रीकृष्ण को नीलगिरि की चट्टान समझने लगा। उन्होंने उसका गला ऐसा पकड़ा कि वह उस अद्भुत शिशु को अपने से अलग नहीं कर सका॥ २७॥ भगवान् ने इतने जोर से उसका गला पकड़ रक्खा था कि वह असुर निश्चेष्ट हो गया। उसकी आँखें बाहर निकल आयीं। बोलती बंद हो गयी। प्राण-पखेरू उड़ गये और बालक श्रीकृष्ण के साथ वह व्रज में गिर पड़ा॥ २८॥

तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम्।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः॥ २९॥
[1]आदाय मात्रे प्रतिहृत्य[2] विस्मिताः कृष्णं च तस्योरसि[3] लम्बमानम्।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्॥ ३०॥
[4]गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या लब्ध्वा [5]ऽर्भकं प्रापुरतीव मोदम्॥ ३१॥
[6]समेत्य चैकत्र कृताशिषोऽमला विचारयामासुरुपायमत्र॥ ३२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—रुद्रशरेण विद्धं पुरं यथा (तथा) अन्तरिक्षात् शिलायां पतितं विशीर्णसर्वावयवं करालं तं समेताः रुदत्यः स्त्रियः ददृशुः॥ २९॥ तस्य उरसि लम्बमानं कृष्णम् आदाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः विहायसा पुरुषादनीतं मृत्युमुखात् प्रमुक्तं स्वस्तिमन्तं तं पुनः लब्ध्वा नन्दमुख्याः गोपाः गोप्यः च अतीव मोदं प्रापुः किल॥ ३०-३१॥ च एकत्र समेत्य अमलाः कृताशिषः अत्र उपायं विचारयामासुः॥ ३२॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तस्योरसि लंबमानं कृष्णमादाय मात्रे प्रतिहृत्य समर्प्य विस्मिताश्च बभूवुरिति। विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन दैत्येन नीतं तथापि मृत्युमुखात्प्रमुक्तं पुनर्लब्ध्वा मोदं प्रापुरिति॥ ३०॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पुरं त्रिपुरसंज्ञं मयेन रचितम्॥ २९॥ मृत्युमुखात्प्रमुक्तमित्यनेन स्वस्याधोक्षजत्वं प्रकटीकृतम्। "अधो न क्षीयते यस्माज्जातु तस्मादधोक्षजः" इति भारतात्। लब्धाशिषः श्रीकृष्णप्राप्त्याऽवाप्ताभिलषिताः॥ ३०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

शिलायां पशुपादसम्मर्दकर्दमानुद्भवार्थं गृहान्तिके शिलाबद्धभूभाग एव न त्वन्यस्य कस्यचिदुपरीत्यर्थः। अनेन पूतनावद्वृक्षवर्गचूर्णनं परिहृतम अत एव विशेषतः शीर्णा भग्नाः सर्वे अवयवा यस्य करालं कठिनतराङ्गमपि यद्वा अत एव करालं रौद्रम्

१. प्रादाय-वीर. विज. जीव शुक.; आदाय-विश्व.। २. प्रतिगृह्य-वीर.। ४. तस्योपरि-वीर. विज.। ४. गोप्यस्सगोपाः-विज.। ५. पुनः-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव.; सुतं-इति कस्यचित्। ६. अन्यत्र अयं श्लोको न दृश्यते।

आकाशान्निश्चेष्टतया पतने दृष्टान्तः। पुरमिति। अत्रापि विशीर्णेत्यादियोज्यं समेताः श्रीयशोदापार्श्वे मिलिताः यद्वा, अन्योन्यं मिलिताः सत्यो रुदन्त्यः रुदत्यो वा समेताः सर्वा एव युगपद्ददृशुः यतः स्त्रियः स्त्रीत्वेन प्रेमकोमलस्वभावतः स्नेहविशेषेण श्रीकृष्णासक्तचित्ता इत्यर्थः। अत एव तासां शोकाधिक्येन शीघ्रतदपनोदनार्थं तासामेवान्तिके निपातनादादौ ताभिस्तद्दर्शनम् ॥ २९ ॥ ततः श्रीकृष्णं च दृष्टवतीनां चेष्टामाह–प्रादायेत्यर्द्धेन। हस्तद्वयगृहीताद्गलादुरसि लम्बमानं पूर्वमावेगस्य बलवत्त्वात्पश्चाद्देव विस्मयः दैत्योरसि लम्बमानत्वेनालक्ष्यलाभादिना तस्याः परमभाग्यानुसन्धानेन च विस्मिताः अनन्तरं यमुनायामेव तच्छरीरं वाह्यामासुरिति ज्ञयं स्वस्तिमन्तं सर्वथा कुशलिनं स्वस्तिमत्त्वमेवाह—विहायसा पुरुषादेन नीतम् अतोऽस्मदृश्यागम्यस्थाने भक्षकेन नीतत्वात् मृत्युतुल्यस्य तस्याहारत्वेन सुखं प्राप्तमपि तस्मात्प्रकर्षेण क्षतादिराहित्येन मुक्तम् उर्वरितमिति यद्वा विहायसा पुरुषादेन नीतमिति अत्युच्चपातादिसम्भवात् साक्षान्मृत्युमुखमिव प्राप्तमपि तस्मात् प्रमुक्तं गोप्यः श्रीयशोदाद्याः तासामादौ निर्देशः ताभिः प्राक् लब्धत्वात् स्नेहविशेषेण मोदाधिक्याच्च गोपाश्च किल निश्चितं तादृशं लब्ध्वा पुनरिति पूतनादिभयापेक्षया किं वा जन्मापेक्षया पुनर्जातमिवेत्यर्थः ॥ ३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

शिलायां पशुपाद–सम्मर्दपंकानुद्भवार्थं गृहान्तिके शिलाबद्ध–भूभाग एव, न त्वन्यस्य कस्यचिदुपरीत्यर्थः। अनेन पूतनावद्वृक्षवर्गचूर्णनं परिहृतमतएव विशेषतः शीर्णा भग्नाः सर्व्वेऽवयवा यस्य। करालं कठिनतरांगमपि; यद्वा, अतएव करालं रौद्रम्, आकाशान्निश्चेष्टतया पतने दृष्टान्तः—पुरमिति। अत्रापि विशीर्णेत्यादि योज्यम्। समेताः श्रीयशोदापार्श्वे मिलिताः; यद्वा, अन्योऽन्यं मिलिताः सत्यो रुदत्यो रुदन्त्यो वा समेताः सर्व्वा एव युगपद्ददृशुः, यतः स्त्रियः स्वभावतः स्नेहविशेषेण श्रीकृष्णासक्तचित्ता इत्यर्थः। अतएव तासां शोकाधिक्येन शीघ्रं तदपनोदनार्थं तासामेवान्तिके निपातनादादौ ताभिस्तद्दर्शनं सर्व्वचित्ताकर्षकलीलं श्रीकृष्णञ्च ददृशुः। कथम्भूतम्? तस्य दैत्यस्योपरिलम्बमानं नीलमणिवद्गलतो लम्बित्वा स्थितं कराभ्यां गलग्रहणात्; किंवा पततः सतो गलत्यागेनोरसि शयनात् ॥ २९ ॥ ततस्तमादाय समर्प्य विस्मिता बभूवुः। दैत्योरसि लम्बमानत्वेन किंवाऽलभ्यलाभादिना तस्याः परमभाग्यानुसन्धानेन स्वस्तिमन्तं सर्व्वथा कुशलिनम्। स्वस्तिमत्त्वमेवाह—विहायसा पुरुषादेन नीतमतोऽस्मदृश्यागम्यस्थाने भक्षकेन नीतत्वान्मृत्युतुल्यस्य तस्याहारत्वेन मुखं प्राप्तमपि तस्मात् प्रकर्षेण क्षतादिराहित्येन मुक्तमुर्व्वरितमिति; यद्वा, विहायसा पुरुषादेन नितमित्यत्युच्चपातादिसम्भवात् साक्षान्मृत्युमुखमिव प्राप्तमपि तस्मात् प्रमुक्तम्। किञ्च, स्वस्तिमन्तं स्वास्थ्ययुक्तं दुष्टस्पर्शादिनापि किञ्चित् विकारेणाप्यसम्बन्धादतस्तं प्राप्यैव मोदं प्रापुः स्वस्तिमन्तं प्राप्य चातीव मोदप्राप्तेरित्यर्थः। गोप्यः श्रीयशोदाद्यास्तासामादौ निर्देशस्ताभिः प्राक् लब्धत्वात्, स्नेहविशेषेण मोदाधिक्याच्च। गोपाश्च किल निश्चितं तादृशं लब्ध्वा पुनरिति पूतनादि-भयापेक्षया, किंवा जन्मापेक्षया पुनर्जातमेवेत्यर्थः ॥ ३० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

स्वस्तिमन्तम् अपेतभयम् ॥ ३०—३१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अन्तरिक्षाच्छिलायां पतितमत एव विशीर्णाः सर्वावयवाः यस्य तं दैत्यं रुद्रशरेण विद्धं पुरमिव करालं भयङ्करं सङ्घीभूताः रुदन्त्यश्च स्त्रियो ददृशुः ॥ २९ ॥ ततस्तस्य दैत्यस्य उरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे यशोदायै प्रतिगृह्य समर्प्य विस्मिता बभूवुः विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन दैत्येन नीतमथापि मृत्युमुखात् प्रमुक्तं स्वस्तिमन्तं जीवन्तं बालं लब्ध्वा नन्दप्रधाना गोप्यश्च नितरां मोदं हर्षं प्रापुः किल ॥ ३० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पुरं त्रिपुरसंज्ञम् ॥ २९—३१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

युवोरनाकौ" (७।१।१) इति ज्ञापकात् प्रमुच्यते प्रमुक्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ततश्च निष्पन्नस्वीयनभोविहाराभिलाषो निष्पादितस्वर्गपुरपुरन्ध्रीकर्तृकस्वदर्शनाभिलाषश्च बालकृष्णस्तं हन्तुं प्रववृते इत्याह–तमिति। आत्मनः सकाशादप्यतिगौरवत्वेन तम् अश्मन्तं अश्मवन्तं पर्वतं मन्यमानः उत्स्रष्टुं निःसारयितुं नाशकत् तत्र हेतुः गले गृहीतस्तेनैव बाल्यलीलया स्वपतनभयादिति भावः। अश्मन्तमिति "युवोरनाकौ" (७।१।१) इतिवद्वलोपश्छान्दसः अश्मानमिति पाठे मतुब्लोपश्च अश्मार्णमिति पाठे आश्मार्णवं शिलासमुद्रमिवेत्यर्थः ॥ २९ ॥ तस्योरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे

प्रतिहृत्य विस्मिता बभूवुः उरसीति कृष्णस्य व्यथाभावः सूचितः। असुरस्य पृष्ठप्रदेशे एव शिलापतितत्वात् विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन मनुष्यभक्षकेण नीतम् अत एव मृत्योर्मुखादिव मुक्तम् ॥ ३० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तं तृणावर्त्तं शिलायां पतितं ददृशुः ॥ २९ ॥ कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानं प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य समर्प्य विस्मिता बभूवुः ॥ ३० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तमिति। शिलायामास्थाना प्राङ्गणस्थितायां बृहत्यामिति बोध्यम् ॥ २९ ॥ तस्योरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे प्रतिहृत्य समर्प्य विस्मिता बभूवुः। उरसि लम्बमानमित्यर्भकस्य व्यथाभावः दैत्यस्य पृष्ठदेशेन शिलायां निपातात् विहायसाकाशमार्गेण पुरुषादेन मनुष्यभक्षकेण नीतम् अतएव मृत्योर्मुखादिव विमुक्तम् ॥ ३० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

आत्मनः स्वस्य गुरुमत्तया गुरुत्वेनाश्मानं शिलातुलं मन्यमानो गले तेन गृहीतोऽद्भुतार्भकमुत्स्रष्टुं नाशक्नोन्न शशाक ॥ २९ ॥ गलग्रहणेन निश्चेष्टो निर्गतलोचनो निर्गते व्यत्यस्ते लोचने यस्य सोऽव्यक्तवाक्योऽव्यक्तं मन्दं वाक्यं यस्य स व्यसुर्विगता असवो यस्य सः। व्रजे सहबालो न्यपतत् ॥ ३० ॥ शिलायामन्तरिक्षात्पतितं विशीर्णाः शिथिलाः सर्वेऽवयवा यस्य तं करालं स्वराक्षसरूपतः पाताद्यथा रुद्रशरेण भगवद्रूपेण बाणेन विद्धं पुरं त्रिपुरं तथा। समेता रुदन्त्यः स्त्रियो ददृशुः ॥ ३१ ॥ तस्य मृतस्य तृणावर्तस्योपरि लम्बमानं स्वस्तिमन्तं क्षेमवन्तं विहायसाऽऽकाशेन पुरुषादेन पुरुषादानीतं रक्षसा नीतं मृत्युमुखात्प्रमुक्तं कृष्णमादाय मात्रे प्रतिहृत्य दत्वा विस्मिता अहो क्षेमो जात इत्याश्चर्यवत्योऽभूवन्। पुरुषादात्तृणावर्तादानीतं स्वेच्छयागतमिति यावत् पुरुषाच्चामावानीव प्राणी च तेनेतस्तमिति वा ॥ ३२ ॥ गोप्यो गोपा नन्दमुख्याः पुनः कृष्णं लब्ध्वाऽतीव मोदं प्रापुः किल वार्ता। स एष बालो रक्षसा निवृत्तिं गमितः पुनरभ्यगादहोऽद्भुतं बत ॥

श्रीसुबोधिनी

तदा मायायां गतायां पतन् सर्वजनीनो जात इत्याह **तमन्तरिक्षात्** पतितमिति, **अन्तरिक्षाद्** दूरादाकाशान् निरालम्बाच्छिलायां पतितं भगवदासक्ताः **स्त्रियो ददृशुरि**तिसम्बन्धः, व्रजमध्ये महान् पाषाणो भवति यत्र स्थितो **नन्दः** सर्वमेव दोहमनुसन्धत्ते, सा **शिला ब्रह्म**पुत्रीव स्थिता दैत्यघातिनी, अत एव **विशीर्णाः सर्वेवयवा** यस्य, मृतोपि सर्वेषां भयानकः किं पुनर्जीवन्नित्याह **कराल**मिति, करालः क्रूरो भगवता मारणीयत्वे हेतुः, **पुरं यथा रुद्रशरेण विद्ध**मिति, सर्वोपद्रवकारीणि **पुराणि** तैर्लोका अतिपीडिता अतः सर्वदेवप्रार्थनया भगवांस्तं मारितवान् नो चेदद्दृश्य एव भवेत्, न तु गच्छेन्, विकलस्यापि मारणे हेतू **रुद्रशरेण** स्वेनैव **नारायणेन विद्ध**मिति, न हि दुष्टेषु वधक्रियया व्याप्तेषु दयोचिता, **त्रिपुरं यथा शरेण विद्ध**मेव परिभ्रमत् पतति तथा **पतितं रुदन्त्यो** रोदनं विस्मृत्याश्चर्याद् **ददृशुः**. यथास्थानस्थिता अपि तदा **समेताश्च** जाताः ॥ २९ ॥ तथाभूता यत् कृतवत्यस्तदाहादायेति, तस्योपरि लम्बमानं भगवन्तमादाय **मात्रे प्रतिहृत्य** समर्प्य स्तनपानादिना स्वस्थं ज्ञात्वा **विस्मिता** जाताः परमाश्चर्यं प्रपन्नवत्यः, राक्षसस्पर्शे सहजदोषजनकेपि दोषस्पर्शाभावात्, अपहतपाप्मन एवैतत् सम्भवति, अपहतपाप्मत्वनिश्चयाभावाद् विस्मयः, किञ्च विस्मयान्तरेपि हेतुमाहुः **कृष्णं च तस्योपरि लम्बमान**मिति, **वायु**र्लघुः कृष्णः पूर्वं गुरुरनुभूतो लघुरधस्तात् पतितो विशीर्णो भगवांस्तु तस्योपरिभागे तमस्पृष्ट्वैव पत्रपाषाणाविव पाषाणे पतिते पत्रं **तदुपरि लम्बमानं** शनैः शनैरायाति तद्वन् मध्यत एवादायेतिसम्बन्धः, अत **आदायैव च विस्मिताः, प्रतिहृत्य च विस्मिताः**, चकारात् पतितं दैत्यमपि दृष्ट्वा **विस्मिताः**, भगवन्तमभीतं दृष्ट्वा वा, एवमान्तरालौकिकदोषाभावाद् विस्मयत्रयमुक्तं, बाह्यलौकिकदोषाभावाद् विस्मयत्रयमाह **रुषादनीतं** विहायसा **मृत्युमुखात् प्रमुक्त**मिति, पुरुषादा राक्षसाः पुरुषमेवादन्तीति, तेन शरीरोपघातोवयवोपघातो वावश्यम्भावी, प्रमादाद् विगलितस्यापि तथेत्याह **विहायसे**ति, आकाशमार्गे उच्चैस्त्यक्तोपि खेदं प्राप्नोति, न चानयोरन्यथापि सम्भवो यतो नियत**मृत्यु**रूपावेतौ, तथापि सर्वथा सम्बन्धाभावे कदाचिदुर्वरितोपि भवेत् तदपि नास्तीत्याह **मृत्युमुखात् प्रमुक्तं**, ल्यब्लोपे पञ्चमी, **मृत्युमुखं** प्राप्य स्वेच्छया **प्रकर्षेण** मृत्युं मारयित्वा स्वयं **मुक्तं मृत्युर्दैत्ये** स्थितो मुखमाकाशे, एवं त्रिविधादपि मृत्योर्**मुक्त** इति लौकिकाश्चर्याणि, एतादृशोपि **स्वस्तिमान्** कल्याणवान्, शोभा हर्षो वा केनाप्यंशेन न न्यून इति ॥ ३० ॥ एवं तासामाश्चर्याभिनिवेशमुक्त्वा प्रपञ्चे विस्मृते भगवदासक्त्या परमानन्दं च प्राप्तवत्य इत्याह **गोप्यश्चे**ति, **गोप्यश्च**कारादन्यस्त्रियोपि **गोपा** **अप्यर्भकं लब्ध्वा प्रमोदं प्रापुः**, तेषां विस्मयस्यानुक्तत्वात् प्रपञ्चविस्मरणाभावे **प्रकृष्टो मोदो** न सम्भवतीति युक्त्यभावेपि प्रमाणस्य बलिष्ठत्वाज्जात एवेति किलेत्याह, उपपत्तिं **चाह नन्द एव मुख्यो** येषामिति, मुख्ये प्रपञ्चविस्मरणस्य सिद्धत्वात् परमानन्द उचितः, तदाहार्भकं बालकं **लब्ध्वा**, अवस्थापि परमानन्दजनिका, **अतीव मोदं** परमानन्दं **प्रापुः** ॥ ३१ ॥ **अर्धमात्रमत्र पतितं** यत्र

सम्बन्धो निरूपितो भवति, सर्वा गोप्यो गोपा यशोदानन्दमुख्या एकत्रोपविश्य विमर्षं कृतवन्तस्तं विमर्षमाहाहो इतिद्वाभ्यां, **समेत्य चैकत्र कृताशिषोमला विचारयामासुरुपायमत्र**, एवमर्थः सखण्डो भवति ॥ ३२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तमन्तरिक्षादित्यत्र **ब्रह्मपुत्रीवेति**, रक्षोघ्नीसरस्वतीरूपगेवेत्यर्थः प्रतिभाति ॥ २९ ॥ **आदायेत्य**त्रान्तराल्लौकिकदोषा-भावादित्यस्वास्थ्यभयदुष्टस्पर्शात्मकाल्लौकिकदोषाभावात् ॥ ३० ॥ **गोप्य** इत्यत्र **प्रपञ्चविस्मरणस्येति** पूर्वलीलाकृतस्य तस्य, **अर्धमात्र**मित्यर्धश्लोकमात्रं, **सर्वा गोप्य** इति स्वामिनीव्यतिरिक्ताः **सर्वा** इति ज्ञातव्यं, तासामेकत्रोपवेशनासम्भवात् पूर्णज्ञानवतीनां तादृग्विमर्षासम्भवाच्चेति प्रतिभाति ॥ ३१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तमन्तरिक्षादित्यत्र **ब्रह्मपुत्रीवे**ति अहल्यावदित्यर्थः, स्थितिमात्रे दृष्टान्तो न तु दैत्यनाशने, तस्यास्तथात्वाभावात्, **नोचे-**दिति मारणाभावेऽ**दृश्यः** संस्तत्रैव तिष्ठेन् **न तु** व्रजाद् गच्छेदित्यर्थः ॥ २९ ॥ **गोप्यश्चे**त्यत्र **तदाहेति तत्** तस्मात् परमानन्दस्योचितत्वात् परमानन्दमाहेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तमन्तरिक्षादित्यत्र **ब्रह्मपुत्रीवे**ति अहल्येवेत्यर्थः, "मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञित"मिति नवमस्कन्धवाक्याद् ब्रह्मत्वे सिद्धे ब्रह्मपुत्रीत्वमहल्यायाः, तथा च यथा अहल्या शिला स्थिता लोकैर्न ज्ञाता भगवता श्रीरामेणोद्धृता तथेयमपि शिला भगवतोद्धृता एतस्या अपि स्वरूपं किञ्चिद् वाच्यं, न त्वियं केवला शिला किन्तु कश्चिद् दैवजीवः शापादिना यमलार्जुनवदिह स्थितः प्राप्तशिलाभावो भगवता मोचितः, "अन्यैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी"ति वाराहवचनात् ॥ २९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तमन्तरिक्षात् निरालम्बादाकाशात् शिलायां पतितम्, अतएव विशीर्णसर्वावयवं करालं भयङ्कररूपं समेताः मिलिताः रुदत्यः स्त्रियः ददृशुः । तस्य पतने दृष्टान्तमाह—रुद्रशरेण विद्धं पुरं यथेति । तस्योरसि लम्बमानं श्रीकृष्णं च दृष्ट्वा तम् प्रादाय गृहीत्वा मात्रे यशोदायै प्रतिहृत्य समर्प्य विस्मिताश्च बभूवुरिति । 'स्त्रिय एवं कृतवत्य' इत्यनेन गोपेभ्यस्तासां प्रेमाधिक्यं साहसाधिक्यं च सूचितम् ॥ २९ ॥ तं श्रीकृष्णं स्वस्तिमन्तं पुनर्लब्ध्वा नन्दादयो गोपा गोप्यश्चातीव मोदं हर्षं प्रापुरित्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—मृत्युमुखात् प्रमुक्तमिति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । मृत्युमुखं प्राप्य एवं प्रकर्षेण तं मारयित्वा मुक्तमित्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति—पुरुषादेति । "विहायसा आकाशमार्गेण आकाशात् पतनेनैव तावन्मृत्युर्निश्चितः, किं पुनः पुरुषान् अत्तीति पुरुषादो राक्षसस्तेन नीतस्य' इत्याशयः । किलेति प्रसिद्धौ । एवंभूतस्यागमने हर्षः प्रसिद्ध एवेत्याशयः ॥ ३० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमन्तरिक्षादिति । रुद्रस्य शरेण विद्धं पुरं यथा यद्वत् अन्तरिक्षान्निरालम्बादाकाशात् शिलायां पतितम् अत एव विशीर्णसर्वावयवं करालं भयङ्कररूपं त तृणावर्तं समेता मिलिता रुदत्यः स्त्रियो ददृशुः । रुदत्य इति नुंरहितः शुद्धः पाठ ॥ २९ ॥ प्रादायेत्यर्द्धम् ॥ तस्योरसि लम्बमानम्, आघाताभावेन निर्व्यथं श्रीकृष्णं च दृष्ट्वा तं प्रादाय गृहीत्वा मात्रे यशोदायै प्रतिसमर्प्य विस्मिताश्च बभूवुः । तृणावर्तशरीरं च गोपैर्यमुनायां वाहितमिति ज्ञेयम् । तमिति । विहायसा आकाशमार्गेण पुरुषादेन रक्षसा नीतमपि मृत्युमुखात् प्रमुक्तमिति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । मृत्युमुखं प्राप्यैव प्रकर्षेण तं मारयित्वा मुक्तमित्यर्थः । तं श्रीकृष्णं स्वस्तिमन्तं पुनर्लब्ध्वा नन्दमुख्याः नन्दादयो गोपा गोप्यश्चातीव मोदं हर्षं प्रापुः । किल प्रसिद्धौ । पुनरिति पूतनापेक्षया ॥ ३० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तस्य तृणावर्तस्य उरसि हृदये लंबमानं हरिमादाय मात्रे यशोदायै प्रतिहृत्य दत्त्वा विस्मिताश्चासन् विहाय सा आकाश-मार्गेण पुरुषादेन रक्षसा नीतं तथापि मृत्युवदनात्प्रमुक्तं तं पुनर्लब्ध्वानंदमुख्याः अतीव मोदम् अत्यन्तं हर्षं प्रापुरित्युत्त-रेणान्वयः ॥ २९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गलेति ॥ गले ग्रहणं तेन निश्चेष्टः, निर्गते उद्गते लोचने यस्य सः, दैत्यस्तृणावर्त्तः, अव्यक्तमस्फुटं वाक्यं वचो यस्य, पाठान्तरेऽव्यक्तोऽस्फुटः रवः शब्दो यस्य तथाभूतः, व्यसुर्निष्प्राणः, सहबालो बालेन सहितः सन्, व्रजे न्यपतत् ॥ २९ ॥ तमिति ॥ अन्तरिक्षात्, शिलायां पतितं, अत एव, विशीर्णाः सर्वे अवयवा यस्य तं, रुद्रशरेण शिवबाणेन, विद्धं पुरं त्रिपुरासुरपुरं, यथा, तथा, करालं भयंकरं, तं दैत्यं, समेताः संघीभूताः रुदत्यः स्त्रियः ददृशुः ॥ ३० ॥ आदायेति ॥ ततः, तस्य दैत्यस्य, उरसि

उरःप्रदेशे, लम्बमानं कृष्णम् आदाय, मात्रे यशोदायै, प्रतिहृत्य समर्प्य, विस्मिताश्च बभूवुः। विहायसा गगनमार्गेण, पुरुषादनीतं दैत्येन नीतं, अथापि, मृत्युमुखात् प्रमुक्तं, स्वस्तिमन्तं तं बालं, लब्ध्वा, नन्दमुख्या नन्दप्रधानाः, गोपाः गोप्यश्च, पुनः अतीव नितरां, मोदं हर्षं, प्रापुः किल ॥ ३१ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तमन्तरिक्षादिति : १०.७.२९

शिलारूपेण तं ध्यायन् प्राणत्यागमधात् तृणः। शिलायां पतितो युक्तं तादृग्वासनयाऽऽश्रितः ॥ ३२ ॥
त्रिपुरहतिर्येन कृता प्रकृतेऽपि स एव तृणवपुर्हन्ता। इति बोधयन् मुनिरसौ रुद्रशरेणेत्युवाच भृशमुपमाम् ॥ ३३ ॥

प्रादायेति : १०.७.३०.

रजस्तमःसान्द्रमिदं हि गोकुलं तदाऽन्तिकस्थोऽपि विभुर्न गोचरः।
तच्छान्ततायां तु परोऽक्षिगोचरोऽस्त्येवेत्यभिव्यक्तमिदं चरित्रे ॥ ३४ ॥

कुर्वन् दैत्यमणुं तृणं निजजनन्यङ्के गरिम्णाश्रितस्तत्कण्ठे लघुतां गतश्च महिमोल्लासी च तद्ध्वंसने।
प्राकाम्यं भुवि पूरयन् स्वयमसावीशः सतां हृद्वशी प्राप्तो घोपजनैरिति प्रभुरभूत् स्पष्टाष्टसिद्धिश्रितः ॥ ३५ ॥

कृष्णप्रिया

वहाँ जो स्त्रियाँ इकट्ठी होकर रो रही थीं, उन्होंने देखा कि वह विकराल दैत्य आकाश से एक चट्टान पर गिर पड़ा और उसका एक-एक अङ्ग चकनाचूर हो गया—ठीक वैसे ही, जैसे भगवान् शङ्कर के बाणों से आहत हो त्रिपुरासुर गिरकर चूर-चूर हो गया था ॥ २९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण उसके वक्षःस्थल पर लटक रहे थे। यह देखकर गोपियाँ विस्मित हो गयीं। उन्होंने झटपट वहाँ जाकर श्रीकृष्ण को गोद में ले लिया और लाकर उन्हें माता को दे दिया। बालक मृत्यु के मुख से सकुशल लौट आया। यद्यपि उसे राक्षस आकाश में उठा ले गया था, फिर भी वह बच गया। इस प्रकार बालक श्रीकृष्ण को फिर पाकर यशोदा आदि गोपियों तथा नन्द आदि गोपों को अत्यन्त आनन्द हुआ ॥ ३० ॥

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥ ३३ ॥
किं [1]नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तमुत[2] भूतसौहृदम्।
[3]यत्सम्परेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धून्[4] प्रणयन्नुपस्थितः ॥ ३४ ॥
दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने। वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥ ३५ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—बत अहो रक्षसा एष बालः निवृतिं गमितः अपि पुनः अभ्यगात् (इति) अद्भुतम् खलः हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः साधुः समत्वेन भयात् विमुच्यते ॥ ३१ ॥ यत् संपरेतः बालकः स्वबन्धून् प्रणयन् पुनः उपस्थितः दिष्टया (अत्र) किं नः तपः अधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तम् उत भूतसौहृदं चीर्णम् ॥ ३२ ॥ बहुशः अद्भुतानि बृहद्वने दृष्ट्वा नंदगोपः विस्मितः (सन्) भूयः वसुदेववचः मानयामास ॥ ३३ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

परस्परं हर्षकथामाहुः। अहो बतेति। निवृत्तिं गमितो मृत्युं प्रापितोपि। कोऽत्र विस्मयो युज्यत एवंतदिति तेष्वेव केचिदाहुः। हिंस्र इति ॥ ३१ ॥ नोऽस्माभिश्चीर्णं कृतम्। पूर्तं वापीकूपादिनिर्माणम्। इष्टं पंचयज्ञाग्निहोत्रादि। दत्तं दानम्। यद्यस्मात्तपआदेः। प्रणयन्हर्षयन् ॥ ३२-३४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कोऽत्र विस्मयः किमत्राश्चर्यम्। युज्यत एव युक्तमेव। एतत् बालागमनं रक्षोमरणं च। तेष्वेव विस्मितगोपेष्वेव। केचिद्विज्ञा इत्यर्थः। हिंस्रो हिंसाशीलः। समत्वेन समदृष्ट्या 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतेः ॥ ३१ ॥ "अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। भूतसौहृदमित्युक्तं

१. तपस्तप्तमिति पाठः। २. दत्तं किमु भूत-विज.। ३. यस्सपरेतः-विज.। ४. बन्धूनमय-वीर.।

तत्सर्वत्र सुखावहम् ॥ बहिर्वेदि च यद्दानं तद्दत्तमभिधीयते'' ॥ ३२ ॥ वसुदेववचः 'संत्युत्पाताश्च गोकुले' इत्येवंरूपं मानयामास। अहो वसुदेवः कश्चिद्योगिराज एवातीतानागतवित्त्वात् तृणावर्त्तवधमाह श्रुतिः-''साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना साकं वा तस्य घ्राज्या साकं नश्य निहाकया'' इति। अर्थस्तु-खेचरत्वेन यज्ञं पूज्यमिवात्मानं मनुते मिमीते तोलयति वा यक्ष्म हे यक्ष्म राक्षस तद्वत्पीडकेति वा। चाषेण तद्वर्णेन हरिणा तव हन्त्रा साकं प्रपत भूमाविति शेषः। किकिनाद्गः सन् दीव्यतीति किकिदीविः। औणादिकः किप्रत्ययः उपधादीर्घश्च किधातोर्बाहुलकात्किप्रत्यये लिडभावे च चुत्वाभावे किकिर्विद्वान् तेन वा। तस्य वायोर्घ्राज्या गत्या यया धूलिवात्यारूपया एनमुपरि नीतवानसि तया साकं नश्य नाशं प्राप्नुहि। निहाकया गत्या च साकं वा साहित्यं पतन एव न तु नाशेऽतस्तेन सह पतितः सन्स्वयमेक एव नाशं प्राप्नुहीत्यर्थः। एवं देवैरुक्तस्तृणावर्तः पपात ममार चेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ भामिनी तेजस्विनी। 'भामः क्रोधे रवौ दीप्तौ भगिनीदयिते प्रिये' इति धरणिः ॥ ३४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं तेषां निरन्तरं स्नेहविशेष एव व्यवर्द्धत न च तद्विघातकमीश्वरज्ञानं वृत्तमित्यन्योन्यं तेषां हर्षवार्त्तयैवाह-अहो बतेति। परमविस्मये अत्यन्तहर्षे वा अत्यद्भुतमेवाहुः, एष इत्यादिना एष व्रजैकप्राणरूपः परमसुकुमारोऽभिनवः बालः किञ्चिदपि कर्त्तुमशक्त इत्यर्थः। निवृत्तिङ्गमितोपि पुनरभ्यगात् अस्मदभिमुखं प्राप्तः अभि अभयं यथा स्यात्तथा वा शत्रोरपि तस्य मरणात् नाद्भुत चैतदित्याहुः, हिंस्र इति। हिंस्रः विचारहीनं जिघांसुः खलः वञ्चकश्च अतः स्वपापेन विहिंसितः साधुहिंसामात्रादिदोषरहितः समत्वेन आत्मवत् परमसुखदुःखदर्शनजेन पुण्येन प्रमुच्यते प्रमुक्त इत्यर्थः। एवं पुनः पुनरुपद्रवेण दुष्टकंसादपि चिन्ता न कार्येति भावः। साधुरिति श्रीनन्दमुद्दिश्योक्तं गोपसाधारणवाक्यत्वात्, यद्वा, हिंस्र इत्यादिकमर्थान्तरन्यासे तत्र च हिंस्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ पुनः प्रहर्षेणात्मभाग्यमभिनन्दन्तस्तथैवाहुः किमिति अधोक्षस्यार्चनं यस्मात् तदर्पितत्वात् तद्भक्तिसाधकमित्यर्थः। ''स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे'' इत्युक्तेः। तादृशं तप आदि तत्र तपः कृच्छ्रादि पूर्त्तादिकञ्चोक्तम्—

''वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥
अग्निहोत्रं तपःसिद्धं वेदानाञ्चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेद्यां च यद्दानं तद्दत्तमभिधीयते'' ॥ इति

यद्वा, अधोक्षजस्यार्चनरूपं तप आदि तत्र तप एकादशी व्रतादिपूर्त्तादिकञ्च तत्सेवाङ्गत्वेन कृतमिति ज्ञेयम् एवं सादृश्ये सम्परेत इव पुनरपि स्वबन्धून् प्रणयन् कुर्वन् सृजन् जीवयन्निति यावत् उपस्थितः समीपमागतः ॥ ३२ ॥ एवं सामान्यतः सर्वेषां श्रीभगवति स्नेहभरो दर्शितः विशेषतः श्रीव्रजेन्द्रस्योत्पातनिर्द्धारेण पुनस्तच्छङ्कयाऽसौ व्यवर्द्धततरामित्याशयेनाह—दृष्ट्वेति। बहुश इत्यनेनान्यान्यपि श्रीभगवतस्तादृशानि चरितानि सूचितानि तानि च श्रीमाथुरलोकप्रसिद्धानि श्रीधराख्यच्छद्मविप्राभिभव-चातुरीमयादीनि श्रीमुनीन्द्रेण राज्ञोऽल्पायुष्ट्वेनानुक्तान्यपि ज्ञेयानि बृहद्वन एव नान्यत्रेति विशेषशङ्कानिदानम्। एवं व्रजानन्दात् पृथिवीपालनाच्च नन्दगोप इति श्लेष. ॥ ३३ ॥ रजस्तमःस्वभावं मद्भ्रामकं गुरुमानिनं निघ्नन्निजान् बिभर्मीति तृणावर्त्तद्रुह्वानपि अथ पूर्वपूर्वभयात् पुनरनिष्टाशङ्कया शुष्यन्तीमिव तां सान्त्वयितुं लीलाशक्तिरेव तस्मिन् कञ्चित् प्रभावं दर्शयति-एकदेत्यादिना। आदाय पल्यङ्किकायां शयानं तं ततो गृहीत्वा भूमौ क्रीडन्तं ततो वा बलात् गृहीत्वा भाविनी स्वभावतः सद्भावयुक्ताः विशेषतस्तादृशपुत्रस्नेहरसेन परिप्लुताऽत्यन्तं निमग्ना अत एव प्रस्नुतं प्रकर्षेण वस्त्राद्यार्द्रीकरणेन सदा क्षरत्स्तन्यम् ॥ ३४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं तेषां निरन्तरं स्नेहविशेष एव व्यवर्द्धत, न च तद्विघातकमीश्वरज्ञानं वृत्तमित्यन्योऽन्यं तेषां वार्त्तयैवाह—अहो बतेति; परमविस्मयेऽत्यन्तहर्षे वा; अत्यद्भुतं महाश्चर्य्यम्, तदेवाहुः—एष इत्यादिना। यद्वा, अहो बत महाखेदे; अत्युद्भुतं यथा स्यात्तथा आकाशोपरि नयनादिनेत्यर्थः। एष व्रजैकप्राणरूपः परमसुकुमारोऽभिनवो बालः किञ्चिदपि कर्त्तुमशक्त इत्यर्थः। निवृत्तिं गमितोऽपि पुनरभ्यगात् सुखमागतः, यतः खलः क्रूरः,—यद्वा, खलोऽधमो हिंस्याहिंस्यविचारहीनो हिंस्रः, समत्वेन सर्व्वत्र शुद्धभावेन भयात् कथञ्चित् कदाचिदापतितात् संसार-लक्षणादपि वा, प्रकर्षेण सुखमपुनर्भवतया मुच्यते। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, पुनरपि वृत्तिमपुनरावृत्तिमिव गमितः, अभि अभयं यथा स्यात्तथागतः स्वस्थानं प्राप्तः, शत्रोरपि तस्य मरणात्। तदेवाहुः—हिंस्र इति। एवं पुनरुपद्रवेण दुष्टकंसादपि चिन्ता न कार्य्येत्याहुः—साधुरिति। एतच्च श्रीकृष्णमात्मानं वोद्दिश्योक्तम् ॥ ३१ ॥ पुनः प्रहर्षेणात्मभाग्यमभिनन्दन्तस्तथैवाहुः—किमिति; तपः कृच्छ्रादिकमधोक्षजस्येन्द्रियज्ञानागोचरस्यापि भगवतोऽर्च्चनरूपम्। एवमेतं पूर्त्तस्यापि विशेषणं तप आदेः श्रीभगवदर्पणेन तदर्च्चने पर्य्यवसानात्। यद्वा, अधोक्षजस्यार्च्चनं यस्मात्तद्भक्तिसाधकमित्यर्थः। पूर्त्तादिकञ्चोक्तम्—

'वापीकूपतडागादि-देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥
अग्निहोत्रं तपःसिद्धं वेदानाञ्चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च हीष्टमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसंत्राणं भूतानाञ्चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेद्याञ्च यद्दानं तदद्त्तमभिधीयते ॥ इति।

सम्परेत इव, एवापि पुनरपि दिष्ट्या क्षेमेणाकस्मादुपोपस्थितः समीपमागतः ॥ ३२ ॥ एवं सामान्यतः सर्वेषां श्रीभगवति स्नेहभरो दर्शितः विशेषतश्च श्रीवल्लवेन्द्रस्योत्पात-निर्द्धारेण पुनस्तच्छंकयासौ व्यवर्द्धततरामित्याशयेनाह—दृष्ट्वेति। बहुश इत्यनेनान्यान्यपि श्रीभगवतस्तादृशानि चरितानि सूचितानि। तदशेषाकथने सिद्धान्तो लिखित एव। वसुदेवस्य वचः (भा० १०।५।३१)—'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' इति विस्मितः सन् तस्य ज्ञानातिशयेन। एवं व्रजानन्दनात् पृथ्वीपालनाच्च नन्दगोप इति श्लेषार्थः ॥ ३३ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पूर्त्तं तटाकनिर्माणादि ॥ ३२-३५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ गोपादीनां मिथः सन्तोषवादमाह—अहो इति द्वाभ्याम्। रक्षसा निवृत्तिं गमितो विनाशं प्रापित एष बालः पुनरभ्यगात् अहो अत्याश्चर्यमेतत् कोत्र विस्मयः युक्तमेवैतदिति तेष्वेव केचिदाहुः हिंस्र इति। हिंस्रः क्रूरः खलः स्वपापेनैव निहतः साधुस्तु समत्वेन स्वस्मिन्नितरेषु च समभावेन भयान्मुक्तो भवतीति ॥ ३१ ॥ तत्रापि केचिदाहुः–किमिति। नोऽस्माभिः तप आद्यन्यतमं किञ्चिच्चीर्णं पूर्वजन्मनि सम्पादितं स्यात् कुतः यद्यस्मात् संपरेतो मृतोपि बालकः पुनरपि स्वबन्धून् रमयन्नुपस्थितः दिष्ट्यायं महानानन्दो जात इत्यर्थः। अन्यथैतदुर्लभमिति भावः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि पूर्त्तं स्मार्त्तं कर्म तटाकादिनिर्माणं वा इष्टं श्रौतं दत्तं दानं तेषां समाहारद्वन्द्वः प्रणयन्निति पाठे प्रणयन् हर्षयन्नुपस्थित इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ एवंविधान्यन्यान्यप्यद्भुतानि बहुशो बृहद्वने बृहति व्रजप्रान्तवने दृष्ट्वा नन्दगोपो विस्मितः पुनर्वसुदेवस्य वचो "नेह स्थेयं बहुदिनं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" इत्येतद्वचो मानयामास तमेवाभूदित्यमन्यत ॥ ३३ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

समत्वेन गुणेन "अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षजः" इति भारतवचनादधोक्षजशब्दो निरुक्तः वापीकूपतडागादि पूर्तम्—

"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं तद्दत्तमभिधीयते" ॥

प्रणयं स्नेहं कुर्वन् "प्रणयः प्रसर· समौ" इत्यमरः ॥ ३२—३३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अधोक्षजप्रीणनार्थं तप आदि ॥ ३२-३४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवं बालत्वेऽपि महासुरहन्तृत्वलक्षणेनैश्वर्य्येण प्रकटादद्भुतेनापि तेषां नन्दादीनां वात्सल्यं न जह्रास प्रत्युतावर्द्धतेवेत्याह अहो बतेति त्रिभिः। अद्भुतादपि यदद्भुत तस्मादप्यत्यद्भुतमेतत् यदेष बालो निवृत्तिम् अमङ्गलव्यञ्जकत्वान्मरणनाशादिशब्देन वक्तुमनर्हां दशां प्रापितोऽपि अभ्यगात् पुनर्बन्धूनामभिमुखं प्राप्तः कोऽत्र विस्मयो युज्यत एवेति तेष्वेव मध्ये केचिदाहुः हिंस्र इति। स्वपापेन निरपराधनरबालकहरणलक्षणेन साधुर्बालकः समत्वेन बालत्वादेव शत्रुमित्रादिषु तुल्यबुद्धित्वेन ॥ ३१ ॥ श्रीनन्दादयस्तु यद्यस्य बालस्यामङ्गलमभविष्यत्तदा सर्वे वयममरिष्यामैवेत्यतोऽस्माकमेवैतद्बहुतरसुकृतफलमित्याहुः–किमिति चीर्णं कृतं पूर्त्तं वाप्यादिनिर्माणम् इष्टं पञ्चयज्ञादि यत् यस्मात् तप आदेः प्रणयन् कुर्वन् सृजन् जीवयन्निति यावत् प्रणयवन्तं कुर्वन्निति वा ॥३२-३४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

निवृत्तिमदर्शनं गमितो नीतः ॥ ३१ ॥ किं तप आदि नोऽस्माभिश्चीर्णं कृतम्, यत् यस्मात्तप आदेः स्वबन्धून् प्रणयन् हर्षयन् ॥ ३२-३४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवं महादैत्यविनाशदर्शनेन जायमानापीश्वरबुद्धिर्नन्दादीनां पुत्रबुद्धया तिरोभूता वाण्येव सरस्वतीत्याह–अहो बतेति। अतिमहाद्भुतमेतत् यदेष बालो रक्षसा निवृत्तिं वक्तुमनर्हामवस्थां गमितोऽपि पुनरभ्यगाद्बन्धूनामभिमुखे प्राप्तः ऐश्वर्यबुद्धेस्तिरोधानादेव वात्सल्यप्रेमानुरूपा भणितिरियं साधुषु न चित्रमेतदिति तेषु तत्समभावाः केचिदाहुर्हिंस्र इत्यर्द्धकेन स्वपापेन निर्दोषबालहरणेन समत्वेन बालत्वादेव शत्रुमित्रादिषु तुल्यबुद्धित्वेन ॥ ३१ ॥ एतस्य बालस्याक्षततयाऽऽगमने किं निमित्तमभूदिति

विमृशन्ति किं न इति। चीर्णं कृतं पूर्त्तं वाप्यादिनिर्माणम्, इष्टं पञ्चयज्ञाग्निहोत्रादि, दत्तं स्वभोग्यस्य न्यायार्जितस्यान्नादेः सत्पात्रेभ्यो दानं, यद्यतो निमित्तात् प्रणयन् प्रहर्षयन् ॥ ३२-३४ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

स्वबंधून्प्रणयन्नित्यस्य स्वबंधून्हर्षप्रकर्षेण प्रापयन्नित्यर्थः। एतेन स्वबन्धून्हर्षयन्निति वक्तव्यम्। प्रणयन्निति कथनमनुपपन्नमिति दूषणं परिहृतम्। हर्षमित्यस्य शेषेण प्रकर्षेण प्रापयन्नित्यर्थस्योक्तत्वात् ॥ ३४ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यामष्टमोऽध्यायः ॥ १०-८ ॥ (अस्मिन्क्रमे सप्तमोऽध्यायः)

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हिंस्रो हिंसाशीलः खलः स्वपापेन विहिंसितो भवति साधुर्यः समत्वेन भयाद्विमुच्यत इति साधुरयं माधवो मुक्तो हिंस्रस्तृणावर्तो विहिंसित इत्यर्थः। एवमेतज्जीवने नोऽस्माभिस्तपश्चीर्णं किमधोक्षजार्चनं चीर्णम्। अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षज इति भारते। अधःकृताक्षजज्ञान इति वा। पूर्तेष्टाभ्यां सहितं दत्तं पूर्तं वापीकूपतटाकादि। अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते। शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं तद्दत्तमभिधीयत इतीष्टदत्ते। भूतसौहृदं प्राणिमात्रसुहृद्भावो यः सम्परेत इव विद्यमानः पुनर्बालकः स्वबन्धून्प्राणयंस्तोषयन्नुपस्थितो दिष्ट्या सुखम् ॥ ३४ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवतो नयनमारभ्य स्वस्त्यागमनपर्यन्तं यत् किञ्चित् कृत्यं तत् सर्वमहो आश्चर्यं, नात्रोपपत्तिः काचित् सम्भवति, आश्चर्यमपि लोके प्रसिद्धं भवति यथा नटविद्यायां मायायां स्वप्ने च, ततोप्येतदधिकमित्याहात्यद्भुतमिति, मायायां प्रदर्शनमात्रमिति, जातं त्वद्भुतं यत् पुनः क्षणान्तरेन्यथा न भवति, ततोपि यत् कदाचिदपि न जातं क्वचिदपि तदत्यन्तमद्भुतं, तत् स्वस्यात्यन्तमनिष्टमिति तत् स्मृत्वा बतेत्याहुः, एष इत्यक्षताव्याहतत्वं प्रत्यक्षेण प्रदर्शितं विपरीतहेतुः सुदृढो जात इत्याह रक्षसा क्रूरेण बालोतिसूक्ष्म इतो निर्वृत्ति गमितो दूरे नीतोन्येन नीतः स्वयमागत इत्याश्चर्यं बालत्वात्, तत्रापि रक्षसा, निवृत्तिपदेन क्रियानिष्पत्तिरपि सूचिता, एवं सति पुनरागमने कोपपत्तिरितिशङ्कायामाहुर्हिंस्र इति, हिंस्रो मारको राक्षसः स्वपापेनैव विहिंसितः, मृत्युस्तत्र तिष्ठत्येवान्यमारणार्थं स तु पापपुरःसरमेव प्रवर्तते, अतःपूर्वं बहूनां वधानां कृतत्वात् स्वाधारे पापमस्ति, अपापे विषये चेत् प्रयुक्तस्तमगृहीत्वा व्याघुट्याऽऽगच्छन् स्वाश्रयमेव गृह्णातीति हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितो भवति, किञ्च मृत्युरत्यन्तं दुष्ट आश्रये न तिष्ठति, अतोपि हेतोस्तं भक्षितवानित्याह खल इति, खलः पिशुनः न ततो दुष्टोस्ति जगति कश्चित्, विषये पापाभावमाहुः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यत इति, अपहतपाप्मरूपं ब्रह्मैव, तस्यापि बहूनि रूपाणि सन्ति, तत्रापि यत् समं रूपं तत् सर्वदोषरहितं भवति, "निर्दोषं हि समं ब्रह्म"तिवाक्यात्, यः सर्वत्र समदृष्टिः स दोषाभावान्न हन्यते, यस्तु साधुः स समदृष्टिरेव भवति, अतोयं बालकोपि समदृष्टिः साधुर्भवितुमर्हति, अतः साधुरयं समत्वेन भयादुपस्थितादु विशेषेण मुच्यते, एतावता कृत्रिमभगवत्त्वं ज्ञातमिति, एवं ज्ञाननिष्ठैर्निर्णयः कृतः ॥ ३३ ॥ कर्मनिष्ठानां निर्णयमाह किं नस्तपश्चीर्णमिति, पूर्वजन्मन्यस्माभिः सर्वैरेव किञ्चित् तपश्चीर्णं येन तपसैतादृशो बालको निधिरूपोऽस्माकं स्थाने तिष्ठति, एवं राजसानां सिद्धान्तः, सात्त्विकानामाहाधोक्षजार्चनमिति, न हि तपसालौकिकं प्राप्यते, अयं च बालको लोकोत्तरोतोयं विष्णुप्रसादादेव प्राप्यते, विष्णुश्च पूजितः प्रसन्नो भवति, तत्रापि साधारणरूपेण पूजितः साधारणमेव फलं प्रयच्छति, अस्माभिरस्त्वलौकिकप्रकारेण पूजितस्तदाहाधोक्षजेति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मात्, शास्त्रदृष्ट्या शोधितैरर्चनं नेन्द्रियबलकार्यं, तामसानां निर्णयमाह पूर्तेष्टदत्तमिति, पूर्तं खातादि, इष्टं यागादि, दत्तं तुलापुरुषदानादि, लौकिकप्रकारा एते, अतिबहिर्मुखानामेष निर्णयः, अन्तर्मुखानामाहोत भूतसौहृदमिति, सर्वेषु भूतेषु भगवानस्तीति तेषु दानमानादिभिः सौहृदं कर्तव्यं, तत् केवलं ज्ञानमार्गे प्रविशति तद्व्यावृत्त्यर्थमुतेत्युक्तं, पूर्वोक्तभूतसौहृदमपि सह लोकवत् सर्वाण्येव कर्माणि कुर्वन् लोकसौहृदमपि करोति तस्येदं फलमित्यन्तर्मुखानां कर्मिणां सिद्धान्तः, एवं कल्पनायां हेतुमाह यदिति, कर्मिणां लौकिकत्वादमङ्गलवचनं लोकोक्त्या न निन्दितं, पुनरेव पूर्ववत्, बालकोपि दिष्ट्या स्वभाग्येनापि स्वगृहे स्वबन्धून् स्वस्य पित्रादीन् प्रकर्षेण नयन् सर्वलोकप्रसिद्धान् कुर्वन् उपस्थित इति यत् ॥ ३४ ॥ एवं सर्वेषां निर्णय उक्तः, नन्दस्तूत्पातसम्भवे हेत्वन्तरं ज्ञातवान् नान्य इति विशेषमाह दृष्ट्वेति, बहुशोद्भुतानि दृष्ट्वा वसुदेववचो मानयामासेतिसम्बन्धः, पूतनाशकटतृणावर्तास्त्रयः प्रसिद्धाः, अन्येप्येवंविधाः शतशः. सर्वाण्येवाद्भुतानि रसान्तर्विस्मारकाणि, नन्दगोप इति सम्पूर्णं नाम ज्ञानक्रियासमन्वितमनाश्चर्ये हेतुः परमैश्वर्यपरिज्ञानात्, बृहद्वन एवैतद्भायत इति भूयो वसुदेववचो मानयामास, स हि ज्ञान एव महत्त्वं मन्यते न तु क्रियायां, भाव्यर्थस्यैव तादृशत्वात्, किमाश्चर्यं यद्यत्यलौकिकं स्यात् पूर्वं कैरपि न ज्ञायते ज्योतिःशास्त्रादौ न प्रसिद्धमिति ततस्स ज्ञानमेव स्मृत्वा विस्मितश्च जातः ॥ ३५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दृष्ट्वेत्यत्र हेत्वन्तरमिति ज्ञापकरूपमित्यर्थः, शतश इति ते कुक्कुटादयः पुराणान्तराज् ज्ञातव्याः, ज्ञानक्रियासमन्वितमिति, 'टु नदि समृद्धा'वित्यस्मादचि कृते नन्द इति भवति 'समृद्धि'श्च ज्ञानस्यात्र ग्राह्या गोपत्वाद् गोरक्षणक्रिया च ताभ्यां समन्वित, ज्ञाने महत्त्वमानने हेतुमाहुर्भाव्यर्थस्येत्यादि ॥ ३५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अहो इत्यत्र विपरीतहेतुरिति रक्षसा नयनमक्षताव्याहतागमनस्य विपरीतो हेतुः सोपि सुदृढो निवृत्तिपर्यन्तं जात इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ दृष्टवेत्यस्याभासे हेत्वन्तरमिति कंसमन्त्रणरूप हेतुं वसुदेववाक्यात् ज्ञातवान् इतिविशेषं वसुदेववाक्यविश्वासकथनेन शुक आहेत्यर्थः, व्याख्याने, ज्ञानक्रियेति टुनदि समृद्धाविति पाठान् नन्दपदस्य समृद्धिवाचकत्वं, तेना'त्मलाभान् न परं विद्यते' इतिवाक्यात् ज्ञानसमन्वितत्वमुक्तं, गोपपदस्य गोरक्षारूपक्रियावाचकत्वात्, तेन क्रियासमन्वितत्वमुक्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तेषां परस्परं हर्षकथामाह—अहो इति । 'बत' इति हर्षे । अहो आश्चर्यम्, यतोऽत्यद्भुतमेतन्न क्वापि दृष्टं श्रुतं वा । तदेव दर्शयन्ति–"अतिप्रबलेन रक्षसा एष बालो निवृत्तिं मृत्युं गमितः प्रापितोऽपि स्वयमेव पुनरभ्यगात्" इति । "कोऽत्र विस्मयः ? युज्यत एवैतत्" इति तेष्वेव केचिदाहुः–हिंस्र इति । अयं खलः क्रूरस्वभावः अतः एव हिंस्रः परहिंसापरायणः । अतो हिंसाजनितेन स्वपापेनैव हिंसितः । साधुः सदाचारनिष्ठश्च समत्वेन समदृष्ट्या भयाद्विमुच्यते । 'वयं साधवः, अतोऽस्मद्बालोऽयं विमुक्त' इति भावः ॥ ३१ ॥ "एवं कार्यद्वारा पुण्यात्मानो वयमिति सामान्यतो ज्ञानेऽपि विशेषतस्तु किं तत् पुण्यमिति न जानीम" इत्याहुः किं न इति । यत् यस्मात्तपआदिपुण्यविशेषात् परेतोऽपि मृत्युं गतोऽपि बालकः स्वबन्धून् अस्मान् प्रीणयन् हर्षयन् पुनरुपस्थितः समागतस्तत्किं नोऽस्माभिश्चीर्णमाचरितमिति न जानीमः । तप एकादशीव्रतकृच्छ्रचान्द्रायणादि, अधोक्षजस्य भगवतोऽर्चनम्, पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणम्, इष्टं पञ्चयज्ञादि अग्निहोत्रादि, दत्तं तुलापुरुषादिदानम्, भूतसौहृदं सर्वप्राणिषु भगवद्बुद्ध्या सन्माननम् । 'एवं विशेषज्ञानाभावेऽपि बालस्तावत् कुशल्यागत इत्येतद्भद्रमेव जातम्' इत्याहुः–दिष्ट्येति ॥ ३२ ॥ एवंविधानि पूतनाशकटतृणावर्तनिराकरणसदृशानि बहुशोऽद्भुतानि आश्चर्यजनकानि चरितानि बृहद्वने महावनाख्ये व्रजे नन्दगोपो दृष्ट्वा विस्मितः सन् भूयः पुनःपुनर्वसुदेवस्य 'नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' इति वचो मानयामास, सत्यममन्यतेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ एवं तृणावर्तस्य तृणवन्निराकरणं निरूप्य तदागमनसमये स्वगौरवदर्शनेन शङ्कितचित्तां स्वजननीं गौरवहेतुं स्वोदरस्थं सर्वं जगद्दर्शयामास, तत् सप्रसङ्गमाह–एकदेति चतुर्भिः । एकदा गृहकार्यादिवैयग्र्याभावेन पुत्रैकप्रवणचित्ततादशायामर्भकं बालकमादाय क्रीडन्तं गृहीत्वा स्वाङ्कमारोप्य भामिनी परमसौभाग्यवती यशोदा प्रस्नुतं स्नुतं स्रवत्पयस्कं स्तनं पाययामास । पयःसंस्रवणे पायने च हेतुमाह—पुत्रस्नेहेन परिप्लुता व्याप्तेति ॥ ३४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तेषां मिथो हर्षकथामाह–अहो इति ॥ बतेति हर्षे । अहो आश्चर्यम् अतिबलेन रक्षसा एष बालो निवृत्तिं मृत्युं गमितः प्रापितोऽपि अमङ्गलभयात् विनाशादिशब्दानुपादानं स्वयमेवं पुनरभ्यगात् अभिमुखमगात् । अभिभयरहितं यथा स्यात्तथा अगादिति वा इति अत्यद्भुतम् । अयं खलः क्रूरस्वभावः अत एव हिंस्रः परहिंसापरायणः अतो हिंसाजनितेन स्वपापेनैव हिंसितः । साधुः सदाचारनिष्ठश्च समत्वेन समदृष्ट्या भयाद्विमुच्यते । वयं साधवोऽतोऽस्मद्बालोऽयं विमुक्त इति भावः ॥ ३१ ॥ किं न इति ॥ यत् यस्मात् तपआदिपुण्यविशेषात् परेतोऽपि मृत्युंगतोऽपि बालकः स्वबन्धून् अस्मान् प्रीणयन् हर्षयन् उज्जीवयन् पुनरुपस्थितः समागतः तद्दिष्ट्या भद्रं जातम् । अत्र विषये किं नोऽस्माभिः तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि अधोक्षजस्य भगवतोऽर्चनं पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणम् इष्टं पञ्चयज्ञादि अग्निहोत्रादि दत्तं तुलापुरुषादिदान भूतसौहृदं सर्वप्राणिषु भगवद्बुद्ध्या सम्माननं चीर्णमाचरितमिति न जानीमः । चीर्णमिति पृषोदरादित्वात् ॥ ३२ ॥ दृष्ट्वेति ॥ एवंविधानि बहुशः अद्भुतानि चरितानि बृहद्वने महावनाख्ये नन्दगोपो दृष्ट्वा विस्मितः सन् भूयः पुनः पुनर्वसुदेवस्य "सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" इति वचः मानयामास सत्यममन्यत । बहुश इति । अन्यान्यपि माथुरलोकप्रसिद्धानि चरितानि सूचितानि । शुकस्तु सप्तदिनावधित्वात्तानि नोचे ॥ ३३ ॥ एकदेति ॥ एकदा अर्भकं बालकमादाय क्रीडन्तं गृहीत्वा स्वाङ्कमारोप्य भामिनी परमसौभाग्यवती स्नेहेन परिप्लुता व्याप्ता यशोदा प्रस्नुतं स्रवत्पयस्कं स्तनं पाययामास ॥ ३४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अन्योऽन्यं हर्षवचनमूचुः अहो बतेति । रक्षसा निवृत्तिं मरणं गमितो नीतः पुनः अभ्यगादागतः हिंस्रो हिंसकः ॥ ३० ॥ किमिति नोऽस्माभिः तपश्चीर्णं कृतं किं पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणं किं वा कृतं इष्टं पञ्च महायज्ञादि यज्ञकर्म च दत्तं दानं च एतेषां समाहारे पूर्तेष्टदत्तं एतत्कृतं किं वा यद्यतः संपरेतो मृतः पुनरुपस्थितः सन् स्वबन्धून् प्रीणयन् आनंदयन् वर्तते ॥ ३१–३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथोभयेषां परस्परं हर्षकथामाह । अहो इति द्वाभ्याम् ॥ अहो इति ॥ रक्षसा निवृत्तिं विनाशं, गमितः प्रापितः, एषः बालः, पुनः अभ्यगाज्जीवन्नेव नः प्राप्तवान् । अहो बत, अत्यद्भुतमत्याश्चर्यम् । युक्तमेवैतदिति तेष्वेव केचिदाहुः । हिंस्रः क्रूरः, खलः दैत्यः, स्वपापेनैव विहिंसितः हननं प्राप्तः, साधुरयं बालस्तु, समत्वेन स्वस्मिन्नितरेषु च समभावेन, भयात् विमुच्यते । विमुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तत्रापि केचिदाहुः ॥ किमिति ॥ नोऽस्माभिः, किं तपः कृच्छ्चान्द्रायणादि, चीर्णं पूर्वजन्मनि संपादितं स्यात् । वा, अधोक्षजार्चनं भगवतः पूजनं, कृतं स्यात् । उताथवा, पूर्त्तेष्टदत्तं समाहारद्वन्द्वः । कृतं स्यात् । तत्र पूर्त्तं तटाकनिर्माणादि स्मार्त्तं कर्म । इष्टं पञ्चयज्ञाग्निहोत्रादिकम् । दत्तं दानं, अथवा, भूतसौहृदं भूतसुहृद्भावः, कृतं स्यात् । यत् यस्मात्, संपरेतो मृतोऽपि, योऽयं बालकः, पुनरेव पुनरपि, स्वबन्धून् रमयन्, उपस्थितः । दिष्ट्या अयं महानानन्दो जात इत्यर्थः । अन्यथैतत् दुर्लभमिति भावः । प्रीणयन्निति पाठे, हर्षयन् इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ दृष्ट्वेति ॥ नन्दगोपः, बृहद्वने गोकुले, बहुशः अद्भुतानि दृष्ट्वा, बृहद्वने एवंविधान्यन्यान्यपि बहुशोऽद्भुतानि संवीक्ष्येत्यर्थः । विस्मितः सन्, भूयः पुनः, वसुदेववचः 'नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' इत्येतद्वचनं, मानयामास सत्यमेवेत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ अथ भगवान् तृणावर्त्तागमे प्रदर्शितस्य स्वगरिम्णः मूलं मात्रे दर्शयामासेत्याह ॥ एकदेति ॥ एकदा कदाचित्, भामिनी यशोदा, अर्भकं आदाय, स्वाङ्कं आरोप्य, स्वोत्सङ्गे उपावेश्येत्यर्थः । स्नेहपरिप्लुता अनुरागव्याप्ता सती, प्रस्नुतं स्रवन्तं, स्तनं, पाययामास ॥ ३५ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पीतप्रायस्येति : १०.७.३५.

सदाखण्डलसत्प्रीतिव्यक्तये व्यक्तिमागता । विश्वरूपानुजातस्य जृम्भा तादृक् तदाऽप्यभूत् ॥ ३६ ॥

रजसि प्रसूतेऽपि गोकुले भविता यद्हृदयं मदच्युतम् । मयि विश्वमसौ विलोकयेत् स्फुटमीशोऽकृतविश्वदर्शनात् ॥ ३७ ॥

या मदीयजननी जननी सा नूनमस्ति जगतो निखिलस्य । चिन्तयन्निति स विश्वमुखेन स्तन्यपानमकरोत् किमु तस्याः ॥ ३८ ॥

यदन्तरगतं मनागपि न दर्शनीयं परानलक्ष्यगति वस्तु चेदपि न वञ्चनीयं बुधैः ।
समस्तगुरुदेवतात्मवपुषे स्वमात्रे इति प्रगूढमपि हृद्गतं जगदशेषमादर्शितम् ॥ ३९ ॥

स्तन्याद् विशुद्धादवधार्य तस्याः सत्त्वैकपूर्णं हृदयं दयालुः । मन्मुख्यरूपेक्षणवीक्षणार्हा जातेति तस्मिन् किमदर्शयत्तत् ॥ ४० ॥

स्तन्यं कियत् पिबसि भूर्यलमर्भकेति वर्तिष्यमाणवचनां जननीं विभाव्य ।
विश्वं विभारि पयसोऽस्य न केवलोऽहमस्माददर्शि हरिणा किमु विश्वमास्ये ॥ ४१ ॥

यत्स्तन्यं यदि पुत्रतृप्तिजननेनालं तदा तत्कृते तन्माता प्रददाति लोककलितां विश्वाद्यनन्तौषधिम् ।
माताऽसौ जगतस्तदा स्तनपयोऽपर्याप्तमालोचयन् प्रादात् किं परमामृतोदयकरीं विश्वादिमुख्यस्थितिम् ॥ ४२ ॥

वस्त्वन्तर्निहितं च यौ वितरतोऽन्योन्यं तयोरच्छलः स्नेहश्चान्यतरेण चेन्न विहितं तादृक् कृतघ्नो हि सः ।
दत्तं यत्प्रकृतेऽनया स्वहृदयस्थं मे पयो नैव चेद् दास्ये तन्न कथं कृतघ्न इति किं तत्तां तदाऽदर्शयत् ॥ ४३ ॥

वात्याऽपहृतमालक्ष्य मातर्भीतासि किं मुधा । अनन्तं मुख्यरूपं मे पश्येतीशो व्यदर्शयत् ॥ ४४ ॥

कृष्णप्रिया

वे कहने लगे—'अहो ! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है । देखो तो सही, यह कितनी अद्भुत घटना घट गयी ! यह बालक राक्षस के द्वारा मृत्यु के मुख में डाल दिया गया था, परन्तु फिर जीता-जागता आ गया और उस हिंसक दुष्ट को उसके पाप ही खा गये ! सच है, साधु पुरुष अपनी समता से ही सम्पूर्ण भयों से बच जाता है ॥ ३१ ॥ हमने ऐसा कौन-सा तप, भगवान् की पूजा, प्याऊ-पौसरा, कूआँ-बावली, बाग-बगीचे आदि पूर्त, यज्ञ, दान अथवा जीवों की भलाई की थी, जिसके फल हमारा यह बालक मरकर भी अपने स्वजनों को सुखी करने के लिए फिर लौट आया ? अवश्य ही यह बड़े सौभाग्य की बात है' ॥ ३२ ॥ जब नन्दबाबा ने देखा कि महावन में बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ घटित हो रही हैं, तब आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वसुदेवजी की बात का बार-बार समर्थन किया ॥ ३३ ॥ एक दिन की बात है, यशोदाजी अपने प्यारे शिशु को अपनी गोद में लेकर बड़े प्रेम से स्तन-पान करा रही थीं । वे वात्सल्य-स्नेह से इस प्रकार सराबोर हो रही थीं कि उनके स्तनों से अपने-आप ही दूध झरता जा रहा था ॥ ३४ ॥

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी । प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥ ३६ ॥
पीतप्रायस्य जननी[1] सा तस्य रुचिरस्मितम् । मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे[2] त्विदम् ॥ ३७ ॥
खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥ ३८ ॥
[3]सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् संजातवेपथुः । सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [4]तृणावर्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—एकदा अर्भकम् आदाय स्वाङ्कम् आरोप्य भामिनी स्नेहपरिप्लुता प्रस्नुतं स्तनं पाययामास ॥ ३४ ॥ पीतप्रायस्य तस्य रुचिरस्मितं मुखं लालयती सा जननी जृम्भतः इदं ददर्श ॥ ३५ ॥ खं रोदसी ज्योतिरनीकम् आशाः सूर्येन्दु-वह्निश्वसनाम्बुधींश्च द्वीपान् अगान् तद्दुहितॄः वनानि स्थिरजङ्गमानि यानि भूतानि (ददृशे) ॥ ३६ ॥ राजन् सा सहसा विश्वं वीक्ष्य मृगशावाक्षी संजातवेपथुः नेत्रे संमील्य सुविस्मिता आसीत् ॥ ३७ ॥

इती श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृणावर्तागमे दृष्टगौरवाशंकिनीं प्रसूम् । बोधयन्दर्शयामास जृंभमाणो मुखे जगत् ॥ १ ॥
पीतप्रायस्य पीतः प्रायः स्तनो येन तस्य ॥ ३५ ॥ नगान् गिरींस्तेषां दुहितॄर्नदीः ॥ ३६-३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे टीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

प्रसूं मातरं यशोदां बोधयन्नीश्वरत्वं ज्ञापयन् । प्रीतप्रायः पीत इव स्तनो येन कृष्णेन तस्य "प्रायः सादृश्यबाहुल्य-प्राणांतानशनेषु च" इति शाश्वतः । स्तनवदस्य लोपस्त्वार्षः । जृंभतो मुखं प्रसारयतः इदं दृश्यं विश्वम् ॥ ३५ ॥ रोदसी द्यावाभूमी । ज्योतिषां ताराणामनीकं गणम् । श्वसनो वायुः ॥ ३६ ॥ सा यशोदा । सहसेत्याकस्मिके मृग एकस्तच्छावस्तद्वालस्तत्तुल्यनेत्रा संमील्येति । विष्णोऽर्यीनार्थं भगवन्नारायण रक्षरक्ष मत्सुतमस्मादुत्पातादिति वित्रस्तदृष्टित्वान्मृगशावाक्षीति भावः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कंधे पूर्वार्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पीतप्रायस्येति पीता गावो विभक्ता भ्रातर इतिवत् कर्त्तरि क्तः भावक्तान्तात् पीतं पानं प्रायमीषदसिद्धं यस्येति वा टीकामते स्तनशब्दलोपोऽत्रार्ष एव जननीति सुतस्येति च स्नेहभरं बोधयति तत्र च रुचिरस्मित इति परमसौन्दर्यम् अतो लालयन्ती जृम्भमाणस्य तल्लालनजनितानन्दभरालस्येन जृम्भां कुर्वतस्ततः मुखे मुखविवरान्तः द्वितीयान्तपाठे मुखं लालयन्ती तद्द्वारा जठरे ददर्शेति ज्ञेयं "कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या" इति ब्रह्मस्तुतेः सप्तम्यन्तः पाठ एव तेषां सम्मतः अग्रेऽपि मुखे दर्शनस्य व्याख्याना-दिदमस्माभिर्यद्दृश्यते तदेव विश्वं न त्वन्यत् तस्य विग्रहस्याचिन्त्यशक्त्या विभुत्वादिति भावः । अत एव तत्र विश्वस्य सम्पर्को नास्ति तदुक्तं श्रीभगवदुपनिषत्सु । "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ नच मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" इति जगदुदरत्वन्तु तदंशांशगर्भोदकशायिन एव तच्च प्रलयकाले सूक्ष्मतयैवेति ॥३५॥ इदन्तापरामृष्टमेवाह-खमिति । अन्तरिक्षं रोदसी दिवं भूमिं च एवं भुवःस्वर्भू रितिलोकत्रयम् ॥ ३६ ॥ वीक्ष्य साक्षाद्दृष्ट्वा सहसा अकस्मात् युगपच्चेत्यमरः । विश्वम् अशेषं जगदेवेत्यनुक्तमपि तत्कारणादिकं संगृहीतं तच्चाग्रे पुनर्विश्वदर्शने वैकारिकाणीत्यादिना व्यञ्जयितव्यं सञ्जातवेपथुः परमाद्भुतत्वेन उत्पातशङ्कया वा नेत्रे संमिल्य तद्दर्शनाय निजाक्षिणी मुद्रयित्वा अनेन निजाभ्यां बहिर्ने-त्राभ्यामेवैकदैव तत्तद्दर्शनं बोधितं न च दिव्यदृष्ट्यादिप्राप्तिः प्रत्युत ततः श्रीकृष्णप्रेमानन्दलक्ष्म्या एव दासीयमाना काचिदियमपि शक्तिस्तस्यां वर्त्तत इति लक्ष्यते नेत्रनिमीलनादनादृतेव सेति तर्क्यते तदुक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रे—

"हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः । भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः" ॥ इति

तथापि तदानीमुद्भूतः वात्सल्यशलीलोदयावसरे स्वदास्यमेव सफलयन्ती विस्मयद्वारा तामात्मेश्वरीमुल्लासयितुमेवमनुवर्तते इति च गम्यते मृगशावाक्षीति मुनेः श्रीकृष्णवात्सल्यमयविस्मयशोभाविशेषविरोचमानतन्मातृलोचनसहजसौन्दर्यस्फुरणोल्लासमयं वचनम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां सप्तमोऽध्यायः ।

---

१. सुतस्य—वीर. विज । २. इदम्—श्रीधर. वंशीः विज. विश्व. शुक्र.; जगत्—वीर. । ३. संवीक्ष्य—विज. । ४. शकटतृणावर्तवधः—इति कस्यचित् ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

जगद्भ्रामरुविभ्रंशान्भक्त्या भान्ति साधवः। अतो रजस्तमोनेतृतृणावर्त्तमहन् प्रभुः॥

प्रसंगात् पुनरप्यद्भुतं चरितमाह—एकदेत्यादिना। एकदा कस्मिंश्चित् काले कालानियमः, श्रीभगवतः कालपारतन्त्र्या-भावात्। किंवा, बालोऽपि तारुण्यस्य तारुण्येऽपि बाल्यस्य प्रदर्शनेन वयोनिर्द्धाराशक्तेरिति; आदाय भूमौ क्रीडन्तं तत आ बलाद्गृहीत्वा; किंवा पल्यंकिकायां शयानं तं ततो गृहीत्वा। भाविनी परमोत्तमा नारी श्रीयशोदा, अतः पुत्रस्नेहरसे परिप्लु-ताऽत्यन्तं निमग्ना, अतएव प्रस्नुतं प्रकर्षेण वस्त्राद्यादीकरणेन सदा क्षरत्स्तन्यम्; जननीति सुतस्येति च स्नेहभरं बोधयति। तत्र च रुचिरस्मित इति परमसौन्दर्य्यमतो लालयन्ती जृम्भमाणस्य तल्लालनजनितानन्दभरालस्येन जृम्भां कुर्व्वतः सतः; मुखे मुखविवरान्तः, द्वितीयान्तपाठे मुखं लालयन्ती तद्द्वारा जठरे ददर्शेति ज्ञेयम्; (भा० १०।१४।१६)—कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्याः' इति श्रीब्रह्मस्तुतेः; सप्तम्यन्तपाठ एव तेषां सम्मतः, अत्राग्रेऽपि मुख एव विश्वदर्शनस्य व्याख्यानात्। राजन्निति परमाश्चर्य्येण सम्बोधनम्; यद्वा, यथा त्वत्पितामहेनार्ज्जुनेन भारतयुद्धे दृष्टम्, तद्वदिति न मन्तव्यम्; किन्तु ततोऽपि विशिष्टमिति सूचयति॥ ३४-३५॥ इदन्तापरामृष्टमेवाह—खमिति। अन्तरिक्षम्, रोदसी दिवं भूमिञ्च। एवं भुवः स्वभूरिति लोकत्रयम्; तेन च तत्रत्या ज्ञेयाः। तत्रैव विशेषविवक्षयानुक्तानपि संगृहजाति-भूतानीति॥ ३६॥ वीक्ष्य साक्षाद्दृष्ट्वा, सहसाकस्माद्युगपच्चेत्यर्थः। विश्वमशेषं जगदेवेत्यनुक्तमपि तत्कारणादिकं संगृहीतम्। तच्चाग्रे पुनर्विश्वदर्शने (भा० १०।८।३८)—'वैकारिकाणि' इत्यादिना व्यञ्जयितव्यम्। संजातवेपथुः परमाद्भुतत्वेनोत्पातशंकया वा नेत्रे निमील्य तद्दर्शनाय निजाक्षिणी मुद्रयित्वा, अनेन बहिर्नेत्राभ्यामेवैकदैव तद्दर्शनं बोधितम्। एवमर्ज्जुनतस्तस्या विशेषश्च, (गी० ११।८)—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' इति तं प्रति श्रीभगवदुक्तेरन्यथा विविधव्यवधानादिना विश्वस्य तस्मिन् युगपद्दर्शनासम्भवात्। अस्याश्च श्रीभगवत्स्नेहभरप्रभावेण दृग्भ्यामेव साक्षाद्दर्शनात् जठरान्तस्तद्दर्शनञ्च श्रीभगवतो जगदुदरत्वात्। तच्च सृष्ट्यारम्भे तत एव नाभिद्वारा लोकपद्माविर्भावादिना व्यक्तमेव। एतच्च तदंशेन नारायणोनाभेदादुक्तम्; किंवा जठरान्तस्तद्दर्शनेनान्तर्दृष्टिरभिप्रेता, तया तस्य सत्त्वदर्शनमुपपद्यत एव, किन्तु बहिः सौन्दर्य्यादिदर्शनेन जायमानानन्दविशेषात्तत्तुच्छमेवेति दिक्। मृगशावाक्षीति सौन्दर्य्यविशेषेण कमललोचनस्य श्रीभगवतो मातृत्वयोग्यतोक्ता; अतस्तत्तद्दर्शनादिकं सम्भाव्यमेवेति भावः। सुविस्मितासीत्—किमिदं कुतो वा पश्यामीति परम-विस्मयं प्राप्ता, अतस्तस्मिंस्तस्याः स्नेहविघातकमीश्वरज्ञानं नाभूत्,—परमेश्वरे तत्सम्भावनया विस्मयानुत्पत्तेः; किन्तु स्वपुत्र-स्वाभाविकविविधाश्चर्य्यमयताज्ञानोत्पत्त्यां पूर्व्वमकस्मात् पूतनामारणशकटभंगतृणावर्त्तनिपातादिजातबहुलशंकाया निरसनेन स्नेहो विवृद्ध एवेति ज्ञेयम्। यद्वा, अहो मम मनोविभ्रममहिमायम्, येन स्वबालकेऽप्यस्मिन्नेवं दृश्यत इति। सुशोभनं विशिष्टं च।न्यतो विलक्षणं स्मितं यस्यास्तथाभूता बभूव, निजमनोभ्रमविशेषं मत्वा स्वयमेवात्मानं हसितवतीत्यर्थः। हे राजन् सर्व्वत्र प्रकाशमानेति तत्तत्त्वं त्वयैवावधार्य्यते, न त्वन्येनेति भावः। अत्र च स्व-सिद्धान्तोऽयम्—साक्षाच्छ्रीभगवद्दर्शनानन्दविघातकविश्वदर्शनस्य परिहाराय नेत्रानिमीलनं, साक्षाद्विराजमानेऽपि भगवत्यहो बत! तदितरदर्शनं स्यादिति तन्मायाबलानुसन्धानेन भयकम्पः सुविस्मितत्वञ्चेति॥ ३७॥

श्रीकृष्णकृपयानेकसिद्धान्तेषु स्फुरत्स्वपि। निजरुच्यनुसारेण सिद्धान्तोऽत्र विलिख्यते॥

इती श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्व्वार्द्धे श्री श्रील-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीवृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशमटिप्पण्यां सप्तमोध्यायः॥ ७॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

नगान् पर्वतान् तद्दुहितॄः नदीः॥ ३६—३७॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कंधे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवान् तृणावर्तागमे प्रदर्शितस्य गरिम्णो मूर्तिं दर्शयामासेत्याह—एकदेति। प्रस्नुतं कर्त्तरि क्तः स्तनं प्रस्नुवत पाययामास कथम्भूता स्नेहेन परिप्लुता परितो व्याप्ता॥ ३४॥

हे राजन्! पीतप्रायस्य पीतप्रायस्तनस्य कृतस्तन्यपानस्येत्यर्थः। पीतमिति भावे क्तः पीतं पानमस्यास्तीति पीतम् अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोच् प्रत्ययः। यद्वा भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत्कर्तरि क्तः प्रायशब्दः सदृशवाची सन्नप्यत्रानतिरिक्तार्थपरः तस्य सुतस्य रुचिरं सुन्दरं स्मितं यस्मिंस्तन्मुखं लालयन्ती चुम्बनादिना लालनं कुर्वन्ती जृम्भतः आस्यं विवृण्वतः सुतस्य मुखे इदं वक्ष्यमाणं खाद्यात्मकं जगद्ददर्श मुख इति पाठान्तर तदा रुचिरस्मितं सुतं लालयन्ती पीतप्रायस्य जृम्भतः मुखं विवृण्वतः सुतस्य मुखे इदं जगद्ददर्श इत्यन्वयः॥ ३५॥ तद्दृष्टजगदन्तर्भूतपदार्थानाह—खमिति। खमाकाशं रोदसी पृथिव्यर्थकमव्ययं ज्योतिरनीकं

शुक्राङ्गारकादिज्योतिश्चक्रं तारादीनामपि इतरेतरयोगद्वन्द्वः नगान् गिरीन् तद्दुहितॄर्नदीः स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि तानि च ददर्शे इत्यन्वयः ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! सा मृगशावाक्षी यशोदा सुतस्य मुखं खादियुक्तं विश्वमवलोक्य सञ्जातो वेपथुः शरीरकम्पो यस्यास्तथाभूता स्वकीये नेत्रे निमील्य विस्मिता बभूव ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भामिनी तेजस्विनी ॥ ३४ ॥ इदं वक्ष्यमाणं ददर्शे आस्य इति शेषः ॥ ३५ ॥ रोदसी द्यावापृथिव्यौ ज्योतिरनीकं ज्योतिर्गणं तेषां पर्वतानां दुहितॄः नदीः ॥ ३६ ॥ मृगशावाक्षी मृगबालाक्षी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥ (विजयध्वजमतेऽष्टमोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

पीतेति । पीता गावो विभक्ता भ्रातर इत्यादिप्रयोगदर्शनात् कर्त्तरि क्तः आगतप्राय इतिवत् इदं यदस्माभिर्दृश्यते तदेव नान्यदित्यचिन्त्यशक्त्या तस्य विग्रहस्य विभुत्वं दर्शितं जगदुदरत्वं प्रलये तदंशांशस्य गर्भोदशायिन इत्यर्थः ॥ ३५—३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पीतप्रायस्येति । पीता गावो विभक्ता भ्रातर इतिवत्कर्त्तरिक्तः स्तनं पीतवत्प्रायस्येत्यर्थः । मुखे मुखविवरान्तः द्वितीयान्तपाठे मुखं लालयन्ती तद्द्वारा जठरे ददर्शेति ज्ञेयं "कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या" इति ब्रह्मस्तुतेः इदमस्मद्दृश्यं विश्वमेव तदीयविग्रहस्य मातृक्रोडगतस्याप्यचिन्त्यशक्त्या विभुत्वेन सर्वजगदधिष्ठानत्वात् जृम्भत इति जृम्भणोचितक्षणेऽपि सविशेषसर्वविश्वदर्शनमचिन्त्यशक्त्यैव निष्पादितम् ॥ ३५ ॥ नगान् द्वीपाख्यान्दरान् जम्ब्वादिवृक्षान् पर्वतांश्च तद्दुहितॄर्नदीः ॥ ३६ ॥ सहसा अकस्मात् युगपच्च सञ्जातवेपथुरुत्पातशङ्कया सम्मील्येति श्रीविष्णुध्यानार्थं भगवन्नारायण रक्षरक्ष मत्सुतमत्प्रादुरुत्पातात् इति वित्रस्तदृष्टित्वान्मृगशावाक्षी "पूतनादिवधैश्वर्य्यं न प्रेम समचूकुचत् । प्रत्युतावर्द्धयत्तस्मिन्नरिष्टप्रतिशङ्कया ॥ नन्दभाग्यादिहेतूनां तत्राभूद्यदि कल्पनम् । ततो निर्हेतुरेवेयमैश्वरी शक्तिरागता । विभुत्वदर्शिका कृष्णदेहस्य स्फुटमेव हि ॥ तथापि विस्मितैवासीन्मत्पुत्रस्येदमद्य किम् ॥ नत्वैश्यज्ञानसम्भ्रान्त्या वात्सल्ये शिथिलाभवत् ॥ न चात्र सम्भवेत् किञ्चित् पूर्ववद्धेतुकल्पनम् ॥ तच्चापि वस्तुतो गाढप्रेमोर्मिमयमेव हि ॥ इति निष्कम्पताप्रेम्णः ख्यापितास्यान्मुहुर्मुहुः ॥ एवं च—

"प्रेमदेव्याः परीक्षार्थमागच्छन्त्यन्तरान्तरा । शक्तिरेषा हरेः किन्तु तया दासी कृता भवेत्" ॥ इति ॥ ३७ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमे सप्तमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ७ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

इदं विश्वम् ॥ ३५ ॥ दृष्टमाह-खमिति ॥ ३६—३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे सप्तमाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ ७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पीतप्रायस्येति । पीतं पानं तद् यस्यास्ति स पीतः, मुखं लालयतीति चिबुकं गृहीत्वेतिशेषः । जृम्भतस्तस्य मुखद्वारा जठरे इदं विश्वं ददर्शे 'कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या' इति वक्ष्यमाणात्, जृम्भणोचितकाल एव कृत्स्न-विश्वदर्शनं तदचिन्त्यशक्तिसिद्धं बोध्यम्, इयं मत्प्रसूः सर्वज्ञैव किन्तु मदैश्वर्यस्वरूपं सदैव जानाति, न तु दृष्टवती तददर्शनादेव मयि भयं शङ्कती तदेनामैश्वर्यं प्रदर्श्य निःशङ्कयामीति तददर्शयदिति भावः ॥ ३५ ॥ नगान् द्वीपातिधानाकरान् जम्ब्वादिवृक्षान् गिरींश्च तद्दुहितॄर्नदीः ॥ ३६ ॥ सहसा अकस्माद्युगपच्च सञ्जातवेपथुरित्याश्चर्यदर्शनात् निमील्य नेत्रे इति तद्दर्शनाय सुविस्मितेति कथमेतावत्युदरे विश्वमिदं भातीति विस्मयेन चित्रितेवाभूदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

पूतनामोक्षयोस्पर्शाच्छकटं पादयोः शिशुः । भुजयोश्च तृणावर्त्तमहन्नास्ये क्षिताखिलः ॥
अहीननरचेष्टाभिराभिर्लीलाभिरच्युतः । निजैश्वर्यस्य पूर्णत्वं माधुर्यञ्च व्यजिज्ञपत् ॥

इती श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

बहुशो बहुवारं नन्दगोपोऽद्भुतानि दृष्ट्वा विस्मितः सन्वसुदेववचो भूयो मानयामास ॥ ३५ ॥ भामिनी योषिदेकदाऽर्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य प्रस्तुतं स्तनं स्नेहपरिप्लुता सती पाययामास ॥ ३६ ॥ प्रीतप्रायस्य सुतस्य जननी रुचिरस्मितं मुखं लालयन्ती जृम्भतो मुख इति शेषः। इदं ददृशे विवक्षाभावात् ॥ ३७ ॥ इदमित्युक्तं वदति ॥ खमिति। खमाकाशं रोदसी द्यावापृथिव्यो ज्योतिरनीकं ज्योतिर्मण्डलमाशाश्च सूर्यश्चेन्दुश्च वह्निश्च श्वसनो वायुश्चाम्बुधयश्च तान्द्वीपान्। द्वयन्तरित्यप्शब्दाकारेकारः। नगांस्तद्दुहितृः पर्वतप्रसूता नदी. शतशः सहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसङ्ख्याता इति पञ्चमोक्तः। वनानि स्थिरजङ्गमानि चेतनाचेतनानि भूतानि यानि तानि ॥ ३८ ॥ सहसा विश्वं वीक्ष्य सञ्जातवेपथुः गतम्। मृगशावाक्षी नेत्रे सम्मील्य सुविस्मिताऽऽसीत् ॥ ३९ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ १०-८ ॥ (अस्मिन्क्रमे सप्तमोऽध्यायः)

श्रीसुबोधिनी

एवमेकमुपाख्यानं पञ्चानां मध्ये निरूपितं, द्वितीयमाहैकदेतिचतुर्भिः—

भक्तिर्ज्ञानं तथा पूर्णं विस्मयश्च ततः परम्। जातो लौकिकभावस्य दृढत्वादिति रूप्यते ॥ १ ॥

आदौ स्वतन्त्रा पूतना निवर्तिता ततः परतन्त्रोपि शकटस्ततः सर्वमारकः, हेत्वन्तरं च न प्रदर्शितं, तथाप्यसम्भावनाया दृढत्वान्न दृढा भगवत्यासक्तिर्भविष्यतीत्यसम्भावनानिवृत्त्यर्थं स्वस्मिन् भगवत्येव तादृशं रूपं स प्रदर्शितवान्, स्वधर्मनिष्ठधर्मपरिज्ञाने भक्तिरेव हेतुरिति प्रथमतो भक्तिमाह, एकदा गृहकार्यादिवैयग्र्याभावदशायां भगवदेकप्रवणचित्तदशायां वा, अर्भकं बालकं कलवाक्यं वर्षाधिकं, आदाय क्रीडन्तं बलात् स्वयं गृहीत्वा, स्वस्याङ्कं समारोप्य सर्वोत्तममासनं दत्वा भामिनी परमसौभाग्यवती, सर्वाभरणभूषितं च विधाय, भामिनो भामयुक्ता च, तेन भगिन्या अपि सौभाग्यं द्योतितं, एवं परम्परासौभाग्यवती स्वतः कर्मवशाच्चोत्तमा, प्रकर्षेण स्नुतं स्नेहवशान्निर्गतं स्नेहेन च परिप्लुतान्तर्बहिर्व्याप्ता जातस्नेहकार्या च स्तनं पाययामास, 'प्रयतात्म'त्वं भामिनीपदेनोक्तं, प्रशब्देन 'भक्त्युपहृत'त्वमुक्तं, स्नेहपरिप्लवाद् भक्त्यादानमुक्तं, अन्तःस्थितबालानामल्पतृप्तत्वात् स्वतोपानं, अपेक्षाया अपि विद्यमानत्वादन्यप्रेरणया पानं, अत एव भगवतो न सर्वपानं, अधिकपाने बालानामुपद्रवो भवतीति, प्रयोजककर्तृव्यापारनिवृत्त्यर्थं भक्तिप्रवणां कृत्वा स्वधर्मं दर्शितवान् "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इतिन्यायेन भक्त्युद्गततद्धर्मं गृहीत्वा कृपया फलरूपं स्वधर्मज्ञानं सम्पादयति ॥ ३६ ॥

अतो दानाभिनिवेशं परित्यज्य कौतुकाभिनिविष्टा भगवद्धर्मपरा प्रदर्शितं धर्मं दृष्टवतीत्याह पीतप्रायस्येति, सर्वात्मना भगवता न पीतमेव, आपाततः पीतं, तथाकरणे हेतुर्जननीति, जननबुद्धिः स्वेनैवोत्पादितेतिभगवच्चरित्रं, सा पूर्वोक्तभक्तियुक्ता, कार्यार्थं भक्तेः पुनरनुसन्धानं कार्यदशायां सद्भावज्ञापनाय, तस्येति निरोधार्थमागतस्य, रुचिरं स्मितं यस्य मुखस्य, मोहसहितं स्नेहं जनयतीति परमसौन्दर्यं भावयन्ती तादृशं मुखं लालयन्ती जाता, राजन्निति सम्बोधनं राजलीलायामस्यानुभवः सिद्ध इत्यग्रे वक्ष्यमाणस्यापूर्वत्वात् सावधानतया स्थातव्यमितिज्ञापनार्थं, अग्निवायू ज्ञानक्रियारूपे ते यशोदायां योजयितुं जृम्भा भगवतः, अन्यथा द्रष्टुं सा न शक्नुयात्, भिन्नं जगन् मायिकं वा तत्र दृष्टवतीतिपक्षं व्यावर्तयितुं तुशब्दः, इदं जगज्जृम्भतो भगवतोर्यान्मुखद्वारा भगवति ददृशे, इदं ब्रह्माण्डमात्रस्यैव प्रदर्शनं अग्रे सम्यगधिकारे सिद्धे सर्वस्यापि प्रदर्शनं वक्ष्यति ॥ ३७ ॥ "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दा"दित्यधिकरणे प्रपञ्चाधारत्वे ब्रह्मत्वं सिद्धं तदचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वं सम्भविष्यतीत्याश्चर्यं विहाय भगवत्परं चित्तं भवति, तत्र दृष्ट भ्रमव्यावृत्त्यर्थं गणयति खमिति, आदौ खमाकाशं विस्तीर्णं, ततो रोदसी द्यावापृथिव्यौ तत्र तु तदाधारं, तथा ज्योतिरनीकं ज्योतिश्चक्रं द्यावापृथिव्याधारं, दश दिशस्तत एव विभक्ताः, सूर्येन्दुवह्नयस्त्रिविधं ज्योतिः, श्वसनो वायुः, अम्बुधयः समुद्राः, भूम्याकाशावुक्तावेव, एवं पञ्च भूतान्युक्तानि, भूमिभेदा द्वीपादयोलौकिकज्ञानार्थं सप्त द्वीपाः, नगाः पर्वतास्तद्व्यावर्तकास्तदवान्तरज्ञानहेतवः, तद्दुहितरो नद्यः, वनानि तदवान्तरभेदा अल्पीयांसोपि, ततोपि सूक्ष्मा दृष्टा इत्याह भूतानीति, यानि प्रसिद्धान्यपि यथा कल्पवृक्षा यथा वा नारदादयो ब्रह्मादयो वा, आधाराधेयभाववस्तु तस्या न प्रतीतोकस्माज्जृम्भानन्तरमेव सर्वं दृष्टम् ॥ ३८ ॥ अग्नीषामात्मकत्वाच्च जगतोप्यापि तस्यास्तथाधिकारो न जात इत्यधिकारार्थं प्रदर्श्य पुनर्नेत्रनिमीलने तत् तिरोहितं कृत्वा विस्मयाविष्टेव भगवता कृतेत्याह सा वीक्ष्येति, विश्वं तया पूर्वं श्रुतमिदानीं दृष्टं, सहसा गमनादिकारणव्यतिरेकेणैव, न जानाति भगवता द्वयं सम्पादितमिति, "तस्माज्जञ्जभ्यमानादग्नीषोमौ निरक्रामता"मितिश्रुतेः, तिरोभावप्रस्तावात् सिद्धवत्कारेणोक्तं, सहसेत्यकस्मात्, तस्मिन् दृष्टे सम्यग् जातो वेपथुः कम्पो यस्यास्ततः समीचीनमेव विश्वमधिकाराभावाद् भयानकं जातं, ततो नेत्रे सम्मील्य तत्र स्वभावो हेतुर्बलिष्ठ इति दृष्टान्तमिवाह मृगशाववदक्षिणी यस्याः, मृग एव भीरुस्ततोपि शावो बालकः, सौन्दर्यं चाक्ष्णोर्निरूपितं भगवद्दर्शनयोग्यत्वाय, ततोन्तःकरणे विस्मय एवोत्पन्न इत्याह सुविस्मितासीदिति, सुतरां विस्मितासीत्, पूर्वं कार्यदर्शनापेक्षयापि कारणे दृष्टेधिको विस्मयो जात इत्यर्थः।

पूतनासुपयःपाता बालदुःखनिवारकः । प्रपञ्चस्मृतिहन्ता च गोकुले राजते हरिः ॥ १ ॥
स्वासक्त्यर्थं शकटभित् तृणावर्तविनाशकः । सामर्थ्यज्ञापनार्थाय विश्वाधारः प्रसीदतु ॥ २-३९ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तर-प्रमाणप्रकरणे यशोनिरूपकतृतीयाध्यायस्य स्कन्धादितः सप्तमाध्यायस्य विवरणम् ॥ ७ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

सा वीक्ष्येत्यस्याभासोक्तौ, अद्यापि तस्या इत्यादि । अत्रायमाशयः । मातुर्हि पुत्रत्वेनैवात्र स्नेहः, स च लौकिकसरूप एव वाच्यः, परन्तूत्कटः स्वरूपतोऽलौकिकश्च । तथा च तत्र लौकिकविजातीयधर्मदर्शनं प्रथमत एव स्नेहप्रयुक्तातिभयजनकम्, येन प्राणस्थितिर्न भवति, अतः क्रमेण किञ्चित् किञ्चित् तथाविधधर्मदर्शनेग्रे सहजभगवद्धर्मत्वेन ज्ञानाद्धैर्येण सर्वसामञ्जस्यं भविष्य-तीत्यधुना तथा ज्ञानाभावाद्धैर्याभाव एवाधिकाराभावरूप उच्यते । तेन क्षणमात्रं प्रदर्श्य तिरोहितं कृत्वा विस्मयरसमुत्पादितवानिति सर्वं सुस्थमिति ।

इति सप्तमोध्यायः

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एकदेत्यत्राभासे **द्वितीयमिति** तृष्णानिवर्तकं, **विवृतौ "ननु पत्रं पुष्प"**मितिगीतावाक्ये ये हेतवो भगवद्भोजन उक्तास्तेषामभावे भगवान् कथं स्तन्यं भुक्तवानित्याकाङ्क्षायां तेषां सत्त्वं मातृचरणेष्वाहुः **प्रयतात्मत्वमित्यादि दानमुक्त**मित्यन्तं, नन्वेवं सति स्वत एव कुतो न स्तन्यं गृहीतवानित्याकाङ्क्षायां श्रुत्युक्तमनश्नत्वं वैराग्यं च **हेतुत्वेन सूचयन्त्यन्तरित्यादि, व्यापारनिवृत्त्यर्थमिति** पानमितिशेषः, तर्हि तावत् करणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामग्रिमाभासमाहुर्**भक्तीत्यादि** ॥ ३६ ॥ **पीतप्राये**त्यस्य **विवृतौ तथाकरण** इति मुखलालने, तथाच **स्नेहाधिक्यात्** तथाकृतिरितिभावः, **अस्ये**ति परीक्षितः मुखलालनादेर्वा, **सर्वस्यापीति** ब्रह्माण्डस्य तद्बहिःस्थस्यापि तत्प्रयोजनमाहुर्**जृम्भायायतन**मित्यादि **भवता**त्यन्तम् ॥ ३७ ॥ खमित्यत्र तत्त **तदाधारमि-**त्याकाशं द्यावापृथिव्योराधारं, अवकाशाभावे तत्स्थित्यसम्भवेन तत्स्थितिजनकसहकारीत्यर्थः, **तत एवेति ज्योतिश्चक्रादेव, अलौकिकेति** कदाप्यस्मिन् जन्मन्यप्रत्यक्ष इत्यर्थः, **आधाराधेयभाव** इति भगवानाधारः **सर्वमाधेयमिति** भावः, जृम्भानन्तरमेव दर्शने हेतुरग्नीत्यादि ॥ ३८ ॥ **सा वीक्ष्ये**त्यस्याभासे **जगतोग्नीषोमात्मकत्वात्** प्राणापानात्मकत्वादित्यर्थः, इदमग्रिमश्लोके स्फुटीकर्तव्यं, **अद्यापि तस्या** इत्यादि, एतत्तात्पर्यं टिप्पणीतोवगन्तव्यं, विवृतौ **द्वयमिति** विश्वदर्शनं जृम्भा च, तत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति **तस्मादित्यादि**, श्रुतिस्तु तैत्तिरीयाणां द्वितीयाष्टकेग्नीषोमीयपुरोडाशोपाख्यानेस्ति, **अर्थस्तु तस्माद्** वृत्राज् जञ्जृभ्यमाणाज् जृम्भया विकासितमुखादग्नीषोमौ प्राणापानात्मकौ **देवौ** निरक्रामतां निर्गतौ जाताविति तथा च जृम्भया विकासितमुखत्वे प्राणापानात्मकं **सर्वं** जगन् निर्गतमिति श्रुत्या कथनाद् भगवता जृम्भा जगत्प्रदर्शनं च सम्पादितमित्यर्थः, ननु विश्वदर्शनप्रस्तावे शुकेन जगदुत्पत्तिरपि संशयाभावाय कुतो नोक्ता सिद्धवदेव कस्मादुक्तमित्यत **आहुस्तिरोभाव** इत्यादि, राज्ञा हि तृष्णानिवृत्त्यर्थं यच् चरित्रं पृष्टं तदुत्तरत्वेन शुकैरिदमुच्यते **तृष्णा** च तदवापैति यदा जगतोनित्यत्वं ज्ञायते तच्च 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चे'त्यत्र सिद्धं, तच्च जगत ओदनत्वादिकं तदैव ज्ञातुं शक्यते यदा मुखे दृश्यते**तस्तिरोभावप्रस्तावात्** सिद्धवत्कारेणोक्त-मित्यर्थः, **कार्यदर्शनापेक्षये**ति गुरुत्वानुभवापेक्षया, **कारण** इति जगति, **सामर्थ्यज्ञापनार्थाये**ति **सामर्थ्यज्ञापनेन** योर्थः सम्भवेत् तन्निवृत्तिरूपस्तन्निमित्तमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे सप्तमाध्यायविवरणम् ॥ ७ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एकदेत्यत्र परमसौभाग्यवतीति 'कोपना सैव भामिनी' त्युक्तत्वात् स्वाधीनपतिकेत्यर्थः, **स्वत** इति भामिनीत्वादङ्के भगवदारोपणाच्चेत्यर्थः, **प्रयतात्मत्वमिति** जितेन्द्रियाया एव पतिरधीनो भवतीतिभावः, एतेन 'पत्रं पुष्प'मितिवाक्योक्तमर्यादा सिद्धेतिभावः, **फलरूपं स्वधर्मज्ञानमिति** "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्याद् भगवद्धर्मज्ञानं भक्तेः फलमिति भावः ॥३६॥ **पीतप्राय-स्येत्यत्र मोहसहितमिति** स्मितस्य मायारूपत्वादितिभावः, **अग्निवायू** इति श्रुतौ 'इन्द्र आत्मनः शीतरूरावजनय' दित्युक्त्वाग्रे 'ताभ्या-मेनमभ्यनयत् तस्माज् जञ्जृभ्यमानादग्नीषोमौ निराक्रामता'मिति वृत्रप्रसङ्गे निरूपितं, 'शीतं' जाड्यं 'रूर'स्तज्जनितो ज्वरात्म-कस्ताप इतिवेदभाष्ये निरूपितं, तत्र 'शीतं' वायुः, 'रूरो'ग्निः, अतो जृम्भा अग्निवायुजन्या, भगवद्धर्माणामलौकिकत्वादत्राग्निर्ज्ञान-शक्तिरूपो **वायुः** क्रियाशक्तिरूप इतिभावः ॥ ३७ ॥ खमित्यत्र पूर्वं विश्वदर्शने ज्ञानक्रियायुक्तत्वं यशोदानिष्ठो **हेतुरुक्तः, अत्र** जगन्निष्ठमपि हेतुमाहुः **अग्निषोमात्माकत्वाच्चेति**, इदं बृहदारण्यके 'सोमोन्नमग्निरन्नाद' इति स्फुटं, यद्यपि श्रुतौ वृत्रस्य जृम्भया-

ग्नीषोमयोर्निष्क्रमणमुक्तं तथापि तत्सामर्थ्यं तदाविष्टभगवत एव, अत एव तत्राग्नीषोमयोः स्वरूपत एव निर्गमनं अत्र तु भगवतः पूर्णत्वात् तदात्मकविश्वस्य सर्वस्यैव निर्गमनमितिभावः ।। ३८ ।। **सा वीक्ष्ये**त्यत्र **गमना**दीति भगवत्क्रियास्थापनाद् दर्शनार्थं तत्र तत्र द्वीपादिषु गमनमपि 'तदेजति तन्नेजती' तिप्रकारकमेव सम्पन्नमितिभावः, **द्वयं सम्पादित**मिति अग्नेः सोमस्य च निष्क्रमणमित्यर्थः, जृम्भया तन्निर्गमे श्रुतिं प्रमाणयन्ति तस्मादिति, सिद्धवत्कारेणेति वीक्ष्येति ल्यबन्तेनैवोपसंहार उक्तः ।। ३९ ।।

(४) श्रीमदीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एकदार्भकमादायेत्यस्य विवृतौ **प्रयोजककर्तृव्यापारनिवृत्त्यर्थ**मिति स्तनपाने **प्रयोजककर्त्री** श्रीयशोदा तस्या आग्रहपूर्वकस्तनपानजनकव्यापारनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः, **भक्तिप्रवणां** कृत्वेति शुद्धपुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्ददर्शनपरां कृत्वेत्यर्थः, अन्यथाग्रहेण चेत् स्तनपानं कारयेत् तदा बालानामुपद्रवो भवेदितिभावः ।। ३६ ।। **पीतप्रायस्ये**त्यत्र **अग्निवायू ज्ञानक्रियारूपे** इति जृम्भाया अग्निवायुजन्यत्वं तैत्तिरीयाणां द्वितीयाष्टके "इन्द्र आत्मनः शीतरूरावजनय"दित्यत्र पठितं, तत्र शीतरूरयोर्वाय्वग्निरूपता वेदभाष्ये निरूपिता, तथा च भगवता स्वसम्बन्धिक्रियारूपो वायुः स्वसम्बन्धिज्ञानरूपोऽग्निर्यशोदायां योजितः, स्वस्य क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती योजिते इत्यर्थः ।। ३७ ।।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एकदार्भकमादायेत्यस्याभासे श्लोकचतुष्टयस्य क्रमेण वाक्यार्थानाहुर्भक्तिर्ज्ञानमिति का० ३९$\frac{३}{४}$ । "एकदार्भकमादाये"ति श्लोके **भक्तिः**, "पीतप्रायस्य जननी"त्यत्र **ज्ञानं**, "खं रोदसी"त्यत्र **पूर्णं ज्ञानं**, "सा वीक्ष्य विश्व"मित्यत्र विस्मयः । अध्यायसमाप्तौ पूतनेत्यादि का० ४०$\frac{३}{४}$, ४१$\frac{३}{४}$ ।

इति सप्तमोऽध्यायः

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

आश्चर्यश्रवणे सावधानतार्थं सम्बोधयति—राजन्निति । पीतप्रायः स्तनो येन तथाभूतस्य, संतोषपर्यंतं न पीत इति प्रायग्रहणम् । मुखं लालयती चुम्बनादिनोल्लासयन्ती सा जननी यशोदा जृम्भतस्तन्मुखे इदं बहिर्दृश्यमानं विश्वं ददृशे । लालने हेतुमाह—रुचिरं स्मितं यत्र तदिति ।। ३५ ।। तया दृष्टं विश्वं दर्शयति–खमिति । खमाकाशम्, रोदसी द्यावापृथिव्यौ, ज्योतिरनीकं ज्योतिश्चक्रस्थं गुर्वादिज्योतिःसमूहम्, आशा दश दिशः, सूर्यादींश्च, जम्ब्वादिसप्त द्वीपान्, नगान् पर्वतान्, तद्दुहितः नदीः, स्थिराणि स्थावराणि जङ्गमानि च यानि भूतानि तानि च ददृशे इति पूर्वेणवान्वयः ।। ३६ ।। राजन् ! सा यशोदा सहसा अकस्मादेकदैव एवं पुत्रमुखे विश्वं वीक्ष्य भीता सती 'एतद्दर्शनं माभूत्' इत्यभिप्रायेण नेत्रे सम्मील्य सुविस्मिता 'किमिदं मया दृश्यते ?' इत्याश्चर्ययुक्ता आसीदित्यन्वयः । भयचिह्नमाह–सञ्जातवेपथुरिति । भयहेतुत्वेन तस्याः सौकुमार्यं सूचयन्नाह–मृगशावाक्षीति मृगशावो मृगपोतः, तस्याक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा ।। ३७ ।।

इति श्रीवल्लभाचार्य–वंश्यगोपालसूनुना ।। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ।। १ ।।
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये ।। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ।। २ ।।
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने ।। सप्तमो विवृतो ऽध्यायोऽनोभङ्गादिनिरूपकः ।। ३ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

पीतेति ।। हे राजन् ! पीता गावो विभक्ता भ्रातर इतिवत् कर्माविवक्षया कर्तरि क्तः । प्रायेण पीतः पीतप्रायः यद्वा पीतं पानं प्रायमीषन्न्यूनं यस्य तस्य श्रीकृष्णस्य रुचिरं स्मितं यत्र तत् मुखं लालयती लालयन्ती । नुमभाव आर्षः । सा जननी यशोदा जृम्भतः जृम्भमाणस्य । आर्षः शता । तस्य कृष्णस्य मुखे इति शेषः । इदं वक्ष्यमाणं खादिकं ददृशे । तङार्षः । कृष्णस्य मुखं लालयन्ती तद्द्वारा जठरे ददर्शेति वा । "कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या" इत्युक्तेः । मुखे इत्यपि पाठः ।। ३५ ।। खमिति ।। खमाकाशं रोदसी द्यावापृथिव्यौ ज्योतिरनीकं तारादिसमूहम् आशा दिशः सूर्यम् इन्दुं वह्निं श्वसनं वायुम् अम्बुधीन् समुद्रान् द्वीपान् जम्ब्वादीन् नगान् द्वीपाख्याकरान् जम्ब्वादिवृक्षान् पर्वतान् वा तद्दुहितृः नदीः वनानि स्थिराणि स्थावराणि जङ्गमानि च यानि भूतानि तानि च ददृशे ।। ३६ ।। सा वीक्ष्येति ।। हे राजन् ! सा यशोदा सहसा अकस्मादेकदैवैवं पुत्रमुखे विश्वं वीक्ष्य भीता मृगशावस्येव त्रस्ते अक्षिणी यस्याः तादृशी अत एव जातवेपथुः सञ्जातकम्पा सती भयादेव एतद्दर्शनं मा भूदित्यभिप्रायेण नेत्रे संमील्य सुविस्मिता किमिदं मया दृश्यत इत्याश्चर्ययुक्ता आसीत् । यद्वा । विस्मिता भगवद्ध्यानार्थं नेत्रे निमील्य भगवन्नस्मादुत्पातान्मत्पुत्रं पाहीति चिन्तयन्ती आसीत् ।। ३७ ।।

इति श्रीभागवते दशमेस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

स्वांकं स्वस्योत्संगम् आरोप्य स्थापयित्वा स्नेहेन परिप्लुता परिपूर्णा सती प्रस्नुतं स्तनं पीतप्रायस्य कृतपानस्य रुचिरं मनोहरं स्मितं हास्यं यस्मिन् तत् जृंभतो विजृंभमाणस्य सुतस्य मुखे इदं विश्वं ददृशे ददर्श ॥ ३४ ॥ खं गगनं रोदसी द्यावाभूमी ज्योतिरनीकं ज्योतिर्गणं श्वसनो वायुः अगान् गिरीन् तद्दुहितृर्नदीः ददृशे इति पूर्वेण संबंधः। संजातवेपथुः प्राप्तकंपा मृगस्य शावो बालस्तस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्याः सा नेत्रे संमील्य ॥ ३६ ॥

इति शुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवते तस्यदशमस्कंधव्याख्याने तृणावर्त्तवधो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पीतप्रायस्येति ॥ हे राजन्, सा जननी यशोदा, पीतप्रायस्य पीतप्रायस्तनस्य, कृतस्तन्यपानस्येत्यर्थः। पीतमिति भावे क्तः। पीतं पानमस्यास्तीति पीतः। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्। तत्प्रायः, यद्वा। भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत्कर्त्तरि क्तः। तस्य सुतस्य, रुचिरं स्मितं यस्मिंस्तत्, मुखं लालयती चुम्बनादिना लालनं कुर्वती सती, जृम्भतः जृम्भणं कुर्वतः, सुतस्य, मुखे इति शेषः। इदं वक्ष्यमाणं खाद्यात्मकं जगत्, ददृशेऽपश्यत् ॥३६॥ तद्दृष्टजगदन्तर्भूतपदार्थानाह ॥ खमिति ॥ खमाकाशं, रोदसी द्यावापृथिव्यौ, एतत् द्यावापृथिव्यर्थकमव्ययम्। ज्योतिरनीकं शुक्राङ्गारकादिज्योतिश्चक्रं, आशा दिशः, सूर्यश्चेन्दुश्च वह्निश्च श्वसनश्चाम्बुधयश्च तान्, सूर्यादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वः। द्वीपान् जम्ब्वादीनन्तरीपान्, नगान् गिरीन्, तद्दुहितॄर्नदीः, वनान्यरण्यानि, यानि स्थिरजङ्गमानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि, तानि च, ददृशे ॥ ३७ ॥ सेति ॥ हे राजन्, मृगशावाक्षी मृगबालनयनसमाननयना, सा यशोदा, सुतस्य मुखे इति शेषः। विश्वं खादियुक्तं सकलं जगदित्यर्थः। वीक्ष्यावलोक्य, संजातः वेपथुः शरीरकम्पो यस्याः सा तथाभूता सती, सहसा, नेत्रे स्वकीयेऽक्षिणी, संमील्य, सुविस्मिता आसीद् बभूव ॥ ३८ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थविबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सा वीक्ष्येतिः १०.७.३७.

दिव्यानामपि मुनिसिंहचक्षुषां यद् द्रष्टुं न प्रभवति शक्तताऽत्र रूपे।
का शक्तिर्लघु-मृगशाव-नेत्रयोरि- त्यासीत् सा नयर्मानमीलितेति युक्तम् ॥ ४५ ॥

श्रीशकल्प० ॥

इती श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

कृष्णप्रिया

जब वे प्रायः दूध पी चुके और माता यशोदा उनके रुचिर मुसकान से युक्त मुख को चूम रही थीं उसी समय श्रीकृष्ण को जँभाई आ गयी और माता ने उनके मुख में यह देखा ॥ ३५ ॥ उसमें आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदियाँ, वन और चराचर प्राणी समस्त स्थित हैं ॥ ३६ ॥ परीक्षित्! अपने पुत्र के मुँह में इस प्रकार सहसा सारा जगत् देखकर मृगशावकनयनी यशोदाजी का शरीर काँप उठा। उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें बंद कर लीं। वे अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ ३७ ॥

इति सातवाँ अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

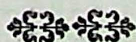

अथाष्टमोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि.	उ.	व.	मंदा.	उ. श्लो.	अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो.	अ.	सं. श्लो.	अ.
५२	४१	४	४	३	११	१९४०		६५	४७	२०५२		६४	४

[1]श्रीशुक उवाच

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः । व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रणोदितः ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः । [2]आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरस्सरम् ॥ २ ॥

सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् । नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम् ॥ ३ ॥

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् । निः[3]श्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—राजन् वसुदेवप्रणोदितः सुमहातपाः यदूनां पुरोहितः गर्गः नन्दस्य व्रजं जगाम ॥ १ ॥ तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः परमप्रीतः प्रणिपातपुरःसरम् अधोक्षजधिया आनर्च ॥ २ ॥ कृतातिथ्यं सूपविष्टं मुनिं सूनृतया गिरा नन्दयित्वा अब्रवीत् ब्रह्मन् पूर्णस्य किम् करवाम ? ॥ ३ ॥ भगवन् महद् विचलनं दीनचेतसां गृहिणां नृणां निःश्रेयसाय कल्पते क्वचित् अन्यथा न ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे नामकर्मास्य बालक्रीडाकुतूहले ॥ मृद्भक्षणाभियोगे च विश्वरूपं निरूप्यते ॥ १ ॥
विश्वरूपादिबालस्य निशम्याऽऽशंकिनः पितुः ॥ नामकृद्गर्गवाक्येन निजं तत्त्वमसूसुचत् ॥ २ ॥

पूर्णश्चेत्कथं धनिनां गृहमागतस्तत्राह । महद्विचलनमिति । महतां स्वाश्रमादन्यत्र विचलनं न स्वार्थं किन्तु गृहिणां मंगलाय । ननु तर्हि त एव महद्दर्शनार्थं किमिति नागच्छंति तत्राह । दीनचेतसां कृपणानां क्षणमपि गृहं त्यक्तुमशक्नुवतामित्यर्थः ॥ १–४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

बालक्रीडायाः कुतूहले कौतूके मृदशनसंबंधे च (१) । आशंकिनः । शंकावतः । पितुः नंदस्य । निजं तत्त्वं स्वमैश्वर्यम् (२) सुमहातपाः सर्वतपस्विमुख्यः ॥ १ ॥ अधोक्षजधिया "अव्यक्तरूपिणो विष्णोः स्वरूपं ब्राह्मणा भुवि" इत्युक्तेः ॥ २ ॥ सूनृतया यथार्थमधुरया । पूर्णस्य कृतकृत्यस्य । नंदयित्वा श्लाघयित्वा ॥ ३ ॥ पूर्णत्वमाशंक्य समाधत्ते महदित्यादि । निश्श्रेयसत्वमाशंकते–नन्विति । यदि महद्विचलनं गृहिमंगलं तर्हि तदा । त एव गृहिण एव । इत्यर्थ इति । इदं कृतमिदं करिष्य इत्येवमिति कृत्यासक्तत्वात्तेषां नहि महद्दर्शनावकाश इति भावः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवमैश्वर्यसम्वलितं बाल्यचरितमसुरमारणप्रसङ्गेन लीलान्तरव्यन्तरितमप्युक्त्वा पुनः परावृत्य केवलं बाल्यस्वाभाविकं परममनोहरं यथाक्रमं कथयन्नादौ दिग्विशिषशताह इति ज्योतिःशास्त्राभिप्रायेण प्रायः शततमदिने नामकरणमाह—गर्ग-इत्यादिना जना इत्यन्तेन । हे राजन्निति पूर्वलीलाश्रवणसुखाविष्टं राजानं कथान्तरेऽवधापयति, सुमहातपाः अनिर्वचनीय-भाग्यवान् येन श्रीवसुदेवस्य श्रीनन्दस्य श्रीकृष्णस्य चैवं परमात्मीयतां प्राप्त इति भावः ॥ १ ॥ आनर्च नन्द इति शेषः । अधोक्षजधिया परमेश्वर इव भक्त्येत्यर्थः ॥ २ ॥ सूपविष्टं पादप्रक्षालनादिना पथि श्रमापनोदनेन सदासने सुखोपविष्टं कृतम् आतिथ्यं मधुपर्काद्यर्पणलक्षणं यस्य तं सूनृतया मधुरस्तोत्ररूपया मुनिं नन्दाभिप्रेतश्रवणाय प्राक् कृतमौनमित्यर्थः । पूर्णस्य श्रीभगवद्भक्त्या सिद्धसर्वार्थस्य तत्र हेतुः ब्रह्मन् हे सर्ववेदार्थज्ञानेन बृहत्तम ! "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" इत्यादिना "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादिना च तद्भक्तावेव तात्पर्यपर्यवसानात् ॥३॥ महतां श्रीभगवत्सेवादिनिष्ठत्वाद्विशेषेण चलनं स्वस्थानादन्यत्र

१. बादरायणिरुवाच–इति कस्यचित् । २. अभ्यर्च्या–इति कस्यचित् । ३. नैः श्रेयसाय–इति कस्यचित् ।

दूरे गमनं नृणामिति स्वभावत ऐहिकपारलौकिककर्मपराणामित्यर्थः। तत्रापि गृहिणां जायापुत्रादीनामपि तत्तद्धितव्यग्राणाम् अत एव दीनचेतसां निःश्रेयसाय सर्वमङ्गलाय भगवन् हे सर्वज्ञेत्यर्थः। प्रवृत्तिश्चेदित्यादिवचनात् अतो विज्ञानां भवद्विधानाम् अज्ञेषु मद्विधेषु कृपया स्वयमागमनमुचितमेवेति भावः। कल्पते घटते अन्यथा दीनजननिःश्रेयसार्थव्यतिरेकेण कदाचिदपि न घटते महतां निःश्रेयसस्वाभाव्यात् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवमैश्वर्य्यसम्वलितं बाल्यचरितमुक्त्वाधुना केवलं बाल्यस्वाभाविकं परममनोहरं यथाक्रमं कथयन्नादौ यथाकालं नामकरणमाह गर्ग इत्यादिना जना इत्यन्तेन। हे राजन्निति क्षत्रियाणां पुरोधसैव संस्काराः क्रियन्त इति व्यवहारा भवता ज्ञायत एवेति भावः। सुमहातपाः, यद्वा, श्रीभगवन्नाम-भाग्यवान्, यद्वा, महाभागवतोत्तम इत्यर्थः। वसुदेवेन प्रेरित इति पुत्रसंस्कारेऽप्याज्ञाया अपेक्ष्यत्वात् ॥ १ ॥ आनर्च्च नन्द इति शेषः। अधोक्षजधियेन्द्रियज्ञानागोचरोऽपि भगवानयं साक्षाद्भूत इति-बुद्ध्या, इति परमभक्तिरुक्ता; यद्वा, शकटस्य श्रीभगवदुपर्य्यपतनादिना शकटाक्षस्याधः पुनर्जात इवेत्येवं शकटभञ्जनानन्तरं व्रजेऽधोक्षजनाम्ना प्रसिद्धे तस्मिन् स्वपुत्रधिया तदासक्त्या तत्क्षेमार्थमित्यर्थः। प्रणिपातो दण्डवत्प्रणामो विनयेनातिनम्रता वा, तत्पूर्वकम् ॥ २ ॥ सुपविष्टं पादप्रक्षालनादिना पथि-श्रमापनोदनेन सदासने सुखोपविष्टम्; कृतमातिथ्यं मधुपर्काद्यर्पणलक्षणं यस्य तम्; सूनृतया मधुरस्तोत्ररूपया मुनिं परमाचर्य्यम्, किंवा श्रीनन्दाभिप्रेतश्रवणाय प्राक्कृतमौनमित्यर्थः। पूर्णस्य श्रीभगवद्भक्त्या सिद्धसर्व्वार्थस्य। तत्र हेतुः—ब्रह्मन्! हे सर्व्ववेदस्वरूपेति वेदस्य हि सृष्ट्यादौ स्तुत्या सुप्रसन्ने भगवति भक्तिविशेषेणाभीष्टसिद्धेः; तदाख्यानं बृहद्वामनपुराणे व्यक्तमेव; यद्वा, साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपेति तस्य हि भगवन्महाविभूतित्वेन स्वत एव साक्षात् सर्व्वार्थसम्पत्तेः ॥ ३ ॥ महतां श्रीभगवत्सेवैकनिष्ठानां विशेषेण चलनं स्वस्थानादन्यत्र दूरे गमनम्। नृणामिति कर्म्मस्वधिकारेण सदा तत्पराणामित्यर्थस्तत्रापि गृहिणामत एव दीनचेतसां निःश्रेयसाय सर्व्वमंगलाय। भगवन्! हे सर्व्वज्ञेत्यर्थः, 'प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिं' इत्यादिवचनात्; यद्वा, साक्षाच्छ्रीनारायणेत्यर्थः,—पूजादौ भगवद्भागवतयोरभेदात्। एवं तस्य सर्व्वसामर्थ्यमपि सूचितम्। कल्पते घटतेऽन्यथा दीनजननिःश्रेयसार्थव्यतिरेकेण कदाचिदपि न घटते, यतः कथमपि महतां विपद्विघ्नाद्यभावात्; यद्वा, महतां विचलनं श्रीभगवत्सेवालक्षणात् स्वधर्म्मात् किञ्चित् स्खलनमपि गृहिणां निःश्रेयसाय समर्थं स्यादन्यथा तेषां स्वगृहे भगवत्सेवापरतयान्यत्राप्रस्थानेनान्यकर्म्मानाचरणेन च गृहासक्तानां कदाचिदपि निःश्रेयसासिद्धेरित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तं गर्गं प्रीतः नन्दः सूनृतया मधुरया ॥ २-३ ॥ महद्विचलनं महतामागमनम् ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ गर्गेण कृतसंस्कारस्य तत्सूचितमाहात्म्यस्य भगवतो मात्रे विश्वरूपप्रदर्शनं तद्विस्मापनादिरूपं च चरित्रमाहाष्टमे गर्ग इति। गर्गः यदूनां पुरोहितोऽत एव वसुदेवेन प्रचोदितः नन्दस्य व्रजं जगाम ॥ १ ॥ अधोक्षजधिया भगवद्बुध्या नमस्कार-पूर्वकं यथा तथा आनर्च अर्चितवान्नन्द इति शेषः ॥ २ ॥ अतिथये निवेदितमन्नादिकमातिथ्यं तत्कृतं भुक्तं येन तं सुपविष्टं गर्गं सूनृतया मधुरया गिरा नन्दयित्वा हर्षयित्वा अब्रवीत्, उक्तिमेवाह—ब्रह्मन्नित्यादिना यदूनामहमित्यन्तः प्राक्तनेन। हे ब्रह्मन्! पूर्णस्याऽऽप्तकामस्य तव किं करवाम न किमप्यपूर्वप्रीतिकरं कर्म कर्तुं प्रभवामेत्यर्थः। यद्वा पूर्णस्य परब्रह्मानन्दानुभवपूर्णस्य तव किं करवाम किङ्करा वयमित्यर्थः ॥ ३ ॥ पूर्णश्चेदहं कथं धनिनां गृहमागतः? तत्राह—महद्विचलनमिति। हे भगवन्, महतां भवतां विचलनं स्वाश्रमादन्यत्र सञ्चारः विषयादिसङ्गदीनचेतसां मादृशां गृहिणां निःश्रेयसायैव कल्प्यते अन्यथा तु कदाचिदपि न कल्पते नतु स्वार्थं किन्तु मादृशानुग्रहार्थमेवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेस्तत्तदवतारे तत्तद्योनिविहितं कर्म कर्तव्यमिति देवजनशिक्षणार्थं तद्विधीयतेऽस्मिन्नध्याये ॥ १ ॥ आनर्च पूजितवान् ॥ २ ॥ सूनृतया यथार्थमधुरया पूर्णस्य कृतकृत्यस्य ॥ ३ ॥ महतां पुंसां विचलनं गमनम् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अधोक्षजधिया तदधिष्ठानत्वेनाभेददृष्ट्या ॥ १-४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अष्टमे नामकरणं रिङ्गणं गव्यमोषणम्। मृद्भक्षणं विश्वरूपदर्शनं च निगद्यते ॥

असुरवधप्रसङ्गसङ्गत्यैव तृणावर्त्तवधमुक्त्वा तत्प्राचीनानि नामकरणादीनि चरितान्यनुस्मृत्य वक्तुमुपक्रमते—गर्गः पुरोहित इत्यादिना ॥ १-३ ॥ पूर्णस्य तव किं करवाम अपि तु न किमपि कर्त्तुमर्हाम इत्यर्थो वा किंशब्दस्य प्रश्नार्थत्वात् पूर्णस्य

तव किमपेक्षितं वर्तते तत् ब्रूहि वयं करवामेत्यर्थो वा आद्ये मम त्वद्गृहागमनस्य वैयर्थ्यं द्वितीये पूर्णत्वस्येति चेन्मैवमुभयत्राप्यु-भयं न व्यर्थं प्रत्युताभिनन्दनीयत्वात् परमसार्थकं कृपापारवश्यात् सनत्कुमारवामनादीनां परमपूर्णानामपि पृथुबलिप्रभृतीनां गृहा-गमनस्य दृष्टत्वादित्याह-महतां स्वाश्रमादन्यत्र विचलनं गृहिणां निःश्रेयसाय परममङ्गलाय कल्पते समर्थं भवति तदेव तेषामपेक्षित-मपीत्यर्थः। नृणामिति गृहिष्वपि मध्ये नृणामेव न तु देवादीनाम् एवं नृष्वपि मध्ये गृहिणामेव न तु ब्रह्मचार्यादीनां तत्रापि दीनं तृणादपि दुर्भगम्मन्यं चेतो येषामिति तेष्वेव महत्कृपाधिक्यसम्भवात् न तूत्तमम्मन्यकठोरवक्रचेतसाम् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अष्टमे गर्गकृतं बालनामकरणं बालचरितं च वर्णयति-गर्ग इति ॥ १-३ ॥ महतां विशेषतः चलनं जनमुद्दिश्य गमनं निःश्रेयसाय भुक्तिमुक्तिरूपाय कल्याणाय ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

वर्णितं नामकरणं रिङ्गणं दधिमोषणम्। विश्वरूपेक्षणं मातुरैश्यज्ञानं तथाऽष्टमे ॥

दुष्टवधप्रसङ्गेन तृणावर्त्तवधो विहितः ततः पूर्वाणि नामकरणादीन्यभिधत्ते गर्ग इति ॥ १ ॥ अधोक्षजधिया भगवत्तनू-बुद्ध्या ॥ २ ॥ सूपविष्टं पादप्रक्षालनादिपूर्वकं सदासने स्थितं कृतम् आतिथ्यं मधुपर्कार्घ्यर्पणलक्षणं यस्य सूनृतया मधुरस्तोत्ररूपया पूर्णस्य श्रीहरिभक्त्या सिद्धसर्वार्थस्य ॥ ३ ॥ पूर्णश्चेद्धनिनां गृहे कथमागतस्तत्राह महदिति महतां स्वाश्रमादन्यत्र विचलनं गृहिणां निःश्रेयसाय न तु स्वार्थं ननु गृहिणस्तद्दर्शनाय कुतो न गच्छन्ति तत्राह दीनचेतसामिति जायापुत्रादिहितचिन्तया क्षीणमनसां गृहं त्यक्तुमसमर्थानामित्यर्थः। अन्यथा दीनजननिःश्रेयसार्थाद्विना न घटते ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ तत्तदवतारे तत्तत्कुलानुकूलकर्म कर्तव्यं द्विजमनुजशिक्षणार्थमिति मतिर्गर्गादिरचितसूचितं तत्समयेऽ-च्युतो न मेन इति शंसति ॥ गर्ग इत्यादीति। वसुदेवप्रचोदितो गर्गो नन्दस्य व्रजं जगाम ॥१॥ आनर्चापूजयत्। अधोऽक्षजधिया सर्वसभाजनभाजनं जनार्दन इति मत्या प्रणिपातो दण्डवदवनौ पातो नमनमिति यावत् तत्पूर्वकम् ॥ २ ॥ नन्दयित्वा सन्तोष्य पूर्णस्यास्मत्कर्तव्यकर्मरहितस्याथाऽपि किं करवामेति सूनृतया गिराऽब्रवीत् ॥ ३ ॥ महतां विचलनं सञ्चारो निःश्रेयसाय। अचतुरनिपातः। क्षेमायेह मोक्षाय च ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

येनैव तु चरित्रेण सत्त्वं शुध्यति सर्वथा। सर्वस्य मूलं यद्यस्मात् तदष्टम उदीर्यते ॥ १ ॥
नामान्यग्रे शोधकानि ततो रूपाण्यनेकशः। ज्ञान भक्तिश्च भाग्यं च पश्चार्था सर्वशोधकाः ॥ २ ॥
संस्कृतान्येव नामानि शोधकानीति संस्कृतिः। स्वेच्छालीलाविशिष्टं हि रूपमानन्दभावतः ॥ ३ ॥
अन्येच्छया कृतान्यत्र चरित्राणि ततोन्यथा। ज्ञानं प्रत्यक्षतो दृष्टं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ॥ ४ ॥
स्नेहश्चालौकिके तद्वद् हेतुश्च महतां कृपा। पूर्वस्मिन् हृदये सिद्धे स्वत एवाग्रिमं भवेत् ॥ ५ ॥
तत्राङ्गं द्वितीयं प्रोक्तं गुरुर्दुःसङ्गवर्जनम् ॥ ५½ ॥

निरोधे भगवदासक्तिसिद्ध्यर्थमन्तःकरणशुद्ध्यर्थं च भगवतो नामकरणोत्सवमाह **गर्ग** इत्येकविंशत्या, चिरकालोत्पन्नो-संस्कृत एव तिष्ठत्विति स्वतो नामाकरणं चिरकालातिक्रमश्च तथैव भगवत्प्रेरणात् कालस्य निमित्तत्वाभावान्न कोपि दोषस्तज् ज्ञात्वा वसुदेवः स्वपुरोहितं प्रेषयामास क्षत्रियाणां पुरोधसैव संस्काराः क्रियन्त इति वसुदेवश्चात्मानमाधिदैविकवसुदेव नन्दे स्थापितवान्, तेन बलभद्रभगवतोरविशेषेण पुत्रत्वज्ञानादिकं न दोषाय, भयनिवृत्त्यर्थं बोधनं चापेक्षितं प्रसङ्गात्, अन्यथा प्राकृतानामलौकिक-बुद्धिरपि बाधिकातो नामकरणहेतुभूतो गर्गः समागत इत्याह **गर्ग** इति, राजन्निति सम्बोधनं गुप्तचर्या राजपरिज्ञातेति ज्ञापनार्थं, **यदूनां पुरोहितो** वंशस्यैव स्वत एव हितकारी, तेनान्तःकरणशुद्धिरुक्ता, महानुभावत्वमाह **सुमहातपा** इति, सुमहत् तपो यस्य सः अकस्मात् कार्यसिद्धिं मुहूर्तं ज्ञात्वा **नन्दस्य व्रजं जगाम**, अन्यत्र स्थितः शुको वदति, पितुराज्ञाव्यतिरेकेण पुत्रसंस्कारो न कर्तव्य इति तदर्थमाह **वसुदेवेन** प्रकर्षेण **चोदितः** प्रेरितः ॥ १ ॥ आगतस्य पुरस्कारमाह तं **दृष्ट्वे**ति, आकाङ्क्षितपदार्थदर्शनात् परमप्रीतः, **प्रत्युत्थानं** धर्मनिष्ठताज्ञापनार्थं, कृताञ्जलिर्विनीतस्तेनान्तःकरणशुद्धिरुक्ता, अतिथिरयमित्यत्र भगवत्पूजां कृतवानित्याहानर्चेति, अतिथिबुद्ध्यापि पूज्यते हरिबुद्ध्याप्यतिथि "रातिथ्येन तु विप्राग्र्य" इति वाक्यात्, तदाहाधोक्षजधियेति, चतुर्भुजं भगवन्तं ज्ञात्वानर्चार्चां कृतवान्, तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेणेत्याह **प्रणिपातपुरःसर**मिति, प्रणिपातोपराधदूरीकरणं, तद् दासस्यैव नित्य-सेवकस्य सम्भवति नान्यस्य ॥ २ ॥ एतदेव पुरःसरमग्रे यथा भवति तथा प्रार्थनां वक्तुं किञ्चिदुक्तवानित्याह सूपविष्टमिति, सुष्टु

गमनक्लेशाभावेन वैयर्थ्यं परित्यज्योपविष्टं, स्वकृत्यमाह कृतमातिथ्यं यस्मै यस्मिन्निति वा, अतिथेर्हितं भोजनान्तं कर्म तद् गृहस्थकर्तव्यं, भक्तिमार्गानुसारेण पूजितत्वादस्मिन् स्नेहेऽधिके जाते गद्गदया वाण्याब्रवीत्, येन स सर्वमेव सामर्थ्यं विनियुञ्ज्यात् , कापट्याभावायाह मुनिमिति, स हि सर्वज्ञस्तदेव सर्वं जानाति, अन्यत्र भगवद्बुद्ध्या स्तोत्रं क्रियमाणमारोपितविषयं भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह सूनृतयेति स्तोत्रेण, नन्दयित्वा सन्तुष्टं ज्ञात्वाब्रवीत, ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ब्राह्मणस्य तत्परमोत्कर्षख्यापनं, अयं ब्रह्मशब्दः परब्रह्मवाचक इति ख्यापयितुं पूर्णस्य करवाम किमित्याह, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद् ब्रह्म" दश किंनु किमीरितमिह तादृशस्यान्यैः कर्तव्य उपकारे देशाभावात् कृत्रिमस्य हीनत्वात् तत्रापि सदृशस्याज्ञानात् किं करवाम ? देहेन्द्रियान्तःकरणानां न्यूनत्वात् तत्रोपकारः कर्तुं शक्यते, ब्रह्मभूतदध्यासनिवृत्तेस्तत्र कृतं न प्रयोजनाय भवतीति ॥ ३ ॥ एतावतास्माभिः कोऽप्युपकारः कर्तुं न शक्यत इत्युक्तं, त्वया त्वनुक्तमेव क्रियत इत्याह महद्विचलनमिति, महान्तः स्वतः कार्याभावान्न कुत्रापि गच्छन्ति तादृशाश्चेद् गच्छन्ति परोपकारार्थमेव गच्छन्तीति ज्ञातव्यं विशेषेण चलनं ग्रामान्तरगमनं न तु स्नानाद्यर्थं, तत्र परार्थे विचार्यमाणे यस्यैव गृहे गच्छन्ति तस्यैव कार्यं साधयन्तीति निश्चीयते, अन्यथा गृहासक्तचित्तानां वृद्धानां तत्रापि परमदुःखेन पीडितानां दीनचेतसां गृहे न गच्छेयुस्तेषां च मुख्यं प्रयोजनं तद्दुःखनिवृत्तिस्ततः परमानन्दावाप्तिरिति, अतो निःश्रेयसायैव गमनं, तादृशफलदाने सामर्थ्यं भगवन्निति, यद्यपि ते न प्रार्थयन्ति तथापि गमनमेव तथा कल्पते, अन्यथा एतत्फलानुद्देशे क्वचिदपि देशे गमनं न कल्पते ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अष्टमेऽध्याये प्रकरणार्थोक्तौ, संस्कृतान्येव नामानीति । सत्त्वशोधनस्य मर्यादामार्गीयत्वाद्गुरूपदेशलक्षणसंस्कारवन्त्येव तानि तथेत्यर्थः । इयदवधि यशोदाद्यधीनमेव गमनादिकमुक्तमस्मिन् सत्त्वशोधकाध्याये स्वातन्त्र्येण रिङ्गणादिलीलोक्त्या सत्त्वशुद्धिपर्यन्तं स्त्रीसम्बन्धि लीलाविशिष्टं रूपं न भावनीयम् । पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति न्यायात् । किन्तु केवलभगवत्कृतलीलाविशिष्टमेव रूपं तच्छुद्ध्यनन्तरं सा लीला भावनीयेति तात्पर्यं ज्ञाप्यते । एतदेवाहुः स्वेच्छा लीलेत्यादिना । स्वेच्छया, न त्वन्येच्छया कृता या लीला तद्विशिष्टं रूपं शोधकमिति सम्बन्धः । पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्ये हेतुमाहुः आनन्देति । आनन्दस्वरूपत्वादित्यर्थः । गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्ति अन्येच्छयेति । भक्तानां भगवत्सम्बन्धेनैवानन्दो भगवांस्त्वानन्दरूप एवेत्यस्मिन्नध्याये न दुःखकथनम्, अन्याधीने चरित्रे कदाचिद्दुःखकथनमुक्तमिति तस्माद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । कंसस्यैतज्ज्ञानं स्वानिष्टमित्युक्त्या रहसि नामकरणाद्दुःसङ्गवर्जनमङ्गत्वेन सूचितमिति तदाहुः दुःसङ्गवर्जनमिति ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथाष्टमाध्यायं व्याचिख्यासवोऽवान्तरसङ्गतेरवसरस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वात् तामनुक्त्वैवाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः पूर्वाध्यायोक्तलीलयैव स्वासक्तेः सिद्धत्वात् किमग्रिमचरित्रेणेत्याकाङ्क्षायां तत्कथनप्रयोजनमाहुर्येनैवेत्यादि सत्त्वमन्तःकरणं तत् सर्वस्य निरोधस्य मूलं कृतस्य करिष्यमाणस्य च निरोधस्य सहकारि यस्मात् तस्माद् येनैव चरित्रेण सत्त्वं सर्वथा शुध्यति तच् चरित्रमष्टम उदीर्यते, तथा चोपोद्घातः स्कन्धार्थेऽध्यायसङ्गतिरित्यर्थः, यद्वा सत्त्वं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मसङ्घातः, तथा चाविद्यानाशेऽपि घृतभाण्डे गन्धवत् तत्कार्यं न नष्टमिति तन्नाशनार्थमेतच् चरित्रमुदीर्यत इत्यर्थः, अत्र च तच्छोधनद्वाराविद्याकार्यनाशनं ज्ञेयं, न चोक्तसङ्घातशोधनमेवात्राभिप्रेतमित्यत्र किं मानमिति शङ्क्यं, शोधकपञ्चकोक्तेरेव मानत्वात् , तत्र नामान्तःकरणस्य "यच् छण्वतोपैत्यरति" रितिवाक्याद् रूपमिन्द्रियस्य दर्शनादिना भगवत्परतासाधकत्वाज् ज्ञानं देहस्याध्यासनिवर्तकत्वाद् भक्तिः प्राणस्य "प्राणबुद्धिमनःस्वात्मे"तिवाक्योक्तप्राणादिनिष्ठप्रियत्वस्य भगवदेकवृत्तित्वापादकत्वाद् भाग्यं चात्मनस्तस्य पूर्वजन्मीनत्वेन सर्वमूलत्वात् , तादृशी चात्र गुरुकृपा तां विना जीवे भगवदनुग्रहस्याजायमानत्वात् तत्राप्रसिद्धत्वात् तैः सत्त्वशोधने कारणमाहुर्नामानीत्यादि, अग्र इति पूर्वं, तथा चैतैः सङ्घातशुद्धिरित्यर्थः, ननु नामादीनां सर्वत्र प्रसिद्धत्वात् तैः सत्त्वशोधनं स्वतो भविष्यत्येवेति पुनरत्र कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः संस्कृतानीत्यादि, तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः सत्त्वेत्यादि, सुबोधिनीस्थकारिकोक्तपदानामर्थस्त्वेवं बोध्यः, शोधकानीति, संस्कृतिरिति, यतः संस्कृतान्येव नामानि सत्त्वशोधकानीतिहेतोः संस्कृतिः संस्कारोऽत्रोच्यत इत्यर्थः, हि यतो हेतो रूपं स्वेच्छालीलाविशिष्टमेवानन्दत्वाच् छीघ्रं सत्त्वशोधकं तत् तस्माद्धेतोरत्रान्येच्छया कृतानि चरित्राणि ततोऽन्यथा शीघ्रं सत्त्वशोधकानि न भवन्ति किन्तु विलम्बेन शोधकानीत्यर्थः, ज्ञानं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं तत् प्रत्यक्षतो दृष्टं सत्त्वशोधकं च पुनरलौकिके स्नेहो भक्तिरितियावत् सोऽपि तद्वन् माहात्म्यज्ञानपूर्वक एव शोधक इत्यर्थः, हेतुर्हेतुभूता महतां कृपा भाग्यरूपा तद्वद् गुरुभगवतोर्माहात्म्यज्ञानपूर्विकैव सत्त्वशोधिकेत्यर्थः, पूर्वं नाम्नामेव कथने हेतुमाहुः पूर्वस्मिन्नित्यादि, नाम्नि चेद् द्वयं सिद्धं स्थिरं भवेत् तद् अग्रिमं स्वत एव भवेदित्यर्थः, शुद्ध इतिपाठे लौकिकत्वेन ज्ञानयुक्ते त्वखण्डशब्दे ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानयुक्त इतियावत् तादृशे हृदये सतीत्यर्थो बोध्यः, शेषं पूर्ववत् तथा च नाम्न्यलौकिकत्वज्ञानाभावे स्वरूपेऽपि तथा ज्ञानं न स्यात् तथा सति शोधनस्यैवासिद्धिरित्यर्थः, नाम्न्यप्यज्ञद्वयमाहुस्तत्रेत्यादि, इदं च रहसि नामकरणस्य तात्पर्यं ज्ञेयं, न च गुणकर्मविचारे पूर्वेऽध्याये स्वैश्वर्यवीर्ययशसां लीलाकरणत्वेन निरूपणाद

श्रीस्तथा वाच्या सा चात्र न स्फुटेति शङ्क्यं, वासुदेवनामार्थनिरूपणे "श्रीमा" निति कथनाद् रूपनिरूपणे च "श्रीमुखालोकिनीभि" रित्यत्र श्रीव्याप्तिकथनाच्च तस्यापि करणतायाः सूचितत्वादिति बोध्यं, एवं तात्पर्यं निरूप्य सामान्यतो जातेपि निरोधे विशेषासक्तिप्रभृतिसिद्ध्यर्थं पूर्वं नामकरणोत्सव उच्यत इत्याहुर्निरोध इत्यादि, अलौकिकभावरतानां विशेषतो न निरोधसिद्धिरिति तेषां स्वासक्तिसिद्ध्यर्थं सर्वेषामन्तःकरणशुद्ध्यर्थं चेयं लीलोच्यत इत्यर्थः, एकविंशत्येत्यत्र यदूनामपृथग्भावात् 'सङ्कर्षणमुशन्त्युते'ति तद्धमैकत्वेन गणितं तेनैकविंशतिरिति ज्ञेयं, तत्र पूर्वं कालातिक्रम उपपत्तिमाहुश्चिरेत्यादि न दोष इत्यन्तं, श्रीवसुदेवकृतगर्गप्रेषणस्य तात्पर्यमाहुस्तज् ज्ञात्वेत्यादि, तदिति नामकरणं, आधिदैविकवसुदेवमिति निगमात्मकं स्वस्वरूपं, गर्गागमनप्रयोजनमाहुर्भयनिवृत्त्यर्थं बोधनं चापेक्षितमित्यादि कंसज्ञानकृतस्य स्वकापत्यकृतस्य च भयस्य निवृत्त्यर्थं तदीयपुत्रत्वस्य बोधनमप्यपेक्षितं प्रसङ्गस्य विद्यमानत्वात्, अन्यथा पुत्रत्वज्ञानाभावे प्राकृतानां ग्राम्याणामलौकिकबुद्धिरपि बाधिका रहसि करणाज्ञायां किमित्ययं लोकविरुद्धं वदतीतिबुद्धिर्विविधसन्देहोत्पादिका स्यात्, अपिशब्दात् स्वस्यापि कापत्यमतस्तथेत्यर्थः ॥ १ ॥ तं दृष्ट्वेत्यत्र चतुर्भुजमित्यधोक्षजपदतात्पर्यम् ॥ २ ॥ सूपविष्टमित्यत्र गद्गदयेति गिरेत्यस्य तात्पर्यं सूनृतये'त्यत्र पाठान्तरं वा, बृहत्त्वादित्यादि, तादृशस्येति ब्रह्मभूतस्य, देशाभावादिति तदीयदेशाभावात्, ननु पूजायां वस्तुतो भगवदीयमपि स्वीयत्वेनाभिमतं पूज्याय भगवते दत्तं भगवानुपकारत्वेन मनुते तथात्रापि स्यादत आहुः कृत्रिमस्येत्यादि, स्वीयत्वेनाभिमतस्य वस्तुन उपकृतिरूपत्वाभावेन हीनत्वात्, ननु तथापि स्वविहितमार्गीयत्वात् तेन फलभवने "ण्वप्युपाहृतं भक्तै'रितिवाक्याद् भक्तिमार्गानुसारेण सर्वमप्युपकृतिरूपं भविष्यतीत्यत आहुस्तत्रापीत्यादि भक्तिमार्गेपि तादृशस्य भगवद्रुचिविषयस्याज्ञानात् कृतमप्यकृतप्रायमित्यर्थः, नन्वीश्वरस्य देहाद्यभावान् न तत्कृतोपचारोपेक्ष्यते गर्गे तु तत्सद्भावादुपचारो नानुचित इत्याशङ्कायामाहुर्देहेत्यादि, तथा च ब्रह्मभूतत्वान् न तस्यापि तदपेक्षेत्यर्थः ॥ ३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अष्टमेध्याये कारिकासु येनैवेति, येनैव चरित्रेण सत्त्वं शुद्ध्यति तच् चरित्रमष्टमे उदीर्यते, तत्र हेतुः सर्वस्येति, यस्माद्धेतोस्तत् सत्त्वशोधनं सर्वस्य साधनकलापस्य मूलमत इत्यर्थः, अन्येच्छयेति अन्येच्छया कृतानि यानि चरित्राणि तत्र दुःखमप्युच्यते, अत्र स्वाधीनचरित्रे भगवत आनन्दरूपत्वात् ततोन्यथा प्रकारान्तरेण दुःखानुक्तिप्रकारेणोच्यते इतिशेषः, एवमन्वयः, आनन्दभाव इत्यस्याग्रिमकारिकायामन्वयः, अर्थस्तु टिप्पण्यां स्फुटः, प्रत्यक्षतो दृष्टमिति शोधकमितिशेषः, माहात्म्यज्ञानपूर्वकमलौकिके स्नेहश्च तद्वत्, शोधक इत्यर्थः, हेतुश्चेति एतच्चतुष्टये महत्कृपा हेतुः, तथा च कृपा परम्परया शोधिका, तत्र व्यभिचारितत्वात् साप्युक्तेतियुक्तिबोधनाय चकारः, पूर्वस्मिन्निति चतुष्टयमध्ये पूर्वस्मिन् पदार्थे हृदये सिद्धे स्वत एव तत्सामर्थ्यादेवाग्रिमं भवेत्, न तु साधनान्तरापेक्षा, नामश्रवणे सिद्धे तत्सामर्थ्यादेव रूपदर्शनं, तस्मिन् सिद्धे तादृशं ज्ञानं, तस्मिन् सिद्धे तादृशी भक्तिरिति, तत्राङ्गेति 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वा'दितिप्रतितन्त्रन्यायेन गुरुरप्यङ्गमितिभावः। निरोधे इति निरोधनिरूपकस्कन्धे नामकरणोत्सवं प्रयोजनद्वयसिद्ध्यर्थमाहेत्यन्वयः ॥ १ ॥ तमित्यत्र चतुर्भुजमिति एकादशस्कन्धे पूजाविधाने 'लसच्चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहित'इत्यनेनातिथौ चतुर्भुजत्वेन ध्यानकथनादितिभावः ॥ २ ॥ सूपविष्टमित्यत्र आतिथ्यपदस्य निरुक्तिमाहुः अतिथेर्हितमिति, ब्राह्मणादित्वात् कर्मणि ष्यञ्, अतिथेर्हितरूपं तत्सम्बन्धि कर्म भोजनान्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥ महद्विचलनमित्यत्र तेषां चेति मतभेदेन दुःखनिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च मोक्ष इतिद्वयमपि निःश्रेयसत्वेनोक्तम् ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अष्टमाध्यायार्थकथने कारिकासु नामान्यग्रे शोधकानीत्यादि पूर्वमत्र नामकरणप्रसङ्गस्ततोग्रे "कालेन व्रजताल्पेने"त्यादिना रूपाणि निरूपितानि, तेन भगवन्नाम्ना शुद्धहृदयस्य भगवद्रूपदर्शनात् शुद्धिः रूपनिरूपणानन्तरं मृद्भक्षणप्रसङ्गस्तेन भगवज्ज्ञानं, तस्य ज्ञानस्य सत्त्वशोधकत्वं, तत "इत्थं विदिततत्त्वाया" इत्यादिना भक्तिर्निरूपिता तस्याः शोधकत्वं, ततो "नन्दः किमकरोद् ब्रह्म"न्निति प्रश्ने 'द्रोणो वसूनां प्रवर' इत्यादिना भाग्यं निरूपितं, एवं भगवन्नामरूपज्ञानभक्तिभाग्यानि सत्त्वशोधकानि सिद्धान्याध्यात्मिकपक्षे। आनर्चाधोक्षजधियेत्यस्य विवृतौ चतुर्भुजं भगवन्तमिति अधोक्षजपदेनेन्द्रियातीतत्वकथनाद् द्विभुजस्य पुरुषोत्तमस्येन्द्रियग्राह्यत्वात् तत्र न सर्वेषामधोक्षजत्वबुद्धिरतश्चतुर्भुजरूपमेव अधोक्षजपदेनोच्यत इति तथोक्तम् ॥ २ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

अष्टमेध्याये येनैवेति का० ४२३ । अत्राध्यायेवान्तरप्रकरणानि विभजन्ते नामानीति का० ४२३ । 'गर्ग' इत्येकविंशत्या नामप्रकरणं, 'कालेनाल्पेने'त्यादिदशभी रूपप्रकरणं, 'एकदे'त्येकादशभिर्ज्ञानं, इत्थं विदिततत्त्वाया' इत्यादित्रिभिर्भक्तिः, 'नन्दः किमकरोद् ब्रह्म'न्नित्यादिसप्तभिर्नन्दभाग्यं, संस्कृतानीति का० ४४३ । स्वेच्छया न त्वन्येच्छया कृता या लीला तद्विशिष्टं रूपं शोधकमिति सम्बन्धः, पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्ये हेतुमाहुरानन्दभावत इति, आनन्दरूपत्वादित्यर्थः, इयदवधि यशोदाद्यधीनमेव

गमनादिकमुक्तं, अस्मिन् सत्त्वशोधकाध्याये स्वातन्त्र्येण रिङ्गणादिलीलोक्ता, तथा च केवलभगवत्कृतलीलाविशिष्टमेव रूपं शोधकमिति भावः, गूढाभिप्रायमुद्घाटयन्ति अन्येच्छयेति का० ४५३। अन्येच्छया कृतानीत्यनन्तरं यानीतिशेषः, तथा चान्येच्छया कृतानि यानि चरित्राणि ततस्तेभ्यश्चरित्रेभ्योऽस्मिन्नध्याये उक्तानि चरित्राण्यन्यथेत्यन्वयः, तदेतद् व्याख्यातं टिप्पण्यां, भक्तानां भगवत्सम्बन्धेनैवानन्दो भगवांस्त्वानन्दरूप एवेत्यस्मिन्नध्याये न दुःखकथनं, अन्याधीने चरित्रे क्वचिद् दुःखमप्युक्तमिति, तस्माद् वैलक्षण्यमित्यर्थ इति, एवं नामादीनां पञ्चानां मध्ये नामरूपयोः सत्त्वशोधकत्वमुपपाद्य ज्ञानभक्तिभाग्यानां सत्त्वशोधकत्वमाहुर्ज्ञानमिति का० ४६३। ज्ञानं प्रत्यक्षत एव शोधकं दृष्टं, एवं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं यथा स्यात् तथा अलौकिके भगवति स्नेहश्च तद्वच्छोधकः, महतां ब्रह्मादीनां भगवद्भक्तानां कृपा सत्त्वशुद्धौ हेतुः; पूर्वस्मिन्निति का० ४७३। पञ्चानां मध्ये पूर्वस्मिन् नामादिके हृदये सिद्धे सति अग्रिमं रूपादिकं स्वत एव हृदये सिद्धं भवेदित्यर्थः, तत्राङ्गेति रहसि नामकरणाद् दुःसङ्गवर्जनमङ्गत्वेन सूचितम्। ४७३॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

नामकर्मास्य गर्गेण बाललीला तथैव च। मुखे विश्वप्रकाशादि चाष्टमे विनिरूप्यते॥ १॥

अथ नामकरणवृत्तान्तमाह—गर्ग इति। हे राजन्! यदूनां पुरोहितः, अत एव पुत्रयोर्नामकरणार्थं वसुदेवेन प्रचोदितो गर्गो नन्दस्य व्रजं जगाम आगतः। तस्य भगवत्संस्कारकरणयोग्यतां सूचयन्नाह—सुमहातपा इति। तं गर्गं दृष्ट्वा नन्दः परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिश्च सन् प्रणिपातपुरःसरं यथा भवति तथा अधोक्षजधिया 'भगवानेवागत' इति बुद्ध्या आनर्च॥ २॥ एवं कृतातिथ्यं कृतमतिथेर्हितं पादप्रक्षालनादिभोजनान्तं यस्मै तम्, अतएव सूपविष्टं सुष्ठु सुखेन मार्गश्रमराहित्येन उपविष्टं मुनिं भगवत्तत्त्वमननशीलं गर्गं सूनृतया मधुरया गिरा नन्दयित्वा हर्षयित्वा नन्दो 'हे ब्रह्मन्! पूर्णस्य निजानन्दपूर्णस्य तव वयं किं करवाम? कमप्युपकारं कर्तुं न समर्थाः' इत्यब्रवीदित्यन्वयः॥ ३॥ 'पूर्णश्चेत् कथं तव गृहमागत?' इति शङ्कां निराकुर्वन् 'भवांस्त्वं प्रार्थित एव महान्तमुपकारं कृतवान्' इत्याह—महद्विचलनमिति। हे भगवन्! महतां भवादृशानामाप्तकामानां विचलनं स्वाश्रमात् परगृहे गमनं नैव सम्भवति, प्रयोजनाभावात्। यदि क्वचित् गमनं भवति, तदा नृणां निःश्रेयसाय मङ्गलायैव कल्पते घटते, नान्यथा। स्वप्रयोजनाय न घटत इत्यर्थः। ननु "यदि महतां दर्शनस्पर्शनादिना नृणां निःश्रेयसं सिद्ध्यति, तदा तद्दर्शनाद्यर्थं ते एव तदाश्रमं कुतो न गच्छन्ति" इत्याशङ्क्याह—दीनचेतसामिति। दीनं व्याकुलतया विवेके असमर्थं चेतो येषां तेषामित्यर्थः। व्याकुलत्वे हेतुमाह—गृहिणामिति। तत्तन्मनोरथैस्तत्तद्व्यापारवत्त्वेन व्यग्रचित्तानां गृहस्थानामित्यर्थः॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अष्टमे नामकरणं तथा मृज्जग्धियोगतः। मुखे विश्वनिरीक्षाऽत्र श्लोकाः सार्द्धा द्विमार्गणाः (५२।)॥
सप्तवाचेति पादोना एकषष्टिरनुष्टुभः (६०॥)॥ ८॥

असुरवधप्रसङ्गात्तृणावर्तवधमुक्त्वा तत्प्राचीनानि नामकरणादीन्युपक्रमते इदं च नामकरणं जन्मतः शततमे दिने शकटोच्चाटनानन्तरं गर्गागमे कृतं शतमे दिनेऽपि विधानात्। गर्ग इति॥ हे राजन्! सुमहत्तपो यस्य तादृशः यदूनां पुरोहितः अत एव पुत्रयोर्नामकरणार्थं वसुदेवेन प्रचोदितो गर्गो नन्दस्य व्रजं जगाम आगतः॥ १॥ तं दृष्ट्वेति॥ तं गर्गं दृष्ट्वा नन्दः परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिश्च सन् प्रणिपातपुरःसरं यथा भवति तथा अधोक्षजधिया भगवानेवागत इति बुद्ध्या आनर्च॥२॥ सूपविष्टमिति॥ नन्दः एवं कृतमतिथेर्हितमातिथ्यं पादप्रक्षालनादिभोजनान्तं यस्मै तम् अत एव सूपविष्टं सुष्ठु सुखेन मार्गश्रमराहित्येन उपविष्टं मुनिं गर्गं सूनृतया मधुरया गिरा नन्दयित्वा हर्षयित्वा हे ब्रह्मन्! पूर्णस्य निजानन्दपूर्णस्य तव वयं किं करवाम। कमप्युपकारं कर्तुं न समर्था इत्यब्रवीत्॥ ३॥ महदिति॥ हे भगवन्! महतां भवादृशानामाप्तकामानां विचलनं स्वाश्रमात्परगृहे गमनं दीनचेतसां व्याकुलचित्तानां गृहिणां गृहस्थानां क्षणमपि गृहं त्यक्तुमशक्तानां नृणां मादृशानां निःश्रेयसाय मङ्गलायैव कल्पते घटते। अन्यथा स्वप्रयोजनाय क्वचित् न घटते वामनसनत्कुमारादीनामाप्तकामानामपि बलिपृथुप्रभृतिगृहगमनदर्शनात्॥ ४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीमष्टमेऽध्याये हरेर्नामकरणं गर्गकृतं प्रशंसनं च मृद्भक्षणरूपं बालचरित्रं च तन्मुखे मात्रा विश्वदर्शनं च यशोदानंदयोः पूर्वरूपं चोच्यते तत्रादौ नामकरणाय गर्गागमनमाह गर्ग इति यदूनां पुरोहितो गुरुः॥ १॥ कृतः अंजलिः करपुटा येन सः कृतांजलिः प्रत्युत्थाय अभ्युत्थानं कृत्वा प्रणिपातो नमस्कारः पुरःसरो मुख्यो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा॥ २॥ नंदयित्वा प्रशंस्य॥ ३॥ ननु पूर्णस्य स्वाश्रमाद्न्यत्र गमनं किमर्थमित्याशंक्याहमहद्विचलनमिति॥ ४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

ज्योतिषामयनं ज्योतिःशास्त्रं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञानसाधनम् अतीन्द्रियम् अतीन्द्रियविषयं परावरम् अतीतमागामि च ॥ ५-२० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

त्वया बालयोर्नामक्रिया कार्येति वक्तुं तस्य विज्ञानातिशयमाह—ज्योतिषामयनमिति। यज्ज्ञानमतीन्द्रियज्ञानसाधनं ज्योतिषामयनं तत्प्रतिपादकं ज्योतिःशास्त्रमित्यर्थः। तत्साक्षाद्भवता प्रणीतं येन ज्योतिषामयनेनान्योपि पुमान् परापरमतीतमागामि च वेद ॥ ५ ॥ विवक्षितमाह—त्वमिति। भो ब्रह्मविदां श्रेष्ठ! त्वमनयोर्बालकयोः संस्कारादीन्नामकरणादीन् कर्तुमर्हसि दैवज्ञत्वान्मंत्रवित्त्वाच्च त्वमेव कर्तुमर्हसीति भावः। ननु, नाहं त्वद्गुरुरित्यत्राह, नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः नृणामिति सामान्यनिर्देशेन ब्राह्मणानां क्षत्रियादीनां च ब्राह्मणमात्रस्वभावतो गुरुरित्यभिप्रेतम् ॥ ६ ॥ अत्युत्साहिनं नन्दं प्रति गुप्तमेतत् कार्यमित्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाह—यदूनामिति। यदूनामाचार्यत्वेन भुवि प्रसिद्धोऽहं यदि त्वत्पुत्रं संस्कुर्यां तर्हि मया संस्कृतं त्वत्पुत्रमपि देवकीपुत्रमेव पापमतिः कंसः मन्यते मत्कर्तृकसंस्कारेण लिङ्गेन देवकीसुतमेवाध्यवस्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु, यदुकुलाचार्येण त्वया संस्कृतं कथञ्चिद्यदुकुमारं जानातु तत्र वसुदेवस्य पुत्रः तत्रापि देवक्यां जात इति कुतो जानीयात्तत्राह—सख्यमिति। नन्दवसुदेवयोः सख्यं प्रसिद्धमेव वर्तते अशरीरवाण्याभिहितो देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्रीभवितुमर्हति किन्तु पुमानेव सः मद्भयात् वसुदेवेन सख्युः नन्दस्य सन्निधावेव निहित इत्येवं देवकीदारिकावचश्चिन्तयन् गताशङ्कः गतसंशयः हन्तापि हन्यात्तर्हि तन्नोऽस्माकं महाननयः अनीतिरनुचितं स्यादित्युक्त्वा गर्गस्तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥ ८-९ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ज्योतिषामयनं ग्रहाणां राशेराश्यन्तरगमनगोचरं ज्योतिः शास्त्रं ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम् अतीन्द्रियं त्रिकालविषयं परावरम् अतीतानागतविषयम् ॥ ५ ॥ संस्कारान् गर्भाधानादीन् संस्कारकर्ता मदन्यः किं न स्यादिति तत्राह—नृणामिति ॥ ६ ॥ तत्र नन्दं गर्गो वक्तीत्याह—गर्ग इति। चशब्दो हिशब्दार्थः योऽहं यदूनामाचार्य इति सर्वतो भुवि ख्यातो हि ततः किं कंसेन ज्ञातेऽनर्थो भविष्यतीति स क इत्याह सुतमिति ॥ ७ ॥ "कसि हिंसायाम्" इति धातोः हिंसाशीलः अत एव पापमतिः तर्हि तं कृष्णं हन्ता हनिष्यति तदा नो महाननयोऽन्यायोऽपराधो भविष्यतीति शेषः। कथमयं कंसो मया संस्कृतं ते सुतं देवकीसुतं मन्यते, निमित्तमाह, सख्यमिति तवानकदुन्दुभेश्च सख्यमस्तीति जानाति अतोऽनयोः सुतविनिमयो भविष्यतीति मन्यते निमित्तान्तरमप्यस्तीत्याह, देवक्या इति यश्चिंतयन्निति हेतोः तव हन्ता क्वचिज्जात इति निश्चाय केन कन्यावचसाऽपि तस्य तद्धननिवृत्तिर्न भवतीत्याशयेनाह श्रुत्वेति गताशङ्को नष्टहननशङ्कः आगताशङ्कोऽपि वा ॥ ८-९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ज्योतिषां ग्रहाणाम् अत्रायनमिति करणे ल्युट् अयतेर्गत्यर्थतया ज्ञानार्थत्वात् करणस्यापि हेतुत्वात् तत्प्रतिपादकमित्येवार्थः। तच्च प्रणीतमित्युक्त्या ज्योतिःशास्त्रमित्येव पर्यवसीयते कीदृशं तज्ज्ञानं तत्साधनम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियागोचरज्ञानजनकत्वात्तदतिक्रान्तञ्च तदेव विशेषणद्वयस्य अतीन्द्रियज्ञानसाधनमित्येव निर्गलितोऽर्थः ॥ ५ ॥ जन्मना जात्यैव ॥ ६-८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

बालकद्वयनामकरणार्थं प्रार्थनाबीजं सृजन्नाह—ज्योतिषां ग्रहादीनाम् अयनं ज्ञापकं ज्योतिःशास्त्रं यद्यतः अतीन्द्रियं ज्ञानं भवेत्तद्भवता ज्ञायत इति किं वक्तव्यं त्वया प्रणीतं कृतं येनान्योपि पुमान् परमुत्तरकालभावि वस्तु अवरं पूर्वकालभूतं वस्तु वेद जानाति तेन वार्द्धके मम जातस्य पुत्रस्य जन्मलग्नादिकं विचार्य्य हस्तपादादिलक्षणं च दृष्ट्वा भद्राभद्रादिकं कथनीयमिति भावः ॥ ५ ॥ किञ्च एतादृशमहानुभावस्यापि तव मद्गृहागमनं मन्निःश्रेयसायैव तच्च मम निःश्रेयसमैहिकं पारलौकिकञ्च तत्रैहिकं निःश्रेयसमद्य निष्पाद्यमेकं त्वच्चरणेषु निवेदयामि कृपया शृण्वित्याह—त्वमिति। न केवलं ज्योतिर्विदामेव त्वं श्रेष्ठ इति भावः। तेनोभयगुणयुक्तत्वात्त्वमेव दैवज्ञो मन्त्रविच्च कर्तुमर्हसीत्यर्थः। नन्वेतद्गुरुणा करणीयमिति चेत्तत्राह नृणामिति ॥ ६ ॥ स्वयं बिभ्यदत्युत्साहिनं नन्दं च कंसाद्भीषयमाणः सुगुप्तमेवैतत् कारयेत्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाह—यदूनामिति। तव यदुत्वेऽपि क्षत्रियत्वाभावान्न यदुत्वख्यातिः अहन्तु यदुपुरोहितत्वेन ख्यातश्चेति मत्कृतमिदं न गुप्तं स्थास्यतीति भावः ॥ ७ ॥ सर्वतः सर्वस्यां मन्यते मंस्यते नन्वेतावत्कोऽनुसन्धास्यते तत्राह कंसः तदपि त्वयि तु ब्रह्मवादिनि सोपि न द्रोहमाचरिष्यतीति चेदत आह पापमतिः मादृशान् जिघांसत्येवेति भावः। किञ्च तत्राप्यवश्यमपकरिष्यत्येवेत्याह—सख्यमिति। वसुदेवद्रोहिणः कंसस्य वसुदेवसखे त्वय्यपि द्रोहसम्भवादिति भावः। तत्रैवं कुयुक्तिं स्रक्ष्यतीत्याह—देवक्या इति। देवकीदारिकावचः

श्रुत्वा अष्टमो गर्भो न स्त्रीभवितुमर्हतीति चिन्तयन् इत्यन्वयः। मच्छत्रुर्विष्णुरेव देवक्या गर्भे जात एव किन्तु वसुदेवशिक्षया तस्य सख्युर्नन्दस्य गृहे प्रविष्ट इति देवकीदारिकावच इति मदिष्टदेवो दुर्गैव देवकीदारिकारूपा भूत्वा यत्र क्वचिज्जात इति पदेन देवक्यामपि जन्मसम्भाव्यविष्णुनिषेधशङ्कयेव मां स्पष्टमनुक्त्वा तमन्विष्य शीघ्रं जहीति मामभिव्यञ्जयामासेति चिन्तयन् तदन्वेषणे प्रवृत्तौ मन्नामकरणलिङ्गेन आगता नन्दगृहे वसुदेवसुतोऽस्तीत्याशङ्का यस्य तथाभूतस्सन्नागत्य यदि हन्ता हनिष्यति तर्हि नोऽस्माकं महान् अनयः यद्वीति अपीति च पाठः ॥ ८-९ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

बालयोर्नामकरणादौ तद्योग्यताकथनपूर्वकमृषिं प्रवर्तयति ज्योतिषामिति द्वाभ्याम्। यदतीन्द्रियं ज्ञानं तत् प्रकाशकं ज्योतिषामयनं प्रतिपादकं शास्त्रम्, तत्साक्षाद्भवता प्रणीतम्, येन परं पूर्वजन्मसञ्चितं कर्म अवरं वर्तमानजन्मनि भोग्यं कर्मफलं पुमान् वेद ॥ ५ ॥ ब्रह्मविदां वेदविदां श्रेष्ठः दैवज्ञत्वान्मन्त्रवित्त्वाच्च संस्कारान् नामकरणादीन् कर्तुमर्हसि ॥ ६ ॥ गुप्तसंस्कारचिकीर्षुः प्राकट्ये दोषमाह—यदूनामिति त्रिभिः। मन्यते मन्येत ॥ ७ ॥ ननु त्वत्कृतं संस्कारमात्रतो निरपराधे मयि विद्वेषजननाय मदीये पुत्रे देवकीपुत्रशङ्कां कुतः करिष्यति ? अत्राह—कंस इति। पापे विद्वेषानर्हेष्वपि विद्वेषाचरणे मतिर्यस्य सः तत्र आनकदुन्दुभेः सख्यं चकारात्तस्यानकदुन्दुभेर्यदर्थं देवैर्वसुदेवजन्मसमये आनकादिनादः कृतः स मम शत्रुर्वसुदेवाज्जातः किमिति च जातः खलु तवान्तकृन् इति देवक्या दारिका वचः श्रुत्वा "देवक्या अष्टमो गर्भः न स्त्रीभवितुमर्हति" इति च सञ्चिन्तयन् अपि यदि आगताशङ्कः स्यात् स मम भगिनीपुत्रो नन्दगृहे वर्तते किमित्येवम् आगताऽऽशङ्का यस्य स तथाभूतः स्यात्तर्हि महान् अनयो न अस्माकं स्यादिति द्वयोरन्वयः हन्तेत्यव्ययम् ॥ ८-९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

बालयोर्नामकरणादि त्वया कार्यमिति वक्तुं तस्य ज्ञानातिशयमाह ज्योतिषामिति। ज्योतिषां ग्रहादीनामयनं बोधकं ज्योतिः शास्त्रं यद्युततोतीन्द्रियं ज्ञानं भवेत् तद्भवता प्रणीतं कृतमिति ज्ञानातिशयः येन शास्त्रेणाधीतेनान्योऽपि पुमान् परमुत्तरकालभावि वस्तु अपरं पूर्वकालभूतं वस्तु वेद जानाति तेन बालयोः शुभं भवता कथनीयमिति ॥ ५ ॥ न केवलं ज्योतिर्विदामेव त्वं श्रेष्ठोऽपितु ब्रह्मविदामपीति तेन दैवज्ञो मंत्रविच्च त्वं बालयोर्नामकरणादिसंस्कारान् कर्त्तुमर्हसीति नन्वेतत् पित्रा कार्यं द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात् इति वचनात्तत्राह नृणां जन्मना जात्यैव ब्राह्मणो गुरुः किं पुनर्ज्ञानादिनेत्यर्थः। तदभावे पित्रा नाम कार्यमिति भावः ॥ ६ ॥ स्वयं कंसाद्भीतोऽप्युत्साहिनं नन्दं निगूढमेतत्कार्यमिति भावेन निषेधयन्निवाह यदूनामिति। तव यदुवंशोद्भवत्वेऽपि क्षत्रियत्वविरहान्न यादवत्वख्यातिः अहं तु यदुपुरोहितत्वेन सर्वत्र ख्यातश्चेति मया संस्कृतं ते सुतं देवकीसुतं कंसो मंस्यते ॥ ७ ॥ कंस इति युग्मकं नन्वेतावत् कथमनुसंदध्यात्तत्राह पापमतिरिति। चोरेण छिद्रान्वेषणादिति भावः। तथानुसन्धौ बीजं चास्तीत्याह सख्यन्तवचेति तत्र युक्तिश्चैवं स्रक्ष्यतीत्याह देवक्या इति। देवकीदारिकावचः श्रुत्वा तस्या अष्टमो गर्भः स्त्री भवितुं नार्हतीति सञ्चिन्तयन्नित्यन्वयः। तद्दारिकया मद्वधाभावादस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्तेत्याकाशवाण्यां साधारणोऽपि गर्भशब्दः पुत्राभिधायीतिविचारयन् मदिष्टदेवी दुर्गैव तद्दारिकात्मा भूत्वा विष्णुना प्रतिषिद्धापि मद्धितैषिणी तवान्तकृद् यत्र क्वचिज्जात इति सामान्योक्त्या तस्यामेव तस्य जन्म व्यञ्जयामास, तत्र च युवयोः प्रसिद्धात् सख्यान्मन्नामकरणाल्लिङ्गाच्च स हन्ता तत्पुत्रषट्कहननशीलो यदि गताशङ्कः स्यात् तर्हि तन्नामकरणं नोऽस्माकं महाननयः अपि सम्भावनायां यद्यर्थः गता प्राप्ता नन्दवेश्मनि वसुदेवसुतोऽस्तीत्याशङ्का येन सः ॥ ८-९ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ ॥ यतः पापमतिः कंसो देवकीदारकीवचो देवकीकन्यायास्तत्र पूर्वशत्रुः क्वचिद्वर्तत इति श्रुत्वा देवक्या अष्टमे गर्भे स्त्रीभवितुं नार्हतीति सदा संचितयन्भवति। तवानकदुंदुभेः सख्यं मन्यते च। यतश्चाहं यदूनामाचार्यः पुरोहित इति भुवि सर्वतः सर्वदेशेषु ख्यातोऽतो मया संस्कृतं ते सुतं मन्यते मन्येत। अनंतरं गताशंकः सन् हंता भवेत्तर्हि तत्तेन हननेन नोऽस्माकं महाननर्थो भवेदिति ॥ ७-९ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

पुत्रस्योत्तरत्र बलाबले कथं कथय वर्तेतेतीप्सया तस्य तत्समयप्रणायकर्ता पुरस्कृत्य तं स्तौति ॥ ज्योतिषामिति। येन स्वन्निर्मितेन पुमांस्तदधीती परावरं भूतभविष्यद्वेद तज्ज्योतिषां नक्षत्रादीनामयनमाश्रयीभूतमतीन्द्रियमतीन्द्रियार्थं युक्तं साक्षाज्ज्ञानं तत्साधनं शास्त्रं भवता प्रणीतं निर्मितं ॥ ५ ॥ स त्वं ब्रह्मविदां श्रेष्ठोऽनयोर्बालयोः संस्काराञ्जातकर्मादीन्कर्तुमर्हसि। अलं कुत इत्यत आह। हि यतो नृणां ब्राह्मणस्तज्जातिजो गुरुरुपदेष्टाऽतः कुर्विति ॥ ६ ॥ तत्र गर्गो नायमनर्गलमार्गं इति काञ्चिदनुपपत्तिं

सर्वजनीनां प्रदर्श्य तदुदितवर्त्मना तचक्र इव तत्स्वरूपं च न्यरूरुपन्नन्दं प्रतीत्याह कैश्चिच्छलोकैः ।। गर्ग इति । अहं यदूनामाचार्यो नाप्रसिद्ध इति द्योतयति ख्यातश्च सर्वतः सर्वस्यां भुवीति सर्वप्रकारेणेति वा सर्वैरिति वेति । मया संस्कृतं सुतं पापमतिः कंसो मन्यते चेज्ज्ञातवांश्चेद्देवकीसुतमेव मन्यते । कुत इत्यत आह । सख्यं तव चानकदुन्दुभेश्च यत्स मन्यते जानाति तत इति । देवकीदारिकायास्तत्कुमारिकाया वचः श्रुत्वा देवक्या गर्भोऽष्टमः स्त्री भवितुं नार्हति पुमानेव भवेदिति सञ्चिन्तयन्गताशङ्को गतसंशयोऽत्रागत्य हन्ता भवेद्यर्हि तर्हि तन्नो महाननयोऽन्यायो भवेत् । बालयोरनयोरित्युक्तत्वेऽपि सुतमित्याद्युक्तिस्तस्याशङ्कास्पदत्वेनेति ज्ञेयम् । इदमदो वेति ज्योतिः समयप्राज्यसाम्राज्यस्य गर्गस्यापि लोकरीतित इति ज्ञेयम् ।। ८–९ ।।

श्रीसुबोधिनी

एवं ब्रह्मवित्त्वेन परोपकारैककार्यत्वेन च स्तुत्वा सर्वज्ञतामुपपाद्य तत्सार्वज्ञ्यं यथान्येषामब्रह्मविदामपि भवति तथोपायं कृतवानिति स्तौति **ज्योतिषामयनमिति**, अनेनान्यस्यापि तत्तत्पदार्थरहितस्यापि तत्तत्पदार्थकरणसामर्थ्यं द्योतितं ग्रहादिबलरहितस्यापि तद्बलजनकत्वं, ज्योतिषां सूर्यादीनामयनं स्थानमिदमित्थतया यस्मिन् क्षणे यो ग्रहो यत्र वर्तते तस्य ज्ञानं यस्मात् तज् **ज्योतिषामयनं** ज्योतिःशास्त्रं, अलुक्समासः, ज्योतिषां सम्बन्धि वायनं ज्ञानं यस्मात्, तत्रापि सामान्यतो ग्रन्थकर्तारः सुगमाः परोपजीवकाः, त्वं तु ब्रह्मसूर्यवत् साक्षात्कर्ता, तत्रापि **यत् प्रसिद्धं** सर्ववाद्यप्रतिपन्न तादृशमेव **तत्** त्वदुक्तं तच्छास्त्रं केवलं ज्ञानमेव ब्रह्मस्वरूपं "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवतीति", तच्च ज्ञानरूपं शास्त्रमतीन्द्रियमिन्द्रियागोचरमन्यस्य बुद्धिगम्यमपि न भवति गुरूपदेशव्यतिरेकेणेतादृशं शास्त्रं **भवता प्रणीतं येन शास्त्रेण** कृत्वा **पुमान् परावरं वेद**, भूतभविष्यद् **वेद परं**, स्वापेक्षया पुरुषोत्तमपर्यन्तं **अवरं** परमाणुपर्यन्तम् ।। ५ ।। अतः सर्वज्ञो भवान् ब्राह्मणात्तमोत्तमः, अतः पुत्रयोः संस्कारान् कर्तुमर्हसीत्याह **त्वं हीति**, ब्रह्मविदेव ब्राह्मणः स हि सर्वज्ञः, त्वं **ब्रह्मविदामपि** श्रेष्ठोन्यस्यापि ज्ञानोत्पादने यत्नकरणात्, अतो **बालयोरनयोः संस्कारान् कर्तुमर्हसि** यथैकं नामकरणं तथान्यान्यपि कर्माणि विद्याभाग्यफलकानि संस्कारत्वेनाप्युक्तानि जातेष्ट्यादीन्यैन्द्राबार्हस्पत्यादीनि चान्यानि च प्रसिद्धानि, लोके साम्प्रतं लुप्तानि, उभावप्येतावसंस्कृतौ, ननु **गुरुणा** पुरोहितेन कर्तव्यं न तु येनकेनचिदिति चेत् तत्राह **जन्मना ब्राह्मणो गुरुरिति**, उत्पत्तिमात्रेण सर्वोपि **ब्राह्मणो गुरुर्भवति**, अतो भवानपि गुरुरित्यवश्यं कर्तव्यम् ।। ६ ।। तत्र गर्गो **गुप्ततयेतत्** कर्तव्यमिति साक्षात् तथोक्ते ग्रामीणत्वान्न मंस्यत इति वैदिके कर्मण्यसुराणां ज्ञानमयुक्तमिति "यद्वै वेदमुच्चैर्यज्ञेन चराम तन्नोसुराः पाप्मानुविदन्त्युपांशूपसदाचराम तथा नोसुराः पाप्मा नानुवेत्स्यन्ती" तिश्रुतेः, तथापि यावल्लौकिकभयं नोच्येत तावन्न निवर्तत इतिभयमुत्पादयति त्रिभिर्यदूनामिति, सर्वज्ञानां वचनं सर्वतोमुखं भवति सर्वं स्पष्टं वदन्ति च न वदन्ति च, उच्यमानमप्यनुक्तमिव भवति, "द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय" इतिन्यायेनोच्चैः क्रियमाणे द्रव्यविरोधो भवति, विरोधे कारणं कंसः, तस्यापि **देवकीपुत्रः**, मया कृतः संस्कारो **देवकीपुत्रत्वं** ख्यापयतीत्याहाहं **सर्वेषामेव यदूनां** यदुवंशोद्भवानामाचार्यः संस्कारकर्ता नान्येषां, तत्रापि **भुवि सर्वतः** ख्यातो मदीयाः सर्व एव धर्माः सर्वेषां प्रसिद्धा भवन्ति, अतोत्रागमनमपि प्रसिद्धमेव, तत, किम् ? अत आह **ते सुतं मया संस्कृतं कंसो देवकीसुतमेव मन्यते**, निर्धारितोयमर्थः ।। ७ ।। यादवान्यस्य मया संस्कारो न क्रियत इति मन्यतां को दोष इति चेत् तत्राह **कंसः पापमतिरिति**, स हि मारकोतो देवकीपुत्रत्वज्ञानमनिष्टजनकं, नन्वत्र देवकीपुत्रस्य कः प्रसङ्गः ? तत्राह **सख्यं तव चानकदुन्दुभेरिति**, अतः सखिगृहेष्टमः पुत्रः स्थापितोयमिति मन्यते, चकारोर्थविशेषख्यापकः, सोपि दुष्टस्तव च सख्यमित्युभयोः सम्बान्धत्वज्ञापनाय षष्ठ्या, ननु देवकीगर्भः स्त्रीरूपस्तेन दृष्ट एव कथं सन्देह इति चेत् तत्राह **देवक्या अष्टमो गर्भः** स्वमारकत्वेन श्रुतः **स्त्री भवितुं नार्हति** ।। ८ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

त्वं हीत्यत्र जातेष्ट्यादीनीति "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जात" इत्यनेन विहिता तत्फलं च 'तस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तजस्व्यन्नाद इन्द्रियाव्यायुष्मान् भवती'त्युक्तम्, "ऐन्द्राबार्हस्पत्यं तु "यं कामयेत राजन्यमनपेष्व्या वृत्रान्घ्नँश्चरे"दिति "तस्मा एतदैन्द्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेदि"त्यनेनोक्तं, एवमन्यान्यपि ज्ञातव्यानि ।। ६ ।। **यदूनामित्यस्याभासे पाप्मानुविन्दतीत्यादि**, पाप्मेत्यत्र श्रुतौ जसः स्वादेशो बोध्यः, एवमग्रेऽपि, श्रुतिस्तु ब्राह्मणप्रथमाष्टके पञ्चमाध्याये नवमानुवाकेऽस्ति, **न निवर्तत** इत्युत्सवसम्भ्रमाच्छ्रीनन्दो न निवर्तते "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे"ति, **द्रव्यविरोध** इति पुत्रविरोधः, **तस्यापीति विरोधस्य कारणं कंसः** ।।७।। **कंसः पापमतिरित्यत्र चकारोर्थविशेषख्यापक** इत्यत एव रोहिणीपुत्रोत्पत्तौ तात्पर्यस्य **ख्यापकः** ।।८।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

ज्योतिषामयनमित्यत्र प्रथमपक्षे **ज्योतिषामयनं स्थानं यस्मात्**, तथा च स्थानविषयकज्ञानं यस्मादिति पर्यवसन्नोर्थः, **द्वितीयपक्षे**, ज्योतिर्विषयकमयनं **ज्ञानं यस्मादित्यर्थः** ।। ५ ।। **यदूनामित्यस्याभासे यद्वैति** पूर्वमसुराणां ज्ञानस्यायुक्ततामात्रमुक्तम्, अत्र तु श्रुतौ **"तत् नः कर्म असुराः पाप्मा च एते अनुविन्दन्ति** प्राप्नुवन्ती"त्युक्तं विद्लृ लाभे इत्यस्य रूपं, तथा चोच्चैः कृतं कर्म आसुरं भवतीत्यर्थः ।। ७ ।। **देवक्या इत्यत्र कंसो मारयेदिति अपि हन्तेत्यस्यैवार्थतः कथनमिदम्** ।। ८ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'त्वया बालयोर्नामकरणादि करणीयम्' इति वक्तुं तस्य ज्ञानातिशयमाह—ज्योतिषामिति। यत् यस्मादतीन्द्रियज्ञानं भवति तत् ज्योतिषामयनं ज्योतिःशास्त्रं भवता प्रणीतं रचितम्, येन भगवत्प्रणीतशास्त्रेणान्यपुमान् परावरं वेद। परं कारणं पूर्वजन्मकृतं कर्म, अवरं कार्यमस्मिन् जन्मनि भावि सुखदुःखादि फलं जानातीत्यर्थः। 'अन्ये च शास्त्रगुरूपदेशानुसारेण शास्त्रं प्रणयन्ति, भवता तु तं निरपेक्ष्यैव प्रणीतम्' इत्याह—साक्षादिति ॥ ५ ॥ न केवलं त्वं ज्योतिर्विदामेव श्रेष्ठः, किंतु ब्रह्मविदामपि श्रेष्ठः। एवं तस्य ज्ञानातिशयमुक्त्वा प्रार्थयते—त्वमिति। त्वमनयोर्बालयोर्नामकरणादिसंस्कारान् कर्तुमर्हसि कुरु। ननु 'एतत् त्वत्कुलाचार्येण कर्तव्यम्' इत्याशङ्क्याह—नृणामिति। हि यस्मात् जन्मना उत्पत्तिमात्रेणैव ब्राह्मणो नृणां मनुष्यमात्रस्य गुरुः, किं पुनस्त्वादृशो विद्यातप आदिमानित्यर्थः ॥ ६ ॥ गर्गो यद्यप्येतदर्थमेवागतस्तथापि अत्युत्साहितं नन्दं दृष्ट्वा तथोत्साहे कंसोपद्रवमाशङ्क्य तन्माभूदिति गुप्तमेवैतत् कार्यमित्यभिप्रेत्य नन्दस्योत्साहनिवृत्त्यर्थं प्रथमं तं प्रत्याचक्षाण इवाह—यदूनामिति। यतोऽहं यदूनां यदुकुलोद्भवानामाचार्योऽतस्तव पुत्रस्य नामकरणादि न करिष्ये इति शेषः। अनेन वसुदेवपुत्रतया प्रसिद्धत्वात् रोहिणीपुत्रतया कंसभयाभावाच्च रामस्य तत्करणं सम्मतमिति सूचितम्। 'मत्सुतस्य तत्करणे को दोषः' इत्यपेक्षायामाह—मया संस्कृतं तव सुतं कंसो देवकीसुतं मन्यते मन्येत। 'भवानत्रागत इति, मम पुत्रसंस्कारं च कृतवानिति कंसः कथं ज्ञास्यति' इत्याशङ्क्याह—अहं भुवि सर्वतः ख्यातः प्रसिद्धश्चेति। अतो ममागमनं मत्कृत्यं च गुप्तं न स्थास्यतीति भावः ॥ ७ ॥ ननु 'एवमपि यदुकुमारः कश्चिदिति कथंचिज्जानातु, वसुदेवस्य पुत्रो देवक्यां जात इति कथं जानीयात्?' तत्राह—तवानकदुन्दुभेश्च सख्यं जानाति, अतस्तत्पुत्र इति मंस्यते। 'तथा मन्यताम्, ततः किम्?' तत्राह—पापमतिरिति। पापे 'देवक्या अष्टमपुत्रमारणे'मतिर्यस्य सः। ननु 'देवक्या अष्टमो गर्भः स्त्रीरूपस्तेन दृष्ट एव, अतः कथं तत्पुत्र इति मन्येत?' तत्राह—देवक्या इति। 'किं मया हतया मन्द! जातः खलु तवान्तकृत्' इति देवकीदारिकावचः श्रुत्वा तस्या वचसः आकाशवाणीनारदवाक्याभ्यां संवादित्वाद्देवक्या अष्टमो गर्भः स्त्री भवितुं नार्हतीति सञ्चिन्तयन् मत्संस्कारलिङ्गेन च 'वसुदेवो देवकीपुत्रं तत्र स्थापयित्वा, तत्कन्यामानीय मह्यं दत्तवानिति, वसुदेवस्य देवकीपुत्रो नन्दगृहेऽस्ति' इत्यागता आशङ्का यस्य स कंसः। अपीति सम्भावनायाम्। यदि वसुदेवं देवकीं वा त्वां वा मां वा बालौ वा सर्वान् वसुदेवसम्बन्धिनो हन्ता हनिष्यति, तर्हि तत्तस्य हननस्यास्मत्कृतसंस्कारनिमित्तत्वात् नोऽस्माकं महान् अनयः अन्यायः अयशोरूपः पापरूपश्च स्यादिति तव सुतस्य संस्कारो मया न प्रसिद्धतया कर्तव्यः। 'अयमनर्थस्तवापि तुल्य एव' इति सूचयितुं तत्साहित्यमभिप्रेत्य 'न' इति बहुवचनम् ॥ ८-९ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ज्योतिषामिति यत् यस्मादतीन्द्रियवस्तुविषयकं ज्ञानं भवति तत् ज्योतिषां ग्रहादीनामयनं फलद्योतकं ज्योतिःशास्त्रं भवता साक्षात् प्रणीतम् अन्यनिरपेक्षेण रचितं येन शास्त्रेण अन्योऽपि पुमान् परं पूर्वजन्मकृतं कर्म अवरम् एतज्जन्मनि सुखादिकं च वेद जानाति। अतोऽनयोर्बालयोरपि जन्मफलं कथयेत्यर्थः ॥ ५ ॥ किञ्च त्वमिति ॥ त्वं न केवलं ज्योतिर्विदेव किंतु ब्रह्मविदां वेदज्ञानामपि श्रेष्ठः अतस्त्वमनयोर्बालयोर्नामकरणादिसंस्कारान् कर्तुमर्हसि कुरु। नन्वेतद्गुरुः कुर्यादिति चेदाह। हि यस्मात् जन्मना उत्पत्तिमात्रेणैव ब्राह्मणो नृणां मनुष्यमात्रस्य गुरुः किं पुनस्त्वादृशो विद्यादिमान् ॥ ६ ॥ नामकरणं गुप्तं कारयितुं युक्त्या प्रत्याचक्षाण इवाह—यदूनामिति ॥ यतोऽहं यदूनां यदुकुलोद्भवानामाचार्यो भुवि सर्वदा ख्यातश्चास्मि भवतां यदुत्वेऽपि क्षत्रियत्वाभावान्न यदुत्वख्यातिः। अतः मया संस्कृतं ते तव सुतं लोकः कंसो वा देवकीसुतं मन्यते मंस्यते ॥ ७ ॥ कंस इति द्वयम् ॥ पापमतिः कंसः "किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ॥" इति देवक्या दारिकाया वचः श्रुत्वा देवक्या अष्टमो गर्भोऽपि स्त्री भवितुं नार्हतीति नित्यं चिन्तयन् क्वचिदस्तीति विचार्य तव आनकदुन्दुभेश्च सख्यं चिन्तयन् त्वद्गृहे स्यादिति संभाव्य हन्त खेदे अपि यदि मत्संस्कारलिङ्गेन आगता आशङ्का तव गृहे देवक्यष्टमसुतास्थितिसंभावना यस्य तथाविधः स्यात् तर्हि तत् मत्कृतसंस्कारकरणं नोऽस्माकम् अनयः अनर्थः भवेत्। न इति नन्दादीनपि क्रोडीकरोति। यद्वा। आगताशङ्कः अपि यदि हन्ता कृष्णादीन् हनिष्यति तर्हि तत् नोऽनयो भवेदित्यन्वयः ॥ ८-९ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सांप्रतं बालयोर्नामकरणाय गर्गस्य ज्ञानाधिक्यं द्योतयन्नाह ज्योतिषामिति। अतीन्द्रियं गुरोः सकाशात् पठनं विना सर्वेषामिन्द्रियाग्राह्यं ज्ञानं पुरुषसुखदुःखानि ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं पुरुषं भाविसुखदुःखज्ञानसाधनमित्यर्थः। ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणामयनं गत्यादीनां बोधकं ज्योतिः शास्त्रं यत् तद्भवता साक्षात् प्रणीतं कृतं येन गर्गसिद्धांतादिना अन्योऽपि पुमान् परावरं परं व्योमस्थं ग्रहनक्षत्रादिगणं अवरं पुरुषभावि सुखदुःखगणं वेद ॥ ५ ॥ स्वेप्सितमाह त्वमिति। नामकरणादीन् संस्कारान् कर्तुमर्हसि ननु त्वद्गुरुणा करणीयं यत्तदहं कथं करोमीति चेत्तत्राह जन्मनेति ॥ ६ ॥ आचार्यो गुरुः ते सुतं लोको देवकीसुतं मन्यते जानीयात् तर्कयेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु त्वया संस्कृतं कुमारं यदुसुतं जानातु तत्र वसुदेवसुतं कथं जानीयात् तत्रापि देवकीसुतज्ञाने त्वत्काशा-

भाव इत्याशंकायामाह श्लोकद्वयेन कंस इति च पापमतिः कंसः तव आनकदुन्दुभेश्च उभयोः सख्यमस्तीति जानन् किं मयाहतया मंद श्रुत्वा देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हतीति चिंतयन् गर्गेण मया बाले संस्कृते सति त्वद्गेहे देवकीसुतो निक्षिप्तोऽस्तीत्यपगताशंकः अपि यदि हंता बालकं हनिष्यति तर्हि तत् सः नोऽस्माकमनयोऽनर्थो भवेत् ॥ ८-९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

त्वया बालयोर्नामक्रिया कार्येति वक्तुं तस्य विज्ञानातिशयमाह। ज्योतिषामिति। यत् अतीन्द्रियं ज्ञानम्, अतीन्द्रियज्ञानसाधनमित्यर्थः। ज्योतिषाम्, अयनं तत्प्रतिपादकं ज्योतिःशास्त्रमित्यर्थः। तत् साक्षात्, भवता, प्रणीतं, येन ज्योतिःशास्त्रेण, अन्योऽपि पुमान्, परावरमतीतमागामि च, वेद। कारणात्मकं पूर्वजन्मकृतं कर्म, कार्यात्मकमस्मिन् जन्मनि भावि फलं च तद्वदेत्यर्थः। उक्तं च जातके। 'यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिं व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव' इति ॥ ५ ॥ विवक्षितमाह। त्वं हीति। हे ब्रह्मविदां श्रेष्ठ, त्वं दैवज्ञो ब्रह्मविच्च भवानित्यर्थः। अनयोः बालयोः, संस्कारान्नामकरणादीन्, कर्तुम् अर्हसि हि। नन्वेतद्गुरुणा करणीयं न चाहं त्वद्गुरुरित्यत्राह। नृणां जन्मना, ब्राह्मणः गुरुः। नृणामिति सामान्यनिर्देशेन ब्राह्मणानां क्षत्रियादीनां च ब्राह्मणमात्रः स्वभावतो गुरुरस्तीत्यभिप्रेतम् ॥ ६ ॥ अत्युत्साहिनं नन्दं प्रति गुप्तमेतत् कार्यमित्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाह। यदूनामिति। कंस इति। इतीति च। हे नन्द, अहं भुवि, यदूनाम् आचार्यः, सर्वदा ख्यातः, यदूनामाचार्यत्वेनाहं जगति प्रसिद्ध इत्यर्थः। यदि त्वत्पुत्रं संस्कुर्यां तर्हीति शेषः। मया, संस्कृतं ते तव, सुतं पुत्रं, पापमतिः कंसः, देवकीसुतं, मन्यते। मत्कर्त्तृकसंस्कारेण लिङ्गेन देवकीसुतमेवाध्यवस्यतीत्यर्थः। ननु यदुकुलाचार्येण त्वया संस्कृतं सन्तं कथंचिद्यदुकुमारं जानीयात्तर्हि जानातु, तत्र वसुदेवस्य पुत्रः तत्रापि देवक्या जात इति कुतो जानीयात्तत्राह। तव नन्दस्य, आनकदुन्दुभेर्वसुदेवस्य च, सख्यं संचिन्तयन्, 'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता' इत्यशरीरवाक्श्रवणादिति शेषः। देवक्याः, अष्टमः गर्भः, स्त्री भवितुं, न अर्हति, किं तु स पुमानेव भवेत्, इति च संचिन्तयन्, 'यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्जातः' ते इति शेषः। देवक्याः दारिकावचः, देवकीबालिकाया वचनमित्यर्थः। श्रुत्वा, संचिन्तयंश्च, आगताशङ्कः, हन्तापि हन्याच्चेत्, त्वत्सुतमिति शेषः। तर्हि, तत् सः, नोऽस्माकम्, अनयोऽनीतिः, अनुचितमिति यावत्। स्यात्। इति उक्त्वा, गर्गः तूष्णीं बभूवेत्यर्थः। इति त्रयाणामेकान्वयः ॥७-९॥

कृष्णप्रिया

भगवन्? आप ज्योतिष शास्त्र के प्रणेता है जो ज्ञान अतीन्द्रिय है एवं सूर्यादि ग्रहों का साक्षात् प्रदर्शक है जिस ज्ञान से "परस्य" पर पुरुषोत्तम का अथवा भविष्य का एवं "अवरस्य" अपने नीचे परमाणु आदि पदार्थों का अथवा भूत काल का ज्ञान होता है ॥ ५ ॥ भगवन्! आप ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ है इसलिये मेरे इन दोनों बालकों का नामकरण आदि संस्कार करने योग्य है। यदि आप कहेंगे तुम्हारे कुलाचार्य तो शाण्डिल्यजी है तो मैं कैसे करूँ तब भगवन् ब्राह्मण तो जन्म से दुनिया भर के गुरु हैं ॥ ६ ॥ श्री गर्गाचार्य जी ने कहा राजन् बात तो ठीक है लेकिन यह तो सदा से इस पृथ्वी पर प्रसिद्ध है कि मैं यदुवंशियों का कुलाचार्य हूँ। यदि हम आप के लालनों का संस्कार करेंगे तब कंस आप के लालनों को देवकी के पुत्र मानेगा ॥ ७ ॥ एक तो कंस की पापमय मति है वह सदा अनर्गल बातें सोचा करता है। दूसरी तुम्हारे और वसुदेव जी का सख्य है, तीसरी बात कि उनका तो मन्तव्य है कि देवकी जी की आठवीं संतान कन्या नहीं हो सकती, "अरे पापी, मुझे मारने से क्या मिलेगा?" इत्यादि देवकी कन्या योगमाया की बातें सुनकर प्रतिदिन वह यही सोच करता रहता है कि कहीं न कही वह अवश्य होगा, संभव है कि वह बालक नन्दजी के ही घर हो सकता है यह मानकर और मेरे संस्कार कराने से शंकित होकर यदि वह बालकों को मार देगा, तब हम लोगों का महान् अनिष्ट होगा ॥ ८-९ ॥

इति संचिन्तयञ्छ्रुत्वा [1]देवकी दारिकावचः। अपि हन्ताऽऽगताशङ्कस्तर्हि तन्नोऽनयो [2]भवेत् ॥ ९ ॥

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि [3]गोव्रजम्। कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत्। चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥११॥

गर्ग उवाच

[4]अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः। आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः ॥१२॥

---

१. दैवक्या–श्रीधर. वंशी विश्व. शुक. ; देवकीदारिका–वीर. विज. । २. महान्–वीर. विज. । ३. गोव्रजे–श्रीधर. वंशी. वीर विज. विश्व. । ४. अयं वै–वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—इति संचिन्तयन् आगताशङ्कः अपि हन्ता तर्हि नः महान् अनयः (भवेत्) ॥ ९ ॥ अस्मिन् मामकैः अपि अलक्षितः रहसि गोव्रजं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् द्विजातिसंस्कारं कुरु ॥ १० ॥ एवं सम्प्रार्थितः विप्रः गूढः रहसि स्वचिकीर्षितं एव तत् नामकरणं बालयोः चकार ॥ ११ ॥ अयं गुणैः सुहृदः रमयन् हि रोहिणीपुत्रः राम इति आख्यास्यते बलाधिक्याद् बलं विदुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

'किं मया हतया मंद' इत्यादि देवकीकन्यावचः श्रुत्वा "देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति" इति नित्यं संचिंतयन्सामान्येन क्वचिदस्तीति ज्ञात्वा युवयोश्च सख्यं संचिंतयंस्त्वद्गृहे भवेदिति संभाव्य मत्संस्कारलिंगेन चागताशंकः आगता आशंका यस्य सः। अपि यदि हंता हनिष्यति तर्हि तत्तदा नो महाननयः स्यादिति ॥ ९ ॥ द्विजातिसंस्कारं द्विजातीनामवश्यं कर्तव्यं संस्कारमात्रं केवलं स्वस्तिवाचनपूर्वकं कुर्विति ॥ १०-११ ॥ यदूनामपृथग्भावात्कृतश्चिद्धेतोर्विप्रतिपद्यमानानां यदूनामपृथग्भावात् भावो भावनं तस्मात्। अन्योन्यशिक्षया सर्वैकमत्यकरणादित्यर्थः। सम्यक्कर्षत्येकीकरोतीति संकर्षणमप्युशंति इच्छन्ति वक्ष्यंतीत्यर्थः। गर्भसंकर्षणं तु न प्रकाशयति स्म ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अस्मिन् गोव्रजे गोकुले तत्रापि रहसि मामकैर्मदीयसंबंधिभृत्यादिभिरप्यलक्षितोऽज्ञातः ॥ १० ॥ तन्नामकरणं स्वचिकीर्षितमेव निजाभिलषितमेव ॥ ११ ॥ गुणैर्निजसौशील्यवात्सल्यादिभिः। रमयन्नानंदयन्। वस्तुतस्तु-"रमन्ते योगिनोनंते नित्यानंदे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥" इति। यद्वा-राति गृह्णाति जगत्कुक्षौ ददाति वा भक्ताभीष्टमिति राः 'रा-दानग्रहणयोः' अभ्यते मुक्तैर्गम्यत इत्यमः। 'अम-गत्यादौ' राश्चासावमश्चेति रामो जगज्जन्मादिकर्ता मुक्तप्राप्यः परमात्मेत्यर्थः। अस्यापि "वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी। रामकृष्णौ" इति भगवदवतारत्वात्परब्रह्मतैव। बलमधिकमस्येति मत्वर्थीयोच्। "भूमनिंदाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संबंधेस्तिविवक्षायां भवंति मतुबादयः ॥" इति भर्तृहरिवाक्यादत्र भूमार्थेऽच्। यद्वा-बलते संवृणोति सर्वेषां धृतिमिति बलः। यद्वा-रमयति लोकान्स्वस्वव्यापारे प्रवर्त्तयतीति रामः। सर्वेषु बलवत्स्वधिकबलवत्त्वाद्वा बलः। "रामेति लोकरमणाद्बलं बलवदुच्छ्रयात्" इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गोव्रज इति स्थानसंस्कारानपेक्षा च दर्शिता रहसीति दिने गवां सपालानां वने गमनात् द्विजातिसंस्कारं यथा स्वक्षत्रवैश्यानुरूपनामकरणलक्षणं पुण्याहस्वस्तिऋद्धयस्त्रिस्त्रिरुक्त्या स्वस्तिवाचनं स्यात् स्वस्तिवाचनमन्त्राणां पठनं च स्वस्तिवाचनं यद्वा "पुनन्तु मा देवजनाः' पुनन्तु मनसा धिया' पुनन्तु विश्वा भूतानि, जातवेदः पुनीहि माम्" इत्यादिमन्त्राः तच्च सर्वकर्मस्वावश्यकं न बहिर्लोकवेद्यं च अतः केवलं तत्पूर्वकम् ॥ १० ॥ तद्व्रजजनैरप्यलक्षिततया रहसि तादृशसंस्कारमात्रकरणं स्वस्य कर्त्तुमिष्टमेव, ननु, श्रीभगवदैश्वर्याभिज्ञेन तेन कुतस्तत्कृतौ सङ्कोचो न कृतः तत्राह-बालयोरिति। लोकहितार्थं स्वभक्तप्रमोदनार्थं च प्रकटितबाल्यलीलयोस्तयोस्तदनुरूपा लीला तदीयैश्वर्यज्ञानिनामपि मोहिनीति भावः। तत्र रहःस्थाने बालकद्वयानयनतद्दर्शनञ्च गर्गानन्दशुभाशीर्वादादिवर्णनमूह्यम् ॥ ११ ॥ अयं वै इति सार्द्धकम्। अयं हीति क्वचित्। अयमित्यङ्गुल्या निर्दिश्य करेण स्पृष्ट्वा वा बोधयति। एवमग्रेऽप्यस्येति अत्र प्रकटार्थः रोहिणीपुत्र इत्येतदप्येकं नामेत्यर्थः। सुहृदः श्रीवसुदेवादीन् भवदादींश्च आख्यास्यत् इति नाम्नोऽस्य मत्कर्तृत्वं व्याजमात्रमेव किन्तु तादृशतया स्वयमेव ख्यातिर्भविष्यतीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि विदुरिति वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानत्वम् एवमुत्तरत्रापि एनमिति शेषः। यदूनां श्रीवसुदेवादीनां भवदादीनां च अपृथग्भावात् निर्विशेषपितृत्वादिभावात् तेनोभयकुलस्यापि स्वस्मिन्नाकर्षणादित्यर्थः। एषामपि यादवत्वेन तदैक्यं द्वारकातो व्रजमागतस्य रामस्य वचनेन हरिवंशे व्यक्तम्—

प्रत्युवाच ततो रामः सर्वांस्तानभितः स्थितान्। यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम बान्धवाः ॥ इति।

यदूनामहमाचार्य इति तु प्रसिद्धिमात्रमवलम्ब्य प्रोक्तम् अपि तु शब्दान्नामान्तराण्यपि सूचितानि। उतेति पाठे स एवार्थः अप्रकटार्थे तु शोभनं ह्येषां तान् सात्वतान् आत्मारामादीन् रमयन् रामः विदुर्जानन्तीति तन्नाम्नां सदातनत्वं व्यञ्जयति एवमुत्तरत्रापि किञ्च सङ्कर्षणनाम्नोपि निरुक्त्यन्तरमपिशब्दात् ज्ञेयम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

गवां व्रज इति महिष्यादीनामावासो व्यावर्त्तितोऽयोग्यत्वात्। यद्वा, दिने गवां सपालानां वने गमनान्निर्ज्जनत्वं बोधितम्। द्विजातिसंस्कारं वैश्याऽनुरूपनामकरणमात्रलक्षणम्, दीक्षा-पूर्वांगतिलकादिधारणादेशमात्रञ्च कुरु। पुण्याह-स्वस्ति-

ऋद्धयास्त्रिस्त्रिरुक्ताः स्वस्तिवाचनं स्यात्। स्वस्तिवाचनमन्त्राणां पठनं वा स्वस्तिवाचनम्,—यथा (ऋग्वेदः ९।६७।२७) 'पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्' इत्यादिमन्त्राः। तच्च सर्व्वकर्म्मस्वावश्यकम्॥ १०॥ तद्व्रजजनैरप्यलक्षिततया रहसि तादृशसंस्कारकरणं स्वस्य कर्त्तुमिष्टमेव। एवमुक्तप्रकारेण सम्यक् प्रार्थितः सन् तदिति दीक्षा-पूर्व्वांगं वा, तस्य निगूढत्वात् संकेतेनोक्तिः। आदौ तत्करणं मुख्यत्वान्मंगलत्वाच्च। रहसि गूढः सन्नित्ययमत्रायं भावः,—श्रीनन्दस्यानन्दार्थमवश्यं तत्पुत्रस्य माहात्म्यं कथ्यमेव, तथापि नन्दस्य स्नेहभरेण तस्मिन्नीश्वरज्ञानं न भवितैव। अन्येषाञ्चाधुना तद्वत् स्नेहपरिपाकाभावान्माहात्म्यविशेषश्रवणेनेश्वरज्ञानोत्पत्त्या स्नेहविशेषभंगः स्यादित्यलक्षितं रहस्येव तदुचितमिति। यद्वा, गूढः कंसभिया प्रच्छन्नः, तत्रापि स्नेहह्रासशंकया श्रीव्रजेशं प्रति तदीयपरमैश्वर्य्यं साक्षादनभिव्यज्य लोकोत्तरचमत्कारकर्म्मकोऽप्ययं श्रीबादरायणतुल्यो महापुरुष इति व्यपदेशेनाब्रवीदिति। ननु, श्रीभगवदैश्वर्य्याभिज्ञेन तेन कुतस्तत् कृतम्? तत्राह—बालयोरिति, लोकहितार्थं स्वभक्त-प्रमोदार्थञ्च प्रकटित-बाल्यलीलस्य तस्य तदनुरूपलीला तदीयैरवश्यमनुसर्त्तव्यैवेति भावः॥ ११॥ अयमित्यंगुल्या निर्दिशति, करेण वा स स्पृष्ट्वा वदतीति बोधयति। एवमग्रेऽप्यस्येति च; गुणैर्वात्सल्यार्जवादिभिः। वै प्रसिद्धाविति निजोक्तौ शास्त्रादिद्वारा प्रामाण्यं बोधयति। आख्यास्यते सुहृद्भिर्लोकैर्वा। एवं नाम्नोऽन्वर्थत्वनिरूपणेन निजौद्धत्यं परिहृतम्। एवमग्रेऽपि। बलस्याधिक्यादतिशयात्, किंवा बलेन सर्व्वलोकेभ्य आधिक्यात्; यदूनामिति तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, तव पुत्र एवायं पुष्टत्वात्; तच्च 'व्रजेशसुतयोः' इत्यादिना व्यक्तमेव। अतएवोक्तम्—'रोहिण्याः पुत्रः' इति, न च वसुदेवस्येति; तथापि तस्माज्जातत्वेन यदुभिः सहापृथक्कृतत्वात् संकर्षति कुलद्वयमप्याकर्षयतीति संकर्षणमपि वक्ष्यन्तीत्यर्थः॥ १२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमुक्तवन्तं गर्गं प्रत्याह नन्दः-अलक्षित इति अस्मिन् गोकुले मामकैर्मदीयैरप्यलक्षितः रहसि निर्जने देशे स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातिसंस्कारं द्विजातीनामवश्यकर्त्तव्यं संस्कारं तूर्यघोषादिरहितं कुर्वित्यर्थः॥ १०॥ इत्थं सम्यक् प्रार्थितो द्विजो गर्गः स्वेन कर्तुमिष्टमेव तदाबालकयोर्नामकरणं रहसि गूढस्सन् चकार॥ ११॥ तदेव दर्शयति-अयमित्यादिना। गुणैः सुहृदो रमयन्निति तस्मिन् रामशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तप्रदर्शनं बलाधिक्यादिति बलशब्दस्य तथा यदूनामपृथग्भावात्कुतश्चिन्निमित्ताद्विप्रतिपत्स्यमानानां तेषामन्योन्यसामादिघटनेनैकमत्यसम्पादनरूपात्समानानां तेषामन्योन्यस्य कर्षणात्प्रवृत्तिनिमित्तात्संकर्षणशब्दाभिधेयम् उशन्तीच्छन्ति जना इति शेषः। सम्यक्कर्षति वैमुख्यनिवर्त्तनेनैकतां नयतीति सङ्कर्षणमुशन्तीत्यर्थः। गर्भसङ्कर्षणात् सङ्कर्षणः सङ्कर्षणाख्यस्यानन्तस्यांशत्वाद्वा सङ्कर्षण इति व्युत्पत्तिद्वयमप्यभिप्रेतम्॥ १२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मामकैरत्यलक्षिते अज्ञाते अस्मिन् व्रजे तत्रापि रहसि॥ १०॥ आशीर्वचनपूर्वकं नामकरणप्रकारमाह-चकारेति॥११॥ यदूनां मध्ये उशन्ति इच्छन्ति॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अपीति सम्भावनार्थत्वाद्यदीत्यर्थः। हन्तेति शीले तृन् हिंसाशीलः कंसो यदि प्राप्तशङ्को भवतीत्यर्थः॥ ९-११॥ यदूनां श्रीवसुदेवादीनां भवतां चापृथग्भावात्तु पितृत्वादिसाधारणबुद्धेरित्यर्थः। तदुक्तं श्रीहरिवंशे गोपवर्गं प्रति तेन स्वयमेव "यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम बान्धवाः" इति निर्धारणं हि सजातीयेष्वेव षष्ठीसप्तम्यौ विधत्ते गोषु कृष्णाः सम्यक् क्षीरा इति वत् तदेवं सति सङ्कर्षति अभेदबुद्ध्यैकीकरोति सङ्कर्षण इति विवक्षितम्। अनेन गोपानामेव यदुवंशोद्भवत्वमप्यवगतं तच्च श्रीकृष्णसन्दर्भादौ प्रतिपादितमेव॥ १२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भाग्यवशादेव मद्गृहमायातमीदृशमाचार्य्यं कदा पुनरहं लप्स्ये तस्माद्वादित्राद्युत्सवाङ्गं दिनान्तरे सविस्तरं करिष्ये साम्प्रतमद्य केवलं शास्त्रीयमावश्यकं कृत्यमेवैतद्द्वारा कारयामीति मनसि विभाव्याह—अलक्षित इति। मामकैर्भ्रात्रादिभिरपि गोव्रजे इति स्थानसंस्कारोपि नापेक्ष्यः रहसीति दिने सपालानां गवां वने गमनात् द्विजातिसंस्कारं बालयोरनयोः क्षत्रवैश्यानुरूपनामकरणलक्षणं पुण्याहस्वस्तिऋद्धयस्त्रिस्त्रिरुक्त्या स्वस्तिवाचनं भवेत् तस्य सर्वकर्मस्यावश्यकत्वात् तत्पूर्वकम्॥ १०-११॥ यदूनां वसुदेवादीनां भवदादीनां च अपृथग्भावात् निर्विशेषपितृत्वादिभावात् स्वस्मिन्नुभयकुलस्याकर्षणात् तच्च हरिवंशे—

प्रत्युवाच ततो रामः सर्वांस्तानभितःस्थितान्। यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभाः॥ इति।

तद्वचनेनैव व्यक्तं गर्भसङ्कर्षणं तु न प्रकाशयति॥ १२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

मामकैरप्यलक्षितः किम्पुनः परकीयैः ॥ १०–११ ॥ यदूनामपृथग्भावात् स्वस्य तन्मध्यवर्तित्वात् यदुविरोधिपुरादि-सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणमुशन्ति मन्यन्ते वक्ष्यन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कंसाद्बिभेषि चेदेवं कुर्वित्याह—मामकैर्भ्रात्रादिभिरप्यलक्षितस्त्वं गोव्रजे रहसि स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातिसंस्कारं कुरु त्वादृशं महर्षिमहं कदा पुनः प्राप्नुयामिति भावः। गोव्रजे इति स्थानसंस्कारानपेक्षा तस्य रहस्त्वं दिवसे सपालानां गवां विपिने गमनात् द्विजात्योः क्षत्रवैश्ययोरनयोः संस्कारं तदनुरूपं नामकरणमात्रं पुण्याहस्वस्त्ययद्ध्याभिस्त्रिरुक्ताः स्वस्तिवाचनं भवेन् तस्य सर्वेषु कर्मस्वावश्यकत्वात्तत्पूर्वकमित्युक्तम् इतस्त्वयि गते तु वादित्रनृत्याद्युत्सवाङ्गं करिष्याम इति भावः ॥ १० ॥ सङ्कर्षणनाम निर्वक्ति यदूनामित्यर्द्धकं कंसक्लेशाद्यत्र क्वापि गतानां तेषामपृथग्भावादेकस्थापनरूपात् समाकर्षणादथ च वसुदेवादीनां भवदादीनाञ्चापृथग्भावान्निर्विशेषपितृत्वादिभावैरुभयेषां स्वस्मिन् समाकर्षणान सङ्कर्षणमुशन्तीच्छन्ति कथयिष्यन्तीत्यर्थः। उभयेषां पितृत्वादिभावैः स्वस्मिन् समाकर्षणन् "प्रत्युवाच ततो रामः सर्वास्तानभितः स्थितान्। यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभाः ॥" ११ ॥ इति श्रीहरिवंशे नन्दभ्रातॄन् प्रति तद्वाक्यात् गर्भसङ्कर्षणात्तत्वन्तु न प्रकाशितमतिरहस्यत्वात् ॥ १२ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

रोहिणीपुत्रेण निमित्तेन यदूनामपृथग्भावादपृथक्त्वात्। एकविषयमिति मत्वेति यावत्। ज्ञानिनो रोहिणीपुत्रम्। उत शब्दश्चार्थे। संकर्षणमुत संकर्षणनामकं चोशंतीच्छंतीति। एतेनापृथक्त्वस्य यदुनिष्ठत्वेन संकर्षणनिष्ठत्वाभावाद्यदूनामपृथग्भावा-त्संकर्षणमुशंतीति कथनमनुपपन्नमिति दूषणमपास्तम्। यदुनिष्ठपृथक्त्वहेतुं, रोहिणीपुत्रात्संकर्षणवाच्यत्वे निमित्तमित्युच्यत इत्यभ्यु-पगमात् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

उपायमपायापाये नन्दो वदति। अलक्षित इति। मामकैर्गोपैरप्यलक्षितेऽज्ञाते रहस्येकान्तेऽत्रैव गोव्रजे गवाशब्देन व्रजे तत्पदवाच्ये। व्रज इत्यनेनैव व्रजो गोष्ठाध्वेति विश्वाद्युक्तेरतिरिक्तं गोपदमिति निरस्तम्। गवां मार्गे तत्सद्म इति वा। व्रजो गोष्ठाध्व-वृन्देष्विति विश्वः। अपि सम्भावनाविषयकगमनवानित्यपि गो व्रज इति वा। अपि मध्यं गृहमध्यङ्गं मतोऽपि स वा सन्। अपि प्रश्नानुनययोः समयेऽन्तिकमध्ययोरिति विश्वः। अपिः पदार्थसम्भावनेत्यादिपाणिनीयस्मृतेः। द्विजातिसंस्कारान्क्षत्रियजातियोग्यान् यथोक्तमाचार्यैः। चक्रे क्षत्रिययोग्यान्संस्कारानिति। द्वितीया जातिर्द्विजातिः क्षत्रिया जातिः। द्विशब्दस्य द्वितीयार्थकत्वं तु त्रिभाग-शेषामिति माधव्याख्यावसरे सङ्ख्याया वृत्तिविषये पूर्णार्थत्वमिति वार्तिकोक्तेरिति पेद्दभट्टव्याख्यानाज्ज्ञेयं। त्रिदशास्तु विराजते।१०। स्वचिकीर्षितं स्वेनैव कर्तव्यमित्यालोचितमेव तन्नन्दबोधितमिति स विप्रो गूढः स्वयं रहसि बालयोर्नामकरणं नामस्थापनोपयुक्तं कर्म चक्रे ॥ ११ ॥ अन्तर्निकेतं सङ्केतमात्रत इदं नानाम किन्तु समनुकृतार्थमिति निरूप्य विविच्य वक्ति। अयमित्यादिना। गुणैः सुहृदः शोभनमनस्कान्सतो रमयन्नित्ययं रोहिणीपुत्रो राम इत्याख्यास्यते जनैः। योऽयं रमयन्वर्ततेऽस्य राम इत्याख्येति योजना वा। त एव लोका बलाधिक्यादमुं बलं च विदुः। यदूनां मध्येऽमुं सङ्कर्षणमुशन्तीच्छन्ति। वश कान्तौ कान्तिरिच्छा-ग्रहिज्योरिति सम्प्रसारणं। सङ्कर्षणशब्दं निर्वक्ति। अपृथग्भावादिति। सङ्कर्षयित्वैकत्र मेलयतीति भावः। इति नामत्रयं। बल-द्वयोक्त्वाऽनन्तनाम्नो वर्णादिवर्णनपूर्वकं नामनिरुक्तिपूर्वकं वक्ति ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

कथमियं स्त्रीति सञ्चिन्तयन् कंसो मारयेदितिसम्बन्धः, शङ्कायां कारणान्तरमप्यस्तीत्याह **श्रुत्वा देवकीदारिकावच** इति, **देवक्या दारिका** बालिका तस्याः वचः "किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृ"दिति, अतोऽस्या आकाशवाण्याश्चैकार्थ्ये विचार्यमाणे देवक्याः पुत्रो रात्रावत्रानीय वसुदेवेन स्थापितस्तव च कन्या तत्र नीतेति फलति तदापीतिसम्भावनायामागताशङ्कः सन् हन्ता हनिष्यति, तथा सति नोऽस्माकं महाननयः स्यात्, अतस्तव पुत्रस्य संस्कारो मया प्रसिद्धतया न कर्तव्य इति फलितम् ॥९॥ नन्दस्तस्य प्रतीकारमाहालक्षित इति।

ज्ञापितं च हरेस्तत्त्वं स्नेहाधिक्यान्न बुध्यते। अतो निरोधः कर्तव्यः शास्त्रं तत्राप्रयोजकम् ॥ १ ॥

अस्मिन् गोष्ठे गुप्तस्थाने **मामकैरप्यलक्षितो**ऽनुमानेनाप्यज्ञातः **सन् द्विजातिसंस्कारं कुरु**, अनेनेयं वार्ताऽप्येकान्त एव कृतेति ज्ञायते, गवां व्रजे न कश्चिदभिज्ञो नागरिकवद्, गवां बुद्ध्या तुल्या एव सम्भवन्ति, मामकानां स्वरूपं मया ज्ञायत इति तेषामज्ञानं साधनीयं, एतेनान्ये व्याख्याताः; द्विजातीनां मन्त्रवत्संस्कारो भवति, अन्येषाममन्त्रकम्, अतो मन्त्रप्राधान्येनैव कर्तव्यं

नोत्सवप्राधान्येन तदाह **द्विजातिसंस्कारमिति**, मङ्गलमावश्यकमिति विचार्य मङ्गलमपि वैदिकमेव कर्तव्यमित्याह **स्वस्तिवाचनपूर्वकमिति**, **स्वस्तिवाचनं** पुण्याहवाचनं, पुण्याहःस्वस्त्यृद्धयस्त्रिस्त्रिरुक्ताः **स्वस्तिवाचनं**. तत् सर्वकर्मस्वावश्यकम् ॥ १० ॥ एवमुक्ते स्वाभिलषितं सिद्धमिति कृतवानित्याहैवं **स प्रार्थित** इति, ज्ञातेपि लोके प्रतीकारं करिष्यामीति तदयाभिप्राय इति ज्ञापयितुं **विप्र** इति शीघ्रं च तस्य कर्तव्यमिति पुरोहितत्वात् **स्वस्य चिकीर्षितमेव तत् नामकरणं** कर्म प्रसिद्धमिति वा सर्वत्र, गूढः स्वयमपि **गुप्तः** सन् वेशान्तरेण यावत् तत्र तिष्ठति, रहस्येकान्ते, उभयोरपि नामकरणमुभयोरनुगुणमुहूर्ते, **बालयोरिति** केशाभिप्रायो वा ॥ ११ ॥ ज्येष्ठानुक्रमेण नामकरणं कुर्वन्नादौ ज्येष्ठस्य नामत्रयमाहायमिति सार्धेन, वस्तुतो ब्रह्मण्यव्यवहार्ये स्वरूपतो नामाभावात् सङ्केताभावाद् गुणयोगादेव नामानि भवन्ति, उभावत्र पुत्रौ वसुदेवस्य, तत्रैको मातृनाम्नापरः पितृनाम्ना, प्रथमं गुप्ततया मातृनाम्ना नामाहायं वै निश्चयेन रोहिणीपुत्रोतो रौहिणेय इत्युक्तो भवति, रोहिण्यामाविर्भूतस्यावेश इति च, वै निश्चयेनेति **यशोदायाः** पुत्रत्वे सन्देह इति ज्ञापितं, यदि भगवान् प्राकृतः केनाप्यंशेन भवेत् तदा याशोदेयो दैवकेय इतिनाम भवेद् यथा रौहिणेय इति, तस्मादयमेव वै निश्चयेन रोहिणीपुत्रः, किञ्च योनिकृतसम्बन्धाध्यासोप्यस्य दृढ इत्याह **रमयन् सुहृदो गुणैरिति**, **सुहृदः** सर्वानेव सम्बन्धिनो **गुणैः** स्वसामर्थ्यैः पालनपोषणप्रीणनादिभी **रमयन्** लोके **राम** इत्याख्यास्यते, **गुणैः** सुखभावादिभिर्वा, अयं च **बलिष्ठो** भविष्यति तथा ग्रहदर्शनादित्यन्यबुद्धिः, अतो बलाधिक्याद् **बलरूपमेवैनं विदुः** ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अयं वै रोहिणीपुत्र इत्यत्र, **वस्तुत** इत्यादि । अप्राकट्यदशायामव्यवहार्ये ब्रह्मणि सत्यन्यपदार्थवल्लोके केवलं स्वरूपत एव भगवन्नामप्राकट्याभावाद्भगवतः प्राकट्यात्मकगुणयोगादेव लोके नामानि प्रकटानि भवन्तीत्यर्थः । यथाश्रुतार्थकथने नामानि रूपवन्नामरूपस्यापि भगवतो रूपाणीत्याख्याखण्डाग्येवेत्यन्तेनाग्रिमग्रन्थेन विरोधः स्यात् । **यशोदायाः पुत्रत्व** इति । अत्रायं भावः । गर्गः पूर्ववृत्तान्ताभिज्ञोऽत्रागत्याधुना भगवद्भाववत्त्वेन भगवति यशोदापुत्रत्वलक्षणं धर्मं च दृष्ट्वा सन्दिहानस्तत्त्वनिश्चयं जानंस्तद्वाच्यव्ययं वा इत्युक्तवान् । अत एव विपरीतनिश्चयो नोक्त इति भगवन्नामकरणप्रस्तावे सम्यग्भगवद्भावनिश्चयोभूदिति तवात्मजस्ते सुतस्येत्युक्तवान् ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अलक्षित इत्यत्रामन्त्रकमिति शूद्राणां नामकरणादिकं मन्त्ररहितं, सामान्ये नपुंसकम् ॥ १० ॥ **एवं स प्रार्थित** इत्यत्र **तदिति** तच्छब्दस्य पूर्वोक्तपरामर्शित्वं प्रकरणबलादेव सिध्यतीति पक्षान्तरमाहुः **प्रसिद्धं वेति** केशाभिप्रायो वेति 'प्राक् चूडाकरणाद् बाल' इति वाक्याच्च चूडाकरणतः पूर्वकालाभिप्रायं बालपदमित्यर्थः, **पाद्मे** 'फाल्गुने शुक्लपक्षे च गर्गो नामाकरोत् तयो'रिति मासोप्युक्तः, दिनं चाष्टमीति पूर्वापरसन्दंशादवसीयते, ब्रह्मवैवर्ते तु नामकरणेन सहान्नप्राशनमप्युक्तम् ॥११॥ **अयं वै रोहिणीपुत्र** इत्यत्र नन्वत्र नामकरणप्रस्तावे मूलनामैव कुतो नोक्तं **गुणयोगात्** कुत उच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुर्वस्तुत इत्यादि, ब्रह्म हि मनोवाग्विषयत्वात् स्वेन रूपेण न व्यवहार्यं व्यवहारविषयं न भवत्यतस्तादृशे ब्रह्मणि डित्थकपित्थादिवत् स्वरूपकृतनामाभावादव्यवहार्यत्वादेवा 'स्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य' इत्याकारकपदसङ्केतस्याप्यभावात् स्वरूपतो नाम नोक्तं "प्रकाशवच्चावैयर्थ्या"दितितार्तीयीकद्वितीयपादोक्तन्यायेन गुणयोगादेव नामानि भवन्ति तथा "पूर्ववद् वे"तिन्यायेन पश्चाद् वा भवन्त्यतस्तथोच्यत इत्यर्थः, तदेतदभिसन्धाय टिप्पण्यां **वस्तुत** इत्यादिफक्किकां व्याकुर्वन्त्यप्राकट्येत्यादि, अन्यपदार्थवदिति व्यतिरेके दृष्टान्तः, ननु **यथाश्रुत** एवार्थः कुतो नोच्यते **नामरूपमेव** ब्रह्मेति भङ्ग्या किमिति व्याख्यायत इत्यत आहुर्यथेत्यादि, **अग्रिमग्रन्थेनेति** 'सुतस्य च' एतद्व्याख्यानगतविचाररूपग्रन्थेन, **सुबोधिन्यां पितृनाम्नेति** सर्वत्र प्रसिद्ध इति शेषः, **गुप्ततयेति** कंसभयात् पितृगोपनेन, गोपनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहू रोहिण्यामित्यादि, **रोहिण्यामाविर्भूतस्य** वासुदेवांशस्यैव देवकीत आकृष्टे गर्भ **आवेश इति** हेतोर्वेत्युक्तं, तथा च **रोहिण्यामाविर्भूतो** वासुदेवांशोत्र गुप्त इति तथानिरूपणमित्यर्थः । वा इत्यस्य प्रयोजनान्तरमाहुर्**यशोदाया** इत्यादि, तत्तात्पर्यं **टिप्पण्यामुक्तमत्रायमित्यादि**, **अत्रेति** रोहिणीपुत्रत्वे, **सुबोधिन्यां** सन्देहबीजमाहुर्यदीत्यादि, **तस्मादिति** भगवानजनत्वान्न **यशोदाया** न वा देवक्याः पुत्रः किन्त्वंशद्वारैव पुत्रस्तस्मात्, **योनिकृत** इत्यत्र योनिशब्देन माता बोद्धव्या, **बलरूपमित्याधि**दैविकबलरूपमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवं सम्प्रार्थिते इत्यत्र ज्ञातेपीति लोकेस्मिन् कर्मणि **ज्ञातेपि**, इदं कर्म लोके ज्ञातं भवेत् तदापीत्यर्थः, **शीघ्रं चेति** अनेनापि विप्रपदार्थ एवोक्तः, विप्रा हि पश्चिमबुद्धयः, शीघ्रमेव कार्यं कुर्वन्ति न तु विचार्येत्यर्थः ॥ ११ ॥ **अयं वे** इत्यत्र **तत्रैक** इति भगवति शौरिरित्यादिप्रयोगो न तु दैवकेय इति, बले रौहिणेय इतिप्रयोगो न तु शौरिरिति, क्वचित् तथापि प्रयोगो भगवदावेशे, देवकीसुतपदे तु समासे पदद्वयं भिन्नमतः सर्वथैक्यं न बोधयतीतिभावः, **अयं वै निश्चयेनेति** देवक्यां गर्भमात्रसम्भवेपि **पुत्रो** रोहिण्या एवातो हेतोः **रौहिणेयः रोहिण्यामाविर्भूतस्य** वासुदेवस्यावेश **इति च** हेतो रौहिणेयः न तु दैवकेय इतिभावः, **नामप्रकरणे** स्वरूपमात्रकथनमप्रयोजनकमतो **रौहिणेय इति पर्यवसितं नामोक्तम्** ॥ १२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

अलक्षितोऽस्मिन् रहसीत्यत्र ज्ञापितमिति का ४८३। गर्गेण 'यदूनामहमाचार्य'। इत्यादिना ज्ञापितमपि हरेस्तत्त्वं देवकीसुतत्वादिलक्षणं स्नेहाधिक्यान् नन्देन न बुध्यते अतो निरोधाधिकारित्वान् निरोध एव कर्तव्यः, शास्त्रमिति निरोधाज् ज्ञानस्य दुर्बलत्वाज् ज्ञानमप्रयोजकमित्यर्थः ॥ ४८३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं गर्गेण भाषितो नन्दः "केनापि भाग्योदयेनायं महानुभावो मुनिर्मम गृहमागतः, पुनरस्यागमनं तु दुर्लभमेव। अतो लौकिकमुत्सवं तु कालान्तरेऽपि करिष्ये शास्त्रीयमावश्यकं कृत्यं सुगुप्तमपि यद्येतद्द्वारा स्यात्तदा भद्रमेव" इत्यभिप्रेत्य प्रार्थयते– अलक्षित इति। मामकैर्मन्दतरङ्गैरपि गोपैरलक्षितः अज्ञात एवास्मिन् गोव्रजे गोशालायां रहसि एकान्ते स्थितः सन् स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातीनामावश्यकं संस्कारमात्रमेव त्वं कुरु। 'गोव्रजे' इत्यनेन स्थानशुद्धिरपि नापेक्षितेति सूचनेन शीघ्रता व्यज्यते ॥१०॥ एवं नन्देन सम्प्रार्थितो विप्रो गर्गस्तत् गुप्ततया संस्कारकरणं तु स्वस्य चिकीर्पितं कर्तुमिष्टमेव, अतो गूढः सन् रहसि बालयोर्नामकरणं चकारेत्यन्वयः ॥ ११ ॥ श्रीनन्दस्य श्रीबलभद्रे स्वकीयत्वाभिमानात्तस्य श्रीकृष्णापेक्षया ज्येष्ठत्त्वाच्च प्रथमं तमेव दर्शितवान्, अतः प्रथमं तस्यैव नामानि वर्णयति–अयं हीति। अयं हि रोहिणीपुत्रः सुहृदः सर्वान् स्वसम्बन्धिनः स्वगुणैः स्वसामर्थ्यैः पालनपोषणादिभिः सुस्वभावादिभिश्च रमयन् लोके स्वयमेव 'राम' इति आख्यास्यते विख्यातो भविष्यति, मत्कर्तृकत्वं तु व्याजमात्रम्। एवमग्रेऽपि। अस्य बलाधिक्यात् बलिष्ठत्वादेनं जना बलं विदुः 'बल' इति व्यवहरिष्यन्तीत्यर्थः। "गर्भसङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि" इति भगवतोक्तम्, तत्त लोके न प्रकाशनीयम्। प्रकारान्तरेण सङ्कर्षणव्युत्पत्तिमाह—यदूनामिति। कुतश्चिद्धेतोर्विप्रतिपद्यमानानां यदूनामपृथग्भावात् परस्परशिक्षया सर्वैकमत्यकरणात् सम्यक् कर्षति एकीकरोतीति सङ्कर्षणमुत अपि उशन्ति मन्यन्ते, वक्ष्यन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अलक्षित इति ॥ मामकैर्मन्दतरङ्गैरपि गोपैरलक्षितः अज्ञात एवास्मिन् गोव्रजे गोशालायां रहसि एकान्ते स्थितः सन्स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातीनामावश्यकं संस्कारमात्रमेव त्वं कुरु। उत्सवादिकं तु कालान्तरे कारयिष्यामीत्याशयः। गोशालात्वेन शुद्धतादिने सपालानां गवां वने गमनादेकान्तता ॥ १० ॥ एवमिति ॥ एवं नन्देन संप्रार्थितो विप्रो गर्गस्तत् गुप्ततया संस्कारकरणं तु स्वस्य चिकीर्पितं कर्तुमिष्टमेवातो गूढः सन् रहसि बालयोर्नामकरणं चकार ॥ ११ ॥ अयं हीति सार्द्धम् ॥ अयं हि रोहिणीपुत्रः सुहृदः सर्वान् स्वसंबन्धिनः स्वगुणैः सुशीलतादिभिः रमयन् लोके स्वयमेव लोकैः राम इति आख्यास्यते विख्यातः करिष्यते। मत्कर्तृकत्वं तु व्याजमात्रम् एवमग्रेऽपि। अस्य बलाधिक्यात् बलिष्ठत्वादेनं जना बलं विदुः बल इति व्यवहरिष्यन्तीत्यर्थः। कुतश्चिद्धेतोः विप्रतिपद्यमानानां यदुनामपृथग्भावात् परस्परशिक्षया सर्वैकमत्यकरणात् सम्यक् कर्षति एकीकरोतीति संकर्षणमुत अपि उशन्ति मन्यन्ते वक्ष्यन्तीत्यर्थः। यद्वा। यदूनां भवदादीनां वसुदेवादीनाम् अपृथग्भावान्निर्विशेषपितृत्वादभावात् स्वस्मिन्नुभयकुलस्याकर्षणात् संकर्षणमुशन्ति। "यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभाः।" इति हरिवंशे रामवचनात्। गर्भसंकर्षणं तु न प्रकाशनीयमत इदं नामान्यथोक्तम् ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

मामकैः मदीयैः अलक्षितः अज्ञातः रहसि एकांते द्विजातिसंस्कारं द्विजातिसंस्कारानुसारेण नामकरणम् ॥ १० ॥ स्वेन चिकीर्षितं कर्त्तुमिष्टं गूढः गुप्तः ॥ ११ ॥ सुहृदः संबंधिनः गुणैः क्रीडाकौतकादिभिः यदूनामपृथग्भावात् परस्परविरोधं प्राप्तानां यदूनां शिक्षया ऐकमत्यकरणात् भावो भवनं उशंति मन्वते वदंति लोका इत्यर्थः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमुक्तवन्तं गर्गं प्रत्याह नन्दः ॥ अलक्षित इति ॥ अस्मिन् गोव्रजे गोकुले, मामकैर्मदीयैः अपि, अलक्षितः सन्, रहसि निर्जने देशे, स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातिसंस्कारं द्विजातीनामवश्यकर्त्तव्यसंस्कारं, कुरु। तूर्यघोषादिरहितं यथा भवति तथा कुर्वित्यर्थः ॥ १० ॥ एवमिति ॥ एवमित्थं, संप्रार्थितः सम्यक् कृतप्रार्थनः, विप्रो गर्गद्विजः, स्वचिकीर्षितं स्वेन कर्त्तुमिष्टमेव, तत् नन्दाभिहितं, बालयोः बालकयोः, नामकरणं, रहसि गूढः सन्, चकार ॥ ११ ॥ तदेव दर्शयति अयमित्यादिना ॥ अयमिति ॥ तत्र पूर्वं वसुदेवाद्रोहिण्यां जातपुत्रस्य नामान्याह। अयं, रोहिणीपुत्रः हि, रोहिण्यास्तनयस्त्वित्यर्थः। गुणैः सुहृदः, रमयन् सन्, रामः इति, आख्यास्यते। गुणकृतसुहृद्रमणमत्र रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं बोध्यम्। बलाधिक्यात्, बलं विदुः कथयिष्यन्तीत्यर्थः। बलस्य निरवधिकातिशयाधिकतात्र बलशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं बोध्यं, यदूनां, अपृथग्भावात्, उत संकर्षणं, उशन्ति वक्ष्यन्ति। जना इति शेषः। कुतश्चिन्निमित्ताद्विप्रतिपत्स्यमानानां तेषां यदूनामन्योन्यसामादिघटनेनैकमत्यसंपादनरूपात्संकर्षणात् संकर्षणशब्दाभिधेय इति भावः। गर्भसंकर्षणात् अनन्तांशत्वाद्वा यत् संकर्षणत्वं तच्चाभिप्रेतमपि गोपितम् ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीनन्दरायजी ने कहा—भगवन्! यदि ऐसी बातें हैं तो हमारी गौओं की खिरक में जहाँ हमारे जन भी न जान सके वैसे एकान्त स्थान में स्वस्तिवाचनपूर्वक द्विजाति के संस्कार कीजिये ॥ १० ॥ **श्रीशुकाचार्यजी ने कहा**—राजन्! श्रीनन्दरायजी की इस प्रकार की प्रार्थना से विप्रवर्य श्रीगर्गजी ने गुप्त वेष से एकान्त में जिस प्रकार नामकरण करना उन्हें अभीष्ट ही था उस रीति से (फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन) दोनों बालकों के नाम करण एवं अन्न प्राशन संस्कार किये ॥११॥ **श्रीगर्गाचार्यजी ने कहा**—राजन्, निश्चय रूप से यह श्रीरोहिणी के लालन अपने उत्तम गुणों से सुहृज्जनों को आनन्द प्रदान करेंगे अतः "राम" नाम से विख्यात होंगे और इसमें बल की अधिकता देख लोग इसे "बल" भी कहेंगे ॥ १२ ॥

यदूनामपृथग्भावात् संकर्षणमुशन्त्युत ॥ १३ ॥

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य[1] गृह्णतोऽनुयुगं तनूः । शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १४ ॥

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः । वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ १५ ॥

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि[2] तान्यहं वेद नो जनाः[3] ॥ १६ ॥

एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः । अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १७ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यदूनां अपृथक् भावात् उत संकर्षणं उशन्ति ॥ १३ ॥ अनुयुगं तनूः गृह्णतः अस्य शुक्लः रक्तः तथा पीतः त्रयः वर्णाः आसन् इदानीं हि कृष्णतां गतः ॥ १४ ॥ अयं तव आत्मजः क्वचित् प्राग् वसुदेवस्य सञ्जातः इति अभिज्ञाः श्रीमान् वासुदेवः सम्प्रचक्षते ॥ १५ ॥ ते सुतस्य गुणकर्मानुरूपाणि बहूनि नामानि च रूपाणि सन्ति अहं तानि वेद जनाः नो ॥ १६ ॥ एषः गोपगोकुलनन्दनः वः श्रेयः आधास्यत् अनेन यूयम् सर्वदुर्गाणि अञ्जः तरिष्यथ ॥ १७ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अस्य तव पुत्रस्य । अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति ॥ १३ ॥ प्रागयमिति । तवायमात्मजः प्रागिति सामान्योक्त्या ऋषिरयं जन्मांतरगतं नाम कथयतीति नंदो मन्यते स्म अत एनं वासुदेव इति संप्रचक्षत इति ॥ १४ ॥ गुणानुरूपाणि ईश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि । कर्मानुरूपाणि गोपतिर्गोवर्धनोद्धरण इत्यादीनि तानि सर्वाण्यहमपि नो वेद जना अपि नो विदुरिति ॥ १५ ॥ जातकफलमाह । एष इति । आधास्यदाधास्यति ॥ १६–१७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

विप्रतिपद्यमानानां संजातविरोधानामपृथग्भावात् भेदापाकरणात् । इत्यर्थ इति ॥ तात्पर्यं न त्वेकीकरणं बहूनां भर्दनं विनैकीभावासंभवादिति । किं च संकर्षति कालिंदीं हास्तिनपुरं वा गंगायां गगनगं बल्वलदैत्यं जरासंधादिसैन्यं वा प्रलये सर्वाः प्रजा वा हलाग्रेणाकर्षतीति संकर्षणः । तनूः शरीराणि । अनुयुगं युगेयुगे । किञ्च "कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः । उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ।" इतिश्रुतेर्यो विद्यानिद्रायां शेतेऽतिगूढः स पुमान्कलिस्तदनुग्रहार्थमस्मिन्नीश्वरः कृष्णः कृष्णावताररूपी भवति किञ्चिच्छ्रेयोदर्शी अर्द्धप्रबुद्धो यः स द्वापरस्तं प्रति पीतवर्णः हिरण्यवन्मनोहरो भवति । स किञ्चिद्भक्त्युन्मुखो भवतीत्यर्थः । यस्तु श्रेयोर्थं यतते स त्रेता तदनुग्रहार्थं रक्तोऽनुरक्तो मातृवद्भवति । यस्तु युधिष्ठिरादिवदत्यंतभक्तस्तं प्रति शुक्लः स्वीयं शुद्धमेव रूपं प्रकाशयतीति । यथाश्रुतव्याख्यानं तु सर्वेषु युगेषु सर्वेषां रूपाणां सत्त्वान्न युज्यत इति ॥ १३ ॥ मथुरायां कारागृहे इति गोपित्वोक्तं क्वचिदिति ऋषिरयं गर्गः । जन्मांतरगतमन्यावतारी अयम् । अत एव वसुदेवजातत्वादेव । वासुदेव इति । 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इतिवन्निपातेनोक्तत्वात्प्रथमा । अभिज्ञा वैयाकरणाः । वस्तुतस्तु–वसति सर्वभूतेष्वंतर्यामितया स्वविभूतिभिर्विश्वं वासयत्याच्छादयति वा वासुः दीव्यति क्रीडते विजिगीषते व्यवहरते द्योतते स्तूयते काम्यते गच्छति देवः वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः । "छादयामि वृहद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः । सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥ वसनात्सर्वभूतेषु वसुत्वाद्देवयोनितः । वासुदेवस्ततो ज्ञेयो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" इत्युद्योगपर्वणि । "सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः । ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥" इति विष्णुपुराणे । वसंति देवा अत्रेति वासुः करणग्रामस्तं देवयति द्योतयतीति वा वासुदेवः । "वासुः स्यात्करणग्रामस्तेषु देवनिवासतः । तत्प्रकाशकरो देवो वासुदेव इति स्मृतः ॥" इति पुराणांतरात् "योंतः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संबोधयत्यखिलशक्तिधरः परात्मा । अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादींस्तस्मै नमो भगवते" इति ध्रुवोक्तेश्च ॥ १४ ॥ प्रथमादादिपदात् भक्तवत्सलदीनदयालुरित्यादयो ग्राह्याः । द्वितीयात् मुरारिमधुसूदनेत्यादयश्च ॥ १५ ॥ एष कृष्णः । गोपगोकुले नंदयतीति तथा । यदि यूयममुमचक्ष्यत तर्हि एष वश्श्रेय आधास्यत् "लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ" इति । आदधातेर्लृङ् । सर्वदुर्गाणि निखिलदुःखानि । अञ्जः सम्यक् ॥ १६–१७ ॥

---

१. यस्य–वीर. । २. गुणकर्माणि रूपाणि–विज. । ३. जनः–वीर. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं जन्मक्रमापेक्षयादौ श्रीबलदेवस्य नामानि व्यज्य श्रीकृष्णस्य नामानि प्रकाशयन्नाह—आसन्निति। तत्र प्रकटार्थोयम् अनुयुगं युगे युगे वारम्वारं तनूर्गृह्णतोऽस्य शुक्लादिवर्णास्त्रय आसन् इदानीं त्वत्पुत्रत्वे तु जगन्मोहनश्यामवर्णतामेवायं गतः एतदुक्तं भवति तनूर्गृह्णत इति स्वातन्त्र्योक्त्या योगप्रभाव इवोक्तः। तत्र च शुक्लादिरूपग्रहणेन श्रीनारायणस्वभावव्यक्त्या तदुपासनायोग एव पर्यवसायितः पूर्वपूर्वतदंशभूतशुक्लाद्युपासनया तत्तत्साम्यादिप्राप्त्या शुक्लतादिप्राप्तिः सम्प्रति तु कृष्णता प्रसिद्धसाक्षान्नारायणोपासनया तत्साम्यप्राप्त्या कृष्णताप्राप्तिरिति, वक्ष्यते च "नारायणसमो गुणैः" इति इत्थं पूर्ववृत्तमुक्तं परमभागवतः श्रीनन्दश्च तोषितः एवं परमोत्कर्षप्राप्त्यैतत्स्वरूपनिष्ठत्वात् कृष्णत्येव तावन्मुख्यं नाम ज्ञेयम् अतो नाम्नापि कृष्णतां गत इत्यर्थोपि ज्ञेय इत्यभिप्रायः। अप्रकटवांस्तवार्थश्चायम् अनुयुगं युगेयुगे तनूर्गृह्णतः प्रकटयतस्त्रयो वर्णा आसन् प्रकटा बभूवुः तत्र यो यः शुक्लः प्रादुर्भावः यो यो रक्तः यो यः पीतश्च उपलक्षकाश्चैते वर्णान्तरवतां स सर्वोपीदानींमस्याविर्भावसमये कृष्णतामेतद्रूपतामेतस्मिन्नन्तर्भूततामेव गतः सर्वांशमेवादाय स्वयमवतीर्णत्वात् अतः स्वयं कृष्णत्वात् सर्वनिजांशस्य कृष्णीक्लृप्तत्वात् सर्वाकर्षकत्वाच्च मुख्यं तावत् कृष्णेति नाम अतः "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" इत्यादिका निरुक्तिरप्यन्तर्भवति सर्वबृहत्तमानन्द एव सर्वान्तर्भावात् अतः स्वाभाविकमेवैतन्महानाम यत्र प्रणवे वेदा इव तान्यन्यान्यपि नामानि रूपे रूपाणीवान्तर्भूतानि युक्तं च विशेष्यरूपस्य तस्यान्यनामगणविशेषणकत्वात् उक्तं च प्रभासपुराणे—"मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानाम्" इत्यादौ "सकलनिगमवल्लीसत्फलम्" इत्यन्ते कृष्णनामेति "नाम्नां मुख्यतरं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तप" इति च। यस्यास्य प्रथममप्यक्षरं महामन्त्रत्वेन प्रसिद्धम्॥ १३॥ प्रागिति प्रकटार्थे तवात्मजोऽयं क्वचिदन्यत्र वसुदेवादपि जातः, तत्कथं? तत्राह—प्राक् अस्य तस्य च पूर्वजन्मनीत्यर्थः। एवं श्रीवसुदेवस्य पूर्वजन्मन्यपि तन्नामासीदिति श्रीनन्देनावगतम् अप्रकटार्थे इहैव जन्मनि पूर्वं कंसकारागृहे वसुदेवाज्जातोपि तवात्मज एवेति पूर्वसिद्धान्तानुसारेण अन्यथा तवात्मज इत्यस्याधिक्यं स्यात् अर्थद्वयेपि श्रीमन् हे परमभाग्यसम्पद्युक्त! इति तादृशपुत्रप्राप्तेः पाठान्तरे श्रीमान् परमशोभासौभाग्याभ्यां युक्तोऽयं तवात्मजः अभिज्ञा इत्यनेन निरुक्त्यन्तरात्तन्निरुक्तेरेवान्तरङ्गत्वं बोध्यते॥ १४॥ रूपाणीति दृष्टान्तत्वेनोक्तं यथा शुक्लादिरूपाणि तथा नामान्यपि जन्मान्तरसम्बन्धीनि बहूनि सन्तीत्यर्थः। तान्यहं वेद जनास्तु न विदुरित्यर्थः। लोकेष्यसंभाव्यत्वात्तानि बहूनि तु न प्रकाश्यन्त इति भावः। अप्रकटार्थे तु गुणानुरूपाणि रूपाणि श्रीनरनारायणनृसिंहादीनि कर्मानुरूपाणि श्रीमत्स्यादीनि अथ गुणानुरूपाणि नामानि भक्तवत्सल इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि जगत्स्रष्टा जगत्पालक इत्यादीनि सन्तीत्यनेन सच्चिदानन्दघनरूपाणामिव नाम्नामपि नित्यता सूचिता सा च गुणकर्मानुरूपाणीति साधिता गुणानां नित्यभगवत्समवेतत्वान्नित्यतासिद्धया तथा कर्मणां च श्रीगोवर्धनधरकालियमर्दनाद्युपासनानामनादिसिद्धवेदप्रसिद्धेरत एव तत्तदुपासकपरम्परायाश्च विच्छिन्नतापत्तेः श्रीभगवतो भक्तेच्छामयत्वाच्च तन्नित्यतासिद्धा तदनुरूपनाम्नामपि तथात्वसिद्धिः तच्च सर्वं श्रीभागवतामृते निवृत्तमस्ति एवं गुणकर्मनामाऽनन्त्याद्रूपाणीव नामान्यनन्तानि लौकिकवत्प्रतीयमानान्यपि सच्चिदानन्दत्वेनालौकिकानि तदुपासकहृदयैकवेद्यतत्त्वानि नाहमपि वेद जना अपि न विदुरित्यर्थः। अत उक्तं श्रीविष्णुपुराणे "अनाख्येयाभिधानत्वमनाख्येयप्रयोजनम्" इत्यादि। द्वितीयस्कन्धे—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ इति॥१५॥

गोपान् गोकुलशब्देन तत्रत्यांश्च सर्वानेव नन्दयति हर्षयतीति तथा सः इति तस्य स्वभाव उक्तः शीलार्थे प्रत्ययात् कर्मणापि वो युष्माकं व्रजजनानां सर्वेषामेव श्रेयः ऐहिकामुष्मिकमङ्गलम् आधास्यति तथा अनेन कृष्णेन हेतुना सर्वाणि दुर्गाणि कंसाद्युपद्रवान् अञ्जः अनायासेन तरिष्यथ॥ १६–१७॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं जन्मक्रमापेक्षया किंवा वक्ष्यमाणश्रीभगवन्माहात्म्यस्य विस्तारापेक्षया सूचीकटाहन्यायेनादौ श्रीबलरामस्य नाम कृत्वाधुना 'कृषिभूर्वाचकः शब्द' इत्यादि श्रीकृष्णनामनिरुक्तिं संगोपयन् सुश्यायवर्णत्वेन परमसौन्दर्य्यापेक्षया कृष्णेति नाम प्रकाशयन्नाह—आसन्निति। अनुयुगं सत्यादियुगत्रये तनूः श्रीमूर्त्तीर्गृह्णतः प्रकटयतोऽस्य क्रमेण शुक्लादिवर्णास्त्रय आसन्। हि निश्चये प्रसिद्धौ वा, पूर्ववदिदानीं कलेरारम्भे कृष्णतां गतः कृष्णवर्णेन प्रकटोऽभूदित्यर्थः। सच्चिदानन्दघनत्वेन तत्त्वदृष्ट्या प्रायो रूपरूपवतोरभेदात् कृष्णवर्णस्य नित्यत्वेऽपि संगोपनार्थं तथोक्तम्। अन्यथा नित्यश्यामसुन्दरत्वेन सुप्रसिद्धः साक्षाद्भगवान् श्रीनारायणोऽयमिति ज्ञानसम्भवः। यद्वा, प्रतियुगं वारंवारं तनूर्गृह्णतोऽस्य शुक्लादिवर्णा एव त्रय आसन्; इदानीं त्वत्पुत्रत्वे तु जगन्मनोहर-श्यामवर्णोऽभूदिति श्रीनन्दसन्तोषार्थमुक्तम्। एवं नामरूपयोरभेदात् कृष्णतां गत इति कृष्णनाम्ना प्रकटोऽभूदित्येषोऽप्यर्थो द्रष्टव्यः॥ १३॥ तवात्मज इत्युक्तन्यायादद्भुतपरमेश्वरत्व-वसुदेवपुत्रत्व-शंका-निरासार्थम्। एवमग्रेऽपि तद्गाढ्यर्थमूह्यम्। श्रीमन्! हे परमारण्यसम्पद्युक्तेति तादृशपुत्रप्राप्तेः; पाठान्तरे श्रीमान् परमशोभायुक्तोऽयं तवात्मजश्चित्ताधिष्ठातृत्वादिना वासुदेव इति पूर्ववत् संगोपितम्। अभिज्ञा इत्यनेन संशब्देन च वसुदेवाज्जातत्वेनेव वासुदेव इति तत्त्वतो मुख्यनिरुक्तिर-

भिप्रेता ॥ १४ ॥ रूपाणीति दृष्टान्तत्वेनोक्तम्; यथा शुक्लादिरूपाणि तथा नामान्यपि जन्मान्तरसम्बन्धीनि बहूनि सन्तीत्यर्थः। तत्र गुणानुरूपाणि रूपाणि सत्त्वादि-गुणाधिष्ठातृत्वेन शुक्लादीनि; किंवा चित्ताद्यधिष्ठातृ-चतुर्व्यूहादिमूर्त्तयः, किंवा भक्तवात्सल्यादिगुणानुरूपाणि चतुर्भुजादीनि कर्म्मानुरूपाणि श्रीमत्स्यादीनि प्रलयार्णवादौ परिभ्रमणादि-चेष्टया; अथ गुणानुरूपाणि नामानि 'भक्तवत्सलः' इत्यादीनि कर्म्मानुरूपाणि 'जगत्स्रष्टा' 'पालकः' इत्यादीनि, तान्यहमेव वेद, न तु जना विदुरतोऽनन्तत्वात्तानि वक्तुं न शक्यन्त इत्यर्थः; वस्तुतस्तु लोकेष्वसम्भाव्यत्वात्तान्यधुना न प्रकाशयन्त इति भावः। सन्तीत्यनेन सच्चिदानन्दघनरूपाणामिव नाम्नामपि नित्यता सूचिता। सा च गुणकर्म्मानुरूपाणीति साधिता। गुणानां नित्यभगवत्समवेतत्वेन नित्यता सिद्धा; तथा कर्म्मणाञ्च श्रीगोवर्द्धनधर-कालियमर्द्दनादिश्रीमूर्त्तिषु भक्तजन-चित्तान्तः परिस्फुरत्तादृशरूपेषु च सदानुभूयमानत्वेन तत्सिद्धया तदनुसारिणां नाम्नामपि स्वत एव तत्सिद्धेः। अतएव श्रीविष्णुपुराणे (५।१८।५२)—'अनाख्येयाभिधानं त्वामनाख्येयप्रयोजनं' इत्यादि। तच्च सर्व्वं श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतमेव। एवं गुणकर्म्मणामानन्त्याद्रूपाणीव नामान्यनन्तानि लौकिकवत् प्रतीयमानान्यपि सच्चिदानन्दत्वेनालौकिकानि तदुपासक-हृदयैकवेद्य-तत्त्वानि नाहमपि वेद, जना अपि न विदुरिति तत्त्वार्थः॥ १५॥ गोपान् गोकुल-शब्देन तत्रत्यांश्च सर्वानेव नन्दयति हर्षयतीति तथा स इति तदवतार-स्वभाव उक्तः; यद्वा, हे गोप! हे राजन्नित्यादरात्; किं वा हे पृथ्वीपते! त्वयैव पृथ्वी रक्षितेति भावः। अतो वो युष्माकं व्रजजनानां सर्वेषामेव श्रेय ऐहिकामुष्मिकमंगलमाधास्यति स्वत एवार्पयिष्यति; यद्वा, सामान्येन वो युष्माकं वैष्णवानाम्, किंवा वो युष्मदीय एव सर्वेषामपि श्रेय आधास्यत्येव। विशेषतश्च गोकुलं सर्वमिदं हर्षयिष्यतीत्यर्थः। अतोऽनेन कृष्णेन हेतुना सर्वाणि दुर्गाणि कंसाद्युपद्रवानञ्जोऽनायासेन स्वयमेव तरिष्यथ॥ १६-१७॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

परमात्मत्वं सूचयन्निव तिरोधापयन्निव नामानि चकारेत्यभिप्रायेणाह-आसन्निति। प्रतियुगं तनूर्विग्रहान् गृह्णत उपाददतः अस्य तव पुत्रस्य शुक्लादयस्त्रयो वर्णा आसन्नधुना तु कृष्णतां प्राप्तः अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति अनुयुगं तनूर्गृह्णत इत्यनेन परमपुरुषत्वं सूचितम्—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥"

इत्यादिव्युत्पत्त्यन्तराणि त्वभिप्रेतानि॥१३॥ आधुनिकमपि वसुदेवापत्यत्वमाच्छादयन् प्राह-प्रागयमिति। अयं श्रीमान् प्राग्वसुदेवापत्यत्वाद्वासुदेव इत्यभिज्ञाः सम्प्रचक्षते अनया सामान्योक्त्या ऋषिरयं जन्मान्तरगतं नाम कथयतीति नन्दो मन्यते स्म "वसन्ति यत्र भूतानि वसन्त्यत्रेति वेः यतः। ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते" इति व्युत्पत्तिस्त्वभिप्रेता श्रीमानित्यनेन श्रियः पतित्वं सूचितम्॥ १४॥ तथा गुणकर्मानुरूपाणि बहून्यस्य नामानि सन्तीत्याह— गुणेति। यानि गुणानुरूपाणि "भगवान्नारायण" इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि मधुसूदनः इत्यादीनि बहूनि नामान्यहं मादृशो मुनिरेव वेद न तु त्वादृश इत्यर्थः। अनेनात्रापि परमपुरुषत्वं सूचितं यद्वाऽहमेव न वेद किंपुनस्त्वादृशो न वेदेत्यर्थः॥ १५॥ जातकफलमाह— एष इति। वः युष्माकमेषः श्रेयः ऐहिकमामुष्मिकं चाधास्यति गोपान् गोकुलं च नन्दयतीति नन्दनः अनेन सुतेन हेतुभूतेन यूयं सर्वाणि दुर्गाणि दुःखान्यञ्जः आशु तरिष्यथ अञ्ज इति तत्त्वशीघ्रार्थकमव्ययम्॥ १६-१७॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तनूः शरीराणि॥ १३॥ क्वचिन्मथुरायां निग्रहगृहे अभिज्ञाः तद्धितप्रत्ययविवेकज्ञाः॥ १४॥ न केवलमस्य वर्णनिमित्तनामगुणानुगुणानि, नामानि सन्तीत्याह—बहूनीति "कृषिर्भूवाचकः शब्दः" इति वचनात् गुणानुगुणं कृष्णेति नाम मधुहननकर्मानुरूपं मधुसूदनेति॥ १५॥ यदि यूयमभजिष्यंस्तर्हि युष्माकं तु श्रेय आधास्यत् अकरिष्यत् आशास्यतीति वा अञ्जः सम्यक्॥ १६-१७॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आसन्निति प्रकटार्थोऽयं प्रतियुगं तनु गृह्णतो भगवतो वर्णास्त्रयः अस्य बालकस्यासन् तस्य विवरणं शुक्ल इत्यादि इदानीं त्वत्पुत्रत्वावसरे तु कृष्णतां साक्षान्नारायणतां रूपगुणादिभिस्तत्तुल्यतामेव गत इत्यर्थः। उपसंहरिष्यते च "नारायणसमो गुणैः" इति एवं तत्तदुपासनाप्रभावरूपं पूर्वकृत्तमुक्तम् अत एव परमोत्कर्षरूपनिर्दिष्टत्वात् कृष्ण इत्येवास्य मुख्यं नाम ज्ञेयमिति भावः॥ १३॥ वास्तवार्थस्तु प्रागिति तवात्मजोऽयं क्वचित् कार्ये निमित्त एव वसुदेवस्य जात इति एवात्मजत्वमेवास्य स्वाभाविक इति भावः। वक्ष्यते च सुतस्य त इति॥ १४॥ बहूनीति। प्रकटार्थं पर्तत वाच्यानीति भावः। वास्तवार्थे तु गुणानुरूपाणि श्रीनृसिंहरूपादीनि कर्म्मानुरूपाणि श्रीकूर्मादीनि॥ १५-१७॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ वसुदेवेन प्रहितो गर्गः श्रीकृष्णस्य नामकरणं यदकरोत्तदाह–आसन् वर्णास्त्रय इत्यादि सार्द्धेन। अस्य श्रीकृष्णस्यावतारिणस्तदवताररूपाणि अनुयुगं युगे युगे गृह्णतस्त्रयो वर्णा आसन्। के त इत्याह–शुक्ल इत्यादि। सत्ये यमवतारमकरोत्, तस्य शुक्लो वर्ण आसीत्; त्रेतायां रक्तवर्ण आसीत् द्वापरे तथा अपीतः यथा शुक्लो रक्तस्तथा श्यामोऽपि। अपीतशब्देन श्याम उच्यते-शुक्ल, रक्त-कृष्णानां पारिशेष्यात्। वक्ष्यति च (भा. ११।५।७) "द्वापरे भगवान् श्यामः" इत्येकादशे। इदानीं कलौ कृष्णतां गतः। कृष्णतेति भावनिर्देशेन भावस्य च सत्तारूपतया स्वाभाविकनित्यसिद्ध एवायं चिद्वर्णः, न तु पूर्वपूर्वावतारवदौपाधिकः। यद्वा, इदानीमिति कलिकालपरत्वम्। तथैकादशे वक्ष्यति–(भा. ११।५।३१,३२) "कलावपि तथा शृणु" "कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णम्" इत्यादि।॥ १३–१८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्येति। अस्य श्रीकृष्णस्यावतारिणस्तनूरवताररूपाणि गृह्णतस्त्रयो वर्णा आसन्, अर्थात्तास्वेव तनुषु एव। वर्णाः के ? इत्याह–'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः' अपीत इति वा छेदः, अपीतः श्यामः। (भा. ११।५।२७) "द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः" इत्याद्यनन्तरं (भा. ११।५।३१,३२) "कलावपि तथा शृणु" "कृष्णवर्णं" इत्यादि सङ्गतेः। अत एव स्वामिभिरुक्तम्—'त्विषा कृष्णम्, कलौ कृष्णवर्णस्य प्राधान्यं सूचितम्।' न तु पूर्वपूर्वयुगावतारवत् वर्णेन शुक्लादिवत् स्वाभाविकीयमस्य त्विट्। एतेनेदानीन्तनस्य वर्णो न विचारणीयः, यतोऽयं कृष्णतां गतः, स्वयं भगवत्तां गतः, नायं पूर्वपूर्वावतारवत् युगावतारः, युगावतारे वर्णकल्पना, अयं स्वाभाविक एव श्याम एव॥ १४–१८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तव पुत्रस्त्वं कोपि महापुरुष एवेति श्रीनन्दं बोधयन्नाह, आसन्निति। प्रतियुगं तनूर्गृह्णतोऽस्य शुक्लादयस्त्रयो वर्णा आसन् गृह्णन् इति स्वातन्त्र्योक्त्या योगप्रभावो दर्शितः। इदानीं द्वापरान्ते कृष्णतां गत इति सत्याद्यवताराणां चतुर्णां शुक्लादीनामुपासनासिद्धत्वेन तत्तत् सारूप्यप्राप्त्येति भावो नन्दं बोधयितुमोक्षितः वस्तुतस्तु अस्यावतारिणस्तत्तद्वर्णवन्तोऽवतारा अंशा एव इदानीमयमवतारी पूर्णः कृष्णत्वं प्राप्तः यद्वा यः शुक्लः यो रक्तः यः पीतश्च उपलक्षणमेतत् यो योऽन्यो मन्वन्तरावतारलीलावतारपुरुषावतारादिश्च स सर्वोपि इदानीमंशिनोऽस्यावतारसमये कृष्णनामैतद्रूपतामस्मिन्नन्तर्भूतत्वं गतः सर्वांशमादायैवावतीर्णत्वात् ननु "कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः" इति "त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ" इति "द्वापरे भगवान् श्याम" इति कलौ "कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णम्" इत्येकादशोक्तेः "कथ्यन्ते वर्णनामभ्यां शुक्लः सत्ययुगे हरिः। रक्तः श्यामः क्रमात्कृष्णस्त्रेतायां द्वापरे कलौ" इति भागवतामृतोक्तेश्च पीतोऽयं किंयुगीयोऽवतारः न च आसन्निति भूतकालनिर्देशेन क्रमप्राप्त्या पीतोपि द्वापरयुगावतार इति वाच्यम्। युगावतारप्रकरणपठितत्वात् न च तत्रस्थश्यामपदस्य पीतार्थत्वमत्रस्थपीतपदस्य वा श्यामार्थत्वं कल्प्यमिति तथा पीत इत्यकारप्रश्लेषेणापीतः श्याम इति वा वाच्यं सर्वथापि व्याख्याने अनुयुगमिति वीप्साप्रयोगात् तनूरितिबहुवचनाच्च वीप्सया चैकैकस्मिन्नपि युगे वर्णत्रयस्य प्राप्तेर्नाभिमतार्थलाभः न चेदानामिति पदेन कलियुगस्यादिमोंऽश एव वाचनीय इति वाच्यं कृष्णावतारस्य द्वापरान्तर्भवत्वेन प्रसिद्धेः—

"यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम्। तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः॥ इति।

प्रथमोक्तेश्च कृष्णावतारानन्तरमेव कलियुगप्रवृत्तेः तस्मादेवमत्र व्याख्येयं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यथा इदानीं द्वापरान्ते कृष्णतां गतः स्वयमवतारी तथा तेनैव प्रकारेण इदानीं कलियुगादिभागे पीत इति किञ्चित् स्थूलकालमवलम्ब्य इदानीमिति पदार्थ उभयत्राप्यन्वेतीति ननु तर्हि साक्षात् क्रियमाणोऽस्य कृष्णो वर्णः किमिदानीन्तन एव किम्वापूर्वमप्यासीदेव तस्यैव प्राकट्यमधुनेति तत्र न केवलं कृष्णवर्ण एव पूर्वमासीत् अपि त्वन्येपि वर्णा आसन्नेवेत्याह आसन्निति। त्रयोपि वर्णा यथासम्भवं पूर्वपूर्वयुगे तदानीं दृश्यमानास्तत्तत्पूर्वमपि आसन्नेव नित्यस्थितानामेव तेषां तदानीं प्राकट्यं न तु ते तदानीमेवापूर्वा अभवन्नित्यर्थः। अस्य कथम्भूतस्य अनुयुगं तनूरवतारान् गृह्णतः "अवतारा ह्यसङ्ख्येयाः" इति सूतोक्तेः "क्वाहो कथं वा कति वा" इति ब्रह्मोक्तेश्च एवं च वैवस्वतमन्वन्तरगताष्टाविंशचतुर्युगीयद्वापरकलियुगयोः स्वयमवतारी कृष्णः पीतश्च प्रादुर्भवति तद्युगद्वयावतारौ श्यामकृष्णौ तदा तत्रैवान्तर्भूतौ तिष्ठतः तत्र पीतस्य "सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी। संन्यासकृत्समः शान्तो निष्ठाशान्तिपरायणः" इति भारताद्युक्तत्वेपि विशिष्य स्पष्टतयाऽन्यत्र काप्यनुक्तिरिति रहस्यत्वात् छन्नः कलौ यद्भवस्त्रियुगोऽथ सत्वमिति सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादेनापि छन्नत्वेनैवोक्तत्वात् छन्नत्वं च स्वीयवर्णभावयोरन्यदीयवर्णभावाभ्यामावृतत्वेन तदानीन्तनजनैः प्रायो दुर्लक्ष्यत्वमेवेति स्वस्य दुर्लक्ष्यत्वं चिकीर्षा च तस्य रहस्यवस्तुजातव्यञ्जकताहेतुकमेवेति गौडीयभक्तिसुधीभिरवश्यावगम्यं तत एव तत्प्रमापकवचनस्य—

नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु। कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

इत्यस्य युगावतारप्रकरणमध्यपठितस्य तथैव छन्न एवार्थोऽवसीयतेऽर्थान्तरेण स यथा नानाकलौ सर्वकलियुगे अपि कालात् वैवस्वताष्टाविंशचतुर्युगीयकलावपि तन्त्रविधानेन तन्त्राख्यन्यायविधिना श्वेनो धावतीत्यादिवत् एकप्रयत्नोच्चारेण एकदैवार्थद्वयबोधकेन शब्देनेत्यर्थः । शृण्विति । शृण्वन्तमपि राजानं प्रति पुनः प्रेरणं रहस्यत्वेन तन्त्रेणोच्यमानमर्थं विशिष्यावधापयितुं नानातन्त्रविधानेनेति कलौ तन्त्रस्य प्राधान्यं दर्शितमितित्वर्थान्तरं तन्त्रस्याप्याच्छादनार्थं ज्ञेयं कृष्णेति सर्वकलियुगपक्षे कृष्णवर्णं कृष्णवर्णदेहं रूक्षत्वं व्यावर्त्तयति त्विषा कान्त्या अकृष्णम् इन्द्रनीलमणिवदुज्वलमित्यर्थः । एककलियुगपक्षे कृष्णवर्णं किन्तु त्विषा कान्त्या अकृष्णं शुक्लरक्तश्यामानामुक्तत्वात् पारिशेष्येण पीतमन्तः कृष्णं बहिर्गौरमित्यर्थः । यद्वा कृष्णावतारलीलादिवर्णनात् कृष्णवर्णं साङ्गोपाङ्गेत्यादिकमुभयपक्षेपि स्पष्टप्रच्छन्नत्वाभ्यां तुल्य एवार्थः ॥ १३ ॥ प्राक् पूर्वं वसुदेवस्य वसुदेवात्तवात्मजोऽयं क्वचिदेकान्तस्थले जात इति प्राक् पूर्वजन्मनि वसुदेवस्यापि पूर्वजन्मनि वसुदेव इत्येव नामासीदिति नन्दो बुद्ध्यते स्म अभिज्ञा इति न केवलमहमेक एवेति प्रामाण्यं दर्शितम् ॥ १४ ॥ बहूनीति न केवलं कृष्ण इति नाम वासुदेव इति नाम मयैव कृतमिति भावः । रूपाणीति न केवलं मयोक्तानि शुक्लादीन्येवेत्यर्थः । गुणकर्मानुरूपाणीति भक्तवत्सलसर्वज्ञगोवर्द्धनधरादीनि कृष्णशब्दः सत्तार्थोणश्चानन्दात्मकस्ततः कृष्णः भक्ताद्याकर्षणादपि तद्वर्णत्वाच्च मन्त्रमयवपुष इति गोविन्दो गोविचारणादपीति केशवाचार्यादिव्याख्यानादित्यर्थः । तान्यहं दैवज्ञोपि न वेद जना नो विदुरिति किं पुनरित्यर्थः । नन्दस्तु मत्पुत्रस्य महापुरुषत्वाज्ञानाजन्मगतमिदं सर्वज्ञत्वादयं वक्तीति बुद्ध्यते ॥ १५ ॥ आधास्यत् आधास्यति गोपानां गवाञ्च कुलं नन्दयतीति सः तेषां कुलस्य नन्दनः ब्रह्ममोहने पुत्र इति वा हे गोपेति वा अञ्जः सुखेन सर्वदुर्गाणीति यदा यदोपद्रव आयास्यति तदा त्वदिष्टदैवेन श्रीनारायणेनाविष्टोयं त्वत्पुत्र एव त्वया अयमाश्रयितव्य इतीति भावः ॥ १६-१७ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अस्य भवत्पुत्रस्य अनुयुगं तनूः मूर्तीर्भक्तेच्छया गृह्णतः प्रकटयतः शुक्लादयो वर्णा आसन् इदानीं तु स्वासाधारणतां कृष्णतां गतोऽतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ वसति सर्वं यत्र वासयत्याच्छादयति सर्वमिति वा वसुः स चासौ देवश्चेति वसुदेवापत्यत्वेदानीं जातत्वाद्वासुदेव इति च गोपयितुं सामान्यतो नामान्तरमाह—प्रागयमिति । अयं तवात्मजः क्वचिद्वसुदेवाज्जातोऽतोऽभिज्ञाः वासुदेव इति सम्प्रचक्षते नित्यं श्रीरस्यास्तीति श्रीमानिति च संप्रचक्षते नित्ययोगे मतुप् ॥१४॥ किम्बहुना ते सुतस्य बहून्यनन्तानि गुणानुरूपाणि सर्वज्ञ इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि सर्वकारण इत्यादीनि नामानि रूपाणि च सन्ति तान्यहमपि नो वेद जना अपि नो विदुरनन्तत्वात् ॥ १५ ॥ जातकफलमाह—एष इति । एष तव सुतः वो भुक्तिमुक्तिलक्षणं श्रेय आधास्यत् आधास्यति अनेन हेतुभूतेन यूयं सर्वदुर्गाणि अञ्जस्तरिष्यथ ॥ १६-१७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ नन्दसूनोर्नामान्याह आसन्निति अस्य सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरमित्यादि श्रुतेरनादितोऽश्रश्यामवर्णस्य त्वदात्मजस्य शुक्लादयस्त्रयो वर्णारूपाण्यासन् कीदृशस्य अनुयुगं तत्तद्युगे तनूर्मूर्त्तीर्गृह्णतः प्रकटयतः आविर्भावतिरोभावावस्योक्ते ग्रहमोचने इति स्मरणात् तत्र सत्ये युगे शुक्लोऽस्य वर्णः त्रेतायां रक्तः कलौ तु पीत इदानीमस्मिन् द्वापरावसाने तु स शुक्लादिवर्णः कृष्णतामेतद्रूपतामत्रान्तर्भूतनाङ्गतः परावरेशो महदंशयुक्त इत्याद्युक्तेः तथा च परिपूर्णः कृष्णनामाचायं कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात्तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुनेति नारायणीयाच्च पीतो वर्णोस्यासीदिति प्राचीनपीतावतारापेक्षया सोऽपि न कलिसामान्ये तत्र हरिवंशादिषु कृष्णवर्णस्योक्तेः किन्त्वेतद्द्वापरान्तरकलाविति बोध्यम् ॥ १३ ॥ अयं तवात्मजो वसुदेवस्य जातः कथमित्याह प्राक् पूर्वजन्मनि इति तस्य तदापि वसुदेव इत्येव नामासीदित्यर्थः । एतद्विवस्वात् प्राक् क्वचिदेकान्ते स्थाने कंसकारायामयं तवात्मजो वसुदेवस्य देवक्यां जातः स च तेनानीतोऽस्मिन् प्रविष्ट इति तु रहस्यत्वान्न प्रकाशितम् अतो वासुदेवे इत्यभिज्ञाः संप्रचक्षते न त्वहमेवेति भावः ॥ १४ ॥ ननु शुक्लादियुगावताराणामवतारीति भवतोक्तेः पुरुषावताराणां लीलावताराणां मन्वन्तरावताराणाञ्चावतारी क इति चेदयमेव स इत्याह बहूनीति । तानि तानि बहून्यसंख्येयस्येवेत्यर्थः । सन्तीति तेषां नित्यता व्यज्यते गुणानुरूपाणि सर्वज्ञो भक्तवत्सल इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि प्रकृतिप्रवर्तको विश्वस्रष्टा विश्वान्तर्यामीत्यादीनि तानि सर्वाणि दैवज्ञो वेदज्ञश्चाहं सामस्त्येन नो वेद न जानामि जनाः कथं विदुरित्यर्थः । तथा च त्वत्सुतः स्वयं प्रभुरित्युक्तम् ॥ १५ ॥ ईदृशोऽपि त्वदाज्ञावहोऽयं भविष्यतीत्याहैष इति । आधास्यदाधास्यति गोपानां गवाञ्च कुलस्य समूहस्य नन्दनः प्रहर्षणः ब्रह्ममोहने पुत्रो वा सर्वदुर्गाणीति यदा यदोपद्रवा भविष्यन्ति तदा तदायमेव स्वांशैस्तान्निवारयिष्यत्यञ्जः सुखेन ॥ १६-१७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

आसन्नित्यादीनि । अनुयुगं युगानुसारेण तनूः शरीराणि गृह्णतः स्वीकुर्वतोऽस्य त्रयोऽस्य वर्णा आसन् ॥ १३ ॥ शुक्लो रक्तस्तथा पीत इति त्रयः । गुणे शुक्लादयः पुंसीत्यमरः । इदानीं कृष्णतां श्यामतां गतोऽर्थात्कृष्णवर्ण इति कृष्णनामेति सूचितमनेनेति

ज्ञेयम् । अयं वसुदेवसुत इति प्रकाश्योक्तौ दुश्चित्तो भवेन्नन्द इति किंचिदाच्छायं वक्ति ।। प्रागिति । वसुदेवस्य प्राक् क्वचित्तवात्मजो जातः ।। १४ ।। ततो वसुदेवस्यापत्यमिति व्युत्पत्त्या वासुदेव इत्यभिज्ञा वैयाकरणाः सम्प्रचक्षते । अभिज्ञा महामतयस्तु गीताभाष्याद्युदाहृतबाभ्रव्यशाखाद्यभिहितकारणेन वासुदेव इति सम्प्रचक्षत इत्यान्तरङ्गिकोऽर्थो ज्ञेयः । विस्तृतं स्कन्धान्तरविवरणेऽस्माभिरनुसन्धेयं । तर्हि मम सुतनामानि पञ्चषाणि वद वर्तन्ते चेदित्यत आह ।। बहूनिति ।। १५ ।। गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद जनाः पामरा न विदुः । मध्ये नो इति वदन्स्वस्यापि साकल्यतो वैकल्यं ज्ञानस्य सूचयति । तानि च नामानि गुणानुगुणानि कृष्णादीनि मधुसूदनादीनि क्रियानुगुणानि । इदमपि स्थूलदृग्विवक्षयाऽपि सङ्कीर्णोनीति मन्तव्यं । अथास्यदकरिष्यद्धारयति वा । भाविभावं कथयति ।। एष इति । अञ्जः सम्यक् पुरा पृथ्वतारे दस्युभिरोडिताः साधवोऽराजके तत्पितृमरणानन्तरमरक्षमाणाः समेधिता अभिवृद्धाः सन्तो दस्यूञ्जिग्युः । नरनारायणरूपेणेति वा । यथोक्तमुद्योगपर्वणि । ब्रह्मोवाच । यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासतौ तपस्विनौ । नरनारायणावेतावित्यारभ्य नारायणस्तथैवात्र भूयः सोऽन्याञ्जघान ह । वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ । नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः । अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः । एष नारायणः कृष्ण इत्यन्तेन । एतस्मिन्कृष्णे ये महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्त्येतानरयो नाभिभवन्ति । प्रकारान्तरेण निदर्शनमाचक्षाण आह । असुरा विष्णुपक्षान्देवानिवेति ।।१६-१८।।

श्रीसुबोधिनी

भगवदाज्ञया मायाकृतमपि कर्मास्मिँल्लोके प्रसिद्धं भवत्विति "गर्भसङ्कर्षणात् सङ्कर्षण" इतिभगवद्वचनाद् देवगुह्यत्वात् तल्लोके न वक्तव्यमिति प्रकारान्तरेण सङ्कर्षणव्युत्पत्तिमाह यदूनामिति, यदूनां मध्येस्य न पृथग्भावोस्ति सर्वत्रात्मबुद्धिरेव, अत एव भगवता मातृद्वयमस्य सम्पादितं भिन्नमातृसुतेषु वैराभावज्ञापनार्थं, अतो भगवत्कृतं संवदतीति नात्यन्तं दोषोपि, यदूनां वास्मिन् पृथग्भावो नास्तीति सम्यक् सर्वेषामाकर्षणमाकारणं यस्मिन्निति सङ्कर्षणमुशन्ति वदन्ति, उतापि, अनेन सङ्कर्षणपदादर्थान्तरं मुख्यमस्तीति ज्ञापितम् ।। १३ ।। चतुर्मूर्तेर्भगवतश्चत्वारि नामानि वक्तव्यानि तत्र द्वयमाह द्वयं तु गुप्ततयानेकभेदभिन्नं वक्ष्यति चतुष्टयस्य च द्वये प्रवेशश्च, तत्रादौ कृष्णोयमिति नाम वक्तव्यं, तत्र भगवन्नाम कथमस्येतिशङ्कां वारयन् वर्णपरत्वेन सत्यं वदन्नाहासन्निति, अयमनुयुगं तनूर्गृह्णाति, अन्यथा युगमेव न स्यात्, भगवान् जगच्चेतिद्वयं युगशब्देनोच्यते, तत्रैकस्येनाविर्भवेदेकमेव स्यान् न तु युगलं, धात्वर्थोपयोगो द्वयोरेव, अतो भगवतावश्यमनुयुगमवतारः कर्तव्यस्तत्र युगधर्म स्थापनार्थं रूपं च तथा कर्तव्यं, अन्यथा लोकानां प्रतीतिर्न स्यात्, तदाह शुक्लो रक्तस्तथा पीत इति त्रयो वर्णा अस्यासन्, अग्रे च कलिर्भविष्यति तत इदानीं कृष्णतां गतः कृष्णवर्णं प्राप्तवानित्यर्थः, एनं कृष्णत्वं न प्राप्तवत् किन्त्वयमेव कृष्णत्वं प्राप्तः सर्वगतत्वात् सर्वसमन्वयाच्च, अनेन परब्रह्मतोक्तैव "कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इतिनिर्वचनात्, यद्यपि सदैव कृष्णस्तथापि प्राकृतसत्त्वस्याप्यनाश्रयेषु स्वस्वरूपात्मकसत्त्वप्रकटनात् तादृशेष्वपि स्वरूपानन्ददानादिदानीमेव कृष्णत्वं प्रकटितवानित्यर्थः, एतद्गोपनाय शब्दच्छलेन वर्णक्रममुक्तवान्, तेनायं सङ्कर्षणरूपोप्युक्तः कालानुगुणत्वान्, पुरुषोत्तमरूपोप्युक्तः सर्वसमन्वयात् ।। १४ ।। नामान्तरमाह प्रागयमिति, क्वचिद् देशविशेषे प्राक् त्वद्गृहागमनात् पूर्वमेव वसुदेवस्य पुत्रो जातो वसुदेवस्येति तवेति च सामानाधिकरण्यादाधिदैविकस्य वसुदेवस्य तवात्मजो जात इत्युक्तं भवति, अनेन प्रद्युम्नताप्युक्ता, वसुदेवे शुद्धसत्त्व आविर्भावादनिरुद्धता च, वस्तुतस्त्वयं तवात्मजः क्वचिद् वसुदेवस्य जात इति तस्य बुद्धिः, वासुदेवत्वे हेतुः श्रीमानिति, लक्ष्मीपतिरयमित्यर्थः, इमं गूढाभिप्रायमभिज्ञा एतज्ज्ञातारोभितोस्य स्वरूपं ये जानन्ति "यावान् यश्चास्मि यादृश" इति, अत एव सम्यक्त्वेन प्रकर्षेण च चक्षते ।। १५ ।। एवं नामद्वयमुक्त्वा गुणयोगादयमनन्तनामेति सर्वशास्त्रेषु तानि नामानि स्वत एव ज्ञातव्यानीत्यतिदिशति बहूनीति, बहून्यसङ्ख्यातानि नामानि रूपाणि च, अन्यथा क्रियायां निवृत्तायां तन्नाम न स्यात् पाचकपाठकवत्, रूपं चेत् तादृशं भिन्नं भवति तदा क्वचिद् गुणयोगात् प्रवृत्तरूपे नामावश्यकत्वाद् गवादिवत् सर्वदा भगवति चकारान्नामरूपयोः क्रियायाश्च नित्यत्वं प्रतिपादयति सन्तीति, तेन भगवान गोवर्धनमुद्धरन् सर्वदा वर्तत इति गोवर्धनोद्धरणधीरः क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरणरूपः सर्वदा वर्ततेऽपि प्रतिकृत्यनुभवो भक्तानामतोनन्तान्येव रूपाणि नामानि चास्यैव कृष्णस्य भगवतः, तदाह सुतस्य त इति, अन्यथा तस्य भ्रमो भवेत्, वसुदेवस्य विद्यमानत्वान् न वाक्यं बाधितार्थं, स्तुत्यर्थमननुरूपाण्यपि कदाचिद् भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह गुणकर्मानुरूपाणीति, गुणानामौदार्यादीनां कर्मणां कालीयदमनदीनां चालौकिकानां, नामान्यप्यलौकिकानि भवन्तीति गुणकर्मानुरूपाणि तानि रूपाणि नामानि चालौकिकत्वेनाहमेव वेद नो जनाः, व्यवहरन्त्युच्चारयन्ति च तथापि विचाराभावान्न, जानन्ति, यतो जना जननादिभावधर्मयुक्ताः क्लिष्टा इत्यर्थः, विचारस्तु क्रियायामनित्यतायां रूपे वा कालादिपरिणामेन प्रतिक्षणमन्यभावे तत्सम्बन्धेन प्राप्तं नामान्यदान्यस्मिन् वा सम्बन्धरहितत्वाद् वाचकमेव न भवेत्, ततो निरर्थकानि नामानि न फलन्ति, नाप्यन्तःकरणं शोधयन्ति, अतः स्वरूपाज्ञानेन केवलमुच्चारितानि रूपसम्बन्धाभावात् स्वतोप्यलौकिकत्वाज्ञानादप्युच्चारणे दाहाभाववद् भगवन्नामोच्चारणेपि न प्रपञ्चनिवृत्तिः, नामानि च वर्णात्मकत्वेनैव ज्ञातानि पुरुषं जगच्च नामयन्त्युच्चारयितुरग्रे वश्यतया स्थापयन्तीति नामानि रूपवन् नामरूपस्यापि भगवतो रूपाणि, यथा भगवद्रूपं प्राकृततुल्यं प्रतीयते ग्राहकदोषादेवं नामान्यपि लौकिकानां ग्राहकदोषादेव लौकिकवर्णयुक्तानीव प्रतीयन्ते, वस्तुतस्त्व-

खण्डान्येव तथा ज्ञानपूर्वकं शुद्धभावेन वस्तुतत्त्वे ज्ञात एव तद्बुद्ध्योच्चारितानि, न तु लोकसिद्धानुवादकरूपाणि, नामानि सर्वपुरुषार्थानि फलन्ति नान्यथेतिसिद्धान्तोतो लोकन्यायेनोच्चारयितरि फलाभावे दोषसम्बन्धे वा न काप्यनुपपत्तिः, एतस्यैव तारतम्येन चित्तशुद्ध्यतिशयो नाम्ना भवति, अन्यथा त्वावृत्तं स्वाधिदैविकसहितमेवेति कदाचित् फलति यद्याधिदैविकोद्बोध-पर्यन्तमावर्तेत, कालादीनां तु नाममाहात्म्यज्ञानादुच्चारयितुः परित्यागः, अनुगुणत्वात् सारूप्येण साधकमिति लौकिकस्यापि प्रवर्तनापरत्वेन मोक्षदातृत्वमित्यजामिलोपाख्यानस्यापि न वैयर्थ्यं, अन्यथा तत एव वैकुण्ठे गमनं स्यात्, अत उपायपरत्वमेव लौकिकस्य, तस्मात् सूष्ठूक्तं तान्यहं वेद नो जना इति, अनेनानन्तान्येव नामान्युक्तान्युपास्यरूपाणि चान्तःकरणशोधकानि, तदवस्थां भगवद्रूपस्य स्मृत्वा तन्नाम ग्राह्यमिति, अन्यथा नामप्रसङ्गे रूपकथनं व्यर्थं स्यात् ॥ १६ ॥ ज्योतिःशास्त्राभिज्ञत्वाद् रूपनाम-ज्ञानार्थं भगवतो गुणकर्माण्याह चतुर्भिस्तत्रादौ द्वयेन कर्माण्याहैष व इति, एष भगवान् परिदृश्यमानो वो युष्मान् श्रेय आधास्यद् धृतवान् पोषितवान् वा, पूतनासुपयःपानादिकं यद् भगवता कृतं तद् भवतां श्रेयोनिमित्तं, अविद्या हि पञ्चपर्वा सा नाशिता शकटः संसारात्मको भञ्जितोविद्याकार्यरूपो मोहात्मकश्च तृणावर्तो मारितः, एवं त्रिदोषदूरीकरणेन ज्ञानोत्पादनेन चासम-न्ताच्छ्रेयोधास्यत्, स्वयं सर्वपुरुषार्थरूपोपि दोषवशाद् ग्रहीतुमन्यैर्न शक्यत इति दोषदूरीकरणद्वारा श्रेयोधारकत्वं, किञ्च न केवलं सकृद् दत्तवान् किन्तु धृत्वैव तिष्ठति, अतोग्रेपि दास्यति यावता च भवद्भिः परमश्रेयो गृहीतो (गृहीतं) भविष्यति तावत् करिष्यती-त्याकारः, भूते लृङ्, तेन सिद्धं भवतां श्रेय इत्युक्तं, अनेन भवद्रक्षार्थं बहूनि कर्माणि करिष्यतीति कर्माण्युक्तानि, एवं दोषाभावार्थं करिष्यमाणानि कृतानि कर्माणि चोक्त्वा परमानन्ददायकान्यपि कर्माणि करिष्यतीत्याह गोपगोकुलनन्दन इति, गोपान् गोकुलं च नन्दयतीति, गोपशब्देन गोप्योपि गृहीताः, गोकुलशब्देन तत्सम्बन्धिनश्च यावन्तस्तदुपजीवकाः, उभयविधानप्यानन्दयिष्यतीतिक्रीडा तत्प्रतिघातवधश्चोक्तः, ननु त्वया कंसो ज्ञात्वा मारयिष्यतीति भयं जनितं तत्र का गतिरिति चेत् तत्राहानेनेति, अनेन भगवता सर्वाण्येव दुर्गाणि सङ्कटस्थानानि कंसोपद्रवरूपाणि सर्वाणि यूयमञ्जसानायासेन सर्व एव तरिष्यथ, अतः कंसादिभयमपि न कर्तव्यं, इदं तु वसुदेवस्यास्माकं चोपद्रवो भविष्यतीत्युक्तं न तु भवतामितिभावः ॥ १७ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

तान्यहं वेदेत्यस्य विवृतौ, सारूप्येण साधकमित्यादि । ननुः साङ्केत्यादिना भगवन्नामोच्चारणस्यापि फलसाधकत्वं श्रूयत इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमुच्यते । सङ्केतिते पुरुषे सदानन्दत्वादिधर्मवत्त्वेन भगवन्नाम्नस्तत्रावाचकत्वाल्लौकिक एव शब्द-स्तत्समानाकारस्तद्वाचकः स इति मन्तव्यम् । तथा च सारूप्येणापि मोचकमिति माहात्म्यज्ञापनपराण्यप्रवर्तमानस्य च प्रवर्तन-पराण्युपाख्यानानीत्यर्थः । ज्योतिःशास्त्राभिज्ञत्वं भाविज्ञाने लोकप्रतीतिमनुसृत्य हेतुत्वेनोक्तम् । भगवद्धर्माणां तच्छास्त्रा-गम्यत्वात् । 'न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यध' इति वाक्यात् । भाविरूपनामज्ञानहेतुत्वेन वा तदुक्तम् ॥ १६ ॥ **एष वः श्रेय आधास्यदित्यत्र, स्वयं पुरुषार्थरूपोपीति ।** ननु धार्यधारकयोर्भेदाद् भगवदतिरिक्तस्य श्रेयस्त्वं भक्तिमार्गविरुद्धमित्यत आहुः **स्वयमित्यादि ।** एवं सति श्रेयोधारकत्वं नन्दादीनामेव तत्प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वेन भगवत्युपचर्यत इत्यर्थः । तथा च नन्दादीनां भक्तत्वेन सर्वपुरुषार्थरूपस्य भगवतस्तत्राविर्भूय विराजमानत्वादन्यस्य श्रेयस्त्वाभावेपि तद्धारकत्वमुक्ताभिप्रायेण भगवति न विरुध्यते । यद्यपि भगवति विद्यमाने दोषाणां प्रतिबन्धकत्वमेव न संभवति, क तन्निवर्तकत्वेनोपचारः, तथापि लीलायां निरोधसिद्ध्यर्थमस्मत्प्रभुणा लौकिकरीतिरेव स्वीकृता । यतस्तदर्थं स्वरूपमपि तथा प्रदर्शितवान् । तदुपपादितं 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यत्र । लोके च यथा यथा प्रतिबन्धबाहुल्यम्, तन्निवृत्त्या पुनः फलानुभवः, तथा दुरापत्वज्ञानेन फलेप्यासक्तिर-धिकतरा भवतीति दृश्यते । अतो नन्दादीनामासक्तिसिद्ध्यर्थं स्वेच्छयैव दोषरूपान् पूतनादीन् प्रतिबन्धकत्वेनोद्भाव्य तन्निरा-करणद्वारा स्वयमेव तच्छ्रेयोरूपः फलतीति मनस्यभिसंधाय साधूक्तं **स्वयं तातचरणैः** ॥ १७ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

यदूनामित्यत्र भगवद्वचनादिति भगवद्वचनं विज्ञाय, **प्रकारान्तरेणेति सम्यक् कर्षणं** यस्यासौ सङ्कर्षण इत्यस्मात् **प्रकारान्तरं सम्यक् कर्षणं** येन रूपेण तेनेत्यर्थः, **अत एवेति** सर्वत्रास्मद्बुद्धेरेव, ननु तथापि **भगवद्वचन**विरुद्धव्युत्पत्तिकरणाद् गर्गस्य दोषः कुतो नाभूदित्यत आहुरत इत्यादि, तथापि किञ्चिद् भविष्यतीत्यतस्तृतीयां व्युत्पत्तिमाहुर्यदूनां वेत्यादि, **अनेने** य-पिशब्दार्थकोतपदकथनेन, तथा च न भगवदुक्तनिरुक्तिविरोध इत्यर्थः, एवं ज्येष्ठस्य बालस्य **चत्वारि नामान्युक्तानि** ॥ १३ ॥ **आसन् वर्णा** इत्यत्र ननु जन्मप्रकरणे **भगवतश्चतुर्मूर्तेः** प्राकट्याच्चत्वारि **नामानि वक्तव्यानीति** कथं द्वयमेवोच्यत इत्याशङ्क्य तत्र प्रकारं वदन्तोवतारयन्ति **चतुर्मूर्तेरित्यादि, प्रवेशश्चेति** वक्ष्यतीतिशेषः, तथा च नामद्वयकथनेनैव सर्वाणि कथितानि भविष्य-न्तीत्यर्थः **तत्रादाविति** नामोक्तिप्रस्तावे, प्रथमं **वक्तव्यमिति** ब्रह्मनामत्वाद् **वक्तव्यं, आहेति** गुप्ततया वदति **प्रतीतिरिति** तत्तद्युगत्वेन **तत्तकालस्य प्रतीतिः, कृष्णवर्णं प्राप्तवानिति** कलिकाले प्रकटीभवंस्तद्देवतारूपप्रतिफलनात् **प्राप्तवानित्यर्थः,** कृष्णत्वप्राप्तौ हेतुद्वयमाहुः **सर्वगतत्वात् तत्र तस्य च नवचेति, अनेनेति** हेतुद्वयेन, तत्र प्रमाणमाहुः कृषिरित्यादि, तथा च सद्रूपेण

सर्वगतत्वादानन्दरूपेण समन्वयाच्च तथेत्यर्थः, नन्वेवं चेद् भगवतः **सदैव** कृष्णत्वं प्राप्यत इती**दानीं कृष्णतां गत** इति कथमुक्तवानित्यत आहु**र्यद्यपी**त्यादि, **तादृशेष्विति** तामसेष्वित्यर्थः, **एतद्गोपनायेति** तद्गततामसत्व**गोपनाय** भगवति ब्रह्मत्वस्य च **गोपनाय**, एतेन ब्रह्मवैवर्ते नामकरणप्रस्तावे यः कृष्णशब्दस्य निरुक्तयो गर्गेणोक्ता "ब्रह्मणो वाचकः कोयमृकारोनन्तवाचकः शिवस्य वाचकः षश्च णकारो धर्मवाचकः अकारो विष्णोर्वचनः श्वेतद्वीपनिवासिनः नरनारायणार्थस्य विसर्गो वाचकः स्मृतः सर्वेषां तेजसां राशिः सर्वमूर्तिस्वरूपकः सर्वाधारः सर्वबीजस्तेन **कृष्ण** इति स्मृतः **कृषि**र्निर्वाणवचनो णकारो मोक्षवाचकः अकारो दातृवचनस्तेन **कृष्ण** इति स्मृतः **कृषि**र्निश्चेष्टवचनो णकारो भक्तिवाचक अकारो दातृवचनस्तेन कृष्ण इति स्मृतः नाम्नां भगवतोनन्तकोटीनां स्मरणेन तु तत् फलं लभते नूनं **कृष्णे**तिस्मरणान् नरः यद्धि संस्मरणे पुंसो वचनाच्छ्रवणात् तथा कोटिजन्मांहसो नाशो भवेद् यत्स्मरणादिकाद् विष्णोर्नाम्नां च सर्वेषां सारात् सारं परात् परं **कृष्णे**ति सुन्दरं नाम मङ्गलं भक्तिदायकं ककारोच्चारणाद् भक्तकैवल्यं जन्ममृत्युहं ऋकाराद् दास्यमतुलं षकाराद् भक्तिनिश्चलां णकारात् सहवासं च तत्समं कालमेव च तत्सारूप्यं विसर्गाच्च लभते नात्र संशयः ककारोच्चारणान्नन्द वेपन्ते यमकिङ्कराः ऋकारोक्तेवशिष्टानि षकारात् पातकानि च णकारोच्चारणाद् रोगा अकारान् मृत्युरेव च ध्रुवं सर्वे पलायन्ते नामोच्चारणभीरव" इति फलमुक्तं, अत्र प्रथमनिरुक्तौ ककारादयो विसर्गान्ता वर्णा हल्रूपाः प्रत्येकमर्थवन्तः प्रातिपदिकानि ततः सुबुत्पत्तौ पश्चात् समाहारे द्वन्द्वस्तात्वव्यशकारस्य मूर्धन्यादेशः "पुरि शेत इति पुरुष"इतिवद् बोध्यः, "सर्वेषा"मितिश्लोकेन तस्य तात्पर्यार्थो विवृतो बोध्यः, अग्रे निरुक्तिद्वये च 'कृषि'रितीकारो धात्वर्थमात्रे, तथा च कृष्सहितो णः कृष्णो 'निर्वाण'शब्दोविद्यानाशवचनो नकारान्तान् ङस्, कृष्णः अः दाता कृष्णो हिताहितप्राप्तिपरिहारा क्रिया 'चेष्टा' तस्या निर्गता चेष्टायस्तादृशभक्तेर्दातेत्यर्थस्तृतीये ज्ञेयः, एवमन्यास्वपि निरुक्तिषु बोध्यं, तथात्राकथने यद् बीजं तदप्युक्तं ज्ञेयं, अत्र ब्रह्मत्वगोपनेन स्नेहप्राधान्येनैव लीलानां करणात्, माहात्म्यस्य सर्वत्र प्राकट्ये स्नेहांशस्य स्वल्पत्वापातात्, ब्रह्मवैवर्ते तु 'कृष्णमाहात्म्यसंयुत'मिति तत्पुराणलक्षणकथनेन तत्र माहात्म्यज्ञापनांशस्यैव भूयस्त्वादिति, प्रसङ्गाच्छ्रीस्वामिनीनामोच्चारणफलमपि तत्रैव गर्गोक्तमुच्यते "रेफो हि कोटिजन्माघं कर्मभोगं शुभाशुभम् आकारो गर्भवासं च मृत्युं च रोगमुत्सृजेत् धकार आयुषो हानिमाकारो भवबन्धनं श्रवणस्मरणोक्तिभ्यः प्रणश्यति न संशयः रेफो हि निश्चलां भक्तिं दास्यं कृष्णपदाम्बुजे सर्वेप्सितं सदानन्दं सर्वसिद्धिदमीश्वरं धकारः सहवासं च तत्तुल्यं कालमेव च ददाति सार्ष्टिं सारूप्यं तत्त्वज्ञानं हरेः सुखम् आकारस्तेजसो राशिं दानं शक्तिं हरौ यथा योगशक्तिं योगमतिं सर्वकालं हरेः स्मृतिं प्रत्युक्तिस्मरणाद् योगान् मोहजालं च किल्बिषं रोगशोकमृत्युभयमावेद्यं नात्र संशय" इति, अथ प्रकृतमनुसराम, शब्दच्छलेन कथनस्य फलान्तरमाहुस्तेनेत्यादि समन्वयादित्यन्तं, तेनेति "पापकर्षणो ह वा" इतिश्रौतनिवचनेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

प्रागयमित्यत्र श्रीनन्दस्याधि**दैविकवसुदेव**त्वं यदुक्तं तत् कृष्णोपनिषदि श्रीनन्दस्य 'परमानन्द' स्वश्रवणात् पूर्वमुपपादितं ज्ञेयं, अत्रापि शब्दच्छलेन यत् सिद्धं तद् वदति **वस्तुत** इत्यारभ्या**यमर्थ** इत्यन्तं, **तस्य बुद्धिरिति नन्दस्य** बुद्धिः, वास्तवमर्थं श्रीमत्पदविवरणेनाहुः **श्रीमानि**त्यादि, तेन वसूनां देवो **वसुदेवो** लक्ष्मीः सास्यास्तीति वसुदेवोर्शादिभ्यच्, स एव **स्वार्थेणि वासुदेव** इति, तथा च श्रीनन्दस्य स्नेहाधिक्यस्थापनं वास्तवार्थकथनं फलमित्यर्थः, एतदेव विशदयन्ती**मि**मित्यादि, विष्णुपुराणे षष्ठेंशे पञ्चमाध्याये **वासुदेव**शब्दोधिकरणव्युत्पत्त्या कर्तृव्युत्पत्त्या चेति द्वेधा निरुक्तः, "सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि भूतेषु च स सर्वात्मा **वासुदेव**स्ततः स्मृत" इति तथा चैवं पञ्चधा व्याचक्षत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

बहूनीत्यत्रा**तिदिशतीति** बहूनां सत्ताकथनेन तेषां **ज्ञातव्यत्वमतिदिशति**, ननु नाम्नां गुणकर्माणि लक्षीकृत्य प्रवृत्तत्वात् ताभ्यामेव नामसत्तासिद्धेस्तत्कथनप्रस्तावे रूपसत्ताकथनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुरयमर्थेत्यादि, नामसत्ता यदि कर्मसत्ताप्रयुक्ता स्यात् तदा **क्रियायां निवृत्तायां** तत्प्रयुक्तनामाप्याख्यातवन् **न स्याद्** यदा हि क्रियां करोति तदा पचति पठति गच्छतीत्युच्यते न तु तदभावे तद्वत्, तर्हि रूपसद्भावे कथं तत्सत्तेत्यत आहुः **पाचके**त्यादि, सप्तम्यर्थे **वतिः**, **तादृशमि**ति क्रियाद्यनुकूलं, **गुणयोगा**दित्यत्र **गुण**पदं **क्रियाया** अप्युपलक्षकं, तथा च पचनपाठन**क्रियानिवृत्ताव**पि कचित् **क्रियायोगात् प्रवृत्तं पाचकपाठके**त्यादि **नाम सर्वदा** प्रयुज्यत एवं **गुणयोगा**दपि 'पुष्पवन्तौ' 'वेगवा'नित्यादि, अतो रूपमेव नामसत्ताप्रयोजकमिति तदा यत् तत्प्रयोजकात् सत्तेत्यर्थः, ननु तर्हि रूपसत्तैव वक्तव्या किं नामसत्ताकथनेनेत्यत आहु **रूप** इत्यादि, तथा च यदि नाम न स्यात् तदेदमेतदितिप्रतिनियताकारेण रूपं न प्रतीयेतातस्तज्ज्ञापनार्थं **रूपे नामावश्यकत्वाद् गवादिशब्दवत् तदापि सर्वदैव भवतीति**समनियमज्ञापनार्थं नामसत्ताकथनमित्यर्थः, **चकार**प्रयोजनमाहुश्च**कारा**दित्यादि, **सिद्धमाहुस्तेने**त्यादि, **तेनेति नामरूपयोर्नित्यसम्बन्धसाधनेन**, अत्रा**यमर्थः**, जैमिनीये दर्शने शब्दार्थयोर्नित्यः सम्बन्धः साधितः शब्दस्य **नित्यत्वं** च तदेतद् **व्यासै**रप्यङ्गीक्रियते, अर्थस्थले तु जैमिनिना कृतिरूपस्यार्थस्य **नित्यत्वं** तेन च व्यक्तिराक्षिप्यत इत्यङ्गीक्रियते तदेतद् **व्यासचरणानां** नाभिप्रेतं किन्तु वैदिकानामलौकिकानामर्थानां **नित्यत्वात्** तैः सहैव तादृशां शब्दानां सम्बन्धो **लौकिकानां** तु प्रवाहे सहसम्बन्धः, इदं यथा तथा समन्वय तृतीयपादे 'शब्द इति'चेदित्यादिषु त्रिषु सूत्रेषु निपुणतरमुपपादितं तत् **सर्वमभिसन्धा**यात्रैवं सिद्धमुक्तं ज्ञेयं, अत्र भक्तानुभवमपि प्रमाणयन्त्यद्यापीत्यादि, **विद्यमानत्वा**दित्याधिदैविकत्वेन श्रीनन्दे **विद्यमानत्वात्**, **अनु**-

रूपाणीति 'गो अश्वा एव पशव' इतिवत् प्रशंसारूपगौण्या प्रयुक्तानि, **अलौकिकाना**मिति गुणानां कर्मणां च, **गुणकर्मानुरूपाणी**ति गुणाश्च कर्माणि च **गुणकर्माणि** तान्यनु लक्षीकृत्येत्यत आहुर्व्य**वहरन्ती**त्यादि, को वा विचारो यदभावान्न जानन्तीत्याकाङ्क्षायां तं स्फुटीकुर्वन्ति विचारास्त्वित्यादिना, **रूप** इति रूपाधिकरणके, **तत्सम्बन्धने**त्यनित्ययोः क्रियारूपयोः **सम्बन्धेन, अन्यथे**त्यादि-शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात् **कालान्तरे** क्रियाया अभावेन क्षणान्तरे रूपस्याप्यभावेन तथा, **तत** इत्यवाचकत्वात् ननु नाम्नां तादृग्रूपसम्बन्धत्वे रूपस्यापि श्रावणे शब्देन रूपसम्बन्धफलभूता **प्रपञ्चनिवृत्ति**रपि सर्वेषां स्यात् सा तु न दृश्यत इति पूर्वोक्तं न साधीय इत्यत **आहुर्यत** इत्यादि, तथा च ज्ञानाभावेनोनोच्चरणे**लौकिकस्य** नाम्नोऽप्राकट्ये सति लौकिकमेव नाम लौकिके**नार्थेन** सह वाच्यवाचकभावाख्येनोदासीनेन स्वरूपसम्बन्धेनैव सम्बद्धं सदर्थं नोपस्थापयतीत्यग्निशब्दोच्चारणे दाहाभाववद् **भगवन्ना-मोच्चारणमपि प्रपञ्चनिवृत्त्यादिरूपं फलं न जनयती**त्यतो **न दृश्यतेतो** वस्तुभेदात् फलाभाव इति न दोष इत्यर्थः, ज्ञातसम्बन्धानां नाम्नां कथमेवं सामर्थ्यमित्याकाङ्क्षायां **नाम**पदनिरुक्त्या तत् स्फुटीकुर्वन्ति **नामानी**त्यादि, "स एव जीव" इत्यत्र शब्दब्रह्मणो **वर्णात्मकत्वेनैव** निरूपणात् तदात्मकत्वेन **ज्ञातानि नामानि पुरुषं जगच्च नामयन्ति** "नामभिर्दामभिः सित"मितिश्रुत्या 'यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाश्च दामभिर्वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा हरन्ति बलिमीशितु'रित्यादिस्मृतिभिस्तथा कुर्वन्ति, तथा च 'दाम' रूपत्वात् तथा सामर्थ्यमिति ज्ञात्वोच्चारणे भगवन्तमपि सन्निधापयन्तीत्यर्थः, अत एव 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि **नारदे**'त्यादिभगवद्वाक्यमपि सङ्गच्छते, सामर्थ्यमुक्त्वा स्वरूपमाहु**र्नामानि रूपव**दित्यादि, तथा च यथार्थस्वरूपस्य **भगवतो रूपं** तथैतानि **नामरूप**स्येत्यर्थः, अत एव लोकेपि रामशब्दस्य रूपाणि गृहाण भूधातो रूपाणि चेतिव्यवहारः, एवं सामान्यं तेषां स्वरूपमुक्त्वा फलोपधायकं वैशेषिकं रूपमाहुर्यथेत्यादि **सिद्धान्त** इत्यन्तं, **अखण्डानी**ति 'पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च'त्यिन्यायेन तादृशालौकिकशब्दात्मकानि, सिद्धमाहुरत इत्यादि, **दोषसम्बन्धे वा न काप्यनुपपत्ति**रिति दोषानिवृत्तौ वा न भगवन्नामादिसामर्थ्याभावरूपानुपपत्तिरित्यर्थः, एवं दोषं परिहृत्येदानीं नामभिः फलजनने प्रकारमाहुरेतस्यैवेत्यादि नामादिस्व-स्वरूपज्ञानभक्त्यादेरित्यर्थः, नन्वेवं ज्ञानाभावेपि भगवदीयत्वमात्रज्ञानवतामपि सत् फलं दृश्यते सहस्रनामादीनां फलं चोच्यते तत् कथं युज्यत इत्यत आहुरन्यथेत्यादि, पूर्णचित्तशुद्ध्यभावे तु भगवदीयत्वज्ञानमात्रेणावृत्तं **नाम स्वस्याधिदैविकसहित**मिति नामाधिदैविकं यदखण्डशब्दरूपं नाम तत्**सहितमेवेति**हेतोः **कदाचित् फलति** यदैवं स्यात्, एवम्भावस्तु दैन्ये सति भगवत्कृपया, अतस्तादृशस्थले यत् **फलति** तदाधिदैविकमाहात्म्यादेव न तूच्चार्यमाणस्वरूपमाहात्म्यात्, यदि तादृशस्थले स्वमहिम्ना फलेदावृत्ति विना तदैव फलेत्, तत् तु नास्ति, अत **आधिदैविकमहिम्नैव फलतीतिनिश्चयः**, ननु तर्हि 'कृते यद् ध्यायतो यज्ञैस्त्रेतायां यजतो द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनादि'ति "सकृदुच्चारयेद् यस्तु नारायणमतन्द्रितः शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्वाणमधिगच्छति कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणीधराच्युत शङ्खचक्रपाणे भवशरणमितीरयन्ति ये वै त्यज भट इव तरेण तानपापा' नित्यादिश्री-भागवतपाद्मवैष्णववाक्येषु नामकीर्तनादिमात्रेण कालादिभयनिवृत्तिकथनस्य कथमपि न गन्ध इत्यत आहुः **कालादीना**मित्यादि, तथा च तत्र **कालादीनां माहात्म्यज्ञान**वत्त्वात् स्वत एव निवृत्तिर्न तु तत्र नाम्नः कश्चिद् व्यापारो यथा राजपुरुषदर्शनेन प्राकृतानां, अतो व्यापाराभावेपि फलनान्न विरोध इति, "साङ्केत्यं पारिहास्यं वे"तिवाक्यविरोध**मजामिलोपाख्यानवैयर्थ्यं** च परिहरन्ति **सारूप्ये**त्यादि, तदेतट्टिप्पण्यामुपपाद्य विवृण्वन्ति **नन्वि**त्यादि "साङ्केत्यं पारिहास्यं वे"तिवाक्यं श्रुत्वा वा साङ्केत्या-दिरूपेण नामोच्चारणे फलवत्त्वं श्रूयते तथा च तेनापि नाम्नां फलवत्त्वे किमेतत्प्रयासेनेत्याशङ्क्य साङ्केत्यवाक्यस्य तात्पर्यमुच्यत इत्यर्थः, तात्पर्यमाहुः **सङ्केतित** इत्यादि, **कृष्ण** इतिपदस्य 'सदानन्द'त्वादिधर्मवानिति योर्थस्तस्य **सङ्केतित**पुरुषभावेन **तत्र भगवन्नाम्नो** वाचकत्वात् तत्र सङ्केतितो लौकिकः शब्दः भगवन्नामसमानाकारः सङ्केतितपुरुषवाचक इति मन्तव्यं तथा च **सारूप्येणा**पि भगवन्नाम मोचकमित्यादिज्ञापनार्थानि नानापुराणोक्तानि नाममाहात्म्योपाख्यानानीति **नाजामिलोपाख्यानस्य वैयर्थ्य**मित्यर्थः, तेनात्रेदं **सिद्धं**, यस्य गुरौ भगवदभेदबुद्धिस्तथैव च गुरुभक्तिः सङ्ग्राहित्यं च तस्य गुर्वनुग्रहेण भगवन्नाम्नां तद्विषयाणां रूपाणां च यथावज्ज्ञानं ततो **भगवद्रूपवन्नामोक्तां रूपावस्थां** स्मृत्वा यदा भगवन्नाम गृह्णाति तदा शीघ्रं तदैव तत् फलति यदा त्वेवं प्रणाड्यभावस्तदा तु तन्नामावृत्तं सद् यदाधिदैविकं नामोद्बोधयति तदविलम्बेन फलति, यदा त्वावृत्त्यमानेपि नाम्नि नाधिदैविकोद्बोधपर्यन्ततास्य चान्तरा मृत्यूपस्थितिस्तदा नामव्यापाराभावेपि कालयमदूता स्वत एव निवर्तन्ते ततो भगवदिच्छानुसारेण फलं, यस्तु साङ्केत्यादिवाक्यं श्रुत्वा माहात्म्यं जानन्नुच्चारयति तस्यापि तथैव फलं, यस्तु वाक्यमश्रुत्वा सङ्केतादिरूपेणोच्चारयति तस्यापि बहुकालविलम्बेन पापनिवृत्तिर्भवति तन्निवृत्त्यान्यशेषाणि पापानि निवर्तन्ते 'कांश्चिन्ममानुध्यानेन नाम सङ्कीर्तनाच्च म' इतिवाक्याद् बोध्यम् ॥ १६ ॥

एष व इत्यत्राभासे **ज्योतिःशास्त्राभिज्ञत्वा**दिति गर्गविशेषणं यदुक्तं तत्तात्पर्यं **टिप्पण्यामाहुर्ज्योति**रित्यादि एवं कथनेपुष्टार्थत्वमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुर्भावीत्याद्यन्येषां यन् नामरूपज्ञानं **भावि** तादृशभाविज्ञानहेतुत्वेनेत्यर्थः, विवृतौ **वो युष्मा**नित्यादि **व** इत्यस्य द्वितीयाबहुवचनत्व **आधास्य**दित्यस्य **धतवा**नित्यर्थः, षष्ठीबहुवचनत्वे **पोषितवा**नित्यर्थो ज्ञेयः, 'भूते लुङ् इति 'भूते चे'तिसूत्राद्धेतुमद्भावादिष्वर्थेषु लुङित्यर्थः, इदमिति **भयजननम्** ॥ १७ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

यदूनामित्यत्र अनेनेति उतेतिकथनेन गर्भसङ्कर्षणरूपमर्थान्तरं मुख्यमस्तीति सूचितमित्यर्थः ॥१३॥ **चतुष्टयस्य चेति** भगवति बले च व्यूहचतुष्टयस्य यथायथं प्रवेश इत्यर्थः, बले वासुदेवसङ्कर्षणयोर्भगवति चतुर्णामितिभागः, **आसन्नित्यत्र** युगमत्रास्तीति युगमितिव्युत्पत्त्या अर्शआद्यजन्तत्वेन कालवाचकत्वं युगपदस्य, एनं कृष्णत्वं नेति तथा सत्येतदवतारो रामोपि कृष्णवर्णः स्यादितिभावः ॥ १४ ॥ **बहूनीत्यत्र अन्यथेति** रूपाणां बहुत्वाभावे इत्यर्थः । **क्रियायाश्चेति** बहुत्वमिति शेषः, **गोवर्धनोद्धरणरूप इति गोवर्धनस्योद्धरणं** येन तादृशं तावत्प्रमाणकं रूपं यस्येति, अनेन रूपमुक्तं, **अन्यथेति** 'ते सुतस्ते'ति कथनाभावे रूपबहुत्वमवतारबहुत्वेन जानीयादित्यर्थः, ननु भगवतो व्यापकत्वाद् रूपबहुत्वं बाधितमित्याशङ्क्य समाधानमाहुः **वसुदेवस्येति,** शुद्धसत्त्वं पृथक्कृत्य तत्र तत्र स्वयं तिष्ठतीति घटमठाद्याकाशवद् बहुत्वमित्यर्थः, **अंशावतारेषु**सत्त्वं मत्स्यादिरूपं कृत्वा तद्व्यवहित एव स्वयं तिष्ठति, अत्र त्वास्तरणमिव तिष्ठति न तु तद्व्यवहितो लीलां करोतीति विभेदः, **अलौकिकानामिति** पूर्वोक्तयोर्विशेषणमिदं, एतादृशानां गुणानां कर्मणां च सम्बन्धीनि तद्योगात् प्रवृत्तानि **नामानि अपिशब्दाद्** रूपाणि चालौकिकान्येव भवन्तीत्यर्थः,, विचारे फलन्तीति नामप्रकरणारम्भे आद्यश्लोकाभासे प्रयोजनद्वयकथनाद् भगवदासक्तिजनयन्तीत्यर्थः, **अत** इति यतो निरर्थकानि न फलन्त्यतः **स्वरूपाज्ञाने केवलमुच्चारितानि** 'न फलन्ती'तिपूर्वस्यैवानुवृत्तिः, **न फलन्तीत्यर्थः, वर्णात्मकत्वेनेवेति** एवकारव्यावर्त्यं नामस्वरूपमाहुः पुरुषमित्यारभ्याखण्डान्येवेत्यन्तेन, ग्राहकदोषादिति इन्द्रियदोषादित्यर्थः, **सर्वपुरुषार्थानीति** सर्वे पुरुषार्था येन तादृशानि नामानीत्यर्थः, **आवृत्तमिति** आवृत्तं सत् प्रमेयबलात् कदाचित् स्वाधिदैविकसहितं भवत्येवेत्यर्थः, **लौकिकस्यापीति** नाम्न इत्यर्थः, **अन्यथेति** स्वातन्त्र्येण मोक्षदातृत्वे इत्यर्थः ॥ १६ ॥ **एष व इत्यत्र वो युष्मानिति** लक्षीकृत्येत्यर्थः, आङुपसर्गस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादिना, श्रेयोरूपस्य स्वरूपस्य धारणं पूर्वमेव प्राकट्यसमये सिद्धमित्याशयेनाहुः **भूते** लृङिति, 'भूते चे'ति सूत्रादितिभावः, **अनेनेति** आङुपसर्गेणेत्यर्थः, **दोषाभावार्थ**मिति श्रेयोग्रहणप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः, **इदं तु वसुदेवस्येति** तथा च 'अपि हन्ता गताशङ्क' इत्यत्र वसुदेवमस्मांश्च हन्तेत्यर्थो ज्ञेयः, 'यदूनामहमाचार्य' इत्यस्य व्याख्याने द्रव्यविरोधो भवतीत्यत्रापि द्रव्यस्य विरोधस्तत्कृतेन्येषां हननमित्यर्थो ज्ञेयः ॥ १७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'एवं रामनामकरणानन्तरं श्रीनन्दः श्रीकृष्णं प्रदर्शितवान्' इति तन्नामान्याह आसन्निति । अनुयुगं युगे युगे तनूर्मूर्ती गृह्णतोऽस्य तव पुत्रस्य शुक्लो, रक्तस्तथापीतश्चेति त्रयो वर्णा आसन् । इदानीं तु द्वापरस्यान्ते कृष्णतां गत इत्यन्वयः ॥ अतः 'कृष्ण' इत्येकं नाम भविष्यतीत्याशयः । हिशब्देन 'कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः' इत्यादिवक्ष्यमाणप्रसिद्धिं सूचयति ॥ १३ ॥ शास्त्रप्रसिद्धमपि 'वासुदेव' इति भगवतो नाम गोपयितुं प्रकारान्तरेणाह–प्रागिति । अयं श्रीमांस्तवात्मजः प्राक् कदाचिद्वसुदेवस्य सुतो जातः, अतः अभिज्ञा ये अभितो स्वस्वरूपं जानन्ति ते एनं 'वासुदेव' इति सम्प्रचक्षते कथयन्ति । प्रागिति सामान्योक्त्याऽयं मुनिर्जन्मान्तरवृत्तं कथयतीति नन्दो मन्यते स्म ॥ १४ ॥ गुणानुरूपाणि—'सर्वेश्वरः सर्वज्ञः' इत्यादीनि, कर्मानुरूपाणि 'गोवर्धनोद्धरणः, कालीयदमनः' इत्यादीनि च तव सुतस्य बहूनि नामानि सन्ति । तानि च सर्वाणि जना न विदुः, अहमपि नो वेद न जानामि ॥ १५ ॥ जातकफलमाह—एष इति । गोपपदं गोपीनामप्युपलक्षणम् । एष गोपान् गोपीः गोकुलं च नन्दयतीति तथाभूतो भविष्यति । तत्र हेतुमाह–वो युष्माकं सर्वेषां व्रजवासिनामिव श्रेयः ऐहिकं पारलौकिकं च सुखमाधास्यत् आधास्यति । अनेनैव रक्षकेण सर्वाणि दुर्गाणि महतोऽप्युपद्रवान् अञ्जः अनायासेनैव यूयं तरिष्यथ अतिक्रमिष्यथ ॥ १६ ॥ 'तव भाग्यं तु मया किं वक्तव्यम्' ? इत्याशयेन सम्बोधयति–व्रजपते इति । पुरा अराजके यदा ब्राह्मणैर्हुङ्कारेण वेनो नाशितो, यदा च परशुरामेण सर्वे राजानो हतास्तदा दस्युभिश्चोरैर्दुष्टै रावणादिभिश्च पीडिताः साधवः सदाचारनिष्ठा जना अनेन पृथुरामादिरूपेण रक्ष्यमाणा समेधिताः संवर्धिताश्च सन्तस्तान् दस्यून् जिग्युः निर्जितवन्तः ॥ १७ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

आसन्निति ॥ अनुयुगं युगे युगे तत्तन्मूर्त्तीर्गृह्णतोऽस्य तव पुत्रस्य शुक्लो रक्तस्तथा पीतश्चेति त्रयो वर्णा आसन् । इदानीं तु द्वापरस्यान्ते कृष्णतां गतः अतः कृष्णनाम भविष्यति । यद्यपि पीतवर्णावतारस्य युगप्रकरणेऽन्यत्र च न प्रसिद्धिः कृते शुक्ल इत्यादिष्वनुक्तेः तथापि "सुवर्णवर्णो हेमाङ्गः" इति भारतादौ दर्शनादवताराणामनन्तत्वात्कचित्पीतवर्णत्वसंभवः । नन्दस्तु मत्पुत्रस्य जन्मान्तरवृत्तमिति मन्यते स्म ॥ १३ ॥ प्रागिति ॥ अयं श्रीमांस्तवात्मजः क्वचित् प्राक्समये वसुदेवस्य सुतो जातः । अतः अभिज्ञाः ये अभितोऽस्य स्वरूपं जानन्ति त एनं वासुदेव इति संप्रचक्षते कथयन्ति । वासुदेवशब्दस्य वास्तवार्थे भगवतः प्रकटनभयादन्यथा प्रदर्शनम् । प्रागिति सामान्योक्त्या जन्मान्तरवृत्तमेतदिति नन्दो मन्यते स्म ॥ १४ ॥ बहूनीति ॥ गुणानुरूपाणि सर्वेश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि गोवर्धनोद्धरणः कालियदमन इत्यादीनि तव सुतस्य बहूनि नामानि रूपाणि च सन्ति । तानि च सर्वाणि अहं दैवज्ञोऽपि नो वेद न जानामि । किम्पुनर्जना न विदुरिति । नन्दस्तु मत्पुत्रस्य जन्मान्तरगतमेतदिति

मन्यते स्म ॥ १५ ॥ जातकफलमाह—एष इति ॥ गोपान् गोकुलं च नन्दयति तथाभूतः गोपेति संबुद्धिर्वा । एष वो युष्माकं सर्वेषां श्रेयः सुखम् आधास्यत् करिष्यतीति इलोप आर्षः । अनेनैव रक्षकेण सर्वाणि दुर्गाणि महतोऽप्युपद्रवान् अञ्जः अनायासेनैव यूयं तरिष्यथ अतिक्रमिष्यथ ॥ १६ ॥ पुरेति ॥ हे व्रजपते पुरा अराजके दस्युभिश्चौरैः पीडिताः साधवः अनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताः संवर्धिताश्च सन्तस्तान् दस्यून् जिग्युः निर्जितवन्तः । अत्र पुरा जन्मान्तरे साधवो देवाः दस्युभिर्दैत्यैः पीडिताः अराजके इन्द्रपदच्युतौ इति गूढोऽर्थः ॥ १७ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अतः कृष्ण इति नाम भविष्यति ॥ १३ ॥ कचित्समयें वसुदेवस्य गृहे तवात्मजो जातः अतः ॥ १४ ॥ गुणकर्मणोरनुरूपाणि योग्यानि ॥ १५ ॥ जन्मलग्नग्रहफलमाह एष इति । आधास्यत् आधास्यति ईकारलोप आर्षः । सर्वाणि दुर्गाणि विघ्नानि अंजः अनायासेन ॥ १६ ॥ अराजके राजहीने काले अनेन रक्ष्यमाणाः दस्यून् चौरान् ॥ १७ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ज्येष्ठत्वात्पूर्वं बलनामान्यभिधायाथ श्रीकृष्णस्य परमात्मत्वं सूचयन्निव च नामानि युक्त्याऽऽह । आसन्निति । अनुयुगं प्रतियुगं, तनूर्विग्रहान्, गृह्णत उपाददतः, अस्य तव पुत्रस्य, शुक्लः, रक्तः, तथा पीतः, इत्येते त्रयः वर्णाः, आसन् हि । इदानीं अधुना तु, कृष्णतां गतः प्राप्तः । अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति । अनुयुगं तनूर्गृह्णत इत्यनेन परमपुरुषत्वमस्य सूचितम् । 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' इत्यनुयुगप्रभवत्वं स्वेनैवोक्तमस्ति । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति वचनार्थस्यास्मिन् सत्त्वादयं परमपुरुषः । इयं व्याख्या त्वेकादशस्कन्धाभिहितकरभाजनमुनिवाक्याननुरोधिनी । सर्वव्याख्यातृपण्डितानुगता, सांप्रतं करभाजन वाक्यानुरोधेन व्याख्यायते । अनुयुगं, तनूः गृह्णतः, अस्य त्रयः वर्णाः शुक्लादयः, आसन् । तत्र शुक्लो वर्णः, कृतयुगे इति शेषः । इतो गतः व्यतीत इत्यर्थः । तथा रक्तो वर्णः, त्रेतायुगे इति शेषः । इतः अपि कृष्णो वर्णोऽपीत्यर्थः । द्वापरे इति शेषः । इतः इदानीं कलौ युगेऽपि, कृष्णतां कृष्णवर्णत्वमेवेत्यर्थः । गतः इति ॥ १३ ॥ आधुनिकमपि वसुदेवापत्यत्वमाच्छादयन्निवाह ॥ प्रागयमिति ॥ हे नन्द, अयं तव आत्मजः पुत्रः, प्राक् पूर्वं क्वचित् कदाचित् , वसुदेवस्य जातः । वसुदेवादुत्पन्न इत्यर्थः । अतः, अभिज्ञा एतत्स्वरूपयथार्थज्ञानिनो जनाः, श्रीमान् वासुदेवः, इति संप्रचक्षते कथयन्ति । इतिनाऽभिहिते कर्मणि प्रथमा । श्रीमन्तं वासुदेवं कथयन्तीत्यर्थः । अनया सामान्योक्त्या ऋषिरयमस्य जन्मान्तरगतं नाम कथयति इति नन्दो मन्यते स्म । 'वसन्ति यत्र भूतानि वसत्यत्रेति वै यतः । ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते' । इति व्युत्पत्तिरप्यस्यास्मिन्नभिप्रेता । श्रीमानित्यनेनास्य श्रीपतित्वमपि सूचितम् ॥ १४ ॥ तथा गुणकर्मानुरूपाणि बहून्यस्य नामानि सन्तीत्याह ॥ बहूनीति यानि गुणाश्च कर्माणि च तेषामनुरूपाणि, अस्य ते तव, सुतस्य, बहूनि नामानि, रूपाणि च, सन्ति । तानि, अहं वेद वेद्मि । जनाः नो विदुः । तत्र गुणानुरूपाणि भगवन्नारायणः सर्वज्ञ ईश्वर इत्यादीनि । कर्मानुरूपाणि मधुसूदनः गोपतिर्गोवर्द्धनोद्धारक इत्यादीनि ॥ १५ ॥ जातकफलमाह ॥ एष इति ॥ गोपाश्च गोकुलं च तानि नन्दयतीति तथाभूतः, एषः कृष्णः, वो युष्माकं, श्रेय ऐहिकामुष्मिकं मङ्गलं, आधास्यत् आधास्यतीत्यर्थः । अनेन सुतेन हेतुभूतेन, यूयं, सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुःखानि अञ्जः आशु, तरिष्यथ । अञ्ज इति शीघ्रार्थकमव्ययम् ॥ १६ ॥ पुरेति ॥ हे व्रजपते नन्द, अराजके जगति रक्षकरहिते सतीत्यर्थः । दस्युपीडिताः चौरप्रायदुष्टजनार्द्दिताः, साधवो धर्मानुवर्त्तिनो जनाः, अनेन त्वत्पुत्रेण, पुरा पूर्वं, पृथ्वाख्यनृपतिजन्मावसरे इत्यर्थः । रक्ष्यमाणाः, समेधिताश्च सन्तः, दस्यून्, जिग्युः जितवन्तः । पूर्ववदधुनाप्ययं साधुपरित्राणार्थमेव जात इति भावः । अस्य पृथ्ववतारधृत्त्वं लघुभागवतामृताद्बोध्यम् ॥ १७ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

आसन् वर्णा इति : १०.८.१३

आत्मनाम गुरोर्नाम श्रेयोर्थी गुप्तमावदेत् । युक्तं सोऽकथयन्नाम तादृक् तस्योभयात्मनः ॥ ६ ॥
त नामकरणं भूयाद् विना रूपनिरूपणम् । स्वरूपस्येत्यपृष्टोऽपि तत्पुराऽकथयत् क्षमम् ॥ ७ ॥
महामन्त्रस्य गोप्यस्य कृष्णेति द्व्यक्षरात्मनः । भङ्ग्यन्तरादभिव्यक्त्यै वर्णवर्णनकार्यभूत् ॥ ८ ॥

चिद्रूपिणोऽतीतगुणस्य विष्णोर्गुणास्त्रयोऽप्याश्रयतोऽस्य भान्ति ।
वेदान्तसिद्धान्तमिमं विवक्षुर्वर्णप्रशंसामकरोत् स गर्गः ॥ ९ ॥

अनाम्नः स्वरूपं न चास्याधिगम्यं कलिस्थैः किलेति प्रभूतानुकम्पः ।
स गर्गो जनानुग्रहायैव भूयो हरे वासुदेवेति कृष्णेत्युवाच ॥ १० ॥

नामरूपे जगन्निष्ठे दधता हरिणा स्वयम् । जगत्कल्याणकृत्केलिं करिष्यामीति बोधितम् ॥ ११ ॥

प्रागयमिति : १०.८.१४

य: सत्यवाक् सततमस्य यदि प्रसङ्गात् प्राप्ताऽनृतोक्तिरिह तेन सत्यभाजा।
वाच्यं तथा न परधीविषयो यथा स्याद् गूढं स्फुटीकृतमपीति तथाऽब्रवीत्स: ॥ १२ ॥

सत्ये सत्यपि यो मोह: सा मायेत्यभवत् स्फुटम् । यदज्ञताऽऽसीन्नन्दस्य वासुदेवेति नामनि ॥ १३ ॥

बहूनीति : १०.८.१५.

अमून्यनन्तानि परात्मनोऽस्य नामानि रूपाणि शिवङ्कराणि । पुरातनान्येव न कल्पितानीत्यभूत् स्फुटं तत्कृतनामगीतात् ॥१४॥

कृष्णप्रिया

महाराज, आपके कुमार श्रीनन्दलाल जी तो प्रतियुग अवतार धारण करते हैं। कभी इसका वर्ण श्वेत, कभी लाल तो कभी पीला वर्ण होता है। इस प्रकार पूर्व के प्रत्येक युगमें दिव्यविग्रह धारण करते हुए इसके तीन वर्ण हो चुके हैं अब 'श्याम" वर्ण भये अत: इनका नाम "कृष्ण" होगा भगवन् वैसे तो आप के लालन "कृष्ण" नाम से नित्यसिद्ध है ॥ १३ ॥ पहिले आप के यह लालन श्रीवसुदेवजी के अवतीर्ण हुए थे अत: ऐसा जानने वाले "श्रीमान् श्रीपति" और वासुदेव नाम से इनको पुकारेंगे ॥ १४ ॥ नन्दरायजी ? आप के लालन के नाम गुणों के अनुरूप एवं लीलाओं के अनुरूप तो गिनती के परे हैं उनमें से गुण कर्मानुरूप कुछ को मैं जानता हूँ लेकिन सर्वजन नहीं जान पाते ॥ १५ ॥ न दबावा ? यह आपके लालन आप के गोप, गौओं, एवं गोकुल को आनन्दित करेंगे और आप का परम कल्याण करेंगे। इनके द्वारा आप भारी विपत्तियों को विनाश्रम आसानी से शीघ्र तय कर लेंगे ॥ १६ ॥ नन्दरायजी ? पहिले, जब कि लोग चोर-डाकुओं से भयग्रस्त हो गये थे और घोर अराजकता छा रही थी तब आप के लालन ने अवतार लेकर उन्हें दण्ड दे के सज्जनों का संरक्षण किया था और उन साधु लोगों ने इनका सहारा लेकर उपद्रवियों को धरकर दबाया था ॥ १७ ॥

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः । अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥ १८ ॥
य एतस्मिन् ¹महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ १९ ॥
तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः । श्रियाकीर्त्यानुभावेन ²गोपायस्व समाहितः ॥ २० ॥

कर्वमक्षमा

अन्वयः—व्रजपते अराजके दस्युपीडिताः साधवः अनेन पुरा रक्ष्यमाणाः समेधिताः दस्यून् जिग्युः ॥ १८ ॥ ये महाभागाः मानवाः एतस्मिन् प्रीतिं कुर्वन्ति एतान् विष्णुपक्षान् असुराः इव अरयः न अभिभवन्ति ॥ १९ ॥ तस्मात् अयं ते नन्दात्मजः श्रिया कीर्त्या अनुभावेन गुणैः नारायणसमः समाहितः गोपायस्व ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताश्च दस्यूविजिग्युरिति ॥ १७-१८-१९ ॥ इति घात्मानं प्रति समादिश्य । आत्मानं कृष्णं वा । गर्गे गते सति आशिषामाशीर्भिः ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पुरा पृथ्व्यवतारे । अराजके राष्ट्रे समेधिता वर्द्धिताः दस्यून् नास्तिकान् । वेनेन सर्वे स्वराज्यकाले वेदनिंदनान्नास्तिकाः कृतास्ते च दस्यवश्चौरा भवंत्येव धर्मचौर्यतः । तेषां चोरत्वमभियुक्तैरुक्तम् । "वेदे कांचनपत्तन परिलसद्वेदांतदुर्गो महान्मीमांसा परिखा विभाति परितः शाब्दं लसद्गोपुरम् । योगो यामिनिजागरूकनिचयः सांख्यं विवेकात्मको धर्मं चोरयितुं विशंति सुगता नैयायिकाः कुकुराः ॥" इति । पुरा जन्मांतरे । प्रकटार्थं साधवो देवा दस्यवो दैत्याः । अराजके इंद्रस्य पदच्युतौ इति संदर्भ चक्रवर्तितोषिणोकाराः ॥ १७ ॥ एतस्मिन् तव पुत्रे विष्णुपक्षा विष्णुसहायान् । "पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु" इति यादवः । परमपुण्यवति यद्वा-हे महाभागे इति यशोदासंबोधनम् 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इति न्यायात् । अरयो बाह्याः प्रतिपक्षजना आंतराः कामाद्याश्चेति तोषिण्याम् ॥ १८ ॥ यस्मादेतस्मिन्प्रीतिमतोऽरयो नाभिभवंति तस्मादेनं गोपायस्व प्रीत्या रक्ष । अयं तवाग्रे स्थितस्तवात्मजो गुणादिभिर्नारायणेन समः । वस्तुतस्तु नारायणस्समो येन स नारायणसमः । साम्यवोक्त्या

१. महाभागे-इति कस्यचित् । २. गोपाय सुसमाहितः-इति कस्यचित् ।

नारायणतोऽस्याधिक्यं सूचितं यथा चंद्रसमं मुखमित्युक्तेर्नहि मुखस्य चंद्रता भवति किन्तु चंद्रस्याधिक्यं मुखस्य न्यूनत्वमेव लक्ष्यते। 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' इत्यस्यैव तुल्यत्वलक्षणात्। आह्लादादिजनकत्वेन चंद्रसाम्यता न तु प्रकाशकत्वादिनापि। एवं नारायणस्यापि पालकत्वादिना नंदनंदनसाम्यं न तु सर्वथा तदंशत्वात् "नारायणोंगं नरभूजलायनात्" इति वक्ष्यमाणत्वात्। इह सर्वज्ञसर्वथा सत्यवादिश्रीगर्गेणात्मज इत्युक्तं तेन पूर्वोक्तं नंदगृहे सर्वेश्वरावतार इति न विस्मर्त्तव्यमित्याह-श्रीशुकदेव इति। आत्मनेपदमार्षम्। यद्वा-गोपानामयें शुभावहविधौ स्वेनैव समाहितोयम्। यद्वा-गोपानामायें योगे स्वे क्षेमे च समाहितः नारायणसाम्येंन तन्नामान्यस्य नामानि तथा ततो वैशिष्ट्येनान्यपि भविष्यंतीति। अतः श्रीनंदेनैव गोकुले विख्यापितानि मुकुंदादिनामानि च श्रीगोपादयो वदंतीति ज्ञेयम्। नंदेति श्लेषेण यस्मान्नारायणसमस्तस्मात्त्वमधुनानंद आनन्दं कुर्वित्यर्थः॥ १९॥ आत्मानं नंदम्। यद्वा-आत्मशब्दस्य बह्वर्थभ्रमवारणाय क्षणं वेति। "आत्मा पुंसि स्वभावेऽपि प्रयुक्तमनसोरपि। धृतावपि मनीषायां शरीरब्रह्मणोरपि॥" इति मेदिनी॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पूर्ववृत्तमाह-पुरेति। जन्मान्तरे प्रकटार्थे साधवो देवाः। दस्यवो दैत्याः अराजके इन्द्रस्य पदच्युतौ॥ १७॥ महाभागे परमपुण्यवति! यद्वा हे महाभागे इत्यन्ते यशोदासम्बोधनं "सस्त्रीको धर्ममाचरेत्" इति न्यायात् महाभागा इति क्वचित्पाठः मानवाः जीवमात्राणि इति नृगतिं विविच्येत्यादिवत् अरयो बाह्याः प्रतिपक्षजनाः आन्तराश्च कामादयः विष्णुपक्षान् देवान् दैत्या इव अप्रकटार्थे भागो भग एव निजाशेषभगवताप्रकटनपरे विष्णुपक्षशब्दो देवतापर्यायो ज्ञेयः समुदायस्यैकदेशोपि दृष्टान्तो भवतीति न चास्मिन्निवशब्दोऽनुपपन्नः॥ १९॥ गुणादिभिर्नारायणेन परमवैकुण्ठनाथेन समः अप्रकटार्थेनारायण एव समो यस्येति नारायणादपि माहात्म्यमधिकं बोधितम् उपमानादुपमेयस्य किञ्चित् सादृश्यमात्रेण न्यूनतापत्तेः तत्र गुणा आत्मनिष्ठा धर्माः करुणादयो रूपादयश्च बहिर्निष्ठानाह, श्रिया सम्पत्या कीर्त्त्या सत्ख्यात्या अनुभवेन प्रतापेन पक्षद्वयेऽपि यद्यपीदृशस्तथापि तवात्मनो जातः स्वप्रभावमन्तर्धाप्य त्वामेवानुगत इति सुसमाहितः परमावहितस्सन् एतं गोपाय बाल्ये अस्मिन्नस्य रक्षायां प्रयत्नं कुर्वित्यर्थः। वस्तुतस्तु स्नेहवर्द्धनार्थमेवेदम् अत्रैव बाल्यादीनामन्वयः सर्वथा सर्वात्मना च रक्षेत्यर्थः। तत्र कीर्त्त्या स्वस्य केवलस्य सत्पुत्रकस्य च कीर्तिविख्यापनेन लोकरञ्जनयेत्यर्थः। गोपायस्वेति पाठे आत्मनेपदमार्षं यद्वा एनं गोपगुप्तं कुरु न तु सर्वत्र प्रकटय दैवात्प्राप्तमहानिधिमिवेत्यर्थः। इदं च परमदुर्लभताद‍ृशस्नेहविवृद्ध्यै अयसुसमाहितः अनेन शुभावहेन विधिना सुष्ठु सावधानः अथवा गोपानाम आयो लाभस्तस्मिन सुसमाहितोऽयमिति पाठान्तरम् आयस्वशब्दाभ्यां योगक्षेमे अभिहिते तदेवं प्रकटार्थेऽपि नारायणस्य साम्येंन तन्नामान्येवास्य नामानि तथा ततो विशिष्टान्यन्यान्यपि भविष्यन्तीति भावः। अतः श्रीनन्देनैव गोकुले विख्यापितानि मुकुन्दादिनामानि च श्रीगोप्यादयो वदन्तीति ज्ञेयं नन्देति श्लेषेण अतो ऽधुना नन्दं कुर्वित्यर्थः॥ १९॥ स्वगृहं गत इति तदग्रे संभ्रमादिना तद्विशेषास्फुर्त्तेः अत एव प्रकर्षेण मुदित इति एतदनन्तरं निजपुरोहितादीनानीय प्रकटमेव स्वयं नामकरणमहोत्सवः कृत इति ज्ञेयम्॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

स्वोक्तविश्वासार्थं पूर्व्ववृत्तमाह—पुरेति जन्मान्तरे, वस्तुतस्तु श्रीपृथ्वाद्यवतारे। हे व्रजपते इत्येतत् पित्रा त्वया व्रजेऽशेषदस्युभ्यः सुखं रक्षितव्य एवेति भावः॥ १७॥ महाभागेति परमपुण्यवतीत्यसम्भावना निरस्ता, वस्तुतस्तु भागो भगमेव निजाशेष-भगवत्ता प्रकटनपर इत्यर्थः। यद्वा, 'हे महाभागे' इत्यन्ते श्रीयशोदा-सम्बोधनम्,—'सपत्नीको धर्म्ममाचरेत्' इति न्यायात्, तथा भर्त्तु र्भार्य्यया सहाभेदात्, तथा स्नेहभरेण पुत्रस्य गुणशुश्रूषया तत्रैवोपविष्टायास्तस्याः प्रहर्षार्थं सर्व्वत्रान्यत्र च श्रीनन्दप्राधान्यात् सम्बोधनमुक्तमेव। मानवा इति जात्याद्यपेक्षा निरस्ता, वस्तुतस्तु संगोपनार्थमेव विशेषतश्च मर्त्यलोकेऽवतीर्णत्वेन मनुष्याणामेव प्रीतिसम्भवात्। अरयो बाह्योः कंसादयः प्रीतिकर्त्तृप्रतिपक्षा वान्तराश्च कामादयः। विष्णुपक्षान देवान् दैत्या इव, यद्वा, वैष्णवान् असुरा असुरप्रकृतय इव नाभिभवितुं शक्नुवन्त्यतः कदाचित् कथञ्चिदपि कंसादिभ्यो युष्माभिर्न भेतव्यमिति भावः॥ १८॥ गुणादिभिर्नारायणेन समः, नारायणोऽत्र महावैकुण्ठेशोऽतएव श्रीयशोदादि-द्वारा तद्वार्त्ता-श्रवणादिना व्रजे श्रीगोप्यादिभिरेकविंशाध्यायादौ श्रीकृष्णस्य मुकुन्दादिनामप्रयोगः, यद्वा, गुणादिभिर्नारायण एव समो यस्येति नारायणादपि माहात्म्यमधिकं बोधितम्—उपमानादुपमेयस्य किञ्चित् सादृश्यमात्रेण न्यूनतापत्तेः, तत्र गुणाः करुणादयः श्रीर्धनादिसम्पत्, शोभा वा, कीर्त्तिर्यशः ख्यातिर्वा, अनुभावो ज्ञानं प्रभावो वा। यद्वा, गुणाः (वि. पु. ६।५।७४)—'ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य' इत्याद्युक्ता भग-शब्दवाच्याः षट्, तेषामेव विवरणम्—श्रियेत्यादि, तत्र वैराग्यस्यात्रानुपयोगाद् धर्म्मज्ञानयोश्चानुभाव एवान्तर्भावात् त्रय एवोक्ताः, यद्वा, गुणादीनां परेणान्वयः। सर्व्वथा सर्व्वात्मना च रक्षेत्यर्थः। वैष्णवाः (श्रीवल्लभाचार्य्याः 'सुबोधिन्याम्' टीकायाम् किञ्चिदाहुः—अक्षरं पुरुषोऽन्तर्यामी चेति त्रिविधो नारायणः, तस्य-(१) जीववर्गपरिग्राहकाः, (२) स्वतुल्यतापादकाः, (३) भक्तिजनकाश्चेति क्रमेण त्रिविधा गुणास्तैस्तत्समः, तथा (१) वैकुण्ठे लक्ष्मीसहिता,

(२) सूर्य्यमण्डले सूर्य्यदेवसहिता, (३) भूमौ यज्ञाधिष्ठाता चेति ब्रह्माण्डमध्ये त्रयो नारायणाः क्रमेण नित्यं तेषु वर्त्तमानैः श्र्यादिभिस्तैश्च सम इति। अतः सुसमाहितस्तदेकनिष्ठचित्तः परमावहितो वा सन् एनं गोपाय, बाल्येऽस्मिन्नस्य रक्षायां प्रयत्नं कुर्व्वित्यर्थः। गोपायत्वेति पाठेऽपि स एवार्थः। यद्वा, एनं गोप गुप्तं कुरु, न तु सर्व्वत्र प्रकटय, दैवात् प्राप्तं महानिधिमिवेत्यर्थः। इदञ्च निजभक्तिविशेषेण तस्य स्नेहविवृद्धयें, किंवा दुष्टकंसादिभयादुक्तम्। अयसुसमाहितः—अयेन शुभावहेन विधिना सावधानः, अथवा गोपानामयो लाभस्तस्मिन् सुष्ठमाहितोऽयमिति। पाठान्तरे अय-स्व-शब्दाभ्यां योग-क्षेमे अभिहिते, यद्वा, अयो वैकुण्ठादिगतिः, स्वं प्रेमलक्षणं धनम्, तयोः समाहितोऽतः श्रीनारायणस्य नामान्येवास्य नामानि तथा ततो विशिष्टान्यन्यान्यपि भविष्यन्तीति भावः। हे नन्देति, श्लेषेण नन्देति क्रियापदं वा, अतोऽधुना नन्दं कुर्व्विति भावः॥१९॥ आत्मानं परमात्मत्वेन जगतां गुरुमपि श्रीकृष्णं प्रति, 'च' काराद्बलदेवञ्च सम्यगादिश्य देशिकतया तिलकादिधारणविधिमाज्ञाप्येत्यर्थः। स्वगृहं गत इत्यन्यथा तस्य साक्षात्तादृशमानायोग्यत्वम्। ननु तथापि सर्व्वभागवतवर्गवन्द्यस्य तस्य मानो नोचितः? सत्यम्, परमहर्षाकुलत्वादित्याह—प्रकर्षेण मुदित इति॥२०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे व्रजपते! अराजके संरक्षकरहिते जगत्यत एव दस्युभिर्दुष्टसत्त्वैः पीडिताः साधवो धर्मानुवर्त्तिनः अनेन त्वत्पुत्रेण पुरा पूर्वजन्मनि समेधिता रक्ष्यमाणाश्च दस्यून् जिग्युर्जितवन्तः अनेन "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय" इति भगवदुक्तिरभिप्रेताऽधुनाऽपि साधुपरित्राणार्थमेव जात इति च भावः॥ १७॥ हे महाभाग! अस्मिन् त्वत्पुत्रे पुरा पूर्वजन्मनि समेधिता ये मानवाः प्रीतिं कुर्वन्ति तान् अरयः शत्रवो नाभिभवन्ति यथा विष्णुरेव पक्ष आश्रयो येषां तान् देवानसुरांस्तद्वत् अत्र प्रीतिशब्देन प्रीत्यात्मिका भक्तिरभिप्रेता अरिशब्देन प्रकृतिसम्बन्धप्रयुक्तकामक्रोधादयः ये एतस्मिन् भक्तिं कुर्वन्ति मानवाः ते मुक्ता भवन्तीति भावः। विष्णुपक्षानिवासुरा इति दृष्टान्तेनायं साक्षाद्विष्णुः यूयं तु देवांशप्रभवा कंसादयस्त्वासुरसम्पत्त्याभिजाता इत्यभिप्रेतम्॥ १८॥ तस्मादेवं भाविगुणत्वात् हे नन्द! भिया कीर्त्या प्रभावेण अन्यैश्च गुणैर्नारायणतुल्योऽयं भविताऽत एनं समाहितः सावधानचित्तस्त्वं गोपाय पालय॥ १९॥ इतीत्थमात्मानं प्रति समादिश्य गर्गे स्वगृहङ्गते सति ततो नन्दः प्रमुदित आशिषा ऽभिमतार्थजातेन पूर्णप्रायमात्मानममन्यत॥ २०॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पृथ्व्यवतारे अराजके राष्ट्रे अरक्ष्यमाणाः॥ १७॥ विष्णुपक्षान् विष्णुसहायान् "पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु" इति यादवः॥ १८—१९॥ इत्यादि आत्मानं नन्दम् आत्मानं त्वम्॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नारायणपरमव्योमाधिप एव समो यस्य तादृशोऽपि श्र्यादिभिर्द्वारैः गोपानामये शुभावहे विधौ सुसमाहितं पाठान्तरे स्वेन स्वयमेव समाहित इति वास्तवोऽर्थः। प्रकटार्थं तु यद्यपि नारायणस्य समस्तथापि तवात्मजतां प्राप्त इति तवैव गोपनीय इत्यर्थः॥ १९॥ गत इति तदग्रे सम्भ्रमादिना तद्विशेषास्फूर्त्तेः॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

तामेव स्वय भगवत्तां प्रतिपादयति तस्मादिति। हे नन्द! तस्मादयं ते आत्मजो गुणैर्नारायणसम इति लोकभियोक्तम्। तत्तु सरस्वती स्वयमन्यथा व्याख्याति। नारायणोऽपि समः सश्रीको यस्मात् समाना मा श्रीर्यस्य स तथा अथवा गुणैर्नारायणमपि समयति विह्वलयति नाराणसमः मनोहरादिवत्। नात्र कर्मण्यण्, समष्टमवैक्लव्ये चुरादिः। अथवा समयति समः नारायणस्यापि समो नारायणसमः महीधरादिवत्। यद्वा, नारायणोऽपि समो यस्मात् नारायणसमः। मानं मा तत्सहितः प्रमेय इति स त्वप्रमेयः (भा. १०।१४।१४) नारायणोऽङ्गम् इति वक्ष्यमाणविरोधभङ्गादिव्याख्या॥ (१९-२९)॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः—मा श्रीस्तया सह वर्तते इति समः, गुणैर्नारायणः समः सविभूतिर्यस्मात्, यस्य श्रियां नारायणोऽपि श्रीमान् भवति, स एवायं परात्परः श्रीकृष्ण इत्यर्थः। यद्वा, नारायणादपि समः सश्रीकः॥ (१९-२९).॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पुरा जन्मान्तरे साधवो देवाः दस्यवो दैत्या अराजके इन्द्रस्य पदच्युतौ॥ १७-१८॥ नारायणसम इति त्वदिष्टदेवेन सन्तुष्टेन श्रीनारायणेन स्वसमः पुत्रस्तुभ्यं दत्त इति भावः। अतो मुकुन्दमधुसूदननारायणादिनामभिरप्यभिधीयतां किन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इति विभाव्य सुसावधानस्सन् गोपाय प्रतिक्षणं पालय रक्षितः पुत्रः अयं ते नारायण इव सर्वोपद्रवेभ्यो

रक्षिष्यतीति भावः। गोपायस्वेति पाठ आत्मनेपदमार्षं वस्तुतस्तु नारायणः समो यस्य तत्रापि गुणादिभिरेव नतु दैत्यमोक्षदत्वभक्तमहाभावप्रदत्वलक्ष्मीदुर्लभरासविहारित्वादिभिर्महागुणादिभिरिति सर्वोत्कर्ष आत्यन्तिकः श्रीनारायणादप्यस्य व्यञ्जितः गोपानाम् आये लाभे अये शुभावहविधौ वा सुसमाहितः ॥ १९ ॥ आत्मानं स्वं प्रति प्राणानाहृत्य मौग्ध्येन दुद्ध्योः पूतनानसोः शिष्टवर्गप्रकृष्टस्य गर्गस्यापि मनोऽहरत् ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पुरा अराजके रक्षकरहिते काले अनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताः दस्यून् जिग्युः जितवन्तः ॥१७-१८-१९॥ इत्येवमात्मानं प्रति समादिश्य गर्गे स्वगृहं गते नन्दः आशिषाम् आशीर्भिः आत्मानं पूर्णं मेने अमन्यत ॥ २०--२१ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

साधुरक्षकताऽस्य स्वभाव एवेत्याह पुरेति। साधवो देवाः दस्युभिरसुरैः पीडिताः अराजके इन्द्रस्य पदच्युतौ अनेन रक्ष्यमाणाः पक्षपातेन वर्द्धितास्तान् जिग्युः ॥ १७ ॥ किञ्च येऽस्मिन् प्रीतिं कुर्वन्ति ते एव महाभागाः तानरयो नाभिभवन्ति विष्णुपक्षान् देवानिवासुराः महाभागे इति केचित् पेठुः हे यशोदे! राज्ञीतितदर्थः सस्त्रीको धर्ममाचरेदिति वचनात् सापि तत्राभूदित्यर्थः ॥ १८ ॥ नन्वीदृशोऽन्योऽपि कश्चिदस्तीति चेत्तत्राह तस्मादुक्तमहिमप्रचयाद्धेतोस्तेऽयमात्मजो नारायणेनैव परव्योमपतिना समः गुणैरात्मनिष्ठैः कारुण्यादिभिः वहिर्निष्ठैश्च श्र्यादिभिः नारायणोऽतस्तत्समः अस्योपमेयत्वात् कैश्चिद्गुणैरस्यैवोत्कर्षः ते च गुणाः सर्वातिशयिप्रेमपूर्णपार्षदत्वविरिञ्चादितत्त्वविद्भिरमापकस्थिरचरविमोहकः वेणुनादमाधुर्यस्वपर्यन्तसर्वविस्मापकरूपमाधुर्यलक्ष्मीदुर्लभ रासलीलत्वादयो बोध्याः त्वन्तु नारायणमिव षोडशोपचारैरेनं नार्चय किन्तु समाहितः सन् गोपायस्व पुत्रभावानुरूपैरुपचारैः पालय सेवस्वेत्यर्थः। बन्धुभावेनायमतिप्रसन्नो न तु पुत्रभावेन देवादिभावेन शङ्कमानान् गोपान् प्रति "सत्सम्बन्धेन वो गोपा यदि लज्जा न जायते। श्लाध्योवाहं ततः किम्वोविचारेण प्रयोजनम् 'यदिवोरिति मयि प्रीतिः श्लाध्योऽहं भवतां यदि। तदात्मबन्धुसदृशीबुद्धिर्वः क्रियतां मयि ॥ नाहं देवो न गन्धर्वो न यक्षो न च राक्षसः। अहं वो बान्धवो जातो नातश्चिन्त्यमतोऽन्यथा' इति वैष्णवे "मन्यन्ते मां यथा सर्वे भवन्तो भीमविक्रमाः। तथाहं नावगन्तव्यः सजातीयोऽस्मि बान्धवः॥ इति हरिवंशे चैतद्वाक्याद्देव यद्यपि नारायणात् कृष्णो नान्यस्तथापि विशेषनिर्माताद्भेदकार्यदिवं भणितिरिति बोध्यं नारायणस्य कृष्णविलासत्वं तु "गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवी महेशहरिधामसुतेषु तेषु। ते ते प्रभावनिचयाविहिताश्च येन गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामीति ब्रह्मसंहितावाक्यात् "अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवो नर्षयो विदुः। एकोऽयं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः॥ इति भीष्मस्तुतिवाक्याच्च लिङ्गात् ॥ १९ ॥ इति पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं विभुविज्ञानानन्दमूर्त्तिं पुत्रमादिश्योपदिश्य नन्दः प्रमुदितो गर्गोऽपि मद्भावानुरूपमेवोपादिशदिति प्रहृष्टं सन्नात्मानं स्वमाशिषां वाञ्छितानां पूर्णस्तैः पूर्णोऽस्मीत्यमन्यत ततः स्वपुरोहितैर्भागुर्यादिभिः स्वसूनोर्नामकरणादिकं यथेष्टमकरोदिति बोध्यम् ॥२०॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

निगमयन्नवगमयति ॥ तस्मादिति। नारायणसम इति नारायण एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ गुणैरित्युक्तं विशदयति ॥ श्रियेति। कीर्त्या श्रियाऽनुभावेनेत्यादिगुणैर्नारायणसम इत्यन्वयः। समाहितस्त्वं समे सर्वे कंसादयोऽहिता यस्य स तं गोपायस्व। समाहित इति छेदः। स्वैः सह समाहितो रक्षय समाहितेन साकं वर्तत इति स त्वम्। आत्मानं स्वमित्यादिश्याज्ञाप्य गर्गे स्वगृहं स्वाश्रमं गते सति नन्दः प्रमुदितः सन् आत्मानं स्वमाशिषां पूर्णं मेने व्यजानात्। एवं मेने माया इनो मे न स्वस्मिन्स्वगृहं गते सत्यात्मानमाशिषां पूर्णं पूर्णमनोरथं मेन इत्यावृत्त्याऽन्वयो वा ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकसर्वपुरुषार्थसिद्धिरस्माद् भवतामित्युक्तं, अतोस्य चिन्ता नास्तीत्युक्तमेव, मोक्षोप्यस्माद् भविष्यतीति वक्तुं तदर्थमिन्द्रियजयमपि वक्तुं पूर्वोक्तेपि प्रमाणमाह **पुरानेनेति,** हे **व्रजपते, अनेन** भगवता कृत्वा **दस्युपीडिता** अपि **साधवः समेधिताः** सन्तो **दस्यून् जिग्युः** क्षुद्रोपद्रवोपि चोरवत् कंसादिभिः कर्तुं न शक्यो यतोस्य स्वभावकृतिरेव तादृशी, **व्रजपत** इति सम्बोधनं सर्वस्यापि **व्रजस्य** यथासुखं विहरणयुक्तस्य सर्वतः कुशलं भविष्यतीति ज्ञापयति, तेन यत्र क्वापि स्थातव्यं न चिन्तेतिभावः, **पुरेतिवचनात्** सदातनोयं न तु त्वद्गृहेधुनावतीर्ण इति ज्ञापितं, **अनेनेति** न तस्यावतारः किन्त्वयमेव, सम्बोधनं तु ज्ञानाभावज्ञापकं, **दस्यवो** रावणादयः 'त्रसद्दस्यु' पदे तथा निर्वचनस्योक्तत्वात् 'यस्यामिमे षण् नरदेवदस्यव' इति भवाटव्यामिन्द्रियाणि चोक्तानि कंसोपि तृणावर्तादिप्रेषणाद् **दस्युः,** नन्वनेन दस्यवो मारिता इत्यत्र किं प्रमाणम्? तत्राह **साधव** इति, यद्यन्तःकरणस्थितचोरान् बहिःस्थितांश्च न मारयेत् तदा **साधव** एव न भवेयुः, विशेषाकारेणापि मारयतीत्याह

दस्युपीडिता इति, **दस्युभिरुपहृतधनाः**, पुनः **समेधिता**स्तथैव कृतास्ततोऽप्यधिकाश्च, ततो **जिग्युः** स्वयमेव तान् जितवन्तः, अतो भवन्तोऽप्यनेन **समेधिताः** स्वयमेव **दस्यून्** जेष्यन्ति, एवं भगवतस्त्रिविधानि कर्माणि निरूपितानि सर्वदोषनाशकानि सर्वसुखजनकानि सर्वसामर्थ्यजनकानीति, ननु कथं साधूनां दुष्टोपद्रवः पूर्वं राज्ञां विद्यमानत्वात् तत्राह **अराजक** इति, न विद्यन्ते राजानो यस्मिन् देशे, परशुरामेण सर्वे हताः कालेन च विवेकादयोत एवारक्षयमाणा रक्षकापेक्षामपि न कृतवन्तः, अतः कंनापेक्षां परित्यज्य स्वतन्त्रतया राजवत् स्थातव्यमित्युपदेशोऽप्युक्तः ॥ १८ ॥ एवं कर्माण्युक्त्वा गुणानाह **य एतस्मिन्निति**, **गुणा**स्त्वनुभावरूपाः क्रिया नापेक्षन्ते, ये **महाभागा एतस्मिन्** भगवति **प्रीतिं** स्नेहं **कुर्वन्ति तानरयो नाभिभवन्ति**, स्वत एव तर्हि सर्व एव कथं प्रीतिं न कुर्वन्तीत्याशङ्क्य भगवत्प्रीतौ स्वरूपयोग्यता सहकारियोग्यता चापेक्ष्यत इत्याह **मानवा मनोजाताः** सद्धर्मरूपा धर्मार्थ एवोत्पन्ना इति स्वरूपयोग्यानां "मन्वन्तराणि सद्धर्म" इति वाक्यात्, **महाभागा** इति "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत" इति वाक्यात् परमभाग्येनैव **प्रीति**र्जायते, **प्रीति**मिति सर्वदैकविधप्रीतिकरणार्थमेकवचनं पटवद् वृद्ध्यर्थं वा खण्डशःकरणाभावार्थं वा हेतुस्तूक्त एव, **य** इति प्रसिद्धतया तेषां निर्देशः, भवन्तस्त इति प्रतिनिर्देशार्थः, **एतान्** परिदृश्यमानान् गोकुलस्थान्, नन्वन्तर्यामिप्रेरणैनैव ते न बाधन्ते, अवश्यं चैतद् वक्तव्यं, भक्तिस्त्वन्तर्यामिप्रेरणार्था, ततो नानेन प्रकारेण भगवद्गुणा उक्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **विष्णुपक्षानिवासुरा** इति, **विष्णुः पक्षे** पक्षपाते येषां विष्णुरेषां रक्षक इति **येषु** ज्ञानमतः स्वकृतिवैयर्थ्यशङ्कयासुरा न बाधन्ते, अन्तर्यामी तेषां नान्यथाप्रेरक आसुराणामासुरभावेनैव प्रेरणनियमात्, अतो विशेषाकारेणैव पालयिष्यतीति सर्वजनीनत्वात्, अम्बरीपादिचरित्रे तथा प्रसिद्धेः, अस्य प्रीतेरेषोऽनुभावः, गुणास्त एव ये सानुभावाः परम्परयाप्यनुभावं सम्पादयन्ति, अनेन साक्षाद्गुणा अनन्ता एव वक्तुमशक्या इति सूचितम् ॥ १९ ॥ एवं गुणे प्रदर्शनमात्रमुक्त्वा विशेषाकारेण वदन्नुपसंहारमिषेण रक्षामुपादिशति **तस्मा**दिति, यस्मादयं महानुभावः पूर्वोक्तकर्मालौकिकस्तस्मात्, हे **नन्द** सर्वानन्दकारिन्, त्वन्नामसार्थकत्वाय चैनं पालयेतिभावः, **अयं ते कुमारो गुणैः** कृत्वा **नारायणसमो** नारायणस्य समः, त्रिविधोपि **नारायणो**ऽक्षरं पुरुषोऽन्तर्यामी च, **गुणै**रेव कृत्वा तत्समः, कर्माणि त्वधिकानि, **अनुभावश्च**, नराज्जातानीतिपक्षे यावन्तो जीवगणाः सृष्टावुत्पन्नास्ते सर्वे भगवद्गुणख्यापकास्तावद्गुणप्रसिद्ध्यै तावद्रूपो जात इति, द्वितीयपुरुषस्य तु विशेषेण स्वसम्बन्धयोग्यजीवराशिपरिग्रहात् स्वतुल्यतामापादयितुं स्वभावनिवर्तकाः सानुभावा **गुणा** उक्ताः, तृतीयपुरुषे त्वन्तर्यामिणि जीववश्य इव तदधीनत्वेन तस्य सर्वकार्यप्रेरक इति भक्तिजनका असाधारणा **गुणा** उक्ताः, त्रिविधा अपि भगवति कृष्णे सन्तीति **गुणैः** कृत्वा **नारायणसमानः**, धर्मान्तरैरपि **नारायणसम**तामाह **श्रिया कीर्त्यानुभावेनेति**, ब्रह्माण्डमध्ये **नारायण**त्रयं यो वैकुण्ठे लक्ष्मीसहितो यः सूर्यमण्डले सर्ववेदसहितो यो भूमौ सर्वत्राह्मणेषु यज्ञनारायणस्तत्सदृशोऽपि, यथा सर्वजगज्जनन्या अक्षरानन्दरूपाया सर्वशोभानिधानरूपाया य एतत्त्रयकर्ता, लक्ष्म्या जगज्जनकत्वं तस्या अपि परमानन्दः सर्वशोभारूपाया अपि शोभा, यथा व्यापिवैकुण्ठस्थो भगवान् लक्ष्म्या एतावत् करोति एवं कृष्णोऽपि करोति, यथा सवितृमण्डलस्थः कीर्तिं स्थापयति सर्वलोकेषु "न ह्यस्मिन्नुदिते दिनकरे सकलं कमलायते भुवन"मिति वाक्यात् **कीर्तिः** सूर्ये प्रतिष्ठिता यतः सर्वेषां स्वत एव शीताज्ञानादिसर्वदुःखनिवृत्तिः सर्वसुखं च भवत्येवं कृष्णकीर्तिरपि, यतः प्रभृत्युदितस्ततः प्रभृति सूर्यवदेव भागवतादिषु प्रकाशते, यथा यज्ञा आधिदैविकाः सर्वेषां सर्वकार्यकर्तारो दूरादेव माहात्म्यज्ञापकास्तथा महानुभावो भगवान्, एवं षड्भिर्नारायणैस्तुल्यो भगवान् कृष्णो **गुणैः** षड्गुणैः, **श्रिया कीर्त्यानुभावेन च** तस्यैव विवरणं, एवं भगवद्गुणानुक्त्वा चकारेण "सत्यं शौच"मित्यादिप्रथमस्कन्धोक्तगुणानपि सङ्गृह्य परमनिधानत्वेनोपपाद्य सावधानान्तःकरणो भूत्वा प्रपञ्चविस्मरणेन **गोपायस्वे**त्युपदिशति **गोपायस्व समाहित** इति, एतावता सर्वथावेक्षा कर्तव्या न क्वापि गन्तव्यं न नेय इत्युक्तम् ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नारायणसमो गुणैरित्यत्र । उपमेये तत्समाना धर्मा ये त उच्यन्ते । एतत्सृष्टिविलक्षणा हि लीलासृष्टिरियम् । यस्यामुत्पादितास्तु जीवगणा दशरससम्बन्धिनो यावन्तो भावा भगवद्विषयकास्तद्वन्त इति तद्भावपोषार्थं भगवतापि तथैव स्वनिष्ठा गुणाः प्रकटीक्रियन्त इति भगवद्गुणख्यापकत्वं तेषाम् । न च मन्तव्यमेतादृशा एव केचन जीवाः सन्ति, येषामेतादृक्सामर्थ्यं सहजमस्तीति, यस्तद्रूपः स्वयमेव प्रकटो जात इति ज्ञापनायाहुः **तावद्गुणप्रसिद्ध्या** इत्यादि । एतेन प्राकृतानां नैतद्रसप्राप्तिरिति ज्ञापितं भवति । **द्वितीये**त्यादि । अत्रैतादृशो व्रजसुन्दरीपरिग्रह एव । रसाधिक्ये पुंभावेनाग्रिमोक्तधर्माः स्पष्टाः । तृतीये गोपिकाधीनत्वादि स्पष्टम् । 'अहं भक्तपराधीनः' 'एवं मदर्थोज्झिते' त्यादिवाक्येभ्यः । एतदेवोक्तं त्रिविधा अपीत्यादिना । **श्रियाकीर्त्ये**त्यत्र, **एवं कृष्णोपि करोतीति** । व्रजसुन्दरीणामिति ज्ञेयम् । अग्रे स्पष्टम् ॥ २० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

य एतस्मिन्नित्यत्र 'जन्मान्तरसहस्रे' ष्वितिवाक्यं पाण्डवगीतास्थं बोध्यं, उक्त इति महाभागमानवपदाभ्यामुक्तः, येषु ज्ञानमिति येष्वसुराणां ज्ञानम् ॥ १९ ॥ **तस्मादित्यत्र नामसार्थकत्वाय चेति** चकारात् पूर्वोक्तफलप्राप्तये च नारायणशब्द-

त्रेधा निरुक्तस्तृतीयस्कन्ध ऊनविंशाध्यायसमाप्तौ सुबोधिन्यां तत्राक्षरपक्षे नराज्जातानि तत्त्वानि नारायणीति विदुर्बुधा' तान्ययनं स्थानं यस्येति, पुरुषपक्ष 'आपो नारा' इति, तृतीयपक्षे नराणां समूहो नारं तदयनं यस्येति, इयं च निरुक्तिरादिपुराणे 'सर्वजीवाश्रयो वे'त्यनेनोक्ता, तत्राद्ये पक्षे यावन्तो जीवगणा सृष्टावुत्पन्नास्ते तथेत्यर्थः, कथं ख्यापका इत्याकाङ्क्षायां यैः ख्यापकास्तान् धर्मांष्टिप्पण्यां प्रतिज्ञाय विवृण्वन्त्युपमेय इत्यादि, एतत्सृष्टिविलक्षणेत्यक्षरोत्पन्नसाधारणसृष्ट्युत्पन्नानां जीवानां, अत्र हेतुमवतारयन्ति न चेत्यादि, तथा चात्र "तदभिध्यानादेवे"तिन्यायेन तथा प्राकट्यादक्षरगुणसाम्यं बोध्यं, हेतूक्त्या फलितमाहुरेतेनेत्यादि, सुबोधिन्यां द्वितीयपुरुषस्य ब्रह्माण्डविग्रहस्य तु विशेषेण स्थूलदेहेन स्वसम्बन्धयोग्यः स्वराट्पुरुषसम्बन्धयोग्यो जीवराशिस्तस्य परिग्रहात् स्वधारणया सर्वत उपादानात् तत्क्रतुन्यायेन स्वतुल्यतामापादयितुं जीवस्वभावनिवर्तकाः सानुभावा गुणाः सर्वस्थूललिङ्गशरीरात्मकत्वलौकिकेन्द्रियवत्त्व'सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व'त्वादय उक्तास्तत्सदृशानुपमेयगुणांष्टिप्पण्यामाहुर्द्वितीयेत्यादि, अत्रोपमेये भगवत्येतादृश उक्तगुणत्रयसदृशो व्रजसुन्दरीपरिग्रह एव, तस्मात् परिग्रहणाद् रसाधिक्ये पुम्भावेनाभिमेोक्ताः स्वतुल्यतामित्यादिनोक्ता धर्माः स्पष्टा इत्यर्थः, सुबोधिन्यां तृतीये पक्षे उपमेयधर्ममाहुस्तृतीय इत्यादि, एतत्त्रयकर्तेति वक्ष्यमाणत्रयकर्ता, तदेवाहुर्लक्ष्म्या इत्यादि, एवं कृष्णोपीत्येतस्यार्थष्टिप्पण्यामुक्तो व्रजसुन्दरीणामिति, सुबोधिन्यामाधिदैविका इति षोढा विहिता निष्कामा भगवत्तोषकाः, तथा महानुभाव इत्याधुनिकानामपि स्वसेवया दूरादेव माहात्म्यख्यापकाः षड्गुणैरिति षण्णां च नारायणानां गुणैर्वेति, तस्यैवेति समानभावस्य, अनुभावैश्चेतिपाठान्तरमङ्गीकृत्य तस्मिन् पक्षे चकारेण गुणान्तरांस्तत्रानुक्तान् सङ्गृह्णन्तश्चतुर्थपादमवतारयन्त्येवमित्यादि, यद्यप्यत्र पाठान्तरं कण्ठतो नोक्तं तथापि चकारव्याख्यानात् तथावसीयते ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्मादित्यत्र यस्मादयं कुमारो गुणैर्नारायणसमत्वान् महानुभावस्तस्माद्धेतोः नन्देति नामसार्थकत्वाय च हेतवे एनं पालयेत्यर्थो यस्मादित्यारभ्य भाव इत्यन्तस्य, नरादिति नराज् जाता नारा जीवास्ते अय्यते ज्ञाप्यतेनेनेतिव्युत्पत्त्या अयनानि ज्ञापकानि यस्येत्यक्षरस्य नारायणत्वं, लौकिकसृष्टिपक्षे जीवानामक्षरात्मकत्वात् तज्ज्ञापकत्वं, द्वितीयेति द्वितीयो नारायणः पुरुषस्तस्येत्यर्थः, नरसम्बन्धयोग्या नारास्तेषामयनं स्थानमिति पुरुषस्य नारायणत्वं, पुंस्त्वमार्षं, स्वभावेति उपमाने जीवस्वभावः सदोषत्वमित्यर्थः, तृतीयेति नारानयते प्रेरयतीत्यन्तर्यामिणो नारायणत्वं, यथा सर्वेति यः व्यापिवैकुण्ठस्थो भगवान् यथा सर्वेत्यादिधर्मविशिष्टाया लक्ष्म्या एतत्त्रयकर्ता स भगवांस्तथा तत्रापि करोतीतिशेषः, तत् त्रयं विवृण्वन्ति लक्ष्म्या जगज्जनकत्वमिति, इदमेव सर्वं स्पष्टयितुं पुनराहुः यथा व्यापिवैकुण्ठस्थ इति, जगदुपादानभूताक्षरात्मकत्वेन लक्ष्म्याः स्वरूपतो जगज्जननीत्वं पूर्वमप्यस्ति तथापि "मम योनिर्महद् ब्रह्मे"तिप्रकारेण निमित्तकारणत्वेन जगज्जननं भगवत्सम्बन्धादेवेतिभावः, तथात्र भगवद्विषयकविचित्रभावजननं पुरुषोत्तमात्मिकानामपि "आनन्दादयः प्रधानस्ये"तिन्यायेन परमानन्दः स्त्रीरत्नभूतानामपि शोभा भगवत्सम्बन्धादेव, तद्वियोगे तु स्थाणुदृष्टान्तेन तादृशभावपरमानन्दशोभानां तिरोभाव इतिभावः, एतेषां त्रयाणां नारायणत्वं तु तत्र तत्र वाक्यैरेव स्फुटमिति रूढं ज्ञेयं, सूर्यवदेवेति सर्वेषां दुःखनिवृत्तिं सुखदानं च कुर्वन्नित्यर्थः, यज्ञा आधिदैविका इति विष्णुरूपा इत्यर्थः, षड्गुणैरिति ऐश्वर्यवीर्यवैराग्यश्रीकीर्तिज्ञानानीति क्रमो ज्ञेयः, अन्तर्यामिणोऽनशनकथनाद् वैराग्यं, चकारेणेति तथा च मूले 'श्रिया कीर्त्यानुभावैश्चे'तिपाठो ज्ञेयः । प्रथमस्कन्धे "सत्यं शौच"मित्यादिनोक्तान् सत्यादीन् गुणान्, 'इमे चान्ये चे'ति 'च'कारेणोक्तान् ब्रह्मण्यत्वभक्तवत्सलत्वादींश्च गुणानित्यर्थः, तथा च चकारेण सह "सत्यं शौच"मित्यादिप्रथमस्कन्धोक्तगुणान् सङ्गृह्येत्यन्वयः, अनुभावपदेनैतेषां गुणानां सङ्ग्रहो ज्ञेयः ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पुरानेनेत्यस्याभासे मोक्षोप्यस्माद् भविष्यतीति वक्तुं तदर्थमिन्द्रियजयमपि वक्तुमिति "जिग्युर्दस्यू"नित्यत्र दस्युपदेन इन्द्रियाणामुक्तत्वात् "यस्यामिमे षण् नरदेव दस्यव" इति भवाटव्या निरूपणे उक्तत्वात् ॥ १८ ॥ श्रिया कीर्त्यानुभावेनेत्यस्य विवृतौ ब्रह्माण्डमध्ये नारायणत्रयमिति प्रसिद्धमित्यर्थः, एवं सति यो वैकुण्ठे लक्ष्मीसहित इत्युक्तिरपि युज्यते, अन्यथा वैकुण्ठस्य ब्रह्माण्डातीतत्वाद् ब्रह्माण्डमध्ये इति न वदेयुः, वैकुण्ठपदेनात्र व्यापिवैकुण्ठो ग्राह्यः, "यथा व्यापिवैकुण्ठस्थो भगवान् लक्ष्म्या एतावत् करोती"त्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् , गोपायस्व समाहित इत्यस्याभासे गोपायस्वेत्युपदिशतीति एतावन्माहात्म्ये बोधितेपि पर्यवसाने एतस्मिन् भगवति स्नेह एव मुख्यतया कार्य इतिवक्तुं गोपायस्वेत्यनेन रक्षामुपदिशतीत्यर्थः, अन्यथा एतादृग्माहात्म्यवतः कृष्णस्य रक्षां न वदेत् , तस्यैव सर्वरक्षकत्वात् , अतो माहात्म्यं ज्ञात्वा स्नेह एव मुख्यतया रक्षणीयः, एवं सति भगवत्सेवायामपि स्नेहोपचारा एव सर्वदा कर्तव्याः, अयं भगवानेतस्य शीतोष्णादिसम्बन्धाभावात् तूलकञ्चुकचन्दनाद्यर्पणं निष्प्रयोजनकमितिबुद्धिर्न कर्तव्येति फलितम् ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ये मानवा एतस्मिन् त्वत्पुत्रे प्रीतिं कुर्वन्ति, ते एव महाभागा धर्मादिचतुर्विधपुरुषार्थभागिनो भवन्ति। तानेतान् अरयः शत्रवो मनुष्यादयः, इन्द्रियाणि रागलोभादयश्च नाभिभवन्ति न तिरस्कुर्वन्ति। तेषां पुरुषार्थलाभे विघ्नं कर्तुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः॥ तत्र दृष्टान्तमाह—विष्णुः पक्षे येषां तान्, देवान् यथा असुरा नाभिभविष्यन्ति तथेति॥ १८॥ 'त्वया दुर्लभं प्राप्तम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—नन्देति। यस्मादयं तवात्मजो गुणैर्भक्तवात्सल्यादिभिः, श्रिया ऐश्वर्येण, कीर्त्या यशसा, अनुभावेन प्रभावेण च नारायणसमः। त्वं च समाहितः एकाग्रचित्तः सन् एनं गोपायस्व, अस्य सेवां कुर्वित्यर्थः॥१९॥ इत्येवम् आत्मानं नन्दं प्रति समादिश्य सम्यगुपदिश्य गर्गे स्वगृहं गते सति नन्दः प्रमुदितः सन् आत्मानमाशिषामाशीर्भिः अभिमतार्थैः पूर्णं मेने॥ २०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

य एतस्मिन्निति॥ ये महाभागाः मानवाः एतस्मिन् त्वत्पुत्रे प्रीतिं कुर्वन्ति विष्णुः पक्षः येषां तान् देवान् असुरा इव एतान् अरयः शत्रवो न अभिभवन्ति न तिरस्कुर्वन्ति॥ १८॥ तस्मादिति॥ हे नन्द! यस्मादेवं तस्मादयं तवात्मजो गुणैर्भक्तवात्सल्यादिभिः श्रिया ऐश्वर्येण कीर्त्या यशसा अनुभावेन प्रभावेण च नारायणस्य समः नारायणेन कृपया स्वतुल्यः पुत्रस्तुभ्यं दत्तः। त्वं च सुष्ठु समाहितः एकाग्रचित्तः सन्नेनं गोपाय रक्ष। गोपायस्वेति पाठे तदर्थः। यद्वा। अयं त्वत्पुत्रः गोपानाम् आये लाभे अये शुभावहे विधौ वा सुसमाहितः पाठान्तरे स्वेनात्मना समाहितो भविता। नारायणसम इति श्रुत्यैव मुकुन्द इत्यादीनि नामानि नन्देन स्थापितानि गोपादिभिर्व्यवह्रियन्ते स्म॥ १९॥ इत्यात्मानमिति॥ इत्येवम् आत्मानं नन्दं प्रति समादिश्य सम्यगुपदिश्य गर्गे स्वगृहं गते सति नन्दः प्रमुदितः सन्नात्मानमाशिषामाशीर्भिः। शेषे षष्ठी। अभिमतार्थैः पूर्णं मेने। एतदनन्तरं स्वपुरोहितादीनानाय्य प्रकटमेव नामकर्मोत्सवं चकारेति बोध्यते॥ २०॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एतस्मिन् त्वत्पुत्रे अरयः शत्रवः विष्णुपक्षान् हरिभक्तान्॥ १८॥ हे नंद अनुभावेन महिम्नाश्चर्यासंख्यैर्गुणैः नारायणसमः अतः समाहितः सावधानः सन् तं गोपायस्व॥ १९॥ आत्मानं स्वं प्रति समादिश्य निगद्य आशीषाम् आशिर्भिः पूर्णम् आत्मानं स्वम्॥ २०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

य इति॥ एतस्मिंस्त्वत्पुत्रे, ये महाभागाः मानवाः, प्रीतिं कुर्वन्ति, एतान् मानवान्, विष्णुरेव पक्ष आश्रयो येषां तान्, देवान्, असुरा इव, अरयः शत्रवः, न अभिभवन्ति। अत्र प्रीतिशब्देन प्रीत्यात्मिका भक्तिरभिप्रेता। अरिशब्देन प्रकृतिसंबन्धप्रयुक्तकामादयोऽरय एवाभिप्रेताः। ये मानवा एतस्मिन् भक्तिं कुर्वन्ति, ते मुक्ता भवन्तीति भावः। 'विष्णुपक्षा-निवासुरा' इत्यनेन दृष्टान्तेनायं साक्षाद्विष्णुरस्ति, यूयं तु देवाद्यंशप्रभवाः, कंसादयस्त्वासुरसंपत्त्याभिजाताः, इत्याद्य-भिप्रेतम्॥ १८॥ तस्मादिति॥ तस्मादेवंभाविगुणत्वात्, हे नन्द, अयं, ते तव, आत्मजः, श्रिया, कीर्त्या, अनुभावेन, गुणैरेतदन्यैरपि गुणैः, नारायणसमः नारायणेन तुल्यः, भविता। अतः, एनं त्वं, समाहितः सावधानचित्तः सन्, गोपायस्व सम्यक् पालय॥ १९॥ इतीति॥ इतीत्थं, आत्मानं प्रति, समादिश्य, गर्गे च, स्वगृहं प्रति गते सति, नन्दः प्रमुदितः सन्, आत्मानम् आशिषामाशीर्भिरित्यर्थः। पूर्णं, मेने॥ २०॥

कृष्णप्रिया

नन्दराज जो महाभाग लोग इनको भगवान् समझ कर भक्ति करेंगे उन्हें शत्रु उसी तरह पराजित नहीं करेंगे जिस तरह भगवान् विष्णु के भजनेवालों का असुर पराभव नहीं कर पाते॥ १८॥ यह आप के लालन श्री कीर्ति प्रभाव और गुणों से स्वयं नारायण ही है अतः आप इनका पालन पोषण आदि रक्षा सावधानी से करना॥ १९॥ **श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन्,** श्रीनन्दबाबा को भगवान् कृष्ण के विषय में आदेश दे जब श्रीगर्गाचार्य जी अपने आश्रम को पधार गये, तब अत्यन्त प्रसन्न हुए श्रीनन्दरायजी ने अपने को आशीर्वादों से परिपूर्ण-पूर्णभाग्यशाली समझा॥ २०॥

श्रीशुक उवाच[1]

इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते । नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ।। २१ ।।
कालेन[2] व्रजता तात गोकुले रामकेशवौ । जानुभ्यां सह पाणिभ्यां[3] रिङ्गमाणौ[4] विजह्रतुः ।। २२ ।।
तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ।। २३ ।।
तन्मातरौ निजसुतौ घृणया[5] स्नुवन्त्यौ पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य[6] दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ।। २४ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आत्मानं समादिश्य च गर्गे स्वगृहं गते प्रमुदितः नन्दः आत्मानम् आशिषां पूर्णं मेने ।। २१ ।। तात व्रजता कालेन रामकेशवौ गोकुले जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः ।। २२ ।। व्रजकर्दमेषु घोषप्रघोषरुचिरम् अङ्घ्रियुग्मम् अनुकृष्य सरीसृपन्तौ तौ तन्नादहृष्टमनसौ लोकम् अनुसृत्य मुग्धप्रमुग्धवत् मात्रोः अन्ति उपेयतुः ।।२३।। घृणया स्नुवन्त्यौ तन्मातरौ पङ्काङ्गरागरुचिरौ निजसुतौ दोर्भ्याम् उपगृह्य स्तनं दत्त्वा प्रपिबतोः मुग्धस्मिताल्पदशनं मुखं निरीक्ष्य प्रमोदं ययतुः ।। २४ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

बालक्रीडाचमत्कारैः कृष्णो रामेण संयुतः ।। परमानन्दमाधत्त व्रजे नंदयशोदयोः ।। १ ।।

पूर्णत्वमेव दर्शयन्नाह । कालेनेति ।। २१ ।। अनुकृष्य पुनःपुनराकृष्य । सरीसृपंतावतिशयेन चलंतौ । कथम् । घोषाः कटिपादभूषणकिंकिण्यस्तेषां प्रघोषेण निनादेन रुचिरं यथा तथा तेषां घोषाणां नादेन हृष्टं मनो ययोस्तौ । लोकमितस्ततो गच्छंतं जनमनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत्प्रभीतवन्मात्रोरंति समीपे उपेयतुरुपजग्मतुः ।। २२ ।। तदा च तन्मातरौ निजसुतौ दोर्भ्यामुपगुह्य प्रमोदं ययतुः । कथंभूते । घृणया कृपया स्नुवंत्यौ पयःपूर्णपयोधरे सत्यौ । पंकेनांगरागेण च रुचिरौ । कथंभूतं मुखं निरीक्ष्य । मुग्धं मंदंस्मितं यस्मिन् अल्पा दशनाश्च यस्मिंस्तच्च तच्च ।। २३ ।। यर्ह्यंगनानां दर्शनीया कुमारलीला ययोस्तथाभूतौ जातौ तदांतर्व्रजे व्रजस्य मध्ये तदबला व्रजांगनास्तौ प्रेक्षंत्यः प्रेक्षमाणा विस्मृतगृहकृत्या हसंत्यो जहृषुर्हृष्टा बभूवुः । कथंभूतौ । ताभ्यां प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तैर्वत्सैरितस्ततोऽनुकृष्यमाणौ ।। २४ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

चमत्कारैश्चमत्कृतिजनकैः कर्मभिः (१) पूर्णत्वमवतारित्वम् । रिंगमाणौ गच्छंतौ ।। २१ ।। तौ कृष्णबलदेवौ । मुग्धवदज्ञवत् । 'मुग्धः सुंदरमूढयोः' इति विश्वः । "आभीरपल्लीकिंकिण्योर्घोषो गोपालशब्दयोः" इति शाश्वतः ।। २२ ।। दशना दंताः ।। २३ ।। लक्षणया गृहशब्देन गृहकृत्यं बोध्यं तच्च मार्जनपेषणगोदोहनादिरूपम् ।। २४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं तस्य श्रवणकृतं पूर्णत्वमुक्त्वा दर्शनकृतमपि वक्तुमारभते—कालेनेत्यादि । कालेन व्रजतेति शकटभञ्जनान्नाम-करणाच्च किञ्चित्काले गते सतीत्यर्थः । तृणावर्त्तवधस्त्वेतदुत्तरकालीन एव एकहायन इत्युक्तत्वात् एकाब्दे हि शिशोः पादव्रज्या दृश्यते बलिष्ठस्य तु तन्मध्येपि व्यतिक्रमकथनं तु दुष्टवधादद्भुतलीलात्वसाधारण्येन कचिदावेशेन च गोकुले व्रजमध्ये इति तत्रैव तन्महामधुरलीलया तत्रत्यानां महाभाग्यं बोधयति एवमग्रेऽपि बोध्यम् रामस्तल्लीलया गोकुलरमणात् को ब्रह्मा ईशश्च तावपि वयते लीलामाधुर्येण वशीकरोतीति किम्वा प्रथमरूढप्रशस्तकेशविलासयुत इति, यद्वा—

अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः । सर्वज्ञाः केशवं तस्मात् मामाहुर्मुनिसत्तमाः ।।

इति भारतरीत्या ततोपि देदीप्यमानतया विवक्षित इति केशवः तौ इति रिङ्गणलीलया जगन्मनोहरताभिप्रेता केशवस्य पश्चान्निर्देशः अनुजत्वेन हे तातेति कथ्यबाल्यलीलाविशेषस्मरणेन प्रेमवैवश्यात् सलालनं सम्बोधनं यद्वा तातस्य श्रीनन्दस्य गोकुल इति सुखविहारस्वाच्छन्द्यं बोधितम् ।।२१।। अनुकृष्येति सरीसृपन्तौ कुटिलं गच्छन्ताविति च रिङ्गणलीलायामपि बलिष्ठत्वं

१. अन्यत्र "श्रीशुक उवाच" पाठो न दृश्यते । २. व्रजताल्पेन-श्रीधर. वंशी. विज; व्रजता तात-वीर. जीव. । ३. रङ्गमाणौ-वीर. विज.; रममाणौ-च. पु. टी. । ४. विचेरतुः-विज. । ५. स्रवन्त्यौ-विज. । ६. गृह्य-इति कस्यचित् ।

द्योतयति अङ्घ्रियुगममित्यादिषु कमलादिरूपकाप्रयोगः स्वस्य तदतिक्रमस्फूर्त्तेः कचिच्च तत्प्रयोगस्त्वन्यस्य तद्द्वारापि स्फूर्त्तेय इति ज्ञेयं व्रजस्य कर्दमेष्विति प्रायो गोमूत्रगोरसादिनिपातेन प्राङ्गणस्य पङ्कमयत्वात् बहुत्वं च स्थानबाहुल्यात् लोकं कञ्चिदागतं मुग्धवत् गृहजनं मत्वैवानुसृत्य पश्चादन्यं ज्ञात्वा प्रभीतवत् मात्रोरन्तिकमुपेयतुः प्रशब्दाद्भीतत्वाधिक्येन बाल्यलीलासौष्ठवं बोधितं वतिप्रत्ययाद्यथान्यो मुग्धादिबालस्तथैव लीलाविशेषेणेत्यर्थः । अन्यत्तैः यद्वा, घोषो व्रजस्तेन तत्रत्यास्तेषां प्रकृष्टैर्घोषैः अहो रिङ्गणस्य महाश्चर्यत्वमित्याद्युच्चशब्दैरुचिरं यथा स्यात् तस्य घोषस्य तेन वा प्रकृष्टेन नादेन सममन्यत् ॥ २२ ॥ पङ्को व्रजकर्दम एवाङ्गरागस्तेन रुचिरौ रुचिरत्वं च "सुन्दरे किं न सुन्दरम्" इति न्यायेन "सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्" इत्यादिवत् विशेषतस्तु बाल्यलीलायां तदादेरेव शोभनत्वमिति निजौ स्वीयौ सुतौ इति तयोर्द्वौ प्रत्येव स्नेहभर उक्तः निजनिजेत्यनुक्तत्वात् अत एव प्रकर्षेण स्वेच्छया कदाचित् मातृविपर्ययेणापि पिबतोः स्तनं दत्वा तत्तद्दन्तरामुखं निरीक्ष्य सम्यगवलोक्य च अत एव प्रकृष्टं नेमं विरिञ्चो नायं सुखाप इत्यादिवक्ष्यमाणानुसारेण तत्तदानन्दतोऽप्यधिकतममोदं प्राप्तवत्यौ स्म हर्षविस्मये वा मुखमित्येकत्वं स्वस्वबाल्यमुखापेक्षया अन्यत्तैः यद्वा मुग्धं सुन्दरं स्मितं यत्र प्रमाणतः सङ्ख्यातश्चाल्पा दशना यत्र तच्च तच्च ॥ २३ ॥ अथ किञ्चिद्वयोऽतिरेकेण बलवृद्धिप्राकट्यादितस्ततोऽखिलव्रजमध्ये विहरद्भ्यां सर्वासामपि व्रजस्त्रीणामत्यानन्दो जनित इत्याह—यर्हीति । अङ्गनादर्शनीयेत्यादिकं तत्कौतुके तासामेव प्राधान्यात् वत्सैस्तर्णकैः बहुत्वम् एकवत्सपरित्यागेन मुहुर्वत्सान्तरग्रहणात् एकदैव त्रिचतुःपुच्छग्रहणाद्वा प्रशब्देन कदाचिदपि पुच्छत्यागो निरस्तः अत एव स्थानेस्थाने अनुकृष्यमाणौ अत एव प्रकर्षेणेक्षमाणाः अत एव मुक्तं गृहं तत्र यत्कृत्यं किंवा प्रेक्षणार्थं तत्र तत्र सर्वव्रजे परिभ्रामणेन गृहमेव याभिस्ताः हसन्त्यः अद्भुतत्वात् किंवा अहो बलिष्ठतराविति तौ परिहसन्त्यः तर्णकैरप्याकृष्यमाणत्वात् ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कालेन व्रजतेति, शकटभञ्जनान्नामकरणाच्च, किञ्चित्' काले गते सतीत्यर्थः । गोकुले व्रजमध्ये इति बहिर्वनादिकं व्यवच्छिन्नम्, यदा तत्रैव तन्महामधुरलीलया तत्रत्यानां महाभाग्यं बोधयति । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् । रामस्तल्लीलया गोकुलरमणात् । को ब्रह्मा ईशश्च तौ वयते ऐश्वर्येण व्याप्नोतीति केशवः परमेश्वरस्तौ इति रिंगण—लीलयाजगन्मनोहरताभिप्रेता, केशवस्य पश्चान्निर्देशोऽनुजत्वेन । हे ताततेति कव्य–बाल्यलीला—विशेष–स्मरणेन प्रेमवैवश्यात् सलालनं सम्बोधनम् । यद्वा, तातस्य श्रीनन्दस्य गोकुल इति सुखविहार–स्वाच्छन्द्यं बोधितम् । एवं द्वयोरप्येकदैव रिंगणलीलया समवयस्कतैव दर्शिता, किञ्चिन्न्यूनाधिकत्वेऽपि श्रीकृष्णस्य महाबलिष्ठतयाग्रजेनापि सह युगपद्रिंगणं घटेतैवेति दिक् ॥ २१ ॥ अनुकृष्येति सरीसृपन्तौ कुटिलं गच्छन्ताविति च रिंगणलीलायामपि बलिष्ठत्वं द्योतयति । अङ्घ्रियुगममित्यत्राब्जादि—रूपकाप्रयोगस्तद्बाल्यलीला—माधुर्य्येणैव मनस्तृप्त्या तदीयतारुण्यादिगुणविशेषानपेक्षणात् । व्रजस्य कर्दमेष्विति प्रायो गोमूत्र—गोरसादि—निपातेन प्रांगणस्य पंकमयत्वात्, बहुत्वञ्च बाल्यात् साकल्याद्वा लोकं कञ्चिद् गृहजनं मत्वेवानुसृत्य पश्चादन्यं ज्ञात्वा मात्रोरन्तिकमुपेयतुः । कथम् ? मुग्धवदत एव प्रभीतवच्च, तत्र मुग्धवदनुसृत्य प्रभीतवदुपेयतुरिति विवेचनीयम्, प्र–शब्दाद्भीतत्वाधिक्येन बाल्यलीला–सौष्ठवं बोधितम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, घोषो व्रजस्तेन तत्रत्यास्तेषां प्रकृष्टैर्घोषैः । अहो ! रंगणस्य महाश्चर्य्यमित्याद्युच्चशब्दै रुचिरं यथा स्यात्, तस्य घोषस्य तेन वा प्रकृष्टेन नादेन । सममन्यत् ॥ २२ ॥ पंको व्रजकर्दम एवांगरागस्तेन रुचिरौ व्रजकर्दमेषु रिंगणैरन्यां रागस्याच्छन्नत्वान्निजौ स्वीयौ सुताविति तयोर्द्वौ प्रत्येव स्नेहभर उक्तः, अतएव प्रकर्षेण पिबतोरत एव प्रकृष्टं ब्रह्मानन्दादप्युत्कृष्टं मोदं प्राप्तवत्यौ । स्म हर्षे; निरीक्ष्यासक्त्या सम्यगवलोक्य, मुखमिति द्वित्वेऽप्येकत्वं जात्यपेक्षया बहुष्वप्येकत्ववत् । अत एव (भा० १०।१०।३८)—'वाणी गुणानुकथने' इत्यादौ 'नः श्रवणौ हस्तौ शिवश्च' इति, तथा (भा० १०।२९।३४)—'चित्तं सुखेन' इत्यादौ 'करौ पादौ च' इति, तथा (भा०१०।३१।५)—'विरचिताभयम्' इत्यादौ शिरसि धेहि नः इत्यादि च । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा घृणया स्नेहेन मुग्धं सुन्दरमल्पदशनं पञ्चषड्न्तम् ॥ २३ ॥ अत्यन्तबाल्ये प्रायो मात्रोरेव पार्श्ववर्त्तित्वात्तयोरानन्दभरोऽकारि, पश्चात् किञ्चिद्वयोऽतिरेकेण बल–बुद्धिप्राकट्यादितस्ततोऽखिलव्रजमध्ये वत्साकर्षणलीलया सर्व्वासामपि व्रजस्त्रीणामत्यानन्दो जनित इत्याह—यर्हीति । वत्सैरिति बहुत्वमेक—वत्स—परित्यागेन मुहुर्वत्सान्तर–ग्रहणादेकदैव बहुलवत्सपुच्छग्रहणाद्वा, प्र–शब्देन कदाचिदपि पुच्छत्यागो निरस्तः अतएव स्थाने स्थाने अनुकृष्यमाणौ अतएव प्रकर्षेणेक्षमाणाः अतएव त्यक्तं गृहं तत्रत्यकृत्यम् किंवा प्रेक्षणार्थं तत्र तत्र सर्वव्रजे परिभ्रमणेन गृहमेव याभिस्ता हसन्त्योऽद्भुतत्वात् किंवा अहो ! बलिष्ठतराविति तौ परिहसन्त्यो वत्सैराकृष्यमाणत्वात् ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

रिङ्गमाणौ चङ्क्रमणं कुर्वन्तौ ॥ २१ ॥ सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं घोषस्य प्रघोषेण घोषस्य श्लाघाध्वनिना रुचिरं यथा भवति तथा व्रजकर्दमेषु सरीसृपन्तौ इति क्रियाविशेषणं तन्नादहृष्टमनसौ घोषस्य श्लाघाध्वनिहृष्टमनसौ मात्रोरन्ति यशोदारोहिण्योरन्तिकम् ॥२२–२३॥ यर्हि यदा तत्तदा प्रेक्षन्त्यः प्रेक्षमाणाः उज्झितगृहा उन्मर्दितगृहाः जहृषुर्हृष्टा अभवन् ॥२४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतः काश्चित् बालक्रीडा अनुवर्णयन् विश्वरूपप्रदर्शनादिकमाह—कालेनेति । गच्छताऽतिक्रममाणेन कियता कालेन व्रजे रामकेशवौ सह जानुभ्यां पाणिभ्यां चेत्यर्थः । रिङ्गमाणौ चङ्क्रमणं कुर्वन्तौ सरीसृपन्ताविति यावद्विजह्रतुः क्रीडां चक्रतुः ॥ २१ ॥ विहारमेव वर्णयति—ताविति । तौ रामकेशवौ घोषप्रघोषरुचिरं घोषाः पादभूषणकिङ्किण्यः तेषां घोषेण व्रजगतश्लाध्यध्वनिना वा रुचिरं यथा तथा व्रजकर्दमेष्वङ्घ्रियुगमनुकृष्य पुरः प्रसारितजान्वनुगतं यथा तथा पश्चाद्गतजानु समाकृष्येत्यर्थः । सरीसृपन्तौ पुनः पुनरतिशयेन वा चरन्तौ तेषां घोषाणां नादेन तस्य घोषस्य व्रजस्य नादेन वा हृष्टं मनो ययोस्तौ लोकमितस्ततः पर्यटन्तं जनमनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत्प्रभीतवच्च मात्रोः रोहिणीयशोदयोरन्ति समीपमुपेयतुरुपजग्मतुः ॥ २२ ॥ तदा तयोः रामकेशवयोर्मातरौ घृणया करुणया स्नुवन्त्यौ पयःपूर्णस्तनाभ्यां पयः स्रवन्त्यौ पङ्करूपेणाङ्गरागेण रुचिरौ सुतौ बाहुभ्याम् उपगुह्य उरसि संवेष्ट्य स्तनं दत्त्वा मुखं निधाय प्रपिबतोः सुतयोः मुग्धं सुन्दरं स्मितमल्पा दशनाः सूक्ष्माः दन्ताश्च यस्मिंस्तन्मुखमवलोक्य प्रमोदं प्रापतुः ॥ २३ ॥ यर्हि यदाऽङ्गनानां दर्शनीयाः कुमारलीला ययोस्तौ तथाभूतौ अन्तर्व्रजे व्रजमध्ये व्रजस्था अबलाः प्रेक्षमाणाः विस्मृतगृहकृत्याः हसन्त्यो जहृषुः कथम्भूतौ ताभ्यां प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तैर्वत्सैरितस्ततोऽनुकृष्यमाणौ जगृहुरिति पाठे ता गृहीतवत्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

व्रजता गच्छता रङ्गमाणौ चेष्टमानौ वा ॥ २१ ॥ सरीसृपन्तौ पुनःपुनः भृशं गच्छन्तौ सर्पन्तौ घोषाणां किङ्किणीनां प्रघोषेण प्रकृष्टेन शब्देन रुचिरः घोषप्रघोषरुचिरः स चासौ व्रजः तस्य कर्दमेषु "आभीरपल्लीकिङ्किण्योर्घोषो गोपालशब्दयोः" इति वचनात् तन्नादेन किङ्किणीस्वरेण हृष्टमनसौ मुग्धप्रभीतवत् लोकं बहिर्जनमनुसृत्य विडम्ब्य मात्रोः यशोदारोहिण्योः अन्ति अन्तिके समीपे उपेयतुः प्राप्तवन्तौ ॥ २२ ॥ घृणया दयया स्तन्यं स्रवन्त्यौ अङ्गरागश्चन्दनं मुग्धं कोमलं स्मितं मन्दहासश्च अल्पदशना अणुतरा दन्ता यस्य तत् मुग्धस्मितं बाल्यदशनाश्चास्मिन्निति वा ॥ २३ ॥ अतिरमणीयाः कुमारलीलाः बालक्रीडाः ययोस्तौ तथा तौ यर्हि यदा अन्तर्व्रजे व्रजमध्ये आगता आगतौ द्वासुपर्णावेतिवत् तदबलाः व्रजयोषितः तदा प्रेक्ष्यन्त्य उत्स्मृतगृहाः विस्मृतगृहव्यापाराः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कालेनेति प्राचीनलीलेयं नामकरणस्य शततमपर्यन्ताहे निर्णयात् तृणावर्त्तवधस्य वार्षिकत्वात् अस्य वर्षाभ्यन्तरे च सम्भवात् ॥ २१-२२ ॥ प्रसङ्गेनावेशेन च व्यतिक्रमः सम्भाव्यः प्रपिबतोः स्तनं दत्त्वा तत्तदन्तरामुखं निरीक्ष्य च ॥ २३-२४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कालेन व्रजतेति—

ऐश्वर्यमिश्रां कृष्णस्य प्रोच्य बाल्यस्य माधुरीम् । केवलामेव तां प्राह नित्यभाव्यामुपासकैः ॥ इति ॥ २१ ॥

अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्येति जानुभ्यां सञ्चलनेन अङ्घ्र्योराकर्षणात् सरीसृपन्तौ कुटिलं गच्छन्तौ व्रजकर्दमेषु गोरस-गोवत्समूत्रादिकर्दमितव्रजाङ्गणेषु घोषाणां गोपगोपीनां प्रघोषः हो हो हो इति मुखकरतालिकोद्घोषः तेन रुचिरं यथा स्यात्तथा यतस्तन्नादेत्यादिघोषाः किङ्किण्य इति स्वामिचरणाः । लोकं व्रजपुरन्ध्रीजनं कञ्चिदागतं मुग्धवत् मातरं मत्वैवानुसृत्य पश्चादन्यं ज्ञात्वा मात्रोरन्तिकमुपेयतुः वतिप्रत्ययाद्यथान्यो मुग्धादिबालस्तथैव लीलावेशेनेत्यर्थः ॥ २२ ॥ तदा च तयोर्मातरौ निजसुतौ दोर्भ्यामुपगुह्य प्रमोदं ययतुः निजनिजेत्यनुक्तत्वात् तौ द्वावपि प्रति तयोर्द्वयोः सुतबुद्धिः ते द्वे प्रत्येव तयोरपि मातृ-बुद्धिर्बुद्ध्यते घृणया वात्सल्योत्थकृपया स्नुवन्त्यौ दुग्धस्राविस्तने सत्यौ "सुन्दरे किं न सुन्दरम्" इति न्यायेन पङ्क एवाङ्गराग-तुल्यस्तेनापि रुचिरौ मुखमित्येकत्वं स्वस्वलाल्यमुखापेक्षया मुग्धं मनोहरं स्मितं यत्र प्रमाणतः सङ्ख्यातश्चाल्पा दशना यत्र तच्च तच्च ॥ २३ ॥ यर्हि किञ्चिद्बलाधिक्यप्रकटने सति अङ्गनानाम् आ सम्यक्प्रकारेण दर्शनीया अतिचित्ताकर्षिणी कुमार-सम्बन्धिनी लीला ययोस्तथाभूतावभूतां तत् तदा अबलास्तौ प्रेक्षन्त्यः प्रेक्षमाणा जहृषुः, कीदृशौ ? ताभ्यां गृहीतपुच्छैर्वत्सै-रितस्ततश्च आकृष्यमाणाविति शयानानां वत्सानां पुच्छान् जानुचङ्क्रमणेन प्राप्य किमिदमिति साश्चर्यं मौग्ध्येन यदा करतलेन मुष्टीकृत्य गृहीतस्तदा वत्सैरुत्थाय पलाय्यते ततश्च मौग्ध्येन मुष्टिमत्यजन्तौ प्रत्युत भयेन दृढतरीकुर्वन्तौ भूतले घृष्यमाणौ रुदन्तौ विलोक्य ह्यस्तनाद्वत्सादपि दुर्बलौ युवामिति हसन्त्यो यत्नेन पुच्छं त्याजयामासुरिति ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तौ योगिध्येयपादपद्मौ रामकेशवौ व्रजकर्दमेषु अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य पुनः पुनराकृष्य सरीसृपन्तौ सवेगं धावमानौ कथमित्याकाङ्क्षायामाह—घोषप्रघोषरुचिरमिति । घोषाः कटिकरचरणभूषणकिङ्किण्यस्तदीयेन प्रकृष्टघोषेण नादेन रुचिरं

यथा तथा तन्नादेन किङ्किणीशब्देन तस्य लोकस्य वा नादेन हे राम! हे केशव! इत्येवं सन्मुखीकरणार्थं प्रयुक्तेन हृष्टमनसौ लोकं जनं किञ्चिद्वलोकनादिना मुग्धवदनुसृत्य भीतवत् मात्रोरन्तिरुपेयतुरुपजग्मुरित्यर्थः ॥ २२ ॥ तदा तयोर्मातरौ घृणया करुणया स्नुवन्त्यौ पयः स्रवन्त्यौ पङ्केनाङ्गरागेण रुचिरौ शोभमानौ निजसुतौ दोर्भ्यां बाहुभ्यामुपगुह्य स्तनं दत्त्वा प्रपिबतोः मुग्धं मन्दं स्मितं यस्मिन् अल्पाः कुन्दकुड्मलवद्दशनाश्च यस्मिन् तच्च तच्च तन्मुखं निरीक्ष्य प्रकृष्टं मोदं ययतुः प्रापतुः ॥ २३ ॥ मात्रोः स्वबालसंसर्गजं परमानन्दमुक्त्वा गोपाङ्गनानां तत् संसर्गजं परमानन्दमाह—यर्हीति। यर्हि यदा अन्तर्व्रजे व्रजमध्ये उभौ रामकेशवौ बालकल्याद्वर्तेते तदा अङ्गनादर्शनीयकुमारलीलौ भवतः। तत्र बहुधा तासामेव सञ्चारात् अतस्तदबलाः अन्तर्व्रजावलाः रामकेशवाभ्यां प्रगृहीतपुच्छैः वत्सैरितस्ततोऽनुकृष्यमाणौ प्रेक्ष्यन्त्य अत्यानन्दवशाद्धसन्त्यश्च अत्यानन्दसम्प्लव-निमग्नत्वादुज्झितगृहाः जहृषुः हृष्टा बभूवुः अहो भाग्यमन्तर्व्रजचरीणां तत्रत्यवत्सानां चेति भावः ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवमैश्वर्यगर्भां बाल्यलीलामभिधाय मुकुरवद्विशुद्धांतामाह कालेनेत्यादिभिः ॥ २१ ॥ तौ व्रजकर्दमेषु गोरसगोमूत्रादि-कर्दमितव्रजचत्वरेषु सरीसृपन्तौ कुटिलङ्गच्छन्ताविति सबलत्वं सूच्यते अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्येति जानुभ्याञ्चलनेनाङ्घ्र्योरा-कर्षणात् कथं घोषाः पादादिविभूषणानि तेषां प्रघोषेण झणत्कारध्वनिना रुचिरं योगीन्द्राणां मनोहरं यथा स्यात्तथा तन्नादेन हृष्टं मनो ययोस्तौ लोकं कञ्चिदागतं गृहजनं मत्वा तमनुसृत्य पश्चादन्यं ज्ञात्वा मुग्धेन प्रभीतेन च तुल्यौ मात्रोरन्ति समीप-मुपयेयतुः भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमितिवक्ष्यते इदं मौग्ध्यादिकं हरेर्न कृत्रिमं तथात्वे लीलारसापरिपोषात् मन्त्रेषु मां वा उपहूय-यत्वमित्यादौ तन्मौग्ध्येनोद्धवस्य गोप्यादद्दे त्वयि कृतागसीत्यादौ तदभयेन कुन्त्याश्च तत्त्वविदो मोहानुपपत्तेः किन्तु विज्ञान-मूर्त्तेर्न रचिकुराद्यङ्गत्ववद्वैलक्षण्येन विभातः स्वरूपानतिरेकी तद्धर्म एव तत्परिपोषी मन्तव्यः ॥ २२ ॥ तदा तयोर्मातरौ तौ निजसुतौ दोर्भ्यामुपगूह्य प्रमोदं ययतुः कीदृशौ घृणया वात्सल्यो या कृपया स्नुवन्त्यौ दुग्धस्राविस्तने सत्यौ तौ च कीदृशौ पङ्करोगाभ्यां रुचिरौ सुन्दरे किमसुन्दरमिति न्यायात् मुखमित्येकवचनं स्वस्वबाल्यमुखापेक्षं मुग्धं रम्यं स्मितं यत्र प्रमाणेन संख्यया चाल्पादशनायत्र तच्च तच्च तत् ॥ २३ ॥ यर्हि यदा किञ्चिद्बलाधिक्याविर्भावे सति अङ्गनानां दर्शनीया चित्तहारिणी कुमारलीला ययोस्तादृशावभूतां तत्तदान्तर्व्रजे व्रजमध्येऽबलास्ता अङ्गनास्तौ प्रेक्ष्यन्त उज्झितगृहा हसन्त्यो जहृषुः तौ कीदृशौ प्रेक्षमाणा इत्याह ताभ्यां गृहीतपुच्छैर्वत्सैरितस्ततोऽनुकृष्यमाणाविति यदा जानुरिङ्गेनैव शायितानां वत्सानां सन्निधिमासाद्य द्वित्रांस्तत्पुच्छान् किमिदमिति प्रग्रहीतस्तदो धावद्भिस्तैस्तत् पुच्छात्यागाद्भुवि घृष्यमाणोदरौ रुदन्तौ च प्रेक्ष्याहो महाबलौ युवान्तर्णकैरप्याकृष्यमाणाविति परिहसन्त्योऽति यत्नेन ताः पुच्छान् परित्यज्य वक्षसि तौ निधाय मुमुदिरे ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

व्रजतैवं गच्छताऽल्पेन कालेन रामकेशवौ जानुभ्यां पाणिभ्यां सहेति यथायथमन्वयि रङ्गमाणौ गच्छन्तौ विचेरतुः। रिङ्गमाणौ रङ्गमाणौ रिङ्खमाणावित्यपि पठन्ति। अर्थः सर्वत्र समः ॥ २१ ॥ तौ रामकृष्णावङ्घ्रियुग्मं पादद्वन्द्वमनुकृष्य सरीसृ-पन्तावतिशयेन पुनः पुनः प्रसर्पन्तौ घोषाणां किङ्किणीनां प्रघोषः शब्दविशेषस्तेन रुचिरो यो व्रजस्तस्य कर्दमाः पङ्कास्तेषु तेषां नादस्तेन हृष्टं तुष्टं मनो ययोस्तौ लोकं जनमनुसृत्य मुग्धौ मनोहरौ मूर्खौ वा प्रभीतावतिभीतौ ताविव प्रभीतवत्ताविव मात्रो रोहिणीयशोदयोरन्ति अन्तिकमुपेयुः। आभीरपल्लीकिङ्किण्योर्घोषो गोपालशब्दयोरिति वचनात् ॥ २२ ॥ तन्मातरौ रोहिणीयशोदा घृणया स्रवन्त्यौ करुणात्मकस्रवणीयरसोपेते श्रोतस्करुणारससमेते इति यावत्। पङ्क एवाङ्गरागो मलयजस्तेन रुचिरौ मनोहरौ निजसुतौ स्वतनयौ। एकैकस्य विवक्षया दोर्भ्यामित्युक्तिः प्रायकद्विभुजस्वाभिप्रायेण वा। स्तनौ दधानाः परिवव्रुरङ्गना इत्यादिवत्। उपगुह्यालिङ्ग्य स्तनं दत्वा तदपि शब्दपूर्वकं चेद्धीतौ तौ जायेतामित्यतः कुचमित्यवचनादत्वा स्तनमित्येकसरण्योदाहरणादस्तनमशब्दं यथा भवति तथेत्यपि योजना ज्ञेयेत्यसूचयदिति ज्ञेयम्। प्रपिबतोः मुग्धस्मितं मनोहरेषद्धसितं यस्य तच्चाल्पा दशनाऽङ्कुरणोपेता इत्यणवो दशना यस्य तच्च तन्मुखं निरीक्ष्य स्म पूर्वकृतं स्मरन्त्यौ च। स्म पादपूरणेऽतीते स्मरणे चेति यादवः। प्रमोदं ययतुः। उपगृह्येति सङ्ग्राह्यः पाठः। उपगुह्येति पाठे पङ्कसङ्कलितकलेवरो-पगूहने केवलप्रेमपारवश्यं द्योत्यत इत्यर्थविशेषलाभो ज्ञेयः ॥ २३ ॥ यर्हि यदाऽऽगताः सद्यः प्राप्ता अतिरमणीयाः कुमारलीला बालक्रीडा ययोस्तौ। आगतानां जनानामतिरमणोयाः कुमारलीला ययोरिति वा। व्रजे गोष्ठे तदबला व्रजयोषितः प्रगृहीतं पुच्छं येषां तैर्वत्सैर्गोवत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्यः प्रेक्षमाणा उत्स्मृतमुद्गतस्मरणं गृहं यासां ता विस्मृतस्वगृहाः सत्यः अन्तर्हसन्त्यश्च जगृहुर्गृहीतवत्यः। कुललललनानामन्तर्हासः परमधर्म इति तथा चक्रुः ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एतावदुक्त्वा गते यज्जातं तदाहेतीति, **आत्मानं** नन्दं भगवन्तं वा सम्यगादिश्योपदिश्य, **गर्ग स्वगृहं** मथुरां **गते** **नन्दस्तद्वाक्यात् प्रमुदितः** तन्नाशिषामाशीर्भिः **पूर्णमात्मानं मेन** इति सम्बन्धः, स्वस्यायोग्यत्वेन महतो ज्ञानान्न भीतो जातो

नाप्ययं पुत्रो न भवतीति ज्ञात्वा दुःखितो जातो येनकेनापि प्रकारेण प्राप्तत्वाद् गर्गोक्तं प्रमाणमिति ज्ञापयितुं कृष्णो भगवानात्मेति नन्दश्च कृतार्थ इतित्रयं ज्ञापयितुमात्मपदं, **सम्यगुपदेशो** नास्मिन् शङ्का कर्तव्या नाप्यन्यस्माद् भयं सम्यग् रक्षणीयश्चेत्यादेश आज्ञा, अन्यथा गर्गोपि क्रुध्येदिति, एतावदुपदेशं कृत्वा नामकरणं च गर्गे गच्छति यदि कंसो मध्ये व्यसनं कुर्यात् तदापि चित्तस्वास्थ्यं न भवतीति **गर्गे स्वगृहं गत** इत्युक्तं, चकाराद् बालकयोः स्वस्मिन्नप्यन्येषु वा तत्र स्थितेष्वत्यन्तरङ्गेषु स्वगृहं गतेषु गोकुलेपि गर्गकर्मणोः प्राकट्याभावार्थं, तदा **नन्दः** सार्थकनामा भविष्यामीति प्रकर्षेण **मुदितः** प्राप्तमहानिधिः, **आशिषां** सर्वकामितपदार्थानामन्येषां च पूरणार्थं **पूर्ण**परमातिशयकाष्ठां प्राप्तं **मेने**, स्वमनस्येव तथा ज्ञातवान् ॥ २१ ॥ एवं नामचरित्रमुपपाद्य रूपचरित्रं वक्तुं भगवद्गतिः कालरूपेति तस्मिन्नेवाधिदैविके गच्छति सति भगवद्गतिरित्याह **कालेनेति**दशभिः, दशधा भगवद्रूपमत्र वक्ष्यतेवान्तरानन्तभेदयुक्तं,

गतौ गतिविशेषे च भूमौ रूपद्वयं हरेः। यशोदायां तथा रूपमुपविष्टं त्रिधा मतम् ॥ १ ॥
अन्याश्रितं स्वतश्चैव कथञ्चित् सर्वथा तथा। उत्थितं तु त्रिधा रूपं युक्तं त्रिविधलीलया ॥ २ ॥
बालकैर्मुग्धलीलाया धाष्ट्र्यचौर्यसमन्विते। निर्गुणावस्थरूपे च ज्ञापिते तु ततः परम् ॥ ३ ॥
सात्त्विकादिविभेदेन तत्तद्धृदयगामिनि। तांस्तांस्तु क्रमशो भावान् दूरीकृत्यान्तिमे स्थिरा ॥ ४ ॥
यशोदार्थमियं लीला प्रसङ्गादन्यगामिनी। यदैव ता गृहे व्यग्रास्तदैवं दशधा हरिः ॥ ५ ॥

तत्रादावुपविष्टस्य हरेरल्पचलनात्मिकां गतिलीलामाह **कालेने**ति, स्वतो व्रजता **कालेन** कृत्वाल्पेनैव **गोकुले** तत्रापि **यशोदाया** अङ्गणे **रामकेशवावु**भावपि नामकरणेन भगवदावेशाद् भगवन्तौ योगिध्येयौ ब्रह्मादिवन्द्यश्च **रामकेशवौ**, मत्वर्थीयो वप्रत्ययश्चात्र सौन्दर्यार्थं परिगृह्यते, वस्तुतस्तु लौकिक एव **केशव**शब्दस्तद्धिता तः, न तु भगवद्वाचकः, केशयोर्वं सुखं यस्मादित्यर्थे प्रत्ययापेक्षाभावात्, उभयोन्यूनाधिकभावेपि वयसि स्थितयोः समानो गतिः, भगवत्सन्निधाने नामद्वारा सम्बन्धानन्तरमेव भगवत्त्वमत उभौ **जानुभ्यां सहपाणिभ्यां रिङ्गमाणौ** जातौ शनैस्तदायोग्यं **विजह्रतुर्विहारं** कृतवन्तौ क्रीडां कृतवन्तावित्यर्थः।

जानुभ्यां गमनं विष्णोर्दैत्यानां मर्दनाय हि। बलिर्दैत्यपतिर्भूत्वा न निवारयति स्वतः ॥ १ ॥

उपविष्टयोर्नम्रीभूतयोर्गमनं पादाधीनमेवेति **जानुभ्यामेव** गमनमुच्यते, **पाण्योस्तु सहभावः**, तत्र प्रतिष्ठाभावात्, सम्पूर्णेनापि शरीरेण **रिङ्गमाणा**विति **जानुभ्यां सह रिङ्गमाणा**विति **सह**पदप्रयोगः, अनेन मध्येल्पचलनेपि भूमौ शयानावेव भवतः पुनरुत्थाने च तथा, एवं रूपाणि भगवतः सहस्राणि ध्येयानि हसद्रूपाणि क्षणमुपविष्टानि क्षणं प्रचलितानि च ॥ २२ ॥ इयं प्रथमगतिरुत्तरश्लोकोक्तगतिपर्यन्तमनुसन्धेयोत्तरोत्तरपुष्टा, उत्तरस्यादिना पूर्वावसानस्य न्यायसिद्धत्वात्, द्वितीयमाह **तावङ्घ्री**ति, गतिविलासा अत्र निरूप्यन्ते, प्रथमतोलसवलितगतिः, **तावु**भावपि, एको भगवानिति न वैलक्षण्यं, **जानुभ्यामेव** गच्छन्तौ मध्येमध्ये जानुपीडामिव भावयन्तौ, **अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य** पादाग्रमधोमुखं कृत्वा जानुपर्यन्तं भूमिष्टं विधाय शनैराकृष्य पश्चाच्छीघ्रं **सरीसृपन्तौ** द्रुतं गच्छन्तौ भवतः, तथा गमने हेतुमाह **घोषप्रघोषरुचिर**मिति, **घोषः** शब्दः प्रकृष्टो **घोष**स्ताभ्यां **रुचिरं** यथा भवति तथा प्रथमं गच्छन्तौ नूपुरक्षुद्रघण्टिकादीनां वादनमाकर्णयन्ताविव शब्दे दत्तकर्णौ शब्दगतिं विचारयन्ताव**ङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य** शनैश्चलितौ, स शब्दः किं स्वाभरणादेव जायतेन्यस्मादिति वेति विचारयितुं गतेः शैघ्र्यं कुरुतः, तदा **प्रघोषो** भवति, तस्यापि विचारार्थं पुनः स्थितौ भवतः, तदा **प्रघोषेण रुचिरं** यथा भवति तथा **सरीसृपन्तौ** भवतः, पुनरेवं **घोषप्रघोषाभ्यां** बहुधा गतितरतमभावं प्राप्तौ **व्रजकर्दमेषु** गतौ भूमिदेहसम्बन्धकृतशब्दवैलक्षण्यग्रहणाय, तत्रापि चेच्छब्द आभरणानामेव नान्यस्येति **तन्नादहृष्टमनसा** जातौ, अस्मद्गत्या तदनुगामी शब्दोपि रुचिरो भवतीत्येवं बहुधावृत्तिर्मनःपरितोषार्था, अनेन भगवान् चरित्रं कृत्वा तत्प्रतिपादकं च वाक्यं विधायोभयोर्योग्यतायां सन्माननं वक्तुः श्रोतुश्च करोतीति लक्ष्यते, एवं तयोरेव परस्परं गतिलीलामुक्त्वान्यानुरोधेनापि गतिलीलामाहानु**सृत्य लोक**मिति, यं कञ्चित् स्त्रियं पुरुषं वा गच्छन्तमनुगच्छन्तौ गन्तव्यमेवेति कथमन्यथायं गच्छेदिति कियद्दूरं गमनानन्तरं तस्मिन् परिवृत्य दृष्टे दूरं गते वा **मुग्धप्रभीतवत् स्वमातुरन्ति** समीप **उपेयतु**रितिसम्बन्धः, गमने ज्ञानद्वयं, अस्मदीयाः केचन गच्छन्तीत्यतोस्माभिरपि गन्तव्यं गन्तव्यमेव वा, तथा सत्येकाकिना न गन्तव्यमिति तस्मिन् दूरं गते पश्चात् पुरस्ताच्चासहायमात्मानं मत्वा भीतौ भवतः, व्यावृत्य प्रदर्शने तु नायं मदीय इति मुख एव परिचयात् धर्मान्तरे तथा बुद्ध्यभावात् **मुग्धवत्** परावृत्तिर्भवति, **मुग्धश्चासौ प्रभीतश्चे**ति, प्रकर्षभये मुग्धभावोपि हेतुः, अन्यथा भये कारणाभावात् "तस्मादेकाकी बिभेती"ति भयमात्रकरणत्वेपि **प्रकर्षभये** नान्यो हेतुः, गमनागमनलीला शीघ्रं सिद्धैव तथापि मुग्धभीतभावौ गमनागमनयोः क्रमेण सौन्दर्यसूचकौ, उभयत्र वा, तथैकाकिना नात्र स्थातव्यमिति गमनं, बालकयोः परिचयो मातर्येवावशिष्ट इति वदिति, ज्ञात्वापि तथानुकरणेन पुनर्गमनागमने, तत्र हास्यादिना बहवः प्रकारा भावुकानां मनोहरा भवन्ति, **लोक**मित्यालोकवन्तमुज्ज्वलवस्त्रादियुक्तं, **मात्रोरन्ती**त्यनेनैव सामीप्ये सिद्धे **पुनरुपे**तिग्रहणं कदाचिदागत्योपर्येव पततः कदाचिन्मध्ये कदाचिद्दूरविप्रकर्षेणेतिप्रकार-

भेदज्ञापकम् ॥ २३ ॥ एवं नानाविधगमनागमनाभ्यामुपविष्टलीला स्वतन्त्रतया बहुधा वर्णिता, मात्रा सह नानाविधक्रियाभिः सहितस्योपविष्टस्य लीलामाह **तन्मातराविति**, यशोदारोहिण्यौ **निजसुतौ** स्वं स्वं सुतं **घृणयोत्कण्ठ्यस्नेहेन स्नुवन्त्यौ पङ्क** एव योयमङ्गरागस्तेन **रुचिरौ दोर्भ्यामुपगृह्यालिङ्ग्य स्तनं दत्वा पिबतोश्च मुखं** निरीक्ष्य **प्रकर्षेण मोदं ययु**रितिसम्बन्धः, नृत्यन्ताविव समागच्छन्तौ धृत्वा वा नृत्यं कुर्वन्तौ मातृप्रेरणया वान्यप्रार्थनया वा नृत्यन्तं पश्यन्तौ वा, स्तोत्रे पञ्चधा नृत्यं हेतुः, लीलाभावाश्चासङ्ख्याताः, रोपभावाश्च त्रिविधाः स्तोत्रविषयाः, तत्र स्तोत्रं द्वेधा सम्भवति परमार्थतो लोकतश्च, लोकतो **घृणा, घृणयास्नुवन्त्या**विति पदच्छेदे परमार्थतः स्तोत्रं, **घृणयो**पलक्षिते वा **मातरौ**, भगवद्व्यतिरिक्ते सर्वत्र घृणा सञ्जातेति, 'सघृण' इत्यादौ 'घृणा' स्नेहदयाप्युच्यते, भगवत्कर्तृकोपगूहनदशा भिन्ना ताभ्यामुपगूढयोरन्या, अत्रापि बहवो भेदाः सम्भवन्ति, स्तनपानदशा तु स्वतन्त्रा, आलिङ्गितयोर्वा भयाभावात् स्तनपानं, **निरीक्षणलीलापि** बहुविधा, सर्वत्र **प्रमोदः** फलमुभयोर्मातृत्वमन्यथा शङ्कितं भविष्यतीति बुद्धिदार्ढ्यार्थं निरूपितं, भगवतोपि मातरि वैलक्षण्यभावाजननार्थं **निजसुता**-वित्युक्तं, भगवत्सम्बन्धेपि सर्वपुरुषार्थानां भगवद्रूपेण भिन्नतया वा ज्ञानाभावाय **घृणा** निरूपिता, भौमाः सर्व एवावयवास्सुगन्धा भवन्ति, विजातीयैश्चोपहता अन्यथा भवन्त्यलौकिकं तेजश्चेद् भवति तदोत्तमता भवति, तत उच्यन्ते कस्तूरी-कुङ्कुमचन्दनादिष्वङ्गरागपदानि, वस्तुतस्तु मृदवयवा एव गन्धतेजोभ्यां सहितास्तथा व्यपदिश्यन्ते, भगवत्सम्बन्धाद् दोषनिवृत्तिपूर्वकगुणाधानमुचितमेव, अतः **पङ्कस्याङ्गरागत्वं, पङ्क**पदप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते, **अङ्ग**सम्बन्धानन्तरमेवाङ्गरागत्वमिति, **रुचिरा**विति परमार्थापेक्षयाधिक्यं सूचयति, स्वेनैव **ह्यङ्गराग**त्वं सम्पादितं स्वतेजसानुभावेन वा पुनस्तेनैव **रुचिरत्व**-मङ्गरागस्य माहात्म्यख्यापनाय, ततोप्यधिकतेजस आविर्भावः प्रत्यक्षतः पङ्कदर्शनयुक्तयोरपि **पङ्काङ्गरागरुचिरत्वं** निस्सन्दिग्धं भावितमिति **दोर्भ्यामुपगूहन**मुक्तं, निर्दुष्टभाव एव भगवत्युचित इति न तु दोषत्वमङ्गीकृत्य, अविहितभावख्यापनार्थं **दत्वा स्तन**मित्युक्तं, अन्यथा मुक्तिलीलायां प्रवेशः स्यात्, गमनागमनाभ्यां बालकाः क्षुधिता इति **प्रकर्षेण पानं**, नन्वेवं स्त्रीणां बाललीला कथं भवद्भिरवगता योगे ध्याने वा कैवल्यस्यैव भाव्यत्वाद् गमनं तु नास्त्यवर्णितत्वादित्याशङ्क्याह **स्मेति**, सर्वलोक-प्रसिद्धैषा लीला, अतो नालौकिकप्रकारो ज्ञाने वक्तव्यः, **मुख**मित्येकवचनमेकस्यावेशितत्वेन प्रकटमेकमेव मुखमिति ज्ञापयितुं, तदग्रे विस्तरेण वक्ष्यते, ननु मुखस्य भक्तिरूपत्वात् तत्र सम्यङ्**निरीक्षणे** जाते कथं लौकिकभावः सिध्येदित्याशङ्क्याह **मुग्धस्मिताल्पदशन**मिति, **स्मितस्य** दन्तानां च मायास्नेहरूपत्वान्मोहकत्वं, **मुग्धं** सुन्दरं **स्मितमल्पता** स्वासक्तिजनकता च निरूपिता, मोहकं त्वन्यत्रैवासक्तिं जनयति, **अल्पदशनानि** च, तथा क्षीरकणसहिता दन्तपङ्क्तिरुक्ता, अतो लौकिकालौकिक-भावयोर्मिश्रणात् **प्रकृष्टो मोदः** ॥ २४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

कालेन व्रजतेत्यत्र आभासोक्तौ, **तस्मिन्नेवाधिदैविके** गच्छतीति । नन्वेवं सति गतेर्गमनमुक्तं भवतीत्यनुपपन्नमिति चेत्, अत्रेदं प्रतिभाति । उत्तरदेशसम्बन्धफलिका हि गतिः, तत्तत्कालविशिष्टा लीला च नित्यत्वेन विद्यमानैव क्रमेणाच्छाद्य क्रमेणा-विष्क्रियत इति रिङ्गणादिलीला यस्मिन् काले स कालोधुना प्रकटित इत्ययमेव पूर्वलीलाकालस्योत्तरदेशस्थानीय इत्युक्तन्यायेन तत्सम्बन्धित्वे जाते तदाधेयरिङ्गणलीलामपि प्रकटितवानिति हृदयम् । तथा च लीलानित्यत्वज्ञापनाय कालेन व्रजतेत्युक्तमिति सारम् **उपविष्ट**मित्यादि । उक्तत्रिविधरूपस्यैवानुवादोयम् । **अन्याश्रित**मित्यादि । कथञ्चित् केनाप्यंशेनान्याश्रितं रूपमित्यर्थः । स्वतः स्वातन्त्र्येण क्रियमाणलीलाविशिष्टं रूपमित्यर्थः । **सर्वथा** । सर्वांशेन स्वतः क्रियमाणलीलाविशिष्टं रूपमित्यर्थः । **निर्गुणेति** ताभिश्चरित्रे ज्ञापिते सति तदनन्तरं ताभिः परिदृश्यमानं निर्गुणावस्थवेद्यं रूपमित्यर्थः । अखिलैतत्प्रकरणतात्पर्यमाहुः **सात्त्विकादी**ति । सात्त्विकादिभेदोपलक्षितास्ते ते ये पुरुषास्तत्तद्धृदयगामिनि रूपे सति सा हृदयस्थितिस्तथा कृत्वान्तिमे रूपे स्थिरा भवति, स्वरूपमात्रनिष्ठा भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ **गोकुले रामकेशवा**वित्यत्र, रिङ्गणलीलायां केशकृतः शोभातिशयो भवतीति तत्राधिक्यं मन्वानैरुक्तम्–वस्तुतस्त्वित्यारभ्यापेक्षाभावादित्यन्तम् । भगवद्वाचकत्वे योर्थस्तमनूद्य तत्रारुचौ हेतुमाहुः **प्रत्ययेति** । मत्वर्थीयवत्प्रत्ययाभावे तत्सौन्दर्यालाभादिति भावः । उभयोस्तरतमभावेपि गतिसाम्ये हेतुमाहुः **भगवद्गतित्वेनेति** । बलदे-वेप्याविष्टस्यैव गतिर्निरूप्यते । सा **चैकैवेति** तथेत्यर्थः । वयसोधिकत्वेन बलदेवरिङ्गणं पूर्वं कुतो नोक्तमित्याशङ्क्यात्र भगवद्-गतिरेव वाच्या तत्सम्बन्धश्चात्र नामकरणमारभ्येति भगवद्रिङ्गणलीलासमय एव तदुक्तिरपीत्याशयेनाहुः **भगवत्सन्निधान** इत्यादि । पाण्योः सहभावोक्त्या गौणत्वोक्तिपूर्वकं रिङ्गणे जानुनोः प्राधान्येन निरूपणस्य तात्पर्यमाहुः **जानुभ्यामिति** सर्वमूल-रूपत्वेनैतयोः सुतलाधिदैविकरूपत्वमुच्यते । 'द्वे जानुनी सुतल'मिति वाक्यात् । तथा च रिङ्गणलीलायां जानुनोरपि घर्षणं संभवतीति तमंशमादायेदमुक्तम् । घर्षणे पीडासंभवात् तस्याश्चात्रायुक्तत्वाल्लोकसाम्येन सर्वकरणात् तज्जनितकिणधारणेनापि सा तदपास्य दैत्यगामिनीति मन्तव्यमिति भावः । न च जानुनोरेव सहभावो वाच्य इति वाच्यम् । अस्या लीलायाः प्रथमगति-रूपत्वेन तस्याश्च पदधर्मत्वेन तयोरेव प्राधान्यस्योचितत्वादिति भावः ॥ २३ ॥ **उज्झितगृहा** इत्यत्र, सूचितमानुषङ्गिकमप्यर्थ-

मुक्तवन्तः **एवं कर्मभ्य** इत्यादिना । **प्रेक्षन्त्यो** ज्ञानपरा इत्यादि । उक्तत्रिविधासु तासु मध्ये त्वाद्याः कौतुकं मत्वा वत्सपुच्छालम्बनेन गतिं द्रष्टुमेवोद्यता इति ज्ञानपराः । प्रियदर्शनकटाक्षस्पर्शादिरसाविष्टानामन्यत्र रागाभावः स्पष्टः । तृतीयास्त्वेकाकी प्रियः प्राप्त इति सन्तोषाद्धसन्त्यो जाताः । **विनियोगस्त्विति** । उक्तत्रैविध्यकथनेनेत्यर्थः । अङ्गं नयन्तीत्यङ्गे वा नयन्तीति तथेति तदुक्त्येति वा ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

इतीत्यत्रादेशपदव्यञ्जितमर्थमाहुरन्यथेत्यादि, इयमाज्ञा न केवलं गर्गेण दत्ता किन्तु गर्गद्वारा भगवता, तथा चाग्रे तथा तदकरणे लौकिकालौकिकानुभवाभ्यां गर्गो भगवांश्च तथेत्यर्थः, यद्वात्मानं **पूर्णं मेने नन्द** इति व्यञ्जितमर्थमाहुर्भगवान् **गर्गद्वारा** तत्रत्येभ्यो स्वस्वरूपादिज्ञानं दत्तवांस्तथा च तदग्रहणे तथेत्यर्थः, अत्रात्मानं भगवन्तमित्यप्यर्थो ज्ञेयः, **बालकयो**रिति गृहं प्राप्तयोः सतोरित्यर्थः, एवमग्रेऽपि ज्ञेयं, ननु गर्गातिरिक्तानां स्थलविशेषे गोकुल एव स्थितत्वात् किं स्वस्वगृहप्राप्तिकथनेनेत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुर्गोकुलेपीति, मध्येमार्गं गमनागमनप्रश्नः कैरपि न कृत इतिभावः, अत एवात्मानं भगवन्तं **पूर्णत्वेन** ज्ञातवान्, भगवत्स्वरूपज्ञानस्य स्नेहविरोधित्वाभावान् न रक्षणाद्यनुकूलकृत्यादौ बाधकमिति सर्वं सुस्थं, नामकरणं च फाल्गुनशुक्लाष्टम्यां गर्गाचार्येण कृतमिति पद्मपुराण उत्तरखण्ड उक्तमष्टमीमुपक्रम्य 'फाल्गुनामलपक्षे च गर्गो नामाकरोत् तयो'रिति वाक्यात् ॥ २१ ॥ **कालेनेत्यस्याभासे कालरूपेति** 'योयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहु'रितिवाक्यात् तथा, **दशभिरिति** यद्यप्यत्रैकादश श्लोकास्तथाप्येकस्मिन् रूपं न निरूपितमतो रूपनिरुपकैर्दशभिरित्यर्थः, **आधिदैविककालगमनेन** भगवद्गतिर्योक्ता तत्र टिप्पण्यामाशङ्क्य समादधते नन्वित्यादि, हीति क्रियेतिशेषः, **सुबोधिन्यामयमित्यधुना प्रकटितकाल;** **उक्तन्यायेनेत्या**च्छादनप्रकटनन्यायेन, तथा च न **गतेर्गमनं** किन्त्वाच्छादनप्रकटनाभ्यां गतिप्रतीतिर्वस्तुतः कालविपर्ययेणैवेति काल एव **रिङ्गणलीलेति** न गतेर्गतिरित्यर्थः, तदेतन् निगमयन्ति **तथा चे**त्यादि, **कारिकायां गतौ गतिविशेषे** चेत्यत्र निमित्तात् सप्तमी, मतमिति क्रियां प्रति **रूपद्वयस्यापि** कर्मत्वादिति, **कारिकाविवरणे यशोदायामुपविष्टरूपे** त्रिःप्रकारकत्वभ्रमवारणाय त्रिधापदतात्पर्यमाहुष्टिप्पण्यामुप**विष्टे**त्यादि, **उपविष्टेत्रिधा मत**मित्यनेनोक्तं यत् त्रिविधं रूपं तस्यानुवाद इत्यर्थः, तथा च भूमिष्ठाभ्यां रूपाभ्यां सहितमुपविष्टं तृतीयमिति सिध्यति, **अन्याश्रितेति**कारिकोक्तं रूपत्रयं विवृण्वन्ति **कथञ्चि**दित्यारभ्य **विशिष्टमित्यर्थ** इत्यन्तं, अत्र **कथञ्चि**दित्यनेन तृतीयश्लोकोक्तं रूपं विवृतं, **स्वत** इत्यनेन प्रथमश्लोकोक्तं **सर्वथे**त्यनेन द्वितीयश्लोकोक्तमितिविवेकः, **किञ्चोत्थितरूपेषु** प्रथममन्या**श्रितं** द्वितीयं **कथञ्चित् स्वतो** गतियुक्तं तृतीयं **सर्वथा स्वतो** गतियुक्त**मुत्थितरूपमिति** ज्ञेयं, **बालकरितिकारिकायां मुग्धलीला**द्येत्यनेन सात्त्विकी लीला विवृता ज्ञेया, ''ततस्तु भगवा''नितिश्लोकोक्तकारिकाशेषं विवृण्वन्ति **ताभिरि**त्यादि, कारिकायोजना तु **बालकैः** सह **मुग्धलीलाद्या** तथा च तल्लीलाविशिष्टमेकमुत्थितं रूपमित्यर्थः, **ताभिरि**त्यादिना विवृतं **धौर्त्यधार्ष्ट्यचरित्रयुक्तं रूपद्वयं ताभि**वक्ष्यमाणं **निर्गुणावस्थं** चेति सात्त्विकलीलातः परं रूपत्रयं ज्ञेयं, **सात्त्विके**त्यादिकारिकामवतार्य व्याकुर्वन्त्या **खले**त्यादि, **सुबोधिन्यां** लीलाप्रयोजनमाहुर्यशोदेतिकारिकया, **यदैवे**त्यादि ता यशोदाप्रभृतयो यद्यपि नाम्ना निरुद्धास्तथापि गृहकार्यस्यावश्यकत्वात् तत्करणे **यदैव** यथा व्यग्रा जायन्ते **तदैव** तथा स्वरूपं प्रकटयतीत्यर्थः, विवृतावुपविष्टस्येति भूमावुपविष्टस्य, ननूभयनामकरणं श्रीवसुदेवप्रेरणयेति द्वयोस्तत्कथनं युक्तं **रिङ्गणलीला** द्वयोर्योच्यते तत्र किं प्रयोजनमत आहुः **रामे**त्यादि, **भगवदावेशादिति** पुरुषोत्तमावेशात्, अयं भगवत उभयत्वसाधने हेतुर्न तूभयोर्भगवत्त्वसाधन इति, तदिदं ''यद्वा''तिश्लोके ''स्वत आवेशतश्च क्रीडती''त्यनेन स्फुटीभविष्यति, तथा च यतः श्रुतौ ''स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास''तिरमणेच्छायां स्वस्यैतावत्ताश्रावणादत्रापि स्वयमेव स्वरूपावेशाभ्यां द्विरूपो भूत्वा प्रथमं क्रीडतीतिबोधनमेव **प्रयोजन**मित्यर्थः, ननु विशेषाभाव उभयत्वस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां नामभ्यां बोधितं तमाहुर्योगीत्यादि''रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयत'' इतिरामतापनीयश्रुतेर्योगिध्येयो रामो वक्ष्यमाणरीत्या ब्रह्मादिवन्द्यश्च केशव इत्यस्ति विशेषोतो रामकेशवावित्यर्थः, एवं रूपद्वये विशेषमुपपाद्य प्रकृतोपयोगाय केशवशब्दस्यार्थान्तरमपि सङ्गृह्णन्ति मत्वर्थाय इत्यादि, नन्वेवं सत्यर्थद्वये को वा ज्यायानित्याकाङ्क्षायामाहुर्वस्तुत इत्यादि, तत्तात्पर्यमाहुष्टिप्पण्यां रिङ्गणेत्यादि भाव इत्यन्तं, तथा च निरोधोपयोगित्वाल्लौकिकोर्थ एव ज्यायानित्यर्थः, ननु रामस्य ज्येष्ठत्वेन कृतमुण्डनतया केशवत्त्वाभावेन कथं निरोधोपयोगितेत्याकाङ्क्षायामुभयोरित्यादिना यत् सुबोधिन्यामुक्तं तत्तात्पर्यमाहुरुभयोरित्यादि, तत्सम्बन्ध इति बलदेवसम्बन्धः, तथा च गत्यव निरोधसम्भव इत्यर्थः, सुबोधिन्यां प्राथमिकी क्रीडा स्वस्वरूपेणवेतिश्रौतार्थबोधनायाहुर्नामद्वारेत्यादि, तद् विवृण्वन्ति टिप्पण्यां पाण्योरित्यादि, सुबोधिन्यां सम्पूर्ण इत्याद्यनेनार्थान्तरं व्याख्यातं ज्ञेयं, सहपदप्रयोग इति मध्य इति शेषः, रिङ्गणलीलानिरूपणप्रयोजनमाहुरेवंरूपाणीत्यादि ॥ २२ ॥ तावङ्घ्रीत्यत्र द्वितीयमाहेति गतिविशेषविशिष्टं रूपमाह, गतावलासा इति गयः ह्रेत्ता विहाराः शोभा वा, अलसवलितगतिरित्यङ्घ्रियुग्मानुकर्षणेनालसा सरीसृपन्ताविति यङ्लुगन्तनक्ता द्रुता गतिवालता तां व्याकुर्वन्ति जानुभ्यामित्यादि, मनःपरितोषार्थेत्यलौकिकरतानां स्वीयानां परितोषार्था, तद् व्युत्पादयन्त्यनेनेत्यादि लक्ष्यत

इत्यन्तं, तथा च शकटभङ्गलीलायां यथा 'संसारकालचक्र' इत्यादिना तल्लीलातात्पर्यं बोधितं तथात्र रिङ्गणलीलायामिदं तात्पर्यमजहत्स्वार्थया लक्ष्यत इत्यर्थः, अत्र नादपदस्याऽव्यक्तशब्दवाचित्वात् तेन परोक्षरूपं वाक्यं लक्ष्यते हृष्टमनस्त्वेन वक्तृश्रोतृसन्माननं चेति ज्ञेयं, अनुसृत्येत्यस्य नानुकरणमर्थः किन्त्वनु पश्चाद्गमनमित्याशयेनाहुर्यं कश्चिदित्यादि, परिवृत्य दृष्टमित्यादि कर्मणि क्तः, पश्यति सतीत्यर्थः, मुग्धप्रभीतभावहेतुं विवृण्वन्ति गमने ज्ञानद्वयमित्यादि ॥ २३ ॥ तन्मातरावित्यत्र रोषभावाश्च त्रिविधा इति मन्दमध्यात्यन्तभेदेन त्रिविधा इत्यर्थः, एते च लौकिकस्तोत्रविषया लीलाभावाश्च परमार्थस्तोत्र-विषया इति ज्ञातव्यं, ननु परमार्थस्तोत्रे घृणया स्तुवन्त्याविति न सङ्गच्छत इत्यत आहुरस्तुवन्त्यावित्यादि, "घृणा तु स्याज् जुगुप्सायां करुणाया"मिति हैमकोशात् तस्यार्थद्वयमभिप्रेत्य व्याकुर्वन्ति भगवदित्यादि सघृण इत्यादि च, अत्र भगवद्भावनार्थं तां तां दशामनुभूय व्याकुर्वन्ति भगवत्कर्तृकेत्यादि, तन्मातराविति पदतात्पर्यमाहुरुभयोरित्यादि, उभयोर्यशोदारोहिण्यो-र्मातृत्वं स्तन्यदानद्वारकं शङ्कितं भविष्यतीति हेतोस्तयोः पुत्रत्वबुद्धिदार्ढ्याय तन्मातृपदं निरूपितमित्यर्थः, घृणापदतात्पर्य-माहुर्भगवत्सम्बन्ध इत्यादि, भगवद्रूपेणेति भावप्रधानो निर्देशः, निरूपितेत्यर्थद्वयेन निरूपिता, लौकिकभाव इति पुत्रभावः, मायास्नेहरूपत्वादिति "हासो जनोन्मादकरी च माया मोहादयः स्नेहकला द्विजानी"तिवाक्यात् तथा, लौकिकभावसिद्धिं व्युत्पादयन्ति मोहकं त्वित्यादि, तथा च स्मिताल्पदशनस्वरूपं धर्मद्वयं मोहकं सदन्यत्र लौकिकत्वेन भासमाने पुत्र एवासक्तिं जनयतीति तथेत्यर्थः ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इत्यात्मानमित्यत्र **गर्गकर्मणोरि**ति उपदेशनामकरणयोरित्यर्थः ॥ २१ ॥ **कालेन व्रजते**त्यस्याभासे **कालरूपेति काले** आधिदैविके रूपं स्वरूपं यस्या इति टिप्पण्यनुसारेणार्थः, अत्र टिप्पण्यां, **नन्वेवं सती**ति कालरूपेतिपदस्य कालस्वरूपेति प्रातीतिकार्थमादाय शङ्केयं, **अधुना प्रकटित** इति अस्मिन्नाधिभौतिके काले सम्बद्धो जात इत्यर्थः, **अयमेवे**ति अधुनापदेनोक्त आधिभौतिककाल एवेत्यर्थः, **पूर्वे**ति पूर्वसिद्धाया रिङ्गणलीलायाः कालस्याधिदैविकस्येत्यर्थः, सुबोधिन्यां, **स्वतो व्रजते**ति लीला-कालस्य भगवदात्मकत्वात् स्वत एव तत्तल्लीलाचिकीर्षां ज्ञात्वा व्रजनं न तु सूर्यगत्येतिभावः, ननु रामस्य ज्येष्ठत्वात् कथं गत्यादिषु भगवत्साम्यमित्यत आहुः **नामकरणेने**ति, इदमेव विवृण्वन्ति **उभयोरि**ति, ननु भक्तत्वाद् बलिरेव कुतो दैत्यान् न निवारयतीत्यत आहुः **बलिरि**ति, पतित्वेन तत्सम्बन्धेन किञ्चिदासुरावेशान् न **निवारयती**त्यर्थः, भक्तत्वाद् भगवता मर्दने कृते प्रतीकारमपि न करोतीति **स्वत** इत्युक्तम् ॥ २२ ॥ **तावङ्घ्री**त्यत्र **अलसेति अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्ये**त्यनेनोक्तं, शनैः **कर्षणमल-सगतिः, सरीसृपन्तावि**ति यङ्लुगन्तेनोक्तं द्रुतगमनं **वलितगतिः** 'नित्यं कौटिल्ये गता'वित्यनुशासनेन तद्गतौ कौटिल्यसूच-नादितिभावः, इदं गतिद्वयं प्रथमतः पूर्वार्धे उक्तमित्यर्थः, **अनेन भगवानिति चरित्रं** गतिस्तस्य **प्रतिपादकं वाक्यं** शब्दः, भगवतः शब्दमात्रस्य सार्थकत्वाद् वाक्यत्वं, अत एव निःश्वासस्य वेदत्वं, व्यवधानेप्याभरणशब्देन गतिज्ञानं भवतीति तत्प्रति-पादकत्वं, **उभयोरि**ति वक्तृश्रोत्रोरित्यर्थः, आभरणानां वक्तृत्वं भगवतः **श्रोतृत्वं**, तेन हर्षः **सम्माननं, तस्मिन् परावृत्त्ये**ति स्थिते इतिशेषः, परावृत्त्य स्थिते तस्मिन् भगवता दृष्टे सतीत्यन्वयः, गन्तव्यमेवेति पक्षमाहुः **तथा सती**ति, आद्यपक्षमाहुः **व्याघुट्येति, उभावुभयत्र वे**तिपक्षे गमने भीतभावं साधयन्ति **तदेति, बालकयोर्मातरि विशिष्टः परिचयो** भवति सा त्वत्र नास्त्यत **एकाकिनात्र न स्थातव्यमिति** हेतोर्भयेन **गमनं**, परिचिते स्थलान्तरे इतिशेषः ॥ २३ ॥ **तन्मातरावि**त्यत्र नृत्यादिभावैः स्तोत्रं विवृतं, अनुभवद्भिरुक्तत्वान् नातीव शब्दार्थाग्रहोत्र कर्तव्यः, **लोकतो घृणे**ति अत्र घृणा कुत्सितत्वेन ज्ञानमित्यर्थः, **भगवत्सम्बन्धेपी**ति तथा च भगवदतिरिक्तपुरुषार्थानां स्फुर्तिरेव न जाता, सर्वत्र घृणैव जातेत्यर्थः, **सुगन्धा भवन्ती**ति दोषस्य सत्तिरोभावरूपत्वादादितः सुगन्धा एवेत्यर्थः, **विजातीयैश्चे**ति तिरोहितसदंशगन्धैर्दुष्टगन्धैरित्यर्थः, **अन्यथे**ति तिरोहितसदंश-गन्धा दुष्टगन्धा भवन्तीत्यर्थः, मूलेच्छया सत्तिरोभावो विजातीयोपहत्या च तथेति चकारः, **अल्पते**ति दशनानामितिशेषः, अतः स्वत्वभावपूर्विकाया **आसक्तिस्तज्जनकतो**क्तेत्यर्थः, उभयोर्लौकिकभावसाधकत्वं विवृण्वन्ति **मोहकं त्विति, अल्पेति** तथा स्वत्वरूपोपाधावासक्तिं जनयन्तीत्यर्थः, तथा चोभयोरन्यत्रासक्तिजनकत्वाल् लौकिकभावसाधकत्वमितिभावः, **अत** इति विशेष्यस्य मुखस्य तादृशविशेषणवत्त्वादित्यर्थः, मुखस्य भक्तिरूपत्वादलौकिकभावसाधकत्वं विशेषणस्योक्तरीत्या **लौकिकभाव-**साधकत्वं ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

इत्यात्मानं समादिश्येत्यस्य विवृतौ **आदेश आज्ञे**ति आदेशशब्दादवश्यं मन्तव्यत्वे हेतुरुक्तः, **अन्यथे**ति यदि गर्गोप-दिष्टं यथावन् न मन्येत तदा गर्गः क्रुध्येदित्यर्थः ॥ २१ ॥ **कालेन व्रजते**त्यादिदशश्लोकार्थनिरूपणे कारिका, **गतौ गतिविशेषे** चेत्यादि, "कालेन व्रजते"त्यनेन **गतिनिरूपणं**, "तावङ्घ्री"त्यनेन **गतिविशेषः, यशोदायां तथारूपमि**ति 'तन्मातरौ निजसुतौ' इत्यनेनोक्तं, एवमुपविष्टं त्रिधा, **अन्याश्रितमि**ति "वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणा" वित्यनेन वत्साश्रितत्वेन **अन्याश्रितत्वं,**

स्वतश्चैव कथञ्चिदिति कथञ्चित् केनापि प्रकारेण स्वतः क्रीडारतमित्यर्थः, "शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्य" इत्यत्र स्वतः क्रीडाकर्तृरूपकथनात्, **सर्वथा तथेति** सर्वथा क्रीडाकर्त्रित्यर्थः, "कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोव्रजे" इत्यत्र तथा निरूपणात्, **एवमुत्थितं स्वरूपं त्रिधा ज्ञेयं बालकर्ममुग्धलीलायेति** "ततश्च भगवान् कृष्ण" इति वाक्यात्, **धाष्टर्य धौर्त्यसमन्विते** इति **लीले** इति विशेष्यं, तथा च **बालकैः** सह मुग्धलीला धाष्टर्यधौर्त्यसमन्विते द्वे लीले, एवं लीलात्रयं, लीलात्रये रूपत्रयं भवति, धाष्टर्य-धौर्त्यसमन्विते रूपे इति वा, एवं च बालकैः सह मुग्धलीलाविशिष्टं धाष्टर्यधौर्त्यसमन्वितं चेतिरूपत्रयं ज्ञेयं, एवं उपविष्टं त्रिधा, उत्थितं च त्रिधा, मुग्धलीलाधाष्टर्यधौर्त्यलीलासमन्वितं चेति नव रूपाणि, "कालेन व्रजताल्पेने"त्यस्य विवृतौ **योगिध्येय** इति राम इत्यर्थः, "रमन्ते योगिनोनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि" इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयत" इति श्रुतेः, यद्यपीदं रामतापि यामुक्तत्वाद् दाशरथिमेव वक्तीतिवक्तुमुचितं तथापि परब्रह्मणो यत्रैव राम इति संज्ञा तत्रेयमेव व्युत्पत्तिरिति बोध्यं, प्रकृते बलरामे पुरुषोत्तमावेशात् सर्वे पुरुषोत्तमधर्मा अत्र वक्तुमुचिता इति निरवद्यमखिलं, ब्रह्मादिवन्द्यश्चेति मूले केशवपदमुक्तं तस्य च कश्च ईशश्च केशौ तयोर्वं सुखं यस्मादितिव्युत्पत्तेः, **जानुभ्यां रिङ्गणं विष्णोर्दैत्यानां मर्दनाय हीति** इह जानुगमनतात्पर्यमिदं यदुक्तं तच्छुकनारदादीनां माहात्म्यज्ञानयुक्तभक्तानां स्फुरति, तद्दृष्ट्यैवमुक्तं, ते हि विचारयन्ति, प्राकृत-बालवज् जानुभ्यां भगवान् गच्छति, तत्र प्राकृतबालस्त्वधिकसामर्थ्याभावाज् जानुभ्यां गच्छति न तथा हरिः, सर्वदा सर्व सामर्थ्ययुक्तत्वात्, न च विद्यमानेपि सामर्थ्ये तथा करणं प्रदर्शनार्थमितिवाच्यं, तथा सत्येतल्लीलाया अस्वाभाविकत्वापत्तेः, एवं सति जानुभ्यां गमनं दैत्यानां मर्दनार्थं करोतीति युक्तः पन्थाः, सेयं आध्यात्मिकपक्षे व्यवस्था ज्ञेया, आध्यात्मिकपक्षस्य ज्ञानप्रधानत्वेन वस्तुविचारस्यावश्यकत्वात्, दैत्यमर्दनं यद्यपि सङ्कर्षणकार्यं तथापि पुरुषोत्तमे सर्वेषां व्यूहानां विद्यमानत्वात् सापि लीला तत्रोच्यते इति न दोषः, एवमेव पुरुषोत्तमे मस्तकादौ सत्यलोकत्वादिरूपताकथनं पुरुषरूपस्य तत्र सत्त्वेति बोध्यं, पुरुषोत्तमांशपुरुषशिरसः सत्यलोकरूपत्वात्, "सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः" इति वाक्यात्, न हि साक्षात्पुरुषोत्तमस्य शिरः सत्यलोकरूपं भवितुमर्हति, केवलमानन्दरूपत्वात्, अतः पुरुषोत्तमांशपुरुषसत्तामादाय तथोच्यते इति सुबोधिन्यां सर्वत्र ज्ञेयं, प्रकृतेपि "द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते"रितिवाक्यात् जानुनोः सुतलरूपत्वात् तत्र च दैत्यानां स्थितेर्जानुसङ्घर्षणेन दैत्यमर्दन-मुच्यते तदपि पुरुषरूपस्य भगवति सत्त्वात् युक्तं, न तु साक्षात्पुरुषोत्तमस्य जानुनी सुतलरूपे आनन्दमयत्वादिति दिक्, आधिदैविकपक्षे तु केवलं जानुभ्यां गमनं भगवतो बालरूपत्वात् तादृशरूपलीलयोर्नित्यत्वात् स्वाभाविकत्वेन बाललीलाधि-कारिणां परमानन्ददानार्थमेवेत्याकलितव्यं, आधिदैविकपक्षस्य लीलाप्रधानत्वेनानन्दमयत्वात् ॥ २२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

"**कालेन व्रजते**''त्यत्र **गतौ गतिविशेषे चे**त्यादि का० ४९३ । 'कालेन व्रजते'त्यत्र **गति**लीला, "तावङ्घ्रियुग्म"मित्यत्र **गतिविशेषः**, एवं **भूमावुपविष्टं हरे रूपद्वयं**, "तन्मातरौ निजसुता"विति श्लोके **यशोदायामुपविष्टं रूपमेकविधं**, **एवमुपविष्टं रूपं त्रिधा मतं, अन्याश्रितमि**ति का० ५०३ । **कथञ्चिदन्याश्रितं रूपं, स्वतः** स्वातन्त्र्येण क्रियमाणलीलाविशिष्टं रूपं, **सर्वथा** सर्वांशेन स्वतः क्रियमाणलीलाविशिष्टमितियोजना टिप्पण्यनुसारिणी, तथा चैवं विवेकः, "यर्ह्यङ्गने"ति श्लोके **कथञ्चिदन्याश्रितं** रूपं ज्ञेयं, यद्यप्याभासे स्वतः स्थितयोर्लीलामाहेत्युक्तं तथापि वत्सपुच्छावलम्बनेन कथञ्चिदन्याश्रितत्वं बोध्यं, अत एव श्लोकव्याख्यासमाप्तौ "गोपुच्छधारणलीलेयं पराधीना निरूपिते"ति (कारिकया) व्याख्यातं, "शृङ्ग्यग्नी"त्यत्र **स्वतः** क्रिय-माणलीलाविशिष्टं रूपं, अत्रापि मातृकर्तृकनिषेधान् न सर्वांशेन स्वातन्त्र्यं, "कालेनाल्पेने"त्यत्र **सर्वथा** स्वातन्त्र्यं, एवं त्रिविधलीलया युक्तमुत्थितं त्रिधा रूपं निरूपितमित्यर्थः, सात्त्विकीं राजसीं च लीलां विभज्य तामसीं लीलां विभजन्ते **बालकैरि**ति का० ५१३ । "ततस्तु भगवान् कृष्ण" इत्यत्र बालकैः सह मुग्धलीला, तदग्रे "कृष्णस्य गोप्यो रुचिर"मिति श्लोकोधिकः, "वत्सान् मुञ्चन्नि"ति "हस्ताग्राह्य" इति च श्लोकद्वयोक्तराजसतामसतामसलीलाद्वयप्रसिद्धिबोधकः, अत एवोक्तं "ततस्तु भगवान् कृष्ण" इति श्लोकव्याख्याने राजसतामसीं तामसतामसीं च स्वतो वक्तुमनुचितां मत्वान्यमुखेन निरूपयितुं मध्ये वाक्यान्तरं श्रीशुकेनोक्तं, अत्रेदं ज्ञेयं, अत्र रूपप्रकरणे सात्त्विकसात्त्विकादिभेदेन सगुणलीलाविशिष्टानि नवरूपाण्येकं च निर्गुणलीलाविशिष्टं रूपं, तत्र त्रिभिः श्लोकैः सात्त्विकरूपाणि, त्रिभिः राजसानि, "ततस्तु भगवान् कृष्ण" इत्यत्र **तामस-सात्त्विक**लीलाविशिष्टं रूपं, मध्ये "कृष्णस्य गोप्यो रुचिर"मित्यधिकः श्लोको वक्ष्यमाणलीलाद्वयप्रसिद्धिबोधकः, "वत्सान् मुञ्च"न्नित्यत्र क्रियाप्रकारविशेषरूपधाष्टर्यसमन्वितं रूपं, "हस्ताग्राह्य" इत्यत्र ज्ञानप्रकारविशेषरूपधौर्त्यसमन्वितं रूपं, तथा च तामसलीलायां प्रसिद्धिबोधकेन श्लोकेन सह चत्वारः श्लोकाः "एवं धाष्टर्यान्युशति कुरुते" इति श्लोके सभयनयनश्रीमुखे"त्यने-नोक्तं निर्गुणावस्थवेद्यं रूपं एवं रूपप्रकरणे एकादश श्लोकाः, कारिकायोजना तु बालकैः सह मुग्धलीलाया धाष्टर्यधौर्त्यसमन्विते द्वे लीले रूपे वा, निर्गुणावस्थरूपं चेति "वत्सान् मुञ्च"न्नित्यादिना यशोदां प्रति ताभिश्चरित्रे ज्ञापिते सति ततः परं तदनन्तरं ताभिः परिदृश्यमानं "सभयनयनश्रीमुखे"त्यनेनोक्तं रूपं निर्गुणावस्थवेद्यमित्यर्थः, सात्त्विकादीति का० ५२३ । सात्त्विकादि-भेदोपलक्षितास्ते ते ये पुरुषास्तत्तद्धृदयगामिनि रूपे सति सा हृदयस्थितिस्तथा कृत्वा तांस्तान् भावान् दूरीकृत्य अन्तिमे

रूपे स्थिरा भवति, स्वरूपमात्रनिष्ठा भवतीत्यर्थः, यशोदार्थमिति का० ५३६। अत्रैव जानुभ्यामिति का० ५४६। दैत्यपतित्वात् स्वतो न निवारयतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

न केवलं गर्गवाक्यविश्वासेन नन्दस्य पूर्णत्वाभिमानमात्रत्वम्, किन्तु ब्रह्मादिदुर्लभभगवद्बालचरित्रानुभवेन पूर्णमनोरथत्वमस्त्येव" इत्याशयेन भगवद्बालचरित्रमाह—कालेनेति। रमयति स्वचरित्रैः सुखयतीति रामः। को ब्रह्मा, ईशो महादेवः, तयोर्वं सुखं यस्मात् स केशवः। तौ व्रजता गच्छताऽल्पेनैव कालेन जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ व्रजे विजह्रतुः विहारं चक्रतुः ॥ २१ ॥ तौ रामकृष्णौ घोषाः "कटिपादभूषणं किंकिण्यः" तेषां प्रघोषेण प्रकृष्टनादेन रुचिरं यथा स्यात्तथाऽङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य व्रजकर्दमेषु गोमयगोमूत्रगोरसादिपतनेन जातकर्दमयुक्तस्थानेषु सरीसृपन्तौ द्रुतं तिर्यग्गच्छन्तौ, तथा गमने हेतुमाह—तेषां घोषाणां नादेन हृष्टं मनो ययोस्तौ लोकं जनमितस्ततो गच्छन्तं स्त्रियं पुरुषं वाऽनुसृत्य त्रीणि चत्वारि वा पदान्यनुगम्य, पश्चात्तेन परावृत्य दृष्टे सति तन्मुखं दृष्ट्वा तं परकीयं ज्ञात्वा, मुग्धप्रभीतवत् मुग्धोऽज्ञः प्राकृतो बालो यथा परकीयं दृष्ट्वा प्रकर्षेण भीतो भवति, तथा सर्वज्ञौ निर्भयावपि तौ मात्रोः रोहिणीयशोदयोरन्ति समीपमुपेयतुः झटित्याजग्मतुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥ तदा च तयोर्मातरौ घृणया कृपया स्नुवन्त्यौ स्तनाभ्यां पयः स्रवन्त्यौ निजसुतौ दोर्भ्यां भुजाभ्यामुपगृह्य संवेष्ट्य स्तनं दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोस्तयोर्मुखं निरीक्ष्य प्रकृष्टं मोदं ययतुः प्रापतुरित्यन्वयः। तयोर्देहशोभामाह—पङ्केन लिप्तेन कर्दमेन, अङ्गरागेण चन्दनेन च रुचिरौ। मुखशोभामाह—मुग्धं मन्दं स्मितं यस्मिंस्तच्चासावल्पाः सूक्ष्मा दशना यस्मिंस्तच्चेति। निजं निजसुतमित्यनूक्तिस्तौ द्वावपि प्रति तयोर्द्वयोरपि स्वपुत्रबुद्धिस्तथा ते द्वे प्रत्यपि तयोरपि मातृबुद्धिश्च तुल्येति सूचनार्था ॥ २३ ॥ यर्हि अङ्गनानां दर्शनीया दर्शनयोग्याः कुमारलीला ययोस्तथाभूतौ जातौ तदा अन्तर्व्रजे व्रजस्य मध्ये सर्वदर्शनयोग्ये स्थाने ताभ्यामेव गृहीतानि पुच्छानि येषां तैर्वत्सैरितस्ततोऽनुकृष्यमाणा वुभावपि रामकृष्णौ तदबला व्रजाङ्गनाः प्रेक्षन्त्यो निरीक्ष्यमाणा हसन्त्यो जहृषुः हृष्टा बभूवुरित्यन्वयः। तद्दर्शनानन्देन तासां गृहकार्यमपि सर्वं विस्मृतमित्याह—उज्झितगृहा इति ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कालेनेति ॥ रामकेशवौ व्रजता गच्छताऽनेनैव कालेन नामकरणानन्तरमल्पे काले गते तृणावर्तवधात्प्रागेव जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ। शानजार्षः चानश् वा। गोकुले व्रजे विजह्रतुः विहारं चक्रतुः ॥ २१ ॥ ताविति ॥ तौ रामकृष्णौ घोषाः कटिपादभूषणकिंङ्किण्यस्तेषां प्रघोषेण प्रकृष्टनादेन यद्वा घोषाणां घोषस्थानां गोपगोपीनां प्रघोष हो हो हो इति मुखेन करतालिकया च शब्दः तेन रुचिरं यथा स्यात्तथाऽङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य व्रजकर्दमेषु गोरसादिकर्दमयुक्तव्रजाङ्गणेषु सरीसृपन्तौ द्रुतं कुटिलं गच्छन्तौ। अभ्यस्ताच्छतुर्नुमार्षः। ततश्च तेषां घोषाणां नादेन हृष्टं मनो ययोस्तौ लोकं जनमितस्ततो गच्छन्तमनुसृत्य त्रीणि चत्वारि वा पदान्यनुगम्य पश्चात्तेन परावृत्त्य दृष्टे सति तन्मुखं दृष्ट्वा तं परकीयं ज्ञात्वा मुग्धप्रभीतवत् मात्रोः रोहिणी· यशोदयोः अन्ति समीपम् उपेयतुः झटिति आजग्मतुः ॥२२॥ तन्मातराविति ॥ तदा च घृणया कृपया स्नुवन्त्यौ स्तनाभ्यां पयः स्रवन्त्यौ। नुमार्षः। तयोर्मातरौ पङ्केन लिप्तेन कर्दमेन अङ्गरागेण चन्दनेन च रुचिरौ। यद्वा। "सुन्दरे किं सुन्दरम्" इति न्यायेन पङ्क एवाङ्गरागस्तेन रुचिरौ निजसुतौ दोर्भ्यां भुजाभ्यामुपगुह्य संवेष्ट्य स्तनं दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोस्तयोः मुग्धं मन्दं स्मितं यस्मिं· स्तच्चासावल्पाः सूक्ष्मा दशना यस्मिंस्तच्चेति मुखं निरीक्ष्य प्रकृष्टं मोदं ययतुः प्रापतुः ॥ २३ ॥ यर्हीति यर्हि अङ्गनानां दर्शनीया दर्शनयोग्याः कुमारलीला ययोस्तथाभूतौ जातौ। तदा अन्तर्व्रजे व्रजस्य मध्ये सर्वदर्शनयोग्ये स्थाने ताभ्यामेव गृहीतानि पुच्छानि येषां तैर्वत्सैरितस्ततोऽनुकृष्यमाणावुभावपि रामकृष्णौ कर्मभूतौ उज्झितगृहाः त्यक्तगृहकार्याः तदबला व्रजाङ्गना प्रेक्षन्त्यो निरीक्षमाणाः। शतार्षः। सहन्त्यो जहृषुः हृष्टा बभूवुः। शयानानां वत्सानां पुच्छानि जानुचंक्रमणेन प्राप्य गृहीत्वा यदा मुष्टिं दृढं बध्नीतस्तदोत्थाय पलायमानैर्वत्सैराकृष्यमाणौ रुदतः बालभावात्पुच्छानि न त्यजतस्तदा हसन्त्यो गोप्यः पुच्छानि त्याजयामासुरिति पुच्छैरिति बहुत्वम् एकं त्यक्त्वाऽन्यग्रहणादेकदैव बहुपुच्छग्रहणाद्वा ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पूर्वत्वमेव प्रकाशयन्नाह कालेनेति। रिंगमाणौ गछंतौ विजह्रतुः विहारं कृतवन्तौ ॥ २१ ॥ ताविति व्रजपंकेषु अङ्घ्रियुग्मं पादयुग्मं अनुकृष्य भूयोभूयः सरीसृपंतौ अतिशयेन व्रजंतौ पुनः कथंभूतौ घोषाः कटिचरणाभरणकिंकिण्यस्तेषां प्रघोषेण प्रकृष्टशब्देन रुचिरं मनोहरं यथा तथा तेषां घोषाणां नादेन हृष्टमनसौ लोकं इतस्ततो व्रजंतं जनमनुसृत्य चतुष्यं चानि पदानि अनुव्रज्य मुग्ध इव प्रभीत इव मात्रोः यशोदारोहिण्योः अंन्ति समीपे उपेयतुर्वजतुः ॥ २२ ॥ तन्मातराविति घृणायापुत्रो परिस्नेहयुक्तदयया स्नुवन्त्यौ स्तनेभ्यः क्षीरं स्तुवन्त्यौ तयोर्मातरौ यशोदारोहिण्यौ पंकस्य कर्दमस्यांऽगरागेण

आलेपेन रुचिरौ मातृरुचिजनकौ निजसुतौ रामकेशवौ कर्मभूतौ दोर्भ्यां कराभ्यामुपगुह्य दयोपरि धृत्वा स्तनं दत्त्वा तं प्रपिबतोः सुतयोः मुग्धं मंदं स्मितं यस्मिन् अल्पादशना दंताश्च यस्मिन् तच्च तच्च मुखं निरीक्ष्य प्रमोदं ययतुः स्मेतिपादपूरणे ॥ २३ ॥ पुनस्तयोरन्यां लीलामाह यर्हीति ॥ प्रगृहीतानि येषां तैः वत्सैर्यर्हि इतस्ततः अनुकृष्यमाणौ तर्हि अंगनानां स्त्रीजातिमात्राणां दर्शनीया कुमारलीला ययोस्तौ उभौ अंतर्व्रजेव्रजमध्ये स्थिताः तदबला व्रजवनिताः प्रेक्षंत्यो विलोकयंत्यः अत एव त्यक्तगृहाः हसंत्यः सत्यः जहृषुः परस्परं वादेन मुदिता बभूवुः ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथ भगवतः काश्चित् क्रीडा अनुवर्णयन् विश्वरूपप्रदर्शनं वक्तुमाह ॥ कालेनेति ॥ व्रजता गच्छता अतिक्रममाणेनेति यावत् । अल्पेन, कालेन, गोकुले व्रजे, रामकेशवौ, पाणिभ्यां सह जानुभ्यां, पाणिभ्यो जानुभ्यः चेत्यर्थः । रिङ्गमाणौ चङ्क्रमणं कुर्वन्तौ सरीसृपन्तौ सन्ताविति यावत् । विजहृतुः विशेषेण बालखेलं चक्रतुः ॥ २१ ॥ विहारमेव वर्णयति ताविति । तौ रामकेशवौ, अङ्घ्रियुग्मं, अनुकृष्य पुनः पुनराकृष्य, घोषाणां कटिपादबाहुकण्ठाभरणकिङ्किणीनादानां प्रघोषः प्रकृष्टो नादस्तेन यथा तथा, यद्वा । घोषाः पादादिभूषणगताः किङ्किण्यस्तेषां प्रघोषः श्लाघ्यध्वनिस्तेन रुचिरं यथा तथा, यद्वा । घोषा गोपजनास्तेषां राम, कृष्ण, इते एहीत्यादिकः प्रघोषोऽतिशयितः शब्दस्तेन रुचिरं यथा तथा, व्रजकर्दमेषु सरीसृपन्तौ पुनः पुनरतिशयेन वा चरन्तौ, तन्नादेनोक्तविधनादश्रवणेन हृष्टं मनो ययोस्तौ तथाभूतौ सन्तौ, लोकमितस्ततः पर्यटन्तं जनं, अनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य, मुग्धवत्प्रभीतवच्च, मात्रो रोहिणीयशोदयोः, अन्ति समीपं, उपेयतुरुपजग्मतुः ॥ २२ ॥ तन्मातराविति ॥ तदानीं तन्मातरौ रामकेशवजनन्यौ, घृणया करुणया, स्नुवन्त्यौ पयःपूर्णस्तनाभ्यां पयः स्रवन्त्यौ सत्यौ, पङ्केनाङ्गरागेण च रुचिरौ, यद्वा पङ्करूपो योऽङ्गरागस्तेन रुचिरौ, निजसुतौ, दोर्भ्यां बाहुभ्याम्, उपगुह्य उरसि संवेष्ट्य, स्तनं दत्त्वा मुखे निधाय, प्रपिबतोः सुतयोः, मुग्धं सुन्दरं स्मितं यस्मिन् अल्पा दशना दन्ताश्च यस्मिंस्तच्च तच्च, मुखं निरीक्ष्यावलोक्य, प्रमोदं, ययतुः स्म ॥ २३ ॥ यर्हीति ॥ यर्हि यदा, उभौ रामकृष्णौ, अङ्गनादर्शनीया अङ्गनाजनानां संवीक्षणीया कुमारलीला ययोस्तौ तथाभूतौ, जाताविति शेषः । तदा, अन्तर्व्रजे व्रजमध्ये, तदबलाः व्रजस्था अङ्गनाः, प्रगृहीतानि ताभ्यामेवोपात्तानि पुच्छानि येषां तैः, वत्सैः, इतस्ततः, अनुकृष्यमाणौ, तौ प्रेक्षन्त्यस्तावेव प्रेक्षमाणाः, उज्जितगृहा विस्मृतगृहकृत्याः, हसन्त्यः सत्यः, जहृषुः । जगृहुरिति पाठे गृहीतवत्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कालेनेतिः १०.८.२१.

यत्पीडिताऽप्य—हरहर्बहु दुर्नरेशैः—नत्वं—क्षमात्वमवने व्यजहास्ततोऽसि ।
धन्येति रिङ्गणामिषान्निजहस्ततोऽस्याः प्रोत्साहनं ह्यकृत भूरि स पृष्ठभागे ॥ १५ ॥
आदावूर्वंशयोगेन ततो बाहुज—योगतः । विहरेयमिति ज्ञप्त्यै स जानुकररिङ्गणः ॥ १६ ॥

तावङ्घ्रियुग्ममितिः १०.८.२२.

यस्मिन्नेव जडानुषङ्गबहुला भूयाद्रजः सुस्थितिः स्यात्तत्रैव मदीयचारुविहृतिर्देशे कृतार्थेत्यलम् ।
स्वीयानुग्रहकामितावतरणः सर्वाघसङ्कर्षणः केलिं पङ्किलगोकुले स चकमे कामं स सङ्कर्षणः ॥ १७ ॥
एतद्द्वाराऽशेषपापापकर्षः कर्तव्योऽस्तीत्यच्युतश्चिन्तयानः स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वं तत्र वेशं सपङ्कं पूर्णाभ्यासायानुकृष्यानयत्सः ॥१८॥

मन्नादहृष्टमनसः सततं भवन्ति मत्पादभाज इह घोषजुषस्ततोऽहम् ।
तन्नादहृष्टसुमना न कथं भवामी· त्यासीत्तथा स्वपदभागुदिताभिमानः ॥ १९ ॥
चेल्लोकमनुसृत्याहं सञ्चरामीह लीलया । तदैव लोको मामेष्यत्यात्त—मद्गुणगौरवः ॥ २० ॥
निर्भयहृदयेनापि हि गोकुलरतिना प्रमातृसविधभुवि । सभयेनावस्थेयं तद्धितसुखमपि भवत्यलं स्वहितम् ॥ २१ ॥

आकृष्टं पदतः सतामघचयं स्वाङ्गानुषक्तं मुहुर्गत्वा तत्सविधं तदीयकरतः संमार्जयाम्यञ्जसा ।
ये स्युर्मद्गुणकीर्तनैकवचसो ये शुद्धसत्त्वामृत· प्रश्लिष्यद्धृदया मदर्पितगृहाचारोपचारा नराः ॥ २२ ॥
व्रजकर्दमलिप्तेन गच्छता मातुरन्तिकम् । अबोधि माधवेनेदं यतस्तत्र तथा स्फुटम् ॥ २३ ॥ (युग्मम्)

तन्मातराविति: १०.८.२३.

निर्नेशितोऽहं हृदये येनानन्यविहारिणा । तद्धार्दसुरसास्वादग्राही स्यामहमप्यलम् ॥ २४ ॥
शुद्धसत्त्वामृतात्तारो गुरवो लघवोऽपि वा । द्विजा एवेति तान् स्वानां मुदे युक्तमदर्शयत् ॥ २५ ॥

यर्ह्यङ्गनेति : १०.८.२४.

योऽन्तर्विलासपरितोषकृदेष कामो मज्जात एव जगतीति कियान् मदग्रे।
इत्यच्युतोऽतिशिशुरप्यवला जनेषु चक्रे स वक्रसरलां सुकुमारलीलाम्॥ २६॥
या मां पुच्छगतं विहाररसिकं पश्यन्ति ताभ्योऽप्यहं वृद्धिभ्यो विषयाधिकाधिकपरानन्दं ददाम्यन्वहम्।
माया मानुषविग्रहः प्रभुरिति प्रख्यापयन् कौतुकान् मन्ये पुच्छमिहावलम्ब्य समभूद् गोपीजनानन्दकृत्॥ २७॥
सृष्टेः पूर्वमुतोत्तरं यदथवा मध्ये तथान्तेऽप्यसा- वेकैव श्रुतिचोदिता मम गतिर्यद् ब्रह्मपुच्छस्थितिः।
तत्सम्प्रत्यपि तां विहाय विहृतिर्नैवे चितेति प्रभुः पुच्छालम्बनतश्चकार किमहो स्वक्रीडनारम्भणम्॥ २८॥
अचलं ब्रह्म पुच्छस्थं स्वल्पगोभिरितस्ततः। कृष्यमाणं हठाद् वीक्ष्य युक्तोऽसौ श्रुतिविस्मयः॥ २९॥

कृष्णप्रिया

जब कुछ और काल बीता तब गोकुल में श्रीबलभद्रजी एवं श्रीकृष्णजी दोनों, दोनों कमलों के घुटनों के बल विहार करने लगे॥ २१॥ अब तो जब वे दोनों लालन व्रज के कीचड़ धूल में अपने नेक नेक से चरण कमलों को घसीटकर घुटनों के बल कुछ और तेजी से चलने लगे तब उनकी करधनी और पैंजनियाँ बजने लगी। उस ध्वनि को सुन उन दोनों को भी प्रसन्नता होती थी। पुनः किसी व्रजवासी के पीछे दो चार पग चलकर फिर बाल स्वभाववश मुग्ध हुए-जैसे माता के पास दौड़ आते॥ २२॥ कीचड़ धूल के अङ्गराग भरे अतिमनोहर से लगते दोनों बालकों को अपने दोनों हाथों से उठाकर वे बड़े स्नेह से उन्हें छाती से चिपटा दूध पिलाती उस अवसर प्रेम के मारे उनके वक्षःस्थल से दूध चूने लगता था उस समय स्तन पकड़कर पी रहे उनके मुख कमल को देखकर बड़ा ही आनन्द माताओं को मिलता जिसमें कि अभी छोटे छोटे दांत आ रहे थे और कभी कभी मन्द मुस्कुराहट हो जाती थी॥ २३॥ राजन्! कृष्ण बलरामजी के कुछ और बड़े होने पर व्रजाङ्गनाओं के दर्शनीय कुमारलीला वाले जब वे दोनों हुए, तब उस गोकुल के भीतर वे दोनों गौ बछड़ों की पूंछ पकड़ने लगे। उस अवसर बछड़े भाग पड़ते और उनके साथ ये दोनों भी घसीटने लगते। इस मधुर लीला को देखकर व्रज की गोपियाँ स्मित हास्य करती, और गृहकार्य को भी विसर जाती, भूल बैठती, यों उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था॥ २४॥

[1]यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य [2]उज्झितगृहा [3]जगृहुर्हसन्त्यः॥ २५॥

[4]शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ[5] स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥ २६॥

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च [6]गोव्रजे। [7]अघृष्टजानुभिः [8]पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा[9]॥ २७॥
ततस्तु भगवान् [10]कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः। सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥
कृष्णस्य गोप्यो [11]रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्। शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः॥ २८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यर्हि अङ्गनादर्शनीयकुमारलीलौ प्रगृहीतपुच्छैः वत्सैः इतः ततः अनुकृष्यमाणौ उभौ प्रेक्षन्त्यः उज्झितगृहाः हसन्त्यः तदबलाः जगृहुः॥ २५॥ तज्जनन्यौ क्रीडापरौ अतिचलौ स्वसुतौ शृङ्गी अग्निदंष्ट्री असिजलद्विजकण्टकेभ्यः निषेद्धुं तज्जनन्यौ गृह्याणि कर्त्तुं अपि यत्र न शेकाते मनसः अलं अनवस्थाम् आपतुः॥ २६॥ राजर्षे अल्पेन कालेन रामः च कृष्णः गोव्रजे अघृष्टजानुभिः पद्भिः अञ्जसा विचक्रमतुः॥ २७॥ ततः तु व्रजबालकैः वयस्यैः सहरामः भगवान् कृष्णः व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन् चिक्रीडे कृष्णस्य रुचिरं कौमारचापलं वीक्ष्य समागताः गोप्यः तन् मातुः शृण्वन्त्याः किल इति ह ऊचुः॥ २८॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अतिचलावतिचपलौ तौ शृंग्यादिभ्यो निषेद्धुं गृहोचितानि कर्माणि च कर्तुं यत्र यदा तज्जनन्यौ न शेकाते तदालं मनसोऽनवस्थामापतुरिति गृहसौख्यस्य पराकाष्ठा दर्शिता॥ २५-२८॥

१. यर्ह्यागतातिरमणीय-विज.। २. उत्स्मृतगृहा-विज.। ३. जहृषु-श्रीधर. वंशी. सुदर्शन. वीर. विश्व. शुक.; जगृहु-विज.। ४. दंष्ट्रचहि-वीर. विज.। ५. बलौ-विज.। ६. गोकुले-श्रीधर. वशी. विज.; गोव्रजे-वीर.। ७. अकृष्टा-वीर.। ८. विचङ्क्रमतुः-वीर.। ९. ओजसा-विश्व.। १०. न्विष्णुर्वय-विज.। ११. रुचिरा दीनकौमार-विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

शृंगिणो गवादयः। दंष्ट्रिणः श्वादयः। असिः खड्गः। द्विजाः पक्षिणः शुकादयः। अनवस्थां बोधैकनिष्ठवेदकाकारतया समाधिवल्लयम्। पराकाष्ठेषु अतः परं गृहिणां न सुखम्। यद्बाललीलादर्शनेन मनस्याह्लाद इति ॥ २५ ॥ न घृष्टानि यानि जानूनि अष्ठीवंति तानि तथा तैः बहुत्वं तूभयापेक्षम्। विचक्रमतुः विचेलतुः। अंजसा शीघ्रम्। २६ ॥ ततः पद्भिश्चलनानंतरम् ॥ २७ ॥ कौमारे यच्चापलं चपलत्वम्। तन्मातुर्यशोदायाः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततश्चाधिकवयोबलप्रकटनेन क्रीडालोलतया मात्रोरपि मनःप्रेमविह्वलं चक्रतुरित्याह—शृङ्गीति। यतः क्रीडापरौ यतः शृङ्ग्यादीन् धर्त्तुमभिसरन्तौ तेभ्यो निषेद्धुं निवारयितुं यद्वा शृङ्ग्यादिभिः क्रीडापरौ अतस्तेभ्यो निषेद्धुं न शेकतुः "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" (१।१।११) इत्यनेन प्रगृह्यत्वात् पचेते अमू इति वत्सन्ध्यभावेऽपि सन्धिरार्षः कुतः अतिचलौ परमचपलौ तत्र शृङ्गिणो वृषादयः दंष्ट्रिणः कुक्कुरादयः वानरादयो वा असयः खड्गाः पाठान्तरे अहयः सर्पाः खड्गानां सञ्चरणादिसम्भवादिदमेव युक्तं द्विजा मयूरादयः स्वशब्देन सदानिषेधेऽन्यस्याशक्यता ताडनादावयोग्यता च तथा शृङ्ग्यादिभ्यो निषेधस्यावश्यकता सा च स्नेहाकुलतया स्वपार्श्वे स्थापनेन च वाङ्मात्रेणेति च बोध्यते तज्ज मना तु तदीयतया जातसक्ते गृहस्य च कृत्यमावश्यकमपि तत एव कर्तुं न शक्यते अत एव मनसः अनवस्थाम् अस्थिरताम् अलमत्यर्थमापतुः एतच्च श्रीभगवत्पराणां व्रजजनानां तेषां तदर्थकर्मणा चित्तास्थैर्य्यमपि चापलाख्यसञ्चारिभावतया स्थायिनं वात्सल्याख्यं भक्त्यद दुर्लभं भावं पुष्णन् तत्समाधिनिष्ठातोप्युत्कर्षं भजति एवमेव व्याख्यातं गृहसौख्यस्य परा काष्ठा दर्शितेति तदग्रे श्रीब्रह्मस्तुत्यादौ "तावद्रागादयस्तेनाः" इत्यादि, "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यादिकैमुत्यप्रतिपादकवचनतो "नाविन्दन् भववेदनाम्" इत्याद्यन्यार्थविशानिषेधवचनतो "नेमं विरिञ्चः" इत्यादितद्भावप्रशंसावचनतोपि व्यक्तमेव अतः श्रीरामकृष्णयोरन्योन्यमासक्त्या शोभाभरः श्रीवैशम्पायनेनोक्तः—

> तावन्योन्यं गतौ बालौ बाल्यादेवैकतां गतौ। एकमूर्त्तिधरौ कान्तौ बालचन्द्रार्कवर्चसौ ॥
> एकनिर्माणनिर्मुक्तावेकशय्यासनाशनौ। एकवेषधरावेकं पुष्यमाणौ शिशुव्रतम् ॥
> एककार्यान्तरगतावेकदेहौ द्विधा कृतौ। एकचर्यौ महावीर्यावेकस्य शिशुतां गतौ ॥
> एकप्रमाणौ लोकानां देववृत्तौ च मानुषौ। कृत्स्नस्य जगतो गोपौ संवृत्तौ गोपदारकौ ॥
> अन्योन्यव्यतिषिक्ताभिः क्रीडाभिरभिशोभितौ। अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे॥
> विसर्पन्तौ तु सर्वत्र सर्पभोगभुजावुभौ। रेजतुः पङ्कदिग्धाङ्गौ दृप्तौ कलभकाविव ॥
> कचिद्भस्मप्रदिग्धाङ्गौ करीषप्रोक्षितौ कचित्। तौ तत्र परिधावेतां कुमाराविव पावकी ॥
> कचिज्जानुभिरुद्घृष्टैः सर्पमाणौ विरेजतुः। क्रीडन्तौ वत्सशालासु शकृद्दिग्धाङ्गमूर्द्धजौ ॥
> शुशुभाते श्रिया जुष्टावानन्दजननौ पितुः। जनञ्च विप्रकुर्वाणौ प्रहसन्तौ कचित् कचित् ॥
> तौ तत्र कौतूहलिनौ मूर्द्धजव्याकुलेक्षणौ। रेजतुश्चन्द्रवदनौ दारकौ सुकुमारकौ ॥

इति ॥ २५ ॥ एव मुत्कण्ठया युगपदिव वर्णयितुमिच्छुः शीघ्रमेव रिङ्गणपादव्रज्ययोरादिममादिमं भागं वर्णयित्वा पुनस्तत्तल्लीलामाधुरीविशेषस्मरणोल्लासादन्तिममन्तिमं भागमपि वर्णयितुं प्रत्यावर्त्तते कालेनेत्यादिना। अल्पेनेति स्वल्पवयस्यपि बुद्धिबलातिरेकप्रकटनादघृष्टानि भूमिघर्षणमप्रापितानि जानूनि येषु तैः पद्भिः पादैरोजसा गोकुले विचक्रमतुर्वभ्रमतुः अञ्जसेति पाठे अनायासेन बलिष्ठत्वात् गोव्रज इति पाठे गोशब्दस्योक्तिर्धनुर्ज्येतिवत् सा च तस्य मनोहरत्वं पवित्रत्वं च बोधयितुं हे राजसु ऋषे सर्वज्ञेति तल्लीलामाधुरीं मद्विधवत् त्वयाप्यनुभूयत इति भावः ॥ २६ ॥ तदेवं साधारण्येन तयोर्लीलां वर्णयित्वा पुनः श्रीकृष्णसम्बन्धेन रामस्यापि तादृशत्वं व्यञ्जयितुं तस्य विशेषतः सर्वव्रजमनोमोहनलीलावर्णनेन प्राधान्यं वक्तुमाह—ततस्त्विति। तु भिन्नोपक्रमे कृष्णो भगवान् इति स्वयं भगवत्त्वेन स्वतः प्राधान्यं सहराम इति लीलातोऽपि बोधयति अथ च भगवान् निजभगवत्तासारमाधुरीविशेषप्रकटनपरः कृष्णः सर्वजनाकर्षकमाधुर्यः सहरामस्तस्याप्याकर्षकः रामेति तस्य परमरमणसाहाय्यादत्रैव तन्निरुक्तिमर्य्यादापर्य्याप्तिरिति भावः। तत्तादृशस्सन्नित्यर्थः। वयस्यैः सखिभिः सहेति मिथः प्रणयविशेषेण तादृशलीलासौष्ठवं दर्शितं तत्र योगवृत्त्या समवयस्त्वं रूढार्थशक्त्या समानगुणजातिशीलव्यवसायवेषत्वं च ध्वनितं तथैव सखित्वोपपत्तेः तत्र हेतुः व्रजस्य तदात्मीयत्वेन प्रसिद्धस्य तस्य व्रजविशेषस्य बालकैः चिक्रीडे चिक्रीड ॥२७॥ तास्तत्क्रीडोल्लासितचित्ताभङ्ग्या तन्मातुः स्वेषामपि प्रेमविनोदविशेषाय मिथः सम्मन्त्र्य तस्यां चुक्रुशुरित्येवेत्याह—कृष्णस्येति। गोप्यः पुरन्ध्र्यो वृद्धाश्च रुचिरं मनोहरमिति प्रेमकौतुकमेव व्यक्तं शृण्वन्त्याः इति तस्यास्तत्रावहितत्वं सूचितं यद्वा नित्यं शृण्वत्या अपि समागताः समवेत्यागताः ह स्फुटम् ऊचुः चुक्रुशुः किलेत्यनृते वस्तुतो न चुक्रुशुरित्यर्थः। तादृशश्च चापल्यं तासां मुख्योक्त्यैवातिमनोहरं स्यादिति मुनीन्द्रेणापि तद्द्वारैव वर्णितमिवेति ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततश्चाधिक-वयोबलप्रकटनेन क्रीडा-लोलतया मात्रोरपि मनश्चञ्चलं चक्रतुरित्याह—शृंगीति । यतः क्रीडापरौ, अतः शृंग्यादीन् धर्त्तु मभिसरन्तौ, तेभ्यो निषेद्धुं निवारयितुम्, यद्वा, शृंग्यादिभिः क्रीडापरौ, अतस्तेभ्यो निषेद्धुं न शेकतुः । कुतः ? अतिचलौ परमचपलौ, तत्र शृंगिणो वृषादयो दंष्ट्रिणो मार्ज्जारकुक्कुरादयो वानरादयो वा, असयः खड्गाः, पाठान्तरे, अहयः सर्पाः, खड्गानां सम्वरणादि—सम्भवादिदमेव युक्तम्, द्विजा मयूरादयः, स्वशब्देन निषेधेऽन्यस्याशक्यतायोग्यता च, तथा शृंग्यादिभ्यो निषेधस्यावश्यकता । स च स्नेहाकुलतया स्वपार्श्वे स्थापनेन, न च वाङ्मात्रेणेति च बोध्यते । अतएव मनसोऽनवस्थामस्थिरतामलमत्यर्थमापतुः । इत्थं बाल्यचाञ्चल्य-मनोहरपुत्रवत्त्वेन तथावश्यकधनरक्षण-कुटुम्बभरण विविधोप-भोगसाधनाद्गृहव्यापारावेक्षणेन च व्याकुलचित्ततया गृहसौख्यस्य पराकाष्ठा दर्शिता, यतोऽपुत्रदरिद्रगृहिणामेव पुत्र-वित्ताद्यर्थ-चेष्टाराहित्येन यतीनामिव मनः स्थिरं स्यात्, वस्तुतस्तु श्रीभगवत्पराणां व्रजजनानां तेषां तदर्थककर्म्मणां चित्तास्थैर्य्यमपि समाधिनिष्ठातोऽप्युत्कर्षं भजतीत्यग्रे श्रीब्रह्मस्तुत्यादौ (भा. १०।१४।३६) 'तावद्रागादयः स्तेनाः' इत्यादि-वचनतो व्यक्तमेव, तत्र च तयोरन्योऽन्यमासक्त्या शोभाभरः श्रीवैशम्पायनेनोक्तः (हरिवंशे विष्णु-पु.-७।२-११)—॥ २५ ॥

'तावन्योऽन्यं गतौ बालौ बाल्यादेवैकतां गतौ । एकमूर्त्तिधरौ कान्तौ बालचन्द्रार्क-वर्च्चसौ ॥
एकनिर्म्माण—निर्मुक्तावेकशय्यासनाशनौ । एकवेशधरादेकं पुष्यमाणौ शिशुव्रतम् ॥
एककार्य्यान्तरगतावेकदेहौ द्विधा-कृतौ । एकचर्य्यौ महावीर्य्यावेकस्य शिशुतां गतौ ॥
एकप्रमाणौ लोकानां देववृत्तौ च मानुषौ । कृत्स्नस्य जगतो गोपौ सम्वृत्तौ गोपदारकौ ॥
अन्योऽन्यव्यतिषक्ताभिः क्रीडाभिरभिशोभितौ । अन्योऽन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्य्याविवाम्बरे ॥
विसर्पन्तौ तु सर्व्वत्र सर्पभोग-भुजावुभौ । रेजतुः पंक-दिग्धांगौ दृप्तौ कलभकाविव ॥
क्वचिद्भस्म-प्रदिग्धांगौ करीषप्राक्षितौ क्वचित् । तौ तत्र परिधावेतां कुमाराविव पावकी ॥
क्वचिज्जानुभिरुद्घृष्टैः सर्पमाणौ विरेजतुः । क्रीडन्तौ वत्सशालासु शकृद्दिग्धांगमूर्द्धजौ ॥
शुशुभाते श्रिया जुष्टावानन्दजननौ पितुः । जनञ्च विप्रकुर्व्वाणौ विहसन्तौ क्वचित् क्वचित् ॥
तौ तत्र कौतुहलिनौ मूर्द्धजव्याकुलेक्षणौ । रेजतुश्चन्द्रवदनौ दारकौ सुकुमारकौ ॥' इति ।

अधुना जानुरिंगणलीलां संवृत्य रिंगणविशेषलीलां भजतुरित्याह—कालेनेत्यल्पेनेति स्वल्पवयस्यपि बलातिरेक-प्रकटनात् । न घृष्टानि भूमिविघर्षणमप्राप्तानि यानि जानूनि, तैरिति पूर्व्वमनुक्तत्वादत्रैव रिंगणविशेषलीलोक्ता । ननु, तर्हि रिंगणलीलायामेव वत्सपुच्छग्रहणादिकं दुर्घटं नातिशोभावहञ्च ? तत्राह,—पद्भिः पादैश्च, बहुत्वं द्वयोः पादाब्जचतुष्कत्वात् । गोकुले ओजसा बलेन, अतएव विशेषेण चक्रमतुर्वभ्रमतुरिति वत्सपुच्छग्रहण-लीला पदविक्रमण-लीलायामेव ज्ञेयेति भावः । अञ्जसेति पाठे अनायासेन, बलिष्ठत्वात् । कृष्ण इति तल्लीलया चित्ताकर्षणात्, अग्रजेन सहैकदैकपादविक्रमणेन तस्मादपि बलिष्ठता बोधितैव । गोव्रज इति पाठे गवामेव प्राधान्यात्तासामेवावासे । हे राजसु ऋषे ! सर्व्वज्ञेति यदर्थं सा लीला, तत्तत्त्वं त्वया ज्ञायत एवेति भावः ॥ २६ ॥

तदेवाभिव्यञ्जयन् वयोबल-विशेषप्रकटनेन मधुरक्रीडया तस्यावतार-मुख्यप्रयोजनमाह-ततश्चेत्यादिना । अतएवात्र तस्यैव प्राधान्यादादौ पृथङ्निर्देशः, श्रीरामस्य च गौणत्वात् सहराम इति साहित्यमात्रमुक्तम् । त्वर्थे चकारो भिन्नोपक्रमे । भगवान् निज भगवत्ता सार प्रकटनपरः सन्नित्यर्थः । वयस्यैः प्रायः समवयस्कतया सखित्वं प्राप्तैर्यतो व्रजस्य बालकैः सहेति क्रीडादिशोभाविशेष उक्तः । चिक्रीडे चिक्रीड वत्समोचनादिक्रीडा चक्रे । व्रजस्त्रीणामविशेषेण सर्व्वासामेव व्रजवर्त्तिनीनां पुरन्ध्रीणां वृद्धादीनाञ्च ॥ २७ ॥

ततस्तु क्रीडोल्लासितचित्तास्तन्मातुः प्रीतिभरं जनयितुं स्वयञ्च सुखविशेषमनुभवितुमन्योऽन्यं संमन्त्र्य तस्यां चुक्रुशु-रित्याह—कृष्णस्येति । गोप्यः पुरन्ध्र्या वृद्धाश्च रुचिरं मनोहरमिति केवलं प्रेमकौतुकविशेषेणैवेति बोधितम् । शृण्वन्त्या इति तस्यास्तत्रावहितत्वं सूचितम्, यद्वा, तस्य तच्चापलं शृण्वत्या अपि समागताः स्व-स्वगृहात् समवेत्यागताः सत्यः । ह स्फुट-मुचुक्रुशुरित्यर्थः । किल प्रसिद्धौ ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

शृङ्गिणो विषाणिनः दंष्ट्रिणः श्वप्रभृतयः असिः खड्गः द्विजाः मयूराद्याः गृहाणि गृहकार्य्याणि मनसोऽन-वस्थानम् ॥ २५ ॥ ईषद् घृष्टजानुभिः पद्भिः विचक्रमतुः कदाचिज्जानुभ्यां कदाचित्पद्भ्यां गमनं चक्रतुरित्यर्थः ॥ २६-२८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नितरां क्रीडासक्तावतिचलौ इति पाठे क्रीडापरौ अतएवातिचलौ सर्वतश्चरन्तावतिबलौ इत्यपि पाठः शृङ्ग्यादिभ्यः स्वसुतौ निषेद्धुं वारयितुं गृह्याणि गृहोचितानि कर्माणि कर्तुं च यदा तयोर्जनन्यौ न शेकाते नाशक्नुतां निषेधगार्ह्ये युगपत् कर्त्तुमसमर्थेऽभूतामित्यर्थः । शृङ्गिणो हरिणादयः दंष्ट्रिणः शुनकादयः द्विजा मयूरादयः पक्षिणः तदा ते मातरावलं नितरां मनसोऽनवस्थामकुशलतां प्रापतुरिति गृहिणां सौख्यस्य परा काष्ठा प्रदर्शिता ॥ २५ ॥ हे राजर्षे ? आकृष्टजानुभिः पद्भिर्विचङ्क्रमतुः कदाचित् जानुभ्यां क्रमणं कदाचित्पद्भ्यां गमनं चेति मिश्रञ्चक्रतुरित्यर्थः ॥ २६ ॥ ततो वयस्यैस्तुल्यवयस्कैर्व्रजबालकैः सह रामेण सहितः कृष्णो व्रजस्त्रीणां हर्षं जनयन् चिक्रीडे ॥ २७ ॥ रुचिरं सुन्दरं कौमारप्रयुक्तं चापल्यमवलोक्य तस्य कृष्णस्य मातुः यशोदायाः शृण्वन्त्याः सत्याः इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोचुः ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शृङ्गिणो गवादयः दंष्ट्रिणः सारमेयप्रभृतयः गृह्याणि गृहकर्माणि अनवस्थां व्याकुलताम् ॥ २५ ॥ न घृष्टानि अघृष्टानि तानि च जानूनि येषां ते तथा तैः विचक्रमतुः पादविक्षेपं चक्रतुः ॥२६-२७॥ रुचिरं च तद्दनिम् उदारञ्च तत्कुमारभावोचितं चपलत्वं यासु तास्तथा तन्मातुः शृण्वत्याः ता इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोचुः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अनवस्थां वात्सल्यपोषकचापलाख्यसञ्चारिभावं तदीयगृहकर्म्मणोऽपि तत्प्रेममयत्वेन स्थापितत्वात् ॥ २५ ॥ पुनरिङ्गणपादव्रज्या लीलयोरन्तिममन्तिमं भागं वर्णयितुमाह कालेनाल्पेनेति ॥ २६ ॥ साम्येन द्वयोर्ल्लीलामुक्त्वा विशेषतः श्रीकृष्णलीलामाह—ततश्चेत्यादिना ॥ २८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अतिचलौ तौ शृङ्ग्यादीन् धर्त्तुं चलन्तौ तैः सह क्रीडितुमिच्छन्तौ वा तौ तेभ्यो निषेद्धुं गृहोचितानि कर्माणि च कर्त्तुं यत्र यदा तज्जनन्यौ न शेकतुः तदा मनसोऽनवस्थां चापल्यं वात्सल्यस्थायिपोषकसञ्चारिभावम् आपतुः तत्र शृङ्गिणो वृषादयः दंष्ट्रिणः कुक्कुरादयः द्विजाः पक्षिणः ॥ २५ ॥ अघृष्टानि भूमिघर्षणमप्राप्तानि जानूनि येषु तैः पद्भिर्जानुसङ्कर्षणं विनैवेत्यर्थः । ओजसा अञ्जसेति च पाठः ॥ २६ ॥ सहराम इति गव्यमोषणादिलीलायां कृष्णस्यैव प्राधान्यात् ॥ २७ ॥ रुचिरं सुखदं हन्तैतादृशं सुखमस्मत्प्रियसख्या श्रीयशोदया न प्राप्तं तदस्मचाक्षुषमेतत्तस्याः श्रावणमप्यस्त्विति तत्र गत्वा शृण्वत्याः शृण्वन्त्यै स्वपुत्रचरित्रश्रवणार्थं गृहकार्य्यशतमपि त्यजन्त्यै तन्मात्रे उपालम्भनदानमिषेण परमानन्दमेव दातुमिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पुनर्मात्रोः भाग्यातिशयं द्योतयन् बाललीलामाह—शृङ्गीति, अतिचलौ अतिचपलौ यतः क्रीडापरौ क्रीडासंसक्तौ शृङ्ग्यादिभ्यः स्वसुतौ निषेद्धुं वारयितुं गृह्याणि गृहोचितानि कृत्यानि यत्र यदा तयोर्जनन्यौ न शेकाते नाशक्नुतां तदा अलमत्यर्थं मनसोऽनवस्थामस्वास्थ्यं प्रापतुः आश्चर्यभूता तयोर्भगवत्कृपापात्रतेति भावः ॥ २५ ॥ अन्तःपुराद्बहिर्निर्गत्य तत्रत्यानां प्रमोदं जनयन् सहरामः श्रीकृष्णश्चिक्रीड इत्याह—कालेनेति द्वाभ्याम् ॥ २६-२७ ॥ अथ बालकृष्णक्रीडाकृष्टचित्तानां गोपाङ्गनानां तच्चापल्यनिवेदनव्याजेन तन्मात्रग्रे तदपूर्वप्रेमसूचकं सम्भाषणमाह— कृष्णस्येति सार्द्धस्त्रिभिः ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अतिचलौ तौ शृङ्ग्यादीन् धर्त्तुं चलन्तौ तेभ्यो निषेद्धुं निवारयितुं गृह्याणि च कर्त्तुं यदा तज्जनन्यौ न शेकतुस्तदा मनसोऽनवस्थाञ्चापल्यमापतुः कथमनयोः सम्भालनं स्यादिति तत्र शृङ्गिणो गवादयः दंष्ट्रिणो मर्कटादयः द्विजाः कङ्कादयः ॥२५॥ न घृष्टानि जानूनि येषु तैर्जानुघर्षणं विनेत्यर्थः ॥२६॥ ततो मातृप्रमोदविधानानन्तरं बालकान् गोपीश्च प्राचोदयदित्यर्थः ॥२७॥ गोप्यो दधिचौर्यादिरूपं तस्य कौमारचापल्यं वीक्ष्य आनन्दिताः शृण्वन्त्यास्तच्छ्रवणाय गृहकृत्यान्यपि त्यजन्त्यै तन्मात्रे श्रीयशोदायै उपालम्भमिषेण तदानन्दं दातुं प्रोचुः ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

शृङ्गिणो गोमहिष्यादयोऽग्निर्दंष्ट्रिणः सारमेयादयोऽहयो द्विजाः पक्षिणो जालकं च कण्टकाश्च तेभ्यः क्रीडापरौ स्वसुतावतिबलौ निषेद्धुं गृह्याणि गृहकर्माण्यपि कर्तुं यत्र यदा तज्जनन्यौ न शेकाते तदा मनसोऽनवस्थां चाञ्चल्यमलमवापतुः । धार्यौ कुमारौ वा कार्यं गृहकर्मेति भ्रान्ते इति भावः । शेकात आपतुरित्यत्र मणीवादिकार्यं ज्ञेयम् । अनेन च बालयोरेव प्रगृह्यता

नात्रेति ध्वनयति । अतिबालाविति पाठेऽपि बलपरिवर्तन इतिस्मरणादतिचलाविल्येवार्थः शृङ्गी वत्सासुरोऽग्निर्दावानलो दंष्ट्री केशी अहिः कालियो जलं यामुनमिन्द्रवृष्टं वा । द्विजो बककण्टकाश्च क्षुद्रशत्रवश्च तैरिति भाविनं व्यर्थाभवन्तमनर्थं ग्रन्थकृत्कटाक्षयतीति मन्तव्यम् । कण्टकः क्षुद्रशत्रौ चेति विश्वः ॥ २५ ॥ अघृष्टजानुभिर्न घृष्टानि जानूनि चत्वारि येषां तैः पद्भिरञ्जसा विचक्रमतुः । अघृष्टजानुभिः कैश्चिद्दिवस्यैरिति वा ॥ २६ ॥ व्रजस्त्रीणां मुदं जनयंश्चिक्रीडे । चिक्रीड क्वचित्तथैव पाठः । वृतानतिवृतेः स सुन्दरः ॥ २७ ॥ कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य । कौमारचापलमिति पाङ्क्तः पाठः । रुचिरादीनकौमारचापला इति पाठे रुचिरमदीनकौमारचापलं यासु ता इति ज्ञाततस्कर इति गोपीविशेषणम् । समागता मिलिता इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । मातुः शृण्वन्त्याः । जनन्या इत्यनुक्त्वोक्त्वा मातुरिति ज्ञातुः कृष्णस्य शृण्वतः । उपसर्गाणां धातुलीनद्योतकतापक्षे मातुर्निर्मातुरिति वाऽर्थमसूचयदिति मन्तव्यम् ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं लीलात्रयं फलान्तं निरूपितं, स्वतःस्थितयोर्लीला आह यह्यंङ्गनेतित्रिभिः, अत्र सर्वा एव स्त्रियोधिकारिण्यः, अन्यासां सामान्यतो निरोधाभावे तत्सङ्गदोषेण जनयोर्निरोध उच्यमानो न भवेत्, राजसभावास्तु कोटिशो भवन्ति तान् सर्वानेव सङ्ग्रहीतुं यह्यंङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावित्युक्तं, अङ्गनास्तु तरुण्यस्तासां दर्शनीया कुमारलीला ययो:, तास्त्रिविधा भवन्ति कौतुकाविष्टा रसाविष्टाः कामाविष्टाश्चेति, यदैव तौ तासां दर्शनीयलीलौ तदैवातिमुग्धत्वख्यापनार्थं वत्सपुच्छावलम्बनेन स्थितौ भवतः, लौकिकाभिनिवेशभयाच्छुकेन न विशेषत उक्तः, कुमारोत्र द्विवार्षिकः, कुत्सितो मारो यस्मादिति कन्दर्पकोटिलावण्याधिकसुन्दर उक्तस्तद्गतोत्कृष्टभावा अप्यस्मिन् निरूपिताः, अङ्गनानां दर्शनीयभवनार्थं जातानुभावानां वा निर्भयेन दर्शनार्थं यर्हीति, तृणावर्तवधपर्यन्तमन्यदा वा यावदयं भावो न जात इति तावन्निरन्तरदर्शनं न जातमिति ज्ञापितं, दृष्टिस्पर्शसम्बन्धैस्त्रिविधाः सुखदा उक्ताः, एतादृशावङ्गनादर्शनीयकुमारलीलौ, अन्तर्व्रज इति, व्रजमध्ये सर्वासामेव दर्शनयोग्यस्थाने, तदबला व्रजबाला अन्यत्र गमनयोग्यतारहिताः, वत्सैरितस्ततोनुकृष्यमाणौ जगृहुरितिसम्बन्धः, वत्सा गोपुत्राः, भगवाँल्लीलार्थं कर्माङ्गदेवताभावं तदवलम्बनं वा करोति, ते तु मूढा इतस्ततः प्राकृते वैकृते च संयोजयन्ति यथा गर्दभपादच्छेदनं कृत्वा "विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोती" "त्यतिरिक्तस्य शान्त्या" इतिफलार्थं, एतेपि वत्सा भगवता प्रकर्षेण गृहीतं पुच्छं येषां द्वयोरेकस्य वा प्रकर्षेण ग्रहणान्न तेषां धावनं, प्रदर्शनार्थमेव यतो मुग्धभावः, अतो न स्खलनमत्र, उभाविति भगवान् स्वत आवेशतश्च क्रीडतीति वक्तुं, अनुकर्षणं शनैः शनैः कर्षणं, भगवानपि वत्समाकर्षति वत्सतर्यश्च भगवन्तं, अतो वत्सस्यापि नेष्टगतिः, अत इतस्तत आकर्षणं, वत्सैरितिबहुवचनं धृतस्य पलायनेपि पुनरन्यग्रहणार्थं, एवं पराधीनभगवद्गतिं दृष्ट्वा प्रेक्षन्त्य एव स्थिताः, अत्रैव तात्पर्ययुक्ता उपनिषद इव स्थिताः, नत्वन्याधीनत्वेनान्यथा ज्ञातवत्यः, एवं कर्मभ्यस्त्याजयित्वा स्वार्थं ग्रहणमाश्रमपरित्यागव्यतिरेकेण न सम्भवतीति गृहं विडालादिभिरप्युपद्रुतं परित्यज्य तदवेक्षामकृत्वा जगृहुः, हसन्त्य इति, अस्मत्परिग्रहे नैवमितस्तत आकर्षणं भवति न वा स्खलनसम्भावना, प्रेक्षन्त्यो ज्ञानपरा उज्झितगृहा विरक्ता हसन्त्यः फलार्थिन्यस्त्रिविधानां ग्रहणार्थमुक्तं, ग्रहणानन्तरं विनियोगस्तु पूर्वमेव कथितः, सम्भूयग्रहणपक्षे स्वतोपि सर्वतो नयनं सम्भवति, उज्झितगृहा इतिवचनादन्यत्रापि नयनं, हसन्त्य इत्यपि तथा, किं बहुना सर्वप्रकारेण जगृहुः, सर्वासामेव यथा ग्रहणं भवति तथा भगवान्, गोपुच्छधारणलीलेयं पराधीना निरूपिता ॥ २५ ॥ स्वतो गतिलीलामनेकविधामाह शृङ्गीति, गोपिकास्तु स्वत्वभावदोषरहिताः, अलौकिकभावेनापि वशीकृताः, विचाराभावाद् रसेनापि तारुण्यात् कौतुकेनाप्यन्यार्थं च निरूपिताः शीघ्रमेव विस्मृतप्रपञ्चा भगवदासक्ता निरूपिताः, यशोदारोहिण्यौ तु तद्विपरीते इति तयोस्तदुभयसम्पादनार्थं षड्गुणैः स्वेन च सप्तधा लीलां कृतवान्,

> इष्टस्य दुष्टसम्बन्धे शिष्टः पुष्टिं विमुञ्चति । नान्यथेति हरिः प्रीतः सत्यः क्रूरगतो भवेत् ॥ १ ॥
> शृङ्गिणो दंष्ट्रिणश्चैव पक्षिणश्च विघातकाः । चेतनास्त्रिविधा एव ततोन्ये तु चतुर्विधाः ॥ २ ॥
> कृत्रिमाः सहजास्तेपि खड्गाग्निजलकण्टकाः ॥ २३ ॥

शृङ्गिणो गावः, अग्निर्धूमार्थं स्वेदार्थं वा कृतः, दंष्ट्रिणो मर्कटाः, असिः खड्गादिसाधनानि, जलं कूपगर्तादिस्थितं, कलशादिस्थितं वा पातनात्, द्विजाः पक्षिणः शुकादयः, कण्टकानि च्छित्वा स्थापितानि परितो वेष्टनरूपाणि, तेभ्यो निवारणं वचनान्न भवति, आज्ञाकारित्वेपि चाञ्चल्यात्, वस्तुतस्त्वाज्ञां दातुमपि न प्रेरयति उपद्रवज्ञाने निर्बन्धेन निवारणं, तत् तु कर्तुमयुक्तमित्याह क्रीडापराविति, क्रीडैव परोत्कृष्टा नियामिका ययोर्बालकयोः, तर्हि क्रीडासाधनानि सम्यक्स्थले कृत्वा देयानीति चेत् तत्राहातिचलाविति, अत्यन्तं चलौ, तर्ह्यन्यः कश्चित् तदवेक्षकः स्थाप्य इति चेत् तत्राह स्वसुताविति, स्वेनैव सूताविति तदर्थं क्लेशसहनात् स्नेहाधिक्याच्च नान्यविनियोगं कुरुतः, क्रिययैव च निषेधः कर्तव्यस्ततस्तत आदाय सम्यक् स्थाने स्थापनीयो, तथा प्रतिक्षणं क्रियमाणे गृहकार्यं तयोरपि भोजनस्नानादिनिमित्तकार्यं न सिध्येत् तदाह गृहाणि कर्तुमपीति

गृहेवश्यकर्तव्यानि गृह्याणि, लौकिकनिष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा, आसक्तिस्तुल्या मध्यलीलेवेति, पञ्चमलीलां तु वक्ष्यति, तदर्थं सर्वपरित्यागं, उभयोस्तुल्यत्वख्यापनायापिशब्दः यदा न शेकाते तदा मनसोनवस्थामापतुर्वैयग्र्यं चिन्तां च प्राप्तवत्यौ, तयोर्जनन्याविति ताभ्यां सह क्रिया निषिध्यत इति ज्ञापितं, क्षणमपि मनसो नैकत्र स्थैर्यं तयोर्जातमित्यर्थः ॥२६॥ एवं मात्रोर्निरोधार्थं बहुविधां लीलामुक्त्वा स्वतन्त्रतया स्थितस्य भूमेर्मर्दनक्लेशनिवृत्त्यर्थं पद्भ्यां संवाहयन्ताविव गतिविलासं कृतवन्तावित्याह कालेनाल्पेनेति, यदर्थं तत् कर्तव्यं तत् प्रयोजनमल्पमित्यल्पे कालेन गोव्रजे पद्भिर्विचक्रमतुः, अञ्जसानायासेनैव नान्यावलम्बनापेक्षा कालो गत्यात्मक इतिक्रीडायामिवात्रापि करणता, अल्पस्य कालस्य कोमलत्वात्, कोमलचरणस्पर्शे भूमेः खेदो गच्छतीत्यल्पत्वमुक्तं, राजर्ष इत्युभयधर्मत्त्वेन सम्बोधनमग्रिमचरित्रश्रवणाधिकारबोधकं निरोधानुसन्धानार्थं च रामः कृष्णश्चेतिनामग्रहणं रत्युत्पादनसामर्थ्यजननायन्तःस्थितरूपेण बहिःपरमानन्दविषयरूपेण च भूमेः सुखदानार्थं, स्वतन्त्रतयोभयोस्तथात्वाय भिन्नतया निरूपणं चकारस्तूभयसमुच्चयार्थः, विषयस्यान्तर्नयने मनसो बहिरानयने च विनियोगात, गवां व्रज इति खुराघातक्लेशः स्पष्टतया तत्र निरूपितः, जान्वाघर्षणनैव दैत्यवधेग्रिमकार्यं व्यर्थं स्यादिति पद्भिरिति, अनेकधा पादस्थापनैर्विशेषेण चक्रमतुः, "छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इतिस्मृतेः, भगवत्क्रियाया नातीतत्वं सर्वथा ज्ञातव्यम् ॥ २७ ॥

एवं राजसीं लीलां कृत्वा लीलान्तरं कृतवानित्याह ततस्त्वितित्रिभिः, राजसतामसीं तामसराजसीं च स्वतो वक्तुमनुचितां मत्वान्यमुखेन निरूपयितुं मध्ये वाक्यान्तरं ततश्चतुर्भिर्निरूपितं भवति, एवं भूमिक्लेशनिवृत्त्यनन्तरमक्लिष्टभूमौ स्वांशैर्बालकैः सह महाराजलीलां कृतवानित्याह ततस्त्विति, तुशब्दः पूर्वलीलाव्यावृत्त्यर्थः, नातः परं परतन्त्रलीला, स्वातन्त्र्ये सामर्थ्यार्थमाह भगवानिति, आवेशिनः स्वातन्त्र्ये दौर्बल्यात् कृष्ण एवोक्तो रामस्तु सहभावेन, एकेन कालेन भगवत्सेवकेन ते गृहीता इति तैः सह क्रीडेति ज्ञापयितुं वयस्यैरित्युक्तं, समानं वयो येषां ते वयस्याः, देशोऽप्येक इत्यपि व्रजबालकैरिति, क्रीडायां बाला मुख्याः, रामस्तु स्वान्तर्निविविशतीति सहराम इत्युक्तं, अत्र लीलायां साक्षान्निरोधो व्रजस्त्रीणामेव, तासामेव तथात्वात्, ज्ञानद्वारा यशोदायास्तत्र सर्वथागृहीतपरित्याजनार्थं लीलां कुर्वन्नादौ लौकिकप्रकारेण तासामनुरागं जनितवानित्याह व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्निति, व्रजसम्बन्धान्निरोध आवश्यकः, ययैव क्रीडया यथा कृतया तासां सन्तोषो भवति, न तु स्वसामर्थ्येन, अन्यथा प्रयोजनत्वेन करणे तन्निर्देशो न स्यात्, निरोधजनकत्वं स्वस्यैवेति स्वधर्मत्वेन निर्दिष्टं, कार्यसाधनत्वेन बालकानामुपयोगो रामस्य रक्षकत्वेन, स्वतः सन्तोषजननं, रासलीलायां च स्वयं राजा मन्त्री रामः सेवका बालका इति यावत्यो गोप्यो यादृग्भावापन्नास्तत्तदनुगुणां लीलामनन्तामेव भगवान् कृतवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गृह्याणि कर्तुमित्यत्र, पञ्चमलीलायामिति । जन्मप्रकरणयुक्तं फलप्रकरणं पञ्चममिति तत्रोक्ता सा पञ्चमीति ज्ञेयम् । ततस्त्विति त्रिभिरिति । ततस्त्वित्यस्मादग्रिमैस्त्रिभिरित्यर्थः । तद्भाववतां निरोधहेतुत्वेन लीलायामपि ते गुणा उपचर्यन्ते ॥२५॥ व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्नित्यत्र, अन्यथेति । तन्निर्देशो न स्यादित्यनेन सम्बध्यते । अन्यथेत्यस्यैव विवरणं शिष्टेन । तथा चानुषङ्गिकं फलं व्रजस्त्रीणां मुत्करणम्, न तु तदेकप्रयोजनत्वेन लीलाकरणमिति चेत् स्यात्, तदा 'व्रजस्त्रीणां मुदं जनय'न्निति शुको न वदेदित्यर्थः । अनावश्यकत्वादिति भावः । निरोधस्यात्रोद्देश्यत्वेनापि तथा मन्तव्यमिति हृदयम् । तर्हि तद्धर्मप्राधान्यात् ता मुमुदिर इति वदेन्न तु प्रभुप्राधान्येनेति चेत्, तत्राह निरोधजनकत्वं स्वस्येति ॥ २६–२७–२८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

यर्ह्यङ्गनेत्यत्राधिकारिण्य इति निरोधाधिकारिण्यः, तासां निरोधप्रयोजनमाहुरन्यासामित्यादि, राजसभावा इति रसोद्दीपका भावाः, जातानुभावानामिति, अत्र ह्यङ्गना द्विविधा जातभगवदनुभावास्तद्रहिताश्च, तथा चैतावत्पर्यन्तमजातानुभवानां ननान्द्रादीनां भयेन पूर्वं ताभिरहर्निशं दर्शनं कर्तुं न शक्तमिदानीं तु तासां ननान्द्रादीनामपि तथात्वेन तदिष्टसिद्धिरप्रत्यूहेतिभावात्, त्रिविधा इति भगवल्लीलेत्यर्थः, अन्यत्र गमनयोग्यतारहिता इति भगवदेकनिष्ठा इत्यर्थः, वत्सपुच्छावलम्बनतात्पर्यमाहुर्भगवानित्यादि, भगवांल्लीलार्थं कर्माङ्गवदंशः शिपिविष्टो "यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपि"रितिश्रुत्यन्तरात् पशुस्वामी कश्चित् कर्माङ्गदेवता तद्भावं करोतितदवलम्बनं कर्माङ्गावलम्बनं वा करोतीति ते कर्माङ्गभूता मूढाः पुरुषास्त्वितस्ततः सार्वविभक्तिकस्तसिर्यत्तत्फलार्थं प्राकृते वैकृते च कर्मणि तां देवतां संयोजयन्ति तत्रोदाहरणमाहुर्यथेत्यादि, यथोपाकृतायां वपायां गर्भदर्शने सति गर्भस्य दक्षिणं पूर्वपादं प्रच्छिद्य "विष्णुं शिपिविष्टं यजती"ति कल्पसूत्रात् क्रमेण गर्भपादच्छेदनं कृत्वा 'विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोती"तिश्रुत्या होमविधान "मपि वा एतस्य यज्ञ ऋध्यते यस्य हविरतिरिच्यते यः पशोर्भूमा या पुष्टिस्तद्विष्णुः शिपिविष्टोतिरिक्त एवातिरिक्तं दधात्यतिरिक्तस्य शान्त्या" इति फलार्थमुक्तं, तथा च "फलमत उपपत्ते" रितिन्यायेन फलं ददद् भगवान् कर्माङ्गदेवताभावं प्राप्य कर्माङ्गद्रव्याद्यवलम्बनं वा कृत्वा मूढानां प्राकृतं वैकृतं च ददाति न तु स्वरूपेणेति बोधितं, एवं कर्मभ्य इत्यादिना यदुक्तं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुरुज्झितेत्यादि, तथा च मर्यादामार्गानुसरणात्

तदानुषङ्गिकमित्यर्थः, शेषं स्फुटम् ॥ २५ ॥ शृङ्गीत्यत्र ननु "तन्मातरा"वित्यत्र प्रमोदात्मकफलकथनेन मातृचरणनिरोध उक्तस्ततो "यर्हीं"त्यत्र मातृचरणानां निरोधार्थमन्यासामपि प्रासङ्गिको निरोध उक्तस्ततः पुनरपि मातृचरणानां निरोध उच्यते तत्र को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुर्गोपिकास्त्वित्यादि, **स्वत्वभावे** गृहविषयकस्वत्वभाव इत्यर्थः, **रसवशेनापी**ति **वशीकृता** इति पूर्वेणैव **सम्बन्धः**, **कौतुकेनापी**त्यत्रापि तथा, **अन्यार्थं च निरूपिता** इति साधारण**कार्यार्थं** नियुक्ताः, तथा चैवं पड्भिर्हेतुभिर्भगवदासक्ता **निरूपिता** इत्यर्थः, **तद्विपरीत** इत्युक्तपड्धर्मरहिते, **तदुभयसम्पादनार्थ**मिति दोपाभावालौकिकभावसम्पादनार्थं, ननु यशोदादिनिरोधस्य प्रकारान्तरेणापि सिद्धत्वात् स्वयं दुष्टेपु गत्वा निरोधकरणे को हेतुस्तत्राहुरिष्टस्येत्यादि, अभ्यर्हितत्वेनेच्छाविषयस्य तत्क्लेशोत्पादकस्य **दुष्टस्य** संसर्गे सम्भवति सति **शिष्टः** स्वत्वादिधर्मवान् निरोधाधिकारी **पुष्टिं** गृहादावतिपोपणं तदासक्तिमितियावत् तां **विमुञ्चति** विशेषेण त्यजति **नान्यथा** प्रकारान्तरेण न त्यजतीतिहेतोः सत्यरूपः **प्रीतो** हरिः क्रूरनिकटे **गतोभवत्**, नन्वेतावत्करणे किं प्रयोजनमत उक्तं **हरि**रिति, तथा सति सर्वेपामेव तथा कुतो न करोतीत्यत उक्तं **प्रीत** इति, ननु प्रीतत्वेपि प्रकारान्तरेण निरोधः कर्तव्यो न तु स्वविरोधेनेत्यत उक्तं **सत्य** इति, तथा च स्वभावान्यथाकृत्यभावेन यदा लौकिकप्रकारान्तरेण तत् सिद्धं न दृष्टवांस्तदा ब्रह्मवाक्यसत्यत्वार्थं तथा कृतवानित्यर्थः, **स्वेदार्थ**मिति गोदोहनादिपात्रगन्धनिरासकस्वेदार्थं, कलशीयजलस्य दुष्टत्वे हेतुमाहुः **पातनादि**ति, बालको हि बाल्यात् **कलशा**रोहणं करोति तथा सति विपर्येति चेत् **कलश**स्तदा तथेत्यर्थः, **पञ्चमलीलाया**मित्यस्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**र्जन्मे**त्यादि, **सुबोधिन्यां सह क्रिया निषिध्यत** इति पाकादौ धूमतापादिना स्नानादावनौचित्यादिना प्रतिरोधात् तथेत्यर्थः, यद्वा भगवत्क्रिया न केनापि निरोद्धुं शक्या किन्तु भगवानेव यथा जननीत्वं सम्पादितवांस्तथा स्वक्रियानिरोधकत्वमपि सम्पादितवांस्तथा च भगवत्कर्तृकक्रियानिरोधकाले स्वयमेव निरोधं सम्पादितवान्, **अस्मिन्** पक्षे ताभ्यां बालकाभ्यां **सह क्रिया निषिध्यत** इत्यर्थो ज्ञेयः ॥ २६ ॥ **कालेने**त्यस्याभासेत्रापीत्युत्थानरूपपादकार्येपि, **अधिकारबोधक**मिति राजत्वेन नैपुण्यबोधनात् महाराजलीलारूपचरित्रश्रवणा**धिकारबोधक**मित्यर्थः, **निरोधानुसन्धानार्थ**मिति "भक्तिर्हरा"वित्यनेन स्वयं पृष्टस्य सर्वेपां **निरोधस्यानुसन्धानार्थ**मृषित्वमुक्तमित्यर्थः, तथा च भवत्पृष्टनिरोधमध्ये किञ्चिदंशमुक्त्वा स एव वैशिष्ट्येन प्रतिपाद्यत इति नासङ्गताभिधानशङ्का कर्तव्येत्येतदर्थमित्यर्थः, **जनना**येति प्रकटीकरणाय, **रत्युत्पादनसामर्थ्य**प्रकटने हेतुमाहु**रन्त**रिति, यतो **रामो** योगिध्येयत्वादन्तःस्थित**रूपेण रत्युत्पादनसमर्थो** भगवांश्च भक्तानुरोधेन तथैवातस्तद्वाचकयोस्त**था**त्वं युक्तं, **बहीरूपेण भूमेः सुखदानं** च युक्तमित्यर्थः, **तथात्वा**येति समर्थत्वाय, भूम्यतिरिक्ते **सुखदान**व्यवस्थामाहु**श्चकार** इत्यादि सम्भूय **सुखदाना**भिप्रायार्थः, तदेव विशदयन्ति **विषयस्ये**ति, रामो हि ध्येयत्वाद् बहिःस्थितं विषयमन्तर्नयति लौकिकं त्याजयित्वालौकिकं सम्पादयति भगवांश्च तद्भोगार्थं मनआकर्षणद्वारा सर्वं **बहिरानयतीति** तथेत्यर्थः, अत एव 'हरेः प्रियचिकीर्षये'त्यपि सङ्गच्छते, मर्दनक्लेशस्वरूपमाहुः **खुराघाते**त्यादि, **पदिश्चलने** हेतुमाहु**र्जान्वि**त्यादि ॥ २७ ॥ **तत** इत्यत्राभासे **राजसीं लीला**मिति पादविक्षेपात्मिकां, क्रमु पादविक्षेपे विक्षेपस्य राजसत्वादिति, प्रतीकस्यार्थमाहुष्टिप्पण्यां **तत** इत्यादि, ननु भगवतो गुणातीतत्वेन लीलानामपि तादृशत्वाद् राजसीत्वादिकं कथमुच्यत इत्याशङ्क्याहु**स्तदभावे**त्यादि, **सुबोधिन्यामन्यमुखेने**ति गोपीमुखेन, **तथात्वादि**ति लीलायोग्य**त्वात्**, **व्रजसम्बन्धादि**ति व्रजग्तामसस्तत्**सम्बधात्** तामसभावयुक्तत्वात् , **स्वसामर्थ्येने**त्यनिरोधाजनकेन तेन, उक्ते मानमाहु**रन्यथे**त्यादि, तस्यार्थं **टिप्पण्यामाहुरन्यथे**त्यादि हृदयमित्यन्तं, **शिष्टेने**ति **प्रयोजनत्व**पदेन, किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाहुस्तर्हीत्यादि, सुबोधिन्यां **निर्दिष्ट**मिति मुत्कारणमितिशेषः, मुज्जनने प्रकारमाहु**र्यावत्य** इत्यादि, **अनेन** सात्त्विकी लीला सुखजनिका निरूपिता "सत्त्वं सुखं सञ्जयती"तिवाक्यात् ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

यर्ह्यङ्गनेत्यस्याभासे **स्वतः स्थितयो**रिति कथञ्चिदन्याश्रितत्वेपि स्थितिः स्वत एव न तूत्सङ्ग इत्यर्थः, व्याख्याने, **राजसभावा** इति उद्दीप्तरसभावा इत्यर्थः, सर्वथाङ्गप्राशस्त्यं तारुण्य एव भवतीत्याशयेनाहुः **अङ्गनास्तु तरुण्य** इति, **प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहाः हसन्त्य** इति पदत्रयार्थमाहुः **कौतुकाविष्टा** इति त्रयेण, कुमारपदे पञ्चवर्षत्वभ्रमव्युदासायाहुः **द्विवार्षिक** इति, सार्धद्वयवार्षिकस्य तु वृन्दावने **गमनं** वक्ष्यते, अतस्तथेतिभावः, **कन्दर्पे**ति कन्दर्पकोटेरिव यत् लावण्यं तेनाधिकसुन्दर इत्यर्थः, **तद्गते**ति कुत्सितत्वादिकमपि साजात्य एव भवतीति कन्दर्पगता अपि भावा निरूपिताः, परन्तूत्कृष्टाः सौन्दर्यादयो न तु हरदग्धत्वादय इत्यर्थः, **अयं भाव** इति उत्थितत्वरूपो भावो **यावन् न जातस्तावत्** यशोदाद्यावृतत्वेन **निरन्तरम्** अन्तरं व्यवधानं तद्रहित**दर्शनं इति** एवं प्रकारेण न जातं यशोदाद्युत्सङ्गे एव दृष्टस्तथा च तद्दर्शनीयलीलात्वमुत्थितलीलायामेव जातमित्यर्थः, **अन्यत्रे**ति वनरहःस्थलादिपु **गमनं** कार्यान्तरव्याजेन सख्यादिमाध्यस्थ्येन वा भवति, एतास्तु गवादिकार्ये एव नियुक्ताः, अतः कार्यान्तराभावादन्तरङ्गसख्याद्यभावाच्च वनरहःस्थलादिपु **गमनयोग्यतारहिता** इत्यर्थः, **वत्सा** इति गोपुत्रा मूढा अतो भगवद्गृहीता न तिष्ठन्तीत्यर्थः, इदं दृष्टान्तपूर्वकं विशदयन्ति **भगवानि**ति, कर्मणो मेपीहोमस्याङ्गं गर्भहोमस्तत्र देवतात्वं स्वस्य करोति सम्पादयतीत्यर्थः, **तदवलम्बनं** तस्य कर्मणोऽवलम्बनं तदङ्गत्वमित्यर्थः, प्रतितन्त्रन्यायेन देवताप्यङ्गमितिभावः,

गृहेवश्यकर्तव्यानि गृह्याणि, लौकिकनिष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा, आसक्तिस्तुल्या मध्यलीलेवेति, पञ्चमलीलां तु वक्ष्यति, तदर्थं सर्वपरित्यागं, उभयोस्तुल्यत्वख्यापनायापिशब्दः यदा **न शेकाते** तदा **मनसोनवस्थामापतुर्वै**यग्र्यं चिन्तां च प्राप्तवत्यौ, तयोर्जनन्याविति ताभ्यां सह क्रिया निषिध्यत इति ज्ञापितं, क्षणमपि मनसो नैकत्र स्थैर्यं तयोर्जातमित्यर्थः ॥२६॥ एवं मात्रोर्निरोधार्थं बहुविधां लीलामुक्त्वा स्वतन्त्रतया स्थितस्य भूमेर्मर्दनक्लेशनिवृत्त्यर्थं पद्भ्यां संवाहयन्ताविव गतिविलासं कृतवन्तावित्याह **कालेनाल्पेने**ति, यदर्थं तत् कर्तव्यं तत् प्रयोजनमल्पमित्यल्पे **कालेन गोव्रजे पद्भिर्विचक्रमतुः**, अञ्जसानायासेनैव नान्यावलम्बनापेक्षा कालो गत्यात्मक इतिक्रीडायामिवात्रापि करणता, **अल्पस्य** कालस्य कोमलत्वात्, कोमलचरणस्पर्शे भूमेः खेदो गच्छतीत्यल्पत्वमुक्तं, **राजर्ष** इत्युभयधर्मत्त्वेन सम्बोधनमग्रिमचरित्रश्रवणाधिकारबोधकं निरोधानुसन्धानार्थं च **रामः कृष्णश्चे**तिनामग्रहणं रत्युत्पादनसामर्थ्यजननायन्तःस्थितरूपेण बहिःपरमानन्दविषयरूपेण च भूमेः सुखदानार्थं, स्वतन्त्रतयोभयोस्तथात्वाय भिन्नतया निरूपणं चकारस्तूभयसमुच्चयार्थः, विषयस्यान्तर्नयने मनसो बहिरानयने च विनियोगात्, **गवां व्रज** इति खुराघातक्लेशः स्पष्टतया तत्र निरूपितः, **जान्वाघर्षणे**नैव दैत्यवधेग्रिमकार्यं व्यर्थं स्यादिति **पद्भि**रिति, अनेकधा पादस्थापनैर्विशेषेण **चक्रमतुः**, "छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इतिस्मृतेः, भगवत्क्रियाया नातीतत्वं सर्वथा ज्ञातव्यम् ॥ २७ ॥

एवं राजसीं लीलां कृत्वा लीलान्तरं कृतवानित्याह ततस्त्वितित्रिभिः, राजसतामसीं तामसराजसीं च स्वतो वक्तुमनुचितां मत्वान्यमुखेन निरूपयितुं मध्ये वाक्यान्तरं ततश्चतुर्भिर्निरूपितं भवति, एवं भूमिक्लेशनिवृत्त्यनन्तरमक्लिष्टभूमौ स्वांशैर्बालकैः सह महाराजलीलां कृतवानित्याह **ततस्त्वि**ति, **तु**शब्दः पूर्वलीलाव्यावृत्त्यर्थः, नातः परं परतन्त्रलीला, स्वातन्त्र्ये सामर्थ्यार्थमाह **भगवा**निति, आवेशिनः स्वातन्त्र्ये दौर्बल्यात् **कृष्ण** एवोक्तो **रामस्तु** सहभावेन, एकेन कालेन भगवत्सेवकेन ते गृहीता इति तैः सह क्रीडेति ज्ञापयितुं **वयस्यै**रित्युक्तं, समानं वयो येषां ते **वयस्याः**, देशोऽप्येक इत्यपि व्रजबालकैरिति, क्रीडायां **बाला** मुख्याः, रामस्तु स्वान्तर्निविविशतीति **सहराम** इत्युक्तं, अत्र लीलायां साक्षान्निरोधो व्रजस्त्रीणामेव, तासामेव तथात्वात्, ज्ञानद्वारा यशोदायास्तत्र सर्वथागृहीतपरित्याजनार्थं लीलां कुर्वन्नादौ लौकिकप्रकारेण तासामनुरागं जनितवानित्याह **व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्नि**ति, व्रजसम्बन्धान्निरोध आवश्यकः, ययैव क्रीडया यथा कृतया तासां सन्तोषो भवति, न तु स्वसामर्थ्येन, अन्यथा प्रयोजनत्वेन करणे तन्निर्देशो न स्यात्, निरोधजनकत्वं स्वस्यैवेति स्वधर्मत्वेन निर्दिष्टं, कार्यसाधनत्वेन बालकानामुपयोगो रामस्य रक्षकत्वेन, स्वतः सन्तोषजननं, रासलीलायां च स्वयं राजा मन्त्री रामः सेवका बालका इति यावत्यो गोप्यो यादृग्भावापन्नास्तत्तदनुगुणां लीलामनन्तामेव भगवान् कृतवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गृह्याणि कर्तुमित्यत्र, पञ्चमलीलायामिति । जन्मप्रकरणयुक्तं फलप्रकरणं पञ्चममिति तत्रोक्ता सा पञ्चमीति ज्ञेयम् । **ततस्त्विति त्रिभिरि**ति । ततस्त्वित्यस्मादग्रिमैस्त्रिभिरित्यर्थः । तद्भाववतां निरोधहेतुत्वेन लीलायामपि ते गुणा उपचर्यन्ते।।२५।। **व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्नित्यत्र, अन्यथे**ति । तन्निर्देशो न स्यादित्यनेन सम्बध्यते । अन्यथेत्यस्यैव विवरणं शिष्टेन । तथा चानुषङ्गिकं फलं व्रजस्त्रीणां मुत्करणम्, न तु तदेकप्रयोजनत्वेन लीलाकरणमिति चेत् स्यात्, तदा 'व्रजस्त्रीणां मुदं जनय'न्निति शुको न वदेदित्यर्थः । अनावश्यकत्वादिति भावः । निरोधस्यात्रोद्देश्यत्वेनापि तथा मन्तव्यमिति हृदयम् । तर्हि तद्धर्मप्राधान्यात् ता मुमुदिर इति वदेन्न तु प्रभुप्राधान्येनेति चेत्, तत्राह **निरोधजनकत्वं स्वस्ये**ति ॥ २६-२७-२८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

यर्ह्यङ्गनेत्यत्राधिकारिण्य इति निरोधाधिकारिण्यः, तासां निरोधप्रयोजनमाहुरन्यासामित्यादि, **राजसभावा** इति रसोद्दीपका भावाः, **जातानुभावानामि**ति, अत्र ह्यङ्गना द्विविधा **जातभगवदनुभावास्तद्र**हिताश्च, तथा चैतावत्पर्यन्तम**जातानुभवानां** **ननान्द्रादीनां** भयेन पूर्वं ताभिरहर्निशं **दर्शनं** कर्तुं **न** शक्तमिदानीं तु तासां ननान्द्रादीनामपि तथात्वेन तदिष्टसिद्धिरप्रत्यूहेतिभावात्, **त्रिविधा** इति भगवल्लीलेत्यर्थः, **अन्यत्र गमनयोग्यतारहिता** इति भगवदेकनिष्ठा इत्यर्थः, वत्सपुच्छावलम्बनतात्पर्यमाहुर्भगवानित्यादि, **भगवांल्लीलार्थं कर्माङ्गदेवदंशः शिपिविष्टो** "यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपि"रितिश्रुत्यन्तरात् पशुस्वामी कश्चित् **कर्माङ्गदेवता** तद्भावं करोतित**दवलम्बनं कर्माङ्गावलम्बनं वा करोती**ति ते कर्माङ्गभूता **मूढाः** पुरुषास्त्वितस्ततः सार्वविभक्तिकस्तसिर्यत्तत्फलार्थं **प्राकृते वैकृते** च कर्मणि तां देवतां **संयोजयन्ति** तत्रोदाहरणमाहुर्यथेत्यादि, **यथोपाकृतायां** वपायां **गर्भ**दर्शने सति **गर्भस्य** दक्षिणं **पूर्वपादं** प्रच्छिद्य **"विष्णुं शिपिविष्टं** यजती"ति कल्पसूत्रात् क्रमेण **गर्भपादच्छेदनं कृत्वा 'विष्णवे शिपिविष्टया जुहोती'**"तिश्रुत्या होमविधान "मपि वा एतस्य यज्ञ ऋध्यते यस्य हविरतिरिच्यते यः पशोर्भूमा या पुष्टिस्तद्विष्णुः शिपिविष्टोतिरिक्त एवातिरिक्तं **दधात्यतिरिक्तस्य** शान्त्या" **इति फलार्थमुक्तं**, तथा च "फलमत उपपत्ते" रितिन्यायेन फलं ददद् भगवान् **कर्माङ्गदेवताभावं** प्राप्य **कर्माङ्गद्रव्याद्यवलम्बनं वा कृत्वा मूढानां प्राकृतं वैकृतं** च ददाति **न तु स्वरूपेणे**ति बोधितं, **एवं कर्मभ्य** इत्यादिना यदुक्तं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुरुज्झितेत्यादि, तथा च मर्यादामार्गानुसरणात्

तदानुपङ्क्तिकमित्यर्थः, शेषं स्फुटम् ॥ २५ ॥ शृङ्गीत्यत्र ननु "तन्मातरा"वित्यत्र प्रमोदात्मकफलकथनेन मातृचरणनिरोध उक्तस्ततो "यर्हि"त्यत्र मातृचरणानां निरोधार्थमन्यासामपि प्रासङ्गिको निरोध उक्तस्ततः पुनरपि मातृचरणानां निरोध उच्यते तत्र को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुर्**गोपिकास्त्विवत्यादि**, **स्वत्वभावे** गृहविषयकस्वत्वभाव इत्यर्थः, **रसवशेनापीति वशीकृता** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः, **कौतुकेनापी**त्यत्रापि तथा, **अन्यार्थं च निरूपिता** इति साधारणकार्यार्थं नियुक्ताः, तथा चैवं षड्भिर्हेतुभिर्भगवदासक्ता निरूपिता इत्यर्थः, **तद्विपरीत** इत्युक्तषड्धर्मरहिते, **तदुभयसम्पादनार्थमिति** दोषाभावालौकिकभावसम्पादनार्थं, ननु यशोदादिनिरोधस्य प्रकारान्तरेणापि सिद्धत्वात् स्वयं दुष्टेषु गत्वा निरोधकरणे को हेतुस्तत्राहुरिष्टस्येत्यादि, अभ्यर्हितत्वेनेच्छाविषयस्य तत्क्लेशोत्पादकस्य **दुष्टस्य** संसर्गे सम्भवति सति **शिष्टः** स्वत्वादिधर्मवान् निरोधाधिकारी **पुष्टिं** गृहादावतिपोषणं तदासक्तिमितियावत् तां **विमुञ्चति** विशेषेण त्यजति **नान्यथा** प्रकारान्तरेण न त्यजतीतिहेतोः **सत्यरूपः प्रीतो हरिः** क्रूरनिकटे **गतोभवत्**, नन्वेतावत्करणे किं प्रयोजनमत उक्तं **हरिरिति**, तथा सति सर्वेषामेव तथा कुतो न करोतीत्यत उक्तं **प्रीत** इति, ननु प्रीतत्वेपि प्रकारान्तरेण निरोधः कर्तव्यो न तु स्वविरोधेनेत्यत उक्तं **सत्य** इति, तथा च स्वभावान्यथाकृत्यभावेन यदा लौकिकप्रकारान्तरेण तत् सिद्धं न दृष्टवांस्तदा ब्रह्मवाक्यसत्यत्वार्थं तथा कृतवानित्यर्थः, **स्वेदार्थमिति** गोदोहनादिपात्रगन्धनिरासकस्वेदार्थं, कलशीयजलस्य दुष्टत्वे हेतुमाहुः **पातनादिति**, बालको हि बाल्यात् **कलशारोहणं** करोति तथा सति विपर्येति चेत् **कलशस्तदा** तथेत्यर्थः, **पञ्चमलीलायामि**त्यस्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्**जन्मेत्यादि**, **सुबोधिन्यां सह क्रिया निषिध्यत** इति पाकादौ धूमतापादिना स्नानादावनौचित्यादिना प्रतिरोधात् तथेत्यर्थः, यद्वा भगवत्क्रिया न केनापि निरोद्धुं शक्या किन्तु भगवानेव यथा जननीत्वं सम्पादितवांस्तथा स्वक्रियानिरोधकत्वमपि सम्पादितवांस्तथा च भगवत्कर्तृकक्रियानिरोधकाले स्वयमेव निरोधं सम्पादितवान्, अस्मिन् पक्षे ताभ्यां बालकाभ्यां **सह क्रिया निषिध्यत** इत्यर्थो ज्ञेयः ॥ २६ ॥ **कालेने**त्यस्याभासेऽत्रापीत्युत्थानरूपपादकार्येपि, **अधिकारबोधकमिति** राजत्वेन नैपुण्यबोधनात् महाराजलीलारूपचरित्रश्रवणाधिकारबोधकमित्यर्थः, **निरोधानुसन्धानार्थमिति** "भक्तिर्हरा"वित्यनेन स्वयं पृष्टस्य सर्वेषां **निरोधस्यानुसन्धानार्थ**मृषित्वमुक्तमित्यर्थः, तथा च भवत्पृष्टनिरोधमध्ये किञ्चिदंशमुक्त्वा स एव वैशिष्ट्येन प्रतिपाद्यत इति नासङ्गताभिधानशङ्का कर्तव्येत्येतदर्थमित्यर्थः, **जनन्येति** प्रकटीकरणाय, **रत्युत्पादनसामर्थ्यप्रकटने** हेतुमाहुर्**रन्तरिति**, यतो **रामो** योगिध्येयत्वादन्तःस्थितरूपेण **रत्युत्पादनसमर्थो** भगवांश्च भक्तानुरोधेन तथैवातस्तद्वाचकयोस्तथात्वं युक्तं, **बहीरूपेण भूमेः सुखदानं** च युक्तमित्यर्थः, **तथात्वायेति** समर्थत्वाय, भूम्यतिरिक्ते **सुखदानव्यवस्थामाहुश्चकार** इत्यादि सम्भूय **सुखदानाभिप्रायार्थः**, तदेव विशदयन्ति **विषयस्येति**, रामो हि ध्येयत्वाद् बहिःस्थितं विषयमन्तर्नयति लौकिकं त्याजयित्वालौकिकं सम्पादयति भगवांश्च तद्भोगार्थं मनआकर्षणद्वारा सर्वं **बहिरानयतीति** तथेत्यर्थः, अत एव 'हरेः प्रियचिकीर्षये'त्यपि सङ्गच्छते, मर्दनक्लेशस्वरूपमाहुः **खुराघाते**त्यादि, **पदिश्वस्खलने** हेतुमाहुर्**जान्वित्यादि** ॥ २७ ॥ **तत** इत्यत्राभासे **राजसीं** लीलामिति पादविक्षेपात्मिकां, क्रमु पादविक्षेपे विक्षेपस्य राजसत्वादिति, प्रतीकस्यार्थमाहुष्टिप्पण्यां **तत** इत्यादि, ननु भगवतो गुणातीतत्वेन लीलानामपि तादृशत्वाद् राजसीत्वादिकं कथमुच्यत इत्याशङ्क्याहु**स्तदभावेत्यादि**, **सुबोधिन्यामन्यमुखेनेति** गोपीमुखेन, **तथात्वादिति** लीलायोग्यत्वात्, **व्रजसम्बन्धादिति** व्रजगतामसस्तत्**सम्बधात्** तामसभावयुक्तत्वात्, **स्वसामर्थ्येने**त्यनिरोधाजनकेन तेन, उक्ते मानमाहुरन्यथेत्यादि, तस्यार्थं **टिप्पण्यामाहुरन्यथेत्यादि** हृदयमित्यन्तं, **शिष्टेनेति प्रयोजनत्वपदेन**, किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाहुस्तर्हीत्यादि, **सुबोधिन्यां निर्दिष्टमिति** मुत्कारणमितिशेषः, मुज्जनने प्रकारमाहुर्यावत्य इत्यादि, **अनेन** सात्त्विकी लीला सुखजनिका निरूपिता "सत्त्वं सुखं सञ्जयती"तिवाक्यात् ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

यह्यङ्गनेत्यस्याभासे **स्वतः स्थितयोरिति** कथञ्चिदन्याश्रितत्वेपि स्थितिः स्वत एव न तूत्सङ्गे इत्यर्थः, व्याख्याने, **राजसभावा** इति उद्दीप्तरसभावा इत्यर्थः, सर्वथाङ्गप्राशस्त्यं तारुण्य एव भवतीत्याशयेनाहुः **अङ्गनास्तु तरुण्य** इति, **प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहाः हसन्त्य** इति पदत्रयार्थमाहुः **कौतुकाविष्टा** इति त्रयेण, कुमारपदे पञ्चवर्षत्वभ्रमव्युदासायाहुः **द्विवार्षिक इति**, सार्धद्वयवार्षिकस्य तु वृन्दावने **गमनं** वक्ष्यते, अतस्तथेतिभावः, **कन्दर्पति** कन्दर्पकोटेरिव यल्लावण्यं तेनाधिकसुन्दर इत्यर्थः, **तद्गतेति** कुत्सितत्वादिकमपि साजात्य एव भवतीति कन्दर्पगता अपि भावा निरूपिताः, परन्तूत्कृष्टाः सौन्दर्यादयो न तु हरदग्धत्वादय इत्यर्थः, **अयं भाव** इति उत्थितत्वरूपो भावो **यावन् न जातस्तावत्** यशोदाद्यावृतत्वेन **निरन्तरम्** अन्तरं व्यवधानं तद्रहितदर्शनं **इति** एवं प्रकारेण न जातं यशोदाद्युत्सङ्गे एव दृष्टस्तथा च तद्दर्शनीयलीलात्वमुत्थितलीलायामेव जातमित्यर्थः, **अन्यत्रेति** वनरहःस्थलादिषु **गमनं** कार्यान्तरव्याजेन सख्यादिमाध्यस्थ्येन वा भवति, एतास्तु गवादिकार्ये एव नियुक्ताः, अतः कार्यान्तराभावादन्तरङ्गसख्याद्यभावाच्च वनरहःस्थलादिषु **गमनयोग्यतारहिता** इत्यर्थः, **वत्सा** इति गोपुत्रा मूढा अतो भगवद्गृहीता न तिष्ठन्तीत्यर्थः, इदं दृष्टान्तपूर्वकं विशदयन्ति **भगवानिति**, कर्मणो मेषीहोमस्याङ्गं गर्भहोमस्तत्र देवतात्वं स्वस्य करोति सम्पादयतीत्यर्थः, **तदवलम्बनं** तस्य कर्मणोऽवलम्बनं तदङ्गत्वमित्यर्थः, प्रतितन्त्रन्यायेन देवताप्यङ्गमितिभावः,

ते त्विति कर्मजडास्तु **मूढा** भगवान् लीलार्थमेव हीनभावमवलम्बते वस्तुतस्तु सर्वाधिपतिरित्याकारकज्ञानरहिताः **प्राकृते वैकृते** नित्ये काम्ये च **कर्मणि भगवन्तं संयोजयन्ति**, न तु स्वयं तत्सम्बद्धा भवन्ति, साक्षाद्भगवत्सेवां न कुर्वन्तीत्यर्थः, तत् स्पष्टयन्ति **यथेति**, मेष्यालभने कदाचित् तस्यां गर्भसम्भवे तस्य होम एवं क्रियते, अत्र चतुर्थ्यविष्टयोर्देवतात्वं, एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाहुः **एतेपि वत्सा** इति, यथा कुर्वन्तीतिशेषः, भगवान् लीलार्थमेवं करोतीतिज्ञानरहिता भगवन्तं **प्राकृतं** मत्वा तत्सम्बद्धा न तिष्ठन्त्यतोऽनुकर्षणं भवतीत्यर्थः, **एवं कर्मभ्य** इति स्वान्तः—**करणमितिशेषः, गोप्यः** स्वान्तःकरणं **कर्मभ्यः** सकलेभ्यस्त्याजयित्वेत्यर्थः, **त्रिविधानां ग्रहणार्थमिति** सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिविधानां ग्रहणार्थं प्रेक्षणगृहत्यागहास-भेदेन त्रैविध्यमुक्तमित्यर्थः ॥ २५ ॥ **शङ्कीत्यत्र स्वत्वभावेति** मातरौ भगवति स्वत्वं जानीतो न तु स्वामित्वमिति सर्वात्म-भावविचारेण दोष इत्यर्थः, **अलौकिकभावेनेति** 'सूक्ष्मरूपेण विश्वासमुत्पाद्य प्रतिबन्धके तेनैवापगते स्वेष्टरूपमाविष्करोति ही'तिकारिकोक्तेन लोकावेद्येन भावेनेत्यर्थः, पूर्वश्लोके अङ्गनापदस्य कृदन्तत्वेनापि टिप्पण्यामर्थ उक्तः सोत्र **स्वत्वभावेत्य**-नेनानूदितः, स्वामित्वभावनावत्यः अतो भगवदर्थमङ्गनयनं कुर्वन्तीति, तद्धितान्तत्वेनाङ्गप्राशस्त्यरूपोर्थः सुबोधिन्यामुक्तः सोत्र **अलौकिकभावेनेत्यनेनानूदितः, तरुणीत्वात्** तादृशभावेन **वशीकृता** भवन्तीत्यर्थः, 'उज्झितगृहा' इतिपदेन रसाविष्टा उक्तास्ता अनुवदन्ति **विचाराभावादिति**, उज्झितगृहाणां गृहविचाराभावाद् **रसेनापि** वशीकृता भवन्तीत्यर्थः, 'प्रेक्षन्त्यः' कौतुकाविष्टा उक्तास्ता अनुवदन्ति **तारुण्यादिति**, 'हसन्त्यः' कामाविष्टा उक्तास्ता अनुवदन्ति, **अन्यार्थं चेति** कामाफलार्थ-मित्यर्थः, एकत्रान्येषामपि समुच्चय इति समुच्चयबोधकं पदं सर्वत्रोक्तं, शृङ्ग्यादिषु सप्तसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **षड्गुणैः स्वेन चेति**, **इष्टस्येति इष्टस्ये**च्छाविषयस्य **दुष्टसम्बन्धे** सति **शिष्टो**विशिष्टः इच्छाश्रयः **पुष्टिं** भोजनादिभिः स्वस्य पोषणं **विमुञ्चति अन्यथा** इष्टस्योत्तमसम्बन्धे न मुञ्चति तदा त्वासक्तेस्तुल्यत्वाद् गृहकार्यमेव कुर्यादितिहेतोः हरिरनुचितदुःखजनकक्रुतिरपि **सत्यः** सद्रूपत्वेन दुष्टसम्बन्धानर्होपि क्रूरगतः **प्रीतः सन्नभवदित्यर्थः**, एतेन निरोधार्थं स्वरूपमर्यादामपि न मनुते इत्युक्तं, खड्गजले सहजे, अग्नेः कृत्रिमत्वायाहुः **अग्निरिति**, धूमे कृते गवादिषु मशका नायान्तीति **धूमार्थं** अग्निना पयः स्विन्नं भवतीति पयसः **स्वेदार्थं** वेत्यर्थः, कण्टकानां कृत्रिमत्वायाहुः **कण्टकानीति**, अत उभयोः कृत्रिमत्वमितिभावः, **गृह्याणीत्यत्र सह क्रियेति** शृङ्ग्यादिभिः सह क्रिया जननीत्वात् **ताभ्यां निषिध्यते** इत्यर्थः ॥ २६ ॥ **कालेनेत्यस्याभासे एवमिति भ्रमेरेतदर्थं** रामकृष्णौ **गतिविलासं पद्भ्यां कृतवन्ताविति**हेतोः **स्वतन्त्रतया** भिन्नतया न त्वन्यावलम्बनेन **स्थितस्य** रामस्य कृष्णस्य च **आह** लीलामितिशेषः, मूले 'रामः कृष्णश्चे'त्युक्तत्वादत्रापि **स्वतन्त्रतया स्थितस्यैक**वचनं, **कालेनाल्पेनेत्यत्र** आभासोक्तं अस्या लीलाया भूक्लेशनिवृत्त्यर्थकत्वं व्युत्पादयन्ति **गत्यात्मक** इति गतिरात्मनि यस्येति पूर्ववद् व्याख्यानं, अतो यथा **क्रीडायां "विजह्रतु"**रितिपदोक्ते विहारे **करणतोक्ता** तथा**त्रापि** "विचक्रमतु"रितिपदोक्ते गमनेपि करणतेत्यर्थः, **कोमलत्वादिति** कोमल-गत्याधारत्वादित्यर्थः, रिङ्गणादल्पकालानन्तरं या गतिः सा कोमलैः भवतीतिभावः, गतेः कोमलत्वं चरणकोमलत्वेनैवेति तेन चरणयोः कोमलत्वं सूचितमित्याशयेनाहुः **कोमलचरणेति**, तथा च संवाहनन्यायेन भूक्लेशनिवृत्त्यर्थकत्वमस्या लीलायाः सूचितमितिभावः, **रत्युत्पादनेति** रमयतीति रामः, तथा स्वनिष्ठस्य **रत्युत्पादन**सामर्थ्यस्य तासु **जननाय**, अतः परं ता रमयन्तीत्यर्थः, **रामः कृष्णश्च गोव्रजे** इति समभिव्याहारादपि तथेत्याशयेनाहुः **खुराघातेति** ॥ २७ ॥ **ततस्त्वित्यत्र स्वाशैरिति** स्वसदृशैर्वयस्यैरित्यर्थः, **स्वान्तर्निविशते** इति यूथप्रकारेण लीलायां भगवद्यूथे निविशते इत्यर्थः, **तासामेव तथात्वादिति** बहिरागत्य द्रष्टुं शक्तत्वादित्यर्थः, जनन्यास्तु महत्त्वेन बहिरागमनासम्भव इत्याशयेनाहुः **ज्ञानद्वारेति**, **सर्वथा गृहीतेति** प्रपञ्चपरित्याजनार्थमित्यर्थः, **रामस्य रक्षकत्वेनेति** भगवान् बालैः सह भुजबन्धादिलीलां करोति, तदा तासां स्वस्मिन्नपि तथा भावनया तोषो भवति, पश्चाद् रामोपि बालैः सह तथा करोति, तदा पूर्वसिद्ध एव सन्तोषो भूयः स्मरणाद् दृढो भवति, एवं राजस्य मुद्रक्षकत्वं, एवं मुज्जनने उपयोगमुक्त्वा क्रीडायामुपयोगमाहुः **राजलीलायां चेति**, **याम्स्त्विति प्राकृतो** भगवत्कार्या-नुन्मुखः **स्वभावो** यासां ताः 'वत्सान् मुञ्च'न्नितिश्लोकोक्ताः, **लौकिकेति लौकिके** पत्यादिसेवाविधायके **वाक्ये परिनिष्ठिताः** 'हस्ताग्राह्ये' इति श्लोकोक्ताः, अत एव बालकतर्पणे पत्यर्थं मन्दस्नानादौ च प्रवृत्तिः, **यत्रैव ता** इति दधिदुग्धादिकार्ये उभयविधा **अप्यासक्ता** इत्यर्थः, **कृष्णस्येत्यत्र गोपभार्यात्वादिति**, तासां तथा स्वभावादित्यर्थः ॥ २८ ॥

(४) श्रीमदीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

इष्टस्य दुष्टसम्बन्धे इति कारिका, **इष्टस्य** भगवतः **दुष्टसम्बन्धे** दुष्टाः शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यादयस्तैः सह **सम्बन्धे** निकट-स्थित्यादिरूपे जाते **शिष्टः** यशोदारोहिण्यादिः **पुष्टिं** स्वाधीनतां **विमुञ्चति** भगवदधीनो भवति, अन्यदा तु स्वाधीन एव व्यवहरन् भगवन्तं निजाधीनं करोति "कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यत" इति निबन्धोक्तलक्षणेन पुष्टिशब्दवाच्यं स्वाधीनत्वमुच्यते इति बोद्धव्यम ॥ २६ ॥ **रामः कृष्णश्च गोव्रजे** इत्यस्य विवृतौ **अन्तःस्थितरूपेणेति** रामेणेत्यर्थः, 'रमन्ते योगिनोनन्त' इति श्रुते रामस्य योगिध्येयत्वेन अन्तःस्थितरूपत्वात , **बहिः परमानन्दविषयरूपेण चेति** कृष्णेनेत्यर्थः, 'कृषिर्भू-वाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक" इति श्रुतेः कृष्णस्य परमानन्दरूपत्वात, **विषयस्यान्तर्नयने** इति योगिध्येयत्वेन ध्यान-

विषयस्य अन्तर्हृदि समानयनं रामस्येत्यर्थः, **मनसो बहिरानयने** चेति कृष्णस्तु परमानन्दरूपत्वात् परमसौन्दर्येण वशीकुर्वन् निजरूपं पश्यतां मनो **बहिः** स्वस्वरूपे **आनयती**ति हृदयम् ॥ २७ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

शृङ्ग्यग्नीत्यत्र **इष्टस्ये**ति का० ५५६ । **इष्टस्य** इच्छाविषयस्य स्नेहविषयस्य शृङ्ग्यादिदुष्टसम्बन्धे सति **शिष्टः** इष्टेच्छावतोर्मध्ये अवशिष्ट इच्छाश्रयः **पुष्टिं** भोजनादिभिः स्वस्य पोषणं **विमुञ्चति** त्यजति, **अन्यथा** **इष्टस्य** उत्तमसम्बन्धे **न मुञ्चति** **इति** हेतोः **हरिः** प्रीतः सन् **सत्यः** सत्यरूपः भक्तनिरोधार्थं शृङ्ग्यादिकूरगतोऽभवदित्यर्थः, **शृङ्गिण** इति का० ५६३ ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तयो रामकृष्णयोर्जनन्यौ यशोदारोहिण्यौ शृङ्ग्यादिभ्यः स्वसुतौ निषेद्धुं तयोर्निषेधं कुर्वन्त्यौ यत्र यदा गृह्याणि गृहोचितानि कार्याणि अपिशब्दात् स्नानभोजनमलमूत्रत्यागादिदेहकार्याणि देवार्चनादिपरलोककार्याणि च कर्तुं न शेकाते, तदा मनसोऽलमतिशयेनानवस्थामस्वास्थ्यमापतुरित्यन्वयः । शृङ्गिणो गवादयः, दंष्ट्रिणो मर्कटादयः, असिः खड्गः, द्विजाः पक्षिणः काकगृध्रादयः । शृङ्ग्यादिग्रहणप्रवृत्तौ हेतुमाह—क्रीडापराविति । 'क्रीडासाधनानि प्रदाय, एकत्र सम्यक् स्थले स्थापयितुमप्यशक्यौ' इति सूचयन्नाह—अतिचलाविति । 'स्वसुतौ, तज्जनन्यौ' इति पदद्वयेन तयोः स्नेहाधिक्यादन्यस्मिन् विश्वासाभावाच्च नान्यः कश्चिदवेक्षकः कृत इति सूचितम् । अत्र भगवद्बाललीलानुभवजनितपरमानन्दो भगवन्निष्ठाया लोकनिष्ठायाश्च परस्परविरोधश्च दर्शितः ॥ २५ ॥ 'लीलान्तरं कथयामि, तत् सावधानतया शृणु' इत्याशयेन सम्बोधयति—राजर्षे इति । अल्पेनैव कालेन गच्छता रामः कृष्णश्च अघृष्टानि भूमिघर्षणमप्राप्तानि जानूनि येषु तैः पद्भिरञ्जसा श्रमं विनैव गोकुले विचक्रमतुः विशेषेण सर्वत्र गमनं चक्रतुः ॥ २६ ॥ ततस्तदनन्तरं तु वयस्यैः समानवयस्कैर्व्रजबालकैः सह तथा सहरामो रामेण च सहितो भगवान् कृष्णो व्रजस्त्रीणां मुदं हर्षं जनयन् चिक्रीडे इत्यन्वयः । तुशब्दः पूर्ववत् पराधीनलीलाव्यावृत्त्यर्थः । 'सहराम' इत्यनेन नवनीतमोषणादिलीलासु रामस्यापि गौणत्वं दर्शितम् ॥ २७ ॥ कृष्णस्य रुचिरं मनोहरं कौमारं चापलं कुमारावस्थायां कृतं चाञ्चल्यं वीक्ष्य स्वगृहं समागता गोप्यस्तस्य कृष्णस्य मातुर्यशोदायाः शृण्वत्याह स्फुटं यथा भवति तथैवेति वक्ष्यमाणमूचुरित्यन्वयः । किलेत्यवधारणे ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

किंचिदधिकवयसोर्लीलामाह—शृङ्ग्यग्नीति ॥ तयोः रामकृष्णयोः जनन्यौ यशोदारोहिण्यौ यत्र यदा क्रीडापरौ क्रीडासक्तौ अतिचलौ चपलौ स्वसुतौ शृङ्गिणो गवादयः दंष्ट्रिणः कुक्कुरादयः असिः खड्गः द्विजाः पक्षिणः काकगृध्रादयः । स्पष्टं शेषम् । असिस्थाने अहीति वा पाठः । एतेभ्यो निषेद्धुं निवारयितुं गृह्याणि गृहोचितानि कार्याणि अपिशब्दात् स्नानभोजनदेवार्चनादीनि च कर्तुं न शेकाते । प्रकृतिभावाभाव आर्षः । तदा मनसोऽलमतिशयेनानवस्थां चापलाख्यं वात्सल्यपोषकसंचारिभावमापतुः गृहसौख्यस्य पराकाष्ठा दर्शिता ॥ २५ ॥ कालेनेति ॥ हे राजर्षे ! अल्पेनैव कालेन गच्छता रामः कृष्णश्च अघृष्टानि भूमिघर्षणमप्राप्तानि जानूनि येषु तैः पद्भिरञ्जसा श्रमं विनैव गोकुले विचक्रमतुः विशेषेण सर्वत्र गमनं चक्रतुः तङभाव आर्षः ॥ २६ ॥ तत इति ॥ ततस्तदनन्तरं तु वयस्यैः समानवयस्कैर्व्रजबालकैः सह तथा सहरामो रामेण च सहितो भगवान् कृष्णो व्रजस्त्रीणां मुदं हर्षं जनयन् चिक्रीडे । कर्मव्यतिहारे तङ् ॥ २७ ॥ कृष्णस्येति ॥ गोप्यः कृष्णस्य रुचिरं कौमारचापलं वीक्ष्य समागताः सत्यः स्वयमनुभूतं लीलानन्दं यशोदामनुभावयितुं तस्य कृष्णस्य मातुर्यशोदायाः शृण्वन्त्याः । नुमार्षः । ह स्फुटं यथा भवति तथैवेति वक्ष्यमाणमूचुः ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

शृंगीति क्रीडापरं प्रधानं ययोस्तौ अत एव अतिचपलौ शृंग्यादिभ्यो निषेधुं गृह्याणि गृहोचितकृत्यानि च कर्त्तुं यत्र यस्मिन् काले तयोर्जनन्यौ शेकाते सामर्थ्यवन्त्यौ न बभूवतुस्तदाऽलं परिपूर्णं मनसोऽनवस्थां व्यग्रतामापतुः गृहिणामिदमेव परमं सुखमिति फलिताऽर्थादर्शिनः शृंगीशृंगवान् पशुः दंष्ट्रीदंष्ट्रावान् जंतुविशेषः असिः खड्गादिशस्त्रविशेषः द्विजः काकबकादिपक्षिविशेषः ॥ २५ ॥ विचक्रमतुः पादन्यासं कृतवंतौ ॥ २६ ॥ वयस्यैः समवयोभिः सहितः कृष्णो रामश्च ॥ २७ ॥ कौमारोत्पन्नं चापलं चंचलत्वं तस्य मातुः शृण्वंत्या शृण्वत्यः मातरं श्रवणं कारयंत्यस्ताः यद्वा शृण्वंत्याः शृण्वत्याः मातुः शृण्वंती मातरं इति वक्ष्यमाणं वचनम् ऊचुः प्रथमपक्षे शृण्वत्य इति वाच्येनुमाडागमावार्षौ द्वितीयपक्षेनुमागमोप्यार्षः ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

शृङ्गीति ॥ क्रीडापरौ नितरां क्रीडासक्तौ, अतिचलावतिचपलौ, स्वसुतौ, शृङ्गिणो गवादयश्च अग्निश्च दंष्ट्रिणः सारमेयप्रभृतयश्च असिः खड्गाश्च जलं च द्विजाः मयूरादयः पक्षिणश्च कण्टकाश्च तेभ्यः, निषेद्धुं वारयितुं प्रसक्ते इति शेषः। तज्जनन्यौ तयोर्मातरौ यशोदारोहिण्यौ, गृह्याणि गृहोचितकर्माणि, कर्त्तुं अपि, यत्र यदा, न शेकाते समर्थे नाभूतां, तदा अलं नितरां, मनसः अनवस्थामाकुलतां, आपतुः। अनेन गृहिणां गृहसौख्यस्य परा काष्ठा दर्शिता ॥ २५ ॥ कालेनेति ॥ हे राजर्षे, अल्पेन कालेन, रामः कृष्णश्च, गोकुले, अघृष्टजानुभिः, पद्भिः, अञ्जसा, अवष्टम्भेन विनापीत्यर्थः। विचक्रमतुर्जग्मतुः। आकृष्टजानुभिः पद्भिरिति पाठे, कदाचिज्जानुभ्यां क्रमणं कदाचित्पद्भ्यां गमनमित्येवं मिश्रभावेनेत्यर्थः ॥ २६ ॥ ततस्त्विति ॥ ततः सम्यक् पादचाराभ्यासभवनानन्तरं तु, सहरामः रामेण सहितः, भगवान् कृष्णः, वयस्यैः स्वसमानवयस्कैः, व्रजबालकैः सह, व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्, चिक्रीडे ॥ २७ ॥ कृष्णस्येति ॥ समागताः कदाचिद्यशोदान्तिके समायाताः, गोप्यः रुचिरं सुन्दरं, कृष्णस्य कौमारचापलं कुमारावस्थाप्रयुक्तचापल्यं, वीक्ष्यावलोक्य, तन्मातुः कृष्णमातुर्यशोदायाः, शृण्वन्त्याः सत्यः, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण, ह स्फुटं यथा तथा ऊचुः किल ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

शृङ्ग्यग्नीति : १०.८.२५.

शृङ्गिध्वंसोऽग्निपानं दुरहिविदलनं कंसघातस्तथाहेर्गर्वच्छेदो बकारयद्विदलकृतिरिति द्वेषणानां विनाशः।
कार्योऽस्तीत्यच्युतोऽसौ तदनुगतदृढाचारहेतोः पुरैव चक्रे क्रीडां मनोज्ञां निजमतिनिहितां तादृशीमेव तत्र ॥ ३० ॥
यस्मात्तटस्थतां याते निषेधेषु विधिष्वपि। मातरावापतुर्युक्तं मनसो ह्यनवस्थितिम् ॥ ३१ ॥

कालेनाल्पेनेति : १०.८.२६.

प्रेम्णा पित्रङ्गसंस्पर्शः कन्यादुःखापनोदकः। जानन् प्रभुः पदेनागाद् भूमिसौख्यकृतोद्यमः ॥ ३२ ॥

ततस्त्विति : १०.८.२७.

नासाक्षित्वं न वा पाटच्चरवृत्तिप्रकाशनम्। भवत्विति शिशूनेव स्वीचक्रे चौर्यकर्मणि ॥ ३३ ॥
तत्तत्सुन्दर मन्दिरस्थित पयो दध्यादि-चौर्याहृतिस्तत्तन्मन्दिरबालकैर्विरचिता पाटच्चरी या ततः।
वृत्तिर्मा नहि संस्पृशेदिति धिया श्रीनायको लीलया बालानेव सहानयद् व्रजगृहं प्रायः प्रभुरतस्कृते ॥ ३४ ॥

कृष्णप्रिया

माता यशोदा और रोहिणी अति चञ्चल क्रीडापरायण दोनों लालन को शींग वाले बैल वृषभ आदि पशुओं, अग्नि, मर्कट बन्दर, कुत्तों, तलवार, जल, गीध आदि पक्षियों एवं काँटों से एवं उन्हें बचा रखने में ही माताओं का काल बीत जाता था। वे इतने चपल और खेलवाड़ी थे कि बचाव से अतिरिक्त माताओं को समय ही नहीं मिलता, कि घरकार्य देखें। जब वे दोनों उन्हें ऊपर दिखायें पशु आदि उपद्रवों से बचाने एवं—आवश्यक गृह कार्य सम्पादन में समर्थ न हो सकी तब उनके मनमें वात्सल्य की पराकाष्ठा का आनन्द उमड़ आया फिर भी मन की स्थिरता न प्राप्त कर सकी ॥ २५ ॥ हे राजर्षे ! कुछ काल और बीत जाने पर याने अल्प ही समय में श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों भैया गोकुल में विना घुटनों के सहारे ही पैरों के बल डेगाडेगी इधर उधर आनन्द से चलने लगे ॥ २७ ॥ अब तो भगवान् श्रीकृष्ण अपने सरीखे व्रज-सखाओं के और बलभद्र भैयाजी के साथ आनन्द कर खेल खेलने लगे, जिसे देख गोपियाँ बहुत ही प्रसन्न होती थी ॥ २७ ॥ भगवान् कृष्ण के मनोहारि कौमार चापल को देखकर गोपियाँ वहाँ आ जाती और स्वयं अनुभूत उस लीलानन्द का श्रीनन्द-रानीजी को आस्वादन कराने के लिए खूब जोर से सुना-सुना कर माता से कहती ॥ २८ ॥

¹श्रीगोप्य ऊचुः

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये² क्रोशसंजातहासः स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः ।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स ³चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति द्रव्यालाभे स ⁴गृहकुपितो ⁵यात्यनुक्रोश्य तोकान् ॥२९॥
हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैश्छिद्रं ⁶ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु ⁷तद्वित् ।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु ⁸सुव्यग्रचित्ताः ॥३०॥
एवं धार्ष्ट्यान्युशति⁹ कुरुते मेहनादीनि वास्तौ स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते ।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिर्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत् ॥३१॥
¹⁰एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः¹¹ । कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥३२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—श्रीगोप्यः ऊचुः क्वचित् असमये क्रोशसंजातहासः वत्सान् मुञ्चन् अथ कल्पितैः स्तेययोगैः स्वादु स्तेयं दधि पयः अत्ति मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेत् न अत्ति भाण्डं भिनत्ति, द्रव्यालाभे स गृहकुपितः तोकान् अनुक्रुश्य याति ॥ २९ ॥ हस्ताग्राह्ये पीठकोलूखलाद्यैः विधिं रचयति अन्तर्निहितवयुनः तद्विद् शिक्यभाण्डेषु छिद्रं (कुरुते) ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गं अर्थप्रदीपं कुरुते यर्हि काले गृहकृत्येषु गोप्यः सुष्ठु व्यग्रचित्ताः एवं धार्ष्ट्यानि (कुरुते) वास्तौ मेहनादीनि (कुरुते) स्तेयोपायैः विरचितकृतिः यथा सुप्रतीकः आस्ते इत्थं सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिः स्त्रीभिः व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी हि उपालब्धुम् न ऐच्छत् एकदा क्रीडमानाः रामाद्याः ते गोपकुमारकाः कृष्णः ॥ ३०-३१ ॥ मृदं भक्षितवान् इति मात्रे न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

"कृष्णचापलचौर्याणि सहैवाखिलसद्मतः ॥ प्रजल्पंत्यः समागत्य गोप्यो गोप्यै मुदं ददुः ॥" असमयेऽदोहकाले । क्रोशे संजातहासः संजातो हासो यस्य सः । स्तेयं चौर्यार्जितं न तु दत्तं तत्रापि स्वादु नेतरत् दधि च पयश्चात्ति । किं च भोक्ष्यन्मर्कान्मर्कटान्प्रति विभज्य ददाति तेषां मध्ये तृप्तत्वेन कोऽपि नात्ति चेत्तर्हि भांडं भिनत्ति । क्वचिद्द्रव्यस्यालाभे सति स गृहाय धक्ष्यामीति कुपितो याति । यद्वा सगृहा गृहिणस्तेभ्यः कुपितस्तेषां तोकान्बालान्पर्यंकादिषु सुप्तानुपक्रोश्य रोदयित्वा यातीति ॥ २९ ॥ कल्पितैस्तेययोगैरित्युक्तं तत्प्रपंचयति । हस्ताग्राह्य इति । तुंगशिक्यस्थभांडेष्वंतर्निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य स छिद्रं रचयति । तद्विच्छिद्ररचनादिवित् । ध्वांतयुक्ते गृहे स्वांगमेवार्थं प्रदीपं रचयति विशेषतो धृतमणिगणम् । यर्हि यस्मिन्काले ॥ ३० ॥ रेरे चोरेत्याक्षिप्तः सन्नुशति जल्पति त्वमेव चोरोऽहं गृहस्वामीत्यादीनि धार्ष्ट्यानि प्रागल्भ्यानि । अथवा उशति हे कमनीये यशोदे । यद्वा उशति वास्तौ स्वर्चिते गृहे मेहनादीनि पुरीषोत्सर्गादीनि कुरुते । एवं स्तेयोपायैर्विरचिता-कृतिः कर्म येन सः त्वत्समीपे सुप्रतीकः साधुरिवास्ते । सभये नयने यस्मिंस्तच्च तच्छ्रीयुक्तं मुखं च तदालोकिनीभिः स्त्रीभिरित्थं व्याख्यातार्था प्रख्यापितजन्मफला तत्तत्कर्मफला वा उपालब्धुमाक्षेप्तुं नैच्छत ॥ ३१ ॥ कदाचिदपराधांतरे उपालभत तदा तु महदाश्चर्यमभूदिति कथयन्नाह । एकदेति ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अखिलसद्मतः सकलगृहेषु । सप्तम्यर्थे तसिः । 'सद्मागारगृहावस्त्यें' इति कोशात् । गोप्यो-विधुंतुदा रागरंगा विधिमता सुरागिणी कामकंदा सुनंदा नंदिनी नादनंदिनी नेत्रसौभाग्यसुभगा मोदमाला मनस्विनी मनोभवा विरागी हरदूरा रतिप्रदा धानी धनेश्वरी धामा भामा भावप्रमोदिनी मुक्ता मनोहरा माध्वी मालती मलयाश्रया मंदालसा मनोभीष्टा मनोज्ञा

---

१. अन्यत्र "श्री गोप्य ऊचुः" इति पाठो न दृश्यते । २. समयात्-विज. । ३. चेन्नास्ति-विज. । ४. सुभृश-विज. । ५. यात्युप-श्रीधर. वंशी सुदर्शन वीर. विज. विश्व. शुक. । ६ वयुने-विज. । ७. तद्वत्-विज. । ८. सु-श्रीधर. वंशी. वीर विज । ९. द्विशति-विज ।

१०. "गोप्यः कदाचन पृथक्पृथगूह्य कृष्णमेत्यैकदैव गदितुं प्रसृतास्तदागः ।
दृष्ट्वा तदन्त्यथ तमेव निजानदृष्ट्वा सर्वाश्च ता निववृतुः स्वगृहान्सलज्जाः ॥"
अयमेकोधिकः श्लोको मुनिभावप्रकाशिकाकारसंमतः ।

११. बालकाः-विज. ।

मानसी बला चित्रा वेत्रवती भीमा भावभेदविदा चला चंचला चपला कांता कला कामप्रबोधिनी इत्याद्या बह्वः। गोप्यै यशोदायै। कृष्णस्य चापलयुक्तानि चौर्याणि चोरकर्माणि (१)। स्वयं भक्षतु वयं तं न वारयामः। परन्तु निरर्थकमपि क्षिपतीत्याहुः–किञ्चेति। भोक्ष्यन् भोजयिष्यन्। मर्कान् बालमार्जारवानरान् "मर्को मनसि वायौ च तोके मार्जारकीशयोः" इति यादवः। स कृष्णः। गृहाय सद्मने। इति कुपितो याति इति किं हे गृह त्वां धक्ष्यामि भस्मसात्करिष्यामीति। जडोपरि कोपमनुचितं मन्वानोऽर्थांतरमाह–यद्वेति। गृहेण सह वर्त्तंत इति सगृहाः। तोकान्बालान् 'तोकः पुत्रे सुतायाञ्च' इति मेदिनी ॥ २९॥ तुंगशिक्यस्थभांडेषु। उच्चरज्जुनिर्मितलंबमानयंत्रगपात्रेषु। अंतर्निहिते मध्यस्थापिते। "वयुनं गमने ज्ञाने लाभे ब्रह्मणि शाश्वते" इति धरणिः। गृहकृत्येषु पेषणमार्जनादिषु ॥ ३० ॥ उशति 'उश–व्यक्तायां वाचि' तौदादिको धातूनामनंतत्वात्। उशधातोरप्रसिद्धत्वादर्थांतरमाह–अथ वेति। क्रोधावेशे श्लाघ्यसंबोधनासंभवं मत्वा पुनरर्थांतरम्। यद्वेति। पुरीषोत्सर्गादीनीत्ययमर्थस्तु स्वामिभिरभिप्रायांतरेण कृतः प्रतीयते स चेत्थं प्रतिभाति पुरीषस्य गोः पुरीषस्य त्सर्गमितस्ततः क्षेपणं काष्ठादिना बालांतरेण वा शुष्कश्वविडालमयूरकपोतादिपुरीषस्य वान्यत आनीयोत्सर्गं वा करोति। आदिपदाच्छुष्कास्थिचर्मादिग्रह इति। न तु स्वयं स्वोदरान्मलमुत्सृजति तथात्वे "जगज्जनमलध्वंसिश्रवणस्मृतिकीर्त्तनाः। मलमूत्रादिरहिताः पुण्यश्लोकाः प्रकीर्त्तिताः॥" इत्यादिपुराणविरोधः। "त्वक्श्मश्रुकेशरोमनखकेशपिनद्धमंतर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफवातपित्तम्। जीवच्छवं भजति कांतमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरंदमजिघ्रती स्त्री ॥" इति रुक्मिणीवाक्यविरोधश्च स्यादिति। यद्वा–बाललीलाविनोदार्थं मृषैव प्रपंचितानीति ज्ञेयम्। तोषिण्या तु मे मम उशति कमनीयें वास्तौ ह स्फुटं नादीनि नादयुक्तानि धाष्ट्यानि। लेपादिनोशति सुंदरे मेहनं पूर्णकुंभादिभ्यो जलादिसेचनम्। आदिना धूल्यादिक्षेपः यद्वा–ईहनं चेष्टां मा कुरुते किं तु नेत्रहस्तादिभिः कुरुत एव। यद्वा–कुरुते कुत्सिते रुते शब्दे त्वां ताडयामीत्यादिरूपे उशति कथिते सति मेहनादीनि शिश्नप्रदर्शनादीनि कुरुते मम शिश्नं ताडयत्येवमादीनि वदतीत्यर्थः 'शिश्नं मेहनशेफसी' इत्यमरः। एवं स्तेयोपायैः पूर्वश्लोकोक्तैः पीठकोलूखलाद्यैः। सुष्ठु प्रतीकाऽवयवसंघो वा कर्म यस्य स तथा "प्रतीकः प्रतिकूलेऽथावयववावयविनोरपि। विलोमे कर्मणि ज्ञाने क्लीबमन्यत्र पुंसि च ॥" इति वरतंतुः। साधुः यथाशब्द इवार्थे। साधुरिव नायं साधुः। श्रिया युक्तं मुखं श्रीमुखम्। आक्षेप्तुं वाचाऽपि ताडयितुम्। किञ्च धाष्ट्यानीतिबहुत्वादन्यान्यपि पृष्ठत आगत्य नेत्रनिमीलनं गोपीभिर्गृहीतस्य यशोदापार्श्वे तत्तत्पुत्रपत्यादिरूपधारणं हारादित्रोटनं गोपीमुखे गंडूषादिप्रक्षेपणमित्यादीनि बहूनि ज्ञेयानि ॥ ३१ ॥ अपराधांतरे मृदशनरूपे। गोपा उपालभंत यशोदायै कृष्णकर्म निवेदयाञ्चक्रुः। गोपदारका गोपबालाः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तद्यथाहुः—वत्सानितिसार्द्धद्वयेन। तत्र पूर्वार्द्धमेकं वाक्यम् अवतारिकाविनोदाय तु पृथगिव व्याख्यायते तत्र प्रथमोपद्रवमाहुः, वत्सान् मुञ्चन् बहुत्वं स्वेषां वैय्यग्र्यविशेषबोधकं ननु प्रत्युत वत्सपालायमानत्वं खल्विदं को नु दोषः तत्राहुः असमये अदोहनकाले ननु, बालकेनाज्ञानतः खलु इदं कृतं कथमनुशोचथ प्रतिगृहं विद्यमाना बहवो लोका रुन्धीरन् तत्राहुः कचित् कृत्यान्तरव्यग्रतया यदा ते रोद्धुं न शक्नुवन्ति तदैवेत्यर्थः। एवं चेत्तर्हि कथं न भीषयध्वे ? तत्राहुः, क्रोशे सम्यग्जातहासः अक्रोशनार्थम् इति परममोहनतोक्ता बत किमर्थं वत्सान् मुञ्चन् तत्र हसन्त्यः सानुकरणमाहुः, दधिपयोत्तीति, तदथमेव गृहजनानितस्ततो धावयितुं वत्सान् मुञ्चतीत्यर्थः। अहो कठिनास्तर्हि कथं स्वयमेव पूर्वं नदत्थेत्यत्र सस्मितभ्रूविलासेन शनैरिवाहुः स्तेयमेवात्ति नतु दत्तम् अतस्तद्दत्तमपि तादृशं न भुङ्क्त इति भावः। अपि का वो हानिर्यतः ततः पतितभाण्डस्य गोरसमात्रस्यात्यल्पप्रमाणपाने तत्राहुः गृहस्वाम्याद्यर्थं प्रयत्नस्थापितं स्वाद्वेवात्ति तत्रापि अथ कात्स्न्र्ये नैवात्ति अहो परमचतुराणां वो गोरसमसावशिक्षितचातुर्य्यश्चोरयेदिति न सम्भावयामः तत्राहुः कल्पितैः पूर्वमदृष्टाश्रुतैरधुना स्वबुद्ध्यैव रचितैः स्तेयोपायैः अये युष्मत्पितृपितामहादीनां पुण्यफलमेवेदं यदयं परमकृपणानामदत्तमपि भुङ्क्ते तर्हि कथमिव पश्चादपि नानुमोदध्वे ? तत्राहुः, मर्कानिति, वरं सखिगणान्वितः स्वयमत्तु अहो भोक्ष्यन् स्वभोजनात् पूर्वमेव मर्कटान् सर्वान् प्रति विभज्य ददाति। किञ्च, तेषां वनात्फलादितृप्तत्वेन यद्येकोपि नात्ति तर्हि स्वयमपि नात्ति भाण्डं च भिनत्तीत्यर्थः। एतत्तु पूर्वं तासां द्वारागतवानरवृन्दाय नवनीतं दातुं निजोपदेशस्याकरणकोपेनेति लक्ष्यते यद्वा, सपरमदुलालः कदाचित्त्वया यत्नेन बहुभोजितस्त्वेतत् स्वयं नात्ति तर्हि भाण्डं भिनत्ति तद्दोषमारोप्येति शेषः। ननु, कथमेवं ज्ञानेपि भाण्डानि न गोपायथ ? तस्माद्यूयमेव तथा क्रीडयन्त्यो मम बालकं चपलीकृतवत्य इत्यत्राहुः। द्रव्येति, स इति परोक्षनिर्देशो दर्शनेप्यदर्शनं सूचयन्ति सम्भ्रांत सौम्यप्रकृतिदर्शनादन्यत्वं वा सर्वं गृहस्थितजनं प्रत्यपि कुपितः सन् तोकान् तोकानि बालापत्यान्यपि रोदयित्वा याति द्रवति तानि च राधाचन्द्रावल्यादीनि तल्लघुभ्रातादीनि च ज्ञेयानि सगृहशब्देनैव वा गृहस्थितजना उच्यन्ते ॥ २९ ॥ अहो किमिदमपूर्वं कथयथ ? के ते स्तेययोगास्तानपि शृणुमस्तत्राहुः—हस्तेति। विधिं हस्तग्राह्यतोपायम् आद्यशब्देन "पाठे पाठनिषण्णबालकगले" इति श्रीबिल्वमङ्गलाद्युक्तानुसारेण बालस्कन्धारोहरणादि हि निश्चितम् अथ ततोपि दूरे रक्षत तत्राहुः शिक्य-

वर्त्तिभाण्डेषु दीर्घसशल्यलगुडादीनां छिद्रं रचयति। ननु करोतु पीठाद्युपायान दूरतश्छिद्रस्य तु निजाभीष्टधारायोग्यता दुर्घटास्फुटेदपि भाण्डं तत्राहुः तद्वित् ननु, बहुषु भाण्डेषु सत्सु निजाभीष्टं कथं प्राप्नुयात्तत्राहुः, अन्तरिति भाण्डलक्षण-विशेषेणैवेति भावः। अथ कथमन्तस्तमपि गृहकोष्ठिकायां न रक्षत ? तत्राहुः ध्वान्तेति स्वशब्देन मणिगणसापेक्षत्वमपि खण्डितं ततो मणिगणधरणमप्युत्कण्ठयैव कुत्रचिन्मदङ्गकिरणाभेद्यमपि यदि गाढं तमो भवेदिति अनेनेदमप्युक्तं भवति यदि धृतमणि-गणत्वं न स्यात् तदा कुत्रचित् कथञ्चित्तमो लेशशेषेण किञ्चिदप्युर्वरितं स्यात् इति चोरस्यास्य मणिपरिधापनेन तत्रापि तत्र साहाय्यं जनो मन्यते गृहस्वामिभिर्दुर्लभोयं मणिगणोप्याच्छिद्येत्तत्तस्मादद्यप्रभृति नायमलङ्करणीय इति तच्च भावयन्ति अपूर्वं चेदं धृतानर्घ्यमणिगणोपि गोरसचोर इतीति परिहसन्ति चेति अयि यदीदं सत्यं स्यात् तदा निह्नुत्य गृहीत्वैवात्रानीयतां तत्राहुः काल इति। यस्मिन्न सम्भवति तस्मिन् समयविशेष इत्यर्थः। ननु कोसौ तत्राह यर्हीति एवमेवेदं न पौनरुक्त्यं तेष्विति यतिभङ्गेन पृथक् पाठोयम् अथवा तत्तद्भाण्डेषु तत्तद्विशेषं कथं जानाति तत्राह, तद्वित् लक्षणेनैवेति पूर्ववत् ननु भो मिथ्याप्रलापिन्यः ! किमिदं कथयथ ? ममायं बालकोऽद्यापि मुग्ध एव तत्राहुः, अन्तरेव निहितं संवृत्य धृतं वयुनं ज्ञानं सर्वबुद्धिर्येन सः अन्यत्समानं तदेवं निगूढपरद्रव्यस्य समयस्य च ज्ञानं दुर्गारोहणच्छिद्रकरणलक्षणक्रियाद्वैधप्रावीण्यं सञ्जातहास इति मोहनविद्यात्वं चोक्तं तैश्च सम्पूर्णैर्गुणैर्महाचोरतोक्ता ।।३०।। अथ तस्य भयातिशयं दृष्ट्वा संक्षेपेणैवोपसंहरन्त्यः किमप्य-यदपि हास्याय व्यञ्जयन्ति एवमित्यर्द्धेन। एवं स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः कृतकृत्यस्सन् पुनर्धाष्ट्र्यानि आसां सम्बन्ध-विशेषेण हसन्तीनां वृद्धानामुत्तरीयाकर्षणादीनि स्वगृहिणीसदृशानि देशादीनि च कुरुते किं बहुना आसां वास्तौ मूत्रादीनि च कुरुते एता मार्जयितुं नित्यं न शक्नुवन्ति स्वयमागम्य पश्यत चेति भावः। अहो पश्यत सोऽयमेव नान्यः इति परस्परमाहुः सुप्रतीक इति। तदेवं प्रेमविनोदं वर्णयित्वा श्रीयशोदायाः स्नेहपूरं दर्शयति इत्थमिति। तासां स नर्मप्रेमविशेषमयं क्रोशन-फलमाह—सभयेत्यादि। इत्थं व्याख्यातः अर्थः तदर्थनीयं परमप्रागल्भ्यं यस्यां सा अत एव प्रहर्षादियेन पुत्रचाञ्चल्यादिकौतुकेन तासां कौतुकपरताया वितर्केण च प्रहसितमुखी प्रहसितं हासप्रारम्भसहितं मुखं स्वल्पहसितयुक्तमित्यर्थः। तादृशं मुखं यस्याः सा हि एव उपालब्धुमिच्छामपि नाकरोत् किन्तु वत्स ! ईदृशीष्वीदृशं व्यवहारं कथं करोति ? इति सलालनमुवाचेत्यर्थः। इदमेव निश्चित्य ताभिरप्यागत्य क्रोशनं कृतं यथा मातृशैथिल्यमनुभूयाधिकमस्मद्गृहे चापल्यं विधास्यत्ययमिति अन्यथा तु तस्य सङ्कोचनं नाकरिष्यतैवेति भावः। अत्र—

जगज्जनमलध्वंसिश्रवणस्मृतिकीर्तनाः। मलमूत्रादिरहिताः पुण्यश्लोका इतिस्मृताः ।। इति

पुराणान्तरवचनेन कैमुत्यापातात् "त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धम्" इत्यादिश्रीरुक्मिणीदेवीसिद्धान्तानुसाराच्च यद्यपि तत्र सम्भवति तथापि बाल्यलीलाविनोदार्थं मृषैव प्रापञ्चितानि मेहनादीनीति ज्ञेयं रोचमानतार्थप्रधानोत्र वशधातुस्ततः कमनीयैं इति व्याख्यातम् ।। ३१ ।। पुनरेतत्पूर्वां कामपि पूर्ववदद्भुतलीलामनुस्मृत्याह—एकदेत्यादि। ते तथाविधाः रामाद्या इति तेषु ज्येष्ठवर्गं बोधयति अत एव श्लेषेण गोपायन्ति श्रीव्रजेश्वर्याज्ञया सर्वतः श्रीकृष्णं रक्षन्तीति गोपाश्च ते दारकाश्च दारुपुत्तलिकावत् तदाज्ञाकारिणः यद्वा दारानन्दपत्नी तस्याः काः श्रीकृष्णमृद्भक्षणनिवेदनेन तत्सुखरूपाः तस्याः सुखप्रदा इत्यर्थः। कृष्ण इति भुवस्सकाशान्मुदाकर्षकत्वान्मृदमिति कोमलमृत्तिकाम् अत एव भक्षितवान्निवारितोपीत्यर्थः। एवं मात्रे मृद्भक्षणासहनलीलायै न्यवेदयन् अतिशयनिवारणाय विनयेन मृद्भक्षणमपलपन्त इत्यर्थः ।। ३२ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

चौर्य्यादिपरमचाञ्चल्यलीलायाः स्वयं साक्षात् कथनेनात्मनो धाष्टर्यमाशंक्य तत्परिहारार्थम्; किंवा तासां मुखोक्तौ वातिमनोहरं स्यादिति तथैवाह—वत्सानिति सार्द्धद्वयेन। कचित् कस्मिंश्चित् स्थाने। एवं यथापेक्षमिदं सर्व्वत्रैव योज्यम्; यद्वा, कस्मिंश्चिदसमये कृत्यान्तरे व्यग्रतया यदा ते बन्धुं न शक्यन्ते, तदेत्यर्थः; वत्समोचनञ्च वत्सरोधनाद्यर्थम्। व्यग्रायां गृहिण्यां सुखेन गृहान्तर्दध्याद्यदनार्थं क्रोशे सम्यग्जातहासोऽक्रोशनार्थं लोकेषु क्रीडाकौतुकबोधनाय वेति परमधूर्त्ततोक्ता। अथ वत्समोचनानन्तरमत्ति बालकैः सहेति ज्ञेयम्। कल्पितैः पूर्व्वमवृत्तैरधुना तेनैव स्वयं रचितैः स्तेययोगैश्चौर्य्योपायैरित्यर्थः। न च केवलं सखिगणान्वितः स्वयमत्ति, किन्तु भोक्ष्यन् सन् सर्कटान् सर्वान् प्रति विभज्य ददाति; तोकान् नवबालकान्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, स श्रीकृष्णः कदाचिच्चेत् स्वयं नात्ति, तर्हि भाण्डं भिनत्ति, तद्दोषमारोप्येति शेषः ।। २९ ।। विधिं चौर्य्यस्यादानस्य वा उपायमाद्यशब्दात् 'पीठैः पीठनिषण्णबालकगले' इति श्रीबिल्वमंगलाद्युक्त्यनुसारेण बालस्कन्धारोहणादि। हिं निश्चितम्। पीठाद्यप्राप्येषु च तुंगशिक्यवर्त्तिभाण्डेषु। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तद्वित् शिक्यभाण्डस्थदध्यादिविशेषवृत्तं सर्व्वं जानातीत्यर्थः। यद्वा, किमर्थं रचयति ? तत्राहुः—तत् शिक्यादिस्थितं दध्यादिद्रव्यं विन्दतीति तथा सः, तत्रत्यदध्या-द्युपभोक्तुमित्यर्थः। ननु, भोः ! मिथ्या प्रलापवत्यः ! परमसरलशुद्धबुद्धेर्महाबालकस्यास्य किञ्चिदीदृशं ज्ञानं न लक्ष्यते, तत्राहुः—अन्तरेव निहितं संवृत्य धृतम्, न च बहिर्विस्तृतं वयुनं ज्ञानं सर्व्वबुद्धिर्येन सः। अहो यशोदे ! तर्हि चोरयतु नाम, यदि तत्र

तन्मूल्यं दातुं न शक्नुयादिति परिहासेनाहुः—धृतमणिगणमिति । ननु, गृहस्वामिनीनां साक्षादेवं कथं सम्भवेत् ? तत्राहुः—काल इति । इत्थं महाचोरतोक्ता ।।३०।। धृष्टतामाह—धाष्ट्र्यानीत्यादिना । एवमित्यस्य परपादेनान्वयः । मेहनं मूत्रणं तदादीनि च कुरुते । आदिशब्देन मलोत्सर्गनिष्ठीवनादीनि । हे उशति ! परमसाध्व्यास्तवेदृशः पुत्रो नैव योग्य इति भावः,—वृद्धानां नर्म्मपरिपाटीयम् । ननु, 'जगज्जनमलध्वंसिश्रवणस्मृतिकीर्त्तनाः । मलमूत्रादिरहिताः पुण्यश्लोका इति स्मृताः ।।' इति पुराणवचनात् पुण्यश्लोकानामपि तावन्मलमूत्रादिकं नास्ति, तत् कथं पुण्यश्लोकशिखामणेस्तद्घटताम् ? तथा हि त्रिचत्वारिंशे (भा० १०।४७।१)—'अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप' इत्यत्र 'कृतं शौचं शुद्धत्वं निरपराधत्वं याभ्याम्' इत्येव तैर्व्याख्यातम्; षष्टितमे च (भा० १०।६०।४५)-'त्वक्श्मश्रुरोम नख केशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफवातपित्तम् । जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा:' इति श्रीरुक्मिणीदेव्यापि तदभाव उक्त इति ? सत्यम्–मेहनादीनि कुरुते वानरादिना कारयतीत्यर्थः । यद्वा, स्वभावतस्तदभावेऽपि बाल्यलीलाचापलदर्शनेन स्वभक्तजनानन्दनाय तदानीमेव तत् कृत्वा दर्शयतीति मेहनादीनामप्यबीभत्सत्वमेव,—रूपनामादीनामिव तस्य लीलानामपि सच्चिदानन्दरूपत्वेनालौकिकत्वादुह्यम् । सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिरिति तदाक्रोशनमुख्यप्रयोजनमुक्तम् । इत्थमुक्तप्रकारेण व्याख्यातो विशेषेण वर्णितोऽर्थः, तदवतारप्रयोजनं निजजन्मफलं वा, किंवा श्रीकृष्ण धूर्त्तादिचेष्टा यस्यां सा; अतएव प्रहर्षादयेन पुत्रचाञ्चल्यादि-कौतुकेन वा, किंवा तासां कौतुकपरतामेवाभिप्रेत्य प्रहसितमुखी सुस्मेरानना सती ह्येवोपालब्धुं तमाक्षेप्तुं नैवैच्छदिच्छामपि नैवाकरोदित्यर्थः । अत्रेदं तत्त्वम्,—मातृस्नेहभरेण सुखविशेषार्थं श्रीभगवतस्तस्याः सकाशादुपालम्भनेप्सा चिरं नितरामासीत्, तथापि पुत्रवात्सल्येन सा तस्य न सिद्धेति ।। ३१ ।। भक्तकर्त्तृकोपालम्भनानन्देप्सया बाल्यलीलानुक्रमेणैव मृद्भक्षणलीलामाह—एकदेत्यादिना । ते श्रीकृष्णस्य सहचरा हितपरा वा । गोपयन्ति श्रीव्रजेश्वर्य्याज्ञया सर्व्वतः श्रीकृष्णं रक्षन्तीति गोपाश्च ते बालकाश्च; यद्वा, गोपानां बालका इति सहजस्निग्धत्वमुक्तम् । मृदं भक्षितवानिति मृद्भक्षणानुकरणपाटवेन श्रीबलदेवादीनां तथैव प्रतीतेः, किंवा रहसि साक्षाद्भक्षणस्य संलक्षणादन्यथोपालम्भनासिद्धिः ।। ३२ ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

क्रोशसञ्जातहासः जनानामाक्रोशे जातहासः अत्ति भुङ्क्ते स्तेययोगैः चौर्यरूपैरुपायैः चौर्यस्योपायैर्वा मर्कान् दधिसारस्य नवनीतं प्रचक्षते इत्याह—तं विभजति सखिभ्य इति शेषः । यद्वा मर्कं मर्कटं प्रति विभजति स्वोपभोक्तव्यमधिकं कर्कटादिभ्यो ददातीत्यर्थः । सचेन्नात्ति स मर्कः कृत्स्नोपभोगान्नात्ति चेत् केवलं भाण्डं भिनत्ति कृत्स्नं च क्षयित्वा भाण्डं च भिनत्तीत्यर्थः । यद्वा मर्कटको नास्ति चेत् भुक्तावशिष्टगव्यसहितं भाण्डं भिनत्तीत्यर्थः । द्रव्यालाभे दधिक्षीरादेः कृष्णभयात् प्रच्छन्ननिहिततया तदलाभे सति स्वगृहे कुपितः तस्मिन् गृहे कुपितः तोकान् बालानुपक्रोश्य प्रहारतोदनादिभिः कुपितान् कृत्वेत्यर्थः ।। २९ ।। अन्तर्निहितवयुनो अन्तर्निहितनवनीतादिभोग्यद्रव्यज्ञानवान् शिक्यस्थभाण्डे दृषद्भिः छिद्रं रचयतीत्यन्वयः । ध्वान्तागारे अन्धकारावृतागारे धृतमणिगणं स्वान्नम् अर्कप्रदीपं प्रकाशं स्वरङ्गं रचयति सन्निधापयति ।। ३० ।। यस्मिन् कृष्णः द्वारे देहल्यादिप्रदेशे विरचितकृतिः विरचितचौर्यव्यापारः सुप्रतीको यथास्ते सुप्रतीकाख्यदिग्गज इव अप्रधृष्य आस्ते सभयनयनं भयसूचकनयनसहितं श्रीमुखं कृष्णस्य श्रीमुखमालोकयन्तीभिः व्याख्यातार्था निवेदितशौर्यादिव्यापारान् उपालब्धुं भर्त्स्नादि कर्त्तुम् ।। ३१–३५ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवाह–वत्सानित्यादिना सार्द्धद्वयेन । असमये कचित् वत्सान् मुञ्चन् क्रोशेन जनानामाक्रोशेन सञ्जातो हासो यस्य तथाभूतो भवति स्तेयं चौर्याजितं न तु दत्तं तत्रापि स्वादु नेतरत् दधि पयश्चात्ति खादति कल्पितैः स्तेययोगैः चौर्योपायैः स्वयं भोक्ष्यमाणाः मर्कान् प्रति विभज्य ददाति तेषामपि मध्ये तृप्तः कोपि नास्ति चेत्तर्हि भाण्डं भिनत्तिमर्कं भोक्ष्यन् विभजति सचेन्नास्ति इति पाठे मर्कं नवनीतं "मर्कं तु दधिसारः स्यान्नवनीतं प्रचक्षते" इत्यभिधानाद्विभजति सखिभ्य इति शेषः । यद्वा स मर्कटो नास्ति चेत् स्वभुक्तावशिष्टनवनीतोपेतं भाण्डं भिनत्तीत्यर्थः । कचिन्नवनीतादिद्रव्यालाभे सति प्रच्छन्ननिहिततया तदलाभे सति स्वगृहकुपितः अस्मद्गृहेभ्यः कुपितः सगृहेति पाठे स कृष्णः यद्वा सगृहा गृहिणस्तेभ्यः कुपितः तेषां तोकान् पर्यङ्कादिषु सुप्तानुपक्रोश्य रोदयित्वा याति ।। २९ ।। कल्पितैः स्तेययोगैरित्युक्तं तत् प्रपञ्चयति—हस्ताग्राह्य इति । उच्चस्थे नवनीतादिभाण्डे हस्तेन गृहीतुमशक्ये सति पीठकोलूखलाद्यैर्विधिं तद्ग्रहणसाधनविधानं रचयति शिक्यस्थभाण्डेषु अन्तर्निहितेषु दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य तथाभूतः छिद्रं रचयति शिलोत्क्षेपणादिभिः छिद्रं करोति तद्वित् छिद्ररचनादिवित् ध्वान्तागारे अन्धकारावृतगृहे धृतमणिगणं दिव्यमणिविभूषितमत एवार्थप्रदीपं तत्तदर्थप्रकाशकं स्वाङ्गं स्वशरीरं रचयति सन्निधापयति इत्येवं कस्मिन् समये करोति श्रीकृष्णस्तं कालमाह–यस्मिन् काले गोप्यो गृहकर्मसु प्रवणचित्तास्तदैवं करोतीत्यन्वयः ।। ३० ।। एवं कुर्वंश्चोरोऽयमित्युक्तः चेद्धाष्टर्यानि प्रागल्भ्यान्युशति जल्पतित्वमेव चौरोऽहमेव गृहस्वामीति वदतीत्यर्थः । वास्तौ स्वर्चिते

गृहे मेहनादीनि मूत्रोत्सर्जनादीनि कुरुते स्तेयोपायैर्विरचिताकृतिः कर्म येन तथाभूतोपि त्वत्समीपे यथा सुप्रतीकः साधुस्तद्वदा-स्ते एवमित्थं सभयें नयने यस्मिन् तच्च तच्छ्रीयुक्तं मुखं तत्कृष्णमुखमालोकिनीभिस्त्रीभिर्व्याख्याताः प्रख्यापिता अर्थाश्चौर्यादि-व्यापारा यस्यास्तथाभूतापि प्रहसितं मुखं यस्याः सा यशोदा उपालब्धुं पुत्रमाक्षेप्तुं नैच्छत ॥ ३१ ॥ कदाचिदपराधान्तरे सत्युपालभत तदा तु महदाश्चर्य्यमभूदिति कथयन्नाह-एकदेति स्पष्टोर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

असमयानप्राप्तदोहनवेलान् अस्मदादीनां क्रोशेन सञ्जातो हासो यस्य स तथा अथ कदाचित् स्वेन कल्पितैस्स्तेययोगैः चौर्योपायैः स्तेयं चौर्यापन्नं दधि पयश्च स्वाद्वत्ति पिबति च स कृष्णः मर्कं बालं मार्जारं वा वानरं वा भोक्ष्यन् भोजयिष्यन् विभजति विभागं करोति नास्तिचेन्नवनीतादिभाण्डं भिनत्ति कदाचिदुपायानां भावेऽभावे च द्रव्यालाभे दध्यादिद्रव्याप्राप्तौ कुपितः ताडनादिना बालाननुक्रोश्य रोदयित्वा यातीत्यन्वयः "मर्को मनसि वायौ च तोके मार्जारकीटयोः" इति च ॥ २९ ॥ स्तेययोगं दर्शयति-हस्तेति । ह्रस्वत्वेन हस्ताग्राह्ये सति हस्तेन ग्रहणार्थं पीठकाद्यैर्विधिम् उपायं प्रकारं रचयति शिक्यस्थित-भाण्डेषु मध्यें अन्तर्निहितवयुने अन्तर्निक्षिप्तनवनीतभाण्डे तद्वत यथालब्धुं सुशकं तथा छिद्रं लगुडादिना विवरं करोतीत्यन्वयः गृहान्धकारे क उपाय इति तत्राह—ध्वान्तागार इति । अन्धकारावृतगेहे धृतमणिगणं धृतसूर्यादिप्रकाशाधिकप्रकाशं रत्नगण-सम्वीतं स्वाङ्गं स्वदेहम् अर्थप्रदीपं पदार्थप्रकाशकं कृत्वेति शेषः । कस्मिन् समयें इत्यत्राह-काल इति ॥ ३० ॥ एवं तदा धाष्टर्यान्निर्भयत्वाद्विशति गृहमिति शेषः । उपविश्य च वास्तौ देहल्यादौ मेहनादीनि पुरीषोत्सर्जनादीनि करोति स्तेयोपायैस्स्तेय-व्यापारैः विरचितकृतिः निर्मितचौर्यव्यापारः शोभनानि प्रतीकान्यङ्गानि यस्य स चार्वङ्गः सच्चरित्रः पुरुषो यथा तथा ऽऽस्ते इत्यन्वयः । सुप्रतीको मार्जारो वा सभयं नयनं यस्मिंस्तत्सभयनयनं च श्रीमुखं च सभयनयनश्रीमुखं श्रिया युक्तं मुखं श्रीमुखम् आस्यावलोको यासामस्तीति सभयनयनश्रीमुखावलोकिन्यस्ताभिर्व्याख्यातः प्रकाश्य कथितोऽर्थः सुतविषयो व्यापारो यस्याः सा तथा उपालब्धुं निर्भर्त्सयितुम् इत्थंशब्द समाप्तिवचनः ॥ ३१-३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

वत्सानित्यादि । वनात् फलादिभिस्तृप्तत्वेन तेषु कोऽपि नास्ति चेत् तर्हि स्वयमपि नास्ति भाण्डञ्च भिन-त्तीत्यर्थः ॥ २९-३० ॥ उशति कमनीय इति वशेरत्र रोचमानतार्थप्राधान्यात् नह्युपालब्धुमैच्छदिति तदेतदेवाभिप्रेत्य ताभिरपि क्रोशनं कृतमिति भावः ॥ ३१ ॥ पुनरेतत् पूर्वां कामपि पूर्ववदद्भुतलीलास्मृत्याह—एकदेत्यादि । एवं निगूढेति व्याख्यायां यद्येवम् ॥ ३२-३५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथान्यद्बाल्यलीलाचापल्यमाह—ध्वान्तागारे धृतेत्यादि । अधृतमणिगणमपि स्वाङ्गमर्थप्रदीपम्, अर्थात् द्रव्याणि प्रदीपयति इति तथा । अथवा हस्ताग्राह्ये रचयति विधिमित्यतो रचयतीति क्रिययैवान्वेतव्यम् । ध्वान्तागारे स्वाङ्गमर्थप्रदीपं रचयतीत्यर्थः । अधृतमणिगणमपीत्यत्रापि शब्दोऽन्वेतव्यः, अन्यथा मणिगणस्यैवौज्ज्वल्यम्, न तदङ्गस्य प्रकृते तदङ्गस्यैव ज्योतिष उत्कर्षः । अथवा धृतमणिगणमपि स्वाङ्गमेवार्थप्रदीपं रचयति मणिगणस्य तथा न प्रकाशः, यथा तदङ्गस्येति भावः । न तु हेतुमद्विशेषणम् । यत्र मणिगणोऽपि न प्रकाशकः, तत्र तदङ्गमेवेत्यर्थः ॥ ३० ॥ न केवलमिदमन्यच्चेत्याह-एवं धाष्टर्या-नीत्यादि । हे उशति ! कल्याणि ! एवं मेहनादीनि धाष्टर्यानि कुरुते कारयत इत्यन्तर्भूत ण्यर्थः । अथवा एवं मे मम उशति कमनीयें वास्तौ कुरुते, ह स्फुटम् । कीदृशानि नादयुक्तानि साक्रोशालङ्कारसहितानि । अथवा उशति आलेपनादिना कमनीयें वास्तौ मेहनं पूर्णकुम्भान् भित्वा पयोभिः सेचनम् आदिशब्दाद्धूलिपत्रादिभिराविलीकारः, तदादीनि कुरुते । 'मिह सेचने' इति सेक एव मुख्यार्थः । यद्वा एवमीदृग्धाष्टर्यैः धृता येषु तानीहनादीनि चेष्टादीनि मा कुरुते, कुरुते एवेति मा शब्दो नञर्थे काकर्थः । ईहनमाङ्गिकी चेष्टा । आदिशब्दाद् वाचिकी परुषभाषितादि च वास्ताविति तुल्यें । अन्यथा नराकृतित्वेऽप्यखण्ड-सच्चिदानन्दघनस्य तस्य यथा-श्रुतोऽर्थोऽश्लील एव ॥ (३२-३४) ।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

ध्वान्तागारे धृतमणिगणमित्यादि अधृतमणिगणमपि स्वाङ्गम्, अर्थानां दधिदुग्धादिभाण्डानां प्रदीपम्, दीपयतीति दीपो विशेष्यलिङ्गः, न त्वजहल्लिङ्गः । अथ रचयतीत्यस्यैव कर्म, अन्धकारवत्यामपि गृहे स्वाङ्गमेवास्य अर्थप्रदीपो भवति, 'अपि' शब्दोऽध्याहार्यः ॥ ३० ॥ एवं धार्ष्ट्यान्युशतीत्यादि । कुरुते कारयते इत्यन्तर्भूतण्यर्थः । अथवा, एवं धार्ष्ट्यानि कमनीयमेव वास्तौ कुरुते । ह स्फुटम् । कीदृशानि ? नादीनि नादयुक्तानि-'एवं करिष्यामि, तिष्ठ तिष्ठ इत्याद्युच्चैः शब्द-पुरः-सराणि, (२९ श· श्लो.) 'उपक्रुश्य तोकान्' इत्यादि यत् पूर्वमुपक्रोशः कृतः स एवानूदित इत्यर्थः । अथवा, न आदीनि

अनादीनीत्यर्थः, पुनः पुनः संपाद्यमानानि, न केवलमद्यैव; यद्वा उशति आलेपनादिना कमनीयें वास्तौ मेहनादीनि कुरुते, मेहनं पूर्णकुम्भान् भित्त्वा पयोभिः सेचनम्, 'मिह सेचने' इति मुख्य एवार्थः। आदिशब्दात् धूलिपत्रादिभिराविलीकरणं तानीत्यर्थः। यद्वा, एवमीदृक् धार्ष्ट्यं येषु तानि ईहनादीनि चेष्टादीनि-चेष्टा आङ्गिकी क्रिया, आदिशब्दाद् वाचिकी च; 'मा कुरुते मा कुरुत एव' इत्यर्थः। अन्यथा अखण्डघनसच्चिदानन्दविग्रहे तत्तत् स्फुरणमनुचितम्-(ध्वन्यालोके ३।१४) अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्" इति न्यायात्॥ (३२-३५)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सखि यशोदे ! शृणु स्वपुत्रस्य चौर्य्यचातुर्य्यमित्याहुः—वत्सानिति। एतत्पुरेऽद्य शून्यगृहेषु दधि चोरयामीति मनसि कृत्वा गत्वा गत्वा गृहान् जनशून्यांश्चिकीर्षुः कचिद्दिवसे असमये अदोहकाले वत्सान् मुञ्चन् भवति ततश्चेतस्ततो धावतो वत्सान् परावर्त्तयितुं तदनुपदं गृहान्निःसृत्य जनेषु धावत्सु शून्यगृहान् प्रविश्य दधि चोरयित्वा पलायत इति भावः। अन्यस्मिन्नहनि अरे दधिचोरः कृष्ण आगतस्ताड्यतां नह्यतामित्यादिक्रोशे आक्रोशकृते सति सञ्जातहासो भवति अथ तदनन्तरमेव महामादकहास्यमधुपानवैवश्येन जडीभूतास्वस्मासु पश्यन्तीष्वपि निषेद्धमपारयन्तीषु दधि पयोऽत्ति तत्रैवोषित्वा भुङ्क्ते नापि पलायत अस्माकं मोहिनीकृतत्वादिति भावः। नन्वेवं चेद्दधिलम्पटमिमं प्रथममेवोदरपूरं कथं न भोजयध्वे? तत्र त्वयाऽभीक्ष्णं भोजितस्यास्य न बुभुक्षादिकं किन्तु स्तेयं स्तनकर्मैव स्वादु अतश्चोरितमेव दध्यादिकमस्मै रोचते न तु दत्तमिति भावः। तदेवं परोक्षमपरोक्षं चेति द्विविधं चौर्य्यं वत्समोचनहासाभ्यां ज्ञापितम् एवं कल्पितैः स्वबुद्ध्यैव रचितैः स्तेययोगैश्चौर्य्योपायैरपरैरपि लोष्ट्रक्षेप्त्रादिभिरपरस्मिन् परस्मिन्नपि दिने भोक्ष्यन् स्वभोजनात् पूर्वमेव मर्कान् मर्कटान् प्रति विभजति अयमयं भवतां प्रत्येकं भाग इति विभज्य ददाति बहुत्र भोजितत्वेनातितृप्तत्वात् तेषां मध्यें स एकोपि मर्कटो नास्ति चेत्तदा युष्मान् विना किं मे भोजनेनाहमपि न भुञ्जे इति दुःखेन भाण्डं दधिपूर्णं भिनत्ति कदाचित् शून्यगृहे प्रविश्य दध्याधिद्रव्यालाभे सति सगृहाय गृहसहितजनायैव कुपितः तिष्ठ रे तिष्ठ श्वः प्रातर्ज्वलदङ्गारमेकं गृहीत्वैव चौर्य्यार्थमेष्यामि यत्र दधि न प्राप्स्यामि तद्गृहं सबालकवृद्धमेव धक्ष्यामीत्युक्त्वा तोकान् बालापत्यानि उपक्रुश्य नखाद्याघातेन रोदयित्वा याति कस्मिंश्चिदन्यस्मिन् गृहे प्रविष्टस्सन् हस्तेन गृहीतुमशक्यें दधिभाण्डे विधिमुपायं रचयति उपर्य्युपरि निहितद्वित्रिपीठारोहणेन वा उलूखलारोहणेन वा बालस्कन्धारोहणेन वेत्यर्थः। अतितुङ्गशिक्यवर्त्तिभाण्डेषु अन्तर्निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य सः भाण्डचिक्कण्यदर्शनेनेति भावः। अवरोपयितुमशक्तः सशल्यकलगुडेन छिद्रं रचयति तद्वित् छिद्रं कर्तुं छिद्रेण धारां पातयितुं धारया च ऽयादत्तं स्वस्य बालानां च मुखं पूरयितुं वेत्तीति सः न चान्धकारेऽपि चौर्य्यासामर्थ्यमित्याहुः, ध्वान्तयुक्ते अगारे स्वाङ्गं स्वीयश्यामाङ्गमप्यर्थप्रदीपं रचयति तत्रापि धृतमणिगणमिति किमप्यावदितं न तिष्ठतीति भावः। कथं सावधाना न तिष्ठंत? इति चेत्तत्राहुः, काले इति। यद्यप्यस्य स्मितकलभाषणमधुरचलनगात्रलावण्यादिमय्येव प्रत्यक्षचौर्य्यनिष्पादिनी मोहनीविद्यैवास्ति तदापि बाल्यमौग्ध्यवशात् परोक्षचौर्य्यप्रिय एवासौ बुद्ध्यत इत्यत एव का कुत्र किङ्कुरुत इति बालसहचरप्रेषणादिना प्रतिक्षणमनुसन्धत्त इति भावः॥ २९-३०॥

न केवलं चौर्य्यमेव कुरुते इत्याहुः—एवमिति। हे उशति हे कमनीये! स्वपुत्रगुणश्रवणेनानन्दिते हे यशस्विनि! वास्तौ देवपूजार्थमामृष्टलिप्तभूमौ मेहनादीनि मूत्रपुरीषोत्सर्गादीनि धाष्ट्यर्थान्युपद्रवान् पुरन्ध्रीजनवेण्युत्तरीयाकर्षणविवाहचिकीर्षया पादप्रहारादीनि किञ्च तवानेन तनयेन महती सम्पत्तिर्भाविनीत्याह—स्तेयरूपैरुपायैर्वित्तार्जनैर्विशेषेण रचिता कृतिर्व्यापारो येन सः बाल्ये दधि चौरयति यौवने परवित्तकलत्रादीन्यपि चोरयिष्यतीति भावः। त्वत्समीपे तु सुप्रतीकः साधुरिवास्ते तासां प्रेमविशेषमयफूत्कारफलमाह, सभयनयनं माता मां ताडयिष्यतीति शङ्काव्याकुलं श्रीयुक्तं सचकितविह्वलदृष्टित्वलक्षणशोभाविशिष्टं मुखमालोकितुं शीलं यासां ताभिर्व्याख्यातोऽर्थः श्रीकृष्णधाष्टर्यदर्शनश्रवणश्रावणादिविविधभावशोभिततन्मुखावलोकनोत्थम् आनन्दो यस्यै सा अत एव प्रहसितमुखी तासां स्वस्य चानन्देन प्रफुल्लितमुखी उपालब्धुमाक्षेप्तुं नैच्छदिच्छामपि नाकरोत् मत्सुतधाष्टर्येनेमा आनन्देन निमज्जन्तु तत्तत्सूचयन्त्यो मामपि निमज्जयन्त्वित्याकाङ्क्षयेति भावः॥ ३२॥ पुरन्ध्रीणां सूचनं वात्सल्यरसास्वादफलकं समाप्य सहचराणामपि सूचनं विस्मयरसास्वादोदर्कमाह—एकदेति। दध्नः स्तेयें अनुपालम्भं प्रोच्य प्राह मृदोऽशने उपालम्भं जनेन्येति द्वयें प्रमैति हेतुताम्॥ ३२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपः

कचित् कदाचित् असमये अदोहकाले वत्सान् मुञ्चन् क्रोशसञ्जातहासः क्रोशेन असमयें वत्सविमोचननिमित्तेन आक्रोशेन सञ्जातः हासो यस्य स तथाभूतो भवति स्तेयं चौर्यार्जितं दधि पयश्चात्ति अन्यदपि स्वादु वस्त्वपि कचित् भोक्ष्यन् मर्कान् मर्कटान् प्रति विभजति तन्मध्यें कोऽपि नास्ति चेत्तदा भाण्डं भिनत्ति कचिच्च द्रव्यालाभे सति सगृहेभ्यो गृहिभ्यः कुपितो याति कचिच्च तोकान् बालान् उपक्रोश्य याति॥ २९॥ कल्पितैस्स्तेययोगैरित्युक्तं, तदाह—हस्ताग्राह्ये इति। यर्हि

यस्मिन् काले गोप्यः गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः भवन्ति तदा हस्ताग्राह्ये उच्चस्थे दध्यादिभाण्डे सति पीठकार्यैर्विधिं रचयति अत्युच्चैः पीठकादिविधानेनापि हस्ताग्राह्येषु भाण्डेषु अन्तर्निहिते दध्यादिवयुनं ज्ञानं यस्य सः यष्ट्यादिना छिद्रं रचयति तद्वित् तां छिद्ररचनां जानातीति स तथा ध्वान्तागारे तु स्वाङ्गं स्वासाधारणं प्रकाशरूपमङ्गमर्थप्रदीपमर्थानां दधिभाण्डादीनां दीपवत् प्रकाशकं रचयति तदपि मणिमयाभरणविद्योतितत्वादतिप्रकाशकं भवतीत्याहुः धृतमणिगणमिति ॥ ३० ॥

एवमन्यान्यपि धाष्ट्र्यानि कुरुते किञ्चोशति वास्तौ स्वर्चिते गृहे मेहनादीनि मूत्रोत्सर्गादीनि कुरुते को ह्यीत्थम- साधुकारी तं ब्रूतेत्यत आहुः—स्तेयोपायैर्विरचिताकृतिः कर्म येन सः त्वत्समीपे सुप्रतीकः साधुरिवास्ते तासां भाषणं श्रुत्वा माता किञ्चकार तत्राह—सभये उपालम्भशङ्कया भययुक्ते नयने यस्मिन् तत्स्वाभाविक्या श्रिया युक्तं मुखं श्रीमुखं तच्च तच्च तदालोकिनीभिर्व्याख्यातः पुत्रकर्मरूपोऽर्थो यस्याः सा तथाभूतापि प्रहसितमुखी सती पुत्रमुपालब्धुमाक्षेप्तुं नैच्छत् ॥ ३१ ॥ यदा श्रीयशोदा पुत्रवात्सल्यादुपालब्धुं नैच्छत्तदा तूपालम्भशङ्कया भयभीतोऽभूत्स्वस्य भक्तपारवश्यतां सूचितवानित्युक्तम् अथ यदा स्वबालकस्यारोग्यमिच्छती सा मृद्भक्षणे उपालम्भं चकार तदा मदुपालम्भनिमित्ततः पश्चात्तापं करिष्यतीति शान्त्यर्थं स्वस्य सर्वोपद्रववर्जितत्वसर्वाश्रयत्वप्रकाशनेन भक्तवश्यतां दर्शितवानित्याह श्रीशुकः—एकदेत्यादिना ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तदाहुः वत्सानिति त्रिभिः । गृहान् जनशून्यान् विधाय दधि चोरयामीति निश्चित्य कचित् कदाचिदसमयेऽदोहकाले वत्सान् मुञ्चन् भवति ततो जनशून्येषु गृहेषु प्रविश्य दधि चोरयतीत्यर्थः । कदाचित् दधिचोरो हरिरित्याक्रोशेऽस्माभिः कृते सति सञ्जातहासो भवति पश्यत भो गृहस्वामिनं मामेतादुर्द्धियश्चौरं वदन्तीति ब्रुवन् हसतीत्यर्थः । हासमोहितास्वस्मासु तत्रैवास्मद्गृहे रत्नपीठे निषद्य गृहस्वामीव दधिपयश्चात्ति ननु युष्माभिरेव कथं न दीयते तत्राह स्तेयं स्तेनकर्मैवास्य स्वादु- चोरितमेवास्मै रोचते ननु दत्तमिति भावः । कल्पितैः स्तेययोगैस्तदानीय स्वयं भोक्ष्यमाणो मर्कान् कपीन् प्रति तवायं भागस्त- वायामिति विभजति यदि तृप्तत्वात् कश्चिन्मर्कटो नात्ति तदा त्वयाविना किं मे भोजनेनेति विमनाः सन् दधिपूर्णं भाण्डं भिनत्ति कदाचिद्दध्यादिद्रव्यालाभे सति स कृष्णः गृहाय धक्ष्यामि त्वामिति कुपितस्तत्र पर्यङ्के सुप्तान् तोकान् शिशूनुपक्रोशयाचोटनेन रोदयित्वा यातीति ॥ २९ ॥ कल्पितान् स्तेययोगान् स्फुटयन्ति हस्तेति । हस्ताग्राह्ये उच्चनिहिते दध्यादिके विधिं तद्ग्राह्यत्वो- पायं रचयति पावके-नोलूखलेन विपर्यस्तेन वालस्कन्धेन वा रूढ़ेत्यर्थः । अत्युच्चशिक्यस्थेषु भाण्डेषु सशल्याग्रलगुडेन छिद्रं रचयति अन्तर्निहितं वयुनं ज्ञानं यस्य सोऽति चतुर इत्यर्थः । छिद्रं कर्तुं धारां पातयितुं तया स्वास्यं स्वमित्राणाञ्च व्यादत्त- मास्यं पूरयितुं च वेत्तीति सः वयं प्रच्छन्नो दूरात् तत्कौतुकं पश्याम इति सूच्यते न चान्धकारिणि गृहे अस्यासामर्थ्यमित्याह ध्वान्तयुक्तेऽगारे गृहे साङ्गमेवार्थप्रदीपं रचयति तत्रापि धृतमणिगणमिति अङ्गप्रभया तिमिरविनाशात्तत्रापि समर्थोऽयमिति भावः । यद्यपि सौन्दर्यमधुरभाषणमोहिता न कापि प्रत्यक्षं चौर्यमस्य वर्जयेत्तथापि परोक्षचौर्यप्रियोऽयं विदित इत्याह यर्हीति गोपीनां गृहकार्याभिनिवेशं सहचरैर्विज्ञाय तदगृहेषु दध्यादि चोरयतीति ॥ ३० ॥ किञ्च दध्यादिचौर्यमात्रं न करोति किन्त्व- न्यानप्युपद्रवान् रचयतीत्याहुः एवमिति एवमीदृशान्यन्यान्यपि धाष्ट्र्यानि एवप्रकारोपमयोरिति विश्वः, तानि कानीत्यत्राहुः, उशति भगवत्पूजार्थं लिप्ते चित्रिते वास्तौ मेहनादीनि जलनिषेकतृणधूलप्रक्षेपलक्षणानिच कुरुते कीदृशः स्तेयोपायैर्विरचिता कृतिर्भोजनव्यापारो येन सः, यद्वा हे उशति कमनीये यशोदे राज्ञि इह नगरे स्तेयोपायैरमासह अमासहार्थान्तिकयोरिति विश्वः तत्पूर्वकाणीत्यर्थः । एवमुक्तलक्षणानि धाष्ट्र्यानि कुरुते कीदृशानि नादीनि मित्राण्याक्रष्टुं कोकिलबर्हिनादवन्तीत्यर्थः । विरचिता प्रकाशिताकृतिश्चौर्यप्रावीण्यक्रिया येन सः अधुना त्वदग्रे सुप्रतीकः शोभनाङ्गः साधुर्यथास्ते तासां भगवच्चौर्यसूचनायाः फलमाहेत्थमिति मातामान्ताडयेदिति सभयनयनं यत् श्रीयुक्तं मुखं तदालोकितुं शीलं ताभिः स्त्रीभिः व्याख्यातश्चौरे तस्मिन् स्वप्रेमरूपोर्थो यस्यै सा उपालब्धुं नैच्छत् मदगर्भखनिमाणिक्येस्मिन्नेताः सर्वाः प्रेमाणं धारयन्तीति बाल्येऽतिचापल्य- धरस्तारुण्येऽति धैर्यं धारयेदिति च विज्ञाय प्रहृष्टो तदिच्छामपि नाकरोदित्यर्थः, किन्तु प्रहसितमुखी ईदृशः पुत्रो नन्दराजात् कथमुदभूत् कोस्मै कन्यां दद्यादितियुक्ता स्मितवदना बभूवेत्यर्थः प्रहसितमित्यादिकर्मणि क्तः ननु परेशस्य राजपुत्रस्य च हरेश्चौ- र्यकर्मेदं लघुत्वादचमत्काराच्चाश्लाघ्यं मैवं भक्तेषु कृपापीयूषवर्षित्वेन महत्वात् चौर्यरीत्यभावेन चमत्काराच्च श्लाघ्यतमं तत् आनन्दमयस्य प्राणाभिप्रेष्ठस्य शश्वदभीष्टदर्शनस्य स्वयमेवांतिकमासाद्य नानाविनोदविधानेन कृपातिशयः अतिलावण्येन मणिगणभूषणधारणेन बाल्यातिचापल्येन स्वतुल्यबालकुलकपिवृन्दं संसर्गेण चापूर्वेण चमत्काराधानं च ॥३१॥ एवं दधिचौर्यादि चरितेन सूचितेनापि मातुरुपालम्भालाभादपरितुष्टस्य हरेस्तदुपलंभकं चरितमाहैकदेति ॥ ३२ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

तद्वदतिशयेन दध्यादि स्वीकारोपायवित्कृष्णो यर्हि यस्मिन्काले गोप्यो गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ता भवंति तस्मिन्काले ध्वांतागारे धृतमणिगणं स्वांगमर्थप्रदीपं दध्यादियुक्तभांडलक्षणार्थज्ञानहेतुं कृत्वा दध्यादौ हस्ताग्राह्ये हस्तेन गृहीतुमशक्ये

सति शिक्यभांडेषु शिक्यस्थापितभांडेष्वंतर्निहितानां स्थापितानां दध्यादीनां वयुनार्थम् ज्ञानार्थं । छिद्रमित्यतः परं कृत्वेत्यादीनां शेषः । छिद्रं कृत्वा छिद्रेण शिक्यभांडस्थितदध्यादिकं ज्ञात्वा दध्यादि प्राप्त्यर्थं पीठकोलूखलाद्यैर्विधिमुपायं रचयति करोतीति । एतेन तद्विदिति वक्तव्या । तद्वदिति कथनमनुपपन्नमिति चोद्यं परिहृतम् । तृतीयोऽतिशय इत्यनेनातिशयार्थतद्विदितीकारस्याकारादेशे तद्विदिति रूपं निष्पन्नमित्यभ्युपेत्य तद्वद्वित्यस्यातिशयेन दध्यादिस्वीकारोपायज्ञानवानित्यर्थं इत्युक्तत्वात् । एतेनैवांतर्निहितज्ञानार्थमित्यर्थलाभार्थमंतर्निहितवयुनार्थमिति वक्तव्यम् । अंतर्निहितवयुन इति सप्तमीप्रयोगोऽनुपपन्न इति चोद्यं पराकृतं । अंतर्निहितवयुन इति सप्तमीतादर्थ्ये इत्यभ्युपगमात् ॥ ३० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

असमयें असमयानिति सरलौ पाठौ । असमयान्न विद्यते समयो दोहनभ्रामणादियोग्यो येषां तान् । उक्तैतद्विकले लवे । वत्सांस्तर्णकान्मुञ्चन् क्वचित्क्रोशादस्माभिः कृतादाक्रोशात्सञ्जातो हासो यस्य सोऽथ क्वचित्कल्पितैः स्तेययोगैश्चौर्योपायैरागतं स्तेयं दधि च पयः स्वादु यथा तथाऽत्ति । स्तैन्यचौर्ये स्तेयं तद्धनमित्यमरः । मर्कं मर्कटं मार्जारं बालकं वा । मर्को मनसि वायौ च तोके मार्जारकीशयोरिति यादवः । भोक्ष्यन्भोजयिष्यन्विभजति विभज्य ददाति । स मर्कटादिर्नास्ति चेद्भाण्डं लोकावलोकनतः स्वतृप्त्यनन्तरं पात्रं भिनत्ति द्रव्यालाभे नवनीताद्यलाभे सुभृशः कुपितः सन् तोकान्बालकाननुक्रोश्य रोदयित्वा याति । नास्ति चेन्नवनीतादीति व्याख्यानद्रव्यानलाभ इति न वक्तव्यमिति स इति मर्कपरामर्शकमति सरलपन्थाः । मर्कमित्येकवचनान्तपाठं स चेदित्यानुकूल्येन चेतोहरः । बहुवचनान्तपाठे स इति जात्येकवचनमिति मन्तव्यम् । हे असम कृष्ण ते त्वयैव कल्पितैस्स्तेययोगैः शुभावहोऽवधिरयो योगा यज्ञादिस्तदितरोपायास्तस्य सम्बन्धा इति तद्वैचित्र्याद्बहुवचनम् । अथ दधिपयोऽन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयानित्यादेश्च । न विद्यते थमन्नम् । अन्नन्थमिति श्रुतिः । टीका चातिथिं जनानामित्यृव्याख्यावसरेऽतिथिं बह्वन्नमिति । अनश्नन्नन्य इति श्रुतेः । न केवलं त्वमेवमपि तु गुहां प्रविष्टो शुभं पिबतीत्यादेरिति सूचयत्याचारार्थककिपेति मन्तव्यम् । निरन्नवदाचरन्तो थं तस्तदधिपयस स चासावधिपश्चेति वा । अयं तदितरो जीवस्ते सकाशादेव स्वाद्वत्ति अस्वाद्वेव स्वादुत्वेनात्ति कर्मफलं पिप्पलं स्वाद्वत्तीत्यनुकृतिः स साररूपो वत्सान्वत्सो वायुस्तेन सहानिति स्वात्मानं प्रतीति स जीवसङ्घः । स एनान्ब्रह्म गमयति सोऽहं वायुं दिशां वत्सं वेदेत्यादेः । तर्हि तेषां स्वतो मतिरस्ति किमित्यत आह ॥ चिज्ज्ञानं केति । यो यान् तं जनं यदाक्रोशेन तत्कालप्रदर्शितेन सञ्जातांस्तत्कल्पन्नान्हन्तीति स तथा तदा मुञ्चन् । अन्तर्णीतण्यर्थो मुचिः । लिङ्गभङ्गं कारयन् यो भवान्कथं मर्कं मनः स्वमनोनुसारं तज्ज्ञानमनुसृत्य वा भोक्ष्यन्भोजयिष्यन्विभजति । आनन्दादिकं विभजति यस्तु विभजति विभजते । न च स च चेदिति भजनाभजनस्वभावो नित्यसंसारान्तमस्ति भाण्डं सुखमिति ज्ञेयम् । भाण्डं भूषणमात्रेऽपि भाण्डं मूलवणिग्धने । नदीपात्रे तुरङ्गाणां भूषणे भाजनेऽपि चेति विश्वः । यो न विभजति स्वं न सेवते स चेन्नातमोयोग्योधिकार्यस्ति । द्रव्यालाभे तत्समर्पिताप्राप्तौ तस्य भाण्डं विवक्षातो विरजापात्रं दूरे यस्येति नास्ति तदेव यस्येति तं तथैव तं मुञ्चन् अस्ति क्षीरागोरितिवन्नास्ति भाण्डं सुखदुःखभाजनरूपं लिङ्गाङ्गं भिनत्ति । सुभृशकुपितोऽतः स दुर्जनः । अकान्न विद्यते कं सुखमात्रं येषु तान् लोकान् तामिस्रादीनुपक्रोशी रुदन्याति । इति महिमा भवानित्यान्तरङ्गिको भावो भामिनीनां विभावनीयः । एवमुत्तरत्रापि शक्यो वर्णयितुमर्थस्तथाऽपि विस्तरो नो भीषयतीत्युपरतम् । तदसुषु भृशकुपित इति वा । वत्सांस्तर्णकानिव विद्यमानांस्तोकानात्मजान्यांस्तत्कल्पे संहार्यतया ज्ञातान् । क्रोशेनाक्रोशेन सहितश्चासौ सञ्जातो हासश्च यस्य सः । संहारस्य कोपप्रदर्शनं विना दर्शनात्क्रोशोऽदुःखाद्धास इति ज्ञेयम् । सुभृशकुपित इवोपक्रोश्य रोदयित्वाऽत्ति भक्षयति ॥ अत्ता चराचरग्रहणात् । सर्वं वा अत्तीत्यादेः । तन्मध्ये यदथन्नभिन्नवदाचरच्चर्मास्थिपूर्वकं शक्यं भक्षयितुं तथाऽपि न लोके तथेत्याचारकिपा सूचयति । भाण्डमलङ्कारात्मना मुञ्चन्स्थापयन् । ब्रह्मचर्मशिरः पट्टी दिक्पालोव्वाङ्गभूषण इति तात्पर्यान्तरवचनात् । तर्हि सुवर्णाद्यलाभो भगवतः किमित्यत आह । न द्रव्यलाभ इति । उद्गीत एवोद्गीथ इत्यादौ तथकारवदत्र यत्तकारेऽस्ति अस्थीति वा तदानि भाण्डमिति वा । अथदस्तीत्यन्वयः । अथानन्तरमधि पयः पयसि क्षीराब्धाविति यावद्याति । पूर्ववदुर्वरितं । अर्थतो भीतवदाचरन्तस्त्वनुग्रहतस्तदधिप । अरक्षकवद्विद्यमानाधिपेदानीमिति वा । थं भये रक्षणे शुभ इति विश्वः ॥ २९ ॥ स्तेययोगैरित्युक्तं दर्शयति ॥ हस्ताग्राह्य इति । स्वस्य ह्रस्वतया प्रदर्शनाद्धस्ताग्राह्ये विधिं तदुपायं पीठिकोलूखलाद्यैः पीठकं चोलूखलं च । उलूखलं गुग्गुले स्यात्कण्डनार्थेऽप्युलूखल इति विश्वः । तदाद्यै रचयति । शिक्यभाण्डेषु शिक्यानि यष्टिलम्बीनि जालविशेषाः । भारयष्टिस्तदालम्बि शिक्यं काच इत्यमरः । तेषु स्थापितानि भाण्डानि पात्राणि तेषु निहितस्य स्थापितस्य हय्यङ्गवीनादेर्वयुने ज्ञाने जाते तद्वद्यथा तदाप्तिः स्यात्तद्वच्छिद्रं रचयति लकुटादिना । अन्तर्निहितवयुन इति पाठे तन्मतिमानित्यर्थः । सान्धकारागारे हे अङ्गनाः । स्थापयतेत्यतो वदन्ति ॥ ध्वान्तेति । स्वाङ्गमर्धप्रदीपमर्थान्प्रदीपयति प्रकाशयतीति तत्तथा । न च मणिधारणात्तथा भवेदिति भ्रमस्तु स्यादित्याहुः ॥ अधृतमणिगणमिति । सहजकान्तिरेव तादृशीति भावः । धृतमणिगणमित्यनकारप्रश्लेषपदेन कायकान्त्य-

तिशयलाभ इत्युपर्येव ज्ञायते। परस्परालङ्क्रियतेति मिथ्या स भूपणं सर्वविभूपणानामित्यादेः। भास्वत्कौस्तुभभासक-मित्यादेश्च। कालेऽपहारकाले भवति यर्हि यदाऽन्तर्गृहान्तर्गोप्यो वयं गृहकृत्येपु सुव्यग्रचित्तास्तदाऽयमेव रचयतीति। वयुनं ज्ञानमितीशावास्यभाष्योक्तेः॥ ३०॥ एवं धाष्ट्यात्प्रागल्भ्याद्विशति गृहं वास्तौ देहल्यां मेहनादीनि पुरीषमूत्रादीनि कुरुते। स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः स्तेय उपाया येषां तैर्विरचिताकृतिर्यस्य सः। ये चौर्यसमर्थास्तैरप्यसाध्यचौर्यकर्तेत्यर्थः। यथा सुप्रतीकः सुशोभावन्तः प्रतीका अवयवा यस्य। अङ्गं प्रतीकोऽवयव इत्यमरः। सुप्रतीकः शोभनाङ्गे भवेदीशान्यदिग्गज इति विश्वः। यथा आस्त साधुवादास्त इति तात्पर्यम्। सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिः सभये नयने यस्य तच्छ्रीमद्यन्मुखं सभयनयनं च तच्छ्रीमुखं तस्य श्रीकृष्णस्य मुखस्यावलोको यासामस्ति ताः सभयनयनश्रीमुखालोकिन्यस्ताभिः। इत्थं व्याख्यातार्थ-प्रहसितमुखी व्याख्यातोऽर्थस्तेन प्रहसितं मुखं यस्याः सा व्याख्यातार्था। प्रहसितमुखीति पाठेऽप्यर्थादर्थः प्रहासनिमित्तमिति ज्ञेयम्। तमुपालब्धुं बद्धुं नैच्छत्॥ ३१॥ क्रीडमानाः क्रीडन्त इत्येवेतिमात्रे एतावति लवीयसि कार्येऽनिवेदनीये न्यवेदयन्निति वा॥ ३२॥

श्रीसुबोधिनी

यास्तु सर्वथा प्राकृतस्वभावा लौकिकवाक्यपरिनिष्ठिता वा तासां प्रपञ्चविस्मरणं साधारणसात्त्विकलीलया न भवतीति यत्रैव ता आसक्तास्तदेव कार्यं नाशयंस्तन्निरोधं कृतवान्, तच्चेत् सह्यं स्यात् सर्वथा निरोधो न सिध्येदिति तत्कार्यम-सह्यमानमिति ज्ञापयंस्तथाविधा गोप्य उपालम्भं कृतवत्य इत्याह कृष्णस्येति, स्वतन्त्रकर्तृत्वं भगवत एवेति न वाला नापि राम उक्तः किन्तु **कृष्ण** एवोक्तः, **रुचिरं** मनोहरं भवत्येव, निरोधस्तु सिद्धः, तथापि न स्वतोस्माकं तथामन इति स्वदोपपरिहारार्थं यशोदायै निवेदयन्ति, ननु सर्वतःपूर्णा भगवत्कृपया प्राप्तसम्पदः कथमेवमुपालम्भं कृतवत्य इत्याह **गोप्य** इति, गोपभार्यात्वादेवं, न भगवति दोपदृष्ट्या, तथावचने निरोधो न सिध्येदित्याशङ्क्याह **कौमारचापलमिति, कौमार**वयस एव **चापलं** चपलता, वयस एवायं दोपो न तु भगवत इति तासां बुद्धिः, **सम्यगागता** लोकन्यायेन **समागता** न तूपालम्भनार्थमेव, **तन्मातुर्य**शोदायाः **शृण्वन्त्याः** सत्याः **प्रोचुः**, एतादृशं वचनमयुक्तमपि सर्वलोकप्रसिद्धत्वादुच्यत इति स्वस्य दोपाभावख्यापनायाह **किलेति**॥२८ अ॥ भगवतो निरोधलीलां तत्तद्दोपदूरीकरणार्थं कृतां तदभिनिवेशेन तावत् कृतस्वदोपरहिता भगवद्गुणान् गणयन्ति **षड्विधा**न् जीवस्य दोपरूपान् भगवतो **गुणान्**, ईश्वरो हि हीनं कर्म न करोति, वत्समोचन"मनीश्वरं कर्मे"ति केचित्, सर्वमोक्षदाता भगवानक्षयनिधिकर्ता यावद्दिनं क्षुधितान् वत्सान् मातृसमागमेपि दुःखिता मा भवन्त्विति मर्यादासमयोल्लङ्घनं कृत्वा **वत्सान् मुञ्चति, क्वचिदि**ति, यत्र वत्सविमोक आतृप्तेः पूर्वबन्धनमशक्यं, **आक्रोशे** कृते भगवानमानी मानदस्तासां दुर्बुद्धिं ज्ञात्वा **सञ्जातहासो** भवति, मायोत्तरोत्तरं मोहिका प्रवृद्धा भवति, एवं बहिःस्थितानामान्तरं दुःखं क्षुत्कृतं मोहकृतं च नाशयति, मोहोपि सम्यङ् मोहो जायते भगवद्विपयको येनकेनाप्युपायेन सर्वोपि मनोव्यापारो भगवद्विपयक इतिलक्षणः, एवमुभयविधान् कृतार्थीकृत्य स्वकीयेपु स्वयं भोक्तव्यमिति स्वान्तःस्थितबालकानन्नादिना संवर्धयितुं वीर्यविरुद्धमिव चौर्येण भुङ्क्त इत्याहुः **स्तेयमिति**, यस्तु हरति स चोरः, हरिर्हि भगवान् स्मरणेनैव सर्वं हरति, स्तेयेन प्राप्तं **स्तेयं** पकान्नाद्योदनव्यञ्जनात्मकं सूपादि पायसान्तं, तत्रापि यत् **स्वादु** भवति रस्यं, गोपिकागृहे स्वयमुपविश्य बालकानुपवेश्य तामन्यत्रैव प्रेषयित्वा यद्यत् स्वादिष्टं खण्डलड्डुकादिकं मोदकादिकं च भुङ्क्ते, **अथ** तृप्त्यनन्तरमन्नसमाप्त्यनन्तरं वा, **दधि पयः** प्रथमं **दधि** पश्चात् **पयः**, पयःपानान्तं शनैर्भोजनं करोतीत्यर्थः, चौर्ये भगवता उपाया बहव एव **कल्पिताः**, दूरे शिक्ये स्थालीं पूर्णजलां स्थापयित्वाधश्छेच्छेते तदापि नालेन जलं पीत्वा स्थालीमुत्तार्य वंशद्वारा समारुह्य नयति, एवमनेकप्रकारा अपरिज्ञाने, परिज्ञानेपि नवनीतभाण्डे भाण्डमग्रे स्थापयित्वा सावधानस्थितायामपि दुग्धादिना पूर्णमुखस्तदक्ष्णोः फूत्कारं कृत्वाक्षिनिमीलने नयति क्षणाददृष्टश्च भवति, न सोस्त्युपायो येन भगवतः सकाशाद् रक्षितुं शक्यते, इतोपि भगवतोवाङ्मनोगोचरा उपायास्ते सर्वे भगवतैव **कल्पिताः**, न तु चोरशास्त्रे सिद्धाः, "बालकैः सह भुङ्क्त" इत्येके, वस्तुतस्त्वन्तःस्थितबालकप्रीत्यर्थमेव तथा करोति, स्वयं **भोक्ष्यन्** बालकेषु तृप्तेषु **मर्कान् विभजति, मर्का** मर्कटाः, मर्केभ्यो **विभजती**त्यर्थः, ते हि पूर्वं **रामावतारभक्ता**स्तेष्वपि तृप्तेषु स्वयमध्यात्मा स्वीकृतभावो भुङ्क्ते, जगदात्मा सोपि चेन्नात्ति योत्ता "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" इतिश्रुतेः, **स** प्रसिद्धः, तदेकं भगवद्रूपं भोक्तृ, स त्वत्यन्तमेव शुद्धान् भुङ्क्ते, यत् पुनर्मोक्षसम्बन्धि न भवति दैत्या-विष्टत्वात् **स चेन्नात्ति** न भक्षयति तदा **भाण्डं भिनत्ति** दैत्यानां सम्बन्ध्यन्यैर्न भक्षणीयमिति, द्रव्याणामभावे त्वलाभे वान्यत्र स्थापिते **सगृहकुपितो** भवति, **सगृहे** गृहसहिते गृहस्थे **कुपितो** भवति, अयुक्तकरणात्, गृहो हि धर्मार्थमेव भवति, धर्माभावे गृहवैयर्थ्यात्, धर्मश्च द्रव्यैर्भवति, द्रव्यसाधकाश्च पुरुषाः, ईश्वरस्य कोपभयाद् दिनान्तरे समृद्धिं करोत्येव, अथवा **गृहस्थं** बहिर्मारयेत् ताडयेद् वा, एवमलौकिकः क्रोधः, लौकिकमाह **यात्यनुक्रोश्य तोकानि**ति, **तोकान्** बालकान् स्तनन्धयान्, त्वदपेक्ष-याप्यन्तःस्थिता बालकास्तेपु क्षुधितेपु तदीयेन भवता स्थातुमयुक्तं भवतीत्य**नुक्रोश्य** रोदनं वा कारयित्वा मयि विमुखे रुद्रः प्रवेक्ष्यतीति॥ २९॥ एवं भगवतः षड् गुणा निरूपिताः, धौर्त्ये क्रियाप्रकारमुक्त्वा ज्ञानप्रकारमाह **हस्ताग्राह्य** इति, पञ्चविधं

ज्ञानं सप्रकारं निःप्रकारं च काले वस्तुनि निःसाधनमल्पासाध्येंत्यन्तासाध्ये चान्धकारस्थापित आलोकापेक्षायां सप्रकारं ज्ञानं, अनेन पूर्णा विद्या निरूपिता भवति, लौकिकबुद्ध्या तु सर्वं ज्ञानं परोपद्रवायेति तदीयांशानां ज्ञाने तज्ज्ञानमपि भवतीति वस्तुतस्तूपकार एव, यत्र भगवतः कुसूलादौ वस्तु **हस्तेनाग्राह्यं** भवति तत्र **पीठ उलूखलमधोमुखं** प्रतिष्ठाप्य तदुपरि बालकं वा निवेश्य गृहवंशान् वा धृत्वा वस्तु गृह्णाति, रिक्तभाण्डेषु तु न प्रयत्नं करोति, तत्र हेतुरन्तर्निहितवयुन इति, **अन्तर्भाण्डे** मध्ये **निहितं वयुनं** ज्ञानं यस्य, **शिक्यभाण्डेषु** दुग्धादियुक्तेष्वन्तः कुन्तादिना **छिद्रं** करोति, अधस्ताच्च भाण्डान्तरं स्थापयति, दध्यादौ तु न करोति, शर्करादौ तु पातयति, घनीभूते दध्यादौ च, तत् सर्वं वेत्ति **तद्वित्, ध्वान्तागारे** तु **धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थतः प्रदीपभूतं रचयति** यदिदानीमप्रकाशमानमपि तदानीमन्धकारगृहे सूर्यवत् प्रकाशते मणींश्च प्रकाशयति, **अर्था** एव वा **प्रदीपा** भवन्ति, **स्वाङ्गमेव** वार्थार्थ**प्रदीपा** यस्य न त्वन्यस्मिन्नागते, एतदपि सर्वं काले, यदा **गोप्यो** न जानन्त्येव दूरे वा गता भवन्ति, किञ्च **यर्हि गृहकृत्येषु** पाकादिषु मन्दस्नानादौ बालकतर्पणे वात्यावश्यके **सुष्ठु** व्यग्रं चित्तं यासां मथनादिसमये वा कालविलम्बे वा घृतमेव नोत्पद्यते ॥३०॥ एवं ज्ञानप्रकारमुक्त्वा पर्यवसानमाहुरेवंधाष्ट्र्यानीति, हे उशति कमनीये, **धाष्ट्र्यानि** वस्त्रविमोचनादीनि **कुरुते, उशति** कमनीये भाण्डादौ च **मेहनादीनि कुरुते, वास्तौ** यत्र वास्तुदेवता पूजिता भवति, किञ्च **स्तेयोपायैर्भजनकैर्विरचिता कृतिराकृतिर्यस्य** पतिवत् पुत्रवद् भ्रातृवच्च तिष्ठति तत्र कार्यार्थमेतादृशोपि **सुप्रतीकः** साधुवदास्ते, धाष्ट्र्यादिकरणं पुरीषादिकरणं चौर्यकरणं रूपान्तरकरणं साधुवत् स्थितिश्चेतिपञ्चधारूपसङ्ग्रहः, देहवदिन्द्रियवत् प्राणवदन्तःकरणवदात्मवच्चेतिपञ्चधाज्ञानस्य पञ्चविशेषभूतानि रूपाणि, एवं क्रियारूपान् ज्ञानरूपानाकृतिरूपान् निरूप्योपसंहरतीत्यर्थमिति, एवम्प्रकारेण **स्त्रीभिर्व्याख्यातार्थापि प्रहसितमुखी सत्युपालब्धुं नैच्छत्**, उपालम्भे द्वयं कार्यं स्त्रीणां मनोरञ्जनं बालकस्य भयजननं च, तदुभयं प्रथमत एव जातं, भयसहितं नयनं यस्य **सभयनयनो** भगवान् तस्य श्रीयुक्तं मुखं तदालो**किनीभिः**, एवमुपालम्भनकर्त्र्योपि भगवन्मुखनिरीक्षिका एव, ज्ञानशक्तेरेव भयं न तु क्रियाशक्तेस्तदाह **सभयं नयनं** यस्येति, श्रीसंयुक्तं **मुखं**, आक्रोशवतीनां दृष्टिर्भगवद्विषयिणी मा भवत्विति **श्रिया** मूर्तिमत्यैव मध्ये व्याप्तं, अतः **सभयनयनं** यथा भवति तथा **श्रीमुखस्यालोकिनीभिः**, एवं **व्याख्यातोर्थः** स्वगृहव्यापाररूपो यस्यां, तथा सति लौकदृष्ट्या भगवतो धौर्त्यं स्मृत्वोभयोर्भय नयने दृष्ट्वा भगवान् स्त्रियश्च भीता भगवान् मत्तः स्त्रियो भगवतो मत्तश्चेत्यनेकरसाभिनिविष्टा प्रकर्षेण **हसितमुखी** भगवन्त**मुपालब्धुं नैच्छत्**, नामलीलया वसुदेवः कृतार्थ एव जातः, इयं तु लौकिकन्यायेन प्राप्तमनोरथा लौकिकभावदार्ढ्यादेव दोषान् न गृहीतवती न तु माहात्म्यज्ञानात् ॥ ३१ ॥ **अक्लिष्टकर्मा** भगवांश्च यावन्नात्यन्तासक्त्या वैयर्थ्यं न प्राप्नोति तावन्न वदति नापि प्रदर्शयति, अनेन च प्रकरणेन तस्याः स्वविषयकोध्यासो निवर्तितः, यतो वाच्यतासहनं जातं, भगवद्विषयकगाढाध्यासेन सोप्युद्गतः स्वसमानविषयकविरोधेनैव निवर्तिष्यत इति तदर्थं प्रकरणान्तरमारभते ज्ञानरूपमन्तःकरणशोधकमेकदेत्येकादशभिर्मनसो ह्येकादश वृत्तयस्तासां निवृत्त्यर्थमेकादशधा ज्ञानं वक्तव्यं,

दोषनिवृत्त्यै यत्नो वाक्यं वाक्यं च तस्य नुत् । तत्साधिका कृतिर्विष्णोर्ज्ञानं पूर्वनिवारकम् ॥ १ ॥
ज्ञानस्योत्कर्षसिद्ध्यर्थं विषयाणां च वर्णनम् । ततो भयं तन्निवृत्तौ पूर्वपक्षस्य युक्तयः ॥ २ ॥
सिद्धान्तेन प्रतिष्ठानं भीतायाः शरणागतिः ॥ २३ ॥

भगवत्यध्यासस्य दृढत्वाद् भिन्नविषयको दोषो न बाधक इति समानाश्रयविषयकं दोषं बाला अनिरुद्धा आहुरित्याह, **एकदा** यदा भगवत्प्रवणमेव चित्तं स्थितं, **आक्रीडमाना** आ समन्तात् क्रीडां कुर्वाणाः, समानभावेन सर्वेषु क्रीडा रसजनिका भवति, अतो भगवति साम्ये स्फुरिते विवेकिनां स्वस्मिन् दोषदर्शनवद् भगवत्यपि दोषं दृष्टवन्तः, त इति ये स्त्रीणां सुखार्थे नीतास्तेषां स्त्रीसङ्गान्निरोधस्याकृतत्वाद् भगवति दोषदृष्टिर्युक्तेति, तत्तत् कार्यं प्रदर्शयितुं **रामाद्या** इत्युक्तं, स हि रमयति एव सर्वास्त्रियोतो दोषदृष्टिः, **गोपबालका** इति, **गोपा** अनिरुद्धाः, गोभिः सह सङ्गात् तत्तुल्यज्ञानास्तेषां बालका इति स्वरूपतोपि दोषसम्भवहेतुः, स्वसम्बन्धिस्तनादिपानेन पुष्टान् स्वचरणसम्बन्धिभक्तिरसालोडितमृत्स्नां बालकेभ्योन्तःस्थितेभ्यो ददद् बहिर्मुखैर्दध्यादिभक्षणवन्मृद्भक्षणमपि कल्पितं ततस्तदनिष्टं मत्वा बालाः प्रोचुः **कृष्णो मृदं भक्षितवानिति**, पञ्चवर्षपर्यन्तं मात्रा शिक्षणीय इति **मात्रे न्यवेदयन्**, सम्भावितं तदिति ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

मर्कान् भोक्ष्यन्नित्यत्र । **सोपीत्यादि**, यद्यपि श्रौतं ज्ञानं न सहजमेतासां भगवता लीलार्थं न ज्ञाप्यते च, तथापि भगवद्धर्मनिरूपणे चित्ते तदावेशाद् भगवति सोपि धर्मोस्तीति वस्तुस्वभावात् तस्यापि स्फूर्तिः । तत्रापि भोजनप्रकरणादस्यैव धर्मस्य । अन्यथा पुरःस्थिते प्रियेऽयमित्यनुक्त्वा स इति न वदेयुरिति भावः ॥ २८-२९ ॥ **हस्ताग्राह्य** इत्यत्र । **पञ्चविध मित्यादि** : प्रकारशब्दोत्र साधनवाची । तथा च पीठादिसाधनयुक्तं तदयुक्तं चेति द्वैविध्यम् । यस्मिन्काले तद्गृहे कोपि न भवति । तत्कालविषयकं ज्ञानं वस्तुविषयकं च तथा । **तदीयांशानामिति** । पूर्वोक्तज्ञानस्यांशाः पीठादयो विषयत्वात् ज्ञानस्य

स्वतो निरंशत्वेन तस्यैव तथात्वात्। तथा च स्वगृहे सदा तज्ज्ञानमिति तत्सम्बन्धिभगवज्ज्ञानमपि सदेत्युपकार एवेत्यर्थः॥३०॥ **न ह्युपालब्धुमैच्छदित्यस्य विवृतौ, यावान्नात्यन्तासक्त्येति।** नेत्यत्यन्तपदविशेषणम्। अत्यन्तासक्तौ तु बाह्यानुसंधानमेव न स्यादिति भावः। **सोप्युद्गत** इति। भगवद्विषयकः पुत्रत्वेनाध्यासोपि निवर्तिष्यत इति सम्बन्धः। अत एव प्रणता स्त्रमति प्रकारगणनायां'मेष मे सुत' इत्युक्तवती। निवर्तने हेतुमाहुः **स्वसमानेति**। पुत्रत्वेन स्नेहाद्धि मृद्भक्षणे शिक्षार्थं लोकन्यायेन विरुद्धाचरणमपि संभवतीति तच्चिकीर्षायां स्नेहसमानविषयको विरोधो भवतीति स्वधर्मप्रदर्शनेन सोपि निवर्तिष्यत इत्यर्थः॥ ३१॥ **एकदा क्रीडमाना** इत्यत्र, **ये स्त्रीणां सुखार्थ** इति। पूर्वं वयस्यैर्व्रजबालकैर्व्रजस्त्रीणां मुदं जनयंश्चिक्रीड इत्युक्तम् तथा च तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन त एवोच्यन्त इत्याशयेनाहुर्य इत्यादि। **निरोधस्येति**। मृदोनिष्टहेतुत्वेन ज्ञानेन हि तदभावाय निवेदनम्। तच्च स्नेहं विना न संभवतीति कथं तदकरणमुक्तमिति चेत्। उच्यते। क्रीडमाना इत्यात्मनेपदप्रयोगेण न भगवदर्थं नापि भगवत्सङ्गे क्रीडेयम्, किन्तु स्वार्थमेव परस्परमेवेति च ज्ञाप्यते। सर्वभावेन निरोधे तु तथा करणं न सम्भवतीति तथोक्तमाचार्यैः। व्रजस्त्रीमुखजननस्यैवोद्देश्यत्वेन तदुपयोगिलीलोपयोगित्वेन बालकसहभाव इति हृदि कृत्वा स्त्रीसङ्गादित्युक्तम्। अत एव मुख्यो निरोधो न सम्पन्नः, आनुषङ्गिकस्तु जात इति भावः। **तत्कार्यम्**। निरोधाकरणकार्य- मित्यर्थः। यथैव ता भगवत्सङ्गता भवन्ति तथैव सम्पादयतीति स्त्रीरतिकर्तृत्वं रामे। अत एव रसरीत्या ताम्बूलाद्यङ्गीकार एवास्य रोचते, न त्वलौकिक्या अपि मृद इति स्नेहवशादेव दोषदृष्टिस्तत्र। अत एव रामाद्या इत्यत्रातद्गुणसंविज्ञानो बहु- व्रीहिः, तेन बालकविजातीयो भावः सूच्यते। रामे गोपबालकत्वाभावात्तथा। गोपानां त्वग्रे निरोधो वक्तव्य इत्यधुना तथा न निरोध इति तथोक्तम्॥ ३२॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कृष्णस्येत्यत्र ननु धौर्त्यलीलायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहु**र्यास्त्वित्यादि, लौकिकवाक्येत्यादि लौकिकं** यच्- छवश्र्वादिवाक्यं तत्र निष्ठावत्यः, **ज्ञापयन्नित्यस्य तन्निरोधं कृतवानिति** पूर्वेणैव सम्बन्धः, **तथाविधा** इति **यास्त्वित्यादिना** व्याख्याताः, **तथा मन** इति तादृशलीलाकरणे **मनः, तथावचन** इत्युपालम्भवचने॥ २८ अ॥ **वत्सानित्य**त्राभासे **तदभिनि- वेशेनेत्यादि** भगवत्कृतलीलाभिनिवेशेन, **तावद्वस्तुविषयकलोभादिरहितेत्यर्थः, अत्र श्लोकप्रतीकं त्रुटितमिति** भाति, के **भगव- द्गुणा** इत्यपेक्षायामाहुः **षड्विधानित्यादि**, तत्र **वत्समोचनस्यैश्वर्यत्वं** व्युत्पादयन्तस्तद्विरोधं परिहरन्ति **सर्वेत्याद्यशक्यमित्यन्तं**, तथा चा**समये** वत्समोचकत्वेन कल्पादिरूपे काले **मूढमोचकत्वरूपमैश्वर्यकर्मबोधकं**, हासप्रयोजनमाहु**राक्रोश** इत्यादि, **बहिः- स्थितानामिति** वत्सानां गोपिकानां च, ननु हासस्य मोचकत्वेन पूर्वमोहकृततदुःखनाशेपि मोहान्तरस्य जातत्वात् पुन दुःख- प्रसङ्गो भवेदतः समुपसर्गं मूलस्थं व्याचक्षते **मोहोपीत्यादिना**, स्तेयादनस्य वीर्यविरोधित्वं परिहरन्तो वीर्यकर्मत्वं व्युत्पादय- **न्त्येवमुभयेत्यादि, उभयविधानिति** मूढान् निरुद्धांश्च, **कल्पितैः स्तेययोगैरिति** व्याकुर्वन्ति **चौर्येत्यादि दूरे शिक्य** इति तत्र विद्यमाननवनीतादिभाजनोपरीतिशेषः, अत्र **चौरशास्त्रे सिद्धा** इत्यनेन नूतनोपायकल्पनात्मकं **वीर्यं** तेन निरोधश्चालौकिकं तत्कार्यं बोधितं ज्ञेयं, मतान्तरमाहु**र्बालकैरित्यादि**, मूलेनुक्तत्वात् तथेत्यर्थः, उपायकल्पनं **स्वयमेव** भोजनं च यशोविरुद्धमिवेति तन्निरासाय सिद्धान्तमाहु**र्वस्तुत** इत्यादि, तथा चात्यन्तनिरोधजनकत्वेन बालप्रीतिजनकत्वेन च न यशोविरोधः किन्तु तदनु- गुणत्वमेवेत्यर्थः, मर्कटसंसर्गस्य तात्पर्यं विवृण्वन्ति **स्वयमित्यादि**, एतस्यार्थमाहुष्टिप्पण्यां **सोपीत्यादि**, श्रीविरोधपरिहाराया- हुस्ते **हि पूर्वमित्यादि, स्वीकृतभाव** इति **स्वीकृतोध्यात्मनो भावो** येनेत्यर्थः, अत्र **भोक्ष्यन्नित्यनेन** भाविस्वभोगकथनात् मर्काध्यात्मरूपेण भोग इति बोध्यं, **मर्कानितिबहुवचनात् स** इत्यनेन ते परामृष्टुं न शक्यन्त इति तत्तात्पर्यमाहुः **सोपीत्यादि, स** इत्यध्यात्मा **सुबोधिन्यां स** त्वित्यादि **न भक्षणीयमित्यन्तं** वैराग्यकार्यमाहु**र्द्रव्याणामित्यादि**, अलाभे हेतुरन्यत्र **स्थापित** इति, कोपे हेतुं विवृण्वन्ति **सगृह** इत्यादि, **गृहवैयर्थ्यादिति गृहपरिग्रहवैयर्थ्यात्**, नन्वेवं द्रव्यनाशे धर्मोपि न सिध्येदित्यत आहु- **र्दिनान्तर** इत्यादि, तथा चैवं सुखेन धर्मसिद्धिरित्यर्थः, **सगृहकुपित** इत्यस्यार्थान्तरमाहु**रथ वेत्यादि**, वैराग्यस्यैव कार्यान्तर- माहु**र्लौकिकमाहेत्यादि, लोकानुक्रोशेबीजमाहुस्त्वदपेक्षयेत्यादि, तदीयेनेति** तदाध्यात्मिकेन तत्सेवकेन वा **स्थातुं** सुखेनेतिशेषः, अनुक्रोशस्यार्थान्तरमाहू **रोदनमित्यादि**, षड्गुणनिरूपणं निगमयन्त्येवमित्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण, यद्वा मोक्षदातृत्वेनैश्वर्यं मोहकत्वेन श्रीश्चौर्येण वीर्यमद्भुतत्वात् मर्केभ्यो दानेन सर्वथा भक्तहितकर्तृत्वाद् वैराग्यं भाण्डभेदनाद् यशः स्वत एव सर्व- हितकर्तृ हि तत् स्यात् कोपादिना ज्ञानं, अत एव रुदः **प्रवेक्ष्यतीत्युक्तम्**॥ २९॥ **हस्ताग्राह्य** इत्यत्र यथा पूर्वश्लोके परमार्थतः **षड्विधा गुणा उक्ताः** क्रियाप्रयोजकास्तथात्र **ज्ञानप्रकारबोधनेन पूर्णा विद्या निरूप्यत** इत्याशयेन ज्ञानप्रकारमाहुः **पञ्चविध- मित्यादि** वक्ष्यमाणरीत्या **पञ्चविधं** यज् **ज्ञानं** तत् **सप्रकारनिष्प्रकारपूर्णविद्यारूपमित्यर्थः, प्रकारशब्दार्थमाहुष्टिप्पण्यां प्रकारे- त्यादि, अत्र** परोक्षवादे, **प्रकारशब्दः साधनवाची,** तथा च **ससाधनं निःसाधनं च ज्ञानं पूर्णविद्यारूपमित्यर्थः, सुबोधिन्यां** प्रकारान् गणयन्ति **काल** इत्यादि तथा च **कालविषयकमाहारादिरूपवस्तुविषयकं** निर्विषयकमल्पासाध्यविषयकं चेत्यर्थः, प्रत्यक्षवादे **सप्रकारकज्ञानस्य** विषयमाहु**रन्धकार** इत्यादि, तदेतत् परोक्षवादे योजयन्त्यनेनेत्यादि, तथा च **महति हार्दान्धकारे**

तत्र ज्ञानालोकापेक्षायां **ससाधनं** ज्ञानमुपयुज्यते "ध्वान्तागारे"त्यादिपर्यन्तवाक्येन **पूर्णा विद्या** निरूपितेत्यर्थः, प्रत्यक्षलीलायां साधनादिस्वरूपं **टिप्पण्यां** विवृण्वन्ति **तथा** चेत्यादि, **द्वैविध्यमिति** सप्रकारं निःप्रकारं चेति **द्वैविध्यं**, प्रत्यक्षे कालादिकं विवृण्वन्ति **यस्मिन्नि**त्यादि, **तदीयांश**पदं विवृण्वन्ति **पूर्वोक्ते**त्यादि, उपकारः कथमित्यपेक्षायामाहुस्तथा चेत्यादि, सुबोधिन्यां श्लोकोक्तलीलातात्पर्यमुक्त्वा श्लोकं व्याकुर्वन्ति **यत्रे**त्यादि, **भगवत** इत्यस्य **हस्त**पदेन सम्बन्धः, **अर्थत** इति षष्ठीबहुवचनतस्तसिः, **अर्थार्थमि**ति स्वार्थसिद्धिनिमित्तमेवेत्यर्थः, **विलम्बे** वेति **वा** शब्दस्त्वर्थे वाक्यालङ्कारे वा ॥ ३० ॥ **एवमि**त्यत्र स्वार्थसिद्धिनिमित्तमेवेत्यर्थः, **पर्यवसानमाहु**रिति परोक्षवादेनोक्तस्य ज्ञानस्य **पर्यवसानं** परोक्षवादेनाहुरित्यर्थः, **इति पञ्चधे**त्युक्तकार्यद्वारा **पञ्चधा**, अस्मिन् श्लोक उक्तं **पञ्चधा रूपं स्वेच्छालीलाविशिष्टं**, तत् कथं सत्त्वं शोधयतीत्याकाङ्क्षायां तत्प्रकारमाहु**र्देहवदि**त्यादि, तथा च "प्राणन्नेव प्राणो भवती"ति श्रुतौ कार्यद्वारैव रूपान्तरश्रावणादत्र धाष्ट्याद्यि कुर्वन् **देहवद्** भवति मेहनादि कुर्वन्निन्द्रियवच्चौर्येण भुञ्जानः **प्राणवद्** भवति प्राणस्यैव भोक्तृत्वाद् रूपान्तराणि कुर्वन्नन्तःकरणवद् भवति तस्यानेकवृत्तिकत्वात् साधुवत् तिष्ठन्नात्मवद् भवतीत्यर्थः, ननु पञ्चधा करणस्य किं प्रयोजनमत आहु**रज्ञानस्ये**त्यादि, अविद्यारूपस्याज्ञानस्याध्यासविषयत्वाद् देहादीनि **पञ्चरूपाणि** तस्य **शेषभूतानि** तादर्थ्यात्, अतः पञ्चरूपः स्वयं भवन् निरुद्धानां विषयो भूत्वा सत्त्वं शोधयतीत्यतस्तथेत्यर्थः, क्रियारूपानित्यादि धर्मानितिशेषः, **प्रथमत** इत्युपालम्भनं विनैव भगवन्मुखावलोकत्वात्, तदुपपादयन्ति **ज्ञानशक्तेरि**त्यादि, **ज्ञानशक्तिनयनं क्रिया**शक्तिर्मुखमिति ज्ञातव्यं, उपालम्भदानानिच्छायां हेतुः स्वरूपज्ञानमेव भविष्यतीतिशङ्काभावायाहु**र्नामलीलये**त्यादि ॥ ३१ ॥ **एकदे**त्यत्र ननु यथा भगवानग्रे बालवाक्यदूषणार्थं वाक्यं वक्ष्यति स्वस्य सत्यत्वार्थं स्वरूपं च प्रदर्शयिष्यति तथात्रापि कुतो नोक्तवान् न प्रदर्शितवानित्यत आहु**रक्लिष्टकर्मे**त्यादि, **नात्यन्तासक्ते**स्तात्पर्यार्थमाहुष्टिप्पण्यां **नेत्यत्यन्तपदविशेषणमि**ति **नैकवे**त्यादिवत् **न** शब्देन सहात्यन्तपदसमासात् तथा, तथा चात्यन्तासक्त्यभावे **भगवान् न वदति वैयग्र्याभावे** च न **प्रदर्शयती**त्यतस्तथेत्यर्थः, कथमेवमित्यत आहु**रत्यन्तासक्ताविति**, सुबोधिन्यां धाष्ट्र्यादिलीलातात्पर्यमाहु**रनेने**त्यादि, अग्रिमप्रकरणतात्पर्योक्तौ **सोप्युद्गत** इत्यादि, तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**र्भगवद्विषय** इति, **सुबोधिनास्थविरोध**शब्दगततृतीयायाः सहार्थत्वं विवृण्वन्ति **पुत्रत्वेने**त्यादि, तथा च स्वधर्मप्रदर्शनेन करणेन विरोधनिवृत्तिसमकालं पुत्रत्वाध्यासोपि निवर्तयिष्यत इति भावः, कारिकायां दोष इति बालकाज्ञानेन कृत इत्यर्थः, **पुत्रपूर्वनिवारकमि**ति भगवति पुत्रत्वेनाध्यासस्य **निवारकं, तन्निवृत्ताविति** भयनिवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः, विवृतौ **भिन्नविषयक** इत्यध्यास**विषयकः**, **समानाश्रयविषयकमि**त्यध्यासाश्रय**विषयकं**, **टिप्पण्यां ये स्त्रीणां सुखार्थ** इत्यादेरर्थमाहुः **पूर्वमि**त्यादि, निरोधाकरणे शङ्कते **मृद** इत्यादि, **तदकरणमि**ति निरोधाकरणं, समादधत **उच्यत** इत्यादि, **तथोक्तमि**ति निरोधाकरण**मुक्तं**, तर्हि तेषां **स्त्रीसङ्गा**दितिकथनस्य किं प्रयोजनमत आहु**र्व्रजे**त्यादि, **अत एवे**ति निरोधे तेषामुद्देश्यत्वाभावादेव, **तत्रे**ति मृद्भक्षणे, **तथोक्तमि**ति **गोपा अनिरुद्धा** इत्युक्तं, **सुबोधिन्यां** मृत्स्नाग्रहणतात्पर्यमाहुः **स्वसम्बन्धी**त्यादि, **पुष्टा**निति कृत्वेति शेषः, **अददादि**ति स्थूलशरीरसिद्ध्यर्थं दानमिति प्रतिभाति, प्रथमस्कन्धे "या वै लसच्छ्रीतुलसी"त्यत्र तथा सिद्धत्वात्, तेषां दान्तत्वार्थं वा, टिप्पण्या **मदान्तात्मन्नि**त्यस्य व्याख्याने तथा सिद्धत्वादिति ॥ ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वत्सानित्यस्याभासे **भगवत** इति एतदर्थे कृतां लीलां **शृण्वन्त्याः सत्याः प्रोचु**रिति पूर्वेणैवान्वयः, **तावत्कृते**ति **तावद्भिर्व**त्सविमोचनादिषड्धर्मैः **कृतः स्वदोषो** भगवत्यनीश्वरत्वादिबुद्धिः हासकृतभगवद**भिनिवेशेन** कृत्वा स्वरूपज्ञानात् तद्रहिता इत्यर्थः, वत्सविमोचनस्तेयभक्षणमर्कविभजनभाण्डभेदनकोपतोकानुक्रोशाः क्रमेण षड्गुणा ज्ञेयाः, ईश्वरो हीति विरुद्धधर्माश्रयत्वादैश्वर्यविरुद्धोपि धर्मोस्ति न तु तावतानीश्वरत्वमिति स्वसिद्धान्तो द्वितीयपक्षे **केचि**दित्यस्वारस्येन सूचितः, तादृशकृतितात्पर्यमाहुः **सर्वमोक्षे**ति, अत्र 'वत्सा'निति वारद्वयं, तत्र **क्षुधितान् वत्सान सर्वे**त्यादिप्रयोजनार्थं **मुञ्चति समयोल्लङ्घनं कृत्वा च वत्सान् दुःखिता मा भवन्त्विति विमुञ्चती**ति विभज्यान्वयः, **अमानी मानद** इति स्वयं मानरहितोन्यार्थमैश्वर्यविरुद्धस्यापि कार्यस्य कर्ता अन्येषां वत्सानां **मानदो** दुःखनिवारक इति वत्सविमोचनस्योक्तं तात्पर्यमनूदितं, **तासां दुर्बुद्धिमनीश्वरत्वबुद्धिमि**त्यर्थः, **बहिःस्थितानामि**ति गृहाद् **बहिर्गोष्ठे स्थितानामि**त्यर्थः, तत्र वत्सानां **क्षुत्कृतं** मोचनेन **नाशयति** गोपीनां **मोहकृतं** हासेन **नाशयती**ति विभागः, हासस्य मोहकृतदुःखनाशकत्वं व्युत्पादयन्ति **मोहोपी**ति, **उभयविधानि**ति क्षुत्कृतमोहकृतदुःखयुक्तानित्यर्थः, स्तेययोगान् विवृण्वन्ति **चौर्यं** इति, **नयती**ति **पूर्णजलायां** स्थाल्यां स्थितं नवनीतं नयतीत्यर्थः, **कल्पितैरि**त्यस्यार्थमाहुः **इतोपी**ति, **कुपितो भवती**ति अनुभावेनैव तस्य कश्चनोपद्रवो भवतीत्यर्थः, **अथ वेति बहिर्निर्गतं** त्वां कश्चित् दैत्यादि**र्मारयेत्** प्राणवियुक्तं कुर्यात्, **ताडयेद् वेति गृहस्थं** प्रति वदति शापं ददातीत्यर्थः, अयमदृष्टप्रकारकत्वादलौकिकः क्रोधः, **अन्तःस्थिता बालका** इति क्षुधिता इति शेषः, ते **त्वदपेक्षयापि** क्षुधिता इत्यर्थः, **तदीयेने**ति गोपसम्बन्धिना तद्बालेनेत्यर्थः, अन्तरङ्गेषु भगवदीयेषु क्षुधितेषु भक्तसम्बन्धिनः पुरुषस्य भोजनमनुचितमितिभावः ॥ २९ ॥ **हस्ताग्राह्ये** इत्यत्र **अन्तर्निहितवयुन** इत्यनेन रिक्तारिक्तज्ञानमुक्तं, **तद्विदि**त्यनेन तन्निष्ठदध्यादिविशेषज्ञान

मुक्तमितिविभेदः, इदं ज्ञानद्वयमपि वस्तुविषयकमेवेतिज्ञेयं, **अर्थतः प्रदीपभूतमिति** अयमर्थशब्दो वस्तुवाची, तथा च वस्तुत इत्यर्थः, **अर्था एव वेतिपक्षे** अर्थाः प्रदीपा यत्रेति बहुव्रीहिः, **स्वाङ्गमेव वेतिपक्षे अर्थार्थं प्रदीप** इति तत्पुरुषः, तथा च प्रथमपक्षवदन्यत्रापि रचयतीतिशेषो ज्ञेयः, **यस्येत्यनेन** तस्यैवार्थकथनं, **मन्दस्नानादाविति** अभ्यङ्गस्नानादावित्यर्थः, **पर्यवसानमाहेति** निर्गुणावस्थावेद्यं सुप्रतीकं रूपमाहेत्यर्थः ॥ ३० ॥ **एवं धार्ष्ट्यानीत्यत्र पतिवदिति** वस्तुग्रहणकाले पत्यादिवेशं स्वरूपे सम्पादयतीत्यर्थः, **देहवदिति** देहादीनामिव कार्यं प्रतीयते परं देहादिर्नास्तीत्यर्थः, **एवं क्रियारूपानित्यादिषु** गुणानितिशेषः, **उभयोर्भयनयने** इति भगवन्नयनस्थं भयं प्रथमव्याख्याने, गोपिकानयनस्थं द्वितीयं क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्याने, उभयोरनुवादोयं, **भगवान् मत्त** इत्यादिकं यशोदाबुद्ध्यनुवादकं, **मत्त** इति तसिलन्तम् ॥ ३१ ॥ **अग्रिमप्रकरणाभासमाहुः नामलीलयेति,** शुद्धसत्त्वस्य स्थापितत्वात् नन्दोपि वसुदेवः, अतो वसुदेवपदेन नन्दो वसुदेवश्च ज्ञेयः, **इयं त्विति** तुशब्देनान्यव्यावर्तनं, तत्र व्यावर्त्यस्वरूपमनेनोक्तमिति ज्ञेयं, तथा च नन्दस्य गर्गवाक्यात् माहात्म्यज्ञानमस्तीतिभावः, **न वदतीति** "नाहं भक्षितवानम्बे"तिवाक्योक्तमभोक्तृत्वरूपं स्वधर्मं न वदतीत्यर्थः, **नापि प्रदर्शयतीति** स्वान्तःस्थं जगद्रूपं स्वधर्ममितिशेषः, **स्वविषयक** इति स्वपदेन यशोदायाः स्वकीयत्वप्रकारकोध्यासः स्वस्मिन्नेव पर्यवस्यतीतिभावः, **स्वसमानेति** इयं हेतौ तृतीयेति टिप्पण्यनुसारेण ज्ञेयं, **निर्वतिष्यते** इति अन्तर्भावितण्यर्थात् कर्मणि लृट्, भगवता निर्वर्तिष्यते इत्यर्थः, **एकदेत्यत्र भिन्नविषयक** इति वत्समोचनादिरूप इत्यर्थः, अनेन भगवत्स्वरूपे दोषो न भवति, मृद्भक्षणेन तु स्वरूपे दोषो भवतीत्याहुः **समानाश्रयविषयकमिति, आक्रीडमाना** इत्याङुपसर्गस्यार्थमाहुः **समानभावेनेति, अत** इति रसजननाद्धेतोः **साम्ये स्फुरिते** स्वात्मनीव भगवत्यपि दोषं दृष्टवन्तः, तत्र दृष्टान्तः, यथा **विवेकिनां स्वस्मिन् दोषदर्शनं** तथैतेषां तावद्विवेकाभावात् सामान्यमात्रेण **भगवत्यपि** दोषदर्शनमित्यर्थः, **रामाद्या इत्युक्तमिति राम** आद्यो येषामित्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा रामविजातीया निरुद्धत्वधर्मवन्त इत्युक्तमित्यर्थः, तर्हि रामस्य कथं दोषदृष्टिरित्यत आहुः **स हीति,** बालानां मुख्यनिरोधाभावादेवम्बुद्धिः, रामस्य तु स्नेहादिति, **पुष्टानिति** ज्ञात्वेति शेषः, **स्वचरणसम्बन्धीति** ददद् भगवान् जातस्तदा बालकैस्तथा कल्पितमित्यर्थः, तथा च **दददित्यस्याग्रे** जातस्तदेतिपदद्वयं शेषभूतं ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

(४) श्रीमदीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

हस्ताग्राह्य इत्यस्य व्याख्याने, **पञ्चविधं ज्ञानमिति** चौर्यकालज्ञानं **वस्तुज्ञानं** अल्पासाध्यज्ञानं अत्यन्तासाध्यज्ञानं अन्धकारस्थापितपदार्थग्रहणसाधनज्ञानं चेति **पञ्चविधं**, तत्र "काले **गोप्यो** यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ता" इत्यनेन **कालज्ञानं**, "अन्तर्निहितवयुन" इत्यनेन वस्तुज्ञानं, "छिद्रं ह्यन्त"रिति अल्पासाध्यज्ञानं, "हस्ताग्राह्य" इत्यनेन अत्यन्तासाध्यज्ञानं ज्ञेयम् ॥ ३० ॥ **व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छदित्यस्य** विवृतौ **नामलीलया वसुदेवः कृतार्थ एव जात** इति इह **वसुदेवशब्देन** नन्दो ग्राह्यः वसूनां देवो वसुदेव इति व्युत्पत्तेः, 'द्रोणो वसूनां प्रवर" इति वाक्येन द्रोणस्य वसुश्रेष्ठत्वात् द्रोणाभिन्नस्य श्रीनन्दस्य वसुदेवत्वात् ॥ ३१ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एकदा क्रीडमानास्ते इत्यादेकादशश्लोकानां वाक्यार्थानाहु**र्दोष** इत्यादि का० ५७३ ५९३। "एकदा क्रीडमानास्ते" इति श्लोके भगवति मृद्भक्षणात्मक**दोषदृष्टिः,** "सा गृहीत्वे"त्यत्र दोषनिवृत्त्यर्थं **यत्नः,** "कस्मान् मृद"मिति यशोदाया **वाक्यं,** "नाहं भक्षितवा"निति भगवद्वाक्यं **तस्य** यशोदावाक्यस्य **नुत्** अप्रामाण्यसाधकमित्यर्थः, "यद्येवं तर्हि व्यादेही"त्यत्र **तत्साधिका** स्ववाक्यप्रामाण्यसाधिका मुखव्यादानरूपा **विष्णोः कृतिः,** "सा तत्र ददृशे विश्व"मित्यत्र **ज्ञानं पूर्वनिवर्तकं** पूर्वोत्पन्नस्य भगवति दोषदर्शनस्य निवर्तकं, "ज्योतिश्चक्र"मिति "एतद्विचित्र"मिति च द्वाभ्यां **विषयाणां वर्णनं,** "एतद्विचित्र"मित्यत्रैव **भयमपि,** "किं स्वप्न" इति श्लोकपूर्वार्धे भयनिवृत्त्यर्थं **पूर्वपक्षयुक्तयः,** "अथो अमुष्यै वे"त्युत्तरार्धे **समाधानं** "अथो यथाव"दिति द्वाभ्यां **शरणागतिः** ॥ ५९३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदेव दर्शयति—'वत्सान्' इति सार्धद्वाभ्याम्। भो यशोदे! तवायं पुत्रः अस्माकं वत्सान् मुञ्चन् भवति। "युष्माभिर्मोचनीया वत्सास्तेन मोचिताश्चेत् का हानिः?" तत्राहुः—असमये इति। अदोहकाले इत्यर्थः। तेन सर्वं दुग्धं वत्सा एव पिबन्ति, ततश्च महती हानिर्भवतीति भावः। ननु 'तर्हि युष्माभिः कुतो न तत्प्रतिरोधः क्रियते?' तत्राहुः—क्वचिदिति। अनवधानदशायामित्यर्थः। 'वत्सविमोचनेन तस्य किं प्रयोजनम्?' इत्यपेक्षायामाहुः—अथेति। वत्समोचनानन्तरं वत्सान् परावर्तयितुं गृहान्निःसृत्य जनेषु धावत्सु सत्सु, शून्यान् गृहान् प्रविश्यास्माकं दधि पयः अत्ति। 'तत्त्वयं भीषयितव्य' इति चेत्तत्राहुः—क्रोशसञ्जातहास इति। 'अयं दधिचोरः कृष्ण आगतः, ताड्यताम् नह्यताम्' इति क्रोशे कृते सति सञ्जातहासो

भवति, नतु बिभेतीत्यर्थः। 'एवं चेत्तदा किञ्चिद्दत्त्वा कुतो न समाधीयते ?' तत्राहुः—कल्पितैः रचितैः स्तेययोगैश्चौर्योपायैः स्तेयं चौर्यार्जितमेव स्वादु यथा स्यात्तथा अत्ति, नतु दत्तम्। त्वयाऽभीक्ष्णं प्रेम्णा भोजितस्य बुभुक्षाभावात् केवलं चौर्यं एव तस्याभिनिवेशः, स तु न युक्तः। 'भवत्वेवम्, तथाप्येकस्य तस्य भक्षणे युष्माकं का महती हानिः ?' तत्राहुः—भोक्ष्यन् भोक्ष्यमाणः प्रथमतो मर्कान् मर्कटान् प्रति विभजति विभज्य ददाति, तेषां मध्ये तृप्ततया स कश्चित् मर्कटो नात्ति चेत्तर्हि विमनाः सन् दध्यादिपूर्णं भाण्डं भिनत्तीति। 'एवं चेत्तर्हि त्रिचतुःदिनानि स्वगृहे दध्यादि न स्थापनीयम्, तदलाभे पुनः कदापि युष्माकं गृहं स न गमिष्यति' इति चेत्तत्राहुः—द्रव्यस्य दध्यादेरलाभे सति स 'अहमेतेषां गृहानेव धक्ष्यामि' इति सर्वगृहान् प्रति कुपितः सन् तोकान् प्रसुप्तान् बालानुपक्रोश्य नखाघातादिना रोदयित्वा यातीति। गृहदाहादिभयेन दध्याद्यवश्यं स्थाप्यते इति भावः॥ २९॥ 'कल्पितैः स्तेययोगैः' इति यदुक्तं तत्र के ते स्तेययोगा इत्यपेक्षायामाहुः—हस्ताग्राह्ये इति। दध्यादिपदार्थे उत्तुङ्गशिक्यस्थत्वेन हस्ताग्राह्ये सति पीठकं संस्थाप्य तदुपरिउलूखलमारोप्य, आदिपदेन तदुपरि बालमारोप्य तत्स्कन्धारोहणादिना विधिं तदवतारणोपायं रचयति। यदि च तथाप्यवतारयितुं न शक्नोति, तदा लकुटशलाकादिना शिक्यस्थेषु भाण्डेषु छिद्रं रचयति। आश्चर्यमेव तस्योपायज्ञानमित्याहुः—तद्विदिति। तच्छिद्रं कर्तुं छिद्रेण धारां पातयितुं धारया च स्वस्य बालानां च व्यात्तं मुखं पूरयितुं वेत्तीति तथेत्यर्थः। 'न च किञ्चिदज्ञातमस्ति' इत्याहुः—अन्तर्गृहभाण्डादिषु निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य सः। 'तर्ह्यन्धकारे दध्यादि स्थापनीयम्' इति चेत्तत्राहुः—ध्वान्तेति। ध्वान्तयुक्त आगारे गृहे, धृता मणिगणा यस्मिंस्तत् स्वाङ्गमेव अर्थस्य दध्यादिपदार्थस्य प्रदीप प्रकाशकं रचयति। 'एवं चेत्तर्हि सावधानतया स्थेयम्, यथैवं न कुर्यात्' इति चेत्तत्राहुः—काले इति। यर्हि यस्मिन् काले गोप्यो गृहकार्येषु सुव्यग्रचित्ता भवन्ति तदैवमुपद्रवं करोति। 'तथा च गृहकार्याणामावश्यकत्वात् कथं सर्वदा सावधानता स्यात्' इति भावः॥ ३०॥ किञ्च उशति देवार्चनपाकाद्यर्थं सुसंस्कृते कमनीये वास्तौ गृहे मेहनादीनि पुरीषोत्सर्गमूत्रादीनि कुरुते। एवंविधानि बहूनि धाष्ट्र्यानि प्रागल्भ्यानि कुरुते। एवं स्तेयोपायैर्विरचिता कृतिः कर्म येन सः त्वत्समीपे तु सुप्रतीकः साधुर्यथा तथास्ते। एवं गोपीकृतमुपालम्भमुक्त्वा शुक आह—इत्थमिति। सभये नयने यस्मिंस्तच्च तच्छ्रीयुक्तं च यत् श्रीकृष्णस्य मुखं तत् आलोकिनीभिः पश्यन्तीभिः स्त्रीभिः इत्थं व्याख्यातः कथितोऽर्थः स्वगृहे कृतः कृष्णोपद्रवो यस्याः सा यशोदा तं सुतमुपालब्धुं आक्षेप्तुं नैवैच्छत्, किन्त्वाक्षेपस्य भयजननार्थत्वात्तद्विनैव तमति भीतं दृष्ट्वा पुनर्भवजनकवचनस्य तदस्वास्थ्यहेतुत्वेन अनौचित्यं मत्वा प्रत्युत जातभयनिवृत्त्यर्थं प्रहसितमुख्येव जाता। हीत्यवधारणे। कदाचिदपराधान्तरे उपालभत, तदा तु महदाश्चर्यमभूत्' इति कथयन् लीलान्तरमाह—एकदेति। ते प्रसिद्धाः क्रीडमाना रामाद्या गोपदारकाः गोपबालका एकदा आगत्य 'कृष्णो मृदं कोमलां भक्षितवान्' इति मात्रे यशोदायै न्यवेदयन् विज्ञापयामासुरित्यन्वयः॥ ३२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

वत्सानिति। कञ्चित् अस्माकमनवधानदशायाम् असमये अदोहकाले वत्सान्मुञ्चन् भवति। तेन वत्सा एव पिबन्तीति भावः। यद्वा। शून्ये गृहे चौर्यं सुकरमिति गृहजनान्निःसारयितुमसमय एव वत्सान्मुञ्चति। ततो वत्सान् परावर्त्तयितुं गृहजनेषु गतेषु दधि चोरयति ततः पलायते। अन्यस्मिन् दिने अये चौर इति क्रोशे जनैराक्रोशे कृते सञ्जातहासो भवति नतु बिभेतीत्यर्थः। अथ कल्पितैः स्तेययोगैः चौर्योपायैरर्जितं स्वादु दधि पयश्च अत्ति। चोरितमेवास्मै दध्यादि रोचत इत्यर्थः। तथा भोक्ष्यन् भोक्ष्यमाणः। शताऽऽर्षः। प्रथमतो मर्कान् मर्कटान् प्रतिविभजति विभज्य ददाति तेषां मध्ये तृप्ततया स कश्चिन्मर्कटो नात्ति चेत्तर्हि विमनाः सन् दध्यादिपूर्णं भाण्डं भिनत्तीति द्रव्यस्य दध्यादेरलाभे सति सः गृहाय कुपितः गृहान् धक्ष्यामि इति कथयन् याति। यद्वा। गृहाः गृहस्थाः तेभ्यः कुपितः सन् तोकान् प्रसुप्तान् बालानुपक्रोश्य नखाघातादिना रोदयित्वा यातीति॥ २९॥ हस्ताग्राह्य इति। दध्यादिपदार्थे उत्तुङ्गशिक्यस्थत्वेन हस्ताग्राह्ये सति पीठकोलूखलाद्यैः पीठकं संस्थाप्य तदुपर्युलूखलमारोप्य आदिपदेन तदुपरि बालमारोप्य तत्स्कन्धारोहणादिना विधिं तदवतारणोपायं रचयति। यदि च तथाप्यवतारयितुं न शक्नोति तदा अन्तर्गृहभाण्डादिषु निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य सः तद्वित् छिद्रादिकरणकुशलः स शलाकादिना शिक्यस्थेषु भाण्डेषु धारापातनार्थं छिद्रं रचयति। तेनान्यान्पाययति स्वयं च पिबतीति। ध्वान्तयुक्ते अगारे तु धृता मणिगणा यस्मिंस्तत्स्वाङ्गमेवार्थस्य दध्यादिपदार्थस्य प्रदीपं प्रकाशकं रचयति। यर्हि यस्मिन् काले गोप्यो गृहकार्येषु सुव्यग्रचित्ता भवन्ति तदैवमुपद्रवं करोति॥ ३०॥ एवमिति॥ हे उशति कमनीये ! यशोदे एवं रे चौर इत्याक्षिप्तः संस्त्वमेव चौर इत्यादीनि बहूनि धाष्ट्र्यानि कुरुते। यद्वा। उशति कमनीये सुसंस्कृते वास्तौ गृहे मेहनादीनि मूत्रोत्सर्गादीनि कुरुते। आदिना उत्तरीयाकर्षणपादप्रहारादीनि। एवंविधानि बहूनि धाष्ट्र्यानि प्रागल्भ्यानि कुरुते। एवं स्तेयोपायैर्विरचिता कृतिः कर्म येन सः त्वत्समीपे तु सुप्रतीकः साधुर्यथा तथाऽऽस्ते। सभये नयने यस्मिंस्तच्च तच्छ्रीयुक्तं च यच्छ्रीकृष्णस्य मुखं तदालोकिनीभिः पश्यन्तीभिः स्त्रीभिः एतेन गोपीभिर्यशोदामानन्दयितुमेव कृष्णचापलं कथितं नतु कोपयितुम्। इत्थं व्याख्यातः

कथितोऽर्थः स्वगृहे कृतः कृष्णोपद्रवो यस्याः सा यशोदा बालप्रागल्भ्यश्रवणात् प्रहसिनमुखी सती तं सुतमुपालब्धुम् आक्षेप्तुं नैवैच्छन् इच्छामपि नाकरोत्। किंतु वत्स! एतास्विमं व्यवहारं कथं करोषीति सलालनमुवाचेत्याशयः ॥ ३१ ॥ अपराध उपालम्भे त्वाश्चर्यमभूदित्याह—एकदेति ॥ ते क्रोडमानाः। कर्मव्यतिहारे शानच्। रामाद्या गोपानां दारका बालाः एकदा आगत्य कृष्णो मृदं भक्षितवान् इति मात्रे यशोदायै न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तदेव दर्शयति वशानिति। असमये दोहनाऽकाले क्रोशे कृते संजातहासः कल्पितैः स्तेययोगैः स्तेयोपायैः स्तेयं चौर्य-लब्धं न तु दत्तं दधि पयः क्षीरं च तत्रापि स्वादु चेत्तर्हि अति अथ अन्यथा मर्कान् भोक्ष्यन् भोजनं कारयिष्यन् विभजति विभज्य यच्छति भुक्त्वाते सर्वे तृप्ताः अतस्तेषां मध्ये कोऽपिनात्ति चेत्तर्हि भांडं दधिदुग्धपात्रं सः भिनत्ति कचित् द्रव्यालाभे सति गृहाय कुपितः गृहोपरि क्रुद्धः सन् इदं गेहं दग्धुमर्हमित्युक्त्वा तत्र सुप्तान् तोकान् उपक्रोश्य रोदयित्वा याति ॥२९॥ उक्तान् स्तेययोगान् दर्शयंत्य ऊचुः हस्तेति। हस्ताभ्यामग्राह्येदध्यादिभांडे सति एकैकस्यै परिनिक्षितैः पीठकोलूखलाद्यैः विधिं दध्यादिग्रहणोपायं रचयति ततोऽप्युच्चशिक्यस्थभांडेषु अंतिर्निहितानां मध्यनिक्षिप्तानां दध्यादीनां वयुनं ज्ञानं यस्य सः छिद्रं रचयति ननु छिद्र-रचनायां भांडनाशश्चेत्तत्राहुः तद्वित् छिद्ररचनादिक्रियायुक्तिज्ञः ननु तर्हि भांडानां तमसि स्थानं कुरुध्वमिति चेत्तत्राहुः ध्वांतागारे अंधकारसंयुक्तगेहे स्थापिते भांडे धृता मणिगणा येन तत् अत एव अर्थप्रदीपकं वस्तुप्रकाशकं स्वांगं स्वशरीरं यद्वा मणिगणा न धृताश्चेत्तर्हि स्वांगमेव अर्थ प्रदीपकंरचयति ननु तर्हि सावधानतया गृहस्थिताः सत्यो रक्षंत्विति चेत्तत्राहुः यर्हि गृहकृत्येषु अति-व्यग्रचित्ताः भवेम तस्मिनकाले एवं करोति ॥३०॥ ननु तर्हि यूयमाक्रोशं कुरुध्वमिति चेत्तत्राहुः एवमिति। उशति हे कमनीये यशोदे एवं रेरे तस्कर इत्यस्माभिरुक्तः सन् धाष्ट्यानित्वमेव तस्करो अहं तु गृहाधिपतिरस्मीत्यादीनि वचनानि कुरुते अथवा उशति वास्तौ समार्जनोपलेपादिना शोभमाने गेहे मेहनादीनि विण्मूत्रोत्सर्जनादीनि करोति कस्मिंश्चित्समये तु स्तेयोपायैः चौर्योद्योगैः विरचिताकृतिर्दध्यादिग्रहणार्थं कर्म येन सः। अधुना सुप्रतीकः त्वत्समीपेऽसौ साधुवदास्ते। सभये नयने नेत्रे यस्मिन् तच्च तत् श्रीः शोभा तयाहि सहितं मुखं च तदालोकिनीभिः स्त्रीभिः इत्थं व्याख्याताः अर्थाः सुतक्रियाकलापाः यस्याः सा यशोदा उपालब्धुं तिरस्कर्त्तुं नैच्छत् ॥ ३१ ॥ गोपानां दारकाः बालकाः ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदेवाह वत्सानित्यादिना सार्द्धद्वयेन ॥ वत्सानिति ॥ हे यशोदे, एषः त्वत्सुतः, कचित् कदाचित्, असमये अप्राप्त-दोहनकाले, वत्सान् मुञ्चन् वत्सान् मुञ्चतीत्यर्थः। तह्यक्रुश्य निवार्यतां तत्राह। क्रोशेन जनानामाक्रोशेन हेतुना, रोषा-स्वीकारपूर्वं संजातो हासो यस्य सः, तिष्ठ वत्सान्विमुच्य क गच्छसीत्याक्रुष्टः प्रत्युत हसतीत्यर्थः। किं च कल्पितैः स्तेययोगैः स्तेयोपायैः, स्तेयं चौर्यार्जितं न तु दत्तं, तत्रापि, स्वादु नेतरत, इत्थंभूतं, दधि, पयश्च, अथ कात्स्न्येन, अत्ति खादति। नविदमेव भवतीनां वचनमघटमानमयं कृत्स्नमत्तीति चेदयं सुखेनाश्नातु, किं तु मर्कान् विभज्य खादयत्येतदुच्यत इत्याहुः। स्वयमत्त्वा तृप्तः सन्, मर्कान् मर्कटान् तत्तुल्यान् बालान्वा, भोक्ष्यन् भोजयिष्यन् सन्, विभजति तेभ्यो विभागशो ददाति। तेषां मध्ये कोऽपि, स मर्कटः, न अत्ति चेत्, तर्हि अयं त्वत्पुत्रः, भाण्डं दध्याद्याधारभूतममत्रं, भिनत्ति। पाठान्तरे मर्कं नवनीतं, 'मर्कं तु परिसारः स्यान्नवनीतं प्रचक्षते' इत्यभिधानात्। भोक्ष्यन्, विभजति। सखिभ्य इति शेषः। द्रव्यालाभे प्रच्छन्ननिहिततया कचिन्नवनीतादिपदार्थाप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः। स्वगृहकुपितोऽस्मद्गृहेभ्यः धक्ष्यामीति कुपितः सन्, स गृहकुपित इति पाठे, स कृष्णः, गृहा गृहिणस्तेभ्यः कुपितः, यद्वा गृहाय धक्ष्यामीति कुपितः सन्, तोकान् पर्यङ्कादिषु सुप्तानि अपत्यानि, उपक्रोश्य रोदयित्वा, याति ॥ २९ ॥ कल्पितैः स्तेययोगैरिति यदुक्तं तत् प्रपञ्चयति ॥ हस्ताग्राह्य इति ॥ उच्चस्थे नवनीतादिभाण्डे इति शेषः। हस्ताग्राह्ये हस्तेन ग्रहीतुमशक्ये सति, पीठकोलूखलाद्यैः, विधिं तद्ग्रहणसाधनविधानं, रचयति। पीठकाः पट्टकाः, उलूखला भूम्यखाताः कण्डन्यः, आदिशब्देन पक्वेष्टकादेरुपर्युपर्यारोपणं, शिक्यभाण्डेषु तुङ्गशिक्यस्थामत्रेषु, अन्तर्निहिते दध्यादौ वयुनं यस्य तथाभूतः, छिद्रं रचयति, शिलोत्क्षेपणादिभिः रन्ध्रं करोति हि। तद्वित् छिद्ररचनादिविदपि भवति। ध्वान्तागारे अन्धकारावृतगृहे, धृतमणिगणं दिव्यमणिभूषितं, अत एव, अर्थप्रदीपं स्वार्थप्रकाशकं, स्वाङ्गं स्वशरीरं, रचयति संनिधापयति। कस्मिन् कालेऽयं कृष्ण एवं करोतीत्याकाङ्क्षायां तं कालमाह। यर्हि काले, यस्मिन् समये इत्यर्थः। गोप्यः, गृहकृत्येषु गृहकर्मसु, सुव्यग्रचित्ताः गृहकर्मातिप्रवणचित्ताः भवन्ति, तस्मिन्काले एवं करोति इत्यर्थः ॥ ३० ॥ एवमिति ॥ अस्मिन्नेवं कुर्वति सति, चौरोऽयमित्युक्तश्चेत्, धाष्ट्यानि प्रागल्भ्यानि, उशति जल्पति। त्वमेव चौरोऽहमेव गृहस्वा-मीत्यादीनि प्रगल्भवचनानि वदतीत्यर्थः। वास्तौ स्वर्चिते गृहे, मेहनादीनि मूत्रपुरीषोत्सर्गादीनि, कुरुते। यद्वा हे उशति कमनीये यशोदे इति संबोधनम्। यद्वा, उशतीति वास्तुविशेषणम्। एवं स्तेयोपायैः, विरचिता कृतिः कर्म येन तथाभूतः सन्नपि, त्वत्समीपे, यथा सुप्रतीकः साधुः, तद्वत आस्ते। इत्थमेवं, सभये नयने यस्मिंस्तच्च तत् श्रीयुक्तं मुखं श्रीकृष्णास्यं तदालो-

१३१

किनीभिः स्त्रीभिर्गोपिकाभिः, व्याख्याताः प्रख्यापिताः अर्थाश्चौर्यादिव्यापारा यस्यास्तथाभूता सत्यपि, प्रहसितं मुखं यस्याः सा यशोदा, उपालब्धुं पुत्रमाक्षेप्तुं, न ऐच्छत् हि ॥ ३१ ॥ कदाचिदपराधान्तरे सति यदोपालभत तदा महदाश्चर्यमभूदिति कथयन्नाह ॥ एकदेति ॥ एकदा एकस्मिन् समये, क्रीडमानाः रामाद्याः, ते गोपदारकाः, कृष्णः, मृदं भक्षितवान् इत्येवं, मात्रे कृष्णमात्रे यशोदायै, न्यवेदयन् निवेदितवन्तः ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वत्सानिति : १०.८.२९.

अक्रीडोऽप्यहमस्मि यद्यपि तथाप्यालम्ब्य सद्गोकुले स्वानन्दाय सतां सदा सहचरैः सत्त्वादिभिः सङ्गतिम् ।
स्वल्पानेकगवीनिबन्धनतया नानारसास्वादनैः, योगैर्वा विधिभिश्चरेयमिति तत्क्रीडादिनाऽबोधयत् ॥ ३५ ॥
वत्सोन्मोचस्तेययोग तदर्थविधिसत्पदैः । उक्तोऽर्थोऽबोधि विभुना गोप्यानन्दकृतोद्यताम् ॥ ३६ ॥ (युग्मम्)

वृत्तीः प्रतार्य विषयान्तरवर्तमानाः स्वैरं भवे विहरणीयमिहात्मसद्भिः ।
मन्ये हरिः किमभिधातुमिति प्रतार्य गोपीर्बुभोज नवनीत-पयो-दधीनि ॥ ३७ ॥
परायत्तं भोज्यं न खलु सुखदं भूर्यपि भवेन्निजायत्तं तच्चेदतुलसुखदं स्वल्पमपि हि ।
अगृह्णन्नह्वायार्पितमपि पयस्ताभिरुचितं तदेतद् यत्स्वैरं स्वयमपहृतं तद्धि बुभुजे ॥ ३८ ॥
असाक्षित्वदोषो जगत्साक्षिणो मे न जातु स्पृशत्वेष इत्याशयेन ।
दधि-क्षीर-हैयङ्गवीनानि दत्वा शिशुभ्यो जजक्ष स्वयं वासुदेवः ॥ ३९ ॥
केवलाघः केवलादी भवतीति श्रुतिं स्मरन् । युक्तमेवाघहर्ताऽसौ दत्वाऽन्येभ्यो जघास तत् ॥ ४० ॥
वन्यैरेव फलैः स्वयत्नकलितैराकल्प्य वृत्तिं निजां सेवा मे वनवासिनोऽपि विहिता प्रागेभिरव्याजतः ।
इत्थं तत्प्लवगोपकार-निकरानालोचयन्नच्युतः प्रादाद्वेतनमेव किं दधिपयोव्याजात् स तेभ्यस्तदा ॥ ४१ ॥
दाता भोक्ता भोजयिता गोकुलस्थो यदा तदा । भवतीश इति क्रीडाव्याजाच्छ्रुतिभिरीरितम् ॥ ४२ ॥
आसीद् यस्य पदाम्बु शङ्करशिरोवन्द्यं च वक्षो रमास्पृह्यं रूपमृषीन्द्रसेव्यमवनावाम्नायगम्यश्च यः ।
स श्रीमान् व्रजवल्लवीभिरभितो नीतोऽपमानं यतोमुख्यानादरहेतवे ऽतिसहवासायाऽस्तु तस्मै न नः ॥ ४३ ॥
यशोदयाभिधाऽन्वर्था यया सन्धार्यतेऽनिशम् । अनुपालम्भिनी वृत्तिस्तस्याः सिद्धाऽपदानके ॥ ४४ ॥
क्रीडावृत्तिषु गोकुले विहरता कार्या यथाशं तथा भूयो बुद्धिमता कचिन्न भविता क्षुब्धः प्रमाता तथा ।
इत्थं शुच्युपदेष्टुमेव भगवान्नित्यप्रतृप्तोऽपि सन् यद्गोपीष्वकरोदनेकचरितं संरक्ष्य मातुः कृपाम् ॥ ४५ ॥

एकदेति : १०.८.३२.

तत्तादृग्व्रजयोषिदुक्तचरितव्याख्योर्ध्वमृद्भक्षणोल्लेखादेष मुनेर्विभाति च विभोस्तत्कर्तुरप्याशयः ।
साङ्गं कर्म रजःस्वरूपफलकं व्यङ्गं यदि स्यात्तदा धूलीचर्वणवद्भवेद् विफलमित्यूह्या हि कर्मस्थितिः ॥ ४६ ॥
अस्मान् गृहीत्वैव रसोपभुक्तिमेतावदीशो विदधेऽधुना तु । अस्मान् प्रतार्य स्वयमातनोति तद्वक्तुमस्या इति युक्तमूचुः ॥ ४७ ॥
दुर्भारहरणकार्यं कार्यं तद्रूपरागहरणेन । विध्युक्तमीदृगवनेर्नेदृगिति व्यङ्ग्यधीर्जगौ रामः ॥ ४८ ॥

इमामेव भूमिं समालम्ब्य कार्यं विधेयं विधेः स्वेष्टदं स्पष्टमेतत् ।
विधातुं विधातुः पिता भूषितं तद्रजः सद्द्विजाय स्वमुख्याय चादात् ॥ ४९ ॥
स्वगेहगतमृत्तिकादनमसह्यमेषामभून् मया यदि परालयाद्धृतमिमे सहेरन् कथम् ।
इति स्वकृततादृशाचरितगुप्तये श्रीपतिर्व्यधान्मृदशनं पुरः किमु तदीरितोहेक्षणः ॥ ५० ॥
स्निग्धाज्यादिपदार्थभक्षणकृतः कुर्वन्ति तत्स्निग्धताऽशेषोन्मार्जनहेतवे निजकरे मृल्लेपनं सर्वतः ।
आलोच्यैवमशिष्टशिष्टसरणिं श्रीशोऽपि तद्भक्षणव्याजाद् विश्वमुखस्तदेव बहुधा सम्पादयामास किम् ॥ ५१ ॥
पुरा विषमधायि यत्प्रबलपूतनास्तन्यगं विधेयमिह तद्विषं भवति नष्टवीर्यं यथा ।
शिशुश्रियमुपाददे किमु विभुर्मृदंशादनात् विषस्य विषमौषधं भवति यद्भिषग्भाषितम् ॥ ५२ ॥
यत्स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद्योगिनां प्राप्तं स्यात्किमु तद्रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम् ।
इत्थं भूरि निजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन् मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते ॥ ५३ ॥
नानाविधं बहुरजोगुणकार्यमग्रे कर्तव्यमस्ति मम चेति विचिन्त्य कृष्णः ।
मृत्स्नानुभक्षणमिषात्प्रकृतोपयुक्तं प्रायो रजोगुणसुसंग्रहणं चकार ॥ ५४ ॥
रसेति लसिताऽभिख्या वर्ततेऽस्या भुवस्ततः । जिघृक्षुस्तद्रसास्वादं किमीशोऽधान्मृदोऽदनम् ॥ ५५ ॥

विश्रृङ्खलविहारिणो मदवमानचेष्टाजुषो भवन्ति शिशवोऽखिला अपि तदत्र मत्क्रीडनम्।
क्षमांशविधृतिं विना नहि भवेत्स्वभक्तेष्विति प्रभुः किमु चकार तत्कृतितया क्षमाधारणम्॥ ५६॥

स्याद्विश्वसृष्टिर्न रजोगुणं विनेत्यालोच्य सम्प्रत्यपि विश्वसर्जनम्।
कर्तव्यमस्तीत्यखिलेश्वरोऽप्यसौ तत्सङ्ग्रहं तत्कृतितश्चकार किम्॥ ५७॥

मय्येव सर्वार्पितभावना ये मान्या हि ते मे त्विति किं नु वाच्यम्।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्यादित्यच्युतोऽधात्स्फुटमात्तरेणुः॥ ५८॥

या मामनन्यशरणा शरणं प्रयाता यद्भूरिभारहरणाय धृतावतारः।
तस्यामहं भुवि कथं सदयोपरागी स्यामित्यबोधि विपुलाऽल्पपरागधृत्या॥ ५९॥

यन्निष्कामतया तपो महदिमे कुर्वन्ति तेनारयः कंसाद्या भृशमुन्मदाः समभवन्नेवं विचिन्त्याऽच्युतः।
सङ्कल्पे रिपुघातसुष्ठुफलके योक्तुं तदा तान् द्विजान् मृत्स्नाभक्षणकैतवादिह रजोयुक्तानकार्षीत् किमु॥ ६०॥

भक्तः स्वरूपमिव भक्तजनस्वरूपं वाञ्छामि भूर्यहमपीति जनावगत्यै।
प्राग्गोकुले त्वधिकरेणुमुखः सहस्ती जातः स्वतोऽप्यधिक रेणुमुखस्तदाऽऽसीत्॥ ६१॥

महीसुरेभ्यो निखिला धरा पुरा मयाऽर्पिता यत्किल रेणुका भुवा।
समर्पणीया ह्यधुनापि सांशतस्त्विति द्विजेभ्योऽदिशदंशतः स ताम्॥ ६२॥

समदृष्टेर्विशेषोऽस्ति नोत्तमाधमवस्तुनि। व्यञ्जयन्निति स श्रीशो गव्यवन्मृदमाददे॥ ६३॥

कृष्णप्रिया

अजी नन्दरानी आप के लालन् को रोकिए। सुनोरी आप के लालन् असमय में ही बछड़ों को खोल देते हैं, यदि हम पुकारती है कि पकड़ो पकड़ो तब तो माँ लालन हँस देते हैं और उनकी हँसी देखकर हमें हँसी आ जाती है। चोरी करने के जितने कल्पित तरीके हैं उनसे चुराकर दही-दूध खा लेते हैं और खाने के पहले तो बन्दरों को बाँट देते हैं फिर कोई बन्दर खाने वाला नहीं बचा रहता तब मटके फोड़ देते हैं। मैया, यदि किसी के घर कोई चीज घर में न मिल सका तो वह घरवालों के प्रति नाराज होकर सोयें हुए बालकों को रुलाकर भाग खड़े रहते है और कहते हैं तेरो घर जल जाय आज हमारी बाहिनी को सुगन बिगड़ गयो॥ २९॥ कभी किसी के घर कोई चीज ऊपर छींके पर रक्खी जाती है तो पीढ़े और ऊखल पर चढ़कर पाने के लिए प्रयत्न करते हैं। इतना करने पर जब वह माँट तक नहीं पहुँच पाते तब वह उनमें छेद कर डालते हैं। उनको यह भी ज्ञान है इस मटकी में दही दूध है और इसमें कुछ भी नहीं। जब घर में अन्धेरा घिरा रहता है तब नानाविध मणियों को पहने हुए अपने श्री अङ्ग ही दही दूध आदि पदार्थों के प्रकाशक बन जाते हैं। यदि माँ, आप कहें, तुम्हें नेक निगाह रक्खी रहो तब सुनियें लालन की सब शरारते तब शुरू होती है, जब हम सब गोपियाँ अपने अपने घरेलू कार्यों में उलझी रहती है॥ ३०॥ अरी सुंदरी सुनियें, आपके लालन की धृष्टता की क्या कहानी कही जाय, जब वह कभी पकड़ जाते हैं और अरे चोर खड़े रहो ऐसा कुछ कहा जाय तो तब बड़ी प्रगल्भता से सुनाते हैं कि चोर तो तुम सब हो घर के हम मालिक हैं ऐसी कईविध धृष्टता करते हैं कभी डाँट डपट की जाती है, तब हमारे लिपे पुते स्थान में या देहरी में मूत्रादि करके बिगाड़ देते हैं, चोरी करने के जितने तरीके हैं उनसे यह सब कराते हैं। यदि आप के पास कुछ शिकायत की जाती है तब तो ऐसा मुँह बना लेते हैं मानो यह बड़े सयाने है और कुछ जानते ही नहीं। मानो गोपियों के उलाहनों को सुनकर लालन डर गयें हैं यह कृपासिन्धु श्रीबालकृष्ण की आँखों से स्पष्ट प्रतीत होने लगा यही मुख छटा को देखने के लिए गोपियाँ आयी थी श्यामसुन्दर की इस मुख छटा को देख अघायी नहीं और श्रीयशोदाजी ने भी मानो अपने जीवन का फल पा लिया, माताने कृष्ण को न डराया न धमकाया न उलाहना दिया लेकिन प्यार से लालन के सामने देखा और कहा बेटा ऐसा क्यों करते हो॥ ३१॥ एक बार बलदाऊ आदि ग्वालबाल खेलते खेलते श्रीयशोदाजी के पास पहुँचे और यशोदाजी को कहने लगे कि अम्मा! लालनने आज तो मिट्टी खा डाली है॥ ३२॥

सा गृहीत्वा करे [1]पुत्रमुपालभ्य हितैषिणी । यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥ ३३ ॥

यशोदोवाच[2]

[3]कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः । वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥ ३४ ॥

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः । यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥ ३५ ॥

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः । व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हितैषिणी सा यशोदा भयसम्भ्रान्तं प्रेक्षणाक्षमं पुत्रं करे गृहीत्वा उपालभ्य अभाषत ॥ ३३ ॥ हे अदान्तात्मन् रहः भवान् कस्मात् मृदं भक्षितवान् तावकाः एते कुमाराः वदन्ति ते अयम् अग्रजः अपि (वदति) ॥ ३४ ॥ अम्ब अहं न भक्षितवान् सर्वे मिथ्याभिशंसिनः यदि सत्यगिरः तर्हि मे मुखं समक्षं पश्य ॥ ३५ ॥ यदि एवं तर्हि व्यादेही इत्युक्तः सः भगवान् हरिः अव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः व्यादत्त ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

उपालभ्य निर्भर्त्स्य । भयेन संभ्रांतप्रेक्षणे चपलनिरीक्षणे अक्षिणी यस्य तम् ॥ ३३ ॥ अदांतात्मन् चपलगात्र । रह एकांते ॥३४॥ नाहं भक्षितवानिति । न हि बाह्यं किंचिन्मया भक्ष्यते मत्कुक्षावादावेव सर्वमस्तीति भावः । समक्षं प्रत्यक्षम् ॥३५॥ यद्येवं तर्हि व्यादेहि मुखं प्रसारयेति । व्यादत्त प्रसारितवान् ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

हितैषिणी मृदशनेन कश्चिद्रोगो माभूदिति हेतोस्ततो निवारयंतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ अग्रजो बलदेवः ॥ ३४ ॥ इति भाव इति । भक्षणं तु बाह्यस्थवस्तुनो मुखे प्रवेशनरूपं तत्तु मया न कृतमिति तात्पर्यम् । किञ्च हे अंब अहं न भक्षितवान् । मुखेन भक्षितं प्राणरक्षार्थं मुखप्राणयोरेव भक्षकत्वं मम तु 'स चान्यः प्राणदेहयोः' इत्युक्तेः आत्मरूपत्वात्ताभ्यां भिन्नत्वान्न भक्षकत्वम् । आत्मरूपत्वं तु 'अहमात्मा गुडाकेश' इति गीतासूक्तेः । प्रथितमेव यद्येते सत्यगिरस्तर्हि येन मुखेन भक्षितं तत्समक्षं प्रत्यक्षं पश्येति संबंधः । आत्मनस्तु "एष आत्मा विहतपाप्मा विजरो विशोको विमृत्युर्विजिघत्सो विपिपासः" इत्यादिश्रुतेर्न भक्षकत्वम् । यद्वा—यदि यतः । न ह्यति बध्नात्यावरणशक्त्याचिदंशमिति नहा माया तस्या इदं कार्यं नाहम् 'मायाकार्यमिदं जगत्' इत्युक्ते सर्वं विश्वं नाहम् । यद्वा—नह्यते बध्यतेऽज्ञानेन यत्रेति नहः प्रपञ्चस्स एव नाहस्तं प्रलये भक्षितवानस्मि तर्हि ततः सर्वेऽमिथ्याभिशंसिनः सत्यवचनाः । मे मुखं हे अंब सम्यगक्षं ज्ञानं यत्र तत्समक्षं मद्दत्तदिव्यदृष्टिपूर्वकं पश्य । अक्षति व्याप्नोति सर्वत्रेत्यक्षं ज्ञानं वस्तुमात्रस्य ज्ञानव्याप्यत्वादिति । किंभूतस्य सच्च त्यच्च सत्यं पञ्चभूतात्मकं जगत् "सच्च त्यच्चाभवत्" इति श्रुतेः । तद्गिरति भक्षतीति सत्यगीस्तस्य तथा । 'अत्ता चराचरग्रहणात्' इति न्यायात् । यद्वा क्रुद्ध आह—यदि मिथ्या-भिशंसिनः सर्वे तव कोथंस्त्वदीया ञहं च न तव न त्वदीयस्तर्हि हे अनंब वैरिणि सत्यगिरः सत्यवक्तुर्मम मुखं समक्षं सम्यग्दृष्टियुक्तं न त्वपराधिन इव परावर्त्तितं पश्येति । किंभूतं मुखं भक्षितुं शीलमस्येति भक्षीत्यर्थः । यद्वाहं ना पुरुषः भक्षितवानेते सर्वेऽमिथ्याभिशंसिन एव हे सति यद्येतेऽगिरोभक्षकास्तर्हि ममैव मुखं पश्येति 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात् । इत्थमन्वयेन सर्वथा श्रीकृष्णस्य सत्यवक्तृत्वमेवान्यथा "न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः" इति वक्ष्यमाण-विरोधः स्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥ यद्येवं सत्यवक्तासि । अव्याहतैश्वर्योऽविनाशिसामर्थ्यवान् ईश्वर इति यावत् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पलायनमाशङ्क्य करे गृहीत्वा हितैषिणीति तत्रोपालम्भनताडनादिकमपि हितमिति तज्जातीयस्य प्रेम्णः परमाश्च-र्यत्वं व्यञ्जितं पुत्रमिति । तस्या एव तद्योग्यत्वं मातुः परमदुःखभयप्रदेनात्मापराधेन ताडनमप्याशङ्क्य भयसम्भ्रान्तप्रक्षेणाक्षम् अतः केवलमभाषतैव नतु ताडितवतीत्यर्थः ॥३३॥ उपालम्भनमेव किञ्चिदुद्दिशति-कस्मादिति । अदान्तात्मन् हे असंयतेन्द्रिय ! रह इति श्रीरामादीनां साक्षात् मृद्भक्षणाशक्तेः हि हेतौ निश्चये वा तावका इति मिथ्यापवादादिकं निरस्तम् एते साक्षाद्वर्त्तमाना इति नात्रापलपितुमपि शक्ष्यसीति भावः ननु, मातर्ममणैवैते वदन्तीति चेत्तत्राह—तवाग्रजोपि वदतीति । अत्र चायमिति त्वत्साक्षादेवास्योक्तौ न कोपि संशय इत्यर्थः अग्रज इति श्रीवसुदेवनन्दयोर्भ्रातृत्वेन श्रीरोहिणीयशोदयोः परमसख्येन आनन्देन

१. कृष्ण—श्रीधर. वंशी. विज. शुक. ; पुत्र—वीर. जीव. विश्व. । २. अन्यत्र "यशोदोवाच" पाठो न दृश्यते । ३. मदीन्तात्मन्—विज. ।

पुत्रत्वं वाचयित्वा लाल्यमानत्वेन च तथा व्यवहारात् ॥ ३४ ॥ नाहं भक्षितवानिति श्रीकृष्णवाक्यं बाल्यकेलौ मिथ्योक्तेरप्यदोषत्वात् प्रत्युत वर्णनश्रवणाभ्यां श्रीशुकादिसाधुगणसुखहेतुत्वेन गुणत्वात् हे अम्बेति ताडनशङ्कया स्नेहं विवर्द्धयति सर्व इत्यनेन मदग्रजोऽप्ययमन्यबालवदेव मन्यतां न चात्र विशेष इति भावः। मे मुखं पश्येति समग्रभक्षणतस्तच्चिह्नापगममननात् ॥३५॥ स श्रीकृष्णाख्यः भगवानित्यशेषभगवत्तायुक्तत्वेन मनस्सङ्कोचहेतुरपि हरिः सर्वमनोहरः माधुर्यातिशयस्यैव प्राधान्यप्रकाशनेन धन्यशील इत्यर्थः। अत एव न विशेषेण न च आ सर्वतो हतन्त्यक्तमैश्वर्य्यमपि येन सः किन्त्वनादृतमपि तत् यस्य निकटे स्थित्वा निजोचितलीलाविशेषावसरं सदा प्रतीक्षते कदाचिल्लभते च तादृश इत्यर्थः। क्रीडामनुजबालकश्च स्वयं क्रीडया लीलया मनुजबालकः तत्सदृश इत्यर्थः। यद्वा, क्रीडामनुजाः तदीयतादृशनित्यलीलासम्बन्धिमनुष्याः नत्वदृष्टवशा मायासम्बन्धिमनुष्याः श्रीनन्दादयः तेषां बालकः आगमानुसारेण नित्यतल्लीलः उभयथा स्वेच्छामयस्वरूपाविर्भावोचितलीलारसाविष्ट इत्यर्थः। अत एव व्यादेहीत्युक्तमात्रो व्यादत्त व्यादात् मातृकोपरविरश्मिलेशवशात् मुखनीलाम्बुजं विकसितं दधारेत्यर्थः। भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमिति चोक्तं तदेवमसौ सदैव तादृशलीलारसभोगी तादृशतदैश्वर्य्यशक्तिरेव तु स्वयं वा तमेवालिङ्ग्य वा तदभीष्टलीलारससम्पादनाय दुःसमाधानं समादधाति यथाऽधुना मातरि कोपाच्छादकभावान्तरापादनेन तथा सर्वमेवास्यान्तर्विद्यते ततो न किमपि भक्षयतीति तद्वचः सत्ख्यापनेन च तल्लक्षणनिजप्रभुसाहाय्याय विस्मयादिद्वारा मातुस्तत्प्रेमपोषाय च विश्वं दर्शितवती यथा च तृणावर्त्तवधादौ तस्मिन् भारादिकमाविर्भावितवती तदेवमचिन्तितसर्वार्थसिद्धेरैश्वर्य्यमपि महदेव सिद्धमिति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

करे गृहीत्वातिभयभंगार्थम्। हितैषिणीति स्नेहभरेण हितार्थमुपालम्भनयोग्यतोक्ता। मातुः परमदुःखभयप्रदेनात्मापराधेन ताडनमप्याशंक्य तत्परिहाराय भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमतः केवलमभापतैव, न तु ताडितवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ उपालम्भनमेव किञ्चिदुद्दिशति—कस्मादिति। अदान्तात्मन्! हे असंयतचित्त! रह इति श्रीरामादीनां साक्षान्मृद्भक्षणाशक्तेः। हि हेतौ निचये वा। तावका इति मिथ्यात्वमपवादादिकञ्च निरस्तम्। एते साक्षाद्वर्त्तमाना इति परोक्षत्वान्यथात्वादिकञ्च। ननु मातर्नर्म्मणैते वदन्तीति चेत्तत्राह—तवाग्रजोऽपि वदतीत्ययमिति त्वत्साक्षादेवास्योक्तौ न कोऽपि संशय इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ नाहं भक्षितवानित्यनुकरणेन तस्य तत्त्वतो मिथ्यात्वात्, किंवा भयेन महासंकटे मिथ्योक्तेरप्यदोषात्, किंवात्र मिथ्योक्तेरेव तद्भक्तविशेषेषु सुखहेतुत्वात्। हे अम्बेति ताडनाशंकया स्नेहं विवर्द्धयति। सर्व इत्यनेन गोपीरपि संगृह्णाति- यथा ताः पूर्व्वं मिथ्योचुस्तथेमे चेत्यर्थः। यद्वा, एतदनुमानेन ता अपि मिथ्यावादिन्य एवानुमन्तव्याः। मे मुखं पश्येत्यनुकरणपक्षे तत्त्वतोऽपि मिथ्यात्वादेव, पक्षान्तरे, प्रयत्नेन समग्रभक्षणतस्तच्चिह्नापगम मननात्, किंवा तद्द्वारा किञ्चिदद्भुतप्रदर्शनयान्यचित्ततापादनार्थम् ॥ ३५ ॥ स निजाशेषभगवत्ताभिव्यञ्जकोऽतोऽनिर्वचनीयमाहात्म्यामृतमहार्णवो यो भगवान् परमेश्वरोऽत एव हरिः सर्वचित्ताकर्षकः, यद्वा, भगवान् सर्वैश्वर्य्यपरिपूर्णो यो हरिः इत्यवतारित्वमुक्तम्। तत्रापि वैशिष्ट्यमाह—स इति। तच्च (भा० १०।८।१९)—'नारायणसमः' इति बहुव्रीहिणा प्रागुद्दिष्टमेव, अतएवात्याहतं बाल्यलीलायामप्यप्रतिहतमैश्वर्य्यं यस्य स इति वक्ष्यमाणेच्छामात्रेण सहसा मुखद्वारा जठरान्तः कार्यकारणात्मकविश्वप्रदर्शने शक्तिः समर्थिता। यद्यपि क्रीडार्थं मनुजबालक इत्युक्तेऽपि क्रीडाया नित्यत्वान्मनुजबालकस्यापि तत् सिद्धमेव, तथापि क्रीडायुक्तो मनुजबालकः, यद्वा क्रीडामनु तां लक्षीकृत्य जायत इति क्रीडामनुजश्चासौ बालकश्च, यद्वा, क्रीडमनु क्रीडायां जव इतस्ततो धावनादिवेगस्तद्युक्ताः सदालोला अलका यस्येत्यत्यन्तबाल्यक्रीडापरतोक्ता ॥ ३६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

व्यादेहि आस्यं विवृतं कुरु ॥ ३६-३७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सा यशोदा हितमिच्छन्ती कृष्णं करे गृहीत्वोपालभ्य निर्भर्त्स्य भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपलालोकने अक्षिणी यस्य तं श्रीकृष्णमभाषत ॥ ३३ ॥ भाषणमेवाह—कस्मादिति। हे अदान्तात्मन्! चपलगात्र उद्धतस्वभावेति वा कस्माद्धेतोर्भवान् रहसि मृदं भक्षितवान्? नाहं भक्षितवानित्यत्राह—वदन्तीति। तव सम्बन्धिन एव त्वं भक्षितवानिति वदन्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ एवमुक्तः कृष्णः प्राह—नाहमिति। हे अम्ब! नाहं भक्षितवान् मत्कुक्षौ सर्वमादावेव अस्तीति भावः। एते वदन्तीत्येतत् प्रक्षिपति—सर्व इति। यद्येते सत्या गिरो वाचो येषां तथाभूताः तर्हि समक्षं प्रत्यक्षं मम मुखं पश्य ॥ ३५ ॥ एवमुक्तया जनन्या तर्हि मुखम् आस्यं व्यादेहि विवृतं कुर्वित्युक्तः भगवान् हरिः व्यादत्त विवृतमकरोत् व्यात्ताननं विश्वरूपदर्शनोपयुक्तेन धर्मेण विशिनष्टि-अव्याहतमवतारदशायामप्यप्रच्युतमैश्वर्यमीश्वरसाधारणं "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया

च, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" इत्यादि वेदान्तावगतं सर्वशक्तित्वादिकल्याणगुणजातं यस्य सः तर्ह्येवम्भूतस्य जीववत्कुतो मनुजबालकत्वापत्तिस्तत्राह—क्रीडया निमित्तभूतया मनुजबालकः न तु कर्मणेति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भयेन संभ्रातानि अनवस्थितानि चञ्चलानि प्रेक्षणानि दर्शनानि यस्य तत्तथा तच्चाक्षि यस्य स तथा तम् ॥ ३३ ॥ तत्र किं प्रमाणमिति तत्राह—वदन्तीति ॥३४॥ मिथ्यावादित्वं प्रत्यक्षतो दर्शयामीत्याशयेनाह यदीति ॥३५॥ यदि असत्यगिरो बालाः, यदि त्वया न मृद्भक्षिता तर्हि मुखं विदारयेत्याह—यद्येवमिति। व्यादत्त विदारितवान् क्रीडार्थं मनुजबालकः प्रशस्तमानुषबालवपुः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

किञ्च स श्रीकृष्णाख्यः भगवान् नित्याशेषभगवत्ता योगेन मनःसङ्कोचहेतुतायोग्योऽपि हरिः माधुर्यातिशयेन प्राधान्येन सर्वमनोहरः अतो न विशेषेण च आ सर्वतो हृतं त्यक्तम् ऐश्वर्यमपि येन सः किन्त्वनादृतमपि तत् यस्य निकटे स्थित्वा निजोचितलीलाविशेषावसरं सदा प्रतीक्षते कदाचित् तादृश इत्यर्थः। क्रीडामनुजास्तदीयतादृशनित्यलीलासम्बन्धिमनुष्याः श्रीनन्दादयः तेषां बालकः नित्यतल्लीलः तत एव व्यादेहीत्युक्तमात्रो व्यादत्तेति विदारिते आस्ये सतीत्यर्थः ॥ ३६-३८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ शिशुभिः सह रामेण कथित मृदभक्षणकुपितया मात्रा भर्त्सितस्त्रासात् स्वयमेव मिथ्या वदन् परान् मिथ्यावदन्तीति दूषयन्नाह—नाहं भक्षितवानित्यादि। तर्हि कथमेते वदन्ति ? तत्राह—सर्वे मिथ्याभिशंसिनः। इति भगवद्वचनमलीकतयोपपद्यत इति न मन्तव्यम्, भक्षितस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। भक्षितमेव न भवति, मय्येव सर्वं वर्तते इति नाहं भक्षितवान्। यदि भक्षिता मृण्मयेत्यमी सत्यगिरस्तदा मन्मुखं समक्षं साक्षात् पश्येति सर्वमेव जठरे दर्शयतीति भक्षणाभावात् सत्यवादिना स्वयमेव भवितव्यम् ॥ ३५ ॥ मात्रा च तमेव पक्षमुररीचकारेत्याह—यद्येवं तर्हीत्यादि। भगवान् इत्युक्तः सन् मुखं व्यादत्त। अव्याहतमैश्वर्यं यस्य। ननु कथमेवं बालकस्य तस्य तादृशमैश्वर्यम् तत्राह—क्रीडामनुजबालकः क्रीडया लीलया मनुजबालक इव मनुजबालकः वस्तुतस्त्वखण्डपरमानन्दः। यद्वा क्रीडामनुजवयुक्ताश्चञ्चला अलका यस्य, मुख व्यादाने अलकाश्चञ्चला आसन्नित्यर्थः ॥ ३७-४१ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

क्रीडामनुजबालक इति क्रीडामनुजवयुक्ता अलका यस्य ॥ ३७-४१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

करे गृहीत्वेति पलायनाशङ्कया उपालभ्य निर्भर्त्स्य हितैपणीत्युपालम्भताडनादावपि प्रेम्णः पोष एव नतु तत्र दोषः पुत्रमिति मातुरियं रीतिरेव नत्वनीतिः भयसम्भ्रान्तेति परमेश्वरस्यापि तादृशत्वं प्रेमवश्यत्वद्योतनया भूषणमेव न तु दूषणमिति भावः ॥ ३३ ॥ हे अदान्तात्मन्! चञ्चलगात्र हे अनवस्थितचित्त! मृदमिति मद्गृहे किं सितादिकं न प्राप्नोषीति भावः! रह इति मत्साक्षात्तदशक्तेः वदन्ति तावका इति नायं मिथ्यापवाद इति भावः मत्ताडनाकाङ्क्षिण एते मद्वैरिण एवेति चेत्तवाग्रजो बलदेवोपीति अयमिति त्वत्साक्षादेवेति नात्र सन्देह इति। भावः ॥ ३४ ॥ कृष्ण उवाच—नाहमिति। बाल्यस्वभावेन ताडनभयान्मिथ्योक्तिर्वात्सल्यरसपोषिका अत एव वात्सल्यादीनां रसानां प्रेमपरिणामत्वात् प्रेमवतां च भक्तत्वात् भगवतश्च भक्तवत्सलत्वात् भक्तवात्सल्यस्य च पृथिव्युक्तसत्यशौचदयादिनित्यचिन्मयसर्वगुणगणचक्रवर्त्तित्वात् भक्तवात्सल्यगुणाङ्गभूता चेत्येवं भूतत्वे मिथ्यादयो भगवति न दोषायन्ते प्रत्युत महागुणचूडामणयो भवन्तीति विवेचनीयम् ॥३५॥ व्यादेहि मुखं प्रसारय ननु, माता ममाद्यापराधं मा पश्यत्वितीच्छयैव ताडनाद्भीतेन भगवता मिथ्योक्तं मुखप्रसारणे तु मृत्तिकाभक्षणलक्षणव्यक्त्या सा तस्येच्छा कथं सफला स्यादित्यत आह—न व्याहतं प्रेममाधुर्य्यबलेन निजैश्वर्य्यानुसन्धानाभावेपि न पराहतं किन्तु स्वकृत्यावसरे स्वयमेव सावधानमैश्वर्य्यं यस्य सः सत्यसङ्कल्पताशक्त्या प्रेरिता ऐश्वरी शक्तिः स्वयमेव प्रकटीभूय विश्वं दर्शयित्वा श्रीयशोदां विस्मयरसनिमग्नीकृत्य पुत्रभर्त्सनफलकं कोपं विस्मारयामासेति भावः। नन्वलं भगवतः प्रेममाधुर्य्यास्वादेन यतो यशोदाभर्त्सनताडनादिभ्योपि तस्य भयं स्यादत ईश्वरो ऽहमिति स्वयमेव निजैश्वर्य्यमनुसन्धाय निर्भय एव कथं न तिष्ठत्वित्यत आह, क्रीडेति। क्रीडाप्रधानो मनुजबालक इति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपः शाक एव प्रधानं यस्य तथाभूतः पार्थिव इत्यत्र पार्थिवो यथानिजास्वाद्येषु खण्डादिवस्तुषु मध्ये शाकमेव प्रधानं मन्यते तथैवायमीश्वरो मनुजबालकक्रीडां तादृशप्रेममयीमेव प्रधानं मन्यते नतु स्वीयसर्वेश्वरत्वादिकमिति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपः

सा यशोदा हि तमारोग्यमिच्छतीति सा तथाभूता कृष्णं सदानन्दं करे गृहीत्वा उपालभ्य निर्भर्त्स्य भयेन पुनरुपालम्भनशङ्कोद्भवेन सम्भ्रान्ते प्रेक्षणे सम्भ्रमयुक्ते निरीक्षणे यस्य तमभाषत ॥ ३३ ॥ तदेवाह—कस्मादिति । हे अदान्तात्मन् ! अनियतबुद्धे रहः एकान्ते ॥ ३४ ॥ एवं मात्रोक्तो हरिराह—नाहमिति । हे अम्ब मातः ! अहं न भक्षितवान् सर्वं मत्कुक्षौ स्वत एव वर्तते इति भावः । यदि एते सत्यगिरः सत्या गिरो वाचो येषां ते तथा तर्हि समक्षं प्रत्यक्षं मे मुखं पश्य ॥ ३५ ॥ माता आह—यद्येवं तर्हि व्यादेहि मुखं विवृतं कुरु मात्रा इत्युक्तो हरिरपि व्यादत्तं मुखं विवृतं चकार कथम्भूतः अव्याहतैश्वर्य्यः अव्याहतमखण्डितमैश्वर्य्यं सर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वसर्वशक्तिमत्वसर्वात्मत्वनिःसमानातिशयत्वसर्वेश्वरत्वादिकं यस्य सः पुनः कथम्भूतः क्रीडामनुजबालकः क्रीडाप्रियः पुत्रीभूतपुरुषोत्तमविहारः प्रियो मनुजः क्रीडामनुजः श्रीनन्दस्तस्य बालकः अजहत्स्वाभाविकैश्वर्यो गोपालसूनुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

करे गृहीत्वेति पलायनाशङ्कया उपालभ्य निर्भर्त्स्य यतो हितैषिणीति तदुपालम्भः प्रेममय एवेति भावः । भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपलनिरीक्षणे अक्षिणी यस्य तं माता मां ताडयेदिति भयोदयः ॥ ३३ ॥ हे अदान्तात्मन् अस्थिरचित्त कस्मादिति सशर्करं नवनीतं हित्वा कुतो हेतो मृदं भक्षितवान् रह इति मे पुरस्तादशक्तेः एतन्न मिथ्या यतस्तावका वदन्ति ननु मद्विरोधिन एते मत्ताडनं वाञ्छन्तीति तत्राह—अयं तवाग्रजोऽपीति ॥ ३४ ॥ ताडनभयादाह नाहमिति सर्व इति अग्रजोऽपि मत्ताडनं वाञ्छतीति भावः । यद्येतेषां गिरं सत्यां मन्यसे तर्हि मे मुखं पश्येति मिथ्याभाषणमिदं वात्सल्यरसपोषि मौग्ध्यादिवत् स्वरूपान्तविधिबोध्यं न च तदुदरे पृथिव्याः सत्वात् सत्यवाक्यत्वं संपाद्यमिति वाच्यं जरासंधछलेन खण्डितानुनयेन च व्यभिचारात् ॥ ३५ ॥ यदि सर्वे एते मिथ्याभिशंसिनस्तर्हि त्वं मुखं व्यादेति प्रसारयेति मात्रोक्तेः स हरिर्मुखं व्यादत्त प्रसारितवान् कीदृशः क्रीडाप्रधानो मनुजबालको नराकृतिः शाकपार्थिवादिः अव्याहतं विराजदैश्वर्यं यस्य सः, यद्यपि पुत्रभावेन मुग्धो हरिस्तथापि तदैश्वर्यशक्तिस्तत्सेवावसरं प्रतीक्षमाणैवास्तीतिभावः । इदं द्वितीयं विश्वदर्शनं जननी मत्पवित्राकर्तुमिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

क्रीडामनुजबालक इत्यस्य क्रीडाप्रदर्शनार्थं मनुजानां बालक इत्यर्थः । एतेन क्रीडार्थमिति चापर इत्यादिना परमेश्वरप्रवृत्तिः क्रीडार्थमिति पक्षस्य दूषितत्वात्क्रीडामनुजबालक इत्यनुपपन्नमिति चोद्यं परास्तम् । क्रीडाशब्देन क्रीडाप्रदर्शनं गृहीत्वा क्रीडामनुजबालक इत्यस्य क्रीडाप्रदर्शनार्थं मनुजबालक इत्यर्थ इत्युक्तत्वात् ॥ ३५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

उपालभ्य निर्भर्त्स्य गोपीभिः पूर्वमुक्तावनुपलम्भ इदानीं कुतो यशोदाया इत्यत आह । हितैषिणीति । मृद्भक्षणे उदरशूलादिकं स्यादिति सुतहितैषिणी हितं काङ्क्षन्ती । अनेन दध्यादिचौर्य इव मेहनादौ च न पुत्रगात्ररोग इत्युपालम्भोपेक्षणं प्रागिति मन्तव्यम् । भयेन भ्रान्तानि प्रेक्षणानि ययोस्ते अक्षिणी यस्य तमभाषत ॥ ३३ ॥ अदीनात्मन् उदारचित्त भवान् रहो मृदं कस्माद्भक्षितवान् । न नेति वदेति साक्षिण आह । वदन्तीति । एते कुमाराः । ते च नास्मदीया इति न वदेत्याह तावका इति । तत्राप्यनाश्वासः कृतमत्कलहास्त इत्यत आह । तेऽग्रजो रामोऽयमपि वदतीति । अव्ययं नाशं गच्छेरिति शेषः । कस्मान्मृदं भक्षितवानसीति वा ॥ ३४ ॥ अम्ब । अम्बार्थेति ह्रस्वः । सर्वेऽग्रजादयो मिथ्याऽभिशंसन्तीति ते तथा । तन्मिथ्यात्वनियोगो यदि तवापेक्षितः सत्यगिर इत्यभिमानो मानिनि तर्हि समक्षं मे मुखं पश्य । न निरुपादाना सृष्टिः सम्भवेति सा तदानीमेतस्यास्ये दर्शनीयेति धिया । किञ्च तद्भारावतारायायमवतार इति तया च धरया किञ्चिदुपयोगिन्या भवामीति मतितो मृदनमुचितमच्युतस्य तर्ह्यश्विरो नानृतात्पातकं परमिति जानन्कथं जननीं प्रति जननीतिशासकः सोऽनृतमवादीदित्यत आन्तरङ्गिको भगवतो विरलच्छलोकस्य ना परमपुरुषोऽहं मृदं भक्षितवान्सर्व एते मिथ्याभिशंसिनः हे सति मातः सर्वे गिरस्तूष्णीका यदि तर्ह्यगिरो मम मुखं समक्षं पश्य । कार्येण कारणमवगतं भवतीति शिष्टं श्लिष्टं । पञ्चीकरणपक्षे सर्वभूतमेलनादेकस्यां मृदि भक्षितायामन्तरिक्षाद्युपादेयप्रदर्शनं नासम्भवीति वर्णयन्ति ॥ ३५ ॥ यदि मृदं न भक्षितवान् बलादिबालाश्च मिथ्याभिशंसिनः पश्य समक्षं मे मुखमिति च वदसि तर्हीत्थं कुर्वितीरयति । यद्येवमिति । तर्हि व्यादेहीति व्ये तरतो हिर्लघुः सन् व्यादानमप्यल्पमल्पकार्यानुगुणमिति ध्वनयति । अन्यथा सर्वजगद्ग्रासः स्यादिति ज्ञेयं । क्रीडयैव मनुतनुज इति क्रीडामनुजबालको मुखं व्यादेहि । तद्व्यात्तेति मुखतदध्याहारोऽनियतस्थलो ज्ञेयः ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

तेन देहापकारं ज्ञात्वा दोषनिवृत्त्यर्थं यत्नं कृतवतीत्याह **सा गृहीत्वेति**, एकस्मिन् **करे पुत्रं** गृहीत्वाभाषतेतिसम्बन्धः, **सेति** निरोधमध्यस्थिता, भगवति क्रियाशक्तिरेव लौकिकी तस्या दृढेति **करे गृहीत्वेति** तावानेवांशस्तया **गृहीत** इति, भगवांस्तु पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते, येन पापेन मातापितरौ पुरुषशब्दवाच्यमुपलक्षणात् स्त्रीशब्दवाच्यं च शरीरमस्थिपुरीषादिव्याप्तं सर्वरोगादिगृहं तामिस्रादिसर्वनरकेभ्योधिकं प्राप्तवन्तौ स्वयं तत्र सन्ततौ प्रविष्टस्तत् कार्यं स्वयं करिष्यंस्तद्दोषमङ्गीकृत्य तौ तस्माद् देहसम्बन्धात् त्रायत इति **पुत्रो** भवति, तादृशमुपालभ्योपालम्भनं कृत्वालभनमिव क्रूरं वाक्यमुक्त्वा स्वस्य परमनिधानरूपः पुत्रः कुशली भवत्विति **हितमेवान्वेषमाणा यशोदा** परमभागवती ज्ञानेप्यधिकारिणी मारणे कृतेन्तःस्थिताः क्लिष्टा भविष्यन्ति ततो महापुरुषद्रोहान्नास्याः कदापि ज्ञानं भविष्यतीति**भयेन सम्भ्रान्तं प्रेक्षणं** यस्याक्षस्य, प्रदर्शयिष्यमाणं ज्ञानमेव स्वाधिकरणस्याग्रे भविष्यमाणस्य विरोधिगुणप्रादुर्भावाद् गमनप्रतिबन्धशङ्कया सम्यग् **भ्रान्तं प्रेक्षणं** गमनरूपं यस्य तथाविधं भवति, भगवत्प्रेरणया गन्तव्यमेव विरोधी च गुणो बलिष्ठो बाधां मा करोत्विति तादृशं भगवन्तं कायिकव्यापारेण योजयित्वा भगवत्प्रेरिता**भाषत** वाक्यमेवोक्तवती, तद्वाक्यं च भगवता परिहर्तव्यं क्रिया चेदशक्या भवेद् भक्तद्रोहात् ॥ ३३ ॥ **यशोदाया** वाक्यमाह **कस्मादिति**, इच्छया भक्षितमिति चेत् सेच्छापकारिणीति तन्निवारणमुचितं तदकरणादुपालभ्य एवेतिसम्बोधने-नाहादान्तात्मन्निति, **न दान्त आत्मा**न्तःकरणं यस्य, अन्तःस्थितबालापरिज्ञानादाह **भवान् भक्षितवा**निति, **रह** एकान्ते, निष्कास्य बालकान् भक्तिं ग्राहयितुं देहगुह्यत्वादेकान्त एव कृतवान्, तद् बाला बहिःस्थिता अस्मद्वञ्चनार्थमेकान्ते **भक्षितवा**नित्याहुः, प्रमाणमाह **वदन्ति तावका** इति, त्वदीयास्त्वनृतं न वदन्तीति, **हि** युक्तश्चायमर्थः, तेपि हितकारिण इति, अन्यथा-कल्पने नाद्यापि समर्था इति वयो निर्दिशति **कुमारा** इति, तेषां जीवत्वात् कल्पकत्वाभावेपि भ्रमः सम्भवति यथादृष्टं च वचनमतोपि न परमार्थदृष्टिरिति चेद् तत्राह **तेग्रजोप्ययमिति**, **अग्रे**जातत्वात् काचिद् बुद्धिरुत्कृष्टा, **वदती**त्यत्र प्रमाणमा-**हायमिति**, प्रत्यक्षमेव वदतीति नात्रासम्भावना ॥ ३४ ॥

भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते । यदा यत्र हरिः स्वामी नाविष्टः सोन्यथा वदेत् ॥ १ ॥ इति

भगवांस्तु तद्वाक्यं विषयबाधान्न प्रमाणमाप्तानां भ्रान्तत्वादित्याह **नाहमिति**, हे **अम्बे**तिसम्बोधनमप्रतारणाय, अनेन तस्यां महती कृपा प्रदर्शिता, अहं तु **न भक्षितवान्**, बालकैर्भक्षितमितिभावः, एवंसम्बोधनेन स्ववाक्यप्रामाण्यमुक्त्वा विरोधवाक्यमाह **सर्व** इति, एते बालकाः सरामा गोपाश्च ये केचिन्मया यत्किञ्चिद् भक्षितं यदाकदापीत्याहुस्ते **सर्व** एव **मिथ्याभिशंसिनो** मिथ्यानृतमेवा**भिशंसन्ति**, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीती"तिश्रुतिविरोधात्, "यस्य ब्रह्म च क्षत्र" "मत्ता चराचरग्रहणाद्" "भुङ्क्ते विश्वभुगि"त्यादिवाक्यान्याधिदैविकरूपधर्मप्रतिपादकानि, अतः पुराणपुरुषपराणि न भवन्तीति ये केचिद् भगवन्तं भोक्तारं मन्यन्त उपदिशन्ति च ते **सर्वे मिथ्याभिशंसिनः**, नैवेद्यं च तुष्टिदं भवति निवेदनमात्रेण, आरण्यानां भक्षणं त्वन्तःस्थितभक्तानां शुद्धान्नसम्बन्धेन कृतार्थत्वायातः "पत्रं पुष्प"मितिवाक्यं न विरुध्यते, नन्वत्र किं युक्तं किं भगवान् भक्षयति न वेति ? भक्षयतीत्येव बहुवाक्यसंवादात् प्रत्यक्षतो दर्शनाद् "भुङ्क्त" इत्यादिवाक्यानां यथाश्रुतार्थत्वसिद्धे-"रनश्नन्न्य" इतिवाक्यं जीवभोगजननार्थं समागतोन्तर्यामी जीवभोग्यं जीवभोग्यप्रकारेण न भुङ्क्त इत्येतावन्मात्रपरं तस्मात् प्रत्यक्षसंवादाद् भक्षणमेव सत्यमिति चेत् तत्राह **यदि सत्यगिर** इति, लोके वाक्यं संवादि प्रमाणं, तदर्थमत्र संवादो नास्तीत्यनूद्य दूषयति, **तर्हि समक्षं** प्रत्यक्षं स्वचक्षुषा वाक्यसंवादार्थं **मुखमध्यं पश्य**, यदि भक्षितं भविष्यति तदंशास्तद्गन्धश्च भविष्यति, सर्वं भक्षितमितिशङ्कायां च कालान्तरभक्षणस्यापि निवारणार्थं च भक्षणप्रयोजनं मुखेस्ति न वेति तदपि द्रष्टव्य-मितिभावः ॥३५॥ लौकिका युक्तिपुरःसरं पदार्थं गृह्णन्तीति **यशोदा** तद्वाक्यमङ्गीकृत्य तत्रापेक्षितं प्रार्थयित्वा द्रष्टुमुद्युक्ता ततो भगवान् प्रदर्शितवानित्याह **यद्येवमिति**, यदि प्रत्यक्षसंवादि तद्वाक्यं नान्येषां तदा **व्यादेहि** मुखव्यादानं कर्तव्यं, एव-**मुक्तो व्यादत्ते**तिसम्बन्धः, **स** इति, **स** यतो निरोधार्थमेवागतः, अन्यथा लौकिकपरमार्थयोर्भिन्नविषयत्वाल्लौकिके परमार्थ-प्रदर्शनमयुक्तं स्यात्, निरोधसामर्थ्यं **भगवानिति**, करणावश्यकत्वे हेतुर्**हरिरिति**, अन्यथा प्राणिनः कृतार्था न भविष्यन्तीति, **विशेषेणावत्तं मुखं** प्रसारितवान्, ननु प्राकृतस्वीकारात् स्वधर्माणां तिरोभावसम्भवात् कथं सर्वसंवादो भविष्यतीत्याशङ्क्या-**व्याहतैश्वर्य** इति, न केनापि प्रकारेण व्याहतमैश्वर्यं यस्य, ननु तर्हि कथं प्राकृतस्वीकारः ? तत्राह **क्रीडार्थमेव मनुजबालको** न तु प्रदर्शनार्थमपि, अतः क्रियाशक्तावेव लौकिक्यां तिरोभावः, तदपि विशेषप्रयोजनाभावे, अन्यदा तु क्रियाशक्तेरपि प्राकट्यं, ज्ञानशक्तिस्त्वतिरोहितैव सर्वदा, अतः प्रदर्शितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पुत्रशब्दविवरणं लोकसम्बन्धीति ज्ञेयम् । तथा च यत्र लौकिक एव स एतादृशस्तत्र भगवानङ्गीकृततथात्वः स्वापराधकरणात् क्रियारूपाद्रक्षतीति युक्तमेवेति भावः । अत एव वचनमेव, न तु क्रिया काचिद्विरुद्धा । **भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्ष**मित्यत्र,

प्राकृता बाला हि ताडनभिया मातृसंमुखं द्रष्टुं न पारयन्ति, प्रभुरपि ताननुकरोतीत्यस्यालौकिकत्वेन तत्तात्पर्यमुच्यते **प्रदर्शयिष्यमाणमित्यादि**। मुखारविन्दे प्रदर्शयिष्यमाणं रूपं ब्रह्मधर्मत्वाद् ज्ञानात्मकमेव। तत्साधनत्वादपि तथोच्यते। एतस्य भविष्यमाणमधिकरणं माता। अग्रे ज्ञानजननात्। तत्र च भगवति दोषारोपो विरोधी गुणः। भगवत्प्रेक्षण ज्ञानरूपमिति तच्चेन्मातर्यागच्छति, तदा तेन ज्ञानमाविर्भवति। तच्चोक्तगुणशङ्कयैतस्तत एव भ्रमणं करोति। न तु संमुखं निरन्तरं यशोदाविषयकं भवतीति तथा। अत एवाग्रे ज्ञानं जननीयमिति मातरमीक्षते। परन्तु प्रकर्षेण नेति ज्ञापनाय प्रशब्दो मूले। विरोधी च गुण इत्यादिनेक्षणप्रेरणायां हेतुत्वेन प्रभुतात्पर्यमुक्तम्। वस्तुतस्तु तत्कालीनमौग्ध्येनैव मोहिता नान्यत्कर्तुमशकत्। **तथापि** स्नेहभरवशतोस्मिन्नर्थे विज्ञप्तिः कार्यैवेति तां कृतवती ॥ ३३ ॥ तत्र सम्बोधनेन कृपालुत्वमुक्तम्। तथाहि न दान्ता अदान्ता असंयतेन्द्रियाः पुरुषा इति यावत्। तेषामप्यात्मा निरुपधिहितकर्तेत्यर्थः। मृद्भक्षणमस्मद्धितं न भवति, मनःखेदहेतुत्वादिति भावः। अत एव हेतुरेव पृष्टः, भगवांस्तु मात्रादिसम्भावितमृददनकार्याभावादेव हेतुविचारो न युक्त इत्याशयेनोत्तरितवान्। अन्यथा लोके बालस्वभावमेव प्रसिद्धं हेतुं जानन्ती कस्मादिति न वदेत्। तदानीं ज्ञानदित्सया तादृगीक्षणेन चैतावन्मात्रं ज्ञानमभूदग्रे सम्पूर्णं भविष्यत्यैवेति हृदयम्। भगवत्प्रेरणया गन्तव्यमेवेत्यनेन **पितृचरणैर्ज्ञापितम्** ॥३४॥ **सर्वे मिथ्याभिशंसिन** इत्यत्र, **नैवेद्यमिति**। उपासनामार्गीयैः पूजायां दत्तं नैवेद्यं तथेत्यर्थः। **शुद्धान्नसम्बन्धेनेति**। साक्षाद्भगवद्भक्षितत्वेनोच्छिष्टं यदन्नं तच्छुद्धान्नपदेनोच्यते। भुक्तशिष्टान्नान्मुखारविन्दमध्यस्थं चर्वितं ताम्बूलमिव मुख्यमुच्छिष्टं भवति। न ततोन्यत्फलरूपं शोधकं वास्तीति तत्सम्बन्धेन तथात्वायेत्यर्थः। वन्यत्वं साधारणभगवत्सम्बन्धो वात्र शुद्धिपदार्थ इति न वक्तुं शक्यम्। भगवदन्तःस्थितानां पूर्णपुरुषार्थत्वेन तथाविधेन तेन कृतार्थत्वोक्तेरनुचितत्वात्। यत्त्वेते बालका इत्यारभ्य मिथ्याभिशंसिन इत्यन्तं वाक्यं तन्मर्यादामार्गपरं ज्ञेयम्। 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये'ति वाक्याद्यथैव तत्तोषस्तथैव भगवतः कर्तव्यं भवतीति स्वमर्यादामतिक्रम्य भक्तेच्छानियम्यत्वाङ्गीकारात् पुष्टिमार्गीयभक्तिमार्गे भक्षणादिकं सर्वमुपपद्यते। वस्तुतस्त्वियमेव पुरुषोत्तममर्यादा यद्भक्तवश्यत्वम्। अत एवाधुनापि भाग्यवतो भक्तानाज्ञापयति भोग्यविषये ज्ञानमिश्रभक्ते मर्यादाभक्तिमार्गीयभक्तेऽनवतारदशायां चानशनादयो धर्मा भगवता प्रकटीक्रियन्त इति तद्विषयाणि तथाविधवाक्यानीति ज्ञेयम्। यद्यपि यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वपदस्य निमन्त्रिततत्परत्वम्, तथात्रापि रामादिपरत्वमिति नानुपपत्तिः काचित्। तथाप्या**चार्यै**स्तु बाला इत्यैत इति वाऽनुक्त्वा सर्वपदं भगवतोक्तमिति तत्तात्पर्यमुक्तमेते बालका इत्यादिना। तत्तात्पर्यं चोक्तमेव। ज्ञानप्रकरणत्वादपि तथोक्तिरिति न भक्तिमार्गीयविरोधः शङ्कनीयः ॥ ३५ ॥ **यद्येवमि**त्यस्याभासे, **अपेक्षितमिति**। मुखव्यादानमित्यर्थः। विशेषेणासमन्तादेहीत्यपि ध्वनिः। भक्तिमार्गीयत्वमत्र विशेषः। तस्यापि यावती मर्यादास्ति यावद्रूपं वा तत्तद्दानमाङ्क्षोर्थः। अत एव सर्वात्मभावावधि ज्ञानं जातम्। अन्यथा तदतिरिक्तबुद्धीनां भगवद्विषयिणीनामपि कुमतित्वं नोच्येत। **अव्याहतैश्वर्य** इत्यस्याभासे, **कथं सर्वसंवाद** इति। 'यः पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यादि सर्वश्रुतिसंवाद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सा गृहीत्वेत्यत्र दोषनिवृत्त्यर्थमिति बालकोक्त**दोषनिवृत्त्यर्थं**, यत्ने हेतुमाहु**र्निरोधमध्यस्थितेति निरोधस्य** यो मध्यभावस्तत्र **स्थिता**, करणग्रहणे हेतुमाहु**र्भगवतीत्यादि**, भगवद्विषयिणी **क्रियाशक्तिः** पुत्रशिक्षाकरणरूपा **लौकिक्येव तस्या वृढा** न तु ज्ञानशक्तिरिति तथा **कृतवतीत्यर्थः**, ननु कथं तस्या न ज्ञानशक्तिर्निरोधेपीत्यत्राहु**स्तावानित्यादि, तावानिति** कररूपः, तथा च क्रियाशक्तिरेव गृहीता न तु ज्ञानशक्तिरित्यर्थः, तर्हि क्रियान्तरमपि करिष्यतीत्याशङ्क्याहु**र्भगवांस्त्वित्यादि भवतीत्यन्तं, पुत्र** इत्यत्र पुम्पदं स्त्रियोप्युपलक्षकं, **तत्र सन्तताविति** पुत्ररूपायां **सन्ततौ**, तथा च पुत्रत्वात् तथा कर्तुं न दास्यतीतिभावः, तदेतट्टिप्पण्यां **पुत्रशब्दविवरण**मित्यादिग्रन्थे **स्फुटं, भयसम्भ्रान्तेति**विशेषणस्य तात्पर्यमाहु**र्मारण** इत्यादि, **भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणमित्यत्र भयसम्भ्रान्तं प्रेक्षणम**क्षिण यस्येति न समासः **प्रेक्षणपदेनै**वाक्षिलाभात् किन्त्वक्षस्य मातृहस्तस्येन्द्रियत्वं विवक्षितमित्याशयेनोक्तं **यस्याक्षस्येति**, पुरःस्फूर्तिकमुक्त्वा पारमार्थिकं तदर्थं वदन्तीत्याशयेन **टिप्पण्यामाहुः प्राकृता** इत्यादि, 'यद् यज्जनकं तत् तदात्मक'मितिसमन्वयसूत्रे व्याप्तेः सिद्धत्वाद्धेत्वन्तरमाहु**स्तत्साधनत्वादित्यादि, भविष्यमाण**मित्यत्र "लुटः सद् वे"तिसूत्राच् छानच् सोपि "भू व्याप्ता"विति धातोः, तथा च ज्ञानेनाग्रे व्याप्यमानम**धिकरणमित्यर्थः**, वस्तुतस्तु 'भू सत्ताया'मित्यतस्ताच्छील्ये शानजग्रे भवनशीलमित्यर्थः, **ज्ञानरूपमिति** ज्ञानजनकत्वात् पूर्वोक्तरीत्या तद्रूपं, **तथेति** सम्भ्रान्तं, **परन्त्विति** सम्भ्रान्तत्वात्, **सुबोधिन्यां प्रेक्षणतात्पर्यमाहुः प्रेक्षणं गमनरूपमित्यादि**, भगवत्कृता **प्रेक्षणक्रिया** श्रीयशोदायां प्रापणरूपा **यस्य** भविष्यज्ज्ञानं **तथाविधं भवति**, तथा च ज्ञानप्रापणाय **प्रेक्षणमित्यर्थः**, ईक्षणप्रेरणतात्पर्यमाहु**र्भगवदित्यादि**, तदिदं टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **विरोधीत्यादि, तथापीति** मोहेपि, **सुबोधिन्यामशक्येत्यपरिहार्या** ॥३३॥ **कस्मादित्यत्र तदकरणादितीच्छाया निवारणाकरणात्**, सम्बोधनं प्रकारान्तरेण टिप्पण्यां व्याकुर्वन्तस्तत्तात्पर्यमाहु**र्न** चेत्यादि, **तयापीतिपदं मृद्भक्षणेत्याद्यग्रिमेण** सम्बध्यते, एवम्भावोक्तौ प्रमाणमाहु**रत एवेत्यादि**, कृपायाः साधारण्यादेकत्र विशेषे हेतुरेव पृष्ट इति तदेव

पदं प्रमाणमित्यर्थः, ननु तर्हि भगवान् किमिति निह्नुतवांस्तत्राहुर्**भगवांस्त्वि**त्यादि, तुशब्दः पुनरर्थकः, तथा च न कृपायां न्यूनाधिकभाव इत्यर्थः, युक्त्यन्तरमाहुर**न्यथे**त्यादि, ननु यद्येवं मातृचरणानां हेतुज्ञानमस्ति तदाचार्यैः "भगवत्प्रेरणये"त्यादिना ज्ञानगमनशङ्का किमित्युक्तेत्यत आहुस्**तदानी**मित्यादि, **सुबोधिन्यां** ननु बलो भगवदाविष्ट इति कथमेवमुक्तवानित्यत्र हेतुमाहु**र्भगव**दित्यादि, **कारिकया**, तथा च कार्यार्थमावेशात् तदानीं कार्याभावेन तदभावात् तथेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ **नाह**मित्यत्र ननु भक्षण वादिनां कथं **मिथ्याभिशंसि**त्वमित्यत आहु**रनश्नन्नि**त्यादि, तर्हि **"यस्य ब्रह्मे"**त्यादिवाक्यानां का गतिरित्यत आहु**र्थस्ये**त्यादि, **आधिदैविकरूपधर्मप्रतिपादकानी**ति "यो देवानां नामधा एक एवे"ति 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ती'त्यादिश्रुतिभिः **सर्वदेवाधिदैविकत्वं** भगवतः प्रतिपादितं देवाश्च यज्ञभागभुज इति तद्द्वारा 'नाहं तथाभियजमानहविर्विताने श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन"तिवाक्ये साक्षाच्च सर्वदेवाधिदैविकरूपस्य यो **धर्मो**क्तत्वं **तत्प्रतिपादकानि**, **अत** इत्याधिदैविकपरत्वात्, नन्वेवं सति "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। तत्तन् निवेदयेन् मह्यं तदानन्त्याय कल्पत" इत्यादिवाक्यानां का गतिरित्यत आहु**र्नैवे**द्यमिति, तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**रुपासने**त्यादि, 'आनन्त्याय कल्पत' इतिफलोक्तेस्तथेतिभावः, ननु तथापि "निर्विशन् भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशन" इत्यत्र देवाधिदैविकरूपस्योपासनामार्गस्य चाभावात् तस्य कथं सामञ्जस्यमित्यत आहु**रारण्याना**मित्यादि, **शुद्धान्नसम्बन्धेने**त्यादि, एतस्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **साक्षा**दित्यादि, ननु वन्यत्वादिनैवान्नस्य शुद्धत्वमस्त्वित्या शङ्कायामाहुर्**वन्य**त्वमित्यादि, **तथाविधेने**ति **वन्य**त्वादिरूपेण, **सुबोधि**न्यां नन्वत्र द्विविधेषु वाक्येषु पुराणपुरुषस्य भोक्तृत्वम भोक्तृत्वं चेतिद्वयमपि प्रतिपादितं तथा सति तत्र कथं विरोधपरिहार इत्याशङ्क्न्ते **नन्वत्रे**त्यादि, सिद्धान्तमाहु**र्भक्षयती**त्यादि **पर**मित्यन्तं, ननु यदि भक्तिमार्गे भक्षणं तदा **"सर्वे मिथ्याभिशंसिन"** इति भगवद्वाक्यं तद्व्याख्यानग्रन्थश्च विरुध्येतेत्यत आहु**ष्टिप्पण्यां यत्त्वि**त्यादि **वाक्यानीति ज्ञेय**मित्यन्तं, प्रकारान्तरमाहु**र्यद्यपी**त्यादि, **तत्तात्पर्यं चोक्तमेवे**ति मर्यादामार्गान्तर्यामिरूपेण च न भुङ्क्त इत्येवाभोजनतात्पर्यं **मिथ्याभिशंसिनस्तात्पर्यं चोक्तमेवे**त्यर्थः, प्रकरणेनापि समादधते **ज्ञाने**त्यादि ॥ ३५ ॥ **यद्येव**मित्यत्रापेक्षितमिति, एतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्**मुखे**त्याद्युच्यत इत्यन्तं, **सुबोधिन्यां** कथं **सर्वसंवाद** इत्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्य इत्यादि, **सुबोधिन्यामत** इत्यादि क्रीडार्थत्वात्, **क्रियाशक्तौ लौकिक्यां** हस्तरूपायां द्वयोर्हस्तयोस्**तिरोभावः**, अन्यथा चतुर्भुजत्वमपि प्रदर्शयेदित्यर्थः, **तदपी**ति तिरोभाव**नमपि** ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सा गृहीत्वेत्यत्र **लौकिकी**ति करे इत्येकवचनस्यार्थोयं, द्वितीयस्यापि करस्य ग्रहणे अलौकिक्या अपि ग्रहणाद् भगवान् वश्य एव स्यात्, अत एव दामोदरलीलायां तथेतिभावः, **तत् कार्यं स्वयं करिष्यन्नि**ति पिता मरणसमये स्वकार्याणि पुत्रे स्थापयेत् पुत्रश्च **गृह्णीया**दिति तन्मन्त्राश्च कौषितक्युपनिषदि स्फुटाः, **परमभाग्यवती**ति यशो ददातीति व्युत्पत्त्या यशसो दानकथनेन तदग्रिमगुणस्य श्रीशब्दवाच्यपरमभाग्यस्य स्थितिः सूचितेतिभावः, अत एव ततोप्यग्रिमगुणे ज्ञानेप्यधिकार इत्याशयेनाहुः **ज्ञानेपी**ति ॥ ३३ ॥ **कस्मा**दित्यत्र ननु रामस्य भगवदावेशात् कथं तात्पर्याज्ञानमित्यत आहुः **भगवद्व्यतिरिक्ताना**मिति, **भगवतः** सकाशाद् **व्यतिरिक्तानां** भिन्नतया स्थितानां **यदान्यो** भक्तिविरुद्धो **धर्मः प्रवर्तते** तदा तत्र हरिः **स्वामी आविष्टो न** भवत्यतः **सोन्यथा वदेत्**, आवेशे सर्वत्रैवमेव व्यवस्था, तथा च रामस्याप्यधुना भिन्नतया स्थितस्य भक्तिविरुद्धस्वतन्त्रक्रीडारूपधर्मप्रवृत्त्या आवेशाभावः, अतस्तात्पर्याज्ञानात् 'कृष्णो मृदं भक्षितवा'निति रामोपि वदतीतिभावः ॥ ३४ ॥ **नाहं भक्षितवा**नित्यत्र **स्ववाक्यप्रामाण्यमपी**ति आद्यचरणार्थस्तु विषयबाधः, इदं तु सम्बोधनेनाप्रतारणसूचनादुक्तं जात मित्यपिशब्दः, आभासोक्तं वाक्यार्थमाहु**र्बिरोधी**ति, एतद्धेतुर्विषयबाध आद्यचरणेनोक्तः, समर्थनमुत्तरार्धेनेति ज्ञेयं, अनशनादयो धर्मा विवृतास्तत्रैवं ज्ञेयं, भगवत्युभयविधा अपि धर्माः सन्ति परं सापेक्षाः, यथैकस्मिन्नेव पुरुषे मातरमपेक्ष्य पुत्रत्वं बोध्यते भार्यामपेक्ष्य तद्विरुद्धं पतित्वं बोध्यते एवमन्यदपि तथा ज्ञानमार्गीयमपेक्ष्य भगवत्यनशनादयो धर्मा बोध्यन्ते भक्तिमार्गीयमपेक्ष्य च भोक्तृत्वादय इति स्थितिः, अत्र च ज्ञानप्रकरणे "भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्ष"मित्यनेन यशोदायां ज्ञानस्थापनस्योक्तत्वात् ज्ञानमार्गीया एव धर्मा भगवता बोधनीया भवन्तीत्याशयेन तथा विवृतमाचार्यैः, अयमेवार्थो **ज्ञानप्रकरणत्वादपि तथेत्यनेन टिप्पण्यामुक्तः**, **आधिदैविके**ति अक्षरं केनचिदंशेन जगद्रूपं जातं, तदेव जगतो लयस्थानं तदा**धिदैविकं** रूपं, तस्य **धर्मा** ब्रह्मक्षत्रभोक्तृत्वादयस्**तत्प्रतिपादकानी**त्यर्थः, **पुराणो** जगद्व्यतिरिक्तः पुरुषोक्षररूपस्तत्पराणीत्यर्थः, ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वात् **पुरुषोत्तमे**प्यक्षरधर्मा एव बोधनीया इत्याशयेन भगवत्येते धर्मा उच्यन्ते इति ज्ञेयं, भगवता "यदि सत्यगिर" इति विचाररीत्योक्तत्वाद् तद्रीत्यैव तदाभासमाहुः **नन्वत्रे**ति, **भक्षणप्रयोजन**मिति रसनेन्द्रियेण रसानुभवः प्रयोजनं, तथा च मुखे रसेन्द्रियस्यादर्शने तज्जनितरसानुभवरूपप्रयोजनाभावज्ञानं भविष्यतीतिभावः, यद्यपीन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वात् तदभावोप्यतीन्द्रियस्तथाप्यग्रे 'वैकारिकाणीन्द्रियाणी'त्यनेनेन्द्रियाणां दर्शनस्य वक्ष्यमाणत्वादिन्द्रियाभावस्यापि दर्शनयोग्यतेति ज्ञेयं, यशोदया "कस्मा"दित्यनेन प्रयोजनं पृष्टमित्युत्तरमपि तथा वक्तव्यमितिभावः ॥ ३५ ॥ **यद्येव**मित्यत्र **अन्यथे**ति निरोधार्थमागमनाभावे इत्यर्थः, **लौकिकं लोकसाम्येन** ज्ञानं तस्य विषयः परिच्छिन्नं भगवत्स्वरूपं **परमार्थ**ज्ञानस्य विषयोऽ-

परिच्छिन्नं स्वरूपमतो **भिन्नविषयत्वाल्लौकिके** लोके प्रकटे परिच्छिन्नरूपे **परमार्थभूतस्यापरिच्छिन्नरूपस्य प्रदर्शनमयुक्तं स्या**दित्यर्थः, न तु प्रदर्शनार्थमिति, प्रदर्शनं त्वमानुषरूपस्यापि करोति, परं क्रीडाकरणार्थं मानुषत्वमित्यर्थः, **लौकिक्यामिति** लोकसदृशी क्रियाशक्तिः रिङ्गणादिलीला तस्यां कर्तव्यायामलौकिकक्रियाशक्ते**स्तिरोभावो**ऽप्रकटनमित्यर्थः, तथा च मूले **क्रीडार्थं** लौकिमक्रियाशक्त्यर्थं **मनुजबालक**स्तिरोहितालौकिकक्रिय इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

सर्वे मिथ्याधिशंसिन इत्यस्य विवृतौ एते **बालकाः सरामा गोप्यश्च ये केचित् मया यत्किञ्चिद् भक्षितं यदा कदापीत्याहुस्ते सर्वे मिथ्याभिशंसिन** इति अत्रेदं ज्ञेयं, इह **सर्व**शब्देन रामाद्या गोपबालका एव गृहीतुं यद्यपि योग्यास्तथापि बालादिपदमनुक्त्वा **सर्व**पदं भगवतोक्तं तस्यायमाशयः श्रीमदाचार्यैर्विवृत इति श्रीमत्प्रभुचरणैष्टिप्पण्यामुक्तं, तत् तथैव, न च भगवता बाललीलया मातुर्भयादसत्यमेवोक्तमिति वाच्यं, "सत्यं देवानामनृतं मनुष्याणा"मिति श्रुतेरसत्यभाषणस्य मनुष्यासाधारणधर्मत्वात, मनुष्यासाधारणधर्माणां भगवत्यभावात्, "मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्" "गूढः कपटमानुषः" "मायामनुज ईश्वर" इत्यादिबहुभिर्वचनैर्मनुष्यासाधारणधर्माणां वस्तुतो भगवति निषेधात, अतो यथार्थमेव भगवान् ब्रूत इति मन्तव्यं, तथा च भगवता भक्षणनिषेधे सर्वपदमुक्तमिति तथा सुबोधिन्यां व्याख्यातं, तत्र परमाग्रहेण भोजनाभावः श्रीमदाचार्यैः स्थाप्यते तस्यायमाशयः, "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इति श्रुतेः क्षुधो मनुष्यासाधारणधर्मत्वान् मनुष्यासाधारणधर्माणां "मायामनुष्यस्य वदस्व विद्व"न्नित्यादिवाक्यैर्भगवत्यभावात् क्षुत्पिपासादीनां वक्तुमशक्यत्वात् क्षुत्पिपासाजन्यानां भोजनपानादीनां निषेधो युक्त एव, ननु भगवता चेन्न भुज्यते तर्हि कथं महाप्रसादत्वं तदन्नादेरिति चेत्, सत्यं, न ह्यत्र सुबोधिन्यां भक्षणाभावः प्रतिपाद्यते, किं तु भगवता भक्षितस्य प्रक्षितस्य प्रतिपत्तिर्निरूप्यते, यद् भगवता भुज्यते तदन्तःस्थितबालकानां तृप्त्यर्थं न तु स्वतृप्त्यर्थमिति, अतः क्षुद्वशाद् भगवता न भुज्यते, तथा चेत् स्वार्थं भवेत्, अन्तःस्थितबालानां तृप्त्यर्थं भुक्तमिति परार्थतैव, स्वार्थभोजनं तु क्षुज्जन्यं तत् तु भगवति नास्ति, तत्कारणीभूतायाः क्षुधाया असम्भवात्, पूर्वोक्तश्रुत्या मनुष्यासाधारणधर्मत्वेनोक्तत्वात्, अत एव सुबोधिन्यां **आरण्यानां भक्षणं तु अन्तःस्थितभक्तानां शुद्धान्नसम्बन्धेन कृतार्थत्वाये**त्युक्त्वा भक्षणमङ्गीकृतमेव, किन्तु जीवैर्यथा भक्ष्यते तथा न भुङ्क्ते भगवान्, जीवभोजने क्षुत्कारणशरीरपोषणादिप्रयोजनं, भगवद्भोजने तु भगवदीयजननिरुपधिस्नेहः **कारणं**, भगवदन्तःस्थितभक्ततृप्तिकृतार्थत्वादिप्रयोजनमिति कारणप्रयोजनभेदात्, एवमेव श्रीगोवर्धनप्रसङ्गे "शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपु"रित्यस्य व्याख्याने 'यदा दत्तं बलिं बुभुजे' इत्युक्त्वा अग्रे 'एवं भूरि बलिमादत् पक्वान्नादिकं बहु भक्षितवा'नित्युक्त्वा भगवत्कर्तृकं भक्षणमङ्गीकृतं, अग्रे 'पर्वतस्थान् सर्वानेव तर्पितवा'नित्युक्त्या भक्षणप्रयोजनं परतृप्तिर्न तु स्वतृप्तिरिति भोजनप्रतिपत्तिर्निरूपिता, अतोत्र स्फुटमेव भोजनं निरूपितमितिभुक्तशेषस्य भवत्येव महाप्रसादत्वं, एवमेव यज्ञपत्नीप्रसङ्गे "भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभु"रित्यस्य सुबोधिन्यां "चतुर्विधेन सम्पूर्णरसात्मकेन गोपानाशयित्वा स्वयं च बुभुजे" इत्युक्त्वा भोजनमङ्गीकृतं, भोजनप्रयोजनं तु एतच्छ्लोकाभासे "तस्यामन्तः समागतायां तां बालकांश्च भोजितवानित्याहे"त्यनेन मुक्तयज्ञपत्न्या अन्तःस्थितबालकानां च तृप्तिरुक्ता, अतः प्रयोजनमेवान्यदुच्यते भोजनं तु स्वीक्रियत एव, एवमेव "दध्योदनमुपानीतं शिलायां सलिलान्तिके सम्भोजनीयैर्बुभुज" इत्यस्य सुबोधिन्यां "सजातीयैर्गोपैः सङ्कर्षणेन चान्वितो बुभुजे" इत्युक्त्वा भोजनं स्वीकृतमेव, अत एव "केवलमायाजनितं स्तन्यं भगवान् न पिबे"दित्यत्रापि पानमुक्तं, अतो भगवता भुज्यत इति निर्विवादं, प्रयोजनं तु अन्तःस्थितबालानां तृप्तिकृतार्थत्वादिरूपं निरूपितं, एतावता भगवान् न भुङ्क्ते इति नाभिप्रेतं, अतो भवत्येव भगवत्प्रसादत्वं भगवदुच्छिष्टस्य, **अत एव** "उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमहि" इत्यादिवचांसि सङ्गच्छन्ते यत् तु **"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" "अत्ता चराचरग्रहणात्" "भुङ्क्ते विश्वभु"गित्यादिवाक्यान्याधिदैविकरूपधर्मप्रतिपादकानि, अतः पुराणपुरुषपराणि न भवन्तीति ये केचित् भगवन्तं भोक्तारं मन्यन्ते उपदिशन्ति च ते सर्वे मिथ्याभिशंसिनः नैवेद्यं च तुष्टिदं भवति निवेदनमात्रेणे**त्यन्तेन भक्षणाभावः प्रतिपादितस्तस्य तु प्रकारो भिन्न एव, न तु तुष्टिभक्तौ भोजननिषेधपरः, तथा हि "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" "अत्ता चराचरग्रहणा"दित्यादौ यो भोगः स तु ब्रह्मक्षत्रयोर्मुक्तिरूपः, "भुङ्क्ते विश्वभुगव्यय" इत्यत्र तु व्यापकरूपेण विद्यमानो भगवान् जीवद्वारा स्वयं भुङ्क्ते इत्युच्यते 'त्रीन् लोकान् व्याप्य भूतात्मे'तिवाक्यात, अत एवा**धिदैविकरूपधर्मप्रतिपादका**नीत्युक्तं विवृतौ, अत एतेषु श्रुतिपुराणादिवाक्येषु न पुरुषोत्तमभोजनमुच्यते न वा सुबोधिन्यां पुरुषोत्तमभोजनाभावः प्रतिपाद्यते, किन्तु एतेषु वाक्येषु न पुरुषोत्तमभोजनव्यवस्थेत्युच्यते, तथा च अन्यैरेव वाक्यैर्व्यवस्थापनीयमिति हार्दं सुबोधिन्याः, ततोग्रे **आरण्यानां भक्षणं तु** इत्युक्त्वा भक्षणं सिद्धान्तितमेव, तत्र मानं तु "**पत्रं पुष्पं** फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि **प्रयतात्मन**" इति भगवद्वाक्यमुपन्यस्तं **अतः "पत्रं पुष्प"मितिवाक्यं** च **न विरुध्यत** इति फक्किकया, एवं सति "पत्रं पुष्प"मितिवाक्ये "भक्त्या

प्रयच्छती"त्यनेन "तदहं भक्त्युपहृत"मित्यनेन च भक्तेः साधनत्वेनोक्तत्वाद् भक्त्या समर्पितं भगवान् पुरुषोत्तमो "लोकवत तु लीलाकैवल्य"मितिन्यायाल्लोकरीत्या भुङ्क्ते, प्रयोजनं त्वन्तःस्थितभक्तकृतार्थता न तु स्वतृप्तिः, एवं सति भक्तौ भोजनं सिद्धमेवेति महाप्रसादत्वमपि भगवदुच्छिष्टस्य निर्विवादमेव, अपि च, **नन्वत्र किं युक्तं भगवान् भक्षयति न वेतीति** सन्दिह्य **भक्षयत्येवेत्यारभ्य भक्षणमेव सत्यमिति चे**दित्यन्तेन पूर्वपक्षमुक्त्वा भक्षणाभावः सिद्धान्तीक्रियते तत् तु भगवत्स्वरूप-धर्ममर्यादा तादृश्येवेति प्रदर्श्यते, पुष्टिभक्तौ तु स्वरूपमर्यादामप्युल्लङ्घ्य भक्तानां प्रीत्यर्थं भोजनं करोत्येवेति सर्वप्रमाणातीतः पुष्टिभक्तिमहिमेति स्फुटीभवति, यदि सर्वत्र पुरुषोत्तमो भोजनं कुर्यात् तदा पुष्टिभक्तौ को वा विशेषः स्यादतो न कुत्रापि पुरुषोत्तमो भुङ्क्ते किन्तु पुष्टिभक्तावेव भुङ्क्ते इति महद्गौरवं पुष्टिभक्तेः, यथा 'आत्मारामोप्यरीरम'दित्यादिनात्मारामत्वेन सर्वत्र रमणाभावं प्रतिपाद्य "अरीरम"दित्यनेन पुष्टिभक्तानां घोषमृगीदृशामुपरि परमकृपया रमणमुक्तं, ततश्च सिद्धं परमोत्कर्षेण, यदि सर्वत्रैव रमेत तदा व्रजस्त्रीभिः सह रमणे विशेषो न स्यादतस्तथोक्तिः, एवं अत्रापि सर्वत्र भक्षणाभावे पुष्टिभक्तसमर्पित-भक्षणे पुष्टिभक्तेः परममाहात्म्यं स्फुटतीत्याचार्याणामार्याणां चैतावानुद्यमः, पुष्टिभक्तौ तु सर्वत्रैव स्वरूपमर्यादामतिक्रम्य भगवान् क्रीडति, अत एव रासक्रीडायां गजदृष्टान्तविवृतौ ब्रह्ममर्यादाभङ्गः सुबोधिन्यां निरूपित इति दिक्, नन्वन्तःस्थित-भक्तानां तु कृतार्थतायाः सिद्धत्वेपि पुनर्भगवदुच्छिष्टप्रसादग्रहणे का वा कृतार्थतेति चेत्, मुक्तिरूपपुरुषार्थसिद्धावपि नित्य-लीलामध्यपातिभक्तैः सह नित्यलीलानुभवरूपकृतार्थता प्रसादग्रहणाद् भविष्यतीति सुधीभिराकालनीयम् ॥ ३५ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

कस्मान् मृदमित्यत्र **भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः** प्रवर्तते । यदा तत्र **हरिः स्वामी नाविष्टः सोन्यथा वदेत्** ॥ ननु रामस्य भगवदावेशात् कथं मृद्भक्षणतात्पर्याज्ञानमित्यत आहु **भगवद्व्यतिरिक्तानामिति**, **भगवतः** सकाशाद् व्यतिरिक्तानां भिन्न-तया स्थितानां यदान्यो भक्तिविरुद्धो **धर्मः प्रवर्तते** तदा तत्र **हरिः स्वामी आविष्टो** न भवत्यतः **सोन्यथा वदेत्** तथा रामस्याप्य-धुना भिन्नतया स्थितस्य भक्तिविरुद्धस्वतंत्रक्रीडारूपधर्मप्रवृत्त्या आवेशाभावः, अतस्तात्पर्याज्ञानात् "कृष्णो मृदं भक्षितवा" निति रामोपि वदतीतिभावः, यद्यपि इतरबालकवद् रामस्य न केवलदोषदृष्टिः किंतु स्नेहादेव दोषदृष्टिस्तथापि स्वातन्त्र्येण क्रीडा-हेतुकभगवदावेशाभावात् स्वोदरस्थबालकेभ्यो मृद्दानतात्पर्याज्ञानं, तदुक्तं टीपण्यां इयं क्रीडा न भगवदर्थं नापि भगवत्सङ्गे किन्तु स्वार्थमेवेति ॥ ३४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा सा यशोदा करे हस्ते कृष्णं गृहीत्वा उपालभ्य निर्भर्त्स्य अभाषतेत्यन्वयः । ननु 'पूर्वं तु महानुपद्रवस्तेन कृतः, तदा कुतो नोपालम्भं कृतवती ? इदानीमल्पापराधे कथं तत् कृतवती ? इत्यपेक्षायामाह—हितैषिणीति 'मृद्भक्षणस्य रोगजन-कत्वात्तन्माभूत्' इति हितमिच्छन्तीत्यर्थः । पूर्वमस्य दोषस्याभावात् तन्न कृतवती । 'भगवताऽपि लौकिकबालभाव एव प्रकाशित' इत्याह—भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपलनिरीक्षणे अक्षीणि यस्य तमिति ॥ ३३ ॥ भाषणमेवाह—कस्मादिति । अदान्तः अवशीकृत आत्मा अन्तःकरणं यस्य तत्सम्बोधनम्—'हे अदान्तात्मन् !' इति । रहः एकान्ते भवान् मृदं कस्माद्धेतोर्भक्षितवान् ? किं मम गृहे सितादि मृष्टं भक्ष्यं नास्तीति । भक्षणे प्रमाणमाह—एते कुमारा वदन्तीति । ननु 'तेऽनृतं वदन्ति' इति चेत्तत्राह—तावका इति । तव हितैषिणः । 'कुमारा' इत्यनेन तेषामन्यथा कल्पने सामर्थ्यं नास्तीति सूचितम् । 'ननु तर्हि भ्रमस्य सम्भवाद्भ्रान्त्यैवैते तथा वदन्ति' इत्याशङ्क्याह—हिं यस्मात्ते तवाग्रजोऽग्रजत्वात्त्वत्तोऽस्य बुद्धिरुत्कृष्टैव सोप्यय प्रत्यक्षं तथैव वदतीति नात्र काचिदसम्भावना । श्रीरामेऽपि पुत्रवल्लाल्यमानत्वात् परकीयत्वबुद्ध्यभावाच्च नन्दयशोदयोरप्यग्रजत्व-व्यवहारः ॥ ३४ ॥ दयोत्पादनार्थं सम्बोधयति—अम्बेति । अहं मृदं न भक्षितवान्, एते तु सर्वे मिथ्याभिशंसिनः अनृतमेव वदन्ति । यदि 'ते सर्वे सत्यगिरः यथार्थवक्तारः' इति त्वं मन्यसे, तर्हि मे मम मुखं समक्षं प्रत्यक्षं पश्य ॥ ३५ ॥ 'यद्येवं त्वया मृन्न भक्षिता चेत् तर्हि व्यादेहि मुखं प्रसारय' इति तयोक्तः स हरिः व्यादत्त मुखं प्रसारितवान् । ननु 'मृदो भक्षितत्वात् कथं निर्भयतया मुखं प्रसारितवान् ?' तत्राह—अव्याहतैश्वर्य इति । न विशेषेण आहतमैश्वर्यं यस्य सः, ऐश्वर्यादिषड्गुणपूर्णः । तत्र हेतुमाह—भगवानिति । अन्यथा भगवत्वमेव भज्येतेत्याशयः । ननु 'तर्हि प्रथमं कथं भयेनानृतमुक्तवान्' । इत्याशङ्क्य आह—क्रीडेति । क्रिडार्थमेव मनुजबालकः । अतः क्रिडार्थं भयानुकरणमात्रमेव कृतवान् । न तु वस्तुतस्तस्य भयमस्तीति भावः । न चानृतवदनं शङ्कनीयम् । वस्तुतः सर्वस्यैव पदार्थस्य तदन्तःस्थत्वेन बहिष्ठवस्तुभक्षणासम्भवात् । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति श्रुतेश्च ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सा इति ॥ हितैषिणी सा यशोदा भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपलनिरीक्षणे अक्षिणी यस्य तं कृष्णं पलाय नाशङ्कया करे गृहीत्वा उपालभ्य निर्भर्त्स्य अभाषत ॥ ३३ ॥ कस्मादिति ॥ अदान्तः अवशीकृत आत्मा यस्य हे चपलगात्र चञ्चलचित्त

वा रहः एकान्ते भवान् मृदं कस्माद्धेतोर्भक्षितवान्। हि यतः एते तावकाः तव हितैषिणः कुमारा वदन्ति तथा अयं ते अग्रजो रामोऽपि वदति ॥ ३४ ॥ श्रीकृष्णस्तु न बाह्यं किंचिन्मया भक्ष्यते आदावेव सर्वं मम कुक्षावस्तीति पश्येत्याह स्म—नाहमिति ॥ हे अम्ब मातः! अहं मृदं न भक्षितवान्। एते तु सर्वे मिथ्याभिशंसिनः अनृतमेव वदन्ति। यदि ते सर्वे सत्यगिरः यथार्थवक्तार इति त्वं मन्यसे तर्हि मे मम मुखं समक्षं प्रत्यक्षं पश्य ॥ ३५ ॥ यद्येवमिति ॥ यद्येवं त्वया मृन्न भक्षिता चेत्तर्हि व्यादेहि मुखं प्रसारय। आस्यविहरणत्वान्न तङ्। इति तयोक्तः अव्याहतमप्रतिहतमैश्वर्यं यस्य सः भगवान् ऐश्वर्यादिषड्गुणपूर्णः अपि क्रीडार्थमेव मनुजबालकः स हरिः व्यादत्त मुखं प्रसारितवान् ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

उपालभ्य तिरस्कृत्य भयेन संभ्रांतप्रेक्षणे चंचलनिरीक्षणे अक्षिणी यस्य तम् ॥ ३३ ॥ अदांतात्मन् हे अवशीकृतशरीर रहो विजनदेशे ॥ ३४ ॥ मिथ्याभिशंसिनः मिथ्याऽभिभाषिणः समक्षं प्रत्यक्षम् ॥ ३५ ॥ व्यादेहि वक्त्रं विकाशय इत्युक्तः। व्यादत्त विकाशितवान् मनुष्यातिधारणेऽपि अव्याहतानि अप्रतिहतानि सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वसर्वधारकत्वादीनि ऐश्वर्याणि यस्य एवंभूतः सन् क्रीडामनुजबालकः अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममाययेति गीतोक्तेः ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सेति। हितैषिणी स्वसुतहितमिच्छन्ती, सा यशोदा, कृष्णं स्वसुतं, करे गृहीत्वा, उपालभ्य निर्भर्त्स्य, भयेन संभ्रान्तप्रेक्षणे अक्षिणी चपललोचने यस्य तं कृष्णं, अभाषत ॥ ३३ ॥ भाषणमेवाह ॥ कस्मादिति। हे अदान्तात्मंश्चपलगात्र, उद्धत स्वभावेति वा। भवान्, कस्मात्, रहः एकान्ते मृदं भक्षितवान्। नाहं भक्षितवानित्यत्राह। तावकाः त्वया सह क्रीडमानाः, एते कुमाराः, वदन्ति हि। अयं ते तव अग्रजो बलोऽपि, वदति। कथयतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ एवमुक्तः श्रीकृष्णः प्राह ॥ नाहमिति। हे अम्ब मातः, अहं मृदं, न भक्षितवान्। न ह्यम्ब मया किंचिद्भक्ष्यते, यतो हि मत्कुक्षौ सर्वस्य स्थितत्वादिति भावः। अतः सर्वेऽप्येते, मिथ्याभिशंसिनः मिथ्यावादिनः, यदि एते सत्या गिरो येषां तथाभूताः, तर्हि, स त्वं मे मम, मुखं पश्य ॥ ३५ ॥ यदीति ॥ यदि एवं तर्हि, व्यादेहि विवृतं कुरु। इत्येवं उक्तो जनन्या प्रोक्तः, क्रीडामनुजबालकः अत एव, अव्याहतदशायामप्यच्युतमैश्वर्यं यस्य सः, भगवान् स हरिः, व्यादत्त विवृतमकरोत् 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभावाविकी ज्ञानबलक्रिया च 'सत्यसंकल्पः' इत्यादिवेदान्तावगतसर्वशक्तित्वादिकल्याणगुणजातः सन्नपि जीववन्मनुजबालकत्वभाक् तु क्रीडया निमित्तभूतया, न तु कारणेनेति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सा गृहीत्वेति : १०.८.३३

मृद्भुक्तिसाधनकरः कर एवेति जानती। युक्तं तत्करधृत्साऽऽसीत् तद्धितप्रहितेक्षणा ॥ ६४ ॥
भुक्त्वाऽपि मृत्तिकां मातुरग्रे किं वा वदेदयम्। इत्यक्षिरूपौ चन्द्रार्कौ साक्षिणौ भ्रेमतुस्तदा ॥ ६५ ॥

यद्येवमिति : १०.८.३६.

सकलविश्वविलासविलोकनोल्लसितपुण्यमयीयमिहाधुना। अजनि तत्पुरतस्तु ममोचितो मुखविकास इति व्यकरोत्तथा ॥ ६६ ॥
मुखाम्बुजाते क्षिपतापि तद्रजो विपङ्कमादर्शयता निजाननम्। अदर्शि तेनेह निसर्गशुद्धिषु द्विजेष्वघक्षालनशक्तिरस्ति हि ॥ ६७ ॥
अनशनेऽपि मयीह यथा वृथा जननिरोपितमस्ति मृदोऽशनम्। गणय तादृशमेव पुराऽबलेरितमिति प्रथयन्नमृदाननः ॥ ६८ ॥
आम्नायैर्भुवि भिन्नभिन्नविषयं संप्रापितोऽपि प्रभुर्भूयो गोकुलवृत्तिभिः पुनरसौ सोल्लुण्ठमाभाषितः।
यद्बुद्धिर्न मनागभूत्तदपि संक्षुब्धा न वा प्रस्खलद्भावाऽशेषजगत्स्वरूपकलनं तस्यास्तु तत्साम्प्रतम् ॥ ६९ ॥
भुक्ता मृद्भवतेति गोपशिशवो जल्पन्ति रामादयो नेति त्वं भणसीति तत्र कतमो विश्रम्भणीयो मया।
इत्थं मातृगिरं निशम्य भगवांस्तत्संशयोच्छित्तये स्वास्ये स्पष्टमदर्शयत् किमु तदा मुख्यां सविश्वास्यताम् ॥ ७० ॥
एषां मानय मा वचो ह्यवितथं रामादिकानामिदं मातर्मद्वचनं त्ववेहि न तथा यत्सत्यवक्ताऽस्म्यहम्।
कस्मात्सत्यमदोऽवधार्यमिति चेन्निःशङ्कमेवेक्ष्य तां मन्मुख्यस्थितिरित्यदर्शयदसौ किं विश्वमास्ये प्रभुः ॥ ७१ ॥
मामेव तूद्दिश्य वदन्ति सर्वे मातस्तदत्यन्तमृषैव यस्मात्। भुक्ता मया चेदखिलैरपीति सम्बोधयन् विश्वमदर्शयत्किम् ॥ ७२ ॥
कदशनं कृतमद्य कुतस्त्वया गिरमिति प्रसुवोऽथ निशम्य सः। निजमुखे किमु विश्वनिवासिनि न वसुधाशनभक्ति मदर्शयत् ॥ ७३ ॥
तत्सावर्ण्यमवाप्य गोपशिशुभिः सक्रीड आसीद्यदा तन्मृत्स्नाशनतश्च बालचरितं व्यक्तीचकाराऽच्युतः।
शंसद्भिः प्रसुवे यदा शिशुजनैः स्वातन्त्र्यमाप्रापितो विश्वात्मा स तदाऽऽत्ममात्रचरितं चक्रे स्फुटं साधु तत् ॥ ७४ ॥

तत्तद्भक्तविभावितानि बहुशो रूपाणि सन्त्येव मे यत्तत्र प्रमुखं तदद्य जननीं संदर्शयाम्यञ्जसा।
मन्येऽसौ मुख एव विश्वविभवं प्रादर्शयत्कौतुकान् नो चेदर्जुनवद् व्यदर्शि न कुतः स्वाङ्गे विराडात्मता ॥ ७५ ॥
यावत्यो देवतास्ता विदधति वसतिं ब्राह्मणे वेदवेदिन्यारात्तीर्थानि कृत्स्नान्यपि किमु बहुना सर्वमेवापि विश्वम्।
इत्थं वेदोपपाद्यं विशदयितुमिह ब्राह्मणानां महत्त्वं स्वास्ये कृष्णेन विश्वं निखिलमपि तदा ब्राह्मणात्मन्यदर्शि।।७६।।
धरेत्यभिधया त्वयेति च पुराऽहमभ्यर्थितस्तथादिश हरे सुखं त्वदनुरूपपुत्रोद्भवम्।
इदं तदिति निश्चितं कलय मुख्यरूपं ममेत्युपस्थितधरांशतोऽन्वभिहितं जनन्यै किमु ॥ ७७ ॥
मृन्निमित्तेन यद्विश्वमदर्शि विभुनामुखे। तन्मन्ये गां पुरस्कृत्य बोधितं विश्वरक्षणम् ॥ ७८ ॥
यन्न दृष्टं श्रुतं वापि संसारगुरुकानने। श्रीशप्रसादात्साऽपश्यत् सर्वं तद्बालकानने ॥ ७९ ॥
पाक् सृष्टेरविकारि वेदगदितं यद्रूपमासीत्परं रूपे नामनि कल्पितेऽपि विविधे तत्तादृगेव ध्रुवम्।
व्यक्तीकर्तुमसंशयं निजजनान् प्रागुत्तरं च प्रभू रूपं मुख्यमयं स्वनामकरणात्प्रादर्शयद् गोकुले ॥ ८० ॥
यावत्तत्त्वमतिः सती समुदयत्यन्ते वसन्तं गुरुस्तं तावत्समुपादिशेन्न नियमस्तत्रासकृद्वा सकृत्।
मन्येऽनुग्रहसम्प्रदायगुरुणा कारुण्यदुग्धाब्धिना सञ्चिन्त्यैवमदर्शि विश्वमसकृत् तत्तत्त्वधीकारणात् ॥ ८१ ॥

कृष्णप्रिया

माता यशोदा जी ने लालन के दोनों हाथों को पकड़ लिया और हितैषिणी माँ धमकाने लगी कि कृष्ण! मिट्टी क्यों खाई! (माँ को डर था कि मिट्टी खाने से श्यामलाल को रोग पकड़ न ले) श्याम सुन्दर डर गये और भयसम्भ्रान्तनयन कृष्ण भगवान् माँ की ओर आँखे भी न उठा सके ॥ ३३ ॥ पुनः हाथ पकड़कर माँ ने कहा अरे नटखट अरे असंयमी आपने आज एकान्त में मिट्टी क्यों खाई? सुनो तुम्हारे सारे मित्र ग्वालबाल एवं बलदाऊ भैया भी तो इसी बात की पुष्टि करते हैं ॥ ३४ ॥ भगवान् ने कहा—अम्मा! मैंने मिट्टी बिल्कुल नहीं खाई ये सब मिथ्याभाषी है। यदि वे सत्यवादी है तब सम्मुख मेरा मुँह देखो ॥ ३५ ॥ अम्मा ने कहा—यदि ऐसी शेखाई करते हो मुँह खोलो! तब, लीलाओं को करने के लिये मनुज बालरूपधारी अप्रतिहत सर्वैश्वर्यसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण ने मुँह खोल दिया ॥ ३६ ॥

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् [1]स्थास्नु च खं दिशः। साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥ ३७ ॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो [2]नभस्वान् वियदेव च। वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ॥ ३८ ॥
एतद् विचित्रं सह जीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥ ३९ ॥
किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः[3]।
अथो [4]अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तत्र सा जगत् स्थास्नु विश्वं च खं दिशः सवाय्वग्निन्दुतारकं साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलम् ॥ ३७ ॥ ज्योतिश्चक्रं जलं तेजः नभस्वान् च वियद् एव वैकारिकाणि इन्द्रियाणि मनः मात्राः त्रयः गुणाः सह जीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् एतद् विचित्रं च विदारितास्ये सूनोः तनौ व्रजं सह आत्मानं वीक्ष्य शङ्काम् अवाप ॥ ३८-३९ ॥ किं स्वप्नः! एतद् उत देवमाया? किं वा मदीयः बुद्धिमोहः बत अथ अमुष्य मम अर्भकस्य एव यः कश्चन औत्पत्तिकः आत्मयोगः (प्रतिभाति)।।४०।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

॥ ३६ ॥ तत्र तस्मिन्मुखे विश्वं ददृशे ददर्श। तत्प्रपंचयति। जगज्जंगमं स्थास्नु स्थावरं खमंतरिक्षलोकं साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं पर्वतद्वीपसमुद्रसहितं भूगोलं भूर्लोकं वायुः प्रवहः अग्निर्वैद्युतः इंदुश्च तारकाश्च तत्सहितम् ॥३७॥ ज्योतिश्चक्रं स्वर्लोकं वैकारिकाणि देवाः मन इति वैकारिकशब्देन गृहीतमपि देववैलक्षण्यात्पुनरुक्तम्। इंद्रियाणि च तैजसानि मात्रास्तामसाः शब्दादयः ॥ ३८ ॥एवमेतद्विचित्रं विश्वं सहैकदैव वीक्ष्य विचित्रतामाह। जीवश्च गुणक्षोभकः कालश्च परिणामहेतुः स्वभावश्च जन्महेतुः कर्म च तत्संस्कारभूतः आशयश्च एतैर्लिंगानां चराचरशरीराणां भेदो यस्मिंस्तत्। तत्र व्रजं च सहात्मानं स्वसहितं

---

१. स्थास्नु—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक.। २. नभस्वद्विवराणि च—वीर.; विवराणि रसातलम्—इति कस्यचित्; नभस्वद्वियदेव च—विज.। ३ भेदः—विज.। ४. अमुष्यापि—विज.।

कचिद्वीक्ष्य सूनोस्तनावल्पे विदारिते आस्ये शंकामवाप ॥ ३९ ॥ तामेवाह । किं स्वप्न इति । परितो विलोक्याह । नायं स्वप्नः । तर्हि किं देवस्य हरेर्मायेति । तथा चेदन्ये किं न पश्यंति । तर्हि किं वा मदीय एव कश्चिद्बुद्धिमोहो धीविपर्यासो दर्पणे मुखवत् एवं तर्ह्ययं कृष्णोऽपि कथमंतः प्रतीयते नहि दर्पणे दर्पणप्रतीतिः । अंतर्बहिश्चैकरूपेण च कथं जगत्प्रतीयते । तथा सति बिंबप्रतिबिंबयोरिव परस्परं वैपरीत्येन प्रतीतिः स्यादित्याशंक्यान्यथा वितर्कयति । अथो इति । अथ वा ममैवामुष्यार्भकस्यापि सतो यः कश्चनाचिंत्य आत्मयोगः स्वीयमैश्वर्यम् । औत्पत्तिकः स्वाभाविकः ॥ ४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

प्रवहः येन प्रेरितं ज्योतिश्चक्रं भ्रमति । वैद्युतस्तडिद्रूपोग्निः । प्रसिद्धौ वाय्वग्नी त्वग्रे वक्ष्यमाणावेवात एतयोर्ग्रहणम् ॥३७॥ नभस्वान्वायुः । वियदाकाशम् ॥३८॥ एवमुक्तरीत्या एतत् दृश्यमानम् एतैर्जीवादिभिः सह । तत्र विश्वस्मिन्मुखे वा । यद्वा-जीवादिभेदांतानां द्वंद्वं कृत्वा पुनर्मत्वर्थीयोऽच् तत्र लिंगं सूक्ष्मशरीरं भेदस्तत्तद्द्रव्यावर्तकधर्मः ॥ ३९ ॥ तां शंकामभिनयेनाह-किं स्वप्न इति । तथा चेत् माया यदि तां मदन्ये एव तर्हि दर्पणस्थानीयोऽयं कृष्णः कथमन्तः न स्वमुखे हि दर्पणे दर्पणं प्रतीयतेऽपि तु तद्वत्रं सर्वं किञ्च दर्पणांतर्मुखप्रतिबिंबं दर्पणद्रष्टुरभिमुखं भवेदेतत्तु ततो वैपरीत्येन भातीत्याह-तथा सति एकरूपत्वेन प्रतीतिसद्भावे सति । अन्यथा प्रकारांतरेण । वितर्कयति विमृशति । यद्वात्मनो योगोऽपूर्वार्थप्राप्तिः "योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु । वपुः स्थैर्ये प्रयोगे च विष्कुम्भादिषु भेषजे ॥ विस्रब्धघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि । कर्मणेऽपि च" इति मेदिनी ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सेति युग्मकं तत्र तस्मिन् भगवति तज्जठरान्तरित्यर्थः भक्षणापलापोपयोगित्वात् वक्ष्यते च तैः तनूदराश्रितं विश्वमिति चराचरात्मकं विश्वमेव विवृणोति-खमित्यादिना भेदमित्यन्तेन, वैद्युतोग्निर्ज्योतिश्चक्रेपि ज्ञेयः खमन्तरिक्षं भुवर्लोकमित्यर्थः । वियदेव वियदपि ददर्श स्थूलानां तत्परिच्छेद्यानां तत्कार्य्याणां जलादीनां वा का वार्त्तेत्यर्थः । एवमग्रेप्यनुवर्त्त्यं चकारादहङ्कारादींश्च अत्र निराकाराणामपि वीक्षणं तदधिष्ठातृदेवानामभेदमानेन ज्ञेयम् ॥ ३७-३८ ॥ कदा वीक्ष्य विदारितास्ये सति तस्मिन् व्रजं सहात्मानं आत्मभ्यां स्वाभ्यां श्रीकृष्णयशोदाभ्यां सहितं वक्ष्यते च श्रीब्रह्मणा "यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति" इति एवं तस्यैव बालविग्रहस्याचिन्त्यशक्त्या युगपद्विभुत्वमध्यमत्वे तत एवास्यैव जगतोन्तःस्थितत्वबहिःस्थितत्वे दर्शिते शङ्कामवाप विविधाशङ्कामकरोदित्यर्थः । यद्वा, पुत्रं प्रति शङ्कामकरोत् वीक्ष्येति पूर्ववत्सिद्धान्तः ॥ ३९ ॥ एतद्दर्शनम् उतवादेवताविशेषस्य माया वा बत खेदे उत्पत्तिक आत्मयोगः जन्मनैव स्वस्मिन्न पूर्वार्थसम्प्राप्तिः वारं वारं विविधाश्चर्य्यदर्शनात् ॥४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्र तस्मिन् भगवति तज्जठरान्तरित्यर्थः, अत एव तैरपि नवमाध्यायारम्भे लिखितम्-'तनुदराश्रितं विश्वम्' इति । चराचरात्मकं विश्वमेव विवृणोति-खमित्यादिना भेदमित्यन्तेन । वाय्वग्न्योरुक्तयोरपि तेजोनभस्वतोः पुनरुक्तिः प्रवाहाख्यवायोर्वैद्युताग्नेश्च ज्योतिश्चक्रान्तः पृथक्सत्तया भेदात् । स्ववियतोरपि लोकत्वशून्यत्वादिना भेदः; यद्वा, जलादिभिस्तत्तदधिष्ठातृमहाभूतानि चत्वारि भूगोलशब्देन तत्तदधिष्ठातृदेवतातदधिष्ठानञ्च गोलरूपमुक्तम् । एवं अपि वियदपि, तस्य व्यापकत्वादिनाद्यदृश्यत्वदेव शब्दः । एवमयमग्रेऽप्यनुवर्त्त्यः । चकारादहंकारादीन् ॥ ३७-३८ ॥ सूनोस्तनौ जठरमध्ये वीक्ष्य तत्तद्विशेषेण स्वदृग्भ्यामेव साक्षादवलोक्येति श्रीभगवदिच्छया, किंवा प्राग् लिखितसिद्धान्तानुसारेण तस्या एव चक्षुःशक्त्येति ज्ञेयम् । कदा वीक्ष्य ? विदारितास्ये सति, तस्मिन्नास्ये विदारिते सतीत्यर्थः । शंकामवाप, विविधामाशंकामकरोदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ एतद्दर्शनमुत वा देवमाया वा बत खेदे । उत्पत्तिक इति वारंवारं विविधाश्चर्य्यप्रदर्शनात् ॥ ४० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

वैकारिकाणि सात्त्विकाहङ्कारकार्याणि इन्द्रियाणि मनश्चेत्यन्वयः मात्रास्तन्मात्राणि पञ्च आशयो वासना लिङ्गं शरीरम् ॥ ३८-३९ ॥ ममार्भकस्य मम सुतस्य औत्पत्तिकः स्वगतोऽणिमाद्यैश्वर्य्ययोगः ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सा यशोदा तत्र विवृते आस्ये विश्वं ददर्श, तदेव प्रपञ्चयति-जगज्जङ्गमं स्थास्नु स्थावरं खमन्तरिक्षलोकः पर्वतद्वीपसमुद्रसहितः भूर्लोकः वायुः प्रवहश्चाग्निर्वैद्युतश्चेन्दुश्च तारकाश्च तत्सहितम् ॥३७॥ ज्योतिश्चक्रं जलमावरणजलं तेजः सूर्यादिज्योतिः नभ आकाशः स्वः स्वर्लोकः विवराण्यतलादीनि वैकारिकाणि सात्त्विकाहङ्कारकार्याणि श्रोत्रादीनि दशेन्द्रियाणि मनश्च

मात्रास्तामसानि शब्दादितन्मात्राणि पञ्च, त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ॥ ३८ ॥ एवमेतद्विचित्रं विश्वं सहैकदैव वीक्ष्य विचित्रतामेव दर्शयन् विशिनष्टि–जीवाः क्षेत्रज्ञाः सर्वोत्पत्तिनिमित्तगुणक्षोभकश्च कालः परिणामहेतुः स्वभावश्च जन्महेतुः कर्म चाशयो वासना च तैर्लिङ्गानां शरीराणां भेदो यस्मिंस्तं सहात्मानमात्मना यशोदया कृष्णेन च सहितं व्रजं च सूनोस्तनौ तत्रापि विदारिते व्यात्ते आस्ये अवलोक्य शङ्कां संशयमवाप ॥ ३९ ॥ शङ्कामेव दर्शयति–किमिति । एषः शिशोरस्य अल्पवदने विश्वदर्शनरूपः किं स्वप्नः ? जागरावस्थायां न हि स्वप्नः सम्भवति इति विमृश्य वितर्कतयति—उत देवमायेति । तथा चेत् घटपटादीनिव सर्वे किं न पश्यन्तीति विमृश्य शङ्कते–किं वेति । बुद्धिमोहो बुद्धिविपर्यासः भ्रम इति यावत् तथा चेत्पुनः पुनः दर्शनेऽपि यथावत्कथं प्रतीतिरतो न बुद्धिमोह इति विमृश्य शङ्कते अथो इति । अथोऽथवा मदीयस्यामुष्यार्भकस्यापि सतः यः कश्चनाचिन्त्यः औत्पत्तिकः उत्पत्तिसिद्धः स्वाभाविक इति यावत् आत्मयोगः आत्मनः परमात्मनः स्वस्य योगः कुक्षिस्थाखिलविश्वत्वादिकल्याणगुणयोगः तन्मूलक इत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

जगज्जङ्गमं स्थावरं सामान्योक्तं विशिनष्टि—खमित्यादिना । खप्रदेशः भूगोलं भूमण्डलं वाय्वग्नी भौमौ ॥ ३७ ॥ ज्योतिश्चक्रम् अश्विन्यादिनक्षत्रमण्डलं जलतेजसी बाह्याभ्यन्तरगते नभः क्रतुविशेषः अन्तरिक्षं वा स्वः स्वर्गः परलोको वा वियद्बाह्यं सर्वगतं वा वैकारिकाणोन्द्रियाधिष्ठातृदैवतानि ॥ ३८ ॥ स्वभावः सात्त्विकादिः कर्म अदृष्टम् आशयः संस्कारः लिङ्गं लक्षणं सूक्ष्मशरीरं वा बुद्ध्यादिसमूहो वा भेदः तत्तद्वस्तुव्यावर्तकधर्मः ॥ ३९ ॥ शङ्कां प्रकटयति—किमिति । औत्पत्तिकः स्वाभाविकः आत्मयोगः आत्मैश्वर्यातिशयः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

सदात्मानम् आत्मभ्यां स्वाभ्यां श्रीकृष्णयशोदाभ्यां सहितमिति ॥ ३९ ॥ तस्यैव बालविग्रहस्याचिन्त्यशक्त्या युगपद्विभुत्वमध्यमत्वे तत एवास्यैव जगतोऽन्तस्थितत्वबहिःस्थितत्वे दर्शिते औत्पत्तिक आत्मयोगः जन्मनैव स्वस्मिन् अपूर्वार्थ सम्प्राप्तिः ॥ ४० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्र मुखान्तर्जठरे कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे इति ब्रह्मस्तवोक्तेः जगत् जङ्गमं स्थास्नु स्थावरं खं भुवर्लोकं साद्रीति भूगोलमित्यस्य विशेषणं सवाय्विति ज्योतिश्चक्रमित्यस्य वायुप्रवाहः अग्निर्वैद्युतः नभस्वान् नभस्वन्तं वैकारिकाणि देवान् गुणान् सत्त्वादींस्त्रीन् अत्र निराकाराणामपि दर्शनं तदधिष्ठातृदेवतानां मूर्तिमत्वात् ॥ ३७–३८ ॥ पुनश्च प्रपञ्चयति—एतद्विश्वं सह्युगपदेव वीक्ष्य जीवश्च गुणक्षोभकः कालश्च परिणामहेतुः स्वभावश्च जन्महेतुः कर्म च तत्संस्कारः आशयश्च तैर्लिङ्गानां शरीराणां भेदो यस्मिंस्तत् तनौ कुक्षौ विदारिते प्रसारिते आस्ये आस्यद्वारा कुक्षावित्यर्थः । सहात्मानम् आत्मपतिपुत्रादिसहितं व्रजं च यस्य कुक्षाविदं विश्वमिति ब्रह्मोक्तेरस्यैव निश्वस्यान्तःस्थितत्वे बहिः स्थितत्वे अचिन्त्ययोगमायया दर्शिते ततश्च कृष्णशरीरस्य जगन्मध्यवर्त्तित्वजगद्व्यापकत्वाभ्यां परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वे वास्तवे एव व्यञ्जिते ऐश्वर्योपासकानां विश्वस्मिन् भगवद्दर्शनं भगवति विश्वदर्शनं यदुक्तं तदेतदेव माधुर्योपासकशिरोधार्यपदाम्बुजया श्रीयशोदयापि दृष्टं दृष्ट्वा च शङ्कां पुत्रं प्रत्यनिष्टाशङ्काम् अवाप ॥ ३९ ॥ तादृशदर्शनस्य कारणं वितर्कयति—किंस्वप्नः एतद्दर्शनं किं स्वप्नहेतुकं ? नहि नहिः; निद्रालस्यनयनकालुष्याद्यभावात् तर्हि देवमाया ? नहिनहि; मम निष्कृष्टाया मोहने देवानां प्रयोजनाभावात् , तर्हि किं मदीय एव कश्चिद्बुद्धेर्मोहः विपर्य्यासः ? नहिनहि; स्वास्थ्यसमये सम्प्रति मम बुद्धिमोहकारणाभावात् , अथो अथवा अमुष्य मम बालकस्य "नारायणसमो गुणैः" इति गर्गवर्णितमहाप्रभावत्वात् कश्चनाचिन्त्य आत्मयोगः आत्मीयमैश्वर्यम् ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सा यशोदा तत्र तस्मिन् मुखे विश्वं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं कार्यजातं ददृशे तत्प्रपञ्चयति जगत् जङ्गमम् , स्थास्नु स्थावरम् , खमन्तरिक्षलोकम् अद्रिद्वीपाब्धिसहितं भूगोलं भूगोलकम् , पञ्चमभूतस्य भूमेर्भूविवराणामतलादीनां चानेनैव सङ्ग्रहः वायुः प्रवहश्च अग्निर्वैद्युतश्च इन्दुश्च तारकाश्च ततसहितम् ॥ ३७ ॥ ज्योतिश्चक्रं स्वर्लोकम् , पञ्चमभूतस्य भूमेरुक्तत्वाज्जलादिकं भूतचतुष्कम् । चशब्देन महदहङ्कारौ गृह्येते वैकारिकम् इन्द्रियाणि च तैजसानि मात्राः तामसाः शब्दादयो ये गुणाः सत्त्वादयः तांश्च ददृशे इति पूर्वेणैवान्वयः ॥ ३८ ॥ सहैकदैवैतत् विचित्रं विश्वं सहात्मानं स्वसहितं व्रजं च विदारितास्ये सूनोस्तनौ वीक्ष्य शङ्कामवाप विश्वविचित्रतां दर्शयितुं तद्विशिनष्टि, जीवः कर्तृभोक्तृत्वादिधर्मवान् गुणक्षोभकः कालश्च परिणामहेतुः स्वभावश्च जन्महेतुः कर्म च आशयो वासना च तैर्लिङ्गानां चराचरशरीराणां भेदाः यस्मिन् तत् ॥ ३९ ॥ शङ्कामेवाह—किमिति। एतत्किं भवति इति सामान्यतः सन्दिह्य विशेषतो वितर्कयति—किं स्वप्नः सम्भवति हि महास्वप्नोऽपि दैवात् उत देवस्य

विष्णोर्माया सम्भवति हि साऽपि मार्कण्डेयादिभिर्दृष्टत्वात् किम्वा मदीयो बत बुद्धिमोहः बुद्धिमोहेनापि जनाः आश्चर्याणि पश्यन्ति अथ पूतनावधादिकं गर्गवाक्यं च संस्मृत्य श्रीकृष्णकृपया च श्रीकृष्ण एव सर्वरूपः परमेश्वर इति वितर्कयति—अथो इति । अथवा अमुष्य ममार्भकस्यापि सतः कश्चनाद्भुतः औत्पत्तिकः स्वाभाविकः आत्मयोगः आत्मनः परमेश्वरस्य स्वासाधारणयोगः सर्वात्मत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिलक्षणः अयं न कस्यापि पुत्रः किन्तु सर्वकारणकारण इति भावः ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सेति युग्मं मात्राहमद्य ताड्यमानो न स्याम इति हरेः सङ्कल्पे सति तदनुगया तदैश्वर्यशक्त्या तत्र मुखे तद्वारा तज्जठरे सा तदम्बा विश्वं ददर्श जगज्जङ्गमं स्थास्नु स्थावरं खमन्तरिक्षलोकं साद्रीति भूगोलमित्यस्य विशेषणं सवायु इति ज्योतिश्चक्रमित्यस्य वायुः प्रवहः अग्निर्वैयुतः नभस्वानिति नभस्वन्तं पवनं वैकारिकाणि देवान् सात्त्विकान् इन्द्रियाणि राजसानि मात्राः शब्दादितन्मात्रास्तामसान् गुणान् सत्त्वादीन् त्रीन् अत्र निराकाराणां दर्शनं तदधिष्ठातृदेवतापेक्षम् । तासामाकारवत्वात्॥३७ ३८॥ एतद्विश्वं सह युगपदेव वीक्ष्य कीदृग् जीवश्च गुणक्षोभकः कालश्च, परिणामहेतुः स्वभावश्च, जन्महेतुः कर्म च, तत्संस्कारः आशयश्च, तैर्लिङ्गानां चराचरशरीराणां भेदो यत्र तत् सूनोस्तनौ कुक्षौ विदारिते प्रसारिते आस्ये मुखद्वारा जठरे इत्यर्थः । महात्मानमात्मपतिपुत्रादिसहितं व्रजं च वीक्ष्य शङ्कामवाप वहिः स्थितं विश्वं तादृशो व्रजश्चैतत् कुक्षिमध्येऽपि कथमस्तीति वितर्कं लेभे इत्यर्थः । शङ्कात्रासे वितर्केचेति विश्वः । अत्र भगवद्विग्रहस्य विश्वान्तर्वर्तित्वतद्बहिस्थितिभ्यां मितत्वसमितत्वञ्च वास्तवं बाध्यते तच्चाचिन्त्यैश्वर्यशक्तिसिद्धं बोध्यम् ॥ ३९ ॥ शङ्कां दर्शयति किमित्यर्द्धकेन एतद्दर्शनं किं स्वप्नहेतुकं भवति नहि नहि निद्रालस्याद्यभावात्, तर्हि किं देवस्य कस्यचिन्मायेदं नहि नहि मन्मोहने तस्य प्रयोजनाभावात्, तर्हि किं मदीयो बुद्धेर्मोहो विपर्यास इदं, नहि नहि मद्बुद्धेः पुरेवेदानीञ्च स्वास्थ्यानुभवात् एवं वितर्क्य सिद्धान्तयत्यथो इत्यर्द्धकेन अथोशब्दः कार्त्स्न्यार्थः "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथे"त्यमरः मत्पुत्रस्य स्वयं भगवत्तात्तस्यैवायतौत्पत्तिकः स्वभावसिद्ध आत्मयोगोऽचिन्त्यशक्तिलक्षणः स्वधर्मः येन युगपद्बहिरङ्गश्च जगतः स तिष्ठति माधुर्यानुवन्धिनो हरेर्गुणा व्रजौकसां सर्वदा प्रत्यक्षा ऐश्वर्यानुवन्धिनस्तु ते तस्मिन् सत्त्वेन ज्ञातो एव कदाचिदेव प्रत्यक्षा भवतीति निर्णयात् ॥ ४० ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभाववदीपिका

औत्पत्तिक आत्मयोग इत्यस्य स्वाभाविकः परमात्मप्रसादाधीनाणिमादियोग इत्यर्थः । एतेनात्मेत्यैतद्व्यर्थमिति दूषणं परिहृतं । अन्यत्राविद्यमान औत्पत्तिको योगः कृष्णस्य कथमागत इत्याशंकापरिहारार्थमौत्पत्तिकयोगस्य भगवत्प्रसादाधीनत्वमुच्यत इत्यभ्युपगमात् ॥ ४० ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां नवमोऽध्यायः ।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तत्र मुखे विश्वं ददृशे । तदेव विशदमाह ॥ जगदिति । जङ्गमं स्थास्नु स्थावरं खं विवरं दिशस्तद्भेदानद्रयः कुलाचला द्वीपाः सप्ताब्धय एतत्सहितं भूगोलं भूमण्डलं तारकं सवाय्वग्नीन्दुवायुः प्रवहोऽग्निर्दार्वाद्युद्भूतो वाय्वग्निचन्द्रसहितं तारकं नक्षत्रगणम् । कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकाऽपि चेति विश्वः ॥ ३७ ॥ ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो विद्युदादिसम्बन्धि स्वः स्वर्ग वियन्महाकाशं नभोन्धकारं वैकारिकाणि दैवतानि तैजासानीन्द्रियाण्याहुरित्युक्तेस्तैजसानीन्द्रियाणि । मनसो मुख्यतयेन्द्रियत्वेऽपि पृथगुक्तिः । दैवान्देहान्मनः खानीत्यादेः । गुणास्त्रयस्त्रीन्गुणान् ॥ ३८ ॥ जीवाश्च कालश्च स्वभावः सात्त्विकत्वादिः कर्मादृष्टमाशयः संस्कारो लिङ्गं लक्षणं षोडशकलकलेवरं लिङ्गशरीरं वैतदादिभेदोपेतं सूनोस्तनौ तत्रापि विदारितास्यावयवविशेषे । सहात्मानमिति पदमेकं व्रजविशेषणं । एतद्वैचित्र्यं वीक्ष्य शङ्कां सन्देहमवाप ॥ ३९ ॥ तामेव वितत्य वक्ति ॥ किमिति । एतद्व्रातं वस्तु स्वप्ने तदवस्थायां किं किं स्वप्नो न कुत इत्यत उतैतत्स्वाप्नावस्थां विना जाग्रद्दशायामपि सत्त्वादित्यप्यन्वयमुशन्ति । उताथवा देवस्य श्रीहरेर्माया सैदेशेच्छा सृष्टवती । नायमपि कल्पोऽनल्पः । तथा सति पार्श्वस्थोपालम्भप्रसङ्गः । मदीय एव बुद्धिभेदो बुद्धिभ्रंशो मोह इति पाठोऽपि पाङ्क्तः । न च स च तमघकृत् । कुमारस्यापि ममान्तरुदरं दर्शनात् । देवमायेति प्राक् कल्पितं स्वयमेवेत्थमिति मत्वाऽऽह ॥ अथो इति । अत एवामुष्येत्युक्तिः । ममामुष्यार्भकस्य यः कश्चन यः कोऽप्यात्मयोग आत्मनि सन्योगोऽणिमाद्यैश्वर्यं । कोऽपि न क्षिक्षयददक्षश्च कोमलो वालः कथमयं तव विकल्पः कल्प्यत इत्यत आह ॥ औत्पत्तिक आजनीनः स्वाभाविक इति यावदिति । अमुष्येत्यत्र ओदिति प्रगृह्यसंज्ञायां प्लुनेति प्रकृतिभावः । बत सन्तोषे । अर्भोऽर्भकः कश्चतुर्मुखो यस्येत्यन्तरर्थः ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

सापि भगवता प्रेरिता भगवदिच्छया प्राप्तज्ञानशक्तिस्तन्मध्यस्थितं जगद् दृष्टवतीत्याह सा तत्रेति, सा निरोधमध्यस्थिता तत्र मुखविवरे विश्वं ददृशे, आपाततो दर्शनं व्यावर्तयितुं विशेषाकारेण दृष्टं निर्दिशति जगदितिद्वाभ्यां, विश्वमिति

समुदायेन भगवद्रूपमाधिदैविकं वा, जगदग्यल्लौकिकं विश्वरूपं प्रतिकृतिरूपमित्यौपनिषदा आधिदैविकमिति ब्रह्मविदः कार्यं कारणरूपमित्युभयोः समाधानमिति विचारकाः, जगति भेदानाह स्थास्नु चरिष्णु चेति, स्थावरं जङ्गमं च, चकारात तद्धर्मा सर्व एव, साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलमित्यधः खण्डः, उपरिखण्डं वक्ष्यत्यग्रिमश्लोके, अयमपि भेदस्तया ज्ञात इति, अद्रयो मेर्वादयो द्वीपा जम्ब्वादयोऽब्धयो लवणादय एतैः सहितं भूगोलं, सवाय्वग्नीन्दुतारकमिति भूगोलस्यैव विशेषणं, वायुस्तत्रोपलभ्यत एव, अग्निश्च, इन्दुः प्रथमाहुतिफलरूपः, "सोमो राजा भवती" तिश्रुतेः, यद्वा यज्ञियं रूपं भूमिष्ठं तत्र वर्तत इति 'यदस्यां यज्ञियमासीत् तदमुष्यामदधा" दितिश्रुतेः, **तारका** अति भूमिष्ठा भोगार्थं तत्र गच्छन्तीति पुनरायान्ति चेति तारका अपि भूमिष्ठा एव श्येना इव ॥ ३७ ॥ उपरितनं दलमाह **ज्योतिश्चक्रमिति, जलं** मध्यस्थितं "सलिलं वा इदमन्तरासी"दिति वृष्टिर्वियद्गङ्गा च, **तेज** इति सूर्यादिभ्युवान्तानां किरणाः, विद्युदादयो वा, **नभस्वान्** वायुरुपरितनः, **वियदाकाशो वैकारिकाणि** सात्त्विकानि सर्वविकारसाध्यानि वेन्द्रियाधिष्ठातृरूपाणी**न्द्रियाणि** ब्रह्माण्डाद् बहिः स्थितानि, ब्रह्माण्डमपि गृहे घटवत् प्रतीयते, **इन्द्रियाणि** च ततो बहिः पदार्थान्तरवत् , सर्वदर्शनसामर्थ्यं भगवता दत्तमित्युक्तमेव, **इन्द्रियाणि** राजसानि मनश्च प्राप्विकं **मात्रास्ता**मसास्तेषां निधानभूता **गणाश्च त्रय** इति, अहङ्कार**गुणाः** प्रकृति**गुणा** माया**गुणाश्च** ॥ ३८ ॥ एवं दृष्टमनूद्य तद्दर्शनेन तस्या अपूर्वत्वाद् भयं जातमित्याहैतदिति, **विचित्रमिति**, युक्तयापि न निर्णेतुं शक्यं, करणान्यपि दृष्टवतीति तान्यनुवदति, **जीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गानां भेदस्तत्सहितं** जगत, **जीवास्त्रिविधा** देवमानुषदानवाः, **काल**ोऽपि तथा भूतभविष्यद्वर्तमानरूपः, **स्वभावः** प्रकृतिधर्मो भगवद्रूप इति निबन्धे विवृतं **कर्म** च, **आशयो** हृदयकोशो यस्मिन्नाशेरते जीवाः, **लिङ्गं** लिङ्गशरीरं स्थूलकोशात्मकं, **लिङ्ग**भेदा वा स्त्रीपुन्नपुंसकाः, **एतत्** सर्वं स्थानविशेषस्यापरिज्ञानात् **सूनोस्तनौ वीक्ष्ये**त्युक्तं, **विदारितमास्यं** यस्मिन्नन्तर्बहिः सर्वत्रैव जगद्व्याप्तमितिवद**स्तनौ विदारितास्य** इतिपदद्वयं, स्वप्नभ्रमव्युदासार्थं व्रजमपि दृष्टवती, मायाव्युदासायात्मानं आत्मना **सहितं व्रज**मितिविशिष्टकथनं सर्वभ्रमव्युदासाय, एवमभ्रमेण सर्वं दृष्ट्वा शङ्का**मवाप** ॥ ३९ ॥ अस्याः शङ्काया व्युदासार्थं लौकिकप्रकारेण पक्षानाशङ्क्य परिहरति **किं स्वप्न** इति, अन्यदा प्रतीतं यत् कदाचित् प्रतीयते तत् त्रिधा भवति स्वप्नेऽपि कदाचिदलौकिकं प्रतीयते तस्य स्थानस्य सन्धयत्वाच्छीघ्रगमनात् "कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्च" प्रकृते तद्वैलक्षण्यान्नायं **स्वप्नो** भवितुमर्हति पूर्वापरानुसन्धानाच्च, अतः पक्षान्तरमाहोत **देवमायेति, मायामात्रं** नात्यन्तमोहकं **देवानां** तु **माया** मनुष्यव्यामोहिका भवति मोहवशाच्चातिरिक्तभानमपि सम्भवतीत्याशङ्क्य सा भगवति न सम्भवति भगवत्प्रयत्नानन्तरभावित्वादस्य भगवत्कृतापि माया न भवति तथा सति स्थिरता न स्यान् मम च तत्र दर्शनं न स्यादुभयोश्चादर्शनं, तर्हि दर्शनमेव भ्रान्तमितिपक्षं स्वीकरोति **किं वा मदीयो बत बुद्धिमोह** इति, **बुद्धिमोहो**ऽप्येतादृशः कदापि न जात इति विशेषमाह **मदीय** इति, अन्यैर्न दृश्यत एव, तथा सति ते वदेयुः, न हि दृष्टेनुपपन्नंनामेतिन्यायात्, **मदीय** एवायं **बुद्धिमोहः**, एवं सति स्वस्य महत्त्वाद् **बतेति**हर्षः, यद्येवं स्याद् बालकान्तरे स्थलान्तरेऽप्येवमुपलभ्येत, अस्मिन्नेव बालक उपलभ्यत इति न पूर्वोक्तपक्षाः किन्त्वस्यैव **कश्च**नानुभाव इत्याहाथो इति पूर्वपक्षव्युदासार्थं, **अमुष्य**ेत्यग्रेऽपि परिदृश्यते सूक्ष्मस्तस्मिंश्च जगद् विशालं, **ममार्भ**कस्येति, पूर्वं भावदाढर्यं, अन्यथा निरोधो न स्यान्मुक्तिश्च स्यादिति, कोयं तव बालकस्य गुण इति चेत् तत्राह **यः कश्च**नेति, भिन्नतयेदमित्थतया वा ज्ञातुं न शक्यते, इदानीमेव देवतान्तरसम्बधाज्जातं भविष्यतीत्याशङ्क्याहौ**त्पत्तिक** इति, स्वाभाविकोयं "मुत्पत्तिशिष्ट:" पूर्वमप्यनुभूतत्वात् पूतनादीनां मारणाच्च, केवलं प्रदर्शकत्वे पूतनादीनां वधो न स्यात् , अत **आत्मयोगः**, **आत्मन** एव भगवतो **योगरूपेयं** विभूतिरित्यर्थः ॥ ४० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

सा तत्रेत्यत्र, प्रतिकृतिरूपमिति । यथा 'क्षुरः क्षुरधाने' इत्याद्युपनिषद्भिस्तथा । सूनोस्तनौ सूनोर्विदारितं यदास्यं तस्मिंश्च वीक्ष्येति सम्बन्धो ज्ञेय इत्याशयेनाहुः **तस्मिन्नन्तर्बहिः सर्वत्रैवेति** । अन्यथा तनुविशेषणत्वेन स्त्रीलिङ्गत्वापत्तेः । **किं स्वप्न** इत्यत्र । **सन्ध्यत्वादिति** । 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदं च परलोकस्थानं च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानमिति श्रुतौ स्वप्नस्य सन्ध्यत्वमुक्तम् । एतच्चेह लोकमध्यपातयेंवेति तद्वैलक्षण्यम् । **कात्स्न्र्येने**त्यादि । स्वप्नसृष्टेरसत्यत्वे व्यासचरणैरुक्तं 'मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वा'दिति । एतदर्थस्तु स्वप्नसृष्टिर्मायामात्रम् , तत्र हेतुरग्रे यस्य यादृशं स्वरूपं देशकालवस्तुसापेक्षं तथाभिव्यक्तिः कात्स्न्र्येनाभिव्यक्तिस्तदभावादिति । **उभयोश्चादर्शनमिति** । द्रष्टृमायिनोर्मायिकैः पदार्थैः सहादर्शननियमः ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सा तत्रेत्यत्र द्वाभ्यामिति पदाभ्यां, नन्वेकस्मिन् जगति प्रदर्शनीये पदद्वयस्य किं प्रयोजनमित्यत आहु**र्विश्व**मित्यादि, नन्वेवंविभागः कुत्र सिद्ध इत्यत आहुः **प्रतिकृती**त्यादि. तदर्थं **टिप्पण्यामाहुर्यथे**त्यादि, "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने वहित" इतिश्रुतौ क्षुरधानदृष्टान्तेनात्माधारतया यदुक्तं तत् तथेत्यर्थः, द्वितीयमाहु**राधिदैवि**क

मित्यादि, "तदभिध्यान"सूत्रे तल्लिङ्गतया यत् सिद्धं तदित्यर्थः, श्रुतिस्त्वा"काशाद् वायु"रित्यादिका, इयमेव च टिप्पण्या मादिपदेन सङ्गृहीता, द्वयोर्निष्कृष्टं रूपमाहुः कार्येत्यादि, उभयोः समाधानमित्युभयोर्जगतोः सम्यक् स्थापनं, विचारका ब्रह्ममीमांसानुसारेण वाक्यविचारयितारः स्वयमेवाचार्याः, एतस्य भूगोलविशेषणत्व इन्दूक्तिः कथं सङ्गच्छत इत्यत आहुरिन्दु-रित्यादि, तथा च पञ्चाग्निविद्यायां तथा सिद्धत्वात् पूर्वत्वद्रूपेण तत्स्थितिर्न विरुद्धेत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे राजत्वदशापन्नेन्दु-स्थितिर्विरुध्येतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि, तत्र वर्तत इति चन्द्रमसि कलङ्करूपेण कृष्णं वर्तते, तथा च तत्सम्बन्धादिन्दा भूमिष्ठत्वमित्यर्थः, तत्र प्रमाणमाहुर्यदित्यादि, श्रुतिस्तु "द्यावापृथिवी सहास्तां ते वियत्यब्रूतामस्त्वेवं नौ सह यज्ञियमिति तदमुष्या यज्ञियमासीत् तदस्यामदधात् तद्रूपा अभवम् यदस्या यज्ञियमासीत् तदमुष्यामदधात् तददश्चन्द्रमसि कृष्ण"मिति, तारकाणां भूमिष्ठत्वमुपपादयन्ति तारका इत्यादि, तथा च यज्ञियं रूपं भूमिष्ठं यजमानात्मकं ता एव तारका इति तासामपि सङ्ग्रह इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ एतद् विचित्रमित्यत्र "सूनोःस्तना"वित्यत्र पदसम्बन्धबोधनार्थं तस्मिन्नित्यादिना यदुक्तं तट् टिप्पण्यां विवृण्वन्ति सूनोःस्तनावित्यादिना ॥ ३८-३९ ॥ किं स्वप्न इत्यत्र त्रिधेति वक्ष्यमाणप्रकारेण त्रिधा, सन्दग्धत्वादेरथ टिप्पण्यामाहुस्तस्य वेत्यादिना, वैलक्षण्यं स्फुटीकुर्वन्त्ययतदित्यादि, कात्स्र्न्येनेत्यादेरर्थमाहुः स्वप्नेत्यादि, तथा चेह मध्यलोक-पाताद् बहुकालस्थानात् कात्स्र्न्येनाभिव्यक्तत्वात् पूर्वापरानुसन्धानाच्च न स्वप्नपक्ष इत्यर्थः, सुबोधिन्यां मायामात्रपक्षं निराकुर्वन्ति नात्यन्तमोहकमिति, स्वस्य पृथगदर्शनात् तथेत्यर्थः, देवमायापक्षमनूद्य निराकुर्वन्ति देवानां त्वित्यादि, भगवत्यसम्भवे हेतुमाहु-र्भगवदित्यादि, भगवन्मायात्पक्षमनूद्य निराकुर्वन्ति भगवत्कृतापीत्यादि, तथा सतीत्यादि, "मम चे"ति चकाराद् भगवतश्च, उभयोश्चादर्शनमित्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्द्रष्ट्रित्यादि, तथा च स्थिरत्वात् स्वस्य भगवतश्च दर्शनाद् द्रष्टृद्र्यायुक्तनियमभङ्गाच्च न भगवन्मायापीत्यर्थः, स्वबुद्धिमोहपक्षं निराकुर्वन्ति यद्येवमित्यादि, सिद्धान्तपक्षमवतारयन्त्यस्मिन्नित्यादि, इदानीन्तनयोगपक्षं निराकुर्वन्ति स्वाभाविकेत्यादि ॥ ४० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सा तत्रेत्यस्याभासे सापीत्यादि 'पश्य मे मुख'मित्यनेन प्रेरणस्य 'भयसम्भ्रान्ते'त्यनेन ज्ञानशक्तिप्राप्तेश्चोक्तत्वात् सेतिपदेन तदुभयपरामर्श इति भावः ॥ ३७ ॥ एतद्विचित्रमित्यत्र स्वप्नभ्रमेति स्वप्नरूपो भ्रमस्तद्व्युदासायमित्यर्थः, यत्र स्थीयते तत् स्थलं स्वप्ने न दृश्यत इति भावः ॥ ३८ ॥ किं स्वप्न इत्यत्र देवस्य भगवतो मायेतिपक्षमाश्रित्याहुः भगवत्प्रयत्नेति, भगवत्कृतत्वेऽयं हेतुः, अतो हेतोरियं भगवत्कृता मायोच्येत सापि न भवतीत्यन्वयः, तत्र दूषणमाहुः तथा सतीत्यादि दर्शन-मेवेति प्रथमपक्षेषु पदार्था असन्त उक्ताः, अस्मिन् पक्षे पदार्थाः सत्या एव, दर्शनमात्रांशे भ्रम इत्येवकारः, यथा सुरभिचन्दन-मित्यत्र सौरभ्यांशे स्मरणं न तु चक्षुषा सौरभ्यग्रहः तथापि कस्यचिद् भ्रान्तोऽनुव्यवसायो भवेत् सौरभ्यमपि पश्यामीति तत्र सत्यस्यैव सौरभ्यस्य दर्शनमात्रांशे भ्रमस्तथातीन्द्रियाणां पदार्थानामिन्द्रियविषयत्वांशे भ्रम इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ अथो अमुष्येत्यत्र अस्मिन्नेव बालके इति आत्मयोगत्वाद् यं प्रदर्शयति स एव पश्यतीति यशोदयव दृश्यते नान्यैरितिपक्षोऽप्युपपन्न इति भावः, मुक्तिश्चेति ज्ञानस्य जातत्वात् तन्मार्गीया मुक्तिर्ब्रह्मभावः स्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सा यशोदा तत्र विवृते मुखे विश्वं ददृशे ददर्श तदेव प्रपञ्चयति जगत् जङ्गमं, स्थास्नु स्थावरं, खं अन्तरिक्षलोकं, दिशः, साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलपर्वतद्वीपसमुद्रसहितं भूर्लोकं वायुः प्रवहः अग्निर्वैद्युतः इन्दुः चन्द्रः तारकाश्च तत्सहितम् ॥ ३७ ॥ ज्योतिश्चक्रं स्वर्लोकं, जलं, तेजोऽग्निः नभस्वान् वायुः, वियत् आकाशः वैकारिकाणि सात्त्विकाहङ्कारकार्यभूता इन्द्रियाभि-मानिन्यो देवताः इन्द्रियाणि राजसाहङ्कारकार्याणि, मन इति वैकारिकेऽवन्तर्भूतमपि देवतावैलक्षण्यज्ञापनाय पृथगुक्तम्, मात्राः तामसाहङ्कारकार्यभूताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि । अत्रातीन्द्रियाणामपि दर्शनं भगवद्दत्त-सामर्थ्यादेव ज्ञेयम्, 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् इत्यादि वाक्येभ्यस्तथा निश्चयात् ॥ ३८ ॥ एवं सूनोर्बालकस्य तनौ शरीरे, तत्रापि विदारिते आस्ये मुखे अल्पे एव एतद्विचित्रं विश्वं वीक्ष्य तत्र च कचिद्देशे सहात्मानमात्मना यशोदया कृष्णेन च सहितं व्रजं च सह एकदैव वीक्ष्य शङ्कामवापेत्यन्वयः । विचित्रतामेवाह—जीवेति । जीवो भोक्ता, कालो गुणक्षोभकः स्वभावश्च परिणामहेतुः, कर्म च जन्महेतुः, आशयश्च कर्मवासनाप्रवृत्तिहेतुः, एतैर्लिङ्गानां चराचरशरीराणां भेदो यस्मिंस्तत् ॥ ३९ ॥ शङ्कामेवाह—किमिति । यन्मया दृष्टं तदेतत् किं स्वप्नः ? स्वप्नदृष्टपदार्थानां शीघ्रं विलोपो भवति, प्रकृते च तद्वैलक्षण्यान्नायं स्वप्नः' इति निश्चित्य पक्षान्तरमाह उत देवमायेति 'देवस्य हरेर्मम मोहने प्रयोजनाभावादन्येषामदर्शना-द्बाधादर्शनाच्चायमपि पक्षो न युक्त' इति निश्चित्य पक्षान्तरमाह—किञ्चेति । 'बत' इति खेदे । मदीय एव कश्चिद्बुद्धिमोहो विपर्यासः दर्पणे मुखदर्शनवत् । एवं तह्ययं कृष्णोऽपि कथमन्तः प्रतीयते । जगदपि कथमन्तर्बहिश्चकरूपेण प्रतीयते ? तथा सति बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव परस्परं वैपरीत्येनैव प्रतीतिः स्यात्, अतोऽयमपि पक्षो न युक्तः' इति निश्चित्य पक्षान्तरं तर्कयति अथो इति । अथवा अमुष्य ममार्भकस्यैव यः कश्चनौत्पत्तिकः स्वाभाविकः आत्मयोगः स्वीयमैश्वर्यम् ॥ ४० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सा तत्रेति । सा यशोदा तत्र विवृते मुखे जगत् जङ्गमं स्थास्नु स्थावरं खम् अन्तरिक्षलोकं दिशः साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं पर्वतद्वीपसमुद्रसहितं भूलोकं वायुः प्रवहः अग्निर्वैद्युतः इन्दुः चन्द्रः तारकाश्च तत्सहितं विश्वं ददृशे । तङ्कार्पः ।। ३७ ।। ज्योतिरिति ।। ज्योतिश्चक्रं स्वर्लोकं जलं तेजोऽग्निः नभस्वान वायुः वियत् आकाशः वैकारिकाणि सात्त्विकाहङ्कारकार्यभूता इन्द्रियाभिमानिन्यो देवताः इन्द्रियाणि राजसाहङ्कारकार्याणि मन इति वैकारिकेष्वन्तर्भूतमपि देवतावैलक्षण्यज्ञापनाय पृथगुक्तम् । मात्राः तामसाहङ्कारकार्यभूताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः त्रयो गुणाः एतान्यपि ददर्श । अत्रातीन्द्रियाणामपि दर्शनं भगवद्दत्तसामर्थ्यादेव ज्ञेयम् ।। ३८ ।। एतदिति ।। एवं सूनोर्बालस्य तनौ शरीरे तत्रापि विदारिते आस्ये मुखे अल्प एव जीवो भोक्ता कालो गुणक्षोभकः स्वभावश्च परिणामहेतुः कर्म च जन्महेतुः आशयश्च कर्मवासनाप्रवृत्तिहेतुः एतैर्लिङ्गानां चराचरशरीराणां भेदो यस्मिंस्तत् एतद्विचित्रं विश्वं वीक्ष्य तत्र कचिद्देशे सहात्मानमात्मना यशोदया कृष्णेन च सहितं व्रजं च सह एकदैव वीक्ष्य शङ्कामवाप ।। ३९ ।। शङ्कामेवाह—किमिति ।। यन्मया दृष्टं तदेतत् किं स्वप्नः परितो विलोक्य नायं स्वप्न इत्याह । उत अथवा देवस्य हरेर्माया । तर्हि कुतोऽन्ये न पश्यन्ति तत्राह । किंवा अथवा बत खेदे मदीय एव कश्चिद्बुद्धिमोहो विपर्यासः दर्पणे मुखमिव पश्यामि । तर्हि कृष्णोऽपि कथमन्तः प्रतीयते तत्राह । अथो अथवा अमुष्य ममार्भकस्यैव "नारायणसमो गुणैः" इति गर्गोक्तिगम्यो यः कश्चनौत्पत्तिकः स्वाभाविकः आत्मयोगः स्वीयमैश्वर्यम् ।। ४० ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तत्र मुखे विश्वं ददृशे ददर्श तदाह जगत् जंगमं स्थाष्णु स्थावरं खं अंतरिक्षलोकं अद्र्यादिभिः सहितं भूगोलं वाय्वादिसहितं ज्योतिश्चक्रमित्युत्तरेण संबंधः । वायुः प्रवहः अग्निर्वैद्युतः ।। ३७ ।। नभस्वान् आवहो वायुः अन्ये समीरणाश्च वियद् व्योम वैकारिकाणि सत्त्वकार्याणि देवाः मन इति च इंद्रियाणि च रजःकार्याणि मात्राः तमःकार्यभूताः शब्दादयश्च यद्यपि मनसो वैकारिकशब्देन ग्रहणं जातं तथापि देववैलक्षण्यात्पुनरुक्तं ।। ३८ ।। इत्थमेतद्विचित्रं नानाविधं विश्वं सह एकदैव पुत्रस्य तनौ विदारितास्ये प्रसारितमुखे वीक्ष्य शंकामवाप तत् कथंभूतं जीवः क्षेत्रज्ञसमूहश्च कालो विश्वभक्षकश्च स्वभावः परिणामहेतुश्च कर्मजन्महेतुश्च आशयः क्षेत्रज्ञानां वासनाश्च एतेषां लिंगभेदः स्वरूपभेदाः यस्मिंस्तत् तत्र सहात्मानं स्वदेहसहितं व्रजं च वीक्ष्येति संबंधः ।। ३९ ।। शंकामाह किमिति एतद् मया दृष्टं स्वप्नमस्ति किं उत वा देवस्य हरेर्माया किं बुद्धिमोहो मतिवैचित्र्यम् । अथो अथवा ममाऽमुष्याऽर्भकस्य पुत्रस्यैव औत्पत्तिकः स्वभावसिद्धो यः कश्चन आत्मयोगः अचिंत्यं स्वसामर्थ्यमस्ति किं वा ।। ४० ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सेति ।। सा सुतमुखेऽन्तः समीक्षमाणा यशोदा, तत्र स्वसुतस्य विवृते मुखे, विश्वं ददृशे । तदेव प्रपञ्चयति । जगज्जङ्गमं, स्थावरं च, खमन्तरिक्षलोकः, दिशः आशाः, अद्रयः पर्वताश्च द्वीपा जम्ब्वादयोऽन्तरीपाश्च अब्धयः क्षारोदकादयश्च तैः सह वर्त्तमानं साद्रिद्वीपाब्धि, भूगोलं भूर्लोकं, वायुः प्रवहाख्यः पवनश्च अग्निर्वैद्युतो वह्निश्च इन्दुश्चन्द्रश्च तारका ग्रहनक्षत्रादिकास्ताराश्च तत्सहितं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ।। ३७ ।। ज्योतिश्चक्रमिति ।। ज्योतिश्चक्रं ज्योतिर्मण्डलं, जलं बाह्याभ्यन्तरवर्त्ति तोयं च, तेजः बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधम् । नभस्वान् बाह्याभ्यन्तरवर्त्तित्वेन द्विविधो वायुः, वियद्बाह्यं सर्वगतं चेति द्विविधमाकाशं, एवकारोऽनुक्ततत्त्वग्रहणार्थः । विवराणि चेति पाठे विवराण्यतलादीनि च, वैकारिकाणि सात्त्विकाहंकारकार्याणि, इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दशापीन्द्रियाणि, मनः, मात्रास्तामसाः शब्दादितन्मात्राः पञ्च, त्रयः गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ।। ३८ ।। एतदिति ।। एवं जीवाः क्षेत्रज्ञाश्च कालः सर्वोत्पत्तिनिमित्तगुणक्षोभकोऽनेहाश्च स्वभावः परिणामहेतुश्च कर्म जन्महेतुश्च आशयो वासना च तैर्लिङ्गानां शरीराणां भेदा यस्मिंस्तत्, एतत् विचित्रं विश्वं, सहात्मानं यशोदया श्रीकृष्णेन च सहितं, व्रजं च, सूनोः स्वसुतस्य कृष्णस्य, तनौ देहे, तत्रापि विदारितास्ये व्यात्ते मुखे, सह एकदैव, वीक्ष्य, शङ्कां संशयं, अवाप । इति त्रयाणामेकसंबन्धः ।। ३९ ।। शङ्कामेव दर्शयति ।। किमिति ।। एतदेषः, अस्य शिशोः वदने विश्वदर्शनरूप इत्यर्थः । स्वप्नः, किं । जागरावस्थायां न हि स्वप्नः संभवति इति विमृश्य वितर्कयति । उताथवा, देवमाया किम् । कस्यचिद्देवादेरित्थंभूता माया चेत् घटपटादीनिव सर्वे किं न पश्यन्ति, इति विमृश्य पुनः शङ्कते । बतेति खेदे । मदीयः एव, बुद्धिमोहो बुद्धेर्विपर्यासो भ्रम इति यावत् । किं वा तथा चेत्पुनः पुनर्दर्शनेऽपि यथावत् कथं प्रतीतिरतो न बुद्धिमोहोऽपीति विमृश्य शङ्कते । अथो अथवा, मम मदीयस्य अमुष्य अर्भकस्य एव, यः कश्चनाचिन्त्यः, औत्पत्तिक उत्पत्तिसिद्धः स्वाभाविक इति यावत । आत्मयोगः आत्मनः परमात्मनः स्वस्य योगः कुक्षिस्थाखिलविश्वत्वादिकल्याणगुणगणयोगः किम् । मत्सूनुगुणमूलकोऽयं मोहो मम स्यात्किमित्यर्थः ।। ४० ।।

कृष्णप्रिया

जब लालन के मुख को निहारा तब माता ने उसमें चर-अचर संपूर्ण विश्व का दर्शन किया। अब तो अन्तरिक्ष, दिशायें, द्वीप, मेरु प्रभृति पर्वत, लवण आदि सागर सहित एवं—प्रवाह नामक वायु, विद्युत, चन्द्र, तारा, सहित समग्र भूगोल, सम्पूर्ण स्वर्गलोक, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अपने अधिष्ठाओं एवं शब्द आदि विषयों के साथ सर्व इन्द्रियाँ, सत्त्व, रज, तम, इन तीनों एवं मन, जीव, काल, स्वभाव, कर्म, वासना आदि से लिङ्गशरीरों का सारा विचित्र विश्व एक ही समय दीख पड़ा। इतना ही नहीं वरन् माता यशोदाजी ने मुख उभारे अपने लालन के श्रीअङ्ग में सारे व्रज के साथ अपने को भी देखा। ऐसे दर्शन से मातृचरणों को तरह तरह के तर्क वितर्क होने लगे ॥ ३७-३९ ॥ यह क्या मैं स्वप्न देख रही हूँ, अथवा देवताओं की कोई माया है, किं वा मेरी बुद्धि का ही असाधारण मोह है या इस मेरे लालन का ही कोई जन्मजात अपना प्रभाव है ॥ ४० ॥

अथो [1]यथावन्न वितर्कगोचरं चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।
यदाश्रयं येन यतः [2]प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥ ४१ ॥
अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे[3] यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥ ४२ ॥

[4]श्रीशुक उवाच

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः । वैष्णवीं व्यतनोन्मायां [5]प्रजास्नेहमयीं विभुः ॥ ४३ ॥
सद्यो [6]नष्टस्मृतिर्गोपी [7]साऽऽरोप्यारोहमात्मजम् । [8]प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद्[9] यथा पुरा ॥ ४४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अथो चेतोमनःकर्मवचोभिः अञ्जसा यथावत् न वितर्कगोचरं यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं तत् पदं प्रणताऽस्मि ॥ ४१ ॥ अहं असौ मम पतिः एष मे सुतः (अहं) व्रजेश्वरस्य अखिलवित्तपा सती च सहगोधनाः गोप्यः च गोपाः मे इत्थं यन्मायया मे कुमतिः सः मे गतिः ॥ ४२ ॥ इत्थं गोपिकायाः विदिततत्त्वायाः विभुः स ईश्वरः प्रजास्नेहमयीं वैष्णवीं मायां व्यतनोत् ॥ ४३ ॥ सा गोपी सद्यः नष्टस्मृतिः आत्मजम् आरोहम् आरोप्य प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदया यथा पुरा आसीत् ॥ ४४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चरमं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर इति निश्चित्याह। अथो इति। चेतश्चित्तम्। तदादिभिर्न वितर्कगोचरम्। जगद्यदाश्रयं यदधिष्ठानम्। येन करणाधिष्ठात्रा। यतो बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तात्। नन्विदमवितर्क्यं भवतु तत्पदं कीदृगत आह। सुदुर्विभाव्यमिति। इदमत्यंतमचिंत्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ एवं प्रपंचप्रतीत्योन्नीतं तत्त्वं पुनर्जीवसंसृतिहेतुमायाश्रयत्वेनोन्नयंन्नाह। अहमिति। यशोदानामाऽहमसौ मम पतिः। अमुष्य व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा अहं सती जाया एष कृष्णो मे सुतः गोप्यादयश्च मदीया इतीत्थं कुमतिर्यन्मायया स एष मे शरणमिति ॥ ४२ ॥ वैष्णवीं स्वीयाम् ॥ ४३ ॥ प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा पुरेवासीत् ॥ ४४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

चरमं पक्षममुष्यायं स्वाभाविक आत्मयोग इति पक्षम्। वितर्कगोचरं विचारविषयः। करणाधिष्ठात्रा इंद्रियाधिपेन। बुद्धिवृत्तावभिव्यक्तः प्रतिबिंबितः। तस्माच्चेतनत इत्यर्थः। अस्तु जगदवितर्क्यमित्याशंकते—नन्विति। पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं स्वरूपम्। तस्य जगदधिष्ठातुः पदं तत्पदम्। इत्यर्थ इति। अचिंत्यस्य कथनमशक्यमिति भावः। यद्वा—अदो वस्तु यादृशं तत्तादृशं चेतो ब्रह्मात्मनो रुद्रः कर्म इंद्रो वचो गुरु इति स्मरणादेतैर्ब्रह्मादिभिरंजसा साक्षाद्वितर्कगोचरं चिंतनानुमानविषयं न विरुद्धतर्कविषयं वा। तर्हि देवैरपि यदि न ज्ञायते तर्हि शून्यप्रायमेव तदिति चेत्तत्राह—यदाश्रयं यत्पदमाश्रयो यस्य तज्जगदिति शेषः। प्रलये जगद्व्यपाश्रयं भवति स्थितौ येन जीवतीत्यर्थः। सृष्टौ यतः प्रतीयत उत्पद्यते "यतो वा इमानि भूतानि

---

१. यथा तन्न वितर्क—विज. । २. प्रमीयते—विज. । ३. ये—विज. । ४ अन्यत्र "श्रीशुक उवाच" पाठो न दृश्यते । ५. पुत्र—श्रीधर. वंशी. विश्व ; प्रजा—सुदर्शन. वीर. विज. । ६. नष्टमति—वीर. । ७ आरोप्या—वीर. । ८. कलित—वीर. । ९. याऽभूद यथा पुरा—विज. ।

जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशंति" इति श्रुतेः। ननु घटादिवत्किमिति न ज्ञायते इति चेत्तत्राह–सुदुर्विभाव्यं सुखेन दुःखेन च विभाव्यं विभावनीयम् 'सुदुः शोभनदुःखयोः' इति यादवः। "नैषा मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तान्येव सुज्ञानाय प्रेष्ठे" इति श्रुतेः। यद्वा–सगुणोपासकैः सुखेन निर्गुणोपासकैश्च दुःखेन विभाव्यम् "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इति गीतासूक्तेः। अव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणोपासकानामित्यर्थः। एतेन सगुणोपासकैः सुखेनैव विभाव्यत इति तात्पर्यम्। प्रणतास्मीत्यनेन नम्यनंतृभावः। सगुणोपासन एवेति सूचितम्॥ ४१॥ एवं पूर्वोक्तरीत्या प्रपंचप्रीत्या जगत्प्रसिद्धचा उन्नीतं ज्ञातं तत्त्वं यथार्थस्वरूपं जीवानां संसृतेर्हेतुभूता या मायातस्याश्रयत्वेनाधिष्ठानत्वेनोन्नयंती जानती। अखिलवित्तपा समग्रधनरक्षिणी इत्थं कुमतिर्भेदमतिः। यन्मायया यस्य भगवतश्शक्त्या स एष भगवान् शरणं रक्षितेति 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इति विश्वः। हंतहंत स एव सुतस्य दाता स एव रक्षितापि भवेदेव तत्र मम पुनरज्ञायाः किमहंकारममकाराभ्यामिति तौ जिहासंती विष्णुं प्रपद्यमाना प्राह–अहमखिलवित्तपा निखिलव्रतरक्षणाभिमानवतीत्यर्थः। गोपाश्चेति गोपानां गोपीनां सर्वगोधनानाश्चाहमेव महाराज्ञीत्यभिमानो यथा कुमतिस्तथैव लोकोत्तरस्यास्य व्रजजनप्राणभूतस्य बालस्याहं माता पालयित्री दानधान्यादिभिर्विप्रदेवाद्याराधनैर्नित्यं विष्णुपूजनैश्च सर्वानिष्टेभ्यो रक्षामहमेव सततं कारयंती भवामि ततोऽस्य स्वस्तीत्याद्यभिमानोपि कुमतिः एतावता गोकुलैश्वर्यस्य श्रीविष्णुनैव दत्तत्वात्तत्र यथा ममाभिमानानौचित्यं तथा तेनैव कृपया दत्ते पूतनाद्यानिष्टेभ्यः प्रतिक्षणं पाल्यमाने च परमलोकोत्तरेऽस्मिन्सुते लौकिक्या गोपजातेर्निकृष्णाया अत्ययोग्याया मातृत्वरक्षयित्रीत्वाद्यभिमानोनौचित्यत्कुमतिरेवेति विवेकजिघृक्षैव श्रीयशोदायाः क्षणिकीयं न तु विवेकः। यथा महामोहांधानामपि व्यावहारिकलोकानां कादाचित्कपारमार्थिकप्रसंगभवा स्त्रीपुत्राद्यासक्तिजिहासेति ज्ञेयमिति विश्वनाथः॥ ४२॥ स कृष्णः विदितं ज्ञातं तत्त्वं यया तस्याम्॥ ४३॥ सा यशोदा। आरोहं कटिभागं पुरेव निजगृहकार्यासक्ता बभूवेत्यर्थः॥ ४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ चरमतर्कमपि तत्र क्षुत्पिपासाकौमल्यादिदर्शनेनासम्भाव्य पुनर्बहुविधैर्वितर्कैर्निश्चयमप्राप्नुवती सर्वदुर्वितर्कसम्पादकं श्रीनारायणमेव तत्कारणं निश्चित्य तं च सदुर्ज्ञेयं मत्वा केवलं प्रणमति–अथो इति। कर्मशुभमदृष्टमैहिकं च कायिकव्यापाराश्च न वितर्कगोचरं वितर्कागोचरमित्यर्थः। तादृशमपि यदाश्रयं येन साधनेन यतो हेतोरञ्जसा प्रतीयते साक्षादनुभूयते तस्य पदाब्जम् अत एव सुदुर्विभाव्यम् अचिन्त्यकार्यवृन्दस्य कारणत्वेन परमाचिन्त्यस्वरूपशक्तिकम्॥ ४१॥ अथ बाह्यमनुसन्धाय निजस्वाभाविकावस्थितिमेव शरणं गच्छति—यदिति। इत्थं निजबालके उच्चावचदर्शनहेतुः कुमतिर्यस्य दुर्विभाव्यया मायया स एव मम तद्भक्तिविमुखायाः शरणमिति यद्वा, यदित्यादौ तथापीत्याक्षेपलभ्यं तदेतत्सर्वं लवणाकरन्यायेन विस्मयादिद्वारा तस्याः प्रेमैव पुष्णातीति दर्शितम्॥४२॥ तदेवं तन्निष्ठामेव दृष्ट्वा सोपि परमतुष्टस्तद्वैयग्र्यप्रदर्शनेन व्यग्रश्च संस्तम्भावमेव तस्याविस्तारयामासेत्याह—इत्थमिति। इत्थम् अहं ममासावित्यादिना विदितं निर्द्धारितं तत्त्वं प्रथमपादत्रयोक्तश्रीकृष्णलीलायाथार्थ्यं यया तस्यां गोपिकायां सदा मातृभावेन श्रीकृष्णपालयित्र्यां स तया प्रार्थितम् ईश्वरः मायां तद्विषयां दयामेव व्यतनोत् पूर्वतोपि विस्तारयामास यथा तद्विरोधिप्रायमीदृशदर्शनादिकं पुनर्न जातमिति तां विशिनष्टि—पुत्रेति प्राचुर्य्ये मयट् प्राचुर्य्यं चान्यदीयस्नेहापेक्षया तस्याऽप्रकृतिसम्बन्धित्वं प्रत्याचष्टे वैष्णवीं विष्णोः स्वरूपशक्तिम्॥ ४३॥ ततश्च सद्यो नष्टा तिरोहिता स्मृतिस्तदनुसन्धानं यस्यास्तथाभूतासीति आरोहमङ्कम् आत्मजं निजोदरादुत्पन्नमिति तद्भावानुवादः नष्टस्मृतित्वमेव दृढयति यथा पुरेति॥ ४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अन्तं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर एवेति निश्चित्य पुत्त्रबुद्धिं विहाय भक्त्या प्रणमन्ती परमादृश्याखिलकार्य्यकारणात्मकप्रपञ्चस्यैकत्रैकदैव सहसा साक्षाद्दर्शने श्रीभगवच्छक्तिमिच्छाञ्च मन्वाना तदैश्वर्य्यमाह, यद्वा, बहुविकल्पैर्निश्चयाभावाद्व्याकुला नारायणं प्रणमति–अथो इति, अतो मन आदिभिरपि यथावद्याथार्थ्येन वितर्कगोचरं न भवति। तत्र कर्म्मादृष्टम्, तपस्यादि-कायिकव्यापारो वा। तदपि यदाश्रयं येन साधनेन यतो हेतोरञ्जसा प्रतीयते, तत्त्वतोऽनुभूयते, तस्य पद पदाब्जम्। कथम्भूतम्? सुदुर्व्विभाव्यमेकस्यैव युगपत् सगुणनिर्गुणत्व दृश्यादृश्यत्वादिना जगतोऽपि सकाशात् परमदुर्व्वितर्क्यमित्यर्थः॥ ४१॥ एवं तज्ज्ञानं तस्मादेवेत्युक्त्वा मोहोऽपि तन्माययैवेति तदैश्वर्य्यमेव द्रढयन्ती मोहनिवृत्तये तमेव शरणं याति—अहमिति। कुमतिरिति तत्त्वविचारेण सम्बन्धस्यात्यन्तानित्यत्वेऽपि तत्तन्मिथ्याभिमानात्, यद्वा, विचारेण स्वप्रादिविकल्पत्रयं निरस्यन्ती चतुर्थमेव पक्षं निश्चित्य तस्याप्यपनोदनाय जगदीशं शरणं याति—अहमिति। आत्मात्मीयसम्यगवबोधेन वितर्कत्रयं परिहृतम्, तथापि स्ववाले इत्थं विश्वरूपाश्रयतयेश्वर विश्वेशोऽयमिति कुमतिर्मे यन्माययाभूत्, स जगदीशो मे गतिः, कुमतिमेतामपनीय पुत्त्रबुद्धिमेव दृढीकुर्य्यादित्यर्थः॥ ४२॥ कृष्णस्तु तथैव कृतवानित्याह—इत्थमिति। गोपिकायां गोपालिन्यामिति श्रीबादरायणेः प्रेमविशेषोक्तिः, किंवा गां पृथ्वीं पातीति गोपिका राज्ञी तस्यामित्यादरात्, यद्वा, लालन-

पालनादिना विविधनिजक्रीडासुखरक्षिकायामित्यर्थः। यद्वा, तज्जातिस्वभावेन स्नेहविशेषवितानपात्रतोक्ता, अतएव स श्रीकृष्णो मायां विशेषेण विस्तारयामास। कथम्भूताम्? वैष्णवीं स्वाधीनां निजेच्छानुवर्तिनीमित्यर्थः। विष्णुशब्देन तस्या अपि सद्यः सर्वान्तः प्रवेशसामर्थ्यं सूचितम्, यद्वा, विष्णुसम्बन्धकारिणीम्, न तु तदावरिकां सच्चिदानन्दशक्तिरूपामित्यर्थः। न च केवलं सम्बन्धमात्रकारिणीम्, किन्तु भक्तविशेषसम्पादिनीमपीत्याह—पुत्रे पुत्रबुद्ध्या यस्तस्मिन् स्नेहस्त मयीम्,—मयट् प्राचुर्ये स्वरूपे वा। ननु तत्वज्ञाने सति तादृशो भक्तिर्दुर्घटा? तत्राह—ईश्वरः सर्व्वं कर्त्तुं समर्थ इति। न च सा (भक्तिः) प्रोक्त-तत्त्वज्ञानवदस्थिरेत्याशयेनाह–विभुर्व्यापक इति। तस्य शक्तेरपि तद्व्यापकत्वात्तादृशस्नेहो निरन्तर एवेत्यर्थः। अतएवोक्तम्-व्यतनोदिति। अतएव तद्विघातकं तत्त्वज्ञानोत्पादकविश्वरूप दर्शनादिकं पुनस्तस्याः कदापि नाभूत्। यद्वा, वैष्णवीं निजाम-परिच्छिन्ननित्यसत्यामित्यर्थः, मायां दयाम्, पुत्र! हे श्रीपरीक्षिदिति स्नेहप्रसंगे स्नेहोदयात्। अन्यत् समानम्॥ ४३॥ नष्टा तिरोहिता स्मृतिस्तज्ज्ञानं तदनुसन्धानं वा यस्तास्तथभूतासीत्। आत्मजं निजोदरादुत्पन्नमिति नष्टस्मृतिलक्षणं स्नेहविवृद्धि-हेतुश्च। यदा पुरेति तस्यास्तस्मिन् स्नेहस्य महापराकाष्ठा सूचिता। यद्वा, यथा पुरेत्यस्यारोप्येत्यनेनान्वयः; ततश्च सदा परां काष्ठां प्राप्तस्यापि तत्स्नेहस्य भक्तिरसस्वभावेन प्रतिक्षणं नवनवस्वादुरसविशेषोदयेन प्रवृद्धिरिति वैष्णवसिद्धान्तानुसारेण ज्ञेयम्। तच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतमेव। एवं श्रीमुखप्रसारणमात्रेणापि विश्वदर्शनं श्रीभगवदिच्छयैवेति निर्द्धार्य्यम्, अन्यथा भोजनपायनादौ बहुशस्तत्प्रसारणे श्रीयशोदादि तद्दर्शनसम्भवात्। तत्र चाधुनात्रेश्वरज्ञानादिना लोकेषु सूचितमिदम्। विश्वरूपदर्शनस्य तत् स्वभावकत्वाद्भक्तविशेषरूपैरैकान्तिभिस्तत्रैव वर्ण्यते, तथा तद्दर्शनाज्जायमानमपि भक्तिविशेषविघातकमीश्वर-ज्ञानं मदनुग्रहेणान्तर्द्ध्यादेव; विशेषतश्चार्त्तिभरोत्पत्त्या भक्तिर्विवर्द्धत एवेति मातृद्वारा च तत्तद्बोधनं साधुवर्गपूज्यया तयैव तदुपपत्तेः; विशेषतश्च विविधाश्चर्य्यमयता दार्ढ्येन पूर्व्ववत् सर्व्वशंका निरासात्तस्याः स्नेहभर सुस्थिरता सम्पादकमेव तद्वृतम्। ततश्च स्मृतिरीश्वरज्ञानं तदैव नष्टम्; विश्वरूपदर्शनस्मृतिश्च पूर्व्ववदनुवर्त्ततां नाम, न तत्र क्षतिः, अथवा पुरामातृलालनजसुख-विशेषादिदानीञ्च तदार्त्तिप्रदात् स्वापराधजभयान्निजैश्वर्य्यसम्वरणाशक्तेर्नित्योदरस्थं विश्वं तया दृष्टमिति ज्ञेयम्; न तूपादेयतया भगवतास्यै दर्शितमिति च। अन्यत् समानम्। एवमेव केचिद्वैष्णवा मन्यन्ते–क्रिया (क्रीडा) शक्तावेव श्रीभगवतो बाल्यलीला, न तु ज्ञानशक्ताविति॥ ४४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

चेतःषष्ठो बुद्धिपरः मनःकर्मणो व्यापाराः यदाश्रयं यदाधेयं यतः उत्पद्यते येन सर्वं तिष्ठति प्रलीयते यत्रेत्यध्याहारः अतीयत इति पाठे अतीयव्यजत उत्पद्यत इत्यर्थः। दुर्विभाव्यम् अप्रतर्क्यं पदं प्राप्यतत्त्वं प्रणतास्मीत्यर्थः॥ ४१॥ वित्तपास्मी-त्यर्थः। यन्माययेत्थं कुमतिरिति भवामीति शेषः स मे गतिरस्तीत्यर्थः॥४२॥ प्रजास्नेहमयीम्॥४३॥ आरोहमङ्कम्॥४४-४६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

चरमं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर इति निश्चित्य तं प्रणमति–अथो इति। चेतसा बुद्ध्या मनःकर्मणा मनोव्यापारेण वचोभिश्चाञ्जसा तत्त्वतः आशु वा यथावद्याथात्म्येनाधो विश्वं न वितर्कगोचरं यदाश्रयं यदाधेयं यत उत् पद्यत इति शेषः। येन जीवति प्रमीयते यस्मिन् लीयते "यतो वा इमानि भूतानि" इति श्रुत्यर्थप्रत्यभिज्ञानसामर्थ्याद्यतो येन प्रमीयते इति पदापेक्षितानां जायते जीवति यस्मिन्निति पदानामध्याहारः तत्सुर्द्विभाव्यम् इदमित्थन्तया चेतोमनःकर्मवचोभिः तर्कयितुम-शक्यं पदं पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदं मुमुक्षुप्राप्यं परमात्मस्वरूपं प्रणताऽस्मि न वितर्कगोचरमिति कार्यस्य जगतस्तर्का-गोचरत्वमुक्तं तत्कृत इत्यपेक्षायां कारणस्य तथाविधत्वादित्यभिप्रायेण सुदुर्विभाव्यमित्युक्तं प्रतीयते इति पाठे यतः प्रतीयते व्यज्यते उत्पद्यते इत्यर्थः॥ ४१॥ ममाहम्ममते यत्सङ्कल्पायत्ते स एव मम तन्निवृत्युपाय इत्यध्यवस्यति—अहमिति। ममासौ नन्दः पतिः एष मे सुनः सगोपाः सहगोधनाश्च गोप्यो मे मदीयाः अहं सती व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलवित्तपा समस्तद्रव्यगोप्त्री अस्मीति कुमतिरहं ममताबुद्धिर्यन्मायया यस्य सङ्कल्पेनाभूत् स एव भगवान् मम गतिरहंममतानिवृत्त्युपायः॥ ४२॥ इत्थं गोपिकायां यशोदायां विदितं तत्त्वं बालस्य याथात्म्यं यथा तथाभूतायां सत्यामेव स कृष्णरूप ईश्वरः विभुः विष्णोः स्वस्य सम्बन्धिनीं प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहप्राचुर्यावहां मायां व्यतनोत् विस्तारितवान्॥ ४३॥ सद्यस्तदैव नष्टा स्मृतिः पुत्रे परमात्मत्व-स्मृतिर्यस्याः सा गोपी पुत्रमारोहमङ्कमारोप्य पूर्ववत्प्रवृद्धेन पुत्रस्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्तथाभूता बभूव॥ ४४॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति उपनिषद्वेद्यं ब्रह्मात्र मम पुत्रतां प्राप्तमिति यस्मात्तस्मान्मया बोद्धुमशक्यमिति न दूषणं किन्तु ब्रह्मादिभिः सुष्ठु दुर्विभाव्यमित्याशयेनाह–अद इति। अदो वस्तु यथा यादृशं तत्तादृशमिति चेतोमनःकर्मवचोभिः चेतो ब्रह्मा मनो रुद्रः कर्म पुष्करनामा देवः इन्द्रो वा वचो वह्निः बृहस्पतिर्वा उमा वा अञ्जसा साक्षादेतैः कृतविविधतर्कगोचरं

विरिंचितनानानुमानविषयं न भवति विरुद्धतर्कगोचरं न भवतीति किमिति योऽयम्। नन्विदं तर्हि शून्यप्रायमिति तत्राह— यदाश्रयमिति। य पदं आश्रयो यस्य तद्यदाश्रयं जगदिति शेषः। प्रलये ब्रह्माश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यनेन जगद्ब्रह्मणोर्भेदः सिद्धः स्थितिकाले च येन जीवनं सिध्यति सृष्टिकाले च यतः प्रतीयतेऽभिव्यज्यते उत्पद्यत इत्यर्थः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति श्रुतिः। अनेन जन्मादिकारणत्वं स्वलक्षणमित्युक्तं भवति। ननु, घटादिवत् किमिति न ज्ञायत इति तत्राह सुदुर्विभाव्यमिति। सुखेन दुःखेन च विभाव्यं विशिष्टत्वेन विरुद्धत्वे च ज्ञेयम् "सुदुःशोभनदुःखयोः" इति यादवः। "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठा" इति श्रुतेः। द्वैतवादिभिः सम्यग् अद्वैतवादिभिः असम्यक् ब्रह्म ज्ञेयं तत्र द्वैतवादिनः सम्यग्ज्ञानेन स्वयोग्या मुक्तिः अद्वैतवादिनः प्रमाणविरुद्धज्ञानेन तम इति विवेकः "अन्यमीशस्य महिमानमिति वीतशोकः, तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः" इत्यादिश्रुतेः। त्वम् भयविधेषु कति तत्राह—प्रणतेति। पद्यत इति पदं स्वरूपं नम्यनेतृभावस्य भेदनिष्ठत्वेन द्वैतनिष्ठैवाहमित्यर्थः॥ ४१॥ नित्य परतन्त्रं आत्मनि स्वातन्त्र्यबुद्धिरभेदबुद्धिरित्याशयेनाह—अहमिति। व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलचित्तानि पाति रक्षतीति अखिलचित्तानि पाति रक्षतीति अखिलवित्तपा यस्य हरेर्मायया इच्छया इत्थं कुमतिरात्मनस्स्वातन्त्र्यबुद्धिरहमभूवम् अतः स हरिर्मे गतिः मत्स्वातन्त्र्यबुद्धिमपनुद्य स्वस्वातन्त्र्यज्ञापकत्वेनाश्रयोस्त्वित्यन्वयः॥ ४२॥ प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहमयीं पुत्रस्नेह-रूपाम्॥ ४३॥ प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽभूदिति शेषः॥ ४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अथ चरमतर्कमपि तत्र क्षुत्पिपासाकोमलतादिदर्शनेनासम्भाव्यनिश्चयमप्राप्नुवती परमाचिन्त्यशक्तिं श्रीनारायणमेव तत्कारणं निश्चिन्त्य तच्च सुदुर्ज्ञेयं मत्वा केवलं प्रणमति—अथो इति। तस्य पदं पदाब्जम् अथ बाह्यमनुसन्धाय निजं भावं द्रढयन्त्याह—अहमिति। पादत्रयेण पुनस्तत्सुखान्तःस्थितमनुसन्धायाह॥ ४१॥ यदिति कुमतिः निजबालके विश्वरूपदर्शनरूपा॥ ४२॥ तत्त्वम् अहम्ममेति पादत्रयोक्ततल्लीलायाथार्थ्यं स तया प्रार्थित ईश्वरः मायां तद्विषयां दयां पूर्वतोऽपि विस्तारयामास वैष्णवीं विष्णोः स्वरूपशक्तिं तदेवमहो परमभाग्यवती श्रीयशोदेत्याह॥ ४३-४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ स्ववचः सत्यं कर्तुं सचराचरं सर्वमेव जगज्जठरे दर्शयन् 'अहं भक्षको न भवामि, किन्तु सर्वाधार एव' इति स्वविग्रहस्य परिच्छिन्नत्वेऽपि व्यापकत्वं बोधयितुं मातरं विस्मापयति—अहं ममासौ पतिरित्यादि। अहं व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा असपत्नीका सती नित्या। असौ व्रजेश्वरो मम पतिः सन् एष मे सुतः; सविशेष्यलिङ्गतया सच्छन्दस्य लिङ्गव्यत्ययः। एवं गोपाश्च गोपाश्च सह गोधना इति गोधनानि च इत्थं समे समानाः सर्वेऽलौकिकत्वात् समः सर्वनाम। मायया मायाकृता इति यत्तत् कुमतिः। कीदृशी? जगतिर्न विद्यते गतिर्यस्याः, नित्यसिद्धेष्वेतेषु यन्मायाकृतमिति बुद्धिः, सा कुबुद्धिरेव, यत एतत् सर्वं यस्य जठरे दृश्यते, तेन सदेवेदम्। अथवा इदं सर्वं य मायया यस्यास्यैव श्रीकृष्णस्य मायया स्वाभाविक्या प्रकाशिकया मायया निजयोगशक्तया प्राकृतसर्गवन्न, तर्हि वैकुण्ठवद्ब्रह्माण्डवहिरेवास्तु कथंपृथिव्यामित्याह—इत्थमनेन प्रकारेणैव कौ पृथिव्यां मतिर्मननं गतिर्वैकुण्ठश्च समे तुल्य इत्यर्थः। यद्वा, यन्मायया यस्य स्वाभाविकयेत्यादि पूर्ववत् स मे गतिः, समे श्रवणश्च। कीदृशः? इत्थं कुमतिः कौ पृथिवीविषये मतिर्यस्य पृथिवीभारहारित्वात्॥ ४३-४७॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अहं ममासाविति। अहं व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती उत्कृष्टा, असौ व्रजेश्वरो मम पतिः अयं मे सुत इत्यादि यस्य माययेत्थमिति कुमतिः, नेयं माया, दयैवेयम्, अतो मे सा कुमतिर्मा भूदित्याक्षेप्यम्। इत्यत्र स मे गतिर्यस्य माययेति कथ्यते, स एव मे श्रवणम्, यथा माययेयमिति कुमतिर्न स्यात्, तथा स प्रसीदत्विति भावः॥ ४३-५२॥

इत्यष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

चतुर्थं तर्कमपि तत्र स्वपुत्रे क्षुत्पिपासामौग्ध्यचाञ्चल्यादिदर्शनेनासम्भाव्यत्वबुद्ध्या कमपि निश्चयं कर्त्तुमशक्नुवती तर्कागोचरस्यापि वस्तुनो वस्तुतः कारणं भगवानेवेति सामान्यतो निश्चिन्वती तत्पदाब्जं सुतस्वस्तिकामा प्रणमति अथो इति। यथावत् याथार्थ्येन नैव वितर्कस्य गोचरं क्लीबत्वमार्षं दृश्यमानमाश्चर्यमिदं यदाश्रयं योऽस्याधिष्ठानं यतः यश्चास्योत्पत्तिहेतुः येन प्रतीयते यश्चास्य प्रतीतिहेतुः तत्पदन्तस्य भगवतः पदं चरणारविन्दं चेतश्चित्तं तदादिभिः प्रणतास्मि सुदुर्विभाव्यं मादृशीनां ध्यातुमशक्यमतः केवलं प्रणमामि स एवास्य मत्सुतस्य सर्वानिष्टं प्रशमयत्विति भावः॥ ४१॥

हन्त हन्त स एव सुतस्यास्य दाता स एव रक्षितापि भवेदेव तत्र मम पुनरज्ञायाः किमहङ्कारममकाराभ्यामिति तौ जिहासती श्रीविष्णुं प्रपद्यमाना प्राह—अहमिति। अखिलवित्तपा निखिलधनरक्षणाभिमानवतीत्यर्थः। गोप्यश्चेति गोपीनां गोपानां सर्वगोधनानां चाहमेव स्वामिनी महाराज्ञीत्यभिमानो यथा कुमतिस्तथैव लोकोत्तरस्यास्य सर्वव्रजजनप्राणभूतस्य बालकस्याहं माता अहमेव पालयित्री दानध्यानादिभिर्विप्रदेवाद्याराधनैर्नित्यं विष्णुपूजनैश्च सर्वानिष्टेभ्यो रक्षामहमेव सततं कारयन्ती भवामि ततोस्य स्वस्तीत्यभिमानोपि कुमतिः एतावतो गोकुलैश्वर्यस्य श्रीविष्णुनैव दत्तत्वात्तत्र यथाममाभिमानानौचित्यं तथैव तेनैव कृपया दत्ते पूतनाद्यरिष्टेभ्यः प्रतिक्षणं पाल्यमाने च परमलोकोत्तरेऽस्मिन् सुते लौकिक्या गोपजाते निकृष्टाया अत्ययोग्याया मम मातृत्वरक्षयित्रीत्वाद्यभिमानोप्यनौचित्यात् कुमतिरेवेति विवेकजिघृक्षैव श्रीयशोदायाः क्षणिकीयं न तु विवेकः यथा महामोहान्धानामपि व्यावहारिकलोकानां कादाचित्कपारमार्थिकप्रसङ्गभवा स्त्रीपुत्राद्यासक्तिजिहासेति ज्ञेयम्॥ ४२॥ इत्थमनेन प्रकारेण विदिततत्त्वं ममत्वजिहासा यथा तस्यां यशोदायां सत्यां तर्हि का मां लालयिष्यती प्रतिक्षणं का पालयिष्यतीत्यतः पुत्रस्नेहमयीं स्वरूपे मयट् पुत्रस्नेहरूपं प्रेमविशेषं व्यतनोदित्यर्थः। मोहनसाधर्म्यान्मायां तेन च प्रेमां प्रेमान्धाञ्चकारेत्यर्थः॥ ४३॥ नष्टस्मृतिरिति यथा स्वप्नदृष्टे र्थः कश्चित् कश्चिद्विस्मर्यते तथैव सद्य एव सा विश्वदर्शनादिकं विसस्मारेत्यर्थः। प्रबुद्धेन सङ्कोचकारणादप्यैश्वर्यज्ञानादसङ्कुचितेन प्रत्युत प्रबलीभूतेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा॥ ४४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं भगवदिच्छयैव भगवन्तं ज्ञात्वा तदिच्छामन्तरेण दुर्ज्ञेयत्वं कैमुतिकन्यायेन प्रतिपादयन् तं प्रणमति—अथो इति। यदाश्रयम् चेत् आदिभिः यथावत् याथात्म्येन वितर्कगोचरं न भवति अथो अतः तत्तु दुर्विभाव्यम् सुतरां दुर्ज्ञेयम्। ननु, दुर्ज्ञेयं भवत्या कुतो ज्ञायते ? अत आह—येन यतः प्रतीयते इति येनैव अनुग्राहकेण यत्प्रतीयते यतोऽतोऽञ्जसा साक्षात्स्वगृहे वर्तमानं तत्पदं प्रणतास्मीत्यन्वयः॥ ४१॥ एतावन्तं कालं यदिच्छयैवाहं पुत्रतया तमवेदिषं न परब्रह्मतयेति द्योतयितुं देहे अहन्ता पतिपुत्रादौ ममता यस्य मायया भवति स मे गतिर्भवत्वित्याह—अहमिति। व्रजेश्वरस्य नन्दस्य अखिलवित्तपा सती जायाऽहं मम पतिः एषः कृष्णो मे सुतः पोष्यः सहगोधनाः गोपाश्च मे मदीयाः इतीत्थं कुमतिर्यन्मायया स एव कृष्णो मे गतिः शरणं भवतु॥ ४२॥ वैष्णवीं स्वीयां मायां सङ्कल्परूपां व्यतनोत् विस्तारितवान्॥ ४३॥ सद्यो नष्टा स्मृतिः सुते पुरुषोत्तमस्मरणं यस्या सा प्रवृद्धस्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा यथा पुरा तथा आसीत् परब्रह्मण्यात्मजभावव्यवसायवती आसीदित्यर्थः॥ ४४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सोऽयं स्वयं भगवान्ममार्भको नारायणाख्यः स्वविलासेनैव तं धर्मं दर्शयतीत्याह अथो यथावदिति। चेतश्चित्तं इदमाश्चर्यदर्शनं यथावच्चित्तादिभिर्वितर्कगोचरं न भवति यदाश्रयं यदधिष्ठानकं यतश्चेति योऽस्य प्राकट्ये हेतुः येनेति योऽस्य प्रतीति हेतुस्तत्पदं वस्तु प्रणतास्मि मदर्भकविलासमूर्त्तिं नारायणं तद्धर्मे शङ्कानिरासाय चित्तादिभिः प्रणमामीत्यर्थः। कीदृशं तत्पदं सुदुर्विभाव्यं ध्यातुमशक्यमित्यर्थः॥ ४१॥ तदद्भुतदर्शनस्य स्वप्नादिहेतुकत्वं निराकरोत्यहमिति त्रिपाद्या व्रजेश्वरस्य नन्दराजस्याखिलवित्तपा सर्वसम्पद्रक्षिका गृहेश्वरी सती सर्वार्थकोविदा पतिव्रता चाहं यशोदाभिधाना भवामि असौ व्रजेश्वरो मम पतिः एष कृष्णो मे सुत आत्मजः गोप्यादयश्च मत्प्रजा इति निश्चितप्रतीतिर्न स्वप्नादेरवकाश इत्यर्थः। स्वप्नादिकल्पिता तद्बुद्धिः पुनर्माभूदिति पुनर्नारायणमाश्रयति यन्माययेत्येकेन पादेन। इत्थं किं स्वप्न इत्याद्युक्ताशङ्कारूपा कुमतिरशोभना मतिः कुः पृथिव्यामशोभते इति हणचन्द्रः यन्मायया यदिच्छयाभूत् आत्ममायातरिच्छास्यादिति शब्दमहोदधिः स मे गतिस्तन्निर्हरणेसमाश्रयोऽस्त्वित्यर्थः। स्वयं भगवान् कृष्णो मेऽर्भको लालनीयः शिक्षणीयश्च तद्विलासे नारायणस्तु पूज्य इति मे भक्तिपद्धतिर्या गर्गेणाप्युपदिश्यते गोपायचेति॥ ४२॥ उपालम्भाकाङ्क्षया मृदं भक्षयित्वा तद्भक्षणपराधेन सम्भावितं ताडनमप्यद्भुतदर्शनेनापनीतं अथाद्भुतरसंनिमग्ना प्रसूर्मम लालने शिथिला भवेत् इति विचिन्त्य तदद्भुतदर्शनं पुनर्विरुद्धेन पुत्रभावेन प्रेम्णा व्यस्मारयदित्याहेत्थमिति उक्तप्रकारेण विदितमनुभूतं तत्वं पुत्रस्वरूपं यथा तथाभूतायां गोपिकायां राज्ञ्यां स्वजनन्यां सत्यां स ईश्वरस्तदर्भकः पुत्रस्नेहमयीं मायां कृपां व्यतनोत् वैष्णवीं स्वकीयां न च मायां त्रिगुणामिति शक्यं वक्तुं तस्यास्तद्विषयकपुत्रस्नेहमयत्वाभावात् न च पुत्रस्नेहो भ्रान्तिरचितत्वान्यायिकः तथात्वे हरेस्तद्वश्यत्वासम्भवात्॥ ४३॥ तादृशकृपाविस्तारस्य फलमाह सद्य इति। नष्टा स्मृतिः शङ्कानिमित्तस्वप्नादिकल्पनानुसन्धिर्यस्याः सा प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्तादृशी पुरेवासीत्॥ ४४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्वपुत्रं नन्दभार्ये कथं न त्वं व्यज्ञासीरित्यतो न त्रिनेत्रादय एनं सम्यग्विदुरहं कियन्मात्रमिति मर्म न प्रकाश्यमित्यपदेशेन तान्यप्यज्ञान्कथयित्वाऽन्ततः किं त्वं करोषीत्यत इयत्वेदेयेव सीमा सेवाया इति तदावेदयति॥ अद इति। कञ्जजस्त्वभ-

जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशंति" इति श्रुतेः । ननु घटादिवत्किमिति न ज्ञायते इति चेत्तत्राह–सुदुर्विभाव्यं सुखेन दुःखेन च विभाव्यं विभावनीयम् 'सुदुः शोभनदुःखयोः' इति यादवः । "नैषा मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठे" इति श्रुतेः । यद्वा–सगुणोपासकैः सुखेन निर्गुणोपासकैश्च दुःखेन विभाव्यम् "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इति गीतासूक्तेः । अव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणोपासकानामित्यर्थः । एतेन सगुणोपासकैः सुखेनैव विभाव्यत इति तात्पर्यम् । प्रणतास्मीत्यनेन नम्यनंतृभावः । सगुणोपासन एवेति सूचितम् ।। ४१ ।। एवं पूर्वोक्तरीत्या प्रपंचप्रीत्या जगत्प्रसिद्धया उन्नीतं ज्ञातं तत्त्वं यथार्थस्वरूपं जीवानां संसृतेर्हेतुभूता या मायातस्याश्रयत्वेनाधिष्ठानत्वेनोन्नयंती जानती । अखिलवित्तपा समग्रधनरक्षिणी इत्थं कुमतिर्भेदमतिः । यन्मायया यस्य भगवतश्शक्त्या स एष भगवान् शरणं रक्षितेति 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इति विश्वः । हंतहंत स एव सुतस्य दाता स एव रक्षितापि भवेदेव तत्र मम पुनरज्ञायाः किमहंकारममकाराभ्यामिति तौ जिहासंती विष्णुं प्रपद्यमाना प्राह–अहमखिलवित्तपा निखिलव्रतरक्षणाभिमानवतीत्यर्थः । गोपाश्चेति गोपानां गोपीनां सर्वगोधनानाञ्चाहमेव महाराज्ञीत्यभिमानो यथा कुमतिस्तथैव लोकोत्तरस्यास्य व्रजजनप्राणभूतस्य बालस्याहं माता पालयित्री दानधान्यादिभिर्विप्रदेवाद्याराधनैर्नित्यं विष्णुपूजनैश्च सर्वानिष्टेभ्यो रक्षामहमेव सततं कारयंती भवामि ततोऽस्य स्वस्तीत्याद्यभिमानोपि कुमतिः एतावता गोकुलेश्वर्यस्य श्रीविष्णुनैव दत्तत्वात्तत्र यथा ममाभिमानानौचित्यं तथा तेनैव कृपया दत्ते पूतनाद्याविष्टेभ्यः प्रतिक्षणं पाल्यमाने च परमलोकोत्तरेऽस्मिन्सुते लौकिक्या गोपजातेर्निकृष्टाया अल्पयोग्याया मातृत्वरक्षयित्रीत्वाद्यभिमानोनौचित्यत्कुमतिरेवेति विवेकजिघृक्षैव श्रीयशोदायाः क्षणिकीयं न तु विवेकः । यथा महामोहांधानामपि व्यावहारिकलोकानां कादाचित्पारमार्थिकप्रसंगभवा स्त्रीपुत्राद्यासक्तिजिहासेति ज्ञेयमिति विश्वनाथः ।। ४२ ।। स कृष्णः विदितं ज्ञातं तत्त्वं यया तस्याम् ।। ४३ ।। सा यशोदा । आरोहं कटिभागं पुरेव निजगृहकार्यासक्ता बभूवेत्यर्थः ।। ४४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ चरमतर्कमपि तत्र क्षुत्पिपासाकौमल्यादिदर्शनेनासम्भाव्य पुनर्बहुविधैर्वितर्कैर्निश्चयमप्राप्नुवती सर्वदुर्वितर्कसम्पादकं श्रीनारायणमेव तत्कारणं निश्चित्य तं च सदुर्ज्ञेयं मत्वा केवलं प्रणमति–अथो इति । कर्मशुभमदृष्टमैहिकं च कायिकव्यापाराश्च न वितर्कगोचरं वितर्कागोचरमित्यर्थः । तादृशमपि यदाश्रयं येन साधनेन यतो हेतोरञ्जसा प्रतीयते साक्षादनुभूयते तस्य पदाब्जम् अत एव सुदुर्विभाव्यम् अचिन्त्यकार्यवृन्दस्य कारणत्वेन परमाचिन्त्यस्वरूपशक्तिकम् ।। ४१ ।। अथ बाह्यमनुसन्धाय निजस्वाभाविकावस्थितिमेव शरणं गच्छति—यदिति । इत्थं निजबालके उच्चावचदर्शनहेतुः कुमतिर्यस्य दुर्विभाव्यया मायया स एव मम तद्भक्तिविमुखायाः शरणमिति यद्वा, यदित्यादौ तथापीत्याक्षेपलभ्यं तदेतत्सर्वं लवणाकरन्यायेन विस्मयादिद्वारा तस्याः प्रेमैव पुष्णातीति दर्शितम् ।।४२।। तदेवं तन्निष्ठामेव दृष्ट्वा सोपि परमतुष्टस्तद्वैय्यग्र्यप्रदर्शनेन व्यग्रश्च संस्तम्भावमेव तस्याविस्तारयामासेत्याह—इत्थमिति । इत्थम् अहं ममासावित्यादिना विदितं निर्द्धारितं तत्त्वं प्रथमपादत्रयोक्तश्रीकृष्णलीलायाथार्थ्यं यया तस्यां गोपिकायां सदा मातृभावेन श्रीकृष्णपालयित्र्यां स तया प्रार्थितम् ईश्वरः मायां तद्विषयां दयामेव व्यतनोत् पूर्वतोपि विस्तारयामास यथा तद्विरोधिप्रायमीदृशदर्शनादिकं पुनर्न जातमिति तां विशिनष्टि—पुत्रेति प्राचुर्ये मयट् प्राचुर्य्यं चान्यदीयस्नेहापेक्षया तस्याऽप्रकृतिसम्बन्धित्वं प्रत्याचष्टे वैष्णवीं विष्णोः स्वरूपशक्तिम् ।। ४३ ।। ततश्च सद्यो नष्टा तिरोहिता स्मृतिस्तदनुसन्धानं यस्यास्तथाभूतासीति आरोहमङ्कम् आत्मजं निजोदरादुत्पन्नमिति तद्भावानुवादः नष्टस्मृतित्वमेव दृढयति यथा पुरेति ।। ४४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अन्तं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर एवेति निश्चित्य पुत्रबुद्धिं विहाय भक्त्या प्रणमन्ती परमादृश्याखिलकार्य्यकारणात्मकप्रपञ्चस्यैकत्रैकदैव सहसा साक्षाद्दर्शने श्रीभगवच्छक्तिमिच्छाञ्च मन्वाना तदैश्वर्य्यमाह, यद्वा, बहुविकल्पैर्निश्चयाभावाद्व्याकुला नारायणं प्रणमति–अथो इति, अतो मन आदिभिरपि यथावद्याथार्थ्येन वितर्कगोचरं न भवति । तत्र कर्म्मादृष्टम्, तपस्यादि–कायिकव्यापारो वा । तदपि यदाश्रयं येन साधनेन यतो हेतोरञ्जसा प्रतीयते, तत्त्वतोऽनुभूयते, तस्य पद पदाब्जम् । कथम्भूतम् ? सुदुर्व्विभाव्यमेकस्यैव युगपत् सगुणनिर्गुणत्व दृश्यादृश्यत्वादिना जगतोऽपि सकाशात् परमदुर्व्वितर्क्यमित्यर्थः ।। ४१ ।। एवं तज्ज्ञानं तस्मादेवेत्युक्त्वा मोहोऽपि तन्माययैवेति तदैश्वर्य्यमेव द्रढयन्ती मोहनिवृत्तये तमेव शरणं याति—अहमिति । कुमतिरिति तत्त्वविचारेण सम्बन्धस्यात्यन्तानित्यत्वेऽपि तत्तन्मिथ्याभिमानात्, यद्वा, विचारेण स्वप्नादिविकल्पत्रयं निरस्यन्ती चतुर्थमेव पक्षं निश्चित्य तस्याप्यपनोदनाय जगदीशं शरणं याति—अहमिति । आत्मात्मीयसम्यगवबोधेन वितर्कत्रयं परिहृतम्, तथापि स्ववाले इत्थं विश्वरूपाश्रयत्वमीश्वर विश्वेशोऽयमिति कुमतिर्मे यन्मायया भूत्, स जगदीशो मे गतिः, कुमतिमेतामपनीय पुत्रबुद्धिमेव दृढीकुर्य्यादित्यर्थः ।। ४२ ।। कृष्णस्तु तथैव कृतवानित्याह—इत्थमिति । गोपिकायां गोपालिन्यामिति श्रीबादरायणेः प्रेमविशेषोक्तिः, किंवा गां पृथ्वीं पातीति गोपिका राज्ञी तस्यामित्यादरात्, यद्वा, लालन–

पालनादिना विविधनिजक्रीडासुखरक्षिकायामित्यर्थः । यद्वा, तज्जातिस्वभावेन स्नेहविशेषवितानपात्रतोक्ता, अतएव स श्रीकृष्णो मायां विशेषेण विस्तारयामास । कथम्भूताम् ? वैष्णवीं स्वाधीनां निजेच्छानुवर्तिनीमित्यर्थः । विष्णुशब्देन तस्या अपि सद्यः सर्वान्तः प्रवेशसामर्थ्यं सूचितम्, यद्वा, विष्णुसम्बन्धकारिणीम्, न तु तदावरिकां सच्चिदानन्दशक्तिरूपामित्यर्थः । न च केवलं सम्बन्धमात्रकारिणीम्, किन्तु भक्तविशेषसम्पादिनीमपीत्याह—पुत्रे पुत्रबुद्ध्या यस्तस्मिन् स्नेहस्त मयीम् ,—मयट् प्राचुर्ये स्वरूपे वा । ननु तत्वज्ञाने सति तादृशो भक्तिर्दुर्घटा ? तत्राह—ईश्वरः सर्व्वं कर्त्तुं समर्थ इति । न च सा (भक्ति) प्रोक्त-तत्त्वज्ञानवदस्थिरेत्याशयेनाह-विभुर्व्यापक इति । तस्य शक्तेरपि तद्वद्व्यापकत्वात्तादृशस्नेहो निरन्तर एवेत्यर्थः । अतएवोक्तम्-व्यतनोदिति । अतएव तद्विघातकं तत्त्वज्ञानोत्पादकविश्वरूप दर्शनादिकं पुनस्तस्याः कदापि नाभूत् । यद्वा, वैष्णवीं निजाम-परिच्छिन्ननित्यसत्यामित्यर्थः, मायां दयाम्, पुत्र ! हे श्रीपरीक्षिदिति स्नेहप्रसंगे स्नेहोदयात् । अन्यत् समानम् ॥ ४३ ॥ नष्टा तिरोहिता स्मृतिस्तज्ज्ञानं तदनुसन्धानं वा यस्तास्तथभूतासीत् । आत्मजं निजोदरादुत्पन्नमिति नष्टस्मृतिलक्षणं स्नेहविवृद्धि-हेतुश्च । यदा पुरेति तस्यास्तस्मिन् स्नेहस्य महापराकाष्ठा सूचिता । यद्वा, यथा पुरेत्यस्यारोप्येत्यनेनान्वयः; ततश्च सदा परां काष्ठां प्राप्तस्यापि तत्स्नेहस्य भक्तिरसस्वभावेन प्रतिक्षणं नवनवस्वादुरसविशेषोदयेन प्रवृद्धिरिति वैष्णवसिद्धान्तानुसारेण ज्ञेयम् । तच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतमेव । एवं श्रीमुखप्रसारणमात्रेणापि विश्वदर्शनं श्रीभगवदिच्छयैवेति निर्द्धार्य्यम्, अन्यथा भोजनपायनादौ बहुशस्तत्प्रसारणे श्रीयशोदादि तद्दर्शनसम्भवात् । तत्र चाधुनात्रेश्वरज्ञानादिना लोकेषु सूचितमिदम् । विश्वरूपदर्शनस्य तत् स्वभावकत्वाद्भक्तविशेषरूपैरैकान्तिभिस्तत्रैव वर्ण्यते, तथा तद्दर्शनाज्जायमानमपि भक्तिविशेषविघातकमीश्वर-ज्ञानं मदनुग्रहेणान्तर्द्धयादेव; विशेषतश्चार्त्तिभरोत्पत्त्या भक्तिर्विवर्द्धन एवेति मातृद्वारा च तत्तद्बोधनं साधुवर्गपूज्यया तयैव तदुपपत्तेः; विशेषतश्च विविधाश्चर्य्यमयता दार्ढ्येन पूर्व्ववत् सर्व्वशंका निरासात्तस्याः स्नेहभर सुस्थिरता सम्पादकमेव तद्वृतम् । ततश्च स्मृतिरीश्वरज्ञानं तदैव नष्टम्; विश्वरूपदर्शनस्मृतिश्च पूर्व्ववदनुवर्त्ततां नाम, न तत्र क्षतिः, अथवा पुरामातृलालनजसुख-विशेषादिदानीञ्च तदार्त्तिप्रदात् स्वापराधजभयान्निजैश्वर्य्यसम्वरणाशक्तेर्नित्योदरस्थं विश्वं तया दृष्टमिति ज्ञेयम्; न तूपादेयतया भगवतास्यै दर्शितमिति च । अन्यत् समानम् । एवमेव केचिद्वैष्णवा मन्यन्ते-क्रिया (क्रीडा) शक्तावेव श्रीभगवतो बाल्यलीला, न तु ज्ञानशक्ताविति ॥ ४४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

चेतःषष्ठो बुद्धिपरः मनःकर्मणो व्यापाराः यदाश्रयं यदाधेयं यतः उत्पद्यते येन सर्वं तिष्ठति प्रलीयते यत्रेत्यध्याहारः अतीयत इति पाठे अतीयव्यजत उत्पद्यत इत्यर्थः । दुर्विभाव्यम् अप्रतर्क्यं पदं प्राप्यतत्त्वं प्रणतास्मीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ वित्तपास्मी-त्यर्थः । यन्माययेत्थं कुमतिरिति भवामीति शेषः स मे गतिरस्तीत्यर्थः ॥४२॥ प्रजास्नेहमयीम् ॥४३॥ आरोहमङ्कम् ॥४४-४६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

चरमं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर इति निश्चित्य तं प्रणमति-अथो इति । चेतसा बुद्ध्या मनःकर्मणा मनोव्यापारेण वचोभिश्चाञ्जसा तत्त्वतः आशु वा यथावद्याथात्म्येनाधो विश्वं न वितर्कगोचरं यदाश्रयं यदाधेयं यत उत् पद्यत इति शेषः । येन जीवति प्रमीयते यस्मिन् लीयते "यतो वा इमानि भूतानि" इति श्रुत्यर्थप्रत्यभिज्ञानसामर्थ्याद्यतो येन प्रमीयते इति पदापेक्षितानां जायते जीवति यस्मिन्निति पदानामध्याहारः तत्सुर्द्विभाव्यम् इदमित्थन्तया चेतोमनःकर्मवचोभिः तर्कयितुम-शक्यं पदं पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदं मुमुक्षुप्राप्यं परमात्मस्वरूपं प्रणताऽस्मि न वितर्कगोचरमिति कार्यस्य जगतस्तर्क-गोचरत्वमुक्तं तत्कृत इत्यपेक्षायां कारणस्य तथाविधत्वादित्यभिप्रायेण सुदुर्विभाव्यमित्युक्तं प्रतीयते इति पाठे यतः प्रतीयते व्यज्यते उत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ममाहम्ममते यत्सङ्कल्पायत्ते स एव मम तन्निवृत्त्युपाय इत्यध्यवस्यति—अहमिति । ममासौ नन्दः पतिः एष मे सुतः सगोपाः सहगोधनाश्च गोप्यो मे मदीयाः अहं सती व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलवित्तपा समस्तद्रव्यगोप्त्री अस्मीति कुमतिरहं ममताबुद्धिर्यन्मायया यस्य सङ्कल्पेनाभूत् स एव भगवान् मम गतिरहंममतानिवृत्त्युपायः ॥ ४२ ॥ इत्थं गोपिकायां यशोदायां विदितं तत्त्वं बालस्य याथात्म्यं यथा तथाभूतायां सत्यामेव स कृष्णरूप ईश्वरः विभुः विष्णोः स्वस्य सम्बन्धिनीं प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहप्राचुर्यावहां मायां व्यतनोत् विस्तारितवान् ॥ ४३ ॥ सद्यस्तदैव नष्टा स्मृतिः पुत्रे परमात्मत्व-स्मृतिर्यस्याः सा गोपी पुत्रमारोहमङ्कमारोप्य पूर्ववत्प्रवृद्धेन पुत्रस्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्तथाभूता बभूव ॥ ४४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति उपनिषद्वेद्यं ब्रह्मात्र मम पुत्रतां प्राप्तमिति यस्मात्तस्मान्मया बोद्धुमशक्यमिति न दूषणं किन्तु ब्रह्मादिभिः सुष्ठु दुर्विभाव्यमित्याशयेनाह-अद इति। अदो वस्तु यथा यादृशं तत्तादृशमिति चेतोमनःकर्मवचोभिः चेतो ब्रह्मा मनो रुद्रः कर्म पुष्करनामा देवः इन्द्रो वा वचो वह्निः बृहस्पतिर्वा उमा वा अञ्जसा साक्षाद्देवैः कृतविविधतर्कगोचरं

विरचितनानानुमानविषयं न भवति विरुद्धतर्कगोचरं न भवतीति किमिति योऽयम्। नन्विदं तर्हि शून्यप्रायमिति तत्राह—यदाश्रयमिति। य पदं आश्रयो यस्य तद्यदाश्रयं जगदिति शेषः। प्रलये ब्रह्माश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यनेन जगद्ब्रह्मणोर्भेदः सिद्धः स्थितिकाले च येन जीवनं सिध्यति सृष्टिकाले च यतः प्रतीयतेऽभिव्यज्यते उत्पद्यत इत्यर्थः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति श्रुतिः। अनेन जन्मादिकारणत्वं स्वलक्षणमित्युक्तं भवति। ननु, घटादिवत् किमिति न ज्ञायत इति तत्राह सुदुर्विभाव्यमिति। सुखेन दुःखेन च विभाव्यं विशिष्टत्वेन विरुद्धत्वे च ज्ञेयम् "सुदुःशोभनदुःखयोः" इति यादवः। "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठा" इति श्रुतेः। द्वैतवादिभिः सम्यग् अद्वैतवादिभिः असम्यक् ब्रह्म ज्ञेयं तत्र द्वैतवादिनः सम्यग्ज्ञानेन स्वयोग्या मुक्तिः अद्वैतवादिनः प्रमाणविरुद्धज्ञानेन तम इति विवेकः "अन्यमीशस्य महिमानमिति वीतशोकः, तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः" इत्यादिश्रुतेः। त्वम् भयविधेषु कति तत्राह—प्रणतेति। पद्यत इति पदं स्वरूपं नम्यनेतृभावस्य भेदनिष्ठत्वेन द्वैतनिष्ठैवाहमित्यर्थः॥ ४१॥ नित्य परतन्त्रं आत्मनि स्वातन्त्र्यबुद्धिरभेदबुद्धिरित्याशयेनाह—अहमिति। व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलचित्तानि पाति रक्षतीति अखिलचित्तानि पाति रक्षतीति अखिलवित्तपा यस्य हरेर्मायया इच्छया इत्थं कुमतिरात्मनस्स्वातन्त्र्यबुद्धिरहमभूवम् अतः स हरिर्मे गतिः मत्स्वातन्त्र्यबुद्धिमपनुद्य स्वस्वातन्त्र्यज्ञापकत्वेनाश्रयोऽस्त्वित्यन्वयः॥ ४२॥ प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहमयीं पुत्रस्नेहरूपाम्॥ ४३॥ प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽभूदिति शेषः॥ ४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अथ चरमतर्कमपि तत्र क्षुत्पिपासाकोमलतादिदर्शनेनासम्भाव्यनिश्चयमप्राप्नुवती परमाचिन्त्यशक्तिं श्रीनारायणमेव तत्कारणं निश्चिन्त्य तच्च सुदुर्ज्ञेयं मत्वा केवलं प्रणमति—अथो इति। तस्य पदं पदाब्जम् अथ बाह्यमनुसन्धाय निजं भावं द्रढयन्त्याह—अहमिति। पादत्रयेण पुनस्तत्सुखान्तःस्थितमनुसन्धायाह॥ ४१॥ यदिति कुमतिः निजबालके विश्वरूपदर्शनरूपा॥ ४२॥ तत्त्वम् अहम्ममेति पादत्रयोक्ततल्लीलायाथार्थ्यं स तया प्रार्थित ईश्वरः मायां तद्विषयां दयां पूर्वतोऽपि विस्तारयामास वैष्णवीं विष्णोः स्वरूपशक्तिं तदेवमहो परमभाग्यवती श्रीयशोदेत्याह॥ ४३-४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ स्ववचः सत्यं कर्तुं सचराचरं सर्वमेव जगज्जठरे दर्शयन् 'अहं भक्षको न भवामि, किन्तु सर्वाधार एव' इति स्वविग्रहस्य परिच्छिन्नत्वेऽपि व्यापकत्वं बोधयितुं मातरं विस्मापयति—अहं ममासौ पतिरित्यादि। अहं व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा असपत्नीका सती नित्या। असौ व्रजेश्वरो मम पतिः सन् एष मे सुतः; सविशेष्यलिङ्गतया सच्छब्दस्य लिङ्गव्यत्ययः। एवं गोपाश्च गोप्याश्च सह गोधना इति गोधनानि च इत्थं समे समानाः सर्वेऽलौकिकत्वात् समः सर्वनाम। मायया मायाकृता इति यत्तत् कुमतिः। कीदृशी? जगतिर्न विद्यते गतिर्यस्याः, नित्यसिद्धेष्वेतेषु यन्मायाकृतमिति बुद्धिः, सा कुबुद्धिरेव, यत एतत् सर्वं यस्य जठरे दृश्यते, तेन सदेवेदम्। अथवा इदं सर्वं य मायया यस्यास्यैव श्रीकृष्णस्य मायया स्वाभाविक्या प्रकाशिकया मायया निजयोगशक्तया प्राकृतसर्गवन्न, तर्हि वैकुण्ठवद्ब्रह्माण्डवहिरेवास्तु कथंपृथिव्यामित्याह—इत्थमनेन प्रकारेणैव कौ पृथिव्यां मतिर्मननं गतिर्वैकुण्ठश्च समे तुल्य इत्यर्थः। यद्वा, यन्मायया यस्य स्वाभाविकयेत्यादि पूर्ववत् स मे गतिः, समे श्रवणश्च। कीदृशः? इत्थं कुमतिः कौ पृथिवीविषये मतिर्यस्य पृथिवीभारहारित्वात्॥ ४३-४७॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अहं ममासाविति। अहं व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती उत्कृष्टा, असौ व्रजेश्वरो मम पतिः अयं मे सुत इत्यादि यस्य माययेत्थमिति कुमतिः, नेयं माया, दयैवेयम्, अतो मे सा कुमतिर्मा भूदित्याक्षेप्यम्। इत्यत्र स मे गतिर्यस्य माययेति कथ्यते, स एव मे श्रवणम्, यथा माययेयमिति कुमतिर्न स्यात्, तथा स प्रसीदत्विति भावः॥ ४३-५२॥

इत्यष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

चतुर्थं तर्कमपि तत्र स्वपुत्रे क्षुत्पिपासामौग्ध्यचाञ्चल्यादिदर्शनेनासम्भाव्यस्वबुद्ध्या कमपि निश्चयं कर्तुमशक्नुवती तर्कागोचरस्यापि वस्तुनो वस्तुतः कारणं भगवानेवेति सामान्यतो निश्चिन्वती तत्पदाब्जं सुतस्वस्तिकामा प्रणमति अथो इति। यथावत् याथार्थ्येन नैव वितर्कस्य गोचरं क्लीबत्वमार्षं दृश्यमानमाश्चर्यमिदं यदाश्रयं योऽस्याधिष्ठानं यतः यश्चास्योत्पत्तिहेतुः येन प्रतीयते यश्चास्य प्रतीतिहेतुः तत्पदन्तस्य भगवतः पदं चरणारविन्दं चेतश्चित्तं तदादिभिः प्रणतास्मि सुदुर्विभाव्यं मादृशीनां ध्यातुमशक्यमतः केवलं प्रणमामि स एवास्य मत्सुतस्य सर्वानिष्टं प्रशमयत्विति भावः॥ ४१॥

हन्त हन्त स एव सुतस्यास्य दाता स एव रक्षितापि भवेदेव तत्र मम पुनरज्ञायाः किमहङ्कारममकाराभ्यामिति तौ जिहासती श्रीविष्णुं प्रपद्यमाना प्राह—अहमिति। अखिलवित्तपा निखिलधनरक्षणाभिमानवतीत्यर्थः। गोप्यश्चेति गोपीनां गोपानां सर्वगोधनानां चाहमेव स्वामिनी महाराज्ञीत्यभिमानो यथा कुमतिस्तथैव लोकोत्तरस्यास्य सर्वव्रजजनप्राणभूतस्य बालकस्याहं माता अहमेव पालयित्री दानध्यानादिभिर्विप्रदेवाद्याराधनैर्नित्यं विष्णुपूजनैश्च सर्वानिष्टेभ्यो रक्षामहमेव सततं कारयन्ती भवामि ततोस्य स्वस्तीत्यभिमानोपि कुमतिः एतावतो गोकुलैश्वर्यस्य श्रीविष्णुनैव दत्तत्वात्तत्र यथाममाभिमानानौचित्यं तथैव तेनैव कृपया दत्ते पूतनाद्यरिष्टेभ्यः प्रतिक्षणं पाल्यमाने च परमलोकोत्तरेऽस्मिन् सुते लौकिक्या गोपजाते निकृष्टाया अत्ययोग्याया मम मातृत्वरक्षयित्रीत्वाद्यभिमानोप्यनौचित्यात् कुमतिरेवेति विवेकजिघृक्षैव श्रीयशोदायाः क्षणिकीयं न तु विवेकः यथा महामोहान्धानामपि व्यावहारिकलोकानां कादाचित्कपारमार्थिकप्रसङ्गभवा स्त्रीपुत्राद्यासक्तिजिहासेति ज्ञेयम्॥ ४२॥ इत्थमनेन प्रकारेण विदिततत्त्वं ममत्वजिहासा यथा तस्यां यशोदायां सत्यां तर्हि का मां लालयिष्यती प्रतिक्षणं का पालयिष्यतीत्यतः पुत्रस्नेहमयीं स्वरूपे मयट् पुत्रस्नेहरूपं प्रेमविशेषं व्यतनोदित्यर्थः। मोहनसाधर्म्यान्मायां तेन च प्रेमां प्रेमान्धाश्चका रेत्यर्थः॥ ४३॥ नष्टस्मृतिरिति यथा स्वप्नदृष्टेऽर्थः कश्चित् कश्चिद्विस्मर्यते तथैव सद्य एव सा विश्वदर्शनादिकं विसस्मारेत्यर्थः। प्रवृद्धेन सङ्कोचकारणादप्यैश्वर्यज्ञानादसङ्कुचितेन प्रत्युत प्रबलीभूतेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा॥ ४४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं भगवदिच्छयैव भगवन्तं ज्ञात्वा तदिच्छामन्तरेण दुर्ज्ञेयत्वं कैमुतिकन्यायेन प्रतिपादयन् तं प्रणमति—अथो इति। यदाश्रयम् चेत् आदिभिः यथावत् याथात्म्येन वितर्कगोचरं न भवति अथो अतः तत्तु दुर्विभाव्यम् सुतरां दुर्ज्ञेयम्। ननु, दुर्ज्ञेयं भवत्या कुतो ज्ञायते? अत आह—येन यतः प्रतीयते इति येनैव अनुग्राहकेण यत्प्रतीयते यतोऽतोऽञ्जसा साक्षात्स्वगृहे वर्तमानं तत्पदं प्रणतास्मीत्यन्वयः॥ ४१॥ एतावन्तं कालं यदिच्छयैवाहं पुत्रतया तमवेदिषं न परब्रह्मतयेति द्योतयितुं देहे अहन्ता पतिपुत्रादौ ममता यस्य मायया भवति स मे गतिर्भवत्वित्याह—अहमिति। व्रजेश्वरस्य नन्दस्य अखिलवित्तपा सती जायाऽहं मम पतिः एषः कृष्णो मे सुतः पोष्यः सहगोधनाः गोपाश्च मे मदीयाः इतीत्थं कुमतिर्यन्मायया स एव कृष्णो मे गतिः शरणं भवतु॥ ४२॥ वैष्णवीं स्वीयां मायां सङ्कल्परूपां व्यतनोत् विस्तारितवान्॥ ४३॥ सद्यो नष्टा स्मृतिः सुते पुरुषोत्तमस्मरणं यस्या सा प्रवृद्धस्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा यथा पुरा तथा आसीत् परब्रह्मण्यात्मज-भावव्यवसायवती आसीदित्यर्थः॥ ४४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सोऽयं स्वयं भगवान्ममार्भको नारायणाख्यः स्वविलासेनैव तं धर्मं दर्शयतीत्याह अथो यथावदिति। चेतश्चित्तं इदमाश्चर्यदर्शनं यथावच्चित्तादिभिर्वितर्कगोचरं न भवति यदाश्रयं यदधिष्ठानकं यतश्चेति योऽस्य प्राकट्ये हेतुः येनेति योऽस्य प्रतीति हेतुस्तत्पदं वस्तु प्रणतास्मि मदर्भकविलासमूर्त्तिं नारायणं तद्धर्मे शङ्कानिरासाय चित्तादिभिः प्रणमामीत्यर्थः। कीदृशं तत्पदं सुदुर्विभाव्यं ध्यातुमशक्यमित्यर्थः॥ ४१॥ तदद्भुतदर्शनस्य स्वप्नादिहेतुकत्वं निराकरोत्यहमिति त्रिपाद्या व्रजेश्वरस्य नन्दराजस्याखिलवित्तपा सर्वसम्पद्रक्षिका गृहेश्वरी सती सर्वार्थकोविदा पतिव्रता चाहं यशोदाभिधाना भवामि असौ व्रजेश्वरो मम पतिः एष कृष्णो मे सुत आत्मजः गोप्यादयश्च मत्प्रजा इति निश्चितप्रतीतिर्न स्वप्नादेरवकाश इत्यर्थः। स्वप्नादिकल्पिता तद्बुद्धिः पुनर्माभूदिति पुनर्नारायणमाश्रयति यन्माययेत्येकेन पादेन। इत्थं किं स्वप्न इत्याद्युक्ताशङ्कारूपा कुमतिरशोभना मतिः कुः पृथिव्यामशोभते इति हणचन्द्रः यन्मायया यदिच्छयाभूत् आत्ममायातरिच्छास्यादिति शब्दमहोदधिः स मे गतिस्तन्नि-र्हरणेसमाश्रयोऽस्त्वित्यर्थः। स्वयं भगवान् कृष्णो मेऽर्भको लालनीयः शिक्षणीयश्च तद्विलासे नारायणस्तु पूज्य इति मे भक्तिपद्धतिर्या गर्गेणाप्युपदिश्यते गोपायचेति॥ ४२॥ उपालम्भाकाङ्क्षया मृदं भक्षयित्वा तद्भक्षणापराधेन सम्भावितं ताडन-मप्यद्भुतदर्शनेनापनीतं अथाद्भुतरसनिमग्ना प्रसूर्मम लालने शिथिला भवेत् इति विचिन्त्य तदद्भुतदर्शनं पुनर्विवृद्धेन पुत्रभावेन प्रेम्णा व्यस्मारयदित्याहेत्थमिति उक्तप्रकारेण विदितमनुभूतं तत्वं पुत्रस्वरूपं यथा तथाभूतायां गोपिकायां राज्यां स्वजनन्यां सत्यां स ईश्वरस्तदर्भकः पुत्रस्नेहमयीं मायां कृपां व्यतनोत् वैष्णवीं स्वकीयां न च मायां त्रिगुणामिति शक्यं वक्तुं तस्यास्त-द्विषयकपुत्रस्नेहमयत्वाभावात् न च पुत्रस्नेहो भ्रान्तिरचितत्वान्यायिकः तथात्वे हरेस्तद्वश्यत्वासम्भवात्॥ ४३॥ तादृश-कृपाविस्तारस्य फलमाह सद्य इति। नष्टा स्मृतिः शङ्कानिमित्तस्वप्नादिकल्पनानुसन्धिर्यस्याः सा प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्तादृशी पुरेवासीत्॥ ४४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्वपुत्रं नन्दभार्ये कथं न त्वं व्यज्ञासीरित्यतो न त्रिनेत्राद्य एनं सम्यग्विदुरहं कियन्मात्रमिति मर्म न प्रकाश्यमित्य-पदेशेन तान्यप्यज्ञान्कथयित्वाऽन्ततः किं त्वं करोषीत्यत इयत्वेदयेव सीमा सेवाया इति तदावेदयति॥ अद इति। कञ्जजस्त्वभं-

कपदेनैव निरस्त इति न तदुक्तिरत्र। अदो रूपं यथा तथा चेतो रुद्रः पुष्करश्च वाचो वाणीवन्हिबृहस्पतयो वितर्कगोचरं लिङ्गमशिष्यमित्युक्तेर्गोचरसञ्चरेत्यादिना नित्यपुल्लिङ्गतयोक्तोऽपि गोचरशब्दो नपुंसकः। तर्कस्यानुमितेर्गोचरो विषयो विरुद्धं पृथग्भूतं तर्कगोचरादिति तत्तथेति। गोर्ज्ञानस्य चरश्चरणं यस्य तत्तर्कस्य गोचरं तन्नेति वितर्कगोचरं। एवं चेन्न गोचरतद्धितेति टच्। सप्तघटिकाभोजनत्रिलोकनाथ इत्यादिवद्योग्यतया तर्कपदार्थस्य गोपदार्थेनान्वयः। विस्तरस्तु निर्गतं मनसो वाचो यदि तत्स्यादिति गोचरमित्यनुव्याख्यासुधातोऽनुसन्धेयः। पार्थसारथिरपि शास्त्रदीपिकायामवादीत्। अवगतसाधनमपि कर्मागोचरं सदिति। विशिष्टा अशुष्कास्तर्कास्तेषां गोचरं न साकल्येन वितर्कास्तद्भिन्ना वेदाद्यास्तेषां गोचरं साकल्येनेति च ज्ञेयं। नेन्द्रियाणि नानुमानमित्यादेः। न शून्यसङ्कल्पं तदित्याह॥ यदाश्रयमिति। अद इत्यत्राप्यन्वेति। अदो जगद्यदाश्रयं यदाश्रयो यस्य तद्येन जीवति यतः प्रतीयते उत्पत्तिमत्त्वेन ज्ञायते। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीत्यादेः। यतो येनेति वदन्निमां प्रतीकतया जग्राहेति ज्ञेयं। एतादृशं सुविभाव्यं दयायां दुर्विभाव्यं साकल्येन वा करुणायां वा तत्पदयत इति पदं मुख्यप्राप्यं ब्रह्म प्रणताऽस्मि। तत् तत्त्वाद्वा चेतो वा धाता वृत्तिभेदाच्चेतोमनःकर्मवचोभिः। अञ्जसा वितर्कगोचरं नेत्यपि बाह्यार्थो ज्ञेयः। अदो यथा प्राक् न तथा चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा दुर्विभाव्यमित्यन्वयः। वितर्कगोचरं वेदैकसमधिगम्यपदं प्रणताऽस्मीत्यन्वयने द्वितीयैकवचनं गोचरमितीति न क्लेश इत्यपि वदन्ति॥ ४१॥ यन्मायया यस्य हरेरिच्छयैवास्मत्कर्मानुसृत्या दुर्बुद्ध्याऽहंकर्तृत्वाभिमान आत्मन्यसौ मम पतिर्भर्तैष मे सुतो व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलानि वित्तानि पाति रक्षतीति सा सती पतिव्रता साध्वी भार्या वा गोप्यः सहगोधना गोपाश्च ये समे सर्वे मदीया इत्थं कुमतिर्मेमाभवत। श्रीहरिरेव मम गतिः। एतन्मतिमतिगमय्य सद्गतिदातेति तात्पर्यं॥ ४२॥ इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां मातरीश्वरः स प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहरूपिणीं वैष्णवीं मायां व्यतनोत्। स्वकीयामित्युक्तौ भागवतीति स्फुटं नावगता भवतीति वैष्णवीमित्युक्तिः। अनेन च विष्णुत्वं स्पष्टयामासेति ध्वनिः॥ ४३॥ सद्यो नष्टा स्मृतिः कुमतिः स मे गतिरित्याद्या दर्शनोपयोगस्मृतिः। तत्कथमित्यतः कथयति॥ स्वारोप्येति। प्रवृद्धो यः स्नेहस्तेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा। सा पुरा यथा तथाऽभूदिति शेषः॥ ४४॥

श्रीसुबोधिनी

एवं भगवद्विभूतिरूपमेतदिति ज्ञात्वा यत् कर्तव्यं तत् कृतवतीत्याहाथो इति, **अथो** दर्शनानन्तरं यस्माद् भगवतः सकाशादेतत् **प्रतीयते** यत् **सुदुर्विभाव्यं,** अतः सोलौकिको भवतीति **तत्पदं प्रणतास्मीति**सम्बन्धः, एतद्दर्शनस्यालौकिकत्वं वक्तुं लौकिकबुद्ध्यविषयत्वमाह **चेतोमनःकर्मवचोभिः, यथावद्वितर्कगोचरं न** भवतीति, चित्तं योगादिभावितं, **मनःकर्मवचांसि** लौकिकानि, अलौकिकबुद्ध्यापि नैतावत् कल्पयितुं शक्यत इदमित्थमिति, अतीन्द्रियाणामपि दृष्टत्वान्मनसो बहिरस्वातन्त्र्याल्लौकिकप्रवणत्वाच्च कायिकमत्राऽदृष्टं गृहीतमदृष्टवशादप्येतन्निर्णयो वक्तुं न शक्यते लौकिकत्वात्, परस्परव्याघाताच्च न वचसा, आपाततः कल्पनायामपि **यथावद् वितर्कगोचरं न भवति,** तथैव मायिकमित्यादिपक्षकल्पनायामप्य**ञ्जसा** सामस्त्येन नोपपद्यते, न हि स्वस्यापि तत्र पूर्वापरानुसन्धानसहितस्य प्रतीतिः सम्भवति, तथैव पदार्थानां विचारेपि स्थैर्यं च, अवस्थादेशकालाश्च, किञ्चैतत्, सर्वप्रदर्शकः स्वमाहात्म्यार्थं स्वभिन्ने स्थाने प्रदर्शयति स्वस्मिंश्च पदार्थानां भारूपत्वान्न स्थापयेत्, स्वावस्थादेशकालानां भ्रमासम्भवात्, **येन** च चक्षुषा प्रतीयते तच्चक्षुरपि नास्मदीयं, अन्यथा विद्यमानानां ज्योतिश्चक्रस्थपदार्थानामन्यदापि दर्शनं स्यात्, अतः सामर्थ्यं दत्वा स्वत एव स्वस्मिन् विद्यमानं जगत् स्वमाहात्म्यज्ञापनार्थं प्रदर्शितवान्, अतो ज्ञातमाहात्म्या तत्पदं **प्रणतास्मि "नमो नमः"** इत्येतावत् सदुपशिक्षितमितिशास्त्रार्थत्वात्॥ ४१॥ प्रणतायाः प्रार्थनामाहाहमिति, सर्वापि दुर्बुद्धिर्भगवत्प्रणताया गच्छतीति दुर्बुद्धीर्गणयति, आदावहं यशोदेति **ममासौ नन्दः पतिरि**त्येष भगवान् विश्वाधारो **मे सुत** इयहं पुनर्**व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती** पतिव्रता चेति, **नन्दस्य व्रजेश्वरत्वं** तत्स्त्रीत्वं च स्वस्य ततस्तस्य धनसम्बन्धस्तद्रक्षकत्वं च स्वस्य तदपि सामस्त्येनोभयत्र, तत्रापि पातिव्रत्यं भगवानपि परपुरुष इति तदभजनं च, अतः "स्त्रीणां पतिरेव विष्णु"रिति च, एता **गोप्यो** गोपभार्याः स्त्रियोस्मदीयाश्चेति, चकारात् तद्बालकास्तत्सम्बन्धाश्च तथा **गोपाः सहगोधनाः** स्वपरिकरसहिता गोष्ठसहिताश्चैते **सर्वे मे यन्माययेत्थं कुमतिरहं स मे गतिर**स्तु, **अहमिति** चतुर्विधोध्यासो जातिलिङ्गकुलदेहभेदेन, **ममे**तिशतप्रकाराः पतिपुत्रधनगोपगोपीगवां षड्विधानामनेकप्रकारत्वात्, **इत्थमहं कुबुद्धिर्यन्मायया म** आत्मनो जीवरूपस्य ब्रह्मरूपस्य वा कुत्सिता **सा**सौ **मतिश्च,** तदीया माया हि तेनैव निवर्त्या, बुद्धिप्रकाराः सर्वे मायया एवेति न तैः स्वकार्यसिद्धिः, मायातिरिक्तस्त्वहमेव **मायामोह**विषयत्वात् पृथक्तया पुनर्म इतिवचनं मायासम्बन्धव्युदासार्थं सम्बद्धस्यैव गतित्वाभावाय, **गतिरत्र** प्राप्यस्वरूपं फलं, एवमुपालम्भार्थं प्रवृत्ता शरणं गता जाता॥ ४२॥ एवं ज्ञाने जाते भक्तिसुखं न प्राप्स्यतीति भक्त्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दापेक्षया महत्त्वाद् भक्तार्थं दैव्या मायया मोहितवानित्याहेत्थमितित्रिभिः, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **विदितं तत्त्वं** यया तत्त्वज्ञानानन्तरं तस्या मातृत्वाभावाद् **गोपिकाया** इत्युक्तं, ननु भगवान् ज्ञानं कुतो नाशितवान् तत्राह **स** इति, **स** निरोधकर्ता, ननु नाशनीये ज्ञाने किमर्थमुत्पादितवान् वा किमर्थं नाशितवानित्युभयाभिप्रायो ज्ञातव्य इति

चेत् तत्राहेश्वर इति, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थोन्यथा च करोति, अतो नात्रोपपत्तिरन्वेष्टव्या, **वैष्णवीमाधिदैविकीं** स्नेहसम्बन्धिनीं निरोधोपयोगिनीं **विशेषेणातनोद्**, विहितस्नेहभावव्युदासार्थमाह **प्रजास्नेहमयीमिति**, यावदात्मीयतया परमस्नेहे रस उत्पद्यते न तावदीश्वरभावेन भयज्ञानस्य स्नेहप्रतिबन्धकत्वादत्र च लौकिकत्वेपि **प्रजा**रूपेण स्नेह उचितो नान्यथेत्यनन्तविधासु मायासु **प्रजास्नेहमयीमेव व्यतनोत्**, ननु विरोधिज्ञानस्य जातत्वात् कथं प्रजाबुद्धिर्भगवति भविष्यतीत्या शङ्क्याह **विभुरिति**, स हि सर्वसमर्थः, एकस्मिन्नेव वस्तुनि कोटिद्वयबुद्ध्युत्पादनसमर्थः, अन्यथा पूर्वविरुद्धधर्मा उत्तरत्र न भवेयुः ॥ ४३ ॥

प्रक्षिप्ता जालवन् माया तया ज्ञानं विनाशितम् । प्रमाणानां वलं दग्ध्वा मोहयामास गोपिकाम् ॥ १ ॥

मायामोहे ज्ञानं नष्टमित्याह **सद्य इति**, तदानीमेव **नष्टा स्मृतिर्यस्याः**, अत्र भगवन्मतमनुभवस्मरणयोर्मध्ये न संस्कारोनुभवः स्मृतिमेव जनयति, यथेन्द्रियसंयोग उत्तरोत्तरमनुभवोद्बोधकस्तथा स्मृतिरपि केनचिद् बोध्यते नाश्यते च, निरन्तरनाशोत्पत्ती अप्रामाणिके वेदविरुद्धे, विवेकेन ज्ञानोद्बोधनमाशङ्क्याह **गोपीति**, तत्रापि **सारोहमङ्कस्थानं भगवन्तमारोप्य प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदया सती पूर्ववदेवासीत्**, बहिर्व्यापारोपि ज्ञानसाध्य आरोपणात् पूर्ववत् कृतः स्नेह व्यापारः, ज्ञानानन्तर मान्तरः स्नेहोन्यथा भविष्यतीत्याशङ्क्य **प्रवृद्धस्नेहेन कलिलं हृदयमित्युक्तं, न हि विहितस्नेहे हृदये कलिलता भवति, कलिलमत्र** पङ्किलमिव मोहसहितः स्नेहस्तादृशमेव **हृदयं** जातमिति कालान्तरेपि न कलिलनिवृत्तिः, पूर्वावस्थापरित्यागे **मायया** भक्तत्वमेव स्यान् **न तु निरोध** इति **यथा पुरेत्युक्तम्** ॥ ४४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

चेतो मनःकर्मेत्यत्र, कायिकमत्रेति । उत्तमकायहेतुप्रारब्धमित्यर्थः । **परस्परव्याघातादिति** । एकस्यैवैकस्यैव वस्तुनो-न्तर्बहिश्च स्थितिकथने तथात्वादित्यर्थः ॥ ४१ ॥ **विचारेपीति** । मायिकानां भ्रमप्रतीतानां वस्तूनां विचारासहत्वम्, अत्र च तद्वैपरीत्यमित्यर्थः । मायातिरिक्तस्त्वहमिति विवरणे पुल्लिङ्गनिर्देशो बुद्धिप्रकाराणां दुष्टत्वेन गणनाच्छुद्धजीवमात्राभिप्रायेण कृतः ॥ ४२ ॥ **सद्योनष्टस्मृतिरित्यत्र, अनुभवस्मरणयोरिति** । न संस्कारनियम इत्यर्थः । अन्यथा अनुभवाव्यवहितोत्तरक्षणे यत्र स्मृतिः सा न स्यात् । न चैवंविधा सा नास्तीति वाच्यम् । बाधकाभावात् । न चोपनीतभानमेव तत्रेति वाच्यम् । स्मृति-त्वोच्छेदप्रसङ्गात् । संस्कारोपनीतत्वस्य सर्वत्र वक्तुं शक्यत्वात् । न च ज्ञानातिरिक्तस्योपनायकत्वाभावान्न तथेति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । क्लृप्तमानाभावेपि ज्ञानजनकत्वस्योपनायकत्वेन संस्कारेपि तत्सत्त्वात् । नच संस्कारजन्यत्वस्य स्मृतित्वात् नैवमिति वाच्यम् । साक्षात्प्रमाणजन्यज्ञानत्वस्यानुभवत्वेन तदतिरिक्तज्ञानत्वस्य स्मृतित्वात् क्लृप्तद्वारातिरिक्तानन्तरितत्वं साक्षात्त्वं विवक्षितम् । अत एव स्मरामीत्यनुव्यवसायस्तदुत्तरक्षणे तमेव विशेषमवलम्ब्य भवति । यथानुभवत्वसामान्येप्यनु-मित्यनन्तरमनुमिनोमीत्येव प्रत्ययो न त्वनुभवामीति तथेति भावः । यद्वा । लौकिकवस्तुतत्त्वनिरूपणे नास्माकं प्रवृत्तिरिति **लोके स्मृतिः** संस्कारजन्यैवास्ताम् न वा, प्रकृते त्वलौकिकप्रदर्शनप्रस्तावेन तत्सम्बन्ध्यप्रेतनमप्यलौकिकमेवेति ज्ञापनाय तथोक्तिः । एतदेवात्रपदेनोच्यते । स्मृतिनाशोक्तेस्तदुत्पत्तिरवश्यं वाच्या । सा चोत्पत्तिक्षणोत्तरक्षण एव नष्टेति ज्ञापनाय सद्यःपदं मूले । अन्यथा नाशस्यानुक्तिसिद्धत्वेन तन्न वदेत् । एवं सति द्वितीयक्षणाधिकरणकनाशस्याप्रातत्वात्तदा तन्नाशं इति ज्ञापनाय सद्यो नष्टस्मृतिरित्युक्तम् । तेनेदमप्येकमलौकिकं चरित्रमिति ज्ञाप्यते, आस्तिकैर्द्वितीयक्षणे लोके तन्नाशा-नङ्गीकारात् । एतेन भक्तिरसानुभावकत्वेन मोहने विलम्बासहिष्णुत्वं भगवत उक्तं भवति । यथा स्वावतारार्थं गर्भसङ्कर्षणं तदेदमिति भावः । यद्यप्येवं संस्कारजन्यत्वं तदजन्यत्वं वा न सिध्यति, तथाप्यत्र कालान्तरेपि स्मृत्यभावस्य वक्तव्यत्वान्नष्ट संस्कारेत्येव वदेत् । स्मृतिनाशस्य स्वतःसम्भवेन तदुक्तिस्तदर्थं मोहोक्तिश्च न स्यात् । एवं सत्यन्यथानुपपत्त्यैव तेनानुभवेन स्मृतिरेवोत्पन्ना सा चोक्तरीत्या नष्टा, संस्कारस्तु न जनित एव, भगवदिच्छाभावादिति मन्तव्यम् । एतदेवाभिसन्धायोक्त-**माचार्यैरत्र भगवन्मतमित्यादि** । किञ्च । संस्कारवादिना सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वेनादृष्टस्यापि स्मृतिहेतोर्वक्तव्यत्व आवश्य कत्वाल्लाघवाच्च तदेवास्तु, कृतं संस्कारेणेत्याशयेनापि तन्निषेध उक्तः । न चानुभवस्याविहितत्वेन तदजनकत्वात्प्राचीनस्य तस्यानुभवं विनाऽजनकत्वात्तस्य च नष्टत्वेन सहकार्यभावात्स्मृतिरेव न स्याद् अनुभवं विनापि वा स्यादिति वाच्यम् । अनुभव-तद्ध्वंसयोरन्यतरस्य सहकारित्वात् । त्वयापि सदृशादेरननुगतस्यैवोद्बोधकत्वाङ्गीकारात् । एतदेवोक्तम् **स्मृतिरपीत्यादिना** । **नाश्यते चेति** । स्वसमानाधिकरणस्वसजातीयप्रागभावासहभूतं क्रियत इत्यर्थः । न च प्रतियोग्यभावयोरेकत्राजनकत्वान्नैव-मिति वाच्यम् । व्यक्तिभेदेनादोषात् । न चैकजातीयेपि तथेति वाच्यम्, ज्ञानजातीय उभयोरपि जनकत्वात् । नन्वभावत्वेन कारणत्वेन प्रतियोगिनः प्रतिबन्धकत्वापत्त्या नैवं वक्तुं युक्तम्, ज्ञानं प्रत्यभावस्य विषयत्वेन कारणत्वान्न दोषः, संसर्गाभावत्वेन प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुत्वेनात्र तथात्वाभावादिति चेत् । अत्राप्यनुभवध्वंसत्वेन कारणत्वान्न दोष इति तुल्यम् । अन्यथानुभव-प्रागभावेत्यन्ताभावे च सति स्मृतिप्रसङ्गः । एतच्चानुभवाव्यवहितोत्तरक्षणेपि स्मृतिमङ्गीकृत्योक्तम् । तदनङ्गीकारे तद्ध्वंसस्यैव

सहकारित्वं वाच्यम्, तच्चोक्तरूपेणेति भगवन्मतानुवादग्रन्थो यथाश्रुत एव साधीयान् भवतीति सर्वं सुस्थम्। न चैवं यागजापूर्वासिद्धिः। श्रुत्या यागस्य हेतुत्वमुक्तमिति तदभावस्य तथा कथनायोगात्। प्रतियोग्यभावयोरेकव्यक्तिजनकत्वादर्शनाच्च। ननु घटतदभावयोः स्वसमूहालम्बिज्ञानजनकत्वं दृष्टमिति चेत्। सत्यम्। प्रतियोगितावच्छेदकधर्मस्यैव यत्कार्यजनकतावच्छेदकत्वं तत्कार्यं तद्ध्वंसेन न जन्यत इति हि नियमः। तत्र यागत्वस्यैवोभयजनकतावच्छेदकत्वान्न तथा वक्तुं शक्यम्। प्रकृतेऽनुभवस्याजनकत्वान्नोक्तदूषणापत्तिः। अत एवानुभूतं स्मर्यत इति व्यवहारो भूतेक्तानुशासनादतीतानुभवविषयत्वमेव तदर्थ इति ध्वंसस्यैव हेतुत्वमवगम्यते, अतीतमनुभवविषयत्वं यत्रेत्यर्थो ज्ञेयः। श्रुतिबलाद्यागेन तथा वक्तुं शक्यमिति आरोपणात्पूर्ववत्कृत इति। अङ्कारोपणनिरूपणात् स तथा कृत इति ज्ञाप्यत इत्यर्थः। **मोहसहित** इति। शुद्धं हि जलादिकमन्ययोगेन मलिनं भवति। प्रकृते च प्रवृद्धोपि स्नेहो न निरुपधिः, किन्तु पुत्रत्वोपाधिक इत्याशयेन कलिलतोक्तेत्यर्थः। यद्वा पूर्वोक्तज्ञाने सति भगवति भक्षणशयनशीतोष्णादिधर्मास्फूर्तिः सहजा। तथा चोभयोर्विरोध इति स्नेहसम्बन्धी यः कलिः कलहो विरुद्धधर्मोपमर्दनमिति यावत् तं लाति स्वीकरोत्येतादृशं हृदयं यस्याः सा तथेत्यर्थः। तेन हृदि ज्ञानतिरोभावपूर्वकः स्नेहभर उक्तो भवति। ज्ञानं निरूप्य तदन्ते स्नेहस्य प्रकृष्टवृद्धिकथनं तत्फलत्वाभिप्रायेण। अन्यस्य तत्त्वेनानुक्तेः। अन्यथा तु ज्ञानस्य निष्फलत्वापत्तिः। अननुसन्धानेपि वैदिकसंस्कारस्यालौकिकातिशयजनकत्ववज्ज्ञानस्यापि स्नेहवृद्धिहेतुत्वमिति भावः। जातिकुलधर्मपरता मातृत्वं च पूर्वावस्था। स्नेहवर्धिन्या मायायास्ततत्वात्स्नेहेन सततमन्यत्यागपूर्वकं भजनमेव भवेदिति विहितभक्तौ प्रवेशः स्यात्, न तु पुष्टिमार्गीयलीलारसानुभव इत्यर्थः॥ ४४॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथो यथावदित्यत्र चेतोमनःपौनरुक्त्यपरिहाराय चेतःशब्दार्थमाहुश्चित्तमित्यादि, तस्य प्रयोजनमाहु**रलौकिके**त्यादि, मनसः कल्पकत्वं दूषयन्ति **मनस** इत्यादि, कर्मशब्दार्थं विवक्षितमाहुः **कायिकमि**त्यादि, तदर्थं **टिप्पण्यामाहुरुत्तमे**त्यादि, तथा च मूले "कर्मपदेनोत्तमकायहेतुप्रारब्धरूपमदृष्टं गृहीतमित्यर्थः, तस्य कल्पकत्वं दूषयन्ति **सुबोधिन्यामदृष्टवशा**दित्यादि, वचसा कल्पनपक्षं दूषयन्ति **परस्परे**त्यादि, तदर्थं टिप्पण्यामाहु**रेकदेवे**त्यादि, सुबोधिन्यामनिर्वचनीयकल्पनपक्षमुद्भावयन्त्यापातत इत्यादि, तद् दूषयन्त्य**ञ्जसे**त्यादि, तत्रोपपत्तिमाहुर्न **ही**त्यादि, **तत्रे**ति तादृशेनिर्वचनीयकल्पनपक्षे, युक्त्यन्तरमाहु**स्तथैवे**त्यादि, **विचारेपी**त्यस्यार्थं **टिप्पण्यामाहुर्मायिकानामि**त्यादि, **सुबोधिन्यां कालाश्चे**ति सम्भवन्तीति शेषः, सर्वस्य श्लोकस्य निष्कृष्टमर्थमाहुः **किञ्चे**त्यादि, तथा च यथा "स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमा"निति वदेकमेव जगन् मुखान्तः प्रतीयमानमेव बहिः प्रदर्शयतीति तथेत्यर्थः॥ ४१॥ **अहम्ममे**त्यत्रानेक**प्रकारत्वादि**त्यनेके **प्रकारा** उत्कृष्टा अपकृष्टा वा धर्मा येषु तत्त्वात्, **मायातिरिक्तस्त्वहमेवे**त्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्मायातिरिक्त** इत्यादि, तथा च मूलेहम्पदेन शरीरविशिष्टपरमितिभावः, **मायासम्बन्धव्युदासस्य** प्रयोजनमाहुः **सम्बद्धस्ये**त्यादि स्वस्य शुद्धत्वात् **मायासम्बन्धयुक्तस्वरूपस्य** विष्ण्वादेस्तथात्वाभावादित्यर्थः, इयं च लीला पद्मपुराणे माघशुक्लाष्टम्यामुक्ता "तैनैवाष्टदशे मासि माघशुक्लाष्टमीदिने मृत्तिकाभक्षणव्याजान् मात्रे विश्वं प्रदर्शित"मिति, एतावान् विशेषः, जृम्भालीला तत्र पश्चाच्छ्रीभागवते तु पूर्वम्॥ ४२॥ **इत्थमि**त्यत्र **तत्रे**ति श्रीयशोदायां, **उचित** इति भागवता तत्र मातृभावस्यैवाङ्गीकारात्॥४३॥ **सद्य** इत्यत्रा**नेने**ति नाशप्रतियोगितया स्मृतिकथनेन, **अन्यथे**त्यस्यैव विवरण**मनुभवे**त्यादि, तथा च यदैव माया प्रसारिता तदैव माया प्रसारिता तदैव प्रसारितेपि मुखे तद्दर्शनं न जातमितिभावः, नन्वनुभवस्थितिक्षणे संस्कारोत्पत्तिरनुभवनाशक्षणे च संस्कारस्थित्या तेन स्मृत्युपपत्तिस्तत उत्तरक्षणे स्थितिस्ततो नाश इत्युचितं न त्वनुभवनाशक्षणे स्मृतिनाशः सङ्गच्छत इत्याकाङ्क्षायां **सद्यःस्मृतिनाशो**क्तितात्पर्यमाहुर**त्रे**त्यादि, नन्वेवं संस्कारमङ्गीकृत्य स्मृत्यङ्गीकारे बहुकालोत्तरं या स्मृतिः सा न स्यादित्यत आहु**रथे**त्यादि, तथा च प्रतिवादिमते यथानुभवस्य त्रिक्षणावस्थायित्वं तज्जन्यसंस्कारस्यैव चिरकालस्थायित्वं सादृश्याद्युद्बोध्यत्वं **चरमस्मृतिनाश्य**त्वं च तथात्र भगवन्मतेनुभवस्य चिरकालस्थायित्वमिन्द्रियसंयोगस्य च तदुद्बोधकत्वं तथा स्मृतेरपि चिरकालस्थायित्वं सादृश्याद्युद्बोध्यत्वमदृष्टनाश्यत्वं चरमस्मृत्युत्तरकालिकानुभवादिनाश्यत्वं चेति बहुकालोत्तरमपि स्मृतिर्नानुपपन्नेत्यर्थः, एवं च धारावाहिस्थलेप्येकमेव ज्ञानं, तदुपपादितं तृतीयस्कन्धे "तथाविभ्रंशितज्ञाना" इत्यत्र, नन्वत्र "सद्यः"पदोक्त्या द्वितीयक्षणे तन्नाशाद् भगवन्मतेनुद्भूतस्मृत्युत्पत्तिनाशधारैव कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आहु**र्निरन्तरे**त्यादि, तथा चात्रैव द्वितीयक्षणे नाशोन्यत्र तु **ज्ञानस्य** चिरकालस्थायित्वमेवेत्यर्थः, इदमेव सर्वं कापिलेय**सुबोधिनी**विरोधाभावाय प्रभव**ष्टिप्पण्यां व्याकुर्वतेनुभवे**त्यादि, **न संस्कारनियम** इति "संशयोथ विपर्यास" इत्यस्य सुबोधिन्यां संस्काराङ्गीकारादत्र चानङ्गीकारात् तदनियम इत्यर्थः, **नियमाङ्गीकारे** दोषमाहु**रन्यथे**त्यादि, अनुभवाव्यवहितोत्तरक्षणकज्ञानस्योपनीतभानत्वे बाधकमुपपादयन्ति **न चोपे**त्यादि, तस्य सद्यो नष्टत्वेन तत्र "स्मरामी"त्यनुव्यवसायाभावात् तथेत्यर्थः, न चेष्टापत्तिः, मूलस्थ**स्मृति**पदविरोधप्रसङ्गात्, ननु संस्कारस्यातीन्द्रियत्वेन तदुद्भवस्यापि शक्यवचनत्वान्न स्मृतित्वोच्छेद इत्यत आहुः **संस्कारे**त्यादि, संस्कारस्यानुपनायकत्वमाशङ्क्य परिहरन्ति **न च ज्ञाने**त्यादि, अप्रयोजतकत्वं व्युत्पादयन्ति **क्लृप्तमाने**त्यादि, प्रमाण

चतुष्टयस्यापि शब्दात् सन्निकर्षाणां चाभावे ज्ञानजनकत्वमेवोपनायकत्वमितिलक्षणं तदैवानतिव्याप्तं भवति यदा संस्कारस्योपनायकत्वं स्वीकर्त्तव्यं, अतस्तत्रापि लक्षणसत्वाज् ज्ञानस्योपनायकत्वमितिनियमोऽप्रयोजक इत्यर्थः, अत्र स्मृतिलक्षणविरोधमाशङ्कन्ते **न चे**त्यादि, नैवमिति स्मृतिलक्षणविरोधान् न संस्कारस्योपनायकत्वमित्यर्थः, तद्दूषणाय स्मृतेर्लक्षणान्तरमाहुः **साक्षा**दित्यादि, तथा च स्मृतिलक्षणस्यान्यत्वान् न संस्कारस्योपनायकत्वबाधो नापि स्मृतेः स्मृतित्वोच्छेद इत्यर्थः, नन्वनुमितादावनुभवत्वाव्याप्तिरित्यत आहु क्लृप्तद्वारेत्यादि, तथा च व्याप्तिस्मरणादेरपि क्लृप्तद्वारान्तःपातित्वात् तज्जन्यानुमित्यादेरपि साक्षात् प्रमाणजन्यतया नानुभवान्तरितत्वाभवत्वाव्याप्तिरनुभवाव्यवहितोत्तरस्मृतौ तु क्लृप्तद्वारातिरिक्तानुभवत्वमिति तद्भिन्नतया स्मृतित्वं नानुपपन्नमित्यर्थः, नन्विदमेव स्मृतेर्लक्षणमिति कथं विनिगन्तव्यमित्यत आहुरत **एवे**त्यादि, क्लृप्तद्वारातिरिक्तान्तरितत्वादेव स्मृत्युत्तरक्षण उक्तविशेषमवलम्ब्यैव स्मरामीत्यनुव्यवसायो भवतीत्यनुव्यवसायाकार एव विनिगमक इत्यर्थः, न चानुभवातिरिक्तज्ञानत्वमेवावलम्ब्य तथानुव्यवसाय इत्यत्र किं मानमिति वाच्यं, अनुव्यवसायाकारे स्मृतित्वस्यैव गोचरतयानुभवभिन्नताया एव भानात्, तथा च यदि त्वदुक्तं लक्षणं स्यात् तमालम्ब्यानुव्यवसीयेतातो न तथेत्यर्थः, नन्वेवं संस्कारस्योपनायकत्वे तज्जन्यज्ञानस्याप्युपनीतभानत्वेनानुभवान्तःपातादनुभवामीत्यनुव्यवसायापत्तिरित्यतस्तद् दूषयन्ति यथेत्यादि, अनुभवविशेषस्यापि यत्र न तथानुव्यवसायस्तत्रास्य कथमापादयितुं शक्य इति भावः, यथा त्वन्मते ज्ञानस्य द्वारत्वेन तदुपनीतभानस्यानुभवत्वमेवं मन्मते संस्कारस्य द्वारत्वेन तदुपनीतभानस्याप्यनुभवत्वमिति जानामीत्येवानुव्यवसायो न त्वनुभवामि स्मरामीत्यनुव्यवसायो जानाम्यनुभवामीत्यनुव्यवसायविषयातिरिक्तज्ञानस्यैव स्मृतित्वमिति न तदुच्छेदः, किञ्च स्मरामीत्यनुव्यवसायविषयत्वं स्मृतित्वमित्यतोपि न स्मृतित्वोच्छेद इत्यर्थः, तथा च संस्कारजन्यत्वौदासीन्येन स्मरामीत्यनुव्यवसायगम्यस्य स्मृतित्वाङ्गीकारेनुभवाव्यवहितोत्तरं तदव्यवहितोत्तरं च स्मृतित्वप्राप्तिरिति बाधकाभावादुभयविधापि स्मृतिः सिध्यतीतिभावः, एवं संस्कारानङ्गीकारपक्षं व्याकृत्य तत्त्वोपपादनायासबाहुल्यात् पक्षान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि, **तथोक्ति**रिति भगवन्मतोक्तिः, अथ वा ननु कालान्तरभाविन्याः स्मृतेर्व्यापारमन्तरेण त्रिक्षणावस्थायिनोनुभवस्य जनकत्वं न वक्तुं शक्यमित्यत आहुर्यद्वेति, न वेति तु सिद्धान्तग्रन्थाभिप्रायेण, तथोक्तिरिति भगवन्मतोक्तिः, सेति स्मृतिः, सिद्धमाहुरेवं **सती**त्यादि, **तदा तन्नाश** इति द्वितीये स्मृतिक्षणेनुभवनाशकाले स्मरणस्य नाशः, ननु "यत् सत् तत् क्षणिक"मित्यत्र किमलौकिकमत आहुरास्तिकैरित्यादि, ननु भगवता तु तथैव सम्पादितमिति नास्तिकमतोपोद्वलनं भविष्यतीत्याशङ्क्य भगवदुक्त्यभिप्रायमाहुरेतेनेत्यादि, एतेनेत्येकत्रैवं कथनेनेत्यर्थः, सर्वत्र तथाक्त्यभावान् न नास्तिकमतोपोद्वलनमितिभावः, एतदेव श्रीमदाचार्यैर्विवृतं निरन्तरेत्यादिना, सिद्धमाहुर्यद्यपीत्यादि मन्तव्यमित्यन्तं, भगवन्मतानुवादग्रन्थं यथाश्रुतमेव व्याकरिष्यन्तो बहुकालोत्तरस्मृत्युपपत्तिसाधनं परप्रसिद्धरीत्याहुः **किञ्चे**त्यादि, तदेवास्त्वदृष्टमेव कारणमस्तु, अदृष्टपक्षे दूषणं विकल्पयन्ति **न चे**त्यादि, कालान्तरीयस्मृत्युपपत्त्यर्थमदृष्टस्य व्यापारत्वं सहकारित्वं कारणत्वं वादर्तव्यं तत्राद्ये लौकिकानुभवस्याविहितत्वेनादृष्टाजनकत्वाद् व्यापाराभावेन स्मृतिरेव न स्याद् द्वितीये प्राचीनस्य तस्य मुख्यकारणमनुभवं विनाजनकत्वात् स्मृतिरेव न स्यात् तृतीयेनुभवस्य नष्टत्वेन सहकार्यभावात् स्मृतिरेव न स्यात् प्राचीनादृष्टस्यासहायशूरत्वे त्वनुभवं विनापि स्मृतिः स्यादित्यर्थः, परिहरन्त्यनुभवेत्यादि, सहकार्यननुगममाशङ्क्य परिहरन्ति **त्वयापी**त्यादि, तथा चोभयोस्तौल्यान् न पर्यनुयोग इत्यर्थः, अयमेवाचार्याशय इत्यत्र मानमाहुरेत**देवोक्त**मित्यादि, अनुभवतद्ध्वंसान्यतरसहकृतप्राचीनादृष्टजन्यायाः स्मृतेश्चिरकालस्थायित्वाङ्गीकारेण सादृश्याद्युद्बोध्यत्वमेवोक्तमित्यर्थः, ननु स्मृतिनाशस्य स्वत एव जायमानत्वात् किं तन्नाशकथनेनेत्यत आहुः **स्वसमाने**त्यादि, सजातीयप्रागभाव इत्यत्र षष्ठीसमासः, सहभूतमिति स्मरणाभिप्रायेण नपुंसकं, तथा च पुनः सजातीयस्मरणानुत्पत्त्यर्थं तन्नाशोक्तिरित्यर्थः, अनुभवतद्ध्वंसयोः सहकारित्वपक्षे दूषणमनूद्य परिहरन्ति **न चे**त्यादि **एकत्राजनकत्वा**दित्येकव्यक्त्यजनकत्वात्, एकजातीयेपीति घटादाविति शेषः, परिहरन्ति ज्ञानेत्यादि, उक्तं व्यवस्थापयन्तः पुनर्दूषयन्ति नन्वित्यादि, अत्र तथात्वाभावादित्यनुभवध्वंसत्वेन कारणत्वाभावात्, ननु ध्वंसस्याभावत्वादभावत्वेन रूपेण कारणत्वे प्रतियोगिनोनुभवस्य प्रतिबन्धकत्वापत्त्यानुभवध्वंसस्य कारणत्वं न वक्तुं युक्तं, न च कार्यस्य ज्ञानजातीयत्वात् न दोष इति वाच्यं, ज्ञानं प्रत्यभावस्य विषयत्वेन कारणतया दोषाभावादिह तु विषयत्वेन कारणतयाविवक्षितत्वात् तदतिरिक्तनिमित्तत्वेनैव कारणता वाच्या तत्र निमित्तरूपविचारे च यथा दाहे मण्यभावस्य तत्तद्रूपेण कारणतायां गौरवात् संसर्गाभावत्वेनैव प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुताङ्गीक्रियते तथात्रापि ध्वंसस्य संसर्गाभावत्वेनैव रूपेण कारणरूपेण कारणताङ्गीकार्या प्रतिबन्धकाभावस्थले तथा क्लृप्तत्वात्, तथा सति प्रकृतेपि ध्वंसत्वेन कारणत्वस्याभावादनुभवस्य प्रति बन्धकत्वापत्तिर्दुर्वारेत्यर्थः, अत्र समादधते-त्रापीत्यादि, प्रतिबन्धकाभावस्य संसर्गाभावत्वेन कारणता हि लाघवार्थमङ्गीकृता प्रकृते चानुभवध्वंसत्वेन कारणताङ्गीकारे लाघवान् न गौरवमिति तुल्यं तथा चानुभवस्य न प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः, ननु क्लृप्तकार्यकारणभावत्यागो न युक्त इत्यत आहुरन्यथेत्यादि, तथा च क्लृप्तकार्यकारणभावाङ्गीकारे दोषादनुभवध्वंसत्वेनैव कारणत्वमित्यनुभवतद्ध्वंसयोरदृष्टसहकारित्वेन, निर्वाहात् संस्काराङ्गीकारो न युक्त इत्यर्थः, एवं द्वयोः सहकारित्वे बीजमाहुरेतच्चेत्यादि, उक्तरूपेणेत्यनुभवध्वंसत्वेन रूपेण

नन्वेवं संस्कारे दूषिते सति यागादपूर्वमपि न सिध्येद् यागध्वंसस्यैव कारणताया वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्य परिहरन्ति **न चैवमित्यादि**, ननु मास्तु पृथक् कारणत्वं व्यापारतायां न दोष इत्यत आहुः **प्रतियोगीत्यादि**, तयोरेकव्यक्त्यजनकत्वे पुनः शङ्कते **नन्वित्यादि**, तदङ्गीकृत्य परिहरन्ति **सत्यमित्यादि दूषणापत्तिरित्यन्तं**, **नियम** इति दण्डघटादौ दृष्ट इति शेषः, **तत्रेति** यागस्थले, यागत्वस्यैवापूर्वरूपकार्यजनकतावच्छेदकत्वात् न तद्ध्वंसस्य स्वर्गकारणत्वं वक्तुं शक्यं, अनुभवस्थले त्वनुभवस्य साक्षात्स्मृत्यजनकत्वान् नोक्तदूषणापत्तिरित्यर्थः, समूहालम्बनस्थले च घटाभावत्वस्यापि कार्यजनकतावच्छेदकत्वान् न प्रतियोगितावच्छेदकधर्मस्यैव कार्यजनकतावच्छेदकत्वमिति न दोष इत्यर्थः, अत्र सम्मत्यर्थं युक्त्यन्तरमाहुरत **एवेत्यादि**, **अत एवेत्य**नुभवस्य साक्षात्स्मृत्यजनकत्वादेव, **तदर्थं** इति भूतपदस्यार्थः, हेतुत्वमिति सहकारित्वं, ननु यागध्वंसस्य द्वारत्वाङ्गीकारे को दोष इति चेत् तत्राहुः श्रुतीत्यादि, अस्मदादिवैधचेष्टाया भगवद्रूपयागाभिव्यञ्जकत्वात् तेनैव फलसिद्धिः श्रुतिसम्मता न तु ध्वंसेनेत्यर्थः, नन्वदृष्टजन्यतावच्छेदकेन स्मृतित्वमिति तस्य मुख्यकारणत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेन् न सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वेनाङ्गीकृतस्यादृष्टस्य जन्यतावच्छेदकविचार उत्पत्तिमत्त्वं सर्वत्वविशिष्टमुत्पत्तिमत्त्वं वा न तज्जन्यतावच्छेदकं तस्यादृष्टेपि सत्त्वात्, नापि कार्यमात्रवृत्तिजातिरुक्तदोषात्, अतस्तेन तेन प्रति नियतरूपेणैव तज्जन्यतावच्छेदकत्वं वाच्य तथा सति स्मृतित्वस्यापि तज्जन्यतावच्छेदकत्वे को दोषः ? अतोऽदृष्टस्य मुख्यकारणता तु न दुष्टा, किञ्च संस्कारदूषणेऽस्माक प्रवृत्तिर्न त्वदृष्टस्य मुख्यकारणतात्वसाधने तथा सति सहकारित्वमेवास्तु किं नश्छिन्नम् ? एतावत् कथनं तु वितण्डयेति न दोष इति दिक्, प्रकृतमनुसरामः, सुबोधिन्यां **तत्रापि सेति** भगवता निरुद्धा, **आरोपणात् पूर्वमित्यादि**ग्रन्थस्तु **टिप्पण्यां** व्याख्यात इति ततोवधेयः ॥ ४४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अथो यथावदित्यत्र **यस्माद् भगवत** इति यस्माद्धेतुभूतादित्यर्थः, तथा च मूले **यत** इति हेतौ पञ्चमी, प्रतीयमानमाहुः **यत सुदुर्विभाव्यमिति**, **यदाश्रय**मित्यस्यार्थमाहुः **किञ्चेति**, **येने**त्यस्यार्थमाहुः **येन चेति** ॥ ४१ ॥ **अहमिति**श्लोकस्यान्ते **सम्बद्धस्यैवेति** मायासम्बद्धजीवनिरूपितं गतित्वं भगवति मा भूयादित्यर्थः ॥ ४२ ॥ अग्रिमप्रकरणार्थमाहुः **मोहितवानित्या**हेति, अयं मोहो भक्त्यर्थ इतिभक्तिप्रकरणत्वमिति भावः, **इत्थमित्यत्र अन्यथेति** विभुत्वाभावे इत्यर्थः, **पूर्वव**टस्य श्यामत्वदशा ततो **विरुद्धा रक्तत्वादिधर्मा उत्तरस्यां** पाकदशायां **न भवेयु**रित्यर्थः ॥ ४३ ॥ एतत्प्रकरणीयश्लोकानां त्रयाणां प्रत्येकवाक्यार्थानाहुः **प्रक्षिप्तेति**, प्रथमचरणेन द्वितीयचरणेनोत्तरार्धेन चेतिज्ञेयं, **मायाप्रेहेति** 'त्रय्या चे'तिश्लोकोक्त**मायामोहे** भगवतश्चिकीर्षिते सति **ज्ञानं नष्टमित्यर्थः**, सद्य इत्यत्र ननु पूर्वं पदार्थानुभव उक्तः, नाशोत्र स्मृतेरुच्यत इति पूर्वोत्तरविरोध इत्याशङ्क्याहुः **अनेनेति**, स्मृतिनाशकथनेन स्मृतेरनुभवानन्तरभावित्वादनुभवनाश उक्त इत्यर्थः, एतदेव विवृण्वन्ति **अन्यथेति**, एतस्यैव विवरणमनुभवे इति, अनुभवे विद्यमाने स्मरणं न सम्भवतीति तत्प्रतियोगिको नाशोपि न सम्भवतीति, **स्मृतिमेवेति एव**कारेण संस्कारो व्यावर्तितः ॥ ४४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

"इत्थं विदिततत्त्वाया" इत्यत्र **प्रक्षिप्ता जालवन् माया तया ज्ञानं विनाशितम्। प्रमाणानां बलं दग्ध्वा मोहयामास गोपिकाम्** ॥ अनया कारिकयैतत्प्रकरणीयश्लोकानां त्रयाणां वाक्यार्था उक्ताः, **प्रक्षिप्ता जालवन् माये**तिप्रथमचरणेन "इत्थं विदिततत्त्वाया" इतिश्लोकार्थ उक्तः, **तया ज्ञानं विनाशितमि**तिद्वितीयचरणेन **"सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी"**ति श्लोकार्थ उक्तः, **कारिकोत्तरार्धेन "त्रय्या चोपनिषद्भिश्चे"**ति श्लोकवाक्यार्थ उक्तः ॥ ४३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

चरमपक्षमाश्रित्याह—**अथो इति** । अथो अचिन्त्यैश्वर्याश्रयत्वेन परमेश्वरत्वात् अतीन्द्रियाणां परस्परविरुद्धानां चैकदैव **एकत्र** दर्शनात् चित्तादिभिर्यथावत् याथातथ्येन अञ्जसा अनायासेन यत्कृपां विनेति यावत् न वितर्कगोचरं तर्कागोचरमिदं **विश्वं यदाश्रयं** यदधिष्ठानं **येन** करणाधिष्ठात्रायतश्चेतनात् प्रकाशकात् **प्रतीयते** तत्पदं तस्य चरणारविन्दमहं प्रणतास्मीत्यन्वयः । **तच्चरणं** विशिनष्टि—**सुदुर्विभाव्यमिति** । विषयाविष्टचित्तानां भावनायाः ध्यानस्यात्यन्ताविषयमित्यर्थः ॥४१॥ एवं विश्वप्रतीत्या निश्चितं तस्य परमेश्वरत्वं पुनः स्वमोहकारणमायाश्रयत्वेन तन्निश्चिन्वती मायानिवृत्त्यर्थं तमेव शरणं व्रजति—**अहमिति** । "अहं यशोदा अमुष्य व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलवित्तपा सकलधनाद्यधिष्ठात्री सती जाया, असौ मम पतिः, एष कृष्णो मे सुतः, सह धनाः धनादिसहिता गोप्यो गोपाश्च मे मदीया" इत्थं यस्य मायया मे मम कुत्सिता मतिरस्ति स एव मे गतिः शरणं मायातो रक्षकोऽस्तु ॥ ४२ ॥ 'एवं महात्म्यज्ञाने जाते ब्रह्मानन्दसम्भवेऽपि भजनानन्दासम्भवाद्ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्याधिक्यात् तत्सिद्ध्यर्थं स्वमायया पुनरत्तां मोहितवान्' इत्याह **इत्थमिति** । 'ज्ञानान्तरं तस्या मातृभावस्यापगमात्

भगवतोऽपि स्वस्मिन् पुत्रभावनाऽपगता' इति सूचयन्नाह—गोपिकायामपि। यशोदायां इत्थं विदितं तत्त्वं यया तथाभूतायां सत्यां सः श्रीकृष्णो वैष्णवीं स्वशक्तिरूपां मायां व्यतनोत्' तस्याः सम्मोहनार्थं विस्तारितवानित्यन्वयः। ननु 'तस्याः परमप्रेमवत्या मोहनमप्यनुचितमेव' इत्यत आह—पुत्रस्नेहमयीमिति। यथा पुत्रस्नेहेन परमानन्दोऽभिव्यज्यते तथेश्वरज्ञानेन स नोत्पद्यते, तथात्वभावस्यावश्यकत्वात्। ननु ईश्वरज्ञाने जाते सति कथं पुनस्तत्रैव तद्विरुद्धं पुत्रज्ञानं भविष्यति ?' इत्याशङ्क्याह—विभुरिति। सर्वकारणसमर्थ इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—ईश्वर इति। भगवन्मायया लोके एकस्मिन्नपि पुरुषादौ कालभेदेन प्राणिभेदेन च शत्रुमित्राद्यनेकबुद्धिर्भेदस्य प्रसिद्धत्वात्॥ ४३॥ 'अतस्तथैव मोहो जात' इत्याह—सद्य इति। सद्य एव नष्टा स्मृतिः 'पूर्वोक्तं परमेश्वरज्ञानं' यस्याः सा गोपी यशोदा आत्मजमारोहमङ्कमारोप्य यथा पुरा पूर्ववत् प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्तथासीदित्यन्वयः॥ ४४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

चरमं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर इति निश्चित्याह—अथो इति॥ अथो अतः कारणात् चेतोमनःकर्मवचोभिः यथावत् याथातथ्येन अञ्जसा अनायासेन यद्रूपं विनेति यावत्। न वितर्कगोचरं तर्कागोचरमिदं विश्वं यदाश्रयं यदधिष्ठानं येन कारणाधिष्ठात्रा यतो बुद्धिवृत्त्यभिव्यञ्जकात् प्रकाशकात् प्रतीयते। सुदुर्विभाव्यम् अचिन्त्यं तत्पदं वस्तु परमात्मरूपं प्रणतास्मि॥ ४१॥ अहमिति। अहं यशोदा अमुष्य व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलावित्तपा सकलधनाद्यधिष्ठात्री सती जाया असौ नन्दः मम पतिः एष कृष्णो मे सुतः सहगोधनाः गोधनादिसहिताः गोप्यो गोपाश्च मे मदीया इत्थं यस्य मायया मे मम अभिमानरूपा कुमतिः कुत्सिता मतिरस्ति स एव भगवान् मे गतिः मायातो रक्षकोऽस्तु॥ ४२॥ इत्थमिति॥ गोपिकायां यशोदायाम् इत्थं विदितं तत्त्वं यया तथाभूतायां सत्यां विभुः समर्थः ईश्वरः सः श्रीकृष्णः पुत्रस्नेहमयीं वैष्णवीं स्वशक्तिरूपां मायां व्यतनोत्। तस्याः संमोहनार्थं विस्तारितवान्॥ ४३॥ सद्य इति॥ सद्य एव नष्टा स्मृतिः पूर्वोक्तं परमेश्वरज्ञानं यस्याः सा गोपी यशोदा आत्मजमारोहमङ्कमारोप्य यथा पुरा पूर्ववत् प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्तथा आस आसीत्॥४४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

येन ममेदं दर्शितं तं न मासीत्याह अथो यथेति चेतः चित्तं एतदादिभिः यथावत् वितर्केण गोचरं प्रत्यक्षं नाऽस्ति एवंभूतं विश्वं यदाश्रयं यदाधारतया वर्त्तमानं यत उत्पन्नं सत् येन ईश्वरेण प्रतीयते भाति सुदुर्विभाव्यं अवितर्क्यं तस्येश्वरस्य यदमंघ्रिं प्रणतास्मि॥ ४१॥ स्वदोषमाह अहमिति। अहं यशोदा व्रजेश्वरस्य नंदस्य अखिलवित्तया सर्वधनरक्षणकर्त्री अस्मि ममासौ पतिः गोप्यादयो मदीयाः यस्य मायया मे इत्थं कुमतिरस्ति सः हरिर्मे गतिः प्राप्योऽस्ति॥ ४२॥ विदितं तत्वं परमात्मा यया तस्यां तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेतीत्युक्तेः॥ ४३॥ प्रवृद्धस्नेहेन कलिलं आर्द्रं हृदयं यस्याः॥ ४४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चरमं पक्षमाश्रित्यायमीश्वर इति निश्चित्य तं प्रणमति। अथो इति। अथो अतः, चेतः बुद्धिश्च मनःकर्म मनोव्यापारश्च, वचांसि च तैः, अञ्जसा तत्त्वतः आशु वा। यथावद्याथात्म्येन, नवितर्कगोचरं नानाविधतर्कागोचरं, अदो विश्वमिति शेषः। यदाश्रयं यदधिष्ठानं, यत उत्पद्यते इति शेषः। येन प्रतीयते जीवेति, यतो यस्मिन्, लीयते इति शेषः। अनेन 'यतो वा इमानि भूतानि' इति श्रुत्यर्थः प्रदर्शितः। सुदुर्विभाव्यं इदमित्थमिति चेतोमनःकर्मवचोभिस्तर्कितुमशक्यमित्यर्थः। तत् पदं पद्यते प्राप्यते इति यावत्। एवंभूतं, व्युत्पत्त्या मुमुक्षुप्राप्यं परमात्मनः स्वरूपमित्यर्थः। प्रणता अस्मि नमस्कृतवती भवामि॥ ४१॥ अहं ममेत्येवंभूताः संकल्पाः यतः स एव मम तन्निवृत्त्युपाय इत्यध्यवस्यति॥ अहमिति॥ मम पतिः, असौ नन्दः, एषः मे मम सुतः, सगोपाः सहगोधनाश्च गोप्यः, मदीया इति शेषः। व्रजेश्वरस्य नन्दस्य, अखिलवित्तपा समस्तद्रव्यगोप्त्री सती, अहं यशोदा अस्मि। इत्थमेवंभूता, कुमतिरहंममताबुद्धिः, यन्मायया यस्य संकल्पेनोद्भूतसूक्ष्मस्थूलदेहकुटुम्बादिषु, ममानाद्यविद्ययाऽभूत्, स भगवानेव, मे मम गतिरहंममतानिवृत्त्युपायः॥ ४२॥ इत्थमिति॥ इत्थमुक्तप्रकारेण, गोपिकायां यशोदायां, विदितं विज्ञातं तत्त्वं बालस्य याथात्म्यं यया तथाभूतायां सत्यां, स श्रीकृष्णरूपः, ईश्वरः, यतः विभुः, ततः, पुत्रस्नेहमयीं पुत्रस्नेहप्राचुर्यावहां, वैष्णवीं विष्णुसंबन्धिनीं, मायां, व्यतनोदाच्छादितवान्॥ ४३॥ सद्य इति॥ सद्यस्तदैव, नष्टा स्मृतिः पुत्रे परमात्मत्वस्मृतिर्यस्याः सा, गोपी यशोदा, आत्मजं पुत्रं, आरोहमुत्सङ्गं, आरोप्य, पुरा यथा, पूर्ववदेवेत्यर्थः। प्रवृद्धो वृद्धिं प्राप्तो यः स्नेहः पुत्रस्नेहस्तेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्याः सा तथाभूता, आसीद्बभूव॥ ४४॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अहं ममेतिः १०.८.४२.

सर्वदर्शनचणेऽपि दर्पणः स्वस्वरूपकलने ह्यनीश्वरः। अत्र तद्युतमवेक्ष्य तन्मुखं युक्तमात्ममतिराशु साऽभवत्॥ ८२॥

इत्थं विदितेति: १०.८.४३.

अ यल्पभूमिशकलादनमाविशङ्क्य सम्भ्रान्तधीरियमभूत्पुनरद्य विश्वम्।
साक्षादवेक्ष्य भविताऽनवधानशालिन्येंतद्धिया विभुरसावतनोत्स्वमायाम् ॥ ८३ ॥

किञ्चित्कार्यवशाददर्शि वदने यद्विश्वरूपं मया तत्स्फूर्तिः समवस्थिता यति सदैवास्यां ततश्चिन्तितः।
अर्थो नैव भवे मनागपि ममेत्यालोच्य मन्येंऽच्युतः, चित्तेऽसावतनोदकुण्ठचरितो मायां महावैष्णवीम् ॥ ८४ ॥

कृष्णप्रिया

अन्त में श्री यशोदाजी ने निश्चय किया कि लालन भगवान है और यह इनकी सर्व लीला है तव गुणगान करने लगी, चित्त, मन, कर्म, वाणी और तर्क की पहुँच से परे इस अखिल ब्रह्माण्ड का जो आश्रय है, और जिस प्रभु के द्वारा बुद्धि में अभिव्यक्त ज्ञान से रस की प्रतीति होती है उस कल्पनातीत अचिन्त्यमहिमा वाले श्रीकृष्ण के श्री चरणों में मैं साष्टांग प्रणति करती हूँ ॥ ४१ ॥ यह मैं नन्दरानी हूँ, यह नन्दराय मेरे स्वामी है, यह मेरे लाडिले लालन है ब्रजेश्वर नन्दराय की सर्व सम्पत्ति की मालिक और रक्षण करने वाली सती अर्धाङ्गना हूँ एवं गोधन के साथ ये गोप गोपियाँ मेरा धन है ऐसी जिस कृष्ण की माया से अभिमानमयी कुमति बनी है वही श्रीकृष्ण मेरी शरण है ॥ ४२ ॥ भगवान श्रीकृष्ण ने समझा कि माता यशोदा को तो मेरा परब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो गया है और यह तो स्नेह में बाधक है तव शीघ्रता से सर्वकरणसमर्थ श्रीकृष्ण ने "प्रजास्नेहरूपा" यह मेरे लालन ही है ऐसी वैष्णवी माया फैला दी ॥ ४३ ॥ क्षण में ही गोपी यशोदाजी ब्रह्मज्ञान की सारी बातें विसर गयी। हृदय में पहले जैसा अपार मोह पूर्ण वात्सल्यस्नेह उमड़ आया और अम्मा ने लालन को अपनी गोद में उठा लिया ॥ ४४ ॥

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः। उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥ ४५ ॥

राजोवाच

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एव महोदयम्। यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥ ४६ ॥
पितरौ नान्वविन्देतां [1]कृष्णोदारार्भकेहितम्। [2]गायन्त्यद्यापि कवयो [3]यल्लोकस्य मलापहम् ॥ ४७ ॥

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया [4]भार्यया सह। करिष्यमाण [5]आदेशं ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सा त्रय्या च उपनिषद्भिः च सांख्ययोगैः च सात्वतैः उपगीयमाहात्म्यं हरिं आत्मजं अमन्यत ॥ ४५ ॥ ब्रह्मन् नन्दः च महाभागा यशोदा महोदयं एव किम् श्रेयः अकरोत् यस्याः हरिः स्तनं पपौ ॥ ४६ ॥ अद्यापि कवयः लोकस्य मलापह कृष्णोदारार्भकेहितं यत् अद्य अपि गायन्ति यत् पितरौ न अन्वविन्देताम् ॥४७॥ वसूनां प्रवरः द्रोणः धरया भार्यया सह ब्रह्मणः आदेश करिष्यमाणः तं उवाच ह ॥ ४८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

मायाबलोद्रेकमाह। त्रय्येति। त्रय्या कर्मकांडरूपया इंद्रादिरूपेण। उपनिषद्भिर्ब्रह्मेति। सांख्यैः पुरुष इति। योगैः परमात्मेति। सात्वतैर्भगवानित्युपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तम् ॥ ४५ ॥ अतिविस्मयेन पृच्छति। नंद इति। महोदयं महानुदय उद्भवो यस्मात् तत् ॥ ४६ ॥ ययोः प्रसन्नोऽवतीर्णस्तौ पितरावपि यं नान्वविंदेतां न प्राप्नुताम्। कृष्णस्योदारं महदर्भकेहितं बाललीलाम्। यच्च कवयो गायंति तद्योऽविंदत्स किं श्रेयोऽकरोदिति ॥ ४७ ॥ ब्रह्मण आदेशान्गोपालवादिलक्षणान् ॥४८-४९॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

उद्रेक आधिक्यम्। यद्वा—सांख्यं तस्य योगश्चिंतनं यत्र ते सांख्ययोगा ब्रह्मसूत्राणि तैः सात्वतैर्नारदादिभिर्वा पंचरात्रादिवैष्णवशास्त्रैः एतैरपि माहात्म्यमेव यस्य गीयते न तु साक्षाज्ज्ञायते तं सा यशोदात्मजममन्यताहोऽस्या भाग्यमिति भावः। अत्र विश्वनाथः। देववयाः सकाशात्तस्या उत्कर्षमभिव्यंजयितुमैश्वर्यदर्शनादपि स्वीयवात्सल्यप्रेम्णः संकोचाभावमाख्यायैश्वर्य

---

१. कृष्णरामार्भके-विज.। २. गायन्ते-इति पाठः। ३ यल्लोकशमला-श्रीधर, वंशी, वीर, विज. जीव। ४. सह भार्यया-श्रीधर. वंशी वीर. विज.। ५. आदेशान्-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. शुक.।

श्रवणादप्याह—त्रय्या यज्ञपुरुषत्वेनोपनिषद्भिर्ब्रह्मत्वेन सांख्यैः पुरुषत्वेन योगैः परमात्मत्वेन सात्वतैः पाञ्चरात्रैर्भगवत्त्वेन इत्येवं कर्मिप्रभृतिगीयमानमाहात्म्यं तस्यास्समक्षमसमक्षं वोपाधिक्येन गीयमानैश्वर्यं हरिं सात्मजममन्यतास्मदभीष्टदैवतेनावयोर्व्रतनियमार्चनादिसंतुष्टेन पर्जन्याभिधमदीयश्वशुरकृतनिरवद्यवहुतपःसंतोषितेन श्रीनारायणेन कृपया दत्तो लोकोत्तरः पुत्रोयं यत्कर्मिप्रभृतिभिस्त्रय्यादिप्रतिपाद्यत्वेन स्तूयते तत्र 'नारायणसमो गुणैः' इति सर्वत्र गर्गेण गीतया नारायणसाम्यप्रथयाऽन्यदुःष्करपूतनादिवधानामेतत्कर्तृकत्वप्रथया चायमेव नारायण इति तेषां विश्वास एव हेतुर्वस्तुतस्त्वयं मत्पुत्र एव मां मातरं क्षणमप्यदृष्ट्वा विकलीभवत्यहं चैनं स्वनिमेषव्यवहितं ज्ञात्वा विह्वली भवामीत्यावयोर्जन्यजनन्योरनुभव एवात्र प्रमाणमिति मनसि सा समाधत्ते। किंच कर्मिप्रभृतयस्त्रय्यादिभिर्यथा हरिं मन्यंते तथैवेयं वात्सल्यप्रेम्णा हरिमात्मजं मन्यते तेभ्यस्तु तत्तदनुरूपं फलं ददानस्तेषामनुग्राहको वशयिता सन्नीष्टेस्यै तु वात्सल्यप्रेम्णोनुरूपं फलं दातुमसमर्थं ऋणी भवन्नस्या अनुग्राह्योऽवश्य ईशितव्यत्वेन तिष्ठ स्वानंदतुष्टोप्यस्याः स्तन्यामृतार्थं रोदितीत्यादिविशेष उत्तराध्याये स्पष्टीभविष्यति। पद्यमिदं कृष्णलीलायां परिभाषासूत्ररूपं ज्ञेयम्। परिभाषा यथा शास्त्रैकदेशस्था सकलं शास्त्रं प्रकाशयति यथा वेश्म प्रदीप इति "इको गुणवृद्धी" इति यत्रयत्र गुणवृद्धी श्रूयेते तत्रतत्रैकपरिभाषोपतिष्ठते यथा तथैव कौमारकैशोरमाथुरकुरुक्षेत्रादिगतलीलासु यत्रयत्रैश्वर्यप्रसंगस्तत्रेदमुपतिष्ठते इति ॥ ४५॥ नंदभाग्यमभिनंदन्पृच्छति राजा। उदय उद्भवः समुन्नतिरिति यावत्। "उदयस्तु पुमान्पूर्वपर्वते च समुन्नतौ" इति मेदिनी। श्रेयः पुण्यम् "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः। महान् भागो भाग्यं यस्यास्सा तथा 'भागाभाग्यांशतुर्यांशाः' इति यादवः। यस्य स्मरणेनान्यस्यापि स्तनपानं न जायते स स्वयमेव यस्याः स्तनं पपावहो तस्या भाग्यमिति भावः। तोषिण्यां तु—महानुदयः सर्वतः स्नेहोत्कर्षो यस्मात् महाभागेति ततोप्यस्याः श्रेयोऽधिकमभिप्रेत्याह—पपाविति। 'पीतशेषं गदाभृतः' इत्युक्त्या श्रीदेवक्या अपि तथा वत्सहरणलीलायां वत्सगोपरूपेणान्यासां गोगोपीनां स्तनपाने सत्यपि देवक्या यथा कथंचिदसमये सकृदेव गोप्यादिषु रूपांतरेण च तत्रोभयत्र तादृशस्नेहाभावादत्रैव स्तनपानं सम्यगभिप्रेतम्॥ ४६॥ ययोर्देवकीवसुदेवयोः। प्रसन्नो 'युवां मां पुत्रभावेन' इत्यादि तदुक्तेः। पितरावपीत्यपिना नंदयशोदयोरपितृत्वं न ज्ञेयं किन्तु तावपि पितरौ वैकुंठेशस्य तयोर्जातत्वात् परं तु तस्य नंदनंदनाविष्टत्वात्तौ नान्वविंदेताम्। विदंतिरत्र लाभार्थे 'विदेर्ज्ञाने च वेत्तीति विदेर्लाभे च विंदति' इति वचनात्। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। स किं श्रेयोकरोदिति द्वयोरन्वयः। अत्र विश्वनाथरूपगोस्वामिनौ—पितरौ पितृत्वेन प्रसिद्धौ श्रीदेवकीवसुदेवौ श्रीकृष्णस्योदारं 'राजन्पतिर्गुरुः' इत्यादौ "अस्त्येवमंग भजतां भगवान्मुकुंदो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इत्युक्तदिशा परमोदयस्यापि दातृ यदर्भकेहितं तदनु पश्चादपि नाविंदेतां मथुरायां गतेन बाल्यलीलासंवरणात किं वाच्यं तस्य साक्षादनुभवमाहात्म्यं यच्च कवयो ब्रह्मादयः पूर्वपरार्द्धादौ श्रीनारदादीन्प्रत्युपदेशमारभ्याद्यापि गायंति अहो सर्वेषामपि तद्भाग्यविशेषहेतुरित्याह यदेवाद्य कलिकाले लोकमात्रस्य शमलापहम् एकत्रापि गीयमानेन संबंधपरंपरया कृतार्थीकरणात् मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनातीति। अत एवोक्तं श्रीसूतेनापि 'कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नम्' इति। यद्वा—कवय आत्मारामशिरोमणयोपि भवद्विधा महाभागवता अनादितः श्रुतिपुराणगीयमानमपि अद्यापि गायंति परमानंदभरेण यत्र तत्राप्युन्मत्ता इव गायंत एव वर्त्तंते न च कथयंति मात्रं यच्च लोकस्यातिदीनस्यापि मद्विधस्य यच्छमलं तदंतरायकं कर्म तस्य हंतृ यच्छ्रवणमात्रेण मद्विधोपि मम परमकृतार्थतां मन्यते इत्यर्थः। तत् यो या चाविन्दत्स सा च किं श्रेयोऽकरोदिति पूर्वेणान्वयः। एवं महाविस्मयो व्यंजितः॥ ४७॥ "आदेशो वर्णविकृतौ नियोगे चातिसर्जने" इति धरणिः। करिष्यमाण इति। यदि मां गवां पालनमपि भवानाज्ञापयिष्यति तदप्यहं सर्वथा करिष्यामीति कथयन् तं ब्रह्माणमुवाच ह वक्ष्यमाणं वाक्यमिति शेषः॥ ४८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तदेवमहो परमभाग्यवती श्रीयशोदेत्याह—त्रय्येति। त्रय्या कर्मोपासनामय्या तत्तदन्तर्यामिपर्य्यवसानया उपनिषद्भिः स्वरूपगुणाभ्यां सर्ववृहत्तमे तस्मिन्नेव पर्य्यवसिताभिः साङ्ख्ययोगैः सेश्वरैः तैश्च श्रीभागवतार्थपर्य्यवसानैः पुराणैरित्यर्थः। सात्त्वतैः तदुपासनामयैः पञ्चरात्रागमैः अनयोरपि वेदाङ्गत्वात्तत्साहित्योक्तिः उपहीने यत्किञ्चित् गीयमानमाहात्म्यं न तु सम्यक् आनन्त्यात् तं हरिम् आत्मजम् अमन्यत किन्तु पुत्रभावेन साक्षात् तथा लालितवतीति काका चमत्कारातिशयो व्यञ्जितः अत्रेदं विचार्य्यं न तावदस्या विश्वदर्शनमुत्कर्षहेतुः—

> "यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
> तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत"।
> तं सत्त्वमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेयत आत्मपातः॥

इति प्रथमसाधनेपि द्वितीयस्कन्धावज्ञातत्वात् न च विश्वदर्शनेन श्रीकृष्णे परमेश्वरज्ञानमभूत तुर्य्यानिर्णयेप्यमुष्य ममार्भकस्येत्याद्युक्तत्वात् ईश्वरस्य यत्तच्छब्दाभ्यां परोक्षतयैव निर्देशात् पञ्चमनिर्णये च पत्यादिगणपातित्वेन एष मे सुत इति

यन्माययेति च तथैव दर्शनात् अन्यथा श्रीदेवकीवदसौ तमेवास्तौष्यत् न चेश्वरज्ञानमुत्तमं पुत्रादिभावमयश्रीकृष्णाद्यनुभवस्त्वनुत्तम इति प्रकरणार्थः दर्शितव्याख्यया तस्यार्थस्याप्रवेशात अन्यथोत्तरग्रन्थे प्रश्नोत्तरे च न सङ्गच्छेते तस्यास्तादृगीश्वरज्ञानं परित्यज्य तदावरणं चाननुशोच्य स्तनपानादिकस्यैव राज्ञास्तोष्यमाणत्वात् श्रीवसुदेवदेवक्योः सत्यपि सर्वज्ञाने तदुदारार्भकोहितानुभवाभवेन शोचिष्यमाणत्वात् कवीनां परमज्ञानवतां श्रीव्यासादीनामपि तद्गानमात्रभाग्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् श्रीशुकेनापि तत्प्राग्जन्मकथनमारभ्य महिमारोहक्रमतः सर्वज्ञानभक्तिगुरुतमयोर्विरिञ्चिभवयोरहो तादृश्याः श्रियोपि तन्न्यूनपदे स्थापयिष्यमाणत्वात् अन्येषामवशिष्टानामपि ज्ञानादिमतामसुखाय श्रीकृष्णत्वेन साधारणेभ्योपि गोपिका सुततया श्रीकृष्णं भजद्भ्यो न्यूनयिष्यमाणत्वाच्च। अन्यत्र च तादृशः भावस्यैव तत्तस्ततोतिशयः श्रूयते राजन् पतिर्गुरुरलमित्यादौ "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादौ च ततः किम्पुनस्तदीयस्यैति दर्शित एवार्थः साधीयान् ॥ ४५ ॥ इत्थं तस्यां तादृशं श्रीभगवतः स्नेहं तस्याश्च तस्मिन् वात्सल्यं श्रुत्वा तद्भाग्यभरेणातिविस्मितः श्रीनन्दस्य तस्याश्च भाग्यं पृच्छति नन्द इति। किङ्कतरत् एवम् ईदृशो महान् उदयः सर्वतः स्नेहोत्कर्षो यस्मात् महाभागेति ततोपि तस्याः श्रेयः अधिकमभिप्रैति, तदेवाह, पपाविति। अतः पीत्वामृतं पयः तस्याः पीतशेषं गदाभृत इत्युक्तरीत्या श्रीदेवक्यास्तथावत्सबालकरूपेणान्यासां गोपीनां स्तनपाने सत्यपि पूर्वत्रैश्वर्यज्ञानमिश्रत्वात् यथाकथञ्चित् तत्राप्यसमये वारैकजातत्वाच्चोत्तरत्रान्यरूपत्वादुभयत्र परस्परैतादृशस्नेहाभावादत्रैव स्तनपानसम्यगभिप्रेतम् ॥ ४६ ॥ किञ्च पितराविति पितृत्वेन सर्वलोकख्यातौ लब्धवरौ चापि श्रीकृष्णस्य उदारं राजन् पतिरित्यादौ "अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इत्युक्तदिशापरमादेयस्यापि दातृवत् अर्भकेहितं तत् अनुपश्चात् अपि नाविन्देतां मथुरायां गतेन बाल्यलीलासम्वरणात् किं वाच्यं साक्षादनुभवमाहात्म्यं तस्य भक्ता गुरवोपि यद्गानेनापि कृतार्थं मन्याः परः परार्द्धं कालं गमयन्तीत्याह यच्च कवयः श्रीब्रह्मादयः पूर्वपरार्द्धादौ श्रीनारदादिप्रत्युपदेशमारभ्य अद्यापि गायन्ति अहो सर्वेषामपि तद्भाग्यविशेषे हेतुरित्याह यदेव चाद्य कलिकालेपि लोकमात्राणां सर्वेषामपि शमलापहम् एकत्रापि गीयमानेन सम्बन्धपरम्परया कृतार्थीकरणात "मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" इति अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिरितिवत् अत उक्तं श्रीसूतेन कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नमिति यद्वा कवय आत्मारामशिरोमणयोपि भवद्विधा महाभागवता अनादितः श्रुतिपुराणगीयमानमपि अद्यापि गायन्ति परमानन्दभरेण यत्र तत्राप्युन्मत्ता इव गायन्त एव वर्तन्ते न च कथयन्ति मात्रं यच्च लोकस्यातिदीनस्यापि मद्विधस्य यच्छमलं तदन्तरायकं कर्म तस्य हन्तृ यच्छ्रवणमात्रेण मद्विधोपि परमकृतार्थतां मन्यत इत्यर्थः। तद्योयाचाविन्दत् स सा च किं श्रेयो ऽकरोदिति पूर्वेणान्वयः एवं महाविस्मयो व्यञ्जितः ॥ ४७ ॥ अथास्याग्रिमाध्याये मुख्यः सिद्धान्तो वक्ष्यते प्रथमं तावत्किमकरोच्छ्रेय इति साधनगतं तत्प्रश्नमनुसृत्य तत्र सिद्धान्ताभासं यावदेतदध्यायं वक्तुम् आदौ तयोरंशेन यत्पूर्ववृत्तं तदभेदेनाह—द्रोण इति त्रिभिः। प्रवरः परमश्रेष्ठः श्रीनन्दांशत्वात् आदेशान् श्रीमथुरामण्डले गोपालनप्रायवासश्रीवसुदेवसख्यादिलक्षणान् ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो ! परममहाभाग्यवती श्रीयशोदेत्याह—त्रय्येति। त्रय्या वेदमयेन मीमांसा-शास्त्रेणेत्यर्थः; उपनिषद्भिर्वेदान्तशास्त्रेण सात्वतैः पाञ्चरात्रादि-वैष्णवशास्त्रैर्न्यायवैशेषिकयोरनुक्तिः प्रायस्तर्कपरत्वादिना हरिमाहात्म्यानुपगानात्। चकारैः सामान्येन सर्व्वयामभ्युपगानपरतायामुक्तायामपि सात्वतानां विशेषो द्रष्टव्यः। अतएव तत्र 'च'-कारप्रयोगः सर्व्वश्रेष्ठत्वापेक्षयान्ते निर्देशश्च। हरिं सर्व्वमनोहरं निजाशेष-भगवत्तामाधुरी-प्रकटनात्। त्रय्यादीनां यथोतरं श्रैष्ठ्यम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, त्रय्यादिभिरिन्द्रादिभ्योऽपि उप आधिक्येन, उपरिष्टाद्वा, गीयमानं माहात्म्यं यस्य, यतो हरिः ॥ ४५ ॥ इत्थं तस्यां तादृशं श्रीभगवत्स्नेहं तस्मिंश्च तस्या वात्सल्यं श्रुत्वा तद्भाग्यभरेणातिविस्मितः सन् तत्प्रसंगेन श्रीनन्दस्य तस्याश्च भाग्यं पृच्छति-नन्द इति। किं कतरत्, ब्रह्मन् ! हे सर्व्ववेदमूर्त्ते ! साक्षात् परब्रह्ममूर्त्ते वेति तत्तद्शेषं भवता विज्ञायत इति भावः। एवमीदृशं महानुदयः सर्व्वतः स्नेहोत्कर्षो यस्मात्तत्; महाभागेति श्रीनन्दतोऽपि तस्याः श्रेयोऽधिकमभिप्रैति, तदभिव्यञ्जयति। वा-शब्द उक्तसमुच्चये। एवं षष्ठाद्यध्यायत्रयोक्तप्रकारेण, किंवोक्तरिंगणादिलीला-प्रकारेण, किंवोक्तेश्वरज्ञानाच्छादनपूर्व्वकस्नेहप्रवर्द्धनप्रकारेण। 'पपौ' इति श्रीदेवक्यास्तथा वत्सपालरूपधारणे पीतस्तनाभ्योऽपि वैशिष्ट्यं दर्शितम्, तासु तत्तदभावात्। तत्र देवक्याः स्तनपानं (भा० १०।८५।५५)—'पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः' इत्यग्रे पञ्चाशीतितमाध्यायोक्तेर्ज्ञेयम्। हरिरिति तादृशबाल्यलीलया वात्सल्यविशेषादिना च मनो हरन्निति भावः ॥ ४६ ॥ महोदयत्वमेवाभिव्यञ्जयन् विहितचतुर्युगव्यापिमहाभक्तिलक्षण-दुष्करतरतपोविशेषाभ्यां जनकजननीभ्यां श्रीवसुदेवदेवकीभ्यामपि महद्भाग्यमाह पितराविति। अनुपश्चादपि नाविन्देतां न साक्षादन्वभवताम्,—मथुरायां गतेन बाल्यलीलासम्वरणात्। कृष्णस्य साक्षादवतारिण उदारं महत्, भुक्ति-मुक्तिभक्त्याद्यशेषार्थप्रदं वा आर्भकेहितं बाल्यचरितम्; किं वक्तव्यम्, तस्य साक्षादनुभवमाहात्म्यम्, तत्कीर्त्तनादिकमपि महाफलमित्याशयेनाह-यच्च कवयः श्रीब्रह्मादयः श्रीव्यासादयो वाद्यकलिकालेऽपि गायन्ति; कुतः ? लोकानां सर्व्वेषामपि शमलापहं पापोन्मूलकमन्यथा कलिकालीनपापवर्गनाशासिद्धिः। यद्वा, स्वजन्मारभ्याद्यपि गायन्तीति निरन्तरगानमुक्तम्। तत्

किमर्थम् ? सर्व्वजीवानां शमलं संसारदुःखमपहन्तीति तथा तत्। यद्वा, अद्यापि चिरकालेऽतीतेऽपि कवय आत्मारामा अपि गायन्ति। कुतः ? लोकस्य मुनिजनस्य शमः शान्तिर्लापो वाक् तौ हन्ति प्रेमभराविर्भावनेन मनोधैर्य्यं वाक्—प्रवृत्तिञ्च संहरतीति, किंवा शमस्यात्मारामतादि-लक्षणस्य लापं हृति तत्कथामात्रमपि नावशेषयतीति तथा तदिति परम-रसमयत्वेन स्वतः पुरुषार्थतोक्ता। तद्यो या चाविन्दत, स सा च किं श्रेयोऽकरोदिति पूर्वेणान्वयः ॥ ४७ ॥ एवं जगति तादृश-श्रेयोऽसम्भवाद्‌विस्मयेन प्रश्नः। परमभक्तिप्रार्थनेनैव गाढस्नेहैकलभ्यं कृष्णबाल्यचरितामृतं ताभ्यां लब्धमिति तत्रोत्तरं वक्तुमादौ तयोः पूर्ववृत्तमाह—द्रोण इति त्रिभिः। प्रवरः परमश्रेष्ठः, श्रीनन्दावतारत्वात्। आदेशान् श्रीमथुरामण्डले गोपालन लक्षणानेव, बहुत्वं तन्माहात्म्यगौरवात्। ह हर्षे, स्फुटमिति वा। एतत् सर्वत्रैव प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पितरौ देवकीवसुदेवौ कृष्णरामार्भकेहितं कृष्णरामादेहार्भकौ तयोश्चेष्टितं यल्लोकनं यद्दर्शनं शमलापहं पापापहम् ॥४७॥ जातयोनौ जाते अवतीर्णो भवति सतीत्यर्थः ॥ ४८-५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये ऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

मायावैभवं प्रकटयितुमाह—त्रय्येति। त्रय्या वेदपूर्वभागेन तद्बोधिततत्तत्कर्माराध्यत्वेन उपनिषद्भिर्वेदोत्तरभागैः सर्वकारणत्वोपास्यत्वप्राप्यत्वादिना साङ्ख्यैर्योगैश्च ज्ञानयोगकर्मयोगानुगृहीतभक्तियोगैकप्राप्यत्वेन सात्त्वतैः पञ्चरात्रसंहिताभिः परव्यूहविभवार्चारूपत्वेनोपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं हरिमाश्रितार्तिहरं सा विदित्वापि तदैव केवलमात्मजममन्यत ॥ ४५ ॥ श्रुत्वैवम्विधयशोदानन्दभाग्यातिशयस्तत्कारणं पृच्छति राजानन्द इति द्वाभ्याम्। हे ब्रह्मन्! एवमेवंविधं महानुदय उत्तरफलं यस्य तच्छ्रेयः यतः कारणादभवत् तत्किमकरोन्नन्दो यशोदाचेति प्रश्नः महाभाग्यमेव सूचयन् यशोदां विशिनष्टि यस्याः स्तनं हरिः पपावपिबत् ॥ ४६ ॥ कुतश्च कारणात्पितरौ देवकीवसुदेवौ श्रीकृष्णस्योदारं विपुलमर्भकचेष्टितं नान्वविन्देतां न प्राप्नुतां न दृष्टवन्तौ इति प्रश्नान्तरम् ईहितं विशिनष्टि—यत्कृष्णोदारार्भकेहितं लोकस्य शृण्वतो वदतश्च जनस्य दुरितापहन्तृ कवयो नारदादयोऽद्यापि गायन्ति ईदृशकृष्णोदारार्भकेहितादर्शननिमित्तं किमिति प्रश्नार्थः ॥ ४७ ॥ इत्थमापृष्ट आह शुकः—द्रोण इति। वसूनां प्रवरः श्रेष्ठो द्रोणः धरया धराख्यया भार्यया सह ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्यादेशान् गोरक्षणादिरूपान् करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच भूभारावतरणाय भगवानवतरिष्यति पयःप्रदानेनापि भगवन्तमाराधयितुं गोरूपेण मुनयश्च स्वांशैर्जनिष्यन्ते त्वन्तु गोरक्षणार्थं भार्यया सह गोपेषु जनिष्यसे इत्येवं ब्रह्मणोक्तस्तमाहेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रजास्नेहमयीं मायां शृङ्गग्राहिकतयैव दर्शयति-त्रय्येति। त्रय्या "अग्निमीळे" इत्यादिकया, उपनिषद्भिः 'एष पन्थाः' इत्यादिकाभिः सत्त्ववान् हरिः तद्विषयैः सात्त्वतैः साङ्ख्ययोगैः पञ्चरात्रादिशास्त्रैः यद्वा साङ्ख्ययोगैः यथार्थज्ञानप्रतिपादकैः ब्रह्मतर्कादिभिः सात्त्वतैः पञ्चरात्रादिवैष्णवतन्त्रैः ॥ ४५ ॥ श्रेयः पुण्यं पूर्वजन्मनीति शेषः "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः। महानुदयः फलं यस्मात्तत्तथा महान् भागो भाग्यं यस्या सा महाभागा "भागो भाग्यांशतुर्यांशा" इति यादवः ॥ ४६ ॥ कृष्णरामनाम्नोरर्भकयोः बालयोः ईहितं चेष्टितं विन्दतिर्लाभार्थोऽप्यत्र ज्ञानार्थः चेष्टानुकूलज्ञानलाभं नाप्नुवन्ताविति "विद् ज्ञाने तु वेत्तीति विद्लृ लाभे तु विन्दति" इति वचनात् लोकशमलापहं जनपापहरम् ॥ ४७ ॥ प्रत्यारभ्यते कथान्तरमिति शेषः "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धेह" इति यादवः ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

त्रय्येति त्रय्या कर्म्मोपासनामय्या सर्वान्तर्यामिपर्यवसानया उपनिषद्भिः स्वरूपगुणाभ्यां सर्वबृहत्तमे ब्रह्मणि तस्मिन्नेव पर्यवसिताभिः साङ्ख्ययोगैः सेश्वरैः ते च श्रीभागवतार्थपर्यवसानानि पुराणानि मन्तव्यानि सात्त्वतैः तदुपासनामयपञ्चरात्रागमैः उप यत्किञ्चिद्गीयमानं नतु सम्यक् आनन्त्यात् तं हरिम् आत्मजममन्यत पुत्रभावेन साक्षात्तथा लालितवतीति काका चमत्कारातिशयो व्यञ्जितः। अथ विश्वरूपदर्शनमीश्वरभावं चाननुमोद्य पुत्रभावमयस्तनपायनबाल्यलीलाऽनुभवावेवानुमोदते ॥ ४५ ॥ नन्द इत्यादि नायं सुखापो इत्यन्तोऽध्यायद्वयात्मको ग्रन्थः ॥ ४६-५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ (भा, १०।८।४६) "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्" इत्यादि। कथमेतादृशं भागधेयं द्रोणधरात्वेन श्रूयमाणयोर्नन्दयशोदयोर्यतः खलु वसुदेव-देवक्योरप्यतिशयं सुखमासीदित्याशङ्कमानं राजानमाह—द्रोणो वसूनां प्रवर इत्यादि त्रिभिः।

वसूनां प्रवरः कश्चिद् द्रोणनामा धरानाम्न्या भार्यया सह ब्रह्मण आदेशं करिष्यमाणः कदाचिद् ब्रह्मणा तस्मै य आदेशः कृतस्तं करिष्यमाणः करिष्यामीत्यङ्गीकुर्वन् उवाच—अग्रे मया प्रार्थ्यमानं वरं प्रयच्छ तदा ते आज्ञापालनं करिष्यामीति भुवि भूतले कृतावतारे हरौ विश्वेश्वरे महादेवे देवानामपि देवे नौ आवयोः परमा भक्तिः स्यात्। कीदृशयोः ? लोके जातयोः। भक्तिः कीदृशी ? यया अञ्जो दुस्तरं संसारसागरं तरेत्। इति प्रार्थिते सति ब्रह्माह—अस्तु। इति पुनरुक्तः सन् व्रजे नन्दो जज्ञ इति। एवं ख्यातः, नन्द इत्येव ख्यातः, धरा यशोदा साऽभवत् यशोदायामासः स्थितिर्यस्याः सा तथा। एतेन नित्य-भूतयोरेव नन्दयशोदयोर्द्रोणधरे जीवत्वं त्यक्त्वा प्रविष्टे, न तु द्रोणधरे एव नन्दयशोदे, ते तु नित्ये एव। तेन तयोर्भागधेयं प्रति कः सन्देहः ? केवलद्रोणधरयोस्तु तथाविधसौभाग्ये सन्देहावतार इति स्थितम्॥ ४८-५२॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

देवक्या अपि सकाशात्तस्या उत्कर्षमभिव्यञ्जयितुमैश्वर्य्यदर्शनादपि स्वीयवात्सल्यप्रेम्णः सङ्कोचभावमाख्यायैश्वर्य्य-श्रवणादप्याह—त्रय्या यज्ञपुरुषत्वेन उपनिषद्भिर्ब्रह्मत्वेन साङ्ख्यैः पुरुषत्वेन योगैः परमात्मत्वेन सात्वतैः पञ्चरात्रैर्भगवत्त्वेन कर्मिप्रभृतिभिरुपगीयमानमाहात्म्यं देशकालानियमात्तस्याः समक्षमसमक्षं वा उप आधिक्येन गीयमानैश्वर्य्यं हरिं सा आत्मजम-मन्यतेत्यस्मदभीष्टदैवतेनावयोर्व्रतनियमसन्ततपूजनादिभिःसन्तुष्टेन पर्ज्जन्याभिधानमदीयश्वशुरकृतनिरवद्यबहुतपःसन्तोषितेन श्रीनारायणेन कृपया दत्तो लोकोत्तरः पुत्रोऽयं यत् कर्मिप्रभृतिभिस्त्रय्यादिप्रतिपाद्यत्वेन स्तूयते तत्र खलु "नारायणसमो गुणैः" इति सर्वत्र गर्गेण गीयतया नारायणसाम्यप्रथया अन्यदुष्करपूतनादिवधानामेककर्त्तृत्वप्रथया चायमेव नारायण इति तेषां विश्वास एव हेतुर्वस्तुतस्त्वयं मत्पुत्र एव मां मातरं क्षणमप्यदृष्ट्वा विकलीभवत्यहं चैनं स्वनिमेषव्यवहितं ज्ञात्वा विह्वलीभवा-मीत्यावयोर्जन्यजनन्योरनुभव एवात्र प्रमाणमिति मनसि सा समाधत्ते। किञ्च, कर्मिप्रभृतयस्त्रय्यादिभिर्यथा हरिं यज्ञपुरुषादिकं मन्यन्ते तथैवेयं वात्सल्यप्रेम्णा हरिम् आत्मजं मन्यते तेभ्यस्तत्तदनुरूपं फलं ददानस्तेषामनुग्राहकोवशयितासन्नीष्टे अस्यै तु वात्सल्यप्रेमानुरूपं फलं दातुमसमर्थो ऋणीभवन्नस्याअनुग्राह्योवश्य ईशितव्यत्वेन तिष्ठन् स्वानन्दतुष्टोप्यस्यास्तन्यामृतार्थं रोदितीत्यादिविशेष उत्तराध्याये स्पष्टीभविष्यति पद्यमिदं कृष्णलीलायां परिभाषासूत्ररूपं ज्ञेयं परिभाषाह्येकदेशस्था सकलं शास्त्रमभिप्रकाशयति यथावेश्मप्रदीप इति "इको गुणवृद्धी" (१।१।२) इति यत्र तत्र गुणवृद्धी श्रूयते तत्र तत्र इक्परिभाषोप-तिष्ठते यथा तथैव कौमारकैशोरमाथुरकुरुक्षेत्रादिगतलीलासु यत्र यत्र ऐश्वर्य्यप्रसङ्गस्तत्रेदमुपतिष्ठत इति॥ ४५॥ ऐश्वर्य्यदर्शन-श्रवणाभ्यामपि तस्याः प्रेमदार्ढ्यमाकर्ण्य कर्मिप्रभृतिभ्यो भक्तेभ्यश्चाभिव्यज्यमानमुत्कर्षं च जानन्निति विस्मयेन पृच्छति—नन्द इति। महान् उदयः फलं यस्य तत् महाभागेति नन्दादपि तस्याः श्रेयोऽधिकमभिप्रैति॥ ४६॥ ननु, "पीतशेषं गदाभृतः" इति वचनाद्देवक्या अपि स्तनं पपावित्यत आह—पितरौ अस्मत्कुले पितृत्वेन ख्यातौ देवकीवसुदेवौ कृष्णस्य उदारमतिसुखप्रदमति-महच्च अर्भकहितं बालचरित्रं न अन्वविन्देतां चक्षुरादिभिरास्वादयितुं नालभताम् उदारपदेन राममातृत्वाभिमानिनी रोहिणी वत्साहरणलीलाप्राप्तमातृभावागोप्यश्च व्यावृत्ताः यत् अर्भकेहितम्॥ ४७॥ कृष्णावतारस्य तदीयबाल्यलीलानां च नित्यत्वादेव नन्दयशोदयोर्नित्यसिद्धत्वं स्पष्टमिति नाप्येतादृशः प्रेमासाधनसिद्धो भवितुमर्हतीत्यपि जानतोपि राज्ञोऽस्य प्रश्नोऽयं यथा भक्ताव्युत्पन्नस्येत्यतस्तत्र ममाप्युत्तरं तादृशी भवितुमर्हतीति प्रश्नरि राजन्युदासीनमना एवाह, द्रोण इति। आदेशान् गोपाल-नादिलक्षणान् तं ब्रह्माणम्॥ ४८॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एतदेवाह—त्रय्येति। त्रय्या कर्मनिर्णयपरेण पूर्वमीमांसाशास्त्रेण कर्मणोज्याः इन्द्रादयोऽशास्तद्द्वारेण उपनिषद्भिः कर्मणा शुद्धान्तकरणेनाधिकारिणा साक्षादेव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकारणकारणः सर्ववेदैकवेद्यः ध्यानादिसाधनसम्पत्या लभ्यते इति साङ्ख्यैः तत्त्वसङ्कलनया पुरुषो ज्ञेयः इति योगैश्चित्तवृत्तिनिरोधलभ्यत्वेन सात्वतैः पञ्चरात्रिकैः वेदार्थविद्भिः व्यूहाङ्गीत्व-नोपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं सा आत्मजममन्यत अहो तस्या भाग्यमिति भावः॥ ४५॥ महानुदयः पुत्रीभूतपरमपुरुष-लीलानुभवार्हः उद्भवो यस्मात् तत्॥ ४६॥ पितरौ देवकीवसुदेवावपि यन्नान्वविन्देतां न प्राप्नुवताम् यच्च कवय आत्महितार्थं जगद्धितार्थं च गायन्ति तत्कृष्णस्योदारमनुपममर्भकेहितं बालचेष्टितं तत्स सा च अविन्दत स सा च किं श्रेयोऽकरोदिति योजना॥ ४७॥ त्वं गोपो भव इयं गोपी इत्यादिरूपान् ब्रह्मणः आदेशान् करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणम्॥ ४८-५१॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

न च हरेरैश्वर्यदर्शनेन तच्छ्रवणेन च यशोदायास्तस्मिन् पुत्रभावः सङ्कोचमेति प्रत्युत वृद्धिमेवेत्याह एष्येति। ऋग्यजुःसामभिर्यज्ञपुरुषत्वेनोपनिषद्भिस्तच्छिरोभिः परब्रह्मत्वेन च साङ्ख्यैर्योगैश्च परमपुरुषत्वेन सात्वतैः पञ्चरात्रैर्भगवत्वेन

चोपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सा यशोदा आत्मजमेवामन्यत तस्मिंस्तस्याः पुत्रभावः स्थैर्यमविन्ददित्यर्थः। नहि पुत्रस्य निखिलभूमीश्वरत्वे दृष्टे श्रुते च तन्मातुस्तस्मिन् पुत्रभावो सत्यपितु परिवर्द्धत एव एवं भावान्तरेषु योज्यम् ॥ ४५ ॥ एवमैश्वर्यदर्शनश्रवणाभ्यामशिथिलपुत्रभावां तद्भाववश्यपरेशां यशोदामाकर्ण्य विस्मितः परीक्षित् पृच्छति नन्द इति। महानुदयः फलं यस्य तत् महाभागेति तस्यानन्दादप्यधिकं श्रेयोभिप्रेति ननु कथं विस्मयसे तत्राह पपाविति यस्य नन्दस्यास्तनमात्रारूपं शब्दं हरिः पपौ पालितवान् यस्या यशोदायाः स्तनं पपौ पीतवानित्यर्थः ॥ ४६ ॥ परमदुर्लभलाभाद्विस्मयेऽहमित्याह—पितराविति। पितृत्वेन ख्यातौ पितरौ देवकीवसुदेवौ कृष्णस्योदारं परमानन्दप्रदं महच्चार्भकेहितं बालचरितं नान्वविन्देतां साक्षान्नालभेताम् उदारपदेन राममातृत्वाभिमानिनी रोहिणी प्राप्ततन्मातृभावा गोपाश्च व्यावर्त्यन्ते यदर्भकेहितम् ॥४७॥ नन्दयशोदयोस्तत्प्रेम्णा च नित्यसिद्धतां जानन्नपि राजा तत्सौभाग्यसाधनं श्रेयः पृच्छतीति तदंशस्याप्यनयोः सत्त्वात्तत्तथैवोत्तरयिष्यामीति भावेन तावदाह द्रोण इति आदेशान् गोपालनादिरूपान् तं ब्रह्माणम् ॥ ४८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तन्मायावैभवं श्रृङ्गिग्राहकया दर्शयति ॥ त्रय्येति। वेदेनोपनिषद्भिरग्निमीळेत्यादिना। उपनिषदां वेदत्वेऽपि वेदान्तत्वेन पृथगुक्तिः। एष पन्था इत्यादिकाभिः साङ्ख्यं कापिलं योगैर्योगशास्त्रैः सात्वतैः पञ्चरात्रादिभिः सात्वान्भगवांस्तद्विषयैः सात्वतैः साङ्ख्ययोगैः पञ्चरात्रादिशास्त्रैरित्यपि व्यातन्वते। वृद्धाच्छाभावश्छान्दसः। उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं हरिं साऽऽत्मजं स्वसुतममन्यतेति ॥ ४५ ॥ श्रुतनन्दतत्सुन्दरीसौभगो राजा चित्ते चित्रं मन्वानो मुनिं तन्निदानं पृच्छतीति वदति ॥ राजेति। ज्ञानपूर्णं एवं महानुदयः फलं येन तच्छ्रेयः सुकृतं। स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष इत्यमरः। एवंमहोदयमिति समस्तं वा। एवमुक्तरीत्या महानुदयो येन तदिति विग्रहः। महाभागा महान्भागो भाग्यं यस्याः सा। भागो भाग्यंशतुर्यांश इति यादवः। महाभागधेयवतीति वा। भागारूपार्थकः प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोरिति विश्वः। किं तत्कार्यं त्वया श्रुतं क्षितिपत इत्यत आह ॥ हरिर्यस्याः स्तनं पपौ पीतवानिति। एवं महोदयं श्रेयो यशोदानन्दश्च किमकरोदिति पृथक् पृथगन्वयः ॥ ४६ ॥ पितरौ साक्षात्प्रसूजनयितारौ देवकीवसुदेवौ कृष्णरामार्भके हितं कृष्णस्य रामाभिः सह क्रियमाणमङ्गरक्षाद्यारभ्येतरतरुण्यङ्गसङ्गादिरूपमर्भकचेष्टां रामा सुन्दरीत्वेनादौ दृष्टा पूतनातदादिविषयेऽर्भके हितमिति वा। नान्वविन्देतां न प्राप्नुवतः। एतौ च प्राप्नुवन्तौ। किं तन्माहात्म्यमित्यत आह ॥ गायन्तीति। अद्यापि कवयो ब्रह्माद्या लोकशमलापहं लोकानां शमलं पापं तदपहन्तीति तत्तथा गायन्ति। लोकानां शं येन तल्लोकशं च तन्मलापहं चेति वाऽनेकार्थविशेषो ज्ञेयः। तत् त्रय्या चेत्यादिना हरिं सामान्येनात्मजमित्यसाधारणधर्मैरेकप्रसक्तेः पूर्वत्रैव पपौ यस्यास्तनं हरिरित्यत्र गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहमित्युक्तेश्च रामग्रहणं मनोरममिति शङ्कासङ्कोचोऽन्वयन एवं ज्ञेयः। यद्वा प्रान्ते सहरामो वसंश्चक्रे इत्युदीरणेन सहभूतमात्रेण योग्यक्रीडादिकर्तृत्वेन छात्रेण सह गुरुः पूजित इत्यादौ यथा तरतमभावस्तथाऽत्रेति कृष्णरामयोरर्भके हितमित्यपि सम्भवतीति ज्ञेयं। याभ्यां तपआदिकं कृत्वा पुत्रत्वेन सम्पादितः कृष्णस्तौ नैतद्दृष्टवन्तावेतौ तु यशोदानन्दौ दृष्टवन्तावितीदं चित्रमिति भावः। अपे क्लेशतमसोरिति योगविभागाद्धन्तेर्डः। अनाशीरर्थे। आशिषि हन इत्युक्तेः। सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे विन्दते विन्दति प्राप्ताविस्युक्तेर्लाभार्थो विदधातुरिति ज्ञेयं ॥ ४७ ॥ उत्तरासुतपृष्टो ऋषिश्रेष्ठ उत्तरं वक्तुमारभत इत्यर्थको हशब्दः। प्रत्यारम्भे प्रसिद्धे हेति यादवः। वसूनां प्रवरो नाम्ना द्रोणो धरया तन्नाम्न्या भार्यया सह ब्रह्मण आदेशं करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच ॥ ४८ ॥

श्रीसुबोधिनी

अतःपरं प्रमाणान्तरेणापि न स्मृत्युद्बोध इत्याह **त्रय्येति**, त्रयी वेदत्रयी, तत्र क्रियाशक्तेः प्रतिपादितत्वाद् भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं, **उपनिषत्स्वपि** ब्रह्मप्रतिपादनाद् भगवज्ज्ञानशक्तिप्रतिपादनं, **साङ्ख्येपि** नित्यानित्यवस्तुविवेको भगवत्सम्बन्धतद्राहित्यभेदेनैव, **योगेपि** निश्चिन्ततया भगवच्चिन्तनं, चकारात् पशुपतिमतेपि भगवन्माहात्म्यनिरूपणमेव, तथा **सात्वतै**-र्वैष्णवतन्त्रैरपि, वेदस्य द्विरूपत्वात्, षड्दर्शनैरप्यु**पगीयमानमाहात्म्यो** भगवांस्तादृशं तावन्ति प्रमाणानि श्रुत्वापि **हरिमात्मजमेव सामन्यत**, अतो भक्तौ प्रतिष्ठिता**विहितायां** पुत्रभावेन ॥ ४५ ॥ एतस्या एतावत्त्वं कथं न त्वन्यासामितिशङ्कां परिहरन् महापुरुषकृपामाह **सप्तभिः**, **नन्दः किमकरोदिति**प्रश्नो द्वयेन कर्मण्युदासस्य वक्तव्यत्वात्, **ब्रह्मन्नि**तिसम्बोधनं ज्ञानार्थं, नामप्रकरणे नन्दस्यैव प्रथमतो निरोधकथनात्, **किं श्रेयो** धर्मरूपं, लोकवेदयोरप्रसिद्धत्वात् प्रश्नः, प्रसिद्धार्थमेवाहै**वम्महोदयमिति**, **एवम्महानुदयो**भ्युदयो भगवान् पुत्र इति यस्य श्रेयसः, भिन्नतया **यशोदाया** अपि निरूपणाद् भिन्नतया प्रश्नो **यशोदा** चेति, **नन्दा**पेक्षयापि निरन्तरसम्बन्धान्**महाभागा**, किञ्च **यस्याः स्तनं** सर्वदुःखहर्तापि **पपौ**, सा हि जानाति क्षुन्निवृत्त्यर्थं भगवान् पिबतीति, अतो "हरेरपि" सा "हरि"रित्युक्तं भवति, बालकतोषपक्षेपि तदीयस्तन्येनैव तथाकरणादुत्कर्षः ॥ ४६ ॥ ननु प्रसिद्धमेव तत्सुकृतं यथा वसुदेवेन कृतमिति चेत् तत्राह **पितराविति**, यद्यपि पितरौ जातौ तथापि तादृश **आनन्दो**

नानुभूतो यादृश एताभ्यामनुभूतस्तदाह **नान्वविन्देतामिति**, एतदनन्तरमपि **नाविन्देतां**, अग्रेऽन्यथैव करणात्, अयं **महानानन्द** इति, ज्ञापयति **कृष्णोदारार्भके हितमिति**, **कृष्णस्यार्भके हितं** बालचेष्टितं, अनधिकारिणोपि सर्वपुरुषार्थदानादुदारं **साधनफलं** हीनं तत्रापि लौकिकं साध्यफलादप्यधिकः परमानन्दः स चेत् साध्यस्वर्गादिसाधनं तदा पशुपुत्रादिजन्यमलौकिकं सुखं **लौकिकं** च तादृशमेव, तत्र साधनोत्कर्षे साध्योत्कर्षो दृष्टो लोके यथोत्तमैः सूत्रैरुत्तमः पटो यथोत्तमशर्करया भक्ष्यमिति, यत्र **परमानन्द** एव प्रथमकक्षा तेन साध्यं लौकिकं लौकिकवत्ततो ऽप्यधिकं ततोऽप्यलौकिकं दिव्यपुत्रपश्वादिरूपं ततोपि स्वर्गादिस्त दिदमुक्तं **कृष्णः** परमानंदः स चार्भकस्तस्य च लीला साप्युदारेति साक्षाल्लीला परमदुर्लभेति किं वक्तव्यम्? यतः शब्दतोपि श्रुता **परमानन्दं** जनयतीत्याह **गायन्त** इति, **अद्यापि** व्यासादतः शब्दरसाभिज्ञा निर्दुष्टशब्दार्थवक्तारो रसवद्वक्तारो वा तेन रसेन **मत्ता गायन्ति**, अद्यापीपि कालविलम्बेपि तद्रसानुवृत्तिः सूचिता, किञ्च **यच्** चरित्रं **लोकस्य मलं** दूरीकरोति, अतो दोषनिवर्तकं **गुणाधायकं** च श्रुतमपि भवति तत्र साक्षात्तादृशभोक्तॄणां किं भाग्यं वक्तव्यक्त्यर्थः ॥ ४७ ॥ अत्र महापुरुषकृपैव कारणमिति वक्तुमुपाख्यानमारभते **द्रोण** इतिपञ्चभिः ॥

प्रार्थना प्रश्नदाने च भक्तिरागमनं हरेः ॥ ३ ॥

पूर्वकल्पेष्टवसुषु **द्रोणो** नाम कश्चिद्, यद्यप्यस्मिन् कल्पे न तस्य भार्या **धरा** तथापि कल्पान्तरे तथेति न विरोधः, **तस्मिन्** कल्पे वस्वादयो **ब्रह्मण** एव जाता इति सृष्ट्यर्थमाज्ञापितो **भार्यया सह** सृष्टिलक्षणमादेशं **करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच**, हेत्याश्चर्ये क सृष्टिकर्तृत्वं क भक्तिरिति ॥ ४८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नन्दः किमकरोदित्यत्र, पञ्चभिरुत्तरदाने तात्पर्यमाहुः **कर्मव्युदासस्येति**। नेदृशं फलं कर्मणो भवितुमर्हति, किन्तु महदनुग्रहस्यैवेति कर्मव्युदासस्य वक्तव्यत्वात् तस्य चाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमात्मकत्वेन पञ्चात्मकत्वात् तावद्भि स्तद्व्युदासोक्तिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥ **कृष्णोदारेत्यत्र**, उदारत्वोक्तितात्पर्यमाहुः **साधनफलमित्यादि**। अधिकारः साधनम्। तस्य हीनत्वात् तज्जन्यं फलमपि तथा। अथवा। सुखसाधनरूपं वैदिककर्मणः फलं पश्वादिरूपं तथा। साध्यफलं स्वर्गादि मोक्षान्तम्। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेस्तथा। स परमानन्द एव चेत्तथा। तदा पश्वादि तज्जन्यं लौकिकम **लौकिकं** च सुखं तादृशमेव परमानन्दरूपमेवेत्यर्थः। **लौकिकवदिति**। लौकिकवत् परिदृश्यमानं परमित्यर्थः। लोके वेदे च **फलात्साधनमपकृष्टं** दृष्टम्। यत्र परमकाष्ठापन्नं वस्तु साधनं तत्र तत्साध्यफलस्य का वार्तेति भावः ॥ ४७ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सुबोधिन्यां त्रय्येत्यत्र चकाराणामर्थमाहुर्वेदस्येत्यादि, वेदस्य नित्यकाम्यभेदेन **द्विरूपत्वात् त्रय्या चेति** चकार उपनिषदामपि ज्ञानोपासनाभेदेन द्वैविध्यात् तत्रापि चकारः, दर्शनानां षट्सङ्ख्याकत्वात् **साङ्ख्ययोगैश्चेति** चकार इति तथेत्यर्थः, एतावत्कथनतात्पर्यमाहुस्तावन्तीत्यादि ॥ ४५ ॥ नन्दः किमकरोदित्यत्र **प्रश्नो द्वयेनेति** तथा च शेषैः पञ्चभिरुत्तरमित्यर्थः, तत्तात्पर्यं **टिप्पण्यामाहुः पञ्चभिरित्यादि**, साधनं फलमित्यादि यदुक्तं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुरुदारेत्यादि, **साधनशब्देनाधि** कारसामान्यपरामर्शे भक्तिमार्गाधिकारस्य तत्फलस्य च तथात्वभ्रमः स्यादित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरथ **वेत्यादि**, **तथेति साधन** शब्दवाच्यं, **मोक्षान्तमिति** फलशब्दवाच्यमितिशेषः, तत्र मानमाहुरेतस्यैवेत्यादि, सिद्धमाहुः **स परमानन्द** इत्यादि, **सुबोधिनी** **स्थफक्किकायोजनात्वेवमौदार्यं** ह्यल्पेपि महादानेन व्यक्तं भवति तदत्र व्युत्पाद्यते, तथा च तत्र पित्रोरपिशब्दाच्छ्रीनन्दयशो **दयोश्च साधनं फलं हीनं** तत्र हेतुर्लौकिकं वैदिकत्वेपि देवलोकमात्रसाधकत्वात्, तट् टिप्पण्यां विवृत**मधिकार** इत्यारभ्य **तथेत्यन्तं**, साध्यफलं मोक्षान्तं तस्मादधिकः **परमानन्दः**, तदपि टिप्पण्यां श्रुतिविलेखनेन विवृतं, तेन यत् सिद्धं तदपि **स परमानन्द** इत्यारभ्येत्यर्थ इत्यन्तेन विवृतं, सुबोधिन्यामुपपादयन्ति **तत्रेत्यादिना भक्ष्यमितीत्यन्तेन**, प्रकृते योजयन्ति **यत्रेत्यादि**, **प्रथमकक्षेति** साधनरूपा **कक्षा**, **लौकिकमित्यस्यैवार्थो लौकिकवदिति**, तदर्थं टिप्पण्यामाहुर्लौकिकवदित्यादि, **ततोऽप्यधिकं** **ततोऽप्यलौकिकमिति लौकिकवत्** प्रतीयमानाद् **यदधिकं** विशेषरसवत् तदेवालौकिकमत्र न तु पूर्वविजातीयं, प्रथमायां तत् **सिद्धं, दोषनिवर्तकमिति श्रुतमपि दोषनिवर्तकमित्यन्वयो** ज्ञेयः ॥ ४६ ॥ **द्रोण** इत्यत्र **प्रार्थनाप्रश्नदाने** इति प्रार्थना द्वितीय श्लोकार्थः **प्रश्नदानं** राजप्रश्नोत्तरदानं तृतीयश्लोकार्थः ॥ ४८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

त्रय्येत्यस्याभासे प्रमाणान्तरेणापीति चक्षुरादिभिरनुद्बोधः पूर्वमुक्तोत्रशब्देन तदनुद्बोध उच्यते इत्यर्थः, **प्रमाणैर्हि** संस्कारमुद्बोध्य स्मृतिरुद्बोध्यते, अत्र तु **संस्कार** एव न जात इतिभावः, व्याख्याने, **द्विरूपत्वादिति** मन्त्र **ब्राह्मणभेदेनेत्यर्थः**, तथा च मूले उपनिषदतिरिक्तः सर्वोपि भागस्त्रयीपदेनोक्त इति ज्ञेयम् ॥ ४५ ॥ **कृष्णोदारेत्यत्र** लौकिक-

पुरुषार्थेभ्यो भगवदीयपुरुषार्थानामुत्कर्षं साधयन्ति **साधनेत्यादिना**, लोके धर्मः कर्मरूपः, अर्थः पश्वादिरूपः, कामः स्वर्गरूपः, मोक्षो ब्रह्मभावरूपः, परमानन्दस्तु **ततोऽप्यधिकः**, सोत्र **प्रथमकक्षा** धर्मस्थानीयः, अर्थस्थानीयोऽर्भकरूपो भगवान्, कामस्थानीया लीलोपयोगिनः पुत्रपश्वादयः, मोक्षस्थानीयो भजनानन्दानुभव', **स्वर्गादिरिति** स्वर्ग **आदिर्यस्येति** मोक्ष इत्यर्थः, **अलौकिकं लौकिकमित्यत्र** व्युत्क्रमेण पाठः क्रमाविवक्षा वा, टिप्पण्यां तथैव व्याख्यानात्, मूले **कृष्णपदेन** परमानन्दः साधनत्वाद् धर्मः, **अर्भकपदेनार्थः**, **लीलापदेन** तदुपयोगिनः पश्वादयः कामरूपाः, तस्या औदार्यकथनेन भजनानन्दो मोक्षरूप उक्तः, तत्रापि सर्वपुरुषार्थदानकथनेनैतेषामुत्कर्षोऽवाङ्मनोगोचर इति सूचितं, **गायन्तीत्यत्र** शब्देति शब्दे दर्शनाद्यपेक्षया महान् रस इति ज्ञानं **कविपदेन** सूचितं, **निर्दुष्टेति** 'अदोषौ शब्दार्थौ काव्यं' 'रसवद् वाक्यं वा काव्य'मिति पक्षद्वयमाश्रित्य **कविपदार्थ** उक्तः, **मत्ता** इति गानस्य मत्तकार्यत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥ **द्रोण** इत्यत्र **प्रार्थनेत्यादिना** सप्तश्लोकानामर्था उक्ताः, क्रमस्याविवक्षितत्वात् पूर्वं द्वयेन **प्रश्न** उक्तः, अत एव तत्र 'प्रश्नो द्वयेने'त्युक्तं, 'द्रोण' इति 'जातयो'रिति द्वयेन **प्रार्थना**, प्रथमे प्रार्थनामुवाचेत्युक्तं, द्वितीये प्रार्थनेति भेदः, अत एव "जातयो"रित्यस्याभासे एवकारः, अग्रे **दानं भक्तिरागमनं** चैकैकेनेति-व्याख्यानानुसारेण श्लोकविभागो ज्ञेयः ॥ ४८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

द्रोणो वसूनां प्रवर इत्यत्र **प्रार्थनेति** का० ४९३। अत्र "नन्दः किमकरो"दित्यादिपूर्वोक्तश्लोकद्वयेन सह सप्तश्लोकानामर्था उक्ताः, मूले प्रार्थनातः पूर्वोक्तोऽपि प्रश्नः कारिकायां क्रमस्याविवक्षितत्वात् पश्चादुक्तः, तत्र "नन्दः किमकरोद् ब्रह्म"न्नित्यादिद्वयेन **प्रश्न** उक्तः, अत एव तत्र 'प्रश्नो द्वयेने'त्युक्तं, "द्रोण" इति "जातयो"रितिद्वयेन **प्रार्थना**, प्रथमे प्रार्थनामुवाचेत्युक्तं द्वितीये प्रार्थनेतिभेदा, अत एव "जातयो"रित्यस्याभासे "प्रार्थनामेवाहे'त्येवकारः, अग्रे **वरदानं भक्तिरागमनं** चैकैकेनेतिव्याख्यानानुसारेण श्लोकविभागो ज्ञेयः, "अस्त्वित्युक्त" इति वरदानं 'ततो भक्तिर्भगवती'ति भक्तिः, 'कृष्णो ब्रह्मण आदेश'मित्यनेन हरेर्व्रजे **आगमन**मित्यर्थः ॥ ४८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

मायाबलोद्रेकं यशोदायां भगवत्कृपातिशयं च द्योतयन्नाह—त्रय्येति। त्रय्या वेदपूर्वभागेन कर्मकाण्डेन इन्द्रादिरूपेण, उपनिषद्भिर्वेदोत्तरभागेन ब्रह्मरूपेण, साङ्ख्यैः पुरुषरूपेण, योगैः परमात्मरूपेण, सात्वतैः पञ्चरात्रादिवैष्णवतन्त्रैर्भगवद्रूपेण, चकारात् पशुपतिमते शिवादिरूपेण चोपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं हरिं सा यशोदाऽऽत्मजममन्यत ॥ ४५ ॥ एवं नन्दयशोदयोरुपरि भगवतः कृपातिशयमाकलय्यातिविस्मितो राजा तत्कारणं पृच्छति—नन्द इति। सर्वज्ञत्वं सूचयन् सम्बोधयति—ब्रह्मन्निति। नन्दो यशोदा च एवंविधं श्रेयःसाधनं किमकरोत्? नन्दापेक्षयापि यशोदाया आधिक्यं सूचयन् विशिनष्टि 'महाभागा' इति। तत्र ज्ञापकमाह—यस्या इति। यस्य तृप्तये यज्ञादयोऽपि न समर्था जाताः स दुराराध्यो हरिर्यस्याः स्नेहातिशयवशात् स्तनं पपौ। एवं—शब्दार्थमेव स्पष्टयति—महोदयमिति। महानुदयः फलं भगवद्बाललीलानुभवरूपं यस्य तदित्यर्थः ॥ ४६ ॥ उक्तमेव स्पष्टयति—पितराविति। ययोः प्रसन्नः सन्नवतीर्णस्तौ पितरौ देवकीवसुदेवावपि कृष्णोदारार्भकेहितं नान्वविन्देतां नानुभूतवन्तौ, तद्योऽनुभूतवान् स नन्दो यशोदा च किं श्रेयोऽकरोदित्यन्वयः। 'तदनुभवे किमाश्चर्यम्' इत्याशङ्क्य 'दुर्लभत्वात्' इत्याशयेनाह—गायन्ति इति। कवयो व्यासादयः सर्वरहस्याभिज्ञाः सर्वेपि कारिणो यच्चरितमद्यापि गायन्ति वर्णयन्ति। तत्प्रयोजनमाह—लोकशमलापहमिति। श्रोतृवक्तृप्राणिनां सर्वदोषविनाशकमित्यर्थः। 'न केवलं दोषनिवर्तकम्, किन्तु सर्वाभीष्टप्रदमपि' इत्युदारपदेन सूचितम् महतां कृपैवात्र कारणमित्याह—द्रोण इति। वसूनां मध्ये प्रवरः परमश्रेष्ठो द्रोणाख्यो वसुः धरया धराख्यया भार्यया सह ब्रह्मणः आदेशान् गोपालनादीन् करिष्यमाणस्तत्प्रसन्नतापन्नं ब्रह्माणमुवाचेत्यन्वयः। तत्स्वार्थकौशलयस्याश्चर्यं सूचयन्नाह—हेति। 'द्रोणस्याभिमते पत्न्या इति षष्ठोक्तिस्तु कल्पान्तरविषया, अतो न विरोधः ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्रय्येति ॥ त्रय्या वेदपूर्वभागेन कर्मकाण्डेन इन्द्रादिरूपेण उपनिषद्भिर्वेदोत्तरभागेन ब्रह्मरूपेण सांख्यैः पुरुषरूपेण योगैः परमात्मरूपेण सात्वतैः पञ्चरात्रादिवैष्णवतन्त्रैर्भगवद्रूपेण चकारात् पशुपतिमते शिवादिरूपेण चोपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं हरिं सा यशोदाऽऽत्मजममन्यत ॥ ४५ ॥ नन्द इति ॥ हे ब्रह्मन्! नन्दः तथा यस्याः स्तनं हरिः पपौ सा महाभागा यशोदा च एवं महोदयं महाफलम् एवंविधं श्रेयःसाधनं किम् अकरोत् ॥ ४६ ॥ पितराविति ॥ ययोः प्रसन्नः सन्नवतीर्णस्तौ पितरौ देवकीवसुदेवावपि यत् कृष्णस्योदारं महत् अर्भकेहितं बालचरितं न अन्वविन्देतां नानुभूतवन्तौ यत् लोकानां श्रोत्रादीनां शमलापहं पापनाशकं यत् कवयो व्यासादयः अद्यापि गायन्ति तच्चरितं योऽनुभूतवान् या चानुभूतवती सः नन्दो

यशोदा च किं श्रेयोऽकरोत् इत्यनुषङ्गः ॥ ४७ ॥ द्रोण इति ॥ वसूनां मध्ये प्रवरो द्रोणः द्रोणाख्यो वसुः धरया धराख्यया भार्यया सह ब्रह्मणः आदेशान् गोपालनादीन् करिष्यमाणस्तं प्रसन्नतापन्नं ब्रह्माणमुवाच ॥ ४८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सांप्रतं हरेर्माहात्म्यं तस्याः हरौ पुत्रत्वं चाह त्रय्येति । त्रय्या इंद्रादिषु व्यापकरूपेण उपनिषद्भिश्च सर्वकारणसर्वनियामकादिविशेषणैः सांख्यैः सांख्यविद्भिः पुरुषरूपेण च योगविद्भिः परमात्मपरमेश्वरादिविशेषणैश्च सात्वतैः भक्तैः पंचरात्रविद्भिश्च सर्वोपास्यपरमप्राप्यसर्वगुणैश्वर्यादिदिव्यविग्रहसंपन्नादिविशेषणैश्च उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तम् ॥ ४५ ॥ अत्याश्चर्येण राजा पृच्छति नंद इति महोदयं महान् उदयो वृद्धिर्यस्मिस्तत् श्रेयो मंगलकर्म ॥४६॥ पितरौ देवकीवसुदेवौ कृष्णस्य स्वपुत्रास्यउदारं प्रेमास्पदं यदर्भकेहितं बालचरितं नान्वविंदेतां न लभेतां लोकानां शमलापहं पापनिवर्त्तकं तत् यो नंदो विंदेत सः किंश्रेयः अकरोत् सा च ॥ ४७ ॥ तत् प्रश्नोत्तरं कुर्वञ्छ्री शुक उवाच द्रोण इति । ब्रह्मणो विधेः आदेशान् व्रजे जन्मग्रहणरूपाणि आज्ञावचनानि करिष्यमाणो द्रोणः ॥ ४८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मायावैभवं प्रकटयितुमाह ॥ त्रय्येति ॥ त्रय्या वेदपूर्वभागेन, उपनिषद्भिर्वेदोत्तरभागैः, सांख्यै च योगौ च तैः, सबीजनिर्बीजत्वाभ्यां सांख्ययोगयोर्द्वैविध्याद्बहुवचनम् । सात्त्वतैः पञ्चरात्रसंहिताभिश्च, द्वितीयचकारात् पाशुपतैः, उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं, हरिं स्वाश्रितार्त्तिहरं भगवन्तं, सा प्राग्विदिततत्त्वापि यशोदा, वैष्णव्या मायया पिहितज्ञानावृत्त्यानन्तरमिति शेषः । आत्मजं च केवलं स्वपुत्रमेव, अमन्यत । त्रय्या तु तद्बोधिततत्कर्माराध्यत्वेमेन्द्रादिरिति, उपनिषद्भिः सर्वकारणत्वसर्वोपास्यत्वप्राप्यत्वादिना परमेश्वर इति, सांख्याभ्यां पुरुष इति, योगाभ्यां परमात्मेति, सात्त्वतैः परव्यूहविभवार्चारूपत्वेनोपास्य इति, पाशुपतैः परमशिव इति, एवं षड्दर्शनसंज्ञैरुपगीयमानमिति, केचित्तु द्वितीयचकारेण पाशुपतैः शिव इति, गाणपत्यैर्गणेश इति, सौरैः सूर्य इति, शाक्तैरिच्छादिशक्तिरूपेणोपगीयमानमाहात्म्यं, हरिं साऽऽत्मजममन्यतेत्याहुः ॥ ४५ ॥ विश्रुतैवंविधनन्दभाग्यातिशयो राजा तस्य तत्त्वे कारणं पृच्छति ॥ नन्द इति ॥ हे ब्रह्मन्, एवमेवंविधं, महानुदय उत्तरफलं यस्य तत्, किं किमात्मकं, श्रेयः, नन्दः अकरोत् । महाभागा महाभाग्यवती, यशोदा च, किं श्रेयः अकरोत् । महाभाग्यमेव सूचयन् यशोदां विशिनष्टि । यस्याः स्तनं, हरिः पपौ । इत्येकः प्रश्नः ॥ ४६ ॥ पितराविति ॥ लोकशमलापहं शृण्वतो वदतश्च जनस्य दुरितापहन्तृ, यत् कृष्णोदारार्भकेहितं कृष्णस्य विपुलमर्भकचेष्टितं, कृष्णस्य बालचरित्रसमीक्षणजानन्दमित्यर्थः । कवयो नारदादयः, अद्यापि गायन्ति हि । तथाभूतं पितरौ, न अन्वविन्देतां कथं न प्राप्नुतां कथं न दृष्टवन्ताविति प्रश्नान्तरम् । ईदृशकृष्णोदारार्भकेहितादर्शननिमित्तं किमिति भावः ॥ ४७ ॥ इत्थमापृष्ट आह शुकः ॥ द्रोण इति ॥ वसूनां षष्ठस्कन्धषष्ठाध्याये उक्तानां धर्मोढदाक्षायण्या वस्वाख्यायाः सुतानामष्टानां, प्रवरः श्रेष्ठः, द्रोणो द्रोणाख्यो वसुः, धरया धराख्यया, भार्ययाऽङ्गनया सह, ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य, आदेशान् गोरक्षणादिरूपनिदेशान्, करिष्यमाणः सन्, तं ब्रह्माणं, ह स्फुटं, उवाच । भूभारावतरणाय भगवानवतरिष्यति, पयःप्रदानेनापि भगवन्तमाराधयितुं गोरूपेण मुनयश्च स्वांशैरवतरिष्यन्ति त्वं तु गोरक्षार्थं भार्यया सह गोपेषु जनयिष्यसे, इत्थं ब्रह्मणोक्तस्तमाहेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

त्रय्या चेति : १०.८.४५.

पितामहोऽपि यत्पुत्रो जगद्धात्र्यपि यत्प्रिया । तमीशमात्मजं मन्यमानाया धन्यताऽऽर्थिकी ॥ ८५ ॥
नाम्नैवामृतमुत्तमं दिशति यो यश्चामृतात्मा स्वयं सेवन्तेऽप्यमृतार्थमेव मुनयो यं ध्यानदानादिभिः ।
स श्रीशो निजमुख्यरूपममलं तन्मूल्यमाकलयन् यत्स्तन्यं पिबति स्म भुव्यनुपमा तत्पुण्यसीमास्फुटम् ॥ ८६ ॥

नन्दः किमिति : १०.८.४६.

न पितरावपि यत्सुखमापतुर्मधुरशैशवचेष्टितसम्भवम् । अतुलगोकुलपालनलालसः कथमवाप तदेष स गोपतिः ॥ ८७ ॥

द्रोणो वसूनामिति : १०.८.४८.

भवति यो वसुदेवहितोद्यतः स्वपरभावभिदारहितश्च यः । जनदृशाऽस्तु स कीदृगपि प्रभोः प्रियतमो भवतीति तदुत्तरम् ॥ ८८ ॥
देवसौख्यजनिका यशोदयाऽभिख्यया लसति देवकीधरा । तत्सुखं बहुतयाऽऽप्रमत्र मा संशयाकुलितमन्तरं कुरु ॥ ८९ ॥
गार्हस्थ्यस्पृहणीयमात्मजशिशुक्रीडासुखं साम्प्रतं तद्भोक्ता वसुदेव इत्यतितरामेतेन लब्धं कथम् ।
नन्दोऽसौ वसुदेव एव भवतीत्यावेदयन् भूपतिं तज्जन्मान्तरनामसङ्गतिकथां प्रोवाच नूनं मुनिः ॥ ९० ॥

कृष्णप्रिया

वात्सल्य भाव पूर्ण माता यशोदा ने उस परब्रह्म श्रीहरि को जिसका वेदत्रयी श्रुति भगवती, क्रियाशक्ति का प्रतिपादन के माध्यम से भगवान के माहात्म्य को ही कहकर उपनिषदें ब्रह्म के प्रतिपादन के माध्यम से भगवान का ही माहात्म्य कहकर, सांख्यशास्त्र नित्यानित्य वस्तु विवेक का निरूपण कहकर, योगशास्त्र निश्चिन्त रूप से भगवान के ही चिन्तन को कहकर पाशुपत मत, वैष्णव तंत्र एवं सर्वदर्शनकार भी भगवत् स्वरूप का ही निरूपण कहकर भगवान का ही गान करते हैं वैसे भगवान को निज आत्मज रूप में मान लिया ॥ ४५ ॥ परीक्षित् जी ने कहा—ब्रह्मन् शुकाचार्य ? बड भागिनी श्री यशोदा माता ने एवं श्री नन्द बाबा ने ऐसा कौन सा सर्वश्रेष्ठ अभ्युदय को साधने वाला सुकृत किया था जिससे श्रीकृष्ण उनके पुत्र हुए और अपने श्रीमुख से यशोदा के स्तन का दूध पीया ॥ ४६ ॥ महाराज ! भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी बाल लीलाएँ जो ऐश्वर्य धर्म का संगोपन कर बाल सखाओं के साथ करते हैं जो इतनी मङ्गलमयी है कि कविवर ज्ञानी मुनि जन जिन्हें आज भी गाते है और जिनके श्रवण कीर्तनादि से श्रोतृवृन्द के पापताप संताप नष्ट हो जाते हैं। वे ही लीलाएँ उनके जन्मदाता माता पिता श्री देवकी वसुदेवजी को नयनगामिनी न बनी और नन्द नन्दरानी जी रस लूट रहे है ॥ ४७ ॥ श्री शुकाचार्य जी ने कहा—राजन् ! नन्दबाबा पूर्व जन्म में अष्ट वसुओं में श्रेष्ठ द्रोण नाम के वसु थे और उनकी भार्या का नाम धरा था। ब्रह्माजी ने आदेश दिया कि आप दोनों पृथ्वी पर जन्म लेकर गोपालन आदि कार्य करो, तब उन दोनों ने प्रसन्नता पूर्वक ब्रह्माजी से कहा कि आप की आज्ञा शिरसा वन्द्य मानकर पृथ्वी पर जा रहे हैं ॥ ४८ ॥

जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ । भक्तिः स्यात् परमा लोके [1]ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥

अस्त्वित्युक्तः स [2]एवेह व्रजे [3]द्रोणो महायशाः । जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत् ॥ ५० ॥

ततो भक्तिर्भगवति [4]पुत्रीभूते जनार्दने । दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत ॥ ५१ ॥

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे [5]विभुः । सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [6]पूर्वार्धे [7]विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विश्वेश्वरे महादेवे हरौ भुवि जातयोः नौ परमा भक्तिः स्यात् यया लोके अञ्जः दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥ "अस्तु" इति उक्तः स एव महायशाः द्रोणः इह व्रजे नन्दः इति ख्यातः जज्ञे सा धरा यशोदा अभवत् ॥ ५० ॥ भारत ! ततः पुत्रीभूते जनार्दने भगवति गोपगोपीषु दम्पत्योः नितरां भक्तिः आसीत् ॥ ५१ ॥ विभुः कृष्णः ब्रह्मणः आदेशं सत्यं कर्तुं सहरामः व्रजे वसन् स्वलीलया तेषां प्रीतिं चक्रे ॥ ५२ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स एवेह द्रोणो जज्ञे । स च नंद इति जातः । सा च धरा यशोदाऽभवत् ॥ ५० ॥ गोपगोपीनामपि वस्तुस्त्रभावादस्त्येव भक्तिस्तयोः पुनर्नितरामिति ॥ ५१ ॥ स्वलीलया पुत्रभावानुकारिण्या ॥ ५२ ॥

इति श्रीभा० म० दश० पूर्वार्धटीकायां नामकरणादिविश्वरूपदर्शनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

नौ आवयोः भुवि जातयोर्महादेवे भक्तिः स्यादिति । अनेन भूलोक एव भक्तिस्थानं न ब्रह्मलोकादीति सूचितं शंकरव्यावृत्त्यर्थं विश्वेश्वर इति पुनरपि तत्रैव प्रसक्तं विश्वेश्वरत्वेन हरस्यैव प्रसिद्धेः । तद्व्यावृत्त्यर्थं हराविति । परमात्युत्कृष्टा यया परमभक्तयाञ्जो विनैव प्रयासम् । तयोर्भाविनि जन्मनीति लभ्यते । महान्देवः क्रीडा यस्य तस्मिन् भुवि स्थितो यो विश्वेश्वरस्तस्मिन् विश्वेऽपीश्वरा यत्र तस्मिन् परावरेशो महदंशयुक्त इत्युद्धवोक्तेः पूर्णेऽवतारिणीत्यर्थः । 'हरावावयोर्मनश्चौरे परमेति फलेन फलकारणमनुमीयते' इति न्यायात् स्वहृदयविचारिता पितृत्वोचितवात्सल्यमयीत्यर्थः । ययास्मद्भक्तया भविष्यंत्या

१ ययान्यो-इति कस्यचित । २. स भगवान्-श्रीधर वंशी, ; स एवेह-वीर. ; स एतेन-विज. । ३. द्रोणः स भगवान्व्रजे-वीर । ४. पुत्रभूते-वीर. विज. । ५. भुवि-विज. । ६. बालक्रीडायामष्ट-इति कस्यचित् । ७. नवमोऽध्याय-विज. ।

तच्छ्रवणकीर्त्तनादिनाऽन्योपि सर्वोपि लोको दुर्गतिं तरेदिति शुद्धप्रेमभक्तिप्रार्थनया तज्जन्मनि तयोस्तदनुरूपा साधनभक्तिरप्येका शुद्धैवासीदित्यवगम्यते। न तु पृश्निसुतपसोरिव भक्तिस्तपोयोगौ चेति विश्वनाथः ॥ ४९ ॥ स एव येन ब्रह्मा प्रार्थितः। सा च द्रोणभार्या स एव सेत्यनेन नित्यसिद्धयोर्यशोदानंदयोः साधनसिद्धौ धराद्रोणौ प्रविष्टावभूतामिति विश्वनाथः ॥ ५० ॥ पुत्रीभूतं पुत्रभावं प्राप्ते नितरामतिशयेन। तयोर्नंदयशोदयोः भक्तिः स्यात्। परमेति प्रार्थनाद्भगवान्पुत्रतामगान्निजदेहादपि पुत्रदेहे प्रीत्यातिशयदर्शनात्। "कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्" इत्युत्तरोक्तेः। "ससैन्योहं गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि" इति विश्वामित्रं प्रति दशरथोक्तेश्च। वस्तुस्वभावात्। अतिकमनीयतमे सर्वेषां प्रीतिर्भवतीति भावः। जनान् गोपीजनान्प्रेम्णा पीडयति नवनीतचौर्याद्युपद्रवैरुद्वेजयति वा स्तन्यरसयाचमाने वा गोपगोपीषु मध्ये दंपत्योर्यशोदानंदयोर्नितरामासीत्। गोपा गोप्यश्चापि धराद्रोणानुवर्तिनस्तादृशसाधनवंतः पूर्वतन्मत्याऽसन्निति ज्ञापितमिति विश्वनाथः ॥ ५१ ॥ आदेशमाज्ञामस्त्वित्युक्तिरूपाम् 'परमा भक्तिरस्तु' इति वरम्। व्रजे वसन् तेषां गोगोपीनंदयशोदानाम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्र यद्यपि श्रीमन्नन्दांशत्वाच्छुद्धभगवन्माधुर्यांशस्फूर्तियोग्यस्तथापि तत्तदेव मुनिसङ्गेन तदैश्वर्यज्ञानमालम्ब्य श्लेषेण स्वाभीष्टमाह—जातयोरिति। भुवि जातयोः सतोर्नौ आवयोः हरौ मनोहरताप्रधाने भगवति अत एव विश्वेषामीश्वरेपि महादेवे परमक्रीडापरे भक्तिः प्रेमलक्षणा स्यात् प्रार्थनायां लिङ् परमेति स्वमनस्याद्दृतं तद्विशेषं बोधयति। स च पितृबोचितवात्सल्याख्य इति फलेनानुमीयते "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इत्यादि श्रवणात् एवं वचनमात्रलभ्यापराशेषार्थपरित्यागमय्या प्रार्थनया पूर्वमपि तयोस्तादृशभक्तेरस्तित्वमवगम्यते अस्तित्वेपि प्रार्थना तादृशप्रेमोत्कण्ठयैव अतृप्तिस्वभावत्वात् प्रेम्णः यथा श्रीध्रुवस्य कुबेरे साक्षात् पुत्रत्वप्रार्थना तु केवलकामनामय्यपि स्यात् तादृशपुत्रेण स्वमहिमावृद्धेः अतः प्रेमस्वभावत्वात्तु प्राधान्येनैव प्रार्थितं नान्यथा यत्र तादृशत्वेन कृष्णस्याप्यनुगतिः स्वतो जातेति एवं श्रीवसुदेवादितः साधनेप्युत्कर्षो दर्शितः साधनस्य साध्यस्य च शुद्धभक्तित्वात् अतः शुद्धभगवत्प्रेमवासनत्वेन तत्र सर्वेषामपि हितं प्रार्थितं न तु कामिजनवन्मत्सरेणात्मन एव तदाह, यया-स्मद्भक्त्या तच्छ्रवणकीर्त्तनादिनान्योऽपि लोकः सर्वो दुर्गतिं तरेत् इति लोके इति सप्तम्यन्तपाठे लोके यया प्रसिद्धयान्योऽपीति शेषः। एवमुभयोरपि वात्सल्यशुद्धत्वे मातृभावस्वाभाव्यात् श्रीयशोदाया आधिक्यमपि ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥ स एवेत्यभेदविवक्षया इह श्रीमथुराप्रदेशे स भगवानिति पाठे परमादरो दर्शितः पूर्वतोऽपि महायशाः सन् ॥ ५० ॥ ततस्तादृशभक्तेर्हेतोः पुत्रीभूते योऽन्यस्य कस्यचित् पुत्रो नासीत् तस्मिन् पुत्रतां प्राप्ते तयोरेव शुद्धोद्रिक्ततादृशाभावात् अतः पुत्रभूत इति कचित् पाठः सङ्गत एव कथम्भूते ऽपि जनैर्ब्रह्मादिभिः भक्तैरर्यते याच्यते मात्रं न तु लभ्यते यः तस्मिन्नपि यतो भगवति स्वयं भगवति श्रीकृष्ण इत्यर्थः। तस्मिन् भक्तिर्नितरां पूर्वतोऽपि वरीयस्यासीत् तथा प्रसिद्धा व्रजजनमुख्यत्वेन स्वाभाविकपरमवात्सल्यवतीषु गोपगोपीष्वपि नितरामासीदित्यर्थः। पुत्रीभूतत्वादेवेति ॥ ५१ ॥ तत्र प्रस्तुतसिद्धान्ताभासदृष्ट्या तावदुपसंहरति—कृष्णः स्वयं भगवत्त्वेन परमस्वतन्त्रोपि ब्रह्मणो जगद्गतसर्वनिजभक्तगुरोरादेशं वरं सत्यं कर्त्तुं तेन सामान्यतया दिष्टापि सा तयोः परमविशिष्टतयाऽभीष्टा भक्तिरित्थमेव प्रकटा स्यादिति निदर्शनया जगत्यव्यभिचारित्वेन ख्यातं विधातुं परमस्वगणसहायेन श्रीरामेणापि सह व्रजे वसन् तदानीं प्रकटीकृते तयोस्सम्बन्धिनि व्रजविशेषे स्वयमपि तत्पुत्रतया प्रकटीभूय निवसन् स्वया निजस्वाभाविक्यैव लीलया तेषां तयोस्तत्सङ्गिनां च प्रीतिं तद्विशेषं चक्रे वक्ष्यमाणतात्त्विकसिद्धान्तानुसारेण स्वयमर्थः। ननु, यदि तादृशी भक्तिस्तयोः पूर्वमपि विद्यत एव तर्हि ब्रह्मादेशेन किं कृतं तत्राह कृष्ण इति स्वेषु भक्तेषु या लीला तद्भक्तिवशा लीलेत्यर्थः तयैव तेषां प्रीतिं कर्त्तुं व्रजे वसन् कृष्णो ब्रह्मण आदेशं वरं सत्यं चक्रे "विप्रा वेदविदो युक्ताः" इत्यादिवत् कृपया तन्महिमानमप्यदर्शयत् इत्यर्थः। अतस्तदादेशेन तस्यैव हितं कृतमिति भावः। तदादेशं विनाप्यन्येषां गोपादीनां तद्भावकथनात् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्याम् अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भुवि जातयोः सतोः नौ आवयोः परमा प्रेमलक्षणा भक्तिः स्यादस्त्वित्यर्थः। एवं पूर्वमपि भक्तिरस्त्येव अधुना च तयोः परमैकान्तिकी अगाढवात्सल्यमयीति यावस्था अनन्यसाध्यत्वात् पुत्रतयैव श्रीभगवत्प्राप्तिरिति ज्ञेयम्। कथम्भूते? महादेवे परमक्रीडापर इत्यर्थः,—क्रीडार्थाद्दीव्यतेरित्यवतारः वम्। विश्वेषां ब्रह्मादीनां सर्वेषामीश्वर इति परमेश्वरत्वेनावतारित्वमित्यवतारोऽवतारी चैको यस्तस्मिन्। यद्वा, भुवीत्यस्य यथास्थित्यैवान्वयः। भुव्यवतीर्णोऽपि यो विश्वेश्वरः साक्षाज्जगदीश्वरस्तस्मिन्नित्यर्थः, अनएव महान् देवो द्युतिर्यस्य निजाशेषैश्वर्यप्रकटनादत एव हरौ जगन्मनोहरे भगवति यया भक्त्या

लोकः सर्वोऽप्यज्ञोऽनायासेन दुर्गतिं दुस्तरसंसारसागरं तरेत्। एतदानुषङ्गिकं फलमुक्तम्; तच्चाज्ञः पदेन सूचितमेव, पाकार्थ-प्रज्वलिताग्नेः स्वतः शीतादिहरणवत्। यद्वा, दुरिति दुर्गमामन्यदुरापामपीत्यर्थः, गतिं मोक्षलक्षणाम्, तरेदिति मुमुक्षुभिर्बहुधा स्तुतत्वेनापरिहार्यत्वाद्दुस्तरसमुद्रत्वं ध्वनितम्। एवं मोक्षनिरसनत्वेन भक्तेर्माहात्म्यमुक्तम्। यद्वा, ययाऽस्म द्भक्त्या तच्छ्रवणकीर्त्तनादिना तत्प्रभावेण वान्योऽपि लोकः सर्वां दुर्गतिं तरेत्। अन्यत् समानम्॥ ४९॥ स एव, न त्वंशत इत्यर्थः,—श्रीभगवत इव सम्पूर्णतयावतीर्णत्वात्। इह श्रीमाथुरे देशे। महायशा इति तादृशप्रार्थनात्। यद्वा, पूर्वतोऽप्यत्र वैशिष्ट्यं बोधयति—महायशाः सन्निति, तच्चान्वर्थम्, नन्दसंज्ञया सूचितमेव, यद्वा, नन्दस्य यशोदायाश्च विशेषणम्, अथः स एव॥ ५०॥ ततस्तस्मात् श्रीब्रह्मवचनादपुत्र पुत्रो भूतः पुत्रीभूतस्तस्मिन्निति श्रीदेवक्यां वसुदेवाज्जातत्वेन श्रीनन्द-यशोदयोः साक्षात्पुत्रत्वाभावेऽपि पुत्रताप्राप्तेः, यद्वा, पुत्री देवी महामाया पुत्र्या सहितो भूतो जातः पुत्रीभूत इति केचित्, अन्यथा तादृशभक्त्यसम्भवः। पुत्रभूत इति पाठे पुत्रस्वरूप इति नित्यतादृशभक्तियोग्यतोक्ता। जनार्दने स्मरणादिना जन्मलक्षणसंसारनाशके, किंवा जनैः श्रीब्रह्मादिभिर्भक्तैः सर्वलीलावैर्वादर्शनार्थमर्दनं याचनमात्रं यस्य तस्मिन् परमदुर्लभ इत्यर्थ इति परमेश्वरत्वमुक्तम्; तथापि परममधुर रूप गुण-लीलादि प्रकटनमाह—भगवतीति; इति तयामहाभाग्यमुक्तम्। गोपगोपीषु मध्ये इति जात्यादिना साम्येऽपि तयोर्नितरां विशेषत आसीदित्यर्थः। यद्वा, वात्सल्यवर्तीषु गोपगोपीषु तयोर्नितरां साक्षात् पुत्रत्वात्। हे भारतेति भरतवर्षेषु मध्ये श्रीकृष्णभक्तिविशेषेण यथा भवान् मुख्यस्तथा तत्र सभार्य्यो नन्दोऽपीति; यद्वा, द्रोणधरयोर्नित्यप्रिय श्रीनन्दयशोदांशत्वात् स्वतो भक्तिरस्त्येव अधुना च निजांशविषयप्रवेशेन साक्षात् श्रीनन्दयशोदयोः सत्योस्तत्सम्बन्धेन गोपगोपीनाञ्च, षष्ठ्यर्थे सप्तमी, श्रीब्रह्मवचनान्नितरां भक्तिरासीदित्यर्थः। तस्माच्च (ब्रह्मणः) तेषां भक्तिरिति भक्तिविशेषस्वाभाविकात्वृत्तिता ब्रह्मणो वरग्रहणात्; किंवा श्रीकृष्णस्य साम्बपुत्रादि-वरग्रहणेन श्रीशिवसम्माननादिवद् श्रीनन्दस्य भगवदवताराथ समुद्यत-श्रीब्रह्मसम्मानार्थमिति ज्ञेयम्, अन्यथा (भा० १०।१४।३४) 'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमपि' इत्यादि-वक्ष्यमाण-श्रीब्रह्मप्रार्थनानुपपत्तिरिति दिक्। एतच्चाशेषं श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतमेव॥ ५१॥ आदेशं श्रीनन्दं प्रति 'परमा भक्तिरस्तु' इत्येतल्लक्षणमाज्ञामिति तदवश्यसाध्यताभिप्रेता; यद्वा, अस्त्विति सम्यग्वचनम्, रामसहितो व्रजे तदुचितस्थाने वसन् स्वलीलया-साधारणबाल्यचेष्टया तासां श्रीयशोदादीनां प्रीतिमानन्दं चक्रे। विभुर्विचित्र-निजलीलया व्रजं सर्वं व्याप्नुवन्नित्यर्थः। यद्वा, तत् कर्त्तुं समर्थ इति रामसाहित्यञ्च तल्लीलाया एव माधुर्य्यविशेषापेक्षया। यद्यपि स्वस्य स्वीयानाञ्च सुखविशेषार्थं जगद्धितार्थञ्च तत्तत्, तथापि ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्त्तुमिति तदपेक्षया तत्रैव कस्यचिद्वैशिष्ट्यस्याभिप्रायेण, किंवा श्रीवसुदेवदेवक्योरुपेक्षा-दोषपरिहारार्थम्, अन्यथा पश्चाच्छ्रीभगव-दैश्वर्यप्रकटे सति नियोपेक्षया तयोरनुतापः सम्भवेत्। एवं श्रीवसुदेव-देवकीभ्यामपि विशिष्टः श्रीनन्दयशोदयोस्तत् सम्बन्धि-जनेष्वपि श्रीभगवतः प्रसादो दर्शितः। स च युक्त एव, यतस्ताभ्यां पुत्रार्थमेव तपः कृतम्; एताभ्यान्तु परमभक्तिरेव प्रार्थिता। तत्र च स्वदत्तवरादपि निजभक्तप्रदत्तवरस्याधिक्यसम्पादनं भक्तवत्सलस्य तस्य सुप्रसिद्धमेवेति दिक्॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रील-सनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यामष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

उक्तमेवाह-जातयोरिति। भुवि लोके जातयोर्नौ आवयोर्भुव्यवतीर्णे विश्वेश्वरे महादेवे ब्रह्मादीनामपि देवे भगवति हराबाश्रितार्त्तिहरे परमा भक्तिः स्याद्यथाभक्तिस्यात्तथाऽनुगृहाणेत्यर्थः। तत्प्रार्थनायां हेतुं वदन् तान् विशिनष्टि-यया भक्त्या दुस्तरम् उपायान्तरेण तरितुमशक्यं संसृतिनिमित्तं पापमञ्ज आशु तरेत्॥ ४९॥ अस्त्विति। तथैवास्त्विति ब्रह्मणोक्तः स एव भगवान् द्रोण एवेह लोके व्रजे नन्द इति विख्यातो जज्ञे तथा सैव धरा यशोदाऽभवद्यशोदारूपेण जज्ञे॥ ५०॥ हे भारत! गोपगोपीषु मध्ये दम्पत्योर्यशोदानन्दयोः पुत्रभूते अपुत्रेपि पुत्रतां प्राप्ते जनार्दने भगवति, ततो ब्रह्मवरात् भक्तिरासीत्॥ ५१॥ कुतस्तयोः पुत्रभूतो हरिस्तत्राह—कृष्ण इति। ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्यादेशं वरदानात्मकं सत्यं कर्तुं स्वस्य तयोः पुत्रभूतस्य लीलया बालचेष्टया तेषां नन्दादीनां प्रीतिं च कर्तुं रामेण सहितो व्रजे वास वसतिं चकार चतुर्मुखादेश एव नन्दयशोदयोरुक्तश्रेयःप्राप्तौ देवकीवसुदेवयोः कृष्णोदारार्भकेहिता लब्धौ च कारणमित्यर्थः॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायाम् अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

महादेव इत्यनेन शङ्करोऽत्रोच्यते इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं विश्वेति, लोके जनमध्ये॥ ४९-५०॥ गोपगोपीषु मध्ये नितराम्॥ ५१-५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्याम् अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

(विजयध्वजतीर्थपाठे नवमः)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

जातयोरित्यनेन भाविनि जन्मनीति लभ्यते। महान् देवः क्रीडा यस्य तस्मिन् भुवि स्थितो यो विश्वेश्वरस्तस्मिन् विश्वेपीश्वरा यत्र तस्मिन् "परावरैशो महदंशयुक्ते" इत्युद्धवोक्तेः पूर्णे इत्यर्थः। हरौ आवयोर्मनश्चौरे परमेति फलेन फलकारण मनुमीयत इति न्यायात् स्वहृदयविचारिता पितृत्वोचितवात्सल्यमपीत्यर्थः। ययास्मद्भक्त्या भविष्यन्त्या तच्छ्रवणकीर्त्त-नादिना अन्योपि सर्वो लोकः दुर्गतिं तरेदिति शुद्धप्रेमभक्तिप्रार्थनया तज्जन्मनि तयोस्तदनुरूपसाधनभक्तिरप्येका शुद्धैवासी-दित्यवगम्यते नतु पृश्निसुतपसोरिव भक्तिस्तपोयोगौ चेति पूर्वं व्याख्यातमेव तत्प्रसङ्गे तत्फलम्॥ ४९॥ स एव द्रोणो व्रजे इह नन्द इति ख्यातः सा धरैवेह यशोदेति नित्यसिद्धयोर्यशोदानन्दयोः साधनसिद्धौ धराद्रोणौ प्रविष्टावभूतामित्यर्थः॥ ५०॥ जनार्दनः गोपीजनान् प्रेम्णा पीडयति नवनीतचौर्य्याद्युपद्रवैरुद्वेजयतीति वा स्तन्यरसं याचमाने इति वा गोपगोपीषु मध्ये दम्पत्योर्यशोदानन्दयोर्भक्तिर्नितरामासीदिति गोपाः गोप्यश्चापि द्रोणधरयोरनुवर्त्तिनस्तादृशसाधनवन्तः पूर्वजन्मन्यासन्निति ज्ञापितम्॥ ५१॥ आदेशं परमा भक्तिरस्त्विति वरं प्रीतिं चक्रे प्रेमाणमुत्पादयामास॥ ५२॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। दशमस्याष्टमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥ ८।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

स द्रोणः अस्त्वित्युक्तः ब्रह्मणेति शेषः॥ ५०॥ गोपगोपीनां भगवद्भक्तिरासीत्तत्तद्भाग्यवशात् तेषु मध्ये दम्पत्योस्तु ततः ब्रह्मवचनात् नितरां भक्तिरासीदित्यन्वयः॥ ५१॥ तेषां नन्दादीनां स्वलीलया पुत्रत्वादिभावानुकारिण्या॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे अष्टमाऽध्यायार्थप्रकाशः॥ ८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

जातयोरिति परजन्मनीतिलभ्यते महादेवे प्रसस्तक्रीड़ाशालिनी विश्वे ईश्वरो यत्र तस्मिन् महदंशयुक्त इत्युक्तेः स्वयं भगवतीत्यर्थः। परमा पुत्रभावमयी यया श्रुतयान्योऽपि जनो दुर्गतिमञ्जस्तरेत्॥ ४८॥ ब्रह्मणैवमस्त्वित्युक्तेः स एव द्रोणो व्रजे नन्द इति ख्यातो जज्ञे धरा तत्पत्नी यशोदाऽभवत् नित्यसिद्धयोर्यशोदानन्दयोः साधनसिद्धौ धराद्रोणौ प्रविष्टावित्यर्थः॥५०॥ जनैरर्द्यते याच्यते वाञ्छितान्ययमिति तस्मिन् गोपगोपीसु मध्ये दम्पत्योर्नितरां भक्तिरासीत् तेच ताश्च पूर्वजन्मनि द्रोणधरानु-सारिणः साधकायन भूवुरिति बोध्यते॥ ५१॥ आदेशं पुत्रभूते जनार्दने परमाभक्तिः स्यादिति वरं प्रीतिं चक्रे प्रमाणं जनयामास॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्याम् अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भुवि जातयोर्नौ महादेवे विश्वेश्वरे हरौ यया दुस्तरं संसारसागरं तरेन्नरो लोके परमा सा भक्तिः स्यात्। लोक इति प्रथमान्तः पाठोऽपि दृश्यते। स दृश्यः॥ ४९॥ एतेन ब्रह्मणाऽस्त्वित्युक्तो महायशा द्रोणो नन्द इति ख्यातो व्रजे जज्ञे। सा धरा च यशोदाऽभवदित्यन्वयः॥ ५०॥ गोपगोपीषु तन्मध्ये ततश्चतुराननवरतः पुत्रभूते जनार्दने भगवति नितरां भक्ति दम्प-त्योरासीत। दम्पत्योरिति गतं। जाया च पतिश्च दम्पती इत्यत्र पुरत एव तरुण्याः स्फुरणादुत्तरत्र गोपीगोपेष्विति वक्तव्यमिति चेत्। साक्षादधोक्षजजनियोनित्वाज्जायापुरस्कृतिरितरत्र स्त्रितरासामप्राधान्यं प्राधान्यं च पुंसामिति द्योतयितुमर्थविशेषं चिख्यत्यस्योक्तिरिति तात्पर्यमवधेयं॥ ५१॥ ब्रह्मण आदेशं भक्तिरस्त्वित्यादिरूपं सत्यं यथार्थं कर्तुं विभुः श्रीकृष्णः सहरामो व्रजे वसंस्तेषां नन्दयशोदागोपानां स्वलीलया प्रीतिं चक्रे। अनया भक्तिरुदेतीति भावः॥ ५२॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे नवमोऽध्यायः॥ १०-९॥

श्रीसुबोधिनी

प्रार्थनामेवाह **जातयोरिति, भुवि जातयोर्नावयोर्हरौ भक्तिः स्यात्,** प्रार्थनायां लिङ्, शाश्वतः साधनैश्च जायमाना ज्ञानकर्मणोरल्पत्वाज् जीवेषु न परमा भवति, वरप्रसादाल् लौकिकानामुत्कर्ष इव भक्तेरप्युत्कर्षो भविष्यतीति **परमा** प्रार्थ्यते, **लोको**पकारं दृष्ट्वा यत्र क्वचिद् भक्तिर्भवति यथा धातरि तन्न पुरुषार्थरूपं, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **महादेव** इति, यतः परमधिको देवो नास्ति यस्तु देवेषु परमां काष्ठां प्राप्तः स **महादेवः**, स्वयं वसुः, ब्रह्मा च देवेषु श्रेष्ठस्ततोपि महान् **महादेवो भवन् पुरुषोत्तम एव भवति,** स्वत उत्कर्ष उक्तः, कार्यतोप्युत्कर्षमाह **विश्वेश्वरे** हराविति, सर्वस्यापि सर्वफलदातरि सर्वस्यापि सर्वदुःखनिवारके, ततः किं स्यात्? अत आह **ययाञ्जो दुर्गतिं** तरेदिति, देहसम्बन्धो **दुर्गतिः**, अनायासेन **तरणं** भक्त्यैव, अन्यकृतत्वान्नौका-

रूढवद् ब्रह्मा पुनः साधनोपदेशयोरसमर्थः ॥ ४९ ॥ ब्रह्मवाक्यं न मृषा भवतीति भगवत्प्रसादादस्त्वित्येवाह, ततः स्वे स्वग एव सृष्टिमुत्पादितवांस्ततोधिकारे समाप्ते प्रलये च जाते ब्रह्मलोके स्थितो भाविभगवदवतारं ज्ञात्वा ब्रह्मणा प्रेरितः **स एव द्रोण** इह **व्रजे नन्द** इत्याख्यातो **जज्ञे**, पूर्वनामाग्रे न प्रकाशनीयमिति भगवानानन्दोयं नन्द इति फलग्रहणार्थं व्याप्तिं परित्यज्य शिष्टांशेन प्रसिद्धः, नन्वस्य वरः कथं न क्षीणः सृष्टेरपि गतत्वादित्याशङ्क्याह **महायशा** इति, महद् यशो यस्य, यावद्यशस्तावन्न क्षीयत इति, **यशोदापि** सैवाभवत्, अन्यथा व्यभिचारे धर्मक्षयाद् भक्तिर्न भवेत ॥ ५० ॥ ततो जातयोरेव भक्तिर्जातेत्याह **तत** इति, **भगवति भक्तिर्जाता** भजनसहितप्रेमात्मिका, **ननु साधनान्यतिरेकेण कथं जाते**त्याशङ्क्य प्रकारमाह **पुत्रीभूत** इति, अपुत्र एव पुत्रत्वं ज्ञापितवानिति **पुत्रीभूतः**, जायत एव पुत्रे स्नेहो भक्तिश्च, ननु भगवान् किमित्यवतीर्णः ? तत्राह **जनार्दन** इति, **जना**नुत्पादिकामविद्या**मर्दय**तीति, अतो मोक्षदानार्थमागतः, प्रसङ्गादिदमपि कृतवान् न तु प्रासङ्गिकमुत्पादयितुमर्हति सर्वार्थं च तथा जातोतो **दम्पत्योः** स्वधर्मनिष्ठयो**र्नितरां भक्तिरासीत् गोपगोपीषु** सत्सु तन्मध्ये वा **सत्सङ्गव्यतिरेकेणापि, भारते**तिसम्बोधनं सर्वत्रैव वंशीयेषु सत्सु यथा **भरत** एवालौकिको जात इति ज्ञापयितुम् ॥ ५१ ॥ नन्वेतज्जातं भगवद्वाक्याच्चेत् तदा निरोधो भगवत्क्रियमाणो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **कृष्ण** इति, भगवान् हि सर्वमेव योजयितुं शक्नोति, अतो **ब्रह्मण आदेशं** वरं **सत्यं कर्तुं व्रजे** समागत्य **बलभद्रसहितो वसं**स्तत्रत्यानां **तेषां** सर्वेषामेव **स्वलीलया प्रीतिं चक्रे**, स्वस्याधिकारी ब्रह्मेति तद्वाक्यं सत्यं कर्तव्यं, यद्यन्यत्र **साधनवति देशे** तमुत्पादयेद् वरे सन्देहोपि भवेत् तदर्थं **व्रजे** समागतः, नन्वयुक्ते **देशे** कथमागत इति चेत् तत्राह **विभु**रिति, स हि सर्वसमर्थः, सर्वत्रैव स्थित्वा सर्वं कर्तुं शक्नोति, बलभद्रो वेदात्मा, साक्ष्यर्थं **सह** गृहीतः, तेषां **प्रीतिजननेन** स्वेच्छास्थित्यधिको व्यापारोत आह **वसंश्चक्र** इति, ब्रह्मवाक्यापेक्षयाधिकं च कृतवानित्याह **तेषा**मिति, येष्वेतौ स्थितौ तेषामपि **स्वलीलया प्रीतिं** कुर्वन् , लीलयेति मनोरञ्जिका क्रियोक्ता ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-
वान्तरप्रमाणप्रकरणे श्रीनिरूपकचतुर्थाध्यायस्य स्कन्धादितोष्टमाध्यायस्य विवरणम् ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अस्त्वित्युक्त इत्यत्र **फलग्रहणार्थमि**त्यादि । अत्रायं भावः । पुरुषोत्तमानन्दाधिष्ठानं ब्रह्मानन्द इति तद्योग्यत्वार्थं ब्रह्मानन्दता महदनुग्रहेण सम्पन्नास्मिन्, तदा हि सर्वत एवानन्दस्फूर्तिर्भवति । एवं सत्येतेनैव पूर्णार्थताज्ञाने पुरुषोत्तमाविर्भावः स्वस्मिन्न भविष्यतीति भक्तिरसानुभवार्थमुक्तं **बाधकमंशं त्यक्त्वा तथा प्रसिद्ध** इति । अपुत्र इति निषेकादिहेत्वभावादिति भावः । **मोक्षदानार्थ**मिति । भजनानन्दो भक्तिमार्गे मोक्षस्तद्दानार्थमित्यर्थः, न तु प्रासङ्गिकमिति । प्रासङ्गिकं प्रयोजनं प्राकट्यहेतुर्न भवितुं शक्नोतीत्यर्थः । प्रासङ्गिकप्रयोजनान्तरमाहुः **सर्वार्थ**मिति । स्वरूपकीर्तिभ्यां सर्वोद्धारार्थमपि प्रकट इत्यर्थः । एतेनाप्युक्तमोक्षपदस्योक्तमोक्ष एवार्थ इति ज्ञेयम् । अन्यथा पुनरुक्तित्वप्रसङ्गात् । नन्दचरणानां यद्विषयकोधिकारो येषां वा सर्वात्मना निरोधो न कृतो भगवता ते गोपगोपीपदेनोच्यन्ते । अन्यथा वयस्यानां व्रजस्त्रीरत्नानां चाग्रे सर्वाधिकनिरोधोक्तिर्विरुध्येत । **अत एव** सत्सङ्गव्यतिरेकेणापीत्येतत्तात्पर्यमुक्तम् ॥ ५० ॥ **कृष्णो ब्रह्मण** इत्यत्र, **साक्ष्यर्थ**मिति । निःसाधनजीवनिमित्तं प्राकट्यं तदधीनत्वेन लीलाकरणादिकं च ब्रह्माणि श्रुतिविरुद्धमिति शङ्कानिरासं वेदात्मकं तत्संमत्या कर्तुमित्यर्थः। अत एव श्रुतिरप्याह 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इत्युपक्रम्य 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति, 'ते ते धामान्युश्मसी'ति 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'त्यादि । **एतदर्थस्तु विद्वन्मण्डनेस्माभिः** प्रपञ्चितः । **तेषां प्रीतिजनन** इत्यादि । स्वेच्छया या स्थितिस्तदपेक्षयाधिको व्यापारो भगवता न क्रियत इति ज्ञापनाय 'वसन्प्रीतिं चक्र' इत्युक्तमित्यर्थः । अन्यथा लीलायाः प्रीतिजननोक्त्यैव वासस्य स्वतःप्राप्त्या तत्कथन**मनर्थकं** स्यादिति भावः ॥ ५२ ॥

इत्यष्टमोध्यायः ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

जातयोरित्यत्र **देहसम्बन्धस्य दुर्गतित्वं** "सा गृहीत्वे"त्यत्र प्रतिपादितं **पुन्नाम्नो** नरकादित्यादिना, **अनायासेन तरणं भवत्यैवे**त्यपि "तथा न ते माधव" "स्वयं समुत्तीर्ये"त्यादिना पूर्वमेव प्रतिपादितं ज्ञेयं **अनायासेन तरणे** हेतुरुक्तकृतत्वादिति **तरणस्य** तथात्वादित्यर्थः ॥ ४९ ॥ **अस्त्वित्युक्त** इत्यत्र **तत** इत्यादि **प्रेरित** इत्यन्तग्रन्थस्तु **स एवे**त्येतत्तात्पर्यकः **फलग्रहणार्थ**मिति तदर्थं **टिप्पण्यामाहुरत्रायं भाव** इत्यादि ॥ ५० ॥ **ततो भक्ति**रित्यत्रापुत्र इति, तदर्थं **टिप्पण्यामाहुर्निषेके**त्यादि, सुबोधिन्यां **जायत एवे**ति साधनं विनेतिशेषः, **मोक्षदाने**त्यादेरर्थं **टिप्पण्यामाहुर्भजने**त्यादि **तात्पर्यमुक्त**मित्यन्तम् ॥ ५१ ॥ **कृष्णो ब्रह्मण** इत्यत्र यः कठिनांशः स टिप्पण्यामेव विवृत इति ततो ज्ञेयः, एवं चास्मिन्नध्याय इदं सिध्यति,येषां भाग्यरूपः **पूर्वजन्मीनो महदनुग्रहः सत्त्वशुद्धिबीजं तेषां गुरुतो** यथावत् प्राप्तानि दुःसङ्गवर्जितान्यखण्डशब्दरूपाण्यर्थवन्ति **नामानि शीघ्रं**

सत्त्वशोधकानि स्वेच्छालीलाविशिष्टान्यानन्दरूपाणि रूपाण्यपि तथा, परेच्छाकृतलीलाविशिष्टानि रूपाणि तुचिरेण सत्त्वशोधकानि, साक्षात्कारस्तु माहात्म्यज्ञानपूर्वकः शीघ्रं तथा, भक्तिरपि माहात्म्यज्ञानपूर्विकैव तथा, माहात्म्यज्ञानाभावे तु ज्ञानभक्ती चिरेण तथा, अवतीर्णस्तु भगवान् सत्यङ्गव्यतिरेकेणापि स्वरूपबलेन तथा करोतीति ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभचरणैकतानश्रीयदूपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशेऽष्टमाध्यायविवरणम् ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

ययाञ्जो दुर्गतिं तरेदित्यत्र अन्यकृतत्वादिति 'तेषामहं समुद्धर्ते'तिवाक्येन भगवत्कृतत्वादित्यर्थः ॥ ४९ ॥ **अस्त्वि** त्यस्याभासे पुनः **साधनोपदेशयोरिति** पूर्वं द्रोणे सृष्टिसामर्थ्यं साधितं तदुपदेशश्च कृतः, पुनर्भक्तिः स्थापनीया तदुपदेशश्च कर्तव्यः, एवमुभयकरणेऽसमर्थ इत्यर्थः, **ततः स्वे स्वर्ग एवेति** सृष्टिलक्षण"मादेशं करिष्यमाण" इति पूर्वमुक्तत्वादितिभावः ॥५०॥ **तत इत्यत्र भजनसहितेति** देवत्वेन भजने सेवैव मुख्या पुत्रत्वेन भजने तु स्नेह एव मुख्यः सेवाया अविहितत्वेन गौणत्वादिति भावः ॥ ५१ ॥ **कृष्ण इत्यत्र वासस्य** प्रयोजनं प्रीतिजननं लीलाया मुख्यं प्रयोजनं स्वरूपानन्दानुभावनम् ॥ ५२ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालूभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

जज्ञे नन्द इति ख्यात इत्यस्य विवृतौ **भगवानानन्दः अयं नन्द इति** फलग्रहणार्थं व्याप्तिं परित्यज्य शिष्टांशेन प्रसिद्ध इति "यो नन्दः परमानन्द" इतिकृष्णोपनिषद्भ्यः आनन्दरूप एव श्रीनन्दो भगवद्रूपस्तथा सत्यभेदे बाललीलारसानुभवो न स्यात् तदर्थं "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः" इतिशब्दशास्त्रात् व्याप्त्यर्थकस्य आङोर्थरूपां व्याप्तिं परित्यज्य आङ्शब्दं हित्वा नन्दशब्देन प्रसिद्धो भेदेन पितृभावेन मुक्तितोऽप्यधिकरसरूपा बाललीला अनुभवतीतिभावः, अतो वस्तुतः परमानन्दरूप एव भगवद्रूपः, द्रोणरूपत्वकथनं त्वेतस्य द्रोणांशः, स वसुरूपेणाविर्भूय पुनः स्वांशिनि नन्दे प्रविष्ट इत्याशयेन यथा भगवदंशस्य नारायणस्य भगवति प्रवेशो "ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहा"वित्यनेन कृष्णरूपता उच्यते तद्वत्, न हि नारायणरूपः कृष्णः किन्तु नारायणः कृष्णस्यांशो अंशिनि कृष्णे प्रविष्ट इतिकृष्णरूपतोच्यते, एवमत्रापि द्रोणो नन्दस्यांशो अंशिनि नन्दे प्रविष्टोतो लोकाः श्रीनन्दं द्रोणावतारं वदन्ति, वस्तुतस्तु "यो नन्दः परमानन्द" इतिश्रुतेः श्रीनन्दस्य परमानन्दरूपत्वेन साक्षाद्भगवद्रूपत्वं, एवं सति **जज्ञे नन्द इतिख्यात** इतिश्रीभागवतवाक्यस्य श्रुत्येकवाक्यताविचारेण नारायणस्यांशिनि कृष्णे प्रवेशात् कृष्णरूपतावत् द्रोणस्यापि स्वांशिनि नन्दे प्रवेशान् नन्दरूपतेति ज्ञातव्यं, एवमेव श्रीयशोदाया धरा अंशरूपा स्वांशिन्यां श्रीयशोदायां प्रविष्टा ह्यभेदेन व्यवह्रियते, "यशोदा सा धराभव"दिति तु नर्मदायाः सागरप्रवेशे नर्मदा सागरोभवदित्यादिवाक्यानि प्रवृत्तानि, नैतावता नर्मदामात्रंसागरः किन्तु नर्मदाप्रवेशस्थानत्वान् नर्मदारूपोपि, एवं न धरामात्रं यशोदा किन्तु धराप्रवेशस्थानत्वाद् धरारूपापीतिज्ञेयं, स्वरूपं तु 'यशोदा मुक्तिरूपिणी'ति कृष्णोपनिषत्सु निरूपितमेव, एवं सति श्रीनन्दयशोदयोर्नित्यत्वमेवेति नित्यलीलाविचारः सम्यक् सिध्यतीति वैष्णवाः प्रसीदन्तु ॥ ५० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदुक्तमेवाह—जातयोरिति । भूमेः साधनस्थानत्वात् तत्र जातयोर्नौ आवयोर्दम्पत्योर्हरौ परमा उत्कृष्टा भक्तिः स्यात् । भक्तेरुत्कृष्टत्वमेव स्पष्टयन् विशिनष्टि—ययेति । लोके संसारे वर्तमानो जनो यथा भक्त्या दुर्गतिं संसारदुःखं तरेत् संसाराद्विमुक्तो भवेदित्यर्थः । 'कथं तद्भक्त्या विमुक्तिः स्यात् ?' इत्यत आह—महादेव इति । यदपेक्षयाऽधिकोऽन्यो देवो नास्ति, तस्मिन्नित्यर्थः । तस्य सर्वोत्तमत्वे हेतुमाह—विश्वेश्वर इति ॥ ४९ ॥ 'एवमस्तु' इति ब्रह्मणा उक्तः स द्रोणो व्रजे जज्ञे । स एव भगवान् ऐश्वर्यादिमान् महायशा 'नन्द' इति ख्यातः प्रसिद्धः । सा च धरा यशोदाऽभवत् ॥ ५० ॥ 'सत्कुलोत्पन्नस्य तवात्र विश्वास एव युक्तः' इति सूचयन् सम्बोधयति—भारतेति । ततो ब्रह्मणः आशीर्वादात्तयोर्दम्पत्योस्तस्मिन् पुत्रीभूते भगवति नितरां निष्कामा अनवच्छिन्ना भक्तिरासीत् । सप्तमी षष्ठ्यर्थे । तथा गोपगोपीनामपि वस्तुस्वभावादेव भक्तिरासीदित्यन्वयः । 'भगवान् किमिति पुत्रो जात' इत्यत आह—जनार्दन इति । स्वस्मिनासक्तिं विधाय जनानाम् विद्यामर्दयति निर्वर्तयतीति तथा तस्मिन्नित्यर्थः । जनोद्धारणार्थमवतीर्ण इति भावः ॥ ५१ ॥ एवं चेत् तर्हि व्रजवासस्य किं प्रयोजनम्' । इत्याकाङ्क्षायामाह कृष्ण इति । ब्रह्मण आदेशं । संसारदुःखनिवर्तिका भक्तिरावयोरस्त्विति वचनं' सत्यं कर्तुं तेषां स्वस्मिन् स्नेहातिशयरूपभक्तिसिद्ध्यर्थं रामेण सह व्रजे वसन् श्रीकृष्णः स्वबाललीलया तेषां नन्दादीनां प्रीतिं चक्रे

इत्यन्वयः । 'ब्रह्मवचनमपि तेन किमिति सम्पादनीयं' तत्राह–विभुरिति । ब्रह्मणोऽपि महान् सर्वसमर्थश्च । स्वेन जगत्स्वामित्वे स्थापितस्य वचनमपिस्वेनैव सत्यं कर्तव्यम्, अ यथा तन्मर्यादाभङ्गापत्तेः । सा चानिष्टेति भावः ॥ ५२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालासूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । अष्टमो विवृतोऽध्यायो बालभावनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

जातयोरिति ॥ भुवि जातयोर्नौ आवयोर्दम्पत्योः महादेवे विश्वेश्वरे हरौ परमा भक्तिः स्यात् । लोके विद्यमानो जनो यया भक्त्या अञ्जः अनायासेन दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥ अस्त्विति ॥ एवमस्त्विति ब्रह्मणा उक्तः सन्स द्रोणो व्रजे जज्ञे । स एव भगवान् ऐश्वर्यादिमान् महायशा नन्द इति ख्यातः प्रसिद्धः अभवत् । सा च धरा यशोदाऽभवत् ॥५०॥ तत इति ॥ हे भारत ! ततो ब्रह्मणो वरात् गोपगोपीषु मध्ये एकशेषाकरणं स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम् । अत एव "नौवाश्वयं धर्मविषमूलमूल०" इति सूत्रे मूलस्य नैकशेषः । तयोर्दम्पत्योस्तस्मिन् पुत्रीभूते जनार्दने भगवति नितरां निष्कामा अनवच्छिन्ना भक्तिरासीत् । गोपगोपीनामपि स्वभावाद्भक्तिरासीदेवेति ॥ ५१ ॥ कृष्ण इति ॥ विभुः कृष्ण ब्रह्मण आदेशं युवयोर्भगवति भक्तिरस्तु इति वचनं सत्यं कर्तुं रामेण सह व्रजे वसन् स्वस्य बाललीलया बालभावानुकारिण्या तेषां नन्दादीनां प्रीतिं चक्रे ॥ ५२ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् । गङ्गासहायो दशमस्याष्टमे निरमादिमाम् ॥
इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तत्र जातयोः नौ आवयोः जनौ यया भक्त्या अंजः शीघ्रम् ॥ ४९ ॥ तथा स्तु इति उक्तः स एव द्रोणः इह व्रजे जज्ञे धरा च जज्ञे ॥ ५० ॥ गोपगोपीनामपि हरौ भक्तिस्तु–अस्त्येव भक्तिमत्सु गोपादिषु मध्ये तयोः दंपत्योः जनार्दने भक्तिः नितराम् अत्यंतमासीत् ॥ ५१ ॥ स्वलीलया पुत्रत्वानुसृतिरूपया तेषां प्रीतिं प्रसन्नतां चक्रे ॥ ५२ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने विश्वरूपदर्शननामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

उक्तमेव स्फुटमाह ॥ जातयोरिति ॥ भुवि भूलोके, जातयोरुत्पत्तिं गतयोः, नौ आवयोः, मुख्यवर्तीर्णे इति शेषः । विश्वेश्वरे सकलविश्वनियन्तरि, महादेवे ब्रह्मादीनामपि देवे, हरौ भगवति, लोके, जन इति शेषः । यया भक्त्या, दुस्तरमुपायान्तरेण तर्तुमशक्यं सृतिनिमित्तं पापं, दुर्गतिमिति पाठे, असद्गतिं, अञ्जः आशु, तरेत् । तथाभूता, परमा एकान्तिकभावाश्रया गाढानुरागरूपा, भक्तिः स्यात् । तथाऽनुगृहाणेति शेषः ॥ ४९ ॥ अस्त्विति ॥ अस्तु तथैवास्तु, इत्येवं उक्तो ब्रह्मणा कथितः, महायशाः, स द्रोणः एव, इह लोके, व्रजे नन्दः, इति ख्यातः, जज्ञे । तथा सा धरा, यशोदा, अभवत ॥ ५० ॥ तत इति ॥ हे भारत, गोपगोपीषु मध्ये, दंपत्योः यशोदानन्दयोः, पुत्रीभूते अपुत्रे सत्यपि पुत्रतां प्राप्ते, जनार्दने भगवति, भक्तिः ततो ब्रह्मवराद्धेतोः, नितरां, आसीत् ॥ ५२ ॥ कुतस्तयोः पुत्रतां गतो हरिस्तत्राह ॥ कृष्ण इति ॥ ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य, आदेशं वरदानात्मकं निदेशं, सत्यं कर्तुं, स्वलीलया तयोः पुत्रीभूतस्य स्वस्य बालचेष्टया, तेषां नन्दादीनां, प्रीतिं कर्तुं च, विभुः कृष्णः, सरामः रामेण सहितः, व्रजे वासं वसतिं, अकारोच्चकार । 'सहरामो वसंश्चक्रे' इति पाठे, वसुदेवदेवक्योरवतीर्णोऽपीति शेषः । कृष्णः, ब्रह्मणः आदेशमस्त्विति पूर्वोक्तमादेशं स यं कर्तुं, विभुः सरामः तत्र वसन्, स्वलीलया स्वकीयबालचरित्रैः, तेषां प्रीतिं, चक्रे ॥ ५२ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचिताया-
मन्वयार्थविबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्णो ब्रह्मण इतिः १०.८.५२.

कर्तुं विध्युक्तमन्वर्थं यदि तत्सुखदोऽभवः । प्राप्तं श्रीशार्थतोऽस्माकं विध्युक्तानां सुखार्पणम् ॥ ९१ ॥

यं चिन्वन्ति चिरन्तना मुनिवरा बुद्ध्यैकबोध्याध्वनि यज्जातेऽपि न वेद वेदनिवहोऽप्यद्यापि तत्त्वार्थतः ।

स श्रीमान् जगदादिहेतुरपि सानन्दोऽपि पुत्रात्मना स्वैरं क्रीडति यत्र तद् व्रजजुषां भाग्यं किमाचक्ष्महे ॥ ९२ ॥

श्रीशाकल्प० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्ति-सायनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

कृष्णप्रिया

परन्तु यह वरदान दीजिये कि महान् देव जगदीश्वर भगवान् श्रीहरि की पराभक्ति हममें कूट कूट कर भर जाय, जिस भक्ति से लोक में विद्यमान जन अनायास ही दुर्गतियों से पार हो जाय ॥ ४९ ॥ जब ब्रह्माजीने कहा "तथास्तु"—वैसा ही होगा, तब वे दोनों व्रज में अवतीर्ण हुए। उन में "श्रीद्रोणवसु" ऐश्वर्यादि धर्म युक्त महा यशस्वी ख्यातनाम नन्द भये एवं धरा श्रीयशोदाजी के नाम से विख्यात श्रीनन्दबाबा की महारानी हुई ॥ ५० ॥ राजन्! पुनः ये दोनों इस जन्म में माया के चक्कर से मुक्त करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उनके पुत्र हुए एवं समस्त गोप-गोपियों की अपेक्षा पुत्रीभूत जनार्दन में इन दोनों नन्द और यशोदाजी का उनके प्रति अति अनुराग हुआ ॥ ५१ ॥ सर्व समर्थ विभु भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा के वचन को सत्य करने के लिये व्रज में पधार कर श्रीबलदाऊ के साथ वस गये और अपनी बाललीलाओं से उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सबको प्रसन्न किया ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टमोऽध्यायः ॥

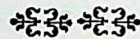

अथ नवमोऽध्यायः

श्लोका.	अनु.	मि. उ.	मन्दा.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
२३	१५	७	१	१	८८९	६	४९	९४१	२९।	५

श्रीशुक उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी। कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च। दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।

रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः। गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—एकदा नन्दगेहिनी यशोदा कर्मान्तरनियुक्तासु गृहदासीषु स्वयं दधि निर्ममन्थ ॥ १ ॥ दधिनिर्मन्थने काले इह यानि यानि बालचरितानि (गोपीभिः) गीतानि तानि स्मरन्ती अगायत ॥ २ ॥ सुभ्रूः पृथुकटितटे सूत्रनद्धं क्षौमं वासः, च जातकम्पं पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगे, रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत् कङ्कणौ, च कुण्डले, स्विन्नं वक्त्रं बिभ्रती कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥ स्तन्यकामः हरिः मथ्नन्तीं जननीम् आसाद्य दधिमन्थानं गृहीत्वा प्रीतिम् आवहन् न्यषेधत् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे पयउद्रिक्तौ गत्वा गोप्यथ तत्कृतम् ॥ विलोक्य भांडभंगादि कृष्णं दाम्ना बबंध तम् ॥ १ ॥

तनूदराश्रितं विश्वं दृष्टवा विस्मितचेतसः ॥ बंधनद्व्यंगुलापूर्त्या पूर्णतामन्वदर्शयत् ॥ २ ॥

स्वयं दधि निर्ममंथ ॥ १ ॥ तदा चागायतेति चकारान्वयः ॥ २ ॥ सूत्रनद्धं कांचीबद्धम्। रज्जोराकर्षेण श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलंतौ कंकणौ च। कबरात्केशपाशाद्विगलंत्यो मालत्यो यस्याः सा ॥ ३–४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

उत्सिक्ते पात्राद्बहिर्निस्सृते। तत्कृतं कृष्णकृतम्। आदिना नवनीतप्रक्षेपादयो ग्राह्याः। तं येन भांडभंगादिकृतमिति दाम्ना रज्ज्वा (१) तनूदराश्रितमल्पजठरगम्। अद्भुतधियो यशोदायाः बंधने द्व्यंगुलस्यापूर्त्या न्यूनतया पूर्णतां सर्वत्र परिपूर्णः कथं बध्येंतेत्यन्वर्थताम् (२)। नंदगेहिनी नंदभार्या। कर्मांतरेषु गृहमार्जनोक्षणादिरूपेषु नियुक्तासु योजितासु। अत्र विश्वनाथः–एकदा दीपमालिकामहोत्सवदिने कार्त्तिकमासोपास्यदामोदरलीलायास्समकालत्वादिति तोषिणीकाराः। गृहदासीषु यावद्गृहकर्माधिकारिणीषु सर्वास्वेव कर्मसु नैमित्तिकेतरकर्मसु नियुक्तासु दधिषु चाखिलेषु निर्मथ्यमानेषु एवं दधि पुत्रश्रेयो निबंधेन दासीनामविश्वासं संभाव्य पुत्रोपभोगाय स्वयं ममंथ। अस्याः पद्मगंधिपयसः केवलतृणंचराया दुग्धं नीरोगमनेन मत्पुत्रश्रेयो भविष्यतीति हेतोः। अन्यथा लोकशास्त्रप्रसिद्धाऽसंख्यधेनुमतल्लिकादुग्धानां तयैकया दध्नः मथनस्यासंभवात्। ममंथेत्युपलक्षणं दोहनतापादीनामपि ॥ १ ॥ कविभिर्गीतानि कविभिरिति शेषः। यदा स्वयं दधि निर्ममंथ तदाऽगायतेति द्वयोः संबंधः। चकारोऽत्रानुक्तसमुच्चायकस्तेन यदा तदेति लब्धम् ॥ २ ॥ क्षुमा अतसी तत्संभवं क्षौमं 'अतसीस्यादुमा क्षुमा' इत्यमरः। यद्वा–"क्षुमः कृमिविशेषेऽपि क्षुमी स्यात्तैलसाधने" इति कोशात्कृमितंतुनिर्मितम् "सूत्रं कार्पासजे कांच्यां साधने शास्त्रसूचके" इति धरणिः। "कबरः केशसंघाते वर्णभेदे सुखाधिके" इत्यपि। मालत्यो जातिपुष्पाणि। 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः। "पुष्पे जातिप्रभृतयः स्वलिंगा व्रीह्यः फले" इत्यमरोक्तेर्मालती पुष्पेऽपि स्त्रीलिंगातैव कार्त्तिके मालत्या एव प्राधान्यात् कप्रत्ययह्रस्वाभावस्वार्पः। जातः कंपो यत्र तज्जातकंपं द्वितीयांतानां बिभ्रतीपदेनान्वयः यद्वा–जातं कं घृतं यस्मात्तज्जातकं दधि 'कं जलं कं घृतं शिरः' इति कोशात्। सुभ्रूः यशोदाहर्षसूचनार्थेयमुक्तिः निर्ममंथ। किंभूता पञ्च वस्तूनि बिभ्रती। तान्याह–वासः पृथुकटितटे। पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगम्। रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत् कंकणौ कुंडले वक्त्रं चेति। अपरं

१. बादरायणिरुवाच–इति कस्यचित्।

पूर्ववत् ॥ ३ ॥ न्यषेधन्निवारितवान् । आसाद्य प्रातरंतर्गृहात्प्रबुध्य बहिर्निस्सृत्य क्षुधा रुदन्मुखः सन्नित्यर्थः । मंथानं मथनदंडं गृहीत्वेति मातर्मा मथानेति । स्ववचममानयिष्यंतीं मातरमभिज्ञायेति भावः । अतस्तच्चातुर्यं ज्ञात्वा या मातुः प्रीतिस्तामावहन् इति विश्वनाथः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ तत्र तात्त्विकसिद्धान्तं वक्तुं तत्प्रतिपादनयोग्यां पूर्वापरविलक्षणां लीलामुदाहरन् दधिपयश्चौर्य्यानुक्रमत्यक्रान्तामनुस्मृत्य वर्णयति—एकदेत्यादिना । यशोदेति दामोदरत्वादिना श्रीकृष्णाय प्रेमवश्यतातिशययशोदानान् नन्दस्य रोहिणीत्यद्धाङ्गत्वात्तेन तस्यापि माहात्म्यमवगन्तव्यमिति बोध्यते एकस्मिन् दिने गृहदासीषु यावद्गृहकर्माधिकारिणीषु सर्वास्वेव कर्मान्तरे नैमित्तिकस्वरूपे नियुक्तासु सतीषु चाखिलेष्वेव मथ्येषु सत्सु दध्येकं ममन्थ तच्च पुत्रश्रेयोनिबन्धनेज्यानिवेद्याय पुत्रोपभोगाय च ज्ञेयं तया तस्यैव सर्वोपादेयत्वेन गृहीतत्वात् अत एव निः निष्ठिततया ममन्थ अन्यथा लोकशास्त्रप्रसिद्धासङ्ख्यधेनुमतल्लिकादुग्धानां तयैकया दधिमन्थनासम्भवः स्यात् कर्मान्तरं चात्र परमविशिष्टं ज्ञेयं सर्वपरित्यागेन सर्वासामेव नियुक्तत्वात् गोपानामपि तद्दिने यतस्ततो गतत्वेनावगम्यमानत्वात् तच्च नूनमिन्द्रयागरूपं तस्यैव व्रजे तादृशमान्यचरत्वात् कार्त्तिकमासोपास्यदामोदरलीलायाः समकालत्वाच्च तत् यागस्य च कार्त्तिकीयत्वं तदारम्भेनैव प्रवर्त्तितश्रीगोवर्द्धनमखस्य कार्त्तिकशुक्लप्रतिपदि लोकागमयोर्विधीयमानत्वात् तथा च शरद्वर्णनायामाग्रपणसहयोगेन स एव इन्द्रियैश्च महोत्सवैरिति वक्ष्यते अत्र इद्रियार्थैरित्यर्थत्वेपि इन्द्रमिन्द्रियकामस्त्विवति न्यायेन स एव देवतेति ॥ १ ॥ यानि यानि तस्य बालस्य च चरितानि इह तत्र सभायां मया गीतानि तानि सर्वाणि स्वयं स्मरन्ती वात्सल्यविलासेन भावयन्ती दध्नो निर्मन्थनं यत्र तस्मिन् काले गानावसरे अगायत चकार उक्तसमुच्चये निर्ममन्थ अगायच्चेति नानाकविजनरचितानि सर्वाणि स्वयं तत्क्षणनिबद्धानि वेति ज्ञेयं गीतरूपेणेति शेषः ॥ २ ॥ इत्थं तदेकस्निग्धायां तन्मातरि निजस्नेहभरोदया तामेव वर्णयन् परमसौन्दर्य्येण परमस्नेहेन च तन्मातृत्वयोग्यतां दर्शयति—क्षौममिति । तत्र सुभ्रूः पृथुकटितट इत्युपलक्षणेन सर्वाङ्गसौन्दर्य्यं व्यञ्जितं वेषसौन्दर्य्यं क्षौममित्यादिना क्षौमम् अतसीतन्तूत्थं वाल्कं "क्षौमास्या दुमाक्षुमा" इति चामरः अतिसूक्ष्मं चेदमवलोक्यते नानारागं चेति अत्र तु सचित्रं पीतं ज्ञेयम् अस्याः क्रमदीपिकाभिप्रायतः श्यामवर्णत्वेन शोभाभरावेक्षया एतस्याः पीतवर्णत्वं तु गौतमीये सूत्रनद्धमिति तत्रापि शोभादर्शिना सूत्रं नीविबन्धं मन्थनार्थं विशेषतो वा तन्नद्धं स्वाभाविकचेष्टासौन्दर्य्यमाह—रज्वेत्यादिना । कुण्डले च चलन्ती कबरः केशबन्धः मालतीत्यत्र कप्रत्ययाभावः समासान्तो विधिरनित्य इति ज्ञापनात् मालतीति तस्या एव कार्त्तिके प्राधान्यात् स्नेहमाह, पुत्रेति । जातेति च पुत्रचरितगानात् सुभ्रूरिति भ्रुवश्चालनव्यञ्जनया हर्षादिभावविलासोपि वर्णितः ॥ ३ ॥ तत् स्नेहविशेषमयबाल्यलीलारूपया क्षुधा स्तन्यकामः तां तादृक् स्नेहरसमयीं यतो जननीमिति श्रीकृष्णान्तःस्थितभावमेवानुवदति—तेन च तस्याः सुखमेवाभूदित्याह—प्रीतिम् आ समन्तात् वहन् प्रापयन् स्तनपाने प्रयत्नात् मन्थनदण्डग्रहणेन निषेधनसामर्थ्याच्चातुर्य्याच्च एव मनोहरणाद्धरिः शय्यातः उत्थायेति ज्ञेयं कार्त्तिके प्रातरेव मन्थनव्यवहारात् बालान्तरैरसम्मिलितत्वाच्च ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं भक्तवात्सल्यरसेनोपालम्भनानन्देऽप्यतृप्तस्य नियंत्रणानन्दविशेषकामनया श्रीभगवतो दामबन्धनांगीकारलीलां वदन् तयैव 'महाभागा' इति प्राक् सूचितं श्रीनन्दादपि श्रीयशोदाया भाग्यभरमेव वर्णयति—एकदेत्यादिना । यशोदेति दामोदरत्वादिना श्रीकृष्णस्य भक्तवश्यतादि—यशोदा नन्दस्य गेहिनीति बहुलदास्यादि सम्पत्तिरुक्ता । तथाप्येकस्मिन् दिने गृहस्थदासीषु कर्म्मकरीषु सर्वास्वन्यकर्म्मान्तरेषु पुत्रार्थ—दधिमथनदुग्धावर्त्तन—व्यतिरिक्तकर्म्मसु नियुक्तासु सतीषु । दधि केवलं पुत्रोपभोग्यं नवनीतार्थकं ज्ञेयम्, अ यथा लोकशास्त्रप्रसिद्धासंख्येयधेनुवरानन्तदुग्धानां तयैकया दधिमथनासम्भवः, अतएव स्वयं निःशेषं ममन्थोत्तमनवनीतार्थम् ॥ १ ॥ यानि यानीति वीप्सया सर्व्वाण्यपि संगृह्णाति, इह लोके गीतानि प्रसिद्धानि, यद्वा, व्रजे गीतरूपेण निबद्धानि तस्या बालस्तस्य चरितानि पूतनावधादीनि, तान्येवागायत, स्नेहभरेण परमाश्चर्य्यत्वेन च तैरेव चित्ताक्रमणाद्विशेषश्च दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती चिन्तयन्ती, यद्वा, तद्बालचरितानि सदैव स्मरन्तीति तत्कालस्य स्वभावेन गीताश्रयत्वात्तदानीं तान्येवागायत । एवं स्नेहविशेषेण पुत्राशेषचरितगानार्थं स्वयमेव दधि निर्म्मन्थितुं तद्दिने दासीनां सर्व्वासां कर्मान्तरनियोजनम्, तच्च श्रीभगवतो दामोदरत्वेच्छयैवेति ज्ञेयम् ॥ २ ॥ इत्थं श्रीभगवन्मातृयोग्यत्वेन तस्या गानादिवैदग्धीं प्रदर्श्य सौन्दर्य्यं चोद्दिशन् तदानीन्तनवेशविशेषं वर्णयति क्षौममिति कौशेयम्, तच्च पीतमिति ज्ञेयम्,—तस्यास्तन्त्रोक्तश्यामवर्णत्वेन शोभाभरापेक्षया । सूत्रनद्धमिति तत्रैव शोभाभरं बोधयति, यद्वा दधि निर्म्मन्थनार्थं विशेषतः काञ्च्या दृढवद्धमित्यर्थः । पुत्रस्नेहेन स्नुतं प्रस्नुतं क्षीरं कुचयुगमिति पुत्रचरितगानान्निरन्तरं वा स्नेहभरस्वभावात्, सुभ्रूरिति तदानीं भ्रुवश्चालनेन शोभातिशयाभिप्रायेण, कुण्डले च चलन्ती, कबरः केशबन्धः, मालतीत्यत्र 'क' प्रत्ययाभाव

आर्षः। एवं स्नेहभरोदयः सूचितः ॥ ३ ॥ अतएव स्तन्यकामो मधुरलीलानुरूपया स्वाभाविकक्षुधैव वा। तां तादृक्स्नेहरसमयीम्, यतो जननीमिति तस्यापि तद्गर्भजबुद्धिं बोधयति। दध्नो मन्थानं मन्थनदण्डं गृहीत्वा पाणिभ्यां धृत्वा, अतो न्यषेधत्। दधिमथनात्तां दधिमथनं वा न्यवारयत्। तेन च तस्याः सुखमेवाभूमित्याह—प्रीतिम् आ समन्ताद्वहन् प्रापयन् कुर्वन्निति वा, स्तनपाने प्रयत्नतो मन्थनदण्डग्रहणेन निषेधेन चातुर्याच्च। एवं मनोहरणाद्धरिरेकाकितयागमनञ्च स्वयं श्रीमातृहस्तेन बन्धनानन्दमनुभवितुं तद्विघ्नशंकयाग्रजस्य सहचराणामपि केनापि छलेन दूरे परित्यागादिति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सूत्रनद्धं काञ्चीगुणबद्धं चलद्भुजकङ्कणकुण्डले च स्विन्नं वक्त्रं बिभ्रतीत्यन्वयः "जातकं दधि सम्प्रोक्तम्" इति कोशात् दधि निर्ममन्थ कीदृशी पंच बिभ्रती वासः कुचयुगं कङ्कणौ कुंडले वक्त्रञ्चेति ॥ १-४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं प्रदर्शितविश्वरूपस्य कृष्णस्याथापरिमेयतारूपपूर्णता प्रदर्शनमाह नवमेन—एकदेति। गृहदासीषु कर्मान्तरनियुक्तासु व्यापारान्तरे प्रविष्टासु दासीषु अत एव यशोदा स्वयमेव दधि निर्ममन्थ ॥ १ ॥ तस्य श्रीकृष्णस्य बालचेष्टितानि गद्यपद्यादिरूपेण कविभिर्निबद्धानि तानि सर्वाणि तदा दधिनिर्मंथनकालेऽगायत च ॥ २ ॥ कथम्भूता ममन्थेत्यत्राह—क्षौममिति। वासःप्रभृतीनां द्वितीयान्तानां बिभ्रतीत्यनेनान्वयः। पृथु कटितटे सूत्रनद्धं काञ्चीबद्धं क्षौमं वस्त्रं जातः निर्मथनानुकूलव्यापारजः कम्पो यस्य तत्पुत्रस्नेहेन स्नुतयोः पयःस्राविणोः कुचयोर्युगं च रज्ज्वाकर्षणे श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ कुण्डले च स्विन्नं प्रस्वेदभरितं वक्त्रं च बिभ्राणा कबराद्विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः शोभने भ्रुवौ यस्यास्तथाभूता निर्ममन्थागायत चेत्यर्थः ॥ ३ ॥ तामेवं निर्मन्थतीं जननीमासाद्य समीपमेत्य स्तन्यकामयमानो हरिः श्रीकृष्णस्तस्याः प्रीतिमावहन् दधिमन्थनदण्डं गृहीत्वा न्यषेधत् निवारयामास ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्रातीताध्यायसङ्गतिरनुसन्धेया नन्दस्य गेहिनी भार्या ॥ १ ॥ दध्नो निर्मथनं यस्मिन् स तथा तस्मिन् काले ॥२॥ क्षुमनामकृमितन्तुना कृतं क्षौमं सूत्रेण काञ्च्या नद्धं बद्धं पुत्रस्नेहातिशयेन स्नुतयोः क्षरितयोः कुचयोः युगं पुनः कीदृशं जातः आविर्भूतः कम्पश्चलनं यस्य तत्तथा तत् शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः बद्धया रज्ज्वा आकर्षः तेनोत्पन्नः श्रमः आलस्यं तेनोपेतयोर्भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ खणखणायमानशब्दयुक्तत्वात्तथाविधौ स्विन्नं स्वेदजलोपेतं कबरात् केशबन्धात् विगलती मालती मल्लिका यस्याः सा कबरविगलन्मालती अत्र द्वितीयान्तपदस्य बिभ्रतीत्यनेनान्वयः। पृथु विशालम् ॥ ३ ॥ न्यषेधत् निवारितवान् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एकदेति प्रायोऽयं दीपमालिकामहोत्सवो भवेत् दामोदरलीलोपासनस्य कार्त्तिकेऽभिधानात् ॥ १-५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

निषिद्धय मन्थनं पीत्वा स्तनं चातृप्तिमान् क्रुधा। भाण्डं भित्वा द्रुतो मात्रा नवमे बद्ध ईश्वरः ॥
चौर्य्यक्रोधादिमान् मात्रा बद्धस्त्वं कृष्णरोदिषि।

अतिचमत्कारकारकस्यासाधारणस्य श्रीकृष्णविषयकनन्दयशोदाश्रयकमहावात्सल्यप्रेम्णः साधनमप्यसाधारणमपूर्वं श्रेयो भवितुमर्हतीति तदनाकर्णितवतः प्रश्नकर्तुः राज्ञोपि चित्तं नातिप्रसन्नमालक्ष्य तत्र मुख्यं सिद्धान्तमभिव्यञ्जयितुं दिनान्तरगतां दामबन्धनलीलां वक्तुमुपक्रमते-एकदेति। दीपमालिकामहोत्सवदिन इति श्रीवैष्णवतोषणी अत्र श्यामैककर्णतुरङ्गवत् परार्द्धसङ्ख्यास्वपि गोषु मध्ये व्रजस्य याः पद्मगन्धाद्या अतिसुस्वादु सुगन्धिपयसं सुगन्धितृणमात्रचारिण्यः सन्त्यष्ट एव गावो वर्त्तन्ते तासामेव दुग्धध्यादिकं मत्पुत्रस्य रोचकं भविष्यतीति विचारयन्ती श्रीयशोदा निर्ममन्थ स्वयमिति स्वपुत्ररोचनीयनवनीतोत्क्रमणदुग्धावर्त्तनादौ वात्सल्यप्रेमोत्थहठादेव दासीनां विज्ञत्वमसम्भाव्यम् अद्यारभ्य कालकस्य भक्ष्यनवनीतदुग्धादिकं सर्वमहमेव साधु साधयिष्यामि यथा तत्तदेव रोचयन् कृष्णश्चौर्य्यार्थं परगृहं न यास्यतीति भावः। दधीत्यनन्तानां दध्नां मध्ये यदेक सारभूतं पूर्वेद्युः स्वयमेव साधितं तदेवेति भावः। निर्ममन्थेत्युपलक्षणं दुग्धमप्यावर्तयामास ॥ १ ॥ स प्रसिद्धो यो बालः कृष्णस्तस्य चरितानि यानि गीतानि गीतच्छन्दसा कविपुरन्ध्रीभिः स्वयं वा निबद्धानि तानि स्मरन्ती अनुसन्दधती अगायत गृहान्तःशयितकृष्णादर्शनोत्थस्य स्वान्तः क्षोभस्योपशान्तये इति भावः ॥ २ ॥ वात्सल्यप्रेम्णा

रूपगुणाभ्यां च कृष्णस्य यशोदैवानुरूपा मातेति द्योतयन् वात्सल्यरसोपासकानामवश्यकर्तव्यं श्रीकृष्णमातुर्ध्यानमाह— क्षौममतसीतन्तूत्थं पीतचित्रमतिसूक्ष्मं भवेत् तेनास्याः श्यामवर्णत्वं क्रमदीपिकोक्तं ध्वनितं सूत्रनद्धं नीव्या निबद्धं पृथुकटितटे सुभ्रूरित्याभ्यां सर्वाङ्गसौन्दर्यं च व्यञ्जितं रज्ज्वोराकर्षेण श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ वक्त्रमित्यन्तानां बिभ्रतीत्यनेन सम्बन्धः। मेघतुल्यात् कबराद्विगलन्ती जलबिन्दुश्रेणीव मालती यस्याः सा कप्रत्ययाभाव आर्षः ॥ ३ ॥ आसाद्य प्रातरन्तर्गृहात् प्रबुद्धय बहिर्निःसृत्य क्षुधा रुदन्मुखः सन्नित्यर्थः। मन्थानं मन्थनदण्डं गृहीत्वेति मातर्मामथानेति स्ववचनं मानयिष्यन्तीं मातरमभिज्ञायेति भावः। अतस्तच्चातुर्यं ज्ञात्वा या मातुः प्रीतिस्ताम् आवहन् ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अष्टमाध्याये श्रीकृष्णस्यान्तरानन्त्यमुक्तमथ नवमे बहिरानन्त्यं वर्णयितुमाह—एकदेति ॥ १ ॥ दधिनिर्मंथने काले च बालचरितानि अगायत ॥ २ ॥ सूत्रेण काञ्च्या नद्धं बद्धं क्षुमायाः विकारः क्षौमं वासः कुचयुगं च रज्ज्वाकर्षेण श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ च कुण्डले च स्विन्नं प्रस्वेदयुक्तं वक्त्रं च बिभ्रती कबराद्विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः सा दधि निर्ममन्थ ॥ ३-४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

निवार्य दध्नो मथनं निपीतस्तन्याप्यतृप्तेः कुपितः परेशः। विभिन्नभाण्डो नवमे जनन्या द्रुतोऽपराधादुदरे निबद्धः॥

परीक्षितः प्रश्नानुसारेण प्रतिवाचं दत्वाप्यतिकृपालुः श्रीशुकः स्वकृपापात्रं तं प्रत्यपृष्टोऽपि नन्दयशोदयोर्नतत्सौभाग्यं साधनहेतुकमपित्वनादिसिद्धमेवेति स्वसिद्धान्तं दर्शयति एकदेत्यादिभिः। एकस्मिन् वासरे जातं तच्चरितं निशम्य तयोस्तादृशं सौभाग्यं परिचिन्वितीत्यर्थः। गृहदासीष्विति सकलदधिमथनरसव युपकरणविधानादिषु कर्मसु ता नियोज्येत्यर्थः। यशोदा दध्येकं निर्ममन्थ स हि पुत्रभावेन कृष्णमुपास्ते तस्या नैत्यिकं कृत्यमेतत् स्वपुत्रातिप्रियहैयङ्गवं पद्मगन्धादीनां पद्मानां सर्वोत्तमानां गवामिदं दधि बोध्यम्। अन्यथा राज्ञ्यास्तस्यास्तदसम्भवः नन्दगेहिनीति तदर्द्धशरीरत्वात्तस्यापि तत्समसौभाग्यता सूच्यते ॥ १ ॥ यानि यानि तद्बालचरितानि गीतछ दसा निबद्धानि तानि स्मरन्त्यगायत गृहान्तरशायितपुत्रादर्शनोत्थक्षोभशान्तये ॥ २ ॥ दधि मथ्नन्त्या हरिर्मातुर्ध्यानार्थं शोभां वर्णयति क्षौममिति सुभ्रूर्यशोदा जातकं दधिनिर्ममन्थ कीदृशी पृथुकटितटे क्षौमं अतसीस्यादुभाक्षुमेत्यमरोक्तेरतसीतन्तूत्थमतिसूक्ष्मं चित्रमनर्घं वसनं सूत्रनद्धं काञ्च्या निबद्धं पुत्रस्नेहेन स्नुतं कुचयुगं च रज्ज्वोराकर्षेण श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलन्तौ रत्नमयौ कङ्कणौ च कर्णयोरत्नजटिते कुण्डले च हारकेयूरनूपुराणामुपलक्षणं स्विन्नं स्वेदबिन्दुवद्वक्त्रञ्चेति पञ्चवस्तूनि बिभ्रती तैर्विशिष्टासतीत्यर्थः। कबरादभ्रतुल्याद्विगलन्ती तारातंतिरिव मालती यस्याः सेत्यभूतोपमा व्यज्यते कवभाव आर्षः। पृथुकटितटे सुभ्रूरित्याभ्यां पदाभ्यां सर्वावयवसौन्दर्यं सूच्यते विद्युद्गौरीयं मन्त्रपीठावरणे दृष्टा इन्दीवरस्यामेति कश्चित् ॥३॥ आसाद्येति गृहमध्ये प्रबुद्धय बहिर्निगम्य क्षुधा रुदन्मुखः सन्नित्यर्थः। मन्थानं गृहीत्वेति मया निषिद्धापि मन्थनं न त्यजेदिति ज्ञात्वेत्यर्थः। अतस्तद्बुद्धिनैपुण्यविज्ञाया मातुः प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ स्वलीलया तेषां प्रीतिं चक्र इत्युक्तं सा च कीदृशीत्यतस्तां दर्शयितुं यशोदा काञ्चित्तदाटीकितघाटीं तदुपयोगिनीमादावाह ॥ एकदेति। स्वयं साक्षादेव नन्दगेहिनी तद्भार्या यशोदा दधि निर्ममन्थ। कुत इत्यत आह। एकदा कदाचिद्गृहदासीषु मथनकर्त्रीषु कर्मान्तरनियुक्तास्वेतत्कर्मतोऽन्यत्कर्मान्तरं तत्र नियुक्तासु सतीष्विति ॥ १ ॥ तात्कालिकं स्त्रीस्वभावमाह। स्मरन्ती यशोदा तानि तान्यगायतागायदिति। ते ते पिब तु जिह्वयेत्यभ्भाष्यटीकादिकमुदाहृत्य प्रागुपपादितप्रकारोऽत्रानुसन्धेयः। तद्बालचरितानि स चासौ बालश्च तद्बालस्तस्य यानि यानि पूतनामातादीनि। इदं स्वगोकुल एव। एतेन स्वदृष्टानीति ध्वन्यते। चरितानि येषु तानि गीतानि प्रबन्धात्मना रचितानि दधिनिर्मथने दध्नो निर्मथनं यस्मिंस्तस्मिन्काले इ अद्भुता ईहा। यद्वा प्रकृतिभाव आर्षः। ई इच्छाविषय ईहा चेष्टा येषामिति ते। इष्टदानात्तथैन्दव इति ऋग्भाष्योक्तेः। इच्छा एतज्ज्ञानविषयिणी येषां तैरीहैर्देवतादिभिर्गतानि तद्बालचरितानि यानि यानि तानि तानीति वा ॥२॥ कबरेति पर्यन्तं बिभ्रतीत्यनेनान्वयः। पृथुकटितटे क्षौमं क्षुमकृमितन्तुनिर्मितं पीताम्बरं वासश्च तदन्तरेकं। क्षौमपट्टे दुकूले स्यादिति विश्वः। वास इति पृथक् सत्त्वात्क्षौमशब्दः क्षुमतन्तुनिर्मितत्वमात्रवाचक इति वा। प्राग्यत्र वासो वासुदेवस्य तस्मिन्कटितट इत्यन्वयो वा। सूत्रं काञ्ची तन्नद्धं बद्धं। णह बन्धन इति स्मरन्ति। जातकम्पं जातः कम्पो यस्य तत्पुत्रस्नेहेन स्नुतं स्रवत्क्षीरं कुचयोर्युगं रज्ज्वाकर्षश्रमे भुजचलत्कङ्कणौ। कङ्कणं करभूषणमित्यमरः। कङ्कणं शेखरे हस्तसूत्रमण्डनयोरपीति विश्वः। कङ्कणे इति सुपठं। रज्ज्वोराकर्ष आकर्षणं तज्जातः श्रमो ययोस्तौ च तौ भुजौ च चलती कङ्कणे करभूषणे ययोस्तौ रज्ज्वाकर्षश्रमभुजौ च तौ चलत्कङ्कणौ चेति विग्रहे न लिङ्गभङ्ग इति ज्ञेयं। विशेषणस्य परनिपातमात्रं सामयिकमिति न जघन्यं

कुण्डले कर्णभूषणे स्विन्नं वक्त्रं च। कबरं केशशाकविशेषयोः कवरमिति विश्वः। केशपाशाद्विगलन्त्यो मालत्यो जातीकुसुमानि। मालती जातिभेदे स्यादिति विश्वः। यस्याः सा सुभ्रूर्दधि ममन्थ॥ ३॥ स्तन्यकामो हरिर्मथ्नन्तीं तां जननीमासाद्य दधिमन्थानं गृहीत्वा प्रीतिमावहन्सन् न्यपेधन्निपिषेधे॥ ४॥

श्रीसुबोधिनी

शास्त्रार्थतो यथा भक्तिर्हरौ भवति निश्चला। तदर्थं नवमे प्राह चरित्रं परमाद्भुतम्॥ १॥
स्वरूपं च कृपालुत्वं हरेर्ज्ञातव्यमञ्जसा। अतो दयासुसंमिश्रं ज्ञानमत्र निरूप्यते॥ २॥
निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु च। तदोभयसुसम्बन्धाद् दृढो भवति नान्यथा॥ ३॥
ज्ञानवैराग्यरूपैर्हि स्वाधीनो भगवान् भवेत्। अतोध्यायत्रयें लीला जीवाधीना निरूप्यते॥ ४॥
अतिपौरुषमेतद्धि जीवानामिति निश्चितम्। द्वादशाङ्गमतिक्रम्य षड्भिर्वश्यो भवेद् गुणैः॥ ५॥
पञ्चपर्वामविद्यां हि लोकानामपि नाशयेत्। अतः पञ्चभिरुक्तो हि विचारो भगवद्गतः॥ ६॥

तत्र प्रथमं यशोदाया अतिपौरुषं कार्यं सिद्धमिति वक्तुं क्रियया भगवत्प्राप्तिमाहैकदेतिदशभिः' भक्तिर्हि दशविधा गुणातीतया भगवान् प्राप्यते नवविधसहितस्नेहेन वा, ततो द्वाभ्यां वशीकरणं यमः काण्डद्वयसमावेशार्थस्ततो वशीकरणं षड्भिः पञ्चभिरविद्याबाधनमिति

निवारितापि संसारे मोहिता सङ्गता पुनः। गुणगाने स कालोभूच्च छमो द्वाभ्यां ततोभवत्॥ १॥
अतः कृतो निषेधो हि भक्तिसारं हरिः पपौ। ततो रिक्ता पूर्वबुद्ध्या सङ्गतान्यच्चकार ह॥ २॥
एवं निरुद्धा चेद् भ्रान्ता कोपयुक्तो हरिर्भवेत्। धौर्त्यं दृष्ट्वा लोकदृष्ट्या प्रीता तस्मान्न पश्यति॥ ३॥
जिज्ञासायां ततो दृष्ट्वा प्राप्त्यर्थं यत्नमाचरत्। विरुद्धांस्तान् हरिर्ज्ञात्वा तपसे निर्गतस्ततः॥ ४॥
पूर्णे तपसि तत्प्राप्तिरेवं दशभिरुच्यते। परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च हरिप्रियम्॥ ५॥
आसक्तिं चेत् स्वतः कुर्याज् जीवः कृष्णः पलायते। तदा दृढो निरोधः स्यान् नान्यथेत्येष निर्णयः॥ ६॥

पूर्वाध्याय आधिदैविकमोहस्य प्रतिपादितत्वात् तत्कार्यमाहैकदेति, यदा भगवदिच्छया सर्वा एव **गृहदास्यः** क्षेत्रादिसंस्कारार्थं तत्प्रसङ्गाल्लतादिगृहनिर्माणार्थं वा गतास्तदा **यशोदा स्वयं दधि निर्ममन्थेति**सम्बन्धः दास्यश्चतुर्विधाः प्रमुख्यो देया गोष्ठक्षेत्रविचारिकाश्चान्या यशोदासख्यो नन्दभोग्या गृहकार्यकर्त्र्यश्च, तत्र **गृहदासीषु कर्मान्तरनियुक्तासु** सत्सु प्रकरणाद् भगवदभ्युदयार्थमेव कर्मान्तरमिति लक्ष्यते, स्वतःकरणे हेतुनन्दगेहिनीति, गेहिन्याः कर्मैतदावश्यकम्॥ १॥ एवं संसारव्याप्रतिरपि भगवदीयानां भगवद्गुणगानार्थमेव जातेत्याह **यानि यानीति**, उपनिबन्धनं स्वेनैव कर्तुं शक्यते **स्त्रीणामद्यापि** तथासामर्थ्याद्, **यानि** प्रसिद्धानि भगवच्चरित्राणि पूर्वमिह **गोकुले** वा शास्त्रतो लोकतश्च तन्मध्ये **यानीह** प्रसिद्धानि वीप्सया सर्वाण्येव, अनेन **गान**मेव मुख्यं न तु दधिमन्थनमिति ज्ञापितं, अन्यथा शीघ्रं दधिमन्थने **सर्वाणि गीतानि** गातुं न शक्यानि स्युः, तस्य, **बालचरितानि** स्वदृष्टानि चकाराद् गोपिकादिभिरप्युक्तानि, तस्य भगवतो **बालचरितानि** येषु तानि वा **गीतानि** चकारादन्यानि च, **दध्नो** नितरां **मथनं** यस्मिन् काले, भगवतो गुणगानस्य स एव कालः, यस्मिन् काले क्रियाशक्तेराधिदैविकस्यापीन्द्रियं मथितं भवति, तदाह **दध्नो नितरां मथनं** यस्मिन् **काल** इति, ननु कथं तस्यैव कालस्य गाने हेतुत्वमिति **चेत्** तत्राह **स्मरन्तीति, तानि गीतानि स्मरन्ती,** तस्मिन्नेव **काले** गीतानां स्मरणं भवतीति॥ २॥ एवं गानपरतया **मथने** क्रियमाणे गानस्यामृतरूपत्वाद् दधिमथनं न भवतीति गानस्य गौणभावं सम्पाद्य भगवद्भजनौपयिकं **देह**मपि पीडयित्वा भगवदुपभोग्यं रसमपि निरुध्य तद्देवतामपि निवार्य भौतिकीं क्रियां श्रमजनिकां भक्तिमपि पीडयन्तीं मुक्तानामपि क्षोभजनिकां क्रियां कृतवतीत्याह **क्षौमं वास** इति, **क्षौमं** पट्टवस्त्रं तदतिपिच्छिलं भवतीति तद्दार्ढ्यार्थं **सूत्रेण** दोरकेण **नद्धं** क्रियते, उत्थिता सती मथनं करोति मथनावेशाद् वस्त्रस्याप्यननुसन्धानमिव वक्तुं स्थूले **कटितटे बिभ्रती**त्युक्तं, कटिस्थौल्यान् मध्ये कृशभावेन **बद्धं वासः** परं न पतति, अयुक्तकरणं वा ज्ञापयितुं वस्त्रादिसौन्दर्यं वर्ण्यते, **तट**पदेन चास्या गतिरूपत्वं नद्या इव प्रदर्शितं, अनेनावश्यकशरीरापेक्षापि मथनार्थं परित्यक्तेति सूचितं, पुत्रस्नेहेन सहजधर्मेणाधिक्यात् प्रेरितं दुग्धं बहिरपि निःसरन् न विचारवतीत्याह **पुत्रस्नेहे**ति, दुग्धं यद्यपि स्रवति तथापि **पुत्रस्नेह एव स्नुतो** यत्र तादृशं **कुचयुगं बिभ्रती** स्नेहे वृथा गच्छति सति तदभिमानिनी देवता भीता सती **कुचयुग**मपि कम्पयति, तादृशमपि **बिभ्रती,** अनेनाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकापेक्षामपि त्यक्तवतीत्युक्तं भवति, **चकारा**दन्तर्यामिप्रेरणामपि, नन्वेवमतिक्रमे भगवता रक्षकत्वेन स्थापितौ दण्डधरौ मृत्युयमौ कथं न तां दण्डितवन्तावित्याह **सुभ्रू**रिति, शोभने भ्रुवौ यस्याः, "भ्रुवौ यम" इतिवाक्याद् भाव्यर्थमङ्गीकृत्य पर्यवसानाच्छोभनभ्रूत्वं, **रज्जोर्नेत्रस्याकर्षणं** यः **श्रमस्तत्सहितं भुजद्वयं** तावत्पर्यन्तं **चलन्ति कङ्कणानि** ययोरेतादृशौ **हस्तौ बिभ्रती,** अनेन

भक्तिमार्गः कर्ममार्गश्च तद्देवास्तन्नियमाश्च सर्वे क्लिष्टा इत्युक्तं, **कुण्डले** साङ्ख्ययोगं द्वयमपि क्लिष्टं, सर्वत्र **बिभर्तीति**सम्बन्धः, **चकाराच्छिरश्च जातकम्प**मित्यनुवर्तते, एतदर्थमेव पृथङ्निर्देशः, अन्यथा स्रुतसकम्पकुचयुगमित्येव वदेत्, **वक्त्रमपि स्विन्नं**, **परमक्षोभात्** स्वेदयुक्तं, निर्गतसारा भक्तिरप्युच्यते, **कबरे** केशपाशे सिद्धस्थानेषु **विगलन्ती मालती** यस्यां, कबरात् केशपाशात् सिद्धस्थानाद् **विगलन्ती मालती** यस्यामिति वा, **मा** लक्ष्मीरलं यस्मिंस्तादृशं जगदतिक्रम्य वर्तत इति **मालती** ब्रह्मविद्या सापि गच्छति, एवं प्रपञ्चासक्ता **निर्ममन्थ,** आकृतिमात्रवर्णनायां वैयर्थ्यं शुकवाक्यविरोधश्च भवेत् ॥ ३ ॥ पूर्ववद् **भगवान्** बालकानामर्थे स्तन्यकामः सन् छद्मं वारितवानित्याह **तामिति, आसाद्य** निकटे गत्वा नैकट्यदर्शनाभ्यां क्रियाज्ञानाभ्यामुभयविधनिरोधसिद्धिः, **मथनन्तीमिति** दध्नो विकृतत्वं स्वस्यापि प्रयासः, **जननीमिति** निरोधावश्यकत्वं, तथाबुद्धिस्तेनैव कृतेति, हरिरिति सामान्यतोपि सर्वदुःखहर्ता साम्प्रतं कर्तुरत्यन्तान्याभिनिवेशात् करणप्रतिबन्धमेव कृतवानित्याह **गृहीत्वा दधिमन्थानमिति, मन्थानं** दण्डं हस्तेन धृत्वा **प्रीतिमावहन् न्यषेध**न्मथननिषेधं कृतवान्, निषेधेपकारापकरणाय **प्रीतिमावहन्निति**, यथा तस्याः स्वस्मिन् प्रीतिर्भवति तथा कुर्वन्,

सर्वाङ्गं चालयन् हस्तौ पादौ चैव विचालयन्। मुखाब्जं मधुरारावं बिभ्रत् कृष्णः समागतः ॥ १-४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नवमाध्याये निवारितापीति। ननु मायाकार्याद् भगवत्कार्यं बलिष्ठमिति भगवत्कृते निवारणे सत्यपि कथं गृहकृत्ये प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः **पुनर्मोहितेति**। निषेधेन पूर्वमेहागमेनावश्यकमपि कार्यं त्यक्त्वा भगवत्परापि 'सस्मितमीक्षती मुख'मिति वाक्यात् स्मितेन पुनर्भगवता मोहिता सती तथा जातेत्यर्थः। नन्वन्यासक्तिहेतुत्वेन निरोधविरोधि पूर्वमोहनमित्याशङ्काभावायाहुः **गुणगान** इति। भगवत्कृतत्वान्मोहस्य तत्कालेपि गुणगानार्थमेवाभूदित्यर्थः। मोहेस्मिन्नस्ति रूपद्वयम्। विषयासञ्जकत्वं भगवत्कृतत्वं च। तेन द्वाभ्यामुक्तमिति शेषः। तर्ह्येवंरूपतन्निषेधोनुचित इत्याशङ्क्य तन्निमित्तमाहुः **ततः श्रमोभवदिति**। ततः श्लोकद्वयानन्तरमेकेन श्रमोभवदिति निरूप्यत इत्यर्थः। यत एवमतो भक्तक्लेशासहिष्णुत्वेन स कृत इत्याहुः **प्रत** इति। लोके धनं पुत्रार्थमिति न्यायेन भगवदर्थमिदमिति ज्ञानेन माता प्रवृत्तेति कथं कोप इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः **भ्रान्तेति**। भगवतस्तदपेक्षाभावात् तथाज्ञानं भ्रम इति तथा। एतादृश्येव भक्तिमार्गमर्यादेति ज्ञापनाय **भवेदि**त्युक्तम्। **तान् यष्टिग्रहणादियत्नानि**त्यर्थः। तपोन्तःकरणदोषापहं दुःखरूपं भगवत्प्रापकं चेत्यनुधावनयत्नेन तपस्त्वमुक्तम्। अत्रापि प्रचुरदोषबुद्धिसत्त्वात्तथा। अत एवाग्रे यष्टित्यागः। सर्वात्मना दोषारोपनिवृत्तेस्तत्प्रापकस्य दुःखस्य भक्तिमध्यपातित्वं नोक्तम्। **अत्रायं भावः**। पूर्वमेव स्वप्रापणमकृत्वा तावत्क्लेशानन्तरं तथाकरणे कश्चन विशेषो वाच्यः। स च पूर्वं यष्टिग्रहणेन क्लेशानन्तरं तत्त्यागेन चान्तःकरणगत एवेति लक्ष्यते। एवं सति 'वीर्यं मे दुश्चरं तप' इति वाक्यात् तद्गतालौकिकविशेषहेतुस्तप एति तथोक्तम्। भक्तिरवानुक्तौ हेतुरुक्त एव। एतदेवाभिसन्धायोक्तं परोक्षेत्यादि। परोक्षवादविषय एवासक्ति चेत्यादिनाप्युक्तः ॥ १ ॥ **दधिनिर्मन्थने काल** इत्यत्र, **क्रियाशक्तेरि**त्यादि। क्रियाशक्तिर्भुजयोः प्रतिष्ठिता। तदाधिदैविकश्चेन्द्रः। 'इन्द्रियं वै दधी'तिश्रुतेस्तस्येन्द्रिरूपं तदिति तथा। वस्तुतस्तु परोक्षवादविषय एवार्थोनेनोक्तः। तथाहि। क्रियाशक्तेरिति **पञ्चमी हेतौ**। भगवद्वियोगे हि सर्वेन्द्रियगतस्तादृक् क्षोभो भवत्यतिप्रचुरो, येन तत्तदाधिदैविकस्यापीन्द्रियं क्षुभितं भवति। तदा भावविशेषैर्गुणगानं भवति। यथा व्रजरत्नानाम्। तदेतत्प्रसङ्गादुक्तं **भगवत** इत्यादिना ॥ २ ॥ **क्षौमं वास** इत्यत्र **सुभ्रूरि**त्यस्याभासः, **नन्वेवमतिमक्रम** इत्यादि। व्रजजनक्लेशहेतुभूतानां नाशाय दुःखप्रापणाय च मृत्युयमौ तत्राज्ञप्ताविति कुचकम्पस्य क्लेशहेतुत्वेन तत्कर्त्रीं पूर्वोक्तदेवतां तौ कथं न तथा कृतवन्ताविर्त्यर्थः। सर्वनियमनत्वेन तयोर्यमत्वम्। दिक्पालस्यात्रातथात्वमिति ज्ञापनायेदमुक्तम्। भाव्यर्थः श्रमस्तस्यानङ्गीकारे तद्धेतौ न प्रवर्तेत। तथा च तदङ्गीकृत्य ममन्थेति सम्बन्धः। क्लेशे **भ्रूसङ्कोचसम्भवेनात्र** च शोभनत्वेन तदभावात् क्लेशाभावो ज्ञाप्यत इत्याशयेनाहुः **पर्यवसानादिति**। तददण्डः पर्यवसानम्। रज्ज्वाकर्षे भुजद्वयस्यापि व्याप्तत्वं भवतीति दक्षिणवामयोर्यथाक्रमं तद्रूपत्वम्। अत्रायं भावः। अस्त्यत्र क्रिया द्विविधा। **भगवत्सम्बन्धिनी** गार्हस्थ्यसम्बन्धिनी चेति। प्रधानत्वाप्रधानत्वाभ्यां तद्रूपत्वमुच्यते। तत्तत्कङ्कणानां भक्तिमार्गीयनियमरूपत्वं **कर्ममार्गीयदेवतारूपत्वम्**। तदाश्रितत्वात्। सुभ्रूरितिवत्स्वतन्त्रविशेषणत्वं सर्वेषामनुक्त्वाभरणकर्मत्वोक्तेस्तात्पर्यमाहुः **क्लिष्टं सर्वत्रेति**। क्लेशरूपसमानधर्मवत्त्वं सर्वेष्वस्तीति ज्ञापनाय तथेत्यर्थः। विशेषणत्वोक्तौ प्रकारकत्वापत्त्या तदप्राधान्येन तत्क्लेशस्याप्रयोजकत्वात् तद्धेतुभूतमन्थनेनुचितत्वं न ज्ञापितं भवेदिति भावः। शीर्ष्णः सत्यलोकाधिदैविकरूपत्वेन तदुपरि ज्ञानिनां जीवन्मुक्तानामेव स्थानमिति तथोक्तम्। लीलामध्यपातिनां भगवदात्मकत्वमभिसन्धायैवं सर्वत्राचार्यैर्निरूप्यत इति ज्ञेयम्। **प्रभौ** स्नेहवतां तथैव तत्सम्बन्धिष्वपि स्नेह इति मातुस्तादृक्श्रमदर्शने तदसहिष्णुत्वेन क्षोभात् मुक्तानामपि स्वधर्मविस्मृतिर्भवतीत्याशयेन **मा लक्ष्मीरि**त्याद्युक्तम्। किञ्च। सर्वमूलभूतभगवदाविर्भावस्थानत्वेन सर्वमूलभूतत्वान्मातरि तादृशधर्मे सति तत्कार्यपरंपरायां स्वत एव तादृशत्वं भवतीति भावेनापि तथोक्तम्। विपक्षे बाधकमाहुः **आकृतीत्यादि**। मन्थनोक्त्यैव तदनु-

रूपाकृतेरपि प्राप्तेस्तत्कथनं पुनर्मन्थनोक्तेश्च तथा स्यादित्यर्थः। एवं सति विशेषस्यावश्यवाच्यत्वे मन्थनस्यानुचितत्वज्ञापनमेव विशेष इति वक्तुं युक्तमिति लोकतः परमार्थतश्च तथात्वमुक्तम्। किञ्च। पूर्वं दधिनिर्मन्थने काल इति वाक्याद् गुणगानाङ्गत्वेन मन्थनमुक्तम्। तेन मन्थनेन न किमपि क्लिष्टमभूत्। तथैव चेदग्रेऽपि स्यान्न निवारयेत्प्रभुः। निरोधाविरोधात्। एवं सत्यग्रे निषेधस्य वाच्यत्वात् तद्धेतुभूतं निरोधविरोधिमन्थनमवश्यं वाच्यमित्येकेन तदुक्तम्। एवं सति विवृतिस्तथाविधेति युक्ततरम्। अन्यथा निषेधोक्तिर्विरुद्धा स्यादित्यभिसंधायाहुः **शुकवाक्ये**त्यादि। मन्थनसामयिकाकृतेः साधारणत्वेन विशिष्टलीलारूपत्वं न सम्भवती'त्युत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेता' इति लक्षणं शुकवाक्यं तथा स्यादिति वा। उक्तरीतेस्तु माहात्म्यज्ञानहेतुत्वेन भक्तिजनकत्वादुत्कर्षः। **पूर्ववदि**ति। निष्क्रमणोत्सववदित्यर्थः॥ ३॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नवमाध्यायतात्पर्यं **वदन्तो 'भक्तिर्हरा**'वित्यनेन राज्ञा पृष्टस्योत्तरत्वेनाध्यायारम्भ इति नासङ्गताभिधानशङ्केत्याहुः **शास्त्रार्थत** इत्यादि, **शास्त्रार्थत** इति भावप्रधानो निर्देशः पञ्चमी च ल्यब्लोपे, तथा च भगवतः **शास्त्रार्थ**त्वं ज्ञात्वा **यथा हरौ भक्तिर्निश्चला** भवति **तदर्थं** तथेत्यर्थः, तथात्वं च दामबन्धनस्थले स्पष्टीभविष्यति, ननु शास्त्रार्थत्वेन निरूपणस्य किं प्रयोजनं कश्च **शास्त्रार्थ** इत्यत **आहुः स्वरूपमि**त्यादि, राज्ञा हीशानुकथान्ताः सप्त लीलाः श्रुता, अष्टमी चेयं निरोधलीला, तत्र चारम्भे "वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा"मित्यस्मिन् श्लोके भगवतो राज्ञा स्वज्ञातं माहात्म्यमप्यनूदितमेवं सति राज्ञो माहात्म्यज्ञानपूर्विका भगवति भक्तिरस्त्येवेति"भक्तिर्हरा"वित्यनेन यद् भक्तिजनकं चरित्रं पृष्टं तत्र द्वयं बीजत्वेन भाति, एवं लीलाः **कुर्वन्** भगवान् सर्वेषु प्रसीदति न वा शीघ्रं च भक्तदुःखं हरति न वेति, तत्र **शास्त्रार्थ**त्वेन ज्ञातो दयालुत्वात् सर्वेषु प्रसीदति दुःखं च हरतीतिज्ञापनार्थं **दयासम्मिश्रं स्वरूपज्ञानमत्र** विषयनिरूपणमुखेन **निरूप्यते** ज्ञानाध्यायत्वादित्यर्थः, यादृशो **भगवान् शास्त्रार्थस्तादृ**शो "न चान्तर्न बहिर्यस्ये"त्यादिषु नवसु श्लोकेषु विषयत्वेन स्फुटीभविष्यति, ननु राज्ञः प्रश्नानुरोधेन शुकैस्तथोत्तरितमिति भवतु नाम तादृशचरित्रनिरूपणं तथाप्येतस्या लीलायाः स्कन्धार्थे निरोधे क उपयोगो मातृचरणादिषु प्रधानस्य साङ्गस्य निरोधस्य जातत्वादत आहु**र्निरोध** इति, तथा चेदमपि प्रकृतोपपादकतयोपोद्घातसङ्गत्या निरूप्यत इत्यर्थः, तच्च **समाप्तौ** श्लोकद्वये स्फुटीभविष्यति, ननु भगवन्निरोधो भक्तैः कथं कर्तव्य इत्यत **आहुर्ज्ञानि**त्यादि**सार्धेन, एतद्धी**ति भगवद्वशीकरणं **हि**हेतौ, तथा च यत एतैस्त्रिभिर्वशीभवतीत्यतः प्रथमं साधनं ज्ञानरूपमत्र **निरूप्यत** इत्यर्थः, ननु यदि ज्ञानादिना वशीभवति तदा ज्ञानिभिरपि वशीक्रियेतेत्याशङ्कामेतदध्यायश्लोकसंख्यातात्पर्यनिरूपणेनापनुदन्ति **द्वादशाङ्गमि**तिसार्धेन, **द्वादशाङ्गः** पुरुषोत्तमं **तदतिक्रम्य** तन्मर्यादामपहाय स्वस्य ये **षड्गुणास्तैर्वश्यो भवति** स्वेच्छयेति तत्समसङ्ख्यैः श्लोकैर्ज्ञाप्यते, ते च भगशब्दवाच्या बोध्याः, **गुणेषु** च क्रमो न विवक्षितः, टिप्पण्यां "कृपये"तिपदस्यैश्वर्यगमकत्वप्रतिपादनात्, "एवं स्वगेह"इत्यत्र वीर्ययशसो "न चान्तरि"तिपद्यैः सर्वव्यवहारातीतत्वादिभिर्वैराग्यज्ञानयोः स्फुटीभावाच्च, अत्र चैश्वर्यस्य वश्यताहेतुत्वं शेषाणां तु तदुपोद्बलकत्वमिति बोध्यं, अवशिष्टतात्पर्यं **पञ्चभिरि**त्यादिनोच्यते, कारिकोक्तमर्थं वैशद्यार्थं पुनरनुवदन्ति **भक्तिरि**त्यादि। **बाधनमि**तीत्यन्तं, अत्र "ततो भक्तिर्भगवती" तिपूर्ववाक्यानुरोधेन भक्तिपक्ष उक्तस्तत्रापि भगवद्दर्शनरूपेण फलेन दशम्या गुणातीतत्वं माहात्म्यस्य विस्मृतत्वेन केवलं स्नेहस्य सत्त्वान् मध्ये गुणगानस्मरणयोरुक्तत्वाच्च स्नेहपक्ष उक्तो **द्वाभ्यामि**त्यादिनोक्तं तु सङ्ख्याया **एव** तात्पर्यं काण्डद्वयोक्तकर्मोपासनयोर्भगवद्वशीकरणोद्यम एव पर्यवसानात्, न हि भगवांस्ताभ्यां वशीभवति "यमेवैष वृणुत" इत्यादिश्रुतिभ्यस्तथावसायादिति प्राथमिकानां भक्तिबोधकानां दशश्लोकानां प्रत्येकमर्थमाहु**र्निवारितापी**त्यादिभिः, **तदर्थं** टिप्पण्यामुपपादयन्ति **नन्वि**त्यादि एवमर्धेन प्रथमश्लोकार्थ उपपादितः, योजना तु **निवारितापि पुनर्मोहिता संसारे सक्ते**त्येवं बोध्या, द्वितीयस्योपपादयन्ति **नन्वन्यासक्ती**त्यादि, **पूर्वमोहनमि**ति स्मितकृतं पूर्वाध्यायोक्तं वा, तृतीयस्योपपादयन्ति **तर्ही**त्यादि, चतुर्थस्याहु**र्यत** इत्यादि, पञ्चमस्य तु **भक्तिसार**मित्यादिना सुबोधिन्यां स्फुटः, तत्रान्यदित्यनेनोत्सृज्य गमनं बोधितं षष्ठस्योपपादयन्ति **लोक** इत्यादि, **तदपेक्षाभावादि**ति **सुश्रृतदुग्धापेक्षाभावात्, एतादृशी**ति भगवदनपेक्षितेपेक्षितभ्रमे सति **भगवान्** कुप्यतीत्येवंरूपा, सप्तमस्य तु **धैर्य**मित्यादिना सुबोधिन्यां स्पष्टः, अष्टमस्य तु **जिज्ञासाया**मित्यर्थे सुबोधिन्या स्फुटः, नवमस्य विवृण्वन्ति **तानि**त्यादि **तथे**त्यनुधावनं, तन्निवर्तकं तप एव, तस्य **दोषनिवर्तक**त्वं स्फुटीकुर्वन्त्यत **एवे**त्यादि दोषबुद्धिनिवर्तकत्वादेव, ननु भक्तिप्रकरण एतस्य तपस्त्वं कुत उक्तमित्याकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यमाहु**रत्रायं भाव** इत्यादि, **विशेष** इति मातृचरणगतो यो **विशेषः तद्गते**त्यन्तः करणगतो यो भीतत्वोपनायकज्ञानात्मको विशेषस्तद्धेतुरित्यर्थः, इदं सात्त्विकत्वमभिप्रेत्योक्तं "**सत्त्वं** तत्तीर्थ"मितिवाक्यात्, ननु भक्तिप्रकरणे तपसः कः प्रसङ्ग इत्यत **आहुरेतदेवे**त्यादि, तथा चात्र परोक्षवादेन मातृचरणस्वरूपव्यवस्थाबोधनार्थं तथोक्तं, सा चाग्रे 'स जातकोप' इत्यत्र स्फुटीभविष्यति, दशभिः सिद्धोर्थोऽप्यग्रे **कारिकयो**च्यत इत्याशयेनाहुः **परोक्षवादे**त्यादि, **कारिकार्थस्तु जीवश्चेत् स्वतः सत्त्वमभिसन्धाय गृहोपकारणादावासक्तिं कुर्यात् तदा कृष्णः पलायते** विमुखो भवति तदैवं वैमुख्ये सति भगवति निरोधो दृढः स्यान् नान्यथा इत्येष दशश्लोकसिद्धो निर्णय इति ज्ञेयम्॥१॥ **यानी**त्यत्र **भावत** इत्यादिना गुणगानकालो यो विवृतस्तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **क्रियाशक्ते**रित्यादि, कारिकासु **परोक्षवादस्या**-

ङ्गीकृतत्वात् तमादायात्र प्रासङ्गिकं वदन्ति भक्तिमार्गमर्यादाज्ञापनार्थमित्याशयेन तात्पर्यान्तरमाहुर्**वस्तुत** इत्यादि ॥ २ ॥ **क्षौमं वास** इत्यत्र **रस**मिति स्तन्यं, **तद्देवता**मिति स्तन्यजनिकां स्नेहाभिमानिनीं **देवतां**, सा च मायाया रूपान्तरमिति प्रतिभाति, **भक्ति**मिति स्नेहरूपां, **मुक्ताना**मित्येतदर्थोनुपदं स्फुटीभविष्यति, **सुबोधिन्यां** वस्त्रादिवर्णनस्य पुरःस्फूर्तिकमर्थमाहु**रयुक्ते**त्यादि, **बह्वीषु** गृहदासीषु सतीषु तासु काश्चित् कार्यान्तरादनिवार्यानाकार्य स्वयं करणमयुक्तकरणं तवेति ज्ञापयितुं तथेत्यर्थः, **गति-रूपत्व**मिति चाञ्चल्यं, **आधिभौतिके**त्याद्याधिभौतिकं दुग्धमाध्यात्मिकः **स्नेहो** देवताधिदैविकी, **नन्वेवमतिक्रम्य** इत्यस्यार्थं **टिप्पण्यामाहुर्व्रज** इत्यादि. **भाव्यर्थे**त्यादेरर्थं **टिप्पण्यामाहुर्भाव्यर्थ** इत्यादि, तथा चैवं फक्किकार्थः, श्रममङ्गीकृत्य मथनेन क्लेशाभावतो 'वक्षःकम्पक'देवताया अदण्डाच् छोभनभ्रूत्वमिति रज्ज्वाकर्षस्य हस्तधर्मत्वान् मूले **रज्ज्वाकर्ष**विशिष्टपदकथनेन तस्य हस्तविशेषणत्वं बोध्यत इत्याशयेन **सुबोधिन्यां रज्जो**रित्याद्युक्तं तत्तात्पर्यं **चाने**नेत्यादिनोक्तं तद् विवृण्वन्ति **रज्ज्वाकर्ष** इत्यादि, **क्लिष्ट**मित्यादि यदुक्तं तदर्थं विवृण्वन्ति **सुभ्रू**रितीत्यादि, **क्लेशरूपसमानधर्मवत्त्व**मिति क्लेशरूपो यः **समानो धर्मस्तद्वत्त्व**मित्यर्थः, भरणकर्मोक्तितात्पर्यमाहुर्**विशेषणे**त्यादि, **तथोक्त**मिति **च**कारसूचितं शिर उक्तं, ननु मातृचरणस्वरूप एवं ब्रह्माण्डाधिदैविकस्वरूपनिरूपणं कथं युज्यत इत्यत आहुर्**लीले**त्यादि, **मालती**तात्पर्यविवरणप्रयोजनमाहुः **प्रभा**वित्यादि **मालती**-शब्देतिपरोक्षवृत्तिर्ज्ञेया, 'निवण्टव' इत्यत्र यास्कभाष्ये तथाङ्गीकारात्, एवं शब्दसिद्धिश्च पृषोदरादित्वाज् ज्ञेया, वैदिकी चेयंनिरुक्तिरिति तात्पर्यान्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादि, **तत्कार्यपरम्परया**मिति स्नेहरूपायां **तथोक्त**मिति ब्रह्मवियागमनमुक्तं **विपक्ष** इति पुरःस्फूर्तिकार्थग्रहणे **तथा स्या**दिति व्यर्थं स्यात् **इति लोकत** इत्यत्रेतिर्हेतौ, **तथात्व**मित्यनुचितत्वं एतस्यैव तात्पर्यान्तर-माहुः **किञ्चे**त्यादि, हेत्वन्तरतात्पर्यमाहु**रेव**मित्यादि, अस्मिन् पक्षे निषेधोक्तिरेव शुकवाक्यं ज्ञेयं प्रकारान्तरेणाहुर्**मन्थने** इत्यादि ॥ ३ ॥ **पूर्ववदि**त्यस्यार्थमाहुर्**निष्क्रमणे**त्यादि ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृत श्रीसुबोधिनीलेखः

नवमाध्याये **शास्त्रार्थत** इति भगवतः शास्त्रप्रतिपाद्यत्वं ज्ञात्वा भगवतो भजनमित्यर्थः, तथा च शास्त्रार्थज्ञानपूर्विका **भक्तिर्यथा** येन प्रकारेण **निश्चला भवति तदर्थं** तत्प्रकारबोधनार्थं **चरित्र**मिदं **प्राहे**त्यर्थः, "यच्छृण्वतो हरौ भक्तिर्भवती"ति-शास्त्रार्थज्ञानसहितभक्तेः साधनस्य पृष्टत्वात् तथैवोत्तरं, किं शृण्वत इति पृष्टे भक्तवश्यताबोधकं चरित्रं शृण्वत इत्युत्तरं जातमित्यर्थः, **स्वरूपं चे**ति पूर्वं जगद्रूपधर्मस्य दृष्टत्वादतः **परं स्वरूपं** भक्त्यर्थं कृपालुत्वं **च ज्ञातव्यमतो** हेतोः "कृपयासीत् **स्वबन्धन**" इति श्लोकोक्ता या **दया** तत्सहितं **ज्ञानं** "नाहं तेभ्यो मनागपी"ति वाक्योक्तं भक्तमात्रविषयकमत्राध्याये **निरूप्यत** इत्यर्थः, स्वरूपज्ञापनं द्व्यङ्गुलन्यूनतया कृपालुत्वज्ञापनं बन्धनेनेति ज्ञेयं **ज्ञाने**ति **ज्ञानं** पुष्टिमार्गीयभक्तमात्रविषयकं, तेन भगवान् वशो भवति, भगवान् भक्तानेव जानात्यतस्तद्वशो भवतीति पर्यवसन्नोर्थः **वैराग्य**मन्यत्र रागाभावो भक्तेष्वेव राग इति तेन भक्तविषयकरागेण वशो भवति, पुरुषोत्तमस्वरूपमेव तादृशं यद् भक्ताधीनमिति स्वरूपेण हेतुना भगवान् वशो भवतीत्यर्थः, **स्वाधीनो** भक्ताधीन इत्यर्थः, **अध्यायत्रये** वश्यतोक्तेस्तात्पर्यमिदं "गोपीभिः स्तोभित" इत्यादिना तृतीयेऽध्याये वश्यतोक्तेति-ज्ञेयं, **द्वादशाङ्ग**मिति दशविधा भक्तिः काण्डद्वयप्रतिपादितं च ज्ञानमेतद्द्वयमर्यादामतिक्रम्य **स्वगुणैरेव वश्योऽभव**दित्यर्थः, अत एव भक्तिज्ञानाभावेपि कृपैव हेतुत्वेन वक्ष्यते, **द्वादशाङ्गः** पुरुषः, अस्य पुरुषोत्तमत्वात् तदतिक्रमः **भक्तिर्ही**ति **भगव त्प्राप्ति**र्भक्त्या जायत **इति दशभिः** श्लोकैः प्राप्तिनिरूपणं सात्र **क्रियया** जातेत्यतिपौरुषं सिद्धमिति भावः, **काण्डद्वये**पि द्वादशाङ्गे **समावेशार्थ** इत्यर्थः, **टिप्पण्यां निवारितापी**त्यादिकारिकाव्याख्याने **पूर्वमोहन**मिति, आद्यश्लोकद्वयोक्तं "पूर्वाध्या-योक्तमोहनस्यैव कार्य"मि याद्यश्लोकाभासे कथितत्वादिति भावः, कारिकासु, **तपसे निर्गत** इति तस्यास्तपःसिद्ध्यर्थमित्यर्थः।

एकदेत्यत्र गृहदास्य इति चतुर्विधा अशीतिर्ज्ञेयं, **गृहदासी**ष्विति गृहकार्यकर्त्रीष्वितिज्ञेयं, **गताः** सर्वा अपि, अतो **यशोदैव ममन्थ,** कासुचिदपि सतीषु मुख्याया मथनासम्भवादर्थापत्त्या सर्वासामेव गमनं प्राप्तं, तत्र कर्मान्तरे नियोगो गृहकार्यकर्त्रीणा-मेवेत्यर्थः ॥ १ ॥ **दधिनिर्मथने काले** इत्यस्य टिप्पण्यां **वस्तुतस्त्वि**तिपक्षे **क्रियाशक्तेरिति** हेतौ **पञ्चमी** व्याख्याता, तत्र पक्षे **क्रियायां शक्तिः** सामर्थ्यं तत्सिद्ध्यर्थमिन्द्रियेषु स्थिता ये **तत्तदाधिदैविका**स्तेषामपीन्द्रियमित्यर्थो ज्ञेयः, **आधिदैविक**स्येति जात्यपेक्षयैकवचनम् ॥ २ ॥ **क्षौमं वास** इत्यस्याभासे **गानस्ये**ति पूर्वमगायतेत्यनेन गानस्य मुख्यतोक्ता अत्र **निर्ममन्थे**त्यनेन गानस्य गौणत्वं सूचितमितिभावः **क्षौम**मित्यत **गतिरूपत्व**मिति गतिनिरूपकत्वमस्याः कट्या इत्यर्थः, तटयोर्मध्ये सूक्ष्मायाः कट्याश्चलनाल् लोकरीत्या सौन्दर्यकथनेन **शरीरापेक्षाया आवश्यक**त्वमिति भावः, **पुत्रस्नेहे**त्यत्र **तदभिमानिनी देवते**ति कुच-**युगाभिमानिनी** तन्नियामिका तदावरिकेत्यर्थः, तत्प्रन्थ्योः शैथिल्यात् कम्पो जात इत्यर्थः, भीतेति भयं जाड्यं तद्युक्ता आर्द्रे यर्थः, **सुभ्रू**रित्यस्याभासे **तां दण्डितवन्ताविति** देवताया ग्रन्थिः सम्यक्तया कुतो न बद्धा विदीर्णत्वे वा तामुत्तार्यो या **कुतो न परिहिते**त्यर्थः, उत्तारणेन तदभावरूपो नाशो ग्रन्थिबन्धनेन दुःखप्रापणं च मृत्युयमयोः कार्यं दण्डपदार्थष्टिप्पण्यामुक्तः, **क्लेशहेतवो व्रजजनानां भ्रूभङ्गमात्रेणैव नद्या** दुःखिताश्च भवन्तीति भ्रुवोर्मृत्युयमरूपत्वं भ्रूभङ्गपूर्वकं दर्शने देवतायाः पूर्वोक्तं

दण्डं कुर्यादिति "स्वव्यापारे ही"ति न्यायेन भ्रुवोर्दण्डकर्तृत्वं, एतादृशौ हस्ताविति कूर्परात् किञ्चिदधोभागोत्र भुजपदे-नोच्यते हस्तपदेन सर्वं इति विभागः, कर्मधारये सुवर्णकङ्कणयोश्चलनासम्भवात् काचकङ्कणानां च बहुत्वेन द्विवचनानुपपत्ते र्बहुव्रीहिरुक्तः ॥ ३ ॥ तां स्तन्यकाम इत्यत्र नैकट्यदर्शनाभ्यामिति आसाद्येति नैकट्यं प्रीतिमावह"न्नित्यनेन सूचितं दर्शनं ताभ्यां, "अपाययत् स्तन"मित्यनेनोक्तस्य क्रियारूपस्य 'ईक्षती मुख'मित्यनेनोक्तस्य ज्ञानरूपस्य च निरोधस्य सिद्धिरित्यर्थः, स्वस्यापीति मथनस्य वर्तमानत्वाद् भगवतः करणप्रतिबन्धरूपः प्रयासः, अपिना पूर्वार्थसमुच्चयः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नवमाध्यायार्थनिरूपणे अतो द यासुसम्मिश्रं ज्ञानमिति "कृपयासीत् स्वबन्धने" "एवं सन्दर्शता ह्यङ्ग हरिणा भक्त-वश्यते"तिवाक्ये दयामिश्रं भगवत्स्वरूपज्ञानमुक्तं, ज्ञानवैराग्यरूपैर्हीति प्रसङ्गेन अध्यायत्रयसिद्धार्थमाहुः ज्ञानवैराग्यरूपैर्हीति, अस्मिन् नवमाध्याये ज्ञानं दशमाध्याये वैराग्यं धर्मो एकादशाध्याये इत्यर्थः, अयमर्थः, "स्वमातुः स्विन्नगात्राया" इति वाक्ये भगवतो यशोदायां स्वमातृत्वेन ज्ञानमुक्तं, तथा च पुष्टिमार्गे भगवान् सम्बन्धं सर्वत्र यथावन् मनुते, सम्बन्धेनैव सर्वेष्टसाधको भवति, अतःपुष्टिमार्गीयं यत् स्वसम्बन्धिज्ञानं तद्वान् मतो भगवान्, अतो भक्तवश्यो भवतीतिज्ञानेन वश्यता नवमाध्याये दामोदर-लीलयोक्ता, "नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिहे"त्यनेन शुकैर्भक्त्यैकलभ्य त्वोक्त्या यशोदापुत्रस्य भक्तेतरविषयकं वैराग्यमुक्तं, तद् वैराग्यस्वरूपं नलकूबरोद्धारप्रसङ्गे भगवता प्रतिज्ञया निरूपितं "देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मने"त्यनेन, इह भक्तमात्रे रागवत्त्वात् तादृगवस्थया सहित एव स्वभक्तवाक्यसत्यकरणार्थं भगवांस्तन्निकटे गत इति भक्तेतरविषयवैराग्यं नलकूबरमणिग्रीवोद्धारे दशमाध्याये निर्णीतं, अतो वैराग्येण वश्यो भवतीति सिद्धं, "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित् उद्गायति क्वचिन् मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्" इत्यत्र श्रीबालकृष्णे धर्मो निरूपितस्तस्य च भक्तवश्यत्वं निरूपितं "तद्वशो दारुयन्त्रव"दित्यनेन, अत एव तादृशलीलाविशिष्टं भगवत्स्वरूपमतः स्वरूपेण भक्तवश्यो भवतीति ज्ञेयं, स्वाधीनो भगवानिति स्वशब्दोऽत्रात्मीय-वाची, "स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने" इत्यमरकोशात्, तथा च भक्ताधीनो भवेदित्यर्थो भवति, द्वादशाङ्गमतिक्रम्येति अत्र दशभिः श्लोकै"र्जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृश"दित्यन्तैर्भगवत्प्राप्तिरुक्ता, तत्तात्पर्यं अग्रे वक्तव्यं तामसादिभेदैः सगुणया नवविधया गुणातीतत्वेनैकविधया भक्त्या भगवान् प्राप्यत इति दशश्लोकानां सङ्ख्यातात्पर्यं, ततो द्वाभ्यां "दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदे"त्यन्ताभ्यां काण्डद्वयप्रतिपाद्यत्वे सङ्ख्यातात्पर्यमिति, अग्रे वक्ष्यमाणं, इह तु द्वादशश्लोकैर्भगवद्बन्धनोद्यमपर्यन्तं गतिर्न तु बन्धनमिति विचार्य "एकदे"त्यारभ्य "दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदे"त्यन्तानां द्वादश-श्लोकानां सङ्ख्यातात्पर्यमुक्तं, द्वादशाङ्गमतिक्रम्येत्यनेन "द्वादशो वै पुरुष" इति श्रुतेः पुरुषस्य द्वादशात्मकत्वात् तत्पर्यन्तं गतौ न भगवान् बद्धो भवति, तदतिक्रमस्तु पुष्टिभक्तौ सत्यां भवति, पुष्टिभक्तेः पुरुषोत्तमप्रापकत्वात्, भक्तीतरसाधनानां पुरुषोत्त-मांशपुरुषमात्रपर्यवसानादिति द्वादशश्लोकसङ्ख्यासूचितोर्थः, द्वादशभिः श्लोकैर्बन्धनेच्छामात्रनिरूपणेन बन्धाभावसूचनात् षड्भिर्वश्यो भवेद् गुणैरिति पुष्टिमार्गीयैरैश्वर्यादिभिः षड्भिर्गुणैर्वश्यो भवेदित्यर्थः, "न चान्तर्न बहिर्यस्ये"त्यारभ्य "कृपया-सीत् स्वबन्धन" इत्यन्तानां षण्णां सङ्ख्यातात्पर्यमिदमुक्तं, "कृपयासीत् स्वबन्धन" इत्यत्र कृपापदात् पुष्टिमार्ग एव भगवान् वश्यो भवतीति भणितं श्रीशुकेन, पञ्चपर्वामविद्यां हि लोकानामेवेति "एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यते"त्यारभ्य पञ्चभिः श्लोकैः साधनान्तरप्राप्यो भगवानित्याकारकाज्ञानरूपा लोकानामविद्या नाशितेत्यर्थः, केवलपुष्टिभक्तिमात्रवश्यता-निरूपणात् अविद्यायाः पञ्चपर्वरूपत्वात् तन्नाशः पञ्चश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यलभ्यः, आसक्तिं चेत् स्वतः कुर्याज् जीवः कृष्णे पलायते तदा दृढो निरोधः स्यादिति मातृचरणानामग्रे भगवत्पलायनस्य तात्पर्यमाहुः आसक्तिमित्यादिना, जीवः स्वतः कृष्णे आसक्तिं कुर्यात् कृष्णश्चेत् पलायते तदा निरोधो नाम प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्जीवस्य भवतीत्यर्थः, युक्तं चैतत्, आसक्तिविषयस्य दूरदेशस्थितौ आसक्तिवृद्धेरनुभवसिद्धत्वात्।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नवमाध्याये शास्त्रार्थत इति का० ॥ ६०३ ॥ "यच्छृण्वतोपैत्यरतिर्वितृष्णे"ति श्लोके यच्छृण्वतो हरौ भक्तिर्भवतीति शास्त्रार्थज्ञानसहितभक्तेः साधनस्य पृष्टत्वात् तथैवोत्तरं, किं शृण्वत इति पृष्टे भक्तवश्यताबोधकं चरित्रं शृण्वत इत्युत्तरं जात-मित्यर्थः, तथा च तादृशमुलूखलबन्धनचरित्रं प्राहेत्यर्थः, स्वरूपं चेति का० ॥६१३॥ स्वरूपज्ञापनं द्व्यङ्गुलन्यूनतया कृपालुत्व-ज्ञापनं बन्धनेनेति ज्ञेयं, निरोध इति का० ॥ ६२३ ॥ ननु सर्वज्ञस्य भगवतः प्रपञ्चविस्मृत्यसम्भवेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभक्त-विषयकासक्तिर्न सम्भवतीति चेन्, मैवं, "मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी"ति वचनाद् भगवतोपि भक्तेतर-विषयकज्ञानाभावस्य प्रमाणसिद्धत्वात्, विरुद्धधर्माश्रयत्वान् न सर्वज्ञत्वविरोधोपि, तथा चास्मिन्नध्याये भक्तवश्यताबोधक-बन्धनेन भगवतो भक्तमात्रविषयकं ज्ञानं दयामिश्रितं निरूपितं भवति, ज्ञानवैराग्येति का० ॥ ६३३ ॥ ज्ञानं भक्तमात्रविषयकमे-

तदध्यायोक्तं, **वैराग्यं** दशमाध्यायोक्तं भक्तेष्वेव रागोन्यत्र रागाभाव इति, **रूपमेकादशाध्यायोक्तं**, स्वयमेव धर्मी **भगवान्**, पुरुषोत्तमस्वरूपमेव तादृशं **यद्भक्ताधीनमिति**, **स्वाधीनो** भक्ताधीन इत्यर्थः, अत्राध्याये **जीवाधीना** बन्धनलीला द्वितीयेध्याये "देवर्षिर्मे प्रियतम" इति वाक्याद् भक्तेष्वेव रागोन्यत्र वैराग्यं, तेन भक्ताधीनत्वमेवोक्तं, तृतीयेध्याये "गोपीभिः स्तोभित" इत्यादिना भक्तवश्यतोक्तेति ज्ञेयं, **अतिपौरुषमित्यादि** का० ॥६४३–६५३॥ एतत्कारिकाद्वयेनैतदध्यायान्तर्गत "न चान्त" रित्यादि त्रयोविंशतिश्लोकसङ्ख्यातात्पर्याणि त्रिधा विभज्योक्तानि, अत्र हि "अन्वञ्चमाने" तिदशमश्लोके यशोदाया भगवत्प्राप्तिः, ततो द्वाभ्यां वशीकरणोद्यमः, "न चान्तर्न बहिर्यस्ये" त्यादिभिः षड्भिर्वशीकरणं, ततः पञ्चभिरविद्याबाधनं, तत्र द्वादशश्लोकानन्तरं षड्भिः श्लोकैर्वशीकरणोक्तितात्पर्यम**तिपौरुषमेत**द्धीत्यनेनोक्तं, **एतद्** भगवद्वशीकरणं **जीवानां** पौरुषसाध्यं न भवति, तथा च द्वादशाङ्गपुरुषमर्यादा**मतिक्रम्य** स्वकीयैरैश्वर्यादिभिः **षड्भिर्गुणैरेव** पुरुषोत्तमो **वश्यो भवेदिति** सङ्ख्यातात्पर्यम् ॥ ६५३ ॥ **एकदा गृहदासीष्वित्यत्र निवारितापीति** का० ॥ ६६३ ॥ ननु मायाकार्याद् भगवत्कार्यं बलिष्ठमिति भगवत्कृते निवारणे सत्यपि कथं गृहकृत्ये प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः **पुनर्मोहितेति**, अत्र हि मोहनं द्विविधं "वैष्णवीं व्यतनोन् मायां पुत्रस्नेहमयीं विभु" रिति पूर्वाध्यायोक्तमेकं, अत्राध्याये "तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुख" मिति श्लोकोक्तमाया रूपस्मितकृतं च द्वितीयं मोहनं, तत्र "गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावह" न्निति भगवत्कृतनिषेधेन पूर्वमोहापगमेना-वश्यकमपि कार्यं त्यक्त्वा भगवत्परापि यशोदा "सस्मितमीक्षती मुख" मितिवाक्यात् स्मितेन **पुनर्भगवता मोहिता** सती गृहकृत्ये प्रवृत्तेत्यर्थः, नन्वन्यासक्तिहेतुत्वेन निरोधविरोधि पूर्वमोहनमित्याशङ्काभावायाहु**र्गुणगान** इति, भगवत्कृतत्वान् मोहस्य तत्कालोपि गुणगानार्थमेवाभूदित्यर्थः, मोहेस्मिन्निति रूपद्वयं, विषयासक्तिजनकत्वं भगवत्कृतत्वं च, तेन **द्वाभ्यां** श्लोकाभ्यां दधिमथनरूपं **संसारकार्यं गुणगानं** चोक्तमितिशेषः, ननु मोहस्य भगवत्कृतत्वे "न्यषेधत् प्रीतिमावह" न्निति भगवत्कृतो दधिमथननिषेधोनुपपन्न इत्याशङ्क्य तन्निमित्तमाहुः **ततः श्रमोभवदिति**, ततः श्लोकद्वयानन्तरमेकेन "क्षौमं वास" इत्यनेन श्रमो-भवदिति निरूप्यत इत्यर्थः, यत एवमतो भक्तक्लेशासहिष्णुत्वेन निषेधः कृत इत्याहुरत इति का० ॥ ६७३ ॥ "तां स्तन्यकाम आसाद्ये" ति चतुर्थश्लोकोक्तो दधिमथननिषेधः, ततो भक्तेः सारभूतं स्तन्यं हरिः पपौ, पुत्रादिविषयकस्नेहेन मातरि **स्तन्योत्पत्तेः स्तन्यस्य भक्तिसारत्वं**, **एतेन 'तमङ्कमारूढमपाययत् स्तन'**मिति पञ्चमश्लोकपूर्वार्धार्थ उक्तः, उत्तरार्धार्थमाहु**स्ततो रिक्तेति**, भक्त्यात्मकस्तन्ये पीते सति **रिक्ता** भक्तिशून्या सती **पूर्वबुद्ध्या** संसारासक्त्या **सङ्गता अन्यत्** कार्यं **चकार** उत्सिच्यमानपयोरक्षार्थं गमनं चकारेत्यर्थः, एवमिति का० ॥ ६८३ ॥ अनेन "स जातकोप" इति षष्ठश्लोकार्थ उक्तः, धौर्त्यमिति का० ॥ ६८३ ॥ यथा लोकाः स्वसुतधौर्त्यं दृष्ट्वा प्रीता भवन्ति तद्वत्, तस्मात् लौकिकदृष्ट्या दर्शनाद् भगवन्तं न पश्यति, अनेन "विलोक्य भग्नं स्वसुतस्य कर्म तज् जहास तं चापि न तत्र पश्यती" त्यस्यार्थ उक्तः, "उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थित" मिति श्लोकार्थमाहु**र्जिज्ञासायामिति** का० ॥ ६९३ ॥ भगवान् कुत्रास्तीति **जिज्ञासायां** सत्यां **ततो** जिज्ञासाबलादेव भगवन्तं **दृष्ट्वा प्राप्त्यर्थं** ग्रहणार्थं **यत्नं** कृतवतीत्यर्थः, तदुक्तं "निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनै" रिति, "तामात्तयष्टि" मिति श्लोकोक्तार्थमाहु **र्विरुद्धांस्तानिति** का० ॥ ६९३ ॥ **तान्** यष्टिग्रहणादियत्नान् **विरुद्धान् ज्ञात्वा हरिस्तपसे** यशोदाया अनुधावनयत्नात्मकतपः सिद्ध्यर्थं निर्गतः, तपोन्तःकरणदोषापहं दुःखरूपं भगवत्प्रापकं चेत्यनुधावनयत्ने तपस्त्वमुक्तं, "अन्वञ्चमाने" ति दशमश्लोकार्थमाहुः **पूर्ण** इति का० ॥ ७०३ ॥ अत्र दशानां श्लोकानां परोक्षार्थोपि विवक्षित इत्याशयेनाहुः **परोक्षेति** का० ॥ ७०३ ॥ परोक्षार्थमेवाहु**रासक्तिमिति** का० ॥ ७१३ ॥ **जीवः स्वत आसक्तिं कुर्यात् कृष्णश्चेत् पलायते तदा निरोधो दृढः स्यात्** प्रियपदार्थदूरस्थितेरासक्तिदार्ढ्यजनकत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः, प्रकृते च यशोदाया भगवत्पश्चाद्गमने सति भगवतः पलायनेन अयं निर्णयः परोक्षवादात् सिद्धः **कृष्णे पलायिते** इति सप्तम्यन्तपाठे तु पलायितेपि कृष्णे जीवः स्वत आसक्तिं चेत् कुर्यात् तदा निरोधो दृढः स्यादित्यर्थः ॥ ७१३ ॥ **"तां स्तन्यकाम"** इत्यत्र **सर्वाङ्गमिति** का० ॥ ७२३ ॥ "प्रीतिमावह" न्नितिपद-सूचितोयमर्थः ॥ ७२३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

नवमे भाण्डभङ्गादि कृत्वा भीत्या प्रधावतः । कृष्णस्याप्यथ तन्मात्रा बन्धनं विनिरूप्यते ॥ १ ॥

पुनर्यशोदायां भगवतः कृपातिशयं प्रदर्शयँल्लीलान्तरमाह—**एकदेति** । एकदा गृहदासीषु कर्मान्तरे नियुक्तासु सतीषु, यशोदा स्वयं दधि निर्ममन्थेत्यन्वयः । स्वयं निर्मन्थने हेतुं सूचयन् विशिनष्टि—नन्दगेहिनीति । गेहिन्या गृहदास्यभावे गृहकार्यस्यावश्यकत्वात्, अन्यथा दध्यादिवैरस्येन महती क्षतिः स्यादित्याशयः ॥ १ ॥ तदा च दधिनिर्मन्थने काले सः प्रसिद्धो बालः तद्बालः, तस्य यानि यानि बालचरितानीह पुराणादिषु गीतानि तानि स्मरन्ती अगायतेत्यन्वयः । **अनेन** भगवद्भक्तानां **लौकिकव्यापारे**ऽपि भगवत्परता प्रदर्शिता ॥ २ ॥ तत्समये तस्याः शोभातिशयं वर्णयति - शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः । कवरात् केशबन्धात् विगलत्यो मालत्यो यस्याः सा यशोदा पृथुकटितटे सूत्रनद्धं काञ्चीबद्धं **क्षौमं** कौशेयं वासो **वस्त्रं** बिभ्रती । 'कटितटे' इत्यनेन मन्थनावेशाद्वस्त्रानुसन्धानं सूचितम् । तथा जातकम्पं पुत्रस्नेहेन स्नुतं दुग्धस्राविकुचयुगं च

बिभ्रती, चकाराज्जातकम्पं शिरश्च बिभ्रती । रज्ज्वोराकर्षेण श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ बिभ्रती, कर्णयोः कुण्डले च बिभ्रती, स्विन्नं स्वेदयुक्तं वक्त्रं बिभ्रती दधि निर्ममन्थेत्यन्वयः ॥ ३ ॥ तां दधि मथ्नन्तीं जननीं प्रत्यासाद्य आगत्य दधिमन्थानं मन्थनदण्डं गृहीत्वा न्यषेधत् मन्थननिषेधं कृतवान् । निषेधे हेतुमाह—स्तन्यकाम इति । दुग्धपानकाम इत्यर्थः । दधिनिर्मन्थनेऽभिनिविष्टचित्तायास्ततो निवारणे दौर्मनस्यं स्यात्, अतः प्रीतिमावहन् यथा तस्याः प्रीतिः स्यात्तथा चेष्टां कुर्वन्नित्यर्थः । तदुक्तम्—"सर्वांगं चालयन् हस्तौ पादौ चैव विचालयन् । मुखाच्च मधुरारावं बिभ्रत् कृष्णः समागतः" इति ॥४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नवमे पय उत्सिक्ते भग्ने कृष्णेन भाजने । माता बबन्ध तं दाम्ना तत्र श्लोकास्त्रिबाहवः (२३) ॥
उवाचे (१) त्वेकमर्द्धाढ्याः सप्तवेदा (४७) अनुष्टुभः ॥ ९ ॥

एकदेति ॥ एकदा तृतीयवर्षे दीपमालिकामहोत्सवदिने इति तोषणी । गृहदासीषु कर्मान्तरे इन्द्रयागकार्ये नियुक्तासु सतीषु नन्दस्य गेहिनी यशोदा दधि स्वयं निर्ममन्थ । अत्र श्यामैकणवदनन्तासु गोषु याः पद्मगन्धाख्या अतिस्वादुसुगन्धिदुग्धाः सप्ताष्टा एव गावः तासामेव दुग्धदध्यादिकं कृष्णस्य योग्यमिति मत्वा दासीः कर्मान्तरे नियुज्य दधि स्वयं निर्ममन्थ । उपलक्षणत्वाद्दुग्धमप्यावर्त्तयत् ॥ १ ॥ यानीति ॥ तदा च दधिनिर्मन्थने काले गृहान्तः शायितो यः सः प्रसिद्धो बालस्तद्बालस्तस्य यानि यानि बालचरितानि इह व्रजे गीतानि कविभिर्गीतेषु निबद्धानि तानि स्मरन्ती गृहान्तःसुप्तकृष्णादर्शनोत्थस्वान्तःक्षोभस्य शान्तये अगायत । तङार्षः ॥ २ ॥ क्षौममिति ॥ शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः । कबरात्केशबन्धात् विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः सा । कबभाव आर्षः । यशोदा पृथुकटितटे सूत्रनद्धं काञ्च्याबद्धं क्षौमं कौशेयं वासो वस्त्रं बिभ्रती तथा जातकम्पं पुत्रस्नेहेन स्नुतं दुग्धस्राविकुचयुगं च बिभ्रती चकाराज्जातकम्पं शिरश्च बिभ्रती रज्ज्वोराकर्षेण श्रमो ययोस्तयोर्भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ बिभ्रती कर्णयोः कुण्डले च बिभ्रती स्विन्नं स्वेदयुक्तं वक्त्रं बिभ्रती दधि निर्ममन्थ । यशोदायाः श्यामो वर्णः क्रमदीपिकायाम् । सुवर्णतुल्यो गौतमीयतन्त्रे । पञ्च बिभ्रतीति व्याख्या निस्सारा ॥ ३ ॥ तामिति ॥ प्रातरन्तर्गृहात्प्रबुद्धय बहिर्निःसृत्य स्तन्यकामः दुग्धपानेच्छुः हरिः तां तद्दधि मथ्नन्तीं जननीं प्रत्यासाद्य आगत्य दधिमन्थानं मन्थनदण्डं गृहीत्वा प्रीतिमावहन् यथा प्रीतिः स्यात्तथा चेष्टां कुर्वन्नित्यर्थः । न्यषेधत् मन्थननिषेधं कृतवान् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं नवमे चुल्लीस्थदुग्धोत्तारणार्थं स्वमातरि गतायामपूर्णीकृतस्तनपानेन हरिणा कृतोदधिमंथनभांडभंगउलूखलेतद्बंधनं च निरूप्यते—नंदस्य गेहनी पत्नी कर्मांतरेषु दधिमंथनादन्यकृत्येषु यानि युक्तास्तासु ॥१॥ इह ग्रंथे गीतानि निर्मंथनं विलोडनं इत्यादीनि यस्मिंस्तस्मिन्काले ॥ २ ॥ सूत्रेण काञ्च्यानद्धं बद्धं क्षौमं सूक्ष्मं पृथौ विस्तृतकटेः तटे बिभ्रती जातकंपं पुत्रस्नेहस्नुतं कुचयुगं च बिभ्रतीति सर्वत्रयोज्यं रज्वोः आकर्षणेन श्रमः ययोस्तयोः भुजयोश्चलंतौ कंकणौ चंचले च स्विन्नं स्वेदकणिकायुक्तं वक्त्रं च बिभ्रती कबरात्केशपाशात्विगलंत्यो मालत्या यस्याः सा सुभ्रूः दधि निर्ममंथ ॥ ३ ॥ स्तनभवे दुग्धे काम इच्छा यस्य दधिमंथानं दधिमथनदंडं गृहीत्वा ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पयसि गोपिकोत्सिक्ते गत्वाऽथ नवमे कृतिम् । तस्यालोक्यामत्रभञ्जरूपां दाम्ना बबन्ध तम् ॥ १ ॥
तन्वाऽऽस्यस्थ जगद्दृष्ट्वा मात्रे विस्मितचेतसे । स्वबन्धद्वयङ्गुलापूर्त्या पूर्णतां स्वामदर्शयत् ॥ २ ॥

इत्थं मात्रे प्रदर्शितविश्वरूपस्य श्रीकृष्णस्यापरिमेयरूपतायाः पूर्णतायाश्च प्रदर्शनमाह ॥ एकदेति ॥ एकदा, गृहदासीषु कर्मान्तरनियुक्तासु व्यापारान्तरेष्वाविष्टासु सतीषु, नन्दगेहिनी नन्दस्य पत्नी यशोदा, स्वयमेव, दधि निर्ममन्थ ॥ १ ॥ यानीति ॥ इह लोके, यानि यानि कविभिरिति शेषः । तद्बालचरितानि श्रीकृष्णस्य बालचेष्टितानि, गीतानि गद्यपद्यादिरूपेण निबद्धानि सन्ति, तानि स्मरन्ती स्मृतिपथमानयन्ती सती, दधिनिर्मन्थने काले, अगायत च ॥ २ ॥ कथंभूता सत्यगायतेत्यपेक्षायां मथ्नन्ती सतीत्याह ॥ क्षौममिति ॥ वासःप्रभृतीनां द्वितीयान्तानां बिभ्रतीत्यनेनान्वयः । पृथुकटितटे, सूत्रनद्धं काञ्चीनिबद्धं क्षौमं क्षुमासूत्रजं दुकूलमिति यावत् । वासो वस्त्रं बिभ्रती, जातः निर्मन्थनानुकूलव्यापारसभूतः कम्पो यस्य तस्याः स्नेहेन स्नुतयोः पयःस्राविणोः कुचयोर्युगं च, बिभ्रती, रज्ज्वाकर्षेण श्रमो ययोस्तौ च तौ भुजौ च तयोः चलन्तौ च तौ कङ्कणौ च तौ, कुण्डले श्रवणाभरणे च, बिभ्रती, स्विन्नं प्रस्वेदभरितं, वक्त्रमास्यं च, बिभ्रती, कबरात् केशपाशात् विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः सा, शोभने भ्रुवौ यस्याः सा तथाभूता सती, दधि निर्ममन्थ । केचित्तु, जातकं पञ्चेत्यत्र जातकं पञ्च, इति छित्त्वा क्षौमं वास इत्यादीनि, पञ्च, बिभ्रती, कबरविगलन्मालती सुभ्रूः, जातकं दधि, ममन्थेति व्याख्यां कुर्वन्ति । 'जातकं दधिकर्मणोः' इति कोशं च पठन्ति । स कोशश्चिन्त्यः, मेदिन्यादिषु तस्यादर्शनात् , यदि तथाविधं कोशान्तरं स्यात्तर्हि तथापि

व्याख्याऽस्तु ॥ ३ ॥ तामिति ॥ मथ्नन्तीमुक्तप्रकारेण दधिमन्थनं कुर्वन्तीं, तां पूर्वोक्तप्रकारां, जननीं स्वमातरं यशोदां, आसाद्य, समीपमेत्य, स्तन्यकामः स्तन्यं कामयमानः, हरिः श्रीकृष्णः, प्रीतिं आवहन् मातुः प्रीतिं स्वस्मिन्नुद्भावयन् सन्नित्यर्थः। दधिमन्थानं दधिमन्थनदण्डं, गृहीत्वा, न्यषेधन्निवारयामास ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एकदेतिः १०.९.१.

आलम्ब्य नामरूपाणि सक्रीडो भवतीश्वरः। सिद्धैव गोकुले मातृप्रपञ्चव्याप्तिस्तदा ॥ १ ॥

दृष्ट्वापि विश्वमखिलं हि हरौ विशुद्धचित्तोऽपि पूर्वदृढसंस्कृतिवासितात्मा।
तत्तद्गुणाकलनतः पुनरेव कर्मासक्तो भवत्यलमिहाजनि मानमेषा ॥ २ ॥

श्रीशः क्षीरधिवास्यपि प्रतिपलं स्तन्यामृतं याचते यस्या यद्गुणतो बभूव सगुणं रूपं परब्रह्मणः।
साऽऽनन्दस्य गृहं स्फुटैव समभून्नन्दाङ्गना दध्यपि तच्च स्पष्टमभूच्छुभावहमिति व्यक्तं विशेष्यान्वयात् ॥ ३ ॥
श्रीशस्यैव विशेषरञ्जनकृते सा योजयित्वा क्वचिद्दासीस्तद्दधिमन्थनं कुतुकतश्चक्रे विभातीदृशम्।
सर्वासां कथमन्यथा तु युगपत्कार्यान्तरव्याप्तिस्तस्या वाऽच्युतलालनैक मनसस्तत्रावकाशोऽजनि ॥ ४ ॥

तां स्तन्यकाम इतिः १०.९.४.

अनीहगीतान्यपि मच्चरित्राण्यारब्धकर्मण्यपि कामितार्थे।
गायेत्स्मरेद्यः सुलभोऽहमस्याप्यस्मीति तामागमनाद् व्यबोधि ॥ ५ ॥

नालङ्कारोऽम्बरं वा विविधविषयसंभोगयोगोऽथवा मत्प्राप्त्यानन्दान्तरङ्गैर्नृभिरिह जगति त्याज्य एवेति किन्तु।
श्रेयः पर्याप्तिभूमेर्मदतिरतिकृतो मच्चरित्रस्य गाने निष्ठा येषां न तेषामहमसुलभ इत्येतदाबोधयत् सः ॥ ६ ॥
तत्तत्संसृतिकार्यजातसमनुष्ठानेऽपि यः श्रीपतेः, लीला–नामगुणानुगानममलं कुर्याद्यदि प्रेमतः।
तद्धार्दामृतमाजिघृक्षुरपरं कृत्यं विहायादरात् तं श्रीशोऽनुसरत्यभूदयमभिप्रायः स्फुटो मन्थने ॥ ७ ॥

पूर्णकामोऽप्यहं भूयो भक्तहार्दरसस्पृहः। अस्मीति प्रस्फुटीकर्तुं स्तन्यकामो बभूव सः ॥ ८ ॥
मयि प्रीते न भीः कर्मण्युज्झितेऽपि कृतान्तजा। यतो दण्डधरोऽस्म्यस्मिन्नहमेवेत्यबोधयत् ॥ ९ ॥

कृत्वा हीनगुणावृतं मतिमयं मन्थं बुधा यत्कृते यत्नेनोपनिषत्सुधाब्धिममला मथ्नन्ति सोऽहं यदि।
भक्त्या यद्वशतां गतोऽमृतमयस्तेनाथ मिथ्याश्रमः कार्यो नैव तुषावघातवदिति प्रायो न्यषेधत् प्रभुः ॥ १० ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन् ! एक दिन की कहानी है कि नन्दबाबा की गृहिणी श्रीयशोदाजी ने घर की सब दासियों को खेत आदि दूसरे भिन्न भिन्न कामों में लगा दिया और स्वयं अपने लालन को नवनीत खिलाने के लिये—दधि मथने लगी ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने इस गोकुल में निर्दोष मधुर बालचरित किए थे ओर शास्त्र एवं लोक में जो प्रसिद्ध थे, माता यशोदा उन सर्व चरित्रों का प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर स्मरण कर गीत बनाकर गाती भी जाती थी ॥ २ ॥ माता यशोदाजी ने अपने विशाल कटि तट में धारण किये रेशमी वस्त्र ऊपर रेशम के सूत की करधनी धारण की थी। माता के वक्षःस्थल से-पुत्रस्नेह की अधिकता के कारण दूध चूता जा रहा था और सुंदर भ्रुकुटि वाली माता यशोदा काँप भी रही थी। मथानी की नेती खींचने के परिश्रम से दोनों हस्त के कंकण एवं कानों के कुण्डल हिल रहे थे मुख कमल पर पसीने के कण झलक रहे थे और माताजी ने वेणी में गूँथे हुए मालती के मनोहर पुष्प गिरते जा रहे थे इस प्रकार मनोहर भौंहोवाली माता दही मथ रही थी ॥ ३ ॥ ऐसे अवसर भगवान् पर श्रीकृष्ण स्तन्य पान की कामना से माता यशोदाजी के पास आ पहुंचे। दधि मन्थन कर रही माता के हृदय में प्रेम प्रमोद को बढ़ाते हुए हरिने दही की मथानी पकड़ ली और दधि मथने से अम्मा को रोक लिया ॥ ४ ॥

तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्नुतं[1] सस्मितमीक्षती मुखम्[2] ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥ ५ ॥
[3]स जातकोपः स्फुरितारुणाधरं संदश्य दद्भिर्दधिम[4]ण्डभाजनम् ।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो [5]जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः ॥ ६ ॥
उत्तार्य गोपी सुश्रृतं पयः पुनः प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म तज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥
उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिचि[6] स्थितम् ।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अङ्कं आरूढं सस्मितं मुखं ईक्षती स्नेहस्नुतं स्तनम् अपाययत्, तु अधिश्रिते पयसि उत्सिच्यमाने अतृप्तं तं उत्सृज्य सा जवेन ययौ ॥ ५ ॥ जातकोपः सः स्फुरितारुणाधरं दद्भिः संदश्य दृषदश्मना दधिमण्डभाजनं भित्त्वा अन्तरं गतः रहः हैयङ्गवं जघास ॥ ६ ॥ गोपी सुश्रृतं पयः उत्तार्य पुनः प्रविश्य दध्यमत्रकम् भग्नं संदृश्य स्वसुतस्य तत् कर्म विलोक्य च तं अपि तत्र न पश्यती जहास ॥ ७ ॥ उलूखलाङ्घ्रेः उपरि व्यवस्थितं मर्काय शिचि स्थितं हैयङ्गवं कामं ददतं चौर्यविशङ्कितेक्षणं सुतं निरीक्ष्य पश्चात् शनैः आगमत् ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अधिश्रिते चुल्लिमारोपिते उत्सिच्यमाने अतितापेनोद्रिच्यमाने ॥ ५ ॥ दृषदश्मना शिलापुत्रेण । अंतरं गृहमध्यं गतः रह एकांते नवनीतमभक्षयत् ॥ ६ ॥ सुश्रृतं सुतप्तम् दधिमंथनस्थानं प्रविश्य भिन्नं संदृश्य दृष्ट्वा ॥ ७ ॥ उलूखलांघ्रेः परिवर्तित-स्योलूखलस्योपरि । शिचि शिक्ये । चौर्येण विशंकितं चंचलमीक्षणं यस्य तं सुतम् ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अधिश्रितेऽधिकपक्के वा पयोवरोपयितुमिति शेषः । अहो लालस्यास्य बुद्धिरित्युक्त्वा मथनादुपरम्योपविष्टा स्वय-मंकमारूढं तमुत्सृज्य ययौ । ननु श्रीकृष्णादपि तस्या दुग्धमतिममतास्पदमभूत् यदनुरोधेनातृप्तः कृष्णोऽप्युपेक्षितः । सत्यम् । तत्पयश्च तस्यैव "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्तत्कृते" इत्युक्तेः । बालोऽयं न कामपि स्वसंपत्तिं रक्ष्यां जानातीत्यतो मयैव सा रक्ष्येति तत्त्यागस्तत्स्नेहमयः गोपजातीनां च सर्वतो दुग्धसंपत्तावेवाग्रह इति । यथात्मसंपत्त्यर्थं सह्यमानेप्यात्मदुःखे स्नेहविशेष एवात्मनि गम्यते तद्वदिहापि ज्ञेयम् । पितरौ च पुत्रस्यापामदुःखं सोढ्वाप्युदर्कधनदेहविद्यादिसंपत्त्यर्थकर्माणि सदैवेहेते तच्चौषधपायनस्नपनादौ प्रसिद्धमिति तोषिणी ॥ ५ ॥ 'दधिमंडो भवेन्मस्तु' इति हलायुधः । 'दृषदश्माल्पपाषाणे' इति धरणिः । हैयंगवं नवनवनीतं ह्यो गोदोहोद्भवं घृतम् । हैयंगवीनम् संज्ञायाम्" इति निपाताद्धैयंगवीनं हैयंगवमितित्यार्षम् ॥६॥ उत्तार्य चुल्ल्या अन्यत्र निधाय । तत् सर्वम् । तं सुतम् । तत्र दधिमंथनस्थाने । विलोक्य वामतर्जन्या नासाग्रं स्पृष्ट्वेति भावः ॥ ७ ॥ पश्चात्पृष्ठतः काकादिभयाद्विवर्त्य स्थापितोलूखलोपरि स्वस्तिकासनेनोपविष्टम् । अंतर्गृहप्रवेशानंतरं यत्किं-चिदुक्त्वा सत्वरमवशिष्टं हैयंगवीनं सभांडमेव गृहीत्वा मातृवंचनाय पश्चाद्द्वारेण निर्जनं गृहपश्चाद्देशं गत्वेति शेषः । पूर्वं शिक्ये स्थापितं यत्तदेवेति चौर्येणानीतमित्यर्थः । चौर्याद्धेतोर्मातृताडनभयाद्विशंकिते तदागमनानुसंधानपरे ईक्षणे यस्य तं गृहांतर्गतैरतिर्यग्ग्रीवं निरीक्ष्य तद्दृष्टिवंचनार्थं तत्पृष्ठतस्तं जिघृक्षंती । शनैः स्वपादशब्दाभावार्थम् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सस्मितं पयसः स्वयं स्नुतत्वान्मधुरत्वाच्च स्मितेन गण्डे लक्ष्यमाणेन सहितं मुखं तस्येक्षमाणा अतृप्तमपि त्यक्त्वा । ननु, तं पाययन्त्येवाङ्के कृत्वा कुतो न गता तत्राह—जवेनेति । तथा सति वेगेन गमनासिद्धेः तत्रैव हेतुः उत्सिच्यमान इति उदिञ्चतीत्यर्थः । एवं दृष्टिगोचरे अनतिदूरे पयः पाकस्थानं ज्ञेयं तत्पयोपि मथ्यमानदधिवदेव इति क्षणिकतत्त्यागोऽपि कृतः । अथवा "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इति कैमुत्यात् तस्यास्तु विशेषतः सर्वं तस्यैव पितरौ च पुत्रस्यापात-

---

१. स्नुतं-श्रीधर. वंशी वीर. विज. जीव. । २. सुतम्-इति कस्यचित् । ३. संजातकोपः-श्रीधर. वंशी वीर. विज. । ४. धरः इति कस्यचित् । ५. मन्थ-श्रीधर. वंशी. विज. । ६. जहार-च. पु. टी. । ७. शुचिस्मितं-वीर ; यथेप्सितं-विज. ।

दुःखं सोढ्वाप्युदर्कदेहधनविद्यादिसम्पत्त्यर्थकर्माणि सदैवे हते तच्चौषधपायनस्नपनताडनादौ प्रसिद्धम् अन्यत्र च न सम्भवतीत्यन्यभावदुर्बोधो मातापितृस्नेहपरिपाकः खल्वसौ गोपजातीनाञ्च सर्वतो दुग्धसम्पत्तावेवाग्रहः ततोऽयं बालको न काञ्चिदपि स्वसम्पत्तिरक्षां जानातीत्यतो मयैवाधुना सा कर्त्तव्येति धिया तत्परित्यागेन तदर्थगमनमपि तत्स्नेहमयमेव यथात्मसम्पत्त्यर्थं सह्यमानेप्यात्मदुःखे स्नेहविशेष एवात्मनि गम्यते तद्वदिति विवेचनीयम् अत एव तुशब्दः ॥ ५ ॥ जातकोप इत्यादिकमशेषं मातृस्नेहमयबाल्यलीलावेशमाधुर्यं वर्णितं तत्तद्भावानां तन्मनस्येवोद्भूतत्वात्तच्चेष्टानां च रहस्येव कृतत्वात्तात्त्विकमेवेति दर्शितं प्रौढदृष्ट्या मृषा वृथापि बाल्यस्वाभावेनैव अश्रु यस्य सः "लास्यम्पश्यति यस्तस्याः" इत्यादिभङ्गिपद्ये मिथ्यासौ विहितेन्द्रिय इति वत्। यद्वा, कदाचित्कैतवादिना मिथ्यारोदिति अधुना तु अमृष्टाश्रुः अतृप्तत्वादिति मुनीन्द्रस्य सविनोदसाक्षित्वं दृषदश्मनेति निःशब्दं तत्तले शनैरल्पछिद्रार्थम् अन्तरमन्तर्गृहं गतः सन् हैयङ्गवं हैयङ्गवीनं ह्योगोदोहस्य सद्यो नवनीतं तादृशघृतमेव तदित्यमरसम्मतावपि कात्यस्तु नवनीतमित्याहेति क्षीरस्वामिलेखात् तदिदं च प्रथममथितादुद्धृत्य धृतत्वात् ह्योगोदोहोद्भवत्वं न व्यभिचरति ॥ ६ ॥ सुष्ठु श्रृतं पक्वं भग्नं भिन्नं तच्च सुतस्यैव कर्मेति विलोक्य निर्द्धार्य तादृशे कर्मण्यन्यस्याप्रवृत्तेर्भङ्गचातुर्य्यविशेषोपलब्धस्तस्य कोपसम्भावनाच्च तमपि तत्रापश्यन्ती जहास तस्यातिचापल्येन भेदने चातुर्येण भीत्याऽपसरणेन गृहान्तस्तां किङ्किण्यादितच्चालितभाण्डादिशब्दाश्रवणेन च ॥ ७ ॥ काकादिभयाद्विवर्त्य स्थापितस्योलूखलस्योपरि स्वस्तिकासनेनोपविष्टम् अन्तर्गृहप्रवेशानन्तरं यत्किञ्चिदेव भुक्त्वा सत्वरमवशिष्टं हैयङ्गवीनं सभाण्डमेव गृहीत्वा मातृवञ्चनाय पश्चात् द्वारेण निर्जनं गृहपश्चाद्देशं गत्वेति शेषः। पूर्वं शिक्ये स्थापितं यत् तदेवेति विशेषचापल्यदर्शनमप्युक्तं पश्चात् सुतस्य पृष्ठतः तद्दृष्टिवञ्चनार्थम् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सस्मितं मुखं तस्येक्षमाणा स्नेहस्नुतत्वादेव क्षुधितत्वादेव वा। तत्पानेऽतृप्तमपि त्यक्त्वा। ननु तं पाययन्त्येवांके कृत्वा कुतो न गता? तत्राह—जवेनेति; तथा सति वेगेन गमनासिद्धेः। तत्रैव हेतुः—उत्सिच्यमान इति। एवं दृष्टिगोचरेऽनतिदूरे पयः पाकस्थानं ज्ञेयम्. तत्पयोऽपि मध्यमान-दधिवदेवेति तस्यैवोपभोगापेक्षया लवमात्रमन्यत्र गमनदोषोऽपि परिहृतः स्यात्, अत एव तु-शब्दः ॥ ५ ॥ जातकोपस्त्यक्तत्वादतृप्तत्वाद्वेत्यादिकमशेषमातृस्नेहभरेण तत्कालीन-स्वभावेन वा बाल्यलीला-माधुर्य्यमेव ज्ञेयम्। मृषा कारणाभावेऽपि मातृप्रतारणार्थमश्रुयस्य सः, यद्वा, कदाचित् कैतवादिना मिथ्यापि रोदित्यधुना त्वमृपाश्रुरतृप्तत्वात्। दृषदश्मनेति निःशब्दमधोदेशे शनैरल्पच्छिद्रार्थम्, हैयंगव तुंगशिक्यस्थितं जघास, महदुलूखलमेकमानीय परिवर्त्त्य तदङ्घ्रेरुपरिभागमारूढः सन्निति ज्ञेयम्; तच्चातृप्तत्वेन बुभुक्षया किंवा कोपादेव ॥ ६ ॥ सद्य उत्तार्य्य, संदृश्य साक्षाद्दृष्ट्वा दधिमण्डप्रवहणात्। तच्च सुतस्यैव कर्मेति विलोक्य निर्द्धार्य्य,—तादृशे कर्मण्यन्यस्याप्रवृत्तेरशक्तेश्च। तमपि तत्रापश्यन्ती जहास—तस्यापि चापल्येन भेदेन चातुर्य्येण वा भीत्यापसरणेन वा। चकाराच्छनैस्तं मृगयामास च, विशेषेण पादाञ्जांगुष्ठद्वयाग्रावष्टम्भनेन ॥ ७ ॥ अवस्थितमवधानेनोर्द्धावस्थितया सन्तम्। मर्कायेमिति जातावेकत्वम्, मर्कटेभ्य इत्यर्थः। पश्चात् सुतस्य पृष्ठतस्तद्दृष्टिवञ्चनार्थम् ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

उत्सिच्यमाने स्थाल्या बहिर्निर्गच्छति ॥ ५ ॥ दृषदश्मना पेषणयश्मना हैयङ्गवं नवनीतं हैयङ्गवशब्दः तद्धितः ॥ ६ ॥ अनुत्तानप्रदेशमुत्तार्य आश्रयणस्थानादन्यत्र निधाय दध्यमत्रकं दधिभाजनम् ॥ ७ ॥ उलूखलाङ्घ्रेरुपरि अधोमुखविन्यस्तोलूखलस्योपरीत्यर्थः। मर्कटाय मार्जारायेति केचित् मर्कार्थं दधिसारार्थमागताय सखीजनायेति केचित्। अथ पूर्णलक्षणोपहतं हैयङ्गवं मर्काय मर्कटाय कामं ददतमित्यन्वयः ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तं निषेधन्तं कृष्णमङ्कमुत्सङ्गमारूढं स्नेहेन स्नुतं स्तनमपाययत्, कथम्भूता? स्मितेन सहितं सुतस्य मुखमीक्षन्ती तदाधिश्रिते चुल्लीमारोपिते पयसि क्षीरे उत्सिच्यमाने गाढाग्निसम्पर्कात्पात्राद्बहिर्निर्गच्छति अतृप्तं स्तन्यपानादतृप्तं पुत्रमुत्सृज्य सा यशोदा जवेन ययौ जलप्रक्षेपादिना क्षीरतापं शमयितुं जगाम ॥ ५ ॥ स उत्सृष्टः कृष्णः सञ्जातकोपः दद्भिर्दन्तैः स्फुरन्तं चलन्तमरुणमधरमधरोष्ठं सन्दश्य मृषाऽश्रूणि यस्य तथाभूतो दृषदश्मना पेषणयश्मना दधिमन्थभाण्डं अन्तरं गृहमध्यं गतः हैयङ्गवं नवनीतं जघासैकान्ते नवनीतमभक्षयदित्यर्थः ॥ ६ ॥ तदा गोपी यशोदा सुश्रृतं सुपक्वं पय उत्तार्य चुल्या अवरोप्य पुनस्तत्र प्रविश्य दध्यमत्रकं दधिमथनभाण्डं भग्नं विलोक्य च तत्सुतस्य कर्म प्रति जहास हसितवती तं सुतं तत्र न पश्यती नापश्यच्च ॥ ७ ॥ तत उलूखलाङ्घ्रेरुपरि अथोमुखविन्यस्तोलूखलभागस्योपरि व्यवस्थितं मर्कटाय मार्जारायेति केचित् नवनीतार्थमागताय सखीजनाय वा हय्यङ्गवं नवनीतं काममिष्टं यथा तथा ददतं प्रयच्छन्तं चौर्येण विशङ्किते चञ्चले ईक्षणे यस्य तं निरीक्ष्य पश्चात्पृष्ठतः शनैराजगाम ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अतृप्तमलम्बुद्धिमप्राप्तम् अधिश्रिते चुल्ल्यां निहिते अधिकं पाकं प्राप्ते वा पयसि उत्सिच्यमाने उद्रिच्यमाने सति पयः अवरोपयितुमिति शेषः ॥ ५ ॥ दद्भिः दन्तैः दधिमण्डभाजनम् दधिमस्तुपूर्णपात्रं "दधिमण्डो भवेन्मस्तु" इति हलायुधः दृषदश्मना शिलापुत्रकेण मृषाश्रुः अविद्यमाननेत्रजलः दुःखोत्पन्नबाष्पो न भवतीत्यर्थः। हैयङ्गवं नवनीतम् अन्तरं बहिर्भावम् अन्तर्धानं वा गृहान्तरं वा

"अन्तरम्परिधानीये वाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि। क्रतुमध्येऽवकाशे च तादर्थ्येवसरेऽवधौ॥
विशेषविवरान्तर्धिष्ववसानविनार्थयोः" इति यादवः ॥ ६ ॥

उत्तार्य चुल्ल्या अन्यत्र निधाय दध्यमत्रकं दधिभाण्डं भग्नं भिन्नं स्वसुतस्य तत्कर्म विलोक्याऽऽलोक्य ॥ ७ ॥ उलूखलाङ्घ्रेः उलूखलबुध्नस्य चौर्येण विशङ्किते किञ्चिदुन्मीलनमीलने कुर्वाणे ईक्षणे यस्य स तथा तं पश्चात्पृष्ठतः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

स जातेति अन्तरं गृहाभ्यन्तरगृहं गतः ॥ ६-७ ॥ उलूखलेति पश्चाद्द्वारेण तस्मान्निर्गम्येति शेषः ॥ ८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अहो बालस्याऽस्य बुद्धिरित्युक्ता मन्थनाद्विरम्योपविष्टा स्वयमेवाङ्कमारूढं तम् उत्सृज्येत्यत्र हेतुः जवेनेति तत्रापि हेतुः उत्सिच्यमाने अतितापेनोद्रिच्यमाने सति पयसि उत्तारणार्थमित्यर्थः। अधिश्रिते चुल्लीमारोपिते। ननु, तर्हि कृष्णादपि तस्या दुग्धमतिममतास्पदमभूत् यदनुरोधेनातृप्तः कृष्णोऽप्युपेक्षितः सत्यम्—

"तद्भक्ष्ययेयादिषु काप्यपेक्षता यया पुनः सोपिसमेत्युपेक्ष्यताम्।
प्रेम्णोविचित्रापरिपाट्युदीरिता बोध्या तथा प्रेमवतीभिरेव या"॥ ५ ॥

मृषा वृथापि बाल्यस्वभावादेवाश्रुर्यस्य सः दृषदश्मना शिलापुत्रेण निःशब्दच्छिद्रार्थं तत्तले इति ज्ञेयम् अन्तरं गृहाभ्यन्तरं हयंगवं ह्योगोदोहस्य सद्योनवनीतम् ॥ ६ ॥ सुशृतं सुपक्वं दधिमन्थनस्थानं प्रविश्य दध्यमत्रकं दधिपात्रम् अतिचिकणत्वेनानुकम्पायां कन् भग्नं विलोक्यैति वामतर्जन्या नासाग्रं स्पृष्ट्वेति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ दधिक्लिन्नचरणचिह्नेन किङ्किणीशब्देन च तच्चालितभाण्डादिशब्देन च गृहान्तः स्थितं नवनीतं भुञ्जानमनुमाय हसन्ती किञ्चिद्विलम्ब्य यावत्तत्र यियासति स्म तावदेव पक्षद्वारेण निःसृज्य वहिः प्राङ्गणान्तरे काकादिभयादधोमुखीकृतोलूखलस्योपरि कृष्णे स्वस्तिकासनेनोपविष्टे सति यदभूत्तदाह—उलूखलेति। शिचि शिक्ये स्थितं ततश्चोरयित्वा आनीतमित्यर्थः। चौर्याद्धेतोर्मातृताडनभयाद्विशङ्किते तदागमनानुसन्धानपरे ईक्षणे यस्य तं गृहान्तर्गतैव तिर्यग्ग्रीवं निरीक्ष्य पश्चात् तद्दृष्टिवञ्चनार्थं तत्पृष्ठतस्तं जिघृक्षन्ती शनैरिति स्वचरणशब्दाभावार्थः॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अधिश्रिते अग्निकुण्डस्थपात्रस्थे उत्सिच्यमाने पात्रादुद्गच्छमाने ॥ ५ ॥ दृषदश्मना शिलाखण्डेन अन्तरं गृहमध्यं गतः रहः एकान्ते हैयङ्गवं नवनीतं जघास अभक्षयत् ॥ ६ ॥ दधिमत्रकं दधिमन्थनभाण्डं भग्नं सन्दृश्य दृष्ट्वा तत्सुतस्य कर्म विलोक्य जहास हसितवती तं स्वसुतं न पश्यती नापश्यत् ॥ ७ ॥ ततः किं वृत्तमित्याकाङ्क्षायामाह—उलूखलाङ्घ्रेः अधोमुखस्थोपरि शिचि शिक्ये चौर्येण विशङ्कितं विशङ्का जाता यस्य तदीक्षितमीक्षणं यस्य तम् ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

मथनं हित्वोपविष्टा स्वयमेवाङ्कमारूढं तं स्तनमपाययत् अतृप्तं हरिमुत्सृज्य नतु सा जवेन वेगेन सा ययौ तत्र हेतुः अधिश्रिते चुल्लीमारोपिते तद्भोग्ये पयस्यतितापेनोत्सिच्यमाने पात्रादतिरिच्यमाने सति तदुत्तारणायेतिशेषः। पयसि तस्या ममत्वं पुत्रार्थत्वान्न दूषणमपितु भूषणमेव ॥ ५ ॥ अतृप्तस्य पुत्रस्यौत्सर्जनादवज्ञानात्कोपोऽभूदित्याह स इति। न हरिर्जातकोपः सन स्फुरितमरुणाधरं दद्भिः संदश्य कोपादमृषाश्रुर्दृषदश्मना सूक्ष्माग्रेण शिलाखण्डेन दधिमण्डभाजनं भित्त्वा तेन तत्तले निःशब्दं सूक्ष्मं रन्ध्रं विधाय क्षुधितत्वादेवान्तरं गृहमध्यंगतो रह एकान्ते हैयङ्गवं हयोगोदोहस्य सद्यो धृतं रसरूपं मात्रा तदर्थमेव न्यस्तं जघास भक्षितवान्। शिशुभिः सूचितस्वचापलो मातृकोपानुत्थानाय कदाचिन्मृषाश्रुश्च बालस्वभावेन भवेदयत्वमृषाश्रुः कोपादभूदिति तथोक्तं ननु विजिवत्सोऽपिपास इति श्रुतैर्नित्यतृप्तस्यातृप्तिररोषणोह्यसौ देव इति स्मृतेः रोषशून्यस्य

रोषश्चेह विरुध्यते इति चेदुच्यते मौग्ध्यवत् प्रभीतवच्च मातृवात्सल्यरसपोषी स्वरूपधर्म एवातृप्तिकोपलक्षणः स उक्तयुक्तेर्नतु प्राकृतरसस्याष्टादशमहादोषाविरहितत्वस्मरणात् रहोभवत्त्वाच्चेदं कोपादिकं नानुकृतिरूपमिति तत्त्वविदः ॥ ६ ॥ एतन्मध्ये माता किं किं कृतं तदाहोत्तार्येति सुश्रृतं सुपक्वं पय उत्तार्य दधिमन्थनस्थाने प्रविश्य तत्र दध्यमत्रकं भिन्नं सन्दृश्य स्वसुतस्यैव कर्म तद्विलोक्य तत्र तञ्चापश्यन्ती जहास तस्यातिकोपाद्भाण्डभेदनपाण्डित्याद्भीत्या अपसरणाच्च जातहासा बभूवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ तत किङ्किण्यादितच्चालितभाण्डादिशब्देन तं गृहान्तः प्रविष्टं हैयङ्गवमश्नन्तमनुमाय किञ्चिद्विलम्ब्य मातायाचत्तत्रायाति तावत्तेन यत्कृतं तदाहोलूखलेति पक्षद्वारेण निर्गम्यात्यस्मिन् चत्वरे विपर्यस्तधृतस्योलूखलस्योपरि व्यवस्थितं स्वस्तिकासनेनोपविष्टं शिचि शिक्ये स्थितं हैयङ्गवमानीय मर्काय कामं यथेच्छं ददतं चौर्याद्धेतोर्मातृताडनभयाद्विशङ्किते तदागमानुसन्धिपरे ईक्षणे यस्य तं जालिकारन्ध्यान्निरीक्ष्य पश्चात् पृष्ठतस्तं जिघृक्षन्ती शनैरिति स्वचरणशब्दाभावार्थमागमत् ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सस्मितं सहासं मुखमीक्षतीक्षमाणा स्वयमपि सस्मितमीक्षतीत्यप्यन्वयः। अधिश्रितेऽधिमपाकं प्रासे। श्रा पाक इति स्मृतिः। पयसि क्षीरे उत्सिच्यमाने पात्रादुद्रिच्यमाने सत्यतृप्तं क्षीरेण स्वमुत्सृज्यत्यक्त्वा सा जवेन ययौ। अवरोपयितुं वा जलं स्थापयितुं वा यदा ॥ ५ ॥ तदा सञ्जातकोपः सञ्जातः कोपो यस्य स तथा तत्प्रदर्शकः स्फुरितारुणाधरं स्फुरितः कम्पमानः प्रकाशमानोऽरुणोऽधरो दन्तवसनं दद्भिः सन्दश्य मृषाश्रुः। त्रिसर्गो मृषेत्येतत्तात्पर्ये। न चातृप्तः प्रवर्तते किन्तु वृथैव। भित्वा मृषाश्रुरितिवदित्युक्तेरहेतुप्रयोजनान्यश्रूणि यस्य स तथा। दुःखमेव कारणं कुतो नेत्यत आह ॥ दृषदिति। लुप्तोपमेयं। आखणाश्मसम इति शोकः सम्भवी नेति भावः। हरिरपि समयार्हां हानिमस्यै प्रदातुं दृषत्खण्डेनाखण्डयन्मन्डभाण्डमित्याह ॥ अश्मनेति। पाषाणशकलेन दधिमण्डभाजनं मस्तुपूर्णं पात्रं। दधिमण्डो भवेन्मस्त्विति हलः। भित्वा मातरि कार्यान्तरव्यापृतायामन्तरमवकाशं गतः प्राप्तो रह एकान्ते हैय्यङ्गवं हैय्यङ्गवीनं नवनीतं जघास। लिट्यन्यतरस्यामित्यादेर्वा घस्लादेशः। जघास जक्षतुर्जक्षुरिति रूपाणि। यद्यपि हियङ्गुरादेशः खञ्सन्नियोगशिष्टस्तथाऽप्यञि परतोऽप्यार्षो ज्ञेयः। यथोक्तं महाभाष्ये कैय्यटादिषु। हैय्यङ्गवीनं संज्ञायां हैयङ्गवीनमिति किं निपात्यते ह्योगोदोहस्य हियङ्ग्वादेशसंज्ञायां तस्य विकारो ह्योगोदोहस्य हियङ्ग्वादेशो निपात्यते संज्ञायां विषयें तस्य विकार इत्यस्मिन्नर्थे ह्योगोदोहस्य विकारो हय्यङ्गवीनं घृतं। संज्ञायामिति किमर्थं। ह्योगोदोहस्य विकार उदश्विदत्र मा भूदिति किं निपात्यत इति प्रकृतिसन्देहात्प्रश्नः। ह्योगोदोहस्येति। ह्यःशब्दस्य गोदोहशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। दुह्यत इति दोहः क्षीरमुच्यते। ह्यःशब्दः कालप्रत्यासत्तिः प्रतिपाद्यते। तेन विकृतरूपगन्धमेव घृतं हय्यङ्गवीनमुच्यत इत्याहुरिति कौमुदीकाशिकावृत्त्योर्नवनीतमित्युक्तेर्नवनीतं। अन्तरङ्गत एकान्ते जघास। अरहो बहिरङ्गे मृषाश्रुरिति वा ॥ ६ ॥ गोपीः सुश्रृतं पयस्तत्पूर्णं पात्रमिति यावत् उत्तार्य चुल्लीतोऽवतार्य प्रविश्य मथनस्थानं दध्यमत्रं दधिपात्रं तदेव मत्रकं भग्नं सन्दृश्य दृष्ट्वा स्वस्य क्षीरोदधिमथकतया पूर्वं दधिमथनमिति तद्भाण्डखण्डनं ततान देव इति ध्वनिः। स्वसुतस्य कर्म तदिति विलोक्य तं च तत्र तत्स्थं न पश्यतीत्यनवलोकयन्ती जहासाहसत्। सन्दृश्यकर्म च सन्दृश्येत्यन्वये विलोक्यो दर्शनीयो यः स्वसुतस्तस्येति पदमेकमिति मन्तव्यं। न तत्र हे न तत्र न मज्जनरक्षकेति चेत्पश्यती न तथेति न तत्र पश्यतीत्युक्तिरिति वा ॥ ७ ॥ उलूखलोत्तानतायामङ्घ्रिस्तदधस्तनप्रदेश उपरि भवति तस्योपरि व्यवस्थितं चौर्येण कृतेनार्याविचार्य कां चर्यां कुर्याद्वेति विशङ्कित ईक्षणे यस्य तं ददौ बिडालाय जनन्यदृष्टस्तदा स्वनीतं नवनीतजातं। क्षिणेति नूनं धनलोभभाजां धनान्यनर्हेस्त्वतिदिश्य देव इति ध्वनयन्नाह। कामं यथात्वेष्टं यथेप्सितं कर्मादीनामीप्सितमनुसृत्य मर्काय बिडालाय तेभ्यो हैय्यङ्गवं ददन्तं सुतं निरीक्ष्य दूरादालक्ष्य पश्चादिति पृष्ठतः शनैर्मन्दमागमत् आ अगमदगच्छदिति। सिचि स्थितमिति पाठे सिचि सिक्ये स्थितं हैय्यङ्गवमित्यन्वयः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवता प्रीतिर्जनितेति भगवदर्थं प्रपञ्चासक्तिं परित्यज्य स्तनं पायितवतीत्याह **तमङ्कमिति**, स्वयमेवाङ्कमारूढमीषदुत्थितं **स्तनमपाययत्**, यथा सा विमुच्य न गच्छति तदर्थमङ्कमारूढो दैत्यानाक्रमयितुं च, **स्नेहस्नुतमिति** नास्याः स्तनपानजनितोपि क्लेशः, यद्यपि मोहितायाः प्रपञ्चासक्तिर्महती गृहे च बहु कार्यं दास्यश्च न सन्ति तथापि मन्दहासयुक्तं **मुखं पश्यन्त्यपाययत्**, इदानीं स्थित्यर्थं मोहनं पूर्वमोहनस्य सङ्कोचश्च, एवं निर्बन्धेन स्थापितापि दोषवशात् त्यक्त्वा निर्गतेत्याह **अतृप्तमुत्सृज्येति**, न तृप्तो यस्मिन् प्रतिबन्धं कुर्वाणमप्युत्सृज्योर्ध्वं त्यक्त्वा जवेनातिवेगेन सा पूर्वोक्ता प्रबलप्रपञ्चा **ययौ**, उद्देश्यपर्यन्तं गतवती, गमने लौकिकमावश्यकं कार्यमाहोत्सिच्यमाने **पयसीति**, अधिश्रितेग्नौ स्थापिते **पयस्युत्सिच्यमाने** विष्यन्दमाने सति विष्यन्दनं द्रव्यनाशकं दोषजनकं च, तुशब्दः प्रक्रमान्तरमाह, भगवदनुरोधेन यथा मन्थानं परित्यज्य भगवदनुरोधं कृतवती मथनान्निरोधेनैवं भगवदनुरोधेन दुग्धोत्तारणं न कृतवती किन्तु भगवदनुरोधं परित्यज्यैव कृतवतीति॥५॥ ततो बालकानामतृप्तत्वाद् भगवान् **जातकोपो** जातः, यतः स बालकरक्षकः, बालकरक्षाप्रतिघाते भक्तिमार्गविशेन वैषम्याद-

कस्मादेव क्रोधो जातः, स्थित एव निमित्तवशादुद्गतः, ततः कोपो **यशोदां** मारयिष्यतीति लोभं तद्गतं भाण्डं च स्फोटितवानित्याहाधरं **दद्भिस्सन्दश्य दृषदश्मना दधिमण्डभाजनं भित्त्वेति**, अधरस्य दंशे हेतुः **स्फुरितारुणेति**, **स्फुरितोरुणवर्णश्च** जात इति लोभाद् भगवत्परित्यागे लोभस्यैवापराधो भवति तदा लोभ आधिदैविको **यशोदां** मारयितुमाध्यात्मिकं वा स्वयं विज्ञापनार्थमागतः, तदा **स्फुरणं** जातं, तत् त्रयं निवारणीयं रजोगुणश्च प्रादुर्भूतो जातस्त्रयमुत्पादयितुं भिन्नं तदुभयमपि निवारयितुमोष्ठदंशः, **दन्ताः** स्नेहबला **यशोदा**निष्ठाः, तैस्तेषां निवारणं कृतं, अनुकरणं तु स्पष्टमेव, **दधिमण्डस्तक्रं**, तदाधारभूतं भाण्डं नवनीतं तु भिन्नं जातमस्ति, ततो **दृषदश्मना** दृष्टसम्बन्धिकुट्टनपाषाणेन **भित्त्वा** दैत्याविष्टेव सा निर्गता तेषां दैत्य नामाधिदैविकानां यज्ञायुधेनैव जनितशब्देन निवारणं कर्तव्यं, तत्र महति शब्दे क्रियमाणे भाण्डमेव भिन्नं, एवमुपकारं कृत्वा **मृषाश्रुर्जातः**, दधिभाण्डभङ्गेपि दोषसम्भवात् , यद्यपि स्वतः कृतभङ्गे दोषो नास्ति तथापि रुद्रः समागत इति लोके ज्ञापयितुमश्रूण्यवर्तयत् , अन्यथा भाण्डदेवताया भङ्गो न स्यात् , अश्रूणां कार्यं च रजतादि नैमित्तिकं च तदुभयाभावान् **मृषाश्रुत्वं**, **यशोदाया** नाशशङ्कया वा, तथापि रक्षकः स्वयमित्यश्रूणां **मृषा**त्वमेव, वस्तुतस्तु भाण्डे दैत्य आविष्टः, तद्वधार्थमेव तत् कृतवान् , ततस्तस्याः श्रमः सार्थको भवत्विति **हैयङ्गवं रह** एकान्ते बालकार्थं **जघास, जहारे**ति वा, स्वस्यापि भक्षणं प्राप्स्यतीत्यन्त**रङ्गतो** भेदं प्राप्तवान् , ततः प्रभृति ते भिन्नाः कृताः, गृहमध्ये गतः, तत्राप्येकान्त आधिदैविकदैत्यानामगम्यस्थाने बालकार्थमेव **जघास** भक्षितवान् ॥ ६ ॥ ततो यज्जातं तदाह **उत्तार्ये**ति, **पयस्तु सुश्रृतं** सम्यक् पक्वं तदुत्तार्य भूमौ स्थापयित्वा पुनः सुश्रृतमिति प्रथममुत्सेक उत्तार्य पुनरधिश्रित्य ततः श्रृते पुनरुत्तारितवतीत्यर्थः, **प्रविश्य** मथनस्थानं, अनेनाङ्गणे पयोधिश्रितमिति ज्ञायते बहिर्गृहे मन्थनं तद्गृहं **प्रविश्य सन्दश्य च दध्यमत्रकं** भग्नममत्रकं भाण्डं सम्यग् दृष्ट्वा कर्तृकरणकर्मणां याथार्थ्यं, चकारात् नवनीताभावं च दधिमण्डप्रवाहं च, **ततस्तत्कर्म स्वसुतस्ये**ति च **सन्दश्य सम्यक** ज्ञात्वा लौकिकाविष्टचित्ता दैत्यानां निवारणाज् **जहास** हास्यं कृतवती न तु क्रोधं, भगवांश्चेत् तत्रैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्यान् तदा स्वस्यैवापराध इत्यतत्प्रपरित्यागात् तूष्णीमेव तिष्ठेत् ॥ ७ ॥ भगवांस्तु रूढं तस्या लौकिकज्ञानं दूरीकर्तुं दृढमिति ज्ञापयितुं वा तस्यास्तामसभावोत्पत्त्यर्थं ततो गतः, तत्र च गत्वा पूर्वमपि दैत्यावेशेन यत् सम्पादितं हैयङ्गवादिकं तदपि शिक्ये स्थितं कामं यथेच्छं मर्कटाय प्रयच्छति मर्कटोपि दंष्ट्रित्वात् क्रूरजन्तुर्हैयङ्गवमप्यनुपयुक्तं शिक्यं च निर्ऋतिपाशः स्वयं **चोलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितो** भवति, उलूखलं विपरीतं कृत्वा तत्र स्थितः, तेषां दोषनिवृत्त्यर्थं **यज्ञपुरुषो** भूत्वा "सुपर्णचयन" इव स्थितः, अग्नेर्नाभिरूपत्वादुलूखलस्य तदुपरि स्थितः सन्"तिरिक्तमतिरिक्ताय प्रयच्छति रिक्तस्य शान्त्यै", ततो यशोदान्तः प्रविश्य तथाभूतं पुत्रं दृष्टवतीत्याहोलू**खलाङ्घ्रे**रिति, पूर्वं तत्र भगवद्दर्शने मर्कटोपि न दृष्टस्तेन शङ्कापि, अतोन्वेषणमपि कर्तव्यं, अन्वेषणे पुनश्चित्तं भगवत्परं जातमिति भगवन्तं दृष्टवती दोषाणामप्रयोजकत्वज्ञापनायोलूखलं विपरीतं कृतं तदा सुपर्ण एव विपरीतः कृतो भवति, अतः सर्वदोषनाशकाग्नेरपि यत्र वैपरित्यं तत्र दोषाणां किं वक्तव्यमिति ज्ञापितं, **काममिति** यथेच्छं सन्देहाभावाद् देयमेव तत् , ह्यं गोः सम्बन्धि **हैयङ्गवं** पूर्वकालगोसम्बन्धि नवनीतं, **चौर्ये** जाते **विशङ्किते ईक्षणे** यस्य, भगवता चौर्यं कृतमस्ति तस्याश्चौर्यदोषनिवारणाय सर्वपतिरपि तथाभावोत्पादनाल्लोकानुसारेण नवनीतहरणं **चौर्य**मित्युच्यते, तत्र दोषदृष्टौ तस्या ज्ञानं कालेन नाश्यत इति विशेषाकारेण वा **शङ्कितमीक्षणं** यस्य तथा भवति, **चौर्यविशङ्कितायां वेक्षणं** यस्य, उभयथापि तस्या ज्ञाननाशशङ्का, तादृशं स्वयं **निरीक्ष्य सुतं पश्चात्** पृष्ठभागे पृष्ठे च **पश्यन्ती** पापदृष्टिः **शनैरागमत्**, ईषन्मात्रमागतवती, न हि पापदृष्टिः शीघ्रमागन्तुमर्हति ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

तमङ्कमारूढमित्यत्र, **दैत्यानि**ति । उक्तन्यायेनाधिदैविकभूरूपत्वादङ्कस्य भूस्थितांस्तांस्तथाकर्तुमित्यर्थः । मात्रा ग्रहणसम्भवेपि स्वयमङ्कारोहण**स्येदं** तात्पर्यमुक्तम् । **उत्सिच्यमान** इत्यत्र । वैदिकेग्निहोत्रादावलौकिकदोषजनकं यथा, तथा लौकिके तल्लौकिकदोषजनकमित्याशयेनोक्तं **दोषजनकं चे**ति ॥ ५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तमङ्कमित्यत्र **सुबोधिनी** टिप्पणी च प्रकटार्था ॥ ५ ॥ **स जातकोप** इत्यत्र **भक्तिमार्गेणे**ति सहार्थे तृतीया, **अकस्मा**दिति सहसा, **स्थित** इति **प्राणैः समं रोषसमन्वितोपिब**दित्यत्र यः **स्थितः** स इत्यर्थः, **मारयिष्यतीता**तिशब्दो हेतौ तदभावरूपं हेतुं बोधयति, अधरदंशतात्पर्यमाहुस्तत् **त्रयमि**त्यादि, तस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्**यशोदाया** इत्यादि, **पूर्वोक्तेने**ति **यशोदां मारयिष्यती**त्यनेनाग्रिम**ग्रन्थेने**ति, **अनेने**त्यस्यैव विवरणं **त्रयमि**त्यस्यार्थमाहुर्**यथे**त्यादि, **नैवं सम्भवतीति** न पुत्रत्यागः **सम्भवति, दैत्याविष्टेवे**त्यस्यार्थमाहुः **से**त्यादि, **तथेति** दैत्यावेशनिवृत्तिः, **तत्रेति** श्रीयशोदायां, **तथात्वमिति** दैत्याविष्टत्वं, अत्रेदं बोध्यं, कृष्णोपनिषदि 'यशोदा मुक्तिगेहिनी'त्युपक्रम्य 'माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी प्रोक्ता सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृते'ति श्रावणान् मुक्तिरूपाया अपि तस्या

एवं मायात्वमभिप्रेतं, तथा सति रुद्रागतौ रजःसंसर्गो दैत्यावेशश्च तमादाय विवृतः श्रुतौ सूक्ष्मरूपेणोक्तत्वाच्च श्रीभागवतस्य श्रुतिरूपत्वादुपबृंहणत्वाच्चेति, **सुबोधिन्यामन्यथेति** रुद्रानागमने, **भङ्गो न स्या**दिति भगवता न कृतः स्यात्, तथा च रुद्रदूरीकरणार्थमेव **भाण्डभेदन**मितिभावः, **रजतादि नैमित्तिकं** चेति 'यदश्रसीयत तद् रजतं हिरण्यमभव'दितिश्रुत्युक्तमेकं कार्यं, निमित्तात् क्रोधाद् दण्डो द्वितीयं **नैमित्तकं** कार्यं चेत्यर्थः, **रहःपदेनैवैकान्ते प्राप्ते पुनरन्तरङ्गत** इति कथनमनतिप्रयोजनमित्यतस्तद् विवृण्वन्ति **स्वस्यापी**त्यादि, **स्वस्यापि** भक्षणं 'भक्त्युपहृत'मग्रिमलीलासु प्राप्स्यतीत्यतस्तथेत्यर्थः, तथा **चान्तरशब्द**स्यार्थो भेद इति न वैयर्थ्यमित्यर्थः, एतस्यैवार्थान्तरमाहुर्गृहमध्य इत्यादि. **आधिदैविके**त्यादेरर्थमाहुष्टिप्पण्यां **मातृदर्शने**त्यादि ॥ ६ ॥ **उलखलाङ्घ्रे**रितिश्लोकं व्याकर्तुमारभन्ते **भगवानि**त्यादि. **अत्र श्लोके द्वितीय पादः प्रथमस्थानेऽस्ती**ति व्याख्यानवशात् प्रतिभाति, **लौकिकं ज्ञानमिति** गृहाध्यासरूपं **ज्ञानं. पूर्वमपी**त्यादेरर्थं **टिप्पण्यामाहुः पूर्वमपी**त्यादि. सुबोधिन्यां **शिक्यं च निर्ऋतिपाश** इति 'शिक्यमभ्युपदधाति नैर्ऋतो वै पाश' इति श्रुतेरितिभावः, **तेषामिति** मातृचरणहैयङ्गवशिक्यानामित्यर्थः, "अत्र सुपर्णचयन" इत्यादिकं शाखान्तरस्थं प्रमेयकल्पस्थं चेति ज्ञेयं अग्नेरित्या यदुलूखलमुपदधात्येषा वा अग्नेर्नाभि'रितितैत्तिरीयश्रुतेः, **मर्कटोपि न दृष्ट** इति 'तं चेति' पूर्वश्लोकस्थस्य चकारस्यार्थ उक्तः, परं भगवच्चिह्नवन् मर्कटचिह्नानि दृष्टानीति ज्ञातव्यं, अत एवाहु**स्तेन शङ्कापी**ति भगवता मर्कटेन वा नाशितमितिशङ्का, यद्वा मर्कटचिह्नानां दर्शने किं भगवान् मर्कटभयात् पलाय्य गत उत क्रीडार्थमित्युभयथापि तत्सहभावे तस्य दुष्टत्वाद् दूरीकरणमेव कर्तव्यमित्यन्वेषणस्यावश्यकत्वमाहुरत इति. **अपिशब्दादन्विवारणं**, नन्वन्वेषणमात्रेण दोषकृतभगवद्दर्शनप्रतिबन्धः कुतो नेत्याहु**र्दोषाणामि**त्यादि, तथा च यत्र भक्तिमार्गे मर्यादामार्गधर्मवैपरीत्यमपि करोति तत्र दोषदूरीकरणे कः सन्देह इतिभावः, **सन्देहाभावादि**ति तस्य हैयङ्गवस्य दुष्टत्व इत्यर्थः, **चौर्यदोषे**त्यादेरर्थं **टिप्पण्यामाहुः पत्रे**त्यादि. **सुबोधिन्यां सर्वपतिरि**ति चौरत्वेनात्रागत इतिशेषः, तत्र हेतुस्तथेत्यादि, **तस्या ज्ञानमित्य**स्यार्थं **टिप्पण्यामाहुर्विशब्दस्ये**त्यादि, **तथा व्यवहरतीति तथेति** चौरत्वेन **व्यवहरती**त्यतः कालेन नाशयत इत्यतः शङ्कितमित्यर्थः, सुबोधिन्यामेतस्यैव पदस्य पुनरर्थद्वयमाहु**र्विशेषे**त्यादि, अत्रापि शङ्कायां तदेव बीजमित्याहु**रुभयथे**त्यादि ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृत श्रीसुबोधिनीलेखः

सस्मितमीक्षतीत्यस्य तात्पर्ये **इदानीं स्थित्यर्थ**मिति भगवतेदं **मोहनं** निषेधेन **पूर्वा**ध्यायोक्त**मोहनस्य सङ्कोचश्च इदानीमेतस्याः स्थित्यर्थ**मेव कृतः, परन्तु मोहस्वरूपस्यैव दोषरूपत्वात् तथा न जातमित्याहुः **दोषवशा**दिति, अत एव "निवारितापि संसारे" इति कारिकायामेतस्य मोहस्य गृहकृत्यप्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तं, **प्रबलप्रपञ्चे**ति भगवता सम्पादितः स्वस्मिन् मोहेपि यस्याः प्रपञ्च एव पर्यवसन्नस्तादृशीत्यर्थः, **भगवदनुरोध**मिति भगवन्तमनुरोधयति तादृशं स्तनदानमित्यर्थः ॥ ५ ॥ **स जातकोप** इत्यत्र **अकस्मादेवे**ति करणं विनैवेत्यर्थः, स जातकोप इत्येवोक्तं न तु तेन जातकोप इति, अतो गमनस्य निमित्तत्वमात्रं न तु करणतेतिभावः, एतदेव **स्थित एवे**त्यनेन विवृतं, एनेन भगवद्धर्मत्वान् नित्यता सूचिता, **तद्गत**मिति लोभस्यैव विशेषणं यशोदागतमित्यर्थः, नाशनं स्फोटपदार्थ उभयसाधारणो ज्ञेयः, **तदा लोभ** इति भगवन्निष्ठो बालानामर्थे स्तन्यविषयक **आधिदैविकः** यशोदानिष्ठः पयोविषयक **आध्यात्मिक** इतिज्ञेयं. **आध्यात्मिकं चेति मारयितु**मिति पूर्वेणान्वयः, टिप्पण्यां **यशोदाया** इति कर्मणि षष्ठी. मया तत् सम्पादनीयमेव किमर्थं विज्ञाप्यत इति विज्ञापननिवारणं ज्ञेयं **तथान्यां यशोदामि**ति एतादृशदोषरहितां, "सविशेषणे ही"ति न्यायेन दोषाभावमित्यर्थः, सुबोधिन्यां, **त्रयमुत्पादयितु**मिति रजोगुणो भिन्नत्रयम**त्पादयितुं प्रादुर्भूतो जात** इत्यन्वयः, रजोगुणस्योत्पत्तिहेतुत्वादित्यर्थः, **यशोदानिष्ठा** इति यशोदाविषयिण्य इत्यर्थः, **आधिदैविकानामिति** "द्वयाह प्राजापत्या"इत्यत्रोक्तप्रकारेणोत्पत्तिसिद्धानामित्यर्थः, **भङ्गेपीति** स्वतो जातेपीत्यर्थः, **रुद्रः समागत** इति "सविशेषणे ही"तिन्यायेन तद्धर्मो रोदनं तत्साधर्म्यात् क्रोधश्च सर्वनाशकः समागत इत्यर्थः **अन्यथे**ति क्रोधाभावे इत्यर्थः. **नैमित्तिकं चेति** निमित्तस्य नाशनमित्यर्थः **स्वस्यापीति** गुणगानावस्थासम्पादितनवनीतस्य भोगः स्वस्याप्युचित इतिभावः, अत्र बालकानां भिन्नत्वाद् भगवतोपि **भक्षण**मिति ज्ञेयं, **बालकार्थमेवे**ति बालकेभ्यो दानार्थमेव स्वयमपि **जघासे**त्यर्थः ॥ ६ ॥ **उलूखलाङ्घ्रेरि**त्यस्याभासमाहुः **भगवांश्चे**दित्यादिना, **अनुपयुक्त**मिति दैत्याविष्टत्वाद् भगवतोनुपयुक्तमित्यर्थः, **तेषामिति** मर्कटानां क्रूरत्वदोषनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः, यज्ञपुरुषदर्शने चित्तशुद्धिर्भवतीतिभावः, **अग्नेर्नाभिरूपत्वादि**ति, ननु क्रूराणां यज्ञपुरुषदर्शने कथमधिकार इत्यत आहुः **दोषाणामिति, ह्यं गो सम्बन्धीति** अव्ययानामाकृतिगणत्वाद् ह्यमित्यव्ययं **पूर्वकालवाचकं** तत्सम्बन्धिनी **गौः** ह्यंगौः तस्याः सम्बन्धीति तस्येदमित्यण्, चौर्यस्वरूपमाहुः **सर्वपतेरि**ति, इदं चौर्यं पूर्वोक्तप्रयोजनाय कृतमित्यर्थः, **तत्रेति** दोषनिवारके भगवति **दोषदृष्टावि**त्यर्थः, **कालेन** बाललीलाकालेनेति टिप्पण्यनुसृतोर्थः, बालभावस्वीकारादेव दोषदृष्टिरितिभावः, तथा च चौर्ये जाते सति वेः कालात् शङ्कितमीक्षणं ज्ञानं यस्येति मूलार्थः, विषयता षष्ठ्यर्थः, विनश्यदवस्थाशङ्कापदार्थो ज्ञेयः, ईक्षणस्य ज्ञानेन्द्रियत्वात् ज्ञानरूपत्वं, यद्यपि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च तथापि बृहदारण्यके "चक्षुर्वै सत्य"मित्युक्त्वा चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमद्राक्षमिति

तस्मा एव श्रद्दध्यामे"त्यनेन (बृ० ५, १४, ४) चक्षुषो मुख्यत्वप्रतिपादनात् तस्यैव ज्ञानरूपत्वं सर्वत्रोच्यते इतिज्ञेयं विग्रहे ईक्षणे इति द्विवचनान्तमुक्तं परोक्षवादेन तदर्थकथने तु ज्ञानपरत्वादेकवचनमेव युक्तमिति तथोक्तं, तथा भवतीति भगवानितिशेषः, चौर्येति चौर्यशङ्कायुक्तायामित्यर्थः, अस्मिन् पक्षे चौर्यशङ्कामात्रं न तु वस्तुतश्चौर्यं सर्वपतित्वादिति भावः, उभयथापि वस्तुतश्चौर्यपक्षे तात्पर्याज्ञानात् ज्ञाननाशः, चौर्यशङ्कापक्षे स्वरूपाज्ञानात् ज्ञाननाशः इत्यर्थः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

उत्तार्य गोपी सुशृतं पय इत्यत्र जहास तं चापि न तत्र पश्यतीत्यस्य व्याख्याने दैत्यानां निवारणात् जहास हास्यं कृतवती न तु क्रोधमिति, दधिभाण्डस्फोटने हि दैत्याविष्टपदार्थनाशोऽभूदतो दैत्यानां निवारणात् भगवदुपरि वात्सल्यरस आविर्भूतः, अतो मत्पुत्र एतावत् कार्यं कर्तुं समर्थोभूदित्यानन्देन हास्य जातं न तु क्रोध इति, दैत्यानां निवारणं चेन् न स्यात् तदा तन्नैकस्त्याद् दैत्यधर्मावेशे भगवदुपरि क्रोधः स्यात्, प्रकृते दैत्यनिवारणं भगवता कृतमित्यसत्शङ्काभावान् न भगवदुपरि क्रोध इतिभावः ॥ ७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा सा यशोदा तस्य सस्मितं मुखमीक्षती सती अङ्कमारूढं तं स्नेहेन स्नुतं स्तनमपाययत्। तदाच अधिश्रिते चुल्लीमारोपिते पयस्युत्सिच्यमाने अतितापेनोद्रिच्यमाने सति 'पयसोऽग्नौ निष्पन्दनस्य हानिकरत्वादमङ्गलत्वाच्च' तमतृप्तमेवोत्सृज्य त्यक्त्वा जवेन वेगेन ययौ, तदुत्तारणार्थं जगामेत्यर्थः ॥ ५ ॥ जातः कोपो यस्य स कृष्णः यत् कोपेन स्फुरितमरुणमधरं तद्द्भिः सन्दश्य तथा दृषदश्मना दृषत्सम्बन्धिकुट्टनपाषाणेन दधिमण्डः तक्रम् तदाधारभूतं भाजन 'दधिमन्थभाजनम्' इति पाठान्तरम्, भित्त्वा मृषा दुःखासम्भवात् मिथ्यैवाश्रूणि यस्य तथाभूतोऽन्तरं गृहमध्यं गतश्च सन् हैयङ्गवं नवनीतं जघास अभक्षयदित्यन्वयः। एवं परित्यज्य गमने लोभस्यापि हेतुत्वात्तस्य चाधर एव लोभ इति वचनाद्गवदधरात्मकत्वात्तत्रैव तेन दंशः कृतः ॥ ६ ॥ ततश्च गोपी यशोदा सुशृतं सुपक्वं पय उत्तार्य चुल्लीतः अवतार्य पुनर्दधिमन्थनस्थानं प्रविश्य तत्र च दध्यमत्रकं दधिभाजनं भग्नं संदृश्य तच्च स्वसुतस्य कर्म विलोक्य ज्ञात्वा जहास। तत्र च तत्र कृष्णमपश्यती अन्वेषयामासेत्यन्वयः ॥ ७ ॥ उलूखलाङ्घ्रेः परिवर्तितस्योलूखलस्योपरि व्यवस्थितं शिचि शिक्ये स्थितं हैयङ्गवं नवनीतं कामं यथेष्टं मर्काय वानराय ददतम्, चौर्येण विशङ्किते चञ्चले यशोदागमनानुसन्धानपरे ईक्षणे यस्य तं सुतं दूरतो निरीक्ष्य शनैः 'यथा पादावातजनितशब्दं स न शृणुयात्तथा' पश्चात् पृष्ठतोऽगमत्। अत्र 'गृहमध्ये स्वयं भक्षणं कृत्वा स शिक्यं नवनीतं बहिरानीयोलूखलोपर्युपविष्ट' इति ज्ञेयम्, गृहमध्ये मर्कटप्रवेशासम्भवात् ततः पलायनासम्भवाच्च ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमङ्कमिति ॥ तदा सा यशोदा तस्य सस्मितं मुखमीक्षती। आर्षः शता। अङ्कमारूढं तं स्नेहेन स्नुतं स्तनमपाययत्। तदा च अधिश्रिते चुल्लीमारोपिते पयस्युत्सिच्यमाने अतितापेनोद्रिच्यमाने सति तं कृष्णमतृप्तमेवोत्सृज्य त्यक्त्वा जवेन वेगेन ययौ तदुत्तारणार्थं जगाम। न चैतेन कृष्णादपि दुग्धे प्रीतिरधिकेति शङ्क्यम्। कृष्णार्थमेव तत्पय आवर्त्तितं तस्याधःपाते कृष्णस्यैव भोजने विलम्बसम्भावनात् प्रेमाधिक्यमेव कृष्णे ॥ ५ ॥ स जातकोप इति ॥ जातः कोपो यस्य सः कृष्णः कोपेन स्फुरितमरुणमधरं दद्भिः संदश्य तथा दृषदश्मना दृषत्संबन्धिकुट्टनपाषाणेन शिलापुत्रेण दधिमण्डः तक्रं तदाधारभूतं भाजनं दधिमन्थभाजनमिति पाठान्तरम्। निःशब्दं छिद्रेण तत्तले भित्त्वा मृषादुःखासंभवात् मिथ्यैवाश्रूणि यस्य तथाभूतोऽन्तरं गृहमध्यं गतश्च सन् रहः एकान्ते हैयंगवं नवनीतं जघास अभक्षयत् ॥ ६ ॥ उत्तार्येति ॥ ततश्च गोपी यशोदा सुशृतं सुपक्वं पय उत्तार्य चुल्लीतः अवतार्य पुनर्दधिमन्थनस्थानं प्रविश्य तत्र च दध्यमत्रकं दधिभाजनं भग्नं संदृश्य तच्च स्वसुतस्य कर्म विलोक्य ज्ञात्वा जहास। तत्र च तं कृष्णमपश्यती अन्वेषयामास इति शेषः। नुमभाव आर्षः ॥ ७ ॥ अथ किङ्किणीशब्दादिना कृष्णं गृहान्तर्गतमनुमाय यशोदा यावत्तत्र यियासति तावत्पक्षद्वारेण निःसृत्य कृष्णः प्राङ्गणं जगाम। यशोदा चान्तर्गृहात्तं निरीक्ष्य प्राङ्गणं गता तद्वृत्तमाह--उलूखलेति। नवनीतं गृहान्निष्कास्य बहिर्गत्वा उलूखलाङ्घ्रेः परिवर्तितस्योलूखलस्योपरि व्यवस्थितं शिचि शिक्ये स्थितं हैयंगवं नवनीतं कामं यथेष्टं मर्काय वानराय ददतं चौर्येण विशङ्किते चञ्चले यशोदागमनानुसन्धानपरे ईक्षणे यस्य तं सुतं दूरतो निरीक्ष्य शनैर्यथा पादाघातजनितशब्दं स न शृणुयात्तथा पश्चात् पृष्ठत आगमत् ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तमिति। अंकमुत्संगं प्रति आरूढं सुतं स्तनमपाययत्। कथंभूता सती सस्मितं यथा भवति तथेक्षती। अधिश्रिते चुल्लीपरिस्थापितभांडस्थे पयसि उत्सिच्यमाने बहुतापेनोद्रिच्यमाने सति ॥ ५ ॥ मृषाश्रुः सन् संजातकोपेन स्फुरितमरुणा-

धरं दद्भिर्दन्तैः संदश्य दृषदश्मना पाषाणशकलेन दधिपात्रं भित्वा अंतरं गतः गृहमध्यं प्राप्तः सन् रहो निर्जनस्थाने हैयंगवं नवनीतं जघास भक्षितवान् हैयंगवीनमितिवक्तव्ये हैयंगवमित्युच्चारणमार्षम् ॥ ६ ॥ सुशृतं सुतप्तत्वादुत्सिच्यमानं पयः उत्तार्य पुनः दधि विलोडनस्थलं प्रविश्य दधिभांडं भग्नं संदृश्य दृष्ट्वा कृष्णस्य तत्कर्म विलोक्य ॥ ७ ॥ उलूखलाङ्घ्रेः विपरीतस्थापितस्थोलूखलस्योपरि स्थितं शिचि स्थितं मर्काय मर्कटवृंदाय कामं तृप्तिपर्यंतं ददतं चौर्येण चौर्यकर्मणा विशंकिते चपले ईक्षणे यस्य तं सुतं निरीक्ष्य ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति ॥ अङ्कमुत्सङ्गं, आरूढं, तं दधिमन्थननिषेधकारकं कृष्णं, सा यशोदा सस्मितं स्मितेन सहितं, सुतस्य मुखं, ईक्षती ईक्षमाणा सती, स्नेहस्नुतं स्तनं, अपाययत्। तदा तु, अधिश्रिते चुल्लीमारोपिते, पयसि क्षीरे, उत्सिच्यमाने गाढाग्निसंपर्काद्बहिः पात्रतो निर्गच्छति सति, अतृप्तं स्तन्यपानादतृप्तं पुत्रं उत्सृज्य, जवेन ययौ जलप्रक्षेपादिना क्षीरतापं शमयितुं जगाम ॥ ५ ॥ स इति ॥ स कृष्णः, जातः कोपो यस्य सः, स्फुरितारुणाधरं चलायमानमरुणमधरोष्ठं, दद्भिर्दन्तैः, संदश्य, मृषा अश्रूणि यस्य तथाभूतः सन्, दृषदश्मनाऽल्पाश्मना, दधिमण्डभाजनं, भित्त्वा निर्भिद्य, अन्तरं गृहमध्यप्रदेशं, गतः। तत्रापि रह एकान्तप्रदेशं गतः संश्च, हैयंगवं नवनीतं, जघासाभक्षयत् ॥ ६ ॥ उत्तार्येति ॥ तदा गोपी यशोदा, सुशृतं सुतप्तं, पयो दुग्धं, उत्तार्य चुल्ल्या अवरोप्य, पुनः प्रविश्य दधिमन्थनस्थानमाविश्य च, दध्यमत्रकं दधिमण्डभाजनं, भग्नं संदृश्य, तत्पात्रभञ्जनं, स्वसुतस्य कर्म विलोक्य विचार्य, तं पुत्रमपि, तत्र न पश्यती सती, जहास ॥ ७ ॥ उलूखलेति ॥ तमन्वेषयन्ती यशोदेति शेषः। उलूखलाङ्घ्रेः उपरि व्यवस्थितं, अधोमुखविन्यस्तोलूखलस्योपरिभागे सम्यक् स्थितमित्यर्थः। मर्काय मर्कटाय, मर्को मनसि वायौ च तोके मार्जारकीटयोः' इति कोशात्, मार्जारायेति वा। नवनीताशनविधानार्थमागतायेति शेषः। शिचि शिक्ये, स्थितं, हैयंगवं नवनीतं, कामं यथेष्टं, ददतं प्रयच्छन्तं, चौर्येण चौर्यकर्मणा विशङ्किते चञ्चले ईक्षणे नयने यस्य तं सुतं कृष्णं निरीक्ष्य, पश्चात्तस्य पृष्ठतः, शनै आगमज्जगाम ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तमङ्कमिति : १०.९.५.

मत्स्तन्यपानाय ममाङ्कमध्यारूढस्त्वसौ मत्सुकृतेन बालः।
ज्ञात्वेति सानन्दमनास्तदानीं स्नेहस्नुताऽऽसीत् किमु नन्दपत्नी ॥ ११ ॥
दातुं शक्यं स्तन्यमस्यान्यकाले दुग्धं त्वेतद्रक्षितुं नाण्वपीति।
आलोच्यैवोत्सृज्य तं दुग्धमागात् संसृत्यध्वव्यक्तधीर्युक्तमेतत् ॥ १२ ॥
निरर्थकव्ययो नैव सह्योऽल्पस्यापि वस्तुनः। संसारासक्तचित्तानां दुग्धदृङ्मानमत्र सा ॥ १३ ॥
महतोऽपि सतस्तिरस्कृतिं जनयत्यल्पतरादरा मतिः। स्फुटमेतदभूदसौ यतो व्यजहादच्युतमल्पदुग्धधीः ॥ १४ ॥

उत्सिच्यमाने पयसीति :

यन्नामस्मृतिरप्यलं विधुनुते सन्तापमस्य प्रभोरग्रे तापमुपैमि तद्धिगिति मां मत्वाऽग्नियाने पयः।
उद्युक्तं भवतीत्यवेक्ष्य हरिणा सर्वेश्वरेणैव तत् सत्यानन्दयशोदयेक्षितमिहाकारीति मन्यामहे ॥ १५ ॥
अन्यथा कृष्णवक्त्राब्जदर्शनामृतपानकृत्। तं विहाय कथं गच्छेत् क्षुद्रप्रस्थपयोमतिः ॥ १६ ॥ (युग्मम्)
उन्मार्गवर्तनेन हि पररसभङ्गो मयाऽधुनाऽकारि। धिङ् मामिति किं त्रपया पयस्तदासीदधोमुखं सद्यः ॥ १७ ॥

सञ्जातकोप इति : १०.९.६.

सोऽहंभावतयापि योऽहमृषिभिः प्राप्यो न हार्दास्पदं सोऽहंभावमवेक्ष्य लक्षितगतिर्यस्यास्मि जातः स चेत्।
मामुत्सृज्य रसात्मकं बतरसे क्षुद्रे भवेत्सक्तधीः, तत्क्रुद्धो न कथं भवेयमिति किं प्राबोधि कोपच्छलात् ॥ १८ ॥
यन्मामङ्कगतं पिबन्तमपि च स्तन्यं विहाय प्रसूः, मच्चित्ताऽप्यधुना ययावदयवन्नागो लवोऽस्या इह।
किं त्वत्राधरसङ्गतेः फलमिदं मत्वाद्विजाग्र्यैस्तदा चक्रे शिक्षितमच्युतस्तमधरं शिक्षेरिता यद् द्विजात् ॥ १९ ॥
धराश्रितमिहाधुना यदि करोमि मे रुट्फलं गमिष्यति ततो न किं विफलभावमात्मव्रतम्।
धरा क्षितिरियं जनन्यपि तथेति किं वा स तत् सुखार्पणधृतव्रतोऽकृत किलाधरैकाश्रितम् ॥ २० ॥
वदन्ति निगमाः सर्वेऽप्येकं मामण्डभाजनम्। परमेतत्कुतो यातमित्यभाङ्क्षीद्रुषा नु तत् ॥ २१ ॥
परमार्तिचयान्निहन्ति यस्य स्मरणं तस्य कथं ममाग्र एव। कलशः परमार्तिको हि तिष्ठेदिति मुक्तिं गमितो नु भङ्गदम्भात् ॥२२॥
यशोदयाविहीनस्य पुंसः स्यादीदृगेव हि। कृत्यजातमिति व्यक्तं कृष्णेनादर्शि तच्छलात् ॥ २३ ॥

कामी दैन्यमुपैति लोभितमतिर्नैर्घृण्यमभ्यात्मजे क्रोधाक्तः सदसद्विवेकविधुरो दुष्कृत्यमालम्बते।
तस्मादात्महितैषिणा त्रयमिदं संत्याज्यमेवावनावित्युट्टङ्कितमच्युतेन चरिताद्वीतावदस्मात्त्रिकात्॥ २४॥
स्तन्यदैन्यं हि कामेन लोभात् पुत्रेऽप्यनादरः। भाण्डभङ्गो रुषैवाऽऽसीदिति ज्ञेयं स्फुटं त्रयम्॥ २५॥ (युग्मम्)
विपुलेष्वपि सत्सु रसेष्वन्वेष्टव्यो मनीषिणा सारः। संसारोऽन्वर्थः स्यात्तदेति नवनीतसङ्ग्रहाद् ध्वनितम्॥ २६॥

उत्तार्येति : १०.९.७.

निरर्थकं दुग्धमिदं प्रयातीत्यासं सयत्नाऽहमिवावनेऽस्य। ततोऽधिकोऽभूद् व्यय एष चित्रामालक्ष्य सा दैवगतिं जहास॥ २७॥
लोकेषु पुत्रनिवहो निजमातृवस्तुजातावनेऽनलसधीः प्रतिभात्यहन्तु।
पुत्रेण चानुभवमीदृश मापितेति साश्चर्यवृत्ति सहसा किमसौ जहास॥ २८॥

उलूखलाङ्घ्रेरिति : १०.९.८.

यथा खलोऽङ्घ्रिस्थितितः प्रयाति तथा न गर्वाद्वशतामिति ज्ञः।
ऊरीचकारेप्सितधीः स युक्तमुलूखलाङ्घ्रिस्थितिमप्यनन्तः॥ २९॥
न हीयते वदान्यस्य सच्छीलं खलसङ्गतः। उलूखलकृतावासोऽप्यौदार्यान्न च्युतोऽच्युतः॥ ३०॥
दानमेव जने यावद्दोषदोषाघमोपकम्। भवतीत्यच्युतो युक्तं तद्दानं तत्कृतेऽकरोत्॥ ३१॥
यद्यप्यलभ्यममृतं स्वस्थितमवनौ तथापि मां भजताम्। सुलभं कुर्यामिति किं कपये नवनीतमुपरिगतमादात्॥ ३२॥

कृष्णप्रिया

पुनः लालन माताजी की गोद में आरूढ हो गये। माता मुस्कराते हुए लालन के मुखकमल को देखती हुई प्रेम से अपना स्तन पिलाने लगीं जिससे दूध चू रहा था किन्तु अभी भगवान् दूध पीकर अघायें न थे और बीच में ही चूल्हे पर रखे दूध में उफान आ गया और पात्र में से गिरने लगा इसलिये माता यशोदाजी शीघ्र ही लालन को गोद से उतार दूध उतारने दौड़ गयी॥ ५॥ माताजी के इस व्यवहार से भगवान् को कोप हो आया उनके रक्तवर्ण होठ कडकने लगे। उन्हें दाँतों से दबाकर पत्थर के टुकड़े प्रहार कर दहीं की भरही फोड़ डाली और झूठ मूठ रोने लगे। पुनः घर के भीतर घुस एकान्त में मक्खन खाने लगे॥ ६॥ औटे दूध को उतार कर माता यशोदा जब लौट आई तो भरही फूटी पाया। यह सब हाल देख माता मुस्कराई और समझ गयी कि यह सब खुराफात मेरे लालन ही की है और वहाँ लालन को न देख ढूंढने लगी॥ ७॥ लालन को ढूंढती हुई जननी जब भीतर गयी तब उन्होंने देखा कि घर के भीतर से छींके पर रखी गई मटकी से मक्खन निकाल निकाल कर बाहर ओखरी उलटकर उस पर खड़े होकर बन्दरों को बाँट रहा है और अपनी चोरी खुल न जाय इसलिए चौकन्ने होकर चारों ओर ताकते जाते हैं और यह देखकर महारानी यशोदा पीछे से धीरे धीरे उनके पास जा पहुँची॥ ८॥

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोऽवरुह्यापससार[1] भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न[2] यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥ ९॥
अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन [3]विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥ १०॥
कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥ ११॥
त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला। इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा॥ १२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आत्तयष्टिं तां प्रसमीक्ष्य सत्वरः ततः अवरुह्य भीतवत् अपससार तपसा ईरितं प्रवेष्टुं क्षमं योगिनां मन यं न आप गोपी अन्वधावत्॥ ९॥ अन्वञ्चमाना बृहत् चलत् श्रोणी भराक्रान्तगतिः सुमध्यमा जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-च्युतप्रसूनानुगतिः जननी परामृशत्॥ १०॥ प्ररुदन्तं कृतागसं अञ्जन् मषिणी अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं भयविह्वले क्षणं उद्वीक्षमाणं तं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती अवागुरत्॥ ११॥ सुतं भीतं विज्ञाय अर्भकवत्सला यष्टिं त्यक्त्वा अतद्वीर्यकोविदा दाम्ना तं बद्धुं किल इयेष॥ १२॥

१. ह्योभिससार–विज.। २. नयमास–वीर. विज.। ३. विस्रंशित–विज.; विस्तंशित–ह. लि. टी.।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तपसा एकाग्र्येणेरितं तदाकारतां नीतमत एव प्रवेष्टुं क्षमं योग्यं योगिनां मनोऽपि यं नाप तम्। अथ वा अन्वधावत्केवलं न त्वाप। योगिनां मनोऽपि यं प्रवेष्टुं न क्षममिति ॥ ९॥ अन्वंचमाना एवं कृष्णमनुगच्छंती। बृहत्योश्चलयोः श्रोण्योर्भरेणाक्रांता स्तब्धा गतिर्यस्याः सा। विस्रंसितात्केशबंधनाच्च्युतैः प्रसूनैरनुगतिरनुगमनं यस्याः सा। यद्वा जवेन कंपितात्केशबंधात्पुरः पतितानि प्रसूनान्यनुभयमुत्पादयन्ती पश्चाद्गतिर्यस्याः सा परामृशदुद्धृतवती ॥ १० ॥ अंजन्मषिणी अंजंती सर्वतः प्रसरंती मषी ययोस्ते अक्षिणी स्वपाणिना कषंतं संमर्दयंतम्। भिषयंती ह्रस्वश्छांदसः। भीषयंती भयमुत्पादयन्ती अवागुरदभर्त्सयत् ॥ ११ ॥ इयेष ऐच्छत। अतद्वीर्यकोविदा तत्प्रभावानभिज्ञा ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

आत्तयष्टिं स्वीकृतयष्टिकाम्। तत उलूखलांघ्रेः। भीतवदिति। न हि तस्य कुतोपि भयमपि तु तस्यैव "भीषास्माद्वातः पवते" इत्यादिश्रुतेः। सर्वभयहेतुत्वमाह। अपससार धावनं चकार। मनोगोचरस्य हस्तादिना ग्रहणं सर्वथाऽसंभावीत्यत आह—अथवेति। कुतो नापेत्याकांक्षायामाह—यतो हेतोः "नैतन्मनो विशति" इत्यादिवक्ष्यमाणत्वात्। यं प्रवेष्टुं यत्र प्रवेशं कर्तुं विषयीकर्तुम्। "यतो वाचो निवर्त्तंते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतेः। यद्वा—साहजिकमातृस्नेहभरज्ञानेन तत्त्वतोंतर्भयाभावात्। यद्वा—भीतवदिति। मतुबन्तं भययुक्तं यथा स्यात्तथा दुद्राव 'भयभावनया स्थितस्य' इति कुंत्युक्तेः। गोपी यशोदा। योगः समाधिस्तद्वतां मनस्तपसा ज्ञानेनेरितमपि प्रवेष्टुं ब्रह्मणि लीनीभवितुं क्षममपि यं नाप 'नायं सुखापः' इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ९॥ प्रसूनैस्सहानुगमनं सर्वथाऽयोग्यं प्रसूनानां जडत्वादतोऽर्थांतरमाह—यद्वेति ॥ १० ॥ मषी दीपकज्जलम् "मषी लेखनद्रव्ये दीपकज्जलसुवीरयोः" इति धरणिः। यद्वा—अवागुरत्ताडनार्थं हस्तमुद्धृतवती न केवलं योगिप्रापं धृतवत्येव किं तु ब्रह्मादिभिरनिशं स्तूयमानं तमभर्त्सयदपि। महाकालयमादीनामपि भयहेतुं यष्ट्याताडयच्चेत्याह—कृतागसमिति। यद्वाग्वागुरत्। भो अशांतप्रकृते वानरबंधो मंथनीस्फोटक अद्य नवनीतादिकं कुतः प्राश्नासि तथा बध्नाम्यद्य यथा बालैः खेलितुं नवनीतमपहर्तुं च न प्रभविष्यसि। इदानीं यष्टिताडनात्किंबिभेषि इति तर्जयंती यष्ट्युत्थानेन ताडनोद्यमं चकार न तु तताड 'गुरी—उद्यमे' ॥११॥ मातर्मां मा ताडयेत्युक्ते ताडने यदि विशेषभीस्ते तर्हि किमद्य दधिभाण्डमभांक्षीः। मातरेवमथनैव करिष्ये पातय करायष्टिमिति पुत्रोक्तिकातर्यविक्लवमना हंत कदाचिदयं मन्युना वनं प्रविशेदिति शंकया तन्निरोधार्थमुपायं निश्चिकायेत्याह—त्यक्तेति। तस्य कृष्णस्य वीर्यं तद्वीर्यं तत्र कोविदा ज्ञानवती तद्वीर्यकोविदा तद्भिन्ना तथा। यद्वा—तद्वीर्यकोविदा तच्चापलभरदुर्वारतायभिज्ञा ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रकर्षेण सम्यगीक्षित्वेति स्वताडनार्थं तस्या यष्टिग्रहणासम्भवात् प्राक् कदापि तद्दर्शनाच्च तन्निद्धारार्थम् अतः सत्वरः सन् अपससार मातृवञ्चनाय यमलार्जुनाख्यचैत्यवृक्षसन्निहितनानाजनता सदननिजपुरपुरोद्वारं प्रत्येवेति ज्ञेयं भीतवदिति सहजमातृस्नेहभरज्ञानेन तत्वतोऽन्तर्भयाभावात् यद्वा भीतो ऽन्यो यथा तथैवेत्यर्थः। एषा मातरि बाल्यादिलीलामाधुरीं माता तु तस्मिन् दिने पुरोद्वारमपि निर्गतजनं ज्ञात्वाऽन्वधावदेवेत्याह योगः समाधिः तद्वतां मनः प्रवेष्टुं ब्रह्मणि श्रीभगवत एवाविर्भावान्तरे वा लीनीभवितुं क्षमं योग्यमपि तपसा ऐकाग्र्येण ईरितं त्वदुन्मुखत्वाय प्रेरितमपि यं नाप नास्पृशदपीत्यर्थः। नायमित्यादौ स्पष्टीभावित्वात् तम् अन्वधावत् पदे पदे प्राप्यमानमिवाधावत् अहो अस्तु तावदस्याः सन्ततमङ्कशयनादिसमयसौभाग्यं पलायनसमयसौभाग्यमपि परमयोगिनां मनसोऽप्यगोचर इति भावः। साक्षाच्च धारणात्तस्याः सर्वभक्तेभ्योऽप्यधिको भाग्यभरो दर्शितः ॥ ९ ॥ बृहदित्यादिरूपापि जवेन परामृशत् तं पृष्ठतो धृतवती स्नेहमयेनेति शेषः। यतो जननी ॥ १० ॥ कृतम् आगः येन तम् अतस्ताडनमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं प्रकर्षेण रुदन्तम् अत एव अञ्जन्मषिणी अश्रुभिः प्रसरत् कज्जले अक्षिणी वाञ्छ्यमानमपि मातृहस्तेनाश्रुमार्जनमपराधादप्राप्य स्वस्यैव पाणिना कषन्तं सम्मर्दयन्तं बहुलाश्रुनिर्गमार्थं किंवा अस्रापसारणार्थं मार्जयन्तं किञ्चित भयेन विह्वले ईक्षणे नेत्रे यस्य तं किंवा तथा रुदन्तम् उच्चैर्वीक्षमाणा अवलोकयन्त्यपि पुनस्तादृशविकर्माभ्यासस्सङ्कोचनेन सुप्रकृततपोदानार्थं भिषयन्ती भाययन्ती भाययितुम् अवागुरत् अवागुरत 'गुरीउद्यमे' हे अशान्त रोषक्रान्त लुब्धप्रकृते वानरप्रिय गृहलुण्ठाक इतः प्रभृतिनवनीतादिकं किञ्चिन्न दास्ये बद्ध्वा गृहान्तर्द्धास्ये यथा कुत्रापि गत्वा क्रीडितुं न शक्नोषि क्रीडनकानि सहचरबालकादींश्च द्रष्टुमपि न शक्ष्यसीत्यादिवाक्येन तथा यष्ट्युत्थापनप्रायादिना ताडनोद्यममिव कृतवतीत्यर्थः न च ताडयामास उद्वीक्ष्यमाणेति सभयत्वपाठे भयविह्वलेक्षणं यथा स्यात्तथा उच्चैरूर्ध्वमुखतया अवलोक्यमाना इति तस्य कातर्यमुक्तम् अतो ऽवागुरदेव यद्वा भयेन विह्वले कम्पमाने हस्ते गृहीत्वा क्षणमवागुरत अन्यत्समानम् ॥ ११ ॥ यतो ऽर्भकमात्रे वत्सला किमुत स्वार्भके तस्मिन् इत्यर्थः। अतो ऽतद्वीर्यकोविदा तत्प्रभावानुसन्धान-

रहिता स्नेहभराक्रान्तचित्तत्वेनान्यास्फूर्त्तेः यद्वा तद्वीर्यकोविदा तच्चापलभरदुर्वारताभिज्ञा अतस्तं—बद्धुमैच्छत् किल प्रसिद्धौ निश्चये वा ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्रकर्षेण सम्यगीक्षित्वेति स्व-ताडनार्थं तस्या यष्टिग्रहणासम्भवात्, प्राक् कदापि तददर्शनाच्च। तन्निर्द्धारार्थमतः सत्वरो वेगवान् सन् तत उलुखलाङ्घ्रेरवरुह्यापससार धावित्वा पलायतेत्यर्थः। भीतवदिति सहजमातृस्नेहभरज्ञानेन तत्त्वतोऽन्तर्भयाभावात्; यद्वा, भीतोऽन्यो यथा तथैवेत्यर्थः। एषा मातरि वात्सल्यादि लीला-माधुरी, योगः समाधिस्तद्वतां मनः प्रवेष्टुं ब्रह्मणि लीनीभवितुं क्षमं योग्यमपि नाप नास्पृशदपीत्यर्थः, तं गोपी श्रीयशोदान्वधावत् धावन्तं धावनेन साक्षात् पश्चाद् ययाविति तस्याः सर्वभक्तेभ्योऽप्यधिको भाग्यभरो दर्शितः ॥ ९ ॥ बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिरपि जवेन धावनवेगेन तं परामृशत् पृष्ठतो धृतवती, यतो जननी। जवेनेति वस्तुतः स्नेहोद्रेकेणैवेत्यर्थः ॥ १० ॥ कृतमागो दधिभाजन भेदन-नवनीत-चौर्य्यादिलक्षणं येन तमतस्ताडनमाशंक्य तत्परिहारार्थं प्रकर्षेण रुदन्तमतएवाञ्जन्मषिण्यश्रुभिः प्रसरत्कज्जले स्वतः स्फुरत् कज्जले वाक्षिणी वाञ्छमानमपि मातृहस्तेनाश्रुमार्ज्जनमपराधादप्राप्य स्वस्यैव पाणिना कषन्तं संमर्दयन्तं बहुलाश्रुनिर्गमार्थम्, किंवा, अश्रापसारणार्थं मार्ज्जयन्तम्। किञ्च, भयेन विह्वले चञ्चले ईक्षणे नेत्रे, किंवा विह्वलमाकुलं निरीक्षणं यस्य तम्; किंवा भयविह्वलेक्षणं यथा स्यात्तथा रुदन्तमुच्चैर्वीक्षमाणावलोकयन्त्यपि पुनरस्तादृशविकर्म्मानाचरणार्थं भीषयन्ती—'इतः प्रभृति नवनीतादिकं किञ्चिन्न दास्ये, त्वां बद्ध्वा गृहान्तर्द्धास्ये यथा कुत्रापि गत्वा क्रीडितुं न शक्नोषि, क्रीडनकानि सहचरबालकादींश्च द्रष्टुमपि न शक्ष्यसि' इत्यादिवाक्येन; तथा यष्ट्युत्थापनादिना च तस्य भयमुत्पादन्त्यवागुरत्, 'हे अशान्त! रोषाकान्त! लुब्धप्रकृते वानरप्रिय! लुण्टाक' इत्यादिनिर्भर्त्सनमेव सह वात्सल्यभरेणाकरोत्, न च ताडयामास, यत्पाठे भयविह्वलेक्षणं यथा स्यात्तथोच्चैरुर्द्धमुखतयावलोक्यमानेति तस्य कातर्य्यमुक्तमतोऽवागुरदेव, यद्वा भयेन कम्पमाने हस्ते गृहीत्वा क्षणमवागुरत्। अयत् समानम् ॥ ११ ॥ यतोऽर्भकवत्सला, अतोऽतद्वीर्य्यकोविदा तत् प्रभावानुसन्धानरहिता स्नेहभराक्रान्तचित्तत्वेनान्यास्फूर्त्तेः, यद्वा, तद्वीर्य्यकोविदापि बन्धुमियेष, यद्वा, तद्वीर्य्यकोविदा तच्चापलभरदुर्वारिताभिज्ञा, अतस्तं बन्धुमैच्छत्। पक्षद्वयेऽपि हेतुरर्भकवत्सला, यद्वा, तस्य वीर्य्यं बलं तस्मिन् कोविदा 'महाबलिनमेतमहं बन्धुं न शक्नुयाम्' इत्येतद्वितर्कयन्तीत्यर्थः। तथापि बन्धुमियेष, कुतः? अर्भकवत्सला मातृस्नेहेनात्मनो बालकबुद्ध्या स्नेहेन ततोऽप्यधिकबलवत्ताभिमानात्, किंवा, वात्सल्येन तद्धितार्थं तदतिचापल्यदोषनिरसनव्यग्रतया किञ्चिदन्यानुसन्धानात्। किल प्रसिद्धौ निश्चये वा ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

न यमाप तपसेरितं योगिनां मनः यं प्रवेष्टुं न क्षममासीदित्यर्थः ॥ ९ ॥ अन्वञ्चमाना अनुगच्छन्ति परामृशत् ॥१०॥ पस्पर्श अञ्जन्मषिणी अञ्जितकज्जले अवागुरत् उद्यतहस्ता अभूत् ॥ ११ ॥ अतद्वीर्यकोविदेति पदम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तामागतामात्ता उद्धृता यष्टिर्यया तां प्रसमीक्ष्य त्वरया सहितः तत उलूखलाङ्घ्रेरवरुह्य भीतवदपससार पलायितवान् तदा सा तमपसरन्तं सुतमन्वधावत् "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्युक्तरीत्या वाङ्मनसापरिच्छेद्यवैभवं पद्भ्यामन्वधावदित्येतदहो विचित्रमित्यभिप्रायेण विशिनष्टि यं श्रीकृष्णं योगिनां मनोऽपि प्रवेष्टुं न क्षमम् असमर्थमास तमन्वधावत् कथंभूतं मनः तपसा ईरितं प्रवणीकृतम् ॥९॥ अन्वञ्चमानाऽनुधावन्ती बृहत्योः श्रोण्योर्भरेणाक्रान्ता स्तब्धा गतिर्यस्याः शोभनो मध्यमः मध्यप्रदेशो यस्याः जवेन हेतुना विस्रंसितात्केशबन्धनाच्च्युतैः प्रसूनैरनुगतिरनुगमनं यस्याः सा जननी परामृशत् पस्पर्श जग्राहेत्यर्थः ॥ १० ॥ तं हस्ते गृहीत्वा भीषयन्ती भयं प्रापयन्ती अवागुरत्ताडयितुमुद्यतहस्ताऽभूत् कथम्भूतं कृतमागोऽपराधो येन तमञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषिः कज्जलं ययोस्ते अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं मर्दयन्तं भयेन विह्वले चकिते ईक्षणे यस्य तम् ॥ ११ ॥ तं तदा अवगुरन्त्यपि सा सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला अत एव यष्टिं त्यक्त्वा तत्प्रभावानभिज्ञा दाम्ना रज्ज्वा तं बद्धुमियेषैच्छत् खलु ॥ १२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अभिससार गमनं प्रारब्धवानित्यर्थः। गोप्या कृष्णानुधावनं न तत्त्वबुद्ध्या कृतं किन्तु भ्रान्तिबुद्ध्येत्याशयेनाह—तामिति। तपसेरितं प्रेरितं क्षमं समर्थम् ॥ ९ ॥ अन्वञ्चमाना जवं विहाय शनैरनुगच्छती "अञ्चु गतिपूजनयोः" इति धातुः हंसीवद्गमनवतीत्यर्थः। शनैर्गमने निमित्तमाह, बृहदिति। बृहत्योः स्थूलयोश्चलत्योः श्रोण्योर्भारेणाक्रान्ता स्तब्धा गतिर्यस्याः

सा तथा विश्रंशितात् विस्रस्तात् केशबन्धात् च्युतानामपि प्रसूनानाम् अनुगतिर्यस्याः सा तथा परामृशत् पस्पर्श जग्राह वा ॥ १० ॥ अञ्जन्मषिणी अञ्जिता मषिः अञ्जनं ययोस्ते अञ्जन्मषिणी अक्षिणी नेत्रे कषन्तं निष्पीड्य कलुषयन्तं भीषयन्ती अवागुरत् ताडनार्थं हस्तमुद्धृतवती ॥ ११ ॥ दाम्ना वत्सपाशेन अतद्वीर्यकोविदा कृष्णमाहात्म्यमजानती ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तामिति अपसरणं मातृवञ्चनार्थं पुरोद्वारायैव ज्ञेयं प्रवेष्टुं ब्रह्मणि लीनतां प्राप्तुं तपसा प्रेरितमपि यत् यं नाप ॥ ९-१० ॥ भीषयन्ती भाययितुमित्यर्थः । अवागुरन् अवगुरत भर्त्सनादिना ताडनोद्यममित्र कृतवती ॥ ११-१२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पुत्रभीषणार्थमात्तयष्टिं भीतवदिति साहजिकमातृस्नेहभरज्ञानेन तत्त्वतोऽन्तर्भयाभावात् यद्वा भीतवदिति मतुबन्तं भययुक्तं यथा स्यात्तथाऽपससार दुद्रावेत्यर्थः । "भयभावनया स्थितस्य" इति कुन्त्युक्तेः । गोपी यशोदा योगः समाधिस्तद्वतां मनः तपसा ज्ञानेनेरितमपि प्रवेष्टुं ब्रह्मणि लीनीभवितुं क्षममपि यं नाप नायं सुखाय इत्यादौ स्पष्टीभावित्वात् ॥ ९ ॥ न च योगिदुष्प्रापं तमनुधावनेन सा न प्रापेति वाच्यमित्याह—अ वञ्चेति । विस्रंसितात् केशबन्धात् च्युतैः प्रसूनैरनुगतिरनुगमनं यस्याः सा परा पृष्ठतोऽमृशत् तं धृतवती ॥ १० ॥ योगिदुष्प्रापं तं न केवलं धृतवत्येव किन्तु ब्रह्मरुद्रादिभिरनिशं स्तूयमानं तमभर्त्सयदपि महाकालयमादीनामपि भयहेतुं तं यष्टिमात्रेणाप्यभाययदपीत्याह—कृतागसमिति । अञ्जनमषिणी अञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषी ययोस्ते अक्षिणी स्वपाणिना स्ववामपाणिपृष्ठेनैव सम्मर्दयन्तं दक्षिणपाणेर्मातृगृहीतत्वात् भिषयन्ती यष्ट्या भाययन्ती ह्रस्वसुगावार्षौ यद्वा भीषयमाणा तदा ह्रस्वपरस्मैपदे आर्षे अवागुरत भो अशान्तप्रकृते ! वानरबन्धो ! मन्थनीस्फोटक ! अद्य नवनीतादिकं कुतः प्राप्स्यसि तथा बध्नाम्यद्य यथा सहचरबालकैः सह खेलितुं नवनीतमपहर्तुं च न प्रभविष्यसि इदानीं यष्टिताडनात् किं बिभेषीति तर्जयन्ती यष्ट्युत्थानेन ताडनोद्यमं चकार ननु तताड "गुरी उद्यमे" ॥ ११ ॥ मातर्मा मा ताडयेत्युक्ते "ताडने यदि तवातिशया भीस्तत् किमद्य दधिभाण्डमभाङ्क्षीः । मातरेवमथ नैव करिष्ये पातय स्वकरतो बत यष्टिम्" इति पुत्रोक्तिकातर्य्यविक्लवमना हन्त कदाचिदयं मन्युना वनं प्रविशेदिति शङ्कया तन्निरोधार्थमुपायं निश्चिकायेत्याह—त्यक्त्वेति । तद्वीर्य्यस्य सर्वव्यापकत्वलक्षणस्य तदैश्वर्यस्य न कोविदा शुद्धतन्माधुर्य्यैकनिमग्नत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

आत्ता यष्टिर्यया तां प्रसमीक्ष्य सत्वरः तत उलूखलाङ्घ्रेः अवरुह्य भीतवत् अपससार पलायितवान् गोपी यशोदापि तमपसरन्तम वधावत् यं श्रीकृष्णं तपसा शास्त्रीयेणलोचनेन ईरितं तत्प्रवणीकृतमत एव क्षमं योग्यं योगीनां मनः प्रवेष्टुं न क्षमम् ॥ ९ ॥ जनन्यपि अन्वञ्चमाना अनुगच्छन्ती बृहत्योः श्रोण्योर्भरेण भारेणाक्रान्ता मन्थरा गतिर्यस्याः सा जवेन विस्रंसितात् केशबन्धनाच्च्युतैः प्रसूनैरनुगतिरनुगमनं यस्याः सा परामृशत् जग्राह ॥ १० ॥ कृतागसं कृतापराधम् अञ्जन्ती प्रसरन्ती मषी ययोस्ते अञ्जन्मषिणी अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं मर्दयन्तं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती अवागुरदभर्त्सयत् ॥ ११ ॥ अतद्वीर्यकोविदा उक्तप्रकारया भगवदिच्छयैव तत्प्रभावानभिज्ञा बद्धुमियेष ऐच्छत् ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ततः किमभूत्तदाह ताडनार्थमात्तयष्टिं गृहीतातिसूक्ष्मरत्नचित्रलघुलकुटिकां तां मातरं प्रसमीक्ष्य ताडयेदेवाद्येति विज्ञाय सत्वरस्तत उलूखलांघ्रेरवरुह्यापससार पलायाञ्चक्रे भीतं भयं यत्र विद्यते तद्यथा भवं तथा भयभावनया स्थितस्येति कुन्तीवाक्यात् गोपी राज्ञी तन्माता तमन्वधावत् योगिनां मनो यं नाप कीदृक् तपसा समाधिपर्यन्तेनेरितं परिशोधितं प्रवेष्टुं क्षमं योग्यमपि तत्प्रसादेन तन्मनस्तस्मिन् प्रविशत्वन्तु स्वसामर्थ्येनेतिभावः ॥ ९ ॥ न च सा योगिमनोऽगम्यं तमनुपधावती न प्रापेति वाक्यमित्याह—अ वञ्चेति । विस्रंसितात् केशबन्धात् च्युतैर्मालती प्रसूनैरनुगतिर्यस्याः सा परा पृष्ठतोऽमृशद् गृह्णादित्यर्थः ॥ १० ॥ न केवलं योगिमनोग्राह्यमपि तमगृह्णादेवापितु विधिहरादिस्ततस्तमभर्त्सयत् कालस्यापि भयहेतुं तं यष्ट्याप्यभाययच्चेत्याह कृतेति । तं कृष्णं हस्ते दक्षिणे गृहीत्वा भीषयन्ती यष्ट्या भाययन्ती ह्रस्व सु गावार्षो अवान्तरताडनोद्यममकरोन्न वताडयदित्यर्थः । गुरी उद्यमे तं कीदृशं कृतागसं सापराधं अतस्ताडनमाशङ्क्य तत्परिहाराय प्ररुदन्त अञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषीकज्जलं ययोस्ते अक्षिणी स्वपाणिना दक्षिणपाणेर्गृहीतत्वाद्वामपाणिपृष्ठेन कषन्तं मर्दयन्त मातृहस्तेन वाध्यमानमप्यश्रुमार्जनमपराधात् स्वपाणिनैव कुर्वन्तमित्यर्थः । कीदृशी सेत्याह भयविह्वलेक्षणं तमुद्वीक्षमाणेति हे चौर्यपण्डित कोपाक्रान्तकपिकुलमित्र मन्थनीछिद्रकर गृहलुण्ठाक तिष्ठ त्वं तथाहमद्य यतिष्ये यथा कुत्रापि गत्वा क्रीडितुं न शक्नुयाः क्रीडनकानि सखिबालांश्च द्रष्टुमपीशो न भवेरिति व्यञ्जयन्तीरूक्षमुद्रया तं पश्यन्तीत्यर्थः "ताडने यदि तवाति-

शयार्भस्तत्किमद्य दधिभाण्डमभाङ्क्षीः मातरेव मथनैव करिष्ये पातयस्व करतोवतयष्टिमिति यद्वा भयेन विह्वले कम्पमाने हस्ते गृहीत्वा क्षणमवागुरत् अन्वसमानम् ॥ ११ ॥ अर्भकवत्सला स्वप्राणादप्यति प्रेमाणमर्भके वहन्ती माता भीतं विज्ञाय यष्टिं त्यक्त्वा साधुमार्गेऽयं स्थापनीय इति विचार्य दाम्ना तं बद्धुमियेष बबा यतस्तद्वीर्यके विदा चौर्यादिपु धार्ष्ट्येषु तद्-बुद्धिबलं जानतीत्यर्थः। न चादद्वीर्येति छेदः। तद्वीर्यस्य विश्वगर्भत्वादेस्तया ज्ञातत्वात् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सत्वरस्त्वरासहितः कृष्ण आत्ता यष्टिर्यया सा तां प्रसमीक्ष्य तत उलूखलादवरुह्य भीतवत्सर्वभीपकस्य भीतिर्मातुर्नेति सूचयति वतिः। अभिससार दुद्राव। यं योगिनामजादीनां तपसेरितं प्रेरितं तदासक्ततां नीतं मनः प्रवेष्टुं न क्षमं न समर्थमास तमन्वधावत्। अत एव गोपी लोकालोके किमप्यविदुर्षी वा वीक्ष्यायं पशुपाल इयं पशुपालिकेत्यालपति। गोप एव मूर्खस्तत्पत्नी तु ततोऽपीति वा गोपीति ॥ ९ ॥ अन्वञ्चमानन्वञ्चती अनुव्रजन्ती बृहत्योश्चलतोः श्रोण्योर्नितम्बयोर्भारेणाक्रान्ता मन्दीभवन्ती गतिर्गमनं यस्याः सा सुमध्यमा जवेन केशानां बन्धनं विभ्रंशितं च तत्केशवन्धनं च तस्मात्प्रच्युतानि प्रसूनानि पुष्पाणि धम्मिल्लमुल्लङ्घ्य पुरश्च्युतानि तेषामनुगतिर्यस्याः सा कृष्णचरणयोः कुसुमार्पणेन प्राप्तिः सत्वरं भविष्यतीतीदमपदेशेन सभाजित-वत्यजित चरणद्वन्द्वमिति तं परामृशदिति ध्वनिः। न च चमत्कृतैवम्भावाविष्करणं। स्वनिर्माल्यमालानामसमार्पणीयत्वादिति चेत्। कुरुशबरीवरिवस्यां विभ्रंशितकेशवन्धनतश्च्युतानि पश्चात्प्रसूनानि यस्याः सा। अनु अनुसृत्य गतिर्यस्याः सा चेति वा। तदनु यात्राऽपि तत्परामर्शहेतुरिति तं परामृशदिति वा। परानुयात्राजितपुण्यपात्रेति रुक्मिणीसविजयोक्तेः ॥ १० ॥ जननी कृतागसं कृतापराधं प्ररुदन्तमञ्ज मषीणि अञ्जती सर्वतः प्रसरन्ती मषी कज्जलमनयोरित्यञ्जन्मषीणि। अक्षिणी नयने स्व-पाणिना कषन्तं मृजन्तमुद्वीक्षमाणं भयेन विह्वलं चञ्चलमीक्षणमवलोकनं यस्य तं हस्ते गृहीत्वा सक्थिनि कर्णे वा महाभाष्य-प्रयोगात्प्रयोगाच्च शृङ्गे कर्णे वा गृहीत्वा गामिव नागम इति तत्त्वनिर्णये। हस्ते गृहीत्वेति सम्भवति। विस्तरस्तु भाष्य-दीपिकायुक्तिबाल्याख्यामस्मत्कृतायामनुसन्धेयः। भीपयन्ती सङ्कोचनेन भीत्यस्य न सर्वभीपकस्य भीषणं सम्भवतीति सूचयति। अपिमापमषं नीत्या छन्दश्छेदार्थं लघुभिः पाठ्यः। अवागुरत् गूरी उद्यमने दिवादिः पुषादिभ्यः पूर्वेतनश्चेति नाङ् विकरण-व्यत्ययेन शः। उद्यमवत्यवभवत् लङ् ॥ ११ ॥ अतद्वीर्यकोविदा तद्वीर्याज्ञा तं बन्धुम्। बन्ध बन्धने बन्धिर्युधीत्यनिट्कः बध बन्धन इति सेट्कः। बद्धमिति प्रामादिको व्यवहारः ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततस्तां दृष्ट्वायोग्या स्प्रष्टुमिति ततो निर्गतवानित्याह **तामात्तयष्टिमिति, यष्टि**रत्र गोवत्सनिवारिका, तस्या भगवत्यपि वत्सबुद्धिर्जाता, **आत्ता** गृहीता **यष्टि**र्यया, दर्शनादेव न पलायितवान् किन्तु तस्या अन्तर्गतं बाह्यं च भावं **प्रकर्षेण सम्यग् दृष्ट्वा** नैकस्यमपि नार्हतीति ज्ञात्वा तद्दोपपरिहारार्थं **त्वरासहितस्ततोवरुह्यापससार** प्रतिमुखतयैव पलायनं कृतवान्, तस्या दोषेण स्वस्मिन् स्थितबालकानामपि दोषो भविष्यतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **भीतवत्**, यथा भीतस्तदपकारं स्वस्मिन् जानाति तथा भगवानपि तद्दोषं स्वस्मिन् विचारितवान्, अनेनैव न **भीत** इति ज्ञापितं, सापि **गोपी**, अतोन्वधावत्, अनुपश्चाद् **धावनं** कृतवती, तस्या अविवेकं प्रकटयितुं **शुको** भगवन्तं विशिनष्टि **यं** भगवन्तं **योगिनां** सिद्धयोगानां निवृत्तदोषं **मनस्तत्रापि तपसेरितं** प्रेरितं धर्मेण संस्कृतमपि **प्रवेष्टुं नाप** न प्राप्तवत्, अत इयमप्यर्थादेव न प्राप्तवतीत्यर्थः ॥९॥ एवं भगवति दोषदर्शने भगवदीयोपि भगवन्तं न प्राप्नोतीत्युक्तं, तादृशेपि **भगवान्** कृपां करोतीति भगवत्कृपया भगवन्तं स्पृष्टवतीत्याहान्वञ्चमानेति, प्रतिकूलोपि भगवदर्थं श्रमः सार्थकः, **श्रोणी अन्वञ्चमाना** श्रोण्योराकर्षणं कुर्वन्ती रथाकर्षणे बलीवर्दवद् **भाराक्रान्तगतिर्जाता भरेण भारेणाक्रान्ता गतिर्यस्या,** दुष्टा **गतिर्भारेणैवाक्रान्ता,** ततो बुद्धिरपि दोषादेर्निवृत्ता गमनार्थमेव प्रवृत्ता, तदाह **सुमध्यमेति, जननीतिवचनात** सद्गुणयोः स्तनयोरपि भारः सूचितः, **जननी**त्वाच्च न वर्णितः, वस्तुतस्त्व**जननी,** जननी न काचिदप्येवं करोति, **सुमध्यमे**त्यनेन मध्ये भक्ता बहिर्व्यामोहिता, परं दुष्टभावाद् भारेण गत्याक्रमणमुक्त्वा शोभनमध्यभावं वदंस्तस्या दोषाभावं गुणं चोक्तवान्, अभिमानाभावार्थं चाह **जवेनेति,** वेगेन **विशेषेण स्रंसितानि केशबन्धाच्च्युतानि** प्रसूनानि तेषामनु पश्चाद् गतिर्यस्याः, पुष्पाण्यपि सङ्गे चलन्ति, **प्रकृष्टा सूना** येषां तानि **प्रसूनानि,** उत्तारणमात्रेणैव ते नश्यन्तीति देवार्थं च तेषां **सूना,** तान्यपि बद्ध्वा स्थापितवती, तानि च पुनः केशबन्धाद् विगलितानि, उत्पत्तिप्रलयौ तदधिष्ठात्र्यौ देवते च तत्रैव **सम्बद्धे** तद्रूपाणां च **बन्धनं** यत्र ततस्तु मुक्ता न पुनर्जन्मभाजः, ततो मोक्षश्च भगवदर्थक्रियया, अतः केशानामपि बन्धविमोच-कस्तत एव **विस्रंसितः** केशबन्धस्ततश्च्युतानि **प्रसूनानि,** एतस्या दोषाभावो गुणो मुक्तानुगतिश्चेतिधर्मत्रयेण भगवन्तं **परामृषत्** परितो धृतवती, आलिङ्गितवतीत्यर्थः, तस्या दोषभावं दृष्ट्वा **भगवान्** रोदिति तस्या विवेकभ्रंशलक्षणमपराधं च कृतवान्, **यशोदा**बुद्ध्या तु भाण्डभेदनमपराधः, अत्यन्तमौढ्यदोपनिवृत्त्यर्थं च ज्ञानशक्तेर्वर्षणमपि करोति, ज्ञानशक्तिस्तु भगवत्कृत्यैव सोज्ज्वला भवति "यथायथात्मा परिमृज्यत" इतिवाक्यात, **यशोदाया** निरोधः सर्वथा व्यर्थो मा भवत्विति स्वकार्यं तद्भावं च

दृष्ट्वा **भयेन विह्वले ईक्षणे** यस्य, सोपाधिकं निरुपाधिकं च ज्ञानं तस्या गमिष्यत इति विह्वलता ॥ १० ॥ एवं परमकृपालुं गृहीत्वा यत् कृतवती तदाह **कृतागसमिति, कृत आगोपराधो** येन, कोयमपराध इत्याकाङ्क्षायामाह तमिति व्यामोहकं, यशोदा बुद्धौ तु भाण्डभेत्तारं, यद्यपि स्वयमीश्वरो न कोप्यपराधो भवति तथाप्येषा व्यामोहिका लीला, तामत्यन्तं व्यामोहितवान् यथाग्र उत्तरलीलासु प्रतिबन्धिका न भवति, अन्यथात्यन्तमासक्ताग्रिमकार्ये प्रतिबन्धिकैव स्यात् "तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्" "सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेती"तिवाक्यात् निदानाज्ञानाच्च मोहः, लोकदृष्ट्या मारयिष्यतीति **प्रकर्षेण रोदनं**, इदमपि द्वितीयं व्यामोहकं, **अक्षिणी कषन्तमिति** बालभावदार्ढ्यकरणं, पूर्वं कृतमोहस्य दार्ढ्यार्थमञ्जनं शोभार्थं तयैव कृत**मञ्जनसाधनीभूतमषीयुक्ते अक्षिणी, स्वपाणिनेति**, पर्यायेणैकेनैव **पाणिना** भगवदीयक्रिययैव भक्तिरूपया नयनमुज्ज्वलं न भवतीति **कषन्तमिति**, तत्रत्या कण्डूरपि नाशिता, तेन रजोगुणोपि शामितो मारणसाधनीभूतः, अत एव तिष्ठन्नपि भगवां स्तादृशचेष्टया स्थितस्तां न दृष्टवान्, सैव पुनस्त**मुद्वीक्षमाणोर्ध्वं** विलोकयन्ती न तु पादौ, तथा सति भक्तिर्वा भवेत्, भगवांस्तु परितः स्थिता गोपी पश्यति तासामपि दोषारोपाभावार्थं **भयं**, अन्तःस्थितोप्ययं भावो मोहनार्थमेव प्रकटितः, एवं त्रिभिर्धर्मैः सा मोहिता नातः परमुत्थास्यति, अत एवाग्रेस्याः कापि स्नेहकला न निरूपिता, "शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षी"दिति तु गुणानां माहात्म्यं "जनन्युपहृतं प्राश्य" "तत्कथाश्रवणोत्सुके"त्यादि तु रोहिणीसहभावात् तस्या अपि भावोस्यां सङ्क्रान्त उक्तः, नन्दस्यैव मुख्यत्वात्, एतादृशी भगवतः सर्वाङ्गसम्बन्धं परित्यज्य **हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती** भीषयन्त्यवागुरत्, आगूरणसङ्कल्पं कृतवती यथा पामरा अनिष्टागूरणानि कुर्वन्ति, अनेन तस्या अनृतवादित्वमपि निरूपितम् ॥ ११ ॥ ततः किं कृतवतीत्याकाङ्क्षा यामाह त्यक्त्वा **यष्टिमिति**, अनेन पूर्वं **यष्टि**रानीतेतिलक्ष्यते तेन मनोदुष्टा, मनःसङ्कल्पं च त्यक्तवती, तेन मनोदोषस्य गतत्वाच् चिकित्स्यत्रिदोषा जातेति निरूपयति, **यष्टिं त्यक्त्वा सुतं भीतं विज्ञाय** भगवद्धर्मानपि ज्ञात्वार्भकवत्सला जाता, तथापि तस्या न सर्वात्मना दोषनिवृत्तिरित्याहे**येषेति**, निरूपकस्यापि दोषो भवतीति शुको भीतः सन्नाह किलेति, प्रसिद्धिरेपा नास्माभिस्तदा दृष्टं नापि भावितं कदाचिदपि, **दाम्ना बद्धुमियेषे**त्यन्तःकरणशरीरपरिकरदोषा निरूपिताः, नन्वसाध्ये कथं प्रवृत्ता ? लोकेनिष्टेपि प्रवर्तमाना असाध्ये न प्रवर्तन्त इति तत्राह**तद्वीर्यको विदेति**, तस्य भगवतो वीर्यं न जानातीति, **पूतना** तृणावर्तादयो मारिताः कोस्या मारणे प्रयास इति ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

स जातकोपेत्यत्र, तत्त्रयं निवारणीयमिति । यशोदाया अपराधस्तन्निष्ठाध्यात्मिकलोभस्य च नाशनमेतदमारणार्थमाधिदैविकविज्ञापनं चेति त्रयम् । आधिदैविकश्चेदाध्यात्मिकं मारयेत्, सर्वांशेन मारयेत्, तथा सत्यग्रिमकार्यं न भविष्यतीति तत्कृततन्मारणस्य निवारणमत्रोच्यते । भगवांस्त्वेतत्कालीनापराधहेतुभूतलोभमात्रं नाशितवानिति पूर्वोक्तेन लोभं तद्गतं भाण्डं च स्फोटितवानित्यनेनाग्रिमग्रन्थेन न विरोधः । अत्रैवाग्रे त्रयमुत्पादयितुं **भिन्नमिति** । यथाधिदैविकेन तथा कर्तुमुद्यतम् । तथान्यां यशोदां तद्गतं लोभं च भगवदेकविषयम् । तदुपभोग्य येन भोगविषयान दुग्धादींश्चान्यानुत्पादयितुं स तथेत्यर्थः । तेन क्रोधातिशयो निरूपितो भवति । **तदुभयमपीति** । आधिदैविकं लोभं रजोगुणं चेत्यर्थः । ननु पुत्रदुग्धयोः समानप्रीतिविषयत्वेपि नैवं संभवतीत्यनुपपन्नमिदमित्याशङ्क्य तत्रोपपत्तिं वदन्तो दृषदश्मना भेदनस्यापि तात्पर्यमाहुः **दैत्याविष्टेवेति** । सा यशोदानिष्ठा पयोविषयिणी स्नेहकला प्रभुविस्मारकत्वेन दैत्याविष्टेवोद्गतेति तथागमनमभूत् । तन्नाशं वालौकिकप्रकारेण करिष्यन् 'स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानी'ति श्रुतेस्तथेत्यर्थः । तच्छ्रवणे पुत्रानुसन्धानात् तथा । तत्रैवं कथनमयुक्तमितीवेत्युक्तम् । वस्तुतस्तु भगवत्कृतो मोह एव तादृगिति तथात्वम् । अत एवास्यापि लीलात्वं तथाप्यनुचितमभूदिति तथोक्तमाचार्यैः । **जघास हैयङ्गवमन्तरङ्गत** इत्यत्र, **आधिदैविकदैत्यानामिति** । मातृदर्शनयोग्ये स्थाने भक्षणे तस्याः क्रोधो भवेत् । अतो यत्र भक्षणे कृते तदनुत्पादस्तत्र तथाकृतवानिति भावः । **मर्काय** काममित्यत्र, **पूर्वमपि दैत्यावेशेनेति** । पूर्वमपि यत्सम्पादितं तन्मर्काय यच्छतीति सम्बन्धः । तत्र हैयङ्गवगतं हेतुमाहु**र्दैत्यावेशेनेति** । भक्तीयपदार्थस्य स्वयमनङ्गीकारात् । क्रूरे विनियोगाच्च दुष्टत्वं लक्ष्यते । स चालौकिक एव दोषो वाच्यो, लौकिकस्यादर्शनात् । तदेतदुक्तं दैत्येत्यादिना । शकटदृष्टान्तेनान्यत्राप्येवंभूते दृष्टिः कार्येति नासम्भावना काचित् । **चौर्यविशङ्कितेक्षणमित्यत्र** । **तस्याश्चौर्यदोषनिवारणायेति** । पुत्रस्नेहस्नुतेति वाक्यात् भगवदेकभोग्यस्तन्यनिरोधश्चौर्यम् । तच्च तदीयवस्तुनो यथेच्छं विनियोगकरणेन सन्तोषान्निवार्यते । विशदस्य कालवाचित्वपक्षमादायाहुः **तस्या ज्ञानं कालेनेति** । बालत्वं ज्ञात्वा तथा व्यवहरतीति तथा । 'पृष्ठे कृतो मे यदधर्म' इति वाक्यात्पृष्ठभागदिशि पापस्थानमिति तत्र व्याप्ता दृष्टिस्तद्विषयिणी भवत्येवेति भावेन पापदृष्टिरित्युक्तम् । **विस्रंसितकेशबन्धनेत्यत्र उत्पत्तिप्रलयावित्यादि** । कशब्देशशब्दयोरुत्पत्तिलयाधिष्ठातृदेववाचकत्वात्तद्वाच्यत्वात्केशानां तयोस्तत्र सत्त्वं ज्ञायते । तत्सत्त्वेनैव तदधिष्ठेयोत्पत्तिलययोरपि । एतादृशान्मुक्तानां युक्तमेवाजननम् । अन्यथा स्वाधिष्ठातृसहितोत्पत्तिलयाधिष्ठानाच्च्युतिर्न स्यादिति भावः **तत इति** । तादृशानां बन्धादित्यर्थः ॥ ९-१० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अन्वञ्चमानेत्यत्र 'श्रोण सङ्घात'इतिधातोः श्रोण्यते संहन्यत इति श्रोणिरिन्प्रत्यये कृते भवति ततः 'सर्वतोक्तिन्नर्थादित्येक' इत्यनेन ङीषि कृते श्रोणीति भवति, **तत** इति भाराक्रान्तगत्या जाततपस्त इत्यर्थः, **वस्तुतस्त्वजननीति** पुरुषोत्तमस्याजन्यत्वात् तथेत्यर्थः, **दुष्टभावादिति** दुष्टत्वाद् बहिर्व्यापारस्येत्यर्थः, **वदन्निति** दोषाभावादेर्विशेषणं, **उत्पत्तीत्यादेर्थं** टिप्पण्यामाहुः **कशब्देत्यादि**, **तत एवेत्यस्यार्थमाहुस्तावृशानामित्यादि** ॥ १० ॥ **कृतागसमित्यत्र स्वकार्यमिति** निरोधं, तच्चेति व्यामोहकलीलाकरणं, सतां विमोहे प्रमाणमाहुः **'सा मा'**मिति, इदं वाक्यं तु कुन्त्याः प्रथमस्कन्धीयं, **मोह** इति **कुन्त्या मोहः**, एकपाणिघर्षणतात्पर्यमाहुर्**भगवदीयेत्यादि**, **उज्ज्वलं** भगवत्स्वरूपग्रहणसमर्थं, **भयविह्वलेक्षणमित्यस्य** तात्पर्यान्तरमाहुर्**भगवांस्त्वित्यादिना**, **त्रिभिर्धर्मै**रित्यादि रोदनाक्षिकर्षणदर्शनाभावैः **मोहिता** मत्पुत्र एवायमितिदृढभाववती, **नोत्थास्यति** न भगवत्त्वादिभाववती भविष्यतीत्यर्थः, यद्वोक्तैर्धर्मैर्मोहिता गृहकार्य आसञ्जिता न पुत्रस्नेहं पूर्ववदत्यन्तं करिष्यतीत्यर्थः, द्वितीये मानमाहुरत एवेत्यायुक्त इत्यन्तं, कालीयदमनोत्तरं "या परिष्वज्याङ्कमारोप्ये"त्यादिनोक्ता स्नेहकला सापि परीक्षामात्रोपयोगिनीति ज्ञेयं, **तत्र** हेतुर्नन्दस्यैव **सुखत्वादिति** प्रमाणप्रकरणोयलीलायाः पुरुषनिरोधकत्वात् तथेत्यर्थः, अत एव ब्रह्मवैवर्ते श्रीनन्दानामेतासामुपरि त्वया बालकस्यैवमपराधः कृत इत्युक्तिपर्यन्तः क्रोधोक्तेः गृहीत्वा भगवदालिङ्गनं चोक्तं प्रथमपक्षे तु **स्नेहकलेतीश्वर**स्वभावोपमर्दिका पुत्रत्वस्नेहकलेत्यर्थो ज्ञेयः, **शृण्वन्तीत्यादि** तु तादृक्तिमसहमानैरुक्तमन्यथा 'नेमं विरिञ्च्य'इत्यादिग्रन्थस्य कालीयदमनोत्तर**'परिष्वज्याङ्कमारोप्ये'**त्यस्य हस्तादुत्तारितगोवर्धनस्य भगवत आलिङ्गननिरूपकश्लोकव्याख्यानस्य च विरोधः स्यात्, तयोः पक्षयोर्मध्ये यद्गतं तत् त एव विदुरितिदिक्, **अवागुरद्** गुरी उद्यमनेवागुरणं ताडनोद्योगो "यो ब्राह्मणायावगुरेदि"त्यत्र सायणोक्ते तथाव्याख्यानादिति, एवं द्वाभ्यां वशीकरणोद्यमो व्याख्यातः ॥ ११ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तामात्तेत्यत्र तद्दोषेति तत्रैव स्थितौ तत्कृतो विरुद्धक्रियारूपो दोषः **स्यात्, ताडनादि कुर्यादित्यर्थः, तस्या दोषेणेति कर्तरि** षष्ठी, तत्कृतेन क्रियारूपदोषेण बालकाः क्लिष्टा भविष्यन्ति, भगवत्स्वरूपे तु न भयमितिभावः ॥ ९ ॥ **अन्वञ्चमानेत्यत्र श्रोणीति** द्वितीया द्विवचनान्तं ज्ञेयं, **वस्तुतस्त्विति** आत्मजत्वस्य वासुदेवपर्यवसायित्वेन पञ्चमाध्याये व्यवस्थापितत्वादिति-भावः, एतद्भावस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वे "भक्त्या त्वनन्यये"तिवाक्यान् निरुपधिभावः स्यादेवेत्याहुः **जननीति**, अत एव व्रजरत्नानां तथेतिभावः, **भगवदर्थक्रिययेति** क्रियावैपरीत्यं तु प्रतिकूलोपि भगवदर्थं श्रमः सार्थक इत्यनेन पूर्वमेव समाहितं, **अत** इति उत्पत्तिलयाधिष्ठातृदेवानामपि बन्धविमोको भगवदर्थक्रियातो जायते तत एव हेतोरत्रापि केशबन्धः क्रियया विस्रंसितो जात इत्यर्थः, "स्वर्गे तपोह"**मिति** वाक्ये उत्पत्तिलयकर्तृणां बहुत्वमुक्तमत **केशानामपीति** बहुवचनमुक्तं, ब्रह्मादीनामपि भक्तानामेव मोक्ष इति निबन्धे व्यवस्थापितम् ॥ १० ॥ **सोज्ज्वलेति** उज्ज्वलादिशब्दा गुणवाचका अपि, अत उज्ज्वलवर्ण-सहितेत्यर्थः, **सोपाधिकमिति** पुत्रत्वेन ज्ञानं रूपप्रकरणोक्तमित्यर्थः, **निरुपाधिकमिति** ज्ञानप्रकरणोक्तमित्यर्थः, व्याख्याने **व्यामोहितवानिति** भगवानितिशेषः, **इदमपीति** रोदनमित्यर्थः, तमित्यनेन परामृष्टं पूर्वोक्तं स्मितं प्रथमं व्यामोहकमितिभावः, **अञ्जन्मषिणीत्यत्र** अञ्जन्ती मषी ययोरितिविग्रहः, अञ्जन्तीत्यत्र करणस्य कर्तृत्वविवक्षया शतृप्रत्ययः, **अत एवेति** अक्ष्णोर्मारणसाधनीभूतरजोगुणयुक्तत्वाद् दर्शने तस्या अन्यथाभावः सम्पद्येतात एव हेतोरित्यर्थः, **भक्तिर्वा भवेदिति** धूलिधूसरित-श्रममुकुलितचरणारविन्ददर्शने स्नेहभरेणाङ्कमेवारोहयेदितिभावः, **त्रिभिर्धर्मै**रिति पूर्वोक्तं स्मितमेतच्छ्लोकोक्तं रोदनं भयं चेत्यर्थः, **नातः परमुत्थास्यतीति** पूर्वं ज्ञानप्रकरणे सर्वात्मभावावधिस्नेहो जनितस्ततो मोहिता सर्वात्मभावं न प्राप्स्यति किन्तु रूपप्रकरणसम्पादितस्वविषयकाध्यासरहितपुत्रत्वोपाधिकस्नेहे एव पर्यवसिता भविष्यतीतिभावः, **कापि स्नेहकलेति** निरुपधिस्नेहांशः कोप्यग्रे न निरूपित इत्यर्थः, अग्रिमवाक्येषु निरुपधिभाव उक्त इत्याशङ्क्य समाहितं **अनिष्टेति, अनिष्टानां** मारयिष्यामीत्यादिवाक्यानामागूरणानि कथनानीत्यर्थः ॥ ११ ॥ **त्यक्त्वा यष्टिमित्यत्र अत्रेनेति** पूर्वमात्तयष्टिकथनेनात्र यष्टित्यागकथनेन चानयनमपि लक्षितमेवेत्यर्थः, **भगवद्धर्मानपीति** भयादीनित्यर्थः, अनुपदोक्तस्यैव विवरणमिदम् ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

कृतागसं तं प्ररुदन्तमित्यस्य विवृतौ **तामत्यन्तं व्यामोहितवानिति** भगवानितिशेषः, भगवांस्ताम् आसक्तिन्यूनतासम्पादनेन **व्यामोहितवानित्यर्थः, यथाग्र उत्तरलीलास्विति** श्रीयशोदानयनगोचरदेशतोतिरिक्तदेशसम्बन्धिन्यो या गोचारणादिलीलास्तास्वित्यर्थः, **अन्यथेत्यादि** यदि मोहं कृत्वासक्तिन्यूनता न सम्पादयेत् तदा परमासक्तिवशाद् भगवन्तं स्वनिकट एव स्थापयेत्, तथा सति **भगवान्** व्रजवरसुन्दरीणां मनोरथपूरणसमर्थां लीलां कथं कुर्यात्, अतो भगवान् स्वमातुः स्वस्मिन्नासक्तिन्यूनतां सम्पादितवान्, तदा मातृदूरस्थित्या शृङ्गारलीलासौकर्यमभूदितिभावः, तदेतदुक्तं **अग्रिमकार्ये प्रति**

बन्धिकैव स्यादिति ॥ ११ ॥ **दाम्नातद्वीर्यकोविदे**त्यस्य विवृतौ **पूतनातृणावर्तादयो मारिताः कोस्या मारणे प्रयास इतीति** इदमत्र हार्दं, न ह्यत्र श्रीयशोदाया अपराधवशान् मारणयोग्यता निरूप्यते अपि तु भगवतो वीर्यस्वरूपमुच्यते **पूतनातृणावर्तादयो मारिता** इति, **कोस्या मारणे प्रयास** इति तु वीर्यकोविदानां शुकादीनां ज्ञानं, इह तु "अतद्वीर्यकोविदे" त्युक्त्या एतादृग् ज्ञानं श्रीयशोदाया नाभूदित्युक्तं, वीर्यज्ञाने तु भयं स्यात् पूतनातृणावर्तादयो मारिता मामपि मारयेदिति, तथा सति बाललीलैव न स्यात् भयस्य प्रतिबन्धकत्वात्, अत एव तादृगैश्वर्यख्यापिकां लीलां कृत्वापि माहात्म्यज्ञानं तिरोभावयति "वैष्णवीं व्यतनोन् मायां प्रजास्नेहमयीं विभु" रितिवाक्यात्, प्रकृतेप्यतद्वीर्यकोविदेव प्रभुणा कृता न तु माहात्म्यज्ञानमुत्पादितं, तथा सति बन्धनमेव न कुर्यात्, 'पूतनातृणावर्तादयो मारिताः कोस्या मारणे प्रयास' इति तु भयस्वरूपं विवृतं, यदि महिमज्ञानं स्यात् तदा वीर्यज्ञानेन एतादृशं भयं स्यादिति, अतद्वीर्यकोविदात्वोक्त्या तु भयं नाभूदित्युक्तं, तत् तु भगवतैव बाललीलाचिकीर्षुणा तथा कृतमिति अतद्वीर्यकोविदात्वं भूषणाय न तु दूषणायेतिज्ञेयं, अत्र प्रसङ्गे सुबोधिन्यां 'यथा पामरा अनिष्टागूरणं कुर्वन्ती' त्यादिकथनं 'मनोदुष्टे' त्यादिकथनं 'शुकोऽपि तां दूषयन्निवे' त्यादिकथनं आध्यात्मिकपक्षेण पुष्टिभक्तानां शिक्षार्थमिति ज्ञेयं, तत्र मूलं तु 'दाम्नातद्वीर्यकोविदे' त्यादिशुकोक्ता निन्दा, यत्र श्रीयशोदायाः भगवत्यन्यथादृष्टौ एतादृशी निन्दा तत्रान्यस्य का वार्तेतिकैमुत्यद्योतनार्थं एतावान् व्याख्याविस्तारः, एतावता भगवति अन्यथादृष्टिर्न कार्या अपि तु महिमज्ञानेन स्नेहपूर्वकं सेवैव कार्येत्युपदेशः फलितः, इदं त्ववधेयं, इह भगवत्स्वरूपमाहात्म्यविचारेण तदजानता मातृचरणानां निन्दा, स्वरूपज्ञानं तु मर्यादायां, श्रीयशोदायास्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् भगवद्बन्धनं परमोत्कर्षाधायकं, अत एव "कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते" इति तत्त्वदीपे पुष्टिभक्तिलक्षणमुक्तं, "यथा दामोदरलीलायां" इति व्याख्यातं च, वेणुगीताध्याये च "दामोदराधरसुधामपि गोपिकाना" मित्यस्य विवृतौ "भगवतो गोपिकाधीनत्वं सूचित" मित्यनेन च परमोत्कर्ष एव प्रतिपादितः, अत एवाग्रे शुकोपि "नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया" इत्यादिना श्रीयशोदायाः परममहिमानं प्रदर्श्य पुष्टिभक्तिमार्गे प्रस्तोष्यति, तथा चाध्यात्मिकपक्षे निन्दामुक्त्वाधिदैविकपक्षे स्तुतिरेवेति शुकस्य तद्वाक्यव्याख्यातुर्भगवतः सुबोधिनीकारस्य निगूढ आशयो विद्वद्भिर्भावनीयः, आध्यात्मिकपक्षे वस्तुविचारो मर्यादया, आधिदैविकपक्षस्तु लीलाप्रधानो वस्त्वनुभवसाधकः पुष्टिमार्गेणेतिविवेकः ॥ १२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

कृतागसं तमित्यत्र, तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचिदिति का० तद् रोदनादिकमासुराणां **मोहाय क्वचित् सतामपि** मोहाय, तथा च प्रथमस्कन्धे कुन्तीवाक्यं "सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेती" ति ।॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

आत्ता भीषणार्थं गृहीता यष्टिर्यया तां जननीमागच्छन्तीं प्रसमीक्ष्य सत्वरः त्वरया शङ्कयेण युक्तः कृष्णः ततः उलूखलादवरुह्य भीतवत् अपससार पलायितवान् । वस्तुतो भयाभावं सूचयितुं वतिप्रयोगः कृतः । तमपसरन्तं गोपी यशोदा गृहीतुमन्वधावत् । यशोदायां भगवत्कृपातिशयं सूचयन् भगवन्तं विशिनष्टि—न यमिति । तपसा विशुद्धम्, अत एव प्रवेष्टुं क्षमं योग्यं ईरितं तदेकाकारतां नीतमपि योगिनां मनो यं नाप तमन्वधावदित्यन्वयः ॥ ९ ॥ "भगवति दोषदर्शने तावत्तद्भक्तोऽपि न प्राप्नोति, तादृशोऽपि तस्मिन्नत्यासक्तश्चेत्तर्हि तत्कृपया तं प्राप्नोतीति प्रतिकूलोऽपि भगवदर्थपरिश्रमः सफलो भवति । का पुनरनुकूलस्य वार्ता" इति च सूचयंस्तत्कृपया यशोदा तं धृतवतीत्याह—अन्वञ्चमानेति । श्रीकृष्णमनुगच्छन्ती तं परामृशत् धृतवतीत्यन्वयः । 'भगवत्प्राप्त्यर्थं देहाद्यनुसन्धानं विहाय तदेकाग्रता मनसः कर्तव्या' इति सूचयन् यशोदां वर्णयति—जननी परमप्रेमवती, बृहत्योश्चलत्योः श्रोण्योर्भरेणाक्रान्ता स्तब्धा गतिर्यस्याः सा, शोभनो मध्यमः प्रदेशो यस्याः सा, जवेन वेगेन हेतुना विस्रंसितात् केशबन्धाच्युतैः प्रसूनैरनुगतिर्गमनं यस्याः सा ॥ १० ॥ तं हस्ते गृहीत्वा भीषयती 'रे रे चौर! त्वां तथा यष्ट्या ताडयामि, यथा पुनरेवमुपद्रवं न कदापि करिष्यसि' इत्येवं भर्त्सनेन भयमुत्पादयन्ती अवागुरत् यष्ट्युत्थापनेन ताडनोद्यमं कृतवती, न तु ताडयामास । 'गुरी' उद्यमने धातुः । 'भिषयति' इति ह्रस्वश्छांदसः । भयोत्पादने हेतुमाह-कृतागसमिति । कृतं आगः अपराधो भाण्डस्फोटनादि येन तमिति । ताडनाभावे हेतून् दर्शयन् विशिनष्टि—प्ररुदन्तमिति । अञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषी ययोस्ते अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं सम्मर्दयन्तं, भयेन विह्वले ईक्षणे नेत्रे यस्य तं, 'ताडयिष्यति' इति भावनया उद्वीक्षमाणम् ॥ ११ ॥ अथ सुतं ताडनाद्भीतं विज्ञाय यष्टिं त्यक्त्वा तं दाम्ना बद्धमियेष ऐच्छत् । तत्र हेतुमाह—अर्भकवत्सलेति । तस्मिन् बालके प्रेमयुक्ता 'हस्ते यष्टिं दृष्ट्वाऽतिबिभेति, तेन कश्चिद्देहे उपद्रवो माभूत्' इत्याशङ्क्य यष्टिं त्यक्त्वा ताडनापेक्षया बन्धनस्य स्वल्पपीडाकरत्वाद्बद्धुमैच्छत् । 'ननु तद्बन्धनस्याशक्यत्वात् कथं तदैच्छत्?' तत्राह—अतद्वीर्यकोविदेति । तत्प्रभावानभिज्ञा । यद्यपि 'मुखे विश्वदर्शनादिना तत्प्रभावं ज्ञातवती, तथापि पुनर्मोहेन तद्विस्मृतवती' इत्याशयः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमिति । आत्ता भीषणार्थं गृहीता यष्टिर्यया तां जननीमागच्छन्तीं प्रसमीक्ष्य सत्वरः त्वरया शैघ्र्येण युक्तः कृष्णः ततः उलूखलादवरुह्य भीतवत् अपससार पलायितवान् । तपसा विशुद्धमत एव प्रवेष्टुं क्षमं योग्यम् ईरितं तदेकाकारतां नीतमपि योगिनां मनो यं नाप तमपसरन्तं गोपी यशोदा ग्रहीतुमन्वधावत् ॥९॥ अन्वञ्चमानेति । बृहत्योश्चलन्त्योः श्रोण्योर्भरेणाक्रान्ता स्तब्धा गतिर्यस्याः सा शोभनो मध्यमः प्रदेशो यस्याः सा जवेन वेगेन हेतुना विस्रंसितात्केशबन्धनाच्च्युतैः प्रसूनैरनुगतिर्गमनं यस्याः सा अन्वञ्चमाना श्रीकृष्णमनुगच्छन्ती जननी यशोदा तं परा पृष्ठतः अमृशत् धृतवती ॥ १० ॥ कृतागसमिति । कृतम् आगः अपराधो भाण्डस्फोटनादि येन प्ररुदन्तम् अञ्जती सर्वतः प्रसरन्ती मषी कज्जलं ययोस्ते अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं संमर्दयन्तं भयेन विह्वले ईक्षणे नेत्रे यस्य तं भयभावनया उद्वीक्षमाणम् । उद्वीक्षमाण इति च पाठः । तं कृष्णं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती भयमुत्पादयन्ती । ह्रस्वः शता च आर्षौ । यष्ट्या इत्यध्याहारे तु ह्रस्वपुकावार्षौ । यशोदा अवागुरत् यष्ट्युत्थापनेन ताडनोद्यमं कृतवती नतु ताडयामास ॥ ११ ॥ त्यक्त्वेति । अर्भकवत्सला बालके प्रेमयुक्ता अतद्वीर्यकोविदा तत्प्रभावानभिज्ञा यशोदा सुतं ताडनाद्भीतं विज्ञाय यष्टिं त्यक्त्वा तं दाम्ना बद्धुमियेष ऐच्छत् । बद्धुमित्यनकारः पाठश्चेदार्षः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

आत्तयष्टिं गृहीतवेत्रां सत्वरः सवेगः सन् तत उलूखलात् अवरुह्य उत्तीर्य अपससार अधावत् तपसा विषयत्याग लक्षणेन ईरितं प्रेरितम् अत एव प्रवेष्टुं क्षमं योग्यं मनः यम् आपतं गोप्यन्वधावत् पश्चाद्धावती सत्यपि न प्राप अथवान्वधावत् तथापि तं नाप एवं कुतो यतः तपसेरितं योगिनां मनोपि यं प्रवेष्टुं न क्षमं न समर्थम् ॥ ९ ॥ हरेर्भक्तिवशत्वं दर्शयन्नाह अन्वंचमानेति अन्वं च माना एवमनुधावती सती कृष्णं परामृशत् अग्रहीत् तां विशिनष्टि बृहत्योर्महत्योः चलंत्योः श्रोण्योर्भरेण आक्रांतास्थिरागतिर्यस्याः जवेन वेगेन विस्रंसितः कंपितो यः केशबंधः कवरस्तमाच्च्युतानि अग्रे पतितानि प्रसूनानि पुष्पाणि अनुपश्चाद्गतिर्यस्याः सा अथवा विकीर्णात् केशबंधाच्च्युतैः प्रसूनैः अनुगतिः सह चलनं यस्याः सा ॥ १० ॥ कृतागसं विहितापराधम् अंजंती अभितः प्रसरंती मषीययोस्ते अंजनमषिणी अक्षिणी नेत्रे स्वपाणिना कर्षंतं संसद्दयंतं भिषयंती भीषयंती अत्र ह्रस्व आर्षः भयं प्रापयंती अवागुरत् तिरश्चकार ॥ ११ ॥ अर्भके वत्सला स्नेहयुक्ता यष्टिं वेत्रम् अतद्वीर्यकोविदा तत्पराक्रमानभिज्ञा ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तामिति ॥ आत्तोपात्ता यष्टिर्यया तां, तां स्वं ताडयितुमागच्छन्तीं स्वमातरं, प्रसमीक्ष्य, सत्वरस्त्वरया सहितः, तत उलूखलाङ्घ्रेः, अवरुह्य, भीतवत् अपससार पलायितवान् । तदा गोपी सा यशोदा, य श्रीकृष्णं, तपसा ईरितं प्रवणीकृतं, अत एव, प्रवेष्टुं क्षमं समर्थं सदपि, योगिनां मनः न आप । तं कृष्णं, अनु पश्चात्, अधावत् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्युक्तरीत्या वाङ्मनसापरिच्छेद्यवैभवं कृष्णं गोपी पद्भ्यामधावदित्येतदतिचित्रमिति भावः ॥ ९ ॥ अन्विति ॥ अन्वञ्चमाना धावन्तं सुतमनु धावन्ती, बृहत्योः चलन्त्योः श्रोण्योः भरो भारस्तेनाक्रान्ता स्तब्धा गतिर्यस्याः सा, सु शोभनो मध्यमो मध्यप्रदेशो यस्याः सा, जवेन हेतुना, विस्रंसितात् केशबन्धनात् च्युतैः प्रसूनैरनुगतिरनुगमनं यस्याः सा, यद्वा । जवेन विस्रंसितात् कम्पितात् केशबन्धनात् च्युतानां पुरःपतितानां प्रसूनानामनुगतिः पश्चाद्गतिर्यस्याः सा, जननी, परामृशत् पस्पर्श जग्राहेत्यर्थः ॥ १० ॥ कृतागसमिति ॥ कृतमागोऽपराधो येन तं, प्ररुदन्तं प्रकर्षेण रोदनमाचरन्तं, अञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषी कज्जलं ययोस्ते, अक्षिणी, स्वपाणिना, कषन्तं मर्दयन्तं निष्पीड्य कलुषयन्तमिति यावत् । भयेन विह्वले ईक्षणे यस्य तं, उद्वीक्षमाणं उद्ध्वींकृतया दृशा मातृमुखं संपश्यन्तं, तं कृष्णं, हस्ते गृहीत्वा, यशोदा भिषयन्ती भयं प्रापयन्ती सती, अवागुरत्ताडयितुमुद्यतहस्ताऽभूत् ॥ ११ ॥ त्यक्त्वेति ॥ अर्भकवत्सला स्वपुत्रानुरागवती यशोदा, वागुरन्ती सत्यपीति शेषः । सुतं, भीतं विज्ञाय, यष्टिं त्यक्त्वा, अतद्वीर्यकोविदा तत्प्रभावानभिज्ञा सती, तं कृष्णं, दाम्ना रज्ज्वा, बद्धुं इयेष किल ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तामात्तयष्टिमिति : १०.९.९.

अकृत्यमपि मे सर्वं सह्यमस्य परन्तु न । उलूखलाङ्घ्रिभजनमित्यागात सा सयष्टिका ॥ ३३ ॥
श्लिष्यद्द्रोषं मनो यावत् तावदीशः पराङ्मुखः । सूक्ष्मवेत्राश्रितस्यापि भवेदित्यभवत् स्फुटम् ॥ ३४ ॥
तमोगुणांशोऽपि न संस्पृशेद्यथा तथा विधेयं मदवाप्तिकामुकैः ।
स चेद्विदूरोऽहमिति प्रकाशयन् प्रभुः स्वमातुः सरुषोऽन्वपाक्रमत् ॥ ३५ ॥

अन्वञ्चमानेति : १०.९.१०.

च्युतप्रसूनानुगतिर्या भवेत्तस्य वैष्णवम् । स्वरूपमभिमृश्यं स्यादिति तं तादृगस्पृशत् ॥ ३६ ॥

कृतागसमिति : १०.९.११.

आलम्ब्य यष्टिमनयाऽबलयापि सम्प्रत्यङ्गीकृता सबलतेति विचिन्त्य कृष्णः ।
स्वस्मिन्नपि प्रबलतां रुदितच्छलेन व्यक्तीचकार रुदितं हि बलं शिशूनाम् ॥ ३७ ॥
मदन्ववायादिमयोर्हिमाहिमोस्रयोः कलङ्कं मम चाक्षिरूपयोः ।
कथं सहे नन्विति रोदनच्छलात्तदञ्जनं क्षालयति स्म पाणिना ॥ ३८ ॥
कर्मणां नैव केषामप्येष कर्तेति साक्षिणौ । ब्रूतमित्यच्युतो नेत्रस्थितार्कें दू व्यबोधयत् ॥ ३९ ॥
नानासाधनशालिनोऽपि पुरुषस्यौजस्विनः स्वात्मनो मालिन्यापहृतावश्यमपरापेक्षेति युक्तं यतः ।
भास्वच्चन्द्रमसोः सहस्रकरयोरप्यत्र नेत्रात्मनोरासीदञ्जनमार्जनं न भगवद्धस्तावलम्बं विना ॥ ४० ॥
तवाभिधानं षडरिप्रभञ्जकं भुवीति सद्भिर्यदहं प्रकीर्तितः । मयि स्थिते द्वेषिणि रोषसंभवः कथं जनन्यामिति तादृशेक्षणः ॥४१॥

त्यक्त्वा यष्टिमिति : १०.९.१२.

तावज्जडाश्रयो युक्तो न यावच्चेतनागमः । युक्तं श्रीशकरं धृत्वा सा जहौ यष्टिकां जडाम् ॥ ४२ ॥
मदीयं सन्तोषं सुफलदमसम्पाद्य मनुजो यदि क्षुद्रे किञ्चित् फलिनि दिनकर्मण्यभिरतः ।
भवित्री तस्यार्थक्षतिरपि च दूरस्थितिरहं पुनर्मद्गामी चेत् प्रतिपदमहं तस्य सुलभः ॥ ४३ ॥
हित्वा तदा स्वमकृतस्तनपानपूर्तिं यान्त्यां स्वमातरि पयोदृशि मण्डभाण्डम् ।
भङ्क्त्वा पलायनपरो यदभूत् स कृष्णः तद्धस्तगः पुनरपीति विविक्तमत्र ॥ ४४ ॥ (युग्मम्)
बुद्ध्यग्राह्योऽप्यहमिह सुलभस्तस्यास्मि यस्तु मदनुगतः । उज्झितकर्मेत्याशयमबोधयन् मातृहस्तगो हि हरिः ॥ ४५ ॥
गर्गोक्तनामवद्धेऽस्मिन् सुकरं दामबन्धनम् । इत्यैषीत् सा नामदाम पर्यायैकार्थदर्शिनी ॥ ४६ ॥

कृष्णप्रिया

जब लालन ने देखा कि जननी हाथ में दण्डा छड़ी लिये मेरी ही ओर आ रही है तब डरे हुए की तरह कृष्ण ओखली से कूद भाग खड़े हुए। अरे राजन् ! बड़े बड़े योगियों के बड़े बड़े तपःपूत, प्रविष्ट होने योग्य तथा एकाकारता को प्राप्त हुआ भी जो मन जिन भगवान को न प्राप्त कर सका, माता यशोदा उनका पीछा करने लगी ॥ ९ ॥ लालन के पीछे जननी दौड़ीं तो सही किन्तु अपने बड़े बड़े और चल रहे नितम्बों के भार से उनकी गति मन्द हो गई। वेग से दौड़ने के कारण चोटी की गाँठ ढीली पड़ गई माता की वेणी के फूल गिरकर इधर उधर बिखर गयें। बड़े परेशानी के बाद सुमध्यमा माँ यशोदा ने ज्यों त्यों करके लालन को पकड़ लिया ॥ १० ॥ प्यारे लालाने अपराध तो किया था इसलियें रुलाई रोकने पर भी न रुकती थी, करकमलों से नेत्र मलने के कारण काजल चारों ओर पसर रह था, भय विह्वल नेत्रों से भगवान् माता के सामने देख रहे थे लेकिन भय के मारे आँखे ऊपर की ओर उठ गयी थी ऐसे भयभीत श्यामसुन्दर को डराती हुई माता उनका करकमल पकड़ उन्हें धमकाने लगी ॥ ११ ॥ पुत्रवत्सला जननी ने जान लिया कि लालन बहुत डर गयें हैं तब माता ने छड़ी को फेंक दिया और लालन को सही रास्ते लाने के लिये कृष्ण के परम ऐश्वर्य को न जानने वाली माता ने रस्सी से बांधना चाहा ॥ १२ ॥

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः[1] ॥ १३ ॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं[2] मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् । गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥
तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः । द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन संदधेऽन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥
यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि संदधे । तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यस्य न अन्तः च न बहिः न पूर्वं च अपि न अपरं न पूर्वापरं जगतः यः बहिः यः जगतः अन्तः च यः जगत् ॥ १३ ॥ गोपिका अधोक्षजं मर्त्यलिङ्गम् अजम् अव्यक्तं तम् आत्मजं मत्वा प्राकृतं यथा दाम्ना उलूखले बबन्ध ॥ १४ ॥

१. यो जगन्मयः । २. ऽर्भकमव्यक्तं–विज. ।

कृतागसः बध्यमानस्य स्वार्भकस्य तद् दाम द्व्यङ्गुलोनम् अभूत् तेन गोपिका अन्यद् अपि संदधे ॥ १५ ॥ यदा तदपि न्यूनम् आसीत् तेन अन्यद् अपि संदधे तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं (आसीत्) यद् यद् बन्धनम् आदत्त (तदपि द्व्यङ्गुलम्) ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अकोविदत्वमाह न चांतरिति पंचभिः । बंधनं हि बहिः परिवृतेन दाम्ना अंतरावृतस्य भवति । तथा च पूर्वापरवि भागवतो वस्तुनः पूर्वतो दाम धृत्वा परितः परिवेष्टनेन संभवति न त्वेतदस्तीत्याह । न चांतरिति । किं च व्यापकेन व्याप्यस्य बंधो भवति तच्च विपरीतमित्याह । पूर्वापरमिति । किं च तद्व्यतिरिक्तस्य चाभावान्न बंध इत्याह । जगच्च य इति ॥ १३ ॥ तं मर्त्यलिंगमधोक्षजमात्मजं मत्वा बबंधेति ॥ १४ ॥ द्व्यंगुलोनं द्वाभ्यामंगुलाभ्यामून मपूर्णम् ॥ १५-१६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

को वेत्ति मत्तोऽधिकमित्यात्मानं मन्यमानः कोविद इति । इगुपधत्वात्कः बाहुलकाद्विभक्तेरलुक् 'विद-ज्ञाने' तद्भिन्नत्वमाह । अन्यदाह-किञ्चेति । पुनरन्यदाह । किञ्चेति । तद्व्यतिरिक्तस्य कृष्णभिन्नस्य । जगतां ब्रह्मांडानां चयः समूहो यस्मिन्स जगच्चय इति । यद्वा-यः कृष्ण एव जगत् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतेः । तद्भिन्नं किञ्चिन्नास्तीति भावः । यो बंधस्स जगतः यः कृष्णश्च सोऽजगत् जगन्न । तस्य जगदीश्वरत्वात् । यद्वा-योजनं योऽजो आर्पत्वात्कुत्वाभावः बंधस्तं गच्छतीति योजगत् । न योजगदयोजगदिति सर्वबंधननिवर्त्तकस्य कुतो बंधनमिति भावः ॥ १३ ॥ मर्त्यलिंगमिति । मर्त्यस्य लिंगमेव न तु मर्त्यं यतोऽधोक्षजमिंद्रियजन्यज्ञानाविषयमत एवाव्यक्तं न केनापि प्रमाणेनौपनिषदं विना व्यज्यत इत्यव्यक्तम् । यथा प्राकृतं सामान्यनरबालमनेनापि तस्याप्राकृतत्वं सिद्धमिति । यस्य विभुत्वेन सर्वेण जगतापि बंधनं न संभवेत्तस्य जगदे-कदेशी भूतेन दाम्ना कथं बंधनं भवेदिति । न च साकारत्वेन तस्य विभुत्वं संभवेदिति वाच्यम् । साकारस्यैव तस्योदरे सर्वजगतो यशोदया दृष्टत्वात् । तर्हि सा कथं बबंध तत्राह-आत्मजं मत्वाऽसाधारणवात्सल्यप्रेमविपयीकृत्येत्यर्थः । तस्य प्रेमाधीनत्वाद्विभुत्वेप्यचिंत्यशक्त्यैव बंधनमिति भावः । अव्यक्तं प्रेमवश्यत्वादेव प्रच्छन्नीभूतमहैश्वर्यं मर्त्यलिंगं मनुष्याकारं तदप्यधोक्षजमतींद्रियं यथा प्राकृतं बध्नाति तथैव चित्पुंजमपि तं बबंधेत्यहो प्रेमबलं यस्या इति भावः ॥ १४ ॥ यावद्द्वैतं न निवर्तते तावन्नाहं वश्यो भवामीत्यंगुलद्वयोनत्वेन द्योतितमिति भावः । यद्वा-नाहं रज्जुभिर्बद्धुं शक्यः किन्तु द्वावेव मे बंधनहेतू भक्तिवैराग्यरूपाविति ॥ १५ ॥ यत्संधितमासीत्तदपि । तेन संधितसंधितेन ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो प्रेमबलं श्रीयशोदाया इत्याह-न चेति युग्मकेन । व्यापकत्वेन बहिर्नास्ति अतस्तत्प्रतियोगितया प्रतीतमन्तरमपि नास्ति एवं पूर्वापरे अपि जगच्च य इति कारणव्यतिरेके कार्यव्यतिरेकात् यदनन्यत् जगदित्यर्थः । ततश्च तच्छक्त्यैव जगच्छक्ते-स्तदंशांशभूतया रज्ज्वा कथं तद्बन्धः स्यात् न हि वह्निमर्चिषो दहेयुरिति भावः । सर्वत्रैव नञ् प्रयोगस्तत्तदभावदार्ढ्यार्थम् अत एव समुच्चये चकारावपिशब्दश्च तमेव बबन्ध यत्तदोः सामानाधिकरण्यान्न च स्वरूपान्तरमित्यर्थः ॥ १३ ॥ यथा प्राकृतं बालं तथैव च तर्हि कथं बबन्ध ? तत्राह—मर्त्यलिङ्गं दृश्यमानमनुष्यबालकाकारं तर्हि कथं न चान्तरित्यादि तत्राह-अधोक्षजम् इन्द्रियज्ञानातीतरूपम् अत एव "नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तितः । तामृते परमात्मानं कः पश्येदमितं प्रभुम्" इति नारायणाध्यात्मदृष्ट्या न केनापि व्यज्यत इत्यव्यक्तं उभयथाप्यचिन्त्यस्वरूपतद्धर्ममित्यर्थः । श्रुतिश्च "अर्वाग्देवा अस्य विसर्ज-नेनाथ को वेद यत आबभूव" इत्याद्या तस्मात् "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्" इत्युद्यमपर्वाद्युपदेशेन "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् (२।१।२७) इति न्यायेन अस्थूलोनणुरमध्यमो अव्यापको हरिरित्यादि "अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः । अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः ॥ ऐश्वर्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते" इति श्रीमध्वाचार्यदर्शितश्रुतिपुराणप्रामाण्येन तथैव "तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्" इति श्रीनृसिंहतापनीदृष्ट्या "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" इति साक्षाच्छ्रीस्वयं भगवदुपदेशेन प्रत्येकाचिन्त्यविरुद्धाविरुद्धानन्तशक्तिमयत्वात् घटत एव युगपत् तत् द्वयमपीत्यर्थः । अतः श्रीमत्या मात्रैव निजाङ्कप्रविष्टस्यापि तस्य मुखान्तर्विश्वं दृष्टं सर्वरज्जुभिरपि द्व्यङ्गुलमात्रं न पूरयितव्यमिति च अतः स्वाभाविकाचिन्त्य शक्तित्वात् मायाकल्पना च परास्ता क्लृप्तपरिग्रहे लघुः क्लृप्तपरिग्रह इति न्यायात् व्यर्थत्वाच्च तर्हि कथं तद्विभुत्वं तस्यां नास्फुरत् ? तत्राह—आत्मजं मत्वा वात्सल्यरसपूर्णमनस्त्वेन तदंशाच्छादनादित्यर्थः । तच्च बन्धनमुदरे ज्ञेयं दामोदरत्वेन प्रसिद्धत्वादत्र नोक्तम् । श्रीहरिवंशे तूक्तं "दाम्ना चैवोदरे बद्ध्वा प्रत्यबन्धदुलूखले" इति । तच्च दुःखाप्राप्त्यर्थमेव वस्तुतो बन्धनं तु भयेन गमनशङ्कयैव कृतम् उलूखलं पुरोद्वाराभ्यन्तरपतितमन्यदेव ज्ञेयं द्वाराग्र्यावस्थानोचितचैत्यतरुयुगलसमीप-

गतत्वात् चैत्यत्वं चाग्रे वक्ष्यते ॥ १४ ॥ स्वशब्देन कृतागस इत्यनेन च बन्धनयोग्यतोक्ता शिक्षायां परवालकवदुपेक्षानौचित्यात् द्व्यङ्गुले नमिति प्रथमाया रज्ज्वा दैवाद्‌द्व्यङ्गुलोनत्वात् उत्तरासां च तस्य लाल्ये चितहठवत्तादर्शनेन तत्र दर्शितानुभावया तद्विभुताशक्त्या तथैव रक्षणात् किञ्च स्थितेपि प्रेमणि वैयग्र्यविशेषतज्जाततत्कृपाविशेषाभ्यां द्वाभ्यामूनत्वेन तद्वशीकरणं न स्यात् अत एव "दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपया ऽऽसीत्स्वबन्धने" इति वक्ष्यते इति दैवी सूचना अन्यदामसन्धानं च मातापुत्रयो र्भर्त्सनरोदने श्रुत्वा आगताभिः प्रतिवेशिगोपीभिः परिहासेन तदर्पणात् ॥ १५ ॥ यदित्यस्य अन्यदित्यनेन पूर्वेणान्वयः। यद्यस्मादिति वा बध्यते अनेनेति बन्धनं दाम यद्यदादत्त बन्धनं तत्सर्वमपि द्व्यङ्गुलन्यूनमिति पूर्वेणैवान्वयः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो ! महाभाग्यं श्रीयशोदाया इत्याह न चेति द्वाभ्याम्। यस्यान्तर्वहिश्च नास्ति, तथा पूर्व्वं पूर्व्वभागयोऽप्यपरं पश्चाद्भागश्च नास्ति,—सच्चिदानन्दघनमूर्त्तित्वेनावितर्क्यस्वरूपत्वात्। सर्व्वत्रैव नञः प्रयोगस्तत्तदभावदार्ढ्यार्थमतएव समुच्चये चकारौ अपि-शब्दश्च। पूर्व्वेत्यादिना व्यापकत्वमप्युक्तम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, अन्तर्बहिश्च नास्ति व्योमवत् सर्व्वव्यापकत्वादतो बन्धनं न सम्भवतीति भावः। किञ्च, पूर्व्वं कारणमपरं मृदादेर्घटादिवत् कार्य्यञ्च नास्त्यतः सदैकरूपत्वेनात्मनो मननञ्च न घटेतेति भावः। किञ्च, बन्धन-साधनमपि तस्य न किञ्चित् कल्पत इत्याह--पूर्व्वेत्यादि। किञ्चाधोक्षजमिन्द्रियज्ञानागोचरमित्यर्थः। यतोऽव्यक्तं परमसूक्ष्मम्, तथापि मर्त्त्यलिंगं कृपया मनुष्याकारेण प्रकटीभूतमित्यर्थः। यद्वा, अधोक्षजं शकटाक्षादधः संकटात् पुनरिव जातमतावात्मजमेव मत्वा मम गर्भजोऽयमित्यभिमानं कृत्वा प्राकृतं सामान्यजनमिव, किंवा प्रकृष्टाकारं मधुरमृदुलांगमपि यथावत् दृढतयोलूखले नवनीतचौर्य्यार्थं तेनैवानीते कलभमालाने इव, दाम्ना गोवालादिर्निर्मित दधिमथनमृदुरज्ज्वा बबन्धः, यतो गोपिका सहजस्नेहभराक्रान्तचित्तेत्यर्थः, श्लेषेण तद्रक्षणपरेति तद्बन्धनञ्चोदर इति ज्ञेयम्। दामोदरत्वेन प्रसिद्धत्वादत्र तन्नोक्तम्, श्रीहरिवंशे (विष्णु-प० ७।१४) चोक्तम् --'दाम्ना चैवोदरे बद्ध्वा प्रत्यबन्धदुदूखले' इति। तच्च दुःखाप्राप्त्यर्थमेव ॥ १३–१४ ॥ स्वशब्देन कृतागस इत्यनेन च बन्धनयोग्यतोक्ता, अपराधे हि पर बालकवदुपेक्षानौचित्यात्। द्व्यंगुलोनमिति द्विचणकादिवल्लोकोक्तिरीत्या स्वल्पमात्रत्वे तात्पर्य्यम्। यद्वा, त्रिपु भक्ति ज्ञानकर्म्मसु मध्ये द्वाभ्यां ज्ञानकर्म्मभ्यां स्वस्यालभ्यत्वात्तथा दर्शितमन्यं दाम सन्धानञ्चातिभीत्या तस्य पलायनमाशंक्यास्मिन् बद्धं त्र्यं धृत्वा भ्रामं भ्रामम्, किंवा हस्तेनैकेन तं गृहीत्वा हस्तान्तरेण दामसंग्रहणात्, किंवा दास्यादिभिः काभिश्चत् कौतुकेन तदर्पणात् ॥ १५ ॥ यदित्यस्यान्यदित्यनेन पूर्व्वेणान्वयः, यद्‌यस्मादिति वा, बध्यतेऽनेनेति बन्धनं दाम यद्‌यदादत्त तत् सर्व्वमपि द्व्यंगुलं न्यूनमेवासीदिति पूर्व्वेणान्वयः ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

न चान्तरिति बन्धनस्य परितो वेष्टनरूपत्वात् तदशक्यत्वायापरिच्छिन्नत्वमुक्तम् ॥ १३–१७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, किं तद्वीर्यं यदनभिज्ञानात् बद्धुमियेष इत्यतस्तद्दर्शयन् तदनभिज्ञा प्राकृतमिव बबन्धेत्याह—नेति द्वाभ्याम्। बन्धो हि वहिरेव सम्वीतेन दाम्नाऽन्तरागृहीतस्य भवति तथा पूर्वापरविभागवतो वस्तुनः पूर्वं दामतो धृत्वा परितः परिवेष्टनेन न त्वेतदस्तीत्याह--न चान्तरिति। किञ्च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति तच्च विपरीतमित्याह—पूर्वापरमिति। यो जगतः कृत्स्नस्य पूर्वं पूर्वावधिरेव परमुत्तरावधिश्च वहिश्चान्तस्य व्याप्य वर्तते तस्य जगदन्तर्भूतेन व्याप्येन दाम्ना कथं बन्धनं भवेदित्यभिप्रायः। किञ्च सर्वस्य तत्कारणकतया तद तरात्मकत्वेन तच्छरीरकतया च तत्पृथक्सिद्धवस्त्वन्तराभावात्स्वनिष्ठवस्तुसाधनकं बन्धनं न संभवतीत्यभिप्रायेणाह-जगच्च य इति। कार्यकारणशरीरात्मभावनिबन्धनमिदं सामानाधिकरण्यम् ॥१३॥ मर्त्यस्येव लिङ्गं शरीरं यस्य तमुक्तविधमधोक्षजं मत्वा केवलमात्मजं मत्वा गोपी दाम्ना साधनेन उलूखले बबन्ध बन्धनेच्छामं चकार। प्राकृतं केवलमर्त्यं यथा तद्वत् ॥ १४ ॥ कृतागसेऽत एव बध्यमानस्य सतः तद्बन्धनार्थमुपात्तं दाम द्व्यङ्गुलोनमभूत् द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यामपूर्णमभवत् तेन द्व्यङ्गुलोनेन दाम्ना सहान्यद्दामान्तरं स दधे ॥ १५ ॥ यत्संहितं दाम तदपि न्यूनमभवदित्येवं यद्यदादत्त सन्धातुं जग्राह तत्सर्वं न्यूनमेवाभूत ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यशोदाया अज्ञानं प्रकटयितुं तत्स्वरूपं निरूपयति--न चेति। यस्यान्तः स्वतन्त्रम्वस्तु नैवास्ति यस्य बहिश्च वस्तु नास्ति सर्वत्र सत्वेनान्तर्वाह्यविशेषाभावात् यस्मात्पूर्वमपरं नास्त्येव अविनाशित्वेन सिद्धत्वात् यः कृष्णः जगतः पूर्वमपरं वहिरन्तश्च वर्तत इति शेषः। जगतो विनाशित्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च यश्च जगन्मयः तत्सत्ताया अपि तदधीनत्वेन तत्त्वव्य-

पदेशः ।। १३ ।। तदव्यक्तं ब्रह्मसंज्ञं कृष्णमर्भकमणुतरबालं मत्वा "तदव्यक्तमाह हि" (३।२।२२) इति सूत्रं मर्त्यलिङ्गं मनुष्यलक्षणशरीरं अक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं तदधः कृतं यस्मात्स तथा इन्द्रियागोचरमित्यर्थः। अनेनाव्यक्तपदं विवृतमिति ज्ञातव्यम् ।। १४–१५ ।। अनेनापि कृष्णस्य ब्रह्मत्वं निश्चयितुं शक्यमित्याशयेनाह—तद्दामेति ! येन बबन्ध तद्दाम द्व्यङ्गुलेनमभूदित्यन्वयः। गोपिका यदा तेन द्व्यङ्गुलोऽनेनान्यद्दाम सन्दधे तदपि न्यूनमासीदिति ।। १६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

न चान्तरिति किञ्च ।। १३ ।। इदन्तूलूखलं पुरोद्वाराभ्यन्तरप्राङ्गणपतितमन्यदेव ज्ञेयं चैत्ययुगलस्य तस्य पुरोद्वाराग्रस्थत्वात् चैत्यत्वञ्च "यौ तावर्ज्जुनवृक्षौ तु व्रजे सत्योपयाचनौ" इति हरिवंशात् ।। १४ ।। यदन्यत् सन्दधे तदपि द्व्यङ्गुलं नूनमासीदित्यन्वयः। यदिति प्रथमाया रज्ज्वा दैवात् द्व्यङ्गुलोनत्वं जातं ततश्च तस्य लाल्योचितहठवत्तां दृष्ट्वा तद्विभुत्वशक्तिस्तत्रात्मानं प्रकाशितवतीति सर्वस्या एव द्व्यङ्गुलोनत्वं जातम् ।। १६–१७ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ कौतुकेन दधिभाण्डभेद नवनीतापहार चापलजात कोपा व्रजेश्वरी पुनरेवं चापलयं मा करोत्विति स्वतनयं विनिनीषुर्दाम्ना बबन्धेति तस्य लीलान्तरं दर्शयति न चान्तर्न बहिरित्यादि। यस्य न चान्तः प्राकृतवद्धातुसम्बन्धः न बहिस्त्वगादि सम्बन्धोऽपि यस्यान्तर्बहिरानन्दघनत्वात्। अथवा, अन्तरन्तर्यामित्वं बहिः परिच्छिन्नत्वम्, नान्तरं न बहिरित्यन्तरबहिरेकरूपत्वम्। अथवा अन्तरन्तरङ्गावहिर्बहिरङ्गाः न यस्य सर्वसमम्, न पूर्वं न प्राक् नापि चापरं न पश्चात्-(भा. २।९।३२, ६।४।४७) "अहमेवासमेवाग्रे" इति स्वोक्तेः। अथ च यो जगतः पूर्वश्चापरश्च बहिश्च, अनादित्वात् पूर्वः, अनन्तत्वादपरः पर इत्यर्थः, अपावृतत्वाद् बहिर्जगतो यो जगच्च जगदाधारत्वात्। एवम्भूतं तं श्रीकृष्णं विग्रहं कथं बध्नात्विति पूर्वोक्तमतद्वीर्यकोविदत्वं व्रजेश्वर्या वात्सल्येनैव कृतम्, नत्वज्ञानेन ।। १४ ।। ततश्चारब्धे बन्धने परिच्छिन्नस्यापि व्यापकत्वमापादयितुं पुरान्तर्वर्तिनीभिः कौतुकात् सर्वतः सर्वगोपिकाभिरानीताभिरसनाभिरपि परस्परग्रथिताभिरपि बन्धनापर्याप्तावुपस्थितायां पुनरन्याभिरपि ग्रथनेऽपि द्व्यङ्गुलमात्रोनता जायत इत्याह—द्व्यङ्गुलोनमित्यादि। प्रथमं यदानीतं दाम तद्द्व्यङ्गुलोनमभूत्, तदनन्तरं यदानीय तत्र ग्रथितम् तदपि द्व्यङ्गुलोनमिति क्रमेण सर्वेषामेव परस्परग्रथितानामपि द्व्यङ्गुलमात्रोनता यदासीत्, तत्रैतद्बीजम्—न चान्तर्बहिरित्याद्युक्तप्रकारो भगवान् बन्धुमशक्य एव, किन्तु द्वाभ्यामेव बद्धो भवति—भक्तपरिश्रमः स्वस्य कृपा चेति। तद्द्वितयं यदा युगपद्भवति, तदैव बद्धो भवतीत्यर्थः। तद्यावन्नाभूत्तावदेव द्व्यङ्गुलन्यूनतेति द्विशब्दोपादानम् ।। १५–१७ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

न चान्तर्न बहिर्यस्येत्यादि। न विद्यते प्राकृतस्येव अन्तरमस्थिमांसरक्तादि बहिर्मलमूत्रादि केवलसच्चिदानन्दात्मकत्वात्। वक्ष्यति च रुक्मिणी व्यतिरेकेण (भा. १०।६०।४५) "त्वक्श्मश्रुरोम" इत्यादि। कथमस्य बन्धनमिति भावः। अतः पूर्वोक्तमतद्वीर्यकोविदत्वं व्रजेश्वर्या दर्शितम्। यद्वा, अन्तरमन्तर्यामित्वं बहिः परिच्छिन्नत्वं जीवस्यैव तथा। यद्वा, नान्तरं न च बहिर्यस्येति अन्तर्बहिरेकरूपमत्युज्ज्वल स्वच्छत्वात्। अथवा, अन्तरमन्तरङ्गा, बहिर्बहिरङ्गा, सर्वसमत्वात्। न पूर्वं न प्राक्, न चापरं न च पश्चात् यस्य, व्यापकत्वात् अथच जगतः पूर्वञ्च परञ्च पश्चात्,—(भा. २।९।३२) "अहमेवासमेवाग्रे" इत्यादेः स्वयमुक्तत्वात्। तस्य बन्धनमशक्यमिति भावः ।। १३–१४ ।। द्व्यङ्गुलोनमित्यादि। द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यामूनोऽहं कदापि न बद्धो भवामि, एकं भक्तपरिश्रमः, अपरं मदीया कृपेति, यदैतद्द्वयं भवति, तदा बद्धः स्यामिति द्व्यङ्गुलोन—शब्दतात्पर्यार्थः ।। १५–१७ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ब्रह्मादिस्तंबपर्य्यन्तं स्वमायागुणैर्निबध्नन्तमपि सर्वव्यापकमपि महामहेश्वरं तं स्वप्रेमबलादेव पट्टमयदाम्ना बबन्धापीत्याह—न चेति द्वाभ्याम्। बन्धनं हि बहिःपरीतेन दाम्ना आवृतस्य परिच्छिन्नस्य वस्तुनः सम्भवति यस्य तु विभुत्वाद्बहिर्न विद्यते तत्प्रतियोगित्वादन्तश्च न विद्यते तत्र क वा दाम्ना स्थातव्यं किं वा तेनावरीतव्यमिति भावः। सर्वदेशव्यापकत्वमुक्त्वा प्रसङ्गात् सर्वकालव्यापकत्वमाह—न पूर्वं नापि चापरमिति। यस्मात् प्राक् पश्चात् कालौ न स्त इत्यर्थः। किञ्च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति तच्चात्र विपरीतमित्याह—पूर्वापरमिति जगच्च यः इति तच्छक्तिकार्य्यत्वादित्यर्थः। ततश्च सम्पूर्णेन जगतापि तद्बन्धो न सम्भवेत् किं पुनर्जगदंशांशभूतेन दाम्नेत्यर्थः। न च साकारत्वेन तस्य विभुत्वं सम्भवेदिति वाच्यं साकारस्यैव तस्योदरे सर्वजगत इदन्तास्पदस्य यशोदया दृष्टत्वात्, तर्हि सा कथं बबन्ध ? तत्राह—तम् आत्मजं मत्वा असाधारण-

वात्सल्यप्रेमविषयीकृत्वेत्यर्थः। तस्य प्रेमाधीनत्वाद् विभुत्वेऽप्यचिन्त्यशक्त्यैव बन्धनमिति भावः। अव्यक्तं प्रेमवश्यत्वादेव प्रच्छन्नीभूतमहैश्वर्यं मर्त्यलिङ्गं मनुष्याकारं तदप्यधोक्षजमतीन्द्रियं यथा प्राकृतं बध्नाति तथैव चित्पुञ्जमपि तं बबन्धेत्यहो प्रेमबलं तस्या इति भावः॥ १३-१४॥ प्रेम्णा सम्भवित्यपि तस्य बन्धने प्रथमं तदाकारस्य मातृकृतपरिच्छिन्नस्यापि विभुत्वमाह त्रिभिः—तद्दामेति। सहचरैः सह खेलनं परगृहेषु दधिचौर्य्यं चावश्यकं प्रात्यहिकं कृत्यं चिकीर्षोर्मम बन्धनं मा भवत्विति तदिच्छायां जातायां मत्प्रभुं का बध्नीयादिति तदीयसत्यसङ्कल्पताशक्त्या प्रेरिता विभुताशक्तिः सहसैव तद्देहे प्रादुरभूदित्याह, द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्यामङ्गुलीभ्यामपूर्णं ततश्च तेन दाम्ना सह अन्यदाम सन्दधे ग्रन्थिं दत्वा जुगुम्फेत्यर्थः॥ १५॥ बद्ध्यतेऽनेनेति बन्धनं दाम॥ १६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हरिः पलायनपरत्वात् स्वबन्धनं नैच्छत् यशोदा तु तं बद्धुमैच्छत् तत्र कस्य जयः? कस्य पराजयः? इत्याकाङ्क्षायां यशोदाजयं दर्शयन् अपरिमितोऽपि भक्तवात्सल्येन परिमित इत्यचिन्त्याद्भुतस्वाभाविकशक्तिमत्त्वं भगवतो दर्शयति—नचान्तरिति षड्भिः। यो जगच्च कार्यकारणयोर्भेदाभेदसम्बन्धात्॥१३॥ उक्तप्रकारेणामर्त्योऽपि मर्त्यलोके जाता सती मर्त्यलिङ्गं मनुष्यस्वभावं भगवदनभिज्ञतालक्षणमाश्रित्य अधोक्षजमुक्तप्रकारेणाधोक्षजेच्छयैवात्मजं मत्वा प्राकृतवदप्राकृतशरीरं बबन्धेत्यन्वयः॥ १४॥ तत् अधोक्षजबन्धनार्थं गृहीतं दाम द्वाभ्यामङ्गुलाभ्यामूनमभूत तेन दाम्ना सहान्यद्दामान्तरं सन्दधे॥ १५॥ यदा तदपि न्यूनमासीत् तदा तेनान्यत्सन्दधे इत्यन्वयः॥ १६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

बन्धनेच्छा तस्याः सफलाऽभूदित्याह न चेति द्विकम्। तमात्मजं सा गोपिका राज्ञी दाम्ना पीतपट्टडोरकेण बबन्धेत्यन्वयः। मत्वा सापराधं ज्ञात्वा तं कीदृशमपि तत्राह विभुत्वाद्यस्यान्तर्बहिश्च प्रदेशो नास्ति परिच्छिन्नस्यान्तर्बहिरिति व्यवहारो भवति। न च विभोस्तद्व्यवहारः सम्भवेदित्यर्थः। देशव्यापित्वमुक्त्वा कालव्यापित्वं प्रसङ्गादाह, यस्य पूर्वं नास्त्यनादित्वात् अपरञ्च नास्त्यानन्तत्वात् सर्वकालव्यापिनो यस्मात् प्राक् पश्चाच्च कालौ न स्त इत्यर्थः। उक्तं स्फुटयति पूर्वेति यो जगतः पूर्वं जनकत्वात् परञ्च नाशकत्वादन्तर्बहिश्च विभुत्वात् यश्च जगत् भवति शक्तिद्वारा तत्तथा परिणामात् अव्यक्तं प्रत्यग्भूतं मर्त्यस्येव लिङ्गं चिह्नं यस्येति नराकृतिकमित्यर्थः। अधः कृतमक्षजमैन्द्रियकं सुखं येन तं नित्यसिद्धसुखमित्यर्थः। आकृतं यथेति यथा प्राकृतं काचिद्बध्नाति तथेयं विज्ञानराशिं बबन्धेति अहो पुत्रभावस्य महिमा येन तादृशोपि बद्धोऽभूत् यो विभुः स एव निबद्ध इति तत्र युगपदेव विभुत्वमध्यमत्वे ते चाचिन्त्यशक्तिसिद्धे स्याताम्॥ १३-१४॥ बन्धनप्रकारं दर्शयन्मध्यमस्यापि तस्य विभुत्वमाह—तदिति तेन दाम्ना बध्यमानस्य स्वार्भकस्य स्वोत्सङ्गपरिच्छिन्नस्य तत्प्रथमप्रयुक्तं दाम द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यामपूर्णमभूत्। ततस्तेन दाम्ना सार्द्धमन्यच्च दाम मातापुत्रयोर्भर्त्सनरोदने श्रुत्वा आगताभिः प्रतिवेशिनीभिर्गोपीभिः परिहासेनार्पितं सन्दधे ग्रन्थिना युयोज॥ १५॥ बध्यतेनेन बन्धनम्॥ १६॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ॥ न चांतरित्यस्य भगवतोऽतः किमपि न चैवास्तीत्यर्थः। सर्वापेक्षया भगवानेवाणुर्भगवदपेक्षयाऽन्योऽणुपदार्थो नास्तीति भावः। एतेन सर्वजगतो भगवतोऽतर्विद्यमानत्वाद्भगवतोऽतः किमपि नास्तीति कथनमयुक्तमिति चोद्यं निरस्तम्। भगवदपेक्षया सर्वपदार्थानां स्थूलत्वं नाणुत्वमित्यत्र तात्पर्यमित्यभ्युपगमात्॥ १३॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

किं तद्वीर्यं यदज्ञेयं राज्ञीत्यत आह॥ न चेति। यस्यान्तरे को नियामको न चास्ति बहिरपि महीपत्यादिवन्नास्ति यस्मात्पूर्वमादिभूतं वस्तु नास्ति अपरं च नास्ति। सर्वदैतस्य सत्त्वादेतदभावदशाभावादपराभाव इति भावः। यः पूर्वमपरं बहिरन्तश्च वर्तत इति जगन्मयो जगत्प्रधान इति कथं व्यापकः पाशमध्येऽयं भवेत्पाशो वा कथं व्यापकः सन्नेनमन्तरा तनुयात्पूर्वपरभागविकलवादिति भावः। मयः प्रधान उद्दिष्ट इति तृतीयतात्पर्योक्तेरयं मयशब्दः॥ १३॥ अव्यक्तं सूक्ष्मतः सूक्ष्मं विविधसांसारिकदुःखस्पृष्टं व्यक्तं तन्नेत्यव्यक्तः। तदव्यक्तमाह हि। अव्यक्तमचलम्। नक्तोपासेत्युग्भाष्यादेः। अधोक्षजमधःकृतेन्द्रियजज्ञानमिन्द्रियागोचरं प्रसादमन्तरेत्यर्थः। मर्त्यानां लिङ्गं लक्षणमिव लक्षणं यस्य तमर्भकं शिशुं मत्वा प्राकृतं बालं यथा तथा दाम्ना उलूखले गोपिका बबन्ध तं बन्धुमारेभ इत्यर्थः। उलूखल इत्यनेन चोरस्येव तत्सहकारिणोऽपि लोके लोकैः शिक्षणमीक्षितमित्यसाध्यभागगमस्त्वादिवस्तुग्रहणानुकूलोलूखलमपि खलं मत्वा गोपी तेन सहैनमपि बबन्धेति प्रेक्षावन्त उत्प्रेक्षयन्ति॥ १४॥ माधव इदमपदेशेन स्वस्याबध्यतां स्फोरयामासेत्याह॥ तद्दामेति। यदा कृतागसो बध्यमानस्य स्वार्भकस्य

स्वबालकस्य स्वस्मिन्नर्भका अतीतकल्पे मुक्ता ब्रह्मादिमबालका यस्य स तस्यापीति वा कृतागसं तं किल नैव माता शशाक बद्धुं मम तु प्रतर्कः । तदीयरम्योदरमध्यसंस्थविमुक्तशक्त्यैव न बन्ध आसीदित्युत्प्रेक्षाक्षितिरेवं चेदासीदिदं यदमिति मन्तव्यम् । तद्दामद्व्यङ्गुलं द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य मात्रचो द्विगोर्नित्यमिति लुक् । द्व्यङ्गुलं च तदूनं तत्पुरुषस्य सङ्ख्याव्ययादेः सङ्ख्याव्ययादेरङ्गुल्यं तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यादिति कौमुद्युक्तेः समासान्तोऽच्प्रत्ययः । तेनोनमिति वा ऊनं न्यूनमभूत्तदा गोपिका तेन पूर्वदाम्नाऽन्यच्च दाम सन्दधे । द्व्यङ्गुलन्यूनीकरणं तत्स्वबन्धनाशाऽशान्त्यर्थं । बहुन्यूनताप्रदर्शने मत्वा बन्धनमशक्यं माता विरमेदिति रमानाथ एवमचीचरच्चरितमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥ द्व्यङ्गुलमित्यत्राप्यन्वेति । बन्धन तत्साधनं दाम बन्धनमुद्दिश्य यद्यदा तत्तद्व्यङ्गुलं न्यूनमभूत् ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

शुकोपि तां दूषयन्निव बन्धाभावे परमार्थतो युक्तिं प्रदर्शयति **न चान्तरिति**, भगवति बन्धाभावो द्वेधापि भवति, भगवत्स्वरूपविचारेण बन्धनसाधनस्वरूपविचारेण च, तत्रादौ स्वरूपं विचारयति, बन्धनं हि कार्यद्वयं सम्पादयति बहिर्निरोध-मन्तरस्तापं च, तत् तस्यैव भवति यस्यान्तर्बहिर्भावो भवति, भगवांस्तु पूर्णः सर्वं व्याप्य तिष्ठतीति न कस्मादपि भगवा-नन्तर्भवति, निरवयवत्वाच्च न कोपि तस्य परिच्छेदकः, चकारादन्तःशब्दव्यवहार्ये आकाशोतः सशब्दोपि भगवति न प्रवतत इत्युक्तं, अन्तर्यामिब्राह्मणे सर्वान्तरो भगवानुक्तो न तु भगवतोन्तरं कचित्, सर्वान्तरः केनान्तर्भावमापद्येत ? आधारत्वे तु नान्तरभावना, रूपादिषु तथोपलब्धेः, न हि फलस्यान्तः **स्वरूपं** तिष्ठति बीजवत्, तथा सत्यदृश्यः स्यात्, अतो न केनाप्यंशेन भगवतोन्तरमस्ति, नापि बहिः, व्यापकत्वात्, बहिःस्थित एवाकाशोन्तस्तिष्ठतीति नाकाशाद् बहिरस्ति किञ्चित्, अनेनान्तः-करणे खेदो बहिरावरणं वा नास्तीत्युक्तं, किञ्च बन्धनं हि वेष्टनात्मकं तद् द्विविभागे सति भवति, निरवयवस्यानिरूप्यस्य स्वत एव भासमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावतिरोधायकस्य केनाप्यंशेन पूर्वभावोपरभावो वा न सम्भवति, अनेनैव दक्षिणोत्तरभावा अपि परिहृताः, सर्वत्र स्थितः पूर्वापरभावमेव मन्यते, अतः स्वरूपकृता वा दिक्कृता वान्तरादिधर्मा भगवति न सन्तीति न बन्धसम्भावना, साधनस्वरूपविचारेणापि न भवतीत्याह **पूर्वापरमिति**, रज्ज्वादीनां **पूर्वभागे परभागे** चायमेव वर्तते, तत्र **यशोदैव** **प्रमाणं**, भगवति सर्वं दृष्टवती यतः, सर्वस्यापि भगवान् बहिरपि भवति व्यापकत्वात्, अन्तरपि भवति सर्वान्त-रत्वात्, चकारात् स्वरूपमपि, किञ्च **जगतो य** एतावान्, यतो जायते गच्छति चेति **जगत्**, यदि भगवानेतावन्न स्यात् कथं जगद् भवेत् ? **पूर्वभावाभावे न भवेत् परभावाभावे न गच्छेत्**, जगतश्चेत् भगवान् बहिर्न भवेद् जगति गच्छति गच्छेद्, यदि सर्वान्तरो न भवेत् जगदितिविशिष्टं सर्वप्रतीतिसिद्धं न भवेत्, अन्तःस्थितभगवद्धर्मैरेव जगतो विवक्षितधर्मवत्त्वात्, किञ्च **यो जगत्**, न हि स्वात्मना स्वयं बद्धो भवति, तथा सति बन्धकानां वैयर्थ्यापत्तेः, किञ्च **जगन्मयोयं** सर्वमेव जगद् व्याप्य तिष्ठति, एतदाज्ञयैव जगत् कार्यं करोति, ततः कथमयं स्वबन्धने जगत् प्रेरयेत् ? अतो न केनापि प्रकारेण भगवतो बन्धनमस्तीति निश्चिन्ता भक्ताः ॥ १३ ॥ तादृशं योन्यथा विचारयति स निष्फलप्रयासो भवतीति तां दूषयन्निव तस्याप्य-ज्ञानमाह तमिति, **तं** पुराणपुरुषोत्तम**मात्मजं** स्वशरीराज्जातं **मत्वा दाम्ना बबन्धे**तिसम्बन्धः, देहस्तु प्राकृतस्तस्या इति तज्जातः सुतरां प्राकृतो भवति, ननु कचिन् महान्तोपि पुत्रा जायन्ते देवादयोपि ततो लोके कारणवैलक्षण्यस्यापि दृष्टत्वात् कथमात्म-जत्वे तथा कर्तुं शक्यत इति चेत् तत्राहा**व्यक्तमिति**, न केनाप्यंशेन **व्यक्तं**, ये हि महान्तो भवन्ति ते स्वधर्मान् प्रकटीकुर्वन्ति यथा भरतादयः, भगवांस्तु तथा न करोतीति प्राकृतबुद्धिस्तेषां दृढा, मध्यमावस्थानामेव तथा करणं न तु परमकाष्ठां गतस्य, किञ्च यदि गुप्त एव संस्तूष्णीं तिष्ठेत् तथापि सन्देहः स्यादन्यवाक्येन वा माहात्म्यं जानीयुः प्रत्युत भगवान् विपरीतधर्मान् बोधयत्यतः कथं प्रतीतिरित्याह **मर्त्यलिङ्गमिति**, मर्त्यस्यात्यन्तप्राकृतस्य **लिङ्गानि** यस्मिन्निति, तथैव स्वरूपं गुणांश्चेष्टां च प्रदर्शयतीत्यर्थः, ननु तथाप्यत्यन्ताभिज्ञा यथा नटं परिचिन्वन्ति तथा सर्वविलक्षणानन्तगुणवत्त्वादानन्दमयत्वाच्च कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याहा**धोक्षजमिति**, **अधोक्षजं** ज्ञानं यस्मादिति, न हि भगवान् गुणा वा कस्यचिदपि चक्षुर्गोचरा भवन्ति, इच्छा तु नास्तीत्यवगम्यते विरुद्धप्रदर्शनात्, किञ्चेयं च **यशोदा गोपिका**तिप्राकृतरूपा, अतोनभिज्ञा कथं जानीयात् ? उलूखलो-परि पादं दत्वा भगवान् क्रीडति, अग्रेऽपि नाभिभवति, अतो भगवान् गोकुलस्थित**मुलूखलं** स्वाश्रयावेनज्ञापयितुमत्र बन्धनं कारितवान् **गोपिकायास्तु** बुद्धिर्यथान्यत्र न गच्छतीति, **दाम** पशूनां बन्धकं, ननूलूखलदामहस्ताधिष्ठितदेवानां कथं तूष्णीम्भावः ? तत्राह **प्राकृतं यथे**ति, बुद्धिर्भगवता तथा सम्पादितेति ॥ १४ ॥ अयं देहाकारेण भासमान एव भगवान् सच्चिदानन्दरूप इति गुणोपसंहारन्यायेन "न चान्तर्न **बहिर्यस्ये**"त्यादिधर्मा अस्यैवेति ज्ञापयितुं वदन् भगवान् सामिबद्धो जात इत्याह, भगवता स्वस्मिन् दोषद्वयं प्रदर्शितं तत्पुत्रत्वमपराधश्च, तदा रज्जुरन्तर्बहिःस्थितं भगवन्तं तिरोहितं मत्वा वेष्टनं कृतवती स्वयं बहिःस्थितान्तःस्थितस्य भगवतः, तदाह **तदाम बध्यमानस्ये**ति, अन्यथा बहिरपि रज्जुर्न भवेद् वेष्टकमपि न भवेत्, तथापि परितो वेष्टनरूपा न जाता, पूर्वापरयोर्भगवत एव सत्त्वात्, अतो **द्व्यङ्गुलं** **न्यूना** जाता, लोकपरिमाणे प्रथमपरिमाणमङ्गुलिः, तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादल्पवैलक्षण्ये महतो योजनायामाश्चर्यमपि भवतीति **द्व्यङ्गुलोन-**

मेवाभूत्, रज्ज्वाद्यन्तयोर्यो भगवान् स एवायं क्रोडीकृतः, न तु ततः केनापि धर्मेण भिन्न इति ज्ञापयितुमेवमाह व्यापकत्वस्य दर्शनार्थमेव तिरोभावाद् रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यं, प्रतिविम्बादौ तथोपलब्धेः, अतो वैलक्षण्याज्ञानात् तेनान्यदपि दाम तावत्प्रमाणकं सन्दधे योजितवती, चकाराद् विसदृशमपि ततोपि स्थूलं, नन्वङ्गुलद्वयें न्यूने किमित्येतावद् योजितवती? तत्राह गोपिकेति. मौढ्यं तस्या अनुवर्तत इति ॥ १५ ॥ ततः किमभूदित्याशङ्कायामाह यदासीदिति, उभयोः सम्बन्धे पुनः सैकैव रज्जुर्जाता, तदाह यदासीदिति, उभयोः सम्बन्धे यदेकमासीदित्यर्थः, तदपि पूर्वोक्तन्यायेनैव न्यूनमासीद् द्व्यङ्गुलं तेनापि विशिष्टेन पुनरन्यत् सन्दधे तृतीयं, तदपि द्व्यङ्गुलमेव न्यूनं, "त्रिसत्या हि देवा" इति, भगवतो जगदाद्यन्तःस्थितिवारत्रयं प्रदर्शिता, मानुषभावं ततोपि बहुवारं कृतवतीत्यनुवदति यद्यददादत्त बन्धनमिति, यद्यदेव योजनार्थं गृहीतवती तत्तदेव द्व्यङ्गुलोनमभूत् ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

न चान्तर्न बहिरित्यत्र, किञ्च जगन्मयोयमित्यादि। जगच्च य इत्यत्र चकारार्थकथनमिति ज्ञेयम्। तद्दाम बध्यमानस्येत्यत्र, भगवता स्वस्मिन्दोषद्वयमित्यारभ्य ज्ञापयितुमेवमाहेत्यन्तम्। अत्रेदं प्रतिभाति। बहिः प्रकट एव प्रभौ पुत्रव्यवहार इति तत्कृतमन्तःस्थितस्याज्ञानम्। दोषारोपे बहिरनुभूयमानोप्यननुभूयमान इव भवति। दोषज्ञानपराभूतत्वाद् दृष्टेः। तदिदमुक्तमन्तर्बहिःस्थितिमित्यादिना। मूलस्थविशेषणद्वयतात्पर्यरूपं लीलापदार्थानां सच्चिदानन्दरूपत्वमभिप्रेत्य दाम्नि ज्ञानकरणे निरूपिते। ननु ज्ञानेन वस्त्वन्यथाभावाभावाद्वेष्टनमसम्भवि, दाम्नस्तथात्वे सुतरां तथेति चेत्। अत्र वयं वदामः। अत्र हि भगवान् भक्तप्राधान्येन लीलां करोति, अतो यथा मर्यादाभक्तिमार्गे भगवद्विषयकापराधे भक्तानां दण्डः कालादिभिस्तदधिकारिभिः क्रियते तथा (पुष्टि) पुष्टिमार्गे भक्तविषयकापराधे यथैव ते चिकीर्षन्ति, तथैव प्रभुरङ्गीकरोतीति वस्तुस्थितिः। अत्र भजनविरोधिभावजननमेवापराधः। एवं सति पुत्रत्वेङ्गीकृते तद्धर्माङ्गीकारोपि जात इति मातृनियम्यत्वस्यापि स्वस्मिन्नङ्गीकारात्तत्स्वामिकदाम्नामपि तादृक् सामर्थ्यं दत्तमस्तीति तथा। इदमेवोक्तमन्यथा बहिरपीत्यादिना। एवं सति दामभिर्नियमने दण्डसम्पत्तिर्भवति। अत्र तथाभावेङ्गद्वयं प्रतिबन्धकं निसर्गेश्वरत्वनिसर्गदासत्वलक्षणं भगवत्तद्दासगतम्। न हि दासनियम्यः प्रभुर्भवति। यद्यपि मातृनियम्यत्वमङ्गीकृतमिति तेनैव सर्वात्मना नियमनं सम्भवति, तथापि यथा भगवद्धर्मत्वे नाङ्गीकारो बलिष्ठस्तथैश्वर्यस्यापि तथात्वादबाध्यत्वाच्च न तथा सर्वात्मना भवितुमर्हति। उक्ताङ्गीकारात्परं तावद्वेष्टनमभूत्। भक्तेषु प्रभुनियम्यत्वस्यापि नित्यत्वात्। अतस्तथा न्यूनमभूत्। अत एव सर्वोपयोग्यङ्गमानेन न्यूनतोक्ता। अग्रे त्वीश्वरत्वेनान्यथा कर्तुं समर्थत्वात्तदेव स्वनियमने साधकं कृतवानिति वक्ष्यते कृपयासीत्स्वबन्धन इति पदेन। कृपाया ईश्वरधर्मत्वेनैश्वर्यमेव करणत्वेनावगम्यते। अन्यथैतत्कार्यं न स्यात्। न हीश्वरादन्यः स्वस्वरूपमर्यादातिक्रमणे जीवस्वरूपमर्यादातिक्रमणे च समर्थो भवति, अस्वतन्त्रत्वात्। यथा जगत्कर्तृत्वादेरीश्वरधर्मत्वेपि नैतादृशत्वं तथा भक्तानामप्येतदतिपौरुषमिति ज्ञाप्यते। यद्वा। बन्धनन्यूनतोक्त्योर्मध्ये विशेषणद्वयकथनेन तयोरुभयत्र हेतुत्वमभिप्रेतमित्यवगम्यते। बन्धने तयोर्हेतुत्वमुक्तम्। तादृशन्यूनतायामपि तयोस्तथात्वमुच्यते। विशेषणाभ्यां हि तज्ज्ञानप्रकार उच्यते। भगवांस्तु निरुधिस्नेहेन दोषारोपाभावयुक्तेन वशो भवति। तथा च पुत्रत्वेन स्नेहः सोपाधिरिति दोषारोपश्चास्तीति वशीकरणे प्रतिबन्धकमेतद्द्वयमिति ज्ञापनाय द्व्यङ्गुलन्यूनतोच्यते। अत एव स्वपदम्। यद्वा। स्वार्भकस्य कृतागसः इति मातृविशेषणम्। अत्रत्यागाबगूरणबन्धनोद्यमैः कृत्वा कृतागस्त्वम्। प्रथमतोर्भकस्तत्रापि स्वस्यैव तादृशे तथा कृतिरत्यनुचितेति ज्ञापितम्। तथा चैतादृश्यास्तद्दाम तथाभूदिति सम्बन्धः। तथा च बाह्याभ्यन्तरापराधवत्सम्बन्धित्वात्तथा न्यूनमभूदिति भावः। दामसामर्थ्ये सत्यपि भगवदिच्छया तथात्वे न्यूनं चकारेत्युक्तं स्यात्। तथा चैवमुक्त्या वस्तुस्वाभाव्यादेव तथात्वमिति बोध्यते। पूर्वापरयोर्भगवत एव सत्त्वादित्यादिग्रन्थस्यायं भावः। 'एवं सन्दर्शिते'ति वाक्यात्तत्प्रदर्शनार्थमिमां लीलां कृतवानिति गम्यते। यद्यपि भक्तनिवेदितान्नवस्त्रभूषणाद्यङ्गीकारोपि भक्तेच्छयैवेति सोपि तथा भवति, तथापि तेषामिष्टत्वाल्लोके तदङ्गीकारो न तथा तद्बोधकः। बन्धनं तु दुःखहेतुत्वेनानिष्टं लोक इति तदङ्गीकारस्सुतरां तथेत्यनेन प्रकारेण प्रदर्शितवानित्युच्यते। अत एवानेवंभावे तन्न दर्शितं भवति किन्त्वेवंभावेमेनैवेत्याशयेन मूल 'एवं संदर्शिते'त्युक्तम्। किञ्च। ईश्वरे दुःखाभावेन तथा भक्तेच्छापूरणे न कोपि विशेषः सिध्यति यद्यपि, तथापि मात्रतिरिक्तभक्तानां श्रवणेपि दुःखहेतुरिदमिति भक्तदुःखहेतुकरणं भक्तिमार्गविरुद्धमिति सर्वथा पुरुषोत्तमस्याकर्तव्यं भवतीति तस्यापि करणेनातिशयेन तथात्वं बोधितं भवति। एवं सत्युदरस्य व्यापकत्वाद्यत्र कुत्रचित्स्थितिवद्द्रगवत्पृष्ठभागे पार्श्वयोश्च दाम्नः स्थितिर्न विरुद्धा। किन्तु दाम्नावच्छेद्यत्वं विरुद्धम्। तच्च तदाद्यन्तयोर्मेलने भवति। यद्यप्युक्तदेशे स्थितिवद्यथात्रापि स्थितिस्तथोक्तदेशे तन्मेलनवदत्रापि तत्सम्भवति, तथाप्यत्र स्वरूपप्राकट्यात् तद्धर्माणामपि व्यापकत्वादीनां प्रकटत्वेन स्वकार्योन्मुखत्वान्न तत् संभवति। स्वस्यैवावच्छेदकत्वे तत्साधनोच्छेदप्रसङ्गः। तथा च दामाद्यन्तयोः सतोदरेणैव न तथा सम्भवतीति न्यूनताया आवश्यकत्वेन प्रथमातिक्रम इति न्यायादलपेत्यादिनोक्तहेतुना च तथा न्यूनमभूत्। अग्रे 'कृष्णः कृपया-

सीत्स्वबन्धन' इति वाक्यात्स्वयमेव स्वरूपमर्यादामतिक्रम्य तथाभवदित्युक्तम् । 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यत्र तत्स्वाभाविकधर्मरूपवसनभूषणविशिष्टानामेव देशापरिच्छेद उक्त इति न तैरवच्छेदः शङ्कनीयः । व्यापकत्वस्येति । स्वाभाविकव्यापकत्वस्यैवानवच्छेद्यत्वे हेतोः सत्त्वात् कृत्रिमतत्करणमप्रयोजनकमयुक्तं चेति भावः । अल्पपरिमाणत्वेन प्रतीयमानस्यैव तदधिकपरिमाणवत्त्ववच्छेदकाधिक्येपि सर्वत्र समानपरिमाणत्वेन प्रतीयमानत्वं च चन्द्रतत्प्रतिबिम्बयोरस्तीति तद्दृष्टान्तमाहुः **प्रतिबिम्बादाविति** । यथा द्वादशसहस्रयोजनात्मकत्वेपि चन्द्रमण्डलस्यैतो यावत्परिमाणकं तद् दृश्यते तावत्परिमाणकमेवोदकने सरस्सरित्प्रभृतिषु च, तथात्रापीत्यर्थः । तथा सति तु पूर्ववैलक्षण्यज्ञानादशक्यताज्ञानेन भूयो योजनासम्भवेपि । **इदमेवोक्तं वैलक्षण्याज्ञाना**दित्यनेन । यद्वा । तदैव निकटस्थमणिस्तम्भादिगतभगवत्प्रतिबिम्ब आदिपदात् तच्छायायां च पूर्ववदेवोपादम्भादित्यर्थः ॥ १३-१६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

न चान्तरित्यत्र **यस्यान्तर्नास्ती**त्यस्यार्थो यस्यान्तर्व्यवहारविषयत्वं नास्तीति, तदुपपादयन्ति **भगवांस्त्वि**त्यादि, ननु घट आकाशस्येवान्तर्भावो व्यापकत्वेपि सम्भवतीत्यत आहुर्**निरवयवत्वा**दित्यादि, "न वियदश्रुते"रित्यधिकरण आकाशस्यापि सावयवत्वं सिद्धमिति तस्य परिच्छेदको घटादिर्भवति यन्मते निरवयवस्तन्मतेपि घटादेस्तद्भिन्नत्वात् प्रदेशपरिच्छेदकत्वं घटादेः सम्भवति न तथा भगवतीति तथेत्यर्थः, तर्हि स्वयमेवान्तःशब्दवाच्योस्त्विति कथं तदभाव इत्यत आहुश्चकारादित्यादि, नन्वन्तर्यामिब्राह्मणे"यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तर" इत्यादिभिर्भगवतोन्तरत्वमुक्तमिति कथं निषिध्यत इत्यत आहुरन्तरित्यादि, **अन्तरं** भेदः, तथा च यद्यपि तत्र सर्वान्तरत्वकथनेनान्तर्व्यवहारविषयत्वं सिध्यति तथापि भेदस्तु नोक्त इत्यन्तर्वर्तमानोपि तं त'मन्तरयति'तं स्वस्मिन् स्थापयतीति स तादृशः केन हेतुनान्तर्भावमापद्येत न केनापीति **नान्तरि**त्यर्थः, ननु तत्र पृथिव्यादीनामाधारत्वमुक्तमित्याधेयस्य भगवतः कथं नान्तःस्थितत्वमित्यत आहुर्**आधारत्वे त्वि**त्यादि, **तु**रप्यर्थे, तथा चान्तरत्वेपि नान्तरत्वेन तत्र भावेनोक्तेति **नान्तरि**त्यर्थः, ननु भवतु तथाभावनाभावस्तथापि 'नान्त'रित्यत्र का युक्तिरित्यत आहु **रूपे**त्यादि, तथा च यद्यन्तः **स्याद्** रूपादिवद् बहिर्नोपलभ्येतोपलभ्यते तु सद्रूपेण बहिरपीत्यतो **नान्तरि**त्यर्थः, तदेतदुपपादयन्ति **न ही**त्यादि तर्हि बहिष्ट्वमस्त्विति तदपि निषेधति **नापी**त्यादि, तथा च यः सर्वान्तरः सर्वानन्तरयति सर्वत्रानुस्यूतश्च स कथं तथा स्यादित्यर्थः, यद्वा 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानं वैश्वानरमुपास्त' इति जाबालोपनिषत्स्वपि प्रादेशमात्रस्य व्यापकत्वमुक्तमिति विरुद्धधर्माश्रयत्वेन वैश्वानराधिकरण उपपादितत्वादपि न विरोध इत्यथः, सिद्धमाहुर्**अनेने**त्यादि, **अनेने**त्यन्तस्त्वबहिष्ट्वाभावेन पूर्वापरभावनिराकरणं व्याकुर्वन्ति **किञ्चे**त्यादि, अत्र **निरवयवस्ये**त्यादीनि चत्वार्यपि विशेषणानि प्रत्यक्षस्यैव भगवतो ज्ञेयानि 'कृत्स्न'स्यैव 'प्रज्ञानघन'त्वात् , स्वेच्छयैव व्यवहार्यत्वेन वागादिनिवृत्त्यवधित्वात् **स्वत एव भासमानस्य** "यदाश्रयं येन यतः प्रतीयत" इत्यत्र सिद्धत्वात्, "तत् केन कं पश्येदि"तिश्रुत्युक्तज्ञातृज्ञेयभावतिरोधायकताया अपि तत एव सिद्धत्वादिति तेन यस्य पूर्वं न भगवत्स्वरूपज्ञानमस्ति पश्चाच्च जातं तत्र तद्ज्ञात्रपेक्षिकं पौर्वापर्यं यद्यप्यस्ति तदपि तदज्ञानाज्ञानकृतं न तु स्वरूपकृतमिति न दोषः, दक्षिणोत्तरादिभावाभावे हेतुमाहुः **सर्वत्र स्थित** इत्यादि, तत्तद्देशेषु यस्तिष्ठति तस्य पूर्वापरभावो भवति भगवांस्तु सर्वरूपत्वान् न कुत्रापि तिष्ठतीति न तथात्वं वक्तुं शक्यमित्यर्थः, यद्वा **पूर्वापरपदार्थ** एवात्रोच्यते सर्वत्र स्वरूपात्मके देशे स्वयमेव स्थितः सन् स्वस्यैव **पूर्वापररूपत्वं** मन्यत इत्यर्थः, तेन सिद्धमाहुर्**अत** इत्यादि, जगत एतावत्त्वं भगवत्युपपादयन्ति **यदी**त्यादि, सर्वान्तरत्वमुपपादयन्ति **यदि सर्वान्तर** इत्यादि, **जगदिति विशिष्टमि**त्याद्युत्पत्तिसमये गमनस्य गमनसमये चोत्पत्तेरभावादेकविशिष्टेपरवैशिष्ट्यं न भासेतेत्यर्थः, **अन्तःस्थितभगवद्धर्मैरेवेति** "पुरुषविधोन्वय त्र चरमोन्नमयादिषु य" इत्यत्र श्रुतिगीते तथोक्तत्वाद् **भगवद्धर्माश्च** नित्यत्वादयो ज्ञेयाः, **जगन्मय** इत्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्जगच्चेत्यादि ॥ १३ ॥ तमित्यत्र देहस्तु **प्राकृत** इति प्रकृतस्य भगवत्स्वरूपस्य सम्बन्धी भगवत्स्वरूपसमान इत्यर्थो ज्ञेयः, **क्षौमं वास** इत्यत्र व्युत्पादितस्यार्थस्यानुरोधान् मायासम्बन्धस्य कृष्णोपनिषद्युक्तत्वाद् विरुद्धकृतिदर्शनाच्च मायोपदिग्ध इति पुरः स्फुर्तिको वार्थो ज्ञेयः, **तथा कर्तुमिति** बन्धनं **कर्तुं** तर्हि किं सर्वेषां तथा बुद्धिं सम्पादयतीत्याशङ्क्य व्यवस्थामाहुर्**मध्यमे**त्यादि, निरोधस्याधिकारिभेदेनावस्थात्रयसत्त्वात् तद्वत्सु तथातथेत्यर्थः, **सन्देहः स्या**दितीश्वरत्वे **सन्देहः स्यात्**, इच्छेति माहात्म्यज्ञापनेच्छा, ननूलूखले बन्धनकरणस्य किं प्रयोजनमत आहुर्**उलूखले**त्यादि, तिरश्चीनं पतितमुलूखलं पादेन चालयन् क्रीडति, इदं चोलूखलं पूर्वस्माद् भिन्नमेव, उलूखलेत्यारभ्य **कारितवानि**त्यन्तः परोक्षवादो भगवदिच्छाज्ञापनार्थः ॥ १४ ॥ **तद्दामे**त्यत्र ननु यस्यैते धर्मा उक्तास्तस्य ॥ बन्धनमसम्भव्यं च तथा जात इति नास्यते धर्मा वक्तुं शक्या इत्याशङ्क्याभासमाहुर्**अय**मित्यादि, तथा चोपायज्ञापनेन तद्धर्मवानयमित्येव शुकः स्फुटीकरोति, **भगवता स्वस्मिन्नि**त्यादि तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्**अत्रे**त्यादि, **अज्ञानमिति**, तथा **चाज्ञानादन्तस्तिरोभावः पराभूतत्वाद् दृष्टेरिति**, तथा च शङ्खः पीत इत्यादिवद् बहिस्तिरोभाव इत्यर्थः, तथा च मातृचरणानां मन्तर्बहिर्भगवत्तिरोभाव इति सिध्यति, तदाहुस्**तदिदमि**त्यादि, **मत्वे**त्यादिकं विवृण्वन्ति लीलेत्यादि, **ज्ञानकरण** इत्यन्तर्बहिस्तिरोहितत्वज्ञानं **वेष्टनकरणं चे**त्यर्थः, **तथात्व** इति ज्ञानेपि **वेष्टनसम्भव** इत्यर्थः, **इव**-

मेवोक्तमिति भक्तनियम्यत्वाङ्गीकरणमेवोक्त, **अन्यथेति** यदि तं नाङ्गीकुर्यात् , तदेवोपपादयन्त्येवं **सती**त्यादि, **तथा भाव** इति नियम्यत्वे, **अङ्गीकार** इति नियम्यत्वाङ्गीकारः, **अत** इत्युक्तहेतोः, **अत एवे**त्युक्तधर्मस्य सर्वभक्तोपयोगित्वादेव, **नैतादृशत्वमिति न स्वस्वरूप**मर्यादातिक्रामकत्वं, **एतदिति** प्रभुनियमनं, एवं च निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वाद्यपेक्ष्यापि स्वस्वरूपमर्यादातिक्रमस्यैव परममैश्वर्यत्वं सिध्यति, तेन षष्ठे श्लोक ऐश्वर्यस्यैव वशीकारत्वं सेत्स्यतीति बोध्यं, विशेषणद्वयस्य तात्पर्यान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि, **तयोरिति** विशेषणयोः, **उच्यत** इतीदानीं व्युत्पाद्यते, **अत** एवेति स्नेहे सोपाधिकत्वस्य ज्ञाप्यत्वादेव, एवं च विशेषणद्वयं बन्धने द्व्यङ्गुलन्यूनतायां च हेतुत्वेन सिद्धं, **स्वाभ**र्केत्यादिविशेषणद्वयस्य शेषशेषिभावमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहुर्यद्वेत्यादि, वदिति मतुप्प्रयोगः, **तथा न्यूनमिति** द्व्यङ्गुलं **न्यून**, **वस्तुस्वाभाव्यादिति** स्वापराधिसम्बन्धिवस्तुस्वाभाव्यात्. ननु यद्येवं तदा **पूर्वापरयोरि**त्यादिसुबोधिन्युक्तवेष्टनाभावहेतूक्तिविरोध इत्यत आहुः **पूर्वे**त्यादि, तथा **भवतीति** वशीकारबोधको **भवति, अत एवे**त्येवं दर्शनार्थत्वादेव, एतस्य **मूल** इत्यनेन सम्बन्धः, **तथात्वमिति** भक्तवश्यत्वं, **न विरुद्धेति न** व्यापकत्व**विरुद्धा**, दामस्थित्युपपत्तिं व्याख्याय द्व्यङ्गुलन्यूनतोपपत्तिं व्याकुर्वन्ति तच्चेत्याद्यभूदित्यन्त, अत्रापि स्थितिरिति मेलनदेशे **स्थितिः** सम्भवतीतिशेषः, **उक्तदेश** इति यत्रकुत्रचित्, तदिति मेलनं, परिच्छिन्नताप्रत्यायन इव स्वस्यैव स्वावच्छेदकत्व उभयसमाधानमितिशङ्कायामाहुः **स्वस्ये**त्यादि, **तत्साधनोच्छेदप्रसङ्ग** इति भक्तवश्यताज्ञापनसाधनस्योच्छेदप्रसङ्गः, रज्जुन्यूनी करणाभावे स्वस्वरूपज्ञानाभावेन लोकतुल्यताया एव प्रतीतेरिति, एवं दाम्नानवच्छेद्यत्वमुपपाद्य **रज्ज्वाद्यन्तयोरित्यादे**रर्थं वदन्तः सिद्धमाहुस्तथा चेत्यादि, **लोकेऽङ्गुलेः प्रथमपरिमाणत्वं** पुरुषसूक्ते सिद्धं "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुल' मितिश्रावणात् तत्रोक्तं **प्रथम**मेत्यादि, तर्हि तावदेव कुतो नोक्तमित्यतो द्वितीयो हेतुः, **सुबोधिन्यां रज्ज्वाद्यन्तयोरिति** तु द्वित्वसङ्ख्यायां हेतुर्बोध्यः, एवं द्व्यङ्गुलन्यूनत्वं व्याख्यातं, तर्ह्यग्रे **कथमवच्छेद्यत्व**मित्यत आहुरग्र इत्यादि, **स्वरूपमर्यादामिति** किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति **सर्वत** इत्यादि, ननु भगवतो योगेश्वरत्वात् तेनैव रज्जुन्यूनता कुतो नाङ्गीक्रियत इत्याकाङ्क्षायां यदाचार्यैरुक्तं **यापकत्वस्ये**त्यादिना तत्तात्पर्यमाहुः **स्वाभाविके**त्यादि, प्रतिबिम्बदृष्टान्तमवतारयन्त्यल्पेत्यादि, तद्दृष्टान्तं, व्याकुर्वन्ति **तथा** **सतीति** परिमाणान्तरप्राकट्ये **सति** ॥ १५ ॥ **यदासीदि**त्यत्र **"त्रिसत्या हि देवा"**इति तु श्रुतिर्ज्ञेया, **भगवत** इत्याद्यत्र पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदेन त्रिविधेपि जगति स्वप्राकट्यं कुर्वन्नपि न बध्यत इति व्यज्यते ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

न चान्तरित्यत्र न कस्म दपीति भगवतोऽन्तः कस्याप्यभावात् किञ्चिन्निरूपितान्तस्त्वयुक्तो भगवान् नेत्यर्थः, मूले अन्तरादिशब्दा भावप्रधाना ज्ञेयाः, ननु यथा गृहस्थितैर्भित्त्यादिभिर्गृहमर्धं परिच्छिद्यते तथा भगवत्स्थितैर्हस्तपादादिभिर्भगवत्परिच्छेदे तन्निरूपितमन्तस्त्वं सिद्धमेवेत्यत आहुः **निरवयवत्वाच्चे**ति, हस्तादिभावापन्नं स्वरूपमेव न त्ववयवावयविभावस्तत्रेत्यर्थः, **आधारत्वे** त्विति तुरप्यर्थे तदाप्यन्तस्त्वं नास्तीत्यर्थः, नन्वाधेयनिरूपितमन्तस्त्वं आधारस्य जायत इत्याशङ्क्य नायं नियम इत्याशयेनाहुः **रूपादि**ष्विति, फले बीजनिरूपितान्तस्त्ववद् रूपनिरूपितमन्तस्त्वं नास्ति किन्त्वन्तर्बहिर्व्याप्तं रूपमस्ति, तन्निरूपितान्तस्त्वे बहीरूपाभावात् फलरूपः पदार्थोऽदृश्यः **स्या**दित्यर्थः, **अनिरूप्यस्ये**ति देशादिभिरितिशेषः, **सर्वत्रेति** पूर्वापरभावस्यैव विशेषतो व्यवहार्यत्वात् स **एवोक्त** इत्यर्थः, **स्वरूपमपीति** बहिष्ट्वादिकं भगवानेवेत्यर्थः, जगत्पदेन प्रमाणमप्युक्तमित्याहुः **किञ्चे**ति, जायते गच्छति चेति, तथा च जायते इति जः बाहुलकादनुपपदेपि ङः गच्छतीति गत् क्विबन्तं, जश्चासौ गच्चेतिविग्रहः, **न गच्छेदि**ति लीनं न भवेदित्यर्थः, **यदीति** जगतः सत्ता न स्यादित्यर्थः, **विवक्षितधर्मवत्त्वादिति** अस्तिभातीत्यादयो भगवद्धर्मा एव जगति प्रतीयन्त इतिभावः ॥ १३ ॥ **अधोक्षजमि**त्यत्र **अतिप्राकृतेति** विचाररहितेत्यर्थः, **स्वाश्रयत्वेनेति** पादयोराश्रयः अग्निरूपत्वान् मुखस्य चाश्रय इति आद्यन्ताश्रयत्वात् तत्र बन्धनमित्यर्थः ॥ १४ ॥ **तद्दामे**त्यत्र **पूर्वापरयोरिति** दोषद्वयस्यैव प्रदर्शितत्वादन्तर्बहिर्भाव एव प्रतीतो न तु पूर्वापरभाव इतिभावः, **केनापि धर्मेणे**ति मानुषत्वेन धर्मेण व्यापकत्वाद् भिन्नेनेतिज्ञापनाय द्व्यङ्गुलन्यूनतां सम्पाद्य पश्चाद् बन्धनं सम्पादितवान्, क्रोडीकृतस्य व्यापकाद् भेदे पूर्वमेव बन्धनं जातं स्यादितिभावः, टिप्पण्यां **यथा जगत्कर्तृत्वादेरि**ति ईश्वरस्य धर्मद्वयं जगत्कर्तृत्वादिकं कृपा च पुष्टिभक्तानां धर्मद्वयं भगवन्नियामकत्वं दास्यं च, तथा च यथेश्वरस्य धर्मद्वयमध्ये जगत्कर्तृत्वादेर्न भक्तवश्यतापादकत्वं किंतु भगवत्पौरुषरूपत्वं तथा भक्तानामपि धर्मद्वयमध्ये एतद् भगवन्नियामकत्वं न भगवन्नियम्यतापादकं किन्त्वतिपौरुषरूपमित्यर्थः ॥ १५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

न चान्तर्न बहिरित्यस्य विवृतौ **चकारादित्यादि चकारात् स शब्दोऽपि भगवति न प्रवर्तत** इत्युक्तमित्यन्वयः, **अन्तःशब्दव्यवहार्य आकाश** इति अन्तस्त्वबहिष्ट्वव्यवहारस्याकाशाधीनत्वादन्तःशब्दव्यवहार्यत्वमाकाशे, **अतः स शब्दोपीति** **अन्तःशब्दोपी**त्यर्थः, **न चान्तर्न बहिरि**त्यनेनान्तस्त्वनिषेधादन्तःशब्दव्यवहार्यत्वमाकाशे, अतः स अन्तःशब्दोपि न भगवति

प्रवर्तत इत्यर्थः, आधारत्वेपीत्यादि "सेतुर्विधरण" इतिश्रुतेः सर्वाधारत्वं यद्यपि भगवतस्तथापि भगवति सर्वमस्तीति वक्तुं युक्तं न तु भगवतः अन्तस्त्वमस्ति, तत्र दृष्टान्तः रूपादिवित्यादि, घटादीनां रूपाधारत्वेपि न घटान्तर्वर्ति रूपं, तथा सत्यदृश्यः स्यादिति रूपस्य घटान्तवर्तित्वे चक्षुरग्राह्यत्वे नीरूपद्रव्यस्य चाक्षुषत्वं न स्यात्, न हि फलान्तर्वर्तीनि बीजानि फलग्रहणे चक्षुर्ग्राह्याणि भवन्ति, एवं घटान्तर्वर्ति रूपमपि चक्षुरग्राह्यं स्यात्, अत आधारत्वेपि अन्तर्वर्तित्वं न वक्तुं शक्यमतो भगवतो जगदाधारत्वेपि न भगवदन्तर्जगदित्यर्थः, **पूर्वापरं** बहिश्चान्तरित्यस्य विवृतौ **पूर्वभावाभावान् न भवेदिति** भगवतः पूर्वभावो यदि जगत् प्रति न स्यात् तदा भगवतः कारणत्वाभावाज् जगन् न भवेदित्यर्थः, **परम्भावाभाव** इति यदि भगवान् जगतः परो न स्यात् तदा जगत् न गच्छेत्, कुत्र गच्छेदित्यर्थः, एवं सति जायते गच्छतीतिव्युत्पत्त्यभावे जगत्त्वमेव न स्यादिति हार्दम् ॥ १३ ॥ **तद् दाम बध्यमानस्येत्यत्र रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यमिति** भगवदुदरस्य तु न स्थौल्यं, नन्वत्र किं प्रमाणं तत्राहुः **प्रतिबिम्बादौ तथोपलब्धेरिति**, श्रीयशोदासदने वर्तमानानि यानि दर्पणमणिस्तम्भादीनि तत्र भगवत्प्रतिबिम्बोपलब्धावपि न भगवदुदरस्थौल्योपलब्धिरित्यर्थः ॥ १५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तथापि 'मातृत्वात्तत्स्नेहवशात् तस्या बन्धनमनोरथमपि भगवान् पूरितवान्' इत्याह—न चेति षड्भिः। यद्यप्यन्त बहिरादिराहित्येन तस्य बन्धनयोग्यता नास्ति, तथापि गोपिका यशोदा तमात्मजं मत्वा यथा प्राकृतं बालकं तन्माता बध्नाति, तथा दाम्नोलूखले बबन्धेति द्वयोरन्वयः। "बन्धनं हि बहिः परिवृतेन दाम्नान्तरावृतस्य भवति, तथा पूर्वापरविभागवतो वस्तुनः पूर्वतो दाम धृत्वा परितः परिवेष्टनेन भवति। यस्य चान्तरादि नास्ति तस्य बन्धनं कथं स्यात्" इत्याह—न चेत्यादि। अन्तर्बहिरादिराहित्ये हेतुमाह—पूर्वापरमिति। यश्च जगतोऽन्तर्बहिरादिरूपेण वर्तते, तस्यान्तर्बहिरादि कथं स्यादित्याशयः। ननु 'एवमपि भिन्नस्य जगतो विद्यमानत्वात्तदन्तरस्थितस्य तस्य बन्धनं कुतो न स्यात्' इत्याशङ्क्याह—जगच्च य इति। सर्वोपादानतया सर्वरूपत्वात स्वेनैव स्वस्य बन्धनासम्भवादित्याशयः ॥ १३ ॥ बन्धनासम्भवे हेत्वन्तरमपि दर्शयन्नाह—अव्यक्तमिति। एतदेव स्पष्टयति—अधोक्षजमिति। अधः अक्षजं इन्द्रियजन्यं ज्ञानं यस्मात्तं, प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणाविषयत्वान्न व्यज्यते इत्यव्यक्तमित्यर्थः। ननु 'यद्येवं सर्वथा बन्धनायोग्यस्तर्हि कथं बबन्ध ?' इत्यपेक्षायामाह—मर्त्यलिङ्गमिति। कृपया स्वीकृतमनुष्यनाट्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥ तद्बन्धनप्रकारमाह—तद्दामेति। कृतमागः भाण्डस्फोटनादिरूपोऽपराधो येन तस्य, 'स्वार्भकस्य स्वभाववैपरीत्यं माभूत्' इति भयादुपेक्षानर्हस्य, अत एव बध्यमानस्य सतस्तत् बन्धनसाधनभूतं दाम द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यामपूर्णमभूत्। तदा सा गोपिका यशोदा तेन दाम्ना सहान्यदपि दाम सन्दधे ग्रथितवती ॥ १५ ॥ एवमुभयसन्धानेन यदेकं दामासीत्तदपि द्व्यङ्गुलन्यूनं जातम्, तदा तेनापि सहान्यद्दाम सन्दधे। तदा तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं जातम्। एवं यद्यदादत्त सन्धानं कृत्वा गृहीतवती, तत्तद्बन्धनं द्व्यङ्गुलोनमेवाभूत् ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अकोविदत्वमाह-न चेति द्वयम् ॥ यस्य अन्तर्मध्यं न बहिर्न पूर्वं न अपरमपि न यश्च जगतः पूर्वापरम् अन्तर्बहिश्च वर्त्तते यश्च जगद्रूपोऽपि। अयं भावः। बन्धनं हि बहिः परिवृतेन दाम्ना अन्तरावृतस्य भवति तथा पूर्वापरविभागवतो वस्तुनः पूर्वतो दाम धृत्वा परितः परिवेष्टनेन भवति न त्वेतदस्ति इत्युक्तं न चान्तरिति व्याप्यस्य व्यापकेन बन्धो भवति। अत्र तु विपरीतमित्युक्तं पूर्वापरमिति। किञ्च तद्व्यतिरिक्तस्याभावान्न बन्ध इत्युक्तं जगदिति। तमधोक्षजम् अधः अक्षजम् इंद्रियजन्यं ज्ञानं यस्य अत एव अव्यक्तं मर्त्यलिङ्गं मनुष्यमूर्तिं तं श्रीकृष्णमात्मजं मत्वा गोपिका यशोदा यथा प्राकृतं बालकं तन्माता बध्नाति तथा दाम्नोलूखले बबन्ध बद्धुमारभत ॥ १३-१४ ॥ तद्दामेति ॥ कृतागसः कृतापराधस्य तस्य स्वार्भकस्य बद्ध्यमानस्य सतस्तत बन्धनसाधनभूतं दाम द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्यामङ्गुलाभ्यामपूर्णमभूत्तदा सा गोपिका यशोदा तेन दाम्ना सहान्यदपि दाम संदधे ग्रथितवती ॥ १५ ॥ यदासीदिति ॥ एवमुभयसंधानेन यदेकं दामासीत्तदपि द्व्यङ्गुलन्यूनं जातं तदा तेनापि सहान्यद्दाम संदधे। तदा तदपि द्व्यंगुलं न्यूनं जातमेवं यद्यदादत्त संधानं कृत्वा गृहीतवती तत्तद्बन्धनं द्व्यङ्गुलोनमेवाभूत्। एतेन कृष्णस्य परिच्छिन्नायमानस्यापि विभुत्वं व्यञ्जितम् ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं मात्रावधुमिष्टस्य हरेर्निरावरणत्वमाह न चेति। यस्य हरेः श्रीकृष्णस्य नांतः स्वधामनि स्थितत्त्वादाभ्यंतरत्वं न भवति यस्य च बहिर्न केवलं बहिःस्थितत्वं नास्ति। सर्वगततया ब्रह्मांडस्थानां भक्तानां दर्शनदातृत्वात् पूर्वं न अपरश्चापि न पूर्वस्थितत्वं नास्ति पश्चास्थितत्वं नास्ति हरेर्व्यापकतया सर्वत्र स्थितानां स्वभक्तानां प्रत्यक्षदर्शनदातृत्वात् तर्हि कीदृशस्तत्राह जगतो विश्वस्य यः पूर्वापरमंतर्बश्चास्ति विश्वस्योत्पत्तेः पूर्वं दिव्यविग्रहेण स्वधामनुरेस्थितोऽभूत् पश्चात्तःप्रलयेऽपि

ब्रह्मपुरे तथैवासीत् विश्वस्थितौ सत्यां सर्वब्रह्मांडेभ्यो बहिर्व्यतिरेकभावेन स्वस्थाने दिव्यमूर्त्यावर्त्तमानोऽस्ति स्वधामस्थः सन् विश्वस्यांतः अंतर्यामिशक्तिरूपान्वयेन व्यापकोऽस्ति कथंभूतः जगच्च यः जगतो विश्वस्य च यश्चयनं रचनाविशेषो यस्मात् सः ॥ १३ ॥ अव्यक्तं ज्ञानिभक्तवर्जितानां जनानां परमात्मतयाऽज्ञेयं मर्त्यलिंगं मनुष्यवेषम् अधोक्षजं सुतं मत्वा दाम्ना रज्वा प्राकृतं जनं यथा तथा बबंध अधःकृतमक्षजमैंद्रियकं ज्ञानं येन तं यद्वा अधोक्षाणां जितेंद्रियाणां जायते प्रत्यक्षो भवतीत्यधोक्षजस्तं एवं व्याख्यासुधाऽमरटीका ॥ १४ ॥ कृतागसः अनुष्ठिताऽपराधस्य बध्यमानस्य बद्धुमारब्धस्य तस्य तद्दाम बंधनरज्जुः द्व्यङ्गुलो न द्वाभ्यामंगुलाभ्यामूनमपूर्णमभूत् तेन दाम्ना साकमन्यत्दाम ॥ १५ ॥ यद्बद्धं दाम तदपि न्यूनमासीत् यद्यद्बंधनं दाम आदत्त अग्रहीत्तत्तत द्व्यंगुलोनमभूत् ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु किं तद्वीर्यं यदनभिज्ञा सती प्राकृतमिव तं बबन्ध । किं च । बन्धनं हि बहिः परिवृतेन दाम्ना अन्तरावृतस्य भवति । तथा पूर्वापरविभागवतो वस्तुनः पूर्वतो दाम धृत्वा परितः परिवेष्टनेन भवति, तदेवं विधत्वं कृष्णे नास्तीत्याह ॥ न चान्तरिति ॥ यस्य कृष्णस्य, अन्तः न, बहिः च न, पूर्वं न अपरं चापि न, यतः यः कृष्णः, जगतः कृत्स्नस्य विश्वस्य, पूर्वं चापरं च पूर्वापरं, तत्र पूर्वं पूर्वावधिरेव, अपरमुत्तरावधिरेव, बहिः, अन्तश्च, जगतो बहिरपि वर्त्तमानः अन्तरन्तर्व्याप्यतयापि वर्त्तमानः, भवति । तस्य जगदन्तर्भूतेन व्याप्येन दाम्ना कथं बन्धनं भवेदित्यभिप्रायः । किं च । सर्वस्य जगतः कारणतया तदन्तरात्मत्वेन तच्छरीरकतया च ततः पृथक्सिद्धवस्त्वन्तराभावात् स्वनिष्ठवस्तुसाधनकं बन्धनं न संभवतीत्यभिप्रायेणाह । जगच्च जगदपि, यः, कार्यकारणशरीरशरीरिभावनिबन्धनमिदं सामानाधिकरण्यम् । अयं भावः । जगदीश्वरयोः कार्यकारणभावे स्थूलवत् प्रतीयमानमपि कार्यं, अल्पवत् प्रतीयमानमपि कारणं संबद्धुं नार्हमेव । एतदर्थप्रपञ्चोऽत्र सुधासिन्धोः शताधिकदशमतरङ्गाद्बोध्यः । शरीरशरीरिभावे शरीरभूतयोश्चिदचितोः शरीरिणः हरेः सर्वात्मकत्वसिद्ध्या तद्बन्धनकृद्वस्त्वन्तराभावान्नास्य बन्धः समुचितः । अणोरणीयान् महतो महीयान्' इति श्रुत्या हरेरणोरप्यणुभावभाजो महतोऽपि महीयस्त्वभाजो न कथं चिद्बन्धनार्हत्वं तस्य पूर्वापरभावस्याप्यसत्त्वतः पूर्वतो धृत्वा परितः परिवेष्टनाभावाच्च न बन्धसंभव इति ॥ १३ ॥ तमिति ॥ मर्त्यस्येव लिङ्गं शरीरं यस्य तं, तथापि अव्यक्तं कथंचनापि तत्कृपया विना व्यक्तीकर्त्तुमशक्यं, तमुक्तविधं, अधोक्षजं भगवन्तं, केवलं आत्मजं मत्वा, गोपिका यशोदा, प्राकृतं मर्त्यं, यथा तद्वत्, दाम्ना साधनेन, उलूखले बबन्ध बन्धनोद्यमं चकारेत्यर्थः ॥ १४ ॥ तदिति ॥ कृतागसो दधिमण्डभाजनभञ्जनरूपकतापराधस्य, बद्ध्यमानस्य बद्धुमारब्धस्य, स्वार्भकस्य स्वसुतस्य, तत् बन्धनार्थमुपात्तं, दाम रज्जुः, द्व्यङ्गुलोनं द्व्यङ्गुलं न्यूनं अभूत् । द्व्यङ्गुलमानेनापूर्णमभवदित्यर्थः । तदा तेन द्व्यङ्गुलोनेन दाम्ना सह, गोपिका यशोदा, अन्यच्चान्यदपि दाम, संदधे ॥ १५ ॥ यदासीदिति ॥ यदासीत् यत द्वितीयं दाम संधितमासीत्, तदपि, न्यूनं द्व्यङ्गुलमात्रोनं, आसीत् । तेन द्वितीयेन दाम्ना सह, अन्यत्तृतीयं दामापि, संदधे । तत्तृतीयं दाम अपि, द्व्यङ्गुलं न्यूनं, आसीत् । एवं यत यत बन्धनं बन्धनार्थकं दाम, आदत्त, तत्तद्द्व्यङ्गुलन्यूनमेवाभवदिति भावः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तं मत्वेतिः १०.९.१४.

परिहातुं खलसङ्गम–मतितर–खलसङ्ग एव हेतुरिति । अतिसन्निकर्षशास्त्राज्जानत्येषा बबन्ध किमु तस्मिन् ॥ ४७ ॥

अयं चोरश्चौर्यकर्मण्येतत्साहाय्यभागभूत् । इति वीक्ष्य द्वयोर्बन्धार्हतां तत्र बबन्ध तम् ॥ ४८ ॥

सा ववन्ध तमित्यास्तां मन्मतं तु बबन्ध सः । गौपिकोलूखले एव तमस्तन्तुगुणात् प्रभुः ॥ ४९ ॥

शक्तिर्योगो लक्षणा गौण्यपीति बोधे हेतुः श्रीपतौ तत्र चोक्तम् ।
तद्बोध्यत्वं गर्गयोगीन्द्र वेदैर्मन्ये गौण्या गोपिका ज्ञातुमैच्छत् ॥ ५० ॥

तद्दामेतिः १०.९.१५.

यथा यथा पूरयितुं विभूदरं तदा यशोदा जगृहे गुणोत्करम् ।
गुणैस्तथेशोऽपि निजैः कृतोद्यमस्तदीय-हार्दस्थिति पूर्तये मुदा ॥ ५१ ॥

यदऽऽसीत्तदितिः १०.९.१६.

रजःप्रभृतयो गुणा अपि न यं कचित् स्प्रष्टुमप्यलं जगति तादृशे परतरे जगत्साक्षिणि ।
कथं नु खलु संभवेल्लघु गुणाभिसंवेष्टनं तदेतदुचितं विभौ यदभवद् गुणापूरणम् ॥ ५२ ॥

यदिन्द्रियाणामिह बन्धनं स्मृतं न जातुचित् तत्तदधीशितुर्भवेत् ।
इति स्फुटं ज्ञापयितुं न गोपतेः, बभूव गोवन्धकदामबन्धकम् ॥ ५३ ॥
अध्यस्तस्याश्रावि बन्धो जगत्यां नाधिष्ठानस्यांशतोऽपीति लोके ।
श्रुत्यर्थस्य ख्यातये नोदरेऽभूद् बन्धस्तस्मिन् विश्वविश्वप्रकाशे ॥ ५४ ॥
यस्मिन् कृपानुग्रहवीक्षणं विभोर्भवत्यसौ वेत्ति न बन्धसम्भवम् ।
युक्तं तदा तद्धरिणा तथेक्षितं मुक्तं स्वयं दाम न बन्धभागभूत् ॥ ५५ ॥

उदरे विनिवेशिता गुणा निखिला अप्यलमस्य पूर्तये । न भवेयुरितीव सूचितं विभुनोदर दामलीलया ॥ ५६ ॥
नैकेन वीक्षणमभूदिह यस्य तस्मिन्नन्धैः शतेन मिलितैरपि किं फलं स्यात् ।
सर्वाण्यवेहि सदृशानि वृथा प्रयासैः किं वेति दाम किमु सूचयितुं तथाऽऽसीत् ॥ ५७ ॥

द्व्यङ्गुलं न्यूनमितिः

यदाहं प्राप्यः स्यामिह सुमनसां युक्तमनसां तदानीं सम्बन्धः स्फुरति मयि सत्त्वैकगुणतः ।
द्वयोर्नेति प्रायः प्रकटितमिहेशेन स तदा यतो द्वाभ्यामूनात्तदुचितगुणाद् बन्धयुगभूत् ॥ ५८ ॥

यत्र स्यातां नामरूपे सरूपे बन्धस्तस्यैवोचितो नोचितोऽत्र । द्वाभ्यामूने ब्रह्मणोति व्यबोधि दाम्ना तेन द्व्यङ्गुलोऽनेन मन्ये॥५९॥

इमौ तरू सम्प्रति शापबन्धनाद् विमोचनीयाविति सूचयत् प्रभुम् ।
तदीय सङ्ख्याङ्गुलि-युग्मतः स्वयमबन्धकं दाम बभूव किं तदा ॥ ६० ॥
द्वैतानुराग्यपि हरेः कृपयाऽपयातवन्धं च गोकुलमसङ्गम्यपि वासुदेवः ।
प्रेम्णैव तस्य समभूत् किल बन्धपात्रमेतद्द्वयं विशदयत् किमु तत्तथाऽऽसीत् ॥ ६१ ॥

दीर्घ दीर्घतर दीर्घतमानि तानि तत्र युयुजे पृथगीशे । सर्वमेव गृहगं गुणजातं साऽथवा युगपदेव युयोज ॥ ६२ ॥
तत्राद्ये भगवत्यनर्घ्यचरिते क्षुद्रोऽथवाऽयं महान् एवं नैव दयानिधौ समदृशि द्वैविध्यमित्यध्वनि ।
नानन्तत्वमनादिता च विभुवत् कुत्रापि चास्मासु तत्त्वेतद्बन्धनवार्तयाऽलमिति वा दाम्नेरितं तादृशा ॥ ६३ ॥
अन्त्येऽनन्तगुणे बभूवुरखिलास्तत्रैव लीना गुणा नद्योऽब्धाविव नामरूपरहिताः प्राग्गोपदारोहिताः ।
अत्रैकोऽहमपांनिधौ च यमुना द्वौ स्वः सरूपाभिधौ नान्योऽस्तीत्यलमन्यदामकलनश्रान्त्येति तेनाध्वनि ॥ ६४ ॥
उक्तार्थद्वयमप्यगूढमृषिवाक् सन्दोहतो भासते तद्युक्त्यन्वयतस्तु तत्र रुचिरः पूर्वो ममार्थो मतः ।
अन्त्ये वामनवन्नरूपमलघु प्रादर्शि तत्तद्गुणकार्यं वा पृथगित्यथाप्यनुपदं व्याख्यातमीक्ष्यं बुधैः ॥ ६५ ॥
(विशेषकम्)

कृष्णप्रिया

अज, व्यापक होने के कारण जिनका न तो भीतर न आदि है और न अन्त, जिनमें पूर्व पर की कल्पना संभवित नहीं एवं जो जगत् के पहले भी थे पुनः बाद में भी रहेंगे, जो इस जगत् के भीतर तो है ही और बाहरी रूपों में भी है, अधिक क्या कहे जगत् के रूपों में वही स्वयं है—ऐसे अजन्मा, अव्यक्त, इन्द्रियों के विषय से पर जो लीलाओं के लिये नररूप स्वीकार किये हैं, उन्हें गोपिका यशोदा अपना पुत्र मानकर साधारण लड़के को तरह ओखली में बाँधने लगी ॥१३-१४॥ जब माता यशोदा उधमी और अपराधी बालकृष्ण को रस्सी से बाँधने लगी तब वह रस्सी दो अंगुल छोटी ही रही, तब माता ने दूसरी उस रस्सी में जोड़ी, परंतु वह भी रस्सी दोनों जोड़ने पर जो एक हुई वह भी छोटी ही रही तब माता ने उसके साथ और रस्सी जोड़ी पर वह भी दो अंगुल कम ही रही, इस प्रकार माता ने बार बार रस्सियाँ जोड़ी पर दो अंगुल की कमी पुरी न हुई ॥ १५–१६ ॥

एवं स्वगेहदामानि यशोदा संदधत्यपि । गोपीनां [1]सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥
स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः । दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥ १८ ॥
एवं प्रदर्शिता[2] ह्यङ्गहरिणा [3]भक्तवश्यता । स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥
नेमं [4]विरञ्चयो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया । प्रसादं लेभिरे गोपी [5]यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥ २० ॥

१. विस्मयन्तीनां–वीर. ; उ स्मयतीनाम्–इति कस्यचित् । २. संदर्शिता—श्रीधर वंशी. वीर. विज. विश्व. । ३. भृत्य–श्रीधर. वंशी. ; भक्त–वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. । ४. विरिञ्चो–श्रीधर. वंशी वीर. विज. जीव विश्व. शुकः । ५. गोपी यं त प्राप–वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः– एवं स्वगेहदामानि संदधती गोपिका सुस्मयन्तीनां गोपीनां स्मयन्ती विस्मिता अभवत् ॥ १७ ॥ कृष्णः स्विन्नगात्रायाः विस्रस्तकबरस्रजः स्वमातुः परिश्रमं दृष्ट्वा कृपया स्वबन्धने आसीत् ॥ १८ ॥ अङ्ग यस्य सेश्वरं इदं जगत् वशे (तेन) स्ववशेन अपि कृष्णेन हरिणा एवं भक्तवश्यता प्रदर्शिता ॥ १९ ॥ यत् इयं प्रसादं विरञ्चयः न भवः न अङ्गसंश्रया श्रीः अपि न लेभिरे तत् विमुक्तिदात् गोपी प्राप ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स्मितं कुर्वंतीनां मध्ये स्वयमपि हसंती विस्मयमाप ॥ १७-१८ ॥ न चैवं स्वातंत्र्यभंग इत्याह । एवं संदर्शितेति । सेश्वरमिदं विश्वं वशे यदधीनमित्यर्थः ॥ १९ ॥ भगवत्प्रसादमन्येऽपि भक्ता लभंते इदं त्वतिचित्रमिति सरोमांचितमाह । नेममिति । विरिंचः पुत्रोऽपि । भवः स्वात्माऽपि । श्रीर्जायाऽपि ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

विस्मयमाप कोऽयं देवो यक्षो दैत्यो वा यतो बंधं नाप्नोतीति विस्मिता बभूव । न तु तस्य स्वाभाविकीं महिमरूपां सिद्धिं वेदेति भावः ॥ १७ ॥ स्वमातुः कृपया स्वबंधने आसीत् स्वयं बद्धोऽभूदित्यर्थः । स्विन्नगात्राया इत्यनेन तस्या वैराग्यं सूचितम् । 'एकसंबंधिज्ञानमपरसंबंधिस्मारकम्' इति न्यायेन ज्ञानमपि तस्या जातमिति ज्ञानवैराग्ययोः सदा साहचर्यनियमात् विस्मयमाह–मुष्टिपरिमितमप्यस्योदरं शतहस्तमितदाम्नाऽपि न वेष्ट्यतेऽहो उदरं तिलमात्रमपि न विपुलीभवति दामाप्यंगुलिमात्रमपि न न्यूनीभवति तदपि वेष्टनं न पूर्य्यत इत्येको विस्मयः । प्रतिवारमेव वेष्टने द्व्यंगुलन्यूनतैव न तु त्र्यंगुलादिन्यूनतेति द्वितीयो विस्मयः । ततश्चाहो मणिमयानतिदीर्घकिंकिणीवेष्टितावलग्नस्य गृहस्थितसर्वदामभिरपि यद्बंधनं न निष्पद्यते तदस्य शुभं यद्बालकस्य ललाटे विधात्रा बंधनं न लिखितमित्यनुमीयते तदतो हे यशोदे विरम्यतामिति पुरंध्रीजनप्रतिबोधितयापि यशोदयाद्य संध्यापर्य्यंतमप्येतद्ग्रामस्थैरपि दामभिर्ग्रथितैरेतदुदरस्यावधिरधिजिगमिषणीय इति प्रौढवादवत्या पुत्राभिमत्या परमेश्वरबंधनोद्यमे परित्यक्ते सति भक्तभगवतोर्मध्ये भक्तहठ एव तिष्ठेदित्यतो मातुः श्रममालक्ष्य मातृवत्सलो भगवानेव स्वहठं तत्याजेत्याह–स्वमातुरिति । कृपयेति । सर्वशक्तिचक्रवर्त्तिनी परमभास्वती कृपाशक्तिरेव भगवच्चित्तं नवनीतमिव विद्रुतीकृत्य सत्यसंकल्पताविभुताशक्ती सहसैवांतर्द्धापया मासेत्यर्थः । परिश्रमं कृपयेत्याभ्यामित्यसूचि । यावद्भक्तनिष्ठा भजनोत्था श्रांतिस्तद्दर्शनोत्था स्वनिष्ठा कृपा चेति द्वाभ्यामेव भगवान्बद्धो भवेत् । ते द्वे यावन्नाभूतां तावद्द्व्यंगुलोनताऽऽसीत्तयोरुद्भूतयोस्तु बद्धोऽभूदिति प्रेम्णा स्वबंधनप्रकारः स्वयमुदाहृतो भगवतेति ॥ १८ ॥ ननु स्वतंत्रो भगवानिति सर्वैर्गीयते बंधने च तस्य स्वतंत्रतानाशेन परतंत्रता स्यादिति चेत्तत्राह–न चैवमिति । एवमुक्तरीत्या । अंग हे नृप । स्वस्यात्मनो वशो वशवर्त्ती तेन न हि तस्यान्यो वशकर्त्ता "सर्वस्य वशी" इत्यादिश्रुतेः । यस्य कृष्णस्येदं विश्वं वशे तदुक्तम् "ससुरासुरगंधर्वसयक्षोरगराक्षसम् । जगद्वशे वर्त्ततेदः कृष्णस्य सचराचरम्" इति । भगवतः परमपारमैश्वर्ये सत्यपि प्रेमवश्यतानिबंधनं बंधनमिदं परमचमत्कारित्वाद्भूषणमिदं न तु दूषणमित्याह–एवं हरिणा स्वस्यात्मारामत्वे बुभुक्षया पूर्णकामत्वेप्यतृप्त्या शुद्धसत्त्वस्वरूपत्वेपि कोपेन स्वाराज्यलक्ष्मीवत्त्वेऽपि चौर्य्येण महाकालयमादिभयदत्वेऽपि भयपलायनाभ्यां मनोग्रयानत्वेऽपि मात्रा बलाद्ग्रहणेन आनंदमयत्वेऽपि दुःखरोदनेन सर्वव्यापकत्वेऽपि बंधनेन भक्तवश्यता स्वाभाविक्येव स्वस्य सम्यग्दर्शिता । अज्ञान्प्रति दर्शनायोपयोगाभावाद्ब्रह्मभवसनत्कुमारादीन्विज्ञानप्यतिचमत्कारं प्रापय्यानुभावितेति नेदमनुकरणमात्रत्वेन व्याख्येयम् "दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भक्तवश्यताम्" इत्यत्र तद्विदामिति प्रयोगादिति भावः । स्ववशेन स्वाधीनेन कुतः स्वाधीनत्वं तत्राह–यस्य चिच्छक्तिसारभूतेन प्रेम्णैतस्यानंदातिशयप्रदर्शनार्थमेव भक्तवशत्वं निष्पद्यते नान्यथेति ज्ञेयम् । इति चक्रवर्त्ती ॥ १९ ॥ लेभिरे उलूखले यद्यं प्रसादं गोपी यशोदाऽऽप तं विरिंच्यादयो नापुरिति भावः । 'लेभिरं धान्यकुट्टनम्' इति निघंटुः । अत एवोक्तमभियुक्तैः "यशोदायाः परं नास्ति देवता इति मे मतिः । यस्या उलूखले बद्धो मुक्तिदो मुक्तिमिच्छति ॥" इति । यथाश्रुतस्तु स्वामिचरणैर्व्याख्यात एव ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सुष्ठु स्मयन्तीनां स्मयमानानामपि गोपीनाम् अनादरे षष्ठी अतिनिर्बन्धेन सन्धीयमानेपि मुहुर्बन्धने रज्जुपर्यायैरपर्य्यवसिते परमाश्चर्येण यच्च तासां सुस्मितं तदप्यनादृत्येत्यर्थः । स्वगेहे यानि दामानि मन्थननेत्राणि तानि सर्वाण्यपि सन्दधती सती यद्वा सन्दधती बन्धनाभिनिवेशेन सन्धानं कुर्वत्यप्यभवत् सप्तम्यर्थे षष्ठी गोपीषु स्मयन्तीषु सतीषु स्वयमपि स्मयन्ती विस्मिताप्यभवत् अतोऽस्मिन् दिने सपुत्रा श्रीरोहिण्यपि श्रीमदुपनन्दादिगृहे निमन्त्रितैव गतासीदिति गम्यते अन्यथा

सा न्यवारयिष्यदिति ॥ १७ ॥ सः स्वयं भगवान् कृष्णः सर्वचित्ताकर्षकलीलः स्वेति पाठे श्रीकृष्णस्यापि तस्यां स्नेहाधिक्यं बोधयति। अत एव कृपया मातृदुःखदर्शनाक्षमतया स्वबन्धने दुर्घटेप्यासीत मातृशब्देन तद्वात्सल्यमेव मूलं कारणमित्युक्तं लाल्यस्वभावजातां हठवत्तां परित्यज्य धृतायां कृपायां तद्विभुत्वशक्तेरज्जूः प्रति किञ्चिदौदासीन्येन द्वितययैव तया स्वयमेव बद्धो बभूव अन्यास्तूर्वरिता एवेत्यर्थः। परिश्रमश्च कलभस्येव बलवतस्तस्य ग्रहणेन रज्जुसन्धानादिना च ॥ १८ ॥ ननु, पूर्णत्वं परमेश्वरत्वं च साधितं तथा बुभुक्षा तृप्त्यभावः कोपश्चौर्य्यं भयं पलायनं बलाद्ग्रहणं रोदनं बन्धनं च वर्णितं तत्तदप्यन्तरत्वेन रहस्यत्वेन भवतामपि रसहेतुत्वेन तात्त्विकमेवाधिगम्यते ततः कथमिव तादृशे तत्तदिति उच्यते सत्यं तत्र गुणैः पूर्णत्वमीश्वरत्वं च वर्तते तथाऽपि भक्तानुग्रहस्त्ववश्यं मन्तव्यः यं विना न ते कस्यापि सुखकरा भवन्ति अकोमलहृदयत्वेनारोचमानत्वात ततस्त्वेषां गुणत्वमपि हीयते जनसुखहेतवो धर्मा हि गुणाः स्वतश्च निर्दयतारूपो दोष एव न च तस्मिन् न सम्भवति साधारण-त्वापातेनानैश्वर्यात् "अयमात्माऽपहतपाप्मा एष उ एव वामनीः वासानि वामानि सर्वाण्यभियन्ति" इति श्रुतेः। तस्मात् सर्वेषां गुणत्वसाधको दोषान्तरविरोधी च स एव मुख्यो गुणो मन्तव्यः यथैव षष्ठे पुंसवनव्रतप्रसङ्गे स एवादौ पठितः "यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिनौजसा। जुष्ट ईशगुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान् प्रभुः" इति स च भक्त्यनुरूप एव न्याय्यः न्यूनत्वे दोषस्य तदवस्थत्वात् तत्र यदि सर्वतो भावेन निरुपाधितद्वशतामयी भक्तिः स्यात्तर्हि तस्यापि तद्वशत्वपर्य्यन्तता युक्ता न चैवमैश्वर्यं हीयते अन्यत्र जागरूकत्वात् यथा बद्धस्यापि वक्ष्यमाणयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोः किञ्च प्रत्युत तेन गुणेन सर्वाकर्षणा-द्विगुणीभूयैवैश्वर्यवृद्धिः स्यात् अतो भक्तवश्यताप्यावश्यकता तथा च श्रीवैकुण्ठदेवेन स्वयमप्युक्तम् "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः" इत्यादि अत्र साधुभिरिति तद्ग्रस्तहृदयत्वे हेतुः साधुषु प्रोज्झितकैतवेषु ममापि निष्कैतवताया एव युक्तत्वादित्यर्थः। अतः सा च वशता तदनुकूलतान्तर्बहिरीहामय्येव स्यादिति तद्भावभावितबाल्या-दिभावत्वाद्युक्तैव तस्यापि तत्तद्भावितेति अतस्तादृशस्यापि श्रीकृष्णस्य तादृशं भावं तात्त्विकमेव मत्त्वा विस्मयानन्दाभ्यां श्रीकुन्तिदेव्यपि मुमोह यथा तद्वाक्यं "गोप्याददे त्वयि कृतागसि दामतावद्या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्। वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्विभेति" इति। तदेतदभिप्रेत्याह, एवमिति। एवमुक्तप्रकारेण दर्शिता तत्रापि सम्यक् अन्यत्र बन्धनपर्यन्तममता विलासास्पदत्वाभावात् अङ्गेति प्रेमसम्बोधने हि निश्चये हरिणेति तथा भक्तानां मनोहरणात् स्ववशेन स्वतन्त्रेणापि यतः कृष्णेन स्वयं भगवतेत्यर्थः। तदेवाभिव्यञ्जयेति—यस्येति ॥ १९ ॥ सम्यक्त्वमेवाभि-व्यञ्जयन् यन्निमित्तमेकदा गृहदासीष्वित्यादिकमुदाहर्तुमारब्धं तस्य "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्" इत्यादिप्रश्नस्य तात्त्विकं सिद्धान्तमाह-नेममिति द्वाभ्याम्। विरिञ्चो भक्तादिगुरुः भवो वैष्णवानां दृष्टान्तरूपः श्रीर्लक्ष्मीर्नित्यप्रेयसी च सा तु विशेषेणाङ्ग-संश्रया तद्वक्षे.निवासापि प्रसादं तत्तन्महाभाक्तरूपं लेभिरे एव कीदृशादपि 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' इत्युक्त-दिशाप्रायो मुक्तिमात्रप्रदातुरपि किन्तु गोपी श्रीयशोदागोपेश्वरी यत्तदनिर्वचनीयं प्रसादशब्देनापि वक्तुं शङ्कनीयं किमपि प्राप तद्रूपमिमं पूर्वोक्तं प्रेमपरीपाकरूपं प्रसादं तथा ऽप्यनन्यविषयत्वात् तच्छब्दवाच्यं न विरिञ्च्यः प्राप न भवः प्राप न श्रीरपि प्रापेत्यर्थः। यद्वा, गोपीयत्तत्प्राप तद्रूपमिमं विरिञ्चादयो न लेभिरे न लेभिरे न लेभिर इत्यर्थः। नञ्त्रयवशेन क्रियावृत्तिः अङ्गसंश्रयेति सर्वतः श्रेयस्या अपि तस्यास्तदङ्गसंश्रयत्वेनात्मविषयकतदीयता मुख्या तस्मिन् ममता तु तदनुगता सा चैश्वर्य-ज्ञानसम्भ्रान्ता अस्यास्तु स्वप्रधानैव ममता भावान्तरा क्षुभिता च मदेकगतितया मदेककर्तव्यहितता भावना चाधिकेति तत्प्रसादाधिक्यमिति किं वक्तव्यं तदीय एव स इति तस्माद्ब्रह्मणो वरेण तत्प्राप्तिर्न सम्भवति यः स्वयमेवेदं प्रार्थयत एव "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्याम् यद्गोकुलेपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्" इति भावः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सुष्ठु स्मयन्तीनां स्मयमानानामपि गोपीनाम्; अनादरे षष्ठी। अतिनिर्व्वन्धेन प्रयत्नतश्चिकीर्षमाणेऽपि पुत्रबन्धने सामर्थ्याभावात् परमाश्चर्य्येण तासां यत् सुस्मयनम्, तदप्यनादृत्येत्यर्थः। स्वगेहे यानि दामानि तानि सर्व्वाण्यपि सन्दधती सती; यद्वा, सन्दधती बन्धनाभिनिवेशेन सन्धानं कुर्व्वत्यपि, सप्तम्यर्थे षष्ठी, गोपीषु स्मयन्तीषु विस्मिताऽभवत्,—सर्व्वैः समुचितैरपि दामभिर्द्व्यंगुलापूर्त्तेः। एवं बाल्यलीलायामेव पारमैश्वर्य्येण भगवत्ता भर प्रकटनमाधुर्यमपि पूर्व्ववदुह्यम्। तथा बालकरूपेण परिच्छिन्नत्वेऽप्यनन्तदामभिर्द्व्यंगुलापूर्त्त्या तस्यैवापरिच्छिन्नत्वमेव। नन्वेकमेव वस्तु तेनैव परिच्छिन्नम परिच्छिन्नञ्चेति विरुद्धम्; स परिच्छेदः प्रातीतिकः पारमार्थिको वा? यदि तु प्रातीतिकस्तर्हि प्रतीतेर्वास्तवत्वाभावात् परिच्छेदस्य मिथ्यात्वमेव,—यथा बहुयोजन-सहस्रविस्तारस्य रविमण्डलस्य हस्तमात्रतया प्रतीतेः। यदि तु पारमार्थिकस्तर्हि तस्यापरिच्छिन्नत्वं वदन् जन उपहासास्पदमेव स्यात्,—यथा करतलस्थस्य हरिन्मणेः। अत्रोच्यते,—प्राकृते वस्तुन्येवायं नियमः, (ब्र. सू. २।१।११) 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इति-न्यायादचिन्त्यैश्वर्य्यत्वाच्च तर्कागोचरे भगवति सर्व्वोऽपि विरोधः समाधीयत एव। तथा चोक्तं स्कन्दपुराणे प्रभासखण्डे—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥' इति

अत एव कौर्म्मे—

'अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्व्वतः।

अवर्णः सर्व्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः। ऐश्वर्य्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते ॥' इति।

एवं सर्व्वत्रोन्नेयम् ॥ १७ ॥ स निजाशेष-भगवत्ता सार प्रकटनपरः कृष्णः सर्व्वचित्ताकर्षकलीलः। स्वेति पाठे श्रीदेवकीतोऽपि स्वीयत्वेन वात्सल्यविशेषपात्रत्वं बोध्यते। अतएव कृपया स्वबन्धने दुर्घटेऽप्यासीत्, द्व्यंगुलपूरणेन बन्धनमंगीचकारेत्यर्थः। यद्वा, स्वस्य परिश्रमं दृष्ट्वा स्विन्नगात्रायाः स्वपरिश्रम दर्शन खेदेन स्विन्नांग्या मातुः कृपया वात्सल्येन स्वबन्धने मातृकर्त्तृकबन्धने आसीद्बद्धोऽभूदित्यर्थः। विशेषेण स्रस्ताः खण्डखण्डशः सर्व्वत्र पतिताः कबरात् स्रजः, किंवा विस्रस्तः सर्व्वतः स्खलितः कबरः स्रजश्च यस्याः सा ॥ १८ ॥ एवमेतदध्यायादारम्भत उक्तप्रकारेण वा, अंगेति प्रेम सम्बोधने; हि निश्चये। हरिणेति तथा भक्तानां मनोहरणात् स्ववशेन स्वतंत्रेणापि, यतः कृष्णेन साक्षात्परमेश्वरेणेत्यर्थः। तदेवाभिव्यञ्जयति—यस्येति। यद्वा, सन्दर्शितेत्यत्र हेतुः—कृष्णेनेत्युक्तार्थमेवैतत्। सम्यग्दर्शितेति सं-शब्देन ब्रह्मादिभ्यः पूर्व्वं पूर्व्वं भक्तेभ्यस्तथा वीरासन दौत्यसारथ्याद्यनुगृहीत—श्रीयुधिष्ठिरादिभ्योऽपि महान् विशेषः सूचितः,—केनापि साक्षात्तथा तद्वन्धनात् ॥ १९ ॥ तदेवाभिव्यञ्जयति—नेममिति। अंगसंश्रयेति नित्य-वक्षःस्थलस्थ-श्रीत्वेनाशक्यमानेदृशी तद्वश्यता निरस्ता,—तथैकस्यैवांगस्य वक्षसो वशीकरणात्, यद्वा अंगसंश्रयत्वेऽपि तदधीनत्वाभावाल्लेभिरे लेभ इत्यर्थः, यद्वा, विरिञ्चो न लेभे, भवो न लेभे, लेभिर अन्ये केचिदपि; यद्वा, 'द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः इति न्याये प्रवृत्ते तृतीयो नञ् निषेधार्थो वृत्तः। विरिञ्चो भवः श्रीर्न लेभिर इत्यर्थः, यद्वा, भवादयः केचित् प्रसादं लेभिरे, गोपी तु यत्तदनिर्व्वचनीयम्। किंवायं तं त्वतिप्रसिद्धञ्च प्रसादं प्राप, इमं न विरिञ्चः प्राप, न भवः प्राप, न श्रीरपि प्रापेत्यर्थः। विमुक्तिदादिति केभ्यश्चिन्मुक्तिं केभ्योऽपि विंशिष्टमुक्तिं श्रीवैकुण्ठलोकलब्धिलक्षणां ददातीति तथा तस्मादित्यर्थः। एवं योऽन्येभ्यो विमुक्तिं ददाति, स तया साक्षाद्बद्ध इति परमभक्तिवश्यता द्योतिता ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

स्वबन्धने कृपयाऽऽसीत् अनुगुण आसीदित्यर्थः ॥ १८-१९-२० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं स्वगृहस्थानि सर्वाणि दामानि सन्दधत्यपि सन्दधत्येव न तु तथापि निवृत्तेत्यर्थः। तद्वीक्ष्य विस्मयन्तीनां गोपीनां मध्ये स्वयं विस्मिता बभूव ॥ १७ ॥ तदा स्विन्नं प्रस्वेदभरितं गात्रं यस्याः विस्रस्तं कवरं स्रजश्च यस्याः तस्याः स्वमातुः परिश्रमं दृष्ट्वा तस्यां कृपया स्वबन्धनेऽनुगुण आसीत् ॥ १८ ॥ न चेतावता स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह-एवमिति। स्ववशेन स्वतन्त्रेणापि स्ववशत्वमेवाह यस्य वशेऽधीनतायां ब्रह्मादीश्वरसहितमिदं जगद्वर्त्तते तेन श्रीकृष्णेन हरिणैवमित्थम् अङ्ग हे राजन्! भक्तवश्यता सन्दर्शिता सर्वत्र स्वतन्त्रोप्यहं भक्तेपु परतन्त्र इति दर्शयितुमबध्यतेत्यर्थः। तथा चाहुः श्रीवत्साङ्कमिश्राः "अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वैदिकगिरः पराधीनं त्वां तु प्रणतपरतन्त्रं मनुमहे" इति तथा भवतापि अष्टमे स्कन्धे उक्तम् "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज' इति ॥ १९ ॥ ननु सत्य भक्तपरतन्त्र इति गोपी तु न भक्तेति कथं तत्पारतन्त्र्यमीश्वरस्येत्यत्राह—नेति। भक्तिप्रयोजनं हि भगवत्प्रसादस्तं च यादृशं निग्रहानुग्रहादिपर्य्यन्तविधेयत्वरूपं विमुक्तिदाद्भगवतो गोपी लेभे न तादृशं ब्रह्म रुद्रो साक्षात् वक्षःस्थलाश्रया लक्ष्मीरपि लेभिरे प्रेमपूर्वकानुध्यानात्मिकादिभक्तिः सा गोप्यामप्यविशिष्टो भावः ॥ २० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एवं स्वगेहसमस्तदामसञ्चयसमाप्तौ सुतमाहात्म्यं दृष्ट्वा स्मयन्ती मन्दं हसन्ती विस्मिता भवदित्यन्वयः ॥ १७ ॥ अणिमा लघिमा योगशक्तिः स्वाभाविकी हरेरित्यभिप्रेत्याह स्वमातुरिति। मातृविषयकृपया स्वबन्धन आसीत् स्वयमेव बद्धोऽभूदित्यन्वयः ॥ १८-१९ ॥ यत् तत् ये तम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यत्र स्थितेऽपि प्रेमणि भक्तवैयग्र्यविशेषतज्ज्ञानतत्कृपाविशेषाभ्यां द्वाभ्यामूनत्वेन तद्दर्श करणं न स्यादित्येषा तु दैवी सूचना वक्ष्यते च "दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने" इति अतः श्रीरोहिण्यादिश्रीमदुपनन्दादिगृहे निमन्त्रितैव

गतासीदिति लभते अन्यथा सा वात्सल्याद्वारयिष्यदिति ॥ १८ ॥ एवमपि एतत्प्रकारेणैव सम्यग्दर्शिता न ऊर्ध्वमस्तीति भावः ॥ १९ ॥ नेममित्यादि द्वयम् ॥ २०-२३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे नवमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तद्द्वयस्य समावेशे सति बद्धोऽपि बभूवेति दर्शयति—स्वमातुः स्विन्नगात्राया इत्यादि । मातृरूपस्य भक्तस्य परिश्रमो जातः, स्वस्यापि कृपा च जाता द्वाभ्यां द्व्यङ्गुलन्यूनता च गता बद्धोऽपि बभूवेति रहस्यम् ॥ १९ ॥ इदानीं श्रीव्रजेश्वर्याः सौभाग्यमनुस्मृत्य जातविस्मयः श्रीशुको वदति—नेमं विरिञ्चि इत्यादि । विशिष्टो मुक्तिर्विमुक्तिः प्रेमाकारा वृत्तिस्तां ददातीति तथा । तस्मात् श्रीकृष्णात् यं यं प्रसादं गोपी प्राप, तं प्रसादं के लिभिरे न कोऽपीत्यर्थः । किम्-शब्दोऽध्याहार्यः । न केऽपीत्युक्तेरसम्भाव्यजनप्रतिषेधस्योपस्थितौ पुनः सम्भाव्यमानान् ब्रह्मादीनपि निषेधयति । अपिशब्दः प्रत्येकं योज्यः । न विरिञ्चो ब्रह्मापि, न भवः श्रीरुद्रोऽपि, किं बहुना ? अङ्गे सम्यगविरतः श्रयः श्रयणं यस्याः सा श्रीरपि, प्रत्येकं नकारः प्रत्येकनिषेधस्य प्राधान्यात् । इममनुभूयमानम् । अथवा ब्रह्माऽपि, भवोऽपि श्रीरपि न न लेभिरे । अत्यन्ताप्राप्तौ न नेति वीप्सा । त्रयाणां कर्त्तृणामेकक्रियायां बहुत्वम्, देवदत्तो यज्ञदत्तो विष्णुमित्रश्च गच्छन्तीतिवत् । द्वौ नञौ प्रकृतयर्थं गमयत इति नाशङ्कनीयम्, यथा—(भा. १०।६०।२९) "मा मा वैदर्भ्यसूयेथाः" इत्यादि (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) 'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्' इत्यादि च । समग्रप्राप्तिस्तु दूरादास्ताम्, अर्द्धप्राप्तिरपि तेषां नास्तीत्याह नेममपि अर्द्धमपि । नेमशब्दोऽर्धवचनः सर्वनाम, अपिशब्दः सर्वत्रान्वयितव्यः ॥ २० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तथा च 'स्वमातुः स्विन्नगात्रायाः' इति मातृरूपस्य भक्तस्य यदा परिश्रम आसीत्, तदैव 'कृपयासीत् स्वबन्धने' इति स्वकृपापि जाता, बद्धोऽपि बभूव ॥ १८-१९ ॥ नेमं विरिञ्चि इत्यादि । विमुक्तिर्मुक्तेः कैवल्यादपि विशिष्टा या दास्यरूपा तां ददातीति तस्मात् श्रीकृष्णात् गोपी यशोदा यत् यं प्रसादं प्राप, 'यत्तदव्ययम्', तत् के लिभिरे ? न केऽपि, इत्यर्थः । किं शब्दोऽध्याहार्यः । भवब्रह्मादयोऽपि न लेभिरे एव, कोऽत्र सन्देह इति प्रत्येकं निषेधप्राधान्यात् नकाराः । इमं तं न ब्रह्मा, न भवः, न श्रीः । यद्वा, नेममिति सर्वनामपदं नेममपि अर्द्धमपि, अपिशब्दः सर्वत्र योज्यः, विरिञ्चोऽपि भवोऽपि श्रीरपि न लेभिरे, अत्यन्ताभावे वीप्सा । त्रयाणां कर्त्तृणामेकक्रियाया बहुत्वम्, यथा देवदत्तो यज्ञदत्तो विष्णुमित्रश्च गच्छन्ति । 'द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः' इति नाशङ्कनीयम्, यथा न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्' इत्यादि 'मा मा मानद' इत्याद्यभियुक्ताः यद्वा, एते प्रसादं न लेभिरे न लेभिर एव, किन्तु नेमं नैतादृशम्, गोपी यत् प्राप, न तादृशमिति ॥ २० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गोपीनां गोपीषु प्रतिवेशपुरन्ध्रीषु सुस्मयमानासु सतीषु विस्मितेत्यहो मुष्टिपरिमितमस्योदरं शतहस्तपरिमितेन दाम्नापि न वेष्ट्यते तत्रोदरं तिलमात्रमपि न विपुलीभवति दामाप्यङ्गुलीमात्रमपि न न्यूनीभवति तदपि वेष्टनं न पूर्य्येत इत्येको विस्मयः प्रतिवारमेव वेष्टने द्व्यङ्गुलन्यूनतैव नतु त्र्यङ्गुलचतुरङ्गुलादिन्यूनतेति द्वितीयश्च विस्मयः ॥ १७ ॥ ततश्चाहो मणिमयानतिदीर्घकिङ्किणीवेष्टितावलग्नस्यास्य गृहस्थितसर्वदामभिरपि यद्बन्धनं न निष्पद्यते तदस्य शुभं यो बालकस्य ललाटपत्रे विधात्रा बन्धनं लिखितमित्यनुमीयते तदित उद्यमात् प्रियसखि यशोदे ! विरम्यतामिति पुरन्ध्रीजनप्रबोधितयापि यशोदयाद्य सन्ध्यापर्य्यन्तमप्येतद्ग्रामस्थैरपि दामभिर्ग्रथितैरेतदुदरस्यावधिरधिजिगमिषणीय इति प्रौढवादवत्या पुत्राभिमत्या परमेश्वरबन्धनोद्यमे ह्यपरित्यक्ते सति भक्तभगवतोर्मध्ये भक्तहठ एव तिष्ठेदित्यतो मातुः श्रममालक्ष्य मातृवत्सलो भगवानेव स्वहठं तत्याजेत्याह, स इति । स्वमातुरिति च पाठः कृपयेति सर्वशक्तिचक्रवर्तिनी परमभास्वती कृपाशक्तिरेव भगवच्चित्तं नवनीतमिव विद्रुतीकृत्य तत्र स्वयं प्रादुर्भूय पूर्वोद्भूते सत्यसङ्कल्पताविभुताशक्ती तत्र सहसैवान्तर्द्धापयामासेत्यर्थः । अत्र परिश्रममिति कृपयेत्येताभ्यां द्व्यङ्गुलन्यूनतासमाहिता भक्तनिष्ठाभजनोत्था श्रान्तिस्तद्दर्शनोत्था स्वनिष्ठा कृपा चेति द्वाभ्यामेव भगवान् बद्धो भवेत् ते द्वे यावन्नाभूतां तावदेव द्व्यङ्गुलन्यूनता आसीत् तयोरुद्भूतयोस्तु बद्धो ऽभूदिति प्रेम्णा स्वबन्धनप्रकारः स्वमातरि स्वयमुदाहृतो भगवतेति ज्ञेयम् ॥ १८ ॥ भगवतः परमपारमैश्वर्य्ये सत्यपि प्रेमवश्यता निबन्धनं बन्धनमिदं परमचमत्कारित्वाद्भूषणमेव नतु दूषणमित्याह—एवं हरिणा स्वस्य आत्मारामत्वेपि बुभुक्षया पूर्णकामत्वेप्यतृप्त्या शुद्धसत्वस्वरूपत्वेपि कोपेन स्वाराज्यलक्ष्मीवत्वेपि चौर्य्येण महाकालयमादिभयदत्वेपि भयपलायनाभ्यां मनोग्रयानत्वेपि मात्रा बलाद्ग्रहणेन आनन्दमयत्वेपि दुःखरोदनेन सर्वव्यापकत्वेपि बन्धनेन भक्तवश्यता स्वाभाविक्येव स्वस्य सम्यक् दर्शिता अज्ञान् प्रति दर्शनाय उपयोगाभावात् ब्रह्मभवसनत्कुमारादीन् विज्ञानमप्यतिचमत्कारं प्रापय्यानुभावितेति नेदमनुकरणमात्रत्वेन व्याख्येयं "दर्शयं-

स्तद्विदां लोके आत्मनो भक्तवश्यताम्" इत्यत्र तद्विदामिति प्रयोगादिति भावः। स्ववशेन स्वाधीनेनापि, ननु, तर्हि कुतः स्वाधीनत्वं ? तत्राह—यस्येति। चिच्छक्तिसारभूतेन प्रेम्णैव तस्यानन्दातिशयार्थमेव भक्तवश्यत्वं निष्पद्यत इति प्राक् प्रपञ्चितम् ॥१९॥ भक्तवश्यस्य तस्य भक्तेष्वपि मध्ये व्रजेश्वर्या आधिक्यमपारवश्यत्वातिशयदर्शनेन सरोमाञ्चमाह—नेममिति। विशिष्टा मुक्तिः विमुक्तिः प्रेमा तत्प्रदादपि कृष्णात् यत् प्रसादं गोपी श्रीयशोदा प्राप तत् तं प्रसादंविरिञ्चो भव श्रीरपि न लेभिरे न लेभिरे न लेभिरे इत्यन्वयः। ननु त्रयेण लेभिर इत्यस्य त्रिरावृत्त्या प्राप्त्यभावातिशय उक्तः। यद्वा विरिञ्चो भवः श्रीरपि प्रसादं न लेभिरे अपि तु प्रसादं लेभिरे एव किन्तु गोपीयं प्रसादं प्राप इमं न लेभिरे इत्यन्वयः। विरञ्च्यः पुत्रोपि "स आदिदेवो भजतां परो गुरुः" इत्युक्ते भक्तानामादिगुरुरपि भवः स्वात्मापि वैष्णवानां यथा शम्भुरित्युक्तेस्ततोऽप्युत्कर्षवानपि श्रीर्जायापि अङ्गसंश्रयत्वेन सख्यभक्तिरसवत्वात् दासाभ्यां ताभ्यामुत्कर्षवत्यपि यस्याः सकाशात् प्रेम्णान्यूना एव सा यशोदा साधनसिद्धा पूर्वजन्मनि ब्रह्मदत्तवरा धरा आसीदिति महानेवानयः नहि ब्रह्मणो वरदानलभ्यमेतादृशं प्रेमसौभाग्यं भवितुमर्हति स ब्रह्मापि "तद्भूरिभाग्यमिह जन्मकिमप्यटव्याम्" इति प्रार्थयमानोऽस्या न्यूनातिन्यूनकक्षायामेव गण्यत इत्यतः श्रुतिस्मृत्यागमप्रसिद्धे नित्यसिद्धे एव नन्दयशोदे त्वया ज्ञेये "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् ! श्रेय एवं महोदयम्" यशोदाचेत्यल्पविमर्शे त्वदीयप्रश्ने मयाप्यस्पष्टप्रायं द्रोणो वसूनां प्रवर इति तदेकांशाश्रयं प्रत्युत्तरं दत्तमिति भावः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं स्वगेहदामानि स्मयन्तीनां गोपीनां च दामानि सन्दधती स्मयन्ती हसन्ती विस्मिता अभवत् ॥ १७ ॥ स्विन्नं प्रस्वेदेन व्याप्तं गात्रं यस्याः विस्रस्ता कबरस्रजो यस्याः तस्या मातुः परिश्रमं दृष्ट्वा स्वबन्धने कृपया आसीत् अनेन पूर्वोक्तमन्तर्बहिरादिव्यवहारराहित्यं यथा कृष्णे भवति तथान्तर्बहिरादिव्यवहारार्हत्वमपि स्वेच्छयास्त्येवाऽचिन्त्यशक्तियोगात् तथा च श्रुतिः "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इति ॥ १८ ॥ स्वाधीनस्यापि सेश्वरविश्वनियन्तुः स्वभक्ताधीनतामाह—एवमिति। ईश्वरैर्ब्रह्मशिवादिभिः सहितम् ॥ १९ ॥ श्रीयशोदाकृतायाः श्रीकृष्णभक्तेः फलकथनद्वारेण सर्वोत्तमतामाह—नेममिति। यद्यपि "भक्तियोगेन तन्निष्ठो मद्भावायोपपद्यते" इति श्रीमुखवचनाद्भगवान् भक्त्यैव स्वभावापत्तिलक्षणां मुक्तिं ददाति तस्मान्मुक्तिदात् प्रसादविशेषमपि तद्भक्ताः लेभिरे क्रियापदेन कर्तृपदमाक्षिप्यते। परन्तु यं प्रसादं गोपी यशोदा प्राप तमिमं न विरिञ्चिः न भवः न श्रीः प्राप इतरेषां का कथेति भावः। एवंविधायाः भक्तेर्मुक्तितोपि दुर्लभत्वं मुक्तिं ददाति "कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इत्यादौ बोध्यम् ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवमिति राजगृहत्वाद्वहूनि यानि दामान्यासंस्तानि सर्वाणीत्यर्थः। गोपीनां गोपीषु शिशुमपि बद्धुं राज्ञीयं न शक्नोतीति सुष्ठु स्मयमानासु स्वयञ्च स्मयमाना विस्मिताभवत् अहो मुष्टिपरिमितमस्योदरं दामशतेनापि योजितेन न वेष्ट्यते न च तद्विपुली भवति, किङ्किण्यस्य न वर्द्धते, प्रतिवेष्टनेपि दाम्ना द्व्यङ्गुलमेव न्यूनमिति विस्मयमभजदित्यर्थः। तद्दिने सपुत्रा रोहिण्युपनन्दपत्न्या निमन्त्र्य नीतेति गम्यते, अन्यथा सा निवारयेदिति बोध्यम्। मयि निबद्धे सति सखिभिरहं परिहस्येतो निबद्धो न स्यामिति तत्सङ्कल्पे सति तदनुगया विभुतयाऽऽविर्भूय तद्बन्धनं प्रतिबद्धमिति भावः ॥ १७ ॥ हे राज्ञि यशोदे सखि ! कृष्णोऽयं सखि-बालकेभ्यस्त्रपया बन्धनं नेच्छति, तदा स्वयं प्रभोरस्य सत्येच्छत्वेन बन्धनं प्रतिबध्यते, तदस्माद्विरमेति गोपिभिराश्चर्यदर्शनोदिततत्पारमैश्वर्याभिः प्रतिबोधितायामपि स्वयं प्रभुमप्येनं मत्पुत्रत्वात् पुरुदामभिरानीतैर्निबध्यैतच्चापमपनयामीति गृहीतहठायां मातरि हरिर्भक्तहठस्यैव रक्षणीयत्वात्स्वहठं त्यक्त्वा मातृहठं रक्षन् बन्धनमङ्गीचकारेत्याह स्वमातुरितिस्फुटार्थं परिश्रमश्च कलभस्येव वलिनस्तस्य ग्रहणेन दामसन्धानादिना च बोध्यः अत्र हरेः कृपाशक्तिः प्रबला यया तदिच्छोद्भूता विभुताप्यन्तर्द्धापिता यदा भक्तस्य भक्तिश्रमस्तद्वीक्षणेन मे कृपा च भवेत्ताभ्यामेव निबद्धो भवामीति बोधनाय दाम्नो द्व्यङ्गुलन्यूनतेति हरिणा स्वमातरि प्रकाशितं एतदाश्चर्यदर्शनात्कदाचिदुद्भूता स्वयं प्रभुत्वबुद्धिः सार्वदिकीं पुत्रबुद्धिं नोपमर्दयेत् ततोऽतिदुर्बलत्वात् किन्तूक्तं युक्तेः युष्मीयादेवताम् ॥ १८ ॥ नन्वेवं बन्धनमङ्गीकुर्वता स्वयं प्रभुत्वं क्षपितमितिचेत्त्राहैवमिति। यस्य सेश्वरं ब्रह्मरुद्रादिसहितमिदं जगद्वशेऽस्थितेन स्ववशेन स्वतन्त्रेणैव हरिणा एवं भक्तवश्यता सन्दर्शिता अनन्तलक्ष्मीकस्यापि चौर्येण तृप्तस्यापि क्षुधया पूर्णस्याप्यतृप्त्या निर्म्मायस्यापि कोपेन कालकालस्यापि भयपलायनाभ्यां योगिमनोऽग्राह्यस्यापि मात्रा बलाद्ग्रहणेन आनन्दमयस्यापि दुःखाश्रुणा सर्वव्यापि सर्वबन्धकस्यापि बन्धनेन च ब्रह्मादिविज्ञान् प्रति पारमार्थिक्येवमेव भक्तवश्यतेति सम्यग्दर्शितेत्यनुकृतिरूपेयमिति निरस्तं दर्शयंस्तद्विदालोक आत्मनो भक्तवश्यतामित्यत्र तद्विदामित्युक्तेः। न च स्वयं प्रभोः पारतन्त्र्यमिदं दूषणं तादृशस्य स्वैकान्तिकभक्ततन्त्रताया गुणत्वेन स्तूयमानत्वात् कृपैव सगुणः अन्यथा रुक्षतया दूषणापत्तिः तच्चौर्यादीनां तत्स्वरूपधर्मत्वात् स्वरूपेण काचिद्विकृतिरित्यसकृदुक्तम् ॥१९॥ श्रीयशोदा सौभाग्येन विस्मितो मुनिः सरोमाञ्चं तदाह नेममिति। 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग' मित्युक्तदिशा

प्रायेण मोक्षप्रदात् यदीमं प्रसादं बन्धनाङ्गीकाररूपकृपाविलासं गोपी राज्ञी यशोदा प्राप, तत्तं विरिञ्चो भवश्च स्वावतारोपि स्वभक्त्याग्रेसरोपि न लेभिरे न प्रापुः। लेभिरे इत्यस्य न तु त्रयेण त्रिरावृत्त्या सर्वथा तत्प्राप्तेरभावः। तथा च नन्दः किमकरोदिति त्वत्प्रश्नस्योत्तरं तत्र तदंशमागन्तुकमादाय गदितं वस्तुतस्त्वनादितस्तैः तत्पितरौ निरुपमतत्सौभाग्यवन्ताविति गृहाण न चैतत् सौभाग्यं ब्रह्मवरहेतूक्तं सम्भाव्यं तद्भूरिभाग्यमिह जन्मकिमप्यटव्यामित्यादि निगदता तेन तत्प्रजापादरजोभिषेकस्य वाञ्छितत्वात्॥ २०॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

गोप्यो यशोदाविमुक्तिदात्कृष्णाद्यं प्रसादं प्राप्तास्तत्तमिमं प्रसादं विरिंचो ब्रह्मपुत्रोऽपि न लेभिरे न लेभे। भवो रुद्रः पौत्रोऽपि न लेभे। श्रीर्महालक्ष्मीरंगश्रया भार्याऽपि न लेभे इत्यविद्यमानविषयकीर्तिं यशोदायाः कृष्णो दैत्यमोहनार्थं व्यंजयामासेति। एतेन गोप्यो ब्रह्माद्यपेक्षयाऽधिकप्रसादस्य प्राप्तत्वात्। गोपी ब्रह्माद्यपेक्षयाधिकं प्रसादं प्रापेति वचनमनुपपन्नमिति दूषणं परिहृतम्। इत्यविद्यमानविषयकीर्तिमित्यादीनां शेषेण इत्यविद्यमानविषयकीर्तिं यशोदायाः कृष्णो दैत्यमोहनार्थं व्यञ्जयामासेत्यर्थस्योक्तत्वात्॥ २०॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

एवं स्वगेहदामानि निजेत्याद्यजल्पनेन स्वगेहत्वादिजल्पनेन च सु अगेहदामानि परगृहगतानि दामानीत्यपि सूचयामासेत्यवसेयम्। गोपीनां पार्श्वस्थानां स्मयन्तीनां सतीनां हसन्तीनां स्मयमानानां स्वयमपि स्मयन्ती स्मयमाना स्म यन्तीति वा येतीति यन्ती पुनः पुनर्गच्छन्त्यागच्छन्तीति वा विस्मिताऽभवत्॥ १७॥ स्विन्नं गात्रं यस्याः सा तस्या विस्रस्तकबरस्रजः परिश्रमं श्रान्तिं दृष्ट्वा कृपया स्वबन्धने तद्विषये आसीदनुकूलोऽभूदिति भावः॥ १८॥ यस्येदं सेश्वरमीश्वरैं रमाब्रह्मादिभिः सहितं सेश्वरं विश्वं वशे वर्तते तेन स्ववशेनापि कृष्णेन हरिणा अङ्ग हे राजन भक्तवश्यतैवं दर्शिता॥ १९॥ गोप्यो यं प्रसादं विमुक्तिदाल्लेभिरे तं प्रसादं तादृशमेवेमं विरिञ्चः पुत्रो नाप भवः पौत्रो नाप। अङ्गसंश्रयाऽङ्गमुरः संश्रय आश्रयो यस्याः साऽपि नाप। तात्पर्यं तु सप्तमनवमोक्तप्रकारेणानुसन्धेयम्। गोपी यत्तदिति पठन्ति। यत्तत् यं तं। यत्तत्प्रापुर्विमुक्तिदादिति पाठे विरिञ्चो नाप भवो नापाङ्गसंश्रया श्रीरपि नापेत्याहृत्यैनापुरित्यन्वय इति वदन्ति। केचित्तु लेभिरस्यादुलूखलमित्यभिधानादुलूखले सति नापुरिति च॥ २०॥

श्रीसुबोधिनी

सर्वा एव गोप्योङ्गणमध्ये तथा करणाद् द्रष्टुमागताः, अद्यापि तथा न निरुद्धा इति तदा **स्मयन्त्यो** जाता गर्विष्ठाः सन्मुखा वा स्वस्यापि भुजबन्धनादिकं भावयिष्यन्त्यः **सुस्मयन्त्यो** जाताः, गृहस्थसर्वदामव्ययकरणेपि न बन्धनं निवृत्तमित्याहैवमिति पूर्वोक्तन्यायेन सर्वाण्येव **दामानि** योजितवती, यतो **यशोदा यशो** ददाति द्यति वा, **सन्दधत्यपि** द्व्यङ्गुलन्यूनभावाद् **विस्मिताभव**दितिसम्बन्धः, यशोदागृह एव भगवता पुत्रत्वमपराधश्च दर्शित इति तद्गेह**दामान्ये**वान्तर्बहिर्भगवत्तिरोभावात् सम्बद्धानि न तु गेहान्तरस्थितानि, अन्यासां तु तदर्थप्रवृत्तिरेव नास्ति, अन्तर्बहिस्तिरोधानाभावात्, रज्जूनामानयनं यशोदाकर्तृकमेव, न हि तादृश्या अन्यः सहायं कर्तुमर्हति, पूर्वं तु वारद्वयं त्रियोजनायां रोषे गते **स्मयन्ती** जाता, ततोपि बहुवारयोजनायां **विस्मिता चाभवत्**, आश्चर्यं प्राप्तवती, ततो रज्जूनामन्वेषणार्थं निर्बन्धेन यत्नं कृतवती॥ १७॥ ततः सामर्थ्याभावे गोपिकानां समक्षं परमलज्जां प्राप्य भग्नमानससङ्कल्पा मृतप्रायासीत् तदा भगवान् परमकृपालुस्तादृशदुष्टेष्वपि सद्बुद्ध्या युक्तमपि कृतवानित्याह **स्वमातु**रिति, ततो भगवान् **कृपया स्वबन्धन आसी**दितिसम्बन्धः, तत्र कारणत्रयमाह **स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रज** इति, मातुर्हि परितोषः कर्तव्यः, "मातृदेवो भव" "एभ्यो माता गरीयसी"-तिवाक्यात्, नापि तस्या अपत्यान्तरमस्ति यो ह्युपस्थितं दुःखं निवारयेद् यत इयं स्वस्यैव माताता मातृत्वं ख्यापयित्वा तस्या दुःखमसहमानेन तथा कृतं, किञ्च गोकुलवासिनां खेददूरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं **स्विन्नगात्रायाः** सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न **परिश्रमं** दूरीकुर्यात्? किञ्च गोकुलवासिनां सर्वसौभाग्यदानार्थमागतः स कथं विस्रस्ताः **कबरात्** केशपाशात् स्रजो यस्यास्तादृशीं पश्येत्? अनेन सर्वाभरणानामेव तिरोभावः सूचितः, एवमेतादृश्याः **परिश्रमं** दृष्ट्वेतस्ततः पर्यटनं खेदः प्रस्वेदो मुखशोषो महती च ग्लानिरित्यादिः **परिशब्दार्थः**, तत्रापि भगवान् **कृष्णः** सदानन्दोननुभूतदुःखदुःखितानामसमक्षः परदुःखमपि न पश्यति तदपूर्वं यशोदादुःखं दृष्ट्वा **कृपया** व्याप्तो मात्रर्थे स्विन्नगात्रार्थे स्रगभावार्थे च **स्वस्यैव** स्वयं बन्धकरूपगुणाङ्गुलत्रयभूतो जातः, द्वाभ्यां पूरितमङ्गुलमात्रं च बन्धनं जातं, तदा **स्वस्यैव** स्वयमेव बन्धने जात **आसीत्** प्रकरणाद् गृहीत इत्यव

कव्यत्वान्नोक्तम् ॥ १८ ॥ ननु किमर्थं भगवानेतावत् कृत्वा बन्धनरूपो जात इति चेत् तत्राहैवमिति, एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्रभिमानेनाप्येतावतीमभूतपूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य **भक्तवश्यता प्रदर्शिता**, प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह **हरिणेति**, स हि सर्वदुःखहर्ता तत्त्वसिद्ध्यर्थमसम्बन्धेन दुःखहर्तृत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थं कृपालुतां प्रदर्शयति, **कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति** वक्तुं **भक्तवश्यता**शब्देनैवोक्ता, ननु भक्त्या चेद् धर्मधर्मिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह **स्ववशेनापीति**, स हि **स्ववश** एव न केनाप्युपमर्द्यः, अनेन फलसाधकत्वमुक्तं, फलरूपत्वमाह **कृष्णेनेति**, नन्वेवं कृतेन्यो महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावान्न तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह **यस्येदं सेश्वरं वश** इति, तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं जगत् **यस्य वश**, अतो नान्यथाभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमितिभावः ॥ १९ ॥ नन्वेतादृशो भावः पूर्वमपि सिद्धस्ततः शास्त्रप्रसिद्धत्वात् किं प्रदर्शनेनेत्याशङ्क्याह **नेमं विरञ्च्य** इति, इमं **प्रसादं** न कश्चित् पूर्वं प्राप्तवान् **भक्ता एव हि महान्तः प्राप्नुवन्ति**, तत्र भक्तेषु भक्त्या स्वरूपतश्च महान्तस्त्रयः पुत्रो ब्रह्मा भक्तः प्रवृत्तिमार्गसर्वधर्मप्रवर्तकः सर्वेषां हेतुभूतस्तथा महादेवोपि पौत्रः सर्वनिवृत्तिधर्मप्रवर्तकः प्रलयकर्ता गुणावतारश्च भगवदर्थमेव सर्वपरित्यागेन तपस्तपति ततोपि लक्ष्मीर्भार्या ब्रह्मानन्दभूतस्यापि लब्धपदा जगज्जननी निरन्तरं पादसेवनपरा, एवमेते त्रयोपि **यदीमं प्रसादं** न प्राप्तवन्तस्तदा कोन्यः प्राप्तुमर्हति ? तदाहेमं **प्रसादं न वा विरञ्च्यो न वा भवो न वा श्रीः**, प्रत्येकसमुदायाभ्यां **प्रसादं न लेभिरे**, न च तेषां दोषोस्तीति शङ्कनीयं, यतस्त्रयोप्यङ्गमेव सम्यगाश्रयन्ति, एका वक्षोन्यो नाभिमन्यः पादाविति, तेषां त्रयाणामपि गुणावताराणां यद् दुर्लभं तदन्येषां दुर्लभमेव, स कः प्रसाद इत्याशङ्क्य तमनुवदति **गोपी यत् तत् प्रापेति**, जात्या स्वरूपतो हीना, प्रसादस्तत्रैव प्रसिद्धो न तु केनचिन्निरूपितः, न हि सर्वमोचकः कश्चिदात्मानं बध्नाति, खेदस्तु ज्ञानमपि दत्वा विदेहकैवल्यं वा दत्वा मोचयितुं शक्यते किं स्वयं बन्धनेन ? अतः **प्रसिद्धः प्रसादोयमेव नान्य** इत्यर्थः ॥ २० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एवमित्यत्र ददाति यति त्वेति **ददाति** भगवते यति स्वस्यैत्यर्थः ॥ १७ ॥ **स्वमातुरित्यत्र** "**मातृदेवो भवे**"तिशीक्षोपनिषच्छ्रुतिर्ज्ञेया, तथा च स्वसेतुं स्वयमेव पालयितुमेवं कृतवानित्यर्थः, **प्रकरणाद् गृहीत इती**त्यत्रेतिशब्द इदमर्थो बोध्यः, एवं गुणानां **षट् श्लोका** व्याख्याताः ॥ १८ ॥ अथान्येषामविद्यानिवर्तकान् व्याख्यास्यन्त्येवं **सन्दर्शितेत्यत्र**, **स्वरूपस्ये**त्यादि निरङ्कुशत्वरूपस्यैश्वर्यस्वरूपस्य **प्रच्युतत्वात्** तेन **फलाभावाद्** भक्तिफलमपि न स्यात् तथा सति **भक्तवश्यताप्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य** तत्समाधानायाहेत्यर्थः, **स हीत्यादि** हि यतो हेतोः **स स्ववश एवातो न केनापि** भक्तिफलोपमर्द इति न प्रदर्शनवैयर्थ्यमित्यर्थः, **अनेनेत्युपमर्दाभावकथनेन** ॥ १९ ॥ **नेममित्यत्राभास एतादृशो भावः पूर्वमपि सिद्ध** इति भक्तवश्यत्वरूपो **भावः कृष्णोपनिषदादिष्वपि सिद्धः**, **भगवदर्थ**मित्यादीदं चाष्टमस्कन्धे "यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात् समासहस्रान्त उपारतं वा" इतिश्लोके तथा ब्रह्मवैवर्तगस्त्यसंहितायां च प्रसिद्धं, **त्रयाणामपि गुणावताराणामित्यत्र** श्रियो गुणावतारत्वं मायारूपाया बोध्यं, "तस्याज्ञयैव नियता परमापि रूपं चक्रे द्वितीयमिव यत् प्रवदन्ति माया"मितिपञ्चरात्रवाक्याद् "यद्वाञ्छया श्रीर्ललने"-त्यत्र सात्त्विकशक्तित्वेन श्रिया निरूपणाच्च, **विमुक्तिदादिति**शब्दार्थमाहुर्न **हीत्यादि शक्यत** इत्यन्तम् ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सुबोधिन्यां, **एवमित्यत्र ततो रज्जूनामित्यादिना आसीदित्यन्तेन विस्मित**पदार्थो विवृतः, **विस्मिता** गतगर्वेत्यर्थः ॥ १७ ॥ **स्वमातुरित्यस्याभासे तादृशदुष्टेष्विति** दोषारोपयुक्तेष्वितिज्ञेयं **सद्बुद्ध्ये**ति सतां बुद्ध्या अयुक्तं सोपधिस्नेहवद् वश्यत्वमित्यर्थः । **स्वमातुरित्यत्र कृष्णपदार्थ**कथने धर्मरूपानन्दस्य विद्यमानत्वात् तदभावरूपदुःखाननुभवः आनन्दरूपत्वाच्च **दुःखितानामसमक्षः**, एतस्यैव विवरणं **परदुःखमपीति**, स्वस्यानन्दरूपत्वात् स्वसाक्षात्कारे दुःखमेव गच्छतीति स्वयं दुःखं न **पश्यति** सूर्यस्तम इवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ **एवं सन्दर्शितेत्यत्र ननु भक्त्या चेदिति भक्तवश्यतेतिपदे** अक्षरार्थोयं भक्तत्वे सति वश्यः, भक्तत्वं भक्तिरेवेति भक्त्या वश्यत्वकथनेन तया धर्मधर्मिणामुपमर्द उक्त इतिभावः ॥ १९ ॥ **नेमं विरंच्य** इत्यत्र न तु **केनचिदिति** पूर्वमितिशेषः, **खेदस्त्वित्यादि** अन्तःकरणधर्मस्य खेदस्य गात्रे कथनेनान्तर्बहिः खेदः पूर्वं निरूपितः, तत्र ज्ञानदानेनान्तःखेदनिवृत्तिः, विदेहकैवल्यदानेन देहाभावाद् बहिःखेदनिवृत्तिरितिद्वयं निरूपितम् ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं स्वगेहस्थानि सर्वाणि दामानि सन्दधत्यपि यशोदा द्व्यङ्गुल्यपूर्त्या यदा तं बद्धुं न शशाक, तदा तत्प्रयासस्य निष्फलत्वं दृष्ट्वा सुस्मयन्तीनां स्मितं कुर्वतीनां मध्ये स्वयमपि स्मयन्ती विस्मिताऽभवत् ॥ १७ ॥ तदा च कृष्णः स्विन्नं स्वेदयुक्तं गात्रं देहो यस्यास्तस्याः, विस्रस्ताः कवरात् केशबन्धात् स्रजो यस्यास्तस्याः स्वमातुः परिश्रममितस्ततो रज्ज्वन्वेषणतत्परिवेष्टनजन्यं दृष्ट्वा कृपया स्वबन्धने आसीदित्यन्वयः । न च 'एवं तर्हि प्रथममेव कथं न बन्धनं गतः ? तथा सति तस्याः

श्रम एव न स्यात्' इति शङ्कनीयम् । 'अयं मम वश्यः, पुत्रत्वात्' इति, 'अनेन भाण्डस्फोटनादि कृतम्, अतो ममापराधी' इति च बुद्धिदोषद्वयं प्रथमं तस्या आसीत्, ततो दाम्नो द्व्यङ्गुलन्यूनता जाता, भगवत्कृपा च न जाता । 'इदानीं तु सर्वथा तदभिमानस्य नष्टत्वाद्दैन्यमालोक्य कृपया बन्धनं प्राप्त' इति ज्ञेयम् । तत्समये नन्दरोहिण्यादीनामन्यत्र गमनं जातमिति बोध्यम्, अन्यथा तैर्बन्धनं निवारितं स्यात् ॥ १८ ॥ एवं बन्धनाङ्गीकारे तात्पर्यमाह– एवमिति । 'एवंविधलीलाश्रवणे त्वमेवोत्तमोऽधिकारी, परमभक्ततयाऽस्मदादिवत्तत्तात्पर्यनिर्धारे समर्थत्वात्' इत्याशयेन सम्बोधयति—अङ्गेति । हीति निश्चये । एवं मातृकृतबन्धनाङ्गीकारेण कृष्णेनात्मनो भक्तवश्यता सम्यक् दर्शिता । 'तर्हि स्वातन्त्र्यं गतं स्यात्' इत्याशङ्क्याह—स्ववशेनापीति । सेश्वरमीश्वरैर्लोकनाथैर्ब्रह्मादिभिः सहितम् इदं विश्वं यस्य वशे वर्तते तेनापि, स्वतन्त्रेणेत्यर्थः । तत्प्रदर्शनप्रयोजनं सूचयन्नाह– हरिणेति । संसारदुःखहरणत्वाज्जनानां संसारदुःखनिवृत्तिहेतुस्वभजने प्रवृत्तये एवं भक्तवश्यता सन्दर्शिता, "भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्" इत्यादौ तथोक्तेः । एवं वश्यतायां प्रदर्शितायामपि भजनप्रवृत्तिर्दुर्लभा दृश्यते, तदभावे तु सा नैव स्यात् । तथाच दुःखनिवृत्तिरपि नैव स्यात् । कलावन्यस्य देशकालादेः शोधकस्याभावेन "कीर्तनादेव कृष्णस्य नरो न निरयं" व्रजेत् इति सिद्धान्तितत्वादित्याशयः ॥ १९ ॥ यशोदायां जातस्य भगवत्प्रसादस्य दुर्लभत्वमाह—नेममिति । विरिञ्चो ब्रह्मा पुत्रः सन्मार्गप्रवर्तको जगत्कर्ता । भवो रुद्रः पौत्रः । तयोर्ज्ञानाद्युपदेष्टा स्वयमपि समाधिनिष्ठः । श्रीर्लक्ष्मीः अङ्गसंश्रया उरसि लब्धपदा प्रिया पत्नी । एते त्रय ईश्वरतया शास्त्रप्रसिद्धाः भगवत्प्रसादं न लेभिरे इति न, अपि तु लेभिरे । परंतु विमुक्तिदात् भगवतः सकाशात् यदिमं स्वबन्धनादिपर्यन्तमनेकविधबालचरित्रचमत्कारैर्मनोरथपूर्तिरूपं प्रसादं गोपी जात्याचारादिहीनाऽपि यशोदा प्राप प्राप्तवती, तत् तं तु नैव लेभिरे इत्यन्वयः । यद्वा इमं प्रसादं ब्रह्मादयो 'न लेभिरे न लेभिरे न लेभिरे' इति नञ्त्रयप्रयोगवशात् क्रियापदावृत्तिः प्रसादस्य दौर्लभ्यदार्ढ्यार्थो बोध्या । 'अङ्गसंश्रयाः' इति विसर्गान्तगतिपाठे ब्रह्मादित्रयाणां विशेषणं निर्दोषकत्वसूचकम् । तत्र ब्रह्मा नाभिसंश्रितो, भवो ध्यानेन चरणसंश्रितः, लक्ष्मीर्वक्षःश्रिता ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति ॥ एवं स्वगेहस्थानि सर्वाणि दामानि सन्दधत्यपि यशोदा तत्प्रयासं निष्फलं दृष्ट्वा सुस्मयन्तीनां स्मितं कुर्वतीनां गोपीनां मध्ये स्वयमपि स्मयन्ती विस्मिताऽभवत् । शता आर्षः ॥ १७ ॥ स्वमातुरिति ॥ तदा च कृष्णः स्विन्नं स्वेदयुक्तं गात्रं देहो यस्यास्तस्याः विस्रस्ताः कबरात्केशबन्धात् स्रजो यस्यास्तस्याः स्वमातुः परिश्रममितस्ततो रज्ज्वन्वेषणतत्परिवेष्टनजन्यं दृष्ट्वा कृपया स्वयमेव स्वबन्धने आसीत् ॥ १८ ॥ न चैवं स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह—एवमिति ॥ अङ्ग हे राजन् ! हि निश्चये सेश्वरमीश्वरैर्लोकनाथैर्ब्रह्मादिभिः सहितमिदं विश्वं यस्य वशे वर्तते । तेन स्ववशेन स्वाधीनेनापि कृष्णेन हरिणा आत्मनः भक्तवश्यता सम्यक् दर्शिता ॥ १९ ॥ नेममिति ॥ विमुक्तिदात् भगवतः सकाशात् यत् यं प्रसादं स्वबन्धनादिकं गोपी यशोदा प्राप तत् तम् इमं प्रसादं विरिञ्चो ब्रह्मा पुत्रोऽपि न लेभे । भवः पौत्रोऽपि न लेभे । अङ्गसंश्रया उरसि लब्धपदा श्रीः पत्न्यपि न लेभे । एवमेते त्रयोऽपि न लेभिरे । अत्र लेभिरे इति क्रियापदं बहुवचनान्तम् । एकवचनान्तैर्विरिञ्चादिभिरन्वयमलभमानं प्रत्येकसहपठितनकारयोगाय स्वावयवभूतलेभेपदेन योगं प्रकल्पयति । ततः समुदितपरामर्शकत्वयाऽध्याहृतैतच्छब्देन नकारत्रयस्थानापन्नैकनकारेण च योगान्न लेभिर इत्यन्वयः । न चैत्रो न मैत्रो न देवदत्तोऽत्रागच्छन्ति इति वत् । भागवत एव प्रागपि "नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् । विदुः प्रमाणम्" इत्यादि । "नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुर्न वामदेवः" इत्यादि । "न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः । यस्य शेकुः परित्रातुं" इत्यादि च एतेन "न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ॥ भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥" इत्यादिकमपि व्याख्यातम् । अत एव चात्र श्रीस्वामिपादैरपि अन्वययोजनचिन्तापि न कृता । केचित्तु विरिञ्च्यादयो भगवत्प्रसादं न लेभिरे इति न अपितु लेभिरे परंतु गोपी यं प्रसादं प्राप तं तु न लेभिरे । यद्वा । इमं प्रसादं ब्रह्मादयो न लेभिरे न लेभिरे न लेभिरे इति नञ्त्रयप्रयोगवशात् क्रियापदावृत्तिरिति । परे तु विरिञ्च्यादयो भक्तिरूपं प्रसादं लेभिर एव किन्तु यद्गोपी प्राप तत्तु विरिञ्चो न प्राप भवोऽपि न प्राप श्रीरपि न प्रापेत्याहुः । तत्सर्वं नात्यावश्यकम् ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एवं सर्वाणि स्वगेहदामानि संदधती उत्स्मयंतीनां हास्यं कुर्वतीनां मध्ये स्मयंती हसंती सती सा विस्मिता ॥ १७ ॥ स्विन्नं स्वेदयुक्तं गात्रं शरीरं यस्याः तस्याः विस्रस्ताः विशीर्णाः कबरस्रजो यस्यास्तस्याः ॥१८॥ सेश्वरमीश्वरैरनेकब्रह्मांडाधिपैः सहितं इदं ब्रह्मांडवृंदं यस्य वशे यदधीनमित्यर्थः ॥१९॥ विमुक्तिदात् श्रीकृष्णात् । गोपी माता । यत् । यं भक्तवश्यतारूपं प्रसादं प्राप । तत्तमिमं प्रसादं विरिञ्चिर्ब्रह्मा न लेभे भवो न । श्रीर्न । ततोऽन्ये कुतो लेभिरे ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति ॥ एवममुना प्रकारेण, यशोदा, स्वगेहदामानि यावन्ति गेहदामानि सन्ति, तावन्त्यपि दामानि संदधती सत्यपि, सुस्मयन्तीनां प्रहासं कुर्वाणानां, गोपीनां गोपिकानां मध्ये, स्मयन्ती क्षोभेन सह स्वयमपि हासमाचरन्ती सती, विस्मिताऽत्याश्चर्यवती, अभवत् ॥ १७ ॥ स्वेति ॥ तदा स्विन्नं प्रस्वेदभरितं गात्रं शरीरं यस्यास्तस्याः, विस्रस्तं कबकेशपाशः स्रजश्च यस्यास्तस्याः, स्वमातुः, परिश्रमं दृष्ट्वा, कृपया, कृष्णः, स्वबन्धने, आसीत् बन्धनानुगुणो बभूव ॥ १८ ॥ न चैतावताऽस्य स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह ॥ एवमिति ॥ अङ्ग हे राजन्, यस्य कृष्णस्य, वशे वशवर्त्तित्वे आधीन्ये इति यावत्। सेश्वरं ब्रह्मादीश्वरसहितं, इदं जगत्, वर्त्तते। स्ववशेन स्वतंत्रेणापि, तेन कृष्णेन, हरिणा, एवं भक्तवश्यता, संदर्शिता हि। सर्वत्र स्वतन्त्रोऽप्यहं भक्तेषु परतन्त्र इति प्रदर्शयितुमबद्धयतेत्यर्थः। तथा चोक्तमभियुक्तैः। 'अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वेदिकगिरः पराधीनं त्वां तु प्रणतपरतन्त्रं मनुग्रहे' इति। तथा भगवता स्वेनापि नवमस्कन्धे उक्तम्। 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज' इति। अत्र त्रिकालदर्शिनो भगवतो व्यासस्यापि परस्परपर्यायत्वभाजोर्हरिकृष्णशब्दयोः प्रयोजनमन्तरापि पृथगुपादानेन भाव्यो हरिरपि कृष्ण एवास्तीति द्योतनमेव प्रयोजनं प्रतिभाति ॥ १९ ॥ नेममिति ॥ गोपी यशोदा, विमुक्तिदादन्येषां बन्धननिवृत्तिकरात् स्वपुत्रात् कृष्णात्, यत् यं प्रसादं स्वभक्तकृतनिग्रहादिक्षमत्वपर्यन्तमनुग्रहं, प्राप प्राप्तवती। तत् तं, इमं प्रसादं, विरिञ्चो ब्रह्मा, स्वात्मजः सन्नपि, न प्राप। भवो वैष्णववरः स्वैकान्तिकभक्तः सन्नपि, न प्राप। अङ्गसंश्रया विहितस्वाङ्गनिवासा जाया, श्रीर्लक्ष्मीरपि, न प्राप। तर्हि अन्ये न लेभिरे इत्यत्र किं वक्तव्यम्। भक्तिप्रयोजनं हि भगवत्प्रसादस्तं च यादृशं विमुक्तिदाद्यतो गोपी लेभे, तादृशं प्रसादं ब्रह्मादयो न लेभिरे इत्यर्थः। यद्वा विरिञ्चः न, भवो न, श्रीरपि, न लेभिरे। एकवचनान्तानेककर्तृकस्थले बहुवचनान्तक्रियापदस्य वचनविपरिणामेन प्रत्येकं समन्वयस्यापि दर्शनान्न बाधः। तथा च दृश्यतेऽन्यत्रापि। 'न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः। भवन्ति कृतपुण्यानाम्' इत्यादिषु। केचित्तु 'लेभिरं स्यादुलूखलम्' इति कोशं प्रकल्प्य गोपी, भगवन्तं लेभिरे बद्ध्वा, यं प्रसादं प्राप, न तं ब्रह्मादयः प्रापुरिति व्याख्यां कुर्वन्ति, सापि न चारुः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

स्वमातुरितिः १०.९.१८.

न द्वैतमस्य हृदयादपैति तत् किं वृथा स्वां प्रकटीकरोषि।
निःसङ्गतामित्यवधार्य तादृग् दामस्थितेरास विभुः सबन्धः ॥ ३६ ॥

लघुमपि मद्भक्तगुणं हार्दस्थितितो नयामि पूर्णपदम्। ध्वनयन्नेवमनन्तो निन्ये पूर्णत्वमेतदल्पमपि ॥ ६७ ॥

षाड्गुण्यं भजतः सहस्रगुण सद्वृत्तेरनन्तात्मनो नित्यानन्तगुणोल्लसत् सुचरितस्यापीह मेऽवस्थितिः।
पूर्णत्वं गुणतः प्रयाति न विना मद्भावभाजां गुणालम्बं जातुचिदित्यबोधयदसौ पूर्णोदरस्तद्गुणात् ॥ ६८ ॥

मत्प्रेम पोषकमपि श्रममात्मभक्तदेहे सहे न भुवि जातु कुतस्तदन्यम्।
किं चास्य खेदमपनेतुमहं सहेयेत्यश्लाघ्यमप्यकृत बन्धनतः स्फुटं सः ॥ ६९ ॥

न मां तत्त्वदृष्ट्या गुणकोऽपि लग्नः कचिद्भासमानोऽपि चेन्मध्य एव।
इति श्रौतमर्थं तदानीमधीशः सदाम्ना स्वमध्येन मन्ये व्यतानीत् ॥ ७० ॥

गोकुलस्थैरहं बद्धः प्रेम्णेत्यर्थं प्रकाशयन्। तद्गतेन गुणेनेशस्तदाऽगात् किमु बन्धनम् ॥ ७१ ॥

महतामिह सद्गुणो गरीयान् प्रचुराज्ञानविजृम्भितोऽपि भूयः।
अलमीप्सितकार्यपूर्तये स्यादिति तद्बन्धनतोऽभवत्स्फुटार्थम् ॥ ७२ ॥

खलगुणसम्बन्धः खलु यदि दैवादुदरसङ्गतो जातः। सद्यो बन्धाय भवत्यलमिह महतामपीति सुव्यक्तम् ॥ ७३ ॥

ज्ञात्वा कृष्णस्तादृशं मातृचेतो निर्बन्धं यत्स्वीचकाराऽऽत्मबन्धम्।
तेनाबोधि प्रेमतो भक्तभव्याद् गौणं कार्यं स्वीयमेवं जनेऽस्मिन् ॥ ७४ ॥

मच्छापादचिरेण वां यदुपतिर्मोक्तेति वाचाऽऽर्षया तावद् बद्ध इवाहमस्मि सततं मुक्तोऽपि मोक्ताऽपि च।
यावद्वार्क्षपदादिमौ न कृपया सम्मोचितावित्यसौ तद्बन्धात् किमबोधयद्भुवि विभुर्भक्तैकवाग्वश्यताम् ॥ ७५ ॥

आकल्पकोटयघटमानमपीह भक्तसङ्कल्पमल्पतरयत्नत एव यो वै।
सम्पूर्यतद्धृदयधारणजागरूकस्तद्वाच्यमस्य किमु भक्तवशत्वमन्यत् ॥ ७६ ॥

नेमं विरिञ्च इति : १०.९.२०.

येषां बालतया सुखोदयकरस्तेषां न षाड्गुण्यतो येषां तादृशरूपतश्च सुखदस्तेषां न बालत्वतः ।
सच्चिद्रूपतया च बालकतया निःसीमसौख्यप्रदस्तेषामेव सुभक्तिमन्त इह येऽत्रोदाहृतिर्गोपिका ॥ ७७ ॥
नियम्य हृदयं धियाऽऽत्मभवबन्धनाशाहितोद्यमैरपि बुधैर्न या कचिदलक्ष्यलन्तामयम् ।
निजात्म भवबन्धतोत्सुक-मनस्यपि श्रीपतिः कृपामकृत मातरीत्युचितमेतदार्षं वचः ॥ ७८ ॥

कृष्णप्रिया

नन्दरानीजी यशोदाजी ने घर भर की सबरी रस्सियाँ जोड़ दी किन्तु रस्सी छोटी ही रही पर भगवान् श्रीकृष्ण बाँधे न जा सके नन्दरानीजी की निष्फलता को देखने वाली व्रज की ग्वालिन हंस पड़ी खुद यशोदा भी मुस्करा उठी साथ ही आश्चर्यचकित हो गयी ॥ १७ ॥ जब कृपालु कृष्ण ने देखा कि निज जननी ता मारे पसीने के लथपथ हो गयी और जूड़े के फूल तितर बितर बिखर रहे हैं, तब मातृचरणों के श्रम को देखते प्रभु को दया हो आयी, तब कृपावश स्वयं ही अपनी माँ के बन्धन में बंध गये ॥ १८ ॥ राजन् परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा स्वतंत्र है ब्रह्मा इन्द्रादि लोकपालों के सहित यह सारा विश्व उनके वश में है फिर भी वह जो बँध गये उससे श्रीहरि ने यह जताया कि मैं अपने अनन्य भक्तों के वश में हूँ ॥ १९ ॥ ब्रह्माजी, भगवान् शंकर, एवं भगवान् के हृदयकमल में वक्षःस्थल में विराजती अर्धांगना श्री लक्ष्मीजी ने भी जो भगवान् की प्रसन्नता को न प्राप्त की वह प्रसाद यशोदारानी ने मात्र दृढ भक्ति के द्वारा भगवान् कृष्ण से पा लिया ॥ २० ॥

नायं [1]सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मपोतानां[2] यथा भक्तिमतामिह ॥ २१ ॥
कृष्णस्तु [3]गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः । अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥ २२ ॥
पुरा [4]नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् । नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[5] [6]गोपीप्रसादो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अयं गोपिकासुतः भगवान् भक्तिमताम् इह यथा सुखापः आत्मपोतानां ज्ञानिनां च देहिनां न (तथा सुखापः) ॥२१॥ कृष्णः प्रभुः तु गृहकृत्येषु मातरि व्यग्रायां पुरा नारदशापेन पूर्वं श्रियान्वितौ नलकूबरमणिग्रीवौ इति ख्यातौ धनदात्मजौ गुह्यकौ वृक्षतां प्रापितौ अर्जुनौ अद्राक्षीत् ॥ २२-२३ ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

फलितमाह । नायमिति । देहिनां देहाभिमानिनां तापसादीनां ज्ञानिनां निवृत्ताभिमानानामपि ॥ २१ ॥ भक्तैर्बद्धस्याप्यन्यमोचकत्वमाह । कृष्णस्त्विति ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमद्भागवते म० दशमस्कंधे पू० टीकायां गोपीप्रसादोलूखलबन्धनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

फलितं लब्धम् ॥ आत्मभूतानाम् । 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' इत्युक्तेर्भगवद्रूपाणामपि ज्ञानिनामयमिति शृंगग्राहिकया दर्शयति–गोपिकासुतो यशोदासूनुरित्यनेन सगुणविग्रह इत्युक्तम् । ज्ञानिनस्त्वव्यक्तविग्रहोपासका अत एवोक्तम् "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इति भगवद्गीतासु । 'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म'–इत्यादिध्रुवोक्तेश्च सुखेन भक्तिमतामेव लभ्यः 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इत्युक्तेः । "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः" इति स्मृतेश्च । "भक्तिरेवैनं दर्शयति" इति श्रुतेश्च । गोपिकासुत इत्यपि भक्त्यैव गोपीसुततामाहेति अत्र श्रीभागवते भगवत्प्रेमैव सर्वपुरुषार्थशिरोमणित्वेन वर्ण्यते तस्य स्थितिर्नित्यसिद्धभक्तेष्वेव तेष्वपि गोकुलवासिन एव श्रेष्ठा इत्याह–नायमिति । देहिनां देहाध्यासवतां भक्तिमतां ज्ञानिनां देहाध्यासरहितानामात्मारामभक्तानां तथाभूतत्वे सत्येव प्राप्तियोग्यतायां निषेधसंभवात् । आत्मभूतानां पूर्वश्लोकोक्तानां विरिंचिभवश्रियां तत्र विरिंचिभवयोः स्वावतारत्वाल्लक्ष्म्याः । स्वरूपशक्तित्वेनात्मभूत्वम् । एवं त्रिविधजनानां गोपिका-

१. सुबोधो–व. पु. टी ; सुखाप्यो–विज. । २. भूतानां–श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व. शुक. ; पोतानां–वीर विज. । ३. गृह्य–वीर. । ४. शापात्तौ–विज. । ५. अन्यत्र "पूर्वार्धे" पाठो दृश्यते । ६. बालक्रीडायामुलूखलबन्धो ; नाम–इति कस्यचित् ।

सुतो भगवान्न सुखापः किं तदिति विकुंठ कौशल्यादिसुत एव दुःखमेवाभिव्यञ्जयति एषामिह श्रीयशोदायामेतदुपलक्षितेषु वात्सल्यसख्यकांतभावाश्रयेषु व्रजलोकेषु या भक्तिः 'स्त्रिय उरगेंद्रभोगभुज' इत्यादिना 'यथा त्वल्लोकवासिन्यः' इत्यादिना च श्रुत्यादिभिरनुगतिमयी तद्वतां यथा सुखापस्तथा तेषान्नेति। तेन गोपिकाद्यनुगतिमयन्यूनतादुःखांगीकारस्तु विरिंचिभव-लक्ष्म्यादिभिरीश्वराभिमानिभिः स्वस्वलोकस्थितैर्दुश्शक एव। अन्येषां तादृशोपदेशस्यालाभादरोचकत्वाद्वा तदनुगत्यभाव एवेति भावं इति चक्रवर्त्ती ॥ २१ ॥ अद्भुतमाह—भक्तैरिति। व्यग्रायां लग्नायाम्। अर्जुनौ ककुभवृक्षौ। पूर्वं गुह्यकौ पूर्वजन्मनि यक्षौ ॥ २२ ॥ शापहेतुमाह—मदादिति। तत्रापि हेतुः श्रियान्वितावितिि। "श्रुतिचक्षुर्वाग्विहीनं कुरुते लक्ष्मीर्जनस्य को दोषः। गरलसहोदरजाता यन्न मारयति तच्चित्रम्" इत्युक्तेः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ कथमस्यास्तादृशी तत्प्राप्तिर्जाता परेषां वा कथं स्यात् तत्राह—नायमिति। अयं गोपिकासुतो भगवान् देहित्वे-नाभिमानवतां तप आदिभिर्न सुखापः किंतु "एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः। भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः" इत्युक्तरीत्या कथञ्चित् कदाचित् तद्भक्तसङ्गो यदि स्यात् तदा क्रमत एव प्राप्यः एवं ज्ञानिनां देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानवताम् आत्म-भूतानां तद्विज्ञानवतामपि न सुखापः किन्तु पूर्ववत्तद्भक्तसङ्गादेव आत्मभूतानामिति पाठं केचित्पठन्ति तत्र आत्मैव पोतस्तरण-साधनं येषां ज्ञानिनामित्यर्थः। तर्हि सुखाप इत्यपेक्षायां तन्निदर्शनमाह—यथा इह श्रीगोपिकासुतो भक्तिमतां सुखापः अनेन महानारायणादिभक्तिमन्तोऽपि व्यावृत्ताः युक्तं च तेषामसुखाप इति देहिनां ज्ञानिनां च देहिसामान्यदृष्ट्या भक्तान्तराणां च गोपलीलादृष्ट्या तत्रादरानास्पदत्वात् तद्भक्तानां सुखाप इति च युक्तम्" इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादिषु तेषां तादृश-तल्लीलायाः सर्वोत्तमतया अनुभवादिति ज्ञेयम्। तत्र गोपिकासुत इति निर्विशेषणमेवोपलक्षणं गोपिकाया एव सर्वोपादेयत्वेन विवक्षितत्वात् इहशब्दश्च तद्वाच्येव न जगदादिवाची प्राप्तत्वात् व्यर्थत्वाच्च भक्तिमन्तश्च त्रैकालिकभक्तपरम्परा एव अविशेषेण प्राप्तत्वात् तासुपदिशतां वेदानां तदुपदेशकोपदेश्यपरम्पराणां चानाद्यनन्तकालभावित्वात् तच्च विशेषणं भक्तिसुखप्राप्तिरूपयोः साधनसाध्ययोरुभयोरप्यवस्थयोर्दत्तं तस्मात्ते सार्वकालिकतद्भक्ता गोपिकासुतत्वेनैव साधयन्ति लभन्ते च तमिति स्थिते नित्यैव तस्य तद्रूपेणावस्थितिः सिद्धा तथा गोपिकासुतत्वेनैव साधननिर्णयो गोपिकायाश्च तत्साधनत्वे स्वाश्रयदोषापातान्न साधनावकाश इति सैव निर्द्धार्यते अत एव गोपिकायाः सुखाप इति किं वक्तव्यं गोपिकायास्तु सुत एव स इति व्यञ्जितम् उपलक्षण चैतत् श्रीनन्दस्य तदीयानामपि तेषां तादृशत्वं च श्रीकृष्णजन्माष्टम्यादिव्रते तदीयनानामन्त्रे चावरणपूजायां द्रष्टव्यं तस्मात्पूर्वं मया तयोरंशाभ्यां द्रोणधरारूपाभ्यां यल्लीलामात्रं तदेवापातप्रबोधमात्रार्थमुक्तमिति भावः ॥ २१ ॥ एवं श्रीगोपिकायां केवलबालत्वेप्यन्यत्राव्याहतज्ञानादिमत्त्वं वक्तुं प्रस्तौति—कृष्णस्त्विति। एवं यशोदा श्रीकृष्णं बबन्ध स चान्यं मोचयामासेति भिन्नोपक्रमे तुशब्दः गृहकृत्येष्विति बहुत्वेन तेषामनुपरतिः सूचिता तं त्यक्त्वा गमनं च तस्य प्राङ्गणसमीपस्थत्वात् वक्ष्यमाणानां बालानां रक्षितत्वात् दृढबन्धनमोचनोलूखलाकर्षणशक्तेरमननेन पुत्रस्यान्यत्र गमनशङ्कापगमात् तथा च श्रीविष्णु-पुराणे तस्या वाक्यं "यदि शक्तोषि गच्छत्वमतिचञ्चलचेष्टित" इति पूर्वमद्राक्षीदित्युक्तं तत्र पूर्वपूर्वतद्दर्शनसम्भवेपि सम्प्रति गच्छ तदुक्तिस्तद्विशेषानुसन्धानापेक्षयेति तच्च यद्यपि स्वयोग्यत्वात तल्लीलाशक्तिकृतमेव तथापि स्वबन्धनानुसन्धानेन तद्बन्धनानुसन्धानस्य योग्यत्वादिवेत्युत्प्रेक्षणीयं दृष्ट्वा विचारितवानित्यर्थः ॥ २२ ॥ अथ तमेव तस्य विचारमाह—पुरेति। मदादभिमानात् मधुमत्ततायाश्च हेतोः यतः श्रिया सम्पदाऽन्वितौ ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

लब्धोचितमेवेत्याह—नायमिति, अयं स्वीकृतमहाबन्धनोऽपि गोपिकासुतः राज्ञीपुत्रः श्रीयशोदानन्दनः परम-गुणरूपादियुक्तः श्रीकृष्णः, इह गोपिकासुते, यद्वा चित्तारूढत्वाच्छ्रीनन्दव्रज इत्यर्थः। या भक्तिर्भगवद्भजनमादरो वा, तद्वतामपि जनानां यथा सुखापः सुलभस्तथा देहिनां देहातिरिक्तात्मज्ञानवतां ज्ञानिनामात्मतत्त्वानुभविनां जीवन्मुक्ताना-मित्यर्थः। आत्मभूतानाञ्च सिद्धमुक्तीनां सिद्धानामपीत्यर्थः। किंवात्मीयानां भक्तान्तराणामपि न सुखापः, किन्तु दुःखेन कथञ्चित् केनचिदंशेनैव प्राप्य इत्यर्थः। अथवा श्रीब्रह्मादीनन्यान् भक्तान् प्रति यद्यपि तादृशः प्रसादो मास्तु, तथापि तैर्भक्तैरे-वायं लभ्यो न त्वन्यैरिति। यद्वा, तेषामेव सुखं सम्पादयति, न त्वन्येषामिति। प्रसंगाद्भक्तिमाहात्म्यमाह—नायमिति, अयं सुदुर्लभः प्रसादः, भगवान् साक्षात् परमेश्वरो गोपिकासुतो गोकुलजनैकप्रिय इत्यर्थः। पदत्रयेण परमदौर्लभ्यमुक्तमतो देहादीनां न सुखापः, किन्तु भगवद्भक्तिमतामेव, इह यत्र कुत्रापि स्थाने; यद्वा, अस्मिन्नेव लोके वर्त्तमानदेहे वा सुखापः सुखलभ्यः किंवा

सुखं प्रापयतीति तथा सः। 'आत्मपोतानाम्' इति पाठं केचित् पठन्ति;—तत्रात्मैव पोतस्तरणसाधनं येषां ज्ञानिनाम्। अन्यत् समानम्। यथेत्यस्यात्रैव वान्वयः, यथावत, सुखापो मोक्षस्य दुःखनिवृतिमात्ररूपत्वेन मुक्तानामपि न सुखाप एव ॥ २१ ॥ श्रीयशोदा कृष्णं बबन्ध। स चान्यं मोचयामासेति भिन्नोपक्रमे तुशब्दः। गृहकृत्येष्विति बहुत्वेन तेषामनुपरतिः सूचिता; यद्वा, पुनः पुत्रार्थं नवनीतसाधनकार्य्येषु बहुत्वं गौरवात्, अतएव व्यग्रायामतस्तदर्थमन्यत्र तस्या यानं ज्ञेयम्,—दृढबन्धन-मोचनोलूखलाकर्षणशक्त्यमनेन पुत्रस्यान्यत्र गमनशंकापगमात्। तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।६।१६) तस्या वाक्यम्—'यदि शक्तोऽसि गच्छ त्वमतिचञ्चलचेष्टित' इति। दामबद्धस्यंव गमनम्, गमने स्वातन्त्र्यञ्च बोधितमतएव प्रभुस्तदानीं प्राप्तस्वा-तन्त्र्यात्, यद्वा, जगदुद्धारे समर्थः, यतः कृष्णः साक्षाद्भगवानतोऽद्राक्षीदनुग्रहीतुमैच्छदित्यर्थः ॥ २२ ॥ मदादभिमानान्म-धुमत्तताया वा हेतोः, तत्र हेतुः श्रिया सम्पदान्वितावििति, यद्वा, शोभया पुष्पादिसमृद्धया वान्वितावित्यर्ज्जुनयोर्विशेषणम्।२३।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रील-सनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सुखापः सुखेन प्राप्यः ॥ २१-२३ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये नवमोऽध्यायः ९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तथा च भक्तानामेवायं सुलभो नान्येषामित्याह—नायमिति। अयं भगवान् गोपिकासुतो यथेह भक्तिमतामात्मा स्वयमेव पोतः भवार्णवतारणे प्लवस्थानीयः येषां तेषां ज्ञानिनां यथा सुखापः सुखप्राप्यः न तथेतरेषामित्यर्थः ॥ २१ ॥ अहो अत्याश्चर्य-मेतत् यत्संसृतिबन्धब्रह्मशापादिमोचनोपि भगवान् लौकिकेन दाम्ना बद्धः इत्येतदभिप्रायेण यमलार्जुनमुक्तिप्रदस्वरूपं चरित्रान्तरं प्रस्तोतुमाह—कृष्णस्त्विति। मातरि उलूखलबद्धवत्यां यशोदायां गृहकृत्येषु व्यग्रायां प्रवणचित्तायां सत्यां बद्धः कृष्णः प्रभुः विप्रशापादिमोचनसमर्थः पूर्वं धनदस्य कुबेरस्यात्मजौ गुह्यकौ यक्षौ ॥ २२ ॥ नलकूबरमणिग्रीवाख्यौ श्रिया युक्तौ सन्तौ पुरामदाच्छ्रीमदान्निमित्तान्नारदस्य कुपितस्य शापेन वृक्षतां तरुजन्म प्रापितावर्जुनौ अर्जुनाख्यौ वृक्षौ ददर्श ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

निरन्तरनिरतिशयभक्तिप्रमदैव भगवत्कर्षणनिपुणेत्याशयेनाऽऽह—नायमिति। आत्मैव परमात्मैव पोतो नौर्येषां ते तथा तेषाम् ॥ २० ॥ पूर्वजन्मनि गुह्यकौ अधुना अर्जुननाम्ना ककुभवृक्षौ ॥ २२ ॥ शापनिमित्तमाह—मदादिति। किं नामानाविति तत्राह नलेति। मदकारणमाह श्रियेति ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां नवमोऽध्यायः।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथैवं भगवत्प्राप्तिर्भक्त्यैव भवति, न ज्ञानादित्याह—नायं सुखाप इत्यादि। अयं गोपिकासुतो भगवान् श्रीकृष्णो देहिनां मध्ये इह श्रीयशोदा-किशोरे भक्तिमतां यथा सुखापः सुलभस्तथात्मभूतानां ब्रह्मभूतानामपि ज्ञानिनां न सुलभः, तेषां तु दुर्लभ एव ॥ २१ ॥

इति श्री दशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

नायमित्यादि। गोपीसुतोऽयं भगवान् अन्यत्र भगवच्छब्दस्य तूपचारः। आत्मभूतानां ज्ञानिनामपि न सुखापः, च कारोऽप्यर्थः, किमुत देहिनाम्। तर्हि केषां सुखापः ? तत्राह—इह श्रीकृष्णे भगवति गोपिकासुते भक्तिमताम् ॥ २२-२३ ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च, श्रीभागवतेऽस्मिन् भगवत्प्रेमैव सर्वपुरुषार्थशिरोमणित्वेनोद्घुष्यते तस्य मूलभूताश्रयाणां भक्तानां मध्ये नित्य-सिद्धत्व एव तस्य नित्यस्थितिः सम्भवेत् तेष्वपि मध्ये गोकुलवर्तिनः तन्मात्रादय एव श्रेष्ठाः येषां वात्सल्यादिभावविषयीभूतः

कृष्णस्तदनुगमनभक्तिमद्भिरेव सुलभो नान्यैरित्याह—नायमिति । अयं गोपिकासुतो न सुखापः केषां देहिनां देहाध्यासवतां भक्तिमतां ज्ञानिनां देहाध्यासरहितानामात्मारामभक्तानां तथा तथाभूतत्वे सत्येव प्राप्तियोग्यतायां निषेधसम्भवात् आत्मभूतानां पूर्वश्लोकनिर्दिष्टानां विरिञ्चिभवश्रियां तत्र विरिञ्चिभवयोः स्वावतारत्वेन लक्ष्म्याः स्वरूपशक्तित्वेनात्मभूतत्वम् एवं त्रिविधजनानां गोपिकासुतो भगवान्न सुखापः किं तदिति विकुण्ठाकौसल्यादिसुत एव दुःखमेवाभिव्यञ्जयति यथा इह श्रीयशोदायामेतदुपलक्षितेषु वात्सल्यसख्यकान्तभावाश्रयेषु व्रजलोकेषु या भक्तिः स्त्रियः उरगेन्द्रभोगभुजदण्डेत्यादिना यथात्वल्लोकवासिन्य इत्यादिना च व्यञ्जिता श्रुत्यादिभिरनुगतिमयी तद्वतां यथासुखापस्तथा नेति तेन गोपिकाद्यनुगतमयस्वन्यूनतादुःखाङ्गीकारस्तु विरिञ्चिभवलक्ष्म्यादिभिरीश्वराभिमानिभिः स्वस्वलोकास्थतैदुःशक एव अन्येषां तु तादृशोपदेशस्यालाभादरोचकत्वाद्वा तदनुगत्यभाव एवेति भावः । अत्र सुखापदुष्प्रापशब्दाभ्यां प्राप्तप्राप्ती एवोच्यते इति केचिदाहुः भक्तैर्बद्धस्याप्यन्यमोचकत्वं वक्तुमाह कृष्णस्त्विति ॥ २१-२३ ॥

ऋषित्वादेव बद्धोऽहं मात्रा तदनृणीभवन् । किं कुर्वे इति संचिन्त्य मोचयत्तत् पुरद्रुमौ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमे नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ९ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

प्रसङ्गात् भक्तिसम्बन्धवर्जितानां ज्ञानादीनां भगवत्प्राप्त्यकारणत्वं भक्तेस्तु भगवत्प्राप्तिहेतुत्वमाह—नायमिति । आत्मभूतः अनुभवविषयीकृतो यैस्ते आत्मभूतास्तेषां ज्ञानिनामपि किं पुनर्वक्तव्यं कर्मादिनिष्ठानां न सुखाप इति ॥ २१ ॥ स्वानन्यभक्तैर्बद्धोऽपि अन्यान्विमोचयतीति सूचयन् चरित्रान्तरं वक्तुमाह—कृष्णस्त्विति ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे नवमाध्यायार्थप्रकाशः ॥ ९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवं नन्दयशोदयोः सौभाग्यमभिधाय तदनुगानां व्रजौकसां तदाह नायमिति । अयं गोपिकासुतो भगवान् कृष्णः देहिनामनिवृत्तदेहाभिमानानां ज्ञानिनामुदितस्वपरात्मज्ञानानां तापसादीनाम् आत्मनि भूतानां स्थितानां त्रिनिवृत्तदेहाभिमानानां सनकादीनाञ्च यद्वा आत्मभूतानां पूर्वोक्तानां विरिञ्चादीनां तथा सुखापो न यथेह व्रजे निवसतां गोपिकासुतभक्तिमतामिति तत्तत्सर्वापेक्षया व्रजौकः सुतस्यातिशयिततनं सुखप्रापणमिति नित्यसिद्धसौभाग्यास्ते एवमेवोक्तं सूत्रकृतापि उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवदिति साधकोत्कर्षः सिद्धे पर्यवस्येदिति तत्र भावः ॥ २१ ॥ एवं मातुर्हठरक्षया तामानन्द्य नारदस्य स्वैकान्तिनो वचनसत्यताविधानेनानन्दाय मनो दधे इत्याह कृष्णस्त्विति । तन्निविष्टचित्तायामेव मातरि तस्मिन् कोपवोधनाय गृहकृत्येषु व्यग्रायां सत्यामर्जुनावद्राक्षीत् मात्रा निबद्धोऽहं तदृणी न तदृणनिर्यातने समर्थः किन्तु तत्पुरद्वारस्थितयोर्वृक्षयोर्मोक्षं करिष्यामीति भावेनेत्याशयः ॥ २२ ॥ पुरेति प्रस्फुटम् ॥ २३ ॥

स्तेयकोपवतो जीवान् गुणैर्बध्वैवरोदयें । तद्वन्मात्रा निबद्धस्तैर्मारुहीत्याहुरर्भकाः ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भक्तिरेवैनं गमयति भक्तिवशः पुरुष इति श्रुत्यर्थं वदन्नाह ॥ नेति । आत्मपोतानां देहाभिमानिनां भगवान्गोपिकासुतः सुखाप्यो न ॥ २१ ॥ बद्ध इति तु सूचयति । मातरि गृहकृत्येषु व्यग्रायां सत्यां पूर्वं धनदात्मजौ गुह्यकौ । इदानीमर्जुनः ककुभे पार्थ इति विश्वः । ककुभवृक्षौ मत्तीत्यपभ्रष्टभाषा । अद्राक्षीत् ॥ २२ ॥ तौ जातौ वृक्षौ कुत इत्यत आह ॥ पुरेति । नलकूबरमणिग्रीवावित्याख्यातौ श्रियाऽन्वितौ मदात्पुरा नारदशापाद्वृक्षतामर्जुनवृक्षतां प्रापितौ । एकेनाक्षरेणेत्यादेरेकवर्णाधिक्यं न दोषाय ॥ २३ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे दशमोऽध्यायः ॥ १०-१० ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु ते महान्तो मूढा चेयमिति मूढानुरोधेन कृतोर्थः कथं प्रसादः स्यात् ? तत्राह **नायं सुखाप** इति, न ह्यत्र बन्धनं निरूप्यते किन्तु वश्यता, सा न कस्यापि सिध्यति, यावन्तः कर्मिणो **देहाभिमानिनो** येपि ज्ञानिनो निरभिमाना मुक्ता उभयेषामप्ययं **भगवान् न सुखापः** सुखेन प्राप्तुं शक्यः, तत्र हेतुर्देहिनामिति, एकत्र देहाभिमानो दोषोन्यत्र नैरपेक्ष्यं, तदाह **ज्ञानिनां चात्मपोतानामिति, आत्मा** स्वरूपं **पोतः** संसारसमुद्रतरणोपायो येषां, न हि समुद्रतरणमात्रेण पारस्थितो महाराजः प्राप्यते,

भक्तिमतां त्विहैव सुलभः, तत्र हेतुर्गोपिकासुत इति, यतो **गोपिकायाःसुतो** जातः, अतः **सर्वे भक्ता भवन्त्वित्येवं** भगवता कृतमितिभावः, इहेत्यस्मिन्नवतारे **भक्तिमतामिति** भक्तेर्विशेषणत्वमुक्तं न तु भक्तानाम् ॥ २१ ॥ एवं स्वमनोरथे सिद्धे गोपिका बहिर्मुख्यो यथायथं गताः, भगवांस्तु यथा न गतः किन्तु तस्यामेवावस्थायां महत् कार्यं कृतवानित्याह **कृष्णस्त्विति**, तुशब्दः पूर्वसम्बन्धं व्यावर्तयति नायं बन्धनव्यग्रः **कृष्णः**, सा चेद् भगवन्तं वशीकृत्य तथैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्याद् भगवान्, निरोधस्य सिद्धत्वात्, सा पुनर्गृहकृत्ये **व्यग्रा** जाता, तथा जातायां **यमलार्जुनवृक्षावद्राक्षीत्** तत्पातनेन च तस्याः प्रपञ्च-विस्मरणं करिष्यामीति, ननु कोयमस्याग्रहः? तत्राह **मातरीति**, तस्यामप्यवस्थायां पातने सामर्थ्यमस्तीति ज्ञापयति **प्रभुरिति**, **अर्जुनौ** जातिविशेषवृक्षौ 'सखि' शब्दवाच्यौ, ननु गोपिकार्थं कथं तयोः पातनमपराधाभावादित्याशङ्क्याह **पूर्वं गुह्यकाविति**, देवयोनिभूतौ वृक्षौ जातौ, अतस्तयोर्वृक्षत्वमनभिप्रेतं, तथापि प्रयोजनाभावात् सम्बन्धाभावात् किमिति मोचनीयावित्याशङ्क्याह **धनदात्मजाविति**, धनदः कुबेरो भक्तस्तस्य पुत्रौ ॥ २२ ॥ ननु तौ महान्तौ कथमेवं जातौ? तत्राह **पुरेति**, पूर्वं **नारदशापेन वृक्षत्वं प्राप्तौ**, ननु नारदः किमिति शापं दत्तवान्? तत्राह **मदादिति**, श्रीमदेन मत्तौ, अतो मदाद्धेतो-र्नारदशापः **शापेन च** वृक्षत्वमिति, ननु तथाभावयोग्यावेव तौ किमिति मुच्येते इत्याशङ्क्याह **नलकूबरमणिग्रीवाविति-ख्याताविति**, **नलः कूबरो** यस्य नलोतिसुन्दरः सोपि कुब्जतुल्यो **मणियुक्ता ग्रीवा** यस्यैवन्नाम्ना **ख्यातौ**, तेषां नामख्यातिश्च न शान्तेति तदुद्धारो युक्तः, किञ्च **श्रिया चान्वितौ**, अद्यापि तौ परित्यज्य श्रीर्न गता, अतः कीर्तिश्रियोर्विद्यमानत्वादुद्धारमर्हतः ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरप्रमाणप्रकरणे ज्ञाननिरूपकपञ्चमाध्यायस्य स्कन्धादितो नवमाध्यायस्य विवरणम् ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

कृष्णस्त्वित्यस्याभासे, एवं स्वमनोरथ इत्यादि। अधुना त्विती मातुर्गमनमुच्यते, अग्रे बाला ऊचुरित्यनेन तेषां तत्र स्थितिर्ज्ञाप्यते, नान्येषाम्। एवं सत्यर्थाद्गोपीनां गमनमुक्तं भवतीति तदिदमुक्तम्। एतास्तु तादृशं तं द्रष्टुमक्षमा इति तादृग्गेहेपि संमुखं मुखं न कृतवत्य इति तद्गेहाद् बहिरेव प्रसन्नमुखा जाता इति ज्ञापनाय विशेषणमुक्तम्। **एवं स्वमनोरथे सिद्ध इति** तु मातुर्वैयग्र्ये हेतुरुक्तः। अथवा, अधुनाप्यनाश्लिष्टप्रियास्तदभिलाषिण्यो दाम्ना बन्धनाभावं दृष्ट्वा स्वार्थे सन्दिहाना जाताः। सम्पन्ने तस्मिन्स्वमनोरथोपि सेत्स्यतीति निश्चयेनैतासामेव स सिद्ध इति तथोक्तम् ॥ २२ ॥

इति नवमोध्यायः ॥ ९ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नायमित्यत्र **भक्तेर्विशेषणत्वं न तु भक्तानामिति** सुखापत्वे **भक्तेरेव विशेषणत्वं न तु भक्तानां** भक्तत्वस्यान्यत्रापि सत्त्वादिति ॥ २१ ॥ **कृष्णस्त्वित्यत्राभास एवं स्वमनोरथ** इत्याद्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुरधुना **त्वित्यादिना** ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे नवमाध्यायविवरणम् ॥ ९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नायं सुखाप इत्यत्र **न तु भक्तानामिति** कदाचिद् भक्तिं विनापि सेवामात्रेण भक्ता भवन्ति तेषां **न सुखाप** इत्यर्थः ॥ २१ ॥ **कृष्णस्त्वित्यत्र पूर्वसम्बन्धमिति** पूर्वासां सम्बन्धं गोपिकानां कासाञ्चिदपि गेहे गमनमित्यर्थः ॥ २२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

कृष्णस्तु गृहकृत्येष्वित्यत्र सखिशब्दवाच्यत्वादिति अर्जुनस्य सखित्वात् तद्वाचकार्जुनपदवाच्यौ यमलार्जुनावित्यर्थः, तथा च स्वभक्तसखार्जुननामस्मरणेन तयोरुपरि महती भगवत्कृपा जातेतिभावः ॥ २२ ॥ **नलोतिसुन्दरः सोपि कुब्जतुल्य इति** यस्य नलकूबरस्य परमसुन्दरस्याग्रे **नलोपि** सुन्दरत्वेन प्रसिद्धोपि **कुब्जतुल्य** इत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति नवमोध्यायः ॥ ९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

फलितमाह—नायमिति। अयं भगवान् इह संसारे वर्तमानानां देहिनां मध्ये यथा भक्तिमतां सुखापः 'सुखेनाप्यते इति सुखापः' सुलभः, यद्वा सुखमापयतीति सुखापः सुखदस्तथा ज्ञानिनामपि सुखापो न भवतीत्यन्वयः। 'अन्येषां सुखापो न भवतीति तु किं वक्तव्यम्?' इति सूचयितुमप्यर्थे चकारः। ज्ञानिनां सर्वोत्तमत्वमाह—आत्मभूतानामिति। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' इति भगवद्वचनात्। निवृत्तदेहाद्यात्माभिमानानां प्राप्तब्रह्मात्मैकभावानामपीत्यर्थः। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त-

चेतसाम्' इति भगवतैव तेषां क्लेशस्योक्तत्वादितिज्ञेयम्। 'आत्मपोतानाम्' इति पाठान्तरे तु आत्मैव पोतः संसारोत्तरणसाधनं येषामपीत्यर्थः। 'अत्र न कश्चित्सन्देहः, प्रसिद्धत्वात्' इत्याशयेनाह—गोपिकासुत इति। यतो गोपिकाया जात्यादिहीनाया अपि भक्तिवशात् सुतोऽपि जातः, नच ज्ञानिनामित्याशयः ॥ २१ ॥ 'एवं भक्त्या बद्धस्याप्यन्यमोचकत्वात्तस्यैश्वरत्वे न क्षतिः' इत्याशयेन यमलार्जुनभञ्जनलीलामाह—कृष्णस्त्विति। तुशब्दो लीलान्तरत्वद्योतकः। यदा सर्वा गोपिका बन्धविमोचनार्थं यशोदां सम्प्रार्थ्य विमोचने निराशाः सत्यो यथायथं गताः, मातरि यशोदायां च गृहकृत्येषु व्यग्रायां सत्यां तदा श्रीकृष्णोऽपि 'यदि अस्यामपि मद्बन्धनावस्थायामियं मां हित्वा गृहकार्येष्वासक्ता तदाऽनयोः पातयित्वाऽस्याः प्रपञ्चविस्मृतिं स्वभिन्नासक्तिं च करिष्यामि' इत्यभिप्रेत्य अर्जुनवृक्षावद्राक्षीत्। ननु 'तयोर्निरपराधिनोः पातनमप्ययुक्तमेव' इत्यत आह—पूर्वमिति। पूर्वजन्मनि गुह्यकौ यक्षौ, धनदात्मजौ कुबेरपुत्रौ, अतस्तयोरुद्धारस्याप्यावश्यकत्वात्तदर्थं तयोः पातनमिति भावः। तदावश्यकत्वे तत्र सामर्थ्ये च हेतुं सूचयन्नाह—प्रभुरिति। सर्वस्वामीत्यर्थः ॥ २२ ॥ 'धनदात्मजौ चेत् कथं वृक्षतां गतौ' तत्राह—पुरेति। पुरा पूर्वजन्मनि यो नारदस्य शापस्तेन वृक्षतां प्रापितौ। शापे हेतुमाह—मदादिति। मदे हेतुमाह—नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ महत्त्वेन प्रसिद्धाविति। तत्र हेतुमाह—श्रियान्विताविति। धनदपुत्रतया महदैश्वर्ययुक्तावित्यर्थः ॥ २३ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने। नवमो विवृतोऽध्यायः कृष्णबन्धनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नायमिति ॥ अयं गोपिकासुतः भगवान् इह संसारे वर्तमानानां देहिनां मध्ये यथा भक्तिमतां सुखापः सुखेनाप्यत इति सुखापः सुलभः तथा आत्मभूतानाम् "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः" इत्यात्मरूपतयोक्तानां ज्ञानिनामपि सुखापो न भवति। चोऽप्यर्थे। देहिनां देहाभिमानिनां तापसादीनां ज्ञानिनां विवृत्ताभिमानानामपीति स्वामिपादाः। गोपिकासुत इत्यनेन यशोदायास्तु सुत एवेति तया तु प्राप्य एवेति उपलक्षणमेतन्नन्दादेः ॥ २१ ॥ भक्तैर्बद्धस्याप्यन्यमोचकत्वमाह—कृष्ण इति द्वयम् ॥ प्रभुः कृष्णस्तु मातरि गृहकृत्येषु व्यग्रायां सत्यां यौ पूर्वं पूर्वजन्मनि गुह्यकौ यक्षौ धनदात्मजौ कुबेरपुत्रौ नलकुबरमणिग्रीवौ इति नामभ्यां ख्यातौ श्रियान्वितौ अभूतां तावेव पुरा मदाद्धेतोर्नारदस्य शापेन वृक्षतां प्रापितौ अतोऽर्जुनौ तन्नामवृक्षौ जातौ तौ अद्राक्षीत् ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

आत्मभूतानां क्षेत्रज्ञभावं प्राप्तानां ज्ञानिनां हरिस्वरूपस्वभावादिज्ञानवतामयं गोपीकासुतः। यथा सुखापः। सुखप्रापकः भक्तिमतामतिप्रेमवतां च यथा सुखापः तथा देहिनां देहाभिमानिनां न सुखापः ॥ २१ ॥ पूर्वं पूर्वजन्मनि गुह्यकौ यक्षौ धनदात्मजौ कुबेरसुतौ अर्ज्जुनौ अर्ज्जुनवृक्षत्वेनोत्पन्नौ ॥ २२ ॥ मदात् धनमदाद्धेतोः ॥ २३ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्थदशमस्कंधव्याख्याने गोपीप्रसादो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तथा च भक्तानामेवायं सुलभो नान्येषामित्याह ॥ नायमिति ॥ गोपिकासुतः गोपिकासुततां प्राप्तोऽपि, भगवान् षाड्गुण्यपूर्णपरब्रह्मरूप एव, अयं कृष्णः, देहिनां देहाभिमानवतां तापसादीनां, असुखाप एवेति शेषः। आत्मभूतानां निवृत्तदेहाद्यभिमानवतं, यद्वा। स्वयं भगवता स्वात्मत्वेनाभिमतानां, ज्ञानिनां च सुखापः सुखेन प्राप्यः सन्नपि, यथा इह, भक्तिमता सुखापः, तथा सुखापः, न च न भवत्येव। सुबोध इति पाठे सुखेन बोद्धुं शक्य इत्यर्थः ॥२१॥ अहो अत्याश्चर्यमेतद्यत संसृतिबन्धब्रह्मशापादित आत्मीयमोचरशक्तोऽपि भगवान् लौकिकेन दाम्ना बद्ध इत्येतदभिप्रायेण यमलार्जुनमुक्तिदत्त्वरूपं चरित्रान्तरं प्रस्तोतुमाह ॥ कृष्णस्त्विति ॥ पुरेति च ॥ मातरि उलूखले बन्धनं कुर्वत्यां यशोदाख्यजनन्यां तु, गृहकृत्येषु, गृहोचितकार्येषु, व्यग्रायां सत्यां, प्रभुः विप्रशापादिविमोचनसमर्थः, कृष्णः तु उलूखलनिबद्धोऽपि श्रीकृष्णः, पूर्वं, धनदात्मजौ कुबेरस्य पुत्रौ, गुह्यकौ गुह्यकजातिजौ, नलकूबरमणिग्रीवौ इत्येवं, ख्यातौ, श्रिया अन्वितौ संपत्तिसंपन्नौ सन्तौ, मदात् श्रीमदान्निमित्ताद्धेतोः, पुरा नारदशापेन, वृक्षतां तरुभावं, प्रापितौ, अर्जुनावर्जुनाख्यौ वृक्षौ, अद्राक्षीत् इति द्वयोरेकान्वयः ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थविबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नायं सुखाप इति : १०.९.२१.

योगाद्याखिलसाधनाधिकगुणा सिद्धैव सा यद्यया ज्ञानादप्यतुलोत्सवः प्रभुवशीकारः सुभक्त्याऽधिकः ।
इत्थं सर्वविदग्रगर्षिभणिति-प्रामाण्यबद्धादरस्त्यक्त्वा साधनमन्यदच्युतभवद्भक्तिं करोम्यन्वहम् ॥ ७९ ॥

कृष्णस्त्विति : १०.९.२२.

गृहकृत्यात्यासक्तः स एव बद्धोऽहमस्मि यद्बुद्ध्या । तादृग्धियं हि मातरमुदाजहाराऽच्युतः सगृहसक्ताम् ॥ ८० ॥

मुक्तं मामपि बद्धतां नयति योऽदभ्रभ्रमालङ्कृतो नार्हत्वं भजते स मत्कृत—परोद्धारप्रकारे क्षणे ।
आलोच्येत्थमथाऽच्युतस्तरुसमुद्धारं समैच्छत्तदा व्यग्रायां गृहकार्यतोऽन्तरगृहं यान्त्यां क्षमं मातरि ॥ ८१ ॥

सन्निहितायां मातरि भविता नहि गुह्यकामितार्थाप्तिः । इति किं तस्यां तादृशि सत्यां कृष्णस्तदीक्षणं चक्रे ॥ ८२ ॥

अर्जुनाविति :

धवलत्वमधस्थित्याऽधुनास्ते पारिभाषिकम् । वरत्वं त्वस्ति निर्बाधमित्यद्राक्षीत् स तादृशौ ॥ ८३ ॥

पुरा वर्णतो नामतश्चाधुनापि स्मृतावर्जुनेत्याख्यया निर्विवादम् ।
अतो येन केनापि योगेन पूर्वानुषङ्गोऽभ्युपैति स्वरूपेऽपि कस्मिन् ॥ ८४ ॥

गुणावलम्बनं दीनोद्धरणायैव मे मतम् । तद्युक्तं सगुणस्याद्य तादृक्करणमित्यवैत् ॥ ८५ ॥

अर्जुनेत्यभिधाभाजो - रपार्थस्थितिरेतयोः । नोचितेति कृतार्थौ तौ कर्तुमैच्छत्कृपानिधिः ॥ ८६ ॥

अहो दयालुत्वमसीममैश्वरं यद्बन्धनं स्वं ह्यनवेक्ष्य सत्त्वरम् ।
तन्मुक्त्युपायं तरुजन्मतस्तदा व्यचिन्तयत् साधुसदध्वदर्शकः ॥ ८७ ॥

श्रीशकल्पतरु० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्ति-रसायने नवमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

कृष्णप्रिया

राजन्, यह यशोदोत्सङ्गलालित श्रीकृष्ण भगवान् जितनी सुगमता से इस विश्व में सेवोपयोगी देहधारी भक्तों को मिल जाते हैं उतनी आसानी से देहाभिमानी याजकों को, तपस्वियों को एवं अपने आत्मभूत ज्ञानियों को भी नहीं मिलते ॥ २१ ॥ जब माता यशोदा कृष्ण को बाँध गृहस्थी के कामों में लग गयी तब प्रभु ने उन दोनों अर्जुन वृक्षों पर नजर दौड़ायी जो कि अगले जन्म में गुह्यक यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे ॥ २२ ॥ इन दोनों के नलकूबर और मणिग्रीव नाम थे । दोनों धन यौवन सौन्दर्य के मद से छके हुए थे इस लिये वे दोनों पूर्व में नारदजी के शाप से वृन्दावन में वृक्षरूपता को प्राप्त हो चुके थे ॥ २३ ॥

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

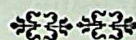

अथ दशमोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	व.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
४३	४०	३	८	१४४८	५४	३९	१५४१	४८	५

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम्। यत्तद् विगर्हितं कर्म येन[1] वा [2]देवर्षेस्तमः ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ। कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ। स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥
अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि। चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भगवन् ? तयोः तद् विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेः तमः यत् शापस्य कारणं एतत् कथ्यताम् ॥ १॥ सुदृप्तौ रुद्रस्य अनुचरौ वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोत्कटौ भूत्वा मदाघूर्णितलोचनौ रम्ये कैलासोपवने पुष्पिते वने मन्दाकिन्यां गङ्गायाम् अम्भोजवनरागिनि अनुगायद्भिः स्त्रीजनैः अन्तः प्रविश्य करेणुभिः गजौ इव युवतिभिः चिक्रीडतुः ॥ २-४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमेऽपातयद्विगन्तरा यमलार्जुनौ। तत्रत्याभ्यां च देवाभ्यां कृष्णः स्तुत इतीर्यते ॥ १ ॥

यद्विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेर्भागवतोत्तमस्यापि तमः क्रोधस्तदेतत्कथ्यतामिति ॥ १-३ ॥ गंगायामंतर्मध्ये। कथंभूते। अंभोजानां वनानि तेषां राजयस्ता विद्यंते यत्र तस्मिन् ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यमलौ युग्मौ च तावर्जुनौ चेति कर्मधारयः द्वितीया त्वंतरायोगात्। अंतरा मध्ये 'रिंगणं स्खलनं समे' इत्यमराद्रिंगन् हस्तपादादिभिश्चलन् तत्रत्याभ्यां यमलार्जुनस्थाभ्यां देवाभ्यां नलकूबराभ्याम्। "अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्त्तवीर्यमयूरयोः। मातुरेकसुतेऽपि स्यात्पुल्लिंगो धवलेन्यवत्" इति मेदिनी (१)। भागवतोत्तमस्याप्यसंभावितमसोपि। विगर्हितं निंदितम्। येन कर्मणा। तदेतत्कर्म ॥ १ ॥ सुदृप्तौ गर्वितौ। मंदाकिन्यां गंगायाम्। मदेन धनादिजेनोत्कटाभुच्छृंखलौ ॥ २ ॥ वारुणीं वरुणाज्जातां कदंबादिसंभवाम् 'वारुणी वृक्षकोटरात्' इति वक्ष्यमाणत्वात्। यद्वा—'ततोऽभूद्वारुणी देवी' इति समुद्रमथनाख्यानोक्तेः। वरुणदेवताकं यदन्नं तन्मयी सुरेति स्वामिचरणाः ॥ ३ ॥ अंभोजानां सरोजानाम्। राजयः पंक्तयः। 'करेणुर्भ्यां नेभे स्त्री' इत्यमरः। करेणुभिर्गजीभिः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ तस्य वद्धस्य मातृकोपाद्द्वयग्रस्य चाऽव्याहतसार्वज्ञमयीं विचाररूपामान्तरलीलामपि कौतुकात् पृच्छति—कथ्यतामिति। तमोऽभूदिति शेषः। तदेतच्छापस्य कारणमिति योज्यं येनासीद्देवर्षेस्तम इति पाठान्तरं सुगमम् आर्षत्वाच्छन्दोभङ्गादोषः ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवश्च तादृशतद्विचारमनुसृत्य वक्तुमारब्धवान् तत्र रुद्रस्येति युग्मकम् वारुणीं क्षीरोदमथनाज्जातां किं वा वरुणनिर्मितामिति महामादकत्वमुक्तं तां पीत्वा कैलासोपवनमध्ये या मन्दाकिनी तस्यां तत्समीपे पुष्पिते वने प्रथमं चेरतुः ॥ २-३ ॥ गङ्गायां चिक्रीडतुः किं कृत्वा अन्तः प्रविश्य अन्तः कथम्भूते ? अम्भोजवनानां राजिर्यत्रेत्यव्ययविशेषणत्वेन नपुंसकत्वान्नुम् ॥ ४ ॥

---

१. येनासीद्देव—इति कस्यचित् येन वा देव ऋषिः कुपितः—वीरः ; येन देव ऋषेस्तमः—विज.। २. देवर्षेस्तमः. श्रीधर. वंशी. विश्व. शुक.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

श्रीदामोदरस्य परम-मनोहर-लीलाश्रवणेन चित्तारूढस्य तस्य भावविशेषकौतुकेन क्षणं सबन्धनस्य स्थित्यर्थमिव कथान्तरमापातयन् पृच्छति— कथ्यतामिति, तमोऽभूदिति शेषः। 'येनासीद्देवर्षेस्तमः' इति पाठान्तरं सुगमम्, आर्षत्वाच्छन्दोभङ्गादोषः, तच्च सर्वसम्मतं न स्यात्। तदेतत् कथ्यतामधुनैव कथ्यतामित्यर्थः। यद्वा, तदवाच्यमपि महदपराधकथनेऽपि दोषाद्विशेषतो गर्हितमिति यथा मुनिपुत्रशापे गर्हितं मत्कर्म कारणम्, ततोऽपीदमधिकतरं न्यूनं भवेदन्यथा भागवतोत्तमस्य श्रीनारदस्य क्रोधासम्भव इत्यर्थः। भगवन् हे सर्वज्ञेति यथा मद्विगर्हितकर्मणा मुनेः शापोऽपि भवत्संगमादिनाऽनुग्रह एव वृत्तस्तथा तयोरपि किमभूत्, तच्च त्वया ज्ञायत एवेति भावः॥ १॥ रुद्रानुचरत्वादेव सुदृप्तौ महागर्ववन्तौ, यद्वा, सुदृप्तत्वे हेतुः—धनदात्मजाविति। रुद्रस्यानुचरौ भूत्वाऽपि तदधिष्ठितमहापुण्यस्थाने, तत्र च मन्दाकिन्यां मन्दाकिनीतटे, मदिरापानात्तथा गंगायां निषिद्धाया अपि जलक्रीडाया विधानात्, तत्र च विवस्त्राविति वक्ष्यमाणाद्गंगायां नग्नत्वाच्च महापराधा उक्ताः। मदैः श्र्यादि सम्बन्धिभिरुत्कटौ मत्तौ, किञ्च, मदिरां पीत्वा वारुणीं वरुण-निर्मितामिति महामादकत्वमुक्तम्। स्त्रिय एव जनाः, परिचारकरूपा लोका वा, तैः सह, अन्विति तयोरप्यादौ गानं बोधयति, मत्तत्वात्, यद्वा, निरन्तरमित्यथः॥ २-३॥ गजाविवेति महामत्ततया जलक्रीड़ने दृष्टान्तः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, अम्भोज-वनेन राजितुं शीलमस्य, तस्मिन् जल इति शेषः॥ ४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तमः कोपहेतुरज्ञानम्॥ १-४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमुक्ते लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति राजा–कथ्यतामिति। यद्विगर्हितं कर्म येन वा देवापभागवतश्रेष्ठः कुपितः तदेतत्कर्म तयोः शापस्य कारणं हे भगवन्! कथ्यतां देवर्षेर्येन वा तम इति पाठे देवर्षेर्भागवतोत्तमस्यापि तमः क्रोध इत्यन्वयः॥ १॥ तस्योत्तरमाह मुनिः—रुद्रस्येत्यादिश्लोकद्वयं स्पष्टार्थम्॥ २-३॥ गङ्गायामन्तर्मध्ये कथम्भूते अम्बुजानां वनानि तेषां राजयो यस्मिन् तस्मिन् स्त्रीह्यादित्यादिनिः करेणुभिरिभीभिर्गजाविव युवतिभिः सह चिक्रीडतुः क्रीडाङ्कृतवन्तौ॥ ४॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेरेव संसारान्मोक्ष इति दर्शयितुं नलकूवरमणिग्रीवयोः शापमोक्षप्रकारं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये; तत्र राजा शुकं पृच्छति, राजेति। यद्विगर्हितं निन्दितं कर्म तत्कथ्यतां येन कर्मणा देवर्षेस्तमोगुणकार्यक्रोधोऽभूत्॥ १-२॥ वारुणीं वरुणाज्जाताम्॥ ३॥ अम्भोजवनराजिनि जल इति शेषः॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तद्युगलमोक्षणलीलाश्रवणरसपोषार्थं पृच्छति कथ्यतामिति॥१-३॥ अम्भोजवनेन राजितुं शीलं यस्य तस्मिन्॥४-६॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कुबेरात्मजयोः शापः कथा प्रोक्ता पुरातनी। तद्विमोचयिता कृष्णस्ताभ्यां तु दशमे स्तुतः॥

तयोर्विगर्हितं यत्कर्म येन वा कर्मणा देवर्षेरपि तमः क्रोध एतत्तयोः शापस्य कारणं कथ्यतामित्यन्वयः॥ १-३॥ गङ्गायां चिक्रीडतुः किङ्कृत्वा अन्तर्मध्ये प्रविश्य कीदृशे अम्भोजानां वनराजिर्यत्र तस्मिन्॥ ४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नलकूबरमणिग्रीवयोः प्राग्वृत्तं वृक्षभूतयोस्तयोः यतनं तत् कृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं च दशमेऽध्याये निरूपयति–तयोः शापस्य कारणं यत्तद्विगर्हितं कर्म येन देवर्षेः भागवतोत्तमस्यापि तमः तदेतत्कथ्यताम्॥ १-३॥ अम्भोजानां वनानि तेषां राजयस्ता विद्यन्ते यस्मिन् तस्मिन् गङ्गायामन्तर्मध्ये प्रविश्य चिक्रीडतुः क्रीडां कृतवन्तौ॥ ४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कुवेरसुतयोः शापवृत्तान्तो दशमे तयोः। मोक्षकृत् परिणूतश्च ताभ्यां हरिरुदीर्यते॥

तयोर्विगर्हितं यत्कर्म येन कर्मणा देवर्षेरपि तमः कोपः॥ १॥ रुद्रस्येति युग्मकम्॥ २॥ इदानीं "गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदशविवर्जयेत्। शौचमाचमनञ्चैव निर्माल्यं मलकर्षणम्॥ तैलसम्मर्दनं क्रीडां प्रतिग्रहमथो रतिम्। अन्यतीर्थाभिलाषञ्च अन्यतीर्थप्रशंसनम्। वस्त्रत्यागं तथास्वातं संहारञ्चैव वर्जयेत्"। इति पाद्मे गङ्गायां तथाक्रीडानिषेधात्तमपि निषेद्धुमुल्लङ्घितवन्ताविरयाह गङ्गायां चिक्रीडतुः किं कृत्वेत्याह अन्तर्मध्ये प्रविश्य कीदृशि अम्भोजवना राजिर्यत्र तस्मिन्॥ ३-४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ किं मदादिमौ चक्रतुः कुपितश्च शापमदान्नारदो येन तदादितो वदेति परीक्षित्पृच्छतीत्याह ॥ राजेति। एतत्तयोरिति पदमेकम्। एतौ वृक्षात्मकौ तौ चेत्येतत्तौ। तयोः शापस्य कारणं यद्विगर्हितं कर्म तत्कथ्यतामित्यन्वयः। तत्कमज्ञानेन देवऋषेः। ऋत्यक इति प्रकृतिभावः। तमस्तत्कार्यं कोपोऽभूत्। यद्विगर्हितं न गर्हितं च श्रीकृष्णकृतमोचनकारणं किं च कथ्यतामित्यप्यन्वयः। एतीति यत्तमो येन देवऋषेः प्राप्तं तम इति येन तदित्यन्वयो येनेति वा यदिति वाऽतिरिक्तमिति मन्तव्यम्॥१॥ औत्तरेयप्रश्नमुत्तरयति ॥ श्रीशुक इति। अनुचरौ भृत्यौ पूर्वमसुदृप्तौ अनन्तरं मदोत्कटौ उत्कटमदावित्यर्थः। कैलासोपवने मन्दाकिन्यां वियद्गङ्गायाम् ॥ २ ॥ वारुणीं वरुणजां मदिरां पीत्वा मदेन स्वाभाविकेनेवास्वाभाविकेनापि घूर्णिते लोचने ययोस्तौ। अनुगायद्भिः स्त्रीजनैः सह पुष्पिते तारकादिः ॥ ३ ॥ गङ्गायां तत्राप्यन्तः कथं भूतेऽन्तोऽम्भोजवनराजिन्यम्भोजानां वनानि तेषां राजिरस्मिन्निति। अम्भोजानां वनानामुदकानां वा राजिरस्मिन्निति वा। अम्भोजवने राजत इति राजि णिनिः। तस्मिन्निति वा। कथम्भूतायां गङ्गायामम्भोजवनराजि अम्भोजैर्वनै राजत इति राट् तस्याम्। नीत्युपसर्गस्य चिक्रीडितुर्निचिक्रीडितुरित्यन्वयः। निर्येन मुक्तिहृत्ययेन्द्रसानसिं रयमित्यादिवत्। करेणुभिर्वह्नीभिर्गजाविव ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं तु नवमाध्याये भक्तिरुक्तातिदुर्लभा। कृष्णसेवकसख्यस्य हेतुर्दशम उच्यते ॥ १ ॥
वैराग्यं भगवद्धर्मः षड्गुणोत्र निरूप्यते। गुणानां भगवत्त्वाय स एव हि यतोभवत् ॥ २ ॥
वैराग्यमनिवर्त्यं तु भगवद्वाक्यतो भवेत्। विशेषतस्तु यद्वाक्यं न निवर्तेत केनचित् ॥ ३ ॥
तादृशं शापरूपं स्यात् भक्तानामेव तादृशम्। अतो वैराग्यकथने शापो मोक्षावधिर्मतः ॥ ४ ॥
शापोद्यमस्तथा हेतुः शापश्चापि प्रसादभाक्। वाक्यस्यापि फलं शीघ्रं स्तुतिश्चानुग्रहस्तथा ॥ ५ ॥
षड्भिर्द्वादशभिश्चैव त्रिभिः षड्भिस्तथैव च। दशभिः पञ्चभिश्चेति षडर्थाः क्रमतो मताः ॥ ६ ॥
अपूर्वत्वाच्छ्रोतुमिच्छा तेन प्रश्नः परीक्षितः। स्वस्यापि तादृशत्वेन तद्वन्मोक्षाशया पुनः ॥ ७ ॥

पूर्वाध्यायान्ते शापेन यमलार्जुनौ जाताविति श्रुत्वा कथं वा तेषां भगवानुद्धारको जात इति पृच्छति **कथ्यतामिति**, **भगवन्निति**सम्बोधनं कथनेन स्वदुःखदूरीकरणसामर्थ्यार्थं, **एतदिति**, हृदये बाधकत्वेन स्थितं, **तयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोरेकरूपस्य शापस्य कारणं**, चतुष्टयं तु तेनैव वक्तव्यं शापविस्तारो विमोक्षणं स्तुतिर्भगवत्प्रसादश्चेति, अतोधिकं द्वयं पृच्छति **यत् तद् विगर्हितं कर्मेति**, **यत्** प्रसिद्धं तादृशशापहेतुभूतं जातं **तदवश्यं विगर्हितं** निन्दितमेव भवति, देवानां तु पापं न सम्भवतीति प्रश्नः, किञ्च येन कृत्वा **देवऋषेर्देव**तानामपि मन्त्रद्रष्टुस्**तमः** क्रोधो भवति, अनेन शापे हेतुः स्पष्टः, **विगर्हितेन** शापोद्यमः, सर्वो हि विगर्हिते कृते शापं दातुमुद्युक्तो भवति, **देवर्षि**स्तु साधारणे न भवतीति विशेषतो हेतुर्वक्तव्यः ॥ १ ॥ तत्र **प्रथमं** विगर्हितेन शापोद्यममाह षड्भी **रुद्रस्येति**,

उन्मादश्च प्रमादश्च निन्दिताचरणं तथा। महत्स्वपि तथा धाष्ट्र्यसिद्ध्यर्थं महतां दृशिः ॥ १ ॥
धाष्ट्र्यं तयोर्न सङ्गस्य ततश्चोद्यम ईर्यते ॥ १½ ॥

प्रथमतो महतस्तथात्वमनुचितमित्याह **रुद्रस्य महादेवस्य रुद्** रोगाणि **द्रावय**तीति तादृशस्य सेवकयो रोगसम्बन्धोनुचितः, **अनुचरपदेन** पश्चादेव चलनस्योचितत्वादणुमात्रविभेदोपि दोषायेति तादृशावपि **भूत्वा सुदृप्तौ** जातौ धनेनातिमत्तौ, तत्र हेतु**र्धनदात्मजाविति**, धनं सर्वेभ्यो ददातीति तदात्मजस्य धनित्वं सिद्धमेव, उभयोश्च सहक्रीडा निन्दिता, उभौ च दुष्टौ जातौ, तत्रापि महादेवस्य गृहरूपो यः पर्वतः **कैलासस्तस्योपवन** आरोपितफलपुष्पप्रधाने **वने**, तत्रापि **रम्ये** सर्वदोषविवर्जिते वने, स्वभावतो विरक्तो महादेवस्तस्य स्थाने विरक्ता एव तिष्ठन्ति, तत्राप्यु**पवने** योगिनां भगवच्चिन्तनस्थाने, तत्रापि **रम्ये** भगवत्प्रसादस्थाने, ततोप्यधिकदोषमाह **मन्दाकिन्यामिति**, **मन्दाकिनी** भागीरथी प्रसिद्धा, मन्दाकिन्यां दोषाभावात्, तत्रापि **मद उत्कटो** ययोः, अयं मदो धनादिकृत एव, सुरादिकृतस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥ २ ॥ महतः स्वरूपदोषा उक्ताः, आगन्तुकदोषैः सदुष्टक्रियामाह **वारुणीमिति**, द्वन्द्वजो हि दोषो दुर्निवार इति द्वयोः सम्बन्धः. **वारुणी** वरुणोद्भवा, **अमृतसङ्ग** उत्पन्ना दैत्यभावबोधिका, तत्रापि **मदिरा** मादिकासुरभावादप्यधिकदोषजनिका, तां **वारुणीं मदिरां पीत्वा** मदेना**घूर्णिते लोचने** ययोर्विरुद्धज्ञानवन्तौ, तत्राप्यनु पश्चाद् **गायद्भिः स्त्रीभिः** सहितौ, सङ्गदोषो मोहहेतुः सम्बन्धश्च, **पुष्पिते वने** रजोयुक्ते **चेरतुर्भ्रमम**ाणौ जातौ, **मन्दाकिन्यामिति** सामीप्यसप्तमी, **कैलासोपवने** सति, **मन्दाकिन्यामपि** सत्यां, **मदोत्कटाविति** वा, **अतः पुष्पिते वन** इति न दोषवचनेन विरोधः ॥ ३ ॥ दोषान्तरमाहान्तःप्रविश्येति, जले **क्रीडा गङ्गायां** निषिद्धा "गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेदि"त्यत्र क्रीडाया निषिद्धत्वात्, तत्रापि नोद्धृत्य **किन्त्वन्तःप्रविश्य, अम्भोजानां वनराजयो घनपङ्क्तयो** यत्र, अनेन भगवत्सान्निध्यमपि गङ्गाकृतपूजार्थं लक्षितं, **गजाविव करेणुभिरिति** क्रीडायामनवधानतोक्ता ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दशमाध्यायतात्पर्यं वदन्तः पूर्वाध्यायसङ्गतिमाहुरेवमित्यादि, शास्त्रार्थत्वेन ज्ञानपूर्विकातिदुर्लभा भगवति **भक्ती** राजप्रश्नानुसारेण नवमाध्याय **उक्ता** 'तत्पुरुषे च सख्य'मितिप्रश्नानुरोधात् **कृष्णसेवकसख्यस्य हेतुर्वैराग्यं**, एवमवान्तरसङ्गति-मुक्त्वा स्कन्धार्थसङ्गतिमाहु**र्वैराग्यमि**त्यादि, यथा पूर्वाध्याये ज्ञानरूपो **भगवद्धर्मो** विद्यानिवर्तनद्वारा भगवद्वशीकारक **उक्त** एवमत्राध्याये वैराग्यरूपो भगवद्धर्मः **षड्गुणस्तथा निरूप्यते**, षड्गुणत्वेन निरूपणस्य प्रयोजनमाहु**र्गुणानामि**त्यादि, उपलक्षण-विधया सर्वेषां गुणानां भगवत्त्वबोधनार्थं तथा **निरूप्यते**, तस्यापि प्रयोजनमाहुः **स एवे**त्यादि, यत एभ्यो **गुणेभ्यो हि** निश्चयेन **स** प्रस्तुतो निरोध एवा**भवत्**, तथा च स्कन्धार्थहेतुत्वैव **सङ्गति**रित्यर्थः, ननु वैराग्यस्य दुःखेन दुःखिष्वपि जायमान-त्वात् साङ्ख्येष्वपि नित्यानित्यवस्तुविवेकेनैहिकामुत्रिकफलवैराग्यसम्भवाच्च कथं तस्य भगवद्धर्मत्वमित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणं तद्धेतुं चाहु**र्वैराग्यमनिवर्त्यमि**त्यादि, **तुः** शङ्कानिरासे, उक्तवैराग्ये भगवद्धर्मत्वशङ्का न कार्या तथा चानिवर्त्यं वैराग्य **यद्** भगवद्वाक्यतो भवेत् स एव भगवद्धर्मः, दुःखिनां तु सुखनिवर्त्यं, साङ्ख्यानामपि वैराग्यं "येन्येरविन्दाक्षे"तिवाक्येन नश्वर-त्वावगमाद् विद्याया अपि स्वप्नबोधन्यायेनाविद्यानिवर्त्यत्वात् तन्मूलभूतमायाया अगतत्वेन **निवर्त्य**मेव, अतो**निवर्त्य** भगवद्वा-क्यजन्यं यद् वैराग्यं स एव भगवद्धर्म इत्यर्थः, ननु प्रकृते वैराग्यजनकं भगवद्वाक्यं न स्फुटमित्यतस्तल्लक्षणमाहु**र्विशेषत** इत्यादि, **तुः** शङ्कानिरासे, वक्ष्यमाणे वाक्ये भगवदीयमिदं न भवतीतिशङ्का न कार्या यद् वाक्यं विशेषतः केनचिन् न **निवर्तेत** तद् भगवद्वाक्यमित्यर्थः, तद् व्यक्तं कुर्वन्ति **तादृश**मित्यादि, **तादृशं** वाक्यं शापरूपं **स्यात्**, तथा च शापरूपमेव भगवद्वाक्य-मित्यर्थः, तर्हि येनकेनचिदपि दत्तः शापो भगवद्वाक्यं स्याद् वैराग्यं च जनयेदत आहु**र्भक्तानामेव तादृश**मिति "दूतानामिव वर्णित"मितिजलभेदोक्तिरत्रानुसन्धेया, तथा चास्य परम्परया भगवद्वाक्यत्वमित्यर्थः, तदेतन् निगमय**न्त्यत** इत्यादि, **वैराग्य-कथन** इति निमित्तसप्तमी वैराग्यस्य कथनं विद्यतेस्मिन्नित्यध्यायविशेषणं वा, एवमध्यायतात्पर्यमुक्त्वा वैराग्यविशेषणभूतषड्-गुणरूपानेतदध्यायप्रतिपाद्यानर्थानाहुः **शापोधम** इत्यादि, ननु भवत्वेवं तथापि प्रश्नस्य किं प्रयोजनमत आहु**रपूर्व** इत्यादि, यद्यपि पूर्वं पृष्टं वदिष्यति तथापि देवानां पापं नारदस्य मन्युश्चेत्युभय**मपूर्व**मिति तच्छ्रवणेच्छया तथेत्यर्थः, प्रश्नतात्पर्यान्तरमाहुः **स्वस्ये**त्यादि, **तादृश**त्वेनेति महापुरुषशप्तत्वेन । **कथ्यता**मित्यत्र **वक्तव्य**मित्युपक्रान्तत्वात् प्रकृतोपयोगाच्च **वक्तव्यम्** ॥ १ ॥ **रुद्रस्ये**त्यत्र **मन्दाकिन्यां दोषाभावा**दिति तत्र मनुष्यकृतावमार्जनस्याभावेन तथात्वात् ॥ २ ॥ **वारुणी**मित्यत्र **द्वयो**रित्यासुर-भावमादकत्व**योः**, ननु पूर्वं वनस्य दोष उच्यत इति विरुद्धमत आहु**रत** इत्यादि, मदोत्कटत्वात् **पुष्पिते वन** इत्यनेन रजोयुक्त-दोषो य उक्तस्तेन सह विरोधो न भवति तयोर्दोषस्योत्कटत्वाद् वनधर्मोपि तदुद्बोधक एव भवति न तु शामक "एते मदा" इतिन्**याया**दितिभावः ॥ ३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

दशमाध्याये पूर्वानुवादे **भक्तिरुक्ते**ति यच्छ्रृण्वतो भक्तिर्भवति तादृशं चरित्रमुक्तमित्यर्थः, कृष्णेति कृष्णसेवका नारदादयो दर्शनमात्रेण मोचका इति तद्वाक्यान् मोचने तेषु स्वकृपावोधनं तत्सख्ये हेतुरित्यर्थः, षड्गुण इति षट् गुणा यस्येत्यर्थः, तत्र हेतुः **गुणानामि**ति, तत्रापि हेतुः **स एव हीति**, अहिकुण्डलादिन्यायत्रयेपि भगवत एव गुणरूपत्वादित्यर्थः, **वैराग्यमि**ति यत एतयोरविनाशि वैराग्यं शापाज् जातमित्यर्थः, वैराग्यदानेन नारदे वैराग्यसिद्धौ "सेवकास्तादृशा यदी"ति न्यायेन भगवत्यपि सिद्धमिति भावः, **अपूर्वत्वा**दिति शापेन मोक्षस्याश्रुतपूर्वत्वादित्यर्थः ॥ **वारुणी**मित्यस्याभासे **सदुष्टे**ति दुष्टं दोषः भावे क्तः दोषसहितां क्रियामित्यर्थः, व्याख्याने **सामीप्यसप्तमी**ति प्रक्रियायां सामीपिकमप्याधारमुक्त्वा आधार-श्चतुर्धोक्तः, नद्यामास्ते इत्युदाहरणं चोक्तं, तत्पक्षे 'गङ्गायां घोष' इत्यत्रापि न लक्षणेति ज्ञेयम् ॥ २ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

दशमाध्यायार्थनिरूपणकारिकासु **वैराग्यं भगवद्धर्मः षड्गुण** इति अस्मिन्नध्याये वैराग्यं भगवद्धर्मो निरूप्यते सोपि भगवदैश्वर्यादिषड्गुणवानित्यर्थः, तदेतत् स्पष्टयन्ति **गुणानां भगवत्त्वाये**त्यनेन, वैराग्ये कारणद्वयमाहुः **भगवद्वाक्यतो भवे-दि**त्यारभ्य **न निवर्तेत केनचिदि**त्यन्तेन, **भगवद्वाक्यत** इति वरादिरूपादित्यर्थः, **यद्वाक्यं केनचिदपि विशेषतो न निवर्तेत** तद्वाक्याच्च च वैराग्यं भवेत् यथा नारदवाक्यात् शापरूपात्, प्रकृते तदेतत् स्फुटयन्ति **तादृशं शापरूप**मित्यनेन । **रुद्रस्यानुचरा-वि**त्यस्य विवृतौ **पश्चादेव चलनस्योचितत्वा**दिति अनुचरपदतात्पर्यमिदं, अनु पश्चाच्चरतीत्यनुचर इति व्युत्पत्त्या रुद्रचल-नानुचलनमुचितं तथा च "वेदः शिवः शिवो वेद" इति श्रुतेः शिवस्य वेदरूपत्वान् तदनुचरैर्वेदानुकूलमेव व्यवहर्तव्यं तथा-करणाभावादनुचितत्वं प्रदर्शितं **योगिनां भगवच्चिन्तनस्थान** इति "नारदाय प्रवोचन्त"मिति वाक्यात् ॥ २ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

दशमाध्याये एवमिति का० ७३½ । **भक्तिरुक्तेति** यच्छृण्वतो भक्तिर्भवति तादृशं चरित्रमुक्तमित्यर्थः, **कृष्णसेवकसख्यस्य** हेतुरिति "यच्छृण्वतः" कृष्णसेवकसख्यं भवति तादृशं यमलार्जुनभङ्गचरित्रमित्यर्थः, नलकूबरमणिग्रीवयोर्भगवद्दर्शने कृष्णसेवकनारदकृपाहेतुकत्वश्रवणात् कृष्णसेवकसख्यं भवेदिति भावः, **वैराग्यमिति** का० ७४½ । अत्र वैराग्यात्मको **भगवद्धर्मः षड्गुणः** षड्गुणा यस्य तादृशो **निरूप्यते, अत्राध्याये** "शापोद्यमस्तथा हेतु"रिति वक्ष्यमाणकारिकोक्तषडर्थनिरूपणादितिभावः, तत्र हेतु**र्गुणानां भगवत्त्वायेति,** तत्रापि हेतुः **स एव होति,** **यतः** कारणात् **स** भगवानेव गुणरूपेणाभवत् आविर्भूतः, अतो गुणानामपि **भगवत्त्वबोधनाय अत्राध्याये** षड्भिः प्रकरणैः **षड्गुणो** वैराग्यरूपो **भगवद्धर्मो निरूप्यत** इत्यर्थः, **वैराग्यमित्यादि** का० ७५½, ७६½ । अत्र नलकूबरमणिग्रीवयोरनिवर्त्यवैराग्यजनकं शापरूपं नारदवाक्यं **भगवद्वाक्यमेव** ज्ञेयं, तथा च भगवतो नारदद्वारा वैराग्यदातृत्वाद् भगवत्यपि वैराग्यगुणः सिद्ध इति भावः, **यद्वाक्यं केनचिदपि न निवर्तते तादृशं शापरूपं भक्ताना**मेव वाक्यं, तद्वाक्यं भक्तद्वारा भगवद्वाक्यमेव अतो **मोक्षावधिः शाप** इत्यर्थः, अत्र षट् प्रकरणानि विभजन्ते **शापोद्यम** इति, का० ७७½, ७८½ । एवं द्विचत्वारिंशच्छ्लोकैः षट् प्रकरणानि, प्रथमश्लोकेन प्रश्नश्चेति त्रिचत्वारिंशत्, **अपूर्वत्वादिति** का० ७९½ शापेन मोक्षस्यापूर्वत्वाच्छ्रोतुमिच्छा **तेन** हेतुना "कथ्यतां भगवन्नेतत् तयोः शापस्य कारण"मिति **परीक्षितः प्रश्नः, स्वस्य** परीक्षितोपि **तादृशत्वेन** ब्राह्मणशप्तत्वेन **तद्वन् मोक्षाशयापि** प्रश्न इत्यर्थः ॥ ७९½ ॥ **रुद्रस्यानुचरौ भूत्वे**त्यादीनां षण्णां श्लोकानां प्रत्येकमर्थानाहु**रुन्मादश्चे**त्यादि, का० ८०½, ८१½ । नलकूबरमणिग्रीवयोरुन्मादप्रमादनिन्दिताचरणानि त्रिभिः श्लोकैः क्रमेण निरूपितानि, **महत्स्वपि** नारदादिष्वपि तथाविधधा**र्ष्ट्यसि**द्ध्यर्थमिति पूर्वेणान्वयः, चतुर्थश्लोकार्थमाहु**र्महतां दृशिरिति, महतां दृशिरिति,** महतां नारदानां दृशिर्दर्शनं, कर्तरि षष्ठी नारदकर्तृकं नलकूबरादिकर्मकं दर्शनमित्यर्थः, तदुक्तं "अपश्यन् नारदो देवा"विति, "तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्य" इति श्लोकार्थमाहु**र्धार्ष्ट्यं तयोर्न सङ्गस्येति** का० ८१½ । देवाङ्गनानां नारदे धार्ष्ट्यं नेत्यर्थः, **ततश्चोद्यम** इति "तौ दृष्ट्वे"त्यनेन शापोपक्रम इत्यर्थः ॥ ८१½ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दशमे त्वृषिशापेन वृक्षतां गतयोः पुनः । ताभ्यां स्तुतेन कृष्णेन विमुक्तिर्विनिरूप्यते ॥ १ ॥

'पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ' इति श्रुत्वा तस्य नारदस्य परमभागवतत्वेनाल्पापराधे क्रोधोसम्भवन (?) शापहेतुक्रोधजनकापराधस्य महत्त्वं सामान्यतो ज्ञात्वाऽपि तद्विशेषं पृच्छति—कथ्यतामिति । सर्वज्ञत्वं सूचयन् सम्बोधयति—हे भगवन्निति । तयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोर्यद्विगर्हितं निन्दितं शापस्य कारणं कर्म, येन कर्मणा देवर्षेर्भागवतोत्तमस्यापि तमः क्रोधो जातस्तत् कथ्यतामित्यन्वयः ॥ १ ॥ एवं पृष्टस्तयोरपराधानाह—रुद्रस्येति पञ्चभिः । धनदस्य रुद्रसेवकस्य पुत्रत्वेन तावपि रुद्रस्यानुचरौ सेवायोग्यावेव भूत्वा तां परित्यज्य मदो हर्ष उत्कटो ययोस्तौ । तत्र हेतुमाह— सुदृप्तौ अतिगर्वितौ । तत्रापि हेतुमाह—धनदात्मजाविति । वारुणीं वरुणनिर्मितां बुद्धिभ्रंशकरीं मदिरां पीत्वा, तत्पानादेव मदेन आघूर्णिते लोचने ययोस्तादृशौ भूत्वा ॥ २ ॥ मन्दाकिन्यां गङ्गायां 'सामीप्ये सप्तमी' गङ्गासमीपे, तत्रापि कैलासस्य श्रीमहादेववासस्थानस्योपवने भगवच्चिन्तकयोगिजनस्थाने वने पुष्पिते सति रम्येऽनुगायद्भिः स्त्रीजनैः सह नलकूबरमणिग्रीवौ चेरतुरिति द्वयोरन्वयः ॥ ३ ॥ एवंभूते स्थाने स्त्रीभिः सह क्रीडनमनुचितम् , तत् कृतवन्तावित्युक्तम् । इदानीं "गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत् ॥ शौचमाचमनं चैव निर्माल्यं मलकर्षणम् ॥ तैलसम्मर्दनं क्रीडां प्रतिग्रहमथो रतिम् ॥ अन्यतीर्थप्रशंसनम् ॥ अन्यतीर्थाभिलाषं च वस्त्रत्यागं तथा खातं संहारं चैव वर्जयेत्" इतिपाद्मे गङ्गायां तथाक्रीडानिषेधात्तमपि निषेधमुल्लङ्घितवन्तावित्याह—अन्तरिति । अम्भोजानां वनानि तेषां राजयः पङ्क्तयो विद्यन्ते यस्यां तस्यां गङ्गायामन्तर्मध्ये प्रविश्य करेणुभिः सह गजाविव युवतिभिः सह चिक्रीडतुरित्यन्वयः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

दशमेऽपातयद्रिङ्गन्नर्जुनौ मध्यगो हरिः ॥ स्तुतस्तज्जातदेवाभ्यां तत्र श्लोकास्त्रिवाद्धयः (४३) ॥
उवाचसप्तकं साङ्घ्रि पञ्चवेदा (४५) अनुष्टुभः ॥ १० ॥

कथ्यतामिति ॥ हे भगवन् ! येन कर्मणा देवर्षेर्भागवतोत्तमस्यापि तमः क्रोधोऽभूत् तादृशं तयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोर्यद्विगर्हितं निन्दितं शापस्य कारणं कर्म तत्कथ्यताम् ॥ १ ॥ रुद्रस्येति द्वयम् ॥ रुद्रस्यानुचरौ सेवकौ भूत्वाऽपि सुदृप्तौ अतिगर्वितौ मदो हर्ष उत्कटो ययोस्तौ धनदात्मजौ वारुणीं वरुणनिर्मितामतिमदहेतुं मदिरां पीत्वा तन्मदेन आघूर्णिते लोचने ययोस्तादृशौ भूत्वा रम्ये कैलासस्योपवने प्रवहन्ती या मन्दाकिनी तस्याम् । सामीप्ये सप्तमी । गङ्गासमीपे पुष्पिते वने अनुगायद्भिः स्त्रीजनैः सह चेरतुः ॥ २-३ ॥ अन्तरिति ॥ अम्भोजवनानां राजयो यत्रेति । यद्वा । अम्भोजवनै राजते । ताच्छील्ये णिनिः । तादृशे गङ्गायामन्तर्मध्ये । अव्ययविशेषणत्वात् क्लीबत्वम् । प्रविश्य करेणुभिः सह गजाविव युवतिभिः सह चिक्रीडतुः ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं दशमेऽध्यायें यमलार्जुनपातन तत्स्थदेवकृतस्तुतिश्च निरूप्यते यद्विगर्हितं निंदितं च येन कर्मणा देवर्षेः शांतस्यापि तमः कोपो जातः तदेतत्कथ्यतामिति ॥ १ ॥ तदुत्तरं कुर्वन् शुक उवाच रुद्रस्येतिचतुर्णां सहान्वयः। धनदात्मजौ कुबेरपुत्रौ रुद्रस्यानुचरौ सेवकौ भूत्वा सुदृप्तौ अभिमानयुक्तौ रम्यें पुष्पिते कैलासोपवने मंदाकिन्यां गंगातटे अनुगायद्भिः स्त्रीजनैः सह चेरतुर्विजह्रतुः कथंभूतौ मदेन उत्कटौ व्याप्तौ ॥ २ ॥ मदेन आघूर्णिते अतिव्याप्ते लोचने ययोस्तौ ॥ ३ ॥ अंभोजानां पद्मानां वनानि तेषां राजयः पंक्तयः संति यस्मिन् एवंभूते गंगायां अंतस्तन्मध्यभागे प्रविश्य करेणुभिर्गजीभिः गजौ यथातथा तौ ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दशमे त्वन्तराविश्यापातयद्यमलार्जुनौ। तन्नि सृताभ्यां देवाभ्यां स्तुतः कृष्ण इतीर्यते ॥ १ ॥

एवमुक्ते लब्धावसरः पृच्छति राजा ॥ हे भगवन् , यत् तयोः शापस्य कारणं, एतत् , यत् , विगर्हितं कर्म, तयोरिति शेषः। तत् , यतः देवर्षिर्नारदः, कुपितः, सर्वमेतत् , कथ्यताम्। 'येन वा देवर्षेस्तमः' इति पाठे, येन देवर्षेः तमः क्रोधः, इत्यन्वयः ॥ १ ॥ तस्योत्तरमाह मुनिः ॥ रुद्रस्येति ॥ धनदात्मजौ, रुद्रस्य अनुचरौ भूत्वा, सुदृप्तौ, रम्येऽतिरमणीये, कैलासोपवने, तत्रापि मन्दाकिन्यां गङ्गायास्तीरे इत्यर्थः। मदोत्कटौ मदोत्सिक्तौ ॥ २ ॥ वारुणीमिति ॥ वारुणीं पैष्टीं, मदिरां पीत्वा, मदेन वारुणीपानोद्भूतेन आघूर्णिते लोचने ययोस्तौ, अनुगायद्भिः स्त्रीजनैः सह, पुष्पिते प्रचुरपुष्पवति, वने चेरतुः। इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ ३ ॥ अन्तः प्रविश्येति ॥ गङ्गायां, अन्तः मध्ये, अम्भोजानां पद्मानां वनानि तेषां राजयस्ताः सन्ति यस्मिंस्तस्मिन् , जले इति शेषः। प्रविश्य, करेणुभिरिभीभिः, गजौ इव, युवतिभिः स्त्रीभिः सह, चिक्रीडतुः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कथ्यतामिति : १०.१०.१.

गीर्वाणर्षिरशेषविद् गततमाः शान्त्यादिसम्पत्पदं तावप्युत्तमगोत्रवृत्तचरितौ भाव्यं न चैवं ततः।
मद्वद्वा किमिदं भवेदिति नृपप्रश्नाशयं चिन्तयंस्त्वद्वन्नेति विबोधयन्नकथयत् तत्पूर्वसंस्थां मुनिः ॥ १ ॥

रुद्रस्येति : १०.१०.२.

यत्कृत्यं यत्र शोभावहमतिशुभदं तच्च तत्रैव कुर्यान्नैवार्हेऽनर्हकर्म क्वचिदपि हितदृग् यत्स्फुटं मानमेतौ।
कैलासे पुण्यभूमौ सुरसरिति सदाचारकर्मोचितायां नग्नक्रीडाविहाराद् युवतिभिरभितोऽधः प्रपातं प्रयातौ ॥ २ ॥

वारुणीमिति : १०.१०.३.

यन्नामामात्रकलनेन भुजङ्गवृत्तिं पाश्यात्मजाऽगमदजस्रमधः स्थितिं च।
तत्सेविनोः स्थितिरियं न तयोर्न युक्तेत्याख्यापयन्नकथयत् स हि वारुणीति ॥ ३ ॥

अन्तः प्रविश्येति : १०.१०.४.

तादृग्दुष्कृतशालिनोरपि तयोः शापावसाने क्षणं तस्याभूदथ चेन्दिरापति-पदाम्भोज-द्वयालोकनम्।
केनेदं सुकृतेन जातमिति तच्छङ्कां प्रमृदनन्मुनिः प्रोवाचाऽघहरं सदिष्टसुखदं गङ्गाजलक्रीडनम् ॥ ४ ॥
यद्वा पुण्यसरिद्वराऽमरसरिज्जाताघकृत् कर्मणः पाकादेव स आगतो रुडुदयाऽप्यस्याथ तादृक्फलः।
शापोन्मोचनमिन्दिराधिपकृपालाभश्च शान्तर्षिवाङ्माहात्म्यादथवर्षि दर्शन-महापुण्या-दगण्यादभूत् ॥ ५ ॥

कृष्णप्रिया

परीक्षित् जी ने कहा—भगवन् कहियें इन दोनों ने ऐसा कौन सा बड़ा निन्दित कर्म किया था, जिससे इनके शाप का वह कारण बना और नारदजी को भी जिससे क्रोध करना पड़ा ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन् , एक तो ये दोनों धनाध्यक्ष कुबर के लाड़ले लड़के थे पुनः दोनों जब भगवान् रुद्र के अनुचर गण हो गयें तब अति गर्विष्ठ और मदोत्कट बन गयें ॥ २ ॥ एक वार दोनों ने वारुणी मदिरा पी ली। नशे में चूर हो जाने से नेत्र घूम रहे थे। बहुत सी स्त्रियाँ उनके पीछे गाती बजाती चल रही थी। दोनों कुबेरकुमार रम्य कैलास गिरि के उपवन के समीप वहती गङ्गा के निकट में उन स्त्रियों के साथ फूलों से लदे वनों में विचरण करने लगे। फिर तो वे गङ्गाजी में प्रविष्ट होकर स्त्रियों के साथ उसी प्रकार से जल विहार करने लगे, जैसे कि हस्ती हस्तिनियाँ साथ जलविहार करते हैं ॥ ३–४ ॥

यदृच्छया च [1]देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव । अपश्यन्नारदो[2] देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥
तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः । [3]वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥
तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ । तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७ ॥

श्रीनारद[4] उवाच

न ह्यन्यो जुषतो [5]जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः । श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र[6] स्त्रीद्यूतमासवः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कौरव ! तत्र देवर्षिः भगवान् नारदः यदृच्छया देवौ अपश्यत् च क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥ विवस्त्राः व्रीडिताः देव्यः शापशङ्किताः शीघ्रं वासांसि पर्यधुः विवस्त्रौ गुह्यकौ न एव ॥ ६ ॥ श्रीमदान्धौ मदिरामत्तौ तौ सुरात्मजौ दृष्ट्वा तयोः अनुग्रहार्थाय शापं दास्यन् इदं जगौ ॥ ७ ॥ जोष्यान् जुषतः श्रीमदाद् अन्यः आभिजात्यादिः न यत्र हि बुद्धिभ्रंशः रजोगुणः स्त्री द्यूतम् आसवः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अपश्यत् दृष्ट्वा च क्षीबाणौ मत्तौ समबुद्ध्यत ॥ ५ ॥ कुत इत्यत आह । तं दृष्ट्वेति ॥ ६ ॥ अनुग्रहार्थाय अनुग्रहश्च मदनाशोऽर्थश्च श्रीकृष्णदर्शन तदर्थं इदं वक्ष्यमाणं न ह्यन्य इत्यादि ॥ ७ ॥ जोष्यान्प्रियान्विषयाञ्जुषतः सेवमानस्य पुंसः श्रीमदादन्य आभिजात्यादिसत्कुलविद्यादिजनितो मदः । अन्यो वा रजोगुणो रजःकार्यहास्यहर्षादिरूपो न हि तथा बुद्धिभ्रंशो बुद्धिं भ्रंशयतीति तथा किं तु श्रीमद एवेति । तदाह यत्रेत्यादिचतुर्भिः । यत्र श्रीमदे ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र गंगातटे । क्षीबाणावश्लीलभाषिणौ वा "अश्लीलभाषी स्यात्क्षीवा मदमत्तोऽथ हिंसकः" इति धरणिः । हे कौरवेति । शुद्धवंशजत्वादेव त्वामिदं गोप्यं वक्ष्यामीति भावः ॥ ५ ॥ पर्यधुर्वेष्टितवत्यः । तत्र हेतुः तं दृष्ट्वेति ॥ ६ ॥ अनुग्रहार्थयोः समाहारद्वंद्वः ॥ ७ ॥ मद इति । शेषकल्पनातो वरं श्लोकांतर्गतपदेनान्वयः । 'ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्' इति न्यायात् । अत आह—अन्यो वेति । श्रीमद एव सर्वपर इत्याह—किन्त्विति । स्त्रीशब्देन परस्त्रीसंगः स्वस्त्रीसंगस्य शास्त्रीयत्वात् । द्यूतपदेन तत्क्रीडा । आसवपदेन च तत्पानं लक्ष्यते ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

त्वर्थे चकारो भिन्नोपक्रमे । यद्वा अपश्यत् सम्यगवबुद्ध्यत चेति चकारान्वयः । यदृच्छया स्वैरितया आगत इति शेषः । देवर्षिरिति नियन्तृत्वं भगवानिति दयालुत्वमिति वक्ष्यमाणशापानुग्रहयोर्योग्यतोक्ता कौरवेति तत्र तस्यागमनासम्भवेप्यागमनात् कौतुकेन सम्बोधनम् ॥ ५ ॥ गुह्यकाविति तदा सात्त्विकत्वाभावेन देवत्वहानेः केवलयक्षतयोपलक्षितौ एवशब्देन देवीनामाग्रहेणापि न पर्य्यधातामिति बोध्यते ॥ ६ ॥ सुरात्मजावपि मदिरामत्तौ यतः श्रीमदेन अन्धौ सदसद्दृष्टिहीनौ मदिरेत्यादि विशेषणद्वयं शापेसुरेति चानुग्रहे हेतुर्विवेचनीयः तयोरनुग्रहार्थायेति तौ प्रति स्वयोग्यस्यानुग्रहस्य योऽर्थः उपशान्तिभगवद्भक्तिभगवत्साक्षात्कारसंवलनरूपः तस्मै तं प्रापयितुं स्थावरत्वप्रापकं शापं दास्यन् अनुग्रहस्वभावत्वादेषां सोऽयमनुग्रहपरापराधं स्वशापादभिभूय स्वरूपेणैव पर्य्यवसितः स्यात् ततश्च तद्रूपोऽर्थः स्वयमेव व्यक्तीभवतीति भावः । तत्र च सति यत्खलुविशेषेण वृहद्वनान्तर्भाविश्रीमद्व्रजराजद्वार्य्यर्जुनाख्यगोपसखनामवृक्षतया जन्म प्रापतुः यच्च येन येनावतारेणेत्यादिरीत्या परमहितलीला श्रीबालगोपालसाक्षात्कारादिकं लेभाते तत्रेदं सम्भावयामः तदानीं तेन श्रीमद्देवर्षिणा तु "तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायाः" इत्यादिरूपः निरर्गलकारुण्यमयतल्लीलागानं क्रियामाणमासीदिति तत्कारुण्यतादात्म्यापन्ननिजानुग्रहेण तत्पर्य्यन्तोप्यर्थो दत्त इति जगौ तत्वतोऽन्तः कोपाभावेन गाथारूपेणोच्चैः स्वयमवोचत् ॥ ७ ॥ श्रीमदेनान्धं दृष्ट्वा श्रीभ्रंशरूपं शापं दातुमादौ श्रीमदं निन्दति—न हीति पञ्चभिः । अभिजातिः सत्कुलं तदुद्भवः आभिजात्यो मदः आदिशब्दाद्विद्यादिमदः तथा चोक्तं "विद्यामदो धनमदः तथैवाभिजनो मदः । मदा एतैरलिप्तानां त एव हि सतां दमाः" यत्र श्रीमदे सति स्वत एव सद्यस्तेषां प्राप्तेः तेषां कामक्रोधयोर्महाहेतुत्वात् तयोश्च "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम्" इत्यादिना निन्दितत्वेन श्रीमद्गीतासूक्तत्वात् ॥ ८ ॥

---

१. देवर्षिर्गतवांस्तत्र—वीर. । २. अपश्यद्गुह्यकौ दृष्ट्वा—च पु. टी. । ३. वासांस्युप—इति कस्यचित् । ४. नि. सुबोधिन्यां "श्री नारद उवाच" दृश्यते । ५. जोष्याद्बुद्धि—विज. । ६ जात्यादे—विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

त्वर्थे चकारो भिन्नोपक्रमे; यद्वा, अपश्यत् सम्यगबुध्यत चेति चकारान्वयः। यदृच्छया तयोः केनापि भाग्योदये-नेत्यर्थः। आगत इति शेषः। देवर्षिरिति निरन्तृत्वम्, भगवानिति दयालुत्वम्—इति वक्ष्यमाणशापानुग्रहयोर्योग्यता उक्ता। हे कौरवेति तत्र तस्यागमनासम्भवेऽप्यागमनात् कौतुकेन सम्बोधनम् ॥ ५ ॥ गुह्यकाविति तदा सात्त्विकत्वाभावेन देवत्वहानेः केवलयक्षतयैवोपलक्षितौ। एवशब्देन देवोनामाग्रहेणापि न पर्य्यधत्तामिति बोध्यते ॥ ६ ॥ सुरात्मजावपि मदिरामत्तौ, यतः श्रीमदेनान्धौ सदसद्दृष्टिहीनौ, मदिरेत्यादिविशेषणद्वयं शापे, सुरेति चानुग्रहे हेतुर्विवेचनीयः। जगौ तत्त्वतोऽन्तःकोपाभावेन सदा वीणासक्तपाणितया वीणयाऽगायत्, किंवा गाथारूपेणोच्चैः स्वयमवोचत् ॥७॥ श्रीमदेनान्ध्यं दृष्ट्वा श्रीभ्रंशशापं दातुमादौ श्रीमदं निन्दति—न हीति पञ्चभिः। अभिजातिः सत्कुलम्, तदुद्भव आभिजात्यो मदः; आदिशब्दाद्विद्यादिमदः; तथा चोक्तम्—'विद्यामदो धनमदस्तथा चाभिजनो मदः। एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमाः॥' इति; यत्र श्रीमदे सति स्त्र्यादयो भवन्ति, यद्वा, यस्मिन् विषये सति श्रीमदे सति स्वत एव सद्यस्तेषां प्राप्तेः। स्त्रिया आदौ निर्देशस्तस्याः सर्व्वानर्थ-मूलत्वात्; किंवानर्थोपादने स्त्र्यादीनां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्; तत्र द्युते कलहादिदुःखेन वृथा धनव्ययेन च तस्य स्त्रीतः श्रैष्ठ्यम्, तस्माच्च मत्ततया देहरक्षादेरप्यननुसन्धानेन चासवस्य ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

क्षीबाणौ मन्दान्धौ ॥ ५ ॥ पर्यधुः परिहितवत्यः ॥ ६-७ ॥ जोष्यान् सेव्यान् विषयान् आभिजात्यादेः आदिशब्दो धनपरः बुद्धिभ्रंशः भ्रंशकरः रजोगुण इत्युपचारः रजोगुणवर्धकः यत्र श्रीमदे मुख्ये सति स्त्रीद्यूतमधूनि भवन्ति तस्मादन्यो नेत्यन्वयः ॥ ८-९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे कौरव! भगवान् देवर्षिर्यदृच्छया तत्रागतो देवौ तौ ददर्श क्षीबाणौ मदान्धौ समबुध्यत ज्ञातवांश्च ॥ ५ ॥ कुत इत्यत्राह—तं दृष्ट्वेति। देव्यो विवस्त्रा अत एव तं दृष्ट्वा व्रीडिताः शापाच्छङ्किताः वासांस्यादधुः गुह्यकौ नैव पर्यधातां किन्तु विवस्त्रौ नग्नावेवासाताम् ॥ ६ ॥ सुरस्य कुबेरस्यात्मजौ दृष्ट्वा मदनाशरूपानुग्रहार्थं शापं दास्यंस्तावदिदं वक्ष्यमाणमाह अनुग्रहार्थाय भगवद्भविष्यद्दर्शनरूपप्रयोजनाय चेति केचिद्व्याचक्षते ॥ ७ ॥ तदेवाह—नेति। जोष्यान्विषयान् जुषतः सेव-मानस्य पुंसः श्रीमदात्सम्पत्प्रयुक्तमदादन्यः आभिजात्यादिः आदिशब्देन विद्यादिसङ्ग्रहः आभिजात्यादिजनितो मदः श्रीमद-वद्बुद्धिभ्रंशकरः रजोगुणकार्यकामक्रोधादिवर्धको न हि किन्तु श्रीमद एव नितरां बुद्धिभ्रंशकरः रजोगुणश्चेत्यर्थः। तदाह—यत्रेत्यादिना। यत्र यस्मिन् श्रीमदे सति स्त्रीसङ्गद्यूतमधुपानादिरूपदुर्व्यसनानि संभवन्ति ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

क्षीबाणौ मत्तौ अश्लीलवचनौ वा ॥ ५ ॥ पर्यधुः सम्वेष्टितवत्यः ॥ ६-७ ॥ किं तद्गीतमिति तत्राह— नहीति। विषयान् जुषतः सेवमानस्य पुंसः जोष्यात् सेव्यात् विषयात् श्रीमदात् श्रिया धनसम्पदोत्पन्नमदादाभिजात्यादेरभिजननिमित्तमदात् विद्यानिमित्तमदाच्चान्यः बुद्धिभ्रंशः ज्ञाननाशकरो रजोगुणः रजोविकारो नास्ति विषयादिरेव ज्ञाननाशकर इत्यर्थः। तत्कथम-त्राह यत्रेति। यत्र विषयाभिजात्यधनमदेषु स्त्रियो द्यूतमासवम् असुतर्पणं मद्यपानं भवति हिशब्दोऽवधारणे "हि हेतावव-धारणे" इति यादवः। अन्यो नास्त्येव मद्यपानादयो भवन्त्येवेत्यर्थः। आसव इति पाठे मद्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तद्विधानामनुग्रहस्य योऽर्थः श्रीकृष्णदर्शनं तस्यै ॥ ७-८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

दृष्ट्वा च क्षीबाणौ मत्तौ सम बुद्ध्वेन मत्तयोरनयोर्मम कृपा न फलवती भविष्यतीति तयोर्मदापनोदनार्थं दध्याविति भावः ॥५-६॥ अनुग्रहस्य अर्थः फलं भगवत्साक्षात्कारस्तदर्थे शापं दास्यन्निति यथा अतिवत्सलः पित्रादिकोऽतिमधुरं क्षीरादिकं भोजयिष्यन् पुत्रादिकमतिनिद्राणामालक्ष्य तन्निद्राभङ्गार्थं नखद्वयाघातं करोति तद्वदित्यर्थः। जगाविस्यन्येपि श्रुत्वा स्वहितं जानन्त्विति भावः ॥ ७ ॥ जोष्यान् प्रियविषयान् जुषतः सेवमानस्य पुंसः श्रीमदान्धस्य आभिजात्यादिर्बुद्धिभ्रंशको हि निश्चयेन न भवति यथा श्रीमदोऽवश्यमेव बुद्धिं भ्रंशयतीत्यर्थः। अभिजातिः सत्कुलं तदुद्भवः आदिशब्दाद्विद्यादिमदः रजो-गुणोद्भवत्वाद्रजोगुणः श्रीमदे सति यथा पापानि जायन्ते तथा नान्यत्रेत्याह—यत्रेति, चतुर्भिः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तौ क्षीबाणौ समबुद्ध्यत सम्यक् ज्ञातवान् ॥ ५ ॥ तन्मतत्त्वज्ञापकं गङ्गायामन्तः प्रविश्य युवतिभिश्चिक्रीडतुरित्युक्तमथ द्वितीयं तन्मतत्त्वज्ञापकमाह – तं दृष्ट्वेति । तं दृष्ट्वा देव्यो वासांसि पर्यधुः गुह्यकौ नैव पर्यधत्तामिति ॥ ६ ॥ मदनाशपूर्वकव्रजावासगोपगोपीश्रीकृष्णदर्शनरूपानुग्रहार्थम् ॥ ७ ॥ जोष्यान् प्रियान् विषयान् जुषतो जनस्य बुद्धिं भ्रंशयतीति बुद्धिभ्रंशः बुद्धिनाशहेतुः रजोगुणः कामक्रोधलोभजनकश्च श्रीमदात् संपज्जनितान्मदात् अ यो मदः आभिजात्यादिः सत्कुलविद्यादिजनितो न हि किन्तु श्रीमद एव यत्र श्रीमदे स्त्री द्यूतं च आसवश्च उपादीयते स्त्रीद्यूतमिति समाहारद्वन्द्वः ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

दृष्ट्वा क्षीबाणौ मद्यमत्तौ **समबुध्यते** ॥ ५ ॥ **गुह्यकौ** तु नैव पर्यधाताम् ॥ ६ ॥ अनुग्रहस्यार्थः फलं हरिदर्शनं तदर्थं शापं दास्यन्निति यथातिवत्सलोऽपि पिता सुतस्य व्रणं विदार्य तत्र क्षारं निक्षिपंस्तदारोग्यमिच्छति तद्वदित्यर्थः । जगावित्येतन्निशम्य परेपि हितमाचरेयुरिति भावः ॥ ७ ॥ जोष्यान् विषयान् जुषतः सेवमानस्य जनस्य श्रीमदान्य आभिजात्यादिः सत्कुलता विद्यादिजनितो मदोऽ यो वा रजोगुणो रजःकार्यो हासादिर्बुद्धिभ्रंशो ज्ञानविनाशको नास्ति किन्तु श्रीमद एव तादृक्यत्र श्रीमदे स्त्रीप्रसङ्गद्यूतमद्यपानानि भवन्ति तथा नात्रेत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

क्षीबाणौ मत्तौ । यद्यपि मत्ते शौण्डेत्कटक्षीवा इत्यमरेकारान्तः क्षीबशब्दः श्रूयते क्षीवृ मदे अकर्मकत्वात्कर्तरि क्तः अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघा इति निपातितः शब्दः । तथाप्युणादयो बहुलमित्युक्तेः कनिप्रत्यये अट्कुप्वेति णत्वे क्षीबाणाविति ज्ञेयम् । यद्वाणतोऽभिमुखमगच्छत् इत्याणौ क्षीबौ च ताविति शब्दपर्यन्ताविति वा । **समबुद्ध्यत** व्यज्ञासीत् ॥ ५ ॥ तं नारदं **विवस्त्रा** इति शापशङ्किता देव्यो वासांसि स्वानि स्वानि पर्यधुरधारयन् । **विवस्त्रौ गुह्यकौ** न पर्यधत्तां मत्तत्वात् ॥ ६ ॥ [illegible]ावित्यनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्नारद इदं वक्ष्यमाणं जगौ ॥ ७ ॥ नारदः किं जगावित्यत आह ॥ न हीति । विषयं जुषतः [illegible]स्य जोष्याद्विषयजाताच्छ्रीमदात्तथाऽभिजात्यजातात् । आदिपदेन विद्यादिमदाच्च । अन्यो रजोगुणो रजसो गुणो रागे विकारस्तत्स्पृहारूपो गुण इत्यगुणापरपर्यायो दोष इति यावत् न ह्यस्ति । तत्कार्यमाह ॥ बुद्धिभ्रंश इति । बुद्धेः सन्मतेभ्रंशो येन स विषयादिकाङ्क्षणमेव ज्ञानहानिदमिति भावः । बुद्धिभ्रंशेनैतदासक्तिरिति तत्राप्येतयोः स्वदृष्टा यत्कृता नष्टिस्तामादितो गृहीत्वाऽऽह ॥ यत्रेति । यत्र बुद्धिभ्रंशे जाते स्त्री एवं तरुणीपरवशता द्यूतासक्तिरासवो मद्यं चेति तदासक्तिरपि भवति । हिरवधारणे । नास्त्येवेति वा । स्त्र्याद्यासक्तिर्भवत्येवेति वाऽन्वयः । आसवमिति पाठेऽसूनामिदमासवं प्राणतर्पकं मद्यपानादिकमित्यर्थः । आसवो यज्ञ इत्यप्यान्तरङ्गिकोऽपि भावो देवर्षेः । अन्यथा हन्यन्ते पशव इति तत्पुरस्करणं न स्यादिति वर्णयाञ्चक्रुः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

विषयं निरूप्य शापहेतोः समागममाह **यदृच्छयेति, देवर्षिरिति** भाव्यर्थपरिज्ञानं देवयोनीनामुपकारकर्तृत्वं च ज्ञापितं, भगवानिति सर्वसामर्थ्यं, **कार्यभगवत्त्वानि भगवत्कृपासाध्यानि,** तत्रेति तस्यां गङ्गायां, **कौरवेतिसम्बोधनं** महतोपि वंश उत्पन्नः प्रमाद्यतीति स्वदृष्टान्तेन ज्ञानार्थं, आदौ **देवावपश्यत्** ततः **क्षीबाणौ समबुध्यत, क्षीबशब्दो**कारान्तो नकारान्तोपि, **क्षीबा** मतः, देवानां स्वर्षिसम्मानाभावयोगात् ॥ ५ ॥ ततो यज्जातं तदाह **तं दृष्ट्वेति, नारदं दृष्ट्वा देव्योप्सरसो विवस्त्राः** सत्यः **स्वस्मिन्** नारदे चैकैकं धर्मं ज्ञातवत्यः, **स्वस्मिन्** लज्जा जाता कामोद्बोधेनानिष्टजनकत्वे **शापशङ्का,** वस्त्रपरिधानेनाभयं भवतीति **शीघ्रं** यावदृषेः क्षोभो न भवति ततः पूर्वमेव **पर्यधुः, गुह्यकावपि विवस्त्रौ,** नग्नदर्शनमप्यमङ्गलं निषिद्धं स्त्रीसङ्गात् क्षोभकं च, तत्रापि **गुह्यकौ,** गुह्यं कं ययोः ॥६॥ तथा सति तयोः शापोपक्रममाह **तौ दृष्ट्वेति, सुरात्मजौ** भूत्वा **मदिरामत्ता**वसुरकार्यं कृतवन्तौ, **श्रीमदेन चान्धौ** मनुष्यदोषं च प्राप्तवन्तौ, अत उभयोः फलं महापुरुषसान्निध्ये भवती "त्यत्यन्तनिन्दितैर्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजे" दित्येतयोः स्थावरत्वमेव युक्तमिति विचार्य कर्मणैवैतद् भविष्यतीति निश्चित्य कृपया परीत**स्तयोरनुग्रहार्थं शापं दास्यन्निदं** वक्ष्यमाणं हेतुभूतं **जगौ,** अन्यापराधे बालकेन कृते पित्रा शिक्षणं कर्मसाध्यमनिष्टमपि फलं नात्यन्तं दुःखदं भवतीति कर्माधिकारिफलभावनातः पूर्वमेव स्वयं **शापं** दत्तवान्, महापुरुषदृष्ट्योद्बुद्धं च जातं, अतो न वने वृक्षौ **जातौ,** वृक्षाणां मध्येर्जुनजातीयानां मुक्तिः प्रसिद्धा "नर्मदातीरसञ्जाताः सरलार्जुनपादपा नर्मदातोयसंस्पर्शाद् यान्ति ते परमां गति" मितिवाक्यात्, तत्रापि **गवां** छायाजनकौ, महतो नन्दस्याभिज्ञापकौ च भविष्यतः, फलं तूत्कृष्टं भविष्यत्येवातः कर्मफलाच्छापः समीचीनः ॥ ७ ॥ ननु शापे दत्ते कदाचिदुत्कृष्टकर्मापि सम्भवति ततः पापक्षये मुक्तिरेव कदाचिद् भवेत् सत्सङ्गे

भक्तिर्वा ततः किमिति शापं दत्तवानित्याशङ्क्य तयोः सत्कर्मसत्सङ्गौ दुर्लभाविति तदर्थं तयोर्विद्यमानदोषस्य तदुभयाजनकत्वं निरूपयति द्वादशभिर्न **ह्यन्य** इति, सन्मार्गः सत्सङ्गो वा सद्बुद्ध्या भवति, श्रीमदेन तु सद्बुद्धिः कदापि नोत्पद्यते, तदाहान्यो **जोष्यान् जुषतः** प्राणिनो बुद्धेर्भ्रंशहेतुर्न भवति, बुद्धिरत्र सात्त्विकी "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान"मिति, तस्य **बाधकं** त्रिविधं गुणा विरुद्धा आश्रयनाशकमाश्रयविरोध्यन्तरजनकं च, तदत्र श्रीमदात् त्रयं भवति, यद्यपी "न्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनश्चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्भस्तोयमिव ह्रदा"दिति विषयमात्रसेवनमेव **बुद्धिभ्रंशहेतुस्तत्रापि** यथा **श्रीमदाद्** बाह्याभ्यन्तरदोषसंसर्गरूपादन्यः प्रकारान्तरेणोत्पन्नो विषयानुभवः, साधनस्य द्वन्द्वत्वाभावात् परिहार्यो भवति, अयं त्वपरिहार्यः, यतस्तेनान्तर्बहिर्दोषौ जन्येते इत्याहाभि**जात्यादि**रिति, "विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनो मद एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमा" इति, तत्र धनमदो मध्यम उभयमदयोः साधको यथा मध्यमं गृहं दग्धं सत् पार्श्वस्थितयोरपि दाहं सम्पादयति, **आभिजात्यस्यादिः** श्रीमदस्ततोऽप्यनर्थसम्पादकः, तस्य मदान्तरापेक्षया दुष्टविषयजनकत्वं हेतुत्वेनाह **यत्र स्त्रीद्यूतमासव** इति, अन्यान्यपि दूषणानि वक्ष्यति, ततः प्रथमं दोषत्रयमाह यदपरिहार्यं, प्राणिनः सर्वहेतवः कायवाङ्मनांसि, तत्र **स्त्री** कायनाशिका द्यूतमनृतं वाङ्नाशकं **आसवो** बुद्धिनाशकः,**आसवो** मदिरा, "द्यूतं पानं स्त्रिय" इत्यधर्मपदा अप्येते, तत्रापि प्रथमं **स्त्रीनिर्देशस्तेष्वप्याधिक्यख्यापकः**, "न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतो योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत" इति, श्रीमदे त्वेते भवन्त्येव धनमदकृतस्त्रियोऽसत्या एव भवन्ति ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

यदृच्छयेत्यत्र ननु नारदस्य भगवत्त्वं कुत इत्यत आहुः **कार्यभगवत्त्वानीति** "युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवै"रितिवाक्याद् भगवद्भिन्नेषु भगवत्त्वं भगवद्दत्तत्वात् **कार्य**मेव, बहुवचनं त्वेकद्वित्रिदानाभिप्राय, तच्च **विष्णुपुराण** उक्त "मुत्पत्तिं च निवृत्तिं च भूतानामागतिं गतिं वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति", अतो भगवत्कृपातो **भगवत्त्वमित्यर्थः**, दर्शनमात्रेणापि मत्तत्वज्ञापकं रूपमाहु**र्देवानामित्यादि** ॥ ५ ॥ **तं दृष्ट्वेत्यत्र वस्त्रपरिधाने** नेत्यत्र नकारो भिन्नः, गुह्यं **कं ययोरिति** वैषयिकं सुखं ययोरित्यर्थः ॥ ६ ॥ **तौ दृष्ट्वेत्यत्रात** इत्यस्यैत विचार्येत्यनेन सम्बन्धः, **उभयोरि**त्याद्यासुरभावमनुष्यदोषयोः फलं, महापुरुषेषु भगवतः सत्त्वात् सर्वफलदातृत्वं च तेषां सान्निध्ये भवतीतिहेतोर्दयोत्पत्तौ हेतुमाहु**रन्यापराध** इत्यादि, अपराधस्योत्कटत्वेन बाल्याभावेन च पितुरपि त्यागार्हाविति दयोत्पादकौ जाताविति भावः, ननु स्थावरत्वं तु तच्छीलः दुष्कर्मणैव भविष्यतीति किं शापेनेत्यत आहुः **कर्मसाध्यमित्यादि, कर्माधिकारिफलभावनातः पूर्वमिति** कर्मण्यधिकरोति **कर्माधिकारी** तस्य या **फलभावना** फलोत्पादनात् प्राप्तिरितियावत् **ततः पूर्वं**, तथा च "नरकस्थोऽपि वै जन्तु"रितिवाक्यात् कर्मफलेऽपि नारकी निर्वृतिरिति ततः फलशेषो जन्मान्तरेणुवर्तते दत्ते तु शापे दुःखभूयस्त्वेन कर्मणो निःशेषनाश इति तदर्थं शाप इत्यर्थः, हेत्वन्तरमाहु**र्महापुरुषेत्यादि**, कर्मफलाच्छापफलस्योत्कर्षं स्फुटीकुर्वन्त्यतो **नेत्यादि** ॥ ७ ॥ **न ह्यन्य** इत्यस्याभासे पूर्वं **मुक्तिपदं** संसारनिवृत्तिबोधकमपरं तु सायुज्यस्येति ज्ञातव्यं, द्वितीयें **भक्तिरितिपाठे** तु न कश्चित् सन्देहः, श्रीमदादन्य **आभिजात्यादी रजोगुणो बुद्धिभ्रंशोनेत्यत्र रजोगुण** इति **रजसो** धर्म इत्यर्थकमाभिजात्यादिविशेषणं तत्र **रजोगुणशब्देन** **रजोधर्माभिप्रेतः**, ते च धर्मा एकादशस्कन्धे "काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखं मदोत्साहो यशः प्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यम" इत्यनेनोक्ताः, ते सर्वे यथासम्भवमाभिजात्यादिनोत्पाद्यन्त इति तस्य **रजोगुणत्व**मुक्तं, एवं सति तस्य मादकत्वमत्राभिप्रेतं, तदाहु**र्गुणा विरुद्धा** इत्यादि, अन्यद् द्वयमग्रे स्फुटीभविष्यति तत्र **स्त्री कायनाशिके**त्यादिना, ननु स्त्रियो दुष्टत्वे सद्भिः किमर्थं विवाहादि क्रियत इत्यत आहु**र्धनमदे**त्यादि, तथा च न धर्मार्था स्त्रियस्तथाविधा इतिदोषः ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

यदृच्छयेत्यत्र देवानामिति स्वर्षेर्नारदस्य सम्माननं नमस्कारादिना, तदभावो देवानां न सम्भवत्यतो मत्ताविति ज्ञातवानित्यर्थः ॥५॥ **तं दृष्ट्वेत्यत्र कामोद्बोधेनेति** अनिष्टजनप्रकारकथनं, धान्येन धनमितिवदभेदे तृतीया ॥६॥ **तौ दृष्ट्वेत्यत्र कर्माधिकारीति** कर्मभिर्निन्दितैरधिकारिणो जन्तोः फलं स्थावरता तस्य **भावना** उत्पादना कर्मणा फलोत्पत्तेः **पूर्वमेवेत्यर्थः**, ननु विधिसम्बन्धाभावे फलासम्भव इत्याशङ्क्याहुः **महापुरुषेति** महापुरुषदृष्ट्यैव फलमुद्बुद्धं नातो विध्यपेक्षेति भावः ॥ ७ ॥ **न ह्यन्य** इत्यस्याभासे **दोषस्येति** श्रीमदस्येत्यर्थः, एतस्य तदुभयाजनकत्वं द्वादशानामित्यर्थः, तत्र बुद्धिभ्रंशद्वारा तदजनकत्वमेतच्छ्लोकार्थः, दोषान्तरद्वारा तदजनकत्वमग्रिमाणामर्थ इति विभागः, श्रीमदे एतदुभयाजनकत्वं शापहेतुतावच्छेदकमतः शापहेतुर्द्वादशभिरिति पूर्वोक्तेन न विरोधः, **सद्बुद्धिति** बुद्धिपदेनान्तःकरणं बुद्धिः सती ज्ञानजनिका नोत्पद्यते इत्यर्थः, **तदाहेति** सत्याबुद्धेरनुत्पादनं भ्रंशपदेनाहेत्यर्थः, बुद्धेः **सतीत्वे चित्ताश्रितज्ञानजननात् तस्याश्रितत्वभवनात् ऊर्ध्वभावः, असतीत्वे** तु तस्या मनोरूपत्वभवनाद् भ्रंशः अधः पात एवेति भावः, **बुद्धिभ्रंशहेतुरिति** तथा च मूले बुद्धिं भ्रंशयतीति बुद्धिभ्रंश इति विग्रहः, कर्मण्युपपदे अण् , सत्याबुद्धेर्ज्ञानजनकत्वे प्रमाणमाहुः **"सत्त्वात् सञ्जायते"** इति, तथा च सत्त्वकार्यस्य ज्ञानस्या-

भावादव्यभिचरितकारणस्य सत्त्वस्याभावोनुमेय इति भावः, **तस्येति** चित्ताश्रितस्य ज्ञानस्य, **त्रिविधं बाधकं** जनने प्रतिबन्धकमतो बुद्धिभ्रंशकमित्यर्थः, **गुणा इति** ज्ञानस्य गुणा विषयाः, तथा च **विरुद्धा** निषिद्धा विषयाश्चित्ताश्रितज्ञानप्रतिबन्धका इत्यर्थः, **विषयभोगे स्त्री मुख्येति मूले स्त्रीग्रहण, आश्रयस्य** चित्तस्य **नाशकं द्यूतं,** द्यूतेनान्तःकरणाशुद्ध्या तस्य चित्तत्वं नश्यतीत्यर्थः, **आश्रये चित्ते** यथार्थज्ञान**विरोध्यन्यत्** ज्ञानं जनयत्यासवः, मदे सत्यन्यदेव भासत इत्यर्थः, तथा च श्रीमदेन त्रिविधबाधकजननाद् बुद्धिः सती ज्ञानजनिका नोत्पद्यते, बुद्धेर्ज्ञानजननरूपसतीत्वं न भवतीति चित्तत्वरूपोर्ध्वभावान मनस्त्वरूपाधःपातलक्षणो भ्रंशो भवतीत्यर्थः, तथा च बुद्ध्यभावान् न सन्मार्गसत्सङ्गाविति भावः, मनोबुद्धिश्चितमितिक्रमः अहङ्कारस्त्रिष्वप्यनुस्यूतः, एवमन्तःकरणचतुष्टयं ज्ञेय, **दोषसंसर्गरूपादिति** भवति तथान्येन न भवतीतिशेषः, आभिजात्यादेरित्यस्याभासमाहुः **अन्य** इति, **विद्यामद** आन्तरो दोष **आभिजनो मदो** बाह्यदोषः **तेष्वव्याधिक्येति** तेषु त्रिष्वपि मध्ये **आधिक्यख्यापकः, स्त्रीणा**मितिशेषः ॥ ८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यानित्यत्र विद्यामद इति का० ८४३ ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'महतो वंशे उत्पन्नोपि प्रमाद्यतीति, स्वदृष्टान्तेन ज्ञेयम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—कौरवेति । यदृच्छया अकस्मादेव तत्रागतो नारदस्तौ देवावपश्यत्, दृष्ट्वा च क्षीबाणौ मत्तौ समबुद्ध्यतेत्यन्वयः । 'भाव्यर्थपरिज्ञानं देवयोनीनामुपकारकर्तृत्वं' च सूचयन्नाह—देवर्षिरिति । सर्वकरणसामर्थ्यं सूचयन्नाह—भगवानिति । तथाबोधे हेतुमाह तमिति । देव्यः अप्सरसो यतो विवस्त्रा, अतस्तं नारदं दृष्ट्वा व्रीडिताः शापशङ्किताश्च शीघ्रं वासांसि पर्यधुः । विवस्त्रौ तौ गुह्यकौ तु नैव वस्त्रं पर्यधत्तामिति ॥ ५–६ ॥ मदिरया मत्तौ श्रीमदेन चान्धौ विवेकशून्यौ । 'न चैतत्तयोर्युक्तम्' इत्याशयेनाह—सुरात्मजाविति । एवंभूतौ तौ दृष्ट्वा नारदस्तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं वक्ष्यमाणं जगौ । नच 'शापानुग्रहयोः परस्परविरोधाच्छापस्य कथमनुग्रहार्थत्वम्' इति शङ्क्यम्, यदि वक्ष्यमाणप्रकारकं शापं न दद्यात्तदा 'अत्यन्तनिन्दितैर्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजेत्' इति वाक्यात् स्वकर्मवशाद्यत्रकुत्र तयोः स्थावरत्वं स्यादेव, तत्र च श्रीकृष्णदर्शनाद्यभावेन सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकभक्त्यादिपुरुषार्थलाभो न स्यादतः शापस्त्वनुवादमात्रम् । तथैव वक्ष्यति—अतोऽर्हतः स्थावरतामिति । वस्तुतस्त्वनुग्रह एव, अतो न विरोधः कश्चित् । अनुग्रहो मदनाशः, अर्थश्च श्रीकृष्णदर्शनम्, तदर्थम् । यद्वा अनुग्रहस्य योऽर्थः फलं भगवद्दर्शनादि, तदर्थम् । तत्रापि शापे हेतुर्मदिरेत्यादि विशेषणद्वयम्, अनुग्रहे हेतुः सुरात्मजत्वम् 'इति विवेकः' वस्तुतः क्रोधाभावसूचनार्थं । 'जगौ' इत्युक्तम् । तदपि गानं स्वमनस्येव बोध्यम्, तयोः प्रमत्तयोः स्त्रीणां च विवेकहीनानामग्रे कथनस्य प्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥ तद्वाक्यान्येवाह—पञ्चदशभिः । तत्र प्रथमं श्रीमदं निन्दति—नहीति द्वयेन । जोष्यान् प्रियान् विषयान् जुषतः सेवमानस्य पुंसो यथा श्रीमदो बुद्धिभ्रंशः बुद्धिं भ्रंशयतीति तथा विवेकनाशको भवति, तथा ततोऽन्यः आभिजात्यादिः अभिजातिः सत्कुलजन्म तदुद्भवः आभिजात्यो मदः आदिशब्दात् 'जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्' इत्यादिपूक्तः विद्यादिजनितो मतः तथाऽन्यो वा रजोगुणः रजःकार्यभूतो हास्यहर्षादिरूपो बुद्धिभ्रंशकरो नहि भवति । 'कुत एवं' तत्राह—यत्रेति । यत्र यस्मिन् श्रीमदे सत्येव धर्मपादचतुष्टयनाशकाधर्मपादचतुष्टयस्त्र्यादिसम्बन्धो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

यदृच्छयेति ॥ हे कौरव ! यदृच्छयाऽकस्मादेव तत्रागतो भगवान् देवर्षिर्नारदः तौ देवौ देवयोनी गुह्यकौ अपश्यत् । दृष्ट्वा च क्षीबाणौ मतौ समबुध्यत ॥ ५ ॥ तं दृष्ट्वेति ॥ देव्यः अप्सरसो यतो विवस्त्रा अतस्तं नारदं दृष्ट्वा व्रीडिताः शापशङ्किताश्च शीघ्रं वासांसि पर्यधुः । विवस्त्रौ तौ गुह्यकौ तु नैव वस्त्रं पर्यधातामिति एवकारेण देवीभिः प्रेरितावपि न पर्यधाताम् ॥ ६ ॥ ताविति ॥ सुरस्य देवसत्त्वस्य कुवेरस्यात्मजौ अपि श्रीमदेनान्धौ अतः मदिरामत्तौ तौ दृष्ट्वा नारदस्तयोरनुग्रहार्थाय अनुग्रहो मदनाशः अर्थः श्रीकृष्णदर्शनं तस्मै शापं दास्यन्निदं वक्ष्यमाणं जगौ ॥ ७ ॥ न हीति ॥ जोष्यान् तर्पकान् विषयान् जुषतः सेवमानस्य पुंसो यथा श्रीमदो बुद्धिभ्रंशः बुद्धिं भ्रंशयतीति यथा विवेकनाशको भवति तथा श्रीमदादन्यः आभिजात्यादिः अभिजातिः सत्कुलजन्म तदुद्भवः आभिजात्यो मदः आदिशब्दात् ऐश्वर्यविद्याकुलादिजनितो मदः तथान्यो वा रजोगुणः रजःकार्यभूतो हास्यहर्षादिरूपो बुद्धिभ्रंशकरो न हि भवति । किन्तु श्रीमद एवेति तदाह । यत्र यस्मिन् श्रीमदे स्त्री द्यूतम् आसवश्चेत्याद्याः भवन्ति । जोष्यानिति । "जुष परितर्पणे" इति चुरादेर्ज्ञेयम् । अतो न क्यप् शङ्क्यः । जुषत इति शता आर्षः ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तत्र मंदाकिन्यां यदृच्छया सहजस्वभावेन देवौ अपश्यत तदनंतर क्षीबाणौ मदोन्मत्तौ समबुध्यत ज्ञातवान् ॥ ५ ॥ कथं ज्ञातवांस्तत्राह वासांसि वस्त्राणि पर्यधुः धृतवंत्यः विवस्त्रौ नग्नौ नैव पर्यधाताम् ॥ ६ ॥ अनुग्रहार्थाय अनुग्रहो हरिस्वरूपदर्शनं च अर्थस्तद्भक्तत्वप्राप्तिश्च मदनाशो वा तयोः समाहारस्तदर्थम् ॥ ७ ॥ न हीति जोष्यान् सेव्यान् प्रियविषयान् जुषतः सेवमानस्य नरस्य श्रीमदादन्यः अभिजात्यादिः सत्कुलश्रुतकर्मादिजनितो मदः बुद्धिभ्रंशकः सन्मतिनाशको न ह्यस्ति तथा श्रीमदादन्यो रजोगुणो रजःकार्यो हास्यहर्षादिरूपोपि बुद्धिभ्रंशको न ह्यस्ति किंतु श्रीमदा एव बुद्धिभ्रंशकाः यत्र श्रीमदे आसवो मद्यपानम् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यदृच्छयेति ॥ हे कौरव परीक्षित्, भगवान् देवर्षिः नारदः, यदृच्छया च दैवेच्छयेव, तत्र आगतः सन्, देवौ नलकूबरमणिग्रीवौ, अपश्यत्। क्षीबाणौ मदान्धौ च, समबुद्ध्यत ज्ञातवान्। 'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिंनराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरे यक्षाणां देवत्वोक्तिः ॥ ५ ॥ कुत एतौ क्षीबाणाविति बुद्धं तत्राह ॥ दृष्ट्वेति ॥ देव्यः अप्सरसः, तं नारदं दृष्ट्वा, यतः विवस्त्राः, अत एव व्रीडिताः लज्जिताः, शापशङ्किताश्च सत्यः, वासांसि, शीघ्रं पर्यधुः परिहितवत्यः। विवस्त्रौ नग्नावपि, गुह्यकौ कुबेरसुतौ, नैव पर्यधत्तां किं तु नग्नावेवासात् ॥ ६ ॥ ताविति ॥ सुरात्मजौ, भगवद्भक्तस्य कुबेरस्य पुत्रौ सन्तावपीत्यर्थः। तौ नलकूबरमणिग्रीवौ, मदिरामत्तौ च दृष्ट्वा, नारद इति शेष। तयोः, अनुग्रहार्थाय मदनाशरूपमनुग्रहं विधातुमित्यर्थः। शापं, दास्यन् दातुमित्यर्थः। इदं वक्ष्यमाणं, जगावाह। अनुग्रहो मदनाशः, अर्थश्च श्रीकृष्णदर्शनं, तदर्थमित्यन्ये ॥ ७ ॥ तदेवाह ॥ नेति ॥ जोष्यान् प्रियान् विषयान्, जुषतः सेवमानस्य पुंसः, श्रीमदात् संपत्प्रयुक्तमदात्, अन्य इतरः, आभिजात्यादिः सत्कुलादिजनितः, आदिशब्देन विद्यादिसंग्रहः। आभिजात्यादेजनितो मद इत्यर्थः। रजोगुणः, रजोगुणकार्यकामक्रोधहास्यहर्षप्रभृतिदोषाश्च, तथा बुद्धिभ्रंशः श्रीमदवन्मतिविनाशकरः, न हि। किं तु श्रीमद एव नितरां बुद्धिभ्रंशकरः। अयं भावः। विद्याधनकुलौन्नत्यजास्त्रयो मदाः सन्ति, ते सर्वेऽप्यनर्थकर्तृत्वे तु तुल्या एव तत्र धनजमदे बुद्धिभ्रंशकर्तृतारूपो महान्विशेषः। न केवलं श्रीमदे एतावानेव विशेषः, किं तु यत्र श्रीमदे सति, स्त्री पराङ्गनाङ्गसङ्गप्रवृत्तिः, द्यूतं पाशकक्रीडनं, आसवो मधुपानं च, किं बहुना श्रीमदतः सर्वाण्यपि व्यसनानि भवन्तीति ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविचितं श्रीभक्तिरसायनम्

यदृच्छयेति : १०.१०.५.

प्रतिकूलेऽनुकूले वा विधौ तदनुसारतः। योगोऽपि सहसैवेति स्फुटं विध्युदितोदयात् ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वेति : १०.१०.६.

यद्योगाद् वयमीदृगात्मनि सुखं प्राप्ताश्च यः सर्वदैवास्मत्कीर्तिलताप्रसारणचणो यो गुह्यकान्तस्थितिः।
तस्यानङ्गमहीपतेर्गृहमिदं गोप्यं न कार्यं कथं तत्पोष्याभिरितीव पर्यधुः वासांसि देव्यो हि ताः ॥ ७ ॥

द्विषल्लक्ष्यं यथा न स्यात्तथा रक्ष्यं प्रभोर्गृहम्। युक्तमालक्ष्य कामर्षिवैरमासंस्तथाविधाः ॥ ८ ॥

यत्कार्यं विहितं फलाय भवति प्रायस्तदेवाचरेत् प्राज्ञो जातु न वाञ्छितार्थविधुरं लोकेष्वितीदृग् दृशौ।
वस्त्राच्छादितगुह्ययोरपि न नावाच्छाद्यते गुह्यकप्राकट्यं तदनेन किन्त्विति धिया तौ तादृशौ तस्थतुः ॥ ९ ॥

लोके शास्त्रेष्वपि यद्वस्तु निगूह्यं न तत्स्फुटीकार्यम्। दोषो विहिते तु महान् विवस्त्रगुह्यकपदादिदं ध्वनितम् ॥ १० ॥

न ह्यन्य इति : १०.१०.८.

काममोहाऽनृतेष्वेकोऽप्यलमन्यायकर्मणी। स वाच्यः श्रीमदः कैर्वा त्रयो यत्र विराजिताः ॥ ११ ॥

राजन्नेवमिदं यदत्र हि धनोन्मादोऽधदः सर्वदा नानानर्थनिदानमक्षिण वितते सूर्यागमेऽप्यान्ध्यकृत्।
तस्माल्लोकसुखार्थिनाऽपि गिरिजानाथेन मन्ये धनं नित्यानर्थकृदित्यवेक्ष्य बहुधा तत्त्याग एवादृतः ॥ १२ ॥

यत्पापर्धिसुरादुरोदरपरस्त्रीहाऽपहाराः सदा संत्याज्या नयकोविदेन विदुषा श्रेयः स्वमाकाङ्क्षता।
इत्येतद्धि निषेधशास्त्रमवनीपाले प्रवृत्तं च यत् तच्छास्त्रस्य निदानमेतदखिलैरुट्टङ्कितं नापरम् ॥ १३ ॥

पापर्धेः फलमाप्तवान् दशरथो मद्यादिमौ भूरुहौ द्यूतात् पूर्वभुवस्तवाप्तगहनाः सुन्दश्च कान्तेहया।
सीताया हरणेन पङ्क्तिमुख इत्येतत्त्वया ज्ञातमप्यर्वाक् सर्वमथापि हन्त कथितं धृत्वोपदेशक्रमम् ॥ १४ ॥

कृष्णप्रिया

कुरु राजा के पुण्य वंशज राजन् ! भगवदिच्छा से वहाँ से देवर्षि भगवान् नारदजी जा निकले। नारदजी ने उन दोनों देवों को देखा तो वे दोनों नशे में चूर थे ॥ ५ ॥ देवर्षि नारदजी को देख वस्त्रविहीन देवाङ्गनाएँ लज्जित हो गयीं और शाप के भय से देवाङ्गनाओं ने तो अपने अपने वस्त्र धारण कर लिये लेकिन वे दोनों इतने मतवाले हो गये थे कि वैसे ही विवस्त्र खड़े रहे ॥ ६ ॥ देव कुबेरजी के उन दोनों आत्मजों को इस प्रकार धनमद से अन्धे और मदिरा पान से मतवाले देख उन पर अनुग्रह करने की दृष्टि से महर्षि शाप देते हुए कहने लगे ॥ ७ ॥ श्रीनारदजी ने कहा—विषयों का प्रीति से सेवन करने वाले पुरुषों का मतिनाश जितना धनमद से होता है उतना कुल यौवन ज्ञान आदि के मद से नहीं और रजोगुण के कार्यभूत उपहास आदि नहीं होता, जब कि धनमद में परस्त्री वारांगना, मदिरा पान जूआ भी रहता है ॥८॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः । मन्यमानैरिदं[1] देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ९ ॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् । भूतध्रुक्[2] तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ १० ॥

देहः किमन्नदातुः स्वं[3] निषेक्तुर्मातुरेव[4] वा । मातुः पितुर्वा[5] बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥ ११ ॥

एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् । को विद्वानात्मसात् कृत्वा हन्ति[6] जन्तूनृतेऽसतः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—निर्दयैः अजितात्मभिः इदं नश्वरं देहं अजरामृत्यु मन्यमानैः यत्र पशवः हन्यन्ते ॥ ९ ॥ देवसंज्ञितं अपि अन्ते कृमिविट्भस्मसंज्ञितं तत् कृते भूतध्रुक् किं स्वार्थं वेद यतः निरयः ॥ १० ॥ देहः किं अन्नदातुः ! किं स्वं निषेक्तुः वा मातुः एव, वा ? मातुः पितुः ? वा बलिनः क्रेतुः अग्नेः अपि वा शुनः ॥ ११ ॥ एवं अव्यक्तप्रभवाप्ययं साधारणं देहं आत्मसात् कृत्वा कः विद्वान् असतः कृते जन्तून् हन्ति ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

इमं नश्वरं देहमजरामृत्यु अजरश्च अमृत्युश्च यथा तथा मन्यमानैः ॥ ९ ॥ नरदेवभूदेवसंज्ञितमपि श्वादिभिर्भक्षितं विट्संज्ञितं दग्धं भस्मसंज्ञितमन्यदा कृमिसंज्ञितं तत्कृते तदर्थं यो भूतध्रुक् भूतद्रोग्धा यतो भूतद्रोहान्निरयो भवति स किं स्वार्थं वेद न वेदैवेत्यर्थः ॥ १० ॥ इदानीं देहेऽहंभावोऽपि न घटत इत्याह । देह इति । निषेक्तुः पितुः मातुः पितुर्वा मातामहस्य पुत्रिकाकरणे । केतुर्मूल्यं दत्त्वा ग्रहीतुः ॥ ११ ॥ अव्यक्तप्रभवाप्ययमव्यक्तात्प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो यस्य तमात्मसात्कृत्वा आत्मेति मत्वा । असतो मूढादृते ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यत्र येषु स्त्र्यादिषु सत्सु पशवो भूतानि "पशुर्वै स देवानाम्" इति श्रुतेः । पशुशब्दो मनुष्येऽपि वर्तते । हननमपि मारणधनहरणप्रवासनापमानादिभेदाद्बहुविधं ज्ञेयम् । यथाऽतिवत्सलो जनकादिरतिमधुरं क्षीरादिकं भोजयितुं पुत्रादिकं निद्राणमालक्ष्य तन्निद्राभंगार्थं नखद्वयाघातं करोति तद्वत् ॥ ९ ॥ निरयो निर्गतोऽयः सुखं यतः स निरयो नरकः । यद्वा—तत्कृते अंतः कामक्रोधलोभाक्रांतचित्ततया स्वयमज्ञानीभूय विहितत्यागपूर्वकं लोके निजज्ञानितां प्रकल्प्य लोकान्कर्मतः प्रचाव्याहं ब्रह्मास्मीति मामेवेश्वरं जानीत "तत्त्वमसि" इति श्रावयित्वा च त्वमपीश्वरोऽसीति देहपूजां कारयितुं भूतं नित्यभूतं परमात्मानं स्वस्य तत्तुल्यभावनया गृह्यतीर्ष्यतीति भूतध्रुक् स किं स्वार्थं स्वस्यानीशतां वेद यतो भगवद्द्रोहान्निरयो भवति राजाभिमानि-तंतुवायस्य राजदंडवधमदंडो भवतीति भावः । 'भूतध्रुक् को लभेत शम्' इति 'तदवध्यायी न कचित्सुखमेधते' इति च कंस-भार्याभिर्वक्ष्यमाणत्वात । इत्यर्थ इति । स तु सर्वथा स्वार्थापरिज्ञानीति भावः ॥ १० ॥ अन्नदातुर्नित्यं भोजनप्रदस्य निषेक्तु-गर्भाधानकर्तुः पितुरिति स्वामिचरणाः । बलिनो बलात्कारेण ग्रहीतू राज्ञादेः क्रेतुर्द्रव्यं दत्त्वा मौल्येन ग्रहीतुः । अग्नेः अंत्ये तस्य तत्रैवाहुतिनिक्षेपात् । शुन इत्युपलक्षणं गृध्रादेरपि । आहुत्यभावे तैरेव भक्ष्यत इति तेषामपि स्वत्वं तत्र । अपि वेत्युक्तेः मृदि निखनने कृम्यादिभिर्भक्ष्यते तदतस्तेषामपि स्वत्वमिति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥ एवमुक्तप्रकारेण । साधारणमनेकस्वत्वास्पदम् । अव्यक्तात्प्रकृतेः "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव" इति स्मृतेः ॥ १२ ॥

---

१. रिमं—श्रीधर. वंशी. । २. छ्रुक्कुरुते—विज. । ३. स्यान्निषेक्तुः—विज. । ४. च—श्रीधर. वंशी. ; वा—वीर. विज. । ५. क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनोऽपि—गो. पु. टी. । ६. जन्तून्—श्रीधर. वंशी. सुदर्शन. वीर. विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततश्च महापापजनकं परद्रोहलक्षणं सुदुष्टं कर्मात्र घटत इत्याह—हन्यन्त इति। भोजनसुखार्थं पशव इति साक्षात् भक्ष्याभक्ष्यविचारोपि निरस्तः। निर्दयैरसद्भिः यतः अजितेन्द्रियैः अत एव इमं साक्षाज्जरादिधर्मकमपि तत्र च प्रतिक्षण-परिणामित्वेन नाशशीलमपि अजरामृत्युवस्त्विति मन्यमानैः टीकायाम् अजरश्च यो देहविशेषः पश्चान्मृत्युरप्यन्यः तयोः द्वन्द्वैक्यं तद्वन्मन्यमानैरित्यर्थः ॥ ९ ॥ स्वस्य अर्थं हितमित्यर्थः ॥ १० ॥ देहे ममता निर्द्धारणमपि न घटेत बहुविप्रतिपत्तेरित्याह देह इति—स्वं धनं स्वीयमित्यर्थः। बलिनः बलाद्विष्टयाद्यर्थं गृह्णतः एवशब्दस्यापि पूर्वैरप्यन्वयः क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेरिति वा बलिनः क्रेतुरग्नेरिति वा पाठः ॥ ११ ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण देहं साधारणमपि विद्वान् जानन् तथा अव्यक्त प्रधानवत्कारणा-वस्थायामविविक्तं भूतपञ्चकं तत्र प्रभवाप्ययौ यस्येत्यापातमात्रप्रतीतमपि जानन् को नाम तमात्मत्वेनाङ्गीकृत्य जन्तून् हन्ति न कोपि असन्तस्तु जानन्तोऽपि घ्नन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

परमपि महापापजनकं परद्रोहलक्षणं सुदुष्टं कर्मात्र घटत इत्याह—हन्यन्त इति भोजनसुखार्थं पशव इति भक्ष्याभक्ष्यविचारोऽपि निरस्तः। निर्दयैरसद्भिर्यतोऽजितेन्द्रियैरत एवं साक्षाज्जरा मरण धर्म्मकमपि, तत्र च नश्वरं प्रतिक्षणं रागादिना नाशशीलमप्यजरामृत्यु वस्त्विति मन्यमानैः ॥ ९ ॥ स्वस्यार्थं हितमित्यर्थः ॥ १० ॥ देहे ममतापि न घटेतेत्या-शयेनाह—देह इति। स्वं स्वत्वास्पदम्। बलिनो बलाद्विष्ट्याद्यर्थंगृह्णतः एवार्थे अपिशब्दः, अस्य एव शब्दस्यापि पूर्वैर-प्यन्वयः। एवमन्नदात्रादीनां प्रत्येकम्। स्वत्वनिर्द्धाराद्देहस्यात्यन्तानात्मीयतोक्ता ॥ ११ ॥ अव्यक्तं प्रधानम्, तत्प्रभवाप्ययत्वेन मायिकत्वम्, तथाप्यात्मेति मत्वा, यद्वा, अव्यक्तादीश्वरात् प्रभवाप्ययौ यस्येत्यस्वाधीनत्वमुक्तम्, तथाप्यात्मीयमिति मत्वा, विद्वान् तत्तत्त्वं जानन्नित्यर्थः, यद्वा, अविद्वानपि को हन्ति? हन्यमानस्य साक्षाद्दुःखदर्शनात्। तच्चाग्रे वक्ष्यति। असतः श्रीमद्दुर्बुद्धेर्विना ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अदग्धाऽभक्षितस्य, श्वादिभिर्भक्षितस्य, दग्धस्य, च देहस्य कृमिविड्भस्मावस्थाः भवन्ति भूतध्रुक् भूतद्रोही यतो द्रोहात् ॥ १० ॥ निषेक्तुर्गर्भाऽऽधातुः क्रेतुः द्रव्यप्रदानेन स्वीकर्तुः बलिनः बलात् गृहीतुः ॥ ११ ॥ ऋतेऽसतः असता विना ॥ १२-१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

किञ्च यत्र श्रीमदे सतीमं देहं जरादिरहितं मन्यमानैरत एवाजितेन्द्रियैरत एव निर्दयैः पशवो हन्यन्ते ॥ ९ ॥ इममित्यनेनाभिप्रेतं विशदयति—देवेति। देवसंज्ञितमपि नरदेवभूदेवस्वर्देवादिसंज्ञितमपि शरीरमन्ते तदारम्भकप्रारब्धावसाने कृम्यादिसंज्ञितमेव दग्धं चेद्भस्मसंज्ञितं श्वादिभिर्भक्षितं चेद्विट्संज्ञिकमित्यर्थः। तत्कृते एवंविधशरीरसुखार्थं यो भूतानि द्रुह्यतीति तथा यतो भूतद्रोहान्निरयो नरकः स पुमान् किं वेद न किमपि हितमहितञ्च जानातीत्यर्थः ॥ १० ॥ नन्वन्ते यत्किञ्चि-त्संज्ञिकमस्तु जीवद्दशायां स्वाधीनतया देहसुखार्थं यतितव्यमेवेत्यत्र तद्दशायामपि न नियतं सत्त्वमस्तीत्याह—देह इति। अग्नेः शुनोपि वीते दृष्टान्तार्थं देहो यथास्तेऽग्नेः शुनश्च स्वं तथा जीवद्दशायामपि नियमो नान्नदात्रादीनां स्वं किं न भवतीत्यर्थः। किमित्यनेन लोके प्रसिद्धिः द्योत्यते तावदन्नपरिणामरूपत्वाद्यस्यान्नेन वर्द्धते तस्य स्वं तथा रेतः प्रभवत्वान्नि-षेक्तुर्गर्भाधातुः तथा मातुः पितुर्मातामहस्य च पुत्रीकरणकाले तथा सङ्कल्पात् पितृवन्मातृपितरं प्रत्यपि पारतन्त्र्यौचित्यादिति भावः। विक्रेतुर्द्रव्यदानेन स्वीकर्तुः बलिनः बलाद्गृहीतुः ॥ ११ ॥ एवं साधारण नत्वेकस्यैव नियतस्वमव्यक्तात् प्रकृतेः प्रभवः उत्पत्तिस्तस्मिन्नेवाप्ययो लयश्च यस्य तमिमं देहमात्मसात्कृत्वा आत्मेति मत्वा असतो मूढानृते विना विद्वान् कः पुमान् जन्तून् हन्ति देहाभिमानिनश्चेत् हन्युर्विद्वांस्तु न हन्यादेवेत्यर्थः। यद्वा एवमिमं देहं साधारणमव्यक्तप्रभवाप्ययं च विद्वान् जानंश्चेदसतः असाधारणदेहात्माभिमानिनः पुरुषान्विना कोपि पुमानात्मसात् कृत्वा आत्मत्वेन मत्वा जन्तून् हन्यात एवं विद्वांस्तु पुन-र्देहात्माभिमानेन न हन्यात् साधारणमविद्वांसस्तु देहात्माभिमानेन हन्युरित्यर्थः। अविद्वानिति वा छेदः तदा साधारणम-व्यक्तप्रभवाप्ययञ्चाविद्वानजानंश्चेत्कुतस्तज्ज्ञान्विना अन्यः कश्चित् देहात्माभिमानेन हन्यादिति वा अन्वयः ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सन्तु स्त्र्यादयः ततः किमत्राह—हन्यन्त इति। यत्र स्त्र्यादिषु सत्सु इमं नश्वरं देहमजरामृत्युनश्वरं जरामृत्युरहितं मन्यमानैः पशवो भूतानि हननमत्रबहुविधं देहवियोगकरणं धनापहरणं देशोच्चाटनम् अभिमानभङ्गकरणमित्यादि ॥ ९ ॥ यज्ञे पश्वालम्भनवत् परलोकविषयत्वेन पुण्यसाधनायेदं हिंसनं किं न स्यादित्यत्राह—भूतध्रुगिति। नायं स्वार्थः किंतु

पारलौक्यप्राप्तानन्द इत्यत्राह, किमिति। किंशब्दः आक्षेपार्थः "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम्" इति यादवः। दैनन्दिनजीवनमन्तरेण किमपि न जानातीत्यन्वयः। किमिति न वेदेति तत्राह, निरय इति। यतो निर्गमनरहितं तमो भवतीत्यर्थः। "अथ गतौ" इति धातुः। हिंसामात्रेण तमसोऽभावेपि हिंसाविशेषेण तमः स्यात् तथा हि नित्यभूतत्वात्सत्त्वोद्भूतं ब्रह्म तद्द्रोहः सर्वेशस्य ब्रह्मणोऽनीशेन दुःखिना जीवेन सहैकत्वकथनोपासने प्रथमहिंसा सार्वज्ञ्यादिगुणान् श्रुतानपहाय निर्गुणत्वचिन्तनं द्वितीया तदवताराणां दुःखश्रमाज्ञानादिकल्पनं तृतीया प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्तत्वकथनं चतुर्थीत्यादिकम् एवंविधस्य तमःप्राप्तिः स्यादिति निरूप्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥ ननूत्तरश्लोके देहस्यानिर्वाच्यत्वमुच्यते देहस्य जगदन्तःपातित्वेन जगद्-ब्रह्मविवर्त्तमिति कथयतः कथं तम इत्याशङ्क्यात्र साधारणत्वमेवोच्यते प्राप्तिसद्भावादित्याशयेनाह, देह इति, अन्नदातुः पोषयितुः निषेक्तुः गर्भाधानकर्तुः मातुः पितुः मातामहस्य विक्रेतुः द्रव्यादिप्रदानेन बलिनः बलात्कारेण ग्रहीतुः ॥ ११ ॥ अव्यक्तात्प्रकृतेः प्रभव उत्पत्तिः अव्यक्ते अप्ययः प्रलयो यस्य स तथा तम् आत्मसात् आत्मत्वेन असतः ऋते ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

हन्यन्त इति अजरश्च यो देहविशेषः पश्चादमृत्युरप्यन्यस्तयोर्द्वन्द्वैक्यं तन्मन्यमानैरित्यर्थः ॥ ९-१० ॥ देह इति स्वं वस्त्विति शेषः ॥ ११-२४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

जरामृत्युभ्यां दृष्टाभ्यामपि इमं देहं न नश्वरं मन्यमानैः ॥ ९ ॥ नरदेवभूदेवसंज्ञितमपि अन्ते मरणान्तरं श्वादिभिर्भक्षितं पुत्रादिभिरदग्धं चेत्कृमिसंज्ञितं भक्षितं चेत् विट्संज्ञितं दग्धं चेत् भस्मसंज्ञितं भवेत् तस्य देहस्य कृते यो भूतध्रुक् यतो भूतद्रोहात् ॥ १० ॥ देहे ममतानिर्द्धारणमपि न घटते बहुविप्रतिपत्तेरित्याह, देह इति। निषेक्तुः पितुः स्वं धनं मातुः पितुः मातामहस्य वा पुत्रिकाकरणे सति बलिनो बलाद्विष्ट्यर्थं गृह्णतः ॥ ११ ॥ अव्यक्तात्प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो यस्य तम् आत्मसात्कृत्वा आत्मत्वेनाङ्गीकृत्य असतोऽज्ञान् विना ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

किञ्च यत्र श्रीमदे निर्दयैः पशवो हन्यन्ते निर्दयत्वे हेतुमाह—अजितात्मभिः न जितः आत्मा हिंसापूर्वकविषयप्रवणं मनो यैस्तैः ननु प्राणहिंसया नश्वरं देहं ते किं विचार्य्य तर्पयन्त्यत आह—नश्वरमयीमं देहम् अजरामृत्यु अजरश्च अमृत्यश्च यथा भवति तथा मन्यमानैरिति ॥ ९ ॥ किञ्च यत् नरदेवभूदेवादिसंज्ञितमपि अन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितं भवति श्वादिभिर्भक्षितं विट्संज्ञितं दग्धं भस्मसंज्ञितमन्यदां कृमिसंज्ञितं च भवति तत्कृते एवंविधशरीरकृते यो भूतध्रुक् भूतानि द्रुह्यतीति स तथा यतो भूतद्रोहान्निरयो नरकप्राप्तिः स्यात्स किं स्वार्थं वेद नैव वेद ॥ १० ॥ अन्नप्रदादिसाधारणे देहे मदीयोयमित्यपि न सम्भवतीत्याह देह इत्यादिना ॥ ११ ॥ अव्यक्तात्प्रकृतेः प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो यस्य तत् अव्यक्तप्रभवाप्ययम् ॥ १२-१३ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पशवो हन्यन्ते मृगयादिना नश्वरमिमं देहं अजरामृत्यु मन्यमानैः ॥ ९ ॥ नरदेवादिसञ्ज्ञितमप्यन्ते पुत्रादिभिरदग्धं कृमिसञ्ज्ञितं श्वादिभिर्भक्षितम् विट्सञ्ज्ञितं दग्धं भस्मसञ्ज्ञितं तत्कृते तत्पालनाय यो भूतध्रुक् स किं स्वार्थं वेद यतो भूतद्रोहान्निरयो भवति नरके विपच्यते ॥ १० ॥ देहे समत्वनिश्चयो न घटते बहुविप्रतिपत्तेरित्याह देहः किमिति स्वं धनं निषेक्तुः पितुः मातुः पितुर्मातामहस्य वा पुत्रिकाकरणे सति बलिनो वा बलाद्विष्ट्यर्थं गृह्णतः क्रेतुर्मूल्येन गृह्णतः ॥ ११ ॥ अव्यक्तात् प्रकृतेः प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो यस्य तं आत्मसात्कृत्वा स्वाधीनं ज्ञात्वा असतो मूढान् विना ॥ १२ ॥

श्रीसत्याभिनवतीर्थयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ ॥ भूतध्रुक् स्वार्थं किं कुरुते। किमाक्षेपे। स्वार्थं न कुरुते। भूतध्रुक् स्वार्थं वेद किं न वेद प्रत्युत स्वानर्थं कुरुते। स्वानर्थं न वेद चेति शेषः। तत्र हेतुमाह ॥ निरय इति। यतो यस्मात्कारणाद्भूतद्रोहान्निरयो भवति तस्माद्भूतध्रुक् स्वानर्थं कुरुते न वेद चेति। यद्यपि भूतध्रुक् ऐहिकं स्वार्थं कुरुते वेद च तथा चैहिकार्थस्याल्पत्वादविवक्षामाश्रित्य भूतध्रुक् स्वार्थं न कुरुते न वेदेत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥ काकुस्वरविशिष्टं स्यादित्येतत्सर्वत्र संबध्यते। किं शब्द आक्षेपे। देहोऽत्र दातुः स्यात्। अन्नदातुर्न भवतीत्येतत्किं। न। किं त्वन्नदातुर्भवत्येव। देहो निषेक्तुः स्यादिति किं निषेक्तुर्नेति। न किं तु निषेक्तुर्न भवत्येव। वाशब्दोऽप्यर्थे। देहो मातुरपि स्यादेव किं मातुरपि नैवेति किं। मातुरपि स्यादेव। देहो मातुः पितुर्वा मातुः पितुरपि स्यात्किं मातुः पितुरपि नेति। न। किंतु मातुः पितुरपि भवत्येव। देहे बलिनः स्यात्किं बलिनो

नेति । न । किंतु बलिनो भवत्येव । देहः क्रेतुः स्यात्किं क्रेतुर्नेति । न । किंतु क्रेतुर्भवत्येव । देहोऽग्नेः स्यात्किमग्नेर्नेति । न । किं त्वग्नेर्भवत्येव । शुनोऽपि वेति । वाशब्द एवार्थे । देहः शुनोऽपि स्यात्किं शुनोऽपि नैवेति । न किंतु शुनोऽपि । भवत्येव । एवं साधारणमव्यक्तप्रभवाप्ययं देहे को विद्वानात्मसात्कृत्वाऽऽत्ममात्राधीनं ज्ञात्वाऽसतोऽसज्जनानृते जंतून्हंतीति । एतेन देहस्य साधारण्येनोपपादनार्थं देह आत्मदात्रादीनां न स्यादिति वक्तव्यं देहः किमन्नस्य स्यादित्यादिना । अन्नदातादीनां न भवतीति कथनमनुपपन्नमिति दूषणं निरस्तं । स्याच्छब्दस्य निषेधार्थककाकुस्वरविशिष्टत्वं किं शब्दस्याक्षेपार्थत्वं चांगीकृत्य द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सातिशयं गमयत इति न्यायमाश्रित्य देहोऽन्नदात्रादीनां न भवतीति न किं त्वन्नदात्रादीनां भवेत्येवेत्यर्थस्योक्तत्वात् ॥ ११ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यत्र वृन्दावनध्वनीनायामजितात्मभिरजितोऽवशीकृत आत्मा मनो येषां तैर्निर्दयैः पशवो हन्यन्ते । कुत इत्यतो मांसलताया इत्याह ॥ मन्यमानैरिति । इमं नश्वरं देहमजरामृत्युं जरामरणरहितं यथा तथा मन्यमानैरिति केचित् । नश्वरमिति भावप्रधानः । जरामृत्युनश्वरताशून्यं मन्यमानैरिति वा । नश्वरं इमं इह काम्यो विषयादीष्टं तस्य मा निषेधोऽभाव इति यावत् । यस्य तद्देहमजरामृत्युं तद्रहितं मन्यमानैरिति वा । कायो देह क्लीबपुंसोरित्यमरः । अतो न नञर्थभेदानुपपत्तिरिति मन्तव्यम् । इष्टदानात्तथेन्द्र इत्यृग्भाष्यटीकादिभ्यो विशेषोऽव्यक्तः । नायमिदंशब्दः किन्त्विमशब्दोकारान्तः ॥ ९ ॥ नश्वरस्यास्यैवं दुःखस्येत्यप्याह ॥ देवेति । आदौ देव नृदेव भूदेवसंज्ञितमन्ते अदाहे श्वश्वापदाद्यदने विट्संज्ञितम् । तथैव यत्र क्वचन पाते कृमिसंज्ञितं दग्धं चेद्भस्मसंज्ञोपेतं याज्ञियपशुवदिदं पशुविशसनं नेति शंसति ॥ भूतध्रुगिति । यः कुरुते तद्धननमिति शेषः । य एवं भूतध्रुग्भूतेभ्यः स्वहिंस्येभ्यो द्रुह्यति स तथा स स्वार्थं वेद किं न वेद वेद चेदेवं न कुर्यात् । किं तेन भवदनिष्टमित्यत आह ॥ निरयो यत इति । यतो भूतघातान्निरयो नरकाद्यनर्थप्राप्तिरिति न स वेदेति भावः । न चाप्रामाणिकोऽयं कार्यकारणभाव इत्यप्यावेदयति ॥ वेद निरय इति । वेद वेदितश्चासौ निरयो नरकादन्यतो यस्माद्वेदो निरयो नितरां वेदैरयो ज्ञापनम् । अयतेर्गत्यर्थत्वाज्ज्ञानार्थताऽन्तर्णीतण्यर्थता चेति ज्ञेयम् । यतोऽस्ति तत इति वा । स केन कथं वृथा भूतघातरूपं कर्म करोतीत्यतोऽप्याह ॥ कुरुत इति । कुत्सिते रूपे नानादुःसमयरूपे शब्दे सति स तदनुरोधेन करोति । निर्गतो गमनमयोऽपि प्रत्यावृत्तिर्यस्मात्स तमोलोको यतो भवति तद्भूतधृक् । एको विष्णुर्महद्भूतमित्यादेरीश्वरोऽहमहं भोगीत्यादेरेवम्भूतभगवद्द्रोही न वेदेत्यपि विवृण्वन्ति ॥ १० ॥ अनिर्णीतैतदादिरिवके काये कियानयमहो मोह इति द्वाभ्यामाह ॥ देह इति । देहः किमन्नदातुः स्यात् । किंशब्दो विकल्पार्थः । सर्वापेक्षया विनाऽन्नं सद्यस्तनस्यापि न जीवनमिति तद्दातुरुक्तिरादाविति ज्ञेयम् । पितुर्मातुरित्युक्तौ मातृपूर्वभाषणं माता पूर्वरूपमित्यादेर्माता गरीयसीति कौसल्योक्तेश्च । कर्तव्यं पितुः कुतः प्रागुक्तिरिति शङ्का नोत्तरितान्तरङ्गतः स्यादिति निषेक्तुरित्युक्तिः । एतेन निषेकात्पूर्वं मासत्रितयंवासः प्राथमिकस्तत्रेति प्रथमं तदुक्तिरिति युक्तिः सूचितेति ज्ञेयम् । मातृगरीयस्त्ववाद एकोपाधिकपित्रपेक्षया । यदि विद्याद्यनुबन्धोऽपि तस्मिन्वर्तेत तर्हि स मातुरपि गरीयानित्येवमुक्तिर्वा । उक्तं च मोक्षधर्मे पाराशरगीतायाम् । पिता परं दैवतं मानवानां मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति । ज्ञानस्य लाभमित्यादि । मातुः पितुर्मातामहस्य । मातामहस्येति शक्य एवं निर्देशेनासङ्गृहीतसङ्ग्राह्यता मातुर्ज्ञातुराचार्यस्य पितुः पालकजनकस्य पुत्रिकापुत्रत्वेन स्वीकुर्वतो मातामहस्येत्यपि पराकृतेति ज्ञेयम् । ननु पूर्वं जनन्या इत्यनुक्तेरुक्तेश्च मातुरिति तेनैव विवक्षितात्क्षतेर्मातामहस्येति भाषणं भूषणमिति चेत् । प्रौढोऽसि कृतं परिखोड्डीनं परन्तु व्यत्यस्तवितस्तिजातं पालकपितुरलाभात्तत्र तदतन्त्रतापत्तेश्चेत्थमुक्तिरित्यवेहि । विक्रेतुर्वेतनादिवितरणेन विक्रयकर्तुर्बलिनो बलिष्ठस्य निग्रहीतुरग्नेर्दहेऽदाहे शुनस्तदादेः ॥ ११ ॥ एवमुक्तप्रकारेणान्नदात्रादिस्वातन्त्र्योपेतमिति साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययमव्यक्तात्प्रकृतेः प्रभव उत्पत्तिरप्ययोऽपि तदन्तर्निवेशश्च यस्य स तं । अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवनेत्यादेः । यद्वाऽव्यक्तोऽस्पष्टमधश्चेत्यज्ञातौ प्रभवोऽप्ययश्च यस्य स तं को विद्वानात्मसात्कृत्वा स्वाधीनं कृत्वाऽसतो ऋते विना जन्तूननागस्कारिणो जनान्हन्ति घातयति । अन्यारादितरर्ते इत्यसत इति पञ्चमी द्वितीयाबहुवचनं वा । ज्ञानसूर्यमृते विना वातं विना वर्षमित्याद्युदाहृत्य प्रोक्तं स्कन्धान्तरेऽनुसन्धेयं । सातिस्तु तदधीनवचन इत्यनेन वा विभाषा सातिकात्स्न्ये इत्यनेन वा स्वाधीनं कृत्वाऽऽत्मानं कृत्वेत्यर्थक इति मन्तव्यम् ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

दोषान्तराण्याह हन्यन्ते **पशवो यत्रेति, यत्र** श्रीमदेन प्रत्यहं भक्षणार्थं **पशवो हन्यन्ते, निर्दयैरिति,** बाला आमा अपि हन्यन्त इति सूचितं कोमलमांसत्वात्, किञ्चाजितात्मभिः सर्वाण्येव पापानि क्रियन्ते, "नूनं प्रमतः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आवृणोती"त्यत्र निरूपणात्, तेषां स्वेष्टसाधनताज्ञानवतां कथं स्वानिष्टे प्रवृत्तिरिति चेत् तत्राह **मन्यमानैरिति,** पूर्वोक्तप्रकारेण विषयभोगः स्वभावतः सुखहेतुर्भवति पर्यवसाने परलोके च दुःखहेतुर्भवति, स च परलोकोस्य देहस्य नाशे, ते हि

धनमदेन वस्तुतत्त्वं न जानन्ति, अत **इदं** शरीरं **नश्वरमप्यजरामृत्यु** जानन्ति जरामृत्युरहितम् ॥ ९ ॥ ननु सत्यमेव देवा अजरामरा इति तत्राह **देवसंज्ञितमपी**ति, यथाजाशब्दोजायां न योगेन वर्तते किन्तु ब्रह्म कदाचित् तेन रूपेण सोमाहरणार्थं गतवदिति तथा "अमरा निर्जरा" इत्यपि, यथा मनुष्याणां यावता कालेन जरा मृत्युर्वा भवति तथा न भवतीति यथा न स्वपिति पश्चाच्छायी प्रथमबोधी च तमाहुर्न स्वपितीत्यधिकारिणस्तथात्वाद् वा वस्तुतस्तु देहत्वाद् **देवसंज्ञि**तमप्यन्तवदेव भवति, अतोन्ते **कृमिविड्भस्मसंज्ञित**मेव भवति, देहस्य त्रिधाप्रतिपत्तिर्दह्यते भक्ष्यते विशीर्यते वा, विशीर्णपक्षे कृमयो भवति भक्षणेन ततो विड् भवति दाहे भस्म, पूर्वं **देवसंज्ञा**मपि प्राप्यान्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञाः प्राप्नोति, एवं सति यस्तादृशदेह**कृते भूतध्रुक्** स किं **स्वार्थं वेद** ? अपि तु न वेद, **यतो** भूतद्रोहान्नरकपातः, विशेषाकारेण हननमुक्तमिति श्रीमदस्य तदव्यभिचारात् प्रकृतेपि तदस्तीति हिंसा निन्दा, अनेन दृष्टान्तेन स्त्रीसेवका अपि स्वार्थं न विदुरित्युक्तं, अतः स्वार्थापरिज्ञानाद् धर्मसत्सङ्गाभावाच्छाप उचित एवेतिभावः, अनेन देहार्थं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यर्थादुक्तम् ॥ १० ॥ तच्छास्त्रान्तरे विरुध्यति, "आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपी"ति "तस्मादस्य वधो राजन् सर्वार्थवध उच्यत" इत्यादिवाक्यैं रक्षाया अवश्यविधानात्, तत्राह **देहः किमन्नदातुः स्वमि**ति, अविचाराद् देहे रक्षार्थं प्रयत्नवचनानि, विचारे तु न रक्षणीयं स्यादिति सन्देहजनकान् पक्षानाह, **देहः** केन सम्बन्धेन सम्बन्धी भवतीति विचारणीयं, तत्रात्मा न भवति, अल्पविवेकेनापि तद्भेददर्शनात्, आत्मीयत्वं तु भवति सा चात्मीयता किन्निबन्धना ? बहूनामेवैकस्मिन् शरीर आत्मीयत्वबुद्धिः, शरीरस्योत्पत्तिर्द्विविधा, आद्या प्रत्यहं च जायमाना, प्रत्यहं चेद् देहोन्नदातुर्भवत्यन्नमयत्वाच्च देहस्य, आद्यश्चेन्निषेक्तः पितुः, लोकप्रतीत्या चेदुत्पत्तिर्मातुर्भवति, परलोकसाधकत्वे **मातु पितुर्भ**वति, पुत्रिकापुत्रपक्षे तथैव शास्त्रार्थत्वात्, एषा स्वरूपस्थितिः, वैषयिकस्थितिमप्याह **क्रेतुर्वा बलिन** इति, यो वा विक्रीणीते यो वा बद्ध्वा गृह्णाति ? अन्त्यविचारश्चेदग्नेः **शुनो**थ वेति ? कृमिपक्षे न स्वत्वं कस्यचित् ॥ ११ ॥ ततः किमत आहैवमिति, **एवं** सर्वेषां **साधारणं देहमात्मसात्कृत्वा को वा जन्तून् हन्ती**तिसम्बन्धः, तत्रापि **विद्वान्**, यतोयं देहः **साधारणः**, वस्तुतस्त्वयं देहो न पूर्वोक्तानां मध्ये कस्यचिदपि भवितुमर्हति, यतो**व्यक्त**मेव **प्रभव** उत्पत्तिस्थान**मप्यय**स्थानं च, नन्वेतादृशा घातका अपि बहवो दृश्यन्त इति चेत् तत्राहु**रसत** इति, ये सच्छब्दवाच्या देवाः, सन्तोपि ते नैवंविधा इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

हन्यन्त इत्यत्रेदं **देहमि**ति देहशब्दस्य नपुंसकत्वं 'कायो देहः क्लीबपुंसो'रितिकोशाज्ज्ञेयम् ॥ ९ ॥ **देवसंज्ञित**मित्यत्र **किन्तु ब्रह्मे**त्यादि यथा चा**जाशब्दः** सारूप्यनिबन्धनया गौण्या प्रवृत्तस्तथा "देवा"दिशब्दा अपि सारूप्यनिबन्धनया प्रशंसानिबन्धनया वा गौण्या प्रवृत्ताः, तत्र हेतु**र्यथा मनुष्ये**त्यादि **यथा न स्वपिती**त्यादि च, पक्षान्तरमाहु**रधिकारिण** इत्यादि, **अधिकारि**देवानां तथात्वात् तस्य समुदायपातित्वाच् 'छत्रिणो यान्ती'तिवत् तथात्वमितिभावः, ननु श्रीमदे निन्द्ये हिंसानिन्दायाः किं प्रयोजनमत आहु**र्विशेषे**त्यादि, **अनेन दृष्टान्ते**नेति देहसेवकदृष्टान्तेनेत्यर्थः ॥ १० ॥ **देहः किमि**त्यत्र ननु देहस्य सर्वथारक्षणीयत्वे पूर्वोक्तवाक्यानां का गतिरित्याशङ्कायामाहु**रविचारा**दित्यादि, तथा च तानि वाक्यानि त्रिवर्गोपयोगाया**विचारा**देव प्रवृत्तानीति न तद्विरोधो दोषायेत्यथः, तत्राभेदसम्बन्धं निराकुर्वन्ति **तत्रात्मे**त्यादि, नन्वन्नेन देहस्य कः सम्बन्ध इत्यत आहु**रन्नमयत्वा**दिति "स वा एष पुरुषोन्नरसमय"इतिश्रुतेराद्य इत्याद्यो य उत्पत्तेः सम्बन्धीत्यर्थः, **पुत्रिकापुत्रपक्ष** इति स्वस्य पुत्राभावे **स्वपुत्रिकापुत्रे**णैव पित्रोरुद्धार इतिपक्ष इत्यर्थः, **कृमिपक्ष** इत्यन्त्य**विचार** एवेति ज्ञातव्यम् ॥ ११ ॥ **एवमि**त्यत्रा**त्मसात्कृत्वे**ति देहव्यवस्थाज्ञानेनात्माधीनं **कृत्वा**, **एतादृशा** इति विद्वांसः, **नैवंविधा** इति नावैधहिंसनपराः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

हन्यन्ते इत्यस्याभासे **दोषान्तराण्याहे**ति अजितात्मपदस्य सर्वपापकर्तृत्वेन व्याचिख्यासितत्वादत्र बहुवचनं, **स्वेष्टसाधन**तेति इदमिष्टमिदमनिष्टमिति **विवेक**वतां न तु मत्तानामित्यर्थः, **अत इदमि**ति तथा च वस्तुतो **नश्वर**मपि शरीर**मजरामृत्यु**, एवं **प्रकारेण देहं मन्यमानै**रिति मूलेऽन्वयः ॥ ९ ॥ **देवसंज्ञित**मित्यत्र **प्रकृतेपि तदस्ती**ति अनुक्तमपि हिंसनं श्रीमदस्य हिंसाव्यभिचारादत्राप्यस्तीति ज्ञेयमित्यर्थः, **अनेने**ति यथा देहार्थकत्वाद् भूतद्रोहस्य तत्कर्तुः स्वार्थाज्ञानं तथा स्त्रीसेवाया अपि देहार्थकत्वात् तत्कर्तुरपि स्वार्थाज्ञानमिति इवादिपदाभावेपि बिम्बप्रतिबिम्बभावेन ज्ञापितमित्यर्थ ॥ १० ॥ **देहः किमि**त्यत्र नित्यप्रलयपक्षमाश्रित्याहुः **प्रत्यहं चे**ति, **वैषयिके**ति क्रेता बन्दीकर्ता वा तद्देहं स्वकीयं मत्वा तद्विषयानन्नवस्त्रादींस्तस्मै ददातीत्यर्थः ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यत्र च श्रीमदे सति इमं नश्वरमपि देहमजरामृत्यु अजरः क्षयशून्यश्चासावमृत्युश्च यथा तथा मन्यमानैर्जनैः पशवो भक्षणाद्यर्थं हन्यन्ते। ननु 'अम्बरीषप्रल्हादध्रुवयुधिष्ठिरादिमहात्मनां धनादिसत्त्वेऽपि दोषाश्रवणात्, प्रत्युत सत्कीर्तिसद्भा-

वाच्च कथं धनादेर्दुष्टत्वम् ?' इत्याशङ्क्याह—निर्दयैरजितात्मभिरिति। अम्बरीषादीनां जितेन्द्रियत्वेन श्रीमदाभावाद्दयालुत्वाच्च न धनादिजनितोपद्रवो जातः, किन्तु परोपकार एव। अतो धर्मकीर्त्यादेरेव प्रसिद्धिरित्याशयः ॥ ९ ॥ देहाभिमानेन परद्रोहकर्तुर्दोषमाह—देवसंज्ञितेति त्रिभिः। प्रथमं नरदेवभूदेवसंज्ञितमपि शरीरमन्ते प्रारब्धकर्मावसाने मरणानन्तरं श्वादिभिर्भक्षितं विट्संज्ञितं, पुत्रादिभिर्दग्धं भस्मसंज्ञितम्, अन्यथा त्यक्तं च कृमिसंज्ञितं भवति। तत्कृते तत्रात्माभिमानेन तत्सुखार्थं यो भूतध्रुक् प्राणीद्रोहकर्ता स स्वार्थं स्वहितं किं वेद ? नैव वेद। मूर्ख एव स इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—यतो भूतद्रोहान्निरयो नरकयातना भवतीति ॥ १० ॥ 'ननु मरणानन्तरं यत्किञ्चित्संज्ञितमस्तु, जीवदशायां तु स्वाधीनत्वमस्त्येव। अतस्तत्सुखार्थं यतितव्यमेव' इत्याशङ्क्य जीवदशायामपि स्वत्वानिश्चयमाह—देह इति। अयं देहः किं स्वं स्वकीयः ? स्वाधीनत्वेन प्रसिद्धत्वात, किंवा अन्नदातुः ? तदन्नेन पाल्यमानत्वात्, किंवा निषेक्तुः पितुः ? तद्वीर्योद्भवत्वात, किंवा मातुरेव ? तदुदरोद्भवत्वात्, किंवा मातुः पितुः 'मातामहस्य ?' तत्कन्यापुत्रत्वात्, उपलक्षणमेतत् पितामहादिसर्वसम्बन्धिनाम्, तेषामपि स्वकीयाभिमानस्य सत्त्वात्। किंवा बलिनः राजादेः ? तेनापि बलाद्विग्रहणस्य प्रसिद्धत्वात्, किंवा क्रेतुः ? तेनापि द्रव्यदानेन स्वीकरणात्, किंवाऽग्नेः ? अन्ते तेन भस्मीकरणात, किंवा शुनः ? अन्ते तेन भक्षणात्, अपिशब्दादन्येऽपि काकादयो भक्षका गृहीतव्याः ॥ ११ ॥ 'एतेषु अमुकस्यैवायम्' इति निर्धारयितुमशक्यत्वादेवं साधारणमव्यक्तं प्रधानं तत एव प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्यो लयश्च यस्य तं देहमात्मसात् कृत्वा आत्मेति मत्वा तत्सुखार्थं असतो मूढादृते विना को वा विद्वान् जन्तून् हन्ति ? न कोपीत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

हन्यन्त इति। यत्र च श्रीमद सति इमं नश्वरमपि देहमजरामृत्यु अजरं क्षयशून्यं च तदमृत्यु च वस्तु इति मन्यमानैः निर्दयैः अजितात्मभिश्च जनैः भक्षणाद्यर्थं पशवो हन्यन्ते ॥९॥ देवेति। यत् प्रथमं नरदेवभूदेवसंज्ञितमपि शरीरमन्ते श्वादिभिर्भक्षितं विट्संज्ञितं पुत्रादिभिर्दग्धं भस्मसंज्ञितमन्यथा त्यक्तं च कृमिसंज्ञितं भवति। तत्कृते तत्सुखार्थं यो भूतध्रुक् प्राणिद्रोहकर्ता स स्वार्थं स्वहितं किं वेद नैव वेद। मूर्ख एव स इत्यर्थः। यतो भूतद्रोहान्निरयो नरकयातना भवतीति ॥ १० ॥ देहे ममतापि न घटत इत्याह देह इति। अयं देहः किमन्नदातुः स्वं धनम् अस्ति तदन्नेन पाल्यमानत्वात् किंवा निषेक्तुः पितुः तद्वीर्योद्भवत्वात् किंवा मातुरेव तदुदरोद्भवत्वात् किंवा मातुः पितुर्मातामहस्य तत्कन्यापुत्रत्वात पुत्रिकाकरणाद्वा उपलक्षणमेतत्। पितामहादिसर्वसंबन्धिनां तेषामपि स्वकीयाभिमानस्य सत्त्वात् किंवा बलिनः राजादेः तेनापि बलाद्विग्रहणस्य प्रसिद्धत्वात्। किंवा क्रेतुः तेनापि द्रव्यदानेन स्वीकरणात् किंवाग्नेः अन्ते तेन भस्मीकरणात् किंवा शुनः अन्ते तेन भक्षणात्। अपिशब्दादन्येऽपि काकादयो भक्षका ग्रहीतव्याः ॥ ११ ॥ एवमिति। एवं निर्धारयितुमशक्यत्वात् अन्नदात्रादिसाधारणमव्यक्तं प्रधानं तत एव प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो लयश्च यस्य तं देहमात्मसात्कृत्वा आत्मेति मत्वा तत्सुखार्थमसतो मूढादृते विना को वा विद्वान् जन्तून् हन्ति न कोऽपीत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

यत्र श्रीमदे अजितात्मभिः अजितांतःकरणैः इमं नश्वरं जरामृत्युवर्जितं यथातथा मन्यमानैः ॥ ९ ॥ देवसंज्ञितं नरदेवादिसंज्ञासहितमपि अंते मरणानंतरं जंतुभक्षितं चेत् विट्संज्ञितं दग्धं चेत् भस्मसंज्ञितं अदग्धं चेत् कृमिसंज्ञितं स्यात् तत्कृते तत्पोषणार्थं यो भूतध्रुक् प्राणिघातकः सः किं स्वार्थं वेद न वेदेत्यर्थः यतः प्राणिद्रोहात् ॥ १० ॥ निषेक्तुः स्वपितुः अयं देहः किं स्विदस्ति मातुः पितुर्मातामहस्य पुत्रिकापुत्रग्रहणविधौ किं वाऽयं देहोऽस्ति बलिनो बलयुक्तस्य राजादेः किं वायं देहोस्ति क्रेतुर्द्रव्यविनिमयेन ग्रहीतुः किं वा अयं देहोऽस्ति न कस्यापीत्यर्थः ॥ ११ ॥ अव्यक्तप्रभवाप्ययं अव्यक्तौ अस्फुटौ प्रभवाप्ययौ उत्पत्तिनाशसमयौ यस्य तं आत्मसात् कृत्वा स्वस्वरूपं मत्वा असतः असत्पुरुषादृते विना ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

हन्यन्त इति ॥ किं च। यत्र श्रीमदे सति, इमं नश्वरं देहं, अजरामृत्यु जरामरणरहितं यथा तथा, मन्यमानैः जनैरिति शेषः। निर्दयैर्दयावर्जितैः, अजितात्मभिरवशीकृतेन्द्रियैः सद्भिः, पशवः हन्यन्ते, केवलं रसनातर्पणायैवेति भावः ॥ ९ ॥ इममित्यनेनाभिप्रेतं दर्शयति ॥ देवसंज्ञितमिति ॥ देवसंज्ञितमपि नरदेवभूदेवस्वर्देवादिसंज्ञितमपि शरीरमित्यर्थः। अन्ते तदारम्भकप्रारब्धावसाने, कृमिविड्भस्मसंज्ञितं भवेत्, दग्धं चेद्भस्मसंज्ञितं, श्वादिभिर्भक्षितं चेद्विट्संज्ञितं, अन्यदा कृमिसंज्ञितं, न त्रिविधतापोऽन्यद्भवेदिति भावः। तत्कृते एवंविधशरीरसुखार्थं, यः भूतध्रुक् भूतानि यः द्रुह्यतीत्यर्थः। यतो भूतद्रोहात्, निरयो नरकेषु पतनं भवति, स पुमान्, किं स्वार्थं स्वहितं, वेद, न जानातीत्यर्थः ॥ १० ॥ नन्वन्ते इदं शरीरं यत्किचित्संज्ञमस्तु जीवद्दशायां तु तत्सुखार्थं यतितव्यमिति चेज्जीवद्दशायामपि देहस्य स्वत्वं न नियतमस्ति इत्याह ॥ देह इति ॥ देहः,

अन्नदातुः, स्व स्वताभाक्, किं भवति स्वित् । निषेक्तुः पितुः, स्वं किम् । वा मातुः स्वं किं, चकारोऽथवार्थे । मातुः पितुर्माता-महस्य, स्वं किम् । वा बलिनः कस्यचित् स्वं किम् । क्रेतुर्द्रव्यादिप्रदानेन गृह्णतः, स्वं किम् । अग्नेः, स्वं किम् । वा शुनो भषकस्य, स्वं किम् । न कस्यापि स्वताभागिति भावः । तत्र अग्नेः शुनोऽपि वेति दृष्टान्तार्थम् । देहो यथान्ते शुनोऽग्नेर्वा अनियतत्वेन न स्वं, तथा जीवद्दशायामपि न नियमेनान्नदात्रादीनां स्वं भवतीत्यर्थः । तत्र तावद्देहस्यान्नपरिणामरूपत्वाद्यस्यान्नेन वर्द्धते तस्य तत्र स्वता, तथा स्वरेतःप्रभवत्वान्निषेक्तुस्तत्र स्वता, तथा गर्भभावेन मात्रा स्वोदरे धृतत्वात्तस्यास्तत्र स्वता, तथा मातुः पितुर्मातामहस्य पुत्रिकाधर्मकरणेन एव स्वता, एवं सर्वथैवास्य पारतन्त्र्यौचित्यान्न कस्याप्ययं नियत इति भावः ॥ ११ ॥ एव-मिति ॥ एवं साधारणमेकस्याप्यनियतत्वात् सामान्यं, अव्यक्तात् प्रकृतेः प्रभव उत्पत्तिस्तत्रैवाप्ययो लयश्च यस्य तं इमं देहं आत्मसात्, कृत्वा, आत्मेति मत्वेत्यर्थः । असतः मूढात्, ऋते विना, विद्वांस्तत्र दोषदर्शी, कः पुमान् जन्तून् हन्ति । देहाभिमानिनश्चेद्धन्युर्विद्वांस्तु न हन्यादेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

हन्यन्ते पशवः इति : १०. १०. ९.

पशुहिंसनेऽहमदयो यथा तथा मम हिंसनेऽपि भवितैव कोऽप्यलम् ।
इति मूढवृत्तिरविदन् खराग्रणीः कुरुतेति गर्ह्यमिदमद्भुतं न किम् ॥ १५ ॥

देहः किमिति : १०. १०. ११

यत्र स्वत्वं तु नाऽस्त्येव परस्वत्वेऽप्यनिर्णयः । तद्रतिर्मूढ इत्येतद् देहोदाहरणात् स्फुटम् ॥ १६ ॥
कामर्धि यश्चिकीर्षुर्भुवि भवति पुमान् यत्नवान् वीर्यवृद्धौ देहाधीना तदृद्धिस्तदनु नियमतो यत्नवान् देहपुष्टौ ।
तत्ताद्दग्देहपुष्टिर्भवति नहि विना मद्यमांसाशनैः तन्निर्मन्तून् हन्ति जन्तूनदयमतिरिहैवं स सश्रीमदो यः ॥ १७ ॥
दृष्ट्वा तौ स तथाविधौ मुनिवरः स्मृत्वा निरुक्तक्रमं प्रोवाचैवमिति प्रभात्यपरथा कामेक्षणोपस्थितेः ।
निन्द्ये वित्तमदेहि पश्वपहतिः सा देहनिन्दाऽपि च प्रक्रान्तेन्द्रियदेहशोषणकथाऽप्यग्रे कथं तत्स्तवे ॥ १८ ॥
(युग्मम्)

कृष्णप्रिया

धन-ऐश्वर्य पद के नशे में चूर निर्दय एवं असंयमी होते हैं । वे लोग अपने नश्वर शरीर के पोषण के लिए निर्दोष पशुओं की हिंसा करते हैं और अपने क्षणभङ्गुर देहको अजर अमर समझ लेते हैं ॥ ९ ॥ एक वार जिस शरीर की नरदेव, इन्द्रदेव, भूमिदेव देव आदि संज्ञा थी आज उसकी प्राण निकल जाने पर जलकर भस्म संज्ञा हो जायगी, सड़ जाने से कीट वन जायगा गीदड़ आदि के खाने पर विष्ठा बन जायगा, ऐसे नश्वर देह के लिये प्राणियों की हिंसा करने वाले अपना कौन सा हित सिद्ध करते है ! भूतद्रोह करने पर तो अन्त में नारकी गति ही होगी ॥ १० ॥ यह बात विचारने योग्य है कि यह शरीर किसकी ज्यायदाद है । क्या अन्न देकर पोषण करने वाले की है ! अथवा बिजका गर्भाधान करने वाले पिताकी है । या दश मास पर्यन्त उदर में रखने वाली जननी की है ! या, माता के जनक अपने "नाना" की है । अथवा बल पूर्वक कब्जा में लेने वाले की ! या तो धन दान देकर खरीदने वाले की ! या तो अन्त में धधकती चितामें जलाने जाने से अग्नि की अथवा अपुण्यभाक् अग्नि संस्कार को न पाया तब कुत्ते आदि फाड़ खा जायेंगे उनके नतीजा का कोई निश्चय नहीं ऐसी हालत में सर्व साधारण शरीर के लिये इतना अनर्थ क्यों ॥ ११ ॥ यह शरीर अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होता है और प्रकृति में लीन हो जाता है । इस देह को अपनी आत्मा मान कर उसके लिये प्राणियों की हिंसा मूर्ख के अलावा भला कोई विवेकी जन कैसे कर सकता ? ॥ १२ ॥

[1]असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं [2]परमञ्जनम् । आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥ १३ ॥
यथा कण्टकविद्धाङ्गो[3] जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् । जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥ १४ ॥
दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह । कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि [4]तस्य परं तपः ॥ १५ ॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः । इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति[5] हिंसापि विनिवर्तते ॥ १६ ॥

---

१. मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्युनश्वरम् । देयसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ॥
इत्ययं पूर्वोक्त एव श्लोकः पुनरत्रापि पठ्यते—विज. ।
२. परमाञ्जनम्—वीर. । ३. विद्धाङ्गिर्जन्तो—वीर. । ४. ह्यस्य—वीर. । ५. इन्द्रियाण्यनु—श्रीधर वंशी. वीर. विज. जीव. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः– असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परं अञ्जनं दरिद्रः परं आत्मौपम्येन भूतानि ईक्षते ॥ १३ ॥ यथा कण्टकविद्धाङ्गः लिङ्गैः जीवसाम्यं गतः जन्तोः तां व्यथां नेच्छति अविद्धकण्टकः न तथा (जीवसाम्यं गतः)॥ १४॥ इह सर्वमदैः मुक्तः निरहस्तंभः दरिद्रः यदृच्छया यत् कृच्छ्रं आप्नोति तद् हि तस्य परं तपः ॥ १५ ॥ क्षुत्क्षामदेहस्य नित्यं अन्नकांक्षिणः आशु इन्द्रियाणि शुष्यन्ति हिंसा अपि विनिवर्तते ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एवं श्रीमदविचेष्टितमुक्त्वा तत्प्रतीकारं निश्चिनोति । असत इति । दारिद्र्यमेव । परं श्रेष्ठं परं केवलमिति वा । कुत इत्यत आह । आत्मौपम्येनेति । ततो न द्रुह्यतीति भावः ॥ १३ ॥ सदृष्टांतमाह । यथेति । मुखम्लान्यादिलिंगैः सर्वेषां जीवानां सुखदुःखे समे इति ज्ञातवानित्यर्थः ॥ १४॥ किं च दारिद्र्यं मोक्षमपि साधयतीत्याह दरिद्र इति श्लोकचतुष्टयेन । निरहंस्तंभो निर्गतोऽहंकाररूपः स्तंभो यस्मात्सः ॥ १५–१६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्प्रतीकारं श्रीमदनाशकं दारिद्र्यस्य श्रैष्ठ्यमसहमानोर्थांतरमाह—केवलमिति । एकमित्यर्थः । तत्र हेतुमाशंकते—कुत इति । आत्मौपम्येन स्वसादृश्ये नेति । इति भाव इति । सुखदुःखे स्ववन्मन्यत इति तात्पर्यम् ॥ १३ ॥ तां कंटकव्यथां मुखम्लान्यादिलिंगैः दुःखसूचकैर्मुखकाष्ण्र्यादिभिः सुखसूचकैर्मुखविकासादिभिश्चिह्नैः । इत्यर्थ इति । न हि दुःखं विना मुखमालिन्यं सुखं विना वा मुखविकाशो भवतीति जानातीति भावः । तथाऽविद्धकंटको नेति । स त्वित्थं वदति किं ते शक्तिप्रहारो जातः किमर्थमल्पकंटकक्षतेन रोदिषीति भावः ॥ १४ ॥ दरिद्रमुद्दिश्यान्यदप्याह—किञ्चेति । स्तंभो गर्वः 'गर्वरोधनयोस्तंभः' इति हलायुधः । सर्वमदैः विद्याभिजनादिमदैः सर्वैरनादृतत्वाद्दरिद्रस्य सत्कुलमदादयोऽपि प्रायो नश्यंतीति भावः । यदृच्छया दैवेच्छया । तत् कृच्छ्रम् । तस्य दरिद्रस्य । "एतद्वै परं तपो यद्व्यथितस्तप्यते" इति श्रुतेः ॥ १५ ॥ ननु कृच्छ्रानुभवः कथं तप इति चेत्तत्राह—अनुशुष्यंति । देहशोषमनुशोषं गच्छंति । इंद्रियप्राबल्यदौर्बल्ये प्रवृत्तिनिवृत्ती ते चान्नसत्ताऽभावाभ्यां स्तः अन्नाप्राप्त्येंद्रियप्राबल्यानुविधायिहिंसालक्षणा प्रवृत्तिर्नश्यति हिंसानाश एव महत्तप इति । "नातः परं तपो ब्रह्मन्यद्धिंसाविनिवर्त्तनम्" इत्युक्तेः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो बतासाधोरन्यस्यान्यथापि कथञ्चित् हितं स्यात् श्रीमत्तस्य त्वसाधोर्दारिद्र्यणैवेत्याह—असत इत्यादि । परमं जनमिति निदानविपर्ययन्यायेन ॥ १३ ॥ यतो यथेति जन्तोः कस्यचिदपि प्राणिनः तां कण्टकवेधकृतां नेच्छति तस्य सा भवत्विति न वाञ्छतीत्यर्थः । यतो लिङ्गैः मुखम्लान्यादिभिर्जीवस्य तस्य साम्यं निजदुःखानुस्मरणात् कृपोदयेन तुल्यावस्थत्वं गतः प्राप्तो भवति आविद्धकण्टकः कण्टकेनाविद्ध इत्यर्थः । राजदन्तादित्वत्परनिपातः यद्वा अविद्धः अलग्नः कण्टको यत्र सः ॥१४॥ अहङ्कारेण धनित्वादिगर्वेण यस्स्तम्भो नम्रत्वाभावः स निर्गतो यस्मात् अतः सर्वैर्द्धनादिसंबन्धिभिर्मदैश्चित्तविक्षेपैर्मुक्तो भवति किं च अन्नाद्यभावेन यदृच्छया स्वभावत एव प्राप्नोति यत् तत् तप इति अभिमाननाशकत्वात् तच्च परं श्रेष्ठमिति प्रसिद्धतपोवदभिमानाहेतुत्वात् ॥ १५ ॥ तस्येन्द्रियजयादिकं च तपो साध्यमपि स्वतो भवतीत्याह—नित्यमिति । अन्नकाङ्क्षिणः भक्ष्यमात्रेच्छोः अनुनिरन्तरं शुष्यन्ति विषयरसादुपरमन्तीत्यर्थः । अत एव हिंसाविषयोपभोगार्थपरपीडनादिलक्षणाप्युपरमति एवं श्रीमदादजितात्मता ततश्च हिंसादिकं तद्विपरीते तु दारिद्र्ये हिंसादिनिवर्तकं जितात्मत्वमित्युक्तम् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो बतासाधोरन्यस्यान्यथा कथञ्चिद्धितं स्यात्, श्रीमत्तस्य त्वसाधोर्दारिद्र्येणैवेत्याह—असत इति । दारिद्र्यमेव परमाञ्जनमित्यन्धता-निदानस्य श्रीमदस्य वैद्यकोक्तनिदानविपर्य्ययन्यायेन दारिद्र्येणैव प्रतीकारसिद्धेः । आत्मौपम्येनेति यथा मम सुखं दुःखञ्च स्यात्तथाऽन्यस्यान्यस्यापीति कस्यचिदपि दुःखार्थं न कदापि प्रवर्त्तत इति भावः । एवं निर्दयत्वादिहेतुश्रीमद् वैपरीत्येन दारिद्र्ये समयत्वं बोधितम्, पशुहननादिकञ्च निरस्तम् ॥ १३ ॥ जन्तोः कस्यचिदपि प्राणिनस्तां कण्टकवेधकृतामविद्धकण्टकः कण्टकेनाविद्ध इत्यर्थः, स तथा नेच्छतीति न, अपि त्विच्छेत्येव, दुःखाज्ञानात् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् यद्वा, लिंगैरंगादिभिर्लक्षणैर्जीवेनान्येन साम्यं प्राप्तोऽप्यविद्धकण्टकश्चेत्तर्हि तथाविद्धकण्टकसदृशो न भवति, किन्तु इच्छत्येवेत्यर्थः । एवं दरिद्रो निजदुःखानुमानेनान्यदुःखमवकलयत्येवेति भावः ॥ १४ ॥ निर्गतोऽहंकारेण धनित्वादि गर्वेण यः स्तम्भोऽनम्रता, स यस्मात् यद्वा, निर्गतोऽहंकारस्य स्तम्भ आश्रयो धनैश्वर्य्यादिर्यस्मादतः सर्वैर्धनादि-सम्बन्धिभिर्मदैर्युक्तो

भवति। एवं निरहंस्तम्भत्वादिना दरिद्रस्य श्रीमदोक्तदेहजराद्यमननवैपरीत्यमपि सूचितम् किञ्च, अन्नाद्यभावेन क्षुधादिना कष्टं यदृच्छया स्वभावत एव प्राप्नोति। परं श्रेष्ठमित्यभिमाननाशहेतुत्वात् ॥ १५ ॥ तस्येन्द्रियजयादिकञ्च तपोऽसाध्यमपि स्वतो भवतीत्याह नित्यमिति अन्नकांक्षिणो भक्ष्यमात्रेच्छोरनु निरन्तरं शुष्यन्ति विषयरसादुपरमन्तीत्यर्थः। अत एव हिंसा विषयोपभोगार्थपरपीडादिलक्षणाप्युपरमति एवमजितात्मश्रीमत्त्वविपरीतं स्त्र्यादिनिवर्त्तकं दरिद्रस्य जितात्मत्वमुक्तम् ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

लिङ्गैर्हेतुभिर्जीवसाम्यं गतः इति जीवानां स्वस्य च तुल्यतां मन्वानः अविद्धकण्टक इति पदं कण्टकाविद्धः ॥ १४ ॥ निरहंस्तम्भः अहङ्कारस्तम्भरहितः ॥ १५–१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं श्रीमदस्थानर्थमूलतां प्रदर्श्याथ तत्प्रतीकारार्थं निश्चिनोति—असत इति। तत्कुतः इत्यत आह आत्मौपम्येनेति; दरिद्रः केवलमात्मदृष्टान्तेन भूतानीक्षते यथा स्वस्यावातादिना दुःखादिकं तथा प्राणिमात्रस्यापीत्यात्मौपम्येन भूतानि पश्यन्न तेभ्यो द्रुह्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ उक्तमेवार्थं सदृष्टान्तमाह—यथेति। यथा कण्टकविद्धाङ्घ्रिः लिङ्गैरन्तर्गतसुखदुःखादिव्यञ्जकमुखविकासम्लानतादिनिमित्तैर्जीवसाम्यं गतः स्वेतरजीवानां स्वस्य च तौल्यं मन्वानः तां कण्टकवेधजां व्यथां दुःखं कण्टकवधां वा नेच्छति तथैवमविद्धकण्टको नेच्छतीति नेत्यर्थः ॥ १४ ॥ किञ्च दारिद्र्यपरम्परया मुक्तिसाधनमपीत्याह—दरिद्र इति चतुर्भिः। निरहंस्तम्भः निर्गताहङ्काररूपस्तम्भः सर्वैरभिजनवित्तविद्याप्रयुक्तैर्मदैर्मुक्तः यदृच्छया स्वप्रयत्नमन्तरेणैव कृच्छ्रं कायशोषणादिकं प्राप्नोति तत्कृत्यमेवाऽस्य केवलमुत्कृष्टं वा तपः ॥ १५ ॥ तदेवाह—नित्यमिति। क्षुधा क्षामः क्षीणो देहो यस्य तस्य तत्र हेतुरन्नकाङ्क्षिणः तत्रापि हेतुर्दरिद्रस्येन्द्रियाणि विशुष्यन्त्यत एव हिंसा च निवर्त्तते ॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रसङ्गात्प्रागुक्तं स्मारयति—मन्यमानैरिति। कीदृशं प्रथमं देवसञ्ज्ञितं मरणे कृम्यादिसंज्ञितं भवति देवोऽयं भट्टारकोऽयं कृमिक्लिन्नः विष्ठाकुलः भस्मित इति ॥ ० ॥ ननु, श्रीमदान्धस्याध्यपरिहाराय किमौषधं ? तर्हीति तत्राह, असत इति। असतः हननादिकर्तुः दारिद्र्यं दरिद्रभावः कथं तदञ्जनं आन्ध्यनाशनमभूदिति, तत्राह, आत्मेति आत्मौपम्येन आत्मसाम्येन भूतानि सुखासुखसंसक्तानि ॥ १३ ॥ अत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। तां कण्टकव्यथां जन्तोरात्मव्यतिरिक्तस्य तल्लिङ्गैः सुखदुःखविकासकार्श्यादिसूतकैर्जीवेषु सुखादिमत्तया साम्यं साधर्म्यं गतो ज्ञातवानाविद्धकण्टकस्तथा न ॥ १४ ॥ ननु, दारिद्र्यं परमं सुखमित्युक्तं तस्यापि दुःखानुभावः प्रतीयते तत्कथमिति तत्राह—दरिद्र इति। निरहंस्तम्भः अहंमानवर्जितः विद्यादिसर्वमदैर्मुक्तः दरिद्रः यदृच्छया दैवेच्छया यत्कृच्छ्रमाप्नोति तत्कृच्छ्रमस्य दरिद्रस्य परं तपो भवति "एतद्वै परं तपो यद्व्याधितस्तप्यते" इति श्रुतिर्हिशब्दगृहीता ॥ १५ ॥ ननु, कृच्छ्रानुभवः कथङ्कारं तपोभवतीत्याशङ्क्य तं प्रकारं दर्शयति—नित्यमिति। अनुशुष्यन्ति देहशोषमनुशोषं गच्छन्ति इन्द्रियप्राबल्यदौर्बल्ये प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां ते चान्नसत्ताभावादिना स्याताम् अन्नाभावादिन्द्रियप्राबल्यसाध्या हिंसालक्षणाप्रवृत्तिर्नश्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

श्रीमदरोगप्रतीकारं निश्चिनोति—असत इति। परं केवलम् ॥ १३ ॥ लिङ्गैर्मुखम्लान्यादिभिर्दृष्टैर्जीवे परस्मिन् साम्यङ्गतः पूर्वानुभूतस्वव्यथासादृश्यं तत्रानुमिमान इत्यर्थः। अविद्धकण्टकः कण्टकेनाविद्धः राजदन्तादिः ॥ १४ ॥ दारिद्रे सति मोक्षसाधनानि स्वत एव भवन्तीत्याह—दरिद्र इति त्रिभिः। अहङ्कारेण धनित्वादिगर्वेण यः स्तम्भः नम्रत्वाभावः। स निर्गतो यस्मात् सः सर्वमदैर्मुक्त इति दरिद्रस्य सर्वैरनादृतत्वात् सत्कुलमदादयोऽपि प्रायो नश्यन्तीति भावः ॥ १५–१६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

लिङ्गैस्तद्दुःखचेष्टाभिः ॥ १४ ॥ निर्गतोऽहङ्कारात्मकस्तम्भो यस्मात्स निरहंस्तम्भः ॥ १५–१६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

श्रीमदरोगस्य प्रतीकारं निश्चिन्वन्नाहासत इति। परं केवलं यतो दरिद्रः स्वतौल्येन भूतानीक्षते अतो न द्रुह्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह— यथेति जन्तोः स्वान्यस्य तां व्यथां नेच्छति लिङ्गैर्मुखम्लान्यादिभिर्दृष्टैरन्यस्मिन् जीवे साम्यं गतः पूर्वानुभूतस्वव्यथा सादृश्यं तत्रानुमिमान इत्यर्थः। न तथेति कण्टकेनाविद्धोऽविद्धकण्टकः राजदन्तादिः ॥ १४ ॥ किञ्च दारिद्र्ये सति मुक्तिसाधनानि स्वतो भवन्तीत्याह, त्रिभिः। अहं धनीति यः स्तम्भः स निर्गतो यस्मात सः सर्वमदैः सत्कुलतादिहेतुकैर्मुक्तस्तस्य सर्वैरवज्ञातत्वात्तेऽपि प्रायः प्रणश्यन्तीत्यर्थः। स यदृच्छया कृच्छ्रमाप्नोति तदस्य परन्तपः ॥१५॥ हिंसा परपीडा ॥ १६ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

असत उपाधितोऽसतोऽत एव श्रीमदांधस्य भाग्यमदेन ज्ञानरहितस्य दारिद्र्यं परमुत्कृष्टमंजनं ज्ञानसाधनमिति। अयं भावः। यस्यासत्त्वमौपाधिकं तस्य भाग्येन मद आंध्यं च भवति। दारिद्र्यप्राप्ततावांध्यं च गच्छति। यस्यासत्त्वं स्वाभाविकं वौपाधिकं वा नास्ति तस्य भाग्येन मदो बाध्यं वा न भवति। आंध्यं परिहारार्थं दारिद्र्यं च नापेक्षितमिति। एतेन सतां दारिद्र्यप्राप्तावप्यांधनिवृत्तेरभावादसतो दारिद्र्यं परमांजनमिति कथनमनुपपन्नमिति दूषणं पराकृतं। उपाधित इत्यस्य शेषेण यस्यौपाधिकमसत्त्वं तस्य दारिद्र्य परमांजनमित्यर्थस्योक्तत्वात्॥ १४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

इतःपरं श्रूयमाणो मन्यमानैरिमं देहमित्यादिः श्लोकः पुनर्लेखकप्रमादतो लिखित इति मन्तव्यं। व्याकृतचरश्च॥ १३॥ असतो ऋत इति प्रागभिहितं तदुद्धृतिरपि कथमित्यत आह॥ असत इति। श्रीमदान्धस्यासतो हननकर्तुर्जनस्य परमञ्जनं महौषधं तत्किंरूपमित्यत आह॥ दारिद्र्यमिति। कुतस्तदान्ध्यौषधमित्यतस्तद्वद्धाविभावमावेदयति॥ आत्मौपम्येनेति। दरिद्रो भूतान्यात्मौपम्येनोपमाया भाव औपम्यमात्मनात्मनो वौपम्यं साम्यं तेन भूतानि परं केवलं समीक्षते तद्धननं न करोतीत्यर्थः। अतो दारिद्र्यं परमञ्जनं। परमाञ्जनमित्यपि निरञ्जनः पाठः॥ १४॥ अत्र दृष्टान्तमाचष्टे॥ यथेति। कण्टकैर्विद्धमङ्गं यस्य स जीवसाम्यं गतः स्वेतरेषामप्येतदादिना न मद्वत्स्वेदो भवेदिति स्वसाम्यज्ञानवान् जन्तोः स्वेतरस्य तल्लिङ्गंमुखम्लानादिरूपैस्तां व्यथां कण्टकवेधजनितां यथा नेच्छति न भवत्वस्यापि सा व्यथेतीच्छति। तथाऽविरुद्धकण्टकोऽतद्वेधबोधोऽविद्धः कण्टकेनाविद्धः कण्टकोऽयं स इति वा न नेच्छति॥ १४॥ ननु दरिद्राणामपि गाधेतरखेददर्शनात्कथं दारिद्र्यं परमं सुखमित्युच्यत इत्यत आह॥ दरिद्र इति। अहङ्कारकारणकस्तम्भो न विद्यते यस्य निर्गतस्तस्मादिति वा सर्वमदैः पुरोदीरितधनाभिजनविद्याद्युपजनैर्मुक्तो विमुक्तो यदृच्छया भगवदिच्छया कृच्छ्रं कष्टं कर्तृ व्याध्यादिजं वाऽऽप्नोति तदेतदस्य दरिद्रस्य परं तपस्तद्रूपमेव स्वेदरूपं नेत्यर्थः। हि हीच सर्वमदैर्मुक्तताप्रामित्यें कृच्छ्रतपस्त्वप्राप्तिप्रामित्ये चेति ज्ञेयम्। एतद्वै परमं तपो यद्व्याधितस्तप्यत इति श्रुतिर्हिशब्दगृहीता। यदृच्छया यो दरिद्रः कष्टमाप्नोति तदस्य परं तप इत्यन्वयो वा॥ १५॥ कथं तत्तपोरूपं भवतीत्यतस्त्रिभिराह॥ नित्यमिति। क्षुधाक्षामः कृशः कायो देहो यस्य स तस्यान्न काङ्क्षतीत्यन्नकाङ्क्षी तस्य दरिद्रस्यानु क्षमतामन्विन्द्रियाणि शुष्यन्ति असत्सु विषयेषु न प्रसरन्ति तल्लौल्यमूला हिंसाऽपि विनिवर्तते॥ १६॥

श्रीसुबोधिनी

तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहासत इति, **असतो लक्षणं श्रीमदान्धस्येति**, श्रीमदेनान्धस्य, यथा भगवान् "यस्यानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनै"रिति तथा नारदोऽप्याह, यथा काचकामलादिनान्धस्याञ्जने दत्ते दृष्टिर्भवति न तु स्वभावत एवान्धस्य, अयं च श्रीमदेनान्धः, श्रिया अभावो येनैव भवति तदेवाञ्जनं भवति, तद् दारिद्र्यमेव, **दारिद्र्यं** नाम दुरदृष्टसहितसम्पत्त्यभावः, सन्त्यञ्जनान्यन्यान्यपि व्याध्यादीनि, परं **दारिद्र्यं परममञ्जनं**, न केवलं दारिद्र्यस्य दोषनिवर्तकत्वं किन्तु गुणजनकत्वमपीत्याहा**त्मौपम्येनेति**, **आत्मोपमानं** यत्र तज् ज्ञानमा**त्मौपम्यं**, यथात्मनि सुखदुःखानुभवस्तथा सर्वस्येत्यनुसन्धानं यथात्मसुखार्थं यतते दुःखनिवृत्त्यर्थं च न तु दुःखार्थं तथा सर्वेषामपि सुखदुःखाभावार्थं यतत इत्यर्थः॥१३॥ आत्मौपम्येन भूतानां दर्शनं दरिद्रस्यैव नान्यस्येत्यर्थे दृष्टान्तमाह **यथेति**, दारिद्र्यं सर्वदुःखनिदानं, दारिद्र्यं गतः सर्वाण्येव दुःखान्यनुभवति, न त्वदरिद्रः प्रतीकारबाहुल्यात्, स्वानुभवेनैव **कण्टकेन विद्धाङ्गः** कण्टकव्यथामन्यस्मै न वाञ्छति जातामपि दूरीकरोति, **लिङ्गैः** स्वानुभवैः परदुःखज्ञापकैः कृत्वा **जीवसाम्यं गतः** सर्वेषु जीवेषु समत्वं प्राप्तः, **न तथाविद्धकण्टकः समत्वं** प्राप्नोति॥ १४॥ ननु तथापि दारिद्र्यस्य दुःखरूपत्वात् फलोत्तमत्वेपि स्वरूपतोनिष्टरूपत्वात् कथं स्तूयत इत्याशङ्क्याह **दरिद्रस्येति**, दारिद्र्यं मोक्षसाधकमतः स्वरूपतो दुःखरूपमपि तपोवदाशास्यमेव, तस्य मोक्षसाधकत्वमाह **दरिद्रः प्रथमतो निरहंस्तम्भः**, अहंलक्षणः **स्तम्भो** निर्गतो यस्मात्, मोक्षेहङ्काराभावः करणं, **अहमित्यस्यात्मपरत्वव्यावृत्त्यर्थं स्तम्भपदं**, अहङ्कारस्तम्भेनैवाज्ञानगृहं सुस्थिरं भवति, किञ्च **सर्वमदैरपि** मुक्तो भवति, **यदृच्छयैव च कृच्छ्रं** क्लेशाधिक्यं प्राप्नोति, ततः किमत आह **तद्धि तस्य परं तप** इति, यत् कष्टेन तपः कर्तव्यं तत् तस्य स्वभावत एव सम्पद्यते, विहितत्वं त्वप्रयोजकम्॥१५॥ किञ्च मोक्ष इन्द्रियजयो योगशास्त्रसिद्धः साधनत्वेन यथा साङ्ख्येहङ्काराभावो दारिद्र्यं इन्द्रियजयः स्वभावत एव भवति, तदाह **नित्यमिति**, सर्वदा **क्षुत्क्षामदेहस्यान्नकाङ्क्षिण इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति**, "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन" इतिवाक्याद्, **दरिद्रस्येति**हेतुः, इन्द्रियप्रागल्भ्याभावादेव **हिंसा निवर्तते** ज्ञानेन्द्रियप्रागल्भ्याभावाच्च तद्धेतुभूता तृष्णापि विषयाभावाच्च॥ १६॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दरिद्र इत्यत्र **यत कष्टेने**ति कष्टेनेन्द्रियनिग्रहपूर्वकं **यत्** कर्तव्यं "देवद्विजगुरुप्राज्ञे"त्यादिना भगवतोक्तं वा भगचिन्तनं **वा तत् स्वभावत एव** प्रयत्नं विनैव भवतीत्यर्थः, ननु स्वभावकृतेस्तथात्वं कुतो विहितत्वेनाक्रियमाणत्वादित्यत आहु**रप्रयाजक**मित्यवैधेपि सत्फलस्य स्तम्भाभावादेर्दर्शनादनुकूलतर्करहितं तथा च "येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेदि"तिन्यायात् पदार्थसिद्धौ तात्पर्यं न विहितत्वादावितिभावः ।। १५ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

आत्मौपम्येनेत्यत्र **आत्मे**ति इदमर्थकथनं, विग्रहस्तु आत्मनः औपम्यं यत्रेति, तादृशेन ज्ञानेनेक्षत इत्यत्र प्रकारता तृतीयार्थः, घटत्वेन जानातीतिवत्, औपम्यमिति स्वार्थे ष्यञ् ।। १३ ।। नित्यमित्यस्याभासमाहुः **किञ्च मोक्षे** इति, पूर्वश्लोके **साङ्ख्यप्रकार** उक्त इत्याशयेनाहुः **यथा साङ्ख्ये** इति, **अहङ्काराभावः** पूर्वश्लोके उक्त इति शेषः, नित्यमित्यत्र तद्धेतुभूता तृष्णेति भागहेतुभूता बुभुक्षेत्यर्थः ।। १६ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं श्रीमदादेर्दोषं निरूप्य तत्प्रतीकारं निश्चिनोति—असत इति । असतः अवशीकृतेन्द्रियान्तःकरणस्य, अत एव श्रीमदेनान्धस्य विवेकशून्यस्य कर्तव्यमकर्तव्यं चापश्यतः दारिद्र्यं परं केवलमञ्जनम् । अत्रेदं बोध्यम्—यथा रोगरहितस्य पुरुषस्य बलपुष्ट्यादिगुणकरमपि दुग्धघृतादि वस्तु रोगग्रस्तस्य रोगवृद्धिद्वारा तदेव दुर्बलत्वादिसम्पादकं भवति तन्निरोधं विना औषधान्तरस्या अकिञ्चित्करत्वात्तन्निरोध एव रोगनिवृत्तौ मुख्य उपायः, तथा वशीकृतान्तःकरणस्य महात्मनः धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्तीत्युक्तरीत्या धर्मादिद्वारा विवेकहेतुरपि धनादिकमसतो मदद्वारा जडताहेतुरेव भवति तन्निवृत्तिरूपं दारिद्र्यं विनाऽपदेशाद्युपायस्या अकिञ्चित्करत्वात् दारिद्र्यमेव मुख्य उपाय इति । 'लोके दरिद्रस्यैव विवेकदर्शनात्' इत्याह—आत्मौपम्येनेति । आत्मा उपमा यत्र तज्ज्ञानमात्मौपम्यम्, तेन भूतानि दरिद्रः परं केवलमीक्षते, ततो न द्रुह्यति । प्रत्युत परसुखप्राप्तिदुःखनिवृत्तिसाधने स्वदृष्टान्तेनैव प्रवर्तते इति भावः ।। १३ ।। 'साम्यदर्शनं दरिद्रस्यैव घटते, नान्यस्य' इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । कण्टकेन विद्धमङ्गं यस्य स यथा जन्तोर्जीवान्तरस्य तां कण्टकवेधजन्यां व्यथां नेच्छति तन्निवृत्त्यर्थं यतते च, तथा अविद्धकण्टकः न कदापि विद्धः लग्नः कण्टको यस्य स तां व्यथां नेच्छति तदुद्धारप्रयत्नं च करोतीति न, दुःखानुभवाभावात् । कण्टकविद्धाङ्गस्य तदनिच्छायां हेतुमाह—जीवेति । यतो लिङ्गैर्मुखम्लान्यादिभिश्चिन्हैर्जीवसाम्यं गतः 'यथा मम कण्टकवेधजं दुःखं जातं तथास्यापि' इति परस्मिन्नपि जीवे स्वसाम्यं प्राप्त इत्यर्थः ।। १४ ।। 'किञ्च दारिद्र्यं मोक्षमपि साधयति' इत्याह—दरिद्र इति चतुर्भिः । इस संसारे दरिद्रो निरहंस्तम्भः निर्गतोऽहङ्काररूपः स्तम्भो मोक्षप्रतिबन्धकरूपो यस्मात् सः । तत्र हेतुमाह—मुक्त इति । सर्वैः 'विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनो मद' इत्युक्तैर्मदैर्मुक्तः । ननु 'तथापि दारिद्र्यस्य कष्टहेतुत्वात् कथं तत् सूयते' तत्राह—कृच्छ्रमिति । यदृच्छया प्रारब्धवशेन यत्किञ्चित्कृच्छ्रं कष्टं प्राप्नोति तद्धि तच्च तस्य परं तप एव भवति, अप्रतिकारपूर्वककष्टसहनस्यैव तपःपदवाच्यत्वात् फलभोगेन मोक्षप्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वाच्चेत्याशयः ।। १५ ।। किञ्च दरिद्रस्य नरकादिदुःखहेतुभूता हिंसापि विनिवर्तते । तत्र हेतुमाह—इन्द्रियाण्यनुक्षणं शुष्यन्तीति । तत्रापि हेतुमाह—नित्यमन्नकाङ्क्षिणः । क्षुधा क्षामः क्षीणो देहो यस्य तस्येति ।। १६ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

असत इति ।। असतः अजितेन्द्रियस्य अत एव श्रीमदेनान्धस्य कर्तव्यमकर्तव्यं चापश्यतः दारिद्र्यं परं केवलमञ्जनं दृष्टिप्रसादकम् । यतः परं केवलं दरिद्र एव भूतानि उपमैव औपम्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । आत्मना औपम्यं तेन आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन ईक्षते ततश्च न द्रुह्यति प्रत्युत परेषामुपकारे प्रवर्तते ।। १३ ।। यथेति ।। कण्टकेन विद्धमङ्गं यस्य सः यथा लिङ्गैर्मुखम्लान्यादिभिश्चिह्नैर्जीवसाम्यं गतः यथा मम कण्टकवेधजं दुःखं जातं तथान्यस्यापीति परस्मिन्नपि जीवे स्वसाम्यं प्राप्तः तत्रापि व्यथामनुमिमानः जन्तोर्जीवान्तरस्य तां कण्टकवेधजन्यां व्यथां नेच्छति तन्निवृत्त्यर्थं यतते च तथा अविद्धकण्टको न कदापि विद्धः लग्नः कण्टको यस्य स तां व्यथां नेच्छति इति न किन्तु उदासीनो भवति तदुद्धारप्रयत्नं च न करोतीति । कण्टकेनाविद्धः अविद्धकण्टकः इति राजदन्तादिर्वा ।। १४ ।। दारिद्र्यं मोक्षमपि साधयतीत्याह—दरिद्र इति ।। इह संसारे दरिद्र एव सर्वैर्विद्याधनादिजैर्मदैर्मुक्तः दरिद्रस्य सर्वैरनादृतत्वात् । सत्कुलमदादयोऽपि प्रायो नश्यन्तीति भावः । अत एव निरहंस्तम्भः निर्गतोऽहंकाररूपः स्तम्भो यस्मात्सः स च यदृच्छया प्रारब्धवशेन यत्किचित्कृच्छ्रं कष्टमनशनादि प्राप्नोति तद्धि तच्च तस्य परं तप एव भवति । कष्टसहनसाम्यात् भोगस्य पापनिवर्त्तकत्वाच्च ।। १५ ।। नित्यमिति ।। नित्यं क्षुधा क्षामः क्षीणो देहो यस्य तस्य अन्नकाङ्क्षिणो दरिद्रस्य इन्द्रियाण्याशु प्रतिक्षणं शुष्यन्ति । ततश्च नरकहेतुभूता हिंसाऽपि विनिवर्त्तते ।।१६।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

दारिद्र्यं दरिद्रत्वं परमांजनं श्रेष्ठौषधं कुतस्तत्राह आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन परं श्रेष्ठं यथा तथा ईक्षते सर्वेषां सुखःदुखानि स्वतुल्यः तया पश्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ तदेव सदृष्टांतं वदति यथेति जंतोः तद्व्यथां तस्य कंटकवेधस्य व्यथां दुःखं लिंगैः वदनसंकोचादिचिह्नैः जीवानां साम्यं गतः सर्वजीवानां सुखदुःखे ज्ञानवानस्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥ दरिद्रत्वमेव सुखजनकमित्याह निर्गतोऽहं धनीतिस्तंभोगर्वोयस्य यदृच्छया कृच्छ्रं कष्टमाप्नोति तत्कष्टं तपोस्ति हि ॥१५॥ क्षुधया कृशदेहस्य ॥१६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं श्रीमदस्यानर्थमूलतां प्रदर्श्याथ तत्प्रतीकारार्थं निश्चिनोति ॥ असत इति ॥ असतोऽसत्प्रकृतेः, श्रीमदान्धस्य, दारिद्र्यं, परम् अञ्जनम् । रोगादिनान्ध्यं प्राप्तस्य केनचिद्भिषजाऽञ्जितेनाञ्जनेन यथान्ध्यं निवर्त्तते, एवं श्रीमदान्धस्यान्ध्यं दरिद्रताप्तिरूपाञ्जनेन निवर्त्तते इति भावः । तत् कुत इत्यत आह । दरिद्रः, परं केवलं, औत्मौपम्येनात्मदृष्टान्तेन, भूतानि ईक्षते । यथा स्वस्याघातादिना दुःखादिकं, तथा प्राणिमात्रस्यापीत्यात्मौपम्येन भूतानि पश्यन्न तेभ्यो द्रुह्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ उक्तार्थमेव सदृष्टान्तमाह ॥ यथेति ॥ यथा, कण्टकैः विद्धान्यङ्गानि यस्य सः, सामान्येन विशेषोपादानलक्षणया कण्टकविद्धाङ्घ्रिरित्यर्थः । लिङ्गैः अन्तर्गतसुखदुःखादिव्यञ्जकमुखविकारम्लानतादिभिः निमित्तभूतैः, जीवसाम्यं स्वेतरजीनानां स्वस्य च तौल्यं, गतो मन्वानः पुमानित्यर्थः । तां कण्टकवेधनजां, व्यथां दुःखं, कण्टकवेधतां वा, जन्तोः अन्यस्य प्राणिनः, न इच्छति । तथा, अविद्धः पादादौ न लग्नः कण्टको यस्य सः, कण्टकाविद्धपादतलादिः पुमानित्यर्थः । तां व्यथां, न, नानुसंधत्ते इत्यर्थः । कण्टकाविद्धपादवेदनानभिज्ञः कण्टकनिष्कासनकाले व्यथया मुखम्लानिं गच्छन्तं कंचित्प्रति किमेवं मुखम्लानिमुपगच्छसीति वदन् , प्रत्युत तमुपहसतीति भावः ॥ १४ ॥ किं च दारिद्र्यं परंपरया मुक्तिसाधनमपीत्याह । दरिद्र इति चतुर्भिः ॥ दरिद्र इति ॥ निर्निर्गतः अहंस्तम्भोऽहंकाररूपस्थूणभावः यस्य सः, सर्वैः अभिजनवित्तविद्यादिप्रयुक्ता ये मदास्तैः, मुक्तो रहितः, दरिद्रः पुमान् , इह लोके, यदृच्छया स्वप्रयत्नमन्तरेणैव, यत् कृच्छ्रं कायशोषणादिकं प्राप्नोति, तद्धि तत् कृच्छ्रमेव तस्य दरिद्रस्य, परं केवलमुत्कृष्टं वा, तपः 'एतद्वै परं तपो यद्व्याधितस्तप्यते' इति श्रुतेः ॥ १५ ॥ ननु कृच्छ्रानुभवः कथंकारं तपो भवतीत्याशङ्क्य तत्प्रकारं दर्शयति ॥ नित्यमिति ॥ नित्यमेव, क्षुधा क्षामः क्षीणो देहो यस्य तस्य, तत्र हेतुः । अन्नकाङ्क्षिणः, तत्रापि हेतुः । दरिद्रस्य, इन्द्रियाणि, अनुशुष्यन्ति । अत एव, हिंसापि विनिवर्त्तते ॥१६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

असत इति १०.१०.१३.

आत्मवत् सर्वभूतानामालोको येन सिद्ध्यति । तत्सर्वतोऽप्यभ्यधिकं स्फुटं दारिद्र्यमञ्जनम् ॥ १९ ॥
असुदृष्टिरपि प्रायो वीक्षते परमं जनम् । यद्युक्तेऽक्षिण पुमान् युक्ता दारिद्र्येऽञ्जनवाच्यता ॥ २० ॥
यद् द्रावयत्यखिलभीतिद मर्थजातं यच्छङ्ख चक्रधरपादरतिं तनोति ।
यद्दुर्मदादि रिपुवर्गमदं धुनोति दारिद्र्यमुत्कटतपोऽधिकमित्यगूढम् ॥ २१ ॥
लोभो निष्फलतां प्रयात्यतितरां नोत्पद्यतेऽहङ्कृतिः क्रोधो न श्रयतेऽपगच्छति मदः कामस्तु निर्वायकः ।
मोहो मोहमुपैत्यमत्सरगतिर्यद्योगतो जायते पुंसः सिद्धवदप्रयत्नमिति तद् दारिद्र्यमीदृग्न किम् ॥ २२ ॥
इन्द्रियाणां वशीकारप्रकारो दुष्करो मुनेः । स चेत्सेत्स्यति यद्योगात्स्पृहणीयं न कस्य तत् ॥ २३ ॥
विद्वत्सद्मनिवासिनी च जनताऽनभ्यर्हितं चावनौ दारिद्र्यं सुतपस्विभिः सह तपस्तप्त्वा प्रसाद्येश्वरम् ।
यत्र त्वं वससि प्रसादसुमुखस्तत्र स्थितिर्मेऽस्त्विति वव्रे तद्वरमीदृशं यदुभयोर्व्याप्तिर्जने प्रायशः ॥ २४ ॥

कृष्णप्रिया

जो उच्छृंखल धनमद से अन्ध बन चुके हैं उनके लियें तो "दारिद्र्य" ही सर्व श्रेष्ठ नेत्राञ्जन है। दरिद्र होने पर सान ठिकाने आती है कि, जैसे कष्ट मुझे अप्रिय है—वैसे दूसरे के लिए भी अप्रिय होगा ॥ १३ ॥ जिस जीव के शरीर में एक बार काँटा चुभ चुका और उसकी वेदना को महसूस करचुका है वह तो यह नहीं चाहता कि दूसरों को भी काँटा चुभे। क्योंकि उस दर्द और उसके द्वारा होने वाले विकारों को खुद जानता है कि दूसरों को वैसी ही वेदना होती है। लेकिन जिसे कभी काँटा गड़ा ही नहीं वह उसकी पीड़ा की कल्पना कैसे कर सकता है ॥ १४ ॥ दरिद्र में घमंड नहीं होता न हेकड़ी होती, सर्व प्रकार के मद से वह मुक्त रहता है, उस दरिद्र को कोई भी मद नहीं छूता, दैवसंकेत से जो कुछ कष्ट सहने पड़ते हैं वह उसके लियें श्रेष्ठ तपश्चरण बन जाता है ॥ १५ ॥ दरिद्र को अन्न की आकांक्षा रहती है, भूख के मारे अङ्ग शिथिल बन जाते हैं काया दुबली पतली बन जाती है, इन्द्रियाँ इतनी कमजोर पड़ जाती है कि हिंसा द्वेष के भाव तक नहीं उठते ॥१६॥

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः । सद्भिः क्षिणोति [1]संतर्षं तत आराद् विशुद्धयति[2] ॥ १७ ॥
[3]साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् । उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥ १८ ॥
तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः । तमोमदं [4]हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥ १९ ॥
यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ । न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥ २० ॥
अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः । स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥ २१ ॥
वासुदेवस्य सांनिध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते । वृत्ते [5]स्वर्लोकतां [6]लब्ध्वा [7]लब्धभक्ती [8]भविष्यथः ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच

[9]स एवमुक्तो देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् । नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥ २३ ॥
ऋषेर्भगवतस्तस्य[10] सत्यं कर्तुं वचो हरिः । जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—समदर्शिनः साधवः दरिद्रस्य एव युज्यन्ते सद्भिः संतर्षं क्षिणोति ततः आराद् विशुध्यति ॥ १७ ॥ मुकुन्दचरणैषिणां समचित्तानां साधूनां असदाश्रयैः उपेक्ष्यैः असद्भिः धनस्तम्भैः किम् ॥ १८ ॥ तद् अहं वारुण्या माध्व्या मत्तयोः स्त्रैणयोः अजितात्मनोः श्रीमदान्धयोः तमोमदं हरिष्यामि ॥ १९ ॥ यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ सुदुर्मदौ आत्मानं विवाससं न विजानीतः ॥ २० ॥ अतः स्थावरतां अर्हतः एवं पुनः न यथा स्यात् मत्प्रसादेन तत्र अपि स्मृतिः स्यात् तत्र मदनुग्रहात् दिव्यशरच्छते वृत्ते वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा स्वर्लोकतां लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यथः ॥ २१-२२ ॥ एवं उक्तः सः देवर्षिः नारायणाश्रमं गतः नलकूबरमणिग्रीवौ यमलार्जुनौ आसतुः ॥ २३ ॥ भगवतः तस्य ऋषेः वचः सत्यं कर्तुं हरिः यत्र यमलार्जुनौ आस्तां तत्र शनकैः जगाम ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

युज्यंते स्वत एव संगच्छंते । तर्षं तृष्णाम् ॥ १७ ॥ ननु साधूनामपि धनिकः प्रियः स्यान्न दरिद्र इति चेत्तत्राह । साधूनामिति । धनेन स्तंभो गर्वो येषां तैः ॥ १८ ॥ तमोमदमज्ञानकृतमदम् ॥ १९ ॥ तमःप्लुतौ तमोव्याप्तौ ॥ २० ॥ शपति । अतोऽर्हत इति । अनुगृह्णाति स्यातां नैवमित्यादिना । मत्प्रसादेन स्मृतिः स्यात् ॥ २१ ॥ स्वर्लोकतां देवत्वं पुनर्लब्ध्वा मदनुग्रहाल्लब्धभक्ती भविष्यत इति ॥ २२-२३ ॥ प्रस्तुतमाह । ऋषेरिति ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततस्तृष्णाक्षयात् । आराच्छीघ्रम् । सिध्यति मुक्तो भवतीत्यर्थः । 'आराद्दूरसमीपयोः' इति विश्वः । ननु दरिद्रस्य तृष्णैव सर्वदोषमयीति वाच्यं तस्या अपि प्रतीकारसंभवादित्याह—दरिद्रस्यैवेति । धनित्वदारिद्र्योस्तुल्यदर्शित्वेनोभयेषामपि गृहे विरक्तसंचारस्य संभवेऽपि साधवो दरिद्रस्यैव युज्यंते दरिद्रकर्तृकस्यैव तद्वंदनसंतोषणसंवादादिसंभवात्तस्यैव ते स्वयं संयोगजनितफलदायका भवंति न तु धनिनो मदांधस्य । अत्रानयोः संनिधौ वर्तमानोऽहमेव प्रमाणमिति भावः । ततश्च सद्भिः सत्संयोगमहिम्नैव त तर्पं तृष्णां दरिद्रः स्वयमेव क्षिणोति क्षीणीकरोति तत्कृपालब्धस्य भक्त्यमृतस्य तृष्णाहरस्वभावत्वादिति विश्वनाथः ॥१७॥ साधुसमागमे शंकते—नन्विति । धनिको धनी उपेक्ष्यैस्त्यक्तप्रायैः । तत्र हेतुः असद्भिर्धनमदावज्ञातसज्जनैः । तत्रापि हेतुः असतां विटनटपिशुनवेश्यादिजनानामाश्रयैः । "प्रायेण व्यसनासक्ता धनिनो व्यसनिप्रियाः" इति संग्रहात् ॥१८॥ नन्वस्त्वेतदत्र भवानेतयोर्दंडमुपेक्षां वा करिष्यतीत्यपेक्षायां दंडमेवैतयोर्हितत्वात्करिष्यामीत्याह—तदिति । स्त्रैणयोः स्त्रीवशवर्तिनोः । अजितात्मनोरवशीकृतमनसोः ॥ १९ ॥ लोकपालस्य कुबेरस्य । विवाससं नग्नम् । आत्मानं देहम् । तत्र हेतुः सुदुर्मदौ मदिरामत्तौ ॥ २० ॥ शपति शापं ददाति । यतः सुदुर्मदौ अतः स्थावरतां वृक्षतां प्राप्तमिति शेषः । अनुगृह्णाति—अनुग्रहं करोति । एवं विवाससौ पुनर्न स्यातां भवेताम् । तत्रापि स्थावरत्वेपि ॥ २१ ॥ दिव्यशरच्छते दैविकवर्षशते वृत्तेऽतीते सति ।

---

१. त तर्षं-वंशी. त पु. ; तत्तर्षं-वीर. विज. । २. तम आराद्विनश्यति-च पु टो. ; आराद्धि सिद्ध्यति-विज. । ३. दर्शनान्तो भवेद्बन्धः पुंसोक्ष्णोस्सवितुर्यथा-इदमर्धमधिकं च. पु. टी । ४. हनिष्यामि-गो. प्रे. टी. । ५. स्वर्लोकतां-वशी सुदर्शन. वीर. विज. ; स्वलोकतां-श्रीधर. । ६ भूयो-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ७. लब्ध्वा भक्तौ-विज. । ८. भविष्यतः-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ९. एवमुक्त्वा-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । १०. र्भगवतमुख्यस्य-श्रीधर वंशी. वीर. विज. ।

वासुदेवस्य सान्निध्यं श्रीकृष्णनैकट्यं यथास्यात्तथा। तावत्कालस्यैव भगवदवतारे शिष्टत्वात् भूयः पुनः स्वर्लोकतां देवत्वं लब्ध्वा मदनुग्रहादिति पूर्वश्लोकगतमिह संबध्यते। तस्मिन्देवत्वे। लब्धा भक्तिर्याभ्यां तौ लब्धभक्ती भविष्यथ इति संबंधः। यद्वा—लब्धभक्ती संतौ स्वर्लोकतां भविष्यथः प्राप्स्यथः। भुवः प्राप्तौ परस्मैपदमार्षं वासुदेवस्य सांनिध्यं लब्ध्वेति योज्यम्॥ २२॥ यमलार्जुनौ सहोत्पन्नककुभौ॥ २३॥ प्रस्तुतं प्रसङ्गम्। ऋषेर्नारदस्य। वचः 'वासुदेवस्य सांनिध्यम्' इत्यादिरूपम्॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

किञ्च सत्सङ्गत्या चायं कृतार्थो भवतीत्याह—दरिद्रस्यैवेति, साधवोऽपि दरिद्रस्यैव युज्यन्ते प्रयत्नं विनाऽपि मिलिता भवन्ति, उभयेषामपि विविक्तसञ्चारादिति भावः। एवकारान्नतु धनिनां तेषां जनसङ्घट्टप्रायें तद्वासे दुर्घटगमनत्वादिति भावः। न चान्यलोकवत्तरपि दरिद्रस्यायोगो धनिनो योगश्च यत्नेनापाद्यत इत्याह—समं धनहानिलाभयोस्तुल्यं द्रष्टुं शीलं येषां ते अतः सद्भिर्युज्यमानमात्रैर्हेतुभिस्तमन्नविषयकमपि सर्वं तर्षं स्वयन्दरिद्र एव क्षिणोति आराच्छीघ्रं हि निश्चितम्॥ १७॥ ननु, साधुभिर्मा क्रियतां स्वलाभार्थं धनयोगे यत्नः अनुग्रहार्थं तु क्रियतां तत्राह—साधूनामिति। एते साधवः सदाचारास्ते तु यत्र स्त्रीद्यूतमासव इति दर्शनादसन्तो सदाचाराः एते समचित्ता धनित्वाद्यनित्ययोः समदृष्टयस्ते तु धनगर्वित्वेन तयोर्विषमदृष्टयः एते मुकुन्दचरणैषित्वेन तदेकाश्रयास्ते तु विषयैषित्वेनादसदाश्रयाः इत्येवं प्रकृतिविरोधादनभिरुचेरुपेक्ष्यैस्तादृशयत्नमयानुग्रहायोग्यस्तादृशानुग्रहरूपं प्रयोजनं किं स्यान्नैवेत्यर्थः॥ १८॥ ननु, माध्व्या मत्तता क्षणादपयास्यति तत्राह—श्रीमदान्धयोरिति। श्रीमदान्धतायाः स्थायित्वादसकृन्माध्वीपानेन मत्ततापि अनुवर्त्स्यत्येवेत्यर्थः। अत एव स्त्रैणयोः स्त्रीलम्पटयोः ननूपभोगेन स्त्रैणता शाम्येत् नेत्याह अजितात्मनोः असंयमितमनसोरिति॥ १९॥ पुत्रौ भूत्वापि तमोगुणव्याप्तौ न केवलमज्ञानेन नग्नौ किं तु मदेन मय्यवज्ञयापीत्याशयेनाह–सुदुर्मदाविति। अस्य वटोरग्रे नग्नत्वे को वा दोष इति महादुष्टमदावित्यर्थः॥२०॥ अत इति युग्मकम्। अतो निजकर्मदोषादेवेत्यर्थः। स्थावरतां वृक्षयोनिमर्हतः तमःप्लुतत्वेन स्थावरतुल्यत्वात् अतः स्थावरत्वेन परमदारिद्र्ये सति एवमीदृशौ पुनर्न स्याताम् ननु, स्थावरत्वं बहूनां वर्त्तते नैतावता शिक्षा स्यात् तत्राह—स्मृतिः पूर्वजन्मवृत्तानुस्मरणम् अत एव सदा परमभगवत्प्रियाणां व्रजजनानां सेवा च ताभ्यां कृता तथा च श्रीहरिवंशे "यौ तावर्जुनवृक्षौ तु व्रजे सत्योपयाचनौ" इति॥ २१॥ वासुदेवस्य मयि योऽनुग्रहस्तस्मात्तस्यैव सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छत इति तावत्काल एव श्रीभगवदवतारात् लब्धभक्ती भविष्यथ इति भक्तिरसिकानां भक्तिव्यतिरिक्ताशीरस्फूर्तेः लब्ध्वेति भक्तेः स्थिरतां बोधयति॥ २२॥ पूर्वोक्तं तत्रागमनस्य याद्दच्छिकत्वं दर्शयति—गत इति। यमलौ सहजातौ अर्जुनौ आसतुः बभूवतुः श्रीकृष्णस्यार्जुननामगोपसखत्वात् तन्नाऽम्नाय्येतौ किल सोऽनुग्रहिष्यतीति तत्कृपयैवेति भावः॥ २३॥ तदेवमितिहासं प्रदर्श्य तस्य सम्प्रति यद्भगवदनुस्मृतत्वं दर्शितं तदेव दर्शयति—ऋषेरिति। तद्वचः सत्यता योग्या सा च तेनैव प्रवर्तनीयेति भावः। तत्रापि भगवतः भक्त्याख्यपरमविद्याज्ञानात्परमपूज्यस्य भागवतमुख्यस्येति च क्वचित्पाठः॥ हरिरिति तच्छापादुद्धरणाभिप्रायेण शनकैरिति शब्दसमुत्थानेन मात्राद्यागमनशङ्कया किंवा बाल्यलीलया ततश्चोलूखलस्य शनैराकर्षणेन यतनमपि न जातमिति ज्ञापितम् एवं बलेन तदाऽऽकर्षणार्थं रिङ्गणेनैव गमनम् उक्तं च द्वितीये "यद्रिङ्गतान्तरगतेन" इति॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

किञ्च, सत्संगत्या चायं कृतार्थो भवतीत्याह—दरिद्रस्येति। दरिद्रमीश्वरञ्च समं तत्त्वविचारेण तुल्यं द्रष्टुं शीलमेषामिति तथाभूता अपि दरिद्रस्यैव, न तु धनादिमत्तानाम्, युज्यन्ते स्वयमेव मिलन्ति, तेषां वैभवेनान्तिके गमनस्याप्यसम्भवात्। यद्वा, दीनवात्सल्याद्दरिद्रहितार्थमेव युक्ता भवन्तीत्यर्थः। अथवा, मा लक्ष्मीस्तया सह वर्त्तत इति समो भगवान्, तद्दर्शिनः सदा चित्तान्तस्तदनुभविनो महान्तो दरिद्रस्यैव युज्यन्ते, प्रायोऽकिञ्चनैर्भगवद्भक्तैः सह दरिद्रस्य विषयाभावेन समतया सख्यात्, तथा दीनेषु तेषां कृपाधिक्याच्चातः सद्भिर्हेतुभिस्तमन्नविषयकं तर्षं लोभमक्षय्यं वा विषयरागं स्वयं दरिद्र एव क्षिणोति, ततस्तर्षक्षयात्। आरात् शीघ्रम्; हि निश्चितम्॥१७॥ नन्वाढ्यानामपि कदाचिद्धनद्वारेण सत्संगो नाम घटेत ? तत्राह-साधूनामिति सदाचाराणां समचित्तानामात्मतत्त्ववेदिनामित्यर्थः। मुक्तिरपि कुत्सिता यस्माद्भजनानन्दात्तं ददातीति मुकुन्दो भगवान्, तच्चरणेप्साशीलानाञ्चैषां त्रिविधानामुत्तरोत्तरमुपेक्षायां श्रैष्ठ्यमुह्यम्, यद्वा, मुकुन्दचरणैषिणामित्यस्यैव विशेषणत्वे यथोत्तरं हेतुहेतुमत्त्वम्, स्वयमसद्भिः पुनश्चासतामाश्रयैः॥ १८॥ ननु, माध्व्या मत्तता क्षणादपयास्यति ? तत्राह—श्रीमदान्धयोरिति, श्रीमदान्धतायाः स्थायित्वादसकृन्माध्वीकपानेन मत्तताप्यनुवर्त्स्यत्येवेति भावः। अतएव स्त्रैणयोः स्त्रीलम्पटयोः। ननूपभोगेन स्त्रैणता शाम्येत ? नेत्याह—अजितात्मनोरसंयमितमनसोरिति; यद्वा, विशेषणानामेषां यथेष्टं हेतुहेतुमत्ता द्रष्टव्या॥ १९॥ पुत्रौ भूत्वापि तमोगुणव्याप्तौ; न केवलमज्ञानेन नग्नौ, किन्तु श्रीमदेन मय्यवज्ञयापीत्या-

शयेनाह—सुदुर्म्मदाविति । अस्य वटोरग्रे नग्नत्वे को वा दोष इति महादुष्टमदावित्यर्थः ॥ २० ॥ अत इति निजकर्म्मदोषादेवेत्यर्थः । स्थावरतां वृक्षयोनिमर्हतः, तमःप्लुतत्वेन स्थावरतुल्यत्वात् । स्मृतिर्ज्ञानं पूर्वजन्मवृत्तस्मरणं वा, तेन पुनस्तादृशपापकर्म्मण्यप्रवृत्तेः, साधुसेवायाञ्च प्रवृत्तेरतएव सुच्छायादिना सदा व्रजजनानां सेवा ताभ्यां कृता । तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु०प० ७।२२)—'यौ तावर्ज्जुनवृक्षौ तु व्रजे सत्योपयाचनौ' इति । मम प्रसादेनेत्यन्यथा तादृशशापकर्मिणोस्तदसम्भव इति तत्त्वतः क्रोधाभावः, शापश्च केवलं कृपयवेति बोधयति ॥ २१ ॥ वासुदेवस्य मयि योऽनुग्रहस्तस्मात्तस्यैव सान्निध्यं लब्ध्वा श्रीमथुरायां बृहद्वने श्रीनन्दावासनिकटे सर्वोपकारकसुच्छाय महार्ज्जुन वृक्षजन्म प्राप्स्येति ज्ञेयम् । 'दिव्यशरच्छते' इति शापकालमारभ्य तावत्काल एव श्रीभगवदवतारात् । 'लब्धभक्ती भविष्यतः' इति भक्तिं विना निःशेष दोष दुःखानपगमात् । यद्वा, भक्तिरसिकानां भक्तिव्यतिरिक्ताशीरस्फूर्त्तेः, लब्धेति भक्तेः स्थिरतां बोधयति ॥२२॥ नारायणस्याश्रमं श्रीवैकुण्ठलोकम्, तदैव प्रियश्रीरुद्रानुचरशापेन महापराधं मत्वा तं क्षमयितुम्; किंवा स्वोक्तसिद्धिं प्रार्थयितुम्; यद्वा, बदरिकाश्रमम्,—साक्षाच्छ्रीभगवति लज्जादिना तत्प्रार्थनस्यायोग्यत्वात्तदवतारे निजगुरौ तत्प्रार्थनार्थम्, यद्वा, भक्त्या तद्दर्शनार्थम्, तत एव तत्र गच्छन् वर्त्मन्यापतितं कृत्यं समाधाय निजाचरितं तदशेषं गुरौ निवेदयितुं गतः । यमलौ सहजातौ श्रीकृष्णस्यार्ज्जुनसखत्वात्तन्नाम्नाप्स्येतौ किल सोऽनुग्रहीष्यतीति श्रीनारदानुग्रहेणैव तत्संज्ञकौ वृक्षौ बभूवतु ॥ २३ ॥ ऋषेरिति तद्वचः सत्यता भगवतो महाभागवतोत्तमत्वेन भगवत्तुल्यस्येति परमभक्तिश्चोक्ता, अतएव सत्यं कर्त्तुम् । हरिरिति तच्छापादुद्धरणाभिप्रायेण । शनकैरिति शीघ्रगत्योलूखलाकर्षणशब्दोत्थानेन तत्र श्रीयशोदाद्यागमनस्य शंकया; किंवा बाल्यलीलया महोलूखलाकर्षणेन शीघ्रगमनाप्रकटनात् । एवं बलेन तदाकर्षणार्थं रिंगणेनैव गमनं ज्ञेयम् । तथा चोक्तं द्वितीये (भा० २।७।२७)—'यद्रिंगतान्तरगतेन' इति ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

युज्यन्ते सम्भाषणादियोग्याः तर्षं तृष्णाम् आरात्समीपे आसन्नमपि तमो विशुद्ध्यति निरस्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैः स्तम्भहेतुभिर्धनैः किम् ? ॥ १८-२० ॥ स्थावरतामर्हतः "विवासस्त्वं स्थावरस्य हि युज्यते इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥ वृत्तं अतीते स्वर्लोकतां स्वर्देवलोकयोग्यताम् ॥ २२-२४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवंविधस्य दरिद्रस्यैव समदर्शिनः साधवो युज्यन्ते सङ्गता भवन्ति, ननु, परिशुष्केन्द्रियस्यापि विषयतृष्णानपायात् श्रीमदान्धात्कोऽस्य विशेष इत्यत्राह—सङ्गतैः सद्भिः हेतुभिस्तत्तर्षं विषयतृष्णां क्षिणोति क्षपयति । यद्वा, तत्तर्षं कर्तृ क्लीबत्वमार्थं क्षिणोति नश्यति ततस्तत्तर्षक्षयादारात्समनन्तरमेव विशुद्ध्यति प्रकृतिसम्बन्धरूपाशुचिरहितो भवति विसिद्ध्यतीति पाठे मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ ननु, धनमेव स्वापेक्षितमत आह—साधूनामिति । मुकुन्दचरणमेव निरतिशयपुरुषार्थरूपं मन्वानानां समचित्तानां स्वतुल्यभूतान्तरदर्शिनां साधूनामत एवोपेक्ष्यैर्द्धनस्तम्भैः स्तम्भहेतुभिर्द्धनैरसद्भिरनर्थमूलमदहेतुत्वेन दुष्टैरत एवासतामाश्रयैस्ते आश्रयो येषां तैरिति वा एवंविधैर्द्धनस्तम्भैः किं ? न किञ्चिदपि प्रयोजनमित्यर्थः । यद्वा, साधूनामपि धनिकमेव प्रियः स्यादित्यत्राह—साधूनामिति । धनेन स्तम्भो येषां तैरसदाश्रयः सदाश्रय रहितैस्तत्समागम रहितैरित्यर्थः । अत एवोपेक्ष्यैरसद्भिः किमिति ॥ १८ ॥ तत्तस्माच्छ्रीमदनिवृत्तेरेव पुरुषाथपर्यवसायित्वाद्वारुण्या माध्व्या सुरया मत्तयोः श्रीमदेनान्धयोरजितेन्द्रिययोः स्त्रीवश्ययोर्युवयोः तमोमदमज्ञानकृतं मदं हरिष्याम्यपनेष्यामि ॥ १९ ॥ यद्यस्माल्लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वापि इमौ भवन्तौ तमसा व्याप्तौ विवाससं नग्नमात्मानं न विजानाते ॥ २० ॥ अतः स्थावरतामर्हतः विवाससमात्मानमजानतोर्वस्त्राच्छादनरहिततरुजन्मयुक्तमिति भावः । इत्थं शप्त्वाऽनुगृह्णाति—स्यातामित्यादिना । एवमेव सर्वदा स्थावराकृती यथा न स्यातां तथार्हतः यद्वा किमर्थमेव निरपराधयोः शापं प्रयच्छसीत्यत्राह—पुरा तरुजन्मनः प्रागयथा स्यातां यादृशौ श्रीमदान्धौ स्यातामेवं तरुजन्मनः पश्चान्माभूतामित्येवमनुग्रहार्थं शाप इत्यर्थः । प्रकारान्तरेणाप्यनुगृह्णाति तत्रापि स्थावरत्वेऽपि मत्प्रसादेन हेतुना स्मृतिः पूर्वजन्मस्मृतिः स्यात् ॥ २१ ॥ तथा मदनुग्रहाद्धेतोर्दिव्यवर्षशतान्ते वासुदेवस्य वसुदेवसूनोर्भगवतः सान्निध्यं लब्ध्वा वृत्ते तरुत्वेऽतीते सति पुनः स्वर्लोकतां देवत्वं लब्ध्वा वासुदेवे लब्ध्वा भक्तिर्याभ्यां तथाभूतौ भविष्यतः ॥ २२ ॥ स देवर्षिरित्थमुक्त्वा बदर्याश्रमं गतः नलकूबरमणिग्रीवौ तु सहजातावर्जुनौ वृक्षावासतुः ॥ २३ ॥ भागवतमुख्यस्य नारदस्य तद्वचः सत्यं कर्तुं हरिः श्रीकृष्णः शनैरुलूखलमाकर्षन् यत्र यमलार्जुनौ स्थितौ तत्र जगाम ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ततः किमत आह-दरिद्रस्येति । युज्यन्ते सङ्गस्यन्ते सत्सङ्गतिर्भवतीत्यर्थः । तत्फलमाह—सद्भिरिति । रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तत इति स्मृतेः । विषयतृष्णा निवर्तत इत्यर्थः । ततः विषयः तृष्णा निवृत्तेरारात् क्षिप्रं सिध्यति मुक्तो भवतीति

"आराद्दूर समीपयोः" इति च ॥ १७ ॥ सच्छिक्षया विद्यादिमदान्धानामपि दरिद्रस्यैव श्रेयः किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्य सतामुपेक्षणीयत्वेन सत्सङ्गत्या श्रेयः सिद्धिर्दवीयसीत्याशयेनाह—साधूनामिति। महतां दर्शने धनेन स्तम्भः प्राविण्यगुणरहितैः असतामाश्रयभूतैः ॥ १८ ॥ नन्वस्तु प्रकृते भवतैतयोः किं क्रियते दण्ड उत उपेक्षा वा ? इत्याशङ्क्य दण्ड एव क्रियत इत्याह—तदहमिति। माध्व्या मधुकृतया ॥ १९ ॥ तमः प्लुतौ अज्ञानाऽऽवृतौ विवाससं वस्त्रहीनम् आत्मानं न विजानीत इति यतोऽतः ॥ २० ॥ स्थावरतां प्राप्तुमर्हथः तत्र स्थावरत्वेऽपि ॥ २१ ॥ स्मृतेः फलमाह—वासुदेवस्येति ॥ २२ ॥ यमलार्जुनौ सहोत्पन्नार्जुनौ ॥ २३–२५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नच दरिद्रस्यैका तृष्णैव सर्वदोषमयीति वाच्यं तस्या अपि प्रतीकारसम्भवादित्याह—दरिद्रस्यैकेति। धनित्व-दारिद्र्योस्तुल्यदर्शित्वेनोभयगृहान् कृपया गच्छन्तोपि साधवो दरिद्रस्यैव युज्यन्ते दरिद्रेणैव तद्वन्दनसम्भाषणसम्वादादि-सम्भवात् तस्यैव ते स्वयं योगजनितफलदायका भवन्तीत्यर्थः। ननु धनिनो मदान्धस्य अनयोः सन्निधौ वर्तमानोऽहमेव प्रमाणमिति भावः। ततश्च सद्भिः सत्सङ्गमहिम्नैव तं तर्षं तृष्णां दरिद्रः स्वयमेव क्षिणोति क्षीणीकरोति तत्कृपालब्धस्य भक्त्य-मृतस्य तृष्णाहरस्वभावत्वात् अत एव पूर्वमुक्तं कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोतीति कृच्छ्रस्य यादृच्छिकत्वं ननु कर्मजनितत्वं भक्तस्य कर्मानङ्गीकारात् ॥ १७ ॥ न च साधूनां धनोपाधिको धनिकसंयोगः सम्भवतीत्याह—साधूनामिति। धने स्तम्भो गर्वो येषां तैः असद्भिरवैष्णवैः असदाश्रयैरवैष्णवसेविभिः तेन गर्वरहिता अदरिद्रा वैष्णवसेविनो धनिनोपि साधुभिः संयुज्यन्त एवेति भावः ॥ १८ ॥ तदनयोर्गर्वरोगस्य कां चिकित्सां करोमीति मनसि विचार्य्य निश्चिनोति-तदहमिति चतुर्भिः। माध्व्या मधुमय्या तमोऽज्ञानम् ॥ १९–२० ॥ स्थावरतामिति निरावरणयोः स्तब्धयोरत्रुवाणयोरनयोः स्थावरत्वमेवोचितमिति भावः। स्थावर-त्वेऽपि मत्प्रसादेन स्मृतिरस्तु स्मृतौ सत्यामपि मदनुग्रहादित्यादिदेवमानेन शरच्छते वर्षशते वृत्ते सति वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा लब्धभक्ती सन्तौ स्वर्लोकितां भविष्यतः प्राप्स्यतः भूप्राप्तौ परस्मैपदमार्षम् ॥ २१–२३ ॥ प्रस्तुतमाह ऋषेरिति ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

संसारहेतुभूतं तर्षं तृष्णाम् ॥ १७ ॥ साधवो जनस्य शुद्ध्यर्थं तत्समीपे सङ्गच्छन्ति न धनार्थं सा च शुद्धिर्धनेन स्तम्भो गर्भो येषां तेषां न घटतेऽत उपेक्ष्यैस्तैः सङ्गतैरसङ्गतैर्वा साधूनां किं ? न किमपीत्यर्थः ॥ १८ ॥ तमोमदं तमो धनजाड्यं तत्कृतं मदम् ॥ १९ ॥ तमःप्लुतौ धनजाड्यव्याप्तौ विवाससमात्मानं देहमपि न विजानीतः आत्मानं तु सुतरां न विजानीत इत्यर्थः ॥ २० ॥ एवं विचिन्त्य तत्कल्याणार्थमेव शपति—अत इति। अतः अनर्थकारिणः उपदेवभावात् स्थावरतां स्थावर-भावम् अर्हतः शापस्यैवानुग्रहरूपत्वं दर्शयति यथा येन स्थावरभावेन एवं दुर्वृत्तौ पुनर्न स्यातां माऽभूतामित्यर्थः। पुनरनु-गृह्णाति स्मृतिः स्यादिति तत्रापि स्थावरत्वेपि मत्प्रसादेन स्मृतिः स्यात मदनुग्रहादिति पदमुत्तरश्लोकान्वयि ॥ २१ ॥ अत्यन्त-तोऽनुगृह्णाति—वासुदेवस्येति। मदनुग्रहात् दिव्यशरच्छते वृत्ते सति वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा स्वर्लोकतां देवभावं भूयः पुनर्लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यथः ॥ २२ ॥ यमलौ सहजातौ च तावर्जुनौ वृक्षविशेषौ च यमलार्जुनौ आसतुः ॥ २३ ॥ प्रकृतमाह—ऋषेरिति—

> स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्। वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ॥
> वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यथः ॥

इति ऋषेर्वचः सत्यं कर्तुं तत्र हरिस्तु यः क्लेशहरः जगाम ऋषेर्वचसः सत्यत्वकरणे हेतुं दर्शयितुं विशेषणं भागवतमुख्यस्येति ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

न च दरिद्रस्य भोगतृष्णा निखिलदोषत्वनिरस्तीति वाच्यं तत्तृष्णानिवृत्तिसंभवादित्याह—साधवः समदर्शित्वात् सम्पन्नदरिद्रयोरुभयोर्गृहेषु गच्छन्तोऽपि दरिद्रस्यैव युज्यन्ते निर्गर्वेण तेन तद्वंदनादिसम्भवात् न तु सम्पन्नस्य मदान्धस्य तत्राहमेव प्रमाणमिति भावः। ततः सद्भिः सारासारमुपदिशन्नेभिर्हेतुभिस्तं तर्षं भोगतृष्णां स दरिद्रः क्षिणोति नाशयति तत्सङ्गावाप्तस्य तत्त्वज्ञानामृतस्य तन्निवर्तकत्वात् तत आरात्तदानीमेव विशुध्यति मुक्तिमार्गाधिकारी भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ न च धर्मार्थं सम्पन्नगृहे साधूनां गमनमित्याह—साधूनां समचित्तानामपि मुकुन्दचरणाविच्छतां धनस्तम्भैः सम्पत्तिगर्वितैर-सद्भिरवैष्णवैः असदाश्रयरवैष्णवभक्तैः किं न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः। तथा च तादृशानां गृहेषु साधवो न गच्छन्तीति तेन सम्पन्ना निर्गर्वाः सत्सेविनः साधुभिर्युज्यन्ते इत्युक्तम् ॥ १८ ॥ गर्वरोगनाशिनीयमेव चिकित्सेति निश्चिनोति तदिति माध्व्या मधुमय्या तमोऽज्ञानम् ॥ १९ ॥ विवाससं नग्नम् ॥ २० ॥ विवाससं नग्नम् शपति अतोऽर्हत इति। विवास-

सोरनयोरवदतोश्च स्थावरतैवोचितेति भावः। स्थावरत्वेऽपि मत्प्रसादेन स्मृतिः स्यादस्तु तत्रापि स्मृतिसत्वेऽपि मदनुग्रहादित्यादि ॥ २१ ॥ दिव्ये शरच्छते वर्षशते वृत्ते गते सति वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा लब्धभक्ती सन्तौ स्वर्लोकतां देवत्वं भविष्यतः प्राप्स्यतः भू प्राप्तौ ॥ २२-२३ ॥ प्रस्तुतमाह—ऋषेरिति ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

समदर्शिनो निर्दोषब्रह्मदर्शिनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्मेत्यादेः। सर्वत्र भगवानस्तीति समदर्शिनः साधवो युज्यन्ते तत्सहवासो भवति तस्येति भावः। समदर्शिन इत्येतत् षष्ठ्यन्तं सदरिद्रविशेषणं वा। सद्भिः सङ्गैस्तर्षं विषयकामं क्षिणोति नाशयति ततस्तर्षापकर्षादाराक्षिप्रं सिध्यति संसिद्धेः भवति। आराद्दूरसमीपयोरित्यमरः ॥ १७ ॥ साधवोऽपि धनिका एव प्रायेण प्रीयन्त इति तत्राह ॥ साधूनामिति। मुकुन्दचरणैषिणां मुकुन्दचरणाविच्छन्ति अपेक्षन्त इति ते तथा तेषामिषेच्छा येषामस्ति तेषामिति वा तेषामुपेक्ष्यः। कृत्यानां कर्तरि वेति स्मरणात् षष्ठी। असदाश्रयैरसन्त एवाश्रयो येषां ते तैः स्वतोऽसद्भिरमङ्गलैरसन्तोऽसमर्था आश्रयो येषां त इति वा। समर्थं सदिति प्रोक्तमसमर्थसंमतमित्येकादशतात्पर्योक्तेः। धनस्तम्भैस्तदादीनां मदैस्तज्जातमदैरिति यावत् किं न किमपि स्यादतस्ते त्याज्या इति भावः ॥ १८ ॥ यदर्थमत्यर्थमुपन्यसनं तत्पर्यसाययति ॥ तदिति। वारुण्या वरुणोत्पन्नया माध्व्या मद्येन मत्तयोः श्रीमदेन चान्धयोस्तत्प्रायर्योरजितात्मनोस्तत एव स्त्रैणयोः कामिनीकामुकयोः। स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनादिति स्मरणात्। जित्वादादिवृद्धौ णत्वे स्त्रैण इति भवति। तमोमदमज्ञाननिदानिकामहन्तामहं हरिष्यामीति मतिं तेने मुनिरिति भावः ॥ १९ ॥ पथिकस्येयती व्यथा कुतो भवतो भवतान्तौ किं वेत्यतौ वक्ति ॥ यदिति। यद्यस्मादिमौ लोकपालस्य कुबेरस्य पुत्रौ भूत्वाऽपीदानीं तमःप्लुतावज्ञाननिमग्नौ विवाससं विगतं वासो यस्मात्स तमात्मानं स्वं वा स्वदेहं वा सुदुर्मदौ मद्येनापि न विजानीतो न ज्ञातवन्तावत इत्युत्तरेणान्वयः ॥ २० ॥ स्थावरतां वृक्षता मर्हथ नैवं मदान्धौ स्यातां तथा तत्रापि स्थावरकलेवरतायामपि मत्प्रसादेन स्मृतिः स्यात् ॥ २१ ॥ वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते शरदां समानां शतं दिव्यं देवतासम्बन्धि तच्च तस्मिन्वृते गते सति स्वर्लोकतां स्वर्लोक ओको येषां ते स्वर्लोका देवाः तेषां भावस्तत्ता तां देवत्वं भूयो लब्ध्वा। वासुदेवस्येत्यत्राप्यन्वेति। भक्तौ मदनुग्रहाद्भविष्यत इत्यन्वयः ॥ २२ ॥ स देवर्षिरेवमेतौ प्रत्युक्त्वा नारायणाश्रमं बदरिकाश्रमं गतः। नलकूबरमणिग्रीवौ चैवं शप्तौ यमलार्जुनौ यमलौ च तौ सहोत्पन्नावर्जुनौ च तावासतुः। भूरुहमात्रगात्रताशापेऽपि स्मृतिर्भवत्वित्युक्तत्वादर्जुनः प्रीतिपात्रं वासुदेवस्येति श्रुततत्कथौतन्नामकानौकहीभवने भगवान्प्रीतो नौ मोचयेदथवा तमद्वितीयार्जुनं विधातुं वेति मतिमन्तौ तावर्जुनतां गताविति तात्पर्यमवधेयम् ॥ २३ ॥ भागवतस्य मुख्यर्षेर्वचः सत्यं कर्तुं हरिः शनकैर्मन्दं यत्रास्तां तत्र तत्स्थलं जगाम। शुकोक्तिरियम् ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

मनोरथरूपा तृष्णा त्ववशिष्यते, तस्या अपि निवृत्तिमाह **दरिद्रस्यैवेति**, साधुसङ्गात् तृष्णापगमः; ते हि भगवत्प्रेरिताः परिभ्रमन्ति लोकानामुद्धारार्थं, तेनावृतत्वाद् दरिद्रस्यैव गृहे गच्छन्ति, तेषां काण्डद्वयनिष्णातत्वमाह **साधवः समदर्शिन** इति, तत्रापि विश्वासार्थं सदाचार एव मुख्यः, तदाह **सद्भिः क्षिणोति सन्तर्षमिति**, **सन्तर्षस्तृष्णा** समीचीनापि, धर्मार्थमपि वा धनाकाङ्क्षा, **ततः** शीघ्रमेव सिध्यति ॥ १७ ॥ ननु सन्तोपि भक्ष्यादिरहिते दरिद्रगृहे कथं गच्छेयुः ? तत्राह **साधूनामिति**, सतां धनिनां च परस्परविरुद्धा धर्माः, ते हि **साधवः** सदाचाराः, ते ह्यसन्तोसदाचाराः, साधवस्तु **समचित्ताः**, ते तूपेक्ष्या एव विषमचित्ताः, **समचित्तानां** विषमचित्ता उपेक्ष्या एव भवन्ति, साधवस्तु **मुकुन्दचरणैषिणो** मोक्षदातुश्चरणान्वेषणपराः, अन्ये त्वसदाश्रयाः, असत्स्वेव हि धनं तिष्ठति, तदर्थं तच्चरणान्वेषिणो यतस्तमेवाश्रित्य तिष्ठन्ति, अतो **धनस्तम्भैर्धनेन** स्तम्भप्राया जाता गृहभारवाहकास्तैर्न किञ्चित् कृत्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥ एकोप्यंशो नोभयोस्तुल्यः, अतः श्रीमदनिवृत्तिः कर्तव्या, दारिद्र्यं च सम्पादनीयं, निन्दितकर्मणा च स्थावरत्वं, मददूरीकरणं तु सतामावश्यकं, सतां दृष्टिर्हि ब्रह्मज्ञानवत् सर्वदोषनिवर्तिका, अन्यथा त्रिदोषयुक्ता नाशमेव यास्यन्तीति तयोर्दोषान् गणयति **माध्व्या मत्तयोः**, **माध्वीपदेन** रस्यत्वादनिवृत्तिः, फलं तु नाशकमेव, **वारुणी** दैत्यत्वसम्पादिका, **श्रीमदेन** चान्धौ स्त्रैणौ च, अतो दोषत्रयं दूरीकरिष्यामि तमोज्ञानं मदोजितेन्द्रियत्वं च ॥ १९ ॥ एवं हेतुं निरूप्य शापमाह प्रसादान्तं **त्रिभिर्यदिति**,

दोषानुवादः शापश्च प्रसादश्चेत्यनुक्रमात् ॥ ३ ॥

अनुवादमाह **यद्** यस्मात् कारणादिमौ **लोकपालस्य** कुबेरस्य रक्षायां प्रतिष्ठितस्य **पुत्रौ भूत्वा** तत्पदाभिषेकयोग्यौ **तमसा प्लुतौ**, किञ्च **विवाससं** नग्नमात्मानं च **न विजानीतः**, किञ्च **सुदुर्मदौ** ॥ २० ॥ अतो दोषत्रयेण **स्थावरतां** शुद्धतामसत्वामहतः, कर्मण एव तथाफलं भवतीति, ततः किमत आह **यथा पुनरेव नैवं स्यातां**।

ज्ञाननाशः क्रियानाशो भोगनाशस्तथैव च। दुःखं शीघ्रं चानिवृत्तिर्वृक्षत्वे हि भवन्ति वै ॥ १ ॥

ननु कर्मणैवैतद् भविष्यति तव कः प्रसाद इति चेत् तत्राह **स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेनेति**, पूर्वजन्मवृत्तान्तरस्मरणं शापेन वृक्षभावस्मरणं च यद्यपि वृक्षयोनौ न भवति सत्त्वांशाभावात् तथाप्यहं भगवत्कृपया सर्वभावं प्राप्त इति मदंशो गुप्त एव तत्रापि वर्ततेऽग्निवदत्राहं चेत् **प्रसन्न** उद्रिक्तसत्त्वगुणस्तदा मदंशस्तत्रापि प्रकटो भविष्यतीति **स्मृतिः स्यात्, तत्रापि** तस्मिन्नपि जन्मनीदानीमपि, किञ्चाधिकोऽनुग्रहोऽपि क्रियते, प्रसादस्तु स्वधर्माविर्भावः, अनुग्रहस्तु परदोषाणां स्वीकारः, अतस्तदीयदोषोऽस्माभिर्गृहीत इति कर्मफलस्यापि भोगात् ॥ २१ ॥ **वासुदेवस्य सान्निध्यं** प्राप्स्यथः, पुरुषापराध इति पुरुषायुःपर्यन्तं भोगः, देवत्वाद् **दिव्यं दिव्यशरच्छते** वरोतीते **वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा ततः स्वलोकतां च लब्ध्वा** नलकूबरत्वं च प्राप्य पूर्वावस्थातौ विशिष्टौ **लब्धभक्ती भविष्यथो** भक्तिस्तत्र प्राप्तव्या, अनेनाप्राप्तभक्तेरेव स्वसाधनरूपा भक्तिर्भवति गच्छति चानयोस्तु नैसर्गिकी रतिर्भविष्यतीति भावः ॥ २२ ॥ एवमुक्त्वा ब्रह्मवाक्यमन्यथा न भविष्यतीति तादृशवाक्यमुच्चार्य ततो गत इत्याह **स एवमिति, स नारदो देवगुह्यकर्ता, एवमुक्तः** कर्तरि क्तः, पश्चान्नारायणाश्रमं **गतस्तद्दोषपरिहारार्थं**, तज्ज्ञानार्थं **देवर्षिरिति**, मिलितानां मध्ये नारदस्य गमनमुक्त्वा नलकूबरयोराह **नलकूबरमणिग्रीवाविति, यमलावेकत्रोत्पन्नौ** मूले मिलितौ, अर्जुनो जातिविशेषः ॥ २३ ॥ एवं शापदातुः प्रायश्चित्तं शापग्रहीतुः शापफलप्राप्तिश्चेति **निरूप्य** स्मृतिरपि तत एव भविष्यतीति तामनुक्त्वानुग्रहफलं भगवत्सान्निध्यं तयोर्जातमित्याहर्षेरिति, स हि भाव्यर्थं जानात्येव तज् ज्ञात्वैव तथोक्तवानिति, किञ्च भगवतापि स्वकृपया तस्मिन् भगवत्त्वं सम्पादितं, तदाह **भगवत** इति, **तस्य**र्षित्वं भगवत्त्वं वाक्यसत्यत्वं च **कर्तुं**, स्वय च सर्वदुःखहर्ता, **यत्र यमलार्जुनावास्तां तत्र शनैर्जगामादावेव**, आरादेव पुनः स्त्रीणामनुसरणं भविष्यतीति भगवानेवम्प्रकारेण तत्र गतस्तौ ज्ञापयितुं यत्र स्त्रियो मामेवं कुर्वन्ति तत्र युवां कथं न करिष्यन्त्यतः स्त्रीसङ्गो न कर्तव्य इति तदानीमपि स्त्रीदर्शनाभावाय शनैर्गतः, तयोरागमनं न सम्भावितमिति यत्र तावेवास्तां **तत्र स्वयंगतः** ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दरिद्रस्यवेत्यत्र नन्वनावृतगृहत्वमन्यत्रापि सम्भवतीति कथं तादृशामेव गृहे साधूनां गमनमित्यत आहु**स्तत्रापी**त्यादि, दरिद्रेष्वपि सद्विश्वासार्थं सदाचार एव मुख्यो गमक इति तं दृष्ट्वा तत्रैव साधवो गच्छन्तीत्यर्थः, **समीचीनेति** समुपसर्गार्थः शेषस्तर्षपदार्थो ज्ञेयः ॥ १७ ॥ **तदहमित्यस्याभास एकोप्यंश** इत्यादि ॥ १९ ॥ **यदिमावित्यत्र** त्रयाणां श्लोकानामर्थमाहुर्दोषेत्यादि ॥ २० ॥ **अत** इत्यत्र मूलस्थस्यातःशब्दस्य तात्पर्यमाहु**र्ज्ञाननाश** इतिकारिकया, **स्मृतिरिति** पूर्वोक्ता भगवत्स्मरणरूपा च, **तत्रापी**त्यपिशब्दार्थमाहु**रिदानीमपी**ति शप्स्यमानावस्थायामपि, **गृहीत** इति शापदानेन गृहीतः, **तत्र प्राप्तव्येति** तस्मिन् रूपे प्राप्तव्या, सिद्धमाहु**रनेने**त्याद्यनेनोपाख्यानकथनेन, अप्राप्तभक्तेरेव पुरुषस्य स्वसाधनरूपा जीवसंस्काररूपा भक्तिर्नश्वरा भवत्यनयोस्तु तद्विलक्षणा भविष्यतीतिभावः सूचित इत्यर्थः ॥ २१ ॥ **स एवमित्यत्र** पश्चादिति स्वार्थिकम् ॥ २३ ॥ **ऋषेरित्य**त्राभासे **तत एवे**त्यपिप्रसादादेव, तयोर्ज्ञार्थं विषयमाहु**र्यत्रे**त्यादि, एतल्लीलाश्रवणफल भगवद्भक्तसख्यमिति स्फुटीकुर्वन्त्येवं **भगवदि**त्यादि, एतेनैव वैराग्यस्य भगवद्वशीकारकतापि स्फुटीकृता भविष्यत्यग्रिमश्लोके च ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

साधूनामित्यत्र मूले विषमचित्तपदाभावेप्यु**पेक्ष्यै**रितिपदेन तत्प्राप्तिरिति व्युत्पादयन्ति **समचित्तानामिति** समचित्तोपेक्ष्यत्वकथनेन विषमचित्तत्वमुक्तमित्यर्थः, **धनस्तम्भै**रितिपदमेतत्त्रयकार्यत्वेनोक्तमित्याहुः **अत** इति ॥ १८ ॥ **तदहं मत्तयो**रितिश्लोकस्यार्थमाहुः **अतः श्रीमदेति, अतो दोषत्रयमि**ति स्त्रैणत्वमजितात्मत्वे हेतुः मत्तत्वं श्रीमदान्धत्वं च तमसि मदे च हेतुः, अतो दोषत्रयमेव पर्यवसन्नमितिभावः ॥ १९ ॥ **यदिमावित्यत्र ज्ञाननाश** इति "अत्यन्तनिन्दितै" रित्यत्र बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानादत्र तमो मदः अजितेन्द्रियत्वं चेति दोषत्रयमुक्तं, तेषां भोगः क्रमेणोक्तः, इदं च कर्मफलं **दुःखं शीघ्रमनिवृत्तिश्च शापफलं** दुःखाभावे सावशेषे कर्मणि वा तादृशजन्मनिवृत्तौ कर्मणां प्ररोहस्वभावत्वाज् जन्मान्तरमेव **भवेन्** न तु मोक्ष इत्यनुग्रहार्थं शापद्वयमुक्तवानितिभावः, इदं पञ्चकमपि वृक्षत्वे भवति इति तदुक्तमितिभावः, कर्मणा स्थावरत्वमात्रमुक्तमिति **वने माल**त्यादिवृक्षत्वमेव स्यादतः शापेन व्रजवृक्षत्वं सम्पाद्य गवां छायाजननेन दुःखसहनं नन्दाभिज्ञापकत्वेन चिरस्थायित्वं च सम्पादितवांस्तेन भोगावशिष्टदोषांशग्रहणरूपोऽनुग्रहस्तेन वासुदेवसान्निध्यमितिभावः, **वृक्षत्वे** इति महावृक्षत्व इत्यर्थः, ननु कर्मणैवेति महावृक्षोपि स्थावर एवेति कर्मणापीदं सम्भवतीति कर्मणवेदमपि साधनीय प्रसादेन किं, प्रसादो हि कर्मासाध्यसाधको वाच्य इत्यर्थः, **स्वधर्मेति** उद्रिक्तसत्त्वस्य मदंशस्य **धर्मः** स्मृतिस्तदा**विर्भाव** इत्यर्थः, **परेति** एतेषां स्वीकारोऽवगणनेत्यर्थः, तथा च दोषाननुलक्षीकृत्य तानवगणय्य ग्रहणमिति यौगिकार्थः सम्पन्न इतिभावः, **तदीयदोष** इति कर्मणां प्ररोहस्वभावत्वाद् भोगे जातेपि यावानंशोवशिष्टस्तावानस्माभिर्गृहीतोऽवगणित इत्यर्थः ॥ २० ॥ **स एवमुक्त** इत्यत्र **तद्दोषेति** हितार्थं शापदानेपि मनसि क्रोधो जातस्तत्परिहारार्थमित्यर्थः, नारायणे क्रोधजयस्य "कामं दहन्ती" त्यनेन द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणा व्युत्पादितत्वादितिभावः ॥ २३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

स एव मुक्त इत्यस्य विवृत्तौ शापदातुः प्रायश्चित्तमिति शापदातुः नारदस्य प्रायश्चित्तं नारायणाश्रमगमनमित्यर्थः ॥ २३ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

"यदिमौ लोकपालस्य" त्यादीनां त्रयाणां श्लोकानां प्रत्येकं वाक्यार्थानाहुरर्धेन **दोषानुवाद** इति का० ८५३। **अतोर्हतः स्थावरतामित्यत्र ज्ञाननाश** इति का० ८६३। "तदहं मत्तयोर्माध्व्ये" तिश्लोके तमो मदः अजितेन्द्रियत्वं चेतिदोषत्रयमुक्तं, तत्र तमः कार्यं **ज्ञाननाशः** मदकार्यं **क्रियानाशः** अजितेन्द्रियत्वफलं भोगाभावः, एतत् त्रयं कर्मफलं, दुःखं **शीघ्रं दुखानिवृत्तिश्चेति** द्वयं शापफलं "वातवर्षातपहिमा" दिसहनेन दुःखं महावृक्षत्वाद् बहुकालस्थित्या **शीघ्रमनिवृत्तिश्चेति वृक्षत्वे पञ्च दोषा भवन्तीत्यर्थः** ॥ ८६३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'एवं कष्टसहनेऽपि तृष्णाया विद्यमानत्वात् कथं तस्य मोक्षः?' तत्राह– दरिद्रस्यैवेति। समदर्शिनः समं 'भगवन्तमेव सर्वत्र' पश्यन्तः साधवः स्वपराकार्यसाधका भगवद्भक्ता दरिद्रस्यैव युज्यन्ते, निरहङ्कारित्वेन श्रद्धाप्रणिपातप्रश्नादिना चोपदेशाधिकारित्वात् स्वयमेव सङ्गता भवन्ति। तदा सद्भिर्निमित्तभूतैर्भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारेण तं विषयसुखविषयकं तर्षं तृष्णां सदरिद्रः स्वयमेव क्षिणोति। तदुक्तं गीतासु—'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति ॥ ततः सर्वतृष्णानिवृत्तेः आरात् आशु विशुध्यति जीवन्मुक्तो भवति। तथाच श्रुतिः—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति ॥ १७ ॥ ननु 'धनिभ्यो धनलाभस्य सम्भवात् साधूनामपि धनिन एव प्रियाः स्युः, अतः साधवोऽपि तत्रैव गच्छेयुः' इत्याशङ्क्य 'समानशीलव्यसनेषु सख्यं भवति, साधूनां धनिनां च परस्परविरुद्धस्वभावत्वात् नैवम्' इत्याह—साधूनामिति। साधूनामुपेक्ष्यैरुपेक्षायोग्यैः किं प्रयोजनम् ? उपेक्षायोग्यत्वहेतुत्वेन विरुद्धस्वभावत्वमेव स्पष्टयति—असद्भिरित्यादिभिः। साधूनां जितेन्द्रियाणामसद्भिरजितेन्द्रियैः किम् ? समं शत्रुमित्रादिभावरहितं चित्तं येषां ते धनेन स्तंभो गर्वो येषां तैर्विषमदृष्टिभिः किम् ? मुकुन्दचरणैषिणां मुकुन्दचरणैषित्वेन मुकुन्दचरणाश्रयाणां असन्तो विषयाविष्टचित्ता आश्रयो येषां तैरसदाश्रयैः किं प्रयोजनमिति ॥ १८ ॥ एवं सामान्यतः सिद्धान्तमुक्त्वा प्रकृते यत्तयोः कर्तव्यं तन्निश्चिनोति—तदिति। तत् तस्मात् असतो मदनाशस्यैव पुरुषार्थहेतुत्वात् श्रीमदेनान्धयोर्विवेकचक्षुःशून्ययोरनयोस्तमोमदमज्ञानकृतं श्रीमदं हरिष्यामि दूरीकरिष्यामि। मदज्ञापकमेव विशेषणद्वयमाह—वारुण्या माध्व्या सुरया मत्तयोरिति, स्त्रैणयोः स्त्रीवश्ययोरिति। 'न केवलं मदनिवृत्तिमात्रं कर्तव्यम्, छिन्नत्वज्ञाननिवृत्त्या जितेन्द्रियत्वं भक्त्यादिकं च सम्पादनीयम्' इत्याशयेनाह—अजितात्मनोरिति ॥ १९ ॥ एवं निश्चित्य शापहेत्वपराधनिरूपणपूर्वकं शपति—यदिति सपादेन। यत् यस्मात् इमौ नलकूबरमणिग्रीवौ लोकपालस्य कुबेरस्य महतः अत्यन्तदुष्टो मदो ययोस्तथाभूतौ च सन्तौ विवाससं वस्त्ररहितमात्मानं न विजानीतः ॥ २० ॥ अतस्तस्मात् स्थावरतामर्हतः। एवंभूतापराधस्य योग्यमिदमेव फलम्, 'अत्यन्तनिन्दितैर्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजेत्' इति वाक्यात्। अनुगृह्णाति—स्यातां नैवमित्यादिना। मत्प्रसादेन यथा पुनरेवं मदान्धौ न स्याताम्। ननु 'स्थावरत्वे कथं न अन्धत्वम् ? तमोऽधिकत्वात्' इत्याशङ्क्याह—तत्रेति। तत्र स्थावरत्वेऽपि मदनुग्रहात् स्मृतिः स्वापराधस्मरणपूर्वकं विवेकः स्यात् ॥ २१ ॥ ततश्च दिव्यशरच्छते वृत्ते देवानां संवत्सरशते अतीते सति वासुदेवस्य वसुदेवनन्दनस्य श्रीकृष्णस्य सान्निध्यं लब्ध्वा, ततश्च पुनः स्वर्लोकतां देवत्वं नलकूबरमणिग्रीवस्वरूपं च लब्ध्वा तस्मिन् भगवति लब्धा भक्तिर्याभ्यां तथाभूतौ भविष्यतः ॥ २२ ॥ स देवर्षिरेवमुक्त्वा भगवतो नारायणस्याश्रमं गतः। नलकूबरमणिग्रीवौ तु यमलावेकत्र सहोत्पन्नौ अर्जुनवृक्षौ बभूवतुः॥ आसतुः ॥ २३ ॥ एवं राज्ञा पृष्टं शापकारणमुक्त्वा प्रस्तुतमाह– ऋषेरिति। ऋषेर्नारदस्य वचः सत्यं कर्तुं हरिः उलूखले निबद्धः कृष्णो, यत्र यमलार्जुनावास्तां तत्र शनैर्जगामेत्यन्वयः। तद्वचसः सत्यकरणे हेतुमाह—भागवतमुख्यस्येति। अत्राक्षराधिक्यमार्षम् ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

या च दरिद्रस्य सर्वानर्थमूलं तृष्णा भवति तस्या अपि प्रतीकारसंभवमाह—दरिद्रस्यैति। समदर्शिनः साधवः दरिद्रेणैव। तृतीयार्थे षष्ठी। युज्यन्ते यत्नं विनैव संगच्छन्ते ननु मदान्धेन धनिना इति ततश्च सद्भिः सङ्गतः स दरिद्रः तं तर्षमन्नादितृष्णां क्षिणोति त्यजति। ततश्च आरात् शीघ्रं विशुद्ध्यति मोक्षयोग्यो भवति ॥ १७ ॥ ननु साधुभिरपि योगक्षेमार्थं धनिनः सेव्या एवेत्यत आह—साधूनामिति ॥ समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणां साधूनाम् उपेक्ष्यैः उपेक्षायोग्यैः धनेन स्तम्भो

गर्वो येषां तैः असतो विषयानाश्रयन्ति तैर्विषयासक्तैः असद्भिः असाधुभिः किं प्रयोजनं न किमपि ॥ १८ ॥ तदहमिति ॥ तत्तस्मात् असतो मदनाशस्यैव पुरुषार्थहेतुत्वात् श्रीमदेनान्धयोर्विवेकचक्षुःशून्ययोः माध्व्या मधुमय्या "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्व-माध्वी" इति छान्दसो निपातः। वारुण्या सुरया मत्तयोः स्त्रैणयोः अजितात्मनोः अनयोस्तमोमदमज्ञानकृतं मदं हरिष्यामि ॥१९॥ यदिमाविति द्वयम् ॥ यत् यस्मात् इमौ नलकूवरमणिग्रीवौ लोकपालस्य कुबेरस्य महः पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ अज्ञानव्याप्तौ अतएव सुष्ठु दुष्टः अत्यन्तदुष्टो मदो ययोस्तथाभूतौ च सन्तौ आत्मानं विवाससं वस्त्ररहितं न विजानीतः। शपति। अत इति। अतस्तस्मात् स्थावरतां वृक्षतामर्हतः। निरावरणयोः स्तब्धयोरत्रुवाणयोर्वृक्षतैव योग्येति भावः। अनुगृह्णाति मत्प्रसादेन यथा पुनरेवं मदान्धौ न स्यातां तथा तत्र स्थावरत्वेऽपि मदनुग्रहात् स्मृतिः स्वापराधस्मरणपूर्वकं विवेकः स्यात् ॥ २०–२१ ॥ वासुदेवस्येति। ततश्च दिव्यशरच्छते वृत्ते देवानां संवत्सरशते अतीते सति वासुदेवस्य श्रीकृष्णस्य सान्निध्यं लब्ध्वा ततश्च भूयः पुनः स्वर्लोकतां देवत्वं नलकूबरमणिग्रीवस्वरूपं च लब्ध्वा तस्मिन्भगवति लब्धा भक्तिर्याभ्यां तथाभूतौ भविष्यतः। केचित्तु लब्धभक्ती सन्तौ स्वर्लोकतां भविष्यतः प्राप्स्यतः "भू प्राप्तौ" परस्मैपदमार्षमित्याहुः ॥ २२ ॥ एवमिति ॥ स देवर्षिरेव-मुक्त्वा भगवतो नारायणस्याश्रमं गतः। नलकूबरमणिग्रीवौ तु यमलावेकत्र सहोत्पन्नौ अर्जुनवृक्षौ व्रजे आसतुः दिदीपाते ॥२३॥ ऋषेरिति ॥ भागवतेषु मुख्यस्य ऋषेर्नारदस्य। अक्षराधिक्यं सोढव्यम्। वचः सत्यं कर्तुं हरिः उलूखले निबद्धः कृष्णो यत्र यमलार्जुनावास्तां तत्र शनकैर्जगाम। शनकैरिति मातुरागमनशङ्कया तत उलूखलपतनाभावश्च ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

दरिद्रस्य दरिद्रिणा कर्त्रा एव समदर्शिनः समं शत्रुमित्रधनिदरिद्रिषु तुल्यं पश्यंति तथाभूताः साधवः युज्यंते स्वयमेव प्राप्यंते सद्भिः तं तर्षं साधुसमागमैस्तां तृष्णां क्षिणोति नाशयति सदरिद्रिस्ततस्तदनंतरं आरात् शीघ्रं ॥ १७ ॥ ननु साधूनां धनाढ्यो रुचिजनक इति चेत्तत्राह धनेन स्तंभो गर्वो येषां तैः अत उपेक्ष्यैः अस्पृहणीयैः असदाश्रयैः स असतामसत्पुरुषाणाम सदाचरणानामाश्रय आधारो येषां तैः सह साधूनां किं प्रयोजनम् ॥ १८ ॥ वारुण्या मदिरया मत्तयोः तमोमदं अज्ञानजनितं मदम् ॥१९॥ यद्यस्मात् लोकपालस्य कूबेरस्य पुत्रौ भूत्वा तमसाऽज्ञानेन प्लुतौ व्याप्तौ विवाससं वस्त्ररहितमात्मानं देह (?) ॥२०॥ अनुग्रहरूपं ददातीत्याह अत इति द्वाभ्यां अतः कारणात्तौ स्थावरतां वृक्षत्वमर्हतः प्राप्तुं योग्यौ भवतः यथा मदोन्नतौ स्तः एवं पुनः नैव स्यातां तत्रापि स्थावरत्वेपि मत्प्रसादेन स्मृतिः नारदेन मह्यं शापो दत्त इति स्मरणं स्यात् ॥ २१ ॥ दिव्यशरच्छते वृत्ते देवानां शतवर्षे गते सति मदनुग्रहात् हरेः सान्निध्यं सामीप्यं लब्ध्वा पुनः स्वर्लोकतां देवत्वं प्राप्य भूयो लब्धा भक्तिर्याभ्यां तौ युवां भविष्यथः ॥ २२ ॥ यमलार्ज्जुनौ युगलौ अर्ज्जुनवृक्षौ आसतुरभवताम् ॥ २३–२४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ततः किमित्यत्राह ॥ दरिद्रस्येति ॥ दरिद्रस्य उक्तविधदरिद्रजनस्यैव, समदर्शिनः साधवः, युज्यन्ते संगता भवन्ति हि। ननु परिशुद्धेन्द्रियस्यापि विषयतृष्णानपायात् श्रीमदान्धात् को विशेषः इत्यत्राह। सद्भिः संगतैः साधुभिर्हेतुभिः, सः तं तर्षं तां विषयतृष्णामित्यर्थः। क्षिणोति क्षपयति। तत्तर्षमिति पाठे, सद्भिर्हेतुभिः, तत्तर्षं कर्तृ, क्षिणोति नश्यति। ततस्तर्ष-क्षयात्, आरात् समनन्तरमेव, विशुद्ध्यति ॥ १७ ॥ ननु साधूनामपि धनिकः प्रियः स्यान्न दरिद्र इत्यत्राह ॥ साधूनामिति ॥ धनेन स्तम्भो येषां तैः, असदाश्रयैः सदाश्रयरहितैः, साधुसमागरहितैरित्यर्थः। अत एव, उपेक्ष्यैरुपेक्षणार्हैः असद्भिः धनमानात् केवलासद्भाववद्भिर्धनिकजनैरित्यर्थः। समचित्तानां, मुकुन्दचरणैषिणां, साधूनां किं, किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १८ ॥ तदिति ॥ तत्तस्मात्, श्रीमदनिवृत्तेरेव पुरुषार्थपर्यवसायित्वादित्यर्थः। माध्व्या मधुकृतया, वारुण्या सुरया, मत्तयोः, श्रीमदान्धयोः, अजितात्मनोरजितेन्द्रिययोः, स्त्रैणयोः स्त्रीवश्ययोः, अनयोः, तमोमदमज्ञानकृतं मदं, अहं हरिष्यामि सम्यगपनयामीत्यर्थः॥१९॥ यदिति ॥ यद्यस्मात्, इमौ, लोकपालस्य कुबेरस्य पुत्रौ भूत्वा, तमःप्लुतौ तमसा व्याप्तौ, सुदुर्मदौ सन्तौ, विवाससं नग्नं, आत्मानं स्वदेहं, न विजानीतः ॥ २० ॥ अत इति ॥ अतः स्थावरतां अर्हतः। विवाससमात्मानमजानतोर्वस्त्राच्छादनरहितं तरुजन्म युक्तमिति भावः। इत्थं शप्त्वाऽनुगृह्णाति, स्यातामित्यादिना। एवं, यथा पुनः न स्याताम्। एवमेवैतौ सर्वदा स्थावरा-कृती यथा पुनः न स्यातां, तथा स्थावरतामर्हत इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणाप्यनुगृह्णाति। तत्रापि स्थावरत्वेऽपि, मत्प्रसादेन हेतुना, स्मृतिः पूर्वजन्मस्मृतिः, स्यात् ॥ २१ ॥ वासुदेवस्येति ॥ तथा मदनुग्रहाद्धेतोः, दिव्यशरच्छते वृत्ते, देवानां शतवर्षान्ते इत्यर्थः। वासुदेवस्य वसुदेवसूनोर्भगवतः श्रीकृष्णस्य, सांनिध्यं संनिधिभावं लब्ध्वा, भूयः पुनः स्वर्लोकतां देवत्वं च लब्ध्वा, लब्धा वासुदेवे प्राप्ता भक्तिर्याभ्यां तौ तथाभूतौ, भविष्यथः। इति द्वयोरेकान्वयः ॥ २२ ॥ एवमिति ॥ देवर्षिः स नारदः, एवं उक्त्वा, अनुग्रहयुक्तं शापं दत्त्वेत्यर्थः। नारायणाश्रमं विशालां, गतः। नलकूबरमणिग्रीवौ, यमलार्जुनौ सहजातावर्जुनवृक्षौ, आसतुः बभूवतुः ॥ २३ ॥ ऋषेरिति ॥ भागवतमुख्यस्य भगवद्भक्तेषु मुख्यस्य, ऋषेर्नारदस्य वचः, सत्यं कर्त्तुं, हरिः श्रीकृष्णः, शनकैः, उलूखलं कर्षन्निति शेषः। यत्र यमलार्जुनौ युगलतया जातावर्जुनद्रुमौ, आस्तां स्थितौ भवतः, तत्र जगाम ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

साधूनामिति : १०. १०. १८.

युक्तैव हि धनोपेक्षा मुकुन्दपदसेविनाम् । निधौ लब्धे निरवधौ कः सुधीरल्पदृग्भवेत् ॥ २५ ॥

तदहमिति : १०. १०. १९.

सम्पत्काममदावलम्बनमिदं कं वा न विभ्रंशयेद्दुत्कृष्टान्वयशालिनं निजपदात्सद्योऽनवद्यादपि ।
एकस्तत्र विशेष एष सुमती रुष्टोऽपि तुष्टोऽपि तत् कर्मावेक्ष्य तदीयमेव कुशलं शापाद्वराद्वेच्छति ॥ २६ ॥

यदिमाविति : १०. १०. २०.

निवारणमात्मानं वीक्षते नापरोक्षकम् । तत्किन्नराविमौ मूर्खौ स्थावरावेव मन्महे ॥ २७ ॥

वासुदेवस्येति : १०. १०. २२.

उपास्यरूपात्मकता यदा च्युता तदैव लभ्या पुनरात्मनः स्थितिः ।
युक्तं मुनिर्वाचमुवाच तादृशस्थितिं तयोः स्थाणुपदैकसेविनोः ॥ २८ ॥

पुत्राविमौ धनपतेरिति नित्यसम्पच्छोभाऽनयोः समुचिता न मदस्ततोऽसौ ।
हर्तव्य इत्यति विविक्तमतिर्मुनीन्द्रो युक्तं निनाय तरुजन्म सुपत्रशोभम् ॥ २९ ॥

यत्तपोभिरपि दुष्करैरिहाऽलभ्यमभ्युदित-सद्वरैरपि । शापलभ्यमिह तत्कथं भवेत् स्थाणुतामिति न तौ निनाय सः ॥ ३० ॥

शापो नाभिनवो दत्तो रुष्टेन मुनिना तयोः । यत्सदा शापता जागर्त्यलमुन्मादकारिणी ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वेति : १०. १०. २३.

कोपोऽथवा तदुदिताघफलाश्रितोऽन्यः कार्यो न जातुचिदिति स्फुट आर्षमार्गः ।
क्वापि च्युतो यदि तदा तदघापनुत्यै नारायणेक्षणमिति क्षममेनमागात् ॥ ३२ ॥

उक्तं मया यदिदमस्य पुरो यथार्थभावो न तादृशतपोविधिमन्तरा स्यात् ।
आलोच्य विच्युत-विकल्पन-मच्युतांश नारायणाश्रममसौ यदगात् तदीड्यम् ॥ ३३ ॥

आलक्ष्य सञ्चित वसुव्ययमत्र लोकस्तत्सङ्ग्रहाय यतते पुनराप्तसङ्गात् ।
तच्छापतो निजतपोविलयं विभाव्य युक्तं पुनः स तदुपार्जनधीस्तमागात् ॥ ३४ ॥

प्राग्वासना दृढतरा भवतीह यादृक् स्यादन्यजन्मनि तथा फलभागवश्यम् ।
प्रागङ्गनाश्रितमती यदिमौ तरू तौ भूयोऽङ्गनाश्रितगती च तदापि जातौ ॥ ३५ ॥

कृष्णप्रिया

दरिद्रजन को समदर्शी साधुजनों की सङ्गति अपने आप मिल जाती है, सत्पुरुषों के समागम से विषयतृष्णा नष्ट हो जाती है, फलतः अन्तःकरण अविलम्ब निर्मल बन जाता है ॥ १७ ॥ जो सदाचारी हैं, सबके हितकारी हैं, सबके लिये समान मनवाले हैं, जो मुकुन्द भगवान के चरणारविन्दों की सेवा की अभिलाषा का सेवन करने वाले हैं उन्हें धनके मदसे मतवाले, दुर्गुणी और दुराचारियों को आश्रय देने वाले दुर्जनों से क्या मतलब है, वे तो सदा उपेक्षा करने योग्य हैं ॥ १८ ॥ जब ये दोनों, धन मद से अन्धे एवं मधुमयी मदिरा के पान से मतवाले बने हुए स्त्रीलम्पट और असंयमी इन दोनों के मोह-जनित मद को मैं चूर-चूर कर दूँ ॥ १९ ॥ कितनी असभ्यता ? ये दोनों लोकपाल भक्तराज कुबेर के आत्मज होकर भी मोह तमस् अज्ञान में इतने डूबे हुए है कि इन दुर्मदों को अपनी नंग धड़ङ्ग अवस्था की भी सुध नहीं है ॥ २० ॥ इसलिये अब ये दोनों स्थावर पेड़ योनि में जाने के योग्य है ताकि ऐसा पुनः प्रमाद न करने पावे, वृक्षयोनि प्राप्त करने पर भी मेरी कृपा से इन बातों का स्वस्वरूप का एवं भगवान का स्मरण बना रहेगा—और मेरे अनुग्रह से देवताओं के सो शारद वर्ष बीत जानेपर श्री वासुदेव भगवान का दर्शन स्पर्श आदि सान्निध्य से पुनः देवलोक में देवविग्रह की प्राप्ति होगी और भगवान् के अनन्य भक्त बन जायेंगे ॥२१-२२॥ **श्री शुकाचार्यजी ने कहा** – राजन् ! इस प्रकार शाप देकर देवर्षि नारदजी श्रीनर-नारायण भगवान के तपोवन बदरिकाश्रम चले गये इधर नलकूबर और मणिग्रीव ये दोनों एक साथ उत्पन्न अर्जुन वृक्ष बन गये ॥ २३ ॥ भगवान के अनन्य भक्त परम भागवत देवर्षि श्रीनारदजी के वचनों को सत्य करने के लिये भगवान् बालकृष्ण धीरे धीरे वहाँ जा पहुँचे जहाँ वे दो यमलार्जुन वृक्ष थे ॥ २४ ॥

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ । तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना ॥ २५ ॥
इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ । आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥ २६ ॥
बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं[1] तद् दामोदरेण [2]तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः [3]परमविक्रमितातिवेप[4]स्कन्धप्रवालविटपौ[5] कृतचण्डशब्दौ ॥ २७ ॥
तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव [6]जातवेदाः ।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म ॥ २८ ॥

कर्दसक्षमा

अन्वयः—देवर्षिः मे प्रियतमः यद् इमौ धनदात्मजौ तत् तन्महात्मना यद् गीतं तथा तत साधयिष्यामि ॥ २५ ॥ कृष्णः तु इति यमयोः अर्जुनयोः अन्तरेण ययौ आत्मनिर्वेशमात्रेण उलूखलम् तिर्यग् गतम् ॥ २६ ॥ बालेन दामोदरेण तरसा तद् उलूखलं अन्वक् निष्कर्षयता उत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ निष्पेततुः ॥२७॥ तत्र कुजयोः जातवेदाः इव सिद्धौ उपेत्य परमया श्रिया ककुभः स्फुरन्तौ अखिललोकनाथं कृष्णं शिरसा प्रणम्य विरजसौ बद्धाञ्जली इदं ऊचतुः स्म ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किमिति सत्यं कर्तव्यं तत्राह । देवर्षिरिति । यद्यतः तत्ततः ॥ २५ ॥ यमयोर्यमलयोः सहजातयोः । आत्मनः कृष्णस्य तन्मध्ये प्रवेशमात्रेण ॥२६॥ अनु अंचतीत्यन्वक् । तत्र हेतुः । दामोदरेणेति । उत्कलित उत्पाटितोंघ्रिबंधो मूलबंधो ययोस्तौ । परमस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमितं विक्रमस्तेनातिवेपः कंपो येषु ते स्कंधप्रवालविटपा ययोस्तौ ॥ २७ ॥ ककुभः प्रति सर्वतः स्फुरंतावित्यर्थः । यद्वा दिशः प्रकाशयंताविति । तत्र कुजयोर्वृक्षयोः स्थितोऽग्निर्यथा मूर्तिमानुपैति तथोपेत्य । विरजसौ निर्गतमदौ निरहंकारिणौ नष्टगर्वाविति यावत् ॥ २८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

वचःसत्यकरणे हेतुमाशंकते—किमितीति । महात्मना नारदेन यद्यथा गीतं तत्तथा साधयिष्यामीति ॥ २५ ॥ अंतरेण मध्ये । सप्तम्यर्थे एनच् । तिर्यक् तिरश्चीनं गतं जातम् ॥ २६ ॥ तत्स्वस्मिन्बद्धमुलूखलम् । निष्कर्षताऽऽकृष्टवता । बालेन यमलार्जुनौ निष्पेततुः । अनुरत्र वीप्सितोऽस्ति पश्चादर्थे अन्वक् पृष्ठगामि । तत्र पृष्ठगामित्वे न हि बद्धोदरपाशबद्धवस्त्वग्रतश्चलत्यसंभवादिति भावः । परमस्य ब्रह्मादिध्येयस्य हरेः । स्कंधप्रवालविटपाः स्कंधो महाशाखाश्रयः । प्रवालानि पत्राणि । विटपोऽल्पशाखाश्रयस्तर्ववयवः । चंडशब्दो भयंकरशब्दः ॥ २७ ॥ तत्र तदा पतनानंतरमिति यावत् । ककुभः सर्वा दिशः । 'प्रतिर्द्वितीयया' इति प्रतिशब्द उपतिष्ठते तृतीयया सहशब्दवत् । स्फुरंतौ देदीप्यमानौ गच्छन्तौ वा इत्यर्थ इति । इहाध्याहृतप्रतियोगे कर्मप्रवचनीयत्वेन द्वितीया । अध्याहारे श्रमं विमृश्यार्थांतरमाह–यद्वेति । निर्मदौ शापक्षयादुगतरजस्त्वेन सात्त्विकौ । इदं वक्ष्यमाणम् ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यत् यस्मात् देवर्षिमे प्रियतमस्तत्तस्मात् तेन महात्मना महानुभावेन यद्यथा गीतं तथा तेन प्रकारेणेमौ धनदात्मजौ साधयिष्यामि स्थावरयोनेरुद्धृस्य पुनः स्वर्गं दत्त्वा परमभक्तिमन्तौ करिष्यामीत्यर्थः ॥ २५ ॥ इति अस्माद्धेतोः कृतमहदपराधयोर्मद्बाल्यलीलाक्रीडनकताप्राप्त्यैव तादृशत्वं स्यादिति विचार्येत्यर्थः । तिर्यग्गतं श्रीभगवदभिप्रायानुसारेण तिर्यक्त्वं प्राप्तमित्यर्थः "तिर्यक् वक्रे तिरोर्थे च" इति विश्वः । अत्र मात्रपदेन यत्नं विनेति ध्वन्यते गतमिति तस्यैव कर्त्तृत्वं इति तस्य सचेतनत्वमिव सूचितं तच्च लीलाशक्तेः स्वयं सर्वसम्पादकत्वेन यथा हरिवंशे "तद्दाम तस्य बालस्य प्रभावादभवद्दृढम्" इति पाद्मे "नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने" इति ॥ २६ ॥ तत्तिर्यग्गतया तयोर्लग्नं निःशेषेण कर्षता आकर्षता दामोदरेण कर्त्रा उत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ सन्तौ तरसा वेगेन निश्शेषं पेततुः कथं तदाह—परमेत्यादि । विटपा अत्र शाखाः "विटपः पल्लवे षिङ्गे विस्तारे गुल्मशाखयोः" इति विश्वः । अन्यत्तैः यद्वा, परमिति छेदः दामोदरेणैव यत् अविक्रमितं विक्रमसदृशीकृतं तेनातिवेप

१. ता उदूखलं–गो. प्रे. टी. ; निष्कृष्टमुलूखलं–विज. । २. बलितो–गो. प्रे. टी. । ३. पवनविक्रमिता–विज. । ४. तिवेल–विज. । ५ विटपैः–विज. । ६ जातवेदौ–विज. ।

इत्यादिः परं केवलं स्वयमेव निपेततुः न तु पूतनावत् किञ्चिदपातयतामित्यर्थः, बालेनेति। बलाप्रकटानादिना बाल्यलीलाया अव्यभिचारः दामोदरेणेति तस्मादेव माधुर्य्यं उत्कलितेत्यादिना चैश्वर्यं सूचितम् एवं पूर्ववन्मधुरं भगवत्ताप्रकटनमूह्यम् अत्र च नामकरणं हरिवंशे "स च तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै दामबन्धनात्। गोष्ठे दामोदर इति गोपीभिः परिगीयते" इति॥ २७॥ तत्र तयोर्वृक्षयोः स्थितौ सिद्धौ देवावित्यर्थः। अतः सर्वा दिशः स्फुरन्तौ द्वितीयया प्रतिशब्दो लभ्यते तृतीयया सह शब्दवत् पक्षे अन्तर्भूतण्यन्तमिदं शोभयन्तावित्यर्थः। यद्वा कुजयोः ककुभः दिग्भागात्तदन्तिके उपेत्य मिथो ज्योतिर्मिलनादेकजातवेदा इव स्फुरन्तौ शिरसैव प्रकर्षेण नत्वेति दण्डप्रणामे शीघ्रं श्रीमुखादिसन्दर्शनासिद्धेः कृष्णमिति तदानीमप्युलूखलाकर्षणाभिप्रायेण ननु, दामोदरत्वेनात्यन्तबाल्यलीला परं बालकं कथं प्रणतवन्तौ तत्राह—अखिलेति। तदैश्वर्यस्वभावात् तत्र च श्रीनारदानुग्रहेण तद्विज्ञानोत्पत्तेरिति भावः। यद्वा, ननु तादृशकृतापराधौ श्रीनारदप्रसादेन स्मृततद्वृत्तौ च कथं लज्जादिकं विहाय श्रीभगवत्पार्श्वोपगमनादिकमकुर्वतां तत्राह—अखिलेति। अनन्यगतित्वादित्यर्थः। विरजसौ विगतापराधौ सन्तावित्यर्थः। स्म विस्मये महापराधिनोरपि सद्यस्तादृशत्वसिद्धेः॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यद्यथा गीतं तेन महात्मना महानात्मा स्वभावो मद्भक्तिविस्तारेण-लक्षणो यस्य तेन। अयं प्रियतमत्वे हेतुः तथेमौ साधयिष्यामि सम्पादयिष्यामि, स्थावरयोनेरूर्द्ध्वं परमभक्तिमन्तौ करिष्यामीत्यर्थः, लब्धभक्ती भविष्यत इति तद्दानात्॥ २५॥ इत्यस्माद्धेतोः कृतमहापराधयोरेतयोर्मदे तदद्भुतबाल्यलीलासम्पर्केणैव तत्पापक्षयो भक्तिलब्धिः स्यान्न चान्यथेति विचार्य्येत्यर्थः। तिर्य्यग्गतं श्रीभगवदभिप्रायानुसारेण तिर्य्यक्त्वं प्राप्तमित्यर्थः। यद्वा, तिर्य्यक् यथा स्यातथा चलितम्—'तिर्यग्वक्रेऽतिरोऽर्थे च' इति विश्वः। भूतमिति क्वचित् पाठ इति तस्य सचेतनत्वमिव सूचितम्; तच्च श्रीभगवत्सम्बन्धेन, किंवा तत्क्रोडोपकरणानामपि सच्चिदानन्दरूपत्वेन, एवं दाम्नोऽप्यूह्यम्, अन्यथा सच्चिदानन्दघनेन श्रीभगवता सह तयोस्तादृशसंयोगासम्भवात्। अत एव पाद्मे श्रीदामोदराष्टके—'नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने' इति; श्रीहरिवंशेऽपि (विष्णुः प० ७।१९) तद्दाम तस्य बालस्य प्रभावादभवद्दृढम्' इति। इत्थमुलूखलभंगदामत्रोटनादिशंका च स्वत एव परिहृता स्यात्॥ २६॥ तत्तिर्यग्गत्या तयोर्लग्नं निःशेषेण कर्षयताकर्षता दामोरेण कर्त्रा कलिताङ्घ्रिबन्धौ तरसा वेगेन निःशेषं पेततुः। कथम्? तदाह—परमेत्यादि। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, दामोदरेण हेतुना भूमिनिर्गताङ्घ्रिबन्धौ, अतो दामोदरस्याविक्रमितेन विक्रमाप्रकटनेनापि। किंवा तेनाविक्रमितौ विक्रममप्रापितावपि; किंवा न विद्यते विक्रमितं विक्रमो ययोर्विषये तथाभूतापि महाकम्पयुक्त स्कन्ध प्रवाल विटपौ कृतचण्डशब्दौ च सन्तौ परं केवलं स्वयमेव निष्पेततुर्ण तु पूतनावदन्यं कञ्चित् पातयामासतुरित्यर्थः। बालेनेति बलाप्रकटनादिना बाल्यलीलाया अव्यभिचारः, दामोदरेणेति तस्यामेव माधुर्य्यमुत्कलितेत्यादिना चैश्वर्य्यम्; एवं पूर्ववद्भगवत्ता विशेषप्रकटनमुह्यम्॥ २७॥ तत्र तयोर्वृक्षयोः स्थितौ सिद्धौ देवावित्यर्थः। किंवा शापान्मुक्तौ सफलजन्मानौ वा सन्तौ, अतः सर्वा दिशः स्फुरन्तौ, अन्तर्भूत-ण्यन्तमिदम्, शोभयन्तावित्यर्थः। यद्वा, कुजयोः ककुभो दिग्भागात्तदन्तिके उपेत्य मिथो ज्योतिर्मिलनादेकजातवेदा इव स्फुरन्तौ। शिरसैव प्रकर्षेण नत्वेति दण्डप्रणामे श्रीमुखादिसन्दर्शनासिद्धेः कृष्णमिति तदानीमप्युलूखलाकर्षणमभिप्रायेण। ननु दामोदरत्वेनात्यन्तबाल्यलीलापरं बालकं तौ कथं प्रणतवन्तौ? तत्राह—अखिललोकानां नाथमीश्वरम्, तदैश्वर्य्यप्रभावात्तत्र च श्रीनारदानुग्रहेण तद्विज्ञानोत्पत्तेरिति भावः। ननु कृततादृशापराधौ श्रीनारदप्रसादेन स्मृततद्वृत्तौ च कथं लज्जादिकं विहाय श्रीभगवत्पार्श्वोपगमनादिकमकुर्वाताम्? तत्राह—अखिलेत्यनन्यगतित्वादित्यर्थः। विरजसाविति प्राक् तमःप्लुतावप्यधुना श्रीभगवत्स्पर्शादिना श्रीनारदानुग्रहेणैव वा विगत श्रीमदहेतुरजोगुणावेव सन्तावित्यर्थः। स्म विस्मये, महापराधिनोरपि सद्यस्तादृशत्वसिद्धेः॥ २८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

इमौ धनदात्मजौ प्रति यत् तन्महर्षिणा गीतं तत्तथेत्यन्वयः॥ २५॥ अन्तरे मध्यभागे उलूखलं तिर्यग्गतं यथा भवति तथा ययौ॥ २६॥ उलूखलं निष्कर्षयता आकर्षयता दामोदरेण उत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ उन्मूलितमूलभागौ पवनविक्रमितातिवेपादिति पवनतुल्यपराक्रमवशात् जातकम्पाः स्कन्धाः प्रवालानि ययोस्तौ तादृशस्कन्धान्मर्दयन्तावित्यर्थः॥ २७॥ स्फुरन्तौ स्फोरयन्तौ कुजयोः वृक्षयोः॥ २८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तद्वचः सत्यं कर्तुमित्येतदेव प्रपञ्चयति—देवर्षिरिति द्वाभ्याम्। यत् यतो देवर्षिः नारदः मम प्रियतमः तस्मात्तेन महात्मना धनदात्मजावुद्दिश्य यद्गीतं तत्तथैव साधयिष्यामि करिष्यामि॥ २५॥ इत्यभिप्रायेण यमयोरर्जुनयोरन्तरेण मध्ये ययौ तदा आत्मनः स्वस्य कृष्णस्य प्रवेशमात्रेण उलूखलं तिर्यक् पतितमभूत्॥ २६॥ अन्वञ्चतीत्यन्वक् अनुसरत्तमुलूखलं

निष्कर्षयता आकर्षता दामोदरेण हेतुना तरसा बलादुत्कलितावुत्पाटितावङ्घ्रिबन्धौ मूलभागौ ययोः परमस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमितेनातिवेपः कम्पो येषु ते स्कन्धादयो ययोः कृतश्चण्डः शब्दो याभ्यां तथाभूतौ निष्पेततुः ॥२७॥ तत्र तदा तयोर्वृक्षयोर्वा परमया श्रिया शोभया ककुभो दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ कुजयोर्वृक्षयोः स्थितोऽग्निर्यथा मूर्तिमान् बहिरुद्गच्छति तद्वदुत्थितौ सिद्धौ भूत्वा उपेत्य श्रीकृष्णसमीपमेत्य कुजयोर्जातवेदा इव सिद्धावुपेत्य उत्थायेति वा अखिललोकानां नाथमीश्वरं श्रीकृष्णं शिरसा प्रणम्य बद्धोऽञ्जलिर्याभ्यां विगतं रजः रजोगुणकार्यं ययोस्तौ सात्त्विकावित्यर्थः । निर्मलाविति वा तौ नलकूबरमणिग्रीवाविदं वक्ष्यमाणमूचतुः ॥ २८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अन्तरेण मध्ये आत्मनिर्वेशमात्रेण आत्मनः सान्निध्यमात्रेण वा तिर्यग्गतं तिरश्चीनम् ॥ २६ ॥ यदा बालेन दामोदरेण तदुलूखलं निष्कृष्टमाकृष्टं तदा तावर्जुनौ निष्पेततुः कीदृशौ उत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ उन्मूलितमूलौ पवनस्य तदानीमुद्भूतवायोर्विक्रमितेन पराक्रमेणातिवेलैः वेलां सीमानमतिक्रान्तैः स्कन्धैः प्रवालैर्विटपैः "अति स्यादधिकार्थोक्तौ प्रशंसायामतिक्रमे" इति ॥ २७ ॥ तत्र तस्यामवस्थायां कुजयोर्वृक्षयोः जातवेदौ अग्नी इव उपेत्य अभिव्यज्य विरजसौ शापमोक्षेण सत्त्वस्वभावमाप्तौ बद्धाञ्जली सिद्धौ यक्षौ शिरसाऽखिललोकनाथं कृष्णं प्रणम्य इदं वक्ष्यमाणमूचतुः स्म गुणस्मरणपूर्वकमुक्तवन्तावित्यन्वयः । स्मृतौ वृत्तनिषेधे स्मेति च ककुभो दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यत् देवर्षिर्मे प्रियतमः तत्तस्मादिमौ धनदात्मजौ तथा साधयिष्यामि यत् यथा तेन महात्मना गीतमित्यन्वयः ॥२५॥ आत्मनिर्वेशमात्रेण अयत्नेनापीत्यर्थः । तेन चोलूखलस्य तिर्यग्गत्या लीलाशक्तेः प्रभूता दर्शिता एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ २६ ॥ परमविक्रममिति पततोस्तयोरेव महामर्दस्तेनेत्यादि ॥ २७ ॥ कुजयोः ककुभः सकाशात् उपेत्य स्फुरन्तौ सम्भ्रमेण कम्पमानौद्वयोस्त्विषा परस्परमिलितत्वात् एकीभूयाग्निरिवोपेत्य त्वत्प्रेक्षणं तन्महिमपरिपाटीमारभते ॥ २८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

यद्यस्माद्देवर्षिर्मे प्रियतमस्तस्मादिमौ तथा साधयिष्यामि यद्यथा तेन महात्मना गीतमित्यन्वयः ॥ २५ ॥ इति विचार्य्य यमयोः सहजातयोर्द्वयोरन्तरेण मध्ये ययौ ततश्च आत्मनः प्रवेशमात्रेण उलूखलं तिर्य्यग्गतं तिरश्चीनमभूत् ॥ २६ ॥ तत्तिरश्चीनमेवोलूखलम् अन्वक् स्वानुकूलं यथा स्यात्तथा निःशेषेण कर्षता बालेन उत्कलित उत्पाटितोऽङ्घ्रिबन्धो ययोस्तौ परमविक्रमितेन अतिबलेनाकर्षणेनातिवेपा अतिकंपमानाः स्कन्धादयो ययोस्तौ दामोदरेणेति "स च तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै दामबन्धनात् । गोष्ठे दामोदर इति गोपीभिः परिगीयते" इति हरिवंशोक्ता प्रसिद्धिः स्मारिता ॥ २७ ॥ ककुभो व्याप्य स्फुरन्तौ कुजयोर्वृक्षयोः जातवेदा अग्निः मिथो ज्योतिर्मिलनादेक एव जातवेदा इव स्फुरन्तावित्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदेव श्रीमुखोक्त्या प्रपञ्चयति—देवर्षिरिति । यत् यतो देवर्षिर्मे प्रियतमस्तत् ततः इमौ उद्दिश्य यन्महात्मना गीतं तत्तथा साधयिष्यामीत्यन्वयः ॥ २५ ॥ इति एवं विचार्य यमयोः युगलयोरन्तरेण मध्ये ययौ तदा आत्मनः परमात्मनो निर्वेशमात्रेण प्रवेशमात्रेण उलूखलं तिर्यग्गतं प्राप्तमभूत् ॥ २६ ॥ तत्तदा अन्वक्चति अन्वनुगच्छतीत्यन्वक् उलूखलं निष्कर्षयता दामोदरेण बालेन हेतुना उत्कलित उत्पाटितोऽङ्घ्रिबन्धो मूलबन्धो ययोस्तौ परमस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमितेन विक्रमेण अतिवेपः अतिकम्पो येषु ते स्कन्धप्रवालविटपा ययोस्तौ कृतश्चण्डशब्दो याभ्यां तौ निष्पेततुः ॥ २७ ॥ तत्र तस्मिन् समये जातवेदाः अग्निरिव ककुभो दिशः स्फुरन्तौ द्योतयन्तौ कुजयोः स्वशरीरभूतयोरर्जुनयोः निर्गम्य विरजौ विगतमदौ उपेत्य श्रीकृष्णसमीपमेत्य कृष्णं प्रणम्येदं वक्ष्यमाणं "स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन" इति श्रीनारदप्रसादेन स्मृतिं प्राप्योचतुः स्म ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

किमिति सत्यं कर्त्तव्यं तत्राह-देवर्षिरिति यस्माद्देवर्षिर्मत्प्रियतमो भवति तस्मादिमौ तथा साधयिष्यामि यद्यथा तेन महात्मना गीतम् ॥ २५ ॥ इति विचार्य कृष्णः यमयोः सहजातयोस्तयोरन्तरेण मध्ये पतत आत्मनस्तस्य निर्वेशमात्रेणोलूखलं तिर्यग्गतं तिरश्चीनमभूत् ॥ २६ ॥ तत्तिर्यग्गतमेवोलूखलम् अन्वक् स्वानुकूलं यथा स्यात्तथा निःशेषेण कर्षता बालेन दामोदरेण मात्रोदरे दाम्ना निबद्धेन तावर्जुनौ उत्कलित उत्पाटितोऽङ्घ्रिबन्धो ययोस्तादृशौ सन्तौ निष्पेततुः परमस्य तस्य विक्रमितेन बलेनातिवेपाः प्रकम्पिताः स्कन्धादयो ययोस्तौ ॥ २७ ॥ ककुभो दिशो व्याप्य स्फुरन्तौ ताः प्रकाशयन्तौ कुजयोर्वृक्षयोः स्थितौ सिद्धौ देवौ कृष्णमुपेत्य शिरसा प्रणम्येदमूचतुः विरजसौ गर्वशून्यौ जातवेदा वह्निरिव मिथो ज्योतिः सम्पर्कादेको वह्निरिति प्रतीतौ ॥ २८ ॥

श्रीपांघरीनारायणाचार्यकृतो विरोधोद्धारः

॥ हरिः ॐ ॥ तद्दामेति । अत्र द्व्यंगुलस्यैवोनत्वे किं निमित्तमित्यस्यापरिहारदर्शनाद्वक्तुरभिप्रायो व्यक्तीक्रियते । भगवद्बंधनांगीकारविषयकृपोत्पादने साधनत्रयमपेक्षितं । भक्तिर्ज्ञानं वैराग्यं चेति । तत्र यशोदाया यदि ज्ञानं स्यात्तर्हि न चांतर्न बहिर्यस्येत्यादिनोक्तस्य बंधने कथं प्रवृत्तिः स्यात् । तथा वैराग्यं यदि स्यात्तर्हि दधिभांडविध्वंसेन तद्बंधने कथं प्रवृत्तिरत उभयाभावः । भक्तिस्तु । जातयोर्नो महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ । भक्तिः स्यात्परमा लोके ययांऽजो दुस्तरं त्यजेत् । अस्त्वित्युक्त इत्यारभ्य ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने दंपत्योर्नितरामासीदित्युक्तेः । सिद्धा । अत्र द्व्यंगुलिशब्दो न केवलोन्मानार्थकः किंतु वस्तुद्वयशंसने द्व्यंगुलप्रसारणवत्संकेतेन संख्यार्थकश्च । अत एकभक्तिसद्भावेऽपि उभयोर्ज्ञानवैराग्ययोर्न्यूनतां द्योतयितुं द्व्यंगुलोनताया एव प्रदर्शनं । अत एव चतुरध्याय्यां साधनाध्याये चतुष्पादानां पृथक् पृथक् प्रमेयत्वेऽपि सद्भिर्वैराग्यभक्तिश्च श्रुतिमतिनियतध्यानजज्ञानयोगाद्रम्यमित्युक्त्या तृतीयपादोक्तोपासनाया ज्ञानकारणत्वं प्रदर्श्य वैराग्यभक्तिज्ञानानामेव त्रयाणां भगवद्रतिसाधनत्वं टीकाचार्यैः प्रतिपादितं । यद्यप्यत्र कृपाऽपरपर्यायप्रसादोत्पादकज्ञानस्य वैराग्यभक्त्युपासनहेतुकत्वमुक्तम् । तथापि कलौ मानुषलोके प्रायः स्त्रीणां वेदार्थश्रवणमननध्यानकर्मण्यधिकाराभावादुपासां विनैवात्र साधनत्रयमंगीकृतमिति बोध्यम् ॥ १५ ॥ नेममिति । विरिंचादयस्त्रयो मिलित्वा कर्तृत्वेन योजिताश्चेत्त्रयाणां नकाराणामनन्वयः । तदर्थं पृथक् पृथगन्वये क्रियाबहुवचनायोगः । अतोऽर्थांतरस्य वक्तव्यतायां केचित् लेभिर इत्यस्य लेभिरं स्यादूलूखलमिति कोशबलेनोलूखलार्थकतां कल्पयित्वा लक्षणया बंधनाधिकरणतां वदंति । तच्चिंत्यं । तत्कोशस्यैवानुपलब्धेः । अत इत्थं योजना । तत्रैवं पदच्छेदः । ना इमं विरिंचः अनभवः नश्रीः अपि अंगसंश्रया प्रसादं लेभिरे गोपी यत् तत् प्राप विमुक्तिदात् इति ॥ गोपी । यशोदा ॥ यत् । यस्मात्कारणात् ॥ इमं । स्वसंबंधानानुकूल्यरूपं ॥ प्रसादं ॥ विमुक्तिदात् । यथायोग्यविशेषसहितमुक्तिदातुः भगवतः सकाशात् ॥ प्राप ॥ तत् । तस्मात्कारणात् ॥ इमं । उक्तार्थं प्रसादं । हरिप्रीतिसाधनत्वाभावात् ॥ अपि । गर्हितं । अपि गर्हासमुच्चये इत्यभिधानात् । ना । सर्वप्रवर्तको मुख्यप्राणः ॥ विरिंचः । ब्रह्मा ॥ अनभवः । अन चेष्टायामिति धातोः । मारुत्येव यतश्चेष्टेत्युक्तेश्च । अनः प्राणः तत्पुत्रः रुद्रः । आभासकोऽस्य पवनः पवनस्य रुद्र इत्युक्तेः ॥ श्रीः । भारती लक्ष्मीर्वा । अंगसंश्रयेति विशेषणं । लिंगविपरिणामेन सर्वकर्तृषु योज्यं । उद्यद्रविप्रकरसंन्निभमच्युतांके स्वासीनमित्यादेः । ध्यायेन्निषण्णमजमच्युतांकेऽभिपद्मे इत्युक्तेः । सर्वात्मनोंऽतःकरणगिरित्रेत्युक्तेः । स्वभर्तुरंकस्थितामित्युक्त्या आश्रयते स्वभर्त्रंकमिति व्युत्पत्त्या च परंपरया भगवदाश्रितत्वात् । सरस्वती प्रादुरभूत्किलास्यत इत्युक्तेर्वा । श्रियो निवासो यस्योर इत्युक्तेश्च । एतेन लेभिरे बंधनानुकूलीकरणेच्छाभावात् । न तु यशोदायाः सकाशात् । गुणहीनत्वात् । तेषामादिसृष्टौ प्रथमोत्पन्नत्वात् । यत उक्तम् । आदिसृष्टौ पूर्वजायें तेऽधिकाः सर्वदा गुणैः । अनाद्यनंतकालेषु मुक्तावपि यथा क्रममिति निर्बंधे कृपानिमित्तायाः प्रीतिर्नीचभक्तेषु साधिका । आंतरैव तु या प्रीतिः सा तूच्चेषु यथाक्रमं । यथा कश्चित्स्वात्मानं प्रियापुत्रस्तथाऽपि वा । अतिहाय कृपायुक्तो भिक्षवेऽन्नं ददात्यऽपि । कदाचिदेव न पुनः स्वात्मादेः सार्वकालिकं योगक्षेमबहुत्वं च नित्यं स्वात्मादिषु स्फुटं । एवमेव परेशस्य भक्तेषु श्रीयजादिषु । इति प्रियविवेके च । अत एव भक्त्या भगवता स्वबंधनाय कृतमप्यानुकूल्यं प्रियकारित्वाभावात्कृष्णवियोगजन्यदुःखकारणं जातमिति भावः ॥ २० ॥

इति श्रीभागवते दशमोंऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भगवांस्तूचितैवमालोचनस्तत्र जगामेत्याह ॥ देवर्षिरिति । मे प्रियतमः इमौ धनदस्यात्मजौ च यन्नारदेन महात्मना गीतमुक्तं तथा यथार्थं साधयिष्यामीति ॥ २५ ॥ यमलयोरर्जुनयोरन्तरेण मध्येन ययौ । आत्मनः स्वस्य निर्वेशोऽत्र प्रवेशस्तन्मात्रेण केवलं तेनोलूखलं तिर्यग्गतं तिरश्चीनमभूत् ॥ २६ ॥ यदा दामोदरेण बालेन तदुलूखलं । निष्कृष्टमाकृष्टं । उत्कलिताङ्घ्रिबन्धाविति द्वन्द्वा वयि । उत्कलित उन्मूलितोऽङ्घ्रिबन्धो वेरं ययोस्तौ पवनस्य तदोदितस्य वायोर्विक्रमितेन पराक्रमेणातिवेलमतिक्रान्तमर्यादं स्कन्धप्रवालविटपाः स्कन्धाः शाखाः प्रवालाः किसलयास्तेषां विटपो विस्तारो ययोस्तौ । विटपैरित्यपि पाठः । विटपे पल्लवे रिङ्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोरिति विश्वः । कृतश्चण्डः प्रचण्डः शब्दो याभ्यां तौ । परमविक्रमितेति पाठः परमः । परमस्य परमात्मनो विक्रमितं चरणक्षेपस्तेन । अतिवेप इति पाठे वेपः कम्पो येषां ते स्कन्धादयश्च ययोस्तावित्यर्थः । निष्पेततुरिति सरसः पाठः ॥ २७ ॥ तत्र तदवस्थायां तद्वृक्षक्षितौ वा परमया श्रियाऽङ्गकान्त्या ककुभो दिशः स्फुरन्तौ स्फोरयन्तौ स्वयं ककुभवृक्षत्वेन ककुभस्फोरणं रचितुमुचितमिति ध्वन्यते । कुजयोः कौ जायत इति कुजौ भूरुहौ तयोः सकाशाज्जातवेदाविव जातवेदसावग्नी इव । आकारान्तः सान्तत्वावच्छेदेनेति मतेनादन्तः । जातवेदा इति पठित्वा कुजयोर्वृक्षयोः स्थितो जातवेदा अग्निर्मूर्तिमानुपैति तथोपेत्येति व्याकरणे कुजयोरिति न वक्तव्यं स्यात्स्याच्च कुजस्येति तथा स्फुरन्तौ सिद्धावित्यनानु

रूप्यमुपर्येव ज्ञायत इति न सरस पाठः। प्राग्विस्तृतं सान्तादन्तत्वविषयेऽनुसन्धेयं। अखिललोकनाथं कृष्णं शिरसा प्रणम्य विरजौ विगतशापोपयुक्तपापौ बद्धाञ्जली स्म। नारदोक्तस्मृतिमन्तौ। इदं वक्ष्यमाणमूचतुः। स्मृतौ वृतनिषेधे स्मेति यादवः॥२८॥

श्रीसुबोधिनी

एवं भगवत्सेवकेषु भगवत्कृपा, अतो भगवत्सेवकानुवृत्तिः कर्तव्येति गत्वा भगवान् यमलार्जुनयोर्भङ्गं करिष्यतीति तत कुतः सान्निध्यं तु वरप्राप्तं तथैव च भक्तिरपि भविष्यति सानिध्यादेवेदं शरीरं परित्यज्य नलकूबरत्वमेव प्राप्स्यतोतो भङ्गोनुचित इत्याशङ्क्य भगवतोभिप्रायमाह **देवर्षि**रिति, एकमत्र सन्दिग्धं, स्मृतिर्जाता न वेति, तदपि प्रकटीकर्तव्यममर्यादरूपं च **देवर्षि**राह **यत्** सत्त्वगुणोद्रेकेपि दुर्लभं तदतितामसे भवत्विति, ननु तन्न मिथ्यैव भवत्वविचारितवचनादित्याशङ्क्याह **मे देवर्षिः प्रियतम** इति, आर्षज्ञानमर्यादा भज्येत, नारदश्च मदीयः, यन्न मत्सेवकैः कृतं तन्न मयैव कृतमिति, तत्राप्यत्यन्तं **प्रियः** प्रीतिविषयः, **अतः** स्नेहात् सर्वमेव कर्तव्यं, अन्यथा स्नेहमर्यादापि न स्यात्, **यद** यस्मादिमौ च **धनदात्मजौ**, कुवेरोतिभक्तः, अतो मूलभावश्च शुद्धः, अतस्तावन्तमर्थं त्याजयित्वा धनदांशे भक्त्युपयोग्यंशं योजयित्वा तत्रैव स्वयं प्रविश्य शुष्कौ कृत्वा स्वाधिदैविकभावेन तद् विदीर्णं विधाय तत उद्धृत दृढभक्ती कर्तव्यौ तदा **नारदवाक्यं सत्यं** भवति, तथैवाह **साधयिष्यामि यत्** तेन **गीतं तत्** तथा, ननु किं परार्थ एतावानुद्यमः? तत्राह **महात्मनेति**, महानेव तस्यात्मा, महत्त्वं भगवत्प्रवेशात्॥ २५॥ इति विचार्य भगवानुभयोरन्तः प्रविष्ट इत्याहेत्यन्तरेणेति, **यमयोरर्जुनयोरन्तरा कृष्णो ययौ**, केवलं बहिरेव ययाविति पक्षं दूषयितुं तुशब्दः, सदानन्दरूपत्वाद् दोषो दुःखं च तयोस्तदानीमेव निवृत्तं, भगवत्सम्पृक्तं तूलूखलं दारुमयं भवतीति स्वसजातीयोद्धारार्थमात्मनो भगवतो वृक्षयोर्निर्वंशमात्रेणोलूखलं तिर्यग्भूतं जातं, ऋजुत्वे तु तदपि मध्ये निर्गच्छेत् तदा तु पुनर्भगवत्सम्बद्धं यदि सजातीयं न मोचयेत् तदा स्वस्याधिदैविकत्वं जातं व्यर्थं स्यात्॥ २६॥ एवमुलूखले तिर्यक्प्रकारेण पतिते भगवान् यत् कृतवांस्तदाह **बालेनेति**, **उलूखलं निष्कर्षता बालेन तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ निष्पेततुः**, भूमेर्भगवत्सम्बन्धादार्द्रता सात्त्विकभावात्, अतः शिथिलसर्वभागावाकर्षणोत्कलिताङ्घ्रि**बन्धौ** जातौ, **अन्वगनुकूलतयाकृष्टं** यथा भवति तथो**लूखलं** नितरां **कर्षतेति**, उलूखलाकर्षणेन तावप्याकृष्टौ, **अन्वगीपदिति** वा, **दामोदरेत्य**न्वर्थनाम, बालस्योदरेणाकर्षणमल्पमेव भवति तत्राप्युलूखलस्य स्थूलस्य, रज्जुरपि सूक्ष्मात्याकर्षेण नश्येत्, अनेनापि साक्षाद्भगवानित्युक्तं, रज्जूलूखलयोरभङ्गेऽप्यर्जुनयोर्भङ्गात्, उपपत्तिस्तु रज्जुर्भगवद्रूपेति पूर्वमुक्तं, उलूखलं त्वाधिदैविकं रूपं प्राप्तवत्, अतो युक्तमेव मूलतः पतनं, क्रियाशक्तेरल्पीयस्या अप्युद्गताया महत् कार्यं जातमित्याह **परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपाविति**, परमं विक्रमं प्रापितौ **परमविक्रमितौ** यथा **भीमेन** हनुमता वा बलाच्चाल्येत **परमविक्रमित**योरिव योय**मतिवेपः स्कन्धप्रवालविटपानां** ययोः, **स्कन्धस्य** चलनमतिकठिनं ततोऽप्यल्प**प्रवालानां** पृथक्तया चलनमत्याश्चर्यं ताभ्यां युक्तानां **विटपानां** चलनमिति, किञ्च **कृतश्चण्डः शब्दो** याभ्यां, पाते महाञ् छब्दः, आसुरभावस्य वा नाशदशायां तदभिमानिनः शब्दः, एवमसुरनाशिकाया भगवत्क्रियाशक्तेर्माहात्म्यमुक्तम्॥ २७॥ एवं तयोर्दोषपरिहारमुक्त्वा गुणमाह **तत्रे**ति, **परमया श्रिया** दश दिशः **स्फुरन्त्यो** जातास्तावपि **स्फुरन्तौ** सन्तावुपेत्येतिसम्बन्धः, अस्यैव स्फुरच्छब्दस्य विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन **दिक्**शब्देनापि सम्बन्धः, प्रकाशमानया तत्सम्बन्धिन्या वा कृत्वा तत्र देशे तयोर्वृक्षयोर्वा **स्फुरन्तौ** निर्गच्छन्तौ **श्रिया** विराजमानौ ततो निर्गतौ, **ककुभः** सम्बन्धि तेजो विद्युति दृष्टं, अत एव परमशोभात्वेन निर्दिष्टं, यथा दामोदरेण मोचनमेवं नग्नेनापि पीताम्बरतुल्यतेजः सम्पादनमित्यद्भुतचरित्रमुक्तं, निर्गमनात् पूर्वमेव यावदभीष्टं तावद् रूपं सम्पन्नमिति सिद्धौ, **कुजयोर्वृक्षयोः** सकाशादागत्य भगवन्निकटे, पूर्ववृत्तान्तज्ञानवतामपि भ्रममिवोत्पादयन्तौ ताविति दृष्टान्तेनाह **जातवेदा इवे**ति, दृष्टान्तेपि द्वित्वमत्यन्तदुर्लभं, **कुजयोररणिद्वयरूपयोः सकाशाद्** यथा श्रौतोग्निर्भवति, **जातो वेदो** यस्मात्, क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा वह्निरिवेत्यर्थः, ततो भगवन्तं **प्रणम्य** पूर्वज्ञानस्य दार्ढ्याच् **छिरसेति**, साष्टाङ्गनमस्कारं भूमौ कृत्वा देवानामितरनमस्कारशङ्कां भूमिसम्बन्धशङ्कां च व्युदस्य **बद्धाञ्जली** भूत्वा भगवन्तं वक्ष्यमाणप्रकारेणो**चतुः स्मेति**सम्बन्धः, शापविमोक्षे जातेति भगवन्तमपृष्ट्वास्तुत्वा च न गन्तव्यं यतो भगवान**खिललोकनाथः** सर्वलोकाधिपतिः स्वयमेकलोकाधिपतेः पुत्रौ तदाज्ञाव्यतिरेकेण गते तस्मिँल्लोके स्थितिरपि न स्याद् भक्तिस्तु दूरे **अञ्जलिबन्धो** विज्ञापनार्थः, तादृशयोः कथं भगवत्स्तोत्रेधिकार इत्याशङ्क्याह **विरजसा**विति, अत्रासम्भावनाव्युदासाय **स्मेति**प्रसिद्धिरुक्ता॥ २८॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

देवर्षिरित्यत्राभासे **तथैवे**ति तदुक्तप्रकारेणेवेत्यर्थः, **स्मृतिरिति** भगवत्स्मृतिः, **दुर्लभमिति** भगवत्स्मरणमितिशेषः, फलितमाहुरत इति, यद्यपि **नारदेनो**क्तं सान्निध्यात् सर्वं भविष्यतीति तथापि भगवत्कृत्यविषयत्वे तावन्मात्रस्य कार्यसाधकत्वाभावादित्यर्थः, **तावन्तमर्थ**मिति भगवद्भावाभावरूपमित्यर्थः, **भक्त्युपयोग्यंशमिति** भगवच्चरणरूपं, अग्रे **तत्पदत्रयं** वृक्षपरमिति, तथा च **यो** नारदवाक्यसत्यत्वकरणार्थमनुक्तमपि भङ्गं सम्पादितवान् स तदुक्तं स्मरणं कथं न **सम्पादये**-

दितिभावः ॥ २५ ॥ **इत्यन्तरेणे**त्यत्राभास **इति विचार्ये**ति मत्कृतिं विना तदुक्तिर्मृषा भवतीति**विचार्ये**त्यर्थः, अन्तःप्रवेश-कार्यमाहुः **सदे**त्यादिना, **पाद्मोत्तरखण्डे** तु दामबन्धनादेर्दिनमप्युक्तं"मष्टाविंशतिमे मासि सहःशुक्लाद्यवासरे मात्रा चोलूखले बद्धो बभञ्ज यमलार्जुना"विति वाक्यात्, 'सहो'मासश्च मार्गशीर्षः ॥ २६ ॥ **तत्र श्रिये**त्यत्र **ककुभ** इत्यस्य प्रथमाबहुवचनान्ता-भिप्रायेणाहु**र्विभक्ती**त्यादि, **ककुभ** इति षष्ठ्यन्तमभिप्रेत्य प्रयोजनान्तरमाहुः **प्रकाशे**त्यादि, द्वितीयपक्षतात्पर्यमाहुः **ककुभः सम्बन्धी**त्यादि, तत्र तत्र भगवत्स्वरूपावच्छेदेन या ककुप् तस्याः सम्बन्धिनी **श्रीः** शोभा तद्रूपं ज्ञेयं, तत्र गमकमाहु**रत एवे**त्यादि, तथा च तया विद्युत्तुल्यया **परमया श्रिया स्फुरन्ता**वित्यर्थः, **जातो वेदो यस्मा**दिति, **वेदो** ज्ञानं, **स्तुतितात्पर्योक्तौ प्राणभृच्छ्लोकै**रिति **प्राणान्** बिभ्रतीति **प्राणभृतः**, कर्तरि क्विप्, तथा चेदानीन्तनप्राणानां भगवद्भक्त्या पोष्यत्वार्थं दशत्व-सङ्ख्यया स्तुतिकृतिरित्यर्थः, सङ्ख्यातात्पर्यमुक्त्वा स्तुतितात्पर्यमाहु**र्ज्ञाने**त्यादिना, तथा च पूर्वेषामस्य चाध्यायस्य सङ्गत्यर्थमत्र तयोर्निर्णय इत्यर्थः, निर्णयस्वरूपं वक्तुं प्रतिश्लोकप्रतिपाद्यानर्थानाहु**र्मूले**त्यादि, **ज्ञानरूपो निरूपित** इति यद्यपि मूलरूपजगद्रूप-मध्यरूपनिरूपणेन सद्रूप एव त्रेधा निरूपितस्तथापि **ते ब्रह्मण** इति विशेषणाज् ज्ञानमेकं प्राचीनैरितिन्यायात् सद्रूपनिरूपणेनैव चिद्रूपो निरूपित इत्यर्थः, एवं चाद्यश्लोके नित्यसच्चिदानन्दो भगवानित्युक्तं, द्वयोस्तु स्पष्टः, एवं श्लोकत्रयार्थ उक्तः, तन्निर्णयं वदन्तश्चतुर्थस्याहु**र्माहात्म्ये**त्यादि, एवमर्धं उत्तरार्धार्थ उक्तः, पूर्वार्धार्थमाहुः **सर्वरूप** इत्यादि, **"विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिना"** मितिवाक्याद् योगिग्रहणाभावाय, तेन सिद्धमाहु**राध्यात्मिक** इत्यादि, तर्हि कथं ग्राह्य इत्यपेक्षायां भक्त्या ग्रहणायाहु**र्दैवि-कत्वेने**त्यादि, "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन" इतिश्रुते"स्तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स" इतिन्यायाच्च तथेत्यर्थः, समभिव्याहारसिद्धं क्रमसिद्धं चार्थं मनसिकृत्य पञ्चमस्याहु**स्तस्मा**दित्यादि, **तस्मात्** पूर्वोक्तरूपाद् भगवतः सकाशाद् यथा सर्वं जायते तथा ज्ञानं भक्तिश्चेतिद्वयमपि जायते चोप्यर्थे यतो भगवत एव सर्वत्वसर्वकर्तृत्वे निरूपिते तेन भगवतः सकाशादेव ज्ञानभक्ती जीवानां फलिते भविष्यतोतः क्रमेण ते निरूपिते इत्यर्थः, अत्रायमर्थः, सप्तमे जृम्भालीलायामष्टमे मृत्स्ना-भक्षणलीलायां भगवता स्वस्य सर्वात्मकत्वं प्रदर्शितं, ततस्तादृशत्वज्ञानं तदैव तिरोधापितं ततो नवमे दामबन्धनप्रस्तावे **'न चान्त'**रित्यादिना यत् स्वरूपमुक्तं तज्ज्ञानमपि न केषाञ्चिद् वृत्तं किन्तु दामन्यूनतया तत्कार्यं साग्र कथञ्चित् सर्वेषां ज्ञातमभूत् तावता चाश्चर्यद्वारा व्रजभक्तानां निरोध एव कथञ्चिद् वृत्तो न तु विषयस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन ज्ञानस्वरूपं निर्णीतं तस्मादत्र तन् निर्णीयते, निर्नयाकारस्तु भगवान् सर्वरूपोप्याध्यात्मिकाधिभौतिकोपदिग्धो न प्रकाशते, आध्यात्मिकाधिभौतिकानि रूपाणि तु यद्यपि सद्रूपाणि तथापि ज्ञानरूपावरकाणि भगवांश्च कालरूपेणेश्वररूपेण वा प्रकृतिरूपेण वा कर्ता, अक्षररूपेण च सर्वरूपः, ज्ञानं भक्तिश्चेतिद्वयं तस्माज् जायते, ज्ञानं चात्र सङ्क्रामितं विद्यमानमेव निरोधं जनयति, नन्वेवं सत्यस्याः स्तुतेरध्यायार्थे कथं सङ्गतिरित्यत आहु**रनेने**वेत्यादि, तु पुनः, **अनेने**वोत्तमभक्तिनिरूपणेन भगवतो गुणच्छन्नमहिमत्वस्योक्तत्वाद् गुणानां चावरकत्वस्योक्तत्वाद् भगवद्द्योत्यत्वकथनेन च गुणा भगवद्द्योत्याः स्वतश्च जडा इति तत्कार्यं सर्वमेव तथेति गुणपर्यन्तेषु सर्वेष्वनेन प्रकारेण वैराग्यं निरूपितमित्यर्थः, तर्हि तन्निर्णयः कुत्रेत्यत आहु**र्ज्ञाने**त्यादि, यदि वैराग्यस्य **ज्ञाना-जनकता** तदा सर्वं परित्याज्यमन्यथा यदि ज्ञानाजनकता न किन्तु ज्ञानजनकता तदा सर्वत्यागे विनाशनं स्याद् भक्तिमार्गो-च्छ्रीयेत तथा चैतयोर्भक्त्या ज्ञानजननान् न गृहत्याग इत्यदोष इत्यर्थः, तर्हि शेषाणां किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां प्रथमतः षष्ठस्यार्थमाहु**र्भक्ती**त्यादि, उत्तम**भक्तिसिद्ध्य**र्थं **यत् ज्ञानं** साधनं वैराग्यजनकं तत् षष्ठे श्लोके विनिरूप्यते, ननु षष्ठे श्लोके भगवति भक्तिसिद्ध्यर्थं वीर्यलिङ्गकानुमानं साधनत्वेनोक्तं वीर्यं च सति न बन्धनं भगवांस्तूलूखले बद्ध इत्यन्यथाभावशङ्कया भक्तिस्तत्र न भवेदित्याशङ्क्य सप्तमस्यार्थमाहु**रन्यथे**त्यादि, उक्ताशङ्काया निवृत्त्यर्थं तत्र भगवान् पर इत्युच्यतेतो न दोष इत्यर्थः, तन्निगमनार्थमष्टमनवमयोरर्थमाहु**र्भगवन्त**मित्यादि, अत्र नमस्करणमष्टमार्थः प्रार्थना नवमार्थः, तथा च पूर्वोक्तरीत्या भगवद्विषयके सर्वत्वसर्वकर्तृत्वज्ञाने जातेपि प्राप्तिः सोपानरूपेष्ववतारेषु यावद्भिर्न भवति तावत् फलं दूर इति तदवतारज्ञानार्थं षष्ठ उपाय उक्तः, सप्तमे च भगवतोवतारत्वव्यावृत्त्यर्थं परत्वं निरूपितं तेन सोपानप्राप्यत्वं बोधितं, अष्टमे नमनं, नवमे च तद्दर्शनसाधनमुक्तमिति **चत्वार एते श्लोका** ज्ञाननिर्णयशेषभूता इत्यर्थः, ननु तयोर्भक्तत्वे ज्ञानस्वरूपं भगवन्तं परित्यज्य गमनमनुचितमिति कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्य तत्र दशमस्यार्थमाहु**स्तदयुक्त**मित्यादि, **तदयुक्तं भक्तिमता**मितिशङ्का तु **षड्गुणा भक्तिर्भक्तैः सहैव कार्ये**त्याद्यर्थकथनेनैव निरसनीयेत्येतदर्थं दशमश्लोकषड्गुणत्वं **भक्तैः सह** करणमित्यादिकं विवरणे स्फुटी-भविष्यति, तथा च मुख्यभजनाधिकारस्यासिद्धत्वात् तथा प्रार्थना, ननु परोक्षे कथं सिद्धिरित्यत आहुर्गुप्त इत्यादि, यदा भक्तैः सह तथा क्रियते तदा गुप्तरसरूपो भगवानुद्बुद्धः सन् रसतां यातीत्येतदर्थंगमनप्रार्थनेत्यर्थः, ननु भक्ता अत्रापि सन्तीति तैः सह करणे गुप्तरसोद्बोधः स्यादेवेति किं पारोक्ष्येणेति तथाभूतं त्यक्त्वा गमनमनुचितमित्यत आहुर्गुणेत्यादि, एकस्यां लीलायां भगवतो गुणप्रधानभावत्वं हि यतो हेतोर्विरुध्यते, अत्र हि भगवता भक्तगुणभावेन लीलाः क्रियन्ते यदि प्राधान्येन तादृशं रसमुत्पादयेत् तदा स भावो विरुध्यते, अत्र भगवान् स्वयं लीलां कर्तुं समुद्यतस्तत् किमर्थमिति न निर्णेतुं शक्यते-तस्ताभ्यां तदशक्यमिति तथा त्यक्त्वा गमनं नानुचितमित्यर्थः, न च भवत्वेवं तथाप्यस्मिन् श्लोके भक्तिमात्रस्य प्रार्थनेन

ज्ञानवैराग्यशेषत्वाभावादध्याये कथं सङ्गतिरिति शङ्क्यं, अत्र वाण्यादीनां भगवदेकपरत्वप्रार्थनयेतरवैराग्ये बोधिते तस्य भक्तिफलकताया अत्र निर्णीतत्वात् सुखेनाध्यायसङ्गतिरितिदिक्, अथ यदत्र सिद्धं तत् प्रसङ्गादुच्यते, भगवतोद्धर्तुं विचारितस्यैव भगवदीयसङ्गः, भगवदीया भगवद्विचारितमेव कुर्वन्ति, तत्र स्वदोषेणान्यथाभानेपि पर्यवसानतः परमफलसाधकत्वं, तत्र च भगवदीयानुग्रह एव व्यापारभूतं कारणं, तेनैव च स्वरूपसहकारियोग्यता सम्भवति, ततो भगवदीयदास्यद्वारा तदनुमितया भगवद्भजनं तेनाग्रे भगवद्भजनाधिकारवतो भगवद्विचारितभक्तिफलयोः सिद्धिरिति, पुष्टिमर्यादायामेपैव व्यवस्थितिरिति, इदं च गुणोपसंहारे 'कार्याख्याना'धिकरणस्थात् 'सम्बन्धादेवमन्यत्रापी'तिसूत्रात् सिध्यति, तत्र 'ह्ययोगे लके वह्नेरिव भक्तजीवे भगवत आवेशोऽस्ति स च भगवत्त्वेन व्यपदिश्यत इति हेतुद्वयात् तत्फलदानार्थं तद्रूपो भगवांस्तत्राविशती'ति प्रतिपादनात् "तं यथायथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वावती"ति "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरावि"तिश्रुते- 'र्गुर्वादौ जीवत्वबुद्धिनिषेधाच्च तत एव तस्य फलसिद्धि'रिति प्रतिपादितं तस्मान्न कोपि शङ्कालेशः ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

देवर्षिर्म इत्यत्र भङ्गानन्तरस्तुत्या स्मृतिर्ज्ञापिता भविष्यति अभङ्गे तु जन्मान्तरन्यायेन नलकूबरत्वं स्यात् न तु स्तुतिस्तदा स्मृतिर्ज्ञापिता न भवेदिति भावः, **अतस्तावन्तमिति** दोषांशमित्यर्थः, **धनदांशे** इति धनदत्वाद् धनमदोपि सम्भवति तदंशे इत्यर्थः, **तत्रैवेति** दोषांशं विहाय भक्त्यंश एवेत्यर्थः, **शुष्काविति** स्वप्रवेशेन दोषनिवर्तनात् तपसेव शुष्कतां कृत्वेत्यर्थः, **स्वाधिदैविकेति** दार्वाधिदैविकस्योलूखलस्य भावस्तिर्यग्भवनं तेनेत्यर्थः, **तद्विदीर्णमिति** मूलं विदीर्णं विधायेत्यर्थः, **तत इति** मूलादित्यर्थः ॥ २५ ॥ **इत्यन्तरेणे**त्यत्र केवलमिति कृष्णत्वेनानन्दमयत्वाद् विज्ञानमयादप्यन्तरपि ययावित्यर्थः, **सदानन्देति** सत्त्वाद् दोषस्य आनन्दत्वाच्च दुःखस्य निवृत्तिरित्यर्थः ॥२६॥ **बालेने**त्यत्र **परमेति** एतादृशे तिवेपो ययोः स्कन्धादीनां वर्तते इत्यर्थकथन, विग्रहस्तु परमविक्रमितयोरिवातिवेपो येषां तादृशाः स्कन्धप्रवालविटपा ययोरिति ॥ २७ ॥ **तत्र श्रिये**त्यत्र पूर्वं **स्फुरच्छ**न्दस्यावृत्तिरुक्ता ततः पक्षान्तरमाहुः **प्रकाशमानयेति**, तादृश्या ककुप्सम्बन्धिन्या श्रिया स्फुरन्तौ तावित्यर्थः, **अस्मिन्** पक्षे **ककुभ** इति षष्ठ्यन्तं ज्ञेयं, **भ्रममिवेति** पूर्वं नलकूबरत्वेप्यग्निसदृशं तेजो न स्थितमतो भ्रम इत्यर्थः। स्तुतौ **दशभिरि**त्यादि वृक्षाणां निरिन्द्रियत्वमते शापेन वृक्षत्वेन प्राणा इन्द्रियाणि नष्टा इति पुनः प्राणसम्पादनमिति सङ्ख्यातात्पर्यं प्राणान् बिभ्रति धारयन्तीति प्राणभृतस्तादृशैः श्लोकैरित्यर्थः, **आध्यात्मिक** इति आध्यात्मिकत्वे भौतिकत्वे वा सर्वस्मिन् गृह्यमाणे गृहीत, गङ्गास्नाने भौतिकाध्यात्मिकस्पर्शवत्, आधिदैविकग्रहणं तु भक्त्यधीनमतो **नाध्यात्मिको न वा भौतिकः** किन्त्वाधिदैविकत्वेन **सर्वरूप**'स्त्वमेकः सर्वभूताना'मिति श्लोकेनोक्तः, तेन ब्रह्मत्वेन सर्वत्र ज्ञानं फलिष्यति "त्वं महा"निति "गृह्यमाणे"रितिश्लोकद्वयेनाध्यात्मिकाधिभौतिककर्तृत्वमुक्तं तेन मुक्तिः फलिष्यतीत्यर्थः, इदं फलद्वयं "तस्मै तुभ्य"मिति "यस्यावतारा" इति च श्लोकद्वयेनोक्तमितिज्ञेयं, वैराग्यनिर्णयमाहुर**नेनैवेति**, इदमेव सर्वत्वं ज्ञानं चेन्न जनयेत् तदा वैराग्यं कर्तव्यं ब्रह्मत्वेन ज्ञानाभावे सर्वं त्यक्तव्यमित्यर्थः, एतदेव विवृण्वन्ति तदेत्यनेन, ननु षष्ठे श्लोके तु "ज्ञायन्त" इत्यनेन ज्ञानमेव निरूप्यतेतो भक्तिमाहुरिति कथमुक्तमित्याशङ्क्याहु**र्भक्तिसिद्ध्यै** इति, **तु पुनः षष्ठे श्लोके यत् ज्ञानं** निरूपितं **तत् भक्तिसिद्ध्यै** इत्यर्थः, सप्तमार्थमाहु**रन्यथेति**, अन्यथाभावो मानुषत्वं तच्छङ्काव्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः, **तदयुक्तमि**त्यारभ्य **नान्यथे**त्यन्तेन दशमश्लोकार्थ उक्तः, **भक्तिमता**मित्यन्तेनाशङ्का, अग्रे समाधानमाहुः **भक्तिस्त्विति**, तथा च **इतीत्यस्यानन्तरं चेदि**तिशेषो ज्ञेयः, अयं निर्णयो "वाणी गुणानुकथने" इति श्लोकेन सम्पन्न इत्यर्थः, प्रसङ्गादेकादशस्याप्यर्थमाहुः **गुणेति**, प्रधानशब्दो भावल्युडन्तत्वपक्षे धर्मवाचकः, तथा च गुणरूपः प्रधानरूपश्च भावो गौणत्वं प्रधानत्वं तद् यस्य तत्त्वमित्यर्थः, **तत्रैकत्र विरुध्यत** इति गौणत्वं स्वीकृत्य लीलां कृतवानितिभावः, इदं "दाम्ना चोलूखले बद्ध" इत्यस्य विवरणे स्फुटम् ॥ २८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र गमने भगवतोऽभिप्रायमाह—देवर्षिरिति। यत् यस्मात् देवर्षिर्मम प्रियतमो यस्मादिमौ च धनदात्मजौ देवत्वेन स्थावरत्वायोग्यौ, तत् तस्मात् यत् यथा महात्मना मद्भक्तेन नारदेन गीतं 'निजस्वरूपं लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यत' इत्युक्तं तत् तथा साधयिष्यामीत्यन्वयः ॥ २५ ॥ इत्येवमभिप्रेत्य श्रीकृष्णो यमयोर्यमलयोः सहजातयोरर्जुनवृक्षयोरन्तरेण मध्ये ययौ। तदा तु आत्मनः कृष्णस्य मध्ये निर्वेशमात्रेणोलूखलं तिर्यक् गतम् ॥ २६ ॥ अनु अञ्चति पश्चाद्गच्छति इत्यन्वक्। तथाभूतमुलूखलं दाम बन्धनरज्जुरुदरे यस्य तेन दामोदरेण बालेन कृष्णेन तरसा वेगेन निष्कर्षयता उत्कलितः उत्पाटितः अङ्घ्रिबन्धो मूलबन्धो ययोस्तौ, परमस्य परमेश्वरस्य कृष्णस्य विक्रमितो विक्रमस्तेन अतिवेषः कम्पो येषु ते स्कन्धप्रवालविटपा ययोस्तौ, अत एव कृतश्चण्डौ महान् शब्दो याभ्यां तौ द्वावर्जुनवृक्षौ निपेततुरित्यन्वयः। उदरे दामबन्धनादेव 'दामोदर' इति नाम। तदुक्तं हरिवंशे—'स च तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै दामबन्धनात्। गोष्ठेदामोदर इति गोपीभिः परिगीयते" इति ॥ २७ ॥ परमया

श्रिया कान्त्या ककुभो दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ सिद्धौ प्राप्तपूर्वस्वरूपौ नलकूबरमणिग्रीवौ कृष्णमुपेत्य शिरसा प्रणम्य च बद्धाञ्जलीसन्ताविदं वक्ष्यमाणमूचतुरित्यन्वयः। दिशःप्रकाशकत्वे दृष्टान्तमाह--तत्र कुजयोर्वृक्षयोः स्थितः जातवेदा: अग्निमूर्तिमान् सन् यथा प्रकाशयन्नागच्छेत तथेत्यर्थः। कृष्णप्रणामे हेतुमाह-अखिललोकनाथमिति। 'नारदप्रसादात्तयोः श्रीमदोऽपि गत एव' इत्याह--विरजसाविति। 'अत्र असम्भावना न कर्तव्या' इत्याह--स्मेति॥ २८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

देवर्षिरिति॥ यद्यस्माद्देवर्षिर्मे प्रियतमः तत्तस्मात्तेन महात्मना यद्गीतं तदेव तत्तथा तेन प्रकारेण इमौ धनदात्मजौ साधयिष्यामि करिष्यामि॥ २५॥ इतीति॥ इत्येवमभिप्रेत्य श्रीकृष्णो यमयोर्यमलयोः सहजातयोरर्जुनवृक्षयोरन्तरेण मध्ये ययौ तदा तु आत्मनः कृष्णस्य मध्ये निर्वेशमात्रेणोलूखलं तिर्यग्गतमभूत्। मात्रपदेन यत्नाभावः॥ २६॥ बालेनेति॥ अनु अञ्चति पश्चाद्गच्छति इत्यन्वक् तथाभूतमुलूखलं निष्कर्षयता दाम बन्धनरज्जुरुदरे यस्य तेन दामोदरेण बालेन कृष्णेन तरसा वेगेन उत्कलितः उत्पाटितः अङ्घ्रिबन्धो मूलबन्धो ययोस्तौ परमस्य परमेश्वरस्य कृष्णस्य विक्रमितं विक्रमस्तेन अतिवेपः कम्पो येषु ते स्कन्धप्रवालविटपा ययोस्तौ अत एव कृतश्चण्डो महान् शब्दो याभ्यां तौ द्वावर्जुनवृक्षौ निःशेषेण पेततु। उदरे दामबन्धनादेव दामोदर इति नाम॥ २७॥ तत्रेति॥ तत्र कुजयोर्वृक्षयोः स्थितो जातवेदाः मिथो ज्योतिर्मेलनादेक एव अग्निर्मूर्तिमान् सन् यथा प्रकाशयन्नागच्छेत् तथा परमया श्रिया कान्त्या ककुभो दिशो व्याप्य स्फुरन्तौ। यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थतया दिशः प्रकाशयन्तौ विरजसौ गतमदौ सिद्धौ प्राप्तपूर्वस्वरूपौ नलकूबरमणिग्रीवौ अखिललोकानां नाथं कृष्णमुपेत्य शिरसा प्रणम्य च बद्धाञ्जली सन्ताविदं वक्ष्यमाणमूचतुः स्मेति प्रसिद्धौ॥ २८॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

यद्यस्मात्कारणात् तत्तस्मात्कारणात् महात्मना नारदेन॥ २५॥ यमयोः युगलत्वेन सह जातयोः अर्ज्जुनयोरंतरेण मध्ये आत्मनः स्वस्यानिर्वेशमात्रेण तन्मध्यप्रवेशमात्रेण उलूखलं तिर्यग्गतं वक्रतां प्राप्तम्॥ २६॥ अनुअंचतीत्यन्वक् अनुगच्छत् तदुलूखलं निष्कर्षयता आकर्षणं कुर्वता दामोदरेण दाम्ना हस्तयोर्बंधाद्धस्ते मध्यागतमुदरं बद्धं ज्ञेयं अतो दाम्नाबद्धमुदरं यस्य तेन तरसा शीघ्रं उत्कलित उत्पाटितः अंघ्रिबंधो मूलबंधो ययोस्तौ परमस्य हरेर्विक्रमितं सामर्थ्यं तेन अतिवेपश्चलनं येषु एवंभूताः स्कंधप्रवालविटपा ययोस्तौ स्कंधः स्थूलशाखाविटपः अल्पशाखा प्रवालो नवांकुरः कृतः चंडो भयंकरः शब्दो याभ्यां तौ॥ २७॥ तत्र कुजयोर्वृक्षयोः स्थितौ ककुभो दिशः स्फुरंतौ प्रकाशवंतौ जातवेदा मूर्त्तिमदग्निरिव सिद्धौ कृष्णमुपेत्य विरजसौ धनकुलादिमदविजितौ संतौ॥ २८॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तद्वचः सत्यं कर्त्तुमित्येतदेव प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्। देवर्षिरिति। यद्यतो हेतोः, देवर्षिर्नारदः, मे मम प्रियतमः। इमौ द्वौ, धनदात्मजौ मद्भक्तस्य कुवेरस्य तनयौ, तत्तस्मात्, महात्मना यद्गीतं, तत्तथैव, साधयिष्यामि करिष्यामि॥२५॥ इतीति। इतीत्थंभूतेनाभिप्रायेण, कृष्णस्तु, यमयोः द्वयोः अर्जुनयोः, अन्तरेण मध्ये, ययौ। आत्मनः स्वस्य श्रीकृष्णस्य निर्वेश एव निर्वेशमात्रं तेन, उलूखलं, तिर्यक् गतं तिर्यक् निपतितं, अभूत्॥ २६॥ बालेनेति। अनु अञ्चति अनुसरतीति अन्वक्, तत् उलूखलं, बालेन दामोदरेण, तरसा बलेन, निष्कर्षयता कर्षता सता, उत्कलितावुत्पाटितौ अङ्घ्रिबन्धौ मूलभागौ ययोस्तौ, परमस्य श्रीकृष्णस्य यद्विक्रमितं तेन अत्यतिशयितः वेपः कम्पो येषु तथाविधाः स्कन्धप्रवालविटपाः ययोस्तौ, कृतश्चण्डः शब्दो याभ्यां तथाभूतौ सन्तौ, तावर्जुनौ, निष्पेततुः॥ २७॥ तत्रेति। तत्र तदा, परमया श्रिया शोभया, ककुभो दिशः, स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ, कुजयोर्वृक्षयोः, स्थितः जातवेदाः अग्निः इव, मूर्त्तिमान् वह्निर्यथेत्यर्थः। स्थितौ सिद्धौ, उपेत्य श्रीकृष्णसमीपमागत्य, अखिललोकनाथं कृष्णं, शिरसा प्रणम्य, बद्धोऽञ्जलिर्याभ्यां तौ, विगतं रजो रजःकार्यं ययोस्तौ, सात्त्विकौ निर्मलौ वा सन्तावित्यर्थः। इदं वक्ष्यमाणम्, ऊचतुः स्मेति प्रसिद्धौ॥ २८॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

देवर्षिरिति : १०.१०.२५.

कृपादृगीक्षणादेव मोक्तुं तौ शक्तिमानपि। यत्तत्सान्निध्यधीरीशस्तत्र हेतुर्मुनीन्द्रगीः॥ ३६॥

एकः प्रियो धनदजावपरौ द्वयोरप्यावश्यकं यदपि सद्धितचिन्तनं मे।
तत्राप्यकृत्रिम-यशस्करमाद्य मन्यत्, नेत्यच्युतः स किल तद्गिरि दत्तचित्तः॥ ३७॥

इत्यन्तरेणेति : १०.१०.२६.

यदाऽहमन्तरोल्लासी क्लेशहानिस्तदैव हि । निदर्शनाय लोकानां द्रुमयोरन्तरे स्थितः ॥ ३८ ॥
विनान्तरगतिं न स्याद्धारो युगपद् द्वयोः । तुल्यस्थित्योरिति श्रीशस्तादृशस्थितिभागभूत् ॥ ३९ ॥

विहितो गुणावलम्बो यदि विनियोज्यः परोपकृतयेऽसौ । निखिलैरेतद्धरिणा तद्गुणभाजा दयाब्धिना ध्वनितम् ॥ ४० ॥

चैतन्य व्याप्तिर्विदैरात्मनिवेशनोत्तरम् । या प्रोक्ता तामभिव्यक्तामाधात् तत्कृतितः प्रभुः ॥ ४१ ॥

खलपदभाग्यः स च न त्वद्गुणवानपि जहाति निजभावम् । तादृगुलूखलमभवत् तिर्यग्गतमेव गोपते यस्मात् ॥ ४२ ॥

बालेनेति १०.१०.२७.

पुंसस्तद्गुणभाजस्तिर्यग्गतिरपि परोपकृतये स्यात् । अकृतोलूखलमिह यत् तादृशमपि तौ कुजन्मिनावनघौ ॥ ४३ ॥

सति प्रसङ्गे परमोपकारः कार्यः स जातौ गुणिनाविशेषात् । लसद्गुणोलूखलमाप्तवृक्षे तदोपकारं यदधात् क्षमं तत् ॥ ४४ ॥

इतरेषु युगेषु योग्यभावं समुदीक्ष्यैव समुद्धृतिं करोमि ।
कृपयेह युगे कुजन्मभाजामपि पातेति तरूद्धृतेरबोधि ॥ ४५ ॥

स्वानुगविहितं कर्म हि यथायशोदं तथा न निजविहितम् ज्ञात्वेत्यकरोदीश स्तदुद्धृतिं तामुलूखलद्वारा ॥ ४६ ॥

भगवति समदृष्टावप्यदृष्टप्रधानः प्रभवति फलभागी तारतम्येन लोकः ।
स्फुटमिह फलसङ्गेनागमौ तौ कृतार्थावनुगतमपि तत्रोलूखलं प्राग्वदासीत् ॥ ४७ ॥

मुख्यो हेतुर्भवति भुवने स्वोद्धृतौ भावनैव बद्धोऽबद्धः प्रभवतु गुरुस्तत्र हेतुर्न चैषः ।
बद्धेऽपीशे यदिह भगवद्भावनातः स्वरूपं प्राप्तौ मुक्तेऽप्यपरतरवो नैव यत्तद्विहीनाः ॥ ४८ ॥

न तेन स्याद् वृद्धो भवति पलितं यस्य हि शिरो युवा वा बालो वा सकलगुणवान् यः स हि गुरुः ।
त्वया श्रुत्यर्थोऽयं धनदतनुजाऽनुग्रहकृतौ कृतो व्यक्तस्तत् किं वदसि शिशुरस्मीति वितथम् ॥ ४९ ॥

उत्कलिताङ्घ्रिबन्धाविति :

नेत्रात्मनः कुलीनस्य लोकादृश्यविहारिणः । बन्धो न युक्तः इत्याधात् तदङ्घ्रिश्लथबन्धनम् ॥ ५० ॥
अतोऽर्हतः स्थावरतामिति श्लोकाङ्घ्रिणर्षिणा । कृतो बन्धः सशैथिल्यं नीतः श्रीशेन तन्मिषात् ॥ ५१ ॥

प्रारब्धसौख्यमवशेषतयाऽस्ति भोग्यं तस्मादिमौ परममुक्तिपदे न योग्यौ ।
सर्वांशतः प्रभुरितीव विचिन्त्य मुक्तौ तौ तन्मिषेण विदधे किल पादबन्धात् ॥ ५२ ॥

कृतचण्डशब्दाविति :

बालोऽहमेतौ च प्रवालयुक्तौ विटोऽहमेतौ विटपाश्रितौ स्तः ।
अन्योन्यसम्बन्धमिमं समीक्ष्य यथोचितं कुर्विति तौ सशब्दौ ॥ ५३ ॥

कुजस्य मङ्गलार्थत्वं येनाकारीश तस्य ते । नान्यथाकरणं युक्तमधुनेतीरितं रवात् ॥ ५४ ॥

तत्र श्रियेति : १०.१०.२८.

दण्डवत्पतनं कार्यं जडैरनधिकारिभिः । नमः सद्भिरिति स्पष्टं तरुतज्जकृतावभूत् ॥ ५५ ॥
सर्वेष्वपि तरुष्वास्ते वह्निरित्यखिलप्रथा । औपम्यात् स्पष्टमत्रोक्ता धनञ्जयपदेऽर्जुने ॥ ५६ ॥
वृक्षभेदेऽपि तज्जात वह्निभेदो न रूपतः । तथैकमासीत् तद्रूपमित्येकवचनात् स्फुटम् ॥ ५७ ॥

जगदिव नश्वरवृत्तिर्महागमोऽस्मादुदञ्चितं वस्तु । सत्यमिति व्यक्तमभूद् भग्नद्रुदितमहापुरुषयोगात् ॥ ५८ ॥

सत्सङ्गादभवदधोगतिः खलाङ्घ्रेः स्पर्शाच्चाच्युतपददर्शनानुभूतिः ।
तन्मन्ये न तदुभयं निदानमस्मिन् किन्तु श्रीमदतदभावयोः फलं तत् ॥ ५९ ॥

कृष्णप्रिया

प्यारे श्रीकृष्ण ने विचार किया कि देवर्षि: नारद तो मेरे अत्यंत लाडले भक्त हैं और ये यक्ष श्री कुबेर के कुमार हैं अतः महामना श्रीनारदजी ने जो कुछ कहा है उसे मैं ठीक उसी रूप में पूर्ण करूँगा ॥ २५ ॥ ऐसा निर्णय कर भगवान् कृष्ण यमलार्जुन वृक्षों के बीच से निकलने लगे उस समय केवल भगवान के बीच में चले जाने मात्र से ओखली टेढ़ी हो गयी ॥२६॥

कटिमें कसके रस्सी बांधे दामोदर श्री बालकृष्णजी ने अपने पीछे लुढ़कती ओखली को ज्यों ही जरा सा जोरकर खींची त्यों ही दोनों वृक्षों की जड़ें वेग से उखड़ गयी, भगवान के परम विक्रम को प्राप्त हुए दोनों वृक्षों की शाखा प्रशाखाएँ और एक एक पत्ता काँप उठा पुनः एक धड़ाके की बड़ी कड़ी आवाज हुई और दोनों वृक्ष तड़तड़ाते हुए जमीन दोस्त हो गये ॥ २७ ॥ वहाँ पर परम उत्कृष्ट कान्ति से दिशाओं प्रकाशमान करते हुए अग्नि नारायण के समान तेजस्वी, वृक्षों से प्रकटे हुए दोनों सिद्ध नल-कूबर मणिग्रीव सर्वथा रजोगुण जन्य अभिमान से मुक्त हुए अखिल लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णजी के श्री चरणों में प्रणाम करते हुए अञ्जलिबद्ध विशुद्ध मनसे भगवान की स्तुति करने लगे ॥ २८ ॥

[1]नलकुवरमणिग्रीवावुचतुः

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः । व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते [2]ब्राह्मणो विदुः ॥ २९ ॥

त्वमेकः सर्वभूतानां [3]देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः । त्वमेव कालो [4]भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥ ३० ॥

त्वं महान् प्रकृतिः [5]सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी । त्वमेव [6]पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥

गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः । को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः[7] ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कृष्ण कृष्ण महायोगिन् त्वम् आद्यः परः पुरुषः व्यक्ताव्यक्तम् इदं विश्वं ते रूपं ब्राह्मणः विदुः ॥ २९ ॥ त्वम् एकः सर्वभूतानां देह असु आत्मा इन्द्रिय ईश्वरः त्वं एव भगवान् कालः विष्णुः अव्ययः ईश्वरः ॥ ३० ॥ त्वं महान् सूक्ष्मा रजःसत्वतमोमयी प्रकृतिः त्वं एव पुरुषः क्षेत्रज्ञः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥ गृह्यमाणैः प्राकृतैः गुणैः विकारैः त्वम् अग्राह्यः गुणसंवृतः कः इह नु प्राक् सिद्धं विज्ञातुं अर्हति ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

गोपालं मां युवां देवौ किमिति प्रणताविति चेत्तत्राहतुः । हे कृष्ण कृष्ण महायोगिन्नचिंत्यप्रभावस्त्वं न गोपालः किं तु परः पुरुषः । यतः आद्यः कारणभूतः । तत्रापि न निमित्तमात्रं किं तूपादानमपि त्वमेवेत्याशयेन तुष्टुवतुः । व्यक्ताव्यक्तमिति । स्थूलसूक्ष्ममिदं रूपं ते तव ब्राह्मणा ब्रह्मविदो विदुरिति ॥ २९ ॥ नियंतापि त्वमेवेत्यूचतुः । त्वमेक इति । देहः असवः प्राणाः आत्माऽहंकारः इंद्रियाणि च तेषामीश्वरः । नन्वस्य कालो निमित्तं प्रकृतिरुपादानं प्रकृतेर्जातो महान्विश्वात्मतया परिणमते पुरुषः कर्ता नियंता च किमत्राहमत आहतुः त्वमेव काल इत्यादिना सार्धेन । यतो भगवानीश्वरो विष्णुस्त्वत्तः कालो नाम तव लीला ॥ ३० ॥ प्रकृतिः शक्तिः । पुरुषोंशः महान्कार्यं अतस्त्वमेव सर्वमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ नन्वहमेव चेत्सर्वं तर्हि घटादिज्ञाने मज्ज्ञानं किं न भवतीति चेत्सर्वोऽपि ब्रह्मवित्स्यादतश्चाहतुः । गृह्यमाणैरिति । दृश्यत्वेन वर्तमानैर्बुद्ध्यहंकारेंद्रियादिभिर्द्रष्टा त्वं न गृह्यस इति भावः । ननु तर्हि जीवो जानातु नैवेत्याहतुः । को न्विहेति । जीवाद्युत्पत्तेः प्रागेव स्वप्रकाशतया सिद्धं त्वां को वा विजानाति यतो गुणसंवृतो देहाद्यावृतः ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्तुतिं कुर्वाणौ दृष्ट्वा निजवैभवं गोपयितुमाह—गोपालमिति । सर्वतो निकृष्टं पशुपालनं कुर्वतमिति भावः । देवौ सर्वोत्तमौ । तत्र तस्यामाशंकायाम् । आदरे वीप्सा कृष्ण कृष्णेति । कृषंति निजापदं नाशयंतीति कृष्णा देवास्तेषामपि कृष्ण हे देवदेवेत्यर्थः । अचिंत्यप्रभावः वक्तुमशक्यैश्वर्यो महायोगिन्नित्यस्यायमर्थः । यतो यस्मात् । तत्रापि कारणत्वेपि । न केवलं निमित्तमात्रं किंत्विति ब्राह्मणा वेदतात्पर्यविदो व्यासाद्याः ॥ २९ ॥ नियंता प्रेरकः । स्वविषयशक्तिप्रदः । एतादृशस्तु कालो भवतीति चेत्तत्राहतुः—त्वमेवेति । विष्णुर्व्यापनशीलः । व्यापकस्याप्याकाशस्योत्पतिविनाशवत्त्वादहं न तादृशस्तत्राहतुः—अव्यय इति । तत्कुतस्तत्राहतुः—ईश्वरोंतर्यामी ॥ ३० ॥ किं चान्येषामेव निमित्तोपादानादिरूपताप्रसिद्धास्तानाह—नन्विति । अत्र निमित्तोपादानादौ अहं किम् । इत्यर्थ इति । शक्तिशक्तिमतोरभेदोग्न्यादौ दृष्टः । लीलापि शक्तिकार्यत्वा च्छक्तिरेव । अंशांशिनोरप्यभेद एव वह्निस्फुलिंगस्य वह्निरूपत्वदृष्टेरिति भावः । सर्वक्षेत्राणां विकाराणि जन्मादिषट् वेत्ति साक्षितया पश्यतीति तथा ॥ ३१ ॥ स्वस्य सर्वरूपत्वे शंकांतरमुद्घाटयति—नन्वहमिति । प्राकृतैः प्रकृतिकार्यभूतैः गुणैर्लिंगैः ।

---

१. अन्यप्रत्यां "नलकुवरमणिग्रीवावुचतुः" पाठो न दृश्यते ; गुह्यकावूचतुः–इति च पु. टी. । २ ब्राह्मणा–श्रीधर. वशी. ब्रह्मणः श्रीधर. टी. , ब्रह्मणो–वीर. । ३. देहिस्वा–च पु. टी. ; देह आत्मेन्द्रिये विज. ; ४. भगवन्–वीर. । ५ साक्षात्–श्रीधर. टी. ; ६ पुरुषोऽ व्यक्त—जीव. । ७. गुणसंस्थितेः–विज. ।

इति भाव इति। दृश्यस्य द्रष्टृता द्रष्टुर्दृश्यत्वं च न भवतीति तात्पर्यम्। एते जडत्वान्न जानंतु जीवः कथं न जानाति चेतनत्वादिति शंकते न कोपीत्यर्थः। "को अद्धा वेद कः प्रावोचत्कुत आयाता इयं विसृष्टिः" इत्यादिश्रुतेः। "क इह नु वेदवतावरजन्म लयो" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च। अज्ञाने हेतुः—गुणसंवृतो देहाद्याविष्टमनस्त्वादवकाश एव विचारस्य नेति भावः। "विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः। वारुणीदिग्गतं वस्तु कथमैन्द्रीं व्रजँल्लभेत्॥" इति मैत्रेयोक्तेः॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यद्यप्यावां महापराधिनौ तथापि त्वया नितरामनुगृहीतौ तच्च तवोचितमेवेति निवेदयितुमुपक्रमेते-कृष्णेति। हे नराकृति परब्रह्मन् वीप्सापरमानन्देन प्रेमसम्भ्रमेण वा किं वा जिह्वाकर्षककृष्णनामस्वभावेन वा। यद्वा, उलूखलकर्षणादिबाल्यलीलारतस्य महाचञ्चलस्य क्षणं स्थैर्यापादनेनाभिमुखीकरणाय कृष्णत्वमेव प्रपञ्चयतः-महायोगिन्! अचिन्त्यानन्तैश्वर्येत्यर्थः। यतः प्रकृतिद्रष्टा तावत्पुरुषस्त्वं तु परः पुरुषस्तस्याप्यंशी अंशित्वेपि महानारायणादिभेदेन बहुविधाविर्भावः स्यादिति तत्रापि त्वमाद्यः स्वयं भगवान् इत्यर्थः। तथा च दर्शितं "ईश्वरः परमः कृष्णः" इत्यादि ब्रह्म संहितापद्याभ्याम् अतः सर्वतो गुणाधिकस्य तव ईदृशी कृपाऽपि युक्तैवेति भावः। किञ्च ईशस्यापि तव ब्रह्मणः परमबृहतो रूपमधिष्ठानं कार्यं वा विदुरिति ब्राह्मणा इति कचित्पाठः। एवमावयो रपि नित्यत्वदीयत्वेनाऽनुग्रहो घटतैवेति भावः॥ २९॥ किञ्च त्वमिति एतच्चार्द्धकम्, इत्थं तवैव सर्वप्रवर्तकत्वेन तत्त्वतो ऽस्मदपराधाभावात् किं वा स्वत एव वहिरन्तस्त्वदेकनाथत्वादनुग्राह्यौ भवाव एवेति भावः। ननु, सर्वप्रवर्तकः कालः जगत्कारणानां च महदादीनामेव रूपं विश्वं तत्राहतुः-त्वमेवेति सार्द्धेन। कालादित्वे हेतुतया भगवान् इत्यादिविशेषणचतुष्कं भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्त विष्णुर्व्यापकः न व्येति क्षीयत इत्यव्ययः ईश्वरः सर्वनियन्ता कालस्य त्वदंशत्वेनैव तत्तद्धर्मत्वात् त्वमेव मुख्यः कालः इत्यर्थः। तथा महत्तत्त्वस्य व्यापकत्वेनैव महत्त्वात्तदादिव्यापकस्त्वमेव मुख्यो महानित्यर्थः। तथा "भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः" इत्यादितृतीयस्कन्धादितो भगवांस्त्वमेव सर्वकारणत्वेनाव्ययत्वात् मुख्या प्रकृतिरित्यर्थः। तथा पुरुषस्य त्वदंशत्वेनैव देहेन्द्रियादिसत्त्वात् त्वमेव मुख्यः पुरुष इत्यर्थः। सूक्ष्मेति "भूमिरापोऽनलो वायुः" इत्यादिगीतोक्ताष्टावयवकार्यात्मकप्रकृतेः कारणावस्थोक्ता रजःसत्त्वेति विश्वस्य वैचित्र्यापेक्षया सच्चिदानन्दशक्तेर्व्यवच्छेदार्थं च सा च तव प्रकृतित्वानुगतैव प्रकृतिः। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्" (१।४।२३) इति न्यायात् मूलप्रकृतिस्तु त्वमेवेत्यर्थः। यद्वा, सूक्ष्मा दुर्ज्ञेया तर्हि कथं ममापि रजआदिमयत्वं? नेत्याह-अरजः सत्त्वतमोमयीति अव्यक्तः सूक्ष्मचैतन्यरूपत्वात् अध्यक्ष इति पाठे देहाद्यधिष्ठातेत्यर्थः। तमेव लक्षयति-सर्वक्षेत्रस्य देहस्य विकारा बाल्याद्यवस्थास्तदनुसन्धानकर्ता तथा चैकादशे "नात्मा जजान न मरिष्यति नैधते ऽसौ न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि" इति। यद्वा, पुरुषः प्रकृत्यधिष्ठाता सृष्टिहेतुः अव्यक्तः सर्वागोचरः पाठान्तरे सर्वसाक्षी अत एव सर्वेति॥ ३०-३१॥ विज्ञातुं साक्षात्कर्तुम् अन्यत्तैः तत्र विकारैः प्राकृतैरित्यस्य व्याख्या बुद्धिविकारैरिति गुणैरित्यस्य चेन्द्रियादिभिरिति। अथ च श्लेषेण एवं परमानुग्रहकृदपि साक्षात् दृश्यमानोऽपि त्वमस्मादृशैर्वशीकर्त्तुं तत्त्वतो ज्ञातुं वा न शक्यत इत्याहतुः-गृह्येति, गृह्यमाणैः साक्षादनुभूयमानैः अविकारैः सदैव विक्रियाशून्यैः प्राकृतैः स्वाभाविकैर्गुणैः कारुण्यादिभिर्विशिष्टोऽपि त्वम् अग्राह्यः वशीकर्तुमशक्य इत्यर्थः। परमस्वतन्त्रत्वात् अवतारिकायाः पक्षान्तरे तत्त्वतो ज्ञातुमशक्यः एकस्यैव युगपद्विभुत्वमध्यमत्वादिना परमदुर्वितर्कत्वात् तत्र च इह श्रीनन्दगोकुले प्राक् प्रथमत एव सिद्धं नित्यं प्रकटतया वर्तमानमपि त्वां गुणान् भक्तिलक्षणान् सम्यक् श्रितः आश्रितोऽपि कः विशेषेण ज्ञातुम् अर्हति योग्यो भवति शक्तोऽपि वा अपितु न कोऽपि लौकिकालौकिकताप्रकटनेन परमदुर्बोधलीलत्वात्। यद्वा, गुणैर्दामभिरग्राह्योऽपि त्वं तान् गुणान् संश्रितः तैर्बद्ध इत्यर्थः। तथानुक्तिस्त्वादरेण अतः कोन्वित्यादिबन्धनदर्शनेन परममोहोत्पादनादिति भावः। सम्वृत इति पाठेऽपि सम्यक् वृतत्वेन स एवार्थः॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यद्यप्यावां महापराधिनौ, तथापि त्वया नितरामनुगृहीतौ; तच्च तवोचितमेवेत्याशयेनोचतुः-कृष्णेति हे नराकृतिपरब्रह्मन्! वीप्सा-परमानन्देन प्रेमसम्भ्रमेण वा, किं वा जिह्वाकर्षककृष्णनामस्वभावेन; यद्वा, उलूखलकर्षणादिबाल्यलीलारतस्य महाचञ्चलस्य क्षणं स्थैर्य्यापादनेनाभिमुखीकरणाय कृष्णत्वमेव प्रपञ्चयता। महायोगिन् हे अचिन्त्यानन्तैश्वर्य्येत्यर्थः, यतस्त्वमाद्यः सर्वदेवश्रेष्ठः परः पुरुषश्च परमात्मा परमेश्वरो वा, अत ईदृशी कृपा युक्तैवेति भावः, किञ्च, इदं सर्वमेव कार्य्यकारणात्मकं जगद् ब्रह्मणः सर्व व्यापकस्य तव, किंवा त्वद्विभूतिरूपस्य ब्रह्मणो रूपं विवर्त्तं विदुर्वेदान्तिनः। एवमावयोरपि नित्यत्वदीयत्वेनोनुग्रहो घटतैवेति भावः॥ २९॥ किञ्च, त्वमिति, इत्थं तवैव सर्वप्रवर्तकत्वेन तत्त्वतोऽस्मदपराधाभावात्, किंवा स्वत एव वहिरन्तस्त्वदेकनाथत्वादनुग्राह्यौ भवाव एवेति भावः। ननु सर्वप्रवर्त्तकः कालो जगत्कारणानाञ्च महदादीनामेव रूपम्? तत्राहतुः-त्वमेवेति सार्द्धेन कालत्वे हेतुतया भगवानित्यादि विशेषणचतुष्कम्, भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्तो विष्णुर्व्यापकः न व्येति क्षीयत इत्यव्ययः, ईश्वर, सर्वनियन्ता, कालस्यापि तदंशत्वेन तादृशत्वात् सूक्ष्मेति कारणावस्थोक्ता, रजः सत्त्वेति

विश्वस्य वैचित्र्यपेक्षया सच्चिदानन्दशक्त्यैर्यवच्छेदार्थञ्च। यद्वा, रज आदिगुणाश्च त्वमेवेत्यभिप्रायेण पुरुषो जीवोऽव्यक्तः केवलचैतन्यरूपत्वेन परमसूक्ष्मत्वात्। अध्यक्ष इति पाठे देहाद्यधिष्ठातेत्यर्थः। तमेव लक्षयति—सर्वे क्षेत्रस्य देहस्य विकारा बाल्याद्यवस्थास्तदनुसन्धानकर्त्ता, तथा चैकादशे (भा० ११।३।३८) 'नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ, न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि' इति। यद्वा, पुरुषः प्रकृत्यधिष्ठाता सृष्टिहेतुरध्यक्षः साक्षी अत एव सर्वेति कालादीनां चतुर्णां यथोत्तरं सृष्टिहेतुत्वे श्रैष्ठ्यातत् क्रमेण निर्देशः॥ ३०-३१॥ इह संसारे वर्त्तमानः, यतो गुण संवृतोऽतः को नु विशेषेण तत्त्वतो ज्ञातुमर्हति शक्नोति? विशब्देनेश्वरोऽस्तीति सामान्येन ज्ञानसत्ता सूचिता। अन्यत्तैर्व्याख्यातम् तत्र विकारैः प्राकृतैरित्यस्य व्याख्या-बुद्धिविकारैरिति गुणैरित्यस्य चेन्द्रियादिभिरिति, अथवैवं परमानुग्रहकृदपि साक्षाद्दृश्यमानोऽपि त्वमस्माद्दृशैर्वशीकर्त्तुं तत्त्वतो ज्ञातुं वा न शक्य इत्याहतुः—गृह्येति, गृह्यमाणैः साक्षादनुभूयमानैर्विकारैः सदैव विक्रिया शू यैः प्राकृतैः स्वाभाविकैर्गुणैः कारुण्यादिभिर्विशिष्टोऽपि त्वमग्राह्यो वशीकर्त्तुमशक्य इत्यर्थः, परमस्वतन्त्रत्वात्। यद्वा, तत्त्वतो ज्ञातुमशक्यः, एकस्यैव युगपत् स गुणत्वनिर्गुणत्वादिना परम दुर्वितर्क्यत्वात्। तत्र चेह श्रीनन्दगोकुले प्राक् प्रथमत एव सिद्धं नित्यं प्रकटतया वर्त्तमानमपि त्वाम्, किं वा प्राक् प्राचीनानपि गुणान् भक्तिलक्षणान् सम्यगाश्रित आश्रितोऽपि को विशेषेण ज्ञातुमर्हति योग्यो भवति शक्नोति वा? अपि तु न कोऽपि। यद्वा, को ब्रह्माऽप्यर्हति किम्?—काका, नैवेत्यर्थः-विचित्रापूर्वदर्शितनिजाशेषभगवत्ता प्रकटनेन परम दुर्बोधलीलत्वात्। यद्वा, यतो गुणैर्दामभिर्गुणान् वा संश्रितस्त्वमुक्तस्वरूपस्य तव कथमपि दामबन्धनासम्भवेऽपि तत्स्वीकारेण परममोहोत्पादनादिति भावः॥ ३२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

रूपं शरीरम्॥ २९॥ देही देहान्तर्गतोऽस्मद्धृदयकमलस्थः परमात्मा त्वं जीवशरीरकोऽस्मदिन्द्रियेश्वरः इत्यन्वयः॥ ३०-३१॥ गुणैर्गुणमयैः कार्यैः गृह्यमाण एतत्कारणमित्यवगम्यमानइन्द्रियैरग्राह्यम् प्राक्सिद्धं कारणभूतम्॥ ३२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

गोपबालं मां युवां देवौ किमिति प्रणतावित्यत्राहतुः-हे कृष्ण कृष्ण! महायोगिन्! अचिन्त्यप्रभाव! न केवलं गोपबालस्त्वमपितु परमपुरुषः, कोसौ? य आद्यो जगत्कारणभूतः ननु, कार्यकारणयोः प्रायशः सालक्षण्यदर्शनात्कथं चिदचिदात्मकस्य जगतस्तद्विलक्षणोऽहं कारणमित्यत्राहतुः—व्यक्तं नामरूपाभ्यामव्यक्तं चेदं विश्वं ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वादिकल्याणगुणैर्बृहतस्तव रूपं शरीरं विदुर्वेदान्ता आमनन्तीत्यर्थः। वेदान्ताश्च "यस्य पृथिवी शरीरं यस्यात्मा शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरम्" इत्याद्याः सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वेन कारणभूतः स्थूलचिदचिच्छरीरकत्वेन कार्य्यावस्थश्च त्वमेवेति भावः॥२९॥ न केवलमुपादानकारणमेवापि तु निमित्तकारणमपीत्यभिप्रायेण तदुपयुक्तगुणवत्तामाहतुः-त्वमेक इति। एकशब्देन अधिष्ठात्रन्तरव्यावृत्तिः सर्वभूतानां यानि देहादीनि तेषामीश्वरः नियन्ता तत्रासवः प्राणाः आत्मा मनः भवन्ति देवमनुष्यादिरूपेण जायन्त इति भूतानि क्षेत्रज्ञास्तेषां देहादिसम्बन्धोपादानोपयुक्तसार्वज्ञ्यादिगुणयोगेनान्तःप्रविश्य नियन्तेत्यर्थः। एवं निखिलजगत्कारणत्वं तच्छरीरकत्वञ्चोक्तम्॥ अथ तदुभयनिबन्धनं जगदन्तर्भूत कालादिसामानाधिकरण्यमाहतुः-त्वमेव काल इति। यद्वा त्वमेक इति स्थितिकालत्वमुक्तं त्वमेव काल इति लयकारणत्वं कालो मृत्युः त्वं महानित्यादिना सामानाधिकरण्यमुच्यते इति विवेकः हे भगवन्! अव्यय इत्यनेन कारणत्वप्रयुक्तदोषपरिहारः भगवन्नित्यनेनावतारदशायामपि षाड्गुण्य पूर्तिरुक्ता, विष्णुरित्यनेन देवताविशेषत्वञ्च॥३०॥ त्वं महान् महत्कारणत्वात्तच्छरीरकत्वाच्च तत्समानाधिकरणः एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यं न केवलं महानेवापि तु तत्तत्कारणभूता रज आदिगुणत्रयात्मिका सूक्ष्मा नामरूपविभागानर्हा प्रकृतिरपि त्वमेव तथा पुरुषो जीवस्त्वमेव, कथम्भूतः? अध्यक्षः देहप्रभृतिजीवपर्य्यन्तानामधिष्ठाता क्षेत्राणि शरीराणि बुद्धिपर्य्यन्तेन्द्रियसहितानि तानि वेत्तीति तथा युगपत् क्षेत्रेन्द्रियवृत्तिविदित्यर्थः॥ ३१॥ रूपं ते ब्रह्मणो विदुरित्यनेनैवंविधं त्वां केवल वेदान्ता एव विदुर्न त्विन्द्रियाणीत्यभिप्रेतं तदेव विशदयन्तौ उपपादयतः गृह्यमाणैरिति। प्राकृतैर्गुणैर्विकारैर्गुणपरिणामरूपैरिन्द्रियैस्त्वमग्राह्यः गृहीतुं विषयीकर्तुमशक्यः, तत्र हेतुं वदन्तौ गुणान विशिष्टः गृह्यमाणैरिति। यथा श्रोत्रादिभिर्गृह्यमाणाः शब्दादयो न श्रोत्रादीन् गृह्णन्ति तथा त्वया गृह्यमाणा विकारास्त्वां न गृह्णन्तीति भावः। नन्वग्राह्यस्य मम कारणत्वसमभ्यात्पोपास्यत्वानुपपत्तिस्ततश्च कारणत्वानुपपत्तिरित्यत्राहतुः-कोन्विति। गुणैर्गुणकार्यैरिन्द्रियैः संवृतः आवृतः सहित इति यावत् कोनु पुमान् प्राक् सिद्धं गुणेभ्यः प्रागेव तत्कारणतया तत्प्रकाशतया च सिद्धं त्वाम् इह ज्ञातुं विषयीकर्तुमर्हन्ति गुणसंवृतः को वाऽर्हतीत्यनेन विशुद्धमनास्तु ज्ञातुमर्हतीति सूचितम् अनेनानुपास्यत्वं परिहृतम् यद्वा ननु तर्हि जीवो जानात्वित्यत आहतुः कोन्विति॥ ३२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

व्यक्ताव्यक्तं कार्यकारणात्मकं रूप्यत्वात्प्रतिमात्वेन सन्निधियोग्यत्वाद्रूपमुच्यते न तु साक्षाद्रूपम् "रूप्यत्वात्तु जगद्रूपं विष्णोः साक्षात्सुखात्मकम्" इत्यादिस्मृतेः। ब्राह्मणाः वैदिकाः॥ २९॥ सन्निधियोग्यं दर्शयति—त्वमिति। सर्वभूतानां देहे

आत्मनो मनस इन्द्रियाणामीश्वरः स्वविषयशक्तिप्रदः न केवलमन्तरेव प्रवर्तकः बहिरपि सर्वशक्तिमत्त्वात्तत्तच्छक्तिप्रबोधक इति भावेनाह, त्वमिति। तदुक्तं "विष्णुः सर्वगुणोद्रेकात्काल इत्यभिधीयते" इति "कल कामधेनौ" (१) इति धातुः। विष्णुः व्यापनशीलः व्याप्तस्याकाशवदुत्पत्तिविनाशौ स्यातामिति नेत्याह, अव्यय इति "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" इति स्मृतेः अन्तर्यामीति वा आत्माऽन्तर्यामीति ॥ ३० ॥ प्रकृत्यादेरचेतनत्वेन स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः तत्सत्ताया अपि तदधीनत्वेन तत्त्वव्यपदेशो युक्त इति भावेन स्तौति—त्वमिति। महान् महत्त्वं पूर्णगुणत्वेन पुरुषशब्दवाच्योऽपि त्वमेवेत्याह, त्वमिति। अध्यक्षः साक्षी साक्षित्वं व्यनक्ति सर्वेति, सर्वक्षेत्राणां कारणभूतानि प्राणाश्रद्धार्थः खम्वायुरित्यादीनि विकारशब्दवाच्यानि वेत्ति जानाति तत्त्वेन पश्यतीति सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥ नन्वव्यक्तो हरिरिति पुरस्तादुदीरितं तत्कथं "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इतीन्द्रियविषयत्वोक्तेरत्राह, गृह्यमाण इति। स्वयमेव स्वात्मानं गृह्णाति न त्वन्य इत्यर्थः। तदुक्तं "स्वात्मना गृह्यमाणः" इति किमेवं विवेकः क्रियते ? इति तत्राह, अग्राह्य इति। विकारैः प्राकृतैः महदहङ्काराद्यभिमानिभिः ब्रह्मादिभिरग्राह्यः। ननु, नित्यसमीपस्थाभिर्दुर्गादिभिर्ग्राह्य एवेत्यत्राह, गुणैरिति। सत्त्वादिभिर्गुणाभिमानिनीभिरपि, ननु "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" इति श्रुतेः। ब्रह्माद्यवेद्यः कथमुच्यते ? इति तत्राह, क इति। अत्र संस्थितिशब्देन उत्पत्तिर्लक्ष्यते स्थितेरुत्पत्त्यपेक्षत्वात् इह जीवराशौ कः पुमान् गुणभूतस्य हरेः क्रीडायामन्तरङ्गस्य जगतः स्थितेरुत्पत्तेः प्राक् सिद्धम् "आनीदवातं स्वधया तदेकम्" इति श्रुतिसिद्धं ब्रह्म विज्ञातुमर्हति शक्नोति अर्हति त्वादिति ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्ण कृष्णेति परमस्वरूपत्वात् परमनामत्वाच्च प्राङ्निर्देशो वीप्सा च परः पुरुषो भवान् तत्त्वेऽपि आद्यः स्वयं भगवानित्यर्थः ॥ २९-३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ यमलार्जुनभङ्गे नलकूवरमणिग्रीवयोः स्तुतिमाह—कृष्ण कृष्णेत्यादि। हे कृष्ण कृष्णेति हर्षादुद्भूतयोर्वीप्सा। महायोगोऽचिन्त्यपरमैश्वर्यम् तदस्यास्तीति नित्ययोगे इन्। त्वमाद्यः, यतः परः पुरुषः पुरुषोत्तमः। तवेदं श्रीयशोदा तनयाख्यं रूपं व्यक्ताव्यक्तम्, भक्तेषु व्यक्तं प्रकटम्, अभक्तेष्वप्रकटम्। विदुस्तत्त्वविद इति। कीदृशस्य ब्रह्मणः ? ब्रह्मस्वरूपस्य, त्वमेव पूर्णं ब्रह्म, त्वदतिरिक्तं न तदन्यत्। अथवा, ब्रह्मण इत्यनादरे षष्ठी। निर्विशेषं प्रति यदन्यं मन्यन्ते, तदनादृत्य विदुरित्यन्वयः। कीदृशं विश्वम् ? विशति सर्वेषां हृदयमिति सर्वमनोज्ञत्वात्, विशेर्व उणादिकः। अथवा इदं विश्वम् एतत् प्रकारकं विश्वमखिलं विलसितं पूतनावधादि यत्र ॥ ३०-३३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्नित्यादि। ते तव यशोदानन्दनस्य रूपं व्यक्ताव्यक्तं विदुः, भक्तेषु व्यक्तं यथार्थतयाप्रकटम्, अभक्तेष्वव्यक्तमयथार्थत्वेन स्फुरत् ते तव तत्त्वं न जानन्तीति भावः। किम्भूतस्य ? ब्रह्मणो बृहतः अथवा, ब्रह्मण इत्यनादरे षष्ठी, ब्रह्म चानादृत्य विदुरित्यर्थः। रूपं कीदृशम् ? इदं विश्वमिदमेव विश्वं ज्ञाति-प्राणधनादिकमिति प्रतीतिर्यत्र ॥३०-३३॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उलूखले बद्धं गोपालबालं मां युवां देवौ किमिति प्रणतावित्यत आहतुः—कृष्णकृष्णेति। द्वित्वं द्वयोरेव युगपदुक्तेः त्वं परः पुरुषो भगवान् तत्राप्याद्यः स्वयं भगवान् अतस्त्वं गोपालबालो भवस्येवेति भावः। हे महायोगिन्नचिन्त्यप्रभाव अस्मन्मोचकस्य तवैतद्बन्धनकारणमतर्क्यमिति भावः। सर्वस्वरूपस्य तव केन बन्धनं सम्भवेदित्याहतुः—व्यक्ताव्यक्तं कार्य्यकारणात्मकम् ॥ २९ ॥ नच त्वदन्यो बन्धकः कोपीश्वरोस्तीत्याहतुः—त्वमिति। असवः प्राणाः आत्माऽहङ्कारः सर्वात्मकत्वात्त्वमेवैक ईश्वर इत्याहतुः—त्वमिति। कालो नाम तव चेष्टा महान् कार्य्यं प्रकृतिः शक्तिः पुरुषोंऽशः कीदृशः अध्यक्षोऽन्तर्य्यामी सर्वेषु क्षेत्रेषु विकारान् मन आदीन् वेत्ति अतो विष्णुरीश्वर एको भगवांस्त्वमेव ॥ ३०-३१ ॥ त्वत्कृपयैव त्वं दृश्यसे वस्तुतस्त्वमदृश्य एवेत्याहतुः—गृह्यमाणैस्त्वया दृश्यमानैर्विकारैर्बुद्धीन्द्रियादिभिर्द्रष्टा त्वं न गृह्यसे कीदृशैः प्राकृतैर्गुणकार्य्यैः तेनाप्राकृतैरगुणकार्यैर्बुद्धीन्द्रियादिभिस्तु त्वं दृश्यस एवेति भावः। नन्वप्राकृतत्वाज्जीवो जानातु नैवेत्याहतुः कोन्विहेति। प्राक् सिद्धमिति त्वदीयतटस्थशक्तिविलासत्वाज्जीवस्यापि त्वं कारणमित्यर्थः। गुणसम्वृत इति गुणातीतस्तु स त्वद्भक्त्या कथञ्चित्त्वां जानातीति भावः ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे कृष्ण कृष्ण ! महायोगीन् ! यः देवर्षिणोक्तः वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यथ इति स त्वम् आद्यः पुरुषो विश्वहेतुः निःसमानातिशयः विश्वभिन्नाभिन्नस्त्वं भगवत आहतुः व्यक्ताव्यक्तं चिदचिदात्मकं विश्वं ब्राह्मणाः

सनकनारदादयस्ते रूपमाहुः स्वरूपतो भिन्नमपि तज्जत्वादिहेतुभिस्त्वत्तोऽभिन्नमाहुरित्यर्थः। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इति श्रुतेः ॥२९॥ भगवतः सर्वनियन्तृत्वमाहतुः—त्वमेक इति। सर्वभूतानां ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यंतानाम् देहादीनामीश्वरः एको मुख्यस्त्वमेवासि एवं सार्द्धेन विश्वहेतोर्भगवतो विश्वभिन्नाभिन्नत्वं तद्वत्सर्वभूतदेहादिनियन्तृत्वं चोक्तमथ पृथक् पृथक् अचेतनानां कालादीनां भगवच्छक्तित्वेन चेतनानां भगवदंशत्वेन च भिन्नत्वेपि भगवदभिन्नत्वमाहतुः—काल इति सार्द्धेन ॥३०॥ पुरुषो जीवः जातावेकवचनम् ॥ ३१ ॥ ननु, सर्वरूपोऽहं चेत्तर्हि सर्वे ब्रह्मविदो भवन्त्वित्यत्राहतुः गृह्यमाणैरिति। प्राकृतैः कार्यभूतैः गुणैरिन्द्रियैः ग्राह्याः ये प्राकृताकार्यभूताः विषयाः तैः कारणभूतस्त्वमग्राह्योसि यद्यपि कार्यकारणरूपस्त्वमेवासि कार्यभूतैरिन्द्रियैः कार्यरूपो ग्राह्योपि "कारणं तु ध्येयम्" इति श्रुतेः मुक्तिप्रदेन कारणरूपेणाग्राह्योसीत्यर्थः। अतः गुणसंवृतः गुणैः प्राकृतैस्त्रिभिः पराभूतः प्राक् सिद्धं विश्वकारणं त्वां विज्ञातुं कोनु इह संसारे अर्हति न कोपीत्यर्थः। अतः सर्वे ब्रह्मविदो न भवन्ति किन्तु कश्चिद्गुणातीतस्त्वदनुग्रहेण त्वां जानातीति भावः॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उलूखलनिबद्धं मां गोपालं देवौ युवां किमिति प्रणमथस्तत्राहतुः—कृष्ण कृष्णेति। द्वयोर्युगपद्युक्तेर्द्वित्वं हे महायोगिन्! अविचिन्त्यप्रभाव आवयोर्मोचकस्य तवेदं बन्धनं कारणं दुर्बोधमिति भावः। गोपबाल एव त्वं परः पुरुषः परेशः तत्राप्याद्यः स्वयम्प्रभुः स्वशक्त्या सर्गरूपस्य ते बन्धनं केन स्यादित्याहतुः व्यक्ताव्यक्तं कार्यकारणभूतम् ॥ २९ ॥ न च त्वत्तोऽन्यो नियन्ता कोप्यस्तीत्याहतुः—त्वमिति युग्मम्। देहश्च असवः प्राणाश्च आत्माहङ्कारश्च इन्द्रियाणि च तेषामीश्वरो नियन्ता नन्वस्य विश्वस्य कालो निमित्तप्रकृतिरुपादानं ततो जातो महानहङ्कारादिद्वारा विश्वात्मना परिणते कर्ता नियन्ता च पुरुः कारणोदशयः किमत्राहमिति चेत्तत्राहतुः। त्वमेवेति सार्द्धकेन यत ईश्वरो भगवान् विष्णुर्व्यापकोऽतः कालादित्वमेव सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व इति वचनात् कालाद्यध्यक्षः पुरुषस्तु त्वत् स्वांशो भवेदतः सोऽपि त्वमिति व्यापकाद्वैतमुक्तम्। चिज्जडयोर्मुख्याद्वैतस्य बाधितत्वात् सर्वेषु क्षेत्रेषु शरीरेषु विकारान् मनःप्रभृतीन् वेत्तीति सर्वज्ञ इत्यर्थः ॥ ३०-३१ ॥ ननु युष्मत्प्रत्यक्षस्य मात्रोलूखले निबद्धस्य मेऽतिस्तुतिः किमिति क्रियते तत्राहतुः—गृह्यमाणैरिति। त्वया गृह्यमाणैर्दृश्यमाणैर्विकारैर्गुणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्द्रष्टा त्वं न गृह्यसे विकारत्वं तेषां कुतस्तत्राह प्राकृतैरिति मायाकार्यैरित्यर्थः। न नु जीवो विज्ञानमयस्त्वाज्जानीयात्तत्राहतुः। तादृशोपि जीवो गुणसंवृतस्त्वं मायया विलुप्तप्रज्ञानः कस्त्वां विज्ञातुमर्हति न कोऽपीत्यर्थः। त्वां कीदृशमित्याह प्राक् सिद्धं तद्देहेन्द्रियादि प्रवर्त्तकतया पूर्वमेव सिद्धमित्यर्थः। प्राकृतैर्गुणसंवृत इत्याभ्यामतीतमायः पराख्यत्वच्छक्तिसिद्धेन्द्रियस्तु भक्तस्त्वां पश्येदेवेति सूच्यते ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्निति श्लोके लोकेशस्य ब्राह्मणा इदं व्यक्ताव्यक्तं विश्वं ते स्वरूपं विदुरिति जगदैक्यमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीत्यापदपनुत्तये प्रमाणेन रूपादिपदार्थनिरूपणपरेण तत्तात्पर्यमाह॥ रूप्यत्वादिति। रूप्यत्वान्निरूप्यत्वादुत्पाद्यत्वादिति यावत्। रूप प्रतिष्ठायामिति स्मरणात्प्रतिष्ठाप्यत्वादिति वा। जगद्रूप्यत्वाद्विष्णो रूपमित्युच्यते। गौणोऽत्र रूपपदार्थश्चेत्कासौ मुख्यार्थ इत्यत आह॥ सुखात्मकमिति। नित्यपूर्णसुखात्मकं परमात्मनः स्वरूपं साक्षान्मुख्यं समुद्दिष्टमिति वामनोक्ते रूपं निरूप्यमित्यर्थः। ननु बहुस्थले जगदैक्यपराकृतये पराक्रान्तं प्रागाचार्यैस्तत्प्रणाड्यार्थो ज्ञातुं प्राज्ञैः शक्यत इति पुनः पुनः कुतः प्रमाणोपन्यसनं क्रियत इति चेत्। प्रथमं द्वितीयस्कन्ध एवैवमनुयोज्यं किङ्करनियोज्यभवता भवतु किं जातं वदामः। एकस्मिन्नर्थे मानानि नानाप्रणाड्या व्यवस्थापकानि सन्ति तानि चेकत्रैवोदाहृतानि चेन्मन्दविन्दविन्दुसंन्दोहरूढाणि भवेयुः। ते ते प्रकाराश्च बोध्या बोध्यान्प्रतीति कृपणकरुणावरुणशरणमाचार्या उदाजह्रुरुदाहरिष्यन्ति चेति चेतः परं वा चेतः परं कुरु॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ यतः कर्षसि देवेश नियम्य सकलं जगदित्यादेर्जगत्कर्षकत्वाद्धे कृष्ण प्रस्तुतमुलूखलकर्षकतया चेति पुनर्हे कृष्णेत्युक्तिः। महायोगिन्महोपाय महाणिमादियोग त्वमाद्यः परः सर्वोत्कृष्टः पुरुषो व्यक्ताव्यक्तं कार्यकारणात्मकमिदं विश्वं समस्तं विश्वं जगते तव रूप्यत्वाद्रूपमिति ब्राह्मणा अपरोक्षज्ञानिनो ब्रह्माणतीति ब्राह्मणोऽपरोक्षज्ञानीति गीताभाष्योक्तेः। वर्णविपर्ययो निरुक्तत्वादित्युक्तत्वात्तट्टीकायां। आद्यस्वपरत्वपुरुषत्वमहायोगित्वादियुतं त्वमन्यद्रूपं विदुरित्यपि मानानुयानयोजना ज्ञेया। त्वत्वावन्यपर्यायौ ऋचां त्वः पोषमास्त इत्यादेस्त्वशब्दोऽन्यार्थकः॥ २९॥ त्वमेकः सर्वभूतानां देह आत्मेति श्लोके देह इति प्रथमान्तेन जडदेहैक्यतोच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय स्वयं पदं विवक्षितं दर्शयति॥ देहे शरीर इति। तत्रैव त्वमेव काल इति क्षणलवाद्यात्मजडकालात्मकता विष्णोस्तथैवोत्तरस्मिन्महदादिरूपतोच्यत इत्यापत्प्रच्युत्यै प्रमाणे आह॥ विष्णुरिति। सर्वगुणोद्रेकादुद्रिक्तत्वाद्विष्णुः काल इत्यभिधीयते न तु कालात्मकत्वादित्यर्थः। कल छेदने कल बन्धने कल ज्ञाने कल कामधेनुरिति च पठन्ति। यथा कामधेनुः सर्वार्थान्ददाति तथाऽयमपि धातुः सर्वार्थवाचीत्यर्थ इति गीताभाष्यप्रमेयदीपिकाभ्यामुक्तेः सकलगुणोद्रिक्तता कालशब्दार्थ इत्यर्थः। प्रथमान्तः कामधेनुरिति पाठे

ललितार्थं इतरस्तु टीकाकृदटीकत इत्युपेक्ष्यः। क्लिष्टार्थताऽपि स्पष्टमाभातीति वामन इति शेषः॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ सर्वभूतानां देहे आततत्वादात्मा इन्द्रियाणां चेश्वरः स्वविषयशक्तिप्रदस्त्वमेव कालः सर्वगुणादीर्ण ईश्वर ईशेभ्यो वरोऽव्ययो नाशशून्यो भगवन्विष्णुस्त्वमेकोऽन्तर्भेदहीनस्तत्तदन्तर्गतरूपः ॥ ३० ॥ प्रकृत्यादेस्तद्वशत्वात्तदधीनत्वाद्विष्ण्वधीपत्वात्स्वाधीनप्रकृत्यादिकत्वाद्विष्णुः प्रकृत्यादिरित्युदीर्यते। तत्र दृष्टान्तमाचष्टे॥ यथेति। भृत्यकृताद्भृत्यप्राप्तफलात्स्वयं राजा कर्ता जयादिकर्ता तत्फलवानितीर्यते। यथा देहं स्वतन्त्रत्वात्स्वाधीनत्वात्स्वयमित्याहुः। अञ्जसेत्यत्रैव प्रागप्यन्वेति। स्वातन्त्र्यं तद्गतत्वं च शब्दवृत्तेर्हि कारणं। स्वातन्त्र्यं तत्र मुख्यं स्यात्कुतो राज्ञि जयोऽन्यथेत्युक्त्यनुरोधतो यथा राजेत्येकं यथा देहमित्यपरं निदर्शनमिति ज्ञेयं॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ मूले महान्प्रकृतिरित्युक्तिर्माने च प्रकृत्यादेरिति च कथमिति चेत्। केचिन्महानित्यप्युदीर्यत इति योजनमुशन्ति। प्रकृतिग्रहणेनैव महतः प्राकृतस्य ग्रहणं भवत्येवेति तात्पर्ये तदग्रहो मूले तु व्यक्तमव्यक्तमित्युक्त्यनुरोधेन महतः पूर्वं प्रकृतेश्चानन्तरमुक्तिरिति समादधुः। वस्तुतस्तु प्रकृतिरादिर्यस्य तस्य महतस्तथैव प्रकृत्यादिर्महानित्यन्वयने सोऽपि महानुक्तो भवतीति समाधिरवधेयः। त्वं महान्महत्तत्वं रजःसत्वतमोमयी सूक्ष्मा प्रकृतिस्त्वं तत्तत्स्वामिकत्वान्महान्प्रकृतिश्चेत्युदीर्यते अध्यक्षः पुरुषो जीवस्त्वमध्यक्षः साक्षितया पुरुषः पूर्णगुणतया शरीरशायित्वेन वा। साक्षिता साक्षितैतस्मिंस्त्वयीत्याह॥ सर्वक्षेत्रविकारविदिति। सर्वेषां क्षेत्राणां ये विकारा आरम्भकाः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाद्याः खं वायुः पृथ्वीत्यादेस्तान्वेत्तीति स तथा॥३१॥ गृह्यमाणस्त्वमग्राह्य इति श्लोक एकेन गृह्यमाणत्वागृह्यमाणत्वे भगवत इति प्रतीयते तच्च विरुद्धमित्यतः प्रमाणानुसारेणाध्याहारेण स्वयं व्याकृत्य तथोत्तरश्लोके छन्नमहिमत्वमुक्त्वा ते नम इत्युक्तिरप्ययुक्तेत्यतो व्यवस्थापकं तन्मानमुदाहरति॥ स्वात्मनेति। स्वात्मना गृह्यमाणः स्वैः स्वकीयैः कृपापदैरात्मना च गृह्यमाण इत्यर्थः। अगृह्यमाणः स्वस्वेतरैरपि। अनन्तमिति वेतीशस्त्वनन्तत्वं तथा। अनन्तस्य तु सङ्ख्याने न तु सर्वज्ञता भवेदित्येकादशतात्पर्योक्तेः। ज्ञेय एतैः सदा युक्तैर्भक्तिमद्भिः सुनिष्ठितैः। ज्ञानगम्यमित्यादेश्च। आचार्यचरणेऽपि स्वेनात्मनेत्येतावता पूर्तौ यत्स्वात्मनेत्यूचे तेनासूचयदमुमर्थमिति ज्ञेयं। अन्येषां स्वाननुगृहीतानामनुगृहीतानामपि साकल्येन छन्नः स्वस्य न तु छन्न इत्यन्वयः॥ ततश्चायं श्लोकद्विकार्थः॥ व्यक्ताव्यक्तत्वे एव भगवत इत्यवगमयति॥ गृह्यमाण इति। स्वैरात्मना च गृह्यमाणः स्वैः साकल्येन तथाऽऽत्मना चेतरैः सर्वथाऽग्राह्यः। ते च क इत्यत आह। प्राकृतैर्विकारैर्महदाद्यभिमानिभिर्ब्रह्मादिभिर्गुणैः सत्त्वाद्यभिमानिनीभिरग्राह्य उक्तरीत्या। गुणसंस्थितेर्गुणानां कार्योन्मुखीभवनादुत्पत्तेरिति यावत् प्रागेव सिद्धं त्वां विज्ञातुमिहाधिकारिवर्गे कोऽर्हति न कोऽपि। मूले विज्ञातुमित्यत्र विपदार्थः साकल्यादिरूप इति ज्ञेयं। इह जीवराशौ कोऽपि पुमानर्हति चेतस इयदामननादित्यादेः कश्चतुर्मुख एवेत्यावृत्त्याऽन्वयः। कश्छन्दसां योगमावेद धीरः। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं। ब्रह्मैनं पश्यति स्फुटमित्यादेः। वासुदेवाय वेधसे ज्ञानस्वरूपाय तस्मै दयोदयाभावदशायां परोक्षाय तुभ्यं दयोदयेऽपरोक्षभूताय तस्मै शापापनोदकतया नारदेरिताय तुभ्यमिदानीमस्मादृशां दृशां विषयायेति वा। आत्मद्योतैरात्मना द्योतः प्रकाशः कार्योन्मुखता येषां तैर्गुणैः सत्त्वादिभिः प्रकृत्येति यावत्। छन्नमहिमा माहात्म्यं यस्य तत्तस्मै ब्रह्मणे गुणपूर्णाय। तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकमिति श्रुतेः। पिहितत्वमपीतरापेक्षयेति प्राग्विवृतरीत्या ज्ञेयं। नमोऽस्त्विति शेषः॥ ३२-३३॥

श्रीसुबोधिनी

दशभिः प्राणभृच्छ्लोकैश्चक्रतुः स्तोत्रमुत्तमम्। ज्ञानवैराग्ययोरत्र निर्णयः समुदीरितः॥ १॥
मूलरूपो भवान् पूर्वं जगद्रूपस्तथैव च। मध्यरूप इति त्रेधा ज्ञानरूपो निरूपितः॥ २॥
माहात्म्यज्ञापनार्थाय दुर्ज्ञेयत्वं च वर्णितम्। सर्वरूपोपि सर्वस्मिन् गृह्यमाणेन गृह्यते॥ ३॥
आध्यात्मिकस्ततो नायं भौतिकोपि ततो नहि। दैविकत्वेन सर्वः स्यात् द्वयं तस्माच्च जायते॥ ४॥
अतः सर्वत्वकर्तृत्वे ज्ञानभक्ती फलिष्यतः। अतो ज्ञानं निरूप्यादौ भक्तिमाहतुरुत्तमाम्॥ ५॥
अनेनैव च वैराग्यं ज्ञानाजनकता यदि। तदा सर्वं परित्याज्यमन्यथा स्याद् विनाशनम्॥ ६॥
भक्तिसिद्ध्यै तु यज् ज्ञानं श्लोके षष्ठे निरूप्यते। अन्यथाभावशङ्काया व्यावृत्त्यर्थं भवान् परः॥ ७॥
भगवन्तं नमस्कृत्य गमनप्रार्थना कृता। तदयुक्तं भक्तिमतामिति भक्तिस्तु षड्गुणा॥ ८॥
भक्तैः सहैव सा कार्या परोक्षेणैव सिध्यति। गुप्तो रसस्तदोद्बुद्धो रसतां याति नान्यथा॥ ९॥
गुणप्रधानभावत्वमेकत्र हि विरुध्यते। अतोत्र भगवाँल्लीलां स्वयं कर्तुं समुद्यतः॥१०॥
स्वस्यैव रसभोगार्थं परार्थं वेत्यनिर्णयः। ताभ्यां विमोचनं नैव शक्यं पक्षद्वयेपि हि॥११॥

पूर्वस्मृतिः सन्दिग्धेति तन्निर्णयार्थं भगवानागत इत्युक्तं, सा स्मृतिः सर्वलोकप्रसिद्धा भवत्विति कृष्णस्वरूपं ज्ञातं निरूपयतः, "ज्ञानी प्रियतमोतो म" इतिवाक्यात्, अन्यथा सर्वैव स्तुतिर्विरुध्यते; तत्र प्रथमं पुरुषोत्तमो भवानित्याहतुः **कृष्ण कृष्णेति**, आदरे वीप्सा, **कृष्णः** सदानन्दः, स एव कृष्णनामा च, उभयविधाज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा तथोक्तं, आकृत्या चेष्टया च

नावयोर्भ्रम इत्याहतुर्महायोगिन्निति, लौकिका अपि नानायोगचर्यायां प्रवृत्ता हीनभावं न प्राप्नुवन्ति कुतः पुनर्निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः ? अतो नामरूपे वर्णनीयेर्थे न बाधके, **आद्य** इति, मूलभूतत्वमेव महत्त्वं सर्वेहिं स्वापेक्षया महत्त्वं ज्ञातव्यं, **आद्यस्तु** तथा, आद्यत्वं मतान्तरे चेतनस्यापि सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **पुरुष** इति साङ्ख्यतुल्यतामाशङ्क्याहतुः **पर** इति, पुरुषोत्तम इत्यर्थः, निराकारपक्षनिवृत्त्यर्थं **पुरुष**पदं, तस्मिन् पक्षेयंविकृतो भवेदेव, **परः** कालादीनामपि नियन्ता, एवं भगवतो मूलरूपत्वं निरूप्यकार्यरूपाभावे मूलरूपत्वं नोपपद्यत इति कार्यस्य चान्यथात्वे तस्य गौणत्वमविकृतत्वमसङ्गित्वं च विरुध्यत इति कार्यरूपमपि त्वमेवेत्याहतुर्**व्यक्ताव्यक्त**मिदमिति, इदं सर्वमेव जगद् द्विरूपमेव भवति कालेनापरिगृहीतम**व्यक्तं** भवति परिगृहीतं **व्यक्तं** भवति, आकाशपरमाण्वादीनामपि **व्यक्त**तेति केचित्, तदा सर्वमेव जगत् कालादितृणस्तम्बान्तं **व्यक्तम**व्यक्तं च भवति, अवयुत्यानुवादो वा, उभयथापीदं जगत् तवैव रूपं, अत्र प्रमाणमाहतुर्**ब्रह्मणो विदुरि**ति, **ब्रह्मणो** वेदात्, **ब्राह्मणा** इति वा, **ते ब्रह्मण** इति वा, तदा सर्वा एव श्रुतयः प्रमाणमित्युक्तं भवति, रूपमिति स्वरूपं निरूपकं वा ॥ २९ ॥ एवं सर्वरूपत्वं भगवतो निरूप्याधिदैविकप्रकारेणापि सर्वरूपत्वमाहतु**स्त्वमेक** इति, तत्तदाधिदैविकानां भेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याहतु**रेक** इति, देवादीनामुत्तमत्वात् तदाधिदैविकत्वमस्तु कृमिकीटाधिदैविकत्वं तु न भविष्यतीत्याशङ्क्याहतुः **सर्वभूतानामि**ति, आब्रह्मतृणस्तम्बान्तर्जातिभेदानां **देहा असवः** प्राणा **आत्मा**न्तःकरणमिन्द्रियाणी**श्वरो** जीवः, स्वात्मा जीवो वा, **इन्द्रिय**पदेन प्राणाः, **इन्द्रियाण्य**न्तःकरणं च, **ईश्वरो**न्तर्यामी, आधिभौतिकादीनामीश्वरो वा, देहद्वयसहितजीवस्य वा, नियामकत्वपक्षे भिन्नतया कालादीनामपि तथा त्वमिति कालादिरूपतामाहतु**स्त्वमेव काल** इति, **कालो** भगवच्चेष्टेति केचिद्, वस्तुतस्तु **त्वमेव काल**, तत्र हेतुमाहतु**र्भगवा**निति, ऐश्वर्यं सर्वस्यापि कालकृतमेवेति काल एवेश्वरः, तथा बलमपि, तारुण्य एव बलं, तपोयोगादिभिरपि कालपुष्टैरेव बलं सिध्यति, यशोपि काल एव, न हि सर्वदा कस्यचिद् यशो भवति, एवमन्येपि गुणाः कालान्वयव्यतिरेकात् काल एव षड्गुणहेतुरिति गम्यते, ननु **कालस्तु** विष्ण्वात्मकः, यो हि व्यापको भवति स कलयति न हि योयं व्याप्तुं न शक्नोति स कलयति, अतो विष्णुरेव कालो नान्य इत्याशङ्क्याहतु**र्विष्णु**रिति, त्वमेव **विष्णु**राधिदैविकः कालो यज्ञरूपो वा पालको वा सत्त्वात्मकः, तस्य भिन्नत्वे भगवतस्तदधीनत्वं स्यात्, **अव्ययो**क्षरमपि त्वमेव, अन्यथा भगवतः समवायित्वं न स्यात्, अक्षरमेव हि समवायिकारणं प्रकृतिपुरुषोपादानत्वात्, "सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः" इति सर्वत्वमन्यथाप्युपपद्यते, वस्तुनः परिच्छेदकत्वं न सर्ववादिसम्प्रतिपन्नं, अतोक्षरो भगवानेवेश्वररूपमप्यन्तर्यामिरूपं भिन्नरूपं वाधिकारित्वेन निर्दिष्टं यस्यासाधारणो धर्म ऐश्वर्यं भवति ॥ ३० ॥ एवमाधिदैविककालादिरूपत्वं निरूप्याध्यात्मिकत्वमाधिभौतिकत्वं च निरूपयितुं मध्यमभावं निरूपयति त्वं **महा**निति, सर्वस्यापि जगतोङ्कुरभूतो **महान्**, तस्यापि क्षेत्ररूपं **प्रकृतिः**, तस्या अपि कार्योत्पत्तिसाधारणरूपं योनिवद् या **प्रकृतिः** सा **सूक्ष्मा**, तस्या अपि मूलभूता गुणाः, **तन्मय्याधिदैविकी प्रकृतिर्गुणाश्च** त्वमेव, एवं पञ्चरूपत्वमुक्त्वा एवं योनिरूपत्वमुक्त्वा बीजरूपत्वमाहतु**स्त्वमेव पुरुष** इति, तस्याः प्रकृतेः **पुरुष**स्तस्यास्तावत्त्वसम्पादकः, **अध्यक्षः** साक्षी, साक्षिरूपं भिन्नमितिसिद्धान्तः, क्षेत्रज्ञश्च तथा क्षेत्राभिमानी जीवः सोपि क्षेत्रज्ञो भवति, क्षेत्रं जानातीतिव्युत्पत्त्या यः क्षेत्रज्ञः स मुख्यो भवान्, एतावता यत्रैव प्रमाणप्रवृत्तिः **केनापि प्रकारेण** तदेव भवानित्युक्तं भवति ॥३१॥ तत् प्रमाणं श्रुतिरेव न तु प्रत्यक्षमित्यलौकिकत्वसम्पादनार्थं भगवतः प्रत्यक्षग्राह्यत्वं निराकरोति **गृह्यमाणै**रिति, गृह्यमाणैर्घटपटादिभिः कृत्वा त्वमग्राह्यः, तद्रूपोपि तैर्गृहीतैर्न गृहीतो भवसि, न वा तैः सह, तेषां धर्माणां त्वदाश्रयाणां धर्म्याश्रयसहभाननियमात्, तत्र हेतु**र्विकारै**रिति, विकारे हि प्रकृतिर्न प्रतीयते यथा सन्निपाते, तत्र प्राकृतस्तिरोभवति, स्वप्रकाशमेव हि जडैः सह भासते यथा ज्ञानं विषयैः, तथा भगवानपि विषयान् प्रकाशयन् विषयैः सह कुतो न भासत इति चेत् तत्राहतुः **प्राकृतै**रिति, प्रकृतिर्हि जडा पुरुषाच्छादिका, प्रकृतौ प्रविष्टं पुरुषं न प्रकाशयति तथा **प्राकृतै**रपि तत्र स्थितो भगवानाच्छाद्यत इति न भगवान् गृह्यते, ज्ञानं त्वत्यनिष्टं, ननु पुरुषो भगवान् प्रकृतिं स्त्रियमुपमर्द्य कथं न प्रकाशत इत्याशङ्क्याहतु**र्गुणै**रिति, गुणा हि बन्धका रञ्जकाश्च, अतः प्रकृतौ प्रविष्टस्तद्गुणानुरक्तस्तद्गुणैर्वशीक्रियत इति तैः सह न प्रकाशते, ननु गुणाः साम्प्रतमेव जाता भगवांस्तु मूलभूत इति गुणक्षोभात् पूर्वमेव ज्ञातव्योत्तत्रापि तदनुवृत्तिः कथं न क्रियत इत्याशङ्क्य तत् परिहरन्तौ भगवांस्तथैव करोतीत्यत्र हेतुं वदन्तौ तादृशस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वमाहतुः **कोन्विहार्ह**तीति, इहास्मिन् संसारे न्विति वितर्के, पश्चादुद्भूतः **को वा प्राक् सिद्धं** गुणक्षोभात् पूर्वस्थितं **विज्ञातुमि**दमित्थंतया द्रष्टुमर्हति ? अपि तु न कोपि, नन्वथमप्यात्मत्वान्नेदानीं सिद्धः कुतो नार्हतीति चेत् तत्राहतु**र्गुणसंवृत** इति,गुणैर्वेष्टितः, गुणा हि पूर्वबुद्धिं दूरीकृत्य स्वरूपमप्यावृतवन्तः, अतो ज्ञातृज्ञेययोरावरणान्न ज्ञानं सम्भवति ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

दशमेध्याये त्वमेव काल इत्यत्र, **वस्तुनः परिच्छेदकत्व**मित्यादि । ननु समवेतस्य वस्तुनो घटादेः परिच्छिन्नत्वेन तत्समवायिनो भगवतोपि परिच्छेदापात इत्यत आह **वस्तुन** इत्यादि । सर्वं ब्रह्मेति वादी सर्ववादी । तथा च तन्मते स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन वस्तुरूपेणाप्याविर्भाव इति न तत्कृतपरिच्छेदशङ्का भगवतीत्यर्थः । अथवा समवेतस्य परिच्छिन्नत्वेपि न समवायिनस्तथात्वं सर्वेषां वादिनां सम्मतं, शब्दस्य तथात्वेप्याकाशस्यातथात्वादित्यर्थः । **गृह्यमाणै**रित्यत्र **तेषां धर्माणा**-

मित्यादि। भगवद्ग्रहणहेतौ सत्यप्यग्रह इति वक्तुं तद्धेतुमाहुः **तेषामित्यादि**। तेषां घटादीनां त्वदाश्रयत्वादाश्रयस्य च सहभाननियमात्तथा भवितुं युक्तमित्याद्यपक्षे धर्माणां घटादिधर्माणामपि तथात्वाद्धर्मिसहभाननियमात्तथेत्यर्थः। यद्यप्येवं धर्मिपदमनर्थकं तथापि प्रत्येकं भिन्नहेतुकथनार्थमिति ज्ञेयम्। एवं सत्यप्यग्रहे हेतुमाहेत्याहुः **तत्र हेतुरिति**॥ ३८-३२॥

इति दशमोऽध्यायः॥ १०॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कृष्ण कृष्णेत्यत्राभासे **पूर्वमि**ति, **देवर्षिर्मे प्रियतम** इत्यात्रान्यथेत्यादि, ज्ञानाभावे सर्वैव स्तुतिरपराधकारिणी स्याद् "योन्यथा सन्तमात्मान" मितिवाक्यादित्यर्थः, **उभयविधाज्ञाननिवृत्त्यर्थ**मित्युक्तरूपनामविषयकसदानन्दत्वज्ञानाभाव**निवृत्त्यर्थं**, **महत्त्वमि**ति **महा**योगिपदैकदेशोक्तं, **तथे**ति सर्वापेक्षया महान्, **निराकारे**त्यादि, एवं च **पुरुषपदस्थप्रयोजनद्वयं ज्ञापितं**, **तस्मिन् पक्ष** इति निराकारपक्षे, **अन्यथात्व** इति मिथ्यात्वे विकृतत्वे भिन्नत्वे च, **तस्ये**ति समवायिनः **गौणत्वमि**ति सगुणत्वं कालपरिगृहीतेऽव्यक्तत्वं व्यभिचरतीत्यत **आहुराकाशे**त्यादि, नन्वेवं सति मतान्तरस्य न सङ्ग्रह इत्यत **आहुरवयुत्ये**त्यादि, सर्वं जगदनूद्य तत्र व्यक्ताव्यक्तत्वं विधीयत इति मतान्तरस्यापि न सङ्ग्रह इत्यर्थः, **उभयथे**ति मतद्वयप्रकारेण, **निरूपकमि**ति ज्ञापक**म**॥२९॥ **त्वमेक** इत्यत्र **देहस्वात्मेन्द्रियेश्वर** इतिपाठेऽर्थान्तरमाहुः **स्वात्मे**त्यादि, ईश्वरपदव्याख्यान्तरं त्वग्रिमेश्वरपदपुनरुक्तिभिया, **तथात्वमि**तीश्वरत्वं, **वस्तुतस्त्वि**ति तु चेष्टात्वेपि भेदाभावप्रतिपादनाय, अन्यथा **'भगवत्कृतिः कालरूपे**'त्यादिसत्त्वशोधकाध्यायीयः पूर्वग्रन्थो विरुध्येत, **तस्ये**ति पूर्वोक्तरूपत्रयस्य, **अन्यथापी**त्युक्तवाक्याद् व्याप्त्यापीत्यर्थः, **वस्तुन** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्नन्वि**त्यादिनेत्यर्थ इत्यन्तेन, नन्वक्षरत्वेन निरूपिते सर्वरूपसङ्ग्रहात् पुनरीश्वरपदस्य किं प्रयोजनमत आहु**रीश्वररूपमि**त्यादि, त"च्चेश्वरः सर्वभूताना"मिति **गीता**यां निरूपितम्॥ ३०॥ त्वं **महानि**त्यत्राध्या**त्मिकत्वमि**त्यादि पदार्थानां तथात्वं निरूपयितुं **भिन्नमि**ति प्रतिशरीरस्थान्तर्यामिरूपाद् **भिन्नमि**त्यर्थः, तत् किं साक्षिरूपमत **आहुः क्षेत्रज्ञ**इत्यादि, **स मुख्य** इति "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारते"तिवाक्योक्तः, मूलस्थमग्रिमं विशेषणमेतेनैव व्याख्यातमिति न पूनर्निर्दिष्टं, तथाप्यत्र **विकारवित्पदेन विकाराणामाध्यात्मिकत्वमुक्तं** वृत्तिरूपाणां पदार्थानां तथात्वादिति ज्ञेयं, अग्रिमे **भौतिकत्वं** स्फुटमेव, **एतावते**ति तत्तद्रूपस्य भगवत्त्वनिरूपणेनेत्यर्थः॥ ३१॥ **गृह्यमाणै**रित्यत्र **तेषां धर्माणामित्यादि तेषां** घटादीनां समवायेन त्वद्धर्माणां संयोगेन त्वदाश्रयाणां तथा नियमादित्यर्थः, तदेतट्टिप्पण्यामाहु**र्भगवद्ग्रहणे**त्यादि, **तद्धेतुमि**ति ग्रहणहेतुं, **तथात्वादि**त्याश्रितत्वात्, **तथे**ति भानमुक्तं **भानहेतुकथनार्थ**मिति समवायेन संयोगेन च **भानहेतुकथनार्थं** सुबोधिन्यां **तत्र हेतु**रित्यग्रहणे हेतुः, **सन्निपात** इति सन्निपाताख्ये रोगे, **प्राकृत** इति स्वभावः, तथा च तिरोभावान्न भासत इत्यर्थः, **न गृह्यत** इत्यस्मदादिभिर्न ज्ञायते, तर्हि ज्ञानिभिः कथं ज्ञायत इत्यत्राहु**र्ज्ञानं त्वन्यनिष्ठमि**ति तथा च संयोगसमवाययोरभावेन तन्नाच्छाद्यत इति ज्ञानिभिर्ज्ञायत इत्यर्थः, ननु स कुतो न प्रकाशत इत्याकाङ्क्षायां तं पक्षमुपपाद्य दूषयन्ति **नन्वि**त्यादि **न प्रकाशत** इत्यन्तं, **कथं न क्रियत** इति जीवैरितिशेषः। **तत् परिहरन्नि**ति **गुणक्षोभात् पूर्वमपि** ज्ञानाभावकथनेन स्वतोनुवृत्तिं **परिहरन्, तथैव करोतीति** प्रकृतिं स्वाच्छादिकां भगवान् **करोति, तादृशस्ये**त्यादि स्वतन्त्रस्य **भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वं** हेतुत्वेनाहेत्यर्थः, तथा च स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वं भवत्वित्येतदर्थं तथा कृतिरितिभावः॥ ३२॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कृष्ण कृष्ण इत्याभासे **अन्यथे**ति स्वरूपज्ञानाभावे इत्यर्थः, व्याख्याने, वीप्सातः पक्षान्तरमाहुः **कृष्ण** इत्यारभ्य **तयोक्तमि**त्यन्तेन **नामरूपे** इति मानुषत्वेन प्रदर्शितं रूपं तद्बुद्ध्या व्यवहार्यमाणं नाम चेत्यर्थः, **तस्मिन् पक्षे** इति पुरुषत्वमात्रपक्षविकृतो भवेदतः परत्वमुक्तमित्यर्थः, **कार्यस्ये**ति अन्यथात्वे अन्यनिमित्तकत्वे समवायिमात्रस्य मृदादेरिव निमित्तापेक्षया गौणत्वं स्यादितिशेषः, मूलस्थरूपपदस्याग्रे निरूपकत्वार्थोपि व्याख्येयस्तमादायेदमुक्तं, निरूपकं निमित्तत्वेन ज्ञापकमित्यर्थः, **अवयुत्ये**ति सर्वमेव कदाचिद् व्यक्तं कदाचिदव्यक्तमिति प्रथमः पक्षः, किञ्चिद् व्यक्तं किञ्चिदव्यक्तमित्यवयुत्यानुवादः, अवयुत्यामिश्रीकृत्यानुवाद इत्यर्थः॥ २९॥ **त्वमेक** इत्यत्र **स्वात्मपदेन** जीवकथने देहा इति प्रथमाबहुवचनान्तं ज्ञेयं, **देहस्वात्मे**तिपाठेऽर्थमाहुः **आधिभौतिकादीनामि**ति, **देहद्वये**ति देहपदेन स्थूलशरीरं इन्द्रियपदेन सूक्ष्मशरीरं तयोः स्वात्मनश्चेश्वर इत्यर्थः, साहित्यमार्थिकं ज्ञेयं, **अव्ययपद**व्याख्याने **अक्षरत्वेन** हेतुना समवायित्वं साधितं, यद्यपि सर्वत्वेनापि हेतुना सम्भवति तथापि वाक्येन सर्वव्याप्त्यापि सर्वत्वसम्भवात् सर्वत्वं न समवायित्वव्याप्यमतोक्षरत्वमेव हेतुः, **वस्तुन** इति समवेतस्य वस्तुनः स्वपरिच्छिन्नत्वधर्मेण समवायिपरिच्छेदबोधकत्वं नास्तीत्यर्थः, **परिच्छेदकत्वं** परिच्छेदबोधकत्वमित्यर्थः, अत इति भगवतः समवायित्वे दोषाभावादित्यर्थः, टिप्पण्यां, **परिच्छेदापात** इति परिच्छेदशङ्केत्यर्थः, घटादेः समवायिनो मृदादेरपि परिच्छिन्नत्वादितिभावः, **सर्वभवने**ति स्वस्यैव सामर्थ्येन तथाविर्भावो न तु निमित्तान्तरापेक्षा, अतस्तादृशसामर्थ्यवति न सा शङ्केत्यर्थः, **तत्कृते**ति समवेतपरिच्छिन्नत्वकृतेत्यर्थः, सुबोधिन्यां **निर्दिष्टमि**ति आधिभौतिकादीनामीश्वरत्वेन पूर्वोक्तमित्यर्थः ३० **गृह्यमाणै**रित्यत्र **तद्रूपोपी**ति ते घटादयो रूपाणि धर्मा यस्य घटादिधर्मक इत्यर्थः, धर्माणामिति धर्मत्वाद् धर्मिसहभानं

त्वदाश्रयत्वात् त्वद्रूपाश्रयसहभानमित्यर्थः, **प्रकृतिरिति** स्वरूपमित्यर्थः, यथा निर्मले जले तलभूमिः सम्यक् प्रतीयते न तु समले तथेति ज्ञेयं, **तत्र प्राकृत** इति विकारे सति प्रकृतिसिद्धः पदार्थस्तिरोभवतीत्यर्थः, **एवमाश्रयसहभाननियमे**पि तद्ग्रहणेन गृहीतो न भवतीत्यत्र हेतुरुक्तः, धर्मिसहभाननियमेपि तैः सहभानं नेतिपक्षे तु कथनार्थं **प्राकृतै**रितिपदमित्याशयेन तदाभासमाहुः **स्वप्रकाशमेव ही**ति, ज्ञानस्य धर्मा विषयाः, यथा जडैर्विषयैः **सह स्वेषां** विषयाणां **प्रकाशो** येन तादृशं ज्ञानं भासते, विषय-विषयकज्ञानवानहमिति प्रतीतिर्जायत एवेत्यर्थः, ननु यथा सूर्यादीनां घटादिप्रकाशकत्वान् न तैः सहभानं तथा भगवतोपि न भानमित्याशङ्क्य दृष्टान्ते स्वप्रकाशमेवेत्युक्तं, सूर्यादयस्तु सर्वमेव प्रकाशयन्ति न तु तमेव विषयमित्यर्थः, **भगवानपी**त्यपि शब्दस्य प्रकाशयन्नित्यनेनान्वयः, **प्रकृतिर्ही**ति यथा प्रकृतिः पुरुषाच्छादिका तथा प्राकृता भगवदाच्छादका इत्यर्थः, ननु तदा तैर्ज्ञानं कुतो नाच्छाद्यते इत्यत आहुः **ज्ञानं** त्विति पुरुषनिष्ठमतो धर्मेभ्यः पृथक् स्थितत्वान् न तैस्तदाच्छादनमित्यर्थः, **हेतुं वदन्नि**ति भक्तिप्रवर्तनं हेतुर्ज्ञेयः, **भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वमाहे**ति स्वरूपस्य ज्ञानायोग्यकरणेन भगवता भक्तिमार्ग एव प्रवर्तित इति भावः ॥ ३२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

स्तुतिश्लोकार्थनिरूपणे **द्वयं तस्मा**दिति यतः अयं भगवानाधिदैविकः अतः **तस्मात्** आधिदैविकात् **द्वयं** भौतिका-ध्यात्मिकरूपं द्वयं जायत उत्पद्यते इत्यर्थः, **ज्ञानभक्ती फलिष्यत** इति ब्रह्मत्वेन सर्वत्र **ज्ञानं** फलिष्यति माहात्म्यज्ञानेन **भक्तिः** फलिष्यतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

स्तुतौ 'कृष्ण कृष्ण महायोगि'न्नित्यादिदशश्लोकार्थान् विचारयन्ति दशभिरिति, का० ८७½ । प्राणशब्द इन्द्रियवाची वृक्षाणां निरिन्द्रियत्वमते शापेन वृक्षत्वेन प्राणा नष्टा इति पुनः प्राणसम्पादनार्थमिति सङ्ख्यातात्पर्यं, प्राणान् बिभ्रति ति प्राणभृतस्तादृशैः श्लोकैरित्यर्थः, ज्ञानेति का० ८७¾ । अत्र स्तुतौ द्वयोरपि निर्णय उक्तः, ज्ञाननिर्णयेनैव वैराग्य-निर्णय इत्यग्रिमकारिकायां वक्ष्यन्ति "अनेनैव तु वैराग्य"मित्यादिना, **मूलरूप** इति का० ८८½ । मूलादिरूपाणि क्रमेण श्लोक-त्रयप्रतिपाद्यानि, "कृष्ण कृष्णे"त्याद्यश्लोके **मूलरूपः, जगद्रूपो** देहेन्द्रियादिरूपः, **मध्यरूपो** महत्तत्त्वप्रकृत्यादिरूपः, "गृह्य-माणैस्त्वमग्राह्य" इति चतुर्थश्लोकार्थमाहुर्**माहात्म्ये**ति का० ८९½ । **आध्यात्मिक** इति का० ९०½ । यस्मात् कारणात् **सर्वस्मिन् गृह्यमाणेपि** पुरुषोत्तमो न **गृह्यते** ततो हेतोरयं पुरुषोत्तमः आध्यात्मिकरूपः आधिभौतिकरूपश्च न भवति, किन्तु **दैविकत्वेन सर्वरूपः स्यात्, तस्मात्** पुरुषोत्तमात् द्वयमाध्यात्मिकमाधिभौतिकं **च जायते** इत्यर्थः, "त्वमेकः सर्वभूताना"मिति द्वितीयश्लोके आधिदैविकत्वेन सर्वरूपत्वमुक्तं, "त्वं महा"निति "गृह्यमाणै"रिति श्लोकद्वयेन आध्यात्मिकाधिभौतिककर्तृत्वमुक्तं, **अत** इति का० ९१½ । "त्वमेक" इति श्लोकोक्तं सर्वरूपत्वं जीवानां ज्ञानं फलिष्यति, श्लोकद्वयोक्तमाध्यात्मिकाधिभौतिककर्तृत्वं च भक्तिं फलिष्यतीत्यर्थः, **अत** इति का० ९१¾ । **अतः** ज्ञानभक्तिफलनादेव "तस्मै तुभ्य"मिति पञ्चमश्लोके **ज्ञानं**, "यस्यावतारा" इति षष्ठश्लोके च **भक्तिमाहतुरि**त्यर्थः, अध्यायार्थसङ्गतिं दर्शयन्तो वैराग्यनिर्णयमाहुर**नेनैवे**ति का० ९२½ । **अनेन** ज्ञाननिरूपणेनैव **वैराग्यं निरूपितं** भवतीत्यर्थः, तत्र प्रकारमाहुर्ज्ञानाजनकता यदीति, ब्रह्मत्वेन ज्ञानाभावे **सर्वं त्याज्यं, अन्यथा** त्यागाभावे **विनाशः स्या**दित्यर्थः, **भक्तिसिद्ध्यै** इति **भक्तिसिद्ध्यै तु यज् ज्ञानं तत् षष्ठे विनिरूपितं** का० ९३½ । "यस्यावतारा" इति श्लोके इत्यर्थः, "स भवान् सर्वलोकस्ये"ति सप्तमश्लोकार्थमाहुरन्यथेति का० ९३¾ । "नमः परमकल्याणे"त्यष्टमश्लोकार्थमाहु-**र्भगवन्तं नमस्कृत्ये**ति, "अनुजानीही"ति नवमश्लोकार्थमाहुर्**गमनप्रार्थना** कृतेति, ननु तयोर्भक्तत्वेन भगवन्तं परित्यज्य गमनाय प्रार्थनं कथमित्याशङ्कापूर्वकं तत्परिहारमाहुस्**तदयुक्तं भक्तिमतामि**त्यादिना, का० ९४¾, ९५½ । **तदयुक्तं भक्तिमतामि**त्याशङ्का, अग्रे भक्तिस्तु षड्गुणेत्यादिसमाधानं, तथा च **तदयुक्तं भक्तिमतामि**तीत्यस्यानन्तरं चेदिति शेषग्रन्थो ज्ञेयः, एतेन "वाणी गुणानुकथने" इति दशम श्लोकार्थ उक्तः, भक्तेः षडङ्गान्येतच्छ्लोकोक्तानि कीर्तनश्रवणादीनि, तथा च तादृशभक्तिकरणाय गमनमितिभावः, ननु व्रजेपि भक्तेः सह भक्तिसम्भवे किं परोक्षभजनेनेत्याशङ्क्याहुर्गुणप्रधानेत्यादि, का० ९६½, ९७½ । भगवान् गोकुले भक्तप्राधान्येन स्वगौणभावेन च लीलां करोति, इमौ तु तादृशलीलायामनधिकारिणौ, एकस्यामेव गोकुललीलायां व्रजस्थैः **सह गुणभाव** एताभ्यां सह **प्रधानभावश्च विरुध्यते, अतः** कारणाद् गमनप्रार्थना कृतेति पूर्वेणान्वयः, ननु बन्धमोचनं ताभ्यां कुतो न कृतमित्याशङ्क्याहुरत्र **भगवान्** लीलामिति अत्र गोकुले भगवान् स्वस्यैव रसभोगार्थं गौणभावेन **स्वयं लीलां कर्तुं समुद्यतस्तेषु** वा रसाधिक्यसिद्ध्यर्थं तदधीनो जात इति निर्णयो नलकूबरमणिग्रीवयोरासीत्, किञ्च पक्षद्वय स्वार्थ लीलापक्षे परार्थपक्षे च ताभ्यां भगवत उलूखलबन्धन**विमोचनं नैव शक्यमि**ति तादृशलीलायां स्वानधिकारं मत्वा भक्तैः सह **परोक्षभजनसिद्ध्यर्थं** गताविति भावः, इदं दाम्ना चोलूखले बद्ध"इत्यस्य विवरणे स्फुटम् ॥ ९७¾ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'लब्धभक्ती भविष्यत' इति नारदवाक्यं स्मरन्तौ ततो भक्तिं प्रार्थयितुं स्तुवन्तौ प्रथमं गोपबालकप्रणामस्यानौचित्यमाशङ्क्य तत्परिहारं तावाहतुः—कृष्णेति । हे कृष्ण हे कृष्ण, सदानन्दमूर्ते ! हे महायोगिन् अचिन्त्यप्रभाव ! न त्वं गोपबालः, किन्तु परः पुरुषः पुरुषोत्तमः । तत्र हेतुमाहतुः—आद्य इति । सर्वजगत्कारणभूतः । 'तदपि न निमित्तमात्रम्, किंतु उपादानमपि त्वमेव' इत्याशयेनाहतुः—व्यक्ताव्यक्तं स्थूलसूक्ष्ममिदं सर्वं विश्वं ते तव रूपमिति ब्राह्मणा 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण' इति वाक्यात् वेदतात्पर्यज्ञा विदुर्जानन्ति ॥ २९ ॥ एवं सामान्यत उक्तमेव सर्वकारणत्वं सर्वरूपत्वं च विशेषतः प्रपञ्चयतः—'त्वमेक' इति द्वयेन । सर्वेषां भूतानां प्राणिनां ये देहाः, असवः प्राणाः, आत्मा अहङ्कारः, इन्द्रियाणि च तेषामीश्वरः रक्षकस्त्वमेक एव । 'ननु रक्षकत्वेन विष्णुरेव प्रसिद्ध' इत्याशङ्क्याहतुः—विष्णुस्त्वमेवेति । रजःसत्त्वतमआत्मिका सूक्ष्मा प्रकृतिस्त्वमेव तव शक्तिरेव, तत्क्षोभकः कालोऽपि त्वमेव, तव चेष्टारूपः । प्रकृतिकार्यो महानपि त्वमेव । प्रकृतिप्रवर्त्तकः पुरुषोऽपि त्वदंशत्वात्त्वमेव । अध्यक्षः सर्वसाक्षी । एतदेव स्पष्टयतः—सर्वक्षेत्रेऽपि सर्वेषां यानि सर्वक्षेत्राणि देहेन्द्रियान्तःकरणानि, तेषां ये विकारा रोगरागादयस्तान् वेत्तीति तथा ईश्वरः सर्वनियन्ता । एवं सति विकारित्वमाशङ्क्याहतुः—अव्यय इति । अपक्षयादिविकारशून्य इत्यर्थः । 'सर्वरूपत्वं विकारशून्यत्वं च परस्परं विरुद्धमेव, तत्कथं सम्भवति' तत्राहतुः—भगवानिति । अचिन्त्यानन्तैश्वर्यादिमानित्यर्थः ॥ ३०-३१ ॥ ननु "अहमेव चेत् सर्वं तर्हि तत्तत्पदार्थज्ञाने जातेऽपि मम ज्ञानं किं न भवति ? भवति चेत् तदा सर्वोऽपि ब्रह्मवित् स्यात्, मुच्येतापि । तथा सति तत्र तत्र साधनोपदेशादेर्व्यर्थता च स्यात्" इत्याशङ्क्याहतुः—गृह्यमाणैरिति । विकारैः बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रियादिभिः कार्यैस्त्वं द्रष्टा ग्राह्यो न भवति न गृह्यसे । तत्र हेतुमाहतुः—गृह्यमाणैरिति । नहि गृह्यमाणैर्दृश्यैर्ग्राहको द्रष्टा गृह्यते इत्याशयः । दृश्यत्वे हेतुमाहतुः—प्राकृतैर्गुणैरिति । प्रकृतिगुणकार्यैरित्यर्थः । ननु "तर्हि जीवस्याप्राकृतत्वात् स जानातु" तत्राहतुः को न्विति । जीवस्याप्राकृतत्वेऽपि प्राकृतगुणैर्देहादिभिः संवृतत्वात् स्वोत्पत्तेः प्रागेव स्वप्रकाशतया सिद्धं वर्तमानं त्वामिह संसारे को नु जीवो विज्ञातुमर्हति ? ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृष्णेति । हे कृष्ण हे कृष्ण हे महायोगिन् ! त्वं न गोपालः किं तु आद्यः सर्वजगद्धेतुः परः पुरुषः असि । व्यक्ताव्यक्तं स्थूलसूक्ष्ममिदं सर्वं विश्वं ते तव रूपमिति ब्राह्मणाः वेदतत्त्वज्ञाः विदुर्जानन्ति ॥ २९ ॥ त्वमेक इति । सर्वेषां भूतानां प्राणिनां ये देहा असवः प्राणाः आत्मा अहंकारः इन्द्रियाणि च तेषामीश्वर एकस्त्वमेव । कालो भगवान् विष्णुः अव्ययः अपक्षयशून्यः ईश्वरः नियन्ता त्वमेव ॥ ३० ॥ त्वमिति । रजःसत्त्वतमोमयी तदात्मिका सूक्ष्मा प्रकृतिस्त्वमेव तव शक्तिरेव तत्क्षोभकः कालोऽपि त्वमेव । तव चेष्टारूप एवेति पूर्वत्रोक्तम् प्रकृतिकार्यं महानपि त्वमेव प्रकृतिप्रवर्त्तकः पुरुषोऽपि त्वदंशत्वात्त्वमेव अध्यक्षः सर्वसाक्षी सर्वेषां यानि क्षेत्राणि देहेन्द्रियान्तःकरणानि तेषां ये विकारा रोगरागादयस्तान् वेत्तीति तथा त्वमेव ॥३१॥ न बहमेव चेत्सर्वं तर्हि तत्तत्पदार्थज्ञाने जातेऽपि मम ज्ञानं किं न भवतीत्याशङ्क्याहतुः—गृह्यमाणैरिति ॥ गृह्यमाणैर्दृश्यैः प्राकृतैर्गुणैः प्रकृतिगुणकार्यविकारैः बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रियादिभिः कार्यैस्त्वं द्रष्टा अग्राह्यो न गृह्यसे । नहि दृश्यैर्ग्राहको द्रष्टा गृह्यते जीवस्याप्राकृतत्वेऽपि प्राकृतगुणैर्देहादिभिः संवृतत्वात्स्वोत्पत्तेः प्रागेव स्वप्रकाशतया सिद्धं वर्तमानं त्वामिह संसारे को नु जीवो विज्ञातुमर्हति ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

आद्यः कालप्रकृतिपुरुषाणामादिभूतः परः अक्षरभावं प्राप्तेभ्यो मुक्तपुरुषेभ्य उत्तमः अक्षरादपि चोत्तम इत्युक्तेः पुरुषः अनादिनित्यसिद्धदिव्यपुरुषाकारविग्रहः आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविध इतिश्रुतेः व्यक्ताव्यक्तं व्यक्तम् उत्पत्तिस्थितिकाले स्फुटतया दृश्यमानं अव्यक्तं प्रलये सूक्ष्मभावेन स्थितं चेतनाचेतनात्मकं विश्वं ते सर्वव्यापकस्य तव व्याप्याद्धेतोः रूपं शरीरभूतं यथा व्यापकस्य देहिनो व्याप्यं शरीरं तद्रूपं तद्वत् ॥ २९ ॥ सर्वभूतानां देहि विशिष्टसमप्रक्षेत्रज्ञानां ये देहादयस्तेषामीश्वरो नियंता असुः प्राणः ॥ ३० ॥ सर्वे पदार्थाः परमात्मनः शरीरभूता इत्युक्तं तत्प्रतिपादयंतावाहतुः सूक्ष्मा प्रकृतिः अध्यक्षः प्रकृत्यधिष्ठाता सर्वेषां क्षेत्राणां विकाराणां च वेत्ता पुरुषोऽक्षरपुरुषः एतदादि सर्वं त्वं तव शरीरं भवति यस्याक्षरं शरीरमिति यस्य प्रकृतिः शरीरमिति यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरमिति सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वमिति श्रुतिस्मृत्युक्तेः यतो देवदत्तकृष्णदत्तरामदत्तादिदेहवाचकाः शब्दा आत्मन्येव पर्यवस्यंति अतस्ते देहवाचकाः शब्दा आत्मवाचका ज्ञातव्यास्तथा प्रकृतिपुरुषब्रह्मेंद्रपृथिव्यादिचेतनाचेतनवाचकाः शब्दाः परमात्मन्येव पर्यवस्यंति अतस्ते चेतनाचेतनवाचकाः शब्दाः परमात्मवाचका इति बोध्यम् ॥ ३१ ॥ एवं प्रकृतिपुरुषदेवमनुष्यादिसर्ववस्तुषु व्यापकत्वेपि तेषां ग्रहणे न तव ग्रहणं न स्यादित्याहतुः गृह्यमाण इति सर्वव्यापकस्त्वं जनवृंदेन गृह्यमाणैर्व्याप्यभूतैः प्राकृतैः प्रकृत्युत्पन्नैः गुणैः सत्त्वादिभिः महदाद्यष्टप्रकृतिभिश्च विकारैः

षोडशभिश्च तत्परिणामभूतैः क्षेत्रज्ञविशिष्टदेवमनुष्यादिदेहैश्च सह अंतर्यामितया प्रत्यक्षतया च वर्त्तमानोऽप्यग्राह्यः तेषां ग्रहणे न तव ग्रहणं न स्यादित्यर्थः। एवंभूतं प्राक्सिद्धं सृष्टेः पूर्वं दिव्यविग्रहेण वर्त्तमानं त्वां गुणसंवृतः प्रकृतिगुणैरावृतः कः पुमान इह संसारे विज्ञातुमर्हति नु वितर्के॥ ३२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गोपालबालं मां युवां कौचिद्देवाविव स्थितौ किमिति प्रणतौ तत्राहतुः॥ कृष्णेति॥ हे कृष्ण, हे कृष्ण, संभ्रमे वीप्सा। हे महायोगिन् सर्वथाऽचिन्त्यप्रभाव, त्वं परः पुरुषः, गोपालबालकवत् प्रतीयमानोऽपि त्वं परमपुरुष एवासीरित्यर्थः। कुतः। आद्यः सर्वजगत्कारणभूतः, ननु कार्यकारणयोः प्रायशः सालक्षण्यदर्शनात् कथं चिदचिदात्मकाज्जगतस्तद्विलक्षणोऽहं कारणमित्यत्राहतुः। व्यक्तं नामरूपाभ्यां व्यक्तं च अव्यक्तं नामरूपयोरनभिव्यक्त्याऽव्यक्तं चेति व्यक्ताव्यक्तं, इदं विश्वं, ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वादिकल्याणगुणगणैर्बृंहत इत्यर्थः। ते तव, रूपं शरीरं, विदुः। वेदान्ता आमनन्तीत्यर्थः। वेदान्ताश्च 'यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यात्मा शरीरं, यस्याव्यक्तं शरीरं, यस्याक्षरं शरीरम्' इत्यादयः। सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वेन कारणावस्थः स्थूलचिदचिच्छरीरकत्वेन कार्यावस्थश्च त्वमेवासीरिति भावः॥२९॥ न केवलं त्वमुपादानकारणमेवासीरपि तु निमित्तकारणमपि त्वमेवासीरित्यभिप्रायेण तदुपयुक्तगुणवत्तामाहतुः॥ त्वमेक इति॥ सर्वभूतानां भवन्ति देवमनुष्यादिरूपेण जायन्ते इति भूतानि सर्वाणि च तानि भूतानि क्षेत्रज्ञास्तेषां, देहाश्च असवः प्राणाश्च आत्मानो मनांसि च इन्द्रियाणि च तेषामीश्वरो नियन्ता, अन्तः प्रविश्य नियामक इत्यर्थः। त्वं एकः। एकशब्देनाधिष्ठात्रन्तरव्यावृत्तिः। एवं निखिलजगत्कारणत्वं चोक्तम्। अथ तदुभयनिबन्धनं जगदन्तर्भूतकालादिसामानाधिकरण्यमाहतुः। त्वमेव काल इति। हे भगवन्, त्वमेव, अव्ययः सर्वकारणत्वेऽपि तत्प्रयुक्तदोषरहितः, भगवान् अवतारदशायामपि षाड्गुण्यपूर्णः, विष्णुः सर्वान्तःस्थितः, ईश्वरः बहिरन्तश्च स्थित्वा सर्वनियामकः, कालः कालशरीरकोऽपि, भवसि॥ ३०॥ त्वमिति॥ महान् महत्तत्त्वं, त्वं, महतोऽपि त्वच्छरीरकत्वात् सामानाधिकरण्यम्। रजःसत्त्वतमोमयी रजआदिगुणत्रयात्मिका, सूक्ष्मा नामरूपविभागानर्हा, प्रकृतिरपि, त्वमेव। 'यस्य प्रकृतिः शरीरं' इति श्रुतेः शरीरात्मभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यं, सर्वक्षेत्रविकारवित् युगपत्क्षेत्रेन्द्रियादिवृत्त्यभिज्ञ इत्यर्थः। अध्यक्षः देहप्रभृतिजीवपर्यन्तानामधिष्ठाता पुरुषोऽपि, त्वमेव। 'यस्यात्मा शरीरम्' इति श्रुतेः॥ ३१॥ 'रूपं ते ब्रह्मणो विदुः' इत्यनेनैवंविधं त्वां केवलं वेदान्ता एव विदुर्न त्विन्द्रियाणीत्यभिप्रेतं तदेव विशदयन्तौ उपपादयतः॥ गृह्यमाणैरिति॥ गृह्यमाणैर्दृश्यमानैः, गुणैर्गुणकार्यैः, प्राकृतैः प्रकृतेः कार्यभूतैः, विकारैरिन्द्रियादिभिः, त्वं अग्राह्यः। यथा श्रोत्रादिभिर्गृह्यमाणाः शब्दादयो न श्रोत्रादीन् गृह्णन्ति, तथा त्वया गृह्यमाणा विकारास्त्वां न गृह्णन्तीति भावः। ननु तर्हि जीवो जानातु इत्यत आहतुः। को न्विति। गुणसंवृतः गुणकार्यैरिन्द्रियैरावृतः सहित इति यावत्। को नु पुमान्, प्राक् सिद्धं गुणेभ्यः प्रागेव तत्कारणतया तत्प्रकाशतया च सिद्धमित्यर्थः। त्वां विज्ञातुं, इह लोके, अर्हति। गुणसंवृतः को नु अर्हतीत्यनेन योगविशुद्धमनास्तु ज्ञातुमर्हतीति सूचितम्॥ ३२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्ण कृष्णेति : १०.१०.२९.

आवाभ्यां यदकारि दुर्विलसितं नास्मत्कृतं तत्प्रभो यत्तद्वक्त्रविनिर्गतं च वचनं तच्चापि नैतत्कृतम्।
यत्सर्वान्तरवृत्तिवर्तकतया त्वं सर्वदा राजसे तत्ते तादृशमीदृशोपकृतये मन्यावहे आशयम्॥ ६०॥

गृह्यमाणैरिति : १०.१०.३२.

गुणसंवृतानगुण एव विभो त्वं खलु वीक्षसे न विगुणः सगुणं त्वाम्।
तव लीलयैव भगवन् सगुणं त्वामगुणावपि स्फुटमिहानुभवावः॥ ६१॥

कृष्णप्रिया

हे कृष्ण हे नाथ कृष्ण! हे महायोगिन्! आप ही आद्य पुरुष हैं प्रकृति से पर पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्मविद् यह जानते हैं कि यह दृश्यमान व्यक्त एवं अव्यक्त समस्त विश्व आप का ही स्वरूप है॥ २९॥ आप एक अद्वैत हैं, आप ही समस्त प्राणियों के शरीर प्राण अन्तःकरण आत्मा और इन्द्रियों के नियन्ता स्वामी हैं, एवं आप ही भगवान् काल हैं, आप ही विष्णु 'सर्वत्र व्यापक' अविनाशी, ईश्वर हैं॥ ३०॥ आप ही महततत्व बुद्धि तत्त्व हैं और सत्त्व रज तम इन तीन गुणों वाली सूक्ष्म प्रकृति हैं, आप अन्तर्यामी पुरुष हैं आप साक्षी हैं, आप ही सर्वत्र प्रत्येक देह के मन आदि विकारों के जानकार हैं॥३१॥ इन्द्रियादि वृत्तियों से ग्रहण किये जानेवाले प्रकृति के गुणों और विकारों के द्वारा दृष्टारूप आप नहीं जाने जाते। प्राकृत गुणों से थककर कौन प्राणी जीवोत्पत्ति के पूर्व स्वप्रकाशरूप सिद्ध आप को जान सकता है॥ ३२॥

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे । [1]आत्मद्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते [2]शरीरेष्वशरीरिणः । [3]तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥ ३४ ॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च । अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५ ॥
नमः परमकल्याण [4]नमस्ते विश्वमङ्गल । वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आत्मद्योतैः गुणैः छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे वेधसे भगवते वासुदेवाय तस्मै नमः ॥ ३३ ॥ तैः तैः देहिषु असंगतैः अतुल्यातिशयैः वीर्यैः अशरीरिणः शरीरेषु यस्य अवताराः ज्ञायन्ते ॥ ३४ ॥ सर्वलोकस्य भवाय च विभवाय स भवान् आशिषां पतिः साम्प्रतं अंशभागेन अवतीर्णः ॥३५॥ परमकल्याण नमः विश्वमङ्गल ते नमः शान्ताय यदूनां पतये वासुदेवाय नमः ॥३६॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अतो दुर्ज्ञेयत्वात्केवलं प्रणमतः । तस्मै तुभ्यमिति । आत्मनः स्वस्मात् द्योतः प्रकाशो येषां तैर्गुणैच्छन्नो महिमा यस्य अभ्रैरिव रवेस्तस्मै ॥ ३३ ॥ अहो अहमीश्वर इति कुतो ज्ञातं तत्राहतुः । यस्येति ॥ ३४ ॥ भवायाभ्युदयायोद्भवाय वा । विभवाय विगतो भवो यस्मिंस्तस्मै । कैवल्यायेत्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यतो ज्ञानाविषयोतो हेतोः । महिमा महत्त्वम् ॥ ३३ ॥ अहो आश्चर्यम् अशरीरिणः प्राकृतशरीररहितस्यानाशिनो वा । "अशरीरं वा वसंतम्" इत्यादिश्रुतेः । अशरीर एवानपेक्षितास्मत्समवाय इति वृत्रोपाख्यानोक्तेश्च । 'देहीवाभाति मायया' इति । 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इत्याद्युक्तेश्च । शरीरेषु तिर्यगादिदेहेषु । तैस्तैः प्रसिद्धैस्तच्छब्दावृत्तिर्वहुत्वापेक्षया । अतुल्यातिशयैः साम्याधिक्यवर्जितैरसाधारणैर्देहिषु शरीरिषु असंगतैः सभावितैः भूम्युद्धरणमंदरगोवर्द्धनधारणदावानलपानादिरूपैः । वीर्यैः पराक्रमैः ॥ ३४ ॥ यस्यावतारा ज्ञायंते स भवानीति संबंधः । भवो जन्म । इत्यर्थ इति । जन्मनिवृत्तिरेव कैवल्यपदार्थ इति तात्पर्यम् । सर्वलोकस्येति केचिद्दृष्ट्वा केचित्स्पृष्ट्वा केचित्स्मृत्वा केचिज्ज्ञात्वा केचिन्मम कर्माण्येव श्रुत्वा स्मृत्वा च संसारान्मुच्यंत इत्याह—अंशभागेनेति व्याख्यातचरम् । आशिषामभीप्सितानाम् । पतिर्दाता । गीतोक्तार्त्तादिचतुर्विधभक्ताभीष्टद इति भावः । स भवानवतारी खल्वेव भवति हस्तिसहस्रेणापि दुरुत्पाटनयोरावयोरर्जुनयोरर्जुनसमौजसोर्बाल्यलीलोदितबललवेनाप्युत्पाटनात् । रज्जूलूखलयोरपि तादृशशक्त्यर्पणादिति भावः । अंशांशेन ब्रह्मरुद्रादिना आशिषां सर्वकामानां पतिर्दाता यः स एव भवानित्यर्थः ॥ ३५ ॥ इदमेव रूपं परतमं मत्वा नमंतः नम इति परमं कल्याणं यस्मात्तत्तथा मोक्षप्रदेत्यर्थः । परममंगल ऐहिकामुष्मिकप्रत्यूहवारकः । तदेवाहतुः—शांताय इति । मोक्षप्रदत्वमाह—वासुदेवाय यदूनां पतये इति । परममंगलत्वमाह "मंगलाय च लोकानाम् । आस्ते यदुकुलांभोधावाद्योनंतसखः पुमान्" इत्याद्युक्तेः । परमस्य महादेवस्यापि मंगलम् "यच्छौचनिस्सृतसरित्प्रवरोदकेन शिवः शिवोऽभूत्" इत्युक्तेः । वासुदेवाय नंदनंदनाय । शूरसेननंदनाय वा । यदूनां क्षत्रियाणां गोपानां वा पतये ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तस्मै कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्यादौ प्रसिद्धाय तुभ्यं नमः पुनर्भगवते महावैकुण्ठनाथाय नारायणाख्याय च पुनस्तच्चतुर्व्यूहप्रथमाय वासुदेवाय च पुनर्वेधसे सृष्टिकर्त्रे सङ्कर्षणादिरूपाय पुरुषाय च पुरुषायैव स ते आत्मद्योतेत्यादिरूपिणे च ब्रह्मणे कचिदधिकारिणि निर्विशेषाकारेण स्फुरते च तस्मात्तत्तत्सर्वात्मकत्वात् परमबृहत्तमायेत्युपसंहारो वा लीलानुरूपेण चायमर्थः । तस्मै श्रीनन्दगोकुले प्रागपि सिद्धाय तुभ्यं श्रीनन्दात्मजाय भगवते नमः कचिद्वसुदेवापत्याय च वेधसे अद्भुतलीलासम्पादयित्रे अत एवात्मद्योतैः स्वरूपप्रकाशविशेषैरेव गुणैर्बाल्यलीलेत्यादिभिराच्छन्नैश्वर्याय यद्वा आत्मना त्वया त्वत्प्रभया द्योतन्ते त्वद्वद्भाभान्ति ये गुणा दामानि तैर्बद्धत्वेनाच्छन्नविभुत्वाय सर्वमपि त्वयि सम्भवतीत्याहतुः ब्रह्मण इति ॥ ३३ ॥ विवक्षितमाहतुः-यस्येति युग्मकेन । शरीरिषु मत्स्यादिजातिषु मध्ये अशरीरिणः प्राकृतशरीररहितस्य तव किं वा शरीरिषु वर्तमाना अप्यशरीरिणः तद्धर्मरहिताः शरीरेष्विति पाठे स एवार्थः । अतस्तैस्तैरनिर्वचनीयैः अत एवातुल्यातिशयैर्वीर्यैः प्रभावैरद्भुतचरितैर्वा देहिषु जीवेषु असङ्गतैरघटमानैरित्यर्थः । अवतारा अपि ज्ञायन्ते किं पुनस्त्वमवतारीत्यर्थः । अन्यत्तैः यद्वा एवं

---

१. तगुणै-श्रीधर. वंशी ; तैर्गुणै-वीर. विज. । २. शरीरिषु-सुदर्शन. जीव. । ३. तिर्यग्योनिष्वसङ्गतैः-विज. । ४. नमः परम श्रीधर वंशी. ; नमस्ते विश्वमङ्गल-वीर. विज. जीव. ।

स्वप्रेमविवृद्धये विचित्रलीलयाऽऽत्मानमाच्छादयन्नपि त्वं नितरां प्राकट्यमेव यासीरित्याहतुः—यस्येति । अर्थः स एव ॥ ३४ ॥ अहो भाग्यमित्याहतुः—स इति । भवाय विभवाय चेति ऐहिकामुष्मिकाशेषसम्पत्त्यर्थमित्यर्थः । साम्प्रतमवतीर्णः यतः आशिषां भक्तकामितानां सर्वेषामेव पतिः पालकः परिपूरक इत्यर्थः । साम्प्रतमित्यस्य यथा स्थितमत्रैव वा ऽन्वयः गोकुलक्रीडासमये अस्मिन्नित्यर्थः ॥ ३५ ॥ एवमवतारप्रयोजनेन स्वमङ्गलकारितौचितीमुपपाद्य तादृशं च तद्गुणं तादृशतन्नामकीर्त्तनद्वारेणानुमोदमानौ तदुचितसेवायामप्यक्षमं मन्यौ केवलं भक्त्या मुहुः प्रणमतः—नम इति । हे स्वतःपरमकल्याणस्वरूप ! किञ्च विश्वस्य मङ्गलं ऐहिकामुष्मिकसुखं यस्मादिति सकामनिष्कामभेदेन सम्बोधनद्वयं परममङ्गलेति क्वचित्पाठे परमाणां श्रीशिवादीनामपि मङ्गलेति व्याख्येयं "यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन" इत्यादौ "शिवः शिवोऽभूत्" इत्युक्तेः तत् कुतः वासुदेवाय सर्वहितार्थमेव वसुदेवद्वारा प्रकटाय अतः शान्ताय निर्दोषाय सुखस्वरूपाय वा नित्यमेव तु यदूनां क्षत्रियाणां गोपानां च तेषां पतये कुलपतिरूपाय श्रीगोपानां च यादवत्वं स्कान्दमथुरामाहात्म्ये व्यक्तं "रक्षिता यादवाः सर्वे इन्द्रवृष्टिनिवारणात्" इति तथा यत्राभिषिक्तो भगवान् मघोना यदुवैरिणा" इत्यादिना ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भगवते परमेश्वराय चित्ताधिष्ठात्रे, अतो वेधसे जगत्स्रष्ट्रे, ब्रह्मणे जगद्व्यापकाय; यद्वा, भगवते षड्गुणैश्वर्य्ययुक्ताय, तत्रापि वासुदेवाय भगवत्त्वप्रकटनार्थं वसुदेवाज्जाताय, अतो वेधसे सर्व्वजीवहितकर्त्रे, अतएव ब्रह्मणे सर्व्वतो बृहत्त्वं गतायेत्यनाच्छाद्यमहित्वमुक्तम्; तथापि छन्नमहिम्ने । तत्र गुणानां शक्ति सम्भावयत्यात्मद्योतैरिति, वस्तुतस्तु तेषां मिथात्वेनाच्छन्नत्वमेवोक्तम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, तस्मै परमदुर्वितर्क्याय वसुदेवनन्दनाय तुभ्यं नमः । परमदुर्वितर्क्यत्वे हेतुः—भगवतेऽशेषैश्वर्य्ययुक्ताय, अतएव वेधसे विधात्रे अपूर्व्वदर्शितानन्ताश्चर्य्यलीलाकारिणे भगवत्त्वं वेधस्त्वञ्चाभिव्यञ्जयतः, महिमा अणिम प्रतियोगी अपरिच्छिन्नतेत्यर्थः, गुणैर्दामभिश्छन्नस्तद्बन्धनांगीकारेण संवृतोऽसौ महिमा येन, तथापि ब्रह्मणे व्यापकाय । एवं दामबन्धनेन परिच्छिन्नत्वेऽप्यपरिछिन्नत्वमुक्तम् । ननु सच्चिदानन्दघनोदरे प्राकृतैर्दामभिर्बन्धनमपि कथं घटताम् ? तत्र हेतुः—आत्मद्योतैः स्व प्रकाशैस्तान्यपि सच्चिदानन्दरूपाणीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ शरीरिषु मत्स्यादिषु देहिषु मध्ये वाऽशरीरिणः प्राकृतशरीररहितस्य तव, किंवा शरीरिषु वर्त्तमाना अप्यशरीरिणस्तद्धर्म्मरहिताः । अतस्तैस्तैरनिर्व्वचनीयैर्यतोऽतुल्यातिशयैर्वीर्य्यैः प्रभावैरद्भुतचरितैर्वा देहिषु जीवेष्वसंगतैरघटमानैरित्यर्थः । अवतारा अपि ज्ञायन्ते, किं पुनस्त्वमवतारीत्यर्थः । सर्व्वत्र सर्व्वथा जाज्ज्वल्यमानात् कथमप्यनाच्छाद्यान्माहात्म्यविशेषादिति भावः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, एवमवतारैस्त्वं परम-दुर्ज्ञेयमेव, कथञ्चित्तवावतारा वा ज्ञातुं शक्यन्त इति । एवं स्वप्रेमविवृद्धये विचित्रलीलयात्मानमाच्छादयन्नपि त्वं नितरां प्राकट्यमेव यासीरित्याहतुः—यस्येति । अर्थः स एवोभयत्र ॥ ३४ ॥ नन्ववतारी चेत्तर्हि श्रीवैकुण्ठलोकं विहाय किमर्थमत्रागतोऽसि ? तत्राहतुः—स इति । भवाय विभवाय चेत्यैहिकामुष्मिकाशेषसम्पत्त्यर्थमंशभागेन परिपूर्व्वतयेत्यर्थः यद्वा, अंशानां जीवानां भाग्येन हेतुना । साम्प्रतमवतीर्णः । किञ्चाशिषां भक्तकामितानां सर्वेषामेव पतिः पालकः परिपूरक इत्यर्थः । साम्प्रतमित्यस्य यथास्थितमत्रैव वान्वयो गोकुलक्रीड़ासमयेऽस्मिन्नित्यर्थः ॥ ३५ ॥ एवमवतारप्रयोजनं निर्दिश्योपसंहरंस्तदेवाशेषमाहात्म्यामृतमयनामद्वारा कीर्त्तयन् भक्त्या मुहुः प्रणमतः नम इति । हे स्वतः परमकल्याणस्वरूप । यद्वा, परमं प्रेमलक्षणं यस्मात् । किञ्च, विश्वस्य मंगलमैहिकामुष्मिकसुखं यस्मादिति निष्काम-सकामभक्तभेदेन सम्बोधनद्वयम् । तत् कुतः ? वासुदेवाय श्रीवसुदेवनन्दनाय, अतः शान्ताय निर्विकाराय सुखस्वरूपाय वा, विशेषतो यदूनां यादवानां स्कान्दे मथुराखण्डानुसारेण यदु-शब्देन गोपोक्तेः श्रीनन्दादीनां वा पालकाय, तथा च तत्र—'रक्षिता यादवाः सर्व्वे इन्द्रवृष्टिनिवारणात्' इति, 'यत्राभिषिक्तो भगवान् मघोना यदुवैरिणा' इत्यादि, यद्वा, श्रीवासुदेवायेति जन्मलीला, शान्तायेति युद्धाद्यारम्भेऽपि क्रोधाद्यभावेन, तथा तादृशयज्ञपत्नीप्रार्थनेऽपि धर्मादिप्रदर्शनेन शान्तिमत्त्वात् । यदूनां पतय इति श्रीमथुरागमनानन्तरं यादवपालनद्वारा द्वारकाक्रीड़ा चेति संक्षेपेण सर्वावतारप्रयोजनं परमकल्याणत्वं विश्वमंगलत्वयोर्हेतुत्वेनोद्दिष्टम् ॥ ३६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आत्मद्योतगुणैः स्वस्य प्रकाशमानैर्गुणैः सञ्छन्नमहिम्ने जीवानां दुरवबोधमहिम्ने आत्मज्योतिर्गुणच्छन्नमहिम्न इति पाठे आत्मज्योतिस्स्वप्रकाशश्च गुणच्छन्नमहिमा चेत्यर्थः । श्रीभगवज्ज्योतिषः सूक्ष्मत्वात् सौशील्यादिगुणच्छन्नपरत्वाच्च दुरवबोधत्वं चोक्तं भवति ॥३३॥ शरीरिषु शरीरिणां मध्ये अशरीरिणः प्राकृतशरीररहितस्य कृतावतारा असङ्गतैः असम्भावितैः ॥३४॥ विभवः सम्भवः आशिषः अभ्युदयानि ॥ ३५ ॥ शान्ताय ऊर्मिषट्करहिताय ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमुक्तविधस्य भगवतः सर्वज्ञत्वं जीवैर्दुर्ज्ञेयत्वं चानुसन्दधतौ नमस्कुरुतः—तस्मा इति । तस्मै कृष्ण कृष्णेत्यादिनोक्तविशिष्टाय भगवते षाड्गुण्यपूर्णाय साधुपरित्राणाय वसुदेवात्मजत्वेनावतीर्णाय सर्वकर्त्रे आत्मद्योतैर्गुणैः स्वस्य प्रकाशमानैः

गुणैश्छन्नमहिम्ने जीवानां दुरवबोधमहिम्ने आत्मज्योतिर्गुणच्छन्नमहिम्ने इति पाठे आत्मज्योतिः स्वयंप्रकाशश्च गुणच्छन्नमहिमा-चेत्यर्थः। स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते तुभ्यं नमः ॥ ३३ ॥ वासुदेवायेत्यनेनाभिप्रेतं विवक्षुस्तावत्सर्वावतारयाथात्म्य-माहतुः—यस्येति। शरीरेषु मर्त्यादिशरीरिणां मध्ये अशरीरिणः कर्मकृतशरीररहितस्य यस्य तवावताराः सर्वे निस्समाभ्यधिकैः कर्मकृतदेहिष्वसङ्गतैरसम्भावितैस्तैस्तैस्तदवतारप्रतिनियतैर्वीर्यैर्ज्ञायन्ते कर्मकृतदेहिभ्यो विलक्षणत्वेन ज्ञायन्त इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ स भवानिति सर्वस्य साधुलोकस्याशिषां समाहितस्वर्गापवर्गादिपुरुषार्थानां भवायोत्पादनाय विभवाय उत्तराभिवृद्धये च पतिस्तासां पालकश्च भवितुमित्यर्थः। अंशभागेन बलरामेण सह यद्वा सङ्कल्परूपज्ञानेन न तु करणेनेति भावः। सांप्रतमधुनाऽ-वतीर्णः यद्वा सांप्रतमिति युज्यते इत्येतदर्थको निपातः यतो भवानाशिषां पतिः प्रभुर्दाता अतो भवार्थं विभवार्थश्चांशेनावतीर्ण इति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ प्रकृतावतारासाधारणगुणाननुसन्दधतौ नमस्कुरुतः विश्वमङ्गलावहत्वममङ्गलतरुजन्मविमोचने-नापरोक्षमेव प्रदर्शितमिति तथा सम्बोधनाभिप्रायः स्वयममङ्गलस्यान्येषां मङ्गलावहत्वमनुपपन्नमिति तदपि सिद्धमेवेत्यभिप्रायेण परमकल्याणेति सम्बोधनं शान्तायोर्मिषट्करहिताय अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्यवः षडूर्म्मयः ॥ ३६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ननु तद्विषयज्ञानाभावे तदुपासनाभावेन मोक्षाशाऽप्यचेत् क एव ब्रह्म जानाति "स्त्रियः सतीस्ताम् उभे पुंस आहुः" इत्यादि श्रुतिः। इदमपि दर्शनं तत्प्रसादेनेत्यङ्गीकर्तव्यं "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इति श्रुतेः। यद्वा उत्पत्तेः प्राक् सिद्धं निरञ्जनत्वेन स्थितं कोनु विज्ञातुमर्हति लिङ्गाभावात् कथं गुणानां ज्ञापकानां लिङ्गानां संस्थितेः विनाशनात् जगतो नष्टेर्थेत्या शङ्क्य नम इत्येव कार्यं तस्यापि तत्प्रीतिजनकत्वप्रतीतेरिति भावेनाह तस्मा इति किं निमित्तमेतद्विज्ञापनमिति तत्राह आत्मेति आत्मना स्वया द्योतन्ते कार्ये शक्तिमत्तया प्रकाशन्त इत्यात्मद्योताः तैर्गुणैः सत्त्वादिभिः छन्नो गूहितः महिमा यस्य स तथा तस्मै "तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्" इति श्रुतेः। पिहितत्वमितरापेक्षया न स्वस्य अपरिच्छिन्नत्वे नानाच्छाद्यत्वादिति भावेनाह, ब्रह्मण इति तदुक्तं "छन्नोऽन्येषां न तु स्वस्य भगवान् पुरुषोत्तमः" इति वेधसे कर्त्रे ॥ ३३ ॥ इदानीं कृष्णो नाम साक्षान्नारायणावतार एव न देवदत्तवत्कश्चिच्छरीरीति ज्ञापयितुं हरेर्द्विविधावतारा देहस्था अदेहस्था इति तत्र देहस्था अन्तर्याम्यादयो मत्स्याद्याः अदेहस्था इति भावेनाह, यस्येति, यस्य हरेरवताराः शरीरेष्वन्तर्यामित्वेन ज्ञायन्ते अशरीरेषु शरीरव्यतिरिक्तबाह्यस्थलेषु अशरीरिणः मत्स्यादिरूपत्वेन ज्ञायन्ते कैः साधनैरित्यत्राह—तैस्तैरिति। ये ये मनसो नियमादयः शास्त्रविहिताः तैस्तैरतुल्यैः अन्यातिशयैरधिकैर्मनोनियमादिभिः अतुल्यातिशयत्वं कथमत्राह तिर्यग्योनिष्विति तिर्यग्योनिषु वराहादिसम्बन्धिनीषु असङ्गतैः असम्भाव्यैः तदुक्तं "यस्यावतारा देहस्था इति द्विधा" इत्यादि यद्वा तैस्तैर तुल्यातिशयैः माहात्म्यविशेषैः भूम्युद्धरणमन्दरधारणगोवर्द्धनोद्धारणलक्षणैरिति ॥ ३४ ॥ सत्वादृशो भवान् जनस्य भवाय पुण्यलक्षणभद्राय प्रभवाय महत्त्ववर्धनाय साम्प्रतं यदुकुलेऽवतीर्णोसीत्यन्वयः। आशिषां शुभानां पतिः पालयिता दाता च भागेनांशेन ॥ ३५ ॥ इदमेव रूपं मूलरूपादन्यूनमहिमेति भावेनाह—नम इति ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विश्वं सर्वम् एवं प्राकृतसर्वात्मकत्वमुक्त्वा तदतीततदात्मकत्वमप्याहतुः—तस्मै स्वयं भगवते महानारायणाय वासुदेवाय तच्चतुर्व्यूहप्रथमाय वेधसे प्राकृतसृष्टिकर्त्रे सङ्कर्षणादिरूपाय कीदृशाय पुरुषाय आत्मेति अत एव तत्तत्-सर्वात्मकत्वात् ब्रह्मणे परमबृहते ॥ ३३ ॥ तदेवं महिमानं निरूप्य तथाभूतस्य तस्यावतारेष्वपि महिमातिशयममर्यादं दर्शयित्वा तत्र तस्य कैमुत्यमापादयन्तौ साक्षात्तदवतारे सर्वलोकभागधेयान्तःपतितस्वभागधेयं श्लाघेते—यस्येति द्वाभ्याम्। भगवति देहदेहित्वयोर्भेदाभावात् जीववदसौ शरीरी न भवतीत्यशरीरिणः ॥ ३४-३५ ॥ तदेवानूद्य नमस्कुरुतः—नम इति। परमाणां शिवादीनामपि मङ्गलरूपवासुदेवाय वसुदेवद्वारा प्रकटाय शान्ताय सर्वस्य परमसुखरूपाय यदूनां क्षत्रियविशेषाणां गोप-विशेषाणाञ्च ॥ ३६-३७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु कथमहमाद्यः पुरुषः यथान्येऽवतारास्तथाहमप्येक एवेत्याह—तवावतारा इत्यादि। शरीरिषु मध्ये तवावतारा ज्ञायन्ते। तवैव सर्वेऽवताराः। अवतारो रूपान्तरेण प्राकट्यम् अतस्त्वमवतारो न,—स्वस्वरूपेणाविर्भूतत्वात्। रूपान्तरं तु शरीरिसदृशं यथा मत्स्यादिशरीरिसदृशम्। त्वं तु नराकृति परब्रह्मत्वात् स्वरूपमेवेतदित्याह—अशरीरिणः शरीरिविलक्षणस्य। कुत इत्याह—तैस्तैः प्रसिद्धैस्तैरवाङ्मनसगोचरैः, न विद्यते तुल्यमतिशयश्च येषां तैः। देहिषु ब्रह्मादिष्वपि प्रसङ्गतैर्वीर्यैर्वि-शिष्टश्चेत। विशेषणे तृतीया ॥३४॥ ननु एवं चेदहं तदा कथमहं सर्वगोचरः स्यामित्यत आह—स भवानित्यादि। स भवान् स उक्तप्रकाराचिन्त्यमहैश्वर्यो भवान् श्रीकृष्णः सर्वलोकस्य भवाय क्षेमाय विभवाय विशिष्टक्षेमाय भक्तियोगायावतीर्णोऽसीति ॥३५॥

इति श्री दशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

यस्यावतारा इत्यादि। यस्यावताराः शरीरेषु, मत्स्यादिशरीरेषु, यस्य कीदृशस्य? अशरीरिणः, त्वन्तु मत्स्यादिवत् शरीरी न भवसि, सच्चिदानन्द-विग्रह एव त्वम् सर्वेषां परम मनोहरत्व सुखदत्व परमानन्दप्रदत्वाच्च कारुण्यादिगुणत्वाच्च, न तु विग्रहवान्। तैस्तैरित्यादि–तैरनिर्वाच्यैस्तैः प्रसिद्धैर्न विद्यते तुल्यमतिशयश्च येषां तैर्गुणैर्विशिष्टत्वात्, देहिषु ब्रह्मादिष्वसङ्गतैः केवलं त्वय्येव सङ्गतैः॥ ३४॥ अवतीर्णोऽशभागेनेत्यादि। हे अंशभागेन! अंशानां भागो भाग्यं तस्य इव प्रभो। अथवा, अंशाश्च भागाश्च तेषामिव, अथवा अंशानां भागेन भाग्येनेति तृतीयान्तम् वा वा पदम्॥ ३५-४३॥

इति दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अतो दुर्ज्ञेयत्वात् केवलं प्रणमतः—तस्मा इति। वेधसे विश्वकर्त्रे दुर्ज्ञेयत्वस्य कारणं गुणसंवृत इति संवृतत्वमुक्तमेव पुनरपि स्पष्टयतः आत्मना त्वयैव द्योतन्ते इति त्वत्प्रकाशैर्गुणैश्छन्नो महिमा मेघैरिव रवेर्यस्य तस्मै॥ ३३॥ सत्यं परमेश्वर एवंभूतो भवत्येव युवां तु मामेव परमेश्वरं केन लक्षणेन ब्रूथाथे तत्राहतुः यस्य अवतारा मत्स्यादयः शरीरिषु मत्स्यादिजातिषु मध्ये ज्ञायन्ते अनुमीयन्ते अशरीरिणः प्राकृतशरीररहितस्य तव कैः देहिषु जीवेष्वसङ्गतैरघटमानैर्वीर्यैः प्रभावैः स भगवा नवतारी खल्वेव भवसि हस्तिसहस्रेणापि दुरुत्पाटनयोरावयोरर्जुनयोरर्जुनसमौजसो बाल्यलीलोदितबललवेनाप्युत्पाटनात् रज्जूलूखलयोरपि तादृशशक्त्यार्पणादिति भावः। भवायभूत्यै विगतो भवो यस्मात्तस्मै मोक्षाय अंशभागेन अंशांशेन ब्रह्म-रुद्रादिना आशिषां सर्वकामनानां पतिर्दाता यः स एवेत्यर्थः॥ ३४-३५॥ परमकल्याणं यस्मात्तस्मै हे स्वयं च परममङ्गलस्वरूप॥ ३६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अतस्तस्मै उक्तप्रकाराय तुभ्यं नमः, कथंभूताय? भगवते स्वाभाविकषाड्गुण्यनिधये वासुदेवाय वासयतीति वासुः सर्वाधारः स एव दीव्यति बालरूपेण क्रीडतीति देवस्तस्मै तत्रापि वेधसे स्वशरणहिताभिधानकृते आत्मनि जीवे द्योतः प्राकट्यं येषां तैर्जीवज्ञानाच्छादकैर्गुणैर्यथा चक्षुःपिधानेन सर्वगमपि तेजश्छन्नो भवति तद्वच्छन्नो जीवानां दुरवबोधो महिमा यस्य तस्मै ब्रह्मणे बृहत्स्वरूपगुणाय॥ ३३॥ नन्वहं भवद्भ्यां कुतो ज्ञातस्तत्राहतुः—यस्येति द्वाभ्याम्। देहिषु असङ्गतैर्वीर्यैः अशरीरिणः प्राकृतशरीरीजीवस्तद्विलक्षणस्य परमात्मनः यस्यावतारिणस्तव शरीरिषु देवतीर्यगादिषु अवताराः अविज्ञायन्ते स भवान् अवतीर्णः सुतरां ज्ञायते इति द्वयोरन्वयः॥ ३४॥ अंशाः जीवास्तेषां भागः बुभुक्षूणां भोगरूपः मुमुक्षूणां मोक्षरूपः यस्मात्तेन रूपेण एतदेवाहतुः भवाय भोगाय विगतो भवो यस्मिन् तस्मै विभवाय मोक्षाय अवतीर्णः साम्प्रतं ज्ञायते इति शेषः॥ ३५॥ वासुदेवाय वसुदेवापत्याय॥ ३६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अतो दुर्बोधत्वात् केवलं प्रणमतस्तस्मै इति वेधसे जगत्कर्त्रे दुर्बोधत्वहेतुं गुणसंवृतत्वं पुनः स्फुटयतः आत्मना त्वयैव द्योत्यैः प्रकाश्यैर्गुणैश्छन्नो महिमा घनैरिव रवेर्यस्य तस्मै॥ ३३॥ ननु मे परेशत्वं केन चिह्नेन कथयथस्तत्राह यस्येति युग्मम्। अशरीरिणः प्राकृतभिन्नदेहशून्यस्य यस्य शरीरिषु मत्स्यादिजातिष्ववतारा मत्स्यादयो ज्ञायन्ते अनुमीयन्ते कैश्चिह्नै-रित्याह देहिषु जीवेष्वसङ्गतैरघटमानैर्वीर्यैः पराक्रमैः स भवानवतारी त्वमेव साम्प्रतमवतीर्णोऽसि गजेन्द्रसहस्रेणापि दुरुत्पाट्यो-रावयोर्बाल्यलीलाप्रकाशितेन बललेशेनाप्युत्पाटिताद्रज्जूलूखलयोरपि बलार्पणाच्चेति भावः। भवाय सम्पदे विभवाय विगतो भवो यस्मात्तस्मै मोक्षाय चेत्यर्थः। कीदृशः? आशिषां कामानामंशभागेनांशांशेन पतिर्दातेत्यर्थः॥ ३४-३५॥ परमं कल्याणं यस्मात् हे स्वयं परममङ्गल॥ ३६॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

स्वात्मना गृह्यमाणस्त्वं विकारैर्महदादिविकाराभिमानिभिर्ब्रह्मादिभिः प्राकृतैः गुणैः प्रकृतिकार्यसत्त्वरजस्तमोभिमानि-श्रीभूदुर्गाभिरग्राह्यः। तदेवोपपादयति॥ क इति। गुणसंस्थितेर्गुणानां गुणाभिमानिश्री भूदुर्गाणां। उपलक्षणमेतत्। विकाराणां च विकाराभिमानिब्रह्मादीनां च संस्थितेरुत्पत्तेः। प्राक् सिद्धं त्वामिहजगति कोऽनु सम्यक्। साकल्येनेति यावत्। किं ज्ञातुं कोऽर्हति। न कोऽपीति। किंचिज्ज्ञानं लक्ष्म्यादीनामस्तीति भावः। गुणानां प्रकृतिजन्यत्वेन विकारित्वेऽपि पृथग्ग्रहणं महदाद्य-पेक्षयाऽऽल्पविकारित्वज्ञापनार्थं। तदुक्तं मधुरछंदसशाखायां। कार्याकार्या गुणास्तिस्रोऽतः स्वल्पोद्भवो जनाविति। तिस्र इति लिंगव्यत्ययः छांदसः॥ ३३-३६॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यामेकादशोऽध्यायः॥ १०-११॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यस्यावतारा इति श्लोके वस्तुतो येषां नैराकार्यं व्यवहारस्तस्मात्कार्यमतुल्यातिशयैरधिकारिभिस्ते चावतारा ज्ञायन्त इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय छन्न इत्यादित उदितमहाकौर्मप्रमाणशेषेण तात्पर्यमाह ॥ यः पुरुषोत्तमस्तस्यावतारा इति। देहस्थाऽदेहस्थेति द्विधाऽव्ययात्तृतीयाया लुक्। वैशिष्ट्यं तदर्थः प्रकारद्वयविशिष्टा इत्यर्थ इति न सामानाधिकरण्यं विरुणद्धीति ज्ञेयं। अवतारपदं स्वयमेव व्याकरोति॥ अन्तर्याम्यादिरूपाणि देहस्थानीति। विदो ज्ञानिनो विदुरिति मत्स्यकूर्मादिरूपाणि देहस्थानि जीवदेहस्थानि न हृत्पतेर्विव्यधिकस्य। यथोक्तं बृहद्भाष्ये। हरणाद्यङ्गभागादेर्ज्ञानादेर्दानतस्तथा। यानादव्यवधानेन परस्य ब्रह्मणस्तथा। ब्रह्मा हृदय इत्युक्तस्तस्यैव विदपि ध्रुवमिति। यद्यपि हरणाद्यङ्गभागादेर्हेदित्यंश एव प्रकृतसङ्गतस्तथाऽप्युत्तरत्रोपयोक्ष्यत इत्यधिकांशोदाहरणं। तनोति ब्रह्माणं यं कर्तुं कामयते तमिति रमा च। हृतोः पतिरिति हृत्पतिस्तस्य। अन्यतुल्यैरतिशयैरिति व्याख्याति॥ मनसा नियमादिभिरिति। करणैर्भक्तैः कर्तृभिः सर्वशोऽन्तरनन्तर्विद्यमानानि सर्वाणि नित्यपूर्णान्येव ज्ञायन्ते। अन्यैस्तुल्या नेति वा। न तुल्या अतुल्या अन्येऽतुल्या येषामिति वा तैः। शरीरेषु देहेषु केचन यस्यावतारा अन्तर्यामिका अशरीरिणो न विद्यते शरीरमधिष्ठानतयैषामिति तेऽशरीरिणो मत्स्याद्याः। अन्यातुल्यैरतिशयैरदृश्यमनो नियमादिभिरसङ्गतैः अं त्वामेव सङ्गतास्तैरधिकारिभिस्तिर्यगादियोनिष्वपि ज्ञायते। तिर्यग्योनिष्वप्यसङ्गतैरन्यत्रासम्बद्धवेदहर्तृहयग्रीवसंहरणधरिण्युद्धरणादिभिः। सममितरत्। तज्जात्यवच्छिन्नेषु कर्मपारवश्येनासम्भावितैरित्यसङ्गतैर्वा तैस्तैरतुल्यातिशयैः समाधिकविकलैस्तिर्यग्योनिषु तिर्यगादियोनिष्वप्याविर्भूतैरप्यसङ्गतैस्तत्तज्जातिप्रापककर्मसम्बन्धविधुरैः शरीरैरशरीरिण इत्यशरीरिण इति रणविषया मत्स्याद्या इत्यपि योजना॥ ३४॥ स उक्तगुणयुक्तः सर्वलोकस्य समस्तज्ञानिजनस्य भवाय मङ्गलाय विभवायैश्वर्याय मुक्तये वा। प्रभवेति पाठपक्षे प्रभवाय पराक्रमाय। प्रभवो जलमूले स्याज्जन्मभूमौ पराक्रम इति विश्वः। भवानाशिषां पतिः पशुपतिर्दाता वा साम्प्रतं भागेनांशानामंशेन पद्मनाभकृष्णकेशरूपेणावतीर्णोऽसि गतम्। अं तद्वान्भवांस्त्वमसीति वा। अंशभागेनेति पाठेंऽशांशेनेत्यर्थः। तदाऽस्तीति शेषः॥ ३५॥ विश्वमङ्गल जगन्मङ्गल स्वयं परमकल्याण मङ्गलाङ्गशान्ताय सुखावधेयशान्तमूर्तये वा यदूनां पतये। पदमेकं द्वयोरुक्तिरित्युक्तिर्नमः सम्पुटिकेति मन्तव्यम्॥३६॥

श्रीसुबोधिनी

तर्हि कथं निस्तार इति चेत् तत्राहतुस्तस्मै तुभ्यमिति, केवलं तस्मै सर्वदुर्ज्ञेयाय **तुभ्यं** नानाविनोदयुक्ताय नमः, "ननु तमेव विदित्वातिमृत्युमेती"तिश्रुतेः कथं भगवदज्ञाने निस्तार इति चेत् तत्राहतु**र्भगवत** इति, भगवज्ज्ञानगुणेन भगवज्ज्ञानं, अज्ञातोपि प्रमेयबलेन निस्तारयतीति "भक्तिस्तत्र प्रयोजिका" "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता"मितिश्रुत्याज्ञात एव ज्ञातो भवति, अतो भगवानीश्वरः केन ज्ञातुं शक्यः? किञ्च प्रमाणबलेनाज्ञातोपि स्वतो ज्ञातुं शक्यः, यतोयं **वासुदेवः**, वसुदेवे शुद्धे सत्त्व आविर्भवतीति, आविर्भूतस्तु सर्वैरेव ज्ञातुं शक्यः, नन्वेतदेव सर्वं कुतो भवेत् साधनपरता साधनोत्पत्तिः सत्वशुद्धेराविर्भाव इति? तत्राहतु**र्वेधस** इति, स हि सर्वं विदधाति, अन्यथा तेन कृतस्तन्मार्गो व्यर्थः स्यात्, नमो धीमहीति वा, हृदये प्रत्यक्षे भगवति तत्पादयोः शिरः स्थापयित्वा मनसा यन्नमनं तत् सोपस्करं धीमहीत्यर्थः, अतोन्तःकरणप्रत्यक्ष एव भगवान् न बहिःप्रत्यक्षविषयः, तर्हि बहिर्नास्तीत्येव मन्तव्यं, तत्राहतुरात्मद्योतै**र्गुणैश्छन्नमहिम्न** इति, आत्मना स्वेनैव द्योतो येषां, गुणा अपि भगवतैव प्रकाश्यन्ते यथा सूर्येण मेघाः, त एव तस्यावरका भवन्ति, न हि गाढान्धकारे निशायां मेघा दृश्यन्ते, एवं सर्वैरेव विषयैरात्मनैव प्रकाशितैश्छन्नो महिमा यस्य, अतो न प्रकाशते, वस्तुतस्तु वर्तत एव सर्वत्र, अन्तर्बहिःस्थितौ हेतुमाहतु**र्ब्रह्मण** इति, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद् ब्रह्म", अतः सर्वत्रैव वर्तसे परमन्तरेव प्रकाशसे न बहिरिति॥ ३३॥ तर्हि कथमवताराद् बहिः प्रकाशरूपो भगवान् भवतीति? तत्राहतु**र्यस्यावतारा** इति, मत्स्यादिषु शरीरेषु कश्चिदेव मत्स्यविशेषेलौकिकभावो दृश्यते स च न जीवधर्मो भवतीत्य**शरीरिण**स्तव ते**ष्ववतारा** इति **ज्ञायन्ते, अशरीरिण** इति वचनाच्छरीराकृतिरेव तत्र प्रकाशते न तु तच्छरीरं, अन्यथा वृद्धिर्नोपपद्यते, सामर्थ्यं परमधिकं भवेत्, तस्माच्छरीराकारेण भासमानं भगवद्रूपमेवेति न तुल्यमतिशयो वा यस्य यस्मादन्यत्र **तदतुल्यातिशयं**, कालापेक्षया नान्यस्य वीर्यमस्ति कालमर्यादां चेदुल्लङ्घति तदा भगवद्वीर्य**मतुल्यातिशयमि**ति ज्ञायते, सोपि नैकविधः पराक्रमः, क्षणेन विश्वरूपो भवति, क्षणेन वामनो दृश्यश्चादृश्यश्च बहिरन्तः परिच्छेदो व्यापकश्च, अतो ज्ञायते सर्वेष्वेव **देहिष्वसङ्गतैः** कदाप्यसम्बद्धैर्भगवानेवायमिति न तु प्रत्यक्षतया भगवानिति निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः, तत्रापि कदाचिच्चेदलौकिकं भवति कल्प्येतापि कथञ्चिज्ज्ञातमिति, सर्वदा चेदवाङ्मनोगोचरा **अनुभावास्तदा** कथं न ज्ञायेत? तदाहतुस्तैस्तैरिति, एवमवतारेषु भगवज्ज्ञानमानुमानिकं न प्रत्यक्षमित्युक्तम्॥ ३४॥ प्रकृते तु शब्दादेव नारदकृपया वा भगवानेतदर्थमागत इति ज्ञायत इत्याहतुः **स भवानि**ति, यः पूर्वोक्तः सर्वप्रमाणवेद्यो लौकिकैर्वेद्योन्तःकरणप्रत्यक्षोवतारी चतूरूपो **भवान्**, अत एव **सर्वस्यैव लोकस्य भवायोद्भवायैश्वर्याय च, अंशेन भागेन च साम्प्रतमवतीर्णः**, यतो **भवानाशिषां पतिः**, स्वरूपतो भवाँश्चतूरूपो विवृतः प्रकारेण,

ततोऽप्यधिकास्त्वत्र **गुणाः, सर्व एव लोका** उत्पादनीयाः, ततस्तेभ्यः स्वसमानैश्वर्यादिकं च देयं भगवत्यंशतः समागते सर्वे भगवदीयाः शुद्धसत्त्वांशेनैवाविर्भवन्ति भगवत्सेवौपयिकदासरूपांशेन वा सर्वे लोकाः स्वदासभावेनाविर्भवन्त्वितीच्छया भगवानेकादेशभावं प्रकाशितवान्, समुदाये ग्रहणभजनाद्यनुपपत्तेः, न हि प्रलयाग्निः सेवितुं शक्यते, किञ्च **भागाः** कला, कलयावतीर्णः, सर्वेषां सर्वकलाकौशलाय सर्वाः, कलास्तदैव प्रादुर्भवन्ति यदि मूलभूतः कलारूपेणाविर्भवति तदैव च सर्वाः कलाः पूर्णा भवन्ति, इदं स्वोपयोगायोक्तं, स्वस्यापि वैष्णवरूपेणोद्भवो भक्तिकलाश्च पूर्णा भविष्यन्तीति, एता एवाशिषः, अग्रे प्रार्थ्यमानत्वात्. मानुषभावेन नानाविधाः क्रीडा भक्तानुत्पाद्य तेषु भक्तिस्थापनार्था इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ किञ्चित् प्रार्थयितुं नमस्कारं कुरुतो **नम** इति,

आदिमध्यावसानेषु नमनं मन आदिभिः ॥ ३॥

आदौ कायिकं नमनं, तत्र फलं **परमकल्याणे**ति, कल्याणानां निधानरूपो भगवान्, कल्याणानि शुभफलानि पुत्रजन्मादीनि लोके प्रसिद्धानि, परमानन्दः **परमकल्याणः**, कायेन नमस्कृतः शरीरोपभोगाय **परमकल्याणः** प्रादुर्भवति, **नमस्त** इति वाचनिकं ते तुभ्यमितिकीर्तनात्, तस्य फलं **विश्वमङ्गल** इति, वेदादिनिर्माणाद् **विश्वस्मै** तत्साध्यफलरूपो मङ्गलं भवति, **अन्ते नम** मानसं. तदर्थं मनस्याविर्भावाय **वासुदेवायेति, शान्ताये**ति ज्ञानरूपाय, केवलमाविर्भूते नारदवदज्ञाते तथापुरुषार्थो न भवतीति **शान्तं** लयविक्षेपशून्यं रूपमाविर्भावो ज्ञानं चोक्तं, फलमाह **यदूनां पतय** इति, भगवान् स्वामी फलं यथा **यदूनाम्**॥३६॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तस्मा इत्यत्र **साधनोत्पत्तिरिति** साधननिष्पत्तिः। **पाठान्तरे** योजनामाहुर्**नमो धीमहीतीति** वासुदेवाय नमस्तद् ध्यायेम, तदेतद् विवृण्वन्ति **हृदय** इत्यादि, **निशायामपि** चन्द्रादिसद्भावे मेघदर्शनमिति **गाढान्धकार** इति ॥ ३३ ॥ **यस्यावतारा** इत्यत्र **तर्हीति** यदि भगवान् बहिरप्रकाशः, **अतुल्यातिशयपदे** समासवृत्तौ तुल्यं चातिशयश्च तुल्यातिशयौ न तुल्यातिशयौ यस्येत्यतुल्यातिशयं, अत्र नञ्पदद्वयेपि सम्बध्यमानो यमर्थं ब्रूते तं स्फुटीकुर्वन्ति **न** तुल्यमित्यादि, तथा च यस्यान्यत् तुल्यं नास्ति यस्मादतिशयोन्यत्र नास्ति तत् तथेत्यर्थः, सिद्धमाहुरेवमित्यादि, तथा चावतारा वीर्यानुमेया न प्रत्यक्षा इति भगवतोन्तःप्रकाशत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ **स भवानित्यत्र शब्दादिति** "वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वे"तिरूपान् नारदवाक्यात्, **एतदर्थमिति** सान्निध्यार्थं, **ततोप्यधिकास्त्वत्र गुणा** इत्यवतारान्तरादप्यधिका अस्मिन् स्वरूपे **गुणाः**, पूर्वश्लोके "**यस्ये**"तिपदेन योवतारी परामृष्टः स एव "**स भवानि**"त्यनेन गृह्यते, तथा **सत्यंशभागेनावतीर्ण** इतिकथनं कथं सङ्गच्छत इत्याकाङ्क्षायां तदुपपादनाय तृतीयायाः सहार्थत्वमभिप्रेत्याहु**र्भगवतीत्या**दि, नन्वेवं भङ्ग्या कथनस्य किं प्रयोजनमत **आहुरिदमित्यादि**, अंशभागाभ्यामवतरणमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ **नम** इत्यत्राग्रिमे **तदर्थमिति** ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्मै तुभ्यमित्यत्र केवलमिति नम इत्यनेनान्वेति, तत्पदस्य परोक्षवाचकत्वात् **तस्मै** इत्यनेन दुर्ज्ञेयत्वमुक्तं, युष्मच्छब्दस्य प्रत्यक्षवाचकत्वात् **तुभ्यमि**त्यनेन नानाविनोदयुक्तत्वमुक्तं, विनोदार्थमेवेच्छया व्यवहार्यो जात इतिभावः ॥ ३३ ॥ **यस्यावतारा** इत्यत्र **तेष्ववतारा** इति तेषु मत्स्याद्याकारेषु सत्त्वेषु पुरुषोत्तमस्यावतरणानीत्यर्थः, तथा च सत्त्वस्यैव प्रत्यक्षं, **आविष्टपुरुषोत्तमज्ञानं** त्वानुमानिकमेवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ **स भवानित्यत्र एकदेशभावमिति** तथा च "तत्रांशेनावतीर्णस्ये"त्यत्रोक्तः अंशपदस्यार्थो ज्ञेयः ॥ ३५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

यदूनां पतये नम इत्यस्य विवृतौ **भगवान् स्वामी फलमिति** यदा भगवान् भक्तिमार्गरीत्या **स्वामी** भवति तदा **फलरूपो भवतीत्यर्थः**, तत्र **दृष्टान्तः यथेति**, "यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिश"दितिवाक्यात् ॥ ३६ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नमः परमकल्याणेतिश्लोके वारत्रयनमः शब्दार्थमाहुः **आदीति** का० ९८३। **कायवाङ्मनोभिरिति** स्फुटं विवरणे ॥ ९८३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

"तथाच सर्वात्मकत्वेऽपि न प्रपञ्चज्ञानं मुक्तिहेतुः, किंतु नमस्कारादिभक्त्या तत्परमार्थतत्त्वज्ञानम्" इति सूचयन्तौ तं प्रणमतः—तस्मा इति। भगवते ऐश्वर्यादिषड्गुणपूर्णाय वासुदेवाय वसुदेवनन्दनाय, यद्वा 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्' इत्युक्तानुसारात् चित्ताधिष्ठात्रे वेधसे जगज्जन्मादिविधात्रे। तथाप्यप्रकाशे हेतुमाहतुः—आत्मनः स्वस्मात् यतः प्रकाशो येषां तैर्गुणैः सत्त्वादिभिश्छन्नो महिमा तत्त्वं यस्या 'अभ्रैरिव खे' तस्मै। एवं परिच्छिन्नत्वमाशङ्क्याहतुः—ब्रह्मणे इति।

परिपूर्णाय तस्मै सर्वशास्त्रतात्पर्यगोचराय तुभ्यं नमः ॥ ३३ ॥ 'अहमेवंविध ईश्वर इति कुतो ज्ञातम् ?' इत्यपेक्षायामाहतुः—यस्येति । नास्ति तुल्यमतिशय आधिक्यं च येभ्यस्तैरतुल्यातिशयैः, अतएव देहिषु प्राकृतेषु असङ्गतैः अनुपपन्नैस्तैस्तैर्वीर्यैः पराक्रमैर्लिङ्गैः शरीरिषु प्राकृतेषु अशरीरिणः प्राकृतशरीररहितस्य ते तवावतारा ज्ञायन्त इत्यन्वयः ॥३४॥ अवतारप्रयोजनमाहतुः—स इति । सकलशास्त्रतात्पर्यगोचरो भवान् सर्वस्य लोकस्य तत्तदधिकारिजनस्य तत्तदधिकारानुरूपं भवाय उद्भवाय धर्मादित्रिवर्गसिद्धये, विभवाय विगतो भवः संसारो यस्मिंस्तस्मै मोक्षाय च अंशभागेन अंशानामंशावताराणां भागो विभागः प्रादुर्भावो यस्मात् तेन, अंशा अंशावतारा अपि भागा भजनीया यस्य तेनेति वा, परिपूर्णेन रूपेण साम्प्रतमिदानीमवतीर्णोऽस्ति । एवं धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयसम्पादने तत्र सामर्थ्ये च हेतुमाहतुः—आशिषां धर्मादिचतुर्विधपुरुषार्थानां पतिः स्वामी ॥ ३५ ॥ भक्त्युद्रेकेण पुनः प्रणमतः—परमं कल्याणं सुखं यस्मात्तस्य सम्बोधनं हे परमकल्याण ! तत्र हेतुत्वेन पुनः सम्बोधयतः—हे परममङ्गल परमानन्दमूर्ते ! तुभ्यं वासुदेवाय वसुदेवनन्दनाय नमोनमः । 'तव तु न किमपि स्वप्रयोजनम्, निजानन्दपूर्णेनैव शान्तत्वात्' इत्याशयेनाहतुः—शान्तायेति । यादवेष्वेवावतारप्रयोजनमाहतुः- यदूनां पतये पालकाय नमः । नमःशब्दावृत्तिरादरार्था ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्मा इति ॥ भगवते वासुदेवाय वसुदेवाख्यचित्ताधिष्ठात्रे वेधसे जगज्जन्मादिविधात्रे आत्मनः स्वस्मात् द्योतः प्रकाशो येषां तैर्गुणैः सत्त्वादिभिश्छन्नो महिमा तत्त्वं यस्याभ्रैरिव रवेः तस्मै ब्रह्मणे परमात्मने तुभ्यं नमः ॥ ३३ ॥ यस्येति ॥ नास्ति तुल्यमतिशय आधिक्यं च येभ्यस्तैरतुल्यातिशयैः अत एव देहिषु प्राकृतेषु असङ्गतैः अनुपपन्नैस्तैस्तैर्वीर्यैः पराक्रमैर्लिङ्गैः शरीरिषु प्राकृतेषु अशरीरिणः यस्य तवावतारा ज्ञायन्ते ॥ ३४ ॥ स भवानिति ॥ स शास्त्रप्रसिद्धः आशिषां धर्मादिपुरुषार्थानां पतिः भवान् साम्प्रतमिदानीं सर्वलोकस्य यथाधिकारं भवाय उद्भवाय विभवाय विगतो भवः संसारो यस्मिंस्तस्मै मोक्षाय च अंशभागेन अंशावताराणां भागः प्रादुर्भावो यस्मात्तेन परिपूर्णेन रूपेण अवतीर्णः असि ॥ ३५ ॥ नम इति ॥ हे परमकल्याण ! तुभ्यं नमः । हे परममङ्गल ! तुभ्यं नमः । वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः । "षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा" इति पत्युर्घिसंज्ञा छान्दसी ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

वेधसे सर्वस्रष्ट्रे आत्मनः त्वत्तो द्योतः प्रकाशो येषां तैः गुणैर्देवमनुष्यमत्स्यकूर्मादिस्वभावैः छन्नैरदृश्यमानैः महिमा यस्य तस्मै ॥ ३३ ॥ तथापि भक्तास्त्वां जानंतीत्याहतुर्यस्येति अशरीरिणः प्राकृतशरीरहीनस्य दिव्यमूर्तेस्तव शरीरिषु देवमनुष्यादिषु येऽवतारास्ते देहिष्वन्यक्षेत्रज्ञेषु असंगतैः अप्राप्तैः अतुल्यातिशयैः नास्ति तुल्यत्वमतिशयत्वं च येभ्यस्तैः तैस्तैः विश्वरूपब्रह्मपुरदर्शनस्वमोचनादिरूपैर्वीर्यैर्ज्ञायंते भक्तैरिति शेषः ॥ ३४ ॥ भवाय उद्भवाय विभवाय विगतो भवो यस्मिंस्तस्मै मोक्षायेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ परमं कल्याणमक्षरधाम गमनरूपं श्रेयो यस्मात् सः तत्संबुद्धौ ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमुक्तविधस्य भगवतः सर्वज्ञत्वं जीवैर्दुर्ज्ञेयत्वं चानुसंदधतौ नमस्कुरुतः ॥ तस्मा इति ॥ तस्मै कृष्ण कृष्णेत्यादिनोक्तगुणविशिष्टाय, भगवते षाड्गुण्यपूर्णाय, वासुदेवाय साधुपरित्राणार्थं वसुदेवात्मजत्वेनावतीर्णाय, ननु मम वसुदेवात्मजत्वेऽसुरव्यापादनादौ प्रवृत्त्या सत्परित्राणं सम्यक् न भवितेति चेत्तत्राहतुः । विदधाति सत्परित्राणार्थमन्यद्धरिकृष्णसंज्ञं जन्म देवनाम्ना प्रसिद्धधर्मात् प्रेमवत्याख्यपत्न्यां धारयतीति वेधास्तस्मै वेधसे, विपूर्वात् 'धाञो वेध च' इति वेधादेशेऽसिप्रत्ययान्तो वेधःशब्दः । एतदपि स्वयं भगवतैव वक्ष्यते 'अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संभ्रियते मया' इति । आत्मद्योताः स्वस्य प्रकाशमाना ये गुणास्तैः छन्नो महिमा यस्य तस्मै, जीवानां दुरवबोधमहिम्ने इत्यर्थः । ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते, तुभ्यं नमः ॥ ३३ ॥ वासुदेवायेत्यनेनाभिप्रेत विवक्षू तावत् सर्वावतारयाथात्म्यमाहतुः ॥ यस्येति ॥ शरीरिषु मत्स्यादिशरीरिणां मध्ये, अशरीरिणः कर्मकृतशरीररहितस्य, यस्य तव, अवताराः अतुल्यातिशयैः समाभ्यधिकतावर्जितैः, देहिषु कर्मकृतदेहवत्सु शरीरिषु, असंगतैरसंभावितैः, तैस्तैस्तत्तदवतारं प्रति नियतैः वीर्यैः, ज्ञायन्ते । कर्मकृतदेहिभ्यो विलक्षणत्वेन ज्ञायन्त इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ स भवानिति ॥ सर्वलोकस्य सकलसाधुजनस्य, आशिषां समीहितस्वर्गापवर्गादिपुरुषार्थानां, भवायोत्पादनाय, विभवायोत्तरोत्तराभिवृद्धये च, पतिस्तासां पालकश्च, भवितुमिति शेषः । स उक्तविधः, भवान्, अंशभागेन बलरामेण सह, यद्वा । अशभागेन संकल्परूपज्ञानेन, न तु कर्मणेति भावः । सांप्रतमधुना, अवतीर्णः प्रादुर्भूतः, भवति । यद्वा । सांप्रतमिति युज्यत इत्येतदर्थको निपातः । तत्पक्षे, यतो भवान्, आशिषां पतिः प्रभुर्दाता भवत्यतः सज्जनानां भवार्थं विभवार्थं चांशेनैवावतीर्ण इति सांप्रतं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ प्रकृतावतारासाधारणगुणानुसंदधानौ नमस्कुरुतः ॥ नम

इति ॥ हे परमकल्याण, नमः । हे परममङ्गल, नमः । वासुदेवाय, शान्तायोर्मिषट्करहिताय, अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्यवः षडूर्मयः । यदूनां पतये, नमः । अनेन न त्वं गोपसूनुः, किं तु वसुदेवात्मजो यादवविशेष इति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तस्मै इति : १०.१०.३३.

स्वप्रकाश्यगुणच्छन्नमहिमाऽस्मीति केवलम् । न गिरैवोक्तमद्येश कृपया दर्शितं हि नौ ॥ ६२ ॥

यस्यावतारा इति : १०.१०.३४.

यल्लोके न कदापि देहिकृतितः संभाव्यते दुर्घटं तत्कृत्यं भुवि लीलयैव कुरुते यः सोऽवतारी पुमान् ।
लक्ष्मैतत्स्फुटमेव जातमधुना बद्धोऽपि यद्बन्धनादावां मोचितवान् सलीलमिति किं नाद्यापि ॥ ६३ ॥

निजभक्तोद्धृतये त्वं भूत्वा सगुणः करोषि निजविहृतिम् । अज्ञा बद्ध इति त्वां वदन्ति सत्यं तदेतदिति भगवन् ॥ ६४ ॥

स भवानिति : १०.१०.३५.

यन्नारायणनाम चेदवशतो वक्त्रात् सकृन्निर्गतं यस्यासौ दुरितं विधूय भवति श्लाघ्यस्त्रिलोकेष्वपि ।
स त्वं योगविदप्रमेयचरितोऽप्यद्धाऽद्य दृष्टोऽसि यत् तत्पुण्यानि कृतार्थता च भगवन्नावां किमाचक्ष्महे ॥ ६५ ॥

श्रुतिमात्रतोऽपि सगुणं तव रूपं भुवि यैरवेदि ननु तेऽपि विमुक्ताः ।
भगवन् भवन्ति पुनरद्य तु तादृक् परिपश्यतो स्फुटमनन्तसुखाप्तिः ॥ ६६ ॥

कृष्णप्रिया

समग्र विश्व के विधाता आप वासुदेव भगवान को नमस्कार है। मेघों से आच्छन्न सूर्य की भाँति आप आपके द्वारा प्रकाशित होने वाले गुणों से आच्छन्न परब्रह्म परमेश्वर आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥ यदि आप की तुलना में कोई नहीं तो फिर आप से अधिकतर की संभावना ही कैसे ! अत एव प्राकृत प्राणियों में सर्वथा न रहने वाले आप के प्रसिद्ध पराक्रमों से ही अजन्मा आपके अवतारों का शरीरियों में पता चलता है। रहस्य यह है कि आप जब कभी अवतार धारण करते हैं तो आपके अवतार विग्रह का पहचान आपके अद्भुत पराक्रमों से चलता है ॥ ३४ ॥ वही पूर्ण ब्रह्म आप समस्त लोकों के उद्भव एवं ऐश्वर्य के लिये इस समय गोकुल में अपने परिपूर्ण रूप से अवतीर्ण हुए हैं; प्रभो आप सकल अभिलाषाओं के परिपूरक हैं ॥ ३५ ॥ हे परम कल्याण आप को नमस्कार, हे परम मङ्गल आपको नमस्कार है, यादवों के स्वामी परम शान्त भगवान् वासुदेव, आपको नमस्कार ॥ ३६ ॥

अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिंकरौ । दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ३७ ॥
वाणी गुणानुकथने [1]श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव [2]निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शने[3]ऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥ ३८ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः । दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

[4]ज्ञातं [5]मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना । [6]यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भूमन् तव अनुचरकिंकरौ नौ अनुजानीहि भगवतः ऋषेः अनुग्रहात् नौ दर्शनं आसीत् ॥ ३७ ॥ नः वाणी गुणानुकथने नः श्रवणौ कथायां च हस्तौ कर्मसु नः मनः तव पादयोः स्मृत्यां निवासजगत् ! तव प्रणामे शिरः भवत् तनूनां सतां दर्शने दृष्टिः अस्तु ॥ ३८ ॥ इत्थं ताभ्यां संकीर्तितः च दाम्ना उलूखले बद्धः भगवान् गोकुलेश्वरः प्रहसन् गुह्यकौ आह ॥ ३९ ॥ करुणात्मना ऋषिणा श्रीमदान्धयोः वाग्भिः यत् विभ्रंशः अनुग्रहः कृतः एतत् मम पुरा एव ज्ञातम् ॥ ४० ॥

---

१. श्रवणं—वीर. । २. तव सुरप्रवर प्रणामे—विज. । ३. ने भगवन्ममास्तु—गो. प्रे. टी. । ४. श्रुतं—गो. प्रे. टी. । ५. मया—विज. ।
६. वाग्भिः शापः सानुग्रहः—विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नौ आवाम्। अनुचरः कुबेरो नारदो वा तस्य किंकरौ। भगवतस्तव दर्शनम्॥ ३७॥ तत्र गतयोरावयोः पूर्वस्वभावो माऽभूत्किं तु वाणी गुणानुकथन इत्यादि। नः "अस्मदो द्वयोश्च" इति द्विवचनस्थाने बहुवचनम्। अस्मत्संगिनां सर्वेषामपीति वा बहुवचनम्। तव निवासभूतं यज्जगत्तस्य प्रणामे। त्वन्निवासभूतमिति बहुमानेन जगतः प्रणामे शिरोऽस्त्वित्यर्थः। भवत्तनूनां भवतो मूर्तिनाम्। संकीर्तितः संस्तुतः॥ ३९॥ वाग्भिर्न ह्यन्यो जुषतो जोष्यानित्यादिभिः श्रीविभ्रंशरूपोऽनुग्रहः कृत इति॥ ४०॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कुबेरस्य महादेवानुचरत्वं विमृश्याह—नारदो वेति। ऋषेर्नारदस्य॥ ३७॥ तत्रालकायाम्। पूर्वस्वभावो विषयप्रवणता इत्यादि भवतु। न इति बहुवचनम्। "अस्मदो द्वयोश्च" इति सूत्रेण। यद्वा—क्लिष्टकल्पनातोऽर्थांतरमेव वरं तदाह—अस्मदित्यादि। इत्यर्थ इति सर्वत्रास्माकं भगवद्दृष्टिर्भवत्विति तात्पर्यम्। तव पादयोः स्मृत्यां मन इति संबंधः। सतां यथाशास्त्रं वर्तमानानाम्। निवासो वहति स्थानं जगद्यस्य तस्य संबोधनम्। यद्वा—त्वन्निवासभूतानां जगतां जंगमानां नारदादिभक्तानां प्रणामे शिरोऽस्त्विति। यद्वा—त्वन्निवासोऽयं यो व्रजस्तत्रस्थस्य जगतः सर्वस्य प्रणाम इति संदर्भविश्वनाथौ॥ ३८॥ गोकुलेश्वर इति। दाम्ना चोलूखले बद्ध इति च भक्तिवशवर्तित्वमाह—भक्त्यधीनो गोपालत्वं दामबंधनं चापि स्वीकृतवानिति॥ ३९॥ अनुग्रहः कृतः श्रीभ्रंशे भवत्स्मृत्यादिसंभवादिति भावः। "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्यते तद्धनं शनैः" इति वक्ष्यमाणत्वात्॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं स्तुत्वा देवत्वेनानवसरे तत्रावस्थितिमयुक्तां मत्वा तादृशं स्थावरत्वमेवानुशोचन्तावाहतुः—अनुजानीहीति। गन्तुमेवेति भावः। भूमन्! हे परमेश्वर! अन्यत्तैः। यद्वा, अनुजानीहि आवां प्रति किञ्चिदाज्ञां विधेहीत्यर्थः। भूमन् हे सर्वतः परिपूर्णेति यद्यपि काप्यपेक्षा नास्ति तथापीति भावः। तच्च भक्तवात्सल्यादेवेत्याहतुः अनुचरस्य भक्तस्य श्रीशङ्करस्य किङ्करौ रुद्रस्यानुचरावित्युक्तेः। यद्वा श्रीनारदकिङ्करौ तत्प्रसादेनैवैतादृशफलप्राप्तेस्तदनुगतिस्मरणस्यैव प्रस्तुतत्वात् युक्तत्वाच्च। यद्वा, अनुचराणां किङ्कराविति निरन्तरम् अनुजानीहि यद्वा, तवानुचराणां गोपबालकानां किङ्करौ अनुजानीहि एषां किङ्करौ कृत्वा अत्रैव रक्षेत्यर्थः। नन्वतिदुर्लभमिदं तत्राहतुः– अनुग्रहादिति। नौ आवाभ्यां तव दर्शनं भगवतः परमदयालोः अचिन्त्यप्रभावस्य वा प्रभोः ऋषेः श्रीनारदस्य महापराधिनोरप्यलभ्यलाभसिद्धेरेतदप्याशास्महे इति भावः॥ ३७॥ श्रीनारदानुग्रहेण मद्भक्तावेव युवां वृत्तौ ततस्तत्रैव गच्छतमिति चेत्तर्हि सर्वभक्तिप्रकारं देहीति भक्तिस्वभावेनैव प्रार्थयेते घाणीति। तव पादयोर्गुणानां भक्तवात्सल्यादीनां सौन्दर्यादीनां च अनु निरन्तरं कथनं एव न तु योगयागादिनिरूपणे नः अस्माकं वाणी वागिन्द्रियमस्तु पादयोरिति भक्त्या न तु तन्मात्रविवक्षया श्रवणाविति द्विवचनेन श्रवणेन्द्रियस्य साकल्येन प्रवृत्तिरभिप्रेता एवमग्रेऽपि कथायां कथामात्रे ब्रह्मत्वसृष्ट्यादिहेतुत्वकथनेपीत्यर्थः। श्रवणे स्वातन्त्र्याभावात् स्वयं कथने तु भगवन्माधुर्य्यस्यैव रस्यत्वात् गुणानुकथायामित्यत्रापि गुणकथायामित्येव पूर्वस्वारस्यात् ज्ञेयं कर्मसु पूजापरिचर्यालक्षणेषु चशब्दः सर्वैरेवान्वेति शिर इति तत्र प्राधान्यादवशिष्टत्वाच्च तत्तु तव निवासो वसतिस्थानं जगद्यस्य तस्य संबोधनं तवेति पुनरुक्तिः जगन्निवासतया जगत्प्रणामेन त्वत्प्रणामे सिद्धेऽपि तदेकदृष्ट्यपेक्षया तव निवासभूता ये जगतो जङ्गमरूपाः श्रीवैष्णवरूपास्तेषां प्रणामे शिरश्च तस्योभयलिङ्गमानमेतत् इत्युक्तेः यद्वा तव निवासोऽयं यो व्रजस्तत्रस्थस्य जगतः सर्वस्य दूरतोऽपि प्रणामे दृष्टिः चक्षुरिन्द्रियं भवत्तनूर्निर्विशेषाणां सतां श्रीनारदादीनां यद्वा सतां श्रीवैष्णवानां भक्ततनूनाञ्च अर्चारूपाणाञ्च दर्शने साक्षात्त्वद्दर्शनेऽस्त्विति तु गृहेष्वसम्भवं भयादिना न प्रार्थितम् एवं स्पर्शादिकमुपलक्ष्यम्॥ ३८॥ गोकुलेश्वरः प्रहसन् गुह्यकावाह—गुह्यकाविति। तयोस्तादृशपूर्वावस्थत्वं सूचयित्वा भाग्यातिशयं दर्शयति। प्रहासे हेतुः स्वरं भगवान् ताभ्यां पीत्थं भगवत्त्वेनैव कीर्तितः "दाम्ना चोलूखले बद्धः" इति प्रथमतस्तावद्बद्धस्तत्रापि दाम्ना तत्राप्युलूखल इत्यर्थः। अतो भयेनैवैतौ न हसत इत्यभिप्रेत्य स्वयमेव हसति स्मेति भावः। गोकुलेश्वरो भगवानिति गोकुलेशनशीलत्वाद्गोकुलेश्वरनामायमस्माकं भगवानेवं प्रियजननप्रेमवश्यतया गोकुले नित्यकौतुकशील इति गोकुलं चेदं परमविलक्षणं जानीहीति च व्यञ्जयति॥ ३९॥ एतन्मम ज्ञातमेवेति अन्यथा महदपराधिष् ममेदृशकृपानुपयोगात्। यद्वा, ऋषेरासीदनुग्रहादिति तयोरुक्त्या प्रीतः सन् तामेव दृढयन् तयोः प्रहर्षार्थमन्वमोदतेति करुणात्मना दयाशीलेन करुणात्मतामेवाह श्रीमदान्धयोरप्यनुग्रहः कृत इति अन्यत्तैः यद्वा, स्यातां नैवं यथा पुनरित्यादिबहुलवरप्रदानमयीभिर्वाग्भिः कथम्भूतः विगतो भ्रंशोऽधःपातो महापराधकृतो महानरकादिरूपो यस्मात्॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं स्तुत्वानवसरे श्रीभगवन्निकटे तत्रावस्थितिमयुक्तां मन्वानौ निजस्थानं गन्तुमाज्ञां गृह्णीतः—अनुजानीहीति प्रस्थापय, भूमन् ! हे परमेश्वर ! अयं भावः—स्थावरत्वेन त्वत्संगे भ्रमणाद्यशक्त्यात्र वृक्षतयावस्थितिं नैवेच्छावो देवत्वेन च त्वत्क्रीड़ाविशेषस्थानेऽस्मिन् स्थातुं नार्हाव एव, अतस्त्वद्व्रजनार्थं निजगृहमेव किल गच्छाव इति । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, स्तुत्या काञ्चिदाज्ञां प्रार्थयते—अनुजानीहीति, आवां प्रति काञ्चिदाज्ञां विधेहीत्यर्थः । भूमन् ! हे सर्वतः परिपूर्णेति यद्यपि तव काप्यपेक्षा नास्ति, तथाप्यनुजानीहीति भावः; तच्च भक्तवात्सल्यादेवेत्याहतुः,-अनुचरस्य भक्तस्य सख्युर्वा श्रीशंकरस्य किंकरौ रुद्रस्यानुचरावित्युक्तेः । यद्वा, श्रुत्वा भक्तिविशेषेण दासानुदासतां प्रार्थयेते - अनुचराणां किंकराविति निरन्तरं जानीहि । यद्वा, परमाभीष्टं प्रार्थयेते—अनुजानीहीति, तवानुचराणां गोपबालानां किंकरौ अनु अनुजानीहि, एषां किंकरौ कृत्वाऽत्रैव रक्षेत्यर्थः । नन्वतितिदुर्लभमिदम्; तत्राहतुः—अनुग्रहादिति । नौ आवां प्रति तव दर्शनं भगवतः परमदयालोरचिन्त्य-प्रभावस्य वा । ऋषेः श्रीनारदस्य महापराधिनोरपि महदनुग्रहेणालभ्यलाभसिद्धेरत्रावस्थितेरनुज्ञापि सुलभेति भावः ॥ ३७ ॥ श्रीनारदानुग्रहेण मद्भक्तावेव युवां वृतौ, ततस्तत्रैव गच्छतमिति चेत्तर्हि सर्व्वभक्तिप्रकारं देहीति । यद्वा, वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वेति तदनुग्रहमेकमधिकं त्वं सम्पादय, एवं लब्धभक्ती भविष्यथ इत्यन्यच्च सम्पादयेत्याहतुः-वाणीति । तव पादयोर्गुणानां भक्तवात्सल्यादीनां कोमलत्वादीनाञ्च अनु निरन्तरं कथने एव, न च यागयोगादिनिरूपणे, नोऽस्माकम्, सम्बन्ध्यपेक्षया बहुत्वम्, वाणी वागीन्द्रियमस्तु, पादयोरिति भक्त्या दास्येच्छया, अतः केवलशुष्कतत्त्वविचारादिकं निरस्तम् । श्रवणाविति द्विवचनेन श्रवणेन्द्रियस्य साकल्येन प्रवृत्तिरभिप्रेता । एवमग्रेऽपि । कथायां कथामात्रे, श्रवणे स्वातन्त्र्याभावात्, स्वयं कथने च भगवन्माहात्म्यवर्णनस्यैव योग्यत्वाद्गुणानुकथन इति तत्रोक्तम् । तव कर्म्मसु पूजापरिचर्य्यालक्षणम्; च शब्दोऽवधारणे, तदन्यव्यवच्छेदकः सर्व्वे रेवान्वेति । शिर इति शिरसोऽङ्गेषुत्तमतयाष्टांगप्रणामापेक्ष्याणि पादाद्यंगानि सर्व्वाणि गृहीतान्येव; यद्वा, एकदैव कीर्त्तनाद्यशेषापेक्षया हस्ताद्यंगानां परिचर्य्यादौ प्रवृत्त्या शिरोमात्रेणैव प्रणामसम्भवात् । निवासो वसतिस्थानं जगद्यस्य तस्य सम्बोधनम् । तवेति पुनरुक्तेरयं भावः—जगन्निवासतया जगत्प्रणामेन त्वत्प्रणामे सिद्धेऽप्यैकान्तित्वसिद्धयै तवैव प्रणामेऽस्त्विति । दृष्टिश्चक्षुरिन्द्रियम्, कथम्भूतानाम् ? सतां भवतस्तनूनामधिष्ठानानामित्यर्थस्तेषु सदा तव स्फूर्त्तेः, यद्वा, भवतस्तनवः श्रीशालग्रामादिमूर्त्तयः पूज्यत्वेन वर्त्तन्ते येषु, वैष्णवधर्म्मपराणामित्यर्थः, यद्वा, सतां श्रीवैष्णवानां भवत्त-नूनाञ्च श्रीमूर्त्तीनां दर्शने, साक्षात्त्वद्दर्शनेऽस्त्विति च गृहेऽसम्भवत्वाद्द्वयादिना न प्रार्थितमित्यूह्यम् । एवं कीर्त्तन श्रवण पूजा-परिचर्य्या स्मरण-वन्दनात्मिका षड्विधा भक्तिः प्रार्थिता । सख्यात्मनिवेदनयोः प्रायः फले पर्य्यवसानात् साधनवर्गमध्येऽ-प्रार्थनम्, यद्वा, कीर्त्तनादि-सिद्ध्या ते स्वत एव फलिष्यत इति, किंवा तयोर्भावविशेषात्मकत्वात् स्मरण एवान्तर्भावः । कर्म्मा-र्पणरूपस्य च दास्यस्य कीर्त्तनादिष्वेवान्तर्भावो ज्ञेयः, तत्र कीर्त्तनस्य प्रार्थनम्,—सर्व्वेन्द्रियक्षोभकारिण्या वाचो भगवत्कीर्त्तने प्रवृत्त्या नियमनादिन्द्रियाणां स्वस्वकर्म्मसु सुखप्रवृत्तेः, यद्वा, 'नाहं वसामि वैकुण्ठे' इत्यादि वचनानुसारेण भगवतः कीर्त्तन-प्रियतया कीर्त्तनस्य भक्तिप्रकारेषु मुख्यत्वात्, किंवा कीर्तने रसविशेषात्, वैष्णवानां श्रीमूर्त्तीनां तद्दर्शनस्य भगवद्दर्शनेन साम्यात्तस्य च साक्षात्काररूपस्य सर्व्वभक्तिप्रकार फलत्वादन्ते प्रार्थनम्, मध्ये चान्येषां निजरसानुसारेण च तत्तत्क्रमादित्यल-मतिविस्तरेण ॥ ३८ ॥ गोकुलेश्वर इति दाम्नोलूखले बद्धश्चेति परमभक्तवात्सल्यं बोधितमतएव तावाह, यद्वा, च अपि गोकुल-क्रीडापरोऽपि, किंवा गोकुलैकानुग्रहरतोऽप्यतो दाम्ना बद्धोऽपि गुह्यकावाह, यतो भगवान् सर्व्वलोकहितार्थं स्वयमवतीर्ण इत्यर्थः, यद्वा, गोकुलेश्वर इति तयोरपि तत्र जन्मादिना सम्भाषणं युक्तमेवेति भावः । यतोऽसौ गोकुलजनैकत्रश्य इत्याह—दाम्नेति । च एव, बद्ध एव, न तु तस्मात् स्वयं मुक्तः सन्, यद्वा, च अपि, दाम्ना बद्धोऽपि । प्रकर्षेण हसन् स्मयमान इत्यर्थः, यतो गोकुलेश्वरो गोकुलक्रीडाकौतुकीत्यर्थः, किञ्च, भगवान् निजाशेषैश्वर्य्य सार-सर्व्वस्वाभिव्यञ्जक इत्यर्थः । एवं श्रीनारदानुग्रह-प्रभावेण तयोः परमधन्यतोक्ता । प्रहासस्तु स्वभावत एव, किंवा तयोः पूर्व्ववृत्तान्ते अद्भुतश्रीनारदकारुण्याद्वा, स्तुत्यादिना प्रहर्षाद्वा, निजदामबन्धन-दर्शनकौतुकाद्वेति तत्र वञ्चना निरस्ता । श्लेषेण गोकुलस्येन्द्रियवर्गस्येश्वर इति तत्प्रभावेणैव तद्भक्तौ सर्व्वेन्द्रिय-प्रवृत्तेस्तयोस्तत्पथि प्रार्थितसिद्धिरभिप्रेता ॥ ३९ ॥ एतन्मम ज्ञातमेवेत्यन्यथा महदपराधिषु ममेदृशकृपानुपयोगात्, किंवा मद्भक्तप्रवरत्वेन मदिच्छयैव कृतत्वादिति भावः । यद्वा, (३७ श० श्लोक) 'ऋषेरासीदनुग्रहात्' इति तयोरुक्त्या प्रीतः सन् तामेव द्रढयन् तयोः प्रहर्षार्थमन्वमोदत इति दिक् । करुणात्मना दयाशीलेन, करुणात्मतामाह—श्रीमदान्धयोरप्यनुग्रह कृत इति । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, (२१ श-श्लो०) 'स्यातां नैवं यथा पुनः' इत्यादि बहुलवर-प्रदानमयीभिर्वाग्भिः । कथम्भूतः ? विगतो भ्रंशोऽधःपातो महापराधकृतो यस्मात्, यद्वा, भ्रंशश्च्युतिस्तद्रहितः परमस्थिर इत्यर्थः,—गोकुले ममेदृशलीलायां सान्निध्यप्रापणात्, परमभक्तिप्रापणाच्च ॥ ४० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तवाऽनुचरकिङ्करौ अनुचरौ वैश्रवणस्तस्य किङ्करौ ॥ ३७ ॥ निवासस्तव धाम । यद्वा, निवासभूतं व्याप्यं जगद्यस्य स निवासजगत ॥ ॥ ३८-४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं संस्तुत्यात्मनोः कृतार्थत्वाय तद्दासपर्यन्तदास्यं प्रार्थयमानौ विज्ञापयतः—अनुजानीहीति । हे भूमन् ! निरवधिकानन्दशालिन् ! तवानुचरकिङ्करौ यथा भवावस्तथाऽनुशाधीत्यर्थः । किमिदं प्रार्थयेथे इत्यत्रोचतुः ऋषेस्तवानुचरस्यानुग्रहादेव भगवतः षाड्गुण्यपूर्णस्य पुरुषार्थनिर्वेस्तव दर्शनं नौ आवयोरासीत् महाफलत्वात्त्वद्दासदास्यमेवानुग्रहाणेति भावः ॥ ३७ ॥ किञ्चावयोर्वाण्यादयः त्वद्गुणानुकथनादिप्रवणाः यथा स्युस्तथानुगृहाणेत्यूचतुः—वाणीति । तव गुणानुवादे श्रवणे श्रोत्रे कर्मसु पूजारूपेषु हस्तौ तव पादयोः स्मृत्यां स्मरणे मनोस्तु निवासो जगद्यस्य तस्य सम्बुद्धिः जगतो निवासेति वा आर्षः परनिपातः तव प्रणामे शिरः भवत्तनूनां त्वन्मूर्तीनां सतां च दर्शने दृष्टिरस्तु यद्वा तव सतां तावकानां सतां च प्रणामे शिरोऽस्तु भवत्तनूनां दर्शने दृष्टिरस्तु ॥ ३८ ॥ इत्थमित्यादिश्लोकः स्पष्टार्थः ॥ ३९ ॥ तदेवाह - ज्ञातमिति । वाग्भिः "न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" इत्यादिभिः श्रीमदान्धयोर्युवयोः श्रीविभ्रंशरूपोऽनुग्रहः कृत इति यदेतत् पुरैव मम मया ज्ञातम् ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भूमन् ! अनवच्छिन्नज्ञानानन्दस्वभाव ! सदानुचरावनुगतावुक्तकारिणौ च तौ अनुजानीहि अनुज्ञां कुरु यदृच्छया प्राप्तमहत्सङ्गमो भवद्दर्शनसाधनमभूत् किंपुनर्बुद्धिपूर्वकमिति भावेनाह दर्शनमिति ॥ ३७ ॥ इतः परं श्रीमदादिकमावयोर्न भवितव्यं यत इन्द्रियाणां विषयव्यापारः स्यात् स न स्यात् किन्तु तव गुणादावेव वाण्यादीन्द्रियव्यापारः स्यादिति प्रार्थयते वाणीति ॥ ३८-३९ ॥ सानुग्रहः शापः मोक्षलक्षणानुग्रहसहितः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तव निवासोऽयं यो व्रजस्तत्रस्थस्य जगतः सर्वस्य दूरतोऽपि प्रणामे ॥ ३८ ॥ इत्थमिति दाम्नेत्यादि प्रहासे कारणं गोकुलेश्वर इति शीलार्थप्रत्ययेन तन्नाम्ना च नित्यतादृशलीलात्वं दर्शयति ॥ ३९ ॥ विगतो भ्रंशो यस्मात् ॥ ४० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अनुचरस्य नारदस्य किङ्करौ ॥ ३७ ॥ त्वदनुचरकिङ्करत्वादेवावयोस्त्वद्वात्सल्यातिशयमालक्ष्यान्यैर्दुर्लभमपीदं प्रार्थयितुमुत्सहावहे इत्यभिव्यञ्जतावाहतुः वाणीति । अत्रैक एव चकार एवार्थकः प्रतिसप्तम्यन्तं योज्यः तेन तव गुणानुकथन एव वाणी भवतु नत्वन्यकथायामित्येवं सर्वत्र व्याख्येयं नः आवयोर्मनस्त्वदीयपादयोः स्मृत्यां निवासभूतानां जङ्गमानां नारदादिभक्तानां प्रणामे शिरोऽस्तु हे निवासजगदिति सम्बोधनपदं वा भवत्तनूनां त्वन्मूर्तिरूपाणाम् ॥३८॥ सङ्कीर्तितः संस्तुतः दाम्ना चकारात् प्रेम्णा च बद्धः प्रहसन्निति प्रहासोयमेते उपदेवादयो मन्मायया बद्धाः स्वमोचनार्थं यं मां स्तुवन्ति सोहं यशोदादिगोपीभिर्दाम्ना प्रेम्णा च बद्धोऽभीक्ष्णं भर्त्सितश्चेह गोकुले तिष्ठामि अत्रत्यानां तासां भर्त्सनेनाहं यथा प्रीये न तथाऽनयोः स्तुत्येति व्यञ्जयति ॥ ३९ ॥ वाग्भिः "नह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" इत्यादिभिः श्रीविभ्रंशरूपः अनुग्रहः एव कृत इति ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यतो नौ आवयोः भगवतः दर्शनम् ऋषेरनुग्रहादासीत् अतः नौ आवां तवानुचरस्य हंससनत्कुमारद्वारा तव शिष्यस्य देवर्षेः अनुचरौ वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वेति भवन्नाममन्त्रगर्भवाक्योपदेशतः शिष्यौ सनकादीनां हंसरूपिणो भगवतः शिष्यत्वमिहैवैकादशे स्कन्धे प्रसिद्धं सनकादिशिष्यत्वं देवर्षेः छान्दोग्यद्रष्टव्यम् एव भवदीयौ एवावाम् अनुजानीहि आज्ञापय इहैव परिचर्यायामित्यभिप्रायः ॥ ३७ ॥ यद्यन्यत्र प्रेषितव्यौ तत्रापि नः अस्माकं परिजनाभिप्रायं बहुवचनम् वाणी तव गुणानुकथने अस्तु तव पादयोः स्मृत्यां मनोस्तु भवत्तनूनां भवतो मूर्तिभूतानां सतां साधूनां दर्शने दृष्टिरस्तु किंबहुना तव निवासभूतं यज्जगत्तस्य प्रणामे नः शिरोऽस्तु ॥ ३८-३९ ॥ करुणः कारुणिकः आत्मा मनो यस्य तेन "न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" इत्यादिभिर्वाग्भिर्यत् श्रीमदान्धयोर्युवयोः श्रीविभ्रंशरूपोऽनुग्रहः कृत इत्येतत् मम पुरैव ज्ञातम् ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

लब्धदेवदेहौ स्वगेहगमनायानुज्ञां याचेते इत्याह अन्विति । अनुचरस्य शङ्करस्य नारदस्य वा किङ्करौ । नन्वग्राह्यश्चेदहं तर्हि युष्मच्चक्षुर्ग्राह्यत्वं मे कथं ? तत्राह दर्शनं नाविति । त्वत्प्रसादहेतोर्नारदानुग्रहात्तदिति ॥ ३७ ॥ वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा

लब्धभक्ती युवामिति श्रीनारदोक्तिं संस्मृत्य भक्तिं तस्मिन् प्रार्थयेते, वाणीति । न इति बहुत्वं स्वगणापेक्षम् । मनस्तव पादयोः स्मृत्यामस्तु, निवासभूतं जगद्यस्य हे तादृश ! तव प्रणामे शिरोऽस्तु भवत्तनूनां सतां दर्शने दृष्टिरस्तु ।। ३८ ।। सङ्कीर्तितः संस्तुतः दाम्ना च शब्दात् प्रेम्णा च बद्धः । प्रहसन्निति यथा गोपीनां भर्त्सनं बन्धनञ्च मे प्रीतिकरं तथा देवानां स्तुतिवचनं नेति व्यज्यते ।। ३९ ।। वाग्भि "र्न ह्यन्यो जुषतो जोष्या" नित्यादिभिः । श्रीविभ्रंशोऽनुग्रह एव कृतः ।। ४० ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे भूमन्गुणपूर्ण । अनुचरकिङ्करौ दासदासौ । नोदस्वित्पूर्तिरामायणमितिवदस्मदासत्तेत्याहतुः सदेति । भगवतो भवतो दर्शनमृषेर्नारदस्यानुग्रहान्नावासीदतो नावनुजानीह्याज्ञापय । भगवत इति ऋषिपदेनाप्यन्वेति । नावित्यपि नमः पदव-द्द्विवारमुक्तमुक्तकृत्यं ज्ञेयम् ।। ३७ ।। इत उत्तरं न मदान्धता भवतु भवतु चेन्द्रियविनियोगो योगीशैवमावयोरिति प्रार्थयते ।। वाणीति । हे सुरप्रवरामरस्वामिन् तव गुणानुकथने तद्वर्णने वाण्यस्त्विति सर्वत्र यथातथं विपरिणतमन्वेति । कथायां तदाकर्णने श्रवणौ श्रवणे कर्णौ । श्रवणं श्रव इत्यमरः । ल्युडन्तो वा । कर्मसु हस्तौ नौ मनः पादयोः स्मृत्यां स्मरणे । न इति पाठेऽस्मदो द्वयोश्चेति द्विवचनस्थाने बहुवचनम् । आद्यर्थे वा । शिरः प्रणामे भवत्तनूनां भवतस्तनवोऽन्तर्येषां स तं दर्शने दृष्टिर्दृक् भवत्त-नूनां सतां वा । अयमेवार्थः सन्ततमस्मदभिमतो नान्य इति तत्तव भवत्पदैर्व्यनयतः ।। ३८ ।। वासुदेवः किमवादीत्तौ प्रति शुक-वदेति तदनुयोगस्यावसरमददानः शुकः करुणापरवशः परीक्षितं प्रति वक्तीति वक्ति श्री शुक इति । ताभ्यामित्थं सङ्कीर्तितो भगवान्गोकुलेश्वरः सर्वेश्वरोऽपि यथा बदिरिकानाथो द्वारकानाथ इत्यप्यर्वाङ्नाथः पराङ्नाथ इति तद्वदिहोच्यते । सर्वनाथोऽपि भगवान्सन्निधानविशेषत इति छान्दोग्यभाष्योक्तेर्गोकुलेश्वरत्वं सर्वेश्वरस्य नानुपपन्नम् । दाम्नोलूखले बद्धो मात्रा गुह्यकौ प्रतिह-सन्नाह न जनसमाज इत्याह ।। गुह्यकाविति । गुह्या च सा कुब्जा गुह्यकुस्तस्यामेकान्तभूमावित्यर्थः । मन्दाः स्वयमनवतीर्णनयेन स्वयं बद्ध इतर बन्धध्वंसं कथं कुर्यादिति वदेयुरिति हासो देवस्येति वा । युष्मन्मदेनेयत्यवस्थेति वा ज्ञेयम् ।। ३९ ।। करुणात्मना ऋषिणा श्रीमदान्धयोर्वाग्भिः शापः कृतः सोऽनुग्रहः कृत इति यदेतन्मया पुरैव ज्ञातं सानुग्रहोऽनुग्रहो मोचनविषयिणी करुणा तेन सहित इति शापविशेषणमिति तत्पाठपक्षे ज्ञेयम् ।। ४० ।।

श्रीसुबोधिनी

एवं नमस्कृत्य गमनार्थं प्रार्थयेते **अनुजानीहीति, नावावामनुजानीहि**, अनुज्ञां प्रयच्छ, **भूमन्निति**सम्बोधनं स्वस्य तत्र स्थातुमयोग्यतार्थं, तदेवाहतुः **स्वानुचरकिङ्कराविति, तवानुचरस्य नारदस्य किङ्करौ** दासौ, सेवकसेवकत्वमेवोचितं न तु त्वत्सेवकत्वमावयोः, यतस्त्वं **भूमा महान्**, न ह्यल्पेन महतः सेवां कर्तुं शक्यते, ननु दर्शनयोग्यता यदा तदा सेवायोग्यता सिद्धैव ततः कथमयोग्याविति चेत् तत्राहतुर्दर्शनं **नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहादिति**, महाराजसेवकः स्वभृत्यं कदाचिन् महाराजस्थानं नयति नैतावता तस्य महाराजसेवायोग्यता भवति, अतो दर्शनान्यथानुपपत्त्या न सेवायोग्यता, **भगवतो** दर्शन**मृषेरनुग्रहा दिति, ऋषेर्भगवत** इति गुरुदेवतयोरैक्यार्थं सहनिर्देशः ।। ३७ ।। एवं गमनं प्रार्थयित्वा तत्र गतयोर्भक्तिं प्रार्थयेते **वाणीति**, षडङ्गानि पुरुषे प्रधानानि,

> वाक् श्रोत्रे च करौ चित्तं शिरश्चक्षुस्तथैव च । षडेते भगवत्कार्ये यदि सक्ताः कृतार्थता ।। १ ।।
> कीर्तने श्रवणे चैव गुणानां रूपदास्यके । स्वरूपस्मरणे नत्यामवतीर्णस्य दर्शने ।। २ ।।

गुणानामुत्कर्षाधायकधर्माणां कीर्तने वाण्यस्तु, तत्रैव सा विनियुक्ता भवतु, यथा वराय दत्ता कन्या नान्यगामिनी भवति नाप्यन्यः प्रार्थयते नापि पतिभयात् सान्यसम्बन्धिनी कथञ्चिदपि भवति तथा **वाणी** भवतु, एवमेव **श्रवणौ कथायां हस्तावुभावपि** भगवतः **सर्वकर्मस्वाष्टयामिकेषु, चकारात् पादावपि मन्दिरगमनादिषु**, तद्व्यतिरेकेण हस्तसेवा नोपपद्यत इत्युभयमेकरूपं **तव पादयोः स्मृत्यां नो मनोस्तु** स्मरणे सर्वानेव भक्तानेकीकृत्याहतुः, **पादयोरि**तिद्विवचनं रूपान्तरे तथाभावाय, शिरस्तु प्रणामे, चतुरङ्गया भक्त्याः भगवतः सर्वस्थितिः सर्वान्तरत्वं च स्फुरिष्यति, अतः सम्बोधनं, यतो **हे निवासजग**दिति **निवासभूतं जगद्** यस्येति, **दृष्टिस्तु सतां दर्शनेस्तु**, भगवद्दर्शनं तु धाष्टर्यान्न प्रार्थितं, ननु तेषां दर्शने किं स्यात् ? तत्राहतु **र्भगवत्तनूनामिति, भगवतस्तनूरूपास्ते**, तत्र भवान् वर्तत इति तथा, अयोगोलके वह्निर्यथा वा गङ्गायां जलम् ।। ३८ ।। एवं गमनभक्त्योः प्रार्थनायां कृतायां सर्वथा भक्तौ शीघ्रमेव लयो भविष्यतीति किञ्चिन् मोहयित्वा किञ्चिद् दत्तवानित्याहेत्थ मिति, एवङ्कारेण सम्यक् **कीर्तितस्तोषपर्यन्तं** स्तुतः **प्रहसन् गुह्यकावाह**, सर्वकारणदानयोः समर्थ इति ज्ञापयति **भगवानिति**, शीघ्रं तयोर्मुक्तौ **गोकुले** स्वस्य क्रीडायामन्यप्रवेशो भविष्यतीति ज्ञापयति **गोकुलेश्वर** इति, गोकुलवासिनामेव साम्प्रतं तद् युक्तं न त्वन्येषां, अतो गोकुलक्रीडासमाप्तिपर्यन्तं तथामोहनमुचितमेव, किञ्च **दाम्नोलूखले च बद्धः**, यस्तु **गोकुलरसभोगार्थं** तत्र **गौणभावं** प्राप्तस्तेषु वा रसाधिक्यसिद्ध्यर्थं तदधीनो जातः, देवयोर्गोकुले स्थितयोः पूजा कापि न जातेतिशङ्कापि न कर्तव्या

यतो गोकुलेश्वरो दाम्ना बद्धः, वस्तुतस्त्वीश्वर एव लोकदृष्ट्यापि नन्दस्यायमेव पुत्र इतीश्वर एव स चेद् दाम्ना यन्त्रितस्तदा कस्य गोकुले सन्मानं स्यात् ? उचितं चैतद्, देवयोरत्र वृक्षत्वं, एवं गोकुलवासिनां वृत्तान्तं स्मृत्वा प्रहसन् वक्ष्यमाणमब्रवीत यद् युवाभ्यां प्रार्थ्यते तत् किमपि नावशिष्टं, मदधिकारिणैव तत्सम्पादनात, द्वयं हि पुरुषार्थो मुक्तिर्मयि प्रेम च, निरोधस्योभयरूपत्वात् ।। ३९ ।। प्रपञ्चविस्मृतिर्मुक्तिः सा पूर्वमेव जातेत्याह ज्ञातमिति, ममैतत् पूर्वमेव ज्ञातमासीद् यद् ऋषिणा करुणात्मना श्रीमदान्धयोर्विभ्रंशः कृतः, सेवकाः कदाचित् स्वेच्छयापि कुर्वन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं ज्ञानमुच्यते, न केवलं ज्ञातं किन्त्वभिमतमित्यृषिप्रशंसा, ततो मयैतावत् कृतमित्यर्थाज् ज्ञापितं, अतो न प्रार्थनीयं किञ्चिदवशिष्यत इतिभावः, शापो ह्यपकारे भवति स शापदातुः समानाधिकरणो भवति, परदुःखमपि दृष्ट्वा कारुणिको दुःखितो भवति, तदाह करुणात्मनेति, करुणायुक्त आत्मान्तःकरणं यस्येति, भाव्यर्थावश्यम्भावज्ञानाद् ऋषित्वं युवयोस्त्वतिक्लिष्टत्वमाह श्रीमदान्धयोरिति, अन्धतमस उद्धारोवश्यं कर्तव्यः, वाग्भिरितिवचनमात्रं तेनोक्तं, ज्ञापनार्थं कृतिस्तु मयैव कृता, अत एव वाग्भिर्यो विभ्रंशोज्ञानरूपः स त्वनुग्रह एव ।। ४० ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अनुजानीहीत्यत्र तत्रेति निकटे, तर्हि दर्शनमेव कथमत्राहुर्भगवत इत्यादि ।। ३७ ।। वाणीत्यत्र तत्तदासक्तिविषयान् क्रमेणाहुः कीर्तन इत्यादिना, द्वयोः स्वस्मिन् न इतिबहुवचनप्रयोगो न सङ्गत इति तत्तात्पर्यमाहुः स्मरण इत्यादि, सर्वेषां भक्तानां स्मरणावश्यकतायाः सर्वजनीनत्वादिति, चतुरङ्गया भक्त्येति श्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनसहितया प्रणमनरूपया भक्त्या, धार्ष्ट्यादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तथाप्रार्थने धार्ष्ट्यं भविष्यतीत्यनुसन्धायेत्यर्थः, गङ्गायां जलमिति प्रवाहरूपायां चरणसम्बन्धि जलम् ।। ३८ ।। इत्थमित्यत्रान्यप्रवेश इति विवक्षितलीलाव्यतिरिक्तलीलाप्रवेशः, क्रीडासमाप्तिपर्यन्तमिति लोके क्रीडायाः प्रदर्शनसमाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः, नन्वस्याः क्रीडायाः सार्वदिकत्वाद् यदाकदाचित् तथात्वे तद्दोषतादवस्थ्यमितीदानीं मोहनं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्र हेत्वन्तरभूतं विशेषणं व्याकुर्वन्ति किञ्चेत्यादि, तथा च तदधीनत्वात् त एव चेदङ्गीकुर्वन्ति तदैव किञ्चिद् भवतीति स्वस्याशक्यत्वात् तदंशे स्वयं हास्यमेव कृतवानितिभावः, एतेन पुरुषोत्तमे सायुज्यमपि भक्तकृपयैव भवतीति सूचितं, यद्वा किञ्चेत्यादेः पुरःस्फूर्तिक एवार्थो ग्राह्यः 'अहन्याप्तृत'मितिवाक्येन गोकुलस्य स्वतस्तामसत्वेपि भगवत्कृपयैवोत्कृष्टत्वात्, अत एवात्रा"ङ्गीकृतजनजनितापराधकूटक्षमाविनोदोस्य अङ्गीकृतिश्च नित्या वदन्तु कोन्योस्य साम्यमिया"दिति प्रभुचरणोक्तमनुसन्धेयं, उचितं चैतदिति गोकुले भगवत्कृपया सर्वाधिकत्वादितिभावः ।।३९।। ज्ञातमित्यत्र स इत्यादि सोपकारः, शापदाने प्रयोजको भवतीत्यपेक्षितप्रार्थनं कथं नावशिष्टमित्यत आहुः परदुःखेति, तथा च नायमपकारतः शापः किन्तु करुणयातो नात्र प्रार्थनीयमवशिष्टमित्यर्थः, एतेन 'येन देवर्षेस्तम' इतिराजप्रश्नस्योत्तरं जातं ज्ञेयम् ।। ४० ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वाणी गुणानुकथन इत्यत्र अवतीर्णस्येति भक्तेष्वाविष्टस्येत्यर्थः ।। ३८ ।। ज्ञातं ममेत्यत्र स शापदातुरिति दुःखरूपः शापदातुरपकारः शापसमानाधिकरणो भवतीत्यर्थः, ज्ञानरूप इति तन्निरूपक इत्यर्थः ।। ४० ।।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अनुजानीहीत्यस्य विवृतौ भूमन्नितिसम्बोधनं स्वस्य तत्र स्थातुमयोग्यार्थमिति "यो वै भूमा तत्सुख"मित्यादिभूमविद्यासिद्धस्वरूपनिर्देशेन सर्वत आधिक्यसूचनात् परमकाष्ठापन्नस्य परब्रह्मणोन्तरङ्गलीलास्थाने स्थातुमयोग्यत्वमित्यर्थः, अयोग्यार्थमिति भावप्रधानो निर्देशः, अयोग्यत्वार्थमिति फलति ।। ३७ ।। ज्ञातं मम पुरैवंतदित्यत्र शापो ह्यपकारे भवतीति न हि भवद्भ्यां मुनिना शापो दत्तः किन्त्वनुग्रहः कृतः, तत्र हेतुः, शापो ह्यपकारे भवतीति, यद्यपकारः स्यात् तदा शापत्वेन गण्येत, इह तूपकारः कृत इति न शापत्वमितिभावः, स शापदातुः समानाधिकरण इति शापदातुः शापदातृसम्बन्धी शापदात्रा कृत इतियावत, शापदात्रा कृतोपकारः शापसमानाधिकरणो भवति यत्र शापस्तत्रैवापकारो भवतीत्यर्थः, प्रकृते तु शापाधिकरणयोर्यमलार्जुनयोरपकारादर्शनात् प्रत्युत भगवत्सम्बन्धलक्षणोपकारदर्शनान् न शापत्वमपि त्वनुग्रह एवेति हार्दम् ।। ४० ।।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

वाणी गुणानुकथन इत्यत्र वागिति का० ९९⅔ । वागादिकार्याण्याहुः कीर्तने इति का० १००⅓ । गुणानां स्मरणे रूपस्य दास्ये इत्यर्थः, अवतीर्णस्येति भक्तेष्वाविष्टस्येत्यर्थः, 'दृष्टिः सतां दर्शने'स्त्विति मूलानुरोधात् अवतीर्णस्येतिपदेन सतामप्यवतारतुल्यत्वं बोधितम् ।। १००⅔ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

"व्यापकस्य सर्वसाक्षिणस्तव किं न विदितम् ? तथापि सेवकविज्ञापनं प्रार्थनं च शृणु" इत्याशयेन सम्बोधयतः-भूमन्निति । तवानुचरस्य रुद्रस्य; कुबेरस्य वा, नारदस्य वा किङ्करौ नौ आवां अनुजानीहि बुद्ध्यस्व । नौ आवयोर्भगवतस्तव

दर्शनमृषेर्नारदस्यानुग्रहादासीत् ॥ ३७ ॥ एवं स्तुत्वात्मविज्ञापनं च कृत्वा भक्तिं प्रार्थयतः—वाणीति। चकार एवकारार्थः, तस्य सर्वत्र च सम्बन्धः। 'न' इति 'आवयोरस्मत्सबन्धिनां च' इत्यभिप्रायेण बहुवचनम्। अस्माकं वाणी तव गुणानुकथने एवास्तु। श्रवणौ तव कथायामेवास्ताम्। हस्तौ तव कर्मसु मन्दिरमार्जनादिसेवास्वेवास्ताम्। मनस्तव पादयोः स्मृत्यामेवास्तु। शिरःस्तव निवासभूतं यज्जगत् तस्य प्रणामे एवास्तु। दृष्टिर्भवतस्तनूनां मूर्तीनां सतां भक्तानां च दर्शने एवास्तु ॥ ३८ ॥ इत्थं ताभ्यां नलकूबरमणिग्रीवाभ्यां सङ्कीर्तितः संस्तुतो दाम्ना चकारात् स्वकृपया यशोदाप्रेम्णा चोलूखले बद्धो भगवान् गुह्यकौ प्राप्तगुह्यकरूपौ प्रति प्रहसन्नाह—"गोकुले उत्पन्नयोस्तयोः सन्माननं गोकुलस्वामिनाऽवश्यं कर्तव्यम्" इत्याशयेनाह-गोकुलेश्वर इति ॥ ३९ ॥ तदुक्तिमेव दर्शयति—ज्ञातमिति त्रिभिः। श्रीमदान्धयोर्युवयोः करुणात्मना कृपालुना ऋषिणा नारदेन यत् वाग्भिर्विभ्रंशः श्रीमद्भ्रंशः मद्दर्शनभक्तिलाभरूपोऽनुग्रहश्च कृतस्तदेतत् पुरा त्वद्विज्ञापनात् पूर्वमेव मम ज्ञातमित्यन्वयः ॥४०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अन्विति ॥ हे भूमन्! तवानुचरः शिवः। रुद्रस्यानुचरौ इत्युक्ते कुबेरो नारदो वा तस्य किंकरौ नौ आवाम् अनुजानीहि स्वस्थानं गन्तुमनुमन्यस्व। नौ आवयोर्भगवतस्तव दर्शनमृषेर्नारदस्यानुग्रहादासीत् ॥ ३७ ॥ वाणीति ॥ चकार एवकारार्थः। तस्य सर्वत्र संबन्धः। न इति। स्वगृहं गतयोरपि आवयोरस्मत्संबन्धिनां चेत्यभिप्रायेण बहुवचनम्। अस्माकं वाणी तव गुणानुकथने एवास्तु। श्रवणौ तव कथायामेवास्ताम्। हस्तौ तव कर्मसु मन्दिरमार्जनादिसेवास्वेव स्ताम्। मनस्तव पादयोः स्मृत्यामेवास्तु। शिरस्तव निवासभूतं यज्जगत्तस्य प्रणामे एवास्तु। दृष्टिर्भवतस्तनूनां मूर्तीनां सतां भक्तानां च दर्शने एवास्तु। भवत्तनूनामिति सतां विशेषणं वा ॥ ३८ ॥ इत्थमिति ॥ इत्थं ताभ्यां नलकूबरमणिग्रीवाभ्यां संकीर्तितः संस्तुतो दाम्ना उलूखले बद्धः गोकुलेश्वरो भगवान् गुह्यकौ प्राप्तगुह्यकरूपौ तौ प्रति प्रहसन्नाह स्म ॥ ३९ ॥ ज्ञातमिति ॥ श्रीमदान्धयोः युवयोः करुणात्मना कृपालुना ऋषिणा नारदेन यत् स्यातान्नैवं यथा पुनरित्यादिवाग्भिर्विभ्रंशः श्रीमदभ्रंशरूपोऽनुग्रहः विभ्रंशः मद्दर्शनभक्तिलाभरूपोऽनुग्रहश्चेति वा कृतस्तदेतत्पुरा युवयोर्विज्ञापनात्पुरा पूर्वमेव मम ज्ञातम् ॥ ४० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नौ आवां अनुचरस्य देवर्षेः किंकरौ दासौ नौ आवयोर्भगवतस्तव दर्शनं ऋषेर्नारदस्यानुग्रहादासीत् ॥ ३७ ॥ आवयोस्तव भक्तिराहित्यं न स्यादिति प्रार्थयंतावाहतुः वाणीति नः इति आस्मदो द्वयोश्चेति द्विवचनस्थाने बहुवचनं न आवयोः वाणी तव गुणाऽनुकथने अस्तु मनस्तव पादयोः स्मृत्यामस्तु अंतर्यामिशक्त्या तव निवासभूतं यत् जगत्तस्य प्रणामे नमने नः शिरः अस्तु आवाभ्यां यस्य कस्यापि द्रोहो मास्त्वित्यर्थः भवत्तनूनां तव मूर्त्तीनां सतां साधूनां च दर्शने नौ दृष्टिरस्तु ॥ ३८ ॥ संकीर्त्तितः संप्रार्थितः ॥ ३९ ॥ तदेतन्मम मया पुरैव ज्ञातं करुणात्मना कृपामयमूर्त्तिना श्रीमदेन अंधयोर्युवयोर्वाग्भिर्विभ्रंशो देवलोकात्पातनरूपः यद्यः अनुग्रहः कृतः तज्जातमिति संबंधः ॥ ४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इत्थं संस्तुत्यात्मनोः कृतार्थत्वाय तदास्यं प्रार्थयमानौ विज्ञापयतः ॥ अनुजानीति ॥ हे भूमन् निरवधिकानन्दकारिन्, तव अनुचरकिंकरौ त्वद्दासः कुबेरस्तस्यापि दासौ, नौ आवां, अनुजानीहि। तव दासदासौ यथा भवावस्तथाऽनुशाधीत्यर्थः। भगवदनुचरानुचरत्वतो जातं फलं तन्माहात्म्यं च दर्शयन्तावूचतुः। ऋषेस्तवानुचरस्य नारदमुनेः, अनुग्रहात् एव, नावावयोः, भगवतः परमेश्वरस्य तव, दर्शनं आसीत्। एवं त्वद्दासदासत्वे महाफलत्वात्त्वद्दासदास्यमेवानुगृहाणेति भावः ॥ ३७ ॥ किं चावयोर्वाण्यादयस्त्वद्गुणानुकथनादिप्रवणा यथा स्युस्तथाऽनुगृहाणेत्यूचतुः ॥ वाणीति ॥ हे कृष्ण, नोऽस्माकं, वाणी, तव गुणानुकथने त्वद्गुणगायने, अस्तु भवतात्। नः इति बहुवचनं स्वसंबन्धिनामप्युपलक्षणार्थम्। श्रवणौ कर्णौ, तव कथायां त्वत्त्वदीयचरित्रवर्णनयुक्तप्रबन्धादिश्रवणे इत्यर्थः। स्ताम्। हस्तौ च कर्मसु त्वत्संबन्धिपूजादिसत्क्रियास्वित्यर्थः। स्ताम्। मनः; तव पादयोः स्मृत्यां, अस्तु। गच्छन्ति सर्वजनहितार्थमतिशयेन यतस्ततो भ्रमन्तीति जगन्तः, तव निवासो येषु तव निवासाश्च ते ये जगन्तो भगवद्भक्तजनास्तेषां प्रणामस्तस्मिन्, नः शिरः अस्तु। भवत्तनूनां त्वन्मूर्त्तिरूपाणां, सतां साधूनां, दर्शने नः, दृष्टिः अस्तु। यद्वा। निवासो निवासभूतं जगद्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे निवासजगद्भगवन्, तव सतां प्रणामे शिरः, अस्तु। भवत्तनूनां स्थावरजङ्गमात्मकत्वन्मूर्त्तीनां, दर्शने नः दृष्टिः अस्तु ॥ ३८ ॥ इत्थमिति ॥ इत्थमुक्तप्रकारेण, ताभ्यां यक्षाभ्यां, संकीर्त्तितः संस्तुतः, दाम्ना उलूखले बद्धः च, गोकुलेश्वरः, भगवान् प्रहसन् सन्, गुह्यकौ आह ॥ ३९ ॥ ज्ञातमिति ॥ हे गुह्यकौ, करुणात्मना दयालुना, ऋषिणा, वाग्भिः 'न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्' इत्यादिभिर्वचोभिः, विभ्रंशः श्रीभ्रंशरूपः, अनुग्रहः कृतः यत्, एतदेषोऽनुग्रह इत्यर्थः। पुरा एव, मम मया, ज्ञातं अस्ति ॥४०॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अनुजानीहि इति : १०.१०.३७.

यदामयच्छेदि सुखैककारणं तदौषधं कर्त्रिविति को नु वर्णयेत्।
तथा रमानाथ तव प्रसादको न चैष शापोऽयमनुग्रहो महान्॥ ६७॥

वाणी गुणान्विति : १०.१०.३८.

यशोदयाऽनुसंयतो गुणोऽजनीह कारणं निजोद्धृताविति स्म तौ विचिन्त्य चेतसा चिरम्।
गुणानुवर्णनार्थनां यदादितो हि चक्रतुः क्षमं यतो जनोऽखिलो निजेष्टकृत्स्तुतीक्षणः॥ ६८॥
श्रीमदेष्वन्धता नित्यमस्त्येवेति विभाव्य तौ। चक्राते प्रार्थनां युक्तः दृष्टिरस्तु सदीक्षणे॥ ६९॥
ईदृग्जघन्यरूपस्थितिकारणमेकमेव सदवीक्षा। जानन्ताविति युक्तं तद्दर्शनदृगवधानमवृणीताम्॥ ७०॥
यद्यदर्थितमेतेषु वितर त्वं यथारुचि। परमानन्दकन्दं तु साधुसङ्गं दिशानिशम्॥ ७१॥

यत्तातो राजराजो धनमपि निधयो यक्षकन्या रमण्यो रूपं कामाभिरूपं वपुरपि तरुणं पुष्पकं यानमस्ति।
पूरेषा चालकाऽपि प्रभुवर भवतो दर्शनादस्ति मोक्षस्तन्नाः यत्प्रार्थनीयं किमपि दिश तवाविस्मृतिं कृष्णनाम्नः॥ ७२॥

प्रहसन्नाहेति : १९.१०.३९.

मुक्तोऽहमस्मि यदमुक्तजनस्तुताङ्घ्रिर्युक्तं तदेतदधुना तु तदन्यथैव।
इत्यात्मचित्रचरितोल्लसितान्तरङ्गतोषः स एष भगवानुचितं जहास॥ ७३॥
सद्यः फलत्यघदं कर्म कृतं तु पुण्यं तादृङ् न किन्तु समयान्तरदर्शितेष्टम्।
यत्तत्क्षणं मुनिगिरा तरुतामवाप्तौ लब्धाच्युतेक्षणतया च न मुक्तिभाजौ॥ ७४॥
पुण्यापुण्ये कर्मणी द्वे अपीह लोके स्यातामाश्ववश्यं फलाढ्ये।
तत्राप्याद्यं नान्त्यवद्यत्स चौर्यात्सद्योबन्धं प्राप मुक्तिं न पुण्यात्॥ ७५॥

कृष्णप्रिया

हे अनन्त। हे भूमन्! हम आप के अनन्य सेवक श्रीनारदजी के हम दास हैं। देवर्षि भगवान् श्रीनारदजी के केवल अपार अनुग्रह से हमसे विषय लम्पटों को आप के दर्शन हुए अब हमे जाने की अनुज्ञा दीजिये॥ ३७॥ हे नाथ हमारी वाणी आप के रसमय गुणों के संकीर्तन में, हमारे कान आप की रस सभर लीला कथाओं के श्रवण में, हमारे दोनों हस्त आप के श्री चरणों के सेवन में और हमारा मन आप के चरण कमलों के स्मरण में लगा रहे और हे सर्व जगत् के निवास स्थान भगवन् कृष्ण! आप के प्रणाम में हमारा मस्तक रहे, अथवा हमारा मस्तक सिर आप के निवास स्थान व्रजमण्डलके प्रणाम में रहे। एवं हे नाथ संतजन आप के ही श्रीविग्रह स्वरूप उनके दर्शन में हमारी आँखें लगी रहे॥ ३८॥ **श्रीशुकाचार्यजी ने कहा**—राजन्! उन दोनों के इस प्रकार स्तुति करने पर ओखली में रस्सी से बँधे हुए गोकुलेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने मन्दस्मित करते हुए उन गुह्यकों से कहा॥ ३९॥ **भगवान ने कहा**—हे नलकूबर मणिग्रीव इस प्रसङ्ग को तो मैं पहले से ही जानता हूँ कि परम कारुणिक महर्षि नारदजी ने धन मदान्ध तुम्हारे कल्याण के लिये शाप देकर अनुग्रह किया है॥ ४०॥

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्। [1]दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥ ४१॥

तद् गच्छतं [2]महाभागौ [3]नलकूबर सादनम्। सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः [4]परमोऽभवः॥ ४२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तौ [5]तं परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः। बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[6] दशमोऽध्यायः॥ १०॥

---

१. दर्शनान्तो—वीर.। २. मत्परमौ—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव.। ३. मरवाहनिकेतनं—विज.। ४. परमोत्सवः—वीर.।
५. तौ—श्रीधर. वंशी.; तं—वीर. विज.। ६. यमलार्जुनभञ्जनं लाम—गो. प्रे.; पूर्वार्धे नारदशापो नाम—श्रीधरादयः।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनां साधुनां अक्ष्णोः सवितुः यथा दर्शनात् पुंस बन्धः नो भवेत् ॥ ४१ ॥ **नलकूबर !** महाभागौ तत् सादनं गच्छत वां ईप्सितः अभवः परमः परमः भावः मयि सञ्जातः ॥ ४२ ॥ बद्धोलूखलं तं परिक्रम्य पुनः पुनः प्रणम्य च आमंत्र्य इत्युक्तौ उत्तरां दिशं जग्मतुः ॥ ४३ ॥

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

युक्तमेवैतदित्याह। साधूनां स्वधर्मवर्तिनां समचित्तानामात्मविदां सुतरां मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां तेषां कृपातिरेकात्सुतरामित्युक्तम्। सवितुर्दर्शनादक्ष्णोर्यथा बंधो न भवेत्तद्वत् ॥ ४१ ॥ प्राधान्यादेकस्य संबोधनम्। हे नलकूबर युवां तत्तस्मात्सादनं स्वनिकेतं मत्परमौ संतौ गच्छतम्। वां युवयोरीप्सितोऽपेक्षितो मयि प्रेमा जात एव। अभवः न भवो यस्मिन्सः ॥ ४२ ॥ बद्धोलूखलं बद्धमुलूखलं यस्मिंस्तम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते म० दशमस्कंधे पू० टीकायां यमलार्जुनमुक्तिनिरूपणं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एतदनुग्रहकरणम्। कृपातिरेकाद्याधिक्यात्। तद्वत्साधूनां दर्शनादपि बंधो न किं तु बंधनिवृत्तिरेव तत्कृपया मत्स्मरणदर्शनादिनेति भावः। दर्शनांत इति पाठे दर्शनपर्यंत एव। यद्वा—दर्शनेनांतो नाशो यस्य सः। इह सवितुर्दर्शनानप्यंधानां तमो यथा न नश्यति यथा नानापराधमलिनचेतसामसुराणां श्रीनारदादिदर्शनादपि न बंधक्षय इत्यप्यसूचि ॥ ४१ ॥ प्राधान्याद्वा लिंगसमवायेन यस्मात्साधुदर्शनं बंधहेतुर्न तस्माद्धेतोः। भवः संसारः ॥ ४२ ॥ उलूखले बद्धो बद्धोलूखलः। आहिताग्न्यादित्वात्साधुः। उलूखलस्यापि तच्छक्त्यावेशात्तस्मा अपि प्रणामादि कृतम्। तदुक्तं पाद्मे 'नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने'। इत्यादिना उत्तरां दिशं तत्रत्यामलकाम् ॥ ४३ ॥ "यत्र मंथां मां विबध्नते रश्मीन् यमितवा इव उलूखलसुतानामवेद्विंद्रजल्गुलः ताता अद्यवनस्पती ऋष्वा वृष्वेभिः सोतृभिः इंद्राय मधुमत्सुतम्" इति श्रुतिर्यमलार्जुनपातमाह। अर्थः—यत्र उलूखले मंथां मंथानमिव मंथानं लोकक्लेशकरं मां विबध्नते विशेषेण बध्नंति मातरः रश्मीनादाय रश्मिभिरित्यर्थः। यमितवा इव विनिग्रहीतुमिव न तु वस्तुतो निग्रहीतुं मातृत्वेन मयि स्निग्धत्वात् तेनोलूखलेन सुतानां पीडितानाम्। कर्मणि षष्ठी। उलूखलपीडितानस्मान् हे इंद्रमोचनसमर्थ। अव रक्ष। पादादित्वादाद्युदात्तमाख्यातम्। इदु एवमेव त्वं जल्गुलासि एनं मुंचामीति जल्पितुं मां च गोपितुं त्रातुं लातुं आदातुं स्वाधीनं कर्त्तुं च समर्थासि यतोऽतोऽवमामित्यर्थः। एवं यदा सर्वान्प्रार्थयन्नपि न मोचनं लभते तदा वनस्पत्योरंतरो गत्वा बंधनदाम त्रोटितुं यावद्बलं करोति तावद्वनस्पती एवोन्मूलितौ। दृष्ट्वा वदति ताता इति। तातो नोस्माकं व्रजवासिनां वनस्पतिर्प्रसिद्धौ यमलावर्जुनजातीयौ भो वनस्पती अद्येंद्रायेंद्रं प्रति गंतुं सुतं तदुन्मूलनेनात्मानं पीडयतं तदेव मधुमत अमृतयुक्तमतिसम्यगित्यर्थः। यत्र ऋष्टौ गतिमंतौ युवां स्थावरत्वान्मुक्तौ स्थ इत्यर्थः। ऋष्वेभिर्गतिमद्भिर्जंगमैर्जनैः सोतृभिरस्मद्बंधनकरैरुपलक्षिताविति ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

साधूनामिति तैर्व्याख्यातमेव तत्र पूर्वयोर्यथायथं यत्किञ्चित् बन्धनहारित्वं सुतरामित्यनेन व्यञ्जितं यद्वा साधूनामिति कृपालुतायां समचित्तानामित्यपराधाग्रहणे मत्कृतात्मनामित्यस्य स्वाभाविकगुणव्यञ्जकं विशेषणद्वयं तेषां दर्शनादपि पुंसो जीवमात्रस्य सुतरां संसारबन्धो न भवेत् किं पुनस्तादृशबहुलबालकप्रयोगानुग्रहात् भवतोरवज्ञातृत्वादेव तदपेक्षा जातेति भावः। सुतरामिति श्रवणकीर्तनादिनाऽपि न भवेत् दर्शनात्तु सुतरामिति ज्ञापकम् अक्ष्णोर्बन्धस्तमःकृतः अत्र च दर्शनादिति सुतरामित्यपेक्षया तत्पूर्वतोऽपि तन्नाशात् ॥ ४१ ॥ मत्परमौ मदेकान्तिनौ सन्तौ यतः सञ्जात इति अन्यत्तैः यद्वा युवयोर्मयि भावः प्रेमा नारदानुग्रहात् सम्यग्जात एव सतः परमो भवः अभ्युदयः मदेकभक्तिलक्षणः "वाणी गुणानुकथने" इत्यादिना युवाभ्यामीप्सितः एवं श्रीनारदानुग्रहसम्बन्धेन निजसन्तोषातिशयव्यञ्जनात् तदतिशयोऽपि स्यादिति व्यञ्जितं सहजविनयादिगुणामृतपयोनिधित्वात् साक्षात्तु नोक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥ पुनर्बद्धोलूखलमिति श्रीशुकदेवस्य कौतुकोक्तिः यस्तया बद्धस्सन् देवा अपि स्तुवन्ति वदन्त इति तथा तादृशभक्तवश्यतामयमधुरलीलादिदृक्ष्या मुहुः परिक्रमादिहेतुश्च अत्र बहुव्रीहिणा निर्देश उलूखलस्य तदनुगतिविवक्षया सा च बन्धनीयबन्धनाश्रयवैपरीत्यमयतल्लीला कौतुकव्यञ्जिकेति उलूखलमात्रविशेषणं न तूपलक्षणं ततस्तस्मा अपि प्रणामादिकं कृतमिति ज्ञेयं तथोक्तं पाद्मे "नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने" इति आमन्त्रणे च भक्त्येति ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सन्दर्शनादपि पुंमात्रस्यापि संसारबन्धो न भवेत्, किं पुनस्तादृश बहुलवाक् प्रयोगानुग्रहाद्भवतोः श्रीरुद्रसेवकयो-रित्यर्थः। पुंस इति प्रायस्तस्यैव साधुदर्शनयोग्यत्वात्। अक्ष्णोर्बन्धो दृष्ट्योः प्रसरणम्। यद्यपि सूर्य्यदर्शनात् प्रागपि तमोना-शेनाक्ष्णोर्बन्धो न तिष्ठेत्तथापि सम्यकृतापेक्षया मत्कृतात्मनामित्यत्र दृष्टान्तत्वेन दर्शनादित्युक्तम्॥ ४१॥ मत्परमौ मदेकान्तिनौ सन्तौ, यतः सञ्जात इति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, हे मत्परमौ युवयोर्मयि भावः। प्रेमा सम्यग् जात एव, यतः परमो भवोऽभ्युदयो मदेकभक्तिलक्षणो (३८ श-श्लो०) वाणी गुणानुकथने' इत्यादिना युवाभ्यामीप्सितः। एवं युवयोः सौशील्येनैव स्वतो मद्भावो वृत्तः। तत् किं मया स देय इति सहजविनयादिसमस्तकल्याणगुणामृतोदधिना साक्षात्तथास्त्वित्यनुक्तोऽपि वाक्चातुर्य्या वरो वाञ्छतीतोऽपि नितरां दत्त एव॥ ४२॥ पुनः पुनः परिक्रमादौ हेतुः—बद्धमुलूखलं यस्मिन्नित्युदरे उलूखल बन्धनेन परम मोहन रूप-लीलादिदृक्ष्या भक्त्युद्रेकेण परित्यागाशक्तेः, यद्वा, उलूखलसहितस्यैव तस्य परिक्रमादिनोलूखलादेरपि परिक्रमादिकं बोधितम्। आमन्त्र्यानुज्ञामादायेत्यर्थः। उत्तरां दिशमिति प्रायस्तस्याः साधुवर्गसेवितत्वेन तद्दिग्गमनेच्छया तद्दिग्वर्ति-निजगृहं गतौ, न तु गृहापेक्षयेति भावः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रील-सनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीवृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

सन्दर्शनमक्ष्णोः नः कैवल्यनिरसनेनाऽनुग्राहकम् एवं साधूनां दर्शनमज्ञानापहमित्यर्थः॥४१॥ सादनं सदनम्॥४३॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

युक्तमेवैतदित्याह–साधूनामिति। मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां साधूनां दर्शनमन्तो यस्य सः दर्शनावधिकः पुंसो बन्धो भवेत् यथा सवितुः दर्शनान्तोऽक्ष्णोर्बन्धः तमोरूपस्तद्वत्॥ ४१॥ हे नलकूबर! युवां तत्तस्मात्सादनं सदनं सन्निकेतनं स्वनिकेतं प्रति गच्छतं, कथम्भूतौ? अहमेव परो मा यस्मात्स ययोस्तौ न विद्यते भवः संसारो यस्मात्सोऽभवः मयि भावोभि-प्रायविशेषः प्रीत्यात्मकः वां युवयोः सञ्जात एव॥ ४२॥ इत्थमुक्तौ तौ बद्धमुलूखलं यस्मिंस्तं कृष्णं परिक्रम्य पुनः पुनः प्रणम्य चामन्त्र्य पृष्ट्वा उत्तरां दिशं जग्मतुः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मत्कृतात्मनां मय्येव सन्निहितमनसाम्॥ ४१॥ नरवाहो वैश्रवणः तस्य निकेतनं गृहम्॥ ४२॥ बद्धोलूखलम् उलूखलबद्धं श्रीकृष्णम्॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां दशमोऽध्यायः॥ १०॥

(विजयध्वजतीर्थपाठे एकादशः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

समचित्तानामिति अपराधाग्रहणे साधूनामित्यनुग्रहे विशेषणम्॥ ४१–४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, तं दृष्ट्वाप्यसंमानयतोरावयोस्तदनुग्रहः कथं सम्भवेत्तत्राह–साधूनामिति। समचित्तानां स्वमानापमानाभ्याम-क्षुभ्यतां सुतरामतिशयेन मय्येव कृत आत्मा मनो यैस्तेषां दर्शनान्तःदर्शनपर्य्यन्त एव। यद्वा, दर्शनेनान्तो नाशो यस्य स सवितुर्दर्शनादक्ष्णोर्बन्धस्तमः कृतो यथा नाश्यति तथेति तेनान्धानां सवितुर्दर्शनादपि यथा तमो न नश्यति तथैव नानापराध-मलीमसमानसानामसुराणां श्रीनारदादिदर्शनादपि न बन्धक्षय इति ज्ञापितम्॥ ४१॥ प्राधान्यादेकं सम्बोध्याह-हे नलकूबर! अहमेव परमः सेव्यो ययोस्तथाभूतौ सन्तौ सादनं सदनं न भवः संसारो यतः सः॥ ४२॥ उलूखले बद्धं बद्धोलूखलम् आहिताग्न्यादि॥ ४३॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। दशमे दशमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥ १०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीनारदप्रसादाल्लब्धभक्ती तौ दृष्ट्वा स्वयं हरिः साधुदर्शनमाहात्म्यमाह–साधूनामिति। सुतरां मत्कृतात्मनां साधूनां दर्शनात् बन्धो न भवेत् किं पुनस्तेषामुपासनादिभ्य इत्यर्थः। सवितुर्दर्शनादक्ष्णोर्बन्धो यथा न भवति तद्वत्।।४१।। प्राधान्यादेकं सम्बोधयन् आज्ञापयति–तदिति। हे नलकूबर यः ईप्सितोऽन्यैषां वाञ्छितः केवलं न तु प्राप्तः सः अभवः नास्ति भवो स अभवः वां युवयोः सञ्जातः तत्तस्मात् युवां मत्परमौ सन्तौ सादनं स्वस्थानं गच्छतम्।। ४२।। इत्येवं भगवतोक्तौ बद्धोलूखलं बद्धमुलूखलं यस्मिन् तं भगवन्त पुनः पुनः परिक्रम्य प्रणम्य च आमन्त्र्य पृष्ट्वा उत्तरां दिशं जग्मतुः।। ४३।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे दशमाध्यायार्थप्रकाशः।। १०।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु तं वीक्ष्याप्यादरमकुर्वतोरावयोः कथं तदनुग्रहस्तत्राह साधूनामिति। समचित्तानां स्वादरानादराभ्यामक्षुभ्यतां मय्येव कृतोऽर्पित आत्मा मनो यैस्तेषां दर्शनाद्बन्धो न भवेत् सवितुर्दर्शनादक्ष्णोस्तिमिररूपो बन्धो यथा न स्यात्।। ४१।। हे नलकूबरेति प्राधान्यादेकस्य सम्बोधनं तत्तस्माद् युवा सादनं स्वगृहं गच्छतं मत्परमौ सन्तौ वां भावो मयि सञ्जातः नास्ति भवः संसारो येन सोऽभवः अधिकारान्ते मोक्षो भविष्यतीति भावः।। ४२।। उलूखले बद्धं बद्धोलूखलं आहिताग्न्यादिः आमन्त्र्यानुज्ञाप्य।। ४३।।

मम मात्रा निबद्धस्य मोचकस्यापि मोचनम्। नान्यस्तातं विना कुर्यादिति कृष्णो व्यजिज्ञपत्।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां दशमोऽध्यायः।। १०।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सतां माहात्म्यं स्वमाहात्म्यमहत्त्वदात्रिति तौ प्रति तदाह। साधूनामिति। समचित्तानां मित्रामित्रमनोरहितानां तत्रापि सुतरां मत्कृतो मयि कृतः समर्पित आत्मा मनो येषां नारदादीनां दर्शनाद्बन्धो नो भवेत्। कृतात्मनां शिक्षितमतीनां मत्तः सुतरां बन्धो न भवेदिति किं वक्तव्यमित्यन्वयो वा। एवमन्वये सुतरामिति सुतरां लग्नमिति मन्तव्यम्। सवितुः सूर्यस्य दर्शनाद्दर्शनमप्राप्य पुंसोऽवलोकयितुर्जनस्य यथा बन्धो यक्ष्माच्छादनरूपो भवेन्न तथेति व्यतिरेकदृष्टान्तः। सूर्यावलोकयितृलोचनाच्छादनं तत्तो यतो भवतीत्यामरपामरं विदितमिति। सवितुर्दर्शने कर्तव्यतयोपस्थिते यथा बन्धो न भवेत्तथेत्यन्वयदृष्टान्तो वा। बन्धोऽन्धकारं वा।। ४१।। परम उत्सवो येन स ईप्सितो वाञ्छितो वा मयि भावो भक्तिः सञ्जात इति मत्परमौ। अहं परम उत्तमो ययोस्तौ मयैव परा मा ज्ञानं पुनर्मदानर्पिका ययोस्ताविति वा। नरवाहनिकेतनं नरवाहः कुबेरः पिता तस्य निकेतनमलकां तद्गच्छतम्। नलकूबरसादनमिति पाङ्क्तः पाठो मञ्जुलश्च। प्राधान्यादेकस्य सम्बोधनं हे नलकूबर तत्तस्मात्सादनं सदनमिति विवरणकृद्बादरायणकालिक इति स्वं मन्यत इति तदुपेक्ष्यम्। नरवाहनी कुवेरस्तस्य केतनं निकेतनमिति वा।। ४२।। बद्धोलूखलं बद्धमुलूखलं यस्मिन्स तम्। ननु स्वयं तेन मोचितावित्युचितम्। तदुलूखलबन्धमोचनमतयोरित्यनयोर्गमनं तथैवेति चेत्। न। एतदवतारेऽर्जुनमोचकोऽयमेवास्मत्तो मोचनेऽर्जुनमोचितः कृष्ण इत्यपप्रथा स्यात्स्वावचप्रत्यवायिनावावामिति मतिमन्तौ विना मोचनं जग्मतुरिति तात्पर्यमनेन सूचितं ज्ञेयम्। आमन्त्र्य गच्छाव इत्युक्त्योत्तरां दिशं स्वतातपालितां जग्मुः।। ४३।।

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे एकादशोऽध्यायः।। १०–११।।

श्रीसुबोधिनी

नन्ववश्यम्भावि चेत् तथात्वं किमिति **नारदेनोक्तं**? वचनात् तूष्णीम्भाव एवोचित इति चेत् तत्राह **साधूना**मिति, ये हि साधवस्तेषां दर्शने पुनर्बन्धो न भवति, ते हि ज्ञानव्याप्ता वह्निनायःपिण्ड इव, यथा तत्सम्बन्धेग्नेरप्यधिको दाहो भवत्येवमेव ब्रह्मज्ञानापेक्षयापि सद्दर्शने बन्धनिवृत्तिर्भवति, **साधवः** सदाचाराः **समचित्ता** ज्ञानिनः, अतो ज्ञानकर्मणोः सद्भावादेते मुक्ता एते मुक्ता इति वैलक्षण्यज्ञानं न समदर्शित्वबाधकं, नापि तैस्तथा सम्पाद्यते, किन्तु तेषां **दर्शन**मेव मुक्तिसाधकं, किञ्च **नितराम्मत्कृतात्मना**मिति, मयि **कृत आत्मा** यैः समर्पितात्मानः, **मत्कृते** वात्मा येषां, कर्मज्ञानभक्तीनां तेषु सिद्धत्वाद् **बन्धः** सर्वथा न भवति, तमो निवर्तितं कर्मणा रजो ज्ञानेन सत्त्वं भक्त्येत्यतो न केनाप्यंशेनावशिष्यते, अत एव पूर्णकर्माणो वस्वादिभावं प्राप्नुवन्ति ततोपि ज्ञानिनो ब्रह्मविदः सनकादय इव भवन्ति, ततोपि भक्ता मद्भावं प्राप्नुवन्तीति तदाह **दर्शनान्नो भवेद् बन्ध** इति, **पुंस** इति, मर्यादाधिकारिणस्तु ततो बन्धो निवर्तते, **अहं त्वनधिकारिणोपि निवर्तक** इति विशेषः, तथाप्यप्रार्थितं कथं दत्तवन्त इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन निराकरोत्**यक्ष्णोः सवितुर्यथे**ति, **अक्ष्णो**र्बन्धनमन्धकारः, स **सवि**तृदर्शने निवर्तत एव ।।४१।। न हि वस्तुशक्तिः प्रार्थनादिकमपेक्षते तस्मान्मोक्षस्तु पूर्वमेव सिद्धो भक्तिरपि सिद्धेऽपि वदन् प्रार्थितमाह **तद् गच्छत**मिति, भक्तेः

कारणमाह **महाभागाविति**, अनन्तकोटिजन्मपुण्यपापयोरुपार्जितयोर्मध्ये दिव्यशतवर्षपर्यन्तं मत्प्रतीक्षाभावात् सर्वमेव पापं नष्टं, पुण्यं त्ववशिष्यते, तदुक्तं **महाभागाविति**, **नलकूबरेत्येकस्यैव** प्रसादः, **सादनं** गृहं, यत्रावसादं प्राप्तौ, अनेन तत्रासक्तिर्न भविष्यतीति सूचितं, **मयि** तु मद्विषयको **भावः** प्रेमलक्षणकः **सञ्जात** एव, तेनैव श्रवणादिकं स्वत एव भविष्यति, अप्रार्थितत्वादनभिमतमित्याशङ्क्याहे**प्सित** इति, तत्र हेतुः **परमोभव** इति, **भाव** एवान्तिमजन्मरूपो न तस्मादप्यन्यज् जन्म भवतीति **परमत्वं**, अतो जन्मभिः क्लिष्टानां सर्वेषामेव **मयि भावः** प्रार्थनीयो भवति, अतो वां युवयोरपी**प्सितत्वात्** सम्यग् जातः ॥ ४२ ॥ एवमुक्तौ तत्रोचितं कृत्वा गतवन्तावित्याहे**त्युक्तौ**, **तमिति** बालकव्युदासः, बहुवारं प्रदक्षिणां कृत्वा प्रतिप्रदक्षिणं नमस्कृत्य **चकारात्** स्वदीनतां चाविष्कृत्य लीलाभावादिभिरप्यमोहितौ सन्तौ **बद्धमुलूखलं** यस्मिन्निति, **आमन्त्र्य** 'गच्छाव' इत्युक्त्वो**त्तरां दिशं** स्वस्थानं **जग्मतुः**, एवं गोकुलवासिनोर्वृक्षयोरपि निरोध उक्तः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरप्रमाणप्रकरणे वैराग्यनिरूपकषष्ठाध्यायस्य स्कन्धादितो दशमाध्यायस्य विवरणम् ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

साधूनामित्यत्र **सद्भावा**दिति सत्त्वभवनात्, ननु समचित्तत्वे कथं मुक्तोमुक्त इतिभेददर्शनमुपपद्यत इत्याशङ्क्याहु**रेत** इत्यादि, यथार्थवस्तुग्रहणात् प्रत्युत साधकमितिभावः, ननु फलतो वैषम्याभावेपि स्वरूपतस्तु नापैतीत्यत आहु**र्नापी**त्यादि, तथा च सान्निध्यमात्रेण भवनान् न स्वरूपतस्तथेत्यर्थः, **अवशिष्यत** इति बन्ध इतिशेषः, दोषनिवृत्तिमुक्त्वा फलप्राप्तिरपि ततो भवतीत्यत आहु**रत एवे**ति दर्शनादेव, **दत्तवन्त** इति साधव इतिशेषः ॥ ४१ ॥ **तद् गच्छत**मित्यत्र ननु नलकूबरेत्यत्रैकशेषः कथं सङ्गच्छत इत्यत आहु**स्तत** इत्यादि, तथा च स्थूलदेहापेक्षया सूक्ष्मस्योत्कृष्टत्वात् तस्य च मनोरूपस्योभयोः समानत्वात् स्वरूपैकशेष इत्यर्थः, **अप्रार्थितत्वादनभिमत**मिति "वाणी"तिश्लोके भावस्या**प्रार्थितत्वात्** तद्दान**मनभिमतं**, **सम्यग् जात** इति तथा च तद्दानमप्यभिमतमेवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ **इत्युक्ता**वित्यत्र **लीलाभावादिभि**र्मोहने हेतुरुक्तो बद्धमित्यादिस्तथाप्यमोहे हेतुः पूर्वमुक्तः, **एव**मित्यादिना कैमुतिकः प्रदर्शितः, तथा च यो गोकुले वृक्षयोरपि निरोधं करोति स मातुः कथं न कुर्यादिति **कृष्णस्तु गृहकृत्ये**ष्वित्यत्रीया शङ्का निरस्ता, एतेनैवैतदध्यायलीला न गोकुलविनियुक्तेत्यपि निरस्तम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे दशमाध्यायविवरणम् ॥ १० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

साधूनामित्यत्र **अत एवे**ति कर्मणा तमसो निवर्तितत्वादेवेत्यर्थः, **वस्वादीनां** सृष्टिकर्तृत्वात् तद्भावो राजस इतिभावः, **सनकादय इवे**ति ज्ञानेन रजसो नाशनात् सात्त्विका भवन्तीत्यर्थः, "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं" इतिवाक्यात् सनकादीनां सात्त्विकत्वं, **मद्भाव**मिति भक्त्या सत्त्वस्यापि नाशनात् निर्गुणभावं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ **इत्युक्तौ त**मित्यत्र **लीला भावादिभि**रिति बद्धोलूखलस्यैव नमनादिति भावः, **लीला** दाम्ना बन्धनं, **भावो** मानुषभावः, **आदिपदेन** तत्कालोचितसभयत्वादिकं तथा चेष्टया स्थितिश्च, कैरप्यमोहितावित्यर्थः ॥ ४३ ॥

इति दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'युक्तमेव, एतन्नाश्चर्यम्' इत्याह—साधूनां स्वधर्मवर्तिनां समचित्तानामात्मविदां दर्शनात् पुंसः संसारबन्धो न भवेत्, निवर्तते इत्यर्थः। मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां दर्शनात्तु सुतरां बन्धो न भवेत्, तेषां कृपातिरेकात्। तत्र दृष्टान्तमाह—सवितुः सूर्यस्य दर्शनाद्यथाऽक्ष्णोर्बन्धोऽन्धकारो निवर्तते, तथा पुंसोऽज्ञानं निवर्तते इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ प्राधान्यादेकमेव सम्बोधयति—हे नलकूबरेति। तस्मान्मद्भक्तनारदानुग्रहेणैव कृतार्थत्वात् मत्परमौ अहमेव परमः इष्टदेवतया चिन्तनीयो ययोस्तथाभूतौ सन्तौ सादनं स्वनिकेतनं गच्छतम्। कृतार्थत्वमेव स्पष्टयति—सञ्जात इति। न भवः संसारो यस्मात् स अभवो यो मयि भावः प्रेमातिशयो वां युवयोरीप्सितोऽपेक्षितः स तु सम्यग्जात एव ॥ ४२ ॥ इत्येवं भगवता उक्तौ तौ नलकूबरमणिग्रीवौ बद्धमुलूखलं यस्मिंस्तं कृष्णं पुनःपुनः परिक्रम्य प्रणम्य आमन्त्र्य पृष्ट्वा च उत्तरां दिशं जग्मतुरित्यन्वयः ॥ ४३ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालासूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने। दशमो विवृतोऽध्यायः कृष्णबन्धनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

साधूनामिति ॥ साधूनां स्वधर्मवर्तिनां समचित्तानामात्मविदां सुतरामतिशयेन मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां दर्शनमात्रात् सवितुः सूर्यस्य दर्शनाद्यथाऽक्ष्णोर्बन्धोऽन्धकारो निवर्तते तथा पुंसः संसारबन्धो न भवेत्। निवर्त्तेत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ तदिति ॥ हे नलकूबर ! प्राधान्यादेकस्य संबोधनम्। तस्मात् मद्भक्तनारदानुग्रहेणैव कृतार्थत्वात् मत्परमौ अहमेव परमः सेव्यो ययोस्तथाभूतौ सन्तौ। सदनमेव सादनम् अण्। स्वनिकेतनं गच्छतं यतः न भवः संसारो यस्मात्सः अभवो यो मयि परमो भावः प्रेमातिशयो वां युवयोरीक्षितोऽपेक्षितः स तु सम्यग्जात एव ॥ ४२ ॥ इत्युक्ताविति ॥ इत्येवं भगवता उक्तौ तौ नलकूबरमणिग्रीवौ बद्धमुलूखलं यस्मिंस्तं कृष्णम्। यद्वा उलूखले बद्धम् इति बद्धोलूखलमाहिताग्न्यादित्वात् पुनः पुनः परिक्रम्य प्रणम्य आमन्त्र्य पृष्ट्वा च उत्तरां दिशं जग्मतुः ॥ ४३ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् ॥ गङ्गासहायो दशमस्याध्याये दशमे व्यधात् ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तथाहि शत्रुमित्रयोः समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनां मयि कृतमनसां सतां दर्शनात् पुंसो नरस्य बंधो न भवेत् यथा सवितुः सूर्यस्य दर्शनात् अक्ष्णोर्बंधो न भवेत्तथा ॥४१॥ द्वयोर्मध्ये एकस्य मुख्यत्वादेकसंबुद्धिः हे नल कूबर युवां मत्परमौ अहमेव परमः श्रेष्ठो ययोस्तौ संतौ तत्स्वर्गरूपं सादनं स्वगृहं गछतं वा युवयोरीप्सितः श्रेष्ठो मयि भावः स्नेहः संजातः यतः परमः श्रेष्ठोऽभवो मोक्षो भवेत् नास्ति भवो यस्मात् सः अभवः ॥ ४२ ॥ परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य उलूखले बंधः बंधोलूखलस्तं आमंत्र्य गुप्तवचनेनोक्त्वा राजदंतादित्वात्पूर्वप्रयोगार्हस्य परप्रयोगः ॥ ४३ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्यदशमस्कंधव्याख्याने यमलार्ज्जुनभंगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

युक्तमेवैतदित्याह ॥ साधूनामिति ॥ सुतरां मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां, साधूनां, दर्शनमन्तो यस्य सः, सद्दर्शनावधिक इत्यर्थः। पुंसः बन्धः, भवेत्। यथा सवितुः, दर्शनान्तः अक्ष्णोः बन्धस्तमोरूपस्तद्वत्, 'दर्शनान्नो भवेद्बन्धः' इति पाठे, साधूनां स्वधर्मवर्त्तिनां, समचित्तानामात्मविदां, सुतरां मयि कृतोऽर्पित आत्मा यैस्तेषां सतामिति शेषः। दर्शनात्, पुंसः बन्धः, नो भवेत्। सवितुः दर्शनात् अक्ष्णोः यथा बन्धः न भवेत्, तद्वत् ॥ ४१ ॥ तदिति ॥ हे नलकूबर, तत्तस्मात्, प्राधान्यादेकस्य संबोधनम्। युवां, अहमेव परमो ययोस्तथाभूतौ सन्तौ, सादनं सदनं स्वनिकेतं प्रतीत्यर्थः। गच्छतम्। न विद्यते भवः संसारो यस्मात् सोऽभवः, परमः ईप्सितः, मयि भावः सम्यक् प्रीत्यात्मकोऽभिप्रायविशेषः, वां युवयोः, संजातः एव ॥ ४२ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, उक्तौ भगवता कथितौ, तौ नलकूबरमणिग्रीवौ, बद्धमुलूखलं यस्मिन् उलूखले बद्धो बद्धोलूखल इति वा। तं कृष्णं, परिक्रम्य च, आमन्त्र्यानुज्ञाप्य पृष्ट्वेति यावत्। उत्तरांदिशं, जग्मतुः ॥ ४३ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचिताया-मन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

साधूनामिति : १०.१०.४१.

यः परं बोधयेद् बद्धोऽप्यद्धा प्रारब्धकर्मणा। तच्छ्रेयसैव तन्मुक्तिः स्यादितीशगिरेरितम् ॥ ७६ ॥

तद् गच्छतमिति : १०.१०.४२.

मयि निष्ठा दृढा येषां तेषां शिष्टोऽपि भोगतः। भवोऽपि विभवायैवेत्यबोधि हरिणाऽऽशयः ॥ ७७ ॥

यो मुक्तः स्वयमन्यमोचक इति श्रुत्येरितः श्रीपतेस्तस्याऽस्यां भुवि बन्धनं लघुगुणैर्मात्राकृतं दृश्यते।

आगस्त्वेकमिदं परं यदधुनाऽमुक्तस्य मोक्तुः परानन्यो मोचक इत्यसाध्विति तथैवामन्त्र्य तौ जग्मतुः ॥ ७८ ॥

यावदेष सगुणोऽस्ति सौख्यदस्तावदेव सुलभश्च चक्षुषा।

निर्गुणस्तु नहि चेतसाऽप्यलं द्रष्टुमित्यनुगतौ तथैव तौ ॥ ७९ ॥

स्वस्त्यस्तूलूखलास्मिंस्त्वदुपकृतमिदं केन वा विस्मरावः
संप्राप्तस्वात्मरूपावतुलहरिकृपाऽलङ्कृतौ येन जातौ।
तत्पृष्ट्वा त्वां व्रजावो निजसदनसुखं भोक्तुमेतज्जपुण्यात्
स्वस्थस्त्वं चात्र भूया यदुपतिगुणशाल्वमामन्त्रिताभ्याम्॥ ८०॥

तेनाकारि तदुद्धृतिस्तदुचितं साजात्यभाजा पुन-
स्ताभ्यां तादृगुलूखलं न कृतमित्याप्नोपकृत्या त्वियम्।
शङ्का सानग्रतस्तदस्ति सगुणत्रह्मावलम्बादलं
मुक्तादप्यतिसौख्यभागिति तथैवाऽऽमन्त्र्य तत्तौ गतौ॥ ८१॥

बद्धोलूखलमामन्त्र्येत्यत्र ह्यामन्त्रणं द्वयोः। श्रीशोलूखययोर्भातीत्युक्तमुक्तक्रमाद् द्वयम्॥ ८२॥

याभ्यां साकं तव समभवच्छ्रीपते वाग्विहारो वृत्तिः शिष्टा तदपि च तयोरुत्तराशावलम्बे।
येषां प्रश्नग्रथितवचसां नापरोक्षं तवास्ति तेषां न स्यात् कथमिह मनश्चोत्तराशाऽवलम्बि॥ ८३॥

जडजातमध्यभाजा निपात्य खलमच्युतेन गुणबद्धम्। सागमकृष्टिर्विहिता सत्या मत्स्यावतारवदिहापि॥८४॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने दशमोऽध्यायः॥ १०॥

कृष्णप्रिया

भगवान् सूर्यनारायणजी के उदय से जैसे अन्धकार नष्ट हो जाता है नेत्रों की अन्धता निवृत्त हो जाती है वैसे ही समदर्शी एवं मुझमें मन लगाने वाले महत्पुरुषों के दर्शन से संसार के सारे बन्धन छिन्न भिन्न हो जाते हैं॥४१॥ हे नलकूवर, अब तुम दोनों अपने स्थान को मुझे याद करते हुए जाओ। मुझमें अपेक्षित परम भक्ति तो तुम्हारी हो ही गयी है। अब तुम्हारा जन्म मरण रूप संसार छूट जायेगा॥ ४२॥ **श्रीशुकाचार्यजी ने कहा—राजन्!** जब भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा तब नल कूबर मणिग्रीव ने उखलबद्ध भगवान की परिक्रमा की और पुनः पुनः प्रणाम करके दामोदर कृष्ण की अनुमति सम्पादन करके उत्तरदिशा की ओर प्रस्थान किया॥ ४३॥

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः॥ १०॥

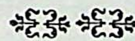

अथैकादशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	इ. वं.	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
४९	४५	१	३	१	१६३२	६	६४	१७०२	५३	६

[1]श्रीशुक उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् । तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ [2]निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥
भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ । बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥
उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् । कस्येदं [3]कर्म आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥
बाला [4]प्रोचुरनेनेति [5]तिर्यग्गतमुलूखलम् । विकर्षता मध्यगेन [6]पुरुषावप्यचक्ष्महि[7] ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कुरुश्रेष्ठ पततोः द्रुमयोः रवं श्रुत्वा निर्घातभयशङ्किताः नन्दादयः गोपाः तत्र आजग्मुः ॥ १ ॥ तत्र भूम्यां निपतितौ यमलार्जुनौ ददृशुः पतनकारणं तत् लक्ष्यं अविज्ञाय बभ्रमुः ॥ २ ॥ दाम्ना बद्धं च उलूखलं विकर्षन्तं (ददृशुः) इदं कस्य कर्म ! आश्चर्यं ? उत्पातः इति कातराः (संवृत्ताः) ॥ ३ ॥ मध्यगेन अनेन बालेन तिर्यग् गतं उलूखलं विकर्षता इति (जातं) पुरुषौ अपि अचक्ष्महि इति बालाः प्रोचुः ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकादशे समागत्य वृंदावनमथार्भकैः । वत्सान्पालयतानेन हतौ वत्सबकासुरौ ॥ १ ॥

निर्घातो वज्रपातः स्यादिति भयेन शंकिताः ॥ १ ॥ तल्लक्ष्यं प्रत्यक्षतो दृश्यं पुरतो दृष्ट्वापीत्यर्थः । पतनकारणमविज्ञाय बभ्रमुः ॥ २ ॥ लक्ष्यं कारणं दर्शयति उलूखलमिति । भ्रमप्रकारमाह । कस्येदं राक्षसादेरिदं कर्म कुतो वा कारणादाश्चर्यमुत्पातोऽयमिति कातरा भीताः संतो बभ्रमुरित्यर्थः ॥ ३ ॥ मध्यगेन वृक्षयोर्मध्यगतेन । न केवलमेतावत् । वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावप्यचक्ष्महि । दृष्टवंतो वयमिति ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अर्भकैः सुबलस्तोककृष्णादिभिः । अनेन श्रीकृष्णेन (१) । शंकिता जातशंकाः ॥ १ ॥ श्रीनंदादित्रासावेशेन ततो रक्षितमिव संबोधनं हे कुरुश्रेष्ठेति । यद्वा—अनुचराणां गोपानां किंकरावनुजानीहि । एषां किंकरं कृत्वात्रैव रक्षेत्यर्थः । पतनकारणं तच्छ्रीकृष्णरूपं लक्ष्यं साक्षान्नेत्रगोचरमपि बभ्रमुः । अहो भूमिकंपातिबलवायुचलनादि विना कथमेतौ पेततुरिति भ्रांतिं जग्मुः ॥ २ ॥ इत्यर्थ इति । पूर्वेण संबंधोत्र क्रियापदेन कार्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥ विकर्षताऽनेन हेतुना कर्त्रा वा निष्कासिताविति शेषः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्राजग्मुरिति । तत्र गमनाय द्रुतं प्रतस्थुरित्यर्थः । निर्घातो निरभ्रगर्जितमुत्पातविशेषः भयं दैत्यादिभ्यः ताभ्यां सन्दिग्धाः यतो मूर्च्छितत्वादेव निकटस्थानां व्रजैश्वर्यादीनां प्रथमतमागमनं न जातमिति ज्ञेयं हे कुरुश्रेष्ठेति श्रीनन्दादित्रासावेशेन सम्बोधनं ततो रक्षणार्थमिव ॥ १ ॥ भूम्यामित्यर्द्धकम् । नितराम् उन्मूलनादिना पतितौ ददृशुर्दूरादिति शेषः । बभ्रमुरिति सार्द्धकम् । उलूखलमित्यादिलक्षणं पतनकारणं लक्ष्यं लक्षयितुं शक्यमपि तदविज्ञाय दूरस्थत्वात् सम्भ्रान्तत्वाद् पतितवृक्षशाखादिव्यवहितत्वाच्च तत्र स्थितमननुभूय बभ्रमुः सन्दिदिहुः तदनुभवे सति प्रथमं तदनिष्टशङ्कयाऽविष्टाः स्युः न तु तदुत्पातहेतुजिज्ञासयेति तथा तस्य तद्धेतुत्वे ज्ञाते सति जिज्ञासापरा न स्युरिति च भावः ॥ २ ॥ पुनश्च निकटे समागत्यापि

---

१. बादरायणिरुवाच—गो. प्रे. टी. । २. रवशङ्किताः—विज. । ३. कुत—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ४. ऊचुर—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. । ५. तिरश्चीनमुलू—गो प्रे. टी. । ६. निहतौ यमलार्जुनौ—इति कस्यचित् । ७ वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावप्यचक्ष्महि—इति पाठान्तरम् ।

शाखाव्यवहितं तमदृष्ट्वा कस्येदमित्याद्युक्त्वा कातरा बभूवुः इदमाश्चर्यं कस्य केन कृतमित्यर्थः। तथा च विवृतं तद्वाक्यं श्रीहरिवंशे "केनेमौ पातितौ वृक्षौ घोषस्यायतनोपमौ॥ विना वातं विना वर्षं विद्युतप्रपतनं विना। विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ" इति॥ ३॥ ततश्च व्यवहितं तं दर्शयित्वा बालाः स्वयमूचुः, किमूचुः? तत्राहुः। अनेनेति। सम्भ्रान्तत्वेन पूर्णवचनाशक्तेरुत्पाटितमिति तु नोचुः। कीदृशेन सतोत्पाटितमित्यपेक्षायामूचुः। तिर्यग्गतमुलूखलमित्यादि एषाममोहस्तु श्रीदामोदरमाधुर्यवशेनेति गम्यते॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पततोर्द्रुमयोः सम्बन्धिनम्; यद्वा, पततोः सतोः रवं निर्घाततुल्यं महाशब्दं दूराच्छ्रुत्वा तत्स्थाने आगता आवासाद्बहिःप्रदेशे तयोर्वृत्तेस्तत्र श्रीयशोदादिगोपीनां शीघ्रगत्यसम्भवात्, किंवा पुंसां मुख्यत्वात्तेषामेवादौ गमनमुक्तम्, पश्चात् ता अभ्यागता इति ज्ञेयम्। निर्घातो निरभ्रगर्जितमुत्पातविशेषः। हे कुरुश्रेष्ठेति कुरुवंशरक्षाहेतोः परमभागवतस्य तव क्षेमाय सदा परमव्यग्रास्त्वत्पितामहा यथा स्नेहभरेण विविधशंकाकुला भवन्ति, तद्वदिति भावः॥ १॥ नितरामुन्मूलनादिना पतितौ। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, तत्तत्र लक्ष्यं पतनकारणत्वेन लक्षयितुं योग्यमप्यविज्ञायानालक्ष्य बभ्रमुस्तत्कारणं निर्द्धारयितुं न शेकुरित्यर्थः। तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु० प० ७।२८-२९)—'केनेमौ पातितौ वृक्षौ घोषस्यायतनोपमौ। विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना। विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ॥' इति॥ २॥ लक्ष्यत्वप्रकारमाह—उलूखलमिति। बालकञ्च तत्र ददृशुरिति पूर्वेणैवान्वयः। विकर्षन्तं बलादाकृष्य नयन्तम्। एतच्चावलवत्त्वबोधनेन स्वस्यैश्वर्य्याच्छादनार्थमुलूखलविकर्षणेनोलूखलस्य च तस्मिन्नेव दाम्ना बन्धनेन। चकाराद्द्वयोर्मध्यतस्तन्निःसरणचिह्नदर्शनेन चेत्यादिलक्षणैरित्यर्थः। तथाप्यविज्ञाने हेतुर्बालकमित्यल्पार्थे कः,—अतिशिशोस्तादृशकर्म्मासम्भवात्। तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। इदमाश्चर्य्यमकस्मान्महावृक्षद्वयनिपातनलक्षणं कस्य केन कृतमित्यर्थः। ननु देवेन दैत्येन वा केनचिदिति चेत्तर्हि कुतः कस्माद्धेतोस्तमनालोकयन्त आहुः—उत्पातोऽयमित्यस्मादुत्पातज्ञानात् कातरास्तद्बालकं प्रत्यनिष्टशंकया विह्वला बभूवुरित्यर्थः॥३॥ अनेनैतत्कृतमित्यूचुः॥४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

निर्घातो मेघध्वनिः॥ १॥ लक्ष्यं निरूपकैर्ज्ञातुं योग्यम्॥ २॥ कस्येति कस्य चेष्टितमिदमाश्चर्यमित्यर्थः। कस्येति कर्तृसन्देहः कुत इति निमित्तसन्देहः उत्पातः अनिश्चयः॥ ३-५॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

गोपा इति पततोर्द्रुमयोरर्जुनयोः रवं ध्वनि श्रुत्वा हे कुरुश्रेष्ठ! किं वज्रपातोऽभवदित्येवं भयेन वितर्कयन्तो नन्दादयो गोपाः तत्राजग्मुः॥ १॥ तल्लक्ष्यं प्रत्यक्षतः पुरतो दृश्यमपि पतनकारणमविज्ञाय बभ्रमुः भ्रान्ता बभूवुः॥ २॥ किं तल्लक्ष्यं पतनकारणं यदज्ञानाद्बभ्रमुः तत्राह—'उलूखलमिति। एवंविधं बालकमेव पतनकारणं लक्ष्यमविज्ञाय बभ्रमुरित्यन्वयः। भ्रममेव दर्शयति—कस्येति। इदं तरुनिपातनरूपं कर्म कस्य सम्बन्धि इदं कुतः कारणादहो आश्चर्यं नः उत्पाता इति एवं भयेन कातरा भीताः सन्तो बभ्रमुरित्यर्थः। कस्येति कर्तृसन्देहः कुत इति निमित्तसंदेहः उत्पात इति निश्चयः॥३॥ एवं बंभ्रम्यमाणान् प्रति तत्रत्या बाला ऊचुः, किमिति? तिरश्चीनमुलूखलं विकर्षता वृक्षयोर्मध्यगतेनानेन बालेनेदं कर्म कृतम् न केवलमेतावदन्यदपि किञ्चिद्दृष्टमित्याहुः, वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यपुरुषावप्यचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमित्यर्थः॥ ४॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेर्बालक्रीडाचरितचारुतरनिरवद्यमहिमश्रवणमननोपासनानि मुक्तिसाधनानि ज्ञानसाधनत्वेन भवन्तीति भावेन तन्माहात्म्यमस्मिन्नध्याये निरूप्यते, तत्रादौ पूर्वाध्यायोक्तयमलार्जुनभङ्गलक्षणं महिमाशेषं वक्ति—गोपा इत्यादिना। निर्घातरवशङ्किताः मेघनिर्घोषशङ्किताः॥ १॥ कस्यागामिफलसूचकं कुत आश्चर्यं सहसा दृश्यमानं यदद्भूतं भविष्यदनिष्टसूचकम् अदृष्टमात्रप्रयुक्तम् उत्पातस्तन्निमित्तभयेन कातराः व्याकुलचित्ताः उत्पात इति कातराः केचित् पठन्ति॥ २-३॥ द्वौ पुरुषौ अचक्ष्महि दृष्टवन्तः॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ऊचुरित्यादिलक्षणं पतनकारणं लक्ष्यं लक्षयितुं शक्यमपि तदविज्ञाय दूरस्थत्वात् सम्भ्रान्तत्वात् पतितवृक्षशाखाव्यवहितत्वाच्च तत्र स्थितमननुभूय बभ्रमुः सन्दिदिहुः॥ २॥ पुनश्च निकटे समागत्यापि शाखादिव्यवहितं तमदृष्ट्वा कस्येदमित्याद्युक्त्वा कातरा बभूवुः इदमाश्चर्यं कस्य केन कृतमित्यर्थः॥ ३॥ ततश्च व्यवहितं तं दर्शयित्वा बालाः स्वयमूचुः? किमूचुः? तत्राहुः—अनेनेति। सम्भ्रान्तत्वेन पूर्णवचनाशक्तेरुत्पाटितमिति तु नोचुः॥ ४॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एकादशे हरेर्मोक्षः फलक्रेयकथादिकम् । वृन्दावनागमोत्साहं वनं वत्सबकार्दनम् ।।

तत् तयोः पतनकारणं बालकं लक्ष्यं लक्षयितुं शक्यमपि अविज्ञाय प्रेम्णा तादृशयोग्यताकत्वेनासम्भाव्या बभ्रमुः, भ्रममेवाह कस्येदं कर्म कुतो हेतोस्तस्मादाश्चर्य्यमेतदुत्पात इति निश्चित्य कातरा भाग्येन विधात्रा बालः कृष्णो रक्षित इति व्याकुला बभूवुः ।। १-३ ।। अनेन कृष्णेन वृक्षयोर्मध्यगतेन तिर्य्यग्गतमुलूखलं विकर्षतेत्येतन्मात्रं बाला ऊचुः सम्भ्रान्तत्वेन पूर्णवचनाशक्तेरेतावुत्पाटिताविति तु नोचुः अविश्वसतस्तान् पुनरूचुः वृक्षाभ्यां निर्गतौ द्वौ पुरुषावप्यचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमिति ।। ४ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथैकादशेऽध्याये बृहद्वनाद्बहूत्पातदर्शनेनोत्थाय नन्दादीनां प्रचलनं श्रीवृन्दावने वासः श्रीकृष्णवत्सपत्वं वत्सबकयोर्वधश्च निरूप्यते—एवं ध्वनिं श्रुत्वा निर्घातभयशङ्कितः निर्घाते वज्रपाते यत्प्रसिद्धं भयं तेन जातशङ्काः गृहे किं विनष्टं किंनेति जातसंशया इत्यर्थः ।। १ ।। तल्लक्ष्यमपि प्रत्यक्षतया दृश्यमपि पतनकारणम् अविज्ञायाबुध्वा बभ्रमुः भ्रमं प्रापुः ।। २ ।। उलूखलमिति । तत्र लक्ष्यं प्रपञ्चयति "उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम्" इति भ्रमं प्रपञ्चयति "कस्येदं कुत आश्चर्यम्" इति कस्य राक्षसादेरिदं कर्म कुतः कारणाद्वा अत आश्चर्यमिदम् अथ तेषां निश्चयं दर्शयति—उत्पात इति । सर्वथा उत्पात एवायमिति विनिश्चित्य कातरा आसन ।। ३ ।। अनेन वृक्षौ पातितौ इति वृक्षाभ्यां विनिर्गतौ पुरुषावपि अचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमिति च बाला ऊचुः ।। ४ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एकादशे नन्दसूनोर्मोक्षो वृन्दावने गमः । सुप्रीतिर्वत्सरक्षा च तथा वत्सबकक्षयः ।।

निर्घातः विद्युत्पातः ।। १ ।। भूम्यामित्यर्धकं ददृशुर्दूरादेव बभ्रमुरिति सार्धकं उलूखलमित्यादि लक्षणं तयोः पतनकारणं लक्ष्यं लक्षयितुं शक्यमपि तद्विज्ञाय दूरस्थत्वात् पतितवृक्षशाखादिव्यवधानाच्च तत्र स्थितमननुभूय बभ्रमुः सन्दिदिहुः अथान्तिके समागत्य शाखापत्रव्यवहितं तमवीक्ष्य कस्येदमित्युक्त्वा कातरा बभूवुः । इदमाश्चर्यं कर्म कस्य केन कृतमित्यर्थः । एवमुक्तं श्री हरिवंशे—

> केनेमौ पातितौ वृक्षौ घोषस्यायतनोपमौ । विना वर्षं विना वातं विद्युत्प्रपतनं विना ।।
> विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमाविति ।। २-३ ।।

वृक्षयोर्मध्यगेन तिर्यग्गतमुलूखलं कर्षता अनेन कृष्णेनेत्येतावन्मात्रं बालान् ऊचुर्न त्वनेनोत्पाटिताविति च बालत्वेनापूर्णवाक्यत्वात् किञ्चाभ्यां निर्गतौ पुरुषावपि वयमचक्ष्महीति चोचुः ।। ४ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

।। हरिः ॐ ।। हरिचरितं दुरितहरणपुरःसरं संविन्निदानं सत्साधनं तद्धामाप्तय इति निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये । तत्रादौ यमलार्जुनभञ्जनतो नन्दाद्याश्चर्यं स्वजातरज्जुविसर्जनं कथयति ।। गोपा इति । पततोर्द्रुमयो एवं शब्दं श्रुत्वा निर्घातस्याशनेरवस्तत्पातज इति शङ्किताः सन्देहयुतास्तत्र तत्स्थल आजग्मुः । भयशङ्किता इति पाठः स्फुटार्थः ।। १ ।। पतनकारणं लक्ष्यं प्रक्षविषयमविज्ञाय बभ्रमुर्भ्रान्ता अभवन् तत्तर्कणप्रकारस्तु विना वर्षं विना वातं विद्युत्प्रपतनं विना । विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पतितौ द्रुमाविति हरिवंशशंसितोऽवसेयः ।। २ ।। दाम्ना बद्धमुलूखलं विकर्षन्तं बालकं च स्वस्तिमन्तं दृष्ट्वा । इदमेतत्पादपपातनं कस्य कर्मेदं कुतः कि कारणमाश्चर्यम् । उत्पातौ दैविकारिष्टं तस्माद्यद्भयं तेन कातरा इत्यालोचयामासुः ।। ३ ।। एवं संदिहानान्नन्दादींस्तत्रत्या बाला अवोचन्नित्याह ।। बाला इति । मध्यगेन वृक्षयोर्मध्यगेनोलूखलं तिरश्चीनं विकर्षताऽनेन पातनं तत्रापि पुरुषौ द्वावप्यचक्ष्महि दृष्टवन्त इति बाला ऊचुः ।। ४ ।।

श्रीसुबोधिनी

> निरोधः सर्वभावेन वर्णनीयो हि गोकुले । स्त्रीणां स चोक्तः पुंसां च नन्दप्राधान्यभावतः ।। १ ।।
> एकादशे ततोऽध्याये पूर्वावस्थामशेषतः । त्याजयित्वा तु नन्दस्य कृष्णभावो निरूप्यते ।। २ ।।
> मोचनं मुग्धलीला च स्थानान्तरपरिग्रहः । तत्र लीला वत्सबकौ ज्ञानं चेति निरूप्यते ।। ३ ।।
> षड्भिस्त्रिभिः षोडशभिश्चतुर्भिः षड्भिरेव च । नवभिः पञ्चभिश्चेति सप्तार्थाः सगुणो हरिः ।। ४ ।।

स्वार्थं तु भगवान् कार्यस्तथात्वं ज्ञाप्यते पुनः । सर्वस्वं हरिरेवेति तदर्थं त्याग ईर्यते ॥ ५ ॥
वृन्दानने स्थितौ हेतुर्भगवत्तोषतः परम् । नास्तीतिज्ञापनायोक्ता प्रीतिर्लीलोपयोगिषु ॥ ६ ॥
वत्सचारणदोषस्य निवृत्तिर्वत्समारणम् । गोपालदोषव्यावृत्त्यै बकस्यापि विनाशनम् ॥ ७ ॥
स्थानत्यागे हरीच्छैव कारणं न तु दुष्टता । तज् ज्ञापयितुमत्रापि बकवत्सौ विनाशितौ ॥ ८ ॥
अतो विमर्शौ गोपानामानन्दश्च निरूपितः । तदर्थमेव च हरेर्बालभावो न चान्यथा ॥ ९ ॥
सम्पन्ने तु ततस्तस्य परिख्यागोपि वर्ण्यते ॥ ९½ ॥

तत्र प्रथमं प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं भगवदासक्ति वक्तुं भयविमोकावाह **गोपा नन्दादय** इति षड्भिर्नन्दार्थमेवैतदिति ज्ञापयितुं **नन्दादय** इति, **गोपा** इति स्वतःसामर्थ्याभावः, भगवतोद्भुतलीलामाह **श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवमिति**, **पततोद्रुमयो**रिदानीं **रवः** श्रुतो यदा तौ स्तुत्वा निर्गतौ, इदं नान्यशक्यं, ततस्त**त्राजग्मुः**, कुरुश्रेष्ठेतिविश्वासार्थं, सर्वेषां तत्रागमने हेतु**र्निर्घातभयशङ्किता** इति, **निर्घातो** निरभ्रविद्युत्पातस्तत्कृतं **भयं** कस्यचिदुपद्रवो भाव्यनिष्टसूचनम् ॥ १ ॥ आगतानां ज्ञानमाह **भूम्यामिति**, भूमौ **निपतितावर्जुनौ** दृष्टवन्तः, ततोन्यत्र तौ चेत् पतितौ भवतस्तदा कालान्तरत्वं न दोषायेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **तत्रे**ति, यत्रैव स्थितौ **तत्रैव पतितौ**, आर्द्रता च तेषां दृष्टिगम्या न भवति, बहिर्मुखत्वात्, जातायामपि तत्राप्याकर्षणस्यापेक्षितत्वात् तस्य पतनस्य कारणमविज्ञाय **बभ्रमुः**, ननु प्रत्यक्षस्याभावेप्यनुमानेन कथं न कल्प्यते ? तत्राह **लक्ष्यमिति**, लक्ष्यमप्य**विज्ञाय**, ते ह्यतिनैयायिका युक्तिबाधितं प्रमाणं न किमपि मन्यन्ते, अतो व्याप्तस्याभावान्नानुमानेन **पतनकारणज्ञानम्** ॥ २ ॥ ननु भगवानस्त्येव प्रत्यक्षसिद्धः कोत्र सन्देह इति चेत् तत्राहोलूखलमिति, उलूखलाकर्षणं **कुर्वन्तं** तदानीमपि ततोप्यग्रे गच्छन्तं वृक्षयोर्मध्ये स्थितं, अन्यत्र गमनाभावे हेतु**र्दाम्ना बद्धमिति**, चकारादुलूखलेन सह वृक्षयोः पातं बालकं चेति वा बालकत्वादेव न स्वतो मोचनं, भगवन्तं हेतुत्वेन प्रत्यक्षसिद्धमप्यन्यथासिद्धं कृतवन्त इत्याह **कस्येदमिति**, **इदं** बन्धनलक्षणं **कस्य कर्म** ? **कर्मे**तिवचनं, व्याकुलत्वज्ञापकं, किञ्च **कुतो** वा हेतोरेतद् बन्धनमिति, **आश्चर्यमिति**, बालकस्य बन्धनं तेन पातनं त्वसम्भवितमेवात **आश्चर्यमेवैतदुभयमपि**, पातनमेव वा, नन्वकारणकार्योत्पत्तिः कथम् ? तत्राह **उत्पात** इति, अयमु**त्पातो** दैवदैत्यादिकृतो भाव्यनिष्टसूचको न तु सर्वथा युक्तिबाधितो भगवता कृत इति कार्यकारणभावे प्रत्यक्षसिद्धेपि न तथात्वमङ्गीकर्तुं शक्यते, अत एव भ्रान्तो नैयायिकस्तर्कविरुद्धं न मन्यते, "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि"तिवाक्याच्च, तर्हि किं जातं तादृशज्ञानस्य फलमित्याकाङ्क्षायामाहोत्पात इति **कातराः**, **पातस्तूत्पातरूपः**, अग्रे च भयं भविष्यतीति **कातरा** भयव्याकुला जाता इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव बालकैरुच्यमानमपि वाक्यं नाङ्गीकृतवन्त इत्याह **बालाः प्रोचु**रितिद्वाभ्यां, सर्व एव **बाला** यथादृष्टार्थवादिनः कल्पनासमर्थाः कारणं **प्रोचुः**, तेषां वाक्य**माहानेनेति**, अनेन वृक्षौ पातितौ, प्रकाराकाङ्क्षायामाहु**स्तिरश्चीनमुलूखलं विकर्षतेति**, **तिर्यक्**पतितमु**लूखलं** तं विशेषेण **कर्षता**, कर्षणेपि प्रयोजनमाहु**र्मध्यगेनेति**, मध्ये स्थितः किं कुर्यात् ? नचैतज्ज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्कायामाहुः **पुरुषावप्यचक्ष्महीति**, वृक्षाद् द्वौ पुरुषौ निर्गतौ तावप्यस्माभिर्दृष्टाविति, अतः स्वदृष्टं लौकिकमलौकिकं चोक्तवन्तः ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

एकादशेऽध्याये प्रकरणतात्पर्यनिरूपणे । वत्सचारणदोषस्य निवृत्तिर्वत्समारणमिति तन्निवृत्तिरूपं तदित्यर्थः । अनीश्वरस्यैव कर्म वत्सचारणमितीश्वरस्य तत्करणमनुचितमिति दोषबुद्धिस्तन्मारणकथया निवार्यते । न ह्यनीश्वर एवंभूतं ज्ञातुमेवं हन्तुं वा शक्तो भवत्यतस्तन्निवृत्तिः । किञ्च । तस्यासुरत्वेपि वत्ससारूप्यतद्यूथगतत्वाभ्यां तत्सम्बन्धित्वं लक्ष्यत इति पशुत्वेन कण्टकशर्कराक्षेत्रप्रवेशहेतुभूतभाव एव निवर्तित इति ज्ञाप्यते । तथा सत्यपराधः स्यादिति । एवं सति वत्सास्तच्चारणं च । तयोः सम्बन्धिदोषस्येत्यर्थः सम्पद्यते । भगवदीयेषु प्रवेशस्य फलं करकमलसम्बन्धः । दोषबुद्धेः फलं स्वरूपनाशः । तेन निर्दोषबुद्ध्या भक्तसङ्गः कार्यो, न त्वन्यथेति ज्ञापितं भवति । मूले भक्तानिष्टनिवर्तने लोकवेदयोरगणना च । **गोपालदोषे**ति । दम्भस्यैव लोभानृताभ्यां कृत्वान्तःकरणे भगवत्तिरोधायकत्वमिति सेवकानां सोनुचित इति तद्रूपं बकं मारितवानित्यर्थः

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एकादशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तोवान्तरप्रश्नोत्तराणां जातत्वात् स्कन्धारम्भे 'व्रजे वसन् किमकरो'दितिसामान्यप्रश्नाद् व्रजस्यैव लीला वक्तव्यायं च निरोधस्कन्ध इति प्रथमं च तत्र गोकुलस्यैव निरोध उपक्रान्त इति स च फलपर्यन्तो वक्तव्य इति तदर्थं यत् पूर्वं वृत्तं तत् सङ्गत्यर्थमनुवदन्तः प्रस्तुताध्यायार्थमाहु**र्निरोध** इत्यादि द्वाभ्यां **हि** यतो हेतोः **सर्वभावेन सर्वप्रकारेण गोकुले निरोधः** प्रकरणानुरोधाद् **वर्णनीयः स** निरोधः **स्त्रीणामुक्त**श्चकाराद् वृक्षयोः **श्रीनन्दप्राधान्येन पुंसां** चोक्तश्रोप्यर्थे **ततो** हेतोरेकादशेध्याये**शेषतः पूर्वावस्थां त्याजयित्वा निरूप्यते**, पूर्वश्लोकोक्तं **स** इति पदमत्रापि सम्बध्यते, तु पुनः पूर्वकथाशेषत्वाच् छ्रीनन्दस्य **कृष्णभावो निरूप्यते** पूर्वमित्यर्थात्, तथा चात्र कथाशेषांशेत्रसरोध्यायार्थे तु विशेषगर्भप्रसङ्गः सामान्य-

विशेषभावो वा सङ्गतिरित्यर्थः, एतदध्यायप्रतिपाद्यानर्थान् श्लोकसङ्ख्यानिरूपणपूर्वकं द्वाभ्यामाहु**र्मोचन**मित्यादि एवमध्यायप्रतिपाद्यानर्थानुक्त्वा तत्प्रयोजनं वदन्तोऽस्य रूपाध्यायत्वात् पूर्वेषु गुणैरिवात्र रूपेण निरोद्धव्या निरोधस्य दृढत्वाय तेषां स्वस्मिन्निव स्वस्यापि तेषु निरोधो वक्तव्य इति स्वस्यापि तदधीनताबोधनं कार्यं तदत्र प्रथमं न स्फुटीभवति पूर्वशेषकथायां श्रीनन्दाद्यागमनगोपबालकसंवादादेरेव तत्र दर्शनादित्याशङ्कायामाहुः **स्वार्थं**मित्यादि, तुः शङ्कानिरासे, उक्ता शङ्का न कर्तव्या **भक्तैः स्वार्थं** स्वमनोऽभिलषितसेवाकरणार्थं **भगवान्** वशीकार्य इत्येतन् **मोचन**लीलया बोध्यते, भगवतो वश्यत्वं मुग्धलीलाभिर्ज्ञाप्यते, तेन च पूर्वोक्तरीत्या सुदृढो निरोधः सिद्धो भवति, तथा चैवं भक्तवश्यताप्रदर्शनेऽन्येऽपि तथा फलेच्छया सेवां करिष्यन्ति सर्वथेति तदर्थं तत्प्रदर्शनमित्यर्थः, नन्वेतद् दामोदरलीलयैव सिद्धमिति पुनस्तत्प्रदर्शनं किमर्थमत्राहुः **पुनरि**ति, यद्यप्युक्तं तथापि **"नेमं विरञ्च्य"** इत्यादिनान्येषां तत्प्रसादप्राप्त्यभावकथनात् न सन्देहो निवर्तत इति तथेत्यर्थः, यद्वा यथा भगवान् दामोदरो जातस्तथान्येषां न वशं भविष्यतीतिशङ्कानिरासाय तथेत्यर्थः, तृतीयस्याहुः **सर्वस्व**मित्यादि, चतुर्थस्याहु**र्वृन्दावने**त्यादि, पञ्चमषष्ठयोराहु**र्वत्से**त्यादि, तत्तात्पर्यं **टिप्पण्यां** स्पष्टमिति नानूच्यते, नन्वत्र वत्सबकवधनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः **स्थाने**त्यादि, **दुष्टेति** स्थानस्येतिशेषः, सप्तमस्य तात्पर्यमाहुरत इत्यादि, स्थानदुष्टताज्ञानभगवदिच्छाकारणत्वज्ञानतस्तथा, **तदर्थ**मिति आनन्दार्थम्। **गोपा** इत्यत्र **स्वतः सामर्थ्याभाव** इति गोरक्षणमात्रनियुक्तत्वाद् ग्रामस्थपदार्थनिर्णयं कर्तुमसमर्था इति नन्दसहभाव इत्यर्थः, तेषामत्र निरोधः कर्तव्य इति नन्देन सह गमनम्।।१।। **भूम्या**मित्यत्र **कालान्तरत्व**मिति **कालान्तरीयपातत्वेन** प्रतीयमानत्वमित्यर्थः, **बहिर्मुखत्वा**दिति भगवत्प्रवणचित्तत्वाभावात्।। २ ।। **उलूखल**मित्यत्राग्रि**मेन्यथासिद्ध**मित्युलूखलाकर्षणे गृहीतकारणताकं शङ्क्येतेत्यतः काकुः कार्या **तर्क**विरुद्धत्वादिति भावः।। ३ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एकादशेऽध्याये **सर्वभावेने**ति सर्वेषां करणानां भगवद्विषयकत्वजनको **निरोध** इत्यर्थः, निबन्धे यथा लक्षणात्, **पुंसां चेति उक्त** इतिपूर्वेणान्वयः; **कृष्णभाव** इति भगवता कृत इतिशेषः, तेन **त्याजयित्वे**त्यस्य समानकर्तृत्वं, तथा च हि यतो **निरोधः सर्वभावेन वर्णनीय**स्ततो हेतोः सामान्यत **उक्तोप्यशेषतः पूर्वावस्थां** प्रपञ्चनिष्ठां **त्याजयित्वा** भगवता कृतो **नन्दस्य कृष्णे भाव** आसक्तिरूपो **विशेषत एकादशे** निरूप्यत इति श्लोकद्वयस्यैकान्वयः, **सगुण** इति गुणसहितो धर्मो निरूप्यत इत्यत इत्याध्यायार्थ उक्तः, **स्वार्थं** त्विति परार्थाः पञ्च निरोधाः पूर्वमुक्ताः, "यच्छृण्वतोपैत्यरतिरितिवाक्याच्छ्रोतृणामरत्यादिनिवृत्त्यर्थमेव ते निरोधा इति परार्थत्वं, **स्वार्थं कार्यो** यो निरोधो लीलारूपः स **भगवाने**वातः सप्तधा उक्त इतिशेषः, **तथात्व**मिति कार्यस्य लीलारूपस्य भगवत्त्वं व्यावस्थापितमपि पुनः सङ्ख्यातात्पर्येण ज्ञाप्यते इत्यर्थः, **सर्वस्व**मिति यथा मार्गान्तरे आत्मनः **सर्वस्वत्वात्** तदर्थ**मन्यत्याग उक्तः** "आत्मार्थे सकलं त्यजे"दिति तथात्र भगवतः सर्वस्वत्वात् तदर्थं स्थानत्याग इत्यर्थः, **वत्सेति** दोषस्य वत्समात्रसम्बन्धित्वात् तदाकृतित्वं, स च तावद्रूप एव न तु बक इव दैत्योऽपि कश्चिदतस्तन्मारणमेव तन्निवृत्तिरूपमित्यर्थः, तथा न दम्भस्य गोपालमात्रदोषत्वं, तथा सति तदाकृतित्वं स्यात्, किन्तु सामान्यतो दोषरूपत्वमतः प्रसिद्धिबलाद् बकाकृतिः, स च यमुनाजलपानेनैतेभ्यो निर्गतः आकृतिसाम्याद् बके दैत्यो निविष्टोऽतस्तन्निवारणेन गोपालदोषो व्यावर्त्यत इति विभेदः, **अत** इति हरीच्छात इत्यर्थः, **तदर्थमेवेति** सर्वभावेन निरोधार्थ मेवेत्यर्थः।

भूम्यामित्यत्र **पतनस्य कारण**मिति निमित्तकारणं प्रयोजककर्तारमन्यमप्रत्यक्षीकृत्येत्यर्थः, **लक्ष्य**मिति **लक्ष्यं** पातनं, केनचित् पातितावित्यनुमानानन्तरं तत्कर्त्रनुमित्सा भवति, एते त्वेवमपि न ज्ञातवन्तः किन्तु स्वत एव पतिताविति ज्ञातवन्त इत्यर्थः, तत्र हेतुमाहुः **ते हीति**, एतादृशयोर्महतोः केनचित् पातनं न सम्भवत्यतः स्वत एव पात इत्यर्थः, **अत** इति पातनाज्ञानेन प्रयोजककर्त्रनुमित्साभावाद् व्याप्तिविशिष्टस्य हेतोरभावः अनिश्चयः इत्यर्थः।। २ ।। **नन्विति** उलूखलमाकर्षतो भगवतः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तत्र कर्तृत्वं प्रत्यक्षेणैव गृह्यतां, सन्देहः को **येनान्यगवेषणे**त्यर्थः, **तत्राहे**ति तस्यापि कर्तृत्वेनाज्ञानमाहेत्यर्थः, **उलूखलमि**त्यत्र **अविज्ञाये**ति पूर्वस्यैवानुवृत्तिः, एतादृशं बालकं च कर्तृत्वेन **अविज्ञाय बभ्रमु**रित्यन्वयः, **उलूखलेन सहेति** दाम्ना बद्धमिति पूर्वेणान्वयः, प्रत्यक्षसिद्धस्यापि तथा अस्वीकारे हेतुरुत्तरार्धेनोक्त इत्याशयेन तदाभासमाहुः **भगवन्त**मिति, उत्पातत्वेन दैत्यादिकृतत्वकथनाद् भगवतोऽन्यथासिद्धत्वकरणं, **नन्वकारणकेति** दृष्टकारणरहितेत्यर्थः, **अय**मिति पातः इत्यर्थः, **कार्ये**ति काकुस्वरेण योज्यं, **अत एवेति** यतस्तर्कविरुद्धं न मन्यतेऽत एवाग्रिमवाक्याच् च भ्रान्तो ज्ञेय इत्यन्वयः, **तादृशज्ञानस्येति** भ्रमात्मकस्येत्यर्थः।। ३ ।।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एकादशाध्यायविवरणारम्भे कारिके **मोचनं मुग्धलीला** चेत्यारभ्य **सगुणो** हरिरित्यन्तं "गोपा नन्दादय" इत्यारभ्य "विमुमोच हेत्यन्तं **षड्भिर्मोचनं**, "गोपीभिः स्तोभित" इत्यारभ्य "बालचेष्टितै"रित्यन्तं **त्रिभिर्मुग्धलीला**, "गोपवृद्धा" इत्यारभ्य "राममाधवयोर्नृपे"त्यन्तं **षोडशभिः स्थानान्तरपरिग्रहः**, "एवं व्रजौकसा"मित्यारभ्य "चेरतुः प्राकृतौ यथे"त्यन्तं **चतुर्भिः**

तत्र लीला वृन्दावने लीला, "कदाचिद् यमुनातीर" इत्यारभ्य "चारयन्तौ विचेरतु"रित्यन्तं **षड्भिर्वत्सवधलीला**, इह सार्धपञ्च श्लोका एव अन्यत्र उपलभ्यन्ते तथापि "वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिता" इत्यर्धश्लोकेन षट् श्लोका भवन्ति, "स्वं स्वं वत्सकुल"मित्यारभ्य "ऐक्षन्त तृषितेक्षणा" इत्यन्तं **नवभिर्बकवधलीला**, "अहो बतास्य बालस्ये"त्यारभ्य "**मर्कटोत्प्लव-नादिभि**"रित्यन्तं **पञ्चभिर्ज्ञानलीला**, एवं **सप्त पदार्था** अस्मिन्नध्याये निरूपिता इति ऐश्वर्यादिषड्गुणयुक्तो धर्म्यत्राध्यायार्थ इति सङ्ख्यातात्पर्यं, **सर्वस्वं हरिरेवेती**ति **गोकुलस्थानां** सर्वस्वं हरिरेवास्ति यतोतः भगवदर्थं चिरकालस्थिति**स्थान**बृहद्वनत्यागो निरूप्यत इत्यर्थः, **वृन्दावने स्थिता**वित्यादि वृन्दावनगमने **भगवत्तोष** एव प्रयोजनं न तु प्रयोजनान्तरं गोकुलस्थानामस्तीति-ज्ञापनाय "वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृपे"**त्यनेन लीलोपयोगिपदार्थेषु** भगवत्**प्रीति**रुक्तेत्यर्थः, **स्थानत्यागे हरीच्छैवे**ति बृहद्वनस्य त्यागे हरेर्वृन्दावनाधिकरणकरमणेच्छैव **कारणमित्यर्थः, न तु दुष्टते**ति बृहद्वनस्य पूतनादिसमागमनजन्य**दुष्टता** बृहद्वनत्यागे न कारणमित्यर्थः, तत्र हेतुः **अत्रापि बकवत्सौ विनाशिता**विति, वृन्दावनेपि बकवत्सयोर्नाशनादिदं सूचितं, दैत्यागमनं तूभयत्र दैत्यानां नाशोत्युभयत्र, अतो न बृहद्वनं दुष्टं न वा वृन्दावनं दुष्टमिति, तर्हि बृहद्वनत्यागे को हेतुरिति चेत् **हरीच्छैवे**तिपूर्वमुक्तमेव ।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एकादशाध्याये **निरोधः सर्वभावेनेत्यादि** का० १०१३, १०२३ । पूर्वं सामान्यतः कारिकार्थः । उक्तोपि नन्दस्य निरोधो-स्मिन्नध्याये **पूर्वावस्थां** प्रपञ्चासक्तिं त्याज**यित्वा** विशेषतो निरूप्यत इत्यर्थः, एतदध्यायप्रतिपाद्यानर्थान् श्लोकसङ्ख्यानिरूपण-पूर्वकमाहुर्मोचनमित्यादि का० १०३३, १०४३ । "गोपा नन्दादय" इत्यारभ्य "विमुमोच हे"त्यन्तैः षड्भिर्मोचनं, "गोपीभिः स्तोभित"इत्यारभ्य"बालचेष्टितै" रित्यन्तैस्त्रिभिर्मुग्धलीला, "गोपवृद्धा" इत्यारभ्य "राममाधवयोर्नृपे"त्यन्तैः **षोडशभिः स्थानान्तरपरिग्रहः**, "एवं व्रजौकसा"मित्यारभ्य "चेरतुः प्राक्तनौ यथे"त्यन्तैश्च**तुर्भिस्तत्र** वृन्दावने **लीले**त्यर्थः, "कदाचिद्यमु-नातीर" इत्यारभ्य "चारयन्तौ विचेरतु"रित्यन्तैः **षड्भिर्वत्सबकज्ञीला**, इह लीलायां सार्धपञ्चश्लोका एव, अन्यत्र पुस्तके-षूपलभ्यन्ते तथापि "वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोपाः सुविस्मिता" इत्येवंश्लोकार्धं श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमैर्व्यासहार्दज्ञैः श्रीमदाचार्यवर्यैः पूरितमिति षट् श्लोका भवन्त्येव, "स्वं स्वं वत्सकुल"मित्यारभ्य"ऐक्षन्त तृषितेक्षणा" इत्यन्तैर्**नवभिर्बक-**वधलीला, "अहो बतास्य बालस्ये"त्यारभ्य "मर्कटोत्प्लवनादिभि"रित्यन्तैः **पञ्चभिर्ज्ञान**लीला, यद्यपि नन्दादीनां भगवद्ज्ञानं त्रिभिः श्लोकैरेवोक्तं, तथापि द्वाभ्यामुपसंहार इति पञ्च, एवं सप्तपदार्था अस्मिन्नध्याये निरूपिता इति ऐश्वर्यादिषड्गुणयुक्तो हरिर्धर्मी अध्यायार्थ इति सङ्ख्यातात्पर्यं, **स्वार्थं** त्विति का० १०४३ । परार्थाः पञ्च निरोधाः पूर्वमुक्ताः "यच्छृण्वतोपैत्यरति"रिति वाक्याच् छ्रोतॄणामरत्यादिनिवृत्त्यर्थमेव ते निरोधा इति परार्थत्वं, **स्वार्थं कार्यो** यो निरोधो लीलारूपः स **भगवाने**वातः सप्तधा उक्त इतिशेषः, **तथात्वमिति** कार्यस्य लीलारूपस्य भगवत्त्वं व्यवस्थापितमपि पुनः सङ्ख्यातात्पर्येण **ज्ञाप्यत** इत्यर्थः, स्थानत्यागे हेतुमाहुः **सर्वस्वमिति** का० १०५३ । **वृन्दावन** इत्यादि का० १०६३ । "वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृपे"त्यादिना **लीलोपयोगिपदार्थेषु** या **प्रीतिरुक्ता** सा पूर्वोक्त**ज्ञापनाये**त्यर्थः, **वत्सचारणे**त्यादि का० १०७३ । **वत्सचारणदोषस्य निवृत्तिरूपं वत्सासुरमारण**मित्यर्थः, अनीश्वरस्यैव कार्यं वत्सचारणमितीश्वरस्य तत्करणमनुचितमितिदोष-बुद्धिस्तन्मारणकथया निवार्यते, न ह्यनीश्वर एवम्भूतं ज्ञातुमेवं हन्तुं वा शक्तो भवत्यतस्तन्निवृत्तिः, किञ्च वत्साश्च **तच्चारणं** च तयोः सम्बन्धिदोषस्येत्यप्यर्थः, वत्सानां पशुत्वेन कण्टकशर्कराक्षेत्रप्रवेशहेतुभूतभाव एव दोषः, कण्टकादौ चारणजनितो-पराधश्चारणदोषः, स दोषस्तदाधिदैविकवत्सासुरमारणेन निवारित इति टिप्पण्यनुसारेणार्थः, दैत्यानां सामान्यतो दोषरूपत्वे प्रमाणं तु "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्वाक्यं, तत्तद्दैत्यानां तत्तद्दोषविशेषरूपत्वं तु कार्यसाम्याद् बोध्यं, यथात्रैव, **गोपाले**ति का० १०७३ । बकस्य दम्भात्मकत्वं कार्यसाम्यादवगन्तव्यं **स्थानत्याग** इत्यादि का० १०८३ । गोकुले पूतनाद्युत्पाता-गमदर्शनेन तत्त्यागे स्थान**दुष्टता न** कारणं किन्तु हरी**च्छै**वेति ज्ञापयितुमत्रापि वृन्दावनेपि **बकवत्सौ विनाशिता**वित्यर्थः, **अत** इत्यादि का० १०९३, १०९३ । **अतो** हरीच्छातः "अहो बतास्य बालस्ये"त्यादि श्लोकोक्तो **गोपानां विमर्शः**, "**रममाणाश्च** नाविन्दन् भववेदना"मित्यत्रोक्त **आनन्दश्च निरूपित** इत्यर्थः, **तदर्थमेव** नन्दादिनिरोधार्थमेव **हरेर्बालभावः, सम्पन्ने** त्विति नन्दादीनां निरोधरूपे फले सम्पन्ने सति **ततस्तस्य** बालभावस्य "कौमारं जहतुर्व्रजे"इत्यादिना **परित्यागो वर्ण्यत** इत्यर्थः ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

बृहद्वनात् समागत्य वृन्दारण्यमेकादशे । चारयन् वत्सकान् कृष्णोऽहनद्वत्सबकासुरौ ॥ १ ॥

'यावत्तौ गुह्यकौ स्तुतिं कुर्वन्तौ स्थितौ तावत्तच्छब्दो न केनापि श्रुत' इत्यपि भगवच्चरितमाश्चर्यमेव, 'तत्त्वया विश्व-सनीयम् । महतां तत्र विश्वास एव युक्त' इत्याशयेन सम्बोधयति—हे कुरुश्रेष्ठ इति । नन्दादयो गोपाः पततोः द्रुमयोः रवं शब्दं श्रुत्वा निर्घातो वज्रपातस्तद्भयेन शङ्कितचित्तास्तत्र तयोः पतनस्थाने आजग्मुरित्यन्वयः ॥ १ ॥ आगताश्च तत्र भूम्यां निपतितौ

यमलार्जुनौ ददृशुः । दृष्ट्वा च तत्पतनस्य कारणं लक्ष्यं प्रत्यक्षतः सिद्धमप्यविज्ञाय "कस्य राक्षसादेरिदं वृक्षपातनं कर्म ? कुतो वा कारणादिदं वृक्षपतनरूपमाश्चर्यं जातम्" इति वदन्तो 'अयं देवदैत्यादिकृतो भाव्यानिष्टसूचकः कश्चिदुत्पात' इति भयेन कातरा व्याकुलाः । सन्तो बभ्रमुः, निश्चयं न जग्मुरिति द्वयोरन्वयः । 'किं तत्कारणम्' इत्यपेक्षायामाह— उलूखलं विकर्षन्तं बालकमिति । उलूखलविकर्षणे हेतुमाह दाम्ना बद्धमिति ॥ २-३ ॥ 'तिरश्चीनं तिर्यक्पतितमुलूखलं विकर्षता वृक्षयोर्मध्यगतेनानेन कृष्णेन वृक्षौ पातिताविति वयमचक्ष्महि दृष्टवन्तः । न केवलमेतावत्, किंतु वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावपि दृष्टवन्त इति नन्दादीन् प्रति बाला ऊचुः' इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एकादशे प्राप्य वृन्दावनं वत्सांश्च पालयन् । बकवत्सावहृन्कृष्णः श्लोकाः सार्द्धा गजेषवः (५८॥) ॥
द्वे (२) उवाचेत्येकषष्टिरनुष्टुभ (६१) उदाहृताः ॥ ११ ॥

गोपा इति ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! नन्दादयो गोपाः पततोर्द्रुमयोः रवं शब्दं श्रुत्वा निर्घातो निरभ्रगर्जितरूपोत्पातस्तद्भयेन शङ्कितचित्ताः सन्तस्तत्र तयोः पतनस्थाने आजग्मुः ॥ १ ॥ भूम्यामित्यर्द्धम् ॥ आगताश्च तत्र भूम्यां निपतितौ यमलार्जुनौ ददृशुः ॥ २ ॥ बभ्रमुरिति सार्द्धम् ॥ दृष्ट्वा च तत्पतनस्य कारणं दाम्ना बद्धम् उलूखलं विकर्षन्तं बालकं लक्ष्यं लक्षयितुं शक्यं प्रत्यक्षतः सिद्धमप्यविज्ञाय कस्य राक्षसादेरिदं वृक्षपातनं कर्म कुतो वा कारणादिदमाश्चर्यं जातमिति वदन्तः अयं दैत्यादिकृतः कश्चिदुत्पात इति भयेन कातरा व्याकुलाः सन्तो बभ्रमुः निश्चयं न जग्मुः ॥ ३ ॥ बाला इति ॥ तिरश्चीनं तिर्यक्पतितं तिर्यग्गतमिति वा पाठः । उलूखलं विकर्षता वृक्षयोर्मध्यगेनानेन कृष्णेन वृक्षौ पातिताविति वयमचक्ष्महि दृष्टवन्तः । तथा वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावपि दृष्टवन्त इति नन्दादीन् प्रति बाला ऊचुः । यद्वा । अत्र विकर्षता मध्यगेनेत्यन्तमेव वाक्यं बाला ऊचुः । सम्भ्रान्तत्वेन पूर्णवचनाशक्तेरेतावुत्पाटितौ इति नोचुः । अविश्वसतस्तान् पुनरूचुः पुरुषावप्यचक्ष्महीति ॥४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीमेकादशेऽध्याय उलूखलबंधमोचनं क्रीडासक्तयोः श्रीकृष्णबलरामयोः मातृकृतसंबोधनं च वृंदावननिवसनं च वत्सासुरहननं चोच्यते पततोः पतमानयोः द्रुमयोर्वृक्षयोः रवं शब्दं निर्घातो मनुष्यघातस्तद्भयेन शंकिताः यद्वा निर्घातो विद्युत्पातो जात इति भयेन शंकिताः तत्रावृक्षपतनस्थाने ॥ १ ॥ लक्ष्यमितस्ततो दृश्यमपि शोधितमपीत्यर्थः । तत्पतनकारणं अविज्ञाय अबुद्धा बभ्रमुः ॥ २ ॥ तदविज्ञानं दर्शयन्नाह उलूखलमिति विकर्षं तं बालकं दृष्ट्वा कस्य राक्षसभूतप्रेतादेः इदं कर्म वा कुत इदं आश्चर्यं जातं इति परस्परमुक्त्वातत्कारणमविज्ञाय उत्पातभयेन कातराः ग्लानिं प्राप्ताः ॥ ३ ॥ वृक्षयोर्मध्यगेन तिर्यग्गतं वक्रतां प्राप्तमुलूखलं विकर्षता अनेन बालकेन इदं कर्म कृतं तदनंतरं द्रुमाभ्यां निर्यातौ दिव्यौ पुरुषावपि वयम् अचक्ष्म हि दृष्टवंत इति गोपान् बालाः ऊचुः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

वृन्दावनमुपेत्यैकादशेऽयो बालकैः समम् । हतौ वत्सबकौ वत्सांस्त्रायताऽनेन चासुरौ ॥ १ ॥

गोपा इति ॥ हे कुरुश्रेष्ठ, नन्द आदिर्येषां ते नन्दादयः गोपाः, पततोः पतमानयोः, द्रुमयोरर्जुनयोः, रवं कडडेति पतनकालीनं ध्वनिं, श्रुत्वा, निर्घातो वज्रपातस्तस्माद्यद्भयं तस्य शङ्का संजाता येषां तथाभूताः, किमयं वज्रपातोऽभवदित्येवं तर्कयन्तः सन्त इत्यर्थः । तत्र पतितार्जुनस्थाने, आजग्मुः ॥ १ ॥ भूम्यामिति ॥ तत्र आगत्य, यमलार्जुनौ, भूम्यां निपतितौ, ददृशुः । नन्दादय इति शेषः । तत् लक्ष्यं प्रत्यक्षतः पुरतो दृश्यमपि, पतनकारणम् अविज्ञाय, बभ्रमुः ॥ २ ॥ लक्ष्यं पतनकारणं दर्शयति ॥ उलूखलमिति ॥ उलूखलं विकर्षन्तं, दाम्ना बद्धं बालकं च, प्रत्यक्षं पतनहेतुं दृष्ट्वापीति शेषः । इदं कस्य राक्षसादेः कर्म स्यात् । इति कर्त्तृसंदेहः, कुतो वा कारणात्, इति निमित्तसंदेहः, आश्चर्यं जातमिदं, इत्युक्त्वा कातराः दीनाः सन्तः, उत्पातः इति निश्चित्य, बभ्रमुरिति शेषः ॥ ३ ॥ एवं बंभ्रम्यमाणांस्तान् प्रति तत्रत्या बाला ऊचुरित्याह ॥ बाला इति ॥ अहो किमिति यूयं भ्रमं कुरुध्वं इति शेषः । तिर्यग्गतं उलूखलं, विकर्षता मध्यगेन, अनेन कृष्णेन, एतौ पातिताविति शेषः । इत्येवं, बालाः, ऊचुः । न केवलमनयोरनेन पातनमेव कृतमित्यस्माभिर्दृष्टमपि तु, वृक्षाभ्यां निर्गतौ पुरुषावपि. अचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमित्यप्यूचुः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गोपा इति : १०. ११. १.

आगमभङ्गश्रुतिरिह सिद्धाभीरसकरा सुखस्थितिहृत । युक्तं भग्नागमभवरवभीविवशान्तरास्तदाऽऽसंस्ते ॥ १ ॥
निर्नाम निर्गुणमभाणि यदीयरूपं याभ्यां सदैव बहुसभ्यजनाश्चिताभ्याम् ।
दृष्टे सनामनि गुणिन्यपि तत्स्वरूपे सिद्धोऽर्थऽतो ननु तदागमभूरिभङ्गः ॥ २ ॥

भूम्यामिति : १०. ११. २.

यदागमस्थं सल्लक्ष्यं चक्षुषा ये दिदृक्षवः। सिद्ध एव भ्रमस्तेषां तदविज्ञानपूर्वकः॥ ३॥

सदङ्गनानारतनेत्रसक्तौ खलप्रसङ्गे च निपातहेतौ। लक्ष्येऽपि तेषामभवद्भ्रमो यः सकण्ठचामीकरवत्प्रसिद्धः॥ ४॥

बाला ऊचुरिति : १०. ११. ४.

मधुरं पीयूषादपि प्रमाणमाम्नायतोऽपि बालवचः। श्राव्यं श्रुतिसुखकरमिति शिष्टोक्तावेतदेव मानमभूत्॥ ५॥

खलगणमुलूकगणमिव हरिरिव हरिरिह गुणैरसंख्यातैः। दिग्भ्रमकलितं कुर्यादित्याम्रेडितवचोऽर्थ एष मुनेः॥ ६॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकाचार्यजीने कहा—कुरुवर्य परीक्षित्, नन्दबाबा प्रभृति गोपजनोंने जब गिरते हुए वृक्षों की कड़कड़ाहट सुनी, तो उन्हें बिजली गिरने का अथवा वज्रपातका सन्देह हुआ और वे सर्व भयभीत होकर वहाँ आ धमके॥ १॥ गोपजनोंने वहाँ यमलार्जुन को गिरा देखा, लेकिन वृक्षों के गिरने का कोई कारण न जान कर वे तर्क वितर्क करने लगे॥ २॥ यद्यपि गोपजनोंने ओखली में बँधे और उसे लुढ़काते हुए बालक कृष्णजी को तो नजरों से अवश्य देखें, फिर भी चकाचौंध होते हुए दुविधा में पड़ भयभीत हो, सोचने लगे कि यह किसका काम है और ऐसा क्यों हुआ! क्या कोई उत्पात तो नहीं होने वाला है॥ ३॥ वहाँ खेलते हुए बालकों ने कहा कि श्रीनन्दलाल ने टेढ़ी ओखली के धक्केसे बीचमें जाकर दोनों वृक्षों को गिराया है। वृक्षों के मूल से दो पुरुष निकले और उन दोनों ने कृष्ण से कुछ वार्तालाप भी किया॥ ४॥

न ते तदुक्तं जगृहुर्न [1]घटेतेति तस्य तत्। बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् संदिग्धचेतसः॥ ५॥
उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्। विलोक्य नन्दः [2]प्रहसद्वदनो विमुमोच ह॥ ६॥
गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् [3]बालकः क्वचित्। उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्॥ ७॥
बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः [4]पीठकोन्मानपादुकम्। बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन्॥ ८॥
दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्। व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥ ९॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—केचित् संदिग्धचेतसः तस्य बालस्य तत् तर्वोः उत्पादनं न घटेत इति ते तदुक्तं न जगृहुः॥ ५॥ दाम्ना बद्धं उलूखलं विकर्षन्तं स्वं आत्मजं विलोक्य प्रहसद्वदनः नन्दः ह विमुमोच॥ ६॥ गोपीभिः स्तोभितः तद्वशः मुग्धः दारुयन्त्रवत् बालकः भगवान् कचित् अनृत्यत् कचित् उद्गायति॥७॥ कचित् आज्ञप्तः स्वानां प्रीतिं आवहन् कचित् पीठकोन्मानपादुकम् बिभर्ति कचित् च बाहुक्षेपं कुरुते॥ ८॥ तद्विदां लोके आत्मनः भृत्यवश्यतां दर्शयन् भगवान् बालचेष्टितैः वै व्रजस्य हर्षम् उवाह॥ ९॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

केवलं तार्किकास्ते न जगृहुरेव अन्ये तु संदेहयुक्तचित्ता बभूवुरिति॥ ५॥ भगवन्मायाविमोहितस्य नंदस्य तत्राचरितमाह। उलूखलमिति॥ ६॥ ज्ञास्यंते मामिति शंकमानोऽतीव बाल्यमनुकरोति स्म तदाह। गोपीभिरिति। स्तोभितः करतालादिना प्रोत्साहितः॥ ७॥ इदमानयेत्याज्ञप्त आनेतुमसमर्थ इव बिभर्ति केवलं पीठादि। बाहुक्षेपं करचालनं च। तद्विदां चेति चकारान्वयः॥ ८॥ तदैश्वर्यं विदंति ये तेषाम्। एवं व्रजस्य हर्षमुवाहेति॥ ९–२०॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ते गोपाः। तदुक्तं बालोक्तमिति न जगृहुरिति किं तस्यातिबालस्य तत्प्रत्यक्षं तर्वोर्वृक्षयोरुत्पाटनं समूलयोर्भूमेर्निष्कासनं न घटेत संगच्छेत। तार्किकास्तर्कप्रधानाः। अन्ये तु तार्किकेतरे तु पूर्वकृतपूतनामारणशकटोच्चाटनादिना तस्मिन्ससंदेहा जाता अनेनैवैतत्कृतमुत्पाततो वा जातमिति द्विचित्ता बभूवुरिति भावः॥ ५॥ मायाविमोहितत्वाच्छोकं न चक्रे किं तु प्रहसन्मुखस्तमुलूखलात्पृथक् चकार। अहो किमर्थं बाल उलूखले बद्ध इत्येवं वदन्निति भावः "प्रहसद्वदनम्" इति पाठोपि विष्णुपुराणोक्तरीत्या श्रेयान् "नवोद्गतालपादंतांशुमितहासं च बालकम्" इति तस्य प्रकटहासश्च पितृतोपि शंकमानस्य तत्प्रसाद-

१. घटेदिति–गो. प्रे. टी.। २. प्रहसन्वन्धनाद्वि–इति कस्यचित्। ३. बालवत्–श्रीधर. वंशी.। ४. दारुकान्–इति कस्यचित्।

दर्शनेन स पुनः पितृसंतोषार्थं निजदुःखाभावबोधनाय जात इति तोषिणीकारः ॥ ६ ॥ ज्ञास्यंते मा अयं महत्पुरुषः साक्षाद-क्लिष्टकारित्वादिति गोपादयो बोधिष्यंते एतन्माभूदिति शंकमानस्तेषां प्रीत्यर्थमतीव बाल्यं बालभावम् । तद्बालभावम् । बालव-दित्युक्तेर्न तु स बालः किं तु सर्वकर्त्ता । मुग्धः सुंदरः । तद्वशो गोपीवशः । तद्वशत्वमेवाह ॥ ७ ॥ पीठकं काष्ठपीठम् । उ मानं प्रस्थम् । पादुकं पादपीठं पादरक्षणं वा ॥ ८ ॥ ऐश्वर्यम् ईश्वरभावम् । यद्वा—साक्षात्स्वयं भगवानेवैषावतीर्ण इति जानतां नारदादीनाम् । उवाह प्राप ॥९॥ अतः परं प्रक्षिप्तः पाठोऽस्ति गोपवृद्धा महोत्पाता नित्यतोर्वाक् अतो न व्याख्यायते ॥१०-२०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

न जगृहुः श्रीनन्दादयः ममतार्द्रचित्तत्वात् । केचित्पूतनादिनाशाल्लब्धव्याप्तिना तर्केण किञ्चित् कर्कशायमानचित्ता विप्रा अपि स्वाभाविकममतार्द्रत्वेन सन्दिग्धचेतस एव बभूवुः । ततश्चागन्तुकेनाश्चर्यकरेण तत्प्रभावज्ञानेन तेषामपि स्वाभाविक-स्नेहवृद्धिरेव जाता लवणाकरस्य रसान्तरेणापि लवणरसवृद्धिवदिति भावः । तद्वृत्तं च स्नेहभरेणातिबालत्वस्यैव मननात् सन्देहनिरासार्थं साक्षात्तमेव ते किल न पप्रच्छुरिति बोद्धव्यं किं वा स्नेहभराकुलतया प्रश्नेष्यशक्तेः ॥ ५ ॥ श्रीनन्दस्य वात्सल्य-प्राबल्यमाह—उलूखलमिति । उलूखलमित्यादेः पुनरुक्तिर्विशेषतः श्रीनन्दस्य तादृशलीलादर्शनाय तथोलूखलाकर्षणेन पुत्रस्वा-स्थ्यतद्बलाधिक्याद्यनुमानात् प्रहर्षबोधनार्थं तथापि विलोक्येति साङ्गप्रत्यङ्गविशेषेण दृष्ट्वेत्यर्थः । बद्धस्य भीतस्य बालस्योल्ला-सनार्थं प्रहसद्वदनः सन् पुत्रस्य बन्धनदृष्ट्या महावृक्षपातादनिष्टशङ्कया च श्रीयशोदां प्रत्यन्तः क्रोधाद्वदनेत्युक्तिः प्रहसद्वदनमिति द्वितीयान्तपाठो वा तथा च श्रीविष्णुपुराणे "नवोद्गताल्पदन्तांशुसितहासं च बालकम्" इति तस्य प्रकटहासश्च पितृतोपि शङ्कमानस्य तत्प्रसाददर्शनेन स पुनः पितृसन्तोषार्थंनिजभयदुःखाभावबोधनाय च जातः विशेषता उलूखलाद्दाम्नश्च मुमोच द्वितीयबन्धनस्योलूखलगतस्य प्रथममोचनीयत्वात् ह हर्षे एवं श्रीयशोदाया बन्धनक्षमतावन्मोचनक्षमतया श्रीनन्दस्यापि तादृशत्वं दर्शितम् । अत्र च बन्धनदाम्नां बाहुल्यं तैः प्रेमावेशेनैव न सम्भालितमिति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ न केवलमसौ परमस्निग्धाया मातुः पितुश्चैवं प्रेमवशतामापन्नः अपि त्वन्यासां गोपीनाम् अपीति दर्शयन्नतिप्राक्तनबाल्यचरितमाह—गोपीभिरिति द्वाभ्याम् । प्रायो जरतीभिः भगवान् अखिलैश्वर्यसम्पूर्णोपि बालवत् अन्यो बालो यथा तद्वदिति तत्प्रेमरसवशबाल्यलीलाभिनिवेशेन निजैश्वर्य्यविस्मृतिः सूचिता बालक इति पाठे बाल्यलीलानुरूपमेव तदिति भावः । क्वचिदित्यस्य मुग्ध इत्यनेनाप्यन्वयः अति-बालत्वेन नृत्यादिकं किञ्चिदजानन् कचिन्मुग्धभावमपि दर्शयतीत्यर्थः । यद्वा, नृत्यादौ सर्वत्र सर्वथा मनोरम इत्यर्थः । तथा नृत्यादौ हेतुः दारुयन्त्रं सूत्रसञ्चारादिशिल्पतो नृत्यादिपरा पुत्रिका तद्वत्तासां वशः अधीन इति ॥ ७ ॥ बाहुक्षेपं भुजौ मुहुरुत्थाप्य पराक्रमदर्शनं न केवलं तत्र तासामेव सुखं जातम् अपि तु गोपमात्राणामित्याह—स्वानां ज्ञातीनाम् अविशेषेण तासां गोपजातीनामित्यर्थः । स्वानां च प्रीतिमावहन्निति पाठस्तेषां सम्मतः तद्विदां चेति चकारस्यान्वयः इति व्याख्यानात् ॥८॥ आनुषङ्गिकं प्रयोजनमाह—दर्शयन्निति । तदैश्वर्यमेव विदन्ति न तु भृत्यवश्यतां ये तान् साक्षात् बोधयन्नित्यर्थः । अत्र भृत्य-शब्दस्तदैश्वर्यमात्रदर्शिनां भवानुवादेन स्वानामिति तु श्रीभगवतः अन्याभिरपीदृशीभिर्बाल्यलीलाभिर्व्रजजनानां सर्वेषामप्यानन्दं सदाऽकरोत् इत्याह व्रजस्येति वै प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

न जगृहुः श्रीनन्दादयः, स्नेहभराक्रान्तचित्तत्वात् । केचित् पुरोहितादयः, कदाचित् कथञ्चित्तेषु तदैश्वर्य्यस्यापि परिस्फुर्त्तेस्तथापि न तेषां प्रेमभरो हीयते, प्रत्युत तयासौ वर्द्धतैवेति ज्ञेयम्, यथा खाण्डवाग्नेः परिवृद्धस्य सतो मेघवृष्टिरपि न निर्व्वापणे शक्तः केवलं घृतासारवद्वृद्धिहेतुतामेव प्राप्नोति, यद्वा, तस्मिन् सदा तेषां महाबलिष्ठविविधाश्चर्य्यमयतया बुद्धेरिति दिक् । तत्वृत्तञ्च स्नेहभरेणातिबालत्वस्यैव मननात् सन्देहनिरासार्थं साक्षात्त्वमेवेति किल न पप्रच्छुरिति बोद्धव्यम्, किंवा स्नेहभराकुलतया प्रश्नेऽप्यशक्तेः, किंवा बाल्येन तस्योक्तावप्यविश्वासादिति दिक् ॥ ५ ॥ उलूखलमित्यादेः पुनरुक्तिर्विशेषतः श्रीनन्दस्य तादृशलीला-दर्शनात्, तथोलूखलाकर्षणेन पुत्रस्वास्थ्य-तद्बलाधिक्याद्यनुमानाच्च । प्रहासहेतुप्रहर्षबोधनार्थं स्वं स्वीयमात्मजमौरसं पुत्रम्, यद्वा, स्वं निजधनरूपमात्मजमिति स्नेहभरविषयत्वमुक्तम् । विशेषेण तत्सर्व्वांगनिरीक्षणपूर्व्वकं लोकयित्वा बाल्यलीला-विशेषदर्शनाच्च प्रहसद्वदनः सन् पुत्रस्य बन्धनदृष्ट्या महावृक्षपातादनिष्टशंकया च श्रीयशोदां प्रत्यन्तः-क्रोधादुद्वदनेत्युक्तिः । 'प्रहसद्वदनम्' इति द्वितीयान्तपाठो वा, तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।६।२०)—'नवोद्गताल्पदन्तां-शुसितहासञ्च बालकम्' इति । तस्य प्रकटहासश्च श्रीनन्दसन्तोषार्थं निजभयदुःखाभाव बोधनाय । विशेषत उलूखलाद्दाम्नश्च मुमोच । ह हर्षे ॥ ६ ॥ एवं भक्तवश्यतां प्रदर्शयन् परम-स्निग्धाया मातुः पितुश्च सुखविशेषं विस्तार्य्य श्रीगोपीनां परमानन्दं व्यतनोदित्याह—गोपीभिरिति द्वाभ्याम् । प्रायो जरतीभिर्भगवानखिलैश्वर्य्यसम्पूर्णोऽपि बालवदन्यो बालो यथा तद्वदित्यत्यन्त-बाल्यलीलाभिनिवेशेन निजैश्वर्य्य-विस्मृतिः सूचिता । बालक इति पाठे बाल्यलीलानुरूपमेव तदिति भावः । ततश्च भगवानिति नृत्यादौ नैपुण्यविशेषस्तेन चैश्वर्य्यविशेष एव सूचितः, यद्वा, बालानां कं सुखं यस्मात् स इति वयस्यानामपि सन्तोषार्थमिति

भावः। क्वचिदित्यस्य मुग्ध इत्यनेनाप्यन्वयः,—नृत्यादिकं किञ्चिदजानन्निव कदाचिन्मुग्धभावमपि दर्शयतीत्यर्थः, यद्वा, नृत्यादौ सर्व्वत्र सर्व्वथा सुन्दरो मनोरम इत्यर्थः। तथा नृत्यादौ हेतुः—दारुयन्त्रं तासामेव क्रीड़ोपकरणं तद्विद्योपजीविनां वा दारुनिर्म्मिता सूत्रसञ्चारादिशिल्पतो नृत्यादिपरा पुत्तलिका तद्वत्तासां वशोऽधीन इति ॥ ७ ॥ तत्प्रयोजनमाह—स्वानां श्रीगोपीनां किंवा ताभिर्नर्त्तनादि-बाल्यलीलया निजभक्तानां सर्व्वेषामेव प्रीतिमानन्दं प्रेमाणं वा सम्यगुच्चैः प्रापयन्निति, स्वानाञ्चेति पाठस्तेषां सम्मतस्तद्विदाञ्चेति चकारस्यान्वय इति व्याख्यानादत्र काश्चिद्बालाः काश्चिच्च वृद्धा इति गोपीत्वेन सर्व्वा अप्येकत्रोक्ताः ॥ ८ ॥ प्रयोजनान्तरमाह-दर्शयन्निति। तद्विदां तं भगवन्तं विदन्तीति भक्तानामेवाहं वश्यो नान्येषामिति ज्ञानपरान् प्रति साक्षादवबोधयन्नित्यर्थः। अयमपि प्रीत्युद्वहने हेतुविशेषो द्रष्टव्यः। एवं भक्तिमाहात्म्यप्रदर्शन एव तात्पर्य्यं-मुख्यम्। अन्याभिरपीदृशीभिर्बाल्यलीलाभिर्व्रजजनानां सर्व्वेषामेवानन्दं सदाऽकरोदित्याह व्रजस्येति। वै प्रसिद्धमेवेति। तानि किं विस्तार्य्य कथयितव्यानीति भावः। एवं विविधबहुलाद्भुतबाल्यचेष्टितान्यन्यान्यपि सन्तीति सूचितम्। तत्साकल्याकथने सिद्धान्तः प्रागुक्त एव ॥ ९ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

विमुमोच दामबन्धादमोचयत् ॥ ६ ॥ स्तोभित उपच्छन्देन उद्योगं प्रापितः दारुयन्त्रवत् तद्वश इत्यन्वयः ॥ ७ ॥ उन्मानं प्रस्थादि ॥ ८ ॥ उवाह आवहत् ॥ ९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमुक्तानां तेषां मध्ये केचित् केवलतार्किका इदं न घटेत इति वदन्तः तद्बालकैर्भाषितं न जगृहुर्न विश्वसितवन्तः अन्ये तु बालस्य बालकर्तृके तर्वोरुत्पाटने सन्दिग्धं संशययुक्तं चेतो येषां तथा बभूवुः ॥ ५ ॥ अथ भगवन्मायामोहितस्य नन्दस्याचरितमाह—उलूखलमिति। प्रहसद्वदनं यस्य स नन्दो विलोक्य तं दामबन्धादमोचयत् ॥ ६ ॥ अथ भगवतः कांश्चिद्बा-ल्यानुकारप्रकारान् दर्शयति—गोपीभिरिति। कचित् स्तोभितः उपच्छन्दनेनोद्योगं प्रापितः करतलादिना प्रोत्साहितो वा उद्गायति सति गोपीजनः इति शेषः। दारुयन्त्रवद्दारुनिर्मितपाञ्चालिकावत्तद्वशगः गोपीवश्यः मुग्ध इवानृत्यत् नृत्यन्निति पाठे तद्वशः गोपीजनवशगस्सन् नृत्यन्नुद्गायति ॥ ७ ॥ कचिदाज्ञप्त आनयेति नियुक्तः पीठकादिकमानेतुमसमर्थ इव बिभर्त्ति उवाह पीठकं विष्टरम् उन्मानं प्रस्थादि, पीठभाजनपादुकमिति पाठे भाजनं कांस्यादिपात्रं तथा बाहुक्षेपं भुजचलनं कुरुते, किङ्कुर्वन् ? गोपीनां प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥ तद्विदां भगवद्वैभववेदिनां भक्तवश्यतां च दर्शयन्नेवं बालचेष्टितैः व्रजस्य व्रजस्थजनस्य हर्षमुवाहावहत् ॥ ९ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तदुक्तं बालोक्तम् ॥ ५-७ ॥ उन्मानं प्रस्थं पादुकं पादपीठं पादरक्षणं वा ॥ ८ ॥ तद्विदां भगवानेवायमवतीर्ण इति जानतां नारदादीनाम् ॥ ९-१० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तेषु परमवात्सल्यस्वभावा न जगृहुः ॥ ५ ॥ श्रीव्रजेश्वरस्य परमवात्सल्यचेष्टामाह—उलूखलमिति। विलोक्येति साङ्गप्रत्यङ्गविशेषेण दृष्ट्वेत्यर्थः। प्रहसद्वदन इति बालस्य भीतस्य भयहानार्थं प्रहसद्वदनमेव यस्य सः अन्तस्तु स्वयमप्युद्विग्न इत्यर्थः। द्वितीयान्तः पाठो वा तस्य तेजस्वित्वस्वभावादेव ॥ ६ ॥ अन्यासामपि गोपीनां तस्मिन् प्रेमवश्यतां दर्शयन् प्राचीन-बाल्यलीलामाह—गोपीभिरिति द्वाभ्याम् ॥७॥ बाहुक्षेपं भुजौ मुहुरुत्थाप्य पराक्रमदर्शनं तत्र सर्वेषां गोपानामप्यानन्दमुदाहरति स्वानां ज्ञातीनां गोपजातीनामित्यर्थः। अतएव ये केचिद्वृद्धभृत्या आसन् तेषामपि वश्यत्वेत्यर्थः॥८॥ आनुषङ्गिकं प्रयोजनमाह-दर्शयन्निति। केवलं गोपजातीनामेव प्रीतिमुदावहदित्याह व्रजस्येति तद्वासिनः सर्वस्यैव ॥ ९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

(१-५) अथ एवम्बिधं द्रुमपातनमालोक्य व्रजराजो विस्मितः सन् यदकरोत्तदाह-उलूखलं विकर्षन्तमित्यादि। प्रहसद्वदन इत्यस्यायं भावः। अहो यशोदाया असमीक्षकारिता, यदल्पीयस्यपराधेऽपि ईदृशस्यापि दुर्ललितस्य ईदृशं बन्धनम्। अथवा, अस्यैवेदं कर्म, सत्यमेवाहुर्बालकाः। यदस्य प्रभावो गर्गेण वर्णितोऽस्ति, तदयं महापुरुष एवेति प्रहसद्वदनत्वम् ॥ ६-५८ ॥

इति श्री दशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

(१-५) उलूखलं विकर्षन्तमित्यादि । प्रहसद्वदन इत्यस्यायं भावः–अहो यशोदाया असमीक्ष्यकारिता, अस्यापीदृशं बन्धनमल्पीयस्यपराधे यया कृतम् ! अथवा, अस्यैवेदं कार्यम्, न मृषा वदन्ति शिशवः, यदयं परमप्रभावः, गर्गेणोक्तत्वात् ॥ ६ ॥ तद्वशो दारुयन्त्रवदिति । एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचरेतिवत् भक्तवशतैव तस्यैश्वर्यम् ॥ ७-५८ ॥

इत्येकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ते नन्दादयः तस्मिन्ममतार्द्रचित्तत्वात् तत्प्रभावाननुसन्धानात् तदुक्तं बालोक्तं न जगृहुः केचिदन्ये तु नारायणसमो गुणैरिति गर्गोक्तिस्मृत्या स्वाभाविकप्रेमोदयेन च सन्दिग्धचेतस एव बभूवुः ॥ ५ ॥ विलोक्य विशेषेणाङ्गप्रत्यङ्गनिर्बाधं दृष्ट्वा प्रहसद्वदन इति मत्क्रोडादपि यस्याः क्रोडं त्वमतिप्रियं मन्यसे सा त्वज्जननी त्वामल्पापराधेनैव बध्नाति स्म तत्त्वामहं कथं मोचयामीत्युपालम्भनद्योतकः प्रहासः त्वं माययैव जीवानां बन्धमोक्षौ यथा व्यधाः तथा त्वत्पितरौ तौ ते प्रभो प्रेम्णैव चक्रतुः ॥ ६ ॥ पित्रोस्तयोः सौभाग्यमहिमा केन वक्तुं शक्यस्तदीयव्रजवासिमात्रस्याप्यतिमात्रवश्यो ब्रह्मादिवशीकर्त्तापि कृष्ण इत्याह—सार्द्धत्रयोदशभिः । स्तोभितः यदि नृत्यसि तदा तुभ्यं खण्डलड्डुकं दास्यामीति प्रोत्साहितः बालवत् यथान्यः प्राकृतो बालस्तद्वदेवेत्यर्थः । मुग्धस्तासां प्रेम्णैव निजैश्वर्याननुसंधानात् दारुयन्त्रं सूत्रप्रोतपुत्तलिका ॥ ७ ॥ पीठकेति कियदस्य बलमभूदिति जिज्ञासुभिः प्रथमं हे कृष्ण ! पादुकामानयेति ततस्ततोऽधिकभारमुन्मानमानयेति ततस्ततोऽप्यधिकभावं पीठकमानयेत्याज्ञप्त आदिष्टस्तत्तदानयन् बिभर्त्ति स्वमृदुलजठरोपरीत्यर्थः । बाहुक्षेपं तत्र तत्र कर्मणि भुजौ मुहुरुत्थाप्य स्वपराक्रमदर्शिनां स्वानां ज्ञातीनाम् ॥८॥ न केवलं ज्ञातीनामेव अपि तु सर्वेषामेव व्रजवासिनां प्रीतिप्रदो वश्यत्वादित्याह–दर्शयन्निति । तद्विदां तदैश्वर्य्यविज्ञान् ब्रह्मादीनिति नैतदनुकरणत्वेन व्याख्येयम् ॥ ९-१० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदुक्तं बालैरुक्तं न जगृहुः केचित्तु सन्दिग्धचेतसः शकटपरिवर्तनेऽपि बालैरयमेव हेतुरुक्तोऽतोस्यैवेदं कर्म न वेत्यादिसंशययुक्तं सन्दिग्धं चेतो येषां ते आसन् ॥ ५ ॥ श्रीनन्दस्तु "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" इत्यादि गर्गवाक्यं संस्मृत्य प्रहसद्वदनः स्वबालकं विमुमोच ह दामबन्धादमोचयत् ॥ ६ ॥ स्तोभितः प्रोत्साहितः ॥ ७ ॥ क्वचिदिदमानयेत्याज्ञप्तः पीठकादिकं बिभर्त्ति केवलं न तु आनेतुं शक्नोति तत्र पीठकं विष्टरम् उन्मानं धान्यादिपरिमाणनिश्चायकं प्रस्थादि बाहुपेक्षेपं करचेष्टाविशेषं चकाराच्चरणमुखादिरुचिरचेष्टाविशेषांश्च कुरुते ॥ ८ ॥ इत्थं बालचेष्टितैः व्रजस्य व्रजस्थजनसमूहस्य हर्षमुवाह अवहत् किंकुर्वन् भक्तिवशः पुरुष इति वेदे आत्मनो भक्तवश्यता विदां लोकेऽपि तामात्मनो भृत्यवश्यतां दर्शयन् ॥ ९-१९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ते नन्दादयस्तेषां बालानामुक्तं न जगृहुः तस्य बालस्य तत्तर्वोरुत्पाटनं न घटेतेति तद्वात्सल्यभावेन तदैश्वर्यज्ञानस्यावृतत्वात्, केचित्तु पूतनादि विनाशाल्लब्धव्याप्तिनानुमानेनास्यैवेदं कर्म भवेदिति सन्दिग्धचेतसो बभूवुः तेन तन्नन्दिमज्ञानेनाप्युक्तयुक्त्या वात्सल्यभावस्य वृद्धिरेवाभूदिति बोध्यम् ॥ ५ ॥ विलोक्य तदङ्गानि निर्बाधान्यालोक्येत्यर्थः । बद्धस्य भीतस्य सूनोरुल्लासाय प्रहसद्वदनः सन् । यद्वा मदुत्सङ्गादपि यस्या उत्सङ्गं श्रेष्ठं मन्यसे सा त्वन्माता अल्पेनैवापराधेन त्वामबध्नात्तदहं कथं त्वां मोचयामीत्युपालम्भाय तादृशः सन्नित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं त्वन्मातापित्रोर्व्रजेशयोः सौभाग्यभरमुक्त्वा तत्प्रजानां व्रजौकसामाह गोपीभिरिति । सार्धत्रयोदशभिः, ताभिर्वृद्धाभिः स्तोभितो नृत्यसि चेत् सशर्करं नवनीतं दास्याम इति प्रोत्साहितः भगवान् पूर्णषड्ऐश्वर्योऽपि विधिरुद्रादिवशी कर्त्तापि दारुयन्त्रवत् सूत्रप्रोतदारुपुत्तलिकावत्तद्वशः क्वचिदनृत्यत्, बालवत् यथान्यः प्राकृतो बालस्तत्तुल्यः क्वचिदुदगायति स्म । मुग्धः सर्वत्र नृत्यादौ मनोज्ञः "मुग्धः सुन्दरमूढयो"रिति विश्वः ॥ ७ ॥ कियदस्य बलमभूदिति जिज्ञासुभिराज्ञप्तः प्रथमं पादुकामानय ततोऽधिकभावमुन्मानं ततोऽधिकभावं पीठकं चेत्यादिष्टस्तत्तदानयन् बिभर्त्ति स्वमृदूरोपरि धारयतीत्यर्थः । बाहुक्षेपं भुजौ मुहुरुत्थाप्य स्वबलदर्शनं च कुरुते तेन स्वानां ज्ञातीनां च प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥ न केवलं ज्ञातीनामेवापि निखिलानां व्रजौकसामित्याह दर्शयन्निति । वै प्रसिद्धौ तेन किं कुर्वन्नित्याह त्वद्विदां तत्पारमैश्वर्यज्ञानां विधिहरादितामात्मनो भक्तवश्यतां दर्शयन्निति नेदमनुकरणमिति भावः ॥ ९ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तर्वोर्बालस्योत्पाटनं तस्य तत्र घटत इति केचित्तदुक्तं न जगृहुः । असम्भावितमनृतगिर एत इति न स्वीचक्रुः । केचित्पूतनादिघातस्मृतिमन्तो दृष्ट्वैतन्निषेद्धृकाः सन्दिग्धं चेतो येषां ते तथाऽभवन् ॥ ५ ॥ प्रहसद्वदनं यस्य सः किमिदं

सुदती व्यदादिति नन्दो मन्दं हसन्नन्दनं विमुमोचामोचयत्। हेत्यनेन जगद्बन्धकस्येव मोचकस्य बन्धं तथा मोचनं चोपजहास व्यास इति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ स्तोभितो वञ्चित इव नर्तनं कुरु कर्तरित्युक्तावनृत्यन्ननर्त। नृत्यन्निति शत्रन्तपाठे तथा सन्नुद्गायतीत्यन्वयः। तद्वशो गोपीवशो दारुयन्त्रवत्काष्ठमयनियम्यपुत्तलिकादिवन्मुग्धः किञ्चिदजानान इव॥७॥ पीठकं चोपवेष्टव्य-फलकमुन्मानं मापकवैणवं प्रस्थादिकम्। पादुका दारुमयोपानत्। अथ पादुका पादूरुपानत्स्त्रीत्यमरः। पादुकं सर्वो द्वन्द्व इत्येक-वद्भावः। जातिरप्राणिनामिति पीठकादीनां समाहारो वा। स्वानां ज्ञात्यादियोषिताम् ॥ ८ ॥ तद्विदां स्वस्वरूपज्ञानिनां नारदादीनां लोके स्वस्य भक्तवश्यतां दर्शयन् बालचेष्टितैर्व्रजस्य तद्गतजनव्रजस्य हर्षमुद्वाहयन्प्रवहन्तं तन्वन्बाहुक्षेपं च कुरुत इत्यतीतेनान्वयः ॥ ९ ॥

श्रीसुबोधिनी

तदुभयमपि तैर्नाङ्गीकृतमित्याह **न ते तदुक्तं जगृहुरिति, ते** गोपा **बालकोक्तं** न सत्यमिति गृहीतवन्तस्तत्र हेतुर्न घटेतेति, **तस्य बालकस्य तर्वोरुत्पाटनं** सर्वथा युक्तिबाधितं, **केचन** पुनरार्द्रनैयायिकाः **सन्दिग्धचेतसो** जाताः, शकटतृणावर्त-योर्भङ्गदर्शनात्, न तु तेषामपि कश्चन निर्धारः ॥ ५ ॥ नन्दस्तु सन्दिग्धोपि तं विचारं दूरीकृत्य मोचितवानित्याहोलूखलमिति, तदानीमपि **विकर्षन्तमिति** शीघ्रमोचने हेतुः, **दाम्नाबद्धमिति** मोचने निमित्तं, **स्वमात्मजमिति** स्वस्यैवावश्यकत्वं, **स्वमिति** व्याकुलतापरिज्ञानार्थं, स्वपदप्रयोगात् भगवद्भावं प्राप्त इतियुक्तिरपि, तेषामज्ञानं न तेषां बुद्धिदोषेण किन्तु भगवतैव कार्यत इति, **प्रहसद्वदन** इति धौर्त्यस्मरणात्, तस्यापि ज्ञानाभावस्त्वनेनोक्तः, विशेषेण मोचनं सर्वासामेव रज्जूनां पृथक्करणं, हेत्याश्चर्यं, स्वबन्धनं तेन मोचितमिति भगवल्लक्षणो बन्धो भगवतैव मोचयितुं शक्यते नान्येनेत्यत इदमाश्चर्यमेव ॥ ६ ॥

गोपीनां वशभावं प्राप्तस्य भगवतो लीलामाह **गोपीभिरिति**त्रिभिः।

विद्योपजीविनां सेवां येनैव च सुखं भवेत्। राजसीं तामसीं लीलां सात्विकीं च चकार ह ॥ १ ॥

तत्र प्रथमं राजसीं लीलामाह, गोपिकाः प्रत्येकं स्वस्वगृहं नीत्वा 'नृत्यं कुरु भगवँल्लड्डुकानि दास्यामी'त्युक्तो नृत्यति, तत्रापि **स्तोभितः** 'कृष्ण एव सम्यङ् नृत्यं जानाति कर्तुं न राम'इत्युक्तः, **स्तोभा** शून्यप्रशंसा यथा स्तोभाक्षराणि भभभेति, तथा **गोपी**भिर्यथाकथञ्चित् स्तुतो नृत्यन् नृत्यं करोति, लडर्थे लङ्, तत्रापि नृत्ये न प्राकृतवन् नृत्यति किन्तु यथा तण्डुर्यथा वा पार्वती, ततोपि सहस्रगुणमत्यन्तं नृत्यति, तदनुचितं, किं पामराणां स्थाने तथानृत्येनेति ? तदाह **भगवानिति**, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो न ह्यन्यथा नृत्यं कर्तुमर्हति, तर्हि तासामग्रे नार्हत्येवेति चेत् तत्राह **बालकः** क्वचिदिति, क्वचिद् वा गोकुले स्वस्य बालभावं प्रदर्शितवानिति, **बालवदिति** पाठे क्वचिद् भगवान् शास्त्रानुसारेण नृत्यति क्वचिद् **बालवत्** केवलं देहपादचालनमात्रं करोति मुग्धभावख्यापनाय, ततोपि कयाचित्'कृष्ण गाये'त्युक्त **उद्गायति,** उच्चैस्तूर्णीं गानं करोति यथा सर्वासां हास्यं भवति, अथवा कचिदूर्ध्वं गायति यथाशास्त्रं **क्वचिन्मुग्धो** शास्त्रमपि **बालवत्**, किञ्च नृत्यगानयोर'प्येवमुत्था-यैवमुपविष्ट एवं सुप्तो गानं कुर्वि'त्युक्तस्तथैव गायतीत्याह **तद्वशो दारुयन्त्रवदिति**, गोपिका**वशो** भूत्वा **दारु**पुत्रिकावन् नृत्यति गायति च ॥ ७ ॥ लीलान्तरमाह **बिभर्तीति**, सर्वत्र **क्वचिदितिपदेन** कचित् करोति कचिन्न करोतीति ज्ञातव्यं, अन्यथा तथा-स्वभावं आश्चर्यं न स्याद् बहुधा प्रार्थनं च, क्वचिदाज्ञप्तः 'पीठमानयोन्मानं तण्डुलादिमानपात्रमानय **पादुके** दारुमये आनये' त्युक्तः केवलं **बिभर्ति** न तूत्थापयितुं शक्नोति, अशक्तिभावनां च करोति यथा प्राकृता बालाः कुर्वन्ति, एकवद्भावः स्थूले सूक्ष्मे प्रशस्ते निन्दिते तुल्यत्वज्ञापनार्थः किञ्च **बाहुक्षेपं च कुरुते,** 'मया सह मल्लयुद्धं कुर्वि'त्युक्तो बाहुविस्फोटनं करोति, चकारादुपर्यति पतति, बलाविर्भावेन तं चालयतीव, ननु किमित्येवं करोति ? तत्राह **स्वानामिति, येन** कारणेन तेषु **स्वत्वं** सम्पादितं तेनैव **प्रीतिमुद्वहन्** यावतैव तेषां प्रीतिर्भवति, न त्वधिकं करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥ लीलाद्वयं विशेषतो निर्दिश्य सामान्यतः सर्वामेव लीलां सङ्क्षेपेणाह **दर्शयन्निति, बालचेष्टितैर्भगवान् व्रजं हर्षयामास,** व्रजे यावद्विधा प्राणिनस्तेषामपि यथायथा हर्षो भवति, स च हर्षस्तेष्वेव तिष्ठति सोपि स्थितः पुष्टो भाररूपो भवति तदा तेषां वहनाशक्तौ तेषां **हर्षं भगवानुवाह,** तदपि न विषयत्वेन किन्तु करणत्वेनेत्याह **बालचेष्टितैरिति**, ननु बालचेष्टाः फलपर्यवसायिन्यो न भवन्ति स्वरूपत एव परं मोहे सुखज-निकास्तत् कथं तादृशे हर्षे करणता ? तत्राह **भगवानिति**, यावतानुपपत्तिः परिहृता भवति तावान् धर्मो **भगवच्छब्दाद्** ग्राह्यः, ननु किमेवं प्राकृतानामत्र स्थितानां वैकुण्ठमनीत्वा स्वयमागत्य विपरीतभावेन तथाकरणे प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **तद्विदां** भगवत्स्वरूपविदामात्म**नो भृत्यवश्यतां दर्शयन्निति**, यतस्ते **भृत्या** भरणीयाः स्वेनैव न केवलं प्रदर्शनमात्रपरत्वं, तथा सति कापट्येनापि स्यादित्याह **वै** निश्चयेनेति, **आत्मन** इत्यनेन **वश्यताबोधः** परिहृतः, ये त्वज्ञास्ते व्यामोहिता एव ये जानन्ति तेषां ज्ञानस्य भक्त्युपयोगः, तत्तदनुसारिणोपि तत्त्वेनैव ग्राह्या इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ९ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

दर्शयंस्तद्विदामित्यत्र, व्रजे यावद्विधा इत्यारभ्य **भगवानुवाहे**त्यन्तम्। इदमत्राकूतम्। प्रभुपुत्रत्वेन सर्वेषां यथेच्छं भगवति व्यवहर्तुमशक्यत्वे सति यदि भगवांस्तत्तद्भावानुरूपं तेषु स्वयं न व्यवहरेत्तदा रूपचेष्टादिभिर्भगवदाश्लेषादिविषयक

उत्कट उत्पन्नो भावः स्वविषयमप्राप्य को वेद किं कुर्यादतस्तथाकरणमावश्यकम्। इमे एवं वहनाशक्ताविहने उक्ते। भगवता यत्रकुत्रचित्तथाकरणे तेषां च सर्वसमक्षं यथेच्छं करणे बालत्वेनैव लोकाविगानमपि। इदमेव बालचेष्टितैरित्यनेनोक्तम्। किञ्च। परम्पराहर्षजनन एवेयं व्यवस्था यत्र, तत्र साक्षात्स्वरूपेण येषु तज्जननं तेषां रीतिः कथं वक्तुं शक्यतेत्याशयेन बालचेष्टितैरित्यस्याभासमाहुः **तदपी**त्यादि। करणस्य व्यापारत्वेन बालचेष्टितानामेवात्र तथात्वम्। यत्र स्वरूपमेवासक्तिहेतुस्तत्र साक्षात्तज्जननमिति ज्ञेयम्॥ ९॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

प्रहसद्वदन इत्यत्र **ज्ञानाभाव** इति यशोदापराधभगवत्स्वरूपज्ञानयोरभावः, किमाश्चर्यमित्यत आहुः **स्वबन्धन**मिति, **स्व**पदस्यात्मजपदविशेषणत्वे भगवांस्तदभावे **नन्द**श्चार्थः, तत्र **नन्द**पक्षे **भगवल्लक्षणो बन्ध** इति भगवतो लक्षणानि चिह्नानि यस्मिंस्तादृशो मायारूपो **बन्धो** "मामेवे"त्यादि वाक्यात् स तु **भगवतैव मोचयितुं शक्यते** न तु स्वयमित्याश्चर्यमित्यर्थः, भगवत्पक्षे भगवल्लक्षणो बन्ध इति भगवद्रूप इत्यर्थः, अतस्तद्रूपं तिरोधाय तन्मोचनरूपेणाविर्भूतवानितिभावः। स्वस्य स्वमोचने हेतुमप्याहुः **स्वपदे**त्यादि, 'स्वमपीतो भवती'त्यादिश्रुतौ 'स्व'शब्दस्य भगवद्वाचकत्वेन सिद्धत्वादत्र तत्प्रयोगात् तथेति, तथा चास्मिन् पक्षे प्राप्त इत्यस्याध्याहारो बोध्यः, स च 'यो नन्दः परमानन्द' इति श्रुत्युक्ताधिदैविकरूपप्राप्त्या युज्यते, तदेतन् मनसिकृत्य **गोपीभि**रित्यादेरवतारणमाहुस्तेषामित्यादि, तथा च यदि तद् भगवत्कार्यं न स्यात् तदा लीलासक्तचित्तः शुको न वदेदतो लीलास्थेषु तादृशाज्ञानतत्कार्यादिदर्शनेन लोकसाधारणबुद्धिर्न कार्येति भावः, एतावता मूलाविद्यानिवृत्तिः सूचिता॥६॥ **गोपीभि**रित्यत्र **विद्योपजीविनां सेवा**मिति तत्तद्विद्योपजीविनां सम्बन्धिनी या **सेवा** नृत्यगीतादिरूपा तामेव लीलां लीलात्वेन चकारेतिरूपकं, तथाकरणे हेतुर्येनेति, भक्तानामितिशेषः, **तण्डु**रिति ताण्डवनृत्यप्रवर्तयिता, अन्यथेत्यशास्त्रीयम्॥ ७॥ **बिभर्ती**त्यत्र बलेत्यादि, महान्तमपि तं तथावक्तारं स्वबाल्यानुरूपबलाविर्भावेन हस्तद्वयेन धृत्वा चालयतीवेत्यर्थः॥ ८॥ **दर्शयन्नि**त्यत्र व्रजे **यावद्विधा** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुस्तथात्वमिति करणत्वं, **तज्जनन**मिति हर्षजननं, सुबोधिन्यां **विपरीतभावेने**तीश्वरभावत्यागेन, समाधिं व्याकुर्वते **यत** इत्यादि, तथा च 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ती'तिश्रुतेर्भरणमेव प्रयोजनं, एतावदकरणे सम्यगत्र तदनिष्पत्तेरित्यर्थः, नन्वीश्वरस्यान्यवश्यता 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुतिं विरुणद्धीत्यत आहु**रात्मन** इत्यादि, तथा च वश्यत्वेपि साहजिकस्वातन्त्र्यानपायात् 'यो लोकत्रयमाविश्ये'ति वाक्याच्च स दोषः परिहृत इति न श्रुतिविरोध इत्यर्थः, ननु लोकानां तथा न भासत इति कथं परिहृत इत्युच्यते तत्राहुर्ये **त्वज्ञा** इत्यादि, अज्ञा इत्यासुराः, **ज्ञानस्ये**ति भक्तिवश्यताज्ञानस्य, आधुनिकानां सतामसतां च सङ्ग्रहायाहु**स्तत्त**दित्यादि, तथा च ये यन्मार्गानुसरणं करिष्यन्ति तथैव तेनुग्राह्यास्त्याज्याश्चेत्यर्थः, **किञ्चि**दिति भक्तीयं शास्त्रीयं लौकिकं च दर्शनं, अग्रिमप्रकरणतात्पर्योक्तावेतत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**राधिदैविक** इत्यादि॥ ९॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

उलूखलमित्यत्र **भगवल्लक्षण** इति भावे ल्युट् ज्ञेयः, भगवतो लक्षणं पूर्णत्वेन ज्ञानं येनेतिविग्रहः, भक्तवश्यत्वासाधारणधर्मज्ञापको भगवत्कर्मक इत्यर्थः, "मामेव ये प्रपद्यन्त" इत्यत्र एवकारादन्यकर्मको भगवत्कर्तृकोपि मायाकरणको बन्धो नान्येन मोच्यः किमुत भगवत्कर्मक इत्यवधारणार्थमेवकारः॥६॥ **गोपीभिः स्तोभित** इत्यत्र **विद्योपजीविना**मिति भगवदीयनृत्यगानविद्यां उपजीवन्ति तदाशया तद्भावनया वा जीवन्ति ते विद्योपजीविनस्तेषां **सेवा येन** चरित्रेण **भवेत्** सिध्येत् तच् चकार, **स्वस्वगृहं नीत्वे**तिकथनात् तेषां तादृश एव समये सेवावसरात्, अतस्तच्चरित्रं प्रथमश्लोकार्थ इत्यर्थात्, **येन सुखं भवेत्** तच् चकार, अतस्तच् चरित्रं द्वितीयश्लोकार्थः, चकारादयमेव तृतीयस्याप्यर्थः, **स्तोभाक्षराणी**ति निरर्थकाक्षराणीत्यर्थः, यद्यपि छान्दोग्ये हाऊकारादयस्त्रयोदश स्तोभा उक्तास्तत्र लोकादिदृष्टिरुक्ता तथापि तद्दृष्ट्योपासनमात्रं न तु स शब्दार्थ इतिज्ञेयं, अलौकिकलङ्प्रयोगेण नृत्येप्यलौकिकत्वं ज्ञाप्यते इत्याशयेनाहुः **तत्रापी**ति, **तदनुचित**मिति अलौकिकनृत्यस्य फलं स्वरूपानन्दः यथा रासे तावदधिकाररहितानां स्थाने तेन नृत्येन किं फलं सिध्यत्यतोनुचितमित्यर्थः, **षड्गुणैश्वर्ये**ति गुणपुरस्कारेण लीलां चिकीर्षति तदा तादृशः, **अन्यथा** लौकिकप्रकारेण **नृत्यं कर्तुं नार्हत्य**तो गुणस्वभावादेव तथेत्यर्थः, **तर्ही**ति गुणपुरस्कारे तु विचार्यैव कार्यं करोतीति सुतरामनधिकारिस्थाने तन् नार्हतीत्यर्थः, **बालभाव**मिति बालो ह्यविचार्य करोति, तद्भावस्यापि स्वीकारात् तावदंशे तथेतिभावः॥ ७॥ **दर्शयन्नि**त्यत्र मूले **हर्षमुवाह** सम्पादयामासेत्यर्थ इत्याशयेनाहुः **हर्षयामासे**ति, हर्षं सम्पादयामासेत्यर्थः, इदमेव विवृण्वन्ति **व्रज** इत्यारभ्योवाहेत्यन्तेन, **हर्षो भवती**ति आश्लेषादिविषयको भावो हर्षस्तत्रासक्तिरितियावत्, भवति, तथा इष्टरूपं चेष्टाश्च कटाक्षादिरूपाः करोतीतिशेषः, **वहनाशक्ता**विति विषयसम्पादनाशक्त्या तादृशहर्षसम्पादनाशक्तावित्यर्थः, **हर्ष**मिति तं **हर्षमुवाह** सम्पादयामास विषयसम्पादनेनेतिशेषः, आश्लेषादिना तत्प्रकारयुक्तस्वरूपविषयिणीमासक्तिं सम्पादितवानित्यर्थः, **तदपी**ति आसक्तिसम्पादनमपि स्वरूपस्य विषयत्वसम्पादनेन न,

किन्तु बालचेष्टितरूपव्यापारपुरस्कारात् करणत्वसम्पादनेनेत्यर्थः, **बालचेष्टितैरिति** व्यापारे तृतीयेतिज्ञेयं, चेष्टितानां व्यापारत्वात् यत्र चेष्टितानपेक्षा तत्र स्वरूपस्य हेतुत्वमात्रं न तु करणत्वं व्यापारवत्त्वाभावादितिभावः, **फलपर्यवसायिन्य** इति शृङ्गाररसानुभाविका इत्यर्थः, **तत्** कथमिति **तत्** तस्मात् फलपर्यवसानाभावे तज्जन्यजनकत्वाभावेन बालचेष्टितानां व्यापारत्वाभावात् तद्वत्त्वेन स्वरूपस्योक्ता तादृशहर्षे करणता **कथं** सम्भवतीत्यर्थः, **यावतेति** भगवत्त्वाद् बालचेष्टितानामपि फलपर्यवसायित्वमित्यर्थः, **प्राकृतानामिति** अनिवृत्ताध्यात्मिकाविद्यानामित्यर्थः, **अत्रेति** सर्वसमक्ष इत्यर्थः, **वैकुण्ठमिति** अन्तरङ्गलीलायोग्यं रहःस्थलमित्यर्थः, वश्यताबोधनं प्रयोजनं ज्ञेयं, तद्वशस्तावत्प्रतीक्षया स्थातुमशक्त इतिभावः, कारिकासु **निवारणमिति** अद्येतिपदेन सुमुहूर्तापेक्षाभावज्ञापनेन कालापेक्षाया निवारणं नवमश्लोकार्थ इत्यर्थः, **रतिस्तत्रेति** सर्वेषामितिशेषः, **हरेः परा रतिरन्तिमश्लोकार्थः** ॥ ९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

प्रहसद्वदनो विमुमोच हेत्यस्य विवृतौ हेत्याश्चर्यं स्वबन्धनं तेन मोचितमिति "कृपयासीत् स्वबन्धन" इति शुकवाक्ये स्वपदाद् भगवान् स्वस्वरूपात्मकेन बन्धनेन बद्ध इतिनिरूपितं, ततश्च स्वरूपात्मात्मकबन्धनान् मोचनं आश्चर्यजनकमेवातो हेत्युक्तमित्यर्थः, तदेवाहु**र्भगवल्लक्षणः** इत्यारभ्य **इदमाश्चर्यमेवे**त्यन्तेन, **स्वपदप्रयोगादिति** "दाम्ना बद्धं स्वमात्मज"मिति **स्वपदप्रयोगात्** स्वशब्दस्यात्मात्मीयोभयवाचकत्वेन प्रकृते उभयोरप्यर्थयोरुपयोगात् स्वस्वरूपमात्मजमित्यर्थे सिद्धे नन्दस्य भगवदभेदसिद्धौ भगवता भगवतो मोचनं युक्तमेवेत्यर्थः, तदेवाहुः **भगवद्भावं प्राप्त इतियुक्तिरपीति**, नन्वात्मजपदं शुकेन कथं भगवत्युक्तं आत्मजपदस्य पुत्रवाचकत्वे देहजन्यत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् प्रकृते तदभावादित्याशङ्क्याहुः **तेषामज्ञानं न तेषां बुद्धिदोषेणे**त्यादि, **तेषां** नन्दादीनां हरौ यदात्मजत्वज्ञानजन्यं पुरुषोत्तमत्वा**ज्ञानं** तत् तु **न तेषां बुद्धिदोषेण** किन्तु लीलार्थं **भगवतैव कार्यत** इति भगवल्लीलारूपत्वात् तेषां व्रजवासिनां बुद्धिमादायात्मजपदं शुकेनोक्तमतो न दोष इति भावः ॥ ६ ॥ **गोपीभिः स्तोभित** इत्यत्र **विद्योपजीविनामि**त्यादि परोक्षवादेन ये केचन व्रजभक्ता भगवन्नृत्यगीतादिरूप**विद्योपजीविन**स्तत्रासक्ता **इतियावत्**, ते विद्योपजीविनस्तेषां **सेवा** तत्कर्तृका सेवेत्यर्थः, सा सेवा **येनोपायेन भवेत्** तादृगुपायरूपां राजस्यादि**लीलां चकारे**त्यर्थः ॥ ७ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

गोपीभिः स्तोभितो नृत्यन्नित्यत्र **विद्योपजीविनामि**त्यादि का० ११०३। भगवदीयनृत्यगानविद्यामुपजीवन्ति तदाशया तद्भावनया वा जीवन्ति ते **विद्योपजीविन**स्तेषां **सेवा येन** चरित्रेण **भवेत्** तत् चरित्रं चकारेति **प्रथमश्लोकार्थः**, **येन सुखं भवेत्** तच् चकारेतिद्वितीयश्लोकार्थः, चकारादयमेव तृतीयश्लोकार्थः, **राजसीमिति** श्लोकत्रयोक्तानां लीलानां क्रमेण राजसतामससात्त्विकत्वं विवक्षाभेदेन बोध्यं, गानं राजसं पीठकादिधारणं तामसं अन्यत् सात्त्विकम् ॥ ११०३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र ये गोपाः केवलं तर्कनिष्ठास्ते 'तस्य बालस्येदृशोस्तर्वोरुत्पाटनं न घटेत' इति तर्केण तदुक्तं तैर्बालैर्यदुक्तं तन्न जगृहुः नाङ्गीकृतवन्तः। केचित्तु पूतनातृणावर्तादीनां भङ्गस्य दृष्टत्वात् 'इदमपि तस्यैव कर्म भवेद्वा न वा' इति सन्दिग्धं चेतो येषां तथाभूता बभूवुः ॥ ५ ॥ तत्र भगवत्कृपापात्रस्य स्नेहातिशययुक्तस्य नन्दस्य चरितमाह—उलूखलमिति। दाम्नोलूखले बद्धम्, अत एव उलूखलं विकर्षन्तं स्वं स्वकीयमात्मजं पुत्रं विलोक्य प्रहसद्वदनो नन्दस्तं विशेषेण स्नेहपरवशः शीघ्रं मुमोचेत्यन्वयः। नच "तस्मिन् भयसमये कथं प्रहासः सम्भवति ?" इति शङ्क्यम्। तद्धौर्त्यस्मरणेन, कुशलीदर्शनेन वा, यदाकदाचिन्नन्दो भगवन्तं स्वसमीपमाह्वयति तदा यशोदायां स्नेहाधिक्यात् तां त्यक्त्वा नायाति, अधुना तु तया बद्ध इति 'यस्यां त्वं बहुस्नेहं करोति तयैव त्वं बद्धोऽसि, अहमेव त्वां विमोचयामि' इत्युपालम्भाभिप्रायेण वा, भीतं मत्वा भयनिवृत्त्यभिप्रायेण वा, प्रहाससम्भवात्। 'ह' इत्याश्चर्यम्। जगतो बन्धविमोचकस्यापि बन्धनं नन्देन विमोचितमित्याश्चर्यमेव ॥ ६ ॥ यमलार्जुनभङ्गं दृष्ट्वा उत्पातशङ्कया व्याकुलचित्तानां तद्विस्मृत्यर्थमतीव बाल्यमनुकरोति स्म तदाह—गोपीभिरिति। स्तोभितः 'अयमेव सम्यक् नृत्यं जानाति, नान्य' इत्येवं तत्समक्षं परस्परमुक्त्वा 'हे' कृष्ण ! त्वं नृत्यं कुरु, तुभ्यं लड्डुकनवनीतादिकं दास्याम' इत्येवं वचनेन हस्ततालादिना च प्रोत्साहितो भगवान् ऐश्वर्यादिगुणपूर्णोऽपि तद्वशस्तासां प्रेमवशः सन् प्राकृतबालवत् कचिदनृत्यत्। तथैव गानार्थं गोपीभिः स्तोभितः कचित् मुग्धवत् अज्ञवत् उद्गायति उच्चैः 'यथा तासां हास्यहर्षादिकं स्यात्तथा' गायति स्म। तद्वशवर्तित्वे दृष्टान्तमाह—दारुयन्त्रवदिति। काष्ठनिर्मितपुत्तलिकावदित्यर्थः ॥ ७ ॥ लीलान्तरमाह–बिभर्तीति कचिद्बलपरीक्षार्थं गोपीभिः 'पीठकमानय' इत्याज्ञप्तस्तदानेतुमसमर्थ इव केवलं बिभर्ति हस्ताभ्यां गृह्णाति, न तूत्थापयति। गुरुत्वादेतदानेतुमशक्तश्चेत्तदा, ततो लघु 'उन्मानं तण्डुलादिमानपात्रमानय' इत्याज्ञप्तस्तदपि केवलं बिभर्ति। तदा ततोऽपि लघु 'पादुकमानय'

इत्याज्ञप्तस्तदपि केवलं बिभर्ति । इत्येवमत्यन्तमसामर्थ्यं प्रकटयति । किंच 'मया सह युद्धं कुरु' इत्युक्तो बाहुक्षेपं बाहुविस्फोटनादिकं च कुरुते । एवं लीलायाः प्रयोजनमाह—स्वानामिति । स्वानां व्रजभक्तानाम्, चकारादन्येषामपि द्रष्टृश्रोतृवक्तॄणां प्रीतिमावहन् सम्पादयितुमित्यर्थः ॥ ८ ॥ एवं तत्प्रीतिसम्पादनप्रयोजनमाह—दर्शयन्निति । लोके ये तद्विदः फलसाराभिज्ञास्तेषां वै निश्चयार्थमात्मनो भृत्यवश्यतां दर्शयन् भगवान् बालचेष्टितैर्व्रजस्य व्रजस्थजनस्य हर्षमुवाह अकरोत् ॥ ९ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

न ते इति ॥ तत्र ये केचित्तर्कनिष्ठा गोपास्ते तस्य बालस्येदृशोस्तर्वोरुत्पाटनं न घटेतेति तर्केण तदुक्तं तैर्बालैर्यदुक्तं तन्न जगृहुर्नाङ्गीकृतवन्तः । केचित्तु पूतनातृणावर्त्तादिनाशं श्रीकृष्णकृतं संस्मृत्य "नारायणसमो गुणैः" इति गर्गोक्तिं वा संस्मृत्य इदमपि कृष्णस्यैव कर्म भवेद्वा इति संदिग्धचेतसो बभूवुः ॥ ५ ॥ उलूखलमिति ॥ दाम्नोलूखले बद्धमत एव उलूखलं विकर्षन्तं स्वं स्वकीयमात्मजं पुत्रं विलोक्य प्रहसद्वदनो नन्दस्तं विशेषेण स्नेहपरवशः शीघ्रं मुमोच । नन्दस्य प्रहासस्तु तादृग्भयेऽपि कृष्णं निर्भयं प्रहसन्तं च दृष्ट्वा ॥ ६ ॥ गोपीभिरिति ॥ यदि त्वं नृत्येस्तर्हि लड्डुकानि दास्याम इत्यादिवचनेन हस्तालादिना च गोपीभिः स्तोभितः प्रोत्साहितो भगवान् तद्वशस्तासां प्रेम्णा वशः सन् प्राकृतबालवत् क्वचिदनृत्यत् । तथैव गानार्थं गोपीभिः स्तोभितः क्वचिन्मुग्धः मुग्ध इव सुन्दरो वा । भगवान् दारुयन्त्रवत् काष्ठनिर्मितपुत्तलिकावत् तद्वशो गोपीवशः सन् उद्गायति उच्चैः यथा तासां हास्यहर्षादिकं स्यात्तथा गायति स्म ॥ ७ ॥ बिभर्त्तीति ॥ क्वचिद्गोपीभिरिदमानयेत्याज्ञप्तः पीठकादि आनेतुमसमर्थ इव केवलं बिभर्ति तत्रापि आदौ पीठकं तदसक्तौ उन्मानं मानपात्रं प्रस्थादि तदशक्तौ पादुकां काष्ठमयीम् इति ज्ञेयम् । समाहारद्वन्द्वोऽयम् । स्वानां व्रजभक्तानां चकारादन्येषामपि द्रष्टृश्रोतृवक्तॄणां प्रीतिमावहन् सम्पादयितुम् । हेतौ शता । युद्धारम्भाभिनयं कुर्वन् बाहुक्षेपं भुजास्फोटनादि कुरुते स्म ॥ ८ ॥ दर्शयन्निति ॥ लोके ये तद्विदः तदैश्वर्याभिज्ञास्तेषां वै निश्चयार्थमात्मनो भृत्यवश्यतां दर्शयन् भगवान् बालचेष्टितैर्व्रजस्थजनस्य हर्षमुवाह अकरोत् ॥ ९ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नेति ते गोपाः तदुक्तं तैर्बालैरुक्तं वचनं न जगृहुः कुतस्तस्य बालस्य तर्वोर्द्रुमयोर्यदुत्पाटनं तन्न घटेत इति हेतोः तेषां मध्ये केचित्संदिग्धचेतसः संदिग्धं संदेहयुक्तं चेतोंतःकरणं येषां तथाभूताऽभवन् ॥ ५ ॥ प्रहसद्वदनं यस्य ॥ ६ ॥ गोपीभिः स्तोभितः त्रुटिकरतालादिभिः प्रोत्सादितः मुग्धः अपटुः सन् ॥ ७ ॥ आज्ञप्तः आनयेत्युक्तः उन्मानं प्रस्थान्नादिमानकर्तृकाष्ठपात्रम् ॥ ९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

न त इति ॥ एवं बालैरुक्तानां तेषां मध्ये ये केचित् केवलतार्किकाः, ते तु तस्यास्य बालस्य, तर्वोः उत्पाटनं, न घटेत वै । इत्युक्त्वा, तदुक्तं बालैर्यदुक्तं तदित्यर्थः । न जगृहुः । बालवाक्यं न विश्वसितवन्त इत्यर्थः । केचिदन्ये तु, बालवाक्ये संदिग्धं संशययुक्तं चेतो मनो येषां तथाभूताः, बभूवुः ॥ ५ ॥ अथ भगवन्मायामोहितस्य नन्दस्याचरितमाह ॥ उलूखलमिति ॥ नन्दः, उलूखलं विकर्षन्तं, दाम्ना बद्धं, स्वमात्मीयं आत्मजं, बालं विलोक्य, प्रहसद्वदनं यस्य तथाभूतः, सन्, ह स्फुटं यथा तथा, विमुमोच दामबन्धादमोचयत् ॥ ६ ॥ अथ भगवतः कांश्चिद्बाल्यानुकारप्रकारान् दर्शयति ॥ गोपीभिरिति ॥ क्वचित् कदाचित्, भगवान् कृष्णः, गोपीभिः, स्तोभितः उपच्छन्दनेनोद्योगं प्रापितः, करतालादिना प्रोत्साहितः सन् वा, बालवत् अनृत्यत् । क्वचित्, गोपीजने इति शेषः । उदुगायत्युच्चस्वरेण गानं कुर्वति सति, तद्वशो गोपीजनवश्यः सन्, मुग्धः संश्च, दारुयन्त्रवत् काष्ठनिर्मितपाञ्चालिकावत्, अनृत्यत् ॥ ७ ॥ बिभर्त्तीति ॥ क्वचित् कृष्णः, आज्ञप्तः इदमानयेति गोपीभिर्नियुक्तः सन्, पीठकं विष्टरं च उन्मानं प्रस्थाद्युन्मानपात्रं च पादुका च तत्समाहारं, बिभर्त्ति आनेतुमसमर्थ इवोवाहेत्यर्थः । क्वचित्, बाहुक्षेपं भुजचालनं निषेधसूचकमूर्द्धीकृतहस्तधूननमित्यर्थः । स्वानां प्रीतिं, आवहन् सन्, कुरुते । चकारद्वयमेवं कृत्वा निजैश्वर्यच्छन्नतावबोधकम् ॥ ८ ॥ दर्शयन्निति ॥ लोके तद्विदां भगवद्वैभववेदिनां, आत्मनः भृत्यवश्यतां स्वभक्तानां वशंगतत्वं, दर्शयन्, भगवान् बालचेष्टितैः, व्रजस्य व्रजवासिजनस्य, हर्षमानन्दं, उवाहाप्रापयत् वै ॥ ९ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विलोक्य नन्द इतिः १०.११.६.

सदागमस्थो देवेशो दृश्यस्तस्याप्रयत्नतः । यस्तद्गुणेक्षणो भूयात्तत्र नन्दो निदर्शनम् ॥ ७ ॥

मातेव बन्धनोद्युक्तो नाहमस्मीति बोधयन् । सनन्दस्तद्द्वयोच्छित्त्यै प्रहसद्वदनोऽभवत् ॥ ८ ॥

सर्वेषामविशेषतोऽसि भगवन् त्वं बन्धनोन्मोचकस्तत्राऽहं तु पिता तवेति न मनागत्रार्थनापेक्षणम् ।
आस्तामेतदथापि सम्प्रति मया त्वं तादृशोऽपि प्रभो बन्धान्मोचित इत्यसूचयदसौ किं वा सहासाननः ॥ ९ ॥

सदानन्दस्वभावो यत् परबन्धविमोचनम् । नात्र चित्रं तदा नन्दः स्वात्मजाते तथाऽकरोत् ॥ १० ॥

मात्राकृतादात्म्यबन्धान्मोचयेद् यः कृपानिधिः । स चाचार्यः पितैवास्मिन्निति नान्यैरकारि तत् ॥ ११ ॥

अन्य एव मम बन्धको भवत्यन्य एव मम मोचकोऽपि च । न स्वतोऽस्ति मम बन्धनं न वा मुक्तिरित्यकृत स स्फुटार्थकम् ॥१२॥

गोपिभिरिति : १०.११.७.

बद्धः सन्नेव जीवोऽस्मिन् क्रीडत्येवमहं पुनः । मुक्तः सन्निति वैचित्र्यं स्वं तदूर्ध्वमदर्शयत् ॥ १३ ॥

तावत् स्वकर्मकलितोऽप्यवभाति बन्धो यावन्न चैक्षि गुरुणा करुणाक्षिणाऽस्मिन् ।
दृष्टे तु तत्क्षणमपस्मृतबन्धभावः स्वैरं व्रजे विहरतीत्यकृत स्फुटं सः ॥ १४ ॥

दर्शयन्निति : १०.११.९.

सौख्यं भक्तिभृतां भविष्यति यया तामेव बाल्यच्छलाल्लीलामाकलये न तत्र गणये मानापमानौ क्वचित् ।
इत्थं स्वस्य सदा स्वभक्तवशतां सार्वांशिकीं बोधयन् मन्ये गोप्यनुशासनेन विदधे क्रीडामसौ तन्मुदे ॥ १५ ॥

आधायात्मनि तत्त्वदृष्टिमचलां संत्यज्य चाहङ्कृतिं स्वैरं वृत्त्यनुरोधतो विहरणं यत्संसृतौ निर्भयम् ।
जीवन्मुक्तदशाऽपि सैव गदितेत्याराात् परान् बोधयन् मन्ये गोप्यनुकूल एव भगवांस्तादृक्तदाऽऽसीद् व्रजे ॥ १६ ॥

कृष्णप्रिया

यह सुनकर उन गोप लोगों को बालकों की बात पर विश्वास न जमा। वे आपस में कहने लगे कि एक नन्हा सा बालक इतने बड़े पेड़ गिरा दे यह कभी शक्य नहीं। किसी-किसी ग्वालबाल को चित्त में नन्दलाल के पूतना वध, बक नाश आदि प्रसङ्गों के स्मरण से बालकों की बातों पर विश्वास भी आ रहा है ॥ ५ ॥ नन्द बाबा ने जब देखा कि प्राणप्यारे लालन रस्सी से बँधे हुए ओखली घसीटते जा रहे हैं तब हंसते मुखवाले बाबा ने शीघ्र समीप पहुँच कर रस्सी को खोल दिया ॥६॥ कभी-कभी फुसलाती ग्वालिनें कहती लालन् आप तो बहुत अच्छा नृत्य करते हो तब भगवान् उनके ताली बजाने पर साधारण बालक के समान नृत्य करने लगते। कभी किसी गोपीने कहा कि बाबा आप तो अच्छा गाते हो बस उनके वशीभूत बनकर कठपुतली की तरह भगवान् मुग्ध अनजान बालक की तरह उच्च स्वर से गान करने लगते थे। मान लीजिये कि परमेश्वर भगवान् हाथ की पूतली जैसे परवश हो गये थे ॥ ७ ॥ कभी कोई कहे कि लालन् पीढा, पसेरी, खडाऊँ ले आयिए, तो तुरन्त उसे ले आते परंतु उस तरीके उठाते मानो उनके लाने उठाने में भारी श्रम होता हो। कभी कोई कहे आइये और मेरे साथ मल्लयुद्ध कीजियें तब पहलवानों की तरह ताल ठोकने लगते और प्रियजनों को आनन्द प्रदान करते ॥ ८ ॥ इस प्रकार पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् अपनी निर्दोष लीलाओं से व्रजजनों को प्रमुदित करते और जो ज्ञानी जन भगवान की महिमा को जानते हैं उनको भगवान् अपनी भक्तवश्यता दिखलाते हैं ॥ ९ ॥

([1]क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः । फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः[2] ॥ १० ॥

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् । फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥ ११ ॥

[3]सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् । रामं च रोहिणी देवी [4]क्रीडन्तं बालकैर्भृशम् ॥ १२ ॥

नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ । यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥ १३ ॥

क्रीडन्तं सा[5] सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् । यशोदाजोहवीत्[6] [7]कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥ १४ ॥

---

१. "क्रीणीहि" श्लोकादारभ्य "नीत्वा स्ववाटं" श्लोकपर्यन्ताः एकादशश्लोकाः सुबोधिन्यां न सन्ति ।

२. फलवत्त्वे हि धान्यानि मया नीतानि भूरिशः । गृह्णीष्व तव मानेन मानयत्वं फलानि मे ॥
फलविक्रयिणी तस्य वचश्श्रुत्वा महात्मनः । आयान्तमरविन्दाक्षं करिपोतमिवागतम् ॥
प्रेक्षमाणा मुहुः फुल्लैः नयनैरच्युतं तदा ।-अर्धपञ्चकमिदं क्वचिदधिकं दृश्यते ।

३. फलानीमानि सर्वाणि गोपीभ्योऽप्यवदात्प्रभुः । वयस्यैर्व्रजवीथ्यां स क्रीडन्सर्वफलप्रदः ॥
उत्तिष्ठन्तौ प्रस्खलन्तौ चरन्तौ रामकेशवौ । पद्भ्यां गन्तुं शक्नुवन्तौ कथञ्चित्तद् व्रजाङ्गणे ॥
इदं सार्धचतुष्टयं क्वचिदधिकं दृश्यते ।

४. क्रीडन्तौ-विज. । ५. स्वसुतं-विज. । ६. चाह्वयत्-वीर. । ७. द्वीक्ष्य-विज. ।

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब । अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः[1] [2]क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ॥ १५ ॥
हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन । प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति ॥ १६ ॥
प्रतीक्षते त्वां [3]दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः । एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः ॥ १७ ॥
धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह । [4]जन्मर्क्षमद्य [5]भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ॥ १८ ॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते [6]मातृमृष्टान् स्वलंकृतान् । त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः ॥ १९ ॥

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम् ॥ २० ॥)

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भोः फलानि क्रीणीहि ! इति श्रुत्वा सर्वफलप्रदः अच्युतः फलार्थी धान्यम् आदाय सत्वरं ययौ ॥ १० ॥ फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयं फलैः अपूरयत् फलभाण्डं च रत्नैः अपूरि ॥ ११ ॥ रोहिणी देवी सरित्तीरगतं भग्नार्जुनं बालकैः भृशं क्रीडन्तं कृष्णं च रामम् अथ आह्वयत् ॥ १२ ॥ आहुतौ पुत्रकौ क्रीडासंगेन यदा न उपेयातां रोहिणी पुत्रवत्सलां यशोदां प्रेषयामास ॥ १३ ॥ पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी सा यशोदा अतिवेलं बालैः सहाग्रजं क्रीडन्तं सुतं कृष्णं अजोहवीत् ॥ १४ ॥ हे कृष्ण हे कृष्ण हे अरविन्दाक्ष हे तात एहि स्तनं पिब विहारैः अलं क्षुत्क्षान्तः असि हे पुत्रक क्रीडाश्रान्तः असि ॥ १५ ॥ हे राम ! हे तात ! हे कुलनन्दन ! सानुजः आशु आगच्छ भवान् प्रातः एव कृताहारः तत् भोक्तुं अर्हति ॥ १६ ॥ हे दाशार्ह भोक्ष्यमाणः व्रजाधिपः त्वां प्रतीक्षते एहि आवयोः प्रियं धेहि बालकाः ! स्वगृहान् यात ॥ १७ ॥ पुत्र ! धूलिधूसरिताङ्गः त्वं मज्जनं आवह अद्य भवतः जन्मर्क्षं शुचिः विप्रेभ्यः गाः देहि ॥ १८ ॥ मातृमृष्टान् स्वलंकृतान् ते वयस्यान् पश्य पश्य त्वं च स्नातः कृताहारः स्वलंकृतः विहरस्व ॥ १९ ॥ नृप ! स्नेहनिबद्धधीः यशोदा अशेषशेखरं तं सुतं मत्वा सहरामम् अच्युतं हस्ते गृहीत्वा स्ववाटं नीत्वा अथ उदयं कृतवती ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पुनरौत्सुक्यातिशयेन तासां किञ्चिदाह—क्रीणीहीति सार्द्धदशभिः । यद्यप्येते श्लोकास्तैर्नादृतास्तथाऽपि पुस्तकेषु दृश्यमानत्वाच्चिच्छुखेन तु किञ्चिद्व्याख्यातत्वात्तत्त्ववादिभिश्च धृतत्वात् रसमयत्वाच्च व्याख्यास्यन्ते, अत्र बहुत्र नानापाठत्वे नानाक्रमत्वे सत्यपि गौडादिदेशीयत्सम्प्रदायदृष्ट्या क्रमपाठविशेषौ ध्रियेते तत्र स्वानां प्रीतिदातृत्वं किं वर्णनीयम् ? अहो तद्दूरवाससम्बन्धेन पुलिन्दजातीनामपीत्याह द्वाभ्याम्-"क्रीणीहि भोः ! फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः । फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥ अच्युतः परिपूर्णसर्वार्थोऽपि फलमात्रार्थी सर्वफलप्रदः सर्वपुरुषार्थानां च प्रकृष्टदाताऽपि धान्यमादाय धान्यमेवादाय तत्रापि ययावेव न तु स्वल्पहस्तधृतं स्वल्पमेवेदमिति विचारितवान् इति बाल्यलीलावेशो दर्शितः तत्र धान्यादानं पुरतस्तन्मात्रप्राप्तेः इति त्वरातिशयो दर्शितः । ततः किं वृत्तमिति सकौतुकं राजानं प्रत्याह—"फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् । फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥ सत्वरयाऽनेन पथ्येव च्युतानि धान्यान्यपि यस्मात् तादृशमपि तत्करद्वयं फलविक्रयिण्यपि उद्भुतमहास्नेहा फलैः रत्नाकारैर्पीलवादिभिरपूरयत् तत्र च सर्वैरित्यपि ज्ञेयं तस्य तत्र जातलोभत्वेन वैभवशक्तेः साहाय्यात् च्युतधान्यकरत्वेऽपि तदीयस्वाभाविकसर्वफलप्रदत्वशक्त्या तत्सम्पत्तिरपि कृतेत्याह रत्नैरिति । स्वयमाविर्भूतत्वात् तैरेव कर्तृभिः ततश्च तन्माधुर्यावेशविवशेन्द्रियतया तदज्ञातवती यावत्तद्गृहप्रवेशं स्थित्वा लाभालाभादिकं विस्मृत्य गृहमेव जगामेति ज्ञेयं सर्वफलप्रदं इत्यनेनोत्तरकालेपि तदा वेशलक्षणा परमफलप्राप्तिरपि तस्याः सूचिता (क) (ख) अथ श्रीयशोदायाः श्रीरोहिणीतोऽपि श्रीरामेपि वशीकारि वात्सल्यातिशयं दर्शयितुं श्रीयशोदया परमवात्सल्येन नित्यं क्रियमाणं पुत्रलालनादिकमुद्दिश्यन् दामोदरलीलायाः क्रमप्राप्तं दिनैककृत्यमाह—सरिदित्यादिना उदयमित्यन्तेन । "सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्" सरित्तीरगतमिति भग्नौ अर्जुनौ येन तमाह्वयदिति वात्सल्येन तदनुसन्धानादनिष्टा शङ्का दर्शिता कृष्णं क्रीडाविष्टचित्तम् अथेति कार्त्स्न्ये सर्वैरेव नामभिरित्यर्थः । रोहिणी तद्भोजनसाधनात्या-

---

१. क्षुद्भ्रान्तः–वीर. । २. क्रीडाश्रान्तोसि पुत्रक-वीर. विज. । ३. वां दाशार्हो–वीर. ; त्वां दाशार्हो–विज. ।
४. **तिन्त्रिणीफलसंयुक्तं स्नानीयं तैलसंयुतम् । कल्पयित्वा प्रतीक्षेहं चिरचञ्चलचेष्टितः ॥**
श्लोकोऽयमन्यत्राधिकः ।

५. तेऽद्य भवति–त. पु. ; चाद्यभवतो–वीर. ; तेऽद्य भविता–विज. । ६. मृष्टानलङ्कृतान्–वीर. ।

सक्त्या श्रीयशोदयैव प्रेषितेति ज्ञेयं तथा च श्रीकृष्णाह्वानेन रामाह्वानमप्यूह्यम् उत्तरानुरोधेन (ग) ततश्च "नोपेयातां यदाहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ । यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सला ॥ एवमाहूतावपि यशोदां प्रेषयामासेति उभयत्रापि तस्या एव वात्सल्याधिक्यानुभवेन शीघ्रतदाकर्षणसामर्थ्यनिर्णयात्, किमर्थं ? तत्राह, पुत्रयोर्वत्सला सरित्तीरे नानोपद्रवशङ्कया तयोः स्नपनभोजनेच्छया चेति भावः (घ) ततश्च "क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् । यशोदाऽजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥ अजोहवीत् पुनः पुनराजुहाव निकटगमने पलायनशङ्कया (ङ) कृष्णकृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब । अलं विहारैः क्षुत्श्रान्तस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति ॥ कृष्ण कृष्णेति वीप्सा दूरतः श्रवणाय निजाग्रहव्यक्तये च हे अरविन्दाक्ष ! हे तातेति सलालनं सम्बोधनं शीघ्रागमनाय असन्धिः प्लुतप्रकृतिस्थत्वात् असंहिततया पाठात् भयेऽपि कारणे सति यत् क्षुत् श्रान्त इत्येवोक्तं तत्तस्यामङ्गलत्वेन वक्तुमनिष्टत्वात् (च) तथाऽप्यनायान्तमग्रजो मद्वाक्यप्रतिपालको बलादानेष्यतीत्याशयेन श्रीराममाह्वयति—हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन । प्रातरेव कृताहारः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ॥ यतः कुलनन्दनस्त्वमित्यादिना कृष्णस्य शीघ्रागमनार्थमीर्ष्यां जनयति सम्बोधनपाठेऽपि स एवार्थः । हे पुत्रकेति तस्मिन्नपि पुत्रवत् स्नेहात् अनुकम्पायां कन् (छ) किञ्च, "प्रतीक्षते त्वां दाशार्हभोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः । एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः" हे दाशार्हेति मित्रपुत्रत्वेन परमापेक्ष्यं त्वां विना तस्य भोजनमेव न स्यादिति भावः । आवयोः सख्योर्दम्पत्योर्वा क्रीडासक्तस्य श्रीकृष्णस्य प्रेमासक्त्या तमपि क्रीडाभिनिविष्टं वीक्ष्य क्रीडनात् बालकान्निवारयति—स्वस्वेति वीप्साया अभावः त्वरावाक्यत्वात् (ज) श्रीकृष्णस्य प्रीत्या बालकानपि विहारादनुपरमतो वीक्ष्य मृषैव प्रयोजनविशेषं च दर्शयन्ती श्रीकृष्णमाह्वयति—

धूलीधूसरिताङ्गस्त्वं तात मज्जनमावह । जन्मर्क्षं तेऽद्य भवति विप्रेभ्यो देहि गा शुचिः ॥

मज्जनं स्नानमावह विधिवत् कुर्वित्यर्थः । विप्रेभ्य इति उत्पत्त्यै तत्सम्प्रदानकदानोत्साहवन्तं तमुल्लासयति यतस्तव जन्मर्क्षमद्य भवति भवत इति पाठे सदा वर्द्धमानस्येत्यर्थः (झ) तथाऽप्यनागच्छतस्तस्य तदैवागतानन्यान् बालान् दर्शयित्वा मात्सर्यं जनयति—

पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टस्वलङ्कृतान् । त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः ॥

वीप्सा प्रेम्णा तज्जेन कोपेन खेदेन वा मातृभिर्मृष्टाः स्नपनादिना निर्मलीकृताश्च ते पश्चात् सुतु अलंकृताश्चेति तथा तान् ॥ ञ ॥ उपसंहरति—

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप । हस्ते गृहीत्वासहराममच्युतन्नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम् ॥

इत्थं सलालनोक्तिपूर्वकशनैर्गमनप्रकारेण अशेषस्य चूडामणिमिव शिरोधार्यमपि सुतं मत्वा मत्सुतोयमित्यनुभूय अत एव स्नेहेन नितरां बद्धा वशीकृता धीर्यस्याः सा अत एव क्रीडन्तमपि हस्ते गृहीत्वा अच्युतमिति अपलायनाद्यभिप्रायेण स्ववाटं निजगृहस्थानम् उदयं स्नपनभोजनालङ्कारादिमङ्गलं स्वप्रतिज्ञाततया तदाग्रहाज्जन्मर्क्षयोग्याभ्युदयमेव वा अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः । कात्स्न्र्येन वा हे नृपेति तत्र तस्य स्नेहोदयदर्शनात्त्वमेव ननु पालयसीति सलालनसम्बोधनम् (ट)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पुनरौत्सुक्यातिशयेन तेषां किञ्चिदाह—क्रीणीहीति सार्द्धदशभिः । यद्यपि श्रीस्वामिपादानामेते सम्मता न लक्ष्यन्ते, तैरेषां किञ्चिदस्पर्शनात्तथापि बहुलपुस्तकेषु दृश्यमानत्वात्तथा (श्लोकानां) केषाञ्चित् श्रीचित्सुखेन (यतिवरेण) व्याख्यातत्वात्तत्त्ववादिभिश्च धृतत्वात् रसमयत्वाच्च व्याख्यायन्ते—सर्वाणि फलानि साध्यानि प्रकर्षेण ददातीति तथा । सोऽपि पीलुफलार्थी सन् । सत्वरयानेनैव च्युतानि धान्यानि यस्मात् करद्वयात्तत् । फलैः पीलुफलैः । अत्रैवमुन्नेयम्—फलविक्रयमात्रोपजीव्यया तया बहुलामूल्यरत्नानि लब्ध्वा भयादिना संगोप्य स्वगृहं नीतानि । यद्वा, विचित्रवर्ण—पीलुफलसादृश्येन तानि पीलुफलानि मत्वा श्रीभगवद्दर्शनेन परितृप्ता तान्यविक्रीयैव गृहे गत्वा परिचित्य निह्नुत्य रक्षितानीति तद्वार्त्ता व्रजे प्रसिद्धिमप्राप्ता केनापि नोद्भावितेति । एवं विक्रयणादिना व्रजसम्बन्धेनान्यत्रत्यानामपि प्रहर्षणमुक्तम् ॥ १०-११ ॥ अथ श्रीयशोदया परमवात्सल्येन नित्यं क्रियमाणं पुत्रलालनादिकमुद्दिशन् दामोदरलीलायाः क्रमप्राप्तं दिनैककृत्यमाह—सरिदित्यादिना उदयमित्यन्तेन । अत्र पाठस्तत्क्रमश्च विविधः, तत्र गौड़-सत्सम्प्रदायेपुस्तकानुसारेण व्याख्यायते—सरितः श्रीयमुनायास्तीरे गतम्, कुतः ? भग्नावर्ज्जुनौ येन तम्, तयोस्तत्तीरवर्त्तित्वात् यद्वा, तद्भञ्जनानन्तर्य्यमात्रापेक्षया तथोक्तम्, यद्वा, तादृशक्रीडान्तरशंकया किंवा तत्क्रीड़ाश्रमेण क्षुधासम्भावनया कृष्णं क्रीड़ाकृष्टचित्तं भगवन्तमाह्वयत् । रोहिणी तद्भोगसाधनात्यासक्तया श्रीयशोदयैव प्रेषितेति ज्ञेयम् । तथा कृष्णाह्वानेन रामाह्वानमप्यूह्यमन्योन्यस्नेहेन द्वयोरैक्यात् ॥ १२ ॥ एवमाहूतादपि पुत्रौ कृष्णरामौ यदा क्रीड़ायामासंगेनासक्त्या न समीपमागतौ, तदा यशोदां प्रेषयामासेति परमसुस्निग्धतया हस्तग्रहणादिना तयोरानयने तस्या एव सामर्थ्यात् । किमर्थम् ? तदाह—पुत्रयोर्वत्सला, तयोः स्नानभोजनाद्यर्थमिति

भावः ॥ १३ ॥ सा अनिर्वचनीय-पुत्रस्नेहाक्रान्तचित्ता बालैः सहातिवेलं भृशम्, किंवा वेलामतिक्रान्तं क्रीडन्तं सुतं श्रीकृष्णमग्रजञ्च रामम्, यद्वा, सहाग्रजं साग्रजं वीक्ष्याजोहवीदाजुहाव ॥ १४ ॥ कृष्ण कृष्णेति वीप्सा दूरतः श्रवणाय, हे अरविन्दाक्ष ! हे तातेति स-लालन-सम्बोधनं शीघ्रागमनाय। असन्धिः प्लुतप्रकृतिस्थत्वात् ॥ १५ ॥ तथाप्यनायान्तमग्रजो मद्वाक्यप्रतिपालको बलादानेष्यतीत्याशयेन श्रीबलदेवमाह्वयति—हे रामेति, यतः कुलनन्दनस्त्वमिति स्वपुत्रस्य शीघ्रागमनार्थमीर्षां जनयति, अविसर्गपाठेऽपि सम्बोधनेन स एवार्थः। हे पुत्रकेति तस्मिन्नपि पुत्रवत् स्नेहादनुकम्पायां कन्, श्लेषेण पुत्रस्य श्रीकृष्णस्य कं सुखं यस्मादिति शीघ्रागमनार्थं प्रोत्साहनम् ॥ १६ ॥ व्रजाधिपः श्रीवल्लवेन्द्रः, हे दाशार्हेति मित्र-श्रीवसुदेव-पुत्रत्वेन परमापेक्ष्यं त्वां विना तस्याभोजनादिति भावः। आवयोः श्रीयशोदारोहिण्योः श्रीनन्दयशोदयोर्वा। क्रीड़ासक्तस्य श्रीकृष्णस्य प्रियचिकीर्षया तमप्यनायान्तं वीक्ष्य क्रीड़नाद्बालकान् निवारयति—स्वेति ॥ १७ ॥ श्रीकृष्णप्रीत्या बालकानपि विहारादनुपरमतो वीक्ष्य प्रयोजन-विशेषं दर्शयन्ती श्रीकृष्णमाह्वयति-धूलीति। मज्जनं स्नानमावह, सम्यक् प्रापय, विप्रादि-द्वारा मंत्रजलादिना कुर्वित्यर्थः, यतस्तव जन्मर्क्षं रोहिणी-नक्षत्रमद्य भवति, पाठान्तरे भवतः सदा वर्द्धमानस्येत्यर्थः। तत्र प्रयोगमप्याह—विप्रेभ्य इति, स्नानादिना शुचिः सन् ॥ १८ ॥ तथाप्यनागच्छतस्तस्य मात्सर्यं जनयति—पश्यति, वीप्सा प्रेम्णा कोपेन खेदेन वा। मातृभिर्मृष्टाः स्नपनादिना निर्मलीकृताश्चैते सुष्ठ्वलंकृताश्चेति तथा तान् ॥ १९ ॥ अशेषस्य जगतः शेखरं चूड़ामणिमिव शिरोधार्य्यमपि सुतं मत्वा मत्सुतोऽयमित्यभिमानं कृत्वा, अतएव स्नेहेन नितरां बद्धा वशीकृता धीर्यस्याः सा, अतएव क्रीडन्तमपि हस्ते गृहीत्वाच्युतमित्यभंगाद्याभिप्रायेण। सहरामं किंवा राममच्युतञ्च सहैकदैव गृहीत्वा स्ववाटं निजस्थानम्, उदयं स्नपनभोजनालंकारणादिमंगलम्। अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः। हे नृपते नरश्रेष्ठत्वादेव त्वयि श्रीयशोदा-स्नेहभर-लालनादि-वृत्तं कथ्यत इति भावः, यद्वा, तस्य परमाश्चर्य्यत्वात्तत्कथनेन प्रेमभरोदयाद्वा सादर-सम्बोधनम् ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

(क-झ) मातृमृष्टान् "मृजूष् शुद्धौ" मातृभिः स्नापितान् (ञ) उदयमभ्युदयं मङ्गलमकरोदित्यर्थः (ट)

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अत्र कचित्पुस्तकेषु—

> क्रीणीहि भोः फलानीति पृष्ट्वा मातरमच्युतः। फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥
> फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्। फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥

इत्यादिश्लोका अधिका दृश्यन्ते तत्र भोः कृष्ण फलानि विक्रीणीहीति बन्धं मोचितवता नादेनोक्तोऽच्युतः स्वयं स्वर्गापवर्गफलदोपि केवलं प्राकृतबाल इव फलार्थी सन् मातरं पृष्ट्वा धान्यमञ्जलिनाऽऽदाय ययौ (क) तथा फलविक्रयिणी स्त्री तस्याच्युतस्य च्युतं धान्यं यस्मात् तत्करयोर्द्वयं फलैरपूरयत् फलविक्रयिण्याः यत्फलभाण्डं तत् रत्नैरपूरि पूरितमभूत् तत्करद्वयाच्च्युतेन धान्येन रत्नात्मकतामापन्नेन फलभाण्डं पूरितमभूदित्यर्थः (ख) अथ तन्मायामोहितयोर्यशोदारोहिण्योः कांश्चिदाचरितान्याह—सरिदित्यादिना। भग्नावर्जुनौ येन तं सरितो यमुनायास्तीरगतं कृष्णमाह्वयत एहीत्याहूतवती (ग) यदा आहूतावपि क्रीडासङ्गेन नागच्छेतां तदा पुत्रवत्सला रोहिणी यशोदां प्रेषयामास (घ) सा रोहिण्या प्रेषिता यशोदा अतिवेलं वेलां भोजनादि वेलामतिक्रान्तं बालकैस्सह क्रीडन्तं सरामं सुतं श्रीकृष्णमवलोक्य स्नेहेन स्नुतौ स्तनौ यस्यास्तथाभूता आजुहाव (ङ) आह्वानप्रकारमेव दर्शयति—कृष्णेति सार्द्धैश्चतुर्भिः (च-छ) हे दाशार्ह व्रजाधिपो नन्दो भोक्ष्यमाणो वां भवन्तौ प्रतीक्षते युवयोरागमनं प्रतीक्षमाण आस्ते आवयोः रोहिण्याः स्वस्याश्च प्रियं देहि हे बालकाः रामकृष्णानुचराः स्वगृहान् प्रति गच्छत (ज) अहो मज्जनं स्नानमावह कुरु अद्यास्मिन्नहनि भवतो जन्मनक्षत्रम् अतः शुचिः स्नातो विप्रेभ्यो गाः देहि (झ) मातृभिः स्नापितान् स्वलङ्कृतांश्च वयस्यान् त्वत्समानवयस्कान् पश्य त्वमपि स्नातः स्वलङ्कृतः कृत आहारो येन तथाभूतः विहरस्व (ञ) इत्थम् अशेषाणां बालानां शेखरं श्रेष्ठं ब्रह्मादिभ्योपि श्रेष्ठमिति वा तथाभूतमपि तं केवलं सुतं मत्वा स्नेहेन निबद्धा धीर्यस्यास्तथाभूता हे नृप सराममच्युतं हस्ते गृहीत्वा स्ववाटं स्वगृहं नीत्वा अथ उदयं माङ्गलिकं कर्म कृतवती चकार (ट)

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

(क-ग) नोपेयातां समीपं नागतौ (घ) अजोहवीत् आह्वयामास (ङ)-छ) व्रजाधिपः नन्दगोपः धेहि देहि बालकाः (ज) धूलिधूसरिताङ्गः धूलिधूसरितसर्वशरीरः (झ-ञ) स्ववाटं स्वव्रजम् (ट)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अत्र क्रीणीहीत्यादयः श्लोका बहुविधा वर्त्तन्ते व्याख्याताश्च चित्सुखेन (क-ट)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तेष्वतिनीचानां पुलिन्दजातीनामपि प्रीतिप्रद इत्याह-क्रीणीहीति। अच्युतः परिपूर्णोऽपि फलमात्रार्थी सर्वफलप्रदोपि त्वरया पुरतः स्थितधान्यमात्रप्राप्तेर्धान्याञ्जलिमादाय ययौ (क) नच तावन्मात्रमपि धान्यं तया प्राप्तमित्याह-च्युतेति। अभ्यन्तरात्त्वरया बहिर्निर्गमे वर्त्मन्येव सर्वधान्यानि पतितानि ततश्च द्वित्रिमात्रधान्ययुक्ते केवलञ्जलावेव नीयतामित्युक्त्वा फलपात्रे न्यस्ते फलविक्रयिण्यप्युद्भूतस्नेहफलैः पील्वादिभिस्सर्वैरेवापूरयत् फलेषु तस्य जातलोभत्वेन स्तोकेपि तत्करतलद्वये तदीयवैभवशक्तेः साहाय्यात् ततश्च रत्नैरिति तदीयसर्वफलप्रदत्वशक्त्या तत्प्रेमपर्य्यन्ता सर्वैव सम्पत्तिरभूदिति ज्ञेयम् (ख) रोहिण्याः सकाशादपि श्रीयशोदायामतिवात्सल्यवत्यां रामकृष्णावतिस्नेहत्रशाविति दर्शयन् यमलार्जुनभङ्गादिना एव लीलान्तरमाह-सरित्तीरे खेलनार्थं गतं कृष्णं रामं च उत्तरवाच्यानुरोधात् तद्भोजनसाधनासक्तया श्रीयशोदया प्रेषिता रोहिणीति कर्त्तृपदं ज्ञेयम् (ग) यशोदां प्रेषयामासेति तस्या एवाधिकवात्सल्यवत्यास्तद्द्वयाकर्षणसामर्थ्यनिर्णयात् (घ) अजोहवीत् पुनः पुनराजुहाव निकटगमने पलायनशङ्कयेति दूरत एवेति भावः (ङ) कृष्णकृष्णेति वीप्सा दूरतः श्रवणाय (च-छ) भोक्ष्यमाण इति युवां विना भोक्तुमशक्नुवन्तं तं स्वपितरं किं क्षुधया पीडयसीति भावः। स्वगृहान् यातेति युष्मन्मातापितरोपि वयमिव क्लिश्यन्ति तान् सुखयतीति भावः। वस्तुतस्तु क्रीडाविच्छेद एव तात्पर्य्यम् (ज) तदध्यनायान्तं क्रीडोत्साहविरमयितुं दानोत्साहमुत्पादयति विप्रेभ्य इति (झ) तदैवागतान् यान् बालान् दर्शयित्वा मात्सर्यं जनयति पश्येति (ञ) तम् अशेषस्य शेखरं चूडामणिं सुतं मत्वा न त्वशेषशेखरं मत्वेत्यर्थः। सत्वशेषशेखरः सुतश्च भवतीत्यर्थः। यद्वा, तं सुतं अशेषस्य स्वकुलस्य शेखरं मत्वा स्ववाटं निजस्थानं उदयं स्नपनभोजनालङ्कारादिमङ्गलम् (ट)

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

स्वपुरवासिनां हर्षावहत्वमुक्त्वा पुराद्बहिर्निवसन्तीनां पुलिन्दीनामपि हर्षावहत्वमाह-क्रीणीहीति। सार्वज्ञ्यादच्युतो नन्दसूनुरमृतस्वादूनि सरूपानि फलानि मदर्थमेतया नीतानीति विद्वान् सर्वफलप्रदोऽपि फलार्थी सत्वरश्चत्वरस्थितधान्यराशेर्धान्याञ्जलिमादाय तदन्तिकं ययौ ॥ १० ॥ सा फलविक्रयिणी तद्दर्शनलब्धमनोरथाभ्यन्तरात्त्वरया गमनेन पथि च्युतधान्यं तस्य करद्वयमवशिष्टानि पञ्चषाणि धान्यानि फलपात्रे निक्षिप्य देहीति प्रसारितं, फलैरपूरयत् फलभाण्डञ्च रत्नैरपूरीत्याश्चर्यस्तस्य महिमा एतदादीनां कन्याश्च कृष्णे परमानुरागधवाः "केमाः स्त्रियो वनचरी"रित्यादिवाक्यैर्नोद्धवेन श्लाघिष्यन्ते ॥११॥ चरितान्तरमाह सरित्तीरमित्यर्द्धकम्। कृष्णमाह्वयत् रामञ्च उत्तरवाक्यानुरोधात् तद्भोजनसम्पादनासक्तया यशोदया प्रेषिता रोहिणीति कर्त्तृपदं बोध्यम्। तस्या प्रेषणं तद्दासीभिराह्वानेनागच्छेतामिति भावः ॥१२॥ तयाहूतावपि पुत्रकौ क्रीडासङ्गेन हेतुना यदा नोपेयातां तदा सा रोहिणी यशोदां प्रेषयामासेति तस्याः सकाशादस्यां तद्वात्सल्यातिशयो येन तौ तद्वश्याविति सूच्यते नन्वेतयो राजपत्न्योर्भवनान्निर्गत्य सरित्तीरपर्यन्तगमनं कथमिति चेत् तत् प्रदेशस्य निर्जनस्य भवनकक्षान्तरतुल्यत्वात् पक्षद्वारेण तद्गमनं सुघटमिति गृहाण यत्र रमणपुलिनं तत्क्रीडास्थलं प्रसिद्धं धूलीधूसरिताङ्गस्त्वमिति वक्ष्यते ॥ १३ ॥ अतिवेलं वेलामतिक्रम्य क्रीडन्तं अजोऽवीत् पुनराह्वयत् अन्तिकगमने पलायेतेति शङ्कया दूरादेवेति भावः ॥ १४ ॥ कृष्ण कृष्णेति वीप्सा दूरतः श्रवणाय ॥ १५ ॥ यद्वाक्यं प्रतिपालको राम एनं बलादानेष्यतीति भावेन तमाह्वयति हे रामेति अनुकम्प्ये तातशब्दः "तातोऽनुकम्प्ये जनके" इति मेदिनी ॥ १६ ॥ भोक्ष्यमाण इति युवां विना स न भोक्ष्यते इति पितरं क्षुधा किं पीडयथ इति भावः। आवयोर्मात्रोः दम्पत्योर्वा हे बालकाः स्वगृहान् यूयं यात युष्मन्मातरोऽपि वयमिव क्लिश्यन्ति ताः सुखयत क्रीडाविच्छेदार्थमेतत् ॥ १६ ॥ क्रीडोत्साहत्यागाय दातुस्तस्य दानोत्साहं जनयन्त्याह जन्मर्क्ष तेऽद्येति ॥ १८ ॥ तदैव तत्रागतान् बालान् प्रदर्श्य मात्सर्यमुत्पादयन्त्याह पश्येति। विहरस्वेति विहारो न वर्ज्यते इत्यर्थः ॥ १९ ॥ इत्थं सलालनोक्तिपूर्वकशनैर्गमनेन प्रकारेण तं कृष्णमशेषशेखरं स्वयं सुतं सत्वानुभूय तादृशस्यैव सुतत्वात् यद्वा तं सुतमशेषस्य शेखरं शिरोऽवतंसं मत्वा स्ववाटं स्वस्थानं स्वमन्दिरं नीत्वा "वाटो मार्गवृतिस्थाने" इति मेदिनी। उदयं स्नपनभोजनालङ्कारार्पणादिमङ्गलं भोजनमिदं स्वसरूपमित्युपरि वक्ष्यामः ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

बालकैर्भृशं क्रीडतः क्रीडां कुर्वतो भग्नार्जुनं सरित्तीरगतं कृष्णमथ रामं चेत्येतौ रोहिणी देव्याह्वयदाजुहावेत्यर्थः॥ यदा क्रीडासङ्गेन तदासक्त्याऽऽहूतावपि नोपेयातां समीपं नापतुस्तदा पुत्रवत्सला रोहिणी यशोदां प्रेषयामास त्वं वा कारयेति॥ बालमतिवेलं भृशं सहाग्रजं सहरामं क्रीडन्तं स्वसुतं पुत्रस्नेहेन स्नुतौ स्तनौ यस्याः सा। स्वाङ्गादिङीष्। यशोदाऽजोहवीत्।

ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्माद्यङ्लुगन्ताल्लङि अभ्यस्तस्येति सम्प्रसारणे कुहोश्चुरिति चुत्वेन जकारे गुणो यङोरिति गुणे यङो वेतीडागमे सार्वधातुकगुणे जडागमे च रूपम्। शब्दमात्रार्थकत्वेऽपि पुनः पुनः स्तुतिपूर्वकाकरणार्थत्वं प्राकरणिकं ज्ञेयम्। यथोक्तं प्रथमाष्टकाष्टमाध्यायदशमवर्गीयाजोह्वीन्नासत्याकरवामित्यादिव्याख्यायां माधवेन। वध्रिमती नाम रुच्यचिराजर्षेः पुत्री नपुंसकभर्तृका। सा पुत्रलाभार्थं नासत्यौ करा अभिमतकर्तारौ अजोहवीत्। पुनः पुनः स्तुत्या पुत्रलाभार्थमाहूतवती। ह्वयतेर्यङ्लुगन्ताल्लङ्यङो वेति तिप ईडागम इति ॥ तात त्वमेहि कासि न दृश्यस इति न वदेदिति वदति ॥ तेऽरविन्दाक्षतेति। यतोऽरविन्दाक्षता तेऽतः पश्य एहीति। कमलपत्रलोचन सूर्यचन्द्रवल्लोचनेति वा नानवलोकनं युक्तमिति भावः। विहारैः क्रीडाभिरलं। कुत इत्यत आह। क्षुत्क्षान्त इति। बहुलवत ऊहनं मोहनाङ्ग्या इति ज्ञेयं। यद्वक्ष्यति च प्रातरेव कृताहार इति॥ दाशार्हो व्रजाधिपो नन्दोऽधिपो मां व्रजेत्युक्त्वा त्वां प्रतीक्षते सहाशितव्यमित्यासीनो मार्गं निरीक्षते एह्यावयोः प्रियं धेहि पिबेहि बालकाः स्वगृहान्यान्तु। यातेति पाठे हे बालका यात गच्छतेत्यर्थः। बालान्स्वबालाभ्यां सहानाजुहाव यशोदा भुक्त्यर्थम्। न दारिद्र्यान्न वा लोभादपि स्वपुत्रेण सहादनसाधनसुकृतस्याद्याप्यनुदितत्वादिति मन्तव्यम्॥ धूलिधूसरिता-न्यङ्गान्यवयवा यस्य स मज्जनं स्नानं चावह नन्दादिमं त्वमन्यं नावह परकीयोऽयमिति नोऽनुसन्दध्याः किन्तु मज्जनं मम जनो हि मज्जनस्तमावह। अत इत आगते स्वकीयता स्फुटीभविष्यतीति भावः। हे मज्ज मतो जायत इति स तथा। तातमिति शेषः। आब सम्यग्भक्ष च। हेत्येतदुभयकार्यकारितेतरत्र दुःसाधनेति द्योत्यते। हे अज्ज आश्चर्यकरजन्म। उर्वरिते पूर्ववत्। हे मज्जनमतो जनो जननं यस्य तत्सम्बुद्धिः। मा मामवेति वा॥ मातृसृष्टान्स्वमातृकृताभ्यङ्गशोधिताङ्गान्स्वमात्रलङ्कृतान्वि-हरस्व क्रीड। ञित्वात्स्वरितञित इत्यात्मगामिनि क्रियाफल आत्मनेपदता॥ इत्थं यशोदाऽशेषशेखरमशेषाणां शेखरमशेषः शेषविरोधी गरुडः स शेखरे यस्य स गरुडध्वजस्तमिति वा मा पीडारूपस्तम्। शिखास्वापीडशेखरावित्यमरः। शिरोधार्यमाला-वाच्यप्ययं शिरोमान्यता निमित्तीकृत्योत्तमार्थक इति ज्ञेयम्। शिखि गतौ। बाहुलकादरः। आगमशासनानित्यतया नुम् पुगन्तगुणे रूपम्। स्ववाटं व्रजं स्वमार्गं वा। उदयं मज्जनाद्युत्सवं कृतवती॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अत्र 'क्रीणीहि' इत्यत आरभ्य 'गोपवृद्धा' इत्यतः प्राक्तना एकादश श्लोकाः कैश्चिद्व्याख्याकृद्भिर्व्याख्याताः, कैश्चित्तु न व्याख्याताः। परंतु पुस्तकेषूपलभ्यमानत्वात् प्रकरणविरोधाभावाच्चास्माभिरपि व्याख्यायन्ते। 'भो लोक! फलानि क्रीणीहि' इति फलविक्रयिण्या वचनं श्रुत्वा अच्युतः ऐश्वर्यादिसर्वफलपरिपूर्णोऽपि भगवान् फलार्थी सन् धान्यमादाय सत्वरं शीघ्रं ययौ। एवं परिपूर्णस्यापि गमने प्रयोजनं सूचयन्नाह—सर्वफलप्रद इति। धर्मादिचतुर्विधसर्वफलप्रदत्वात्तस्या अपि किञ्चित् फलं प्रदातुं गत इति भावः॥ १०॥ तस्य त्वरया बहिर्निर्गच्छतोऽच्युतस्य च्युतानि 'मार्गे एव पतितानि' धान्यानि यस्मात्तथा-भूतमपि करद्वयं तत्सौन्दर्यादिविमोहिता फलविक्रयिणी फलैरपूरयत्। तदाऽच्युतेनापि करस्थेनावशिष्टेन तद्भाण्डे प्रक्षिप्तेन धान्येन तस्याः फलभाण्डं रत्नैर्माणिक्यादिभिरपूरि पूरितम्॥ ११॥ अथेति लीलान्तरे। भग्नावर्जुनौ येन तं कृष्णं रामं च सरितो यमुनायास्तीरं गतं बालैः सह भृशं क्रीडन्तं रोहिणी आह्वयत् आजुहाव। तस्याः सौभाग्यातिशयं सूचयन्नाह—देवीति॥ १२॥ एवमाहूतावपि पुत्रकौ क्रीडायामासङ्गेन आसक्त्या यदा नोपेयातां स्वसमीपं नागच्छतां तदा तावानेतुं रोहिणी यशोदां प्रेषयामास। 'तत्प्रेषणेऽपि किं स्यात्' इत्याशङ्क्याह—पुत्रवत्सलामिति। रोहिण्याः सकाशादपि तयोर्यशोदायाः स्नेहाधिक्यात्तयोरपि तस्यां मानाधिक्यात्तयाहूतावागमिष्यत इत्याशयः॥ १३॥ सा यशोदा सहाग्रजं बलभद्रसहितं स्वसुतं कृष्णमजोहवीत् आजुहावेत्यन्वयः। तस्याः स्नेहातिशयं दर्शयन्नाह—पुत्रस्नेहेन स्नुतौ स्तनौ यस्या सा। आह्वाने हेतुमाह—अतिवेलमिति। भोजनादिवेलाऽतिक्रान्ता येन तमित्यर्थः। वेलातिक्रमे हेतुमाह—बालैः सह क्रीडन्तमिति॥ १४॥ तदाह्वान-प्रकारमाह—कृष्णकृष्णेति। वीप्सा दूराच्छ्रवणार्था। 'त्वद्दर्शनेनैव मम सन्तापहानिः परमानन्दश्च' इति सूचयन्ती सम्बोधयति—अरविन्दाक्षेति। स्नेहाधिक्येनाह—हे पुत्रकेति। तत्रापि शीघ्रागमनार्थमाह—हे तातेति। एहि आगच्छ, स्तनं पिब। यतः क्षुधा क्षान्तोऽसि। विहारैरलं पूर्णम्, यतः क्रीडया श्रान्तोऽसि॥ १५॥ एवमाह्वानेऽपि कृष्णमनागच्छन्तं विलोक्य राममाह्वयति—हे रामेति। 'तव दर्शनेनैवास्माकमानन्दो भवति' इत्याशयेन सम्बोधयति—कुलनन्दनेति। तत्र स्नेहातिशयं सूचयन्त्याह—तातेति। सानुजः कृष्णेन सहितः तमपि गृहीत्वाऽऽशु आगच्छ। तत्र हेतुमाह—यस्माद्भवान् प्रातःकाल एव कृताहारस्तस्माद्भो-क्तुमर्हतीति॥ १६॥ शीघ्रमागमने हेत्वन्तरमप्याह—प्रतीक्षत इति। हे दाशार्हकुलोत्पन्न! व्रजाधिपो नन्दो भोक्ष्यमाणो वां युवां प्रतीक्षते युवयोरागमनं प्रतीक्षते। अत एहि। आवयोः प्रियं धेहि सुखं सम्पादय। युवयोरागमनाद्बाललीलाविरसाद्बालका अपि स्वगृहं यान्तु॥ १७॥ एवमुक्तेऽपि अनागच्छतस्तस्य क्रीडोत्साहं विरमयितुं स्नानदानाद्युत्साहमुत्पादयति—धूलीति। हे तात! यतस्त्वं धूलिधूसरिताङ्गः, अतो मज्जनं यथावत् स्नानमावह कुरु। अद्यदिने भवतो जन्मर्क्षं जन्मनक्षत्रमस्तीति शुचिः सन् विप्रेभ्यो गा देहि॥ १८॥ तदैव स्नानादि कृत्वाऽऽगतान् बालान् दर्शयित्वा मात्सर्यं जनयन्त्याह—पश्य पश्येति। मातृभिर्मृष्टाः स्नापनादिना निर्मलीकृताश्च ते सुष्ठु अलङ्कृताश्च तान् ते तव वयस्यान् सखीन् पश्य पश्य, अतस्त्वमपि स्नातः

कृताहारः स्वलङ्कृतश्च सन् विहरस्वेत्यन्वयः ॥१९॥ 'नेमं विरिञ्चो न भव' इत्यादावुक्तमेव यशोदाया ब्रह्मादिदुर्लभभगवत्कृपापात्रत्वं पुनः सूचयन्नाह—इत्थमिति । इत्थं वदन्ती यशोदा शनैरुपसङ्गम्य तमशेषाणां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां शेखरं चूडामणिं पूज्यमप्यच्युतं श्रीकृष्णं सुतं मत्वा हस्ते गृहीत्वा सहरामं रामेण सहितं स्ववाटं स्वगृहं नीत्वा, अथानन्तरं उदयं स्नपनभोजनालङ्कारादि मङ्गलं कृतवती । तथाभूतस्यापि सुतत्वेनाभिमाने हेतुमाह—स्नेहनिबद्धधीरिति । पुत्रस्नेहेन तस्मिन्निबद्धा धीर्यस्याः सा, अतस्तथैव तस्यास्तत्राभिमानः । भगवानपि तथैवानुकरोति, 'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति वचनात् । अशेषशेखरत्वे हेतुरच्युतपदेनैव सूचितः, यत एवं क्रीडन्नपि स्वरूपतो गुणतश्चाच्युत एव । विश्वासार्थं नृपेति सम्बोधनम् ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

क्रीणीहीत्यादिश्लोकद्वयम् । बहुष्वदृष्टमपि क्वचिदुपलभ्यते । भो लोक फलानि क्रीणीहीति फलविक्रयिण्या वचनं श्रुत्वा सर्वेषां फलप्रदोऽच्युतः फलार्थी सन् धान्यमादाय सत्वरं शीघ्रं ययौ ॥ १० ॥ फलविक्रयिणीति । तस्य त्वरया बहिर्निर्गच्छतोऽच्युतस्य च्युतानि मार्गे एव पतितानि धान्यानि यस्मात्तथाभूतमपि करद्वयं तत्सौन्दर्यादिविमोहिता फलविक्रयिणी फलैरपूरयत् । तदाच्युतेनापि करस्थेनावशिष्टेन तद्भाण्डे प्रक्षिप्तेन धान्येन तस्याः फलभाण्डं रत्नैर्माणिक्यादिभिरपूरि पूरितम् ॥ ११ ॥ सरिदिति । यमलार्जुनभङ्गदिनभवलीला विशेषप्रतिपादिका सरिदित्याद्यष्टश्लोकी कैश्चिदनादृतापि सर्वत्रोपलभ्यमानत्वाद्व्याख्यायते । अथेति । लीलान्तरे भग्नावर्जुनौ येन तं कृष्णं सरितो यमुनायास्तीरं गतं बालैः सह भृशं क्रीडन्तम् इति शेषः । आह्वयत् आजुहाव । यशोदाप्रेरिता रोहिणीति शेषः । अद्य भवतो जन्मर्क्षम् अतः शुचिः सन् विप्रेभ्यो गाः देहि । अत्र रामाह्वानमपि ज्ञेयम् ॥ १२ ॥ नोपेयातामिति । एवमाहूतावपि पुत्रकौ क्रीडायामासङ्गेन आसक्त्या यदा नोपेयातां स्वसमीपं नागच्छतां तदा तावानेतुं रोहिणी कर्त्री पुत्रयोर्वत्सलां यशोदां प्रेषयामास ॥ १३ ॥ क्रीडन्तमिति । पुत्रस्नेहेन स्नुतौ स्तनौ यस्याः सा यशोदा बालैः सह क्रीडन्तम् अतिवेलं भोजनादिवेलामतिक्रान्तं सहाग्रजं बलभद्रसहितं स्वसुतं कृष्णमाजोहवीत् मुहुर्मुहुराह्वयत् । आङ्पूर्वात् ह्वेञः यङ्लुगन्ताल्लङ् । "अभ्यस्तस्य च" इति संप्रसारणम् ॥ १४ ॥ कृष्ण कृष्णेति । हे कृष्ण कृष्ण ! हे अरविन्दाक्ष ! हे पुत्रक ! अनुकम्पायां कन् । हे तात ! एहि आगच्छ स्तनं पिब यतः क्षुधा क्षामोऽसि विहारैरलं पूर्णं यतः क्रीडया श्रान्तोऽसि ॥ १५ ॥ हे राम ! हे कुलनन्दन ! हे तात ! सानुजः कृष्णेन सहितः तमपि गृहीत्वाशु आगच्छ । तत्र हेतुमाह । यस्माद्भवान् प्रातःकाल एव कृताहारस्तस्माद्भोक्तुमर्हतीति ॥ १६ ॥ प्रतीक्षत इति । हे दाशार्ह दाशार्हकुलोत्पन्न ! व्रजाधिपो नन्दो भोक्ष्यमाणो वां युवां प्रतीक्षते युवयोरागमनं प्रतीक्षते । त्वामित्यपि पाठः । अत एहि आवयोः प्रियं धेहि सुखं संपादय । हे बालकाः ! यूयमपि स्वस्वगृहान् यात ॥ १७ ॥ पश्य पश्येति ॥ मातृभिर्मृष्टाः स्नापनादिना निर्मलीकृताश्च ते सुष्ठ्वलंकृताश्च तान् ते तव वयस्यान् सखीन् पश्य पश्य । अतस्त्वमपि स्नातः कृताहारः स्वलंकृतश्च सन् विहरस्व ॥ १८ ॥ इत्थमिति ॥ हे नृप ! पुत्रस्नेहेन तस्मिन्निबद्धा धीर्यस्याः सा इत्थं वदन्ती यशोदा शनैरुपसंगम्य तमशेषाणां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां शेखरं चूडामणिं पूज्यमप्यच्युतं श्रीकृष्णं सुतं मत्वा हस्ते गृहीत्वा सहरामं रामेण सहितं स्ववाटं स्वगृहं नीत्वा अथान्तरम् उदयं "जन्मर्क्षमद्य भवतः" इति सूचितम् । स्नपनगोदानभोजनालङ्कारादि मङ्गलं कृतवती ॥ १९॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

वयस्यान् समवयसान् मातृमृष्टान् मातृभिः स्नापितान् ॥११॥ क्रीडासंगेन रमणासक्त्या नोपेयातां नागच्छताम् ॥१२॥ अजोहवीत् संबोधयामास ॥ १३ ॥ क्षुत्क्षांतः क्षुधा पीडितः क्रीडया श्रांतः श्रमयुक्तः जातः ॥ १४-१५ ॥ हे दाशार्ह दाशार्हकुलोत्पन्न प्रियं धेहि कुरु बालकाः यूयं स्वगृहान् यात ॥ १६ ॥ अशेषाणां बद्धमुक्तानां शेखरं मुकुटमणिं अधिपमित्यर्थः स्ववाटं स्वस्थानं उदयं जन्मनक्षत्रोत्सवाय स्नाद्यलंकारान् कृतवती ॥ १७ ॥ बृहद्वने गोकुले अनुभूय ज्ञात्वा समामत्य मिलित्वा व्रजकार्यं समूहस्य हितकृत्यम् ॥ १८ ॥ देशादीनां तत्त्वज्ञो याथार्थ्यज्ञः अर्थः स्वकर्तव्यप्रयोजनम् ॥ १९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इत आरभ्य दश श्लोकाः पुस्तकान्तरेष्वदर्शनात्, क्षेपकप्राया अपि श्रोतृप्रीतिकारकेक्षया व्याख्यायन्ते ॥ गृहाणेति ॥ भोः कृष्ण, फलानि इमानि महापीलुजम्बूपक्वबदरीप्रभृतीनि फलानि, गृहाण । इत्येवंविधं, फलविक्रयिण्या वच इति शेषः । श्रुत्वा, सत्वरं सर्वफलप्रदः सन्नपि, अच्युतः, फलार्थी भूत्वा, धान्यं स्वाञ्जलिमितव्रीह्यादिकं आदाय, ययौ फलाहरणायागच्छत् ॥ १० ॥ फलेति ॥ फलविक्रयिणी, तस्य भगवतः, च्युतं धान्यं यस्मात्तथाभूतं यत् करद्वयं तत्, फलैः, अपूरयत् । कृष्णेनापीति शेषः । फलभाण्डं फलभाजनं, फलविक्रयिण्या इति शेषः । रत्नैः, अपूरि च । भगवत्करद्वयच्युतेन धान्येन रत्नात्मकतामापन्नेन तत्फलभाण्डमपि पूरितमभूदित्यर्थः ॥ ११ ॥ अथ तन्मायामोहितयोर्यशोदारोहिण्योः कानिचिदाचरितानि

प्राह ॥ सरिदिति ॥ भग्नावर्जुनौ येन तं, सरित्तीरगतं यमुनायास्तीरं गतं कृष्णं, रोहिणी, आह्वयत्। हे कृष्ण, अद्यास्मिन् दिने, भवतस्तव, जन्मर्क्षं जन्मनक्षत्रं, भवति। अतः, अथ मङ्गलार्थं, शुचिः आमलकस्नानादिना शुद्धः सन्, विप्रेभ्यः, गाः धेनूः, देहि ॥ १२ ॥ **पश्येति ॥** हे कृष्ण, ते तव, वयस्यान् सवयसः, मातृमृष्टांस्तत्तन्मातृभिः संस्नापितान्, वस्त्रालंकारधारणेन सुतरामलंकृतान्, पश्य पश्य। आदरे वीप्सा। त्वं च स्नातः, स्वलंकृतः, कृताहारश्च सन्, विहरस्व एतैः सह क्रीडां कुरु ॥ १३ ॥ **नोपेयातामिति ॥** यदा पुत्रकौ रामकृष्णौ, आहूतौ सन्तावपि, क्रीडासङ्गेन खेलनात्यासक्त्या, न उपेयातां, तदा पुत्रवत्सला रोहिणी, यशोदां, प्रेषयामास ॥ १४ ॥ **क्रीडन्तमिति ॥** सा रोहिणीप्रेषिता यशोदा, अतिवेलं भोजनादिवेलामतिक्रान्तं, बालैः सह क्रीडन्तं, सहाग्रजं रामसहितं, सुतं कृष्णं, पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी, अजोहवीत् आजुहाव ॥ १५ ॥ आह्वानप्रकारं दर्शयति **सार्द्धैश्चतुर्भिः ॥ कृष्णेति ॥** हे अरविन्दाक्ष, तातानुकम्प्य, हे कृष्ण, हे कृष्ण, एहि। स्तनं पिब। हे पुत्रक, विहारैः अलम्। क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तश्च, असि जातः भवसि ॥ १६ ॥ **हे रामेति ॥** हे कुलनन्दन, हे राम, हे तात, सानुजः कृष्णेन सहितः, आशु आगच्छ। कथमेवं त्वरसे तत्राह। प्रातः एव कृताहारः, त्वं असि। तत्तस्मात्, भवान् भोक्तुं अर्हसि ॥ १७ ॥ **प्रतीक्षत इति ॥** हे दाशार्ह क्षत्रकुलोत्पन्न, भोक्ष्यमाणः भोजनं करिष्यमाणः, व्रजाधिपो नन्दः, त्वां प्रतीक्षते तव प्रतीक्षां करोति। अतः एहि। आवयोः रोहिण्या मम चेत्यर्थः। प्रियं धेहि कुरु। हे बालकाः, स्वगृहान्, यात स्वस्वगृहं प्रति गच्छन्तु ॥ १८ ॥ **इत्थमिति ॥** इत्थं यशोदा, अशेषशेखरं ब्रह्मादिभ्योऽपि श्रेष्ठं, तं कृष्णं, हे नृप, स्नेहेन निबद्धा धीर्यस्यास्तथाभूता सती, सुतं मत्वा, सहरामं अच्युतं कृष्णं, हस्ते एकैकस्मिन् पाणौ गृहीत्वा, स्ववाटं स्वगृहं नीत्वा, अथ उदयं माङ्गलिकं कर्म, कृतवती चकारेत्यर्थः ॥ १९ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सरित्तीरगतमितिः १०.११.१२.

मामर्जुनसखं भग्नार्जुनेत्याकारयत्यसौ। कथमित्यच्युतो रोषान्नाहूतोऽप्याययौ तदा ॥ १७ ॥
जन्मर्क्षं रोहिणीयं च रोहिणीत्यैकनामतः। स्वार्थमाकारयत्येषा तन्मे किमिति नागमत् ॥ १८ ॥

नोपेयातामितिः १०.११.१४.

रामस्याप्युपचारचारु–कुतुकक्रीडा–यशोदागृहेष्वेवासीन्न तु रोहिणीगृहभुवीत्यैतच्चरित्रात् स्फुटम्।
तद्युक्तं स यशोदया गृहमुपानीतः स रामोऽच्युतो युक्तं सा सुतवत्सलेति च तदाह्वानाय तां प्राहिणोत् ॥ १९ ॥
न रोहिणीगृहे क्रीडाप्रचारो हरिणा कृतः। तद्धितप्रत्ययो मा भूद् व्यक्तोऽत्रेत्याशयाद् ध्रुवम् ॥ २० ॥
यदि व्रजाम्येक एव हित्वा कृष्णमहं पुरः। तन्मे शेषगतिर्न स्यात् सिद्धाऽतः सोऽपि नाव्रजत् ॥ २१ ॥

कृष्णेतिः १०.११.१५.

यद्भग्नार्जुननामतः प्रभुरसावाकारितो नाऽऽययौ प्रागाच्च स्फुटमादरेण सविधं कृष्णाच्युतेत्याह्वयात्।
सत्येष्वप्यखिलेषु नामसु परेष्वेतानि नामानि मां भक्तायत्ततया नयन्ति वशतामित्यात्मकृत्यैरितम् ॥ २२ ॥

प्रतीक्षते त्वामितिः १०.११.१७

साध्वी सा व्रजपानुशासनचणा संभोक्ष्यमाणं व्रजाधीशं यत्पुरतो विधाय सुखिनी जाताऽच्युतप्रीतितः।
एवं या भुवि भोक्तृजीवमनघा कृत्वाऽग्रतः प्रार्थयेच्छ्रीशं वृत्तिरसावपि प्रभवति सानन्दवृत्तिस्तथा ॥ २३ ॥
तदेवान्वर्थकं नाम यदर्थालङ्कृतः पुमान्। प्रसाद्येशमभूत्स्पष्टं यशोदा सा यशस्विनी ॥ २४ ॥
आहूतोऽहमनागतोऽप्यनुदितोपेक्षं मुहुर्यन्मतिर्मा मेवैति यशोदया हितदृशा मत्प्राप्तिबद्धस्पृहा।
भूत्वा तत्सुलभस्ततश्च सहितस्तेनामृताभ्यर्हितं भोक्ष्ये भोज्यमिति व्यबोधि हरिणा भोक्त्रा पितृभ्यां सह ॥ २५ ॥

कृष्णप्रिया

किसी एक दिन का प्रसङ्ग है कोई एक बेचने वाली आई और पुकारने लगी, फल लीजिए भाई फल, मीठे मीठे फल, यह सुनते ही समस्त यज्ञ-याग-व्रत-जप तप आदि के फल देने वाले भगवान् अच्युत फल खरीदने की इच्छा से अञ्जलि में अन्न लेकर दौड़ आये ॥ १० ॥ भगवान के करकमलों से अनाज का कुछ हिस्सा तो रास्ते में ही बिखर गया परंतु फल बेचने वाली ने उस पर ध्यान न दिया किन्तु अन्न ले कृष्णजी की अञ्जलि फलों से भर दी। इधर भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रने भी देखते-देखते फल की टोकरी रत्नों से भर दी ॥ ११ ॥ पुनः एक दिन यमलार्जुन वृक्षको भूतल पर गिरानेवाले श्रीकृष्ण एवं दाऊजी भैया बाल सखों के सङ्ग खेलते खेलते श्रीयमुना तीर चल पड़े और खूब खेल रहे थे। खेलते

खूब देरी हो गई तब श्रीरोहिणी माँ ने पुकारा हे कृष्ण हे बलराम जल्दी घर आओ ॥ १२ ॥ परन्तु दोनों भैया क्रीडन में इतने लग गये थे कि श्रीरोहिणी अम्मा की बुलाहट पर नहीं आयें तब देवी रोहिणीजीने पुत्रवात्सल्यपूर्णा श्रीयशोदाजी अम्मा को भेजा कि दोनों कुमारों को आप ले आयिए ॥ १३ ॥ बलभद्रजी एवं लालन को बालसखाओं के सङ्ग खेलने में अतिकाल हो गया था। माता यशोदा दोनों के नाम लेकर प्रेम से पुकारती थी तब माताजी के वक्षस्थल में से दूध चू रहा था ॥ १४ ॥ अम्मा यशोदा जोर जोर से पुकारने लगी प्यारे लालन् ! प्यारे कृष्ण ! ओ कृष्ण ! बेटा कमलनयन ! अरे बेटा जलदी आओ आकर अम्माँ का दूध पी लो बेटा ! अब खेलना बस करो, बेटा कब तक खेलोगे ! भैया देखो तो सही भूख से कितने दुबले हो गये हो, देखो देखो खेलते खेलते तुम्हें थकावट लगी है ॥ १५ ॥ बेटा बलराम ! सचमुच तुम कुलको आनन्द देनेवाले सयाने सुत हो छोटे भैया को घर ले आओ, तो देखो दोनों भैयाने आज जलदी सवेरे के ही कलेऊ किया था अब तो दोनों भैयाओं को कुछ खाना चाहिए ॥ १६ ॥ देखो तो सही दाशार्ह ! बेटा बलदाऊ तुम्हारे पिताजी व्रजराज भोजन की थाली पर बैठ रहे हैं वे तुम्हें छोड़कर भोजन नहीं करते देखो देखो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अरे भैया आओ आओ जल्दी आओ और बाबा को एवं भैया को आनन्दित करो, अरे लड़के लोग भैया आप भी अपने अपने घर पहुँचो ॥ १७ ॥ देखो तो सही बाबा तुम्हारे सारे के सारे अङ्ग धूलसे धूसर बन चुके हैं, आ जाओ जलदी नहा धो लो आज तुम्हारा जन्म नक्षत्र है अतः स्नान से पवित्र होकर ब्राह्मणों को गोदान करो ॥ १८ ॥ बेटा ! देखो ! देखो जरा देखो तुम्हारे सखाओं को अपनी अपनी माताओं ने सबको नहला धुलाकर मींज-पोंछकर भूषणों से विभूषित कर दिया है भैया तुम भी नहा धोकर—खा-पीकर सज-धजकर फिर खूब खेलना ॥ १९ ॥ राजन् परीक्षित !, माता यशोदाजी की बुद्धि स्नेह से भगवान् में ही लगी थी, और अखिल विश्व के शिरोमुकुट भगवान को अपना पुत्र समझती थी वह जननी आज इस प्रकार दोनों लालनों को कहती हुई दायें बायें करकमलों में लेकर घर लायीं और बालकों के स्नानादि मङ्गल कार्य माताजीने कियें ॥ २० ॥

[1]

गोपवृद्धा महोत्पातानुभूयः बृहद्वने । नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन्[2] ॥ १० ॥
तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः । देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः ॥ ११ ॥
उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः । आयान्त्यत्र महोत्पाता [3]प्रजानां नाशहेतवः ॥ १२ ॥
मुक्तः कथञ्चिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको [4]ह्यसौ । हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥ १३ ॥
चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन [5]विपदं वियत् । शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥ १४ ॥
यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः । असावन्यतमो वापि [6]तच्चाप्यच्युतरक्षणम् ॥ १५ ॥
यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः । तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नन्दादयः गोपवृद्धाः समागम्य बृहद्वने महोत्पातान् अनुभूय व्रजकार्यम् अमंत्रयन् ॥ १० ॥ तत्र रामकृष्णयोः प्रियकृत् देशकालार्थतत्त्वज्ञः ज्ञानवयोऽधिकः उपनन्दनामा गोपः आह ॥ ११ ॥ प्रजानां नाशहेतवः महोत्पाताः अत्र आयान्ति (अतः) गोकुलहितैषिभिः अस्माभिः इतः उत्थातव्यम् ॥ १२ ॥ असौ बालकः हि बालघ्न्या राक्षस्या कथंचित्त मुक्तः च हरेः अनुग्रहात् उपरि अनः न अपतत् ॥ १३ ॥ चक्रवातेन दैत्येन अयं विपदं वियद् नीतः तत्र शिलायां पतितः सुरेश्वरैः परित्रातः ॥ १४ ॥ द्रुमयोः अन्तरं प्राप्य असौ बालकः अन्यतमः वा अपि यत् न म्रियेत् तत् च अपि अच्युतरक्षणम् ॥ १५ ॥ औत्पातिकः अरिष्टः यावत् व्रजं न अभिभवेत इवः तावत् बालान् उपादाय अन्यत्र सानुगाः यास्यामः ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

रंतुं वृंदावनं गंतुमंतः कृष्णेन यंत्रिताः ॥ स्वतंत्रा इव नंदाद्या मंत्रमेतममंत्रयन् ॥ १ ॥

व्रजकार्यं गोकुलस्य हितकृत्यम् ॥ २१-२४ ॥ विपदं वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं विगतप्रतिष्ठं वा । वियन्नभः ॥२५॥ अन्यतमो वा कश्चिद्बालः । अच्युतेनैव रक्षणमासीत् ॥ २६ ॥ अरिष्टोऽनर्थः । इतः स्थानात् ॥ २७ ॥

---

१. श्रीशुक उवाच-वंशी. । २. मच्चिन्तयन्-विज. । ३. महोत्पाता बालानां-श्रीधर. वंशी. जीव., प्रजाना-वीर. विज. । ४. प्यसौ-वीर. विज. । ५. वियदुद्धृतां-विज. । ६. तदप्य-श्रीधर. वंशी., तत्राप्यच्युत-वीर. जीव., तच्चाप्यच्युत-विज. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अंतश्चेतसि। यंत्रिताः प्रेरिताः। एतं वक्ष्यमाणम् (१) ॥ २१ ॥ तत्र तेषु नंदादिषु ॥ २२ ॥ इतो बृहद्वनात्। गोकुलस्य। गोयूथस्य अत्र बृहद्वने ॥ २३ ॥ अनः शकटम् ॥ २४ ॥ पक्षिणां विहारो न केवलमाकाशे किं तु-भूमावपीत्यरुच्या विगता प्रतिष्ठावमानं यस्य तद्विगतप्रतिष्ठमनंतपदवाच्यत्वाद्वियतः तत्र तदा ॥ २५ ॥ असौ कृष्णो बालकः। अन्यतमः कृष्णाद्भिन्नः। यन्न म्रियेत तदच्युतरक्षणमिति योजना ॥ २६ ॥ औत्पातिकः उत्पातप्रभवोऽरिष्टोऽशुभसूचकः "अरिष्टमशुभे तक्रे सूतिकागार आसवे। शुभे मरणचिह्ने च" इति मेदिनी। अन्यत्र स्थानांतरे ॥ २७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

"स्वाभाविकेन तत्प्रेम्णा प्रेरिता गोपपुङ्गवाः। इत्यंकमङ्गलाहार्यं व्रजकार्यममन्त्रयन्" ॥

यमलार्जुनभङ्गेन्द्रयागसमापनानन्तरम् समागम्य आस्थान्यां मिलित्वा व्रजकार्यं व्रजप्राणस्य श्रीकृष्णस्य हितानुसन्धानात् ॥ १० ॥ तत्र तेषु अर्थः प्रयोजनं देशादीनां त्रयाणामेकैकेषां मिलितानां च यत्तत्त्वमुत्तममध्यमादित्वं तज्ज्ञः इति ज्ञानाधिक्यं विशेषितं वय आधिक्यान्नामसाम्याच्च श्रीनन्दराजस्यासौ मन्त्री ज्येष्ठभ्राता चेति गम्यते। एवं तादृशोक्तौ योग्यतोक्ता किञ्च श्रीरामकृष्णयोः प्रियकृत् प्रकृत्यैव प्रेम्णा हितकर्त्ता अतो महोत्पातानुभवेन तयोरनिष्टशङ्कयैवाहेत्यर्थः। अत्र ज्येष्ठकनिष्ठतया नामवैपरीत्यसम्भवेऽपि स्वरसत एव पूर्वं ज्येष्ठस्योपनन्देति नाम कृतम् उप समीपे नन्दयतीति पश्चात्तयुग्मकत्वेन कनिष्ठस्य नन्देति कृतं तत्पितृचरणैः तच्च तत्तारतम्यसंवादित्वाद्दैवघटितमेव तथा सर्वलक्षणसम्पन्नत्वादेव तस्मै कनिष्ठायापि परमप्राज्ञेन तेन ज्येष्ठेनैव स्वेच्छया गोकुलराज्यं समर्पितमिति विवेचनीयम् ॥ ११ ॥ उत्थातव्यमन्यत्र गन्तव्यमित्यर्थः। कुतः ? गोकुलस्य तत्रत्यानां सर्वेषां हितैषिभिरिति बालानामिति च सामान्योक्तिः श्रीनन्दस्याशङ्कोचार्थं प्रजानामिति पाठेपि स एवार्थः। व्रजानामिति च पाठः क्वचित् वस्तुतस्तु तद्धितादिनैव सर्वहितादिसिद्धेः तत्तदुक्तिः ॥ १२ ॥ अतस्तानधिकृत्यैव महोत्पातानुतापं सूचयन् कौतुकेन स्वयमेव तत्रागतं श्रीकृष्णमङ्के कृत्वा सस्नेहं दृष्टान्तयति—मुक्त इति त्रिभिः। राक्षस्यादिशब्देन स्वगणेनाप्रतिकार्यत्वं दर्शितं बालक इत्यनेन तेन तु सुतराम् अतः कथञ्चिदिति साक्षात्कारणादर्शनात् केनाप्यनिर्वचनीयेनैव कारणेनेत्यर्थः। हि प्रसिद्धौ सर्वेषामेवानुभवात् कथञ्चित्तेनोक्तमेव निर्द्धारयति—हरेरिति। नूनं निश्चये ॥ १३ ॥ दैत्येन नीतः तत्र च वियदाकाशं नीतः तत्रापि विपदम् अन्यत्तः तत्र विगतप्रतिष्ठमिति अत्यूर्द्ध्वमित्यर्थः। सुरेश्वरैः अच्युतप्रेरितैः तत्पार्षदरूपैरेवेत्यर्थः। तदप्यच्युतरक्षणमित्यपिशब्दात् ॥ १४ ॥ सास्रगद्गदमाह—यन्न म्रियेतेति। दुःखैरेवाश्लीलमपि प्रयुक्तमिदमिति तत्रापीति तदपीति वा पाठः ॥ १५ ॥ एवमसकृत्परमेश्वरेण रक्षा कृता तादृशं च कुतोऽस्माकं भजनं येन सदा तेन सा कार्या तस्मात्तदादिष्टनीतिशास्त्रानुसाराच्चोत्पातस्थानमेतदाशु परित्यक्तमेव युज्यत इत्याह—यावदिति। औत्पातिकः उत्पातजः व्रजमित्यादिकं पूर्ववच्छ्रीकृष्णाभिप्रायेणैव ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

समागम्यास्थान्यां मिलित्वा व्रजकार्य्यं व्रजप्राणस्य श्रीकृष्णस्य हितानुसन्धानात् ॥ २१ ॥ तत्र तेषु तस्मिन् वा मन्त्रणे। गोप इति श्लेषेण वाक्पतिरित्यर्थः। किञ्च, ज्ञानेन वयसा चाधिको महानतो यस्मिन् देशे काले च कर्त्तव्यो योऽर्थः प्रयोजनम्, तस्य तत्त्वज्ञोऽतः श्रीनन्दराजस्यासौ मन्त्री ज्येष्ठभ्राता च ज्ञेयः। एवं तादृशोक्तौ योग्यतोक्ता। किञ्च, रामकृष्णयोः प्रियकृत् तयोः श्रीवृन्दावनं जिगमिषामभिप्रेत्य तत्र गमनमंत्रप्रदानेन प्रीतिं सम्पादयन्नित्यर्थः। यद्वा, नित्यं प्रकृत्यैव प्रियकृत् प्रेम्णा हितकर्त्ता, अतो महोत्पातानुभवेन तयोरनिष्टशंकयैवाहेत्यर्थः ॥ २२ ॥ उत्थातव्यमन्यत्र गन्तव्यमित्यर्थः। कुतः ? गोकुलस्य तत्रत्यानां सर्व्वेषां हितैषिभिरिति श्रीकृष्णहितेनैव तद्धितसिद्धेः। यद्यपि श्रीनन्दनन्दनमधिकृत्यैव वक्ष्यमाणा महोत्पातास्तथापि बालानामिति बहुत्वम्, सर्व्वेषामपि गोपानां भयोत्पादनेन शीघ्रगमनात्, यद्वा, बालकवर्गशिरोमणौ तस्मिन्महोत्पातैः सर्व्वबालकेष्वपि महोत्पातापत्तेः। प्रजानामिति पाठेऽपि स एवार्थः। व्रजानामिति पाठे तु सर्व्वव्रजजीवने तस्मिन् कृतास्ते सर्वेषामपि व्रजजनानां नाशहेतव एव ॥ २३ ॥ महोत्पातानेव दर्शयन् तेषां स्वतोऽप्रतिकार्य्यताञ्च बोधयति—मुक्त इति त्रिभिः। बालक इति स्वयं मोचनाशक्तिरुक्ता, अतः कथञ्चिदिति साक्षात्कारणादर्शनात् केनाप्यस्मद्भाग्येनैवेत्यर्थः। हि अनुभवे, असौ सर्व्वेषामस्माकं जीवनभूतः, परोक्षनिर्देशो 'गोपवृद्धाः' इत्युक्त्या सभायां मंत्रणे वृद्धानामेव योग्यत्वेन बालकस्य तस्य तत्र साक्षादविद्यमानत्वात्, यद्वा, असावयं साक्षाद्दर्शनेन तस्मिन् उपनन्देन तस्यापि तत्रव नीतत्वात्, किंवा कौतुकेन स्वयमेव तेन तत्र गतत्वात्। नूनं निश्चये। अमुष्योपरि सर्व्वोत्पातादिदुःखं हरतीति हरिस्तस्येति वैष्णवानामस्माकं गृहे विशेषतो रक्षा मन्त्रविदां श्रीयशोदादीनां सान्निध्ये राक्षस्याः किञ्चित्करणाशक्तेस्तस्याः सकाशादमुष्य मुक्तिरस्मद्भाग्येनापि सम्भवात्। दूरे रहस्याशरणे शकटाधः शायितस्योपरि स्वयं पततोऽपि शकटस्यापतनञ्च परमदुर्घटं केवलं तदनुग्रहादेव भवतीति भावः ॥ २४ ॥ अयमिति प्रस्तुततया कालनैकट्यापेक्षया वा, पक्षान्तरे स्नेहभर-जननार्थमंगुल्या दर्शयति—दैत्येन

नीतस्तत्र च वियदाकाशं नीतस्तत्रापि विपदम्, तैर्व्याख्यातमेव, तत्राप्यूर्द्धमित्यर्थः, यद्वा, आपद्रूपं ततः पातादिना महानर्थ-सम्भवात्। यद्यपीदृशं श्रीभगवति प्रयोक्तुं न योग्यम्, तथापि विभीपिकार्थम्, किंवा 'अनिष्टाशंकीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति' इत्यादिन्यायेन स्नेहभराकुलत्वादुपपद्यत एव। अग्रे 'न म्रियेत' इत्येवमन्यत्राप्युह्यम्। पश्चात् पतितोऽपि तत्र शिलायामित्येवमु-पर्य्यधोऽपि विपद्वर्गतः सुरश्रेष्ठैस्तत्तल्लोकपालैरेव परित्रातः। यद्वा, ततस्ततः सर्व्वतो रक्षया हरेरेव शक्त्यतिशयं मत्वा, गौरवेण सुरेश्वरैरिति बहुत्वम्, सुरेश्वरेणेत्यर्थः ॥ २५ ॥ म्रियेतेत्ययुक्तमप्यमंगलस्मारणं तेषां स्नेहवर्द्धनार्थम्। अच्युतेन सर्व्वव्यापकेन भगवतैव रक्षणमभूत्, अन्यथैतस्ततः स्थितानां बालकादीनामप्याकाशस्पर्शिमहावृक्षद्वयनिपातादन्येन तत्र तत्र रक्षणासम्भवात् ॥ २६ ॥ एवमसकृत् परमेश्वरेण रक्षा कृता। तादृशञ्च कुतोऽस्माकं भाग्यं येन सदा तेन सा कार्य्या, तस्मा-त्तदादिष्टनीतिशास्त्रानुसरणाच्चोत्पातस्थानमेतदाशु परित्यक्तुमेव युज्यत इत्याह यावदिति। औत्पातिक उत्पादजः, व्रजं सर्व्वमेव गोकुलम्, यद्वा, निजप्राणाधिक-श्रीनन्दबालकाभिभवेन सर्व्वस्यापि व्रजस्याभिभवापत्तेस्तदपेक्ष्यैव व्रजमित्युक्तम्। बालानिति बालानामिति पूर्व्ववत्, यद्वा, गौरवेण बहुत्वम्,-श्रीकृष्णमित्यर्थः। सानुगाः पुत्रकलत्रमित्रभृत्यपुरोहितादिसहिताः ॥ २७ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पक्षिणां पदं स्थानं विपद्रूपं वियदिति वा ॥ १०-१४ ॥ अयुंक्त प्रस्थानयोग्यान् कुरुत ॥ ११-१८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं स्थिते कदाचिद्गोपवृद्धाः पूतनाशकटादिकृतान् महोत्पातननुभूय समागम्य समेत्य व्रजकार्यं गोकुलस्य हित-कृत्यममन्त्रयन्नालोचितवन्तः वृन्दावनं गन्तुमिच्छता श्रीकृष्णेन अन्तरात्मना प्रेरिताः अमन्त्रयन्निति भावः ॥ १० ॥ तत्रोप-नन्दनामा कश्चिद्गोपः स च गोपानां मध्ये ज्ञानेन वयसा चाधिकः देशकालानुगुणकर्त्तव्यप्रयोजनाभिज्ञः रामकृष्णयोः प्रिय कृत्तावन्नन्दादीनाह ॥ ११ ॥ उक्तमेवाह—उत्थातव्यमित्यादिना तच्छ्रुत्वेत्यतः प्राक्तनेन। गोकुलस्य हितमिच्छद्भिरस्माभिरितो व्रजादुत्थातव्यं निर्गन्तव्यं प्रजानामत्रत्यानां नः नाशहेतवो बहवः उत्पाता आयान्त्यायास्यन्ति ॥ १२ ॥ अतीतास्त्वपरोक्षदृष्टा एवेत्याह—मुक्त इति। कथञ्चिद्दैववशान्मुक्तः तथा भगवदनुग्रहादनः शकटमपि बालस्योपरि नापतत् ॥ १३ ॥ तथा चक्रवातेन वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं वियदाकाशं प्रत्ययं बालो दैत्येन नीतः वियदाकाशं ततो विपदमापदञ्च नीत इति वा सुरेश्वरै-रस्मादिष्टदैवतैः परित्रातः ॥ १४ ॥ कुतः यद्यस्मादुभयोरर्जुनयोः पततोरन्तरं मध्यं प्राप्यासौ बालकोऽन्यतमो वापि कश्चिन्न मृतः तदप्यच्युतेनास्मादिष्टदैवतेनैव रक्षणमासीत् ॥ १५ ॥ यावदुत्पातप्रयुक्तोऽरिष्टोऽनर्थो व्रजं नाभिभवेत् न पीडयेत् तावदेव बालानादायान्यत्र यास्यामः ॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तत्र नन्दादिषु ॥ ११ ॥ इत उत्थातव्यम् ॥ १२ ॥ अनश्च शकटश्च ॥ १३-१४ ॥ असौ कृष्णो बालकः कृष्णादन्यतमो बालको न म्रियेतेति यत् तदप्यच्युतरक्षणम् अन्यबालकस्य मरणाभावः ॥ १५ ॥ औत्पातिकः उत्पातसम्बन्धी अनर्थकरः इतो बृहद्वनात् तावत्ततः पूर्वमेव ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

स्वाभाविकेन तत्प्रेम्णा प्रेरिता गोपपुङ्गवाः। हर्य्येकमङ्गलाहार्यं व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥

इत्याह—गोपेति। व्रजकार्यं व्रजप्राणस्य श्रीकृष्णस्य हितानुसंधानात् प्रियकृदिति शीले क्विप् ॥ १०-११ ॥ बालानां व्रजानामिति पाठद्वयेऽपि समूहनिर्देशो व्रजेश्वरसङ्कोचर्त एवाग्रे श्रीकृष्णैकनिष्ठत्वेनातीतभयोद्देशात् कथञ्चित्तेन निर्द्दिष्टं निर्द्धारयति हरेरिति ॥ १२-१३ ॥ सुरेश्वरैरच्युतप्रेरितैस्तत्पार्षदैस्तत्राप्यच्युतरक्षणमित्यपिशब्दात ॥ १४-१५ ॥ व्रजं बालानिति पूर्ववत् श्रीकृष्णाभिप्रायेण ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

महावने विहृत्यैवं विजिहीर्षा यदाऽजनि। वृन्दावने हरेस्तर्ह्यौपनन्दी रराज गीः ॥

उपनन्दो नन्दराजस्य ज्येष्ठो मन्त्रीति प्राज्ञः ॥ ११ ॥ गोकुलस्य गोकुलवासिमात्रस्य ॥ १२-१३ ॥ चक्रवातेन तृणा-वर्त्तेन वियदाकाशं विपत्प्रापकत्वाद्विपदं सुरेश्वरैः सुरेश्वरेण विष्णुना बहुत्वं गौरवेण तत्रापीत्युत्तरवाक्येऽपिकारात् ॥ १४ ॥ असौ कृष्णः ॥ १५ ॥ पूर्वमस्मिन्नगरे विष्णुकथाकीर्त्तनदर्शनपरिचर्यादिकं बहुतरमासीत् यावन्नन्दस्य बालको अयमभूत्ताव-

दास्थान्यादिषु सर्वत्रास्यैव कथाकीर्त्तनदर्शनादिकं प्रतिक्षणं भवत्यतस्तादृशं च कुतोऽस्माकं सम्प्रति तद्व्रजनं येन सदा विष्णुनैव रक्षा स्यादतस्तदादिष्टनीतिशास्त्रमेवानुसरणीयमित्याह—यावदिति ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

व्रजकार्यं व्रजस्थजनस्य हितकृत्यम् ॥ १० ॥ स रामकृष्णयोः प्रियकृत् अतस्ताभ्यामेव प्रेरित इति गम्यते ॥११-१३॥ विपदं विगतप्रतिष्ठं वीनां गृध्रादीनां पदं सञ्चारस्थानं वा वियदाकाशं नीतः ॥ १३ ॥ असौ कृष्णः अन्यतमो वा बालः न मृतस्तदप्यच्युतेन परमेश्वरेणैव रक्षणमासीत् ॥ १५ ॥ अरिष्टोऽनर्थो व्रजं नाभिभवेन्न पीडयेत्तावदितः बृहद्वनात् अन्यत्र यास्यामः ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवं बृहद्वने क्रीडित्वा तदलञ्चकार अथ तृणावर्त्तवधावसरदृष्टशोभे वृन्दावने चिक्रीडिषुस्तद्गमनहेतूपद्रवानुदस्थापयदित्याह गोपवृद्धा इति। महोत्पातान् वृकान् वत्सबालक्लेशकरानिति श्री हरिवंशाद्बोध्यम् ॥ २१ ॥ वृन्दावनगमनबुद्धिदानायोपनन्दं प्रेरयदित्याह तत्रोपनन्देति। व्रजराजस्य पर्जन्यस्योपनन्दाभिनन्द नन्द सन्नन्दनन्दनाभिधाना पञ्चपुत्रा बभूवुस्तेषूपनन्दः पित्रा स्वस्मै दीयमानं राज्यतिलकं मध्यमायापि नन्दाय महागुणाय सर्वैकमत्येन प्रादात्, स्वयञ्च तदमात्योऽस्थादिति ख्यातम्। देशादीनां त्रयाणामेकैकेषां मिलितानां वा यत्तत्त्वं स्वरूपमुत्तमत्वमध्यमत्वादि तज्ज्ञः ॥ २२ ॥ गोकुलस्य तद्वासिमात्रस्य ॥ २३ ॥ बालानधिकृत्यैव महोत्पातानुतापं सूचयन् कौतुकात्तत्रागतं कृष्णमङ्के कृत्वा सस्नेहं दृष्टान्तयति मुक्त इति त्रिभिः। कथञ्चिदिति केनाप्यप्रत्यक्षेणैव कारणेनेत्यर्थः। तत् स्फुटयति हरेरिति। अनः शकटम् ॥ २४ ॥ चक्रवातेन तृणावर्त्तेन वियदाकाशं वियत प्रापकत्वाद् विपदं सुरेश्वरैः हरिणा बहुत्वं गौरवात् ॥ २५ ॥ सास्रं सगदगदञ्चाह यन्न म्रियेतेति दुःखभवादश्लीलमपि प्रयुक्तं तच्च झटित्युत्थनायेति बोध्यम्। असौ कृष्णः यद्यपोषां नित्यपार्षदत्वात् कृष्णैश्वर्यबुद्धिर्विसतन्तुवदन्तरस्त्येव तथापि वात्सल्यप्रेम्णा तदन्तर्द्धानादनिष्टाशङ्का बलभद्रादीनामिव ज्ञाततदैश्वर्याणामप्यभ्युदेतीति बोध्यम् ॥ २६ ॥ तथैवाह यावदिति उत्पातिक उत्पातजः अरिष्टः अशुभवान् क्लेशः "अरिष्टे तु शुभाशुभे" इत्यमरः ॥ २७ ॥

श्रीसत्याभिनवयतिकृता दुर्घटभावदीपिका

॥ हरिः ॐ ॥ शकटान्युङ्ध्वमाचिरमित्यस्याचिरं शीघ्रं शकटानायुङ्ध्वमित्यर्थः। एतेन शीघ्रं शकटान्युङ्ध्वमिति वक्तव्यम्। अचिरं शकटान्युङ्ध्वमिति कथनमयुक्तमिति दूषणं परिहृतम्। युङ्ध्व आ अचिरमिति पदच्छेदमंगीकृत्य आ इत्यस्य युङ्ध्व इत्यनेनान्वयमंगीकृत्याचिरं शीघ्रं शकटानायुङ्ध्वमित्यर्थस्योक्तत्वात् ॥ १८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

समागम्य मिलित्वा व्रजकार्यं भविष्यत् ॥१०॥ ज्ञानं च वयश्च ताभ्यामधिकः। तज्ज्ञानमेव विवेचयति। देशकालार्थतत्त्वज्ञ इति। रामकृष्णयोः प्रियकृत्। एतेन श्रीकृष्ण एव स्थानान्तरं गन्तुं तानप्रेरयदिति ध्वन्यते ॥११॥ उत्थाने निमित्तमाह। प्रजानां नाशहेतवो महोत्पातास्ते चोत्पाता वृकाद्याः। यथोक्तं हरिवंशे। सन्त्रासयावो भद्रं ते किञ्चिदुत्पाद्य कारणमित्यारभ्य घोरांश्चिन्तयतस्तस्य स्वतनूरुहजास्तथा। विनिष्पेतुर्भयकराः सर्वशः शतशो वृकाः। ते वृकाः पञ्चबद्धाश्च दशबद्धास्तथापरे। निश्चेरुस्तस्य गात्रेभ्यः श्रीवत्सकृतलक्षणा इति गर्भीकृत्य व्रजो निष्पन्दचेष्टः स्म एकस्थानचरः कृत इत्यन्तेन। ते च स्थलान्तरगमनगमनसा श्रीकृष्णेन बहिराविर्भाविताास्तदात्मका इति ज्ञेयम्। श्रीवत्सकृतलक्षणा इति तदसाधारणलक्षणोक्तेः। अत्रायान्तीत्यपरिचितस्थलं चेज्झटिति न घटेत तदनिष्टमिति भावः ॥ १२ ॥ अपिना बालकतां गर्हयामास। अनुग्रहान्नोपर्यनुग्रहं प्राप्य कथञ्चिदस्मदूह्यानास्पदतया कथञ्चित्केनाप्युपायेन बालघ्न्या राक्षस्या मुक्तोऽनः शकटञ्च हरेरस्योपरि नापतन्नूनं निश्चयो बाह्यार्थस्तु लोकानुवृत्त्या ॥ १३ ॥ विपदाकाशे प्रत्युद्यद्धता। वचिस्वपीति सम्प्रसारणम्। लटः शता यत्प्रत्ययः कर्तरि छान्दसः। वियन्नीतः शिलायां पातितस्तत्रापि सुरेश्वरैर्देवस्त्रातो रक्षित इति बहिः सुरा हरेर्गुणाः प्रोक्ता इत्येकादशतात्पर्योक्तेस्तेषामीश्वरैः। भावः प्रधानः। सामर्थ्यविशेषैस्ते च त ईश्वराः स्वभेदेन तैरयमस्मच्छुभदेवं च निमित्तीकृत्येति शेषः। परित्रातः स्वगुणैरेव रक्षित इत्यन्तरर्थः ॥ १४ ॥ द्रुमयोरन्तरं मध्यं प्राप्यापि बालको यः कोऽपि चेन्म्रियेत न मृतः सुरेश्वरैर्हैतोरन्यतमोऽपि बालको न म्रियेतेति यत्तत्राप्यच्युतस्य रक्षणं कृतं तेनेत्यैतद्रक्षणमित्यर्थः ॥ १५ ॥ औत्पत्तिक उत्पातोत्पन्नोऽरिष्टोऽनर्थः। तत्रारिष्टं शुभाशुभे इति विश्वः। लिङ्गाशिष्यतयाऽरिष्ट इत्युक्तम्। अरिष्टमस्यास्तीत्यरिष्टः। औत्पत्तिकः कश्चनानर्थ इति शेष इति वा। यावद्व्रजं नाभिभवेन्न तत्स्थं जनं पराभावयेत्तावन्मध्ये बालानुपादायेतोऽस्माद्देशाद्यास्यामः। आलस्येन न भाव्यं न स्थेयं चैकेनाप्यस्मदीयेनेत्याह ॥ अद्यैव सानुगा इति। तत्स्थलं सम्यग्वासम्यग्वाऽऽलायो मिलत वैको गत्वा विचार्यायायात्वत उत्तरं याम इति नेति स्वस्थितिमाहुः। वयं सानुगाः स्वान्वित्युपलक्षणम्। सानुगिरिदर्यादिवासिनां न गृहादिकृत्यमत इदानीमेव यास्याम इति भावः ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं बृहद्वनक्रीडामुक्त्वा सर्वदेवाधिष्ठितवृन्दावने क्रीडां वक्तुं भगवत्प्रेरितानां तेषां निर्गमनार्थं मन्त्रमाह,

उद्यमो मुख्यसम्पत्तिर्मन्त्रो हेतुस्त्रिभिस्ततः। निर्धारितपरित्यागः स्थानान्तरगुणास्ततः ॥ १ ॥
कृष्णाज्ञयेति कालस्य नापेक्षातोनिवारणम्। पञ्चभिर्गमनं चैव रतिस्तत्र हरेः परा ॥ २ ॥
एवं कलाभिर्भगवान् पूर्णो वृन्दावने बभौ ॥ २½ ॥

प्रथमं मन्त्रार्थमुद्यममाह **गोपवृद्धा** इति, गोपेषु ये वृद्धाः पूर्वापरानुसन्धानसहिताः, **बृहद्वनम**न्वर्थनाम, पूर्वं कदाचिदपि तत्रोत्पत्त्यभाव उत्पातानामिदानीं तु **महोत्पाताः पूतना**मरणादयः, **नन्दो**पि वृद्धप्रायः प्रधानव्यतिरेकेण विचारो न निर्वहतीति **समागम्य** सम्यगेकत्रोपविश्य, **व्रज**सम्बन्ध्यवश्यकर्तव्यम**मन्त्रयन्** ॥ १० ॥ सर्वेषां वक्तृत्वं न सम्भवतीति प्रधानं व्यपदिशति तत्रेति, **उपनन्दनामा** नन्दसम्बन्धी **गोप** इति धर्मप्रधानः, **ज्ञानवयोभ्यां** च परिणतः, **देशकालार्थानामपि कस्मिन्** देशे **कस्मिन्** काले कोर्थः कर्तव्य इति तत्त्वज्ञः, तादृशोप्यभक्तश्चेत् सर्वं व्यर्थं स्यादिति **रामकृष्णयोः प्रियकृ**द्**वा**हेति सम्बन्धः, नाम्ना नन्दस्य स एव मन्त्रद इति ज्ञापितं, **गोप** इति तन्मध्यपाती तुल्येष्टानिष्टः, तादृश एव मन्त्रार्हः; **ज्ञानं** तु **वयसा** **प्रतिष्ठितं** भवतीत्युभयाधिक्यं, इदं मन्त्रे मुख्यमङ्गं, लोकानभिज्ञो न शास्त्रार्थज्ञानमात्रान् मन्त्री भवतीति देशादिज्ञानमुक्तं, इदं गमनं स्वार्थं चेन् निरोधेन विरुध्यत इति भगवत्प्रीतिरुक्ता प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं, द्वयोर्निर्देशः साधारणनिरोधत्वात्, असाधारणनिरोधो भगवतैव क्रियते साधारणस्तूभाभ्यामिति ॥ ११ ॥ मन्त्रमाहोत्थातव्यमिति, इदं स्थानं परित्यक्तव्यं, परितो यद्यपि व्रजाः सन्ति ते तिष्ठन्तु मा वा, अस्माभिस्तूत्थातव्यं, ननु कर्माधीनत्वाज् जगतः सर्वत्रैव यद् भाव्यं तद् भविष्यतीति किं गमनेनेति चेत् तत्राह **गोकुलस्य हितैषिभि**रिति, **गोकुलस्य** ये **हितं** वाञ्छन्ति कालकर्मपक्षौ परित्यज्य लौकिकन्यायेन **ये हित**चिन्तकास्तैरवश्यमेतत् कर्तव्यं, यत् साधनानि भगवता दत्तानि ज्ञानकरणादीनि तान्यथा व्यर्थानि स्युः, अतो विरोध एव तयोर्भिन्नं प्रामाण्यं, यावन्न विरोधस्तावत् करणानामेव मुख्यं प्रामाण्यं, उत्थाने हेतुमाहायान्त्यत्र **महोत्पाता** इति।

अलौकिकोनिष्टहेतुरुत्पातः सर्वनाशकः। महोत्पातो बुधैर्ज्ञेयो यत्र तत्त्यागमर्हति ॥ १ ॥

महोत्पाताः पूतनादयः, तेषां सोढव्यतां निराकरोति **प्रजानां नाशहेतव** इति, हेतौ कार्यमावश्यकं, महतां देवाद्युपासकानामनिष्टाभावेपि प्रजोपद्रवोपि वारणीयस्तैः, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये"तिन्यायेन प्रतीकारापेक्षया त्यागः श्रेष्ठः ॥ १२ ॥ उत्पातानेव गणयन्ति तामसराजससात्त्विकान्, उत्पाताः प्रतीकारसहिता उच्यन्ते, अन्यथा तन्निवृत्तिरेव न स्यादुत्पातत्वं वा, अत एव **राक्षस्या पूतनयासावेव बालको मुक्तः**, दृष्टहेतुपरिज्ञानाभावात् **कथञ्चि**दित्यदृष्टं साधनं कल्पितं, कार्यस्य कारणावश्यकत्वात्, **राक्षस्या बालघ्न्ये**ति जातिक्रियादोषौ, **मुक्त**त्वं निःसन्दिग्धमित्य**सा**विति प्रदर्शितः, अलौकिकमुपायमाह **हरेरनुग्रहा**दिति, एतदेव हेतुद्वयं शकटभङ्गेप्याकर्षत्य**नश्चोपरि नापत**दिति चकारेण, **नून**मिति स्वदर्शनात् ॥ १३ ॥ तृणावर्तं लौकिकानि बहूनि साधनान्याह **चक्रवातेने**ति, **चक्रवातः** प्रसिद्धस्तृणावर्तः कंसभृत्य इति, अतो **दैत्य** इत्युक्तं, **वियदाकाशं नीतः**, तदपि नाल्पदूरं किन्तु **विपदं**, यावद्दूरे श्येनादयः परिभ्रमन्ति, वयः पक्षिणस्तेषां **पद**मिति, यद् **वियत्** नीतवांस्तद् **विपद**मेव नीतवानिति वा, **सरस्वती** तु तस्यायमेव **विपद्रूपः**, **विपद्** व्ययं प्राप्नुवद् यथा भवति तथा प्रतिक्षणं क्षीयमाणेन नीतः, तत्रोभयोर्गतयोर्मध्य एकः **शिलायां पतित**स्तत्रैव प्रदेशे पर उपर्येव **सुरेश्वरैः परित्रातः**, न देवमात्रकृत्यं तादृशं, रुद्रास्तु घातुकाः, तदुपमर्दस्तु सुरेश्वरैरेव कर्तुं शक्यः, रुद्राधिपतिः पुनस्तेषामनुकूल इति बहवोत्र पुनस्तादृशा रक्षका उक्ता "बहूनामनुग्रहो न्याय्य" इति, **परित**स्त्राणं न केनाप्यंशेन बाधाभावार्थम् ॥ १४ ॥ प्रस्तुतमाह **यन्ने**ति, अनयो**र्द्रुमयोन्तरं प्राप्य** बहवो **बाला** अत्र स्थिताः कोपि नोपद्रुतः, **असौ** भगवानन्यतमः, **अन्यो** वा कश्चिद् भगवान् देवैः सर्वदा रक्षत इत्यन्यस्य नामग्रहणं, **तम**प्प्रत्ययेन हीनोपि कश्चिन्नोपद्रुत इत्यमङ्गलशब्दोच्चारणं स्नेहात्, प्राकृतानां सहजं प्राकृतत्वमन्यथा न परिज्ञायेत, येषां वाङ्मनसोरव्यवस्था तेत्यन्तंप्राकृता येषां मनसोपि नाव्यवस्था तेत्यन्तं सन्तः, अत्राच्युतो भगवानेव **रक्षकः**, स हि सर्वत्र **च्यु**तिरहितोन्तर्यामी ततो बालकानुत्पातस्थानादन्यत्र नीतवान् ॥ १५ ॥ अतो भगवतो वारत्रयं देवानां च रक्षणं जातमित्यतः परं य उत्पातः समायास्यति तस्य न प्रतीकार इति ततः पूर्वमेव गमनमुचितमित्याह **यावदि**ति, **उत्पातेन** जातो**रिष्टो** मरणादिरूप इति **यावद् व्रजं नाभिभवेत् तावदितो बालानादाय सानुगाः** सपरिकरा **अन्यत्रैव यास्यामः**, निर्धारितमेतद् वचनं, **बालानां** कर्मता, **उत्पाता**स्तत्सम्बन्धिन एव दृष्टा इति, स्थलान्तरमन्विष्यास्य परित्याग उचित इति ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गोपवृद्धा इत्यस्याभासे, **सर्वदेवाधिष्ठितेति**। आधिदैविका इन्द्रादयोन्तरङ्गसेवका भूत्वा तत्तल्लीलोपयोगिस्थानं सज्जीकृत्य प्रभुं प्रतीक्षन्त इति तथात्वम् ॥ ११ ॥ **मुक्तः कथञ्चि**दित्यस्याभासे, **उत्पातत्वं चेति**। न स्यादिति शेषः। **प्रतिकारवत** एवोत्पातशब्दवाच्यत्वादिति भावः ॥ १३ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

गोपवृद्धा इत्यत्र सुबोधिन्यां **निर्धारितपरित्याग** इति निर्धारितश्चासौ परित्यागश्चेतिकर्मधारयः, नपुंसकलिङ्गपाठे तु वाक्यमितिशेषः सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिश्च, कृष्णाज्ञयेत्याद्यन्तर्यामिप्रेरणरूपया **कृष्णाज्ञया**, इत्येतत् सर्वमतः **कालस्य** मुहूर्तादिरूपस्य **नापेक्षा प्रनिवारणं** मन्त्रमध्यस्थैः कैरपि तस्य मन्त्रस्य न **निवारणं**, यद्वा यत इदमुक्तहेतोरतोपेक्षातोसौकर्याद्यपेक्ष्य **कालस्या-निवारणं**, कालं नातिक्रान्तवन्त इत्यर्थः ॥ १० ॥ **तत्रे**त्यत्र **प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थ**मिति, गोपानां निरोधे रामस्यापि प्राधान्य-ज्ञापनार्थं, तत्र हेतुः **साधारणनिरोधत्वा**दिति गोपानां यो निरोधस्तस्य **साधारणनिरोधत्वा**दित्यर्थः, तस्य लक्षणमाहुः **साधारण-**स्त्विति ॥ ११ ॥ **उत्पातव्य**मित्यत्र कालकर्मपक्षपरित्यागे हेतुमाहु**र्य**दित्यादि, तर्हि पक्षद्वये कथं व्यवस्थेत्यत आहु**रत** इत्यादि, **तयो**र्यद् भविष्यपक्षप्रतिकरणपक्षयोर्विरोध एवाधिकारिभेदकालभेदभिन्नं प्रामाण्यं विरोधाभावे तूक्तैव व्यवस्थेत्यर्थः, **तत्त्यागमर्हं-**तीति **तत्** स्थानं **त्याज्य**मित्यर्थः, **तै**रिति महद्भिः ॥ १२ ॥ **मुक्त** इत्यत्राभासे प्रतीकारसहितोत्पातकथनप्रयोजनमाहुरन्यथेत्यादि, यदि प्रतीकारो न स्यात् तदा तन्निवृत्तिरेव न स्यात्, **उत्पातत्वं** चेति तट्टिप्पण्यां व्याकुर्वन्ति न **स्यादितिशेष** इत्यनेन तथा च तस्य नियतत्वे प्रलयत्वमेव स्यान् **नोत्पातत्व**मित्यर्थः ॥ १३ ॥ **चक्रवातेने**त्यत्र**ायमेव विपद्रूप** इत्यत्र अमित्यनुस्वारो व्याख्यात-स्तिष्ठति स च अं परं ब्रह्मेत्येकाक्षरकोशादकारोकारमकारलुप्तमकारबिन्दुनादेतिषोढाप्रणवमात्राविभागे बिन्द्वर्थोक्तत्वाच्च परब्रह्म **वाचको ज्ञेयः, सुरेश्वरपदतात्पर्य**माहुर्न **देवे**त्यादि, तथा च **सुरेश्वर**पदेन भगवद्भक्तास्ते बोध्या, **अनुकूल** इति नीललोहितत्वेन भक्तत्वात् ॥ १४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गोपवृद्धा इत्यत्र **पूर्व**मिति बृहद् ब्रह्मरूपं वनमतस्तत्र नोत्पात इत्यर्थः ॥ १० ॥ **तत्रे**त्यत्र **असाधारणनिरोध** इति नन्दगोपसुतमात्रविषयकः सर्वात्मभाववतीष्वन्तरङ्गलीलाजनित इत्यर्थः, **साधारण** इति सर्वभक्तसाधारण इत्यर्थः ॥ ११ ॥ **उत्पातव्य**मित्यत्र **विरोधे** एवेति प्रामाण्यमादरणीयमित्यर्थः ॥ १२ ॥ **मुक्तः कथञ्चि**दित्यत्र **अत** एवेति उत्पातत्वेन प्रतीकार-सहितत्वादेवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ **चक्रवातेने**त्यत्र **सरस्वती**तिपक्षे **विपद**मित्यत्र व्यत्ययेन प्रथमार्थे द्वितीया, **विप**दित्यत्र तृतीयाया लुक् ॥ १४ ॥ **यन्** नेत्यत्र **प्राकृताना**मिति मूढानामित्यर्थः ॥ १५ ॥ **भगवत** इति एकवारमच्युतस्य **भगवतो वारत्रयं देवानामेवं** वारचतुष्टयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गोपवृद्धा इत्यारभ्य "राममाधवयोर्नृपे" त्यन्तं षोडशश्लोकानां सङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **एवं कलाभिर्भगवान् पूर्णो वृन्दावने बभावि**त्यनेन, षोडशकलायुक्तो **भगवान् पूर्णः श्रीवृन्दावने** बभौ, श्रीवृन्दावनचन्द्रनामा सर्वोत्कर्षेण शोभते इति-फलितम् ॥ १० ॥ **प्रियकृद्रामकृष्णयो**रित्यस्य विवृतौ **प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थ**मित्यादि मन्त्रोपदेष्टुरुपनन्दस्य **प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं** मुख्यत्वसिद्ध्यर्थमित्यर्थः, **द्वयो**रिति रामकृष्णयोरित्यर्थः, यद्यपि श्रीकृष्ण एव नन्दपुत्रस्तथापि वृद्धाः स्वसम्बन्धिनं स्व-सुहृत्सम्बन्धिनं च तुल्यतया गणयन्तीति वसुदेवपुत्रो रामो नन्दपुत्रः श्रीकृष्णश्च साम्येन व्यवह्रियत इति रामकृष्णयोः प्रियकृदित्युक्तं, तथा च उपनन्दे प्राधान्यं वृद्धत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ११ ॥ **गोकुलस्य हितैषिभि**रित्यत्र **अतो विरोध एव तयो**रिति यत्र साधने कृतेपि विरुद्धं फलमुत्पद्यते तत्रैव **तयोः** कालकर्मणोर्भिन्नं **प्रामाण्यं** कालेनान्यथाकृतं कर्मणान्यथाकृतमित्युद्घोष-दर्शनात्, अत्र तु साधनानामेव मुख्यत्वमिति **गोकुलस्य हितैषिभिः** कालकर्मविचारमकृत्वा लौकिकन्यायेनैवोपायकरणे बृहद्व-नादुत्थातव्यमिति मन्त्रदातुर्हार्दम् ॥ १२ ॥ **यावदौत्पातिकोरिष्ट** इत्यत्र **बालानां कर्मते**ति "तावद् बालानुपादाये"त्युपादान-**कर्मता बालाना**मित्यर्थः, यद्यपि सर्वपदार्थानामुपादानकर्मता तथापि बालानां मुख्यत्वमिति तथा ॥ १६ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

गोपवृद्धा इत्यादीनां षोडशश्लोकानां क्रमेण वाक्यार्थानाहुरुद्यम इत्यादि का० १११३ । आद्येन गमनोद्यमः, "तत्रोपनन्द-**नामाहे**"त्यत्र मुख्यमन्त्राङ्ग**सम्पत्तिः**, मन्त्रस्य मुख्यमङ्गं मन्त्री स चोपनन्दः, "उत्थातव्यमितोस्माभि"रित्यनेन **मन्त्रः ततस्त्रि-भिर्हेतुः**, "यावदौत्पातिकोरिष्ट" इत्यनेन निर्धारितश्चासौ परित्यागश्चेति **निर्धारितपरित्यागः**, "वनं वृन्दावनं नाम पशव्य" मित्यनेन **स्थानान्तरगुणाः**, "तत् तत्राद्यैव यास्याम" इति नवमश्लोकार्थमाहुः **कृष्णाज्ञ**येत्यादि का० ११२३ । कृष्णाज्ञयैव वृन्दावनगमनमित्यद्येतिपदेन सुमुहूर्ताद्यपेक्षाभावज्ञापकेन कालापेक्षाया निवारणमित्यर्थः, **पञ्चभि**रिति "तच्छ्रुत्वैकधिय" इत्यादिभिः **पञ्चभिर्गमनं**, ततः "वृन्दावनं सम्प्रविश्ये"त्येकेन तत्र वासः, स च गमनं चैवेति चकारेण सूचित इति प्रतिभाति, "**वृन्दावनं गोवर्धन**"मिति षोडशश्लोकेन तत्र वृन्दावने हरेः परा रतिः, एवमिति का० ११३३ । एवं षोडशकलाभिः पूर्णो **भगवान् वृन्दावने बभाविति सङ्ख्यातात्पर्यम्** । **प्रायान्**त्यत्र **महोत्पाता** इत्यत्र महोत्पातलक्षणमाहुर**लौकिक** इति का० ११४३ । यत्र **यस्मिन्** महोत्पाते सति **तन्** महोत्पाताधिकरणीभूतं स्थानं त्यागयोग्यं भवतीत्यर्थः ॥ ११४३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं बृहद्वने विह्वत्येतोऽग्रे विहारार्थं वृन्दावनं गन्तुमिच्छताऽन्तर्यामिणा कृष्णेन प्रेरितानां गोपानां सम्मन्त्रणमाह—गोपवृद्धा इति। नन्दादयो गोपवृद्धा बृहद्वने महोत्पातान् पूतनागमनादीननुभूय समागम्य एकत्र मिलित्वा व्रजकार्यं व्रजस्य हितममन्त्रयन् विचारितवन्तः ॥२१॥ तत्र तेषु मिलितगोपेषु मध्ये उपनन्दनामा गोप आह—तत्र "बहूनां परिभाषणे कोलाहलेन तत्त्वनिर्धारो न स्यात्, अत एकेन मुख्येन वक्तव्यम्" इति तस्य मुख्यतां सूचयन् गुणानाह—उपनन्देति। 'नाम्ना नन्दस्य प्रेमास्पदं मुख्यो मन्त्री' इति ज्ञापितम्। 'गोप' इत्यनेन तन्मध्यपातित्वेन तुल्यैष्ठानिष्ठश्च ज्ञानेन वयसा चाधिकः। तत्र ज्ञानाधिक्यं स्पष्टयति—देशेति। यस्मिन् देशे यस्मिन् काले योऽर्थः प्रयोजनं यथा सिद्ध्यति तस्य तत्त्वं निदानं जानातीति तथा। 'एवंभूतोऽपि यदि भगवति भक्तिमान्न स्यात् तदा सर्वं व्यर्थम्' अत आह—प्रियकृद्रामकृष्णयोरिति ॥ २२ ॥ तद्वाक्यान्येवाह–उत्थातव्यमित्यादिसप्तभिः। इतस्थानात्तु अस्माभिरुत्थातव्यम्, अन्यत्र गन्तव्यमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—आयान्तीति। बालानाम् 'प्रजानाम्' इति पाठान्तरम्, नाशहेतवो महोत्पाता यतोऽत्रायान्ति। 'अस्माकमेतदुपेक्षा च न युक्ता' इत्याशयेनाह—गोकुलस्य हितैषिभिरिति ॥२३॥ उत्पातानेव दर्शयति—मुक्त इति। राक्षस्या पूतनयाऽसौ बालकः कृष्णः कथंचित् साक्षात्कारणस्यादर्शनात् केनाप्यनिर्वचनीयेनैव कारणेन मुक्तः। 'असौ' इत्यनेन स्वयं तत्रागतमङ्के स्थितं प्रदर्शयति। राक्षस्यादिपदत्रयेण गोपैस्तस्या अप्रतीकारत्वं सूचयति। सर्वानुभवसिद्धत्वं सूचयति—हीति। नूनमिति निश्चयेन हरेरनुग्रहादेवास्योपरि अनः शकटश्च नापतत् ॥ २४ ॥ चक्रवातस्वरूपेण दैत्येन तृणावर्तेन वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं विगतप्रतिष्ठं वेति विपदं वियत् आकाशं प्रति नीतोऽसौ बालकः शिलायां पतितः, तत्रापि सुरेश्वरैरस्मत्संराधितैर्देवैरेव परित्रातः संरक्षितः ॥ २५ ॥ द्रुमयोरन्तरं प्राप्यासौ कृष्णोऽन्यतमो वापि कश्चिद्बालको यन्न म्रियेत न मृतस्तदप्यच्युतेनैव रक्षणमासीत् ॥ २६ ॥ एवमुत्पातबहुत्वस्य जातत्वादग्रेऽपि सम्भवाच्च यावदौत्पातिकः उत्पातजनितः अरिष्टः बालविनाशाद्यनर्थः व्रजं नाभिभवेन्न स्पृशेत् तावत् ततः पूर्वमेव बालानुपादाय गृहीत्वा सानुगा गोधनभृत्यादिसहिता वयमितः स्थानादन्यत्र यास्याम इत्यन्वयः ॥ २७ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गोपवृद्धा इति ॥ नन्दादयो गोपवृद्धाः बृहद्वने महोत्पातान् पूतनागमनादीननुभूय समागम्य एकत्र मिलित्वा व्रजकार्यं व्रजस्य हितममन्त्रयन् विचारितवन्तः ॥ २० ॥ तत्रेति ॥ तत्र तेषु मिलितेषु मध्ये ज्ञानेन वयसा चाधिकः। देशेति। यस्मिन्देशे यस्मिन् काले च योऽर्थः प्रयोजनं यथा सिद्ध्यति तस्य तत्त्वं निदानं जानातीति तथा रामकृष्णयोश्च प्रियकृत् उपनन्दनामा गोप आह स्म। अयं च नन्दस्य ज्येष्ठो भ्राता मुख्यो मन्त्री च। अनेनैव कनिष्ठायापि नन्दाय राज्यं दत्तमिति प्राहुः ॥ २१ ॥ उत्थातव्यमिति ॥ गोकुलस्य हितैषिभिरस्माभिः इतः स्थानात् उत्थातव्यम् अन्यत्र गन्तव्यम्। यतोऽत्र बालानां नाशहेतवः महोत्पाताः आयान्ति ॥ २२ ॥ मुक्त इति ॥ बालघ्न्या राक्षस्या पूतनायाः असौ बालकः कृष्णः कथञ्चित्साक्षात्कारणस्यादर्शनात्केनाप्यनिर्वचनीयेनैव कारणेन मुक्तः। नूनं हि निश्चयेन हरेरनुग्रहादेवास्योपरि अनः शकटं च नापतत् ॥ २३ ॥ चक्रवातेनेति ॥ चक्रवातस्वरूपेण दैत्येन तृणावर्तेन वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं विगतप्रतिष्ठं वेति विपदं वियत् आकाशं प्रति नीतोऽसौ बालकः शिलायां पतितस्तत्रापि सुरेश्वरैरस्मत्संराधितैर्देवैरेव परित्रातः संरक्षितः ॥ २४ ॥ यन्नेति ॥ द्रुमयोरन्तरं प्राप्याप्यसौ कृष्णोऽन्यतमो वापि कश्चिद्बालको यन्न म्रियेत न मृतस्तदप्यच्युतेनैव रक्षणमासीत् ॥ २५ ॥ यावदिति ॥ यावत् औत्पातिकः उत्पातजनितः अरिष्टः अरिष्टकारी बालविनाशाद्यनर्थः व्रजं नाभिभवेन्न स्पृशेत् तावत् ततः पूर्वमेव बालानुपादाय गृहीत्वा सानुगा गोधनभृत्यादिसहिता वयमितः स्थानादन्यत्र यास्यामः ॥ २६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इतोन्यत्र गंतुमुत्थातव्यम् ॥ २० ॥ अन्यः शकटं च ॥ २१ ॥ वीनां पतन्त्रिणां पदं रमणस्थानं वियत् गगनं प्रति चक्रवातेन तृणावर्त्तेन ॥ २२ ॥ असौ कृष्णः वा अन्यतमोऽन्यो बालकः यन्न म्रियेत तदप्यच्युतेन रक्षणं कृतम् ॥ २३ ॥ औत्पातिकः उत्पातरूपोऽरिष्टः अनर्थः दुःखमिति यावत् तावदितः स्थलात् ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गोपवृद्धा इति ॥ एवं स्थिते कदाचिदिति शेषः। नन्दादयः गोपवृद्धाः, बृहद्वने महति वने, महोत्पातान् पूतनाशकटादिकृतान्महत उत्पातान्, अनुभूय, समागम्य समेत्य, व्रजकार्यं गोकुलस्य हितकृत्यं, अमन्त्रयन्नालोचितवन्तः। वृन्दावनं गन्तुमिच्छता श्रीकृष्णेनान्तरात्मना प्रेरिताः सन्तोऽमन्त्रयन्निति भावः ॥ २० ॥ तत्रेति ॥ तत्र उपनन्दनामा गोपः कश्चिद्गोपालः, ज्ञानं च वयश्च ताभ्यामधिकः श्रेष्ठः, देशकालार्थतत्त्वज्ञः, रामकृष्णयोः प्रियकृत् सन्, आह नन्दादीन् प्रति कथयामास ॥ २१ ॥ तदुक्तिमेवाह उत्थातव्यमित्यादिना तच्छ्लोकेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ उत्थातव्यमिति ॥ गोकुलस्य हितैषिभिरारोग्यमिच्छद्भिः,

अस्माभिः, इतो व्रजात्, उत्थातव्यं निर्गन्तव्यम्। प्रजानां अत्रत्यानां जनानां नः, नाशहेतवः, महोत्पाता बह्वोऽतिशयिता उत्पाताः, अत्र आयान्ति ॥ २२ ॥ तत्रातीतास्त्वपरोक्षमेव दृष्टा इत्याह ॥ मुक्त इति ॥ असौ बालकः, बालघ्न्याः राक्षस्याः सकाशात्, कथंचिद्दैववशात्, मुक्तः हि। तथा, हरेर्भगवतः, अनुग्रहात्, अनः शकटमपि, चोऽप्यर्थे। उपरि, न अपतत् नूनम् ॥ २३ ॥ चक्रवातेनेति ॥ अयं बालकः चक्रवातेन चक्राकारसंवातमारुतरूपधरेण दैत्येन, वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं; वियदाकाशं प्रति नीतः। वियदाकाशं विपदमापदं च नीत इति वा शिलायां पतितः। तत्र सुरेश्वरैरस्मदिष्टदैवतैः, परित्रातः॥२४॥ यदिति ॥ द्रुमयोरर्जुनतर्वोः, अन्तरं प्राप्य, असौ बालकः, न म्रियेत। अन्यतमो वा बालकोऽपि न म्रियेत, यत् तदपि, अच्युतरक्षणमच्युताख्यास्मद्दैवतेनैव रक्षणमासीत् ॥ २५ ॥ यावदिति ॥ यावत्, औत्पातिक उत्पातप्रयुक्तः, अरिष्टोऽनर्थः, व्रजं न अभिभवेत्। तावत् बालान् उपादाय, इतोऽस्मात् स्थानात्, अन्यत्र सानुगाः यास्यामः ॥ २६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गोपवृद्धा इति : १०.११.२१.

बृहद्व्रवने सन्ति नोत्पाताः कति भीतिदाः। रक्षिताः तत्र तत्रास्ति श्रीश इत्यभवत् स्फुटम् ॥ २६ ॥
गोकुलसङ्गादर्जुनपतनमभूत् तत्र का परस्य कथा। तस्मादस्य न सङ्गः समुचित इति युक्तमवददुपनन्दः ॥ २७ ॥

कर्ता जीवस्तस्य तत्कर्मसाक्षी द्वावप्येतौ गोकुलाधिष्ठितौ स्तः।
युक्तं तादृङ् नन्दमूचे तदाऽसौ यत्तस्याग्रे रोचते चेदियं गीः ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

जब महावन गोकुलमें नन्दादि बड़े-बड़े गोपों ने कोई न कोई उपद्रव होते देखा तब इकट्ठे होकर आपस में मंत्रणा करने लगे कि व्रजवासियों और गौओं का हित हो इस लिये क्या करना चाहियें ॥ १० ॥ उन गोपों में से एक बुजुर्ग श्री उपनन्दजी नाम के गोप थे जो सब में अवस्था में बड़े थे ही एवं ज्ञान में भी बड़े थे वे अच्छी तरह जानते थे किस समय किस स्थान पर किस वस्तु से कैसे काम किया जाय, और नन्दलाल दाऊ दयाल कुशल रहें उन पर कोई विपत्ति न आने पावे यह भी चाहते थे वे कहने लगे ॥ ११ ॥ श्री उपनन्दजी ने कहा—देखो भाईयो! यदि हम गोकुल का और गौओं का हित चाहते हैं तो हमें यहां से अपना डेरा डंडा उठाकर दूसरी जगह चलना चाहियें। यहाँ तो बच्चों पर सङ्कट डालने वाले एक से एक बढ़कर उत्पात हो रहे हैं ॥ १२ ॥ सुनो भैया, यह नन्द बाबा के लालन सबसे प्रथम तो बाल हत्यारी राक्षसी पूतना से किसी प्रकार बच पाया इतने में तो गाड़ी के नीचे दबने की नौबत बजी परंतु बच गया, सच पूछो तो बिना सन्देह यह भगवान की ही कृपा थी कि गाड़ी लालन के उपर न गिर पड़ी ॥ १३ ॥ सुनो भैया, बवंडर के रूप में तृणावर्त दैत्य तो अपने लालन को आकाश में पक्षियों के विहार देश में ले भागा और भारी विपत्ति में डाल दिया, किन्तु वहाँ से जब लालन चट्टान पर गिरे तब हमारे दयालु देवों ने ही बालक का रक्षण किया ॥ १४ ॥ सुनो री भैया! यमलार्जुन वृक्षों के गिरने पर दोनों के बीच में आने पर भी यह बालक अथवा तो और कोई दूसरा भी बालक बचा रह गया वह भी अच्युत भगवान की ही रक्षा थी इसके सिवाय और कौन बचा सकता है ॥ १५ ॥ इसलिये और किसी प्रकार के उत्पात से व्रज का और कोई अनिष्ट न होने पावे उसके पहले ही बच्चों को लेकर साथियों समेत यहाँ से चल देना चाहिये ॥ १६ ॥

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्। गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥ १७ ॥
तत्तत्राद्यैव[1] यास्यामः शकटान् [2]युङ्क्त मा चिरम्। गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥ १८ ॥
[3]तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः। [4]व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥ १९ ॥
वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च। अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥ २० ॥
गोधनानि पुरस्कृत्य श‍ृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः। तूर्यघोषेण महता ययुः [5]सहपुरोहिताः ॥ २१ ॥
गोप्यो रूढरथा [6]नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः। [7]कृष्णलीलां जगुः प्रीता [8]निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ॥ २२ ॥
तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते। रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके[9] ॥ २३ ॥
वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्। तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ २४ ॥

१. द्यैव-विज.। २. न्युङ्क्ष्व-विज.। ३. श्री शुकः-च. पु. टी.। ४. स्थान् स्वान्-विज.। ५. सह परिच्छदाः-वीर.। ६. नूत्यत्कुच-विज.। ७. कृष्णलीला-श्रीधर. वंशी.; कृष्णलीलां-वीर. विज.। ८. स्निग्धकण्ठ्यः-विज.। ९. श्रवणोत्सवे-वीर.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पशव्यं नवकाननं वृन्दावनं नाम वनं पुण्याद्रितृणवीरुधं गोपगोपीगवां सेव्यं तत् भवतां यदि रोचते तत् तत्र अद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त मा चिरं, अग्रतः गोधनानि यान्तु ॥१७-१८॥ तत् श्रुत्वा साधु साधु इति वादिनः एकधियः गोपाः स्वान् स्वान् व्रजान् समायुज्य रूढपरिच्छदाः ययुः ॥ १९ ॥ राजन्! आत्तशरासनाः यत्ताः गोपालाः वृद्धान् बालान् स्त्रियः च सर्वोपकरणानि अनस्सु आरोप्य गोधनानि पुरस्कृत्य सर्वतः शृङ्गाणि आपूर्य सहपुरोहिताः महता तूर्यघोषेण-ययुः ॥ १९ ॥ नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः निष्ककण्ठ्यः सुवाससः प्रीताः रूढस्थाः गोप्यः कृष्णलीलां जगुः ॥ २०-२१ ॥ तथा तत् कथाश्रवणोत्सुके यशोदारोहिण्यौ कृष्णरामाभ्यां एकं शकटं आस्थिते रेजतुः ॥२२-२३॥ सर्वकालसुखावहं वृन्दावनं प्रविश्य तत्र शकटैः अर्धचन्द्रवत् व्रजावासं चक्रुः ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पशव्यं पशुभ्यो हितम्। यतः नवानि काननान्यवांतराणि विद्यंते यस्मिंस्तत् ॥ २८-२९ ॥ एकधियो विप्रतिपत्तिरहिताः। व्रजाञ्छकटयूथान्। रूढाः शकटादिष्वारोपिताः परिच्छदा यैस्ते ॥ ३० ॥ यत्ताः कृतप्रयत्नाः ॥३१-३२॥ नूत्नैर्नवीनैः कुचगतैः कुंकुमैः कांतिर्यासां ताः। नूत्नेषु कुचेषु यत्कुंकुमं तेन कांतिर्यासामिति वा ॥ ३३-३४ ॥ व्रजावासं गोकुलस्य वसतिस्थानम् ॥ ३५-३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अवांतराणि निधुवनबिल्वादीनि। यद्वा—कः ककार आनने मुखे आदौ येषां ते काननाः कदंबकपित्थकेशरकालस्कंधादयो वृक्षा नवा नित्यनूतनाः कानना यत्र तत्तथा। यद्वा—नवसंख्याकाः काननाः कदंबकर्णिकारकमलकेसरकांचनारकालस्कंधकपित्थ-कुंजराशनकेतकरूपा यत्र तत्तथा। भाविलीलाभिप्रायेणाह—यद्वा—न बकस्यासुरस्याननं मुखं यत्र तत्तथा। बकमुखस्यात्रै-वोत्पाटनात्। अत्र पक्षे नञर्थेन नशब्देन समासवबयोस्सावर्ण्यं चानुध्येयम्। यद्वा—पुण्याद्रयः गोवर्द्धनबृहत्सान्वादयः। पुण्यतृणानि कुशकाशोशीरादीनि। पुण्यवीरुधो विष्णुक्रांतामाधव्याद्याः। यद्वाद्रिपदेन द्रुमा ग्राह्याः "अद्रयो द्रुमशैलार्काः" इत्यमरः। तथा च पुण्यद्रुमाः कदम्बतमालादयः। पुण्या अद्रितृणवीरुधो यत्र तत्तथा "समासांतोच् ॥ २८ ॥ यतस्तद्वनमेतादृशं ततस्तत्र वने युंक्त योजयत यूयम्। नूयते स्तूयते इति नवं ग्तुतं कं जलं यस्याः सा नवका कालिंदी "न जलं यमुनावारि साक्षाद्ब्रह्मैव केवलम्" इत्युक्तेः। नवकाऽऽननेऽग्रे यस्य तत्तथेति "मुखाग्रचेष्टाकृष्णास्येष्वाननं चलनेऽपि च" इति यादवः। नवानां हर्यादियोगेश्वराणां कं सुखं यया सा नवका भक्तिस्तस्या आननं चेष्टनं यत्रेति वा। नवानां जंबूद्वीपस्थखंडानां कं शिरः कर्मभूमित्वेन मुख्यत्वान्नवकं भारतखंडं तस्याननं मुखमिव श्रेष्ठम्। "भारते व्रजभूः श्रेष्ठा तत्र वृंदावनं परम्" इति वा नौतीति नवं कस्याननं काननं नवं स्तुवत्काननं यत्र इति वा नवकाननम्। यद्वा—नवसु खंडेषु कीयते गीयते मत्स्यादिरूपैरिति नवको हरिस्तस्याननं चेष्टाऽत्रेति नवकाननम्। नवानां नंदानां कं सुखं येन स नवकस्तस्याननं चेष्टनं नवकाननं तद्विद्यते नित्यमत्रेति तथा मत्वर्थीयोच्। न च नंदीश्वरोऽस्मत्प्राचीनराजधानीं गंतुं शक्यः यद्भयान्नंदीश्वरात्पलाय्यात्र महावने वसामस्तस्याविष्टस्य संप्रत्यपि तत्रैव स्थितेर्न च व्रजभूमेरन्यत्र यियासा संभवत्यरोचकत्वादेव तस्मान्नंदीश्वरमहावनयोर्मध्यवर्त्तिस्थानमेव वासार्थं युज्यते इति विचार्याहवनमिति। "नासमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्" इति नीत्या च वृंदायाः पाद्मोर्जमाहात्म्योक्तरीत्या भगवत्प्रेयसीत्वं प्राप्ताया वनं नवकाननमित्युक्तेर्बृहद्वनस्य जीर्णत्वं प्राप्तं किं च कारस्करादीनामपुण्यवृक्षादीनामपि तत्र जातत्वात्पुण्यत्वमेवेति। तत्र विशेषस्तु हरिवंशीयकृष्णवाक्यतोऽवसेयः। तथाहि "श्रूयते हि वनं रम्यं पर्याप्ततृणसंभवम्। नाम्ना वृंदावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम्। अमीनिकंटकवनं सर्वैर्गुणगणैर्युतम्। कदंबपादपप्रायं यमुनातीरसंस्तुतम्। स्निग्धशीता-निलवनं सर्वर्त्तुनिलयैर्युतम्। गोपीनां सुखसंचारं चारुचित्रवनांतरम्। तत्र गोवर्द्धनो नाम नातिदूरे गिरिर्महान्। राजते दीर्घशिखरो नंदनस्येव मंदरः। मध्ये चास्य महाशाखो न्यग्रोधो योजनोच्छ्रितः। भांडीरो नाम शुशुभे नीलमेघ इवांबरे। तत्र गोवर्द्धनं चैव भांडीरं च वनस्पतिम्। कालिंदीं च नदीं रम्यां द्रक्ष्यावश्च यतः सुखम्" इति। अत्र नातिदूर इति नातिप्रांते न च मध्ये किं तु पार्श्वदेश एवेत्यर्थः। "अहो वृंदावनं रम्यं यत्र गोवर्द्धनो गिरिः" इति स्कांदात्। यत्तु भांडीरमध्यस्थि-तत्वमुक्तं तदित्थं प्रतिपद्यते। स खलु वृंदावनसीमस्थात्क्रीडनकुट्टिमादुत्तरस्य योजनद्वयांते यमुनातीरे दक्षिणे संप्रति च भांडीरतया प्रसिद्धो देशो योजनप्रमाणोस्ति एवं योजनत्रये लब्धे तत्परस्य योजनद्वयस्य मिश्रणया वृंदावनस्य पंचयोजन-प्रमाणत्वं सिध्यति तदुक्तं गौतमीये—वृंदावनमुद्दिश्य भगवता "पंचयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥" इति चक्रवर्त्ति-तोषिणीकारौ ॥ २९ ॥ विप्रतिपत्तिरहिता विरुद्धोक्तिवर्जिताः। "गृहे वस्त्रे संविधायां तिरस्कारे परिच्छदे" इति कोशः। परिच्छदा दोहपात्रमंथन्यादयः ॥ ३० ॥ अनस्सु शकटेषु। सर्वोपकरणानि भोजनपात्रशय्यापेषणकिर्त्तनयंत्रादिरूपाणि ॥ ३१ ॥

श्रृंगाणि श्रृंगाराणि वाद्यानि मृगश्रृंगाणि वा । यद्वा—"श्रृंगं तु गवलं हेमनिबद्धाग्रिमपश्चिमम् । रत्नजालस्फुरन्मध्यं मंत्रघोषाभिधं स्मृतम् ॥" इति भक्तिरसामृतोक्तलक्षणं श्रृंगमत्र ज्ञेयम् । 'गवलं माहि श्रृंगम् ।' इत्यमरः । केचित्तु गोरिदं गवलमिहालप्रत्ययो बाहुलकात् स पुरोहिताः शांडिल्यसहिताः "शांडिल्यः सर्वधर्मज्ञो नंदादीनां पुरोहितः" इति स्कांदोक्तेः ॥ ३२ ॥ आद्यसमासे कुचपदे लक्षणाकरणात्समासांतरमाह—नूत्नेष्विति । निष्कं पदकसंज्ञं हेमभूषणम् ॥ ३३ ॥ तत्कथा कृष्णरामकथा तल्लीलेति यावत् ॥ ३४ ॥ अर्द्धचंद्रवदर्द्धचंद्राकारम् । अर्द्धचंद्रवदिति पश्चाद्भागे प्रतिस्वद्रव्यस्थापनार्थमग्रभागे विस्तीर्णगवादिसुखनिर्गमार्थं शकटीवाटपर्यंतश्चंद्रार्द्धाकारसंस्थित इति विष्णुपुराणे एवं तद्दिने शकटैरेव चक्रुः दिनांतरे तु यथा श्रीहरिवंशे "कंटकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथाकंटकिभिर्द्रुमैः । निखातोच्छ्रितशाखाभिरभिगुप्तं समंततः ॥" इति । कालियह्रदाद्दाक्षिणप्रायदिशि चतुःक्रोशीविस्तीर्णाष्टक्रोशीदीर्घो व्रजावासगोवर्द्धनमग्रे विधायैव इति ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, "नासमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्" इति नीतिः । तत्राह वनमिति । अस्तीति शेषः । वृन्दायाः पाद्मकार्तिकमाहात्म्योक्तरीत्या श्रीभगवत्प्रेयसीत्वं प्राप्ताया वनमिति सर्वोपद्रवराहित्यं सकलसद्‌गुणमयत्वं सूचितम्, तदेवाभिव्यञ्जयति—पशव्यमित्यादिना । आरोग्यादिप्रदजलतृणादित्वात् पशुभ्यो हितं नवकाननमिति बृहद्वनस्य जीर्णकाननत्वं च सूचयति तच्च चिरकालं गवादिसम्मर्द्दच्छिद्यमाननवाङ्कुरादित्वात् तथा वृन्दावनस्य पूर्वव्रजवासत्वं सूचयति द्वयोरनादिकालत्वेऽपि तस्मिन्नवत्वनिर्देशेन तदुच्छिन्नचरत्वावगमात् गोपादीनां सेव्यमिति तत्र दुष्टजन्त्वाद्यभयं दर्शितं पुण्या एवाद्रयस्तृणानि वीरुधश्च यत्र अदन्तत्वमार्षं हलन्ताद्वेति टापावीरुधाशब्द एव वा सर्वमपि यत्र पुण्यमित्यर्थः । पुण्यत्वेन प्रसिद्धानामेव तत्र स्थिते कारकराद्यपुण्यद्रुमादीनां क्वचित् स्थिते वा तज्जन्मत्वेन पुण्यत्वसिद्धेः अत्र विशेषः श्रीहरिवंशे, श्रीरामं प्रति श्रीकृष्णवाक्यम् ।

> "श्रूयते हि वनं रम्यं पर्याप्ततृणसंस्तरम् । नाम्ना वृन्दावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम् ॥
> अझिल्लिकण्टकवनं सर्वैर्गुणगणैर्युतम् । कदंबपादपप्रायं यमुनातीरसंस्थितम् ॥
> स्निग्धशीतानिलवनं सर्वर्तुनिलयं शुभम् । गोपीनां सुखसञ्चारं चारुचित्रवनान्तरम् ॥
> तत्र गोवर्द्धनो नाम नातिदूरे गिरिर्महान् । भ्राजते दीर्घशिखरो नन्दनस्येव मन्दरः ॥
> मध्ये चास्य महाशाखो न्यग्रोधो योजनोच्छ्रितः । भाण्डीरो नाम शुशुभे नीलमेघ इवाम्बरे ॥
> तत्र गोवर्द्धनं चैव भाण्डीरं च वनस्पतिम् । कालिन्दीं च नदीं रम्यां द्रक्ष्यावश्च यतः सुखम् ॥" इति ॥ १७ ॥

अत्र नातिदूर इति नातिप्रान्ते न च मध्ये किं तु पार्श्वदेश एवेत्यर्थः "अहो वृन्दावनं रम्यं यत्र गोवर्द्धनो गिरिः" इति स्कान्दात् । अत्रैव तत्रेति द्विरुक्तत्वात् पुरतस्तस्यैव योजनीयत्वाच्च यत्तु भाण्डीरस्य मध्यस्थितत्वमुक्तं तत्रेदं प्रतिपद्यते स खलु वृन्दावनसीमस्थाद्व्रक्तक्रीडनकुट्टिमादुत्तरस्यां योजनद्वयान्ते यमुनादक्षिणतीरे सम्प्रति च भाण्डीरतया लोकप्रसिद्धो देशः स्वयमपि शास्त्रेण प्रसाधयिष्यमाणस्तथा योजनविस्तारतया प्रमापयिष्यमाणश्च प्रसिद्ध्यतीति योजनत्रये लब्धे तत्परस्य योजनद्वयस्य मिश्रणतया वृन्दावनस्य पञ्चयोजनप्रमितत्वमेव सिद्ध्यति तथाचोक्तं वृन्दावनमुद्दिश्य बृहद्गौतमीये स्वयं भगवता—

> "पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् । कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी ॥" इति

अत्र यत्खलु सुषुम्णारूपकेण यमुनाया वृन्दावनमध्यवाहित्वं दर्शितं तच्छ्रीहरिवंशे चान्यत्र व्यज्यते सीमान्तमिव कुर्वन्तीति तस्याविशेषणेन तदेवं स्थिते भाण्डीरस्य विस्तारे चोच्छ्राये च योजनप्रमितत्वेन यमुनातीरस्थत्वेन च यमुनोत्तरतीरेऽपि दीर्घाभिः शाखाभिर्व्याप्तिर्लभ्यते ततः परतोऽपि वृन्दावनस्येति यत्तु पुण्याद्रितृणवीरुधमिति "नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैरिति च योजनपञ्चकादप्याधिक्यं लभ्यते तत्खलु गङ्गातीरस्य गङ्गात्ववत् तद्बहिः स्थितकतिपयगोचारणभूमेरपि तदन्तःपातविवक्षयागम्यं यत एव पूर्वरीत्या गोवर्द्धनदिश्यपि यमुनामारभ्य वृन्दावनस्य सार्द्धद्वययोजनमात्र व्याप्त्या गोवर्द्धनस्य तत्पार्श्वस्थिततायामपि यन्नन्दनन्दनस्येव मन्दरः इति प्रोक्तं तदपि सङ्गच्छते यद्वा आदिवाराहादौ कालियह्रदादिकतिपयतीर्थानां वृन्दा वनकरणोपादेयतया वर्णितत्वात् संक्षिप्तमिव तत्प्रतीयते तत्खलु तदधिदैवत श्रीगोविन्ददेवाधिष्ठानत्वेन मुख्यत्वविवक्षया श्रीकेशवाधिष्ठानत्वेन मथुरापुर्य्या इवेति तदेतन्मत एव खदिरकाम्यकवनादीनां पृथकत्वं स्यात् न तु प्राङ्मते इति ज्ञेयं तत्तस्मादद्यैव यास्यामः यामेत्यर्थः । स्थानस्यास्य सोपद्रवत्वात् कालस्यास्य च शोभनत्वादिति भावः । व्यतिरेकेण द्रढयति माचिरम् अविलम्बमित्यर्थः । यदि भवतां भवद्भ्यो रोचत इति विनयेन ॥ १८ ॥ एकस्मिन् श्रीकृष्ण एव धीर्येषां अत एव विप्रतिपत्तिरहितधीत्वात् साध्वित्यादि इतस्ततः स्थितानेकव्रजवर्त्तिगवादीनेवात्र मेलयित्वा रूढा शाकटान्यारूढाः परिच्छदा एषान्ते ॥ १९ ॥ रूढपरिच्छदत्वमेव विवृण्वन् यानप्रकारमाह-वृद्धानिति युग्मकेन । हे राजन्निति तेषां श्रीकृष्णप्रेमाति निगम-

यति ॥ २०-२१ ॥ अत्रैव विशेषमाह—गोप्य इति द्वाभ्याम् । रूढा आरूढाः रथाः तत्प्रायाः शकटभेदा याभिस्ताः निष्काणां स्त्रीभूषणेषु मुख्यत्वात्तैरन्यान्यपि ज्ञेयानि नूत्नेत्यत्र तेषां प्रथमार्थेस्तु समीचीनः सर्वैरेव व्रजजनैस्तद्गुणगानस्य प्रसिद्धत्वात् कृष्णरामाभ्यां सह तयोर्जनकर्तृकायाः कथायाः श्रवणोत्सुके तयोरेव कर्तृभूतयोर्वा ॥ २२-२३ ॥ समिति सम्यक् सुखेन "मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियःपतेः" इति वत् किं वा मिथो बद्धप्लवीकृतमहाशकटवृन्दैर्यमुनोत्तरणादिपूर्वकं प्रविश्य उत्तरणस्थानं तु योजनपरिमितत्वात्कालियह्रदादुत्तरतो ज्ञेयं दक्षिणतो मथुरा नैकट्येन सङ्कटत्वापातात् अथवा कालियह्रददक्षिणस्यां दिशि वक्ष्यमाणाद्व्रजवासान्मथुरावृन्दावनं सन्धिवर्त्तस्क्रीडनभक्तक्रीडनयोर्मध्यप्रदेश एव तत्स्यात् महाकाननत्वेन निर्जनत्वात् अर्द्धचन्द्रवदिति पश्चाद्भागे द्रव्यादिस्थानापेक्षया पुरतश्च गवादीनां सुखनिर्गमाय विस्तीर्णद्वारापेक्षया सदा सर्वत्र तथैवावाससन्निवेशोपपत्तेः तथा श्रीविष्णुपुराणे—

"स समावासितः सर्वो व्रजो वृन्दावने ततः । शकटीवाटपर्य्यन्तश्चन्द्रार्द्धाकारसंस्थितिः" ॥ इति

श्रीहरिवंशे—

"निवेशं विपुलं चक्रे गवां चैव हिताय च । शकटावर्तपर्यन्तश्चन्द्रार्द्धाकारसंस्थितम्" ॥ इति

एवं तद्दिने शकटैरेव चक्रुः दिनान्तरे च यथा श्रीहरिवंशे—

"कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकिभिर्द्रुमैः । निखातोच्छ्रितशाखाभिरभिगुप्तं समन्ततः" ॥ इति

अत्र कण्टकीभिः कण्टयुक्ताभिर्वल्लीभिरित्यर्थः । आसां द्रुमाणां च जीवितमेव रोपणं ज्ञेयं शाखानां तु छिन्नानां तथाऽन्यो विशेषस्तत्रैव "मध्ये योजनविस्तारं तावद्द्विगुणमायतम्" इति तथा कालियह्रदवर्णने "व्रजस्योत्तरतस्तस्य क्रोशमात्रे निरामये" इत्यादि उत्तरशब्दोऽत्र प्राय ईशानकोणवाची तस्य दक्षिणस्यान्दिशि महापुर्य्यांमथुराया निवेशात् ईशानकोणस्य चोत्तरानुगतत्वात् अत एवादिवाराहेऽपि तत्स्थानमाहात्म्यम्—

"उत्तरे हरिदेवस्य दक्षिणे कालियस्य तु । अनयोर्देवयोर्मध्ये मृतास्ते चापुनर्भवाः" ॥ इति

अत्र हरिदेवो गोवर्द्धनाधिष्ठाता कालियः कालियदमन इति ज्ञेयं मथुराया नातिदूरत्वेपीदं स्थानं निर्जनमेव पुर्य्याः पश्चाद्दिग्गतत्वात् महावनवनत्वाच्च एवं कालियह्रदस्य नैर्ऋतकोणे क्रोशान्तरे सट्टीकराख्यं प्रदेशमन्तर्भाव्यदैर्घ्ये योजनद्वयं व्रजः स्यात् किं तु गोवर्द्धनमग्रे निधायेति ज्ञेयम् अन्यत्र हि द्वारायोग्यत्वं दक्षिणस्यां मथुराख्यमहानगरवासेन आग्नेय्यान्तेन यमुना च पूर्वस्यां यमुनायाम् ऐशान्यां कालियह्रदेन गवादिप्रचारस्य सङ्कीर्णत्वात् उत्तरस्यां वायव्यां पश्चिमस्यां च शीतवाताद्यागमेन दुःखहेतुत्वात् अद्यापि मथुरादिदेशे ऐशान्यादिदिक् चतुष्टयादन्यत्रैव गोष्ठद्वारनिर्माणदर्शनाच्च अतः—

"न नः पुरोजनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् । वनौकसस्तात नित्यं वनशैलनिवासिनः" ॥

इत्युक्त्वा पुरोद्वाराग्रदेशस्थत्वात् श्रीगोवर्द्धनस्यैव पूजाविधानं वक्ष्यते तदेवं श्रीनन्दराजस्य मुख्यावासो नन्दीश्वरगिरिमभितो यः प्रसिद्धः स तु कालान्तरे जात इति ज्ञेयम् अत एव इतस्ततो व्रजतीति व्रजो निरुच्यते अत एव गोठनन्दनिलयो वा गोरै इति लोकविख्यात्यागोष्ठनन्दनिलयगोकुलाख्यानि स्थानान्तराणि चात्रैव वृन्दावने दृश्यन्त इति दिक् । तच्च वृन्दावनं भेदत्रयात्मकमेव श्रीकृष्णस्यापि परमसमनोहरमित्याह-वृन्देति । वृन्दावनमिति केवलवनस्य सौष्ठवं गोवर्द्धनमित्यादिना तत्रत्यविशेषाणाम् उत्तमेति वैकुण्ठाद्यपेक्षया "अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी" इति प्राप्ततादृशमाहात्म्यमधुवनमहावनाद्यपेक्षया च अत एव माधवशब्दप्रयोगः सर्वलोकरमणहेतोरपि रामस्येत्येव किं वक्तव्यं तस्याप्यालम्बनरूपस्य सर्वसम्पत्तिदेव्याः पत्युरपीत्यर्थः । एवमाश्चर्येण प्रहर्षेण चाह हे नृपेति ॥ २४-२५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु 'मा समीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्' इति नीतिः, तत्राह–वनमिति, अस्त्येवेति शेषः । परमपतिव्रतायाः श्रीभगवदनुगृहीताया श्रीवृन्दाया वनमिति सर्व्वोपद्रव-राहित्यं सर्व्वसद्गुणमयत्वञ्च सूचितम् । तदेवाभिव्यञ्जयति–पशव्यमित्यादिना, पुष्ट्यादिकारित्वाद्रोगाद्यविषयत्वाच्च पशुभ्यो हितमित्यादिना बृहद्वनाद्वैशिष्ट्यं बोधयति । नवानि सम्प्रति तत्र कृष्णक्रीडार्थं स्वयमुत्पन्नानि, किंवा नव नवसंख्यकानि तालवनादीनि षट् मुञ्जान्धकारविरहवनानि त्रीणीत्येवम् । किञ्च, पुण्याः पुण्यजनकत्वादिना परमोत्तमा अद्रयः श्रीगोवर्द्धनादयस्तृणानि दर्भदूर्व्वादीनि, वीरुधश्च विष्णुपर्णाद्या यस्मिन् , यद्वा, पुण्या एवाद्र्यादयः सर्व्वेऽपि यस्येत्यन्यत्रापुण्यानामपि तत्र पुण्यत्वात् पुण्याद्रिषु स्वत एव पुण्यवृक्षाणामप्यन्तर्गतत्वात् पृथगनुक्तिः, यद्वा, नवानि सदा पत्रपल्लवादिसम्पत्त्या नित्यनूतनानि काननानि कदम्बादि-वृक्षवनिका यस्मिन् , यद्वा, वृन्दाया वनमित्युपवनतया फलपुष्पप्रधानवृक्षाणां स्वतः सत्ता सूचितैव । किञ्च, पुण्येत्येवमसाधारणत्वमुक्तम् । तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु·प. ८।२२-२६,२८)—

'श्रूयते हि वनं रम्यं पर्य्याप्ततृणसंस्तरम् । नाम्ना वृन्दावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम् ॥
अझिल्लिकण्टकवनं सर्व्वैर्वनगुणैर्युतम् । कदम्बपादपप्रायं यमुना-तीर-संश्रितम् ॥
स्निग्धशीतानिलवनं सर्व्वर्त्तु निलयं शुभम् । गोपीनां सुखसञ्चारं चारु चित्रवनान्तरम् ॥
तत्र गोपवर्द्धनो नाम नातिदूरे गिरिर्महान् । भ्राजते दीर्घशिखरो नन्दनस्येव मन्दरः ॥
मध्ये चास्य महाशाखो न्यग्रोधो योजनोच्छ्रितः । भाण्डीरो नाम शुशुभे नीलमेघ इवाम्बरे ॥
तत्र गोवर्द्धनश्चैव भाण्डीरश्च वनस्पतिम् । कालिन्दीञ्च नदीं रम्यां द्रक्ष्यावश्च यतः सुखम् ॥' इति ।

अतएव गोपादीनां सेव्यं सेवितुं योग्यम्, सेव्यमिति भक्त्यपेक्षया, किंवा, आसक्त्या नित्योपभोगविवक्षया, अनेन तत्र दुष्टजन्त्वभावो हिंस्राणाञ्च हिंसाराहित्यम्, शाश्वतिकवैराणामपि मिथः सौहार्दं सूचितम् । तथा चाग्रे तत्रैव (भा० १०।१७।६०)—'यत्र नैसर्गदुर्व्वाराः सहासन्नृमृगादयः' इत्यादि । पशव्यमित्युक्तेऽपि पुनर्गवां सेव्यमित्युक्तिर्विशेषतो गो वृद्ध्यादिकारि श्रीगोवर्द्धनवर्त्तिसुलभसुतृणजलाद्यभिप्रायेण, यद्वा, पशुषु गवां मुख्यत्वेन तासां हितविशेषापेक्षया ॥ २८ ॥ तत्तस्मादद्यैव यास्यामो यामेत्यथ इत्यदूरवर्त्तित्वञ्चोक्तम् । मा चिरमविलम्बमित्यर्थः, अन्यथौत्पातिकारिष्टसम्भवात् । तत्त्वतस्तु पूर्व्वस्थाने ममत्वेन क्षणान्तरे वैमत्यशंकया तथोक्तम् । यदि भवतां भवद्भ्यो रोचत इति विनयेन सर्व्वान् वशीकरोति ॥ २९ ॥ एकस्मिन् श्रीकृष्ण एव धीर्येषामतएव विप्रतिपत्तिरहितधीत्वात् साध्वित्यादि । व्रजानिति तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, इतस्ततः स्थितानन्त-व्रज-वर्त्तिगवादीन्, सम्यक् आ सर्व्वतो योजयित्वैकत्र मेलयित्वा ॥ ३० ॥ रूढ़-परिच्छदत्वमेव विवृण्वन् यानप्रकारमाह-वृद्धानिति द्वाभ्याम् । आत्तशरासनाः पथि दुष्टकंसादिभयात् । सपुरोहिताः पुरोहित-सहिताः, यद्वा, पुरोहिताश्च ययुः, सह एकदैव परमपुण्यस्थानापेक्षया, निजगृहाद्यनपेक्षणात् । हे राजन्निति भवादृशेनापि सद्यस्तथा गन्तुं न शक्यत इति भावः ॥ ३१-३२ ॥ तत्रैव विशेषमाह-गोप्य इति द्वाभ्याम् । रूढा आरूढा रथाः शकटभेदाः, किंवोच्चैर्गानार्थं शोभा-भरार्थञ्च शकटतोऽप्युत्तमा विस्तीर्णोच्चतरा यानविशेषा याभिस्ताः नूत्नेति तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, नूत्नकुचेषु कुंकुमादप्यधिका कान्तिर्यासाम्, नूत्नेति वृद्धानां व्यावर्त्तनार्थम्, किंवा सदा सर्व्वासामपि रथरूढानां तासां प्रायो नित्यनवयौवनत्वात् । कृष्णस्य चित्ताकर्षकस्य लीलाम् । निष्काणां स्त्रीभूषणेषु मुख्यत्वात्तैरन्यान्यपि ज्ञेयानि ॥ ३३ ॥ तथेति वाक्यालंकारे, पूर्व्वोक्तसमुच्चये वा, ततश्च तयोरपि निष्ककण्ठित्वादिकं द्रष्टव्यम् । कृष्णरामाभ्यां सहैकमेव शकटमास्थिते आरुढे । तत्र हेतुः-तयोः कृष्णरामयोः सकाशात् कथाश्रवणोत्सुके, स्नेहेन तयोरन्योन्यमत्यागात्, यद्वा, द्वयोरपि पुत्रयोः कथाश्रवणेऽभेदेन द्वयोरपि मात्रोरौत्सुक्यात्, यद्वा, तयोरन्योन्यं या वार्त्ता तच्छ्रवणोत्सुके, कृष्णस्यादौ निर्देशो यथासंख्यन्यायात्, किंवा माधुरीभरेण तस्यैव कथा-श्रवणे औत्सुक्य-विशेषात्तेन शोभाविशेषाच्च ॥ ३४ ॥ सम्यक् सुखेन यमुनोत्तरणादिपूर्व्वकं प्रविश्य, तच्च ग्रीष्मारम्भे ज्ञेयम् । पूर्णस्तु घर्मसमयस्तयोस्तत्र वने सुखमित्यादिना श्रीहरिवंशादौ वृन्दावनक्रीडायाः प्रागेव ग्रीष्मर्त्तुवर्णनात्, यमुनोत्तरणञ्च तदानीं तेषामतिसुकरत्वात् स्पष्टं नोक्तम् । तच्च कालियह्रदादुपरि स्थाने प्रसिद्धम् । सर्व्वस्मिन् काले सुखम् आ सम्यक् वहति प्रापयतीति तथा तत्, अतस्तत्र शीतोष्णादिबाधा गृहाद्यपेक्षा च नास्तीति भावः । व्रजो गवामावासः स एव तेषामप्यावासस्तम्, यद्वा, व्रजस्य व्रजवर्त्तिनां सर्व्वेषामेवावासं वसतिस्थानम् । अर्द्धचन्द्रवदिति तस्मिन् दिने यमुनातीरे विश्रामात्तस्य च ऋजुत्वात्तत्र शकटवर्गवेष्टनेनार्द्धचन्द्राकारतयैवावास-सन्निवेशसिद्धेः, यद्वा, यमुनायास्तत्रार्द्धचन्द्राकृतित्वेन सन्निवेशात्तथोक्तम्, यद्वा, पश्चाद्भागे द्रव्यादिस्थानापेक्षयाग्रे च गवादीनां सुखनिर्गमाय विस्तीर्णद्वारापेक्षया सदा सर्व्वत्र तथैवावाससन्निवेशोपपत्तेः । तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।६।३१)-

'स समावासितः सर्व्वो व्रजो वृन्दावने ततः । शकटीवाटपर्य्यन्तश्चन्द्रार्द्धाकार-संस्थितिः ॥' इति ।

श्रीहरिवंशेऽपि, (विष्णु-प० ९।२०)—

'निवेशं विपुलं चक्रे गवाञ्चैव हिताय च । शकटावर्त्तपर्य्यन्तं चन्द्रार्द्धाकारसंस्थितिम् ॥' इति ।

एवं तद्दिने शकटैरेव चक्रुर्दिनान्तरे च यथारुचि सकण्टकशाखादिपरिवेष्टनेन लतादिसंवेष्टनेन च गवामात्मनश्चावासं रचयामासुरिति बोद्धव्यम्, तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु-प० ९।२२)—'कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकितैर्द्रुमैः । निखातोच्छ्रित-शाखाभिरभिगुप्तं समन्ततः ॥ इति । अन्येऽपि विशेषास्तत्रैव (विष्णु प० ९।२१)—'मध्ये योजनविस्तारं तावद्द्विगुणमायतम्' इति । तथा कालियह्रदवर्णने (हरिवंशे विष्णु-प० ११।४८) 'व्रजस्योत्तरतस्तस्य क्रोशमात्रे निरामये' इत्यादि । एवं कालियह्रदस्य दक्षिणे क्रोशान्तरे दैर्घ्यं योजनत्रयं व्याप्य व्रजः । यत्र च श्रीनन्दराजस्य मुख्यवासः प्रायो नन्दीश्वरगिरि पार्श्वे, श्रीयमुना च ततो दूरवर्त्तिन्यपि तदानीन्तनानामाशुगम्या निकटैव भाति, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि । गवामावासस्तु कदाचिन्नन्दीश्वरे, कदाचिच्च सुतृणापेक्षया प्रायस्ततपूर्व्वतः कुत्र कुत्रापि बदा च तत्र तत्रैव गोपा गोप्यश्च दुग्धाद्यर्थं यान्तीति युक्त्या लोकप्रसिद्धया व्यवहार-दृष्ट्या च ज्ञेयम्, अतएवेतस्ततः काले काले व्रजतीति व्रज उच्यत इति दिक् ॥ ३५ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

परिच्छदः क्रीडोपकरणम् ॥ १९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

क्व यास्यायामः ? इत्यत्राह—वनमिति । यत् वृन्दावनाख्यं वनं तत्रापैव यास्यामः, कथम्भूतम् ? पशव्यं पशुभ्यो हितं नवानि काननानि पर्य्यन्तवनानि यस्मिन् गोपादीनां सेव्यं वासयोग्यं पुण्याः रमणीया अद्र्यादयो यस्मिन् ॥ १७ ॥ शकटान् युक्तप्रस्थानयोग्यान् कुरुत गोधनानि चाग्रतो यान्तु यदि मदुक्तं भवतां रोचते तर्ह्युत्थातव्यमिति शेषः ॥ १८ ॥ तर्हि गोधनानि यान्त्विति तावदुपनन्दवचः श्रुत्वा गोपाः एकधियः विप्रतिपत्तिरहिताः व्रजान् शकटव्यूहान् समानीय रूढाः शकटेष्वारोपिताः परिच्छदाः उपकरणानि यैस्ते ययुः जग्मुः ॥ १९ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—वृद्धानिति । हे राजन् ! वृद्धादीन् अनस्सु शकटेषु आरोप्य सन्नद्धाः अत्तानि गृहीतानि शरासनानि धनूंषि यैस्तथाभूताः गोपाः गृहीतधनुष्काः शृङ्गाणि विषाणान्यापूर्य्य मुखमारुतैर्ध्वनयित्वा महता तूर्यघोषेण सह ययुः सहपुरोहिताः सगुरवः जग्मुरित्यर्थः ॥ २०–२१ ॥ रूढा आरूढाः रथा याभिर्नूत्नैः कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां नूत्नेषु कुचेषु कुङ्कुमं तेन कान्तिर्यासां वा निष्काः पतकाख्याः कण्ठेषु यासां स्निग्धकण्ठ्य इति पाठे मधुरस्वनाः प्रीताः कृष्णस्य लीला जगुः ॥ २२ ॥ एकं शकटमास्थिते आरुह्य स्थिते रामकृष्णाभ्यां सह रेजतुः ताभ्यां सहैकं शकटमास्थिते रेजतुरिति वान्वयः । कथंभूते तस्य श्रीकृष्णस्य कथायाः श्रवणे उत्सवः औत्सुक्यं ययोस्ते ॥ २३ ॥ अर्द्धचन्द्रवदर्द्धचन्द्रतुल्यसन्निवेशं व्रजावासं गोकुलस्थानं चक्रुः ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पशव्यं पशुभ्यो हितं पुण्याद्रयः पुण्यवृक्षाः तृणानि वीरुधगुल्मानि यत्र तत्तथा तद्वीरुधशब्दोऽकारान्तोप्यस्ति "पर्वताद्रीनगावर्गौ" इति च ॥ १७ ॥ युङ्ध्वं योगं कुरुध्वम् ॥ १८ ॥ तदुपनन्दस्य वचनं एकधियः एकस्मिन्नर्थे नतबुद्धयः । रूढपरिच्छदाः शकटाधिष्ठितभाण्डादिसाधनाः ॥ १९ ॥ अनस्सु शकटेषु ॥ २०–२१ ॥ नृत्यत्सु कुचेषु कुङ्कुमादिकान्तिर्यासां तास्तथा स्निग्धकण्ठ्यः कण्ठगुणोपेताः ॥ २२–२३ ॥ अर्द्धचन्द्रवत् अर्धचन्द्राकारवत् ॥ २४–२६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

पुण्याद्रीति वृन्दावनस्य महाविस्तीर्णत्वं बोधयति ॥१७–२३ ॥ तत्रेति श्रीहरिवंशरीत्या कालियह्रदाद्दक्षिणप्रायायां दिशि अष्टक्रोशी दीर्घः चतुष्क्रोशी विस्तीर्णो व्रजावास इति ज्ञेयम् ॥ २४–२५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

न चास्मत्प्राचीनराजधानीं नन्दीश्वरो गन्तुं शक्यः यद्भयान्नन्दीश्वरात्पलाय्यात्र महावने वयमवसाम तस्यारिष्टस्य सम्प्रत्यपि तत्रैव स्थितेः नच व्रजभूमेरन्यत्र इयासा सम्भवेदरोचकत्वादेव तस्मान्नन्दीश्वरमहावनयोर्मध्यवर्तिस्थानमेवावासार्थं युज्यत इति विचार्य्याह—वनमिति । पश्यव्यं पशुभ्यो हितं नवानि काननान्यवान्तराणि यत्र तत् ॥ १७ ॥ तत्तस्मात्तत्र वृन्दावने भवतां भवद्भ्यः शस्ताः ॥ १८ ॥ व्रजान् व्रजवर्तिगवादीन् एकत्र मेलयित्वा रूढाः शकटान्यारूढाः परिच्छदा येषां ते ॥ १९ ॥ यत्ताः प्रयत्नवन्तः ॥ २०–२२ ॥ एकं शकटमिति द्वयोरेव पुत्रद्वयविरहसहनाशक्तेः ॥ २३ ॥ अर्द्धचन्द्रवदिति पश्चाद्भागं प्रति स्वद्रव्यस्थापनार्थम् अग्रभागे विस्तीर्णे गवादीनां सुखनिर्गमार्थं च "शकटीवाटपर्य्यन्तश्चन्द्रार्द्धाकारसंस्थितः" इति श्रीविष्णुपुराणे च एवं तद्दिने शकटैरेव चक्रुः दिनान्तरे तु यथा श्रीहरिवंशे—

"कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टभिर्द्रुमैः । निर्वातोच्छ्रितशाखाभिरभिगुप्तं समन्ततः" ॥

इति ॥ २४–२५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

स्थानमपि रामकृष्णयोः गोपादीनां च प्रियमाह—वनमिति । पशव्यं पशुभ्यो हितम् नवानि वृक्षतृणादियुक्तानि काननानि अवान्तरवनानि विद्यन्ते यस्मिन तत् ॥ १७ ॥ शकटान् युङ्क्त गमनार्हान् कुरुत ॥ १८ ॥ व्रजान् शकटव्यूहान् रूढाः शकटारोपिताः परिच्छदा यैस्ते ॥ १९–२१ ॥ तदा गोप्यः रूढा आरूढा रथा याभिस्ताः नूत्नैः कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ताः कृष्णलीलां जगुः अनेन तासां श्रीकृष्णे स्नेहातिशयं सूचितः ॥ २२–२३ ॥ व्रजावासं गोकुलवसतिस्थानं चक्रुः ॥ २४–२५ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु क यास्याम इति चेत्तत्राह वनमिति । यदेकदेशेऽस्मत्प्राचीनराजधानी नन्दीश्वरोऽभूत्तद्वृन्दावनं नाम वनं यास्यामः व्रजादन्यत्र तु नेति भावः । वृन्दया देव्या अवनं रक्षणं यस्येति तत्प्रभावात्तस्मिन्नोपद्रवलेशः, सर्वगुणशालिता चेत्याह–पशव्यं पशुभ्यो हितमारोग्यकरतृणादित्वात् गोपादीनां सेव्यं कण्टकदुष्टसत्त्वाभावात् नवान्यवान्तरकाननानि यत्र तत् ॥ २८ ॥ तत्र गमनाय त्वरयति तत्तत्रैवेति भवतां भवद्भ्यः ॥ २९ ॥ एकस्मिन् श्रीकृष्ण एव धीर्येषां ते अत एव विप्रतिपत्ति-विरहात् साधु साध्विति । व्रजान् व्रजस्थान् गवादीन् समायुज्य एकत्र मेलयित्वा ययुः, शकटान्यारूढाः परिच्छदा येषां ते ॥३०॥ वृद्धानिति युग्मकम् । अनःसु शकटेषु यन्ता यत्नवन्तः दुष्टाः केचित् कंसभृत्याश्चेदागच्छेयुस्तान् हरिष्याम इत्यात्तशरासनाः गृहीतधनुर्बाणा इत्यर्थः । आपूर्य वादयित्वा तूर्यघोषेण दुन्दुभिनादेन राजपरिच्छदे निर्ययुः महता कंसकर्णयोः प्रविशतेति निर्भयन्तं व्यज्यते पुरोहितैर्भागुर्यादिभिः सहिताः ॥ ३१–३२ ॥ गोप्यो गोपप्रवराणां पत्न्यः, रूढाः आरूढाः रथाः स्यन्दना याभिस्ताः; नूत्नैः कूचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ता निष्कानि पदकानि कण्ठेषु यासां ता भूषणान्तराणामुपलक्षणम् । सुवाससः सूक्ष्मचित्रवसनाः ॥ ३३ ॥ एकं महान्तं शकटं स्यन्दनं सपुत्रयोः सकिङ्करीकयोर्द्वयोः समावेशार्हं स्वयोः पुत्रयोश्च विरहसह-नाशक्तेः "अनः शताङ्गः शकटः स्यन्दनः कथ्यते रथः" इत्युक्तं हलायुधेन । कृष्णरामाभ्यां सह रेजतुः तयोर्जनकर्त्तृकाया: कथायास्तत्कर्त्तृकाया वा तस्याः श्रवणे उत्सुके ॥ ३४ ॥ सम्प्रविश्य "मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियःपते" रितिवत् कालिन्द्यां गुल्फदघ्नजलायां सत्यां तां सुखेनोत्तीर्येत्यर्थः । तत्र वृन्दावने आकालियह्रदमागोवर्द्धनकटकं व्रजावासं चक्रुः । शकटैरर्द्धचन्द्र-वदिति पश्चाद्भागे द्रव्यस्थापनार्थं पुरोभागे विस्तीर्णे गवादीनां सुखनिर्गमार्थञ्चेति भावः । श्रीविष्णुपुराणेऽप्येवमुक्तं—शकटी-वाटपर्यन्तश्चन्द्रार्द्धाकारसंस्थिति"रिति प्रथमदिवसे निवासरचनमिदं दिवसान्तरे तु तदरचनं श्रीहरिवंशाद्बोध्यम्—"कण्ट-कीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकिभिर्द्रुमैः । निखातोच्छ्रितशाखाभिरभिगुप्तं समन्ततः" इति कण्टकीभिर्वल्लीभिरिति ज्ञेयम् । मथुरानतिदूरे गोपानां निवासः कंसाभयगन्धोऽपि नास्तीति सूचयति । महाबलाः खलु ते च भवन्तो भीमविक्रमा" इति श्रीहरिवंशे तेषां विशेषणात् एतद्भयात् केशिनि पलायिते नन्दीश्वरे निवासो बोध्यः । इह पूतनावधशकटभङ्ग नामकरण-जानुरिङ्गणवत्सपुच्छग्रहणतृणार्कनाशनमुखान्तर्विश्वदर्शनगोपीस्तोभितनृत्यादिफलविक्रयणमृद्भक्षणपुनर्विश्वदर्शनदध्यादिस्तेय-दामबन्धनसरित्तरिगताह्वानादि श्रीवृन्दावनागमनादावृहद्वनलीलाक्रमोऽवद्य योग्यतादेः ख्यापेक्षानुसन्धेयः ॥ ३५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यदस्मदवश्यापेक्षितं तदत्र वर्तत इति नाम निदर्श्योपनन्द उपदिशति । वनमिति । वृन्दावनं नाम प्रसिद्धं वनं पशव्यं पशुभ्यो हितं नवानि नूतनानि काननान्यवान्तराण्युपवनानि यस्मिंस्तत् । नवा एव नवका नूतनागता इतो वयं तेषामेवाननं चेष्टा गमनमिति यावत् यस्मिंस्तत् । एतावत्पर्यन्तं कैरप्यनवलोकितमिति यावदिति वा । गोपगोपीगवाम् । कृत्यानां कर्तरि वेति षष्ठी । सेव्यं सेवनीयम् । पुण्येत्यद्र्यादिवीरुधां विशेषणम् । पुण्याद्रयः पुण्यानि तृणानि पुण्या वीरुधा गुल्माश्च यस्मिंस्तत् । टापं चेति टाबन्तो वीरुधाशब्दः । पुण्यद्रव इति क्वचित्पाठः । द्रुद्रुमागमा इत्यमराद्द्रवो द्रुमा इत्यर्थः ॥ १७ ॥ ततस्तत्राद्यैव यास्यामः शकटानन्नांसि यूयं युङ्ध्व युङ्ध्वं चिरं माऽस्त्वित्यर्थः । ध्वमो मलोपश्छान्दसः । यद्वा युङ्ध्वं आचिरमिति छेदः । आ सम्यगिति अचिरं शीघ्रमतिशीघ्रम् । अभिविधिरेवात्र सम्यक्त्वेन विवक्षित इति क्त्वान्न प्रकृतिभावः । युङ्ध्वं भवतामग्रतो गोधनानि यान्तु । अग्रत इत्यावर्तते । सार्वविभक्तिकश्च तसिः । अग्रेभ्यो प्रधानेभ्यो यदि रोचते तर्हि शकटान्युङ्ध्वं यास्याम इत्यन्वयः । अग्रमालम्बने वाते परिणामे परस्य च । प्रान्ते पुरस्तादधिके प्रधाने प्रथमोर्ध्वयोरिति विश्वः । एवं च रुच्यर्थनाभित्यस्योपपत्तिर्जातेति ज्ञेयम् । युङ्क्ष्व माचिरमिति पाठस्तु कल्पितः । एतदर्थापनानिपुणैर्बहुवचनक्रमाननुगुण इत्युपेक्ष्यः ॥ १८ ॥ नन्दपुरोगमा नन्दादयः उपनन्दवचः श्रुत्वा केचनानुमेनिरे नानुमेनिरे च केचनेति नेतीरयति । सर्वे एकधिय इति । एकस्मिन्वृन्दावनगमनविषये धीर्येषां ते गोपास्तत्प्रतिनन्द्य गृहान्स्वान्स्वान्ययुः ॥ १९ ॥ श्वोऽत एतत्स्थलाद्यत्ताः सन्नद्धाः । श्वो याम इति लकारव्यत्ययः । यद्वा श्वोऽपि माचिरमित्यन्वयः ॥ २० ॥ रूढा आरोपिताः परिच्छदा आस्तरणानि साधनानि यैस्ते ॥ २१ ॥ सर्वोपस्कराणि घरट्टखुब्धादीनि गतमुपरिस्करेति । आत्तं शरासनं धनुर्यैस्ते ॥ २२ ॥ शृङ्गाणि विषाण-रचितगोपोचितवाद्यान्यापूर्य पूरयित्वा महता तूर्याणां घोषेण च । तूर्येति गतं । सहपुरोहिता गर्गो वा स्वासत्तादशायां तेन स्थापितो वा यः कश्चित्पुरोहितस्तेन सहिताः ॥ २३ ॥ नृत्यन्तो विशङ्कटशकटनटनेन नटन्तश्च ते कुचाश्च तेषु कुङ्कुमानां कान्तिर्यु तिर्यासां ताः स्निग्धा मनोहराः कण्ठा यासां ताः ॥२४॥ कृष्णरामाभ्याम् सहोपविष्टाभ्यां ॥ २५ ॥ सर्वेषु कालेषु सर्वर्तुषु यत्सुखं तदावहतीति तदर्धचन्द्रवदर्धचन्द्रानुकारं व्रजावासं चक्रुः ॥ २६ ॥

श्रीसुबोधिनी

स्थलान्तरं सगुणं निर्दिशति **वनं वृन्दावनमिति, वृन्दा मधोः** पुत्री, तन्नाम्ना नूतनं वनं **वृन्दावनं**, स्त्रीप्राधान्यात् तत्र न दैत्यसम्बन्धः, भगवता पुनर्जालन्धरवधार्थं सा परिगृहीता, अतो देवताधिष्ठानाद् देवदैत्यानामनुरोध्यं तत् स्थानं, अतस्तत्रोत्पात-

शङ्काभावः, तदाह **वृन्दावनं, नामे**ति प्रसिद्धं तथा तत् **नवकानन**मिति, न शीर्णवृक्षास्तत्र सन्ति नापि शृगालसर्पादीनां तत्र स्थितिः, अतः सर्वे गुणाः सर्वदोषाभावाश्चोक्ताः, किञ्चालौकिकोपि तत्रत्यो गुणः समीचीन इति ज्ञायते यत् **पशव्यो भवति** पशूनां हितः, ते ह्यरण्योपजीविनोरण्यपात्रास्तेषां यद्धितमलौकिकप्रकारेणापि समीचीनमिति, किञ्च तस्मिन् वने त्रिविधा भूमिरस्ति, अतिगुप्तातिप्रकटा तृणादिगह्वरा च, तदाह **गोपीनां गोपानां** गवां च **सेव्य**मिति, अन्येषामपि नन्दपुरोहितप्रामाणिकानां तत् सेव्यमित्याह **पुण्याद्रितृणवीरुध**मिति पुण्योद्रिर्गोवर्धनः, **तृणानि** बर्हिः, **वीरुधः** सोमः करीराणि वा, अतस्तामसानां राजसानां सात्त्विकानां च हितकारि तत् स्थानमित्युक्तम् ॥ १७ ॥ एवं स्थानप्रशंसायां सर्वे गोपाला आहुस्तत्तत्राद्यैव **यास्याम इति**, तस्मात् कारणाद् यदि वृन्दावनं तादृशं ततोद्यैव **तत्र यास्यामः**, एवं सर्वेषां सङ्कल्पे प्रधानभूता उपनन्दादय आहुः **शकटान् युङ्क्त मा** चिरमिति, **शकटानां** बलीवर्दैः सह योजनं साधनं, विलम्बनिषेध उत्पातभयशङ्कया ॥ १८ ॥ एवं भयसाधर्म्ययोर्निर्देशे यत् कृतवन्तस्तदाह श्रुत्वेति, मध्ये तेषां न वैमत्यं यतो गोपास्तुल्याः, तादृशोर्थः स्वस्यात्यन्तमभीष्ट इति मन्त्रवाक्यप्रशंसा, गच्छन्त एव वदन्तीति**विवादिनः**, ते सर्वैवान्तरभिन्नभिन्नव्रजाधिपतयः स्वस्य यत्र यत्र भिन्नतया गावः स्थितास्तान् समुदायेनैव वत्सगोविभागमकृत्वा सम्यगायुज्य योजयित्वाग्रे प्रस्थाय शकटेष्वारोपितोपकरणाः **सर्वे** एव ततो ययुः ॥ १९ ॥ गताश्चतुर्विधा इति ज्ञापयितुं तमोरजःसत्त्वनिर्गुणरूपान् **पृथक् पृथक्** चतुर्भिः श्लोकैराह, तत्र प्रथममाह **वृद्धान् बालान् स्त्रिय** इति, अत्यन्तं प्राकृता वृद्धा बालाः स्त्रियश्च, **राजन्नि**तिसम्बोधनं कदाचित् तीर्थयात्रार्थं सकुटुम्बस्य प्रस्थाने त्वदीयानामपि तथाप्रस्थिति-स्तवानुभवसिद्धेतिज्ञापनाय, देशान्तरनिवासार्थमाज्ञप्तानां त्वदीयानां यथा तथेति वा **सर्वोपकरणानि च** शकटेष्वारोप्य गोपाः सर्वे पदातय **आयत्ता** बद्धकवचा **आत्तशरासना** गृहीतधनुषस्तामसत्वाद् राजसेष्वेव सम्बन्धः ॥ २० ॥ **गोधनानीति, गोधनानि** गावः **पुरस्कृत्या**ग्रे नीत्वा निर्भया **शृङ्गाण्यापूर्य**, ते तु शृङ्गवादित्रा एव, **सर्वत** इति सकृदेव महान् घोषः, प्रभूणां निर्गमनमाह तूर्यघोषेणेति, **पुरोहिता** ब्राह्मणा वैश्ययाजकाः ॥ २१ ॥ गोपिकास्तु भगवद्भोग्याः सात्त्विक्यो भिन्नतयैव निर्गता **गोप्य** इति, रथास्तूत्तमा अश्वयोजिता वृषभयोजिता वा, नूतनाः **कुचकुङ्कुमकान्तयो** यासां, वयःसाधनशोभाभोग्या उक्ता भगवत एवेति ज्ञापयितुं तद्गुणानेव गायन्त्यो निर्गता इत्याह **कृष्णलीला**मिति, एकवचनेन स्वोपयोगिन्येव लीला निरूपिता, **कृष्णपदेन** च न केवलं निरोधपरा किन्त्वानन्दमयीति, **प्रीता** इति मनस्तोषः, **निष्ककण्ठ्य** इति साभरणाः, **सुवाससश्चे**ति देहपरिष्कार उक्तः, गुणगानादेव वाक्परिष्करोपि, एतासामेव रथो भगवांस्तु तास्वेव प्रतिष्ठितो गच्छति ॥ २२ ॥ यशोदा**रोहिण्यो**र्भगवत्सम्बन्धाद् गुणातीतयोः पृथग्गमनमाह **तथे**ति, **शकटो** मध्यस्थितः, अनो निकृष्टं रथस्तूत्तमः, तथेति, सौन्दर्यं गुणगानं च, निर्दिष्टं स्थानं यशोदायाः, भगवांश्च प्रधानभूत इति **सार्धद्वयवार्षिको भगवान्**, अतो यशोदाक्रोडे स्थितस्तथा **रामो**पि, **कृष्णरामाभ्यां सहिते** ताभ्यां कृत्वा वा **रेजतुः**, गोपिकानां निकटे तयोर्गमनमाह **तत्कथाश्रवणोत्सुके** इति नामलीलानुरक्तिस्तयोः सूचिता ॥ २३ ॥ न केवलं तत्र गताः किन्तु तत्र प्रतिष्ठिता इत्याह **वृन्दावन**मिति, **वृन्दावनभूमिस्तस्मिन् कल्पे यमुनोत्तरभागे गोवर्धनश्चाक्रूरस्थाने तदुत्तरणमल्पप्रवाहा च यमुना ह्रदाः परं तत्रागाधा नन्दस्थानं** च **तत्रैव** अस्मिन् कल्पे तु प्रदेशास्तत्तदधिष्ठातृदेवताधिष्ठिता विशकलिततया पतिता इति न काप्यनुपपत्तिः, उत्तरणपक्षेप्यल्पप्रवाहेति नोत्तरणं निरूपितं, वर्षाकाल एव यमुनाया महत्त्वमिति, एते बृहद्वनं परित्यज्य **वृन्दावनं सम्यक् प्रविश्य शकटैरर्धचन्द्रवद् व्रजावासं** चक्रुः, वेष्टनस्थानीया गृहाः, मध्ये गवां स्थानं, प्रथममेवैतत् पश्चाद् यथासुखमेव स्थितिः अर्धचन्द्राकारे बहिर्द्वारं सर्वग्राह्यं भवति, गृहाणां निर्माणं तत्र नापेक्ष्यते, यतो वनमेव **सर्वकालं सुखमावहति, शकटै**रिति, रथानां क्रीडार्थं स्थापनं, अनांसि काष्ठाद्यानयनार्थानि, **महादेवो हि** पशुपतिस्त**च्चिह्नमर्धचन्द्रः**, अतः प्रतिष्ठितो भवतीति ॥ २४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

वृद्धान्बालानित्यादिषु । तदा केवलं स्वोपकरणमात्रपरत्वे तामसत्वं, प्रभुत्वेन कर्ममार्गीयद्विजसहितत्वेन च राज-सत्वम् । प्रमाणप्रकरणे यशोदानन्दनिरोधो मुख्य इत्येतत्प्रकरणार्थभूतनिरोधतारतम्यज्ञापनाय सात्त्विकत्वकथनम् ॥ २० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

वनमित्यत्रारण्यपात्रा इति 'पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् अरण्यपात्रे चाधुक्ष्य'न्निति **चतुर्थस्कन्ध**-वाक्यात् ते तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥ **वृद्धान् बालानित्यत्राभासे** ये चतुर्विधा उक्तास्तत्स्वरूपं **टिप्पण्यामाहुर्वृद्धानित्यादि कथन**-मित्यन्तं, तथा च कालभेदेन भावभेदात् सर्वेषां चातुर्विध्यं यथा सर्गलीलायां चतुर्मुखस्येति बोध्यम् ॥ २० ॥ **गोप्य इत्यस्या-भासे** पूर्वं स्त्रीनिर्देशेप्यत्र न पुनर्निर्देश इति तत्तात्पर्यमाहु**र्गोपिकास्त्वि**त्यादि, अस्मिन्नर्थे विनिगमकमाहु**र्गोप्य इतीति**, एतत्पदवाच्यत्वमेतासामेवेति तु "गोप्यः कृष्णे वनं याते" इत्यत्र **युगलगीते** विवृत**माचार्यैः** ॥ २२ ॥ **तथेत्यत्रातिदिष्टमिति तथेतिपदेनातिदिष्टं, प्रनिर्दिष्टमितिपाठे** त्वतिदिश्यत इतिशेषः, सौन्दर्यगुणगानयोरतिदेशे हेतुमाहुः **स्थान**मित्यादि, तथा च यत्र यशोदात्री तिष्ठति तत्र सौन्दर्यं यशश्च भवत्येव यत्र भगवांस्तिष्ठति तत्रापि तथेत्यर्थः, इदं चाग्रे 'श्रवणोत्सुक' पदाज्

ज्ञानाभावं 'शकट' पदात् सौन्दर्याभावं चाशङ्क्य तन्निवृत्त्य उक्तं 'तथा' पदसार्थक्याय चेति ज्ञेयं, सार्द्धद्वयवार्षिक इ'त्यष्टाविंशतिमे मासि' यमलार्जुनभञ्जलीलाया पाद्म उक्तत्वात् तथेत्यर्थः ॥ २३ ॥ **वृन्दावनं सम्प्रविश्य**ेत्यत्र मध्येमार्गं **यमुनो**त्तरणस्यानुक्तत्वात् **वृन्दावनस्य** च मथुरानिकटस्थत्वादुत्तरणं विना तत्र कथं गमनमित्याकाङ्क्षायां कल्पभेदेन व्यवस्थामाहुर्**वृन्दावने**त्यादि, **यद्यपीदानीं गोवर्धनः पश्चिमे वृन्दावनं च वायव्ये तथापि तस्मिन् कल्पे श्रीयमुनाप्रवाहस्यात्र पूर्वगामित्वाद् वृन्दावनश्रीगोवर्धनगोकुलानामुत्तरतटस्थत्वान्** नोत्तरणोक्तिरित्यर्थः, पक्षान्तरमाहु**रक्रूरे**त्यादि, **तत्रैवे**ति ह्रदनिकट एवोत्तरणस्थाननिकटे वा, एतत्कल्पीयव्यवस्थामाहु**रस्मिन्नि**त्यादि, **यथासुखमेव स्थितिरि**ति नूतनगृहादिकरणेन स्थितिः, तदेतद् **ब्रह्मवैवर्तं स्फुटं, पाद्मोत्तरखण्डे** तु गमनदिनमप्युक्तं 'मार्गशीर्षस्य पञ्चम्यामुत्पातभयशङ्किताः गोपा गोकुलमानिन्युः सर्वे वृन्दावनं शुभं नन्दग्रामं ततो गोपा ह्रदमेव वदन्ति ही'तिवाक्यात्, यद्यप्यत्र पञ्चम्यां शुक्लकृष्णविभागो नोक्तस्तथापि पूर्वोक्तमुग्धलीलानां तत्र तत्र स्मरणानुरोधाच् शुक्ल इति प्रतिभाति तथा सति सा लीला चतुर्दशदिनावधि भवत्यन्यथा चतुर्दिनमात्रैवेति, अत एव वृक्षभङ्गदिन एव न ततो निष्क्रमणमिति बोध्यं, अर्धचन्द्राकारकरणतात्पर्यमाहु**रर्धे**त्यादि, **सर्वग्राह्य**मिति **सर्वे ग्राह्या** यस्मिन् प्रवेशनिर्गमयोरित्यर्थः, यद्वा गृहमध्ये यत्र कुत्रचित् स्थितानामपि दृष्टिगोचरं यद् भवति तत् तथेत्यर्थः, **नापेक्षत** इति शीघ्रं **नापेक्ष्यते,** तत्करणस्यैव तात्पर्यमाहु**र्महादेव** इत्यादि, **प्रतिष्ठित** इति पशुपालनाय **प्रतिष्ठित** इत्यर्थः, **वृन्दावनगोवर्धन**मिति षोडशः श्लोकः, एतावत्पर्यन्तैः स्थानान्तरपरिग्रह उक्तः ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वनं वृन्दावनमित्यत्र **स्त्रीप्राधान्यादि**ति दैत्यानां स्त्रीरक्षाया मुख्यत्वात तत्स्थाने ते नायान्तीत्यर्थः, तर्हि शत्रुस्त्रीस्थानत्वाद् देवा एव उपद्रवं कुर्युरित्याशङ्क्य देवानामप्यनुरोधमाहुः **भगवते**ति, **यतः पशव्य** इति देश इत्यर्थः, **अरण्यपात्र** इति पृथुसम्पादितदोहे पशूनामरण्यं पात्रमुक्तं, **गोपीगोपे**त्यस्याभासे **अतिगुप्ते**ति अन्तरङ्गलीलाज्ञानाभावेपि स्त्रीणां निःसङ्कोचेन यथासुखं स्थितिरतिगुप्त एव सम्भवतीत्येवमुक्तं, मन्त्रे स्त्रीरक्षाया मुख्यत्वेन गोपीनामभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः, अत इति पशव्यत्वात् **तामसानां** गोप्यादिसेव्यत्वाद् **राजसानां** पुण्याद्ग्यादियुक्तत्वात् **सात्त्विकानां हितकारी**त्यर्थः ॥ १७ ॥ **गोप्य** इत्यत्र **वयःसाधने**ति भगवद्भोग्या वय आदय उक्ता इत्यर्थः, गोपीपदेन पुंयोगयोग्यत्वात् तारुण्यं निरूपितं, तस्यान्यभोग्यत्वमाशङ्क्याहु**र्भगवत एवे**ति, **केवलं निरोधपरे**ति पूतनामारणादिलीलेत्यर्थः, **एतासामेवे**ति यशोदारोहिण्योस्तु शकटो वक्ष्यते इत्येवकारः, एतासां तथाधिक्ये हेतुमाहु**र्भगवांस्त्वि**ति, एतासामेव हृदयेषु प्रतिष्ठितः स्थिरः सन् गच्छति, यशोदाक्रोडादिषु गच्छत्यागच्छति च न तु स्थिर इति **तु** शब्दः, अत एतासामेव रथ उक्त इति भावः ॥ २२ ॥ **वृन्दावनमि**त्यत्र **नन्दस्थानं चे**ति नन्दग्रामोपि गोवर्धनसमीप एवेत्यर्थः, तदा वरसान्वादयोपि तत्रैवेतिज्ञेयं, **तत्तदधिष्ठातृदेवते**ति व्यापि वैकुण्ठरूपस्वस्वाधिदैविकस्थानसहिता इत्यर्थः, **वेष्टने**ति शकटा एव गृहरूपा इत्यर्थः, **गृहाणामि**ति अन्तरङ्गलीलार्थं तादृशनिकुञ्जेषु शीतादिनिवारकमन्दिरनिर्माणमित्यर्थः ॥ २४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

वनं वृन्दावनं नामेत्यत्र **अरण्यपात्रा** इति चतुर्थस्कन्धे पृथुकर्तृकपृथ्वीदोहप्रसङ्गे पशूनामरण्यपात्रता निरूपिता, **त्रिविधा भूमिरि**त्यादि तत्रातिगुप्ता निकुञ्जादिरूपा **गोपीनां** सेव्या भगवता सह लीलानामभिलषितत्वात् **अतिप्रकटा गोपानां तृणादिगह्वरा गवां सेव्ये**ति सर्वेषां व्रजस्थानां हितं वृन्दावनमित्यर्थः ॥ १७ ॥ **गोप्यो रूढरथा** इत्यस्याभासे **भिन्नतयैव निर्गता** इति शृङ्गाररसोपयोगिसम्पत्त्या **निर्गता** इत्यर्थः, अत एव न शकटारोहणं किन्तु रथारोहणं, **वयःसाधनशोभाभोग्या उक्ता** इति वयःसाधनशोभा भगवदेकभोग्या उक्ता इति ज्ञेयं, इह **कुचकुङ्कुमकान्तय** इति पदत्रयेण क्रमेण **वयःसाधनशोभा भगवदेकभोग्या उक्ता** इति ज्ञेयं, **कृष्णपदेने**ति "स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति कृष्णपदार्थ" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् स्त्रीभावयुक्तो भगवान् कृष्णपदवाच्यः, स च रसाधिक्यवत्त्वादानन्दमय इति एतल्लीलाया अप्यानन्दमयत्वमितिभावः, निरोधपरायां लीलायां तु माहात्म्यांशोप्यस्तीति तदपेक्षयेयं लीलोत्कृष्टेत्यर्थः, **भगवांस्तु तास्वेवे**ति वयःसाधनशोभानां कुचकुङ्कुमकान्तय इति पदेनोक्तत्वात् तत्सार्थक्याय भगवान् तासां निकटे एव तिष्ठतीतिज्ञेयं, अन्यथा वय आदीनामुक्तिर्व्यर्था स्यात्, बाल्यभावे हि सर्वेषां निर्दोषबुद्धिरिति न किञ्चिद् बाधकम् ॥ २२ ॥ **तथा यशोदारोहिण्या**वित्यस्य विवृतौ **यशोदाक्रोडे स्थित** इति बालकृष्णो हि बालस्वभावात् कदाचिद् यशोदाक्रोडे कदाचिद् गोपिकानिकटे तद्रथेषु तिष्ठति तत्रापि गोपिकानिकटेधिकं तिष्ठतीति बोध्यम् ॥ २३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं चेत्तर्हि स्थलान्तरं विचार्यताम्, इत्यत्राह–वनमिति। वृन्दावनाख्यं वनम् 'अस्ति' इति शेषः। तद्विशिनष्टि–गोपगोपीगवां सेव्यमिति। तत्र हेतुमाह–पशव्यमिति। पशुभ्यो हितम्। तत्र हेतुमाह–नवानि काननान्यवान्तरवनानि यस्मि-

स्तत्, तथा पुण्याः पवित्रा दर्शनस्पर्शादिना पुण्यजनका अद्र्यादयो यस्मिंस्तत् ॥ २८ ॥ यस्मात् सर्वसुखावहं तत्तस्मात्तत्राद्यैव यास्यामः। शकटान् युङ्क्त बलीवर्दयुक्तान् कुरुत, मा चिरं विलम्बो न कर्तव्यः। गोधनान्यग्रतो यान्तु। एवमुक्त्वाऽपि 'प्रारब्धवशात् कदाचित्तत्रापि कश्चिदुत्पातः स्यात्' इत्याशङ्क्याह–भवतां यदि तत्र गमनं रोचते, 'तर्हि गन्तव्यम्' इति शेषः ॥ २९ ॥ तदुपनन्दवचः श्रुत्वा एकधियः विप्रतिपत्तिरहिताः गोपा नन्दादयः स्वान् स्वान् व्रजान् शकटान् समायुज्य रूढाः शकटे आरोपिताः परिच्छदा उपकरणानि यैस्ते ययुः ॥ ३० ॥ एतदेव स्पष्टयति–वृद्धानिति। 'राजगमनमिव तेषामपि गमनमभूत्, इत्याशयेन सम्बोधयति–हे राजन्! यत्ताः कृतप्रयत्नाः आत्तानि गृहीतानि शरासनानि यैः ते गोपाला वृद्धादीन् अनस्स्वारोप्य ॥ ३१ ॥ गोधनानि पुरस्कृत्य अग्रतः कृत्वा सर्वतः शृङ्गाण्यापूर्य निर्गमनज्ञापनार्थं महान्तं शृङ्गशब्दं कृत्वा महता तूर्यघोषेण सह महान्तं तूर्यशब्दं कुर्वतः पुरोहितैर्ब्राह्मणैः सह ततो निर्ययुरित्यन्वयः ॥ ३२ ॥ रूढरथाः रथोपर्यारूढाः। नूत्नैः कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ताः, यद्वा नूत्नेषु कुचेषु यत् कुङ्कुमं तेन कान्तिर्यासां ताः। 'निष्ककण्ठ्य' इत्युपलक्षणम्, सर्वाभरणभूषिता इत्यर्थः। सुष्ठु वासांसि यासां ताः। एवंभूता गच्छन्त्यो गोप्यः कृष्णलीलां जगुः ॥ ३३ ॥ तथा तयोः कृष्णरामयोः कथानां श्रवणे उत्सुकमुत्साहो ययोस्ते यशोदारोहिण्यौ कृष्णरामाभ्यां सहैकं शकटमास्थिते आरुह्य स्थिते रेजतुरित्यन्वयः ॥ ३४ ॥ एवं शकटैर्वृन्दावनं सम्प्रविश्य समागत्य गोपास्तत्र अर्धचन्द्रवत् अर्धचन्द्राकारं व्रजावासं गोकुलवसतिस्थानं चक्रुरित्यन्वयः। बृन्दावनस्य सर्वोत्तमत्वमाह–सर्वेति। सर्वेषु ग्रीष्मादिष्वपि कालेषु सुखमेवावहति प्रापयतीति तथा तत् ॥ ३५ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

वनमिति ॥ पशव्यं पशुभ्यो हितं नवानि काननान्यवान्तरवनानि यस्मिंस्तत् गोपगोपीगवाम्। एकशेषाभाव आर्षः। स्पष्टार्थो वा। प्रागुक्तरीत्या सेव्यं पुण्याः पवित्रा दर्शनस्पर्शादिना पुण्यजनका अद्र्यादयो यस्मिंस्तत् वृन्दायाः पाद्मकार्तिक-माहात्म्योक्ताया वनं वृन्दावनाख्यं सर्वक्षेमकरं वनमस्ति। वीरुधशब्दाट्टाप् ततः समासः ॥ २७ ॥ तत्तत्रेति ॥ यस्मात्सर्व-सुखावहं तत्तस्मात् यदि भवतां भवद्भ्यः। शेषे षष्ठी। तत्र गमनं रोचते तर्हि तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त बलीवद-युक्तान् कुरुत। युंक्ष्वेति एकवचनपाठे नन्दं प्रत्युक्तिः। मा चिरं विलम्बो न कर्तव्यः। गोधनान्यग्रतो यान्तु ॥२८॥ तच्छ्रुत्वेति। तदुपनन्दवचः श्रुत्वा एकधियः विप्रतिपात्तरहिताः साधु साधु इति वादिनः गोपा नन्दादयः स्वान् स्वान् व्रजान् शकटादियू-थान् समायुज्य रूढाः शकटे आरोपिताः परिच्छदा उपकरणानि यैस्ते ययुः ॥ २९ ॥ वृद्धानिति द्वयम् ॥ हे राजन्! यत्ताः कृतप्रयत्नाः आत्तानि गृहीतानि शरासनानि यैः ते गोपालाः वृद्धान् बालान् स्त्रियः सर्वाण्युपकरणानि च अनःसु शकटेष्वारोप्य गोधनानि पुरस्कृत्य अग्रतः कृत्वा सर्वतः शृङ्गाण्यापूर्य निर्गमनज्ञापनार्थं महान्तं शृङ्गशब्दं कृत्वा महता तूर्यघोषेण सह महान्तं तूर्यशब्दं कुर्वन्तः पुरोहितैर्ब्राह्मणैः सह ततो निर्ययुः ॥ ३०–३१ ॥ गोप्य इति ॥ रूढा रोहणकर्मीकृताः रथा यैः रथान् आरूढा इति। नूत्नैः कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ताः प्रीताः निष्ककण्ठ्यः उपलक्षणतया सर्वाभरणभूषिताः सुष्ठु वासांसि यासां ताः एवंभूताः गच्छन्त्यो गोप्यः कृष्णलीलाः जगुः ॥ ३२ ॥ तथेति ॥ तथा तयोः कृष्णरामयोः कथानां श्रवणे उत्सुके उत्कण्ठिते यशोदारोहिण्यौ कृष्णरामाभ्यां सहैकं शकटमास्थिते आरुह्य स्थिते रेजतुः ॥ ३३ ॥ वृन्दावनमिति ॥ एवं सर्वेषु कालेषु ग्रीष्मादिष्वपि सुखमेवावहति प्रापयति तत् वृन्दावनं संप्रविश्य गोपास्तत्र शकटैः प्रथमदिने शकटैरेव अर्द्धचन्द्रवत् धनुराकारं व्रजावासं गोकुलस्य वसतिस्थानं चक्रुः। दिनान्तरे तु "कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकिभिर्द्रुमैः ॥ निपातोच्छ्रितशाखा-भिरभिगुप्तं समंततः ॥" इति हरिवंशरीत्या चक्रुः। धनुराकारता च पश्चाद्भागे स्वद्रव्यस्थापनार्थमग्रभागे विस्तीर्णे गवादीनां सुखनिर्गमार्थं च ॥ ३४ ॥ वृन्दावनमिति ॥ हे नृप! वृन्दावनं गोवर्द्धनं गिरिं यमुनायाः पुलिनानि जलोत्थिततटानि च वीक्ष्य राममाधवयोः उत्तमा प्रीतिः आसीत्। प्रथमं पूतनानाशस्ततः शकटभञ्जनं नाम कर्माघृष्टजानुरिङ्गणं च ततो वधः तृणा-वर्तस्याथ विश्वदर्शनं प्रथमं ततः गोपीभिस्तोभितेत्यादि वत्सपुच्छग्रहस्ततः मृत्तिकाभक्षणं तत्र द्वितीयं विश्वदर्शनं दधिक्षीरादि चौर्यं चोलूखले बन्धनं ततः सरित्तीरेत्यादि वृन्दावने रम्ये प्रवेशनं बृहद्वनस्थलीलानां क्रमोऽयं तोषणीमतः ॥ ३५ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पशुभ्यो हितं सुजनकं पशव्यं नवानि काननानि अवांतरवनानि विद्यंते यस्मिन् पुण्यः पवित्र अद्रिर्गोवर्द्धनश्च तृणानि च वीरुधो लताश्च यस्मिंस्तथाभूतं वृंदावनमस्ति ॥ २५ ॥ तत्तस्मात् तत्र वृंदावने शकाटान् युंक्त तेषामनडुद्भिः सह संयोजनं कुरुध्वं मा चिरं विलंबं मा कुरुत ॥ २६ ॥ रूढाः शकटनिक्षिप्ताः परिच्छदाः गृहसामाग्र्यो यैस्ते व्रजान् शकटसमूहान् समायुज्य बलीवर्दैः संयोज्य ॥ २७ ॥ यत्ताः विहितोद्यमाः आत्तानि गृहीतानि शरासनानि धनूंषि यैस्ते ययुरिति पूर्वेण संबंधः ॥ २८ ॥ आपूर्य वादयित्वा ॥२९॥ रथेषु रूढा आसीनाः रूढरथाः राजदंतादित्वात्पूर्वप्रयोगार्हस्य परनिपातः नूत्नैर्नवीनैः

स्तनगतैः कुंकुमैः कांतिः शोभा यासां ताः निष्ककंठ्यः कंठाभरणयुक्ताः ॥ ३० ॥ स्यंदनं रथं शकटमिति पाठांतरं आस्थिते-निषण्णे ॥ ३१ ॥ व्रजस्य गोसमूहस्य आवासं निवासस्थानम् ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

क यास्यामेत्यत्राह ॥ वनमिति ॥ पशव्यं पशुभ्यो हितं, नवानि काननानि पर्यन्तवनानि यस्मिंस्तत्, गोपाश्च गोप्यश्च गावश्च तासां, सेव्यं संवासयोग्यं पुण्या रमणीयाः अद्रिश्च तृणानि च वीरुधश्च यस्मिंस्तत्, वृन्दावनं नाम, वृन्दावनाख्यया प्रसिद्धं, वनं, भवति ॥ २७ ॥ तदिति ॥ तत्तस्मात्, तत्र, अद्य एव यास्यामः । शकटान् युङ्क्त । प्रस्थानोचितान् कुरुतेत्यर्थः । चिरं मा, विलम्बो न कार्य इत्यर्थः । गोधनानि गवां समूहाश्च, गोरूपाणि धनानि वा । अग्रतः यान्तु । भवतां सर्वेषां, यदि रोचते । सर्वरुचिमन्तरेण गमनस्यानर्हत्वादिति भावः । 'क्लीबेऽनः शकटोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । इति द्वयोः संबन्धः ॥ २८ ॥ तदिति ॥ तदुपनन्दवचः श्रुत्वा, एकधियो विप्रतिपत्तिरहिताः, साधु साधु इत्येवंवादिनः, गोपाः, स्वान् स्वान्, व्रजान् शकटव्यूहान्, समायुज्य समानीय, रूढाः शकटानारोपिताः परिच्छदा उपकरणानि यैस्तथाभूताः सन्तः, ययुः ॥ २९ ॥ तदेव प्रपञ्चयति ॥ वृद्धानिति ॥ हे राजन्, वृद्धान्, बालान्, स्त्रियः, सर्वोपकरणानि च, अनःसु शकटेषु, आरोप्य, यत्ताः संनद्धाः, आत्तानि शरासनानि यैस्तथाभूताः, गोपालाः ॥ ३० ॥ गोधनानीति ॥ गोधनानि पुरस्कृत्य, सर्वतः सर्वेऽपि, शृङ्गाणि, आपूर्य मुखमारुतेन ध्वनयित्वा, महता तूर्यघोषेण सह, सहपुरोहिताः सगुरवः, ययुर्जग्मुः । इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ ३१ ॥ गोप्य इति ॥ रूढा आरूढा रथा याभिस्ताः, नूत्नैर्नवीनैः कुचकुङ्कुमैः कुचगतकुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ताः, निष्काः पदकाख्याभरणानि कण्ठेषु यासां ताः, स्निग्धकण्ठ्य इति पाठे मधुरस्वनाः, प्रीताः प्रसन्नतोपेताः, सुवाससः परिहितशोभनवसनाः, गोप्यः, कृष्णलीलाः, जगुः ॥ ३२ ॥ तथेति ॥ तथा एकं श्रेष्ठं, 'एकं संख्यान्तरे श्रेष्ठे' इति मेदिनी । शकटं भारवहनसमर्थतयाऽन्वर्थसंज्ञं अनः, आस्थिते आरुह्य स्थिते, यशोदारोहिण्यौ, तस्य श्रीकृष्णस्य कथायाः श्रवणे औत्सुक्यं ययोस्ते तथाभूते सत्यौ, कृष्णरामाभ्यां सह, रेजतुः ॥ ३३ ॥ वृन्दावनमिति ॥ सर्वकालसुखावहं वृन्दावनं संप्रविश्य, तत्र वृन्दावने, शकटैः, अर्द्धचन्द्रवदर्द्धचन्द्रतुल्यसंनिवेशं, व्रजावासं गोकुलवसतिस्थानं, चक्रुः ॥ ३४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वनं वृन्दावनमिति : १०.११.२८.

स्याच्चेदीशकृपा तदा न भविता बाधा कुतः कर्हिचित् प्रत्यूहप्रचयस्तु गोकुलजुषां प्रादुर्भवत्यन्वहम् ।
तस्मात्सोऽपि भवेन्न यावदमले तावद् विविक्ते वने स्थेयं बुद्धिमतेत्योचदुचितं वृन्दावनस्थायिताम् ॥ २९ ॥

न योगशिक्षा न च मन्त्रदीक्षा तपःसमीक्षाऽपि न विघ्नहन्त्री । कलावलं गोकुलवासिनां तु सदेकवृन्दावनदृष्टिरेव ॥ ३० ॥

उत्पाद्य स्वयमेव विघ्ननिचयं दुर्भीतिमात्रप्रदं चेतः प्रेयसि गोकुलेऽप्यलमनासक्तिं समुत्पाद्य च ।
सद्-वृन्दावनपुण्यशालिनमहं कर्ताऽवनौ भक्तमित्यद्धाऽबोधयदच्युतो व्रजजनं वृन्दावने योजयन् ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वेति : १०.११.३०.

यत्रैकमत्यं किं तत्र दुस्त्यजं दुर्लभं च वा । यद् गोपैर्गोकुलं त्यक्तं लब्धो वृन्दावनक्रमः ॥ ३२ ॥

गोधनानि पुरस्कृत्येति : १०.११.३२.

साधुवृन्दावने दिव्याः साधनानि गिरः सताम् । इत्यध्वन्यध्वनि तदा गोपुरस्करणेन तैः ॥ ३३ ॥
पुरोहितं ये पश्यन्तः प्रणवोत्सवशालिनः । वृन्दावने क्षणोल्लासा युक्तास्ते श्रितगोधनाः ॥ ३४ ॥

वृन्दावनमिति : १०.११.३५.

क्षेत्राणि तीर्थान्यपि साधनानि बहूनि किञ्चित्सुखदानि सन्तु । नित्यानवद्यस्वसुखप्रदा तु तत्साधुवृन्दावनवृत्तिरेव ॥ ३५ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीवृन्दावन नाम का एक उत्तम वन है वह नित्य नित्य नया सा ही है वहाँ नयें-नयें हरे-भरे तरुवर है वहाँ के तरुवर शीर्ण होते नहीं, शृगाल सर्पादि का भय नहीं अतः पशुओं के लियें हितावह वन है, पुनः पुण्य श्रीगोवर्धन महाद्रि है, भारी प्रमाण में घास है, और हरी-हरी लता और वनस्पतियाँ है मेरे समक्ष में तो गोप गोपीजन और अपने गोधन के लिये यह वन कल्याण कारी है ॥ १७ ॥ श्रीनन्दजीने कहा कि यदि आप सबको यह बात जँचती हो-सबको प्रसन्द हो तो वहाँ जाने के लिए आज ही प्रस्थान कर देना चाहिए विलंब न करें । सब गोप गाड़ी-छकड़े जोतें और गौओं ही अपना

धन है उनको आगे कर मङ्गल प्रस्थान करें ॥ १८ ॥ वयोवृद्ध श्री उपनन्दजी की बात सुनकर एक ही आवाज से सबने बहुत अच्छा बहुत अच्छा यों कहते हुए एक मत से बात मानली और गोपोंने अपनी अपनी गौओं के वृन्द को इकट्ठा कर पुनः छकड़ों को जोत कर घर का सामान छकड़ों पे लादकर उनपर पर्दा डाल एक साथ सबने मङ्गल यात्रा आरंभ की ॥१९॥ राजन् परीक्षित् ? वृद्ध गोप लोगोंने, बच्चे, और स्त्रीजन एवं घर की सामग्री को गाड़ी पर चढ़ा दिया और स्वयं धनुष बाण तानकर सावधान होकर सब चलने लगे ॥ २० ॥ गोओं को आगे कर प्रस्थान के अवसर जोर जोर से सींगा फूँककर तुरही को जोर से बजाते हुए अपने पुरोहितजी को लिये हुये चले ॥२१॥ वक्षःस्थल पर केसर कुंकुम के लेप लगाने से गोपियों की कान्ति और बढ़ गयी थी उन्होंने अपने कंठ में सुवर्ण के हंसुली हार धारण किये थे, उत्तम प्रकार की साड़ी पहन ली थी रथों पर सवार थीं और बड़े आनन्द से प्यारे नन्द दुलारे श्रीकृष्ण की लीलाओं के गीत गाती जाती थी ॥ २२ ॥ यशोदा महारानीजी और रोहिणी देवी बलभद्र और कृष्ण को लिये एक रथ में बैठी खूब शोभती थी। गोपियों से उन दोनों लालन की लीला बड़े चाव से सुन रही थी ॥ २३ ॥ श्रीवृन्दावन सर्वकाल सर्व ऋतुओं में सुख से ही भरा है। गोप लोग वहाँ पहुँचे और सर्व प्रथम तो उन्होंने गाड़ियों को अर्धचन्द्राकार मण्डल में खड़ाकर ही गौओं के रहने का स्थान बना लिया ॥ २४ ॥

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्ययासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥ २५ ॥
एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितौ[1] । कलवाक्यौ[2] स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ २६ ॥
[3]अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः । चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥ २७ ॥
क्वचिद् वादयतो वेणुन्[4] क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् । क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ॥ २८ ॥
[5]वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् । [6]अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥ २९ ॥
कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः । वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥ ३० ॥
तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः । दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥ ३१ ॥
गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः । भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम् ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नृप ! राममाधवयोः वृन्दावनं गोवर्धनं च यमुनापुलिनानि वीक्ष्य उत्तमा प्रीतिः आसीत् ॥ २५ ॥ एवं बालचेष्टितौ कलवाक्यौ व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ २६ ॥ नानाक्रीडापरिच्छदौ गोपालदारकैः सह व्रजभुवः अविदूरे वत्सान् चारयामासतुः ॥ २७ ॥ कचित् वेणून् वादयतः कचित् क्षेपणैः क्षिपतः कचित् किङ्किणीभिः पादैः कचित् कृत्रिमगोवृषैः वृषायमाणौ नर्दन्तौ परस्परं युयुधाते रुतैः जन्तून् अनुकृत्य प्राकृतौ यथा चेरतुः ॥ २८–२९ ॥ कदाचित् यमुनातीरे स्वकैः वयस्यैः वत्सान् चारयतोः कृष्णबलयोः जिघांसुः दैत्यः आगमत् ॥ ३० ॥ हरिः वत्सयूथगतं वत्सरूपिणं तं वीक्ष्य शनैः बलदेवाय दर्शयन् शनैः मुग्ध इव आसदत् ॥ ३१ ॥ अच्युतः सहलाङ्गूलं अपरपादाभ्यां गृहीत्वा भ्रामयित्वा गतजीवितं कपित्थाग्रे प्राहिणोत् ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स्वकालेन वत्सपालनयोग्यकालेन ॥ ३७ ॥ कौमारलीलां निरूपयति अविदूर इत्यादिना ॥ ३८ ॥ क्षेपणैर्बिल्वामलकादि क्षिपतो दूरे चालयतः । किंकिणीयुक्तैः पादैः क्षिपतस्ताडयतः ॥ वृक्षादीनिति शेषः । वत्सपाला एव द्वित्राः कंबलादिपिहिता वृषरूपमनुकुर्वंति तैः सह स्वयमपि तथैव ॥ ३९ ॥ वृषायमाणौ नर्दंतौ तदनुकारिशब्दान्कुर्वंतौ युयुधाते इत्यर्थः । रुतैः शब्दैः । जंतून् हंसमयूरादीन् ॥ ४०–४१ ॥ मुग्ध इवाजानन्निवाऽऽसदत्समीपमागमत् ॥ ४२ ॥ सहलांगूलं यथा भवति तथा अपरपादाभ्यां गृहीत्वा ॥ ४३–४४ ॥

---

१. चेष्टितैः-श्रीधर. वंशी । २. वाक्यै –श्रीधरः वंशी. । ३. अतिदूरे-वंशी. । ४. वेणु.-श्रीधर. वंशी. । ५. गोपैस्वानुचरितौ-च. पु. टी. ।

६. चकोरक्रौञ्चचक्राङ्गभारद्वाजान्सबर्हिणः । अनुरोदिति सत्वान्वे भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः ॥

अर्धद्वयमिदं क्वचिदधिकं दृश्यते ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

राममाधवयोः बलकृष्णयोः। उत्तमाऽत्यंता हे नृपेति संबोधनं तु प्रहर्षाधिक्यादेव उत्तमा वैकुंठाद्यपेक्षाया "अहो मधुपुरी धन्या वैकुंठाच्च गरीयसी" इति प्राप्तैताद्दशमाहात्म्या मधुवनमहावनापेक्षया चेति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥ कलवाक्यैर्मधुरास्फुटै· र्वचनैः "ध्वनौ तु मधुरास्फुटे। कले" इत्यमरः। तद्योग्यकालेन वत्सपालनार्हसमयेन ॥ ३७ ॥ कौमारलीलां कुमारावस्थलीलाम्। अविदूरे समीपे। चारयामासतुः तृणानि भक्षयांचक्रतुः ॥ ३८ ॥ क्षेपणै रश्मयंत्रैर्वा कृत्रिमगोवृषैर्मृदादिनिर्मितगोवृषैर्वा ॥ ३९ ॥ इत्यर्थ इति। नहि केवलं शब्दं युद्धं विना वृषाः कुर्वंतीति भावः। अनुकृत्य विडंब्य ॥ ४० ॥ जिघांसुः हननेप्सुः ॥ ४१ ॥ तं दैत्यं मुग्ध इवाज्ञात इव ॥ ४२ ॥ अपरपादाभ्यां पश्चिमपादाभ्याम्। कपित्थाग्रे दधिफलसंज्ञवृक्षोपरि प्राहिणोच्चिक्षेप। कपित्थाग्रे प्रक्षेपणं तु तदानींतनक्रीडोपयोगिफलपातनार्थमेवेति तोषिणीकारः। स दैत्यः। अन्यैः कपित्थैः। कपित्थशाखायुक्तफलैर्वा॥४३॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अत्र श्रीबृहद्वनलीलायां प्रसिद्धया वयोयोग्यतादिना च क्रमोयं लक्ष्यते पूतनावधः शकटभञ्जनं नामकरणं रिङ्गणम् अघृष्टजानुरिङ्गणं तृणावर्तवधः प्रथमविश्वदर्शनं गोपीभिः स्तोभित इत्यादि क्रीणीहि भो इत्यादिवत्सपुच्छग्रहणं मृत्तिकाभक्षणं द्वितीयविश्वदर्शनं दधिपयश्चौर्यम् उलूखलबन्धः सरित्तीरगतमित्यादिवृन्दावनप्रवेश इति। अथ श्रीवृन्दावनलीलामुपक्रमते; एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कलवाक्यैर्मनोहरभाषितैश्च प्रीतिमानन्दं यच्छतौ कलवाक्याविति पाठे स एवार्थः। स्वकालेनेति। कौमारमध्य एवेत्यर्थः। "कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले। अघृष्टजानुभिः पद्भिः विचक्रमतुरोजसा" इत्युक्तत्वाच्चतुर्थस्यापि वर्षस्यापि वर्षस्यान्ते ऽवश्यं कौमारपरित्यागो लभ्यते पञ्चमस्य तु साधारण्यापत्तेः वृन्दावने च कौमारलीलावत्सहरणसम्बन्धि-वर्षस्यान्तर्भावात् प्रायः सार्द्धमेकवर्षं भवेत् "एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे" इति तदनन्तरमुक्त्वा ततश्च पौगण्डवयः-श्रितौ व्रज इति हि वक्ष्यते तस्मादत्रैवमूह्यं बृहद्वने मासत्रयाधिकवर्षद्वयं स्थित्वा तृतीये वृन्दावनमागत्य बाल्यलीलया मासान् कतिचिन्नीत्वा तदनन्तरं वत्सपालौ बभूवतुरिति अतो यत्तु श्रीहरिवंशे बृहद्वनक्रीडायामेवोक्तम्—

एवं तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसङ्कर्षणावुभौ। तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥ इति

तच्च प्रौढत्वापेक्षया सप्तवर्षाविवेति मन्तव्यं विरोधान्तरवत्कल्पभेदाविवक्षयेति केचित् ॥२६॥ अविदूर इति नातिदूरे बाल्यात् न चातिनिकटे सतृणाभावात् सुखविहारासिद्धेश्च किं तु व्रजस्थानादाह्वानप्राप्यप्रदेश इत्यर्थः। नानाविधावेणुवेत्र-शृङ्गवीणाकन्दुकादयः क्रीडायाः परिच्छदाः साधनानि ययोस्तौ ॥ २७ ॥ तानेव दर्शयन् बाल्यक्रीडामाह द्वाभ्याम्। तत्र क्वचिदिति सार्द्धकं कस्मिंश्चित्काले देशे वा तत्तद्योग्ये वेणुवादनञ्च वयोदेशयोर्वैशिष्ट्यात् तत्प्रभृत्येव प्रवृत्तमिति ज्ञेयं क्षेपणै-यन्त्रादिभिः बिल्वामलकादिकं दूरे प्राक्षिपतः किङ्किणीयुक्तः पादैः नृत्यतः इति शेषः। स्वस्वयूथत्वे नापादितैः कृत्रिमगोवृषैः सह ॥ २८ ॥ अन्वित्यर्द्धकम्। प्राकृतौ लौकिकबालकौ यथा तथैवेति निर्द्धारणावेशेन बाल्यलीलानिष्ठोक्ता एवं वेणुवादनादि-क्रीडया परिभ्रमणमेव मुख्यं प्रयोजनं वत्सचारणं तु तदुपकरणत्वेनेति बोधयति—तत्र वेषविलासविशेषाश्चोक्ताः श्रीविष्णुपुराणे—

बर्हिपत्रकृतापीडौ वन्यपुष्पावतंसकौ। गोपवेणुकृतातोद्यौ पत्रवाद्यकृतस्वनौ ॥
काकपक्षधरौ बालौ कुमाराविव पावकी। हसन्तौ च रमन्तौ च चेरतुस्तन्महद्वनम् ॥
क्वचिद्धसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ तथा परैः। गोपबालैः समं वत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ इति

श्रीहरिवंशे च—

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ। शुशुभाते वनगतौ त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥
मयूराङ्गजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ। वनमालाकुलोरस्कौ द्रुमपोताविवोद्गतौ ॥
अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ। सशिक्यतुम्बकरकौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥
क्वचिद्धसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचित् क्वचित्। पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ ॥
एवं वत्सान् पालयन्तौ शोभमानौ महावनम्। चञ्चूर्य्यन्तौ रमन्तौ स्म किशोराविव चञ्चलौ ॥ इति

अत्र त्रिशीर्षाविवेति वेणीत्रययुतशिरस्कत्वात् एवं वत्सपालने प्रथमेऽहनि बालक्रीडा दृष्टा अन्यस्मिन्नपि प्रायस्ता-दृश्येवोह्या तत्रैव कदाचिद्विशेषमाह—कदाचिदित्यादिना यमुनातीर इति प्रायो वत्सक्रीडनकभक्तक्रीडनकयोः समीपे स्वकैर्मम-तास्पदैः प्रियतमैरित्यर्थः। तैः सहेति तादृशलीलासुखविघातकत्वेनातिद्वेष्यत्वं व्यञ्जितम् ॥ २९-३० ॥ वत्समध्ये वत्सरूपेण गमनं च भयं बलात् कंसप्रहितत्वं च बोधयति पूतनादिहननात् हरिः दुष्टानां प्राणहरणात् शिष्टानां च मनोहरणात् मुक्ति-प्रदानेन तस्यापि सर्वदुःखहरणात् बलदेवाय दर्शयन् सङ्केतेन ज्ञापयन् इति कौतुकार्थम् ॥ ३१ ॥ गृहीत्वेति तैर्व्याख्यातं तत्र सहलाङ्गूलं यथा स्यात् तथा गृहीत्वा केन द्वारभूतेनेत्यपेक्षायामाह—अपरेति योज्यम्। यद्वा, अपराभ्यां पादाभ्यां सहितं

लाङ्गूलं तस्य गृहीत्वा भ्रामयित्वा तमिति पूर्वेणान्वयः। तदानीन्तनक्षेपणक्रीडनोपयोगिकपित्थफलपातनार्थं कपित्थाग्रे चिक्षेप अच्युत इति तं महाकायं भ्रामयतोऽपि निजस्थानाच्च्यवनात् स इति सार्द्धकं स दैत्यः महाकाय इति मरणे मायापगमान्निज-महावत्सदैत्यरूपाभिव्यक्तेः षड्विंशाध्याये कपित्थानि च लीलयेति वक्ष्यमाणत्वात् कपित्थफलैः सह ह विस्मये तादृशमहाकाय-स्यापि बालरूपतयैव महाकपित्थाग्रे प्रक्षेपात् विस्मितास्तस्य महाकायत्वादिना हेलया वधेन च साध्विति सहसा दुर्वितर्कज्ञानात् दुर्द्धर्षमारणाच्च तत्र विस्मयाद्धर्षाच्च वीप्सा तद्वधेनामराणां च परमहितमभूदित्याह—देवाश्चेति ॥ ३२-३३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्रापि स्थानत्रयमतिमनोहरमित्याह—वृन्देति। पूर्वोक्त्या गोवर्द्धन-यमुना-पुलिनानां तदन्तर्गतत्वेऽपि पृथगुक्तिस्तत्र तत्र तत्तत्प्रसिद्धेस्तत्तत्सौन्दर्य्यादिभेदस्य चापेक्ष्योत्तमेत्यन्यत्रापि प्रीतिर्जातैवेपु चाधिकेत्यर्थः। यद्वा, वैकुण्ठापेक्षयोत्तमा, अतएव माधवशब्दप्रयोगः। एवमाश्चर्येण प्रहर्षेण वा हे नृपेति। कृष्णस्य प्रीत्यां तत्रैव रामस्य प्रीतिरिति द्वयोः साम्येन निर्देशः ॥ ३६ ॥ एवमुक्त—श्रीवृन्दावनागमनादिप्रकारकैः, किंत्रोक्तसदृशैरद्भुतैः स्वाभाविकैश्चान्यैरपि मनोहरैश्चेष्टितैः कल-वाक्यैश्च व्रजोकसां सर्वेषामेव प्रीतिमानन्दं कुर्वन्तौ सन्तौ, यच्छन्ताविति कलवाक्याविति पाठेऽपि स एवार्थः, यद्यपि पूर्वमेव मृद्भक्षणलीलायां वाक्याभिव्यक्तिरुक्तास्ते, तथाप्यत्र कलवाक्याविति मधुरविचित्रवार्त्ताविशेषाभिप्रायेण। स्वकालेनेति चतुर्वर्ष-वयःप्राकट्य इत्यर्थः। अत्रैवमुह्यम्—बृहद्वने वर्षत्रयं स्थितौ, चतुर्थे वृन्दावनमागत्य बाल्यलीलया दिनानि कतिचिन्नी-त्वानन्तरं वत्सपालौ बभूवतुरिति। यच्च श्रीहरिवंशे बृहद्वनक्रीडायामेवोक्तम्, (विष्णु-पं० ८।१)—'एवं तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसंकर्षणावुभौ। तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥' इति, तच्च कल्पभेद-व्यवस्थयान्योऽन्यबहुलविरुद्धवत् परिहार्यम् ॥ ३७ ॥ अविदूर इति नातिदूरे बाल्यान्न चातिनिकटे सुतृणाभावात् सुखविहारासिद्धेश्च, किन्तु व्रजस्थानादाह्वान-प्राप्य प्रदेश इत्यर्थः। नानाविधा वेणु-शृंग वेत्र तुम्बी वीणा कन्दुकादयः क्रीडायाः परिच्छदाः साधनानि ययोस्तौ ॥ ३८ ॥ तानेव दर्शयन् बाल्यक्रीडामाह—कचिदिति द्वाभ्याम्। कस्मिंश्चित् काले प्रदेशे वा तत्तद्योग्ये वेणुवादनं देशकालादिकं प्राप्य, अतः प्रभृत्येव प्रवृत्तमिति ज्ञेयम्। क्षेपणैः कचित् पादैश्च क्षिपतस्ताडयतः, परस्परमिति परेणान्वयः, यद्वा, अन्यं किञ्चिदिति शेषः, यद्वा, क्षेपणैर्यन्त्रादिभिः पादैश्च वेणुमेव किञ्चिदन्यद्वा दूरे प्रक्षिपतः ॥ ३९ ॥ यथा प्राकृतौ लौकिकबाला-विवेति बाल्यलीलानिष्ठोक्ता, यद्वा, प्रकृष्टमाकृतमाकृतिर्ययोर्वन्यवेशादिना परमसुन्दरौ सन्तावित्यर्थः। यथा यथावच्चेरतु-रितस्ततो बभ्रमतुरिति वेणुवादनादिक्रीडायाः परिभ्रमणमेव मुख्यं प्रयोजनम्, वत्सचारणञ्च गौणं केवलं तदुपकरणत्वेनेति बोधयति। तत्र वेश विलास-विशेष- श्चोक्तः श्रीविष्णुपुराणे (५।६।३३ ३५)—

'बर्हिपत्रकृतापीडौ वन्यपुष्पावतंसकौ। गोपवेणुकृतातोद्यौ पत्रवाद्यकृतस्वनौ ॥
काकपक्षधरौ बालौ कुमाराविव पावकी। हसन्तौ च रमन्तौ च चेरतुस्तन्महद्वनम् ॥
कचिद्धसन्तावन्योऽन्यं क्रीडमानौ तथापरैः। गोपबालैः समं वत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ इति।

श्रीहरिवंशे च (विष्णु-प० ८।३-७)—

'पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ। शुशुभाते वनगतौ त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥
मयूरांगजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ। वनमालाकुलोरस्कौ द्रुमपोताविवोद्गतौ ॥
अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ। सशिक्यतुम्बकरकौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥
कचिद्धसन्तावन्योऽन्यं क्रीडमानौ कचित् कचित्। पर्णशय्यासु संसुप्तौ कचिन्निद्रान्तरैषिणौ ॥
एवं वत्सान् पालयन्तौ शोभमानौ महावनम्। चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म किशोराविव चञ्चलौ ॥' इति।

अत्र त्रिशीर्षविवेति वेणीत्रययुतशिरस्कत्वात्। एवं वत्सपालनेन प्रथमेऽहनि बाल्यक्रीडोद्दिष्टा, अन्यस्मिन्नपि प्रायस्तादृश्येवोह्या ॥ ४० ॥ तत्रैव कदाचिद्विशेषमाह—कदाचिदित्यादिना। स्वकैरात्मीयैः, यद्वा, स्वयोः कं सुखं येभ्यस्तैः स्वकैः सुखरूपैर्वेति सर्वथा प्रियतमैरित्यर्थः। वयस्यैरिति प्रायः समवयस्कता च द्योतिता, तैः सहेति तेषां सन्तोषार्थमवश्यं जिघांसु-दुष्ट-वधः कार्य इति भावः ॥ ४१ ॥ हरिर्दुष्टानां प्राणहरणाच्छिष्टानाञ्च मनोहरणात्, यद्वा, मुक्तिप्रदानेन तस्यापि सर्वदुःखहर्त्तेति भावः। बलदेवाय दर्शयन् संकेतेन तं ज्ञापयन्निति दैत्यत्वेन तद्वत्सस्यापि वधार्थम्, यद्वा, मुख्यतया दुष्टान्तिकयाने तत्तत्त्वाज्ञानशंकया भाविपरमस्निग्धाग्रजचिन्तानिरासार्थम् ॥ ४२ ॥ अपराभ्यां पश्चिमाभ्यां सहितं लांगुलं तस्य गृहीत्वा, तमिति पूर्वेणान्वयः। भ्रामणेनैव गतजीवितं कपित्थफलपातनार्थं कपित्थाग्रे चिक्षेपः अच्युत इति भ्रमणा-दिनापि निजस्थानान्त च्युतो भवतीति शक्तिविशेषो दर्शितः ॥ ४३ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

॥ २०-२७ ॥ क्षेपणैः ताडनसाधनैः ॥ २८-३८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे नृप ! वीक्ष्य सञ्चरतोरस्थितयोर्वेति शेषः ॥ २५ ॥ कलान्यव्यक्तमधुराणि वाक्यानि ययोस्तौ रामकृष्णौ बालचेष्टितैर्व्रजौकसां प्रीतिमावहन्तौ स्वकालेन कौमारप्राप्तयोग्यकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ २६ ॥ अथ कौमारलीलां वर्णयति—अविदूर इत्यादिना यावत्समाप्ति । व्रजभुवः वृन्दावनस्थव्रजभूमेरविदूरे समीपे नानाविधाः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडोपकरणानि ययोस्तौ वत्सान् चारयामासतुः ॥ २७ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—वादयतः क्षिपतः इति चलटोर्द्विवचनम् क्षेपणैः बिल्वामलकादिभिः ताडनसाधनैर्गोपबालकान् क्षिपतः ताडयतः क्वचिच्च किङ्किणीयुक्तैः पदैश्च क्षिपतः क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः जानुभ्यां हस्ताभ्यां च भुवि सञ्चरद्भिः कृष्णकम्बलादिना पिहिताङ्गैर्वृषानुकारिभिस्तथैव नदद्भिर्गोपैः सह स्वयमपि वृषायमाणौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वाणौ मिथो युयुधाते युद्धं कुर्वाते इत्यर्थः । तथा रुतैः शब्दैर्जन्तून् हंसमयूरादीननुकृत्य यथा प्राकृतौ बालौ तद्वच्चेरतुः ॥ २८-२९ ॥ अथ वत्सासुरवधात्मकं चेष्टितमनुवर्णयति-कदाचिदित्यादिना । स्वकैर्वयस्यैः सह कृष्णबलयोः वत्सान् चारयतोस्सतोस्तौ हन्तुमिच्छुर्दैत्य आजगाम ॥ ३० ॥ तं दैत्यं वत्सरूपधरं वत्ससमूहान्तः प्रविष्टं वीक्ष्य ज्ञात्वा बलदेवाय दर्शयन् स्वयं शनैर्मुग्ध इव अनभिज्ञवत्तत्समीपे जगाम ॥ ३१ ॥ अपरपादाभ्यां सह लाङ्गूलं पुच्छं गृहीत्वा तत एव गतं जीवितं जीवनं यस्य तं कपित्थस्य वृक्षस्याग्रे प्राहिणोदुदक्षिपत् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अविदूरे समीपे ॥ २७ ॥ क्षेपणैः अश्मयन्त्रैः पदैः पादैः कृत्रिमगोवृषैः मृद्दारुकृतगोवृषः ॥ २८ ॥ वृषायमाणौ वृषवद्धर्मानौ नदन्तौ वृषभशब्दं कुर्वन्तौ अनुकृत्य विडम्ब्य ॥२९-३१॥ अपरपादाभ्यां प्राहिणोत् कपित्थैः कपित्थशाखायुक्तफलैः ।३२।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कलवाक्यैर्मनोहरभाषितैश्च ॥ २६-२७ ॥ क्षेपणैर्यन्त्रविशेषैः लोष्ट्रादिकं क्षिपतः किङ्किणीयुक्तैः पादैः नृत्यत इति शेषः । कृत्रिमगोवृषैः स्वस्वयुथीकृतैः ॥ २८-३७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वकालेन स्वोचितसमयेन ॥ २६-२७ ॥ क्षेपणैर्डोरीयन्त्रैर्बिल्वामलकादिकं क्षिपतः दूरे चालयतः किङ्किणीयुक्तैः पादैः क्षिपतस्ताडयन्तः कृत्रिमगोवृषैः कम्बलादिपिहितबालकैर्वृषाकारैः सह स्वयमपि तथैव वृषायमाणौ नर्दन्तौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वाणौ युयुधाते जन्तून् हंसमयूरादीन् ॥ २८-२९ ॥ कृष्णबलयोरिति षष्ठी आर्षी ॥ ३० ॥ दर्शयन् भ्रूसंज्ञया बलदेवं ज्ञापयन् मुग्ध इव अजानन्निव आसदत् निकटं प्राप ॥ ३१ ॥ अपराभ्यां पादाभ्यां सहितं लाङ्गूलं तस्य गृहीत्वा अच्युतः संसारसिन्धौ च्युतिस्तस्य दूरीकुर्वन् कपित्थाग्रे इति तद्देहेनैव क्रीडोपयोगिकपित्थफलपातनार्थमिति भावः । गतं जीवितं यतस्तद्यथास्यात्तथा प्राहिणोत् स वत्सासुरः ॥ ३२-३३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

स्वकालेन कुमारलीलाकालेन ॥ २६ ॥ कौमारलीलामाह—अविदूर इत्यादिना । नानाविधाः क्रीडायाः परिच्छेदाः उपकरणानि ययोस्तौ ॥ २७ ॥ क्वचित् राममाधवौ वेणुं वादयतः क्वचित् क्षेपणैर्बिल्वादिभिः क्षिपतः ताडयतः वयस्यानिति शेषः । क्वचित् किङ्किणीभिरुपलक्षणैः पादैः क्षिपतः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः वृषानुकारिभिर्वयस्यैः सह ॥२८॥ वृषायमाणौ नर्दन्तौ वृषवत् शब्दान् कुर्वन्तौ युयुधाते युध्यतः रुतैः शब्दैः जन्तून् हंसमयूरादीन् अनुकृत्य चेरतुः ॥ २९-३० ॥ आसदत् तत्समीपमागमत् ॥ ३१ ॥ अच्युतः स्वरूपतस्तु वत्सासुरोपि अच्युत एवातो नित्यशरीर इत्यर्थः । अपरपादाभ्यां सह लाङ्गूलं पुच्छं गृहीत्वा तदनन्तरं भ्रामयित्वा भ्रमणादेव गतं जीवितं जीवनं यस्य तं कपित्थाग्रे प्राहिणोत् उदक्षिपदित्यर्थः । तदा मरणानन्तरं कपटाभावात् महाकायः सन् महता भारेण पात्यमानैः कपित्थैः सह पपात ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

वृन्दावनं वीक्ष्य परब्रह्मत्वादनन्तानन्दरूपयोरपि राममाधवयोरुत्तमा प्रीतिः स्वरूपोल्लासलक्षणो महानानन्दो बभूवेत्याह वृन्दावनमिति । गोवर्द्धनं तन्मध्यगतं गिरिराजं रत्नधातुमयं तद्गतानि च यमुनायाः पुलिनानीति भगवद्वपुर्भूतत्वं वनस्य एवमुक्तं बृहद्गौतमीये,—

पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्। कालिन्दीयसुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी''ति ॥ ३६ ॥

स्वकालेन स्वोचितसमयेन कौमारमध्ये एवेत्यर्थः। अविदूरे इति नातिदूरे न चातिनिकटे स तृणाभावत्वात् स्वच्छन्दविहारासिद्धेश्च, किन्त्वाह्वानप्राप्ये देशे इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ नानाविधा वेणुवेत्रश्रृङ्गवीणाकन्दुकादयः क्रीडायाः परिच्छदाः साधनानि ययोस्तौ ॥ ३८ ॥ तानेव दर्शयन् क्रीडामाह कचिदिति द्वाभ्याम्। कचित्प्रदेशे तद्योग्ये क्षेपणैर्दोरिकायन्त्रैर्बिल्वादिफलानि क्षिपतो दूरे चालयतः किङ्किणीयुक्तैः पादैः क्षिपतस्ताडयतः कृत्रिमगोवृषैः कम्बलादिरचिततद्वेशैः सह ॥ ३९ ॥ स्वयमपि तथैव वृषायमाणौ नर्दन्तौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वाणावित्यर्थः। जन्तून् हंस-मयूर कोकिलादीनिति स्वयं प्रभुत्वादेव लीलावेशः ॥ ४० ॥ स च तत्तेजसा पीड्यमानो वत्सरूपं धृत्वा गत इत्याह दर्शयन् संज्ञया सूचयन् मुग्ध इवाजातत्रिवासददन्तिकं प्राप अन्यथा पलायेतेति भावः ॥ ४१ ॥ गृहीत्वेति सार्द्धकम्। अपराभ्यां पादाभ्यां सहितं लाङ्गूलं तस्य गृहीत्वेति यथा तं न चालयेदिति भावः। अच्युतस्तन्मोक्षदानाद्विच्युतिशून्यः। कपित्थाग्रे इति तद्देहेनैव क्रीडोपकरणकपित्थपातनायेति भावः। गतं जीवितं यतस्तद्यथा स्यात्तथा। स वत्सदैत्यः महाकाय इति मरणे मायापगमेन निजरूपाभिव्यक्तेः ॥ ४२-४३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

वृंदावनं गोवर्धनं पर्वतं यमुनायाः पुलिनानि च प्रीती रामेति गतं ॥२५॥ कालेन वत्सपालौ तर्णरक्षकौ बभूवतुः ॥२६॥ अविदूरे समीपे नानाप्रकारक्रीडासाधनोपेतौ ॥ २७ ॥ क्षेपणैरश्मयन्त्रैः कवणीत्यपभ्रष्टभाषया। किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टाभिः कृत्रिमगोवृषैर्मृद्वृषदारुगवकादिभिः ॥२८॥ वृषायमाणौ वृषवदाचरन्तौ नर्दन्तौ कूजन्तौ जन्तून् रुतैस्तत्तच्छब्दैरनुकृत्य कृत्वाऽनुकरणं चेरतुः ॥ २९ ॥ जिघांसुर्हन्तुमिच्छुः ॥ ३० ॥ वत्सयूथगतं स्वगोवत्ससमूहनिविष्टं मुग्ध इवाज्ञवच्छनैर्मन्दं शनैः शनैश्चरग्रहवत्स यथा प्रायेणायमशुभग्रह इति पञ्चमोक्तेर्दुःस्थानस्थितोऽनर्थदस्तथासददित्यावृत्त्याऽप्यन्वयः ॥ ३१ ॥ अपरपादाभ्यां पाश्चात्यचरणाभ्यां सह लाङ्गूलं पुच्छं गृहीत्वा तथैव भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे तत्तर्वग्रे गतजीवितं प्राहिणोच्चिक्षेप। भ्रामणक्षण एव गतप्राणं वृक्षोपरि प्राक्षिपदिति। अथ कपित्थे स्युर्दधित्थग्राहिमन्मथाः। तस्मिन्दधिफलं पुष्पफलं दन्तशठावपीत्यमरः ॥३२॥

श्रीसुबोधिनी

तत्र भगवतश्चरित्रमाह सामान्यतो वृन्दावनमिति, **वृन्दावनं** राजसं **गोवर्धनः** सात्त्विको **यमुनापुलिनानि** च **दृष्ट्वोत्तमा प्रीतिरासीत्**, अतः प्रीतः पूर्वोक्तप्रकारेण लीलां कृतवानित्युक्तं भवति, नृपेतिसम्बोधनं दर्शनेन प्रीती राजलीलेति ज्ञापयितुम् ॥ २५ ॥ एवं सामान्यलीलामुक्त्वा स्त्रीनैरपेक्ष्येण विशेषतो बाललीलां वक्तुं वत्सचारणलीलामुपक्रमत एवमिति यावदध्यायसमाप्ति, पूर्वप्रकारेण **व्रजौकसां** व्रजमध्यस्थितानां **प्रीतिं यच्छन्तावेव स्वकालेना**धिदैविकेन सेवार्थमागतेन कृत्वा **वत्सपालयोग्यौ** वर्षत्रयाधिकौ जातौ, देशकालाद्युपद्रवाभावाय **बालचेष्टितौ कलवाक्या**विति पदद्वयं, मनसा तु **प्रीतिं** भावयत्येव कायेन वाचा च भावयतीति **बालयोरिव चेष्टितानि** ययोः, **कलम**व्यक्तमधुरं **वाक्यं** ययोः, **व्रजौकसां प्रीते**रनुवृत्तिः पूर्वकृतनिरोधनिवृत्त्यभावाय भगवति योग्यताफलयोः पृथङ् निरूपणाभावाद् **वत्सपालकावेव सञ्जाता**वित्युक्तम् ॥ २६ ॥ तयोर्वत्सपालने क्रीडामाह **त्रिभिरविदूर** इति, अत्रापि क्रीडा त्रिरूपा, तत्र प्रथमं **व्रजभुवोविदूरे** यत्र स्थितैर्व्रजो दृश्यते व्रजस्थाश्च पश्यन्ति, व्रजभूम्यपेक्षया सा तृणयुक्ता विलक्षणेति ज्ञापयितुं **व्रजभुव** इत्युक्तं, **गोपालानां दारकाः** समानवयसस्तान् कृतार्थीकर्तुं बहुभिः **सह** क्रीडोत्तमा भवतीति **क्रीडासाधनसहितावेव वत्सांश्चारयामासतुः**, भ्रमरचक्रसूक्ष्मदण्डकाष्ठखण्डकृत्रिमरथवादित्राकर्षणादीनि **क्रीडापरिच्छिदानि**, तानि गृहीत्वैवायान्ति गच्छन्ति च, अनेन सामान्यतः क्रीडा निरूपिता, वत्सपालनं तु मुख्यं सूक्ष्मगोपालानां **सह**भावश्च ॥ २७ ॥ उभयोरत्र निरोधो वक्तव्यः, नन्दसहचरितानां निरोधनिरूपणाय, साधनैश्च क्रीडां प्रथमत आह प्रथमं क्वचिद् वेणून् **वादयतोर्वेणुर्ब**हुच्छिद्रवंशस्तेषामवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, शिरोव्यापारा अनेनोपलक्षिताः, **क्षेपणा** रज्ज्वादिनिर्मिता मध्ये लोष्टादि स्थापयित्वा भ्रामयित्वा लोष्टादिकं दूरे **क्षिप**न्ति तज्जातीया अपि बहुविधाः, एवमुभावपि **क्षिपतो** लोष्टादीनि दूरे प्रक्षिपतो मत्प्रक्षिप्तमेतावद्दूरे गच्छतीति ज्ञापनार्थं, कचिदिति यत्रान्योपद्रवशङ्का न भवति, हस्तयोः क्रीडा निरूपिता, **क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः** सहितैर्नृत्यतः क्षिपतो वा लोष्टादीनि, कदाचिन् मृदादिनिर्मिता ये **गोवृषा** उभयतश्चक्रयुक्ता तानारुह्य व्रजतः, गोपाला वा कृत्रिमवृषा भवन्ति, तैः सह युद्धादिकं वा कुरुतः, तैर्वान्यान् क्षिपन्ति तमारोपयित्वा कचित् पातयन्ति ॥ २८ ॥ एवं शिरोबाहुपादयुद्धस्थानैश्चतुर्विधा लीला निरूपिता, सम्पूर्णेन लीलामाह **वृषायमाणा**विति, स्वयमेव **वृषरूपौ** भवतः कृत्रिमप्रकारेण, तथैव च **नर्दन्तौ** शब्दं कुरुतः, **परस्पर**मन्योन्यं च **युयुधाते,** कायवाङ्मनोलीलाः प्रदर्शिताः, युद्धं कायिकमपि मनोधर्मप्राधान्यान् मानसं, एवं स्वतो लीलां निरूप्यानुकारेणापि स्वतो लीलामाहा**नुकृत्येति, जन्तून्** मण्डूकादीन् मयूरादींश्चानुकृत्य तत्सरूपौ भूत्वा तैस्तैः सहानुकारेण तेषामपि भ्रममुत्पाद्य सर्वा एव लीलाः कृतवन्तौ, तत्र स्वैश्वर्यभावनया तथा कर्तवन्ताविति शङ्कां वारयति **प्राकृतौ यथे**ति, **यथा प्राकृतौ** लौकिकसाधनैरेव तत्तदनुकरणं कुरुतस्तथा भगवान् सर्वविधबालकानां मनोरञ्जनार्थं तेषां दोषदूरीकरणार्थं निरोधार्थं च तथालीलां कृतवान्, जीवास्तु

द्विविधा इत्युभयोस्तथाकरणम् ॥ २९ ॥ एवं भगवतो लीलामुक्त्वा पाल्यानां वत्सानां दोषरूपं वत्सासुरं मारितवानित्युपाख्यानमारभते **कदाचिदि**तिषड्भिः, यदा वत्सानां निरोधो भगवता विचारितः स **एव कालः, यमुनातीरे वत्सांश्चारयतो**स्तयोः सतोर्दैत्य **आगम**दितिसम्बन्धः, प्राकृता एव हि सदोषांश्चारयन्ति निरोधार्थं प्रवृत्तस्तु निर्दोषानेव पालयतीतिज्ञापनार्थं तेषां वत्सानां मिलितानां योयमासुरो भावः स एकीभूतो वत्सासुर इति तद्वधो निरूप्यते, **यमुनातीरे** इति, तेषां शुद्धत्वे जलं हेतुः, दैत्यागमने तु यमभगिनीत्वं हेतुरिति, **स्वकैर्वयस्यैः** सहेति, येन्तःस्थिता बालास्ते निष्कासिता अत एव भगवद्भावमापन्नास्ते हि सर्वथा समानवयसो भवन्ति, अतो भक्तकालक्रोडीकृताः सख्ययोग्या भवन्तीति **कृष्णबलयोश्चारयतोः** सतोरितिपूर्वमिव सम्बन्धः, **जिघांसुर्घातकः** क्रूरो **दैत्यः** पाल्यमानदोषरूपत्वाद्नामा, **आगमत्** क्रीडास्थाने समागतः ॥ ३० ॥ तस्य ग्रहणमाह **तं वत्सरूपिणमि**ति, **स प्रसिद्धो** दोषात्मा वत्सस्यैव रूपमस्यास्तीति **वत्सरूपी** तादृशोपि यदि **पृथक्** तिष्ठेत् तदा केनचिज् ज्ञायेतापि परं **वत्सयूथगते** वत्ससमूहे वत्ससमानाकृतिरूपो भूत्वा प्रविष्टः, मारणं तु तेषामुद्धारार्थं यतोयं सर्वदुःखहर्ता, **बलभद्रादेरप्यन्यधर्मसम्बन्धाद्** वाच्यतानिराकरणाय **बलदेवाय** प्रदर्शितवानयमसुरो वत्स इति प्रदर्शितत्वादेव दैत्यस्वरूपमाविश्चकार, नो चेदवाच्यतां वा सम्पादयेत् , तथाभावे बलभद्रेणाङ्गीकृते शनैर्यथा भगवत्कृत्या दैत्यत्वोद्बोधो **न** भवति तथा **मुग्ध इवाजानन्निव** वत्सान्तरं गृह्णन् क्रीडार्थमयमपि गृहीतः, तदाह **मुग्ध इवासद**दिति, अवसादं प्रापितवानित्यर्थः, ग्रहण मात्रेणैव निष्पीडित एवावसन्नो जातो विशीर्णो वा गतिसाम्याद् धृतो वा, सम्यग्ग्रहणपर्यन्तमज्ञानाय **मुग्धभावः** ॥ ३१ ॥ ततो गृहीत्वा मारितवानित्याह **गृहीत्वे**ति, महाबलत्वेन पुच्छभ्रामणादिनापराधकरणाभावाय **लाङ्गूलेन सहापरपादाभ्यामपरपादौ** गृहीत्वा, स्वस्य मारणादिशङ्का तु नास्त्येव, यतोयम**च्युतः, कपित्थाग्रे भ्रामयित्वा** कपित्थफलपातनार्थं **प्राहिणोत्**, एका क्रिया भगवतोनेकक्रियां सम्पादयतीति कपित्थपातनार्थं वृक्षोपरि पातनममुक्त्यर्थं च न प्राणापगमो भगवद्धस्तसम्बन्धे नापि भूमौ नापि वृक्षेन्तरिक्ष एव प्राणापगमः, अत, एव **गतजीवित**मन्तरिक्ष एव गतप्राणं **प्राहिणोत्** ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अनुकृत्य रुतैर्जन्तूनित्यत्र, **तेषां दोषदूरीकरणार्थ**मिति । लीलाविरोधिभावप्रकटनं दोषः । अलौकिकत्वज्ञानं च तथा । प्राकृताननुकरणं च तद्धेतुः । तथा च तदजननार्थं तदनुकरणमित्यर्थः ॥ २९ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एवं व्रजौकसामित्यत्रेत आरभ्य पूर्वं चतुर्भिः श्लोकैर्वृन्दावनलीला वक्तव्या, **पूर्वप्रकारेणे**ति 'गोपीभिः स्तोभित' इति वाक्यात् तदधीनतयेत्यर्थः, **मध्यस्थित**पदेन पुष्टिभक्ता उच्यन्ते सर्व एव वा **देशकालाद्युपद्रवे**त्यादि भक्तानां स्वाभिलषित**देशकालयो**र्भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धसद्भाव **उपद्रव**स्तत्र बालचेष्टया सर्वसमक्षमपि तथाकरणे लोकविगानाभावेन तत्रागमनाद् देशप्रतिबन्धाभावश्च, एतदेव **बालयो**रित्यादिरूपे व्याख्याने स्फुटीभविष्यति, ननु वत्सपालनयोग्यतामात्रनिरूपणेपि **न** वत्सपालनं निरूपितं भवतीत्यत आहुर्**भगवती**त्यादि, **योग्यता** वत्सपालन**योग्यता फलं** वत्सपालनं तयोस्तथात्वात् सामर्थ्यैनैवोभयप्राप्तेस्तथेत्यर्थः ॥ २६ ॥ **अविदूर** इत्यत्रा**त्रापी**त्यादि वृन्दावनेपि, **त्रिरूपे**ति साधारणासाधारणनिरोधदैत्यनाशनैरित्यर्थः ॥ २७ ॥ **क्वचिद् वादयत** इत्यत्रो**भयोरि**ति वत्सगोपालयोरित्यर्थः ॥ २८ ॥ **वृषायमाणा**वित्यत्रानुकृत्येत्यत्र **तेषां दोषदूरीकरणार्थ**मिति सूक्ष्मगोपालानां तेषां को दोष इति शङ्कायां तं टिप्पण्यामाहुर्**लीले**त्यादि, सुबोधिन्यां **द्विविधा** इति साधारणा असाधारणाश्च, **उभयोरि**ति भगवतो बलस्य च ॥ २९ ॥ **कदाचि**दित्यत्र **स्वकै**रित्यस्य तात्पर्यमाहु**र्यन्त**रित्यादि, अन्यथा **वयस्यै**रितिपदेन चारितार्थ्यात् **स्वकै**रितिविशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेः, एतेषां च लीलायामेव प्राकट्यं तत्तिरोधाने तु भगवदन्तरेव स्थितिरन्तर्गृहगतानामिवेति प्रतिभाति यद्यपि 'जघास हैयङ्गवमन्तरङ्गत' इत्यत्रैषां पृथक्करणमुक्तं तथापि तत्रार्थान्तरस्यापि शक्यवचनत्वात् सन्दिग्धमित्यतः पुनरत्रोक्तम् ॥ ३० ॥ **तं वत्सरूपिण**मित्यत्रा**न्यधर्मसम्बन्धा**दित्यादि प्राकृतधर्म**सम्बन्धान्** निन्द्यतानिराकरणाय, **आविश्चकारे**त्यन्तर्भावितण्यर्थं तथा **चाविर्भूतं** कारितवानित्यर्थः, **नो** चेदिति प्रदर्शितत्वाभावे, **अवाच्यतां** **वे**त्याद्यन्यत् किञ्चित् कर्तुमसामर्थ्येपि तावन्मात्रं तु सम्पादयेदेवेत्यर्थः, शक्लृधातोश्चानप्यर्थानत्र स्फुटीकुर्वन्ति **ग्रहणमात्रेणे**त्यादि, द्वितीयमर्थमाहु**र्गतिसाम्याद् धृतो वे**ति, यावद्भावनेनान्ये धृतास्तावद्भावनेनैवायमपि **धृत** इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ **गृहीत्वे**त्यत्र **गतजीवित**मिति क्रियाविशेषणं, एतस्य पश्चात्कथनेन कपित्थाग्रात् पातदशायां मध्येन्तरिक्षे **तस्य** प्राणा गता इति ज्ञातव्यं, पाद्मोत्तरखण्डे तु भगवतो वत्सासुरहनने त्रिवार्षिकत्वं 'कृष्णस्त्रिवार्षिको वत्सपालो विव्याध वत्सक'मित्युक्तं दिनं तु नोक्तम् ॥ ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अविदूर इत्यत्र **अत्रापीति** वृन्दावनेपि "गोपीभिः स्तोभित" इत्यादिना त्रिविधा क्रीडोक्तेत्य**पिशब्दः, सूक्ष्मगोपालाना**मिति **बालकानामित्यर्थः** ॥ २७ ॥ **उभयोरि**ति वत्सगोपालयोरित्यर्थः, अतस्तयोरेव दोषनिवृत्तिरुक्तेतिभावः ॥ २८ ॥ **अनुकृत्ये**-

त्यत्र **जीवास्त्विति** प्रमाणनिष्ठाः स्वरूपमात्रनिष्ठाश्चेतिद्वैविध्यम् ॥ २९ ॥ **तं वत्सरूपिणमित्यत्र प्रदर्शितत्वादेवेति** भगवद्भावनायाः सतीत्वात् **सोपि** स्वस्य दैत्यत्वं भावयामास, **प्राविश्चकारेति** मनस्यैवेति ज्ञेयं, **अवाच्यतामिति** अदृश्यत्वमित्यर्थः, **भगवत्कृत्येति** भावनया मनस्येव दैत्यत्वं भावितवान्, कृत्या तु बहिरपि दैत्यत्वं प्रकटयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

दर्शयन् बलदेवायेत्यस्य विवृतौ **वाच्यतानिराकरणायेति** बलदेवाय वत्सासुरनिष्ठमासुरत्वं प्रदर्शितमित्यासुरत्वज्ञानान् न निन्दा भवेदिति हार्दं, बलदेवाय प्रदर्शनं तु बलदेवस्य वेदरूपत्वात् तत्सम्मतिग्रहणार्थं, वत्सासुरस्य वत्सदोषरूपत्वं यदुक्तं तत् तु कृष्णोपनिषत्सु "लोभक्रोधादयो दैत्या" इत्यत्र श्रुतौ आदिपदोपादानात् भगवद्वध्यानां दैत्यानां दोषरूपत्वं यथासम्भवं ग्राह्यमिति वत्सदोषरूपता निरूपिता वत्सासुरस्य ॥ ३१ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'वृन्दावनस्योत्तमत्वं सावधानतया बोधव्यम्' इत्याशयेन सम्बोधयति—नृपेति। योगिजनादिमनोरमत्वात् रामः, लक्ष्मीपतित्वात् माधवः कृष्णः, तयोरपि वृन्दावनादीनि वीक्ष्योत्तमा प्रीतिरासीत्। अन्यस्य तु का वार्ता? इति इदमेव मुख्यं विहारस्थानमित्याशयः ॥ ३६ ॥ वर्णितां बाललीलामुपसंहरति—एवमिति। एवमुक्तप्रकारेण बालचेष्टितैः कलवाक्यैर्मधुरभाषितैश्च व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ कुर्वन्तौ रामकृष्णशक्तिरूपत्वात् स्वाधीनेन गच्छता कालेन वत्सपालौ च सञ्चारणयोग्यवयस्कौ बभूवतुः ॥ ३७ ॥ कौमारलीलां निरूपयति—अविदूरे इत्यादिना। व्रजभुवः अविदूरे नातिदूरे बाल्यात्, न चातिनिकटे तृणाभावात्, मध्ये मध्ये जनागमनेन स्थानसङ्कोचेन च यथासुखं विहारासिद्धेश्च अतो व्रजजनाह्वानश्रवणयोग्ये विस्तृतप्रदेशे गोपालानां दारकैर्बालकैः सह नानाविधा वेणुवेत्रशृङ्गकन्दुकादयः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडासाधनानि ययोस्तौ, तानि गृहीत्वा क्रीडन्तौ वत्सांश्चारयामासतुरित्यन्वयः ॥ ३८ ॥ कचिद्वेणून् वादयतः इत्यादि। लटो द्विवचनम्। वेणुर्बहुच्छिद्रवंशविशेषः, तस्यावान्तरभेदा बहवः, इति बहुवचनम्। क्षेपणा रज्ज्वादिभिर्निर्मिता यन्त्रविशेषास्तैः तन्मध्ये लोष्टादि निधाय भ्रामयित्वा मत्प्रक्षिप्तमेतावद्दूरं गच्छतीति ज्ञापनाय क्वचित् क्षिपतः। क्वचित् किङ्किणीयुक्तैः 'पादैः नृत्यतः' इति शेषः। क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः कम्बलादिभिः पिहितैर्बालकैरेव स्वीकृतवृषाकारैः सह ॥३९॥ स्वयमपि तथैव वृषायमाणौ नर्दन्तौ वृषजात्यनुकारिशब्दान् कुर्वाणौ परस्परं युयुधाते इत्यन्वयः। रुतैः तत्तज्जातिशब्दैर्जन्तून् हंसमयूरादीन् अनुकृत्य यथा प्राकृतौ बालकौ तथा चेरतुः विजह्रतुः ॥४०॥ षष्ठीद्वयं द्वितीयार्थे। कदाचिद्यमुनातीरे स्वकैः सखिभिः सह वत्सांश्चारयन्तौ कृष्णबलौ जिघांसुः हन्तुमिच्छुर्दैत्य आगमत् ॥ ४१ ॥ तं वत्सयूथगतं वत्सरूपिणं दैत्यं वीक्ष्य बलदेवाय दर्शयन् भ्रूसंज्ञया ज्ञापयन् मुग्ध इव अजानन्निव हरिः शनैरासदत् तत्समीपमागमदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ अपरपादाभ्यां सह तस्य लाङ्गूलं गृहीत्वा भ्रामयित्वा च भ्रामणेनैव गतजीवितं निर्गतप्राणं तं कपित्थाग्रे कपित्थवृक्षस्य उपरि प्राहिणोत् चिक्षेप। तत्र सामर्थ्यं द्योतयन्नाह—अच्युत इति। कलादिपूर्ण इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

वृन्दावनलीलामुपक्रमते—एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण बालचेष्टितैः कलवाक्यैर्मधुरभाषितैश्च व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ कुर्वन्तौ रामकृष्णौ स्वकालेन वत्सपालनयोग्यकालेन कौमारे वयसीत्यर्थः। अपवर्गे तृतीया। वत्सपालौ वत्ससंचारणयोग्यवयस्कौ बभूवतुः ॥ ३६ ॥ अविदूर इति ॥ व्रजभुवः अविदूरे नातिदूरे गोपालानां दारकैर्बालैः सह नानाविधाः वेणुवेत्रशृङ्गकन्दुकादयः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडासाधनानि ययोस्तौ तानि गृहीत्वा क्रीडन्तौ वत्सांश्चारयामासतुः ॥ ३७ ॥ कचिदिति सार्द्धम् ॥ कचिद्देशे काले वा वेणून् वादयतः। सामीप्ये भूते लट्। अत एव वेणुवादनारम्भः। कचित् क्षेपणै रज्जुनिर्मितैः क्षेपणसाधनैः बिल्वामलकादीनि क्षिपतः कचित् किङ्किणीयुक्तैः पादैर्नृत्यत इति शेषः। यद्वा। क्षिपत इत्यस्यैवानुषङ्गः वृक्षादींस्ताडयत इत्यर्थः। कचित्कृत्रिमगोवृषैः कम्बलादिभिः पिहितैर्बालकैरेव स्वीकृतवृषाकारैः सह स्वयमपि तथैव वृषायमाणौ नर्दन्तौ वृषजात्यनुकारिशब्दान् कुर्वाणौ परस्परं युयुधाते ॥ ३८ ॥ अनुकृत्येत्यर्द्धम् ॥ रुतैः तत्तज्जातिशब्दैर्जन्तून् हंसमयूरादीन् अनुकृत्य यथा प्राकृतौ बालकौ तथा चेरतुः विजह्रतुः ॥ ३९ ॥ कदाचिदिति ॥ कदाचिद्यमुनातीरे स्वकैः वयस्यैः स्वप्रीतियुक्तैः सखिभिः सह वत्सांश्चारयतोः कृष्णबलयोः। शेषे षष्ठ्यौ। जिघांसुः हन्तुमिच्छुः दैत्य आगमत् ॥ ४० ॥ तमिति ॥ तं वत्सयूथगतं वत्सरूपिणं दैत्यं वीक्ष्य बलदेवाय दर्शयन् भ्रूसंज्ञया ज्ञापयन् मुग्ध इव अजानन्निव हरिः शनैरासदत् तत्समीपमागमत्। अत्र वत्सरूपेण वत्सेषु गमनं पूतनादिवधेन भयात् आगमनं च कंसाग्रहात् ॥ ४१ ॥ गृहीत्वेति ॥ अच्युतः अपरपादाभ्यां सह तस्य लाङ्गूलं गृहीत्वा च। मित्त्वेऽपि ह्रस्वाभाव आर्षः। भ्रमणेनैव गतजीवितं निर्गतप्राणं तं कपित्थाग्रे कपित्थवृक्षस्य उपरि प्राहिणोत् चिक्षेप। स्वक्रीडोपयोगिकपित्थफलपातनार्थमिति भावः ॥ ४२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

यमुनायाः पुलिनानि तटानि कूल्याऽभिप्रायेण बहुवचनम् ॥ ३३ ॥ यच्छंतौ ददतौ स्वकालेन वत्सपालनोचितसमयेन ॥ ३४ ॥ इत्थं हरेर्बाल्यावस्थाचरित्रमुक्त्वा इदानीं कौमारचेष्टितं वर्णयन्नाह अविदूर इत्यादिभिः व्रजभुवः गोव्रज निवासभूमेः अविदूरे समीपे ॥ ३५ ॥ कचित् वेणून् उभौ वादयंतः वादयंतौ संतै रेमतुः क्षिप्यंत इति क्षेपणानि आमलकादिफलानि तैः क्षिपतः गोपान् ताडयंतौ संतौ कचित् रेमतुः किंकिणीसहितैः पादैः भुवं क्षिपतः कृत्रिमाः मृत्तिकापर्णादिना कृताः गावो वृषाश्च तैः कचित् रेमतुः ॥ ३६ ॥ वृषाविवाऽऽचरत इति वृषायेते तौ वृषायमाणौ नर्दंतौ वलीवर्दवन्नादं कुर्वंतौ जंतून् रुतैरनुकृत्य नदतः कोकिलादिजंतून् स्वशब्दैरनुसृत्य तच्छब्दसदृशान् शब्दान् कृत्वेत्यर्थः । प्राकृतौ मनुष्यबालकौ यथा तथा चेरतुः ॥ ३७ ॥ जिघांसुः हंतुमिच्छुः ॥ ३८ ॥ मुग्ध इव अज्ञ इव शनैः आंसदत् समीपमाययौ ॥ ३९ ॥ अच्युतः श्रीकृष्णः अपरपादाभ्यां पश्चिमांघ्रिभ्यां सहितं लांगूलं पुच्छं कपित्थाग्रे कपित्थवृक्षोपरि पात्यमानैः सह दैत्यः पपात ॥ ४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

वृन्दावनमिति ॥ हे नृप, वृन्दावनं, गोवर्द्धनं, यमुनापुलिनानि जलादचिरनिर्गतस्थानानि च, 'तोयोत्थितं तत्पुलिनम्' इत्यमरः । त्रिकाण्डशेषे तु 'पुलिनं द्वीपमुच्यते' इत्यभिहितमस्ति । वीक्ष्य, संचरतोरवस्थितयोर्वेति शेषः । राममाधवयोर्बलकृष्णयोः, उत्तमाऽतिशयिता, प्रीतिः, आसीत् ॥ ३५ ॥ एवमिति ॥ एवं बालचेष्टितैः, कलवाक्यैश्च, व्रजौकसां सकलव्रजवासिनां, प्रीतिं यच्छन्तौ व्रजवासिनां स्वस्मिन् प्रीतिमुत्पादयन्ताविन्तावित्यर्थः । तौ स्वकालेन स्वस्य वत्सपालनयोग्यवयः प्राप्तिकालेन, वत्सपालौ बभूवतुः । कचित्तु कलवाक्यावित्यपि पाठस्तत्पक्षे कलवाक्यौ तावित्यर्थः ॥ ३६ ॥ विशेषतः भगवतः कौमारलीलामनुवर्णयति अविदूर इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति ॥ अविदूर इति ॥ व्रजभुवो वृन्दावनभूमेः, अविदूरे समीपप्रदेशे, नानाविधाः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडोपकरणानि ययोस्तौ, तौ गोपालदारकैर्गोपबालकैः सह, वत्सान्, चारयामासतुः ॥ ३७ ॥ क्रीडापरिच्छदानेव प्रपञ्चयति ॥ कचिदिति ॥ कचित् वेणुं वंशीं, वादयतः, कचित् क्षेपणैर्बिल्वामलकादिभिस्ताडनसाधनैः, क्षिपतः, गोपबालकान् ताडयतः, वादयतः क्षिपत इति च लटो द्विवचनम् । कचिच्च, किङ्किणीभिः किङ्किणीयुक्तैः, पादैः क्षिपतः ताडयतः, कचित् कृत्रिमगोवृषैः जानुभ्यां हस्ताभ्यां च भुवि संचरद्भिः कृष्णकम्बलादिना पिहिताङ्गैः वृषानुकारिभिः, तथैव नदद्भिर्गोपैः सहेत्यर्थः ॥३८॥ वृषायमाणाविति ॥ स्वयमपि वृषायमाणौ, नर्दन्तौ सन्तौ, परस्परं मिथः, युयुधाते युद्धयेते । तथा रुतैः शब्दैः, जन्तून् हंसमयूरादीन्, अनुकृत्य, यथा प्राकृतौ बालौ, तद्वत् चेरतुः । इति द्वयोरेकसंबन्धः । अथ भगवतो वत्सासुरवधात्मकं चेष्टितमनुवर्णयति ॥ कदाचिदिति ॥ कदाचित्, स्वकैरात्मीयैः, वयस्यैः स्वसमानवयोभिर्गोपालबालकैः सह, यमुनातीरे, वत्सान्, चारयतो कृष्णबलयोः, जिघांसुस्तौ हन्तुमिच्छुः, दैत्यः आगमत् ॥ ४० ॥ तमिति ॥ हरिः स्वयं श्रीकृष्णः, वत्सरूपिणं वत्सरूपधरं, वत्सयूथगतं वत्ससमूहान्तःप्रविष्टं, तं दैत्यं वीक्ष्य, बलदेवाय दर्शयन् सन्, शनैः मुग्धः इव, तदनभिज्ञवदित्यर्थः । आसदत् । तत्ससीपमाजगामेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ गृहीत्वेति ॥ अच्युतः, तं अपरपादाभ्यां सह, लाङ्गूलं पुच्छं गृहीत्वा, भ्रामयित्वा, गतं जीवितं यस्य तं दैत्यं, कपित्थाग्रे दन्तशठतरोरग्रप्रदेशे प्राहिणोदुदक्षिपत् ॥ ४२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वृन्दावनमिति : १०.११.३५.

क्षेत्राणि तीर्थान्यपि साधनानि बहूनि किञ्चित्सुखदानि सन्तु । नित्यानवद्यस्वसुखप्रदा तु तत्साधुवृन्दावनवृत्तिरेव ॥ ३५ ॥

उत्तमा प्रीतिरिति : १०.११.३६

यदभीष्टमप्रयत्नाल्लब्धं तच्चेत् सुखाय युक्तमतः । गोवर्धनसक्तमतेरासीद् गोवर्धनेक्षणात् प्रीतिः ॥ ३६ ॥

वत्सपालाविति : १०.११.३७.

गवावनविहारोऽयं विना गोजातपालनम् । रम्यो न स्यादिति श्रीशः प्रागधाद्वत्सपालनम् ॥ ३७ ॥

कामोऽसौ भृगुपादचिह्नमपि च श्रीवत्ससंज्ञाङ्कितौ तत्राद्यस्तु सतां परोऽपि यदभून्मे लाञ्छनायाश्रयात् ।
आलोच्यैवमिहाच्युतः समभवद् गोवत्सपालोऽधुना सत्कीर्तिप्रदपुत्रलालनरतिः सिद्धा हि पित्रात्मनि ॥ ३८ ॥

श्रीवत्समेवानिशमन्तरङ्गे संलालयन्तं प्रसमीक्ष्य मां गौः ।
सापत्न्यखिन्ना न भवत्वितीशो नाना तदीयानवति स्म वत्सान् ॥ ३९ ॥

कचिदिति : १०.११.३९.

श्रीकृष्णकरुणा पूर्णा यदि तत् किं नु दुःशकम् । साधु वृन्दावनक्रीडा बालैरप्युररीकृता ॥ ४० ॥

यमुनातीर इति : १०.११.४१.

सूर्योत्मभूतिसविधस्थितिरेव पुंसो गोजातवृत्ति सदसत्स्फुटनिर्णयेऽस्मिन् ।
हेतुर्भवत्यलमिति प्रभुरद्वि तस्मिन् गोवत्सचारणमधाद् यमुनातटे सः ॥ ४१ ॥

दैत्य इति :

यस्याग्रे स्थितमात्रमुत्तमतमश्रीकं प्रसह्याहृतं येनासौ क्षुभितेन्द्रियो भवति तं हन्तुं प्रकृष्टोद्यमः ।
एतत्सर्वजनप्रसिद्धमिति यत्तद्युक्तमेवाच्युतं वत्सोऽसौ तृणनाशनोत्तरमगाद्रोषेण पूर्णोऽसुरः ॥ ४२ ॥

न नूत्नाभ्यासिनो दृष्टिस्तादृक् पाकमुपैत्यतः । श्रीशवच्च्वनधीरागात् तद्रूपेण तदाऽसुरः ॥ ४३ ॥

मयि वत्से वत्सपोऽयं नान्यथाभावमेष्यति । इत्यन्तराहितमतिस्तद्रूपेण किमागमत् ॥ ४४ ॥

पातालवत्सासुरमग्रज त्वं वीक्षस्व वत्सौघमितीन्दिरेशः । तन्निश्चयायैव बलाय दर्शयन् वत्सासुरक्षोभितमानसोऽभूत् ॥ ४५ ॥

गृहीत्वेति : १०.११.४३.

यथा दुष्टहतिः साम्ना न क्रौर्येण तथेति किम् । जघान धृत्वा तत्पादौ वत्सासुरमपीश्वरः ॥ ४६ ॥

कंसोऽर्धभारो ह्ययमर्धभारो भूमेस्तदेतद्धननात्करोमि । भूमि भरार्धापनयात्सुखाढ्यां क्रान्तद्विपादेन किमग्रबोधि ॥ ४७ ॥

रक्षोहतौ मम पुरा बहुसाह्यभाजो गोलाङ्गुलाः समभवन्निति स स्मृतार्थः ।
तद्वत्समानसहितं खलहानये गोलाङ्गूलमात्मकरतो जगृहे किमीशः ॥ ४८ ॥

कपित्थाग्रेति :

असुरहितकाङ्क्षयाऽत्र प्राप्तो वत्सासुरोऽयमिति । असुरहितोऽकारि मया भवत कपित्था हि साक्षिणो यूयम् ॥ ४९ ॥

स कपित्थैरिति :

श्रीशेन स्वदृशेक्षितोऽप्यनुगृहीतोऽप्युद्धृतोऽपि स्ततो दुष्टात्मा निजदुष्टतां त्यजति नेत्येतद्यथार्थं यतः ।
मन्ये नित्यसमुन्नतान् सुमहतस्तादृक् स वत्सासुरः स्वीयार्धक्षणसङ्गतोऽनयदधःपातं कपित्थानहो ॥ ५० ॥

यथा कण्टकः कण्टकेनापसार्यस्तथा दुर्जनो दुर्जनेनेति जानन् ।
स दुर्ग्राहिणस्तान् कुजातानधःस्थान् कुजातेन तेनाकरोद्युक्तमेतत् ॥ ५१ ॥

समदृष्टिः परेशस्तु सर्वोद्धृतिधृतव्रतः । तत्र पापादधो याति पापी वत्सासुरो यथा ॥ ५२ ॥

गोजातेषु परेशगामिषु परं गोजातमागन्तुकं दुर्बोधं तदसाधु कारकपदं वादिप्रविष्टं यदि ।
तेभ्यः शेष मतं विभाव्य मतिमान् निष्कास्य धृत्वा पदे तत्कुर्यादचिराद्व्यसुप्रकृतिकं तद्योगतो स्वाश्रितम् ॥ ५३ ॥

धृत्वा पदे वत्सगतासुरन्तं निष्कास्य तेभ्योऽग्रजमाविलोक्य ।
व्यसुं च भूस्थं हरिणात्र कुर्वता तद्रूपकेणेदमबोधि सर्वम् ॥ ५४ ॥

मत्पाल्यमानमनुजेषु हि तज्जिघांसुः प्राप्तः खलो विधृतकृत्रिमतद्वपुश्चेत् ।
हत्वा तदैव तमहं सुखयामि नैजान् वत्सासुरासुहतितः प्रभुणेत्यबोधि ॥ ५५ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! भगवान् माधव और श्रीबलभद्रजीने श्रीवृन्दावन, श्रीगोवर्धनाचल, एवं श्रीयमुनाजी के पावन पुलिन देखें तब दोनों के चित्त में उत्तम प्रीति का आविर्भाव हुआ ॥ २५ ॥ इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलदाऊजी व्रजवासियों को अपनी हृदयंगम बाललीलाओं से और मनोरम तोतरी बातों से वृन्दावन को भी प्रसन्न करते हुए चंद दिनों में योग्य समय आने पर भैया के साथ बछरे चराने लगे ॥ २६ ॥ राम और श्रीकृष्ण दोनों व्रजग्वालबालों के साथ खेल किये तरह तरह के खेलने के साधन लेकर नन्दनिवास से निकल पड़ते और व्रज के पास गोष्ठ नेसडे के समीप बछड़े चराने लगे ॥ २७ ॥ दोनों भैया कभी तो वंशी बजाते, कभी ढेला फेंकवा-गुलेला से ढेले फेंकते। कभी घुंघरु बाँधे पैरों से नाच पड़ते, तब कभी औठणी डाला कृत्रिम गो-बैल बन जाते, गरजते और परस्पर में युद्ध लीला करते तो कभी ग्वाल बालों के साथ कृत्रिम साँड़ बन कर हँकड़ते हुए आपस में लड़ रहे हैं। तब कभी और बैल-मृग मयूर-कोकिल बंदर-आदि पशु पक्षियों की बोली की नकल उतार-उतार दोनों भाई सामान्य ग्वालबालों के समान विहार करते थे ॥ २८-२९ ॥ राजन्, एक दिन की कथा है एक दैत्य यमुना तट पर जहाँ कि कृष्ण और बलराम अपने साथियों के साथ बछड़े चराते थे वहाँ उन्हें मारने की इच्छा से

आया ॥ ३० ॥ जब श्याम सुन्दर ने देखा बछड़े का बनावटी रूप लेकर बछड़ों में मिल गया है तब बलभद्र भैयाजू को दिखलाया कि भैया ! यह बछड़ा नहीं दैत्य है ऐसा कहकर श्रीहरि बाद में—अनजान ग्वालबाल की तरह धीरे से उस दैत्य के समीप आये ॥ ३१ ॥ आकर श्रीकृष्णजीने पूँछ सहित उसके पिछले पैरों को पकड़कर खूब घुमाया और आखिर में कैथ की जड़पर दे मारा । प्राण तो दैत्य के घुमाने के समय निकल चुके थे इधर कैंथ के फल तड़ा तड़ा नीचे गिर पड़े और मृत्यु के अवसर दैत्य अपना स्वरूप न छिपा सका राक्षस स्वरूप प्रकट हो गया ॥ ३२ ॥

स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह । ¹तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति ॥ ३३ ॥
देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः ²पुष्पवर्षिणः । ³वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिताः ॥ ३४ ॥
तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ । सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ ३५ ॥
स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा । गत्वा जलाशयाभ्यासं⁴ पाययित्वा पपुर्जलम् ॥ ३६ ॥
ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् । तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥ ३७ ॥
स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृत्⁵ । आगत्य तरसा⁶ कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली ॥ ३८ ॥
कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः । बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥ ३९ ॥
तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः⁷ ।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सः महाकायः पात्यमानैः कपित्थैः पपात ह तं वीक्ष्य विस्मिताः बालाः साधु साधु इति शशंसुः ॥ ३३ ॥ वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यः विस्मिताः च देवाः परि सन्तुष्टाः च पुष्पवर्षिणः बभूवुः ॥ ३४ ॥ सर्वलोकपालकौ तौ वत्सपालकौ भूत्वा संप्रातराशौ गोवत्सान् चारयन्तौ विचेरतुः ॥ ३५ ॥ एकदा सर्वे स्वं स्वं वत्सकुलं पाययिष्यन्तः जलाशयाभ्यासं गत्वा जल पाययित्वा पपुः ॥ ३६ ॥ ते बालाः वज्रनिर्भिन्नं च्युतं गिरेः शृङ्गं इव अवस्थितं महासत्वं तत्र ददृशुः तत्रसुः ॥ ३७ ॥ सः बकरूपधृत् तीक्ष्णतुण्डः बली बकः नाम महान् असुरः तरसा आगत्य कृष्णं वै अग्रसत् ॥ ३८ ॥ रामादयः अर्भकाः महाबकग्रस्तं कृष्णं दृष्ट्वा प्राणं विना इन्द्रियाणि इव विचेतसः बभूवुः ॥ ३९ ॥ बकः अग्निवत् तालुमूलं प्रदहन्तं जगद्गुरोः पितरं गोपालसूनुं चच्छर्द पुनः अतिरुषा अक्षतं तं तुण्डेन हन्तुं अभ्यपद्यत ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सर्वेषां लोकानामेकौ मुख्यौ पालकौ । प्रातराशः प्रातर्भोज्यमन्नं तत्सहितौ ॥ ४५ ॥ अभ्याशं समीपम् ॥ ४६-४८ ॥ राम आदिर्येषां ते न तु रामः ॥ ४९ ॥ तुंडयोश्चञ्च्वोः । वीरणवदग्रंथितृणविशेषवत् ॥ ५१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तं पतितं दैत्यम् ॥४४॥ तौ कृष्णबलौ । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । सर्वलोकैकपालकावपि भक्तवात्सल्यात्वत्सपालकौ । सप्रातराशौ प्रातर्भोजनसहितौ । प्रातःशब्दोऽत्र पूर्वाह्णपरः । ''सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्'' इति स्मृतौ तथा व्याख्यातत्वादन्यथा आद्ययामे न भुंजीत' इति विरोधः स्यात् । मध्याह्नकर्त्तव्यभोजनसहिताविति तात्पर्यम् । बालत्वाद्यथाश्रुतमेवास्तु वा ॥४५॥ जलं पाययिष्यंतः पानं कारयिष्यंतः । जलस्याशयः स्थानं महासरः तच्च नंदीश्वरगृहेः पूर्वतः प्रसिद्धं बकस्थलम् । तदभ्याशम् 'स्थानेऽभिप्राय आशयः' इति यादवः ॥ ४६ ॥ ते गोपाः । तत्र जलाशयाभ्याशे । महत् सत्त्वं पराक्रमो व्यवसायो वा यस्य तमसुरम् । ''सत्त्वोऽस्त्री जंतुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचे च रदे द्रव्यस्वभावयोः ॥'' इति यादवः । दृष्ट्वा च तत्रसुस्त्रेसुः । उद्विग्ना बभूवुरिति यावत् ॥ ४७ ॥ स महासत्त्वो नाम्नापि बको रूपमपि बकस्यैव दध्रे इति भावः । सहसा शीघ्रम् ॥ ४८ ॥ राम आदिर्येषामित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरत आह—न तु राम इति विचेतसो ज्ञानहीनाः पाषाणतुल्याः । यद्वा-रामस्यापि तादृशत्वे भ्रातृस्नेह एव हेतुः रुक्मिणीहरणे तदुक्तम् । 'श्रुत्वैतद्भगवान्रामः' इत्यारभ्य 'भ्रातृ-

१. स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह–इदमधिकमन्यत्र दृश्यते । २. पुष्पवृष्टिभिः–गो. प्रे. टी. । ३. अन्यप्रत्यां वत्सासुरं… विस्मिताः पंक्तिर्न दृश्यते । ४. भ्याशं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ५. धृक्–श्रीधर. वंशी.; धृत्–वीर. विज. । ६. सहसा श्रीधर. वंशी. वीर.; तरसा–विज. । ७. गुरुम्–गो. प्रे. टी. ।

स्नेहपरिप्लुतः' इति । तदपि तद्योगमाययैवेति ध्येयम् ॥ ४९ ॥ जगद्गुरोर्व्रह्मणः । तुंडेन चंचुना ॥ ५० ॥ 'वीरणं श्रीतृणं विदुः' इति कोशात् । कटोपादानभूतमिति प्रसिद्धम् । यस्य मूलमुशीरं तद्वीरणमिति तोषणी ॥ ५१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सर्वलोकानां मुख्यपालकावपि वत्सपालकौ भूत्वेति भक्तवात्सल्यादिविशेष उक्तः । यद्वा, वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ सन्तौ वत्सासुरादिवधेन देवलोकादिपालनात् सप्रातराशौ अशनमाशः प्रातर्भोजनकारिणौ सन्तावित्यर्थः । विशेषेण पूर्वतः किञ्चित् वयोबलाधिक्यप्रकटनेन किञ्चिद्दूरप्रदेशप्रयाणादिना समग्रदिनमेव चेरतुः यतः गवां वत्सान् चारयन्तौ सायं व्रजे समागतानामेव तासां वत्सापेक्षणात् ॥ ३४ ॥ बकासुरवधं वक्ष्यन् सर्वेषां बालानां युगपद्बकदर्शनाश्चर्यमाह स्वमिति । सर्वे श्रीकृष्णादयः जलाशयो महासरः नन्दीश्वरगिरेः पूर्वतो बकस्थलमिति प्रसिद्धं तस्यान्तिकं महासत्त्वम् अतिस्थूलप्राणिविशेषम् अवस्थितं बकवदवधानेनैकत्र स्थिरतया वर्तमानम् अतस्तस्माद्गिरेश्च्युतं शृङ्गमिव तस्य श्वेतशिलत्वात् बृहदाकारस्यापि तत्र दूरे च्युतत्वे हेतुः व्रजेति वै प्रसिद्धौ महान् दुष्टतमत्वादिना वपुषा च बकरूपधृक् नित्यमेव किं वा तद्दुष्टचेष्टार्थं तीक्ष्णतुण्डोपि बलवानपि अग्रसदेव नत्वन्यात्किञ्चिदनिष्टं कर्तुमशक्नोदित्यर्थः । ग्रसनमपि केवलं श्रीभगवदिच्छयैवेत्याह—कृष्णं दुर्वितर्कविचित्रलीलामहार्णवत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३५-३७ ॥ विचेतसो बभूवुः मुमुहुः श्रीभगवन्माहात्म्यवेदिनोपि दुष्टं बकं सद्यो हन्तुं शक्ता अपि श्रीबलदेवादयः परमस्नेहाकुलतया सद्यः सर्वज्ञानक्रियाशक्तिरहिता बभूवुरित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः प्राणं विना इन्द्रियाणीवेति श्रीबलदेवस्यापि तादृशत्वं श्रीरुक्मिणीहरणाय गते श्रीकृष्णे दृश्यते "श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्" इत्यादौ ॥ ३८ ॥ तालुमूलमग्निवत्प्रदहन्तं युद्धवैचित्रीकौतुकेन मुखान्तः प्रविष्टस्य गले नेतुमशक्यस्य तालुमूल एव लग्नत्वात् गोपालसूनुमपि केनचिदंशेन जगद्गुरोर्व्रह्मणः पितरमिति महाकौतुकित्वात्तस्य बकेन ग्रसनं महानुभावत्वाच्च सम्यग्ग्रसनाशकत्वं सम्भवेदेवेति भावः । अतिरुषा तं हन्तुम् अभ्यपद्यत उद्यतोऽभूत् यतः अक्षतं क्षतरहितम् । यद्वा, स्वबलेन किञ्चित् सक्षतीकर्तुमशक्तमपि अभ्यपद्यत तत्र हेतुः अतीति महाक्रोधेन विचारापगमादित्यर्थः ॥ ३९ ॥ निगृह्य ग्रहणेन पीडयित्वा कंससखमिति महादुष्टत्वबलिष्टत्वादिकं सूचितम् । सतां गतिरिति तेन तद्वधो युक्त इति भावः । एवं पदद्वयेन दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहलक्षणं दारणप्रयोजनमुक्तं यद्वा कंससखमिति तद्दारणेन कंसोपि दारित इवेति सतां गतिरिति च श्रीरामादीनां प्राणा रक्षिता इत्यर्थः । अतस्ते तदेकजीवनस्वभावत्वात्तन्निर्गमे स्वत एव मोहतो व्युत्थिता इति ज्ञेयम् उशीरं यस्य मूलं तद्वीरणं तस्येषीकामिवेत्यर्थः । एवमत्रेदं तत्त्वं मुग्धवन्मयोपेत्य गृहीतो वत्सासुरोऽनवहितत्वादेव किञ्चित् कर्तुमशक्तोऽप्रयासेन सहत इति न मन्तव्यं किं तु जानताऽवहितेनापि निजाशेषशक्ति दर्शयताऽपि न किञ्चिन्मम केनापि कर्तुं शक्यत इति बोधयित्वा सुहृद्वर्गान् प्रहर्षयितुं भगवानेव तद्गले प्रविष्ट इति तद्वधेन देवानामपि हितमकरोदित्याह—दिवौकसां सर्वेषामेव मुदावह इति एवं बकासुरस्य महादुरन्त्वादिकमपि ध्वनितम् ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

स दैत्यो महाकाय इति मरणे मायापगमान्निजदैत्यरूपाभिव्यक्तेः, अतस्तेनैव पात्यमानैः कपित्थवृक्षैः सह, यद्वा, षड्विंशाध्याये (९ म० श्लो०) 'कपित्थानि च लीलया' इति वक्ष्यमाणत्वात् स्वयमेव पातयितुमिष्यमाणैः कपित्थफलैः सह । ह विस्मये, विस्मितास्तस्य महाकायत्वादिना हेलया वधेन च शशंसुः, श्रीकृष्णं तुष्टुवुः । वीप्सा महा-दुष्टवधेन । तत्र च भगवद्वाक्यविशेषेण प्रहर्षभरात्, तद्वधेनामराणाञ्च परमहितमभूदित्याह—देवाश्चेति । तद्वत्सवधञ्च विविधाश्चर्यानुभवेनानद्भुतत्वाद्बाला व्रजे नोचुः, किंवा, क्रीडासहस्रासक्ततया तदानीं विस्मृत्य पश्चाद्बकवधे वृत्ते प्रसंगादनुस्मृत्य तद्द्वतमेकदैव कथयामासुरिति ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ सर्वलोकानां मुख्यपालकावपि वत्सपालकौ भूत्वेति भक्तवात्सल्यादि-विशेष उक्तः । यद्वा, वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ सन्तौ वत्सपालनद्वारा तत्तन्मधुरविहारविस्तारेण स्वत एव तत्कीर्त्तनादिना जगतः परमरक्षासिद्धेः । तत्र पालकत्वे द्वयोरपि साम्येन निर्देशः, श्रीबलदेवस्य तदवतारत्वेन परमभक्तत्वेन च श्रीभगवता सहाभेदमननात् एवमन्यत्राप्यूह्यम् । सप्रातराशौ अश्यत इत्याशं गृहीत प्रातर्भोज्यावित्यर्थः, यद्वा, अशनमाशः कृत प्रातर्भोजनावित्यर्थः । विशेषेण पूर्वतः किञ्चिद्वयोबलाधिक्यप्रकटनेन किञ्चिद्दूरप्रदेशप्रयाणादिना समग्रदिनमेव चेरतुर्यतो गवां वनान्तश्चरन्तीनां धेनूनां वत्सान् चारयन्तौ सायं व्रजे समागतानामेव तासां वत्सापेक्षणात्, एवं विकाले गोदोहनावसरे गवां व्रजागमनात् प्राक् तयोर्गृहागमनं ज्ञेयम् ॥ ४५ ॥ बकासुरवधं वक्ष्यन् सर्वेषां बालानां युगपद्बकदर्शनार्थं सहैवागमनमाह—स्वमिति । सर्वे श्रीकृष्णादयः, जलाशयो महासरो नन्दीश्वरगिरेः पूर्वतो बकस्थलमिति प्रसिद्धम्, तस्यान्तिकम् ॥ ४६ ॥ महासत्त्वमतिस्थूलप्राणिविशेषमेव स्थितं बकरूपत्वाद्बकवदवधानेनैकत्रैव स्थिरतया वर्त्तमानमतो गिरश्च्युतं शृंगमिव । च्युतत्वे हेतुः-वज्रेति, एतेन कठिनतरांगत्वादिकमपि ध्वनितम् । तस्य च तत्र सदैव बक-रूपेणावस्थितिः, किंवा तदानीमेव तत्र दुर्बुद्ध्यागमनं बोद्धव्यम् । तत्रसुश्च, सतां भाव्यनर्थस्य प्रागेव मनस्युदयात् यद्वा, परमस्निग्धस्वभावेन महादुष्टदर्शनाच्छ्रीभगवत्यनिष्ट-

शंकोत्पत्तेः, यतस्ते बालाः श्रीकृष्णैकप्राणास्तद्वयस्या इत्यर्थः, यद्वा, ते सर्वे श्रीकृष्णादयः 'भीतवद्भ्याघ्रसिंहयोः' इति पञ्चदशाध्याय-(१२ श० श्लो०) वक्ष्यमाणवत् सोऽप्यत्रस्यत् । अन्येऽपि सर्वे तल्लीलानुसारेणात्रस्यन्नित्यर्थः ॥ ४७ ॥ वै प्रसिद्धौ । महान् दुष्टतरत्वादिना वपुषा च; बकरूपधृक् नित्यमेव, किंवा तदानीमेव दुश्चेष्टार्थं तीक्ष्णतुण्डोऽपि बलवानप्यग्रसदेव, न त्वन्यत् किञ्चिदनिष्टं कर्त्तुमशक्नोदित्यर्थः । ग्रसनमपि केवलं श्रीभगवदिच्छयैवेत्याह-कृष्णं दुर्वितर्क्य विचित्रलीलामहार्णवमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ विचेतसो बभूवुर्मुहुः-श्रीभगवन्माहात्म्यवेदिनोऽपि दुष्टं बकं सद्यो हन्तुं शक्ता अपि श्रीबलदेवादयः परमस्नेहाकृताः सद्यः सर्वज्ञानक्रियाशक्तिरहिता बभूवुरित्यत्र दृष्टान्तः-प्राणं विनेन्द्रियाणीवेति ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तान्यपीन्द्रियाणि कथञ्चित् प्राणे मुख्ये लीने सति सपदि किञ्चिदपि कर्त्तुमसमर्थानि यथा नश्यन्तीव तद्वदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ तालुमूलमग्निवत् प्रदहन्तं कौतुकेन केनापि हेतुना वा मुखान्तःप्रविष्टस्य गले नेतुमशक्यस्य तालुमूल एव लग्नत्वात्; प्रशब्देनाग्नितोऽपि दाहविशेषो बोधितः । जगद्गुरोर्ब्रह्मणः पितरमपि गोपालस्य वन्यजनस्य सूनुं बालकमिति विरोधेऽप्यविरोधवत्तस्य दुर्वितर्क्या परमाश्चर्य्यलीलेयं घटतैवेति, यद्वा, गोपालसूनुमपि जगद्गुरोः पितरमिति महा कौतुकित्वात्तस्य बकेन ग्रसनं परमेश्वरत्वाच्च सम्यग् ग्रसनाशक्यत्वं सम्भवेदेवेति भावः । एवं बाल्यक्रीडाविशेषस्य तत्रैव निजैश्वर्य्यविशेषस्य सम्प्रदर्शनेन भगवता विशेषः पूर्ववज्ज्ञेयः । अतिरुषा तं हन्तुमभ्यपद्यत उद्यतोऽभूत्, यतोऽक्षतं क्षतरहितम्; यद्वा, स्वबलेन किञ्चित् सक्षतीकर्त्तुमशक्तमपि हन्तुमभ्यपद्यत । तत्र हेतुः-अतीति; महाक्रोधेन विचारापगमादिति भावः; यद्वा, क्षतं यथा स्यात्तथा हन्तुं प्रहर्त्तुम् ॥ ५० ॥ निगृह्य नितरां गृहीत्वा ग्रहणेन पीडयित्वा वा । कंससखमिति महादुष्टत्वं बलिष्ठत्वादिकं सूचितम् । सतां गतिरिति तेषां रक्षार्थमवश्यं तद्वधो युक्त इति भावः । एवं पदद्वयेन दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहलक्षणं दारणप्रयोजनमुक्तम्; यद्वा, कंससखमिति तद्दारणेन कंसोऽपि दारित इवेति सतां गतिरिति च श्रीरामादीनां प्राणा रक्षिता इत्यर्थः । अतस्ते मोहतो व्युत्थापिता इति ज्ञेयम् अत एव इतस्ततो भगवन्तं वा पश्यत्सु तेषां सन्तोषार्थं लीलयानायासेन भंगीविशेषेण वा वीरणवद्विदारितवान् एवमत्रेदं तत्त्वम्-मुग्धवन्मयोपेत्य गृहीतो वत्सासुरोऽनवहितत्वादेव किञ्चित् कर्त्तुमशक्तोऽप्रयासेन हत इति न मन्तव्यम्; किन्तु जानताऽवहितेनापि निजाशेषशक्तिं दर्शयतापि न किञ्चिन्मम केनापि कर्त्तुं शक्यत इति बोधयित्वा सुहृद्वर्गान् प्रहर्षयितुं श्रीभगवानेव तद्गले प्रविष्ट इत्यन्यथा कथञ्चिदपि बकेन तद्ग्रसनं न सम्भवेदिति दिक् । तद्वधेन देवानामपि हितमकरोदित्याह-दिवौकसां सर्वेषामेव स्वर्गवासिनां मुदावह इत्येवं बकासुरस्य महाभयंकरत्वादिकमपि ध्वनितम् ॥ ५१ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

जगद्गुरोः चतुर्मुखस्य अक्षतमिति पदम् ॥ ३९-४१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

महाकायत्वेन दुर्भरत्वाद्वोढुमशक्तैः पात्यमानैः कपित्थाग्रैः करणैः सह तौ भुवि पातितं पतितमवलोक्य साधु-साध्विति सशंसुः ॥ ३३ ॥ अथ बकासुरवधात्मकं चरित्रमाह—तावित्यादिना । सर्वलोकैकपालकावपि वत्सपालौ भूत्वा एकदा प्रातर्भोक्तव्यपर्युषितान्नसहितौ गवां वत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ ३४ ॥ सर्वे रामकृष्णप्रधाना गोपालाः स्वं स्वं वत्ससमूहं पालयिष्यन्तस्तावज्जलाशयस्याभ्याशं समीपं गत्वा वत्सान् जलं पाययित्वा स्वयमपि पपुरपिबन् ॥ ३५ ॥ तत्रावस्थितं सत्वं जन्तुं ददृशुस्तत्रसुः अभिभयुश्च, कथम्भूतम् ? वज्रेण निर्भिन्नमत एव च्युतं गिरेः शृङ्गमिव स्थितम् ॥ ३६ ॥ स वै सत्वः बकाख्यः महानसुरो बकरूपधरः सहसेत्य आकस्मिकाविमर्शयोर्द्योतकमव्ययम् तीक्ष्णतुण्डो निशितचञ्चुः बली श्रीकृष्णमग्रसत् ॥ ३७ ॥ प्राणं विनेन्द्रियाणीच कृष्णं विना विचेतसः अचेतनप्राया बभूवुः रामादय इत्यतद्गुणसम्विज्ञानो बहुव्रीहिः न तु राम इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ जगद्गुरोर्ब्रह्मणः पितरमपि लीलया गोपालसूनुमग्निवत् तालुमूलं प्रदहन्तं श्रीकृष्णं सद्य एव चछर्द्द उदगिरत् तमक्षतं कृष्णं तुण्डेन हन्तुं रुषा पुनरभ्यपद्यताभिमुखमापद्यत ॥ ३९ ॥ स कृष्णस्तमापतन्तं कंससखं कंसहितकरं बकं निगृह्य हुङ्कारेण निवार्य बालेषु पश्यत्सु सत्सु दोर्भ्यां लीलया तुण्डयोः चञ्च्वोर्ददार विदारितवान् चञ्च्वोर्नितरां गृहीत्वा ददारेति वान्वयः । कथं वीरणवद्ग्रन्थिरहिततृणविशेषवत् कथम्भूतः सतां भक्तानां गतिः स्वप्राप्त्युपायः दिवौकसां मुदमावहतीति तथा तद्वधेन देवान् मुदमुत्पादयामासेत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णोपरि ॥ ३३ ॥ सप्रातराशौ प्रातर्भोजनसहितौ ॥ ३४ ॥ जलाशयाभ्याशं जलस्थानं महासर इत्यर्थः "स्थानेऽभिप्राय आशये" इति ॥ ३५ ॥ महासत्त्वं महान् सत्त्वः पराक्रमो व्यवसायो वा यस्य स तथा तं—

सत्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचे च द्रव्ये सत्तास्वभावयोः ॥ इति यादवः ॥३६॥

स महासत्त्वो महासुरो वै एव "स्युरेवं तु पुनर्वै वेत्यवधारणवाचकाः" इत्यमरः ॥ ३७ ॥ विचेतसः ज्ञानहीनाः पाषाणकल्पाः ॥ ३८ ॥ जगद्गुरोर्हिरण्यगर्भस्य पितरम् अक्षतं पुनः अतिरुषा तुण्डद्वयेन कृष्णं हन्तुम् अभ्यपद्यत ॥ ३९ ॥ कटस्योपादानं तृणं वीरणं श्रीतृणं विदुरिति ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

रामादय इति तद्गुणसम्विज्ञानतापि घटते तच्च षष्ठसन्दर्भस्य शततमवाक्यत्वात् पूर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ ३८–४० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एकपालकौ मुख्यपालकौ प्रातराशः प्रातर्भोजनम् ॥ ३४–३५ ॥ वज्रेण निर्भिन्नं गिरिश्रृङ्गमिव ॥ ३६–३७ ॥ रामादय इति रामस्य सर्वज्ञस्यापि तद्वधसमर्थस्यापि मोहे भ्रातृस्नेह एव हेतुर्द्रष्टव्यः रुक्मिणीहरणेपि "श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्" इत्यादौ तस्य तादृशत्वस्य द्रक्ष्यमाणत्वात् ॥ ३८ ॥ तं कृष्णं प्रदहन्तमिति तस्य नीलोत्पलसुकुमार-शीतलस्यापि स्पर्शो वह्नेरिव वज्रस्येव तत्तनुदोषादेव जातो जिह्वादोषात् सिताया अपि तिक्तत्वमिवेति ज्ञेयम्। अक्षतं क्षत-रहितमिति तत्र श्रीकृष्णगात्रस्य वज्रायितत्वं ध्वनितम् ॥ ३९ ॥ तुण्डयोश्चञ्च्वोर्निगृह्य नितरां गृहीत्वा मुदावहः आनन्द-प्रापकः उशीरं यस्य मूलं तद्वीरणं तद्वत् ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तौ राममाधवौ सर्वेषां लोकानामेकौ मुख्यौ पालकावपि वत्सपालकौ भूत्वा प्रातराशः प्रातर्भोज्यमन्नं तत्सहितौ स्वयमकृतभोजनावपि गोवत्सान् चारयन्तौ चेरतुः अहो गोवत्सानां भाग्यमिति भावः ॥ ३३ ॥ जलाशयस्य अभ्याशं निकटम् ॥ ३४–३७ ॥ राम आदिर्येषामित्यतद्गुणसम्विज्ञानो बहुव्रीहिः दृष्टसागरमानयेति वत ॥३८॥ जगद्गुरोर्ब्रह्मणः ॥३९॥ स श्रीकृष्णः तुण्डयोश्चञ्च्वोर्दोर्भ्यां निगृह्य नितरां गृहीत्वा ददार विददार वीरणवत् अग्रन्थितृणविशेषवत् ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

विस्मिता इति तस्य महाकायत्वेन हेलया वधेन च ॥ ४४ ॥ एकपालकौ मुख्यरक्षकौ प्रातराशेन प्रभातभोजनेन सहितौ ॥ ४५ ॥ जलाशयो महासरः नदीश्वरगिरेः पूर्वतो बकस्थलमिति ख्यातं तस्याभ्यासमन्तिकं गत्वा ॥ ४६ ॥ व्रजेन निर्भिन्नं गिरेर्नदीश्वरस्य श्रृङ्गं शिखरमिव तस्य श्वेतशिलत्वात् ॥ ४७ ॥ रामादय इति सर्वज्ञस्यापि तन्मारणसमर्थस्यापि रामस्य मोहो भ्रातृवात्सल्यनिमित्तको बोध्यः "अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ती"ति न्यायात् वक्ष्यति चैवं रुक्मिणी-हरणे ॥ ४९ ॥ तं कृष्णं बकश्चच्छर्द अक्षतं तं पुनरपि तुण्डेन चञ्चुना हन्तुमभ्यपद्यत तालुमूलमग्निवत् प्रदहन्तम् इन्दीवर-मृदुरशीतलस्यापि कृष्णस्याग्नेरिव वज्रस्येव स्पर्शस्तत्तालुदोषादेव रसनादोषात् सिताया इव तिक्तत्वमित्येके। वस्तुतस्तु क्रूरया शक्त्या स सिद्धः जगद्गुरोर्विरिञ्चस्य पितरमपि गोपालस्य नन्दराजस्य सूनुम् ॥ ५० ॥ तुण्डयोश्चञ्च्वोर्निगृह्य वीरणवत् यन्मूलमुशीरं तद्वीरणं तृणं तद्वत्। दिवौकसां मुदावहो हर्षप्रापकः ॥ ५१ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स पात्यमानैः कपित्थानां फलानि कपित्थानि तैः फलैः सह पपात। तन्महादेहसंस्पर्श एव फलपतनहेतुरिति भावः। तं वत्सं फलपातं च विस्मिता बालाः साधु साध्विति शशंसुः। अनायासेन यातानि नः फलानि निहितश्चायं दैतेय इति विस्मय इति भावः ॥ ३३ ॥ देवाः च ऊपरीति छेदः। उत्कृष्टस्वादुनामासाविति छान्दोग्यभाष्योक्तेः ओः उत्कृष्टस्य कृष्णस्योपरि तदुपरीतिवद्देवाः पुष्पसन्ततिं ववृषुः। सर्वलोकैकपालकौ सर्वलोकैकपौ तावलकावलकौ शुक्लकृष्णकेशात्मकाविति वा भूत्वा वत्सपालकौ सन्तौ तौ ॥ ३४ ॥ सप्रातराशौ आशोऽशनं प्रातराशेन प्रातर्भोजनेन सहितौ कृतप्रातरशनौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुरित्यन्वयः। सर्वे बालाः। जलाशयस्य महासरसोऽभ्याशं समीपं पाययित्वा ताञ्जलं पपुः स्वयं च महसत्त्व-मद्भुतजन्तुं ॥ ४५ ॥ वज्रसम्भिन्नश्चासौ गिरिश्च तस्य सकाशाच्च्युतं श्रृङ्गमिव ददृशुः। अनन्तरं तत्र सुरिदमित्थनिर्णयादिति भावः। सत्त्वोऽस्त्री जन्तुष्विति यादवः। स बको नाम नाम्ना प्रागपीति वैकारः सूचयति। इदानीं बकरूपधृक् बकस्य कङ्कस्य। बकःकङ्क इत्यमरः। रूपं धृष्णाति धरतीति स तथा ॥ ३४ ॥ तीक्ष्णतुण्डो बली बकस्तरसाऽऽगत्य कृष्णमग्रसज्जग्रास। इन्द्रियाणि प्राणैर्विना यथा विचेतसो विमनस्का बभूवुः ॥ ३५–३६ ॥ अग्निवदग्निमिव तालुमूलं दंष्ट्रामूलं। तालुकाकुदमित्यमरः। प्रदहन्तं जगद्गुरोश्चतुराननस्य पितरं तातं। अनेन गोपालसूनुतामुपजहास मूलकृदिति मन्तव्यं। सद्यश्चछर्दनिरष्टीवदक्षतं मत्वाऽतिरुषा तुण्डेन चञ्चुपटेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥ ३७ ॥

श्रीसुबोधिनी

बालकैस्तु भ्रामणे प्रहरणे च तच्छरीरं न दृष्टमेव, पश्चात् सफलं दृष्टमित्याह **स कपित्थैरिति**, **कपित्थैः** फलैः सह तेनैव **पात्यमानैः स महाकायः पपात** ह बालैर्ज्ञातं स्थूलं कपित्थफलं शाखा वा पततीति तस्य पातः स्थूलता चात्याश्चर्यमिति हेत्याह, पतितं तं वीक्ष्य बालाश्च **विस्मिता** जाताः कुतोयं दैत्यः कथं पतित इति, भगवत्पातितं ज्ञात्वा **साधुसाध्विति शशंसुः**, ज्ञानं धारणं प्रक्षेपो मारणं चेति प्रत्येकं **प्रशंसे**ति ज्ञापयितुं वीप्साश्चर्यभावज्ञापकं वा, अनेन लोकेवाच्यता परिहृता ॥ ३३ ॥ लोकान्तरेष्यवाच्यपरिहाराय देवानामभिनन्दनमाह **देवाश्चेति**, **देवाश्च साधुसाध्विति शशंसुः परिसन्तुष्टाः** परितः **सन्तुष्टाश्च** जाताः दैत्यवधाद्, वत्सेषु देवानां दैत्यानां च भोगः, इदानीं देवानामेवेति **परिस्तोषः**, **पुष्पवर्षिणश्च बभूवुः**, तेषां वाङ्मनः-कायव्यापारा निरूपिताः अर्धमत्र पतितं, **वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिता** इत्येवमर्थम् ॥ ३४ ॥ एवं वत्सासुरे हते पुनर्वत्सान्तरशङ्कया वत्सचारणं बाला भगवान् वा न कृतवन्त इत्याशङ्कापरिहारार्थमाह **वत्सपालकौ भूत्वेति**, **सर्वलोकैक-पालकावपि वत्सपालकौ भूत्वा विचेरतुरि**ति सम्बन्धः, कदाचिन्न वत्सचारणं किन्तु तद्वृत्तिमानिव निरन्तरं चालयति, अतो वत्सपालका इत्येव लोके प्रसिद्धिः, **सर्वलोकैकपालकाविति** च, एकपदमप्राधान्यपालकव्यावृत्त्यर्थं, भूत्वेतिमध्ये निवेश उभय-प्रसिद्धिख्यापकः, वेदाल्लोकप्रसिद्धिर्दुर्बलेति, वत्सपालकत्वं नोक्तं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रथमं निर्दिष्टं, सन्ध्यापर्यन्तं वत्सचारणं कर्तव्यं, अतो वत्सानां स्तनपानसमय एव **प्रातरशनं** कृत्वा **सप्रातराशौ** गवां **वत्सान्** धर्मोपयोगिनश्**चारयन्तौ** स्वयमपि **विचेरतुः** ॥ ३५ ॥ एवं वत्सानां दोषं परिहृत्य पालानामपि दोषं परिहर्तुं दम्भात्मकं बकं मारितवानित्युपाख्यानमारमते **स्वं स्वमिति** नवभिः,

> यमुनाजलपानेन दोषः सर्वो विनिर्गतः। एकीभूतो बकः प्रोक्तो जलपानात् स दृश्यते ॥ १ ॥
> अतः पानं दर्शनं च तेनोपद्रव एव च। ततः सर्वापराधश्च तद्वधोपाय एव च ॥ २ ॥
> तद्वधश्च स्तुतिर्देवैर्गोपानां तोष एव च। तथैव गोकुलस्थानां नव प्राणा हि शोधिताः ॥ ३ ॥

प्रथमं बकदर्शनार्थं यमुनायां चारितान् वत्सान् जलं **पाययित्वा** स्वयमपि जलं पीतवन्त इत्याह **स्वं स्वमिति**, **वत्स-कुलं** वत्ससमूहं **सर्वेषामेव** बहवो वत्सा इति सर्वेषां गमनं, अन्यथा सर्वेषां दर्शनं न स्यात्, तुल्योयं बकः सर्वेषामिति सर्वेषां समानक्रिया, **एकदे**ति यदा बालका दोषान् मोचनीया इति भगवदिच्छा तदा, **जलसमीपं गत्वा वत्सकुलं जलं पाययित्वा** स्वयं **जलं पपुः** ॥ ३६ ॥ ततो दोषात्मकं बकं दृष्टवन्त इत्याह **ते तत्रेति ते** सर्व एव **तत्र** जलनिकटे **बाला** भीरवो **महासत्वं** भयानक **मवस्थितं** निकटे मारकत्वेन **स्थितं** प्रथमतो **ददृशुः** पश्चात् **तत्रसुः**, तथापि भगवत्कृपया ते तं हतमेव ज्ञातवन्तः, अन्यथा महा भयेन प्राणवियोगो भवेत्, तदाह **वज्रेण निर्भिन्नस्य गिरेः शृङ्गं च्युतमिव** तं **ददृशुः**, कंसो हि जगदुपद्रवकर्ता भगवता वज्रेण हत एव, तस्यायं शृङ्गस्थानीयः, सोप्यत्र च्युतः, नास्य व्याधुत्यगमनशङ्केत्यतः क्रीडार्थमेव विनियोगो न तु पीडार्थं, केवलं बालानां दर्शनमात्रेणैव भयमिति ॥ ३७ ॥ ते सर्वे बाला भगवता निष्प्रपञ्चीकृता इति तेषां दोषोयं भगवन्तमपकृतवानित्याह **स वै बक** इति, **नाम**प्रसिद्ध्यैव तस्य दोषः स्पष्टः, **महानसुर** इति वत्सापेक्षयापि **महान्**, भगवदीयानां दोषत्वात्, **बकरूप**मेव च विभर्ति तस्योपास्या देवता सैवेति स्वरूपतः प्रसिद्धा च, देवानुग्रहाच्च **महान्**, अत एव **तरसा** शीघ्रमागत्य **कृष्णं** सदानन्दं लोभानृतरूपौ **तुण्डौ** यस्य तादृशो **बली** क्रियाशक्तिप्रधानो ग्रासं कृतवान्, आनन्दो हि लोभेन सच् चानृतेन ग्रस्यत एव, 'तं यथायथोपासत' इति श्रुतेः, भगवतैव **भगवान्** वशीकृतः, गोपानां भगवत्प्रेमज्ञापनार्थमेव तथा कृत इति ॥ ३८ ॥ ततस्तेषां प्रेमाणमाह **कृष्णमिति**, **महाबक** उपास्यस्तेन कवलीकृतं **दृष्ट्वा रामादयो विचेतसो** जाताः; तत्प्राणत्वात्, तेषां क्रियायां ज्ञाने वा सर्वथा सामर्थ्यं गतमितिज्ञापनार्थं दृष्टान्तमाह **विना प्राणैरिन्द्रियाणी**वेति, एकस्तु न लोके दृष्टान्त इति ज्ञापयितुं **प्राणै**रितिबहुवचनम् ॥ ३९ ॥ लोभानृताभ्यामेव सदानन्दतिरोभाव इति तुण्डदेशादधोगतः सरस्वतीस्थाने वेदानां प्रामाण्यार्थं **तालुमूलं** ज्वालितवान्, तीक्ष्णद्रव्याणामपि मरिचादीनां दाहकत्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थम**ग्निवज्** ज्वालनमुक्तं, तथा दहन्तं त्यक्तवानित्याह तमिति, **तालुमूलं** कण्ठस्थानं, **प्रकर्षो** गिलनासामर्थ्यसम्पादकः, नन्वपहतपाप्मा कथं तालुमूलसम्बद्धो जात इत्याह **गोपालसूनुमिति**, तथाभावं सम्पादयन्नेतदपि कृतवानित्यर्थः, ननूभयमपि किमिति प्रदर्शितवानित्याशङ्क्याह **पितरं जगद्गुरोरिति**, **ब्रह्मणोपि** पिता, स हि सर्वानुपदिशति 'तत्त्वमसी'ति, तत्रासम्भावनया न कोपि तथात्वं मन्यते तस्यैतन्नि-दर्शनार्थं भगवता कृतं, अनेनैव महत्त्वमपि सूचितं, कथं मारयिष्यतीतिशङ्का च परिहृता, किञ्च साधारणोपि ब्राह्मणो गरुडेन भक्ष्यमाणो गरुडस्यापि तालु दहाह किं पुनर्ब्रह्मणोपि पिता परब्रह्म ? **अतश्चच्छर्द** बहिर्निष्कासितवान्, अन्यथा ज्वलित एव **स्यात्**, यदि तावदेव कृत्वा गच्छेत् तदा जीवेद् वा, **पुनरिति रुषा** केनाप्यंशेनाक्षतं भगवन्तं **तुण्डेन** सम्पुटितेन पीडयितु-**मभ्यपद्यत**, **अतिरोषाद्** देवता विरोहिता ॥ ४० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पितरं जगद्गुरोरित्यत्र । तस्यैतन्निदर्शनार्थमिति । यथा गोपालसूनुरपि तत्पितृत्वेन **परब्रह्मरूप** एव, तथा प्राकृतसंघातेषु प्रतीयमानोपि जीवोऽक्षररूप इति ज्ञापनार्थमित्यर्थः ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तावित्यस्याभासे **वत्सान्तरशङ्कये**ति **वत्सेष्वसुरान्तरशङ्कया** ॥ ३५ ॥ **स्वं स्व**मित्यत्राग्रिमप्रकरणतात्पर्योक्तौ **दोषः सर्वो विनिर्गत** इति **दोषो** दम्भरूपो **विनिर्गत**स्तेभ्यः पृथग् जात इत्यर्थः । स च बहिःष्ठानामेव न तु यें स्वतो निष्कासितास्तेषामिति ज्ञातव्यं, **नव प्राणा** इति दशमः स्वयमेवेति न तत्र किञ्चिदपेक्ष्यत इतिभावः, **यमुनाया**मिति सामीप्यसप्तमी ॥ ३६ ॥ **ते तत्रे**त्यत्र **वज्रे**णेत्याकाशवाणीरूपवाग्**वज्रे**ण ॥ ३७ ॥ **कृष्ण** इत्यस्याभासे **गोपाना**मित्यादि, रूपान्तरेण मूलरूपाभिभवोपि न युक्त इति शङ्कानेन परिहृता ज्ञेया, **एक** इति मुख्यः प्राणः प्रसिद्ध्यभावादितिभावः ॥ ३९ ॥ **तं तालुमूल** इत्यत्र कण्ठे गमनस्य प्रयोजनमाहु**र्वेदानां प्रामाण्यार्थ**मिति परापश्यन्तीमध्यमावैखरीतिचातुर्विध्यपक्षे शब्दस्य मध्यमाख्यावस्थायास्तत् स्थानमाधिदैविकश्चार्थः शब्देन सह वर्तते पुरुषश्च पुरं दहति तद् वेदैरुच्यत इति त**त्प्रामाण्यार्थं** तत् तथेत्यर्थः, **उभय**मित्यपहतपाप्मत्वं **तालुमूलसम्बन्धं** च **तस्यैतन्निदर्शनार्थ**मिति तत्तात्पर्यं **टिप्पण्यामाहुर्यथे**त्यादि, ज्ञापनप्रयोजनं तु 'ये च प्रलम्बबकदर्दुरे'तिद्वितीयस्कन्धवाक्योक्तमुक्तियोग्यतेति प्रतिभाति, दर्शनस्य हेत्वन्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादि ॥ ४० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

देवाश्चेत्यत्र **वत्सेष्वि**ति "द्वया ह प्राजापत्या" इतिन्यायेनोभयविधत्वं स्थितमिदानीमासुरभावस्य **निर्वर्तितत्वात्** केवलदेवत्वं सम्पन्नमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ **स वै बक** इत्यत्र **सेवे**तीति असुरोपास्यो मायारूपो भगवाननेन बकाकृतिरुपास्यत इत्यर्थः, 'लोभो दुःखधर्मद्वेषोद्भेदरूप' इतिनिबन्धे विवृतं, दुःखं चानन्दाभावः, अतो लोभरूपाभावसामर्थ्या बलिष्ठायाः प्रतियोगितिरोधायकत्वं युक्तमितिभावेनाहुः **आनन्दो ही**ति ॥ ३८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तं तालुमूलं प्रदहन्तमित्यस्याभासे **सरस्वतीस्थान** इति कण्ठदेश इत्यर्थः, कण्ठदेशस्य सरस्वतीस्थानत्वात् **वेदानां प्रामाण्यार्थ**मिति **पितरं जगद्गुरो**रित्यस्य विवृतौ **तत्रासम्भावन**येति "तत्त्वमसी"त्यत्र जीवस्य भगवदभेदः प्रतिपादितः, स च सर्वज्ञेन सहाल्पज्ञस्य न सम्भवतीत्यसम्भावनया लोको न मन्यते, तस्या असम्भावनायाः निवृत्त्यर्थं विरुद्धधर्माश्रयत्वं भगवता लोके प्रदर्शितं गोपालसूनुत्वजगद्गुरुपितृत्वप्रदर्शनेन, तदेतदाहुः **तस्ये**ति, "तत्त्वमसी"त्यत्र सर्वज्ञाल्पज्ञयोरभेदो निरूपितस्तस्याभेदस्येत्यर्थः, **तदेतन्निदर्शनार्थं भगवता कृत**मिति निदर्शनार्थं भगवता एतत् कृतमित्यन्वयः, विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधनार्थं गोपालसूनुत्वजगद्गुरुपितृत्वरूपधर्मनिदर्शनं कृतमित्यर्थः, एवं सति सर्वज्ञाज्ञयोरभेदे गोपालसूनुत्वजगद्गुरुपितृत्वरूपधर्मस्य निदर्शनत्वमितिबोध्यं, यथा गोपालसूनुत्वेपि जगद्गुरुपितृत्वं तथा जीवत्वेपि ब्रह्मत्वमिति निदर्शनं ज्ञेयम् ॥ ४० ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्व इत्यत्र नवानां श्लोकानां वाक्यार्थानाहु**र्यमुना जले**त्यादि का० ११५१/२ । प्रथमश्लोके जलपानं द्वितीयें दैत्यदर्शनं, तदेवाहु**रत** इति का० ११६१/२, ११७१/२ । भगवता सह स्थितानां गोपानां तोषो "मुक्तं बकास्या"दितिश्लोकार्थः, गोकुलस्थानां तोषः "श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा" इति नवमश्लोकार्थः, तोष इतिपदमुभयत्र सम्बध्यते, नवश्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं **नव प्राणा हि शोधिता** इति, **गोकुलस्थाना**मिति च पदमुभयत्रान्वेति ॥ ११७१/२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

पात्यमानैः कपित्थैः कपित्थफलैः सह स दैत्योऽपि पपात । 'मरणसमयें मायाया अपगमात् प्रकटितनिजरूपो बभूव इत्याशयेनाह—महाकाय इति । **अयमेव** कपित्थपातने हेतुर्ज्ञेयः । 'ह' इत्याश्चर्ये । एतादृशस्याप्येवं भ्रामणेन बालेन मारणमत्याश्चर्यमित्यर्थः । अत एव तं पतितं वीक्ष्य सर्वे बाला विस्मिताः सन्तः 'साधु कृतं साधु कृतम्' इत्येवं कृष्णं शशंसुः ॥ ४४ ॥ देवानामपि भयङ्करत्वात्तद्वधे देवाश्च परिसन्तुष्टाः कृष्णस्योपरि पुष्पवर्षिणो बभूवुः ॥ ४५ ॥ सर्वेषां लोकानामेकौ मुख्यौ पालकावपि तौ रामकृष्णौ वत्सपालकौ भूत्वा प्रातराशः प्रातर्भोज्यमन्नं तत्सहितौ तद्गृहीत्वा वत्सांश्चारयन्तौ वने विरेजतुः ॥ ४६ ॥ ते सर्वे रामकृष्णादयो गोपबाला एकदा स्वं स्वं वत्सकुलं वत्ससमूहं पाययिष्यन्तस्तावज्जलाशयस्याभ्याशं समीपं गत्वा वत्सान् जलं पाययित्वा स्वयमपि पपुः ॥ ४७ ॥ तेच बालास्तत्र जलाशयतीरे अवस्थितं महासत्त्वं स्थूलबकविशेषं

ददृशुः, दृष्ट्वा च तत्रसुः त्रासं जग्मुः। त्रासहेतुत्वेनोक्तमहत्त्वे दृष्टान्तमाह—वज्रेति। इन्द्रवज्रेण निर्भिन्नम्, अत एव च्युतं भूमौ पतितं गिरेः शृङ्गमिवेत्यर्थः॥ ४८॥ स वै बकरूपधृक् बको नाम महान् असुरः सहसा आशु चागत्य कृष्णमग्रसत्। तत्र सामर्थ्यमाह—तीक्ष्णतुण्डो बलीति॥ ४९॥ तं कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः विचेतसो मूर्च्छिता बभूवुरित्यन्वयः। तत्र दृष्टान्तमाह—इन्द्रियाणीवेति। यथा प्राणैर्विना इन्द्रियाणां ज्ञानकर्मात्मकानां ज्ञाने कर्मणि च न सामर्थ्यम् स्थितिरपि दुर्लभा, तथा तेषामपि तदा ज्ञानादिसामर्थ्यं गतं मूर्च्छा च जातेत्यर्थः॥ ५०॥ तं गोपालसूनुं कृष्णं सद्य एव बकश्चच्छर्द। तत्र हेतुमाह—अग्निवत्तालुमूलं प्रदहन्तमिति। दाहे सामर्थ्यं सूचयन् विशिनष्टि—जगद्गुरोर्ब्रह्मणोऽपि पितरमिति। तदा यदि तच्छरणमागच्छेत्तदा शरणागतवत्सलो भगवांस्तं न हन्यात्। स तु तदुपायानभिज्ञोऽतस्तमक्षतं व्रणरहितं दृष्ट्वाऽतिरुषा महता क्रोधेन पुनस्तं तुण्डेन चञ्चुना हन्तुमभ्यपद्यत सम्मुखमाजगाम॥ ५१॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

स इति सार्द्धम्॥ पात्यमानैः कपित्थैः कपित्थफलैः सह महाकायः स दैत्योऽपि पपात। मरणसमये मायापगमेन प्रकटितनिजरूपत्वात्। हेत्याश्चर्ये। तं पतितं वीक्ष्य सर्वे बाला विस्मिताः सन्तः साधु कृतं साधु कृतमित्येवं कृष्णं शशंसुः। देवाश्च परिसंतुष्टाः कृष्णस्योपरि पुष्पवर्षिणो बभूवुः॥ ४३॥ ताविति॥ सर्वेषां लोकानामेकौ मुख्यौ पालकावपि तौ रामकृष्णौ वत्सपालकौ भूत्वा प्रातराशः प्रातर्भोज्यमन्नं तत्सहितौ तद्गृहीत्वा वत्सांश्चारयन्तौ वने विचेरतुः॥ ४४॥ स्वं स्वमिति॥ ते सर्वे रामकृष्णादयो गोपबाला एकदा स्वं स्वं वत्सकुलं वत्ससमूहं पाययिष्यन्तस्तावज्जलाशयस्याभ्याशं समीपं गत्वा वत्सान् जलं पाययित्वा स्वयमपि पपुः॥ ४५॥ ते तत्रेति॥ ते च बालास्तत्र जलाशयतीरे अवस्थितम् इन्द्रवज्रेण निर्भिन्नम् अत एव च्युतं भूमौ पतितं गिरेः शृङ्गमिव महासत्त्वं स्थूलबकविशेषं ददृशुः। दृष्ट्वा च तत्रसुः त्रासं जग्मुः॥ ४६॥ स वै इति॥ बकरूपं धर्जति गच्छति बकरूपधृक्। गत्यर्थात् धृजेः क्विप्। तीक्ष्णतुण्डः बली च बको नाम महान् असुरः सहसा आशु चागत्य कृष्णमग्रसत्। तङ्भाव आर्षः॥ ४७॥ कृष्णमिति॥ कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः प्राणं विना इन्द्रियाणि इव विचेतसः ज्ञानरहिता मूर्च्छिता बभूवुः। रामः आदिर्येषामित्यतद्गुणसंविज्ञानः। तेन रामो विचेता नाभूदिति स्वामिपादाः। भ्रातृस्नेहादिति परे॥ ४८॥ तमिति॥ जगद्गुरोः ब्रह्मणः अपि पितरं गोपालस्य सूनुम् अग्निवत् तालुमूलं प्रदहन्तं तं कृष्णं बकः सद्यः एव चच्छर्द। बाहुलकात् णिजभावः। तं च अक्षतं व्रणरहितं दृष्ट्वातिरुषा महता क्रोधेन पुनस्तुण्डेन चञ्च्वा हन्तुमभ्यपद्यत संमुखमाजगाम॥ ४९॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पुष्पवर्षिणः पुष्पाणां वर्षणं अस्ति एषां ते॥ ४१॥ सर्वेषां लोकानां एकावाद्यौ पालकौ सप्रातराशौ प्रातराशः प्रातर्भोज्यं अन्नं तेन सहितौ विचेरतुः॥ ४२॥ वत्सकुलं वत्सनिकरं जलानामाशयो ह्रदस्तस्य अभ्याशं निकटम्॥ ४३॥ महासत्वं महापक्षिणं वज्रेण इंद्रहेतिना भिन्नं पर्वताद् च्युतं पतितं शिखरमिव तत्र ददृशुः॥ ४४॥ समीपं आगत्य॥ ४५॥ अर्भकाः बालाः विचेतसः स्मृतिः भ्रष्टः॥ ४६॥ अग्निवत् तालुमूलं प्रदहंतं। जगद्गुरोर्विधेः पितरं तं श्रीकृष्णं अतिरुषा अतिक्रोधेन सद्यः चच्छर्द मुखाद्बहिर्निष्कासितवान् अक्षतं क्षतरहितं श्रीकृष्णं पुनः तुंडेन चञ्च्वा हंतुं॥ ४७॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स इति॥ महान् कायो देहो यस्य सः, मरणवेलायां प्रकाशितस्वमहाशरीर इत्यर्थः। स दैत्यः, पात्यमानैः दुर्भरतच्छरीरताडितत्वादामैः सद्भिरपि पतद्भिः, कपित्थैः सह, भुवीति शेषः। पपात। तं वीक्ष्य संपतितं तमवलोक्य, ह स्फुटं यथा तथा, बालाः विस्मिताः सन्तः, साधु साध्विति, शशंसुः प्रशंसां चक्रुः॥ ४३॥ अथ बकासुरवधात्मकं तच्चरित्रमाह॥ ताविति॥ सर्वे च ते लोकाश्च तेषामेकपालकौ मुख्यरक्षकौ सन्तावपि, तौ रामकृष्णौ, वत्सपालकौ, भूत्वा, एकदा सप्रातराशौ प्रातर्भोक्तव्यपर्युषितान्नसहितौ एव, गवां वत्सांश्चारयन्तौ सन्तौ, विचेरतुः॥ ४४॥ स्वं स्वमिति॥ सर्वे रामकृष्णप्रधानाः सर्वेऽपि गोपबालकाः, स्वं स्वमात्मीयं, वत्सकुलं वत्ससमूहं, पाययिष्यन्तः सन्तः, तावत् जलाशयाभ्याशं जलाशयस्य समीपं गत्वा, पाययित्वा वत्सान् जलपानं कारयित्वा, पपुः स्वयमपि जलपानं चक्रुः। इति द्वयोरेकान्वयः॥ ४५॥ त इति॥ ते बालाः, तत्र अवस्थितं, महासत्त्वं महान्तं जन्तुं, ददृशुः। तं च वज्रनिर्भिन्नं शक्रवज्रेण भेदं प्राप्तं, अत एव च्युतं, गिरेः शृङ्गं शिखरं इव, दृष्ट्वेति शेषः। तत्रासुस्त्रासं जग्मुः॥ ४६॥ को वैवंविधो जन्तुस्तत्राह॥ स वा इति॥ बकरूपधृदपि महान्, सः बकः नाम असुरः, वै तीक्ष्णतुण्डः निशितचञ्चूः, बली बलवान्, अत एव, सहसाऽकस्मादेव सहसेत्याकस्मिकाविमर्षयोरर्थयोर्द्योतकमव्ययम्। आगत्य, कृष्णं अग्रसीत्॥ ४७॥ कृष्णमिति॥ राम आदिर्येषामित्यतद्गुणो बहुव्रीहिः। रामस्य तन्महिमाभिज्ञत्वात्तं विनाऽन्ये इत्यर्थः। अर्भका बालाः, कृष्णं, महाबकग्रस्तं महता बकेन गिलितं दृष्ट्वा, प्राणं विना, इन्द्रियाणि इव, विचेतसोऽचेतन-

प्रायाः, बभूवुः ॥ ४८ ॥ तमिति ॥ जगद्गुरोर्ब्रह्मणः, पितरमपि, गोपालसूनुं लीलया नन्दार्भकतां नाटयन्तं, अग्निवत् तालुमूलं प्रदहन्तं, तं श्रीकृष्णं, बकः, सद्यस्तत्क्षणमेव, चच्छर्द उदगिरत्। अक्षतं लेशमात्रमपि क्षतिमप्राप्तं कृष्णं, तुण्डेन चञ्च्वा, हन्तुं अतिरुषा, पुनः अभ्यपद्यताभिमुखमागच्छत् ॥ ४९ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ते वीक्ष्येति : १०.११.४४.

दैत्यध्वंसं यत्नतोऽहं करिष्याम्येवंपूर्वं यत्प्रतिज्ञातमासीत्। तस्यारम्भो दर्शितोऽद्याच्युतेनेत्यानन्दात्ते साधु पुष्पाण्यमुञ्चन् ॥५६॥

ते तत्रेति : १०.११.४७.

स्यात् सत्त्वमप्यसाधौ चेद्भवेत् त्रासकृदेव यत्। जडाशये महासत्त्वस्थितिस्तत्रासदाऽभवत् ॥ ५७ ॥
अतिशुद्धाकृतेरन्तर्मालिन्यं प्रायशः स्थितम्। दीपस्येवेति तं भीता ददृशुर्दूरतोऽर्भकाः ॥ ५८ ॥
शुद्धाकृतिं समीक्ष्यैव सहसा तत्समागमः। नैव कार्य इति व्यक्तं वकबालनिदर्शनम् ॥ ५९ ॥

वकरूपधृगिति : १०.११.४८.

सजातीयवेषेण गोजातगोऽपि पुरा स स्वकार्याय नालम्बभूव।
विजातीयवेषेण गोजातरोधस्थितः स्यामतोऽसौ तदूर्ध्वं तथाऽगात् ॥ ६० ॥

वत्सासुरहतिरभवद् वत्सत्वादेव यत्ततोऽहमिह। नहि न बकः स्यामिति किं वकरूपोऽगात्तदूर्ध्वमेपकुधीः ॥ ६१ ॥
कियत् कृष्णबलं नाम सत्त्वराशेर्ममाग्रतः। इति मत्वा बकः कृष्णं जग्रसे भ्रान्तमानसः ॥ ६२ ॥
जडजाततटस्थतां श्रयन् जलजातेषु च सत्त्वशोधकः। भविता य इहास्य मानसे वसतिर्मे श्रुतिगेत्यबोधयत् ॥ ६३ ॥
बहिः सर्वं शतो रम्यः स्याच्चित्तेऽपि तथैव किम्। अवेक्षणाय लक्ष्मीशस्तदन्तरमवीविशत् ॥ ६४ ॥
नाम्नाऽऽकृत्या च कान्तोऽसौ वृथानेन बको हतः। इत्यज्ञवाङ्निरासाय किमीशोऽन्तर्गतोऽभवत् ॥ ६५ ॥

कृष्णमिति : १०.११.४९.

वियोगाद् दुःखितः कृष्णे वयं चात्र कथं शुभम्। इति स्थूलदृशः प्रापुर्भ्रमं राममुखाऽर्भकाः ॥ ६६ ॥

तं तालुमूलमिति : १०.११.५०.

श्रीकृष्णस्य यदा निजोदरदरी-यानाय तुण्डे निजे येनानल्पमकल्पि वर्त्म रिपुणा तत्कृष्णवर्त्माश्रितः।
तत्कण्ठः प्रबभूव तेन दहनं कण्ठस्य तस्यार्थतः प्राप्तं तत्र न शङ्कितव्यमभवत्कृष्णः स उष्णः कथम् ॥ ६७ ॥

चच्छर्देति :

वृन्दावने मम प्रीतिर्विहर्तुं नवकानने। इति किं सकलाधीशो निश्चक्राम बकाननात् ॥ ६८ ॥
शुद्धाकृतिर्वहिर्भूरि योऽन्तः संभृतकिल्विषः। न तस्य भगवत्प्राप्तिः क्वचिज्जातापि जीर्यति ॥ ६९ ॥

ददारेति : १०.११.५१.

ये पूतनाद्याः खलु तेऽखिला अपि तदन्नभुक्त्वेन तदीयसेवकाः।
सत्यस्त्वयं तस्य सखा बकोऽस्ति यत् पक्षीति सक्रोधमदारयत् तदा ॥ ७० ॥

पीतं यत्स्तन्यमसौ तद्भ्राता मातुलो ममेति किमु। मत्वा जनितक्रोधावेशः शकलीचकार बकमीशः ॥ ७१ ॥
कंसादिनिखिलखलजन वंशविखण्डनमहं तथा कुर्वे। निहतो बको यथेत्थं निदर्शनायैव वंशवद् दलितः ॥ ७२ ॥
कृष्णनाम मुखे स्थाप्यं न कृष्णप्रतिमा क्वचित्। अन्यथाचरणात् स्पष्टोदाहृतिर्बकदुर्दशा ॥ ७३ ॥
सद्द्वेषं दधते ये तु दुर्हृदो हिंस्रवृत्तयः। विदारयामि सद्यस्तानित्यसौ तमदारयत् ॥ ७४ ॥

कृष्णप्रिया

यह सारी घटना देखकर सारे ग्वालबालों को आश्चर्य की अवधि न रही और लड़के वाह-वाह कर उठे और देवगण सन्तुष्ट हो पुष्प वृष्टि करने लगे ॥ ३३ ॥ इस प्रकार श्रीबलभद्रजी और श्रीकृष्ण सारे विश्व के एक ही पालक हैं वे ही अब वत्सपाल बने हैं नित्य प्रातः काल उठकर कलेवे की सामग्री साथ लेकर बछड़ों को चराते हुए एक वन से दूसरे बन में घूमते थे ॥ ३४ ॥ एक दिन ग्वालबाल अपने अपने बछड़ों की टोली को जल पिलाने के लिए जलाशय के पास ले गये। पहले उन्होंने बछड़ों को जल पिलाया पुनः स्वयं पानी पीने लगे ॥ ३५ ॥ इतने में गोपबालकों को एक बहुत बड़ा प्राणी

बैठा दीख पड़ा, देखने से ऐसा लगता था कि मानो इन्द्र के वज्र से टूटा हुआ कोई पर्वत का शिखर ही हो। उसको देख कर सब डर गये ॥ ३६ ॥ वास्तव में तो वह तीक्ष्ण चोंच वाला महान् बलशाली "बक" नाम का एक भयानक असुर था जो बगुले का रूप धारण कर बैठा था। वह बकासुर श्रीकृष्ण की ओर एक व एक झपटा और श्रीकृष्ण को निगल लिया ॥३७॥ बलभद्रजी एवं गोपबालक श्रीकृष्ण को महाबगुले से निगले देख ठीक वैसे ही अचेत हो गयें जैसें बिना प्राण के इन्द्रियाँ अचेत बन जाय ॥ ३८ ॥ लोकपितामह श्रीब्रह्मा के भी पिता और नन्द बाबा के पुत्र श्रीकृष्ण प्रभु उसके तालु के नीचे पहुँचे तब वे अग्नि के समान उसके तालू को जलाने लगे। उसे सहन न हो सका वह घबड़ा कर मारे क्रोध से तुरन्त ही श्रीकृष्ण को उगल दिया पुनः दुबारा चोंच चलाना चाहा ॥ ३९-४० ॥

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां [1]गतिः ।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम् ॥ ४१ ॥
तदा बकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः ।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥ ४२ ॥
मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका[2] रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः ।
[3]प्रत्यागतं तं परिरभ्य निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः ॥ ४३ ॥
श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः । प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥ ४४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सतां गतिः सः आपतन्तं कंससखं तं बकं दोर्भ्यां तुण्डयोः निगृह्य बालेषु पश्यत्सु दिवौकसां मुदावहः लीलया वीरणवत् ददार ॥ ४१ ॥ सुरलोकवासिनः तदा नन्दनमल्लिकादिभिः समाकिरन् च आनकशङ्खसंस्तवैः समीडिरे गोपालसुताः तद् वीक्ष्य विसिस्मिरे ॥ ४२ ॥ रामादयः बालकाः बकास्यात् मुक्तं ऐन्द्रियः गणः प्राणं इव उपलभ्य प्रत्यागतं तं परिरभ्य निर्वृताः वत्सान् प्रणीय व्रजं एत्य तत् जगुः ॥ ४३ ॥ तत् श्रुत्वा गोपाः विस्मिताः च गोप्यः अतिप्रियादृताः तृषितेक्षणाः प्रेत्यागतम् इव औत्सुक्याद् ऐक्षन्त ॥ ४४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

समीडिरे तुष्टुवुः । आनकैः शंखैरन्यैश्च संस्तवैः सह ॥ ५२ ॥ स्वस्थानमागतं प्राणमिव कृष्णम् । प्रणीय एकीकृत्य ॥ ५३ ॥ अतिप्रियेणातिप्रीत्या आदृताः सादराः । प्रेत्यागतमिव लोकांतरादागतमिव । तृषितान्यतृप्तान्यमृतं पिबंतीवेक्षणानि येषां ते ॥ ५४ ॥ अहो बतेत्यादिश्लोकत्रयस्य इति नंदादय इत्यनेनान्वयः । अपि एवमपि तेषामेवानिष्टमासीत् यतस्तैः पूर्वमन्येषां भयं कृतम् ॥ ५५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

बकारिं कृष्णम् । तत् बकहिंसनरूपं वा तत् । तन्मरणोत्तरं पुष्पवृष्ट्यादि ॥ ॥ ५२ ॥ परिरभ्य आलिंग्य । तत् बकहिंसनम् ॥ ५३ ॥ तत् बकमारणम् । दर्शनेऽलंबुद्धिरहिता इति तृषितेक्षणार्थः ॥ ५४ ॥ अहो आश्चर्ये । बत खेदे । मृत्यवो मृत्युहेतवः । एवमपि बहुविधमृत्युहेतौ सत्यपि । तेषां मृत्युहेतूनाम् । यतः कारणात् । तैर्मृत्युहेतुभिः पूतनादिभिः । पूर्वमन्यजन्मनि । अन्येषां लोकानाम् । भयं दुःखम् । 'भुंक्ते जनो यः । परदुःखदस्तत' इत्युक्तेः । "यो हि यस्य विषमं विचिंतयेत्प्राप्नुयात्सकुमतिर्हि तत्फलम्" इति हरिविलासोक्तेश्च । यद्वाऽनेन श्रीकृष्णेन पूर्वमभयं भयनिवर्त्तकं कर्म कृतम् ॥ ५५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

मुदावहने लक्षणमेवाह—तदेति । सम्यक् अवाकिरन् तैर्व्याप्तं चक्रुः नन्दनस्य मल्लिकादिभिः पुष्पैरिति तेषां परमप्रियैरित्यर्थः । आनकशङ्खवाद्यसहितैः संस्तवैरुत्तमस्तोत्रैः सम्यक् ईडिरे तुष्टुवुः बकवधकर्मणा प्रशशंसुः संस्तवैः पुरुषसूक्तादिभिरित्यर्थः । विसिस्मिरे मित्राभ्युदयजपरमानन्दमयं विस्मयं प्रापुरित्यर्थः । यतो गोपालानां तेषां यत्किञ्चित्तदेकाभ्युदयैकजीवनानां तत्स्नेहविशेषावृतैश्वर्यज्ञानानां सुताः ॥ ४१ ॥ स्नेहविशेषमेव दर्शयति—तं बकारिं स्वस्थानमागतं सन्तम् उपलभ्य समीपे प्राप्य पश्चात् परिरभ्य निर्वृत्ताः सन्तः बकास्यान्मुक्तमितिस्नेहोद्रेकेण निर्भरालिङ्गनं तेन च परमनिर्वृतिभरं सूचयति । तेषामादौ

१. प्रतिः—श्रीधर. वंशी. ; गतिः—वीर. विज. । २. दारकाः—वीर. । ३. स्थाना—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. ।

श्रीभगवन्निकटे स्वयमागमनं तदानीमपि सम्यक् स्वास्थ्याऽनुदयेनाशक्तेरिति ज्ञेयं तच्च प्राणादिदृष्टान्तेनैव व्यञ्जितं स्थानगतमिति प्राणेऽप्यन्वितं वत्सान् प्रणीय दिनान्तरवत् कालमनपेक्ष्य सर्वान् परावर्त्त्य यद्वा, पालकानां दुर्दशां दृष्ट्वा दुःखेनेतस्ततो गतान् मेलयित्वा तद्बकवधादिकं जगुः सम्भ्रममिश्रेण प्रहर्षेण गीतवदुच्चैः सुस्वरेण कथयामासुः एवं वत्सवधश्चानद्भुततमत्वेनासुरत्वाप्रतीतिशङ्कया च तद्दिनेनुक्त्वा संप्रत्येव कथित इति ज्ञेयं षड्विंशाध्याये श्रीगोपैः तस्याप्यनुवादात् श्रीशुकस्य प्रेमजविस्मृतिर्वा ॥ ४२ ॥ गोपा गोप्यश्च विस्मिता अहो बतेत्यादिवक्ष्यमाणरीत्या जातविस्मयाः अतोऽतिशयेन प्रियं प्रेमयुक्तं यथा स्यात्तथा आदृताः तद्रक्षणादिषु जातात्यन्तमनःप्रयत्नाः अत एवौत्सुक्यात् आसक्त्या ऐक्षन्तं तं चिरं तद्दर्शनान्न निवृत्ता बभूवुरित्यर्थः। यतस्तृषितेक्षणाः अतृप्तनेत्राः परमप्रीत्यौत्सुक्यादीक्षणे हेतुः प्रेत्येति इव उत्प्रेक्षायां स्नेहभरेण तेषां तथा मननात्। यद्वा, प्रेत्यागतं कञ्चित् कश्चिद्बन्धुरिव यद्वा दिवा तद्विरहेण स्वतस्तद्दर्शनतृष्णायुक्तेक्षणा एव विशेषतो बकवधादिश्रवणेनौत्सुक्यादैक्षन्त अन्यत् समानम् ॥ ४३ ॥ अहो इति चतुष्कम् इतीति चतुर्थेनान्वयात् व्याख्या तु पृथक् क्रियते तत्र गोपालानामन्योन्यं यथा युक्तं विस्मयोक्तिमाह—अहो इति त्रिभिः। अहो आश्चर्ये बत खेदे अस्यैव मृत्यवः तद्धेतवः बालस्येति स्नेहभरेण अन्यत्तैः। यद्वा, यतः पूर्वं प्रथममागत्य तस्य भयं कृतम् ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

मुदविहन् लक्षणमेवाह—तदेति। सम्यगवाकिरन् व्यापयामासुर्नन्दनस्य मल्लिकादिभिः पुष्पैरिति तेषां परमोत्तमता सूचिता। आनकशङ्खवाद्यसहितैः संस्तवैरुत्तमस्तोत्रैः सम्यगीडिरे तुष्टुवुस्तल्लीलया बकविदारणं सुरलोकवासि-कृतञ्च महोत्सवं वीक्ष्य साक्षादनुभूय विसिस्मिरे विस्मिता बभूवुः, यतो गोपपुत्राः श्रीकृष्णस्नेहाकुलचित्ततयान्यानुसन्धानाशक्ता इत्यर्थः, किंवा स्वर्गवासिनामपि महोत्सवेन बकस्य महादुष्टताद्यनुमानाद् विसिस्मिरे, यतो गोपालसुता देवेषु सादरा इति भावः, यद्वा, विशेषेण स्थितं चक्रुर्नन्दनस्य मल्लिकादिपुष्पाणां श्रीवृन्दावनजेभ्यस्तेभ्योऽतिन्यूनत्वेन, तथानकादिवाद्यस्य वेणुदलादि-वाद्यतोऽतिन्यूनत्वेन, तथा देव-संस्तावानां गोकुलवासि-स्तोत्रेभ्योऽतिन्यूनत्वेन पुष्पवर्षाद्युत्कर्षासिद्ध्या महोत्सवलक्षणासम्पत्तेः, यतो गोपालसुताः श्रीकृष्णप्रियसखाः परमविदग्धा इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तं बकारिं स्वस्थानमागतं सन्तमुपलभ्य समीपे प्राप्य पश्चात् परिरभ्य निर्वृताः सन्तः। बकास्यान्मुक्तमिति स्नेहोद्रेकेण निर्भरालिंगनम्, तेन च निर्वृतिभरं सूचयति तेषामादौ श्रीभगवन्निकटे स्वयमनागमनं हर्षभराकुलत्वेन, किंवा तदानीमपि सम्यक् स्वास्थ्यानुदयेनाशक्तेरिति ज्ञेयम्, यद्वा, स्थानागतमिति प्राणस्यैव विशेषणम्, दृष्टान्तस्तु सद्यः स्वस्थतायां तदेकहेतु-निर्वृतायाञ्च, यद्वा, उपलभ्य ज्ञात्वा स्वस्थाने आगतमपि धावित्वाग्रेऽभिगम्य परिरभ्य। अन्यत् समानम्। वत्सान् प्राणीय दिनान्तरवत् कालमनवेक्ष्य सर्वान् परावृत्य, यद्वा, पालकानां दुर्दशां दृष्ट्वा दुःखेनेतस्ततो गतान् मेलयित्वा, यद्वा, प्रकर्षेणानीय मृतप्रायांस्तान् भगवदमृतदृष्ट्या जीवयित्वेत्यर्थः। तद्बकवधादिकं जगुः, प्रहर्षेण गीतवदुच्चैः सुस्वरेण कथयामासुः, यद्वा, तदानीमेव तद्गीतं निबध्य तद्द्वाराकथयन्नित्यर्थः ॥ ५३ ॥ गोपा गोप्यश्च विस्मिताः सत्यः, अतोऽत्यन्तप्रीत्यादृता व्याप्ता, अतएवौत्सुक्यादासक्त्या ऐक्षन्तु तं चिरं तद्दर्शनान्न निवृत्ता बभूवुरित्यर्थः, यतस्तृषितेक्षणा अतृप्तनेत्राः परमप्रीत्यौत्सुक्यादीक्षणे हेतुः—प्रेत्येति इव उत्प्रेक्षायां स्नेहभरेण तेषां तथा मननात्, यद्वा, प्रेत्यागतं कञ्चित् कश्चिद्बन्धुरिव, अथवा गोप्यो विस्मिता बभूवुः। त्वर्थे चकारः। प्रेमभरेण तासां गोपेभ्यो विशेषात् तमेवाभिव्यञ्जयति—अतिप्रियेण प्राणाधिकेन श्रीकृष्णेनादृताः प्रेमदृष्ट्यादिना सम्मानिताः, अतस्तृषितेक्षणाः सत्य औत्सुक्यादैक्षन्त, यद्वा, दिवा तद्विरहेण स्वतस्तद्दर्शनतृष्णायुक्तेक्षणा एव विशेषतो बकवधादिश्रवणेनौत्सुक्यादैक्षन्त। अन्यत् समानम् ॥ ५४ ॥ तत्र गोपानामन्योन्यं विस्मयोक्तिमाह—अहो इति त्रिभिः। अहो आश्चर्ये, बत खेदे, किंवा, अहो बतेत्येकमेव पदमत्यन्तखेदे, अस्यैव मृत्यवस्तद्धेतवः। बालस्येति स्नेहभरेण तेषां तस्मिन् सदा बालबुद्धेः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्' यद्वा, तत्र हेतुं तर्कयन्ति, अपि किं तेषां बकादीनां विप्रियमनिष्टमनेन पूर्वं कृतमासीत्, यतो यस्मादनिष्टकरणाद् येभ्यो वा भयमस्यास्माकं वा भवति ॥ ५५ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

इन्द्रियो गणः इन्द्रियाणां गणः ॥ ४२-४३ ॥ कृतं पूर्वं पूर्वजन्मनि किं कृतम् इदानीं भयमुत्पद्यते ॥ ४४-४५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदा नन्दनवनजाभिर्मल्लिकाभिर्बकारिं श्रीकृष्णं समाकिरन् भेरीशङ्खरवसहितैः स्तोत्रैस्तुष्टुवुश्च गोपालसुतास्तु तद्बकवधं वीक्ष्य नितरां विस्मिता बभूवुः ॥ ४१ ॥ स्वस्थानं प्रत्यागतं प्राणमिन्द्रियाणां गण इव बकस्य मुखान्मुक्तं श्रीकृष्णं प्राप्यालिङ्ग्य च सुखिता वत्सान् प्रणीयैकीकृत्य व्रजमागत्य तद्बकासुरवधात्मकं कर्म गोपेभ्यः जगदुः ॥ ४२ तद्गोपालगदितं श्रुत्वा विस्मिता अतिप्रियेणादरयुक्ता आगत्य प्रेत्यागतमिव लोकान्तरादागतमिव तृषितान्यतृप्तान्यमृतं पिबन्तीवेक्षणानि येषां तथा-

भूताः औत्सुक्यादैक्षन्त अपश्यन् ॥४३॥ अहो इत्यादि श्लोकत्रयस्य इति नन्दादय इत्युत्तरत्रान्वयः। अहो इत्याश्चर्यं बतेति खेदे तत्र खेदहेतुं विशदयन्ति अस्य बालस्य मृत्युहेतवो बहवोऽभवन् अपि तथापि तेषामेव विप्रियं दुःखमासीत् युक्तमेवैतदित्याहुः पूर्वजन्मान्तरे यतो येभ्यः भयं कृतं तेभ्य एव तेषां भयमुत्थितमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विसिस्मिरे विस्मिताः ॥ ४१ ॥ पूर्वस्थितमाश्रमस्थानं प्रणीय नीत्वा तद्बकासुरहिंसनलक्षणं कृष्णचरितम् ॥ ४२ ॥ कृष्णे अतिशयेन प्रियेण आदरेण युताः तृषितेक्षणाः अलंबुद्धिरहितनेत्राः ॥ ४३ ॥ बत खेदे यतः येभ्यो भयं तेषां विप्रियं कृतमासीदपिस्वित् ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

समीडिरे प्रशशंसुः आनकशङ्खसहितैः संस्तवैर्वैदिकतान्त्रिकैश्च समीडिरे तुष्टुवुः ॥ ४१-४८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

समाकिरन् सम्यगाकीर्णं व्याप्तं चक्रुरित्यर्थः। संस्तवैः प्राचीनैः ॥ ४१ ॥ स्वस्थानमागतं प्राणमिव कृष्णं प्रकर्षेणे-तस्ततः सकाशादानीय तद्वत्सबकवधचरित्रं जगुरुच्चैस्स्वरेणोचुः। यद्वा, स्वरतालादिना गीतं जग्रन्थुर्दिनान्तरेऽपि गानार्थमिति भावः ॥ ४२ ॥ अतिप्रियेण श्रीकृष्णेन स्वदर्शनदानेनैवादृताः तृषितान्यमृतं पिबन्तीवेक्षणानि येषां ते ऐक्षन्त क्षतादिशङ्कया सर्वाङ्गेषु न्यभालयन्तः ॥ ४३ ॥ तत्र गोपानामन्योन्यं विस्मयोक्तिमाह—त्रिभिः। मृत्यवः मृत्युहेतवः भयं कृतं निरपराधानामस्माकं बालकस्यास्य च यस्मादपकारः प्रथमं कृतस्तस्मात् ॥ ४४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदा बकारिं बकासुरघ्नं श्रीकृष्णम् नन्दनोद्यानजमल्लिकादिभिः समाकिरन् आनकशङ्खसहितैः स्तोत्रैः समीडिरे तुष्टुवुः विसिस्मिरे विस्मिता आसन् ॥ ४१ ॥ प्रणीय एकीकृत्य व्रजमेत्य तद्बकवधं जगुः ॥ ४२ ॥ तद्बकवधं श्रुत्वा विस्मिता बभूवुः तदानीमतिप्रियेण श्रीकृष्णेन यथायथमादृताः अङ्कप्रवेशकराद्यालम्भनरुचिरवचनादिभिः सत्कृताः प्रेत्यागतमिव पुनर्जातमिव उदैक्षन्त अपश्यन् तत्रापि तृषितेक्षणा एव बभूवुः ॥ ४३ ॥ अहो बतेत्यादि श्लोकानामिति नन्दादय इत्यनेनान्वयः मृत्यवो मृत्युहेतवः तेषामेवाप्रियमीहतमासीत् नत्वस्माकम् यतः पूर्वमस्माभिरन्येषामभयं कृतम् ॥ ४४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

समाकिरन् सम्यगाकीर्णं चक्रुः आनकशङ्खादिवाद्यैः सह संस्तवैः समीडिरे ॥ ५२ ॥ मूर्च्छाभिभूतं पुनः स्वस्थाना-गतं प्राणमिन्द्रियगण इव वकास्यात् मुक्तं स्थानागतं सन्निहितं कृष्णमुपलभ्य परिरभ्य च निर्वृताः सन्तो वत्सानितस्ततः प्राणीय व्रजमेत्य तद्बकवधचरितमुच्चैर्जगुः ॥ ५३ ॥ अतिप्रियेण कृष्णेन स्ववीक्षणदानेनावृताः तृषितानि तद्वीक्षणपीयूष-तृष्णानीक्षणानि येषां यासां च ऐक्षत सर्वाङ्गान्यपश्यन् क्षतिशङ्कयेति भावः ॥ ५४ ॥ मृत्यवो मृत्युहेतवः यतः पूर्वं प्रथमं तैर्भयमपराधः कृतस्तस्मात्तेषां विप्रियं मरणमासीत् ॥ ५५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स कृष्णः कंसस्य सखा कंससखो राजाहःसखिभ्यष्टजिति टच्। तं वीरणवत्तृणविशेषवत्। वीरणं श्रीतृणं विदुरिति यादवः। दिवौकसां मुदावहो बालेषु पश्यत्सु सत्सु तुण्डयोर्दोर्भ्यां निगृह्य ददारादारयत्। नायास आसेत्याह ॥ लीलयेति ॥४१॥ तद्बककबलनं तत्संहरणं पुष्पवर्षणं देवस्तवनादिकं च वीक्ष्य विसिस्मिरे विस्मिताः ॥ ४२ ॥ ऐन्द्रिय इन्द्रियाणामयमैन्द्रियो गणः स्थानं स्वावस्थितस्थलं प्रति वत्सान्प्रणीय नीत्वा तत्कृष्णकृतं कर्म जगुः ॥ ४३ ॥ अतिप्रियमित्यादृताः प्राप्तादरास्तृषिते तद्विलोकनलोलुपे ईक्षणे यासां ताः ॥ ४४ ॥

श्रीसुबोधिनी

स्वसामर्थ्येन चेन् मारयितुं प्रवृत्तस्तदा दूरादेव भगवान् मारितवानित्याह **तमापतन्तमिति, तं बकमासमन्तात् पतन्तं स कृष्णो** दुःखदूरीकर्ता **निगृह्य** धृत्वा निग्रहं कृत्वा **तुण्डद्वयं** पृथग् धृत्वा **ददार** विपाटितवान्, ननु मारणे को हेतुः? तत्राह **कंससख**मिति, अन्यथा कंसो न मारितः स्यादिति, कंसोपि किमिति मारणीय इति चेत् तत्राह **सतां गति**रिति, **सतां स** एव रक्षकः, अन्यथा सद्रक्षा न स्यादिति, बालानामेव दोष इति **पश्यत्सु बालेषु ददार,** केचित् पुनर्बकहन्ता बकाद-निर्गतो न भवतीति महादेवादिवरसत्यकरणार्थं तुण्डं प्रविष्ट इत्याहुः, तत् सत्यं चेत् कल्पान्तराभिप्रायं, तस्य विदारणे हस्तयोः प्रयासमाशङ्क्याह **लीलयेति,** ननूपासकवध उपास्यदेवानां दुःखं स्यादित्याशङ्क्याह **दिवौकसां मुदावह** इति,

देवानां तेन सन्तोष एवात एव **समागतानां दिवौकसां** स्वर्गेत्युत्तमे स्थितियुक्तानां तच्छकलद्वयमधोमुखतया स्थापितमतिकोमलमासनमिव जातमित्याह **वीरणवदिति**, **वीरणं** तृणविशेषस्तेनासनं निर्मीयते, अतस्तद्वधे देवानां हितमेव, **लोभानृताभ्यां** सह दम्भे गते भूमौ देवा हविर्भाजो भवन्तीति ॥ ४१ ॥ एवं तदधिष्ठातृदेवानां सन्तोषमुक्त्वा स्वर्गवासिनां सर्वेषामेव तद्वधे सन्तोषमाह **तदेति**, **बकारिं** बकहन्तारं सर्ववेदब्राह्मणपक्षपातिनं **सुरलोकवासिनः सर्वे एव नन्दनवनोद्भवमल्लिकादिपुष्पैः समाकिरन्** पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, गोपानां महत्त्वज्ञापनार्थमेतद् वर्ण्यते, केवलपुष्पवृष्टिर्बालानां ज्ञापिका न भवतीति स्तोत्रवादित्राणि चाह **समीडिर** इति, **आनकशङ्खाभ्यां** सहितैः **संस्तवैः सम्यगीडिरे** सम्यक् स्तुतवन्तः, **वाद्यद्वयं** राजसतामसयोरपि स्तोत्राशक्तयोः सङ्ग्रहार्थं, **एतत् सर्वं दृष्ट्वा गोपालसुता** अतिमुग्धाः कृष्णं स्वसमानं ज्ञातवन्तो **विसिस्मिरे** परमं विस्मयं प्राप्तवन्तः ॥ ४२ ॥ पूर्वं महत्त्वमात्रं ज्ञातमधुना त्वाश्चर्यं जातं ततो भगवता सह व्रजमागत्य तन्माहात्म्यमुक्तवन्त इत्याह **मुक्तमिति**, वचनं हि हृदये प्ररूढं भवति भगवत्प्राप्तिरत्यभीप्सितेति ज्ञापयितुं दुर्निमित्तापगमे तथा भवतीति **बकास्यान् मुक्तमुपलभ्येत्युक्तं**, स्नेह एव तेषां स्फुरितो न तु माहात्म्याद् भयमिति ज्ञापयितुमाह **बालका** इति, **रामस्यापि** तदा **गौण**भावाद् बालकतुल्यतेत्याह **रामादय** इति, भगवदागमनात् पूर्वं न ते **रामादयः** किन्तु नामान्तरमेव प्राप्ताः, **यथा प्राणं विनैन्द्रियो गणो** गोलकमात्रपर्यवसितः, **प्रत्यागतं** पुनरागतं **तं** भगवन्तं **परिरभ्य निर्वृताः** सुखिनो जाताः, **बकमारणानन्तरमपि** न बालका भगवत्समीपं गता मूर्छिता इवातिखेदेन पतिताः पुनरुद्गताः, भगवानेव परं **प्रत्यागतः** स चेद् सदानन्द आलिङ्गितः सर्वतःसम्बन्धोभूत तदा **निर्वृताः**, तदा **वत्सान् प्रणीय**तस्ततो गतान् समानीय **व्रजमेत्य तद्** बकवधादिकं **जगुः**उक्तवन्तः ॥४३॥ ततो यज् जातं तदाह **श्रुत्वेति**, तद्बकवधं **श्रुत्वा गोपा गोप्यश्च विस्मिताः**, गोपीनां विशेषमाह**अतिप्रियावृता** इति, **अतिप्रियेण** भगवता**वृताः** प्राप्तादराश्च जाताः, ततः परमानन्देन दृष्टवत्य इत्याह**औत्सुक्यात्** प्रेमाधिक्यादवितृप्तेक्षणा अतृप्तनयना **ऐक्षन्तेति**, पामराणां बुद्धिमनुसृत्याश्लीलमप्याह शुकः, सा हि प्रीतौ परमा काष्ठा, **औत्सुक्यं** प्रेमातिभरतयामर्यादं भवति, तेन सर्वपरित्यागेन भर्त्रादिशङ्कामपि परित्यज्य दृष्टवत्यः, इयं बुद्धिस्तेषां नारोपिता किन्तु सहजेति ज्ञापयितुं नेत्रयोरतृप्तिमाह ॥ ४४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तदेत्यत्र सुरलोकवासिनां सन्तोषहेतुभूतबकारिपदतात्पर्यमाहुः **सर्ववेदे**त्यादि, दाहकत्वेन तथेति तन्मारकत्वेनेति वा ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥ **मुक्तमि**त्यत्र ननु भगवदागमनात् पूर्वं तेषां रामादित्वमेव न स्थितमिति कथं विस्मयो जात इति **चेन्** निरोधार्थं तावच्चैतन्यस्य भगवता स्थापितत्वादिति बुध्यस्व, अन्यथा 'पश्यत्सु बालेष्वि'त्यादिपूर्वग्रन्थोपि विरुध्येत, **पाद्मोत्तर**खण्डे तु बकवधस्य दिनमुक्तं 'पञ्चाब्दकल्पो भगवान् कृष्णाषाढाष्टमी दिने। बकं चिच्छेद चिच्छक्तिः पश्यतां सुहृदां सता'मिति ॥ ४३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तमापतन्तमित्यत्र **दुःखदूरीकर्तेति** दुःखधर्मस्य द्वेषस्योद्भेदाल् लोभेन ग्रासेपि स्वयं तन्मूलस्य दुःखस्यैव दूरीकर्तृत्वेन ततोपि समर्थः, प्रतियोगिनोऽभावाद् बलिष्ठत्वादित्यर्थः, **ननु मारणे** इति दम्भो निवर्तनीयः, यत्राकृतिसाम्याद् दम्भो निविष्टस्तस्य दैत्यस्यापि निवारणे इत्यर्थः, **केचिदिति** वरस्यैव विवरणं **बकहन्तेति**, पूर्वं विधेयं पश्चादुद्देश्यमुक्तं, तत्पक्षे उदरपर्यन्तं प्रवेशः स्यात्, अत्र तु तालुपर्यन्तमेव प्रवेश उक्तः, अतो न भागवतकल्पीयं तदित्यर्थः ॥ ४१ ॥ **मुक्तमित्यत्र दुर्निमित्तापगम** इति दुष्टं प्रतिबन्धनिमित्तं प्रतिबन्धकं तदपगमे इत्यर्थः, प्रतिबन्धं निवर्त्य स्वयमेव मुक्तत्वकथनेन साधनासाध्यत्वं प्रतिबन्धकाभावमात्रसाध्यत्वं च सूचितं, तादृशे दुर्लभत्वज्ञानेनात्यभीप्सितत्वमनुभवसिद्धं, **न ते रामादय** इति तथा च तादृशमुपलभ्य **रामादयो** जाताः पूर्वं तु यथा प्राणं विनैन्द्रियो गणस्तादृशास्ते इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥ श्रुत्वेत्यत्र इयं बुद्धिरिति अमर्यादबुद्धिरित्यर्थः, तस्या आरोपितत्वे तन्निवृत्तौ नेत्रयोस्तृप्तिः स्यादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पश्यत्सु बालेषु ददारेत्यस्य विवृतौ **बालानामेव दोष** इति "लोभक्रोधादयो दैत्या" इतिकृष्णोपनिषद्वाक्ये ये कृष्णावतारे दैत्या हतास्ते सर्वे लोभक्रोधादिरूपास्तत्र बकासुरो बालानां दम्भात्मकदोषरूप इतिज्ञेयम् ॥ ४१ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तमापतन्तं वेगेनागच्छन्तं बकं स भगवान् कृष्णो दोर्भ्यां भुजाभ्यां तुण्डयोर्निगृह्य बालेषु पश्यत्सु सत्सु लीलया अनायासेनैव ददार। तत्र दृष्टान्तमाह–वीरणवदिति। वीरणमग्रन्थितृणविशेषः। स यथा अनायासेनैव विदार्यते तथेत्यर्थः 'बकस्य विदारणकर्मत्वं युक्तम्' इति सूचयंस्तं विशिनष्टि–कंससखमिति। भगवतोऽपि तद्धननप्रयोजनं सूचयंस्तं विशिनष्टि–दिवौकसां

देवानां मुदमावहति प्रापयतीति तथा। तत्रापि हेतुमाह–सतां पतिरिति। साधूनां रक्षक इत्यर्थः। दुष्टनिग्रहं विना देवादिसाधूनां रक्षणहर्षयोरसम्भवादित्याशयः॥ ५२॥ तदा सुरलोकवासिनो देवादयो नन्दनवनोद्भूतैर्मल्लिकादिभिः पुष्पैर्बकारिं श्रीकृष्णं समाकिरन् आच्छादितवन्तः। तथा आनकैः शङ्खैश्च वाद्यैः सहितैः संस्तवैः सम्यक् स्तुतिभिः समीडिरे तुष्टुवुः। तत् देवैः कृतं भगवत्पूजनं वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे आश्चर्यं प्राप्तवन्तः॥ ५३॥ श्रीकृष्णवियोगेन निश्चेष्टा रामादयो गोपदारका बकस्यास्यात् मुखात् मुक्तमुपलभ्य ततः स्वस्थानमागतं तं परिरभ्य समाश्लिष्य निर्वृताः स्वस्थाः सुखिनश्च जाताः। तत्र दृष्टान्तमाह— प्राणमिवेति। यथा प्राणंविना ज्ञानक्रियात्मक इन्द्रियगणः स्वव्यापारे असमर्थो मूर्च्छितश्च सन् पुनः प्राणं स्वस्थानमागतं परिरभ्य स्वस्थः सव्यापारश्च भवति, तथेत्यर्थः। ततश्च सायङ्काले वत्सान् प्रणीय एकीकृत्य व्रजमेत्य आगत्य तत् बकवधादिकं जगुः कथितवन्तः॥ ५४॥ तत् गोपबालवर्णितं श्रुत्वा गोपा गोप्यश्च विस्मिता आश्चर्याक्रान्ताः अतिप्रियेण प्रीत्या आदृताः सादराः तृषितानि अतृप्तानि अमृतं पिबन्तीवेक्षणानि नेत्राणि येषां ते प्रेत्य परलोकं प्राप्य पुनरागतमिवौत्सुक्यादैक्षत अपश्यन्॥ ५५॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमिति॥ सतां गतिः साधूनां रक्षकः दिवौकसां मुदावहः आनन्दप्रापकः सः कृष्ण आपतन्तं वेगेनागच्छतं कंससखं तं बकं दोर्भ्यां भुजाभ्यां तुण्डयोर्निगृह्य बालेषु पश्यत्सु सत्सु लीलया अनायासेनैव वीरणवत् तृणविशेषवत् ददार॥ ५०॥ तदेति॥ तदा सुरलोकवासिनो देवादयो नन्दनवनोद्भूतैर्मल्लिकादिभिः पुष्पैर्बकारिं श्रीकृष्णं समाकिरन् आच्छादितवन्तः तथा आनकैः शङ्खैश्च वाद्यैः सहितैः संस्तवैः सम्यक्स्तुतिभिः समीडिरे तुष्टुवुः। आमभाव आर्षः। तत् देवैः कृतं भगवत्पूजनं वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे आश्चर्यं प्राप्तवन्तः। इरे च इलोप आर्षः॥ ५१॥ मुक्तमिति। पूर्वं विचेतसो रामादयः दारकाः बालकाः बकस्यास्यान्मुखान्मुक्तं कृष्णमुपलभ्य ततः स्वस्थानमागतं तं परिरभ्य समाश्लिष्य प्राणं प्राप्य ऐन्द्रियः इन्द्रियसंबन्धी गणः इव निर्वृताः स्वस्थाः स्वव्यापारयोग्याश्च बभूवुः। ततश्च सायंकाले वत्सान् प्रणीय एकीकृत्य व्रजमेत्य आगत्य तत् बकवधादिकं जगुः उच्चैः कथितवन्तः॥ ५२॥ श्रुत्वेति॥ तत् गोपबालवर्णितं श्रुत्वा गोपा गोप्यश्च विस्मिता आश्चर्याक्रान्ताः अतिप्रियेण प्रीत्या आदृताः सादराः तृषितानि अतृप्तानि अमृतं पिबन्तीवेक्षणानि नेत्राणि येषां ते प्रेत्य परलोकं प्राप्य पुनरागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त अपश्यन्॥ ५३॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

आपततं तं बकं तुंडयोः उभयोः चंच्वोः दोर्भ्यां कराभ्यां निगृह्य दिवौकसां देवानां मुदावहः हर्षप्रापकः स हरिः वीरणवत् अग्रंथि तृणविशेषवत् ददार द्वे दले चकार॥ ४८॥ नंदनस्य इंद्रवनस्य मल्लिकादिभिः मल्लिकादिपुष्पैः बकारिं बकघ्नं समाकिरन् आछादयामासुः संस्तवैः स्तोत्रैः गीतिभिश्च समीडिरे तुष्टुवुः विसिष्मिरे विस्मयं प्राप्ताः इरयोरे इत्यनेन इरे इत्यस्य रे आदेशः छंदसि॥४९॥ बकस्य आस्यान्मुखात् मुक्तं हरिं प्राप्य प्राणं प्राप्य इंद्रियाणामयं गणो यथा स्थानं प्रत्यागतं परिरभ्य मिलित्वा वत्सान् प्रणीय समूहीकृत्य व्रजमेत्य आगत्य तच्चरित्रं गोपान् प्रतिबाला जगुः॥५०॥ अतिप्रिये कृष्णे आदृताः सादराः प्रेत्यागतमिव परलोकं गत्वा पुनरागतमिव तृषितानि अतृप्तानि पीयुषं पिबंतीव ईक्षणानि नेत्राणि येषां एवंभूताः संतः औत्सुक्यात् अत्यानन्दात् ऐक्षन्त॥ ५१॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति॥ सतां साधुजनानां, गतिः शरणप्रदः, दिवौकसां देवानां, मुदावह आनन्दकरः, सः श्रीकृष्णः, आपतन्तं वेगादागच्छन्तं, कंससखं कंसस्यानन्यमित्रभूतं, बकं बकरूपधरं, तमसुरं, दोर्भ्यां स्वपाणिभ्यां, तुण्डयोः निगृह्योपादाय, बालेषु पश्यत्सु, लीलया, वीरणवत्, ददार। यद्वा। तमसुरं निगृह्य, हुंकारेण निवार्य, बालेषु पश्यत्सु सत्सु, लीलया तुण्डयोश्चञ्च्वोः, ददार। कथमिव। वीरणवत् निर्ग्रन्थितृणविशेषवत्॥ ५०॥ तदेति॥ तदा, सुरलोकवासिनः स्वर्गलोकनिवासिनः सर्वे देवा इत्यर्थः। बकारिं बकासुरविनाशकरं श्रीकृष्णं, नन्दनमल्लिकादिभिर्नन्दनवनजमल्लिकाकुसुमादिभिः, समाकिरन्। आनकशङ्खसंस्तवैः भेरीशङ्खरवसहितैः स्तोत्रैः, समीडिरे तुष्टुवुश्च। गोपालसुताः गोपबालकास्तु, तद्बकवधरूपं श्रीकृष्णचरित्रं वीक्ष्य, विसिस्मिरे॥ ५१॥ मुक्तमिति॥ ऐन्द्रियः गणः इन्द्रियाणां गण इत्यर्थः। स्थानागतं स्वस्थानं प्राप्तं, प्राणं मुख्यासुं इव, रामादयः बालकाः, बकास्यात् मुक्तं स्थानागतं तं श्रीकृष्णं, उपलभ्य संप्राप्य, परिरभ्यालिङ्ग्य च, निर्वृताः सुखिताः सन्तः, वत्सान् प्रणीय एकीकृत्य, व्रजं एत्य, तद्वत्सबकासुरयोर्वधात्मकं कृष्णचरितं, जगुर्गोपादीनां पुरतः कथयामासुरित्यर्थः॥ ५२॥ श्रुत्वेति॥ अतिप्रियादृता अतिप्रेमास्पदे कृष्णेऽत्यादरयुक्ताः, गोपाः गोप्यश्च, तद्गोपबालकगदितं श्रुत्वा, विस्मिताः सन्तः, प्रेत्यागतं लोकान्तरात् पुनरागतं इव, औत्सुक्यात् तृषितानि अमृतं पिबन्तीव तृप्तिरहितानीक्षणानि नयनानि येषां तथाभूताः सन्तः, ऐक्षन्तापश्यन्॥ ५३॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मुक्तं बकास्यादिति : १०.११.५३.

हंसोऽपि यं कलयितुं नहि मानसे यच्छक्नोति तस्य कलने भुवि रंक एषः ।
शक्तो बकः कथमहो भवितेति कृष्णं वीक्ष्याऽऽगतं जगदुरात्तमुदोऽर्भकास्ते ॥ ७५ ॥

सत्त्वैकपूर्णरचिताऽऽकृतिरुज्झिताशोष्यर्जिवांसुरनिशं मदनिष्टनिष्ठः ।
तं हन्मि दुष्टमभयाय सतामिति स्वां सन्धां स्फुटामिह चकार बकासुहत्या ॥ ७६ ॥

कृष्णप्रिया

वह बकासुर राजा कंस का सखा था। उसे उस तरह झपटते देख साधुओं के रक्षक तथा देवों के आनन्ददायक भगवान् श्रीकृष्णने उनकी दोनों चोंच को पकड़ कर ग्वाल बालकों के देखते-देखते महीन घास व तृण की तरह चीर डाला ॥४१॥ राजन् ! जब प्रभु ने बकासुर का नाश कर दिया तब बकसूदन भगवान् श्रीकृष्ण पर सुरलोक निवासी सुरसमुदाय नन्दनवन के चमेली आदि वेली के कुसुमों की वृष्टि करने लगे एवं नगारे शंख आदि वाजित्र बजाकर प्यारे नन्दलालजी का यशोगान गाने लगे तब यह सब देखकर सारे के सारे गोपालबालक आश्चर्यचकित हो गये ॥ ४२ ॥ राजन् ! जैसे इन्द्रियाँ प्राणों के पुनरागमन से सचेत हो जाती है उसी तरह श्रीबलभद्र भैया आदि और गोपालबालक बगुले के मुँह से बाहर निकलकर पधार रहे श्रीनन्दलालन् को देख सचेत हो गये और सब अलग अलग आलिङ्गन करने लगे। इसके बाद दोपहर में ही अपने अपने बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज की ओर लौट पड़े, घर आकर बकासुर वध कथा को बढ़ा चढ़ाकर सबको सुनाने लगे ॥४३॥ सारी घटना को सुनकर गोप गोपियाँ विस्मित हुईं। सब को ऐसा जान पड़ा, जैसे श्रीनन्दनन्दन मृत्यु के मुँह से ही निकल आये। सारा व्रज बड़ी उत्सुकता और प्रीति से प्यासी आँखों से प्यारे को निहारने लगे ॥ ४४ ॥

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् । अप्यासीद् विप्रियं येषां [1]कृतपूर्वं यतो भयम् ॥ ४५ ॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव[2] ते घोरदर्शनाः । जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ४६ ॥
अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् । गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥ ४७ ॥
इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा । कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥ ४८ ॥
एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे । [3]निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे वत्सबकवधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

समाप्तमवान्तरं तामसप्रमाणप्रकरणम्

कर्दमक्षमा

अहो अस्य बालस्य बहवः मृत्यवः अभवन् अपि येषां कृतपूर्वं भयं यतः विप्रियं आसीत् ॥ ४५ ॥ अथ अपि ते घोरदर्शनाः एनं न एव अभि भवन्ति ते जिघांसया एनं आसाद्य अग्नौ पतङ्गवत् नश्यन्ति ॥ ४६ ॥ भगवान् गर्गः यद् आह तथा एव तत् अन्वभावि अहो ब्रह्मविदां वाचः कर्हिचित् असत्याः न सन्ति ॥ ४७ ॥ इति नन्दादयः गोपाः मुदा कृष्णरामकथां कुर्वन्तः च रममाणाः भववेदनां न अविन्दन् ॥ ४८ ॥ एवं निलायनैः सेतुबन्धैः मर्कटोत्प्लवनादिभिः कौमारैः विहारैः व्रजे कौमारं जहतुः ॥ ४९ ॥

इत्येकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथ ते घोरदर्शना अपि नाभिभवन्ति न धर्षयन्त्येव ॥ ५६ ॥ गर्गो यदाह "तस्मान्नंदाऽऽत्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः" इत्यादि ॥ ५७-५९ ॥

वत्सयूथगतं हत्वा वत्सदंभासुरं हरिः ॥ मुनियूथगतं चाहन्नग्रण्यं दंभिनां बकम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां वत्सबकवधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

१. कृतं-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । २. नैवं ते-इति कस्यचित् ; नैवै ते-वंशी. वीर. । ३. नीलायनैः-च. पु. टी. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यद्यपि घोरदर्शना। अथापि तथापि। एनं श्रीकृष्णम्। धर्षयंति तिरस्कुर्वंति। जिघांसया हननेच्छया। पतंगवच्छलभवत्। "पतंगः शलभे शालिप्रभेदे पक्षिसूर्ययोः" इति मेदिनी। "असद्ब्रह्मेति चेद्वेद: स्वयमेव भवेदसत्" इति श्रुतिरिवेति भावः॥ ५६॥ अहो ब्राह्मणानां प्रभाव इत्यभिप्रेत्याह-गर्ग इति॥ ५७॥ इति पूर्वोक्तरीत्या। रममाणास्साह्लादाः। भववेदनां संसारदुःखम्॥ ५८॥ कौमारैर्बालावस्थाभवैः विहारैः क्रीडाविशेषैः। कश्चित्स्तंभादिमूले निलीय तिष्ठति तमपरोन्विष्य गृह्णातीति या क्रीडा तन्निलायनं स्वशरीरेण मृद्दार्वाद्यैर्जलरोधनं सेतुबंधः। यथा वृक्षाद्वृक्षांतरमुत्प्लवते तथोत्तंगमृत्तिकानिर्मितशिशुमाराकारोपरि शिरसि पदं निधाय पतनमुत्प्लवनम्। पांशुभित्तौ मणिं निधाय तदुपरि हस्तं निदधाति कश्चित्कश्चित्तमन्विष्य गृह्णातीतीयमपि काचित्क्रीडास्ति साऽत्रादिपदाज्ज्ञेया। अन्या वाऽऽधुनिकबालप्रसिद्धा वीटाक्षेपकंदुकक्षेपादिरूपा इति॥ ५९॥ वत्सस्य दंभः छद्म यस्य स वत्सदंभस्स चासावसुरश्चेति तथा। अग्रण्यं मुख्यम्। यत्र बकस्स्थितस्तत्रर्षयोष्यतिष्ठंस्तपः कुर्वाणा इति ज्ञेयम् (१)॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तेषामेव विप्रियत्वं विवृणोति—अथापीति। अथ पूर्वहेतोरेव घोरदर्शना अपीत्यन्वयः। अथवा तत्र हेतुन्तर्कयन्ति तेषां बकादीनां "पुरानेन व्रजपते! साधवो दस्युपीडिताः" इत्यादिगर्गोक्तरीत्या विप्रियमनिष्टमनेन पूर्वं कृतमासीत् यतः येभ्यो भयमस्य भवति अथापि यद्यपि पूर्वविप्रियाचरणाद्धन्तुमायान्ति तथापीत्यर्थः। घोरं दर्शनमपि किमुत कर्म येषां तेपि एते बकादयः इति तेषां पापिष्ठत्वमुक्तं नैवं ते घोरदर्शना इति कचित्पाठः नाभिभवन्ति धर्षयितुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः। एवेति कदाचित् कथञ्चिदपीत्यर्थः। न केवलमेतावदेव किन्तु स्वयं सद्य एव म्रियन्ते अपीत्याहुः जिघांसयेति कुतोऽप्यागतानां बहूनामप्येकस्मादेव स्वयं सद्यो मरणे दृष्टान्तः अग्नौ पतङ्गवदिति अनेनास्य पुण्यप्रभावत्वमप्युक्तम् अतो हिंस्रः स्वपापेनेत्यादिवदेवोत्प्रेक्षितम्॥ ४५॥ तत्र प्रमाणं दर्शयन्तोऽपि वात्सल्यस्वभावेन साश्चर्यमाहुः अहो इति। ब्रह्मविदां वेदार्थतत्त्वज्ञानां भक्तिनिष्ठानामित्यर्थः। असत्या न सन्ति न सम्भवन्ति अन्वभावि अनुभूतम् इति श्रीवल्लवेन्द्रस्य सरलस्वभावत्वाद्बन्धुवात्सल्याच्च रहस्यपि गर्गेणोक्तं तन्माहात्म्यं तेषु किञ्चिदभिव्यक्तमभूदिति गम्यते इति अनेन प्रकारेण गता आगमिष्यमाणाश्च कृष्णरामकथाः कथामिति कचित्पाठः कुर्वन्तः कथयन्तः न केवलमेतावदेव अपि तु रममाणाः श्रीभगवता सह क्रीडन्तश्च भववेदनां भवे संसारे सांसारिकाणां यद्दुःखं तेष्ववतीर्णां अपि नाविदन् न ज्ञातवन्तोऽपि अतः क्षुधार्ता इदमत्रुवन्नित्यादौ यत्तेषां क्षुधादिकं दृश्यते तत्तु न भवसम्बन्धि किं तु लीलोपोद्बलकत्वाल्लीलामयमेवेति भावः। अत्रैवं विहारैरित्यादिपद्यमपि पठन्ति अत्र पुरतः पुनः कौमारलीलावर्णनं स्मृतिविशेषचमत्काराभिनयेन अतोऽग्रेऽपि तस्य पुनरुक्तिरिति ज्ञेयं सम्बन्धोक्तावुभयत्र व्याख्यातत्वात्॥ ४६-४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथापि यद्यपि पूर्वं विप्रियाचरणाद्धन्तुमायान्ति, तथापीत्यर्थः। घोरं दर्शनमपि, किमुत कर्म येषां तेऽप्येते बकादयः। त इति कचित् पाठः। नाभिभवन्ति धर्षयितुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः। एव निर्द्धारे। लौकिकवदुक्तिरप्येषां तेषां स्नेहभराक्रान्तचित्तत्वान्न किल दोषाय कल्पत इति सर्वत्रैवोह्यम्। न केवलमेतावदेव, किन्तु स्वयं सदा एव म्रियन्तेऽपीत्याहुः—जिघांसयेति, कुतोऽप्यागतानां बहुनामप्येकस्मादेव स्वयं सद्यो मरणे दृष्टान्तः अग्नौ पतंग वदिति॥ ५६॥ एवं श्रीभगवन्माहात्म्यानुभवेनापि ते स्नेहभरेण तमीश्वरोऽयमिति न विदुः, किन्तु कोऽपि महापुरुषोऽयमिति निश्चित्य गर्गवाक्येन तदेव द्रढयन्ति, 'अहो' इति आश्चर्य्ये। ब्रह्मविदां वेदार्थतत्त्वज्ञानां, भक्तिनिष्ठानामित्यर्थः, असत्या न सन्ति न भवन्ति। अन्वभावि, अनुभूतमिति श्रीवल्लवेन्द्रस्य भागवतत्वाद्बन्धुवात्सल्याच्च रहस्यपि गर्गेणोक्तं श्रीभगवन्माहात्म्यं तेषु किञ्चिदभिव्यक्तमभूदिति गम्यते, तच्च सहजस्नेहवतां तेषां स्नेह विवृद्धय एवाकल्पतेति॥ ५७॥ इत्यनेन प्रकारेण। रामस्यैतादृशप्रसंगाभावेऽपि निर्देशस्तयोरन्योऽन्यं स्नेहभरेणैक्यात्। तत्र च श्रीकृष्णस्य प्राधान्यादादौ पूर्ववन्निर्देशः, यद्वा, रमयन्ति सुखयन्तीति रामा याः कथास्ताः। कथामिति कचित् पाठः। कुर्वन्तः कथयन्तः, यद्वा, गाथादिरूपेण निबध्नन्तोऽत एव रममाणाः सुखमनुभवन्तः, किंवान्योऽन्यं श्रीभगवता सह वा क्रीडन्तो भववेदनां सांसारिकदुःखं नाविदन्न ज्ञातवन्तोऽपि, किमुत प्रापुरित्यर्थः। एतच्चानुषंगिकम्॥ ५८-५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रील-सनातनगोस्वामिपादकृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अन्वाभावि अनुभूयते स्म ॥ ४६-४८ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृते शुकपक्षीये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एते घोरदर्शना अप्येनं बालं कृष्णं नाभिभवन्ति किन्तु हन्तुमिच्छयैनं बालमासाद्य स्वयमेव नश्यन्ति यथाऽग्नौ पतङ्गाः शलभास्तद्वत् ॥ ४५ ॥ अहो ब्रह्मविदां वाचः कदाचिदप्यसत्या न सन्ति न भवन्ति तथा हि भगवान् गर्गो यदाह "नारायणसमो गुणैः" इति तत्तथैवास्माभिरन्वभावि अन्वभूयत ॥ ४६ ॥ भववेदनां सांसारिकक्लेशं नाविन्दन्न प्रापुः ॥ ४७ ॥ एवंविधैः कौमारैः कौमारचेष्टितैः तान्येव कानिचिद्दर्शयति निलायनैः निलयकरणानुकारिभिः एवमुत्तरत्रापि व्रजे कौमारं कौमारावस्थां जहतुरनुक्रान्तवन्तौ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथापि तथापि एते एनं नाभिभवन्ति प्रत्युत जिघांसया हननेच्छया एनमासाद्याग्नौ पतङ्ग इव शलभ इव नश्यन्ति ॥ ४५ ॥ पुरुषेण ब्रह्मज्ञानमेवापाद्यमिति भावेनाह—अहो इति । असत्या नाभूवन्निति कुतो ज्ञायत इति तत्राह गर्ग इति ॥ ३६ ॥ भववेदनां संसारदुःखम् ॥ ४७ ॥ कौमारैः कुमारावस्थासम्बन्धिभिः विहारैः क्रीडाविशेषैः कौमारं जहौ कृष्णः तत्रापञ्चमाब्दाद्बाल्यम् आनववर्षात्पौगण्डम् आषोडशवर्षात्कैशोरं कश्चित्स्तम्भमूले निलीय तिष्ठति अन्यस्तु अन्विष्यन्तं दृष्ट्वा गृह्णातीति या क्रीडा तन्निलायनं हस्तेन स्वशरीरेण वा मृत्तिकया वा जलनिवारणं सेतुबन्धः यथा मर्कटो वानरो विटपाद्विटपान्तरम् उत्प्लवति उत्पतति तथाऽऽकाशे उत्तुङ्गमृत्तिकात्तं शिंशुमाराकारोपरि शिरसि पदं निधाय पतनमुत्प्लवनं पांशुभित्तौ मणिं निधाय तदुपरि हस्तं निदधाति एकः एकस्त्वन्विष्य गृह्णातीत्यादि शब्दगृहीतम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(विजयध्वजतीर्थपाठे द्वादशः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नन्वनेन बालकेन पूर्वजन्मनि तेषां विप्रियं प्रथमं कृतमत एवास्मिन् जन्मनि हन्तुमेनम् एते एवायान्तीति कथं न सम्भाव्यते ? तत्राहुः– अथापि । यद्येवमपि स्यात्तर्हि तैरयमभिभूयेतैवेत्यर्थः । किन्तु ते न अभिभवन्ति अभिभवितुं न शक्नुवन्ति प्रत्युत जिघांसयेत्यादि ॥ ४५ ॥ तत्र हेतुरस्य नारायणसमत्वमेवेत्याहुः—अहो इति । गर्गो यदाह "नारायणसमो गुणैः" इत्यादि ॥ ४६ ॥ कथां कुर्वन्तः आस्थान्यामुपविश्य बाल्यचापल्यकथां वत्सबकादिवधकथां च पुनः पुनः संलपन्तः गीतपद्यादिभिरुपनिबध्नन्तो वा भवस्य संसारस्य वेदनां ज्ञापनं भो व्रजराज ! वयं तावद्भवतामर्द्धं व्यतीतमेव अधुनापि कथं पुत्रकलत्रकुटुम्बादिकथासु निमज्जथ घोरः संसारोऽयं वर्तते अस्मादुद्धारार्थं ज्ञानवैराग्यतपोनारायणस्मरणादिषु कथं न यतध्वे ? इति देशान्तरागतवृद्धगोपालादिभिर्ज्ञापितं नाविदन् नैवावदधुः व्याख्यान्तरं त्याज्यं "न पुनः कल्पते राजन् ! संसारोऽज्ञानसम्भवः" इति पूर्वोक्तेस्तेषां संसारस्यैव निषेधात् कुतस्तदीयपीडाशङ्केति इति अनेन प्रकारेण गता आगमिष्यमाणा किन्तु लीलोपोद्बलकत्वाल्लीलामयमेवेति भावश्च कृष्णरामकथामिति क्वचित्पाठः कुर्वन्तः कथयन्त न केवलमेतावदेव अपितु रममाणा श्रीभगवता सह क्रीडन्तश्च भववेदनां भवे संसारे सांसारिकाणां यद्दुःखं तत्तेष्ववतीर्णा अपि नाविन्दन् न ज्ञातवन्तोपि अतः क्षुधार्ता इदमत्रु वन्नित्यादौ यत्तेषां क्षुधादिकं दृश्यते तत्तु न भवसम्बन्धि ॥ ४७-४८ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । एकादशोऽयं दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ ११ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथोशब्दो हेतुवाचकः यतो वयं भूताभयदाः अतो हेतोः घोरदर्शना अपि एनं बहिश्चरमस्माकं प्राणं श्रीकृष्णं नैवाभिभवन्ति धर्षयन्ति ॥ ४५-४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे एकादशाध्यायार्थप्रकाशः ॥ ११ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कथमेतत् सम्भवति तत्राह अहो इति। अस्य सर्वेश्वरत्वात्तत्र गर्गवाक्यं प्रमाणमिति नन्दराजस्य सारल्याद्बन्धुसौहार्दाच्च रहस्यपि गर्गोक्तस्य किञ्चित् प्रकाशनं बोध्यम्॥ ५६॥ कृष्णरामकथां बाल्यचापल्यादिविषयां पूतनावधादिविषयां च कुर्वतो मिथः संलपन्तः भववेदनां नाविदन् तदानीं कृष्णवीक्षार्थमागतस्य भवस्य श्रीशिवस्यापि वेदनां तद्विषयं ज्ञानं नालभन्त रममाणाः कृष्णेन सार्द्धं क्रीडतस्तदावेशाच्छिवागमनमपि नावदध्युः "वेदना ज्ञानपीड़यो"रिति मेदिनी तत् समानन्तु श्री यशोदाद्या व्यधुरिति बोध्यम्। भववेदनां संसारपीडामिति तु भ्रान्तमेव "न पुनः कल्पते राज" न्नित्यादिना तेषां संसारप्रतिषेधादेव॥ ५७॥ एवमिति जहतुरन्तर्द्धापयामासतु॥ ५८-५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

मृत्यवस्तत्कारणानि यतो येभ्यो भयं प्रसक्तं तेषां तैः कृतं तदैव विप्रियमभ्यासीत्। अपिना नाकृतकार्याणां स्वदेशकदेशगमनं किन्तु मरणमासीदिति द्योतयति। तेषामपि तादृशानामपि विप्रियं कृतमासीदिति वा योजना। यतो भयमन्येषां पूर्वमासीत्तेषामिति वा। श्लोकद्विकस्यैकान्वयः॥ ४५-४६॥ ब्रह्मविदां परब्रह्मज्ञानां वाचोऽसत्याः कर्हिचिदपि न सन्ति न भवन्ति। अहो ब्रह्मज्ञानमाहात्म्यं भगवान्पूज्यो गर्गोऽथाऽपि व्रजमात्रजन्तोऽपि घोरदर्शनास्ते तवैनं सुतं नाभिभवन्ति न पराभावयन्ति। यतोऽयं नारायणसमस्ते नैतत्पराभावकाः पराभावकाश्च नायं तेषामिति समः समाधिरित्यतोऽभिधत्ते जिघांसया हननेच्छयैतमासाद्य प्राप्य नश्यन्तीति। तवैतदनायासं च निदर्शनेन दर्शयति॥ अग्नौ पतङ्गा इव शलभवदिति। इति यदाह तत्तथैवान्वभावि अनुभूतं। पृथगन्वयने तु विप्रियं तेषां कृतमासीत्यनन्तरं पान्त्यादेरवक्तव्यत्वेनासङ्गत्यापत्तेः। यदि पृथगन्वय इष्टस्तर्ह्येवं योजना। यतो येभ्यः पूतनादिभ्यो भयमितरेषां प्राक् तेषां सकाशात्किञ्चिद्विप्रियं कृतमासीत्। अथाऽपि घोरदर्शना एनं नाभिभावि। इतरथा यथापूर्वं। पुरोहिताभिहितं स्मारं स्मारं सामान्यतो ब्रह्मविदां तन्निदर्शनेन मनसि माननं तन्वते॥ अहो इति। रामकृष्णकथां तत्सङ्कथनं भववेदनां संसारदुःखं नाविन्दन्नापुः॥ ४६॥ कुमाराणामिमे कौमारास्तैर्विहारैः क्रीडाभिः कौमारं वयो जहतुः। निलायनैरेकेनैकस्य निलीनस्य मार्गणरूपैः सेतुबन्धैः सिकतादिभिर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः कपिवद्दुड्डीवनादिभिः। आदिशब्देन मयूरादिक्रीडा ग्राह्याः। अनेन नारायणकपिलदाशरथिभावं स्वस्य ध्वनयामास कृष्णः। एवं छत्रिन्यायेन बल एतदेकलकोऽपि गृहीत इति ज्ञेयम्॥ ४७॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे द्वादशोऽध्यायः॥ १०-१२॥

श्रीसुबोधनी

तच्छ्रुत्वा विमर्शकाणां नन्दादीनां यज्जातं तदग्रे वक्तुं तेषां विचारमाह त्रिभिरहो इति. तामसा आहुरहो इति, **अहो** इत्याश्चर्ये, एकस्यैव बहव उपद्रवा इति **बतेति**खेदे, स्वस्य तादृशं दुरदृष्टमिति, **अस्यैव बालस्य,** किमपि तत्र हेतुं कल्पयन्ति **कृतपूर्वं यतो भयमिति** 'यो हन्ति स हन्यत' इतिन्यायाद् **भयं तु कृतपूर्वं** भवति, स्वयं चेदन्यस्मै करोति तदा प्राप्नोति भगवांस्तु न करोति ते तु कुर्वन्तीति तेषामेव भयमुचितम्॥ ४५॥ राजसास्तु तेषामपकारो न तत्कर्मणा केवलेन किन्तु भगवन्माहात्म्यादित्याहुर**थापीति,** यद्यपि **कृतपूर्वं भयं** भवति, तथाप्ययुक्ते कृते प्रयत्ना नश्यन्ति, अन्यथा पूर्वमेव ते कथं न नष्टा भवेयुः? तस्मादप्येनं भगवन्तं **नैवाभिभवन्ति,** अभिभवार्थमभ्यागता नाभिभवं कर्तुं शक्नुवन्ति, न चाप्रयोजकाः, यतस्ते पूतनादयः, प्रसिद्धाः, अस्तु तेषां बलं दूरे, **घोरमेव** दर्शनं येषां, दृष्टा एव भयजनका भवन्तीत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तमाह **जिघांसयैनमासाद्य स्वयमेव नश्यन्ति,** अभिप्रायप्रयत्नविरुद्धं फलं प्राप्नुवन्ति, तदसम्भावितं मत्वा दृष्टान्त उच्यते **पतङ्गवदिति,** ते हि पक्षवन्तः सूक्ष्माः कीटा आत्मानं महान्तं मन्यमाना नरा मूढा अग्निं तेजस्विनं मत्वा किमित्युपासते वयं **त्वग्निं** दूरीकरिष्याम इति महतोवमाननां कृत्वा निर्वाणार्थं प्रवृत्ताः स्वयमेव नश्यन्ति, दग्धा भवन्ति, नत्वग्नेः काचित्क्षतिः, एवमयं भगवानतितेजस्वी तान् मारयतीति युक्तम्॥ ४६॥ अन्ये पुनर्नन्दादय प्रमाणबलसिद्धमिममर्थं मन्यमाना नात्यद्भुतमिति प्रमाणमेव स्तुतवन्त इत्याहाहो इति, **अहो** इत्याश्चर्ये, कथं वा **ब्रह्मविदो**ग्रिमवृत्तान्तं जानन्तीति, तत्रोपपत्तिर्**ब्रह्मविदामिति,** 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती'ति, अत एव तेषां वाचः कदाचिदप्यसत्या न भवन्ति, तादृशी वाङ् नोत्पद्यत एवेति वक्तुं सन्तीत्युक्तं, ननु का ब्रह्मविदां वाच इत्याकाङ्क्षायामाह **गर्गो यदाहेति,** तत्र हेतुर्**भगवानिति,** ब्रह्मविदो हि ब्रह्मैव भवन्तीत्यतस्तेषां वाक्यप्रामाण्यात् **तथैव तदन्वभावि, वेदवादिनो हि शब्दस्य नानुवादकत्वं मन्यन्ते** किन्तु विधायकत्वमत ईश्वरो वेद एव तद्वाक्यादेव फलसिद्धिर्न तु फलसाधकत्वेनेश्वरापेक्षेति, "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे"ति "नारायणसमो गुणै"रिति, अतस्तद्वाक्यादस्य बालस्य तादृग्गुणा जायन्त इतिभावः॥ ४७॥ एवं नन्दादीनां त्रिविधं ज्ञानं निरूप्य फलितं वदन् भगवत्कृत

नन्दनिरोधमनूद्योपसंहरतीति, **इतिभावेन नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां** स्वतन्त्रतया फलत्वेन **कुर्वन्तस्तयैव** कथया जातया परमनिर्वृत्या **रममाणाः**, चकाराद् विस्मृतदेहा जातब्रह्मात्मानुभवा वा **भववेदनां** संसारतापं **नाविन्दन्** न ज्ञातवन्तः, प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च निरोध इति भगवत्कृतं कार्यं नन्दादिषु फलितम् ॥४८॥ एवं बाल्यभावेन कृते नन्दनिरोधे प्रतिष्ठिते सति येन भक्तेन कालेन क्रोडीकृतास्ते निरुद्धास्तं कालमपि सिद्धे प्रयोजने त्यक्तवानित्याह**एवंविहारैरि**ति, **एवं** पूर्वोक्तप्रकारै**वैः** कालस्य **हारैर्**लीलारूपैः करणैः **सह** वा **कौमारं जहतुः**, ननु विजातीयानां कथं कौमारनिवर्तकत्वं ? तत्राह **कौमारैरि**ति, कुमारावस्थोद्भवैररणेरुत्पन्नेनैव वह्निनारणिः शाम्यतीति, तानि चरितानि त्रिविधानीति गणयति **निलायनैरि**ति, सर्वै रेव **विहारैर्व्रज** एव **कौमारं जहतुः**, अतो व्रज एव कुमारो जातः कुमारी च, अतोग्रे वक्तव्याः 'कुमार्यः कृष्णचेतस' इति करिष्यन्ति च लीलां लतागृहादिषु लीला भगवद्वशीकरणप्रयत्ना गृहस्वमर्यादोल्लङ्घनकर्त्र्यश्च, भगवान् कुमारावस्थायां **निलायनक्रीडां** करोति, **स हि परमानन्दो भूत्वा स्वाज्ञानार्थं मायया ज्ञानशक्ति रुणद्धि,** तथात्रापि गोपादीनां चक्षूंषि पिधत्ते पश्चान्निलीय तिष्ठति तथान्ये गोपालाः, किञ्च जले प्रवहति **सेतुबन्धान्** कुर्वन्ति, रामावतारे ह्येक एव बन्धः कृतः, एकैव सीतेति, अत्र यमुनादिषु बहूनेव बन्धान् करोति यतः पुलिनादिषु गत्वा रमणं सिध्यति, किञ्च **मर्कटोत्प्लवनादिकमपि** करोति, वृक्षाद् वृक्षान्तरे गच्छति सर्वशाखाफलभोगार्थं, एकस्यामप्यारूढः सर्वफलं भुङ्क्ते न तु तस्य भिन्नः प्रक्रमोपेक्ष्यते, **आदिशब्देन** मण्डूकप्लुत्यादिकमपि, ब्राह्मणोपि भवति क्षत्रियोपि भवति सर्वमेव रसमेकत्र स्थित एव गृह्णाति, न तु तस्य मर्यादा प्रतिबन्धिकेति, एवं यावद्भिर्भावैर्यावन्तो गोकुलवासिनो ग्रहीतुं शक्यास्तान् सर्वानेव **विहारान्** कृतवान्, मूलरूपलीला जगद्रूपलीला वेदरूपलीलेति लीलात्रयं परिचायकत्वेनोक्तं, अतः परं **कौमारकार्यं** नास्तीति ताभिर्लीलाभिः सह **कौमारावस्थां जहतुः** ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरप्रमाणप्रकरणे धर्मिनिरूपकसप्तमाध्यायस्य स्कन्धादितो एकादशाध्यायस्य विवरणम् ॥

॥ समाप्तमवान्तरं तामसप्रमाणप्रकरणम् ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

निलायनैरित्यत्र. ब्राह्मणोपीति ।

सूक्ष्मरूपेण विश्वासमुत्पाद्य प्रतिबन्धके । तेनैवापगते स्वेष्टरूपमाविष्करोति हि ॥ १ ॥
भक्तार्तिहृतिरिष्टाप्तिः फलं तदितरेष्वपि । निरोध्येषु प्रभौ दोषारोपाभावः फलं त्विह ॥ २ ॥
कदाचिन्निजभक्तानां पित्रादीनामनुज्ञया । तत्संगतस्तत्र लीलाः कुर्वन् कृष्णो विराजते ॥ ३ ॥
कचित्परस्परं गुप्तानुरागवशतो वने । कथञ्चिद् भक्तसंगे सत्यनिशं रमते प्रभुः ॥ ४ ॥
कदाचिद्भक्तपित्रादिनिषेधेपि निजाग्रहात । नयति स्वेष्टदेशांस्तं चातुर्येण प्रतापवान् ॥ ५ ॥
कदाचित्कौतुकावेशं ज्ञापयन् स्वस्य नृष्वसौ । अन्यसंगनिवृत्त्यर्थं वानरैः सहितः प्रभुः ॥ ६ ॥
पुलिनस्थितभक्ताप्त्यै बहुधोपायकार्यभूत् । तत्स्थितप्रतिबन्धं च नाशयत्येव सर्वतः ॥ ७ ॥
अन्यश्चेदभिमानेन भक्तनैकट्यमाप्नुयात् । बालभावाग्रहेणैव तमपास्य तदा स्वयम् ॥ ८ ॥
स्थित्वानेकविधा लीलाः करोति व्रजवल्लभः । स्थापयित्वान्यगमनप्रतिबन्धकमात्मनः ॥ ९ ॥
केवलस्य गतौ तत्र साधनं विदधाति च । भक्ता हि विविधैर्भावैर्युक्ता हरिरपि क्वचित् ॥ १० ॥
एकत्रैवाखिलान् भावान् क्रमेणोत्पाद्य तान् रसान् । भुङ्क्ते कदाचित् प्रत्येकं तत्र तत्र स्थितस्तथा ॥११॥
अथवैकत्र पुलिने वेणुवादनलीलया । संगतेष्वखिलान् भावरसान् भुङ्क्तेत्युदारधीः ॥१२॥
एतदेव ब्राह्मणोपीत्यादिनोक्तं सुगोपितम् । एतदग्रे मूलरूपलीलेत्यादि निरूपितम् ॥१३॥
तद्भावः प्रोच्यते सम्यक् तदनुग्रहतः स्फुटः । प्रमाणाख्यप्रकरणोपसंहारेपि शुद्धता ॥१४॥
ब्रह्मता नोच्यते चेत् तत्सिद्धं नो भवति द्वयम् । अत एव त्रयं प्रोक्तं ब्रह्मतापरिचायकम् ॥१५॥
सर्वाज्ञातस्वरूपं हि ब्रह्म पूर्वं रिरंसया । ततोऽखिलजगद्रूपं भूत्वा तत्रातिदुस्तराः ॥१६॥
मर्यादाः कुरुते लीलासिद्ध्यै यद्वा प्रपञ्चत । अतीतस्याप्तये भक्तिमार्गानप्यकरोद् दृढान् ॥१७॥
अशेषवेदशाखोक्तफलभोगाय वेदताम् । आत्मनः प्रकटीकृत्य क्रीडतीत्यपि सूच्यते ॥१८॥
भक्ताः सर्वं परित्यज्य प्रभुप्राप्त्यै यथा रहः । स्थितास्तथा चेत् कुरुते स्वयमेव तदा परः ॥१९॥
यतो नान्यप्रतिज्ञेयं 'यथे'त्यादिनोदिता । साक्षात्स्वरूपदानेन परा लीलेयमित्यपि ॥२०॥
लीलासम्बन्धि वस्त्वत्र सर्वं भगवदात्मकम् । प्रवर्तकत्वतो वेणुनादो वेदात्मकोत्र हि ॥२१॥
एतत्सर्वं ज्ञापयितुमेतल्लीलात्रयं शुकैः । उक्तमित्युक्तमाचार्यैर्गोप्यत्वं चापि सूचितम् ॥२२॥

अग्रेऽध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमित्युक्तम्। तत्र 'कौमारं जहतुः' 'ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'विति युक्तः **सन्दर्भ** इति। मध्येन्यकथा 'त्वेवं विहारै'रित्यस्य 'ततश्च पौगण्डवय' इत्यस्य च वक्त्रा नोक्तेति ज्ञायते। अन्यथैतदध्यायत्रयानन्तरमेव कौमारत्यागं वदेत्। किञ्च, 'पौगण्डे परिकीर्तित'मिति वाक्यात् पूर्वाध्याय एव तत्प्राप्ते'स्ततश्च पौगण्डवयः श्रिता'विति वाक्यं विरुद्धं स्यात्, तदनर्थकं च। तृतीयाध्यायान्तेप्येवं विहारै'रिति श्लोकोधुना कैश्चित्पुस्तकेषु लिख्यते, तदप्रामाणिकमितीतोपि तथात्वं तेषां ज्ञेयम्। भगवत्प्रियाकृतलीलानुकृतिष्वेतदनुकृत्यभावात्। तृतीयस्कन्धे श्रीमदुद्धवैर्द्वादशे स्कन्धे सूतेन चैतत्कथाया अकथनाच्च। 'न भारती मेङ्ग मृषोपलक्ष्यते', 'न वै कचिन्मे मनसो मृषा गतिः', 'न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथ' इति ब्रह्मवाक्यविरोधश्च। ईश्वरे तत्त्वेन ज्ञानवतस्तत्परीक्षाकृतेर्महानर्थरूपत्वाद्, 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचि'दिति भगवद्वाक्यविरोधश्च। तोकेन जीवहरणमित्यादिनिरूपकस्य सदेश्वरत्वेन ज्ञानवतस्तादृग्धाष्टर्यस्यासम्भवाच्च। **आचार्यैः** प्रसिद्धिमात्रेण विवृतमित्य**स्माभिरुपेक्षितम्**॥ ४९॥

इति श्रीटिप्पण्यामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इति श्रीप्रमाणप्रकरणम्।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अहो ब्रह्मविदामित्यत्र **वेदवादिन** इति मीमांसकाः, तथा चेदं श्रीनन्दादिभिस्तन्मतानुसारेणोक्तं ज्ञेयमित्यर्थः॥४७॥ **एवं विहारै**रित्यत्र **क्रोडीकृता** इति वयस्या इत्यर्थः, **हारै**रिति हारकैः, **व्रजे** कौमारत्यागे हेतुमाहु**र्यत** इत्यादि, **श्वेताश्वतरे** 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'तिश्रावणाद् रुद्रदैवत्ये व्रजे कुमारः कुमारी च जात इति तत्रैव **कौमारं जहतुः**, ननु कुमारलीलास्तूक्ताः कुमारीलीलास्तु नोक्ता इत्यतस्तद्गमकं हेतुमाहु**रतोग्र** इत्यादि, **गृहस्थमर्यादोल्लङ्घनकर्त्र्य** इत्यनेन 'त्वं स्त्री'तिश्रुत्यर्थः सङ्गृहीतः, नन्वेवं स्फुटतया न प्रतीयत इत्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थं **निलायन**क्रीडातात्पर्यमाहु**र्भगवानि**त्यादि, अग्रे लीलाद्वयतात्पर्यं स्फुटं, तृतीयलीलायाः शेषभूताः श्लोका **विज्ञप्तौ** दृश्यन्ते 'स्वारोहणाक्षमां शाखां किञ्चिदास्वाद्य लीलया। आरुरोह यथेच्छं तामन्यां स्वारोहणक्षमां कदाचिन् निकटस्थामप्युल्लङ्घ्य स्वमनोगतां शाखामारुह्य तत्रत्यं फलं भुङ्क्ते मनोगतं कदाचित् सकलाः शाखाः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा यथारुचि गच्छन् शाखाविशेषस्य फलभोगार्थमेव हि यस्या जातेर्यथा धर्मस्तथा-लीलाकृतिर्यतः अतस्तज्जातिनामापि प्रभौ सम्यग् विराजते तद्वदत्रापि यज्जातिधर्मसाम्येन या कृतिस्तेनास्या अपि तत्साम्यमिति सर्वं सुनिश्चित'मित्याचार्याणां, **आदि**पदसङ्गृहीतमाहु**र्ब्राह्मणोपी**त्यादि, तत्तात्पर्यं **टिप्पण्यां कारिकाभि**राहुः **सूक्ष्मरूपेणे**त्यादि।

एतस्याः **सप्ता**ध्याय्याः प्रमाणप्रकरणत्वं **निबन्धे** व्युत्पादितं 'भगवच्चरिते यस्मात् प्रमाणमिह मृग्यते अज्ञानमन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुक'मिति तथा'मेये मेयबुद्धिर्हि प्रमाणमिति केचन' प्रमातारोपि तत्रैव बोधिताः 'प्रथमो **वसुदेवो** हि द्वितीयो **नन्द** उच्यते बालाः स्त्रियस्तृतीया हि चतुर्थो **गर्ग** उच्यते **य**शोदा पञ्चमी प्रोक्ता षष्ठरूपाविहार्जुनौ उपनन्दस्तु निर्दिष्टः सप्तमो धर्मि-बोधक' इति, अत्रैवं बोध्यं, प्रथमे श्रीवसुदेवो नन्दस्य स्वागमनाज्ञानं भगवति स्वात्मजत्वेनान्यथाज्ञानं च भक्तिजन्य'महो ते देवकीपुत्रा' इत्यादिभिः श्रीनन्दवाक्यैर्विचारितवानतस्तदेव प्रमेयमत्रान्विष्यते, एवं द्वितीये **श्रीनन्दः** पूतनादेहदर्शनेन श्री**वसु**-देवभक्त्या तस्मिन्नृषित्वं योगेशत्वं च विचारितवान् विस्मयहेतुभूतं तन्निधनादिकारणाज्ञानं च विचारितवानतस्तदेव प्रमेय-मत्रान्विष्यते, तृतीये बालकाः प्रमातारो भक्तिजन्यं स्वप्रत्यक्षेण गोपानां स्ववाक्याश्रद्धारूपमन्यथाज्ञानं बालकबलाज्ञानं च प्रमितवन्तस्तदेव चरित्रद्वयं **प्रमेयमत्रान्विष्यते**, एवं तृणावर्तवधे च **स्त्रियः** प्रमात्र्यो भक्तिहेतुकेन स्वप्रत्यक्षेण प्रमाणेना'हो बतात्यद्भुत'मितिश्लोकोक्तं बालागमनकारणाज्ञानरूपं चरित्रं विचारितवत्यस्तदेव प्रमेयमत्रान्विष्यते, चतुर्थे गर्गः प्रमाता भक्तिजन्ये'नालक्षितोस्मिन्नि'त्यादिना **श्रीनन्द**वाक्येन **श्रीनन्द**स्य भगवति स्वपुत्रत्वेन यदन्यथाज्ञानं वसुदेवपुत्रत्वाज्ञानं च विचारितवानिति तदेव प्रमेयमत्रान्विष्यते, पञ्चमे श्री**य**शोदा प्रमात्री भक्तिजन्येन दामद्व्यङ्गुलन्यूनतादर्शनेन विस्मयजनकं तद्धेत्वज्ञानं **स्वस्मिन्** प्रमितवती तदेव प्रमेयमत्रान्विष्यते, अर्जुनौ षष्ठस्य प्रमातुर्निरूपकौ गोपाः प्रमातारो भक्तिजन्येन पतिता-र्जुनदर्शनेन प्रमाणेन पतनकारणाज्ञानं कारणसंशयं च प्रमितवन्तस्तदेव प्रमेयमत्रान्विष्यते, सप्तम उपनन्दः प्रमाता भक्तिजन्ये-नोत्पातानुभवेन **प्रमाणेन** तत्कारणाज्ञानं कारणविषयकान्यथाज्ञानं च विचारितवान् प्रीतिकर्तृत्वेन धर्मिणं च बोधितवानिति तदेव प्रमेयमत्रान्विष्यत इति, किञ्च तत्रैव 'प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिः स्फुटैव हि प्रमाणबलमासाद्य सर्वेषां गोकुले ह्यभूदित्यनेन प्रमाणबलादेवासक्तिदार्ढ्यमुक्तमित्यतोपि प्रकरणस्य तथात्वं, किञ्च 'प्रमेये बालरूपे हि प्रमाणादखिलं स्थित'मिति प्रमाणादेव बालरूपे सर्वं निर्णीतमित्यतः प्रमाणप्रकरणत्वं त्रिधा ज्ञेयम्॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाश एकादशाध्यायविवरणम्॥११॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अहो इत्यत्र **कृतपूर्वमि**ति पूर्वं कृतं कृतपूर्वमिति समासः ॥ ४५ ॥ **अथापीत्यत्र अन्यथेति** यत्र कुत्रचिदपि भयाकर्तरि प्रयत्नकरणेन नाशो इत्यर्थः, **तस्मादिति** यद्यपि न शक्नुवन्ति तथापि प्रयत्नमात्रान् नश्यन्तीतिपूर्वानुसन्धानेनान्वयः, **अभिभवार्थमपीति** उत्तरार्धार्थं विचार्यतावद् व्याख्यानं, **तत्रेति** साधारणधर्मसहितो दृष्टान्तो द्वितीयार्धार्थः **अभिप्रायेति** हननमभिप्रायविषयः, आसादनं **प्रयत्नस्तद्विरुद्धं फलं** स्वनाश इत्यर्थः, दृष्टान्ताभिप्रायं विवृण्वन्ति **ते हीति** ॥ ४६ ॥ **अहो** इत्यत्र **असत्या न** भवन्तीति फलाजनिका न भवन्तीत्यर्थः, **तत्र हेतुरिति** विधायकवाक्यत्वे हेतुरङ्गवत्त्वमित्यर्थः । **यत् तदिति** पञ्चम्यन्तमव्ययत्वेन व्याख्यातं, तत्र हेतुर्वेदवादिन इति, जैमिनीया इत्यर्थः, व्यासस्य तु "फलमत उपपत्ते"रित्यत्रोक्त एव सिद्धान्त इति ज्ञेयं, नन्दस्य प्रामाणिकत्वात् सात्त्विकज्ञानस्य वाक्यार्थत्वात् प्रकरणस्य प्रमाणत्वाच् च प्रमाणरीत्यैव व्याख्यानं, **प्रमेयमार्गे** भगवानेव सर्वसाधक इति ज्ञेयम् ॥ ४७ ॥ **इतीत्यस्याभासे उपसंहरतीति** इति शब्देनोपसंहारोऽप्युक्त इति ज्ञेयं, व्याख्याने, **जातब्रह्मात्मानुभवा** इति "ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन"मितिप्रकारो जात इति भावः, **तदासक्तिश्चेति** मूले **रममाणा** इत्यस्य रतियुक्ता इत्यर्थमप्रेत्येदमुक्तम् ॥ ४८ ॥ एवमित्यस्याभासे **क्रोडीकृता** इति भगवत्सङ्गताः कृता इत्यर्थः, तादृशं **कौमारं** वयो दृष्ट्वा कौतुकेन तत्र सङ्गता इति भावः, **प्रयोजने** इति कौमारकर्तव्ये निरोधे इत्यर्थः, एवमित्यत्र **विजातीयानामिति** कालमात्रसम्बन्धिलीलाकथने कौमारविजातीयानां पौगण्डादिलीलानामित्यर्थः, **अरणेरिति** कार्यस्य कारणनिवर्तकत्वं कथमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन बोधनार्थमिदमुक्तं, **कौमारं जहतुरिति** व्रजे कौमारवयःस्थापनकथनेन भगवतः पौगण्डादिभावेऽपि तासां तादृग्वयस्कत्वमिव सूक्ष्ममेव रूपं सर्वजनीनं, "परिधाय स्ववासांसी"ति वक्ष्यमाणप्रकारकरसाकरत्वानन्तरमपीति ज्ञेयं **मूलरूपलीला** विवृण्वन्ति **भगवानिति**, **परमानन्दो भूत्वेति** सृष्ट्यारम्भे सच्चिदंशौ पृथक्कृत्येत्यर्थः, **वृक्षादित्यादि** स्थितिदेशो वृक्षः शाखास्ताः फलं तत्स्थो रसः, प्रतिवृक्षं गत्वा तत्तच्छाखाफलं भुङ्क्ते, एकस्मिन् वृक्षे एकस्यामेव शाखायां स्थित्वा शाखान्तरावयवरसमपि भुङ्क्ते, इदं द्वयं **मर्कटोत्प्लवनं**, एकस्यां शाखायां स्थित्वा तन्निष्ठमेव फलं तत्तदवयवभेदेन बहुविधं भुङ्क्ते तन् मण्डूकप्लवनं ज्ञेयं, एकस्मिन्नेव वृक्षे स्थित्वा तत्रत्यासु सर्वशाखासूत्प्लुत्योत्प्लुत्य तत् तत् फलं भुङ्क्ते इति वा, मण्डूको हि दूरोत्प्लवनासमर्थ एकस्मिन्नेव देशे तत्तदंशभेदेनोत्प्लवति ॥ ४९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवंविहारैः कौमारैरित्यस्याभासे **येन भक्तेन कालेनेति** कौमारलीलासाधकेन आधिदैविककालेनेत्यर्थः, **क्रोडीकृता** इति कौमारलीलामात्रासक्ता इत्यर्थः, **तं कालमिति** आधिदैविकं कौमारलीलाकालमित्यर्थः, **सिद्धे प्रयोजने** इति निरोधात्मकप्रयोजने सिद्धे इत्यर्थः, अत एव कृष्णरामकथां कुर्वाणानां भववेदनाज्ञानाभावः पूर्वश्लोके निरूपितः, **त्यक्तवानिति** स्थापितवानित्यर्थः, "स्वसैन्यं स बहिस्त्यक्त्वा जगाम गहनं वन"मित्यादौ बहिःस्थापनस्य त्यागपदार्थत्वात्, तथा च कौमारलीलातत्परिकरसहितं कालं स्थापितवानितिफलितं, कौमारस्य लीलायाः तत्परिकरस्य तदधिकरणस्य कालस्य च नित्यत्वात्, उपलब्ध्यनुपलब्धी तु आविर्भावतिरोभावसाध्ये इति बोद्धव्यं, **कौमारै**रित्यस्याभासे **ननु विजातीयानां कथं कौमारनिवर्तकत्वं** इति नन्वियं शङ्कैव नोदेति सर्वत्र पार्थिवानां काष्ठपटादीनां तेजोरूपेणाग्निना नाशदर्शनात् विजातीयेषु नाशकत्वस्य दृष्टत्वात्, सत्यं, अन्यत्र विजातीयानां नाशकत्वेऽपि पलनिमेषघटिकादिरूपे काले तत्परिच्छेद्ये वयसि च विजातीयस्य नाशकस्य अदृष्टत्वात् शङ्काया अवकाश इतिध्येयं, **निलायनै**रित्यस्य व्याख्याने, **सर्वैरेव विहारैर्व्रज एव कौमारं जहतुरिति** इह प्रभोर्व्रजस्थितत्वेन व्रजपदोपादानं विना व्रजस्य कौमारत्यागाधिकरणत्वे सिद्धेऽपि व्रजपदोपादानेन व्रज एव कौमारत्यागो न त्वन्यत्र इति ज्ञाप्यते, त्यागस्त्वत्र स्थापनं न तु स्वसत्तानिवृत्तिः, "स्वसैन्यं स बहिर्हित्वा जगाम गहनं वन"मित्यादौ हित्वेत्यनेन स्थापनमेवोच्यते, अतोत्रापि स्थापनं ग्राह्यं "कौमारं जहतु"रित्यनेन, तथा च व्रजे कौमारं स्थापितमिति फलति, कौमारशब्देन कुमारस्य भावः कुमार्याश्च भावो ग्राह्यः, तद्धितप्रत्ययेन उभयथापि कौमारशब्दसिद्धेः, एवं पुम्भावस्त्रीभावविशिष्टं उभयमपि कौमारं व्रजे स्थापितमित्याशयेनाचार्यचरणा आहुः **अतो व्रज एव कुमारो जातः कुमारी चेति, भगवान् व्रज एव कुमारो जातः कुमारी च जाता** इत्यन्वयः, कुमाररूपेण कुमारीरूपेण च व्रजे प्रकट इत्यर्थः, "स आत्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवता"मितिश्रुतेः भगवत एवोभयभावेनाविर्भावात् प्रभोः कुमारीरूपत्वमप्यविरुद्धं, तथा चाधिदैविककुमारीरूपो भगवान् जात इति यावत्यो व्रजे कुमार्यस्ता सर्वा अपि कुमारीरूपस्य भगवत एव स्वरूपभूता इत्याहुः **अतोऽग्रे वक्तव्याः कुमार्यः कृष्णचेतसः इतीति**, "एवं मासव्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतस" इत्येकोनविंशाध्याये वक्तव्याः, कुमार्योऽप्याधिदैविककुमारीरूपस्य भगवतः स्वरूपभूता इत्यर्थः, एवं सति कौमारशब्दस्य कुमारीभाववाचकत्वपक्षः 'निलायनैः सेतुबन्धैः मर्कटोत्प्लवनादिभि'रित्यनेन (**कौमारै**रित्यस्याभासे ननु **विजातीयानां कथं कौमारनिवर्तकत्वमिति** नन्वियं शङ्कैव नोदेति सर्वत्र पार्थिवानां काष्ठवस्त्रादीनां तेजोरूपेण वह्निना नाशदर्शनादिति चेत् न, अन्यत्र विजातीयानां नाशकत्वेऽपि बाल्यकौमाराद्यवस्थानां स्वसजातीयावस्थान्त-

रैकनाशत्वेन शङ्कायाः सम्भवात् पदकुमारीभाववाचकत्वपक्षे 'निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभि'रित्यनेन) उक्तानां निलायनादिक्रीडानां कुमारीरूपेपि अवश्यवाच्यत्वेन तासां क्रीडानां तत्र योजने प्रकारमाहुः **करिष्यन्ति च लीलां लतागृहादिषु लीना** इत्यादिना, अयमर्थः, ताः कुमार्यः भगवता सह रमणे रसविशेषोत्पत्त्यर्थं वियोगे च तदात्मकतया कुञ्जेषु निलीय क्रीडां करिष्यन्ति, अतो **निलायनं** तास्वपि सिद्धं, **भगवद्वशीकरणप्रयत्ना** इति रसमर्यादया भगवद्वशीकरणार्थं भगवदनुकूलभूषण-वसनचेष्टादिकं ता रचयन्तीदमेव **सेतुबन्धनं** ज्ञेयं, **गृहस्थमर्यादोल्लङ्घनकर्त्र्यश्चेति**, **मर्कटोत्प्लवनमेतत् मर्कटवदुत्प्लवनं** लोकवेदोल्लङ्घनं, तदपि प्रभुकृते ताभिः कृतमिति लीलात्रयं तास्वपि सिध्यति, एवं निलायनादिविहारैः सह व्रजे उभयविध-कुमारस्थापनोक्तेस्तादृग्विहारविशिष्टकुमाररूपेण स्वभोग्यकुमारीरूपेण च भगवान् व्रजे सर्वदा विजयतेतो नित्यत्वं लीला-तत्परिकरविशिष्टस्वरूपस्येतिमञ्जुलमखिलं, निलायनक्रीडाया आशयं निरूपयन्ति **स हि परमानन्द** इत्यादिना, अनवतीर्णं मूलरूपं ब्रह्म मायाजवनिकया यथा छन्नं भूत्वा अन्यस्य स्वविषयकं ज्ञानं रुणद्धि "न चक्षुषा गृह्यत" इतिश्रुतेः तथा अवतीर्णं मूलरूपं श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्मापि निलीय तिष्ठतीति चक्षुरग्राह्यं भवति, **सर्वशाखाफलभोगार्थं एकस्यामप्यारूढः सर्वफलं भुङ्क्ते** इति, अयं च **मर्कटोत्प्लवनादिकं** यदुक्तं तस्याभिप्रायः, **आदिशब्देन** शाखान्तरस्थितिसामयिकशाखान्तरफलभोग उक्तः, मर्कटो यथा शाखायामेकस्यामारूढः अन्यासां बह्वीनां शाखानां फलं बलात्कारेण गृहीत्वा भुङ्क्ते तथा भगवानपीत्यर्थः, इह परोक्षवादेन शाखाशब्देन व्रजवरनितम्बिन्य उक्ताः, तथा च एकस्या घोषसीमन्तिन्या गृहादिषु स्थित्वा बह्वीभिर्व्रजमृगदृग्भिः सह रमते इति सूचितं, **आदिशब्देन मण्डूकप्लुत्यादिकमपीति**, अत्रापि परोक्षवादः, तथा च मण्डूको यथा मध्ये द्विपत्प्रदेशं त्यक्त्वा कुत्रचिदुत्प्लवनं करोत्येवं प्रभुरपि कस्याश्चिद्गृहे रमणं विधाय काञ्चिन् मध्ये त्यक्त्वा कस्याश्चिद्गृहे रमते इति सूचितं, तथा सति मध्ये यां त्यक्त्वा गतः सा अन्यस्मिन् दिवसे खण्डिताभावं प्राप्नोतीति रसे चमत्कारविशेषः सिध्यति, एतावता श्रृङ्गाररससम्बन्धिनीरनेकविधा लीलाः प्रभुः कुर्वन् शुद्धपुष्टिभक्तानां लोचनयुगलं शिशिरयतीति निरूपितं, तामसानां प्रमाणप्रकरणस्य समाप्तौ "रसो वै स" इति श्रुतिप्रमाणसिद्धं रसात्मकं ब्रह्म श्रीशुकेन गूढतया वर्णितं, तदेव शुकहार्दविदा भगवता सुबोधिनीकारेण परोक्षवादरीत्या प्रदर्शितमिति रसिकवैष्णवा विदां कुर्वन्तु (**आदिशब्देन मण्डूकप्लुत्यादिकमपीति**, मण्डूको यथा कुत्रचित् स्थितः कञ्चित् प्रदेशं त्यक्त्वा कुत्रचित् प्रदेशे प्लवति, एवं कृष्णोपि कस्याश्चिद् गृहे स्थितः काञ्चिद् वञ्चयित्वा कयाचिद् रमते, तथा च यस्या वर्जनं सा प्रातः खण्डिता भवतीति मण्डूकप्लुतिः, एवं बहुधा रमणं शुकेन गुप्तरीत्या प्रदर्शितमिति रसिकवैष्णवा विदांकुर्वन्तु), **ब्राह्मणोपि भवति क्षत्रियोपि भवतीति ब्राह्मणशब्दो** वामनावतारपरः "जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरि"मित्यादिषु विप्रत्वोक्तेः स वामनो यथा स्वरूपनिलायनं कृत्वा सूक्ष्मरूपं प्रदर्शयित्वा स्वकार्यं बलिराजात् साधयित्वा पश्चात् बृहद्रूपं प्रकटीचकार एवमिहापि गूढदुर्लभव्रजवधूप्राप्त्यर्थं स्वस्वरूपनिलायनं विधाय रमणा-भिलाषं साधयित्वा पुनः पूर्वभावं सम्पादयतीति **ब्राह्मणोपि भवतीत्यनेन** 'निलायनै'रित्यस्य हार्दं स्फुटीकृतं, **क्षत्रियशब्देन** श्रीरामचन्द्रः, स यथा सेतुबन्धेनोपायेन जानकीं प्राप्तवान्, तथेहापि रसशास्त्रोक्तचातुर्यरूपसेतुबन्धेन व्रजसुन्दरीः प्राप्नोतीति 'सेतुबन्धै'रित्यस्याशयः, किञ्च सेतुबन्धशब्देन नानाप्रकारयुक्ता राजनीतिरुच्यते, श्रीरामो यथा राजनीत्यनेकराज्यसम्बन्धि-फलानि बुभुजे तथा भगवानपि रसशास्त्रोक्तचातुर्यरूपनीत्या विविधगोपवधूटीविलासफलानि भुङ्क्ते इति 'सेतुबन्धै'रित्यस्य तात्पर्यं, इह **ब्राह्मणोपि भवति क्षत्रियोपि भवतीत्यस्य** आधिदैविकपक्षसिद्धा रसिकभगवदीयमनोहरा निगूढा अर्थास्तु सुबोधिनीहार्दविदा भगवता श्रीविट्ठलेश्वरेण टिप्पण्यां स्फुटीकृता इति भाग्यवद्भिस्तत एवावधार्याः ॥ ४९ ॥

"जानीत परमं तत्त्व"मिति श्लोकेन वर्णितः । परब्रह्मस्वरूपः श्रीबालकृष्णो मुदेस्तु मे ॥ १ ॥

इत्येकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र गोपानां परस्पराश्चर्योक्तिमाह—अहो बतेति । 'अहो बत' इत्यादिश्लोकत्रयस्य 'इति नन्दादयो' इति चतुर्थे-नान्वयः । **अहो** इत्याश्चर्ये । **बतेति** खेदे । अस्य बालस्य कृष्णस्य बहवो मृत्यवो मृत्युहेतवोऽभवन्, अपि तथापि तेषामेव विप्रियमनिष्टमासीत् । यतस्तैः पूर्वमन्येषां भयं कृतम् ॥ ४६ ॥ ननु 'अनेनैव बालकेन पूर्वं कदाचित्तेषामसुराणां किञ्चिद्विप्रियं कृतम्, अत एवेदानीं ते एव तं हन्तुमायान्तीति कुतो न सम्भाव्यते ?' तत्राहुः—अथापीति । यद्यपि तयोरदर्शनाः भयङ्कर-स्वरूपा दर्शनमात्रेणापि प्राणहारकास्तथाप्येनं बालमपि नाभिभवन्ति किञ्चिन्मात्रमप्यस्य पराभवं कर्तुं न शक्नुवन्ति, प्रत्युत जिघांसया हन्तुमिच्छया एनमासाद्य प्राप्य स्वयमेव नश्यन्तीत्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तमाहुः—अग्नौ पतङ्गवदिति । यथाऽग्निं नाश-यितुं तत्र पतिताः पतङ्गाः शलभाः स्वयमेव नश्यन्ति तथेत्यर्थः । तथा च नानेन तेषां किञ्चिद्विप्रियं कृतम्, यदि किञ्चिद्विप्रियं कृतं स्यात्तदा त एवैनमभिभवेयुः । स्वयं न नश्येयुरिति भावः ॥ ४७ ॥ भगवदुपासनाप्रभावस्याश्चर्यं द्योतयन्त आहुः—अहो इति । ब्रह्मविदां वेदोक्तपरमार्थज्ञानां भगवदुपासकानां वाचः कर्हिचिदपि असत्या न सन्ति न भवन्ति । 'कथमेवं निश्चय'

इत्यत आह—गर्ग इति । भगवान् भगवदुपासकत्वेनाविर्भूतसर्वज्ञत्वादिगुणो गर्गः "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः" इत्यादि यदाह उक्तवांस्तत्तथैवान्वभावि अनुभूतम्, दृष्टमित्यर्थः ॥ ५८ ॥ इत्येवं नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां कुर्वन्तस्ताभ्यां सह रममाणाश्च मुदा तज्जनितपरमानन्देन निमित्तेन भववेदनां दैहिकदैविकभौतिकसंसारतापं नाविन्दन् तदनुसन्धानं न कृतवन्तः ॥ ५९ ॥ एवमुक्तप्रकारकैरन्यैश्च निलायनादिभिः कौमारैः कुमारावस्थायां योग्यैर्विहारैः कृत्वा कौमारं कुमारावस्थां रामकृष्णौ व्रजे जहतुः त्यक्तवन्तौ । निलायनं निलीयस्थितिः । सेतुबन्धः नद्यादिषु सेतुबन्धनम् । मर्कटवदुत्प्लवनं शाखातः शाखान्तरगमनम् । आदिपदेनानेकविधलीलान्तरग्रहणम् ॥ ६० ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालासूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । एकादशो गतो वृत्तिं वत्सादिवधबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अहो बतेति ॥ अहो आश्चर्ये बतेति खेदे । अस्य बालस्य कृष्णस्य बहवो मृत्यवो मृत्युहेतवोऽभवन् अपि तथापि तेषामेव विप्रियमनिष्टमासीत । यतस्तैः पूर्वमन्येषां भयं कृतम् ॥ ५४ ॥ अथेति ॥ यद्यपि एते घोरदर्शनाः भयङ्करस्वरूपदर्शनमात्रेणापि प्राणहारका अथापि तथाप्येनं बालमपि नैवाभिभवन्ति किञ्चिन्मात्रमप्यस्य पराभवं कर्तुं न शक्नुवन्ति । नैवं ते इत्यपि पाठः । प्रत्युतह्निजिघांसया हन्तुमिच्छया एनमासाद्य प्राप्य स्वयमेव अग्नौ पतङ्गवत् नश्यन्ति ॥ ५५ ॥ अहो इति ॥ अहो ब्रह्मविदां वेदोक्तपरमार्थज्ञानां वाचः कर्हिचिदप्यसत्या न सन्ति । भगवान् गर्गः "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः ।" इत्यादि यदाह उक्तवांस्तत्तथैवान्वभावि अनुभूतं दृष्टमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ इतीति ॥ अहो बतेत्यादिवचोभिः नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां कुर्वन्तस्ताभ्यां सह रममाणाश्च मुदा तज्जनितपरमानन्देन निमित्तेन भववेदनां दैहिकदैविकभौतिकसंसारतापं नाविन्दन् तदनुसन्धानं न कृतवन्तः क्षुधार्त्ता इदमत्रुवन्निति क्षुधादिकथनं तु तल्लीलाङ्गत्वान्न दोषाय ॥ ५७ ॥ एवमिति ॥ अयं श्लोको न सार्वत्रिकः क्वचिदग्रेपि पठ्यते । संबन्धोक्तिटीकायामुभयत्र व्याख्यातः । एवमुक्तप्रकारकः निलायनैः निलीयस्थितिभिः । निपूर्वाल्लीधातोर्णिजन्ताल्ल्युट् । सेतुबन्धैः मर्कटवदुत्प्लवनं शाखातः शाखान्तरगमनम् इत्यादिभिः कौमारैः कुमारावस्थायां योग्यैर्विहारैः कृत्वा कौमारं कुमारावस्थां रामकृष्णौ व्रजे जहतुः त्यक्तवन्तौ ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

मृत्यवो मृत्युकर्त्तारः तेषामेव विप्रियं आसीत् यतो हेतोः तैः पूर्वमन्येषां भयं कृतं अहो बत इत्यारभ्य इति नंदादय इत्यंतेन संबंधः ॥ ५२ ॥ श्रीसहजानंदस्वामिमहाराज सत्पक्षे ॥ नाभि भवन्ति न परा भवन्ति ॥ ५३-५५ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्यदशमस्कंधव्याख्यानेवत्सबकवधोनामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अहो इत्यादिश्लोकत्रयस्य 'इति नन्दादयः' इत्युत्तरगतेनान्वयः ॥ अहो इति ॥ अहो इत्याश्चर्ये । बतेति खेदे । तत्र खेदहेतुं विशदयन्ति । अस्य बालस्य, मृत्यवो मृत्युहेतवः, बहवः, अभवन् । अप्यथापि, तेषामेतद्विप्रियकर्तृणामेव, विप्रियं दुःखं, आसीत् । युक्तमेवैतदित्याहुः । यतः, पूर्वं जन्मान्तरे, भयं कृतं, यतस्तैरन्येषां पूर्वं भयमुत्पादितमतस्तेषामेव भयमुत्पतितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥ अथापीति ॥ अथ एवं घोरदर्शनाः भयंकरदर्शनाः, तेऽसुराः अपि, एनं, न अभिभवन्ति न धर्षयन्ति एव । किं तु । जिघांसया हन्तुमिच्छया, एनं आसाद्य, अग्नौ पतङ्गवत्, नश्यन्ति ॥ ५५ ॥ अहो इति ॥ अहो ब्रह्मविदां वाचः, कर्हिचित् कदाचिदपि, असत्याः न सन्ति न भवन्ति । भगवान् गर्गो गर्गाचार्यः, यत् आह 'नारायणसमो गुणैः' इति यत् कथयामास, तत् तथैव, अन्वभावि अनुभूतम् ॥५६॥ इतीति ॥ इत्येवं, नन्दादयः गोपाः, कृष्णरामकथां, मुदा कुर्वन्तः, रममाणा आनन्दमानाश्च सन्तः, भववेदनां न अविन्दन् । सांसारिकक्लेशान्न प्रापुरित्यर्थः ॥ ५७ ॥ एवमिति ॥ एवमेवंविधैः, कौमारैः कौमारावस्थासंबन्धिभिः, निलायनैः, सेतुबन्धैः, मर्कटवदुत्प्लवनमादियेषां तैः, विहारैः चेष्टितैः, व्रजे, कौमारं वयः, जहतुः रामकृष्णाविति शेषः । अत्रायं विवेकः । आपञ्चमाब्दात् कौमारं, आदशमवर्षात्पौगण्डं, आपञ्चदशवर्षात् कैशोरमिति । कश्चित् स्तम्भमूले निलीय तिष्ठति, अन्यस्तु अन्विष्य तं दृष्ट्वा गृह्णातीति या क्रीडा तन्निलायनम्, हस्तेन स्वशरीरेण वा मृत्तिकया वा जलनिवारणं सेतुबन्धः, यथा मर्कटो विटपाद्विटपान्तरमुत्प्लवति तथोत्प्लवनम् ॥ ५८ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचिताया-
मन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अहो इति : १०.११.५५.

विज्ञायापि प्रतापोज्ज्वलमिममसुरास्तत्र यत्संपतन्ति नैतच्चित्रं यदेते स्फुटमलघुतमः साहसा सर्वदैव ।
चित्रं त्वेतत् पुनर्यत् प्रबलतरमहादैत्यहन्ताऽयमेवं ज्ञात्वाऽप्यस्मिन्नकुर्वन् व्यवहृतिमखिला बालशब्देन गोपाः ॥ ७७ ॥

इति नन्दादय इति : १०.११.५८.

तादृग्रमेशचरितं श्रुतिमात्रवेद्यं यस्यास्ति सोऽपि भवदुःखलवं न वेत्ति ।
चित्रं किमत्र स च तच्चरितं च येषामध्यक्षमास न विदुर्भववेदनां ते ॥ ७८ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

कृष्णप्रिया

नन्दादि गोपवृन्द परस्पर कहने लगा कि अजी, अरे सुनो ? यह कितने आश्चर्य की बात है कि इस लालन की मौत कई बार आकर टल गयी। जिन्होंने लालन संहार करना चाहा स्वयं उनका ही संहार हो गया, जिनके हेतु किसी भी जन्म में विविध प्रकार के दुःख झेलने पड़े थे ॥ ४५ ॥ यह बात कहनी होगी कि बड़े बड़े भयानक जो देखने भी बड़े घोर थे ऐसे असुर अपने लालन को मारने आयें थे परन्तु आग में पड़े पतङ्ग की तरह वे स्वयं ही मर गयें लेकिन कुछ न बिगाड़ सके। अरे बाबा बालमुकुन्द का एक बाल भी बांका न कर सके ॥ ४६ ॥ सचमुच ब्रह्मवित् पुरुषों की वाणी कभी असत्य नहीं होती। भगवान् श्रीगर्गाचार्यजीने जितनी बातें कही थी सब की सब वैसे ही ठीक ठीक घटना होती जा रही है ॥ ४७ ॥ श्रीनन्दरायजी और गोप गण इस तरह परस्पर श्रीबलदाऊ भैयाजू और लालन की बाते करते न अघाते थे और दोनों के साथ परमानन्द से रहते हुए संसार की सारी यातनाओं को प्यारे के सान्निध्य के परमानन्द से विसर गयें ॥ ४८ ॥ इस तरह लालन और श्रीदाऊजी ग्वालबालों के साथ आँख मिचौनी, तो कभी कभी पुल बनाना, बन्दरों के समान उछलना-कूदना वगैरह बालकों के योग्य विविध मनोहर खेल, खेल अपनी कुमारावस्था व्रज में बिता दी ॥ ४९ ॥

एकादश अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

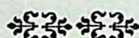

[अकारादिक्रमेण]

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धीय प्रथमत एकादशाध्यायश्लोकानुक्रमणिका